I. HATHAYOGA TEXTS

1. Amanaskayoga
2. Amaraugha Prabodha
3. Amarogha - Sasana
4. Binduyoga
5. Brihadyoga Sopana
6. Brihadyogiyajnavalkyasmriti
7. Gheranda Samhita
8. Goraksa - Paddhati
9. Goraksa - Satakam
10. Hathapradipika
11. Hatha Ratnavali
12. Hatha Yoga Samhita
13. Hathapradipika - Jyotsna
14. Sat-Cakra-Nirupana
15. Satkarmasamgrahah
16. Siddha-Siddhanta-Paddhati
17. Siva Samhita
18. Siva Svarodaya
19. Vasistha Samhita
20. Yoga Bija
21. Yoga Marga Prakasika
22. Yogamartanda
23. Yoga Rasayana
24. Yoga Sara Samgrahah
25. Yoga-Sastra
26. Yoga Taravali
27. Yoga Visaya
28. Yogayajnavalkya

II. YOGOPANISHADS

1. Advadya Tarakopanisat
2. Amrta Bindupanisat
3. Amrta Nadopanisat
4. Brahma Vidyopanisat
5. Darsanopanisat

6. Dhyana Bindupanisat
7. Hansopanisat
8. Ksurikopanisat
9. Maha Vakyopanisat
10. Mandala Brahmanopanisat
11. Nada Bindupanisat
12. Pasupata Brahmanopanisat
13. Sandilyopanisat
14. Tejobindupanisat
15. Trisikhi Bramhanopanisat
16. Varahopanisat
17. Yoga Cudamanyupanisat
18. Yoga Kundalyupanisat
19. Yoga Sikhopanisat
20. Yoga Tattavopanisat

III. PATANJALA YOGA AND ITS COMMENTARIES

1. Bhasvati
2. Bhasya Vivaranam
3. Bhavaganesa Vritti
4. Kirana
5. Maniprabha
6. Nagojibhatta Vritti
7. Pada Candrika
8. Patanjala Rahasya
9. Patanjala Yoga Sutra
10. Rajamartanda Vritti
11. Sarala Tika
12. Sutrartha Bodhini
13. Tattvavaisaradi
14. Tippanam
15. Vallabha Bhasya
16. Vyasa Bhasya
17. Yoga Candrika
18. Yoga Karika
19. Yoga Pradipika
20. Yoga Siddhanta Chandrika
21. Yoga Sudhakara
22. Yoga Varttika

श्रीनाथ सिद्धों की-शंखढाल

(योगमाया-पूजन-पद्धति)

श्रीनाथ रहस्य - चतुर्थ खण्ड

प्रथम रहस्य

(१) समाधि

(उत्तर क्रिया विधि)

"मृत्यु" हर प्राणी के जीवन का एक कटु सत्य है। कोई मृत्यु का सामना करते हुये मृत्यु को अपनाता है तो कोई डर कर मृत्यु को प्राप्त होता है। कोई हंसते-हंसते, तो कोई दु:खी होकर मरता है। अर्थात् मृत्यु अवश्य होती है। इस प्रकार इस कटु सत्य को जानते हुए किसी को वैराग्य तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है तो कोई मृत्यु आने से पूर्व मौज-मस्ती, सुख-भोग, ऐशो-आराम आदि का उपभोग कर इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं।

साधु-सन्त, ज्ञानी-वैरागी, त्यागी-तपस्वी तथा ध्यानी-योगियों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अमरत्व पाने की कोशिशें की किन्तु मृत्यु एक अटल सत्य है। विधाता की कृपा है। सृष्टि का वरदान है। संसार का सार है। मुक्ति का मार्ग है। मृत्यु तो इस दुस्तर माया से स्वतंत्रता है।

हमारे नाथ सिद्धों ने मृत्युंजय होने की अनेकों कोशिशें की, फिर चाहे योग साधनों से, चाहे मंत्र-तंत्र से, चाहे (मृतसंजीवनी) वनस्पतियों, जड़ी-बूटियों से, चाहे पुण्य कर्मों से, ऐसे अनेक प्रयास अमर होने के लिए किये। किन्तु कोई कोई बिरला ही इस अमरत्व को प्राप्त कर सकें। जो देवी-देवताओं को भी दुर्लभ है, और वह बिरला और कोई नहीं वह प्रत्यक्ष शिव स्वरुप, ज्योति स्वरुप, सम्पूर्ण जती, समस्त प्राणी मात्र के सतगुरु, गुरु गोरक्षनाथ जी हैं।

ऐसे गुरु गोरक्षनाथजी अपने नाथ सिद्ध योग साधना के अनुभव से

कहते हैं-

"मरौ वे जोगी मरौ, मरौ मरण है मीठा।

तिस मरणी मरौ, जिस मरणी गोरख मरि दीठा।।"

अर्थात् हे अवधूत, हे योगी, योग करो, साधना करो, योग साधना में मर मिट जावो जहाँ मरण मृत्यु एक मीठा अमृत है। नाथ सिद्धयोगियों की यह परम उच्च अवस्था है। जहाँ योगी साधना में मन चित्त अहंकार का निरोध करके जीव अवस्था से आत्मा अवस्था में (स्थूल से सूक्ष्म में, द्वैत से अद्वैत में) प्रवेश करता है। और यही उसकी जगत माया के दृष्टि कोण से मृत्यु अवस्था है। जिसमें वह अमृतपान करता है और यही अमृतपान, मीठा मरण है। अर्थात् समाधि अवस्था में मन-चित्त -काया-इन्द्रियों का उसे ज्ञान नहीं रहता और वह मीठा अमृतपान करता रहता है। ऐसे ही अमृतपान, मीठा मरण को गोरक्षनाथजी ने स्वयं प्राप्त किया है।

जिस प्रकार अपने सक्षम साधना में योगी मीठी मृत्यु का अनुभव करता है। उसी प्रकार इस भौतिक मायामय इहलोक से देह त्याग करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अपने काया इन्द्रियों तथा मोहमाया को छोड़कर परलोक सिधार जाता है।

आदि अनादि पूर्व काल में नाथ सिद्ध योगेश्वरों के प्रयाण काल में स्वर्ग से पुष्पक विमान लेने आते थे। और योगेश्वर स्व-शरीर के साथ स्वर्ग लोक जाते थे। कोई बिरला तो अपनी काया को साथ ले उड़कर आकाश (स्वर्ग में) गमन करते हुए जीवन लीला समाप्त करते थे इनको केवल पवनगामी, पवनहारी इत्यादि कहते हैं। इस प्रकार स्वकाया स्वर्ग सिधारना नाथ सिद्ध योगी सुन्दरनाथजी ने किया था। कुछ सिद्ध महात्मा अचानक अदृश्य हो जाते हैं कोई योगेश्वर धरती को फाड़कर धरती में विलीन हो जाते हैं। जैसे माता सीता ने धरती समाधि

ली थी।

आगे-आगे समय अनुसार तथा समय परिवर्तनानुसार स्व इच्छा से योगेश्वर जीवित जल या थल समाधि लेने लगे, आज भी लेते हैं। कुछ सिद्ध महात्मा योगेश्वर स्वेच्छा से अर्थात् शरीर के सभी कर्म, व्यवहार को सम्पूर्ण त्यागकर केवल ईश्वर चिन्तन करते-करते जीवन त्यागते हैं। तथा कोई महात्मा संतजन अपना उत्तरार्ध जीवन पर्वतीय क्षेत्र हिमालय या किसी धाम में या पुरी में जहाँ मुक्ति प्राप्ति स्थान हो वहाँ बिताते हैं। अन्तकाल में पाँच पाण्डव तथा शंकराचार्य इत्यादि ने हिमालय क्षेत्र में प्रयाण किया था।

बहुत से सिद्ध योगीजनों को अपनी मृत्यु की सूचना मृत्यु से पूर्व ही हो जाती है। और वह अपने शिष्य एवं भक्तों को समाधि (प्रयाण) का वर्ष-दिन यहाँ तक कि समय भी बता देते हैं। उत्तर क्रिया कैसे निभायी जाये? लेन-देन-व्यवहारिक कर्म-धर्म-धूनी-पाणी, पूजा-पाठादि सभी कर्म का वह पहले ही ज्ञान करवाते हैं। प्रिय शिष्य को उत्तराधिकार-स्थान मकान के व्यवहार इत्यादि का स्पष्टीकरण पहले ही करा देते हैं। ताकि बाद में किसी को कोई सन्देह ना रहे। सारे प्रश्न पहले ही हल कर देते हैं। तथा समय अनुसार अपने पास जो कुछ भी हो वह सब सत्कर्म-दान धर्म में लगाकर समाधि लेते हैं। ताकि आशा-इच्छायें, संकल्प विकल्प तोड़ना इत्यादि माया मोह से निवृत्त होकर मोक्ष मुक्ति को प्राप्त कर सकें।

नाथ सिद्ध योगी सम्प्रदाय भेष बाहर पंथ सतनाथ (ब्रह्मा के) योगेश्वरों को संम्प्रदाय के सभी पंथ के मृत योगेश्वरों के समाधि विधियों का विधि विधान करने का अधिकार है, अगर सतनाथ के योगी उपलब्ध नहीं हो तो धर्मनाथी या राम के योगी समाधि विधि विधान कर सकते हैं। समय पर कोई भी नहीं हो तो मृत योगेश्वर का शिष्य या भक्त जन भी

इस ग्रन्थ के मार्गदर्शन अनुसार विधि कर सकते हैं।

(क) मृत योगेश्वर की प्राथमिक विधि

जब नाथ सम्प्रदाय के योगेश्वर अपनी स्थूल देह त्यागकर निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। अर्थात् समा (मृत) जाने के पश्चात् माननीय साम्प्रदायिक अधिकारी तथा विशेषत: सतनाथ पंथ के योगेश्वर मृत योगेश्वर के शिष्य गण एवं भक्त मण्डल सेवक तथा नाथ योगेश्वरों को सन्देश देकर आमंत्रित किया जाता है। सर्वप्रथम सतनाथ के योगी पूर्व तैयारी करके और साहित्य जुटाकर प्रथम उस मृत योगेश्वर को निम्न मन्त्र से चौकी ऊपर बिठाते हैं।

आसन मन्त्र-१

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी मन मारु मैदा करु, करु चकनाचूर। पांच महेश्वर आज्ञा करे तो बैठू आसन पूर। श्री नाथ जी गुरुजी को आदेश।

मृतक के चारों दिशा में परदा लगाते हैं। वातावरण के अनुकूल गरम या ठंडा जल द्वारा सब मिलकर स्नान कराते हैं। यहाँ अधिकारी निर्देशन अनुसार कर्म कराते हैं। तथा सतनाथ ब्रह्मा के योगेश्वर सभी क्रियाओं के मन्त्रोच्चार करते हैं अगर सतनाथ पंथ नहीं हो तो धर्म नाथी या राम के योगी भी मंत्रोच्चार कर सकते हैं।

[**विशेष:-** योग साधना, जप, अनुष्ठान, ध्यान को बैठते समय इस मन्त्र को ११ या २१ चावल लेकर ११ या २१ बार जपकर आसन के चारों तरफ छोड़ें। आसन सिद्ध होकर साधना में रुची आयेगी।]

बना बनाया गौ (गाय का) पंचगव्य जिसमें गौ-घी, गौ-दूध, गौ-दही, गौ का थोड़ा गोबर और गौ का थोड़ा मूत्र (गौमूत्र) यह सब एक पात्र में मिलाकर तैयार करते हैं। और स्नान के समय मृत योगेश्वर

के शीश-शरीर पर डालते हैं। और निम्न मन्त्रोच्चार करते हैं।

(पंच गौव्य संस्कार) मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी।। ॐ तन धोये मन धोये भये सकल संस्कार। गौ माता कामधेनू पिण्डप्राण उद्धार। माता गंगा को शीश नवाय हुक्म गुरु का पाय, शिव पूंजू शक्ति पूंजू, पूंजू गुरु के पाव, पाँच महेश्वर आज्ञा करे तो पंचगव्य दे बरसाय। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

[**विशेष:-** इस मन्त्र से ४१ दिन स्नान के जल में थोड़ा पंचगव्य डालकर स्नान करने से बाहरी या ऊपरी बाधायें नष्ट होती हैं। काया अशुद्ध से शुद्ध होती है।]

तद्पश्चात् गंगा जल से निम्न जल गायत्री मन्त्रोच्चार करते हुए सभी स्नान करवाते हैं।

जल गायत्री

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। जल मन्जन, जल देवता, गुरु मन्जन गुरु ज्ञान। हाथ मन्जन धर्तरी अलष पुरुष का ध्यान। पानी पानी महापानी सोती काया अमर कर जानी। उड़े न हंस बिखरे न काया, शिव शक्ति ने ध्यान लगाया। ॐ अलील आदि अलील, अलील पुरुष की माता क्वारी, पिता यति, नित्ययोगी धरे धीर, निरोग हो काया, वज्र हो शरीर झड़े पारा पीवे योगी उड़े काया अलख निरन्जन तेरी माया। ॐ जल बिम्बाय विद्महे नील पुरुषाय धीमही तन्नो अलील प्रचोदयात। इतना जल गायत्री जाप सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

सभी योगेश्वर मृतक के शिष्य तथा भक्त जन स्नान करवाते हैं।

नये तौलिया से शरीर सुखाते हैं। अत: निम्न मन्त्र से नया लंगोट पहनाते हैं।

लंगोट मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। अजरका वज्र करु, वज्र का बन्द लगाऊं? शील का लंगोट, सन्तोष का धागा। ऊन का आडबन्द कमर में लागा। नागा पहिरे नागफणि, हनुमन्त पहिरे लंगोट। गुरु महाराज का बाल गोपाल कोपिन पहिरे, नवनाथ चौरासी सिद्धों की ओट। अदल की कोपीन-वज्र का धागा, योगीश्वर कोपीन चढ़ावन लागा। शिव निर्माण पारा डिंगे अलष पुरुष की आन। पारा पारा महापारा, पारा राखे गुरु हमारा पारा उतरे सहस्रधारा? सन्त रहे काल से न्यारा। पारा नाक रास्ते उतरे नासकेतु की दुहाई? कान रस्ते उतरे कर्ण की दुहाई? मुख रस्ते उतरे ब्रह्मा की दुहाई? गुदा रस्ते उतरे गणपति जी की दुहाई? लिंग रस्ते उतरे हनुमन्त जती की दुहाई? उल्टा पारा काया को चढ़े, श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी की दुहाई स्फुरे! इतना लंगोट मन्त्र सम्पूर्ण भया श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

अत: मृत योगेश्वर को नये भगवा वस्त्र पहनाते हैं। (वस्त्र सिलाई किये हुए नहीं पहनायें) तथा शीश पर साफा बांधते हैं। और निम्न मंत्रोच्चार करते हैं।

भगवे का मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी ॐ सोहं धुन्धुकारा शिव-शक्ति ने मिल किया पसारा, नख से चीर भग बनाया-रक्त रुप में भगवा आया। अलष पुरुष ने धारण किया तब पीछे सिद्धों को दिया। आवो सिद्धों धरो ध्यान, भगवा मन्त्र भया प्रमाण

इतना भगवा मन्त्र सम्पूर्ण भया। नाथ जी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

मृतात्मा दर्शणी हो तो उनके कानों में मृतीका के कुण्डल डाले जाते हैं कलियुग में मृतीका के कुण्डल शुभ एवं वरदान मानते हैं। अतः निम्न मंत्र से मृतीका के कुण्डल डालना चाहिए।

कुण्डल (दर्शन) मन्त्र

सतो नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! ॐ नाद सों मुद्रा, कौन मुद्रा खेचरी बोलिये? कौन मुद्रा भोचरी बोलिये, कौन मुद्रा धरे ध्यान कौन मुद्रा कथे ज्ञान? ॐ गुरुजी ताँबे की मुद्रा खेचरी बोलिये, स्फटिक की मुद्रा भोचरी बोलिये। गण्डे की मुद्रा धरे ध्यान; मृतक की मुद्रा कथे ज्ञान, श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी के कान नीचे धरत्री, ऊपर आकाश, रक्षा करे श्री दादा मत्स्येन्द्र नाथ। श्री नाथ जी गुरु जी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

निम्न मन्त्र से नादी पावित्री का जनेऊ डाला जाता है। जिसे नाथ सिद्धों का बाना कहा जाता है।

नाद जनेऊ मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! आदि में शून्य, शून्य में ओंकार? आओ सिद्धो नाद बिन्द का करो विचार। नादे चन्द्रमा, नादे सूर्य, नाद रहा घट पिण्ड भरपूर, नाद काया का पेखना, बिन्द काया की राह। नाद बिन्दे योगिया तीनों एक स्वभाव? बाजे नाद भई प्रतीत, आये श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी अतीत। नाद बाजे काल भागे, ज्ञान की टोपी गोरक्ष साजे। डंकनी शंखनी टिल्ले बाल गुन्दाई, बाडे घाटे टल्ल जागे। सुन सकेसर पीर पटेश्वर नगर कोट महामाई। टिल्ला शिवपुरी का स्थान-चार युग में मान,

मूल चक्र मूल स्थान? पढ़ मन्त्र योगी नाद बजावे छत्तीस भोजन अमृत कर पावे। बिना मन्त्र पढ़े योगी नाद बजावे तीन लोक में कही ठौर न पावे। जो जाने नाद बिन्द का भेव-आप ही कर्ता आप ही देव? सन्ध्या शिवपुरी का बेला-अनन्त कोटि सिद्धों का युग युग मेला इतना नाद जनेऊ मन्त्र सम्पूर्ण भया। नाथ जी गुरु जी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

मृतयोगेश्वर के बायें भुजा (कन्धे पर) सवा मीटर भगवे वस्त्र की झोली बनाकर उसमें श्री नाथजी का कच्चा रोट, ४-५ मीठा बुन्दी का लड्डु, सवा रुपया तथा मृतात्मा को कोई व्यसन (शौक) हो तो सुलफा-गांजा या भांग भी रख सकते हैं या तो उनका प्रिय पदार्थ रखना चाहिए। ऐसी झोली तैयार करके निम्न मन्त्र से झोली पहनायें।

झोली मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। कौन दिल कुन दुरवेश कौन पुरुष ने मुण्डे केश। ॐ गुरुजी दिल दरयाव मंत्र दुरवेश। अलख पुरुष ने मुण्डे केश। झोली हमारी कामधेनु, संसार हमारी बाड़ी। गुरु प्रताप से भिक्षा मांगू अन्त काल में सारी। जारो बल का नगर में खबर कर। नागा निर्वाणी अवधू आया है। जाग तो जंजीर जड़ा, पग जड़ा तोड़ा गले माला पैर धागा। गुरु देवन के चरण कमल में चित्त लागा। इतना झोली जाप सम्पूर्ण भया। अनन्त करोड़ सिद्धा में गादी बैठ गुरु गोरक्षनाथ जी ने कहा। श्री नाथ जी गुरु जी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

भस्मी मन्त्र से त्रिपुण्ड भस्म मस्तक पर लगावे।

भस्मी मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। भभूत

माता भभूत पिता, भभूत तरण तारणी। मनुष्यते देवता करे, भभूत कसट निवारणी। सो भस्मती माई, जहा पाई तहा रमाई। आदके योगी अनाद की भभूत सत के नाती धरम के पूत।। अमृत झरे धरती फुरे, सो फल माता गायत्री चरे। गायत्री माता गोवरी करी, सूरज मुख सुखी अग्नि मुख जरी। अष्ट टंक भभूत नव टंक पाणी, ईश्वर आणी पार्वती ने छाणी सो भस्मती हस्तक ले मस्तक चढ़ी। चढ़ी भभूत दिल हुवा पाक, अलख निरन्जन आप ही आप। इतना भभूती मन्त्र सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

[**विशेषः-** उपरोक्त लंगोट, भगवा, कुण्डल, नाद जनेऊ, झोली भस्मी मन्त्र सिद्धि विधि श्रीनाथ रहस्य खण्ड तृतीय में पृ.सं. = ४८६, ४९२, ५१६, ४६७, २०५, ५२१ दिया है।]

मृत योगेश्वर को उच्चासन बनाकर निम्न मन्त्र से बिठावें।

आसन मन्त्र-२

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। आसन पूरो सिहांसन पूरो, पूरो कंचन काया। सर्वस्व त्याग गुरु वचन धरती माता तेरे मे शरण आया। मन मारु तन वश करु, करु चकनाचूर। पांच महेश्वर आज्ञा करे तो बैठू आसन पूर। इतना आसन मन्त्र सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

उपरोक्त आसन की भूमि गोबर से लिपे हुये जो दर्भासन या कुशासन से बिछौने से संस्कार किये हुये भूमि स्थान पर मृत योगेश्वर को बिठाना चाहिये क्योंकि इस संस्कारित भूमि मण्डल के सामीप्य ब्रह्मा, विष्णु रुद्र एवं अग्नि बैठते हैं। बिना मण्डल करने से पिशाच, भूत-प्रेत, राक्षस तथा यम दूत प्रवेश करते हैं। मृत योगेश्वर के गले में फूल पुष्प माला चढ़ावे तथा सम्पूर्ण शरीर पर इत्र छिड़के तथा गुलाब

पानी, स्प्रे इत्र छिड़कें। उनके मुख में स्वर्ण रत्न डाले या एक मुखी रुद्राक्ष का अभिषेक किया हुआ (गंगाजल) जल मुख में डालें या कैलास मानसरोवर जल-त्रिवेणी संगम जल या सप्त सरोवर का जल डालें और निम्न मन्त्र का उच्चारण करें।

जल गायत्री (संक्षिप्त)

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। ॐ गंगाजल बिम्बाय विद्महे नील पुरुषाय धीमही तन्नो अलील प्रचोदयात। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

इससे मृत योगेश्वर पवित्र होकर पुनजन्मों को योनियों से छूटकर शिवलोक को जाता है। (मृत्यु समय गंगा मां का केवल नाम स्मरण करने मात्र से मोक्ष मुक्ति को प्राप्त होता है। "हे गंगा माता मुझे शिवलोक में ले चलने की कृपा करें" ऐसे कहते ही मृतात्मा शिवलोक कैलास को जाता है।)

इसके पश्चात् गोरक्ष गायत्री नवनाथ जाप, गोरक्ष स्त्रोत या वेद, गीता, उपनिषद के पाठ करने से मृतात्मा की मुक्ति होकर वायुलोक या शिवलोक में जाते हैं।

इस प्रकार मृतात्मा को उच्चासन बिठाया जाता है। तब वहाँ उनके शिष्यगण तथा नाथ सम्प्रदाय के अधिकारी तथा मानधारी, पीर महन्त एवं त्यागी तपस्वी तथा अन्य योगी जन मृतात्मा को सम्मान देते हुये चिप्पी (दान) करते हैं। पुष्प तथा पुष्पमाला चढ़ाते हैं। कोई कम्बल, चद्दर, भगवा वस्त्र चढ़ाते हैं। और नादि आदेश करके सम्मानित करते हैं। भक्त लोक भी इच्छानुसार चिप्पी दान, वस्त्रदान आदि भेंट चढ़ाते हुए नमस्कार करते हैं। शंख बजाया जाता है। इच्छानुरुप ढोल, बाजा, शहनाई आदि का इंतजाम कर जुलूस भी निकालते हैं।

इस प्रकार प्राथमिक क्रिया कर्म होने के पश्चात् मृतात्मा योगेश्वर को जल समाधि या थल समाधि निम्न विधि से दी जाती है।

प्रथम जल समाधि विधि निम्न प्रकार है।

(ख) जल समाधि विधि

जल समाधि विशेषतः बड़ी बड़ी नदियों के किनारे निवास करने वाले महात्मा अपनाते है (गंगा, जमुना, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा आदि) अर्थात् यह जल समाधि जल उपलब्धि अनुसार दी जाती है। मृतात्मा के स्नान, आसन, श्रृंगार, आदेश नमस्कार इत्यादि क्रिया विधि उपरोक्त मन्त्र विधि से करने के पश्चात् मृतात्मा का जुलूस निकालकर या किसी वाहन द्वारा नदी किनारे (श्मशान) घाट पर ले आते है। यहाँ पर एक ५ × ५ × ५ फुट का लकड़ी के फट्टे वाला बक्सा बनाकर उसमें मृतात्मा को पद्मासन लगा के बिठाते है। तथा सतनाथ ब्रह्मा के योगेश्वर निम्न मन्त्र बोलते है।

मृतक के आसन बिठाने का मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरु जी को आदेश। ॐ गुरुजी। बीज मन्त्र तत परवाना काया खोजो जोत समाना। अलख कूट अलख उपाया। तीन लोक ब्रह्मा मिल छाया। तीन लोक त्रिकुटि द्वारा। जगमग जोत हुई प्रकाशा। इस बीज मन्त्र का अंत किस विरले ना पाया। गुरु वचन योगेश्वर को पात्रासन बिठाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

अब मृतात्मा का सभी साहित्य फूल, मालायें, वस्त्रादि बक्से में रखते हैं और उनके शीश पर मिट्टी का ठीकरा उल्टा थापकर रखते हैं। ठिकरा मस्तक पर रखने का अर्थ ऐसा है कि खोपड़ी फूटकर हंस उड़ता है। अन्त समय योगी योग द्वारा प्राण को सहस्त्रगार या ब्रह्मरन्ध्र

अर्थात् मस्तक में लाकर रखते हैं। ठीकरा मस्तक पर चढ़ने पर प्राण सुरक्षित होते हुये योगी की समाधिस्थ अवस्था में शीघ्र ही मुक्ति होती है।

अत: शीश ठीकरा रखते समय निम्न मन्त्र सतनाथ पंथ के योगेश्वर बोलते हैं।

ठीकरा मन्त्र-१

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी।

ॐ ठीकरा सोंह ठीकरा धर्ती ठीकरा ठाट।।

सों ठीकरा आगे धरा गत गंगा के घाट।।

पवन मुख सुखा, अग्नि मुख जरा सो ठीकरा से माथे धरा। ठीकरा नहीं यह ठाट है। उरध घाटिका बाट है।। पढ़ो गुणों योगेश्वर ठीकरे का तत्सार। सत की पौड़ी पग धरे हंसा उतरे पार।। इतना ठीकरा मन्त्र जाप सम्पूर्ण भया। अनंत कोट सिद्ध में बैठकर गुरु गोरक्षनाथ जी ने कहाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

अब बक्से में कुछ चीनी कुछ वजन हेतु पत्थर डालकर ४-६ योगेश्वर मृतात्मा को गंगाजी में प्रवाहित (बहाकर) कर देते हैं। या गहरे जल में डुबो देते हैं। तब सतनाथी योगेश्वर निम्न मन्त्र बोलते हैं।

जल समाधि गायत्री

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी।

ॐ आदि में सत्य, सत्य की धरती, धरती माता तोय पीवे, तोया तेज में जले बले, तेज वायु वासना वासलै। वायु ग्रास लै आकाश गलै। हंस उड़ै, सत्त की काया गले। तिसकी रक्षा जती गुरु गोरक्षनाथ जी करे। ॐ जले हिन्दु मुसलमान को दबाया।

अलील पुरुष तुम जागो योगेश्वर तुम्हारे शरण में आया। कहोरे बालका कहां से आना कहां जाना है। ॐ गुरुजी। अगम से आया, निगम को जाना है।

मांस गलै अलील पुरुष लाजै। चाम गलै तो महादेव लाजै। हाड़ गलै तो गुरु गोरक्षनाथ जी लाजै। पड़े पिण्ड निरंजन लाजै।

पड़े पिण्ड उड़े हंस सद्‌गुरां का हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति गुरु शबद का वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस मनसा अलील ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति अलीलपुरी में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस विष्णु महालक्ष्मी ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति विष्णुपुरी का वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस ब्रह्मा सरस्वती ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति ब्रह्मपुरी में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस शिव शक्ति ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति शिवपुरी में वासा, रक्षा करे गुरु गोरखनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस अंत गोरखनाथ ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति परम धाम (अलखपुरी) में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

इतना जल सामधि मन्त्र जाप सम्पूर्ण भया। अनंत कोट सिद्ध में बैठकर गुरु गोरक्षनाथ जी पढ़ कथ कर सुनाया। श्री नाथजी

गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

इसप्रकार उपरोक्त मन्त्र द्वारा समाधि क्रिया पूरण करते हैं। यहां जल गायत्री तथा अलील गायत्री भी बोली जाती है। अतः वापसी में सभी योगेश्वर-भक्त गंगा स्नान करते हैं या हाथ पैर धो लेते हैं, साथ में जल गायत्री भी बोलते हैं। [चित्र क्र० - १ में (अ) देखें]

कुछ नाथ सन्त महात्मा जल में जिन्दा समाधि लेते हैं।

(ग) जीवित (जिन्दा) जल समाधि

कुछ सिद्ध योगी जीवित जल समाधि लेते हैं। कोई कोई सार्वजनिक सभी को जाहिर करते हैं कि हम जल समाधि ले रहे हैं। फिर उनका सभी स्वागत करते हैं गले में पुष्पमाला ड़ालते हैं, ढोल ताशे बजाते हैं जुलुस निकालते हैं। सभी इच्छा का त्याग करके केवल जल तत्व में विलीन होकर मुक्ति पाना यही उनकी इच्छा होती है। कोई कोई एक अकेले एकान्त में जल समाधि ले लेते हैं। विषेशतः जिनको जल वसी सिद्धि प्राप्त होती है। उनकी आत्मा अन्त में जल में जलमय होती है। जैसे सन्त मीरा अन्त में श्रीकृष्ण में विलीन हो गयी थी।

यह जिन्दा जल समाधि में योगी अपने योग साधना के द्वारा, अर्थात् (श्रेष्ठ प्राणायाम) प्राणायाम का सक्षम अभ्यास करके बहुत ही कम मात्रा में प्राणवायु को काया के अन्दर लेते हैं। जो कि उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया बहुत ही धीरे-धीरे चलती है। और काया अन्दर कुम्भक क्रिया ज्यादा समय तक प्राण का संयम करते हैं। और प्राण को शीश मध्ये सहस्रगार चक्र में स्थित करते हैं। इस अभ्यास के कारण वह जल के अन्दर ज्यादा समय तक ध्यान साधना करते हैं। वह काया को जड़त्व करके जल के तले आसन लगाकर बैठते हैं। धीरे धीरे शरीर पैरों के तले से सुन्न (चेतनारहित) होता है प्रथम पैर सुन्न होते हैं फिर

पिण्डलियाँ-फिर घुटने, फिर जांघें, फिर कमर, पेट .... नाभी... छाती .... गला आदि सुन्न होकर शीश ब्रह्मरन्ध्र ही केवल चेतन रहता है। जब तक उसमें प्राण है वह सुन्न नहीं होता, कुछ दिन पश्चात् प्राण निकल जाने के बाद योगेश्वर की जल समाधि प्रयाण पूर्ण हो जाती है। [चित्र क्र० - १ (ब) देखें]

किसी योगेश्वर को जल वशीकरण सिद्धि प्राप्त होती है जो जल में नहीं डूबते तथा जल को आह्वान करके सूखे अकाल में बारिश करवाते हैं। या जल प्रपात को भी रोक सकते हैं। यह यौगिक सिद्धि है। अन्त समय समाधि लेते समय वह पद्मासन लगाकर जल के ऊपर (तैरते हुए) बैठ जाते हैं। और सक्षम योग सिद्धि द्वारा जब प्राण (आत्मा) को शीश मध्य सहस्रागार में लाकर स्थित करते हैं। कुछ दिन तक वह निर्वाण समाधि में रहते हैं। तत्पश्चात् वह पृथ्वी तत्व का आवाहन करते हैं। आवाहन मन्त्र द्वारा या योग द्वारा करते हैं। जिससे उनकी काया में जड़त्व आता है अब वह जल के तले जाकर बैठते हैं। ऐसे उनके योग प्रताप या सिद्धि प्रताप के कारण जलचर प्राणी तथा जल का कुछ भी प्रभाव नहीं होता जब तक प्राण (आत्मा) उनके शीश में स्थित होता है। वह गाढ़ समाधि में स्थित होते हैं। अगर इच्छा हो या कोई कार्य काज करना हो तो वह पुनः जीवित होकर आ सकते हैं। अतः कुछ दिन पश्चात् जब प्राण (आत्मा) काया के बाहर निकल जाता है। जो जल तत्व में विलीन होता है। जैसे जल से भरा हुआ मटका जल में होते हुए फूट गया तो मटके का जल, जल में विलीन हो जाता है वैसे ही इनकी आत्मा शरीर से बाहर आते ही जल में विलीन होती है। क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक है। तदनन्तर योगी का शरीर जल में गल जाता है। या जलचर प्राणी शरीर को खा जाते हैं।

त्रेतायुग में प्रभु रामचन्द्र ने ऐसी ही जल समाधि सरयु नदी में सभी

भक्त सेवकों की उपस्थिति में ली थी। महाभारत में दुर्योधन को भी जल के अन्दर स्थित रहने की कला आती थी। इस प्रकार जल तत्व में समाधि लेते विलीन हो जाते हैं। इसी तरह भूमि में भी जिन्दा समाधि लेते हैं।

(घ) जीवित (जिन्दा) थल (भूमि) में समाधि

कुछ सिद्ध योगेश्वर जिन्दा थल समाधि लेते है। इसमें नियुक्त की हुई समाधि स्थान पर ६ × ६ फिट का गड्डा बनाते है। उसमें ४ × ४ फुट की योगी गुफा बनाते है। और योगी समाधि का दिन समय निश्चित करके सभी शिष्य-भक्तों को बुलाकर स्पष्ट रुप से समाधि के विषय में बताते है। फिर जुलूस वगैरा निकालते है। योगेश्वर गुफा सन्मुख आकर सभी को आर्शीवाद देकर अपने उचित समय (मुहर्त) में गुफा में प्रवेश करते है। जोकि बाहर न आने का उनका दृढ़ संकल्प होता है। हठयोग से वह अन्दर पद्मासन या सिद्धासन लगाके बैठते है। अपने सक्षम प्राणायाम योग बल से अपने भूमध्य त्रिकुटी में प्राण लाकर स्थिर करते है। वहां उनकी स्थूल से सूक्ष्म अवस्था होती है। वह अपने आप सभी काया इन्द्रियादि को भूल जाते है। वह अपने सभी गुण संस्कार का खण्डन कराते है। सब कुछ विस्मरण होते होते शून्य अवस्था में रहते रहते वह केवल इतना ही महसूस करते है कि मैं आत्मा हूँ। आगे आगे मैं अर्थात् वह अहंकार भी खत्म होता है फिर केवल आत्मा ही आत्मा को देखता है। इस समय योगी के जगत के सभी व्यवहार खत्म हो जाते है। शिष्य भक्त समझते है कि गुरुजी अब नहीं रहे वह नमस्कार कर गुफा का मुख बन्द करते है। आगे भक्त उसी जगह समाधि स्मारक बनाके पूजते है।

यही योग क्रिया बल से कुछ योगेश्वर अपने बैठे आसन में ही काया त्याग कर परलोक (आत्मारुप) में सिधार जाते है। बाद में उनकी उपरोक्त विधि से समाधि बनाते है तथा पूजते है।
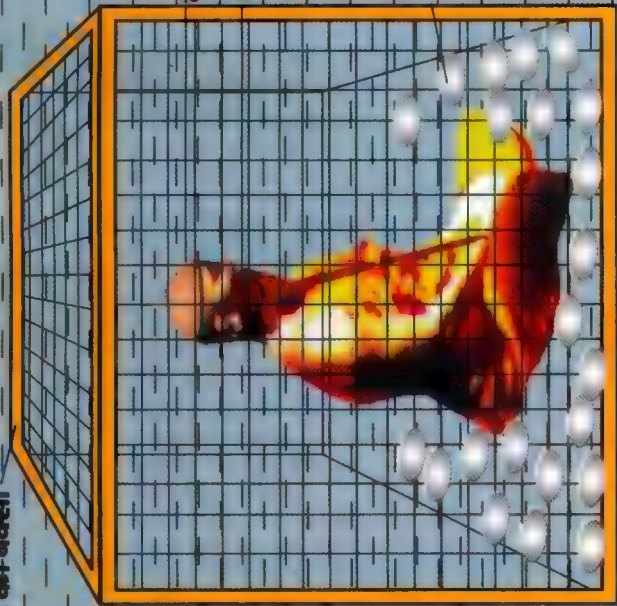
चित्र क्र. १

थल समाधि

अखण्ड ज्योत

भूमी

योगी की गुफा

ठीकरा

ज्योत

कुबड़ी

कलश

आसन

भूमी

(अ)

पवनगामी (समाधि)

योगी सुन्दरनाथ जी

मूर्ति या शिवलिंग

चबूतर

पक्की समाधि (ब)

चित्र क्र. २

ऐसी जीवित जिन्दा थल समाधि सिद्ध योगी बाबा मस्तनाथ जी के शिष्य, बाबा रणपत मान धाताओं ने मठस्थल बोहर (रोहतक) हरियाणा में ली थी। तथा महाराष्ट्र में नेवासा ग्राम में योगी ज्ञानेश्वरनाथ जी तथा त्रयम्बकश्वर में योगी निवृत्तोनाथजी ने ऐसी समाधि सर्वसाक्षी ली थी।

कुछ योगेश्वर ऐसा ही गड्डा बनाकर उसमें अपने आसन में बैटते हैं। और ऊपर से गड्डा बन्द करने को कहते हैं। गड्डे के अन्दर से एक नली लगाते हैं उसका एक छोर अपने मुख में और दूसरा छोर गड्डे के बाहर निकालते हैं। अत: नित्य रोज उस नली मं दो या एक समय दूध अथवा जल डालते हैं जो कि महात्मा अन्दर से उसे पी लेता है यह सब इसलिए करते हैं कि अपने चंचल काया इन्द्रियों को हठ योग में स्थिर करने के लिए उन्हें बन्दिस्त करते हैं। कुछ दिन साधना द्वारा प्राण को मस्तक में लाने के बाद दूध या जल पीना भी छुट जाता हैं। अपने आपको सुन्न करते हैं। सम्पूर्ण शरीर सुन्न होने पर केवल मन ही आत्म स्वरुप हो जाता है चित्त बुद्धि वहाँ खत्म हो जाती है। यह क्रियायें अतिषय धीरे-धीरे होती है जब अन्तिम समय आता है तो योगेश्वर आत्मस्वरुप आत्मानन्द में विलीन होकर, अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म में जाकर जगत व्यवहार से मुक्त होता है। वहां माया उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अत: योगी आत्मरुप होकर परम-आत्मतत्व में विलीन हो जाता है।

इधर गड्डे के बाहर नली द्वारा दूध या जल डालना रुक जाता है। तब यह शिष्य-भक्त जान जाते है कि अन्दर योगेश्वर मृत हो गये और वह समाधि बनाकर उनका पूजन करते है।

आजकल ऐसी जिन्दा थल या जल समाधियाँ योगेश्वर स्वेच्छा से गुप्त विधि से लेते है। सरकार तथा कानून इसे आत्महत्या का प्रयास समझती है और ऐसे महान प्रयाण पर वह जबरदस्ती रोक लगाते है यह

भी माया का ही असर होगा।

अतः जो योगेश्वर प्राकृतिक रुप से मृत होते है उनकी थल समाधि निम्न विधि से लगाते है।

(ङ) थल (भूमि) में समाधि विधि

अतः प्रकृति स्वभाव से नाथ सम्प्रदाय के योगी अपना स्थूल देह को त्यागकर स्वर्ग लोक प्रयाण करते है। अर्थात् मृत हो जाते है जब पूर्व वर्णित आसन-स्नान-बैठक-आदेश-नमस्कार-मान सम्मान आदि क्रिया होती है तब तक इधर जहां मृत योगेश्वर को समाधिस्थ करने हेतु जो भूमि निश्चित की जाती है। वहां कम से कम ५ × ५ फुट चौड़ा एवं ७-८ फुट ऊँचाई का गड्ढा तैयार करते है और इस गड्ढे में साढ़ तीन फुट ऊँची और दो-ढाई फुट गहरी एक गुफा बनाते है अतः गड्ढे के पास ईटें, पत्थर एक बोरी चीनी, पांच सर घी, मिट्टी का ठिकरा, मिट्टी का दीपक, लोटा, पानी वाला गीला नारियल, तसला, फावड़ा इत्यादि साहित्य लाकर रखते है।

अतः जुलूस वगैरा करते हुए मृतयोगेश्वर को इस समाधि स्थान पर लाया जाता है। अतः नीचे बनाये हुए गुफा में पांच-दस ईटें बिछाकर उस पर भगवा या लाल वस्त्र बिछाकर आसन तैयार करते हैं। अतः नाथ सम्प्रदाय के सतनाथ योगी निम्न मन्त्र पढ़कर मृतात्मा को उस आसन पर पद्मासन लगाके बिठाते हैं।

मृतक के आसन बिठाने का मन्त्र-२

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी। सुन्न सुन्न महासुन्न तले धरती ऊपर आकाश। जहां रहे जोगेश्वर का बास। हंस उडन्त काया गढंत, हंस हसं निरन्जन साढे तिन हाथ गुफा बनाया, खोजो काया अलख उपाया तीन लोक त्रिकुटी द्वारा जगमग

ज्योत भयी प्रकाशा। गुरु शब्द आसन बिठाया। रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

[विशेषः- इस मन्त्र से गुफा, नदी किनारे पीपल वृक्ष के नीचे या भूमि के नीचे आसन लगाया जाता तो शून्य समाधि में शीघ्र ही समाधि लगती है।]

इस प्रकार गुफा में मृतात्मा बिठाने के पश्चात् सतनाथ के योगीश्वर उनके सन्मुख एक मिट्टी का लोटा (मटका) जल से भरकर उसके ऊपर पांच वट वृक्ष या पीपल के पत्ते कमल सदृश रखकर उसके ऊपर एक नारियल (पानीवाला) रखते हुए निम्न मन्त्र से कलश स्थापित करते हैं।

समाधि गायत्री बीज मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! पानी का बून्द पवन का थंबा देवल देख भया अचम्बा। जागत नगरी दीजै वास हंसा छोड़ चल्या कैलाश।। आओ सिद्धो जोगी जमाति सोधो धर्ती खोदो समाधी। कितनी समाध बोलिये कितनी गुफा बोलिये। अहूठ हाथ समाध बोलिये, सवा हाथ कि गुफा बोलिये। सवा हाथ का हाड़ बोलिये चार अंगुल का मास बोलिये।। तिल भर चाम बोलिये, चार अंगुल रोमावली बोलिये। सुन नासिका सुन समाध, शब्द बोलिए एकोंकार।। जपो समाध बीज गायत्री पीवो दूध दोहो धरित्री। ब्रह्मा धर्ती विष्णु कुदाली ईश्वर गौर माटी डाली।। पढ़ गुण मन्त्र समाधि दीजै तैयाका भण्डारा कीजै।। दूध भात का भोग लगाया प्राण पुरुष अमरा पुरहया।। जोगी पूजै पाँव पखाली चूरी चिप्पी चादल थाली। बिना मन्त्र समाधि देवे सो प्राणी जमपुरी में रोवै।। पढ़ो समाध गायत्री सार, प्राणी पावै मोक्ष द्वार।। इतना समाध बीज गायत्री मन्त्र जाप सम्पूर्ण भयी। अनन्त कोट सिद्धों में

श्री नाथजी गुरुजी ने कहाई। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश!! आदेश!!!

अत: सतनाथ के योगी एक मिट्टी का दीपक (गौघृत का) निम्न जोत जगाने का बीज मंत्र बोलकर चेतन करते हैं।

ज्योत जगाने का बीज मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! निरन्जन निराकार बीज मन्त्र तत्सार पीवो पीवो चराचर चरे-सो प्राणी वैकुण्ठ तरे-गगन मण्डल में जय जय जपे-नौ करोड़ देवता अपने ग्रह में तपे। त्रिकुटि में शब्द ढुंडो ढुंडो एक ओंकार नाथ जोत दसवें द्वार निर्मल ज्योत भयी प्रकाश। बीज मन्त्र किसी निरन्जन योगी के पास। अमर योगी अमर काया सोधे मन भरे पिण्ड-विनसे नहीं काया परमोधे काया, ॐ सोहं सिद्धो काया बीज मन्त्र अखण्ड छाया। बीज मन्त्र जो नर पढ़े वह चौरासी फेरे में ना पड़े। बिना मन्त्र ज्योत जगावे सो नर नरक में जावे। इतना ज्योत जगाने का बीज मन्त्र सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

अत: वह धूप अगरबत्ती लगाते हैं। दीपक के चारों तरफ ईंटें लगाकर उसका घोंसला बनाया जाता है। तदपश्चात् मृतात्मा के शीश ऊपर (माथे ऊपर) मिट्टी का खप्पर (ठीकरा) पलटा मारकर रखते हैं और निम्न मन्त्र का उच्चारण करते हैं।

ठीकरे का मन्त्र-२

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! पढ़ो पढ़ो महेश्वर करनी से उतरो पार करनी होय तो पौढ़ी चढ़े बिन करणी कहा गुरुजी कैसे तरे। ओं ठीकरा नहीं कोई ठाठ है। पांच तत का

घाट है। धरती मुख उत्पन्ना, पवन मुख सुखा अग्नि मुख जरा सो ठीकरा सब सन्तन के आगे चला हाथ में चलावे राजा प्रजा को चितावे। शिर पर धारे तो समाधि करे। ओ किसने मुकुट मान्या कौन जगाई ज्योत। कौन तेरी साख भरे, कौन रहते तेरे कोल। शिव ईश्वर मुकुट मान्या, शक्ति जगाई जोत ब्रह्मा तेरी साख भरे, विषणु रहे तेरे कोल। अमर जोगी अमरापुर चढ़े सत्य शबद की ओट। सत्य का शबद का करो विचार, करनी अपनी उतरोगे पार। ॐ सोहं ठीकरा जाप सम्पूर्ण भया। अनन्त कोट सिद्धों में श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथजी ने कहाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

अतः मृतक योगेश्वर के चारों ओर थोड़ी नून शक्कर (चीनी) डालते हैं तथा थोड़ा घी डालते हैं। फिर मिट्‌टी डालते हैं। और साथ साथ ईंट पत्थर चारों तरफ रचनात्मक ढंग से रचाकर रखते हुए मृतक की समाधि भरते रहते हैं। साथ में शंख बाजा, ढोल इत्यादि बजाते हैं। शिष्य-भक्त-सेवक फूल अक्षद डालते हैं। और मृतक योगेश्वर के नाम का जय घोष साथ-साथ जयकार करते हैं और अन्य सभी योगेश्वर शिष्यगण एवं अधिकारी पांच पांच मुट्‌ठी नून शक्कर मिली मिट्‌टी तथा घी डालते रहते हैं साथ में सतनाथ पंथ के योगेश्वर समाधि गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं। यहाँ पर धरत्री गायत्री, द्वादश गायत्री, गोरक्ष गायत्री, नवनाथ गायत्री भी बोल सकते हैं।

सामधि गायत्री (मन्त्र)

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! मैं तेरा पूत तू मेरी माता, आदि की धर्ती अनादि की माया। सत्य का योगी वज्र की काया। अमर होय धर्ती वज्र हो काया। फुरो फुरो ज्वालामुखी तू फुरो। ऋद्धि फुरे सिद्धि फुरे, अगम निगम माता धर्ती कहे

पिण्ड प्राण बालक स्वरूपी सदा रहे! मरिया मरे नहीं काटेया कटे नहीं गाड़ेया, गड़े नहीं किसने कही किसने खुदाली किसने उसमें मिट्टी डाली। ब्रह्मा कही विष्णु खुदाली। ईश्वर गौरा मिट्टी डाली। आओ ईश्वर जी करो विचार। इस प्राणी को दीजे मोक्ष मुक्ति फल द्वार। ईश्वर सदाशिव सिमरु तोहे, ब्रह्मा पढ़े पाठ धर्ती माता राह देवो मोहे। एक राह उत्तर को गया। एक राह पश्चिम को गया। एक राह दक्षिण को गया। एक राह पूर्व को गया। चार दिशा चार खूंट राह देवो मोहे। दूहे धर्ती पावे खीर अमर हो काया वज्र हो शरीर। मांस गले मच्छेन्द्र लाजे, हाड गले गोरक्षनाथ लाजे, जिभ्या गले सद्गुरु लाजे, यम को मार काल को भखे। अपना शरीर आग ही रखे। इस पिण्ड हो आकुल व्याकुल करे तो कोटान कोट श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी की दुहाई। धर्ती माता जी के चरन कमलों में नमस्ते। ॐ गुरुजी। प्रथमे धर्ती माता बोलिये, द्वितीय नाम आकाश। तृतीये सिद्धि किया प्रकाश। चतुर्थे आदि अलील, पांचवे पांच भूत! धर्मराजा धर्म गुसांई सुध बुध भरो सुन सेजा माई, हम तुम न होय तो तीन लोक धर्ती प्रलय हो जाये। पहिली मुट्ठी उठाई ॐकार ने खबर पाई-धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।१।।

दूसरी मुट्ठी उठाई चन्द्र सूर्य ने खबर पाई, धर्ती माता घिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।२।।

तीसरी मुट्ठी उठाई तीन लोक के वासुकि नाग ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।३।।

चौथी मुट्ठी उठाई, चार वेद के ब्रह्मा ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।४।।

पांचवी मुट्ठी उठाई, पांच तत्वों ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।५।।

पांच्र तत्व के रूप न रेख, भज ले बन्दे आप अलेख। समाधि धरती, समाधि आकाश, समाधि जल पवन प्रकाश। इतना समाधि जाप सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।। आदेश।।।

इस प्रकार ईंट पत्थर एवं नून शक्कर घी मिट्टी द्वारा जब मृतात्मा पूर्ण रुप से ढ़क जाता है तब ऊपर से मिट्टी तथा थोड़ा-थोड़ा जल 'जल गायत्री' या 'अलील गायत्री' बोलकर वह समाधि युक्त गड्ढा पूर्ण भरते हैं। गड्ढा भरने के बाद और उसके ऊपर २-३ फुट मिट्टी कलश जैसे आकार का बना कर उसके ऊपर पानी छोड़कर अच्छी तरह थपथपाकर मजबूत किया जाता है। और सबसे ऊपर ईंटों का घोंसला बनाकर उसमें घी का दीपक (अखण्ड जोत) पुर्वोक्त वर्णित जोत मन्त्र का उच्चारण करके लगायी जाती है। और समाधि ऊपर फूल पुष्प मालायें बिल्ब पत्र आदि चढ़ाकर मृतात्मा समाधि सम्मानित करते हैं। अत: सभी नाथ योगेश्वर तथा मानधारी अधिकारी नादि आदेश करते हैं। अत: वह दीपक मृत योगेश्वर के तिया अर्थात् तीन दिन तक चेतन रखते हैं स्थान मठ मन्दिर में इष्ट पूजन आरती करने के साथ साथ समाधि को भी आरती पूजा भक्त गण करते हैं। [चित्र क्र० २ में 'अ' देखें]

(च) मृत्यु के पश्चात् योगेश्वर की परलोक गती (प्रयोग)

समाधि क्रिया होने के बाद मृत योगेश्वर के शिष्य या भक्त समाधि स्थान पर अधवा जहाँ योगेश्वर की मृत्यु हुयी है उस स्थान के

ऊपर मिट्टी के कसोरे में वस्त्र से छनी हुई भभूती रखते हैं। वहां एक घी का दीपक चेतन करके रखते हैं। भभूती के पृष्ठभाग को थपथपाकर या दबाकर उस पृष्ठभाग को चिकनाई बनाकर रखते हैं जो की उसपर कोई भी निशान दिख सके उसे लाल या काले वस्त्र से ढ़ककर रखते हैं। दूसरे या तीसरे दिन अर्थात् तिया के दिन उस भभूत के पृष्ठभाग पर जो भी निशान आयेगा या आकृति आयेगी उस निशान (आकृति) के जरिये उस मृतात्मा को प्राप्त हुई गति का अनुमान लगाया जाता है। अर्थात् उदाहरणार्थ-भभूती ऊपर शिवलिंग के निशान (आकृति) आये तो मृतात्मा शिवलोक को गये, अगर चक्र का निशान या शंख का निशान आया तो वैकुण्ठ (विष्णु लोक), कमलपुष्प या संस्कृत अक्षर के निशान से ब्रह्मलोक, चन्द्र सूर्य के निशान से चन्द्रलोक, सूर्यलोक में, गौ के पैर आये तो गौलोक आदि निशान (आकृति) दिखने पर गती का अनुमान लगाया जाता है।

उपरोक्त गती की विधि मृत योगेश्वर उपदेशी (योगमाया शक्ति उपासक) हो तो त्रिशूल, खप्पर, खन्जर आदि शक्ति वर्धक निशान आना चाहिए, अतः एवं भभूती के ऊपर कुछ भी निशान या आकृति आयी तथा शक्तिवर्धक निशान आये तो, मृतात्मा की शंख ढाल करनी पड़ती है। तथा निशान स्मरण रखते हुये वैसा ही दान-मान तिया के दिन सतनाथ (ब्रह्मा के) योगेश्वर को देना पड़ता है।

(२) मृतात्मा का तिया (तिसरे दिन) विधि

नाथ सिद्ध सम्प्रदाय के परम्परा के अनुसार मृत योगेश्वर के तिसरे दिन तिया भण्डारा किया जाता है। जिसमें विभिन्न क्षेत्र से मानधारी, पीर महन्त तथा सब योगेश्वरों को मृत योगेश्वर के स्थान (मठ) में आमन्त्रित किया जाता है। उस दिन विशेषत: मृतयोगेश्वर का कोई प्रिय खाद्य पदार्थ, खीर खाण्ड, मीठा मिष्ठान इत्यादि पदार्थ बनाये जाते हैं। भण्डारा सिद्ध होने के पश्चात् सतनाथी (ब्रह्मा के) योगी या मृतात्मा के शिष्य समाधि सन्मुख भोग लगाते हैं। तथा सतनाथ योगेश्वर को वहीं आसन लगाकर उसे वहीं पर भोजन, वस्त्र दान-दक्षिणा, (मृतक का प्रिय) भोजन, ५ बर्तन, कम्बल, चद्दर, उपरोक्त गती का निशान दान आदि देकर उन्हें सम्मानित किया जाता है। यहाँ सतनाथी योगेश्वर नहीं हो तो धर्मनाथी या राम के योगी को यह मान दे सकते हैं। कोई भी नहीं मिले तो मृतात्मा के प्रिय शिष्य को दे देवें। तत्पश्चात् सभी योगेश्वर मानधारियों को भोज भण्डारा देते हैं। वस्त्रदान देते हैं। भेट पूजा (चिप्पी) देते हैं। और सभी को सम्मान दिया जाता है।

तद उपरान्त नाथ सम्प्रदाय (योगी महासभा) के अधिकारी, मानधारी, पीर महन्त, मृतात्मा का प्रिय-योग्य एवं उपयुक्त शिष्य और शिष्यगण एवं भक्त गण तथा गांव पंचायत तथा सम्बन्धित माननीय व्यक्ति आदि सभी को एकत्र करके नाथों का दलिचा (नाथ सभा) भरा जाता है। वहां सर्व सम्मति से विचार विमर्श कराके निश्चित किया जाता है कि मृतात्मा के पश्चात् उनकी गद्दी (स्थान) का कार्यभार कौन संभालेगा। यहां उनका प्रिय-योग्य तथा उपयुक्त शिष्य को उत्तराधिकारी घोषित करके गद्दीपर नियुक्त करते हैं यहाँ मृत योगेश्वर अपने प्रिय शिष्य (लायक) को मृत्यु से पूर्व नियोजित किया हुआ होता है या वह अपने मृत्यु पत्र में भी लिखाकर गुप्त रखता है। अत:

सर्व सम्मति से हस्ताक्षर से कागज पत्र स्टैम्प वगैरा बनाये जाते हैं। अगर उपयुक्त मृतात्मा का शिष्य उपलब्ध नहीं होगा तो योगी महासभा वहां नाथ सम्प्रदाय के किसी योग्य योगेश्वर को नियुक्त कर सकते हैं। तदनन्तर सबको बिदाई देकर अपने अपने स्थान मकान पर चले जाते हैं।

(क) समाधि विधान

इस प्रकार मृतात्मा का तिया होने के पश्चात् साधारण एक डेढ़ साल के अन्तर्गत मृतात्मा की समाधि के स्थान पर पक्की समाधि बनाते हैं। विशेषतः मृतात्मा की मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठान करने का निश्चय करते हैं और समाधि की वैसे ही रचना से पक्की बनाई जाती है। मूर्ति बनवाने हेतु नौता देते हैं। कोई छत्र बनाते हैं तो कोई मन्दिर तो कोई दरगाह बनाते हैं। यह सब उत्तराधिकारी एवं भक्तों पर निर्भर होता है। तथा मृतात्मा के कार्यकारणी-सिद्धि-आचरण-लोक जन सम्पर्क-तपस्या-अनुभूति उनके जीवन के कार्य साम्प्रदायिक प्रतिष्ठा आदि बातें विचाराधीन होकर तय किया जाता है। मूर्ति प्रतिष्ठा शंख ढाल में ही होती है समाधि की पूजन पाठ आरती नित्य होती है। समाधि पीरजी-महन्त-मठाधीश मानधारी-अधिकारी आदि प्रतिष्ठित हो तो निम्न प्रकार चद्दर उस समाधि के ऊपर चढ़ाई जाती है। [चित्र क्र० २ में 'ब' देखें]

।। ॐ श्री ।। ऽ ।। श्री ॐ ।।
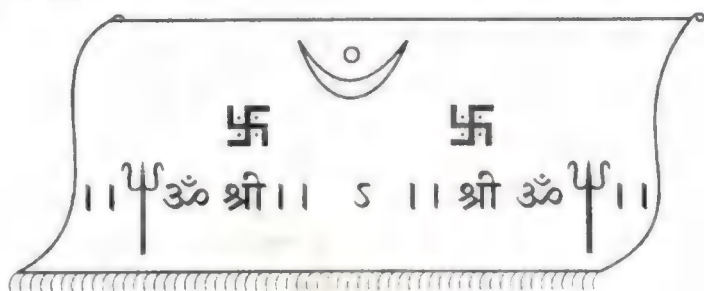
चदर जिसके ऊपर चिन्ह, अक्षर आदि लिखे जाते हैं।

समाधि
(उत्तर क्रिया विधि)

समस्त प्राणी के जीवन में मृत्यु एक बार और आखरी बार आती है परन्तु सिद्ध योगेश्वर दो बार मरता है। पहली बार वह योग साधना के समाधिस्थ होकर मरता है, जब वह जीवमुक्त अवस्था पाकर अमृत्वपद को पाता है और यह मरना अत्यंत मीठा तथा मधुर होता है जोकि उस ध्यान साधना में मधुर मीठा अमृतपान करता है। गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि– **मरौ वै जोगी मरौ मरण है मीठा। तिस मरणी मरौ जिस मरणी गोरख मरी दीठा।।**

हे अवधू! योग करो, साधना करो, योग साधना के ध्यान समाधि में मर जावो मीट जीवो, जहां मरण एक मीठा अमृत हो। ध्यान समाधि की वह परम उच्च अवस्था है जहां योगी अपना चित्त निरोध होकर जीव अवस्था मृत होकर अन्तरआत्मा अवस्था में जाता है। अर्थात उसको अपनी काया इन्द्रियों का कोई भी ज्ञान नहीं रहता। इस समाधि अवस्था में वो अमृत पान करता है। जैसे उपरोक्त (शब्दी) गुरु गोरक्षनाथ जी ने स्वयं की अनुभूति बताई है।

अत: योगी दूसरी बार मरता है जो कि इहलोक में अपने काया इन्द्रियों तथा मोहमाया को त्यागकर परलोक सिधार जाता है। पूर्व काल, सतयुग में नाथ सिद्ध योगेश्वर प्रयाण काल में अदृश्य् या लुप्त हुये या अर्न्तध्यान होते थे जैसे नवनाथ, त्रेतायुग में वह स्व शरीर आकाश में पवन रुप होकर स्वर्ग में उड़ जाते थे तो किसी को पुष्पक विमान लेने आते थे तो कोई धरती फाड़कर पृथ्वी में समा जाते थे। जैसे माता सीता। द्वापार युग में नाथ जीवित जल या थल समाधि लेने लगे जैसे श्री कृष्ण सागर में समा गये आगे कलियुग में प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त होने लगे किन्तु कोई कोई पहुँचे हुये सिद्ध महात्मा अदृष्य होते तो कोई आकाश गमन करते थे जैसे योगी सुन्दरनाथ जी क्योंकि वह अपने तपोबल या, साधनाबल या सिद्धियाँ बल से करते थे।

आगे–आगे समय अनुसार स्व इच्छा से योगेश्वर जीवित जल या थल समाधि लेने लगे आज भी लेते हैं। कुछ महात्मा सिद्ध योगी स्वेच्छा से अर्थात्

शरीर का सभी कर्म, व्यवहार को सम्पूर्ण त्यागकर केवल ईश्वर चिन्तन करते करते जीवन त्यागते हैं और भी कोई साधु संत अपना उत्तरार्ध जीवन पर्वतीय क्षेत्र हिमालय या किसी धाम में या पुरी में जहां मुक्ति प्राप्ति स्थान हो वहां बिताते हैं। अन्त काल में पांच पाण्डव तथा शंकराचार्य इत्यादियों ने हिमालय क्षेत्र में प्रयाण किया था।

बहुत से सिद्ध योगी अपनी मृत्यु की सूचना मृत्यु से पूर्व ही जानते हैं और वह शिष्य एवं प्रिय भक्तों को समाधि का दिन वर्ष यहां तक कि समय भी बताते हैं तथा अपने मन में जो सूझबूझ हो करना कराना हो, बातें कह देते हैं, लेन देन धूनी पानी समाधि उत्तर क्रिया कैसे निभाया जाये इत्यादि विषय का स्पष्टीकरण पहले ही कर देते हैं। इस प्रकार बाद में किसी को कोई संदेह ना रहे तथा ऐसे सारे प्रश्न पहले ही हल कर देते हैं। अपने पास जो कुछ भी हो सब सत्कर्म में लगा के समाधि लेना, आशा पाश तोड़ना, माया मोह से निवृत्त होना ताकि मृत्यु पश्चात मुक्ति प्रद जावे।

मुख्यतया नाथ सिद्ध भेष बारह पंथ में पंथ सतनाथ (ब्रह्मा के) योगेश्वर को सम्प्रदाय के सभी पंथ के समाधि विधियों का विधि विधान करने का अधिकार है अगर सतनाथ पंथ के योगेश्वर उपलब्ध नहीं हो तो मृत योगेश्वर के शिष्य भी यह विधि कर सकते हैं या कोई भी ना हो तो मृतक के भक्तजन भी यह विधि कर सकते हैं। आजकल थल समाधि और जल समाधि विशेष प्रचलित है।

थल समाधि विधि

जब योगेश्वर समा जाने के (मृत) पश्चाद् माननीय साम्प्रदायीक अधिकारी तथा विशेषत: सतनाथ पंथ के योगेश्वर, मृत योगेश्वर के शिष्य एवं भक्त मण्डल, सेवक इत्यादि सभी को बुलाया जाता है। मृत योगेश्वर को आसन ऊपर पदमासन लगाये बिठाया जाता है और आधारी (कुबड़ी) उनके ठोडी को आधार देकर खड़ी कर देते हैं ताकी मुख सीधा (सरल) रहे। अत: मृत योगेश्वर को समाधिस्त करने हेतु जो भूमि निश्चित की जाती है वहां कम से कम ५X५ फुट चौड़ा एवं ७, ८ फुट ऊंचाई का गड्ढा तैयार

करते हैं वहां ईंट, पत्थर, मिट्टी, एक बोरी चीनी, पांच शेर घी, मिट्टी का ठिकरा, मिट्टी का दीपक, मिट्टी का लोटा पाणी वाला गीला नारियल, तसला फावडा इत्यादि साहित्य रखते हैं।

अत: मृत योगेश्वर को स्नान हेतु चौकी उपर बिठाकर चारों दिशा में पडदा लगाते हैं वातावरण के अनुकूल गरम या ठंडा जल द्वारा सब मिलकर स्नान कराते हैं, यहां अधिकारी निर्देशन अनुसार कर्म करते हैं तथा सतनाथ ब्रह्मा के योगेश्वर मन्त्र क्रिया (उच्चारण) करते हैं। अत: बना बनाया गौ पंचगव्य जिसमे गौघी, गौ–दूध, गौ का दही, गौ का थोड़ा गोबर, और गौ का थोड़ा मूत्र यह सब एक पात्र में मिलाकर तैयार करते हैं वह मृत योगेश्वर के शीश–शरीर पर डालते हैं, तदनंतर गंगाजल डालते हैं, अत: पूर्ण शुद्ध जल से स्नान कराते हैं उन्हें नया लंगोट बांधते हैं, नये वस्त्र डालते हैं, शीश पर साफा बांधते हैं, योगेश्वर दर्शनी हो तो कानों में मृतीका के कुण्डल जो कलीयुग में मान्य एवं शुभ माने जाते है,वह डाले जाते हैं। नादिपवित्री जनेऊ पहनाते हैं, बाये भुजा में (कंधे में) भगवे वस्त्र की झोली डालते हैं, झोली में पांच बून्दी के लड्डु, सवा रुपया, तथा योगेश्वर को प्रिय पदार्थ या तो कोई व्यसन हो तो वहां थोड़ा सुलफा या गांजा इ० रखते हैं अत: योगेश्वर को भस्मी का त्रिपुण्ड लगाया जाता है, शरीर उपर सुगंधी अत्तर छिडकांते हैं, फूल या पुष्प माला चढ़ाते हैं। अत: योगेश्वर को उच्च आसन के ऊपर ठोडी को कुबडी लगाके बिठाते हैं या तो गोबर से लिपे हुये जो दर्भसन या कुश से बिछौने से संस्कार किये हुये भूमी स्थान पर मृत योगेश्वर हो बिठावे क्योंकि इस संस्कारित भूमि मण्डल के सामीप्य ब्रह्मा विष्णु रुद्र एवं अग्नि बैठते है। बिना मण्डल करणे से पिशाच राक्षस भूत प्रेत और यम के दूत प्रवेश करते हैं। मृत योगेश्वर के मुख में स्वर्ण रत्न डाले या तो १ मुखी रुद्राक्ष का अभिषेक किया हुआ (गंगाजल) जल मुख में डाले जिससे मृत योगेश्वर पवित्र होकर पुर्नजन्मों के योनियों से छूटकर शिवलोक को जाता है। (मृत्यु के समय गंगा मां का केवल नाम स्मरण करने से मोक्ष मुक्ति को जाता है। “हे गंगामाता मुझे शिवलोक में ले चलने की कृपा करें।” ऐसे

कहकर जो मृत होता है वह शिव लोक में जाता है।) इसके पश्चात गोरक्ष गायत्री, नवनाथ जाप, गोरक्ष स्त्रोत, या ४०सा का पाठ करे। या वेद, उपनिषद के पाठ करने से मृतात्मा की मुक्ति होकर वायु लोक में तथा शिवलोक में जाते हैं।

योगी लोग तालु के छिद्र से प्राण छोड़ते हैं अपान वायु से मिले हुये प्राण सहस्त्रार चक्र से सूक्ष्म रूप से तालु से निकल जाते हैं। वहां मृत पुण्यात्मा, पूर्ण योगी, तपस्वी पूर्ण वैरागी को धर्मात्मा को सुन्दर दिव्य देहधारी देवता तथा दिव्य सत–महात्मा दिव्य विमान में बैठाकर ले जाते हैं।

(अगर योगेश्वर विदेश–जंगल या एकान्त में मृत हो गये और उनकी देह न मिली तो जिस दिन उनके मरण का सन्देश मिले उस दिन गोबर या बभूती का या धान्य का पुतला करके पूर्वोक्त विधि से समाधि (जल या थल) करें।)

यहां पर प्रत्येक कर्म में सतनाथ पंथ के योगीश्वर मन्त्र उच्चारण करते हैं। आसन के समय आसन मन्त्र (पृष्ठ ९) स्नान के समय जल गायत्री (पृष्ठ १७५) या आलिल गायत्री (पृष्ठ १७६) लंगोट डालने के समय लंगोट मन्त्र (पृष्ठ १८२) भगवा वस्त्र चढ़ाते समय भगवा मन्त्र (पृष्ठ १८५) तथा झोली मन्त्र (पृष्ठ २०५) कुण्डल मन्त्र (पृष्ठ १८६) नाद–जनेऊ मन्त्र (पृष्ठ १८७) भस्मी मन्त्र (पृष्ठ १८३) अतर मन्त्र (पृष्ठ १९६) कुबडी मन्त्र (पृष्ठ २१३) इत्यादि कर्म मन्त्र के साथ भक्त, सेवक तथा शिष्य करते हैं।

अत: उच्चासन बिठाने के बाद प्रथम मृत योगेश्वर के शिष्य तथा अन्य नाथ महात्मा नादि आदेश करके चिप्पी दान कराके मान देते हैं, तदपश्चाद भक्त सेवक नमस्कार करते हैं। भक्त लोग पुष्प, पुष्पमाला चिप्पीदान चढ़ाते हैं। कोई चदर, कम्बल भगवा वस्त्र इत्यादि चढ़ाते हैं। उपरोक्त सभी समाधि कर्म सनई या बाजा या ढोल, शंख बजाके करते हैं। आवश्यकता के अनुसार इतरत्र दर्शन हेतु जुलुस भी निकालते हैं।

अत: मृत योगेश्वर को समाधि स्थान में लाते हैं जहां गड्ढा बना है, प्रथम गड्ढे में नीचे भूमि ऊपर पांच दस ईंटे बिछाकर उसके ऊपर भगवा वस्त्र

बिछाकर आसन बनाते हैं। अत: सतनाथ के योगेश्वर निम्न मंत्र कहकर मृतक योगेश्वर को आसन ऊपर पदमासन लगाके बिठाते हैं। जो बराबर गड्डे के बीचोबीच आवे। अत:

मृतक के आसन बिठाने का मन्त्र

सत नमो आदेश। ॐ गुरुजी। बीज मन्त्र तत परवाना काया खोजो जोत समाना। अलख कूट अलख उपाया। तीन लोक ब्रह्मा मिल छाया। तीन लोक त्रिकुटि द्वारा। जगमग जोत हुई प्रकाशा। इस बीज मंत्र का अंत किस विरले ना पाया। गुरु वचन योगेश्वर को पात्रासन बिठाया। श्रीनाथ गुरुज़ी को आदेश।

अत: सतनाथ के योगेश्वर मृतक योगेश्वर के सम्मुख एक मिट्टी का लोटा (मटका) जल भरके रखते हैं और उसके ऊपर (पाणिवाला) नारीयल रखकर निम्न समाध गायत्री बीज मन्त्र बोलते हैं।

समाध गायत्री बीज मन्त्र

ॐ गुरुजी पानी का बून्द पवन का थंबा देवल देख भया अचम्बा। जागत नगरी दीजै वास हंसा छोड़ चल्या कैलाश।। आओ सिद्धो जोगी जमाति सोधो धर्ती खोदो समाधी। कितनी समाध बोलिये कितनी गुफा बोलिये। अहूठ हाथ समाध बोलिंये, सवा हाथ कि गुफा बोलिये। सवा हाथ का हाड़ बोलिये चार अंगुल का मास बोलिये।। तिल भर चाम बोलिये, चार अंगुल रोमावली बोलिये। सुन्न नासिका सुन समाध, शब्द बोलिये एकोंकार।। जपो समाध बीज गायत्री पीवो दूध दोहो धरित्री। ब्रह्मा धर्ती विष्णु कुदाली ईश्वर गौर माटी डाली।। पढ़ गुण मन्त्र समाधि दीजै तैयाका भण्डारा कीजै।। दूध भात का भोग लगाया प्राण पुरुष अमरा पुरहया।। जोगी पूजै पाँव परवाली चूरी चिप्पी चादर थाली। बिना मन्त्र समाधि देवे सो प्राणी जमपुरी में रोवै।। पढ़ो समाध गायत्री सार, प्राणी पावै मोक्ष द्वार।। इतना समाध बीज गायत्री मन्त्र जाप सम्पूर्ण भयी। अनन्त कोट सिद्धों में श्री नाथजी गुरुजी ने कहाई। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।

अत: सतनाथ के योगी कलश के सम्मुख एक मिट्टी का दिपक (गौघृत का) जोत जगाने का बीज मन्त्र (पृष्ठ १९९) बोलकर चेतन करते हैं तथा साथ में धूप या अगरबत्ती लगाते हैं और उसे चारों तरफ ईंटे रखकर उसे घोंसला बनाते हैं, अत: मृतक योगेश्वर के शिश ऊपर (माथे ऊपर) मिट्टी का खप्पर (ठीकरा) निम्न ठीकरे का मन्त्र उच्चारण करके वह पलटा मारके रखते हैं।

ठीकरे का मन्त्र

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ३ॐ गुरुजी! पढ़ो पढ़ो महेश्वर करनी से उतरो पार करनी होय तो पौढ़ी चढ़े बिन करणी कहो गुरुजी कैसे तरे। ओं ठीकरा नहीं कोई ठाठ है। पांच तत का घाट है। धरती मुख उत्पन्ना, पवन मुख सुखा अग्नि मुख जरा सो ठीकरा सब सन्तन के आगे चला हाथ में चलावे राजा प्रजा को चितावे। शिर पर धारे तो समाधि करे। ओ किसने मुकुट मान्या कौन जगाई ज्योत। कौन तेरी साख भरे, कौन रहते तेरे कोल। शिव ईश्वर मुकुट मान्या, शक्ति जाई जोत ब्रह्मा तेरी साख भरे, विषण रहे तेरे कोल। अमर जोगी अमरापुर चढ़े सत्य शबद की ओट। सत्य का शबद का करो विचार, करनी अपनी उतरोगे पार। ३ॐ सोहं ठीकरा जाप सम्पूर्ण भया। अनन्त कोट सिद्धों में श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथजी ने कहाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।

अत: मृतक योगेश्वर के चारों ओर थोड़ी नून शक्कर डालते हैं तथा थोड़ा घी डालते हैं फिर मिट्टी डालते हैं। और साथ–साथ ईंट, पत्थर चारों तरफ रचनात्मक ढंग से रखते रखते मृतक की समाधि भरते रहते हैं। साथ में शंख, बाजा ढोल इत्यादि बजाते रहते हैं। भक्त, शिष्य सेवक फूल अक्षत डालते हैं, और मृत योगेश्वर के नाम का जयघोष करते हैं और अन्य योगेश्वर, शिष्यगन एवं अधिकारी पांच–पांच मुट्ठी नून शक्कर मिली मिट्टी तथा घी डालते रहते हैं साथ में सतनाथ पंथ के योगेश्वर निम्न मन्त्र समाध गायत्री का पाठ करते हैं उच्चारण करते हैं। यहां पर धरत्री गायत्री (पृष्ठ सं० ४५) द्वादश मंत्र भी बोलते हैं।

समाधी गायत्री

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी! मैं तेरा पूत तू मेरी माता, आदि की धर्ती अनादि की माया। सत्य का योगी वज्र की काया। अमर होय धर्ती वज्र हो काया। फुरो फुरो ज्वालामुखी तू फूरो। ऋद्धि फुरे सिद्धि फुरे, अगम निगम माता धर्ती कहे पिण्ड प्राण बालक स्वरूपी सदा रहे मारिया। मरे नहीं काटेया कटे नहीं गाड़ेया, गड़े नहीं किसने कही किसने खुदाली किसने उसमें मिट्टी डाली। ब्रह्मा कही विष्णु खुदाली। ईश्वर गौरा मिट्टी डाली। आओ ईश्वर जी करो विचार। इस प्राणी को दीजे मोक्ष मुक्ति फल द्वार। ईश्वर सदाशिव सिमरु तोहे, ब्रह्मा पढ़े पाठ धर्ती माता राह देवो मोहे। एक राह उत्तर को गया। एक राह पश्चिम का गया। एक राह दक्षिण को गया। एक राह पूर्व को गया। चार दिशा चार खूंट राह देवो मोहे। दूहे धर्ती पावे खीर अमर हो काया वज्र हो शरीर। मांस गले मच्छन्द्र लाजे, हाड गले गोरक्षनाथ लाजे, जिभ्या गले सद्गुरु लाजे, यम को मार काल को भखे। अपना शरीर आग ही रखे। इस पिण्ड हो आकुल व्याकुल करे तो कोटान कोट श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी की दुहाई। धर्ती माता जी के चरन कमलों में नमस्ते। ॐ गुरुजी। प्रथमे धर्ती माता बोलिये, द्वितीय नाम आकाश। तृतीये सिद्धि किया प्रकाश। चतुर्थे आदि अलिल, पांचवे पांच भूत धर्मराजा। धर्म गुसांई सुध बुध भरो सन सेजा माई, हम तुम न होय तो तीन लोक धर्ती प्रलय हो जाये। पहिली मुट्ठी उठाई ॐकार ने खबर पाई–धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।१।।

दूसरी मुट्ठी उठाई चन्द्र सूर्य ने खबर पाई, धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।२।।

तीसरी मुट्ठी उठाई तीन लोक के वासुकि नाग ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्र साख।।३।।

चौथी मुट्ठी उठाई, चार वेद के ब्रह्मा ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।४।।

पांचवी मुट्ठी उठाई, पांच तत्वों ने खबर पाई। धर्ती माता पिण्ड प्राणी

आये तेरे पास ब्रह्मा विष्णु महेश्वर साख।।५।।

पांच तत्व में रूप न रेख, भज ले बन्दे आप अलेख। समाधि धरती, समाधि आकाश, समाधि जल पवन प्रकाश। इतना समाधि जाप सम्पूर्ण भया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।

इस प्रकार ईंट, पत्थर एवं नून शक्कर घी मिट्टी से जब मृत योगेश्वर पूर्ण रूप से ढक जाता है तब उपर से मिट्टी तथा थोड़ा–थोड़ा जल जल गायत्री या अलिल गायत्री बोलकर वह समाधि युक्त गड्डा पूर्ण भरते हैं। अन्त में समाधि उपर ईंटों का घोसला बनाकर घी या तेल का एक दिपक चेतन कर रखते हैं। जो ३ दिन अर्थात तीया तक जलता है। इत्यादि क्रिया होने के बाद उनके निकट शिष्य अथवा भक्त समाधि स्थान उपर अथवा जहां योगेश्वर की मृत्यु हुयी है उस स्थान उपर एक चौड़े मिट्टी के कसोरे में वस्त्र से छानी हुई भभूत रखते हैं तथा दीपक चेतन कराके रखते हैं। भभूत का पृष्ठ भाग थपाकर रखते हैं जो कि कोई भी निशान दिख सके। अत: दूसरे या तीसरे (तिया) के दिन उसके (भभूत) के ऊपर जो भी निशान (आकृति) आयेगा उस निशान के जरिये उस महात्मा को गति प्राप्त हुई है यह अनुमान लगाते हैं, अर्थात उदाहरणार्थ–शिवलिंग के निशान आये तो शिवलोक गये चक्र का निशान आये तो विष्णु लोक गये, शब्द या कमल पुष्प आये तो ब्रह्म लोक गये, चन्द्र निशान से चन्द्र लोक, सूर्य निशान से सूर्यलोक इत्यादि निशान वा आकृति अनुसार उक्त योगेश्वर प्रति अनुमान लगा लेते हैं। तिया के दिन मुख्यता सतनाथ (ब्रह्माजी) पंथ के योगेश्वर को या सतनाथ पंथ योगेश्वर नहीं होवे तो मृत योगेश्वर के प्रिय शिष्य को या शिष्य ना होवे तो मृत योगेश्वर के पंथ के योगेश्वर को वस्त्र दान, दक्षिणा, (मृतक के प्रिय) भोजन, बर्तन कम्बल इत्यादि उसी समाधि सन्मुख बैठकर दिया जाता है। बाकी अन्य महात्माओं को मीठा मिष्ठान्न युक्त (खिर खाण्ड) भोजन–भण्डारा एवं चिप्पी देते हैं। तदउपरान्त साम्प्रदायिक (योगी महासभा) अधिकारी मृतक योगेश्वर शिष्य, भक्तों, सेवकों तथा गांव पंचायती या सम्बन्धित माननीय गांव के सभी लोग एकत्र बैठकर विचार

विनिमय का गद्दी पत्र करार इत्यादि से सम्प्रदाय अधिकारी या महन्त या उत्तराधिकारी रूप में लायक योगेश्वर को नियुक्त करते हैं फिर वह मृत योगेश्वर शिष्य हो या शिष्य नहीं हो तो सम्प्रदाय अधिकारी अपने अधिकार से सर्व सम्मति से नियुक्ति कर सकते हैं। जबकि वह स्थान योगी महासभा का होये।

आगे भविष्य में कुछ दिन पश्चात मृत योगेश्वर मुक्ति हेतु शंखा ढाल क्रिया—भण्डारा भव्य रूप से मनाते हैं। शंखा ढाल गुप्त क्रिया, मुक्तिप्रद एवं एक तांत्रिक क्रिया—कर्म है।

जीवित (जिन्दा) थल समाधि

कुछ योगेश्वर जिन्दा थल समाधि लेते हैं। इसमें समाधि का दिन समय निश्चित कराके, शिष्य सेवक जुलूस निकालते हैं। समाधि स्थान पर जोगी गुफा या जमीन में ६X६ फुट का गड्डा बनाते हैं। योगेश्वर उसमें आसन सिद्धासन या पद्मासन जो भी हो जो सिद्ध हुआ हो वह आसन लगा के बैठते हैं और प्राणायाम क्रिया योग बल से योगेश्वर अपने भ्रूमध्य त्रिकुटी में प्राण लाकर समाधिस्थ होता है जबकि खान पान सभी क्रिया त्यागकर बैठते हैं। जिस दिन वह योगेश्वर काया त्याग कर परलोक जाता है उसी दिन शिष्य या भक्त वह गड्डा बंद कर देते हैं या गुफा हो तो बड़ा सा पत्थर लगा के गुफा का मुंह बंद करा देते हैं। कुछ योगी समय से पूर्व बताकर बैठे आसन में ही योग बल से (प्राणायाम से) काया को त्यागते हैं तद्पश्चात चेले समाधि बनाते—पूजते हैं।

इस प्रकार की जिन्दा थल समाधि बाबा मस्तनाथ जी के शिष्य रनपत—मानधाताओं ने अस्थल बोहर (हरियाणा) में ली है तथा महाराष्ट्र में सन्त योगी ज्ञानेश्वरनाथ जी ने तथा त्र्यंबकेश्वर में योगी निवृत्तिनाथ जी ने ली है।

कुछ योगेश्वर गड्डे में बैठकर गड्डा बंद करने को कहते हैं। अंदर से एक नली लगाते हैं जिसका एक छोर अपने मुंह में और दूसरा छोर गड्डे के बाहर निकालते हैं। अत: नित्य रोज उस नली में दो या १ समय दूध अथवा पानी डालते हैं जो कि महात्मा अंदर से उसे पी लेता है जिस दिन दूध या

पानी पीना बंद होता है। उसी समय सब जान जाते हैं कि गड्डे के अंदर के योगेश्वर मृत हो गये हैं।

इस प्रकार योगेश्वर थल समाधि अथवा जिन्दा थल समाधि लेने के पश्चात, लोग उस जगह ऊपर समाधि ईंट पत्थर लगवा के बनाते हैं उसकी नित्य धूप दीप पुष्प पूजा करते हैं और मृतक का तिया, भण्डारा इत्यादि विधि पूर्वोक्त विधि से करते हैं। अतः उस समाधि के ऊपर चद्दर या शाल ओढ़ाते हैं। समाधि पीर जी, महंत, मठाधीश होते हैं तो चद्दर के ऊपर निम्न अक्षर मन्त्र लिखकर ओढ़ाते हैं।

ॐ श्री 卐 ॐ श्री ऽ 卐

इस प्रकार योगेश्वर थल समाधि द्वारा पृथ्वी तत्व में विलीन हो जाते हैं।
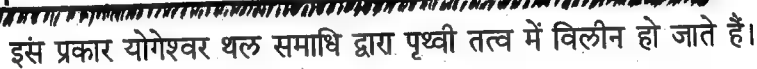
जल समाधि विधि

जल समाधि विशेषता बड़ी नदी किनारे निवास करने वाले महात्मा अपनाते हैं। (गंगा, जमुना इत्यादि) जब योगेश्वर का शरीर पूरा होता है। तब आसन बैठाना, आदेश इत्यादि क्रिया पूर्वोक्त विधि से करने के पश्चात शव का जुलूस निकालकर अथवा किसी वाहन द्वारा नदी के किनारे श्मशान घाट ले जाते हैं। शव को आसन में बिठाकर शव के सिर पर मिट्टी का ठीकरा चढ़ाते हैं। कहते हैं खोपड़ी फूटकर हंस उड़ता है। योगेश्वर अंत समय योग द्वारा प्राण को सहस्त्रार या ब्रह्मरन्ध्र में अर्थात मस्तक में प्राण लाकर रखते हैं। ठीकरा मस्तक चढ़ने पर प्राण सुरक्षित होते हुये योगी की समाधिस्थ अवस्था में शीघ्र ही मुक्ति होती है।

अतः शीश ठीकरा रखते समय निम्न मंत्र सतनाथ पंथ के योगेश्वर या मृत योगेश्वर का शिष्य अथवा पंथ अनुयायी बोलता है।

ठीकरा मन्त्र

ॐ सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी।
ॐ ठीकरा सोंह ठीकरा धर्ती ठीकरा ठाट।।

सों ठीकरा आगे धरा गत गंगा के घाट।।

पवन मुख सुखा, अग्नि मुख जरा सो ठीकरा ले माथे धरा। ठीकरा नहीं यह ठाट है। उरध घाटिका बाट है।। पढ़ो गुणों योगेश्वर ठीकरे का तत्सार। सत की पौड़ी पग धरे हंसा उतरे पार।। इतना ठीकरा मंत्र जाप सम्पूर्ण भया। अनंत कोट सिद्ध में बैठकर गुरु गोरक्षनाथ जी ने कहाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश। आदेश।

अत: ४–६ योगेश्वर शव को गंगा जी में प्रवाहित (बहाकर) कर देते हैं या गहरे जल में डुबो देते हैं तथा सतनाथ पन्थ के योगेश्वर मन्त्र पढ़ते हैं।

जल समाध गायत्री

सत नमो आदेश। गुरुजी को आदेश। ॐ गुरुजी!

ॐ आदि में सत्य, सत्य की धरती, धरती माता तोय पीवे, तोया तेज में जले बले, तेज वायु वासना वासलै। वायु ग्रास लै आकाश गलै। हंस उड़ै, सत्त की काया गले। तिसकी रक्षा जती गुरु गोरक्षनाथ जी करे। ॐ जले हिन्दु मुसलमान को दबाया। अलील पुरुष तुम जागो योगेश्वर तुम्हारे शरण में आया। कहोरे बालका कहां से आना कहां जाना है। ॐ गुरुजी। अगम से आया, निगम को जाना है!

मांस गलै अलील पुरुष लाजै। चाम गलै तो महादेव लाजै। हाड़ गलै तो गुरु गोरक्षनाथ जी लाजै। पड़े पिण्ड निरंजन लाजै।

पड़े पिण्ड उड़े हंस सद्गुरां का हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति गुरु शबद का वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस मनसा अलील ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति अलीलपुरी में वासा रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस विष्णु महालक्ष्मी ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति विष्णुपुरी का वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड, उड़े हंसा ब्रह्मा सावित्री ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति ब्रह्मपुरी में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्ड उड़े हंस, शिव शक्ति ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी

मोक्ष मुक्ति शिवपुरी में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

पड़े पिण्डे उड़े हंस अंत गोरखनाथ ने हुकम चलाया। आवो रे प्राणी मोक्ष मुक्ति परम धाम में वासा, रक्षा करे गुरु गोरक्षनाथ जी बाला।

इतना जल समाध मंत्र जाप सम्पूर्ण भया। अनंत कोट सिद्ध में बैठकर गुरु गोरक्षनाथ जी पढ़ कथ कर सुनाया। श्री नाथजी गुरुजी को आदेश।

तदपश्चात सतनाथ पन्थ के योगेश्वर जल गायत्री कहकर हाथ पैर धो लेते हैं या स्नान कर्म करते हैं। इस जल समाधि क्रिया विधि में जल गायत्री अथवा अलील गायत्री भी (प्रथम खण्ड में पृष्ठ सं० १७५ या १७६) बोली जाती है।

जीवित (जिन्दा) जल समाधि

कुछ योग सिद्ध योगेश्वर जीवित जल समाधि लेते हैं। कोई प्रदर्शनी (जुलूस, गले में फूल माला इत्यादि) तो कोई अकेले एकांत में जल समाधि लेते हैं। सर्व इच्छा त्याग कर केवल जल तत्व में विलीन होकर मुक्ति पाना यही आखिरी इच्छा से जल समाधिस्थ होते हैं।

सिद्ध योगी अपने योग द्वारा (श्रेष्ठ प्राणायाम) प्राण को सहस्त्रगार चक्र शीश मध्य में स्थिर करके जल के अन्दर आसन लगा के बैठते हैं। कुछ वजन से जड़त्व प्राप्त कर लेते हैं। ताकि जल के पृष्ठ भाग पर ना तैरे। शरीर पैरों से लेकर धीरे—धीरे सुन्न (चेतना रहित) होता है। प्राण त्यागने के पश्चात वजन छूट जाता है। शव तैरते हुए बह जाता है। काया धीरे—धीरे गल जाती है। जलचर प्राणी भी शव को खा जाते हैं।

१. इस प्रकार की जीवित जल समाधि त्रेता युग में प्रभु रामचन्द्र जी ने अयोध्या नगरी के शरयु नदी में सब भक्त—सेवकों की उपस्थिति में ली थी।

२. इस प्रकार की जीवित जल समाधि कलयुग में श्री दशेरानाथ जी ने कोलायत बिकानेर के पास तालाब में जिन्दा जल समाधि ली है। (दशेरानाथ समाधि स्थान)

इन योगेश्वरों की तीया तथा शंख ढाल क्रिया होती है। इस प्रकार योगेश्वर अपने योग द्वारा मृत जीवित जल तत्व में विलीन होते हैं। मृत्यु चाहे प्राकृतिक हो चाहे स्वइच्छा से हो मृत्यु सबको आनी है। अगर मृत्यु का अधिकार है तो मुक्त होने का अधिकार भी सबको मिलता है। मुक्ति यही अंतिम ध्येय होता है। चाहे एक जन्म में हो या अनेक जन्म में हो कभी न

कभी इंसान को मुक्त होने की इच्छा प्रगट होती ही है और मुक्ति मोक्ष का सुगम मार्ग है योग, इसलिये योग करो योग के लिए ही मरो। पशु पंछी, कीटक इनको मुक्ति नहीं मिलती। मनुष्य मात्र जन्म में ही मुक्ति पा सकता है।

कुछ नाथ सिद्धों की प्रचलित बोली भाषा तथा उनका अर्थ

निम्न प्रकार के संक्षिप्त शब्द (बोली भाषा) नाथ योगेश्वर—बड़े मेले में, दर्शन मेला, तीर्थाटन मेल—मिलाप—जहां भी योगेश्वर एकत्र होते हैं, वहां इन शब्दों में एक दूसरे से बोलते हैं। विशिष्ट क्रिया—साधनों में भी यह कोड भाषा बोलते हैं और इस शब्द भाषा से ज्ञान, वैराग्य, योग, नाथ परम्परा एवं मर्यादा, आदर्श, निःस्वार्थ, स्नेह, प्रेम, आदर, स्वाभिमान और गलत आचरण में सुधार इत्यादि गुणों का बोध होता है।

(१) सत है—सत्य है।

(२) गुरु मेहेर—सदगुरु, कृपा, आशीर्वाद

(३) गुरु—चेला (शिष्य)—नाती—गुरु, शिष्य तथा भक्त नाती है।

(४) शबदी—सद्गुरु मुख बोली (प्रत्यक्ष अथवा किताबों में)

(५) योग पट या जोग पट—अपना खुद का (शिष्य का) नाम

(६) प्रेमपट—अपने (शिष्य के) सद्गुरु का नाम

(७) फुलपट या ज्ञान पट—अपने (शिष्य के) दादा गुरु का नाम

(८) गुरु वन्दना—सद्गुरु सन्मुख प्रार्थना या सद्गुरु स्मरण

(९) गुरु मन्त्र—सद्गुरु मुख से लिया हुआ मंत्र

(१०) मन्त्र दिक्षा—मन्त्र देकर शिष्य बनाते हैं। गृहस्थी भी मंत्र दिक्षा लेकर शिष्य बन सकते हैं।

(११) आदेश—(१) सद्गुरु के सन्मुख तथा देवता के सन्मुख नाद बजाकर तीन बार आदेश अर्थात नमस्कार करना ॐकार उठाना।

(२) बड़ों से आज्ञा मिलती है उसे भी आदेश कहते हैं।

(३) शिष्य के प्रति आदेश मतलब आशीर्वाद है।

(४) वेदों में आदेश का अर्थ—ना आदि ना अंत को समस्त विश्व को जानना। इस स्थापथ्य को आदेश बोलते हैं।

(५) आत्मा—जीवात्मा—परमात्मा इस तीनों का आदेश शबद से बोध होता है।

(१२) दिक्षा (शिक्षा) लेना—सम्पूर्ण त्याग कर सद्गुरु शरण में समर्पित होकर शिष्यत्व स्वीकारणा या चेला बनना।

(१३) नादपूजा—आदेश (प्रणाम) करने की नाथ सिद्धों की एक पारम्परिक पद्धति जो कि उखड़ु बैठकर तीन बार नादी बजाकर फिर स्वयं खड़ा होके दायें से घूमकर फिर उखड़ु बैठना और फिर ३ बार नादी बजा के आदेश करना।

(१४) भेटपूजा—(चिप्पी) दक्षिणा दान तथा मान देकर आदेश करना यह भी नाथ परंपरा है।

(१५) बिदाई—स्थान छोड़कर जाते समय योगेश्वर को बिदाई (दक्षिणा) देना यह भी नाथ परम्परा है।

(१६) अवधू—महाज्ञानी, आजीवन, आजन्म अविवाहित रहकर अनुष्ठानी, योग साधना (हटयोग) व्रत करने वाले महात्मा।

(१७) अवधूत—समस्त कामनाओं को भस्म कर (त्यागकर) अखण्ड भस्म लेपन करके व्रतस्थ रहने वाला सुविचारी ज्ञानी, यह पूर्वकाल (भूतकाल में) में गृहस्थी धर्म का पालन करके अपने उत्तरार्थ काल में भस्म धारण कर (त्यागकर) अवधूत बनते हैं।

(१८) सिद्ध—सद्गुरु मर्यादा पालक—अवधू भेष से सुसंस्कृत, नाथ घर की सभी क्रियायें तथा कर्मकाण्ड जानने वाला, अन्दर बाहर से पूर्ण अवधू वह महात्यागी सिद्ध होता है।

(१९) साधक—जिज्ञासु भक्त

(२०) भगत सेवक—गृहस्थी, नाथों के नाती, सेवाधारी

(२१) शाबरी—नाथ सिद्धों की भाषा

(२२) योगी—दर्शनी (कान कुण्डल धारी) नाथ सम्प्रदाय का अनुयायी।

(२३) जोगी—गृहस्थ नाथ, यह घर बार त्यागकर अवधूत बन सकते हैं।

दर्शनी योगी बन सकते हैं। (पूर्वकाल में योगी को जोगी कहने की प्रथा थी)

(२४) घर का जोगी या जोगी घरका—जन्मता जोगी या नाथ घरके

(२५) बिन्दु—पारा—बिन्द—पुरुष वीर्य (पुष्ट) को कहते हैं तथा कुण्डलीनी उत्थान को भी कहते हैं।

(२६) कुण्डलीनी उत्थान—कुण्डलीनी शक्ति जाग्रत करना यह प्रत्येक पुरुष के मूलाधार चक्र में सर्पाकृति मण्डल डालकर बैठी हुई होती है तथा वीर्य उध्वरेता क्रिया को भी कुण्डलीनी कहते हैं।

(२७) खडदर्शन—६ चक्रों की जाग्रती तथा छह चक्र दर्शन

(२८) दर्शनी योगी शिव की काया—शिव स्वरुप जो दर्शनी योगेश्वर होते हैं उनको कहते हैं।

(२९) इन्द्रि के जती—वाचा के सती (या जती सती) अखण्ड ब्रह्मचारी एवं सत्यवादी

(३०) शक्ति पात—सद्गुरु स्पर्श द्वारा तथा अपने योग शक्ति द्वारा शिष्य को कृपा कटाक्ष शक्ति देते हैं। वह शक्ति पात तथा शक्ति सन्क्रमण भी कहते हैं।

(३१) स्थान मकान—मठ, मंदिर, टिल्ला, दरगाह, दलीचा, समाधि धूना (यज्ञकुण्ड) नाथ सम्प्रदायिक इष्ट देवी देवता के मूर्ति या चरण पादुका स्थापित स्थान।

(३२) दर्शन मेला—भेंट मुलाकात तथा धार्मिक यात्रा स्थान भेंट

(३३) मत्था टेक—नाथ सम्प्रदायिक पंथों के मुख्य गद्दी स्थान में जाकर दर्शन करना। इसे सिर मत्था टेक भी कहते हैं।

(४०) फक्कड़—त्यागी अवधू (पूर्ण विरागी)

(४१) राजी खुशी—हालचाल

(४२) जुकती—मुकती—साधु वृत्ति से रहना। (आचरण शुद्ध)

(४३) लेखा—जोखा—हिसाब किताब (लेन देन)

(४४) धूनी चेतन करना—धूना (यज्ञ) जागृत करना।

(४५) अखण्ड धूना—पूर्व काल से चेतन (प्रज्वलित) धूना रखना और

आगे भी चेतन रखना।

(४६) आकाश वृती में रहना—योगेश्वर जंगल, गुफा, विराण में रहते हुये सभी व्यवहार खानपान लेन देन इत्यादि सब कुछ निसर्ग अर्थात प्रकृति परमेश्वर ऊपर निर्भर होता हैं वह न किसी से न कुछ मांगता है और नाही कुछ कहता था जैसे दिया तो भला नहीं दिया तो भी भला।

(४७) विभूति आसन विभूतीघासन—सम्पूर्ण भस्मरत तपस्या।

(४८) तपस्वी—धूना तपाके भस्मीधारी तपस्या करने वाला।

(४९) जटाधारी—जटा युक्त अवधू।

(५०) मौनी—मौन (न बोलना) व्रत धारी अवधू।

(५१) खडेश्वरी—खड़ी तपस्या का व्रतधारी अवधू।

(५२) फलाहारी, दूधाधारी—फल या केवल दूध पर रहने वाले।

(५३) खप्परधारी—केवल खप्पर में खानपान एवं खप्पर सिद्ध करने वाले, वानप्रस्थी, तपस्वी योगेश्वर

(५४) बर्फानी—बर्फ (हिमालय) में तपस्या करने वाले

(५५) थानी मकानी—स्थान मकान में रहने वाले

(५६) मठाधीश या मठधारी—मठ मन्दिर आश्रम में रहने वाले

(५७) नागे—निर्वाणी—नग्न व्रतधारी अवधू।

(५८) धूनी पानी सिद्धों की बानी—धूना कर्म विधिवत करना तथा धूना के प्रति अखण्ड श्रद्धा।

(५९) आसन चेतन करना—आसन सिद्ध तथा जाग्रत करना।

(६०) स्थान मकान चेतन करना—स्थान जाग्रत (प्रगति) करना।

(६१) महंत—पीर, राजा, गुरु, मठाधीश, स्थान का संचालन संस्थापक तथा प्रबंध कर्ता इत्यादि।

(६२) बाना पहनना या बाना लेना—भगवे वस्त्र धारण करने तथा दीक्षा लेने के पश्चात बाना लिया कहते हैं।

(६३) पोता चेला—अपने चेले का चेला को पोता चेला कहते हैं।

(६४) चाचा गुरु—सद्गुरु जी के गुरु भाई को कहते हैं।

(६५) दादागुरु—सद्‌गुरु जी के गुरु जी को कहते हैं।

(६६) पड़दादा गुरु—दादा गुरुजी के गुरु जी को कहते हैं।

(६७) कथनी करनी—जैसे कहा वैसे ही करना नाथ घर की मर्यादा है।

(६८) रहनी सहनी—नाथ घर का आचरण से रहना और सहन करना।

(६९) रमते राम—फिरस्ति या भ्रमण करने वाले अवधू।

(७०) जमाती (जमात)—भ्रमणशील साधुओं का संगठन।

(७१) रम्मत करना—सर्वत्र भ्रमण (अकेला) करना इसे फक्कड़ भी कहते हैं।

(७२) सुल्फीय्या—(सुलफा) दम मारने वाले या चिलम पीने वाले।

(७३) चिलम साफी—सिद्धों का प्याला।

(७४) चिलम साफी बंद करना—नाथ सम्प्रदाय से बहिष्कृत करना।

(७५) चिलम साफी खुलना—दया/क्षमा करके नाथ सम्प्रदाय, अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करते हैं।

(७६) चिलम भरना—चिलम में नशा या तमाखू भरके देना।

(७७) लगे दम मिटे गम दुनिया कमाये खाये हम, बोलो बम्ब—दम मारने वाले दम मारते—मारते ऐसे उत्किया बोलते रहते हैं।

(७८) सौघर भटके, नाथ घर अटके—औघड़ प्रति बोलते हैं।

(७९) नाथ जी का एक घर औघड़ के सौ घर—औघड़ प्रति बोलते हैं।

(८०) मन मिले तो मेला किजे, चित्त मिले तो चेला नहीं तो सबसे भला अकेला—यह उक्ति नाथ लोक शिष्य बनाने के व्यवहार में बोलते हैं।

(८१) गुरु शबद सुरती चेला—गुरु शिष्य का नाता

(८२) भेष (भेख) भगवान—योगी महासभा या सम्पूर्ण नाथ सम्प्रदाय का इष्ट

(८३) पातर देवता—नाथ सिद्धों की इष्ट देवता आराध्य देवता।

(८४) छतर पूजन—शक्ति की पूजा

(८५) पात्र यात्रा—अपने इष्ट पात्र देवता के साथ पद यात्रा (कुम्भ पर्व के अवसर पर)

(८६) जंठी या झुण्डी—फिरता (भ्रमन्ती) नाथ सिद्धों का समूह—कुम्भ पर्व में पात्र यात्रा निकलती है। उसे झुण्डी कहते हैं।

(८७) नाके घाटे–कुम्भ क्षेत्र व पात्र देव क्षेत्र में नथाना लेकर रहना।

(८८) नथाना लेना तथा मुक्त होना–पात्र देवता स्थापना तथा यात्रा में बंधन में रहना तथा बंधन मुक्त होना।

(८९) मानधारी–कुम्भ पर्व में पात्र देवता पूजन–यात्रा में चुनाव करके मानधारी चुनते है जो कुम्भ काल मर्यादित होते हैं।

(९०) रोट ज्योत लगाना–रोट का भोग तथा बनाने की विधि।

(९१) रोटक व्रत – प्रत्यक्ष गोरक्षनाथजी ने शिव स्वरुप में परशुराम जी को पापक्षालन के लिये यह व्रत बताया था जिसमें ढाई मन का रोट ज्योत पूजा–पाठ से श्री नाथजी को अर्पण करते है।

(९२) दीपचक्र–संध्या आरती में सभी देवी देवता समाधि पादुका धूना इत्यादि चेतन स्थानों पर दीपक ज्योत चेतन करने की विधि।

(९३) पंच परमेश्वर–१२–१८ के पंच (चुनाव में चुने हुये)

(९४) पांच महेश्वर–(१) सृष्टि (२) स्थिति (३) संसार (४) तिरोभाव (५) अनुग्राहित, यह पांच मुख वाले महेश्वर आदिनाथ जी संसार का पंचमुख से संचालित करते हैं।

(९५) त्याग बैराग चुकाना–पात्रदेवता के सम्मुख गुरु शिष्य के नाम से पंख जी पूजा चढ़ाकार आवाज देते हैं तथा कारबारी रजिस्ट्री नोट करते हैं।

(९६) चले सूरा बैठ पूरा–नाथ घर में कहावत है कि जो चलते में थकते नहीं बैठते में पूरा (पूर्ण समय तक) बैठते हैं।

(९७) बैठा अवधू लोहे की खूंटी, चलता अवधू पवन की मूठी–पदयात्रा में या रम्मत में कहावत है अर्थात् बैठने वाला (आसन) लोहे समान पक्का और चलने वाला (रम्मत) पवन के वेग समान तेज चलने वाला।

(९८) खड़े सिद्ध बैठे पाषाण तहां आये श्री शम्भुजति गुरु गोरक्षनाथ निर्वाण।–यह कहावत पंख ने सर्वप्रथम घोषित की थी। जब गोरक्षनाथ अनुपान शिला त्र्यंबक में अनंत सिद्ध को उपदेश दे रहे थे। जितने योगी खड़े है अर्थात सावधान हैं वह सिद्ध हैं और बैठे योगी (असावधान) पाषाण है।

(९९) गोरख धंधा–गुरु गोरक्ष नाथजी ने योग साधना में जिसमें योगासनों, मुद्रायें बन्द, प्रत्याहारों–ध्यानों के अनन्त प्रकार समाधियाँ,

नादानुसंधान इत्यादि हटयोग पक्ष पर इतनी खोज की है इतने प्रयोग सिद्ध किये है कि उन्हे हम गिन नहीं सकते, उसी प्रकार शाबरी और सांभरी मंत्र तंत्र यंत्र की अनन्त रचनायें की है। जो आज तक खत्म नहीं होती इसे बड़ी आदर से "गोरख धन्धा" इस शब्द-उक्ति से सम्बोधित करते है।

(१००) दिन में सोना रात्री को खोना-दिन में सोकर रात्री में योग करना

(१०१) श्वास निद्रा-सचेत रहकर निंद्रा लेना (योग निंद्रा)

(१०२) कहावत-एक देश हरियाणा जहां सिद्धों का थाना। वहां दूध दही का खाना। भैंस का दूध जोहड़ का पानी काटा कंटक सहे तो बाँगर में रहे। यह एक लोकोक्ति है। हरियाणा में १४ सौ गुप्त १४ सौ प्रकट सिद्धों की समाधियां है।

(१०३) कहावत-हरिद्वार हर की पौड़ी लगा कुम्भ का मेला।

अब तक गुरु न रगड़ी, अब रगड़ेगा चेला।।

यह कहावत जब गुरु शिष्य की कुण्डली जागृत करते हैं अतः गुरु शिष्य परम्परा का कर्म यह कुण्डलीनी जागृत (रगड़ना) करने को कहा जाता है।

कहां थे गुरु कहां थे चेला। जब भरा कुम्भ का मेला-नाथोक्ति

(१०४) कहावत-खाना सरिकतका बैठना फरीकत का-खाना पीना सब नाथ जी बांटकर खाते पीते हैं। भोज भण्डार-सार्वजनिक भोजन।

(१०५) नाथ जी का भण्डार-नाथ सिद्धों का सार्वजनिक भोजन।

(१०६) भण्डार घर-नाथ जी का रसोई घर

(१०७) भण्डार कर्म-नाथ जी के रसोई घर में श्री गणेश, अन्नपूर्णा माता का पूजा पाठ इ० कर्म करने को कहते हैं।

(१०८) आठमान पीरों का भण्डारा-आठ स्थान के आठ मानधारी पीर जी आमंत्रित करके धूनी पानी इत्यादि विधिवत भण्डारा करते हैं।

(१०९) ३२ धूनी भण्डारा-३२ पीर जी ३२ धूना के साथ मानदान- भोजन-पूजा पाठ इत्यादि कर्म करते हैं यहाँ १०८ धूनी भण्डार भी होते हैं तथा देश भण्डारा-देश के समस्त दिशा के मंडल के योगेश्वरों को आमंत्रित किया जाता है।

(११०) एकमता-नाथों घर में भण्डार भोजन पंक्ति में बैठने के वक्त पर भोजन उपरान्त के वक्त एकमता कहकर सर्व भोजन समाप्त कर उठते हैं।

(१११) खेदा खेदी-जिद्दो जिद्दी-आग्रह पूर्वक, जबरदस्ती।

(११२) झाड़ा फूका—रोगी को मन्त्र द्वारा झाड़ा मारते हैं।

(११३) कान मंत्र—कान में मन्त्र बोलते हैं।

(११४) योग माया कर्म—शक्ति उपासना।

(११५) ब्रह्मलीन होना—अधिकारी तथा मानधारी के मृत्यु को प्राप्त होने के पश्चात यह शब्द प्रयोग करते हैं।

(११६) शरीर पूरा होना—मृत योगेश्वर के लिये शबद प्रयोग होता है।

(११७) समा गया—जल या थल समाधि लेना।

(११८) तिया—मृत्यु उपरांत तीसरे दिन खान पान भण्डार देते हैं।

(११९) संख्या ढाल—मृत योगी को मृत्युयोनी से मुक्त करना, साधु अपने भजन प्रताप से मृत योगेश्वर को मुक्त कराते हैं। यह गुप्त क्रिया विधि होती है।

(१२०) अन्दर का करम—यह संख्या ढाल क्रिया को बोलते हैं।

(१२१) इच्छा समाधि—इच्छानुरुप मृत्यु।

(१२२) बनमुखी—बहरुपिया (साधु भेष में शैतान) ठग।

(१२३) मन्त्र—मनन शक्ति का नाम मन्त्र है। जितना मनन करोगे उतनी शक्ति बढ़ेगी और मंत्र का प्रभाव उतना ही प्रबल होगा। देवी देवता मन्त्राधीन होते हैं। श्रद्धा, विश्वास को भी मंत्र माना गया है।

(१२४) त्रिपुरा सुंदरी (बाला सुंदरी)—गत गंगा में महाज्योत (ज्योति) है। बाला सुंदरी त्रिपुरा सुंदरी है। यह शक्ति रुप, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ती रुप तीन पुरों की अधिष्ठात्री देवता होने से त्रिपुरा कहते हैं। यह बाला है सुंदर है। यह कभी वृद्ध नहीं होती और इस योग शक्ति का नाम त्रिपुर सुंदरी है।

(१२५) जपो तपो श्री सुंदरी बाला—जप तप शक्ति का अंश है। बाला सुंदरी शिव की शक्ति है और "ॐ शिव गोरक्ष योगी" इस मन्त्र का जाप करती है। शिव निर्लेप है उसे प्राप्त करना योग है। ध्यान है, समाधि है, तप उनके स्वरुप का अनुसंधान है। शक्ति शिव का अंग है। क्रियाओं का संबंध शक्ति के साथ है। शिव निर्गुण है तथा बाला सुंदरी सगुण और सक्रिय है और शक्ति की शिव के साथ प्रतिष्ठा है जो कि जप तप से योग—७६ योग से समाधि से ब्रह्मरन्ध्र शक्ति (कुण्डलीनी) प्रवेश कर शिव को मिलती है।

(१२६) बायें हाथ पुस्तक दायें हाथ माला—बायां अंग शक्ति का और दायां अंग शिव का माना जाता है। विद्या को शक्ति का स्वरुप मानते हैं। इसलिये पुस्तक (विद्या प्रतीक) बायें हाथ में शोभा देता है। माला फेरना (जाप) दाहिने हाथ से होता है। इसलिये दाहिने हाथ माला कहा है।

(१२७) रक्षा करें गुरु गोरक्ष नाथ जी बाला— जो "ॐ शिव गोरक्ष योगी" इस मंत्र का जाप करता है उसकी रक्षा श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी करते हैं और योग करने से जीव पिण्ड का रखवाला है।

(१२८) आप दिया तो दूध बराबर मांग लिया तो पानी।
झगड़ लिया तो रक्त बराबर ऐसी भिक्षा नहीं खानी।।

(१२९) सुरति— स्मरण या याद करना।

(१३०) निरति— द्रष्टा होकर आने वाला अनुभव, देखना या करके जानना।

(१३१) निमंत्रण— अध्यात्मिक विषय में बुलावा, आमंत्रण या आवाहन।

(१३२) ओखाल— वमन क्रिया से उदर शुद्धि (धौलि)।

(१३३) पखाल— शौच क्रिया से उदर शुद्धि (नौलि)।

(१३४) खौखाल— नेति धौलि नौलि क्रिया से।

(१३५) कर पखाल— शौच के बाद हाथ धोना।

(१३६) जगेसर— जगेश्वर अर्थात योगेश्वर।

(१३७) नाथ— (शैव) योगी।

(१३८) परमहंस— जपा—अजपा में परम अवस्था।

(१३९) कप्पड़ धारी— वस्त्र धारी (भगवा)।

(१४०) दिगम्बर— नग्न (अवस्त्र)।

(१४१) टकसाली— मुण्डन किया अवधू।

(१४२) मूर्ति— व्यक्ति (साधू—सन्त) को कहते हैं।

(१४३) युक्तिमान— विचार वन्त, बुद्धिवान।

(१४४) टहल— सेवा करने वाला (औघड़ को कहते हैं)।

(१४५) टहल्या— सेवा करने वाला (औघड़ को कहते हैं)।

(१४६) कंटक– जिद्दी (अविस्वासु)।

(१४७) सगुरा– चेला (आज्ञाधारी) को कहते हैं।

(१४८) निगुरा– बिना गुरु का साधक को कहते हैं।

(१४९) सेवक– नाथजी के भक्त को कहते हैं।

(१५०) चीरा गुरु– कान फाड़ने वाले गुरुजी को कहते हैं।

(१५१) गुरु भाई– अपने गुरु जी के शिष्य को कहते हैं।

(१५२) बंकनाथ– (वीर बंकनाथ) हनुमान जी को कहते हैं।

(१५३) गुरु पक्ति– गुरु परम्परा (१) ॐकार स्वरुप–आदिनाथ जी (२) धरत्री स्वरुप–उदयनाथ जी (पार्वती) (३) जल स्वरुप–सत्यनाथ जी (ब्रह्माजी) (४) तेज स्वरुप–सन्तोषनाथ जी (विष्णुजी) (५) हस्ती स्वरुप–गज कन्थड़नाथ जी (गणेश जी) (६) अठारह भार वनस्पति स्वरुप–चौरंगीनाथ जी (चन्द्रमा जी) (७) शेष स्वरुप–अचल अचम्भेनाथ जी (लक्ष्मण जी) (८) माया स्वरुप– मत्स्येन्द्रनाथ जी (मत्स्य) (९) अटल अविनाशी घट–घट व्यापक अनन्त नाथ–गुरु बाल रुपी गोरक्षनाथ जी इनके आगे ८४ सिद्धों कि परम्परा हुयी तदनन्तर अनन्त कोट सिद्धों की भी परम्परा हुयी।

(१५४) कुबेर नाथ– भोजन–भजन में ऋद्धि–सिद्धि युक्त।

(१५५) पंच प्रधान– नाथ सम्प्रदाय में चुने हुये पांच अधिकारी।

(१५६) टुकुरा– छोटा भण्डारा (अन्नदान) करते हैं।

(१५७) रौरास (रास)– ऊँची आवाज में मन्त्रना करना।

(१५८) चक्रावली– इष्ट, देवी देवता, ध्वजारोहण, पात्र देवता आदि स्थानो में आरती के समय नाथ सम्प्रदाय के सभी नियम पूर्वक योगी (नाथ सिद्ध) लोक अर्ध–चक्री में खड़े होते हैं।

(१५९) रोट प्रसाद– विधि पूर्वक धूनी में तैयार किया गया पूजा विधि में काम आने वाला नैवेध (भोग)।

(१६०) काया पात्र (काया पात्री)– खप्पर जैसा तथा उसी आकार का विशिष्ट धातु का पात्र जो भोग लगाने के काम आता है।

(१६१) झारी (करुंआ)– पूजा का जल पात्र जिसके आगे टोंटी होती है।

(१६२) खप्पर (चीपी)– यह समुद्री ठोस कड़क जीव (कीड़ा) का बना हुआ पात्र पूर्ण होता है वह चीपी, आधा होता है वह खप्पर। खप्पर धारी इसका व्रत करते हैं।

(१६३) चीला– एकान्त में बैठा हुआ अवधू (नाथ सिद्ध) जो किसी का न दर्शन करता है न स्पर्श करता है।

(१६४) जाग्रण (जागरण)– पूजा, कर्म काण्ड, भजन, योग, साधना, अनुष्ठान इत्यादि उपासना हेतु रात भर जागना।

(१६५) छुरी (करद)– चाकू, दुधारी शस्त्र, विशेषता कर्ण छेदन के उपयोग में लाते हैं।

(१६६) सैली (शैली)– एक सौ बीस जनेऊ (जो कि एक जनेऊ साढ़े बारह हाथ का होता है अर्थात १५०० सौ हाथ का) कि ऊन की रस्सियाँ बना के उनको एक दूसरे में जालीदार, नक्षीदार बुनते हैं और यह पीर जी के शीश पर या इष्ट के शीश में या जटाओ में बांधते हैं।

(१६७) नाद (नादि)– नाद पूजा–शब्द–ध्वनि निर्माण होने वाली विशिष्ट धातु की चीज होती है इस नाद को शब्द ब्रह्म या नाद बह्म कहते हैं। जिसे शिव का स्वरुप भी मानते हैं।

(१६८) पवित्री– इसी धातु कि वर्तृलाकार वस्तु जिसमें जनेऊ पिरोकर डालते हैं इसे अर्धमात्रा चिदानन्दा शक्ति स्वरुप मानते हैं।

(१६९) जनेऊ– भेड़ के ऊन का धागा, साड़े बाराह हाथ का होता है। उसे छः लड़ियों में करके नादि पवित्री रुद्राक्ष, मूंगा, स्फटिक में पिरोकर गले में पहनते है। जिसे ॐकार स्वरुप मानते हैं और नाद जनेऊ कहते हैं।

(१७०) मढ़ीदार (मड़ीदार)– पीर या महन्त का सेवादार।

(१७१) कोठारी– स्थान की सभी चीज वस्तु संभालना और वितरण करने वाले महात्मा।

(१७२) पुजारी– देवता इष्ट, पत्र छत्र, धूनी पानी का प्रबन्धक या पूजन करने वाले महात्मा।

(१७३) भण्डारी– पाकशाला का प्रबन्धक या रसोई बनाने वाले महात्मा।

(१७४) ठोकारी (ठुकारी)– मुख्य व्यक्ति की अनुपस्थिति में कार्य करने वाला कोठारी पुजारी भण्डारी का सहायक महात्मा।

(१७५) नाद जनेऊ– ॐकार तथा शिवशक्ति का स्वरुप या कुण्डलिनी रहस्य तथा अवलम्बन करने के प्रेरणा हेतु यह नाद जनेऊ पहनते हैं।

(१७६) आड़बंद (अड़बन्ध)– यह काले ऊन का मोटा सा बुनकर बनाते हैं और महात्मा विशषेत: तपस्वी लंगोटी कसने हेतु कमर में (पट्टे जैसा) बांधते है।

(१७७) नागफणी– नाग (सांप) के आकार का विशिष्ट धातु का बाजा जो मुंह से पूजा, धार्मिक उत्सव, भण्डारा (मेला) में बजाते हैं।

(१७८) नागन (सेली)– ये भी ऊन की रस्सी से बनाते हैं। इसमें २,४ प्रकार होते हैं।

(१) साड़े पांच हाथ नागन (सैली)– हाथों में मनीबंद में या दंडों में बांधते हैं और उस पर रुद्राक्ष माला (सुमीरणी) को पहनते हैं।

(२) सवा नौ हाथ नागन (सैली)– यह गले में पहनते हैं।

(३) साढ़े बारह हाथ नागन (सैली)– ये भी गले में नाद जनेऊ रुप में पहनते हैं।

(४) एक सौ बीस जनेऊ की नागन (सैली)– पीर जी के शीश में बांधते हैं। उस पर रुद्राक्ष माला भी डालते हैं।

(५) सवा चौबीस हाथ नागन (सैली)– यह मुलायम ऊन का बनाते हैं और कमर से लेकर छाती तक लपेटकर बांधते हैं। विशेषत: दक्षिण क्षेत्र के योगेश्वर यह पहनते हैं। (इसे अड़बंद भी कहते हैं)।

उपरोक्त सैली या पहनने से अवधू स्फूर्ति, तेजस्वी, सावधान, आनन्द में रहता तथा सदा जाग्रत रहता है।

(१७९) मार्गी गायन– उत्सव में या जागरण में गाये जाने वाले शब्दों को कहते हैं। रात्री के योगमाया कर्म को भी मार्गी पूजन कहते हैं। पश्चिम–मध्य क्षेत्र में गायन करने वाले सारंगी, एक तारी भजनों को शब्दों को यह कहा जाता है।

कहावतें–

(१८०) गुरु ज्ञान में, रमता चेला। जब भरा था, कुम्भ का मेला।।

(१८१) जब रमे चेला नाथ सिद्ध की टोली। तभी जानेगा नाथ सिद्धों की बोली।।

(१८२) कानन कुण्डल कुण्डलीनी योग। कहे गोरख ब्रह्म रस भोग।।

(१८३) पहले किया सो अब भुगतावे। जो अब करे सो आगे पावे।।
जैसा दीजै तैसा लीजै। ताठे तन धन नीका कीजै।।

(१८४) काया माया न लीजै भोग। मन पवन ले साधो योग।।
सत सत सिद्धों मते हो पार। न मरे योगी न ले अवतार।।

(१८५) बिन मांगे मोती मिले मांग लिया सो पानी।
खेंचातानी जो मिले सो रक्त बराबर जानी।।

(१८६) बिन मांगे मोती मिले। मांगे मिले ना भीख।।
कर्म करे सो फल मिले। यह नाथ सिद्धों की सीख।।

(१८७) दिया तो भला ना दिया तो भी भला।
अलख निरन्जन यह तो माया जंजाल की बला।।

इतना श्री नाथ रहस्य तृतीय खण्ड समाप्त

श्री नाथजी गुरुजी को आदेश।

शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथ जी के चरण कमल को आदेश। आदेश। आदेश।

❀❀❀❀❀

पंचम रहस्य

(२७) मोक्ष-मुक्ति

कहते हैं कि यह सृष्टि, यह संसार का उत्पादन अथ निर्माण ऊँकार से हुआ है। कोई कहते हैं कि यह संसार शिव-शक्ति ने बनाया है। तो कोई बताते हैं कि सृष्टि का निर्माता परमपिता ब्रह्माजी है, तो कोई कहते हैं सृष्टि का कर्ता रचयिता भगवान विष्णुजी हैं। कोई कहते हैं गणेशजी ने सृष्टि का सुस्वागतम प्रारंभ किया, आदि अनन्त विचार हैं। इसी प्रकार कहने वाले बताते हैं कि इस जगत सृष्टि को बनाने वाला कोई महा ईश्वर है, विधाता है, तो कोई कहता है वह एक परमतत्व है। कोई सुनाते हैं यह पांच तत्व का गोला है, पिण्ड, ब्रह्माण्ड आदि है। वास्तव में सत्य को कोई नहीं जानता और ना ही कोई कह सकता है कि इस सृजन सृष्टि की उत्पत्ति कब हुयी, कैसे हुयी, क्यों हुयी या किसने बनायी ? या यह स्वयं होकर आयी है या इसका कोई निर्माता भी है। इसका मूल क्या है, कौन सा बीज है, इसका विस्तार कैसे हुआ, आखिर इस सृष्टि की क्या महिमा है? सत्य क्या है कोई भी नहीं जानता और नाही कोई कुछ कह सकता है।

वेद, शास्त्र, पुराण, ग्रंथ, नर-नारी, देवी-देवता, सुर-असुर, ज्ञानी-ध्यानी, साधु-सन्त सभी इस सत्य को ढूंढ रहे हैं, खोज रहे हैं। अभी तक नहीं मिला, जो भी मिला, समझा, जाना वह अपने अपने अनुभवों के अनुरुप, अनुमान ही मिला, तर्क मिले, वितर्क मिले जो भी खोजने जाता है वह इस विशाल विस्तृत में ही खो जाता है।

लेकिन एक सत्य अनुमान अवश्य मिला और वह है कर्म, जब सृष्टि का जन्म हुआ तो तत्क्षण साथ-साथ कर्म का भी जन्म हुआ, सृष्टि की उत्पति यही उसका कर्म रुप जन्म है। वह परिवर्तन बदलना,

बढ़ना, घटना आदि प्रकृति परावर्तित सृष्टि कर्म प्रधान है। कर्म प्रणेता है और इस कर्म प्रणाली रुप-रेखानुसार जब जीव जन्म लेता है, तो उसका काया शरीर एवं प्रकृति, गुण-धर्म से भूख प्यास, शीत-उष्ण, सुख-दु:ख आदि तत्वों को साथ ले जन्मा है। अत: भूख प्यास मिटाने के लिये, शीत उष्ण से बचने के लिये अर्थात् अपने सुख प्राप्ति एवं दु:ख निवारण के लिये उस जीव को कुछ न कुछ कर्म करना ही पड़ता है। जीव की इच्छा हो ना हो उसे कर्म करना ही पड़ता है कर्म किये बिना किसी का भी छुटकारा नहीं है।

ऐसे प्राकृतिक गुण विशेष में बन्धे हुये होने के कारण कर्म करना (कर्म बन्धन) विवशता हो गयी और कर्म करना है तो उसके फलों का भोग भोगना भी विवशता वत है। अर्थात् किये गये कर्म का भोग भोगना ही पड़ेगा शुभाशुभ कर्म के फल भी शुभाशुभ होते हैं ऐसे कर्म फल दो प्रकार के हैं-

(१) इह लौकिक कर्म फल = यह कर्म फल आहार व्यवहार से उदित होता है। जो शुद्ध सात्विक आहार एवं सद्व्यवहार करते हैं उन्हें फल स्वरुप सुखी जीवन प्राप्त होता है। तथा जो दूषित आहार एवं निकृष्ट व्यवहार कर्म करते हैं वह फल स्वरुप रोग, बीमारी, अशान्ति, अपयश तथा दु:ख को प्राप्त होते हैं।

(२) परलौकिक कर्म फल = यह कर्म फल व्यक्ति के धर्म-संस्कृति आचार विचार पर आधारित होता है। अत: शुभ आचरण सात्विक वृत्ति अर्थात् महादान-पुण्य संचय सेवा धर्मानुरागी, भगवत भजन आदि करने वालों को अगले जन्म में सुखी जीवन-सुख सम्पदा प्राप्त होती है। या स्वर्ग में दिव्य भोगों की प्राप्ति होती है इसी प्रकार निकृष्ट आचरण, अधर्म, कूट, कपट, हिंसा आदि करने से अगले जन्म में महारोगी, दरिद्रता, कुपुत्र आदि दु:खी कष्टी जीवन के फल प्राप्त

होते हैं। या निकृष्ट, कूकर, सूकर आदि अधम योनियों में जाकर नरक यातनायें भोगनी पड़ती है। अर्थात् किये कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे हों चाहे इस जन्म में या आगामी जन्म में स्वर्ग में या नरक में कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं।

मुख्यतः भोगयोनियाँ तीन प्रकार की मानते हैं:-

(१) स्वर्ग (देवयोनि), (२) मृत्यु (मनुष्य योनि), (३) पाताल (अधम योनि)

(१) स्वर्ग (देवयोनि)- यह सूक्ष्म योनि है यह स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक तक अनन्त योजन फैला हुआ है। यहां केवल भोगयोनि है, जहां महान-श्रेष्ठ-सात्विक आचरण-पुण्य संचय के फलों का दिव्यानन्द भोगने के लिये प्राणी आते हैं और जब तक पुण्य संचय है उतने भोग भोगने पर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं और मनुष्य योनि में आकर पुनः नये कर्म करने लगते हैं।

(२) मृत्युलोक (मनुष्य योनि) - यह स्थूल रुप में हमारी धरती पर भोग भूमि या कर्म भूमि रुप में माना जाता है। यहाँ कर्मानुसार इच्छानुसार पुनः पुनः जन्म लेते हैं और नये-पुराने सभी कर्म के भोग भोगते हैं। जो भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों में जन्म जन्मान्तर कर्म करते रहते हैं और भोग भोगते रहते हैं।

(३) पाताल लोक (अधम योनि) - यह भोग योनि या भोग भूमि कहते हैं जो स्थूल और सूक्ष्म रुप में विद्यमान होती है। अत्यंत घृणित कर्म-पापाचारी कर्म के प्राणी यहां अधम योनि पशु पक्षी जलचर सर्प आदि योनि में आकर नरक यातनाएं भोगते हैं। पाप संचयानुसार भोग भोगने पर मनुष्य योनि में जन्म लेकर नये कर्म करते हैं और इस प्रकार कर्म और फल भोगना पुनः पुनः जन्म लेना पुनः पुनः नये कर्म करना इसी को आवागमन-जन्म मृत्यु का भव सागर - माया चक्र आदि कहते

हैं। अतः बस कर्म किये जाओ और फल भोगे जाओ इस कर्म चक्र को कर्म बन्धन संसार सागर-भवसागर-मायासागर आवागमन आदि कहा गया है।

अतः ऐसे कर्म बन्धन का यह चक्र चलता ही रहेगा अर्थात् कर्म भोग जन्म मरण चलता ही रहेगा। अतः इसका कोई अन्त नहीं होगा। इस कर्म बन्धन चक्र से छुटने के लिये, इस जटिल समस्या से इस दुस्तर संसार चक्र जन्म मरण से अर्थात् इस आवागमन से इस कर्म बन्धन से छुटकारा पाने के लिये, इसके परे जाने के लिये अपने धर्म ग्रंथ अध्यात्मिक सिद्धान्त तथा साधु सन्तों ने एक मार्ग, एक निष्कर्ष, एक सिद्धान्त एक उपाय का निर्माण किया और वह है मोक्ष, वह है मुक्ति-

(क) मोक्ष-मुक्ति के मार्ग

ऐसे कर्मबन्धन-आवागमन से मुक्त होने के लिये निम्न प्रकार की साधना है।

(१) निष्काम कर्म

(२) श्री मद् भगवद् या परमात्मा भक्ति

(३) त्याग-वैराग्य-तपस्या (तन्त्र-मन्त्र आदि) उपासना

(४) योग साधना-वैराग्य-आत्मज्ञान

मोक्ष मुक्ति के लिये वैराग्य-योग साधना द्वारा आत्मज्ञान तथा भगवत् भक्ति यह सर्व श्रेष्ठ अतः उत्तम साधन है तथा निस्वार्थ अर्थात् निष्काम कर्म यह अत्यन्त सरल साधन है। त्याग वैराग्य तपस्या योग साधना आत्मज्ञान आदि से मुक्ति प्राप्ति के लिये जीवन के सभी सुख ऐश्वर्य एवं संसार की सभी सुख सम्पदा को त्यागना पड़ता है और तीव्र वैराग्य एवं सन्यास लेना पड़ता है। यह सर्वसाधारण प्राणी के लिये अतिषय दुस्तर है, कठिन है, कोई कोई विरला ही इस मार्ग पर चलने

का साहस करता है।

अत: सर्व साधारण प्राणी के लिये भी ऐसे मोक्ष मार्ग की आवश्यकता है कि जो संसारिक सुखों का त्याग किये बिना या सर्व सुखों को उपभोग करते हुये जीव कर्म बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सके। अत: ऐसे प्राणियों के लिये निष्काम कर्म सर्वोत्कृष्ट मार्ग है और यह निष्काम-निस्वार्थ कर्म निम्न प्रकार से कर सकते हैं। (१) फल की अपेक्षा किये बिना कर्म करना, (२) अहंकार मिटाकर कर्म करना, (३) सब कर्ता धर्ता परमात्मा या प्रकृति है यह भावना रखते हुये कर्म करना, (४) समस्त कर्म को करते हुये परमात्मा ईश्वर या अपने इष्ट को समर्पण करना, या (५) द्रष्टा होकर कर्म करना उसमें लिप्त लिपायमान आसक्त नहीं होना।

निष्कर्म का सार = मनुष्य प्राणी कर्म करते हुये ही अनेक वर्ष जीने की इच्छा करे किन्तु उन कर्मों से अवश्य बचे जिनका सम्बन्ध कर्म बन्धन-आवागमन से हो, अर्थात् जीव ऐसे कर्म नहीं करे जिससे पुन: पुन: जन्म लेना पड़े अत: किये गये कर्म का भोग भोगने के पश्चात् जब नये जन्म दाता कर्म किये ही न जायेंगे तो उसे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होगी।

सारांश = प्राणी इच्छा, कामना तथा वासनाओं का त्याग करके कर्म करने से आवगमन में नहीं फँसता और वह मोक्ष मार्ग की ओर जाता है।

(ख) मोक्ष मुक्ति-एक विवेचन

हर प्राणी चाहता है केवल सुख। किन्तु जब तक दु:ख निवृत्ति नहीं होती सुख नहीं मिलता। अत: दु:ख की निवृत्ति कैसे हो इसके लिये अनेकों धार्मिक ग्रंथ, पुराण, वेद, सत्संग, ज्ञान योग, उपासना आदि का

विस्तार हुआ। सन्त, महात्मा, ऋषि, मुनियों ने दु:ख निवृत्ति के अनेक उपाय बताये हैं। अत: प्रचार करते हैं। अतः सुख प्राप्ति या दु:ख निवृत्ति के अनेक भिन्न-भिन्न मार्ग हैं किन्तु सभी मार्ग अन्त में मोक्ष मुक्ति की तरफ ही ले जाते हैं। अर्थात् अति उत्तम कहो या सर्वोत्कृष्ट कहो या सत्य या शाश्वत सुख की प्राप्ति कहो या दु:ख का समूल-नाश, इसको मोक्ष कहते हैं। अत: मोक्ष मुक्ति के कुछ महापुरुषों ने अपने सिद्धान्त बताये हैं-

महर्षि वेद व्यासजी ने ईश्वरोपासना को ही मुक्ति कहा है और उसे परमानन्द प्राप्ति कहा है।

जैमिनी धर्मानुष्ठान को मुक्ति कहते हैं जिसे स्वर्ग सुख कहते हैं।

कपिल मुनिजी ने २५ तत्वों (प्रकृति-पुरुष) के विवेक को मुक्ति कहा है जिसे वह दु:ख निवृति कहते हैं।

गौतम ऋषि ने प्रमेय, प्रमाण, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, छ्ल, जाति निग्रह आदि सोलह तत्व ज्ञान से मुक्ति कही है उसे वह अपवर्ग कहते हैं।

पतन्जली जी चित्त वृत्ति-निरोध को मुक्ति कहते हैं। जिसे वह कैवल्यानन्द कहते हैं।

इसी प्रकार और भी सिद्धान्त बताये गये हैं जिन्हें मुक्ति, अमृतत्व, ब्रह्मप्राप्ति, परमपद, निर्वाण पद इत्यादि नाम दिये गये।

हमारे नाथ सिद्ध सम्प्रदाय में, मुक्ति का मार्ग अत्यंत सरल है, सहज तथा अनुकरणीय है। उपरोक्त साधना सिद्धान्तों के अनुसार चाहे दु:ख का निर्मूलन कहो अथवा दु:ख का नाश कहो या चाहे सुख की प्राप्ति कहो या आनन्द की प्राप्ति कहो, है तो दोनों में ही अटकना या फँसना, चाहे पापों को कटावो चाहे पुण्य कमाओ है तो उसमें अटकना

या फँसना। कहो तो यह कैसी मुक्ति हो सकती है। हमारे नाथ सिद्ध सिद्धान्त तो कहते हैं। **"अवधु योगी पाप पुन्य से न्यारा रहे"** अर्थात् मुक्त वही होता है जो पाप पुण्य से न्यारा है, अर्थात् वह सुख-दु:ख से परे हो अर्थात् वह दुनियाँ के समस्त माया जगत में न पुण्य में आसक्ति करे ना पापों को धोये वह ना सुख चाहता है ना दु:ख दोनों हाँ-ना में वह एक द्रष्टा बने, साक्षी बने, दार्शनिक बने अर्थात् वह दोनों के परे हो जाये और यही मुक्ति का सक्षम मार्ग है। इसके लिये उसे निस्वार्थ होना निष्काम होना, कर्म करते हुये ही विरक्त होना, तटस्थ होना, द्रष्टा होना अनिवार्य है। अर्थात् जल में होते हुये भी जल नहीं पीना-इसके संयम, आत्म प्रशिक्षण, विवेक, आत्मनिर्भयता, इष्ट के प्रति समर्पण आदि गुणों की आवश्यकता है। और यह सब जीवन जीने के अनुभवों द्वारा, उसके ज्ञान द्वारा सत्य को ढूंढते हुए करना चाहिये। अब सहज भाव से बताते हैं कि प्रथम बुराई त्यागो अच्छाई अपने आप आयेगी फिर अन्त में अच्छाई को भी त्यागो, विरक्ति आयेगी, फिर विरक्ति को भी त्यागो ज्ञान हो जायेगा और इसे भी त्यागो मुक्ति आयेगी मुक्ति वह है जहां हम जाकर हम या मैं का भाव भी विलीन होना है। मुक्ति में जाकर मुक्ति ही हो जाना है।

जैसे पानी में मिल के पानी अन्जाम उसका पानी। सागर में नदी मिले तो वो भी सागर हो जाती है। इसी को कहते हैं मुक्ति। इस प्रकार हमारे नाथ सम्प्रदाय में ॐकार आदिनाथजी से लेकर मत्स्येन्द्रनाथजी -गोरक्षनाथजी............... इत्यादि नवनाथ से चौरासी सिद्ध से अनन्त कोट सिद्ध होते हुये आज तक सिद्धों ने अपने अपने अनुभव तथा साधना प्रणालियों के द्वारा मुक्ति का मार्ग दर्शाया है। चाहे वह योग प्रणाली हो, चाहे साधना हो, चाहे उपासना, चाहे गुरु भक्ति, चाहे तंत्र मंत्र कर्म काण्ड हो, चाहे आत्मज्ञान कहो, चाहे घोर अघोर कहो, चाहे

सात्विक, चाहे कापालिक हो सभी का एक ही उद्देश्य होता है और वह है मुक्ति मोक्ष। अतः हमारे नाथ सिद्धों के कुछ मुक्ति मार्ग के सिद्धान्त दिये हैं-

(१) शब्द - गुरु शब्द - गुरु शिष्य प्रणाली

(२) आत्मज्ञान - योग साधना प्रणाली इसमें ज्ञान योग, लय योग, नाद योग, ध्यान योग, कुण्डलिनी योग, भक्ति योग आदि जो सभी योग एक दूसरे से जुड़े हुये हैं।

(३) उपासना - निष्काम सेवा, मन्त्र तन्त्र, कर्मकाण्ड जनमानस की सिद्धियों द्वारा निष्काम सेवा इत्यादि।

अतः चाहे इहलोक हो या चाहे परलोक हो सतगुरु बिना उद्धार नहीं होता है। चाहे तुम कितना ही सतसंग करो, भक्ति करो, निष्काम कर्म करो या अनुकरण करके साधना करो या ग्रंथ पुराण पढ़ो, जब तक गुरु कृपा नहीं होती यह सब निष्फल है बिना फलों का वृक्ष है।

(१) शब्द - सतगुरु शब्द - गुरु का शिष्य होना अनिवार्य है। शिष्यत्व की पूर्णता होने पर ही वह शिष्य गुरु पद प्राप्त कर सकता है अर्थात् बिना गुरु तुम गुरु नहीं बन सकते।

गुरु अर्थात् ज्ञान, सत्य, शाश्वत आदि। शिष्य अर्थात् अज्ञान, असत्य, अशाश्वत आदि। गुरु शिष्य को अर्थात् ज्ञानी अज्ञानी को ज्ञानी, असत्य को सत्य, अशाश्वत को शाश्वत बनाता है तब वह सत्य-शाश्वत-ज्ञान को प्राप्त हुआ शिष्य इस माया जगत में तरकर मुक्ति को प्राप्त होता है। अर्थात् यहां गुरु ही ज्ञान, गुरु ही मुक्ति है, गुरु ही सत्य है। यहां शिष्य को मुक्ति की प्राप्ति उस शिष्य के समर्पण, गुरु भक्ति-सेवा आदि गुणों पर निर्भर होती है।

(२) आत्म ज्ञान - पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के सिवाय मुक्ति

नहीं मिलती। जिसे सत्य, शाश्वत, निरंजन, निराकार, निर्विकार आदि स्वरुप में जाना जाता है। दु:ख का मूल अज्ञान ही है। अत: अज्ञान का परदा हटते ही ज्ञान द्वारा सुख-आनन्द और मुक्ति मोक्ष की प्राप्ति होती है और अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान को प्राप्त करना अर्थात् अन्धकार हटा कर प्रकाश दिलाना इसे सतगुरु कहते हैं। (गु = अन्धकार, रु = प्रकाश) अत: सतगुरु प्राप्ति ही मोक्ष-मुक्ति की प्राप्ति है। यह नाथ सिद्धान्त है। अत: सद्‌गुरु जी अपने सतसंग साधना-विवेक-कर्मकाण्ड-ध्यान ज्ञान आदि मार्गदर्शन करते हुये शिष्य को मुक्ति पथ पर ले जाते हैं।

साधना - अपने विश्वास पात्र शिष्य को सद्‌गुरु सूर्य नमस्कार से लेकर

यमनियम - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया ऋजुता (सरलता), युक्ताहार, निर्भयता

योगासन - स्वास्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुटा, उत्तान, कर्मा, धनुरासन, मत्स्येन्द्र, पश्चिमो, मयूर, शवासन, सिद्ध पद्मा, भद्रा, गोरक्षा इत्यादि अनेकों आसनों का अभ्यास

षटकर्म - धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति, गजकर्णी का अभ्यास

प्राणायाम - कुम्भक भेद - सूर्य भेदन, उज्जायी, सींत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी इत्यादि।

मुद्रा तथा बन्ध - महा मुद्रा, महा बन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत करनी, बज्रोंली मुद्रा, सहजोली, अमरोली, शक्ति चालन मुद्रा आदि मुद्राओं तथा बन्ध अभ्यास ध्यान, धारणा, समाधि तथा लय योग, नाद योग, इत्यादि प्रक्रियाओं का निरन्तर अभ्यास सिखाते हैं यहां शिष्य की योग्यता पर निर्भर है। शिष्य उपरोक्त आसन प्राणायाम ... आदि का अभ्यास तथा उपदेश अनुवर्ती

होकर ऋद्धि सिद्धियों को प्राप्त करता है और त्याग वैराग्य तथा परिपक्व योग साधना जो ध्यान-धारणा-समाधि-आगे उत्तरोत्तर प्रगति होने पर निर्विकल्प समाधि-साम्प्रत समाधि-हंस- परमहंस तथा अन्त में शून्य समाधि जो निरन्जन-निराकार-निर्विकार होती है।

इस शून्य निरन्जन निराकार समाधि साधना काल में उन्हें आत्मदर्शन-आत्मानुभुति-साक्षात्कार होकर सत्य का ज्ञान होता है। इस अवस्था में वह मृत्यु पर भी विजय पा लेता है। मृत्यु से वह डरता नहीं अपितु मृत्यु के समय वह स्वेच्छा से स्थूल शरीर का त्याग करके सत्य ज्ञान द्वारा मोक्ष मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सतगुरुजी अपने शिष्य (साधक) को साधना काल में साधना के साथ-साथ ज्ञानामृत का पान भी कराते हैं। स्थूल जगत सूक्ष्म तथा कारण, द्वैत, अद्वैत, सृजन, सृष्टि, उत्पति, स्थिति तथा लय और ब्रह्माण्डीय ज्ञान विज्ञान इत्यादि ज्ञान द्वारा से शिष्य को पूर्णता प्राप्त करवाते हैं।

योग द्वारा आत्मा मुक्ति की ओर

(२८) नाथ सिद्धों का सृष्टि सृजन सिद्धान्त

हमारे नाथ सिद्ध सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार यह सृजन सृष्टि की उत्पति सर्व प्रथम (शब्द अनहद) "ॐ" कार स्वरुप नाद से हुयी है। जिसमें रज-सत-तम जैसे त्रिगुण (प्रणव) विद्यमान हैं। अर्थात् ॐकार स्वरुपी आदिनाथ जी जो नाथ सम्प्रदाय के आदिगुरु माने जाते हैं। वह परम ईश्वरीय सत्ता हैं। इन्होंने रज स्वरुपी ब्रह्माजी (सत्यनाथजी) सत्य स्वरुपी विष्णुजी (सन्तोषनाथजी) और तम स्वरुपी रुद्रजी (रुद्रनाथजी) का प्रागट्‌य किया। अतः ॐकार से आकाश तत्व, आकाश से वायु तत्व, वायु से तेज तत्व, तेज से जलतत्व, जल से पृथ्वी तत्वों का निर्माण होकर इस पृथ्वी (धरा) पर सृजन उत्पति होने लगी और इस ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, असंख्य तारामण्डल तथा जड़चेतन जीव जन्तु प्राणी आदि का विस्तार हुआ। सिद्धों में कहते हैं **आकाश रुप नाद ॐकारा, पवन रुप ईश्वर की काया, तेज रुप विष्णान की माया, जल रुप ब्रह्मा की छाया, महि रुप शक्ति लाया। कृपाऽदीनाथ ॐकारा जीवन जीव जगत उपाया।**

इस सृष्टि को उत्पति करने वाले उस परम ईश्वर ने सृष्टि उत्पति के साथ शक्ति का भी प्रादुर्भाव किया। जो प्रथम निजा शक्ति, फिर परा शक्ति-अपरा सूक्ष्म और कुण्डलिनी, ऐसे रुप अवस्था में शक्ति स्वरुपा का प्रागट्‌य किया। अतः इस ॐकार गुण तथा शक्ति स्वरुपा सहाय से रजोरुपी ब्रह्माजी ने **"चार खानी, चार बानी, चन्दा सूरज पवन पानी"** के अनुसार चार खानियों में उत्पति की। तब इस भूमि पर प्रथम **(१) उद्बिज** = जिसमें वृक्ष लता बेली और सभी प्रकार की वनस्पति अर्थात् नाथ सिद्धों की अठारह भार वनस्पतियाँ अंकुरित हुयीं। तद्‌पश्चात **(२) स्वेदज** = जिसमें असंख्य सूक्ष्म तथा स्थूल रुपी कृमि, जूं, दीमक आदि का निर्माण होने लगा उसके बाद **(३) अण्डज**

= जिसमें पंछी, सर्पादिक जो अण्ड से जन्म लेने वाले जीव जन्तु उत्पन्न होने लगे और बाद में **(४) पिण्डज** = जो नर नारी तथा पशुओं को जो गर्भ पिण्ड रुप में जन्म लेता है उन्हें उत्पन्न किया। इस प्रकार से चार खानियों का प्रादुर्भाव होते हुये प्रथम महाकारण का प्रारम्भ हुआ। महाकारण से कारण बना, कारण से अति सूक्ष्म बना, अति सूक्ष्म से सूक्ष्म हुआ और सूक्ष्म से स्थूल अर्थात् स्थूल रुप में जीव प्रगट हुआ। अत: जब स्थूल रुप में मनुष्य की निर्मिति हुयी तब भी कारण रुप में परमात्मा (परमतत्व) तो सूक्ष्म रुप में उसका आत्मा एवं स्थूल स्वरुप में जीवात्मा अर्थात् जीव (शरीर) जिसमें प्राकृतिक ॐकार के रज, सत, तम, रुपी गुण विद्यमान हैं। जिनका मूल ॐकार आदिनाथजी जो मनुष्य के शीश में (सहस्रागार चक्र) में स्थित है। इसे हम परम ईश्वरीय सत्ता भी कहते हैं। इस सत्ता से रज रुपी ब्रह्माजी जो लिंगस्थान (स्वाधिष्ठान चक्र) में विद्यमान हैं और सत्व रुपी विष्णुजी जो नाभि स्थान में (मनीपूर चक्र) में विराजमान हैं एवं तम रुपी रुद्रनाथजी मनुष्य के हृदय (अनहद चक्र) में ज्ञान रुपी जती गोरक्षनाथजी मनुष्य के शीश (सहस्रागार चक्र) में अपने शक्ति सह विराजमान हैं।

इस प्रकार कारण-सूक्ष्म-स्थूल अर्थात् परमात्मा-आत्मा तथा जीव इस पृथ्वी पर प्रगट होते समय कारण स्वरुपी परमात्मा जो परमईश्वरीय सत्ता इस सृष्टि ब्रह्माण्ड में सर्वत्र कण कण में व्यापक रुप में विराजमान हैं जो निर्गुण निराकार है अत: कारण-महाकारण रुपी परमात्मा सूक्ष्म-अति सूक्ष्म रुप में परिवर्तित होने के लिये सर्वत्र क्रियाशील परमशक्ति या आद्यशक्ति सृष्टि में अनु, रेनु एवं परमाणु रुप में प्राकृतिक शक्ति रुप में निर्माण होने लगी तब सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश स्फुरन हुआ और इस प्रकाश रुपी ब्रह्माण्डीय या प्राकृतिक पंच तत्वों के आकर्षण विकर्षण क्रिया होने से एक प्राकृतिक चुम्बकीय ऊर्जा का निर्माण हुआ। इस

तजोमय अनन्त प्रकाशीय पृथकरण ऊर्जा से परमतत्व परमात्मा प्रगट होने लगा। जिसमे ॐकार प्रणव के सत (सत्य) रुप में आत्मा जिसका पीला रंग स्फुरण हुआ। राजस गुण से मन बना जिसका नीला रंग स्फुरण हुआ तथा तामस गुण से चित्त (बुद्धि) हुआ जिसका लाल रंग निर्माण हुआ। अर्थात् यहाँ कारण शरीर से सूक्ष्म शरीर बनने लगा, अतः इस सूक्ष्म शरीर से इस परम ईश्वरीय या ब्रह्माण्डीय या प्राकृतिक ऊर्जा से तथा आकर्षणीय शक्ति से पीला-नीला-लाल इन रंगों के प्रकाशीय सूक्ष्म (कणों से) अणुओं से या इन बिन्दुओं द्वारा प्रकाश पुन्ज, या प्रकाश स्त्रोत या प्रकाश समूह या प्रकाश सन्च बनने लगे जो ज्योति स्वरुप को प्राप्त हुआ और यह सूक्ष्म शरीर (आत्मा रुप ज्योतिरुप) बना। अतः ज्योति स्वरुप आत्मा सूक्ष्म शरीर बनते ही कारण स्वरुपी परमात्मा अपनी त्रिगुणात्मक (रज, सत्व, तम) गुण सत्ता से ब्रह्माण्डीय, इन प्रकाश पुन्जों, ज्योतियों द्वारा आत्मा-मन-चित्त का स्थूल रुप में गतिमान (परावर्तित) होकर सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर दोनों (मिलकर) एकत्र होकर अर्थात् इनका योग होकर स्थूल शरीर प्रगट होता है और यही स्थूल शरीर गर्भ-पिण्ड से प्रगट होकर मानव जन्म ले लेता है। अर्थात् पंचतत्वादि गुण विशेष इन्द्रीय बनकर जन्म लेता है।

पूर्व प्रारम्भिक काल में सृष्टि सृजन जीव उत्पत्ति हुयी और प्रथमतः नर-नारी, हिंसक जंगली प्राणी (जानवर) जैसा था। अर्थात् उसका रहन सहन तथा खान पान विचार आदि जंगली प्राणी जैसा था। आगे आगे समय परिवर्तन अनुसार तथा जीवन यापन तथा आवश्यकता के अनुसार उनका बौद्धिक विकास (विचारों में परिवर्तन) तथा मानसिक विकास (संस्कारों का परिवर्तन एवं आत्मिक विकास) ऐसे बौद्धक, मानसिक और (साधना अर्थात् कर्म परिवर्तन) ऐसे बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक उत्तरोत्तर विकास होकर कर्म धर्म संस्कार बनते गये,

सुधरते गये तथा अविष्कार होते गये और इन संस्कारों कर्मो तथा उनके फलों से वह पुनः पुनः जन्म लेते रहें और मृत्यु को अपनाते रहें। इस प्रकार **"पुनरपी जनमम् पुनरपी मरनम्"** में संस्कारों में विकसित होकर मनुष्य (मानवता) जैसी सर्वोत्तम उपाधि को प्राप्त किया।

जन्मोजन्मी जैसे जैसे उच्चतम् संस्कार को वह प्राप्त होता गया वैसे वैसे वह उच्चतम अवस्थाओं में पहुँचता गया और यह सब प्राकृतिक ब्रह्माण्डिय उस परम ईश्वरीय सत्ता के अनुसार होता गया। जिसमें वह प्रथम, प्रथम पुरुष फिर उत्तम पुरुष (मानवता) तदपश्चात् महापुरुष (विद्वान, ऋषि, मुनि) तदनन्तर दिव्य पुरुष (योगी, महायोगी, नाथ-सिद्ध, साधु-सन्त) फिर सिद्ध पुरुष (परम योगी नाथ योगेश्वर) और आगे हंस-परमहंस-शून्य महाशून्य योगी तथा सर्वोच्च सतगुरुत्व महाज्ञानी योगियों की उच्चतम अवस्था में आ पहुँचा।

अतः इन उच्चतम अवस्थाओं में अनेक महात्माओं ने संस्कारों, विचारों, ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, विषेशतः योग साधनाओं में विशेष अविष्कार किया। जिनमें ऋषि, मुनि, मनिषियों, संन्यासी, त्यागी, तपस्वी तथा महायोगी थे। तब हमारे नाथ सिद्ध योगेश्वर जो कि नवनाथ चौरासी सिद्ध अनन्त कोटी सिद्धों ने मूलतः योग सिद्धान्त अपनाया और उसमें ब्रह्माण्ड-सृष्टि-जीव-जंतु-पिण्डादि विषयों में अपने यौगिक अनेक सिद्धान्त प्रस्थापित किये। विशेषतः श्री शम्भुजती गुरु गोरक्षनाथजी के योग साधना के अनुभव ज्ञान तथा योग सिद्धियों द्वारा अपने सत्य सनातन सिद्धान्तों को सिद्ध कर दिखाया। आगे गुरु-शिष्य परम्परा से यही ज्ञान, यही सिद्धान्त, यही योग प्रणाली उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

(क) पिण्ड ते ब्रह्माण्ड

अतः ऐसे पूर्वज सतगुरुजन तथा नाथ सिद्ध योगेश्वर एवं विशेषतः

गुरु गोरक्षनाथजी कहते हैं कि यह सृजन सृष्टि उत्पन्न करने वाले परम ईश्वर ने अपने अनन्त, अखण्ड, अपरिमित चमत्कार से इस सृष्टि में पिण्ड ते ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड ते पिण्ड की इतनी सुनिश्चित-संयमित और सत्य सनातन रचना की है कि उसे प्रकृति खुद स्वतः पिण्ड ब्रह्माण्ड में संयम तथा समतोल तथा संचालन करती रहती है।

अतः सृजन सृष्टि में सर्वप्रथम इन प्राथमिक निजा शक्ति उत्पन्न हुयी फिर परा-अपरा-सूक्ष्मा और कुण्डलिनी जैसे गुण शक्तियाँ उत्पन्न होकर उनके संयोग से सगुण साकार परमेश्वर के पिण्ड तथा परपिण्ड अवस्थायें उत्पन्न हुईं।

अतः परपिण्ड के गुण विशेष में-

(१) अपरम्पर गुण - जो शक्ति स्फुरण है जिसमें अकुलत्व, अनुपमत्व, अपरात्व, अमूर्त, अनुदय आदि गुण हैं।

(२) परम्पद गुण - परम्पद अर्थात् भावना जिनके निष्कल, अनुत्तर, अचल, असंख्य गुण हैं।

(३) शून्य - यह सर्वसत्ता है जिसमें लीनता, पूर्णता, उन्मन, लीनता, मूर्च्छा यह गुण विद्यमान हैं।

(४) निरन्जन - यह साक्षात्कार है इसके सत्य सहज, समरस, सावधान, सर्वांगत से गुण हैं।

(५) परमात्मा - इसके अक्षय, अभेद्य, अच्छेद्य, अविनाशी, अदाह्य ऐसे गुण हैं।

इस प्रकार परपिण्ड से अनादि पिण्ड की उत्पत्ति होती है जिसमें-

(१) परमानन्द, (२) प्रबोध, (३) चिदुद्य, (४) प्रकाश (५) सोहम ऐसे गुण हैं। इस अनादि पिण्ड से आद्य पिण्ड की उत्पति होती है। जिसमें

(१) आकाश - अवकाश, अछिद्र, अस्पृशत्व, नीलवर्ण शब्द के गुण हैं।

(२) वायु - जिसमें संचार, संचालन, स्पर्श, शोषण, धूम्रवर्ण यह गुण हैं।

(३) तेज - जिसमें दाहक, पाचक, उष्ण, प्रकाश, रक्तवर्ण यह गुण हैं।

(४) जल - अलील - जिसमें प्रवाह, आप्यापन, द्रव रस, श्वेत वर्णत्व के गुण हैं।

(५) पृथ्वी - जिसमें स्थूलता, नानाकारता, काठिन्य, गन्ध, पीतवर्ण के गुण हैं।

अत: ऐसे पंचतत्व गुणों से महासाकार पिण्ड बने जो जीव प्राणियों के इष्ट बन गये।

महासाकार पिण्ड - यह अष्टमूर्तियाँ हैं।

(१) शिव (आदिनाथ) (२) भैरवनाथ, (३) श्री कण्ठनाथ, (४) सदाशिव, (५) ईश्वर, (६) रुद्र, (७) विष्णु, (८)ब्रह्मा।

अत: उपरोक्त महासाकार पिण्डों ने प्रकृति पिण्ड का निर्माण किया। जो चातुर्थ खानी में उत्पन्न हुये। अण्डज, पिण्डज, स्पेदज, उद्विज।

(१) अण्डज - सर्प पक्षी आदि।

(२) पिण्डज - नर नारी, पशु।

(३) स्वेदज - जूं, खाली दीमक आदि।

(४) उद्विज - वृक्ष, वनस्पति आदि।

अत: त्रिगुण (रज, सत्व, तम) तथा पंचतत्व गुण विशेष एवं चन्द्र सूर्य तथा अग्नि इन सबके संयोग से प्रकृति पिण्ड का निर्माण हुआ।

प्रकृति पिण्ड

(१) पंचतत्व के अंश

(१) **पृथ्वी** = अस्थि, त्वचा, माँस, रोम, नाड़ियाँ।

(२) **जल** = लार, मूत्र, स्वेद, शुक्र, शोणित

(३) **अग्नि** = क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कान्ति श्री

(४) **वायु** = थावन, भ्रमण, प्रसारण, आकुन्चन, निरोध

(५) **आकाश** = राग-द्वेष, भय, लज्जा, मोह

(२) पंच अन्तःकरण

(१) **मन** = संकल्प, विकल्प, मूर्च्छा, जड़ता, मनन

(२) **बुद्धि** = विवेक, वैराग्य, शान्ति, संतोष, क्षमा

(3) **अहंकार** = अभिमान, मदीप, ममसुख, ममदुःख, ममेदंभ

(४) **चित्त** = मति, धृति, स्मृति, त्याग, स्वीकार

(५) **चैतन्य** = विमर्श, शीलन, धैर्य, चिन्तन, निस्पृहत्व

(३) प्राणकुला पंचक

(१) **सत्व** = दया, धर्म, क्रिया, भक्ति, श्रद्धा

(२) **रज** = दान, भोग, श्रृंगार, वस्तु ग्रहण, स्वार्थ ग्रहण

(३) **तम** = विवाद, कलह, शोक, वध, वंचन

(४) **काल** = कलबा, कल्यणा, भ्रान्ति, प्रमाद, अनर्थ

(५) **जीव** = जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत

(४) व्यक्ति पंचक

(१) **इच्छा** = उन्माद, वासना, वान्छा, चिन्ता, चेष्टा

(२) **क्रिया** = स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय, स्वकुलाचार

(३) **माया** = मद मात्सर्य, दंभ, कृतियत्व, असत्य

(४) **प्रकृर्ति** = आशा, तृष्णा, स्पृहय, कांक्षा, मिथ्या

(५) **वाक** = परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी, मातृका

(५) अप्रत्यक्ष करण पंचक

(१) **कर्म** = शुभ, अशुभ, कीर्ति, अपकीर्ति, अदृष्यफल साधना

(२) **काम** = रति, प्रीति, क्रीड़ा, कामना, आतुरता

(३) **चन्द्र** = उल्लोला, कल्लोलि, उच्यलन्ती, उन्भदीनी, तरंगणी, शोषणी, लम्पटा, प्रवृति, लहरी, लीला, लौलीहाणा, प्रसरन्ती, प्रवाह, सोभ्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती, निवृति इ० १६ कला

(४) **तापिनी** = ग्रासिका, उग्रा, आकुंचनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तृष्टिवर्धिनी, उमरिखा, किरणवती, प्रभावती, निजकला, स्व प्रकाशता

(५) **अग्नि** = दीपिका, रजिका, ज्वलिनी, विष्फुलिगनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागणी, शिखावती, ज्योतिसपनिजकला

इस प्रकार उपरोक्त गुण तत्व अंश से मुख्यतः नर नारी स्वरुप में शरीर बनता है जो पिण्ड रुप में गर्भ पिण्ड कहा जाता है।

(१) दश वायु - (१) **प्राण** (हृदय में श्वास-निश्वास रुप में)

(२) **अपान** (गुदा के नजदीक अशुद्ध वायु निकालना)

(३) **समान** (नाभी में - पाचन शक्ति)

(४) **उदान** (कण्ठ में - सन्तुलन क्रिया)

(५) **व्यान** (समस्त शरीर रक्त संचार में संतुलन क्रिया)

(६) **नाग वायु** - शरीरव्याप्त

(७) **कुर्म वायु** - नेत्रों को खोलना बन्द करना

(८) **कृकल वायु** - डकार करके गैस बाहर फेंकना

(९) **देवदत्त वायु** - जंभाई देकर शान्ति प्रदान करना

(१०) **धनंजय वायु** - व्याप्त शरीर में नाद उत्पन्न करना

(२) **दश धातु** - रक्त, माँस, चर्म, अस्थि, मेद, मज्जा, शुक्र, वात, पित्त, कफ

(३) **दश द्वार** - मुख, दो नासिका, दो कर्ण, दो चक्षु, दो पायु, उपस्थ ब्रह्मरन्ध्र

(४) **दश प्रधान नाड़ी** - ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्व, शंखनी, पूषा, अलम्बूषा, सरस्वति, कूहू।

(५) **अस्थियाँ** - तीन सौ साठ

(६) **आस्थियाँ जोड़** - तीन सौ साठ

(७) **रोम एवं रोमकूप** - साढ़े तीन करोड़

अत: इस नर नारी पिण्ड में समूची पूर्ण ब्रह्माण्ड का समरस्य, को बताते हैं जो कि पिण्ड ते ब्रह्माण्ड अर्थात् बिन्दु ते सिन्धु भी कहते हैं जो कि पिण्ड यह ब्रह्माण्ड का एक छोटा स्वरुप है। ऐसे गुरु गोरक्षनाथजी अपने साधना प्रणाली अनुभव से सिद्ध सिद्धान्त बताते हैं।

पिण्ड में सृष्टि के विभिन्न लोक

पिण्ड	लोक	देवता
(१) मूलाधार (चक्र) में	भू:लोक (पृथ्वी लोक)	

(२) लिंग प्रदेश में	भुवः लोक	इन्द्र
(३) नाभी देश में	स्वः लोक	शासक
(४) मेरुदण्ड मूल में	महः लोक	
(५) मेरुदण्ड कुहर में	जनः लोक	अधिपति
(६) मेरुदण्ड नाल में	तपः लोक	ब्रह्मा
(७) मूलधार कमल में	सत्य लोक	
(८) कुक्षि नाभि (उदर में)	विष्णु लोक	विष्णु देवता
(९) हृदय में	रुद्रलोक	रुद्र देव
(१०) वक्षस्थल में	ईश्वर लोक	तृप्ति रुप ईश्वर
(११) कण्ठ के मध्य में	नीलकण्ठ लोक	नीलकण्ठ
(१२) तालु द्वार में	शिव लोक	शिव आदिनाथजी
(१३) जिह्वा मूल	भैरव लोक	भैरव
(१४) ललाट देश	अनादि लोक	अनादि शिव
(१५) भृकुटी के ऊपर श्रृंगार स्थान में	कुल लोक	कुलेश्वर शिव
(१६) शंख नाड़ी के ऊपर	कुल लोक	अकुलेश्वर
(१७) नलिनी स्थान में	'अ'	देवता
(१८) ब्रह्मरन्ध्र में	परब्रह्मलोक	अखण्ड पूर्ण परब्रह्म
(१९) ऊर्ध्व कमल सहस्त्रगार में	परापरलोक	पराभाव स्वरुप परमेश्वर
(२०) सहस्रार के ऊपर त्रिकुटी में	त्रिशिखर लोक	सर्व नियमिका पराशक्ति
पिण्ड के अन्दर	**सप्तपाताल**	
(१) पैर के अंगूठे में	तलातल	

(२) अंगूठे के अग्रभाग में	महातल
(३) पाद पृष्ठ में	रसातल
(४) गट्टे (गुल्फ) में	सुतल
(५) जाँघ में	वितल
(६) जानू में	अतल
(७) पाद तल में	पाताल

सप्तद्वीप

(१) मज्जाओं में	जम्बूद्वीप
(२) हड्डी में	शाक द्वीप
(३) प्रवाहिका नाड़ियों में	सूक्ष्म द्वीप
(४) त्वचा में	क्रौच द्वीप
(५) रोमों में	गोमय द्वीप
(६) नखों में	श्वेत द्वीप
(७) मांस में	प्लाक्ष द्वीप

सप्त समुद्र

(१) मूत्र में	क्षार समुद्र
(२) लार में	क्षीर समुद्र
(३) कफ में	दधि समुद्र
(४) मेद मज्जा में	घृत समुद्र
(५) चर्बी में	मधु समुद्र
(६) रक्त में	इक्षु समुद्र
(७) वीर्य (शुक्र) में	अमृत समुद्र

अष्टकुल पर्वत

(१) मेरु दण्ड में	सुमेरु पर्वत
(२) मस्तक में	कैलास पर्वत

(३) पीठ में	हिमालय पर्वत
(४) बायें कन्धे में	मलय पर्वत
(५) दायें कन्धे में	मन्दरांचल पर्वत
(६) दायें कान में	विन्ध्याचल पर्वत
(७) बायें कान में	मैनाक पर्वत
(८) ललाट में	श्री शैल
(९) सभी अंगुलियों में	अनन्य उपपर्वत

इसी प्रकार **नवखंड** भी पिण्ड में दर्शाये हैं-

(१) मूल गुदाद्वार में	भारत खण्ड
(२) उपस्थ (लिंग छिद्र) में	काश्मीर खण्ड
(३) मुख में	कर्पर खण्ड
(४) नासिका (दाहिने रन्ध्र में)	श्री खण्ड
(५) नासिका (बायें रन्ध्र में)	शंख खण्ड
(६) बायें नेत्र में	एक पाद खण्ड
(७) दायें नेत्र में	गान्धार खण्ड
(८) बायें कान में	कैवर्त खण्ड
(९) दाहिने कान में	महामेरु खण्ड

इसी प्रकार **नव नदियाँ तथा उपनदियाँ** भी पिण्ड के अन्दर समरस है।

(१) ईड़ा	गंगा नदी
(२) पिंगला	जमुना नदी
(३) सुषुम्ना	सरस्वती तथा पीनसा नदी
(४) अन्य प्रधान नाड़ियों में	चन्द्रभागा, पिपासा, शतरुद्रा, नर्मदा
(५) शेष बहत्तर हजार नाड़ियों में	छोटी एवं पतली उपनदियाँ

अत: ब्रह्माण्ड की ग्रह तिथि आदि का घट पिण्ड में ही दर्शन होता है।

नक्षत्र-ग्रह-तारे-तिथि आदि

(१) मांस पेशियों, उर्मि पुन्जों में	सताइस नक्षत्र, बारह राशि, नव ग्रह पन्द्रह तिथि
(२) हड्डियों में	तारा मण्डल
(३) रोम छिद्रों में	तैंतिस करोड़ देवता
(४) हड्डियों के जोड़ों में	दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत-प्रेत
(५) पेट के बालों में	अनेक दूसरे पर्वत
(६) उदर में	गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, अप्सरायें
(७) वायु के वेग में	आकाश में विहार करने वाले उग्र देवता, लीलारुप मातृ शक्तियाँ
(८) बुद्धि के प्रकाश में	असंख्य सिद्ध
(९) बायें नेत्र में	चन्द्रमा
(१०) दाहिने नेत्र में	सूर्य
(११) जांघ के रोमों में	वृक्ष, लता, गुल्म, तृण आदि
(१२) विष्ठा में	कृमी, कीट, पतंग आदि

इस प्रकार गुरु गोरक्षनाथजी ने पिण्ड को सृष्टि ब्रह्माण्ड कारी संक्षिप्त स्वरुप कहा है ऐसे अपने योग सिद्ध प्रणाली अनुभव से सिद्ध किया है। अर्थात् साधक तथा योगी अपने योग की उच्चतम अवस्था में जाते हुये इस पिण्ड रुपी ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है। इस शरीर पिण्ड के सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साक्षात्कार के अलौकिक सत्य की खोज के चरम बिन्दु पर योगी/साधक तभी पहुँच जाता है जबकि समाधि के

उच्च से उच्चतर अवस्था में उठकर काया के अन्तर्गत सूक्ष्म तत्व में बड़ी गहरायी से प्रवेश करता है और तब वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आत्मभिव्यक्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव करने में समर्थ होता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म आत्मभिव्यक्ति अनुभव विज्ञान नहीं कर सकता, इसे योगी अपने गुरु के मार्गदर्शनानुसार ही कर सकता है। तब वह मोक्ष मुक्ति के मार्ग पर आरुढ़ होता है। इस प्रकार गुरु मार्गदर्शन, आसन, प्राणायाम मुद्रा, बन्ध आदि सक्षम यौगिक साधना जो प्रत्यहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन विभिन्न माध्यम से शरीर काया पिण्ड के अन्दर ब्रह्माण्ड स्थित द्वीपों, समुद्रों, खण्डों, पर्वतों, ग्रह, तारों, देवी-देवता, यक्षों, पिशाच, भूत-प्रेत, गन्धर्व, अप्सराओं आदि का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और ऐसी अवस्था में वह स्वयं शिव के ब्रह्माण्ड शरीर में तथा शिव ब्रह्माण्ड को अपने में अन्तर्लीन पाता है।

(ख) आत्मा-ज्ञान

आत्मा या जीवात्मा, या अन्तरआत्मा या योगियों का इष्ट या परमात्मा, या चैतन्य या परमतत्व आदि ऐसे नामों से आत्मा को जानते हैं। आत्मा सम्पूर्ण शरीर का स्वामी है, इष्ट है, इस भौतिक शरीर के प्राकृतिक किसी भी परिवर्तन का तथा पांचों तत्वों का इस आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता वह इस शरीर में तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक रुप में स्थित है, नित्य है, शाश्वत है, सत्य है, अविनाशी है एवं प्रकाशी है। सम्पूर्ण शरीर के रोम रोम में इसका अनुभव तथा साक्षात्कार किया जाता है। शरीर नष्ट होता है किन्तु आत्मा नष्ट नहीं होती। गोरक्षनाथजी कहते हैं यह सर्वत्र व्यापक है। यह एक परम सत्ता है मन बुद्धि के परे, माया ब्रह्म के परे, चित्त के परे अन्तर अनन्त आत्मा है। समस्त माया के परे वह पर ब्रह्म है। पंच तत्वों के परे परम तत्व, परमात्मा है।जो इन पंचभूतों के परे चिन्मय परम सत्ता है।

वस्त्र बदलते हैं वैसे शरीर बदलता है आत्मा ऐसे यह अदाह्य, अक्लेद्य, अशोध्य, नित्य, सर्वव्यापक, अचल और सनातन है।

हमारे नाथ सिद्ध परम योगी - विरक्ति, त्यागी, ज्ञानी तथा निष्काम पुरुष अपनी साधना प्रणाली से उस आत्मा को देख सकता है उसका अनुभव कर सकता है और सुख दुःख के परे जाकर मुक्त हो सकता है। आत्म ज्ञान एक सच्चे जिज्ञासु ध्यानस्थ योगी परिपक्व साधक को ही बोध गम्य है। सच्चाई तो यह है कि ज्ञान का आधार आत्मा ही है, एवं मुक्ति का आधार भी आत्मा है। आत्म ज्ञान, आत्म बोध, आत्म साक्षात्कार के लिये अन्तःकरण शुद्ध होना अनिवार्य है। जो संयम से जगत माया में द्रष्टा हो जाये। सद्गुरु कृपा एवं मार्गदर्शन से आत्म साक्षात्कारी सभी विकारों से मुक्त होकर, अनन्त, अलौकिक आनन्द, अगम्य, सर्व सम्पन्न, शुद्ध, पवित्र, सर्व श्रेष्ठत्व को प्राप्त होता है जो आत्म देश में जाता है वह आत्मा में ही खो जाता है।

आत्मा स्थूल रुप में नहीं दिखता, आत्मज्ञान में स्थूल दृष्टि का काम नहीं है और ना कोई विशेष नियम है। वहां न कार्य, ना कारण ना भाव है। वहां ना प्राप्ति, ना अप्राप्ति भाव है, ना गम्य, ना गमक भाव है। किन्तु वहां अनन्त, अखंड समानाधिकरण और ज्ञान अधिकारण भावना रहती है, वहीं आत्म भाव से परिचित हो सकते हैं। अर्थात् आत्म ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि, विवेक तथा अन्तर मुखता होनी चाहिये ऐसे सूक्ष्म शक्ति सम्पन्नता प्राप्ति के लिये साधना, आसनों, प्राणायाम, ध्यान धारना, समाधि इत्यादि साधनो में सक्षम एवं परिपक्व होना चाहिये। 'ॐ' या ॐ सोहं या ॐ शिव गोरक्ष योगी, या ॐ शिव गोरक्षाय नमः या ॐ नमः शिवाय ऐसे मन्त्र या अपने सतगुरुजी से प्राप्त हुआ मन्त्र या अपने इष्ट के प्रति मन्त्र इनका ध्यान धारना समाधि में अखण्ड तैल धारवत जप, मनन, चिन्तन

करते करते मन चित्त का निरोध होकर शून्य में अवस्थित होना होगा, जो लोग, महात्मा ज्ञानाग्नि में अपने शरीर तथा गुण-अवगुण सबकी आहुति देकर काया, वाचा, मन निर्मल बनाते हैं वह शिवलोक, मुक्ति धाम में अनायास ही जाते हैं। समूची साधनायें, तपस्यायें, हठयोग अर्थात् खडेश्वरी, जटाधारी, फलाहारी, मौनी, रमतेश्वरी, व्रतधारी, तन्त्र मन्त्र उपासनायें इत्यादि आत्म चिन्तन, आत्म ज्ञान, आत्मानुभव, आत्मानन्द की आभ्यान्तर साधना के बिना सूखे पेड़ जैसे हैं। यह बाह्य साधनायें इन्द्रिय संयम होता है। मन प्रत्याहार से वश में होता है। प्राणायाम द्वारा नाड़ी शोधन, कुण्डलिनी चक्र भेदन तथा सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। किन्तु आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ तो सब निरर्थक एवं यन्त्रवत रह जाता है। एवं ज्ञान प्राप्ति न होने के कारण मुक्ति मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः आत्मचिन्तन, आत्मदर्शन, आत्मानुभव, आत्म साक्षात्कार यही मोक्ष-मुक्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन, मार्ग एवं उपाय है।

इस प्रकार ज्ञान एवं आत्मसाक्षात्कार करके मुक्ति को पाना यह हर एक व्यक्ति कर सकता है। मानव प्राणी मात्र का यही सच्चा ध्येय है तथा अधिकार भी है। किन्तु यही ज्ञान योग एवं आत्मसाक्षात्कार सभी नहीं कर पाते इसलिये हमारे नाथ सिद्ध महात्मा एवं पूर्वजों, ऋषि मुनियों ने उपासना करके मुक्ति प्राप्ति मार्ग सर्व साधारण प्राणियों के लिये दर्शाया है।

(ग) उपासना

उपासना अर्थात् .... के पास में बैठना (उप + आसन) उसका मन उस वस्तु के पास में रहता है। उसी की उपासना होती है और वह वस्तु कुछ भी लोक या परलोक की हो सकती है। उपासना सत्य-शाश्वत परमात्मा की करनी चाहिये अतः यह उपासना तीन प्रकार की होती है। जो साधू सन्त, नाथ योगीजन एवं भक्त नर-नारी

सभी कर सकते हैं। (१) कर्मयोग, (२) भक्ति योग, (३) ज्ञान योग।

(१) कर्म योग - कर्म योग के अनुसार ममता, आसक्ति, कामना का सर्वस्व त्याग करके अपने कर्तव्य के आचरण द्वारा तथा तटस्थ या द्रष्टा या साक्षी होकर निष्काम कर्म करने को कर्मयोग उपासना कहते हैं।

(२) भक्ति योग - भक्ति योग के अनुसार भगवान को अपने इष्ट को मनाकर तथा विश्वास करके एवं पूर्ण समर्पित भाव से उपासना की जाती है। भक्त भगवान की भक्ति में एकरुप भाव, तादात्म भाव एकी भाव सम्पूर्ण विश्वास युक्त हो जाता है इसे भक्ति उपासना कहते हैं।

(३) ज्ञान योग - ज्ञान योग के अनुसार परमात्मा को जानकर-सत्य को जानते हुये विरक्ति या वैराग्य होकर उपासना की जाती है। अर्थात् इस भव सागर की माया से हटकर निस्वार्थ भाव से सत्य को जानते हुये परमात्मा के पास बैठकर उपासना अर्थात् साधना करना ताकि मोक्ष मुक्ति की प्राप्ति हो जाये। इनमें कर्म करने वाले जन कल्याण हेतु पूजन यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, तपस्या तथा जन सेवा, सन्त सेवा तथा क्रान्तिकारी, समाज सेवक आदि होते हैं। भक्ति योग में साधु सन्तों की भूमिका होती है। ज्ञानयोग के अन्तर्गत साधना करने वाले साधक योगेश्वर नाथ, सन्यासी, विरक्त, वैरागी तथा जिज्ञासु आदि होते हैं।

कर्मयोग और ज्ञान योग दोनों भी भक्ति योग में समन्वय हैं। ज्ञान हीन कर्म या कर्म हीन ज्ञान यह कृत्रिम अर्थहीन तथा शक्ति हीन होता है। अतः भक्ति पूर्ण उपासना ज्ञान और कर्म इन दोनों से सहज सुलभ एवं आनन्दप्रद है। अर्थात् भक्ति योग में कर्म योग और ज्ञान योग दोनों की एकता है। जब कि (१) निष्काम, निस्वार्थ कर्मयोग से स्वर्ग प्राप्ति तथा (२) ज्ञान योग से सच्चिदानन्द एवं कैवल्यानन्द प्राप्त होता है और (३) निस्वार्थ भक्ति या निष्काम भक्ति योग के आश्रय से कर्मयोग, ज्ञानयोग, मोक्ष और मुक्ति मार्ग पर ले जाते हैं। अतः निष्काम भक्ति

योग सर्व श्रेष्ठ मोक्ष मुक्ति मार्ग है।

भक्ति योग अर्थात् भगवान की या ईश्वर की या अपने इष्ट की उपासना है जिसमें विश्वास, श्रद्धा, सेवा, समर्पण भाव इत्यादि का विकास है। यह भक्ति योग दो प्रकार का है। (१) सगुण भक्ति, (२) निर्गुण भक्ति।

भगवान सगुण भी है और निर्गुण भी है वह सर्व व्यापक सत्ता है। सगुण भगवान की भक्ति सगुण भक्ति कहलाती है तथा निर्गुण भगवान की भक्ति निर्गुण भक्ति। अत: निस्वार्थ या निष्काम सेवा या उपासना को ही भक्ति कहा गया है। किन्तु यह उच्च आदर्श भक्ति योग साधारण या सर्व सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। यह अति और यथार्थ भक्तों के लिये है। सगुण भक्ति के अनन्य प्रकार हैं। इनमें

(१) सनिमित्त भक्ति - यहां भक्त जीवन में कोई कठिनाई या संकट आने पर ही आर्त भाव से परमेश्वर की भक्ति करता है। और अपने समृद्धि प्रसिद्धि के लिये भी वह यथार्थ भक्ति करता है।

(२) आकर्षण या चुम्बकीय भक्ति - यहाँ उपलब्धि अनुसार भगवान से आकर्षित होकर भक्ति करते हैं।

(३) श्रद्धापारायण भक्ति - यहाँ भगवान पास हो या दूर अन्यत्र हो भक्त बिना किसी वजह या निमित्त भगवान की उपासना, भक्ति करता है।

(४) सह-भक्ति - वृक्ष से लिपटी हुयी लता के समान भक्त भगवान से सह भक्ति या उपासना करता रहता है। किन्तु इसमें द्वैत भाव रहता है।

(५) समरसता भक्ति - जैसे सागर में नदी मिलकर सागर बन जाती है। वैसे ही भक्त भगवान भक्ति में लीन होकर भगवान में एक रुप हो जाता है। और यही सर्व श्रेष्ठ भक्ति है।

इस प्रकार उपरोक्त पांचों सगुण भक्ति में पांचवीं अर्थात् समरसता भक्ति करते करते भक्त निर्गुण भक्ति में प्रवेश करता है।

निर्गुण भक्ति -

निर्गुण ब्रह्म के प्रति की जाने वाली उपासना या भक्ति निर्गुण भक्ति कही जाती है। इसमें शुरु शुरु में भक्त (मनुष्य, प्राणी) अपने आपको ब्रह्म से अलग मानता है। किन्तु सतगुरु कृपा से जब साधना उपासना में लीन होते हुये मन, चित्त, अहंकार जैसी माया हटने पर तथा अनुभव ज्ञान द्वारा जब भक्त जान जाता है कि मैं ब्रह्म से अलग नहीं हूँ। अर्थात् सर्व व्यापक ब्रह्म, पिण्ड ते ब्रह्माण्ड मैं आत्मा हूँ इत्यादि अहंब्रह्मास्मि स्वरुप में वह भक्ति करने लगता है। वह सत्य को जान जाता है और अद्वैत रुप से वह निर्गुण भक्ति करने लगता है। जो कि यह निर्गुण भक्ति योग अवस्था भी मोक्ष मुक्ति को प्राप्त करवाती है।

अतः भक्तों में भी प्रकार हैं। जैसे (१) आर्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी, (४) ज्ञानी।

(१) आर्त भक्त - यह अपने विपत्ति, कष्ट निवारण के लिये भगवान को भजते हैं।

(२) जिज्ञासु - यह भगवान को जानने की इच्छा से भगवान की भक्ति करते हैं।

(३) अर्थार्थी - यह सिद्धियाँ प्राप्ति के लिये या इच्छा प्रयोजन के लिये भगवान की भक्ति करते हैं।

यहां आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तीनों ही सकाम या स्वार्थ भक्ति हैं जो मोक्ष मुक्ति प्रद नहीं है। किन्तु यह सगुण भक्ति करते करते ज्ञान को पाने के पश्चात् भक्त निर्गुण भक्ति में प्रवेश करता है। जो मोक्ष प्रद होती है।

(४) ज्ञानी - यह भक्त विवेकशील, एवं कर्तव्यनिष्ठ होने की प्रेरणा से भगवान की भक्ति करते हैं और यह भगवान को ही सब कुछ मानकर निस्वार्थ या निष्काम भक्ति करते हैं और यही मोक्ष मुक्ति को प्राप्त करवाती है।

आज सर्वत्र मानव समाज, अशान्त, अस्वस्थ और अस्थिर है। वह बड़े संघर्ष के साथ शाश्वत शान्ति को खोज रहा है। एक ओर विज्ञान प्रकृति के ऊपर विजय पाना चाहता है दूसरी ओर अनन्त प्रकार के भोग विलास वासनाओं की चकाचौंध में आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। आज के विचारक, साधु सन्त, विद्वान शास्त्री, पण्डित, वैज्ञानिक तथा समाज सुधारक सभी इस कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, योग साधना तथा उपासना इस सत्य को स्वीकारते हैं तथा अपने आचरण में उसका विनियोग करते हैं, प्रयोग करते हैं एवं समाज को ज्ञानोपदेश एवं मार्गदर्शन भी कराते हैं और यह उपदेश पुरातन काल से चलता आया है। फिर भी आज समाज पुनः उसी स्थिति अर्थात् अशान्त, अस्थिर, भ्रमित, दिशाहीन आदि से व्यस्त है। अतः समाज के आचरण में उनके संस्कारों में योग साधना, ज्ञान, निस्वार्थ भक्ति, कर्मयोग आदि का समन्वय इनको योगदान करना आवश्यक हो गया है। वास्तविक ज्ञान का दीपक सभी के हाथ में है। शाश्वत शान्ति सभी के अन्दर प्रकाशमान है किन्तु फिर भी यह सत्य अन्धकार में विलीन हो रहा है।

संसार के महापुरुषों ने जैसे गुरु गोरक्षनाथ, नवनाथ चौरासी सिद्ध, बुद्ध महावीर शंकराचार्य, रामानुज, येशुक्रिस्त, मुहम्मद, नानक, कबीर आदि सत्य सनातन महापुरुषों ने प्राणी मात्र को दुःख, निवारार्थ, सुख-आनन्द की प्राप्ति प्रित्यर्थ एवं मोक्ष मुक्ति के अनेक मार्ग दिखाये अनेक दीपक प्रज्वलित किये अनेक धर्म अनेक उपासना भक्ति कर्म, ज्ञान, अनेक विधियाँ, पंथ आदि का मार्ग दर्शन तथा आदर्श प्रस्थापित

किया। किन्तु कोई भी मानव किसी मानवता का, किसी निश्चित पंथ का, किसी धर्म का अवलम्बन कर नहीं सके और ना ही निर्णय ले सके। भौतिक विज्ञान के अविष्कारों द्वारा सुख देने का प्रयास किया किन्तु मानव प्राणी ज्यादातर आलसी, स्वैराचारी, व्यसनी, धर्मभ्रष्ट हो गये हैं। पाश्चात्य संस्कृति का अवलम्बन करके हमारी धर्म संस्कृति विच्छेद हो गयी और शाश्वत सुख, सच्चा आनन्द और शाश्वत शान्ति लुप्त होने लगी है और ऐसे में मानव समाज व्यर्थ बातों में व्यर्थ जीवन यापन कर रहे हैं और एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। आज अध्यात्म, माया, संसार और इनका सत्य, ज्ञान, साधना, भक्ति आदि सब शास्त्रार्थ तथा वाद विवाद का ही विषय बन गया है। निजी स्वार्थ लोलुपता और भोग पिपासा में लिप्त होकर अपने धर्म को, भगवान को और अपने पूर्वज साधु सन्त, महात्माओं के सिद्धान्त विचारों को अपने निजी स्वार्थ के लिये केवल इस्तेमाल कर रहे हैं। स्वार्थ के लिये इनका प्रचार धन के लिये इनका व्यापार तथा वृढ़िवाद करके ठगना, व्याभिचार आदि में लिप्त होने लगे। कुछ अधार्मिक तो कुछ असामाजिक वृत्ति के लोग धर्म संस्कृति का सहारा लेकर साधु सन्यासी रुप में गुरुओं का व्यापार, चेलों का बाजार तो भक्तों का स्वैराचार को पनपा रहे हैं और मानवता, सच्चा धर्म, सुसंस्कृति, परमात्व तत्व, आत्मतत्व, योग साधना आदि का भ्रमित नौटंकी रुप में प्रतीत हो रहा है। प्रामाणिक सज्जन तत्व के लोग ज्यादातर भ्रमित दिशा हीन परावलम्बी होने लगे हैं। अनेक संस्कृति के धर्म, विविध प्रकार के वृढ़ियाँ, वृथा उपदेश तथा विचित्र जटिल नियम इन सबसे लोग अस्वस्थ, अस्थिर और भ्रमित हो रहे हैं।

समय समय पर हमारे नाथ योगियों ने खड़तर सक्षम तथा ज्ञान, विवेक, यौगिक चमत्कारों इत्यादि द्वारा तथा अनेक साधु सन्त, ऋषि मुनियों ने अच्छे आदर्श प्रस्थापित तथा प्रचार करके धर्म को बचाने की चेष्टा की तथा जनमानस को सँवारा किन्तु फिर भी हमारी संस्कृति पर

पाश्चात्य देशों का एक धूमिल वातावरण आया है और स्वार्थ भोग का विशाल नर्तन शुरु हो गया है। अत: जनता में सत्संग, योगसाधना, भक्ति कर्म आदि तत्वों की नितांत आवश्यकता है। ऐसे समय उपासना भक्ति द्वारा सगुण से निर्गुण में जाने के मोह माया एवं विकारों से मुक्त होकर मोक्ष मुक्ति की तरफ जाने की उनके मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

इस संसार में मृत्यु जैसे सत्य को और मोक्ष मुक्ति जैसी प्राप्ति को उजागर करना आवश्यक है। इस मृत्यु के ऊपर विजय पाकर, अमरत्व पाने के लिये हमारे नाथ सिद्ध योगेश्वरों ने एवं साधु सन्त, महात्माओं ने इस संसार सागर में सर्वत्र भ्रमण करके रम्मत करते अपने योग सिद्धियाँ, साधना, तपस्या एवं ज्ञान द्वारा इस संसार सागर का मन्थन किया जिसमें विष के रुप में तम, मदिरा के रुप में रज और अमृत के रुप में सत्य को खोजकर निकाला ऐसे भवसागर में नाथ सिद्धों को अमृत का घट (नर नारी का शरीर) योग साधना के रुप में मिला जिससे समस्त प्राणी योग साधना के द्वारा अमृतपान करके अमर हो सकते हैं। जिस घट-पिण्ड में स्थूल शरीर के लिये, हठयोग साधना, आसन प्राणायामादि वनस्पति शास्त्र, रसायन शास्त्र, आयुर्वेद इत्यादि का अविष्कार किया तथा सूक्ष्म रुप में मन चित्त बुद्धि अहंकारादि का निरोध कर अन्तरआत्मा का ध्यान आत्मसाक्षात्कार को प्रगट किया। जिससे मनुष्य अनेक वर्षो तक अमर रहकर अपने सौन्दर्य-यौवन एवं (मन) आत्मा की शाश्वत शान्ति को जीवित रख सकते हैं। सोमरस अर्थात् अमृतपान से तेजपुन्ज काया तथा ब्रह्मचर्य एवं योग साधना के द्वारा आत्मानुभूति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर सकते हैं।

अत: नाथ सिद्धों का निर्देश है कि उपासना चाहे कोई भी हो, किसी की भी हो, कैसे भी हो वह भक्ति प्रधान होनी आवश्यक है। जो कि भक्ति योग के बिना कर्मयोग में और ज्ञान योग में परिपूर्णता नहीं

आती है। चाहे प्रथम सकाम या सगुण भक्ति करो आगे प्रगति करते हुये व निष्काम कर्म या निर्गुण भक्ति करते हुए मोक्ष मुक्ति को जाना ही मनुष्य प्राणी का धर्म है। अत: नाथ सिद्ध का प्राथमिक सिद्धान्त दर्शाता है कि सगुण भक्ति द्वारा अर्थात् हठयोग साधनायें, विभिन्न उपासनायें, तन्त्र-मन्त्र योग से कर्मकाण्ड इत्यादि साधनायें करते-करते निर्गुण भक्ति में जाना चाहिये जो मन चित्त अहंकार का निरोध होकर भक्त या साधक शून्य में जाना चाहिये और ऐसी अवस्थाओं में उन्हें आत्मसाक्षात्कार होते ही ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, जिससे वह मोक्ष मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। इसके अन्तर्गत यह योगमाया पूजन अर्थात् नाथ सिद्धों की शंखढाल यह एक विशिष्ट कर्मकाण्डादि योगमाया शक्ति का भक्ति विकास या विशेष भक्ति विश्लेषण किया गया है। ऐसे भक्ति स्वरुप और योग ज्ञान स्वरुप एवं तन्त्र मन्त्र योग स्वरुप और भी विभिन्न कर्मकाण्ड, नाथ सिद्धों में है। जो कि गोरख तन्त्र, मत्स्येन्द्र तन्त्र, कौल ज्ञान, कापालिक साधनायें, मल्लीकार्जुन तन्त्र, बाला सुन्दरी तन्त्र अर्थात् योगमाया इत्यादि नाथ सिद्ध योगेश्वर अपने सिद्धान्त अनुसार दार्शनिक कर्म करते हुए मोक्ष मुक्ति को पा लेते हैं।

अत: प्राणी मात्र को आत्मसाक्षात्कारी सतगुरु की प्राप्ति करके उनके मार्गदर्शन, निर्देशन अनुसार योग साधना प्रणाली, अध्यात्मिक ज्ञानार्जन एवं भक्ति स्वरुप कर्मकाण्डादि को अपनाते हुये मोक्ष मुक्ति को पाने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि मनुष्य प्राणी मात्र की प्रगाढ़ भक्ति भावना तथा श्रद्धा रुप कर्म शक्ति उस व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार करवा सकती है। और ऐसी प्रगाढ़ अभिव्यक्तियाँ, आवान्तर एवं निरर्थक अधर्म मार्ग पर खर्च नहीं होनी चाहिए। अत: यही भक्ति भाव, शक्ति की अभिव्यक्तियाँ, सत्य सनातन प्राप्ति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार एवं मुक्ति के लिये विनियोग होना यथार्थ एवं आवश्यक है।

(२१) मृत्यु

ईश्वर-परमात्मा सत्य है या नहीं किन्तु मृत्यु एक अटल, ध्रुव सत्य है। जन्म से मृत्यु के समय तक की यात्रा को हम सच्चा जीवन कहते हैं तो हम सत्य से वंचित हो जायेंगे। सत्य जीवन तो वह है कि हम हमारे जीवन को सुगंधित करे। जैसे हमारे गुण, कर्म, साधना, तपस्या आदि से परमात्मा की सुगंध निकलनी चाहिये। जैसे गुरु गोरक्षनाथ-नवनाथ-सिद्ध, कृष्ण, राम, बुद्ध, येशु, महावीर आदि महापुरुषों ने अपना जीवन सुगंधित किया। जीवन में यश, कीर्ति, धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा आदि सब मृत्यु समय में व्यर्थ है। इस समय तो केवल मात्र सत्य-सनातन-आत्मज्ञान जो हमारे भीतर विद्यमान है, जो कभी व्यर्थ नहीं होता, जो पूर्ण वैराग्य त्याग की भावना करके हमें मुक्ति दिलाता है। अतः यह आत्म स्वरुप, यह एक परमात्मा शक्ति साक्षात्कार है। जो परा-अपरा शक्ति है। जब योग साधना, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य अर्थात् काया, वाचा, मन, अन्तःकरण से हम निर्मल हो जाये तभी यह आत्मतत्व, परमशक्ति का अनुभव होता है। यह हमारे जीवन की सुगंध है। यह अन्तरआत्मा स्वतन्त्र है, आत्मा का रिश्ते नातो से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम हमारे निजी स्वार्थ के लिये रिश्ते नाते बनाकर मोह माया में भ्रमित हो जाते हैं। इस सत्य सनातन तथा सर्वत्र व्यापक आत्मा ने न जाने कितने शरीर बदले हैं। अतः काया तो माया है आत्मा तो ब्रह्म है, मुक्ति है, मोक्ष है।

(क) क्या है मृत्यु?

यह मानव शरीर स्थूल अर्थात् काया, सूक्ष्म अर्थात् मन, कारण अर्थात् आत्मा इन तीनों से बनता है। जब मनुष्य श्वास द्वारा प्राण (प्राणवायु) भीतर लेता है तो काया मन आत्मा को अर्थात् स्थूल सूक्ष्म

कारण को जोड़कर चेतन होता है। मृत्यु के क्षण जब यही प्राण शरीर से निकल जाता है तो यह तीनों अवस्थायें अलग अलग हो जाती है तब शरीर स्थूल अवस्था में मर जाता है। और कारण रुपी आत्मा एवं सूक्ष्म रुपी मन, यह दोनों उस मनुष्य की अच्छे बुरे निहित संस्कारों को अपने साथ लेकर वह शरीर छोड़ कर अनन्त यात्रा करने निकल पड़ता है और इसी को मृत्यु कहते हैं।

मृत्यु के मुख्यतः दो प्रकार हैं (१) प्राकृतिक, (२) अप्राकृतिक

(१) प्राकृतिक मृत्यु - यह मृत्यु प्रकृति के नियमानुसार शरीर क्षीण होने के बाद अर्थात् वृद्ध अवस्था में अर्थात् व्यक्ति की निहित आयुष्य खत्म होने के बाद होती है।

(२) अप्राकृतिक मृत्यु - यह मृत्यु प्रकृति के नियम के पहले ही हो जाती है। जीवन के किसी भी क्षण अचानक मृत्यु होती है इसमें शरीर क्षीण होना ही है ऐसा नहीं है। विशेषतः यह मृत्यु अचानक अपघात, मरनाशक्त बिमारी (हृदय विकार, कैन्सर इ०) जलकर या जल में डूबकर या फांसी लगाकर या आत्महत्या इत्यादि।

कहते हैं मृत्यु आने से पूर्व व्यक्ति को अहसास हो जाता है कि मुझे मृत्यु होने वाली है। यह व्यक्ति के शुद्ध-अशुद्ध आचरण, योग, ध्यान, तपस्या तथा साधना इत्यादि के ऊपर निर्भर है। इसमें साधु, सन्त, योगी, तपस्वी, कर्मकाण्डी, पण्डित यहां तक कि सर्व साधारण व्यक्ति को भी मालूम हो सकता है। इसमें कोई तो छः महीने पहले ही आने वाली मृत्यु जान जाते हैं। तो कोई तीन मास पूर्व तो कोई कुछ दिन पूर्व तो कोई कुछ घण्टे पूर्व ही जान जाते हैं कि अब हमें मृत्यु को प्राप्त होना है।

(ख) कैसे होती है - मृत्यु ?

इस संसार सागर में सर्व साधारणता मनुष्य अपने नासिका द्वारा

प्राण काया भीतर लेता है। जिसे ॐ-सोहं प्रणापान, श्वांस प्रश्वांस या इसे श्वसन क्रिया कहते हैं। यह श्वसन क्रिया जन्म से लेकर मृत्यु तक चौरासी लाख बार ली जाती है। साधारणत: सौ साल की उम्र तक अन्दाज है। अर्थात् जीवन के ८४ लाख श्वांस खत्म होने पर मृत्यु अवश्य आती है। अत: जीवन के प्रत्येक श्वांस जैसे जैसे खत्म होती है। वैसे वैसे मनुष्य मृत्यु के समीप जाता है। इस मृत्यु को काल भी कहते हैं और यह मृत्यु यह काल सभी को ग्रसित करता है। जहां शरीर है वहां मृत्यु अवश्य है। चाहे कोई भी या किसी का भी शरीर हो काल आना ही है।

(ग) मृत्यु के क्षण और मृत्यु के पश्चात्

प्रथम मनुष्य को मृत्यु का आभास होने लगता है। उस मृत्यु के अन्तिम क्षण कालान्तर के समय उसके मन तथा चित्त में घबराहट होने लगती है। हमें मृत्यु आ रही है मैं यह मेरा संसार, मेरा घर, मेरे रिश्ते इत्यादि छोड़कर जा रहा हूँ। अपनी धन सम्पदा, मान-प्रतिष्ठा, सुख-दु:ख का जीवन छोड़ना पड़ेगा ऐसे विचारों से वह अत्यन्त अस्वस्थ होने लगता है और वह अपनी ही धुन्द में जीवन की अच्छी बुरी घटनायें जो मस्तिक के सूक्ष्म कोष्टकों में सुषुप्त अवस्था में होती है (यह स्थान कपाल के ऊपर के मस्तक में होता है) वह सब प्रसंग रुप से एकत्र होकर उसके सामने आने लगती है और जाग्रत होकर फटाफट उसके आँखों के सन्मुख चलचित्र के भांति दिखायी पड़ते हैं और अत्यंत थोड़े ही समय में उसके जीवन की अनन्त घटनायें देखता है। वह सब उसके जीवन के संस्कार-पूर्ण-अपूर्ण इच्छायें, कामना, संकल्प आदि से भरी होती है और इन्हें वह छोड़ना नहीं चाहता, शरीर छोड़कर अलग नहीं होना चाहता और उसे अत्यन्त मानसिक यातनायें होने लगती है। वह तड़पता रहता है और यह उसकी स्थूल शरीर तथा जाग्रत अवस्था होती

है और जब वह धुन्द होकर जीवन में अच्छे बुरे संस्कारों के प्रसंग चलचित्र के भांति देखता है तब वह स्वप्न अवस्था में जाता है पर मस्तक कोष्टकों में चेतना होने से वह चेतनीय स्वप्न अवस्था में होता है।

अतः उस मनुष्य के प्राण की गति धीरे-धीरे कम होने लगती है। शरीर के अन्दर की नसें नाड़ी का खिंचाव शुरु होता है। जब कि उसकी नाभि में कम्पन होने लगते हैं। नाभि से कण्ठ तक दुर्बलता आने लगती है। क्योंकि वहां काया के अन्दर प्राण और अपान वायु का आपस में टकराते हुये संघर्ष होने लगता है।

इसी कारण नाभि स्थित समान वायु के साथ प्राण अपान वायु का संघर्ष होता है और समान वायु भी असन्तुलित होकर दुर्बल हो जाता है और यह प्राण-अपान-समान वायु ऊर्ध्वरता होकर (इसे ऊर्ध्वश्वास भी कहते हैं) कण्ठ के तरफ चलती है। अतः मनुष्य हाथ-पैरों को झटके या कम्पन होकर झटपटाने लगता है। प्राण अपान समान वायु के दुर्बलता के कारण वह मनुष्य बैचेन, चिड़चिड़ा, संताप, घबराहट आदि से ग्रसित होने लगता है। क्योंकि यहां श्वास असंन्तुलित होकर उसकी गति बिगड़ती है।

अतः धीरे-धीरे बाह्य चेतनायें लुप्त होने लगती हैं और बिगड़े हुये प्राण-अपान-समान वायु कण्ट के तरफ उदान वायु को संघर्ष करके धक्का देने लगते हैं और उदान वायु क्षीण होने लगती है। मनुष्य का (कण्ठ) गला सूख जाता है और उसे प्यास भी लगती है अतः वह ठीक से बोल नहीं पाता कुछ समय के बाद वह मौन होने लगता है और इसी समय व्यान वायु भी उद्दाम होकर सन्तुलन खोती है और खून की गति मन्द होने लगती है। धीरे-धीरे अन्तरमुखी और बर्हिमुखी नसें नाड़ियाँ खिंचकर प्राण सहित आन्तरिक अन्य वायु लेकर स्थूल शरीर के बाहर

जाने लगती है। जहां शरीर का भाग दुर्बल हुआ उदाहरणार्थ आँखें, कान, नाक, मुख या गुदा आदि इन्द्रिय द्वार से प्राण बाहर जाने लगता है। इस प्रकार मनुष्य को मानसिक और शारीरिक अत्यंत असह्य वेदनायें होती हैं। यह पीड़ा अत्यन्त कष्ट दायक होती है यह दर्दनाक पीड़ा जैसे सौ बिच्छू काटने पर एक नाग दंश होता है ऐसे हजार नाग दंश होने पर जो वेदना होती है ऐसी वेदना प्राण (आत्मा) शरीर छोड़ते वक्त होती है। इस समय मनुष्य को एक गहरी मूर्छा आने लगती है। अब शरीर हाथ पैरों सहित ठण्डा होने लगता है और मनुष्य पूर्ण बेहोश या मूर्छित होने लगता है। यह मनुष्य को प्राकृतिक देन है या प्रकृति स्वयं यह शारीरिक व्यवस्था करती है जो कि जब भी किसी व्यक्ति को कोई भी गहरा जख्म हो जाये या बहुत गहरा धक्का लग जाये, या गहरा सदमा पहुँच जाये तो वह पीड़ा, वह दु:ख या वह वेदना जब मनुष्य के मन चित्त के अर्थात् सहन शक्ति के परे होती हो तो वह मनुष्य मूर्छित या बेहोश हो जाता है। अत: इस मृत्यु के समय आत्मा या प्राण शरीर छोड़ते वक्त बहुत ही गहरी, बहुत कष्टदायक बहुत तीव्र वेदना या पीड़ा होती है जो उसके सहन शक्ति के परे हो जाती है वैसे ही उसकी शारीरिक मानसिक सहन शक्ति नष्ट हो जाती है और वह बेहोश या मूर्छित हो जाता है। यह उसकी जाग्रत और स्वप्न अवस्था पार होकर सुषुप्ति अवस्था होती है और वह गहरी निद्रा में जाने लगता है। इस समय उसके सभी अन्तरंग और बहिरंग वायु (नौ वायु) शरीर को छोड़ देते हैं। केवल धनन्जय वायु ही शरीर पर रहती है। यह धनन्जय उसे निद्रा प्रदान करता है। जो कि शरीर जलने तक या पूर्ण रुप से नष्ट होने तक या शरीर सड़ने तक यह वायु शरीर पर रहता है। इस अवस्था में हम उसे मृत समझते हैं किन्तु यह मृत्यु की दूसरी अवस्था होती है पहली अवस्था में शरीर का छूट जाना, दूसरी अवस्था में मन चित्त को छोड

जाना, तीसरी अवस्था में मनुष्य का शरीर निष्क्रिय होता है। रक्त संचालन और हृदय गति दोनो ही बंद हो जाती हैं और आन्तरिक शारीरिक क्रियायें बन्द हो जाती हैं। तदपश्चात् मानसिक शक्ति भी अपना संतुलन नहीं रख पाती इसी समय स्थूल देह छोड़कर आत्मा और मृतात्मा के अच्छे बुरे सभी संस्कारों को लेते हुये मन यह दोनों सूक्ष्म रुप धारण करके (यह वासना रूपी एक शरीर होता है) बाहर अनन्त यात्रा करने निकल पड़ते हैं और मृत्यु की अन्तिम तीसरी अवस्था होती है। अतः यह मनुष्य की सही निश्चित मृत्यु होती है और यह प्राकृतिक मृत्यु कहलाती है। जिस समय मन और आत्मा सूक्ष्म शरीर धारण करके मृतात्मा का शरीर छोड़ता है तो वह इस समय मृतात्मा के दश इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकलता है। अगर यह प्राण आत्मा मृतात्मा के लिंग या गुदा द्वारा बाहर निकलता है तो इसे अधोगति कहते हैं। जोकि मृतात्मा मरते समय पिशाब या टट्टी कर देता है। इसी प्रकार आत्मा आंखों द्वारा गया तो आँखें खुली रहती है, मुख द्वारा बाहर गया तो मुख भी खुला रहता है अगर नाक या कान द्वारा प्राण गया तो नाक और कान टेढ़ा हो जाता है। इसे ऊर्ध्वगति कहते हैं। विशेषतः योगी, साधु सन्त, महात्मा हो तो उसके कपाल (मस्तक) के आज्ञाचक्र जो दोनों आंखों की भौवों के बीच होता है यहां आज्ञाचक्र का भेदन करके सीधा आत्मा ब्रह्माण्ड में यात्रा करने चला जाता है। यह उत्तम गति कही गयी है। इसीप्रकार आत्मसाक्षात्कारी योग पारंगत परिपक्व योगी महात्मा हो तो उसके मस्तक में स्थित चोटी प्रदेश जहां सूक्ष्म छिद्र होता है और यहां सहस्रगार या ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके यह आत्मा अन्तरिक्ष परमतत्व में मोक्ष मुक्ति को चला जाता है यह सर्वोत्तम या कैवल्य गति कहलाती है। यहां आत्मा मस्तक या कपाल के आज्ञा या सहस्रगार चक्र का भेदन करके बाहर जाता है इसे कपाल मोक्ष भी कहा जाता है। यहां योगी का

शरीर छुटते समय मुक्त अवस्था होती है। इस कारण मृतात्मा या योगी के शीश पर ठीकरा भी पलटा मारकर रखा जाता है। तथा गृहस्थ मृतात्मा को अग्निदाग संस्कार करते समय उसकी खोपड़ी (कवटी), मस्तक फूटने तक लोग वहीं रुकते हैं। या कभी कभी तो मृतात्मा के कपाल को फोड़ भी देते है जिसे कपाल मोक्ष या कपाल क्रिया कहा जाता है। कपाल मोक्ष या खोपड़ी (कवटी) फोड़ने का अन्य कारण यह भी है कि अघोरी तांत्रिक लोग मृतात्मा की अर्ध जली हुयी (कवटी) या खोपड़ी लेकर तांत्रिक क्रिया करते हैं। अत: उसी कारण वह खोपड़ी फोड़ी जाती है। इसे कपाल मोक्ष कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर = इस प्रकार जब मृत देह अर्थात् स्थूल शरीर छोड़कर मृतात्मा के इच्छा, कामना, संकल्प तथा वासना इत्यादि को लेकर मन और आत्मा इन संस्कार के अनुरुप वासना शरीर, या इच्छा शरीर या कामना शरीर आदि युक्त सूक्ष्म शरीर बनता है। यह सूक्ष्म शरीर बिल्कुल स्थूल शरीर जैसा ही होता है। वह अपने मृत देह को देखता है। किन्तु लोक उस सूक्ष्म शरीर को नहीं देख पाते। मृतात्मा को बड़ा आश्चर्य होता है। अब उसे किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती और नाही उसे कोई दर्दनाक पीड़ा होती है। उसका यह सूक्ष्म रुप, अत्यंत हलका फुलका बन जाता है। वह इच्छानुरुप जहां मर्जी वहां क्षण भर में या पल भर में जाता है और वह किसी भी कठिन या सख्त चीज का भेदन कर जा सकता है। उसके मन के विचार की इतनी गति होती है। वह हवा में तैरता है। अत: उसे यह शरीर अच्छा लगता है किन्तु मृत देह का मोह होने के कारण वह अपने मृत शरीर के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। प्रियजनों से प्रेम-मोह-वासना के कारण उन्हें रोते देखकर वह आश्चर्य में पड़ता है वह उन्हें चुप करने की कोशिश करता है, वह बोलता है, चिल्लाता है। अरे क्यों रोते हो ? मैं जिन्दा हूँ, इत्यादि किन्तु

उन्हें वह चिल्लाना सुनाई नहीं देता वह बहुत प्रयास करता है किन्तु वह नाही उन्हें छू सकता है नाही सुना सकता है। ऐसे में वह कुछ नहीं कर पाता, स्थूल शरीर अवस्था में वह बहुत डरता था, बेचैन, गुस्सा आदि होता था किन्तु अब उसे सूक्ष्म शरीर, वासना शरीर मिलने से कोई डर नहीं लगता जो कि वह सूक्ष्म शरीर उसे हर प्रकार से अच्छा लगता है।

अत: मृत शरीर की अन्त्येष्टी कर्म होता है। लोग अग्निदाग देते हैं तब यह देखकर मृतात्मा निराश होती है अब वह जान जाता है कि मैं मर चुका हूँ। इस जीवित दुनिया से मैं अलग हो चुका हूँ। किन्तु वासना, प्रेम, मोह जब तक होती है वह श्मशान, घर, सगे सम्बन्धी प्रियजनों के पास आदि प्रिय जगह चक्कर काटता रहता है वह कुछ भी कर नहीं सकता केवल देख सकता है और यह उसकी इच्छा, कामना, वासना के ऊपर निर्भर होता है साधारणत: वह सवासाल या २ साल तक इस चक्कर (अवस्था) में रहता है। इस प्रकार यह प्राकृतिक मृत्यु होती है।

अप्राकृतिक मृत्यु = यह मृत्यु अचानक होने के कारण चेतनता शून्य होना और मूर्च्छा आना एक समय में ही एकदम से अचानक हो जाता है और अधूरी स्थूल शरीर क्रिया होते हुये आत्मा शरीर छोड़कर चली जाती है। इसे अकाल मृत्यु कहते हैं। यह अत्यन्त दर्दनाक और खतरनाक होती है कभी कभी यहां चेतना कम होती है मूर्च्छा जल्दी होती नही इसमें उस मृतात्मा को कम से कम बारह घण्टे तक बचा भी सकते हैं और इसमें वह बच गया तो वह बाद में सूक्ष्म अवस्था में वृत्तान्त स्वप्नवत बताता है। अगर पूर्ण बेहोशी में मृत हुआ तो उसके चेहरा विकृत हो जाता है।

ऐसी अकाल मृत्यु अर्थात्-अपघाती, अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, जहर खाकर, शस्त्र से मारे हुये, आदि से जब वह मृत होते हैं

तो प्राण शरीर छोड़ते समय उन्हें अत्यन्त उग्र वेदना होकर, कुछ सावध कुछ असावध अवस्था में सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर के कुछ अवयवादी, इन्द्रियादि परमाणु तथा मोह, वासना, काम, क्रोधादि सभी संस्कार लेकर सूक्ष्म शरीर बनकर स्थूल शरीर छोड़ता है। इसलिये मरने के बाद वह शरीर कुछ जीवित, कुछ मृत, तो कभी स्थूल कभी सूक्ष्म, तथा कुछ जाग्रत तो कुछ स्वप्न अवस्थाओं में मृतात्मा रहने के कारण वह अतृप्त आत्मा, या प्रेतात्मा बन जाता है और वह भूत प्रेत रुप में दिखाई पड़ते हैं। इनका स्थूल सूक्ष्म रुप से इस मृत्युलोक (धरती) में सम्बन्ध सत्तारुप से जुड़ा रहता है। वह कभी प्रगट होते हैं तो कभी दिखते नहीं। किन्तु जो प्राकृतिक अवस्था में मरते हैं वह प्रगट नहीं हो सकते। उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ता है।

यह भूत-प्रेत-आत्मायें अतृप्त-वासनामय होते हुये भ्रमण करती हैं। यह अत्यन्त क्रोधी कपटी लोभी आदि अवगुणों से भरी हुई होती हैं। भटकते भटकते अनुकूल गर्भ मिलते ही वहां जन्म ले लेते हैं। किन्तु इसमे काफी समय लगता है। अर्थात् वह पूनर्जन्म लेते हैं। यह तामसी प्रवृति के होते हैं। कुछ प्रेतात्मायें या वासनामय शरीर, राजसी प्रवृत्ती के होते हैं यह लोभी एवं स्वार्थी होते हैं। यह बुद्धिमान, चतुर आदि संस्कारों से भटकते हैं। विशेषतः राजनेता, कवि, लेखक, उच्चतम कलाकार इन्हे पूनर्जन्म लेने में बहुत दिक्कत आती है वह इंतजार में व्याकुल होते हैं। आम व्यक्ति जो अच्छे संस्कार, पुण्यवान होते हैं यह पूनर्जन्म जल्दी ले सकते हैं यह मृत होते ही पूनर्जन्म ले लेते हैं।

ऐसे अतृप्त प्रेतात्मा भूतात्माओं को २-३ घण्टे में, २-३ दिन में, २-३ वर्ष के काल समय में पुनर्जन्म लेना ही पड़ता है। क्योंकि इन्हें अपने इच्छापूर्ति, वासनापूर्ति के लिये स्थूल शरीर की नितान्त आवश्यकता होती है। यह भूत प्रेतात्मायें शक्यतो नदी किनारे, जलाशय, पीपल क

पुराने वृक्ष पर निवास करते हैं। क्योंकि मृत्यु के समय मृतात्मा के गला, नाभि एवं हृदय सूख जाने पर वह पीने को जल मांगते हैं और इसी में उन्हें मृत्यु आती है और भूख प्यास की अवस्था में वह उपरोक्त स्थान पर निवास करते हैं और जब तक उनका तिया या दस क्रिया तथा वर्ष श्राद्ध इत्यादि कर्म नहीं होता तब तक यही जल पीकर निवास करते हैं। पीपल के वृक्ष में सूक्ष्म चेतना भरी रहती है यह पीपल वृक्ष में ऑक्सीजन वायु अर्थात् प्राण वायु ज्यादा उत्सर्जित करता है अतः यहां प्राण शक्ति प्रबल होती है। अतः अतृप्त आत्माओं को यहां विशेष प्रकार से प्राण शक्ति-प्राकृतिक ऊर्जा एवं नितान्त शान्ति प्राप्त होती है। अतः आम जनता पीपल वृक्ष की पूजन-परिक्रमायें करने पर उनकी मनोकामनायें सफल होती है तथा साधु सन्त, योगी इस वृक्ष सान्निध्य में कुछ उच्च स्तरीय साधना भी करते हैं। अघोरी तन्त्र मन्त्रादि कर्मकाण्ड भी इस वृक्ष सान्निध्य में यशस्वी होते हैं। अतः अघोरी कर्म करने के लिये श्मशान में स्थित पीपल वृक्ष होना चाहिये।

इन भूत-प्रेत-योनियों में अतृप्त आत्माएँ, वासना शरीर, कामना इच्छा शरीर बनकर रहते हैं। इनमें अच्छे-बुरे, आस्तिक-नास्तिक तथा पापी-पुण्यवान इत्यादि दोनों प्रकार के मृतात्मायें यहां निवास करते हैं और जहां कही भी अपने इच्छा, कामना, वासनाओं को अनुकूल परिस्थिति या गर्भ मिलता है यह पुनर्जन्म ले लेते हैं। या किसी कमजोर मनचित्त वाले व्यक्ति के शरीर में बड़े आसानी से प्रवेश करके अपने इच्छा, वासनाओं के अनुसार अच्छे संस्कारों से जगत कल्याण या बुरे संस्कारों से जगत का अकल्याण करते हैं। जो अपने स्थूल जीवन में भगवत् भजन दान पूण्यादि कर्म तथा निष्काम कर्म करते हैं वह दैवी गुण सम्पन्न मृतात्मायें किसी अच्छे भोले भाले कमजोर शरीर में प्रवेश अर्थात् परकाया प्रवेश करके देवी देवताओं के नाम लेकर जनमानस

का कल्याण करते हैं। कुछ दैवी गुण सम्पन्न आत्मायें इच्छा कामना पूर्ण होने पर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करके अपने निष्काम भाव संस्कार से स्वर्ग लोक या मुक्ति की तरफ अग्रसर होते हैं। ऐसे अतृप्त आत्मायें प्रथम स्थूल शरीर छूटने पर अपने इच्छा, कामना, वासना, संस्कारों के कारण इच्छा शरीर, या कामना शरीर या वासना शरीर में प्रवेश करते हैं और अपनी इच्छित कामनाओं को पूर्ण करने के बाद सूक्ष्म शरीर में जाते हैं। यहां इच्छानुरुप पुनर्जन्म लेते हैं या मनोमय शरीर, चेतन शरीर में प्रवेश करके अनन्त यात्रा करते हुये मोक्ष मुक्ति की तरफ चले जाते हैं। अर्थात् वह स्थूल देह (मृत्युलोक) छोड़ने के बाद अतृप्त आत्माएँ अपनी इच्छा कामना वासना के संस्कारों से भूत योनी या प्रेत योनी में वासना या इच्छा कामना शरीर बनकर घूमते हैं। आगे संस्कारों को भोग कर पूर्ण होने के बाद वह सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करते हैं यहां वह पूनर्जन्म लेते हैं। या परकाया प्रवेश भी करते हैं। या इस सूक्ष्म शरीर का भी त्याग करने पर मनोमय शरीर में प्रवेश करते हैं। यहां भी वह पूनर्जन्म ले सकते हैं या निष्काम संस्कार से स्वर्ग तथा मुक्ति की तरफ चल पड़ते हैं।

यह मृतात्मा जिस संस्कारों से प्राण छोड़ते हैं शक्यतो उसी संस्कार से उसी योनी में जन्म ले लेते हैं मृतात्मा शक्यतो तीन प्रकार के होते हैं- (१)सत गुणी, (२) रजो गुणी, (३) तमोगुणी। इसमें मनुष्य इन तीनों गुण से भरा हुआ जीवन जीता है। किन्तु जिसमें जो गुण ज्यादा विकसित या संस्कारित होता है उसे वही गुण युक्त आत्मा कहते हैं।

(१) सत गुणी मृतात्मायें = इन मृतात्माओं में सत गुण संस्कार अत्यंत ज्यादा प्रमाण में होते हैं जो कि वह अपने जीवित जीवन में अच्छे कर्म ज्यादा करते हैं। इनका मनोबल अर्थात् आत्मविश्वास ज्यादा होता है। यह निस्वार्थ, दयावान, पुण्यशील, शान्त, धार्मिक प्रवृति के विशेषत:

ज्ञानी आदि सत गुण सम्पन्न होते हैं। इस कारण यह मृतात्मायें ज्यादा शान्त एवं एकान्त जगह निवास करते हैं। जन मानस जगत में वह आसाध्य कार्य तथा जनता को उपकारक कार्य कर सकते हैं। यह सात्विक, धार्मिक, निस्वार्थ व्यक्ति को सहकार्य मार्गदर्शन एवं साक्षात्कार भी कराते हैं तथा दुष्ट स्वार्थी पापियों को दण्डित भी कराते हैं। अगर वह पूनर्जन्म लेते हैं तो ऊर्ध्व लोक अर्थात् अच्छे सात्विक और सम्पन्न लोग में पूनर्जन्म लेते हैं। या स्वर्ग लोक में स्वर्ग सुख भोगते हैं। इन्हें ज्ञान की उपलब्धि होने के कारण वह सूक्ष्म शरीर छोड़कर मनोमय शरीर में प्रवेश करते हैं। यह वह विदेही आत्मा चेतन आत्मा रुप में रहते हैं। आगे कुछ समय पश्चात् इसका भी त्याग करके वह मुक्ति के मार्ग या अपने इष्ट के साथ एक रुप होकर मोक्ष मुक्त रुप हो जाते हैं यह शक्यतो ज्यादा भावनात्मक भाव में रहते हैं। यह स्वर्गीय उच्चस्तरीय वातावरण में रहते हैं। देवी देवता रुप में रहते हैं। साधु सन्तों की भूमिका में रहते हैं।

(२) रजोगुण मृतात्मायें = इन मृतात्माओं में राजसी गुण ज्यादा बलवान होते हैं जीवित जीवन में उन्होंने सभी कर्म निजी स्वार्थ संस्कारों से किये होते हैं। इस कारण यह मृतात्मायें अत्यन्त मोह आसक्त तथा लोलुपता से युक्त होते हैं और वह अतृप्त, अशान्त होते हैं। अपनी इच्छा या विशेषत: महत्वाकांक्षी भी होते हैं। कामना वासनाओं के साथ सूक्ष्म रुप में घूमते हैं और अपनी इच्छा, कामना, वासना की पूर्ति के लिये वह अपने अनुकूल स्वभाव के शरीर में प्रवेश करके उनसे कार्य करवाते हैं वह व्यक्ति के चित्त पर ज्यादा प्रभाव डालकर उसके शरीर में प्रवेश करते हैं। यह दयावान और कृपालु भी होने के कारण उस व्यक्ति को व्यापार में धन लाभ, दान धर्म, कलाकारों को उत्कृष्ट प्रेरणा और अति उच्च सफलता प्राप्त करा देते हैं। यह अतृप्त आत्माओं का ज्यादातर

मृत्युलोक से सम्बंध रहता है इसलिये इन्हें मुक्त मोक्ष रुप होने को बहुत ज्यादा इंतजार करना पड़ता हैं शक्यतो यह पुनर्जन्म लेते हैं, जन्म मृत्यु के आवागमन में ही रहते हैं। क्योंकि यह प्राणमय रुप में ही रहते हैं और प्राण शरीर धारण कर सूक्ष्मता में रहते हैं। यह आत्मायें यक्ष, गन्धर्व, किन्नर इत्यादि रुप में रहते हैं। शक्यतो पूनर्जन्म लेकर आत्मज्ञान को प्राप्त करके मुक्ति के तरफ जाते है।

(३) तमोगुणी मृतात्मायें = इनकी अधोगति होती है क्योंकि यह मृतात्मा अत्यंत तामसी वृत्ति के निकृष्ट, अस्थिर, अशान्त, प्रबल वासना, कपटी, हत्यारे, पापी आदि वासनाओं से भरे रहते हैं। यह मृतात्मायें व्यक्ति मस्तिष्क पर प्रभाव करके उसे वशीभूत करते हैं और उनसे निकृष्ट कार्य करवाते हैं, चोरी, चपाटी, स्त्रीगमन, हत्या, लूट, झगड़े, गन्दे-गन्दे नशे आदि कार्य प्रेतात्मा बनकर करवाते हैं। भयंकर अपघात, तूफान, दंगा-फसाद आदि करने में वह खुशी मानते हैं। यह वासना शरीर में रहते हैं इन्हें प्रेतात्मा या भूतात्मा कहते हैं यह अपने मनइच्छा को ही प्राधान्य देते हैं अज्ञान होने के कारण इन्हें पता नहीं चलता कि ये क्या कर रहे हैं। इन्हें नरक यातनायें भी भोगनी पड़ती हैं। तमोगुण मृतात्मायें जैसे बेताल-पिशाच, लम्बी आयु के प्रेत, हाकिनी, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि होते हैं। यह हमेशा प्रकृति के नियमों का उत्पात करते रहते हैं।

मृतात्मा = मृतात्मा प्रकृति के साथ प्राण के सूक्ष्मतम कणों से बनते हैं और अन्तरिक्ष की गहराइयों में रहते हैं। इनका मृत्यु लोक से कम सम्पर्क रहता है।

प्रेतात्मा = यह शरीर के रचना वासना की कणों से बनते हैं वह धरती आवास में रहते हैं। मृत्यु लोक मानव वातावरण में रहना चाहते हैं और ज्यादा समय तक रहते हैं।

इस प्रकार सत्व, रज, तमो गुणी मृतात्मायें पृथ्वी (मृत्युलोक) तत्व परमाणु से संघटित होकर प्रगट भी होते हैं तथा सूक्ष्म रुप में भी इच्छित कार्य करते हैं, यह पुनर्जन्म भी लेते हैं और इच्छित कार्य करते रहते हैं या किसी कमजोर व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर अपनी कामनाओं, वासनाओं को पूरा कर सकते हैं। यह प्रथम स्थूल शरीर छोड़ने के बाद इच्छा शरीर या वासनामय शरीर या कामना शरीर में अर्थात् भूत शरीर, प्रेत शरीर में प्रवेश करते हैं और इच्छा कामना पूर्ण होने के बाद सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। बाद में मनोमय शरीर में प्रवेश करके कुछ दिन पश्चात् त्याग करके कारण परमाणुओं में चले जाते हैं और आत्मतत्व में प्रवेश करके मोक्ष मुक्त हो जाते हैं। किन्तु इसमें त्याग, वैराग्य, ज्ञान जैसे उच्चतम संस्कार होना आवश्यक है। इसलिये वह अनेक बार जन्म भी लेते हैं और त्याग वैराग्य ज्ञान के उपलब्धी होकर मृत्यु होने के बाद मुक्ति प्रद होते हैं।

मृत्यु

(३०) नाथ सिद्धों की मुक्ति

यह नाथ सिद्धों की गुरु शिष्य परम्परा पुरातन काल से चलती आयी है जो ज्ञान, वैराग्य मुख्यत: योग प्रणाली सिद्धान्तों पर आधारित है। परम ईश्वर आदिनाथजी ने सर्व प्रथम उदयनाथजी (पार्वती) को महायोगज्ञान का उपदेश देकर गुरु शिष्य परम्परा का प्रारम्भ किया आगे यह ज्ञान मत्स्येन्द्रनाथजी को मिला उन्होंने गुरु गोरक्षनाथजी को सुनाया आगे इस महायोग ज्ञान का प्रचार प्रसार नवनाथ चौरासी सिद्धों ने किया और आगे अनन्त कोट सिद्धों का निर्माण हुआ। अत: आज भी यह गुरु+शिष्य परम्परा योग प्रणाली का उजागर है। वही परम्परा, वही ज्ञान, वही योग साधना, वही तन्त्र मन्त्र कर्मकाण्ड जैसी उपासनाएँ एवं भक्ति आज भी बड़े ही रोचक, प्रेम श्रद्धा से, भक्ति भाव से नाथ सिद्धों में तथा जनमानस भक्तों में चलती है। बस समय काल अनुरूप थोड़ा परिवर्तन होता है। इसलिए इसे सनातन सिद्ध परम्परा कहते है।

कहते हैं कि यह धरातल पर साधु सन्त ऋषि-मुनि, सन्यासी, वैरागी, ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी, योगी, नाथ सिद्ध और समस्त सतपुरुष कि पुण्याई पर यह संसार टिका है। इनके उपदेश, संस्कार एवं मार्गदर्शन से एक परम शक्ति का लाभ होता है अत: यह सत्पुरुष महापुरुष बनते रहेंगे। यह प्राकृतिक परिवर्तन है। जब व्यक्ति साधु, सन्त, नाथ, महात्मा बन जाते हैं तो इनकी कोई उमर या वजह नहीं होती। यह किसी भी समय किसी भी कारण से बन जाते हैं।

इसमें किसी किसी को प्राकृतिक अर्थात् अपने आप वैराग्य या संसार से त्याग होकर महात्मा बनते हैं। हो सकता है कि यह उनका पूर्व जन्मों के संस्कार हो। कोई कोई साधु सन्त या नाथ हट्ट करके बन जाते हैं। हट्ट से त्याग वैराग्य अपनाते हैं। तो कोई औरों को देखते हुये अनुकरणीय वैराग्य धारण करते हैं। तो कोई परिस्थिति विवशता के

अनुसार महात्मा बनते हैं। यह इच्छा कामना महत्वकांक्षा आदि पर निर्भर है। अतः इसमें सभी यशस्वी होते हैं ऐसा नहीं है। इसके कोई अति उच्च चरम सीमा या शिखर पर यशस्वी होते हैं। तो किसी का पतन होता है। कोई इधर ना उधर (माया ना ब्रह्म) बीच में ही अटक जाते हैं। विशेषतः जो प्राकृतिक (अपने आप) वैराग्य से महात्मा बनते हैं इनका उद्‌देश्य केवल मुक्ति मोक्ष होता है और यही महात्मा यशस्वी होते हैं। ऐसे बहुत विरले ही महात्मा होते हैं। जो हट्ट से महात्मा बनते हैं वह शक्यतो अहम (मैं) भाव में रहते हुये पतन हो जाता है। जो अनुकरणीय महात्मा बनते हैं। वह शक्यतो फँस जाते हैं यह फक्कड़ तो बन जाते हैं, किन्तु इसे निभाना कठिन हो जाता है अतः वह फँस जाते हैं और जो परिस्थिति अनुरुप महात्मा बनते हैं वह आगे मन इच्छानुरुप परिस्थिति मिलते ही उधर ही मुड़ जाते हैं अर्थात् अपना मार्ग बदल देते हैं। अतः इन सबकी जड़ केवल ज्ञान अज्ञान ही है। विशेषतः दूसरा मुख्य आधार सत्पात्र सतगुरुजी की प्राप्ति है। शक्यतो जैसे गुरु वैसे शिष्य की गति होती है। जिन्हें आत्मसाक्षात्कारी, ज्ञानी, परम वैराग्यी, योग तपस्या पारंगत सतगुरु की प्राप्ति होती है वह शिष्य भाग्यवन्त होकर उसके पात्रता अनुसार वह संसार सागर में तर जाते हैं।

अतः जिनको मूल उद्देश्य, ध्येय, इच्छा या महत्वकांक्षा केवल मोक्ष मुक्ति होती है वही महात्मा इस फकीरी में यशस्वी माने जाते हैं। ऐसा कोई विरला ही होता है। यहां तो कोई ज्ञान प्राप्ति, तो कोई योग साधना प्राप्ति, तो कोई तान्त्रिक मान्त्रिक इत्यादि कर्मकाण्ड, तो कोई विभिन्न सिद्धियों, तो कोई चमत्कारी बनने हेतु, तो कोई जन कल्याण हेतु, कोई अघोरी बनने हेतु, तो कोई मान-पान प्रतिष्ठा पाने के लिये, तो कोई धन कमाने हेतु, तो कोई गुरु बनने, तो कोई भगवान बनने हेतु आदि अनेकों उद्देश्य से महात्मा बनते हैं और यह महात्मा केवल

अपने उद्देश्य पूर्ति, या इच्छापूर्ति तक ही सीमित रहते हैं। किन्तु वह मोक्ष मुक्ति से कोसों दूर रहते हैं। मुक्ति अर्थात् कुछ भी नहीं चाहिये वहां केवल रिक्तता है। शून्यता है। वहां एकरुप हो जाना वहां मुक्ति में विलय होना है। वह हर प्रकार से हर परिस्थिति में शून्य में जाना होता है। अर्थात् आत्मा का परमात्मा में विलय हो जाना है। जिसे जीव का शिव मिलन (शिव अर्थात् कल्याण) भी कहते हैं। यह परमात्म, परमतत्व, अलख निरंजन जो निरंजन निराकार है इन्हें प्राप्त करने के लिये प्रथम सतगुरु कृपा-त्याग वैराग्य एवं ज्ञान, शाश्वत ज्ञान की प्राप्ति होना आवश्यक है। सब कुछ करते कराते हुये उसे त्यागना और अन्त में अपनी काया को भी स्वेच्छा से त्यागने वाले को ही मुक्ति मिलती है ऐसे महात्मा जो कि नाथ सिद्ध महात्मा शक्यतो जीते जी मृत्यु को अपनाते हैं। वह योग द्वारा जीवित समाधि लेते हुये शरीर त्याग कर परमात्मा परमतत्व उस अलख निरंजन में विलीन हो जाते हैं और यही महात्मा मुक्ति को प्राप्त होते हैं। पूर्व काल में कोई कोई उच्चकोटी के महात्मा सशरीर लेकर मुक्त होना चाहते थे। किन्तु सशरीर लेकर मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ मैं का भाव रहता है। अतः वह अमर हो सकते हैं। मुक्ति अर्थात् अलख निरन्जन, अलक्ष्य निराकार, निर्विकार परमात्मा, परमतत्व, शून्य, महाशून्य, परम शून्य आदि की अवस्था होती है। एक बात अवश्य सत्य है कि जो भी महात्मा या साधु सन्त या नाथ या मनुष्य नर नारी हो जो किसी भी परिस्थिति या किसी भी कारण या उद्देश्य से अगर महात्मा बनता है और उसका अन्तिम ध्येय केवल मोक्ष मुक्ति ही है तो वह व्यक्ति अपने निहित एवं प्रामाणिक प्रयासों से अवश्य यशस्वी होगा। क्योंकि मुक्ति को पाना यह प्राकृतिक निसर्ग सृष्टि का मूल है जो कि हम वहीं से निरंजन निराकार से आये हैं और पुनः वहीं जाना है। नाथ सिद्ध हमेशा कहते हैं अगम से आये हैं

निगम को जाना है। जो कि यह मुक्ति का स्वाभाविक, नैसर्गिक, प्राकृतिक उद्देश्य तथा ध्येय अवश्य पूर्ण होता है और ऐसे प्रामाणिक निस्वार्थ उद्देश्य पूर्ति को यह प्रकृति जो स्वभावता निस्वार्थ एवं प्रामाणिक है यह स्वयं उसको मदद, सहयोग करती है। अतः मुक्ति यह हर एक प्राणी का मूलभूत अधिकार भी है।

इस मोक्ष मुक्ति के सत्य को अर्थात् मृत्यु को अर्थात् स्थूल काया-माया त्यागकर मुक्ति को प्राप्त होना सब जानते हैं। या समझाने पर समझ भी जाते हैं। किन्तु उसे अपनाना नहीं चाहते हैं। आजमाना नहीं चाहते उस सत्य मुक्ति मोक्ष से एकरुप नहीं होना चाहते। आखिर क्यों नहीं होना चाहते?

इस संसार में माया जगत में व्यक्ति माया मोहवश एकरुप हो जाते हैं। स्वार्थ में एकरुप हो सकते हैं काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, ईर्ष्या आदि में एकरुप होते हैं। कलाकार अपनी कला में एकरुप होते हैं। नाटककार नाटक में, गायक गायन में, चित्रकार चित्रों में एकरुप होता है। चींटी से लेकर बड़े बड़े प्राणी नर-नारी प्रत्येक जीवन अपने काम क्रीड़ा में एकरुप हो जाते हैं। अर्थात् सभी अपने अच्छे बुरे कर्म में एकरुप हो सकते हैं। वहां ना उपदेश कि जरुरत है, ना मार्गदर्शन, ना शिक्षा वह सब कुछ एकरुप होकर होता है। किन्तु मोक्ष-मुक्ति में एकरुप नहीं हो सकते? जो कि यह प्राकृतिक सत्य-शाश्वत, आनन्द, सनातन मुक्ति में इस परम शान्ति में इस शाश्वत सुख में एक रुप, एक रस होना नहीं चाहते? युगों युगों से साधु सन्त महात्मा इस सत्य को समझाते आये, बताते आये, किसी किसी विरले ने तो प्रत्यक्ष जीवित समाधि लेकर शरीर का भी त्याग कर मुक्ति को जाना भी है एवं दिखाया भी है। फिर भी इन्सान वहीं का वहीं है। यह इन्सान भगवत् प्रति कर्म करेंगे, दान धर्म करेंगे, मठ मन्दिर चर्च मस्जिद बनायेंगे। इस

प्रकार सब कुछ करेंगे किन्तु अपने अपने स्वार्थ के लिये ही करेंगे, कामना से करेंगे, प्रत्यक्ष भगवान सन्मुख आ जाये तो भी कुछ ना कुछ स्वार्थ वश मांग ही लेंगे। क्षणिक सुख, क्षणिक आनन्द को ही वह समाधान मान बैठे शाश्वत सुख-शाश्वत शान्ति एवं शाश्वत आनन्द के समाधान ही भूल बैठे हैं, गवा बैठे हैं। सतगुरु बनायेंगे, गुरु बनेंगे, चेले शिष्य बनायेंगे, धर्म कर्म जप ध्यान अनुष्ठान करेंगे तप-तपस्या पूजा पाठ सब कुछ करेंगे कुछ ना कुछ स्वार्थवश ही करेंगे। किन्तु इन्हें मुक्ति नहीं चाहिये। वह इस आवागमन से छूटना नहीं चाहते इस माया जगत के भ्रम से भ्रमित होकर इसी भ्रममय में शान्ति आनन्द सुख को खोज रहे हैं। किन्तु यह माया जगत का सुख दु:ख आवागमन का चक्र क्षणिक है। नाशवन्त है और बस यह चलता ही रहेगा। कहने का तात्पर्य यही है कि इन्सान को निस्वार्थ होकर केवल मोक्ष मुक्ति के लिये प्रयास करने चाहिये। जिससे सभी शंकायें सभी भ्रम, सभी जातिवाद, सभी धर्मवाद, सभी ऊँच-नीचता, झगड़े-फसाद अपने आप ही खत्म हो जायेंगे। अत: इन्सान को निस्वार्थ दार्शनिक दृष्टात्मक तटस्थ, तथा आत्मसाक्षात्कारी होकर आत्मानन्द में रहना चाहिये। ऐसे स्थिति में वह मृत्यु से नहीं डरेगा, अच्छी बुरी परिस्थिति को भी निभायेगा और मृत्यु उपरान्त उस परमतत्व परमात्मा में विलीन होकर मुक्ति को पायेगा।

(क) नाथ सिद्धों का महा प्रयाण

यह सत्य रुप मृत्यु सभी जीव प्राणीमात्र को अवश्य आती है। इसमें साधु सन्त, महात्मा एवं नाथ सिद्ध योगेश्वर को भी मृत्यु के समय यह स्थूल शरीर त्यागना पड़ता है। इन महात्माओं ने अपने विशेष गुण, विशेष सिद्धियाँ तथा सामाजिक उत्थान कर्म, तो कुछ क्रान्ति तथा कुछ नये धर्म का निर्माण आदि गुणों से मरने के उपरान्त अमर हो जाते हैं। तो कोई महात्मा अपने योग बल से विशेषत: नाथ सिद्ध योगेश्वर

सकाया लेकर गये और अमर हो गये। या कोई परकाया प्रवेश (शरीर बदलकर) करके अमरता में रहते हैं। तपस्या-साधना -समाज कल्याण आदि करते हुये प्रकृति पर विजय पाने का संकेत करते हैं। मृत्यु यह प्राकृतिक देन है। जैसे वस्त्र बदलते हैं वैसे आत्मा शरीर बदलती रहती है। जिस प्रकार काम होने के बाद खराब हुयी चीज-वस्तु को हम फेंक देते हैं। उसी प्रकार हमारा शरीर जीवन साधना में विनियोग करते करते जब वृद्ध या जर्जर या रोगग्रस्त हो जाता है तो उसे स्वेच्छा से त्यागना चाहिये और निर्मोह अनासक्त होकर मुक्ति प्रद हो जाना चाहिये।

(ख) योग साधना के द्वारा मुक्ति

हमारे नाथ सिद्ध योग परम्परा में आत्मसाक्षात्कारी सतगुरु अपने योग्य शिष्य को सब कुछ देकर मोक्ष मुक्ति के तरफ अग्रसर हो जाते हैं। जब कोई शिष्य अपने सतगुरुजी के मार्गदर्शन अनुसार योग साधना में रत रहते हैं तो उत्तरोत्तर साधना में प्रगति करते हुये एक एक अवस्थाओं को पार करते हुये मोक्ष मुक्ति की तरफ चले जाते हैं। प्रथम वह स्थूल शरीर अवस्था में पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर सदगुरुजी के दिये हुये मन्त्र जाप घंटों तक करते हैं। कुछ दिन पश्चात् आसन सिद्ध होने पर अर्थात् ज्यादा समय बैठने की पात्रता आने पर धीरे धीरे सूर्य नमस्कार या विभिन्न योगासनों का अभ्यास करते हैं। तदनन्तर प्राणायाम करते हैं जब उनमें एकाग्रता का भाव बढने लगता है तो विभिन्न प्राणायाम द्वारा कुम्भक करने का अभ्यास बढ़ाते हुये सूर्य भेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा प्लाविनी इत्यादि प्राणायाम का सक्षम अभ्यास करते हैं। साथ में मुद्रायें और बन्ध जैसे महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर विपरीत करणी, वज्रोली, सहजोली, अमरोली, शक्ति चालन इत्यादि का भी सक्षम अभ्यास करते हैं। [उपरोक्त एक दो प्राणायाम या एक दो मुद्रा तथा

बन्ध भी साधक को परिपूर्ण आने तक भी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो सकती है। कुण्डलिनी जाग्रति या चक्र जाग्रति यह योग शक्ति का तन्त्र है इसे कुण्डलिनी योग की उपासना या योग साधना, कर्म योग, तन्त्र योग, मन्त्र योग या उपासना भी कहते हैं।] सतगुरुजी शिष्य की उत्तरोत्तर साधना में प्रगति करवाते हैं तथा योग का ज्ञान भी देते हैं। जब शिष्य योगासनों प्राणायाम तथा मुद्रा-बन्ध करने में सक्षम होता है तो साधक भक्ति योग तथा श्रद्धा विश्वास इत्यादि द्वारा इच्छा या संकल्प शक्ति को प्रबल करके प्राणायाम करते हुये प्राण को दीर्घ कुम्भक करते हुये अपने मूलाधार चक्र अर्थात् गुदा स्थान पर इच्छा शक्ति या संकल्प शक्ति अथवा प्राण शक्ति से बार बार ताड़न करता है। यहां अगर मूल बंध लगाया तो प्राण और अपाण वायु में संघर्ष छिड़ता है और साधक के गुदा स्थान में बार बार अकुंचन प्रसारण (लुहार के धमनी जैसा) करना पड़ता है और यह बार बार करने पर उसकी इच्छा शक्ति संकल्प शक्ति के साथ प्राण अपाण की संघर्ष शक्ति संवेदना शक्ति को प्रबल करती है और जब साधक इस चक्र के तत्वबीज "लँ" का अखंड मनन जप करे तो मन्त्र शक्ति वहां सहकार्य करती है। इसे मूलाधार को आधार चक्र भी कहते हैं। जो कुण्डलिनी का मूल स्थान है यहां चतुर्दल वँ शँ षँ सँ बीज अक्षरों से जाप करने पर यहां की कालधामिनी और पून्तला नामक नालीकायें पल्लवित होकर शक्ति संक्रमित होती है। इस मूलाधार चक्र का अभ्यास उत्तरोत्तर प्रगति करने पर लाल रंग की छटायें दिखती है। इस समय योगी आँखें बन्द करके नासिकाग्रभाग पर लक्ष केन्द्रित करता है तो चक्र दर्शन भी हो सकता है यह लाल रंग का चतुष्कोण पुष्प नजर आता है। यह चक्र पृथ्वी तत्व का होने पर साधक को जड़त्व आकर धरती आसन पर वह दृढ़ हो जाता है। अत: साधक की श्वास क्रिया दोनों नाक छिद्र से शुरु होती है तब वह मूलाधार जाग्रत

होने का संकेत पाता है। अतः साधना में पुनः पुनः प्रगति करते हुये वह संवेदना शक्ति महापद्म चक्र जो गुदा और लिंग के बीच में होता है। यहां यह संवेदनाशक्ति जिसमें इच्छा, संकल्प और प्राण अपाण शक्तियाँ होती है। अतः इन शक्तियों का महापद्म चक्र में कामना शक्ति में परिवर्तन होता है। यहां अर्थात् गुदा और लिंग के बीच में अब बुदबुदा सा स्पन्दन होने लगता है यह कामना शक्ति की संवेदना होती है बार बार अभ्यास करने पर महापद्म चक्र जाग्रत होता है यहां काम संस्कार जाग्रत होता है किन्तु प्राणायाम द्वारा उसपर संयम करना पड़ता है इसमें जितना काम भाव पर संयम करोगें उतनी कामना शक्ति बढ़ेगी अतः इसकी पहचान साधक को प्राकृतिक अपने आप संसारिक मोह माया से विरक्ति होने लगती है। किसी बहिर्मुख क्रिया कलापों में उसकी दिलचस्पी नहीं रहती। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ विद्या शास्त्र में रुचि लेता है आरोग्यवन्त होकर आनन्द चित्त में रहने लगता है। मुख्यतः वह अंतर्मुखी हो जाता है। आगे योगावृढ़ होकर अभ्यास को बढ़ाते हुये प्राणायाम द्वारा प्राण-अपान शक्ति, चिन्तन से संकल्प शक्ति मनन से मन्त्र शक्ति इस प्रकार इच्छा शक्ति से परावर्तित कामना शक्ति का संक्रमण आगे स्वाधिष्ठान चक्र पर होता है। यहां उपरोक्त कामना शक्ति संवेदना का वासना शक्ति संवेदना में परिवर्तन होकर बार बार साधना प्रयास से लिंग स्थान प्रभावित होकर अंडकोष जड़ में सूई चुभन जैसी संवेदना होती है। यहां का परिपक्व वीर्य, पुष्ट, वीर्य शक्ति भी कार्य करना प्रारम्भ करती है। यहां ब्रह्मचर्य पालन करने वाले साधक को वीर्य शक्ति अत्यंत पुष्ट और बलशाली एवं प्रबल होती है।

मृत्यु दो प्रकार से आती है एक खर्च हुये श्वास और दूसरा काम भाव (भोग) यह दोनों शक्तियाँ जैसे जैसे क्षीण होती है मृत्यु वैसे वैसे नजदीक आती है। अतः योगी इन दोनों शक्ति का विनियोग (भोग में)

ना करते हुये उसपर संयम करके उसका विनियोग योग साधना (अर्थात् अध्यात्मिक भाव शक्ति) में परावर्तित करके करता है। इसी प्रकार जीवन की काम वासनाएँ, कामनाएँ, इच्छायें, संकल्प-विकल्प, मद मोह, मत्सर, क्रोध आदि शक्तियों पर संयम (योग द्वारा या तपस्या द्वारा) करके उन शक्तियों का साधना में विनियोग करते हैं। यह शक्तियाँ काया अन्दर संचित करके उसे साधना काल में उपयोग में लाते हैं।

इस प्रकार यहां प्राण अपाण शक्ति कामना शक्ति के साथ वासना शक्ति की संवेदना से स्वाधिष्ठान चक्र जाग्रत होकर वीर्य ऊध्र्वरिता होकर कुण्डलिनी शक्ति का कार्य करता है। नाथ सिद्धों में ऊध्र्वरिता वीर्य को ही कुण्डलिनी शक्ति मानते हैं। इसी प्रकार मन विचार, भाव, भावनाओं को ऊध्र्वरिता करने को उनमन अवस्था कहते हैं और यह सभी शक्तियाँ चक्र जाग्रति का कार्य करवाती है। अतः जब वीर्य स्त्रोत ऊध्र्वरिता होने को प्रारम्भ होता है। यहां शरीर में कम्पन आने लगते हैं। तब सक्षम प्राणायाम तथा मूलबंध लगाकर साधक कामना, वासना के ऊपर संयम करते हैं जिससे भोगबहिर्मुख शक्तियों का अन्तरमुख शक्ति में परिवर्तन करते हैं और इस प्रकार इन शक्तियों द्वारा स्वाधिष्ठान चक्र के सूत्रा एवं शारिदनी नलिकायें जाग्रत होकर संक्रमित होता है। यहां साधक 'वँ' इस जल तत्व बीज का जाप करने पर सिन्दूर रंग के षट दल कमल का यह चक्र संचलित होता है। जिसके बँ भँ मँ यँ रँ लँ यह अक्षर है। इनका इष्ट विष्णु देवता तथा शक्ति शंकिनी कार्य करती है। यह चक्र जाग्रत होने पर योगी के जबान पर अनेक प्रकार के स्वाद आने लगते हैं। जल तत्व के दृश्य दिखने लगते हैं नदी, समुद्र, जल प्रपात, बारिश आदि और वीर्य रुपी कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के ब्रह्माण्डी में प्रवेश कर ऊध्र्वरिता होने लगती है। यहां साधक के अहंकार और अन्य समस्त

विकारों का नाश होता है। योगी नम्र होकर मोह माया के प्रति नीरस हो जाता है और त्याग वैराग्य की प्राप्ति होती है और वह एकान्त और शान्ति को चाहने लगता है। शुद्ध चेतनायें प्रेरणायें उत्पन्न होकर वह गद्य पद्य रचना भी करने लगता है और योगी ब्रह्मानन्द में रहता है। इस प्रकार साधक योग और ध्यान में एकाग्र अन्तर्मुख होकर प्रगति करता हुआ प्राणायाम से सक्षम कुम्भक करके मूलबन्ध लगाकर कुण्डलिनी शक्ति [कुण्डलिनी शक्ति = वीर्य शक्ति, वासना शक्ति, कामना शक्ति आदि सभी शक्तियों की संवेदना है।] अतः यह कुण्डलिनी शक्ति कुम्भक करके ऊर्ध्वरेता अर्थात् ऊपर खींचकर प्राण छोड़े ऐसा बार बार करने पर कुण्डलिनी शक्ति स्वाधिष्ठान चक्र से मणिपुर चक्र की ओर आती है। यह नाभि स्थान में दस दलों वाला पुष्प है जिनके डँ से लेकर फँ तक बीजाक्षर है। यह चक्र अग्नि तत्व का है और इनका 'रँ' बीजाक्षर का अखण्ड जप करने पर चक्र जाग्रत होता है। अतः प्राणायाम से यहाँ की नसें तारा, तारका, माधवी, अनीता शुद्ध होती है और यहा उड्डीयान बन्ध लगाने से अग्नि तत्व से नाभि में उष्णता निर्माण होती है और युक्ता, इसीका, शुक्रा, काली, विजोली, काइल्ता यह नलिकायें चेतन होकर पल्लवित होती है तब कुण्डलिनी शक्ति मणिपूर में प्रवेश करती है। यहां रुद्र देवता और लंकिनी शक्ति कार्य करती है। यहां मूलबन्ध उड्डियान बन्ध और शाम्भवी मुद्रा एक ही समय कुम्भक करने पर चक्र दर्शन भी हो जाता है। मेष राशी के व्यक्ति यह चक्र शीघ्र जाग्रत कर सकते हैं। साधक को नीला प्रकाश दर्शन होता है। यहां भ्रामरी प्राणायाम करने पर नाभि स्थान कम्पन होकर उष्णता निर्माण होकर साधक को पसीना (सुगंधित) आता है। पसीना कपड़े से पोंछना नहीं चाहिये यह पसीना शरीर पर ही मलते हैं। कुण्डलिनी और (वीर्य) शक्ति से बल मिलता है यहां अब संकल्प या इच्छा शक्ति का प्रबल

विचार में परिवर्तन होता है। इस चक्र में समान वायु से प्राण-अपान वायु संघर्ष (प्राणायाम-उड्डियान बन्ध के कारण) करते हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति, वीर्य, बल, प्रबल विचार शक्ति तथा प्राण-अपाण समान वायु बल इन सभी शक्तियों द्वारा कुण्डलिनी उत्थान अर्थात् ऊर्ध्वरिता हृदय स्थान के तरफ निकलती है। यहां योगी अत्यंत संयमी बोलने में चतुर, पालन स्थिति संहार में सक्षम होता है। यह सटीक और सत्य, सक्षम वचन लिखता या बोलता है।

अतः पुनः प्राणायाम, बन्ध मुद्राओं का अभ्यास बार बार करने पर जब कुण्डलिनी हृदय स्थान, अनहद चक्र में प्रवेश करती है तो यहां कुम्भक प्राणायाम करने पर शारदा, वृन्दा, नीला और पीता नलिकायें शुद्ध स्वच्छ होकर चेतन होती है। यह द्वादश दलों का पुष्प जिनके बीजाक्षर 'कँ' से 'ठँ' तक है। यह मुख्यतः वायु तत्व का चक्र है जिसका बीज 'यँ' होने से इसका जाप करने पर अनहद चक्र जाग्रत होता है। इसका इष्ट ईशान रुद्र तथा काकिनी शक्ति कार्य करते हैं। यहां कुण्डलिनी (वीर्य) शक्ति कार्य करती है प्राण-अपाण और समान वायु इन तीनों वायु बल व्यान वायु पर आघात करते हैं। इस समय यहां संघर्ष छिड़ता है और यहां इच्छा शक्ति, संकल्प, कामना तथा वासना इन शक्तियों का भाव (भावना) शक्ति में परिवर्तन होता है। यहां कुम्भक प्राणायाम करके उड्डियान बन्ध लगायें और समस्त बाहरी ध्वनियों को कान, आँखें, नाक, मुख इत्यादि बन्द कर अन्दर अनहद चक्र पर ध्यान एकाग्र करें तब वहां अनहद नाद सुनायी देता है। यहाँ हृदय की श्वासोच्छ्वास की गति धीमी करनी पड़ती है और बड़े ही गौर से सुनना चाहिये यह अनहद नाद प्राकृतिक ॐ सोहं का ध्वनि होता है इसे नाद ब्रह्म भी कहते हैं। नाथ सिद्ध महात्मा यह अनहद नाद सुनने पर ॐ कार शिव आदिनाथजी का साक्षात्कार मानते हैं। अनहद

चक्र जाग्रति से समस्त शरीर में रक्त संचार में उष्णता निर्माण करता है और यह शक्ति हृदय गति को संग्रही करके संयम की जाती है। इस प्रकार अनहद चक्र जाग्रति के पश्चात् साधक को महाआनन्द की प्राप्ति होती है काया तेजस्वी होती है। समस्त काया शुद्ध-पवित्र होती है। प्राकृतिक महाज्ञान की प्राप्ति एवं ईशत्व सिद्धि मिलती है। साधना में साधक का शरीर हल्का होता है, हवा में, या आकाश में उड़ रहे हैं, ऐसा अनुभव आता है। माया रुपी दादा मत्स्येन्द्रनाथजी ॐकार शिव का हृदयस्थ इसी अनहद चक्र में ध्यान (तपस्या) करने पर उन्हें परकाया प्रवेश की सिद्धि प्राप्त हुयी थी।

अतः साधक विशेषतः उज्जयी प्राणायाम (कुम्भक) का अभ्यास करता है यहां प्राण नाक से कण्ठ में और कण्ठ से हृदय से जाकर स्थिर किया जाता है यहां जालन्धर बन्ध लगाने से (मृत्युजंय) मृत्यु वश में किया जाता है। वही हृदय में संचित की हुयी प्राण शक्ति भाव (भावना) शक्ति और उदान व्यान वायुओं की शक्तियाँ संक्रमित होकर यहां महाभाव (आर्तभाव) की शक्ति परिवर्तित होती है। क्योंकि यहां कुण्डलिनी (वीर्य) शक्ति उदान वायु में संघर्ष करती है और यहां का विशुद्ध चक्र जाग्रत होता है। जब साधक जालन्धर बन्ध अर्थात् कण्ठ गले के विवर को संकोचित करके ठोड़ी को वक्ष पर स्थिर करने पर कण्ठमूल का निरोध होता है और सहास्त्रागार का द्रवित अमृत नाभि स्थान सूर्य (अग्नि) मुख मे गिरकर भस्म होने से बचाते हैं और साधक उसका पान करके अमरत्व प्राप्त करता है। यहां इडा, पिंगला का भी निरोध हो जाता है और कुण्डलिनी (वीर्य) शक्ति सुषुम्ना में ऊर्ध्वरेता होकर प्रवाहित होती है। यहां साधक अमृतरस पीकर अमरत्व पाता है तथा इसे भूख नहीं सताती, दूरी श्रवण सिद्धि, आकाश गमन सिद्धियां प्राप्त होती है जो गोरक्षनाथजी को प्राप्त थी।

साधक अपने वाक् शक्ति से सभी को आकर्षित मोहित करता है।

अतः साधक उज्जयी कुम्भक प्राणायाम तथा जालन्धर बन्ध लगाते हुये शाम्भवी मुद्रा अर्थात् मस्तक पर दोनों आंखों के भौहों के बीच में ध्यान एकाग्र करें। यहां आज्ञा चक्र दो दलों वाला हँ क्षँ बीज अक्षरों से विद्यमान है। इसका तत्व बीज 'ॐ' प्रणव है। कर्म इन्द्रिय आंखें होने के कारण आंखें बन्द करके शाम्भवी मुद्रा में ॐ कार प्रणव का अखण्ड जाप एकाग्र होकर करना पड़ेगा इस अभ्यास में प्रगति होने पर परा शक्ति रुप कुण्डलिनी शक्ति विशुद्ध चक्र से यहां प्रवेश करती है यहां काया की पंचवायु शक्ति कार्य करती है। अतः यहां महाभाव शक्ति का चेतन शक्ति में परिवर्तन होता है। यहां साधक को शिव शक्ति (अर्धनारी नटेश्वर) का दर्शन होता है तथा ओर अभ्यास प्रगति करने पर आत्म दर्शन ज्योति स्वरुप होता है यहां साधक शीतल चन्द्र मण्डल का ध्यान करने पर और सतत् ध्यान करने पर साधक सम्पूर्ण शरीर स्वच्छ पवित्र स्वच्छ और शान्त स्थिर और सौम्यता को प्राप्त होता है। आज्ञा चक्र खुलने के लिये यह शाम्भवी मुद्रा अमृतमय सिद्ध होती है शरीर के मूलाधार से लेकर सहस्त्रागार चक्र कमलों पर अन्तर्मुख होकर एकाग्र होने के लिये यह मुद्रा सिद्ध है। समस्त मन-चित तथा प्राण का लय इस मुद्रा में होता है। यह शिव आदिनाथ साक्षात्कारी मुद्रा है। यह गुरु कृपा से सिद्ध होने पर शून्य-अशून्य के परे साधक को ले जाती है। योग साधना में यह प्रसिद्ध है। अतः आज्ञा चक्र जाग्रति से साधक को अनायास अनुपम वाक् शक्ति प्राप्त होती है आत्मज्ञान की उपाधि मिलती है तथा और प्रगति पथ पर चन्द्र चक्र से अमृतपान कर अमरता सिद्ध होती है। इस मुद्रा में काकी मुद्रा भी करें तो साधक पवनहारी बनता है। भूख अत्यन्त कम लगते हुये वह अमृत पान, तब पवनाहार करता है। साधक द्वारा खेचरी मुद्रा सिद्ध करने पर तुर्यातीत

अवस्था में ध्यानस्थ समाधि लग जाती है जिस पर किसी वातावरण का शरीर के ऊपर प्रभाव नहीं होता है। विशेषतः साधक जब मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध (अभ्यास से परिपक्व होने पर) एक ही समय तीनों बन्ध लगाकर दीर्घ कुम्भक करते हैं तब इस आज्ञा चक्र में ब्रह्मग्रंथी का भेदन होकर ब्रह्माण्ड दर्शन होकर आनन्द प्राप्त होता है और अभ्यास करने पर कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश कर ऊर्ध्वमुख होती है और कण्ठ में विशुद्ध चक्र में स्थित विष्णु ग्रंथी का भेदन होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है और उत्तरोत्तर अभ्यास करने पर इस आज्ञा चक्र में स्थित रुद्र ग्रंथी जागृत होने पर कैवल्यानन्द प्राप्त होता है जो साधक शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता और यही चेतना सहस्त्रागार में जाती है तो साधक मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त तीनों बन्ध लगाकर शाम्भवी मुद्रा में स्थित आज्ञाचक्र की कुण्डलिनी शक्ति अर्थात् रुपान्तरित चेतना शक्ति जब सहस्त्रागार चक्र या ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है तो यहां मुक्ति मोक्ष का द्वार खुल जाता है। इसे शून्य चक्र भी कहते हैं। इसे कोई कोई भ्रमर गुफा भी कहते हैं। इस सहस्त्रागार का तत्व = सतगुरु (कृपा) बीज मन्त्र गुरु मुख से प्राप्त किया हुआ शब्द है अर्थात् साधक को गुरु मन्त्र का जाप करना आवश्यक है। यहां साधक को तुर्यातीत अवस्था आती है जब शून्य समाधि में वह लय हो जाता है। जब कुण्डलिनी (चेतना) शक्ति इस भ्रमर गुफा में प्रवेश करती है और ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है जैसे चाबी से ताला खुलता है। यहां वह साधक, वह योगेश्वर ब्रह्माण्ड-सृष्टि ज्ञान, परम ज्ञान, परमात्मा-ज्ञान, परमतत्व को प्राप्त हो जाता है। इस साधक को सभी प्रकार की सिद्धियाँ, शक्तियाँ तथा शाश्वत ज्ञान प्रकाश प्राप्त होता है। वह यहां साम्प्रत समाधि-शून्य समाधि लगाकर अपना प्राण अपनी आत्मा (कुण्डलिनी) को इस सहस्रागार चक्र में या

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित करता है और अमर पद पाता है। यहां साधक को प्रत्यक्ष शिव साक्षात्कार होता है नाथ सिद्धों को शिव का गुरु गोरक्षनाथजी के रुप में साक्षात्कार होता है। यहाँ जीव-शिव मिलन अर्थात् मोक्ष मुक्ति का परम पद प्राप्त होता है। यहाँ असंख्य मातृका, परम गुरु तत्व का सर्वोच्च स्थान में योगी स्थित हो जाता है। इस अवस्था को राजयोग, उन्मनी, मनोन्मयी, अजर अमर, अमरत्व, लय, लीन, अमनस्क, अद्वित, निरालम्ब, निरन्जन, निरामय, निराकार, जीव मुक्ति, सहजा, तुर्यातीत, परम पद, शून्य, परम शून्य, ज्योर्तिमय आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। अर्थात् योगी का या साधक का अन्तिम पड़ाव यही है। इसके आगे कुछ नहीं, यही ध्येय, यही इष्ट, यही प्राप्ति इत्यादि है।

(ग) परम गति (मुक्ति की ओर)

इस प्रकार गुरु मार्गदर्शन पर नाथ सिद्ध परम्परा का साधक जब यह कुण्डलिनी (वीर्य) या चेतना को सहस्रागार चक्र या ब्रह्मरन्ध्र में समाधि अवस्था में स्थित करता है। अर्थात् अपना प्राण या आत्मा को इस भ्रमर गुफा में समाधि योग बल से स्थापित करके अनेकों वर्ष तक वह अमर अवस्था में यथास्थिति में काया सह रह सकता है तथा उसकी इच्छा होने पर परकाया प्रवेश या पूर्णजन्म भी ले सकता है। क्योंकि योगी इस समाधि अवस्था में प्रकृति के ऊपर संयम या विजय पाया हुआ होता है। यह विद्या या यह साधन, यह तन्त्र, यह चमत्कार हमारे नाथ सम्प्रदाय में श्री गुरु गोरक्षनाथजी, श्री माया रुपी दादा मत्स्येन्द्रनाथजी इत्यादि नवनाथ चौरासी सिद्धों ने सिद्ध कर दिखाये हैं। अगर साधक योगेश्वर इस प्रकार से प्रकृति के ऊपर विजय पाकर अपने योगबल द्वारा प्रकृति के परे परमात्मा, परमतत्व या परम शून्य में मोक्ष मुक्ति में विलीन होना चाहता है तो वह अपने महाचेतन कुण्डलिनी या प्राण या आत्मा को अपने सतगुरु कृपा से, योग साधन बल द्वारा जो अत्यन्त

सक्षम बलोत्तर एवं परिपक्व अवस्था को उस परमानन्द, कैवल्यानन्द, महाचैतन्य, हंस, परमहंस, शून्यतम शून्य आदि अवस्था शक्ति को पुनः पुनः सन्क्रमित करता है। यहां इस मस्तक के शिखा मण्डल में एक अति सूक्ष्म अपने बाल से ही सूक्ष्म तन्तु की (नलिका) नाड़ी होती है जो असंख्य वर्तुलाकार में कुण्डली सदृष्य लिपटी हुयी होती है। जिसका अन्तिम छोर योगी के शिखा के मध्य चोटी में स्थित सूक्ष्म रन्ध्र (छिद्र) में होता है। अतः योग बल से सन्क्रमित की हुयी महाचेतनामय प्राण कुण्डलिनी या आत्मा अर्थात् चेतना इस नलिका में प्रवेश करती है और अत्यन्त वेग से उस वर्तुलाकार के असंख्य लपेटों से घूमती हुयी (इसका वेग सूर्य प्रकाश वर्ष से २० से ४० गुणा ज्यादा होता है) नाड़ी के अन्तिम मुख से अर्थात् चोटी स्थित सूक्ष्म रन्ध्र (छिद्र) से बाहर पड़ती है और ब्रह्माण्ड के परमतत्व की ओर अत्यन्त वेग से प्रवास या अनन्त यात्रा करती है। इस अवस्था को योगी कि समाधिस्थ अवस्था को जीते जी समाधि (जिन्दा समाधि) भी कहते हैं। लेकिन जिन्दा समाधि और प्राकृतिक मृत्यु इसमें अन्तर है। समाधि में मृत्यु का अनुभव मृत्यु को समझना है, तथा मृत्यु का ज्ञान होना है अर्थात् समाधि में मृत्यु स्वेच्छा से होती है तो प्राकृतिक मृत्यु प्राकृतिक इच्छा से होती है। समाधि में स्थूल शरीर से बाहर निकला हुआ [आत्मा (प्राण) का] सूक्ष्म शरीर इनका प्राण सूत्र अगोचर रुप से बना रहता है। तो प्राकृतिक मृत्यु से स्थूल और सूक्ष्म शरीर का प्राण सूत्र टूटा हुआ होता है। समाधि में आत्मा अनन्त यात्रा करके वापस देह में लौटता है। किन्तु मृत्यु में भौतिक रेखा अंश में सूक्ष्म शरीर भटकता रहता है। अतः वह स्थूल शरीर में वापस नहीं आ सकता। साधना में योगी दार्शनिक या द्रष्टा होकर सावधान होकर देखता है कि मृत्यु कैसी हो रही है। किन्तु प्राकृतिक मृत्यु में मृतक मूर्च्छा में रहने के कारण जान नहीं सकता कि

मृत्यु कैसी घटित हुयी है।

अतः साधक योगेश्वर स्थूल शरीर छोड़कर अपने आत्मबल से सूक्ष्म रुप से चेतना को लेकर ब्रह्माण्ड में निकलता है। यह अनन्त ब्रह्माण्ड उस परमतत्व, परमईश्वर, परमात्मा का आभामण्डल ही है। जो सभी दिशाओं में अनन्त योजन फैला हुआ है और इस आभामण्डलीय ब्रह्माण्ड में योगेश्वर का (आत्मा) सूक्ष्म शरीर अनन्त यात्रा करने निकलता है। यह परमात्मा परमईश्वर के प्रभाव से ही यह अनन्त ग्रह, नक्षत्र, तारे-चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी अपने ब्रह्माण्डीय ऊर्जा तथा सौर ऊर्जाओं द्वारा गतिशील होकर अपने कर्म करते हैं और इन्हीं के परिणाम स्वरुप सम्पूर्ण प्रकृति अपना निहित कार्य यथास्थिति करती रहती है और यह सब दृष्यमान है।

इस अनन्त कोटि अर्थात् अनगिनत, अनन्त ब्रह्माण्ड दो प्रकार से विद्यमान हैं- (१) दृष्यमान ब्रह्माण्ड (स्थूल) (२) अदृष्यमान (सूक्ष्म) ब्रह्माण्ड

(१) दृष्यमान ब्रह्माण्ड - यह स्थूल रुप में दिखता है यह मर्यादित है, सीमित है, जिसमें उत्पति स्थिति संहार जन्म, मृत्यु परिवर्तन आदि गुण हैं।

(2) अदृष्यमान ब्रह्माण्ड - खुली आंखों से नहीं दिखता। यह सूक्ष्म स्वरुप में विद्यमान है। यह अनन्त, अगणित तथा अनन्त योजन विस्तार में विद्यमान है।

नाथ सिद्ध योगेश्वर जब जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था में रहता है तो वह दृष्यमान ब्रह्माण्ड में भ्रमण करता है और जब वह सुषुप्ति से तुर्य-तुर्यातीत तथा शून्य में चला जाता है तो वह अदृष्यमान (सूक्ष्म) ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है। अर्थात् योगेश्वर अपने सक्षम साधना में स्थूल-सूक्ष्म-कारण-महाकारण-शून्य-महाशून्य में भ्रमण करता है।

जैसे कि हमारे नाथ महात्मा जिस प्रकार स्थूल रुप में भ्रमण (रम्मत जमात कहते हैं) करते हैं। देश-विदेश, नदी, पहाड़ों, गुफा-कन्दराओं, जंगल इत्यादि जन जनता में भ्रमण करते हैं। वह अपने इष्ट की खोज, ईश्वर की खोज, सत्य की खोज, आनन्द की खोज, शान्ति की खोज, मोक्ष मुक्ति की खोंज इत्यादि उद्देश्य से भ्रमण करते हैं। इस प्रमाणिक खोज में जब वह जान जाता है कि मेरा ध्येय सूक्ष्म जगत में मिलेगा तब वह स्थिर होकर गुरु कृपा में ध्यान साधना करता है। क्योंकि ध्यान यह एक ही साधन है जो सूक्ष्म जगत में ले जा सकती है। जो कि योग द्वारा आत्मरुप होकर सूक्ष्म जगत में घूमता है इस अवस्था में वह अदृष्यमान ब्रह्माण्ड में भ्रमण करने लगता है। यहां भी उसे पता लगता है कि मेरा ध्येय या सत्य कारण जगत में मिलेगा फिर वह कारण जगत में खोजता है फिर महाकारण में जाता है और ऐसे खोजते खोजते वह शून्य में मोक्ष मुक्ति में जाकर विलीन हो जाता है। जहां ज्योतिर्मय-शून्यमय-अलख निरंजन गुरु गोरक्षनाथजी विराजमान है। अतः नाथ सिद्ध महात्मा हमेशा कहते हैं-

नाद बाजे काल भागे, ज्ञान की टोपी गोरख साजे।।

ज्योत जागे काल भागे, आगे आगे गोरक्ष जागे।।

अर्थः- नाद बाजे (ध्यान में अनहद नाद सुनने पर) तथा ज्योत जागे अर्थात् आत्मदर्शन होने पर तथा आत्मज्ञान होने पर (काल भागे) अर्थात् मृत्यु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती और साधक योगी आगे-आगे मुक्ति की ओर जहां ज्योति स्वरुप गोरक्षनाथजी विराजमान है। वहां गोरख जागे अर्थात् गोरक्षनाथजी की कृपा से मुक्ति रुप हो जाता है।

अतः इस दृश्य-अदृश्य ब्रह्माण्ड के पांच मण्डल में विभाजित किया गया है-

(१) तपोमण्डल, (२) तेज (अग्नि) मण्डल, (३) ज्योतिमण्डल,

(४) परम ज्योतिमण्डल या शून्य मण्डल (५) अपरम्परा मण्डल (परम शून्य) मण्डल।

इसी मण्डलों के संलग्न पांच धाम भी विभाजित हैं -

(१) आनन्द धाम, (२) परमानन्द धाम, (३) कैवल्य धाम, (४) कुलाकुल (शिव-शक्ति) धाम, (५) परब्रह्म धाम, मुक्ति धाम या परम शून्य धाम।

अतः नाथ सम्प्रदाय सिद्ध शिव स्वरुप गुरु गोरक्षनाथजी उपरोक्त मण्डलों एवं धामों की मूल रचना तथा ब्रह्माण्ड का मूल सिद्धान्त पंच पिण्डों में व्यक्त किया है और वह प्रकृति पुरुष शिव शक्ति का ही ब्रह्माण्ड विस्तार मानते हैं।

(घ) शिव-शक्ति पिण्ड विस्तार (पिण्ड-पंचक)

(१) पर पिण्ड, (२) अनादि पिण्ड, (३) आद्यपिण्ड, (४) महासाकार पिण्ड, (५) प्रकृति पिण्ड (नरनारी, जीव)

इसी प्रकार शक्ति के मूल स्वरुप योगमाया के पंचक को भी विभाजित किया है जो

(१) निजा शक्ति, (२) पराशक्ति, (३) अपरा शक्ति, (४) सूक्ष्माशक्ति, (५) कुण्डलिनी शक्ति।

इन पंच ब्रह्माण्ड, मण्डल, पंच धाम आदि के विषय में नाथ सिद्ध अपने शाबर मन्त्र श्रृंखला में करते हैं।

शिव पूजूं, शक्ति पूजूं, पूजूं गुरुजी के पांव।

पांच महेश्वर आज्ञा करें तो लागूं अखण्ड ज्योत के पांव।।

या

पांच महेश्वर आज्ञा करें तो ज्योत जगाय महेश।।

अर्थात् - हम शिव-शक्ति स्वरुप सतगुरुजी के पद पूजा करके

पंच-रचना रुपी ब्रह्माण्ड जिनका मूल शिव आदिनाथजी हैं उनकी आज्ञा से अखण्ड ज्योत अर्थात् अविनाशी आत्मा को नमस्कार करते हैं। अर्थात् ज्योति रुपी आत्मा जाग्रत होकर जीवन शिव का मिलन होकर मोक्ष मुक्ति की प्राप्त होंगे।

अतः पृथ्वी के गर्भ में सप्त पाताल विद्यमान है जहां अधोगति तथा तामसी अतृप्त आत्माएँ वास करती हैं। उनकी वासनायें पूर्ण होने पर वह मृत्यु लोक में पुनः जन्म लेते हैं और कर्म करते हैं मृत्यु लोक में सभी प्रकार के कर्म साधना अर्थात् राजस सात्विक तामसी प्रवृति के जीव रहते हुये कर्म करते हैं यह कर्म भूमि-भोग भूमि कही जाती है अतः मृत्युलोक के ऊपर स्वर्ग लोक है उसे सप्त स्वर्ग कहा गया है यह पृथ्वी के बाहरी सात आवरण में विभिन्न अनुरेणु तथा ऊर्जाओं में वायु मण्डल के सात पट्टे हैं, सात परत हैं और यह सप्त स्वर्ग के हर एक पट्टों में या परत में अलग अलग प्रकार के उच्च कोटी के ज्ञान (शब्द या अनुरेणु) रुप में संचित है जो पूर्वकाल में साधु सन्त महात्माओं के ज्ञान है और यह सप्त आवरण में वह ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ते हुये सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान के पट्टे विद्यामान है। यहां जो जीव जिस ज्ञान को पाता है। वह उस स्वर्ग परत में जाकर सूक्ष्म रुप से निवास करता है।

अतः जब नाथ सिद्ध साधक अपने सहस्रागार चक्र में से आत्म रुपी सूक्ष्म शरीर होकर ब्रह्माण्ड यात्रा पर निकलता है तो प्रथम वह तपो मण्डल में प्रवेश करता है।

तपोमण्डल = यह मृत्युलोक (स्थूल जगत) के ऊपरी भाग में अर्थात् पृथ्वी के कक्ष में ही विद्यमान है यह सप्त स्वर्ग के पहला और दूसरा स्वर्ग (परत-वलय) में विद्यमान है। यहां सभी प्रकार के राजसी सात्विक तामसि प्रवृति के जीव अपने अपने ज्ञान अनुसार वास करते हैं और योग्य समय मिलने पर पुनर्जन्म ले लेते हैं तथा इनका पृथ्वी के मृत्युलोक से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। नाथ सिद्ध सिद्धान्त अनुसार यह प्रकृति पिण्ड अर्थात् नरनारी,

जीव जिन के गुण तत्व विद्यमान रहते हैं। यहां पांच तत्व (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा इनके गुण शब्द स्पर्श रुप रस गन्ध) विद्यमान हैं पंच अन्तःकरण, मन, चित्त, अहंकार, चित चैतन्य एवं कुलापंचक सत्व, रज, तम, काल, जीव तथा व्यक्ति पंचक इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति, वाक तथा करण पंचक कर्म, काम, चन्द्र, तापिनी, अग्नि मुख्यतः इनसे नर नारी के स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर बनते हैं।

यहां ब्रह्मदेव आधिपति है और इन्द्र देवता शासक है इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। यहां पर नाथ सिद्ध साधक आते समय उसकी स्थूल जगत की जाग्रत और स्वप्न अवस्था त्यागकर आता है। यहां वह सुषुप्ति अवस्था को पाता है और यहां के द्वितीय स्वर्ग परत को सावधान होकर दृष्टा होकर अवलोकन करता है जिसमें भूः (पृथ्वी) लोक, भुवः लोक, स्वःलोक, महाःलोक, जनःलोक, तपः लोक, सत्य लोक ऐसे सात लोक निवास करते हैं। यहां नाथ सिद्ध साधक का भाव (भावना) शरीर होता है किन्तु सावधान होता है। यहां उसका "मैं योगी हूँ" का अहम भाव रहता है। यहां सभी प्रकार के (राजसी, तामसी, सात्विक) सूक्ष्म शरीर, जिसमें भाव शरीर, वासना शरीर कामना, इच्छा शरीर इत्यादि राजसी, तामसी, सात्विक लोग रहते हैं। इनका अवलोकन करते हुये नाथ सिद्ध साधक तपोलोक और सत्य लोक में प्रवेश करते हैं। यहां सूक्ष्म स्वरुप में सभी प्रकार के साधु सन्त महात्मा त्यागी तपस्वी वैरागी भक्त कर्मकाण्डी विद्वान पण्डित अपने कर्म अनुसार आनन्द का भोग भोगते हैं। अतः इस तपो मण्डल को आनन्द धाम भी कहा है। अतः नाथ सिद्ध साधक के कुण्डलिनी शक्ति कार्य करती रहती है। जब वह आत्म रुप होकर साधक इस तपो मण्डल का त्याग करके आगे तेज मण्डल में प्रवेश करता है।

तेज मण्डल = इसे अग्नि मण्डल भी कहा जाता है। यह सप्त स्वर्ग

के तीसरे और चौथे स्वर्ग परत में विद्यमान रहते हैं यहां तामसी, सात्विक एवं राजसि प्रवृति की आत्मायें वास करती हैं। इच्छा होने पर वह पुनर्जन्म भी लेते हैं। यहां भगवान विष्णु का अधिकार है। अतः इसे विष्णु लोक या वैकुण्ठ धाम कहते हैं। यहां विशेषतः भगवत भक्त-अनुरागी, निष्काम कर्म भक्ति करने वाले आत्मायें यहां निवास करके भक्ति, ज्ञान, भजन, साधना करते हुये परमानन्द भोगते हैं अतः इसे परमानन्द धाम भी कहा जाता है। अनुरागी भक्त भक्ति का आनन्द तथा कर्म करने के लिये पुनः पुनः पूर्णजन्म लेते हैं। शक्यतो भक्त मुक्ति को नहीं चाहते अतः वह मोक्ष (अर्थात् इष्ट का मिलन) तक जाकर भक्ति आनन्द में रहते हैं या पुनर्जन्म लेते हैं। यहां यक्ष किन्नर गन्धर्व लोग जो तीनों तन्त्र कर्म से गायन वादन नृत्य कर्म करते हैं यह इच्छा धारी आत्मा रुप में रहते हुये विभिन्न कला के लिये पुनर्जन्म या कि जीव काया में प्रवेश करके कला का आनन्द लेते हैं। इस तेज मण्डल में नाथ सिद्ध सिद्धान्त अनुसार साकार पिण्ड भी विद्यमान है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर, रुद्र आदि का वास रहता है। जो सत्यलोक, विष्णु लोक तथा ईश्वर लोक, रुद्र लोक एवं नीलकण्ठ लोक निवास करते हैं। यहां भी सत्व गुणी साधु सन्त महात्मा योग तपस्या साधना सूक्ष्म रुप से करते हुये परमानन्द भोगते हैं। अतः इनके अवलोकन करते हुये नाथ सिद्ध साधक परमानन्द भोगता है क्योंकि यहां उसका सूक्ष्म शरीर भावना या मनोमय शरीर में परावर्तित होता है। किन्तु जहां शरीर या भाव है वहां "मैं हूँ" का भाव रहता है (चाहे वह सूक्ष्म या स्थूल शरीर क्यों न हो) साधना रुप से नाथ सिद्ध साधक का यहां सुषुप्ति से तुर्या अवस्था में परिवर्तन होता है। अतः उसके कुण्डलिनी शक्ति का सूक्ष्मा शक्ति में परिवर्तन होता है और इस शक्ति के कारण वह इस तेज मण्डल परमानन्द धाम या साकार पिण्ड का भी त्याग करके ब्रह्माण्ड के तृतीय मण्डल ज्योर्तिमण्डल में प्रवेश करता है।

ज्योति मण्डल - यहां सप्त स्वर्ग के पाँचवा तथा छटा स्वर्ग लोक विराजमान है। यहां राजसी सात्विक तथा तामस प्रवृति के साधु सन्त महात्मा विराजते हैं उनकी साधना तपस्या, ध्यान, धारणा तीनों गुणों से (रज, तम, सत) शिव के प्रति होती है। यह स्वर्ग का पांचवा (परत) स्वर्ग होता है। यहां शिव भक्त गण साधक सूक्ष्म रुप से बिराजते हैं। यहां के छटे स्वर्ग परत में राजयोगी महा सिद्ध ज्ञानी महात्मा विराजते हैं यह शिव के प्रिय होकर कैवल्यानन्द भोगते हैं। इसे कैवल्यधाम भी कहते हैं या शिव धाम भी कहते हैं। यहां दिव्यभाव के महात्मा मोक्ष स्वरुप में रहते हैं। शिव भक्ति तथा ध्यान, तपस्या साधना करके कैवल्यानन्द भोगने हेतु यह पुनः अवतार रुप में जन्म लेते हैं। यह ज्ञान से परिपूर्ण होकर आत्मभाव में रहते हैं।

यहां नाथ सिद्धों का सिद्धान्त अनुसार आद्यपिण्ड स्थित रहता है जिसमें प्रथम महाकाश अपने अवकाश, अछिद्र, अस्पृशत्व, शब्दत्व गुणों से तथा नील वर्ण से विद्यमान है। फिर महावायु जो संचार, संचालन, स्पर्शन, शोषण, गुणों से तथा धूम्रवर्ण रंग से विद्यमान है और महातेज - अपने दाहकत्व, पांचकत्व, उष्णत्व, प्रकाशत्व गुणों से एवं रक्त (लाल) रंग से विद्यमान है। इसी प्रकार महासलिल अर्थात् जल - अपने प्रवाह, आप्यापन, द्रव, रस गुणों से और श्वेत रंग से रहता है, और पृथ्वी - जो स्थूलता, नानाकार, काठिन्य एवं गन्ध गुणों से- पीत वर्ण में विद्यमान है। इन कारण रुपी गुणों से सूक्ष्म रुपी नर नारी जीव बनकर मृत्युलोक में पुनर्जन्म अथवा अवतार लेते हैं। जो उच्चकोटी के योगी, ध्यानी, तपस्वी सूक्ष्म ज्ञान रुप में रहते हैं। यहां शिव रुद्र, भैरवनाथ या भैरवलोक, अनादि शिव या अनादि लोक भी विद्यमान रहते हैं। जन कल्याण हेतु वह पृथ्वी पर पुनः अवतार धारण करते हैं या मोक्ष धाम में रहते हैं किन्तु यहां भी मैं हूँ ही उपाधि अवस्थित रहती

है। यहां नाथ सिद्ध साधक का तुर्यम् अवस्था से तुर्यातीत अवस्था में परिवर्तन होता है और उसकी आत्मशक्ति का दिव्यभाव में रुपांतरित होकर सूक्ष्मा से अपरा शक्ति में परिवर्तन होकर नाथ सिद्ध साधक अब इस ज्योतिर्मय मण्डल या कैवल्य धाम का भी परित्याग करके परम ज्योतिर्मण्डल में प्रवेश करता है।

परम ज्योतिर्मण्डल = इसे शून्य मण्डल भी कहते हैं। यहां सप्त स्वर्ग का आखरी आवरण सातवां स्वर्ग (परत) विद्यमान रहता है। यहां अत्यंत परिपक्व उच्चकोटि के महासाक्षात्कारी मुख्यता आत्मसाक्षात्कारी महात्मा अति उच्च ज्ञान उपाधि से रहते हैं। यहां शिव और शक्ति ही इष्ट है अतः इसे कुलाकुल धाम, अर्थात् कुल याने शक्ति और अकुल याने शिव को कहा गया है। अर्थात् योगी कुण्डलिनी (कुला) शक्ति मूलाधार से जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र में शिव को (अकुल) को मिलती है। तो वहां ज्ञान प्रकाश, मोक्ष धाम का लाभ होता है। अथ यह कुलाकुल साधना माया रुपी दादा मत्स्येन्द्रनाथजी ने सिद्ध की थी कुलाकुल कौल ज्ञान, कौलाचार, कौलसाधना इत्यादि की साधना उन्होंने सिद्ध की थी। वह शिव शक्ति के पुत्र ही माने जाते हैं। अथ यह मोक्ष धाम भी कहा जाता है और यह मोक्ष धाम शून्य धाम के शून्य अवस्था के नजदीक होता है। यहां केवल योग धारना परिपक्व योगेश्वर परम आत्मसाक्षात्कारी ही आ सकता है। यहां मैं का भाव छूट जाता है किन्तु हूँ का भाव (अर्थात् अस्तित्व का भाव) बाकी रहता है।

यहां नाथ सिद्धों सिद्धान्त का अनादि पिण्ड विद्यमान होता है जिसके गुण निम्न प्रकार हैं।

(१) **परमानन्द** - गुण - स्पन्द, हर्ष, उत्साह, निष्पन्द, नित्यसुख

(२) **प्रबोध** -गुण - उदय, उल्लास, अवभास, विकास, प्रभा

(३) **चिदुद्य** - गुण - सद्भाव, विचार, कर्तृत्व, ज्ञातृत्व, स्वतंत्रत्व

(४) प्रकाश - गुण - निर्विकारत्व, निष्कलत्व, निर्विकल्पत्व, समता, विश्रान्ति

(५) ॐ सोहं - गुण - अहन्ता, अखण्डैश्वर्य, स्वात्मता, विश्वानुभव, सर्वज्ञत्व

इस प्रकार इस मण्डल में या धाम में अनादि पिण्ड के गुण विद्यमान रहते हैं इससे आगे आद्यपिण्ड बनता है। यहां नाथ सिद्ध साधक कुलाकुल सामंजस्य अवस्था एवं आत्मसाक्षात्कारी तथा महा ज्ञान से ओतप्रोत हो जाता है। वह वैश्विक अवस्था में सदाशिव रुप हो जाता है। यहां कुल लोक जिनकी अकुलेश्वर (शिव) देवता अधिष्ठिता होता है। यहां नाथ सिद्ध साधक अपरा शक्ति का परा शक्ति में रुपांतर होकर सर्वज्ञत्व अवस्था में जाकर इस कुलाकुल धाम, परमज्योतिर्मण्डल का त्याग करके अपरम्परा मण्डल में आगमन करता है।

अपराम्परा मण्डल - शून्य मण्डल भी कहते हैं तथा इसे परब्रह्म (मुक्ति) धाम कहा जाता है। यह धाम पृथ्वी के परे, सप्त स्वर्ग के परे अनन्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहता है। यहां केवल परब्रह्म प्राप्त योगेश्वर ही रहते हैं। यहां मैं भी नहीं रहता और हूँ भी नहीं रहता। यहां योगी पूर्ण शून्य में चला जाता है यहां नाथ सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार पर पिण्ड विद्यमान रहता है। जिनके गुण निम्न प्रकार हैं-

(१) अपरम्पर - गुण - अकुलक्त्व, अनुपमत्व, अमुर्तित्व, अनुदयत्व

(२) परमपद - गुण - निष्कलत्व, अणुवरत्व, अचलत्व, असंख्यत्व

(३) शून्य - गुण - लीनता, पूर्णता, उन्मनी, लोलता, मूर्च्छता

(४) निरन्जन - गुण - सत्यत्व, सहजत्व, समरसत्व, सावधानत्व, सर्वगतत्व

(५) परमात्मा -गुण - अक्षयत्व, अभेद्यत्व, अच्छेद्यत्व, अविनाशित्व और अदाहयत्व

[इस पर पिण्ड गुणों से आद्य पिण्ड फिर महासाकर पिण्ड फिर ब्रह्माण्ड शरीर फिर प्रकृति पिण्ड फिर नरनारी जीव रुप तथा गर्भ पिण्ड अन्त में स्थूल जगत बनता है।]

यहां नाथ सिद्ध साधक पराशक्ति का निजा शक्ति में रुपांतरित होकर योगी ब्रह्ममय भवदीय तथा अर्थात् केवल आत्म रुप शिव रुप हो जाता है। यहा योगी की शून्य अवस्था है यहाँ परपिण्ड विद्यामान होकर अलख निरन्जन गुरु गोरक्षनाथजी अपरम्पार परमपद शून्य निरन्जन परमात्मा में रहते हैं। इस प्रकार नाथ सिद्ध साधक पूर्णत्व पाकर गुरु गोरक्षनाथ स्वरुप हो जाता है। अतः नाथ सिद्धों में कहते हैं-

सुन्य ध्यान सौलै कला सम्पूर्ण माला।
आपै आप जती गोरक्ष बाला।।

अर्थात् - शून्य ध्यान की सम्पूर्ण विधि माला जो साधक प्राप्त कर लेता है आत्मसात कर लेता है वह अपने आप ही गुरुगोरक्षनाथजी के जैसा हो जाता है।

अतः इस अपरम्परा मण्डल परब्रह्म मुक्ति धाम में भी निज शक्ति के ही आगे जहां कुछ भी नहीं है वहां न मण्डल है, ना धाम है, ना शिव है, ना शक्ति है, ना चन्द्र सूर्य तारा मण्डल कुछ भी नहीं जहां निरन्जन निराकार निरामय निर्विकार का शून्य परमशून्य जिसे मुक्ति कहा वहां से वापस आना नहीं वहीं विलय हो जाना है और यही नाथ सिद्धों की मुक्ति है। यह मोक्ष मुक्ति का ब्रह्माण्ड विज्ञान नहीं खोज सकता, यह आत्मसाक्षात्कार को भी विज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अतः यह परम योगी या साधक गुरु कृपा द्वारा प्राप्त कर लेता है। इसके लिए प्रकृति परमेश्वर ही प्रेरणा देता है। साधु सन्त महात्मा, साधक बनने का।

राजा बलदेव दास बिड़ला ग्रंथमाला

नाथ सिद्धों की बानियाँ

१

प्रधान संपादक : रुद्र काशिकेय

काशी नागरीप्रचारिणी सभा, बनारस

सं० २०३५
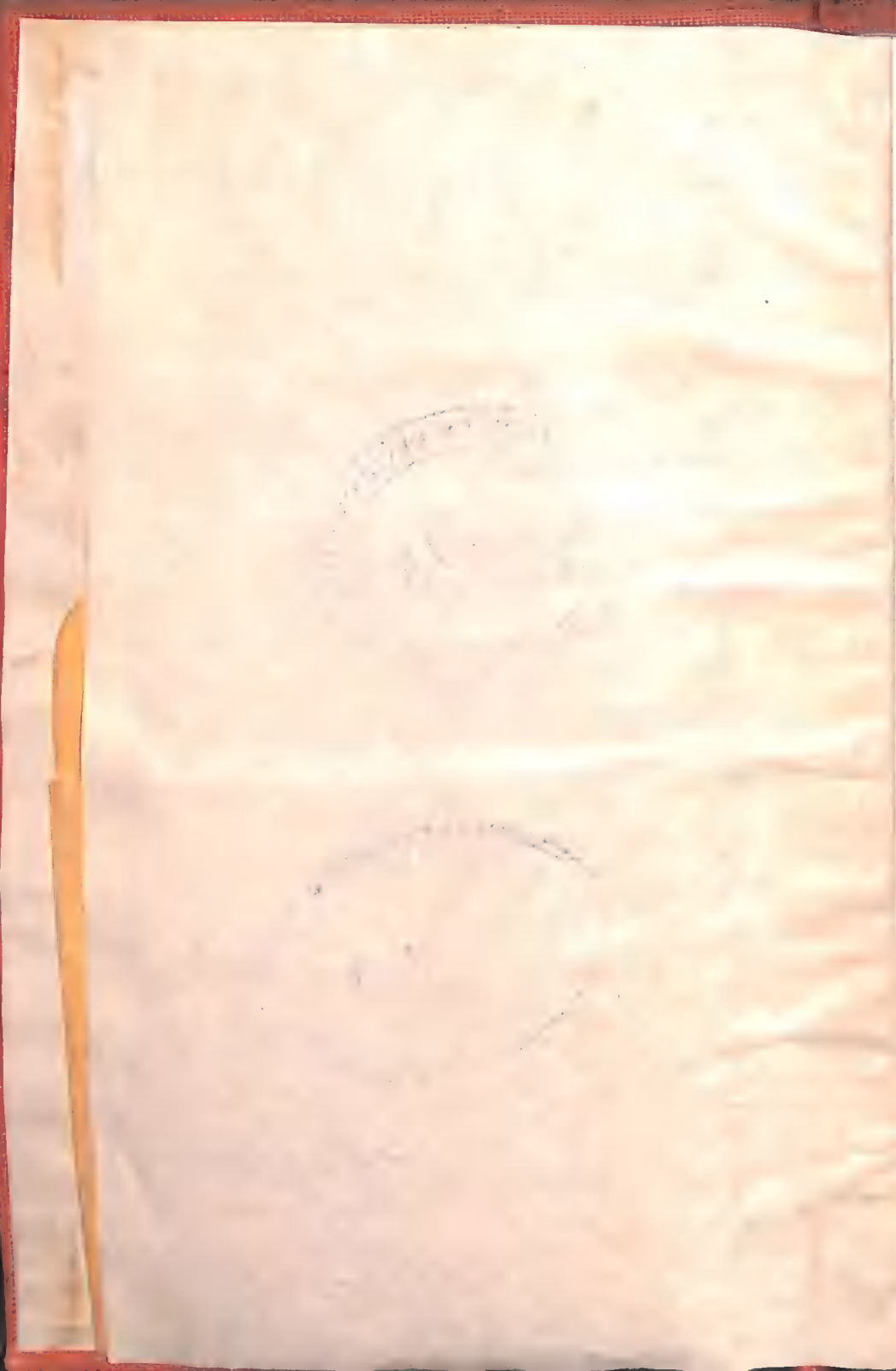
बिड़ला ग्रंथमाला— १

नाथ सिद्धों की बानियाँ

संपादक
हजारीप्रसाद द्विवेदी

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : सीमा प्रेस, ईश्वरगंगी, वाराणसी

द्वितीय संस्करण, ११०० प्रतियाँ, संवत् २०३५ वि०

मूल्य ८.०० रुपये

राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला

प्रस्तुत ग्रंथमाला के प्रकाशन का एक संक्षिप्त सा इतिहास है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशो जब काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पधारे थे तो यहाँ के सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों को देखकर उन्होंने सलाह दी थी कि एक ऐसी ग्रंथमाला निकाली जाय, जिसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ मुद्रित कर दिए जाएँ। बहुत अधिक परिश्रमपूर्वक संपादित ग्रंथ छापने के लोभ में पड़कर अनेकानेक महत्वपूर्ण ग्रंथों को अमुद्रित रहने देना उनके मत से बहुत बुद्धिमानी का काम नहीं है। उन्होंने सलाह दी कि पुस्तकें पहले मुद्रित हो जाएँ, फिर विद्वानों को उनकी सामग्री के विषय में विचारने का अवसर मिलेगा। सभा के कार्यकर्ताओं को राज्यपाल महोदय की यह सलाह पसंद आई। हीरकजयंती के अवसर पर सभा ने जिन कई महत्वपूर्ण कार्यों की योजना बनाई, उनमें एक ऐसी ग्रंथमाला का प्रकाशन भी था। सभा का प्रतिनिधिमंडल जब इन योजनाओं के लिये धनसंग्रह करने के उद्देश्य से दिल्ली गया तो सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला से मिला और उनके सामने इन योजनाओं को रखा। बिड़लाजी ने सहर्ष इस ग्रंथमाला के लिये ५०००) रुपया की सहायता देना स्वीकार कर लिया और सभा के प्रतिनिधिमंडल को इस विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं हुई। बिड़ला परिवार की उदारता से आज भारतवर्ष का बच्चा बच्चा परिचित है। इस परिवार ने भारतवर्ष के सांस्कृतित उत्थान के लिये अनेक महत्वपूर्ण दान दिए हैं। सभा को इस प्रकार की ग्रंथमाला के लिये प्रदत्त दान भी उन्हीं महत्वपूर्ण दानों की कोटि में आएगा। सभा ने निर्णय किया कि इन रुपयों से प्रकाशित होनेवाली ग्रंथमाला का नाम श्री घनश्यामदास जी बिड़ला के पूज्यपिता राजा बलदेवदास जी बिड़ला के नाम पर रखा जाय और इसकी आय इसी कार्य में लगती रहे।

—:®:—

परिचय

जह मन पवन न सञ्चरइ,

रवि शशि नाह प्रवेश।

तहि वट चित्त विसाम करु

सरहे कहिअ उवेश ॥

[जहाँ तक न मन जाता है न पवन जाता है, जहाँ न रवि का प्रवेश है न शशि का प्रवेश है, सरह कहते हैं कि हे चित्त ! तुम वहीं विश्राम करो ।]

सिद्ध सरहपा ने उक्त दोहों में जिस समाधि-दशा का संकेत किया है, उसकी प्राप्ति के लिए गम्भीर साधना आवश्यक है और इसीलिए उस स्थान तक चित्तगति को ले जाने के लिए जहाँ 'न सूर्यो भाति न शशाङ्को न पावकः' साधकगण साधनाएँ करते रहे हैं, जिसका यह स्वाभाविक परिणाम है कि—हमारे देश में सिद्ध- साधना और साधकों की चर्चा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। वैसे तो किसी भी कार्य का निरन्तर अभ्यास करना साधना कहा जाता है। साधना करनेवाला साधक कह-लाता है और उस कार्य में निरन्तर अभ्यास द्वारा सफलता अथवा सिद्धि प्राप्त करने-वाला सिद्ध कहलाने का अधिकारी होता है।

हमारी संस्कृति ने यह बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था कि 'रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् । नृणामेकोगम्यस्त्वमसिपयसामर्णव इव' अर्थात् जैसे टेढ़े सीधे बहती हुई सभी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही पहुँचती हैं वैसे ही रुचि भेद के कारण टेढ़ा सीधा साधना पथ अपना कर सभी साधक अन्त में उस भगवान् तक ही पहुँचते हैं। ऐसी ही मान्यता के फलस्वरूप हमारा भारत विभिन्न धार्मिक साध-नाओं का क्षेत्र रहा है। फलतः प्रत्येक सम्प्रदाय के सिद्ध भी रहे हैं। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध नाथसिद्ध कहलाते हैं। इन्हीं में से चौबीस सिद्धों की रचनाएँ प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्पादित की गयी है।

स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरखबानी की भूमिका में गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथ सिद्धों की बानियों को भी प्रकाशित करने की घोषणा की थी, किन्तु असमय ही अकस्मात देहान्त हो जाने के कारण यह कार्य न हो पाया। डाक्टर बड़थ्वाल के इस महान् अधूरे कार्य को प्रस्तुत संग्रह द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। डाक्टर बड़थ्वाल ने नाथ सिद्धों की रचनाओं का संग्रह भी कर लिया था। परन्तु इस संग्रह ग्रन्थ 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' की भूमिका से यह स्पष्ट नहीं होता कि संग्रहकर्ता ने डाक्टर बड़थ्वाल के संग्रह से सहायता ली है या नहीं। संकेत तो यही है कि विद्वान् सम्पादक को डाक्टर बड़थ्वाल का संग्रह नहीं मिला।

इस संग्रह में प्रयुक्त पोथियाँ हस्तलिखित रूप में नागरीप्रचारिणी सभा के आर्य भाषा पुस्तकालय से ली गई हैं। इसके अतिरिक्त पिंडी के जैन भांडार, कमंद्र मठ तथा दर्बार लाइब्रेरी जोधपुर से भी कुछ पुस्तकें प्राप्त कर उनका उपयोग प्रस्तुत संग्रह में किया गया है। अच्छा होता यदि बड़थ्वाल जी द्वारा संगृहीत हस्तलिखित पोथियों का भी भलीभाँति उपयोग कर लिया जाता। जितनी पोथियाँ प्रकाशित की जा रही हैं, उनकी भाषा १५-१६ वीं शताब्दी के बाद की है। गोरखबानी की भाषा के विषय में डाक्टर बड़थ्वाल ने भी यही बात कही थी।

इस संग्रह के प्रकाशित होने के पूर्व नाथ सिद्धों की बानियों के कुछ और संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और डाक्टर धर्मवीर भारती ने भी इस दिशा में काम किया है। डाक्टर कल्याणी मल्लिक ने सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ऐन्ड अदर वर्क्स आव नाथ योगीज' का सम्पादन कर उसे पूने से १९५४ ई० में प्रकाशित कराया है। इसमें नाथ सिद्धों की विभिन्न संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की भी कुछ रचनाओं का प्रकाशन किया गया है। जैसे—गोरक्ष उपनिषद्, मत्स्येन्द्रनाथ जी का पद, भरथरी जी की सबदी, जालन्धरीपादजी की सबदी। यह सम्पादन कार्य विभिन्न हस्तलिखित पोथियों के आधार पर किया गया है।

प्रस्तुत संग्रह में अपेक्षाकृत अधिक नाथ सिद्धों की रचनाएं संपादित हैं। इनके रचयिता नाथ सिद्धों की कुल संख्या २४ है। इस संग्रह की गोपीचंदजी की सबदी, जलंध्रीपावजी की सबदी, चरपटीजी की सबदी तथा मच्छन्द्रनाथजी का पद इन रचनाओं के पाठ भेदादि के लिये डाक्टर मल्लिक के ग्रन्थ का सदुपयोग किया जा सकता है। इन रचनाओं की भाषा के सम्बन्ध में डाक्टर मल्लिक का मत है कि यह अंशतः राजस्थानी तथा अंशतः हिन्दुस्तानी है। इसके अतिरिक्त श्री योग प्रचारिणी सभा गोरक्ष टिल्ला, वाराणसी से प्रकाशित श्री नाथ शतकम् पुस्तिका में चन्द्रनाथ तथा गरीबनाथ जी की सबदियां प्रकाशित हुई हैं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में चन्द्रनाथ की कोई सबदो नहीं है। इससे सम्पादित गरीबनाथजी की सबदी शतक में प्रकाशित उनकी सबदी से अंशतः भिन्न है और पाठभेद भो है।

इन सब रचनाओं के प्रकाशित होने के पूर्व नाथ सिद्धों की दर्शन साधना तथा काव्यरूप के अध्ययन का एक मात्र आधार गोरखवानी (जोगेसुरी बानी) ही था। अब इन रचनाओं के प्रकाशन से रचयिता नाथसिद्धों की संख्या के साथ हीं रचनाओं की भी वृद्धि हुई है, परन्तु प्राप्त रचनाओं की वृद्धि के साथ ही उनकी प्रामाणिकता में कोई वृद्धि नहीं हुई है। प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्ण विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि ये रचनाएं उन्हीं सिद्धों की हैं, जिनके नाम से वे प्रचलित और प्रचारि त हैं।

जिन नाथ सिद्धों की बानियां इस संग्रह में सम्पादित, है उनमें गोरक्ष, मत्स्येंद्र, चौरंगोनाथ, चर्पट, काणेरी, जालंधरि, गोपीचन्द और भरथरी ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इन लोगों का समय नवीं ई० शताब्दी से १२ ई० शताब्दी तक विस्तृत है। इनमें सर्वाधिक महिमामंडित व्यक्तित्व गोरक्षनाथ का है। अब यह प्रायः निर्विवाद है कि बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों दोनों में समान रूप से समादृत मत्स्येन्द्र गोरख के गुरु थे। अभिनवगुप्तपाद ने मच्छन्द विभु का स्तवन किया है। यह स्तवन भी तांत्रिक शैव ग्रन्थ तन्त्रालोक में किया गया है। अतः इससे दो तथ्य हाथ लगते हैं। पहला यह कि मत्स्येन्द्र परम माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद के पूर्ववर्ती थे और दूसरा यह कि वे तांत्रिक शैव सिद्ध थे।

इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत के विभिन्न स्थानों में अपने अस्तित्व तथा प्रभावविस्तार के लिये सम्प्रदायों में अत्यधिक तीव्र संघर्ष था। कहीं इन शैवों ने वैष्णवों के कंधा से कंधा भिड़ा कर बौद्धों और जैनों का विरोध किया और कहीं तान्त्रिकों से सहयोग कर विरोधियों से लोहा लिया। उसी संघर्ष काल में अभिनव गुप्त का अभ्युदय हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में नाथ सिद्धों का प्रारम्भिक आविर्भाव काल नवीं ई० शताब्दी माना गया है। नाथ सिद्धों, नव नाथों और चौरासी सिद्धों की विभिन्न सूचियों तथा काल निर्णय के स्रोतों पर विचार करने पर इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है कि इन नाथ सिद्धों का आविर्भाव तथा विचारकाल नवीं ई० शताब्दी से लेकर बारहवीं ई० शताब्दी तक था। साधनात्मक तथा दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन दोनों प्रकार के सिद्धों में तान्त्रिक धारा जीवित थी।

राजनीतिक परिवर्तन तथा सामाजिक उथल पुथल से इन सम्प्रदायों में उप सम्प्रदाय जन्म लेते रहे। ये एक दूसरे में अन्तर्भुक्त भी होते रहे। इन सम्प्रदायों के परस्पर मिश्रण की कथा अत्यधिक उलझी हुई है। लोकश्रुति और ऐतिहासिक श्रुति दोनों में भारी अन्तर है। हमें केवल ऐतिहासिक श्रुति पर विश्वास करना चाहिए। लोकश्रुति की अपेक्षा ऐतिहासिक श्रुति भले ही कम सूचना दे फिर भी वह अधिक उपयोगी है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य की इस शाखा के प्रसिद्ध अधिकारी विद्वानों में गिने जाते हैं। अतः उनके द्वारा सम्पादित प्रस्तुत ग्रन्थ सभी दृष्टियों से उपादेय होना ही चाहिए। मैं आचार्य द्विवेदीजी का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थ की भूमिका में सभी ज्ञातव्य बातें दे दी हैं और इस प्रकार मुझे अधिक पिष्ट-पेषण से बचा दिया है। वस्तुतः प्रस्तुत ग्रन्थ पर लेखनी चलाना ही मेरी अनधिकार चेष्टा है क्योंकि इसका मुद्रण उसी समय हो चुका था, जिस समय आचार्य हजारीप्रसाद जी ही प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक थे, परन्तु इसका प्रकाशन अब हो रहा है। इसलिए विवशतः हाथ से आटा लगाकर मैं भण्डारी बन रहा हूँ। निष्ठापूर्ण सहायता के लिये मैं अपने सहायक श्री कलानाथ सिंह का भी कृतज्ञ हूँ। हमें आशा

है कि आचार्य जी के इस कार्य से प्रेरणा पाकर सिद्ध साहित्य में शोधकार्य अग्रसर करने की ओर अन्य विद्वान् भी उन्मुख होंगे और प्रस्तुत ग्रन्थ से आंजन का काम लेते हुए जीर्ण पृष्ठ-भूमि में छिपे रत्नों का पता लगाकर गोस्वामीजी का यह दोहा सार्थक करेंगे कि:—

यथा सु अंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत फिरहिं बन, भूतल भूरि निधान॥

—रुद्र काशिकेय
प्रधान सम्पादक
बिड़ला ग्रन्थमाला

भूमिका

नाथ सिद्धों की हिंदी बानियों का यह संग्रह कई हस्तलिखित प्रतियों से संकलित हुआ है। इसमें गोरखनाथ की बानियाँ संकलित नहीं हुईं, क्योंकि स्वर्गीय डॉ० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने गोरखनाथ की बानियों का संपादन पहले से ही कर दिया है और वह 'गोरखबानी' नाम से प्रकाशित भी हो चुकी हैं (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)। बड़थ्वाल जी ने अपनी भूमिका में बताया था कि उन्होंने अन्य नाथ सिद्धों की बानियों का संग्रह भी कर लिया है, जो इस पुस्तक के दूसरे भाग में प्रकाशित होगा। दूसरा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ और अत्यंत दुःख की बात है कि उसके प्रकाशित होने के पूर्व ही विद्वान् संपादक ने इहलोक त्याग दिया। डॉ० बड़थ्वाल की खोज से निम्नलिखित ४० पुस्तकों का पता चला था, जिन्हें गोरखनाथ-रचित बताया जाता है। डॉ० बड़थ्वाल ने बहुत छान-बीन के बाद इनमें प्रथम १४ ग्रंथों को निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सभी प्रतियों में मिला। तेरहवीं पुस्तक ग्यानचौंतीसा समय पर न मिल सकने के कारण उनके द्वारा संपादित संग्रह में नहीं आ सका, परंतु बाकी तेरह को गोरखनाथ की बानी समझकर उस संग्रह में उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। पुस्तकें ये हैं :—

१ सबदी
२ पद
३ शिष्यादर्शन
४ प्राण संकली
५ नरवै बोध
६ आत्मबोध
७ अभय मात्रा जोग
८ पंद्रह तिथि
९ ससवार
१० मछिंद्रगोरखबोध
११ रोमावली
१२ ग्यान तिलक
१३ ज्ञान चौंतीसा
१४ पंचमात्रा
१५ गोरखगणेशगोष्ठी
१६ गोरखदत्तगोष्ठी (ग्यान दीपबोध)
१७ महादेवगोरखगुष्टि
१८ शिष्ट पुराण
१९ दयाबोध
२० जातिभौंरावली (छंद गोरख)
२१ नवग्रह
२२ नवरात्र
२३ अष्टापारछ्या
२४ रह रास
२५ ग्यान माला
३२ खाणीवाणी
३३ गोरखसत
३४ अष्टमुद्रा

२६ आत्मवोध (२)	३५ चौबीस सिध
२७ व्रत	३६ षडक्षरी
२८ निरंजन पुराण	३७ पंच अग्नि
२९ गोरख वचन	३८ अष्ट चक्र
३० इंद्री देवता	३९ अवलिसिलूक
३१ मूलगर्भावली	४० काफिरवोध

गोरखनाथ की प्रामाणिक समझी जानेवाली बानियों के प्रकाशित हो जाने के कारण इस संग्रहमें उन्हें नहीं लिखा गया। अन्य सिद्धां की जो बनियां उपलब्ध हुईं, उन्हें प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संग्रह की अधिकांश बानियां नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा-पुस्तकालय में सुरक्षित तीन हस्तलिखित पुस्तकों से संगृहीत की गई हैं। इसके पद-कर्ताओं का विवरण इस प्रकार है :—

'क' प्रति अर्थात् नागरी प्रचारिणी सभा काशी के आर्यभाषा पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तक सं० १४०९ से संगृहीत सिद्धों की सूची। (इस प्रति का लिपिकाल सं० १७७१ वि० है।) :—

सिद्ध नाम	पद संख्या	सिद्ध नाम	पद संख्या
१ गोरखनाथ	१५६	७ मीडकीपाव	७
२ चरपटी जी	५५	८ काणेरी पाव	६
३ भरथरी	३२	९ जती हणवंत	८९
४ गोपीचन्द्र	१८	१० नागा अरजन जी	३
५ जलंध्री पाव	९	११ महादेव जी	१०
६ हाली पाव	५	१२ पारबती जी	६

'ख' प्रति अर्थात् नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के आर्यभाषापुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तक सं० १४०८ से संगृहीत 'सिद्धों' की सूची (इस प्रति का लिपिकाल सं० १८३६ वि० है।) :—

सिद्ध नाम	पद संख्या	सिद्ध नाम	पद संख्या
१ मछेन्द्र जी का पद	१	१४ चौरंगीनाथ	४
२ गोरखनाथ	१८३	१५ सिध घोड़ा चोली	१५
३ चरपटनाथ	५८	१६ सिघ हरताली	६
४ भरथरी	३७	१७ हालीपाव	७
५ हणवंत	१	१८ मीडकी पाव	७
६ वाल गुन्दाई	२	१९ चुणकर नाथ	४

पद नाम	सिद्ध संख्या	पद नाम	सिद्ध संख्या
७ सिध गरीब जी	६	२० अजैपाल	१०
८ देवल जी	५	२१ पारवती जी	६
९ दत्त जी	१७	२२ महादेव जी	१५
१० गोपीचन्द जी	३५	२३ हणवंत जी	६
११ जलंध्री पाव	६	२४ सती काणेरी	६
१२ बालनाथ	६	२५ पृथ्वीनाथ	११८
१३ घूंघलीमल	१४		

'ग' प्रति अर्थात् नागरीप्रचारिणी सभा काशी के आर्यभाषापुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तक नं० ८७३ से संगृहीत सिद्धों की और उनकी रचनाओं की सूची (इस प्रति का लिपिकाल १८५५-५६ वि० है।) :—

सिद्ध नाम	सिद्ध नाम
१ ग्रंथ गोरख बोध	२४ जलंधरी पाव जी की सबदी
२ दत्तात्रे गोरख संवाद	२५ पृथ्वीनाथ जी की सबदी
३ गोरख गणेश गुष्टि	२६ चौरंगी नाथ जी की सबदी
४ ग्रंथ ज्ञान तिलक	२७ काणेरी पाव जी की सबदी
५ ग्रंथ अभैमातरा	२८ हालीपाव जी की सबदी
६ ग्रंथ बतीस लछन	२९ मीडकी पाव जी की सबदी
७ ग्रंथ सिष्टि पुराण	३० हणवंतजी की सबदी
८ चौबीस सिध्या	३१ नागा अरजन जी की सबदी
९ आतमाबोध ग्रंथ	३२ सिद्ध हरताली जी की सबदी
१० ग्रंथ षड़ाछिरी	३३ सिद्ध गरीब
११ रहरासि ग्रंथ (दयाबोध)	३४ घूंघली मल
१२ ग्रंथ गिनांन माला	३५ रामचन्द्रजी
१३ ग्रंथ रोमावली पंचमासरा	३६ बाल गुंदाई जी
१४ ग्रंथ पंच अग्नि, तिथजोग ग्रंथ	३७ घोड़ाचोली
१५ ग्रंथ सतबार, सप्तबार नौग्रह	३८ अजयपाल
१६ ग्रंथ आतमबोध	३९ चौंणकनाथ
१७ ग्रंथ शिष्यादरसण	४० देवलनाथ
१८ ग्रंथ अष्टमुद्रा	४१ महादेवजी
१९ ग्रंथ अष्टचक्र	४२ पार्वती जी
२० ग्रंथ रामबोध	४३ सिद्ध माली पाव

सिद्ध नाम

२१ भरथरी जी की सबदी

२२ गोपीचन्द जी की सबदी

२३ चिरपट जी की सबदी

सिद्ध नाम

४४ शुकलहंस जी

४५ दत्तात्रेजी

इन तीन प्रतियों में पाई जानेवाली रचनाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से प्राप्त रचनाएँ भी प्रस्तुत संग्रह में संकलित हुई हैं। सबसे मनोरंजक और महत्वपूर्ण रचना चौरंगीनाथ की प्राण-संकली है, जो पिंडी के जैन-भण्डार में सुरक्षित एक प्रति से ली गई है। कुछ रचनाएँ काद्रि-मठाधीश श्री श्री चमेली नाथ जी महाराज की कृपा से प्राप्त हुई हैं। कई अन्य मित्रों ने भी कुछ रचनाएँ भेजी हैं। जोधपुर के डा० सोमनाथ जी ने वहाँ की दर्बारलाइब्रेरी से मत्स्येंद्रनाथ जी की कुछ रचनाएँ उद्घृत करके भेजी हैं। मित्रों की भेजी हुई रचनाओं को मैंने संग्रह में स्थान देने योग्य नहीं समझा, क्यों कि वैसे तो इस संग्रह की अनेक रचनाओं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है, परंतु मैंने जिन रचनाओं को छोड़ दिया है, उनकी अप्रामाणिकता सन्देह से परे है। इस प्रकार अनेक मित्रों की कृपा से यह संग्रह प्रस्तुत किया जा सका है।

गोरखनाथ का समय

मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ के समय के बारे में इस देश में अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार की बातें कही हैं। वस्तुत: इनके और इनके समसामयिक सिद्ध जालंधर नाथ और कृष्णपाद के सम्बन्ध में इस देश में अनेक दंतकथाएँ प्रचलित है। मैंने कुछ का संग्रह 'नाथ-संप्रदाय' नामक अपनी पुस्तक में किया है (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से सन् १९५० में प्रकाशित)। उन कथाओं को फिर से यहाँ दुहराना अनावश्यक है, पर उनके अध्ययन से और अन्य प्रामाणिक वृत्तों के आधार पर मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा, उसे यहाँ दे देना आवश्यक है। गोरखनाथ और मत्स्येंद्रनाथ विषयक समस्त कहानियों के अनुशीलन से कई बातें स्पष्ट रूप से जानी जा सकती हैं। प्रथम यह कि मत्स्येंद्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे; दूसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु थे और जालंधरनाथ कानुपा या कृष्णपाद के गुरु थे; तीसरी यह कि मत्स्येंद्रनाथ कभी योग-मार्ग के प्रवर्तक थे, फिर संयोगवश एक ऐसे आचार में सम्मिलित हो गए थे, जिसमें स्त्रियों के साथ अबाध संसर्ग मुख्य बात थी—संभवत: यह वामाचारी साधना थी;—चौथी यह कि शुरू से ही जालंधरनाथ और कानिपा की साधना-पद्धति मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ की साधना-पद्धति से भिन्न थी। यह स्पष्ट है कि किसी एक का समय भी मालूम हो तो बाकी कई सिद्धों के समय का पता

आसानी से लग जायगा। समय मालूम करने के लिए कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। एक-एक करके हम उन पर विचार करें।

(१) सबसे प्रथम तो मत्स्येंद्रनाथ द्वारा लिखित कौलज्ञान-निर्णय ग्रंथ (कलकत्ता संस्कृत सीरीज में डा० प्रबोधचंद्र बागची द्वारा १९३४ ई० में संपादित) का लिपिकाल मिश्रित रूप से सिद्ध कर देता है कि मत्स्येंद्रनाथ ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं।

(२) सुप्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने तंत्रालोक में मच्छंद विभु को नमस्कार किया है। ये 'मच्छंद विभु' मत्स्येंद्रनाथ ही हैं, यह भी निश्चित है। अभिनवगुप्त का समय निश्चित रूप से ज्ञात है। उन्होंने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा की बृहती वृत्ति सन् १०१५ ई० में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ९९१ ई० में की थी। इस प्रकार अभिनवगुप्त सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में और ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान थे। मत्स्येंद्रनाथ इससे पूर्व ही आविर्भूत हुए होंगे। जिस आदर और गौरव के साथ आचार्य अभिनव-गुप्तपाद ने उनका स्मरण किया है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके पर्याप्त पूर्ववर्ती होंगे।

(३) पंडित राहुल सांकृत्यायन ने गंगा के पुरातत्वांकि में ८४ वज्रयानी सिद्धों की सूची प्रकाशित कराई है। इसे देखने से मालूम होता है कि मीनपा नामक सिद्ध, जिन्हें तिब्बती परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ का पिता कहा गया है, पर जो वस्तुतः मत्स्येंद्रनाथ से अभिन्न हैं, राजा देवपाल के राज्यकाल में हुए थे। राजा देवपाल ८०९--८४९ ई० तक राज्य करते (चतुरशीति सिद्ध प्रवृत्ति, तन्जूर ८६।१। कार्डियर पृ० २४७) इससे यह सिद्ध होता है कि मत्स्येंद्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्य भाग में और अधिक से अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे।

(४) गोविंदचंद्र या गोपीचंद्र का संबंध जालंधरपाद से बताया जाता है। वे कानफा के शिष्य होने से जालंधरपाद की तीसरी पुश्त में पड़ते हैं। इधर तिरुमलय की शैललिपि से यह तथ्य उद्धार किया जा सका है कि दक्षिण के राजा राजेंद्र चोल ने मणिकचंद्र के पुत्र गोविंदचंद्र को पराजित किया था। बंगला में गोविंदचंद्रेर गान नाम से जो पोथी उपलब्ध हुई है, उसके अनुसार भी गोविंदचंद्र से किसी दाक्षिणात्य राजा का युद्ध वर्णित है। राजेंद्र चोल का समय १०६३ ई०--१११२ ई० है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गोविंदचंद्र ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान थे। यदि जालंधरपाद उनसे सौ वर्ष पूर्ववर्ती हों तो भी उनका समय दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में निश्चित होता है। मत्स्येंद्रनाथ का समय और भी

पहले निश्चित हो चुका है। जालंधरपाद उनके समसामयिक थे, इस प्रकार अनेक कष्ट-कल्पना के बाद भी इस बात से पूववर्ती प्रमाणों की अच्छी संगति नहीं बैठती।

(५) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा (कानिपा, कानिफा, कान्हूपा) ने स्वयं अपने गानों में जालंधरपाद का नाम लिया है। तिब्बती परंपरा के अनुसार ये भी राजा देवपाल (८०९--८४९ ई०) के समकालीन थे। इस प्रकार जालंधरपाद का समय इनसे कुछ पूर्व ठहरता है।

(६) कन्थड़ी नामक एक सिद्ध के साथ गोरक्षनाथ का संबंध बताया जाता है। प्रबंधचिन्तामणि में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिवमंदिर बनवाया था। सोमनाथ ने राजा के नित्य नियत वंदन-पूजन से सन्तुष्ट होकर अणहिल्लपुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरुष-प्रासाद नामक मंदिर बनवाया। उसका प्रबंधक होने के लिये राजा ने कंथड़ी नामक शैव सिद्ध से प्रार्थना की। जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया, उस समय सिद्ध को बुखार था, पर अपने बुखार को उसने कंथा में संक्रमित कर दिया। कंथा कांपने लगी। राजा ने कारण पूछा तो उसने बताया कि उसीने कंथा में ज्वर संक्रमिक कर दिया है। बड़े छल-बल से उस निःस्पृह तपस्वी को राजा ने मंदिर का प्रबंधक बनवाया। कहानी के सिद्ध के सभी लक्षण नाथपंथी योगी के हैं। इसलिये यह कंथड़ी निश्चय ही गोरखनाथ के शिष्य ही होंगे। प्रबंध चिन्तामणि की सभी प्रतियों में लिखा है कि मूलराज ने संवत् ९९३ की आषाढ़ी पूर्णिमा को राज्यभार ग्रहण किया था। केवल एक प्रति में ९९ संवत् है। इस हिसाब से जो काल-अनुमान किया जा सकता है, वह पूर्ववर्ती प्रमाणों से निर्धारित तिथि के अनुकूल ही है। ये ही गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ का काल-निर्णय करने के ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक आधार हैं। परन्तु प्रायः दन्तकथाओं और साम्प्रदायिक परंपराओं के आधार पर भी काल-निर्णय का प्रयत्न किया जाता है। इन दन्तकथाओं से सम्बद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों का काल बहुत समय जाना हुआ रहता है। बहुत से ऐतिहासिक व्यक्ति गोरक्षनाथ के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। उनके समय की सहायता से भी गोरक्षनाथ के समय का अनुमान किया जा सकता है। ब्रिग्स ने ("गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज", कलकत्ता, १९३८) इन दन्तकथाओं पर अधारित काल को चार मोटे विभागों में इस प्रकार बांट लिया है :—

(१) कबीर, नानक आदि के साथ गोरक्षनाथ का संवाद हुआ था, इस पर दन्तकथाएं भी हैं और पुस्तकें भी लिखी गई है। यदि इनपर से गोरक्षनाथ का कालनिर्णय किया जाय, जैसा कि बहुत से पंडितों ने किया भी है, तो चौदहवीं शताब्दी के ईषत् पूर्व या मध्य में होगा। (२) गूगा की कहानी, पश्चिमी नाथों की अनु-

श्रुतियां, बंगाल की शैवपरम्परा और धर्मपूजा का संप्रदाय दक्षिण के पुरातत्व के प्रमाण, ज्ञानेश्वर की परंपरा आदि को प्रमाण माना जाय तो यह काल १२०० ई० के उधर ही जाता है। तेरहवीं शताब्दी में गोरखपुर का मठ ढहा दिया गया था, इसका ऐतिहासिक सबूत है। इसलिए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरखनाथ १२०० ई० के पहले हुए थे। इसकाल के कम से कम एक सौ वर्ष पहले तो यह काल होना ही चाहिए। (३) नेपाल के शैव-बौद्ध-परंपरा के नरेन्द्रदेव, उदयपुर के बाप्पाराव, उत्तर पश्चिम के रसालू और होदो, नेपाल के पूर्व में शंकराचार्य से भेंट आदि पर आधारित काल ८ वीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक के काल का निर्देश करते हैं। (४) कुछ परंपराएं इससे भी पूववर्ती तिथि की ओर संकेत करती हैं। ब्रिग्स दूसरी श्रेणी के प्रमाणों पर आधारित काल को उचित काल समझते हैं, पर साथ ही यह स्वीकार करते हैं कि यह अन्तिम निर्णय नहीं है। जब तक और कोई प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक वे गोरक्षनाथ के विषय में इतना ही कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ १२०० ई० से पूर्व, संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ में, पूर्वी बंगाल में प्रादुर्भूत हुए थे। परन्तु सब मिलाकर वे निश्चित रूप से जोर देकर कुछ नहीं कहते और जो काल बताते हैं, उसे क्यों अन्य प्रमाणों से अधिक युक्तसंगत माना जाय, यह भी नहीं बताते। मैंने नाथ संप्रदाय में दिखलाया है कि किस प्रकार गोरक्षनाथ के अनेक पूर्ववर्ती मत उनके द्वारा प्रवर्तित बारहपंथी संप्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गए थे। इन संप्रदायों के साथ उनकी अनेक अनुश्रुतियां और दन्तकथाएं भी संप्रदाय में प्रविष्ट हुई। इसीलिये अनुश्रुतियों के आधार पर ही विचार करनेवाले विद्वानों को कई प्रकार की परस्परविरोधी परंपराओं से टकराना पड़ता है।

परन्तु ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आदिप्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्य-भाग ही उचित जान पड़ता है। इस मार्ग में इसके पूववर्ती सिद्ध भी बाद में चलकर अन्तर्भुक्त हुए हैं और इसलिये गोरक्षनाथ के संबंध में ऐसी दर्जनों दन्तकथाएं चल पड़ी हैं, जिनको ऐतिहासिक तथ्य मान लेने पर तिथि-संबंधी झमेला खड़ा हो जाता है। हमने नाथ-संप्रदाय में इन दन्तकथाओं की चर्चा की है।

गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त-संप्रदाय थे, जो वेदबाह्य होने के कारण न हिंदू थे न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वंद्वी, धर्मसाधना-मूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिंदूसमाज में मिल गए और निरंतर अपनेको कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। वह प्रयत्न आज भी जारी रहे। उत्तर भारत में ऐसे अनेक संप्रदाय थे, जो वेदबाह्य होकर भी वेदसंमत योग - साधना या पौराणिक देव-देवियों

की उपासना किया करते थे। वे अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे, परंतु शैव या शाक्त नहीं थे, दूसरे (२) वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परंतु गोरक्षसंमत योगमार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्षसंमत मार्ग के नजदीक थे, उन्हें उन्होंने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाकी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से संप्रदाय आ गए, जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे, परंतु बाद में उन्हें गोरखनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परंपराएं लुप्त हो गईं तो उन पुराने संप्रदायों के मूल-प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद-समूह स्वयमेव परास्त हो जाता है, जो गोरखनाथ के कालनिर्णय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। इन तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वे कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं, कभी दसवीं, कभी ग्यारहवीं, और कभी-कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी।

संप्रदाय-भेद

गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित योगि-संप्रदाय नाना पंथों में विभक्त हो गया है। पंथों के अलग होने का कोई न कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है, उसपर से यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधनाविषयक या तत्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये संप्रदाय उत्पन्न हुए। इस सांप्रदायिक संघटन की इस समय जो व्यवस्था उपलभ्य है, उससे ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न संप्रदाय उनके थोड़े ही समय बाद और कुछ तो उनके जीवनकाल में ही उत्पन्न हो गए। भर्तृहरि उनके शिष्य बताए जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन थे, पूरनभगत या चौरंगीनाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताए जाते हैं, गोपीचंद उनके समसामयिक सिद्ध जालंधरनाथ के शिष्य थे। इन सबके नाम से संप्रदाय चला है। जालंधर नाथ उनके गुरु के सतीर्थ्य थे, उनका प्रवर्तित संप्रदाय भी गोरक्षानाथ के सम्प्रदाय के अंतर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती समसायिक और ईषत्परवर्ती जितने सिद्ध हुए, उन सबके प्रवर्तित संप्रदाय गोरक्षपंथ में शामिल हैं। वर्तमान नाथपंथ में जितने संप्रदाय हैं, वे मुख्य रूप से उन बारह पंथों से सम्बद्ध हैं, जिनमें आधे शिवजी के द्वारा प्रवर्तित कहे जाते हैं और आधे गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह (या अट्ठारह) सम्प्रदाय थे, जिन्हें गोरक्षनाथ ने नष्ट कर दिया। उन नष्ट किए जानेवालों में कुछ शिव जी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरक्षनाथ जी के। अर्थात् गोरक्षनाथ की जीवितावस्था में ही ऐसे बहुत से सम्प्रदाय थे, जो अपनेको उनका अनुवर्ती मानते थे और उन अनधिकारी

सम्प्रदायों का दावा इतना भ्रामक हो गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अठ्ठारह को तोड़ दिया। क्या यह सम्भव है कि कोई महान् गुरु अपने जीवित काल में ही अपने मार्ग को भिन्न-भिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और उनके मतभेदों को तो दूर न करे बल्कि उनकी विभिन्नता को स्वीकार कर ले ? इस प्रकार की अनुश्रुति की कोइ ऐतिहासिक व्याख्या क्या सम्भव है ?

योगियों के इस विश्वास से मिलता-जुलता एक विश्वास सूफ़ी साधकों में भी प्रचलित है। अबुल हसन नूरी ने कशफुल महजूब (लाहौर, १९२३) में लिखा है कि सूफ़ियों के बारह संप्रदाय थे, जिनमें से दो को स्वयं परमात्मा ने तोड़ दिया और सिर्फ दस संप्रदायों को मान्यता दी। इस वक्तव्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथ-योगियों का विश्वास काफी पुराना है और उससे दूसरी साधना के लोग भी प्रवाहित हुए हैं।

गोरक्षनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ था, वह काल भारतीय धर्मसाधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध साधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दशवीं शताब्दी में यद्यपि ब्राह्मण-धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा समुदाय ऐसा था, जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था। यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय, परंतु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त संप्रदाय उन दिनों वर्तमान थे, जो वेदाचार को अत्यंत निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण-प्राधान्य एकदम नहीं स्वीकार करते थे।

संक्षेप में देखा जाय कि किस प्रकार मुख्य पंथों का संबंध शिव और गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित पुराने संप्रदाओं के साथ स्थापित किया जाता है। नीचे ब्यौरा उसी संबंध को बताने के लिये दिया जा रहा है। इसे तैयार करने में मुख्य रूप से ब्रिग्स की पुस्तक 'गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज़' का सहारा लिया गया है। परंतु अन्य मूलों से प्राप्त जानकारियों को भी स्थान दिया गया है।

(१) शिव के द्वारा प्रवर्तित प्रथम संप्रदाय भुज के कण्ठरनाथी लोगों का है। कण्ठरनाथ के साथ अन्य किसी शाखा का संबंध नहीं खोजा जा सका है।

(२) और (३) शिव द्वारा प्रवर्तित पागलनाथ और रावल संप्रदाय परस्पर बहुत मिश्रित हो गए हैं। ध्यान देने की बात है कि गोरखपुर में सुनी हुई परंपरा के अनुसार पागलनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक पूरनभगत या चौरंगीनाथ हैं। ये राजा रसालू के वैमात्रेय भाई माने जाते हैं। ज्वालामुखी के माननाथ राजा रसालू के अनुयायी बताए जाते हैं, इसलिये कभी कभी माननाथ और उनके अनुवर्ती अर्जुन नागा

या अरजगंगा को भी पागलपंथी मान लिया जाता है, वस्तुतः अरजगंगा नागार्जुन का नामान्तर है। फिर अफगानिस्तान के रावल–जो मुसलमान योगी हैं—दो संप्रदायों को अपने मत का मानते हैं—(१) मादिया और (२) गल। गल को ही पागलपंथी कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों शाखाओं से पागलपंथ का संबंध स्थापित होता है। इन लोगों को रावल गल्ला भी कहते हैं। इनका मुख्य स्थान रावलपिंडी में है–जो एक परंपरा के अनुसार पूरनभगत और राजा रसालू के प्रतापी पिता गज की पुरानी राजधानी थी। गजनी के पुराने शासक भी ये ही थे और गजनी नाम भी इनके नाम पर ही पड़ा था। गजनी का पुराना हिंदू नाम 'गजवनी' (?) था। बाद में गज ने स्यालकोट को अपनी राजधानी बनाया था। रावलों का स्थान पेशावर, रोहतक और सुदूर अफगानिस्तान तक में है।

(४) पंख या पंक से निम्नलिखित संप्रदाय संबद्ध माने जा सकते हैं—

१—मतनाथ या मत्यनाथी जिनकी प्रधान गद्दी पुरी में और जिनके अन्य स्थान मेवा थानेश्वर और करनाल में हैं। ये ब्रह्मा के अनुवर्ती कहे जाते हैं।

२—धर्मनाथ—जो कोई राजा थे और बाद में योगी हो गये थे।

३—गरीबनाथ जो धर्मनाथ के साथ ही कच्छ गए थे।

४—हाड़ीभरंग (?)

(५) शिव के पाँचवे संप्रदाय मारवाड़ के 'बन' से किसी शाखा का कोई संबंध नहीं मालूम हो सका।

(६) गोपाल या राम के।

१—संतोषनाथ—ये ही संभवतः इसके मूल प्रवर्तक हों, कौलावलीनिर्णय और श्यामारहस्य के मानव-गुरुओं में मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि के साथ इनका भी नाम है।

२—जोधपुर के दास; इनसे गोपालनाथियों का संबंध बताया जाता है।

(७) चाँदनाथ कपिलानी—

१—गंगानाथ

२—कायानाथ (परन्तु, आगे देखिए)

३—कपिलानी—अजयपाल द्वारा प्रवर्तित

४—नीमनाथ } दोनों जैन हैं।

५—पारसनाथ }

(८) हेठनाथ—

१—लक्ष्मणनाथ। कहते हैं—ये ही प्रसिद्ध योगी बालानाथ थे। (योग प्रवाह पृ० १८६) इसकी दो शाखाएँ हैं।

२—दरियापंथ—हरद्वार के चंद्रनाथ योगी ने इनको नाटेश्वरी (नाटेसरी) संप्रदाय का माना है और अलग स्वतंत्र पंथ होने में संदेह उपस्थित किया है। परन्तु टिला में उद्भूत स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में भी इसकी ख्याति है दरियापंथी साधु क्वेटा और अफगानिस्तान तक में हैं।

३—नाटेसरी—अंबाला और करनाल के हेठ तथा करनाल के बाल जाति वाले इसी शाखा के हैं।

कुछ लोग कहते हैं, रांझा इसी संप्रदाय में थे। डा० बड़थ्वाल के मत से बालानाथ ही बालयती थे, इसलिए उन्हें ही लक्ष्मणनाथ कहते हैं। पंजाब में बाबानाथ का टीला प्रसिद्ध है।

४—जाफर पीर—अपने को ये लोग रांझा और बालकेश्वरनाथ के अनुयायी (या संबद्ध) मानते हैं, इसलिए इनका संबंध नाटेसरी संप्रदाय से जोड़ा भी जा सकता है। कभी-कभी इनका संबंध संतोषनाथ से जोड़ा जाता है। लोग अधिकांश मुसलमान हैं।

(६) आई पंथ के चोलीनाथ—हठयोगप्रदीपिका के घोड़ाचूली सिद्ध से इस संप्रदाय का संबंध होना संभव है। घोड़ाचूली परंपरा के अनुसार गोरखनाथ के गुरु-भाई थे। इनकी कुछ हिंदी रचनाएँ भी मिली हैं।

१—आई पंथ का संबंध करकाई और भूटाई दोनों से बताया जाता है। पागलबाबा के मत से करकाई ने ही आई पंथ का प्रवर्तन किया था। ये दोनों गोरक्षनाथ के शिष्य थे। हरद्वार के आईपंथी अपने को पीर पारसनाथ का अनुयायी बताते हैं। आई देवी (माता) की पूजा करने के कारण ये लोग आईपंथी कहलाए। ये लोग गोरक्षनाथ की शिष्या विमला देवी को अपनी मूल प्रवर्तिका मानते हैं। पहले ये लोग नाम के आगे आई जोड़ा करते थे, नाथ नहीं। पर नरभाई के शिष्य मस्तनाथ जी के बाद ये लोग भी अपने नाम के आगे 'नाथ' जोड़ने लगे।

२—मस्तनाथ—ये लोग 'बाबा' कहे जाते हैं। गलती से कभी 'बाबा' अलग संप्रदाय मान लिया जाता है।

३—आई पंथ (?)

४—बड़ी दरगाह
५—छोटी दरगाह } दोनों ही मस्तनाथ के शिष्य हैं। बड़ी वाले मांस मदिरा नहीं सेवन करते, छोटी वाले करते हैं।

(१०) वैराग पंथ, रतननाथ

१—वैराग पंथ—भरथरी (भर्तृहरि) द्वारा प्रवर्तित

२—माईनाथ (?) एक अनुश्रुति के अनुसार माईनाथ—जो अनाथ बालक थे और मेवों द्वारा पाले पोसे गए थे—भरथरी के अनुयायी थे।

३—प्रेमनाथ

४—रतननाथ—भर्तृहरि के शिष्य। पेशावर के रतननाथ ने जो बाह्य मुद्रा नहीं धारण करते थे, कभी टोके जाने पर छाती खोल के मुद्रा दिखा दी थी—ऐसी प्रसिद्ध है। दरियानाथ से भी इनका संबंध बताया जाता है। मुसलमान योगियों में इनका बड़ा मान है। इनके नाम से संबद्ध तीर्थ काबुल और जलालाबाद में भी हैं।

५—कायानाथ या कायमुद्दीन—कायानाथ के शरीर के मल से बना हुआ बालक कायानाथ बाद में चलकर सिद्ध और सम्प्रदाय-प्रवर्तक हुआ।

(११) जैपुर के पावनाथ—

१—जालंधरिपा

२—पा-पंथ (?)

३—कानिपा—गोपीचंद्र इसी शाखा के सिद्ध है। गोपीचंद्र का नाम सिद्ध-संगरी है। सँपेरे इनको अपना गुरु मानते हैं।

४—वामाराग (?)

(१२) धजनाथ—

१—धजनाथ महावीर हनुमान् के अनुयायी बताए जाते हैं। प्रसिद्धि है कि सिंहल में जब मत्स्येंद्रनाथ भोगरत थे, उस समय उनका उद्धार करने गोरखनाथ गए थे। उनसे हनुमान् की लड़ाई हुई थी। बाद में हनुमान् को उनका प्रभाव मानना पड़ा था। चौदहवीं शताब्दी के मैथिल ग्रंथ वर्णरत्नाकर में सिद्धों की सूची में 'धज' नामधारी दो सिद्धों का उल्लेख हैं। विविकिधज और मकरधज। प्रसिद्धि है कि मकरध्वज हनुमान् के पुत्र थे। सम्भवतः विविकिधज और मकरधज इस पंथ से सम्बंध हों। कहते हैं इनका स्थान सिंहल या सीलोन में है। परंतु यह भूल है। आगे देखिए। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि हनुमंत वस्तुतः वक्रनाथ नामक योगी का ही नामांतर है।

ऊपर इन योगियों के मुख्य मुख्य स्थानों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः सारे भारतवर्ष में इनके मठ और अखाड़े हैं। अंगना (उदयपुर) आदि (बंगाल), कादिमठ (कर्नाटक), गंभीरमठ (पूना), गरीबनाथ का टिला (सारमौर स्टेट),

गोरक्षक्षेत्र (गिरनार), गोरखवंशी (दमदम, बंगाल), चंद्रनाथ (बंगाल) चंचुल-गिरिमठ (मद्रास प्रांत) त्र्यम्बक मठ (नासिक), नीलकंठ महादेव (आगरा), नोहरमठ (बीकानेर), पंचमुखी महादेव (आगरा), पाराधुनी (बम्बई), पीर सोहर (जम्मू), बत्तीस सराला (सतारा), भर्तृगुफा (ग्वालियर), भर्तृगुफा (गिरनार), मंगलेश्वर (आगरा), महानादमंदिर (बर्दवान, बंगाल), महामंदिर-मठ (जोधपुर), योगिगुहा (दिनाजपुर), योगिभवन (बगुड़ा, बंगाल), योगिमठ (मेदिनीपुर), हांड़ीभरंगनाथ का मंदिर (मैसूर), हिंगुआमठ (जैपुर) आदि इनके मठ हैं, जो समूचे भारतवर्ष में फैले हुए हैं। यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पंथ का जो मुख्य स्थान है, उसके अतिरिक्त और कोई स्थान उनके लिये आदरणीय नहीं है। वस्तुतः सभी पंथ सब स्थानों का सम्मान करते हैं, ऊपर के विवरण से निम्न-लिखित पंथों का प्रसार जाना जाता है।

ध्यान से देखा जाय तो गोरक्षनाथ के प्रवर्तित सम्प्रदायों में कई नाम परि-चित और पुराने हैं। कपिलानी अपना सम्बंध कपिलमुनि से बताते हैं और इनका मुख्य स्थान गंगासागर में है, जहाँ कपिलमुनि का आश्रम था। कपिलमुनि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य और योग का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भागवत में कपिलमुनि योग और वैराग्य के उपदेष्टा के रूप में प्रसिद्ध है। सांख्यशास्त्र को निरीश्वर योग कहते हैं और योगदर्शन को सेश्वर सांख्य। ऐसा जान पड़ता है कि कपिलमुनि के अनुयायी जो वैष्णव योगी थे, गोरक्षनाथ के मार्ग में बाद में आ मिले थे। चांद-नाथ सम्भवतः वह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होंने गोरक्षनाथ को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नागनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैनसाधना में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे। उनका यह सम्प्रदाय गोरक्षनाथ योगियों में अन्तर्भुक्त हुआ है। कहना व्यर्थ है कि जैनमत वेद और ब्राह्मण की प्रधानता नहीं मानता। भरथरी के वैरागपंथ पर आगे विचार किया जा रहा है। पावनाथ के जालंधरपाद सम्भवतः वज्रयानी सिद्ध थे। उनकी जितनी पोथियाँ मिली हैं, वे सभी वज्रमान की हैं और उनके शिष्य कृष्णपाद ने अपने को स्वयं कापालिक कहा है। उनके दोहा कोष की मेखला टीका से उस कापालिक साधना का परिचय मिलता है। कापालिक का अर्थ सब समय शैव कापालिक ही नहीं होता। परंतु कान्हूपाद के भजनों और दोहों में कायायोग या हठयोग का पूर्व रूप अवश्य मिल जाता है, जो हो, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा सम्प्रदाय बौद्ध वज्र-यान से सम्बद्ध था। धजनाथ के विषय में आगे विचार किया जा रहा है। ये सभी पंथ भिन्न-भिन्न धर्म-साधनाओं से सम्बद्ध होने पर भी योगमार्गी अवश्य थे।

नाथ संप्रदाय

शिव (आदिनाथ)

- मत्स्येंद्रनाथ
  - गोरखनाथ
    - हेठनाथ
      - लक्ष्मणनाथ
    - कारकाई (आईपंथ)
      - मस्तनाथ
        - दरियापंथ
      - भाईपंथ
        - नाटेसरी
          - रांभा
            - संतोषनाथ
              - जाफरपीर
      - बड़ी दरगाह
      - छोटी दरगाह
    - चाँदनाथ
      - कपिलानी
      - गंगानाथी
      - कायानाथी
      - नीमनाथी
      - पारसनाथी
    - वैरागनाथ
      - भरथरी
        - भाईनाथ
        - रतननाथ
          - कायानाथ
        - प्रेमनाथ
    - पावनाथ
      - जालंधरिया
        - कानिपा
          - सिद्धसांगरी (सर्पेलिया)
        - कालवेलिय
        - वामारंग (?)
    - धजनाथ
- कंठरनाथ
- पागलनाथ
  - गल
    - राजारसालू
      - माननाथ (?)
        - अरजननंगा (?) (रावल)
- रावल (नागनाथ)
  - मादिया
- पंख
  - सतनाथ
  - धर्मनाथ
- वन
- गोपाल या राम के
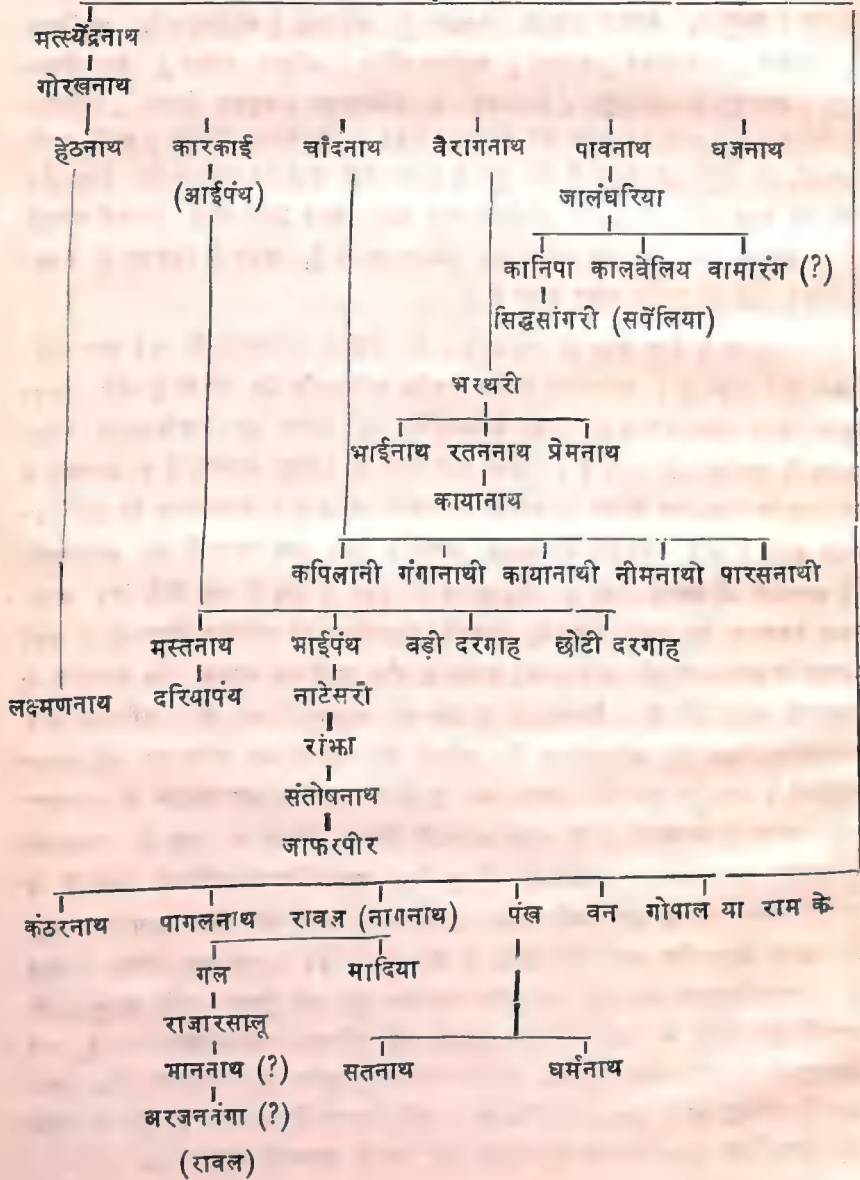
आई पंथ वाले विमलादेवी के अनुयायी माने जाते हैं। आई अर्थात् माता। ये लोग अपने नाम के सामने नाथ नाम जोड़कर आई जोड़ा करते थे। करकाई और भूष्टाई का वस्तुतः नाथपंथी नाम कर्कनाथ और भूष्टनाथ (शंभुनाथ ?) होना चाहिए। माता की पूजा देखकर अनुमान होता है कि ये किसी शाक्त मत से गोरक्षनाथ के योगमार्ग में अन्तर्भुक्त होंगे। विमलादेवी गोरक्षनाथ की शिष्यता बताई जाती है, परंतु नित्याह्निकतिलक में एक महाप्रभावशालिनी सिद्धा विमलादेवी का नाम है, जो मत्स्येन्द्रनाथ की मतानुवर्तिनी रही होंगी। उन्होंने गोरक्षनाथ से दीक्षा भी ली हो तो आश्चर्य नहीं। हस्तिनापुर में कोई वैश्य जाति के सेठ थे, नाम था शिवगण। उनकी पुत्री का नाम विवदेवी था। गुप्तनाम श्री गुप्तदेवी था। एकबार भेरी के शब्द से इन्होंने बौद्धों को वित्रासित किया। तब से इनकी कीर्ति का नाम बौद्धत्रासिनी (बोधत्रासनी) माता पड़ गया। जब उनका जन्म हुआ तो स्त्री रुप में उत्पन्न हुई थीं, पर अधिकार-काल में पुरुष मुद्रा में दिखीं और बलपूर्वक अधिकार दखल किया। परंतु पशु लोग (पाखंडी) उन्हें स्त्री रुप में ही देखते थे। इनके दस नाम हैं—

> विमला च शिखा चैव त्रिवेदी (च) सुशोभना,
> नागकन्या कुमारी वंधारणी पयोधारणी,
> रक्षाभद्रा समाख्याता देव्या नामानि वै दश,
> नामान्येतानि यो वेत्ति सोपि कौलाह्नो (ह्वयो ?) भवेत् ॥

यह कह सकना कठिन है कि यही विमलादेवी आईपंथ की पूजनीया विमलादेवी हैं या नहीं।

स्पष्ट ही, गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले पंथों में पुराने सांख्य योगवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त सभी हैं। सब की एकमात्र सामान्यधर्मिता योगमार्ग है।

शिव के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती होने चाहिएँ। इन्हें स्वीकार करके भी गोरक्षनाथ ने जब अपने नाम से इन्हें नहीं चलाया तो कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। मेरा अनुमान है कि ये लोग मंत्र-तंत्र तो करते होंगे, पर हठयोग की सिद्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते होंगे। यह लक्ष्य करने की बात है कि शिव द्वारा प्रवर्तित कहे जानेवाले सम्प्रदायों का प्रसार अधिकतर काश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पेशावर और अफगानिस्तान में है, जहाँ अत्यन्त प्राचीनकाल से शैवमत प्रबल था। ज्ञान की वर्तमान अवस्था में इससे कुछ अधिक कहना सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत संग्रह के सिद्ध

इस संग्रह में निम्नलिखित नाथ सिद्धों की बनियां संगृहोत हुई हैं।

(१) अजयपाल जी
(२) काणेरी (सती, पाव)
(३) गरीबजी
(४) गोपीचन्द्र जी
(५) घोड़ाचोली
(६) चरपटनाथ
(७) चौरंगीनाथ
(८) चौणकनाथ (चुणकर नाथ)
(९) जलन्ध्री पाव
(१०) दत्त जी (दतात्रेय)
(११) देवल जी
(१२) धूंधलीमल जी
(१३) नागाअर्जन जी
(१४) पार्वती जी
(१५) पृथ्वीनाथ जी
(१६) बालनाथ जी
(१७) बालगुन्दाई
(१८) भरथरी
(१९) मच्छेन्द्र नाथ जी
(२०) महादेव जी
(२१) रामचन्द्र जी
(२२) लषमण जी
(२३) सतवंती जी
(२४) सुकुल हंस जी
(२४) हणवन्तजी

इनमें महादेव-पार्वती और रामचन्द्र जी के नाम से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह कहना कठिन है। इन पदों में किसी सिद्ध ने इन देवताओं के उपदेश देशी भाषा में लिख लिए होंगे, शेष में से कुछ का पता विविध स्रोतों से चल जाता है। कुछ सिद्धों के बारे में बहुत-कुछ निश्चय रुप से कहा जा सकता है कि वे गोरखनाथ के समसमायिक रहे होंगे। मच्छिंद्र नाथ तो उनके गुरु ही थे, शेष में से चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चुणकरनाथ और चरपटीनाथ के बारे में जो सूचना प्राप्त है, उनके आधार पर इन्हें गोरखनाथ का समसामयिक या थोड़ा परवर्ती माना जा सकता है।

(१) **चौरंगीनाथ**—तिब्बती परंपरा में ये गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए हैं। इस संग्रह में उनकी 'प्राण-संकली' नामक रचना प्रकाशित की जा रही है। इससे पता चलता है कि ये राजा सालवाहन के पुत्र मच्छिन्द्रनाथ के शिष्य और गोरखनाथ के गुरुभाई थे। यह भी पता चलता है कि इनकी विमाता ने इनके हाथ पैर कटवा दिए थे। पंजाब की लोककथाओं के पूरनभगत से अभिन्न माने जाते हैं। चौरंगीनाथ की प्राणसंकली की भाषा आरंभ में पूर्वी है, जो बाद में चलकर राजस्थानी-मिश्रित हो जाती है। इस पद से अनुमान किया जा सकता है कि वे पूर्वी प्रदेश के रहनेवाले थे। पूरनभगत की कथा से इनके जीवन की घटनाओं का साम्य देखकर कदाचित् दोनों को एक समझ लिया गया हो।

(२) **नागार्जुन**—महायान के मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से यह भिन्न थे। अल-बेरूनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उनसे लगभग सौ वर्ष पहले वर्तमान थे। साधन-माला में ये कई साधनाओं के प्रवर्तक माने गए हैं। इन साधनाओं से ये शवरपाद और कृष्णाचार्य के समसामयिक सिद्ध होते हैं। प्रबंध चिंतामणि में पादलिप्त सूरि के शिष्य एक नागार्जुन की कथा है। यह कहना कठिन है कि ये नागार्जुन नाथ सिद्ध नागार्जुन से अभिन्न थे या नहीं। परवर्ती हिंदी पुस्तकों में नागाअरजंद और नागा-अर्जन नाम से इन्हीं का उल्लेख है। ऐसा जान पड़ता है कि नाथ सिद्ध नागार्जुन गोरखनाथ के थोड़े ही बाद हुए थे। नागनाथ नाम के सिद्ध बारहवीं शताब्दी में हुए हैं। कभी कभी नागार्जन और नागनाथ को एक ही मान लिया गया है।

(३) **चुणाकरनाथ**—डा० बड़थ्वाल ने इन्हें गोरखनाथ का समसामयिक और चरपटनाथ का पूर्ववर्ती सिद्ध माना है (योग प्रवाह पृ० ७२)।

(४) **चरपट या चरपटीनाथ**—ये गोरखनाथ से थोड़ा परवर्ती जान पड़ते हैं। वज्रयानी सिद्धों में भी इनका नाम आता है। तिब्बती परंपरा में इन्हें मीनपा का गुरु माना गया है। नाथपरंपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य कहा जाता है। इनके नाम से प्रचलित बानियों में रस-विषयक इनके ज्ञान का पता चलता है। एक पद में इन्होंने अपने को गोपीचंद का गुरुभाई कहा है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि आरंभ में ये रसेश्वर-संप्रदाय में थे और बाद में गोरखनाथ के प्रभाव में आ गए।

काणेरी—इस संग्रह में काणेरी के कई पद हैं, कुछ लोग कानफा और काणेरी को एक ही सिद्ध मानते हैं। योगि-संप्रदाय विष्कृति में कृष्णपाद को ही कर्णरिपा या काणेरीनाथ कहा गया है। किंतु प्रेमदास ने अपनी सिद्धवंदना में इन दोनों को अलग-अलग सिद्ध समझा है। जान पड़ता है काणेरी के दीर्घ ईकारांत रुप को देख-कर परवर्ती काल में इन्हें स्त्रीसिद्ध मान लिया गया है। इनके नाम से पाए जाने वाले पद एक प्रति में सती काणेरी के नाम से मिलता है तो दूसरी प्रति में काणेरी पाव के नाम से कृष्णपाद, कान्हूपा, कानफा आदि नामों को मैंने एक ही माना है और उनके विषय में नाथ संप्रदाय नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा है। ये जालंधर पाद के शिष्य थे और गोरक्षनाथ के समसामयिक थे। चर्यापदों में इनके नाम मिलते हैं और उन्होंने स्वयं अपने को कापालिक कहा है। वर्तमान नाथ-पंथ में इनके नाम का एक उपसंप्रदाय (वामारग, वाममार्ग) आज भी जीवित है, परंतु उसे ओघड़ संप्रदाय ही माना जाता है। इनके दोहों का एक संग्रह दोहाकोष नाम से हरप्रसाद शास्त्री ने छपाया था, उस पर मेखला नामक संस्कृत टीका भी मिलती है, जो संभवतः इनकी शिष्या मेखला की लिखी हुई है।

जालंधरीपाव—(जलंध्रीपाव) ये उपर्युक्त सिद्ध कृष्णपाद के गुरु थे। ऊपर इनकी चर्चा हो चुकी है। नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ये वर्तमान थे। राजा गोपीचंद्र की माता मयनामती इनकी शिष्या थीं। माता के कहने से ही राजा गोपीचंद्र ने इनसे दीक्षा ली थी।

गोपीचन्द्र—गोपीचन्द्र या राजा गोविन्दचन्द्र जालंधर के नाथ के शिष्य बताए जाते हैं। माता के उपदेश से इन्होंने अपनी दो सुन्दरी रानियों—उदुना और पुदुना (उदयिनी और पद्मिनी)—को छोड़कर वैराग्य लिया था। रानि ने इन्हें फिर से गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का आग्रह किया था, परंतु ये वैराग्य में दृढ़ रहे। गोपीयंत्र या सारंगी के ये ही आविष्कर्ता माने जाते हैं।

भरथरी—भर्तृहरि का प्राकृत रूप है। भर्तृहरि संस्कृत साहित्य में बहुत परिचित है। उनके तीन शतक काव्य-मर्मज्ञों के हृदय-हार बने हुए हैं। वाक्यपदीय नामक व्याकरण ग्रंथ के भी ये रचयिता माने जाते हैं। सम्भवतः ये सन् ईस्वी की सातवीं शती के पूर्व वर्तमान थे, क्योंकि इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने जो ६७८-६९५ ई० तक बौद्ध देशों का भ्रमण करता रहा, इनके नाम और ग्रंथों से परिचित था। ह्वेनत्सांग ने भी इनकी चर्चा की है और इन्हें बौद्ध बताया है। परंतु इनके ग्रंथों को देखने से ये शैव ही जान पड़ते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी की लोकभाषा के अन्य कवियों के लिखे हुए जो नमूने प्राप्त हैं, उनसे मिलान करने पर प्रस्तुत संग्रह में भरथरी के नाम से संगृहीत पदों की भाषा आर्वाचीन मालूम होती है। जान पड़ता है कि भर्तृहरि ने लोकभाषा में कुछ पद लिखे थे, जिनकी भाषा क्रमशः बदलती गई। नाथमार्ग में अनेक पुराने सम्प्रदायों के अंतर्भुक्त हो जाने के बाद भर्तृहरि के ये पद भी नाथसिद्धों के संग्रहों में गृहीत हो गए, पर उनकी भाषा बहुत बदल गई। हमारे संग्रह में उनका जो रूप उपलब्ध है, वह पन्द्रह शताब्दी के पहले का नहीं हो सकता।

वैराग्यशतक के कई श्लोक अत्यंत भ्रष्ट रूप से संगृहीत हैं। इनके भ्रष्ट रूप को देखकर कदाचित् भाषा-विशेषज्ञों को कोई नयी बात सूझ जाय, इस आशा से उन्हें ज्यों का त्यों संग्रह कर दिया गया है।

अजयपाल—(अजैपाल) डा० बड़थ्वाल ने इन्हें गढ़वाल का राजा माना है। इनकी रचनाओं में 'दीवान' पद मुसलिम दरबार के दीवानों की याद दिलाता है। 'तम्बा' (तम्बू कैम्प) भी इस अनुमान की पुष्टि करता है कि वे मुसलिम काल में ही पैदा हुए थे। पं० हरिकृष्ण रतूड़ी का मत है कि राजा अजयपाल ने ही राज-राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनों मंदिरों की स्थापना सम्वत् १५१२ के लगभग की, जब राजधानी चांदपुर से हटाकर देवलगढ़ में स्थापित हुई (योग प्रवाह पृ० २०२) इस प्रकार अजयपाल का समय पन्द्रहवीं शताब्दी में होना चाहिए। बड़थ्वाल जी का

कहना है कि ये राजा थे, इसका एक प्रमाण यह है कि नाथसिद्धों में सिर्फ तीन ऐसे हैं, जिन्हें नाथ या पाव जैसे आदरार्थक विशेषण सहित नहीं स्मरण किया गया। भरथरी, गोपीचंद और अजैपाल। प्रथम दो राजा थे, इसलिये ये भी राजा रहे होंगे। परंतु इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भरथरी, और गोपीचंद को स्पष्ट रूप से राजा कहा गया है, उस प्रकार अजैपाल को नहीं कहा गया, बल्कि 'बाबा अजयपाल' कहा गया है। इसलिये उनका राजा होना निश्चित नहीं है। मुझे बड़थ्वाल जी के मत में विशेष सार नहीं दिखाता, किंतु इतना निश्चित जान पड़ता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। वर्णरत्नाकर की सूची में इनका नाम नहीं है।

लक्ष्मण या लक्ष्मणनाथ,—बालनाथ, बालगुंदाई भी इन्हीं के नाम जान पड़ते हैं। अजयपाल की शबदी में एक पद इस प्रकार आता है।

"लषमण कहे हो बाबा अजयपाल तुम कुण आरंभ थीरं"

इससे अनुमान होता है कि लषमण (लक्ष्मणनाथ) के ये गुरु थे।

परंपरा से प्रचलित है कि लषमणनाथ का ही नाम बालनाथ या बालापीर था।

नाथ सम्प्रदाय में जो आईपंथ गोरक्षनाथ की शिष्या विमलादेवी द्वारा प्रवर्तित माना जाता है, उसी सम्प्रदाय में थे। इनका पूरा नाम बालगोविंद है। आईपंथ वाले अपने नाम के साथ आई जोड़ते हैं। इसलिये इनका नाम बालगोविंददाई पड़ा, जिसका संक्षिप्त रूप बालगुंदाई हुआ सम्भवतः ये तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान थे। और करकाई और भूष्टाई के थोड़े परवर्ती थे। बालनाथ, लक्ष्मण नाथ और बालगुंदाई के नाम से पाए जाने वाले कई पद समान हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनों नाम एक ही सिद्ध के हैं।

हणवंत जी—इनके बारे में कुछ निश्चित नहीं मालूम। लेकिन ये धज सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके दो शिष्य मगरधज और विविकिधज (मकरध्वज और विवेकजध्वज) वर्णरत्नाकर की सिद्ध सूची में मिल जाते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवीं शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। रामभक्त हनुमान् जी के साथ इनको अभिन्न मान लिया गया है, जो नाम-साम्य के कारण उत्पन्न भ्रांति मात्र है। इनके नाम से प्राप्त पदों में कुछ पद थोड़ा बदलकर कबीरदास के नाम पर भी चलते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ये कबीरदास के पूर्ववर्ती थे।

हणवंत की बानियों में पूर्वी भाषा के लक्षण दिखते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ये किसी पूर्वी प्रदेश के सिद्ध थे।

घोड़ाचोली—हठयोग प्रदीपिका में जिन सिद्धों को कालदंड का खंडन करनेवाला बताया गया है, उनमें घोड़ाचौली का भी नाम है। आईपंथ के प्रसिद्ध सिद्ध

चोलीनाथ ये ही जान पड़ते हैं। इस प्रकार ये चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले उत्पन्न
हुए होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इनका समय सन् ईस्वी की बारहवीं
शताब्दी के पूर्व माना जा सकता है। इस संग्रह में इनकी जो बानियाँ संगृहीत हैं,
उनमें रावल, पागल, वनखंडी, आई पंथ, पंखि (पंक) धूज या धज, गोपाल, इन
पंथों की चर्चा है। इससे जान पड़ता है कि इन पंथों के आविर्भाव के बाद ही ये हुए
होंगे। अपनी सबदी में इन्होंने अपने को मछींद्र का दास कहा है।

धूंधली मल और गरीबनाथ—"मुँहणोत नैणसीरी ख्यात" में बताया गया
है कि ये गरीबदास के गुरु थे। लाखड़ी से १२ कोस की दूरी पर धीणोद है। वहाँ
के अजयसर पर्वत पर धूंधलीमल रहते थे। इन्हीं के शिष्य गरीबनाथ थे। इनके
आशीर्वाद से भीम कच्छ का राजा हुआ था। इनके शिष्य गरीबनाथ के शाप से घोघों
का राज्य नष्ट हुआ था। प्रभासपाटन के एक शिलालेख से जाड़ेचा भीम का समय
सम्मत् १४४२ (१३८७ ई०) है, इसलिये धूंधलीमल और गरीबनाथ का समय भी
ईसवी सन् भी चौदहवीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए।

दत्तजी—दत्तजी दत्तात्रेय का विकृत रूप है। दत्तात्रेय की संस्कृत रचनाएँ
प्रसिद्ध ही हैं, ऐसा जान पड़ता है कि किसी कम पढ़े लिखे साधु ने संस्कृत श्लोकों
को बुरी तरह बिगाड़कर और उनमें अपनी रचना जोड़कर चला दिया है, सम्भवतः
इन पदों के लेखक पंद्रहवीं शताब्दी में हुए थे, क्योंकि 'रोजी' रोजा' जैसे शब्द इन
रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

देवलनाथ—ये गरीबनाथ के पूर्ववर्ती थे। इनके विषय में विशेष कुछ
नहीं मालूम है।

पृथ्वीनाथ—ये कबीर के परवर्ती थे, क्योंकि इनकी रचनाओं में कबीर का
नाम आता है। इस प्रकार ये सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हुए होंगे।

परबत सिद्ध—नाथ योगियों की प्राप्त वाणियों में नामों की विचित्र तोड़
मरोड़ है। कभी कभी एक ही नाम को उच्चारण-विकृति के कारण भिन्न-भिन्न मान
लिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि परबत सिद्ध (जो निश्चित रूप से चौदहवीं
शताब्दी के पूर्ववर्ती हैं,) बाद में उसी प्रकार 'पार्वती' या 'पारबती' बना दिए गए,
जिस प्रकार काणेरी पाव 'सती काणेरी' हो गए। इसका एक कारण यह है कि
'परबत' शब्द का तृतीयान्त या सप्तम्यन्त पुराना रूप 'परबति' होता है। बाद में इस
इकार ने इस सिद्ध को स्त्री सिद्ध समझने की भ्रान्ति पैदा की। इस संग्रह में परवत
सिद्ध का एक भूगोल पुराण दिया हुआ है। यह 'पुराण' पंजाब के एक सज्जन ने
भेजा था। गुरु नानक द्वारा रचित बताई जानेवाली प्राणसंकली (तरन तारन से
प्रकाशित) में यह हूबहू इसी रूप में है। इसलिये इसके रचयिता के बारे में सन्देह

होता है। परंतु यह काफी पुरानी भाषा है। इस में संदेह नहीं। इससे खड़ी बोली का एक पुरना रूप प्राप्त होता है। इसके इसी महत्त्व को देखते हुए सन्देहास्पद होने के कारण इसे परिशिष्ट में दे दिया गया है।

सुकुल हंस और सतवंती के बारे में कुछ मालूम नहीं।

इस प्रकार इस संग्रह में जिन नाथसिद्धों की वाणियाँ संगृहीत हैं, उनमें से अधिकांश चौदहवीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्ववर्ती हैं। कुछ चौदहवीं शताब्दी के हैं और बहुत थोड़े उसके बाद के। भाषा की दृष्टि से इन पदों का महत्त्व स्पष्ट है। यद्यपि इन वाणियों के रूप बहुत कुछ विकृत हो गए हैं, परंतु भाषा का कुछ न कुछ पुराना रूप उनमें रह गया है। खड़ी बोली का तो इन पदों में बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली के धाराप्रवाहिक प्रयोग का नया स्रोत इन पदों में पाया जाएगा।

काशी
वैशाख पूर्णिमा, सं० २०१४ } हजारीप्रसाद द्विवेदी

नाथ सिद्धों की बानियाँ

अथ सिध बंदनां लिष्यते[1]

प्रेमदास लिखित

नमो नमो निरंजनं भरम को विहंडनं । नमो गुरदेवं आगम पंथ भेवं ॥ १ ॥
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं । नमो सिघ मछिन्द्रं बड़ो जोगिन्द्रं ॥ २ ॥
नमो गोरष सिधं जोग जुगति बिधं । नमो चरपटरायं गुरू ग्यान पायं ॥ ३ ॥
नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी । नमो बालगुंदाई कीयो क्रम षाई ॥ ४ ॥
नमो पृथीनाथं सदा नाथ हाथं । नमो हांडीभड़ंगं कीयो क्रम षंडं ॥ ५ ॥
नमो ठीकरनाथं सदा नाथ साथं । नमो सिघ जलंधरी ब्रह्म बुधि संचरी ॥ ६ ॥
नमो कान्हीपायं गुरु सबद भायं । नमो गोपीचंदं रमत्त ब्रह्म नंदं ॥ ७ ॥
नमो औघड़देवं गोरष सबद लेवं । नमो बालनाथं निराकार सार्थं ॥ ८ ॥
नमो अजैपालं जीत्यो जमकालं । नमो हनूमान निरंजनं पिछानं ॥ ९ ॥
नमो नरसिहदेवं अलष अभेवं । नमो हालीपावं निरालंब ध्यावं ॥१०॥
नमो मुकंद भारथी निरंजन स्वारथी । नमो मालीपावं बिमल सुध भावं ॥११॥
नमो मीडकीपावं निरंतर सुभावं । नमो सिघ हरताली कालं कंठ कटाली ॥१२॥
नमो सिघ काणेरी लीयो मन फेरी । नमो घूंधलीमलं अबीह अकलं ॥१३॥
नमो भुरकट नामं रमत रांम रामं । नमो सिघ टनटनी लागो अनह घु घुनी ॥१४॥
नमो सिघ चौरंगी प्रम जोति संगी । नमो कंथड़पायं नही मोह मायं ॥१५॥
नमो विघ सिधं लीयो मन उरधं । नमो सिघ कपाली नही चित चाली ॥१६॥
नमो कागभुसंडं त्रिबधि साप षंडं । नमो काग चंडं कल्पना बिहंडं ॥१७॥
नमो वीर पछि उदै ग्यान लछि । नमो सूरानंद प्रकृति निकंदं ॥१८॥
नमो भैरू नंदं रहै नुदंदं । नमो सांवरा नंदं पूरण कला चंदं ॥१९॥
नमो चुणकरनाथं अगम पंथ पंथं । नमो पूरण धीरं भरो अनभै सरीरं ॥२०॥
नमो आत्मांरामं प्रम सुनिधामं । नमो गरीब सिधं गुरू सनद बिधं ॥२१॥

---

1. प्रति से

नमो भड़ंग नाथं पकड़ि नाथ हाथं । नमो दड़गड़ नाथं सदा जाके साथं ॥२२॥
नमो देवदत्तं मिलित तत्त तत्तं । नमो सुषदेवं अलष अभेवं ॥२३॥
नमो सिध चौरासी विग्यानं प्रकासी । नमो नौ जोगेस्वरं राते प्रमेस्वरं ॥२४॥
नमो कपलदेवं लह्यो ब्रह्म भेवं । नमो सनक सनंदन करम काल षंडन ॥२५॥
नमो हस्तामलं सुतै सिध अमलं । नमो अष्टावक्रं नही काल चंक्रं ॥२६॥
नमो रामानंदं नही काल फंदं । नमो कबीर कान्हं नृमल सुध ग्यानं ॥२७॥
नमो दास कमालं भरो ब्रह्म लालं । नमो हरीदासं कीयो ब्रह्म वासं ॥२८॥
नमो महरवानं निरंजन ध्यानं । नमो ध्रू प्रहलादं अगम अगाधं ॥२९॥
नमो नाम पीया प्रगट सप्त दीया । नमो सरव साधं अगम अगाधं ॥३०॥

दोहा—काम दहन कलिमल हरन । अरि गंजन भव भंजनं ॥
अनंत कोटि सिध साधनैं । प्रेमदास करि बंदनं ॥३१॥
सिध बंदना जो पढ़ै । संध्या अर फुनि प्रात ॥
रोम रोम पात्तिग झड़ै । तिमर अंध मिटि जात ॥३२॥
सिध साधनैं बंदनां । निति प्रति करै जो संत ॥
प्रेम कहै सहजही । दरसै जोति अनंत ॥३३॥

॥ इती सिध बंदना संपूर्ण ॥

अथ दत्त असतोत्रं

शंकराचार्य विरचित

जटा जूट विभूति भूषनं । नष सष अषिडतं ॥
विस रज नव देह लीला । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ १ ॥३४॥
मुकुट केस वसेष बनिता । बचन श्री मुष अमृतं ॥
सम्रथं सब जोग सम्रथ । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ २ ॥३५॥
अलिप बक्ता सुलिप निंद्रा । भोजन सुष संजमं ॥
उद्र पात्र निमष मात्र । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ३ ॥३६॥
पात्र पवीत्र विचत्र बांनी । वेद व्याकरण पंडिता ॥
ग्यान अंजनं सभा मंडनं । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ४ ॥३७॥
भेष टेक विचित्रक । लोभ अवधि न लीयंतं ॥
निगन रूप निरास निहचै । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ५ ॥३८॥

सिध रूप निसंक नृभै । निडर निसपति उनमनी ॥
जोति रूप प्रकास पूरन । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ६ ॥३६॥

बीत रागी तरक त्यागी । लक्षत लछ समागमं ॥
ऐका ऐकी निरापेषी । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ७ ॥४०॥

उग्र तेज अंकूर नूरं । सूर बीर पराक्रमं ॥
अग्म अनाहद अपार बानी । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ८ ॥४१॥

सत सील संतोष धारण । सुमरिणं सत सुमरणं ॥
संसार भोजल तिरण तारण । सोहं दत्त डिगंबरं ॥ ९ ॥ ४२ ॥

बाघंबरं नटाटंबरं । चीतांबरं पीतांबरं ॥
पहरै पाट पटंबरं । तजि धरती ऊपर अंबरं ॥
सोहं दत्त डिगम्बरं ॥ १० ॥ ४३ ॥

॥ इती श्री संक्राचारय्य विरंच्यते दत्त अस्ता ॥

अजैपालजी की सबदी

मुंड़े मुंड़े भेष बितुंडे[1] । नां बूझी सत गुर बाणीं ॥
सुंनि[2] सुंनि करि भूले पसुवा । आपा सुध[3] न जांणी ॥ १ ॥ ४४ ॥
नाभि सुंनि तैं पवनां ऊठ्या[4] । परम[5] सुंनि मैं पैसा[6] ॥
तिहि सुंनि तैं[7] पिंड[8] ब्रह्मण्ड उपज्या । ते सुंनि[9] है कैसा ॥ २ ॥ ४५ ॥
तिह[10] सुंनि तैं आपा कीधा[11] । आपा कूंण[12] सूं[13] कीधा ॥
सुंनि लागे ते मरि मरि गए । आप अनन्त सिध सीधा ॥ ३ ॥ ४६ ॥
पिंड तैं ब्रह्मण्ड ब्रह्मण्ड तैं पिंड । पिंड ब्रह्मण्ड कथ्या न जाई ॥
पिंड ब्रह्मण्ड दोऊ सम कर । पिंड ब्रह्मण्ड समाई ॥ ४ ॥[14] ४७ ॥
पृथ्वी के तत महल रचीला । आप कै तत करी आचारं ॥

१—ख. मूंडत मूंडे भेष बिटंबे; २—ख. सुंयं; ३—ख. सुधि; ४—ग. ऊठा; ५—ग. प्रम; ६—ख. पैठा; ७—ख. स्यूं; ८—ख. पंड; ९—ख. सुना; १०—ख. तीनि; ११—ख. कीया; १२—ख. कौण; १३—ख. स्यूं;

१४—यह पूरा पद ख. प्रति में इस प्रकार है:—

प्यंड थैं ब्रह्मांड । प्यंड कथ्या नहीं जाई ॥
प्यंड ब्रह्मांड दोउ समि करैं । प्यंड मैं ब्रह्मांड समाई ॥ ४ ॥

तेज कै तत दीपग बालिबा। बाई कै तत हम करिबा बिचारं ॥ ५ ॥[१] ४८ ॥
आकास का तंबा मैं करीबा। मलिबा[२] मन राई का मानं ॥
सुंनि स्यंघासण[३] उलीचा। बैसिबा प्रान पुरिस क[४] दीवानं ॥ ६ ॥ ४९ ॥
जुरा मरन काल सरब व्यापै। काम बसंत सरीरं ॥
लषमण कहै हो बाबा अजैपाल। तुम कूंण अरम्भ थीरं ॥ ७ ॥[५] ५० ॥
ब्रह्म अ गनिब जरांग[६] सी क्या। कंदप देव शरीरं ॥
जुरा मृत[७] पवन का मीषण। जोगारंभ सुथोरं[८] ॥८॥५१॥
द्वादस गगन स्थानं। सोषि लीया जल मालं ॥
षट चक्रा जोग धरि बैठा। तब भाजि गया जम कालं ॥९॥[९]५२॥

सती काणेरी जी का पद

आछै आवै मही मंडल। कोई सू रां मनवाने रे लो।
देवता दाणां पापी मनवै ग्रस्यो। कोइ सुराहो गहि ल्यावै रे लो ॥टेक॥५३॥
कबहू क मनवौ म्हारो जती रे सन्यासी। कबहू क मैंगल मातो रे लो।
कबहू क मनवो म्हारो उंनथि गोधलो। कबहू क बिषीया रंगि रातो रे लो ॥१॥५४॥
कबहू क मनवौ म्हारो माया त्यागै। कबहू क बहुरि मंगावै रे लो।
कबहू क मनवौ म्हारो मनसा भोगी। कबहू क अभष भषावै रे लो ॥२॥५५॥
इहो तो बांध्या जोगी जती रे नथाइला। जब लग मनवा नही बाध्या रे लो ॥
पांहण पाहू लोहड़ै गडीला। तेहू काल सिषा धारे लो ॥३। ५६॥

१—यह पद्य ख. प्रति में इस प्रकार है :—

पृथी कै तत रचीला। आप कै भरोले भंडारं ॥
तेज कै तत दीपक बालिवा। बाई के करीलै बिचारं ॥ ५ ॥

२—ख. मलेबा; ३—ग. सुधासत; ४—ख. का;

५—यह पद्य ख. प्रति में इस प्रकार है :—

जुरा मृत्यु काल व्यापै। कामं बस्त सरीरं ॥
लषमण कहै हो बाबा अजैपाल। तुम कौण आरंभ यैं थीरं ॥ ७ ॥

६—ख. त्रांग; ७—ख. मृति; ८—ख. स्थीरं

९—यह पद्य ग. प्रति में इस प्रकार है :—

द्वादस लहर गगन अस्याने। सो लोषीया जमकालं ॥
षट चक्र जोग धरि बैठा। तब भाजि गया जम जालं ॥९॥

जोति देषि देषि पड़े पतंगा। नादे लीन कुरंगा रे लो।
रस को लोभी मैंगल मातो। साध पुरष ते भूंरा रे लो ॥४॥५७॥

समदां की लहर्‍यां पार जु पाईला। मनवा की लहर्‍यां पार न आवै रे लो ॥
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता। सति सति काणेरी गावे रे लो ॥५॥५८॥

काणोरी पाव जी[1] का पद

राग–गुंड

आछे आछे मही रे मंडल कोई सूरो। म्हरा मनवा नैं समझावै रे लो ॥
देवता नैं दानूं इनि मनवैं व्याप्या। मनवां नैं कोई ल्यावै रे लो ॥टेक॥१॥५९॥

जोति देषि देषि पड़े रे पतंगा। नादैं लीन कुरंगा रे लो ॥
इहि रसि लुबधी मैंगल मातो। स्वादो पुरष ते भँवरा ले लो ॥२॥६०॥

घड़ी एकैं मनवो जती रे सन्यासी। घड़ी एकैं मांगल मातो ॥
घड़ी एकैं मनवो उनंथ गो छिलो। घड़ी एकैं विषिया रातो रे लो ॥३॥६१॥

इंद्री बांध्या जोगी जती रे न होइबा।
जब लग मनवो न बाधा रे लो ॥ ४ ॥[2]६२॥

समद लहरियां पार पाइए। मनवांनी लहरिया पार पाइये रे लो ॥
आदि नाथ नाती मछिंद्र नाथ पूता। सती कणेरी इम बोल्या रे लो ॥ ५ ॥[3]६३॥

जागो पसुवा जे मति हीणा[4]। ज्यांह न पाया भेव[5] ॥
काल विकालै[6] टाकर मारै। सोवै कणेरी देव[7] ॥ ६ ॥६४॥
द्योसैं चंदा रातै[8] सूर। गगन मंडल मैं बाजै तूर ॥
सति का सबद कणेरी कहै। परम हंस काहे न रहै ॥ ७ ॥६५॥
कहाँ उगै कहाँ अथवै। कहाँ सूँ रैंणि बिहाई ॥
पूछै काणोरी सुनि हो नागा अरजंद। पिंड छूटै प्रांन कहाँ समाई[9] ॥ ८ ॥६६॥

---

१. क. ख. सती काणोरी ;
२. ये चार पद केवल क. प्रति में हैं।
३. ये चार पंक्तियाँ केवल क प्रति में हैं।
४. ख, हीन; ५. ख, भेवं; ६. ख, उकालां; ७. ख, देवं; ८. ख, दिवस चंदा रात्यूं ;।
९. केवल ग, प्रति में यह पद्य है।

सगो नहीं संसार । चित्ति[1] नहीं आवै वैरी ॥
निरभै होइ निसंक । हरषि मैं हस्यौ कणेरी ॥ ९ ॥६७॥
हस्यौ कणेरी हरिख[2] मैं । एकलड़ौ[3] आरंन ॥
जुरा विछोही जो मरण[4] । मरण विछोहया मंन ॥ १० ॥६८॥
अकल कणेरी सकलैं बंध । बिन परचै जोग बखाणैं धंध ॥
विण परचै योगी न होसी रावल । भुस कूट्यां क्यूं निकसै चावल ॥ ११ ॥६९॥
मनवां मेरा बीज बिजोवै । पवना वाड़ि लगाई[5] ॥
चेतन[6] रावल पहरे बैठा । मृगा पेत न पाई[7] ॥ १२ ॥७०॥

सिध गरीब जी की सबदी

काया नग्री में मन रावल । अहनिसि सीझै तहां नृमल चावल ॥
चावल सीझि पकाई डीबि । सति सति भाषंत सिध गरीब ॥ १ ॥ ७१॥
फाटी कंथा षांडी डीब । आपौ राष्यां फिरैं गरीब ॥
रूष विरष रो कंतरि[8] । इहि[9] विधि रहिवौ[10] जोग अभ्यास ॥ २ ॥❀७२॥
पाताल की मीडकी अकास जंत्र बजावै । चंद सूरिज मिलै गंग जमन गीत गावै ॥
सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीब । सति सति भाषंत सिध गरीब ॥३॥७३॥

गोपीचंद जी की सबदी

राज तजेबा रे पूता पाट तजेबा[11] । तजेबा[12] हस्ती घोड़ा ॥
सति सति भाषंत माता मैंणावंती[13] । कलि मैं जीवन थोड़ा ॥१॥७४॥
राजा कै घर राणी होती माता । हमारै होती माई जी ॥
सत षणै चौबारे बैठंती माता । यह ग्यांन कहां थो लाई ॥२॥[14] ७५॥

---

१. ग, चिति; ।
२—ग, हरष; ३—ग,ऐकलड़ै; ४—ग, मरद; ५—ग, लड़ावै; ६—ख, चेतनि; ७—ग, षावै ।
❀९—१२ पद केवल ख प्रति में हैं ।
८—ख. विरष रा कांतरि; ९—ख. इन; १०—ख. रहिवा ।
❀ केवल यही एक पद ख. प्रति में मिलता है ।
११-१२—ग. तजिलै; १३—ग. प्रति में 'रे पूता' अधिक पाठ है; १४—ख. प्रति में यह पद इस प्रकार है :—
राजा कै घरि रांणीं होती । हम घरि कहिए मांई ॥
सात षणैं महलिवे रहती माता । ग्यान क हाथी लाई ॥

गुरू हमारै गोरष बोलियै। चरपट है गुरू भाई ॥
सबद एक हमकों नाथ जी दीया[1]। तेवो[2] लष्या मैणांवंत माई ॥३॥७६॥
सोला सै राणीं[3] बारा सै कन्या। बंगाल देस बड़ भोगी[4] ॥
बारह[5] बरस हमकूं[6] राज करण दे माता। पीछैं हूँगा[7] जोगी ॥४॥७७॥
आजि आजि करंता पूता काल्हि काल्हि करंता। काया करै कलाल की माठी जी ॥
सति भाषंत माता मैणावंती रे पूता। यौ तन जलि बलि होइ मसांण की माटी जी ॥५॥७८॥

सातापणैं मन्दिर बैसता। पोढ़ता सेज नु लाई ॥
सोवणमें देही तुम्हारे पिता को होती। सो जलि बलि कोइला थाई ॥६॥७८॥
जोग न होसी रे पूता भोग न होसी। नसी कसी[8] जलबिंब[9] की काया ॥
सति सति भाषंत माता मैंणांवंती रे पूता[10]। भरंमि न भूलौ रे माया[11] ॥७॥८०॥

मरौगे मरि जाहुगे रे। फिरि होउगे मसांण की छारं जो ॥
कबहुक परं तत चीन्हैले रे पूता। ज्यूं उतरौ संसार भौ पारं जो ॥८॥[12]८१॥
कूंण[13] हमकूं भात षुलावै। कौण पषालै पाई ॥
कहाँ[14] सूं मेरै मैड़ी मंदिर। कहाँ तूँ मैंणांवंती माई ॥[15]६॥८२॥

१—ग. में यह पंक्ति इस प्रकार है :—
ऐक सबद हमकूं गुरू गोरषनाथ दीया।
२—ग. सोवो; ३— में 'मैं' अधिक; ४—ग. में 'भोगी जो ;
५—ग. बारा; ६—ग. मोतैं; ७—ग. होऊँगा।
❀ यह पद 'ख' प्रति में इस प्रकार है :—
आजि कालि करता रें पूता। काया करै कलाल की माठी ॥
आजि कालि करता रें पूता। यउ तन जलि बलि होइगा माटी ॥
सति सति भाषंत माता मैणांवंती। यउ तन जलि बलि होइगा माटी ॥
८—ग. किसी; ९—ख बांब; १०—'ख' में 'रे पूता' नहीं है;
११-ग. में भ्रमि भूलौ रे माया जो' है;
१२—यह पद ख. प्रति में इस प्रकार है :—
मरउगे मरि जाउगे। मसाण होउगे छारं ॥
कछू राक परंतत चीन्हि हो पुत्र। ज्यूं उतरो संसार भव पारं ॥
१३—ख. में कौण; १४—ख. में 'सु';
१५—ग में 'जी' अधिक;

सगो नहीं संसार । चित्ति[1] नहीं आवै बैरी ॥
निरभै होइ निसंक । हरषि मैं हस्यो कणेरी ॥ ९ ॥६७॥
हस्यो कणेरी हरिष[2] मैं । एकलड़ो[3] आरंन ॥
जुरा विछोही जो मरण[4] । मरण विछोहया मंन ॥ १० ॥६८॥
अकल कणेरी सकलैं बंध । बिन परचै जोग बखाणैं धंध ॥
विण परचै योगी न होसी रावल । भुस कूट्यां क्यूं निकसै चावल ॥ ११ ॥६९॥
मनवां मेरा बीज बिजोवै । पवना वाड़ि लगाई[5] ॥
चेतन[6] रावल पहरे बैठा । मृगा षेत न पाई[7] ॥ १२ ॥७०॥

सिध गरीब जी की सबदी

काया नग्री में मन रावल । अहनिसि सीझै तहां नृमल चावल ॥
चावल सीझि पकाई डीबि । सति सति भाषंत सिध गरीब ॥ १ ॥७१॥
फाटी कंथा षांडी डीब । आपो राष्यां फिरैं गरीब ॥
रूष विरष रो कंतरि[8] । इहि[9] विधि रहिवौ[10] जोग अभ्यास ॥ २ ॥⊛७२॥
पाताल की मीडकी अकास जंत्र वजावै । चंद सूरिज मिलै गंग जमन गीत गावै ॥
सकल ब्रह्मंड उलटि अधर नाचै डीब । सति सति भाषंत सिध गरीब ॥३॥७३॥

गोपीचंद जी की सबदी

राज तजेबा रे पूता पाट तजेबा[11] । तजेबा[12] हस्ती घोड़ा ॥
सति सति भाषंत माता मैंणावंती[13] । कलि मैं जोवन थोड़ा ॥१॥७४॥
राजा कै घर राणी होती माता । हमारै होती माई जी ॥
सत षंणे चौबारे बैठंती माता । यह ग्यांन कहां थो लाई ॥२॥[14] ७५॥

---

१. ग, चिति; ।
२—ग, हरष; ३—ग,ऐकलड़ै; ४—ग, मरद; ५—ग, लड़ावै; ६—ख, चेतनि; ७—ग, षावै ।
⊛९—१२ पद केवल ख प्रति में हैं ।
८—ख. विरष रा कांतरि; ९—ख. इन; १०—ख. रहिबा ।
⊛ केवल यही एक पद ख. प्रति में मिलता है ।
११-१२—ग. तजिलै; १३—ग. प्रति में 'रे पूता' अधिक पाठ है; १४—ख. प्रति में यह पद इस प्रकार है :—
राजा कै घरि रांणीं होती । हम घरि कहिए मांई ॥
सात षणैं महलिवे रहती माता । ज्ञान क हाथी लाई ॥

गुरू हमारे गोरष बोलियै । चरपट है गुरू भाई ॥
सबद एक हमकों नाथ जी दीया[1] । तेवो[2] लष्षा मैणावंत माई ॥३॥७६॥

सौला सै राणीं[3] बारा सै कन्या । बंगाल देस बड़ भोगी[4] ॥
बारह[5] बरस हमकूं[6] राज करण दे माता । पीछैं हूँगा[7] जोगी ॥४॥७७॥

आजि आजि करंता पूता काल्हि काल्हि करंता । काया करै कलाल की माठी जी ॥
सति भाषंत माता मैणावंती रे पूता । यौ तन जलि बलि होइ मसांण की
माटी जी ॥५॥७८॥

सात। षणें मन्दिर बैसता । पौढ़ता सेज नु लाई ॥
सोवणमें देही तुम्हारे पिता को होती । सो जलि बलि कोइला थाई ॥६॥७८॥

जोग न होसी रे पूता भोग न होसी । नसी कसी[8] जलबिंब[9] की काया ॥
सति सति भाषंत माता मैंणावंती रे पूता[10] । भरंमि न भूलो रे
माया[11] ॥७॥८०॥

मरौगे मरि जाहुगे रे । फिरि होउगे मसांण की छारं जो ॥
कबहुक परं तत चीन्हैले रे पूता । ज्यूं उतरौ संसार भौ पारं जो ॥८॥[12]८१॥

कूंण[13] हमकूं भात पुलावै । कौण पषालै पाई ॥
कहाँ[14] सूं मेरै मैड़ी मंदिर । कहाँ तूं मैंणावंती माई ॥[15]९॥८२॥

१–ग. में यह पंक्ति इस प्रकार है :—
ऐक सबद हमकूं गुरू गोरषनाथ दीया ।
२–ग. सोवो; ३– में 'मैं' अधिक; ४–ग. में 'भोगी जो ;
५–ग. बारा; ६–ग. मोतैं; ७–ग. होऊँगा ।
✱ यह पद 'ख' प्रति में इस प्रकार है :—
आजि कालि करता रें पूता । काया करै कलाल की माठी ॥
सति सति माषंत माता मैणावंती । यउ तन जलि बलि होइगा माटी ॥
८–ग. किसो; ९–ख बांब; १०–'ख' में 'रे पूता' नहीं है;
११–ग. में भ्रमि भूलो रे माया जो' है;
१२–यह पद ख. प्रति में इस प्रकार है :—
मरउगे मरि जाउगे । मसाण होउगे छारं ॥
कछू राक परंतत चीन्हि हो पुत्र । ज्यूं उतरो संसार भव पारं ॥
१३—ख. में कोण; १४—ख. में 'सु';
१५—ग में 'जी' अधिक;

धरती[1] तुमकूं[2] मात षुलावै । गंग पषाले पाई ॥
रूष विरष[3] तेरै मांड़ी[4] मंदिर । घरि घरि मैंणवंती माई ॥१०॥८३॥
माता कै उपदेस करि । तजिला देस बंगालं[5] ॥
गोपीचंद गुरू कै सरणैं । भेटत भगा कालं[6] ॥११॥८४॥
छाढ़या राज पाट परिछाड़या[7] । छाड़या,[8]भोग बिलासं[9] जी ।
गोपीचंद धोला घर[10] सबहीं । छाढ़ि गह्या बनवासं[11] जी ॥१२॥८५॥
राणीं सकल कंन्यां सुत[12] सबहीं । हाहाकार भईला ॥
रावत रैति तुरी गज गल बल । राजा गोपीचंद कहाँ गईला ॥१३॥८६॥
जलंध्री पाव हाथि दे डोबी । गोपीचंद षंदाया जी[13] ॥
मंदिर महल पोलि जहाँ[14] भीतरि । तहाँ अलेख जगाया जी[15] ॥१४॥८७॥
माइ बहन करि भिष्या मांगो । पूरया सींगों नादं जी ॥
सांभलि साद मिलि सब रांणीं । आइ किया संबादं जी[16] ॥१५॥८८॥

राजा राणी संबाद

रांणी बोलै बाढुड़ौ । राजा गोपीचंद ॥
जोग छाड़ि किन भोगवो । राज सहित आनन्द ॥१॥८९॥
भोग न भावै भामिनी । लागत रोग समान ॥
जोग तजत हीं होत है । उभैं लोक अपमान ॥२॥९०॥
मरदन तेल फुलेल सौं । मंजन तातै नीर ॥
अब तुम्ह कल कैसें परै । लावहु भसम सरीर ॥३॥९१॥
तेल फुलेल सनेह अति । अलष पुरिस स्यूं नित्त ॥
तत हरि तत बिचारतां । आत्म मन पवित्त ॥४॥९२॥
मन रुचि भोजन भुगतते । मेवा पांन कपूर ॥
अब रूषैं सूषै करत हो । नाथ पिटरका पूरि ॥५॥९३॥

१—ग. अलख २—ख. मुझकों;
३—ग. विरषे ४—ख. मैंड़ो ५—६. में 'जी' पाठ अधिक है;
७—थ. परिछाड़ा; ८—ख. छाड़ा; ९—ख. बिसं १०—ख. धोलागिरि;
११—ग. में 'जी' अधिक । १२—ग. में 'सुत' नहीं है; १३—ख. में 'गोपीचंद' पठाया ।
१४ ग- जहाँ; १५—ख. में 'जी' नहीं; १६—ख. में 'जी' नहीं है ।

मनवरि भोजन जोग की। अैसो भोग न और ॥
इजा रछया प्रांण की। बिजन बासी कोर ॥६॥६४॥
सीतल जल तुम्ह अंचवते। उजल अमल अबेभ ॥
अब कह्यूं जो नीर मिलि। उसन कि मलिन असोभ ॥७॥६५॥
अह निसि भूलै आत्मां। अमी सरोवर मांहि ॥
तीरथ गंगा आदि जल। तिन तनि तृषा बुझाहि ॥८॥६६॥
रतन जटित पर सेज परि। करते सदा बिलास ॥
दंपति संपति छाड़ि अब। घर परि रहै उदास ॥९॥६७॥
सेज सबद गुरदेव के। ब्योरन बिबधि बिलास ॥
बनिता बुधि स्वासा बिभै। संचत सुषद आस ॥१०॥६८॥
मन मैं मढ़ी बनाइ करि। इहां रहो तुम राज ॥
नित प्रति हम सेवा करैं। छाड़ि सकल कुल लाज ॥११॥६९॥
मुकति मढ़ी मैं हम रहैं। सेवग सुर नर और ॥
जोगी जन रमते भले। रवैं न एकै ठौर ॥१२॥१००॥
सतगुर शबद हमारा सिर परि। बाद बिबाद न कीजै ॥
हम जोगी परदेसी माई। मिछ्या होइ त दीजै ॥१३॥१०१॥
काम बिसरि अरु क्रोध तजीला। मोह छाड़ि निरदंद ॥
माया ममिता बिना गुर सरनैं। निरभै गोपीचंद ॥१४॥१०२॥
एकंत का बासा अलख उपासा। तेषंत परम उजासा ॥
गोपीचंद महन मन जपिबा। सोहं साधंत स्वासा ॥१५॥१०३॥
इड़ा आराधिये प्यंगुला प्रमोधिये। सुषमनां सोधि उभै थीरं ॥
सहश्र दल साधिए अलख अराधिए। रुधिर पलटि फिरि षीर नीरं ॥१६॥१०४॥
पवन कूं प्रेरिबा पछिम दिसि फेरिबा। अपांन प्रांण कौं उलटि मेलै ॥
नाद गगनैं बहै ब्यंद अस्थिर रहै। जोग करि जनम नहीं गमै हेलै ॥१७॥१०५॥
पवन थिरं तां मन थिर। मन थिरं तां ब्यंद ॥
ब्यंद थिरंतां कंध थिर। यौं भाषंत गोपीचंद ॥१८॥*१०६॥
मन राजा मन प्रजा। मन सयल[1] का बंध[2] ॥

---

*यह पद ग. प्रति में इस प्रकार है :—
मन थिरं ता पवन थिर। पवन थिरंता बिंद ॥
बिंद थिरंता जिंद थिर। यूं भाषै गोपीचंद ॥
१–ग. सकल; २–ग. में 'जी' अधिक।

मन कूं चीन्हि[1] पारग्रांमीं भये[2] । राजा[3] गोपीचंद[4] ॥ १९ ॥ १०७ ॥
ग्रहिबा कूं नांही देषिबा कैं लछि । चंद सूर बिबरजित पछि ॥
जल मैं ब्यंब दरपन छाया । अच्यंत पद गोपीचंद गाया ॥ २० + ॥ १०८ ॥
पाया लो भल पाया लो । सरब थांन सहेती थिति ॥
रूप सहेती दीसण लागा । पिंड भइ प्रतिति ॥ २१ ॥ १०९ ॥
मन चलंता पवन चलै । पवन चलंता बिंद ॥
बिंद चलंता कंध पड़ै । यूं भाषै गोपीचंद ॥ २२ ॥ ११० ॥✽

गोपीचन्द जी का पद संवाद

राग रांमग्री[5]

बाहुड़ौ ने बाहुड़ौ गोपीचंद राजा । बहुड़ि धौलाघर आवोजी ॥
यंछ्या नैं भोजन मन चित्या हो राजा । भाव भगति सूं पावोजी ॥ टेक ॥१११॥
पालिक निद्रा नावै रे रांणी । माह्नै मनि राज न आवै जी ॥
जोग जुगति नौं राज हम्हारे । अविचल कैसूं थावै जी ॥ १ ॥ ११२ ॥
अगर चंदन नीं मढ़ी बधाऊं । सोना नां तुम्ह नैं तुंब जी ॥
कहौ तौ रूपानां पत्र घड़ाऊ । सोनां नां सींगी नादं जी ॥ २ ॥ ११३ ॥
गगन मंडल मैं मढ़ो हमारी चंद सूर ना तूंबं जी ॥
सहज सील नां पत्र हमारे । अनहद सींगो नादं जी ॥ ३ ॥ ११४ ॥
कूर कपूर तुम्हें जिमता हो राजा । भगरड़ी मास्ये जी ॥
ऊपरि पानं नां बीड़ा आरोगता । वेली ना पानं किम षास्ये......जी ॥ ४ ॥

१—ग. चोन्हे; २—ग. भया; ३—ख. जारा; ४—ग. में 'जी' अधिक ।

+ यह पद ग में इस प्रकार है :—

ग्रहिबे कूं नाहीं देषिबे कूं लषि । चंद सूर बिब रजित पषि ।
जल मैं बिब द्रपन मैं छाया । असा अचित पद गोपीचंद गाया ।

✽ख प्रति में 'गोपीचंद की सबदी' में कुल ३५ पद हैं । 'ग' में केवल १९ ही हैं । इस पृष्ठ के दो पद 'ख' प्रति में नहीं हैं । 'ख' के शेष १७ पद 'ग' में भी मिलते हैं । ख और ग प्रतियों में पदों का क्रमान्तर है, तथा अंतिम दो पद केवल 'ग' प्रति में ।

५. केवल 'क' प्रति में

कूर कपूर माह्लै सास उसासं । भुरकट अंम्रित प्यालं जी ॥
ग्यानं ध्यानं नां पानं हमारे । सबुधि षमियां पालं जी ॥ ५ ॥ ११६ ॥
सौड़ि तुलाई तुम्हें पौढ़ता हो राजा । साथ रड़ै किम स्वैस्यौ जी ॥
गोद सिरहाणैं नैं सब दिसि सेवग । षपरड़ै किम षास्यौ जी ॥ ६ ॥११७॥
सायर स्वैस्यां नै खपरि खाइस्यां । ईंट उसीसै देस्यां जी सौड़ि तुलाई मा सतगुर वाणी । भूंमी सेज्या करिस्यां जी ॥ ७ ॥११८॥
कौंण तुम्हारा राजा चरन पषालिस्ये । कौंण कहै तत बातैं जी ॥
कौंण तुम्हारी सेज या थरिस्ये । कौंण पुर विस्ये मातं जी ॥ ८ ॥११९॥
गंगा हमारा राणीं चरण पषालिस्यै । मनसा करै तत बातं जी ॥
कंथा हमारी सेज पाथरिस्ये । अलष पुरविस्ये मातं जी ॥ ९ ॥१२०॥
सोला सै राणीं नै बार सै कन्यां । तिन्हौं निसासड़ौ पड़ि ज्यौ जी ॥
जिणि मा राजा नौ राज छुड़ायौ । ते तौ जोगी मरि ज्यौ जी ॥ १० ॥१२१॥
जलंध्री प्रसादैं जतो गोपीचंद बोल्या । गुरनैं गालि न दीज्यौ जी ॥
सतगुर म्हारा मस्तक ऊपरि । और भले रड़ा कीजै जी ॥ ११ ॥१२२॥

× × ×

कहै राजा गोपीचंद सुनौं री बाई । सतकी मिथ्या देस्यौ मैंणावती माई ॥टेक॥
बाट घाट की थेगली । मेरे पाट पटोला ॥
मसांण की ठीकरी थाल कचोला ॥ १ ॥
टूटी फाटी कंथा मैं फिरूं उदासा ॥१२३॥
लूषा सूका टूक रुखे बिरषे बासा । २ ॥
धरणि पालेंग्यड़ा साथरि सेजं । परवति मठली भोगि सुरेजं ॥ ३ ॥१२४॥
तजोला बंगाल देस मैंणावंती माई । जलंध्री प्रसादैं गोपीचंदि चौपदी गाई ॥४॥१२५॥

घोड़ा चौली जी की सबदी

श्री गोरखनाथ पंथ का भेव । अनंत सिधां मिलि पायौ भेव ॥
पाया भेव भई प्रतीत । अनंत सिधां मैं गोरख अतीत ॥ १ ॥१२६॥
रावल ते जे चालै रांहो । उलटी लहर समंद्र समांही ॥
पंच तत का जानै भेव । ते तौ रावल प्रत्तषि देव ॥ २ ॥१२७॥
पांगल तेजे प्रकीरति गालै । अहनिस ब्रह्म अगनि प्रजालै ॥
प्रजालै अगनि लगावै बंध । काया अजरांवर कै कंध ॥ ३ ॥१२८॥

बनखंडी तेजे बन षंड मैं रहै । सुनि निरालंब बारता कहै ॥
घड़ी न मनसा आसा पास । ते बन षंड मैं रहै उदास ॥ ४ ॥१२९॥

अगमागम कै रैते गम । अहनिस काया राषै दम ।
नाद बिंद का जाणैं भेव । अगमागम करै ते देव ॥ ५ ॥१३०॥

आई पंथि मैं जे अनभै करै । उलटा बांण गगन कूं धरैं ॥
उलट बजाई वेध्या भूंरा । सिध बाल गुसाई[1] साध्या जूंरा ॥ ६ ॥१३१॥

पंषि सुंनि निरालंब देषै अंष । प्रंम सुंनि मैं जोति असंष ॥
वेध्या हीरा मांणिक पाया । तौ तब पंक पंथ मैं आया ॥ ७ ॥१३२॥

धूज ते धजा कूं जांणैं । उलटा पवन गगन कूं तांणैं ।
अहनिस नाद बजावै बीनां । तेई धूज सूं लीनां ॥ ८ ॥१३३॥

गोपाल ते जे बंचै काल । अहनिस अनभै जीत्या ब्याल ॥
काम क्रोध मेटै बिह्म की माया । ते गोपाल नाथ की काया ॥ ९ ॥१३४॥

बोलंत सिध घोड़ा चोली । हमें षत्री षेत्र का सूरा ॥
गगन मंडल मैं रहनि हमारी । बाजै अनहद तूरा ॥ १० ॥१३५॥

हणवंत[2] पैसि रामायण कीता । दससिर छेदि बहौड़ी सीतां ॥
सारा सेत तहां बंध्या पांणी । दस सिर छेदि लच्छि घर आंणी ॥ ११ ॥१३६॥

गोरख ते जे राषै गोई । माया मनसा करै न मोही ॥
सदा अकलपत रहै उदासा । परचै जोगी सिम निवासा ॥ १२ ॥१३७॥

जोग आरंभ भए सिधा । द्वादस हंसा ग्यानहि बिधा ॥
सोहं सोहं सास उसासं । बोलै घोड़ा चोली मछिंद्र का दासं ॥ १३ ॥१३८॥

अचित पुराणं गगन गरास । बोलै चोली मछिंद्र का दास ॥
अचित फुरै हाथ्यो न आवै । तब घोड़ा चोली कहां तूं षावै ॥ १४ ॥१३९॥

नव रुष पूरि रहो जे पवनां । आयौ है दूध भात षाइगो कवनां ॥
षुध्या की अगनि मिटाई काल । चौष्टि संधि पवन की भाल ॥ १५ ॥१४०॥

मेर डड का गागरि बंध । बाई षेलै चौष्टि संध ॥
अमरा मरै कालु कै डंस । न पड़ै काया न उड़ै हंस ॥ १५ ॥१४१॥

---

१. ग—गुदाई ।
२. ग—हिणवंत ।

श्री चरपटनाथ जी की सबदी

किसका बेटा किसको बहू । आप सवारथ मिलिया सहू ॥
जेता फूला तेता काल । चरपट कहै ए संऊआल जंजाल ॥१॥१४२॥

काया तरवर माकड़ वित्त[1] । डालैं पानैं[2] भरमै नित्त नित्त ॥
कलपै कलपै दह दिसि जाइ । तिस कारण कोई सिध नथाइ ॥२॥१४३॥

ढोल कछोटी मन मंग फिरै । घरि घरि नैंन पसारा करै ॥
षाया जरै न वाचा फुरै[3] । ता कारणि मुंहु करि करि[4] मरै ।.३॥१४४॥

अवधू राती कंथारैं पटरोल । पगे पावड़ो मुषि तंबोल ॥
षाजै पीजै कीजै भोग । चरपट कहैं बिगोवैं जोग[5] ॥४॥१४५॥

एक सेत पटा एक नील पटा । एक टसर कंटोला[6] लांब जटा ॥
पंथ छाड़ि मन उबट बटा । चरपट कहै ये पेट नटा ॥५॥१४६॥

टीका टामां टम कली । बोलें मधुरी वांणी ॥
कहैं चरपट सुणि हो नागा अरजन । ए सौरां की सहनांणी ॥६॥१४७॥

बाकर कूकर किंगर[7] हाथ । बाली भोली तरणीं साथ ॥
दिन कर भिष्या रात्यूं भोग । चरपट कहैं बिगोवैं जोग ॥७॥१४८॥

नाथ कहांवै सकैं न नाथि । चेला पंच चलावैं साथि ॥
मागैं भिष्या भरि भरि षांहि[8] । नाथ कहावें मरि मरि जांहि ॥८॥१४९॥

कानैं मुद्रा गलि रुद्राष । फिरि फ़िरि मांगैं निपजो[9] साष ॥
चरपट कहै सुणौं रे लोइ । बरतणि दै पणि जोग न होइ ॥९॥१५०॥

रंगा चंगा बहु[10] दोदारी । जैसी षोती भुहर मुलमाधारी ॥
चरपट कहै सुणौं रे लोई । ये पाषंड है पणि जोग न होई[11] ॥१०॥१५१॥

१–यह पद ग में नहीं है; २–ग पातैं; ३– फरै; ४–क कुरि कुरि; ५–
पाठान्तर ग प्रति ।
राती कंथा रा पटरोल । पग पावड़ो मुषा तंबोलै ॥
षाजै पीजै कीजै भोग । चरपट कहै बिगाड्या जोग ॥
६–ग कै टीका ।
७–ग. कंगुरा किंगर; ८–ग. पाइ, ९–क. निपनी; १०–ग. बहो; ११–पाठान्तर ग प्रति :—
बरतण छै पणिजोग न होई ।

पहरि मूंषंड़ी कंकन हाथि । नकटी बूची जोगणि साथि ॥
ऊठत वैठत काकण कार । तजि न सक्या माया जंजार[1] ॥११॥१५२॥

जटा विटंबन आंगै छार । मोटी कंथा वहु[2] त्रिस्तार ॥
विचित्र[3] बांनी अंगा चंगा । वँटवा[4] सीवैं बहु बिध रंगा ॥ १२ ॥१५३॥

मान अभिमानैं लादैं फिरैं । गुरू न षोजैं मूरिष मरैं ॥
डंड कमंडल भगवां भेस । पाथर पूजा वहु उपदेस ॥ १३ ॥१५४॥

जीव हतैं अरु पूजा करैं । जंत्र मंत्र ले हिरदैं[5] धरैं ॥
तीरथ जाइ करैं अस्नान । बोली चरपट पंडित ग्यांन[6] ॥ १४ ॥१५५॥

न्हावैं धोवैं पषालैं अंग । भीतरि मैला बाहरि चंग ॥
होम जाप इग्यारो करैं । पारब्रह्म के सुध न धरैं ॥ १५ ॥१५६॥

दिन दिन हत्या करैं अपार । सूत गया तिग ले लैं मार ॥
ब्रह्मा रूप ठग्या संसार । चरपट कहै यहु धूत बिचार ॥ १६ ॥१५७॥

गंध[7] विगंधा[8] मूता[9] षांड । पड़ि पड़ि तसवा[10] तोडैं हाड ॥
बंच न सक्या[11] आंगुल च्यारि । चरपट कहै ते माथै मारि ॥ १७ ॥१५८॥

जल की भीति पवन का थंभा । देवल देषि [12] भया अचंभा ॥
बाहरि भीतरि गंध बिगंधा । काहे भूलै पसुआ[13] अंधा ॥ १८ ॥१५॥

चरपट कहै सुणो रे अवधू । कांमणि संग न कीजै ॥
जिंद ब्रिद नो नाड़ी सोषै । दिन दिन काया छीजै ॥१९॥१६०॥

आंषि की टगटगी-नाक की डंडी । अहार की कोथली[14] नरक की कुंडी ॥

१—क. जाल, ख. जार; २—ग. वहौ;

३-४—ख. प्रति में इस प्रकार है:—

विचित्र कंथा अचला चंगा ।
बटवांसी वैं बहु रंगा ॥

५—क. ले मन में धरैं; ६—ख. जांन ।

७—ख. बजा; ८—ग. गंग;

९—ख. बिधा; १०—ग. पसुवा पड़ि पड़ि;

११—ग. ज्यांह न बंची; १२—ग. देष्यर;

१३—ग. पसवा; १४—ख. में "तहां" अधिक;

मन का बासा तहाँ[1] मास का लूचा । सिष्टि का छार तहाँ केस का कूचा[2]
॥२०॥१६१॥

गंध विगंध जहाँ चार बिचारी । चरपट चाल्यो मात जुहारी ॥२१॥१६२॥

जतन करंता जाइ सुजानु[3] । भग देखि न घालै घानु[4]॥

कोटि करस लूं बाढ़ै[5] तुम्हारी आव । सत सत भाषंत श्री चरपट राव ॥
२२॥१६३॥

साधु कहलवैं भुगते भग । ताका काला मुष पीला पग ॥

कूटै चमड़ी धरै धियान । ता पसुवा मैं कहा गियान ॥२३॥१६४॥

फोकट फाकट कथै गियान । कूटैं चमड़ी धरे धियान ॥

सिध पुरिस स्यूं करै उपाधि[6] । चरपट कहैं ये कलिजुग का बाद[7] ॥२४॥१६५॥

बामैं हाथि कमंडल । दाहिणैं हाथ डंडा ॥

मांडौं चक्र पूजो कै मंडा । वै वी उभै मुंह आगैं रंडा ॥

चरपट कहै ये सबै पाषंडा ॥ २५ ॥ + १६६ ॥

मंदे मासे लावै चीत । ग्यान विवरजित गावै गीत ॥

अहनिसि भोग बिलासं[8] । चरपट बोलै कंध विणासं ॥ २६ ॥ १६७ ॥

दया धरम सत चित न बसै । अतीत देषि निंद्या मनि हसै ॥

कथै गियान अरु फोकट रहण । चरपट कहै कलू का चिहन ॥ २७ ॥ १६८ ॥

जिसका मति सही कू छाजै । और करै तो डींगा बाजै ॥

चरपट कहै यहु आचिर्ज देष । कनक कामिनी षाया भेष ॥ २८ ॥ १६९ ॥

फोकट आवै फोकट जाइ । फोकट बोलै फोकट थाइ ॥

फोकट बैठा करै बिबाद ॥

चरपट कहै ये सबै उपाव ॥ २७ ॥ १७० ॥

पगे चमांऊं माथै टोप । गल में बागा मन में कोप ।

माया देषि पसारा करै । चरपट कहै अणषूटी मरै ॥ ३० ॥ १७१ ॥

जो तूं रावल परा सियांना । कसि किनि[9] बांधै टाटीं ॥

बारह आंगुल पैसि गई है । सोलह आंगल फाटी ॥ ३१ ॥ १७२ ॥

१—ख. जहां २—ग. मेंपाठान्तर:—

आंषि की टगटगी नाक की डांडी । चाम की चंद्रोपा रूयू सू मांडी ॥
मल प्रसेद सु'गति जहां सूदा । अहार की कोथलो नरक का कूंडा ॥

३—ग. सुजाइ; ४—ग. घाव; ५—ख. बधै; ६—ग. उपाधो; ७—ग. वादी ।
+ चिन्ह अंकित अर्थात् २५ वां पद क प्रति में नहीं है;
८-ख. बिलालं । ९-क. हसि किनि,

झोली मोली पाई पत्र पाया । पाया पंथ का भेव ॥
रीता जाऊं भऱ्या आऊं । कहा करै[1] गुरु देव ॥ ३२ ॥ १७३ ॥
हंसना योगी रिगनी सांटि । पुरिष कुलषणैं बसा नाटि ॥
कवि लजालू नीलज नारि । चरपट कहै ते माथै मारि ॥ ३३ ॥ १७४ ॥
बजर कछौंटी[2] चाबैं पान । तीरथि जाइ उगाहैं दान[3] ॥
करै वैदगी ज्यावै रोगी । चरपट कहै ते[4] विगूता जोगी ॥ ३४ ॥ १७५ ॥
आईं न छोड़ौं लैंन न जाऊं । ताथीं[5] मेरा चरपट नांऊ[6] ॥
आई मी छोड़िये लैंन[7] न जाइये ।
कुहै गोरष पूता विचारि विचारि षाईये ॥ ३५ ॥ १७६ ॥
टूका[8] षाया मगर मचाया । जैसा सहर का कूता ॥
जोग जुगति की षवरि न जांणी । कान फड़ाई विगता ॥ ३६ ॥ १७७ ॥
जोग न जोग्या[9] भोग न भोग्या, अहिला गया जमारं ॥
ग्रामि गदहा रामै सूकर । फिरि फिरि फिरि ले अवतारं ॥ ३७ ॥ १७८ ॥
रूप विरष गिर कंदलि बास । यह निसि[10] रहिबा जोग अभ्यास ॥
पलटै काया षंडै[11] रोग । चरपट कहै धनि धनि[12] जोग ॥ ३८ ॥१७९॥
अवधू मूल दुवारै बंद[13] लगाइ । पवन पलटै गगन[14] समाइ ॥
नादा बिंद दोउ असथिर होइ । अदृष्टि पुरिष दृिष्टि तब जोइ ॥ ३९ ॥१८०॥
पवनी कंथा अनलै बास । पिसण न कोई आवै पास ॥
मन सूं मतै[15] न ग्यांन सूं गूझ[16] । चरपट कहै धनि अवधूत ॥ ४० ॥१८१॥
निरभै निसंक तत वेता । मन मानि विवर्जित इन्द्री जिता ॥
ग्यांन[17] सेल फटक मन रता । चरपट कहै ये सिध मता ॥ ४१ ॥१८२॥
करतलि भिष्या विरष तलि बास । दोइ जन अंग न मेलै पास ॥
ब्रन षंडि रहे मसाणें भूत[18] । चरपट कहै ते अवधूत ॥ ४२ ॥१८३॥
चिरकट चीर चंक्र[19] मन कंथा । चित चमाऊं करणां ॥
अैसी करणो करौ रे अवधू । ज्यूं बहुरि न होइ मरणां ॥ ४३ ॥१८४॥

१—क. इब कहा करैं । २—ख. बज्र कछोटी ३—क. दाम; ४—क. में 'ते' नहीं है । ५—ख. लीण न जान; ६—ख. तिस कारणि; ७—ख. लीन न जाइये; ८—ख. टका; ९—ख. भोग्या । १०—क. इहि विधि; ११. क, छंटै; १२. क, धनि धनि ते; १३. ग, बंध; १४. क, गंध; १५. ख, मतौने; १६. ख, गलै; १७. ख-ग, में 'ग्यांन' नहीं है; १८. क, में 'रहे' है । १९. क, द्रिढ़; ।

अवघू मूल दुबारै लावै बंध । बाई बैलै चौसठि संघ ॥
जुरा पलटै षंडै रोग । बोलै चरपट धनि धनि जोग ॥ ४४ ॥१८५॥
मारौ भूषरु साधौ निंद । सुपिनै जाता राषौ बिंद ॥
जुरा पलटै षंडै रोग । चरपट कहै धनि यहु जोग ॥ ४५ ॥१८६॥

बंघसि बंध विषम करि बंध । तलि करि रवि ऊपरि करे चंदा ॥
रैणि दिवस रस चरपट पीया । षूटै तेल न बूझै दीया ॥ ४६ ॥१८७॥
थिर करि मनवां द्रिढ़[1] कर चित । काया पवन पषालै नित ॥
अमरा मरौ ज्यूं थिरवै कंघ[2] । न उड़ै हंसा न पड़ै जिंद ॥ ४७ ॥१८८॥

कथनी वदनी वलि करि जाव । बंधि सकहु तौ बंधौ बाव ॥
चरपट कहै पवन की डोर । भूंकत गदहा ले गयौ चोर ॥ ४८ ॥१८९॥
मुंजली कंथा वगड़ी बास । कामिनि अंग न लावै पास ॥
द्रिढ़ करि राषौ पांचौ इन्द्र । चरपट बोले ते जोग्यन्द्र ॥ ४९ ॥१९०॥
मन नहीं मूंडैं मूंडैं केस । केसां मूंड्या क्या उपदेस ॥
मूडैं नहीं मन मरदक मान[3] । [4]चरपट बोलै तत गियान ॥ ५० ॥१९१॥

मन चंचल पवन चंचल[5] । चंचल बांई की धारा ॥
इहि घट मध्ये तीन्यूं चंचल । क्यूं राषसि[6] झरता व्यंद का द्वारा ॥ ५१॥१९२॥

भरथर चरपट गोपीचंद । बिंदौ आतमा परमांनंद ॥
छांड़ौ षीर पांड बहु भोग । राषौ आतमा साधौ जोग[7] ॥५२॥१९३॥
नां घरि त्रिया ना पर त्रिया रता । ना घरि धंन न जोबन मता ॥
ना घरि पुत्र न धीय कंवारो । तायैं चरपट नींद पियारो ॥५३[8]॥१९४॥

एका गूंडा[9] ऊपरि पाव । दूजा गूंडा ऊपरि भाव ॥
तीजा आगै बाजै तूरा । चरपट कहै बिगोवा पूरा ॥५४॥१९५॥
पूजि पूजि भाठा सब जग घाठा । निज तत रह्या[10] निरालं ॥
जोति सरूपी संग हो आछै । ताका[11] करौ बिचारं ॥५५॥१९६॥

---

१. क, थिर; २. क, कंद । ३. क, कांम न; ४. क, बोलै चरपट;
५. क, में 'मन चंचल पवन; ६. क, रषिसे;
७. क. में यह पंक्ति ऐसी है:—
जोग न जोग्या भोग न भोग;
८. यह पूरा हद क. में नहीं है;
९. ख. से गूंठा; १०. ख. रह गया ११. क. तिसका ।

तांबा तूंबा ये दोइ सूचा। राजा ही तैं जोगी ऊंचा ॥
तांबा डूबै तूंबा तिरै। जीवै जोगी राजा मरै ॥५६॥१९७॥
दरसन पहिर कहावैं नाथ। मुषि बोलैं चतुराई ॥
आलै बांसै ज्यूं घुण लागा। डाल मूल षणि षाई ॥५७[1]॥१९८॥
नाड़े डोडे षाडे घरम। ऊँचा मंदिर कूंड़ा करम ॥
चरपट कहै सुणौं रे लोक। रतन पदारथ गँवाया फोक ॥५८॥१९९॥
चांम की कोथली चाम का सूवा। तास की प्रीति करि जगत सब मूवा ॥
देव गंध्रप मुनि मानवां जेता। उबर्‌या एक को गुरमुषि चेता ॥५९॥२००॥

चरपटनाथ जी के श्लोक

इक पीत पटा इक लम्ब जटा। इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कहीए भसम छटा। जउलउ नहीं चीनै उलटि घटा।
तब चरपट सगले स्वांग नटा ॥२०१॥
मूसेकंनी बहु फल दूढंब दूढब जाय। पानी सोषै कलीका चरपट बैठा खाय ॥२०२॥
पंज सिरसाही गंधक लेहु। पारा सिरसाही तिन्न लेहु ॥
इक तोला गोरोचन पावै। चार दूध तिहं मांहि खपावै ॥
दूध दूध का क्या क्या नांऊ। चरपट इह विधि कहै सुभाऊ ॥२०३॥
जब सेर अढाई दूध खपाइ। तब हीया में तत्त समाय ॥
बकरी उठनी गाय अरु भेड़। सतिगुर सहज बताई खेड ॥
चार दूध गंधक महि सुखाई। तांके गुण क्या कहो सुनाई ॥
सूखे करके शीशी पाय। बालू यंत्र सों तेल चुआय ॥
रत्ती तोला तांबा मैं देंइ। तत्तकाल कंचन करि लेइ ॥
झोला होइ सु पेटहिं खाय। चरपट कहे रोग तब जाय ॥२०४॥
पारा इक सिरसाहो लेहु। सम हरताल सु तांमहि देहु ॥
सुयन मकरखी सिरसाही मीत। सम सिंगरफ ले गुर परतीत ॥
सरसाही सुहागा सो देइ धमाल। अम्बर बेल सो खरलहिं डाल ॥
खरल करै जब बासर तीनि। गर परसादी होय महीन ॥२०५॥

१—यह पूरा पद 'क' में नहीं है।

६—चौरंगी नाथ

प्राण सांकली

अथ चौरंगी नाथ जी की प्राण सांकली लिष्यते ।

सत्य वदंत चौरंगी नाथ । आदि अंतरि सुनो व्रितांत ।
साल वाहन घरे हमारा जनम उतपति, सति मां झुट बोलीला ॥१॥२०६॥

ई अम्हारा भइला सासत; पाप कल्पना नहीं हमारे मने, हाथ पांव कटाय रलाइ लायला निरंजन वने, सोष संताप मने परभेव सनमुष देषिला श्री मछंद्रनाथ गुरुदेव, नमसकार करीला, नमाइला माथा ॥२॥२०७॥

आसीरबाद पाईला अम्हे, मने भइला हरषित, होठ कंठ तालूका रे सुकाईला, धर्म ना रूप मछंद्रनाथ स्वामी ॥३॥२०८॥

मन जांनै पुन्य पाप, बचन न आवै मुषै, बोलब्या कैसा, हाथ रे दीला फल मुषे पीलीला, ऐसा गुसाई बोलीला ॥४॥२०९॥

जीवन उपदैस भाषिला, फल आम्हे विसारला, दोष बुध्या त्रिषा बिसारिला ॥५॥२१०॥

नहीं मानै सोक घर धरम सुमिरला, अम्हे भइला सचेत, के तुम्हारे बोले पुछीला ॥६॥२११॥

अम्हे आदि अंत सुष दुष बोलीला, जवे दया उपजीला, गुसाई मनैं तत्रे थिर हो चौरंगी तुम्हें आनमना न होइबा ॥७॥२१२॥

अम्हारा वचन तुम्हें दिढ़ करि धरिबा, काम क्रोध दुष मने न थोइबा, ये भव नदी तुम्हे सहजे तिरबा, सुष दुष पडेरा प्रापति ॥८॥२१३॥

सहजै उतपति प्रलै सहजै निनारत निमील चितैंनि सुलैभवै (?) थिर हो चौरंगी तुम्हें, परम ध्याने जोग जुगति, सति जति क्रिया प्रमाण, सत गुरु वचने हित उपदेश त्रियो (तिर्यो) म्रित घोर पारं, गुसांई बचने भईला दिढ़ बुध ॥९॥२१४॥

भरमत जीया मन रहैला समोद, आसण बंध भेद मुद्रा जोग जुगत रा बुझाईला भेव; पिंडे प्राणे परचो करलै, अम्हारा गुरु सिध मछिंद्र नाथ देव ॥ १० ॥ २१५॥

अहार प्रीति पालन चीति, श्री गोरखनाथ कुस मुषला बारै बरष अम्हारै निमिति आणि जोगला ॥ ११ ॥ २१६ ॥

ग्यांन रा गुर अम्हारा सिध मछींद्र नाथ, ता प्रसादे भइला पग हाथ; त्रिभवने फिरत याकली अम्हारी अनदाता श्री गोरषनाथ ॥ १२ ॥ २१७ ॥

बारै बरष अम्हे एक चित मने, तिरीयै त्रित घोरपारं, दुतर तिरलो अम्हे, सिध भईला काया ॥ १३ ॥ २१८ ॥

गोरषनाथ पुछीला अम्हे ते जीवन उपाया तहा कौंन कथिला अम्हें परम गुसांई ॥ १४ ॥ २१९ ॥

तिह देषै पंछे सिष्यन भईला, अनंत सिधा आया, पर तिरला त्रिभवने कोरत अम्हारी अम्हे आपा नु धारीला ॥ १५ ॥ २२० ॥

मछंदनाथ गुरु अम्हारा, गोरषनाथ भाई, विवरी विचारी चौरंगी आनमना न हो री ॥ १६ ॥ २२१ ॥

कहा कौं कथिबा कछु कथना न जाई, सिध संकेत वाणी बिरला हिरदै समाई; पिंडे प्राणे परचो संधान, गुरुमुष आये ले ज प्रमान ॥ १७ ॥ २२२ ॥

जे जन बुझिबै सो जन बुझै, तिसि पिंडरा होइ मोष्य मुक्ति; आपणा रे दूष जाणबो पर दूष ॥ १८ ॥ २२३ ॥

सति सति भाषंत चौरंगीनाथ प्राण सांकली कथी विचारि अनंत सिधा उतरीया पार। भव नदी प्यंड ब्रह्मांड करि जांनी सिव संकेत अचंचल वाणी। अकथ कथा ते कही न जाई, सति सति वदंत चौरंगीनाथ, बिरला हिरदै समाई ॥१९॥२२४॥

बाहरि भीतर फीटला भ्रांति, ते पिंडे प्राणे होय मुक्त। प्राण सांकली सरीर विचारं, अनंत सिधां तिरीयी मृत घोर पारं ॥ २० ॥ २२५ ॥

सत्य गुर मछंद्रनाथ प्रसादे अम्हारा फीटला भ्रांति। सत्य सत्य भाषंत चौरंगीनाथ अनंत पिंडेरा होइ मुक्ति ॥ २१ ॥ २२६ ॥

एवं सरीरे आदिमेर, अष्ट कुल नाग, अष्ट पाताल, दतुर्दश भवन ॥ २२ ॥ २२७ ॥

सपत दीप, सपत सागर, सपत सलिता, सपत पाताल, सप्त सुर्ग, पंच भूत ॥ २३ ॥ २२८ ॥

पचीस प्रकृति, पंच षेत्र, बिहानवैं सहस नदी, चौरासी लाष जीव जोनि, च्यार षानीं, च्यार बांनी, चत्रुदस सास्त्र ॥ २४ ॥ २२९ ॥

सात बार, पंद्रै तिथि, सत्ताईस नष्यत्र, नवग्रह ॥ २५ ॥ २३० ॥

बारह रासि, सर्व देव देवता, चतुर्जुग संख्या, इति सर्व संजोग्य उतपनी काया ॥ २६ ॥ २३१ ॥

बाहरि भीतर एक सतगुरु कथंता, सपुत्र श्रोता। कायारा बिचार, चौरासी षंड ग्यांन ॥ २७ ॥ २३२ ॥

सवा लाष उपदेस, बाणबै लक्ख को राति दिन, सिव सकति, अष्ट कुल परबत ॥ २८ ॥ २३३ ॥

सुर्ग मृत्य पाताल कूर्म तीन भवन व्यापक, अनेक नांव रूप काया मध्ये
वा। २९ ॥ २३४ ॥

गुर उपदेसै जालि (जि ?) बा तलयगा कौ (जलि पाताल या कौ ?) तल
पाताल बोलीयै। तल पाताल ऊपर नील तल बसै ॥ ३० ॥ २३५ ॥

नील तल ऊपर षणुगांउ गांउ बसै, तहाक सुतल बोलीयै षणुगांउ गांठ ऊपर
नली हाड़ वसै ॥ ३१ ॥ २३६ ॥

तहां कौं परतल वोलीयै, नलो हाड़ ऊपरि चष्प कुंडली बसै, चष्प कुंडली
ऊपरि गंभीर नाल बसै ॥ ३२ ॥ २३७ ॥

तहां कौ तलीतल बोलीयै, गंभीर नाल ऊपर समकूहड़ बसै तहां कों रसातल
बोलीयै, समकूहड़ ऊपरि केसी सूत्र अस्थान बसै ॥ ३३ ॥ २३८ ॥

तहां कौ पाताल बोलीयै। एवं सरीरे सपत पाताल बोलीयै, सपत पाताल
ऊपरि पृथ्वी बसै, नाग कुर्म कुर्करो देवदत धनंजया ॥ ३४ ॥ २३९ ॥

ता मध्ये पंच प्राण, प्राण अपान समान उदांन व्यांन, ता मध्ये प्रांण कारण
॥ ४० ॥ २४० ॥

प्राण आछै लई सबै आछैं, प्राण गैलो सबै जाय; इह कौ अनेक गुरु उपदेसैं
जानियै ॥ ४६* ॥२४१॥

पोटी ऊपर अंतरमाला बसै, तहां कौ अनंतमाया बोलीयै, ता ऊपर हिरदै
कंवल बसै, हिरदै कंवल ऊपर हिरदै लिंग बसै, हिरदै लिंग ऊपर हंस बसैं ॥ ४७ ॥
॥२४२॥

बसै, बतोस हाड़ ऊपर जमघाटी बसै, जमघाटी ऊपरि चत्रकंठ बसै ॥ ४८ ॥
॥२४३॥

चत्रकंठ ऊपरि नीलकंठ बसै, चत्रनील कंठ मध्ये अर्क चितली देअबा तत्र नाद
धुनि अस्थान बसै नाद धुनि अस्थान ऊपरि देवदत्त वायु बसै ॥ ४९ ॥२४४॥

देवदत्त बायु ऊपरि जिम्यामूल बसै, जिम्यामूल कौ आदि अस्थान बोलीयै,
इहकौ अर्धशक्ति बोलीयै ॥ ५० ॥२४५॥

जिम्या दिषणो पासै पइंकाल बसै, जिम्या बामै पासै काल बसै, मध्य जिम्या
सति बसै, जिम्या अग्रै स्वाद अस्थान बसै ॥ ५१ ॥२४६॥

तल दंतपटी कौं सिवचक्र बोलीयै, दोयपटी चांपिला वज्रावली बोलीयै, जिम्या
तलै गंगा जमना बसै ॥ ५२ ॥२४७॥

---

* मूल प्रति में ३४ के पश्चात् ४० और तत्पश्चात् ४६ क्रमांक दिया हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि बीच के कुछ पद्य छूट गए हैं।

तत्र जलयांनै अमृतावली बोलीयै, तहां कौं सीतल बोलीयै, जिभ्या ऊपर लंबका बसै, लंबका ऊपर घंटका बसै ॥ ५३ ॥२४८॥

घंटका ऊपर तालुका बसै, तालका ऊपर गगन गंगा बसै, तहाँ होइ नाक बाट कान बाट चष्षबाट, इह कौं त्रिबेनी बोलीयै ॥ ५४ ॥२४९॥

कर्न कौं अनहद पंथ बोलीयै, चष्ष को गगनदीप बोलीयै, नासिका कौं जमल संष बोलीयै ॥ ५५ ॥२५०॥

नासिका का पवन सुललना बहै तो उजीणी बोलीयै, तहाँ कौं सुसंच सुष आरोग्य बोलीयै, सुललना बहै तो आन उजीणी बोलीयै, तहां को विसंचि विग्रै बोलीयै ॥ ५६ ॥२५१॥

दाहनै वाहै तौ भुंजिबा, बामै बहै तो सोइबा, सक्ति मन बहै तो बैसिबा, आतमा चितवनि छाडि आन कौं न मन धरबा ॥ ५७ ॥२५२॥

इतना प्रकार का कलेवर संज्योग बोलीयै। एती साधक उलटि जिभ्या अभ्यास करण वावां पट चाँपिला दहिण पुट बहै ॥ ५८ ॥२५३॥

दाहिणा पुट चांपिलां वामा पुट वहै, मध्या चांपिला आवागमण रहै, इह कौं काष्टी समाधि बोलीयै ॥ ५९ ॥२५४॥

चंद्र अस्थान बुईला जागै, रबि अस्थान बुईला सोवै, इहकौं समाध्यान बोलीयै। इह जोग अभ्यास बोलीयै ॥ ६० ॥२५५॥

इहको समाधि सिध हठ जोग बोलीयै, इहकों वज्रवली बोलीयै, अर्ध ऊर्ध मधि निरोधनां कौं सिधावली बोलीयै ॥ ६१ ॥२५६॥

चष्ष कौ गिगन जोति बोलीयै, चष्प भीतर सुकुल पटी बसै, सुकुल चष्प भीतर कृष्ण पटी बसै, तहाँ कौं नीलकांति मनि बोलीयै ॥ ६२ ॥२५७॥

नीलकांति मणि भीतरि निर्मल जोति बसै, निरमल जोति भीतर निरंजन पुतली बसै, निरंजन पुतली ऊपर निद्रा बसै, निद्रा ऊपर चन्द्र बसै, चन्द्र ऊपर सप्त सून्य ब्रह्मांड बसै, एते एते एक नाम अह्यान कौं पिंड बोलीयै। सर्व मस्तग कौं सुर्ग बोलीयै, पिंडि ब्रह्मांड बसै ॥ ६३ ॥२५८॥

षरतर गुर स्यौं उपदेसै जानीयै, पिंड अस्थान अँगुलो अंतरै आकास ब्रह्मांड अंगुली अंतरै परम सुन्य ब्रह्मांड बसै ॥ ६४ ॥२५९॥

सुन्य ब्रह्मांड अंगुली अंतरै निरंजन ब्रह्मांड बसै, निरंजन ब्रह्मांड अंगुली अंतरै निरंतर ब्रह्मांड बसै, इति सप्त ब्रह्मांड बोलीयै ॥ ६५ ॥२६०॥

सप्त ब्रह्मांड ऊपर पर परम सून्य निरालंबन अस्थान बसै, तहांको सिव भवन बोलीयैं, तहाँकौं अनूपम बोलीयै ॥ ६६ ॥२६१॥

पूर्व भागे उदैगिर बसै, पछि भागे अस्तगिर बसै, बाइब कूणें हेम गिर बसै, नैरति कूणे कनेर गिर बसे ॥ ६७ ॥२६२॥

ईसान कूणें महेन्द्र गिर बसै, अग्नि कूंणे पुन्ये गिर बसै, दिष्षन कूणें बनचाल गिर बसै, उतर कोणें कबलास गिर बसै ॥ ६८ ॥२६३॥

इति सरीर अष्ट गिर बसै अष्ट गिर मध्ये अलंक छत्र बसै, अलंक छत्र मध्ये गहन गंभीर सरोवर बसै, तिहकौं गहन गंभीर समुद्र बोलीयै ॥६९॥२६४॥

तहां कौं गगन गंगा बोलीयै तहांकौं अमर अस्थान बोलीयै तहांकौं अमृत कुंड बोलीयै तहांकौ मान सरोवर बोलीयै ॥७०॥२६५॥

ते गहन गंभीर सरोवर मध्ये सहस्त्र दल कंवल मध्ये परमहंस बसै ते स्वयं बोध क्रीड़ा आनंद आछै ॥७१॥२६६॥

तहां कौं परम ध्यान बोलीयै, तहांको आतमा चेतन बोलीयै, ए ध्यान चिंतने पापक्षय होय ॥७२॥२६७॥

पाप पुन्य विवर्जित सिध संकेत गुरु उपदेसै जानीयै, एते एक पिंड ब्रह्मांड घान घानंतर बिचारं सिध मछींद्रनाथ कथीलै सारं अनंत नरलोक तिरंति ॥७३॥२६८॥

मृत घारेपारं सत्य सत्य मावंत चौरंगीनाथ त्रिभवने विस्तार काया अछंव हाथ ऊर्ध सुर्ग भवन बोलीयै अधै पाताल भवन बोलीयै इति तीन भवन बोलीयै ॥७४॥२६९॥

द्वै पगरा द्वै सिर द्वै हाथौरा द्वै सिर में पासेरा द्वै सिर का दोर अर्धं अर्घ मध्ये द्वै सिर ॥७५॥२७०॥

ए अष्ट सिर अष्ट नाग बोलीयै, कादोर (?) तीन भवन बोलीयै, मध्ये घान घानते बिचारं अर्घ नाड़ी जिभ्या बोलीयै, अनंत नाग बोलीयै ॥७६॥२७१॥

अर्धा नाड़ी इन्द्री बासिग नाग बोलीयै, बामैं पगरा सिर कंकोड नाग बोलीयै, दिषन करेरा सिर पवन नाग बोलीयै ॥७७॥२७२॥

बावैं करेरा सिर महा पवंग नाग बोलीयै, मेर पासेरा दष्षन सिर संसनाग बोलीयै । एते सरीरे अष्टनाग बोलीयै ॥७८॥२७३॥

गंगा जमुना सरस्वती नरबदा गोदावरी देवनदी गोमती एते सरीरे सपत सलता बसै ॥७९॥२७४

जिभ्या दष्वण पासैं गंगा बसै, जिभ्या बामै पासै जमुना बसै, मध्य जिभ्या सरस्वती बसै, पवन नाड़ो नरबदा बसै ॥८०॥२७४॥

अनिनाड़ी गोदावरी बसै, मेर मध्ये देवनदी बसै, मूत्र नाड़ी गोमती बसै, इति सरीर मध्ये सप्त सलिता बसै ॥८१॥२७६॥

सरीरे सप्त समुद्र बसै, षीर नीर दधि सुरा मधु सार घ्रित इति सरीरे सप्त समुद्र बसै ॥८२॥२७७॥

मूत्र कौ षार समुद्र बोलीयै, हिरदै कर्ण रस समुद्र बोलीयै, नेत्रैं नीर समुद्र बोलीयै, सलेषमा नासिका कौं दधि समुद्र बोलीयै ॥८३॥२७८॥

बीज मीज को घृत समुद्र बोलीयै, सप्त दीप चष्य मनुष्य नासिका कर्ण हस्त पादुका उद्र इति सरीरे सप्त दीप बोलीयै ॥७४॥२७९॥

सरीरे चतुर दिगपाल बसै, उर्व भाग कौं पूरब दिग बोलीयै, इष्ट कर्न कौं दष्षन दिगपाल बोलीयै ॥८४॥२८०॥

हेतबुध मत स्नुत के उत्तर दिगपाल बोलीयै, सरीरे चतुर दिगपाल बोलीयै ॥८६॥२८१॥

रात दिन जाग्रत कौं दिन बोलीयै, निद्रा कौं रात्रि बोलीयै, ए सरीरे दिन रात बोलीयैं, बिंद कौ चंद्र बोलियै ॥८७॥२८२॥

पवन को सूर्य बोलीयैं, ए सरीरे चंद्र सूर्य बोलीयै, इंह को सिवसक्ति बोलीयै पंच तीर्थ केदार सागर ॥८८॥२८३॥

गया प्रयाग वाराणसी सिरे केदार बोलीयै, उदरे सागर बोलीयै, कंठे गया बोलीयै ॥८९॥२८४॥

नाभि प्रयाग बोलीयै, सकल व्यापक वाराणसी बोलीयै, ए सरीरे पंच तीर्थ बोलीयै ॥९०॥२८५॥

पंच भूत। पृथ्वी अप् तेज वायु आकास ए पंचभूत काया मध्य बोलीयै ॥९१।२८६।

पंच प्रकृति। कर्ण चक्षु नासिका जिम्या इन्द्री ए सरीरे पँच प्रकृति बोलियै ॥९२॥२८७॥

च्यार षानी। स्वेतरज अँडरज जारज उदबीरद। सिरैं स्वेतरज षांन बोलीयै नेत्रे अंडरज षांन बोलीयै, उदरे जारज षांन बोलीयैं, सर्व तुचा कौ उदबीरज षांन बोलीयै ॥९३॥२८८॥

ए सरीरे च्यार षान बोलीयै। चौरासी लष जीव जोन को सरीरे बत्रेकी बोलीयै तीन तीन सै साठ हाड को ॥९४॥२८९॥

सवा लाष परबत बोलीयै, बौहतरी सैस नाडी कौं बौहतरि सहस नदी बोलीयैं सर्व संधि कौं सोलै तिथि बोलीयै ॥९५॥२९०॥

सप्त धात कौ सपत वार बोलीयै। नवद्वार कौ नव ग्रह बोलीयै, सर्व सूत्र कौं सत्ताईस नक्षत्र बोलीयै। च्यार भेद नाभि हुदै ॥९६॥२९१॥

कंठ मुष ए च्यार वेद नाभि रघुबेद बोलीयै हृदै जुजरबेद बोलीयै, कंठ साम बेद बोलीयै ॥९७॥२९२॥

मुषे अथर्वण बोलीयै, ए सरीरे चार बेद बोलीयै दया धर्म पराकर्म क्रोध ॥९८॥२९३॥

ए च्यार जुग बोलीयै, दया कौं सतजुग बोलीयै धर्म कौं पराक्रम कौं द्वापर जुग बोलीयै ॥९९॥२९४॥

क्रोध कूं कलजुग बोलीयै एते सरीरे च्यार जुग बोलीयै एवं नाना रूप विधानाम पिंड ब्रह्मांड छे ॥१००॥२९५॥

षट् चक्र अक्रिता काया गोहाचक्र लिंग चक्र नाभि चक्र हृदै चक्र कंठ चक्र भ्रुव चक्र ए षट् चक्र बोलीयै ॥१०१॥२९६॥

गोहा चक्र कूं आधार चक्र बोलीयै, च्यार पांषड़ी रक्त वर्ण कंवल बोलीयै ॥१०२॥२९७॥

आधार सक्ति नांव देवता सूर्य प्रभाति क्रांति तत्र अस्थाने अकोचने बध देवा अग्नि वृधि आयु वृधि सर्व व्याधि निवारणं ॥१०३॥२९८॥

तिहां थीं तीन अंगुल अँतरै लिंग चक्रं स्वाधि अस्थान बोलीयै ॥१०४॥२९९

षट् पांषड़ी कंवल पीत वर्ण कामेश्वर नाम देवता दीर्घ ब्रह्म सूत्र ॥१०५॥३००

ब्रह्म अग्नि रोथित तीन तिहांणा रा थान तत्र ध्यान बंध अकोचने त्रिभवन जयंत ॥१०६॥३०१॥

दिव दृष्टि तहां कूंती दस आंगुलो आंतरै नाभि चक्र मन पर बोलीयै दस पांषड़ो कमल कपिल वर्ण सेवता नाम देवता ॥१०७॥३०२॥

छत्र बाल आकार सर्व नाड़ो रा मूल अस्थान पवन रीथित तत्र ध्यान बंध अकोचने वज्र काया बोलीयै ॥१०८॥३०३॥

तिहां कूं ती द्वादस आंगुली आंतरै हृदै चक्र अनहत बोलीयै द्वादस पांषड़ी कमल स्वेत वर्ण प्राण लिंग देवता सूर्य कोटि प्रभा अमृत लिंग बोलीयं, सर्व धर्म व्यापार कारक तत्र ध्यान बंध अकोचने सर्ब कर्म निवर्त होइ ॥१०९॥३०४॥

तिहां कुंती अष्ट आंगली आंतरै कंठ चक्र विसुध बोलीयै, सोलै पांषड़ी कमल धूम्र वर्ण जो निराकार नाद धुनि नाम देवता तत्र ध्यान बंध अकोचने स्वास उसास निवारण होइ, सर्व व्याधि पंडल होइ, आयोर्वृद्धि ॥११०॥३०५॥

तिहां कूंतं सोलै अंगुली अंतरै भूचक बोलीयै, अग्याग्यास बोलीयै, दोइ पांषड़ी कमल रक्त वर्ण रुद्र नाम देवता हेत बुधि चेतना जाग्रत राथान तत्र ध्यान बंध आकोचने मन बायो आस्तंमना विश्वमृत निद्रा निवारणं देह सिधि फल प्रदायकं, इह कूं षेचरी मुद्रा बोलीयै, इहकौं जोगाभ्यास ध्यान बोलीयै ॥१११॥३०६॥

तिहं ऊपर अंगुल एक अंतरै सुम्य ब्रह्मंड बोलीयैं, तिहं कूं गगन मंडल बोलीयैं, तिस कूं सिध चंद्रमंडल बोलीयै। तिस कूं देव भुवन बोलीयैं, एते नाम अस्थान पिंड ब्रह्मंड देव देवता थान थानंत (धान धानंत) मूर्ति सतगुरू मछिंद्र प्रसादे आहारी फीटोला भ्रांति सिध एंकत त्रिभवने गोप्य गुरमुषै छलिछा (वा) आंपुना ही रूप रेष नही तहां प्रवाणवां कैसा ॥११२॥३०७॥

दोष पष ग्रासबा गुर उपदेसा इक कूं पिंड ब्रह्मंड कूं दोइ पष बोलीयै, इह नाम अस्छानक कूं चौरासी पंड ग्यान बोलीयैं, इह कौं सवा लाष उपदेस बोलीयै, इह कौं बाणवै लष्ष फांकी बोलीयैं ॥११३॥३०८॥

इतै सर्ब जाणिबा, गुर उपदेस सै प्रवांणबा, एते एक मध्ये सारं तिनै पिंडरा होइ उधारं, इह को सास्त्र प्रतीत आत्मा प्रतीत बोलीयैं, इह कूं विमर्ण बोलीयैं, एते एक नाम अस्छान धिनतंर ॥११४॥३०९॥

मन पवन संजोग भईला विस्तार, ए सिधांत काया प्रमाण पिंड ब्रह्मण्ड, इह रचे कर्ण इक वित न जिह रे सरणै समया ॥११५॥३१०॥

अप्रमाण ले जीवन उपाया, सति वदंत चौरंगीनाथ बिन गुर उपदेसे लष्या न जाई, त्रिभवने अगोचर हरु ब्रह्मा जानि, सिध संकेत अचंभू बांनि ॥११६॥३११॥

अकथ कथाते कथना न जाई, सति बदंत चौरंगो बिरला हिरदै समाइ। अप्रमाण ले जीवन उपाया ॥११७॥३१२॥

एति वदंत चौरंगीनाथ विन गुर उपदेसै लष्या न जाई, त्रिभवने अगोचर हरु ब्रह्मा जानि ॥११८॥३१३॥

अपष्या पष्या नहीं रूप रेष नांहि गुर उपदेसै आयसं प्रतिष्य पिंड ब्रह्मंड लाह रे पुरणा ॥११९॥३१४॥

तीन भवन भरिपूर आप आकार बिहूना श्री गुर मंछिद्रनाथ बचने अम्हारी फीटली भ्रांति ॥१२०॥३१५॥

स्वयं प्रतीत चौरंगीनाथ अनंत पिंडेरा होइ मुक्ति, अमूल तै मूल उतपना निराकार तैं उतपना आकार ॥१२१॥३१६॥

अरूप तै रूप उतपना, शून्य को हो भाई सिष्टि का बिस्तार, अमनि तै मनि उतपना, अबाइ उतपना बाइ ॥१२२॥३१७॥

सुन्य थैं थूल उतपना, अध तैं घाट न होइ सर्व संज्योगै उतपनी काया, सर्व विज्योगै बिनासीयै ॥१२३॥३१८॥

इह विमण सिध संकेत दुर्लभं, गुर उपदेसै कथतै दुर्लभं, प्रतिपालतै दुर्लभं, मन पवन विषम हलोल ॥१२४॥३१९॥

टलमल विंद निद्रा अघोर, एते कारणै जापता व्याकुलता स्वयं प्रतीति न पाया प्रमान, श्री गुरु मछिंद्र परसनें चौरंगी अमनतें मन त्रिभवनें थीरं ॥१२५॥३२०॥

एकांत कर लै राति दिनं, आसण बंध भेद मुद्रा जोग जुगति गुर बचन प्रति-पालला, प्यिंडरा मइला मोष्य मुक्ति ॥१२६॥३२१॥

जे जन बूझिबै सो जन बूझै दुतरतिरो मृत माया गुर उपदेसे दिढ़ चित मनै सीलंत एक थूल काया ॥१२७॥३२२॥

श्री गुर बचने सिधि थाने आपना स्वयं प्रतीत करतव्या दोइ समतुल्या ॥१२८॥३२३॥

तिणै पिंडेरा मोष्य मुक्ति त्रिभवने बिसतार, अकुंठ काया बिसेस रघु गुर उपदेसै जानीयै ॥१२९॥३२४॥

दिढ़ चित मने कलेस न भावा प्रीति पालबा, सिध संकेत बानी अमन तैं मन अबह तै बहाई, आसन बंध्या तै ॥१३०॥३२५॥

एते एक संजोगे तीन भवन एकांति साधना सपत पाताल सपत पाताल ऊपर सपत दीप सपत दीप ऊपर सपत सुनकार ॥१३१॥३२६॥

सपत सुनकार ऊपर बसत निरालंब निरंजन निराकार ग्यांने मन पवन हेत बुध मति ॥१३२॥३२७॥

ए अपार श्री गुर मछिंद्रनाथ प्रसादे इह को सिध संकेत बोलीयै, इह को गुर उपदेश बोलीयै, इह को परम पर अपार अनुपम बोलीयै ॥१३३॥३२८॥

इह कौं ध्याईयें कंद्रप जित्रा चाप त्रिबंध दाय जै सकति संकोच जै गांठि फुटै ब्रह्म अग्नि प्रजाले ॥१३४॥३२९॥

ब्रह्म मंडल फोड़ीयें, त्रिवेणी संगम पवन संचारीये. षट्चक्र को फुटीयै ॥१३५॥३३०॥

सुमेर मध्ये बाट गगन भेदीयें, भंवर गुफा प्रवेसीयै, इहां कौ पिंड प्राण परस्वौ बोलीयें इह कौं परम सिध बोलीयैं, ॥१३६॥३३१॥

इह कौं अगम बोलीयै, इह कौं परम परमार बोलीयैं, इह अहोनिस ध्यानें चेतने च्यार तुटै न करता विंद ॥१३७॥३३२॥

परकंतो पवन कलपता मन अघोरता निद्रा इह कौं स्वयं प्रतीत बोलीयै, इह को पिंड प्राण परचौ साधन बोलीयैं, इह को मृत्य जयंत सिध पंथ बोलीयैं ॥१३८॥३३॥

ए च्यार तुटै सो कायं अजरं अमरं निर विघन निष्यपत ॥१३९॥३३४॥

त्रिभवने पूजा ते ऊपर कोउ नाहीं दूजा अयं सो परम पद सो परम आसण ॥१४०॥३३५॥

देवन सुर नर पाए प्रमाण वेद सास्त्र अगोचर ब्रह्मा न जानी त्रिभवने दुर्लभ ॥१४१॥३३६॥

गुरु उपदेसै जानीयैं आप आपै प्रमानीयैं ॥१४२॥३३७॥

ए च्यार साध्या साधना स्वयंप्रतीते आप आप देषबा प्रमाणी ॥१४३॥३३८॥

दिने दिने तेज बल व्रिधना बुधिमंत चेतन देह विकार सर्व व्याधि षंडन बायु अस्थंभना पाप पुन्य ललित षंडना ॥१४४॥३३९॥

दिष्टिस्र सुतिगता वर्धना विभ्रम भाँति माया छेदना बुधि सुबुधि आयो बर्धना ए च्यार विल्यायं ॥१४५॥३४०॥

एते एव स्वयं प्रतीत आपे आप देषबा प्रमाणं श्री गुरु मछंद्रनाथ प्रसादे सिध चौरंगीनाथ ज्योति ज्योति समाइ ॥ १४६ ॥ ३४१ ॥

इति श्री चौरंगीनाथ जी की प्राणसांकली सपूरण। इति श्री योगशास्त्र पोह बदि शनि वा० ॥

ॐ नमो आदेश गुरु कूं अकल सकल कै तेज बायो समेरु में एक वृक्ष लगावे यो जामोत यात सामो काल वृक्ष बटी पांच डालि एक डालि उत्तर कूं गई दूजी डालि पूरब कूं गई तीजी डालि दक्षिण कूं गई चौथी डालि पश्चिम कूं गई पाँचमी डालि इकवी-समैं व्रह्मंड गई एक मुषो रुद्राष एक मुषो रुद्राष कहा बोली ब्रह्मा को कमल दोय मुषी रुद्राष कहा बोली ब्रह्मा के नेत्र त्रिमुषी रुद्राष कहा बोली ब्रह्मा विष्णु महादेव चोमुषी रुद्राष कहा बोली च्यार वेद पांचमुखी रुद्राष कहा बोली पांच पांडव छ मुषी रुद्राष कहा बोलो षट दरसण सात० सात दीप आठ अष्ठांग नव० नवनाथ दस० दस द्वार इग्यार० इग्यार लिंग द्वादश बारमी हणमंत जती त्रिपुरा दैष चलै संग्राम आओ पार्वती कहां रुद्राष कै ग्यान हाथै बांधे तो हाथणा उर पुर को राज मस्तक बांधे तो इंद्र की पदवी कंठै बांधै तो कृष्णापुर को राज रुद्राष जांणि बांधे तो एकोत्तर सो गाउ प्रभात एकोत्तर सो लिंग अंगीकार रुद्राष मंत्र धांणि बांधै तो एकोत्तसो गौ हते प्रमाते ॥ मंत्र रुद्राष रो १०८ वेला जाप कीजे ॥ इति ॥ ३४२ ॥

चौरंगी नाथजी की सबदी

मूल सींचो रे अवधू मूल सींचो। ज्यूं तरवर मेल्हंत मालं[1]।
अभै चौरंगो मूल सीचिया। यौं[2] अनमें उतर्‌या पारं ॥ १ ॥३४३॥

१—ग. डालं; २—ग. में नहीं;

मारिबा तौ मन मस्त मारिबा । लूटिबा तौ[1] पवन भमारं[2] ।
साधिबा तौ थिरतत्त साधिबा । सेइबा[3] निरंजन[4] निराकारं ॥ २ ॥३४४॥
अंगनि सेति अंगनि जालिबा । पानी[5] सेती सोषिबा पानी[6] ।
बाई सेती बाइ फेरिबा । तब आकास मुषि बोलिबा बांणीं[7] ॥ ३ ॥३४५॥
माली लो भल माली लो । सींचै सहज कियारी ।
उनमनी कला एक पुहुप निपाया[8] आवागमन निवारी ॥ ४ ॥३४६॥

श्रीनाथाष्टक *

(सिद्ध चौरंगीनाथ वर्णित)

ॐ गुरुजी–श्रीगोरक्षनाथ योगेन्द्र युगपति निगम अगम यश गावतें ।
श्री शंकर शेष विरंचि शारद नारद बीन बजावते ।
श्री गोरक्ष चर्णों प्रणाम्यहं ।
जय श्री नाथजी के चर्णों प्रणाम्यहं ।
जति गोरक्ष के चर्णों प्रणाम्यहं ॥ टेर ॥
ॐ गुरुजी–बालरूप जतिन्द्र जटाधर ध्यावते षटमुख जति ।
श्री रामचंद्र वशिष्ट हनुमत धुरु प्रहलाद रति पति ।
श्री गो० । जय श्री० । जति गो० ॥ १ ॥

ॐ गुरुजो शेली नाद सुकंठ साजत अन्हद शब्द प्रकाशितम् ।
अजर अमर अडोल आसन सुर नर मुनी मन रंजितम् ।
श्री गो० । जय श्री० । जति गो० ॥ २ ॥

१–ग. में नहीं; २–ग. मंडार; ३–ग. सेयबा;
४–ग. तौ निरंजन; ५–ख. पाण; ६–ख. रंगो;
७–ग. में नहीं है; ८–ख. पहुप निपाइलै ।

* काद्रिमठाधीश आचार्य, श्री राजा चमेलीनाथ जी महाराज की कृपा से प्राप्त ।

ॐ गुरुजी—अंग भस्मी असंग निर्मल ऊनमन ध्यान सदा रता।
चन्द्र मानु समानु लोचन कांन कुण्डल सोभिता।
श्री गो०। जय श्री०। जति गो० ॥ ३ ॥

ॐ गुरुजी—अष्ट सिद्ध नवनाथ भैरव बीर चौसठ जोगनी।
इन्द्र वरुण कुवेर सेविते मदन मोहन रुक्मनी।
श्री गो०। जय श्री०। जति गो० ॥ ४ ॥

ॐ गुरुजी—ऊत्तर देश विचित्र गिरवर सर सरिता अगनित बहे।
सादक सिद्ध सुजान तज मद मान निरगुण ब्रह्म लहे।
श्री गो०। जय श्री०। जति गो० ॥ ५ ॥

ॐ गुरुजी—सलपुर नगर सुशंख रावल जांके सुत शिमरन कियो।
भ्रम फांस त्राश निवारो सब दुःख सुन्दर तन असिथर दियो।
श्री गो०। जय श्री०। जति गो० ॥ ६ ॥

ॐ गुरुजी—श्री प्रसुधर तप कठिन किनों सागर तट मठ बांधियो।
धुन्धूकार निवारणे हित श्री मञ्जुनाथजी प्रघट भयो।
श्री गो०। जय श्री०। जति गो० ॥ ७ ॥

ॐ गुरुजी—श्री पति नाथ सनाथ अष्टक पढत बिघन नसावेहि।
भ्रणत पीर चौरंगी सोई नर मन वांछित फल पावेहि।
श्री गोरक्ष्य चर्णों प्रणाम्यहं। जय श्री नाथजी के चर्णों प्रणाम्यहं।
जति गोरक्ष के चर्णों प्रणाम्यहं ॥ ८ ।.३४७॥

इति गोरष बालं मम पालं जीतो जम कालं मंगला आर्तिया अष्टक
पुरो शिवम् सिद्धो आदेश आदेश अटल क्षेत्र योग शास्त्र नमाम्यहम् ॥

१०—चुणकर नाथ (चौणकनाथ*) जी की सबदी

काकड़ी करंम करंता[1] अवघू। बाई चलै असरालं।
सूनैं देवलि चोर पईसै[2]। चेतौ रे चेतन[3] हारं ॥ १ ॥३४८॥

---

* ग प्रति में चौणकनाथ के नाम से यही सबदियाँ हैं।
१—ग. न कीजै रे;	२—ग. पैड़ैगा;	३—ख. तनहारं;

सांधि सूधि के गुर मरै[1]। बाई स्यूं बिंद[2] गगन स्यूं फेरै।
मन का बाकल चुणियां[3] षोलै। साधी[4] ऊपरि मन क्यूं[5] डोलै ॥ २ ॥३४९॥
वाई बंध्या सकल[6] जगे[7]। बाई किन ही न बंध।
बाई विहूणां ढहि[8] पड़ै। जोरे कोई न पंध ॥ ३ ॥३५०॥
नीचैं षोज्या नीड़ा[9] पांणी। ऊंचै का तिस मूवा।
सबद बिचारै ते बड़ कहिए। दिन का[10] वड़ा न हूवा ॥ ४ ॥३५१॥

———

११–जलंध्री पाव जी की सबदी

सुंनि मंडल मैं मन का बासा। तहां[11] परम[12] जोति प्रकासा।
आपैं[13] पूछै आपैं कहै। सतगुरु मिलै तो[14] परम[15] पद लहै ॥१॥३५२॥
एक अचंमा ऐसा हुआ। गागरि मांहि उसारबा कूवा।
वोछी लेज पहूंचै नांहीं। लोक पयासा मरि मरि जाहीं ॥२॥३५३॥
आसा पास दूरि करि। पसरंतो नि (र) वारि।
सिध साधिक स्यूं संग करि। सति गुरु[16] ज्ञान विचारि ॥३॥३५४॥
धरती आकास[17] पवन पाणीं। चंद सूर षट दरसंण जांणीं।
ऊंकार का जांणैं मंत। अैसा[18] सिध अलष अनंत ॥४॥३५५॥
गोपीचंद कहै स्वामी वस्ती[19] रहूं तौं कंद्रप व्यापै। जंगलि रहूं[20] षुधा संतापैं॥
आसणि रहूं तो व्यापै[21] माया। पंथि चलूं तो छीजै काया।
मीठा षाऊं तो ब्यापै[22] रोग। कहो किसी[23] परि साधूं[24] जोग ॥ ५ ॥३५६॥
अवधू संजमि अहारं। कंद्रप नहीं व्यापै।
बाई आरंभ षुधा न संतापै। सिध आसण नहीं लागै माया।

१–ग. सिंध साधक मेरै; २–ख. वांद; ३–ग. चुणि चुणि;
४–ग. सीठी; ५–ख. क्यूं मन; ६–ख. सइल;
७–ख. जुग; ८–ख. टहि; ९–ग. नैंड़ा; १०–ग. करि।

११–ग. जहां; १२–ग. प्रम; १३–ग. आपे; १४–ग. तै; १५–ग. प्रम; १६–ग. गुरुमुष; १७–ख. आस; १८–'ग' में 'अर' अधिक पाठ; १९–ख. बतो; २०–जाऊं; २१–ख. लागै; २२–ख. बाढ़ै; २३–ग. कासी; २४–ग. प्रसाधूं।

नाद पयाणैं न छीजै काया।
जह्वा स्वाद न कीजै भोग। मन पवन ले साधो जोग ॥ ६ । ३५७॥ॐ
थोड़ा षाइ तो कलपै कलपै। धरणं षाइ तो रोगी।
दहूं पषा की संधि विचारै। ते को बिरला जोगी ॥ ७ ॥३५८॥+
मरदने केस सथामि लै अवधू। पवनां थामि लै काया।
अन्तसे जुरा मरन थांमि लै। विचार त्याग लै माया ॥ ८ ॥३५९॥
एक राज छाड़ि करि जोगी हुए। एक जोगी छाड़ि घर वासं।
छूटा हस्ती वन कौं जावैं। स्वान करंग कै पासं।
सत सिध मते पार। न मरै जोगी न ले अवतार।
सुंनि समावै बावै बीना। अलष पुरष तहां ल्यौ लीना।
यहु संसार कुबक का खेत। जब लग जीवै तब लग चेत ॥
आष्यां देषै कानां सुणैं। जैसा बोवै तैसा लुणैं ॥
जोग न जोग्या भाग न भोग्या। अहला गथा च मारा।
ग्रामे गधा जंगलि सूकर। (फिरि) फिरि ले अवतारा ॥ १०॥ ×३६१॥
इहु संसो पाईऐ षेलै। अब बोईए ते आगैं फलै।
इहु संसार करम की बारी। जब लग सरधा सक्ति संसारी ॥ ११ ॥३६२॥
पहलै कीया सो अब भुगतावै। जो अब करै सो आगैं पावै।
जैसा दीजै तैसा लीजै। ताठैं तन धर नींका कीजै ॥ १२ ॥३६३॥
अजपा जपना तप बिन तपना। धुनि गहै धरिबा ध्यांनं।
जोग संहारं पाप प्रहारं। ऐसा अद्भूत ग्यानं ॥ १३ ॥३६४॥

———

ॐ ग प्रति में इस पद के स्थान पर ८ पंक्तियों का एक पद इस प्रकार है :—
सांभलि अवधू तत बिचारं। लै निज सकल सिरोमणि सारं ॥
संजम अहार कंद्रप नहीं ब्यापै। बाई अहार षुधा न संतापै ॥
सिध आसन नहीं लागै माया। नाद पयानैं नहीं छीजै काया ॥
जिभ्या स्वाद न कीजै भोग। मन पवनां ले साधो जोग ॥
+यह पद केवल ग. प्रति में है।
× ९ वां और १० वां पद (पूर्ण संख्या ३६०, ३६१) केवल ग. प्रति में हैं।

१२—दत्त जी (दत्तात्रेय) की सबदी[1]

जान थो अजान होइवा । तत लेइबा छांनि ।
गुरू कीये लाभ है अवधू । चेला कीयां हानि ॥१॥३६५॥
बड़ैं कह्यां बड़ा ना होइवा । लहुड़ा न ऊतरिबा पारं ।
आडाडंबर जोग न होइवा । गरवा तत विचारं ॥२॥३६६॥

बहुतानि बहु चिंतानि । दुतिया पासि बंधनं ।
एकाएकी महा सुषी । ज्यूं कँवारो हाथि कंकनं ॥३॥३६७॥
मढ़ी न बंधिबा सती न प्रमोधिबा । भिष्षा न षाइबा स्थूलं ।
पंच घर चेताइवा एकांति रहिबा । ए जीवन का मूलं ॥४॥३६८॥

कोटि मधे कोई एक भूझै । कोटि मधे कोई एक सूझै ।
कोटि मधे कोई एक सूरा । कोटि मधे कोई एक पूरा ॥५॥३६९॥
सूर्‌यां का पंथ हार्‌यां का विश्राम । सुरता लेऊ विचारो ।
अणपरचै प्यंड भिष्या मांगै । अंतकाल होइगी मारो ॥६॥३७०॥

सुर मंदिर तर मूल निवास । भिष्षा भोजन रहनि उदास ।
सकल प्रग्रिह भोग तियाग । तौ क्यूं न सुष करंत वैराग ॥७॥३७१॥
रथा करपट निध्रन कंथा । भेद अभेद बिबरजित पंथा ।
स्वाद बिबाद बिबरजित तुंड । तौ सुष मैं जीवै मुंडित मुंड ॥८॥३७२॥

मारि न षाणां मुरदार न कहणां । अहनिसि रहेवा ध्यानं ।
फुरै त रोजी नहीं त रोजा । अैसा ब्रह्म गियानं ॥९॥३७३॥
लोका मधे लोकाचार । सतगुर मधे एकंकार ।
जे तूं जोगी त्रिभुवन मार । तऊ न छाड़ै लोकाचार ॥१०॥३७४॥

जे तू छाड़िस लोकाचार । तौं तूं पायेसि मोष दुवार ।
उनमोंन मंडप तहां निरबाण देव । सदा सजीवं निभावन भेव ।
लौलीन पूजा तहां दीव न धूप । सति सति भाषंत दत अवधूत ॥११॥३७५॥

संत क्रिया हमारे जनेउ बोलिये । जत हमारै धोती ।
गुरु हमारै अलेष पुरिष वोलिये । हिरदा पुस्तक पोथी ॥१२॥३७६॥
दत जू लागा तत स्यूं । तत्त दत्त ही मांहि ।
तत्त दत्त परचा हुवा । तब दूजा कहणां नांहि ॥१३॥३७७॥

१—केवल ख. प्रति प्रति में ।

अग्नि मधे अगिनि होइबा ॥ जल मधे होइबा नीरं ।
बाइ रुप त्रिभुवन षेलिबा । सिघ संकोच राषिबा सरीरं ॥१४॥३७८॥
अबधू संजमि रहै तो क्या करै रोगं । संतोष आया तौ क्या करैंगे भोगं ॥
आत्मा जाणंत तौ क्या कथै ग्यानं । प्रमात्मा षोजंत तौ क्या धरै ध्यानं
॥१५॥३७९॥

आकार मुकता स्यंभू चलता सारं । संसार रहिता ।
अगम बहिता खोजी । षोजंत बयारं ॥१६॥३८०॥
दत्त दी देही तत की । तत की राजा तत ही बिलसैं षाई ।
यक डग जाइ न दतजी । ततमें रह्या समाई ॥१७॥३८१॥

दत्तात्रे (दत्तात्रेय) जी की सबदी*

षिमा जापं सील सेवा । पंच इंद्री हुतासनं ।
उनमनि मंडप निरवान देव । सदा जोवत भावना भेव ।
लौलीन पूजा मन पहूप । सति सति भाषत श्री दत्त देव अवधूत ॥१॥३८१॥

अस्थूल मंदिर मन धजा । साँच तुलसी सोल मंजरी ।
दया पहौप संतोष कलस । गिनांन घंटा सुरती आरती ।
आत्मदेव अनूप पूजा । अषंडमूरत्ति उत्मो सदा ॥२॥३८३॥

करम भरम हम ध्याइ करते । नह क्रम सत गुर लषाया ।
करम भरम का संसा त्यागा । सबद अगोचर पाया ।
उनमन रहना भेद न कहनां । पीवनां नोझर पांनी ।
पानी का सा रंग ले रहनो । यूं बोवंत देवदत्त बांनी ॥३॥३८४॥
पृथी बाइ अनल आकास । आपो अगनि चंद्रमा ।
मंज मध वाहरंती मीन पिंगुला । सस कुकर अरभ कवारी ॥
सर करता उश्नपं उनंनामी ।
सपे सरो तें मे गुर राज राजन । चतोबिस्तराश्रत ॥ ४ ॥३८५॥
काया सीसमन किस्तूरी । जरनां ढकन कीजै ।
जा बिदं तैं यहु पिंड ऊपनां । सो क्यूं मग मुषि दीजै ।

---

* म. प्रति में प्राप्त ।

सति सति मार्षंत श्री देवदत्त औधूत । इन बिधि मारग गहीऐ ।
तौ बूढ़ा जोगी तै बाला ह्वै रहीऐ ॥ ५ ॥३८६॥

अहंकारस्य महाव्याधि । दीरघ रोग बिटंबनं ।
रोव बिप्री तिस री रानां । बिनं पान पद क परसते ॥ ६ ॥३८७॥

निरालंबो पद प्रापतं । चिंतते अचल मता ।
नुवंती सरब कृया । तसि मुनि द्दष्टा परंपरा ॥ ७ ॥३८८॥

[1]बहुतानं बहु चितांनं । दुतीया पास जु बंधन ।
ऐका ऐकी परस सुषी । ज्यूं कंवारी हाथि कंकनं ॥ ८ ॥३८९॥

जानि[2] कै अजांनि होइवा । तत्त लेवा छांनि ।
गुरु कीया लामै है अवधू । चेला कीयां हांनि ॥ ९ ॥३९०॥

ऐका ऐकी सिध्या नांउं । दुतीए नांम साधवा ।
च्यारि पांच केटूंबा नांऊं । दस बीस ते लसकरा ॥ १० ॥३९१॥

निराकारं च मेक ध्यांनं । उभयौ संग बिबरजितं ।
प्रकीरति रता जोगी । सात पांच भरमते ॥ ११ ॥३९२॥

आसा नाम महा दुषं । निरासा प्रम सुषं ।
आसा निरासा दोऊं त्यागी । तब सुष सोवैं तंपिंगुला ॥ १२ ॥३९३॥

धूल धूश्रांन गात्रांनं । पृथी आप समो समं ।
देवा रात्री न जांनांमं जोग बैराग ऐ लछनं ॥ १३ ॥३९४॥

दत्त दत्तं नगन सरूपं । निराससैं सुध मनसा ।
नृगुन रहत गोत्रो यथा नास्ति । नास्ति संध्या त्रपनं ।
किरीया क्रम दोऊं नास्ति । ब्रह्म ग्यांन पि लछनं ॥ १४ ॥३९५॥

गगन सने फल समंद्रं । ब्रह्म सक्ति निज दया ।
जिभ्या स्वाद बिबरिजितं । इन्द्रीयां स्वादं प्रत्तजिते ।
कंद्रपो द्रपनो जस्य । ब्रह्म ग्यांनौपि लछनं ॥ १५ ॥३९६॥

दत्त जु लागा तत सूं । तत्त दत्त ही मांहि ।
दत्त तत्त ऐकै भया । अब दूजा कोऊ नांहि ॥ १६ ॥३९७॥*

अवगत्तं च अक्षरं षितस्य आकारं । यस्य रूप षिरंति ।
तस्य भूत काम स्थिरं ॥ १७ ॥३९८॥

---

१. तु०—पद संख्या ३६७, २. पद संख्या ३६५ से तु०;
* ३७७ वें पद से तुलनीय।

अवगत्तं च अक्षरं बोज बिबरजित तरवरं ।
त्रिय लोक तस्य छाया । स्वादं जानंत ते बीत रागं ॥ १८ ॥३९९॥

अलप अहारं बड़ा बिचारं । काया कसना मुष नहिं हंसनां ।
तब जाइ जोगी । सरबस भोगी अैसा जोगी ॥ १९ ॥४००॥

अलम भिछ्या काया रछ्या । पांचूं चेला आरंभ मेटै ।
तब जाइ जोगी सरबस भोगी । अैसा जोगी ॥ २० ॥४०१॥

इंद्री जीतं अलष अतीतं । तामस त्यागं दिढ वैरागं ।
रहत अकेलं मन मूं वेलं । तब जाइ जोगी सरवस भोगी अैसा जोगी ॥२१॥४०२॥

दिष्टि आदिष्टं मंन न मुष्टं । पाप न पुनि जोति न सुन्यं ।
ताहू आगै करम न लागै । तब जाइ जोगी सरबस भोगी अैसा जोगी ॥२२॥४०३॥

ग्रांमे ग्रांमे पुस्तग पुंज पुंजे । पुरो पुरी ब्रह्मा वेद वकंता ।
नव लष कोटी कोई ततवेता ॥ २३ ।।४०४॥

नादो न विंदो कलपानां न छाया । मनोरथो न माया आगामो न नगमो ।
अवधूत न बिग्यांन मांटी न छाया । कलनां रह तत्तसई ।
सुधनां ना त आलमां ॥ २४ ॥४०५॥

आनंद मूलं प्रातम त्तं । संकलप बिकलप मोह न मुक्तं ।
सुभांइ लीला बिचारति नितं । त्मेव जोगी आतम ततं ॥ २५ ॥४०६॥

निरबासनां निरालंबो । छछंद मुक्तो बंधनात् ।
छित्त सै सक्ति मात्रेनं । चिष्टंत सुषं प्रनवत ॥ २६ ॥४०७॥

जल मधे धरती नास्ति । आकासे प्रवरतत्तो ।
ब्रह्म ग्यांनी स्थूल नास्ति । पूरन ब्रह्म सनातनं ॥ २७ ॥४०८॥

आपा नास्ति परा नास्ति । नास्ति काया कलि विषं ।
बुधि बासनां मनो नास्ति । तत्र देव निरंजनं ॥ २८ ॥४०९॥

॥ इति सिघूं की सबदी संपूर्णं ॥

१३—देवल जी की सबदी

देवल भया[1] दिसंतरी । सब जग देषा[2] जोइ ॥
नादी[3] बेदी बहु[4] मिलै । परभेदो[5] मिलै न कोइ ॥१॥४१०॥
देवल निह केवल भया[6] । सुरति निरति ले बोलि ॥
ज्ञान रतन की कोथली । काहू[7] पारिष आगे षोलि ॥२। ४११॥
देवल जिभ्या बंद[8] दे । बहु[9] बोलतां[10] निवारि ॥
सारिषा स्यूं[11] संग करि । गुरु मुष ज्ञान विचारि[12] ॥३॥४१२॥
पारष नर नही पटंतरै[13] । सबदी[14] मोल न तोल ॥
देवल देषि विचारि[15] करि । तौ वोली जै बोलि[16] ॥४॥४१३॥

१४--धूधलीमल जी की सबदी

आइस जी आवो ॥
बाबा आवत जात वहुत जुग बीता[17] । कछू न चढ़िया हाथं ॥
इब का आवण सूफल फलिया । पाया निरंजन नाथं ॥१॥४१४॥

आइस जी आवो ॥
बाबा जे आया ते जा दूर रहैगा । तामैं कैसा संसा ॥
बिछुरन वेलां मरन दुहेला । को जांणैं कत बासा ॥२॥४१५॥

आइस जी बैठो ॥
बाबा बैठा ऊठी उठा बैठी । बैठि ऊठि जग दीठा ॥
घरि घरि रावल भिष्षा मांगैं । इक अमी महारस मीठा ॥३॥४१६॥

आइस जी ऊभा ॥
बाबा जे ऊभे ते इक टग ऊभा । स्यंम समाधि लगाई ॥
उमैं रहाई कोण फाइदा । जै मन भ्रमै भाई ॥४॥४१७॥

---

१. ग, मरो; २. ग, मेल्ह्या; ३. ख, नाटी; ४. ग, बहो; ५. ग, प्रभेदो; ६. ग, भऐ; ७. ग, कहु; ८. ग, बंध; ९. ग, बहो; १०. ग, बोलणां; ११. ग, सूं; १२. ख, बिचारी; १३. ग, पंतरै; १४. ग, सबदं; १५. ग, बिचारे; १६. ग, बोले। १७—ख, दीठा।

आइस जी आडा ॥
बाबा जे आडा तिनि गहि गुण गोडा । नौ दरवाजा ताली ॥
जोग जुगति करि सनमुष लागा । पंच पचीसौं बाली ॥५॥४१८॥

आइस जी सोवो ॥
बाबा जे सूता ते षरा विगूता[1] । जनम गया अरु हार्‌या ॥
काया हिरणी काल अहेड़ी । हम देषत जग मार्‌या ॥६॥४१९॥
आइस जी जागौ ॥
बाबा जे जाग्या ते जुगि जुगि जाग्या । कह्यां सुण्यां सूं[2] कैसा ॥
गगन मंडल मैं तालो लागी । जोग पंथ है ऐसा ॥७॥४२०॥

आइस जी मरौ ॥
बाबा हम भी मरणां तुम भी मरणां । मरणां सब[3] संसारं ॥
सुर नर गंण गध्रब भी मरणा । कोई बिरला उतरै पारं ॥८॥४२१॥
आइस जी जीवौ ॥
बाबा जे जीया ते निति ही जीया[4] । मार्‌या ते सब मूवा ॥
जोग जुगति करि पवनां साध्या । सो अजरांवर हूवा ॥९॥४२२॥

आइस जी ठगौ ॥
बाबा ठगिया ते तौ मनवै ठगिया । अरु ठगिया जम कालं ॥
हम तौ जोगी निरंतर रहिया । तजिया माया जालं ॥१०॥४२३॥
आइस जी फेरीयै ॥
बाबा जे फैरैं तौ मन कूं फेरै । दस दरवाजा घेरै ॥
अरध उरध बिचि[5] ताली लावै । नौ निधि अठ सिधि मेरै ॥११॥४२४॥
आइस जी धंधै लागौ ॥
बाबा गोरष धंधै अहि निसि इक मनि । जोग जुगति सूं जागै[6] ।
काल व्याल का भै नहिं व्यापै[7] । नाथ निरंजनि लागै ॥१२॥४२५॥

---

१. ख, विगूला;
२. ग, सो; ३. ग, सकल;
४. पाठान्तर ख, प्रति :—
बाबा जे जीव्या ते नित ही जीव्या ।
५. ग, मध; ६. ख, लागै;
७. ख, मै हम देषा;

आइस जी देषो ।
बाबा इहां भी दीठा उहां भी दीठा । दीठा सकल संसारं[1] ॥
उलटि पलटि निज तत चीन्हिबा । मन सूं करिबा विचारं ॥१३॥४२६॥

चौरासी पाटल ऊधा मार्‌या ता समया की कथा ॥

आइस जी ठगावै[2]
बाबा जिन रे ठगाया तिन सध पाया । तजि षेचर बुधि मति बोलै ॥
जैसा कमावै तैसा पावै । सति सति भाषै घूंधली मोलै ॥१४॥४२७॥

———

१५—नागा अरजन जी की सबदी*

दारु तैं दाष उतपनी । दाष कथो नहीं जाई ।
दास दारु जब[3] परचा भया । दाष मैं दारू समाई ॥
पूरब उतपति पछिम निरंतर । उतपति परलै काया ।
अमि अंतरि पिंड छाड़ि । प्रांन भरपूर रहै ।
सिध संकेत नागा अरजन कहै ॥ १ ॥४२८ ॥
आपा मेटिला सतगुर थापिला । न करिबा जोग जुगति का हेला ।
उनमन डोरी जब षैंचीला । तब सहज जोति का मेला ॥ २ ॥४२९॥

———

१६—पारबती जी की सबदी

जल मल भरीला[4] नल । अगनि न जलै[5] नाभी कै तल[6] ॥
अगनि न बलै न परसै[7] किरण ।
ता कारणि पारबती जगत[8] का मरणं[9] ॥ १ ॥४३०॥
अहूठ हाथ कंथड़ी जल मल भरी । नासिका का पवन न षेलै नाम की तली ॥

१—ख, पसारं ।
२—ग, प्रति में यह पद अधिक है ।
* क और ग प्रति में प्राप्त ।
३—क में नहीं है ।
४-ग. भरीया; ५-ग. बलै; ६—ख. तले; ७-ग. प्रगट; ८—ग. जगत्र; ९—ग. मनं;

उलटै पवनां गगन समाई ।
ता कारणि पारवती ये पसुवा मरि मरि जाई ॥ २ ॥४३१॥
रूष विरष गिर कंदलि बास । त्रिगुण[१] कंथा रहे उदास ॥
भिष्या भोजन सहज में फिरै[२] । ताकी सेवा पारवती करै ॥ ३ ॥४३२॥
काग द्रिष्टी बगो ध्यानी बाल । अवस्या भुयंग[३] अहारी ॥
सो अवधूत वैरागी पारबती दूजा सब भेषारी ॥ ४ ॥४३३॥
धन जोबन की करे न आस । चित न राषै कामणि पास ॥
नाद बिंद जाके घटि[४] जरै । ताकी सेवा पारबती करै ॥ ५ ॥४३४॥
त्रिगुण[५] कंथा बहु विस्तार । जुगति निरंतरि[६] रहनि[७] अपार ॥
नाद बिंद जाकै घटि जरैं । ताकी सेवा पारवती करैं ॥ ६ ॥४३५॥
*निसप्रेही निहस्वादी । काम दग्धी दिने दिने ॥
तास भिष्या दे देवी पारबती । मोछि मुक्ति तत छिने ॥ ७ ॥४३६॥

१७—प्रिथीनाथ जी का ग्रंथ साध प्रष्ण †(१)

अस्थानं[८] बिन नग्री अलेष दरवाजा । सत संतोष वज़ीरं ॥
पंच चोरं गहि पड़ दार जीतिवा[९] । ते जोगी बलवीरं ॥ १ ॥४३७॥
बिचार मंत्री बमेक पाइक । चित चेतानि कुटवालं ॥
नौ लष घाटी मन ले रूंधित्रा । तब जीति लीया जम कालं ॥ २ ॥४३८॥
विषै कलपना पग दे चांपी । धोषा बंधि बहाया ॥
कहि प्रिथीनाथ तब अदलि भणीजै । सुषी बसै गढ काया ॥ ३ ॥४३९॥[१०]
रहणि हमारी तषत भणीजे । मन[११] पवन दोइ घोड़ा ॥
सबद हमारा षरतर षांड़ा । जिनि जम सौं कीया नवेड़ा ॥ ४ ॥४४० ॥
गगन हमारा बाजा बाजै । मूल मंत्र मल हाथी ॥
मंसै काल गुर मुषि तोड्या । पंच पुरिष मेरे साथी ॥ ५ ॥४४१॥

१—ग. निर्धन; २—ख. फुरै; ३—ग. मबंगम; ४—ग. घट । ५—ग. निर्धन; ६—ग. निरंतर; ७—ख. रहण ।

* यह पद केवल ग प्रति में ही नहीं है ।

† क—साध परष्या ग्रंथ ।

८—ख. सथानं; ९—क. जीत्या; १०—यह पद्य केवल 'ख' प्रति में है; ११-ख. पन ।

जुगति हमारी छत्र सिंहासन । महाशक्ति रिणवासं ॥
पृथीनाथ ते पुरिष बिचषिण । मंदिर रच्या अकासं ॥ ६ ॥४४२॥
बड़ा मैवासा काया जीती । मन सूं करि हथियारं ॥
कहि पृथीनाथ मेरी तहां कटकई । जिनि मुसिया सकल संसारं ॥ ७ ॥४४३॥

गण गंध्रप जिनि सवै संघारै । दल बल के अधिकारी ॥
सो बंदर हम बस करि लीया । जिनि जीत्या बल भारी ॥ ८ ॥४४४॥
मन जीत्या तिनि त्रिभुवन जीत्या । जीती सुंदर काया ॥
मले पाव दे जौंरा जीत्या । जीतिआ प्रबल माया ॥ ९ ॥४४५॥

उतपति प्रलै दोऊ जीत्या । कहि प्रिथीनाथ ए भारी ॥
विषम जूझ करि पुरिष होत । तिस घरि रहनि हमारी ॥ १० ॥४४६॥
जो पद कथ्या योग वासिष्ट । धरि यह रामा औतारं ॥
तिन भी आइर गुर कीया । तिरिवे कूं संसारं ॥ ११ ॥४४७॥

सहस नाम संकरि कथ्या । ब्रह्मज्ञानं सुषदेवं ॥
गीता होइ कृष्ण कथी । भगति भजन को भेवं ॥ १२ ॥४४८॥
वेद होइ ब्रह्मा कथ्या । नारद कथ्या सुकाई ॥
जिनि उपदेसैं ध्रू भया । प्रगव्या सब जग मांहि ॥ १३ ॥४४९॥

प्रिथीनाथ नामदेव कऊ कथ्या । क्या बोल्या हणवंत ॥
जिस करनी तैं[1] पद भया । षिण मैं पहुँता लंक ॥ १४ ॥४५०॥
राजा जनक भया तिनि क्या कथ्या । यथा प्रह्लाद कबीरं ॥
सो पद काहे ना षोजिये । जिंहि उधरैं सरीरं ॥ १५ ॥४५१॥
मारकंड मुनि क्या कथ्या । क्या बोल्या गोरषनाथं ॥
जिस करणी पूरण भया । तन मन आया हाथं ॥ १६ ॥४५२॥
इहै भगति भगवंत बसि । पुरिष भये सब पार ॥
प्रिथीनाथ अनंत मुनि । इन मैं किन घूं कथ्या सिंगार ॥ १७ ॥४५३॥

जिस करणीं तैं[2] डूबिए । यहु मन तन थें भंग ॥
कहि धूं गोविंद कब कीया । पर नारी सूं संग ॥ १८ ॥४५४॥
प्रतष्यां जमुना दई । जाकी बहैं अप्रबल धार ।
इहै गति[3] करि मानिये । जो घरि घरि कथैं सिंगार ॥१९॥४५५॥

१—क. थैं ; २—थैं ;
३. ख, भक्ति;

बुझ्या मदनं प्रगट कीया । सूता सरप[१] जगाइ ॥
इन बातवि जत-सत क्यूं रहै । सपिनैं ही डिगि जाइ ॥२०॥४५६॥

आंष्या का अंधा जो धात ही न परषै । कानां का बहरा जो सबद ही न दरसै ॥
हृदा का अंधा जो पुरिस[२] ही न मानैं ।
जिह्वा का गूंगा जो स्वाद ही न जानैं ॥२१॥४५७॥
बांह का भूठा दांन करि षूंटा । पांव का लूला जिनि संत न ठूंठा ॥
भगति का हीणा जिनि रामं न पाया । जनम वृथा संसार में आया ॥२२॥४५८॥

पृथीनाथ ने यूं ही गया । जिन्हिं न पाया भेव ॥
जे समझ्या ते निस्तरया । हूवा निरंजन देव ॥२३॥४५९॥
चेला दुषी तौ गुरु पीर लाजा । बांह का भूठा न सेयिये राजा ॥
सबद हीन विंदै तो पढ़िबा[३] का षोटा ।
ऊठि बैठि न सकै तौ किस कांमि मोटा ॥२४॥४६०॥
जौ मरि जाइ तौ जलि जाइ माया ।
आप न समझ्या तौ मिथ्या यहु काया ॥२५॥४६१॥

प्रिथीनाथ कत सेविये । जिनके पासि ग्यांन सचुनांहि ॥
ज्यूं पंथी षाली पड़े । ऊंजड़ नगरी मांहि ॥२६॥४६२॥
जे यहु ब्रह्म अषंड पद । तौ मरि मरि काहे जाइ ॥
जे यहु ब्यापक श्रब मैं । तौ क्या तप तीरथ मांहि ॥२७॥४६३॥
बन बन हाटैं मुक्ति कै । तौ पसु पंषी सैवार ॥
माया मैं जे डूबिये । तौ जंनक भया क्यूं पार ॥२८॥४६४॥

प्रिथीनाथ इतनी बात न बिदही । तिन का क्या उपदेस ॥
कापुरिसां की नारि ज्यूं । घर ही मांहि[४] बदेस ॥२९॥४६५॥
मल मुत्र तैं यहु तन भया । तन मन हरि मैं सोइ ॥
जबहीं यह उजल[५] करि लीजै । तबही बसेरा होइ ॥३०॥४६६॥
जे मन बसि होइ तौ हरि सौं मेला । हरि भेंटै भगवंत ॥
जिनि इतनी बस्त बिचारी नाहीं । आइ वृथा जे जंत ॥३१॥४६७॥
जैसे तिल में तेल बसत है । काष्ठ भीतरि आगि ॥
दहून मथि दीपक कीया । तब कछू सूझन लागि ॥३२॥४६८॥

---

१. क, श्रप; २. ख, परष ३. ख, पढ़ाबा; ।
४. क, माहि । ५. क, उलटि फिरि ।

प्रिथीनाथ कहै ते बिरला । जे निज जपै समान ॥
मन मनसा जब एक करैगा । तब दूरि नहीं भगवान ॥३३॥४६९॥

प्रिथी का गुण देह । प्राण गुण सूरं ॥
बाइका गुण स्वास । रहत मन मूरं ॥ ३४ ॥४७०॥

अनील का जोला ताहि पंच तत लागे । तिनही बसि कीया जे गुर मुषि जागे ॥
॥ ३५ ॥४७१॥

कहि प्रिथीनाथ यह अकथ कहांणी । यौं पुनि नांही पाइए ॥
जिनि यहु भेद न जांणी ॥ ३६ ॥४७२॥

यहु मन जीतिहूं यहु मन धरिहूँ । धोषा ऊपरि चित न करिहूं ॥
ज्यूं ज्यूं आवै त्यूं त्यूं लैहूं । यंन्द्री प्रांण पुरिस कौं जांण न दैहूँ ॥ ३७ ॥४७३॥

प्रिथीनाथ कहै सब सब सत । इस बिधि पुरिसा सिव पुरि जंत ॥
जनम नहीं अंकूर बिन । सड़्या सु जामै नांहि ॥
ते क्या जामैं बापुड़ा । सदा कल्पना मांहि ॥ ३८ ॥४७४॥

जतन करै तो नेड़ा निपजै । सूमर भरिया खेत ॥
प्रिथीनाथ ते मरि औतरे । जे अंमर सदा सचेत ॥ ३९ ॥४७५॥

मन पवन सब जगत कथत है । तत कथत सब कोई ॥
ए पंचूं[1] आतमा पंचूं पैडे । इनका कहां बसेरा होई ॥ ४० ॥४७६॥

यहु गावै कथै श्रव[2] रस भोगी । बोलत है घट वैसा ॥
प्रिथिनाथ कहै सुनि रे पंडित । इनका रूप बरन गुन कैसा ॥ ४१ ॥४७७॥

जे यहु लषं सु गुर का पूरा । भेद हि भाव विचारै ॥
तिसकी नाव न छूटै हंस डूबे । सदा अपनपौ तारै ॥ ४२ ॥४७८॥

सब कोई कहै पंच बस कोजै । बहुरि कहै देह भरोसा नांहि ॥
इनकैं बिनसै पंचू आतमां । कहौ पंडित किस ठांइ[3] ॥ ४३ ॥४७९॥

तिहि ठांइ पंच बसेरा मांडै[4] । जो अगंम गवंन करि जाणै ॥
सबद बिहूना रूप बिबरजित । जे[5] पद बीचि बषाणै ॥ ४४ ॥४८०॥

तातैं दूरि ब्रह्म[6] क्यूं कहिये । जाकै हिरदै यहु रस आवै ॥
प्रिथीनाथ कहै ते सतगुर । जो यह भेद बतावै ॥ ४५ ॥४८१॥

१—क. पांचूं ; २—क. सर्व ।
३—क. बांह; ४—क. मांडहि;
५—क. ते; ६—क. क्रिश्न;

उपजी होइ तौ मन क्यूं माजै । पांहुण लिख्या सु सारं ॥
मिथ्या मिटै न मोज्या बिनसैं । असा तत्त बिचारं ॥ ४६ ॥४८२॥
गऊ मैं षोर होइ पालत भरपूरं । संजम पालै तौ मन कै थीरं ॥
साधक कूं सेवै तौ मुक्ति[1] की आसा । आत्म बिंदै तौ बैकुंठि बासा ॥४७॥४८३॥
कथत प्रिथिनाथ जिनि यहु भेद बूझा । साष्वावंत देवता त्रिभुवन सूझ्या ॥४८॥४८४॥
प्रिथीनाथ बन बन सब जग फिरया । सब कांटे का रूष ॥
उह फल बिरला पाईये । जाथैं भाजै भूख ॥ ४९ ॥४८५॥
षट दरसन षट सास्त्री । इनकौ कलपत ही दिन जांहि ॥
स्थिर कोई बिरला रहै । बाकी सबै बहावणि[2] मांहि ॥ ५० ॥४८६॥
सब प्रिथी कांटे भरो । अंतरि ब्यापैं सूल ॥
प्रिथीनाथ हरि की भगति बिन । ते नर बृष[3] बंबूल ॥ ५१ ॥४८७॥
साध पुरिष चंदन बिड़ो । रनें बनें वै नांहि ॥
सबै पाय षिण मैं कहैं । जे उन मांहि समांहि ॥ ५२ ॥४८८॥
हेम होइ जे ढेट के । तऊ बानी अधिकाई ॥
जे होइ साधु कुठांईं । तऊ का महिमा जाई ॥ ५३ ॥४८९॥
सब काहू कै पूजि । जुगति अपनी करि ध्यावै ॥
जे यहु मधिम पुरिषा । तऊ देवता कहावै ॥ ५४ ॥४९०॥
साध पुरिष नित ऊजला । मलिनहिं करैं पवित्त ॥
साधु[4] पुरिष तिस घरि नहीं । जिनका धोषै बिलंबे[5] चित्त ॥ ५५ ॥४९१॥
रामनाम सब कोइ कहै । सब ईश्वर कौं ध्यावैं ॥
दुरगा सब के पुजि । सबै गणपति मनावैं ॥ ५६ ॥४९२॥
इनकै जाति भेद कुल नाहीं । पुरिष सबके उपगारी ॥
ताही कूं बर देइ । सदा सेवैं अधिकारी ॥ ५७ ॥४९३॥
धन षरचै मैं नाहिं । वेद भागौत बषाणैं ॥
तिस ठांइ पुरिष नहीं मिलै । अधिक चतुराई ठांणं ॥ ५८ ॥४९४॥
साध पुरिष इनकै जाति कुजाति न पूछिये । पढ़ि मलि ग्रवै[6] कोई ॥
तिस ठांइ पुरिष नहिं पाइये । जिनकै धोषा दुबिध्या होई ॥५९॥४९५॥

१–क. मुकति; २–क, बहाउणि;
३–क, बिरथा; ४–क, महा;
५–क, बिलंब्या; ६–क, गरबै ।

साध साध सब कोइ कहै । साध की परष न जांनै ॥
धोषा टेक न तजै । सबद हो कैसैं माने ॥ ६० ॥४६६॥
सति बचन पर हरै । झूठ की सेवा लागै ॥
परपंची की मांनि । साधू देष्या उठि भागै ॥ ६१ ॥४६७॥
प्रिथीनाथ ए साध बचन नित ही सुणैं । परष नहीं घट मांहि ॥
घर आए साधहि तजै । धोषा सेवण जांहि ॥ ६२ ॥४६८॥
ए बात कथै क्यूं साधू मानैं । प्रतषि सौं उठि बादै ॥
साधु पुरिष करि सोचैं । कोई बिसवास न मानैं ॥ ६३ ॥४६६॥
कोई उठि झगड़ै लागैं । जे बोलै तौ वाकी बात न मानैं ॥
अपणां फिरि करि लावैं ।
धोषा मिटै न मन की छूटै । साध बचन क्यूं पावै ॥ ६४ ॥५००॥
साधू कै कछु सोच न संका । ड्यम आडम्बर नाहीं ॥
प्रिथीनाथ साध कहा सनमुष । जिनके परष नहीं घट मांहि ॥ ६५ ॥५०१॥
सबै परष आसांन । साध की परष न आवै ॥
हीरे हूं की परष न । जुगति जौहरी बतावै ॥ ६६ ॥५०२॥
दरिया ही की परष । जहां मोती का बासा ॥
चंद सूर की परष । गहण गति लषी अकासा ॥ ६७ ॥५०३॥
रस बास की परष । सो जु यंद्री धरि चाषो ॥
परबत हूं की परष । धात जिनि गुप्त राषी ॥ ६८ ॥५०४॥
जल थल ही की परष । सबहि न की आई ॥
सुनि प्रिथीनाथ अचंभ गति । साधि गति लषी न जाई ॥ ६९ । ५०५॥
साध पुरिष चीन्ह्या नहीं । जे बहि पड़े जंजालि ॥
परष बिहूणीं इहै गति । ज्यूं बलि ले दीया पतालि ॥ ७० ॥५०६॥
प्रिथीनाथ पुरिष की इहै परष्या । तन मन जीत्यां फिरै ॥
रहै तौ अपणां पंछ्या ॥ ७१ ॥५०७॥
आराधैं कौं साध बिरोधे फल दीन्हा ।
छप्पन कोटि आवष्या[1] । कहा दुरबासा कीन्हा ॥ ७२ ॥५०८॥
तिस पै उपाजी इहै । जहां साधू दुष पावै ।
जिस पै धोषा घणां । तहां निहचल क्यूं आवै ॥ ७३ ॥५०९॥

---

१. क, अवछ्य;

अभिमानी क्यूं लषि । जिनि आतमां न जीती ।
तब क्या बेदन होत । जब बलि कौं होइ बीती ॥ ७४ ॥५१०॥
प्रिथीनाथ परष बिन । पढि मति ग्रबै कोइ ॥
जिस ठांइ साध न संचर । तहां स्वांति कहां ते होइ ॥ ७५ ॥५११॥

सोनां की कालिमां । सौनैं करि सूझै ॥
सबद मांहि तत सबद कहो जौं कैसें बूझै ॥ ७६ ॥५१२॥
वाइ मांहि तत बाइ । कहो यौं कैसें जांणैं ॥
पांणी मथि करि घृत । कहो कैसी बिधि आणैं ॥ ७७ ॥५१३॥

तब गोव्यंदहि पाइए । जब या अरथहि काढ़ै ॥
नहीं गावै कथै अधिक । दिन दिन संक्या बाढ़ै[1] ॥ ७८ ॥५१४॥
भावै जप तप करै । कोटि तीरथ कौं धावै ॥
जीवत सती न होइ । जुगतो बिन पर्दाहि न पावै ॥७९॥५१५॥
प्रिथीनाथ परष जब । जब गुर पूरा होई ॥
नाहीं तौ नर देही नांगां गई । जाकै हिरदै रम्यां न कोई ॥८०॥५१६॥

साध पुरिष कै मिलैं । भई मुषि अंमृत बांणीं ॥
साध पुरिष कै मिलैं । गुप्त प्रगट करि जांणीं ।८१।५१७॥
साध पुरिष कै मिलैं । अंध घट दीपक दीया[2] ॥
साध पुरिष कै मिले । ब्रह्म आपण कर लीया ॥८२।५१८॥

साधु पुरिष कै मिलैं । ध्रू निहचल करि बैसा ॥
साध पुरिष कै मिलैं । मुक्ति का किसा अंदेसा ॥८३॥५१९॥
अस्वमेध जज्ञ कीयें । कोटि तीरथ के न्हायें ॥
इतना तत फल होइ । साध के दरसन पायें ॥८४॥५२०॥
साधू बोहित अभै पद । दरसन देष्या पार ॥
पृथीनाथ दुर्लभ है । उन साधू का दीदार ॥८५।५२१॥

साध पुरिष कै मिलें । मर्म की संक्या तूटै ॥
साध पुरिष कै मिलैं । ताहि तसकर नहि लूटै ॥८६॥५२२॥
साध पुरिष कै मिलें । दृष्टि बाहिर न आणैं ॥
साधु पुरिष कै मिलें । आप आपहि पहिचाणैं ॥८७॥५२३॥

---

१. ख, प्रति में ये दो पंक्तियां छूट गई हैं ।

२. क, कीया ।

साध पुरिष कै मिलैं । दुष दुंदरता भागै ।।
साधु पुरिष कै मिलैं । भरम की सूलि न लागै । ८८।.५२४।।

साध पुरिष कै मिलैं । कृष्ण गति हिरदै बैसी ।।
साधु पुरिष कैं मिलैं । कहो दुबिधा मति कैसी ।।८६।।५२५।।
प्रिथीनाथ संगति किन्या । बिश्राम्यां यहु चित्त ।।
अंधकार धोषा मिटया । तन मन भया पवित्त ।।६०।।५२६ ।
प्रिथीनाथ साध पुरिष कौं । ते क्या जानैं ।।
धोषा माहैं मिलि रहै । और कौ विस्वास न मानै ।।६१।।५२७।।

क्या बहु विद्या पढे । कहा उपदेसै दीन्हें ।।
यहु सब मिथ्या जांणि । बिना साधू कै चीन्हें ।।६२।।५२८।।

सब जग कलपत फिरैं । पुरिष का चित्त न डोलै[1] ।।
संसै सूल न रहै । जब मुषि अमृत बोलै ।।६३।।५२६।।
सींचत ही फल देइ । विरष के तजे न छाया ।।
तिस ठांइ[2] साध रमैं । जहां बाछा सचु पाया ।। ६४ ।।५३०।।
दरसन तें[3] पद पाइए । जे बो[4] साधू होत ।।
जिस ठाहर मन मेलिबो । तहां जगु रहत उदोत ।। ६५ ।।५३१।।

इत उत की द्वै मिलि । साधू के बचन नहिं षंडै ।।
साधु पुरिष क्या करैं । वै आप आपन पौ भंडै ।। ६६ ।।५३२।।
साधू मिलैं थैं साधू होई । उठि करि लागैं संगा ।।
जे समझै तौ दीपक । परष बिन पड़े पतंगा ।। ६७ ।।५३३।।

हिरदै उपजी बिना । साधकौं कैसे जोवैं ।।
मन कौं जीति न सकैं । सबै पिछले दिन रोवैं ।। ६८ ।।५३४।।
प्रिथीनाथ दरसन नहीं । अभिमानी अज्ञांण ।।
गुरू गोरष चीन्ह्या नहीं । ते सब भये पषांण ।। ६६ ।।५३५।।
पहिलि संमझि न पड़ै । धका लागै थैं जाणैं ।।
बिगड़ी ऊपरि सबै । ताहि ईस्वर करि मानै ।। १०० ।।५३६।।
इहे गति संसार । पुरिष का मरम न पावै ।।
जे हरि समझ्या होइ । ब्रह्मा क्यूं बछ चुरावै ।। १०१।।५३७।।

---

१. ख, झोलै   २. क. ठारहि;
३. क. थैं;   ४. जो. ओ;

साध सदा ही मिलैं। मुगध को कहां समझावै ॥
तब महिमा अति करै। जब विपरीति दिखावै ॥ १०२ ॥५३८॥
कलह करामाति पति निधि। साध संताये कोय ॥
चांपै थैं आगैं षड़ै। जो पद रह्या अलोय ॥ १०३ ॥५३९॥

वक्ता च भवे ज्ञानी श्रुत्वां मोक्ष लभिते[1]।
वक्ता श्रुत्वा नं ज्ञांनामि[2] वृथा तस्य[3] जीवनं ॥

इति श्री प्रिथीनाथ सूत्रधारे मत महापुराणे सिध नाम श्री साध परष्या जोग ग्रंथ[4] संपूरण[5]

॥ सुभमस्तु ॥

श्री पृथ्वीनाथ जी का 'श्री निरंजन निरबांन' ग्रंथ (२)

छाया छत्र न सिधि भरोसा। मन पवन छै नांही ॥
आया पर कछु दूरि न नेड़ा। तिस भर विरला जांही ॥ १ ॥५४०॥
लघ दीरघ दोई न्योली नांहीं। संष पषालैं काया ॥
बाघो करम लंबिका साधैं। तिन भी तत्त न पाया ॥ २ ॥५४१॥
मनसा अग्र व्यंब करि पूजै। माला मंत्र धरि ध्यानं ॥
ताली पीटि नासिका चितवै। ए सब फोकट ग्यानं ॥ ३ ॥५४२॥
इन्द्री बंधैं पवन निरोधैं। कसि बांधै उडियांणीं ॥
संख्या सूत्र ते पद नांही। ए बादि विलोवै पांणीं ॥ ४ ॥५४३॥
आसण बैसण जोग न होइबा। करि घरि भिष्या षाणां ॥
पंच अगनि जल साहो साधैं। धोबा मड़ै मसाणां ॥ ५ ॥५४४॥
इला प्यंगुला सहस सुषमना। रबि ससि दोइन ध्यानं ॥
पंच तत यहु सबद न होई। इंहि बिजि जगत भुलानं ॥ ६ ॥५४५॥
निद्रा जागैं निजपद नाहीं। झूठा बाद बिवादं ॥
पिरथीनाथ कहै तब पूरा। गतगुर पद परसादं ॥ ७ ॥५४६॥

---

१. क. सुरता मोषि लभते
२. क. बकता सुरता न जांनांमि
३. क. तसि; ४. क. ग्रंथ सास्त्रं; ५. क. समास :;

अकथ अनिछर बंधन मुकता । पुस्तकि लिष्या न बाणीं ॥
देवनि दुरलभ नांही अगोचर । परचै गुर-मुषि जांणीं ॥ ८ ॥५४७॥

बाहरि कहौं तो गुरू न धीजै । भीतरि कहूं न होई ॥
बाहरि भीतरि श्रब निरंतरि । बिरला चीन्हत कोई ॥ ९ ॥५४८॥

फेरि गहौं तो अलष अकेला । निराकार निज सारं ॥
हम बाड़ीं पैसि विसंभर भेटे । द्रिष्टि पड़े संसारं ॥ १० ॥५४९॥

फूलत फूलत भइ फिरि कलियां । बिरधहूँ वा फिरि बालं ॥
कहि प्रिथीनाथ हम तिस घरि बिलंबे । जहां गोधन राषत ग्वालं ॥ ११ ॥५५०॥

हम गोपाल हमें गुरु गोचर । हम मुकता हम चेला ॥
तिस घरि पैसि विचारैं आपा । जिस घरि स्वंभ अकेला ॥ १२ ॥५५१॥

बकता च भवे ज्ञानी । सुरता मोषि लभते ॥
बकदा सुरता न जानांमि । बृथा तसि जीवनं ॥ १३ ॥५५२॥

इति श्री प्रिथीनाथ सूत्रधरि मत महापुराणे सिधि नाम श्री निरंजन निरबाण ग्रंथ ॥ जोग सास्त्र समाप्तः ॥❀

अथ श्री भक्ति वैकुंठ जोग ग्रंथ (३)

वै पंडित कोई और । भगति के भेदहि बूझै ॥
वै नेत्र कोई औंर । आदि अंतर गति सूझै ॥ १ ॥५५३॥

वै पद औरे जांणि । तास ले तीरथ कीजै ॥
वै भुजा औरे बांह । काल सिर मृदंगस्कीजै ॥ २ ॥५५४॥

वै मुष औरे जांणि । नांव लेता हरि आवै ॥
वैं श्नवण कछु और । सबद सुणत पद पावै ॥ ३ ॥५५५॥

वाह कछु औरे नांव । जास चढि हत्तर तिरो ॥
वाह करणी कछु और । जनम करि कबहू न मरो ॥ ४ ॥५५६॥

वैह ऐकादशी कछु औरै । जास जाग्रत जम भागै ॥
वह उपदेस कछु और । करम का काटन लागैं ॥ ५ ॥५५७॥

❀ क. प्रति से ।

वह फासू कछु और । जास पीवँत ल्यो लागैं ॥
वह जीव दसा कछु और । पिंड तजि प्रांण न भागै ॥ ६ ॥५५८॥
वह मुद्रा कछु और । जास मूंडे सिधि पाई ॥
इस बिधि जोगहि मिलैं । और सब पंथ बताई ॥ ७ ॥५५९॥
वह तिलक कछु और । जास दीऐ गति सोई ॥
वा माला कछु और । जास फेरत सुध पाई ॥ ८ ॥५६०॥
वाह पूजा कछु और । जहाँ कछु देव न पाती ।
सब तैं भिनि पसाव । तहाँ कुलदेव न जासी ॥ ९ ॥५६१॥
वह षटकरम कछु और । जास करतां मल धोवै ।
वह आचार कछु और । सदा कंटक दुष षोवै ॥ १० ॥५६२॥
वा गावत्री कछु और । जास जपैं सिधि पाई ।
वा गंगा कछु और । सिध्यां ले ब्रह्मण्ड चढाई ॥ ११ ॥५६३॥
पृथीनाथ बवेक बिन । अैसैं जे जागै ।
षट दरश्न तैं भिनि । पुरिष निपजै तहां आगै ॥ १२ ॥५६४॥
यह अकथ कथा आकार बिन । कथैं बंदैं पद तिनि ।
पद परष्या नैंनन कंवल । पुरिष भऐ के निहन ॥ १३ ॥५६५॥
वक्ता च भवे ग्यांनी । श्रुता मोषि लभते ।
वक्ता सुरता न जांनांमि । बृथा तसि जीवनं ॥ १४ ॥५६६॥

॥ इति श्री पृथ्वीनाथ सुत्रधारे मतमहापुरांणे सिध्य नांम
श्री भक्ति बैकूंठ ग्रंथ जोग सासत्र संपूर्ण समापता ॥*

अथ पृथीनाथ जी की सबदी (४)

हंस चढ्या साँमर तिरौं । स्यंघ चढ्या बन मांहि ॥
हस्ती या घर मेल्हि करि । मन सौं कूकण जांहि ॥१॥५६७॥
सोऊं तौ हाथि न आवई । जागूं तो भागा जाई ॥
मन ही सेती कूकणां । बाघु हुवा जग षाइ ॥२॥५६८॥
राजा षाए राज मैं । अरू पंडित कोटि अनंत ॥
मन का जीत्या बाहरा । सब जग देषा जंत ॥३॥५६९॥

---

* क. और ग. प्रति से ।

पृथीनाथ जिनि मन अपनां बसि कीया । तार्थं बड़ा न कोइ ॥
अठसठि तीरथ कोटि जज्ञ । जाकै दरसन ही फल होइ ॥४॥५७०॥
लोहा की कीमति नहीं । जो कंचन कूं चाहे ॥
गोहूं कै काजि तप करै । कांटि गाडर कोउ गाहै ॥५॥५७१॥
पृथीनाथ पारस सरब घटि । घट भीतरि लोह ॥
बिम्ह भगति क्यूं ऊपजै । जिन्हहिं विषय का मोह ॥६॥५७२॥
पृथीनाथ घर का दंद मैं । आपु गंवांया जांहि ॥
लादन हारा चलि गया । गूंणि रही घर मांहि ॥७॥५७३॥
पृथीनाथ रांड़ी के बांधे मरहिं । छाड़ि न सकहीं साथ ॥
गलि बांदर के जेवड़ी । ज्यूं बाजीगर के हाथ ॥८॥५७४॥
जे सम केते भये थिर । अन समझे बहि जंत ॥
अठसठि तीरथ कोटि जज्ञ । जहां विल बहिसंत ॥९॥५७५॥
कंवल द्वादस तलैं अग्नि बहु प्रजलै । रवि ससि गत तत भांण जागै ॥
पहरा रैंणि पड़ै काल सेती लड़ै । पिंड कौ छोड़ि प्रांण कबहूं न भागै ॥१०॥५७६॥

अैसी धरणी धरै सहजहीं निस्तरै । वादबक बाद तैं देह छीजै ॥
गुरु साषी कहै स्रिष सोई गहै । उलटि बांबई श्रप षाया ॥
पूजि रे भोजिगी[1] देव आगैं षड़ा । रहसि रहसि देहु रै नाद बाया ॥११॥५७७॥
गगन आसणय करै स्रिवपुरी संचरै । सुंनि मैं धुंनि तहां नाद बाजै ॥
अषंड दीपक जरै ब्रह्म गोष्टी करै । पंच जन बैठा एक छाजै ॥१२॥५७८॥
पंच दम मोड़िबा काया गढ तोड़िबा । अह निसा कूजिबा मारि मीरं ॥
आपकों मेटिबा ब्रह्म कौं भेंटिवा । गगन आसण करि थीरं ॥१३॥५७९॥※

———

१८—बालनाथ जी की सबदी

चहुं दिसि जोगी सदा मलंग । षेलै बर कांमिनि इक संग ॥
हंसै षेलै राषै भाव । राषै काया गढ़ का राव ॥ १ ॥५८०॥

१—ग. प्रति में 'भोजिग' ।
※ ख. और ग. प्रति से । ख. प्रति में पद्य-क्रम भिन्न प्रकार से है, पद्य सं० ६-९ तक इसमें अंत में आए हैं ।

दस दरवाजा राषै बांण । भीतरि चोर न देई जांण ॥
ज्ञान कछोटी बांधें कसि । पांचौ इन्द्री राषै बसि ॥ २ ॥५८१॥

पवन पियाला मषिबौ करै । उनमनी तालो जुगि जुगि धरै ॥
रामैं आगै लषमण कहै । जोगी होइ सु इहि बिधि रहै ॥ ३ ॥५८२॥

अनप बिंद तैं दुनियां उपनी । बहुता बिंद तैं षोया ॥
गए बिंद की षबरि न जानी । मूये बिंद कूं रोया ॥ ४ ॥५८३॥

पहली कीया लड़का लड़की । पीछै पंथ में पैठा ॥
बूढै षालड़ि भसम लगाई । भरथरी बज्र जती होइ बैठा ॥ ५ ॥५८४॥

तुम्ह हौ पूरा गुरू का सूरा । तुम्ह हो चतुर सुजानं ॥
अणचाषी ही छोड़ो लषमण । चाषी छोड़ौ तो जानं ॥ ६ ॥५८५॥❀

बालनाथ जी की कुछ अन्य रचनाएँ [२]❀❀

माया सो मम्ता मम्ता सो माया । कलपन्ते काया कठिन जोग पाया ।
खट रस मिठ रस सब रस भोगी । बिन गुरु ज्ञान फिरै मुढ जोगी ।
ज्ञान नाथ गड़वड़िया प्रांग नाथ रोगी । सत नाथ नूं यूं कहा संतोष नाथ जोगी ।
अलख झोली खलक खजाना । भूख लगे तो मांग के खाना ।
आप दीया सो भी त्यागे मांगन मो जां । सत को मोक्षा विचार विचार के खां ।

हो हुंस्यार सरण सतगुर को दिल साबत फीर डरना क्या ।
जोग जुगत से करो जोगेश्वर चारुं कुंठ विचरना क्या ॥

ऊपर को भरै निचे को झरै । उस का गोरख क्या करै ।
द्रशनी योगी शिव की काया । कह नाथ जी योगेश्वर आया ।
सत को नगरी धर्म का राज । बाला जोगी करै आवाज ॥ ५८६ ॥

❀ ख. प्रति से ।

❀❀ काद्री मठाधीश आचार्य श्री राजा चमेलीनाथ जी महाराज की कृपा से प्राप्त ।

बाल गुंदाईं जी की सबदी (३)*

अवधू तुरक कै सूर ज्यूं हिन्द कै गाई। बहन कै भाई त्यूं जोगी कै अब माई ॥
सति सति माषंत बाल गुंदाई। ये तीन्यूं अमष रे भाई ॥ १ ॥

पहलै पहरै सबको जागै। दूजै पहरै भोगी ॥
तीजै पहरै तसकर जागै। चौथे पहरै जोगी ॥ २ ।५८७॥

बाल गुंदाई जी की सबदी (४)**

जास माता सीलवंती। पिता अस्त न माषते ॥
तास पुत्र भऐ जोगेश्वर। पुनिरपि जन्म न बिंदते ॥ १ ॥
चहूं दिस जोगी सदा मलंग। षेलै बर कामिनि कै संग ॥
हसै षेलै राषै भाव। रापै काया गढ का राव ॥ २ ॥
दस दरवांजा राषै बांण। भीतरी चोर न देई जांण ॥
ग्यांन कछोटा राषै कसि। पांचूं इन्द्री राषै बसि ॥ ३ ॥
पवन पियाला भषिबो करै। उनमनि ताली जुगे जुगि घरै ॥
रांम आगैं लछमण कहै। जोगी होइ स इस बिधि रहै ॥ ४ ॥
अवधू सो जो अनभै जांनै। उलटा बांण गगन कूं तांणैं ॥
पलटी बाई वेधीया भूंरा। आतमां जोगी बसि कीया जूंरा ॥ ५ ॥
पारधी चढीया षोज जु पाया। बोलै बाल गुंदाइ ॥
परचै डोरी गुरुमुष जांणी। सुसैंसी हरहाई ॥ ६ ॥
कलिजुग मांही सतजुग थाप्या। उलटी जोत्ति चढाई ॥
भेद बिरूणां भिष्ट होइगा। सत्ति सत्ति भाषै बालगुदाई ॥ ७ ॥
बूटी सुरति सब बोदी होसी। बालक अहोसी अलपाई ॥
कलि के तूटे परलै जासी। कदे न मिलिसी भाई ॥ ८ ॥

---

* केवल ख. प्रति में ही प्राप्त है।

** ग. प्रति से। ख. प्रति में प्राप्त बालनाथ जी की सबदी के ६ पद इसमें क्रमशः २, ३, ४, १०, १२, १३ संख्यक पदों से कुछ पाठभेद के साथ मिल जाते हैं।

तुरक कै सूर ही हकै गाई । माता कै पूत वहन कै भाई ॥
जगें जोगी कै सबे माई । सति सति भाषंत श्रीबालगुदाई[1] ॥ ९ ॥
अलप बुंद काया उतपनी । बहुत बिंद तैं षोया ॥
गऐ बिंद की षबरिन पाई । मूऐ बिंद कूं रोया ॥ १० ॥
पहली की एक लड़का लड़की । पीछे जोग मैं पैठा ॥
तूटै चमड़े भसम लगाई । बाल जती होइ बैठा ॥ ११ ॥
तुम हो पूरा गुर का सूरा । तुम हो चतुर सुजांणां ॥
अठाचाषी ही त्यागी लषमण । चाषि रहै तौ जांणां ॥ १२ ॥
यन मन राइ जगत्त बिनपै लै । उंदरि मारि लै बिलाई ॥
बिमलौ बिचारौ हो जोगि हो । सिव घर सक्ति समाई ॥ १३ ॥
गोरषनाथ गुर सिष बालगुदाई । पूछंत कहिवा सोई ॥
उनमनि ताली जोत्ति जगाई । सिधां घरि दीपग होई ॥ १४ ॥
बैसिबा पदम आसनं । अष्ठोत्तर देषा दस बैंठारे ॥
सवा घडी रक्त सोषिवा । ऐ ग्यांन साधै हो अवधू बालगुदाई ॥
तब रहबा पवन मखिबा बाई ॥ १५ ॥
पद पणं वे पद हरि अवधू । पद ले पिंड डा वांणी ॥
आकार होइ निराकार देषौ । अैसी अनंत सिधां की वांणी ॥ १६ ॥
नांम अछै आकार बिरुंणां । सतिक्रतमम न लागा ॥
त्रिवधि बिंदनि लेग निरालंब । काल बिकाल दोइ भागा ॥ १७ ॥
बाहरि भीतरि प्रतषि देष्या । सिध भेद हम लाधा ॥
ब्रह्मा बिस्न महेसुर देवा । तिनरूं गुर करि सीधा ॥ १८ ॥
सक्ति कुंडलनी त्रिभवन जननी । तास किरनि हम पावा ॥
आदि कंवारी जगत की नारी । ब्रह्मा बिस्न रूद्र जिन जाया ॥ १९ ॥
सुनंते हम बहरा भईला । देषै तैं जा चंधा ।
गोरषनाथ पाइ प्रसादे । अमर भेया हम कंधा ॥ २० ॥
आप की अस्थि तिन बोलषं । प्रंकी कहै कहांणी ॥
घर ही आछै जा चंधौ भोला । न जांणै रैं निविहांणी ॥ २१ ॥
पंच मुष स्वाद ऐक मुष आंणै । न करह तात पराई ॥
ग्यांन बिनां घरतो नां पडई । ऐक अनेक मुष पाई ॥ २२ ॥

१—ख. प्रति के प्रथम पद से तुलनीय ।

अधिक तत्त ते गुरु बोला ऐ। सम तत गुर माई ।।
हीन तत्त ते चेला ऐ। सत्ति सत्ति भाषै बाल (गु) दाई ।।२३।।५८८।।

१६—भरथरी जी का सपत संष ग्रंथ (१)

आदि संख का मूलंकार। अनली बाई ऊंकार ।।टेक।।
पहला संख निरंजन देव। पाया ब्रह्म ग्यान का भेव ।।
उलटि उजाई गगन कूं चढ़ै। अनभै रहतां पिंड न पड़ै ।। १ ।।५८६।।
दूजा संष निरालंभ कथ्या न जांन। घरि सूरिज चंद कै आन ।।
चंद सूरिज एकै ले बहै। तौ इन उपदेसैं क्या रहै ।। २ ।।५६०।।
तीजा संख विचारह पाया। षेचरी मुद्रा त्यागंत माया ।।
माया त्यागो राषौ काल। इन उपदेसैं बंचिये जम काल ।। ३ ।।५६१।।
चौथा संष संतोष भणीजै। द्वादस अंगुल पवना पीजै ।।
पीजै पवना बाजै वंस। तौ न पड़ै काया न उड़ै हंस ।। ४ ।।५६२।।
पंचमां संष बांधि लै बाई। षटचक्र वेघती आई ।।
पाया कंवल सहस्रदल सुष। तो जनम जनम का गया दुष ।। ५ ।।५६३।।
छठा संष अकुलीन भणीजै। गुर परसादैं सिव सिव कीजै ।।
सिव सिव करि निरारंभ रहीजै। इन उपदेसैं जुगि जुगि जीजै ।। ६ ।।५६४।।
सातमां संष कंद्रप होई। निद्रा तजी काल कौं जोई ।।
काल तजी सिव सकती समि रहै। सो जोगी पंचमू आतमां गहै ।। ७ ।।५६५।।
सपत संख का जाणैं भेव। सोई होइ निरंजन देव ।।
सपत संख भणत भरथरी जोगी। थिर होई कंघ काया होई निरोगी ।।८।।५६६।।*

राग रामंग्री (२)

नहीं आऊं कामंणी नहीं आऊं लो। नहीं आऊं राजभार लेबा तोर ।।टेक।।
एवां नैरांकां कौंन बसेषू। मारिबा नांयक जमागं ।।
हूं तोहि पूछूं मारहा पढ़िया रे पंडित। कांई मरिबा ना लौ लागं ।।१।।५६७।।

---

* क प्रति से।

मन पवन मार्‌हा हस्ती रे घोड़ा । गिनांन ते अषै भंडारं ।।
बर ले कांमणि षोलै बैठा । तार्थं षरा डराऊं ।।२।।५६८।।

बूढ़ा था सो बाला हूवा । इब मैं काईं वाईं जाणं जी ।।
सतगुरु सबदूं राजा भरथरी सीधा रे । गुरु गोरष बचन प्रवाणं जी ।।३।।५६६।।†

भरथरी जी की सबदी (३)

अहंकारे प्रिथमी षोणीं । पहुपे[1] षोणां भौरां[2] ।।
सति सति भाषंत राजा[3] भरथरी । जीव[4] का बैरी जौंरा[5] ।।१।।६००।।
सुषिया हसंति दुषिया रोवंत । क्रीला[6] करंतु वट कांमनीं ।।
सूरा जूझंत[7] भौंदू[8] भाजंत । सति सति भाषंत राजा भरथरी ।।२।।६०१।।
दुषी राजा दुषी परजा । दुषी ब्राह्मण बांणिया ।।
सुषी एक राजा भरथरी । जिनि गुर का सबद परवाणियां[9] ।।३।।६०२।।
चढ़ेंगे ते पड़ैंगे । न पड़ैंगे तत बिचारी ।।
धनवंत लोग छीजैंगे । तेरा क्या जाइगा भरथरी भिष्यारी ।।४।।६०३।।
जोगी[10] भरथरी भरमि न भूला । तलि करि डीबी ऊपरि करि चूल्हा ।।
दोइ[11] दोइ लकड़ी जुगति करि[12] बाली[13] ।
जोगी[14] भरथरी जीवै जुग चारी ।।५।।६०४।।
अवधू जल बिन कँवल कँवल बिन मधुकर । कोइल बोलै कंठ बिना ।।
थल बिन मृघ मृघ बिन पारध । एक सर वेधे पंच जना ।।६।।६०५।।
नउ[15] द्वार जड़ि ले कपाट । दसवैं[16] द्वारैं सिव घरि बाट ।।
एक[17] लष चंदा दोइ[18] लष मांण । वेधणा[19] मृघ गगन अस्थान ।।
वेध्या मृघ न छाड़ै पास । भणंत भरथरी गोरष का दास ।।७।।६०६।।

---

† ग प्रति से ।

१. ग, पहोपे; २. ग, भूंरा; ३. ग, राजा जोगी; ४. ग, पिंड; ५. ग, जूंरा; ६. ग, केला; ७. ख, झूझंत; ८. ख, भूद; ९. ग, पिचाणीयां; १०. ग, राजा; ११. ग, दै दै; १२. ग, सुं;—ग, जारि; १३. ग, राजा; १४. ख, नव । १५. ख, प्रति में बाइब णिजै चौसठि हढ़; १६. ग, दोउ; १७. ग, ऐक; १८. ग, वेध्या; १९. 'ग' में 'तो' नहीं है;

तनि निरास मन मंडै माया । तौ[1] मूंड मुड़ानि मंडसि काया ॥
मन निरास सकल[2] रस भोगी । कहै भरथरी ते नर जोगी ॥८॥६०७॥

पंच षंडा अधिक बलिबंडा[3] । मनराइ मैमंता गाजै ॥
बिषम[4] लहरि कंद्रप की उठै हो सिधो[5] ।
तहां[6] कूंण कूकै कूंण भाजै ॥९॥६०८॥
बैरागी जोगी राग[7] न करणां । मन मनसा करि बंदी[8] ॥
अगम अगोचर सिव का बासा । तहां[9] आसा त्रिश्ना षंडी ॥१०॥६०९॥
मनसा षंडी त्रिश्ना[9] षंडी। मन पवन दोइ उजीरं ॥
सति सति माषंति हो जोगी[10] भरथरी । तब मन हुवा[11] थीरं ॥११॥६१०॥

राज गया कूं राजा झूरै । वैद गया कूं रोगी ॥
कंत[12] गया कूं कांमणि झूरै । बिंद[13] गया कूं जोगी ॥१२॥६११॥
बीज नहीं अंकूर नहीं । नहीं[14] रूप रेष आकार नहीं ॥
उदै अस्त तहां कथ्या न जाइ । तहां भरथरी रह्या समाइ ॥१३॥६१२॥
मरणै का संसा नहीं । नहीं जीवन की आस ॥
सति माषंति राजा भरथरी । हमारे[15] सहजै लील बिलास ॥१४॥६१३॥

निरगुन[16] कंथा बहु बिस्तार । कथौ निरंजन रहौ आकार ॥
पूछंत[17] विक्रमादीत बावन वीरं । कौंण परचै रहिबा थीरं ॥१५॥६१४॥
सुणि हो बिक्रम ब्रह्म गियांन । देह बिवरजित धरौ धियान ॥
उदै अस्त जहां कथ्या न जाइ । तहां भरथरी रह्या समाइ ॥१६॥६१५॥
आगै बहनीं पीछै भानु । सुरति निरंतरि वृछ तलि ध्यानु ॥
कथौ[18] निरंजन रहौ[19] उदास । अजहूं न छूटै[20] आसा पास ॥१७॥६१६॥
मायां[21] सत्रनो न करसि गरब्यं[22] । नहीं धन जोबन[23] जहां होइब्यं ॥
कनक कांमनी भोग बिलास । कहै भरथरी कंध विणास ॥१८॥६१७॥

---

१. ग, भ्रम; २. ग, बंल्यवंता; ३. ख, में 'विषै' और 'क' में 'करड़ी'; ४. ग, कद्रंप कीनिकसै; ५. ग, तब; ६. ख, बैराग; ७. ग, बंडी; ८. केवल ख में 'तहां' है; ९. ग, आसा; १०. ग, राजा; ११. क, कैसे, और ग—'गोइवा'। १२—ग. रूप; १३—ख. पूं बिंद; १४—यह पंक्ति केवल 'ख' में है; १५—ख. हमकूं नित हो भोग बिलास; १६—ग. निरघन; १७—यह पंक्ति केवल 'ख' में है; १८—ग. कथै; १९—ग. रहै; २०—ग. छाड़े; २१—ख. 'मयं सतरंणी नकरो गरब्यं; २२—ग. ग्रब; २३—ख. जोबरा;

साधिबा एक पवन आरंभ साधिबा । छाड़िबा[1] तो सकल बिकारं ॥
रहिबा तौ निहिसबद को छाया । सेइबा[2] तो निरंजन निराकारं ॥१९॥६१८॥

कुलहीनं[3] नगनो बाला । मृगनैंन रूप दीसंत बिक्राला ॥
झलकंत पद्मं नाग सो वेनो । कतो आगतो सलज्या बिहूंनी ॥२०॥६१९॥

नगनसि काष्ट नग्नस्य रिषे[4] । नग्नस्य जीव जोव जल चरा ॥
अजहूं काचीस हो मूरषि[5] नरा । नहीं प्रसिधि जोगेस्वरा ॥११॥६२०॥

धंनिसं पुत्री कुलवंती । धंनिस्य तूं पतिव्रता[6] ॥
धनिस्य तू देस देइ । अहं उपदेस मूरिष जोगी ॥२२॥६२१॥

रूषांत बाधा गुफांत नागा । अधर[7] सिंला डगमगांत ॥
भरथरी मनि निहचल । घोरि घन बरसंत ॥२३।६२२

त्तिण सज्या[8] बनोबासी । ऊपरि अंबर छाया ॥
भरथरी मन निहचल । घोरि घोरि बरषि होइ इके राया ॥२४॥६२३॥

जस्य माता[9] तस्य राता । जसि पीवता तसि मरदता[10] ॥
है है रे लोका दुराचारी । वैरागी ह्वै[11] क्रिन जाइता[12] ॥२५॥६२४॥

जस्य माया तस्य जाया । तस्य स्यूं क्यूं रे विषै मुंचाते काया ॥
है है[13] रे लोका दुराचारो । निज तत तजि लोहीं चाम चित लाया ॥२६॥६२५॥

काम[14] कलाली चित चड़ी । सुरै[15] विषै सज्या मनमथ पास ॥
वीरज्यं[16] ब्रह्म हत्या । हैं है रे लोका दुराचारी ॥
कहां रहो सुच्या ॥२७॥६२६॥

१, २–ख. में 'तौ' नहीं है; ३–ग. प्रति में यह पूरा पद इस प्रकार है :—

अलस्यहीनां नगनो य बाला । मृग नैन रूपो दृष्टो बिकराला ॥
पदमो कलकंत बाकस्य बेणी । कुतो यागत्या है लज्या विहूणी ॥

४–ग. रिषि; ५–'मूरषि' केवल ख. प्रति में है; ६–क. पतिमरता; ७–यह पंक्ति 'ग' में नहीं है; ८–ख. त्रिणंत सिज्या; ।
९–ग. ता तस्य; १०–ग. मृदंता; ११–ग. कै; १२–ग. जांवते; १३–ग. हा हा ।
१४-१५–ख. प्रति में क्रमशः इस प्रकार है :—

कामस्य कलाले चितस्य चिड़ा ।
सुरा विषै सिज्या मनमथ मास ॥

१६–ख. बीरजं;

अस्त्री जो निदीयते व्यंद। कोटि पूजा बिनसते[1] ॥
जप[2] तप ब्रत भजनं। ब्रह्महत्या पदे पदे ॥२८॥६२७॥

दरसने चित हरनी। परसने बुधि ॥
संजोगे बल हरनी। कहै भरथरी ध्रिग ध्रिग नारी राकसनी[3] ॥२९॥६२८॥

कुंचील[4] कंथा कुंचोल पंथा। कुंचोल घरि घरि भोजनं ॥
कुचील दाता दया हीणं। कौंण जानंत[5] पर वेदनं ॥३०॥६२९॥

गोरष बोलै सिरि षड़ा[6]। दुवटा ह्वैहै पंथ ॥
एक दिसा[7] कूं बांघणी। एक दिसा कू नंथ ॥३१॥६३०॥

चमड़ी दमड़ी ममड़ी। तीनि बस्तु त्यागी ॥
सति सति भाषत जोगी भरथरी। ते नाइं रता[8] विरागी[9] ॥३२॥६३१॥

नारी चोरी जारी। तीनि बस्त बिबरजित[10] त्यागी ॥
सति सति भाषंत जोगी[11] भरथरी। ते नाइ रता बैरागी ॥३३॥६३२॥

मोहन बंधिवा मन प्रमोधिवा। भिष्या ते ज्ञान बिचारं ॥
पंच[12] स्या बाति करि एक स्यूं राषिबा। तौ यौं[13] उतरिबा पारं ॥३४॥६३३॥

पहुप द्रिष्टं पलासं च। मूरष बदंत पाडलं ॥
बादं बिबादं न कुरुते नाथं। पालसं तथापि पारुलं ॥३५॥६३४॥

मारी भूषर साधी निंद। सुपिनैं जाता राषी बिंद ॥
जुरा मरण नहीं व्यापै रोग। कहै भरथरी घनि घनि जोग ॥३६॥६३५॥

नादा बिंद बजाइलै दाऊ। पूरिलै अनहद बासा ॥
एकांतिका बासा सोधिले भरथरी। कहै गोरष मछिन्द्र का दास ॥३७॥६३६॥

———

१—ख. बिनस्तते, क. विसतते; २—पाठान्तर ग-प्रतिः—

बरत भजन तप षंडन ज्ञान हीन तपो नास्ति।

३—यह पूरा पद केवल 'ख' प्रति में है।

४—यह क. का अंतिमपद है; ५—क. बूझंत; ६—ग. षरी; ७—ग. दसा। ८—ख. राजा; ९—ग. वैरागो; १०—केवल ख में 'बिबरजित' है; ११—ग. राजा; १२—ग. प्रति-पंच सूं बात करबा ऐक सूं रहवा; १३—ग. ते।

अथ भ्रथ्री जी का श्लोक (४)

मंत्री उवाच—

अहो ग्यांनी महा मूंनी । अष्ट अंग भस्म तन लेप्नं ॥
किम अरथ कंठ माला । कूंण ध्यान हो तपेस्वरी ॥१॥६३७॥

भरथरी उवाच—

गंगा उपरि कंठ हेमग्री सिला । जहां वैठं पदम आस्नं ॥
उचरंते ब्रह्म ज्ञानं । सोवंते जोग निंद्रा ॥
मनो माला न जाणो रे राजेस्वरं ॥२॥६३८॥

सरीर सूं कोटि क्रमंणां । ब्रह्म करम न लीयत्ते ॥
जत्र उचरंत नाम । तत्र काल परवरत्तते ॥३॥६३९॥

संसारे क्रम वंधनं । क्रम संसार न लियत्ते ॥
ब्रह्मा बिसन म्हेस्वरं । तेऊ क्रम विटंमते ॥४॥६४०॥

कंटको पदम नालं । उदिक जल पीवनं ॥
सुकल केस पासं मजनं । जन विजोग पिंडता ॥
को नृधनी । नृपषि विधातां ॥
तस्मई विध वसेषा । न टलंत भांवनी क्रम रेखा ॥५॥६४१॥

मंत्री उवाच—

हस्ते पदमं पगे पदमं । मुष बतीसी त्तसं नृ मलं ॥
राज हंस सुध बासकं । ममो जाणांत जोगेस्वरं ॥६॥६४२॥

भरथरी उवाच—

जा दिन उतपति व्यंद । माता ग्रभेषु नीयते ॥
ता दिन लिपंते विधाता । हांणि वृधि दुप सुपं ॥
तस्मई विध्य वसेषा । न टलंत मावनी क्रम रेषा ॥७॥६४३॥

लिपंते विधन लिलाटे पटले । हांणि वृधि दुप सुषं ॥
तस्मई विध वसेषा । न टलंत भवनी क्रम रेषा ॥८॥६४४॥

मंत्री उवाच—

षीन देह षीन नेत्रं । छिमा दया तस नृभय ॥
ग्यांन संपूर्ण विद्या सेवनं । ममो जांणंते जोगेस्वरं ॥ ९ ॥ ६४५ ॥

बीर ब्यक्रमादीत उवाच—

षीन देह महा पापी । कालो भषिक नृमयं ॥
तस रष्या न करत ब्यंद । तस कर कंध षेदनं ॥ १० ॥ ६४६ ॥

मंत्री उवाच—

हे हे जोगेस्वरं तापेस्वरं । पूरब जनमषु लिष्त येते ॥
भजै क्यूं न राम नांमं । ज्यूं भो भो का पाप दुरंगता ॥ ११ ॥ ६४७ ॥

गिर वैरे गै वरे गता । जो जो जोवन गता ॥
सरपे पीवंत पवनां । ग्रहने भवंत वनां ॥
षपत कालं नहि चलं मनां । असमय भाव राजेस्वरं ॥ १२ ॥ ६४८ ॥

भरथरी उवाच—

ब्रह्मा जेन कुलाल लालं । अंति ब्रह्मण्ड तेउ भवते ॥
बिसन जेन दस ओतारं । महा संकट ग्रभ बासं ॥ १३ ॥ ६४९ ॥
रूद्रो जेन कपाल पांनी । बुधि भिष्यटण कारते ग्रह ग्रह ॥
त्स्मई विधि वशेवा । न टलंत भावनी क्रम रेषा ॥ १४ ॥ ६५० ॥

हे हे कुरी कंपटी तूं दीस जोगी । ईस उपर जोवत बटी ॥
मंडांन काली प्रवरत गवनी । अह निस कहणो ॥
निस भोगी वणो ॥ १५ ॥ ६५१ ॥

मंत्री उवाच—

अहो तूं राजा छत्रपती । विधातो न चतुरदसी ॥
विक्रम मूरो न तोयं । ऐन भवंते तसकरा ॥ १६ ॥ ६५२ ॥

राजा उवाच—

अहो तू वड़ो जोगी । अरु वी महामुनी ॥
कर न भवते तसकरा प्रतष्ि कंठ माला ।
देषत सकल प्रथमी ॥ १७ ॥ ६५३ ॥

मंत्री उवाच—

षीन देही षीन दसा तपेस्वरी । षिमां दया तस नृ भ रं ॥
महा बित्र ब्रह्म ग्यांनी । ऐ न भवंते तसकरा ॥ १८ ॥ ६५४ ॥

राजा उवाच—

षीन देह सो तो पाप भवेत । कालो भये नृभयं ॥
तिस कारणि ष्यो जायंत । कंथत सरवस बालिकं ॥ १९ ॥ ६५५ ॥

अथरी उवाच—

रांम जेन विटवते । पांडु जेन मवली बनोगता ॥
चंद सूर कलंक चटांता । त्स्मई विधिवसेषा ॥
न टलंत गांवनी क्रम रेषा ॥ २० ॥ ६५६ ॥
ऊलो विलो गना जबि बासरय । किम सो दोषणं ॥
त्रा त्रिग बहोप्पा संघ न बरसत सो किम दोषणं ।
त्स्मई विघवसेषा न टलंत भांवनी क्रम रेषा ॥ २१ ॥ ६५७ ॥
उदित भांण पछिम धृग दसा ।
बिदासुंत कंवल प्रबल सिला प्रमुल महेमा जलं ॥
वेणी जाई ते सीतलं । त्स्मई विघिवसेषा ॥
न टलंत भांवनी क्रम रेषा ॥ २२ ॥ ६५८ ॥

बीर विक्रमादीत उवाच—

नृगुण कंथा बहो बिसतारं । कहो निरंजन बहो अकारं ॥
कंथत ब्यक्रम वांवन बीरं । कूंण प्रचै थिर रह्यो सरीरं ॥ २३ ॥ ६५९ ॥

अथरी उवाच—

अंकुर बीरज नहो आकार । रूप न रेष न वो ऊंकार ॥
उदै न अस्त आवै नहो जाई । तहां अथरी रह्या समाई ॥ २४ ॥ ६६० ॥
किम तांरा चंद्र रवि भूति समि । किम गंगा कूंप उदिक जलं ॥
गज कुरंग किसतूरी स्वांन निघ । कहा मूरिष कहां पंडिता ॥
साधू चोर न जानांमि । तजंत देस दुरंगता ॥ २५ ॥ ६६१ ॥
तजीऐ देस दया हीणं । तजीऐ दुरमुष मारज्या ॥
तजीऐ गुरू ग्यांन होणं । तजीऐ असनेही बंधवा ॥ २६ ॥ ६६२ ॥
सह रह्यो सघू सरांन्य । गलत जोबन कांमणी ॥
मन मनष्या सैहंत्रीत । तन धन या राग उतिण बिनां ॥
सरवर जल बिना रोत्ता दोवेवा हो राजिइ ॥ २७ ॥ ६६३ ॥

प्रधांन उवाच—

किम रथ विना रथ हो देव ।

अथरी उवाच—

गृह कूपं महा दुषं । रघर बोहूत्र सटते माया ॥
सम तारो दीप गनत न जलंते ॥ २८ ॥ ६६४ ॥

भूसा रोरा सांगिणंता । तबसि त्रटा सुरजादि देव ॥
ग्रहण कते लगमोवसु । प्रभवंति दिन मेकं सिता ॥
क्रम सबली को समरथा ॥ २९ ॥ ६६५ ॥

कुल सिहीणी नगनो पै वाला । मृग नैंन रूपी दृष्टो बिक्राला ॥
पदम कलकंत नागन सी वेणी । कतो या गत्या हे लज्या बहूंणी[1] ॥
॥ ३० ॥ ६६६ ॥

नगनंस्य काष्टं नगनसि रिष । नगनसि जीव जलचरा ॥
अजहूं क बिसरो हो नरा । नहि प्रसिध जोगेसुरा[2] ॥३१॥६६७॥

नही जोग जोगी सरब रस भोगी ।
गुर ग्यांन हीणां फिरो मूढ जोगी ॥
जोगी चिंता विकलपो ममता समाया ।
कथं जोग जुगता तैं जोगो न पाया ॥३२॥६६८॥

धनसि पुत्री कुलवंतो नारी । धनसि तू पतिबरता ॥
धनसि देससि देवी । अहं उपदेस मुरष जोगी[3] ॥३३॥६६९॥

राजा उवाच—

हे हे सिध प्रसिधो दोइ कुल सुधो । कांम चरंती मोह तजंती ॥
देह क्रुसुधो देह न सुधो । ममो पाटि············रांणी ॥
धनि धन्य हे राजकन्या तोहि ॥३४॥६७०॥

अक्रोध बैराग जत्र निआंणी । षिमा दया जन प्रियसु ॥
नृलोभ दाता मैसो कर हता । ग्यांन प्रमोधे दस लषण आंणी ॥३५॥६७१॥

मद भारथ केसरि कस्तूरी । राजा वेस्या तपेश्री ॥
इतना कुल न पोजंत हो राजा । जाहर नई गगा जलो जथा ॥३६॥६७२॥

अस तजि गज तजे राज तजि । तजि सषोमन को साथ ।
धृग मन घोषै ला तेलै कै । घर्यो पीपै परि हाथ ॥३७॥६७३॥

कूवा जग का जीवणां । बढ़ै सदा वा रोगी ॥
तातैं निकस्या भरथरी । मीठा लागा जोगी ॥३८॥६७४॥

---

१. तुलनीय, पद ६१९; २. तुल० पद ६२०;
३. तुल० पद ६२१;

जिषां न विद्या न तपो न दानं । न चापि सीलं न गुणो न धर्मो ॥
ते मृत्य लोके भू भार भूवली । मानेष रूपेण मृघा चिरंती ॥३६॥६७५॥

॥ इति श्री भरथरी जी श्लोक संपूर्ण ॥❀

भरथरी जी का पद (५)

सिधो इहां कोई दूजा नांही । ग्यांन दिष्टि करि देषण लागा ॥
हरि है सब घट मांही ॥ टेक ॥

जल थल मांही जीव जंत है । इन परि दया बिचारो ॥
सब घट व्यापक एक ब्रह्म है । काहू कूं जिन मारो ॥१॥६७६॥
जहां था दोष दया तहां उपजी । सहज सुरति अनुरागी ॥
गोरष मिल्या भरम सब भागा । सुरति सबद सू लागो ॥२॥६७७॥
मारि न षाइ भषै नही मृतक । सुरापान नही पीवै ॥
तंत मंत ठुनका नहिं जानें । सो वैरागी जीवै ॥ ३ ॥ ६७८ ॥
गुर सूं ग्यांन ग्यांन सूं बुध भई । बुधि सूं अकल प्रकासी ॥
भनंत भरथरी हरि पद परस्या । सहज भया अविनासी ॥ ४ ॥ ६७९ ॥

२०—मछन्द्रनाथ जी का पद[1]

राग काल्यंगड़ो

मुषड़ली लागी थारा नावनी । म्हानै भावै भावै भगवंत जी रो नांवे म्हांरा बाल्हा रे ॥ टेक ॥

जाण जैसी रंग भेटीये । काई भजन भलो भगवंते म्हांरा बाल्हा रे ॥ १ ॥

❀ क. प्रति से ।

१. श्री डा० सोमनाथ जी गुप्त ने जसवन्त कालेज जोधपुर से १३-२-५१ को भेजा । यह पद जिस पुस्तक से लिया गया है वह जोधपुर की दरबार लाइब्रेरी में हैं । गुप्त जी ने लिखा है कि "और भी दो एक अन्य हस्तलिखित संग्रहों में इसी प्रकार मिले हैं ।"

सबही तीरथ मैं बसैतो । काई मंजन करै जन कोई म्हारा बाल्हा रे ॥ २ ॥
त्रीमल थाते म्हाई चल्या । काइ एहड़ो पटंतर जोई म्हारा बाल्हा रे ॥ ३ ॥
काया तीरथ मै ग्यांन बड़ा । काई साधानौ दरसण होइ म्हारा बाल्हा ॥ ४ ॥
भणै रे मछन्द्र ऐहड़ो पटतर । काइ भगवत सवान कोइ म्हारा बाल्हा रे ॥ ५ ॥
॥ ६८० ॥

राग धनासी

पंषेरु उडि सो । आय लीयौ बोसरांम ॥
ज्यों ज्यों नर स्वारथ करैं कोइ न सवाऱ्यो कांम ॥ टेक ॥
जल कुं चाहै माछली । थण कु चाहै मोर ॥
सेवग चाहै राम कूं । ज्यौ च्यंवत चंद चकोर ॥ १ ॥
यो मारथ को जोवड़ौ । स्वारथ छाड़ि न जाय ॥
जब गोप कीरया करी । म्हारो मनवो समग्यौ आय ॥ २ ॥
जोगी सोइ जांणी रै । जगतै रहै उदास ।
तत नीरंजण पाइया । यों कहै मछंदर नाथ ॥ ३ ॥ ६८१ ॥

२१—महादेव जी की सबदी*

गगन मन छाकि[1] लै । त्रिबिध दुष काटि लै ॥
थाकि लै बल[2] पंच भूतं । हरि रस पागि लै[3] ॥
जनम भै भागि लै । माषंति सति सिव अवघूतं ॥ १ ॥ ६८२ ॥
सिव संति गुरू कृपा ये माणिक लाभि लै । रोकि लै बहतरि थांनं ॥
साधि लै उद्यांन घाटी । जोग जुगति करि षट चक्र छेदि लै ॥
भेटि लै ब्रह्म कपाटी ॥ २ ॥ ३८३ ॥

* इस सबदी के सिर्फ ६ पद्य क प्रति में हैं।
शेष पद ख और ग प्रतियों में हैं।
१—ग. बाकि; २—ग. बाला; ३—ग. पाकिलै;

हाजरा कूं हजूरि । गाफिला कूं दूरि ॥
बिरला जाणंत[1] निज तत ज्ञानी । मुसक नामी बसै[2] ॥
मृगा[3] षबरि ना लहै । भाषंत सिव सति बाणी ॥३॥६८४॥

अरध उरध सों पुष्ट[4] करीजै । संषड़ी नाली बाई भरीजै ॥
माठी हेठैं करू तन जाई[5] । भणैं[6] सदा सिव जीवण उपाई ॥४॥६८५॥

जिह्वा[7] इंद्री येकै[8] नाल । जे राषै[9] ते[10] वंचै काल ॥
बोलंत ईस्वर सति सरुप । तत विचारै तौ रेष न रूप ॥५॥६८६॥

अजपा जपै सुंनि मन धरै । पांचूं इंद्री निग्रह करै ॥
ब्रह्म अगिन मै होमैं काया । तास महादेव वंदै पाया ॥६॥६८७॥

वेद होन ब्रह्मा करम चंडाल[11] । अज्ञानी[12] जोगो पृथी[13] का भार ॥
अबोध राजा की न कीजै सेव । सति सति भाषंत श्री महादेव ॥७॥६८८॥

सिव निरमाइल[14] ब्रह्म रस । चंडी धन जे षाई ॥
इस्वर बोलं पारबती । तीनौं समुला[15] जाई ॥८॥६८९॥

षारा षाटा षटरस । मीठै वाढंत रोग ॥
ईसुर बोलत पारबती । येता थी निरालंभ जोग ॥९॥६९०॥

घरम अस्थान बहू जात करम । छाड़ो अवधू चित भरम ॥
चोया चेतनी मनि हित करि वाणी[16]। संकर बोलत संजम बाणि[17]॥१०॥६९१॥

आसण दिढ़ करि बैस जांणि । जाग्रिय निंद्रा थिति परवाणि ॥
अहार ब्यौर जुगति कर जाणि । संकर बोलं संजम बांणि ॥११॥६९२॥

चंद्र मंडल मधे सूरीयो[18] संचारि । काल विकाल आवता निवारि ॥
उनमनि[19] रहिबा धरिबा धयान । संकर बोलंति सहज[20] वांणि ॥१२॥६९३॥

डाल[21] न मूल पत्र न छाया । स्वर्ग[22] मृत्यु[23] पाताल एक हो काया ॥
प्यंड[24] ब्रह्मांड एक[25] करि जाणी । संकर बोलंत अतीत बाणी ॥१३॥६९४॥

१-ख. नंत; २-ग. बहै; ३-ख. मृधा; ४-ग. तैं पृष्टि; ५-ग. कूँ कू उपाई; ६-ग. भनंत। ७-ग. जिम्या; ८-ग. ऐको; ९-ग. जो रषै; १०-ग. सो; ११-ग. चडारं; १२-ख. अज्ञान; १३-ख. पृथमी; १४-ख. नृमाइल; १५-ख. नृमुला;
१६-ग. जाणी, १७-ग. वाणो। १८-ग. पवन;
१९-ग. जागृत निद्रा थित प्रवांणा, २०-ख. सुपया, २१-ख. डाल मूलं पत्र न छाया, २२-ग. सुरग, २३-ग. मृत; २४-ग. पिंड; २५-ग. सोसम;

इन्द्री का जती मुष का सती । हिरदा का कंमल मुक्ता ।।
ईस्वर बोलंतं[1] पारबती । ते जोगो छोग[2] जुक्ता ।।१४।।६६५।।

देता ही जो सत करै । लेता करै संतोष ।।[3]
ईस्वर भाषंत पारबती । ये दून्यूं पावै मीष ।।१४।।६६६।।

छच्यारि बांणी का च्यारि भेद । रुक जुज स्यांम अथरबन वेद ।।
जुगति जोग करि जोगी तपै । संक्र अह निसि अजपा जपै ।।१६।।६६७।।

घुत षांड गीहूँ इंम्रत भोग । तहां सिर जालै चौष्टि रोग ।।
नम तलि अगनि प्रजलै न ऊगै मान । ताते संसार का नरन प्रवान ।।१७।।६६८।।

जल अर्मल मरा लै नल । संसार सूं क्यूं न रहै रो कल ।।
मन मस्त हूस्जी जाति बादल । मनंत सिव तब यहौं ता अस्थल ।।१८।।६६९।।

नव नाड़ी सो मरि ले मली । अगनि न बलै नामी की तली ।।
चंद न सोषै सूर न करै । गिर ही पहली अवधू मरै ।।१९।।७००।।

मन में नीचा मधिम करम । मुष बषानैं उत्तम धरम ।।
मनंत इस्वर कलियुग की गति । तातैं न कही रो सति असति ।।२०।।७०१।।

पहुप दृष्टतु पलासं । मूरिषो बदंत पालं ।।
बाद बिबाद न करतवां । पाडलंत तथा पाडलं ।।२१।।७०२।।

२२--मीड़की पाव जी की सबदी

प्यंड[4] चलंता सब[5] देषै । प्रांण चलंता बिरला[6] ।।
प्रांण चलंता जे नर देषै । तास गुरु मैं चेला ।।१।।७०३।।

कहां बसै गुरु कहां बसै चेला । कूंण[7] षेत्र कहां[8] मेला ।।
अैसा ज्ञान कथो रे माई । गुरु सिष की कूंण[9] लषाई ।।२।।७०४।।

१--ग. बोलैत; २--ख. जोग न जुक्ता;
३--यह पद केवल ग प्रति में है ।
छ १९--२१ संख्यक पद्य केवल ग प्रति में हैं ।
४--ग. पिंड, ५--'क' में 'को' अधिक, ६--ग. अकेला,
७--ख. कौण, ८--ग. कैसे, ९--ख; कोणंड,

अरधै बसै गुरु मधि[1] बसै चेला । तृकुटी षेत्र उलटि तहां[2] मेला ॥
अनहद सबद भईउ लषाई । गुर मुषि जोति निरंजन पाई ॥३॥७०५॥

काया कंचन मन कस्तूरी । सो ले गुरू कूं दीजै ॥
अषंड मंडल[3] मढ़ी छाइवा । जुरा मरण नहिं छीजै ॥४॥७०६॥

❀सिघा गड़बड़ छाड़ि दे । अनहद प्याला केल ॥
बूंद समानी समंद मैं । सो बुंद ले पेल । ५॥७०७॥

पीर मंडारै परषिये मन मेलू रंमता । जती सती का पटंतरा ॥
लामै थिर रहंता ॥६॥७०८॥
राति गई अधराति[4] गई । बालिक एक पुकारै ॥
है कोई नग्र[5] मैं सूरि वां । बालक का दुष निवारै ॥ ७ ॥७०९॥

२३—रामचंद्र जी की सबदी

अगनि कुंड समो नारी । घृत कुंड समो नरा ।
जंघ जोडि प्रसंगांनां । क्यूं तो मन निहचल रे लषमणां❀❀ ॥ १ ॥७१०॥

२४—लषमण के पद

मेरै मनि आया बहुरि अंदेसा । सो मैं सेया सबद बसेषा ॥ टेक ॥
इहां कछु और उहां कछु और । कूंण मुषि निरबाहो ।
बूझि कहत है लषमण बाला । गुझि महाराजि बतावो ॥ १ ॥७११॥

१–ग. मघे, २–ख. केवल 'उलटी', ३–ग. सुनि मंडल मैं,
❀ यह पद केवल ख. प्रति में है ।
❀❀ 'ग' प्रति से ।
४. ख, अँधिरात; ५. ग, नग्री ।

अधिक पाठ ग. प्रति

ग्यांनी सो जो ग्यांन मुष रहई । मेटि पंच का आसा ।
उर अंतर उनमनी लगावै । अगम गवन करे बासा ।

इहां उहां ऐक करि जांणो । आपा मंभै प्यछांणों ।
जो तुम वाला बूझ करत हो । तो सबद मुषि निरताणों ॥ २ ॥७१२॥

कैसा सबद कहो महाराजा । बाई सबद हो तेरा ।
इंद्रया वोऊं आदि लूं माया । तीनौं लोक अंधारा ॥ ३ ॥७१३॥

जो पिंडे सो ब्रह्मंडे । करद सबद चित लावो ।
षिड़की षोलि दवा दम उपरि । संधे तत मिलावो ॥ ४ ॥७१४॥

इला पिंगुला सुषनमां । ऐ काया की लार ।
कहै रुवनाथ रचीलयो वाला । रज बीरज की धार ॥ ५ ॥७१५॥*

२५—लालजी का पद

हूं बलिहारी सुगुणां जोगोया रे लाल । म्हारी काया नग्र को राव ॥ टेक ॥

मूल महल षिड़की लगि रे लाल । गगन गरजि जाई ।
सुनि सिषर रा तषत पर रे लाल । म्यारो जुगियो रह्यो रे लुमाई ॥ १ ॥७१६॥

बिन बादल बीज अनंत रे लाल । सिव सक्ती मेला मया रे लाल ।
जहां नित्ति नवला नेह ॥ २ ॥७१७॥

अरध उधर माठो चिगै रे लाल । जहां घर न लगाई धार ।
पंच सषी प्याला देवै रे लाल । जहां सहज मडो मत्तिवार ॥ ३ ॥७१८॥

इला पिंगुला संगर मैं रे लाल । सुषमनि नैबति घोर ।
मतिवाला घूंमत रहै रे लाल । जाकी लगी अलष सूं डोर ॥ ४ ॥७१९॥

गया दिवानैं देसड़ै रे लाल । रह्या दिवानां होइ ।
आपण पौनहो जाणीयो रे लाल जहां दिल की दुरमति धोइ ॥ ५ ॥७२०॥

सुंदरि सुषमनि जोगीयो भोगवै रे लाल । जाकूं सुनि सिषर को चाव ।
बिकट पंथ बेडा मता रे लाल । मेरे सत गुर दीया बताइ ॥ ६ ॥७२१॥

जोग जुगति सूं षेलणां रे लाल । सिषरां तंबू तणांइ ।
ठीक लगाई ठीकरै रे लाल । उलटि त्रिब्रेणी न्हाइ ॥ ७ ॥७२२॥

---

* 'ग' प्रति से ।

बिद्या वेद पावै नहीं रे लाल । कथै न कतेब कुरांणां ।
ठीकर तो ठावो कीयो रे लाल । पावैं कोई संत सुजान ।। ८ ।।७२३।।

२६—सतवंती के पद

गहीयौ बाला सति सबद सुष धारा । गगन मंडल चढ़ि प्रीतम प्रसो ।
रूप बरन तैं न्यारा ।। टेक ।। धरता कूं करता मति मानो ।
सति को सबद चितांऊं । अब लग मरम लह्यो नहीं मेरो ।
गुज्झ बीज कहि जांउं ।। १ ।।७२४।।

हम भी माया तुम भी माया । माया रावन राघो ।
जे तु बाला बूझ करत हो । तो सुसंवेद सूं लागो ।। २ ।।७२५।।

सुसमवेद का भेद निराला च्यारूं वेद बिकारा ।
जिन अक्षर सूं साइर पाटा । सो सबका करतारा ।। ३ ।।७२६।।

तीन लोक अर भवन चत्रदस । रच्या काल का चारा ।
साध सबद ह्रदै धरे लीज्यो । ऐती नौंबट पारा ।। ४ ।।७२७।।

अवनि घसंती यूं सति भार्षों । राषौं तोष तुम्हारा ।
सुष सागर मैं सहजि मिलौगे । सति प्रनांम हमारा ।। ५ ।।७२८।।

किती ऐक बेर भया ऐ त्रिहनां । कोई जन जानैं या गहर गती ।
इंछा वोऊ आदि लूं माया । यूं सति भाषै सतवंती ।। ६ ।।७२९।।

२७—सुकुल हंसजी की सबदी

देवल देषंता पंडिता देवल षड़हड़िसी । राजा देषंतां रिणवासं ।।
गुरू चेला प्रतषि बाद होसी । पुत्र न मानिसी माइ बापं ।। १ ।।७३०।।

दिषण षड़हड़सो गगन गरजसी । पूटसी गंग जमन का नीरं ।।
बारा बारा जोजन उपरि नमी बससी । आंवला प्रवांन मिष्या होसी ।।
जती सती कोइ बिरला सधीरं ।। २ ।।७३१।।

जब मही आवटसी कूरम टलसी । पूटसी राजा नृपति के बीजं ॥
चंद सूर दोउ राहु ग्रससी । तत्र पूता भणीबा रात्री न दिवसं ॥ ३ ॥७३२॥
उतिर दिसाथैं अहूठी कोठि दल मल मिलि चालिसी । अरु राजा का अनंत पारं ॥
राजा इंद्र बिसूक का आसण थरहरसी । सिध बुधि करिसी बिचारं ॥ ४ ॥७३३॥
बिमल बिचारि गिर कंदलि पैंसिबा । सुकल हंस माषंत ते डंसं ॥
कीया चेतन दोइ सम करि मेलिबा । उड़ी न जाइसी प्रमहंसं ॥ ५ ॥७३४॥

२८—हणवंत जी का पद (१)

(राग—रावंगरी)

तत अैसा लो तत अैसा लो । किम करि कथं गंभीरं ॥
निराकार आकार बिबरजित । सति माषै हणवंत वीरं ॥ टेक ॥
द्रिष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर । पुस्तकि लिष्या न जाई ॥
जिहि पहचांना सोई जांनै । कहतां को न पत्याई ॥
बाहरि कहूँ तो सतगुर लाजै । भीतरि कहूँ तो झूठा ॥
बाहरि भीतरि अत्र निरंतरि । सतगुर सबहूँ दीठा ॥
मीन चलै चलि मधि न जीवै । नाद रूप बस कैसा ॥
पहुप वासनां कछू न दरसै । परम तत है ऐसा ॥ १ ॥७३५॥
आकासां उड़ि चढ़ै विहंगंम । पीछै षोजन दरसै ॥
बाल जतो हणवंत यूं प्रणवैं । कोई विरला हरि पद परसै ॥
तत वेलो लो तत वेलो लो । अलष बिरष बिलंवैली ॥
बाड़ी विरह बीज निज बाह्या । नगरहिं जाइ रहैली ॥ टेक ॥
अंमी कुंड सौं धोए बांध्या । अमरा कूल भरेलो ॥
चेतनि पांण ति ष्यांउंन लागा । अंबर छेकि बधैली ॥
पेड दिसा थैं पावक पोषै । सैली अमी पीवैली ॥
रूप रेष,ताकै कछु नांहीं । बप विन मृग चरैली ॥
जिनिही कमाई तिणिही पाई । सहजैं फूलि रहैली ॥
बदंत हणवंत बाला रे अवधू । एक अमर फल देली ॥ २ ॥७३६॥

राग आसावरी

बाघणि लो बट पाड़ी लो । हेत करै घट भीतरि पैसे ॥
सोषिले बैन बनाड़ी लो ॥ टेक ॥
जे जन जांनि रहैं रहता सौं । मैं तिनके बन्दौ पाया लो ॥
कामणि मीनी जिनि जिनि त्यागी । तिनके अषिल सरीरा लो ॥
सतगुर सबहूँ जे जन चालै । तिनकूँ प्रणवैं हणवंत बीरा लो ॥ ३ ॥७३७॥ॐ

———

हणवंत जी की सबदी (२)

बकता आगैं सुरता होइवा । धीग देषि मसकीनं ॥
सिध कै आगैं साधक होइवा । यौ सति सति भाषंत हणवंत बीरं ॥ १ ॥७३८॥
वेद पढ़े पढ़ि ब्रह्मा[1] मूवा । पढ़ि गुणि भाटन गारो ॥
राज करंता राजा मूवा रूप देषि देषि नारी ॥ २ ॥७३९॥
कथता तो कथि[2] गया । सुरतां सुणि गया[3] ॥
नृमल रहि गया[4] थीरं । कोई येक बीर विचषण पारि उतरैगा ॥
यूं सति सति भाषंत[5] श्री हणवंत वीरं ॥ ३ ॥७४०॥
चंचल था ते निहचल हूवा । गुर के[6] सबदां थीरं ॥
परम[7] जोति आकासि बसाई । यूं सति सति भाषंत श्री हणवंत वीरं ॥४॥७४१॥
मगरधज बूझै[8] हो बाबा हणवंत बीरं । काया का कौण बिचारं ॥
अठसठि[9] तीरथ घट ही भीतरि । बाहर लोकाचारं ॥ ५ ॥७४२॥
चलै मीन जल षोज[10] न दीसै । गगन विहंगम रहिया[11] ॥
सिध का मारग कोई साधू[12] जाणैं । और सब दरसणी बहिया ॥ ६ ॥७४३॥
करतूती करतार है बिचि ही[13] । बिण करतूति पहूँचा ॥
विधनां रची बिधै है जेती[14] । गुर बाइक के अवधूता ॥ ७ ॥७४४॥

ॐ केवल क. प्रति में प्राप्त ।

१– ग. पंडित; २–ख. कथे; ३–ख. रह्या; ४–ग. रहैगा; ५–ग. माषै; ६–ग. का, क. के सबदं ७–ग. धूम; ८–ग. पूछै; क. बूड़ै ९–ग. अठसठि; १०–क. ख. न दरसै; ११–ख. रहिवा; १२–ग. बिरला; क. साधू हो; १३–ख. १४–क. ख. क्रित्य करता रहे बीचि ही ।

बकता सुरता मरि मरि जास्यो । रहिता रहस्यौं थीरं ॥
सार का चणां कोई विरला चाबै । सति सति भाषंत श्री हणवंत बीरं ॥८॥७४५॥

※ अठसठि तीरथ जाकै चरणां । सोई देव तुम्हारे अंतह करना ॥
हणवंत कहै मन अस्थिर धरणां । बाहरि कितहू भटकि न मरणां ॥९॥७४६॥

पंथ चलै चलि पवनां टूटै । तन छीजै तत जाई ॥
काया तैं कछु दूरि बतावै । तिसकी मूढ़ो माई ॥१०॥७४७॥

देह अंतर करो रे अवधू । देह अंतर क्या छीजै ॥
हणवंत कहै देह तरक करता । कारज सगला सीजै ॥११॥७४८॥

———

हणवंत जी का पद (३)

बाघनि लो रे बाघनि लो । बाघनि है बटपाड़ो लो ॥
हेत करै घट भीतरि पैसै । सोषि लैवै नौ नाड़ी लो ॥ टेक ॥
जिंद भी सोषै विंद भी सोषै । सोषै सुंदरि काया लो ॥ १ ॥७४९॥

जे जन जांनि रहै रह तासूं । मैं ताका वंदौं पाया लो ॥
बाघनि मीनी जिन जिन त्यागी । ताका अपै सरीरं लो ॥
ते नर जोनि कदे नहीं आवै । सत्ति सत्ति भाषंत हणवंत बीरं लो ॥ २ ॥७५०॥

अैसा लो रे तत अैसा लो । किम करि कथूं गंभीरं लो ॥
निराकार आकार विवरजित । यूं कथंत हणवंत बीर लो ॥ टेक ॥

दिष्टि न मुक्ति न अगम अगोचर । पुस्तग लिषा न जाई रे लो ॥
जापरि कृपा सोई भलि जानैं । कह्या न को पतिआई रे लो ॥
बाहरि कहूं तो सतगुर लाजै । भीतरि कहूं तो झूठा रे लो ॥
बाहरि भीतरि सकल निरंतरि । सतगुर सबदां दीठा रे लो ॥
मीन चलै जल माघ न दीसै । रूप वरन है कै साले रे लो ॥
पहोप वास ज्यूं रहै निरंतरि । प्रम तत है अैसा रे लो ॥ ३ ॥७५१॥

आकासां उडि चलै विहंगम । पीछें षोज न दरसै रे लो ॥
बाल जती हणवंत यूं प्रणवैं । निज तत विरला प्रसै रे लो ॥

※ ९–११ संख्यक पद्य केवल ग प्रति में ही हैं ।

तत वेली लो तत वेली लो। अलष विरष बिल मेली लो ॥
बाड़ी बोज विरह निज बाह्या। गगनां जाइ रहेली लो ॥ टेक ॥
अमी कुं सूं घोरा बांध्या। अमरा कूप भरेली लो ॥
चेतन पांणत्ति पांषण लागौ। अंबर छेदि बधेली लो ॥ ४ ॥७५३॥
पेड दिसा तै पावक पोष्या। सेली अमी चवेली लो।
रूप वरण वाकै कछु नांहीं। बप विन मृघ चरेली लो ॥ ५ ॥७५३॥
निज ही कमाई तिन भल पाई। सहजैं फूलि रहेलो लो।
बदंत हणवंत बोल्या रे अवधू। ऐक अमर फल देलो लो* ॥ ६ ॥७५४॥

---

* ग प्रति में "सिधां का पद" शीर्षक देकर कई योगियों के पद संगृहीत हैं। उनमें हणवंत के नाम के ये पद हैं। इनमें से कई पद स्वल्प पाठान्तर के साथ क प्रति में पाए जाते हैं, जो ऊपर संगृहीत हो चुके हैं।—सं०

परिशिष्ट—१

श्री परवत सिद्ध का कह्या भूगोल पुराण

ओअं आगमु जरि बाइ विसिनु जडि सूरजु मडंलिओ। सति उत्पति आदि अविगति ते अंकासु उत्पन्निओ। अंकासु ते बाइ उत्पन्निओ। वाइ ते तेजु उत्पन्निओ। तेज ते ब्रह्मंडु उत्पन्निओ। ब्रह्मंड फुटि गुटिका मइओ। तेज के मधि बिसनु रहिआ। बिसुन के मधि ब्रह्म रहिओ। सो ब्रह्म बाइ कीओ। पचासी कोट जोजन प्रिथमी प्रवाण है। चउरासी लाख जोजनु सुमेरु पर्वत ऊंचा है। सोलह सहंस्र मधि गडिआ है। बीस सहंस्र ऊपरि बिधि विस्थारु है। तिसु सुमेरु पर्वत ऊपरि अष्ट स्रिग है। भिन्न-भिन्न हैं। एकु लाख जोजनु आपस मधि अतरा है। एकु एकु सिङ का कउणु कउणु सिङ है— म लवंत सिङ है। ऊचवंतु सिङ है। हेमवंत सिङ है। प्रमाथुं सिङ है। लोलावतुं सिङ है। सन्तवतुं सिङ् है। गुपूप्रदान सिङ् है। महारसु सिङ् है—ऐसे अष्ट सिङ् हैं॥

प्रिथमी प्रमान—सुमेरु पर्वत ऊपरि सुवर्ण मई है। कैलास समुन्द्र है। बड़ा राजा है। गणरध्र बिछु है। मनं है। पारजात कवलात गज विराजता है। वैकुंठ मैं पुनोत है। प्रधान पड़दे एक है। एते सुमेरु पर्वत दछिन दिसा आगै जबूं ब्रिछ है। तिसु ब्रिछ का केता कु कु विधि विस्थारु है। एकु लाखु जबूं का बिथ्रि विस्थारु है। तिसु ब्रिछ के हस्तो प्रवान फन है। सो फलु पुनीम बरतो प्रवाह चलता है। सो प्रवाह मानसरोवर जाता है। सो सफलु पुनीत हैं। तिसु फल कीआं, जल कीआं नदीआं बहतीआं हैनि। आगै जमवतं पुरी है। सर्व पापी बसते हैनि। असंख जन्म के। जो जो जनु जल अव मजंनु करै काइआ सुवर्ण की होइ जाइ। प्रिथमी ऊपरि आगै खंड हैं। कउन कउन खंड है :—केतमाल खंड है। मार्थ खंड है। नीलबिछ खंड है। रांभि खंड है। हरिआन खंडु है। कुरंजल खण्ड है। किसिनु खण्ड है। भिलमिल खँड है। गिआन खंड है। एते नउ खंड—प्रिथमी प्रवान है।

प्रिथमी ऊपरि आगै दीप है। कउन कउन दीप है :—पउछल दीप है। सल्मल दीप है। जंब्रू दोप है। कुसुम दीप है। पुस्कर दीप है। कुरंचल दीप है। संगला दीप है। तिनका पिवरा कितनाकु है—त्रै लख जोजन जवूं दीप का बिधि-विस्थारु है।। खारा समुद्र पर बसियता है। चउरासी लख जोजनु संगलदीप है। मधि समुन्द्र पर बसिटाता है। बारहकोट जोजन कुरचंजलदीप है। रूप समुन्द्र बिसिटाता है। बीस कोट जोजन कुसदीप है। दुध समुन्द्र पर बिसटाता है। चालीस लाख जोजन संगलादीपु है। दधि समुन्द्र पर बिसिटाता है। संगलादीप के ऊपरि गरुड़ का दुआरा है।। आगे समुन्द्र है—कउणु कउणु समुन्द्र है-खारा समुन्द्र है। ईख समुन्द्र है। मधि समुन्द्र है। रूपस समुन्द्र हैं। सेत समुन्द्र है। खीर समुन्द्र है। दधि समुन्द्र है। एते सत समुन्द्र हैं। प्रिथमो प्रवाणः—कुरंभ की पीठ ऊपरि संसार है। तिस कुरंभ का त्रिधि-विस्थार केता है—दोइ कोट जोजन कुरंभ की मूछा है। पचास कोटि जोजन कुरंभ का पीठि है। एक कोट जोजन कुरंभ का मस्तकु है। दुइ कोट जोजन कुरंभ के नेत्र हैं। एक कोट जोजन कुरंभ का मुख और माथा है। सति कोट जोजनु कुरंभ को जीभ है। चारि कोट जोजनु कुरंभ के चारों पग हैं। दस कोट जोजन कुरंभ की अंगुली है। सपति कोट जोजन कुरंभ ऊँचा है। एकु अर्व प्रिथमी ते दूणा है। तिस कुरंभ का मूख पूर्व दिसा में है। तिस कुरंभ का पग चारउ दिशा है। पूर्व पछमु उत्तरु दखिनु। तिस कुरंभ की प्रिष्टि ऊपरि अष्ट द्विगजन (दिग्गज) है। कदी जेकरि कुरंभ उलटै तउ प्रिथमी का नास होइ जाय। एते कुरंभ प्रवान है। पुनी च पुनोरीक बैठे हैं। तिनकउ निरंजनु पुरीपु अहार देता है। सर्व भूमिके प्रिपालिक हैं। इकु लाख जोजनु ऊचे हैं। अठारह कोट जोजन उनका विधि विस्थार है। दो कोट जोजन उनका सुरिकि है। तोस कोट जोजन उनके दंत हैं। ऐसे द्रगिजन बैठे हैं। प्रिथमी की रछापाल करते हैं तिसु कुरंभ के मुख मस्तकि ऊपरि शेषनाग बैठे हैं। सहस्र फन है। दोइ सहस्र नेत्र हैं। पंद्रह कोट जोजन एक एक मस्तकि का विधि विस्थार तिस शेषनाग का मुख सदा हरि हरि होता है। तिसु शेषनागके मुख सदा मस्तकि ऊपरि महा बैराहु बैठा है। प्रिथमो कउ देखता है। अनन्त मूरति है। तिस महा बैराहु के आगै एह प्रिथमी माटी लगी है। प्रिथमी ऊपरि आगै पर्बत चले—उदि अंचल पर्वत है। हिव अंचल पर्बत है। रत अंचल पर्बत है। बुध अंचल पर्वत

है। सुत अंचल पर्वत है। दानागर पर्वत है। मालीगर पर्वत है। खिखै पर्वत है। एते सप्त पर्वत प्रिथमी प्रवाण ॥ जेते समुद्र तेते पर्बत। पर्बतों की गति समुंद्र प्रलय होयगा ॥

सुमेरु पर्बत ऊपरि चारि दिशा चारि पुरीआ हैन। कउणु कउणु पुरी— कउणु कउणु दिसा है। पूर्ब दिशा आगै ऊपरि—प्रिथमी ऊपरि चउबीस सहंस्र जोजन अंम्रितपुरी उची है। तहाँ राजा इंद्र राज करता है। त्रैतीस कोट देवते हैं। अठासी हजार सहंस्र भूषीपुर हैं। दछिन दिशा आगै प्रिथमी ऊपरि। पचीस सहंस्र जोजन जमपुरी ऊचो है। चउसठ सहंस्र जोजन सर्वस्त्रा है। पछिम दिशा आगै प्रिथमी ऊपरि बिआलिस सहंस्र जोजन ऊसिकापुरी ऊची है। ऊपरि बसता है। तहाँ राजा सुमेरु राजु करता है। सूरजु उद्यंचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्तु होता है। सूरज चलते हो सिख्या दोइ सहंस्र जोजन एक निमिष महि सूरज चलता है। आगे पुरीआँ पाँच अउर हैं। कउण कउण पुरी है—त्रैतालीस सहंस्र जोजन उलका पुरी का विधि विस्थारु है। पचास सहंस्र जोजन जमवंतपुरीका विस्थारु है। अठासी सहंस्र जोजन अचलपुरी का विधि विस्थारु है। सत्रह सहंस्र जोजन महिआनकपुरो परि मध्यान करता है। सूरजि जमपुरी पर अघिमान करता है। सूरजु मध्यानपुरो मधि रात करता है। तहाँ रोमचलित्र ऋषीसर कल्पमानु होता है। नितप्रति एक रोम अंगे ते टूटता है।

एक लाख सूरि उदे होता है। तदि लाल स्रिष्टि कउ नजर आवती है। जब सूरज चलता है तातो अकांस प्रमाण है। नउ असंख अठितालीह पदम अठितालीस नील चउतीस परब उनहत्तरि अर्ब स्तानवै कोड़िड पंचोसलाख पचानवे सहंस्र पचास-लाख जोजन धरती अंकास का अंतरा है। गुहिज असिथान का वेवरा कितनाकु है— प्रिथमी ते चारि जोजन मेरा (मेरु) मंडलु ऊपरि है। अम्रितधारा सदा बरिषता है। मेघमंडल लोक ऊपरि एक लाख जोजन सूरजलोक है। बियालो सहंस्र जोजन सूरिज लोक का विधि विस्थारु है। सूरज लोक ऊपरि एक लाख जोजन चन्द्रमालोक का विधिविस्थारु है। चन्द्रमालोक ऊपरि एक लाख नछत्र लोक है। पचोस सहस्र जोजन का नछत्र लोक का विधिविस्थारु है। नछत्र लोक ऊपरि एक लाखु मंडलोक

है । तीस सहंस्र जोजन मंडलोक का विधिविस्यारु है । सोम लोक ऊपरि एक लाख जोजन सुक्र लोक है । उणासी सहंस्र जोजन सुक्र लोक का विधिविस्यारु है । सुक्र लोक ऊपरि एकलाखु जोजन वृहस्पति लोकु है । अठासी सहंस्र जोजन वृहस्पति का विधिबिस्यारु है । वृहस्पति लोक ऊपरि एकुलाख जोजनु बुध मंडल है । तीस सहंस्र जोजन बुध मंडल लोक का विधि विस्यारु है । बुध मंडल लोक ऊपरि एकु लाखु जोजन सुख मंडल लोक है । अठासी सहस्र जोजन सुख मंडल लोक का विधिविस्यारु है । सुख मंडल लोक ऊपरि एकुलाख जोजनु राहु मंडल लोक है । अठासी सहंस्र जोजन राहु मंडल लोक का विधिविस्यारु है । राहु मंडल लोक ऊपरि एक लाखु किरेत मंडल लोक है । सोलह सहंस्र जोजन किरेत मंडल लोक का विधिविस्यारु है । किरेत मण्डल लोक ऊपरि एकलाख जोजन किसन लोक है । चउसठ जोजनु किसन लोक का विधिविस्यारु है । किसन लोक आगे राहु कितना कूं दित्ता है । किसनलोक ऊपरि एक लाखु जोजनु ससत्रसीसुर हैं । भिन्न भिन्न है । एक लाखु जोजनु बिसनु मण्डल लोक ऊपरि प्रान अंकार है । सु निरंकार है । तहाँ श्रीनारायण बैठे हैं । पउणु सरूपा बसते हैं । देवते रछिया करते हैं । शब्द सुनते हैं । परु अखों देखते न है । अमीजल अंचवते हैं । तहाँ गति कउन पावते हैं । अकालमधि अखंड मूरति है ॥ १ ॥ ४४७ ॥

॥ इति श्री मोगलुपुरान समाप्तं ॥

परिशिष्ट २

शब्दार्थ

अंषिडतं > अखंडित ।
अंष = आंख ।
अउहाट = औहट, औघट, कुघाट ।
अंधारा > अन्धकार ।
अकल = कला-रहित, जिसकी कलना न हो सके ।
अकुलीन = कुलीन का उल्टा, शिव । अक्रिता > आकृति ।
अर्क चितली = आक और चितली नाम के बनौषध ।
अर्क = आक, अकवन ।
अजरावंर > अजरामर ।
अषह = आंख का ।
अणषूट = अनखूंटी, अनटूटी ।
अडौ = अड़ गया ।
अणचाषी = जो चखी न गई हो । अणपरचै = अपरिचित ।
अदलि = न्याय ।
अथवै = अस्त होता है ।
अनहद } अनहद, अनाहत ध्वनि ।
अनली बाई = अन्य वायु । अनहद्यु }
अबाइ > अ-वायु ।
अनिच्छर > अक्षर, अविनाशी ।
अबेझ > (१) अवेध्य, (२) अभेद्य ।
अबीह = अवेध्य ।
अभेवं > अभेद्य, जिसका भेद या रहस्य ज्ञात न हो ।
अमषे > अभक्ष्य ।
अर = और ।
अमली = नशावाला ।
अरभवन = अरु + भवन = और घर । अलिप वक्ता > अल्प वक्ता ।
असम = असमान ।
अलोय > अलोप ।
असरालं > असरार, भेद, रहस्य, द्वन्द्व ।
अस्थान > स्थान ।
असोझ = अशुद्ध, अपवित्र ।
अस्थंभना > स्तंभन ।
अस्त्री > स्त्री ।
अहूठा = साढ़े तीन ।
अहला } = था । आंहैनि > हैं ।
अहिला }
आइस > आयसु > आदेश । 'आदेश' नाथ योगियों का संभाषण है ।
आष = आखा, पूरा, समूचा ।
आक > अकवन ।

आष्वे } =कहे ।
आष्वैं }

आडाडंबर=आडंबर, घटाटोप ।

आदिमेर>आदिमेरु ।

आपा>आत्मा, आप ।

आयसं>आयसु, आदेश ।

आरोगता>आरोग्य, नीरोग होना ।

आव=पानी, चमक ।

इंछा>इच्छा ।

इग्यारी=एकादशी ।

उंच रते=कहते हैं ।

उछंचल>उच्चंचल, अत्यंत चंचल ।

उजीरं>वजीर ।

उतपनि>उत्पन्न ।

उदबीरज>उद्मिज्ज ।

उद्रपात्र>उदर पात्र, पेट ।

उनमनी>मनोन्मनी अवस्था, समाधि ।

उपनी>उत्पन्ना ।

आछैं=है ।

आडा=तिरछा, टेढ़ा तिलक ।

अम्हे=मैं ।

आपणपो=अपनापा ।

आपो राष्यां=खुद रक्षा करने से ।

आरंन>अरण्य, बन ।

आलै=आलवाल में ?

आवटसी=आवर्तित होगी, घूम जाएगी ।

इंद्रया>इन्द्रिय ।

इला=इड़ा नाड़ी ।

उंनथि>(१) उन्नति, (२) उन्मत्त ।

उजाई } >उदयान, ऊपर की ओर चढ़ना ।
उजीणी }

उडियांणी=(१) उड़ीं, (२) इड्डियान बंध ।

उतिण>उत्तीर्ण ।

उदि अंचल>उदयाञ्चल ।

उनंथ गो छिलो>उन्मत्त था ।

उनमांन>अनुमान ।

उपाधि=टंटा, फ़साद ।

उवट बटा>उद्वर्त्म वर्त्म, ऊबड़ खाबड़ या टेढ़ा मेढ़ा रास्ता ।

उसारबा>उत्सारितव्य, उलीचना ।

ऊधरैं>ऊर्ध्व ।

ऊधा=औंधा ।

उभा=खड़ा ।

उलो विलोग ना=उल्लू विलोकता (देखता) नहीं ।

ऊसिका=उसका ।

एकोंकार=एक मात्र ओंकार ।

ऐती—इतनो ।

ऐहड़ो=ऐसा ।

कंतरि>कान्तार, बन (में) ।

कंथड़ी } =कंथा ।
कंथो }

कउणु=कौन ।

ऐकलड़ो=अकेला ।

एकोतर>एकोत्तर, एक अधिक ।

ऐन>(१) अयन, (२) ये नहीं ।

कंकार>(१) कंकाल, (२) ककार ।

कंदलि>कंदल (मूल), जड़ में ।

कंध>स्कंध ।

कचोला=कटोरा ।

कटकई>कटक, सेना । कटाली=कटारी ।

कड>कृत । कतेब>किताब, धर्मग्रंथ ।

कतो आगलो=कहाँ से आया ।

कदी } =कभी । कबलास>कैलास ।
कदे कन्न>(१) कण, (२) कर्ण ।

क्रम>कर्म । क्रमणां>कर्मणा ।

कृप=कृपा । कुसुधी>कुशधी, दुर्बल मतिवाला ।

करंग>कुरंग, मृग । करद सबद=व्यष्टि में प्रतिबिंबित शब्द ।

करन>करण । कलकंत>कलकांति, सुन्दर ।

कलाल=मद-विक्रेता । कलू>कलौ, कलिकाल में ।

कल्पमानु=एक कल्प प्रमाण । कल्पौ=कल्पित किया ।

कलालो>मद बेंचनेवाली स्त्री । कवारी>कुमारी ।

काइआ=कब । कांई=कैसे, क्यों ।

काकण कार=पैसा बटोरनेवाले । काचसि=कष्ट पाता है ।

कातिस=कातर होता है । कादोर=कादर, कातर ।

कायारा=शरीरका । किंगर>किंकर ।

कितनाकु=कितने ही । किनथू=किन से

किन अरथ=किस कार्य के लिये, क्यों । किरेत=कृतकर्म ।

किसी=कैसा, किसे । कीधा>कृत, किया ।

क्रीला>क्रीड़ा । कीरया>क्रीड़ा ।

कुंचील>कुचैल, मैला (२) क्वचित् (?)

कुंती=से । कुतवालं=कोतवाल ।

कुठाल=कुठार । कुरंभ=कूर्म ।

कुरतै>कुरुते, करता है । कुरी>कुल, समूह ।

कुलक=एक औषधि, कुचिला । कुसदीप>कुशद्वीप, कुशस्थल नामक द्वीप ।

कुसमुषला=कुश की जड़ ? कूंण>(१) कोण (२)=कौन ।

कूकै=बोलता है । कूचा=सँकरा मार्ग, गली ।

कूजिबा=बोलना । कूर>क्रूर ।

केतमालं>केतुमाल, जंबूद्वीप का एक खंड ।

केल=(१) किया, (२) केलि केसीसूत्र ?

काथली=कोठरी ।

क्रोड़ी } =करोड़ ।
क्रौड़ }

षंडै=खंडित करता है ।

षंध>स्कन्ध ।

षंडौत्ति=खंडित करता है ।

षपरड़ै=खप्पर ।

षरतर=खरतर, तेज ।

षंणो>खंडे ।

षांड़ा>खड्ग ।

षाई>क्षय ।

षास्या } =खाएगा ।
षास्ये }

षिमिया>क्षमा ।

षुध्या>क्षुधा ।

षूटसी=कम हो जाएगा,नष्ट हो जाएगा ।

षूटै=टूटता है ।

षेत्र,>क्षेत्र ।

षेदनं>खेद पहुँचानेवाला, नाशक ।

षदूंकाल>क्षयकाल ।

षंडू=खंडित करूं ।

षंदाया=खोदवाया है ।

षड़हड़िसी=भहराकर गिर जाएगा ।

षपत=खपता है ।

षमिया=क्षमा ।

षंडं>खण्डन ।

षांड=खांड़, चीनी ।

षांड़ी>खंडिता ।

षालड़ि=खाल, चमड़ा ।

षिण>क्षण ।

षिमां>क्षमा ।

षीणों>क्षीण ।

षुनी>खूनी ।

षूंटा=(१) खूंटा (२) टूटना

षेचर>खेचर, (१) आकाश में चलनेवाला, (२) खेचरी मुद्रा ।

षेड़ } >खेट, गांव, खेड़ा ।
षेड़ै }

गंठि=गांठ में ।

गडोला=गड़ गया ।

गमै=गमता है, अनुभव करता है ।

गरवा>गुरु, भारी, कठिन ।

गरास>ग्रास ।

गहोयो=ग्रहण किया, पकड़ा ।

गाहो>ग्राहो ।

गैवर=हाथो ।

गुभि>गुह्य, गोप्य ।

गुदरै=(१) गूदड़ो (२) अलग हो जाता है ।

गुर नैं=गुरु ने ।

गूंडा=चूर्ण ।

षेलणां=खेलना ।

गंजि=बाजार में ।

गडिया है=गड गया है ।

गथा=पूंजो जमा किया ।

ग्रबै=गर्व ।

गरब्बं>गर्व ।

गहरगती=गंभीरगति वाली ।

गांडर<गडुल, भेड़ ।

गिरवैरे>गिरिवर ।

गिरहो>गुहो ।

गुटिका=गोली ।

गुहिज=गोप्य ।

गूंणि>गुण, गोन, रस्सी ।

गूझ<गुह्य, गोप्य ।
गो=रे (संबोधनार्थक अव्यय) ।
गोहाचक्र>गुहाचक्र ।
गोहिओ=छिपाया ।
ग्रभे>गर्भे ।
ग्रहने>ग्रहणे ।
घाँटी=गले के अंदर की घंटी, कौआ ।
घाटा=घट्ठा ।
घात=हिंसा, मारना ।
चंक्रमण=चलना-फिरना ।
चत्र=(१) चार, (२) चतुर, (३) चित्र, विचित्र ।
चत्रकंठ>चित्रकंठ ।
चत्रदस>चतुर्दश, चौदह ।
चवेली>(१) च्युत होती है, (२) कहती है ।
चष्ष>चक्षु ।
चिंहना=चीत्कार करना ।
चिगै=(१) चुगता है, चुनता है, (२) चुआता है ।
चितांडं>चित्ताण्ड ।
चिरकट=चिरकुट, चिथड़ा ।
चीत>चित्त ।
चीति>चित्त (में) ।
चीताबरं>चित्राम्बर, चित्रित बस्त्र ।
चीया=चेता ।
चुंडा>चूड़ा, चोटी ।
चौगिरदे=चारो तरफ ।
चौबारै=चारों ओर (चतुर्द्वार) ।
चौष्टि=चौंसठ ।
च्यंवत्=चूता हुआ ।
च्यारूं=चारों ।
छछंद>स्वच्छन्द ।
छादस>षोडश, सोलह
छाकि=तृत होकर, छक कर ।
छाजै=शोभता है ।
छिअ>(१) छूता है, (२) छीजता है ।
छिलो=था ।
छीजै=छीजता है, घटता है ।
छेक=छेद ।
छेरो=बकरी ।
जंत>(१) यंत्र, (२) जन्तु ।
जमागं>यमाग्रं=यम के सामने ।
जमल संष>यमल सांख्य, द्वंदज्ञान ।
जमारं>यमद्वार ।
जरांग=जरा (वृद्धावस्था) का शरीर ।
जलतन=जल विषयक ।
जारछ्या>जलाता है, जीर्ण करता है ।
जारज>जरायुज ।
जाहरनई ?
जिषां>येषां=जिनका ।
जिदंविंद=जीवन और वीर्य ।
जीअ>जीव ।
जीवड़ो>जीव, जियरा ।
जुरा>जरा, वार्धक्य ।
जुगतै=युक्ति से ।
जूरां=जरा ।
जेकरि=जिसका ।

जेवड़ी=रस्सी ।

झिरकित=
झुरकुट= } योगियों का पात्र ।

टलंत=टलता हुआ ।

टाकर=ताकता रहता है ।

ठटा=ठाट ।

ठाहर > ठहरने का भाव ।

डबी=डिब्बा, पात्र ।

डिंभरे > दंभपर ।

डींगा=डींग ।

ड्यंभ > डिंभ ।

तंबा > तंबू ।

तपीस=तप करता है ।

तेणइ=तृण ।

तृकुटी > त्रिकुटी, भ्रूमध्यस्थान ।

तस्मई > तस्मै, उसके लिये ।

तिनकड़ > तृणकृत ।

तुंड=चोंच, मुख ।

तेवण
तेवो } वैसा ।

थाकिलै=रहा ।

थारा=तुम्हारा ।

थिरंतां=स्थिर होने पर ।

थोइबा=रखना ।

जौंरा=जरा (बुढ़ापा) ।

झूरे=चिन्ता करता है ।

टमकलो=टिटिम्मा, ठाटबाट ।

टांमा > ताम्र, लाल ।

टूकर=टुकड़ा ।

ठावो=स्थिर करो, स्थापित करो ।

ठीकरै=ठिकरा ।

डालाइ ?

डिगम्बर > दिगम्बर ।

डीबि=पात्र में ।

ढील > शिथिल, ढीला ।

तपिगुला=तपस्वी ।

तलदंत पटी=नीचे के दातों की कतार ।

त्रटा=त्रुटित हुआ ।

त्रिवेणी=त्रिकुटी के पास का स्थान ।

तिण > तृण ।

तिरलो=पार किया ।

तुलाई=रूई की बनी हुई (मुलायम) ।

तोट > √त्रुट् ।

थंभा > स्तंभ ।

थाई=स्थित हुई ।

थिति > स्थिति ।

थेगली=सहारा ।

थोहर=थूहर, वनऔषधि-विशेष ।

दहूँ=(१) दुहूं, दोनों (२) धौं, न-जाने ।

दवादस > द्वादस ।

दरशन
दरसन } दर्शन ।

दहून=दोनों ।

दाणा > दानव

दानागर=दाना चुगानेवाला, मुक्तिदाता ।

दानूं > दानव ।

दिषन > दक्षिण ।

द्रिष्टि न मुष्टि न=न दृष्टि का विषय, न मुष्टि का; अदृश्य-अग्राह्य ।

दिवानां=(२) पागल, मत्त (के) ।

दीदारी=दर्शन ।

दुंदरता, >द्वन्द्व-रत ।

दुतिया >द्वितीय ।

दुरमुष >दुर्मुख ।

दुहेला=विकट खेल, कठिन काम ।

देवल=देवालय ।

देसड़ा } =देश ।
देसड़ैं

दोयपटी >दो पाटी ।

धंध=द्वन्द्व, दुनिया धंधा ।

धर >धरा, पृथ्वी ।

धृग >धिक् ।

धीग >धिक् ।

धीप=दीप ।

धौलाधर >धवल गृह, धवरहर, ऊँचा मकान ।

नग्र >नगर ।

दिसंतरो=देशान्तरी ।

दीस >दृष्ट ।

दुतर तिरो=दुस्तर (समुद्र) को पार किया ।

दुरंगता >दूरगंत ।

दुवटा=दोनों ।

देवता नैं दानूं=देवता-न-दानव ।

दोषणं >दूषणम्=दोष ।

दोभ्रक >दोजख, नरक ।

दोहेवा=दूहना ।

धमाल=धमार ।

धुरु >ध्रुव ।

ध्रू >ध्रुव ।

धोजै=विश्वास कीजिए ।

धूमि >धूम (में) ।

नंथ >नथ ।

नथाइला=नाथे गए ।

नटाटंबर >नटाडम्बर, नट का सा वस्त्र धारण करनेवाले ।

नबेड़ा=निवेरा छुटकारा, त्राण ।

नवला=नया ।

नसी=नष्ट हो जानेवाली ।

नांइरता >न्यायरत ।

नाजाक >नाजुक ।

नाड़ <नाटा, छोटा ।

निष्पत=निर्द्वन्द्व ?

निगन=नग्न ।

निपाया=उत्पन्न किया ।

न्योली >योग की एक क्रिया ।

नवानैं=(१) बाढ़ हट जाना, (२) नवान्न ।

णेराथान=न्यारा स्थान ।

नाषोला=नष्ट किया, गिरा दिया ।

नाटो बेदी=छोटी बेदी ।

निआंणी=न्यारी ।

निखुट=निर्दोष ।

निपजी=उत्पन्न हुई ।

निनारत=न्यारा, पृथक् ।

नियति=माया का वह आवरण, जिससे असीम ससीम दिखता है ।

निरति > वृत्तियों का अन्तर्निरोध

निरमाइल > निर्माल्य ।

निरावल = साफ किया, निराया ।

निस्तर्‌या = पार कर गया ।

निसप्रेही > निःस्पृह ।

नीड़ा
नेड़ा } निकट ।

नैरति > नैऋर्त्य (कोण) ।

पंषि = पंख या पंक नामक योगी, संप्रदाय-विशेष ।

पंषी
पंषेरु } पक्षी ।

पषा = पक्ष ।

पछाणिया
पछाणो } = पहचान ।

पट्टरोल > पट्टवस्त्र ।

पड़दार = परदार, परस्त्री ।

पणि छाड़या = प्रतिज्ञा छोड़ी ।

प्यछाणौं = पहचानूं ।

प्यंड > पिंड ।

प्रचै > परिचय ।

प्रत्तछि
प्रतषि } > प्रत्यक्ष ।

प्रम > परम ।

प्रवरत > प्रवृत्त ।

प्रसै = स्पर्श करता है ।

परचा
परचो
परचै } = परिचय ।

परवरतते > प्रवर्तते, प्रवृत्त होता है ।

परिसादूं > प्रसाद (से) ।

पसुवा > पशु ।

निरताणौं > निरति-योग का साधन करो ।

निरालंम > निरालंब ।

निरेआ > निरय = नरक ।

निसपति > निष्पत्ति ।

निसासड़ै > निश्श्वास ।

नृदंदं > निर्द्वन्द्व ।

नैवति = नौबत, मंगलवाद्य ।

पंषि > पक्षी ।

पंछे = पीछे ।

पउणु = पवन ।

पटंतरा
पटंतरै } समानता ।

पडेंरा > दूसरे का ।

पणि = प्रतिज्ञा ।

पत्याई = विश्वास करे ।

प्यंगुला > पिंगला (नाड़ी) ।

प्रग्रिह = परिग्रह ।

प्रतग्यां < प्रतिज्ञा ।

प्रमोधिबा = प्रबोध कराना, जगाना ।

प्रमुल महेमा = विपुल महिमा ।

प्रवांण > प्रमाण ।

परजालै = प्रज्वलित करता है

परभेदी = परपक्ष का भेदन करनेवाला ।

परबोधलो = प्रबोधित किया ।

परवाणियां > प्रमाणित ।

पवनरी थित = पवन की स्थिति ।

पसाव > प्रसाद ।

पहुंता > पहुंचा ।
पहुप, पहोप > पुष्प ।
पांगल = पागल ।
पांडु > पीला ।
पाइक > पदातिक, पैदल, सेवक ।
पाटण = शहर ।
पाट पटोला = बहुमूल्य वस्त्र ।
पाडलं > पाटल, पुष्पविशेष ।
पाड़ी > पालि, किनारा ।
पातिग > पातक, पाप ।
पाथरिस्ये = विछाएगा ।
प्रान अकार > प्राणाकार ।
पारष > परीक्षा ।
पारग्रांमो = पारगामी ।
पारध = बहेलिया ।
पालं, प्रालं } पालन ।
पालंग्यड़ा = पलँग ।
पावड़ी = पैरकी ।
पाहू = पत्थर ।
पिंगुला > पिंगला (नाड़ी) ।
पिछानं = पहिचान ।
पिटरका = पिटोरा (पेटरूपी) ।
प्रिथमी > पृथ्वी ।
प्रिपीलिक > पिपीलिका, चींटी ।
पिसण > पिशुन, कपटी ।
पुनीच > पुनीत ।
पुरविस्ये = परोसेगा ।
पूर्या = पूर्ण हुआ ।
पैसा = प्रवेश किया ।
पौल, पौलि } पौरि पर, द्वार पर ।
प्रष्ण = परीक्षण ।
प्रग्रिह > परिग्रह, दानग्रहण ।
फटकीआ = पछोर लिया ।
फांकि > फक्किका ।
फासू = मादक द्रव्य (ताड़ी ?) ।
फीटीला = नष्ट हुई ।
फुनि > पुनः ।
फुरै > स्फुट होता है, स्फुरित होता है ।
फुरण > स्फुरण ।
फोक = व्यर्थ ।
बंगं = (१) धातु विशेष, (२) वक्र, टेढ़ा ।
बंचियै = बांचिए ।
बंटवा = बटुआ, थैला ।
बंबूल > बबूल (वृक्ष) ।
बंस > वंश ।
बग्गा > बल्गा, लगाम, बाग ।
बगोध्यानी = बक की भांति ध्यान करनेवाला, कपटी ।
बछ > बत्सनाग (औषध) ।
बज्रजती > वज्रयति ।
बटपारा = बटपार, लुटेरा ।
बदेस = विदेश, बुरा देश ।
बनषंडी > बन में रहनेवाला ।
बनाड़ी = वनवासी ।

बनिता=(१) बने हुए, (२) स्त्री ।

बबेकी>विवेकी ।

बमेक>विवेक ।

बयार=वायु ।

ब्यंद<विंदु, शुक्र ।

ब्यंब>बिंब ।

ब्यक्रम>विक्रम ।

ब्रह्म>ब्रह्मा ।

बरणा>बरुणा ।

बरतणि=आचरण ।

बलिबंडा=बलवान; दुर्घर्ष ।

बस्त>वस्तु ।

बसेष>विशेष ।

बहनी>भगिनी ।

बहावणि=बहानेवाली ।

बहिसंत>विहसंत ।

बहोड़ी=लौटना ।

बांवई=बिल में ।

बाइब>वायव्य (कोण) ।

बाई>वायु ।

बाकल>वल्कल, आवरण ।

बाघो>व्याघ्री ।

बाड़ी>वाटिका ।

बादंतैं=बदन्तें, कहने से ।

बाद>वाद ।

बादि=व्यर्थ ।

वायवो=बहना ।

बारै=(१) जलाता है, (२) निछावर करता है ।

बारी>वाटिका ।

बावै=बहता है,

बासरय=दिन में ।

बाहुड़ौं=बहुरूँ, लौटूँ ।

बिधं>विधि, प्रकार ।

बिंद>विंदु, शुक्र ।

बिगूता=असमंजस में पड़ा, नष्ट हुआ ।

बिगोवै=गँवाना, व्यर्थ में खोना ।

बिचषिण>विचक्षण ।

बिछुड़ै=बिछुड़त है ।

बिढब>विडंबन ।

बिटंबते>विडंवित होता है ।

बिड़ो=तोड़ा खंडित किया ।

बितुंडे=बनाया ।

बित्र>वित्त ।

बिघ बसेषा>विधिविशेषा (भाविनो कर्म-रेखा), यह विधि के वश में है ।

बिबरजित>विवर्जित ।

बिभै>विभव ।

बियाली>व्याली, सर्पिणी ।

बिघना>विघना, विधाता ।

बिरघ>वृद्ध ।

बिलंबैलो>विलंबित हुई है, लटकी हुई है ।

बिल्यायं=विलागया, नष्ट हो गया ।

बिलोवै=मथता है ।

बिसन जेन>विष्णुर्येन (जिसने विष्णु को)।

बिसरज>विसर्जन।

बिहंडनं>विखंडन, नाशक।

बीरज्यं>वीर्य।

बूचो=कनकटी, बिना कान की।

वेदन>वेदना।

वेवरा>ब्यौरा।

वैदभी=वैद्यक।

बैसो=बैठो।

बोउं>बोम्।

बोहित } =नाव
बोहूत्र

भंडसि=भंडता है, बुरा करता है।

भंडै=भंडित करता है।

भगरड़ो=भांग।

भराला=भरावा।

भांणे } भंडित करता है, नष्ट करता है।
भांणै

भाठो=भट्ठी।

भार्थ } =भारत।
भारथ

भिष्याडण>भिक्षाटन।

भुंजिबा=खावोगे।

भुंहु=(१) भौंह (२) मुंहुं करना=मोंकना।

भुषड़लो=बुभुक्षित, क्षुधित।

भूंरा>भ्रमर, भौरा।

भूषीसुर>भूकेश्वर, महाकाल, शिव।

भेवं>भेद।

बिसूक>विशोक।

बिहूनां>विहोना।

बुईला=बहने पर, चलने पर।

बूझि=समझ कर।

वेली=लता।

वेसा>वेश्या।

वैसिबा=बैठना।

वैसण=बैठना।

बौडामता=पागल, बौड़म।

विघना=विघाता।

भंडारै=भंडार में।

भषिक=भक्षक।

भमार=भण्डार।

भांवनी>भाविनी, होनेवाली।

भाठा>भ्रष्ट।

भायं=भाया, अच्छा लगता है।

भावरि भोजन>खूब भावयुक्त भोजन।

भास्ये=भाएगा।

भिनि>भिन्न।

भुस=भूसा।

भुयंग अहारी=सांप के समान आहार करनेवाला, हवा पीकर करनेवाला।

भूखरु=भूख।

भेषारी=भेष धारण करनेवाले, भिक्षा जीवी।

भोगवै>भोगाता है।

भोजल=भवजल, भवसागर।

मंझै=मुझे।

मगर>मकर।

मडी=मृता।

मढली
मढी } छोटी मढ़िया

मतस>मत्तस्य।

मदभारथ=मदमत्त होकर लड़ना।

मनराइ
मनराई } >मन राजा।

ममारं>ममकार, ममता,

मरदक>मर्दक, मसलनेवाला।

मलँग=फक़ीर, विरक्त।

मसकीनं>मिस्कीन, अकिंचन, कंगाल।

मांगल>मांगल्य, मंगल गान।

मांण>मान।

माघ>मार्ग।

मालं>माली।

मीडकी=मेडकी।

मुंचाते=छोड़ा।

मुगध>मुग्ध, मोहग्रस्त।

मुरेष>मूर्ख।

मुसक=कस्तूरी।

मूंडता=मुंडित।

मूलंकार>मूलओंकार।

मेल्हंत=डालता हुआ, उंड़ेलता हुआ।

मैंगल>मदगज, मदमत्त हाथी।

भौंदू=भोंदू, मूर्ख।

मंडानं=मंडन, श्रृंगार।

मडलोक>मृतलोक।

मत्तिवार
मतिवाला } =मतवाला।

मृदंग स्कीजै (?)=(जिससे) मर्दन-किया जा सकता है।

मनकड>मर्कट, बन्दर।

मनि=मन में।

ममड़ी=ममता।

मृघ>मृग।

मरम>मर्म।

मलतन=शरीर रूपी मल।

म्हारी=मेरी।

मांडौं>मंडित या शोभित करना।

माकड>मर्कट, बंदर

मानेष>मनुष्य।

म्रिगानी=मृग (समूह)।

मीज>मेद ?

मुंजली=मूँज।

मुरदार=मुर्दा, बेजान।

मुलमाधार=मुलम्मा धारण करने वाला, ढोंगी।

मुसिया=मूसने वाला, ठग।

मूँदड़ी>मुद्रिका।

मूसेकनीं=कस्तूरी का।

मेल्हि=डाला, फेंका।

मैड़ी>मंडित, सुंदर।

मैवांसा=किला ।

मोक्ष्य>मोक्ष ।

म्रित>मृत्यु ।

यंछ्या>इच्छा ।

यन्द्री>इन्द्रिय ।

यागरणं>जागरण ।

येते=जितने ।

रंने>अरण्ये, वन में ।

रघुवेद>ऋग्वेद ।

रड़ा=चिल्लाया ।

रध्रर>रुधिर ।

रलाइ>(१) रुलाकर, (२) मिलाकर ।

रस्यौं=रहूँगा ।

रहनि=आचरण ।

रहसि=रहस्य ।

रामैं=राम को ।

राकसनी=राक्षसी ।

राछिया>रक्षित ।

राते=(१) रत, रमा हुआ, (२) लाल ।

राव=राजा, रईस ।

रासी>राशि ।

राह मंडल>राहु मण्डल ।

रिंगनी=रेंगनेवाली, सरकनेवाली ।

रिष>ऋषि ।

रिणवासं=रनिवास ।

रिवरिवै=लिबलिबा ।

रुषांत=वृक्षों में ।

रूपस=रूपवती ।

रैति=रेती ।

रोम चलित्र=रोम चरित्र ।

लंब=लंबा ।

लंबिका=लटकने वाली ।

लई=इसलिये ।

लष्षा>लक्ष ।

लछि>(१) लक्ष्मी (२)>लक्ष्य ।

लबधि=(१) लब्ध होकर (२) लब्धि, प्राप्ति ।

ल्योलीना=लवलीन ।

लहुड़ा>लघु, छोटा ।

लार>लाला ।

लालं=लाल ।

लियते
लीयतं } >लीयते, लीन होता है ।

लुणै=लुनता है, काटता है ।

लूषा=रूखा ।

लूचा=लुच्चा ।

लेज>रज्जु ।

लेव=लेना ।

लोहड़े=(१) लोहा (२) लहू, रक्त ।

लोहीं=लहू, रक्त ।

वधैनी=वर्द्धित हुई, बढ़ी ।

वहो अकारं>वहु आकार (वाला) ।

वाघनि>व्याघ्रिणी ।

विकलपो > विकल । विजोवै > देखता है ।

विटंमते = विडंबन करता है । विधातो > विधाता ।

विमर्ण > विवर्ण । विमणं > विमनाः, अन्यमनस्क, उदास ।

विवरी = विव्रत ? विसंभर > विश्वंभर, जगत्पालक ।

वोछी = ओछी । वोउझै > बूझै ।

वोसन्तर > वैश्वांतर, अग्नि । श्रव > सर्व ।

संऊआल > संसार । संक्या > शंका ।

संष > सांख्य, तत्वज्ञान । संषड़ी = संस्कृत, शुद्ध ।

संगर = युद्ध । संगला द्वीप = शाकल द्वीप ।

संध > संधि । संपुष्ट = परिपुष्ट ।

सत्रनो = शत्रु (स्त्री) । सति सति = सत्य सत्य ।

सति मा = सौतेलो माँ । सदायवो = सताना ।

सनद > संधि । सपत सलता > सप्त सरिता ।

सपता > सप्त । सवली > शबरी ।

सभ > सर्व । समंद > समुद्र ।

समग्यो = उमगा । समानी = प्रवेश किया ।

समो > सम, बराबर । सरपे = सर्प ।

सरबस्वालिकं > सर्वस्वालीक सब-कुछ मिथ्या है ।

सरासेत = चिता की सफेदी । सरावै = सड़ाता है ।

सरीसूं = शरीर से । सलवा = दूर करना, छीन लेना ।

सलिता > सरिता । सलेषमा > श्लेष्मा ।

स

सल्मल > शाल्मलि (द्वीप) सवार्‍यो = संवारा, बनाया ।

सहनांणी = सहिदानी । सहलै = सहन किया ।

सहू = सब (अप०-'साहु') । सहेती = (१) प्रेमिका, साथी, (२) से ।

सांटि = पूंजी । सांधि = संधि ।

साइर > सागर

साथरई > स्रस्तर, चटाई ।

सार = लोहा ।

साही = साही जंतु ।

सिउ = से, सों ।

सिखा = शिखर ।

सिषर > शिख ।

सिड़ी = सनकी ।

सिरसाही = शिरोज ।

सीक्या = सेंका ।

सुकल > सु-कुल ।

सुषमनां } > सुषुम्णा (नाड़ी) ।
सुषमनि }

सुध = (१) सुधि, खबर, (२) > शुद्ध ।

सुपन > स्वप्न ।

स्रसुति > सरस्वती ।

सुरति > प्रीति, स्मृति, अन्तर्लीन-होने का भाव ।

सुसंच = सुसंचनीय ।

सूचा > शुचि, सारवान् ।

सूभर > सुभर, पूर्ण ।

सूवा > शुक ।

सेती > से ।

सैली = सेली ।

सौरां = कपटी ?

स्यंभ > स्वयंभू ।

साष्षावंत = शाखा वाले, (२) साक्षात्

साथर > स्रस्तर, बिछौना ।

सारीषा = समान ।

सिगरफ = हिंगुल ।

सिंघ > सिंह ।

सिख्या = (१) शिष्य (२) शिक्षा ।

सिङ > शृङ्ग ।

सिधा = सिद्ध ।

सिहीणी = सिंहनी ।

सीजै = (१) सीझता है, (२) सिद्ध होता है ।

सुकाई = शुकदेव ।

सुगुणां > सगुण ।

सुच्या > शुचिता, पवित्रता ।

सुधीरं = धीर ।

सुमेरे = सुमेरु (को) ।

सुरता > श्रोता ।

सुरिवां = शूरमा ।

सुलिप > स्वल्प ।

सुसमवेद > स्वसंवेद्य, अनुभव से प्राप्त ज्ञान ।

सूफल > सुफल ।

सूरिवां = सूरमा, वीर ।

सेत > श्वेत ।

सैंवार > शैवाल ।

सौड़ि = चादर ।

स्यंघ > सिंह ।

स्वाधि अस्थान > स्वाधिष्ठान ।

स्वार>सवार ।

स्वेतरज>स्वेदज ।

हृदे>हृदय ।

हाँणि वृधि>हानि-वृद्धि ।

हालर=हिलोर ।

हेठ=नीचा ।

स्वारे=सँवारता है ।

स्वैल्यो=सोओगे ।

हवैस्यैं=होगा ।

हाजराकूँ हजूरि=हाजिर के सामने ।

हिब=अब ।

होइस=होगा ।

—:※:—

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	टि० १	प्रति से	'ग' प्रति से
१	१४	अनह घु	अनहघु
२	२०	विस रज	बिसरज
४	६	ब्रह्म अ गनिव जरांग सी क्या	ब्रह्म अगानि वज्रांग-सीक्या
	११	सू रां मनवानै	सूरां मनवां नै
	१४	गोध लो	गो छलो
	टि० अंतिम पंक्ति	भाश्रि	भाजि
५	५	काणोरी	काणेरी
	टि० १	"	"
५	१५	मनवांनी	मनवां नी
	२२	काणोरी	काणेरी
६	४	विछोहया	विछोह्या
७	५	माठी	भाठी
८	१४	वाढुड़ो	बाहुड़ो
९	२५	थिरं तां	थिरंतां
११	३	साथ रड़ै	साथरड़ै
११	८	सेज या	सेज्या
११	८	पुर विस्ये	पुरविस्ये
१५	१०	वौ उझै	वौञ्झै
१६	३	बसा	बेसा
१६	११	विगता	विगूता
२५	३०	जाग्रत राथान	जाग्रत रा थान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६	१	ब्रह्मड	ब्रह्मंड
२६	४	आहारी	अम्हारी
२७	४	भोष्य	मोष्य
२८	२७	अह्मै	अम्है
३७	२०	स्यंम	स्यंभ
४६	२१	श्नवण	श्रवण
५६	१	अस्त्री जो निदीयते	अस्त्री जोंनि दीयते
६१	२०	ऐन	ए न
६२	५	बिलो गना	बिलोग ना
६५	६	उडिसी	उड़िसी
६५	८	थण	थड़
६७	६	अर्मल	अर मल
६७	१२	गिर ही	गिरही
६८	२	सूरि वाँ	सूरिवाँ
६६	२	निरतार णी	निरतारणी
६६	६	दवा दस	दवादस
६६	१३	मया रे	भया रे
७३	२२	कै साले रे	कैसा ले रे
७४	१	बिल मेली	विलमेली

—:o:—

bdkbZ3 HkfDrdkQ dhikfjHkkf"kd 'kCnkoyh

bdkbZdh :ijs[kk

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख पारिभाषिक शब्द

3.2.1 संत काव्यधारा

3.2.2 सूफ़ी काव्यधारा

3.3 सगुण काव्यधारा के प्रमुख पारिभाषिक शब्द

3.4 सारांश

3.5 अभ्यास प्रश्न

3-0 mn~ns';

इस इकाई का उद्देश्य भक्तिकाल की चारों शाखाओं की पारिभाषिक शब्दावली का बोध कराना है। इस इकाई में आप ब्रह्म, जीव, जगत, माया, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, पुष्टिमार्ग, आसक्ति, सुरति निरति, अजपा जाप, कुंडलिनी, षट्चक्र, आदि विभिन्न दार्शनिक शब्दावलियों के अतिरिक्त राम, कृष्ण, संत, सूफी, भ्रमरगीत, चरितकाव्य आदि पारिभाषिक शब्दावलियों का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- निर्गुण काव्यधारा की दोनों धाराओं: संत काव्यधारा तथा सूफ़ी काव्यधारा के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या कर सकेंगे;
- सगुण भक्तिधारा के विशिष्ट साहित्यिक तथा दर्शन संबंधी शब्दों का परिचय दे सकेंगे; और
- भक्तिकालीन साहित्य के अध्ययन की प्रक्रिया में इनके सही संदर्भों को बता सकेंगे।

3-1 izLrkouk

विशेष ज्ञान-क्षेत्र की विशेष अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त विशेष शब्द को पारिभाषिक शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्द जो किसी ज्ञान के क्षेत्र में निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, वे पारिभाषिक शब्द होते हैं। यह शब्द विशिष्ट ज्ञान शाखा के किसी सुनिश्चित विशिष्ट अर्थ को ही ध्वनित करते हैं। ज्ञान की किसी विशेष विधा में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों की उनकी परिभाषा सहित सूची पारिभाषिक शब्दावली (Glossary) कहलाती है। पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान विचारों की अभिव्यक्ति को सुचारु बनाता है।

हिंदी के भक्तिकाव्य को भली-भाँति समझने व विश्लेषित करने के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका है। वैसे तो संपूर्ण भक्तिकाव्य में कुछ सामान्य विशेषताएँ हैं। किंतु इस युग की चारों प्रमुख धाराओं में अलग-अलग प्रकार की विशेष शब्दावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द विभिन्न धाराओं में भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, तो कहीं एक ही अर्थ में। कुछ शब्द विशेष धाराओं के अपने खास

हैं, जिसका सम्यक विश्लेषण भक्तिकाव्य को समझने के लिए नितांत आवश्यक है। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त इन पारिभाषिक शब्दावलियों का मूल उत्स क्या है और इन कवियों के काव्य में आकर ये शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं इसका ज्ञान भक्तिकाव्य को संपूर्ण रूप से समझने के लिए नितांत आवश्यक है।

3-2 fuxqZ.k dkO;èkkjk dsi zeq[k ikfjHkkf"kd 'kCn

3-2-1 l a dkO;èkkjk

हिंदी में संत शब्द का प्रयोग दो अर्थों में मिलता है- (1) सामान्य अथवा व्यापक अर्थ में (2) रूढ़ अथवा सीमित अर्थ में। व्यापक अर्थ में संत का तात्पर्य है- पवित्रात्मा, परोपकारी, सदाचारी। हिंदी शब्द सागर में संत का अर्थ दिया गया है- साधु, त्यागी पुरुष, महात्मा, ईश्वर-भक्त, धार्मिक पुरुष। आप्टे के कोश में संत शब्द के दस अर्थ मिलते हैं, जिनमें मुख्य हैं- सदाचारी, बुद्धिमान, विद्वान, साधु, पवित्रात्मा आदि। व्युत्पत्ति की दृष्टि से संत शब्द संस्कृत के सन् का बहुवचन है, जिसमें अस् धातु का योग है। इस प्रकार मूल अर्थ की दृष्टि से यह शब्द 'अस्तित्व' का बोधक है। संत से उस तत्व को बोध होता है जो सदैव विद्यमान रहता है। इस प्रकार वह ब्रह्म का प्रतीक है। वैसे संत की व्युत्पत्ति शांत, संति सत् आदि से भी बताई गई है।

कबीरदास ने कहा है कि जिसका कोई शत्रु नहीं है, जो निष्काम है, ईश्वर से प्रेम करता है और विषयों से असंपृक्त रहता है वही संत है। (निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह, विषयां सू न्यारा रहै, संतन के अंग एह) गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि शत्रु-मित्र भाव से परे, समत्व बुद्धि संपन्न व्यक्ति संत होता है। उत्तरकांड में गोस्वामी जी ने कहा है कि संत वह है जो विषयों से अलिप्त रहता है, शील और गुण का आगार है, पर दुःख से दुःखी और सुख से सुखी रहता है। समत्व बुद्धिवाला है तथा लोभ, क्रोध, हर्ष, भय आदि का परित्याग कर चुका है। गीता में भी इसी प्रकार संत के लक्षण गिनाये गये हैं। इस प्रकार समस्त प्राचीन वाङ्मय में संत शब्द का जो प्रयोग मिलता है उसमें संत तथा भक्त में कोई अंतर नहीं किया गया है। किंतु आधुनिक काल में संत का रूढ़ और सीमित अर्थ हो गया है। आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में संत शब्द का अर्थ है- निर्गुणोपासक साधक। निर्गुणोपासक भक्तों को संत कहा गया है और सगुणोपासक को भक्त। इस प्रकार हिंदी में कबीर आदि संत के नाम से विख्यात हुए और राम तथा कृष्ण के उपासकों को भक्त कहा गया।

jke

हिंदी भक्ति साहित्य में रामभक्ति शाखा के अंतर्गत तुलसी का नाम सर्वप्रमुख है। किंतु हम देख सकते हैं कि कबीर ने भी अपनी वाणी में बार-बार 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, किंतु उनका राम सगुण अर्थात दाशरथि राम न होकर परम ब्रह्म का प्रतीक है। कबीर राम को पुकारने की आवश्यकता निश्चित रूप से महसूस करते हैं, इसलिए उन्हें कोई न कोई नाम देना ही पड़ता है। शंकराचार्य का ब्रह्म अधिष्ठान मात्र है, निष्क्रिय है, माया से उपाहित है, वह उपास्य नहीं हो सकता। वह संपर्क में आता ही नहीं वह सृष्टि का आधार है किंतु स्वयं सृष्टि नहीं करता। उसका विस्तार नहीं होता। निर्गुण का अर्थ है- जिसका गुण न हो विस्तार न हो। माया इसी की शक्ति है, इसी के माध्यम से वह सृष्टि करता है। तब वह सगुण हो जाता है। मायोपहितं चैतन्यं च ब्रह्म। इस प्रकार जब उसने सृष्टि की तो आत्मा के रूप में सभी में व्याप्त हो गया, सृष्टि करके वह उसी में प्रविष्ट हो गया। संत कबीर ने ऐसे ही परमतत्व को अपना उपास्य माना। इस प्रकार कबीर का निर्गुण वस्तुतः वेदांत का सगुण है किंतु सगुणोपासकों ने उसका संकुचित अर्थ किया। सगुण से

उनका तात्पर्य है- विष्णु का किसी रूप या आकृति में पृथ्वी पर अवतरण। विशेषकर कृष्ण या राम के रूप में जो अवतार हुए उनकी उपासना को उन्होंने सगुण उपासना बताई। कबीर ने अवतार के अर्थ में सगुण का जो संकुचित प्रयोग हुआ उसकी उपासना के विरुद्ध अपना मत व्यक्त किया, ईश्वर की उपासना के विरुद्ध नहीं।

कबीर की ब्रह्म संबंधी अवधारणा कुछ-कुछ नाथ योगियों के निकट प्रतीत होती है। नाथ योगी द्वैत-अद्वैत, निर्गुण सगुण से परे एक सत्ता मानते हैं जिसे वे नाथ कहते हैं कबीर भी कहते हैं-(एक कहौं तो है नहीं दोय कहूँ तो गारि) परमतत्व अखंड है, भूमा है, पूर्ण है-

पूरे सो परचा भयां, सब दुःख मेल्या दूरि
निर्मल कीन्हीं आत्मा, तापै सदा हजूरि।

कबीर ने इसी पूर्ण के लिए, परमार्थ के लिए, ईश्वर के लिए, परम चैतन्य के लिए 'राम' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका मंत्र उन्हें रामानंद से मिला। यद्यपि उन्होंने अपने उपास्य के लिए प्रभु, निरंजन, सारंगपाणि, अल्लाह, हरि, गोविंद, माधव, मुरारि, केशव, गोपाल, नारायण, पुरुषोत्तम, जगदीश, रहीम, करीम आदि अनेक सगुणवाची अभिधानों का प्रयोग किया है, किंतु मूलतः वे राम भक्त हैं। राम नाम ही उन्हें सर्वथा अभीष्ट है जिसका वे बार-बार प्रयोग करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि कबीर के राम और तुलसी के राम में क्या अंतर है। तुलसी के राम दशरथ सुत हैं जो कि अपने भक्तों के लिए अवतार लेते हैं- (भए प्रकट कृपाला, दीन दयाला कौसल्या हितकारी या विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार) कबीर के राम दशरथ सुत नहीं हैं- दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना। कबीर अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। उनके मत से जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और जो मरण धर्मा है वह ईश्वर नहीं हो सकता। वह स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं- जामै मरै न संकुटि आवै, नाम निरंजन जाको रे।

एक रमैनी में उन्होंने दसों अवतारों और उनकी लीलाओं का खंडन किया है-

ना दसरथ घरि अवतरि आवा, ना लंका कै राव सतावा,
नहि देवकि कै गर्भै आवा, न हि जसोदै गोद खेलावा।

जबकि तुलसी के राम लीला पुरुष हैं-

कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा,
सुनि वचन सुजाना रोदन ठाना, होइ बालक सुर रूपा।

कबीर किसी अवतार को ईश्वर नहीं मानते-'दस औतार ईसुरी माया, करता कै जिन पूजा, कहहिं कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा।' इस प्रकार वे स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उत्पन्न होना और नष्ट होना माया का कार्य है। ईश्वर न जन्म लेता है न मरता है। सदियों से चले आ रहे वैचारिक संस्कारों को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक पदों को स्वीकार करने और उनके प्रयोगों से नई बात कहना भी कबीर की विशेषता है। कबीर के राम वस्तुतः अविगत हैं, परमतत्व हैं, वेद पुराण भी जिनका मर्म नहीं समझ सकते, वे ज्योति स्वरूपा हैं, अनुमान प्रत्यक्ष उपमान आदि के द्वारा उसके स्वरूप को नहीं जाना जा सकता- 'पारब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान, कहिबे को सोभा नहीं, देख्या ही परमान।'

cht d

कबीर वाणी के संकलन संपादन की दो परंपराएँ हैं- ग्रंथावली परंपरा तथा बीजक परंपरा। कबीर पंथियों में बीजक ही अधिक मान्य ग्रंथ रहा है। कबीर के दार्शनिक विचारों का सार

तत्व बीजक में ही उपलब्ध है। बीजक का अर्थ ही है- गुप्त धन बताने वाली सूची-

बीजक वित्त बतावई, जो धन गुप्ता होय।
सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय।

जो वित्त या धन गुप्त होता है अर्थात कहीं पृथ्वी में गाड़ कर या अन्यत्र छिपाकर रखा जाता है उसका पता केवल उसके बीजक से ही लगता है। उसी प्रकार जीव के गुप्त धन को अर्थात वास्तविक स्वरूप को शब्द रूपी बीजक अर्थात गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान या दीक्षा बतलाता है। दर्शन के साथ काव्य का सुंदर सामंजस्य बीजक की अन्य विशेषता है।

my Vokl h

रामचंद्र वर्मा ने अपने मानक हिंदी कोश में उलटवाँसी की व्युत्पत्ति उलटावाचा से बताई है और सरनाम सिंह शर्मा ने इसकी दो व्युत्पत्तियाँ बताई हैं- उलटवाँ+सी संयुक्त शब्द तथा उलटवास से संबंधित। परम पद या आध्यात्म लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में उलटवास है, उससे संबंधित वाणी उलटवाँसी है। डॉ रामकुमार वर्मा के अनुसार जब कबीर इंद्रियों को अंर्तमुखी करते हैं तब बाह्य संसार से उनका कोई संबंध नहीं रह जाता। इसी के साथ बाह्य जगत के प्राकृतिक नियम भी विपर्यस्त हो जाते हैं और उनका विचित्र प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस शैली को उलटवाँसी कहते हैं।

सामान्यतः मनुष्य प्रचलित अर्थों में व्यवहृत शब्दों और वाक्यों के द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करता है। किंतु साधक अपनी साधना द्वारा जिस भाव लोक के आनंद की अनुभूति करता है उसे सामान्य लौकिक जगत में व्यक्त करना संभव नहीं होता। वह गूँगे का गुड़ होता है। तब वह स्थूल जगत के उपमानों द्वारा उनका वर्णन करने का उपक्रम करता है। लक्षणा, व्यंजना व प्रतीकों का सहारा लेता है। यहीं से उलटवाँसी का आरंभ समझना चाहिए। उलटवाँसी एक तरह से अन्योक्ति का ही शैल्पिक भेद है। यहाँ अन्योक्ति सादृश्यमूलक प्रतीक विधान के स्थान पर विरोधमूलक प्रतीक विधान को लेकर चलती है। उलटवाँसी में प्रस्तुत अर्थ असंगत प्रतीत होता है किंतु उसके मूल में गंभीर अर्थ निहित रहता है। संत काव्य में उलटवाँसी का आधिक्य मिलता है जिनका वर्ण्य विषय साधना अथवा आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति के साथ ही परंपरा का व्यतिक्रम भी रहता है।

l gt -'kwU;

शून्यवाद का प्रवर्तन ईसा की दूसरी शताब्दी में बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने किया था। उन्होंने परम तत्व के लिए शून्य शब्द का प्रयोग किया था। उनके अनुसार, ''जिसका अनुभव दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, जहाँ सब भावों तथा वासनाओं का उपशम हो जाता है। जिसका वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, जो चित्त की कल्पना से परे है, जिसमें नानात्व नहीं है, वही परमतत्व है।'' उसी परमतत्व को उन्होंने शून्य शब्द से अभिहित किया जिसे बौद्धों ने सहज कहना प्रारंभ कर दिया। कुछ विद्वानों में इसे चीनी भाषा के शब्द 'ताओ' जिसका संस्कृत रूपांतर 'सहज' होता है, से संबद्ध माना है। इस शब्द का प्रयोग सिद्ध साहित्य और नाथ योगियों में प्रायः समान रूप से मिलता है।

सिद्ध सरहपाद (8वीं शताब्दी) को इस साधना का प्रवर्तक माना जाता है। विभिन्न कठिन साधनाओं की अपेक्षा वे सहज रूप से परम तत्व की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उनकी मान्यता थी कि खाते-पीते, सुरति का स्मरण करते हुए, सहज भाव से जीवन-यापन करते हुए परम पद की प्राप्ति हो जाती है।

इन्होंने 'सहज' शब्द का प्रयोग परम तत्त्व के लिए भी किया है और इस परम तत्व की प्राप्ति ही सहजानंद है। इस सहजानंद की प्राप्ति के लिए चित्त का अनावश्यक निरोध

अनुचित है। चित्त को नैसर्गिक रूप में ढालकर शुद्ध चित्त से जीवन-यापन करते हुए सांसारिक विषयों का भोग ही सहज-साधना है। किंतु सरहपाद की इस मान्यता का यह दुष्परिणाम हुआ कि बौद्ध-विहार काम-वासना की पूर्ति के केंद्र-स्थल बन गए। सहज-साधना के नाम पर मुक्त भोगवाद का प्रचार होने लगा। अतः आगे चलकर नाथ-योगियों ने इस सहज-साधना का विरोध किया। इन्होंने इसके ठीक विपरीत अर्थ में सहज शब्द का प्रयोग सदाचार, संयम और शिव-शक्ति के समरसीकरण की साधना को सहज-साधना का नाम दिया। उनके अनुसार बिंदु के रक्षण से, इंद्रियों के दमन से, प्राणायाम द्वारा कुंडलिनी के जागरण से सामरस्य की स्थिति प्राप्त होती है। शिवशक्ति की युगनद्ध दशा ही महासुख है। ऐसी स्थिति में पहुँचा योगी इसी शरीर से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। नाथयोगियों ने सहज शब्द का प्रयोग परमतत्व के लिए भी किया है।

कबीर ने सिद्धों और नाथ-योगियों से भिन्न सहज-शब्द की निजी अवधारणा की है। इनका सहज सिद्धांत सिद्धों के सिद्धांत से सर्वथा भिन्न है तथा नाथयोगियों की मान्यताओं से कुछ मिलता-जुलता है। उनके अनुसार सहज भाव से विषयों का त्याग और अनासक्त जीवन ही सहज-साधना है-

> सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
> जिन्ह सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।

अर्थात सहज एक ऐसी साधना है जिसमें शरीर को अनावश्यक कष्ट देने की कोई आवश्यकता नहीं है। न तो साधक को आँख मूँदनी है, न आसन बिछाना है, न मुद्रा आदि धारण करनी है, यह एक ऐसा संपूर्ण सत्य है जो गुरु के निर्देशन में आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग प्रशस्त करता है। सहजावस्था में साधक की समस्त वासनाएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं-

> संतो सहज समाधि भली।
> साईं ते मिलन भयो जा दिन ते, सुरत न अंत चली।

इस प्रकार कबीर ने सहज और शून्य को राम का पर्याय बना दिया है जो अपने स्वाभाविक रूप में सभी सीमाओं और बंधनों से मुक्त है, सबके भीतर सहज रूप से विद्यमान है, वह शून्य देशकाल से परे है।

सुरति-निरति

डॉ. संपूर्णानंद सुरति को 'स्रोत' का बिगड़ा हुआ रूप मानते हैं और उसका अर्थ 'चित्तवृत्तियों का प्रवाह' मानते हैं। डॉ. बड़थ्वाल 'सुरति' को 'स्मृति' से निकला हुआ मानते हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने सुरति का अर्थ जीव का वह निर्मल रूप बताया है जिसमें मूल सत्य का रूप बराबर झलकता है। पं. गोपीनाथ कविराज आध्यात्मिक दृश्य दर्शनरत असाधारण दृष्टि को सुरति और निर्विकल्प ध्यान को निरति मानते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साधन-साध्य रूपा रति को सुरति और विरति को निरति बताते हैं। गोरखनाथ 'सुरति' के भावनात्मक अर्थ-प्रसंग को लेकर 'सुरति' का साधक रूप में उल्लेख करते हैं-'अवधू सुरति सो साधक सबद सो सिधि'।

इसी प्रकार निरति शब्द की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। डॉ. बड़थ्वाल के अनुसार पूर्णतन्मयता की स्थिति निरति है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार सारे बाह्य भ्रमजाल से निरत होकर अंतर्मुख होने की प्रवृत्ति का नाम निरति है। पं. राहुल सांकृत्यायन निरति का संबंध बौद्धों-सिद्धों के नैरात्म्य से जोड़ते हैं। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'शब्द एवं सुरति' का मिलकर एक हो जाना ही 'निरति' है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुरति-निरति

के संबंध में काफी भ्रम-जाल फैला हुआ है। वस्तुतः सुरति शब्द 'सु' उपसर्गपूर्वक रम् धातु से निष्पन्न हैं। रम् धातु के दो अर्थ होते हैं- (1) रमण करना तथा (2) रुक जाना। इस प्रकार सुरति शब्द का अर्थ हुआ सुतराम् रति अर्थात किसी विषय में इतने अधिक आनंद का अनुभव करना कि चित्त की चंचलता समाप्त हो जाय, चित्त वहीं पर रुक जाय। वस्तुतः सुरति शब्द का सामान्य अर्थ है- मैथुन के समय का आनंद। वज्रयानियों ने इसका उसी अर्थ में प्रयोग किया है। किंतु संतों ने इस शब्द को आध्यात्मिक रूप दे दिया है। यहाँ सुरति का अर्थ है- अच्छी प्रकार से रति, अपने उपास्य का निरंतर स्मरण, चित्त का भली प्रकार से ईश्वर प्रेम में लगना। इसी प्रकार 'निरति' का अर्थ है- नितराम् रति अर्थात पूर्ण रूप से रति। निरति सुरति की चरमावस्था है। साधना की अंतिम अवस्था में सुरति निरति में लीन हो जाती है, सोच्चार निरुच्चार में परिणत हो जाता है, साकार निराकार हो जाता है। कबीर ने इसी अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार जब सुरति का निरति से परिचय हुआ तब प्रभु का साक्षात्कार हो गया।

mUeu

मन स्वभावतः चंचल और विषयानुरक्त होता है। परम तत्व की साधना में यह संकल्प-विकल्पात्मक मन ही सबसे बड़ा बाधक तत्व है। उसे वश में करना वायु को वश में करने के समान दुष्कर है। मन की विशेष अवस्था जब वह सांसारिक विषयों से विमुख होकर ईश्वरोन्मुख हो जाता है 'उन्मन' अवस्था कहलाती है। तंत्रों में इसे मन की ऊपरी अवस्था के रूप में वर्णित किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''खेचरी मुद्रा द्वारा जो मन की उदात्त अवस्था हो जाती है उसी अवस्था को 'उन्मति रहनी' कहा है।' गोरखपंथी योगसाधना में इसे 'मनोन्मनी अवस्था' कहते हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इस स्थिति को विवृत्ति करते हुए कहा है- 'यह शब्द उस अवस्था की ओर निर्देश करता है जब मन और प्राण दोनों एक हो जाते हैं और इसके फलस्वरूप मन में स्थिरता भी आ जाती है। इस प्रकार 'उन्मनि' संबंधी मान्यता के संबंध में हम इतना कह सकते हैं कि बौद्ध सिद्ध 'मन' को मारकर उसकी उपलब्धि करते थे और हठयोगियों के अनुसार यह खेचरी मुद्रा का परिणाम है। किंतु कबीर की उन्मनी रहनि इन दोनों से ही अपनी प्रक्रिया में भिन्न है। उनके अनुसार यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अधोमुखी मन-प्रवाह ऊर्ध्वमुखी होता है। कबीर के अनुसार उन्मनी का अर्थ है- उनके (प्रभु के) मन में रत रहना अर्थात् भागवती चेतना में रत रहना अथवा प्रभु के मन में रूपांतरित अवस्था। इस अवस्था में मन की सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। उसका पूर्ण आध्यात्मीकरण हो जाता है। वह शुद्ध और परिष्कृत हो जाता है। यह स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही वह शून्यावस्था तक पहुँच जाता है-

> मन लागा उन्मन सौ गगन पहूँचा जाय।
> अवधू मेरा मन मतवारा।
> उन्मनि चढ़ा मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।

vtikti

अजपा जप का शाब्दिक अर्थ है- वह जप जिसमें किसी भी बाह्य उपकरण का आश्रय नहीं लिया जाता। यहाँ बाह्य उपकरण से तात्पर्य हाथ में माला लेकर किया जाने वाला जप है। जिह्वा के द्वारा उच्चारित जाप या नामस्मरण एक प्रकार की सायास क्रिया है। जब यह क्रिया समाप्त हो जाती है और बिना किसी आयास के श्वास, प्रक्रिया के साथ निरंतर चलने लगता है, तब अजपा जप की स्थिति आती है। योग-साधना में इसे 'योगियों की गायत्री' कहा गया है। योगियों का विश्वास है कि श्वास-प्रश्वास में जीव सदा 'सोहं' अथवा 'हंस' ध्वनित करता है। हंकार की ध्वनि के साथ श्वास बाहर जाता है और 'सकार'

की ध्वनि के साथ भीतर प्रवेश करता है। इसी को 'सोऽहंवृत्ति' अथवा 'अजपा गायत्री' कहते हैं-

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः
हंस हंसेत्ययं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने बौद्धों-सिद्धों की साधना के विषय में अजपा जप का संदर्भ लेते हुए कहा है कि वे अपने श्वासों को निरुद्ध करके 'चंडाग्नि' प्रज्वलित करते थे और बीजाक्षर में ध्यान केंद्रित करके इस प्रकार की क्रिया में रत होते थे कि प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ 'एवं-एवं' निसृत होने लगे। यही उनकी वज्रयोग साधना का वज्रजप कहलाता था। उस साधना-पद्धति को जप की बात कही गई। गोरखनाथ का कहना है कि इस प्रकार मन लगाकर जाप जपो कि सोऽहं सोऽहं का उच्चारण वाणी के बिना भी होने लगे। दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात-दिन ब्रह्म-ज्ञान का चिंतन करो।

श्वास-प्रश्वास की अजपा-जप की पद्धति से कबीर परिचित अवश्य थे किंतु वे उस अजपा के जपी न थे। जप की यह अंतर्मुखी प्रक्रिया ध्यान योग के अंतर्गत आ जाती है, कबीरदास जिस अजपा जप के साधक थे वह श्वास प्रश्वास की निरोध प्रक्रिया पर आधारित न होकर 'सुरति शब्द' पर आधारित था अर्थात मन का योग शब्द से करना पड़ता था। बिना उच्चार किए हुए, श्वास-प्रश्वास के साथ राम का सुमिरन नाम के साथ नामी के गुणों का स्मरण भी है। इस प्रकार मनःसंयोगपूर्वक की गई शब्द साधना ही कबीर का अजपा जप है।

ukn-fcanq

नाद-बिंदु मूलतः तंत्रशास्त्र के शब्द हैं जिनका प्रयोग संत साहित्य में भी हुआ है। तंत्रशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'शारदा-तिलक' में नाद बिंदु के आविर्भाव के संबंध में कहा गया है-निर्गुण और सगुण- ये दो शिव के सनातन रूप हैं। निर्गुण उनका प्रकृति संबंध रहित रूप है और सगुण प्रकृति युक्त रूप। इसी सगुणात्मक रूप से शक्ति की उत्पत्ति हुई है, शक्ति से नाद और नाद से बिंदु का आविर्भाव हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाद' और 'बिंदु' के संबंध में लिखा है- निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधि युक्त। उपाधि युक्त चैतन्य से उपाधि युक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है, वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही बिंदु है। सर आर. जी. भंडारकर के अनुसार ''शिव और शक्ति आदि तत्व हैं। प्रकाश रूप शिव विमर्श या स्फूर्ति रूपा शक्ति में प्रवेश करके 'बिंदु' का स्वरूप ग्रहण करता है। इसी प्रकार शक्ति शिव में प्रवेश करती है और तब 'बिंदु' विकसित होने लगता है। 'बिंदु' से 'नाद' (स्त्री तत्व) का उद्भव होता है। ये 'बिंदु' और 'नाद' एक होकर संश्लिष्ट 'बिंदु' बन जाते हैं।'' निष्कर्षतः 'नाद' और 'बिंदु' शिव और शक्ति के संयोग से ही उत्पन्न होने वाले तत्व हैं। शिव और शक्ति से ही संपूर्ण विश्व का आविर्भाव हुआ है। अतः यह समग्र ब्रह्मांड नाद-बिंदु रूप ही है। कबीरदास ने भी कहा है-

नादहिं ब्यंद कि व्यंदहि नाद, नादहिं ब्यंद मिलै गोब्यंद।।

अर्थात यह मानव-शरीर नाद-बिंदु से रचित है। राम का नाम ही इसे भवसागर से पार लगाने वाला है।

vukgn ukn

'अनाहद नाद' का शाब्दिक अर्थ है बिना किसी आघात का नाद। सामान्यतः कर्णेंद्रिय के माध्यम से जो कुछ भी श्रुतिगोचर होता है वह 'आहत नाद' है क्योंकि वह किंहीं दो वस्तुओं

के टकराने से उत्पन्न होता है। बैखरी वाणी में भी शब्द ध्वनि अवयवों के टकराने से उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर के अंतर्गत बिना किसी आघात के स्वतः स्फूर्त एक ध्वनि उठा करती है, उसी को 'अनाहत नाद' कहते हैं। जब तक साधक की प्रवृत्ति बहिर्मुखी रहती है, तब तक वह 'आहत नाद' ही सुन सकता है, किंतु जब उसकी प्रवृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है और वह अपनी चित्तवृत्ति को भीतर की ओर प्रवाहित कर लेता है, तब उसे 'अनाहद-नाद' सुनाई देता है। योग-साहित्य में 'अनाहद-नाद' की प्रतिष्ठा है। संतों की बोली में वही 'अनाहद-नाद' है। अनहद यद्यपि अनाहत का अपभ्रंश है तथापि संतों की भाषा में इसमें एक और भी अर्थ जोड़ दिया गया है। अनहद अर्थात् जो सीमा से परे है, जो देश काल की सीमा से अतीत है। आहत ध्वनि क्षण स्थायी है, हदों में बँधी है, किंतु अनहद अनाहत तो है ही, सीमातीत भी है। अनहद हद से परे है। इस नाद-विशेष के विषय में यह उल्लेख्य है कि यह पिंड (व्यक्ति) के अंदर उस नाद का प्रतिनिधि है, जो विश्व ब्रह्मांड में सर्वत्र है।

voèkw

अवधू 'अवधूत' का अपभ्रंश है। नाथ संप्रदाय के साधक स्वयं को अवधूत कहा करते थे। सामान्यतः अवधूत का अर्थ है- साधक, योगाभ्यासी, विरक्त योगी- 'अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते।' आप्टे के अनुसार "The Auadhuta is an asecentic who has ronounced all worldy attachments and bondls." अर्थात जिसने समस्त सांसारिक वासनाओं और बंधनों का त्याग कर दिया है। सर मोनियर विलियम्स ने भी इसी प्रकार की परिभाषा दी है "One who has shaken off from himself worldy feeling and obligation" भारतीय परंपरा में दो प्रकार के अवधूतों का उल्लेख मिलता है। इनका एक सम्प्रदाय शैव मत से संबद्ध था जिसका प्रचार नाथ संप्रदाय के प्रभाव से हुआ। मत्स्येंद्रनाथ गोरखनाथ को अवधू कह कर संबोधित करते थे। नाथ संप्रदाय को 'अवधू संप्रदाय' भी कहा जाता है। अवधूतों का दूसरा संप्रदाय वैष्णव परंपरा से संबद्ध था। रामानंद के शिष्य अवधूत कहे जाते थे। इन लोगों ने रूढ़ प्रथाओं का परित्याग कर दिया था तथा जाति-भेद को अस्वीकार कर सरल स्वाभाविक जीवन पद्धति को अपनाया था। कबीर ने जहाँ एक ओर नाथपंथी अवधूतों के बाह्याचार और क्लिष्ट साधना का विरोध किया, वहीं वैष्णव परंपरा के अवधूतों के समान सुरति द्वारा कुंडलिनी के जागरण और अपने भीतर ही राम के साक्षात्कार की पद्धति को अपनाया था। कबीरदास ने प्रायः अपने पदों में अवधू संबोधन का प्रयोग किया है। यहाँ 'अवधू' शब्द का प्रयोग नाथों की तरह अनुगामी साधक के लिए नहीं, अपितु प्रतिपक्षी, प्रतिद्वंद्वी के लिए किया गया है, जिसको वे उद्बोधन के लिए चुनौती-सी देते दिखाई देते हैं।

fujatu

निरंजन का शाब्दिक अर्थ है- अंजन अर्थात माया रहित। इस प्रकार निरंजन का सामान्य अर्थ है- माया रहित निर्गुण ब्रह्म। गोरखबानी में 'निरंजन' को उदय-अस्त, रात-दिन, स्थूल-सूक्ष्म से परे नामरूपोपाधि से भिन्न सर्वव्यापी तत्व के रूप में देखा गया है। कबीरदास ने निरंजन शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उन्होंने- 'गोव्यंदे तू निरंजन तू निरंजन राया। तेरे रूप नाहीं रेख नाही मुद्रा नाहीं माया।' कहकर निरंजन को परमतत्व का ही पर्याय स्वीकार किया है।

ve`r

बौद्ध तांत्रिकों और योगियों ने एक ऐसे रस का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने 'अमर वारुणी' कहा है, जो सहस्रार में विद्यमान सोम से स्रावित होता है। इसका पान करने से

साधक अमर हो जाता है। नाथ योगियों के अनुसार सहस्रदल कमल के बीच एक त्रिकोण है। उस त्रिकोण के मध्य पूर्णचंद्र है जिससे रस टपकता है, तब कुछ साधकों के अनुसार नाभि में स्थित सूर्य इस रस को सोख लेता है, कुछ के अनुसार यह मूलाधार में जाकर सूख जाता है। उस रस को सूखने से बचाने के दो उपाय हैं- (1) कुंभक प्राणायाम द्वारा योगी उस टपकते हुए रस को सुषुम्ना मार्ग से पुनः सहस्रदल में चढ़ा लेता है। जहाँ जीवात्मा उसे पीकर अमरत्व का अनुभव करता है। (2) खेचरी मुद्रा द्वारा योगी जिह्वा को लंबी करके उस टपकते हुए रस को विशुद्ध चक्र में मार्गांतरित कर देता है। गोरक्ष संहिता में कहा गया है कि 'नाभि के मूल में सूर्य है और तालु के मूल में चंद्र। चंद्र से जो अमृत झरता है, सूर्य उसे ग्रस लेता है, उसी कारण मनुष्य मृत्यु का शिकार होता है।' कबीर-वाणी में इस शब्द का अनेकशः प्रयोग हुआ है। अमीरस, महारस, सहजरस, सोमरस, रामरस, प्रेमरस आदि अमृत के समानार्थी एवं पर्याय हैं।

vkSa/kk dqvk

संतकाव्य में ब्रह्मरंध्र या दसमद्वार के लिए औंधा कुआँ, अधोकूप, उरधकूप, उलटा कुआँ, कमलकूप आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। डॉ. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने त्रिकुटी में स्थित अमृतकूप को ही औंधा कुआँ माना है। हठयोग साधना में कहा गया है कि पिंड के शिरोभाग में, जिसे ब्रह्मांड कहा जाता है, एक सूक्ष्म छिद्र है जिसे ब्रह्मरंध्र या कूप कहते हैं, उसका मुख नीचे की तरफ रहता है। इसलिए इसे औंधा कुआँ या उलटा मुख वाला अधःकूप कहते हैं। इसमें अमृत तत्व का निवास रहता है। जब साधक सुषुम्ना मार्ग से प्राण-शक्ति को ऊर्ध्वस्थ करता है तब इस औंधे कूप में गिरने वाले अमृत रस का पान करता है। कबीरदास ने भी कहा है-

> आकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।
> ताका पांणी को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि।

xxu-eaMy

पिंड में 'गगन' की स्थिति मेरुदंड के ऊपरी भाग में मानी गई है। कुंडलिनी शक्ति जब षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्र मंडल में प्रवेश करती है तब उस स्थिति को ही गगन मंडल, गगन गुफा, गगन शिखर, शून्य शिखर, शून्य मंडल, आकाश-मंडल आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये सभी शब्द साधनांतर्गत शून्यावस्था के द्योतक हैं। यहाँ पहुँचकर शक्ति का शिव में, चित्त का आनंद में विलय हो जाता है। कबीर कहते हैं-

> कबीर मोती ऊपजै सुन्नि सिषर गढ़ मांहि
>
> गगन मंडल आसण किया, काल गया सिर कूटि।
>
> जन कबीर का सिखर घर, बाट सलैली सैल।
>
> गगन मंडल महं फुल एक फूला
> तरि भौ डार उपरि भौ मूला।।

f=os.kh-laxe ,oa ekuljksoj-Luku

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को प्रतीक रूप में गंगा-यमुना-सरस्वती का नाम दिया गया है तथा इनके संगम स्थल को त्रिवेणी 'संगम' नाम से जाना जाता है। जब साधक इन तीनों नाड़ियों का संगम करता है तब दशम द्वार खुलता है और साधक काल-पाश को उच्छिन्न कर देता है। त्रिवेणी-स्नान की चर्चा करते हुए कबीर कहते हैं-

अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कंवल कौ घाट।
शट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट।।

योग-साधना में मानसरोवर-स्नान और कैलाश-वास की चर्चा की गई है। जब कुंडलिनी शक्ति सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरंध्र में पहुँचती है, तब शिव शक्ति का समागम होता है। साधना की यह चरमावस्था ही मानसरोवर स्नान या कैलाश-वास है। कबीरदास ने भी उसी अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किया है- ''मानसरोवर सुभग जल, हंसा केलि कराहिं।''

vjèk-mjèk

अरध-उरध को एक में मिलाने की बात नाथों और संतों के साहित्य में बार-बार आती है। उरध संस्कृत के 'ऊर्ध्व' का ध्वनि परिवर्तित रूप है। अरध 'अधः' से उरध के सादृश्य पर गढ़ लिया गया शब्द है- वैसे ही जैसे इड़ा को पिंगला के सादृश्य पर इंगला बना दिया गया है। नाथों और संतों के साहित्य में इस अरध-उरध को कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। इड़ा और पिंगला को क्रमशः शिव और शक्ति का प्रतीक माना गया है। शक्ति, मूलाधार में स्वयंभू लिंग जो साढ़े तीन वलयों में आवृत्त करके अधोमुखी अवस्था में सोई रहनेवाली कुंडलिनी है और शिव सहस्रार में रहता है। अतः शिव और शक्ति अरध-उरध हुए। वास्तव में अधः और उर्ध्व को संतों ने अरध-उरध के रूप में व्यवहृत किया है। हठयोग-साधना में मेरुदंड के निम्न भाग में स्थित मूलाधार को अधः और सहस्त्रार को उर्ध्व रूप में परिकल्पित किया गया है।

lqjfr 'kCn;ksx ;k ukn kuqlèkku

सामान्यतया योग के चार रूप हैं- मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। नाथयोगियों की साधना पद्धति हठयोग पर आधारित है। इसके आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये नाथयोगियों के साधना पक्ष के अंतर्गत आते हैं। उसके अलावा इनका आचार पक्ष है, जिसमें मुद्रा धारण, भस्म लेपन, सींगी खप्पर, मृगचर्म आदि आते हैं। कबीर की विशिष्टता परंपरा का अंधानुकरण नहीं है। वे बाह्याचार का खंडन करते हैं। इसीलिए कबीर के काव्य में षटचक्र, कुंडलिनी, इड़ा पिंगला, सुषुम्ना, सहस्रार, शून्य, अनहद आदि की चर्चा तो है किंतु वे नाथयोगियों की तरह आसन, प्रणायाम, मुद्रा आदि के विरोधी हैं। खप्पर, चिमटा, सींगी आदि उपकरणों के विरोधी हैं। सिद्धियों के प्रदर्शन के विरोधी हैं- 'अवधू जोगी जग थै न्यारा। मुद्रा निरति सुरति कै सींगी नाद न खंडै धारा'। इससे स्पष्ट है कि कबीर अपने को नाथयोगियों से अलग कर लेते हैं। उनकी साधना नाथयोगियों की हठयोग की साधना से अलग है। कबीर के अनुसार अजपा जाप से ही कुंडलिनी का जागरण हो जाता है। यह भ्रांत धारणा है कि कुंडलिनी के जागरण के लिए कष्टसाध्य प्राणायाम, बंध और मुद्रा की आवश्यकता है बल्कि उसका जागरण निदिध्यासन, भक्ति और सुरति से हो जाता है। इसी को कबीर ने सुरति शब्दयोग कहा है अर्थात सुरति के माध्यम से शब्द रूपी ब्रह्म से योग या नाद का अनुसंधान। कुंडलिनी को जाग्रत कर योगी लोग जब उदबुद्ध कर लेते हैं, तब वह ऊपर की ओर उठती है। उसकी इस ऊर्ध्व गति से जो स्फोट होता है, उसे नाद कहते हैं। संतों ने अनाहतनाद को सोहं ध्वनि भी कहा है।

ukfM+;kj dqaMfyuh 'kfDr vkSj pØ

मनुष्य शरीर के भीतर बहुत-सी सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं जिनमें वायु का प्रसरण होता है। इनमें तीन मुख्य हैं- इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। योग-परंपरा में 'इड़ा' 'गंगा' नाम से अभिहित है। संतवाणी में इसके लिए इड़ा, इंगला, गंगा आदि नामों का प्रयोग हुआ है। उस नाड़ी की स्थिति मेरुदंड के सहारे नासिका के दाहिनी ओर है। पिंगला नाड़ी को 'यमुना' कहा गया है यह नासिका के वामस्थ रहती है। इड़ा प्राणवायु की वाहिनी है और पिंगला अपान

वायु की। सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति इड़ा पिंगला के मध्य में मेरुदंड के समानांतर में मानी गई है। मध्यवर्तिनी होने के कारण इसे 'सरस्वती' कहते हैं। कबीर ने शरीर को चादर मानते हुए इनका उल्लेख किया है- 'इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।' सुषुम्ना नाड़ी को ब्रह्म नाड़ी या ब्रह्म-पथ भी कहते हैं। यह कुंडलिनी के ऊर्ध्वगमन का मार्ग है। ये तीनों नाड़ियाँ जहाँ मिलती हैं उस स्थल को त्रिवेणी-संगम या त्रिकुटी प्रयाग कहा गया है। यह स्थान दोनों भौंहों के मध्य आज्ञाचक्र में स्थित है। कबीर काव्य में कुंडलिनी के लिए धरती, पनिहारिन, साँपिनी, शक्ति आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'हठयोग प्रदीपिका' में इसके सात नाम मिलते हैं- कुटिलांगी, कुंडलिनी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुंडली, अरुन्धती। शिव-संहिता में इसे 'विद्युतल्लताकार परदेवता (2/23) कहा गया है। यह कुंडलिनी सर्पाकार है। यह मेरुदंड के नीचे मूलाधार चक्र में गुदा और लिंग के मध्य में, साढ़े तीन कुंडली मारकर, अपने ही मुख में अपनी पूँछ दबाकर सुषुप्त भाव से अवस्थित रहती है। जब योगी प्राणायाम करता है तब एक ऐसी स्थिति आती है जब इड़ा और पिंगला पर बहते हुए प्राण और अपान एकीभूत हो जाते हैं। तब कुंडलिनी जागृत होकर ऊर्ध्वमुख होती है और सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है तथा धीरे-धीरे षट्चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मांड में प्रतिष्ठित होती है। यही सहस्रार चक्र के मध्य में एक चंद्राकार स्थान है, जहाँ से 'अमृत' की वर्षा निरंतर होती रहती है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक 'सोऽहम्' की ध्वनि सुनता है और उसे 'मनोन्मनी' दशा प्राप्त हो जाती है। कुंडलिनी जब ऊर्ध्वमुखी होकर आगे बढ़ती है, तब उसे छः चक्रों मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्रार चक्र का भेदन करना पड़ता है। ये चक्र कमल-दल के आकार के होते हैं।

ek;k

अद्वैत वेदांत में निर्गुण ब्रह्म को ही संपूर्ण जगत की अधिष्ठान, मूल उपादान, स्थिति तथा प्रलय का हेतु और निर्विकल्प तत्व माना गया है। माया से संयुक्त होकर ही वह निर्विकल्प, निर्विशेष और निरुपाधि ब्रह्म, अनेकविध प्रापंचिक रूपों में विभावित होता है। माया शब्द अद्वैत साहित्य में इन कतिपय अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- भ्रमात्मिका प्रपंचरूप चराचर जगत्-सृष्टि, प्रपंच के साथ ब्रह्म के स्वरूप-विनिमय का हेतु, जगत के उद्भव की हेतुभूत शक्ति ब्रह्मा की उपाधियों और विवर्तकी हेतु शक्ति, आत्मा तथा जगत् के परस्पर स्वरूप की अनिर्वचनीयता। ऋग्वेद और यजुर्वेद में माया इंद्र की शक्तियों के प्रतीक और उपनिषद् साहित्य में ब्रह्म की सहचरी शक्ति के रूप में वर्णित हुई है। अद्वैत सिद्धांत में यह त्रिगुणात्मिका, नामरूपमय और संपूर्ण संसार की बीजशक्ति मानी जाती है। ब्रह्म इससे संयुक्त हो सबल और सगुण रूप में शासित होता है और इसी रूप में जगत् का कारण भी बनता है। हिरण्यगर्भ शब्द से ब्रह्म के इसी रूप को संज्ञित किया जाता है। साधारण रूप में माया को सांसारिक भ्रम और अज्ञान का ही नामांतर माना जाता है और इस चराचर सृष्टि के मिथ्यात्व और उसकी भ्रमात्मकताओं को भी माया शब्द से व्यंजित किया जाता है। बौद्ध दर्शन में इसी तात्पर्य को लेकर सभी भाव मायोपम बताए गए हैं। हिंदी साहित्य में सिद्ध-साहित्य, निर्गुणवादी संत साहित्य और भक्ति-काल के सगुण साहित्य में माया का प्रयोग मिलता है। निर्गुणवादियों में कबीर ने अद्वैत सिद्धांतों से प्रभावित होकर ही माया का प्रयोग किया है। माया उनके लिए ब्रह्म की फँसरी है। यह मोहिनी और महाठगिनी है, जिसके वश में होकर संपूर्ण संसार भ्रमित हो रहा है। इस प्रकार संस्कृत में माया के स्वरूप का जो सूक्ष्म और विशद विश्लेषण हुआ था, हिंदी साहित्य में उसके सामान्य स्वरूप सांसारिक भ्रम तथा प्रपंच और अज्ञानात्मकता का ही ग्रहण हुआ तथा उसे त्रिगुणात्मिका और शब्दों द्वारा अकथ्य बताया गया। कहीं-कहीं इंद्रजाल और यौगिक शक्तियों के अर्थ में भी माया का वर्णन प्राप्त होता है।

3-2-2 lQ-hdkO; èkkjk

'सूफी' की व्युत्पत्ति के संबंध में निम्नलिखित मत प्रचलित है- (1) सूफा नामक एक जाति थी, जो हजरत मुहम्मद के पूर्व मक्का के मंदिरों में उपासना किया करती थी। सूफियों का संबंध इसी जाति से है। (2) सूफी शब्द अरबी के 'सूफ' से बना है, जिसका अर्थ है- ऊन। इस परंपरा के संत और साधक ऊनी वस्त्रों का ही प्रयोग करते थे, इसीलिए वे सूफी कहलाये। (3) सूफी शब्द 'सफ' से बना है, जिसका अर्थ है- पंक्ति। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सूफी अपने त्याग और तपस्या के कारण कयामत के दिन अगली पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी होंगे और अल्लाह को सर्वाधिक प्रिय होंगे। (4) सूफी शब्द 'सूफा' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है- चबूतरा। कहा जाता है कि मदीना की मस्जिद के सामने बने चबूतरे पर बैठकर उपासना करने वाले संतों को सूफ़ी कहा गया। (5) यह शब्द 'सोफिया' का तद्भव है, जिसका अर्थ है- विद्या। इस अर्थ के अनुसार वे साधक ज्ञानान्वेशी थे, इसलिए सूफी कहलाये। (6) सूफी शब्द 'सफा' से बना है, जिसका अर्थ है- पवित्र, निर्मल। इस व्युत्पत्ति के अनुसार शुद्ध, सरल जीवन-यापन के कारण इन्हें सूफी कहा गया।

eluoh

'मसनवी' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'दो' होता है। यह काव्य का ऐसा रूप है, जिसके हर शेर के दोनों मिसरे एक ही रदीफ़ और काफ़िए में होते हैं। हर शेर का रदीफ़ और काफ़िया आपस में अलग-अलग भी हो सकता है। इसलिए मसनवी में शायर को क्रमबद्ध विषय-वर्णन में बड़ी आसानी होती है। कसीदा या गज़ल में सब शेरों में एक ही रदीफ़ और क़ाफ़िए की पाबंदी नहीं है। मसनवी के लिए सात बहरें नियत हैं। इन्हीं सात बहरों में मसनवी लिखी जा सकती है। मसनवी में शेरों की संख्या की कोई सीमा नहीं है। छोटी मसनवियाँ हजारों तक पाई जाती हैं। 'मसनवी' में विषय की भी कोई सीमा नहीं है। कवि जिस विषय पर चाहे, मसनवी लिख सकता है। उर्दू मसनवी लिखने वालों ने मसनवियों में आख्यान भी लिखे हैं, भगवान की प्रशंसा भी की है तथा साहित्यिक तत्वों और प्राकृतिक दृश्यों को भी चित्रित किया है। मसनवी की खूबी यह है कि जिस घटना या वृत्त का वर्णन किया जाए उसे सरलता व विस्तार के साथ इस प्रकार चित्रित किया जाए कि वह घटना आँखों के सामने फिरने लगे और पूरा वातावरण चलचित्र की तरह सामने आ जाए। उर्दू में मीर, मीर हसन, दयाशंकर, नसीम, मिर्जा शौक आदि ने मसनवियाँ लिखी हैं। हिंदी सूफीकाव्य परंपरा में इसी काव्य रूप को अपनाया गया है। जायसी का 'पद्मावत' मसनवी ही है। उस दृष्टि से मसनवी को भी एक ऐसे कथा काव्य का रूप कह सकते हैं जो महाकाव्य के निकट पहुँच सकता है।

'kjhvr

कुरान के वचनों और हदीसों द्वारा अनुमोदित नियम-कानून जिनका पालन करना इस्लाम-धर्म के अनुयायी आवश्यक मानते हैं। सांसारिक जीवन और उपासना, दोनों का मार्गनिर्धारण इन नियमों के द्वारा होता है।

rjhdr

इसका अर्थ आध्यात्मिक मार्ग है। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी तक इसका अर्थ कुछ और ही था। उस काल में साधकों को साधना के पथ पर अग्रसर होने का व्यवहारिक ज्ञान कराने की एक पद्धति का बोध होता था। सन् ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद जब नाना सूफी संप्रदाय का आविर्भाव होने लगा, तब इसका अर्थ विभिन्न संप्रदायों में प्रचलित धार्मिक क्रिया और अनुष्ठान हो गया, जिनका सहारा लेकर उस संप्रदाय में अंतर्भुक्त साधक साधना के पथ पर अग्रसर होते रहे।

gdhdr

सूफी मार्ग की वह मंजिल है, जिसमें साधक को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है और उसके साथ वह 'एकमेक' हो जाता है ।

ekfjQr

मारिफ़त का अर्थ ईश्वरीय, आध्यात्मिक ज्ञान है। सूफी साधक मानते हैं कि मारिफ़ (आध्यात्मिक सच्चा ज्ञान) परमात्मा के 'एकत्व' का बोध है। इसके द्वारा मनुष्य समझ पाता है कि 'भिन्न' की प्रतीति होना मिथ्या है। इस ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने-आपको जान पाता है और अपने-आपको जानना परमात्मा को जानना है। इस प्रकार परमात्मा-विषयक सूफियों के रहस्यमय ज्ञान को मारिफ़ कहते हैं। सूफी इसे प्रकाश मानते हैं, जिससे हृदय आलोकित हो उठता है। मारिफत ज्योतिस्वरूप परमात्मा के प्रकाश से ही प्रकाशवाला है। इसी के सहारे साधक परमात्मा के 'एकत्व' को देखने में समर्थ होता है।

3-3 lxqk dkO;èkkjk ds izeq[k ikfjHkkf"kd 'kCn

v"VNki

बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रचार-प्रसार का श्रेय अष्टछाप के कवियों को है। इसके अंतर्गत आठ भक्त कवि आते हैं। यहाँ 'छाप' का अर्थ है- आशीर्वाद। इन आठ भक्त कवियों में से सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास और कृष्णदास बल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा गोविंदस्वामी, छीतस्वामी, नंददास और चतुर्भुजदास विट्ठलनाथ के शिष्य थे अर्थात प्रथम चार भक्तों पर बल्लभाचार्य ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी और परवर्ती चार भक्तों पर विट्ठलनाथ की छाप लगी थी। वैसे भक्तों की संख्या और भी अधिक थी। बल्लभाचार्य के चौरासी शिष्य और विट्ठलनाथ के दो सौ बावन शिष्य बताए जाते हैं, जिनका विवरण क्रमशः 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में मिलता है। किंतु उपर्युक्त आठ भक्त प्रमुख थे। वे श्रीनाथ जी की नित्य-लीला के अंतरंग सखा थे, इसीलिए उन्हें अष्टसखा भी कहते हैं। ये आठों पहर की नित्य सेवा में भाग लेते थे और कीर्तन किया करते थे। कहा जाता है कि सूरदास जी प्रतिदिन एक नया पद बनाते थे और प्रभु को समर्पित करते थे। अष्टछाप की स्थापना संवत् 1602 में हुई थी।

jkl

वस्तुतः रसों का समूह रास है- 'रसानाम् समूहो रासः'। भगवान को रस स्वरूप कहा गया है- रसो वै सः। रस स्वरूप परमात्मा को अपने आप आस्वाद्य-आस्वादक भाव से विविध रूपों में प्रकट करके बिहार करना 'रास' कहलाता है। दूसरे शब्दों में 'जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनंत-अनंत रस का समास्वादन करे, एक रस ही रस समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक लीला, धाम और विभिन्न आलंबन और उद्दीपन रूप में क्रीड़ा करे, उसका नाम रास है। रास की दूसरी व्याख्या इस प्रकार की गई है- 'नृत्यगीत चुंबनलिंगनादीनां रसानां समूहो रासः'। अर्थात नाच, गान, चुंबन, आलिंगन आदि रसों का समूह रास है। तीसरे मत से, रास उस नृत्य को कहते हैं जिसमें एक क्रम से नर-नारी हाथ पकड़कर मंडलाकार नाचते हैं-

स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैवं धश्तहस्तैः क्रमस्थितैः।
मंडले क्रियते नश्त्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः।।

कुछ समय बाद रास को धर्म से जोड़ दिया गया और श्रीकृष्ण को रास का नायक स्वीकार कर लिया गया। कहा गया कि श्रीकृष्ण रस के विग्रह, राधा रासेश्वरी तथा गोपिकाएँ, वृंदावन धाम आदि रस रूप हैं। जिस प्रकार एक बालक दर्पण अथवा जल में पड़े अपने प्रतिबिंब से खेलता है, उसी प्रकार भगवान कृष्ण ने अपने को अनेक रूपों में प्रकट करके गोपियों के साथ रासलीला की- 'रेमे रमेशो ब्रजसुन्दरीर्भियथार्भकः स्वप्रतिबिंबविभ्रमः।' इस प्रकार प्रेम-रस-स्वरूप तथा लीलारस में भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्तिरूपा चिन्मयरस-प्रतिभाविता अपनी ही प्रतिमूर्ति अथवा प्रतिबिंबस्वरूप गोपियों के साथ दिव्य क्रीड़ा को 'रास' कहा गया। 'श्रीमद्भागवत' में रास के अवसर पर नृत्य के साथ ध्रुपद आदि गीत गाये जाने का भी उल्लेख मिलता है। श्रीमद्भागवत के समान 'सूरसागर' में भी ऋतु-भेद से दो प्रकार के रास का वर्णन मिलता है- शारदीय रास और बासंती रास। पात्रों के आधार पर भी इसके दो भेद मिलते हैं- (1) राधा-कृष्ण रास और (2) गोपी-कृष्ण सामूहिक रास।

'kq)k}Sokn

आचार्य बल्लभ के दर्शन को शुद्धाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद अथवा अविकृत परिणामवाद कहा जाता है और भक्ति की दृष्टि से उसे पुष्टि- मार्ग कहते हैं। शुद्धाद्वैत का तात्पर्य है- माया के संबंध से रहित- ''शुद्ध च तदद्वैतम्।'' माया के संबंध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और कार्य है। वह दोनों रूपों में शुद्ध है। शंकराचार्य ब्रह्म को माया-संवलित मानते थे और जगत् को मिथ्या अथवा भ्रम बताते थे। इसलिए उनका सिद्धांत मायावाद कहलाया। शंकर ने जहाँ-जहाँ माया का अस्तित्व बतलाया था, बल्लभाचार्य ने वहीं-वहीं ब्रह्म का प्रतिपादन किया। इसीलिए उनका सिद्धांत ब्रह्मवाद कहलाया।

iqf"V ekxZ

आनंद के तिरोभाव से जीव भाव का उदय हुआ है। अतः जीव का लक्ष्य है- आनंद की प्राप्ति। इस आनंद की प्राप्ति का श्रेष्ठतम साधन है- भक्ति। भक्ति दो प्रकार की होती है- मर्यादा भक्ति और पुष्टि भक्ति। वैदिक कर्मों के अनुष्ठान, पालन आदि को मर्यादा भक्ति कहते हैं। इससे सायुज्य मुक्ति मिलती है। बल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग को श्रेष्ठ माना है। पुष्टि का अर्थ है- भगवान का अनुग्रह-'पोषणं तदनुग्रहः' (भागवत 2|10-4)। भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए सुदृढ़ प्रेम से यह भक्ति आती है। भक्ति-साधना में एक ऐसी अवस्था आती है, जब भगवान स्वयं आकृष्ट होकर अनुग्रह करता है। यही पुष्टि का लक्षण है। वह स्वयं साध्य है, साधन नहीं। इसमें किसी फल की आकांक्षा नहीं रहती।

fof'k"Vk}Sokn

रामानुजाचार्य का दर्शन विशिष्टद्वैतवाद कहलाता है, जिसके अनुसार चित् जीव भोक्ता है और अचित् जगत भोग्य। ईश्वर दोनों का अंतर्यामी है। तीनों नित्य हैं, किंतु जीव और जगत स्वतंत्र होते हुए भी ईश्वर के अधीन हैं। ईश्वर सभी भेदों से रहित है।

}Sokn

मध्वाचार्य का दर्शन द्वैतवाद कहलाता है। ये ईश्वर, जीव तथा जगत में तात्विक भेद मानते हुए जगत को सत्य मानते थे। कृष्ण के उपासक थे। हिंदी पर इनका कम प्रभाव पड़ा। चैतन्य महाप्रभु इनसे विशेष रुप से प्रभावित थे। हिंदी के कवि गोपाल भट्ट को इन्हीं की परंपरा में गिना जाता है।

}Sk}Sokn

श्री निंबार्काचार्य का दर्शन द्वैताद्वैतवाद अथवा भेदाभेदवाद कहलाता है। उनके मत से यद्यपि जगत और ब्रह्म एक दूसरे से भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत का अस्तित्व ईश्वर की इच्छा के अधीन है। जीव अवस्था भेद से ब्रह्म से भिन्न भी है, अभिन्न भी। ब्रह्म जगत का निमित्तोपादान कारण है। मकड़ी के जाले की तरह सृष्टि होती है। जीव और ईश्वर का संबंध अंश-अंशी का है। निम्बार्क के मत से कृष्ण परात्पर ब्रह्म हैं। उन्होंने राधा की उपासना पर विशेष बल दिया है। पाँच प्रकार की भक्ति में उन्होंने माधुर्य या उज्ज्वल भाव की भक्ति को विशेष महत्व दिया है। निम्बार्क से ही हिंदी में राधावल्लभ और हरिदासी संप्रदायों का विकास हुआ। राधावल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश थे और हरिदास ने वृंदावन में सखी संप्रदाय की स्थापना की थी।

Hkzejxhr

भ्रमरगीत का तात्पर्य है- भ्रमर को संबोधित करके अथवा उसे आलंबन मानकर रचा गया गीत। गीत मानव के सुख दुख और उसके वैयक्तिक भावों, संवेगों और इच्छा व्यापारों की सहज अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। शैली की दृष्टि से वह गेय होता है। भ्रमरगीत में भ्रमर को संबोधित करते हुए ऐसा गीत रचा गया है जिसमें प्रवासी कृष्ण के वियोग में गोपियों की विरह वेदना तथा कृष्ण के प्रति उनकी विरहासक्ति को अभिव्यक्त किया गया है। भ्रमरगीत का मूल स्रोत 'श्रीमद्भागवत' है। उसके दशम स्कंध के सैतालिसवें अध्याय में उद्धव गोपी संवाद है। वर्ण, गुण, कर्म और स्वभाव में भ्रमर और कृष्ण में ऐसी समानता है कि प्रतीक में अत्यंत स्वाभाविकता और मार्मिकता आ गई है। भ्रमरगीत प्रसंग भागवतकार की निजी विशेषता है। कृष्ण कथा से संबद्ध अन्य पुराणों में यह प्रसंग नहीं है। उस प्रसंग के माध्यम से भागवतकार ने भावभक्ति की प्रतिष्ठा की है। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार एक दिन श्री कृष्ण ने अपने प्रिय सखा और मंत्री तथा तत्वज्ञानी उद्धव को बुलाकर कहा कि तुम ब्रज जाकर मेरे माता पिता तथा वियोग व्यथिता गोपियों को मेरा संदेश सुनाकर उन्हें शांति प्रदान करो। कृष्ण का यह संदेश लेकर उद्धव सायंकाल ब्रज पहुँचते हैं और रात्रि में नंद यशोदा को समझाते हैं। वहाँ उद्धव ने कृष्ण के परब्रह्म रूप का विवेचन करते हुए बताया कि कृष्ण पुरुष हैं और बलराम प्रकृति हैं। उद्धव के वचनों को सुनकर यशोदा की वेदना और तीव्र हो जाती है तथा वह अश्रुपात करने लगती हैं। प्रातःकाल नंद द्वारा पर एक रथ को देखकर गोपियों को अक्रूर के पुनरागमन का संदेह होता है। वे अक्रूर के प्रति कटु वचनों का प्रयोग करती हैं। इसी बीच उद्धव आ जाते हैं। गोपियाँ यह जानकर कि उद्धव कृष्ण के सखा हैं तथा उनका संदेश लाए हैं, उन्हें एकांत में ले जाती हैं और कृष्ण का समाचार पूछती हैं। वे कृष्ण के प्रेम में अत्यंत विह्वल हैं तथा उनकी प्रेमलीलाओं का स्मरण कर रही हैं। इसी बीच एक भ्रमर गुंजन करता हुआ उनके निकट आता है। गोपियाँ उसे भी कृष्ण द्वारा भेजा गया दूत समझकर उसके प्रति उपालंभ देना प्रारंभ करती हैं। यहीं से 'भ्रमरगीत' प्रारंभ होता है। गोपियाँ भ्रमर के व्याज से कृष्ण को उपालंभ देती रहीं। श्रीमद्भागवत के इस भ्रमरगीत-प्रसंग का परवर्ती कृष्णभक्त कवियों, विशेष रूप से बल्लभाचार्य के अनुयायी भक्तों पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने-अपने ढंग से इस प्रसंग पर संक्षेप अथवा विस्तार से अपना मंतव्य प्रकट किया है। किंतु सूरदास ने उसे न केवल व्यापकता प्रदान की है अपितु नया आयाम भी दिया है। इसमें गोपियों की तीव्र विरहानुभूति भ्रमर की अन्योक्ति के सहारे अत्यंत ललित और संगीतमय पदों में वर्णित है, इसलिए इसे भ्रमरगीत कहा गया है।

3-4 l kjkak

भक्तिकाव्य में अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो साधनापरक विशिष्ट अर्थ का वहन करते हैं। कबीर का यह वैशिष्ट्य है कि वे अपने पूर्ववर्तियों से साधनापरक शब्दों को ग्रहण

कर उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़कर उसे नवीन अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। सूफी मत के अनुसार ईश्वर के चार गुण हैं- जात (स्वाभाविक गुण), जमाल (सौंदर्यबोधक गुण), जलाल (शक्ति), कमाल (असमान्य शक्ति)। इसकी तुलना भारतीय विचारकों द्वारा निरुपित शक्ति, शील और सौंदर्य नामक तत्वों से की जा सकती है। सूफियों ने चार लोकों की भी कल्पना की है। वे हैं- नासूत (नरलोक), मलकूत (देवलोक), जबरूत (ऐश्वर्य लोक) और लाहूत (माधुर्य लोक)। इस चौथे लोक की प्राप्ति ही सूफी अपना लक्ष्य मानते हैं। इसे प्राप्त करने के लिए वे चार मार्गों की चर्चा करते हैं- शरीयत के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, तरीकत तप और एकांत-सेवन की स्थिति है, मारिफत के द्वारा अहं का विनाश होता है और तब हकीकत अथवा परम तत्व की अनुभूति होती है। ईरान के सूफियों ने यह भी कहा है कि साधक को मोरीफ (प्रज्ञा संपन्न) की दशा प्राप्त होने पहले तोबा (प्रायश्चित), जहद (स्वेच्छादारिद्रय), सब्र (संतोष), शुक्र (कृतज्ञता), रियाज (इंद्रिय-निग्रह), तवक्कुल (ईश्वर-कृपा) और रजा (तटस्थता) की स्थितियों को पार करना पड़ता है। इसी के बाद आत्म-साक्षात्कार की अवस्था आती है। सूफी यह भी मानते हैं कि मानव अपनी जीवन-यात्रा में फना (निवृत्ति) और बका (स्वरूप-उपलब्धि) नामक दो पहाड़ों का अनुभव करता है। फना से मृत्य-डर दूर होता है और बका आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार कराता है।

सगुण भक्तिधारा के प्रमुख दार्शनिक मतवाद शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा द्वैताद्वैतवाद हैं। आचार्य बल्लभाचार्य का दर्शन शुद्धाद्वैतवाद कहलाया बल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रचार-प्रसार का श्रेय अष्टछाप के कवियों को है।

3-5 vH;kl iz'u

1. कबीर काव्य में प्रयुक्त प्रमुख पारिभाषिक शब्दावलियों का उल्लेख करते हुए यह बताइए कि उन्होंने परंपरा से ग्रहीत शब्दों में क्या परिवर्तन किए हैं।
2. कबीर और तुलसी के राम में क्या अंतर है? स्पष्ट कीजिए।
3. संत और सूफी शब्द के क्या अर्थ हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. मसनवी शैली का क्या अर्थ है?
5. अष्टछाप का अर्थ स्पष्ट करते हुए इससे संबद्ध प्रमुख कवियों के नाम बताइए।
6. भ्रमरगीत का अर्थ और मूल प्रतिपाद्य क्या है? स्पष्ट कीजिए।
7. रामानुज, बल्लभ, मध्वाचार्य और निंबार्काचार्य के दर्शनों को किन नामों से जानते हैं?
8. सूफी काव्यधारा की प्रमुख पारिभाषिक शब्दावलियों का परिचय दीजिए।
9. रास शब्द के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट कीजिए।
10. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-

    क- सुरति शब्द योग

    ख- षट्चक्र एवं नाड़ियाँ

    ग- बीजक

    घ- उलटवाँसी

द्वितीय अध्याय

अवधारणात्मक व्याख्या तथा पद्धति शास्त्रीय उपागम

सम्बद्ध शोध साहित्य सर्वेक्षण

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ सम्प्रदाय पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया। उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। नाथ सम्प्रदाय नामक पुस्तक के रूप में "लोक भारती प्रकाशन" के द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का उक्त शोध कार्य तृतीय संस्करण के रूप में वर्ष 1981" में प्रकाशित हुई।

इस उक्त पुस्तक में कुल "अध्याय संख्या 15 हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपांत अध्ययन किया इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं--

हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी पुस्तक "नाथ सम्प्रदाय" में लिखते हैं। कि गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान धर्मनेता थे। उनकी संगठन--शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व विशाल था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश से एकदम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनका चरित्र सुदृढ था। उन दिनों शुद्ध जीवन सात्विक वृत्ति और अखंड व्रह्मचर्य की भावना अपनी निम्नतम सीमा तक पहुॅच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौडे की चपेट से साधु और गृहस्थ दोंनो की कुरीतियों को चुर्ण विचूर्ण कर दिया 'किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई । वे स्वंय पंडित व्यक्ति थें। पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नही, साधन हैं। उन्होने किसी से भी समझौता नहीं किया लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव

ग्रहण किया। केवल वे एक वस्तु कहीं से न ले सके। वह हैं भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। यदि संसार मृगमरीचिका हैं, श्रुतियों परमतत्व के विषय में भिन्न विचार प्रकट करती हैं और एक अखण्ड सच्चिदाननद ही सत्य हैं तो भवावेश का स्थान कहॉ हैं? क्यों मनुष्य उस तत्व की उपलब्धि के लिए मचलने का अभिनय करे, क्यों उसे प्रसन्न और अनुकूल करने के लिए भजन–पूजन करें?

अविवेक विवके विबोध इति अविकल्प विकल्प विबोध इति।
यदि चैक निरन्तर बोध इति किमुरोदिषि मानस सर्वसम।
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति मते विददात्स्य मृगतोय समः।
यदि चैक निरन्तर सर्वाशिवः किमु रोदिषि मानस सर्वसमः।
सविभक्ति विभक्तिविहीन परं अत्युकाय निकाय विहीन परम्।
यदि चैक निरन्तर सर्व शिवः यजनंच कथंस्तवनंच कथम्।[1]

यही गोरक्षनाथ के उपदेशों का सच्चा रूख हैं। यही उनके द्वारा उपदिष्ट साधना का स्वर हैं– भावावेग, विनिर्मुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग। गोरखनाथ जी के अनुसार साधना में शुद्ध गुरू की आवश्यकता होती हैं। इस साधन मार्ग में निगुरे को कोई स्थान नहीं हैं। वह महामंत्र ही हमारा गुरू हैं। वह गुरू ही सच्चिदानन्द का पद हैं, वही सब के उपर सदा विराजमान हैं क्यों उस पद को अवाच्य समझा जाय, क्यों उस तत्व को अचिन्त्य माना जाय, इसलिए वह जो हैं से बना रहैं। हम उसे गोरक्षनाथ का साक्षात् तेज स्वरूप मानते हैं। उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरू हैं।

---

[1] अवधूत गीता

अवाच्यमुच्चेत कथं पदं तत्

अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये।

अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै।

नमोस्तु कस्मै वत नाथ जेजसे।।[1]

इस प्रकार देखा जाय तो नाथ योगी के लिए गुरू ही सब कुछ हैं। गोरक्षनीति ने साधना के लिए हठयोग को उपदिष्ट किया। योगी इसी मार्ग को अपनाते हैं। उनका लक्ष्य कुण्डलिनी उद्बोध द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हैं जिसके लिए साधक को स्वाधीन रहते हुए, बिन्दु, वायु और मन को स्थिर रखना होता हैं। हठात् ही मुक्ति द्वार खुल जाने के कारण इनकी साधना को हठयोग की साधना कहा गया हैं।

डॉ नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने नाथ सम्प्रदाय पर अत्यंत गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के अधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया। उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। "नाथ और संत–साहित्य (तुलनात्मक उध्ययन)" नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी– 5" के द्वारा डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी का उक्त शोध कार्य वर्ष "1954 में आरंभ हुआ और 1961 में " यह पूरा हुआ। तथा "6-3-1965" को इसका प्रकाशन हुआ।

इस उक्त पुस्तक में कुल "अध्याय संख्या 13" हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपांत अध्ययन किया इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

---

[1] गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह – पृ० 52

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने "नाथ एवं संत साहित्य" (तुलनात्मक–अध्याय) पुस्तक में गंभीर कार्य किया हैं। यह शोधार्थीयों के लिए अतिमहत्वपूर्ण अथाह सागर हैं। जिसमें डूबकर ज्ञानरूपी मोतीयों का संग्रह करें। इन्होंने नाथ एवं संत का समन्वित अध्ययन किया हैं। जो एक दूसरे से निश्चित तौर पर सम्बन्धित हैं। भारतीय अध्यात्मसाधना के इतिहास में मध्य युग में नाथ संप्रदाय की योगसाधना तथा संतो की योग साधना विशेष रूप से उललेखनीय हैं। इस पुस्तक में दोनों संप्रदायों, उनके साहित्य और उनके परस्पर संबंधो की भी आलोचना हैं।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी के दृष्टिकोण से नाथ और संत दोनो ही शैव और वैष्णव नाम की दो भिन्न साम्प्रदायिक परमपराओं से संबद्ध थे। पाश्चात्य लेखक फर्कुहर कहते हैं कि "पाशुपतों में विकसित नाथों की परम्परा में आगे चलकर नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ जिसमें मत्स्येन्द्र नाथ, गोरक्षनाथ जैसे सिद्धाचार्य हुए।" कुछ भारतीय विज्ञान मत्स्येन्द्र, गोरक्ष आदि को शाक्त मानते हैं। इन लोंगो की दृष्टि में तांत्रिक मत शाक्त मानते हैं। प्राप्त सामगी तथा नाथ संप्रदाय के ग्रंथो के अनुसार नाथों के उपास्य शिव हैं, शक्ति नहीं। उन्ही परमशिव को नाथ संज्ञा प्रदान की गई।

डॉ० उपाध्याय जी का विचार हैं कि नाथगण तांत्रिक जैनों और बौद्धो की तरह ही तांत्रिक शैव थे। शैव योग साधक भक्त थे। शैव स्तोत्रों की भक्ति परकता प्रसिद्ध हैं। भले ही नाथ समप्रदाय में ज्ञानतत्व की प्रमुखता रही हो परन्तु तांत्रिक भी भक्त हैं। प्राचीन शैवागमों मे भी भक्ति तत्व मिलता हैं। संत भक्ति पर जोर देते हैं नाथ योग पर। नाथ योगी कायसिद्धि को

गौण तथा नाथ रूप से अवस्थिति को मुख्य लक्ष्य माना हैं। संतगण विहंगम योग की स्वीकारते हैं। तो नाथ राजयोग के लिये हठयोग परक पिपीलक योग को। नाथ योगीयों का लक्ष्य केवल शिव–शक्ति का मिलन नहीं बल्कि इस अध्य योग से भी अतीत द्वैताद्वैत–विवर्जित अवस्था हैं। योग के द्वारा सिद्ध देह और उसी में निर्वाण पद की प्राप्ति आवश्यक स्वीकार की गई हैं कि सिद्ध देह जिसमें जश नहीं आती, जिसकी मृत्यु नहीं होती, जिसके बिंदु का पात नहीं होता, पिंडपांत नहीं होता, को प्राप्त करने के लिए नाथ योगी किसी कष्ट साधन को स्वीकार नहीं करते। कष्टदायक योग उनकी दृष्टि में निरर्थक हैं। इससे मूलतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनके अभीसिप्त योग के साधन के लिये स्वांग की वाह्य 'भेष' धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जो लोग स्वांग में तो पूरे हैं और ज्ञान में अधूरे हैं; जिनका पेट हमेशा खाली रहता हैं या हमेशा भूखे रहते हैं तथा दंभ में ही अपनी शूरता समझते हैं; वे पाखंडी हैं वे योग साधन नहीं कर सकते। उन्हें शरीर का तरल सारतत्व सुरक्षित रखना चाहिए। निस्सार शरीर से योग सिद्धि नहीं मिलती। इसके लिये कथनी–बदनी या वाद–विवाद भी निरर्थक हैं।"[1]

इस प्रकार देखा जाय तो नाथ पंथ पर डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का उत्कृष्ठ कार्य हुआ हैं जो अतिमहत्वपूर्ण हैं डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने नाथों पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उदघाटित किया।

उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं।

---

[1] गोरखवाणी पृष्ठ 126, 164, 15, 64, 87, 139

''तंत्र और संत'' नामक पुस्तक के रूप में ''प्रकाशक साहित्य भवन (प्रा) लिमिटेड इलाहाबाद 3'' द्वारा डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी जी का उक्त शोध कार्रू ''वर्ष 1975'' में प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इस उक्त पुस्तक में कुल ''अध्याय संख्या दशम'' हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपांत अध्ययन किया, इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

इसका कथन हैं कि मध्यकालीन साधनाएँ आगामिक हैं। क्योंकि सभी 'राग' पर बल देती हैं। मध्यकाल की भक्ति आगम सम्मत ''शक्ति' ही हैं– स्वरूपा शक्ति ही हैं। भक्ति की उपासना शक्ति की उपासना हैं और यही आगामिक साधना हैं

त्रिपाठी जी कहते हैं कि समस्त नैगमिक दर्शन–वेदांत, भीमंसा, पातन्जल, संख्या, वैशेषिक तथा न्याय या तो 'शक्ति' मानता ही नहीं और मानता भी हैं– तो 'जड़'।

आगम शक्ति को चिन्त मानते हैं और शक्तिमान से भिन्न भी और अभिन्न भी। इसी शन्ति का सृष्टि के रूप में प्रसार हैं यही जड़वत प्रसुप्त कुण्डालिनी हैं। बंधन–सृष्टि मुक्ति सब कुछ नादमयी शक्ति की लीला हैं। यही शक्ति शक्तिमान शैवों में शिव–शक्ति का बौद्धों में सून्यता करूणा का, प्रज्ञा–उपाय का तथा वैष्णवों में सीताराम तथा राधकृष्ण का सामरस्य हैं– युगवद्ध रूप हैं। संतो में यही 'मालिक' और मौज हैं– सूरत और शब्द हैं, सर्वत्र यही 'साम्य' या 'सामरस्य' हैं साध्य हैं।

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठि जी कहते हैं कि ''नाथ'' तथा 'संत' धारा के बीच प्रस्तावित 'निरंजनी' तथा 'बारकरी' में वरकरी की यथासंभव ग्रह्यता अवश्य

हैं– परसंतो के समय तक और बाद में भी स्वयम् नाथ धारा प्रवाहित रही हैं।"[1]

अतः निष्कर्ष रूप में यह पुस्तक "तंत्र और संत" अत्यन्त ही उत्कृष्ट पुस्तक हैं। जिसमें तंत्र और संत का समन्वित विचार प्रस्तुत किया गया हैं।

"नाथ पंथ" नामक पुस्तक में "डॉ० शान्तिप्रसाद चन्दोला" ने नाथ परंपरा पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया।

उनका यह शोध कार्य "वर्ष **1975**" में महाशिवरात्रि के शुभ अवसर पर प्रकाशित हुई हैं जिसके प्रकाश "भगवती चन्दोला" हैं इस उक्त पुस्तक में कुल "षष्टम अध्याय" हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपात अध्ययन किया इसके मुख्य निम्नलिखित निष्कर्ष हैं–

डॉ० शान्ति प्रसाद चन्दोला जी कहते हैं कि "नाथ पंथ" मूल रूप में शिव–शक्ति योग सम्प्रदाय हैं। जिसका सम्बन्ध नारायणी सम्प्रदाय से रहा। शिव–शक्ति योग सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन हैं। जिसमें नाथ शब्द की व्याख्या की गयी हैं, उदाहरणस्वरूप–

"नाथन्तो वसमदेशाति। त्रितयत्रित्यत्रिषु। इशाख्यसतुमहैंशानि केरलान्तरतोभवेत्।"[2]

अर्थात नाथ शब्द की ब्याख्या 'षटशाम्भवरहस्य' में ईश पद वाच्य हैं।

इसी प्रकार पुरातत्व तथा सहित्य सामग्री में शिव–शक्ति योग के संकेत मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप– ईशानो यक्या वधम्"[1]

---

[1] "तंत्र और संत" डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी (पृ० 432)

[2] गोरक्ष सिद्धान्त–संग्रह (पृ० 157)

अर्थात् वैदिक युग में ईशान देवता का वर्णन हैं।

डॉ० चन्दोला जी कहते हैं कि भारत में फल–फूल रहीं साधनाओं का विदेशी यात्री को भी निकट दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ था जिनमें चीनी यात्री श्वान चांग भारत में 629 से 645 ई० तक घूमा। जालेधर, आदिदत्र, मालवा, महैंश्वर आदि राज्यों में उसने पाशुपत संप्रदाय के लोगों को देखा था। मालवा में इन लोंगो की संख्या अत्याधिक थी।"[2] काशी के विशाल शिव मंदिर में दस हजार अनन्य शिव योगी थे। शिव मूर्ति धातु की बनी थी और लगभग सौ फीट ऊची थी।[3]

अतः देखा जाय तो शैव साधना पुरातन हैं। आदिनाथ नाथ सम्प्रदाय के आदिगुरू हैं। जिनका वर्णन श्रीमदभागवत में किया गया हैं। भागवत में आदिनाथ (ऋषभ) के पुत्र नौ योगीश्वरों के लिए 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग नारद जी ने वसुदेव जी को नौ योगीश्वरों की कथा सुनाते हुए स्पष्ट रीति से किया हैं। विकास की सीढियों में सिद्धों से उपर की सीढ़ी नाथो की हैं। यें नौ योगीश्वर भागवत के नवनारायण हैं।[4]

इन्होने ही परवर्तीकाल में नाथ सम्प्रदाय का विस्तार किया डॉ० शान्ति प्रसाद चन्दोला ने नाथ पंथ पर उत्कृष्ट कार्य किया हैं जिसमें उन्होंने नाथ सिद्धों की ऐतिहासिकता से लेकर दर्शन, साधना प्रणाली तथा नाथयोगियों का साहित्यिक मूल्यांकन किया। अतः यह अतिमहत्वपूर्ण शोधग्रन्थ "नाथ पंथ" में प्रकाशित कराया।

---

[1] ईशानो यवया वधम्, (पृ० 3/16/1)
[2] वाद्धर्स आन श्वानचांग, दूसरी जिल्द, पृ० 242
[3] वही, पृ० 87
[4] श्री मद्भागवत ।। स्कंध, अध्याय 2-5

डॉ० अनुज प्रताप सिंह ने नाथ सम्प्रदाय पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के अधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया।

उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं।

''गोरक्षनाथ और नाथ सिद्ध'' नामक पुस्तक के रूप में अनुजप्रताप सिंह जी का उक्त शोध कार्य ''वर्ष 1989'' में प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुई हैं।

इस उक्त पुस्तक में कुल ''अध्याय संख्या 5'' हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपात अध्ययन किया इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं—

डॉ० अनुज प्रताप सिंह जी कहते हैं हम गोरक्षनाथ को नाथ योगी शिवावतार मानते हैं। उनका जन्म कहॉ था यह विवादित हैं, विविध युगों में विविध स्थानों पर उनके जन्म का उल्लेख हैं ऐसा विश्वास किया जाता हैं कि

आज भी योगी जब दीक्षा लेता हैं तो गोरक्षनाथ उसको सकान्त कोठरी में दर्शन देते हैं। गोरक्षनाथ सुधारात्मक प्रवृत्ति के योगी थे, उन्ही के प्रयास से नास्तिक जैनी और बौद्ध आस्तिक वन गये। उन्होने अनेक पंथो को मिलाय और चलाया। निश्चित यप से यह दूसरे मतों से प्रभावित भी रहा, उदाहरण स्वरूप शाक्त, बौद्ध, जैन, कौलमार्गी इत्यादि। कलान्तर में नाथ सम्प्रदाय 12 शाखाओं में विभक्त हो गया। इन शाखाओं ने जगह—जगह योग साधना का प्रचार—प्रसार किया। ये षडंग योग करते थे। इनका लक्ष्य घट में

ईश्वर का साक्षात्कार। नाथ एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हैं अद्वैत और द्वैत विलक्षण हैं।

परवर्ती काल में नाथों से संत भी प्रभावित हुए थे। यदि उनके साधना, चिन्तन, पर दृष्टि पात करें तो वह निश्चित रूप से नाथों के ऋणी हैं।

अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि गोरखनाथ ने काया को साधकर संयमपूर्वक जीवन यापन कर मोक्ष मार्ग को दिखाया पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एक करने का उपास्य बताया।

डा० अनुज प्रताप सिंह का यह शोध प्रबन्ध सराहनीय अथक परिश्रम का फल हैं, जो अत्यधिक प्रमाणिक हैं।

डॉ० वेद प्रकाश जुनेजा ने नाथ सहित्य पर अत्यन्त गंभीर कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। "नाथ सम्प्रदाय और साहित्य" नामक पुस्तक के रूप में "प्रकाशक गोरखनाथ मन्दिर" के द्वारा डा० वेदप्रकाश जुनेजा को उक्त शोध कार्य स० 2042 वि०" में प्रकाशित हुई हैं।

इस उक्त पुस्तक में कुल ग्यारह अध्याय संख्या" हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का आद्योपांत अध्ययन किया इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

डॉ० वेदप्रकाश जुनेजा जी कहते हैं कि गोरखनाथ के समय में इस्लाम का भारतवर्ष में प्रवेश हो चुका था। मध्यकाल साधना के दृष्टिकोण से काफी उथल–पुथल का युग था। अनेक पंथो का पतन हो रहा था क्योंकि उनकी साधना में अनैतिकता, स्वछन्दता का समावेश हो गया था।

नाथ सम्प्रदाय ही अपनी कसौटी पर खरा उतरा सातवी शताब्दी से पूर्व बौद्ध धर्म का विकृत रूप 'वज्रयान' देश के पूर्वी भागों में फैल गया था। इनका प्रचार प्रसार विहार से आसाम तक था। ये बौद्ध तांत्रिक कहलाते थे तथा वामरचारी होते थे। सहजिया सम्प्रदाय भी वज्रयानियों की एक शाखा थी। जिसके आचार्य लूहपाद थे। इस युग में जैन, शैव, बौद्ध आदि साधनाओं का सम्मिश्रण था।

डॉ० धर्मवीर भरती जी कहते हैं कि वज्रयानियों तथा अन्य तांत्रिको द्वारा समाज में व्याप्त दुराचार के विरूद्ध नाथों ने व्यापक अन्दोलन चलाया जिसके मुख्य संचालक गोरखनाथ थे। इनकी साधना का मूलस्वर शील, संयम और सुद्धतावादी हैं। इन्होंने तांत्रिक उच्छृखलताओं का अत्याधिक विरोध किया था। इनका विरोध बौद्ध, शाक्त एंव शैव सभी प्रकार के तत्व से था।[1]

जुनेजा जी का निष्कर्ष हैं कि नाथ सम्प्रदाय वास्तव में सिद्ध सम्प्रदाय का ही विकसित रूप था। इसी क्रम में डॉ० कृष्णलाल हंस (हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास) में लिखते हैं कि "मन्त्रयान से वज्रयान तथा वज्रयान से सहजयान सिद्ध परम्परा और फिर नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ।"[2]

अतः विद्वत जन का कथन हैं कि नाथो का संगठन गोरखनाथ ने किया।

---

[1] डा० धर्मवीर भरती –सिद्ध साहित्य, पृ० 324

[2] डॉ० कृष्णलाल हंस – हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० 56

जुनेजा जी की यह पुस्तक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने नाथ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, साधनापद्धति, नाथयोगशास्त्र का अध्ययन और नाथ योग से प्रभावित विशिष्ट अन्यान्य योगपरक सम्प्रदायों और निर्गुण संन्त, सूफी सधना इत्यादि का गहन अध्ययन किया हैं।

अतः इनका यह कार्य अत्यन्त उपादेय और संग्रहणीय हैं।

आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय ने भारतीय दर्शन पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्‌घाटित किया।

उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। "भारतीय दर्शन" नामक पुस्तक के रूप में "प्रकाशक शारदा मंदिर रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड वाराणसी–5" के द्वारा आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय जी का उक्त शोध कार्य "वर्ष 1971" में प्रकाशित हुआ हैं।

इस उक्त पुस्तक में कुल "अध्याय संख्या 16" हैं। गवेषिका ने इस पुस्तक का अद्योपांत अध्ययन किया इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय जी ने "भारतीय दर्शन" में समग्र साहित्य का अनुपम दर्शन। भारतीय दर्शन का लक्ष्य आत्मा की श्रेष्ठता हैं। श्रुति उपदेश देती हैं कि आत्मा तत्व का साक्षत्कार करों– "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य"।

उपाध्याय जी कहते हैं कि जिस प्रकार परिवर्तन शील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्व विद्यमान हैं, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तन शील तत्व की सत्ता विद्यमान हैं ब्रह्माण्ड की नियामक

सत्ता का नाम ब्रह्म हैं तथ पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा आत्मा हैं। दार्शनिकों ने ब्रह्म तथा आत्मा की एकरूपता को प्रतिपादित की हैं। यही मुख्य ध्येंय हैं। सांसारिक प्राणीयों को संसार में भटकते रहने से कुछ नहीं मिलता, अध्यात्म के माध्यम से वह सर्वशक्तिमान से समन्वित हो जाता हैं।

उपध्याय जी का कथन हैं कि "उपनिषदों से ही समग्र भारतीय दर्शनो का विकास सम्पन्न हुआ।"

जिस प्रकार समस्त नदियों का जल अंततोगत्वा सागर में मिल जाता हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीय दर्शन समन्वित हैं, सबका एक ही स्वर हैं "आत्मा द्वीपोभव" उपाध्याय जी ने श्रोत दर्शन, गीता दर्शन, चर्वाक दर्शन, जैनदर्शन, वौद्ध दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेंषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, इत्यादि का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया हैं, जो अमृत के समान हैं, जिसे नवीन अनुसंधानकर्ता अमृतरूपी कुण्ड में गोता लगाने की चेष्टा करते हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी जी ने नाथ योगी सम्प्रदाय पर अत्यन्त गंभीर शोध कार्य किया। तथ्यों के आधार पर विश्लेषण करते हुए निर्धारित विषय के विभिन्न आयामों को उद्घाटित किया।

उनका यह कार्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं। "उत्तरी भारत की संतपरम्परा" नामक पुस्तक के रूप में "प्रकाशक भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद" के द्वारा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी का उक्त शोध कार्य तृतीय संस्करण के रूप में "वर्ष 1972 ई०" में प्रकाशित हुई हैं।

इस पुस्तक में कुल अध्याय संख्या सप्तम हैं गवेषिका ने इस पुस्तक का अद्योपांत अध्ययन किया।

इसके मुख्य निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी ने नाथ पंथ पर अपनी पुस्तक "उत्तरी भारत की संत परम्परा में "संक्षिप्त विचार प्रसतु किया हैं परन्तु थोड़े मे ही उन्होने गागर मे सागर भरने जैसे कार्य किया हैं। उन्होने प्राचीन योग साधना से लेकर गोरखनाथ के हठयोग, कायाशोधन, रसेश्वर दर्शन इत्यादि पर गहन तथ्य प्रस्तुत किए हैं।

चतुर्वेदी जी कहते हैं कि भारत वर्ष में योगी की परम्परा प्राचीन हैं। ये योगी विलकुल वैसे ही दिखाई देते थे जिस प्रकार शैव योगी। "उस समय योगी अपने शरीर के विभिन्न अंगो पर प्रभुत्व जमा कर उनपर प्राप्त विजय द्वारा प्राकृतिक शक्तियों को भी वश में लाना आसान कार्य समझते थे।[1]

योगी योग विद्या के प्रभाव से आकाश में भी उडते थे तथा विभिन्न प्रकार के क्रिया कलाप करते थे। ये लोग लंबे बाल तथा जटाधारण करते थे तथा मटमैले पीले रंग का वस्त्र लपेटते थे तथा साधना में लीन रहा करते थे नाथ योगी का इतिहास कब से प्रारम्भ हुआ, अतिश्चित हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी संदर्भ में डॉ० मोहन सिंह लिखते हैं कि आठवीं शताब्दी में रची गई वाणभट्ट की पुस्तक "कादम्बरी" तथा उसके पहले की रचना "मैत्रेयी उपनिषद" में कनफटा जैसे यागियों के उल्लेख मिलते हैं।"[2]

इस प्रकार देखा जाय तो कनफटे योगी गारखनाथ के पूर्व विद्यमान थे। परवर्ती काल में गोरखनाथ ने उनको संगठीत करके नाथ संप्रदाय मे दीक्षित किया। बाद में चलकर नाथयोगी 12 शाखओं में विभक्त हो गये। इस

---

[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी – उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० 51

[2] डॉ० मोहन सिंह – गोरखनाथ एण्ड मिडीवल मिस्टिरिज्म पृ० 15

सम्प्रदाय की इतनी प्रतिष्ठा बढ़ी कि भारत से लेकर अफगानिस्तान तक योग का प्रचार हुआ।

ये योगी षटांग योग को साधते हैं, अष्टांग योग पतंजलि के शास्त्र में अधिष्ठित हैं नाथ साधना में योगी मुख्यतः हठयोग, मनोमारण, आत्म चिंतन, रसायन विद्या इत्यादि क्रियाओं का आस्वादन करते हैं।

निष्कर्षतः आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी कहते हैं कि बौद्ध, जैन, तथा शंकर के अद्वैतवाद योग साधना से सामन्जस्य करके गोरखनाथ ने एक नवीन पद्धति को जन्म दिया। यह परम्परा अत्याधिक लोक प्रिय हुई, क्योंकि उनका स्वस्थ एवं सुन्दर सद्आचरण शुद्ध अंतः करण तथा सात्विक जीवन समाज मे एक आदर्श स्थापित कर दिया। गोरखनाथ की प्रचलित योग साधन वर्तमान में भी सम्माननीय हैं, योगी, योग के द्वारा उस परमतत्व का साक्षत्कार करते हैं। कुडलिनी को जाग्रत करते हैं तथा सहस्रार में शिव–शक्ति का समरस्य होता हैं।

उक्त समस्त सम्बद्ध शोध साहित्य के सर्वेक्षण के आलोक में स्पष्ट हैं कि नाथ–सम्प्रदाय का गंभीरता पूर्व अध्ययन हुआ हैं। किन्तु अधिकांश अध्ययन साहित्य, दर्शन और अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण किये कार्य हैं। समाज विज्ञान की दृष्टि से अध्ययनो का सर्वथा अभाव हैं। इसी क्रम में प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण किया गया हैं।

सन् 1916 - 17 ई० (बंगाब्द) 1323 में महामहोपध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'बौद्धगान ओ दोहा' का प्रकाशन करके सिद्ध साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इसमें चर्याचर्य विनिश्चय, सरोजव्रत कृत

'दोहाकोष' कन्हपाकृत 'दोहा कोष' और 'डाकार्णव' चार भाग हैं। दोहाकोष और चर्यागीतो की भाषा को शास्त्री जी ने बंगला भाषा का पूर्वरूप बताया। चर्यागीतों के रचयिताओं में लुइपा (मत्स्येन्द्रनाथ) नागार्जुन, कन्हपा (कणेरीपाव) ऐसे नाम हैं जो नाथों के अन्तर्गत भी आते हैं इसलिए नाथों के अध्ययन की दृष्टी से यह ग्रंथ कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

सिद्धों पर वाद को महत्वपूर्ण प्रकाश बड़ौदा की "गायक बाड़ ओरियन्टल सीरीज" के अन्तर्गत साधना माला के प्रकाशन से पड़ा। पं० राहुल सांस्कृत्यायन के 'वज्रयान और चौरासी सिद्ध' लेख से सिद्धों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और आधिक बढ़ा सिद्धों की प्राकाशित रचानाओं में डॉ० बागची द्वारा सम्पादित 'कौल ज्ञान निर्णय' प्रसिद्ध तथा प्रमाणिक हैं इसकी भूमिका में विद्वान सम्पादक ने मत्स्येन्द्र और उनके कौल मार्ग का महत्वपूर्ण विवेचन किया हैं उनके अनुसार मत्स्येन्द्र 'सिद्ध मार्ग' अथवा 'सिद्धामृत' मार्ग के अनुयायी थे। कौल ज्ञान निर्णय में अन्य विषयों के साथ देहस्थ विभिन्न चक्रों, जरामृत्यु निवारण (कार्यसिद्धि) और सृष्टि तथा लय के विषयों पर भी विस्तार के साथ विवेचन हुआ हैं। मत्स्येन्द्र का यह सिद्ध मार्ग निश्चित रूप से उस प्राचीन मत का संकेत देता हैं जिसके अन्तर्गत नाथ परम्परा आती हैं और ज़िसका पुनरूत्थान पूर्व मध्य काल में मत्स्येन्द्र,गोरक्ष, आदिनाथ सिद्धो ने किया हैं।

बंगला में प्रकाशित गोपीचन्द्रेर गान, गोरक्ष विजय मोनचेतना, मानिकचन्द्र राज रगान, गोविन्द चन्द्र गीत इन सिद्धों की जीवन लीला सम्बन्धित अनेक अनुश्रुतियों त्था परम्पराओं का ज्ञान कराते हैं। अहमदाबाद

से 1924 ई० में योगी सम्प्रदाय विष्कृति महन्त शिवनाथ जी योगी द्वारा प्रकाशित हुई। यह ग्रन्थ प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय सन्त ज्ञानेश्वर की कृति बताया जाता हैं इसमें नवरानारायण प्रकरण, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, गहनी, ज्वालेन्द्र, कणेरीनाग, चर्पद, रेवड़, चौरंगी, भरथरी आदि अनेक नाथाचार्यो की उत्पत्ति और लीला कथाओं का विस्तार से वर्णन हुआ हैं। अभिनव गुप्त ने तन्त्रलोक में मत्स्येन्द्रनाथ का स्मरण किया हैं। इस दृष्टि से भी काश्मीर शैव सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। सम्प्रदाय के ग्रन्थों में नाथ दर्शन और नाथोपदिष्ट मार्ग प्रणली का ज्ञान, सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह और गोरखबानी से होता हैं। अशेष शस्त्रज्ञ पं० गोपीनाथ कविराज ने सिद्ध–सिद्धान्त संग्रह और गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह को सर्वप्रथम 1925 ई० में काशी सरस्वती भवन सीरीज मे प्रकाशित किया। गोरक्ष–सिद्धान्त–संग्रह का संस्करण और सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति को अवोहर पीठ के अधिपति पूर्णनाथ जी ने हरिद्वार से क्रमशः 1938 तथा 1939 ई० में प्रकाशित किया। गोरख्बानी डॉ० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल द्वारा सम्पादित होकर साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सन् 1924 ई० में छपी।

नाथ पन्थ पर लिखे गये ग्रन्थों में डॉ० मोहन सिंह "गोरखनाथ एण्ड मीडिवल हिन्दू मिस्टिसिज्म" और ब्रिग्स का 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। डॉ० सिंह की पुस्तक में प्रकाशित गोरखबोध से पन्थ के साधना प्रणाली पर प्रकाश पड़ता हैं। ब्रिग्स की पुस्तक सम्प्रदाय के सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय ने भी धर्मवीर भारती को 'सिद्ध साहित्य पर डाक्टरेट की उपाधि दी हैं और आगरा विश्वविद्यालय ने गोखनाथ पर श्री रागेय राघव को। उपरोक्त दोनों ग्रन्थ विषय के अध्ययन में महत्वपूर्ण रूप से सहायता करते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालाय से बंगला में डॉ० कल्याणी मल्लिका का 'नाथ समप्रदायेर इतिहास,' दर्शन व साधना तीन अंश हैं। नाथों पर पहल यह वैज्ञानिक व प्रमाणिक अध्ययन हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में तासी का इतिहास, कनिंघम के पुरातत्व विवरण फर्कुहर का 'आउट लाइन्स आफ दी हिन्दू रीलिजियस श्योरीज, विलसन का रिलिजियस सेवन्टस आफ दी हिन्दूज, सिल्वॉ लेवी कृत के नेपाल, ग्रियर्सन के 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' के गोखनाथ धरमनाथ और कनफटों पर लेख इवान्स विन्टर विल्स के टिंम्बाटियन याग एण्ड सीक्रेट डोक्ट्रिन तथा मिलरेषा आदि ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य में बडथ्वाल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1930 ई० में नाथों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया और अब उनका संकलन योग प्रवाह तथा 'मकरन्द' निबन्ध पुस्तकों में हों गया हैं। बड़थ्वाल जी ने नाथों द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास में सिद्धों और संतो के बीच की टूटी हुई कड़ी को जोड़ा। नाथों के बारे में उन्होने कुछ महत्वपूर्ण संकेत अपनी 'दि निगुण स्कुल आफ हिन्दी पोएट्री' में भी दिये हैं। सरस्वती भवन स्टडीज में (जिल्द 1,2,3) काशी में पं० गोपी नाथ कविराज के (दि सिस्टम आफ चक्राज एकार्डिग टू गोरखनाथ) तथा ''सम आसपेक्टस आफ दी हिस्ट्री एण्ड द डोक्ट्रिन आफ दी नाथाज'' (जिल्द 6) लेखों में गारक्षोपदिष्ट विभिन्न देहस्थ चक्रों का विवरण आया हैं।

डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का 'बिहार एण्ड उड़ीसा रीसर्च सोसायटी' के जर्नल (जिल्द 14, संख्या 3 - 1923 ई०) में प्रकाशित 'दी डेट आफ बौद्ध गान ओ दोहा' तथा ओरियेन्टल कानफ्रेंस मद्रास (1924) में पढ़े गये 'ग्लिम्पसेज आफ दी स्कूल आफ ओरियेन्टल स्टडीज' लन्दन (भाग 6, 1930 - 32 ई०) प्रोफेसर सिल्वॉलेवी का प्रकाशन नागार्जुन पंथ परम्परा का उपयोगी विवरण प्रस्तुत करता हैं।

नागार्जुन के ऐतिहासिकता के बारे में आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी के जर्नल (जिल्द 10) में छपे के० आर० सुब्रमणियम के लेख पर्वत से भी सूचना मिलती हैं डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का 'नागार्जुन लेख (हिन्दुस्तानी, भाग 6, 1936 ई०) और राहुल जी की नागार्जुन सम्बन्धी सूचना (गंगा, पुरतत्वांक, पुरातत्व निबन्धावली) अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल (जिल्द 17, 1936 ई०) में छपे श्री मथुरालाल शर्मा के 'मैजिकल विलिवस एण्ड सुपरिस्टीशन्स इन बुद्धिज्म' लेख से विषय की जानकारी बढ़ती हैं। नाथ योगी राजस्थान में किस प्रकार तंत्र, मंत्र द्वारा खेती की टिड्ड़ियों से रक्षा करते हैं इसका विवरण उक्त लेख में आया हैं।

डॉ० बड़थ्वाल के हिन्दी कविता में योग प्रवाह (ना० प्र० प० 1930) उत्तराखण्ड में सन्त मत और संत साहित्य (वीड़ा, इन्दौर) कणेरी पाव (अशोक) सूरती निरति (ना०प्र०प्र०) नाथ पंथ में योग (कल्याण योगांक) उत्तराखण्ड के मंत्रो में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ लेख और गोरखबानी की भूमिका नाथों के अध्ययन के हिन्दी में आधारशिला प्रस्तुत करते हैं। ये सब

लेख अब अन्य निबन्धों के साथ पुस्तकाकार रूप में योग प्रवाह और मकरन्द नाम से छप चुके हैं।

उक्त समस्त शोध सम्बद्वशोध साहित्य के सर्वेक्षण के आलोक में स्पष्ट हैं। कि नाथ सम्प्रदाय का गंभीरतापूर्वक अध्ययन हुआ हैं। किन्तु अधिकांश अध्ययन साहित्य, दर्शन और आध्यात्म के परिप्रक्ष्य में पूर्ण किये गये कार्य हैं। समाज विज्ञान की दृष्टि से अध्ययनों का सर्वथा अभाव हैं। इसी क्रम में प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण किया गया हैं।

अवधारणात्मक व्याख्या

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही शैव मत का प्राधान्य रहा हैं विद्वतजन का विचार हैं कि शैव मत का ही विकसित रूप नाथ सम्प्रदाय हैं। महाभारत में शैव मत का वर्णन किया गया हैं। वामन पुराण में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतालाये गये हैं– शैव पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक[1] इन्ही धार्मिक मतों के मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारतें हैं।

भगवान शिव या रूद्र की उपासना वैदिक काल से ही प्रचलित हैं। शिव के 18 अवतार शस्त्रों में वर्णित हैं जिनमें क्रम विन्यास निम्नलिखित हैं– लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्रय, कौरूष, ईशान, परगार्थ, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपरकुशिक, अत्रिपिंगलाक्ष, पुष्पक, वृहदार्थ, अगस्ति, सन्तान राशीकर और विद्यगुरू (अपना आचार्य) शिव के अवतार ही समय–समय शैवमतों का प्रचार–प्रसार कर प्रतिष्ठित किया। 18 अवतार में लकुलीश आद्या अवतार माने

[1] वामन पुराण – (6, 86-91)

जाते हैं। ये लोग लकुड धारण करते हैं इसीलिए इनको लकुलीश कहा जाता हैं।

मध्यकाल में शिव और विष्णु नाम के दो प्रधान उपास्यों का इतिहास मिलता हैं। इन–दोनो देवताओं के इतिहास पर पर्याप्त लिखा जा चुका हैं। डॉ० भंडारकर ने इनके इतिहास पर वहुत गहरी दृष्टि डाली हैं। रामानुज और केशव काश्मीरी के काल तक शैव सम्प्रदायों के कारूणिक सिद्धान्ती, कापालिक, पाशुपत, माहैंश्वर लकुलीश आदि नाथ प्रसिद्ध थे। लगभग 9वीं ई० श० में काश्मीर में काश्मीर शैव मत का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें दार्शनिक दृष्टि से स्पंद और प्रत्यभिज्ञा मत नाम की दो शाखओं का भी विकास हुआ।

डॉ० भंडारकर कहते हैं कि "यदि परम्परा का विचार किया जाय तो काश्मीर शैव मत का उदय लगभग 5वीं ई० श० से ही मान जा सकता हैं"।[1] लगभग 6वीं ई०श० के पूर्व ही पाशुपत तथा उसकी शाखा लकुलीश का अभ्यमुदय हो चुका था।

शैव के दो स्थूल वर्ग दिखाई पड़ते हैं– पाशुपत र्शव और आगम शैव। पाशुपत शैव के अन्तर्गत लकुलीश, कापालिक, नाथ, गोरखनाथी, और रसेश्वर थे। आगम शैव के अन्तर्गत शैव सिद्धांती, तमिल शैव, काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की जाती हैं।[2]

डॉ० फर्कुहर के इस विभाजन से स्पष्ट होता हैं कि नाथपंथी, गोरखनाथी और रसेसेश्वर संप्रदायानुयायी, संप्रदाय की परम्परा की दृष्टि से

---

[1] डॉ० भंडारकर–वैष्णविज्म शैविज्म, (पृ० 146- 169, 170-173, 183- 184, तां०वौ० सा०सा०पृ०)

[2] ऐन आउटलाइन आव दि रेलिजस लिटरेचर आव इंडिया– डॉ० जे०एन० फर्कुहर, (पृ० 190- 1191)

पाशुपत हैं अथवा प्राचीन पाशुपतों की परपरा में हैं। गोरखनाथियों के संबंध में डॉ० फर्कुहर का विश्वास हैं कि गोरखनाथ के पूर्व भी संप्रदाय था जिसका परवर्ती गोरखनाथ का संप्रदाय हैं परत्तु उन्होने प्राचीन नाथमत का कोई विवरण नहीं दिया हैं।

आठवीं ई० श० तक भारत में बौद्ध, जैन, पाशुपत और कापालिक सन्यासी थे। नाथ भी सन्यासी थे। शैव साधु सन्यासी कहलाते थे तथा वैष्णव साधु वैरागी कहलाते थे दसनामी तथा नाथपंथी दोनो ही शैव सन्यासी हैं दशनामी के दार्शनिक विचार को नाथपंथी स्वीकार नहीं करते हैं। दशनामी शंकराचार्य के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा नाथपंथी गोरखनाथ के प्रति। दशनामियों को वेदांतिक सन्यासी और नाथपंथियों को तांत्रिक संन्यासी कहा जाता हैं जी० एस० घुरिये कहते हैं कि नाथ लोग प्रचीन कापालिक पाशुपत सन्यासियों के विकसित रूप हैं।[1] अतः यह कह सकते हैं कि नाथ पंथ पाशुपत सन्यासी का ऋणी हैं। क्योंकि साधना के दृष्टिकोण से इनको आचार व्यवहार में समन्वय हैं।

<u>नाथ पंथ क्या हैं</u>

नाथ दो शब्दों से मिलकर बना हैं ना+थ 'ना' का तात्पर्य उस नाथ ब्रम्हा से हैं जो माक्ष ज्ञान में दक्ष हैं उसका ज्ञान कराता हैं।

---

[1] दि० इंडियन साधुज (पृ० 52, 59, 73, 78, 87, 128, 132)

'थ' का अर्थ हैं अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला अर्थात् नाथ वह तत्व हैं जो मोक्ष प्रदान करता हैं, नाथ व्रहमा का अनुमोदन करता हैं तथा अज्ञान का स्थगन करता हैं।[1]

राजगुह्द के अनुसार – 'ना' का अर्थ हैं 'आनादि रूप' और 'थ' का अर्थ हैं (भुवनत्रय का) स्थापित होना।

स्थिति का कारण।[2]

नाकारोडनादि रूपं धकारः स्थाव्यते सदा।

भुवनत्रयमेवेकः श्री गोरक्ष नमोडस्तुते।।

अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्रह्मण में नाथ शब्द का प्रयोग 'रक्षक' अथवा 'शरणदाता' अर्थ में मिलता हैं। महाभारत में 'स्वामी, अथवा 'पति' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ हैं। ठोथिवयवितार में बुद्ध के लिये इस शब्द का प्रयोग सबसे बड़े देवता के रूप में हुआ हैं किन्तु परवर्ती काल में योग परक पशुपत शैवमत का विकास नाथ सम्प्रदाय के रूप में हुआ और नाथ शब्द शिव के लिए प्रचलित हो गया।[3]

डॉ० पीताम्बरदत्त वड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरखबानी' में भी 'नाथ शब्द' का प्रयोग हुआ हैं वहॉ उसके रचयिता के नाम की ओर संकेत होता हैं जैसे–

नाथ कहैं तुम आपा राखो।

---

[1] शक्ति संगम तंत्र

[2] राजगुह्य (पृ० ।।) – गोरक्षसिद्धांत संग्रह

[3] हिन्दी साहित्य कोष – प्रथम भाग, पृ० 425

नाथ कहैं तुम सुनहु रे अवधू।[1]

अन्य स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग 'व्रह्य' अथवा 'परमतत्व के अर्थ में हुआ हैं जैसे–

'ते निश्चल सदा नाथ के संग'

'नाथ कहंता सब जग नाथ्या'

'उनमनि लागा होइ अनंद'

'नादविंद हैं फिकी सिला, जिहिं साध्या ते सिधें मिला'[2] पालि साहित्य में नाथ पद का प्रयोग दो अर्थो में तथा इसके 10 गुण वर्णित हैं जो निम्नलिखित हैं–

बुद्धों दसबलो सत्या सब्बन्जू दि पहुत्तमो।

मुन्निदो भगवा नाथो, चवखमा अड्.गीरसो मुति।।

लोकनाथों नाधेश्वरो, महैंसि च विनायको।

समन्त चवखु सुगतो, भूरिपन्थो मारजी।।[3]

सिद्धा की वाणियों में नाथ उसको कहा गया हैं, जिसका चित्त स्फुरित हो गया हो ओर मन निश्चल।[4]

---

[1] गोरखबानी (पृ० 11, 26)
[2] गोरखबानी (पृ० 4, 5,45, 61)
[3] अभिधानप्दीपिका– प्राप्ति स्थान साहित्योतिहास (आदिकाल) डॉ० सुमनराजे पृ०195-97
[4] द्रष्टव्य – दोहाकोश, पृ० 31,44

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी नाथ शब्द के वैदिक, बौद्ध, जैन आदि संदर्भो पर आधारित जो निष्कर्ष निकाले हैं वे भी उपर्युक्त विचारों का ही समर्थन करते हैं।

गोरख–सिद्धान्त–संग्रह में 'नाथ' शब्द मूलतः मुक्तिदाता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। जो अज्ञान के अन्धकार को दूर कर संसार के बन्धनों से मनुष्य को मुक्त करने में समर्थ होता हैं तथा इस सृष्टिक्रम से पूर्णतया परे एवं मायाजेता हैं।[1]

रामानंद तथा कबीर आदि निर्गुण सन्तों ने भी 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया हैं। रामनन्द ने नाथ को निरंजन तथा प्राणपिंड की रक्षा करने वाला कहा हैं।[2]

'नाथन्त' शब्द की व्याख्या 'षटशाम्भवरहस्य' में ईश पद बाच्य हैं।[3]

योगशास्त्र में गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह के अनुसार सृष्टि का जो क्रम स्वीकार किया जाता हैं वह निम्नलिखित हैं।

शिव–भैरव–त्रीकण्ड–सदाशिव–ईश्वर–रूद्र–विष्णु–ब्रह्म–सृष्टि इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि 'नाथ' इस सृष्टि क्रम से पूर्णतया परे हैं एक स्थान पर कहा गया हैं कि सिद्धों का इष्ट नाथ हैं। उन्होने नारी को स्वीकार नहीं किया। ब्रह्म, विष्णु , रूद्र, देवता, शेषादि, नाग, पशु, पक्षी जीव सभी सित्रियों के द्वारा विजित होते हैं। केवल एक नाथ ही माया जेता हैं।

---

[1] गोरख – सिद्धान्त संग्रह, पृ० 59, 66

[2] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़श्वाल–रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ, पृ० 3

[3] गो०सि०स०पृ० 157 में उद्धृत

इस प्रकार देखा जाय तो 'नाथ' शब्द अत्यन्त व्यापक हैं जिसकी व्याख्या दार्शनिक और साहित्यिक दृष्टि से व्यापक हैं।

'नाथ' की परिभाषाओं का अनुशीलन करने से ज्ञातहोता हैं कि सभी लोग एक ही तरफ संकेत करते हैं वह हैं 'परमतत्व' इन्ही को विविध नामों से इंगित कर रहैं हैं वहीं रक्षक हैं वही मुक्तिदाता, वह सब कुछ हैं जो एक भक्त के लिए चाहिए।

इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता हैं कि शंकराचार्य के समय तक 'नाथ' शब्द भारतीय धर्म जीवन से इतना हिल मिल गया था कि स्वंय शंकर ने उसका प्रयोग 'अधिष्ठाता' तथा 'ईश्वर' के पर्याय रूप में अपने विभिन्न स्रोतों में किया इस प्रकार देखा जाय तो अत्यंत प्राचीन काल से इस प्रिय शब्द की धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य में प्रतिष्ठा रही।

नाथ सिद्धों की व्याख्या करते हुए पं० परशुराम चतुर्वेदी, जी कहते हैं कि 'जिन्होंने न केवल परमात्मा तत्व का अपनी साधना द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया हो, प्रत्युत्, जो इस प्रकार पूर्ण सफल बनकर उसके तद्रूप तक भी हो चुके हों और जो दूसरों के लिए आदर्श कहैं जा सकते हैं।"[1]

इनका भी इशारा उसी परमतत्व को पाना योगीयों का सर्वप्रमुख लक्ष्य हैं। चर्यापदों में "नाथ" को सद्गुरू के रूप में चित्रित किया गया, जो परम पद को प्राप्त कराने में समर्थ हो।[2]

---

[1] योगवाणी "गोरख विशेषांक (1977 ई०) पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 52

[2] चार्यागीतिकोण – सम्पादक प्रबोध चन्द्र बागची

संतो के काल में भी 'नाथ' पद का व्यवहार किया जाता था, कबीर दास ने एक स्थान पर मायाजेता या त्रिभुवनजयी के रूप में इसका प्रयोग किया हैं, जैसे– "नाथ सोई जो त्रिभुवन जती"।

प्रायः देखा जाय तो संत वृन्द 'नाथ' को मायजेता, निरंजन और महारक्षक कहा हैं। संत गोसवामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया हैं।

जैसे– नाथ करहु बालक पद छोहू। सूध दूध मुख करिअ न कोहू।।[1]

अतः तुलसीदास जी ने भी उसी 'प्रभु' निरंजन की ओर संकेत करते हैं ये कई स्थानों पर पद में 'नाथ' का व्यवहार किये हैं।

नाथ सम्प्रदाय के ग्रंथो में "गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह" में नाथ पद का आशय ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, सृष्टिकर्ता, परमपद, गुरू, पदमतत्व के अर्थ में प्रयुक्त हैं।

अतः दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो 'नाथ' शब्द व्यापक हैं। प्रायः देखा जाय तो नाथ मत शिवशक्ति योग का मिल–जुला सुसंगठित रूप हैं। सिंधु घाटी में बहुत से अर्द्ध अंडाकार पत्थर भी प्राप्त हुए हैं जिन्हे विद्वान शिवलिंग बताते हैं। इन पत्थरों में कुछ तो सचमुच वास्तविक लिंग रूप लिये हैं। कुछ पत्थरों में योनि प्रतीक पूजा के संकेत भी पुरातत्व वेत्ताओं ने पाये हैं।[2]

---

[1] रामचरित मानस – गो० तुलसीदास (पृ० 260)

[2] एक ह्वीलर – दि इंडस सिमिलिजेशन कैंम्ब्रिज 1953 ई०

नारी संग की परम्परा

नारी संग की परम्परा कापालिक पंथ में चलती थी परवर्ती काल में यह परम्परा लुप्त हो गयी क्योंकि इसमें अनैतिकता का समावेश हो गया। कापालिक लोग कपाल धारण करते थे तथा श्मशान में धूनी रमाते थे। इस पंथ में नारी का महत्व था। गोरक्ष के गुरू मत्स्येन्द्र के योगिनी कौल मार्ग पर तो इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हैं, प्रस्तुत गोरक्ष इससे दूर रहें।"[1]

योगिसंप्रदायविष्कृति में वर्णित हैं कि वाममार्गी लोग गोरक्षनाथ को अपने मार्ग में ले जाना चाहते थे।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं कि सारी बातों पर विचार करने से यह मालूम होता हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्ध या सिद्धान्तमृत मार्ग के अनुयायी थे, बाद में कामरूप में वाममार्गी साधना में प्रवृत्त हुए और वहॉ से कौलज्ञान अवतारित किया और इसके पश्चात् अपने शिष्य गोरक्षनाथ के द्वारा उद्‌बुद्ध होकर फिर पुराने रास्ते पर आ गए।[3]

क्या हम यह मान ले कि "कौलज्ञान" ही सिद्धमार्ग हैं जैसा कि शास्त्रों में सिद्धमार्ग, कौलज्ञान से पूर्ववर्ती हैं मत्स्येन्द्रनाथ पहले सिद्धमार्ग के अनुयायी थे। बाद में यह कदली बन में योगिनियों के मायाजाल में फॅस गये थे गोरखनाथ के उद्धार करने पर इनको महाज्ञान का ख्याल हुआ, तब इन्होने कौलज्ञान को अपनाया सर्वप्रथम हम यह जानने की कोशिश करें कि कौलज्ञान क्या हैं।

---

[1] गोरक्षनाथ और नाथसिद्ध – डॉ० अनुज प्रताप सिंह (पृ० 251)
[2] योगिसम्प्रदायविष्कृति – (अध्याय, 49)
[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (नाथ सम्प्रदाय, पृ० 57)

कुल और अकुल से ही कौलज्ञान निर्मित हुआ हैं "कुल" का अर्थ शक्ति और 'अकुल' का अर्थ शिव हैं। कुल से अकुल का समरस ही कौल साधना हैं।[1] अर्थात् शिव–शक्ति अभिन्न हैं, शक्ति के बिना शिव शव हो जाते हैं, ये शक्ति ही मूल हैं तथा शिव गौण सर्वप्रथम तो "नाथ" पंथ ही रहा, परन्तु परवर्तीकाल में जब इसका विकास होने लगा तो यह सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। बौद्ध का पतन होने लगा, ब्राम्हणवाद भी नहीं रहा, जैनों का पूर्ण पतन हो चुका था, तत्कालीन समाज में "नाथो" की सम्प्रभुता बढ़ गयी थी। गोरखनाथ ने एक संगठन बनाया संगठन के माध्यम से शिष्य–प्रशिष्य हुए जिन्होने नाथ दर्शन, साधना का प्रचार–प्रसार किया।

जब योगी नाथ पंथ में दीक्षित हो जाता हैं तो उसके नाम के अंत में नाथ नाम जुड जाता हैं, जैसे मीननाथ, आदित्यनाथ कहा जाता हैं कि योगी नाथ स्वरूपा हो गया।

नाथ पंथ में प्रायः दो प्रकार के योगी दीक्षित होते हैं, एक तो "कनफटा" होते हैं दूसरे "औघड"।

कनफटा– वह योगी होता हैं जो कान फाड़कर कुंडल धारण करते हैं।

औघड़– जो योगी कुण्डल धारण नही करता

कानफाड़ना एक विशेष पर्व पर होता हैं, वसन्त पंचमी के दिन शुभ दिन माना जाता हैं। कहा जाता हैं कि जब तक कर्णछेदन के कारण घाव

---

[1] सौभाग्य भास्कर (पृ० 53)

अच्छा नहीं हो जाता तब तक नारी दर्शन से योगी बचा करता हैं। वह अपने को किसी कमरे में बन्द कर लेता हैं वहीं फलाहार करता रहता हैं।[1]

जिस योगी का कान खराब हो जाता हैं वह सम्प्रदाय से अलग हो जाता हैं ओर पुजारी का अधिकार खो देता हैं।[2] (नाथ सम्प्रदाय, डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी)

ब्रिंग्स महोदय ने योगी साधको का 'कनफटा'; दर्शन और 'गोरखनाथी' नाम से ही परिचय किया हैं। ब्रिग्स जी कहते हैं कि इनको दीक्षा देने के समय ही इनके कान फाड़े जाते थे ये कनफटे भिक्षुक सन्यासी रूप में मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, नेपाल, पंजाब, बंगाल तथा गंगा के प्रदेश में पाये जाते हैं।[3]

'दर्शनी' शब्द पर दृष्टि डाले कि दर्शनी क्या हैं?

दर्शनी और कनफटा एक ही संस्कार हैं। जब योगी कानचीरकर स्फटिक अथवा अन्य किसी धतु का कुंन्डल धारण करते हैं तो उनका मानना हैं कि वह परमात्मा का दर्शन कर लिए। अतः इसे अत्यधिक पवित्र मानते हैं जिसे 'पवित्री' कहते हैं।

गवेषिका ने शोध के दौरान यह पाया कि "नाथ" शब्द भले ही प्राचीन हो परन्तु नाथ योगी का कोई इतिहास नहीं मिलता यदि योगी मिलते भी हैं तो शैव योगी यह सत्य हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलमार्ग को प्रशस्त किया था उन्ही के शिष्य गोरखनाथ ने एक अलग तरह के पंथ का निर्माण किया। यह पंथ अत्यन्त प्रभावशाली था क्योंकि इस पंथ में किसी प्रकार की समाजिक

---

[1] सु० चं०, (पृ० 241)

[2] ब्रिग्स – पृ० (8-9)

[3] जी० डब्लू० ब्रिग्स –"गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज पृ० 1, 2

दुर्वलताओं का समावेश नही था। भले ही गोरखनाथ ने अच्छाइयों को किसी दूसरे पंथो से ग्रहण किया हो, इनही नैतिकताओं के बल पर सन्यासी गोरखनाथ ने "नाथ पंथ" को विकसित किया। आज भारत से लेकार नेपाल, अफगानिस्तान, देश के कोन–कोने में नाथ मठ स्थापित हुए हैं। वर्तमान समय में भी योगी परम्परागत नियमों का पालन करते हुए साधना में लीन हैं। गोरखपुर तो नाथ पीठों में सर्वप्रधान हैं गवेषिका ने इसी को अध्ययन क्षेत्र के रूप में लिया। आज "नाथ" सम्प्रदाय हो गया हैं। एक सुसंगठित विकसित रूप। योगी योग के माध्यम से शिवशक्ति का समारस्य करता हैं।

नाथ पंथी साहित्य में नाथ सम्प्रदाय, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसम्प्रदाय, अवधूतमत, अवधूत सम्प्रदाय आदि नामों का प्रयोग मिलता हैं।[1]

नाथ सम्प्रदाय के लिए 'सिद्धमत' का प्रयोग, 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में मिलता हैं।

नाथ साहित्य में वर्णित नाम ही इस मत के प्राचीन नाम मान सकते हैं। अन्य नाम तो सामाजिक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के आधार पर रख लिये गये हैं। इनमें योगी, सिद्ध और नाथ शब्द ऐसे हैं जो अन्य सम्प्रदायों अथवा मतों के लिए भी प्रयुक्त होते रहैं हैं। किन्तु "गोरखनाथ द्वारा संगठित और प्रचारित सम्प्रदाय के लिए नाथमत, नाथपंथ, अथवा नाथ–सम्प्रदाय नाम ही अधिक प्रचलित हैं।[2] इसी नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता हैं। नाथ की साधना अत्यन्त ही जटिल हैं, "नाथ" योगी कई प्रकार की योग क्रिया करते हैं, जैसे त्राटक, कपालभाति इत्यादि।

---

[1] "नाथ सम्प्रदाय और साहित्य" – डॉ० वेदप्रकाश जुनेजा पृ० 18

[2] डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय – (गोरक्षनाथ, पृ० 6)

नाथ सम्प्रदाय की विशेषताएँ

नाथ सम्प्रदाय की निम्नलिखित विशेषता हैं–

1- गुरू की आवश्कता (हजारी प्रसाद द्विवेदी, ना० स०, 19-12-66)

2- गुरू और शिष्य (गोरखबानी, पृ० 128)

3- मन की शुद्धि (गोरखबानी, पृ० 55)

4- वाद–विवाद निषिद्ध (गोरखबानी, पृ० 5)

5- जल्दबाजी अनुचित (गोरखबानी, पृ० 11)

6- विकारों में निर्विकार तत्व (गोरखबानी, पृ० 217)

7- शिष्य का आचरण (गोरखबानी, पृ० 17)

8- मध्यम वर्ग (गोरखबानी, पृ० 12)

9- नशा सेवन निषिद्ध (गोरखबानी, पृ० 56)

10- नैतिक जागरूकता

11- व्रह्मचर्य का पालन

12- मानसिक शुद्धता

13- आन्तरिक शुद्धता

अतः नाथ योगी की साधना अत्यन्त कठोर हैं। यह कहीं से भी पदस्खलित नहीं होते हैं। ये संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। इनका चरित्रबल सुदृढ होता हैं। मायाजेता होते हैं। नारी संग वर्जित होता हैं। गोरखनाथ नारी को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, उनका विचार हैं कि नारी जननी हैं, स्रृष्टा हैं इसलिए वह पूजनीय हैं, वह नारी को 'माई' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

नाथ दर्शन और साधना से संत जन भी प्रभावित हुए। काफी कुछ नाथ से गूढ़ तत्वों को अपनाया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं हक सर्वप्रथम साधक जब साधना के लिए तत्पर होता हैं तो उसे गुरू की आवश्यकता होती हैं, गुरू ही उसका मार्ग दर्शन करते हैं। गुरू शब्द दो शब्दो से मिलकर बना हैं गु+रू अर्थात् गुरू वह हैं जो अन्धकार को दूर कर प्रकाश को लखा दे।

इस मार्ग में निगुरे की गति नहीं हैं, गोरखबानी में अधृत हैं कि–

गुरू की जे गहिला निगुरा न रहिला।

गुरू बिनं ग्यानं न पाइला रे भाईला।[1]

गुरू और शिष्य दोनो योग्य होना चाहिए, गुरू तथा शिष्य में अन्तर इनता होता हैं कि गुरू के पास अधिक तत्व होता हैं। तथा चेले के पास कम। चुँकि गुरू के पास अधिक तत्व हैं तो शिष्य को चाहिए कि वह गुरू से ज्ञान ग्रहण करें। जब पूर्णज्ञाता हो जाये तो यह जरूरी नहीं हैं कि वह गुरू के पीछे–पीछे भटकता फिरे। मन उसका जैसा करे यदि वह गुरू के साथ रहना चाहैं तो रह सकता हैं या अकेले ही धूनी रमाये जैसा कि इस पद में उधृत हैं–

अधिक तत्त ते गुरू बोलिये हींग तत्त ते चेला।

मन मांनै तो संगि रमौ नही तो रमौ अकेला।।[2]

---

[1] गोरक्षबानी , पृ० 128

[2] गोरक्षबानी , पृ० 55

पंथि चलै चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरू वाई।

घट ही भीतरि अठसठ तीरथ कहॉ भ्रमै रे भाई।[1]

योगी के लिए मन की शुद्धता और दृढ़ता आवश्यक हैं। उसे रातदिन चलते रहने की और नाना तीर्थो में भटकते फिरने की एकदम जरूरत नहीं हैं। क्योंकि पंथ चलने से पवन की साधना रूक जाती हैं और नाद, बिंदु और वायु की साधना शिथिल हो जाती हैं। सम्पूर्ण तीर्थ तो घट के भीतर हैं तो फिर नाना तिर्थों में भटकने की क्या आवश्यकता हैं।

योगी के लिए मन पर संयम होना चाहिए क्योंकि ये मन ही हैं जो भटकता रहता हैं यदि यह अनुशासित हैं तो समस्त जगत का गुरूपद अनायास ही मिल जाता हैं जैसा कि इस पद में वर्णित हैं–

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।

वांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला।।[2]

गोरखनाथ जी कहते हैं कि योगी के लिए हॅसना खेलना कोई निषिद्ध कार्य नहीं हैं। मूल बात हैं चित्त की शिथिलता उसे वहकने न दे तो हॅसने–खेलने और गाने–बाजाने वाले आदमी से नाथजी प्रसन्न ही होते हैं–

आदमी से नाथजी प्रसन्न ही होते हैं–

जैसा कि इस पद में वर्णित हैं।

हॅसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिवा संग।।

हसिवा षेलिबा गाइला गीत। दिढ़ करि राषि आपना चीत।।

---

[1] गोरक्षबानी , पृ० 55

[2] गोरक्षबानी , पृ० 53

हसिबां षेलिबा धरिबा ध्यांन। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियांन।।

हसै षेलै करै मन भंग । ते निहचल सदा नाथ के संग।।[1]

एक पद में शिष्य ने गुरू से पूछा हैं कि उसका आचरण कैसा हो। वह यदि वन जाता हैं तो क्षुधा सताती हैं, नगर में जाता हैं तो माया सताती हैं, भर पेट खाता हैं तो मन में विकार उत्पन्न होता हैं। यह कठिन समस्या हैं कि यह जल–विंदु विनिर्मित काया सिद्ध कैसे हो।

जैसा कि इस पद में वर्णित हैं–

स्वामी वन षंडिजाउॅ तो षुध्या व्यापै,

नग्री जाउॅ त माया।

भरि भरि षाउॅत बिंद वियापै,

क्यों सीमति जलव्यंद की काया।।[2]

तो गोरखनाथ कहते हैं कि खाने पर टूट न पड़ना, बिन खाए भी न रहना दिन–रात अन्तर की ब्रह्म–अगिन का रहस्य चिन्तन करना, किसी बात पर आग्रहन रखना एक दम निकम्मा भी न हो जाना, जैसा कि इस पद में उधृत हैं–

धाये न षाइबा भूषे न मरिवा,

अहनिसि लेबा ब्रह्म अगति का भेवं।

---

[1] गोरक्षबानी , पृ० 3-4

[2] वही, पृ० 55

हक न करिबा षड़या न रहिबा,

यूँ बोल्या गोरष देवं।।[1]

योगी मद्य, भांग धतूरा आदि चीजों का सेवन नहीं करते, परनिन्दा और नशीली वस्तुओं का सेवन इन दो बातों को नरक का कारण माना गया हैं–

जोगी होई परनिंद्या झषै, मद मांस अरू भागि जो भषै।

इकोतर सै पुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरख राई।।[2]

अंजन मांहि निरंजन भेट्या

तिल मुष भेट्या तेलं।

मूरति मांहि अमूरति परस्या

भया निरन्तरि षेलं।।[3]

अंजन अर्थात् विकारों के भीतर निरंजन अर्थात् विकारहीन शिव को उसी प्रकार पा लेना जिस प्रकार तिल में से कोई तेल निकाल लेता हैं, योगी का लक्ष्य हैं। मूर्त जगत के भीतर अमूर्त परमतत्व का स्पर्श पाने के पश्चात् ही योगी की वह निरन्तर क्रीड़ा शुरू होती हैं जो चरम आनन्द हैं।

गोरखनाथ जी कहते हैं कि योगी का आचरण ही प्रधान वस्तु हैं, कथनी नहीं। बड़ी–बड़ी बाते बघारना उचित नहीं हैं। गोरखनाथ जी ने शील की महिमा का वर्णन किया हैं। केवल योगी ही नहीं, शीलवान् गृही भी पवित्र बताया गया हैं, जैसा कि इस पद में उधृत हैं–

---

[1] गोरक्षबानी , पृ० 12

[2] गोरक्षबानी , पृ० 12

[3] गोरक्षबानी , पृ० 217

सहज सील का धरै सरीर।

सो गिरती गंगा का नीर।।[1]

अतः नाथ योगी का आचार व्यवहार अत्यन्त ही अनुशासित होता हैं, वह मन, वाणी, व्रहमचर्य इत्यादि पर संयम रखते हैं। उनके लिए गुरू ही सब कुछ है निगुरा को कोई स्थान नहीं है। गोरखनाथ जी के उपदेशों का यह मूल हैं, उनके साधना स्वर भावावेग विनिर्मुक्त, शुद्धबुद्धिमूलक ज्ञानमार्ग हैं।[2]

गोरखनाथ जी हठयोग के द्वारा साधना करने के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। कुछ विद्वान कहते हैं कि गोरखनाथ का ध्यान अधिकतर कायाशोधन पर होता हैं।

<u>पंथ और सम्प्रदाय</u>

<u>पंथ</u>

'पंथ' शब्द का उद्‌भव संस्कृत के 'पथ' धातु से हुआ हैं जिसका तात्पर्य हैं– 'मार्ग'।

धर्मशास्त्रीय वाड्मय में पथ के प्रतीक से धर्म तत्व की प्रकृति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया हैं। जब युधिष्ठीर धर्म की सूक्ष्म गति के विषय में श्रुति, स्मृति वाक्यों से कोई निश्चित मत लिकाल पाने में अशक्य होकर 'महाजनो येन गताः स पन्था' (बन– पर्व 313 / 117) कहते हैं तो यहॉ पर धर्म की कल्पना पंथ के रूप में ही की गई हैं।

---

[1] गोरक्षबानी , पृ० 128

[2] डॉ० हाजारी प्रसाद द्विवेदी (नाथ सम्प्रदाय , पृ० 206

महात्मा ईशा जब अपने शिष्यों से कहते हैं मै ही मार्ग, सत्य और जीवन हूँ तो यहाँ भी धर्म की परिकल्पना पंथ के रूप में ही की गई हैं मनुष्य की उर्ध्वगामी प्रकृति उसमें दिव्य तत्व के अंश के कारण हैं यह दिव्य तत्व दिव्य और मानवीय जगत को जोडता हैं इस लिए धर्म को एक सेतु भी कहा गया हैं। (शान्ति पर्व 14 - 50) किन्तु धर्मशास्त्रीय वाड्मय के अन्तर्गत पंथ शब्द के स्थान पर पंथ शब्द का प्रयोग धार्मिक समूहो के एक संगठन के रूप में किया गया हैं। यहॉ पंथ को वह लघुतर समूह माना जाता हैं जो एक वृहत्तर समूह से अलग होकर अपना अस्तित्व बनाये रखने का प्रयत्न करता हैं तथा जिसके अनुयायी यह विश्वास करते हैं कि पूर्वर्ती धर्म 'समूह सच्चे धर्म' की शिक्षा प्रदान करने में पूर्णतया असमर्थ एवं अक्षम हैं। पंथ सुस्थापित धर्मिक समूहों (सम्प्रदाय और धर्म संघ) का विरोधी होता हैं, अन्य पंथ समूहो के प्रति इसका दृष्टिकोण सामान्यतः विद्रेषपूर्ण होता हैं पंथ की परिभाषा करते हुए पार्क और बर्गेस (राइट इं० पार्क एण्ड अर्नेस्ट आफ डब्लू, वर्गेस, इन्ट्रोउक्सन टु दि साइंस आफ सोसियोलाजी यूनिवर्सिटी आफ शिकागो, प्रेस, (1921 पृष्ठ 872) का कहना हैं कि "एक पंथ एक ऐसा धार्मिक संगठन होता हैं जो विद्यमान रूढ़ियों के प्रति विद्वेष की भावना रखता हैं।"

विश्व का प्रत्येक स्थापित धर्म अपने आरम्भिक अवस्था में पंथ ही रहा हैं कालान्तर में वह सम्प्रदाय का स्वरूप धरण करते हुए धर्म संघ या एक्लेसिया के रूप में परिवर्तित हुआ हैं। धर्म संघ का क्षेत्र सम्प्रदाय और पंथ की तुलना में आधिक विस्तृत एंव व्यापक होता हैं जबकि सम्प्रदाय का क्षेत्र पंथ की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता हैं।

पंथ की विशेषताएं

1- पंथ किसी आध्यात्मिक मनीषी द्वारा प्रवर्तित होता है। यह आध्यात्मिक मनीषी अंधविश्वासों की जड़ता का विखण्डन करता है एवं दुखियों का मसीहा होता है।

2- पंथ की सदस्यता ऐच्छिक होती है।

3- पंथ अन्य धार्मिक समूहों के प्रति असहिष्णु होता है।

4- पंथ विशेष की मान्यता होती है कि लोंगो को मुक्ति देने के लिए इसका प्रादुर्भाव हुआ है।

5- पंथ धर्म परिवर्तन का पक्षधर होता है ऐसा करने के लिए कभी–कभी वह जनमानस को गुमराह भी करता है।

सम्प्रदाय

जब एक पंथ समाज में सुस्थापित हो जाता है, उसका आकार विस्तृत हो जाता है, धार्मिक विश्वासों, कार्मकाण्डों एवं दृष्टिकोणों में बौद्धिक महत्व पर विशेष रूप से बल देने लगता है और धर्म सिद्धान्तो का उदारवादी निर्वचन करने लगता है तब वह एक सम्प्रदाय बन जाता है।

संक्षेप में जब किसी सुस्थापित पंथ का आकार एवं बनावट अपेक्षाकृत बड़ा हो जाता है तथा समाज द्वारा विस्तृत रूप से स्वीकृत हो जाता है तब वह एक सम्प्रदाय में परिवर्तित हो जाता है। कुछ सदैव पंथ की विशेषताओं से ही संयुक्त रहते हैं।

चिंगर ने ऐसे पंथो को 'स्थापित पंथ' के नाम से सम्बोधित किया है जैसे कबीर पंथ दादू पंथ, दैदास पंथ, नानकपंथ आदि इसके उत्तम उदाहरण हैं।

सम्प्रदाय की विशेषताएं

1- सम्प्रदाय का आकारवृहद होता हैं।

2- इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती हैं।

3- सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु होता हैं।

4- इसके अधिकांश सदस्य धर्म निरपेक्षवादी होते हैं।

5- सम्प्रदाय के सदस्य प्रायः प्रमुख प्रभावशाली एवं समृद्धशाली व्यक्ति होते हैं।

6- सम्प्रदाय के आचार्य अध्यात्म विद्या में प्रशिक्षित होते हैं।

7- सम्प्रदाय का आन्तरिक गठन जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित होता हैं।

अध्ययन के उद्देश्य

1- नाथ सम्प्रदाय के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ज्ञात किया।

2- नाथ सम्प्रदाय का संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक विश्लेषण किया।

3- नाथ सम्प्रदाय के पंथों एवं उप–पंथों पर दृष्टिपात किया।

4- नाथ सम्प्रदाय के योगियों की सामाजिक, आार्थिक पृष्ठभूमि ज्ञात किया।

5- नाथ सम्प्रदाय के योगियों का आर्थिक जीवन।

6- नाथ सम्प्रदाय के योगियों का सामाजिक–राजनीतिक जीवन का अध्ययन किया।

7- नाथ सम्प्रदाय के योगियों का विश्वास एवं विचार का अध्ययन किया।

8- नाथ सम्प्रदाय के योगियों द्वारा प्रदत्त सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया।

9- नाथ योगीयों का समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया।

10- नाथ सम्प्रदाय विभिन्न शाखाओं में क्यों विभक्त हो गया इसके क्या कारण हैं का अध्ययन किया।

शोध अभिकल्प

प्रस्तुत शोध गवेषणात्मक सह विवरणात्मक प्रकृति का हैं। 'नाथ सम्प्रदाय के योगी' जैसे विषयों पर अनुसंधान कार्य अत्यन्त दुरूह तथा जटिल होता हैं। सामान्यतया योगियों पर आधारित अध्ययन कार्यो में पूर्वानुमान लगा पाना सम्भव नहीं होता। ऐसा करने से अध्ययन के सामान्यीकरण एवं निष्कर्ष में पूर्वाग्रह स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता हैं। ज्ञातव्य हैं कि सम्पूर्ण तथ्य संकलित किये बिना अनका विन्यास एवं सामान्यीकरण अत्यन्त दुष्कर हैं। अतः इसमें उपकल्पनाओं का निर्माण करना समीचीन नहीं हैं।

अध्ययन क्षेत्र

वर्तमान अध्ययन 'मन्दिर परिसर का भूखण्ड' उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित गोरखपुर जनपद को अध्ययन क्षेत्र के रूप में चयनित किया गया हैं। गोरखपुर जनपद का मुख्यालय धरातलीय आधार पर जनपद के मध्य भाग में स्थित हैं। गोरखपुर जनपद की महत्वपूर्ण राप्ती नदी जो घाघरा की सहायक नदी हैं, उत्तर–पश्चिम से दक्षिण पूर्व की तरफ प्रवाहित होते हुए जनपद को दो भागों में बांटती हैं। गोरखपुर जनपद के उत्तरी सीमा पर नेपाल एवं पूर्वी सीमा पर देवरिया जनपद तथा दक्षिण में आजमगढ़ एवं मऊ और पश्चिम में बस्ती जनपद स्थित हैं। दक्षिणी पश्चिमी सीमा पर अम्बेडकर नगर जनपद की सीमा भी स्पर्श करती हैं। गोरखनाथ मठ महानगर के उत्तर–पश्चिम में अवस्थित हैं गोरखपुर का अक्षांशीय विस्तार लगभग 26^0 15^1 उत्तर से 27^0 30^1 उत्तर देशान्तरीय विस्तार से लगभग 83^0 15^1 पूरब 83^0 45^1 से पूरब हैं।

संरचना एवं प्रकार

वर्तमान अध्ययन मन्दिर परिसर का भूखण्ड अत्यन्त विशाल हैं। गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर के विशाल आकार–प्रकार और उसके प्रांगण की भव्यता समृद्धि तथा गरिमा का मूल्यांकन नाथ परम्परा के ही इतिहास में नहीं, भारतीय वास्तुकला के क्षेत्र में एक मौलिक और श्रद्धास्पद प्रयास हैं। किवदन्ती हैं कि गोरखनाथ दस मंदिर के जन्मदाता हैं क्योंकि उन्होने लम्बे अरसे तक यहॉ साधना की, जिसके फलस्वरूप इस पीठ को अन्य पीठों के अपेक्षा प्रधान माना जाता हैं। मंदिर की संरचना एवं प्रकार सुव्यवस्थित ढंग

से निर्मित की गयी हैं। कहा जाता हैं कि इस मंदिर के लोक–प्रसिद्धि के कारण मुसलमान शासक खिलजी ने ध्वस्त करा दिया तथा तपोनिष्ठ योगियों को बाहर निकलवा दिया था। सर्वप्रथम इस मन्दिर का जीर्णोद्धार महन्त वुद्धनाथ जी ने किया था। मन्दिर परिसर के मुख्य द्वार मे प्रवेश करने के फलस्वरूप मन्दिर के मध्य में एक विस्तृत वेदी हैं, जो गोरखनाथ जी के पवित्र आसन का प्रतीक हैं और वहॉ पर महायोगी की मूर्ति स्थापित हैं। उसी प्रांगण में 'अखण्ड ज्योति" भी स्थित हैं। जनुश्रुति हैं कि यह ज्योति त्रेतायुग से आज तक अनवरत अखण्ड रूप में जलती आ रही हैं। यह ज्योति अध्यात्मिक ज्ञान का प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त मन्दिर परिसर में कुछ मूर्तियॉ स्थित हैं जिनमें मॉ काली शिव के असीम वक्षस्थल पर नृत्य करती हुई मूर्ति स्थापित हैं। मन्दिर के अन्तर्वर्ती पर्श्व भाग (परिक्रमा मार्ग) में कुछ देव मूर्तियां स्थापित हैं। सबसे पहले योगी भगवान शिव की भव्य मांगलिक मूर्ति प्रतिष्ठित हैं। इसके बाद विघ्नविनाशक श्री गणेश जी का विग्रह हैं जिसकी दायी–बायी ओर ऋद्धि–सिद्धि खड़ी होकर चंवर डुला रही हैं। मुख्य मंदिर में ही उत्तर दिशा में कालभैरव जी की मूर्ति स्थापित हैं। इन्हे भगवान शंकर का कोतवाल और द्वार रक्षक कहा जाता हैं। मन्दिर के उत्तर की ओर पार्श्व में माता शीतला देवी का मन्दिर हैं। शीतला माता नवदुर्गा का ही स्वरूप हैं।

माता शीतला देवी के मन्दिर के समीप श्री भैरव जी का स्थान त्रिशुलों से भरा हैं यहॉ मनौती के अनुसार त्रिशुल चढ़ाने की परम्परा हैं।

भैरव जी के स्थान से मिला हुआ भगवान शिव का मन्दिर हैं। इसमें अत्यन्त ही दिव्य शिवलिंग और शिवमूर्ति की भव्यता और असाधारण महिमा दर्शनीय हैं।

मन्दिर के उत्तर तरफ सन्निकट ही हनुमान जी का मन्दिर स्थित हैं। इस मन्दिर में हनुमान जी की विशाल, भव्य, संगमरमर निर्मित मूर्ति प्रतिष्ठित हैं। नाथ पंथ में श्री हनुमान जी की गणना अत्यन्त सिद्ध महायोगी वीवड़कनाथ य ध्वजनाथ के रूप में की जाती हैं।

गोरखनाथ मन्दिर के प्रांगण में ही सरोवर के सन्निकट महाबली पाण्डव भीमसेन का मन्दिर हैं। भीमसेन धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूर्य यज्ञ में पधारने के लिये योगेश्वर गारखनाथ जी को निमंत्रित करने आये थे। उस समय गोरखनाथ जी समाधि में लीन थे। अतः दर्शन के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी थी और उनके शरीर के भार से पृथ्वी का एक अंश धँस गया था। उसी की स्मृति में यहॉ सरोवर बनाया गया था गोरखनाथ–मन्दिर के दक्षिणपार्श्व में योगिराज ब्रह्मनाथ, योगी राज बाबा गम्भीरनाथ और महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के समाधि–मन्दिर हैं। जिनमें उनकी संगमरमर निर्मित प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर के दक्षिणांचल में ही अत्यन्त भव्य गोरखनाथ मठ स्थित हैं। इस मठ में गोरक्षपीठाधीश्वर निवास करते हैं। यह मठ दो मंजिला हैं, इसमें अतिथि निवास, पुस्तकालय, सत्संगभवन, कार्यलय कोठार, और भण्डार आदि के अनेकाने कक्ष संलग्न हैं। मठ के उपरी भाग में भगवती दुर्गाजी की मूर्ति स्थापित हैं। सत्संग भवन अनेक दुर्लभ चित्रों से समलंकृत हैं। मन्दिर की ओर से प्रकाशित ग्रन्थों में गोरखदर्शन, फिलासफी ऑफ गोरखनाथ,

नाथयोग, आदर्शयोगी, योगरहस्य, महन्त दिग्विजयनाथ समृतिग्रन्थ आदि यहाँ विशेष रूप से संग्रहीत हैं। "योगवाणी' नामक अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, सदाचार की पोषक मासिक पत्रिका का सम्पादन भी यहीं से होता हैं। सतसंग कक्ष में तथा पुस्तकालय में नाथ सिद्धों के संगमरमर पर बने चित्र अंकित हैं। उनकी संक्षिप्त वाणीयाँ भी अंकित हैं।

गोरखनाथ मन्दिर के प्रांगण में एक पक्का सरोवर हैं। इसमें भारतवर्ष के समस्त तीर्थो का जल पड़ा हुआ हैं। इसे भीम सरोवर कहते हैं। मन्दिर के ठीक सामने फुलों की क्यारियों से सुरम्य शाहूल (घास के मैदान) के बीच जल–यन्त्र हैं। जिससे निकलते जल के फब्वारे सूर्यास्त के बाद रंग विरंगे से संवलित होने पर इन्द्र धनुष की छटा विखेरते हैं। मदिर परिसर में पूर्ववर्ती महन्तों और सिद्धों की समाधि स्थल हैं, जिनकी प्रतिदिन पूजा आरती होती हैं। गोरखनाथ जी के मन्दिर की ओर से सन्त निवास तथा अतिथि निवास की सुचारू व्यवस्था हैं। मन्दिर के पृष्ठभाग में एक सुव्यवस्थित गोशाला भी हैं, जिसमें पर्याप्त संख्या में गौये पाली जाती हैं। गोरखनाथ जी का यह मठ गोवंश के संरक्षण तथा संवर्धन के लिए भी समर्पित और प्रसिद्ध हैं। श्री गोरखनाथ मन्दिर के प्रांगण में गोरक्षनाथ संस्कृत–वीद्यापीठ स्थापित हैं। जिसमें विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क आवास, भोजन एवं अध्ययन की उत्तम और उल्लेखनीय आदर्श व्यवस्था हैं। गोरखनाथ मन्दिर की ओर से आयुर्वेद–महाविद्यालाय तथा धमार्थ–चिकित्सालय की स्थापना की गयी हैं। महन्त दिग्विजयनाथ की स्मृति में इनके नाम से एक भवन की स्थापना की गयी हैं।

समग्र एवं प्रतिदर्श

गोरक्षनाथ मंदिर में कुल योगियों की संख्या लगभग 1000 हैं। जो नियमित रूप से निवास करते हैं। तथा समय–समय पर आते–जाते रहते हैं। गवेषिका ने 1000 योगीयों में से दैव निदर्शन के प्रणाली के आधार पर 20% उत्तरदाताओं का चयन किया। समग्र 1000 का 20% अर्थात् 200 उत्तरदाताओं का चयन करके शोध कार्य को पूर्ण किया गया हैं।

गोरखपुर महानगर में स्थापित गोरक्षनाथ मठ के नाथ तपस्वियों का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन करने हैंतु इस क्षेत्र का चुनाव किया गया हैं।

प्रतिदर्श का चयन

अध्ययन के समग्र के रूप में महानगर गोरखपुर में स्थापित गोरक्षनाथ मठ में तथ उससे सम्बन्धित अन्य मठों में गोरखनाथ के अनुयायिओं को अध्ययन के दौरान चयनित किया गया हैं। प्रतिदर्श के रूप में नाथ पंथ के 200 तपस्वियों को लिया गया हैं तथा इसको दो भागों में विभाजित कर अध्ययन किया गया हैं। प्रथम प्रतिदर्श के रूप में 100 तपस्वीं ऐसे हैं जो कनफटा योगी हैं श्रेणी की हैं। इस प्रकार 200 योगियों के अध्ययन के आधार पर इनके समाजशास्त्रीय विश्लेषण का उद्देश्य रखा गया हैं।

समग्र निदर्शन

प्रस्तुत शोध "गोरखनाथ के योगियों का एक समाजशस्त्रीय विश्लेषण" का अध्ययन हम निदर्शन विधि से करेंगे क्योंकि नाथ यम्प्रदाय का क्षेत्र अत्यन्त विशाल हैं। तथा इनकी अनेक शाखाएं भी हैं। नाथ सम्प्रदाय पर अनेक शोधकार्य हुए हैं तथा हो रहें हैं। सभी कुछ तथ्यों का अवलोकन एवं

सत्यापन करते हैं इसी दृष्टि से गोरखपंथ में प्रचलित योगमार्ग तथा उसका समाजिक जीवन पर क्या प्रभाव हैं। इसकों हम गोरखपुर महानगर के गोरखनाथ मठ के योगियों को समग्र के रूप में लेते हैं गोरख पंथ के 200 तपस्वियों को अध्ययन हैंतु लिया गया हैं। इसमें 100 कनफटा योगी तथा 100 अन्य प्रकार के नाथ योगी होंगे।

तथ्य संकलन के स्रोत

(क) प्राथमिक श्रोत

अनुसूची के माध्यम से उत्तरदाताओं से प्रथमिक तथ्य संकलित किये गये।

(ख) द्वितीयक स्रोत

सम्बद्ध शोध साहित्य अभिलेख, सरकारी ऑकड़े गोरखनाथ मन्दिर में उपलब्ध गोरक्षपंथ पर प्रकाशित साहित्य के माध्यम से जानकारियों के आधार पर द्वितीयक तथ्य संकलित किये गये। अन्य पूर्ववर्ती शोध साहित्यों से भी द्वितीयक तथ्य संकलित किये गये, जिनका विवरण "सम्बद्ध शोध साहित्य सर्वेक्षण" शीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध हैं।

तथ्यों का प्रस्तुतीकरण

प्रस्तुत शोध में तथ्यों के प्रस्तुतीकरण में समाज वैज्ञानिक रूप से महत्वपूर्ण प्रणालीयों का प्रयोग किया गया हैं।

(क) वर्गीकरण

अध्ययन के तथ्यों को उसकी प्रकृति के अनुरूप विशिष्ट वर्गो में रखा गया। वर्गीकरण में तथ्यों की समरूपता के साथ ही उसकी सहायता से

सम्बद्धता का ध्यान रखा गया। शोध के उद्देश्यों के अनुकूल तथ्यों को वर्गीकृत किया गया।

(ख) सारणीयन

विशिष्ट वर्गों के तथ्यों को सरल व सहसम्बन्धात्मक (क्रास) सारणियों द्वारा प्रस्तुत किया गया हैं। सम्पूर्ण तथ्यों को प्रतिशत के आधार पर विवेचन किया गया हैं।

(ग) सांख्यिकीय विश्लेषण

महत्वपूर्ण परिवर्त्यों का उच्च–सांख्यिकीय विश्लेषण किया गया हैं। साथ ही आंकडों का प्रदर्शन संख्या एवं प्रतिशत दोंनो में किया गया हैं।

तृतीय अध्याय

गोरखनाथ मठ के विभिन्न महन्त एवं उनका साहित्य

गोरक्षनाथ मठ के विभिन्न महन्त एवं उनका साहित्य

भारतवर्ष में तीन प्रकार सभ्यतांए थी— आर्य, द्रविड़ और ब्रात्य। आर्य उत्तर—भारत में, द्रविड़ दक्षिण—भारत में, ब्राव्य पूर्वी भारत (आसाम, बंगाल, मगध, उड़ीसा) में थे। ब्राव्य लोग प्राक्वैदिक युग में भी योग साधना किया करते थे। इनके अराध्य देव शिव और दुर्गा थीं।

गोरखनाथ, चर्पटीनाथ, कानिफानाथ आदि के नाथ सिद्ध होने से पूर्व उसमें कुछ पारस्परिक भिन्नतांए थीं। मत्स्येन्द्रनाथ मूलतः कौन थे? जांलधर कापालिक थे। चर्पटी का सम्बन्ध रसेश्वर सम्प्रदाय से रहा तो गोरक्षनाथ शाशुपतों के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि गोरक्ष से पहले दो प्रकार के दल रहे होगें—एक जो योगार्थी थे किन्तु शैव या शक्ति नही थे। दूसरे— जो शैवागमवादी थे पर योगमार्गी नहीं। दोनों ही प्रकार के विभिन्न सम्प्रदाय जो पूर्ववर्ती थे गोरक्षनाथ के संगठन में सम्मिलित हो गये और उनके प्रवर्तकों को गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा। इसमें से वाममार्गी शक्ति, बौद्ध, अधोर आदि सम्प्रदाय भी थे। कुछ जैन तांत्रिक सम्प्रदाय भी अन्तर्मुक्त हुए है। अवधूत सम्प्रदाय ने भी किसी समय गोरक्षनाथ का नेतृत्व स्वीकार कर लिया।[1]

1. सिद्ध साहित्य – धर्मवीर भारती, पृष्ठ– 325

मध्यकालीन जन मानस 84 महासिद्धों की कल्पना से प्रभावित था। डॉ0 धर्मवीर भारती का मत है कि 84 की संख्या प्रत्येक तांत्रिक सम्प्रदाय में प्रचलित थी। नाथ सम्प्रदाया के संदर्भ में कुछ सूचियां, विशेषतःनाथ सिद्धों की, प्रस्तुत करना अप्रसांगिक न होगा। ज्योतिश्वर की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में नाथों एवं सिद्धों की एक तालिका इस प्रकार है–

क्र.सं.	नाथसिद्ध	क्र.सं.	सहजयानी सिद्ध
1.	मीननाथ	1.	लूहिया
2.	गोरखनाथ	2.	लोलापा
3.	चौंरगीनाथ	3.	विरूपा
4.	चामरीनाथ	4.	डोम्भीपा
5.	तातपा	5.	शबरीया
6.	हालिया	6.	सरहपा
7.	केदारिया	7.	कंकालीपा
8.	धोंगपा	8.	मीनपा
9.	दारिया	9.	गोरक्षपा
10.	विरूपा	10.	चौरंगिया
11.	कपाली	11.	बीणाप्पा
12.	कमारी	12.	शन्तिपा
13.	कान्ह	13.	तांतिया

14.	कनरवल	14.	चमरिया
15.	मेखल	15.	खड्गया
16.	उन्मल	16.	नागार्जुन
17.	काण्डलि	17.	कराहपा
18.	धोबी	18.	कर्णरूपा (आर्यदेव)
19.	जालंधर	19.	धगनपा
20.	टोंगी	20.	नारोपा
21.	महब	21.	शालिया (शीलपा) श्रणालीपाद
22.	नागार्जुन	22.	तिलोपा
23.	दौलो	23.	छत्रपा
24.	भिषाल	24.	भद्रपा
25.	अचिति	25.	दोखधिपा
26.	चम्पक	26.	अजोगिया
27.	ढेण्टस	27.	कालपा
28.	भुम्बरी	28.	धोम्भिपा
29.	बाकलि	29.	कंकणपा
30.	तुजी	30.	कूमरिया (कंबलपा)
31.	चर्पटी	31.	डोगिया
32.	भादे	32.	भदेपा

33.	चांदन	33.	तंथेपा (तंतिया)
34.	कामरी	34.	कुकुरिया
35.	करवत	35.	कुचिपा (कुसूलिया)
36.	धर्मपापतंग	36.	धर्मपा
37.	भद्र	37.	महीपा (महिलपा)
38.	पातलिभद्र	38.	अचिन्तिपा
39.	पालिहिह	39.	भलहपा (भवपा)
40.	भानु	40.	नलिनपा
41.	मीन	41.	भूसुकपा
42.	निर्दय	42.	इन्द्रभूति
43.	सवर	43.	मेकोपा
44.	साति	44.	कुण्डुलिपा (कुछलिपा)
45.	भर्तृहरि	45.	कमरिपा (कम्मरिपा)
46.	भीषण	46.	जांलधरणा (जालधारक)
47.	भटी	47.	राहुलपा
48.	गगनपा	48.	धर्मारिय1I (धमीर)
49.	गमार	49.	धाकेरिपा
50.	मेनुरा	50.	मेदनीपा (हालीपा)
51.	कुमारी	51.	पंकजपा

52.	जीवन	52.	घटापा (ब्रज्रघण्टा)
53.	अधोसाधव	53.	जोगीया
54.	गिरिवर	54.	चेलुकपा
55.	सियारी	55.	गुंडरिया (गोरूपा)
56.	नागबालि	56.	लुचिकपा
57.	विभवत्	57.	निर्गुणपा
58.	सारंग	58.	जयानन्त
59.	विविकिधज	59.	चर्पटीपा (पचरीया)
60.	मगरधज	60.	चम्पकपा
61.	अचिति	61.	भिखनपा
62.	विचित	62.	भलिपा
63.	नेचक	63.	कुमरिया
64.	चाटल	64.	चवरि (जवरि) अजपालिया।
65.	नाचन	65.	मणिभद्रा (योगिनी)
66.	पाहिल	66.	कनखलापा (योगिनी)
67.	भीलो	67.	मैरवलापा (योगिनी)
68.	कमल कंगारि	68.	कलकलपा
69.	चिपिल	69.	कन्तालपा
70.	गोविन्द	70.	धहुली (रि) पा (दवडीपा)

71.	भीम	71.	अुधनि
72.	भैरव	72.	कपाल
73.	भद्र	73.	किलपा
74.	भभरी	74.	सागरपा
75.	मुरूकुटी	75.	सर्वभक्षपा
		76.	नागबोधिया
		77.	दारिकपा
		78.	पुतुलिया
		79.	पनहपा
		80.	कोकालिया
		81.	अनंगपा
		82.	लक्ष्मीकरा
		83.	समुदपा
		84.	भलि (ब्यालि) पा

1. नाथ सम्प्रदाय– उदय एवं विस्तार – डॉ0 प्र0नं0 जोशी, पृ0 190

उपर्युक्त तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि नाथ सिद्धों की संख्या मात्र 76 है, परन्तु लेखक ने अंत में 'चौरासी सिद्धा' का उल्लेख किया है। इनमें से 50 नाम ऐसे है जो तिब्बती सूची मे नहीं दिख पड़ते तथा शेष में से कई नाम ऐसे हैं, जो थोड़े ही परिवर्तन के साथ उसमें आ चुके है।[1] 'वर्णरत्नाकर' की

सूची में मीननाथ, गोरक्ष, चौरंगी, हालिपा, कण्ह तथा जालंधर का स्थान 'बौद्धगान और दोहा' से मिलता–जुलता है।[2] डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वर्णरत्नाकर' की सूची की तुलना राहुल जी के 'गंगापुरातत्वांक' में प्रकाशित ब्रजयानियों की सूची से की है तथा निम्नलिखित नामों को तुलनीय पाया है–
1. मीनपा 2. गोरक्षपा 3. चौरंगीपा 4. चवरि (जवीर) अजपालिया 5. सन्तिपा 6. मेदनीपा 7. कुरूलिपा (कुद्धलिपा) 8. डोलिपा (धौलिपा) 10. विरला 12. कमरिया 13. कन्हपा 14. कनखलापा (योगिनी) 15. मेखलापा (योगिनी) 18. धोम्मिपा 19. जालधरपा (जालधारक) 22. नागार्जुन 25. अचिन्तिपा 26. चम्पकपा 31. चर्पटीपा (पचरीपा) 32. भेदेपा 34. कमरिपा (कंबलपा) 36. भद्रपा 44. शान्तिपा 46. भिखनपा 47. शबरीपा 48. थगामपा 51. कुमरिपा 55. शालिपा श्रृगनीपाद? 59. नागबोधिपा 66. भलिपा 69. ककाल (कमल) या 79. माणिभद्रा (योगिनी)।[3]

नाथ परम्परावादी लोग नवनाथ के रूप में जिन देवताओं का ध्यान करते है उनके नाम हे– 1. आदिनाथ (महोदय) 2. उदयनाथ (पार्वती) 3. सत्यनाथ (ब्रह्मा) 4. सन्तोषनाथ (विष्णु) 5. अचलनाथ (पतंजलि) 6. कन्यडिनाथ (गणेश) 7. चौरंगीनाथ (चन्द्र) 8. मत्स्येन्द्रनाथ (मत्स्यावतार) 9. गोरक्षनाथ (सदाशिव)।[4]

---

1. भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं– परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ– 54 व 55
2. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन– डॉ0 ना0ना0 उपाध्याय, पृष्ठ–612
3. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृष्ठ– 10 से 11
4. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह– प्रस्तावना

नाथ परम्परा आदिनाथ से आरम्भ मानी जाती है। आदिनाथ स्वयं शिव है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में नाथ मत के प्रर्वतक आदिनाथ का उल्लेख शिव के रूप में हुआ है। 'हठयोग प्रदीपिका' में इन्हें 'सर्वेषां नाथानां प्रथम' कहा गया है। 'योगि साम्प्रदायविष्कृति' ग्रन्थ की गुरू–परम्परा से भी इसी मत की पृष्टि होती है। 'ज्ञानेश्वर चरित्र में आदिनाथ गोरक्ष एवं जालंधर के गुरू रूप में मान्य है।' गुजरात में बड़ौदा से एक मील दक्षिण पूर्व स्थित दर्भावती (डमोई) के किले में सम्भवतः इसी आदिनाथ की प्रस्तर मूर्ति नाथसिद्धों के साथ उपलब्ध है। आदिनाथ को यह मूर्ति योगिराज के रूप में मिलती है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में उल्लेख है कि स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत थे। प्रियव्रत के पुत्र आग्नीघ्र और उनकी पत्नी पूर्वचिति के संयोग से उत्पन्न नौ पुत्रों में प्रथम 'नाभि' थे। नाभि ने मेरूराज की कन्या मेरूदेवी से विवाह किया था और पुत्र की प्राप्ति हेतु उन्हें हिमालय पर तपस्या करनी पड़ी थी। तपस्या के फलस्वरूप ऋषभदेव (आदिनाथ) ने स्वयं अपने को उनके पुत्र रूप में प्रकट किया। ऋषभदेव के पुत्र कवि, हरि, अंतरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, दुर्भिल, चमस और करभज हुये, जो नवनाथ के रूप में योगि साम्प्रदायाविष्कृति ग्रंथ में गृहीत है। इन नव योगेश्वरों का वर्णन श्रीमद्भागवत–एकादश स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में उपलब्ध होता है।[1]

आगम संहिता में कहा गया है कि ईश्वर से एकादश रूद्रों का प्रादुर्भाव

1. योगवाणी– वर्ष 2, अक्टूबर– 1977, अंक–10, पृष्ठ– 24 से 25

हुआ, उनमें से 10 तो ब्रह्मचारी रहे, पर एक रूद्र ने विवाह किया जिससे बिन्दुनाथ हुए। बिन्दुनाथ ने कश्यप ऋषि की कन्या कृष्णा से विवाह किया, उनके प्रथम पुत्र आदिनाथ हुए। पराशर पद्धति में कहा गया है कि कश्यप की कन्या कृष्णा और बिन्दुनाथ के संयोग से आदिनाथ की उत्पत्ति हुई। 'चन्द्रादित्य–परमागम' में पृष्ठ 42 पर उल्लेख है कि सूर्यवंशी राजा सुधन्वा की कन्या सूर्यवती की अराधना से प्रसन्न होकर शिव ने वरदान दिया जिससे उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुई। वह पुत्र योगनाथ था। योगनाथ ने सुरति नाम की कन्या से विवाह किया दोनों के संयोग से आदिनाथ हुए। आदिनाथ से मीननाथ, सत्यनाथ, सचेतनाथ इत्यादि 16 पुत्र हुए, ये सभी योगी थे।

सुरेशचन्द्र मजूमदार ने मत्स्येन्द्रनाथ कृत 'योगविषय' ग्रन्थ के आधार पर आदिनाथ का समय 522 ई0 पूर्व होने का अनुमान किया है। इस पुस्तक में आदिनाथ को 'केजायुवीन' का निवासी बताया गया है।

'आदिनाथ' शब्द न केवल अपनी चिरकालीन अलौकिक सत्ता का आभास कराता है, अपितु 'नाथपंथ' से भी अपना सम्बन्ध जोड़ता हुआ प्रतीत होता है–

मत्स्येन्द्रनाथ :

यद्यपि नाथपंथ के आदि संस्थापक आदिनाथ (शिव) माने जाते है पर व्यक्ति रूप में इस परम्परा के प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते है। विभिन्न ग्रन्थों में इनके विविध नामों का उल्लेख मिलता है। नेपाल में अवलोकित

होने के कारण उन्हें अवलोकितेश्वर नाम से सम्बोधित किया गया।[1] मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के रूप में स्वीकार किये गये है, इस तथ्य की पुष्टि में बहुत से उल्लेख प्राप्त होते है। नेपाल का 'बज्रयोगिनी शिलालेख' भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।[2]

मत्स्येन्द्रनाथ का जीवन वृतान्त :

गोरक्षनाथ की तरह मत्स्येन्द्रनाथ के व्यक्तित्व को भी परवर्तीकाल में दिव्य और मानवी दो दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया गया है। दिव्य रूप में उन्हें शिवावतार कहा गया। उन्हें भगवती पुत्र कहकर सिद्धनाथ की संज्ञा से अभिहित किया गया।[3] कंदली मंजुनाथ महात्म्य के 14वें, 15वें अध्याय में कहा गया है कि मंजुनाथ ने स्वयं को शिशु रूप में कमल पुष्प पर अवतरित किया।[4] फैजुल्ला रचित 'गोरखविजय' एवं श्यामदास रचित मीनचेतन में एक कथा मिलती है कि निरंजन आदिनाथ और शिव की उत्पत्ति हुयी। पिता आदिनाथ ने अपने इन तीनों पुत्रों की ज्ञान परीक्षा हेतु अपने को शव में अभिव्यक्त किया। शिव परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। दह्मान शव की नाभि से मीननाथ (मत्स्येन्द्र) ललाट अथवा जय से गोरखनाथ हाड़ से हाड़िपा तथा कान से

---

1. गोरक्ष संहितो प्रथमो भाग– भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, पृष्ठ– ग
2. आदिनाथो गुरूर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरू।
   मत्स्येन्द्र तमहं बन्दे महासिद्ध जगद्‌गुरूम्।।
3. गोरख विशेषांक– वर्ष–2 जनवरी–1977, अंक–1 पृष्ठ– 91 से [illegible]
4. कंदली मंजुनाथ महात्म्य, पृष्ठ– 63, 83–119

कानफा एवम् चरंण से चौरंगीनाथ हुए।[1]

व्यक्ति रूप में भी मत्स्येन्द्रनाथ जी के जन्म व कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते है। डॉ0 श्यामसुन्दर दास ने उन्हें आसाम–निवासी महुआ जाति का होना बताया है।[2] कोल्डियर साहब द्वारा प्रकाशित 'तंत्र तालिका' में इन्हें बंगला निवासी माना गया है।[3]

मत्स्येन्द्रनाथ की रचनांए :

डॉ0 बागची द्वारा सम्पादित मत्स्येन्द्रनाथ की रचनाओं–'कौल ज्ञान निर्णय', अकुलबीर तंत्र–'ए' अकुलबीर तंत्र–'बी' 'कुलानन्द व ज्ञान कारिका में ग्रन्थकर्ता के नाम इस प्रकार है'–[4]

कौलज्ञान निर्णय– मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रनाथ, मत्स्येद्रपाद, मीनपाद।

अकुलबीर तंत्र–ए– मीनपाद

अकुलबीरतंत्र–बी– मच्छिन्द्रपाद

कुलानन्द – मत्स्येन्द्र

ज्ञानकारिका– मच्छिन्द्रनाथपाद

जोधपुर पुस्तकालय में डॉ0 सोमनाथ गुप्त की एक पुस्तक में कुछ पद मिले थे जो द्विवेदी जी को हस्तगत हो सके। द्विवेदी जी ने अपनीपुस्तक 'नाथसिद्धों' की

1. योगवाणी– वर्ष 2, अक्टूबर–1977, अंक–10, पृष्ठ– 25 से 26
2. हिन्दी साहित्य– डॉ0 श्याम सुन्दर दास, पृष्ठ– 134 व 135
3. राजगुरूयोगिवंश– सुरेशचन्द्र नाथ मजूमदार, पृष्ठ– 164
4 नाथ सम्प्रदाय– उदय व विस्तार– डॉ0 प्र0न0 जोशी, पृष्ठ– 265

बानियां में 'मच्छेन्द्रनाथ जी का पद' शीर्षक से उन्हें प्रकाशित किया है।

जालंधरनाथ :

तिब्बती ग्रंथो में जालंधर की विशिष्ट ख्याति है। तिब्बती भाषा में एकमत के अनुसार इन्हें मत्स्येन्द्रनाथ, कान्हुपा एवं तांतिपा का गुरू बताया गया हैं तो दूसरे मत के अनुसार बालनाथ हालीक पाव एवं मालीपाव गोरक्षनाथ के प्रमुख शिष्य कहे गये हैं।[1]

जालंधर का जीवन वृतान्त :

तिब्बती परम्परा के अनुसार जालंधर ब्राह्मण कुलोत्पन्न बताये जाते हैं जो कालान्तर में एक पण्डित भिक्षु बने।[2] ग्रुनवेडेल का मत है कि जालंधार घाटभूमि के एक ब्राह्मण थे। तारानाथ इन्हें कृष्णाचार्य का गुरू एवं उनका समसामयिक बताते है। 'योगिसम्प्रदाया विष्कृति' ग्रन्थ में जालंधर को ज्वालेन्द्र नाम से अभिहीत किया गया है। ज्वालेन्द्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहां कहा गया है कि हस्तिनापुर नरेश वृहद्रथ ने संतानोपत्ति की कामना से एक यज्ञ सम्पन्न कराया। अग्निदेव की प्रसन्नता के फलस्वरूप एक बालक प्रादुर्भूत हुआ जिसने मत्स्येन्द्रनाथ की प्रेरणा से शिव का शिष्यत्व ग्रहण किया। ज्वाला

1. गोरक्षनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृष्ठ– 3
2. नाथ सम्प्रदाय– डॉ0 द्विवेदी, पृष्ठ– 85 व [illegible]

(अग्नि) से उत्पन्न होने के कारण उसे ज्वालेन्द्रनाथ के नाम से संबोधित किया गया।[1] डॉ0 द्विवेदी का मत है कि जालंधर ने उड्डीयान में रहकर बौद्ध दीक्षा ली थी।[2] जालंधर पीठा एवं जालंधर जैसे नगर जालंधर नाथ की प्रभाव सिद्धि के द्योतक है।

जालंधर नाथ की रचनांए :

तिब्बती भाषा के 'तंजूर' में जालंधर कृत सात ग्रन्थों का उल्लेख है जिनमें से दो– 'विमुक्तमंजरी गीत' और 'हूंकारचित्त बिन्दु भावना क्रम' को राहुल जी ने गगही भाषा में लिखित बताया हैं सरहपाद के हेवज्रसाधन पर उनका एक टिप्पणी ग्रंथ 'शुद्धिवज्रपदीय' भी बताया जाता है।[3] जोधपुर (राजस्थान) दुर्ग में स्थिति पुस्तकालय में 'अमृत प्रयोग' नामक 8 छन्दों की संस्कृत रचना हालीकपाव के नाम से प्रचलित कर दी गयी है। इसी गुटके में 'अष्टांगमुद्रक' नामक 10 श्लोकों की रचना गोरक्ष के नाम से है। प्राच्य शोध विद्या प्रतिष्ठान जोघपुर गुटका संख्या 11648 में गोरक्ष आदि नाथ सिद्धों की रचनांए लिपिबद्ध है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियां' में 'जलांधीपावजी की सबदी' शीर्षक के अन्तर्गत कुल 13 सबदियां संग्रहीत की हैं। इन सबदियों में सदाचार पर बल दिया गया है तथा कर्मानुसार फल की प्राप्ति बतायी गयी है।

1. योगि सम्प्रदायाविष्कृति, पृष्ठ– 86 से 92
2. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली– कल्याणी मल्लिका, पृष्ठ– 77 से 79
3. नाथ सम्प्रदाय – डॉ0 द्विवेदी, पृष्ठ– [illegible]

कृष्णपाद :

कृष्णपाद को कानफा, कानिफा, कान्डुपा, कण्डपा, कण्ह तथा कणेरीपाव के नाम से जाना जाता है। इनकी अपभ्रंश रचनाओं तथा 'चर्याचर्या विनिश्चद्' के आधार पर इनका कापालिक होना सिद्ध होता है। कृष्णपाद का कापालिक मार्ग वानमार्ग के रूप में गृहीत है। वस्तुतः यह तांत्रिक बौद्धों एवं शैव नाथ योगियों की साधना पद्धतियों की सन्धि स्थली है। उन दिनों बौद्ध साधक भी शिव को अपना उपास्य मानते थे। 'मालती माधव' की बौद्ध सार्तका सौदामिनी शिव को भक्तिपूर्वक प्रणाम करती है।

कृष्णपाद का जीवन वृतान्त :

कृष्णपाद उच्च कोटि के विद्वान थे। उन्हें महाचार्य, महासिद्धाचार्य एवं उपाध्याय आदि कीपदवी से अंलकृत किया गया है। 'योगि सम्प्रदायाविष्कृति' ग्रन्थ में इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के अनियंत्रित वीर्य से बतायी गयी है। काणेरी का असली नाम आर्यदेव बताया जाता है। डॉ0 श्यामसुन्दरदास ने इन्हें बिहार प्रान्त का निवासी बताया है जो भिक्षु होने के बाद कुछ समय तक नालन्दा में रहे। ये नागार्जुन के शिष्य थे।[1] देवपाल के समय में ये एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी बिहार (पहाड़पुर, जिला–'राजशाही बंगाल) में रहा करते थे। आगे चलकर जांलधर के शिष्य हो गये।

1. हिन्दी साहित्य– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ– 136

महाराजा मानसिंह विरचित 'श्रीनाथ तीर्थावली' के अनुसार कृष्णपाद ने कलशाचल पर्वत पर तपस्या की थी। वर्तमान समय में संपेरे लोग अपनी गुरू परम्परा कानिफनाथ (कृष्णपाद) से ही मानते हैं। 'योगिसाम्प्रदायाविष्कृति' में एक कथा है कि गोरक्षनाथ ने एक विशाल भण्डारे का अयोजन किया था। उनके आदेशानुसार वहां उपस्थित जनों ने मनोवांछित भोजन प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की। कृष्णपाद के एक शिष्य ने गोरक्षनाथ की परीक्षा लेने के विचार से एक सर्प की कामना की। उसके सामने एक काला सर्प उपस्थित हुआ। उपस्थित जन समूह के भोजन करने में बाधा पहुँची। अतः उसे दण्ड के रूप में गोरक्ष ने उस सर्प को ही उस शिष्य की जीविका का माध्यम बता एक निश्चित अवधि तक के लिए योगी समाज के बहिष्कृत कर दिया था। कृष्णपाद के अनुयायी जन सर्प को अपनी जीविका का साधन बना विचरते हुए दिख पड़ते हैं।

कृष्णपाद की रचनांए :

हरप्रसाद शास्त्री ने कृष्णपाद की 57 पुस्तकों एवं 12 संकीर्तन के पदों की प्राप्ति का उल्लेख किया है। कृष्णपाद (कान्हपा) के रचित 12 पद बौद्धगान व दोहा के चर्यार्याविनिश्चय में पाये जाते है। तिब्बती ग्रन्थ 'स्तन–म्यूर' में कृष्णपाद के छः ग्रन्थ दर्शन के और 74 ग्रन्थतंत्र के संग्रहीत है। इन 74 ग्रन्थों में अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के 6 ग्रन्थ है–[1]

1. हिन्दी साहित्य और विहार– पृष्ठ–192

1–गीतिका 2– महाढुढंन 3– बसंत तिलका 4–असंबंध दृष्टि 5– बज्रगीति 6– दोहाकोश। कृष्णपाद के दोहों काएक संग्रह 'दोहाकोश' नाम से हर प्रसाद शास्त्री ने प्रकाशित कराया है। उसपर मेखला नामक संस्कृत टीका भी मिलती है।

चौरंगीनाथ :

तिब्बती मतानुसार चौरंगीनाथ दवपाल के पुत्र माने जाते है। देवपाल के पुत्र और पौत्र किसी ने शासन नहीं किया, इसका कारण चौंरगी का राज्य त्याग भी हो सकता है। पिण्डी के जैन ग्रन्थ भण्डार के उपलब्ध 'प्राणसंकली' नामक हिन्दी रचना चौरंगीनाथ की बतायी जाती है। इसके अनुसार चौंरगीनाथ शालिवाहन के पुत्र थे। विमाता के कुचक्र से पिता ने इनके हाथ पांव रहित करा दिया था। मस्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से चौंरगीनाथ पूर्णांक बनें। 'नाथसिद्धों की बानियां' में संग्रहीत चौरंगीनाथ की 'प्राण संकली' में उल्लेख है– 'मंछदनाथ गुरू हमारा, गोरषनाथ भाई।[2]

इन पक्तियो के आधार पर चौरंगीनाथ के गुरू मत्स्येन्द्रनाथ तथा गुरू भाई गोरक्षनाथ सिद्ध होते है। पंजाब पट्टी की हस्तलिखित 'प्रारंतसंकली' में चौरगी ने अपने कोसालवाहन सुत कहा है।

1. नाथसिद्धो की बानियां, पृष्ठ– 37

चौरंगीनाथ की रचनांए :

तिब्बती ग्रंथ 'स्तर म्यूर' में चौरंगीनाथ का एक हिन्दी ग्रन्थ 'वायुतत्वभावनोपदेश' उपलब्ध होता है। अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में उनकी चार छोटी–छोटी सबदियां मिलती हैं।[1] डॉ0 शिवपूजन सहाय ने पूरनमल के नाम से एक पद उद्धृत कर उनका स्थान 17वीं शताब्दी के कवियों में माना है।[2]

चर्पटनाथ :

नाथ सम्प्रदाय के अन्तर्गत चर्पट (चर्पटी) नाथ एक अन्यतम योगाचार्य एवं रस सिद्ध महात्मा के रूप में स्वीकृत है। द्विवेदी जी का अनुमान है कि चर्पटनाथ गोरक्ष के कुछ परवर्ती थे जो संभवतः रसायनवादी बौद्ध सिद्धों के दल से आकर गोरक्ष के प्रभाव क्षेत्र में सम्मिति हुए थे।[3] राहुल जी ने चर्पट को चम्पा (भागलपुर) का निवासी बँहगी बेचने वाला कहार बताया है तथा मीनपा को उनका गुरू स्वीकार किया है।

चर्पटनाथ का जीवनवृत्त :

रज्जबदास ने चर्पटी को चारणी के गर्भ से उत्पन्न होना बताया है। 'योगिसाम्पद्रायाविष्कृति' के अनुसार चर्पटी की उत्पत्ति ब्रह्मा के अनियंत्रित

1. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली, कल्याणी मल्लिका, पृष्ठ– 75
2. हिन्दी साहित्य और विहार– सं0 शिवपूजन सहाय, पृष्ठ–186
3. हिन्दी साहित्य– श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ– 136

वीर्य के रेत में स्थापित करने से हुयी। रेत में उत्पन्न वह बालक एक बेंदपाठी ब्राह्मण दम्पति सत्यशर्मा और चन्द्रिका द्वारा पालित हुआ। आगे चलकर उसने मत्स्येन्द्र का शिष्यत्व ग्रहण किया। चर्पट के शिष्यों में राघवनाथ, बालनाथ, तेटकनाथ, जाम्बुनाथ, नित्यनाथ, सारेद्रनाथ, काकुत्सनाथ एवं भैरवनाथ– इन अष्ट महासिद्धों की गणना की गयी। श्यामदास की बंगला काव्यकृति 'मीनचेतन' एवं फैजुल्ला रचित गोरखविजय में उल्लेख है कि देवी की परीक्षा में एकमात्र गोरख उत्तीर्ण हुए। देवी ने उन्हें स्त्रीरत्न प्राप्ति का वरदान दिया, पर गोरक्ष ने अपने सिद्धि के बल से 6 माह के शिशु का स्वरूप धारण कर उस स्त्री का स्तनपान करने की इच्छा प्रकट की। स्त्री की विवशता देख गोरक्ष ने उसे प्रबोधित करते हुए कहा कि तुम मेरी कौपीन (करपटी) धोकर उस जल का पान करो, तुम्हें संतान की प्राप्ति होगी। शिव की माया से उत्पन्न उस स्त्री ने वैसा ही किया और उससे उत्पन्न हुआ बालक चर्पटी (कर्पटी) नाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

चर्पटनाथ की रचनांए :

चर्पटनाथ की 59 सबदियों एवं कुछ श्लोकों का संग्रह डॉ0 द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियां' में किया है। डॉ0 मोहनसिंह ने चर्पटीनाथ के नाम से प्रचलित एक कविता अपनी पुस्तक में उद्धृत की है। इसी से मिलती–जुलती

1. योगवाणी– वर्ष 3, अप्रैल–1978 अंक–4, पृष्ठ– 26 व 27

एक अन्य प्रति उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय (की एक प्रति) से संग्रह किया है। इसी भाव की एक अन्य कविता संत सम्पूर्ण सिंह ने तरन–तारन से 'प्राणसंगली' छपायी है, जिसमें चर्पटी और गुरूनानक की बातचीत दिखायी गयी है। चर्पटी के कुछ हिन्दी पद 'योगप्रवाह' में भी संग्रहीत है।

भर्तृहरि :

भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध दो सिद्ध पुरूष हो चुके है– एक संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध भर्तृहरि तो दूसरे नाथ पंथीय परम्परा में परिगणित भर्तृहरि (राजा भरथरी)। संस्कृत साहित्य के भर्तृहरि 7वीं शताब्दी के पूर्व विद्यामान बताये जाते है। मैक्समूलर की गणना के अनुसार उनकी मृत्यु लगभग 650 वर्ष ईसा के पश्चात हुयी थी।

भर्तृहरि का जीवन वृत्त :

ऐसा माना जाता है कि भर्त्तृहरि उज्जयिनी नरेश गंधर्वसेन के पुत्र थे। गंधर्वसेन का विवाह ताम्रसेन की कन्या महेन्द्रलेखा से हुआ था। मेहन्द्रलेखा से विक्रम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ तथा गंधर्वसेन और मालिनी नाम की एक दासी के संयोग से भर्त्तृहरि की उत्पत्ति हुई।

1. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली– कल्याणी मल्लिका, पृष्ठ– 23 से 74

भर्तृहरि की रचनाएं :

'हेमाद्रि' नामक साप्ताहिक के एक लेख में भर्तृहरि को विचारनाथ के नाम से भी परिचित कराया गया है। 'महावैराग्यवाक्यम्' नामक एक संस्कृत रचना भी उनकी बतायी जाती है।[1]

प्राच्यशोध विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में गुटका संख्या 11648 में तिलोकचंद की परिचई के नाम से नाथसिद्धों की बानियां संग्रहीत की गयी है। इसी गुटके में 'भरथरी जी की महिमा के पद' शीर्षक से 20 पद संग्रहीत है। यहीं 'भरथरी जी की सबदी' के अन्तर्गत 45 सबदियां संग्रहीत है। डॉ० प्र०न० जोशी ने अपने शोध प्रबन्ध के अंत में भरथरी के नाम से 49 सबदिया संग्रहीत की है। 'शतकन्तय' संस्कृत रचना भी नाथ पंथीय भर्तृहरि की बतायी जाती है, भर्तृहरि की वैराग्य विषयक कथा को आधार बनाकर राजस्थान में अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। भरथरी रो गीत, भरथरी–गोरक्ष संवाद, भर्तृहरि वैराग्य, भरथरीनुपदेश जैसे ग्रन्थों से भर्तृहरि की वैराग्य कथा की लोकप्रियता सिद्ध होती है।

गोपीचन्द्रनाथ–

गोरखपंथ के माननाथी सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं गोपीयंत्र (सारंगी) के अविष्कर्ता गोपीचंद बंगाल के पालवंशीय शासक मणिकचन्द्र तथा भर्तृहरि की बहन मैनावती के पुत्र बताये जाते है। डॉ० मल्लिक का मत है कि पाल राजाओं

1. गोरख विशेषांक– वर्ष–2 जनवरी–1977, अंक–1 पृष्ठ– 268 से 269

के पतन युग में ही उनकी कीर्ति का यशोगान करने वाली योगी जाति भारत में गोपीचन्द्र के गीतों को गाकर भिक्षार्जन किया करती थी। डॉ० मल्लिक का अनुमान है कि यह वर्तमान कुमिल्ला (कमलांक) की राजधानी थी, यद्यपि शरतचन्द्र ने कुमिल्ला की राजधानी 'चटगावं' में बतायी है।[1] डॉ० रांगेय राघव का मत है कि 1027 ई० में पिता के मर जाने पर गोपीचन्द्र भोग में आसक्त हो गये थे। मयनामति की प्रेरणा से उन्होंने जालंधरनाथ से दीक्षा ली। माता के उपदेश से प्रभावित उन्होंने अपनी दो सुन्दर रानियों उटुना और पुटुना का त्याग कर वैराग्य धारण किया था।[2]

पंजाबी किंवदन्तियों के आधार पर उन्हें उज्जैन का राजा बताया गया है।

गोपीचन्द्र की रचनांए :

राजस्थान में गोपीचन्द्र एवं भरथरी विषयक कहानियों को आधार बनाकर अनेक गाथांए रची गयी है। प्राच्य शोध विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में 'गोपीचन्द्र भरथरी' पुस्तक राजस्थानी भाषा में लिखी गयी है। लिपिकाल संवत 1455 है। इस पुस्तक के आठ विश्रामों में गोपीचन्द्र की वैरागय विषयक कथा तथा उत्तरवत्री 240 छन्दों में भरथरी की कथा निवद्ध की गयी है। इसी

1. गोरक्षनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृष्ठ– 24
2. महाराष्ट्र के नाथ पंथीय कवियों का हिन्दी काव्य– डॉ0 अशोक प्रभाकर कामत, पृष्ठ– 39

पुस्तकालय के अन्य ग्रंथ (गुटका संवत 12592) में निवद्ध गोपीचन्द की कथा में तिलोकचन्द्र को उनका पिता तथा मैनवाती को उनकी माता बताया गया है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियां' में गोपीचन्द की सबदी, राजा–रानी संवाद एवं पदसंवाद का संग्रह किया है।

गहिनी (गैनी) नाथ तथा अमरनाथ :

गोरक्षनाथ के दो प्रसिद्ध मराठी शिष्य बताये जाते हैं– ग्रहणनाथ और अमरनाथ। गहिनी (गैनी) का वास्तविक नाम ग्रहणनाथ था। उनका जन्म सन् 1175 ई0 के आस पास बताया जाता है। डॉ0 कामत ने उनकी निवास भूमि महाराष्ट्र होने का अनुमान किया है।[1] नाथ सम्प्रदाय में मान्य पुस्तक 'योगिसाम्प्रदयाविष्कृति' में गहिनीनाथ के सम्बन्ध में अद्भुत कथांए दी गयी है। शिवदिन केसरी के शिष्य चिन्तामणि नाथ के ग्रंथ 'ज्ञान कैवल्य' में उल्लेख है कि त्रियाराज्य की साम्राज्ञी परिमला के मोहपाशा में आबद्ध मत्स्येन्द्रनाथ के उद्धार हेतु उनके शिष्य गौरवनाथ को वहां जाना पड़ा था। मत्स्येन्द्रनाथ के संयोग से उत्पन्न परमिला के पुत्र को गोरक्षनाथ ने समाप्त कर दिया और पुनः अपनी काया से सौ पुत्रों की सृष्टि कर दी। उन्होंने परिमला को यथार्थ ज्ञान का बोध कराया तथा उसके अनुनय विनय पर इनके पहले पुत्र को जीवित कर दिया। वह पहला पुत्र ही गैनी या गहिनीनाथ नाम से प्रसिद्ध हुआ। गहिनीनाथ

1. महन्त दिग्विजय नाथ स्मृति ग्रन्थ– सं0 डॉ0 भगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ– 287

की मराठी पुस्तक 'गोरक्षगीता' श्रद्धा के साथ देखी जाती है।[1]

निवृत्तिनाथ–

निवृत्तिनाथ का जन्म शक् सं0 1195 में पौठढ से चार कोस दूर गोदावरी के उत्तर तरफ "आये" गांव में हुआ था। उनके पिता विट्ठल पंत ने कुलकर्णी की कन्या रूक्मिणी से विवाह कर लेने के पश्चात् सन्यास धारण कर लिया था। कुछ दिनों बाद विट्ठल पंत को अपने गुरू श्रीपाद् स्वामी की आज्ञानुसार पुनः गृहस्त जीवन अपनाना पड़ा था। उनके तीन पुत्र–निवृत्ति, ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर), सोपान देव और एक पुत्री मुक्ताबाई की प्राप्ति श्रीपाद स्वामी के आशीर्वाद से हुयी थी। इन बालकों की शैशवावस्था बड़े संघर्षमय ढंग से व्यतीत हुयी। कहा जाता है कि अपने भ्रमण काल में एक समय निवृत्तिनाथ भटकते हुए अंजनी पर्वत की एक गुफा में जा पहुँचे, जहां गैनीनाथ जी तप कर रहे थे। निवृत्तिनाथ उनके चरणों पर गिर पड़े। उनकी श्रद्धा भक्ति से प्रभावित हो गैनीनाथ ने उनहें अपने पंथ में दीक्षित किया।[2] निवृत्तिनाथ की मराठी रचनांए 'निवृत्तिनाथचि अभंग' नाम से प्रकाशित है।

ज्ञाननाथ (संत ज्ञानेश्वर)

महाराष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ नागपंथीय कवि संत ज्ञानेश्वर का जन्म सन्

1. योगवाणी– वर्ष 1 अगस्त–1976, अंक–8, पृष्ठ–22 से 23
2. मराठी का भक्ति साहित्य– प्रो0 गो0 देश पाण्डेय, पृष्ठ–44

1275 ई0 में हुआ था।[1] उन्होंने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथ से दीक्षा ग्रहण की थी। अपने गुरूदेव के प्रति उनकी आपार निष्ठा थी। 15 वर्ष की आयु में ही (सं0 1347 वि0) उन्होंने ज्ञानेश्वरी टीका पूरी की थी। संत ज्ञानेश्वर ने अपनी मंडली निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, नरहरि, सोनार, चो,खामेला, नामदेव आदि के साथ प्रयाग, वाराणसी, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वाराका एवं गिरनार आदि तीर्थो की यात्रा से लौटने पर पण्ढरपुर में संत नामदेव ने एक विशाल उत्सव आयोजित किया। उस उत्सव में सम्मिलित होकर संत ज्ञानेश्वर आलन्दी चले गये।

ज्ञानेश्वरी (भावार्थ दीपिका) अमृतानुभव, चांगदेव, पाषष्ठी एवं कुछ फुटकर अभंग संत ज्ञानेश्वर विरचित बताये जाते हैं। 'ज्ञानेश्वरी' ज्ञान कर्म एवं भक्ति का एकत्र प्रतिपाद करने वाला आदर्श काव्य ग्रंथ है। एक तरफ यह भगवद्गीता का महाभाष्य है, तो दूसरी तरफ यह नाथ दर्शन की विरासत भी है। गीता की भांति इसमें भी 18 अध्याय है। गीता के श्लोकों को ज्ञानेश्वर ने अपनी पद्धति से स्पष्ट किया है।

1. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली– कल्याणी मल्लिका, पृष्ठ–42 व 43

नाथ परम्परामा में परिगणित कुछ अन्य सिद्ध

1. रतननाथ :

बाबा रतन हाजी गोरक्षनाथ के शिष्य एवं गूगा के गुरू माने जाते है। उन्होंने काबुल के बहुत से मुसलमानों को योगी बनाया । वे योगी अभी तक रतन हाजी के नाम से प्रसिद्ध है। गूगा को गोरक्षनाथ का शिष्य बताया जाता है, डॉ0 मल्लिक ने संभावना व्यक्त की है कि गूगा का जन्म गोरक्ष की कृपा से चौहान वंश में हुआ था। वे 1150 ई0 तक जीवित थे।[1] कर्नल टाड का मत है कि गूगा एक राजपूत थे जो मुहम्मद गजनी से (1024ई0) लडते हुए मारे गये।

'काफिर बोध' नामक रचना को डॉ0 ब्रड़थ्वाल ने रतननाथ कृत स्वीकार किया है। 'अवलिसिलूक' भी उन्हीं की बतायी जाती है। गोरखबानी में संग्रहीत सबदियों मे दो सबदियाँ रतननाथ की प्राप्त होती है।

2. नागार्जुन एवं नागनाथ :

नागार्जुन नामक एक व्यक्ति 6वीं शताब्दी में विद्यमान बताये जाते है, ये नालंदा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। इनका माध्यमिक शास्त्र उपलब्ध होता है। मेरूतुंग के जैन प्रबन्ध (प्रबन्ध चिन्तामणि) में एक कथा मिलती है कि टंक नामक पर्वत पर निवास करने वाले एक राजपूत रणसिंह की पुत्री भूपलदेवी

---

1. चारूचंद्रलेख– हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ– 5 से 7, कथामुख

और वासुकी नाग के संयोग से नागार्जुन का जन्म हुआ। वासुकि ने अपने पुत्र को समस्त औषधियों का ज्ञान कराया जिससे नागार्जुन को महा सिद्धि प्राप्त हो गयी। नागार्जुन ने अपने गुरू जैनाचार्य पादलिप्तक से गगन गामी विद्या सीखी और तत्कालीन राजा सातवाहन कीरानी चन्द्रलेखा, जो समस्त स्त्री की गुणों से सम्पन्न थी, को गगन मार्ग से लाकर सेंढी नदी के तट पर स्थापित पार्श्वनाथ के सिद्ध बिम्ब के पास ले जाता था और कोटि बेधी रस तैयार करने के लिए उसके हाथों से पारद का रस मर्दन कराता था। दीर्घकाल तक यह प्रक्रिया चलती रही। चन्द्रलेखा के दो पुत्रों ने इस रहस्य का पता कर कोटि बेधी रस की प्राप्ति हेतु नागार्जुन को कुशास्त्र के मार डाला, पर वह रस देवाधिष्ठित होने के कारण तिरोहत हो चला। जिस स्थान पर वह रस स्तम्भित हुआ था वहां स्तम्भनक नामक पार्श्वनाथ तीर्थ प्रसिद्ध हुआ।[1]

प्राच्य शोध विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में नागार्जुन के नाम से तीन सबदियां देखने को मिली थी। वे ही सबदियां जोधपुर दुर्ग स्थित पुस्तकालय में भी मिली। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसिद्धियों की बानियां' के अन्तर्गत 'नागार्जुन की सबदी' शीर्षक से दो सबदियां प्रकाशित करायी है।

3. चुणकरनाथ :

डॉ0 बड़थ्वाल ने इन्हें गोरक्षनाथ का समसामयिक और चर्पटनाथ

1. नाथसिद्धों की बानियां– डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ– 23 – भूमिका

का पूर्ववर्ती सिद्ध स्वीकार किया है।[1] जोधपुर में शोध प्रतिष्ठान में 'चौणकनाथ जी की सबदी' शीर्षक से चार सबदियां प्राप्त है। जोधपुर दुर्ग स्थित पुस्तकालय में 4 श्लोकों की एक हस्तलिखित प्रति 'चणकरनाथ वाक्यम्' संस्कृत में प्राप्त है।

4. मल्लिकानाथ :

मल्लिकानाथ को गोरक्षनाथ का शिष्य बताया जाता है। इन्हें मल्लीनाथ के नाम से भी जाना जाता है। मल्लीनाथ राव सलखा जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। पिता की मृत्यु के बाद ये अपने चाचा राव कान्हड़देव के पास रहने लगे थे। सिद्धि प्राप्ति के बाद वे विश्वनाथ नाम से प्रसिद्ध हुये, गुरू के आदेशानुसार उड्डीयान में उन्होंने एक ब्राह्मण कन्या के साथ भैरवी चक्र के अन्तर्गत शैव विवाह किया और उसका नाम मल्लिका रखा। अतः उन्हें मल्लिकानाथ के नाम से ख्याति मिली।

5. घोडा चौली :

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संभावना व्यक्त की है कि आई पंथ के प्रसिद्ध संत चौलीनाथ और घोड़ा चौली अभिन्न है। इनका समय 12वीं शताब्दी के पूर्व अनुमानित किया जा सकता है। घोड़ा चौली की सबदियों में

1. हिन्दी साहित्य– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ–137

उन्हें मंछिन्द्र दास बताया गया है। इन सबदियों में रावल पागल, वनखण्डी आई पंथ पांख (पंक), धज, गोपाल—इन पंथों की चर्चा की गयी है। डॉ0 द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानिया' में घोड़ा चौली की 16 सबदियां प्रकाशित की है।

6. बालनाथ (बालगुन्दाई)–

बालनाथ का पूरा नाम बालगोविन्द था। इनका दूसरा नाम लक्ष्मणनाथ भी बताया जाता है। आई पंथ के अनुयायी अपने नाम के अन्त में 'आई' जोड़ते है। अतः बालगुन्दाई नाम के आधार पर डॉ0 द्विवेदी इन्हें आईपंथ के अन्तर्गत मानते है। 'नाथसिद्धों की बानियां' में बालनाथ की छः सबदियां एवं कुछ अन्य रचनाएं, बाल गुन्दाई जी की सबदियां प्रकाशित है।

7. हणवन्त जी :

हणवन्त जी को धज सम्प्रदाय का प्रवर्तक बताया जाता है। इनके दो शिष्य मगरधज और विविकिधज वर्णरत्नाकर की सूची में मिलते है। इनके नाम से उपलब्ध पद कुछ हेर–फेर से कबीर के नाम से भी प्रचलित हैं। नाथसिद्धों की बानियां के अन्तर्गत हणवन्त जी पद (1) 'हणवन्त जी का सबदी' (2) 'हणवन्त जी का पद' (3) शीर्षक से प्रचलित पक्तियां संग्रहीत की गयी है।

1. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास– डॉ0 विष्णु दत्त राकेश, पृष्ठ–61

8. देवलनाथ :

डॉ0 श्यामसुन्दर दास नें बालनाथ और देवलनाथ को 13वी,14वीं शती का अनुमानित किया है।[1] डॉ0 विष्णुदत्त राकेश ने देवलनाथ को पृथ्वीनाथ और गरीबनाथ का पूववर्ती बताया है।[2] डॉ0 द्विवेदी जी ने इसकी चार सबदियां संग्रहीत की है। ये ही सबदियों जोधपुर में भी देखने को मिली थी। पुस्तक प्रकाश में गुटका सं0–3 के अन्तर्गत 'देवलनाथ के पद' शीर्षक से इनके तीन पद मिलते है।

9. गरीबनाथ :

'मुहणीत नैणसीरी ख्यात' के अनुसार धूँधलीमल्ल गरीबनाथ के गुरू ठहरते है। धूँधली मल्ल धीणोद के अजय सर पर्वत पर रहते थे। धीणोद से 12 कोस दूर लाखड़ी में गरीबनाथ ने अपना आश्रम कायम किया था। संभवतः ये सत्यनाथी शाखा के थे।

10. पृथ्वीनाथ :

पृथ्वीनाथ की रचनाओं में कबीर का नामोल्लेख हुआ है। अतः उन्हें कबीर का परवर्ती स्वीकार किया जा सकता है। जोधपुर के शोध प्रतिष्ठान में पृथवीनाथ की 13 सबदियां लिपिबद्ध है।

1. हिन्दी साहित्य– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ–137
2. उत्तर भारत के निर्गुण पंथ साहित्य का इतिहास– डॉ0 विष्णु दत्त राकेश, पृष्ठ–61

11. महीपतिनाथ :

शिवदिन केसरी की शिष्य परम्परा में महीपति नाथ का स्थान महत्वपूर्ण है। ये 'ढोलीबाबा' नाम से ग्वालियर उज्जैनी में प्रसिद्ध थे। इंदौर रियासत के श्रेष्ठ सरदार यशवन्तराव होल्कर इनसे अनुग्रहीत हुए थे। डॉ0 सुंडी ने इनके उपलब्ध हिन्दी पदों का प्रकाशन किया है।

12. साहिरोबानाथ :

साहिरोबा का जन्म गोवाराज्य के सावंतवाडी के निकट बांदा गांव में सन् 1714 ई0 में सारस्वत कुल में हुआ था। 35 वर्ष की अवस्था में किसी (गैवीनाथ) के प्रभाव में आकर ये विरक्त हुए। इनकी हिन्दी स्फुट रचनाओं में अनुभव–प्रामाण्य, गुरू भक्ति, विरक्त भाव एंव योग साधना के भाव स्पष्ट किये गये है।

13. गोपालनाथ :

गोपालनाथ घोलप औरंगावाद के निकट बाभुल गांव के निवासी थे। सतारा कोरे गांव मार्ग पर त्रिफुटी नामक ग्राम में इन्होंने मठ की स्थापना की थी।,

14. गोविन्दनाथ :

आचार्य विनय मोहन शर्मा ने गोविन्दनाथ के नाथपंथी होने की संभावना व्यक्त की है। गोविन्दनाथ के नाम से प्रचलित एक आख्यान काव्य 'गुरूनाथ मछीन्द्र' की कुछ पक्तियों को शर्मा जी ने उद्धृत किया है।

15. देवनाथ :

देवनाथ का जन्म अमरावती जिले के एलिचापुर तहसील में सुरजी अंजनीगांव में सन् 1754 में हुआ था। इनके पिता राजोपंत और भाई–व्यंकटराव निजाम राज्य के सेवक थे। आचार्य विनय मोहन शर्मा ने देवनाथ की गुरूपरम्परा इस प्रकार बतायी है– आदिनाथ–विधि (ब्रह्मदेव)–अत्रिनाथ–दंत्तात्रेय–जनार्दन–एकनाथ –नित्यानन्द – कृष्णानन्द– विसोवानन्द– मुहारनाथ– रंगनाथ–गोपालनाथ – देवनाथ मराठी संग्रह ग्रंथ 'वेदर्भकाव्य संग्रह' के अन्तर्गत देवनाथ के समस्त हिन्दी व मराठी पद प्रकाशित है।

16. दयालनाथ :

देवनाथ जी निर्वाण के उपरान्त उनके शिष्य दयालनाथ सुरजी अंजन गांव के 'देवनाथ मठ' के महन्त बनें। दयालनाथ का जन्म सन् 1788 में हुआ था। ये विदर्भ के मूर्तिजापुर के निवासी थे। इनके नाथ प्रभावित हिन्दी पद प्रकाशित है।[1]

---

1. महाराष्ट्र के नागपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य– डॉ0 कामत, पृष्ठ– [illegible]

17. **जंभनाथ (जंभो जी)–**

जम्भोजी का जन्म सं0 1568 में पीपासर (नागौर–राजस्थान) में हुआ था। ये एक सम्पन्न राजपूत परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता लोहट जी की मृत्यु (सं 1540) के पश्चात् इनकी माता हंसा देवी भी कुछ ही दिनों बाद संसार से चल बसीं। जम्भोजी ने अपनी सारी सम्पत्ति का त्यागकर 'संभराथल' नामक स्थान को अपना निवास स्थान बनाया। यहीं सं0 1542 ई0 में इन्होंने विश्नोई सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया।

18. **जसनाथ :**

जसनाथी पंथ के प्रवर्तक सिद्ध जसनाथ का जन्म 1539 वि0 में बीकानेर राज्य के कतरियासर के अधिपति जाट हम्मीर जी के यहां हुआ था। इनके बचपन का नाम जसवन्त था। 1557 ई0 में इनकी मुलाकात जंभनाथ से हुई थीं 1563 वि0 में 24 वर्ष की आयु में जसनाथ जी का स्वर्गवास हो गया।

संत जसनाथ की उपलब्ध रचनांए– 'सिंभू' तथा 'कांड़ा' प्रकाशित है, ये रचनांए कुछ विद्वानों द्वारा जसनाथ के शिष्यों की बतायी जाती है।

19. **गंभीरनाथ :**

गंभीरनाथ का जन्म 19वीं शताब्दी के चौथे चरण में काश्मीर राज्य में हुआ था। किसी नाथ योगी की सद्प्रेरणा से उनका गोरखपुर में आगमन

चतुर्थ अध्याय

मराठी संतकाव्य

चतुर्थ अध्याय

मराठी संतकाव्य

प्रस्तावना :

उत्तर में नर्मदा और दक्षिण में कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों तक के क्षेत्र को महाराष्ट्र माना जाता है। मराठी का राजनैतिक वर्चस्व देवगिरी के यादव राजाओं से प्रारंभ होता है। उसके पूर्व सातवाहनों, चालुक्य तथा राष्ट्रकूटों के शासन तक प्राकृतों तथा अपभ्रंशों का युग था। आज का प्राकृत साहित्य उपलब्ध है, वह मूलत: महाराष्ट्री प्राकृत में है। महाराष्ट्र की जनभाषा का विकास मराठी के रूप में हुआ है और 'साहित्यिक महाराष्ट्री' प्राकृतों के योग से काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त हुई है। जो साहित्य उपलब्ध है, वह महाराष्ट्र का नहीं, मानक प्राकृत का है।

4.0 मराठी संत काव्य — स्वरूप:

महाराष्ट्र के साहित्य का विकास देवगिरी के यादव राजाओं के युग से प्रारंभ होता है। यादव शासकों के काल में मराठी का पहला शिलालेख (1012) [1] ई. में मिलता है। इसके पूर्व जो शिलालेख मिले भी हैं, वे मराठी के नहीं हैं, क्योंकि उनके पूर्व अन्य राजाओं का शासन था। सातवाहन दक्षिण भारतीय होने से उनके शासनकाल में तेलगु का प्रभाव था। इसलिए मराठी का प्रारंभिक काल 12 वीं शती से ही उपलब्ध होता है। प्रारंभिक काल में मराठी में दार्शनिक रचनाएँ मिलती हैं, साथ ही कुछ (संस्कृत) रचनाओं के अनुवाद मिलते हैं। इस दृष्टि से मुकुंदराज का 'विवेकसिंधु' महत्वपूर्ण ग्रंथ है। [2] यह ग्रंथ गोरखनाथ के विचारों से प्रभावित है। इसलिए मराठी साहित्य का प्रारंभ भी नाथ सिद्धांत से ही माना जा सकता है। नाथ पंथ से वारकरी पंथ तक का साहित्य मराठी का प्रारंभिक साहित्य है, जिसमें भक्तिकाव्य की प्रधानता है। मराठी के प्राचीन साहित्य में संत काव्य की सुदीर्घ परंपरा प्रारंभ से 16 वीं शती तक मिलती है।

महाराष्ट्र में साधु–संतों की उज्ज्वल, समृद्ध एवं अखंड परंपरा के दर्शन होते हैं। इस परंपरा का प्रारंभ नाथ संप्रदाय से माना जाता है। ईसा की 12 वीं शती में नाथ संप्रदाय के गुरु गोरक्षनाथ का महाराष्ट्र में संचार हुआ। उस समय से लेकर वर्तमान काल तक महाराष्ट्र में संतों की अविच्छिन्न परंपरा दृष्टिगत होती है। नाथ, महानुभाव, दत्त, वारकरी और समर्थ आदि विभिन्न संप्रदायों में दीक्षित चक्रधर, नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि प्रमुख संतों ने लोकजीवन को प्रभावित कर महाराष्ट्र में धार्मिक एवं सामाजिक क्रांति की। महाराष्ट्र के धर्म जीवन में अध्यात्मिक अधिष्ठान निर्माण करने का कार्य मराठी संतों ने ही किया। उस समय की विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय कर उन्होंने मराठी जनता में अध्यात्मनिष्ठा मानवतावाद की एक उदार एवं प्रगतिशील विचार प्रणाली प्रतिष्ठित की।

यद्‌यपि महाराष्ट्र में समय–समय पर विभिन्न धार्मिक संप्रदाय निर्माण हुए। तथापि इनमें से अधिकांश संप्रदायों का प्रभाव अधिक काल स्थिर नहीं हो सका। इनमें से केवल वारकरी संप्रदाय ही दृढ़मूल हुआ। फलत: समस्त महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय का प्रभाव एवं प्रचार, व्यापक रूप में हुआ। इस संप्रदाय के देवता का अधिष्ठान 'पंढरपुर' महाराष्ट्र का प्रमुख धार्मिक केंद्र बना। समाज में किसी धार्मिक संप्रदाय का विकास केवल समाज की प्रवणता पर ही अधिनिष्ठित नहीं होता, अपितु राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों के प्रभाव पर भी निर्भर होता है। अत: मराठी संत–साहित्य के विकास का अध्ययन इन स्थितियों के संदर्भ में किया जाना आवश्यक हो जाता है।

4.1 मराठी संतकाव्य की पृष्ठभूमि :

राजनैतिक :

संत साहित्य के विकास का प्रारंभ सामान्यत: ईसा की 13 वीं शती से माना जाता है। [3] उस समय महाराष्ट्र में देवनागरी के यादवों की

राजसत्ता थी। विभिन्न क्षेत्रों की उत्कर्षावस्था एवं संपन्नता के कारण इस काल को महाराष्ट्र का 'सुवर्णयुग' कहा जाता था। यादवराजा रामदेवराय और उनके मंत्री हेमाद्रि कृष्णभक्त थे। परिणामत: कृष्ण के ही रूप विट्ठल की भक्ति पर आधारित वारकरी संप्रदाय का उन्होंने स्वाभाविक रूप से पुरस्कार किया। ईसा की 13 वीं शती के अंत में दक्षिण भारत के चालुक्य, क्लचुरी, यादव, होयसल, काक्तीय, पांड्य आदि राजाओं में पारस्परिक स्पर्धा निर्माण हुई। फलस्वरूप राजसत्ता शिथिल एवं दुर्बल होकर प्रांताधिकारी प्रबल हो गए। इस अवसर का लाभ उठाकर अल्लाउद्दीन और मलिक्कापुर ने दक्षिणा पथ पर आक्रमण किया। हिंदू राजा आपसी संघर्ष के कारण परधर्मीय आक्रमण का प्रतिकार नहीं कर सके। उनका सैनिकी संगठन भी दुर्बल बना था। अत: जनता में आत्मिक बल जगाकर परधर्मियों से स्वधर्म की रक्षा करने का कार्य प्रधान रूप से संतों को करना पड़ा। इन संतों ने परधर्मिय आक्रमणों से आंतकित प्रजा को भक्तिरस से प्लावित कर बड़ी सांत्वना प्रदान की।

सन 1336 ई. में दक्षिण के विजय नगर के हिंदू राज्य की स्थापना हुई [4] और वैष्णव धर्म को पुन: राजाश्रय प्राप्त हुआ। यद्‌यपि नर्मदा और कृष्णा नदियों के बीच मुसलमानों की बहमनी राजसत्ता थी, तथापि वह दक्षिण में विजयनगर के हिंदू राजाओं से और उत्तर में मुगल सम्राटों से सदैव आतंकित थी। परिणाम स्वरूप अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए बहमनी सुलतानों को अपनी हिंदू प्रजा पर निर्भर रहना पड़ा। उन्होंने हिंदुओं को सम्मान और अधिकार के पद दिए। उनकी सेना में हिंदू सैनिकों को स्थान प्राप्त हुआ। जब बहामनी राज्य खंडित हुआ तब विजापुर और अहमदनगर के सुलतानों ने मराठा सरदारों को ही प्राथमिकता दी थी। परिणामत: महाराष्ट्र में स्वराज्य के लिए अनुकूल मनोभूमि निर्माण हो गई। उसे मूर्त रूप देने का कार्य भोसला वंश के कुलदीपक महाराजा शिवाजी द्‌वारा संपन्न हुआ। शिवाजी महाराज ने 'गोब्राहमण प्रतिपालक' उपाधि

स्वीकार कर महाराष्ट्र की 7 वीं शती के मध्य में स्वराज्य की स्थापना की। इससे स्पष्ट होता है कि महाराष्ट्र इ. स. 14 वीं शती से परधर्मियों से आक्रांत होता रहा तथापि समय—समय पर हिंदू राजसत्ताओं ने मुसलमानों के आक्रमण का सफल प्रतिकार किया।

सामाजिक :

राजनीति की भाँति तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का भी संत साहित्य पर प्रभाव दिखाई देता है। उस समय समाज में जाति व्यवस्थाएँ कठोर रूप धारण कर चुकी थीं। अनेक अनिष्ट रूढ़ियों के कारण समाज जीवन का प्रवाह दूषित—सा हो गया था। समाज के उच्च वर्ग के लोग प्रेरणाशून्य एवं गतानुगतिक बने थे। निम्न जातियों का मानसिक पतन होने लगा था। जाति संस्था के कठोर प्रभाव ने सामान्य जनता को असहाय बनाया। इस सामाजिक विषमता के कारण समाज जीवन की शांतिपूर्ण व्यवस्था विचलित हो चुकी थी। मराठी संत जन—साधारण की इस दुरवस्था से करुणार्द्र हुए। उन्होंने जनसाधारण को सांत्वना देने हेतु धार्मिक आंदोलन प्रारंभ किया, जिसने सामान्य जनता को अपेक्षाकृत रूप से आकर्षित किया।

धार्मिक :

संप्रदायों का कालखंड धर्मग्लानि का माना जाता है। साधारण जनता अज्ञान, भय और स्वार्थ से प्रेरित होकर मंगलाई, जोखाई, म्हसोबा, बहिरोबा आदि ग्रामदेवताओं की उपासना करने लगी। इस धार्मिक दुरवस्था के कारण मराठी भाषा का आश्रय लेकर महानुभाव, वारकरी, दत्त, समर्थ आदि संप्रदायों का प्रचलन हुआ।

नाथ संप्रदाय में बाह्याचार और योगाभ्यास पर जोर था। महानुभाव संप्रदाय की भक्ति निवृत्ति एवं संन्यास प्रधान थी। अत: उसका स्वीकार जनता के लिए संभव नहीं हो सका। दत्त संप्रदाय में आचार धर्म को अत्यधिक महत्व दिया गया। इस संप्रदाय की अंधश्रद्धा और चमत्कार जनता में आत्मीयता नहीं निर्माण कर सके। समर्थ संप्रदाय की चतुरस्रता,

विवेक, कार्यक्षमता, धैर्य, आक्रमणशीलता, लोकसंग्रह, संगठन आदि बातें यद्‌यपि तेजस्वी एवं स्फूर्तिदायक रहीं, तथापि उनसे केवल उच्चवर्णीय ही प्रभावित हुए। उनका प्रभाव जनमानस पर नहीं हो सका। वारकरी संप्रदाय ने जनता को मानसिक दासता से मुक्त कर दिया। शास्त्रप्रामाण्य तथा जातिव्यवस्था का विरोध न करते हुए भी स्त्री शूद्रादिकों के लिए भी आत्मविश्वास का मार्ग प्रशस्त किया।

वारकरी संप्रदाय ने सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषमताएँ एवं संघर्षों को अत्यंत कुशलता से प्रभावित किया और जनता और जीवन में नया दृष्टिकोण, आश्वासन, सांत्वना, आत्मप्रतिष्ठा आदि निर्माण कर विशृंखलित, असहाय, पीड़ित समाज का पुनर्गठन किया।

साहित्यिक :

मराठी साहित्य में ज्ञानेश्वर आदि महान संतों के साथ वामन पंडित से लेकर मोरोपंत तक जिन्होंने ग्रंथ निर्मिति की उसके कारण मराठी साहित्य को संपन्नता, समृद्‌धता प्राप्त हुई। प्रारंभिक मराठी साहित्य मौखिक रूप में अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। यथा – नीतिकथा, बोधकथा, म्हणी, उखाणे आदि। तदनंतर धर्म संस्थापकों ने वर्णनचरित्र और आख्यायिकाएँ लिखीं। उस वक्त नल–दमयंती, रुक्मिणी स्वयंवर, रामायण कथा आदि सुलभ ग्रंथ रचना दिखाई देती है। मराठी साहित्य का आद्‌यकवि मुकुंदराज का 'विवेकसिंधु' ग्रंथ [5] अतिप्राचीन माना जाता है। उसके अतिरिक्त परमामृत, पवनविजय, मूलस्तंभ, पंचीकरण, गुह्यसप्तक आदि ग्रंथ भी उन्होंने लिखे। [6] उसमें 'परमामृत' ग्रंथ श्रेष्ठ माना जाता है। रामदेव राव यादव का मुख्य प्रधान हेमाद्रि पंडित ने मराठी साहित्य को प्रेरणा देते हुए नीतिबोध, चतुर्वर्गचिंतामणी, आयुर्वेद रसायण आदि ग्रंथरचना की। 12 वीं शतीं [7] में लिखे गए उस पंथ के सात महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। रुक्मिणी स्वयंवर, शिशुपालवध, एकदशस्कंध, वछाहरण, ज्ञानप्रबोध, सैहाद्रि–वर्णन और

ऋद्धिपुर वर्णन आदि। ज्ञानेश्वरजी ने ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, चांगदेव पासष्टी, अभंग और हरिपाठ आदि ग्रंथरचना की। मराठी साहित्य की दृष्टि से 'ज्ञानेश्वरी' से ही भाषा की समृद्धता हो गई। ज्ञानेश्वरजी के समकालीन संत नामदेव की 'गाथा' प्रसिद्ध है। इन संतों ने की हुई काव्य रचना का प्रमुख विषय था 'विट्ठल भक्ति'। 14 वीं शती में संत एकनाथ के साहित्यिक कार्य का महत्व सिद्ध होता है। एकनाथ ने ज्ञानेश्वरी जैसे श्रेष्ठ ग्रंथ का पाठानुसंधान किया। शुद्ध मराठी में ग्रंथ रचना करके मराठी भाषा तथा साहित्य का न केवल पुनरूज्जीवन किया अपितु उसके विकास का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी रचनाएँ हैं — चतु:श्लोकी भागवत, एकनाथी भागवत, रुक्मिणी स्वयंवर, भावार्थ रामायण आदि। साथ ही अभंग, भारुड, पद ऐसी अनेक छोटी—मोटी रचनाएँ कीं। इसी कालांतर्गत तुकारामजी की ग्रंथसंपदा भी दिखाई देती है। 'तुकारामांच्या अभंगाची गाथा' प्रसिद्ध ग्रंथ है। 15 वीं शती में समर्थ रामदास ने दासबोध, करुणाष्टके, चौदा ओवीशते, लघुरामायण, मनाचे श्लोक, करुणाष्टके तथा लघुकाव्य आदि ग्रंथरचना की। इन महत्वपूर्ण संतों ने मराठी साहित्य को संपन्न करने में योगदान दिया।

4.2 मराठी संत काव्य की परंपरा :

प्रस्तावना :—

महाराष्ट्र के समाज जीवन में आध्यात्मिक एवं धार्मिक जागृति बनाए रखने में तथा उसे विकसित करने में महाराष्ट्र में समय—समय पर निर्मित विविध संप्रदायों का बड़ा हाथ रहा है। यहाँ के संतों ने संप्रदायों के भीतर रहते हुए भी मराठी जनता में अध्यात्मनिष्ठ मानवतावाद की एक उदार एवं प्रगतिशील विचारधारा प्रतिष्ठित कर दी। महाराष्ट्र में विविध धर्मों तथा संप्रदायों का प्रचार हुआ। इन संप्रदायों ने विशिष्ट स्थिति तथा विशिष्ट समय में यहाँ की जनता को प्रभावित किया। परंतु अनेक कारणों से उसका प्रभाव मराठी जनता पर अंत तक नहीं रह सका। केवल 'वारकरी संप्रदाय'

जैसे सर्वव्यापक धर्म संप्रदाय का प्रभाव यहाँ की जनता पर प्रचुर मात्रा में रहा। अत: उसे महाराष्ट्र का प्रतिनिधि धर्म संप्रदाय माना जाता है। अन्य धर्मों, पंथों तथा संप्रदायों का प्रचलन यहाँ न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है। महाराष्ट्र के प्रचलित धर्म संप्रदायों में प्रमुख हैं — नाथ संप्रदाय, महानुभाव संप्रदाय, वारकरी संप्रदाय, दत्त संप्रदाय, समर्थ संप्रदाय।

4.2.1 नाथ संप्रदाय

• **स्वरूप :—** भारत के अन्य प्रांतों की भाँति महाराष्ट्र में भी नाथ—संप्रदाय को काफी मान्यता मिली। महाराष्ट्र में इस पंथ का प्रचलन ज्ञानेश्वर के अर्थात ईसा की तेरहवीं शताब्दी के पूर्व से था। परंतु इसका वास्तविक संचार कब हुआ, इसके बारे में मतभेद है। मराठी के प्रथम ग्रंथ 'विवेकसिंधु' के रचनाकार मुकुंदराय नाथपंथी के अनुसार 12वीं शताब्दी के पूर्व यह संप्रदाय महाराष्ट्र में प्रतिष्ठा पा चुका होगा। तथापि इस संप्रदाय का संचार 12वीं शताब्दी से निर्धारित किया जाता है।

यदि गोरखनाथ के द्वारा महाराष्ट्र में नाथ मत प्रचलित हुआ है, तो उसका समय ईसा की 10 वीं और 11वीं शताब्दी हो सकता है। मराठी के प्रसिद्ध अनुसंधान कर्ता डॉ. रा. चिं. ढेरे महाराष्ट्र में इस पंथ की अविछिन्न परंपरा का वास्तविक श्रेय गोरखनाथ के शिष्य गहिनी अथवा गैनीनाथ को देते हैं।

नाथ संप्रदाय के लोगों को साधारणत: नाथ, जोगी, दर्शनी तथा कनफटा कहा जाता है। 'नाथ' शब्द के बारे में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है — 'ना' का अर्थ अनादि, सम 'थ' का अर्थ है अनादि धर्म, जो भुवनत्रय स्थिति का कारण है। [8] श्री गोरखनाथ को इसी कारण नाथ कहा जाता है। फिर 'ना' शब्द का अर्थ नादब्रह्म, जो मोक्षदान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना। 'थ' का अर्थ है अज्ञात के सामर्थ्य को स्थगित करानेवाला,

चूँकी नाथ के आश्रयण से इस ज्ञात ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञात की माया अवरुद्ध होती है, इसलिए 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है।

इन्हें जोगी इसलिए कहा जाता है कि ये लोग हठयोग की साधना करते हैं और दर्शनी इसलिए कहा जाता है कि ये कानों में भारी कुंडल धारण करते हैं। इनके कान फटे हुए होते हैं इसलिए ये कनफटे भी कहलाते हैं।

• **परंपरा :–** नौ नाथों के नाम भी नाथ संप्रदाय की सभी परंपराओं में एक–से नहीं हैं। किंतु सभी परंपराओं में आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालंधरनाथ, गोरखनाथ आदि के नाम समान रूप से पाए जाते हैं। संप्रदाय पर गोरखनाथ और गुरु मत्स्येंद्रनाथ का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है।

चौऱ्यांसी सिद्धों के नामों में भी एकरूपता नहीं दिखाई देती। कहीं तो उनकी संख्या भी पूरी नहीं हो पाती। ये नाम अनेक परंपराओं के सिद्ध, गुरु 'आदि' के नामों का एक सम्मिलित रूप है।

• **दार्शनिक चिंतन :–** गोरखनाथ की चिंतन परंपरा कश्मीरी शैव संप्रदाय से प्रभावित रही है। शिव–शक्ति के सामरस्य का विचार नाथ संप्रदाय में कश्मीरी शैव संप्रदाय से ही आया है। कश्मीरी शैव संप्रदाय का चिंतन सार इस प्रकार है– इंद्रिय गोचर, अनंत चेतन, अचेतन पदार्थों से व्याप्त इस विश्व के अविर्भाव के 'पूर्व सत्य' ही एकमात्र अद्‌वितीय तत्व है। इसी सत्य में शिव और शक्ति का सामरस्यात्मक अद्‌वैत समाया हुआ है। नाथ संप्रदाय इन्हीं विचारों से प्रभावित है। गोरखनाथ के अनुसार आदिनाथ शक्तियुक्त शिव है। वही अंतिम सत्य है। शक्ति, शिव से भिन्न नहीं है तो तत्वरूप में स्थित है। शिवशक्ति के परस्पर संबंध में गोरखनाथ का कथन है कि जिस प्रकार चंद्रमा से चाँदनी अभिन्न है, वैसे ही शिव–शक्ति अभिन्न हैं। शक्ति विश्वरूप में व्यक्त होती है। वास्तव में शिव ही विश्व का निर्माणकर्ता, नियंत्रक तथा संहारकर्ता होता है। जब शक्ति अव्यक्त होती

है, तब शिव शुद्‌ध, स्वयंप्रकाश, अद्‌वय स्वरूप होता है। शक्ति का व्यक्त रूप जब पूर्णत्व को प्राप्त करता है , तब उसका शिव के साथ ऐक्य भी पूर्ण रूप से प्रकट होता है। शिवशक्ति की एकरूपता का अनुभव लेने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है। ब्रह्मांड को व्याप्त करनेवाली यह शक्ति मानव शरीर में कुंडलिनी में स्थित है। 'जो पिंड में है वह ब्रह्मांड में है।'

पिंडयुक्त ब्रह्मांड, भले ही वह व्यक्त है, अव्यक्त शक्ति से भिन्न नहीं है। अर्थात ब्रह्मांड शिवस्वरूप है, शिव से भिन्न नहीं है। कुंडलिनी जागरण के लिए योग साधना करनी पड़ती है। मंत्र, हठ, लय एवं राज आदि चार योगों के द्‌वारा कुंडलिनी जागृति हो सकती है। यह कुंडलिनी शक्ति मानव के शरीर में सुप्तावस्था में विद्‌यमान रहती है। मानवी मस्तिष्क में स्थित सहस्राकार चक्रों को भेदकर मस्तिष्क तक पहुँचती है, तभी साधक समाधि एवं परमानंद की प्राप्ति कर लेता है।

• **साहित्य :—** नाथ संप्रदाय के कुछ ग्रंथ संस्कृत में हैं, कुछ अपभ्रंश प्रभावित हिंदी भाषा में लिखे गए हैं। सामान्य लोगों की समझ में आने की दृष्टि से सिद्‌धांत और साधना पद्‌धति में नाथ संप्रदायियों द्‌वारा लोक—भाषा हिंदी का प्रयोग निश्चय एक क्रांतिकारी प्रयास है। 'सिद्‌धसिद्‌धांत पद्‌धति' और उसका आधार बनाकर लिखे दो ग्रंथ 'सिद्‌ध सिद्‌धांत संग्रह' और 'गोरख सिद्‌धांत संग्रह' संप्रदाय के प्रमाण ग्रंथ हैं।

गोरखनाथ ने साधारण लोगों के लिए लोकभाषा में भी ग्रंथ लिखे हैं। उनकी ग्रंथसंपदा इस प्रकार है— अमनस्क, अमरौध, शासनम्, अवधूत गीता, गोरक्षकला, गोरक्ष कौमुदी, गोरक्षगीत, गोरक्ष चिकित्सा, महार्थ मंजिरी आदि। इन संस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त हिंदी में चालीस ग्रंथों की रचना गोरखनाथ के नामपर कही जाती है। इन ग्रंथों का संपादन डॉ. पितांबर दत्त बडथवाल ने 'गोरखबानो' में किया है।

मत्स्येंद्रनाथ की ग्रंथ संपदा इस प्रकार है — कौल ज्ञान निर्णय, अकुलवीर तंत्र, दो पोथियाँ — ए एवंबी, कुलानंद आदि। ज्ञान कारिका, इनका प्रमुख ग्रंथ है। डॉ. कल्याणी मलिक ने 'सिद्धसिद्धांत पद्धति' के साथ 33 छंदों का एक संग्रह और 'मत्स्येंद्रनाथ का पद' आदि संपादित किए हैं।

- **अन्य विशेषताएँ :—**

- नाथ संपद्राय के साधक की वेशभूषा है — कानों में कुंडल, धंधारी, रूद्राक्षमाला किंकरी, मेखला, जनेऊ, सिंगी, कंथा, दंडा, खापरी एवं आधारी ।
- आचरण में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि दस यम तथा दान, तप, पूजन, सिद्धांत श्रवणादि दस नियमों का पालन।
- योग मार्ग का पुरस्कार, हठयोग का आग्रह।
- वर्णाश्रम, धर्म, रूढ़ि, परंपरा, कर्मठता, तीर्थयात्रा आदि आचारों का विरोध।
- अद्वैत — द्वैत के संघर्ष से ऊपर उठकर अपना समन्वयात्मक दृष्टिकोन विकसित करते हुए ईश्वराद्वैत तत्वज्ञान प्रचारित।
- साधना के लिए उपदेश एवं प्रचार—प्रसार के लिए लोकभाषाओं का माध्यम के रूप में प्रयोग नाथ—संप्रदाय की एक महत्वपूर्ण देन है।
- स्त्री—शूद्रादि भेद विरहित समस्त मानव जाति के लिए, मानव—मात्र के लिए 'धर्मसाधना' के मार्ग को मुक्त करने का श्रेय भी नाथ संप्रदाय का ही है।

- **प्रभावक्षीणता के कारण :—**

इस संप्रदाय की योग साधना सहज और सामान्यों के अनुकूल नहीं थी। ब्रह्मचर्य का पालन साधकों के लिए कठिन था। इसलिए नाथ संप्रदाय का प्रभाव क्षीण होता गया।

महानुभाव संप्रदाय

▪ **स्वरूप :—** महाराष्ट्र में नाथ—मत वारकरी—मत में विलीन हो रहा था, उसी समय ईसा की 13वीं शताब्दी में स्वामी चक्रधर द्वारा महानुभाव पंथ का उदय हो रहा था। इसे महानुभाव के अतिरिक्त मानभाव, महात्मा अच्युत, जयकृष्णी भटमार्ग, परमार्ग आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

महानुभाव संप्रदाय ने नाथों के ज्ञान को अपनाया लेकिन ज्ञान से अधिक भक्ति को महत्वपूर्ण माना।

संप्रदाय को निरंजन माधव के कालखंड में 'महानुभाव' अभिधान प्राप्त हुआ। 'इस संप्रदाय को 'महात्मा' भी कहा जाता है। 'अच्युत पंथ', 'जयकृष्णी पंथ' आदि नाम भी प्रचलित रहे हैं। 'जयकृष्णी पंथ' नाम पंजाब में प्रचलित रहा है। नागदेवाचार्य 'भटोबास' नाम से परिचित थे। उनके सांप्रदायिक प्रभाव के कारण यह 'भट पंथ' भी कहलाता है। संप्रदाय के आधार पर इसका नाम 'परममार्ग' भी था ऐसा अनुमान विद्वानों ने लगाया है।

▪ **परंपरा :—** महानुभाव संप्रदाय में चार अवतारों की कल्पना स्वीकृत है। यथा कृतयुग में हंसावतार, त्रेतायुग में दत्तावतार, द्वापर युग में श्रीकृष्णावतार तथा कलियुग में श्री चक्रधर।

महानुभाव संप्रदाय की 'पंचकृष्ण संकल्पना' भी एक विशिष्ट संकल्पना है। जीवों की मुक्ति के हेतु परमेश्वर के सगुण अवतारों की संकल्पना इस संप्रदाय में प्रतिपादित की गई है। इसी क्रम से 'पंच—परमेश्वर' के नाम दिए गए हैं। इन पंचकृष्णों में संप्रदाय के आदि दैवत हैं — श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण के विषय में सर्वात्मभाव इस संप्रदाय में विद्यमान है। पंचकृष्ण का दूसरा अवतार है — दत्तात्रेय का। इस संप्रदाय के दत्तात्रेय 'एकमुखी' एवं चतुर्भुजाओं से मंडित हैं। 'चांगदेव चक्रपाणि' ये तीसरे अवतार हैं। पंचकृष्णों में चौथा अवतार है श्री गोविंद प्रभु का।

महानुभाव संप्रदाय के पाँचवें कृष्ण उसके संस्थापक चक्रधर स्वामी हैं। अवतारों के संबंध में महानुभाव संप्रदाय की मान्यता है कि वे तीन प्रकार के हैं —

- परदृष्यावतार — जिसमें मात्र पराशक्ति का स्वीकार किया है।
- अवरदृष्यावतार — जिसमें केवल आदिशक्ति का स्वीकार किया है।
- उभयदृष्यावतार — परा—अवर दोनों शक्तियों का स्वीकार है। उदा. श्रीकृष्ण, दत्तात्रेय, श्री चक्रधर। कतिपय प्रसंगों में दोनों शक्तियों का स्वीकार करने के बाद भी एक शक्ति का संकेत किया जाता है, तो वह 'आच्छादनीय अवतार' कहलाता है, जैसे कि श्री चक्रपाणि।

इन अवतारों के अतिरिक्त और तीन अवतार भी प्राप्त होते हैं। यथा

- गर्भावतार — माता के गर्भ से जन्म लेनेवाला 'गर्भावतार' उदा. श्रीकृष्णावतार।
- दवडण्याचा — माता के गर्भ से दूर करने अर्थात दूर हटाने का अवतार। उदा. गोविंद प्रभु।
- पतितावतार — किसी मृत व्यक्ति के शरीर में प्रवेश करके लिया हुआ अवतार — पतितावतार उदा. श्री चक्रधर।

श्री चक्रधर के निर्वाण के पश्चात संप्रदाय में चार प्रमुख आचार्य हुए— नागदेवाचार्य, बाई देवबास, कवीश्वरबास तथा परशराम बास।

- **दार्शनिक चिंतन :—** श्री चक्रधर स्वामी ने रामानुजाचार्य का चिंतन 'विशिष्टाद्वैत' और निंबार्काचार्य का चिंतन द्वैताद्वैत इन दो प्रणालियों से भिन्न 'द्वैत' चिंतन प्रणाली का स्वीकार और प्रचार किया। द्वैत चिंतन का केंद्रीय विचार है कि जगत यथार्थ है। जीवात्मा और परमात्मा में भेद है।

श्री चक्रधर के द्वैतवादी चिंतन में जीव, माया, प्रपंच एवं परमेश्वर इन चारों को स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। ये चारों पदार्थ स्वतंत्र हैं,

अनादि अनंत हैं। किन्हीं दो पदार्थों का पूर्ण ऐक्य संभव नहीं है। इन चार पदार्थों को अनादि मानते हैं।

जीव मूलत: स्फटिक सदृश शुभ्र है, किंतु अन्यथा ज्ञान के कारण वह काला हो जाता है। अविद्या छेदन से 'पांच पिशी' — अनादि, अविद्या, अन्यथा, ज्ञान, जीवत्व एवं मल नष्ट हो जाते हैं।

परमेश्वर को सृष्टि रचना की वासना हो जाती है, तो माया जीवों को चेतना प्रदान करती है, सृष्टि रचना का आरंभ करती है। माया के पाँच नाम हैं — चैतन्य, माया, विदेह, परा एवं शक्ति। वह जीवों को मोह लेती है, उसमें अन्यथा ज्ञान निर्माण करती है इसलिए 'माया' है। वह विदेह है, परा है, वह ईश्वर की 'आद्यशक्ति' है, स्थूल, सूक्ष्म प्रपंच की कारण है।

महानुभाव चिंतन के अनुसार पंचमहाभूत, सत्व, रज, तम त्रिगुण से प्रपंच विस्तार है। कारण रूप प्रपंच एवं कार्यरूप प्रपंच आदि प्रपंच के दो रूप हैं। कारण रूप प्रपंच अव्यक्त है, कार्यरूप प्रपंच के संहार के बाद भी मायारूप में इसका अस्तित्व बना रहता है। कार्यरूप प्रपंच व्यक्त है, संहार के प्रसंग में यह नष्ट हो जाता है।

माया और ईश्वर को मिलाकर परमेश्वर बनता है। वह सत्, चित् और आनंद लक्षणों से युक्त है। शंकर वेदांत में भी ये तीनों लक्षण एक ही ब्रहमा के लक्षण हैं। ब्रह्म उसका अंतिम सत्य रूप है। ईश्वर को ब्रहमा का सोपाधिक रूप मानकर गौण स्थान दिया गया है। महानुभाव चिंतन में परमेश्वर को अंतिम सत्य मानते हुए 'ब्रह्म' को गौणत्व दिया है।

महानुभाव संप्रदाय की यही मान्यता है कि प्रेमभक्ति का मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है। भक्ति से ईश्वर प्राप्ति होने पर आनंद के विचार से भक्त भी ईश्वर समान बनता है। महानुभावों के द्वैत प्रधान चिंतन से यह स्पष्ट होता है कि श्री चक्रधर स्वामी ने शास्त्रों का गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन किया था।

▪ **साहित्य :—** महानुभाव संप्रदाय का साहित्य विपुल एवं वैविध्यपूर्ण है। संप्रदाय में पवित्र माने गए सात ग्रंथ हैं —

दामोदर पंडित का 'वछाहरण' (वस्त्रहरण) / नरेंद्र का 'रुक्मिणी स्वयंवर' / भास्कर भट्ट बोरीकर का 'शिशुपाल वध' और उद्‌धव गीता / पं. विश्वनाथ बालापूरकर का 'ज्ञान प्रबोध' / खलोबास कृत 'सैह्याद्री वर्णन' / नारोव्यास बहालिए का 'ऋद्‌धिपुर वर्णन आदि।

▪ **अन्य विशेषताएँ :—**

◦ मानस में विकार उत्पन्न करनेवाली सारी वस्तुओं का त्याग करने और काले कपड़े पहनने की परंपरा।

◦ इस में विशिष्ट आचरण पद्‌धति का निर्धारण । आचार धर्म संन्यासपरक वृत्ति से निर्मित।

◦ परमेश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति का आग्रह इस संप्रदाय की विशेषता।

◦ इस संप्रदाय ने सनातन वैदिक धर्म को समन्वयात्मक एवं सामावेश बुद्‌धि से स्वीकार कर अपना विकास किया।

◦ अपने विचारों को जनमानस तक पहुँचाने के लिए मराठी का पुरस्कार।

◦ वैदिक धर्म में विद्‌यमान चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बनाए रखी।

• **प्रभावक्षीणता के कारण :—**

इस संप्रदाय में सांप्रदायिकों के लिए इतना नियमन था कि एक नया कर्मकांड ही अस्तित्व में आया। इस कारण संप्रदाय का प्रभाव धीरे—धीरे क्षीण होता गया।

वारकरी संप्रदाय

• **स्वरूप :—** महाराष्ट्र की धर्म परंपरा में भागवत मतानुयायी वारकरी संप्रदाय एक विशिष्ट संप्रदाय है। इस संप्रदाय ने समाज के उदात्तीकरण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वारकरी संप्रदाय — महाराष्ट्र के संतों का भागवत धर्म है। वैदिक धर्म का यह विकसित रूप है।

वारकरी को 'माळकरी' नाम से भी अभिहित किया जाता है। गले में तुलसी की माला पहनना इस संप्रदाय का एक चिह्न है। परंतु आज यह संप्रदाय 'वारकरी' नाम से प्रख्यात है।

'वारकरी' शब्द की व्युत्पत्ति — वारी करनेवाला इस रूप में की जाती है।[9] आषाढ, कार्तिक, माघ एवं चैत्र मास की शुक्ल एकादशी —ग्यारस को जो नियमत: पंढरपुर जाकर विठोबा —पांडुरंग के दर्शन करता है, वह पंढरपुर का वारकरी है। उसकी उपासना का जो मार्ग है वह वारकरी संप्रदाय है। वारी— शब्द का अर्थ है बार—बार चक्कर लगाना। इसी अर्थ में वारकरी शब्द इस संप्रदाय के लिए रूढ़ हो गया।

▪ **परंपरा :—** ज्ञानेश्वर ने इस संप्रदाय की नींव डाली और गठन किया है। फिर भी इस संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक के रूप में भक्त पुंडलिक को ही माना जाता है, क्यों कि पुंडलिक के कारण ही पांडुरंग—विट्ठल पंढरपुर में आए और कमर पर हाथ रखकर पुंडलिक द्वारा दी गई ईंटपर युगों से खड़े रहे हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह मूर्ति कन्नड से आई है।

डॉ. ट्रंप के अनुसार 'विट्ठल' की व्युत्पत्ति है — विष्ट —वीठल—विट्ठल है। इसका अर्थ है — दूर। इसका अर्थ है विट्ठल—मत पंढरपुर में दूर से लाया गया है।[10]

संप्रदाय का आरंभ पुंडलिक से ही माना जाता है। इस संप्रदाय की ऐतिहासिक परंपरा का विकास पाँच खंडों में हुआ है।

- ज्ञानेश्वर पूर्व पुंडलिक का कालखंड
- ज्ञानेश्वर एवं नामदेव का कालखंड
- संत भानुदास, एकनाथ का कालखंड
- संत तुकाराम का कालखंड
- संत तुकाराम के बाद लगभग 300—350 वर्षों का कालखंड।

▪ **दार्शनिक चिंतन :—** संत ज्ञानेश्वर की ग्रंथरचना में जीव, जगत और जगदीश्वर के विषय में अभिव्यक्त दार्शनिक चिंतन और परमतत्व की प्राप्ति के लिए बताया गया साधना मार्ग ही वारकरी संप्रदाय के लिए आधार बना है। संत ज्ञानेश्वर के चिंतन का मुख्य आधार उपनिषद है। उनके चिंतन में शास्त्रनिष्ठा तथा आत्मनिष्ठा का समन्वय परिलक्षित होता है। ज्ञानेश्वर के चिंतन में नाथ और भागवत संप्रदाय का चिंतन एकीकृत हो गया है। शंकराचार्य के अद्वैत चिंतन को आधारभूत मानकर गीता के आधार पर संत ज्ञानेश्वर ने चिन्मय परब्रह्म को सर्वजन सुलभ कर दिया। उनके अनुसार विश्व का नानाविध रूपात्म माया क्रीड़ा है, मिथ्या भास है। विश्व का नानारूपत्व चिद्वस्तु की एक क्रीड़ा है। यह भौतिक विश्व अविद्या के कारण ही परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है। अविद्या का परदा हटते ही दोनों की अभिन्नता स्पष्ट हो जाती है। संत ज्ञानेश्वर ने मायावाद और स्फूर्तिवाद का समन्वय स्थापित किया है। अज्ञात के कारण जिसका अस्तित्व अनुभूत होता है — वह है प्रकृति। उसके दो रूप हैं— परा और अपरा। परा प्रकृति जीव है और अपरा प्रकृति जगत है। संकल्प — विकल्प के कारण जीव अपने आपको परमात्मा रूप से भिन्न मानता है और संकल्प — विकल्प समाप्त होने पर परमात्म स्वरूप हो जाता है। प्रकृति, माया के कारण परमात्मा पर होनेवाली भ्रांति है। भ्रांति नष्ट होते ही जीव परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है। परमात्मा के पुरुषत्व के लिए प्रकृति ही कारण है, वह कर्त्री है। ज्ञानेश्वर प्रकृति—पुरुष के द्वैत का खंडन कर उसका अद्वैत सिद्ध करते हैं। इस संप्रदाय का दार्शनिक चिंतन कर्मयोग और भक्तियोग पर आधारित है।

▪ **साहित्य :—** वारकरी संप्रदाय में संत ज्ञानेश्वर के चार ग्रंथों को ही संप्रदाय के आधार ग्रंथ माना जाता है —

◦ ज्ञानेश्वरी — श्रीमद्भगवत् गीता की प्राकृत में की गई टीका है।

◦ अमृतानुभव — वेदांत का सार इसका प्रतिपाद्‌य है।

◦ चांगदेव पासष्टी — योगी चांगदेव को 'तत्वमसि' महावाक्य का बोध कराने के उद्‌देश्य से यह ग्रंथ निर्मित हुआ है। ज्ञानेश्वरजी ने इस ग्रंथ के द्‌वारा चिद्‌विलास या स्फूर्तिवाद की स्थापना की है।

◦ अभंगवाणी — इसमें एक आर्त भक्त के अंत:करण में विद्‌यमान उत्कट भावोंका अविष्कार हुआ है।

वारकरी संप्रदाय के अन्य संतों की ग्रंथसंपदा

◦ संत एकनाथ — चतु:श्लोकी भागवत, रुक्मिणी स्वंयवर, एकनाथी भागवत, भावार्थ रामायण।

◦ संत नामदेव — 'संत नामदेव की पदावली'।

◦ संत तुकाराम — 'तुकाराम की अभंग गाथा'

• **अन्य विशेषताएँ :—**

◦ नाम महिमा इस संप्रदाय की भक्ति का केंद्रबिंदु है।

◦ 'रामकृष्ण हरी' मंत्र का उद्‌घोष वारकरी संप्रदाय का प्रमुख आचार है।

◦ इस संप्रदाय की आचार संहिता है — सच बोलना, परस्त्री को रुक्मिणी के अनुसार मानना, हिंसा न करना, आषाढी कार्तिकी को पंढरपुर की वारी करना, एकादशी का व्रत रखना, रामकृष्ण हरी मंत्र का जप करना, गोपीचंद की मुद्रा धारण करना, मस्तक पर अबीर लगाना आदि।

◦ इस संप्रदाय ने लोकभाषा और लोकसाहित्य के रूपों का प्रयोग किया है।

◦ स्त्री—पुरुष समानता और सामाजिक एकता की दृष्टि से संप्रदाय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

• **लोकप्रियता के कारण :—** ज्ञानेश्वर की नीतिमिमांसा का आध्यात्मिक आधिष्ठान समाज जीवन के लिए पोषक ही सिद्‌ध हुआ। वारकरी संप्रदाय ने महाराष्ट्र के धार्मिक—राजनीतिक अराजकता के कालखंड में स्फूर्ति देने

का कार्य किया। संतों के द्वारा प्रदीप्त स्वधर्म निष्ठा के कारण ही आज भी 'वारकरी संप्रदाय' अपना अस्तित्व बनाए हुए है ।

दत्त संप्रदाय

▪ **स्वरूप :—**

नाथ और महानुभाव संपद्रायों से श्री दत्तात्रेय की उपासना होती रही है। महाराष्ट्र में इसका सांप्रदायिक स्वरूप ईसा की 14 वीं शताब्दी में नरसिंह के अवतार कार्य से प्रकट हुआ है। सामान्यतया दत्तात्रेय का जन्मदिन मार्गशीर्ष पौर्णिमा को प्रदोष काल में संपन्न किया जाता है। सन 1000 ई. या उससे कुछ समय पहले विविध उपनिषदों में दत्तात्रेय का उल्लेख है। इस उल्लेख से दत्तात्रेय विषयक निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

- दत्तात्रेय अत्रि और अनुसूया के पुत्र हैं।
- अत्रि की तपश्चर्या से प्रसन्न होकर विष्णु ने दत्त रूप में उनके यहाँ पुत्र के रूप में जन्म लिया।
- दत्त, विष्णुरूप हैं इसलिए वह चतुर्भुज एवं एकमुख हैं।
- विष्णु स्वरूप होते हुए भी मुक्त रूप में विहार करनेवाले अवधूत योगी हैं।
- वह योग मार्ग का पुरस्कर्ता, उपदेशकर्ता हैं इसलिए सर्वोच्च स्थान अर्थात गुरुस्थान में विद्‌यमान हैं।

▪ **परंपरा :—** दत्त संपद्राय का प्रवर्तन श्री नरसिंह सरस्वती ने किया। उपासना मार्ग का प्रतिपादन करनेवाले प्रमुख सांप्रदायिक ग्रंथ के रूप में 'गुरुचरित्र' का निर्माण हुआ और इस प्रकार श्री दत्तात्रेय की उपासना को केंद्र बनाकर 'दत्त संप्रदाय' अस्तित्व में आया।

दत्त संप्रदाय के भावुक भक्त दत्तात्रेय के सोलह अवतार मानते हैं — जिनमें से प्रथम दो हैं — श्रीपाद श्री वल्लभ और नरसिंह

सरस्वती। इन सोलह अवतारों के अलावा दासोपंत, अक्कलकोट स्वामी महाराज, माणिक प्रभु आदि उपासकों के अवतारों की गणना की जाती है।

श्रीमद्‌भागवत के एकादश स्कंध में वर्णित दत्तात्रेय के 24 गुरु दत्त संप्रदाय में मान्य रहे हैं। दत्तात्रेय के शिष्यों में सहस्रार्जुन, कार्तवीर्य, भार्गव, परशुराम, यदु, अलर्क, अयु एवं प्रह्लाद आदि पुराणांतर वर्णित शिष्य हैं।

• **दार्शनिक चिंतन :—** दत्त संप्रदाय अद्‌वैत वेदांत का अनुसरण करता है। दत्त प्रबोधन ग्रंथ में दत्त—अनसूया संवाद के रूप में जीव, जगत् एवं ईश्वर के विचार प्रतिपादित हैं। अनसूया के ब्रह्म विषयक प्रश्न का उत्तर दत्तात्रेय ने दिया है, — ब्रह्म, अखिल, अभंग, निरूपाधिक कार्य करनेपर भी अकर्ता, भोग भोगकर भी अभोक्ता, शुद्‌ध शांतनिर्गुण निरामय, नि:संग नित्यानंद और गोचर ब्रह्मांड का निर्माता होता है वह इंद्रिय प्रेरक जगद्‌रूप में व्याप्त एवं ज्ञानगम्य है। प्रकृति के संबंध में कहा गया है कि परमात्मा अभिन्न इच्छा, शक्तिरूपा प्रकृति है। उससे त्रिगुणात्मक माया, भूतसृष्टि और तीनों लोक उत्पन्न हैं।

जीव के संबंध में कहा गया है कि जीव, परब्रह्म रूप है। परंतु भिन्न देह धारण करने के कारण भिन्न—भिन्न भासित होता है। ईश्वर के विषय में कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ईश्वर के अनेक रूप हैं, किंतु ये एक ही ईश्वर के रूप हैं। ईश्वर केवल चैतन्यरूप है। वह किसी को दिखाई नहीं देता। विचारपूर्वक अहंभाव का त्याग करने पर जो शेष रहता है, जिसका त्याग नहीं किया जा सकता वही आत्मरूप है। ईश्वर और आत्मा भिन्न नहीं है। जगत् के स्वरूप के संबंध में संक्षेप में कहा जा सकता है कि दृष्टिगोचर जड़ जगत चैतन्य से भिन्न नहीं है। परमेश्वर ने अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मांड का निर्माण किया। उसके संकल्प से जगत

का निर्माण होता है, वह बना रह सकता है और उसका लय भी हो जाता है। चैतन्य रूप आत्मा के बिना जगत का कोई अस्तित्व नहीं है।

▪ **साहित्य :—** सांप्रदायिक ग्रंथों में 'वेदांतसार', 'अवधूतगीता', 'प्रबोधनचंद्रिका' और 'स्वात्मसंवित्युपदेशः' आदि प्रमुख हैं। शक 1480 में सरस्वती गंगाधरजी ने लिखा हुआ 'गुरुचरित्र' ग्रंथ महाराष्ट्र में विशेष लोकप्रिय है। 'गुरुचरित्र' ग्रंथ के समान 'श्रीदत्तबोध' ग्रंथ का भी संप्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान है।

▪ **अन्य विशेषताएँ :—**

- अद्‌वैत वेदांत का अनुसरण करते हुए भी व्यवहार—आचार के क्षेत्र में यह संप्रदाय सगुणोपासक, गुरु भक्ति प्रधान है।
- दत्तात्रेय के सगुण सालंकृत रूप के पूजन के साथ प्रतीक रूप में भी पादुकाओं का, चरण प्रतिमाओं का पूजन किया जाता है।
- मुसलमानों की संकुचित धार्मिक वृत्ति को उदारता में परिवर्तित करने का प्रयास दत्त संप्रदाय ने अवश्य किया है।

हिंदू धर्मांतर्गत विभिन्न पंथों के उपासना मार्गों के समन्वय में त्रिगुणात्मक मूर्ति की उपासना द्‌वारा दत्त संप्रदाय की स्थापना विशेष प्रशंसनीय है। उत्तर काल में अपनी कर्मठता के कारण यह संप्रदाय संकुचित हो गया।

समर्थ संप्रदाय

▪ **स्वरूप :—**समर्थ संप्रदाय के संस्थापक समर्थ रामदास रहे। ज्ञानेश्वरादि संत जिस भागवत परंपरा में विकसित, प्रतिष्ठित हुए थे, उसी भागवत धर्म का एक प्रवाह, संप्रदाय के रूप में संत रामदास ने प्रवर्तित किया, जो 'समर्थ संप्रदाय' के रूप में अधिक मान्य रहा है। उनकी यह अभिलाषा थी कि रामभक्ति को चरम ऊँचाई पर ले जाएँ। इसलिए समन्वय के अधिष्ठान

पर विकसित भागवत धर्म की परंपरा का दाय स्वीकार करते हुए उन्होंने 'संप्रदाय' का प्रवर्तन किया था।

उस वक्त महाराष्ट्र में मुसलमानों का शासन था। समाज विशृंखलित हो चुका था, विपन्न अवस्था में पहुँच चुका था। ऐसी अवस्था में स्वधर्म और स्वराज्य विषयक अपनी विचारधारा को प्रतिष्ठित करने के लिए समर्थ रामदासजी ने समर्थ संप्रदाय की स्थापना की ।

- **परंपरा :—** उनकी गुरु परंपरा इस प्रकार रही — आदनारायण—महाविष्णु—हंस—ब्रह्मा—वशिष्ट—श्रीराम। समर्थ रामदास के कोई मानवीय गुरु नहीं रहे।[11] प्रत्यक्ष राम ही उनके गुरु हैं।

- **दार्शनिक चिंतन :—** 'दासबोध' की रचना द्वारा समर्थ रामदास के दार्शनिक चिंतन का निचोड़ ही प्रस्तुत होता है। निर्गुण, निराकार, नि:संग ब्रह्म रूप शब्दों के माध्यम से समझा नहीं जा सकता। वह सद्गुरु ही श्रवणाभ्यास द्वारा प्राप्त करा देता है। ब्रह्म ही एक ऐसा तत्व है जिसके अतिरिक्त अन्य किसी में पारमार्थिक सत्ता नहीं है। ब्रह्म में एक समत्व भाव है। परब्रह्म की आत्मप्रतीति के कारण निर्मित समत्व दृष्टि समर्थ रामदास के दार्शनिक चिंतन के मूल में विद्यमान है। समर्थ रामदास प्रयत्नवादी या कर्ममार्गी हैं। दासबोध में आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद कर्म या नैष्कर्म्य के विवाद को खड़ा करते हुए समर्थ रामदास ने निष्क्रियता या मुक्तावस्था का विरोध किया है। उनके अनुसार ब्रह्मावस्था की प्राप्ति मुक्तावस्था नहीं है। सत्य ब्रह्म के संकल्प का तात्पर्य है 'हरि संकल्प'। मूल माया के दो रूप हैं — स्थूल से सूक्ष्म की ओर जानेवाली गुणमाया और अविद्या माया। गुण—माया शिव सापेक्ष है तो अविद्या माया जीव सापेक्ष है।

विश्व माया से निर्मित है। ब्रह्म घनरिक्त आकाश से भी विशाल, निर्मल एवं निश्चल है, निर्विकार है। उसमें एक संकल्प अद्भुत

होता है। ब्रह्म निश्चल है किंतु संकल्प चंचल होता है। यह संकल्प ही आदि नारायण मूल माया, जगदीश्वर, षडगुणेश्वर आदि नामों से जाना जाता है। अष्टविधा प्रकृति का वही मूल है। इसी से पंचमहाभूत निर्माण हुए हैं। आकाश ही अंतरात्मा है। उसी से वायु पैंदा होती है, वायु से तेज– तेज से उष्णता और अग्नी का निर्माण हुआ है। इसी अग्नि से सूर्य की निर्मिति हुई है। मूल माया के उद्भव से ब्रह्म की निश्चलता विचलित नहीं होती। निर्गुण ब्रह्म को गुणत्व प्राप्त नहीं होता। सगुण भक्ति से निर्गुण भक्ति की प्राप्ति करा देने वाली नवविधा भक्ति के साथ कर्मयोग पर आधारित उनका दार्शनिक चिंतन रहा है।

▪ **साहित्य :—** समर्थ रामदास की ग्रंथसंपदा प्रचुर मात्रा में है।

◦ **ग्रंथराज दासबोध :—** यह सांप्रदायिक प्रमाण ग्रंथ के रूप में मान्यताप्राप्त ग्रंथ है।

◦ **इक्कीस समासी :—** यह 'पुराना दासबोध' नाम से जाना जाता है। साथ ही 125 श्लोकों का 'रामायण', 'चौदह ओवीशत', 'रामवरदायिनी', 'आनंदभुवन', 'मनोबोध', 'आत्माराम', करुणाष्टक, सोलह लघु काव्य, पुराण पुरुष, मानस पूजा आदि उनके ग्रंथ रहे हैं।

समर्थ की **'हिंदी पदावली'** हिंदी में लिखे गए पदों का संग्रह है।

संप्रदाय की अन्य विशेषताएँ :—

- संप्रदाय के साधक ब्रह्मचारी एवं गृहस्थी दोनों हैं। संप्रदाय की विशिष्ट वेशभूषा है बगल में कुबड़ी, गले में झोली, हाथ में करताल, बदन पर गेरूए रंग की कौपिन, भाल प्रदेश में राम मुद्रा और मुँह में मन प्रबोधन के श्लोक आदि। इस वेशभूषा से वैराग्य भाव की अभिव्यक्ति होती है।
- ग्यारह हुनमान मंदिरों की स्थापना और मठ स्थापना के द्वारा समर्थ रामदास ने प्रपंच और परमार्थ का समन्वय करना चाहा।
- समाज प्रबोधन करना संप्रदाय की प्रमुख विशेषता रही।

◦ संप्रदाय का उद्देश्य पारमार्थिक क्षेत्र में समत्व तथा उच्च मानवी नीतिमत्ता का भगवद् भक्ति के साथ समन्वय स्थापित करना था।

◦ इस संप्रदाय में धर्मक्षेत्र में कर्मकांड, मूर्तिपूजा, उसकी भावुकता इन बाह्यचारोंका विरोध किया गया है।

◦ 'मुख्य हरिकथा निरूपण। दूसरी राजनीति।
तीसरी सो सावधानी। सर्वविषयक।' यह चतुःसूत्री सांप्रदायिक आचार की बुनियाद है। [12]

◦ दैनंदिन आचारों में स्नान, संध्यावंदन, देवता पूजन, तथा ग्रंथों के पठन का समावेश है। भिक्षा माँगना सांप्रदायिक के लिए एक अनिवार्य आचारधर्म है।

• **प्रभावक्षीणता के कारण :—** कालानुसार भिक्षा से उदर निर्वाह करने तक ही साधना सीमित हो गई और धीरे—धीरे संप्रदाय का प्रभाव क्षीण होता गया।

स्पष्ट है कि ईसा की दसवीं शती के पूर्व से महाराष्ट्र में आध्यात्मिक संप्रदायों का प्रचलन रहा है। इनमें से नाथ संप्रदाय सबसे प्राचीन रहा है और उससे न्यूनाधिक प्रभाव ग्रहण करते हुए महानुभाव, वारकरी, दत्त तथा समर्थ संप्रदाय का आविर्भाव हुआ है। इस सभी संप्रदायों ने अपने दार्शनिक विवेचन के साथ—साथ सामाजिक समन्वय की दृष्टि से भी प्रयत्न किए हैं। इन सभी संप्रदायों ने समाज प्रबोधन के हेतु लोकभाषा का प्रयोग किया है। इस अध्ययन के पश्चात हर संप्रदाय से जुड़े हुए संतों के दार्शनिक विचारों को देखने की आवश्यकता महसूस होती हैं। इसमें सबसे प्रथम आते हैं संत ज्ञानेश्वर, उसके बाद नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, रामदास आदि।

4.3 मराठी के प्रमुख संत—कवियों के काव्य में व्यक्त दार्शनिक दृष्टि

4.3.1 संत ज्ञानेश्वर : ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया, मोक्ष :

संत ज्ञानेश्वरजी का जन्म पुण्यक्षेत्र आळंदी को (शके 1193 इ. स. 1275)[13] को हुआ। उनके पिता का नाम विट्ठलपंत तथा माता का नाम रखुमाबाई था। उनके बड़े भाई का नाम निवृत्तिनाथ था। छोटे भाई का नाम सोपान तथा बहन का नाम मुक्ताबाई था। ज्ञानेश्वर जी के पारमार्थिक गुरु उनके बड़े बंधु निवृत्तिनाथ ही थे। ज्ञानेश्वरजी पर शैवमत का प्रभाव विशेष रूप से था। उनके मुख्यतः ग्रंथ हैं — ज्ञानेश्वरी, भावार्थदीपिका, अमृतानुभव और चांगदेव पासष्टी। उन्होंने (शके 1215 इ. स. 1296) [14] कार्तिक मास में आळंदी में संजीवन समाधि ले ली थी।

ज्ञानेश्वर का दर्शन शांकर तत्वज्ञान की भाँति अद्‌वैतवादी है। यह अद्‌वैत सिद्‌ध करने के लिए उन्होंने शंकर के अनिर्वचनीय मायावाद का अथवा अज्ञानवाद का उपयोग तो किया परंतु उनके अतिरिक्त, गौडपादकारिका, योगवशिष्ठ, शैवाद्‌वैत और नाथपंथियों के अद्‌वैतसिद्‌धि के लिए प्रयुक्त युक्तिवाद को भी लिया है। ज्ञानेश्वरजी का निर्गुण निर्विशेष अद्‌वैत दर्शन एक ओर से शून्य और मायावादी है तो दूसरी ओर से विज्ञानवादी, दृष्टि—सृष्टिवादी और स्फूर्तिवादी बना है। उनका दर्शन वेदांत के अलग—अलग मतों की खिचड़ी नहीं है, न अनुवाद मात्र है, तो अनेक महर्षियों की पंक्ति में ससम्मान बैठने के लिए पर्याप्त है। चिद्‌विलासवाद का एक मौलिक तत्वज्ञान उन्होंने दुनिया को दे दिया। यहाँ ज्ञानेश्वरजी के दार्शनिक विचारों का नाथपंथ के विचारों के आलोक में अध्ययन किया गया है। तत्वज्ञान का विचार करते समय हमेशा ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और मोक्ष का विचार किया जाता है।

ब्रह्म :

सिद्ध–सिद्धांत पद्धति में परब्रह्म को 'स्वसंवेद्य [15] और अनुभवगम्य [16] ही माना है। इसकी अनुभूति पुस्तक ज्ञान से या तर्क से नहीं होती। ज्ञानेश्वर जी मानते हैं कि यह विद्या अनुभव पर आधारित है इसलिए उन्होंने परब्रह्म को 'स्वसंवेद्य' कहा है। उसका खुद अनुभव करना चाहिए। वे कहते हैं कि इस अमृत अनुभव से विश्व के आनंद को भी अविर्चनीय आनंद मिलेगा। आनंद के द्वारा आनंद का अनुभव लिया जाएगा। ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि यह अनुभव अकथ है। बिना शब्दों के इससे संवाद करना चाहिए (शब्देविण संवादिजे)। ऐंद्रिय अनुभूति के बिना यह सुख भुगतना चाहिए, चर्चा करने से पहले ही तत्व का आस्वाद लेना चाहिए। यह अनुभूति अनिवेद्य है। वेद भी उस ब्रह्म का वर्णन नहीं कर सकते। वे भी मौन हो जाते हैं "येथे वेद मुके जाहले । मन पवन पांगुकले।"[17] ज्ञानेश्वरजी के मतानुसार अनुभूति पुस्तक ज्ञान से नहीं मिलती। मोर पंखोंपर आँखें होती हैं, लेकिन उनमें दृष्टि नहीं होती, उसी तरह बिना अनुभूति के ज्ञान, ज्ञान नहीं होता।

मोराचां आंगी असोसें। पिसे आहाति डोळसे।

परी एकली दिठी नसे। तैसे ते गा। [18]

ज्ञानेश्वरजी ने ब्रह्म का वर्णन निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अरूप, अनाम आदि विशेषणों से किया है। ब्रह्म का वर्णन करते समय उन्होंने दार्शनिक पारिभाषिक शब्दावली के साथ–साथ दृष्टांतों और उदाहरणों का प्रयोग किया है। ज्ञानेश्वर जी कहते हैं परब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता।

'म्हणोनी आथी नाथी हे बोली। जे देखोनि मुकी जाहली।

विचारासी मोडली। वाट तेथे।' [19]

वह सब अवस्थाओं में सब कालों में स्फुरित होता है।

उसको 'विश्वबाहु' 'विश्वांघ्रि' 'विश्वतश्चक्षु' कहा गया है। उस परमतत्व को हाथ, पैर, नेत्र कुछ नहीं हैं। ब्रह्म का विवेचन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं यह उत्तम पुरुष, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के परे होता है।

कां घ्राणा फुला दोहीं। दुती असे जे माझारिला ठायी।
ते न दिसे तरी नाही। ऐसे बोलों नये। [20]

अर्थात् यह नाक और फूल दोनों के दरम्यान होनेवाले सुवास के समान है, जो दिखाई नहीं देता, पर प्रतीत होता है। विश्रांति का का विश्राम, सुख का महासुख और महाशून्य का शून्य ऐसा क्षरक्षरातीत पुरुषोत्तम अनुपमेय है।

तैसे विश्वपणें काही होये। विश्वलोपी केहीं न जाये।
जैसा रात्री दिवसे नोहो। द्विधा रवि।। [21]

अर्थात् दिन और रात के भेद से सूरज जिस प्रकार द्विधा नहीं होता, उसी प्रकार विश्व की उत्पत्ति और लय से उसकी उत्पत्ति और लय नहीं होते। वह नित्य, अखंड और एक ही रहता है। निर्गुण निराकार रूप का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं लोग मुझे मनुष्य समझते हैं, मुझपर मनुष्य धर्म का आरोप लगाते हैं। मुझ जैसे अनाम से नाम की, विदेही में देह की, अचक्षु में चक्षु की प्रतिष्ठापना करते हैं। सच देखा जाए तो निर्गुण ब्रह्म में मानुष धर्मों की कल्पना करना अज्ञान ही है। हरिपाठ में भी ब्रह्म का सर्वव्यापी माना है। 'सर्वाघटी राम देहादेही एक।' [22] ज्ञानेश्वर जी कहते हैं, बदनसीब लोग पत्थरों की पूजा करते हैं, तीर्थों की यात्रा करते हैं। वास्तव में परब्रह्म कुछ भी नाम रूप नहीं है। आत्मा देवता है और उसकी पूजा करना ही भक्ति है। परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, देखने गए तो सूर्यप्रकाश में भी नहीं दिखाई देता, नहीं तो मच्छर में भी दिखाई देता है। इस प्रकार ज्ञानेश्वर जी ब्रह्म वर्णन नाथपंथ के अनुरूप है।

ज्ञानेश्वरजी का ब्रह्म निर्गुण, निराकार और सर्वव्यापी है। उन्होंने कहा है, 'जे जे भेटे भूत, ते ते मानिजे भगवंत' [23]
अर्थात् हर जीव को परमेश्वर समझो।

या उपाधिमाजी गुप्त। चैतन्य असे सर्वगत। ते तत्वज्ञ संत। स्वीकारिती। [24]
अर्थात् सब वस्तुओं में वही चैतन्यरूप परब्रह्म व्याप्त है। वे कहते हैं

तरी दोन्ही पालवेवरी। जैसा एक तंतू अंबरी।
तैसा मीवांचूनी चराचरीं। जाणती ना। [25]

अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र में एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही धागा रहता है, उसी प्रकार चराचर में मेरे सिवा और कोई नहीं है।

आदि ब्रह्मा करूनी। शेवटी मशक धरूनी।
माजी समस्त हें जाणोसी। स्वरूप माझे। [26]

अर्थात् क्षूद्र कीटक से लेकर ब्रह्मा तक सब में मेरे सिवा और कोई नहीं है।

ज्ञानेश्वरजी को सद्‌गुरु की महत्ता मान्य थी। वे ब्रह्म को गुरुगम्य ही मानते थे। उन्होंने सद्‌गुरु को वसंत ऋतु की उपमा दी है। वसंत ऋतु जब तक आता नहीं, तब तक माली के लाख प्रयत्न करने पर फूल खिलते नहीं, उसी प्रकार लाख साधना करने पर भी जब तक गुरु कृपा नहीं होती, तब तक साधना सफल नहीं होती। इसलिए ज्ञानी और मुमुक्ष को गुरु की आवश्यकता है।

ज्ञानेश्वरी में विश्वरूप ब्रह्म का वर्णन प्राप्त होता है। वे कहते हैं कि विश्वरूप का तेज जितना है मानो आसमाँ में एक साथ करोडों सूर्य उदित हुए हैं। सब विद्‌युतों का समुदाय, प्रलयाग्नि की सब सामग्री और दस महातेज एकत्रित किए तो भी उस विश्वरूप के तेज की तुलना नहीं हो सकेगी। उस शरीर में सारा विश्व दिखाई देता है। उसमें देवताओं के साथ स्वर्ग है, ब्रह्मलोक है, कैलाश है। स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, सब दिशाएँ,

आकाश उसमें व्याप्त है। उस विश्वरूप के अनंत हाथ हैं, अनंत पैर हैं, चंद्र और सूर्य की दो आँखों से वह कृपा और क्रोध दिखाता है। प्रलयाग्नि के तेज के समान उसका मुँह है। जिस प्रकार चहुओं से दहकते हुए दावानल से परिव्याप्त पर्वत सी ज्वालाएँ निकलती हैं, उसी प्रकार उसके दाँत और दाढ़ों से उसकी जिह्वा ललकती है। उसके तेज से सारा विश्व झुलस रहा है। जो विश्वरूप अर्जुन देखना चाहता था, उसका वर्णन ज्ञानेश्वरी में किया गया है।

शब्द ब्रह्म या ॐकार की महिमा ज्ञानेश्वरजी ने भी गाई है। शब्द ब्रह्म को गणेश की सुंदर और निर्दोष देह मानी है।

अकार चरणयुगल। उकार उदर विशाल।
मकार महामंडल। मस्तकाकारें। [27]

अर्थात् ॐकार की पहली मात्रा ही गणेश के दो चरण हैं, दूसरी उकार मात्रा उसकी बड़ी तोंद है और तीसरी अकार मात्रा उसका मस्तक है।

हे तिन्ही एकवटले। तेथे शब्द ब्रह्म कवकले।
ते मिया गुरुकृपा नमिले। आदि बीजा। [28]

अर्थात् उन्हीं तीन मात्राओं से शब्द ब्रह्म तैयार होता है। ओंकार के ध्यान से ही ब्रह्मा में विश्व सृजन की क्षमता पैदा हुई है। ॐयह एकाक्षर ब्रह्म है। देह त्याग करते समय ओंकार का ध्यान किया तो साधक परमगति प्राप्त करता है। अभंगों में भी विश्व की उत्पत्ति ॐकार से मानी है। ज्ञानेश्वरजी ने शून्य को ब्रह्म का पर्यायवाची माना है।

सुखासि सुख जोडिले। जें तेज तेजासि सापडले।
शून्यही बुडालें। महाशून्यीं जिथे।। [29]

अर्थात् जो सुख का प्राप्त हुआ सौख्य है, जो तेज को मिला हुआ तेज है। जिसमें ब्रह्मरूपी महाशून्य में आकाशादि शून्य भी विलीन हुए, वही उत्तम पुरुष है, निर्गुण ब्रह्म है।

ज्ञानेश्वरजी ने 'शून्यलिंग' शब्द कुंडलिनी के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। जो निराकार शून्यस्वरूप परब्रह्म का निदर्शक शिवलिंग है और जो प्राणों की जन्मभूमि है वही कुंडलिनी हृदय में प्रवेश करती है।

आपुलिया साटोवाही। शून्य घेती उठाउती।

ते ही मातेंचि किरिटी। पावती ग। [30]

अर्थात् योगी की प्रगति और षट्चक्र भेदन का आलंकारिक वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि उन कष्टों के बदले में योगियों को तुरंत ही निराकार शून्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अंत में वे मुझ में ही विलीन होते हैं। यहाँपर शून्य का यौगिक अर्थ है। ज्ञानेश्वरजी का शून्यवाद बौद्धों के शून्यवाद से भिन्न है। ज्ञानेश्वर जी ब्रह्म तत्व को द्वैताद्वैत विलक्षण मानते हैं।

ते तरी व्यक्त ना अव्यक्त। नित्य ना नाशवंत।

या दोन्ही भाव अतीत। अनादिसिद्ध। [31]

अर्थात् वह व्यक्त भी नहीं है, अव्यक्त भी नहीं है। वह नित्य भी नहीं है और नाशवंत भी नहीं है। वह दोनों भावों से अतीत और अनादिसिद्ध है। ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि आग लकड़ी को जलाकर खुद जलती है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान का नाश करता है और साक्षात्कार के बाद वह ज्ञान भी नष्ट होता है। अर्थात् परमतत्व, ज्ञान और अज्ञान से परे है। वह द्वैत भी नहीं अद्वैत भी नहीं, तो द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व है।

ज्ञानेश्वरजी के अभंगों में भी सगुण निर्गुणातीत रूप का वर्णन किया है। सगुण और निर्गुण दोनों एक गोविंद है।

'विरहिणी' में भी ज्ञानेश्वरजी ने द्वैताद्वैत का उल्लेख किया है। उसमें कहा है कि द्वैताद्वैत विरहित गोपियाँ अमृत का घड़ा लेकर आई है। ज्ञानेश्वरजी के साहित्य में सगुण का वर्णन है, लेकिन उनका अंतिम उद्देश्य निर्गुण भक्ति ही रहा है।

जीवात्मा :

ज्ञानेश्वरजी के आत्मतत्व पर वेदांत, उपनिषद और शंकराचार्य का प्रभाव दिखाई देता है। वे वेदांतियों की तरह आत्मा को स्वयंप्रकाश एवं ज्ञानरूप मानते हैं। उन्होंने आत्मतत्व को निर्गुण, निराकार, अजर, अमर, अकाटय, अच्छेद्य, अभेद्य और सर्वव्यापी कहा है। आत्मा और ब्रह्म में वे पूर्ण अद्वैत मानते हैं। ज्ञानेश्वर जी कहते हैं देह अनित्य है और आत्मा नित्य है।

सकल ना निष्कुल। अक्रिय ना क्रियाशीलु।
कृशु ना स्थूलु। निर्गुण पणे।। [32]

अर्थात् वह सकल भी नहीं और क्रियाशील भी नहीं है। वह अक्रिय भी नहीं है और क्रियाशील भी नहीं है। वह स्थूल भी नहीं और कृश भी नहीं। आत्मा अरूप होने के कारण वह दृश्य भी नहीं और अदृश्य भी नहीं है। वह प्रकाश सहित अथवा प्रकाश रहित भी नहीं है। वह थोड़ा भी नहीं और बहुत भी नहीं। वह शून्य रूप होने के कारण किसी से व्याप्त भी नहीं और किसी से रिक्त भी नहीं है। वह किसी वस्तु से सहित भी नहीं और विरहित भी नहीं है। वह साकार भी नहीं और निराकार भी नहीं है। आत्मा आत्मरूप होने के कारण आनंद सहित भी नहीं और आनंद रहित भी नहीं है। वह एक भी नहीं है और नाना आकार धारण करनेवाला भी नहीं है। वह मुक्त भी नहीं और बद्ध भी नहीं है।

अहोरात्रे जैशीं। येती जाती आकाशीं।
आत्मसले तैसी। देहें जाण।। [33]

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में दिन और रात होती है और मिट जाती है, पर आकाश जैसा का वैसा रहता है, उसी प्रकार आत्मा पर देह की आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और मिट जाती हैं। पर आत्मा जैसी की वैसी रहती है। यह आत्मतत्व जानकर आत्मा में आत्मतत्व को और देह में धर्मों को जानना ही सच्चा आत्मज्ञान है।

ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि आत्मा का आविष्कार पहचानने का एकमात्र साधन देह है। आत्मा की अमरता को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अनेक दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं।

पैं रखु डोलतु देखावा। तरी वारा वाजतु मानावा।

रखु नसे तेथे पांडवा। नाहीं तो गा।[34]

अर्थात् जब तक हवा चलती है, तब तक पेड़ हिलता डुलता है। पेड़ का हिलना डुलना बंद होने पर क्या हवा का अस्तित्व नहीं रहता?

कां परता के लिया अरसा। लोपु जाला तथा आभासा।

तरी आपणपें नाही ऐसा निश्चयो करावा।। [35]

अर्थात् जब तक आयना सामने है, तब तक हमारा अस्तित्व है और आयना हटाने के बाद हमारा अस्तित्व नष्ट नहीं होता। उसी प्रकार देह नष्ट होने के बाद आत्मा नष्ट नहीं होती।

जैसे जीर्ण वस्त्र सांडिजे। भग नूतन वढिजे।

तैसे देहांतरा ते स्वीकारिजे। चैतन्य नाथे।। [36]

अर्थात् जिस प्रकार फटा पुराना कपड़ा छोडकर हम नया कपड़ा पहनते हैं, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण देह छोड़कर नई देह धारण करती है।

आत्मा को तर्क से नहीं ज़ाना जा सकता। ध्यान भी उसको देखने के लिए लालायित है। वह मन के लिए दुर्लभ है और साधनाओं से भी दुष्प्राप्य है। जिसकी सीमा नहीं बताई जा सकती, ऐसा वह असीम पुरुषोत्तम है।

मन और बुद्धि के लिए आत्मा अगोचर है। उसके आकार धारण करने से उसकी निराकारिता खंडित नहीं होती। धारण किया हुआ आकार नष्ट होने से उसकी नित्यता में बाधा नहीं आती। अत: उसको अधर कहते हैं।

अमृतानुभव में ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि जिस प्रकार उज्ज्वलता, सुगंध और मार्दव तीनों से एक काफुर होता है। उसी प्रकार सत्चित् और आनंद इस त्रयी के परे हैं। आत्मतत्व या ब्रह्मतत्व संपूर्ण रीति से निरपेक्ष है। वहाँ थोड़ा भी सापेक्ष भाव नहीं है।

अमृतानुभव में आत्मा का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि वेदों ने किन—किन विषयों का प्रतिपादन नहीं किया, पर आत्मतत्व का प्रतिपादन वह नहीं कर सका। सूरज सबको प्रकाशित करता है, लेकिन उसने आत्मतत्व को प्रकाशित नहीं किया। क्योंकि आत्मा गगन में व्याप्त होकर भी अवाशिष्ट है और सूरज गगनांतपाती है। नाथपंथ के समान ज्ञानेश्वरजी भी 'आत्मा' को ब्रह्म के समकक्ष और द्वैताद्वैत विलक्षण मानते हैं। उनके मतानुसार आत्मतत्व निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अजर, अमर, अकाट्य, अलक्ष्य और सर्वव्यापी तत्व है।

जगत् :

जगत् सत्ता के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों में विविध मत प्रचलित हैं। ज्ञानेश्वरजी ने जगत का जो वर्णन किया है, उसमें पांडित्य है, सुसूत्रता है। वे जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं। सबसे पहले ब्रह्मतत्व था और बाद में सृष्टि का निर्माण हुआ। उनका चिद्विलासवाद का अपना अलग सिद्धांत है। फिर भी ज्ञानेश्वरी में उन्होंने सृष्टि को नश्वर, मादिक और स्वप्न कहा है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार हम स्वप्न देखते हैं और स्वप्न में हम स्वप्न की बात मानते हैं लेकिन जागृति में स्वप्नों की बातों का अस्तित्व नहीं होता।

हे उपजे आणि नाशे। ते मायावशे दिसे।

येम्हवी तत्वता वस्तु। जे असे ते अविनापशति।। [37]

माया के कारण ही जग उत्पन्न और नष्ट होता दिखाई देता है।

यह जगत सोए हुए को दिखाई देनेवाले स्वप्न के समान है। सत् स्वरूप चैतन्य में माया के कारण जगत् आभासित होता है।

अश्वत्थवृक्ष के रूपक के द्‌वारा ज्ञानेश्वरजी ने सृष्टि की नश्वरता स्पष्ट की है। यह संसार रूपी अश्वत्थवृक्ष है। अश्वत्थ याने 'न श्वः तिष्ठति'। जो कल तक भी नहीं रह सकता। ज्ञानेश्वर जी उसका वर्णन करते हैं कि श्वः याने कल, तब तक भी यह प्रपंचवृक्ष टिकता नहीं, इसलिए उसको अश्वत्थ कहते हैं।

जैसे एक क्षण के भीतर ही मेघ अपना रंग बदलता है या बिजली क्षण के लिए आँखों को चौंधिया देती है, उसी प्रकार यह प्रपंचवृक्ष क्षण—क्षण से नष्ट होता है। इसलिए अश्वत्थ कहा है।

तैसी ययाची स्थिती। नासत जाय क्षणाक्षणाप्रती।

म्हणौनि ययातें म्हणती। अश्वत्थु हा।। [illegible]

परंतु ज्ञानेश्वरजी ने अमृतानुभव में सृष्टि को मायिक नहीं माना है। वे कहते हैं यह जगत् ब्रह्म का विलास है। यह चिद्‌विलास है। यहाँ नाथपंथ के समान ज्ञानेश्वर जी जगत को मिथ्या नहीं मानते, केवल उसका मायिक प्रतिबिंब मिथ्या मानते हैं। ज्ञानेश्वरजी ने सृष्टि की उत्पत्ति ओंकार से बताई है।

ॐकार का जप और ध्यान करने से ही विश्व निर्माण करने की योग्यता ब्रह्म में आ गई। ज्ञानेश्वर जी सृष्टि की उत्पत्ति माया से भी मानते हैं।

तैसे भूतजात सर्व। हे माझेनि कीर अवयव।

परि मायायोगे जीव। दशे आले।। [39]

अर्थात् विश्व में उत्पन्न सभी प्राणी मेरे ही अवयव हैं। केवल माया के कारण उनमें जीवत्व आ गया।

ज्ञानेश्वर जी सांख्या माया को ही प्रकृति मानते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों में पुरुष उदासीन है, घर में केवल पुरुष और प्रकृति दोनों ही हैं। पुरुष सोया हुआ है और यह प्रकृतिरूपी स्त्री पुरुष के संग के बिना ही संपूर्ण विश्व को जन्म देती है। जो इस पुरुष को जानता है, वह

यातायात से मुक्त होता है। प्रकृति पुरुष को ज्ञानेश्वरजी ने पत्नी पति की उपमा दी है। उनके संबंध में ज्ञानेश्वर जी कहते हैं

प्रकृतिपुरुषांची कुळवाडी। सांगता असंगडी।

जे आंबुली जोडी। आमुला खाय।। [40]

अर्थात् यहाँ पत्नी कमाती है और पति निकम्मा बैठकर खाता है

आमुलया आंबुलिये। संगती न सोये।

की आंबुली जग विये। चोज ऐकें।। [41]

अर्थात् दोनों का संग न होते हुए भी पत्नी (प्रकृति) विश्व को जन्म देती है। उस तरह ज्ञानेश्वर जी प्रकृति से विश्व की उत्पत्ति मानते हैं। ज्ञानेश्वरी में त्रिगुण, पंचतत्व, अष्टधा प्रकृति, सांख्यों के पचीस तत्व आदि का विवरण मिलता है। ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वरजी ने सृष्टि के विकास का क्रम बतलाया है।

तरी अवधारी गा धनंजया। हे महादादिक माझी माया।

जैसी प्रतिबिंबे छाया। निजागांची।। [42]

अर्थात् महत्वत्वादि मेरी माया है। जिस प्रकार अपने शरीर की परछाई होती है, उसी प्रकार माया मेरी परछाई है।

ज्ञानेश्वरजी ने प्रकृति आठ प्रकार की बताई है। इसी से त्रैलोक्य की निर्मिति होती है। ब्रह्म से अहंकार, अहंकार से बुद्धि, बृद्धि से मन, मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी निर्माण होती है।

आप, तेज, आकाश, मही, मारुत, मन, बुद्धि और अहंकार प्रकृति के आठ भाग निर्मित है। ये आठ भाग एकत्रित होते हैं, वही मेरी प्रकृति है, उसी को जीव की संज्ञा दी जाती है।

या आठांची जे साम्यावस्था।

ते माझी परम प्रकृति पार्था।

तिथे नाम व्यवस्था। जीवु ऐसी।।

जे जडानें जीववी। चेतनेतें चेतवी।

मनाकरवीं मानवी। शोक मोहो।। [43]

अर्थात् वह प्रकृति जड़ों को चेतन बनाती है। चेतन को ज्ञानवान बनाती है और मन को शोक, मोह मनाने के लिए बाध्य करती है।

पैं बुद्धींचां अंगी जाणणें। ते जियेचिये जवळिकेंचे करणें।

जिया अहंकाराचेनि विंदाणे। जगचि धरिजे।। [44]

अर्थात् बुद्धि की जानने की शक्ति इसी से संबद्ध है और उसके अहंकार द्वारा कुशलता से जगत धारण किया है।

इस प्रकार ज्ञानेश्वरी में अन्यान्य स्थलों पर प्रकृति का विवेचन मिलता है सारांश में कह सकते हैं कि ज्ञानेश्वरजी का जगत वर्णन वेदांत और सांख्य प्रभाव से अछूता नहीं है।

चिद्‌विलास सिद्‌धांत :

विश्व में अंतर्भूत चैतन्य का विलास ही चिद्‌विलास है। चिद्‌विलास के सिद्‌धांत को 'स्फूर्तिवाद' भी कहा जाता है। बाह्यत: विविध नामरूपों में प्रतीत होनेवाला जगत् वस्तुत: बहुत्व रूप में सुसज्जित चैतन्य है, यह चिद्‌विलास की मूल धारणा है। आचार्य शंकर ने चिद्‌विलास तत्व का विवेचन करते हुए कहा है कि गुड़ की एक डली में जैसे सर्वत्र मिठास होती है, कर्पूर के एक खंड में भी सर्वत्र सुगंध होती है, इतना ही नहीं तो वृक्ष, पर्वतों, नगरों, आरामगृहों, चैत्यों आदि से एकत्रित विश्व एक रूप में आभासित होता है, वैसे ही एक चैतन्य ही सर्वत्र आत्मा में विकसित होता है।

संत ज्ञानेश्वर का चिद्‌विलास चिंतन :

'ज्ञानेश्वरी' की तुलना में 'अमृतानुभव' में ज्ञानेश्वरजी ने चिद्‌विलास सिद्‌धांत का हृदयंगम आविष्कार किया है। सृष्टि का निर्माण अथवा विलय परमसत्ता की प्रेममय क्रीड़ा या लीला–विलास है। परमतत्व

की चैतन्य शक्ति का यह विलास होता है। ब्रह्म और चैतन्य शक्ति का युग्म ही शिव—शक्ति का युग्म है। भगवान की अचिंत महाशक्ति उससे सर्वथा अभिन्न ही रहती है। सृष्टि का निर्माण प्रकृति पुरुष दो महत्—तत्वों से होता है। ये तत्व ही शिव—शक्ति के रूप में विद्‌यमान हैं। जगत् के जनन होने पर भी महत् तत्व उपाधिरहित है। वे स्वरूप में विलीन और एक रसात्मक है। सृष्टिकर्ता शिवशक्ति की अनंतरूपी में विलसित नित्यनूतन उन्मीलन अवस्था को ज्ञानेश्वरजी ने अमृतानुभव में स्पष्ट किया है। निद्राधीन व्यक्ति के करवट बदलने से केवल उसकी स्थिति में परिवर्तन होता है, व्यक्तित्व में नहीं। वैसे ही विश्वोत्तीर्ण अवस्था त्यागकर विश्वात्मक स्थिति में आ जाने पर शिव—शक्ति के मूल तत्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। प्रियतम ही करवट बदलकर प्रियतमा बन जाते हैं। प्रियतमा रूपशक्ति प्रीति के आवेश में अनंतरूपों में विलसति होती है। प्रीति के आवेग में ही परमात्मा की शक्ति, ग्रहण करने पर सृष्टि का संकोच होता है। निजस्वरूप में विद्‌यमान आदितत्व में अनेकत्व की इच्छा जागृत होते ही पुनश्च सृष्टि का अविर्भाव होता है। विश्वात्मक सृष्टि की उत्पत्ति और संहार उसी एक पूर्ण—स्वरूप प्रेमतत्व का लीलाविलास है। इस लीला विलास का कण—कण आनंद से व्याप्त है। बहुविध होने पर भी शिव—शक्ति की एकात्मकता कभी खंडित नहीं होती।

ज्ञानेश्वरजी के मतानुसार संपूर्ण चराचर विश्व की उत्पत्ति करने पर भी शिव—शक्ति अपनी एकरसात्मता के प्रति इतने जागरूक हैं कि किसी अन्य वस्तु का स्पर्श नहीं होने देते। चित—स्वरूप कार्य—व्यापार में शिव—शक्ति अभिव्यक्त होते हैं। सत् एवं चित् का यह आविर्भाव आनंद की प्राप्ति के लिए है।

शिव—शक्ति दोनों परस्पर—निर्भर हैं। ज्ञानेश्वरजी ने शिव—शक्ति की पूर्ण रूपनिर्भरता का वर्णन करते हुए कहा है कि शिव के कारण शक्ति को पूर्णता प्राप्त हुई है और देवी के बिना देव का स्वामित्व

भी अर्थहीन है। शिव—शक्ति का मिलन अद्भुत और मधुर—मिलन है। दोनों इस संपूर्ण जगत् में भी नहीं समाते और परमाणु में भी सुचारू तथा आनंदमय रहते हैं।

ज्ञानेश्वरजी ने शिव—शक्ति का दर्पण रूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि पति शिव की निद्रावस्था में शक्ति चराचर सृष्टि को जन्म देती है, उस शक्ति के स्थिर होने पर शिव का प्रतिरूप भी शेष नहीं रहता है। दोनों का परस्पर प्रेम इतना अद्भुत है कि शिव अपने आप को छिपाकर शक्ति को प्रदर्शित करते हैं। वे दोनों एक—दूसरे को प्रकाशित करने के लिए दर्पण हैं। प्रिया शक्ति ही शिव का शरीर है और प्रिय पति शिव ही शक्ति का सार—तत्व है। इस प्रकार दोनों घुल—मिलकर एक—दूसरे को भोगते रहते हैं।

इस प्रकार चिद्विलास—दर्शन का विवेचन करते हुए ज्ञानेश्वरजी ने जगत् के संबंध में यह विचार स्पष्ट किया है कि अपने—आप को द्रष्टा न करते हुए भी आत्मतत्व अपने स्वयं सिद्ध रूप में ही रहता है। रस्सी पर साँप का आभास होने पर भी निश्चय ही सत्य रूप में रस्सी रहती ही है, इसी प्रकार द्रष्टा—दृष्य में द्रष्टा ही सत्य है।

माया :

ज्ञानेश्वरजी के माया संबंधी विचार सांख्य और वेदांत से प्रभावित हैं। ज्ञानेश्वरजी ने माया को अनिर्वचनीय कहा है। ज्ञानेश्वर जी 15 वें अध्याय में अश्वत्थवृक्ष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस संसार वृक्ष के मूल को माया कहते हैं।

तरी माया ऐसी ख्याती। नसतीच तया आधी।
का वांझेची संतती। वानणैं जैशी।। [45]

अर्थात् जिस प्रकार बाँझ की संतति का वर्णन करना व्यर्थ है, उसी प्रकार माया का शब्दों में वर्णन करना व्यर्थ है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है।

जो सत् भी नहीं और असत् भी नहीं उसका अस्तित्व माना जाए तो विचारों से उसका बोध नहीं होता। उसका अस्तित्व न माना जाए तो जगत कार्य से उसका अनुमान किया जा सकता है। अत: वह अनादि और अनिर्वचनीय है। विचारों का नाम भी उससे सहा नहीं जाता।

ज्ञानेश्वरजी ने सांख्य दर्शन के अनुरूप माया का वर्णन इस प्रकार किया है।

तरी माझे हे गृहिणी। अनादि तरुणी।

अनिर्वाच्यगुणी। अविद्या हे।। [46]

अर्थात् ज्ञानेश्वर जी कहते हैं कि माया ब्रह्म की पत्नी है। वह हमेशा जवान रहती है। उसको अविद्या कहते हैं और उसके गुण अनिर्वचनीय हैं। इसके अस्तित्व का न होना ही इसका स्वरूप है। माया का आकार और व्याप्ति अमर्याद तथा असीम है। यह अविद्या माया आत्मस्वरूप में उदासीन लोगों के समीप रहती है और आत्मस्वरूप में जागृत लोगों से दूर भागती है। ज्ञानेश्वर जी माया को भ्रमरूप तथा आभासात्मक मानते हैं।
जिस प्रकार सपने में देखी हुई बात सपने में ही सत्य प्रतीत होती है, जागृत होने के बाद कुछ नहीं रहता, उसी प्रकार तुम यह सब माया समझो।
आत्मा पर विनाश की भ्रांति का आरोप न करते हुए, यह भ्रम है, को माया कहा है। ज्ञानेश्वरजी ने माया को त्रिगुणात्मिका कहा है।

तेथ चिद्वृत्ति पहिलें। महत्तत्व उमललें।

ते पान वाल्हें दुल्हें। एकनिघे।। [47]

अर्थात् पहले चिद्वृत्ति या माया का निर्माण हुआ। उस माया से पहले पहले महतत्व नाम का कोमल पन्ना निकल आया।
उस पन्ने से सत्व रजतमात्मकाजी तीन प्रकार का अहंकार है, वही अधोमुख तीन पन्नों का समुच्चय निकल आया है। उससे पंचमहाभूत, पंचतत्व, पंच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। सत्व, रज, तम तीनों को गुण कहा करते हैं और प्रकृति उनकी जन्मभूमि है। ज्ञानेश्वरजी ने माया को प्रसवधर्मिणी कहा है। वे

कहते हैं कि महदब्रह्म के उदर में आठ विकारों से अष्टधा प्रकृति से जगद्रूप गर्भ बढ़ता है। माया और ब्रह्म के संयोग से बुद्धि तत्व ने जन्म पाया। वह रजोगुण से पूर्ण होने के बाद मन तैयार हुआ। मन की जवान स्त्री ममता अहंकार तत्व को जन्म देती है। उनसे पंचमहाभूत साकार होते हैं। उसके साथ–साथ विषय और इंद्रियाँ भी साकार होती हैं। आठ विकारों के व्यापार से त्रिगुणात्मक गर्भपिंड तैयार होता है। बाद में जीव उसमें प्रवेश करता है। तब अंडज, स्वेदन, उद्भिज्ज और जारज जीव पैदा होते हैं। इस प्रकार माया जगत को जन्म देती है। लेकिन जगत निर्माण करते समय माया को मेरे आधिष्ठान का आधार मिलता है। इस तरह ज्ञानेश्वर जी माया को प्रसवधर्मिणी और जगत का मूल कारण मानते हैं। ज्ञानेश्वर जी माया को परिवर्तनशील और क्षणिक मानते हैं।

हें उपजे हेआणि नाशे। तें मायावशे दिसे।
येन्हवीं तत्वता वस्तु जे असे। ते अविनाशचि।। [48]

अर्थात् माया के कारण ही विश्व उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यह उत्पत्ति और विनाश माया के कारण प्रतीत होते हैं, अन्यथा परमतत्व अविनाशी ही है। इसे स्पष्ट करने के लिए ज्ञानेश्वरजी ने दृष्टांत दिए हैं कि वायु के झोके से पानी पर लहरें उठती हैं तब कौन पैदा होता है? और वायु शांत होने से लहरें भी नष्ट होती हैं और पानी स्थिर रहता है। तब कौन नष्ट होता है? उसी प्रकार परमतत्व अविनाशी है और उत्पत्ति और विनाश माया के कारण प्रतीत होते हैं। संसार वृक्ष का नाम ही अश्वत्थ है। इस अश्वत्थवृक्ष का वर्णन करते समय ज्ञानेश्वरजी ने माया की परिवर्तनशीलता और क्षणिकत्व को स्पष्ट किया है। ज्ञानेश्वर जी माया को बंधन रूपा मानते हैं। उसके कारण हरिभक्ति में बाधा पहुँचती है। परमात्मा का चिंतन नहीं करने देती। नदी के रूपक के द्वारा ज्ञानेश्वरजी ने माया के बाधक स्वरूप को प्रस्तुत किया है। वे कहते है कि परब्रह्म रूपी पर्वत से निकलने वाली यह माया नदी पहले महत्वत्वादिकों का स्वरूप धारण करती

है। यह सृष्टि विस्तार रूप प्रवाह से काल को भी ग्रासित करनेवाली ताकद से बढ़ती हुई प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों किनारों का उल्लंघन करती है। गुण रूपी मेघों की वृष्टि से जिसमें मोह की बाढ़ आती है और यमनियमों के नगर उसमें बह जाते हैं। इसमें द्वेष के आवर्त हैं और मत्सरों के घुमाव हैं। इसमें जवान स्त्रियों के रूप में मछलियाँ चमकती हैं। रति के द्वीप पर काम की लहरें टकराती हैं और जीवरूपी फेन दिखाई देता है। इसमें अहंकार की धाराएँ हैं। उसपर धन, विद्या और कुल इन तीन मदों की उबाले उठती हैं। जिस नदी में विषय वासनारूपी अनेक तरंग उत्पन्न होते हैं। इसमें जन्म मृत्यु के गढ़ होते हैं और पंचमहाभूतात्मक शरीर के बुदबुद पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। यह माया नदी लाँघना अत्यंत कठिण है। इसके बारे में एक अचरज की बात है कि इसको पार करने का जो–जो उपाय अपनाया जाता है, वह उपाय ही बनता है। वेद, यज्ञ, दान आदि अनेक उपायों से भी यह नदी नहीं लाँघी जाती।

येथ एकचि लीला तरले। जे सर्वभावे मन भज ले।

तयां ले लीच थडिये सरले। माया जब।। [49]

लेकिन जो मेरी अनन्य भावना से भक्ति करते हैं, उनके लिए यह माया जल नदी पार करने से पहले ही सूख जाता है। ज्ञानेश्वर जी ने 14 वें अध्याय में माया को अव्यक्त कहा है।

आतां असो हे बहु बोली। ऐसे विश्व माया व्याली।

तेथ जांघु जाली। माझी सत्ता।। [50]

अर्थात् सर्व विश्व में, चराचर में वह व्याप्त है। ब्रह्म के अधिष्ठान से वह सारे विश्व को जन्म देती है।

ज्ञानेश्वरजी ने अविद्या और विद्या माया का वर्णन भी किया है। अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन और माया नदी का रूपक ये दोनों वर्णन अविद्या माया के ही हैं। अविद्या माया के कारण जीव आत्मस्वरूप को नहीं जान सकता। जीव बंधनों में अटकता है। ज्ञानेश्वर जी माया को भी

बंधनकारक मानते हैं। जिस प्रकार देह को लगाए भस्म को झाड़ने पर भी वह सफेद कांति के रूप में रहता है। उसी प्रकार अविद्या नष्ट होने के बाद भी वह विद्या के रूप में रहती है। बंधन और मोक्ष ये अविद्या और विद्या माया के परिणाम है।

परि जिती न मेली। अविद्या हे जाकली।
बंध मोक्ष घाली। बांधोनिया।। [51]

शंकराचार्य के प्रभाव से ज्ञानेश्वरजी ने अविद्या माया का वर्णन तो किया है लेकिन अमृतानुभव में उन्होंने अज्ञान खंडन करते हुए अपना स्पष्ट स्वतंत्र मत दिया है। नाथपंथ के मतानुसार वे विद्या तथा अविद्या माया नहीं मानते। सारे विश्व को ब्रह्म का चिद्विलास मानते हैं यही उनका महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

ज्ञानेश्वरजी ने माया को ब्रह्माश्रित माना है। वे कहते हैं कि परमेश्वर स्वमाया का पर्दा लगाकर अकेला ही सूत्रपालन करता है और बाहर चले पर्देपर चौरासी लक्ष योनियों का छायाचित्र दिखाई देता है। याने संसार एक छायाचित्र है। विश्व का संचालक एक परमात्मा तत्व है।

माया के सारे कार्यकलाप ब्रह्म के आधार से ही चलते हैं। उसका अलग अस्तित्व नहीं। ब्रह्म के अस्तित्व के कारण ही माया विश्व को जन्म देती है। जगत् को ब्रह्म का विलास या लीला मानना ही चिद्विलास वाद का तत्वज्ञान है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि ज्ञानेश्वरजी ने शंकराचार्य के प्रभाव से माया को अनिर्वचनीय कहा है, सांख्य के अनुसार प्रकृति माना है, शैतान के समान उसको अध्यात्ममार्ग में बाधक समझा है। उसको भ्रमरूप और अज्ञान रूप समझकर विद्या और अविद्या माया का वर्णन किया है। चिद्विलासवाद की पृष्ठभूमि के रूप में ही उन्होंने मायावाद को अपनाया है।

मोक्ष :

ज्ञानेश्वरजी के मोक्ष संबंधी विचार नाथपंथ के विचारों से मिलते–जुलते हैं। नाथपंथ में द्वैताभाव नष्ट होने को, समरसीकरण को, पिंडसंवित्ति को या शिवत्व प्राप्त करने को मोक्ष कहा है। ज्ञानेश्वर जी पूर्णाद्वैती होने के कारण द्वैताभाव नष्ट होना ही उनके मत से मुक्त होना है। मुक्ति के लिए उन्होंने निर्वाण, परमपद, समरसीकरण, कैवल्य, ब्रह्मरूप होना आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ज्ञानेश्वर जी खुद योगी होने के कारण मोक्ष संबंधी यौगिक क्रिया का वर्णन ज्ञानेश्वरी में मिलता है।

परि तेणें काया काज आपणयां। अवधारीं ऐसा धनंजया।
लोप आधी भूतत्रया। देहींचा देहीं।। [52]

अर्थात् योगी के शरीर के तीन महाभूत पृथ्वी, आप और तेज लोप हो जाते हैं।

पृथ्वी का अंश आप में, आपका अंश तेज में समा जाता है और तेज का अंश हृदय के पवन में प्रविष्ट हो जाता है। फिर अंत में अकेला पवन शेष रहता है। इस समय इस शक्ति का 'कुंडलिनी' नाम नष्ट हो जाता है और उसे 'मारूति' नामक नया नाम प्राप्त होता है। तथापि वह जब तक ब्रह्म स्वरूप में मिलता नहीं, तब तक उसमें शक्तिमत्ता बना रहता है। यह शक्ति जालंधर बंध छोडकर, काकीमुखी जो सुषुम्ना नाड़ी है उसका मुँह फ़ोड़कर ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करती है। इसके पश्चात ओंकार के पीठ पर पैर रखकर 'पश्यंती' की सीढ़ी लांघ जाती है। इसके उपरांत जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है, उसी प्रकार कुंडलिनी अर्धमात्र पर्यंत (उकार से मकार तक) ब्रह्मरंध्र में घुसती है। तदुपरांत वह ब्रह्मरंध्र में स्थिर होती है और अपनी सोहं भावना की भुजाएँ फैलाकर बड़े आवेश से परब्रह्म को आलिंगन करती है। पंचमहाभूतों का आवरण हट जाता है और शक्ति और ब्रह्म की भेंट होती है। आकाश के साथ परब्रह्म से एक रस होकर लय

हो जाती है। पिंड के ग्रास करने की नाथपंथीय कल्पना ज्ञानेश्वरी में भी आई है।

पिण्डे पिण्डाचा ग्रासु। हा तो नाथ संकेतीचा दंशु।

परि दाऊनि गेला। उद्देशु। महाविष्णु।। [53]

इस ओवी में नाथपंथ के अनुसार ही ज्ञानेश्वरजी ने अपनी मोक्ष संबंधी कल्पना स्पष्ट की है। ज्ञानेश्वर जी अमृतानुभव के तीसरे अध्याय में कहते हैं कि आत्मा नित्यमुक्त है। जहाँ बंधन नहीं है, वहाँ मोक्ष की कल्पना की आवश्यकता ही क्या? एक ही शरीर को पकड़कर रहनेवाली अहंता जब इस ज्ञान से अच्छादित होती है कि सब मैं ही हूँ और सर्वत्र मैं ही भरा हुआ दिखाई देता हूँ। फिर यह कहना कहाँ तक उचित है कि मैं छिपा हुआ था। यदि छिपा हुआ था तो कहाँ? और प्रकट हुआ तो कहाँ से? न मैं कहीं छिपा था न कहीं से प्रकट हुआ।

आणि ज्ञानबंधु ऐसें। शिवसूत्राचिने मिसें।

म्हणितले असें। सदाशिवें।। [54]

ज्ञानेश्वरजी ने ज्ञानमार्गियों को मिलनेवाले मोक्ष का वर्णन रूपात्मक ढंग से बड़ी ही सुंदरता से किया गया है।

ज्ञानेश्वर जी श्रीकृष्ण के द्वारा कहते हैं कि तू अपनो को मद्रुपकर मेरे भजन में अनुराग धारण कर। सब ओर मेरा ही स्वरूप जानकर अकेले मुझको प्रणाम कर। यहाँपर ज्ञानेश्वरजी ने द्वैत भावना की ओर संकेत किया है। आठवें अध्याय में यही एकरूपता सरिता और सागर के से स्पष्ट की है।

पैं सरितेचोनि ओघें। सिंधुजळा मीनलें घोघें।

तें काय वर्तत आहे मागें। म्हणोनि पाहों येती।। [55]

अर्थात् नदी के प्रवाह के साथ सागर से मिला हुआ पानी क्या पीछे "क्या चला है?" यह देखने के लिए आता है?

ना तें समुद्रचि होऊन ठेलें। तेविं चित्ताचे चैतन्य जाहालें।

जेथ यातायात निमाले। घनानंद जे।। [56]

अर्थात् पानी जिस प्रकार समुद्र ही बनता है, उसी प्रकार चित्त चिद्रूप होने के बाद जन्ममृत्यु की यातायात नष्ट होती है। वह मुक्त होता है। क्योंकि वह चैतन्य ही घनानंद रूप बनता है।

ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय में वह कहते हैं कि सद्‌गुरु की भेंट होने के बाद वैराग्य प्राप्त होता है और साधक नित्यानित्य विवेक करने लगता है। उस नित्यानित्य विवेक से यह अनुभूति दृढ़ होती है कि ब्रह्म ही केवल एकमात्र सत्य है और बाकी सब मिथ्या है, या भ्रांति है। वही ब्रह्म सर्वात्मक है और सर्वश्रेष्ठ है, जिस ब्रह्म की अनुभूति में मोक्ष का प्रयोजन भी नष्ट होता है। जो ब्रह्मज्ञान अपने पेट में जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को अंतर्लीन करता है वह ब्रह्मज्ञान भी जिस अवस्था में नष्ट होता है, ऐक्य की एकता भी जहाँ नहीं रहती और आत्मदर्शन के प्रथम आनंदकण का भी ब्रह्म स्वरूप में लय हो जाता है। कुछ शेष न रहने पर भी जो बचा रहता है, उस ब्रह्म में ब्रह्म होकर रहने की अवस्था साधना से कर्म से पाई जाती है।

तिथे ब्रह्मी ऐक्यपणे। ब्रह्मचि होऊनि असणे।

तें क्रमेंचि करुन तेणै। पाविने पै।। [57]

ज्ञानेश्वरजी ने जीवनमुक्त अवस्था का भी वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जीवनमुक्त साधक की स्वार्थ भावना का लोप होता है और केवल कर्तव्यता बनी रहती है। उसमें रागद्वेष आदि विकार नहीं रहते। वह काम, क्रोध से मुक्त होकर इंद्रियों के विषयों के बारे में उदासीन रहता है और हमेशा आत्मानंद में तल्लीन रहता है। वह दुखों में खिन्न नहीं होता और सुखों में आसक्त नहीं रहता।

पार्था जयाचां गर्यीं। वैष्यम्याची वार्ता नाहीं।

रिपुमित्रां दोही। सरिसा पाडु।। [58]

अर्थात् उसके पास विषमता फटकती तक नहीं। वह शत्रु और मित्र से समान रूप से बर्ताव करता है।

जिस प्रकार अवकाश लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह निंदा स्तुति से विचलित नहीं होता।

ज्ञानेश्वरजी ने विदेह मुक्त अवस्था का भी वर्णन किया है। विदेहमुक्त अवस्था जीवनमुक्त अवस्था से ऊँची होती है। इस अवस्था में साधक शरीरबद्ध रहते हुए भी शारीरिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। ऐसे ही विदेह मुक्त साधक को 'परमहंस' कहते हैं। जिस प्रकार कमलदल पानी में रहकर पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार योगमुक्त कर्म करने पर भी कर्मबंधनों से अलिप्त रहता है। जैसे –

तो कर्मे करी सकळें। परी कर्मबंधा नाकळे।

जैसें न सिंपे जळीं जळे। पद्मपत्र।। [59]

ब्रह्म की अनुभूति के सिवा उसके लिए कुछ शेष नहीं रहता।

एवं तो बोले तें स्तवन। तो देखे ते दर्शन।

अद्वया मज गमन। तो चाले तेंचि।। [60]

अर्थात् वह जो बोलता है वही परमात्मा का स्तवन है। वह जो देखता है वह ब्रह्म का ही दर्शन है। यह तो 'सहज समाधि' की अवस्था है।

4.3.2 संत नामदेव – ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया, मोक्ष

ज्ञानेश्वरजी के समकालीन नामदेवजी ने दर्जी जाति के परिवार में शके 1192 [61] प्रथम संवत्सर कार्तिक शुक्ल 11 रविवार को सूर्योदय के समय नरसी ब्राह्मणी ग्राम में जन्म लिया। नामदेवजी के पिता विट्ठलभक्त थे। प्रतिवर्ष पंढरपुर की वारी करते थे। अतएव बचपन से ही 'नामा' के मन में विट्ठलभक्ति का उदय हो गया था। नामदेवजी का मन घर–गृहस्थी में नहीं लगा। वे पंढरपुर जाकर विट्ठलसेवा में रहने लगे। वहीं उनकी भेंट

ज्ञानेश्वरजी से हुई और उनके संसर्ग से उन्होंने विसोबा खेचर से दीक्षा ली। बाद में वे महाराष्ट्र के बाहर उत्तर पंजाब की ओर चले गए। पंजाब में 'घुमान' नामक स्थान पर आज भी नामदेव का मंदिर विद्‌यमान है। उन्होंने 80 वर्ष की उम्र में सन 1350 में पंढरपुर के विट्‌ठलमंदिर के महाद्‌वार पर समाधि ले ली। नामदेवजी की रचनाएँ इस प्रकार हैं —

श्री नामदेवाची गाथा — नामदेव के नाम से प्राप्त होनेवाले सभी मराठी पदों का यह अच्छा संग्रह है।

श्री नामदेव महाराज यांच्या अभंगाची गाथा — इसका संपादन त्र्यंबक हरी आवटे ने किया है। इस गाथा में नामदेवजी के मराठी अभंगों के अतिरिक्त उनके परिवार तथा समकालीन कुछ अन्य संतों के अभंग भी दिए हैं।

जीवन के उत्तरार्ध में उत्तर भारत की यात्रा करते हुए नामदेव जी ने हिंदी में कुछ पदों की रचना की। विविध हस्तलिखित प्रतियों में कुल 234 पद नामदेवजी के नामपर मिलते हैं। पुणे विश्वविद्‌यालय द्‌वारा प्रकाशित 'संत नामदेव की हिंदी पदावली' नामक संकलन में संग्रहित किए गए हैं।

संत नामदेव वारकरी संप्रदाय के श्रेष्ठतम प्रचारक हैं। उनकी काव्यरचना ने न केवल मराठी की अपितु हिंदी साहित्य की श्रीवृद्‌धि की है। संतश्रेष्ठ नामदेवजी ने महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक उत्तर भारत में हरिनाम की वर्षा की। उन्होंने अपनी भक्तिरसभीनी अभंगरचना द्‌वारा साधारण जनों के हृदय पर भक्ति का अमिट प्रभाव डाला। संत नामदेवजी का महाराष्ट्र में वही स्थान है जो संत क़बीर अथवा भक्त सूरदास का उत्तरी भारत में। संत नामदेव जी वारकरी संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। वारकरी संप्रदाय के प्रमुख दार्शनिक तत्व हैं — अद्‌वैतभक्ति, ऊँच—नीच परिहार, समदृष्टि। ब्रह्म—जीव अंशी—अंश है, जिसकी अभिन्नता का विच्छेद अविद्‌या माया के कारण होता है। फलस्वरूप माया में ग्रस्त जीव घोर संसारी होकर वैसा

ही आचरण करता है। ऐसे समय यदि उसे भगवत्प्रेरणा हुई तो वह भक्ति की ओर उन्मुख हो उठता है, जिससे उसके अन्तस्तल की मलिनता धुल उठती है और आत्मा पवित्र हो जाती है। फलस्वरूप ब्रह्म से अन्यन्यता जुड़ने में उसे कोई बाधा नहीं पड़ती और वह ब्रह्ममय हो जाता है।

ब्रह्म :

नामदेवजी के ब्रह्म संबंधी विचार अद्वैतवेदांत पर आधारित हैं। वे मानते हैं कि ब्रह्म सर्वाधिपति और सर्वाधार है, जो चराचर में समान भाव से व्याप्त है।

सृष्टि में जो कुछ भी है, वह उससे ही उत्पन्न है, वह अपने स्वरूप में विराट है —

आउ कलंदत केसवा। / करि अबदाली भेसवा।।

....

बीबी कउला सउ काझु तेरा निरंकार आकारै।। [63]

अर्थात् हे मदारी रूप केशवा, तुम एक विराट रूप धारण करके आ जाओ। चतुर्दिक प्रसरिक आकाश तुम्हारी टोपी और सप्त समुद्र अथवा सप्त लोक तुम्हारे पद—त्राण हैं। चर्मधारी समग्र जीव तुम्हारे मंदिर हैं। छप्पन करोड़ बादल तुम्हारे वस्त्र हैं और सोलह हजार गोपियाँ कमरबंद हैं। पृथ्वी पर उगनेवाली अठारह वनस्पतियाँ तुम्हारे मुग्दरों का भार है। मेरी देह ही मस्जिद और मन मौलाना है। तुम्हारी पत्नी कमला है, जिसके साथ तुम हमारे शरीरों में विद्यमान हो, तुम्हारे इस स्वरूप को मैं साकार मानूँ या निराकार। जब मैं तुम्हारे भक्ति में निमग्न था तभी मेरे हाथ से मंजीरा खिसक गए, मैं यह शिकायत करूँ तो किससे करूँ? नामदेव जी कहते हैं मेरा स्वामी अंतर्यामी है, जो देश—विदेश में समान रूप से घूमता है। नामदेवजी के अनुसार कुंजर, चींटी आदि विविध भाजन एक ही मिट्टी से बने हैं और जड़—जंगम आदि सभी ब्रह्म समान रूप से व्यापक है।

एकल माटी कुंजर चींटी, भाजन हैं, बहु नाना रे।

असथावर जंगम कीट पतंगम घटि घटि रामु समाना रे।। [64]

जब माँ न थी, न पिता था, न काया थी न हम थे, न तुम थे, तब इस चराचर की सृष्टि कैसे हो गई? इसपर नामदेव जी कहते हैं परमतत ही ब्रह्म—तत्व है, जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई। ब्रह्म निर्गुण—सगुण दोनों है।

एक अनेक बिआपक पूरक जत देखउ तत सोई।

माइया चित्र विचित्र बिमोहित बिरला बूझै कोई।।[65]

अर्थात् ईश्वर एक है जो सर्वव्यापक और सर्वपूरक है, जिधर भी देखो वही दिखलाई पड़ता है।

कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै बिचारी।

घट घट अंतरि सरब निरंतर केवल एक मुरारी।। [66]

अर्थात् हे मनुष्य, ईश्वर की सृष्टि को अपने हृदय में विचार कर देख, एक ईश्वर ही घट—घट और चराचर में समान रूप से व्याप्त है।

ठाकुर को स्नान कराने के लिए मैं जल से भरा घडा लाया, उस जल में बयालीस लाख जीव रहते हैं, जिनमें भगवान का निवास है, फिर भला मैं उन्हें कैसे स्नान कराऊँ? स्पष्ट है कि ईश्वर चराचर में व्याप्त है, उसे पाने के लिए बाह्याडंबर की जरूरत नहीं है।

पृथ्वी के जल, थल आदि सभी स्थानों में परमेश्वर व्याप्त हैं।

जिउ आकासै पंखअलो खोजु निरखिओ न जाई।

जिउ जल माझे माछली मारगु पेखणो न जाई।। [67]

भगवान को देख सकना वैसे ही कठिण है, जैसे आकाश में पक्षी का मार्ग अथवा जैसे जल के मध्य में मछली का मार्ग।

नामदेव जी कहते हैं कि ईश्वर समीप है, दूर नहीं है, जो हमारी आत्मा में व्याप्त है। ईश्वर का वर्णन करते हुए नामदेव जी कहते है कि एक गूँगा व्यक्ति अमृत रस का आस्वादन करे और पुछने पर बता न

सके। इस प्रकार ईश्वर का वर्णन करना कठिन है, वह तो सभी प्राणों में समाया हुआ है। ब्रह्म घट–घट वासी है, ज्ञान हो जाने पर उसका दिव्य प्रकाश छिपता नहीं है।

नामदेवजी ने ब्रह्म को सर्व शक्तिवान, सर्वव्यापक और सर्वोपरि सिद्ध किया है। इस प्रकार ब्रह्म संसार का सर्वस्व है।

ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए जीव को प्रयत्न करना पड़ता है। गुरु, जीव और ब्रह्म के बीच की कड़ी है। नामदेवजी के हिंदी पद में गुरु का महत्व प्रतिपादित हुआ है। राग भैरउ के (11) में सभी पद गुरु की महत्ता दर्शाते हैं। जैसे –

जउ गुरदेउ त भउजल तरै।

जउ गुरदेउ त जनमि न मरै।।

अर्थात् गुरु–कृपा से जीव का उद्धार हो जाएगा और उसे निर्वाण पद प्राप्त होगा। गुरु–कृपा से ही अपने अंतरमन की अमर ज्योति और अनाहद नाद से परिचित होने का सामर्थ्य होता है। पंढरीराय श्री विट्ठल वारकरी संप्रदाय के प्रमुख आराध्य है। नामदेवजी ने भी उनके मराठी अभंगों में विट्ठलका गुणगान किया है। संप्रदाय का भक्तितत्व आराध्य के अद्वैत रूप पर आधारित है। सच तो यह है कि भक्ति के बहाने विट्ठलरूप में निर्गुण ब्रह्म का वैभव स्थिर हो गया है।

ब्रह्म के निर्गुण रूप का वर्णन वह इस प्रकार करते हैं

निर्विकार निराकारू। नि:शून्य निरधारू।

निर्गुण अपरम्पारू। चिदानंद सांवले।। [69]

नामदेवजी ने अपने कीर्तन में वर्णन किया है कि जीवन और संसार के प्रत्येक क्षेत्र में उनको अपना आराध्य ही दिखाई देता है।

जीव विट्ठलआत्मा विट्ठल ।

परमात्मा विट्ठलविट्ठल ।।

जनक विट्ठलजननी विट्ठल ।

सोयरा विट्ठलसांगाती।। [70]

नामदेवजी का यह विश्वास था कि विट्ठल सगुण–निर्गुण से परे है। इसलिए उचित–अनुचित जैसी भी स्थिति हो उसका भजन करना कर्तव्य है।

निर्गुण सगुण नव्हे तें समान।

तैसें तेंहि जाण योगाभ्यासी।। [71]

विट्ठल सर्वपरि और सर्वव्यापक है। इससे उनके अद्वैत हो जाने के लिए उनके प्रति नामदेवजी की अनन्य निष्ठा और दृढ भक्ति है।

जीवात्मा :

नामदेवजी ने जीव को आत्मा कहकर उसका निरूपण गीता की शैली पर किया है। नामदेव जी कहते हैं, आत्मतत्व सारे संसार में व्याप्त है। उसी को लोग विश्वात्मा कहते हैं। आत्मा और विश्वात्मा मूलतः एक ही है। यह माया है जो आत्मा को पंचतत्वमय शरीर से आबद्ध करके अपने वश में कर लेती है। यथा –

बीहौ बीहौ तरी सबल माया, आगै इनि अनेक भरमाया ।।[72]

माया से आबद्ध आत्मा ही जीव के नाम से प्रसिद्ध है। नामदेवजी के अनुसार ब्रह्म जीव में व्याप्त है। जीव एक ही मिट्टी के विविध पात्र हैं। वास्तव में स्थावर और जंगम सभी में वही राम व्याप्त है। जीव ब्रह्म की गति को नहीं जानता है। अतः वह उसके लिए अवर्णनीय है। जीव इस संसार में आता है और ईश्वर–भक्ति को भूलता है, वह अज्ञानी है, अपराधी है और कुसंगति में पड़कर कुत्सित कर्म करता है। जीव की अपनी कोई भिन्न सत्ता नहीं है, वही एक होकर अनेक हो गया है।

मैं नहीं मैं नहीं मैं नहीं माधो तू है मैं नहीं है।

तू एक अनेक है बिस्तरयो मेरी चरम न साई हो।। [73]

जीव अज्ञान की निद्रावस्था में है, वह यह नहीं पुछता है कि मनुष्य को यहाँ से चार दिन व्यतीत करके प्रयाण करना है।

नामदेवजी के अनुसार जीव और ब्रह्म का संबंध जल और तरंग का है।

आपन देव बहुरा आपन आप लगावै पूजा।

जल ते तरंग तरंगें ते है जल कहन सुनन को दूजा।। [74]

अर्थात् जल से तरंगे और तरंगों से जल है, ऐसी स्थिति परस्पर ब्रह्म–जीव की है। भले ही कहने–सुनने में वे दो हो।

नामदेव जी जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं। वे कहते हैं कि हे माधवा! तुम मुझसे बाजी क्यों नहीं लगाते हो? (तुम बताओ कि तुझमें और मुझमे क्या अंतर है? अर्थात् कोई अंतर नहीं हैं।) भगवान से भक्त और भक्त से भगवान है। अद्वैत का यही खेल भक्त और भगवान के बीच चल रहा है। तुम्हीं देवता हो, तुम्हीं मंदिर हो, तुम्हीं पुजारी हो। हे भगवान! तुम्हीं गाते हो, नाचते हो और वाद्य बजाते हो। नामदेव जी कहते हैं – हे भगवान! तुम मेरे स्वामी हो। तुम्हारा भक्त अपूर्ण है, तुम पूर्ण हो।

नामदेवजी के अनुसार सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है। वह सब जीवों में समाया हुआ है। यह माया ही है जिसने सारे संसार को मोह लिया है। अन्यथा तुम घट–घट वासी हो। यथा –

जामैं सकल जीव की उतपति। सकल जीव मैं आप जी।

माया मोह करि जगत भुलाया। घटि–घटि व्यापक बाप जी।।[75]

अज्ञानी जीव को मोहिनी माया अपने पाश में जकड़ लेती है। ऐसे अज्ञानी जीव को चेतावनी देते हुए नामदेव जी कहते हैं –

हे जड़, तू सचेत हो जा। तुझे यह औघट घट पार करना है। नामदेव जी जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं –

तेरी गति तू ही जाने। अल्प जीव गति कहा बषानै।

जैसा तू कहिए तैसा तूँ नाहीं। जैसा तूं है तैसा आछि गुसाई।।

लूण नीर थे नान्है न्यारा। ठाकुर साहिब प्राण हमारा।।

साध की संगति संत सूं भेटा। प्रणवंत नांभा रांम सहेरा।। [76]

अर्थात् हे जीव, तेरी गति तू जानता है। मैं उसका क्या वर्णन करुँ? जैसे लवण पानी में द्रवित होने पर अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मेरा और मेरे स्वामी का संबंध है। सत्संग से मुझे उसकी प्राप्ति हुई है। मैं प्रेमातिशय से उसकी वंदना करता हूँ। नामदेवजी ने जीव और ब्रह्म का संबंध इस प्रकार स्पष्ट किया है —

जहां तुम गिरीवर ताहां हम मोरा। जहां तुम चन्दा तहां मैं चकोरा।

जहां तुम तरुवर तहां मैं पंछी। जहां तुम सरोवर तहां मैं मच्छी।। [77]

इस प्रकार जीव अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आधारित है, अन्य पर नहीं। जीवन को बंधन में डालनेवाले कर्म इस संसार में व्याप्त है, जीव जो भी कुछ करता है उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, अन्य नहीं।

मनुष्य अपना समय अहंकार में व्यतीत करके दुर्गति को प्राप्त करते हैं। अपनी क्षणभंगुर स्थिति में गर्व करना मूर्खता है। नामदेव जी कहते हैं, तुम अपनी जीवात्मा को चैतन्य प्रदान करो, इस प्रकार आत्मा एकाग्र होकर अमर हो जाएगी।

जगत् :

जगत् ब्रह्म का ही साकार रूप है। ब्रह्मस्वरूप विश्व का वर्णन नामदेवजी ने इस प्रकार किया हैं।

माधौ माली एक सयाना। अंतरिगत रहै लुकानां ।। टेक।।

....

रचनहार विधि ऐसी रची है, प्रणवै नामदेव दासा।। [78]

अर्थात् माधव रूपी माली सयाना है। वह आप ही बगीचा है तथा आप ही माली है। वह आप ही पानी है और आप ही पवन है। वह अपने से प्रेम

करता है। वह स्वयं ही चंद्र तथा सूरज है। आप ही धरती तथा आकाश है। जिस सृष्टिकर्ता ने इस प्रकार सृष्टि की रचना की, नामदेव उसका दास है।

संत नामदेवजी के अनुसार जगत् हाट है जहाँ मनुष्य वस्तुओं का क्रय—विक्रय करते हैं। मूर्ख मनुष्य अपना मूल धन ही गँवा देता है।

यह संसार घर का लेखा। सब कोई बनिजहि आया।
जिन जस लाघा तिन तस पाया। मूर्ख मूल गंवाया।। [79]

मनुष्य संसार के प्रति आकृष्ट है अतः वह परमपद से दूर हो जाता है। समस्त संसार माया और मोह में भूला—भटका है। हरिनाम सत्य है बाकि समस्त संसार असत्य है।

सारा संसार नांव है, झूठा सब संसार।। [80]

संसार को नष्ट होने में देर नहीं लगती है। यह काल के ग्रास में एक क्षण में आता है। इस कारण हे मन—रूपी पक्षी, संसार के जाल में मत फँसो, यह मायां जाल है।

नामदेवजी ने संसार इस शब्द का प्रयोग करते हुए इसकी क्षणभंगुरता का प्रतिपादन किया है। संसार में अनासक्त रहकर भक्तिमार्ग का अवलंब करना चाहिए ऐसा उनका मत है। वे कहते हैं, इस जन्म—मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने के लिए भक्ति की आवश्यकता है। रामनाम लेने से ही भवसागर पार हो सकता है। विट्ठलपर दृढ विश्वास रखने से संसार से भय दूर हो जाता है।

कलीयुग में तारने की ताकद नामस्मरण में है।

आलेमो संसार सोडवणे करा। शरण जा उदारा पांडुरंगा।
प्रपंच न सरे कदा कल्पकोडी। वासनेची बेडी पडे पायी।
नामा म्हणे पाहा विचारुनि मनी। स्मरावा निर्वाणी पांडुरंग।। [81]

अर्थात् प्रपंच और वासना के बंधन से छुटकारा पाने के लिए विट्ठल भक्ति आवश्यक है।

जळीं बुडबुडे देखतां देखतां। क्षण न लागता दिसेनासी।

तैसा हा संसार पाहतां पाहतां। अंत:काळी हातां काय नाहीं।। [82]

अर्थात् संसार पानी के बुदबुदे के समान क्षणिक है। सपेरे के खेल की तरह क्षणभंगुर है।

वस्तुत: सर्व ब्रह्मरूप ही है किंतु मनुष्य मायामोह में अपनी स्थिति को भूल जाता है। नामदेव जी कहते हैं कि विट्ठल के साथ मन एकाग्र होने से सुखप्राप्ति हो सकेगी।

ईश्वर ने जो कार्यभार सौंपा है उसको सँभालते हुए भक्ति करनी चाहिए। नामदेवजी ने राहगीर की उपमा देकर संसार से अलिप्त रहने का उपदेश दिया है। संसार किस प्रकार होता है इस बात को एक अप्रतिम रूपक के साथ स्पष्ट किया है। यथा –

पक्षी अवचित अंगणात आला। घेऊनियां गेला सारा नेणे।

हाटकरी आम्ही हाटासी पैं गेलो। फिरुनियाँ आलो

गावामाजी।। [83]

अर्थात् पक्षी जिस प्रकार दाना चुभने के लिए आँगन में आते हैं उसी प्रकार मनुष्य सुख–दु:ख भोगने के लिए पुन: पुन: जन्म लेता है।

नामदेवजी कहते हैं कि जाति–भेद से कुछ प्राप्त होता तो साधुओं ने जाति का अभिमान त्यागा नहीं होता। उन्होंने निरहंकारी रहकर ईश्वरप्राप्ति की। संसार में कर्म करते हुए भी चित्त ईश्वर के समीप होना चाहिए। आसमान में पतंग उडानेवाले का ध्यान डोरी पर रहता है। सिर पर पानी के घड़े लेकर जानेवाली स्त्रियों के हाथ नीचे होते हैं परंतु उनका ध्यान उस घड़े पर केंद्रित रहता है। उसी प्रकार संसार में विविध कर्म करते हुए हमारा ध्यान परमेश्वर केंद्रित होना चाहिए। ऐसा कर्मयोग का उपदेश नामदेव जी देते हैं। जैसे –

वावडी दुरीच्या दुरी उडतसे अंबरी। हाती भले दोरी परि लक्ष तेथे।

दुडीवर दुडी पाण्या निघाली गुजरी। चाले मोकळया करि परि लक्ष तेथे।। [84]

नामदेवजी कहते हैं कि इन षड्रिपुओं के जाल में मनुष्य फँसता है, संसार से ऊब जाता है।

इस प्रकार नामदेवजी ने संसार मिथ्या है, प्रपंच क्षणभंगुर है इस बात को स्पष्ट करते हुए इनसे छुटकारा पाने के लिए भक्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। संसार में रहकर भी शुद्ध अंतःकरण से ईश्वर की भक्ति कर सकते हैं। नामदेवजी ने सहजता से परमार्थ का मार्ग सामान्य लोगों के सामने स्पष्ट किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं – संसार दुःख पूर्ण होते हुए भी नामदेव जी कहीं भी उसका त्याग करने के लिए नहीं कहते। उनके अनुसार प्रत्येक भक्त को उत्पादन श्रम करना चाहिए। प्रत्येक मानव को अपनी जीविका का काम करते समय हरि—भजन या नाम—स्मरण करते रहना चाहिए। नामदेवजी ने जीवन पर्यंत अपना पेशेवर कार्य (दर्जी) किया।

माया :

नामदेवजी के अनुसार माया जीव को ब्रह्म से विलग कर देती है, जिससे वह ज्ञानाभाव में भटकता हुआ कर्माश्रय लेता है। इस स्थिति में वह दुर्गुण और दुष्कर्म की ओर उन्मुख हो जाता है।

माया के विद्या और अविद्या दो विभेद हैं। प्रथम में ज्ञान और द्वितीय में कर्म—तत्व का प्राधान्य रहता है। अविद्या में कर्मानुष्ठान द्वारा जीव दुष्कर्मों एवं सांसारिक विकारों से रहित होकर निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपा से मृत्युमय संसार से तर जाता है। विद्या में कर्म—साधन के साथ ब्रह्म—विषयक ज्ञानाभ्यास द्वारा वह उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। अनंतर परब्रह्म परमेश्वर के साक्षात दर्शन कर लेता है।

जीव का गर्भ में आना ही माया से ग्रस्त होना है, यदि वह उसमें बँधे नहीं तो वह मुक्त है और परमेश्वर के दर्शन का अधिकारी होता है। वस्तुतः यह परिस्थिति भगवत्प्रेरणा पर आधारित है। भगवत्कृपा होने पर ही परब्रह्म परमेश्वर को जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।

जीव का गर्भ योनी में आना ही माया है, यदि वह छूट सके तो भगवान के दर्शन हो सकते हैं। आगे चलकर वे कहते हैं, माया मुझसे नहीं लिपटेगी, मैं इस संसार से मुक्त हो जाऊँगा।

सभ तै उपाई भरम भुलाई। जिस तू देवहि तिसहि बुझाई।।[85]

अर्थात् इस संसार में उत्पन्न प्राणी माया—पाश के कारण अपने को भूल गए हैं। हे भगवान! जिस व्यक्ति को तुम ज्ञान देते हो वही तुमको जान पाता है।

माया वस्तुतः जीव मात्र को मुग्ध कर लेती है। इससे उसका रहस्य जान सकना कठिन है। इसी से माया अनिर्वचनीय कही जाती है। माया के विचित्र चित्रों से संसार मुग्ध है, कोई बिरला ही उसे जान पाता है।

रे मन पंछीया न परसि पिंजरे। संसार माया जाल रे।

येक दिन मैं नीन फेरा। तोहि सदा झंपै काल रे।।[86]

अर्थात् हे मनरूपी पंछी! तू संसार रूपी जाल को स्पर्श न कर। माया दिन में तीन फेरे लगाती है। काल तुझ पर झपट रहा है। अभिमानी मनुष्य को चेतावनी देते हुए नामदेव कहते हैं कि यह संसार धोखे की टट्टी है, मायाजाल है। धन, यौवन, पुत्र तथा स्त्री को तू अपना न समझ। ये बालू के मंदिर के समान नष्ट हो जाएँगे। इसी माया के मोह में समस्त जगत भटकता है।

संसार में मनुष्य अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है।

अकेला आना, अकेला जाना, सब झूठी माया पसरी जू।।[87]

जीवन—मरण में कोई साथ नहीं देता। असत्यता के कारण माया छूट जाती है और मनुष्य अकेला ही मृत्यु प्राप्त करता है। चराचर के समान माया ब्रह्म—प्रसूत है, जो जीवात्माओं को भटकाती है। तथ्य यह है कि माया को प्राबल्य होने पर ब्रह्म और ब्रह्म को प्राबल्य हो जाने पर माया दृष्टिगोचर नहीं होती।

बीहू बीहू तेरी सबय माया। /अगे इनी अनक भरमाया।
माया के अंतर ब्रह्म न दीसई। / ब्रह्म के अंतर माया न
दीसई।। [88]

नामदेव जी मन से कहते हैं कि रे मना! विषयरूपी संसार—सागर को तू भला कैसे तर सकेगा? तू तो झूठी माया को देखकर ही अपने को भूल गया है। माया हमें भ्रमित करती है। जैसे —
जैसे घड़े में आकाश होने का भ्रम है, वैसे ही मृगतृष्णा से युक्त जीव माया से भ्रमित है। माया निर्माण के तथ्य का समाधान निम्न पंक्तियों में है।

सृष्टि के पूर्व एक कमल उत्पन्न हुआ, उससे ब्रह्म, अनंतर सभी मानव—प्राणी प्रकट हुए, इसके अतिरिक्त माया दिग्—दिगंत तक फैल गई और वह सभी संसार को नचाने लगी। प्रथम ब्रह्म प्रकट हुआ, अनंतर उससे माया उत्पन्न हुई, ब्रह्म और माया का मिश्रण हो गया। संसार में सभी मानव, महि और सागर माया के वशीभूत होकर ऐसे नाचते हैं जैसे कृष्ण के समक्ष रास में गोपियों ने नृत्य किया था।

सच तो यह है कि जीव को माया के बंधन से बने रहना चाहिए, यह तभी संभव है यदि वह सर्वाधिपति के महत्व को समझ ले और सश्रद्ध नवधा भक्ति में प्रवृत्त हो। ईश्वरोपासना का मिथ्या स्वाँग भरनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा नवधा भक्ति का अनुयायी अधिक पुण्यात्मा और सफल है।

मोक्ष :

मोक्ष के बारे में नामदेवजी ने स्वतंत्र विचार स्पष्ट नहीं किए हैं। उनकी भक्ति में ही मोक्ष की भावना का उल्लेख मिलता है। उनका सिद्धांत है कि भक्ति बिना मोक्ष नहीं मिल सकता है। अपने गुरु विसोबा खेचर से निर्गुण परब्रह्म का अलौकिक अनुभव मिलने पर भी योगमार्ग का अनुसरण न करते हुए नामदेवजी ने भक्तिभावना को ही महत्व दिया है। विराट तत्व दर्शन के अलौकिक सुख पर आधारित भक्ति ही उनको 'व्रत' के समान दिखती है।

निर्गुणाचे वैभव आले भक्तिभिषे। ते हे विट्ठल वेषें उसावलें।
चोविसावेगळे सहस्त्राआगळें। निर्गुण निराळे शुद्धबुद्ध।। [89]

अर्थात् निर्गुण का वैभव विट्ठल मूर्ति के सौंदर्य रूप में साकार हुआ है। वह मूर्ति चोबीस नाम में वर्णित भगवान से अलग और विष्णुसहस्रनाम में वर्णित रूप से अलग नामदेव को भासित हुई।

मोक्षप्राप्ति से भी भक्ति का आनंद अवर्णनीय है। मोक्ष का आधार ही भक्ति है। जैसे —

भक्तीवीण मोक्ष नव्हे हा सिद्धांत। वेद बोले हात उभारोनी।।[90]

नामदेवजी के अनुसार भक्ति का मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। अत: नामदेवजी ने भक्ति को अधिक महत्व दिया। उन्होंने मुक्ति का निरादर किया और मुक्ति को मुक्ति से उच्चतर मूल्य माना। इसी से निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत निकलता है। भाव—भक्ति को ही कर्म दृष्टि से निष्काम कर्मयोग कहा जाता है। नामदेव जी कहते हैं —

ऐके मोक्षाची मी कथा। तेणे भय वाटे चित्ता।।
नामा म्हणे अभयदान। देऊनि सांगे प्रेम खूण।। [91]

अर्थात् मैंने मोक्ष की कथा सुनी है। उससे मुझे भय लगता है। मैं केवल मोक्ष, समाधि अथवा स्वर्गसुख नहीं चाहता। हे पांडुरंगा! अभयदान देकर मुझे अपने प्रेम की निशानी दो। मैं उस मुक्ति को लेकर क्या करुँ? जिससे तेरा वियोग हो। वासना–रहित मन से तेरा स्मरण किया तो तू मुझे सायुज्य मुक्ति देगा। फिर हे वैकुंठनाथा, भक्ति का आनंद मुझे कैसे प्राप्त होगा? यथा –

मुक्ति पद मी गा अभिलाषी न चित्ती।।
झणी अंतरती पाय तुझे।। [92]

परमात्म ज्ञान की प्राप्ति के कारण नामदेवजी को मुक्ति तो मिल ही गई थी केवल ज्ञान के कारण प्राप्त होनेवाली (केवल परब्रह्म रूप होकर रहने की) कैवल्य मुक्ति वे नहीं चाहते थे। मुक्ति प्राप्त होने पर भी वे भक्त–सरिता में अवगाहन करना चाहते थे।

4.3.3 संत एकनाथ– ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया, मोक्ष

एकनाथ जी हिंदी के संत कवि तुलसी के समकालीन कवि हैं। उनका जन्म सन 1504[93] में पैठण में हुआ। एकनाथजी ने अपना भागवत ग्रंथ काशी में लिखा। एकनाथ जी मूल नक्षत्र में जन्मे। 13 वें वर्ष में एकनाथ देगवढ़ में जाकर जनार्दन स्वामी से मिले। वे ही उनके गुरु थे। अपने सब अभंगों के पदांत में एकनाथजी ने 'एका जनार्दन' कहा है। 'निवैरः सर्वभूतेषः आदर्श का आजीवन पालन करके 1599[94] में नाथ का निर्वाण हुआ। माधव गोविंद रानडे ने एकनाथजी के कार्य के विषय में कहा कि भागवत धर्म, एकनाथजी के प्राकृत ग्रंथों में जैसे स्पष्ट है वैसे अन्यत्र नहीं।

निरहंकारी रहकर भक्ति करने में प्रीति, मुक्ति, वैराग्य, सभी कुछ है। नाथ का भागवत पढ़कर हम शांति पाते हैं। सगुण–निर्गुण को समान मानने की उनकी वृत्ति है। वैसे एकनाथ जी कहते हैं कि जैसे सबेरे,

श्याम, मध्याह्न तीनों समयों में आकाश अलिप्त होता है, उसी प्रकार से उत्पत्ति--स्थितिरूप सृष्टि होती जाती है। परब्रह्म उससे अलिप्त है। जागृति का ज्ञान, स्वप्न का मिथ्याभान, सुषुप्ति के साक्षी पूर्ण वही नारायण है।

एवं परमात्मा परंज्योती। आत्मा हृदयस्थ त्रिजगती।

परंतु नाथ की रचनाओं के काल तक आकर निर्गुण धारा केवल मूलाधार के रूप में बची थी। सगुण ने जनमत को अधिक आकृष्ट कर लिया था।

एकनाथजी के ग्रंथों में सबसे लोकप्रिय और प्रसिद्ध ग्रंथ 'भागवत एकादश स्कंध', 'रुक्मिणी– स्वयंवर' और 'भावार्थ–रामायण' है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त चिरंजीवपद 'स्वात्मबोध', 'आनंदलहरी' आदि अन्य कई छोटे मोटे ग्रंथ एकनाथजी ने लिखे हैं। इनके सभी ग्रंथों में ज्ञानोत्तरा पराभक्ति का अमृतरस लबालब भरा हुआ है।

ब्रह्म :

संत एकनाथजी ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को स्वीकार करते हुए सगुण रूप का समर्थन किया है। वारकरी संप्रदाय में भक्ति और ज्ञान का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। ये भक्ति को मूल और ज्ञान को फल मानते हैं। उपनिषद और वेदांत में ब्रह्म की व्याख्या करते हुए जो लक्षण दिए गए हैं, उन्हीं को निर्गुण ब्रह्म के लक्षण माना जाता है। डॉ. मोतीसिंह ने उपनिषद् और शंकराचार्य के निर्गुणवाद और अद्वैत के सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपनिषदों में निर्गुणवाद और अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते समय ज्ञान और कर्म का सामंजस्य अंतर्भूत था, किंतु शंकराचार्य प्रभूति दार्शनिकों ने जो सांप्रदायिक रूप दिया उसमें कर्म को ज्ञान से बहिर्गत कर दिया था। उनकी तर्कता और विवेचना केवल बुद्धिमान पर अवलंबित थी। संत कवि शांकर अद्वैत के समीप न होकर उपनिषद के अद्वैतवाद के समीप हैं, क्योंकि उन्होंने ज्ञान और कर्म, बुद्धि और हृदय दोनों के सामंजस्य का मार्ग अपनाया था। संत एकनाथजी ने उपनिषद और

शंकराचार्य दोनों से प्रेरणा ग्रहण की थी। अपने काव्य में उन्होंने दोनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। उन्होंने अद्वैतबद्ध कर्मप्रधान भक्तिमार्ग को पुरस्कृत किया था। उनके काव्य में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण का विवेचन पृथक–पृथक न होकर एकत्रित रूप में किया गया है। परबह्म के बारे में एकनाथी भागवत में कहा है –

जें वाचेंचें वदवितें। परी वाचा वदो ने शके ज्याते।

....

ज्यासि जाणावयालागी येथे। आणिक जाण ते असेना।।[95]

अर्थात् जो वाणी को बोलने की शक्ति देता है, लेकिन वाणी उनके प्रति बोल नहीं सकती। जो मन, बुद्धि को संवेदित करता है, लेकिन मन और बुद्धि उसको नहीं जानती। जो नेत्र को रूपादि दिखाता है, पर नेत्र उसको देखता नहीं है। जो श्रवण और घ्राण को सुनने और सूँघने की शक्ति देता है, पर दोनों इंद्रियाँ उसको जानते नहीं। इस तरह वह सभी को जाननेवाला पर सभी को सबकुछ नहीं जाननेवाला परब्रह्म है। संत एकनाथजी के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण ही पूर्णब्रह्म है।

जिसने जगत् के उद्धार हेतु लीलया सगुण रूप धारण किया है, वस्तुतः वह अपूर्ण है, परंतु सर्व प्राणियों के लालन–पालन के प्रयोजन हेतु वह मूर्त रूप में उपस्थित हुआ है। उसके मूर्त रूप में भी अमूर्त ब्रह्म व्याप्त रहता है। ब्रह्म मूलतः सत्चित् आनंद का सम्यक रूप है। अनंत, अनादि, अद्वैत, अविनाशी, अविकारी, व्यापक, निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, परम ज्योतिर्मय, अखंड, अगम्य, अगोचर, ज्ञानरूप, स्वयंप्रकाश, स्वतंत्र, सर्वज्ञ है। वह अकर्ता, अभोक्ता, निरूपाधिक, सुख स्वरूपानंद और चल–अचल, स्थूल–सूक्ष्म, दृश्य–अदृश्य आदि विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। उन्होंने अनेक स्थलों पर ब्रह्म के गुणों का वर्णन किया है।

इस अजर, अमर, अरूप, अव्यक्त, अतर्क्य, अजन्मा, विलक्षण ब्रह्म का वर्णन करना स्वयंमेव एक कठिन कार्य है। आगम–निगम, श्रुति पुराण भी

उसका वर्णन न कर सके और अंत में उन्हें नेति—नेति शब्दों के द्वारा निषेध मूलक पद्धति से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करना पड़ा।
एकनाथजी ने भी इसी रीति से ब्रह्म के अवर्णनीय, अतर्क्य एवं अनाकलनीय स्वरूप को समझाते हुए लिखा है —

नाहं जोगी, नाहं भोगी, नाहं जोगी, संन्यासी।

....

नाहं पुरुषा, नाहं नारी, नाहं देही विदेही।। [96]

यही निर्गुण ब्रह्म भक्तों के लिए सगुण सुंदर अवतार ग्रहण करता है। एकनाथजी ने साकार साँवले विट्ठल को निर्गुण निराकार, परात्पर ब्रह्म का अवतार माना है। केवल निर्गुण रूप को महत्व देनेवालों के प्रति एकनाथजी ने तीव्र विरोध व्यक्त किया है। उनके विचार से सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं है। इसलिए दोनों को समान महत्व देने का वे आग्रह भी करते हैं।

ब्रह्म निर्गुण निराकार। विट्ठल सगुण साकार।

अवतरणे परात्पर। परब्रह्म सावळे।। [97]

ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप की एकता के समझाने के लिए एकनाथजी ने कई दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं। घृत और घृतकणिका, बीज और वृक्ष, चीनी और मिश्री, सुवर्ण और सुवर्णालंकार आदि में जिस प्रकार अभेद होता है उसी प्रकार निर्गुण और सगुण रूप में अभेद रहता है। यह रहस्य जानते हुए भी उन्होंने सुलभता, सुगमता एवं सहजता की दृष्टि से सगुण रूप को ही समाज के सम्मुख रखा। वे जानते थे कि साधारण जनता की दृष्टि में घृत की अपेक्षा घृत कणिका समूह, बीज की अपेक्षा वृक्ष, चीनी की अपेक्षा मिश्री, सुवर्ण की अपेक्षा सुवर्णलंकार का रूप—सौंदर्य ही अधिक मनोहर, मधुर एवं संतोषप्रद होता है। उनके मतानुसार मूलतः निर्गुण निर्विकार, सूक्ष्म ज्ञानरूप ब्रह्म ही अपनी रुचि के अनुरूप सुंदर, मनोहर, सगुण रूप में रूपायित होता है। एकनाथजी ने प्रमुखतः श्रीकृष्ण रूप विट्ठल को ही

परब्रह्म के सगुण रूप में देखा है। उसके श्यामल सुंदर रूप पर वे मोहित होते हैं। उसके समचरण सरोज, गले में वैजयंती माला, कटि पर पितांबर, पैरों में घुंगरु आदि की कमनीयता के कारण उसका साँवला तन अधिक ही चित्ताकर्षक हो जाता है। एकनाथजी के सगुण रूप का वर्णन दृष्टव्य है।

सुंदर तनु नंद नंदन लाल छे। गले शोभे वैजयंती माल छे।

पीत पीतांबर घुँगरिया छे। गोपाल नाचती गोरे साथ छे।। [98]

पंढरपुर में विट्ठल ब्रह्म नाम है। सर्व साधु–संत रात और दिन ध्यान करते हैं। वारकरी संप्रदाय के अनुसार एकनाथजी ने भी ईश्वर के प्रचलित सभी नामों का उल्लेख किया है। वे सभी ईश्वरावतारों में एक ही ब्रह्म की सत्ता देखते हैं। वे सभी को विट्ठल रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए उनकी रचना में विट्ठल, श्रीकृष्ण, गोविंद, शिव, राम, दत्तात्रय, जगदंबा, एकवीरा देवी आदि अनेक हिंदू देवी–देवताओं का ही नहीं अपितु मुसलमानों के अल्ला, पोरा आदि का भी समावेश हुआ है। उन्होंने सभी प्रतिष्ठित अवतारों को उसी निर्गुण, निर्विकार, परब्रह्म के ही विभिन्न रूप माने हैं। अत: सांप्रदायिक संकुचित दृष्टि छोड़कर उन्होंने व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण अपनाया। उनके गुरु दत्त–संप्रदाय के थे और उनके कुल में परंपरा से विट्ठल भक्ति थी। उनकी कुलदेवी एकवीरा देवी थी और उनके आदर्श एवं वारकरी संप्रदाय के प्रतिष्ठापक संत ज्ञानेश्वर मूलत: नाथपंथ में दीक्षित थे। उनके गुरु जनार्दन स्वामी सूफी संतों के संपर्क में थे। इस प्रकार विभिन्न विचार धाराओं एवं संप्रदायों से संबंद्ध होने पर भी संत एकनाथ ने अपनी भक्ति में सांप्रदायिक संकोच नहीं आने दिया। अपितु उन सबको उन्होंने अपने विशाल एवं मानवतावादी वारकरी संप्रदाय की अद्वैत भक्ति में समाविष्ट किया है।

उपरोक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि संत एकनाथ जी मूलत: ब्रह्म के निर्गुण, निर्विकार स्वरूप को स्वीकार करते हैं। परंतु बोधगम्यता की कठिनाई, मन, बुद्धि एवं वाचा के लिए भी उसकी अगम्यता, शास्त्रों तथा

वेदों का भी उसके रूप वर्णन में असमर्थ हो जाना आदि बातों के कारण उन्होंने हेतुत: ब्रह्म की सगुण रूप की उपासना जनता के सम्मुख रखी। वे सगुण के माध्यम से निर्गुण को परिचित कराना चाहते हैं और इसलिए सगुण का वर्णन करते हुए उन्होंने चैतन्यसागर, चिदानंदघन, अखंड, अविनाशी, ब्रह्म आदि विशेषणों का सार्थक प्रयोग किया है। वे इन बातों का स्मरण सदैव देते हैं कि यह सगुण ब्रह्म उसी निर्गुण ब्रह्म का रूप मात्र है। सगुण मूर्तियों में उस निर्गुण का आवाहन कर उसकी पूजा—अर्चा की जाती है। भक्त को सगुण साकार रूप के दर्शन की भूख रहती है। उसके बिना उसकी तृप्ति नहीं होती है। एकनाथजी ने योग की दुरुहता को समझाते हुए कहा है कि उसमें यह सगुण दर्शन की भूख कहाँ मिटती है।

जीवात्मा :

द्वैत रूप में जीव का स्वरूप क्या है? इसका उत्तर एकनाथजी के शब्दों में है कि पंचमहाभूतों को साकार करने के पश्चात साकार शरीर में, ईश्वर ही प्रकृति के द्वारा जीव के रूप में शरीर का चालक होता है। जीव और शिव दोनों उसके ही रूप हैं। ब्रह्मांड में प्रवेश करने पर वह चालक है, उसे शिव कहते हैं। शरीर का चालक बना तो वह जीव बनता है। माया के पाश में ईश्वर ही जीव—शिव रूप में प्रतिबिंबित है। ईश्वर ही जीव के मन—बुद्धि—चित्त और अहंकार है। मूलत: परिपूर्ण होते हुए भी जीव खुद को 'मैं शरीर' इस रूप में मानता है। इससे देहात्मभाव दृढ़ होता है और अपने निजस्वरूप को मतलब ब्रह्म को भूल जाता है। शरीर ही मैं हूँ का अहं निर्माण होने पर शरीर को जन्म—मृत्यु का बंधन रहता है। इस प्रकार संसार का कर्ता 'अहं ब्रह्म' का विचार होता है। इस अनुभव से ही चित्तांत चिन्मय आत्मा प्रकट होती है। जब तक विषयासक्ति होती है तब तक अहंकार रहता है। उसी कारण जीव बंधन में रहता है। जब अहंकार जाता है तब सिर्फ ब्रह्म का वास रहता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

आत्मा या ईश्वर सदा अलिप्त ही है। 'अहं' इस तादात्म्य भाव से सूक्ष्म लिंग–देह निर्माण होता है। इसमें विषयासक्ति होती है। स्थूल देह के बिना विषयासक्ति का अनुभव नहीं हो सकता। इसलिए इंद्रियों सहित स्थूल देह का निर्माण होता है। वह सुख–दुःख भोगता है। यह आत्मा का स्वप्न होता है परंतु इस सुख–दुःख में आत्मा नहीं होती, वह सदा अलिप्त रहती है। भास होता है कि जीव अनेक हैं। परंतु वह मिथ्या है। एक ही आत्मा प्रकृति के अनेक स्वरूप में प्रतिबिंबित होने से जीव की अनेकता स्पष्ट होती है। मूल बिंब एक ही है वह है आत्मा। जैसे सूर्य का प्रतिबिंब पानी में दिखने से वह विकृत दिखाई देता है, लेकिन मूलतः सूर्य को कुछ नहीं होता, उसी प्रकार शरीर को जिस सुख–दुःख का अनुभव होता है उसका परिणाम आत्मा पर नहीं होता। अनेक जलाशय में अनेक प्रतिबिंब दिखाई दी, फिर भी सूर्य एक ही है, उसी प्रकार शिव एक है और जीव ही एक है और जो शिव वही जीव है। एकनाथी भागवत में विद्या का यथार्थ लक्षण स्पष्ट किया है।

देहाचे माया वर्णश्रम। आश्रमांचे माथां कर्म।
त्या कर्माचा अभिमान परम। तो जीवधर्म देहबुद्धि।।
ते छेदोनि जीवाची बाधा। तो मेळविजे चिदानंदा।
ते नांव शुद्ध आत्मविद्या।। [99]

अर्थात् देह के मस्तक पर वर्णाश्रम है। आश्रम के माथे पर कर्म है, कर्म के अभिमान से ही जीव को देहबुद्धि उत्पन्न होती है। जीव की बाधा को तोड़कर चिदानंद में जो विलिन होती है, वही आत्मविद्या है।

संत एकनाथजी ने जीव को निर्गुण निराकार, सच्चिदानंद ब्रह्म का ही रूप माना है। मूलतः जीव और ब्रह्म में पार्थक्य नहीं होता। अविद्या माया के कारण जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। 'एकोहं बहुस्यामि' के अनुसार जब ब्रह्मरूप जीव इस जगत में प्रविष्ट होता है तब वह अविद्या माया के प्रभाव में आता है और अपने

आत्मस्वरूप को भूलकर देह—धर्म को ही भ्रमवश अपना धर्म समझ बैठता है। इस अज्ञान तथा भ्रम के कारण उसे अनेक दुख उठाने पड़ते हैं। जलतरंग न्याय से हवा से उत्पन्न लहर, जल से भिन्न प्रतीत होती है, परंतु हवा के शांत होने पर वह पानी में विलीन हो जाती है और उसकी पृथक सत्ता का आभास नष्ट हो जाता है। वह मूलतः जल ही का अभिन्न अंश था, जो तरंगासित होने से मूल जल से भिन्न भासित होता था। ब्रह्म और जीव की स्थिति भी इस प्रकार की होती है, जो मूलतः अभिन्न होते हुए भी पृथक प्रतीत होते हैं। ज्ञान—भक्ति के द्वारा यह प्रभाव हटाया जा सकता है, जिसके परिणाम स्वरूप जीव को वास्तविक चिन्मय स्वरूप का बोध हो जाता है। 'अहं ब्रह्मासि'यह ज्ञान ही जीव को मुक्त करा देता है। इस अद्वैत बोध के कारण जीव हर्षविभोर हो उठता है और सर्वत्र ब्रह्म ही के साक्षात्कार का अनुभव करता है। एकनाथजी ने इस अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए कहा है —

बद्धता छूटी मुक्त भये, ज्ञान से अज्ञान बाबा।

....

एका जनार्दनी एकरूप सहज़ स्वानंदकैद है बाबा।। [100]

अविद्या जीव को विविध बंधनों में बाँध देती है परंतु ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से समस्त बंधन स्वयंमेव विछिन्न हो जाते हैं। देह का अहंकार पूर्णतः नष्ट हो जाता है। द्वैत भाव के स्थान पर अद्वैत की प्रतीति का वह अनुभव करता है। संत एकनाथ ने जीव को कबीर की भाँति 'हंस' कहा है और उसके रूपक द्वारा आत्माज्ञानानंद की अपूर्व स्थिति का उत्कृष्ट वर्णन किया है।

मन हंस गया चरने बोध सरोवर चारा।

....

देह बुद्धि जात अंतरे छोडत नाही छूटा।। [101]

जीव ब्रह्म का ही अंशरूप होता है, जो ब्रह्म के समस्त गुणों से युक्त होता है। अविद्या माया का आवरण हट जाते ही देह—धर्म के प्रति उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपने मूल स्वरूप की शक्ति एवं सुंदरता को भलि—भाँति जान लेता है। अंत में जीव अपने मूल स्वरूप ब्रह्म में विलीन होता है। अर्थात् अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर जीव को सर्वत्र अपना ही अर्थात् ब्रह्म का ही रूप दृष्टिगोचर होता है।

संत एकनाथ गोकुल का वर्णन करते हुए गोकुल तथा वहाँ की नर—नारियों में परब्रह्म श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखते हैं। उन्हें उनमें श्रीकृष्ण का ही स्वरूप दिखाई देता है।

गोकुल मांहि और न दिसे। / कृष्ण स्वरूप नर नारी रे।। [102]

संत एकनाथ ने मराठी और हिंदी दोनों रचनाओं में जीव और शिव, अर्थात् जीव और ब्रह्म की अभिन्नता सोदाहरण स्पष्ट की है। माया—जनित अबोध तथा अज्ञान को नष्ट करना प्रत्येक देहधारी जीव के लिए आवश्यक है। भक्ति के द्वारा यह कार्य सहजता से सिद्ध हो जाता है। प्रत्येक घट—घट में साई की उपस्थिति वे मानते हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव ब्रह्म—स्वरूप ही होता है।

जगत् :

जीव की भाँति संत एकनाथ ने जगत् को भी ब्रह्म का ही रूप माना है। ब्रह्म ही ने अपनी क्रीड़ा के लिए जगत् का निर्माण किया है। सृष्टि की समस्त वस्तुओं में ब्रह्म ही ब्रह्म व्याप्त है। वहाँ कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ अनंत ब्रह्म की सत्ता न हो। आदि, मध्य और अंत में सभी जगह पर ब्रह्म परमात्मा विद्यमान है। स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर सभी पदार्थों में चिदानंद शुद्ध ब्रह्म ही समाविष्ट रहता है।

ब्रह्म निर्गुण निर्विकार। ब्रह्म सगुण साकार।

....

जहाँ देखो तहाँ पाया, मेरे राम है परिपूर्ण।।[103]

घट और मृत्तिका, पट और तंतु, सुवर्ण और अलंकार, अग्नि और ज्वाला आदि जिस प्रकार एकरूप रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् भी एकरूप रहते हैं। नाना रूपात्मक सृष्टि चित्स्वरूप परब्रह्म ही है। ईख, गुड़ तथा चीनी दृष्टि में यद्यपि भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि उन तीनों में निहित मिठास एक ही होती है। इसी प्रकार जगत् के पदार्थों में जो विविध आकार–प्रकार दिखाई देते हैं, उन सबमें निहित ब्रह्म एक ही है। मकड़ी जिस प्रकार अपने ही तंतुओं का जाल बुनती है और उनसे अलिप्त रहकर उसीपर क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार इस जगत् में उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की क्रीड़ा कर चिद् स्वरूप ब्रह्म उससे अलग रहता है। अपनी क्रीड़ा के लिए स्वयं ब्रह्म अनेक रूप ग्रहण करता है। उसके इस चिद्विलास में भिन्न प्रतीत होकर भी वह अभिन्न होता है। संधिवेला के मार्ग में पड़ी हुई डोरी को प्रकाश के अभाव में जिस प्रकार भ्रमवश सर्प समझा जाता है, उसी प्रकार इस जगत् को ज्ञानप्रकाश के अभाव में भ्रमवश सत्य समझा कर मनुष्य उसी के विषयों में आनंदानुभूति करने लगता है। वस्तुतः अविद्या माया के कारण जगत् के ब्रह्म–रूप को न जान लेने से मनुष्य जगत् तथा उसकी वस्तुओं को ही सत्य मान बैठता है। यदि आत्म–ज्ञान रूपी दीपक वह अपने हृदय में प्रज्वलित करेगा, तो उसके आलोक में उसे सत्य और मिथ्या का अंतर स्वतः ज्ञात होगा। संत एकनाथ एक स्थान पर क्षर में व्याप्त इस अक्षर ब्रह्म को जानने के लिए अचेत ज्ञानी मनुष्य को चेतना देते हैं तो दूसरे स्थान पर मुसलमानों की तसल्ली के लिए 'सल्लाल अल्ला' अर्थात् ब्रह्म ही के कारण जगत् प्रसार की बात कहते हैं।

क्षर म्याने अक्षर, अचेत चेतवे ज्ञानी।

दुःख कर जमा नहीं, वह सुख देखो नयनी।।

जिस रूप से जगत् पसारा, वही सल्लाह अल्ला।।[104]

इस प्रकार विभिन्न उदाहरणों से संत एकनाथ ने यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है और भोक्ता भी है। जगत् और ब्रह्म में किसी भी प्रकार की पृथकता नहीं होती। परंतु इसी कथन के आधार पर यदि कोई जगत् को ही ब्रह्म समझकर केवल उसी का अस्तित्व स्वीकार करना चाहे तो यह संभव नहीं है। ब्रह्म ही के कारण जगत् की सत्ता है, ब्रह्म न होगा तो यह जगत् भी नहीं रहेगा।

संसार जैं संत होता। तैं ब्रह्मज्ञानेंही न नासता।

हा संतासंत नये म्हणता। अनिर्वाच्य कथा पैं याची।। [105]

अर्थात् यह संसार सच्चा होता तो ब्रह्म के ज्ञान से नाश न होता। इसलिए इसे सत्य तथा मिथ्या कहना मुश्किल है। इस बात को विभिन्न दृष्टांतों से उन्होंने समझाया है। शंकराचार्य की भाँति अन्वय—व्यक्तिरेक की पद्धति से भी एकनाथजी ने ब्रह्म और जगत् के पारंस्पारिक संबंधों का विवेचन कर उनके निरपेक्षत्व एवं सापेक्षत्व को स्पष्ट किया है। जिस प्रकार धूप का अस्तित्व अग्नि पर निर्भर रहता है। परंतु अग्नि का अस्तित्व धूप पर अवलंबित नहीं रहता। उसी प्रकार जगत् का अस्तित्व ब्रह्म पर निर्भर होता है, परंतु ब्रह्म का अस्तित्व जगत् पर अवलंबित नहीं रहता है। प्रतिबिंब के लिए मूलत: बिंब का अस्तित्व अनिवार्य होता है। बिंब के कारण ही प्रतिबिंब की स्थिति है। जब मूल बिंब ही नहीं रहेगा तो प्रतिबिंब कहाँ से होगा? परंतु प्रतिबिंब के नष्ट होने पर मूल बिंब का अस्तित्व रहता ही है। इसी प्रकार जगत् का लय होने पर भी मूल ब्रह्म का अस्तित्व रहता ही है। संत एकनाथ ने इसी तथ्य को सूर्य के बिंब—प्रतिबिंब को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।

रवि—बिंब घट भंगे फुटे, / तैसा भव बंधन को डिंभ।। [106]

अपनी समस्त रचनाओं में जीव, जगत के अभिन्न संबंध को स्पष्ट करने के लिए एकनाथजी ने दैनंदिन व्यवहारों के अनेक दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं।

माया :

जीव और जगत् वस्तुतः परब्रह्म का रूप होते हुए भी जिस शक्ति के कारण उसमें पृथकता भासित होती है, उसे संत एकनाथ ने माया कहा है। यह माया परब्रह्म की ही शक्ति है, जो ब्रह्म और जीव के बीच आवरण के रूप में रहती है। एकनाथजी ने माया को मूल माया कहा है। उनके अनुसार यही मूलमाया 'शिव' अर्थात् ब्रह्म के रूप में 'योगमाया' होती है और जीव के रूप में 'अविद्या' कहलाती है। जैसे

शिवीं जे योगमाया विख्याती। जीवीं तीतें अविद्या म्हणती।
हेचि मायेची मुख्यत्वे भ्रांती। स्वप्नस्थिती संसारू।। [107]

आवरण और विक्षेप इस माया शक्ति के प्रधान अंग कह जाते हैं। आवरण के कारण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के विषय में अज्ञान रहता है और इसी अज्ञान से ज्ञान मार्ग में रुकावट अर्थात् विक्षेप निर्माण होता है। यही अज्ञान परमात्मा के विषय में विपरीत धारणा उत्पन्न करता है। अविद्या माया के कारण जीवात्मा अपने मूल स्वरूप को नहीं पहचानता और देह को ही अपना धर्म समझता है, जो नाशवान होता है। माया जीव में द्वैत भाव उत्पन्न कर भासमान वस्तुओं में सत्य की प्रतीति कराती है। सुख—दुःख की भावनाओं को एकनाथ जी ने मृगजल की भाँति मिथ्या एवं मायामय कहा है।

'एकोहं बहुस्याम प्रजायेय' की स्फूर्ति ही हरि की माया है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय में वही सहायक होती है। त्रिगुणात्मक होती है और जीव में अनेक प्रकार की भ्राँतियाँ पैदा करती है। अविद्या माया के कारण ही जीव देह के प्रति अहंकार करने लगता है। जिसके परिणामस्वरूप उसे भय, शोक, दुःख आदि के कष्ट भुगतने पड़ते हैं।

मायाजनिक पदार्थों के प्रति आकर्षित होकर मनुष्य स्वतः विषधारी सर्प को हाथ में ग्रहण करता है

मीठा खेल लगा है निरधार, / मीठा छोड कर पकरा संसार।।

एक जनार्दन का बंदा, / हात मां काला साँप बाँधा।। [108]

इस प्रकार माया के मोहक खेल में फँस जाने से मनुष्य वास्तविक मधुर ब्रह्म को छोड़कर संसार ही को स्वीकार करता है और अपनी हानि कर लेता है। एकनाथजी के अनुसार जो वस्तुएँ साकार, इंद्रियगोचर हैं, वे सब मायामय हैं। जो पहले अस्तित्व में नहीं रहता, बीच ही में भासमान होता है और पुनः नष्ट हो जाता है, वह सब मायावी है। इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मनुष्य को झूठे मायाजाल से बचने का संदेश दिया है। घोड़े, रथ, हाथी, पालकी, सेना आदि समस्त ऐश्वर्य क्षणभंगुर है। वह माया का दो दिन का बाजार मात्र है।

हाथी, घोड़े, पालकी, सेना नहीं आवे सात।

....

एका जनार्दनी बोले भाई, कोई न आवे सात।। [109]

माया के मोह में फँसकर मनुष्य को अनेक दु:ख उठाने पड़ते हैं। इस संसार की नश्वर वस्तुओं के प्रति मनुष्य को अधिक आकर्षित नहीं होना चाहिए। ये समस्त माया से निर्मित एवं नाशवान हैं। मनुष्य को इस माया के प्रभाव से बाहर आना चाहिए। माया विभिन्न प्रलोभनों से जीवात्मा को आकर्षित करती है। माया का यह प्रभाव सामान्य मनुष्य तक सीमित नहीं रहता, अपितु प्रत्यक्ष अवतारी ब्रह्म तथा महान योगियों—तपस्वियों तक प्रसारित होता है। एकनाथजी ने पौराणिक उदाहरण प्रस्तुत कर स्पष्ट किया है कि मायाजाल में फँसकर उन लोगों का किस प्रकार अध:पतन हुआ है।

माया छांड़, सुनोजी, अच्छा भांड़ बनोजी।

....

भिल्लिनी के पीछे लगा, करता तोबा तोबा।। [110]

इस प्रकार एकनाथजी ने माया तथा उसके प्रभाव का वर्णन प्रमुखतः शंकराचार्य के अनुसार ही किया है।

नाथ वाङ्मय में माया शब्द का प्रतिशब्द 'प्रकृति' कहा है। एकनाथ जी कहते हैं

जेवीं का नटाची रावो राणी। दोघे खेळती लटिकेपणी।
तेवीं प्रकृतिपुरुष उभवणी। मिथ्यापणी जो जाणे।।
जिस प्रकार नाटक में राजा–राणी झूठे होते हैं, उसी प्रकार
नामरूप क्षणिक व असत्य है। [111]

माया का नियंता ब्रह्म जिसके लिए पुरुष शब्द प्रयुक्त होता है और उसकी प्रकृति मतलब सृष्टि का आभास उत्पन्न करनेवाली माया। जिस प्रकार वस्तु के साथ छाया आती है वैसे ही ब्रह्म के साथ माया है। छाया जितनी सत्य उतनी माया सत्य।

इस माया का निरसन हरिनाम में है। हरि के नाम से माया भाग जाती है। माया नारायण से अंकित है। नारायण के चरण छूने से माया दूर होती है। भक्ति से ही माया का नाश हो सकता है। भक्ति का आचरण करने से हमें मुक्ति मिल सकती है। यथा –

भक्तिपाशीं नित्य तृप्ति। भक्तिपाशीं नित्य मुक्ति।
भक्तिपाशीं भगवत्प्राप्ति। मायानिवृत्ति हरिभजने।। [112]

सांसारिक दुःखों का मूल कारण अविद्या माया होने से एकनाथजी ने उसके दुष्परिणामों का वर्णन किया है। ईश्वर प्राप्ति में माया को ही बाधक तत्व माना है। समस्त सांसारिक पीड़ाओं एवं व्यवधानों की वास्तविक सूत्रधारिणी माया शक्ति है। अतः प्रत्येक साधक को माया के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उससे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

मोक्ष :

नाशवान एवं दुखमूलक सांसारिक बंधनों को तोड़कर चिरंतन आनंद–प्राप्ति की अवस्था ही को मुक्ति अथवा मोक्ष कहा जाता है। मुक्ति

की कल्पना को लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है, परंतु उसके स्वरूप–भेद आदि के विवरण में अंतर दृष्टिगत होता है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्तियों में संत एकनाथ ने सायुज्य मुक्ति को प्रधानता दी है। यह सायुज्य मुक्ति जीव–शिव अर्थात् जीव और ब्रह्म के ऐक्य के रूप में वर्णित है। उनके मतानुसार इस मुक्ति के पाते ही शेष समस्त मुक्तियाँ स्वयंमेव प्राप्त हो जाती हैं। अविद्‌या के आवरण के कारण जीव को आत्मस्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होता। इसलिए इस मायावी आवरण को नष्ट करना आवश्यक होता है। एकनाथजी ने मुक्ति के साधनों में भक्ति के अतिरिक्त कर्म, ज्ञान तथा योग को भी स्वीकार किया है। फिर भी वे भक्ति को ही प्रधानता देते हैं। उनके मतानुसार भक्ति से ही मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति का महत्व भक्ति के कारण है। वे मुक्ति को भक्ति की दुहिता मानते हैं।

> भक्तीचे पोटी मुक्ति पै आली। भक्तीने मुक्तीतें वाढविलें।
> भक्ति ते माता, मुक्ति ते दुहिता। जाणोनि तत्वता भजनी
> करी।। [113]

मुक्ति को स्वीकार करते हुए भी एकनाथजी ने भक्ति की तुलना में उसे अधिक महत्व नहीं दिया। भक्ति और मुक्ति में से किसी एक का ही चयन करना हो तो वे मुक्ति की अपेक्षा भक्ति ही का चयन करना चाहते हैं। भक्ति के सम्मुख मुक्ति की वे पूर्णतः उपेक्षा करते हैं।

> भक्ति के घर भगवत् आवे। मुक्ति पास कोऊ दुसरा जावे।
> ....
> एका जनार्दनी पायो राम। मुक्ति को कछु नहीं रे काम।। [114]

इस प्रकार संत एकनाथ ने मुक्ति की प्राप्ति के लिए आग्रह नहीं किया। अपितु ज्ञानोत्तर भक्ति का ही सर्वत्र समर्थन किया है। भक्ति के आनंद में ही वे तल्लीन हो जाते हैं और भक्ति ही में मुक्ति का आनंद पाते हैं।

मुक्ति से जो साध्य होनेवाला है, वह भक्ति से ही भी होता है। मुक्ति को भक्ति की दासी मानकर भक्ति की श्रेष्ठता बताई गई है।

एकनाथजी का तत्वज्ञान अद्वैतवाद पर आधारित है। इस अद्वैतवादी सिद्धांत को समझने के लिए उन्होंने उपयुक्त ऐसी भक्ति की व्यावहारिक नीतियाँ अपना कर उसे सहज बना दिया है। एकनाथजी के तत्वचिंतन पर ज्ञानेश्वरजी का प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने अद्वैत कर्मप्रधान भक्तिमार्ग का स्वीकार कर सगुण और निर्गुण परब्रह्म का हिंदी विद्वानों के समान अलग–अलग वर्णन न करते हुए एकत्रित किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि संत एकनाथ का समस्त दार्शनिक चिंतन पूर्ववर्ती अनेक विचार–धाराओं के मंथन के परिणाम स्वरूप था। मानवतावादी उदात्व एवं विशाल दृष्टि को सम्मुख रखकर उन्होंने युगानुरूप अपने चिंतन की दिशा को निश्चित किया था। विभिन्न दार्शनिक मतों में से अपनी दृष्टि के अनुकूल अंश को स्वीकार कर अपनी अलौकिक प्रतिभा से एक समन्वित चिंतन–प्रवाह का प्रसार उन्होंने किया। ज्ञानेश्वर जी द्वारा प्रस्थापित महाराष्ट्रीय भागवत धर्म अर्थात् वारकरी संप्रदाय की दार्शनिक मान्यताओं का पुरस्कार कर उसे अपनी विविधांगी वाणी से अधिक पुष्ट करने तथा उसे गतिमान करने का महत्वपूर्ण कार्य एकनाथजी ने किया। उनकी चिंतन–धारा पर प्रमुखत: उपनिषद्, शंकराचार्य तथा ज्ञानेश्वरजी के ब्रह्माद्वैत सिद्धांत तथा उससे संबंद्ध माया विवर्त अजात आदि वादों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

4.3.4 संत तुकाराम – ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया, मोक्ष

महाराष्ट्र के भागवत धर्म मंदिर की नींव निवृत्तिनाथ ने डाली। नामदेव, एकनाथ ने इस मंदिर को विशाल बनाया। तुकाराम जी इसी मंगल मंदिर के पवित्र कलश कहलाए। भागीरथी, इंद्रायणी के पावन तट पर किसी अलक्षित देहात में (देहू गाँव) मराठा कुणबी घराने में तुकारामजी का शक

संवत 1520 अर्थात सन 1987 ई.[115] में जन्म हुआ। इनके घर में विट्ठलोपासना चली आ रही थी। साहूकारी उनका पारंपारिक व्यवसाय था। देहू गाँव में भामनाथ की पहाड़ी पर उनको दिव्यानुभव की प्राप्ति हुई। पूर्ववर्ती संतों की काव्यरचना का आस्वाद लेकर तुकारामजी ने अपनी 'गाथा' की रचना की। उनके स्फुट अभंगों की संख्या 5000 के करीब है। वारकरियों की मान्यता है कि किसी साधु महात्मा बाबाजी चैतन्यजी ने तुकारामजी को 'रामकृष्ण हरी' का मंत्र स्वप्न में आकर दिया। उनकी अभंगवाणी पर ज्ञानेश्वर, नामदेव की पद रचनाओं का प्रभाव दिखाई देता है। तुकारामजी का महानिर्वाण काल शक संवत 1591 अर्थात सन 1649 [116] माना जाता है। विनय मोहन शर्माजी ने तुकारामजी के कुल 24 पद मुद्रित किए हैं। 'सकल संत गाथा' में तुकारामजी की कुल 62 हिंदी रचनाएँ दी गई हैं। इसके अलावा सांप्रदायिक भजन संग्रहों में भी तुकारामजी के दो हिंदी पर मुद्रित हैं। कुल 64 पदों के अतिरिक्त तुकारामजी के अमुद्रित पद आज तक अप्राप्य हैं। तुकारामजी ने अभंग रचना के साथ कुछ रूपक—भारुड—गीत भी लिखे हैं। तुकारामजी की उपलब्ध हिंदी रचनाएँ तीन विभागों में बाँटी जा सकती हैं।

1) गोपी—प्रेम (गौलण गीत)

2) पाखंड उद्घाटन

3) नीति और भक्तिपरक

संत तुकाराम की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा पूर्णत: भारतीय वैदिक परंपरा सम्मत है। उनके ब्रह्म, जीव, जगत् और माया—विषयक दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि वह न कोई दार्शनिक थे और न ही कलाविद्, अपितु वह तो भक्त, केवल भक्त थे। तुकारामजी की दार्शनिक विचारधारा भारतीय वैदिक—दर्शन और परंपरा सम्मत जीवन प्रणाली का निचोड है।

यद्‌यपि उन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया था। तथापि उन्हें वेदों का श्रुत—ज्ञान अवश्य था, यह तथ्य उनके अनेक अभंगों से प्रमाणित होता है। तुकारामजी के व्यक्तित्व में प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक जीवन दर्शन का अद्‌भुत संगम हुआ था। 'कर में काम पर मन में राम' के मूल मंत्र का उन्होंने सदा उपदेश दिया। समन्वयमूलक दृष्टिकोण को अपनाकर चलनेवाले तुकारामजी ने ज्ञान—योग को ईश्वर—प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हुए भी भक्ति पर विशेष रूप से बल दिया, परंतु इन सबसे अधिक उन्हें ईश्वर की कृपा पर अगाध विश्वास था।

उनकी वाणी में वैष्णव और नाथपंथी विचारधारा का मणिकांचन योग हुआ है। तुकारामजी के दार्शनिक विचारों के संबंध में एक बात उल्लेखनीय है कि शरीर और जगत् की नश्वरता घोषित करने पर भी व्यावहारिक क्षेत्र में उन्होंने कर्तव्य—कर्म अथवा निष्काम—कर्म का निर्देश किया है। उनका सुधारक रूप इसी जीवन—दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है।

ब्रह्म :

संपूर्ण जगत् को एक रूप में अनुभव करते हुए उपनिषद् में संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति, गति, पालन और स्थिति तथा इस समस्त जगत् के लय के कारण को ब्रह्म कहा है।

तुकारामजी ने ईश्वर को सृष्टि का कर्ता, पालक एवं संहारक सभी रूपों में देखा है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वनियंता है। वह सर्वव्यापक प्रभु पूर्ण है। माया शक्ति से युक्त होने पर ब्रह्म को सगुण ब्रह्म अथवा 'ईश्वर' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। तुकाराम जी कहते हैं —

सगुण निर्गुण साक्ष श्रीमंत संतां। भगवाना भगवंता कालकृतांता।
उत्पत्तिपाळणपासुन संहारण सत्ता।। [117]

अर्थात् अव्यक्त—ब्रह्म धर्म की रक्षा हेतु एवं दुर्जनों के संहार—हेतु सगुण साकार रूप में प्रकट होता है।

आवडीसारिखें संपादिलें सोंग। अनंत हें मग जालें नाम।। [118]

अर्थात् भक्ति प्रेमामृत का पान करने हेतु अनंत—ब्रह्म नाना नामरूप धारण करता है।

निर्गुण ब्रह्म के निरूपण से जब तुकारामजी को आध्यात्मिक तृप्ति न हुई तो उन्होंने सगुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण किया। उनका ईश्वर सगुण—संपन्न है। वह अत्यंत दयालु, सर्वव्यापक, अनादि, अणु से भी सूक्ष्म, सर्वशक्तिमान, सर्वांतर्यामी है। संपूर्ण प्राणियों का सूत्रधार होने पर भी वह पूर्णतः अलिप्त है। [119] ईश्वर के गुणों का उल्लेख करते हुए उनका कथन है — मेरे प्रभु, यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य इन छह गुणों से संपन्न हैं।

तुकाराम जी एकेश्वरवाद के समर्थक हैं। जैसे नदी, तालाब और पोखर के नामरूप में भेद होते हुए भी सब में एक तत्व जल ही विद्यमान है, उसी प्रकार नाना नाम और रूप धारण करने पर भी सगुण ब्रह्म का एकत्व खंडित नहीं होता।

अद्वय चि द्वय जालें चि कारण।
धरिलें नारायणें भक्तिसुख।। [120]

अर्थात् नारायण ने भक्ति—सुख की प्राप्ति—हेतु अद्वैत से द्वैत रूप धारण किया। तुकारामजी का ईश्वर धर्म का प्रत्यक्ष मूर्तिमंत रूप है। वह अनंत कला संपन्न है। उसकी महिमा अनंत है, उसकी सामर्थ्य का वर्णन करते चारों वेद, अठारह पुराण भी थक गए हैं। सहस्र मुख वाला शेषनाग भी उस ईश्वर की महिमा का गान करने में असमर्थ हो गया है।

जिस प्रकार नाद संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है, उसी प्रकार गोविंद भी समस्त चराचर में वास करता है। तुकारामजी ने सगुण एवं निर्गुण का अद्भुत संमिश्रण किया है। अनंत, अरूप, अलक्ष्य, अच्युत, निर्गुण, सच्चिदानंद, सर्वोत्तम ये समस्त तेरे नाम हैं, परंतु हम भक्तों के लिए तू सीमित—रूप (सगुण—साकार) धारण करता है।

जया रूप न आकार। धरी नाना अवतार।

घेतली हजार। नांवे ठेवुनि आपणां।। [121]

अर्थात् जिसका न कोई रूप है, न आकार, वह अपने भक्तों के लिए नाना अवतार धारण करता है और सहस्रों नामों से अभिहित किया जाता है। यह ईश्वर सुख–दुःख की अनुभूतियों से परे है।

यह हरि अत्यंत कुशल खिलाड़ी है। वह सभी को जन्म देनेवाला पालन करने वाला एवं संहार करने वाला है। फिर भी स्वयं सत्व, रज, तम तीनों गुणों से विलक्षण है। समस्त प्राणियों में निवास करने पर भी अदृश्य रहता है, मन, बुद्धि से वह अगोचर है, अगम्य है।

दूध, दही, घृत और नवनीत में नाम और रूप का भेद होते हुए भी मूल वस्तु एक ही है। नाना स्वर्णाभूषणों में मूलतः स्वर्ण ही सबमें व्याप्त है, मिट्टी के नाना घड़ों में वस्तुतः एक ही मिट्टी है, उसी प्रकार नाना रूप से भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः एक ही तत्व सबमें विद्यमान है।

स्फटिक शिला पर नाना रंगों के प्रतिबिंब पड़ने पर भी वह अलिप्त रहती है, उसी प्रकार सर्वकर्ता प्रभु कर्म करने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता। यह प्रभु द्वैत, अद्वैत दोनों रूपों में सर्वत्र व्याप्त है।

न कळसी ज्ञाना न कळसी ध्याना।

....

म्हणोनि विचार पडिला मज।। [122]

अर्थात् ईश्वर को जानना कठिन है। वह न तो ज्ञान के बल पर और न ही ध्यान धारणा से जाना जा सकता है। दर्शन ग्रंथ एवं आगम–निगम के अध्ययन करने पर भी उसकी अनुभूति संभव नहीं। वेद भी उसके स्वरूप का बखान करने में असमर्थ रहे। अतः तुकाराम जी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि उसका कोई आदि अंत नहीं।

मेरुची लेखणी सागराची शाई। कागद हा मही न पुरेचि।

अनंत अपार आंपगिले भक्त। माझें चि संचित ओडवेना।। [123]

अर्थात् मेरु पर्वत की लेखनी को सागर रूपी स्याही में डुबोकर पृथ्वी रूपी फलक पर उसकी अनंत कीर्ति को लिखें तो भी कम है।

तुकाराम जी जानते हैं कि ईश्वर घट—घट में व्याप्त है। उसे पाने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। देह में उसका वास है। वह सबके हृदय में है परंतु मूर्ख मनुष्य उसे तीर्थ—क्षेत्रो में ढूँढ़ने जाता है। जैसे मृग नाभि की कस्तुरी को ढूँढ़ता है। सर्वव्याप्त होने के कारण ही वह सर्वज्ञ है। तुकारामजी के ईश्वर साक्षात सत्य—स्वरूप है। सत्य—रूप परमेश्वर को मैंने अपने मन में धारण कर दिया है। अभंग में उन्होंने कहा है। ईश्वर प्रकाश रूप है और उसके प्रकाश से ही हमारा अंत:करण दीप्त होता है। तुकाराम जी ईश्वर से यह विनती करते हैं कि अज्ञान—रूप तिमिर का नाश करने के लिए वह ज्ञान रूपी दीपक से उनके हृदय को आलोकित कर संसारपाश से मुक्त कर दे। यह इसी लिए संभव है कि तुकारामजी के ईश्वर सर्व—समर्थ हैं। वह निमिष मात्र में राई का पर्वत और पर्वत की राई बना सकता है। ईश्वर अत्यंत दयालु है और अपने भक्तों की रक्षा हेतु वह सदैव तत्पर रहता है। जिसका ईश्वर रक्षक हो उसका अनहित कोई नहीं कर सकता।

कोटि दुष्कर्म करनेवाला व्यक्ति यदि श्रद्धाभाव से उसके शरण में आ जाए तो उसे भी वह भवसागर के पार उतार देते हैं। निष्कर्ष में कह सकते हैं कि तुकारामजी का ईश्वर घट—घट में व्याप्त होने पर भी अलख है। जैसे काष्ठ में अग्नि सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है, वैसे ही हरि का वास सब में है।

जीवात्मा :

जीव और ब्रह्म के एकत्व को उपनिषदों ने स्वीकार किया है। तुकारामजी के जीव संबंधी विचार शंकराचार्य के अद्वैतवादी सिद्धांतों के पर्याप्त निकट हैं। तुकारामजी ने आत्मा और जीव को एक ही माना है। तुकारामजी के मतानुसार जीव चैतन्य स्वरूप होने के कारण अमर है और

ईश्वर तथा आत्मा में अत्यंत निकट का संबंध है। परंतु अविद्या जनित माया से वेष्टित होने पर जीवात्मा का परमात्मा से वियोग हो जाता है। अविद्या के कारण ही शरीर के साथ संबंद्ध होने के कारण वह त्रिगुणमयी प्रकृति से प्रेरित होकर नाना प्रकार के कर्म पर आवागमन के चक्र में फँस जाता है। ज्ञान और भक्ति के शस्त्रों द्वारा इस मायावी आवरण को नष्ट कर देने से उसे सच्चिदानंद ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं और वह स्वयं को उस परमसत्ता से अभिन्न समझने लगता है।

तू माझा आकार। मी तों तूँच निर्धार।

....

तुका म्हणे देवा। विपरीत ठायी नांवा।।[124]

अर्थात् आत्मबोध होने पर जीव यह अनुभव करता है कि नाम—रूपात्मक भेद तो केवल बाह्य है, ऊपरी है, वास्तव में दोनों ईश्वर और जीव एक है।

समुद्र का पानी सूर्य की गर्मी से बाष्प बनकर मेघ रूप धारण कर वर्षा के रूप में गंगा प्रवाह में मिल जाता है और गंगा अंततः समुद्र में विलीन हो जाती है और समुद्र का जल पुनः बाष्प बन मेघ—रूप धारण करता है, यह क्रम शाश्वत है। जिस प्रकार समुद्र और गंगा प्रवाह वस्तुतः एक ही हैं और मध्यावस्था उपाधि के समान है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में दिखाई देनेवाला भेद केवल बाह्य है, मध्यावस्था है, वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। सूर्य की किरणें जैसे सूर्य से भिन्न नहीं और चीनी की मिठास चीनी से भिन्न नहीं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक है। जिस प्रकार पानी में नमक मिला देने पर लवण का पृथक अस्तित्व नहीं रहता, उसी भाँति तुकाराम जी कहते हैं कि साक्षात्कार के अनंतर मेरी आत्मा तुम में समाहित हो गई है और तुम्हारी तथा मेरी एक ही ज्योति हो गई है। उस परब्रह्म के साथ साक्षात्कार होने पर जीव निर्विकल्प ब्रह्म—स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उस दिव्य क्षण में देशगत, कालगत और वस्तुगत सब भेद

नष्ट हो जाते हैं और जीव जगत् को मिथ्या, परब्रह्म को अंतिम सत्य और स्वयं को ब्रह्म रूप समझने लगता है। 'तत्वमसि' वह 'मैं ही हूँ' का बोध होने पर आत्मा ब्रह्मरस का पान करती है।

अब चारों ओर आनंद ही आनंद है।

तुका म्हणें आतां आनंदी आनंदु।

गोविंदी गोविंदु विस्तारला।। [125]

संत तुकारामजी ने बिंब–प्रतिबिंबवाद के आधार पर भी परमात्मा और आत्मा के संबंध को अभिव्यक्त किया है। परमात्मा असीम, सर्वनियंता और परमसत्य है। परंतु जीव ससीम और ईश्वर द्वारा शासित है। दोनों में अंशी–अंश अथवा स्वामी–सेवक संबंध है। जीव ईश्वर का उपकार्य है और ईश्वर उपकारक, जीव सक्रिय और भोक्ता है परंतु ईश्वर साक्षीमात्र है।

जगत् :

जगत् की सृष्टि का कारण 'ईश्वर की लीला' माना गया है। तुकाराम जी ईश्वर की आनन्देच्छा को ही सृष्टि सृजन का मूल कारण मानते हैं।

जीवशिवाचें भातुकें। केलें क्रीडाया कौतुकें। [126]

उसने लीलामयी स्वतंत्र इच्छावश, स्वसुख–हेतु, एक से अनेक होने के कौतुकवश जगत् का सृजन किया। जैसे दर्पण में दिखाई देनेवाले प्रतिबिंब को देखकर व्यक्ति हर्षित होता है, वैसे ही जगत् रूपी दर्पण में अपने प्रतिबिंब को देखकर वह ईश्वर आनंदित होता है।

नटनाट्य तुम्ही केलें याच साटीं। कवतुके दृष्टी निववावी।

तुका म्हणे रूप नाहीं दर्पणांत। संतोषाची मात दुसरे तें।। [127]

देहादि प्रपंच मिथ्या होने पर भी ईश्वर के सत्य होने का भास क्यों होता है? प्रश्न का समाधान तुकारामजी ने रज्जुसर्प का उदाहरण देकर किया है। अंधकार में रज्जु को देख सर्प की प्रतीति होती है परंतु प्रकाश होने पर भ्रम

मिट जाता है, उसी भाँति आत्मा और परमात्मा के मध्य स्थित अज्ञानरूपी आवरण के हट जाने पर, जीव को तत्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर जगत मिथ्या प्रतीत होने लगता है।

मिथ्या आहे सर्व अवघें हे मायिक।
न कळे विवेक मज कांही।
सर्व बाजागिरी वाटती ही खरे।
पहातां येथे उरी कांही नाही।। [128]

इस जगत् के समस्त पदार्थ मायाजन्य होने के कारण भ्रमोत्पादक हैं। यह संपूर्ण प्रसार अनंत ईश्वर की बाजीगरी है। बाजीगर जादू के खेल दिखाकर दर्शक को भ्रम में डाल देता है, पर स्वयं इस भ्रम में नहीं पड़ता। इसी प्रकार सृष्टि की माया भी दो प्रकार की समझी जा सकती है, ईश्वर के लिए केवल लीला की इच्छा है, वह उस माया से मुग्ध नहीं होता परंतु जीव अज्ञानवश इस जगत् को सत्य मान लेता है। विद्‌यारूपी प्रकाश द्‌वारा अधिष्ठान का निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिष्ठान ब्रह्‌मसत्ता ही पारमार्थिक सत्य है और रज्जु में अध्यास्त सर्प के समान ब्रह्‌म में अध्यस्त जगत मिथ्या है। पंचमहाभूतों से निर्मित यह देह प्रारब्ध के अधीन है। इंद्रियगम्य सुख—दुख क्षणभंगुर है, केवल ईश्वर ही शाश्वत है। रूप और आकार ग्रहण करनेवाले जगत् के सभी पदार्थ अंततः नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

यह संसार भूसे के समान निःसार है, सार—रूप तत्व तो केवल भगवंत है यह जगत् जीवात्मा का स्थायी वासगृह नहीं अपितु यह तो उसकी अनंत यात्रा का एक पड़ाव है। इस प्रकार अनेक उक्तियों द्‌वारा संत तुकारामजी ने जगत् की नश्वरता, क्षणभंगुरता एवं निस्सारता का वर्णन किया है। उनके मतानुसार यह जगत् जीवधारियों से सुसज्जित एक हाट है। अपने संचित कर्मों के आधार पर पूर्वजन्म के पाप, पुण्य और पापपुण्यामिश्रित कर्मानुसार जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। जीव भोक्ता है, ईश्वर नहीं, वह

संकल्प—विकल्परहित सत्ता तो साक्षीमात्र है। संचित और क्रियामाण शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप जीव चौरासी लाख योनियों के चक्र में घूमते हुए आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन प्रकार के भोगों का भोक्ता बनता है।

पंचमहाभूतों से निर्मित देह अंततः नष्ट हो जाती है।

> जीवा नाहीं कुडींचे लाहातें। ये भिन्न पंचभूतें।
> रचतें खचतें संचितें। असार रितें फलकट।।
> पुत्र पत्नी, सहोदर। मायाबाप गोताचा पसर।
> मिळतां काष्ठें लोटता पूर। आदळीं दूर होती खळाळी।। [129]

अर्थात् पुत्र, पत्नी, बंधु, माता—पिता आदि सभी सगे—संबंधियों का नाता वैसे ही क्षणिक है, जैसे बाढ़ आने पर नदी में बहनेवाली लकड़ी के तिनके कुछ क्षणों के लिए परस्पर मिलते हैं परंतु लहरें शांत होने पर पुनः पृथक हो जाते हैं।

काल निरंतर इस जगत् को निगल रहा है। जिस प्रकार रहट के खाली डिब्बे भरते हैं, खाली होते हैं और पुनः भरते हैं, उसी भाँति यह जन्म—मरण की पुनरावृत्ति का चक्र शाश्वत है। यह जीवलोक स्वार्थ के अधीन है। यहाँ पर व्यक्तियों का पारस्परिक प्रीतिभाव भी पूर्णतया स्वार्थशून्य नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ—सिद्धि हेतु दूसरे से स्नेह करता है। संत तुकाराम जी अपने अभंग में कहते हैं कि जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, तभी तक इस जगत् के रिश्ते—नाते हैं। सुख के दिनों में भी सभी मीत हैं, परंतु दुःख और विपत्ति आने पर सब पीछे हट जाते हैं। काल इस जगत् का भक्षण कर रहा है। जिस प्रकार बीज से प्रस्फुटित होनेवाला अंकुर अंततः बीज में ही समाहित हो जाता है, उसी प्रकार कल्पांत होने के पश्चात संपूर्ण चराचर जगत् एक ही ईश्वर में विलीन हो जाता है। जल में पड़नेवाला सूर्य का प्रतिबिंब जल से पृथक नहीं किया जा सकता, परंतु जल में पड़नेवाले प्रतिबिंब को वास्तविक सूर्य मान लेना भी उचित नहीं।

रविबिंब नाहीं तुटत उदका।

छायेची ते नका सरी धरुं।

तुका म्हणे भय धरी रज्जूसाटी।

नाहीं साच पोटीं कळले तों।[130]

तुकाराम जी कहते हैं कि रज्जू को सर्प समझकर भय की भावना तभी तक रहती है, जब तक वास्तविक वस्तुस्थिति का बोध नहीं हो जाता। इस प्रकार तुकारामजी के अनुसार ज्ञान प्राप्ति होते ही जगत् का वास्तविक रूप स्पष्ट हो जाता है। इस माया–जनित संसार में प्रलोभनों एवं कर्म की दुर्गति से बचने का एकमात्र उपाय भगवद्भक्ति है।

माया :

माया आत्मा के कारण का बंधन है, यह उपाधिरूपा है, अत: जीव की आत्मस्वरूप प्राप्ति में बाधक है। यह सृष्टि की रचना का कारण है। तुकाराम जी संपूर्ण सृष्टि प्रपंच को मायावेष्टित मानते हैं।

जगत् के सब पदार्थ मायाजन्य होने के कारण भ्रमोत्पादक हैं। अवस्तु में वस्तु का आरोप होना मिथ्या ज्ञान है, यही आरोप कहलाता है और यही अध्यास है। शरीर को आत्मा समझ लेना, इंद्रियादि के आत्मा मान लेना, रज्जु को अंधकार में सर्प समझना आदि सब अध्यास है, मिथ्या ज्ञान है एवं भ्रम है। इसी अविद्या माया के अधीन हो जीव आवागमन के चक्र में बंधता है और ब्रह्म और उसके मध्य माया का आवरण विद्यमान होने के कारण उसे सत्य स्वरूप के दर्शन नहीं हो पाते। परंतु हरिनामरूपी अस्त्र द्वारा माया का आवरण नष्ट हो जाते ही परमानंदस्वरूप भगवान का आलिंगन करने पर द्वैत का आभास नष्ट हो जाता है। तुकाराम जी जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। व्यावहारिक रूप में आत्मा–परमात्मा के मध्य पृथकत्व की प्रतीति करानेवाली शक्ति 'माया' है। 'अविद्या–माया' के कारण ही जीव शरीर के साथ संबंद्ध होने पर त्रिगुणमयी प्रकृति से प्रेरित होकर नाना प्रकार के कर्म कर आवागमन के चक्र मे फंस जाता है, परंतु

आत्मभाव होने पर वह अनुभव करने लगता है कि यह नाना–रूपात्मक भेद तो बाह्य है, उपरी है, वस्तुतः दोनों जीव और ब्रह्म तो एक है।

समस्त सृष्टि और उसकी जननी माया अथवा अविद्या सत्–असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। तुकारामजी के अनुसार माया स्वभाव से व्यभिचारिणी है।

मायारूपें ऐसे मोहिलेंसे जन। भोगिनी पतन नानाकमें।। [131]

अर्थात् माया ने हमको मोहित कर लिया है और हमें अशुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। सूक्ष्म रूप धारण कर यही तपस्वियों को भी छल सकने में समर्थ है।

माया पापिनी है। यह मनुष्य को बंधन में उलझाती है और इसी की वश हो वह दसों–दिशाओं में मारा–मारा भटकता है। सूक्ष्म रूप धारण कर यह काम, क्रोध, निंदा, हिंसा आदि के रूप में प्रकट होकर उसे नाना प्रकार के दुष्कृत्य करवाती है।

मायारूपी नटी सबको कठपुतली की भांति नचाती है और यही ऐहिक, अनित्य सुखों में शाश्वत सुख का आभास उत्पन्न करती है। माया निर्गुण–ब्रह्म की भांति असीम है, अतः इससे छुटकारा पाना अत्यंत कठिन है। केवल ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही जीव इससे मुक्त हो सकता है। सृष्टि के सब जीव माया की चोट खाए हुए हैं परंतु तुकारामजी को यह देख आश्चर्य होता है कि अन्य घाव तो दिखाई दे सकते है परंतु माया द्वारा किया हुआ आघात दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे

मायेचा मारिला अंगी नाही घाव।
दुःखे तरी लव धडधडी।।
आपुलिया आंगे तोडी मायाजाळ।
ऐसे नाहीं बळ कोणापाशीं।। [132]

अर्थात् माया से सभी प्राणी भ्रमित है परंतु इतना सक्षम कोई नहीं जो स्वयं की सामर्थ्य से इस दुर्घट माया–जाल को काट सके।

हरि हरि तुम्ही म्हणा रे सकळ। तेणें मायाजाल तुटईल।।[133]

अर्थात् प्रभु की अनन्य भक्ति और अनवरत नाम–स्मरणादि अबोध साधनों के बल पर तथा ईश्वर का अनुग्रह होने पर जीव माया–बंधन को विदीर्ण करने से समर्थ हो सकता है। तुकारामजी को अपने प्रभु विट्ठल पर पूर्ण भरोसा है। अत्यंत दृढ़ निश्चय के साथ अभंग में कहते हैं कि मायापुरी से केवल ईश्वर ही बाहर निकाल सकता है।

मन तथा माया का परस्पर घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि मन ही माया का स्थान है। मन के समस्त विकार–आशा, तृष्णा, काम, क्रोध, मोह, मत्सर की जननी माया ही है। इंद्रिय–भोग में मग्न रहनेवाला आशाबद्ध व्यक्ति परमेश्वर के सान्निध्य से प्राप्त होनेवाले परमसुख से सदा वंचित रहता है। आशा, तृष्णा एवं लोभादि विकार मिट जाने के पश्चात सांसारिक प्रपंचों में जीव उसी भाँति लिप्त नहीं होता।

तुका इच्छा मीटइ तो। काहा करे जट खाक।

मथीला गोला डार दिया तो। नहिं मिले फेस ताक।।[134]

अर्थात् दही–मंथन के पश्चात् निकला नवनीत पुनः छाछ में नहीं मिल सकता, ऊपर ही तैरता रहता है। संत तुकाराम जी कहते हैं कि मन पर अंकुश रखने पर कनक, कामिनी तथा अन्य विकारों से मुक्ति संभव है, परंतु अहंकार का त्याग अत्यंत दुष्कर है। इंद्र का वज्र कदाचित भंग हो सकता है परंतु मायाजाल को तोड़ना बहुत कठिन है।

तुकारामजी ने अपने अभंगों में माया का स्वतंत्र रूप से उल्लेख अधिक नहीं किया क्योंकि उन्होंने माया को प्रायः मन की चंचल इच्छा तथा एक विकार के रूप में ग्रहण किया है, इसलिए वह चित्त शुद्धि अथवा मानसिक शुचिता पर विशेष बल देते हैं।

तुकारामजी के माया संबंधी विचारों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने माया को 'अविद्या' से अलग करके नहीं देखा। सामान्यतः उन्होंने अनित्य में नित्य के आभास को, भ्रमजन्य मिथ्या ज्ञान–रज्जु में सर्प

को प्रतीति की ही माया की संज्ञा दी है। इसके साथ ही उन्होंने मन के विकार—आशा, तृष्णा, लोभ, मोह आदि के साथ माया की गणना अनेक स्थलों पर की है।

मोक्ष :

तुकाराम जी भक्त कवि हैं, विट्ठल की अनन्य भक्ति और नामस्मरण के बल पर विषय—सुखों से चित्त निर्लिप्त करने के पश्चात वह साधना—पथ पर अग्रसर होते हैं। साधक के उत्तरोत्तर उच्च सोपानों पर अग्रसर होने पर अंततः वह ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। इस सोपान पर पहुँच आत्म—ज्योति, परमात्मा—ज्योति में लीन हो जाती हैं।

भक्ति की साधनावस्था में संत तुकाराम हरिभक्ति के सम्मुख मुक्ति—विदेह—मुक्ति को हेय मानते हैं। नाम सुख हेतु वह पुनः—पुनः जन्म धारण के लिए तत्पर हैं। इस अवस्था में उन्हें ईश्वर के साथ अभिन्न होने की आकांक्षा नहीं। एक अभंग में उनका कथन है —

नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थितिभाव।
मी भक्त तूं देव ऐसे करी।। [135]

अर्थात् मुझे आपका ब्रह्म—ज्ञान अथवा मोक्ष नहीं चाहिए। हम दोनों में अभेद होने की अपेक्षा प्रभु, तू देव और मैं भक्त यह नाता ही अखंड रहे। भगवान और भक्त, स्वामी और सेवक का भेद रहने पर भक्ति—सुख की अनुभूति संभव है क्योंकि क्या पानी स्वयं का पान कर सकता है? क्या वृक्ष अपने फलों की मिठास चख सकता है?

तूं स्वामी मी सेवक। उंच पद निच एक।
जळ न खाती जळा। वृक्ष आपुलिया फळा।। [133]

अतः भोग प्रदान करनेवाला और भोक्ता इन दोनों में भेद रहने पर ही आस्वाद—ज्ञान हो सकता है।

सांडुनि सुखाचा वाटा। मुक्ति मागे तो करंटा।

तुका म्हणे आतां। मज न लगे सायुज्यता।। [134]

अर्थात् भक्ति–प्रेमामृत के आनंद की अपेक्षा मुक्ति की अभिलाषा करनेवाला आभागा है। सायुज्य–मुक्ति भी इस आनंद के सम्मुख फीकी है। तुकाराम जी तो संत समागम में ही कैवल्यानंद का–सा अनुभव करते हैं। संतों का आलिंगन उन्हें सायुज्य–मुक्ति जैसा प्रतीत होता है। तुकारामजी ने मन की मुक्तावस्था को ही मोक्ष की संज्ञा दी है। चित्त की यह दशा सहज ही प्राप्त नहीं होती, इसके लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं सभी प्रकार की ममता–माया से पूर्ण विरक्ति की आवश्यकता है।

चित्त निर्मल होने पर देहादि वृत्ति और प्रपंचों का संकल्प मिट जाता है। ब्रह्मानंद की प्राप्ति होने पर विभेद की भावना तिरोहित हो जाती है तथा अंत में सर्वत्र आनंद ही आनंद व्याप्त हो जाता है।

तुकारामजी के मतानुसार शास्त्र–विहित नित्य–नैमित्तिक कर्म यथा व्रत, तीर्थयात्रा आदि के फलस्वरूप देहपतन के पश्चात ईश्वर मुक्ति–रूपी पोटली हाथ में पकड़ा देगा। वस्तुत: मोक्ष की कल्पना सापेक्ष है। जब जीव स्वभावत: मुक्त है, तो उसके लिए कैसा बंधन और कैसी मुक्ति? नाम–रूपात्मक त्रिगुणमयी माया के बंधन में आबद्ध होकर शुद्ध चिदानंदन रूप आत्मा अज्ञानवश अपने सच्चे स्वरूप को विस्मृत कर देती है। इंद्रिय नियंत्रण और मन को विषयों से मुक्त करने के पश्चात वह अपने उसी रूप–शुद्ध रूप में आ जाती है।

मुक्ति ईश्वर–प्रदत्त अथवा आकाश से मिलनेवाली कोई वस्तु नहीं है, अपितु यह तो चित्त का धर्म है –

नाहीं देवापाशी मोक्षाचें गाठोळे। आणूनि निराळे द्यावे हाती।

इंद्रियांचा जय साधुनिया मन। निर्विषय कारण असे तेथे।। [138]

ईश्वर के पास मोक्ष–रूपी थाती नहीं है। देह–भाव के नष्ट होने पर स्वयंमेव तुम में ही वह मुक्तावस्था प्रकट हो जाएगी। इस प्रकार जीव को बद्धावस्था से मुक्त होने के लिए चित्तशुद्धि, आत्म–संयम द्वारा अपने

वास्तविक रूप को जानना होगा। उपनिषद में आया है – यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इन सबका ज्ञान हो जाता है। आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाना मुक्ति है।

जो धीर पुरुष हृदय–स्थित उस सत्ता को निरंतर देखते रहते हैं, उन्हीं को शाश्वत–सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं। तुकारामजी ने हृदय–स्थित उस सत्ता को जाना था, अपने मुक्त शुद्ध रूप को प्राप्त कर लोकमंगल की भावना से प्रेरित हो आत्मभान का सर्वजन सुलभ के विवेचन अपने काव्यद्वारा किया। उनके काव्य में जीव की मुक्तावस्था एवं उसकी प्राप्ति के मार्ग–विषयक अनेक अनेक प्रसंग हैं, पर मूल–स्वर ऊपर वर्णित अंशों के समान ही है।

4.3.5 समर्थ रामदास – ब्रह्म, जीवात्मा, जगत्, माया, मोक्ष

सभी संत अपनी आध्यात्मिक भूमिका तथा आराध्य के कारण विशिष्ट बने रहे। परंतु इनका लक्ष्य एक ही था–लोकमंगल। इसमें समर्थ गुरु रामदास का स्थान अग्रणी रहा है। समर्थ गुरु रामदास का जन्म औरंगाबाद के आंबड तहसील में 'जाँब' नामक गाँव में सन 1608 में [139] (शके 1530) चैत्र शुद्ध नवमी अर्थात् रामनवमी के दिन हुआ। उनका कुलनाम ठोसर था। वे देशस्थ ब्राह्मण थे। ठोसर घराने में रामोपासना की एक विशिष्ट परंपरा थी। रामदास का बचपन का नाम 'नारायण' था। अत्यंत कुशाग्र बुद्धिमत्ता होने के कारण बचपन में ही उन्होंने वेदाध्ययन किया था। बचपन से ही इनको विश्व की चिंता ने अभिभूत किया था। अंतर्साक्ष्य के आधार पर उनकी गुरु–परंपरा इस प्रकार है – आदिनारायण – महाविष्णु – हंस – वशिष्ट – श्रीराम। माना जाता है कि उनके कोई मानवी गुरु नहीं थे। अतः छोटी उमर में नारायण ने हनुमानजी की उपासना की। हनुमानजी ने प्रसन्न होकर प्रभु रामचंद्रजी के दर्शन करवाए। विवाह के समय विवाह मंडप से

भागकर उन्होंने नाशिक के पंचवटी में आकर अपने आराध्य राम की शरण ली। 12 सालों का बचपन, 12 सालों की तपश्चर्या और 12 वर्षों का तीर्थाटन आदि से उनका जीवन निखर उठा। उनका लेखनकार्य महासागर के समान है। ओवीशते, स्फुट ओव्या, अष्टाक्षरी पाँच काव्य, अष्टाक्षरी प्रकरणे, ओवीबद्ध ग्यारह लघुकाव्य, श्लोकबद्ध काव्य, करुणाष्टके, मनोबोध और ग्रंथराज 'दासबोध', हिंदी पदे। ग्रंथराज 'दासबोध' यह प्राणभूत ग्रंथ है। महाराष्ट्र के लोगों का मार्गदर्शक ग्रंथ है। प्रभु राम नाम का गजर करके समर्थ गुरु रामदास ने माघ वद्य नवमी को (शके 1603) [140] में अवतार की समाप्ति की।

समर्थ गुरु रामदास के दार्शनिक विचार बहुतांशत: अद्वैतमत से प्रभावित हैं। फिर भी उन्होंने सगुण—भक्ति का जोरदार प्रतिपादन किया है। उससे यह स्पष्ट होता है कि वे मात्र अद्वैतमत का अनुसरण नहीं करते, कहीं—कहीं वे द्वैतवादी, कहीं विशिष्टाद्वैतवादी और कहीं द्वैताद्वैत के समर्थक प्रतीत होते हैं। अत: सरसरी निगाह से उन्हें अद्वैतवादी संत नहीं कहा जा सकता। इसके लिए उनके दार्शनिक विचारों का सूक्ष्म अवलोकन करना जरूरी हो जाता है। दार्शनिक विचारों का विवेचन छह मूलभूत तत्वों के आधारपर किया गया है।

ब्रह्म :—

समर्थ गुरु रामदासजी के ब्रह्म विषयक विचार अद्वैत मत से मिलते जुलते हैं। वे परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सवाल करते हैं कि जगत का सृजनहार कैसा है? ढूँढ़ने पर भी वह नहीं मिल रहा है। हे राम, मुझे सृजनहार का दर्शन करा दो।

रे मोकुं, सुरीजन हार दिखाव।। धृ.।।
धुंडत धुंडत भूलि परि रे।। [141]

परमात्मा निर्गुण निराकार है, वह अनंत है, अखंड है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वह सारी सृष्टि में व्याप्त है और सभी प्राणियों में वही एक है। उसके स्वरूप का वर्णन करते समय तर्क भी काम नहीं आता, इसलिए उसे अतर्क्य कहते हैं। वह न जन्म लेता है (अर्थात अनादि है) न मरता है (अर्थात अनंत है) वह न आता है न जाता है, वह न संसार में बद्ध होता है न उसकी मुक्ति होती है। परमात्मा सृष्टि में व्याप्त है। वह घट—घट में है। यथा —

सुरीज्यन हारे सकल घट है भगत कहे रे नहि।।[142]

भक्त सभी जगह परमात्मा को ढूँढ़ रहा है। ढूँढ़ते—ढूँढ़ते इसका जिया हरण हो गया है। लेकिन वह तो सर्व व्यापक है। परमात्मा के विविध रूप हैं। लेकिन आत्मा और परमात्मा एक ही है। समर्थ रामदासजी ने परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखा है कि —

शस्त्रांचेनि तुटेना। अग्निचेनि जळेना।
उदकामध्यें कालवेना। स्वरूप माझें।[143]

अर्थात परब्रह्म पर अग्नि, पानी, वायु, शस्त्र किसी का भी परिणाम नहीं होता। वह त्रिकालाबाधित है।

इन पंचमहाभूतों में परब्रह्म है। जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में भी है, लेकिन हम अपने में उसे देखते नहीं। खुदा को बाहर ढूँढ़ते रहते हैं। परमात्मा आकाशतत्व में है, चारों तरफ है। समर्थ जी कहते हैं —

नजीक देखता नहि रे। चौफेर सामने खुदा।।
आस्मान देख रे कैसा। वैसा वहि खुदा बड़ा।।[144]

समर्थ रामदासजी ने एक पद में 'पंछी' का रूपक बाँधा है। पंछी याने परब्रह्म है। समर्थ जी कहते हैं जो जीवन में कुछ जानता है वही उस पंछी को समझ सकता है। यथा —

बीरला जाणैने उस पंछीकु जीसकी पुरी कमाई।।धृ.।।[145]

'निरंजन' के लिए समर्थजी ने राम, कृष्ण, मोहन, हरि, शंकर, नाथ, अल्ला, खुदा आदि अनेक नामों का प्रयोग किया है। उनके अनुसार हर कोई अपनी शक्ति के अनुसार इसे जान सकता है। ऐसे असंख्य नाम हैं, परंतु वह परेश नामातीत है। उसका निश्चित अर्थ करने के लिए ये ही नाम रखे गए हैं। यथा —

ऐसीं नामें असंख्यात परी तो परेश नामातीत।

त्याचा करावा निश्चितार्थ ठेविली नामें। [146]

वह विश्रांति का भी विश्राम है, आदि पुरुष और आत्माराम है — वह एक ही परब्रह्म है — दूसरा नहीं है। यथा

तो विश्रांतीचा विश्राम । आदि पुरुष आत्माराम ।

तो एकचि परब्रह्म। दुसरे नाहीं। [147]

समर्थ कहते हैं कि परमात्मा सबसे न्यारा है। वह ना ही हिंदू है, ना ही मुसलमान और ना ही इसाई।

समर्थ रामदास की हिंदी पदावली में निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का संकेत स्थान—स्थान पर मिलता है। यथा —

आलख वो निरंजन कैसा हरो रे किसेहि सरिखा नहि।।

क्या कहुं रे नहि रंग ना रूप रेखा कछु हि।।

मुसेंहि कहेसा नहि वो ईलाहि।। [148]

रामदास के 'निरंजन' गुणातीत हैं, विलक्षण और अनिर्वचनीय हैं। रंग, आकार और उच्चार के आधारपर भी उनकी अभिव्यक्ति असंभव है। वह इंद्रियगम्य और भाषागम्य भी नहीं है। वह सर्व शक्तिमय, सर्व व्यापक और अखंड ज्योतिस्वरूप है। उसे जानने के लिए 'आत्मज्ञान' की आवश्यकता है।

आत्मज्ञान की खबर न ज्याने ।

और ध्यान जबक हुआ तो क्या जी।।

रामदास प्रभु आत्म रघुवीर।।

इस नैनन नहि छयाया तो क्या जी।।[149]

रामदासजी का विश्वास है कि आत्मज्ञान के आधारपर ही कोई भी भक्त 'अनाहत ध्वनि' सुन सकता है।

समर्थ जी कहते हैं कि परमात्मा शरीर के अंदर स्थित होता है। उसको प्रसन्न करने के लिए बाह्याड्बरोंकी आवश्यकता नहीं है।

समर्थजी के मतानुसार परमात्मा को हमारी चिंता रहती है, हमें उसपर विश्वार रखकर निश्चिंत रहना चाहिए। यथा—

देह धरी त्यागी तो अखंड वीतरागी।।

तो देह क्षेत्र पाळु तो करितो सांभाळु।।[150]

उनके अनुसार परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। वह मनुष्यमात्र में विद्‌यमान है। उसे देखा नहीं जाता, उसकी आवाज सुनाई देती । वह मात्र अनुभूति से ही जाना जाता है। ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए समर्थजी 'दासबोध' में लिखते हैं कि सभी प्राणिमात्रों में ईश्वर है। ईश्वर ही इंद्रियों के माध्यम से मनुष्य से काम करवाता है। उसकी केवल प्रतीति हो सकती है। जब देहबुद्‌धि के प्रभाव से मनुष्य मुक्त हो जाता है तभी उसे एहसास हो जाता है कि 'परब्रह्म एक सत्य है।' बह्म की सर्वव्यापकता को अपनाकर समर्थजी ने सभी मनुष्यमात्र को समान माना है। उनके मतानुसार यह तत्व स्त्री—पुरुष, छोटे—बड़े, ऊँच—नीच, अमीर—गरीब आदि सब में समान रूप से विद्‌यमान होता है। स्वरूप ज्ञान हो जाने पर सभी उस ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाते हैं। समर्थ जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि यह परमात्मा अनेक नामों से पहचाना जाता है परंतु वह नामातीत है। उसे विवेक से ही पहचानना चाहिए। इसी परमात्मा को रामदास जी 'राम' कहते हैं और लिखते हैं।

कोण है रे ऐसा कोण है रे।। धृ.।।

नाथ सिधारे सिला तारे।। / बंद खलास करे।।[151]

अर्थात राम के सिवा इस जगत के बंधनों से मुक्ति दिलानेवाला कोई नहीं है।

जीवात्मा :—

परमात्मा आत्मा के शरीर में व्याप्त रहता है। उसमें सत्,चिद् और आनंद ये तीन प्रमुख गुण हैं। आत्मा परमात्मा ही है और आनंदस्वरूप है। वह उत्पन्न नहीं होता और विनष्ट भी नहीं होता। साधु—सज्जनों का यह मत ग्राह्य होना चाहिए। परमात्मा सर्वव्यापक रूप में है। हर व्यक्ति की अंतरात्मा उस व्यक्ति का स्वरूप है। परमात्मा के साक्षात्कार का अनुभव विस्मयकारक (अज्यब) होता है। परमात्मा ही प्रत्येक प्राणी के बर्ताव का सूत्रधार होता है। समर्थ कहते हैं — आत्मा परमात्मा से मिलने का प्रयत्न करती है और उसे प्राप्त कर उसमें लय हो जाती है। इस अवस्था में आत्मा की जो पुकार है वह समर्थ गुरु रामदास ने स्पष्ट की है

तुज्य में है ही मज में है ही।। समज्यत कछु येक है ही।।

देव न ज्यानु भगत न ज्यानु।। अंतर ज्यानु री ।।[152]

देव और भक्त का द्वैतभाव अंतर्ज्ञान से नष्ट होता है। आत्मा अद्वैत का ही दूसरा नाम है। जिसमें द्वैत या अद्वैत का कोई विकल्प नहीं रहता वहाँ 'मैं' का अस्तित्व ईश्वर में विलीन हो जाता है।

जीव और शिव में द्वैतभाव रहा तो सद्गुरु इन दोनों में ऐक्य भाव स्थापित करते हैं। समर्थजी के मतानुसार आत्मा या जीव परमात्मा का ही रूप है और उसका साक्षात्कार करानेवाला सद्गुरु होता है। समर्थजी के कुछ पद ऐसे हैं जिसमें आत्मा—परमात्मा की अभेदता स्पष्ट की है।

कुछ लोग परबह्म और जीव में अंतर मानते हैं। लेकिन वे यह नहीं जानते कि आत्मा में ही परमात्मा रहता है। मूर्ख लोग आत्मा—परमात्मा में भेद करते हैं। यथा —

दास निरंज्यन जो ज्यन रंजन।। / अंतर भेद बखाने।। [153]

समर्थ जी कहते हैं जैसे बह्मांड में आकाश व्याप्त है और वही घट में भी व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में व्याप्त है।

रामदास प्रभु सब घट व्यापक। / आंतर माई छे पाऊं ।। [154]

अंतर्मन में झाँककर देखने से समझ में आएगा कि सभी जगह परमात्मा का अस्तित्व है।

इस प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों अपने मूल रूप में एक हैं। इस विचार को समर्थ रामदास ने कई बार दोहराया है।

आत्मा का आधार शरीर है। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व अनुभव ही नहीं किया जा सकता। अतः रामदासजी की दृष्टि में शरीर अत्यंत महत्वपूर्ण है। चौऱ्यासी लक्ष्य योनियाँ पार करने के बाद नरजन्म प्राप्त होता है। इसका उपयोग यदि आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए न किया जाए तो आत्मा पुनः जन्ममृत्यु के आवर्तन में फँस जाती है। समर्थ जी कहते हैं —

बहुतां जन्माचे अंतीं। होये नरदेहाची प्राप्ती।

येथें न होतां ज्ञाने सद्गती। गर्भवास चुकेना।। [155]

अर्थात नरदेह आत्मज्ञान के द्वारा सद्गति या मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र महत्वपूर्ण साधन है।

दासबोध में 'धन्य—धन्य यह नरदेह' [156] कहते हुए वे देह की प्रशस्ति करते हैं। इसी नरदेह के माध्यम से मनुष्य परमार्थ के मार्ग पर चलता है और सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अन्य संतों ने देह को नश्वर, क्षणभंगुर, विषयों का पिटारा आदि कहा है। नश्वर शरीर के तिरस्कार की ही भावना उनके उपदेशों में दिखाई देती है। समर्थ रामदास एक ऐसे महान लोकनायक रहे कि जो मनुष्य मात्र को राष्ट्रोद्धार के काम में लगाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने नरदेह की निंदा नहीं की है बल्कि, आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति

के एक सर्वोत्तम साधन के रूप में उसके महत्व को रेखांकित किया है। ऐहिक दृष्टि से एक ओर नरदेह का महत्व है तो पारलौकिक दृष्टि से वह ज्ञानप्राप्ति का महत्वपूर्ण और संभवत: एक मात्र साधन है। देह जो आत्मज्ञान कराती है वही मनुष्य को जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्तता देती है। समर्थ रामदास कहते हैं ' नरदेह दुर्लभ'। [157] अर्थात नरदेह दुर्लभ है किंतु साधक थोड़ा—सा संकल्प करें तो वह नरदेह के माध्यम से अत्यधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। उसके लिए सद्गुरुरूपी कर्णधार के मार्गदर्शन एवं उपदेश की आवश्यकता है। सद्गुरु इसी के द्वारा शाश्वत सुख की अनुभूति प्राप्त करा देते हैं। समर्थ रामदास देह को ऐहिक वस्तुओं में सर्वोत्तम मानते हुए कहते हैं —

षड्दर्शनी तापसी। नरदेहींच झाले।

इसीलिए नरदेह श्रेष्ठ। नाना देहों में वरिष्ठ।। [158]

तात्पर्य सभी वस्तुओं में नरदेह उत्तम है, उसमें परमात्मा का वास्तव्य होता है। फिर भी आध्यात्मिक धरातल पर देह की नश्वरता की ओर संकेत करने से समर्थ रामदास नहीं चूकते। विश्व में जो पंचमहाभूत पृथ्वी, आप, तेज, वायु तथा आकाश के रूप में विद्यमान है, वे ही पाँच तत्व देह में भी हैं। इसके साथ सत्व, रज, तम ये तीन गुण भी देह में हैं। इस प्रकार देह, अष्टधा प्रकृति का ही विग्रह है। मृत्यु के द्वारा देह इन तत्वों को त्यागती है और उसके भीतर के तत्व विराट तत्वों में विलीन हो जाते हैं। फिर भी देह में स्थित आत्मा जैसी की वैसी ही रह जाती है। समर्थ जी कहते हैं — जिंदगी कफनी जैसी होती है। जो बदलती रहती है।

लते पांच्य कन्फि खुदाने बनाई।।

पवन के हि धागे च्यलाये सिलाई।। [159]

अर्थात हमारा शरीर (कन्फि) वस्त्र जैसा है। मृत्यु के पश्चात आत्मा दूसरा शरीर धारण करती है, मानो अपने वस्त्र बदलती है। यह शरीर पंचमहाभूतों

से निर्मित कफन जैसा है। शरीर वस्तुतः पंचमहाभूतों की पोटली है। उसमें एक मात्र ही तत्व शाश्वत है वह है आत्मा। शरीर खुद आत्मा नहीं है। आत्मा शरीर में व्याप्त होते हुए भी शरीर से भिन्न होती है।

इस प्रकार देह के बारे में समर्थ रामदासजी के विचार दो स्तरोंपर व्यक्त हुए हैं। व्यावहारिक धरातलपर उन्होंने देह का असाधारण महत्व प्रतिपादित किया है तो आधत्मिक धरातलपर देह की नश्वरता की ओर भी साधकों का ध्यान आकृष्ट किया है। समर्थगुरु रामदासजी ने नरदेह को श्रेष्ठ तो माना ही है। लेकिन नरदेह के महत्व के साथ बल की उपासना पर भी अधिक जोर दिया है। उनके विचारानुसार स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है और जहाँ मन स्वस्थ हो वहाँ आत्मा पवित्र होती है। पवित्र आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं। अत: उन्होंने शरीरोपासना पर बल दिया है। भक्त हनुमान बलभीम रहें रामदासजी ने शक्ति की पूजा का प्रसार करने हेतु वीर हनुमान का आदर्श समाज के सामने रखा। उसके लिए चाफळ के दास्य मारुति का अपवाद छोड़कर अन्य दस वीर हनुमान में मंदिरों की स्थापना की।

जगत :—

अद्‌वैत मतवादियों ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहते हुए बह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या माना है। सृष्टि या जगत की नश्वरता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए समर्थ रामदास कहते हैं — सृष्टि नष्ट होनेवाली है, किंतु उसके भीतर का ईश्वरी अंश शाश्वत है। समर्थ जी इस संसार को महासागर कहते हैं। जो इस सागर में उतरता है वह आमतौर पर बहता जाता है। कारण स्पष्ट है कि धन और यौवन के साथ वह परमात्मा को भूल जाता है। यथा —

मन रे काये भूल्यो संसार।।
येक घरी मोलकी ज्यावे।।

भुलि रहयो गव्हार।। धृ.।। [160]

समर्थ जी जगत का वर्णन इस प्रकार करते हैं।

गगन हमारि गुंफा अवधु ब्रह्मांड हमारि मेखळी।

जत हमारी कासोटी अवधु सत हमारि झोली बाबा।। [161]

दुनिया दोजख खाली पसारा' कहते हुए समर्थजी ने स्थान—स्थान पर संसार की असारता व्यक्त की है। अन्य पद में वे कहते हैं — दुनिया दो दिन की है, इस दुनिया से दूर रहना ही बेहतर है। समर्थजी कहते हैं कि यह दुनिया खोटी है, असत्य है, मिथ्या है। वे कहते हैं कि इस दुनियादारी के तालपर नाचते—नाचते मैं थक गया हूँ अब तुम ही ताल पकड़ा दो अन्यथा कालपुरुष अपना काम करेगा। यथा —

रामदास राम का मुढा नाचते देखे ख्याल।।

आये साहेब ताल सिकावे ।। हुवा काहा बेताल।। [162]

इस संसार—सागर को पार करने का उपाय एक है वह है 'रामभक्ति' —

रामदास कहे येक रामबीन।। / कोउ पार उतारे।। [163]

यह तो हुआ जगत संबंधी आध्यात्मिक पक्ष। किंतु तत्कालीन विदेशी शासकों से स्वाधीनता प्राप्त करने और जन्मभूमि की रक्षा करने की अनिवार्यता को देखते हुए सृष्टि या दुनिया असत्य है कहने से राष्ट्ररक्षा का कार्य बिगड़ जाने की संभावना थी। इसलिए व्यावहारिक धरातल पर यह बताना आवश्यक था कि लोग जिस दुनिया में रहते हैं, वह सत्य है और उसको स्वाधीन बनाने के लिए सबको जी—जान से कोशिश करनी चाहिए। समर्थ रामदासजी ने चतुराई से नश्वर संसार को सत्य का जामा पहनाया है। वे कहते हैं कि पूरी दुनिया चलानेवाला नियंता वही (राम) है, जो सत्य है, शाश्वत है। अणुरेणु में व्याप्त है। लोग इसको मानते ही नहीं।

इस प्रकार एक ओर समर्थ रामदास 'ब्रह्मं सत्यं जगन्मिथ्या' को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मं' के आधारपर वह चरम सत्य

विश्व में व्याप्त होने का विश्वास भी दिलाते हैं। समर्थ रामदास राम—हीन दुनिया को असत्य मानते हैं किंतु साथ ही साथ उनका यह भी सुनिश्चित मत है कि जहाँ राम है वहाँ विश्व सत्य है और इसी लिए वह वंद्‌य भी है।

माया :—

भारतीय दर्शन माया का अस्तित्व मानते हैं। समर्थ भी माया के अस्तित्व को मानते हैं। माया के दो रूप हैं — अविद्‌या माया और विद्‌या माया। अविद्‌या माया इस विश्व का संचालन करती है। वह दीखती तो सत्य है किंतु वस्तुतः वह स्वयं भासमान है। विद्‌या माया साधक को स्वरूप ज्ञान कराने में सहायक बन जाती है। समर्थ रामदास नें माया के दो रूपों का वर्णन किया है। अविद्‌या माया देह के कार्य चलाती है। वही आँखों से सबकुछ दिखाती है। समर्थ गुरु रामदासजी ने माया की इस शक्ति का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। उनके अनुसार वास्तविक परमात्मा हाथ नहीं लगता क्योंकि वह निर्गुण—निराकार है। इसलिए लोग उसको मूर्ति में पकड़ने की चेष्टा करते हैं। परंतु मूर्ति आभास मात्र होती है। उसी प्रकार जानते हैं कि माया आभास है। फिर भी उसी का सहारा लिए बिना सद्‌गुरु की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

विद्‌या माया के बारे में समर्थ रामदास कहते हैं कि भवसागर को लांघने के लिए माया नौका बन जाती है और साधक को भवसागर के पार पहुँचा देती है। माया की सहायता के बिना मनुष्य मात्र का उद्‌धार हो ही नहीं सकता। यह दार्शनिक विचार अत्यंत गहन है। मुक्ति का मुख्य साधन है ज्ञान, किंतु स्वयं ज्ञान ही विद्‌यामाया का ही एक उत्कट आविष्कार है।

'दासबोध' में समर्थ गुरु रामदास ने माया का स्वरूप संक्षेप में समझाया है। उनकी दृष्टि में अध्यात्म का अर्थ है माया तथा ब्रह्म के

स्वरूप का ज्ञान। माया सगुण, साकार है। याने इस संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। विश्व में जिन पाँच भौतिक तत्वों का विकास दिखाई देता है, वह वस्तुत: माया का ही विकास है। माया मनुष्य में विविध विकार पैदा करती हैं। माया दृष्य है फिर भी भास मात्र है। ऐसी माया को ज्ञान के बल पर ही अलग किया जा सकता है। इस प्रकार माया के वास्तविक स्वरूप को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट किया है। समर्थ गुरु रामदासजी ने हिंदी पदावली में माया का वर्णन अलग ढंग से किया है। उनके माया संबंधी विचारों पर पूर्ववर्ती संतों की छाप दिखाई देती है। उनके विचार से जीव और ब्रह्म के बीच तादात्म्य होने में बाधक बननेवाली सबसे बड़ी शक्ति है माया। समर्थ जी कहते हैं कि लड़ना है तो माया के साथ लड़ो। 'रामनाम' से माया को भगाओ।

समर्थ रामदास माया को 'जुठी माया' कहकर 'सच्चाराम' की ओर अंगुली निर्देश करते हैं। यथा —

चतुरा राम ही साच्चा राम हि साच्चा केवळ राम।।

....

मुरुख बपुरा काम हि ध्यावे अंतकाळ पछतावे।।[164]

अर्थात माया जीव को 'भरम करम' में फँसानेवाली है। यह माया दु:खरूप होती है, बंधनरूप होती है। परिणामस्वरूप रावण जैसे बलसंपन्न लक्ष्मीपुत्र की सारी संपत्ति नष्ट हो जाती है। रानी द्रौपदी को सारे गहने उतारकर पाँच पति होते हुए भी विधवा जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। पांडवों को वन जाना पडता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, मान—बड़ाई आदि माया के ही अनेक रूप हैं। मूर्ख लोग माया के इन विविध रूपों में फँस जाते हैं। माया से देवता तक नहीं बच सकते तो साधारण मनुष्य की क्या बात? इसलिए समर्थ जी उसे चतुर मानते हैं। जो माया को भरम करम मानता है वह उससे बच जाता है।

मोक्ष :—

दार्शनिक विचारों में एक महत्वपूर्ण तत्व है साधनामार्ग। साधक किस मार्गपर चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है? इस प्रश्न के कई उत्तर हैं। हमारी दार्शनिक परंपराओं ने भगवान को प्रसन्न करने के लिए कई मार्ग प्रतिपादित किए हैं। इसमें ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि विविध साधनाओं का समावेश किया जाता है। साधक को यह भी छूट दी गई है कि वह अपनी रुचि तथा प्रकृति के अनुसार साधना मार्ग का चयन करें। यथा —

जैसे जयाचें भजन। तैसाचि देवहि आपण।

म्हणौन हें अवघें जाण। आपणासीं।। [165]

अर्थात जो जिस प्रकार परमात्मा की भक्ति करता है, उसी प्रकार परमात्मा के पास पहुँचता है। साधना में भक्ति का स्थान भी महत्वपूर्ण है। भक्तिमार्ग में रामभक्ति को महत्व देते हुए समर्थ जी कहते हैं —

भगती न करिये तो फीर फीर मरियें ।। [166]

अर्थात रामभक्ति के बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। आगे वे कहते हैं कि 'रामनाम' से वैकुंठ दर्शन होते हैं। रामभक्ति से मनुष्य जन्म—मृत्यु के फेरे से छूट जाता है। यथा —

नहिं तो गई रे गई मौत भाई।।

कहे रामदासो लिज्यो पद वोहि।। [167]

उनके अनुसार जिनके जीवन में अल्ला है, उसका आना—जाना खतम हो गया है। समर्थजी ने साधक को साधना मार्ग चुनने की छूट दी है, फिर भी उन्होंने विशिष्ट साधनामार्ग पर चलने के संकेत भी दिए हैं। समर्थ गुरु रामदास सिद्धांत: अद्वैतमार्ग को अपनाते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में ज्ञानमार्ग ही मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। इसपर मार्गक्रमण करने का दिशानिर्देशन सद्गुरु करते हैं। इसलिए साधनामार्ग के चयन में सद्गुरु की

भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। समर्थजी के अनुसार ज्ञान, ग्रंथ पढ़कर प्राप्त नहीं होता। उसके लिए सद्गुरु की आवश्यकता होती है। अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए जो ब्रह्मज्ञान का उपदेश कराता है, जीवात्मा और परमात्मा में ऐक्य स्थापित करता है, वही सद्गुरु है। यद्यपि सद्गुरु आत्मज्ञान कराते हैं, फिर भी उसमें स्थिरता लाने के लिए साधना की आवश्यकता है। साधना में भक्ति का स्थान महत्वपूर्ण है। समर्थ गुरु रामदास का यह दृढ़ विश्वास है कि सगुणोपासना के मार्ग पर चलते–चलते साधक निश्चित रूप से निर्गुण तक पहुँच सकता है। समर्थ गुरु रामदास कहते हैं कि सहजयोग की साधना का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हठयोग का आश्रय लेना पड़ता है। इस योग साधना में प्रवृत्त होनेपर अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। यथा –

सब है सो सुमिरन मे।। धृ.।।
ग्यान, ध्यान, तप, आसन, मुद्रा।। /जे कछु हय तन मे।।
धोती पोती और भुजंगी।। अनाहत ध्वनि में।। [168]

समर्थ गुरु रामदास की योग साधना का अंतिम लक्ष्य 'अनाहत–ध्वनि' ही है। साधना पद्धतियों में मुद्रा के कई अर्थ हैं। शारीरिक अंगों, उपांगों आदि की स्थितियों का इसमें सामावेश है। प्राय: आसक्त और विषयी मन मुद्रा के लिए आयोग्य माना जाता है। समर्थ जी अपनी साधना पद्धति में मुद्रा, आसन, ध्यान आदि में कुछ भेद नहीं मानते। सहज समाधि में साधक की हर क्रिया साधना में परिणत हो जाती है। इस ज्ञात साधना में श्रवण, नामस्मरण, आत्मनिवेदन आदि क्रियाएँ भी महत्वपूर्ण हैं।

निष्कर्ष :

मराठी के प्राचीन साहित्य में संत काव्य की सुदीर्घ परंपरा मिलती है। मराठी संत साहित्य के विकास पर तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्थितियों का प्रभाव दिखाई देता है।

इन्हीं परिस्थितियों में कुछ अध्यात्मिक संप्रदायों का अविर्भाव हुआ। इसमें से नाथ संप्रदाय सबसे प्राचीन रहा है। उससे न्यूनाधिक प्रभाव ग्रहण करते हुए महानुभाव, वारकरी, दत्त तथा समर्थ संप्रदाय का अविर्भाव हुआ। इन सभी संप्रदायों ने अपने दार्शनिक विवेचन के साथ–साथ सामाजिक समन्वय की दृष्टि से भी प्रयत्न किए हैं। इन संप्रदायों से जुड़े संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और रामदास के दार्शनिक विचारों का विवेचन हुआ है।

संत ज्ञानेश्वरजी का दर्शन शांकर तत्वज्ञान की भाँति अद्वैतवादी है। यह अद्वैत सिद्ध करने के लिए ज्ञानेश्वरजी ने शंकर के अनिर्वचनीय मायावाद अथवा अज्ञानवाद का उपयोग तो किया है, परंतु इसके अतिरिक्त योगवासिष्ठ, शैवाद्वैत और नाथपंथियों के अद्वैतसिद्धि के लिए प्रयुक्त युक्तिवाद को भी लिया है। ज्ञानेश्वरजी का निर्गुण निर्विशेष, अद्वैत दर्शन एक ओर से शून्यवादी और मायावादी है और दूसरी ओर से विज्ञानवादी और स्फूर्तिवादी है।

संत नामदेवजी का दर्शन अद्वैतवाद पर आधारित है। उनके विचार सर्वात्मवाद और अद्वैतवाद पर आधारित है। उनकी भक्ति का स्वरूप भी शुद्ध निर्गुण भक्ति का है। भक्ति के मार्ग को प्रवृत्ति मार्ग कहते हुए भक्ति में ही मुक्ति की कल्पना की है।

संत एकनाथजी की चिंतनधारा पर प्रमुखतः उपनिषद्, शंकराचार्य तथा ज्ञानेश्वरजी के ब्रह्माद्वैत सिद्धांत तथा उससे संबंद्ध माया विवर्तअज्ञान आदि वादों का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने विभिन्न दार्शनिक मतों में से अपनी दृष्टि के अनुकूल अंश को स्वीकार कर अपनी अलौकिक प्रतिभा से एक समन्वित चिंतन–प्रवाह का प्रसार किया है।

संत तुकारामजी की दार्शनिक विचारधारा भारतीय वैदिक–दर्शन और परंपरा संमत जीवन प्रणाली का निचोड़ है। उन्होंने समन्वयमूलक दृष्टिकोण को अपनाकर ज्ञान और योग को ईश्वर की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानकर भक्ति पर विशेष रूप से बल दिया है।

समर्थ गुरु रामदास के दार्शनिक विचार बहुतांशतः अद्वैतवाद से प्रभावित है। वे कहीं–कहीं द्वैतवादी, कहीं विशिष्टाद्वैतवादी और कहीं द्वैताद्वैत के समर्थक प्रतीत होते हैं। साथ ही उन्होंने सगुण–भक्ति का जोरदार प्रतिपादन किया है।

मराठी कवियों के दार्शनिक विचारों से स्पष्ट होता है कि जीव की कल्पना औपनिषदिक 'प्राण' पर आधारित है। वेदांतियों की भाँति जगत् को माया माना गया है। ब्रह्म को योगवशिष्ठ के परमरहस्यमय तत्व 'शून्य' की तरह माना गया है। नामदेवजी के दर्शन में निर्गुण ब्रह्म और साकार विठ्ठल एकाकार हो गए हैं। एकनाथजी की भक्ति ने एक और प्रौढ रूप लिया है किंतु 'भारूड' आदि में उन्होंने उलटवासियों को अपनाया है। मुक्ति की कल्पना बंधमोक्ष में की है। गुह्य–परम–अनुभव को संकेत शैली में वर्णित करते समय इन संतों ने संबंध पर विशेष बल दिया है। संत कवि समाज सुधारक होने के कारण उनके दार्शनिक विचार अत्यंत स्पष्ट, तर्काधारयुक्त, व्यावहारिक भाषा में प्रस्तुत हैं।

संदर्भ सूची

संदर्भ क्र.	किताबें	लेखक/लेखिका	पृष्ठ क्र.
01	भारतीय साहित्य	डॉ.लक्ष्मीकांत पांडेय डॉ. प्रमिला अवस्थी	186
02	वही	वही	186
03	वारकरी संप्रदाय के कवियों की हिंदी रचनाओं का अनुशीलन	वा. मा. औटी	2
04	वही	वही	3
05	प्राचीन मराठी वाङ्मयाचा परामर्श	म. पिंगे	9
06	वही	वही	13
07	वही	वही	30
08	वही	वही	60
09	वही	वही	42
10	हिंदी को मराठी संतों की देन	आचार्य विनय मोहन शर्मा	70
11	वही	वही	87
12	श्रीमत् दासबोध हिंदी (11.5.4)	डॉ. भवानी प्रसाद तिवारी	419
13	ज्ञानेश्वरी	संपा. शंकर वामन दांडेकर	3
14	वही	वही	12
15	संत साहित्य के क्षितिज कबीर और ज्ञानेश्वर	डॉ. कृ. ज्ञा. भिंगारकर	60
16	वही	वही	60
17	संत साहित्य के क्षितिज कबीर और ज्ञानेश्वर	डॉ. कृ. ज्ञा. भिंगारकर	61
18	सार्थ ज्ञानेश्वरी (13—835)	शंकर वामन दांडेकर	472
19	वही(13—871)	वही	474
20	वही(15—543)	वही	584
21	वही(15—554)	वही	586
22	हरिपाठ	ह. भ. प. बळवंत पांडुरंग दौंडकर	21
23	सार्थ ज्ञानेश्वरी(10—118)	शंकर वामन दांडेकर	296
24	वही(2—126)	वही	42
25	वही(9—220)	वही	254
26	वही(9—221)	वही	254
27	सार्थ ज्ञानेश्वरी(1—19)	शंकर वामन दांडेकर	6

28	वही(1—20)	वही	8
29	सार्थ ज्ञानेश्वरी(15—547)	शंकर वामन दांडेकर	584
30	वही(12—58)	वही	390
31	वही(8—175)	वही	218
32	वही(11—1108, 1110)	वही	494
33	वही(13—1116)	वही	11
34	वही (15—376)	वही	570
35	वही (15—377, 378)	वही	570
36	वही (2—144)	वही	44
37	सार्थ ज्ञानेश्वरी(2—105)	शंकर वामन दांडेकर	40
38	वही(15—114)	वही	548
39	वही(7—66)	वही	118
40	सार्थ ज्ञानेश्वरी(13—978)	शंकर वामन दांडेकर	482
41	वही(13—979)	वही	482
42	वही(7—15)	वही	184
43	वही(7—20)	वही	184
44	वही(7—21)	वही	184
45	सार्थ ज्ञानेश्वरी(15—80)	शंकर वामन दांडेकर	546
46	वही(14—87)	वही	508
47	वही(2—143)	वही	44
48	वही(14—115)	वही	510
49	वही(7—82)	वही	188
50	वही(7—97)	वही	190
51	वही(14—81)	वही	510
52	सार्थ ज्ञानेश्वरी(14—115)	शंकर वामन दांडेकर	210
53	वही(6—306)	व्ही	162
54	अमृतानुभव विवरण (9—15)	संपा. मुरलीधर महाराज धूत	725
55	वही(9—517)	वही	280
56	वही(8—784)	वही	210
57	वही(18—1001 से 1005)	वही	764
58	सार्थ ज्ञानेश्वरी(2—338)	शंकर वामन दांडेकर	62
59	वही(12—197)	वही	412
60	वही(5—50)	वही	122
61	हिंदी निर्गुण काव्य का प्रारंभ और नामदेव की हिंदी कविता	डॉ. श. के. आडकर	75

62	वही	वही	91
63	संत नामदेव गाथा (2158)	श्रीधर शेणोलीकर	105
64	संत नामदेव और हिंदी पद साहित्य (12)	रामचंद्र मिश्र	180
65	वही	वही	105
66	वही	वही	128
67	वही	वही	129
68	वही	वही	186
69	गाथा पंचक (अभंग 321)		67
70	गाथा पंचक (अभंग 322)	वही	67
71	गाथा पंचक (अभंग 361)	वही	67
72	गाथा पंचक (अभंग 505)	वही	67
73	वही(पद 14)	वही	6
74	वही(पद 112)	वही	56
75	हिंदी निर्गुण काव्य का प्रारंभ और नामदेव की हिंदी कविता	डॉ. श. के. आडकर	161
76	वही	वही	112
77	वही	वही	14
78	हिंदी निर्गुण संत काव्य दर्शन और भक्ति	डॉ. कृष्णा रैना	25
79	वही	वही	26
80	संत नामदेव की हिंदी पदावली	संपा. भगीरथ मिश्र	20
81	संत नामदेव गाथा	श्रीधर शेणोलीकर	32
82	वही	वही	37
83	वही	वही	40
84	वही	वही	45
85	संत नामदेव और हिंदी पद साहित्य	रामचंद्र मिश्र	140
86	वही	वही	128
87	संत नामदेव की हिंदी पदावली	संपा. भगीरथ मिश्र	21
88	वही(पद 192)	वही	98
89	संत नामदेव और हिंदी पद साहित्य	रामचंद्र मिश्र	141
90	वही	वही	141
91	हिंदी निर्गुण काव्य का प्रारंभ और नामदेव की हिंदी कविता	डॉ. श. के. आडकर	177

92	सकल संत गाथा—भाग 2	संपा. रामचंद्र ढेरे	124
93	मराठी संत काव्य में मानवतावाद एवं विश्वशांति की कामना	डॉ. रेणुका मोरे	12
94	वही	वही	12
95	श्री एकनाथी भागवत (3—674)	संपा. डॉ. र. रा. गोसावी	555
96	श्री एकनाथ महाराजांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 2419)	संपा. तुकाराम तात्या	702
97	संत एकनाथ का जीवन और कार्य	डॉ. श्रीकृष्ण दिवाकर	86
98	श्री एकनाथी भागवत	संपा. डॉ. र. रा. गोसावी	575 576
99	श्री एकनाथी भागवत (19—507)	संपा. डॉ. र. रा. गोसावी	915
100	श्री एकनाथ महाराजांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 572)	संपा. तुकाराम तात्या	258
101	वही (क्र. 2416)	वही	701
102	संत एकनाथ का जीवन और कार्य	डॉ. श्रीकृष्ण दिवाकर	89
103	वही	वही	89
104	श्री एकनाथ महाराजांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 2011)	संपा. तुकाराम तात्या	537
105	संत एकनाथ का जीवन और कार्य	डॉ. श्रीकृष्ण दिवाकर	90
106	सार्थ श्री एकनाथी भागवत	डॉ. र. रा. गोसावी	108
107	संत एकनाथ का जीवन और कार्य	डॉ. श्रीकृष्ण दिवाकर	92
108	वही	वही	93
109	वही	वही	93
110	सार्थ श्री एकनाथी भागवत	डॉ. र. रा. गोसावी	876
111	वही (3—619)	वही	150
112	संत एकनाथ का जीवन और कार्य	डॉ. श्रीकृष्ण दिवाकर	94
113	श्री एकनाथ महाराजांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 2396)	संपा. तुकाराम तात्या	697
114	वही (क्र. 2402)	वही	698
115	मराठी संत काव्य में मानवतावाद एवं विश्वशांति की कामना	डॉ. रेणुका मोरे	12

116	वही	वही	12
117	तुकारामबाबांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 1574)	संपा. विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित	532
118	वही (क्र. 1698)	वही	573
119	वही (क्र. 2936)	वही	203
120	वही (क्र. 3749)	वही	437
121	वही (क्र. 1976)	वही	663
122	वही (क्र. 3833)	वही	461
123	वही (क्र. 4131)	वही	544
124	वही (क्र. 2927)	वही	201
125	वही (क्र. 2670)	वही	128
126	तुकारामबाबांच्या अभंगाची गाथा (क्र. 354)	संपा. विष्णु परशुराम शास्त्री पंडित	113
127	वही (क्र. 1374)	वही	469
128	वही (क्र. 4454)	वही	639
129	वही (क्र. 634)	वही	236
130	वही (क्र. 3275)	वही	305
131	वही (क्र. 3930)	वही	488
132	वही (क्र. 2462)	वही	67
133	वही (क्र. 1261)	वही	437
134	वही (क्र. 1199)	वही	416
135	वही (क्र. 1022)	वही	362
136	वही (क्र. 997)	वही	354
137	वही (क्र. 3407)	वही	344
138	वही (क्र. 2325)	वही	28
139	कर्मयोगी समर्थ रामदास		23
140	समर्थ रामदास	शंकर अभ्यंकर	63
141	समर्थ रामदासांची हिंदी पदावली	प्रा. रा.तु.भगत	12
142	वही (क्र. 53)	वही	13
143	श्रीमत् दासबोध	अशोक कामत	213
144	समर्थ रामदासांची हिंदी पदावली	प्रा. रा. तु. भगत	68
145	वही (बा. क्र. 54)	वही	58
146	श्रीमत् दासबोध	अशोक कामत	173
147	वही (पद 7—2—53)	वही	173
148	वही (बा. क्र. 668)	वही	53
149	वही (बा. क्र. 1166)	वही	57

150	वही (स.गा.प.क्र. 935)	वही	56
151	समर्थ रामदासांची हिंदी पदावली	प्रा. रा. तु. भगत	9
152	वही (बा. क्र. 53)	वही	33
153	वही (बा. क्र. 51)	वही	51
154	वही (बा. क्र. 53)	वही	51
155	श्रीमत् दासबोध (पद 8—7—18)	अशोक कामत	213
156	श्रीमत् दासबोध (पद 1—10—1)	अशोक कामत	49
157	वही (पद 8—7—22)	वही	213
158	वही (पद 1—10—23)	वही	50
159	वही (बा. क्र. 668)	वही	45
160	समर्थ रामदासांची हिंदी पदावली	प्रा. रा. तु. भगत	39
161	वही (बा. क्र. 399)	वही	56
162	वही (बा. क्र. 1171)	वही	22
163	वही (बा. क्र. 53)	वही	39
164	वही(बा. क्र. 1)	वही	42
165	श्रीमत् दासबोध (पद 4—8—14)	अशोक कामत	114
166	समर्थ रामदासांची हिंदी पदावली	प्रा. रा. तु. भगत	19
167	वही (बा.क्र. 688)	वही	63
168	वही (बा.क्र. 1166)	वही	57

द्वितीय अध्याय

उलटवाँसी : सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

द्वितीय अध्याय

उलटवाँसी: सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन निर्गुण संतों की वाणी में रहस्यात्मकता का गहरा पुट देखने को मिलता है। साम्प्रदायिक, साधनात्मक एवं वैचारिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की दुरूहता के कारण इनकी वाणी में गुह्यता बढ़ती चली गई। संत कवियों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को विरोधात्मक प्रतीक योजना तथा सांकेतिक शैली के माध्यम से अभिव्यक्त किया। ऐसी गुह्यकृच्छ उक्तियों को 'उलटवाँसी' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा। कबीर बानी में हमें उलटवाँसियों का पर्याप्त भंडार मिलता है। कबीर द्वारा रचित उलटवाँसियों ने परवर्ती संतों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। कबीर की उलटवाँसियों के सम्यक् अनुशीलन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उलटवाँसियों के प्रयोग के पीछे व्याप्त प्राचीन दर्शन तथा साधना को समझा जाए। कबीर की उलटवाँसियों में व्याप्त दर्शन, क्लिष्टता तथा दुरूहता में पूर्व परम्पराओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अत: उलटवाँसियों का सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। प्रस्तुत अध्याय में उलटवाँसियों को सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जांचने-परखने के पश्चात् कबीर की उलटवाँसियों पर पड़े इन प्रभावों का आकलन भी किया गया है।

2.1 उलटवाँसी का व्युत्पत्तिपरक एवं परम्परागत अर्थ

2.1.1 उलटवाँसी का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस शब्द के प्रयोग और अर्थ के सम्बन्ध में विद्वान अटकलों से काम लेते रहे हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने उलटवाँसी को 'उलटा' और 'अंश' से बना माना है जिसका संबंध ऐसी रचना से होता है जिसमें किसी न किसी अंश में उलटी बातें मिलती हैं।[1] व्युत्पत्ति विषयक दूसरी संभावना को व्यक्त करते हुए वह कहते हैं कि--

''उलटवाँसी शब्द के इस अर्थ का समर्थन उसे उलटा एवं बांस शब्दों द्वारा निर्मित मान कर भी किया जा सकता है... परन्तु यदि इसके मूलरूप की कल्पना इसके 'बांसी' के अनुस्वार को हटाकर केवल 'उलटवासी' मात्र भेप में की जाए तो इसका तात्पर्य उस रचना से भी हो सकता है जो उसके ''बकवास'', ''लौटवास'' आदि के समान किसी ''उलटबास'' शब्द के आधार पर निर्मित होने के कारण व्यर्थ की उलटपुलट सूचित करने वाले उदाहरणों से भरी हो।''[2]

---

1. कबीर साहित्य की परख, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ 151
2. -वही , पृष्ठ 152

डॉ० सरनाम सिंह शर्मा ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है--''मेरी समझ में इस शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ हो सकती है--एक तो 'उलटवासी' संयुक्त शब्द से और दूसरी 'उलटवास' से सम्बन्धित। पहले शब्द उलटवाँ का अर्थ 'उलटी हुई' और 'सी' का अर्थ समान है, अतएव 'उलवाँसी' का अभिप्राय हुआ 'उलटी हुई प्रतीत 8होने वाली उक्ति।' दूसरी उलटवास शब्द से ।'परमपद' या अध्यात्म लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे सम्बन्धित वाणी 'उलटवासी' वाणी कहला सकती है।....इस शब्द में 'आ' के ऊपर जो सानुनासिकता दिखाई पड़ती है वह अकारण है।''[1]

उलटवाँसी शब्द के विषय में भी विभिन्न विद्वानों के विचार अलग-अलग हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने संतों द्वारा प्रयुक्त उलटवाँसी के लिए 'उलटवाँसी' और बहुवचन में उलटवासियाँ शब्दों का प्रयोग किया है।[2] डॉ० रामकुमार वर्मा ने इसे 'उलटवाँसी'[3] तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे उलटबासी कहा है।[4] डॉ श्यामसुन्दरदास ने उलटवाँसी में वाँ ध्वनि को ठीक माना है।[5] डॉ० रांगेय राघव ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के समान इसे 'उलटबासी' माना है।[6]

वास्तव में 'अधिकांश आलोचक उलटवाँसी में 'व' ध्वनि के प्रयोग के पक्ष में हैं।'[7] विभिन्न विद्वानों ने वंशी, वास, वाणी, बाँस, वाची, सी आदि को आधार बनाकर उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों को आधार बनाकर उलटवाँसी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये जा सकते हैं--

(1) उलटवाँसी में 'वास' का अर्थ निवास अथवा रहना ग्रहण करने पर उलटवाँसी का अर्थ होगा--वह निवास जो लोक विपरीत हो। इस वास का सम्बन्ध मन से है। लौकिक के स्थान पर मन का अलौकिक या आध्यात्मिक वास ही 'उलटवास' है और जो उक्ति मन के इस उलटवास का वर्णन करती है वह उलटवाँसी है। यहाँ अनुनासिकता अकारण हो सकती है जिसके कारण उलटवासी उलटवाँसी रूप में प्रयोग में लाई जाती है।

(2) उलटवाँसी में व्युत्पत्ति 'उलटवां+सी' मानने पर इसका अर्थ होगा 'उलटी सी' आभासित होने वाली बात या वाणी। उलटवाँसी में बात उलटी सी प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में उलटी नहीं होती।

---

1. कबीर एक विवेचन, डॉ० सरनाम सिंह शर्मा, पृष्ठ 322
2. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ 409
3. कबीर का रहस्यवाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ 3,7,29
4. कबीर, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 85
5. कबीर ग्रंथावली, सम्पादक डॉ० श्यामसुन्दरदास, प्रस्तावना, पृष्ठ 44-45
6. गोरखनाथ और उनका युग, डॉ० रांगेय राघव, पृष्ठ 207-8
7. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 4

इस अर्थ में संत तुलसी साहब ने इसे नासमझ के लिए उलटी तथा समझदार के लिए सुलटी कहा है।[1]

(3) उलटवंशी - उलटवंसी - उलटवाँसी (उलटबाँसी)। इस शब्द विकास का आधार वह वंशी या बाँसुरी है जिसके द्वारा अनाहद-नाद उत्पन्न होता है। यह ध्वनि या नाद सिर्फ 'साधक' को ही सुनाई पड़ता है। इस अर्थ में अनाहदनाद सम्बन्धी अनुभवों को व्यक्त करने वाली वाणी उलटवाँसी है।

(4) उलटवाँसी = उलट+वाची अर्थात् उलटी वाणी। उलटवाँसी में उलटा कथन रहता है। यह उलटा कथन संतों की विचारात्मक एवं आध्यात्मिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने में सहायक बन पड़ा है।

(5) 'व्याकरण की दृष्टि से उलटवाँसी विशेषण अथवा संज्ञाशब्द है जो स्त्रीलिंग के एक वचन में प्रयुक्त होता है।'[2]

2.1.2 उलटवाँसी का परम्परागत अर्थ

उलटवाँसी शब्द, शैली के रूप में अपने विभिन्न नामों द्वारा हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही प्रयुक्त किया जाता रहा है और सर्वत्र ही इसका प्रयोग चेतना के उर्ध्वमुखी प्रवाह के लिए हुआ है। गुरु गोरखनाथ ने इसे उलटी चरचा[3] नाम दिया है और कबीर ने इसे 'उलटा वेद' या 'उलटि वेद'[4] कहा है। कबीर के पश्चात् लगभग सभी संत कवियों ने उलटवाँसियों का प्रयोग किया है। उन्होंने उलटवाँसी को विभिन्न अभिधाऐं प्रदान की हैं। ''संत सुन्दरदास ने बिपर्ज्जय को अंग (विपर्यय) नाम से, इस शैली में पृथक से ही दोहे और सवैया छंद लिखे हैं, जिनमें उलटवाँसी के समकक्ष 'उलटीबात', 'उलटीरीति', 'उलटीगंग', 'उलटाख्याल' आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। पलटु साहब की बानी में 'उलटावती' नाम से एक वर्ग मिलता है, जिसमें कुछ उलटवाँसियों का संग्रह है।''[5]

19वीं शती में संत तुलसी साहब (हाथरस वाले) ने उलटमासी शब्द का प्रयोग किया तथा इस शैली के प्रयोग का रहस्य भी बताया---

उलटी चाल संत की बोली। बिन परचे को परदा खोली॥

अस उलटी उन कही अगूढ़ा । पंडित भेष न जाने मूढ़॥

---घट रामायण , भाग 2, पृष्ठ 142

---

1. अली इक बात सुन सुलटी। बिन समझै लगै उलटी॥
   --- घट रामायण (भाग-2), पृष्ठ 177
2. हिन्दी संतों का उलटवॉसी -साहित्य, डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र, पृष्ठ 9
3. उलटंत पवनं पलटंन वांणी। अपीव पीवत जे ब्रह्म ज्ञानी॥
   ---गोरखबाणी, पृष्ठ 32
4. है कोइ जगत गुरू ग्यांनी उलटि बेद बूझै।
   ---कबीर ग्रंथावली, श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ 105
5. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 4

उनके अनुसार ऐसी वाणी स्वयं में 'सुलटी' होने पर भी लोक की 'उलटी' प्रतीत होती है परन्तु समझ में आने पर उलटी लगने वाली वाणी स्वयं ही सुलटी हो जाती है।[1] इन्होंने तथा अन्य सन्तों ने उलटवाँसी को उलटवाँसी न कहकर इसके समकक्ष अन्य अभिधानों का प्रयोग किया है। सन्तों ने उलटवाँसी के स्थान पर जिन अन्य शब्दों का प्रयोग किया है उनमें से अधिकतर में 'उलट' पद का प्रयोग नहीं है। यथा--

(1) कबीर - अकथ कहानी, उलटि बेद[2]

(2) तुलसी साहब (हाथरस वाले) - उलटमासी, उलटीरीति, उलटा सब्द, उलटीचाल, उलटबास[3]

(3) धनी धरमदास - अचरज ख्याल[4]

(4) मलूकदास - अजब कथा[5]

(5) जगजीवन साहेब - न्यारी कथा[6]

(6) यारी साहेब - भेद की बात[7]

(7) दरिया साहब (बिहार वाले)- छपलोक की बात[8]

---

1. उलटबास सन्तन ने भाखी। जाकी समझ सूर कोई राखी॥
सुलटी को उलटी कर बूझा। उलटी सुलटी समझ न सूझा॥
--- घट रामायण (भाग 2), पृष्ठ 177
2. अकथ कहाँनी प्रेम की, कछु कही न जाई॥
--- कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 104, पद 156
है कोई जगत गुर ग्यॉनी, उलटि बेद बूझै।
--- कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 104, पद 160
3. तुलसी साहब शब्दावली और जीवन चरित (पहला भाग), बेलवेडियर प्रेस, सन् 1953 ई०, पृष्ठ 136
4. अचरज ख्याल हमारे देसवा।
---धनी धरमदास जी की शब्दावली, पृष्ठ 32
5. या नैया के अजब कथा, कोई बिरला केवट जाने।
--- मलूकदास जी की बाणी, पृष्ठ 3
6. अकह की यह कथा न्यारी, सीखा नहीं आन है।
--- जगजीवन साहेब की शब्दावली (दूसरा भाग), पृष्ठ 47
7. वह भेद की बात अवर हैरे, यह बात मेरे नहिं मन भावै।
--- यारी साहेब की रत्नावली, पृष्ठ 17
8. छपलोक की बातें कहेऊँ। केवल हंस हिरंबर रहेऊँ॥
---दरिया सागर, पृष्ठ 49

(8) दरिया साहब (मारवाड़ वाले) - अनहद बानी [1]

(9) बुल्ला साहेब - अचरज[2]

(10) दूलन दास - गुप्तमत की बात या गुप्त मर्म [3]

(11) दया बाई - अटपटी बात [4]

(12) चरन दास - गुप्तमते की बात [5]

(13) भीखा साहब - अकथ कथन [6]

(14) संत शिवदयाल - उल्टी बात, अंतरमुख शब्द, मर्म अतोली [7]

(15) पलटू साहिब - उलटावती [8]

उलटवाँसी के व्युत्पत्तिपरक एवं परम्परागत अर्थों के विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उलटवाँसी शब्द आधुनिक युग की उपलब्धि है। उन्नसवीं शती के आरम्भ में संतों, सम्प्रदाय विशेष के अनुयायियों अथवा टीकाकारों ने, जिन्होंने इस प्रकार की रचना का अभिप्राय समझा होगा, वाणी की इस शैली का नाम 'उलटबाँसी ' 'उलटमासी' या 'उलटवाँसी' दे दिया होगा, जो चलते-चलते लोकप्रिय हो गया है। [9] उक्त विवेचन से इतना भी स्पष्ट है कि अधिकांश आलोचक एवं विद्वान 'उलटवाँसी' शब्द में

---

1. अनहद बानी अगम खेला
 ---दरिया साहब की बानी, पृष्ठ 37
2. जो यह अचरज देह बूझाई। सोई सतगुरू अगम कहाई॥
 ---बुल्ला साहेब का शब्द सागर, पृष्ठ 14
3. साईं तेरो गुप्त मर्म हम जानी। कस करि कहौं बखानी॥
 ---दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ 5
4. रोय रोय गावत हँसत, दया अटपटी बात।
 --- संत बानी संग्रह (भाग एक), पृष्ठ 172
5. गुप्तमते की बात हैली जानै सोइ जानै।
 --- चरणदास की बानी (भाग दो), पृष्ठ 18
6. अविगति गतिन को अकथ कथन।
 --- भीखा साहब की बानी, पृष्ठ 20
7. उलटी वात सभी कह गाऊँ।
 अंतर मुख शब्द मे लेंगे बूझ बुझाय।
 संत विना को बूझि है, यह मर्म अतोली।
 --- सारबचन-छंद बंद (भाग दो), पृष्ठ 456-64
8. पलटू साहिब की बानी (पहला भाग), पृष्ठ 177
9. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 7

'व' ध्वनि के पक्ष में हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डॉ० ओम प्रकाश, श्री रमेश चन्द्र मिश्र, डॉ० शशि भूषण दास गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं।

उलटवाँसी के व्युत्पत्तिपरक एवं परम्परागत अर्थों के अध्ययन के बाद यह कहा जा सकता है कि 'उलटवाँसी शैली को प्रयोक्ता संतों तथा आलोचक विद्वानों ने चाहे जो भी नाम दिया हो सर्वत्र ही इसका प्रयोग अभिव्यक्ति की एक विशिष्ट पद्धति के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से अनिवर्चनीय, साधनात्मक एवं वैचारिक अनुभूतियों को वाणी दी जाती है। उलटवाँसी शैली का प्रयोग सर्वत्र चेतना के उर्ध्वमुखी प्रवाह के लिए किया गया है।

2.2 उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा

''ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि-प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्रमुख तीर्थों का स्पर्श करती हुई, नाम-रूप से परिवर्तित होती हुई, साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोध गर्भिता वाणी उलटवाँसी या 'उलटी-चर्चा' के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी।.... उलटवाँसी साहित्य नाम रूप से भिन्न होते हुए भी एक सुदृढ़ परम्परा का स्थिर विकास है। इस रूप में यह एक निश्चित एवं प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति शैली है।''[1]

उलटवाँसियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इसके मूल रूप में वैदिक साहित्य हमें प्राप्त होते हैं। उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा का अध्ययन सुविधा एवं स्पष्टता की दृष्टि से निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है--

2.2.1 उलटवाँसी शैली और वैदिक युग

ऋग्वेद में हमें इस प्रकार की रचना शैली के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। ऋग्वेद की कई ऋचाएं गूढार्थ, रहस्यमयी पहेली प्रवृत्ति और दुरूह प्रतीकों के कारण अर्थ बोधन में कठिन हैं। नीचे दिए गए उदाहरणों में उलटवाँसी शैली के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं--

(क) अपादेति प्रथम पद्धतीनां कस्तद् वां मित्रावरूणाचिकेत।

----ऋग्वेद संहिता, 1/152/3

(पैर वालों से पहले बिना पैरों वाला आ जाता है। मित्र वरूण इस रहस्य को नहीं जानते।)

(ख) इदं वपुनिर्वचनं जनासश्चरन्ति यन्नद्यस्तस्थुरापः।

---ऋग्वेद संहिता , 5/47/5

(हे मनुष्यों यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है। इसमें नदियाँ बहती हैं और जल स्थिर रहता है।)

---

1. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, रमेशचन्द्र मिश्र, प्रस्तावना, पृष्ठ 7

(ग) अपां मध्ये तस्थिवासं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

----ऋग्वेद संहिता, 7/89/4

(जल के मध्य में भी प्यास बनी है)

(घ) इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।

शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥

----ऋग्वेद संहिता, 1/164/7

(अर्थात् जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो, बतलावे। उसकी इंद्रियाँ अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों से जल पिया करती हैं।)

(ङ) चत्वारिशृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यांआविवेश।

----ऋग्वेद, 4/58/3

(इस बैल के चार सींग, तीन पैर, दो सिर एवं सात हाथ हैं। यह बैल तीन प्रकार से बँधा हुआ ऊँचा शब्द करता है।)

(च) क इमं वो नृव्य माचिकेत, वत्सोमातृजनयति सुधाभिः।

----ऋग्वेद, 1/7/25 (सूत्र 95)

(वन आदि में निहित अग्नि को कौन जानता है ? पुत्र होकर भी अग्नि अपनी माताओं को हव्य द्वारा जन्म देते हैं।)

ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद में भी इस शैली का प्राचीन रूप उपलब्ध है। यथा--

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।

सक्वाणं धर्मभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभि॥

----अथर्ववेद-संहिता, 10/8/6

अर्थात् एक विचित्र स्वभाव वाली गाय है जो अपने उर्ध्व भाग से अपनी माता के प्रति शब्द करती है और वशवर्ती होकर रस स्त्रवित करती है। तथा जो एकपदा, द्विपदा, चतुष्पदा, अष्टपदा, नवपदा आदि कई रूपों में देखी जाती है।

एक और उदाहरण दृष्टव्य है--

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो अजायत।

सह द्यामधि रोहति रूहोरूरोह रोहितः॥

अर्थात् काली रात्री ने एक श्वेत बच्चे को उत्पन्न किया है। वह आकाश में ऊँचा चढ़ गया है। यहां विरोधगर्भित गूढोक्ति है--'कृष्ण' काक पुत्र 'अर्जुन' है।

---अथर्ववेद संहिता, 13/3/26

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ''संहिता-भाग में यह शैली देव वाची अमूर्त्त शक्तियों के विस्मयकारी कृत्यों, ब्रह्म-चर्चा के रूप में यज्ञ संबंधी प्रसंगों में प्रयुक्त होती थी। इस प्रकार की शैली में अध्यात्म विषय का प्रतिपादन होता था, जिसमें सृष्टि और उसके विकास संबंधी समस्याओं पर विचार होता था। विषय की जटिलता अथवा सूक्ष्मता के कारण इस प्रकार की अभिव्यक्ति गूढोक्तियों के रूप में ही संभव थी। साथ ही इस शैली के माध्यम से जिज्ञासा को प्रबुद्ध और बुद्धिवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए भी कथन की विरोधगर्भित शैली का आश्रय लिया जाता होगा।''[1] इसके अतिरिक्त वैदिक ऋषियों ने अपनी साधनात्मक एवं गुरू गंभीर अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। वाणी की श्री वृद्धि एवं अधिकारी तक ज्ञान की पहुंच भी इस शैली का उद्देश्य थी।

2.2.2 उपनिषद और उलटवाँसी शैली

उपनिषदों ने इस विरोधाश्रित गूढ़ शैली को और आगे बढ़ाया। इस समय तक आते-आते वैदिक विचारधारा कर्मकाण्ड से चिन्तन की ओर मुड़ चुकी थी। ''उपनिषद् काल का विवेच्य विषय सूक्ष्म-तत्त्व, आत्मा या ब्रह्म है। उस परमानुभूत तत्त्व की अभिव्यक्ति 'मौन-व्याख्या' अथवा विरोधाश्रित शैली के द्वारा ही संभव थी, क्योंकि उस तत्त्व को प्राप्त करने में वाणी और मन भी असमर्थ है।....समर्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए उपनिषदों के अनेक कथनों में विरोधगर्भित अभिधा दिखाई देती है।''[2] उदाहरणार्थ----

आपणि पादो जबनो गृहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तत्यास्ति वेत्ता, तमाहुंग्रय पुरूषं महान्तम्॥

----श्वेताश्वरोपनिषद्, 3/19

अर्थात् 'वह हाथ-पाँव रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी देखता है, कर्ण रहित होकर भी सुनता है। वह सम्पूर्ण वैद्य को जानता है, पर उसको जानने वाला कोई नहीं है, उसको सबका आदि पुरुष और महान कहा गया है।'

कठोपनिषद् में ऐसे वृक्ष का वर्णन है जिसका वाच्य विरोधगर्भित एवं व्यवहार पक्ष में असंभव है---

उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एपोऽवत्थः सनातनः॥

---कठोपनिषद, 2/3/1

---

1. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, रमेशचन्द्र मिश्र, प्रस्तावना, पृष्ठ 62,63

2. -वही, पृष्ठ 63, 64

अर्थात् सनातन वृक्ष अश्वत्थ का मूल ऊपर की ओर तथा शाखाएँ नीचे की ओर हैं।

उस सूक्ष्मतत्त्व की अभिव्यक्ति विरोधाश्रित गुणों द्वारा ही संभव है--

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्मतः॥

----ईशावास्योपनिषद्, मंत्र-पाँच

अर्थात् वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और निकट भी, वह सबके भीतर भी है और बाहर भी । वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है।

कठोपनिषद् में इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है--

आसीनों दूरं ब्रजति श्यानो याति सर्वतः ।

---कठोपनिषद्, 1/2/21

अर्थात् वह स्थित हुआ भी दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषदों तक आते-आते विरोधाश्रित गूढोक्ति का सम्यक् विकास हो चुका था। उस सूक्ष्म तत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए उपनिपदों में विरोधगुण सम्पन्न वक्र शैली का आश्रय जगह-जगह लिया गया है।

2.2.3 मध्यकालीन संस्कृत साहित्य और उलटवाँसी शैली

इस युग में दो प्रकार के साहित्य की रचना हुई--धार्मिक तथा कलात्मक। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि धार्मिक साहित्य तथा कालिदास माघ, श्रीहर्ष, दण्डी आदि की काव्य रचनाएँ कलात्मक साहित्य के अंतर्गत आती हैं। उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन संस्कृत युग में उलटवाँसी शैली का उपयोग कम हुआ है। धार्मिक साहित्य में तर्क-विश्लेपण या ज्ञानकाण्ड के स्थान पर कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। अवतारवाद की प्रतिष्ठा के कारण अनुभूति की सूक्ष्मता का स्थान अनुष्ठानों ने ले लिया अतः विरोध गुण सम्पन्न वक्र शैली की आवश्यकता अधिक न रही।

कलात्मक साहित्य में दृष्टकूट, ग्रंथग्रंथि आदि वक्र शैलियों का प्रयोग हुआ है क्योंकि कलात्मक साहित्य का प्रयोजन कलात्मक ज्ञान अथवा व्याकरण शास्त्रीय बहुज्ञता का प्रदर्शन होता है। उलटवाँसी शैली का प्रयोजंन अनुभूत सूक्ष्म तत्त्व की गूढोक्ति सम्पन्न वक्र भापा में अभिव्यक्ति होता है जिसके लिए इस युग के साहित्य में अवकाश न था किन्तु परम्परा निर्वाह हेतु कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिन्हें उलटवाँसी शैली के निकट का कहा जा सकता है।

महाभारत के आदि पर्व में सौति का कथन है कि--' ग्रंथाग्रंथितदाचक्रे मुनिर्गूढ़ं कुतूहलात्।'

--- महाभारत, आदिपर्व 1/80

अर्थात् ग्रंथग्रंथियाँ वे गूढ़ श्लोक हैं, जिन्हें महर्षि व्यास ने विशेष प्रयोजन हेतु रचा है।

श्रीमद्‌भगवत में संसार वृक्ष का वर्णन करते हुए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया गया है-

उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद च वेदवित्॥

---श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 15/1

यह एक ऐसा वृक्ष है जिसकी जड़े तो ऊपर गई हुई हैं किन्तु शाखाएँ नीचे हैं, पत्तों से यह खूब ढका हुआ है।...ऐसे अश्वत्थ वृक्ष को जो जानता है वही सच्चा वेदवेत्ता है।

भागवत् में स्वयं नारद दक्ष पुत्र हर्यश्वों को कहते हैं---''एक देश है जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है जिससे बाहर निकलने का रास्ता नहीं है। एक ऐसी स्त्री है जो बहुरूपिणी है। एक ऐसा पुरूष है जो व्यभिचारिणी का पति है। एक ऐसी नदी है जो दोनों ओर बहती है। एक विचित्र घर है जो पच्चीस तत्त्वों से बना है।''[1]

हिन्दी के संत कवियों ने गीता के उपरोक्त दृष्टकूट को आधार बनाकर उलटवाँसियाँ कही हैं-

तलि करि साखा उपरि करि मूल,

बहुत भांति जड़ लागे फूल।

कहै कबीर या पद को बूझै,

ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै॥[2]

---कबीर

दरक्खत एक है उल्टा।

कभी होवे नहीं सुल्टा॥

अगर वह पेड़ अड़बड़ का।

तले डाली अधर जड़ का॥[3]

---तुलसी साहब

---

1. कबीर समग्र, डॉ॰ युगेश्वर, पृष्ठ 87

2. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, डॉ॰ संसार चन्द्र, पृष्ठ 111

3 -वही, पृष्ठ 112

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महाभारत में जहाँ कहीं गूढोक्तियों का प्रयोग हुआ है वहाँ वे दृष्टकूट शैली के अंतर्गत आती है। इस युग के विरोध-प्रधान वक्र कथनों में विचार या अध्यात्मक पक्ष का अभाव है।

श्रीमद्‌भागवत में उलटवाँसी शैली के प्रमुख प्रयोजन 'गोपन' के सम्यक् उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। यथा---

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरस: पंचविध: षडात्मा।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो हयादि वृक्ष॥

---श्रीमद्‌भगवत, 10/2/26

अर्थात् यह संसार एक सनातन वृक्ष है। इस आदिवृक्ष का एक अयन है, दो फल है, तीन मूल हैं, चार रस हैं। इसके जानने के पाँच प्रकार हैं। इसके छ: स्वभाव है, सात वल्कल हैं, आठ शाखाएँ, नौ आँखें तथा दस पत्ते हैं। इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं।

एक और उदाहरण दृष्टव्य है--

द्व अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनाल: पंचस्कंध: पंचरसप्रसूति:।

दशैकशाखो द्वि सुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोडर्क प्रविष्ट:॥

---श्रीमद्‌भागवत महापुराण, 11/112/22

अर्थात् इस संसार वृक्ष के दो बीज हैं, सौ जड़े हैं, तीन तने हैं। पांच मोटी-मोटी शाखाएँ एवं पांच रस हैं, ग्यारह छोटी शाखाएँ हैं। दो पक्षी यहाँ घोंसला बनाकर रहते हैं। इस वृक्ष में तीन प्रकार की छाल और दो प्रकार के फल लगते हैं।

इस धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त मध्यकालीन संस्कृत युग में विरोधगर्भित वक्र शैली का प्रयोग तो हुआ किन्तु कला प्रधानता के कारण वे सभी दृष्टकूट या प्रहेलिका वर्ग के अंतर्गत आते हैं, उलटवाँसी के नहीं। 'नैषध चरित', 'विदग्ध मुख मण्डन', 'कूट सन्दोह', आदि रचनाओं में साधनात्मक प्रक्रिया की गोपनीयता नहीं है वरन् कलात्मक नैपुण्य है।

अत: कहा जा सकता है कि मध्यकालीन संस्कृत साहित्य में उलटवाँसी शैली का अभाव है। किन्तु कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य मिल जाते हैं जो इस शैली के निकट के हैं अथवा इस शैली के प्रयोजन 'गोपन' एवं 'बुद्धि की विशद्‌ता' का परिपोषण करते हैं।

2.2.4 तंत्र संप्रदाय, योग शास्त्र और उलटवाँसी शैली

उलटवाँसी शैली को तंत्र सम्प्रदाय ने बहुत अधिक प्रभावित किया। तंत्र सम्प्रदाय में इस शैली के लक्षण और प्रयोजन का बीज निहित है। पांचरात्र, पाशुपत, शैव, कापालिक, शक्ति आदि तंत्र सम्प्रदायों ने अपनी विचारधारा और साधना-पद्धति से बौद्ध-सिद्धों की वाणी को बहुत प्रभावित किया। सहजयानी बौद्ध-सिद्धों में प्रतीक-चयन की पद्धति पर सिद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। साधना में गोपन प्रवृत्ति को तांत्रिकों ने बहुत प्रोत्साहन दिया। तांत्रिक अपनी साधना पद्धति को लोगों में प्रकट करना उचित नहीं समझते थे। वे अपनी साधना पद्धति के गुण-दोषों को समझते थे। फलतः वे नहीं चाहते थे कि वह सर्वगम्य हो जाए। तांत्रिकों ने अपनी गोपन प्रवृत्ति के बारे में कहा है--

प्रकाशत् सिद्धि हानिः स्यात् वामाचारगतो प्रिये।

अतो वामपथे देवी गोपयति मातृ जारवत्॥

---विश्वसार तंत्र

तांत्रिकों ने अपनी साधनाओं का वर्णन गूढ़ भाषा में जटिल प्रतीकों के माध्यम से किया। यह वर्णन साधारण रूप से देखने पर तो निरर्थक प्रतीत होते थे परन्तु प्रतीकों का अर्थ स्पष्ट होने पर बोधगम्य हो जाते थे। ''सिद्धों में वामाचार, वाम-साधना अथवा 'उलटा साधना' का क्रम तन्त्रों से ही आया है। इन विपरीतकरणी साधनाओं और कथनों के द्वारा तंत्राचार्यों ने जनता को तो चमत्कृत किया ही, अपनी साधना पद्धति की गुह्यता की भी रक्षा की। बौद्ध-सिद्धों की वाणी, प्रतीक संकेत प्रधान तन्त्र पद्धति से प्रत्यक्षतः प्रभावित हुई है।''[1]

उलटवाँसी साहित्य को योग साधना सम्बन्धी ग्रंथों ने भी प्रभावित किया। इन रचनाओं में उलटवाँसी शैली के अनेक उदाहरणों के साथ रूढ़ शब्दावली, प्रतीक, रूपक आदि ऐसी सामग्री मिलती है जिनसे हिन्दी साहित्य की उलटवाँसियों ने काफी प्रभाव ग्रहण किया है। योग साधना संबंधी ग्रंथों यथा-हठयोग प्रदीपिका, गोरक्ष विजय, गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, गोरक्ष पद्धति, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, प्रज्ञोपाय विनिश्च सिद्धि, अद्वय वज्र-संग्रह, ज्ञान सिद्धि, साधना माला, सुभाषित रत्न भण्डागार--आदि में उलटवाँसी शैली के लक्षण निहित हैं।

उलटवाँसी शैली पर योगादि विषयक रचनाओं के प्रभाव को निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है--

गोमांस भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारूणीम्।

कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुल घातकाः॥

--हठयोग प्रदीपिका, 3/48/49

---

1. हिंदी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 76

अर्थात् जो योगी प्रतिदिन गोमांस खाता है और अमर वारूणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते हैं--अन्य लोग तो कुल घातक हैं।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर कहा गया है कि गंगा यमुना के मध्य में जो बाल-विधवा तपस्विनी निवास करती हैं, उसका बलात्कार पूर्वक ग्रहण करना ही विष्णु के परम-पद की प्राप्ति है--

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनीम्।

बलात्कारेण गृह्णीयात्त द्विष्णोः परमं पदम् ॥

--हठयोग प्रदीपिका, 3/109

यहाँ हठयोग के अनुसार बाल विधवा से अभिप्राय इड़ा, पिंगला के मध्यवर्ती कुंडली शक्ति से है।

अतः कहा जा सकता है कि तन्त्रों तथा योग साधना विषयक रचनाओं एवं ग्रंथों ने उलटवाँसी पद-रचना पर पर्याप्त प्रभाव डाला। दूसरे शब्दों में उलटवाँसी पद रचना इन्हीं का मूर्त संस्कार है। इन रचनाओं में प्रतीकों का अर्थ निश्चित कर दिया गया है। हिन्दी साहित्य में उलटवाँसी शैली का प्रयोक्ता इन्हीं रूढ़ प्रतीकों से प्रकाश एवं प्रभाव ग्रहण करता है। इस साम्प्रदायिक कथन वृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साधकों का स्वभाव ही विरोधमूलक कथन कहने का हो गया। ''योगी और तांत्रिक लोग दुनिया से उलटी बात कहने के अभ्यस्त हो गए। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिल्कुल नहीं।''[1]

2.2.5 सिद्ध साहित्य और उलटवाँसी शैली

सिद्धों की गूढार्थ विरोधगर्भित एवं प्रतीक प्रधान संध्या भाषा उलटवाँसी शैली का आदि रूप है। सिद्धों ने अपनी 'सन्धा-भाषा' के माध्यम से अपने सम्प्रदाय के रहस्यों की रक्षाकी तथा जन सामान्य को चमत्कृत किया। सिद्ध अपनी साधना पद्धति को सरल एवं स्पष्ट रूप में जनता के सामने नहीं रखना चाहते थे। इस प्रकार गोपन-प्रवृत्ति के कारण सिद्धों की रचनाओं में प्रतीक प्रधान, विरोधगर्भित शैली को प्रश्रय मिला।

बौद्धों के साहित्य में उलटवाँसियों के अनेक प्रयोग प्राप्त हैं। धम्मपद की ये गाथाएँ तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं--

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।

रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मगो॥

---धम्मपद, 21/5

अर्थात् माता, पिता दो क्षत्रिय राजाओं और अनुचर के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण पाप रहित हो जाता है।

---

1. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 80

दूसरा उदाहरण दृष्टव्य है---

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।

वेय्यग्धपंचमं हन्तवा अनीघो याति ब्राह्मणी॥

---धम्मपद, 21/6

अर्थात् माता, पिता दो क्षत्रिय (ब्राह्मण, राजा) और पाँचवे व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।

इन गाथाओं का अर्थ गूढ़ प्रतीकों में छिपा है। बौद्ध धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों में ऐसे प्रयोगों की बहुतायत है।

कृष्ण (कृष्णाचार्यपाद) की एक उक्ति देखिये--

मारिअ सासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिआ कान्ह भइल कपाली॥

---चर्यागीति कोष, पृष्ठ 38

अर्थात् घर में सास, ननद एवं साली तथा माँ को मारकर कण्हपा कपाली हो गया।

ढेण्ढणपाद द्वारा रचित विरोधाश्रित उक्ति का उदाहरण प्रस्तुत है--

वलद विआअल गविआ बाँझे। पिटा दुहिअइ एतिणा साँझे॥

--चर्यागीतिकोष:, पृष्ठ 108

यहाँ बैल ब्याता है, गाय बाँझ रहती है और पीठक तीनों समय दुहा जाता है। यहाँ ढेण्ढणपाद की इस उक्ति से कबीर की उलटवाँसी की तुलना दृष्टव्य है--

बैल बियाइ गाइ भई बाँझ। बछरा दूहै तीन्यूँ साँझ॥

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 88, पद 80

संध्या-भाषा में लिखे गए चर्या गीतों में कुक्करीपाद का नाम विशेष महत्त्व का है। वे कहते हैं--

दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ। रूखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥

अइसन चर्या कुक्करीपाएँ गाइड़। कोड़ि माझें एक हिअहिं समाइड़॥

---चर्यागीति कोष:, पृष्ठ 6

यहाँ कच्छपी अपने पृष्ठ भाग से दुही जाती है, परन्तु उसको ग्रहण नहीं किया जाता। मगर के द्वारा वृक्ष की इमली खाई जाती है। इस प्रकार की चर्या जो कुक्करीपाद के द्वारा की गई है, को करोड़ों में से

कोई विरला ही समझ सकता है। ''कोड़ि माझें एक हिअहिं समाइड़, चर्या की यह अंतिम पंक्ति 'कहै कबीर कोई बिरला बूझे' जैसी सन्त उलटवाँसियों की अंतिम पंक्ति की मूल रूप कही जा सकती है।''[1]

भुसुकपाद ने संध्या शैली में लिखे गए रूपकों के द्वारा विभिन्न साधनावस्थाओं का वर्णन किया है--

निसि अन्धारी मुसा अचारा। अमिअ भखअ मुसा करअ अहारा॥

मार रे जोइआ मुसा पवणा। जेण तुटअ अवणा-गवणा॥

---चर्यागीति कोष:, पृष्ठ 71

अर्थात् अन्धेरी रात्रि में मूषक आचरण करता है। अमृत का भक्षण करके मूपक अपना आहार करता है। अरे योगी इस मूषक को पवन से मार क्योंकि यह आवागमन को अवरूद्ध करता है।

डोम्बीपाद की चर्याओं में उनकी संकेत प्रधान कथन शैली के दर्शन होते हैं--

गंगा जउना माझें रे बहइ नाइ।

तहिं बुड़िली मातंगी पोइआ लीले पार करेइ॥

--चर्यागीति कोष:, पृष्ठ 47

अर्थात् गंगा-जमुना के बीच में नौका संतरित हो रही है। उसमें डूबकर मातंग पोतिका लीला पूर्वक पार उतरती है।

सिद्ध सरहपाद की रचनाओं में कथन का चमत्कार मूलतः विरोधमूलक वक्र-कथन के द्वारा आया है। यथा---

बद्धो धावइ दस दिसाहि, मुक्को णिच्चल ट्ठअ।

---दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ 24

अर्थात् चित्त को बंधन में बांधने पर वह चारों दिशाओं में दौड़ता है और मुक्त करने पर स्थिर हो जाता है।

वास्तव में चर्याकारों ने अपने साम्प्रदायिक मनोभावों को दुर्बोध बनाने की चेष्टा की जिससे मात्र अधिकारी एवं प्रतीकज्ञ साम्प्रदायिक ही इसके मर्म तथा धर्मार्थ को समझ सकें। ''ऐसे दोहों और चर्यापदों में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ द्विविध प्रकार का है--बाह्यार्थ एवं साधना संक्रांत अर्थ। इस प्रकार के द्विविधार्थक शब्दों के आयोजन के पीछे हठयौगिक यौन-संबंधी प्रतीकों या संकेतार्थों को समझाने के

---

1. हिन्दी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, रमेशचन्द्र मिश्र, प्रस्तावना, पृष्ठ 82

लिए रहस्यमयी भाषा तथा गूढ़ भंगिमा का प्रयोग किया गया है।''[1]

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संध्या भाषा तांत्रिक गुह्याचार संकेतों या रहस्यपूर्ण विशेषताओं से मंडित एक विशेष, गुप्त या प्रच्छन्न भाषा है। बौद्धों के चर्यागीतों में विभिन्न रूपकों, प्रतीकों तथा विरोधगर्भित असम्बद्ध कथनों के द्वारा साधना मार्ग की कठिनाइयों और सहजानन्द अथवा महासुख की अवस्था का चित्रण किया गया है। सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप में रखते थे जिसे कोई विरला ही बूझ सकता था। सिद्धों के पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और विरोधगर्भित असम्बद्ध कथन कबीर आदि सन्तों को उत्तराधिकार में प्राप्त हुए। वास्तव में सिद्ध साहित्य का संत साहित्य पर विचार और शैली दोनों ही दृष्टियों से बहुत प्रभाव पड़ा। ''शैली की दृष्टि से सिद्धों की संधा भाषा में जो कूट और प्रतीक हैं, उन्हीं से कबीर के रूपक और उलटवाँसियों का निर्माण हुआ है।''[2] सिद्धों की रहस्यमयी उक्तियों ने कबीर आदि संतों की उलटवाँसियों को जन्म दिया। जिस प्रकार बज्रयानियों ने जानबूझकर अपनी भाषा को गूढ़ रखा उसी प्रकार कबीर की भाषा भी गूढ़ है।''[3]

2.2.6 नाथ साहित्य और उलटवाँसी शैली

बौद्ध वज्रयानियों में से सिद्ध गोरखनाथ (गोरक्षपा) ने शैव सिद्धान्त पर अपने एक नये ही सम्प्रदाय की नींव डाली जिसे नाथ पंथ कहते हैं।[4] वास्तव में बौद्ध सिद्धगण विचारधारा के अनुसार नाथपंथी और साम्प्रदायिक परम्परा से बौद्ध थे।[5] नाथ पंथ में पातंजल योग के ईश्वरवाद को लेकर साधना में हठयोग का सूत्रपात किया गया है। साधना पद्धति की दृष्टि से नाथ-पंथियों में योग की प्रधानता है। नाथों में तांत्रिक पद्धतियों का उतना आग्रह नहीं है, जितना की सिद्धों में। नाथ पंथ में ''चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अष्टांग योग की प्रक्रिया का प्रवेश हुआ और साधना चक्र से नारी का बहिष्कार हुआ। यही कारण है कि नाथ परम्परा में श्रृंगार प्रधान वाच्य वाले रूपक-बन्धों की पद रचना का अभाव है और इसलिए डोम्बी, मातंगी, शबर, छिनाली, ललना, रसना, महिला अवधूति आदि प्रयोग नाथों की उलटवाँसियों में देखने को नहीं मिलते।"[6]

नाथों की उलटीबानियों ने विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य के निर्गुणी सन्तों को पर्याप्त प्रभावित किया है। ''जिस कारण से सहजयानी सिद्धों ने संध्या भाषा शैली को अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम बनाया, लगभग वही कारण नाथ-योगियों के हैं। वे हैं--साधनात्मक

---

1. सहज सिद्ध : साधना एवं सर्जना, डॉ० रणजीत कुमार साहा, पृष्ठ 188
2. हिंदी साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 203
3. अपभ्रंश साहित्य, डॉ० हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 392
4. हिंदी काव्य में अन्योक्ति, डॉ० संसार चन्द्र, पृष्ठ 186
5. सहज साधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 13
6. हिंदी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र, पृष्ठ 93

रहस्य की अभिव्यक्ति और उनकी रक्षा। उलटवाँसी शैली में रचित नाथ-योगियों के अनेक पदों में साधनात्मक रहस्य को ही निगूढ़ रखा गया है। "[1] नाथ योगियों का मानना था कि सीधे मार्ग या भवधारा के अनुकूल चलने से जीवन के मूल स्त्रोत अर्थात् ईश्वर से सभी प्राणी दूर होते जा रहे हैं। इस धारा के विपरीत चलने पर ही हम आदि उद्गम तक पहुंच सकते हैं। इसलिए योगी लोग दुनिया से उलटी बात कहने के मानों अभ्यस्त हो गए। इस विपरीत कथन के मूल में अपनी साधना के रहम्यों को गुप्त रखने की भावना विद्यमान थी। परवर्ती सन्तों की उलटवाँसियों के लिए नाथों के उलटवाँसी पद पूर्व रूप कहे जा सकते हैं। इस प्रकार इस कथन शैली ने नाथ-सम्प्रदाय के माध्यम से समग्र रूप में हिन्दी साहित्य की उलटवाँसियों को प्रभावित किया। नाथों की उलटवाँसियों के विषय में यह उल्लेखनीय है कि इनकी उलटवाँसियों में गोपन के प्रति आग्रह इतना नहीं है जितना की चमत्कार के प्रति।

गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को उलटवाँसी शैली के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। गुरु गोरखनाथ ने अपनी इन रहस्यमयी वाणियों के लिए 'उलटी चरचा' शब्द का प्रयोग किया है।[2] चमत्कार प्रवृत्ति और रहस्यात्मकता के संयोग ने गोरखनाथ की वाणियों को अत्यन्त अद्भुत बना दिया है। यथा--

चींटी केरा नेत्र में, गज्येन्द्र समाइला।

गावड़ी के मुख में, बाघला बिबाइला॥

---गोरखबानी, पृष्ठ 129.34

अर्थात् हाथी चींटी के नेत्र में प्रवेश करता है और गाय के मुख में बाघिन ब्याती है। लोक में इनकी उलटवाँसियों को 'गोरखधन्धा' के नाम से जाना जाता है। इन्होंने 'सबदी' और 'पद' दोनों में ही उलटवाँसियाँ कही हैं। इन्होंने स्थान-स्थान पर अपनी साधनात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए उलटवाँसी शैली का आश्रय लिया है---

डूंगरि मंछाजलि सुसा, पाणी में दौं लागा।

अरहट बहै तृसालवां, सूलै काँटा भागा॥

---गोरखबानी, पृष्ठ 112,20

अर्थात् पानी में आग लगी है, मछली पहाड़ पर है और खरगोश जल में है। प्यासों के लिए रहट बहने लगी है और शूल से निकल कर कांटा नष्ट हो गया है।

गोरखनाथ ने अपनी अन्तर्मुखी साधना प्रक्रिया में वज्रयानियों की ही तरह घट के भीतर ही इड़ा, पिंगला, षटचक्र, अनाहतनाद आदि की ओर संकेत करने वाली उक्तियों का आश्रय लिया है---

1. हिंदी संतों का उलटवाँसी-साहित्य, डॉ० रमेश चन्द्र मिश्र, पृष्ठ 93
2. उलटी चरचा गोरख गावै ।

   ---गोरखबानी, पृष्ठ 142, पद 47

नीझर झरे अमीरस पिवणा,

सटदल बेध्या जाई।

चाँद बिहुणा चाँदला,

देखा गोरख राई।।[1]

अर्थात् षटदल का भेदन हो जाने पर पीने हेतु अमृत रस का झरना झरने लगता है। गोरखनाथ ने वहीं चन्द्रमा के न होने पर भी चाँदनी देखी।

एक अन्य स्थान पर गोरखनाथ कहते हैं--

थंभ विहूणी गगन रचीलै तेल विहुणी बाती।

गुरु गोरख के वचन पति आया तब द्योस नहीं तहां राती॥[2]

'अर्थात् गोरखनाथ कहते हैं कि यदि मेरे बचनों में पूर्ण विश्वास हो जाए और उसके अनुसार आचरण किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि गगन में किसी खंभे और तेल -बाती के बिना ही ज्ञान का शुभ्रालोक हो गया है।'

आश्चर्य की बात है कि नाथ अमृतवाणी बोलता है, कम्बल बरसता है और पानी भीगता है-

नाथ बोलैं अमृतवाणी बरिषैगी कंवली भीजैगा पाणी।

---गोरखबानी, पद-47, 30-141

ऐसा ही एक अन्य उदाहरण देखिये--

चलि रे अबिला कोयल मौरी। धरती उलटि गगन कूं दौरी॥

गईयाँ बपड़ी सिघ नै घेरै। मृतक पसू सूद्र कूं उचरै॥

काटे ससत्र पूजै देव। भूप करै करसा की सेव॥

---गोरखबानी, पृष्ठ-152-53

अर्थात् 'अरे आम्र वृक्ष' तू चल, कोकिला मंजरी युक्त हो गई है। पृथ्वी (अपने स्वभाव के विरुद्ध) आकाश की ओर दौड़ने लगी है। सिंह को बिचारी गायों ने घेर लिया है। मृतक पशु शूद्र के प्रति उच्चकरण करने लगा है। शस्त्र काटा जा रहा है और देवता पूजा कर रहा है।

गोरखनाथ ऐसे वृक्ष का वर्णन करते हैं जो---

---

1. हिंदी काव्य में अन्योक्ति, डॉ० संसार चन्द्र, पृष्ठ 187 से उद्धृत

2. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत, सरनाम सिंह शर्मा, पृष्ठ 673 से उद्धृत

बीज बिन निसपती मूल बिन बिरसा पान फूल बिन फलिया।
बाँझ केरा बालूड़ा प्यंगुल तरवरि चढ़िया॥
---गोरखबानी, पृष्ठ 108

गोरखनाथ की विधि- विरोधक उलटवाँसी देखिये---
अवधु ईश्वर हमारे चेला। भणीजे मछींद्र बोलिये नाती।
निगुरी पिरथी परलै जाती ताथै हम उल्टी थापना थापी॥
---गोरखबानी, पृष्ठ 50

एक अन्य उलटवाँसी में वे कहते हैं--
चींट्या परबत ढोल्या रे अवधु, गायां बाध बिडारया जी।
सुसलै समदां लहरि मनाई, मृघा चीता मारयाजी॥
---गोरखबानी, पृष्ठ 154

गोरखनाथ की गुह्य -प्रवृत्ति प्रधान उलटवाँसी का एक उदाहरण प्रस्तुत है--
नाद अनाहद गरजै गैणं, पछिम ऊग्या भांणं।
दक्षिण डीबी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं॥
चंद सूर नी मुंडा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला।
नाती ब्यंदी सींगी अकासी, अलख गुरु च चेला॥
---गोरखबानी, पृष्ठ-110

गोरखनाथ ने उपदेश प्रधान उलटवाँसियों की भी रचना की---
सांभलि राजा बोल्या रे अवधु, सुणो अनोपम बांणी जी।
निरगुण नारी सूं नेह करंता, झबकै रैणि बिहांणी जी॥
डाल न मूल पत्र नहिं छाया, बिण जल पिगुला सींचै जी।
बिण ही मढीयां मंदला बाजै, यण विधि-लोका रीझे जी॥
---गोरखबानी, पृष्ठ 154

इस विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि अपने स्वरूप में गोरखनाथ की उलटवाँसियाँ परवर्ती प्रयोक्ताओं के लिए सुदृढ़ पूर्व पीठिका है। विषय की दृष्टि से इनकी उलटवाँसियों में उपदेश प्रधानता, परीक्षा संबंधी एवं साधनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही अधिक है। विरोधमूलक होने के कारण इनसे कौतूहल सृष्टि हुई है। इन उलटी चरचाओं में योग-शास्त्रीय शब्दों के अतिरिक्त प्रकृति के व्यापक धरातल से प्रतीकों का चयन किया गया है।

गोरखनाथ द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों, पारिभाषिक शब्दों तथा विरोधगर्भित असम्बद्ध कथन शैली ने निर्गुण सन्तों विशेषकर कबीर को अत्यधिक प्रभवित किया। कबीर की कुछ पंक्तियाँ तो गोरखनाथ के कथन का रूपांतर मात्र प्रतीत होती हैं---

गोरखनाथ--

बीज बिन निसपती मूल बिन बिरसा पान फूल बिन फलिया।

---गोरखबानी, पृष्ठ 108

कबीर---

बीज बिन अकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया॥

---कबीर ग्रंथावली , पद.36, पृष्ठ 105

गोरखनाथ--

चले बटावा थाकी बाट, सौवै डुकरिया ठौरे खाट।

---गोरखबानी, पद 47

कबीर---

हारी बाट बटाऊ जीत्या, जानत की बलिहारी।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 110, पद 176

गोरखनाथ--

धरती उलटी गगन कूं दौरी।

---गोरखबानी, पृष्ठ 152

कबीर---

धरती उलटि अकासहि ग्रसै।

---कबीर ग्रंथावली, पद 162, पृष्ठ 106

गोरखनाथ---

चींटी परबत ढोल्या रे अवधु।

---गोरखबानी, पृष्ठ 154

कबीर--

चींटी परबत ऊषण्याँ, ले राख्यौ चौड़े।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 106, पद 161

गोरखनाथ--

गाया बाघ बिडारया जी।

---गोरखबानी, पृष्ठ 154

कबीर--

गाइ नाहर खायौ।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 105, पद 160

गोरखनाथ--

मृगा चीता मार्‌या जी।

---गोरखबानी, पृष्ठ 154

कबीर--

हरनि खायौ चीता।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 105, पद 160

गोखनाथ--

बाँझ केरा बालूडा प्यंगुल तरवरि चढ़िया॥

---गोरखबानी, पृष्ठ 108

कबीर--

बाँझ का पूत बाप बिना जाया, बिन पाऊँ तरबरि चढ़िया।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 105, पद 158

गोरखनाथ--

डूंगरि मंछा जलि सुसा।

--गोरखबानी, पृष्ठ-112

कबीर--

ऊँचे टीबे मंछ बसत है, ससा बसे जल माँही।

---कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ 110, पद 176

अत: हम देखते हैं कि गोरखनाथ के उलटवाँसी पदों का शब्द भंडार संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के शब्दों से सम्पन्न है। कबीर को गोरखनाथ की कुतूहल प्रधान शैली उत्तराधिकार में प्राप्त हुई जिसे सजा-संवार कर इन्होंने एक नया रूप दिया। इन्हीं की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर कबीर ने उलटवाँसी-प्रयोग में ऐसी सीमा रेखा खींची है जिसका अतिक्रमण परवर्ती सन्त साहित्य नहीं कर पाया।

गोरखनाथ के अतिरिक्त कुछ अन्य नाथ सिद्धों ने भी उलटवाँसियाँ कही हैं। 'चौरंगीनाथ जो कि तिब्बती परम्परा में गोरक्षनाथ के गुरुभाई माने गए हैं'[1] कि इस सम्बन्ध में एक उलटवाँसी प्रस्तुत है---

---

1. नाथ-सिद्धों की बानियाँ, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 20

अंगनि सैति अंगनि जालिबा। पानी सैती सोषिबा पानी॥

बाई सेती बाइ फैरिबा। तब आकास मुषि बोलिबा बाँबी॥

---नाथ सिद्धों की बानियाँ, भूमिका, पृष्ठ- 48

चर्पट या चरपटीनाथ की बानियों में भी उलटवाँसी परम्परा का सम्यक् विकास देखने को मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन्हें गोरखनाथ का शिष्य कहा है तथा इनका समय गोरखनाथ से कुछ बाद का माना है। इनमें भी उलटवाँसी कथन की प्रवृत्ति देखने को मिलती है--

कथनी बदनी बलि करि जाव। बंधि सकहु तौ बंधौं बाव॥

चरपट कहै पवन की डोर। भूंकत गदहा ले गयौ चौर॥

---नाथ-सिद्धों की बानियाँ , पृष्ठ 30

जालंधरी नाथ की प्रस्तुत उलटवाँसी में 'शून्यवास' का उपदेश और कुंडलिनी के जागृत होने का वर्णन है--

सुनि मण्डल मैं मन का वासा। तहाँ परम जोति प्रकासा॥

आपैं पूछै आपैं कहैं। सतगुरु मिलै तो परमपद लहै॥

एक अचंभा ऐसा हुआ। गागरि माँहि उसारबा कूवा॥

बोछी लेज पहूँचे नाँही। लोक पयासा मरि-मरि जाहीं॥

---नाथ-सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ 52

नाथ योगी कृष्णपाद के इस उलटवाँसी पद में सिद्धि अवस्था का वर्णन है--

द्यौसे चंदा रातैं सूर। गगन मंडल में बाजे तूर॥

सति का सबद कणेरी कहै। परम हंस काहे न रहै॥

--नाथ-सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ-11

गरीबदास को 14वीं शती के उत्तरार्द्ध का माना जाता है। इनकी एक उलटवाँसी प्रस्तुत है--

पाताल की मींडकी आकास जंत्र बावै।

चन्द सूरिज मिलै गंगा जमन गीत गावै॥

सकल ब्रह्मांड उलटि अधर नाचै डीब।

सति सति भाषंत सिध गरीब॥

--नाथ-सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ-13

इस उलटवाँसी में कुंडलिनी के ब्रह्मांड निवास का वर्णन है। इस सम्बन्ध में एक उलटवाँसी पद देखिये--

पेड दिसा थैं पावक पोषै, सेली अमी पीवैली।

रूप रेष ताकै कछु नांही, बप बिन मृग चरेली॥

---नाथ-सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ 125

इस उलटवाँसी में 'तत्त्वबेलि' का वर्णन है।

वास्तव में इस प्रकार की शैली का एक युग दीख पड़ता है क्योंकि जैन मुनियों ने भी इस शैली का आश्रय लिया है। आवश्यकता और परम्परा दोनों ने ही उलटी चर्चा को प्रेरणा दी थी। अपने एक पाहुड़ दोहा में जैन मुनि रामसिंह भी ऐसी ही अटपटी बात कहते हैं--

उब्बस बसिया जो करइ, बसिया करइ जु सुराणु।

बलि किज्जउ तसु जोइयहु, जासुण पाउण पुण्णु॥

---पाहुड़ दोहा (करंजा), 192

अर्थात् जो उजाड़ को बसाता है और जो बसे को उजाड़ता है, हे योगी! उस व्यक्ति की बलिहारी है, उसको न पाप होता है न पुण्य।[1] मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहा में रहस्यात्मक प्रवृत्ति की गूढ़ात्मक उक्तियाँ काफी मिलती है।

इस प्रकार उलटवाँसी शैली की पूर्व परम्परा का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि साधनात्मक एवं वैचारिक अनुभूति की अभिव्यंजना पद्धति वेदों से ही चली आ रही हैं। धीरे-धीरे इसका विकास होता गया। निश्चय ही सिद्धों-नाथों के उलटवाँसी-मूलक प्रयोग परवर्ती प्रयोक्ता संतों के लिए आदि रूप हैं। कबीर वाणी में इस प्रवृत्ति का प्राधान्य है। "यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सिद्धों और नाथों की वाणी से कबीर की वाणी का अटूट संबंध है। इन्हीं के गोला बारूद से कबीर ने इन्हीं के गढ़ पर चढ़ाई की है। इसलिए भाषा और शैली तक में इन्हीं का अनुकरण है, इन्हीं की छाप है। यद्यपि सिद्धों की भाषा की जो प्रवृत्ति है वह कबीर की भाषा से बहुत भिन्न है।...किन्तु गोरखनाथ की भाषा तो कबीर के बहुत निकट की प्रतीत होती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कबीर ने अपनी साधाना का एक बहुत बड़ा अंश गोरखनाथ की साधना से ग्रहण किया है।"[2] कबीर के बाद भी उलटवाँसियों की परम्परा चलती रही किन्तु उलटवाँसियों में अनुकरण कबीर का ही होता रहा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उत्तरकालीन सन्तों के लिए कबीर ने मार्ग प्रशस्त कर दिया था। उलटवाँसी शैली को वास्तव में कबीर जैसा समर्थ प्रयोक्ता मिला जिसने विषय प्रतिपादन, प्रतीक योजना, रूपकतत्त्व, चमत्कार सृष्टि आदि की दृष्टि से उलटवाँसी शैली को एक नया रूप, रंग एवं तेज प्रदान कर उसे एक सशक्त माध्यम के रूप में परवर्ती संतों को सौंपा। आज "उलटी बात कहने की पद्धति लोक-काव्य और लोक-जीवन तक में अपना घर कर गई है और 'गधा न कूदा कूदी गौन' जैसी अनेक कहावतें प्रयोग में आ रही हैं।"[3]

****

---

1. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत, डॉ० सरनाम सिंह शर्मा, पृष्ठ 673-674
2. -वही, पृष्ठ 674
3. -वही, पृष्ठ 678

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम
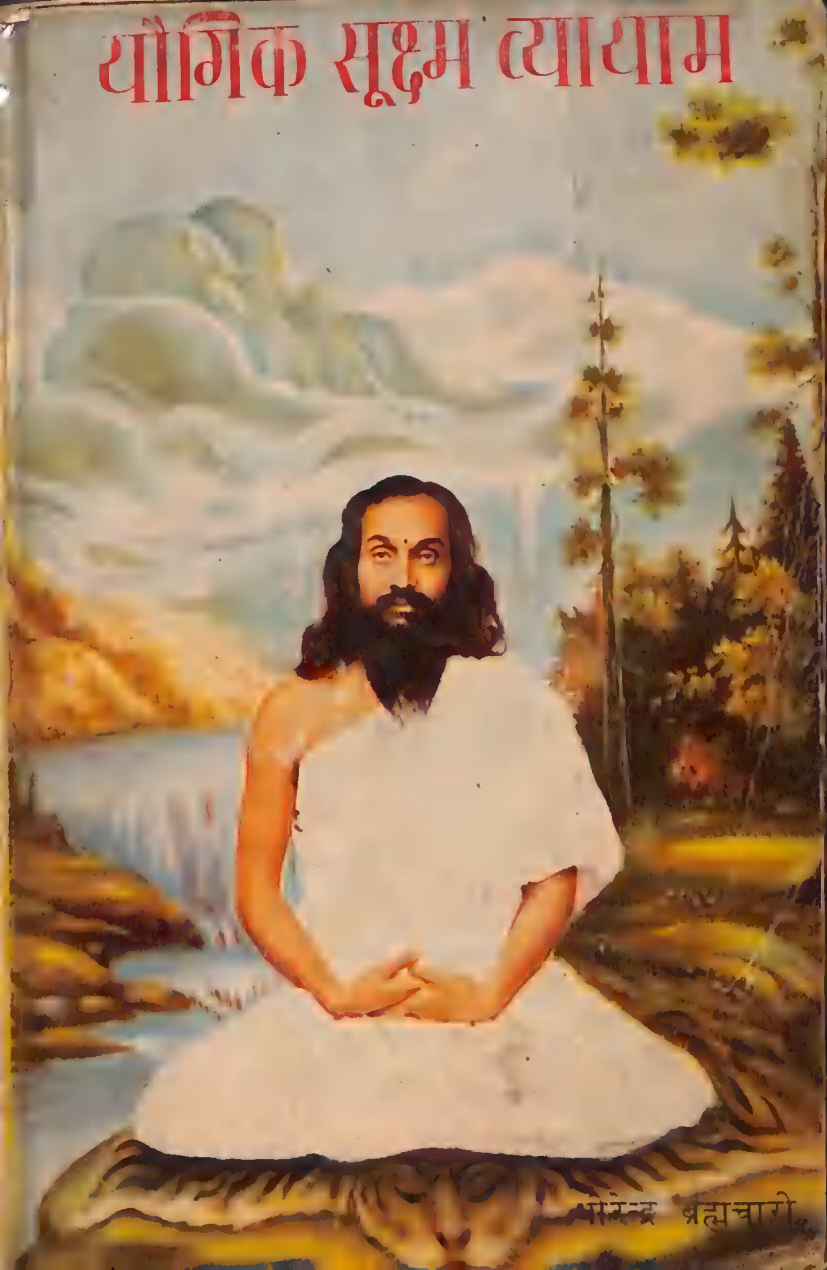
धीरेन्द्र ब्रह्मचारी

अनन्तश्रीविभूषित महर्षि कार्तिकेयजी

समर्पण

महर्षिस्तीर्थपादोऽयं कार्त्तिकेयो महाप्रभुः ।
विदध्यात्संततं शन्नो दिव्यधामगतो हरिः ।।१।।

अयमयं निखिलेशरघूत्तमो विजयमित्रनिरीहयदूत्तमः ।
परमया दययाविरभूत्क्षितौ सुजनतासुखशान्तिविवृद्धये ।।२।।

अपि च वाग्भिरतीव मनोहरं सदुपदेशमदाज्जगते विभुः ।
करपदादि समेन्द्रियसंघकैर्हितकृदस्य स विश्वसुहृत्परः ।।३।।

अखिलयोगरहस्यमनुत्तमं मयिकुपात्रतमे कृपया ह्यधात् ।
स समदुःखविनाशनहेतुकं मम गुरुर्य इहास्ति दिवंगतः ।४।।

पादारविन्देष्वनुशिक्षितास्ताः क्रियाः समस्ता नितरां प्रकाश्य ।
गुरोः परेशस्य महाविभूतेः समर्पयेऽहं शिशुधीरचन्द्रः ।।५।।

महर्षिजी का संक्षिप्त परिचय

अम्भोजकल्पकलिताम्बकधाशविध्यक्षेपैर्नृणां त्रिविधतापविनाशयन्तम् ।
योगेन वल्गुवचसा नवभक्तिभिश्च योगेश्वरेश्वरगुरुं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ।।

प्राणी जब भवाब्धि के उत्ताल तरंगों की असह्य वेदना-भँवर में असहाय और अनाथ की नाईं ईश्वर की ओर करुण दशा में त्राहि-त्राहि करता हुआ डूबने लगता है, जब दुर्जन दोषाक्लान्त महीमण्डल अपनी विकृत प्रकृति सहचरी के साथ गरीय भारोद्धार के लिए प्रभु का आह्वान करता है, जब मानव-जगत् की परिस्थितियाँ दैन्य तथा दयनीय हो जाती हैं, तब उपर्युक्त सत्यशक्ति साधक-साधनों को उल्लसित करने तथा असत्य-अज्ञान को निरसित करने के लिए, विश्व को उद्भासित करते हुए महा-महिम गुणगणाकर प्रभु महाविभूतिमान स्वरूप को धारण कर विश्व-हित के लिए अवनितल पर पदार्पण करते हैं।

दयासिन्धु प्रभु के उन स्वरूपों में से एक विशेष विभूतिमान स्वरूप, दिव्य महापुरुष, अनन्त-श्री विभूषित, ब्रह्मनिष्ठ महर्षि श्री कार्तिकेयजी भी हैं। ऐसे महापुरुषों का आना पृथ्वीतल पर केवल लोककल्याण के लिए ही हुआ करता है। ऐसे महापुरुषों का मिलन भवत्प्राप्ति सदृश ही या उससे भी अधिक महत्व की घटना है, जो बिना भगवान की असीम अनुकम्पा से प्राप्त नहीं होती :—

निगमागम पुराणमत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा ।।
संत सिद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही ।।

राम की कृपा से संत मिलते हैं और संतों की कृपा से परमार्थ-विवेक। ऐसे संतों की वाणी भगवान सर्वेश्वर प्रभु की सर्वाङ्गीण शक्ति है। भक्तों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि उनकी वाणी का महत्त्व भगवान की वाणी से भी श्रेष्ठ है। भगवान की वाणी दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का अनुग्रह करनेवाली होती है, पर संतों की वाणी सब पर समान रूप से अनुग्रह-रूप है।

भगवान की वाणी में शासन का भाव है और संत की वाणी में प्रेम का स्वभाव। भगवान की वाणी में सत्ता का गुण है, पर संत की वाणी में सत्य का सौन्दर्य। प्रभु की वाणी में प्रभाव और संत की वाणी में सद्भाव है।

अनादि काल से सर्वेश्वर भगवान ने ऐसे महापुरुषों के रूप में आकर मानव का कल्याण किया है तथा तत्त्वज्ञान का बोध कराकर जीवन के भवसागर से पार उतारा है। कहा भी है :—

न विना ज्ञानविज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ।।
गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते ।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ।।

अर्थात्—जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस संसार-सागर से पार उतारनेवाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान नौका के समान बताया गया है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भवसागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है, फिर उसे नौका और नाविक दोनों की ही अपेक्षा नहीं रह जाती।

महर्षिजीका आविर्भाव भारतवर्ष के उत्तर-प्रदेश में एक सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में हुआ था। आप बाल्यावस्था से ही प्रतिभासम्पन्न तथा योग के पूर्ण रहस्यज्ञ थे। बहुत छोटी अवस्था में ही आप में पूर्ण प्रज्ञा प्रतिष्ठित थी। सुना जाता है कि ग्रामीणों की जब कोई वस्तु खो जाती और वे आकर आपसे पूछते, तब आप झट बताते कि वह वस्तु अमुक स्थान पर है या अमुक मनुष्य ने ली है। एक बार उसी छोटी अवस्था में एक महापुरुष ने आपकी परीक्षा के लिए आपके सामने संस्कृत महाभारत ग्रन्थ रख दिया और पढ़ने को कहा। आपने उसे महान् विद्वान् की भाँति धारा-प्रवाह रूप से पढ़ दिया। यज्ञोपवीत संस्कार में आपने स्वयं गायत्री मन्त्र का उच्चारण किया था। इस प्रकार आपका शैशव महत्वपूर्ण घटनामय था।

आप उपवीत के बाद ही पर्वतीय प्रान्त कैलाश, मानसरोवर, द्रोणाद्रि, गन्धमादन और सुमेरु आदि अनेक पर्वतों के विजन तपःपूत शिखरों पर बहुत दिनों तक विचरते रहे। फिर निरहैतुक करुणावरुणालय बदरीविपिनविहारी भगवान बदरीनारायणजी ने त्रिविधतापाक्लान्त विश्व के उद्धारमात्र के लिए आपके आविर्भाव का मुख्य निदान निर्देश किया। साथ ही आपके अपने सदाचार, उपदेश, खान-पान, चलन, वलन, दर्शन, अभिभाषण, साधन, भजन, पठन, पाठन, निर्देशन, शयन-सम्मिलन, योग आदि सदाचारों से विश्व को विशेष कल्याण भाजन बनाने के लिए दिव्य आज्ञा दी।

आपका जीवन संसार के सामने एक महान् आदर्श जीवन था। आपके कलित कलेवर में उपासकों तथा भावुकों को अपने-अपने इष्ट का अनुदर्शन हुआ करता था, जिससे वे प्रभावित हो आप में ही इष्ट भावना रखकर आपकी पूजा से अपना अभीष्ट सिद्ध करते थे। आपकी वाणी द्वारा होनेवाले लाभों की महत्ता और व्यापकता का वर्णन मानव-बुद्धि की परिधि से बाहर है, क्योंकि आपकी वाणी-वीणा के एक-एक तार, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना और तान में मानव-मन के मर्मस्थलों को स्पर्श करने का विलक्षण गुण था तथा उसमें विश्व-हृदयहारिणी शक्ति का आनन्द प्राप्त होता था, जिसके फलस्वरूप वह जनता के मन पर मन्त्र का-सा काम करती थी।

आप जब पर्वतीय पठारों से नीचे उतर कर देश में आए थे, उसी समय आपका अभूतपूर्व दर्शन मुझे बिहार-स्थित बेनीपट्टी ग्राम में प्राप्त हुआ था। आपके दर्शन भाग से उस समय मुझे जो आनन्द मिला, उसका वर्णन मेरी लेखनी की शक्ति के बाहर की वस्तु है। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जिन्हें पाने के लिए युगों से मेरा मन प्यासा था, वह आज प्रत्यक्ष हुए हैं। आपके ग्राम में पधारते ही दूर-दूर के ग्रामों से जनता का समुद्र-सा उमड़ पड़ा। जो उनकी वाणी को सुनता, मुग्ध हो जाता। कोई कहता भगवान राम आए हैं, कोई कहता योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण इस रूप में आए हैं। आपमें वास्तव में अपूर्व क्षमता तथा सर्वज्ञता थी। भक्तों को प्रेम की पराकाष्ठा समझाते थे। ज्ञानियों को ज्ञान योग का उपदेश देते थे। योगियों को यौगिक क्रियाओं के विषय में विलक्षण ज्ञान कराते थे। गृहस्थों को

ग्रहस्थ धर्म सम्बन्धी ग्राचार-विचार, भोजन-भजन ग्रादि सारी बातों का उपदेश देते थे। ग्रापके हृदय की विशालता ग्रद्‌भुत थी। सारे समुदायों, सम्प्रदायों के प्रति ग्रसीम प्रेम की भावना से ग्रापके उपदेश ग्रोत-प्रोत रहते थे। सारे विश्व के प्राणियों की मङ्गल-कामना ग्रापकी वाणी में निहित थी। ऐसी ग्रद्‌भुत शक्ति के दर्शन मुझे जीवन में प्रथम बार हुए थे। मानव सम्बन्धी तथा हर क्षेत्र के जैसे राजनैतिक, ग्रार्थिक, धार्मिक इत्यादि किसी भी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर प्रश्न करते ही प्रश्नकर्त्ता को मिलता था।

मुझे भी यहीं पर ग्रापने ग्रपने ग्रसीम ग्रनुग्रह से ग्रनुगृहीत किया। मेरी रुचि तथा ध्येय योग-मार्ग में बढ़ना था। मेरी जिज्ञासा को देख कर माता के समान ग्रनुकम्पा कर योग के गोपनीय रहस्यों को समझाया तथा यौगिक क्रियाग्रों की ग्रद्‌भुत प्रणाली, जो किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है, बताई। जनता के कल्याण के लिए ही ग्रापका ग्राभिर्भाव हुग्रा था। ग्रतएव उन गोपनीय क्रियाग्रों से विश्व का कल्याण करने की ग्रापकी ग्राज्ञा थी। इन क्रियाग्रों से सहस्रों के ग्रसाध्य से ग्रसाध्य रोग दूर हुए हैं तथा जन्मजन्मान्तरों के मलों का निवारण होकर उन्हें चित्त की एकाग्रता प्राप्त हुई। ग्रापकी ग्रनुकम्पा की विलक्षण महत्ता है। इसके बाद ग्रापने ग्रसंख्य लोगों का उद्धार करते हुए उज्जैन, इन्दौर, राजपूताना, ब्रज, उत्तर-प्रदेश ग्रादि स्थलों में पर्यटन कर इस विश्व को सुख-शान्ति का संदेश देकर ग्रन्त में श्री गुप्तारघाट, फैजाबाद दिव्यधाम श्री ग्रवध में साढ़े तीन सौ वर्ष की दीर्घायु में मंगलवार ता० २४-६-५३ को गोधूली वेला में सायं ८॥ बजे सिद्धासन में विराजते हुए ग्रपने लीला-कलेवर का संवरण किया।

—धीरेन्द्र ब्रह्मचारी

श्रद्धाञ्जलिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणामपि श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठविद्वद्वरिष्ठाणाम्, विविधविद्यातत्त्वविज्ञजनमण्डलालंकारभूतानामपि ब्रह्मविद्ययामलकवतप्रत्यक्षीकृतानन्तकोटिब्रह्माण्डाण्डपिण्डाणाम्, जीवन्मुक्तावस्थयाऽशेषकृत्यानामपि मानवक्लेशकरुणयाऽऽश्याणहृदयानाम्, आर्यान्तःशीलसदाचारादर्शधौरेयाणामपि विश्वात्मतयाऽऽत्मीयां तनूमकिञ्चनत्वेन विभाव्यमानानाम्, सर्वोदात्ततया राजनीतिधर्मनीत्यायुर्वेदसांख्ययोगन्याय वैशेषिकवेदान्तादि दार्शनिकसिद्धान्तानुभवितप्रसारेण च धवलीकृताशानामपि विश्वायतनयोगाश्रमसर्वोत्कृष्टयौगिकसाधनप्रणाल्या मानवमात्रत्वेन विश्वोद्धारकाणाम्, त्रयोदशमासंयावन्मातृगर्भवासानन्तरं बाल्यादेवाधिगतात्मबोधतयाऽष्टवार्षिक्याऽल्पीयस्यैव वयसालंकृतसुरभारतिकविरत्नमण्डलमण्डनानामपि स्वात्मानमनभिज्ञमनधीतमिव च मन्यमानानाम्, कैवल्यस्थित्यात्मानन्दाब्धिनिषण्णानामपि भुव्यवतारितसत्याब्धिलोकानाम्, श्रीगौरीशंकरांकक्रीडनकलितव्यसननाम्, योगिवर्याणाम् अनन्तश्रीविभूषितानां श्रीमहर्षिकार्त्तिकेयानां चरणारविन्देषु सादरं सहृदय्याः कोटिशः प्रणामाञ्जलयः सन्तुन्तरामोम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

विश्वसेवक

हरिभक्त चैतन्य

विश्वायतन योगाश्रम

जम्मू-काश्मीर

धीरेन्द्र ब्रह्मचारी

यौगिक साधनों की महत्ता

योग-विद्या का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। न योग वाङ्मय से ही परिचित हूं। तथापि अन्य साधारण लोगों की तरह योग की अनन्त महिमाओं का वर्णन जब तब सुनता रहा हूं। अभी हाल में विश्वायतन योगाश्रम, काश्मीर, के दो योगियों—श्री धीरेन्द्र ब्रह्मचारी और हरिभक्त चैतन्य—से परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। मेरा स्वास्थ्य वर्षों से अच्छा नहीं रहता। इधर दो-ढाई साल से मधुमेह का शिकार रहा हूं। कुछ महीने पूर्व कलकत्ते गया था, तो मित्रों से इन महात्माओं के विषय में सुना था। यह दोनों महात्मा लगभग एक वर्ष से यौगिक क्रियाओं का शिक्षण कलकत्ते के नागरिकों को दे रहे हैं। इन क्रियाओं से अनेकों ने लाभ उठाया है और पुराने-पुराने रोग भी दूर हो गये हैं। यह सब मित्रों से सुनकर मैंने भी इन क्रियाओं का अनुभव लेने का निश्चय किया। कलकत्ते रहकर इन महात्माओं की कृपा से कुछ क्रियाओं का अभ्यास किया। कुछ तो अद्भुद् क्रियाएं हैं, जैसे "शंखप्रक्षालन" की क्रिया। सूक्ष्म व्यायाम भी अत्यन्त वैज्ञानिक लगते हैं। अभ्यास लगभग एक मास से जारी है। इस थोड़े समय में ही बहुत लाभ का अनुभव कर रहा हूं। शरीर हल्का लग रहा है। मन अधिक प्रसन्न है। पेशाब में चीनी नहीं आ रही है। खून में भी चीनी पहले से कम है। निश्चित रूप से तो कुछ महीने बाद ही कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य में क्या-क्या अन्तर पड़ा है, परन्तु २४-२५ दिनों के ही अभ्यास से जो लाभ हुआ, वह थोड़ा नहीं है।

यहां योग की प्रशंसा करने नहीं बैठा हूं। उसकी आवश्यकता ही क्या है? जब अनन्त ऋषि-मुनियों ने उसकी प्रशंसा गाई है, जब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उसकी बड़ाई की है और भगवान् बुद्ध ने योगाभ्यास से ज्ञान प्राप्त किया था, तो मुझ जैसे अदना और नानुभवी व्यक्ति के कथन का क्या महत्त्व हो सकता है? मैं यहां इतना ही कहना चाहता हूं कि यह दुःख की बात है कि यह प्राचीन भारतीय विद्या आज भारतीय जीवन से लुप्त हो गई है। पाश्चात्य सभ्यता, शिक्षा, चिकित्सा आदि का भूत इस तरह हम पर सवार है कि अपने देश की इस अनमोल वस्तु का हम तिरस्कार ही कर रहे हैं। इस विद्या के जाननेवाले भी इस वातावरण से क्षुब्ध होकर जनजीवन से दूर पड़ गये हैं। इस अवस्था में यह प्रसन्नता का विषय है कि कुछ ऐसे योगी हैं, जो समाज में आकर फिर से इस दिव्य विद्या को फैलाने का शुभ प्रयास कर रहे हैं। इनमें ही विश्वायतन योगाश्रम के यह दो योगी हैं, जिनका जिक्र ऊपर आया है और जिन्होंने इस पुस्तक को तैयार किया है। हिन्दी भाषा में इस विषय पर ऐसी दूसरी पुस्तक नहीं है। शायद अन्य किसी भाषा में भी न हो। हजारों वर्षों के अनुभवों और प्रयोगों का सार यहां संग्रहीत है। यद्यपि आध्यात्मिक साधनों का वर्णन इस पुस्तक में नहीं-सा है, तथापि शारीरिक सुधार के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती ही है। यदि शरीर स्वस्थ हो जाता है और उस पर क़ाबू करना हम सीख लेते हैं, तो योग की अगली क्रियाएं सुगम हो जाती हैं। यह पुस्तक इस प्रकार योगाभ्यास की पहली सीढ़ी है। इसमें प्रत्येक क्रिया का, सुन्दर चित्रों के साथ, ऐसा सरल और सविस्तर वर्णन है कि हर साधारण व्यक्ति भी इसे अच्छी तरह समझ सकता है। इस पुस्तक का अधिक-से-अधिक प्रचार हो, इसमें देश का कल्याण मैं मनाता हूं।

३१-७-५६
कलकत्ता

श्रीप्रकाश नारायण

विश्व-कल्याणार्थ ईश-प्रार्थना

हे परम पिता, हे विश्व-पिता
हे राष्ट्रपिता,. हे जगदाधार,
हे करुणामय, दीन दयालो,
पूर्ण गुरो, हे अपरम्पार,
हे परेश अब शीघ्र कृपा करि,
हमें दीजिए शुद्ध विचार,
जिससे जनता के सेवक बन,
नाथ करें सुखमय संसार।

विश्व - कल्याणात्मक नारे

- विश्व का—कल्याण हो !
- सभी—कर्त्तव्यपरायण हों ! !
- परस्पर—प्रेम हो ! ! !

दो शब्द

प्राचीन काल में भारतीय आर्यों ने मनन, चिन्तन तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो अवदान दिया था, उसका प्रमाण आज भी पुरातन भारतीय वाङ्मय में हमें प्राप्त होता है। हमारे ऋषि-महर्षियों के उसी ऊर्ध्वमुखी मनन और चिन्तन के परिणाम का एक अंग भारतीय योग-विद्या भी है। इस विद्या के द्वारा शारीरिक और मानसिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास भी साधित होते हैं। अतः यह विद्या विश्व में अद्वितीय है, जिसका ज्ञान भारत के अतिरिक्त और किसी भी देश को पहले प्राप्त न था।

मैं योग विद्या का एक साधारण विद्यार्थी हूँ। गुरुदेव की कृपा से जो कुछ थोड़ा-सा ज्ञान अर्जित कर सका हूँ उसी के द्वारा मैंने प्रस्तुत पुस्तक में यौगिक व्यायाम और आसनादि का परिचय भर देने की चेष्टा की है। इस पुस्तक से जन-साधारण को यौगिक साधनों के विषय में जानकारी भी मिलेगी और जो यौगिक स्थूल-सूक्ष्म व्यायाम का अभ्यास करना चाहेंगे उनके लिए यह सहायक भी सिद्ध होगी। यदि इस पुस्तक से जनसाधारण का थोड़ा भी कल्याण हो सका तो मैं अपना परिश्रम सार्थक और अपने को कृतार्थ समझूंगा।

देश के लोकप्रिय नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने यौगिक सूक्ष्म व्यायाम के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट कर इसके महत्व पर जो प्रकाश डाला है, उसके लिए मैं उनका बहुत आभार मानता हूँ। इनके साथ ही मैं अपने सहयोगी श्री हरिभक्त चैतन्य जी ब्रह्मचारी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक की विस्तृत भूमिका लिख कर इसकी उपादेयता को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। इसके साथ ही इस पुस्तक को पाठकों के कर-कमलों तक पहुँचाने का सारा श्रेय सर्वश्री सेठ बाबू लालजी जालान (फर्म–सूरजमल नागरमल जालान, कलकत्ता), सविता बहन मेहता (सुपुत्री, नैनजी भाई कालीदास, बम्बई) और कन्हैया लालजी चिलांगिया (कलकत्ता) को है जिन्होंने आर्थिक सहायता देकर इसकी छपाई का पूरा प्रबन्ध करा दिया। इसके लिए मैं इन तीनों महानुभावों का आभार मानता हूँ। इस स्थल पर मैं श्री सत्यनारायण जी अग्रवाल (कलकत्ता) को भी नहीं भूल सकता जिनके क्रियात्मक सहयोग के कारण ही यह सब कुछ हो सका। मैं इनका भी आभारी हूँ।

अन्त में एक निवेदन है कि इस अकिंचन से जो कुछ भी त्रुटि हुई हो विज्ञजन उसे क्षमा करते हुए अपने अनमोल सुझावों और सम्मतियों से यदि मुझे अवगत करावें तो बड़ा ही उपकार मानूंगा।

—धीरेन्द्र ब्रह्मचारी

विषय-सूची

चित्र-सूची

यौगिक स्थूल व्यायाम की चित्र-सूची

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम

१—उच्चारण-स्थल तथा विशुद्ध-चक्र की शुद्धि

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर ग्रीवा को समावस्था से आधा अंगुल पीछे की ओर झुकाते हुए तथा नेत्रों को पूर्ण रूप से खोलकर सामने देखते हुए मुख को बन्द रखें। चित्र नं० १ देखें।

क्रिया—चित्र नं० १ की स्थिति में खड़े होने के पश्चात् क्रिया आरम्भ करने के पूर्व दोनों हाथों को स्वाभाविक रूप में नीचे लाकर उच्चारण-स्थल पर ध्यान रखते हुए दोनों नासिकारन्ध्रों से लोहार की धौंकनी की भाँति उच्च स्वर करते हुए श्वास-प्रश्वास करें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० २ देखें।

विशेष—कण्ठकूप से हाथ के चतुरंगुल मूल से मापकर ठुड्डी और दृष्टि को सम रखने की अवस्था को ग्रीवा की समावस्था कहते हैं।

लाभ—नाड़ियों में कण्ठ के अन्दर जिस स्थान से शब्दोच्चारण होता है, वहाँ पर जो वात, पित्त, कफ, मज्जा-मेदादि अनुपयुक्त पदार्थों का संग्रह होता है, उसकी निवृत्ति होती है। तुतलापन दूर होता है। विचार करने की शक्ति बढ़ती है। कटु स्वर मधुर हो जाता है। संगीत का अभ्यास करनेवालों के लिए यह परम उपयोगी है। यदि स्वस्थ व्यक्ति इस क्रिया का अभ्यास करता रहे, तो उच्चारण-स्थल विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न बन जायगा।

२—प्रार्थना

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर नेत्र बन्द रखते हुए हाथों को सम्पुट करके हृदय देश के ऊपरी विभाग में स्थित करें। तत्पश्चात् दोनों अँगूठों को कण्ठकूप से मिलाकर भुजबल्लियों से बलपूर्वक वक्षःस्थल को दबावें।

क्रिया—मन से बाह्यवृत्तियों को हटाकर प्रभु से प्रार्थना करें अर्थात् एक स्वरूप का ध्यान करें। ज्यों-ज्यों मन एकाग्र हो, भुजवल्लियों तथा हथेलियों को ढीला करें। मन एकाग्र न होने पर हाथों को बलपूर्वक दबाना चाहिए। चित्र नं० ३ देखें।

लाभ—इस क्रिया के अभ्यास से मानसिक विकारों की निवृत्ति, मनोवहा नाड़ी की ऊर्ध्वगति, इष्टानुकम्पा की प्राप्ति और शरीर के अनेक रोगों की निवृत्ति होती है। विशेषतया यह क्रिया चित्त की एकाग्रता के लिए बहुत उपयोगी है। आत्म-साक्षात्कार एवं परम शान्ति-प्राप्ति का यह अभ्यास अचूक साधन है। महात्मा बुद्ध को किसी महर्षि द्वारा इसी अभ्यास को बतलाये जाने पर बोधिवृक्ष के नीचे परम शान्ति प्राप्त हुई थी। इसी क्रिया के अभ्यास से वे काम (विषय-वासना) पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सके थे।

विशेष—"मनोवहा नाड़ी" अर्थात् वीर्य बहानेवाली नाड़ी—जिसके द्वारा मनन किया जाता है, उस नाड़ी का किंचित् भी नीचे प्रवाह होने पर मन चलायमान होने लगता है, और जब यह नाड़ी ऊर्ध्वमुखी रहती है, तो मन में एकाग्रता आती है। मन के एकाग्र होने पर ही सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने वश में रहती हैं। किसी भी विषय में अपने जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए मन की एकाग्रता परम आवश्यक है।

३—बुद्धि तथा धृति-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए मुख बन्द करके सिर को पीछे की ओर पूर्ण रूप से झुकावें। नेत्रों को पूर्ण रूप से खोलकर आकाश की ओर देखते हुए खड़े रहें।

क्रिया—शिखामण्डल में ध्यान रखते हुए दोनों नासिकारन्ध्रों से लोहार की धौंकनी की भाँति यथाशक्ति बलवेग प्रदान करते हुए श्वास-प्रश्वास करें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ४ देखें।

लाभ—शिखास्थान के नीचे बुद्धि-स्थल साधारण गाय के खुर के परिमाणवाला है। इस बुद्धिमण्डल के अन्दर घड़ी की सूई के समान एक नाड़ी निरन्तर घूमती रहती है, जो कि सभी इन्द्रियों और अङ्ग-प्रत्यङ्गों को ज्ञान (सज्ञा) प्रदान करती है।

चित्र नं० १ क्रिया नं० १

उच्चारण-स्थल तथा विशुद्ध चक्र-शुद्धि नामक पहली क्रिया की स्थिति। इसमें समावस्था से आधा अंगुल ठुड्डी ऊंची की गई है।

चित्र नं० २ क्रिया नं० १

उच्चारण-स्वास तथा विशुद्ध चक्र-शुद्धि की पहली क्रिया। इसमें श्वास-प्रश्वास किया [illegible] रहा है।

चित्र नं० ३ क्रिया नं० २

अन्तःकरण की शुद्धि तथा चित्त की एकाग्रता के लिए यौगिक प्रार्थना की स्थिति।
इसमें अपने इष्ट [illegible] का ध्यान किया जा रहा है।

चित्र नं० ४ क्रिया नं० ३

बुद्धि तथा धृति-शक्ति-विकासक क्रिया की स्थिति। इसमें शिखामण्डल में धारणा रखते [illegible] श्वास-प्रश्वास किया जा रहा है।

उसमें कफ आदि की विषमता होने पर नाड़ी की गति अवरुद्ध हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप बुद्धिमान्द्य, विस्मृति, विक्षेप, संशय आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस क्रिया के अभ्यास से समस्त दोष दूर हो जाते हैं और बुद्धितत्व की विशुद्धि, धृति-शक्ति की वृद्धि तथा सद्बुद्धि प्रदान करनेवाले ज्ञानतन्तुओं की जागृति होती है।

४—स्मरण-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर पैरों से डेढ़ गज की दूरी पृथ्वी पर नीचे की ओर दृष्टि जमाकर खड़े हों। ग्रीवा समावस्था में ही रहे।

क्रिया—ब्रह्मरन्ध्र (दशमद्वार) सहस्रारविन्द में ध्यान रखते हुए, आन्तरिक बलवेग प्रदान करते हुए श्वास-प्रश्वास करें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ५ देखें।

लाभ—मस्तक और शिखा-स्थान के मध्य मस्तिष्क (स्मृतिमण्डल) में कफ आदि की विषमता से उत्पन्न होनेवाले पागलपन, भ्रान्ति, विस्मृति, उन्माद आदि रोगों की निवृत्ति होती है। यह क्रिया मस्तिष्क से अधिक परिश्रम करनेवालों की थकावट दूर करके अधिक-से-अधिक कार्य करने की क्षमता तथा स्मरण-शक्ति का विकास प्रदान करती है। स्वाध्यायशील, अन्य कलाकार विद्यार्थियों तथा वकीलों के लिए यह अभ्यास परम उपयोगी है।

५—मेधा-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर नेत्रों को बन्द करके ठुड्डी कण्ठकूप से लगाकर खड़े रहें।

क्रिया—गले के पीछे गढ़ीले स्थान, मेधाचक्र पर ध्यान रखकर आन्तरिक बल प्रदान करते हुए लोहार की धौंकनी की भाँति उच्च स्वर से श्वास-प्रश्वास करें।

विशेष—ध्यान रहे कि एक से पाँच क्रिया पर्यन्त श्वास-प्रश्वास करते समय जितने जोर से श्वास अन्दर खींचें, उतने ही जोर से श्वास बाहर छोड़ना चाहिए। (आरम्भिक क्रम २५ बार, चित्र नं० ६ देखें।)

लाभ—इस क्रिया से मेधा-स्थान में होनेवाले कफ आदि दोषों का विनाश होता है। परम प्रेम तथा आकर्षण-शक्ति की प्राप्ति होती है और प्राण सुषुम्णावाही होता है। उपनिषदों में इस क्रिया के विषय में बड़ा सुन्दर लिखा है :—

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।।

(योगकुण्डल्युपनिषत्)

अर्थात्—कण्ठसंकोचरूपी जालन्धर बन्ध लगाने से ऊपर सहस्रारबिन्द से टपकने-वाला अमृत बिन्दु जठराग्नि से भस्म नहीं होता है और प्राणवायु का निरोध करके कुण्ड-लिनीशक्ति को जागृत करता है ।

विशेष—उपर्युक्त एक से पाँच तक की समस्त क्रियाओं से मस्तिष्क में उत्पन्न होनेवाले वात, पित्त, कफादि दोष जो विस्मृति, विक्षेप, बुद्धिमान्द्य आदि रोगों के कारण बनते हैं, उनका नाश होता है और योगशास्त्रानुसार शरीर के समस्त चक्रों की शुद्धि तथा ग्रन्थि विभेदन हो जाता है ।

६—नेत्र-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए ग्रीवा को पूर्ण रूप से पीछे झुकाकर खड़े रहें ।

क्रिया—दोनों नेत्रों से पूर्णतया आन्तरिक बल प्रदान करते हुए भ्रूमध्य में निर्निमेष (बिना पलक झपके) देखते रहें । जब नेत्रों में थकावट प्रतीत हो अथवा अश्रुपात होने के पहले ही नेत्रों को बन्द कर लें । पुनः नेत्रों को खोलकर पहले की भाँति ही करें । आरम्भिक क्रम ५ मिनट । चित्र नं० ७ देखें ।

लाभ—इस क्रिया के अभ्यास से नेत्रों में होनेवाले समस्त दोषों की निवृत्ति होती है और नेत्रों की ज्योति बढ़ती है तथा गिद्धदृष्टि प्राप्त होती है । योगशास्त्र-विषयक उपनिषद् ग्रन्थों में इस क्रिया के विषय में ऐसा वर्णन है :—

मोचनं नेत्ररोगाणां निद्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।

अर्थात्—यह त्राटक नाम की क्रिया नेत्रों के समस्त रोगों को नष्ट करनेवाली है तथा निद्रा-तन्द्रा आदि को रोकने में कपाट (किवाड़) का कार्य करती है । इस त्राटक कर्म को सुवर्ण पेटिका के समान गुप्त रखना चाहिए ।

विशेष—इस क्रिया के साथ-साथ एक-दो और यौगिक क्रियाएँ करने से नेत्रों के अनेक दोष दूर हो जाते हैं । इस क्रिया का कम से कम ४० दिन निरन्तर अभ्यास करने

चित्र नं० ५ क्रिया नं० ४

स्मरण-शक्ति-विकासक नामक चौथी क्रिया की स्थिति और क्रिया। इसमें सहस्रारबिन्दु में धारणा रखकर डेढ़ गज की दूरी पर देखते हुए श्वास-प्रश्वास किया जा रहा है।
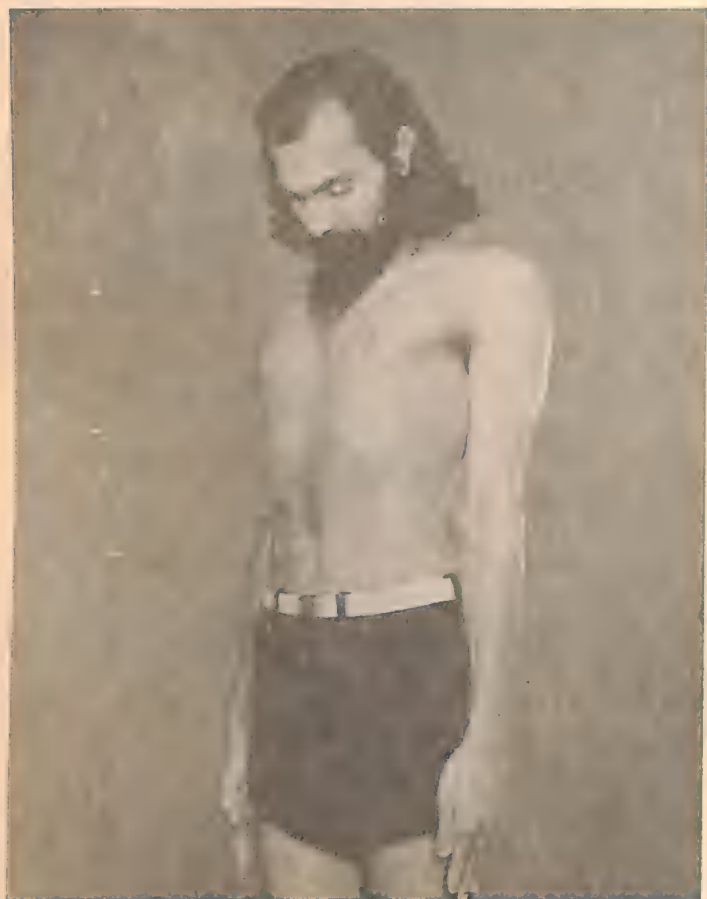
चित्र नं० ७

क्रिया नं० ६

नेत्रशक्ति-विकासक नामक छठी क्रिया की स्थिति और क्रिया। इसमें दोनों नेत्रों से भ्रूमध्य में निर्निमेष [illegible] जा रहा है।

चित्र नं० ८ क्रिया नं० ७

कपोलशक्ति-वर्धक नामक सातवीं क्रिया की स्थिति। इसमें मुख को कौए की चोंच की भाँति बनाकर वेग से श्वास अन्दर खींच रहे हैं।

से उपनेत्र (चश्मा) लगानेवालों को आयनक लगाने की आवश्यकता नहीं रहती तथा स्वाभाविक नेत्रदृष्टि प्राप्त होती है।

७—कपोल-शक्ति-वर्द्धक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों हाथों की आठों अंगुलियों के अग्रभाग को आपस में मिलाकर दोनों अंगूठों से दोनों नासिकारन्ध्रों को बन्द करके खड़े रहें। चित्र नं० ८ देखें।

क्रिया—मुख को कौवे की चोंच के सदृश बनाकर बाहर की वायु को सुर-सुर शब्द करते हुए बलपूर्वक अन्दर खींचें। श्वास खींचते समय दोनों नेत्र खुले रहने चाहिए। तत्पश्चात् गालों को पूर्ण फुलाकर नेत्रों को बन्द करके ठुड्डी कण्ठकूप से लगावें। यथा-साध्य कुम्भक करने के पश्चात् ग्रीवा को समावस्था में लाकर दोनों नेत्रों से सामने देखते हुए नासिकारन्ध्रों द्वारा अन्दर की वायु धीरे-धीरे बाहर निकालें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ९ देखें।

लाभ—इस क्रिया के अभ्यास से कपोलों पर लाली छा जाती है, किसी प्रकार के बाहरी सौन्दर्य-प्रसाधन की आवश्यकता नहीं रहती। दाँतों की पुष्टि होती है। पायरिया, पीप आदि मुख के सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं। मुख से दुर्गन्ध आदि के दोष कुछ ही दिनों के अभ्यास से बिलकुल दूर हो जाते हैं। चेहरे पर अद्भुत कान्ति तथा आकर्षण आता है। पिचके तथा झुर्रियां पड़े गाल भर जाते हैं और उनकी स्वाभाविक अवस्था आ जाती है। कपोलों पर होनेवाले मुहांसे, फुन्सियां इत्यादि का निकलना बन्द हो जाता है। योगशास्त्र के ग्रन्थों में इस क्रिया का विशिष्ट वर्णन है :—

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैःशनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी॥

अर्थात्—अपने मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर धीरे-धीरे वायु को पीवें। इसे काकी मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा सभी रोगों को दूर करनेवाली है। और भी कहा है :—

काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्॥

अर्थात्—यह काकी मुद्रा बहुत उत्तम है और सब तन्त्रों में गुप्त है। इसके अभ्यास से मनुष्य काक की भाँति रोग-रहित और दीर्घायु हो जाता है।

प्राय: देखा जाता है कि गर्मी के मौसम में कौआ उड़ते-उड़ते जब प्यास से व्याकुल हो जाता है, तब चोंच खोलकर वायु पीने लगता है। इससे उसकी प्यास शान्त हो जाती है। इस प्रकार वायु पीने से अमृत के सूक्ष्म कण प्राप्त होते हैं, जिससे कौआ दीर्घायु हो जाता है। इसे यदि मनुष्य विधिपूर्वक करे, तो अनेक प्रकार के सिर-दर्द, मुख सूखना, पेट की गर्मी, नेत्रों के रोग, प्रमेह आदि दोष दूर होकर अपूर्व शक्ति प्राप्त होती है। सिर से लेकर मूलाधार तक सभी नाड़ियों को तरावट तथा शक्ति मिलती है।

८—कर्ण-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—मुख बन्द करके दोनों अँगूठों से दोनों कर्णरन्ध्रों को बन्द करें। दोनों तर्जनी अँगुलियों से दोनों नेत्र बन्द करें। दोनों मध्यमा अँगुलियों से दोनों नासिकारन्ध्रों को बन्द करें। दोनों अनामिका तथा दोनों कनिष्ठिका अँगुलियों से मुख बन्द करें। फिर मुखको कौवे की चोंच के सदृश बनाकर (चित्र नं० १० की भाँति) बाहर की वायु को अन्दर खींचकर गाल फुलाते हुए जालन्धर बन्द लगावें। यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद ग्रीवा को समावस्था में लाते हुए दोनों नेत्रों को खोलकर धीरे-धीरे अन्दर की वायु को बाहर निकालें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ११ देखें।

विशेष—कुम्भक के समय गाल पूर्णतया फूले रहेंगे।

लाभ—इस क्रिया के अभ्यास से कान में होनेवाले कर्णमूलादि समस्त रोगों की निवृत्ति होती है। श्रवण-शक्ति की वृद्धि एवं बहरापन दूर होता है और अविकसित कर्णरन्ध्रों की शक्तियाँ जागृत होती हैं। कहा भी है :—

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥

अर्थात्—दोनों कान, दोनों नासिकारन्ध्रों, दोनों नेत्रों और मुखद्वार का निरोध करने पर सुषुम्णा का मार्ग शुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध नाद सुनाई पड़ते हैं।

९—ग्रीवा-शक्ति-विकासक (१)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

चित्र नं० ९ क्रिया नं० ७

कपोलशक्ति-वर्धक नामक सातवीं क्रिया। इसमें ठुड्डी को कण्ठकूप से लगा कर नेत्र बन्द करके कुम्भक कर रहे हैं।

चित्र नं० १०　　　　क्रिया नं० ८

कर्णशक्ति-विकासक नामक आठवीं क्रिया की स्थिति। इसमें नेत्र, कान, नाक, मुख, सबको बन्द करते हुए, पुनः मुख को कौए की चोंच की नाईं बना कर वायु खींच रहे हैं।

चित्र नं० ११ कर्णशक्ति-विकासक नामक आठवीं क्रिया की जा रही है। क्रिया नं० ८
इसमें गाल फुला कर कुम्भक किया जा रहा है।

क्रिया (क)—ग्रीवा को ढीला करके क्रम से दायीं ओर तथा बायीं ओर झटका दें आरम्भिक क्रम १० बार। चित्र नं० १२ देखें।

क्रिया (ख)—पूर्व परिस्थिति में खड़े होकर ग्रीवा को झटके के साथ क्रमशः आगे तथा पीछे ले जायं। जब झटके से ग्रीवा पीछे जावे, तो ग्रीवा का पृष्ठभाग पीछे मिल जाये, आगे झटका देने पर ठुड्डी कण्ठकूप से मिले। श्वास साधारण रहे। आरम्भिक क्रम १० बार। चित्र नं० १३ देखें।

१०—ग्रीवा-शक्ति-विकासक (२)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए मुख बन्द रहे तथा नेत्र खुले हुए रहें।

क्रिया—ठुड्डी को कण्ठकूप से लगाकर गले को बलपूर्वक कड़ा करते हुए बायीं ओर से आवृत्ताकार घुमाते हुए पूर्व स्थिति में आ जायं। पुनः दाईं ओर से आवृत्ताकार घुमाते हुए पूर्व स्थिति में आ जायं। श्वास की गति साधारण रहेगी। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० १४ देखें।

विशेष—ध्यान रहे कि क्रिया करते समय स्कन्ध ऊपर न उठे और गले को घुमाते समय कानों को स्कन्ध से मिलाने का प्रयत्न करें।

११—ग्रीवा-शक्ति-विकासक (३)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिका-रन्ध्रों से बलवेगपूर्वक श्वास-प्रश्वास इस प्रकार करें कि क्रिया करते समय गले की सारी नसें दिखलाई पड़ें, और जब श्वास खींचें, तब पेट फूले तथा जब श्वास छोड़ें, तब पेट पिचके। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० १५ देखें।

लाभ—उपर्युक्त ग्रीवा की तीनों क्रियाओं से ग्रीवा सम्बन्धी सारे दोष दूर होते हैं। ग्रीवा की स्थूलता नष्ट हो जाती है। इस क्रिया के अभ्यास से ग्रीवा सुन्दर, सुडौल तथा आकर्षक हो जाती है। गले के सारे विकार नष्ट हो जाते हैं। गले पड़ना (टान्सिल) कण्ठमाला, गलगण्ड, हंजीरा आदि बिना ऑपरेशन के ही ठीक हो जाते हैं। कण्ठ का

स्वर मधुर तथा सुरीला हो जाता है। तुतलापन तथा रुक-रुककर बोलनेवालों को ठीक करने में ये क्रियाएं अद्वितीय हैं। इन क्रियाओं के साथ-साथ दो-तीन और क्रियाओं के निरन्तर अभ्यास से गूंगापन तथा गले के सम्पूर्ण विकार नष्ट हो जाते हैं। संगीत का अभ्यास करनेवालों के लिए ये क्रियाएँ परम उपयोगी हैं।

१२—स्कन्ध तथा बाहुमूल-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर इस प्रकार मुट्ठी बाँधकर खड़े हों कि अंगूठे मुट्ठियों के अन्दर रहें।

क्रिया—मुख को कौए की चोंच की नाईं बनाकर बाहर की वायु को भीतर खींचते हुए गाल फुलाकर ठुड्डी कण्ठकूप में लगावें। फिर दोनों भुजाओंको कड़ा करके बल-वेग-पूर्वक ऊपर-नीचे ले जायें, जिस प्रकार साइकिल में पम्प द्वारा हवा भरते हैं। परन्तु इसमें क्रिया करते समय भुजाएँ सीधी ही रहें तथा स्कन्ध यथासाध्य ऊपर-नीचे जायें। क्रिया के समय में श्वास रोके रखें। तत्पश्चात् गला सीधा करके पूर्व स्थिति में आकर नेत्र खोलें और नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे वायु निकाल दें। इसी प्रकार इस क्रिया को बार-बार करें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० १६ देखें।

लाभ—इस क्रिया के अभ्यास से स्कन्ध की हड्डियाँ, मांस-पेशियाँ, नस-नाड़ियाँ शुद्ध एवं सुडौल होकर अंग-प्रत्यंग की पुष्टि करती है।

१३—भुजबन्ध-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर इस प्रकार मुट्ठियाँ बाँधें कि अंगूठे अन्दर रहें। भुजाओं को कोहनी से इस प्रकार मोड़ें कि ९०° का कोण बन जाय। चित्र नं० १७ देखें।

क्रिया—दोनों हाथ बलवेगपूर्वक वक्षःस्थल के सामने झटके से ले जावें तथा पीछे ले आवें। पीछे आते समय कोहनी पूर्व स्थिति से किंचित् भी पीछे न जावे। आगे बढ़ाते समय भुजाएँ पृथ्वी के समानान्तर रहें तथा मुट्ठियाँ सीधी रखें। अंगूठे का भाग ऊपर की ओर रहे। क्रिया करते समय श्वास की गति साधारण ही रहेगी। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० १८ देखें।

चित्र नं० १३

ग्रीवाशक्ति-विकासक नामक नौवीं क्रिया का (ख) भाग। इसमें झटके से सिर को आगे-पीछे ले जाया जा रहा है।
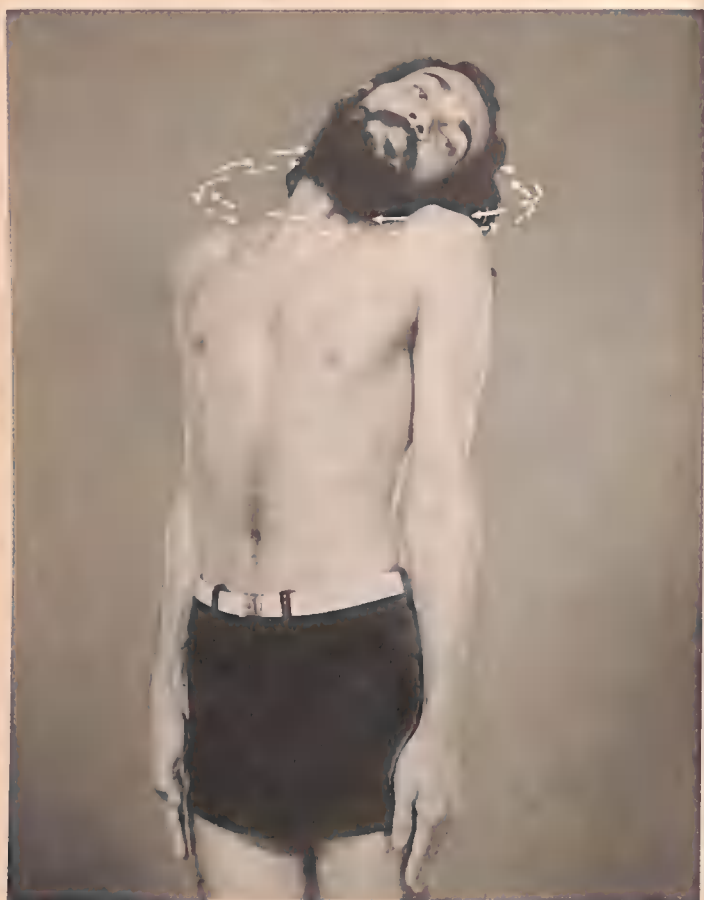
क्रिया नं० ९

चित्र नं० १४ ग्रीवा-शक्ति-विकासक नामक दसवीं क्रिया। इसमें ग्रीवा-सहित सिर को बायें से दायें और दायें से बायें बलपूर्वक [illegible] घुमाया जा रहा है। क्रिया नं० १०

चित्र नं० १५ ग्रीवा-शक्ति-विकासक नामक ग्यारहवीं क्रिया। इसमें पेट को श्वास-प्रश्वास सहित फुलाते-पिचकाते हुए ठुड्डी को उत्तान देकर गले की नसें उभारी जा रही हैं। क्रिया नं० ११

चित्र नं० १६ [illegible] तथा बाहुमूल-शक्तिवर्धक नामक बारहवीं क्रिया। इसमें श्वास भरकर कुम्भक करते हुए स्कन्ध विभाग को तीव्रता से ऊपर-नीचे ले जाया जा रहा है। क्रिया नं० १२

चित्र नं० १७ भुजबन्ध-शक्ति-विकासक नामक तेरहवीं क्रिया की स्थिति। इसमें भुजबन्ध क्रिया नं० १३ [illegible] भुजवल्ली को इस प्रकार स्थित किया है कि ६०° का कोण बन गया है।

चित्र नं० १८

भुजबन्ध-शक्ति-विकासक नामक तेरहवीं क्रिया। इसमें झटके के साथ भुजाओं को बार-बार वक्षःस्थल के सामने किया गया है।

क्रिया नं० १३

लाभ——इस क्रिया के अभ्यास से विकृत, दुर्बल, अति स्थूल आदि भुजाएँ हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर तथा सुडौल बनती हैं। भुजबन्ध में अपूर्व बल आता है। भुजा तथा स्कन्ध के सारे दोष दूर होते हैं। इस क्रिया के निरन्तर अभ्यास से भुजाएँ शुण्डाकार बनकर आकर्षक हो जाती हैं। मिलिट्री, पुलिस तथा लाठी आदि चलानेवालों के लिए यह क्रिया परम उपयोगी है।

१४—कोहनी-शक्ति विकासक

स्थिति (क)——पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए इस प्रकार ढीली मुट्ठियाँ बाँधें कि अंगूठे अन्दर रहें। तत्पश्चात् दोनों हाथों को इस प्रकार रखें, जैसे चित्र नं० १६ में हैं।

क्रिया (क)——कोहनी से अग्रभाग को झटके से इस प्रकार ऊपर लावें, जैसा चित्र नं० २० में है। नीचे लाते समय हाथ पूर्व स्थिति के समान ही रखें। आरम्भिक क्रम २५ वार।

स्थिति (ख)——पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए दोनों हाथ इस प्रकार खुले रखें कि अंगुलियाँ आपस में सटी रहें तथा करतल सामने की ओर रहें, जैसे चित्र नं० २१ में हैं।

क्रिया (ख)——क्रिया (क) की भाँति ही कोहनी से अग्रभाग को ऊपर लावें तथा नीचे ले जायें, जैसा चित्र नं० २२ में है।

विशेष——ध्यान रहे कि क्रिया करते समय भुजवल्ली स्कन्ध तक आये और नीचे जाते समय भुजवल्ली पूर्णतया नीचे आ जाये। भुजबन्ध अपने स्थान पर ही रहें। हाथ ऊपर-नीचे जाते समय स्कन्ध तथा जंघाओं से स्पर्श न करें।

लाभ——इस क्रिया के अभ्यास से कोहनी के दोष दूर होते हैं। हड्डियों के जोड़ पुष्ट होते हैं। नस-नाड़ियों में रक्त का भली-भाँति संचार होने लगता है। कोहनी से अग्रभाग में अपूर्व शक्ति आती है। इस क्रिया के निरन्तर अभ्यास से महिलाओं की भुजा कोहनी से आगे सुन्दर गोलाकार बनती है तथा पुरुषों की भुजा पुष्ट, आकर्षक एवं किंचित् चपटी बनती है।

१५—भुजबल्ली-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—प्रथम दाहिने हाथ को शिथिल रखकर गिद्ध-पंख की भाँति बगल में ऊपर-नीचे ले जायं। हाथ सीधे ऊपर जायं, परन्तु इस क्रिया को करते समय सिर तथा जंघा से स्पर्श न हो। हाथ का पंजा खुला रहे। अंगुलियाँ आपस में सटी हुई हों। जब हाथ ऊपर जायें, तो करतल बाहर की ओर रहे। चित्र नं० २३ देखें।

क्रिया (ख)—इसी प्रकार बायें हाथ से भी यह क्रिया करें।

क्रिया (ग)—इसके अनन्तर दोनों हाथों से यही क्रिया करें। दोनों हाथ एक साथ ऊपर जायं तथा नीचे आयं। ध्यान रहे, दोनों हाथ आपस में न मिलें और सिर तथा जंघा से स्पर्श न करें। चित्र नं० २४ देखें।

लाभ—इस त्रिया को निरन्तर करते रहने से दस हजार मन वायु में जितनी शक्ति होती है, उतनी ही शक्ति हाथों में आ जाती है। भुजबल्लियाँ सुन्दर, सुडौल और पुष्ट होती हैं।

१६—पूर्णभुजा-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए मुट्ठी बाँधकर खड़े रहें।

क्रिया (क)—मुट्ठी बाँधकर दोनों नासिकारन्ध्रों से बाहर की वायु अन्दर खींच कर श्वास रोकते हुए, दाहिनी भुजा को आगे से ऊपर की ओर आवृत्ताकार घुमाते हुए, वक्ष:स्थल के सम्मुख पृथ्वी के समानान्तर हाथ को सामने की ओर झटके के साथ फेंकें और साथ ही फुंकार के साथ वायु नासिका से निकाल दें। चित्र नं० २५ देखें।

क्रिया (ख)—फिर इसी हाथ की मुट्ठी बाँधकर क्रिया (क) की भाँति ही उल्टा घुमायें।

क्रिया (ग)—यही क्रिया बाएँ हाथ की मुट्ठी बाँधकर आगे की ओर से आवृत्ता-कार घुमाते हुए, वक्ष:स्थल के सम्मुख पृथ्वी के समानान्तर लाते हुए, फुंकार के साथ भीतर की वायु बाहर फेंकें।

चित्र नं० १६ कोहनी-शक्ति-विकासक नामक चौदहवीं क्रिया की स्थिति। क्रिया नं० १४

चित्र नं० २० कोहनी-शक्ति-विकासक नामक चौदहवीं क्रिया। इसमें झटके के साथ भुजवल्लियों को भुजबन्ध के साथ बार-बार मिलाया जा रहा है। क्रिया नं० १४

चित्र नं० २१ कोहनी-शक्ति-विकासक नामक चौदहवीं क्रिया। इसमें अंगुलियों को खोलकर पूर्णरूप से सीधा किया गया है। क्रिया नं० १४

चित्र नं० २२ कोहनी-शक्ति-विकासक नामक चौदहवीं क्रिया। इसमें भुजवल्ली को झटके के साथ भुजबन्ध से बार-बार मिलाया जा रहा है। क्रिया नं० १४

चित्र नं० २३ भुजवल्ली-शक्ति-विकासक नामक पन्द्रहवीं क्रिया । इसमें हाथ को सीधा रखकर बार-बार पहले बाएं हाथ को और फिर दाहिने हाथ को ऊपर-नीचे ले जाया [illegible] रहा है ।

क्रिया नं० १५

चित्र नं० २४

भुजवल्ली-शक्ति-विकासक नामक पन्द्रहवीं क्रिया। इसमें दोनों हाथों को एक [illegible] ऊपर-नीचे ले आया [illegible] रहा है।

क्रिया नं० १५

चित्र नं० २५

पूर्णभुजा-शक्ति-विकासक नामक सोलहवीं क्रिया। इसमें नासिका से श्वास भरकर कुम्भक की स्थिति में भुजा को चक्राकार घुमाया जा रहा है।

क्रिया नं० १६

चित्र नं० २६ पूर्णभुजा-शक्ति-विकासक नामक सोलहवीं क्रिया। इसमें नासिका से श्वास भरकर कुम्भक की स्थिति में दोनों भुजाओं को चक्राकार घुमाया जा रहा है। क्रिया नं० १६

क्रिया (घ)—फिर इसी हाथ की मुट्ठी बाँधकर क्रिया (ग) की भाँति ही उल्टा घुमायें।

क्रिया (ङ)—दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर आगे की ओर से आवृत्ताकार घुमाते हुए एक साथ ही वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर लाते हुए फुंकार के साथ भीतर की वायु को फेंकें।

क्रिया (च)—पुनः इस क्रिया में पहले की भाँति दोनों हाथों को विपरीत चक्राकार घुमावें। चित्र नं० २६ देखें।

लाभ—वायु की निवृत्ति तथा आन्तरिक नाड़ियों में पुष्टता आती है। हाथों के सौन्दर्य की वृद्धि होती है, कर मुलायम तथा सुडौल बनते हैं और भुजा पूर्णतया स्वाभाविक रूप से शक्तिसम्पन्न बन जाती है।

१७–मणिबन्ध (कलाई)-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों भुजाओं को वक्षःस्थल के सम्मुख पृथ्वी के समानान्तर सीने की चौड़ाई के समान फैलाते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—ढीली मुट्ठी बाँधकर कलाई को बल के साथ ऊपर तथा नीचे लावें। नीचे लाते समय मुट्ठी का मुख भुजवल्ली से मिलाने का प्रयत्न करें और ऊपर लाते समय भी मुट्ठी के अग्रभाग को भुजवल्ली से मिलाने का प्रयत्न करें। भुजा यथासाध्य कड़ी रखें। आरम्भिक कम ५ बार। चित्र नं० २७ तथा २८ देखें।

क्रिया (ख)—भुजबन्ध को स्कन्ध के सम्मुख रखते हुए भुजबल्लियों को समेटकर वक्षःस्थल की ओर इस प्रकार लावें कि भुजवल्ली भुजबन्ध से कोहनी के स्थान पर ३५०° (तीन सौ पचास डिगरी) का कोण बन जाय। तत्पश्चात् कलाई को बल के साथ क्रिया (क) की भाँति ऊपर लायें तथा नीचे ले जायें। ध्यान रहे कि ऊपर-नीचे ले जाते समय मुट्ठी के अग्रभाग को भुजबल्ली से मिलाने का प्रयत्न करें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० २९ तथा ३० देखें।

१८—करपृष्ठ-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों करतल खुले रहें और अँगुलियाँ आपस में सटी हुई हों, दोनों भुजाओं को वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—कलाई से अग्रभाग को क्रिया (१७) की भाँति ऊपर-नीचे ले जायें। चित्र नं० ३१ तथा ३२ देखें। (ख) इस क्रिया को भी क्रिया (१७) के (क) की भाँति कोहनी मोड़कर करें। चित्र नं० ३३ तथा ३४ देखें।

१९—करतल-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए हाथ के पंजों को पूर्णतया खोलकर अँगुलियों को अलग-अलग रखते हुए वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर भुजाओं को फैलाकर खड़े रहें।

क्रिया—कलाई से अग्रभाग को बल के साथ ऊपर लावें तथा नीचे ले जावें। ध्यान रहे कि ऊपर-नीचे लाते ले जाते समय अँगुलियों के अग्रभाग को भुजवल्ली से मिलाने का प्रयत्न करें। चित्र नं० ३५ तथा ३६ देखें। (ख) पूर्व परिस्थिति में खड़े होकर, कोहनी को मोड़कर, अँगुलियों को अलग-अलग रखकर, ऊपर-नीचे लावें तथा ले जावें। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय ऐसी स्थिति हो, मानों अँगुलियाँ भुजवल्ली से मिलने जा रही हों। चित्र नं० ३७ तथा ३८ देखें।

२०—अँगुलीमूल-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर कलाई से अग्र विभाग को ढीला रखते हुए भुजा को वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—कलाई से पिछले हिस्से को पूर्णतया बल के साथ कड़ा करते हुए आगे के भाग को ढीला रखें। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ३९ देखें।

क्रिया (ख)—कलाई से अग्र विभाग को क्रिया नं० २० (क) की भाँति ढीला रखते हुए कोहनी को मोड़कर पुनः क्रिया (क) की भाँति करें। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ४० देखें।

चित्र नं० २७

(१) मणिबन्ध-शक्ति-वर्धक सत्रहवीं क्रिया। इसमें मणिबन्ध से आगे मुट्ठी को बलपूर्वक ऊपर की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १७

चित्र नं० २८

(२) मणिबन्ध-शक्ति-वर्धक सत्रहवीं क्रिया। इसमें मणिबन्ध से आगे

क्रिया नं० १७

चित्र नं० २१

मणिबन्ध-शक्ति-वर्धक सत्रहवीं क्रिया। इसमें मणिबन्ध से आगे मुट्ठी को वक्षःस्थल के पास बलपूर्वक ऊपर की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १७

चित्र नं० ३०

मणिबन्ध-शक्ति-वर्धक सत्रहवीं क्रिया। इसमें मणिबन्ध से आगे मुट्ठी को वक्षःस्थल के पास बलपूर्वक नीचे को ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १७

चित्र नं० ३१

करपृष्ठ शक्ति-विकासक नामक अठारहवीं क्रिया। इसमें मुट्ठी खोलकर कलाई से अग्रभाग को यथासाध्य पूर्णबल के साथ ऊपर की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १८

चित्र नं० ३२

करपृष्ठ-शक्ति-विकासक नामक अठारहवीं क्रिया। इसमें मुट्ठी खोलकर कलाई से अग्रभाग को यथासाध्य पूर्णतया के साथ नीचे की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १८

चित्र नं० ३३

करपृष्ठ-शक्ति-विकासक नामक अठारहवीं क्रिया। इसमें कलाई से अग्रभाग को वक्षःस्थल के पास बलपूर्वक ऊपर की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १८

चित्र नं० ३४ करपृष्ठ-शक्ति-विकासक नामक अठारहवीं क्रिया। इसमें कलाई से अग्रविभाग को वक्षःस्थल के पास बलपूर्वक नीचे की ओर मोड़ रहे हैं। क्रिया नं० १८

चित्र नं० ३५

करतल-शक्ति-विकासक नामक उन्नीसवीं क्रिया। इसमें यथासाध्य अंगुलियों को फैलाकर कलाई से अग्रविभाग को बलपूर्वक ऊपर की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १६

चित्र नं० ३६

करतल-शक्ति-विकासक नामक उन्नीसवीं क्रिया। इसमें यथासाध्य अँगुलियों को फैला कर कलाई से अग्रविभाग को बलपूर्वक नीचे की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १९

चित्र नं० ३७

करतल-शक्ति-विकासक [illegible] उन्नीसवीं क्रिया। इसमें अँगुलियों को फैलाकर कलाई से अग्रविधान को वक्षःस्थल के पास बलपूर्वक पीछे की ओर मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० १६

चित्र नं० ३८ करतल-शक्ति-विकासक नामक उन्नीसवीं क्रिया। इसमें अंगुलियों को फैलाकर क्रिया नं० १९

चित्र नं० ३६ — अंगुलीमूल-शक्ति-विकासक [illegible] बीसवीं क्रिया। इसमें स्कन्ध से मणिबन्ध [illegible] का विभाग पूर्णरूप से कड़ा रखते हुए कलाई से अग्रविभाग को बिल्कुल ढीला रखते हैं। — क्रिया नं० २०

चित्र नं० ४०

अंगुलीमूल-शक्ति-विकासक नामक बीसवीं क्रिया। इसमें भी स्कन्ध से मणिबन्ध तक का विभाग पूर्णरूप से कड़ा रखते हुए कलाई से अग्रविभाग को बिलकुल ढीला रखें हैं।

क्रिया नं० २०

२१—अँगुली-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर अंगुलियाँ अलग-अलग फैलाकर वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर भुजा को रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—अंगुलियों को सर्प के फण की भाँति बना लें। ध्यान रहे कि स्कन्ध से अंगुली अग्र तक का विभाग पूर्ण रूप से कड़ा रहे। बल न लगाने से विशेष लाभ नहीं होगा। इसलिए इतनी शक्ति लगाकर क्रिया करें कि स्कन्ध से अंगुली का अग्रभाग काँप-सा जाय। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ४१ देखें।

क्रिया (ख)—पूर्व परिस्थिति में खड़े होकर इसी क्रिया को कोहनी मोड़कर पूर्ण बल के साथ अंगुली के अग्र विभाग को सर्प के फण की भाँति बनायें। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ४२ देखें।

लाभ—इन १७ से २१ तक की पाँचों क्रियाओं से कलाई, करपृष्ठ, करतल, अँगुलियाँ, सभी की पुष्टि होती है तथा हाथों में असीम बल आता है। मनोवाहा नाड़ी की दिव्य ज्योति से सम्पूर्ण शरीर कान्तिमान हो जाता है। समस्त प्रकार के धातु रोगों की निवृत्ति हो जाती है। हार्दिक शक्ति का विकास होता है। ये क्रियाएँ लेखकों टाइप इत्यादि का कार्य करनेवालों, मशीन मैनों, ड्राइवरों, कपड़ा बुननेवालों, शिल्पकारों और वाद्य-संगीतज्ञों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

२२—वक्षःस्थल-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए दोनों हाथों की मुट्ठियाँ खोलकर, परन्तु अंगुलियाँ आपस में सटी हुई हों और करपृष्ठ सामने की ओर रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया—दोनों हाथों को आवृत्ताकार आगे से उठाते हुए पीछे ले जायँ। साथ ही साथ नासिका से श्वास खींचते हुए वक्षःस्थल को पूर्ण रूप से पीछे झुकाकर कुछ देर इसी अवस्था में रुकें। फिर खींचे हुए श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालते हुए पुनः पूर्व परिस्थिति में आ जायँ। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र न० ४३ देखें।

लाभ—इस क्रिया से फेफड़े के सम्पूर्ण दोष दूर होते हैं। सीना चौड़ा हो जाता है। वक्षःस्थल पुष्ट तथा दृढ़ हो जाता है। हृदय के रोग दूर होते हैं तथा हृदय में असीम वल बढ़ता है। इस क्रिया को निरन्तर करने से राजयक्ष्मा (टी० बी०), दमा, खाँसी तथा समस्त कफ सम्बन्धी रोग दूर हो जाते हैं। जिन लोगों का हृदय कमजोर है तथा जो हृदय रोग से पीड़ित हैं, वे इस क्रिया को प्रातः शौच-स्नान के पश्चात् ५ मिनट नित्य करें, तो अवश्य ही उनके हृदय के सब कष्ट दूर होंगे तथा हृदय में एक नवीन जीवन का संचार होगा।

विशेष—मानव-शरीर के दोनों फेफड़ों में लगभग साढ़े सात करोड़ छिद्र होते हैं, जिनमें प्रतिक्षण प्राणवायु का संचार होता रहता है। दिन-रात २४ घण्टे में स्वस्थ व्यक्ति के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं। प्रति श्वास-प्रश्वास द्वारा २४ घण्टे में दो सौ बहत्तर मन रक्त (खून) शुद्ध होता है। इन सभी छिद्रों के शोध और विकास के लिए यह क्रिया परम उपयोगी है।

२३—वक्षःस्थल-शक्ति-विकासक (२)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर हथेलियों को अन्दर की ओर रखते हुए समावस्था में खड़े रहें।

क्रिया—नासिका द्वारा श्वास खींचते हुए केवल कमर से ऊपरी विभाग को यथासाध्य बलपूर्वक पीछे की ओर झुकावें और साथ ही हाथों को यथासाध्य पीछे ले जायें। कुछ देर इसी परिस्थिति में रुकने के पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से भीतर की वायु को बाहर निकालते हुए समावस्था में आ जायें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ४४ देखें।

लाभ—पूर्व क्रिया के लाभ के साथ-साथ वक्षःस्थल के अगले तथा पिछले (पीठ की ओर के) भाग में असीम वल आता है तथा दृढ़ता आती है। भुजाओं का भी वल बढ़ता है। जिन दुवले-पतले व्यक्तियों की सीने तथा पीठ की हड्डियाँ दिखाई पड़ती हैं, इस क्रिया के करने से वे मांसल होकर पुष्ट हो जाती हैं। इस क्रिया के अभ्यास से जीवनपर्यन्त कमर (रीढ़ की हड्डी) टेढ़ी नहीं होती।

अंगुली-शक्ति-विकासक नामक इक्कीसवीं क्रिया। इसमें अंगुली के अग्रभाग को बलपूर्वक सर्प के फनकी भांति बना रहे हैं।

चित्र नं० ४१ क्रिया नं० २१

चित्र नं० ४२

अंगुली-शक्ति-विकासक नामक इक्कीसवीं क्रिया। इसमें अंगुली

क्रिया नं० २१

चित्र नं० ४३ वक्षःस्थल-शक्ति-विकासक नामक बाईसवीं क्रिया। इसमें नासिका से श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी भाग को यथासाध्य पीछे की ओर ले गये हैं। क्रिया नं० २२

चित्र नं० ४४ वक्षःस्थल-शक्ति-विकासक नामक तेईसवीं क्रिया। इसमें दोनों हाथों तथा कमर से ऊपरी विभाग को पीछे की ओर श्वास भरते [illegible] यथासाध्य ले गये हैं। क्रिया नं० २३

२४—उदर-शक्ति विकासक (१)

(अजगरी)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर समावस्था में खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे अजगर की भाँति श्वास भरते हुए पेट को पूर्णतया फुलावें। कुछ देर श्वास को इसी परिस्थिति में रोककर दोनों नासिकारन्ध्रों से अन्दर की वायु को धीरे-धीरे बाहर छोड़ते हुए यथासाध्य पेट को पिचकायें, अर्थात् पेट को तालाव की भाँति अन्दर ले जावें। इसे उड्डियानवन्ध भी कहते हैं। इस क्रिया को वार-वार करें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ४५ देखें।

इस क्रिया के वारे में योगचूड़ामण्युपनिषद् में लिखा है :—

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी॥

अर्थात्—जिस प्रकार आकाश में उड़नेवाला पक्षी निरन्तर उड्डियान लगाये रहता है तथा उसी के वल पर विना विश्राम किये मीलों उड़ता रहता है और इसी उड्डियान के कारण उसमें असीम वल आता है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य इसी उड्डियानबन्ध से प्राप्त हुई शक्ति से मृत्युरूपी हाथी पर सिंह की भाँति विजय प्राप्त करता है।

२५—उदर-शक्ति-विकासक (२)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए ग्रीवा को समावस्था से आधा अंगुल ऊपर की ओर उठा कर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों द्वारा तीव्र वेग से वाहर की वायु को अन्दर खींचते हुए पेट फुलावें तथा अन्दर का श्वास बाहर निकालते हुए पेट पूर्णतया पिचकावें। आरम्भिक क्रम २५ वार। चित्र नं० ४६ देखें।

विशेष—ध्यान रहे कि क्रिया करते समय पेट पूर्णतया फूले-पिचके और क्रमशः जैसे ऊपर बताया गया है, उसी प्रकार श्वास लें तथा छोड़ें।

२६—उदर-शक्ति-विकासक (३)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर सिर को पूर्णतया पीछे झुकाते हुए खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से तीव्र वेग से श्वास अन्दर खींचें तथा छोड़ें। ध्यान रहे कि श्वास बाहर छोड़ते समय पेट अन्दर जावे और श्वास अन्दर लेते समय पेट फूले। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ४७ देखें।

२७—उदर-शक्ति-विकासक (४)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर पैरों से डेढ़ गज की दूरी पर देखते हुए खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से तीव्र वेग से श्वास अन्दर लें और बाहर छोड़ें। श्वास लेते समय पेट फूले तथा छोड़ते समय पेट पिचके। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ४८ देखें।

विशेष—पेट की क्रिया नं० २४ से २७ तक की चारों क्रियाओं में तथा उच्चारण स्थल से मेधा-शक्ति-विकासक चारों क्रियाओं में बहुत कम अन्तर प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उच्चारण-स्थल से आरम्भ होनेवाली क्रियाओं में पेट पर ध्यान नहीं रखा जाता तथा श्वास-प्रश्वास करते समय पेट न तो फूलता है और न ही पिचकता है, परन्तु पेट की क्रियाओं में पेट पर विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए दोनों का लाभ भिन्न है। साधक इस भ्रम में न रहें कि दोनों एक-सी प्रतीत होती हैं।

२८—उदर-शक्ति-विकासक (५)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कन्ध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—मुख को कौए की चोंच के समान बनाकर बाहर की वायु मुख से अन्दर खींचते हुए ठुड्डी को कण्ठकूप से लगावें। इसे जालन्धरबन्ध भी कहते हैं। कुम्भक करते समय आँखें बन्द रहेंगी, गाल फूले हुए रहेंगे। तत्पश्चात् सामने देखते हुए
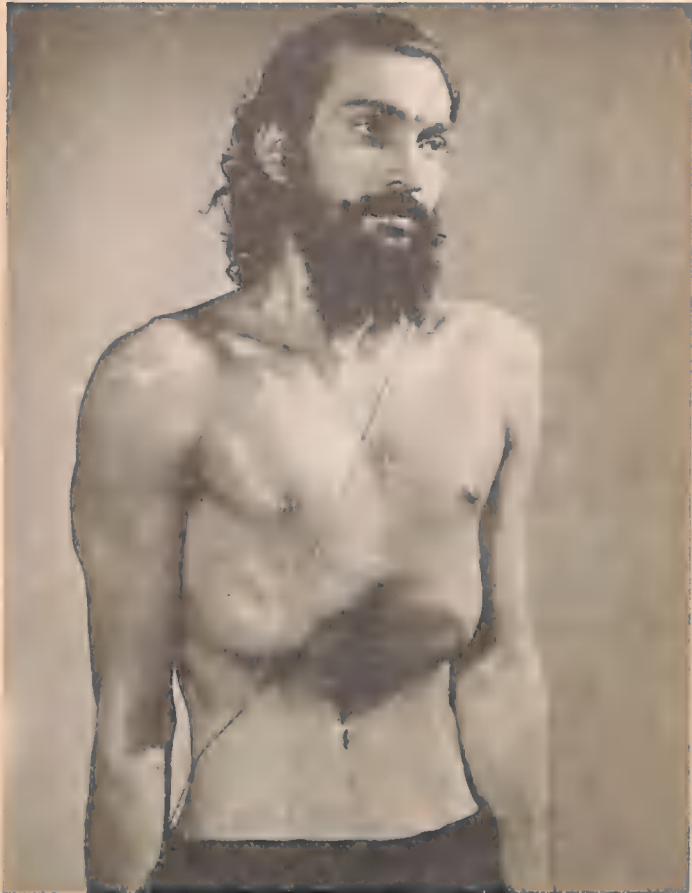
चित्र नं० ४५ उदर-शक्ति-विकासक (अजगरी) नामक पहली क्रिया। इसमें नासिका से धीरे-धीरे श्वास छोड़कर उड्डियान किया गया है। क्रिया नं० २४

चित्र नं० ४६ उदर-शक्ति-विकासक नामक दूसरी क्रिया। इसमें श्वास भरकर पेट को फुलाते हुए दिखाया गया है। क्रिया नं० २५

चित्र नं० ४७ उदर-शक्ति-विकासक नामक तीसरी क्रिया। इसमें गले को पूर्णतया पीछे ले जाकर श्वास-प्रश्वास द्वारा पेट को फुलाना तथा पिचकाना दिखाया गया है। क्रिया नं० २६

चित्र नं० ४८ उदर-शक्ति-विकासक नामक चौथी क्रिया। इसमें नेत्रों से डेढ़ गज की दूरी पर देखते हुए श्वास-प्रश्वास द्वारा पेट को फुलाना तथा पिचकाना दिखाया गया है। क्रिया नं० २७

नासिकारन्ध्रों से अन्दर की वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालें। श्वास छोड़ते समय श्वास का शब्द कान से सुनाई न पड़े।

विशेष—देर तक कुम्भक करने पर जोर से रेचक कभी न करें। इससे बल की हानि होती है। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ४९ देखें।

२९ उदर-शक्ति-विकासक (६)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए, कमर के ऊपरी विभाग को किञ्चित् आगे की ओर झुकाते हुए, दोनों हाथों को कमर पर इस प्रकार रखें कि चारों अँगुलियाँ तो पीछे की ओर रहें और अँगूठा आगे की ओर रहे।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से तीव्र वेग से श्वास अन्दर खींचें तथा बाहर छोड़ें। ध्यान रहे कि श्वास लेते समय पेट फूले तथा छोड़ते समय पेट पिचके। आरम्भिक क्रम २५ वार। चित्र नं० ५० देखें।

३०—उदर-शक्ति-विकासक (७)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर उदर क्रिया (६) की भाँति कमर पर हाथ रखते हुए कमर से ऊपरी विभाग को इतना झुकावें कि नाभि पर ९०° का कोण वन जाय।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से तीव्र वेग से श्वास लें तथा छोड़ें, श्वास लेते समय पेट फूले तथा श्वास छोड़ते समय पेट पिचके। आरम्भिक क्रम २५ वार। चित्र नं० ५१ देखें।

३१—उदर-शक्ति-विकासक (८)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर उदर क्रिया (६) की भाँति कमर पर हाथ रखते हुए कमर के ऊपरी विभाग को किञ्चित् आगे की ओर झुकावें।

क्रिया—अन्दर के श्वास को दोनों नासिकारन्ध्रों से बाहर निकाल कर बाह्य कुम्भक की परिस्थिति में पेट को शीघ्रतापूर्वक फुलावें तथा पिचकावें। यथासाध्य श्वास

रोकने के वाद क्रिया वन्द करके धीरे-धीरे श्वास लें। पुनः उसी प्रकार रेचक करके इस क्रिया को करें। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय श्वास न भीतर जाय और न वाहर आये। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ५२ देखें।

३२–उदर-शक्ति-विकासक (९)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए क्रिया (७) की भाँति कमर पर हाथ रखें, तत्पश्चात् कमर के ऊपरी विभाग को आगे की ओर इतना झुकावें कि नाभि के पास ९० का कोण वन जाय।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से अन्दर के श्वास को वाहर निकाल कर पेट को जल्दी-जल्दी फुलावें तथा पिचकावें। जव श्वास लेने की इच्छा हो, तव पुनः दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास भर लें। इस क्रिया को वार-वार करें। ध्यान रहे कि क्रिया समाप्त करने तक कमर की परिस्थिति वैसी ही रहेगी, जैसी ऊपर लिखी स्थिति में वताया गया है। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ५३ देखें।

विशेष—रेचक करके जितनी देर क्रिया की जाती है अथवा श्वास रोककर जितनी देर पेट फुलाया तथा पिचकाया जाता है, इस क्रम को एक वार कहते हैं। अतएव इसी क्रम के अनुसार आरम्भिक क्रम ५ वार होना चाहिए।

३३–उदर-शक्ति-विकासक (१०)

नौलि

स्थिति—दोनों पैरों के वीच एक हाथ का अन्दर रखते हुए दोनों हाथों से दोनों घुटनों को पकड़ें। तद्पश्चात् कमर के ऊपरी विभाग को इतना आगे की ओर झुकावें कि नाभि पर ९०° का कोण वन जाये।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से अन्दर की वायु को वाहर निकालकर पेट को पूर्णतया पिचकावें अर्थात् पूर्ण उड्डियान लगावें। तत्पश्चात् दोनों हाथों पर किञ्चित् वल लगाते हुए पेट की नौलि निकालें और वाएँ तथा दाएँ दोनों ओर नल को चक्राकार घुमावें। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ५४, ५५, ५६ देखें।

लाभ—हर प्रकार के रोग पेटकी खरावी के कारण ही उत्पन्न होते हैं। उदर-शक्ति-विकासक सभी क्रियाओं से पेट के समस्त रोग दूर हो जाते हैं। पेट का कोई भी रोग
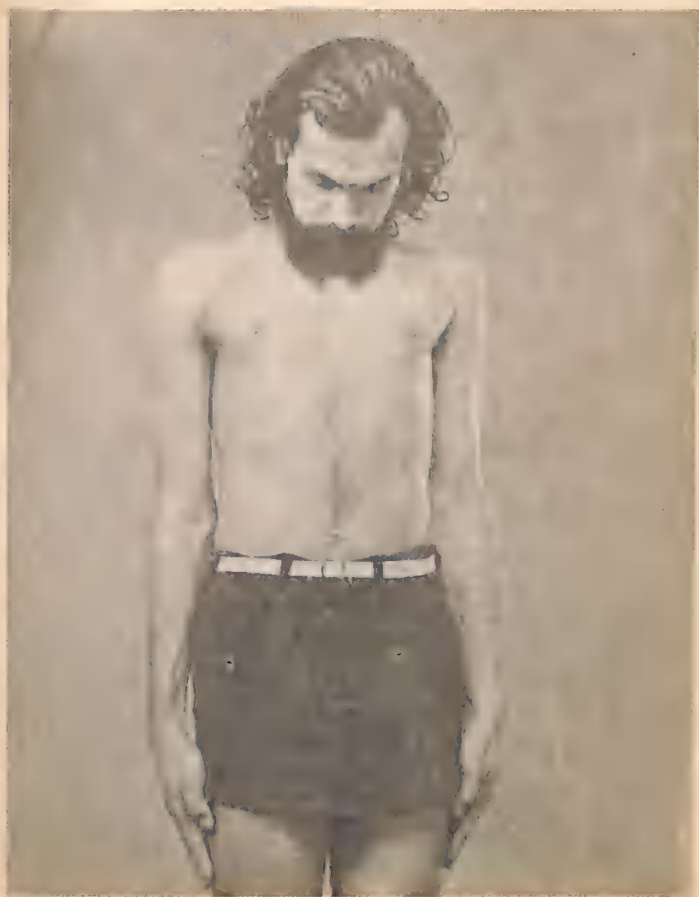
चित्र नं० ४६ उदर-शक्ति-विकासक नामक पाँचवीं क्रिया। इसमें गाल फुला कर नेत्र बन्द करके कुम्भक किये हुए हैं तथा पेट फूला हुआ है। क्रिया नं० २८

चित्र नं० ५०

उदर-शक्ति-विकासक नामक छठवीं क्रिया। इसमें किंचित् आगे की ओर झुककर पेट फुलाते-पिचकाते हुए श्वास-प्रश्वास कर रहे हैं।

क्रिया नं० २६

चित्र नं० ५१ उदर-शक्ति-विकासक नामक सातवीं क्रिया। इसमें नब्बे डिग्री का कोण बनाते हुए आगे को ओर झुककर पेट फुलाते-पिचकाते श्वास-प्रश्वास कर रहे हैं। क्रिया नं० ३०

चित्र नं० ५२ उदर-शक्ति-विकासक नामक आठवीं क्रिया। इसमें श्वास को पूर्णतया बाहर निकाल कर किंचित् आगे की ओर झुककर पेट फुला-पिचका रहे हैं। क्रिया नं० ११

चित्र नं० ५३ उदर-शक्ति-विकासक नामक नवीं क्रिया। इसमें भी श्वास को पूर्णतया बाहर निकाल कर नब्बे डिग्री का कोण बनाते हुए आगे की ओर झुककर पेट फुला-पिचका रहे हैं। क्रिया नं० ३२

चित्र नं० ५४ (१) वाम नौली—उदर-शक्ति-विकासक (नौली) दसवीं क्रिया। क्रिया नं० ३३
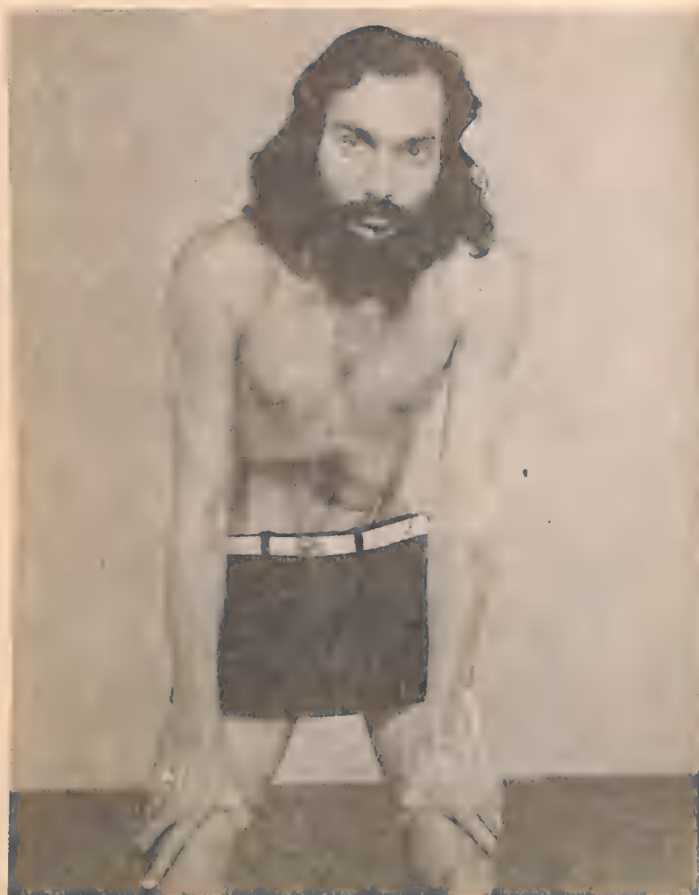
इसमें बाएं हाथ पर [illegible] देकर बाईं ओर नल निकाले हुए हैं।
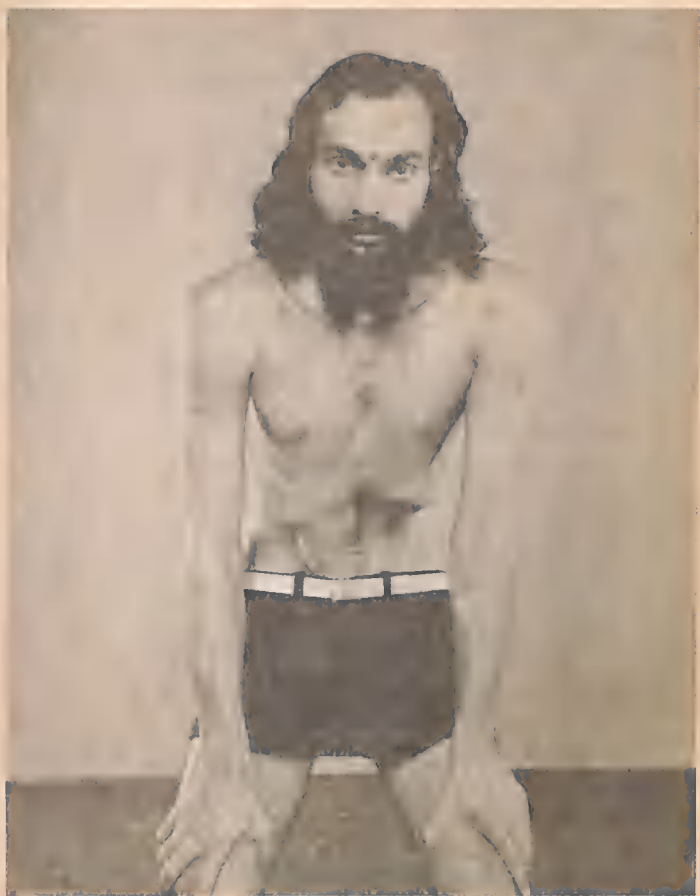
चित्र नं० ५५

(२) दक्षिण नौली—उदर-शक्ति-विकासक दसवीं क्रिया। इसमें दाहिने हाथ पर बल देकर दाहिनी ओर नल निकाले [illegible] हैं।

क्रिया नं० ३३

चित्र नं० ५६ (३) मध्य नौली—उदर-शक्ति-विकासक दसवीं क्रिया। इसमें दोनों हाथों पर बल देकर पेट के मध्य में नल निकाले हुए हैं। क्रिया नं० ३३

चाहे कितना ही पुराना क्यों न हो, इन क्रियाओं का निरन्तर अभ्यास करने से शीघ्र ही दूर हो जाता है। उदर-शक्ति-विकासक क्रियाएं पेट की स्थूलता को कम करने में दिव्य औषधि का काम करती हैं। इन क्रियाओं की विशेषता यह है कि नाभिकेन्द्र से संयुक्त सभी नाड़ियों में दिव्य शक्ति का संचार होता है तथा आध्यात्मिक शक्ति का अद्भुत विकास होता है। योगियों के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में ये क्रियाएँ बहुत सहायक हैं, क्योंकि इन क्रियाओं से कुण्डलिनी शक्ति की जागृति में बहुत सहायता मिलती है।

३४—कटि-शक्ति-विकासक (१)

स्थिति (क)—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दाहिने हाथ की मुट्ठी बांधें। अँगूठा मुट्ठी के अन्दर ही रहे। तत्पश्चात् दाएँ हाथ को कमर के पिछले भाग पर स्थित करते हुए बाएँ हाथ से दाएँ हाथ की कलाई को पकड़ें।

क्रिया (क)—दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी विभाग को यथासाध्य पीछे झुकावें और कुछ देर उसी परिस्थितिमें रुकें, तत्पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से श्वास निकालते हुए सिर को घुटने से लगावें। इस क्रिया को वार-वार करें। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ५७ तथा ५८ देखें।

स्थिति (ख)—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर वाएँ हाथ की मुट्ठी बांधें। अँगूठा मुट्ठी के अन्दर ही रहे। तत्पश्चात् वाएँ हाथ को कमर के पिछले भाग पर स्थित करते हुए दाएं हाथ से वाएँ हाथ की कलाई को पकड़ें।

क्रिया (ख)—दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी विभाग को यथासाध्य पीछे झुकावें और कुछ देर उसी स्थिति में रुकें, तत्पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से श्वास निकालते हुए सिर को घुटनों से लगावें। इस क्रिया को वार-वार करें। आरम्भिक क्रम ५ बार।

३५—कटि-शक्ति-विकासक (२)

स्थिति—दोनों पैरों को यथासाध्य फैलाकर दोनों हाथ कमर पर इस प्रकार रखें कि दोनों अंगूठे आगे की ओर हों तथा अंगुलियां पीछे की ओर रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों द्वारा श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी विभाग को यथासाध्य पीछे की ओर ले जायें और कुछ क्षण उसी परिस्थिति में रहें। तत्पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे श्वास निकालते हुए कमर से ऊपरी विभाग को आगे की ओर इतना झुकावें कि सिर पृथ्वी से लग जाय। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ५९ तथा ६० देखें।

३६—कटि-शक्ति-विकासक (३)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से शीघ्रतापूर्वक श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी विभाग को झटके के साथ यथासाध्य पीछे की ओर झुकावें। तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक श्वास छोड़ते हुए सिर को झटके के साथ घुटने से लगावें।

ध्यान रहे कि क्रिया करते समय दोनों हाथ जंघा तथा घुटने को स्पर्श न करें। आरम्भिक क्रम २५ वार। चित्र नं० ६१ तथा ६२ देखें।

३७—कटि-शक्ति-विकासक (४)

स्थिति (क)—दोनों पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से कमर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों हाथों को गिद्ध-पंख की भाँति फैलाकर खड़े रहें। चित्र नं० ६३ देखें।

क्रिया (क)—दोनों हाथों को गिद्ध-पंख की भाँति फैलाकर कमर से ऊपरी विभाग को बाईं तरफ यथासाध्य झुकावें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठते हुए समावस्था में आकर पुनः दाईं ओर बगल में झुकायें। आरम्भिक क्रम ५ वार। चित्र नं० ६४ देखें।

विशेष—क्रिया करते समय हाथ की स्थिति किञ्चित् भी ऊँची-नीची न हो और कमर से ऊपरी विभाग को भी किञ्चित् आगे तथा पीछे न झुकावें। क्रिया करते समय यथासाध्य यह प्रयत्न रहे कि कमर को झुकाते समय इतना झुकावें कि हाथ सीधा रहने पर भी पिण्डली से मिल जाय।

चित्र नं० ५७ — कटि-शक्ति-विकासक पहली क्रिया। इसमें श्वास भरकर [illegible] कमर से ऊपरी विभाग को पीछे ले गये हैं। — क्रिया नं० ३४

चित्र नं० ५८ कटि-शक्ति-विकासक पहली क्रिया। इसमें श्वास छोड़ते हुए कमर से ऊपरी विभाग को आगे की ओर इस प्रकार झुकाया है कि सिर घुटनों से लग गया है। क्रिया नं० ३४

चित्र नं० ५६ कटि-शक्ति-विकासक दूसरी क्रिया। इसमें पाँव को यथासाध्य फैला कर कमर पर हाथ रख श्वास भरते हुए पीछे की ओर झुके हैं। क्रिया नं० ३५

चित्र नं० ६० कटि-शक्ति-विकासक दूसरी क्रिया। इसमें श्वास छोड़ते हुए सिर को पृथ्वी से लगाये हुए हैं। क्रिया नं० ३५

चित्र नं० ६१ — कटि-शक्ति-विकासक तीसरी क्रिया। इसमें तीव्र वेग से श्वास भरते हुए झटके के साथ पीछे की ओर गये हैं। — क्रिया नं० ३६

चित्र नं० ६२ कटि-शक्ति-विकासक तीसरी क्रिया। इसमें तीव्र वेग से श्वास छोड़ते हुए झटके के साथ इस प्रकार आगे आये हुए हैं कि सिर घुटनों से लग गया है। क्रिया नं० ३६

चित्र नं० ६३ कटि-शक्ति-विकासक चौथी क्रिया। इसमें दोनों हाथों को गृध्र-पंख की भाँति फैला कर खड़े हैं। क्रिया नं० ३७

चित्र नं० ६४

कटि-शक्ति-विकासक चौथी क्रिया। इसमें कमर के ऊपरी भाग को इस प्रकार झुकाया गया है कि दोनों हाथों को पृथ्वी के समानान्तर रखते हुए पिण्डली को स्पर्श करने का [illegible] कर रहे हैं।

क्रिया नं० ३७

स्थिति (ख)—दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर पुनः इसी क्रिया को करें। आरम्भिक क्रम ५ वार।

३८—कटि-शक्ति-विकासक (५)

स्थिति—दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से वेग से श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी विभाग को दोनों हाथों के साथ अर्ध-चक्राकार घुमाते हुए श्वास दाईं ओर छोड़ें। इसी प्रकार श्वास भरते हुए वाईं ओर छोड़ें। इस क्रिया को क्रमशः करें। आरम्भिक क्रम १० वार। चित्र नं० ६५ देखें।

लाभ—पूर्वोक्त कटि-शक्ति-विकासक पाँचों क्रियाओं से कमर सुडोल तथा पतली हो जाती है। इन क्रियाओं का निरन्तर अभ्यास करने से कमर सम्बन्धी हर प्रकार के दर्द दूर हो जाते हैं। जो लोग कम समय में ही अपनी कमर को सुडौल तथा पतली बनाना चाहें, उन्हें इन क्रियाओं से आशातीत लाभ हो सकता है। इन क्रियाओं के गुण अद्‌भुत हैं। २५ वर्ष तक की अवस्था के अन्दर तक के स्त्री-पुरुषों की लम्बाई बहुत बढ़ सकती है तथा २५ से ३० वर्ष की अवस्था के अन्दर के स्त्री-पुरुषों की लम्वाई में भी कुछ विकास अवश्य हो सकता है। ठिगनापन दूर करने का यह सुन्दर उपाय है। इन क्रियाओं का विशिष्ट गुण यह है कि इनसे कमर में विशेष पुष्टता आती है तथा स्तम्भन-शक्ति बढ़ती है। नृत्य के कलाकारों के लिए तो यह एक दिव्य देन है। इन क्रियाओं से कोई भी आदमी वहुत थोड़े समय में सीना चौड़ा तथा कमर पतली कर सकता है। इनका निरन्तर अभ्यास करने से शरीर सुडौल, पुष्ट और कान्तिमान हो जाता है।

३९—मूलाधारचक्र-शुद्धि

स्थिति—दोनों पैर परस्पर मिले हुए हों, जंघाएँ परस्पर सटी हुई हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा करके ग्रीवा समावस्था में रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया—मूलाधार एवं नितम्वपृष्ठ को दृढ़ता से मिलाकर गुदा को आन्तरिक वल द्वारा अपान वायु-सहित ऊपर खींचें। श्वास साधारण रहे। वस्तुतः क्रिया करते समय श्वास की गति रुक जाती है। इतना वल लगता है कि शरीर में कम्पन होने लगता है। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। आन्तरिक क्रिया होने के कारण चित्र नहीं दिया गया है।

इसी क्रिया को पैरों में चार अंगुल का अन्तर रख कर करें। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ६६ देखें।

उपनिषदों में इस क्रिया के विषय में इस प्रकार वर्णन है :—

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥

अर्थात्—अपान वायु ऊपर खींचने से मूलबन्ध लगता है। यौगिक युक्ति द्वारा अपान वायु ऊपर खींचने पर प्राण वायु से मिलता है। प्राण और अपान वायु के मिलने से मलमूत्र का क्षय होता है अर्थात् स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता आती है। निरन्तर इसका अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा बन जाता है।

४०—उपस्थ तथा स्वाधिष्ठानचक्र-शुद्धि

स्थिति—पैरों के अन्दर एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े रहें।

क्रिया—उपस्थ को गुदा सहित आन्तरिक बल से ऊपर की ओर खींचने का प्रयत्न करें। क्रिया करते समय वस्तुतः स्वाभाविक श्वास की गति रुक जाती है। पाँव, घुटना, जंघा आदि काँप जाते हैं। अन्य क्रियाओं की अपेक्षा इसमें बहुत बल लगता है। अतएव इसे समझ कर सावधानी से करना चाहिए। चित्र नं० ६७ देखें।

विशेष—मल तथा मूत्र त्यागते समय जिस प्रकार नीचे की ओर स्वाभाविक रूप में बल लगता है, इसका ठीक उल्टा करना है, अर्थात् ऊपर की ओर खींचना है। इसी को मूलबन्ध और उपस्थ की क्रिया कहते हैं।

लाभ—उपरोक्त दोनों क्रियाओं से गुदा तथा उपस्थ सम्बन्धी सारे रोग दूर होते हैं। मधुमेह (डाइबीटीज), बवासीर, भगन्दर, खूनी बवासीर आदि असाध्य रोग शीघ्रातिशीघ्र समूल नष्ट हो जाते हैं। इन क्रियाओं में यह विशेष गुण है कि ये रोगों को जड़ से नष्ट करके स्थायी लाभ पहुँचाती हैं। उपस्थ के बहुत से रोग—सूजाक, आतशक तथा वीर्य सम्बन्धी सारे रोग इन क्रियाओं का निरंतर अभ्यास करने से समूल नष्ट हो जाते हैं। प्रमेह, स्वप्नदोष आदि तो सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं। इन क्रियाओं का निरन्तर अभ्यास करने से स्त्रियों को भी अद्भुत लाभ होता है।

चित्र नं० ६५ कटि-शक्ति-विकासक पाँचवीं क्रिया। इसमें तेजी से श्वास भरते तथा छोड़ते हुए कमर से ऊपरी विभाग को चक्राकार घुमाकर पीछे की ओर ले गये हैं। क्रिया नं० ३८

चित्र नं० ६६ मूलाधारचक्र शुद्धि [illegible] उन्चालीसवीं क्रिया। इसमें शरीर के नीचले विभाग का संकोचन करते हुए बलपूर्वक गुदाचक्र को ऊपर खींच रहे हैं। क्रिया नं० ३९

लिकोरिया, प्रदर और यौन सम्बन्धी सारे विकार तथा गर्भाशय के सारे दोष दूर हो जाते हैं। इनसे स्तम्भन-शक्ति बढ़ती है तथा ब्रह्मचर्य की पुष्टि होती है।

४१—कुण्डलिनी-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर पैरों से सिर तक के विभाग को सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों पैरों को क्रम से नितम्बपृष्ठ पर जोर से मारें। नीचे आते समय पैर अपने-अपने स्थान पर ही पड़ें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ६८ देखें।

लाभ—इससे कुण्डलिनी-शक्ति की जागृति होती है। इस पर अनेक ग्रन्थों में बहुत से श्लोक मिलते हैं। उपनिषदों में भी इस प्रकार वर्णन है :—

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा॥

अर्थात्—कन्द के ऊपरी भाग में कुण्डलिनी नाम की महाशक्ति कुण्डलाकार (गोलाकार) विराजमान है। यही मूर्खों के बन्धन और योगियों के मोक्ष का कारण है।

मूलाधारे-आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्॥

अर्थात्—सब से उत्तम देवता कुण्डलिनी नामक आत्मशक्ति सर्प के आकारवाली, साढ़े तीन लपेट की गुंडरी (गोला) बाँधे मूलाधार में सो रही है। जब तक यह देह में सोती रहती है, तब तक जीव पशु की भाँति अज्ञानी बना रहता है, सत्य और असत्य कुछ नहीं जान पाता। परन्तु जब यह जागती है, तब ही सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। जब तक यह नहीं जागती है, तब तक चाहे करोड़ों प्रकार के योगाभ्यास करें, परन्तु ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽधारो हि कुण्डली॥

अर्थात्—जैसे सशैलवन-धारिणी पृथ्वी का आधार शेषनाग हैं, वैसे ही समस्त योगतन्त्रों का आधार कुण्डलिनी है। इसीलिए कहा भी है :—

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परि कीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥

अर्थात्—यह कुण्डलिनी सर्पिणी के समान कुटिल आकारवाली है। जिसने इसे चला दिया है, बस वही मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। मूलाधार से ऊपर पहुँचा देने का अर्थ यहाँ कुण्डलिनी का चलाना है।

विशेष—कुण्डलिनी जागृत करने की अनेक विधियाँ हैं, जिनमें से एक यहाँ दी गई है।

४२—जंघा-शक्ति-विकासक (१)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया (क)—नासिकारन्ध्रों द्वारा श्वास भरते हुए दोनों हाथों को ऊपर ले जायें और साथ ही पैरों के पंजों के बल कूदकर दोनों पैरों को फैलावें। तत्पश्चात् नासिकारन्ध्रों द्वारा श्वास निकालते हुए हाथ नीचे लावें और साथ ही पैरों को भी पंजों के बल कूदकर मिलावें। ध्यान रहे, हाथ नीचे लाते समय जंघा को स्पर्श न करें। पैरों को फैलाते और मिलाते समय घुटने न मुड़ें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ६६ देखें।

क्रिया (ख)—पूर्व परिस्थिति में ही खड़े होकर इसी क्रिया को विपरीत क्रम से श्वास लेते और छोड़ते हुए करें, जैसे ऊपरवाली क्रिया में प्रथम हाथ ऊपर ले जाते समय श्वास खींचते हैं, परन्तु इस में हाथ ऊपर ले जाते समय श्वास छोड़ते हैं। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र ६६ देखें।

४३—जंघा-शक्ति-विकासक (२)

स्थिति (क)—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से स्कंध तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर ग्रीवा को समावस्था में रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया (क)—नासिका द्वारा श्वास भरते हुए दोनों हाथों को वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर फैलाकर नीचे की ओर धीरे-धीरे बैठें। जब जंघाएँ पृथ्वी के

चित्र नं० ६७

उपस्थ तथा स्वाधिष्ठानचक्र-शुद्धि नामक चालीसवीं क्रिया। इसमें आन्तरिक बल द्वारा गुदा सहित उपस्थ को ऊपर खींच रहे हैं।

क्रिया नं० ४०

चित्र नं० ६८ — कुण्डलिनी-शक्ति-विकासक नामक इकतालीसवीं क्रिया। इसमें एड़ी से क्रमशः नितम्बपृष्ठ पर जोर से मार रहे हैं। — क्रिया नं० ४१

चित्र नं० ६६

जंघा-शक्ति-विकासक पहली क्रिया ।] इसमें तेजी से श्वास भरकर हाथों को ऊपर ले जाते हुए पंजों पर खड़े हैं।

क्रिया नं० ४२

चित्र नं० ७०

जंघा-शक्ति-विकासक (कुर्सी आसन) दूसरी क्रिया। इसमें श्वास भरते हुए इस प्रकार साधक बैठे हैं कि कुर्सी के समान प्रतीत होते हैं।

क्रिया नं० ४३

समानान्तर आ जायें, तो इसी स्थिति में यथासाध्य रुकने का प्रयत्न करें। ध्यान रहे कि एड़ी-पंजे पृथ्वी पर से किञ्चित् भी उठने न पायें। घुटने, जंघा आदि आपस में मिले रहें। तत्पश्चात् दोनों नासिकारन्ध्रों से वायु निकालते हुए धीरे-धीरे उठें। आरम्भिक क्रम ५ मिनट। चित्र नं० ७० देखें।

स्थिति (ख)—पैर परस्पर मिले हुएँ हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों हाथों को स्कन्धों के सामने गिद्ध-पंख की भाँति फैलाकर पैरों के पंजों पर खड़े रहें।

क्रिया (ख)—नासिका द्वारा श्वास भरते हुए, धीरे-धीरे घुटनों को भी बगल में फैलाते हुए इतना नीचे बैठें कि नितम्ब एड़ी से कुछ ऊँचा रहे। जब तक कुम्भक रख सकें, इसी अवस्था में रुके रहें। तत्पश्चात् नासिका द्वारा श्वास धीरे-धीरे निकालते हुए सीधे खड़े होकर हाथ नीचे लावें। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ७१ देखें।

लाभ—इन क्रियाओं के करने से जंघाओं में अपूर्व शक्ति आती है। जंघाएँ कदली स्तम्भ के समान सुन्दर, पुष्ट तथा सुडौल बनती हैं। बादी की निवृत्ति होती है। बहुत दूर चलने पर भी कोई थकावट नहीं आती। रक्त का संचार सुचारु रूप से होने लगता है। स्थूल जंघाएँ सुन्दर-सुडौल बनती हैं तथा पतली जंघाएँ स्वाभाविक स्वरूप में आ जाती हैं। इन क्रियाओं से बहुत थोड़े समय में ही अपूर्व लाभ प्राप्त होता है।

४४—जानु-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—पिण्डलियों से घुटने पर बल देते हुए झटके के साथ घुटने से ऊपर जंघे के भाग को सीधा रखते हुए आगे-पीछे झटका दें। क्रमशः एक के बाद दूसरे पैर से करें। क्रिया करते समय एड़ी नितम्बपृष्ठ से लगनी चाहिए। आरम्भिक क्रम १० बार। चित्र नं० ७२ देखें।

लाभ—घुटनों के जोड़ों की बादी की निवृत्ति होती है। रक्त का संचार सुचारु रूप से होने लगता है। यह क्रिया गठिया आदि के रोगों को दूर करती है। यह फुटबाल खेलनेवालों के लिए परमोपयोगी है।

४५—पिण्डली-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखते हुए मुट्ठी बांधकर ग्रीवा को समावस्था में रखकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों द्वारा धीरे-धीरे श्वास भरने के साथ-साथ दोनों हाथों को वक्षःस्थल के सामने पृथ्वी के समानान्तर फैलाते हुए बैठें। बैठते समय पैरों की एड़ी पृथ्वी से सटी रहे और दोनों घुटने आपस में सटे रहें। तत्पश्चात् शीघ्र ही दोनों हाथों को आवृत्ताकार घुमाते हुए वक्षःस्थल के सम्मुख लावें। उस समय हाथ कोहनी से मोड़कर मुट्ठी छात्ती के सन्मुख तथा भुजबन्ध स्कन्ध के सम हों। फैलाने के पश्चात् हाथों से वक्षःस्थल को खींचते हुए पुनः हाथ नीचे ले जाकर क्रिया करें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ७३ देखें।

४६—पादमूल-शक्ति-विकासक

स्थिति—दोनों पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से से सीधा रखकर पंजों के बल खड़े रहें।

क्रिया (क)—शरीर का सारा भाग पंजों पर रखते हुए स्प्रिंग की भाँति शरीर को ऊपर-नीचे हिलावें। क्रिया करते समय एड़ी और पंजे आपस में मिले रहें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ७४ देखें।

क्रिया (ख)—पंजों के बल शरीरको सीधा रखते हुए जितना ऊँचा कूद सकें कूदें। नीचे आते समय भी पंजों के बल ही खड़े हों। पंजों के अग्रभाग तथा अंगुलियों के बल क्रिया करनी चाहिए। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय एड़ी-पंजे मिले रहें और नीचे आते समय अपने स्थान पर ही गिरें। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० ७५ देखें।

लाभ—इन क्रियाओं के करने से पिण्डलियाँ पुष्ट, दृढ़ तथा कदली स्तम्भ के ऊपरी विभाग के सदृश सुन्दर बनती हैं। ब्रह्मचर्य की पुष्टि होती है। बादी की निवृत्ति

चित्र नं० ७१ क्रिया नं० ४३

जंघा-शक्ति-विकासक दूसरी क्रिया। इसमें श्वास भरते हुए दोनों घुटनों तथा हाथों को फैलाकर धीरे-धीरे इतना नीचे गये हैं कि नितम्ब एड़ी से कुछ ही ऊपर हैं।

चित्र नं० ७२ जानु-शक्ति-विकासक नामक चौवालीसवीं क्रिया। इसमें एड़ी से नितम्बपृष्ठ पर जोर से मारकर पैर को आगे की ओर झटका दे रहे हैं। क्रिया नं० ४४

चित्र नं० ७३ पिण्डली-शक्ति-वर्धक पंतालीसवीं क्रिया। इसमें दोनों हाथों को आवृत्ताकार घुमाते हुए नीचे बैठने को परिस्थिति में हूं। क्रिया नं० ४५

चित्र नं० ७४ पादमूल-शक्ति-विकासक पहली क्रिया। इसमें पंजों के बल खड़े होकर स्प्रिंग की भांति एड़ी को ऊपर-नीचे कर रहे हैं। क्रिया नं० ४६

चित्र नं० ७५

पादमूल-शक्ति-विकासक दूसरी क्रिया। इसमें
पंजों के बल जमीन से ऊपर उछलते हुए हैं।

क्रिया नं० ४६

चित्र नं० ७६

गुल्फ, पादपृष्ठ, पादतल-शक्ति-विकासक क्रिया। इसमें एक पाँव से दूसरे पाँव को एक हाथ आगे तथा जमीन से एक बालिस्त ऊपर उठाकर गुल्फ के आगे से बाएँ-दाएँ आवृत्ताकार घुमा रहे हैं।

क्रिया नं० ४७

चित्र नं० ७७.

पादांगुलि-शक्ति-विकासक अड़तालीसवीं क्रिया। इसमें पैरों की दसों अंगुलियों को आपस में मिलाकर केवल अंगुलियों पर भार देकर खड़े हुए हैं।

क्रिया नं० ४८

चित्र नं० ७८ शवासन—इसमें पैर की दोनों एड़ी मिली हुई हैं, करतल ऊपर की ओर किये हुए हैं। शवासन

होती है। पिण्डलियों में अपूर्व बल आता है। पादमूल पुष्ट, सुन्दर, सुडौल तथा सुदृढ़ बनता है।

४७—गुल्फ, पादपृष्ठ, पादतल-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर खड़े रहें।

क्रिया—एक पैर को दूसरे पैर से एक हाथ आगे की ओर बढ़ाकर पैर की सन्धि से पैर को दाएँ-बाएँ आवृत्ताकार घुमावें। इसी प्रकार दूसरे पांव से भी करें। आरम्भिक क्रम १० बार। चित्र नं० ७६ देखें।

लाभ—बादी की निवृत्ति होती है। अँगुलियों तथा पंजों की पुष्टि होती है। पैर सुन्दर, पुष्ट तथा सुडौल बनते हैं। पंजों के सब रोग दूर होते हैं। गुल्फ (गिट्टा) सुदृढ़ पुष्ट हो जाता है। अधिक-से-अधिक चलने-फिरने, दौड़ने-कूदने पर भी थकावट नहीं आती।

४८—पादांगुलि-शक्ति-विकासक

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों हाथों को गिद्ध-पंख की भाँति फैलाकर खड़े रहें।

क्रिया—दोनों पैरों की पाँचों अंगुलियाँ आपस में मिलाकर सारे शरीर का भार अंगुलियों के अग्रभाग पर ही रखते हुए जितनी देर खड़े रह सकें खड़े रहने का अभ्यास करें। आरम्भिक क्रम ३ मिनट। चित्र नं० ७७ देखें।

लाभ—इससे पाँवों में विशेष बल आता है। पंजे तथा अँगुलियाँ पुष्ट होती हैं। अंगुलियों का आकार सुन्दर बनता है। दौड़नेवालों के लिए यह क्रिया परम उपयोगी है। पहाड़ी प्रान्त में रहनेवाले इसे अवश्य करें। इससे अंगुलियाँ रबड़ की भाँति लचीली बनती हैं।

विशेष—यौगिक सूक्ष्म व्यायाम की पूरी ४८ क्रियाएँ करने के अनन्तर शवासन में आराम करना चाहिए। इससे सारे शरीर में रक्त का संचार सम रूप में होता है और थकावट दूर होती है। इसे तब तक करना चाहिए, जब तक कि श्वास और हृदय की गति स्वाभाविक न हो जाय। चित्र नं० ७८ देखें।

यौगिक स्थूल व्यायाम

१–रेखागति

स्थिति—बाएं पैर को जमीन पर जमाकर दाएँ पांव को बाएँ पाँव के अंगूठे के आगे इस प्रकार स्थित करें कि दाएं पांव की एड़ी और बाएँ पांव का अंगूठा आपस में मिले रहें। चित्र नं० ७९ देखें।

क्रिया—बारी-बारी से पाँव को एक दूसरे के आगे रखते हुए पचास कदम इस प्रकार जायें कि तनिक भी सीध से बाएँ-दाएँ न हों। तत्पश्चात् उसी प्रकार उलटा चलते हुए अपने स्थान पर ही आ जायं। ध्यान रहे कि चलते समय लाइन खराब न होने पावे और जाते-आते समय दृष्टि सामने हो, किंचित भी पाँव की ओर नीचे न देखें।

लाभ—इससे मन की एकाग्रता, चित्त की प्रसन्नता तथा शरीर को सम्भालने की शक्ति प्राप्त होती है। यह क्रिया मिलिटरी, पुलिस तथा सरकसवालों के लिए परम उपयोगी है। इसके अभ्यास से कुछ समय पश्चात् पतली रस्सी पर भी चला जा सकता है।

२–हृद्गति (इञ्जनदौड़)

इस क्रिया की रूपरेखा रेल के इञ्जन के समान है। इसलिए आजकी जनता को समझाने के हेतु इसका नाम महर्षिजी ने इञ्जनदौड़ रखा है। जिन लोगों ने इञ्जन देखा है, वे इसे देखते ही समझ सकते हैं कि इसमें इञ्जन के समान ही दोनों नासिकारन्ध्रों से छक्-छक् की आवाज होती है। दोनों हाथों को इञ्जन के बैलेट के समान चलाना पड़ता है तथा पहियों के समान ही आगे-पीछे जाना पड़ता है।

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर दोनों हाथों को कोहनी के स्थान से मोड़कर इस प्रकार खड़े हों, जैसे कि

"सूक्ष्म-व्यायाम" की १३ वीं क्रिया (भुजबन्ध-शक्ति-विकासक) में मुठ्टी के अन्दर अंगूठे रखकर खड़े होते हैं।

क्रिया—दोनों हाथों को बारी-बारी से इस प्रकार इञ्जन के वैलेट के समान आगे पीछे चलायें, जैसे कि चित्र नं० ८० में है। तत्पश्चात् पाँवों को भी इसी प्रकार बारी-बारी से नितम्बपृष्ठ पर मारें, जैसे कि सूक्ष्म व्यायाम की कुण्डलिनीवाली क्रिया नं० ४१ में है। ध्यान रहे कि जो हाथ मुड़ेगा, वही पैर भी मुड़ेगा और जो हाथ आगे फेंकना है, वही पाँव जमीन पर सीधा स्थिर रहेगा। इसके पश्चात् अपने स्थान पर इस प्रकार कूदें कि जमीन से उछलते हुए मालूम पड़ें। साथ ही साथ नासिकारन्ध्रों से इस प्रकार श्वास लें और छोड़ें, जैसे कि इञ्जन में से छक्-छक् की आवाज निकलती है। इतनी क्रिया कर लेने के पश्चात् आप में वह योग्यता आ जायेगी कि आप सुगमता से इञ्जनदौड़ की पूरी क्रिया एक साथ कर सकते हैं।

अब इञ्जनदौड़ की वास्तविक क्रिया बतलाई जा रही है। इसमें हाथ भी आगे-पीछे जायेंगे और पाँव भी क्रम से आगे-पीछे जायेंगे। श्वास की गति बारी-बारी से होगी। इसी प्रकार क्रिया करते हुए छोटे-छोटे पचास कदम आगे जायें, फिर उसी प्रकार पीछे कदम रखते हुए अपनी जगह पर आ जायें। ध्यान रहे कि कोहनी पीछे आते समय स्थिति से किञ्चित भी पीछे न जाये और एड़ी भी नितम्बपृष्ठ पर लगती रहे। छोटे-छोटे कदम बढ़ायें। यह क्रिया केवल किताब की सहायता से करना कठिन है। इसे योग्य गुरु से सीख कर ही आप भलीभाँति कर सकते हैं।

लाभ—स्थूल व्यायाम की यह एक अद्भुत क्रिया है, जिसके करने से एड़ी से चोटी तक के सब भागों की पुष्टि होती है। शरीर सुन्दर, स्वस्थ, सुडौल तथा मनोहर बन जाता है। फेफड़ों में अपूर्व बल आता है। कितना ही कार्य करने पर भी थकावट नाम मात्र को नहीं आती। आश्चर्यजनक शक्ति का सारे शरीर में सञ्चार होता है। वक्षःस्थल चौड़ा हो जाता है। जङ्घाएँ और पिण्डलियाँ मांसल तथा हृष्ट-पुष्ट हो जाती हैं। स्थूल शरीरवालों के लिए यह क्रिया दिव्य देन से किसी भी प्रकार कम नहीं है। बहुत थोड़े समय में ही शरीर की व्यर्थ स्थूलता घटकर शरीर स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है। चेहरे पर अपूर्व कान्ति आती है। पतला शरीर स्वाभाविक रूप से भर जाता है। इस क्रिया को केवल पाँच मिनट करने से ही २५ मील दौड़ने की शक्ति आती है। यह क्रिया मिलिटरी, पुलिस तथा दौड़-प्रतियोगिता में भाग

चित्र नं० ८०

द्रुतगति (इञ्जनदौड़)——इसमें नितम्बपृष्ठ पर क्रमशः एड़ी मार रहे हैं और [illegible] ही उसी हाथ को वक्षःस्थल के पास मोड़ रहे हैं।

क्रिया नं० २

लेनेवालों के लिए परम उपयोगी है। इसके निरन्तर अभ्यास से आदर्श स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। शरीर में असीम स्फूर्ति आती है। जो लोग दौड़ने का अभ्यास करते हैं, वे व्यर्थ समय नष्ट न करके इस क्रिया को केवल पाँच मिनट रोज करें, तो उन्हें २५ मील दौड़ने की शक्ति प्राप्त होगी।

३—उत्कूर्दन (जम्पिंग)

स्थिति—पैर परस्पर मिले हुए हों, पैरों से सिर तक का विभाग सरलता से सीधा रखकर इस प्रकार मुठ्टी बाँधकर खड़े हों कि अंगूठे मुठ्टी के अन्दर रहें।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से श्वास भरते हुए दोनों भुजाओं को इस प्रकार आवृत्ताकार घुमायें कि पूरा चक्कर हो जाय। चक्कर समाप्त होते ही सूक्ष्म व्यायाम की १३ वीं क्रिया की स्थिति के समान हाथ को रखते हुए ऊपर उछल जायं। उछलने पर दोनों एड़ियों को नितम्बपृष्ठ पर इस प्रकार मारें कि फट की आवाज हो। तत्पश्चात् नासिका से वायु छोड़ें। साथ ही हाथों को सीधा रखते हुए बाहर की तरफ फेंकें और जमीन पर पाँव रखें। ये तीनों क्रियाएं एक साथ ही होनी चाहिए। आरम्भिक क्रम ५ बार। चित्र नं० ८१ देखें।

लाभ—इस क्रिया के करने से ठिगनापन दूर होकर लम्बाई बढ़ती है। वक्षःस्थल चौड़ा होता है। पैरों में शक्ति आती है। जङ्घाएं पुष्ट, सुन्दर तथा सुडौल बनती हैं। कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होती है।

४—ऊर्ध्वगति

स्थिति—पैरों के बीच एक फुट का अन्तर रखते हुए दोनों हाथों को स्कन्ध के ऊपर इस प्रकार फैलावें कि एक हाथ की कोहनी के अन्दर ९०° का कोण बन जाय और दूसरा हाथ सीधा रहे। मुट्ठियाँ खुली हुई हों, अंगुलियाँ सटी हुई तथा करतल आगे की ओर हों।

क्रिया—प्रथम बाएँ पाँव को जमीन से एक फुट ऊपर उठायें और दाएँ हाथ को ऊपर की ओर पूर्ण सीधा कर लें। पुनः बाएँ पैर को पूर्व स्थिति में लाकर दाएँ पैर को जमीन से एक फुट ऊपर उठावें और बाएँ हाथ को ऊपर की ओर पूर्ण सीधा कर

लें। ध्यान रहे कि श्वास हाथ-पैर के साथ ही बारी-बारी लिया तथा छोड़ा जायगा। आरम्भिक क्रम २५ वार। चित्र नं० ८२ देखें।

लाभ—इससे हाथ-पांव सुडौल तथा पुष्ट होते हैं। हाथ-पांव सम्बन्धी सारे रोग दूर होते हैं। हाथों के ठंढे-गर्म रहने की बीमारी दूर होती है। मोटापा इस क्रिया से अति शीघ्र कम हो जाता है। आन्तरिक वल की वृद्धि होती है।

५—सर्वाङ्गपुष्टि

स्थिति—पैरों को यथासाध्य फैलाकर, अंगूठा अन्दर रखते हुए मुट्ठी बाँधकर भुजवल्लियों को एक पर एक रखें। तत्पश्चात् कमर को झुकाते हुए दाएँ पाँव की पिण्डली के पास दोनों हाथों को इस प्रकार स्थित करें कि एक कलाई दूसरी कलाई पर रहे, जैसा कि चित्र नं० ८३ में है।

क्रिया—दोनों नासिकारन्ध्रों से श्वास भरते हुए, हाथों को दाईं तरफ से पीछे की ओर चित्र नं० ८४ की भाँति चक्राकार घुमाते हुए इस प्रकार वाएँ पाँव की पिण्डली के पास स्थित करें, जैसे दाहिनी के चित्र नं० ८३ में है। इस क्रिया को बारी-बारी से करें। ध्यान रहे कि हाथ को उसी परिस्थिति में रखते हुए दाएँ पाँव पर हाथ रखकर श्वास भरते हुए बाईं तरफ जायं और वाएँ से इसी प्रकार दाईं ओर आवें। यह क्रिया वहुत धीरे-धीरे करनी चाहिए।

लाभ—इस क्रिया के करने से शरीर लचीला तथा पुष्ट बनता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग भलीभाँति पुष्ट होते हैं। इससे लम्बाई भी वढ़ती है। चेहरे की कान्ति वढ़ती है। कमर आदि के पुराने से पुराने दर्द दूर होते हैं। टी० बी० के रोगियों के लिए यह क्रिया परम उपयोगी है।

चित्र नं० ८१ उत्कूर्दन (जम्पिङ्ग)—इसमें श्वास भरने के साथ भुजाओं को धक्का देकर वक्षःस्थल के पास मोड़ते हुए जमीन से यथासाध्य ऊपर उछले हुए हैं। क्रिया नं० ३

चित्र नं० ८२ ऊर्ध्वगति—इसमें श्वास-प्रश्वास के साथ क्रमशः हाथ-पैर उठा रहे हैं। क्रिया नं० ४

नोट—इसमें बायां पांव जमीन से एक फुट ऊपर उठा रहेगा।

चित्र नं० ८३ सर्वाङ्गपुष्टि—इसमें दोनों हाथों को मिलाकर श्वास भरते हुए पीछे से चक्राकार आने से पहले की स्थिति बता रहे हैं। क्रिया नं० ४

शीर्षासन

अधिकांश लोग शीर्षासन के गुणों को पुस्तकों में पढ़कर गलत तरीके से अभ्यास करते हैं। इससे लाभ के स्थान पर कहीं अधिक हानि होती है। केवल एक शीर्षासन के गलत करने से शरीर में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ लोग स्वयं गलत करते हैं तथा दूसरे लोगों में भी उसी गलत विधि का प्रचार करते हैं। जिसके फलस्वरूप बाल पकना, बाल झड़ना, दृष्टिदोष, मस्तिष्क की कमजोरी, नाभि का खराब होना, स्वप्नदोष, पागलपन आदि रोगों की उत्पत्ति देखी गई हैं। यह मेरा स्वयं का अनुभव है कि गलत शीर्षासन करने के पश्चात् हानि उठाकर आनेवाले लोगों को सही ढंग से शीर्षासन का अभ्यास कराने से उनके सारे रोग दूर हो गये और वे स्वयं शीर्षासन के प्रशंसक बन गये।

शीर्षासन करने की विधि

एक छोटे-से कपड़े का इस प्रकार गोला बनाये, जैसे कि ग्रामीण माताएँ माथे पर घड़ा आदि रखने के हेतु गेंडुरी बनाती हैं। ऐसी गेंडुरी बनाकर सिरका वह भाग लगाइये, जैसा कि चित्र नं० ८५ में है। ललाट के ऊपर ज़हाँ से बाल शुरू होते हैं, उससे दो अंगुल नीचे और दो अंगुल ऊपर (अर्थात् दो अंगुल माथे पर और दो अंगुल बालों पर) यह चार अंगुल का हिस्सा शीर्षासन के आधार के लिए सर्वथा ठीक है। इस हिस्से को कपड़े की गेंडुरी पर रख कर शीर्षासन करें। ऐसा करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती और शीर्षासन के जितने गुण हैं, सब प्राप्त होते हैं। चार अंगुल का वह हिस्सा जो चित्र नं० ८६ में है, जहाँ बच्चों के सिर में पोला (मुलायम) हुआ करता है, जिसका किञ्चित दबने से फूट जाने का भय रहता है तथा जिसे योगी लोग ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यहाँ प्राण स्थिर करने पर योगी ब्रह्मवेत्ता, तत्ववेत्ता, तथा समाधिनिष्ठ कहे जाते हैं। यौगिक सूक्ष्म व्यायाम में स्मरण-शक्ति-विकासक उसी स्थान को कहा गया है। इस स्थान को शीर्षासन का आधार बनाने से विभिन्न प्रकार के रोग होते हैं जिसके इलाज के लिए डाक्टर तथा वैद्य भी असमर्थ हैं। तीसरा भाग सिर का वह है जो शिखास्थान (चोटी) है, जैसा कि चित्र नं० ८७ में है। जिस जगह भारतीय आर्य लोग चोटी

रखते हैं, शीर्षासन करने में उस स्थान को आधार बनाने से न तो कोई लाभ है, न कोई हानि ही।

शीर्षासन के बहुत प्रकार हैं, जिनमें से कुछ इस पुस्तक में दिये जा रहे हैं। साधक इन्हें देखकर कर सकते हैं। इनके लिए चित्र नं० ८८ से ९४ तक देखें। ठीक विधियों से शीर्षासन करने के पश्चात् उठकर खड़े हो जायं और आधा मिनट सारे शरीर को ऊपर की ओर हाथों से सहलायें अर्थात् हल्के हाथ से मालिश की भाँति करें। तत्पश्चात् जितनी देर शीर्षासन किया हो उसके आधे समय तक शवासन अवश्य करें। चित्र नं० ९५ देखें।

विशेष—गृहस्थियों को जिनका आहार सात्विक तथा सन्तुलित न हो शीर्षासन १० मिनट से अधिक नहीं करना चाहिए। इससे अधिक समय तक करनेवाले को ब्रह्मचर्य से अवश्य रहना होगा, घी दूध का सेवन अवश्य करना होगा, तभी अधिक समय तक शीर्षासन सध सकेगा, अन्यथा मनमानी करने पर हानि उठानी पड़ेगी। एक बात और ध्यान में रखें कि शक्ति न होने पर दीवाल आदि का सहारा लेकर लोग शीर्षासन करने लगते हैं अपनी शक्ति से अधिक कर जाते हैं। फलस्वरूप लाभ के स्थान पर हानि होती है। शीर्षासन उतना ही करना चाहिए, जितना आप सुखपूर्वक कर सकें। इसके सिखाने की विधियाँ भी अलग हैं, जिनका योग्य गुरु से शिक्षण लेने पर दो-चार दिन के अभ्यास से ही ठीक शीर्षासन कर सकते हैं।

लाभ—वन में जिस प्रकार सिंह को सारे जन्तुओं का राजा कहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण यौगिक आसनों का राजा शीर्षासन है। ऐसा कोई रोग नहीं है, जो शीर्षासन के निरन्तर अभ्यास से दूर न हो जाय। चौरासी लाख आसनों में जितने गुण हैं, वे अकेले शीर्षासन में हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। फिर भी कुछ मुख्य रोगों के विषय में यहाँ लिखा जाता है, जिसे पूर्ण रूपेण अनुभव किया गया है, तथा इससे लोगों के असाध्य रोग दूर हुए हैं। सारे नेत्र-दोष, बाल पकना, बाल झड़ना, रक्तविकार, कुष्ठ आदि रोग, पचीस प्रकार के प्रमेह, स्त्रियों की मासिक सम्बन्धी बीमारियाँ, स्वप्नदोष, बवासीर, भगन्दर, नजला, जुकाम इत्यादि रोगों के लिए एक शीर्षासन का अभ्यास पर्याप्त है। इस आसन का विशिष्ट गुण यह है कि इससे मस्तिष्क सम्बन्धी सारे रोग दूर होते हैं। यहाँ तक कि पागलपन आदि दोष इसके निरन्तर अभ्यास से अवश्य दूर हो जाते हैं। परन्तु इसके विधान के अनुसार ही इसे करें। यद्यपि इस

चित्र नं० ८५ शीर्षासन—इसमें चार अंगुलियों का भाग जिस स्थान पर बतला रहे हैं उसी हिस्से को गेंडली पर लगाकर (अथवा भार देकर) शीर्षासन करना है। शीर्षासन

चित्र नं० ८६ शीर्षासन—इसमें चार अंगुल का वह भाग जो चित्र में बतला रहे हैं शीर्षासन [illegible] आधार बनाने पर सर्वथा हानि होती है। अतएव इस पर जोर देकर कभी शीर्षासन [illegible] करें। शीर्षासन

चित्र नं० ८७

शीर्षासन—चित्र में बतलाये गये चार अंगुल भाग पर भार देकर शीर्षासन करने से न लाभ होता है, न हानि।

शीर्षासन
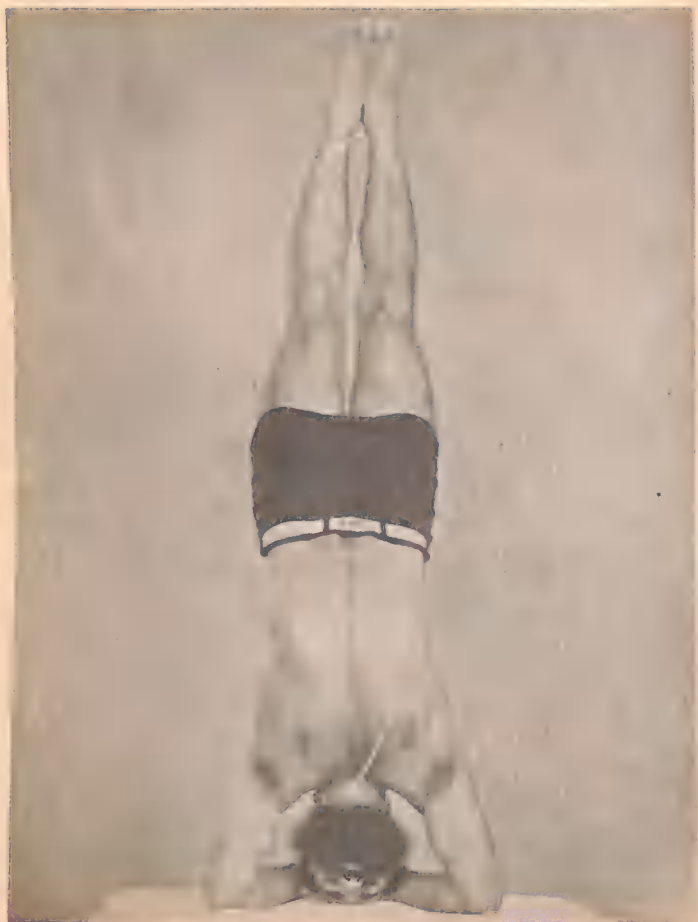
चित्र नं० ८८ शीर्षासन—इसमें सिर का वह भाग लगा हुआ है, जो शीर्षासन के लिये सर्वथा उचित है और सिर से पैर तक का भाग बिलकुल सीधा है। शीर्षासन

चित्र नं० ८९ शीर्षासन—इसमें एक पैर को मोड़कर पद्मासन की स्थिति की भाँति लगाये हुए हैं और दूसरा पैर बिलकुल सीधा है। क्रमशः पैर बदलकर करते हैं। शीर्षासन

चित्र नं० ६०   शीर्षासन—इसमें एक पैर को ऊपर की ओर सीधा रखकर दूसरे पैर के घुटने को सीधा रखते हुए अंगूठे से पृथ्वी को छू रहे हैं। क्रमशः पैर [illegible] कर करना चाहिए।   शीर्षासन

चित्र न० ६१ शीर्षासन--इसमें सिर से कमर तक का विभाग सीधा रखकर, कमर से ऊपरी विभाग को मोड़कर जंघा से अंगूठे तक का भाग सीधा रखते हुए दोनों पैरों के अंगूठों से पृथ्वी को छू रहे हैं। शीर्षासन

चित्र नं० ६२ शीर्षासन—इसमें दोनों पैरों को यथासाध्य फैलाकर आगे-पीछे, दायें-बायें, तिरछे कई प्रकार से पैरों को फैलाकर क्रिया कर रहे हैं। शीर्षासन
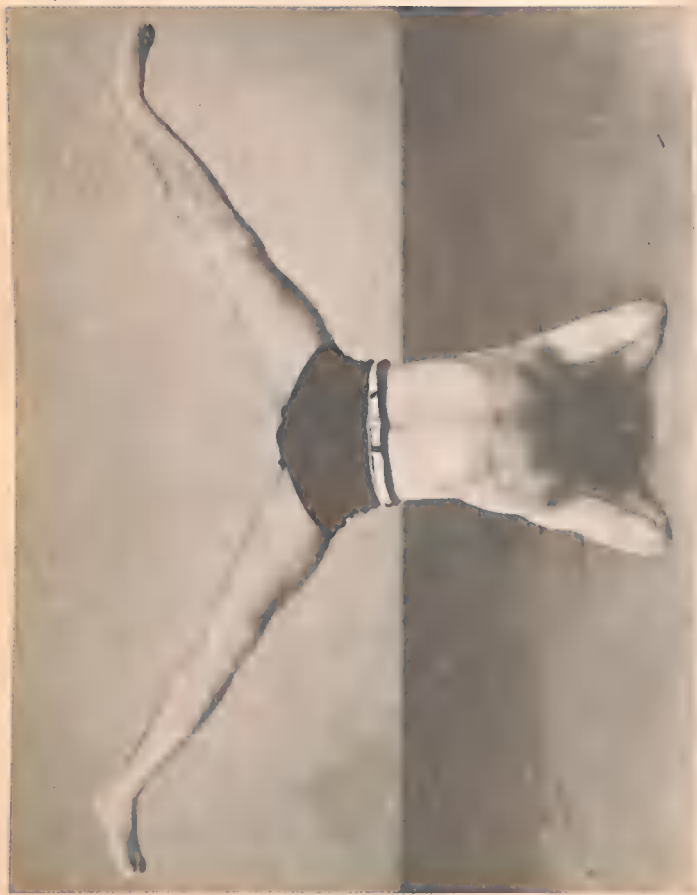
चित्र नं० ६३

शीर्षासन—इसमें दोनों पैरों को पद्मासन की भाँति लगा कर शरीर को बिलकुल सीधा रखते हुए स्थित हैं।

शीर्षासन

चित्र नं० ८४ शीर्षासन——इसमें पद्मासन लगाकर कमर तक के भाग को सीधा रखते हुए घुटनों और पिण्डलियों को मोड़कर इतना लाते हैं कि दोनों घुटने बगल से छू जायें। लेकिन सारी परिस्थितियों में सिर के उसी भाग पर भार रहेगा, जो चित्र नं० ८५ में बतलाया गया है। शीर्षासन

चित्र नं० ९५ शवासन—इसमें शरीर का हर भाग इतना ढीला, स्वाभाविक स्थिति में छोड़ दिया जाता है, मानों मृतक शरीर पड़ा हो। एड़ियाँ मिली हुई हों, पंजे यथासाध्य खुले हों, हथेलियाँ ऊपर की ओर हों, नेत्र खुले अथवा बन्द रहें। नेत्र यदि खुले हों, तो पलकें स्थिर रहें।

शवासन

पुस्तक में अन्य यौगिक आसनों का प्रसंग नहीं दिया गया, फिर भी शीर्षासन का प्रसंग देना पड़ा है, क्योंकि गलत शीर्षासन करने से स्कूल-कालेजों के लड़के-लड़कियाँ हानि उठाते हैं। अतः इस पुस्तक को पढ़कर जनता हानि से बचें। आसनों के विषय में "आश्रम-ग्रन्थमाला" नं० २ देखें। शीर्षासन के प्रसंग में एक बात और ध्यान रखने की है कि यदि किसी प्रकार नासिका से श्वास न चले या बन्द हो जाय, तो शीर्षासन उस समय न करें, फिर श्वास चलने पर कर सकते हैं। शीर्षासन सभी आसन करने के पश्चात् करना चाहिए।

नाभि-चक्र

परिचय---शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा नस-नाड़ियाँ आदि अपना-अपना महत्व रखते हैं। प्रत्येक अंग एक दूसरे के साथ इस प्रकार गुथा हुआ है कि किसी छोटे-से-छोटे तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग में विकार होने पर सारे शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। शरीर में स्थूल नाड़ियों के साथ-साथ सूक्ष्म नाड़ियाँ भी विद्यमान रहती हैं। शरीर का अध्ययन हम उसके कुछ प्रमुख भागों में कर सकते हैं, जैसे मस्तिष्क, हृदय, नाभि इत्यादि।

शरीर में नाभि का बहुत महत्व है। शरीर रूपी मशीन का हर पुर्जा अपना कार्य ठीक से करे, नस-नाड़ियाँ रूपी तार, जो बहत्तर हजार के लगभग सारे शरीर में फैले हुए हैं, अपना कार्य ठीक से सम्पादित करें और इनका नियंत्रण ठीक रहे---ये सब नाभि के ही कार्य हैं। शरीर को ठीक तथा निरोग रखने के हेतु लोग अनेक प्रकार के साधन, व्यायाम, क्रियाएँ इत्यादि करते हैं ; परन्तु यदि नाभि में कोई विकार है, तो सब परिश्रम व्यर्थ जाता है। जबतक नाभि में किञ्चित् भी विकार रहेगा, तबतक कोई लाभ न होगा।

यदि नाभि अपने स्थान से थोड़ी-सी हट जाती है, तो लोग उसकी परवाह नहीं करते। फिर उसमें धीरे-धीरे खराबियाँ आती रहती हैं, जिसका कारण वे स्वयं नहीं समझ पाते। किन्हीं ने यदि कुछ परवाह की भी, तो अयोग्य (न जानकार) व्यक्ति से अथवा घर में ही किसी से उल्टी-सुल्टी मालिश इत्यादि उपचार कर डाला, जिसका फल यह होता है कि नाभि और खराब तथा विकृत हो जाती है। आधुनिक डाक्टर तथा वैद्य इसकी खराबियों को पकड़ने में असमर्थ-से हैं। धीरे-धीरे कष्ट सहते-सहते रोगी को एक प्रकार की आदत-सी हो जाती है और वह इस विकार से उत्पन्न नाना प्रकार की बीमारियों का कारण डाक्टर-वैद्य द्वारा निर्धारित निर्णय को ही मानकर दुख भोगता रहता है। इसलिए शरीर में पेट सम्बन्धी या अन्य कोई खराबी मालूम होने पर अथवा कोई यौगिक साधन-व्यायाम आदि प्रारम्भ करने से पूर्व किसी योग्य नाभि के जानकार से नाभि-परीक्षा करा लेनी चाहिए।

परम पुनीत उपनिषदों में भी इसके विषय में बहुत कुछ लिखा है :—

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।
ऊर्द्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ।।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृताः ।।

उदर के मध्य नाभि-संस्थान में मणिपूरक नाम का चक्र है । मेढ़ अर्थात् स्वाधिष्ठानचक्र के ऊपर और नाभि के नीचे एक गोलाकार कन्द है। उसके बीच में पक्षी के अण्डे के समान नाड़ियों का उद्गम-स्थान है । इसी स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति हुई है । इनमें प्राणवाही ७२ नाड़ियाँ प्रमुख हैं और उनमें भी १० नाड़ियाँ मुख्य हैं, जिनकी विशेष जानकारी के लिए शिक्षण लेना आवश्यक है ।

नाभि टल जाने के कारण

प्रायः देखा गया है कि बाल्यावस्था में ही अनेक कारणों से नाभि खराब हो जाती है । खेल-कूद करते समय अथवा सीढ़ी से उतरते समय या एक हाथ से अथवा दोनों हाथों से अत्यधिक बोझ उठाने पर भी नाभि ऊपर को चढ़ जाती है । बाएँ, दाएँ तथा तिरछी नाभि टलने का एक मात्र यही कारण है कि एक पैर पर ही अकस्मात् भार अथवा झटका पड़ जाता है । यह अधिकतर कूदने से हो जाया करता है । यदि बाएं पैर पर झटका या जोर पड़ता है, तो नाभि दाईं ओर ऊपर को चढ़ जाती है । इसी प्रकार दाएँ पैर पर जोर पड़ने से नाभि बाईं ओर चढ़ जाती है । अनुभव में आया है कि प्रायः पुरुषों की नाभि बाईं ओर और स्त्रियों की नाभि दाईं ओर हटा करती है ।

नाभि-परीक्षा (केवल पुरुषों के लिये)

जिसकी नाभि टली हो, उसे पहले उत्तानपाद आसन करावें, जैसा चित्र नं० ९६ में है । तत्पश्चात् सिर और पैरोंको नीचे लाते हुए शवासनमें लिटा दें । फिर एक धागा लेकर उसका एक सिरा परीक्षक उसकी नाभि पर और दूसरा सिरा स्तन की कर्णिका (घुंडी)पर रखें । तत्पश्चात् नाभिचक्र पर हाथ स्थित रखते हुए ही दूसरे सिरे को पुनः स्तन की दूसरी कर्णिका (घुंडी) पर रखें, जैसे चित्र नं० ९७ में है ।

चित्र नं० ६५ नाभि-परीक्षा—इस चित्र में उत्तानपादासन करा रहे हैं। इसमें केवल नितम्ब का भाग पृथ्वी से लगा हुआ है और नितम्ब से ऊपरी भाग तथा नीचे का भाग पृथ्वी से एक फुट उठा हुआ है। नाभिचक्र

चित्र नं० ९७ नाभि-परीक्षा—इसमें परीक्षक नाभि से स्तन-कर्णिका को नाप रहे हैं कि नाभि किस ओर टली है।

यदि दोनों धागों का अन्तर समान ही हो, तो समझ लें कि नाभिमण्डल ठीक है। अगर नाप में कुछ भी कम या ज्यादा मालूम पड़े, तो समझना चाहिए कि नाभिमण्डल खराब है अर्थात् नाभि टली हुई है। इसके साथ यह भी पता चल जायगा कि नाभि किधर को टली है।

यदि नाभिमण्डल यथास्थान न हो, तो सब से पहले किसी नाभि के विशेषज्ञ द्वारा उसे यथास्थान करा लें। इसके बाद ही कोई साधन, व्यायाम, आसन, मुद्रा, प्राणायाम करना चाहिए, अन्यथा विशेष लाभ न होगा।

नाभि-परीक्षा (केवल महिलाओं के लिए)

पहले उत्तानपादासन करावें, फिर शवासन में लिटाकर दोनों पाँवों की एड़ियों को आपस में मिलाते हुए पंजों को यथासाध्य फैला दें। तत्पश्चात् एक धागा लेकर नाभि-चक्र की घुंडी पर एक सिरे को रखते हुए दूसरे सिरे को बाएँ पाँव के अँगूठे पर ले जायँ। फिर उसी सिरे को उसी स्थान से पकड़े हुए दाएँ अँगूठे पर उसी प्रकार ले जायँ, चित्र नं० ६८ देखें। यदि दोनों अँगूठे के माप में कम या ज्यादे हो, तो समझना चाहिए कि नाभि खराब है।

नाभि-परीक्षा (स्त्री-पुरुष दोनों के लिए)

नर या नारी को सर्व प्रथम शवासन में लिटा दें। तत्पश्चात् अपनी पाँचों अँगुलियों के अग्रभाग को आपस में मिलाकर उसके नाभिमण्डल की घुंडी पर इस प्रकार रखें, जैसे चित्र नं० ६६ में है। अगर नाभि की घुंडी पर हृदय की-सी धड़कन मालूम पड़े, तो समझना चाहिए कि नाभिमण्डल ठीक है। यदि धड़कन दाएँ-बाएँ या ऊपर-नीचे मालूम पड़े, तो समझना चाहिए कि नाभि खराब है। जिस जगह धड़कन मालूम पड़े, उसी जगह नाभि टली है।

नाभि ठीक करने की विधि

अगर किसी की नाभि खराब हो, तो पहले उसे शवासन में लिटायें। फिर परीक्षक पूर्वोक्त विधियों से देखें कि नाभि किस ओर टली है। तब उत्तानपादासन करायें। फिर तेल लेकर नाभि पर इस प्रकार मालिश करें कि टली हुई नाभि केन्द्र में आ जाय। ध्यान रहे कि मालिश की क्रिया किसी नाभि के जानकार से ही करायें, अन्यथा नाभि के और भी खराब हो जाने की सम्भावना रहती है।

यदि नाभि बाईं ओर ऊपर को चढ़ी हुई हो, तो रोगी के दाएँ पैर को दबाकर बाएँ पैर को पकड़कर इस प्रकार झटका दें, जैसा चित्र नं० १०० में है और दाएँ पैर को पकड़ एड़ी के पास तलवे में इस प्रकार हथेली का धक्का दें, जैसे चित्र नं० १०१ में है। यदि नाभि दाईं ओर ऊपर को टली हुई हो, तो यही दोनों क्रियाएँ उलटे ढंग से करें। यदि फिर भी ठीक न हो, तो पेट के बल लिटाकर परीक्षक उसके दाए हाथ और बाएँ पाँव पकड़कर अपना दायाँ पाँव उसकी कमर पर रखें, फिर धीरे-धीरे दोनों हाथों से इस प्रकार खींचें, जैसे धनुष पर बाण चढ़ाकर खींचा जाता है। फिर दूसरा हाथ तथा दूसरा पाँव पकड़कर भी वैसा ही करें। चित्र नं० १०२ देखें। यदि नापने पर फिर भी नाभि में फर्क मालूम पड़े, तो रोगी उष्ट्रासन के समान ही अपने दोनों हाथों से अपने पाँवों को पकड़े और परीक्षक अपने दोनों पाँवों के बीच में रोगी को लेकर इस प्रकार उठायें, जैसे चित्र नं० १०३ में है।

यदि किसी की नाभि ऊपर की ओर सीध में टली हुई हो, तो चित्र नं० १०४ के समान रोगी को उठाना चाहिए।

विशेष—ध्यान रहे कि चित्र नं० १०४ वाली क्रिया किसी योग्य नाभि के जानकार से सीखकर ही किसी रोगी को ठीक करें, अन्यथा परीक्षक अपनी नाभि स्वयं ही खराब कर बैठेंगे।

स्वयं नाभि ठीक करने की विधि

यदि कोई नाभि-विशेषज्ञ न मिले, तो स्वयं ही आसनों के द्वारा भी नाभि ठीक कर सकते हैं। इसके लिए सर्व प्रथम उत्तानपादासन करें। चित्र नं० १०५ देखें। फिर उष्ट्रासन करें। चित्र नं० १०६ देखें। फिर चक्रासन करें। चित्र नं० १०७ देखें। फिर मत्स्यासन करें। चित्र नं० १०८ देखें। परन्तु यदि किसी की नाभि बहुत खराब हो गई हो, तो पहले किसी योग्य नाभि के जानकार द्वारा नाभि ठीक करा लें। तत्पश्चात् यदि वह उपर्युक्त आसनों का निरन्तर अभ्यास करेगा, तो जीवनपर्यन्त कभी नाभि न टलेगी। नाभि ठीक करने की अनेक विधियाँ हैं, उनमें से कुछ यहाँ दी गई हैं।

विकृत नाभि से उत्पन्न दोष

यदि किसी की नाभि ऊपर टल गई हो, तो तुरन्त ही कब्ज हो जायगा, गैस बनने लगेगी, हृदय के रोग हो जायेंगे, दिल में धड़कन का रोग हो जायगा। यदि नाभि अधिक

चित्र नं० १८

नाभि-परीक्षा (केवल महिलाओं के लिये)—इसमें उत्तानपादासन कराने के पश्चात् नाभि और पाँव के अँगूठे से माप रहे हैं कि नाभि किधर टली है।

नाभिचक्र

चित्र नं० ६६

नाभि-परीक्षा (स्त्री-पुरुष दोनों के लिये)——इसमें नाभिमण्डल पर परीक्षक अपनी पाँचों अंगुलियों को आपस में मिलाकर देख रहे हैं कि नाभि किधर टली है।

नाभिचक्र

चित्र नं० १००

नाभि ठीक करने की विधि—इसमें दाएं पांव को दबाकर बाएं पांव और अंगूठे को दोनों हाथों से पकड़कर इस प्रकार झटका दे रहे हैं कि ऊपर टली हुई नाभि अपने स्थान पर आ जाये।

नाभिचक्र

चित्र नं० १०१

नाभि ठीक करने की विधि—इसमें दायें पाँव को दबाकर बायें पाँव के तलुवे में परीक्षक अपने हाथ से इस प्रकार धक्का दे रहे हैं कि नाभि अपने स्थान पर आ जाये।

नाभिचक्र

चित्र न० १०२

नाभि ठीक करने [illegible] विधि—इसमें परीक्षक रोगी की कमर पर अपना दाहिना पैर रखकर रोगी के बायें हाथ और दाहिने पैर को पकड़कर इस प्रकार खींचें, जैसे धनुष पर बाण चढ़ाकर खींचते हैं।

चित्र नं० १०२

नाभि ठीक करने की विधि––इसमें रोगी अपने पाँव को इस प्रकार पकड़े, जैसे उष्ट्रासन में पकड़ते हैं। परीक्षक अपने पैरों के बीच में रोगी को लेकर इस प्रकार उठावें कि पृथ्वी से शरीर का सारा भाग ऊपर उठ जावे।

नाभिचक्र

चित्र नं० १०४ ऊपर टली नाभि ठीक करने की विधि—रोगी अपने हाथों को आपस में बांधकर शवासन में लेट जाय। परीक्षक रोगी को अपने दोनों पांवों के बीच में लेकर घुटनों को पकड़कर इस प्रकार उठावें कि रोगी के पांवों से सिर का भाग किंचित ऊँचा रहे। नाभिचक्र

चित्र न० १०५ स्वयं नाभि ठीक करने की विधि—इस चित्र में उत्तानपादासन कर रहे हैं। इसमें नितम्ब का भाग केवल पृथ्वी से लगा हुआ है। नितम्ब से ऊपर और नीचे का भाग पृथ्वी से १ फीट ऊपर उठा हुआ है।

चित्र नं० १०६

स्वयं नाभि ठीक करने की विधि—इस चित्र में उष्ट्रासन किये हुए हैं। इस आसन की परिस्थिति में धीरे-धीरे पांच मिनट रुकने का अभ्यास करना चाहिए।

नाभिचक्र

चित्र नं० १०७

स्वयं नाभि ठीक करने की विधि—इस चित्र में चक्रासन कर रहे हैं। इसमें दोनों हथेलियों और दोनों अंगूठों के बल शरीर को चक्राकार बनाकर ऊपर उठाये हुए हैं।

चित्र नं० १०८

स्वयं नाभि ठीक करने की विधि—इस चित्र में मत्स्यासन किये हुए हैं। इसमें पद्मासन लगा कर दोनों हाथों से अंगूठे पकड़ कर सिर और घुटने के बल सारे शरीर को ऊपर उठाये हुए हैं।

ऊपर टल जायगी, तो मल इतना कड़ा हो जायगा कि अँगुली से निकालने पर भी मुश्किल से निकल पायेगा। नाना प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न हो जायेंगे। आयुर्वेद के ग्रन्थ में लिखा है :—

सर्वरोगा मलाश्रयाः ।

इसी प्रकार यदि नाभि नीचे की ओर टल गई, तो पतले दस्त आने लगते हैं। भोजन नहीं पचता। पेट में दर्द होने लगता है। स्वप्नदोष अधिक होने लगते हैं। पेट में इस प्रकार की गड़गड़ाहट होने लगती है, जो बाहर तक सुनाई पड़ती है।

यदि नाभि बगल की ओर टल जाती है, तो पेट में तीव्र पीड़ा आरम्भ हो जाती है, जो किसी दवा तथा अन्य उपचार से ठीक नहीं होती, वरन् नाभिमण्डल को यथा-स्थान करने पर तुरन्त ही लाभ होता है।

इसी प्रकार महिलाओं की नाभि टल जाने से उन्हें नाना प्रकार के रोगों का दुःख उठाना पड़ता है। जैसे लिकोरिया, डिसमिनोरिया, ऋतुधर्म की गड़बड़ी, मासिक स्राव के रंग में अन्तर और नाना प्रकार के गर्भाशय के रोग हो जाते हैं। जिसके परिणाम-स्वरूप अंगहीन, अल्पायु सन्तान का होना तथा बाँझपन आदि और भी अनेक रोग शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

नाभि की गड़बड़ी से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा में आधुनिक डाक्टर तथा वैद्य असमर्थ-से रहते हैं, क्योंकि उन्हें रोग के मूल कारण का पता नहीं चलता। कुछ दिन पश्चात् वह रोगी हो जाता है और उसका ध्यान अपने विकृत नाभिमण्डल की ओर नहीं जाता। फिर वह डाक्टर तथा वैद्य द्वारा निर्धारित निर्णय को मानकर ही दुःख भोगता रहता है। नाभि की खराबी के कारण असमय में बाल पक जाते हैं। पायरिया आदि रोग हो जाते हैं। नेत्रों की दृष्टि कमजोर हो जाती है। नाभि यदि एक चावल भर भी इधर-उधर हटी, तो शरीर रुग्न होने लगता है। यह केवल नाभि के यथास्थान होने पर ही ठीक हो सकता है। अतएव स्वास्थ्य के लिए कोई भी साधन, व्यायाम, आसन तथा यौगिक क्रियाएँ करने से पूर्व नाभि परीक्षा करा लेना अनिवार्य है। अन्यथा जब तक नाभि में गड़बड़ी रहेगी, सारा प्रयास निरर्थक होगा। आधुनिक समय में किशोरावस्था में ही दृष्टिदोष, पके बाल, क्षीण शरीर आदि नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त प्राणी दिखाई देते हैं। इसके

मूल कारण की खोज डाक्टर आदि नहीं कर पाते। उनकी खुद समझ में नहीं आता और फलस्वरूप उन्हें रोगों के निदान में सफलता नहीं मिलती। यह बात अनुभव सिद्ध है कि आजकल सौ में से पाँच की नाभि ठीक होती है, बाकी की कुछ-न-कुछ विकृत अवस्था में होती है।

षट्कर्म

यौगिक साधनों में सभी साधन अपने-अपने स्थान पर अपूर्व महत्व रखते हैं; परन्तु योग की साधना में षट्कर्मों का बहुत महत्व है। इसका अभ्यास किये बिना साधक का योगमार्ग में आगे बढ़ना असम्भव नहीं, तो दुर्गम अवश्य है। षट्कर्मों के अभ्यास से शरीर के सम्पूर्ण मल दूर होते हैं। जिस प्रकार झाड़ू आदि से कमरे की सफाई करके उसे बैठने योग्य बना लिया जाता है, उसी प्रकार षट्कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि करके उसे यौगिक साधन के योग्य बना लिया जाता है। यहीं से योगमार्ग की प्रथम सीढ़ी शुरू होती है। इस प्रकरण में हम षट्कर्मों की विधियों का वर्णन करेंगे, जिनका अभ्यास करके मनुष्य योगमार्ग पर अग्रसर होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

योगशास्त्र में षट्कर्मों पर बहुत कुछ लिखा है, जैसे—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

अर्थात्—इन छः कर्मों से शरीर की शुद्धि की जाती है। वे ये हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) नौलि, (५) त्राटक तथा (६) कपालिभाति (भस्त्रिका)। श्लोकबद्ध करने के हेतु ही इन कर्मों के नामों को उलट-फेर कर रखा गया है। वस्तुतः इनके अभ्यास करने का क्रम निम्नलिखित है:—

कुंजल—गजकरणी

कुंजल शब्द कुंजर से बनता है। निरुक्त के नियमानुसार "र" का "ल" हो जाया करता है। अतः कुंजर से ही कुंजल शब्द बन गया। शास्त्रों में इस क्रिया का नाम गजकरणी प्रसिद्ध है। इसके विषय में 'भक्तिसागर' ग्रन्थ में इस प्रकार लिखा है:—

गजकर्म याहि जानिए, पियें पेट भरि नीर।
फेरि युक्ति सों काढ़िए, रोग न होय शरीर॥

जिस प्रकार हाथी सूंड़ से जल पीकर फिर सूंड़ द्वारा ही निकाल देता है और अपने को सदा निरोग रखता है, उसी प्रकार मनुष्य भी कुंजल करके अपने आपको नीरोग

रख सकता है। जैसे किसी बर्तन में पानी डालकर साफ करते हैं, उसी प्रकार गर्म पानी पीकर पेट (अन्नाशय) साफ किया जाता है।

साधन—सहने लायक गर्म जल साफ वस्त्र से छानकर पास रखें।

स्थिति—कागासन में बैठ जायें। दोनों कोहनियाँ घुटने पर रहें। चित्र नं० १०६ देखें।

क्रिया—अब कागासन में बैठे हुए गिलास से पानी पीना आरम्भ करें और तब तक पानी पीते रहें, जब तक कि पेट पूर्ण न भर जाय या पीते-पीते वमन (कै) करने की इच्छा न होने लगे। चित्र नं० ११० देखें। जल पी लेने के पश्चात् दोनों पैरों को आपस में मिलाकर इस प्रकार खड़े हों कि नाभि पर नब्बे डिगरी का कोण बन जाय। तत्पश्चात् बाएँ हाथ को पेट पर रखकर दाएँ हाथ की तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका तीनों अँगुलियों को मिलाकर मुख के अन्दर वहाँ तक ले जायँ, जहाँ तक दूसरी छोटी जीभ है। उस जीभ पर धीरे-धीरे तीनों अँगुलियों को सावधानी से घुमावें। जब पानी बाहर निकलने लगे, तब अँगुलियों को तुरन्त बाहर निकाल लें। जब तक धार बँध कर पानी निकलता रहे, तब तक अँगुलियाँ बाहर रखें। फिर तुरन्त उसी प्रकार तीनों अँगुलियाँ छोटी जीभ पर घुमावें। ऐसा बार-बार करने से पेट का सारा पानी बाहर निकल जायगा। सारा पानी निकल जाने की पहचान यह है कि जब अँगुलियाँ मुख में डालेंगे और उल्टी आने पर पानी न निकले, तो यह समझना चाहिए कि पेट का सारा पानी बाहर आ गया। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय शरीर को अधिक ऊपर-नीचे न करें। बैठकर तथा बिलकुल सीधे होकर क्रिया नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे हानि होती है। चित्र नं० १११ देखें।

विशेष—अन्त में जब खट्टा या कड़ुआ पानी निकले, तो पुनः एक गिलास गर्म जल पीकर पुनः उसी प्रकार निकालें। यह सदा ध्यान रखने की बात है कि पानी न अधिक गर्म हो और न ही ठंडा। ध्यान रहे कि कुंजल करने के दो-ढाई घंटे पश्चात् ही स्नान करना चाहिए। इससे पूर्व स्नान करने पर हानि की सम्भावना है।

समय—कुंजल कर्म सर्वदा सूर्योदय से पहले शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर करना चाहिए।

लाभ—इस कर्म के करने से कपोल-दोष, मुख पर होनेवाले फोड़े-फुन्सियाँ, दन्तरोग, जिह्वारोग, हृद्रोग, रुधिर-विकार, वक्षःस्थल के रोग, परिणामशूल, कब्ज,
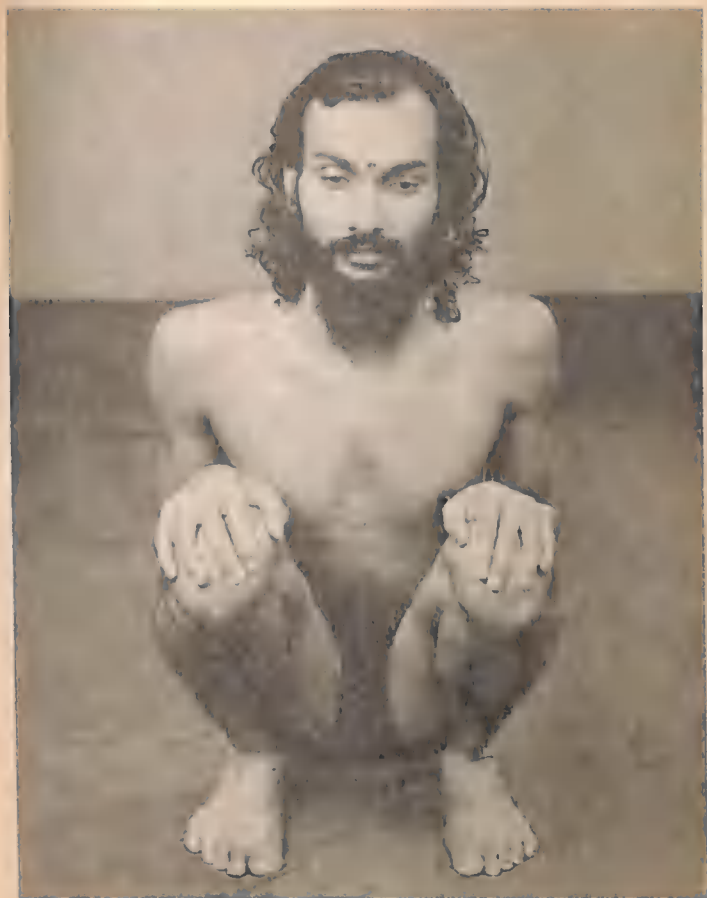
चित्र नं० १०६ यौगिक षट्कर्म कुंजल कागासन—इस चित्र में दोनों पाँवों के बीच में एक बालिश्त का अन्तर रख कर दोनों हाथों को घुटनों पर रखते हुए कागासन में [illegible] हैं। षट्कर्म

चित्र नं० ११०　　कुंजल—इस चित्र में कागासन में बैठे हुए कुंजल क्रिया करने के लिये पानी पी रहें हैं।　　षट्कर्म

चित्र नं० १११ कुंजल क्रिया--इसमें पिया हुआ पानी निकाल रहे हैं । षट्कर्म

चित्र नं० ११२ नेति—कागासन में बैठकर दोनों नासिका में सूत्र नेति डाल कर मुख से निकाल रहे हैं। षट्कर्म

पित्त-प्रकोप, वात-प्रकोप, कफ-प्रकोप, मन्दाग्नि, खाँसी, दमा, मुख सूखना, कण्ठमाला, रतौंधी आदि अनेक बीमारियाँ दूर होती हैं। इसके लाभ अद्‌भुत हैं, जो अनुभवगम्य हैं। किसी योग विशेषज्ञ से इसका शिक्षण लेना चाहिए।

नेति—मातङ्गिनी

नेति शब्द परम पुनीत वेद की ऋचा में भी आया है, किन्तु उसका अर्थ मिथ्यात्व प्रपंच का बोध तथा स्वरूपोपलब्धि का संकेत है। षट्कर्मों के प्रसंग में नासिका के सम्बन्ध से ही "नेति" शब्द ग्रहण किया गया है। नेति कई प्रकार की बताई गई है, जैसे—(१) सूत्रनेति, (२) जलनेति, (३) दुग्धनेति, (४) घृतनेति। ये चार प्रकार की नेति हुई। सर्वप्रथम सूत्रनेति के निर्माण की विधि का वर्णन कर रहे हैं।

सूत्रनेति का निर्माण

बढ़िया बारीक ४० नं० का सूत्र लेकर लच्छी को दोनों ओर से काट दें। तत्पश्चात् लच्छी में से डेढ़ सूत मोटा सूत्र निकाल कर एक बालिस्त और दो अंगुल लम्बाई में माप लें। उसमें से एक धागा लेकर पानी में भिगा लें और नापी हुई जगह पर उसे तीन लपेटा देकर बाँध दें। बचे हुए भाग को चाकू से काट डालें। तत्पश्चात् नापे हुए एक बालिस्त दो अंगुलवाले सूत्र के सिरे को पकड़कर उसका तीन विभाग कर लें। पुन: प्रत्येक विभाग के मध्य भाग से ऊपर की ओर चाकू से इस प्रकार बारीक करें कि नीचे से ऊपर का भाग १/४ हो जाय। फिर जल में पूर्णतया भिगाकर दो लड़ियाँ लेकर आपस में रस्सी की भाँति बँट लें। तत्पश्चात् तीसरी लड़ी को भी इस प्रकार मिलाकर बाँटें कि तीनों मिलकर एक सुन्दर रस्सी बन जायँ। बँटे हुए हिस्से को ऊपर महीन पतले धागे से इस प्रकार बाँध दें कि आगे के हिस्से का धागा काटने पर रस्सी न खुलने पाये। अब बिना बँटे हुए विभाग को डेढ़ बालिस्त मापकर काट डालें और सारे सूत्रों को आठ-दस विभागों में बाँट दें। उसके बाद नेति को पूर्ण सुखा लेने पर शुद्ध शहद के छत्ते से निकाला हुआ मोम लेकर उसे किसी कटोरी में खूब गर्म करें और बँटे हुए भाग को उसमें डुबो दें। ऐसा करने से बँटे हुए भाग में मोम भीतर तक प्रविष्ट हो जायगा और नेति बन जायगी। मोम लगाने के बाद उस बँटे हुए हिस्से को इस प्रकार हाथों से मलें कि वह गोल हो जाय। ध्यान रहे कि केवल बँटे हुए सूत्र में ही मोम लगे। बिना बँटे हुए सूत्र में किंचित् भी मोम न लगे।

सूत्रनेति करने की विधि

सूत्रनेति को गर्म तथा नमकीन जल से पूर्णतया भिगोकर बँटे हुए विभाग को आगे से अर्धचक्राकार बनाकर कागासन में बैठे हुए ही दोनों हाथों से धीरे-धीरे एक नासिकारन्ध्र में (जो स्वर चलता हो) डालें। जब कण्ठ में नेति आ जाय, तो तर्जनी और मध्यमा दोनों अँगुलियों को कण्ठ के अन्दर ले जाकर नेति के बँटे हुए भाग को आगे से पकड़कर धीरे-धीरे मुख के बाहर लायें। पुनः दूसरी सूत्रनेति भी पूर्वोक्त प्रकार से दूसरे नासिकारन्ध्र में डालकर मुख के बाहर निकाल लें। फिर एक हाथ से दोनों नेति के बँटे हुए भाग को पकड़कर और दूसरे हाथ से नेति के बिना बँटे हुए भाग को पकड़ कर धीरे-धीरे जैसे दही बिलोया जाता है, ऐसे अन्दर-बाहर पाँच-सात बार करके मुख के द्वारा दोनों नेति बाहर निकाल लें, जैसे चित्र नं० ११२ में है।

'भक्तिसागर' में इसके विषय में बड़ा सुन्दर वर्णन है :—

मिही जु सूत मँगाय कै, मोटी बाटै डोर।
ऊपर मोम रमाय कै, साधै उठकर भोर।।
साधै उठकर भोर, डेढ़ बालिश्त की कीजै।
ताको सीधी करै, हाथ अपने में लीजै।।
नासारन्ध्र में मेलकर, खींचै अंगुली दोय।
फेरि बिलोवन कीजिए, नेती कहिये सोय।।

दो०—नाक, कान अरु दाँत को, रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवै नैन ही, नित नेती करि सोय।।

विशेष—सूत्रनेति करने के एक घण्टा पश्चात् गाय का शुद्ध घी मामूली गरम करके दस-दस बूँद दोनों नासिकारन्ध्रों में डालें। दिन या रात्रि में विश्राम करने के समय घृत डालने पर विशेष लाभ होता है। चित्र नं० ११३ देखें।

जलनेति

साधन—एक टोटीदार लोटा लें, जिसमें आधा सेर जल आ जाय। टोटी का अग्रभाग ऐसा होना चाहिए, जो नासिका के छिद्रों में ठीक आ जाय। लोटे में सहने लायक गरम जल लें तथा थोड़ा नमक मिलायें, उतना ही जितना दाल में डालते हैं।

स्थिति—कागासन में बैठकर नमकीन गरम जल से भरे लोटे को उठाकर हथेली पर रखें।

क्रिया—जो स्वर चलता हो, उस नासिकारन्ध्र में टोटी को लगायें। यदि दाएँ स्वर में टोटी लगी हो, तो बाईं तरफ सिर को यथासाध्य झुकावें। सिर झुकाते ही दूसरे नासिकारन्ध्र से पानी गिरने लगेगा। पहले नासिकारन्ध्र से जब एक लोटा पानी निकल जाय, तब दूसरे से भी इसी प्रकार एक लोटा जल निकालें। चित्र नं० ११४ देखें। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय (पानी निकालते समय) मुख को खुला रखें और श्वास मुख से ही लें तथा छोड़ें। नाक से किंचित् भी श्वास न लें। नाक से श्वास लेने पर पानी ऊपर चढ़ने लगेगा और आप घबरा कर नेति छोड़ देंगे, अतएव नाक से बिलकुल श्वास न लें। तत्पश्चात् खड़े होकर इतना झुकें कि नाभि पर नब्बे डिगरी का कोण बन जाय। फिर ठुड्डी को कण्ठकूप से लगाकर सिर दाएँ-बाएँ तथा ऊपर-नीचे घुमावें। ऐसा करने से ऊपर चढ़ा हुआ पानी नासिकारन्ध्र से निकल जायगा। ध्यान रहे, झुकने की स्थिति में दोनों हाथ कमर पर रहेंगे। चित्र नं० ११५ देखें।

विशेष—जलनेति करने के पश्चात् भस्त्रिका करना आवश्यक है। चित्र नं० १२५ देखें। (भस्त्रिका करने की क्रिया के विषय में आगे प्रकरण में दिया हुआ है)।

लाभ—इसका अभ्यास करने से मस्तिष्क सम्बन्धी सारे दोष दूर होते हैं। नेति के जितने लाभ लिखे जायें, थोड़े हैं। कैसा भी सिर का दर्द रहता हो, तुरन्त दूर होता है। अनिद्रा तथा अतिनिद्रा दूर होती है। बुद्धि तीव्र होती है। बालों का झड़ना तथा पकना दूर होता है। विस्मृति का दोष दूर करने में तो यह अद्वितीय है। नासिका सम्बन्धी सारे रोग इसके निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाते हैं। नाक के अन्दर के फोड़े और बढ़ा मांस (एडिनायड) इसके द्वारा जाते रहते हैं। नजला-जुकाम आदि दूर हो जाते हैं। पागलपन दूर हो जाता है। नेत्र की ज्योति बढ़ती है। नेत्रों की लाली, आँख का आना, रतौंधी, धुन्ध, कीचड़ आदि सारे नेत्र-विकार इससे दूर होते हैं। कान बहना, कम सुनना, बिलकुल न सुनना, कर्णमूल आदि सारे विकार दूर होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गले से ऊपर के सारे रोग इससे दूर होते हैं।

जलनेति और सूत्रनेति का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसीसे सूत्रनेति के बाद जलनेति करना आवश्यक है। जितने गुण सूत्रनेति में हैं, वे सब जलनेति में भी हैं। योगशास्त्र में इसके विषय में लिखा है :—

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टि प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौन्घ नेतिराशु निहन्ति च ।।

दुग्धनेति

कागासन में बैठकर जलनेति के समान ही टोटीवाले लोटे में गाय का धारोष्ण दूध डालकर मुख को सीधा रखते हुए एक नासिकारन्ध्र में टोटी लगावें। दूसरे नासिकारन्ध्र को अँगूठे से वन्द करके सिर को किंचित् ऊपर उठावें। ऐसा करने से दूध मुख में जाने लगेगा। उसे धीरे-धीरे पीते जायँ। शक्ति अनुसार ही दूध की मात्रा रखनी चाहिए, जिससे वह आसानी से पच जाय। ध्यान रहे कि जलनेति के पश्चात् भस्त्रिका से नाक को पूर्णतया साफ करने के बाद ही दुग्धनेति करें। चित्र नं० ११६ देखें।

घृतनेति

दुग्धनेति की भाँति घृतनेति भी की जाती है। इसमें भी शक्ति अनुसार जितना घी आप पचा सकें, बारी-बारी से दोनों नासिकारन्ध्रों से पीवें। घृत का किंचित् गरम रहना आवश्यक है।

विशेष—सूत्रनेति और जलनेति की भाँति ही इसके भी लाभ हैं। विशेषतया नाक से खून आनेवालों के लिए यह परम उपयोगी है।

वस्त्रधौति

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्च दशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

चार अँगुल से आठ अँगुल तक की चौड़ाई का महीन मलमल कपड़ा लेकर उसकी लम्बाई १५ हाथ रखें। अगर किसी चौड़े कपड़े में से फाड़ा गया हो, तो किनारे से दो-दो धागे निकाल दें। तत्पश्चात् साबुन से उसे भलीभाँति साफ करने के बाद गरम पानी में उबाल लें। पाँच मिनट तक उसी पानी में उबलता रहने दें। उसके बाद निकालें। फिर उसे भलीभाँति निचोड़कर ऐसी जगह सुखायें, जहाँ मक्खी आदि

चित्र नं० ११३

नासिका में घृत डालने की विधि——तख्त पर लेटाकर गरदन को पूर्णतया नीचे लटकाकर दोनों नासिकारन्ध्रों में घी डाल रहे हैं।

पञ्चकर्म

चित्र नं० ११४ जलनेति—इसमें कागासन में बैठे हुए, एक नासिकारन्ध्र में नमकीन गर्म जल भरे लोटे की टोंटी लगाये दूसरी नासिका से [illegible] निकाल रहे हैं।

चित्र नं० ११५ जलनेति के पश्चात् नासिकारन्ध्रों से जल निकालने की विधि—इसमें दायें, बायें, ऊपर, नीचे गरदन घुमाकर रुका हुआ जल निकाल रहे हैं।

चित्र सं० ११६ दुग्धनेति—जलनेति के समान ही लोटे में धारोष्ण दूध लेकर एक नासिकाछिद्र को बन्द करके दूसरे नासिकाछिद्र में लोटे की टोंटी लगाकर गले को ऊपर उठाकर दूध पी रहे हैं।

उस कपड़े पर न बैठें। कपड़ा जब अच्छी तरह सूख जाय, तब उसे पट्टी की भाँति गोल लपेट लें। एक स्वच्छ कटोरे में तीन पाव खौलता हुआ पानी डालें। फिर उसमें धौति डाल दें।

स्थिति—कागासन में बैठे धौति के सिरे को अपने दाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यमा अँगुलियों के अग्रभाग के बीच में इस प्रकार पकड़ें कि धौति का सिरा अँगुली के अग्रभाग पर हो।

क्रिया—मुख को पूर्ण खोलकर पकड़ी हुई धौति के सिरे को मुख के अन्दर वहाँ तक ले जायँ, जहाँ छोटी जीभ है। उसके बाद दोनों अँगुलियों को अलग करते हुए इस प्रकार बाहर निकालें कि अन्दर गई हुई धौति अँगुली के साथ बाहर न आ जाये। तत्पश्चात् जीभ से धीरे-धीरे धौति को अन्दर की ओर बढ़ायें। जिस प्रकार खाना खाते हैं, वैसे ही जीभ पर इकट्ठी की हुई धौति को बार-बार निगलें, जैसे चित्र नं० ११७ में है। ध्यान रहे, धौति तालु में न सटने पाये, अर्थात् जीभ पर ही रहे। इस प्रकार बार-बार निगलने पर धौति अन्दर जाने लगेगी। पहले दिन एक हाथ से अधिक नहीं निगलना चाहिए। निगलते समय यदि उल्टी आये, तो मुख बन्दकर दाँत पर दाँत बैठाकर मनोबल से रोकना चाहिए। इस प्रकार १५ दिन में १५ हाथ धौति निगलें।

धौति बाहर निकालने की विधि

मुख को पूर्ण खोलकर धौति के बाहर बचे सिरे को पकड़कर धीरे-धीरे निकालें। जब तक धौति आसानी से निकलती जाय, निकालते जायँ, परन्तु रुकने पर खींचना तुरन्त ही बन्द कर देना चाहिए। फिर से धौति निगलें, जैसे पहले निगल कर अन्दर ले गये थे। दो-तीन घूंट निगलने के पश्चात् पुनः मुख को पूर्ण फैलाकर पहले की तरह धौति को बाहर निकालें। ऐसा करने से गले से लेकर पेट तक धौति सीधी हो जाती है, अर्थात् रुकना बन्द हो जाता है तथा सारी धौति बाहर आ जाती है।

विशेष—अगर किसी कारण धौति बाहर न आती हो, तो जितना जल पी सकें, पी लें और खड़े होकर कुंजल की भाँति मुख में अँगुली डालकर निकालें। ऐसा करने से रुकी हुई धौति शीघ्र बाहर निकल आती है। लेकिन ऐसी घटना हजारों में एक-आध ही होती है।

अगर किसी को कफ की शिकायत न हो, पर पित्त अधिक हो, तो गरम पानी के स्थान पर गरम दूध में धौति भिगोकर निगल सकते हैं। यदि किसी को धौति निगलने में अधिक उबकाई आती हो, तो धौति के अग्रभाग पर शहद लगाकर या जगह-जगह शहद लगाकर निगलें। ध्यान रखें, धौति निगलते समय एक बालिश्त धौति मुख के बाहर अवश्य रहे, ताकि पुनः निगलकर निकालने में सुविधा हो।

धौति निगलने के पश्चात् खड़े होकर घुटने पर हाथ रखें और जिस प्रकार नौलि चलाते हैं, साढ़े तीन चक्र बाएँ से, साढ़े तीन चक्र दाएँ से देते हुए नौलि बार-बार चलायें। तत्पश्चात् बैठकर उपर्युक्त विधि के अनुसार धौति को मुख से बाहर निकालें।

लाभ—

प्लीहागुल्मज्वरं कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिनेदिने॥

अर्थात् इस क्रिया के अभ्यास से प्लीहा, गुल्म, ज्वर, कुष्ठ, कफ-पित्त दूर होते हैं तथा मनुष्य नीरोग और बलवान होता है। इसके अतिरिक्त इससे खाँसी, दमा, राजयक्ष्मा, परिणामशूल, मन्दाग्नि, कब्ज, कण्ठमाला, तुतलापन, मलेरिया, ज्वर आदि रोग दूर होते हैं। लिखा भी है :—

धोती कर्म यासों कहँ, पट्टी सोलह हाथ।
कोढ़ अठारह ना भवें, करैं जु नित परभात॥
चौड़ी अंगुल चारि की, मिही वस्त्र की होय।
जल में भेय निचोय करि, निगल कंठ सों सोय।
निगल कण्ठ सों सोय, सिरा बाहर रहि जावें॥
फेरि निकासैं ताहि, पित्त कफ दोऊ लावैं॥
काया होवैं शुद्धही, भजैं पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहैं धोती करम, साधैं योगी लोग॥

दण्डधौति

साधन—कच्चे सूत की अनामिका अँगुली के बराबर मोटी तीन लड़ी की एक रस्सी बनायें, जिसकी लम्बाई तीन बालिश्त चार अंगुल हो और उसके मुख पर इस प्रकार धागा से बाँधें कि चौथाई इंच की दूरी पर उसका हिस्सा फूल के समान खिल जाय।

चित्र नं० ११७ [illegible] धौति—इसमें कागासन में बैठे हुए धौति कर्म कर रहे हैं। सामने पात्र में चार अंगुल चौड़ी तथा २४ फुट लम्बी धौति मुख से खा रहे हैं। षट्कर्म

चित्र नं० ११८

दण्डधौति—इसमें सीधे खड़े होकर कमर से ऊपरी विभाग को किंचित झुकाकर दण्डधौति निगल रहे हैं।

स्थिति और क्रिया—कुंजल क्रिया के समान ही गरम जल यथासाध्य पी जायँ, फिर कुंजल करने की स्थिति से कुछ ऊँचे खड़े होकर रस्सी भलीभाँति गरम पानी में भिगोकर मुख में कण्ठ के पास बगल से अन्दर डालने का प्रयत्न करें अथवा धीरे-धीरे निगलें, जैसे कि खाना खाया जाता है। चित्र नं० ११८ देखें। यदि बार-बार पानी निकले, तो निकलने दें। इस प्रकार अभ्यास करने से आप तीन बालिश्त तक रस्सी पेट में ले जा सकते हैं। इसका चार अँगुल का हिस्सा मुख के बाहर ही रखना चाहिए। तत्पश्चात् रस्सी को पकड़कर हिलाने से मुख से पानी काफी मात्रा में निकलेगा। पानी के साथ ही रस्सी को बाहर निकालें। ध्यान रहे कि बिना पानी के रस्सी पकड़कर न खींचें, अर्थात् जब पेट में पानी हो, तभी पूरी रस्सी खानी चाहिए।

लाभ—यह भी कुंजल तथा धौति के समान लाभदायक है। विशेषकर इसमें यह गुण है कि पित्त प्रकृतिवालों को या जिसे अधिक पित्त हो गया हो, उसे वस्त्रधौति की अपेक्षा दण्डधौति अधिक उपयोगी है।

नौलि

स्थिति—दोनों पाँवों के बीच एक फुट का अन्तर रखकर और दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखते हुए खड़े रहें।

क्रिया—अन्दर का श्वास बाहर निकालकर बाह्य कुम्भक की स्थिति में पेट को पूर्णतया पिचकायें। तत्पश्चात् हाथ पर बल देकर पेट को थोड़ा-सा ढीला करने के साथ ही वक्षःस्थल की तरफ कुछ खिंचाव देते हुए नल निकालने का प्रयत्न करें। चित्र नं० ११९ देखें। उसके बाद धीरे-धीरे श्वास बाहर छोड़ दें। इस प्रकार बार-बार करने से किसी समय आप-से-आप नल निकल आयेगा। लेकिन यह क्रिया करते समय पेट की ओर देखना चाहिए कि नल निकलता है या नहीं। यदि नल नहीं निकले, तो निराश न हों। दस-पन्द्रह मिनट रोज अभ्यास करने से यह अवश्य निकलने लगेगा। नौलि करनेवालों को विशेषतः दलिया और खिचड़ी खानी चाहिए।

बाम और दक्षिण नौलि

नल निकलने की स्थिति में बाएँ हाथ पर जोर देने से बाईं तरफ नौलि आ जायगी और दाएँ हाथ पर जोर देने से दक्षिण नौलि हो जायगी। इस प्रकार करने से नौलि को घुमाना या उसका चक्कर देना स्वयं आ जाता है। तत्पश्चात् इसको अति वेग

से साढ़े तीन चक्कर बाएँ और साढ़े तीन चक्कर दाएँ से बराबर घुमाना चाहिए। यह नौलि की पूरी क्रिया हुई। चित्र नं० १२० तथा १२१ देखें। लिखा भी है :—

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते॥

अर्थात् अपने कन्धों को नीचा करके योगी बहुत तीव्र जल के भँवर के समान वेग से उदर को दाईं व बाईं ओर जोर से घुमावें। इस कर्म को सिद्धों ने नौलि कर्म कहा है।

लाभ योगशास्त्र में लिखा है :—

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

अर्थात् यह नौलि मन्द पड़ी हुई पेट की अग्नि को दीप्त करती है और भोजन किये गये अन्न को पचाती है। आदिपद से मल शुद्धि का होना ग्रहण किया गया है। हर समय आनन्द देती है और समस्त वात-पित्त-कफ के रोगों को सुखानेवाली है। इसलिए यह नौलि हठयोग की क्रियाओं में सबसे मुख्य है। धौति और वस्ति कर्म नौलि के बिना नहीं हो सकते। कुंजल और शंखप्रक्षालन आदि कर्म नौलि के बिना अधूरे रहते हैं। वज्रौली तो बिना भलीभाँति नौलि जाने ठीक हो ही नहीं सकती। इसके अभ्यास से कफ-वात-पित्त-जनित सर्व प्रकार के रोग दूर होते हैं।

वस्ति

साधन—किसी पहाड़ी प्रान्त की शुद्ध नदी, झरने या जलाशय में, शुद्ध जलवाले तालाब में अथवा किसी बड़े टब में शुद्ध ठण्डा जल रखकर वस्ति-कर्म करना चाहिए। बाँस की ६ अंगुल लम्बी एक नली लें, जिसके अन्दर एक छिद्र हो, जो हाथ की सबसे छोटी अँगुली (कनिष्ठिका) से बड़ा न हो। उसके ऊपर के पतले हिस्से को इस प्रकार पत्थर पर घिसें कि वह खुरदरा न रहे। तत्पश्चात् उसके ऊपर घी लगाकर रख लें और क्रिया करते समय कागासन में बैठकर मध्यमा अँगुली में घी लगाकर गणेश-क्रिया करें, अर्थात् गुदा के अन्दर मध्यमा अँगुली डालकर वहाँ का मल निकालकर पानी से बार-बार धोयें। इसे गणेश-क्रिया कहते हैं। तत्पश्चात् घी लगी हुई नली लेकर उसके पतले हिस्से को चार अंगुल गुदा के अन्दर धीरे-धीरे ले जायँ। गणेश-क्रिया करने पर गुदा के अन्दर नली प्रवेश करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

स्थिति—उत्कटासन में बैठकर दोनों कोहनियों को घुटने पर रखते हुए अँगुलियाँ एक दूसरे के पंजे में कसकर बाँध लें। चित्र नं० १२२ देखें। नाभि पर्यन्त जल में उत्कटासन से ही बैठे हुए नल निकालें। ऐसा करने से स्वतः ही पानी ऊपर चढ़ने लगेगा। जब तक नल निकाले रहेंगे, तब तक पानी ऊपर ही चढ़ता जायगा। नल छोड़ते ही नली से पानी बाहर आने लगेगा। इसलिए तुरन्त ही हाथ के अँगूठे से नली के मुख को बन्द कर देना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे नली को बाहर निकालें और उठ खड़े हों। नली को किसी शुद्ध स्थान में रखकर बार-बार नौलि को घुमावें। ऐसा करने से मल और पानी मिलकर मलाशय में एकत्र हो जायँगे। पुनः घुटने पर हाथ रखकर उसे बाहर छोड़ दें। ऐसा करने से पानी के साथ मल भी बाहर निकल जायगा।

इस क्रिया को कम-से-कम चार-पाँच बार करना चाहिए। पाँचवीं बार सफेद पानी ही आयेगा। पुनः मयूरासन से पानी, मल, वायु, सब को निकालने का प्रयत्न करें। चित्र नं० १२३ देखें। वस्ति के मध्य और अन्त में मयूरासन न करने से कुछ वायु तथा पानी का अंश अन्दर रहने की सम्भवना रहती है, जिससे लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। अतः मयूरासन अवश्य करना चाहिए। लिखा भी है :—

नीर गुदा सों खैंचि करि, थाम्मै उदर मँझार।
कछुक डोल अस बैठ करि, फिर दे ताहि निकार॥
यहि जु बस्ती कर्म है, गुरु बिन पावै नाहिं।
लिङ्ग-गुदा के रोग जो गर्मी के नशि जाहिं॥

और भी कहा है :—

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्य्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

लाभ—

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥
धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दध्याच्च कान्तिदहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

इस क्रिया के करने से गुल्म, प्लीहा, यकृत, आँख के रोग, २५ प्रकार के प्रमेह, गर्मी, आतशक, सूजाक, मन्दाग्नि, कब्ज, बदहजमी, बवासीर, भगन्दर, मस्से, फोड़े, आँत की गर्मी, आँख आना, मलाशय तथा बड़ी आँत सम्बन्धी सारे विकार दूर होते हैं। चित्त में प्रसन्नता आती है। सिर-दर्द, दिमाग की कमजोरी, पागलपन, स्मरणशक्ति की कमी, बालों का पकना आदि दोष दूर होते हैं। चेहरे की कान्ति आकर्षक हो जाती है।

त्राटक

साधन—त्राटक-कर्म करने के कई विधान हैं और उनके अलग-अलग गुण भी हैं। योगशास्त्र में किसी वस्तु पर निश्चल दृष्टि स्थिर करने को ही त्राटक-कर्म कहा है। एक फुट लम्बे-चौड़े श्वेत कागज पर चवन्नी, अठन्नी या रुपये के बराबर काला या हरा गोल निशान बनायें। अथवा किसी ऊँची जगह पर, जहाँ हवा का वेग न हो, दृष्टि के बराबर ऊँचाई पर घृत का दीपक जलाकर रखें।

स्थिति—सिद्धासन अथवा पद्मासन में बैठकर अपने से डेढ़ गज की दूरी पर ठीक नेत्र के सामने दीवाल पर कुछ अँधेरे कमरे में निशानवाले कागज को सामने लगायें अथवा उपर्युक्त विधि से घृत-ज्योति को स्थापित करें। चित्र नं० १२४ देखें।

क्रिया—दोनों नेत्रों को पूर्ण खोलकर तब तक उस बिन्दु अथवा ज्योति पर देखें, जब तक आँखों में आँसू न आ जायँ। आँसू आने से पूर्व ही आँख मीच लें। इसी प्रकार इसे बार-बार सुखपूर्वक करने का अभ्यास करें। दस या पन्द्रह मिनट निश्चल दृष्टि रखने के पश्चात् आपको उस पर प्रकाश मालूम होगा और उसके चारों ओर भी छोटी-छोटी प्रकाश-किरणें मालूम होंगी। लेकिन साधक अपने लक्ष्य को छोड़कर केवल प्रकाश को देखने का प्रयत्न न करें। यदि साधक प्रकाश के लालच में बिन्दु के बगलवाले प्रकाश को देखेंगे, तो सारा प्रकाश लुप्त हो जायगा। पुनः क्षणभर भी बिन्दु पर दृष्टि केन्द्रित करने पर पहले की भाँति प्रकाश आ जायगा। इसकी सिद्धि का लक्षण यह है कि जिस दिशा में दृष्टि जमाकर बैठे हों, उस दिशा में प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे, कोई और वस्तु, बिन्दु अथवा दीप भी न दिखाई दे। इसकी पूरी सिद्धि तब ही समझनी चाहिए, जब सारा प्रकाश हृदय के मध्य ले आ सकें। यह विषय गुरुगम्य है, केवल पुस्तक के पढ़ने से ही समझ में नहीं आ सकता।

चित्र नं० ११६

मध्यनौलि——इसमें श्वास बाहर निकालकर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर बीच का नल निकाले हुए हैं।

षट्कर्म
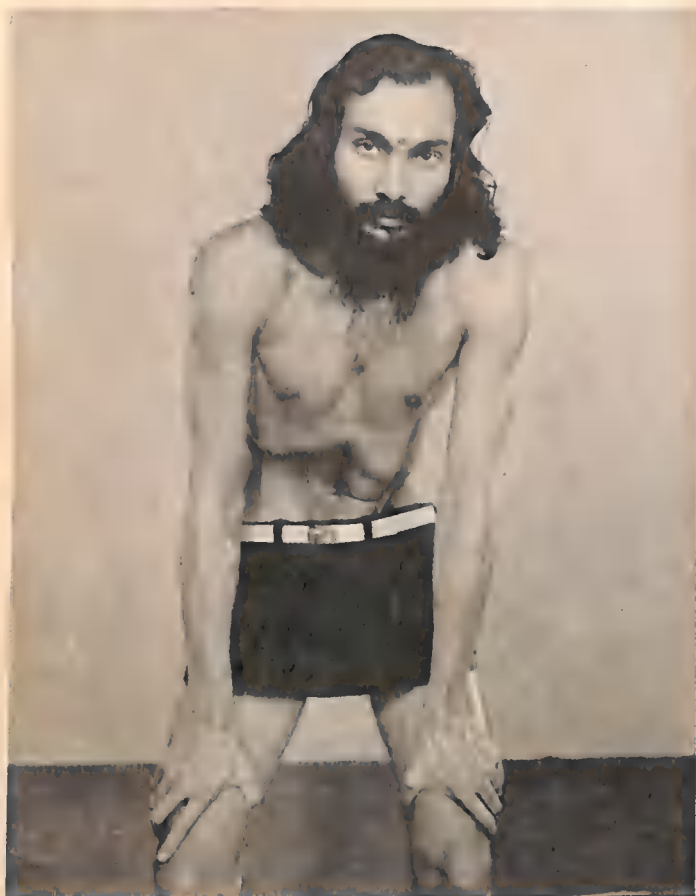
चित्र नं० १२०

वामनौलि—पहले मध्यनौलि निकालकर बाएं हाथ पर जोर देने से बाईं ओर मल निकल आया है।

चित्र नं० १२१

दक्षिणनौलि—पहले मध्यनौलि निकालकर दाहिने हाथ पर ज़ोर देने से दाहिनी ओर नल निकल आया है।

चित्र नं० १२२ बस्ति—उत्कटासन में बैठे हुए बस्ति करने की परिस्थिति में हैं। षट्कर्म

चित्र नं० १२३ वस्ति—वस्ति कर्म करने के पश्चात् मयूरासन कर रहे हैं। इसमें पैरों को पूर्णतया न फैलाकर इसी प्रकार [illegible] जाता [illegible]। षट्कर्म

चित्र नं० १२४

त्राटक कर्म—त्राटक-क्रिया में लिखी हुई विधि के समान वात-रहित स्थान में दीप-ज्योति पर त्राटक कर रहे हैं।

त्राटक सिद्ध हो जाने की परिस्थिति को ही शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। परम पुनीत उपनिषदों के योग-प्रकरण में इसके विषय में लिखा है :—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥

अर्थात्—साधक एकाग्र चित्त होकर निश्चल दृष्टि द्वारा सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखे, जब तक आँखों में आँसू न आ जायँ। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्यों ने त्राटक कर्म कहा है।

लाभ—इससे नेत्र के सारे रोग दूर होते हैं। आध्यात्मिक मार्ग में यह विशेष काम आता है। मन को एकाग्र करने के लिए यह अद्वितीय है। इसके विषय में कहा भी है :—

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते।
दृष्ट्यानिश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम् ॥

अर्थात्—जब प्राण तथा चित्त त्राटक कर्म में बैठे हुए योगी के अन्दर ही विलीन हो जाते हैं और वे निश्चल तारिकावाली दृष्टि से किंचित् नीचे की ओर दृष्टि जमाये हुए भी कुछ नहीं देखते हैं, तो यही शाम्भवी मुद्रा की उत्तम स्थिति है। इस मुद्रा में शून्याशून्य से विलक्षण तत्पदवाच्य परमोत्तम शिवतत्त्व स्फुरित होता है। यह मुद्रा ईश्वरानुग्रह और गुरुकृपा से प्राप्त होती है। क्लेशों का मुद्रण (नाश) करनेवाली होने से इसे मुद्रा कहा है। कहा है कि जब योगी अनन्य बुद्धि रखता हुआ, निरन्तर आनन्द से अन्तर लक्ष्य को देखता हुआ, दृष्टि के उन्मेष और निमेष से रहित देखता हुआ हो, इस अवस्था को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। तत्त्व और तन्त्र-मन्त्र को जाननेवाले श्रीमहादेवजी ने इसे गुप्त रखा है। यह दुर्लभ मुद्रा योगियों के मन को लय करनेवाली और मुक्ति देनेवाली है।

भस्त्रिका

स्थिति—पद्मासन में बैठकर दाएँ हाथ की अनामिका और मध्यमा अँगुलियों से नासिका के बाएँ स्वर को और अँगूठा से दाहिने स्वर को बन्द करें।

क्रिया—अँगूठा हटाकर बाएँ स्वर को बन्द किये हुए ही दाएँ स्वर से यथासाध्य बलपूर्वक रेचक करें। फिर तुरन्त ही दाएँ स्वर से पूरक करके अँगूठे से दाहिने स्वर को दबाकर बाएँ स्वर से रेचक करें। पुन: बाएँ स्वर से ही पूरक करके दाएँ से पहले की भाँति रेचक करें। इस क्रिया को बार-बार इसी प्रकार करें। ध्यान रहे कि क्रिया करते समय पेट फूले तथा पिचके। आरम्भिक क्रम २५ बार। चित्र नं० १२५ देखें।

लाभ—इसके विषय में योगशास्त्र मे कहा है :—

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

अर्थात—लोहार की धौंकनी के समान अधिक वेग से रेचक पूरक करने को कपाल-भाति कहते हैं। यह बीस प्रकार के कफ-दोषों को सुखानेवाली है। निदान-ग्रन्थ में कहा है—"**कफरोगाश्च विंशतिः।**"

जलनेति के पश्चात् यह क्रिया अवश्य करनी चाहिए, जिससे नासिका के भीतर का पानी सूख जाय।

षट्कर्मों के अन्तर्गत बहुत-सी गुप्त क्रियाएँ हैं, जिन्हें ऋषि-महर्षियों ने प्राय: गुप्त रखा है, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

गजकरणी अरु धौंकनी बाघी शंखपखाल।
चार कर्म ये और हैं इन्हीं छहों के नाल॥

इन क्रियाओं के विषय में ग्रन्थों में सूत्र रूप से वर्णन मिलता है। इनका विशेष विवरण, सुगम विधियाँ आदि गुरुगम्य हैं। मैंने इनको योग्य गुरु से सीखा है तथा इन्हें गुरु आज्ञानुसार ही जनता के हितार्थ आधुनिक सरल ढंग से प्रकाशित किया है। इन साधनों का शिक्षण लेकर हजारों आबाल-युवा-वृद्ध नर-नारी मात्र ने अपूर्व लाभ प्राप्त किया है। ये शारीरिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से सर्वोपयोगी हैं।

बाघी

साधन—बाघी क्रिया करने के लिए कुंजल के समान ही इतना गरम पानी रखें कि तीन-चार बार कुंजल करने के लिए पर्याप्त हो।

स्थिति तथा क्रिया—भोजन करने के तीन घण्टे पश्चात् और चार घण्टे के अन्दर ही बाघी क्रिया की जाती है। कागासन में बैठकर इतना पानी पीयें कि पेट पूरा भर जाय। तत्पश्चात् खड़े होकर कमर के ऊपरी भाग को नीचे झुकाकर कुंजल की भाँति मुख में अँगुली डालकर सारा पानी तथा खाये हुए भोजन को निकाल दें। जब गाढ़ा अन्न अन्दर से निकलने लगे, तब पुनः दो-चार गिलास और पानी पीकर पेट को हिलायें और फिर उस पानी को उसी प्रकार बाहर निकालें। इस प्रकार तीन-चार बार करने से पेट का सारा अन्न बाहर निकल जाता है। जब साफ जल निकलने लगे, तो क्रिया बन्द कर दें।

क्रिया करने के पन्द्रह-बीस मिनट बाद एक पाव के लगभग खीर, जो न बहुत पतली हो और न गाढ़ी हो, अवश्य खानी चाहिए। न खाने से या देर करके खाने से उष्णता बढ़ जाती है और लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना रहती है। इसलिए पहले खीर का प्रबन्ध करने के बाद बाघी क्रिया करनी चाहिए। बाघी क्रिया करने के बाद आहार के प्रसंग में ध्यान रहे कि खीर के अतिरिक्त कुछ नहीं खाना चाहिए। खीर भी भर पेट नहीं, वरन् अपने भोजन का चौथाई भाग खाना चाहिए। खीर खाने के तीन घण्टे पश्चात् पहले के समान भोजन कर सकते हैं।

विशेष—ध्यान रहे कि बाघी क्रिया भोजन के तीन घण्टे पश्चात् और चार घण्टे के अन्दर ही करें। इससे अधिक समय देकर कदापि न करें। जिस रोज बाघी क्रिया करनी हो, उसके पहले खिचड़ी, दलिया आदि हल्का भोजन उत्तम रहता है। बाघी रोज नहीं करनी चाहिए। इसे एक दिन का अन्तर देकर कर सकते हैं।

लाभ—इस क्रिया का नाम बाघी इसलिए रखा गया है कि इसे अधिकतर बाघ किया करता है। बाघ अत्यधिक खून और मांस खाने के बाद वायु का रेचक करके सारा खाया हुआ बाहर निकाल देता है। इस क्रिया के करने से ही वह संसार के सारे जानवरों में अधिक शक्तिशाली है। इस क्रिया के अभ्यास से कमर पतली और सीना चौड़ा हो जाता है। शरीर के आन्तरिक और बाह्य बल में शेर के समान अत्यधिक वृद्धि होती है। शरीर में एक नई स्फूर्ति आती है। स्थूल शरीरवाले लोगों के लिए यह क्रिया परम उपयोगी है। वे थोड़े दिनों के अभ्यास से शरीर को स्वाभाविक स्थिति में सुगमता से ला सकते हैं।

खाने के तीन घण्टे के अन्दर अन्न का सारा रस नाड़ियाँ खींच लेती हैं। नीरस अन्न पचाने के लिए आँतों को बहुत श्रम करना पड़ता है। इस क्रिया से आँतों की व्यर्थ की मेहनत बच जाती है। शरीर को यथायोग्य शक्ति मिल जाती है। साथ ही साथ कफ, वात और पित्त के रोग दूर हो जाते हैं। इसमें सबसे अधिक यह गुण है कि चित्त में प्रसन्नता रहती है, क्योंकि अनावश्यक सब मल निकल जाता है। सारे शरीर पर अद्भुत कान्ति आ जाती है। भूख बहुत लगती है।

शंखप्रक्षालन—वारीसार

शंख में चक्राकार मार्ग होता है। उसके मुख में पानी डाल देने से चक्राकार मार्ग से घूमता हुआ जल जिस प्रकार बाहर आ जाता है, उसी प्रकार मुख से जल पीने पर निम्नलिखित क्रिया द्वारा जल कुछ समय पश्चात् मल को साथ लेकर अँतड़ियों को शुद्ध करता हुआ गुदाद्वार से बाहर आ जाता है।

साधन—कुंजल से कुछ अधिक गरम पानी में इतना नमक मिलायें, जितना दाल में मिलाते हैं, अर्थात् भलीभाँति पानी नमकीन हो जाये।

स्थिति—कागासन में बैठकर दो गिलास पानी पी लें।

क्रिया—पानी पीने के पश्चात् तुरन्त ही क्रमशः दाएँ-बाएँ से चार बार सर्पासन करें। चित्र नं० १२६ देखें। इसके बाद शीघ्र ही ऊर्ध्व हस्तोत्तानासन लगभग चार बार दाएँ से, चार बार बाएँ से करें। चित्र नं० १२७ देखें। इसके बाद शीघ्र कटिचक्रासन करें। चित्र नं० १२८ देखें। इसके बाद शीघ्र ही उदराकर्षासन क्रमशः चार बार दाएँ-बाएँ से करें। चित्र नं० १२९ देखें। एक गिलास पानी फिर पीयें और पहले की भाँति ही क्रमशः चारों आसन करें। किसी को दो, किसी को चार और किसी-किसी को छै अथवा आठ गिलास (४ सेर) जल पीने पर शौच की हाजत मालूम पड़ती है। थोड़ी-सी भी शंका होने पर शौच के लिए शीघ्र चले जायँ और शौच बैठने के समय भी चित्र नं० १२९ के समान ही आसन करें। ऐसा करने से पहले मल निकलेगा, फिर पतला मल निकलेगा और उसके पश्चात् पीला पानी निकलेगा। शौच से आकर फिर उसी प्रकार एक गिलास जल पीयें और चारों आसन बारी-बारी से करें। फिर शौच की हाजत होगी और इस बार केवल पानी ही निकलेगा। फिर पहले की भाँति पानी पीकर आसन करने के पश्चात्
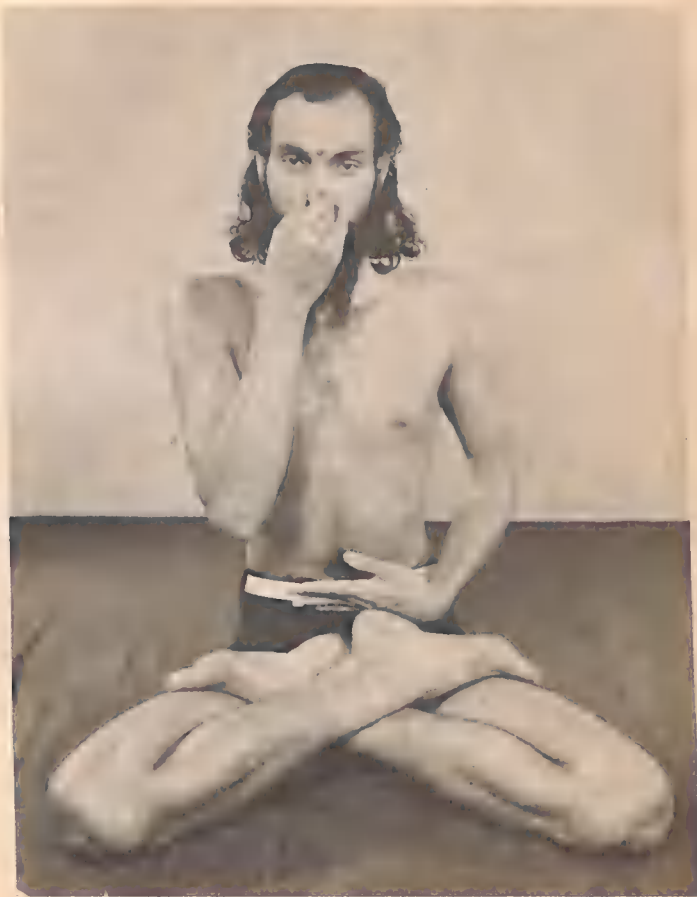
चित्र नं० १२५ कपालभाति (भस्त्रिका)—पद्मासन में स्थित होकर कपालभाति कर रहे हैं।

चित्र नं० १२६

शंखप्रक्षालन : सर्पासन (१)—दोनों पंजों को आपस में मिलाकर दोनों हथेलियों के बल कमर से ऊपरी विभाग को बायें-दायें बारी-बारी से मोड़ते हुए सर्पासन कर रहे हैं।

चित्र नं० १२७

शंखप्रक्षालन : ऊर्ध्व हस्तोत्तानासन (२)—इसमें कमर से ऊपरी विभाग को उत्तान देते हुए क्रमशः दाएँ-बाएँ मोड़ रहे हैं।

चित्र नं० १२८ शंखप्रक्षालन : कटिचक्रासन (३)—यौगिक सूक्ष्म व्यायाम की कमर की पाँचवीं क्रिया की भाँति बिना [illegible] लिये-छोड़े, कमर से ऊपरी भाग को क्रमशः बाएं-दाएं मोड़ रहे हैं।

चित्र नं० १२६ शंखप्रक्षालन : उदराकर्षासन (४)—इसमें कागासन में बैठकर बाएँ पाँव के घुटने को मोड़कर दाएँ पाँव की पिंडली के पास लाते हुए पृथ्वी से [illegible] ऊपर ही रखे हैं। [illegible] ही कमर से ऊपरी भाग को [illegible]: दाईं-बाईं ओर मोड़ रहे हैं।

सफेद पानी निकलेगा, अर्थात् जैसा पानी मुख से पी चुके हैं, वैसा ही गुदाद्वार से निकलेगा। जब तक सफेद पानी न आने लगे, तब तक बार-बार पानी पीकर बारी-बारी से चारों आसन करने चाहिए। सफेद पानी निकलने के पश्चात् बिना नमक का सादा गर्म पानी दो-तीन गिलास पीकर कुंजल कर डालें। कुंजल न करने से बहुत देर तक पानी निकलता ही रहेगा। अतः कुंजल करना अति आवश्यक है। इस क्रिया को करने के बाद ध्यान रहे कि ठण्डे पानी से स्नान करना सर्वथा मना है। गर्म पानी से बन्द कमरे में हवा से बचाव रखकर स्नान करें और स्नान के पश्चात् कपड़े पहन कर स्नान-घर से बाहर निकलें, ताकि शरीर में ठण्डी हवा न लगे। अथवा स्नान न करें। शंखप्रक्षालन के बाद एक घण्टे के अन्दर ही भोजन कर लें। भोजन भी इसके विधान से ही करना चाहिए। लालमिर्च, खटाई से रहित चावल और मूंग की खिचड़ी अथवा गेहूँ या जौ का दलिया खायें। खाते समय अधिक-से-अधिक एक छटांक और कम-से-कम आधी छटांक शुद्ध गौ का घी डालें। खिचड़ी और दलिया बनाते समय अधिक घी नहीं डालना चाहिए। खिचड़ी खाते समय पानी पीना मना है। भोजन के एक घण्टे के बाद पानी पी सकते हैं। यदि किसी प्रकार प्यास से न रहा जाय, तो भोजन के कुछ देर बाद थोड़ा पानी पी सकते हैं। खिचड़ी खाने के चार घण्टे बाद मुलायम फल वगैरह खा सकते हैं। रात्रि में जो भोजन करते हों, कर सकते हैं।

विशेष—ध्यान रहे कि शंखप्रक्षालन करने के बाद अधिक देर भूखा कभी भी न रहें। भूखा रहने पर बहुत हानि होती है। शंखप्रक्षालन के पश्चात् एक घण्टे के अन्दर ही भोजन कर लेना चाहिए। जिस दिन शंखप्रक्षालन करें, उसके बाद २४ घण्टे तक दही-दूध खाना मना है। इन क्रियाओं में कभी भी मनमानी नहीं करनी चाहिए, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि होती है।

लाभ—इसके विषय में योगशास्त्र में लिखा है :—

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम्।
साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते॥

इस श्लोक में शंखप्रक्षालन को वारिसार कहा गया है। इससे देह निर्मल होती है। विधिपूर्वक साधन करने से देवदेह की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से सिर-रोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, नासिका के दोष, पायरिया आदि मुखरोग, टान्सिल, हृदय के रोग, पेट और गुदा के समस्त रोग दूर होते हैं। संक्षेप में मुख से अन्नाशय तक की

नाड़ियाँ, पक्वाशय, मलाशय तथा गुदा पर्यन्त नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। इस क्रिया के अभ्यास से 'एपेनडिसाइटिज', आँतों के घाव, सूजन आदि दूर हो जाते हैं। औरतों के गर्भाशय जनित सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं, जैसे लिकोरिया, डिसमिनोरिया, मासिक समय पर न होना तथा स्वाभाविक रंग का न आना आदि रोग दूर होते हैं। बाँझपन को दूर करने के लिये भी यह परम उपयोगी है। इससे २५ प्रकार के प्रमेह, आतशक, सूजाक आदि समस्त रोग दूर होते हैं। इस क्रिया के इतने अद्भुत गुण हैं कि सारे गुणों का वर्णन करने पर एक मोटी पुस्तक बन जायगी। यह क्रिया स्वस्थ पुरुषों तथा स्त्रियों को पन्द्रह दिन में एक बार करनी चाहिए। ऐसा करने से शरीर पूर्ण नीरोग रहता है तथा शरीर की कान्ति बनी रहती है।

वायुरञ्जन

वास्तव में मेरा स्वरूप देह से विलक्षण, अत्यन्त सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, अनुभवगम्य है। यह देह विश्वहितकारी सेवा करने का एक यन्त्र है। विश्वनिर्माता तथा इस शरीर के सहित सम्पूर्ण विश्व ही हमारा ऐश्वर्य है। हम कभी भी दरिद्र नहीं हैं।

विश्वनिर्माता से उद्भासित होने के कारण समस्त विश्व ही हमारा वृहद् भवन तथा लोकान्तर, देशान्तर, द्वीपान्तर आदि भुवनान्तर कमरों की भाँति हैं। सभी चराचर निवासी हमारे सगे सम्बन्धी हैं। सभी देश अपने देश हैं। हम अपने जीवन को किसी प्रकार सीमित एवं विरोधी पक्षपात में न रखकर, विशाल विश्वसुखकारी कर्त्तव्यों के साँचे में ढालेंगे, ढालेंगे।

अपने मन, वाणी और इन्द्रियों को निर्विकार बनाना है। सद्विचार वृद्धि के लिये अन्य प्राणियों के विचारों से विमर्श करना है। किसी के द्वारा अपमानित होने पर उसका अपमान न करेंगे या क्रुद्ध न होकर सदा विपक्षी का सम्मान ही करेंगे।

कैसा ही दुःखी व्यक्ति क्यों न हो, निज शरीर की भाँति घृणारहित होकर उसकी सेवा में तत्पर रहेंगे।

हमारी भावना में यह कभी भी न आये कि हम से कोई आगे न बढ़े, बल्कि यही भावना रहे कि हमारे द्वारा सब बढ़ते रहें और हम सबको बढ़ा देखकर अपने कर्त्तव्य की सफलता एवं अपने को कृतार्थ समझें।

उत्तम दर्जा उनका है, जो इन्द्रियों को विषयों से उपराम रखकर, निर्विकारी बनते हुए जगत की सेवा में सब प्रकार से तल्लीन हैं।

दूसरा नम्बर उनका है, जो सामयिक गृहस्थोचित आचरणों में तत्पर होते हुए अखिन्न चित्त से पूर्ण उदारतापूर्वक सब प्रकार से जगत-सेवा में तल्लीन हैं।

हमारा हृदय कैसा हो ? मातृ-हृदय की नाईं हमारा हृदय विश्व के प्रति हो।

हम लोगों की वाणी को बिना विचार किये हुए कहने का जो अभ्यास पड़ गया है, उसको पूर्णतया त्यागकर सुमधुर, हितकारी, यथार्थ तथा चित्ताकर्षक अनुद्वेगकर शब्दों का संकलन करके हम बोलने का अभ्यास करेंगे। हमारी सारी परिचर्याएँ उपर्युक्त भावनाओं से परिपूर्ण हों।

भाव-शुद्धि

वृत्ति होवे ब्रह्माकार, हृदय होवे निर्विकार।
मन में होवे सद्विचार, इन्द्रिय से हितकर व्यवहार।
जीवन के फल हैं यह चार, कार्त्तिकेय इनसे कर प्यार॥

समाप्त

नाड़ियाँ, पक्वाशय, मलाशय तथा गुदा पर्यन्त नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। इस क्रिया के अभ्यास से 'एपेनडिसाइटिज', आँतों के घाव, सूजन आदि दूर हो जाते हैं। औरतों के गर्भाशय जनित सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं, जैसे लिकोरिया, डिसमिनोरिया, मासिक समय पर न होना तथा स्वाभाविक रंग का न आना आदि रोग दूर होते हैं। बाँझपन को दूर करने के लिये भी यह परम उपयोगी है। इससे २५ प्रकार के प्रमेह, आतशक, सूजाक आदि समस्त रोग दूर होते हैं। इस क्रिया के इतने अद्भुत गुण हैं कि सारे गुणों का वर्णन करने पर एक मोटी पुस्तक बन जायगी। यह क्रिया स्वस्थ पुरुषों तथा स्त्रियों को पन्द्रह दिन में एक बार करनी चाहिए। ऐसा करने से शरीर पूर्ण नीरोग रहता है तथा शरीर की कान्ति बनी रहती है।

वायुरञ्जन

वास्तव में मेरा स्वरूप देह से विलक्षण, अत्यन्त सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, अनुभवगम्य है। यह देह विश्वहितकारी सेवा करने का एक यन्त्र है। विश्वनिर्माता तथा इस शरीर के सहित सम्पूर्ण विश्व ही हमारा ऐश्वर्य है। हम कभी भी दरिद्र नहीं हैं।

विश्वनिर्माता से उद्भासित होने के कारण समस्त विश्व ही हमारा वृहद् भवन तथा लोकान्तर, देशान्तर, द्वीपान्तर आदि भुवनान्तर कमरों की भाँति हैं। सभी चराचर निवासी हमारे सगे सम्बन्धी हैं। सभी देश अपने देश हैं। हम अपने जीवन को किसी प्रकार सीमित एवं विरोधी पक्षपात में न रखकर, विशाल विश्वसुख-कारी कर्त्तव्यों के साँचे में ढालेंगे, ढालेंगे।

अपने मन, वाणी और इन्द्रियों को निर्विकार बनाना है। सद्विचार वृद्धि के लिये अन्य प्राणियों के विचारों से विमर्श करना है। किसी के द्वारा अपमानित होने पर उसका अपमान न करेंगे या क्रुद्ध न होकर सदा विपक्षी का सम्मान ही करेंगे।

कैसा ही दुःखी व्यक्ति क्यों न हो, निज शरीर की भाँति घृणारहित होकर उसकी सेवा में तत्पर रहेंगे।

हमारी भावना में यह कभी भी न आये कि हम से कोई आगे न बढ़े, बल्कि यही भावना रहे कि हमारे द्वारा सब बढ़ते रहें और हम सबको बढ़ा देखकर अपने कर्त्तव्य की सफलता एवं अपने को कृतार्थ समझें।

उत्तम दर्जा उनका है, जो इन्द्रियों को विषयों से उपराम रखकर, निर्विकारी बनते हुए जगत की सेवा में सब प्रकार से तल्लीन हैं।

दूसरा नम्बर उनका है, जो सामयिक गृहस्थोचित आचरणों में तत्पर होते हुए अखिन्न चित्त से पूर्ण उदारतापूर्वक सब प्रकार से जगत-सेवा में तल्लीन हैं।

हमारा हृदय कैसा हो? मातृ-हृदय की नाईं हमारा हृदय विश्व के प्रति हो।

हम लोगों की वाणी को बिना विचार किये हुए कहने का जो अभ्यास पड़ गया है, उसको पूर्णतया त्यागकर सुमधुर, हितकारी, यथार्थ तथा चित्ताकर्षक अनुद्वेगकर शब्दों का संकलन करके हम बोलने का अभ्यास करेंगे। हमारी सारी परिचर्याएँ उपर्युक्त भावनाओं से परिपूर्ण हों।

भाव-शुद्धि

वृत्ति होवे ब्रह्माकार, हृदय होवे निर्विकार।
मन में होवे सद्विचार, इन्द्रिय से हितकर व्यवहार।
जीवन के फल हैं यह चार, कार्तिकेय इनसे कर प्यार।।

समाप्त

हमारे प्रकाशन

1. यौगिक सूक्ष्म व्यायाम............(हिन्दी)
2. यौगिक सूक्ष्म व्यायाम............(इंगलिश)
3. योगासन विज्ञान...............(हिन्दी)
4. योगासन विज्ञान...............(इंगलिश)
5. मुद्रा और प्राणायाम............(हिन्दी) यन्त्रस्थ
6. मुद्रा और प्राणायाम............(इंगलिश) यन्त्रस्थ
7. यौगिक सूक्ष्म व्यायाम चार्ट......(हिन्दी)
8. यौगिक सूक्ष्म व्यायाम चार्ट......(इंगलिश)
9. योगासन चार्ट.................(हिन्दी)
10. योगासन चार्ट.................(इंगलिश)

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम चार्ट

Dilip ... Varanasi

विश्वायतन योगाश्रम
कटरा, वैष्णोदेवी, जम्मू, कश्मीर इंडिया

विश्वायतन योगाश्रम

क्रिया नं० १. उच्चारण स्थल तथा विशुद्धचक्र-शुद्धि की स्थिति और क्रिया । समावस्था से आधा अंगुल ठुड्डी ऊँची करके श्वास-प्रश्वास करें । प्रारम्भिक क्रम २५ बार ।
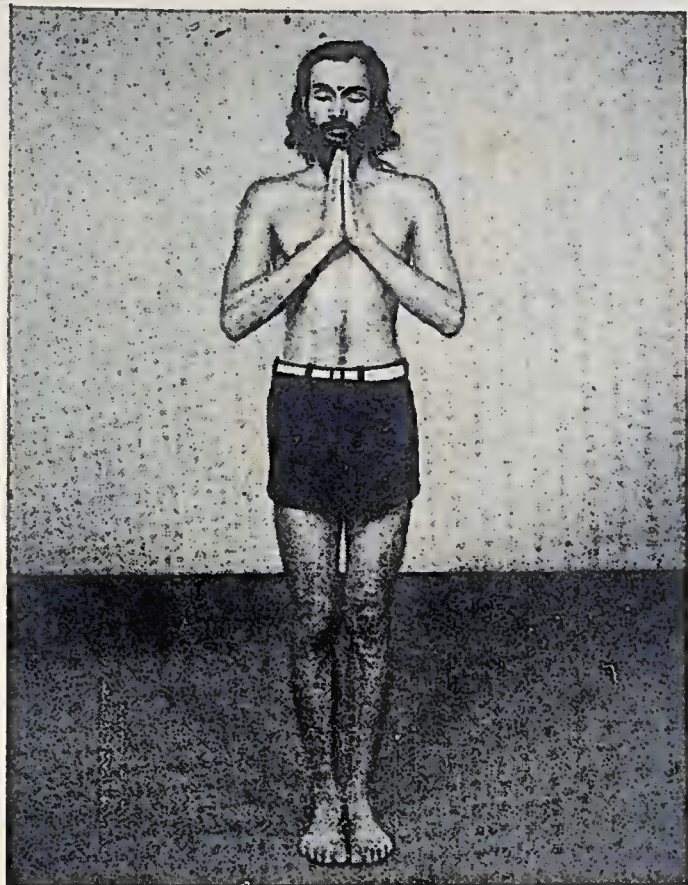
क्रिया नं० २. यौगिक प्रार्थना । अपने इष्ट स्वरूप का ध्यान करें । स्वरूप साक्षात्कार के लिए । चित्र नं० २.
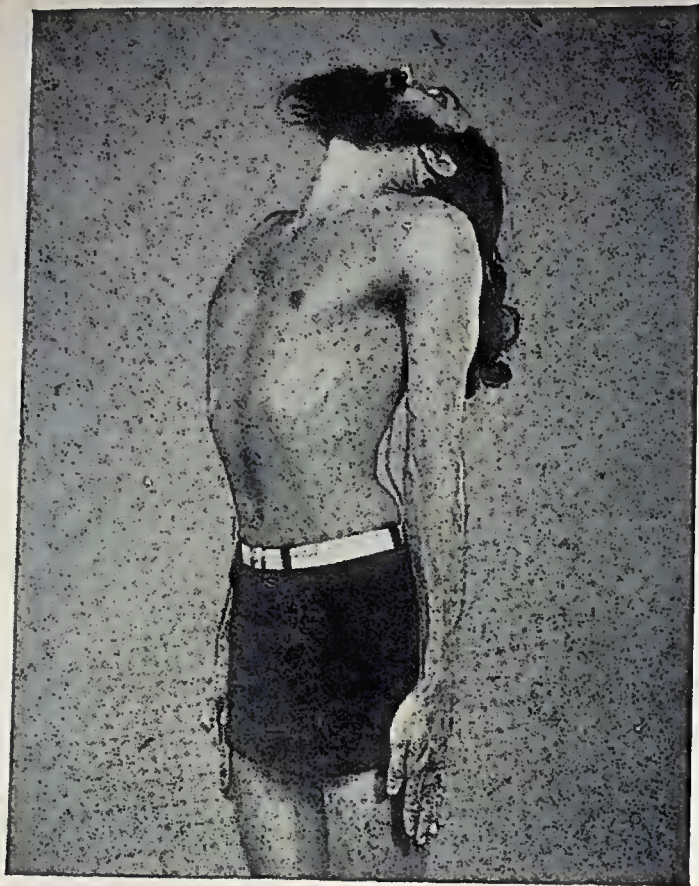
क्रिया नं० ३. बुद्धि तथा धृतिशक्ति-विकासक । शिखा-मण्डल में धारणा रखते हुए श्वास-प्रश्वास करें । २५ बार ।
चित्र नं० ३.
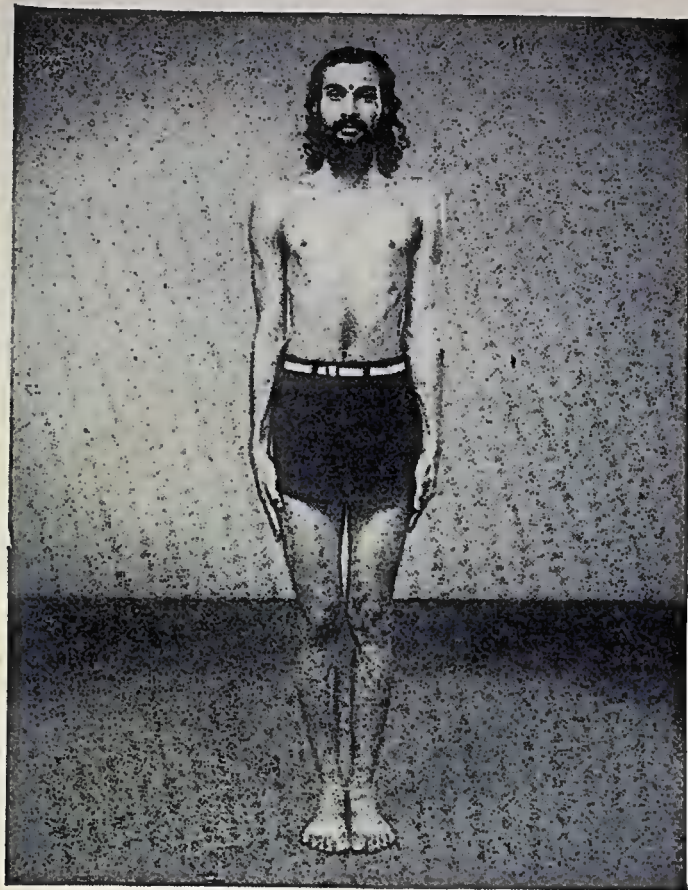
क्रिया नं० ४. स्मरणशक्ति-विकासक। ब्रह्मरन्ध्र में धारणा रखकर डेढ़ गज दूर जमीन पर देखते हुए श्वास-प्रश्वास करें। २५ बार। चित्र नं० ४.
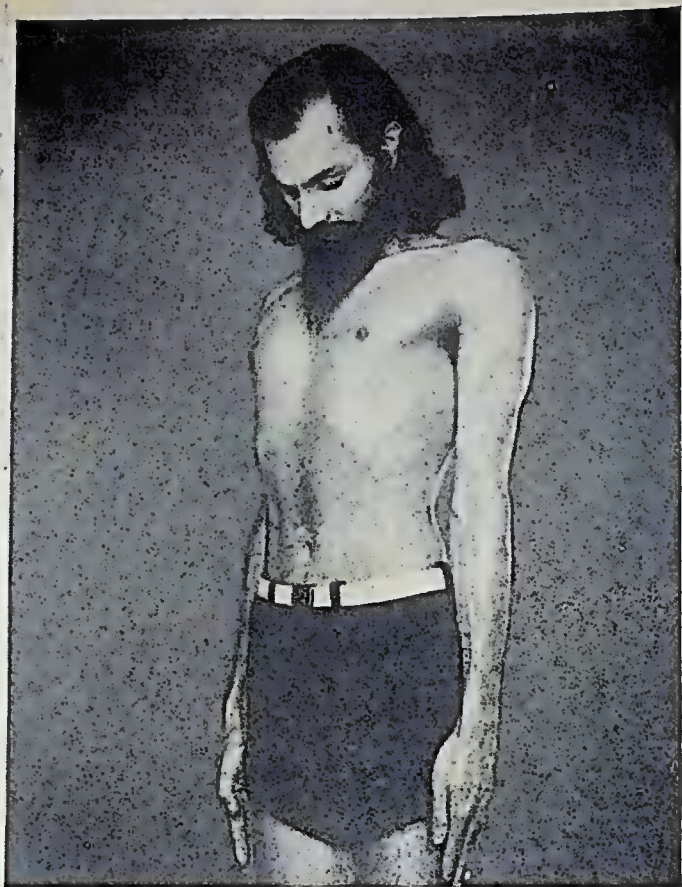
क्रिया नं० ५. मेधाशक्ति-विकासक। गले के पीछे गढ़ीले स्थान पर धारणा रखकर श्वास-प्रश्वास करें। २५ वार।
चित्र नं० ५.
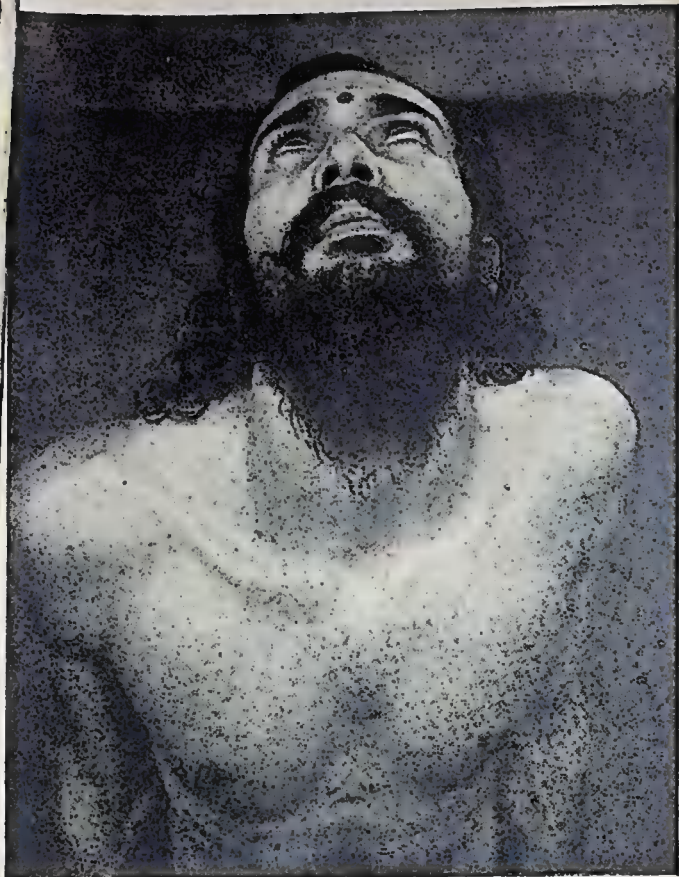
क्रिया नं० ६ नेत्रशक्ति-विकासक । दोनों नेत्रों से भ्रूमध्य में एकटक देखें, यथासाध्य । चित्र नं ६.
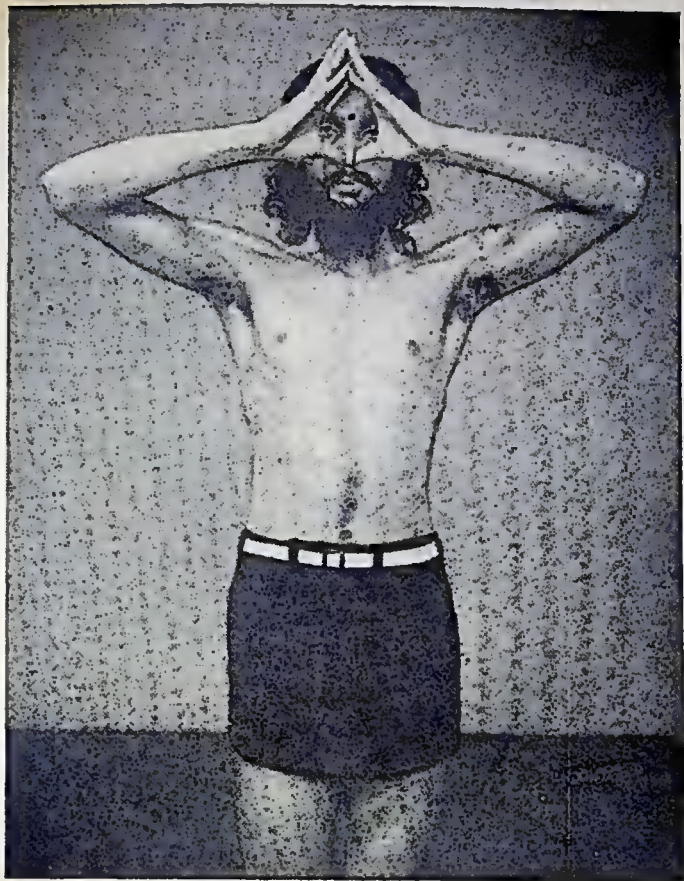
क्रिया नं० ७. कपोलशक्ति-वर्धक की स्थिति । कौवे की चोंच के समान मुख बनाकर मुख से श्वास खींचें । चित्र नं० ७.

क्रिया नं० ७. कपोलशक्ति-वर्धक । कण्ठकूप से ठुड्डी लगा कर, गाल फुलाकर यथासाध्य कुम्भक करें। नेत्र बन्द रखें । सिर सीधा करके नाक से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें।
[illegible] बार । चित्र नं० [illegible]
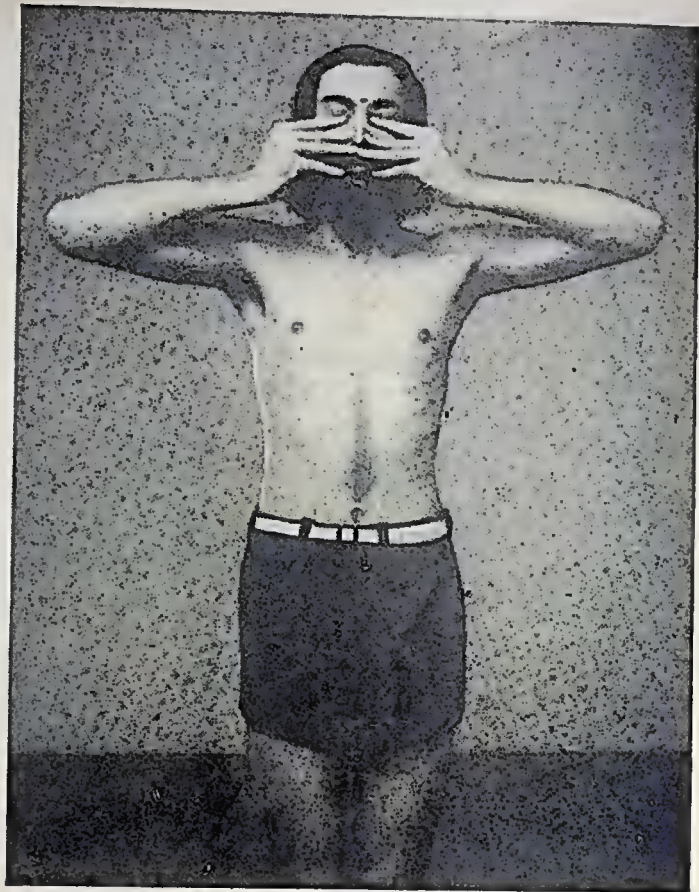
क्रिया नं० ८. कर्णशक्ति-विकासक की स्थिति । कान, आँख, नाक, मुख सबको बन्द करके पूर्ववत् मुख से श्वास खींचें । चित्र नं० ९.
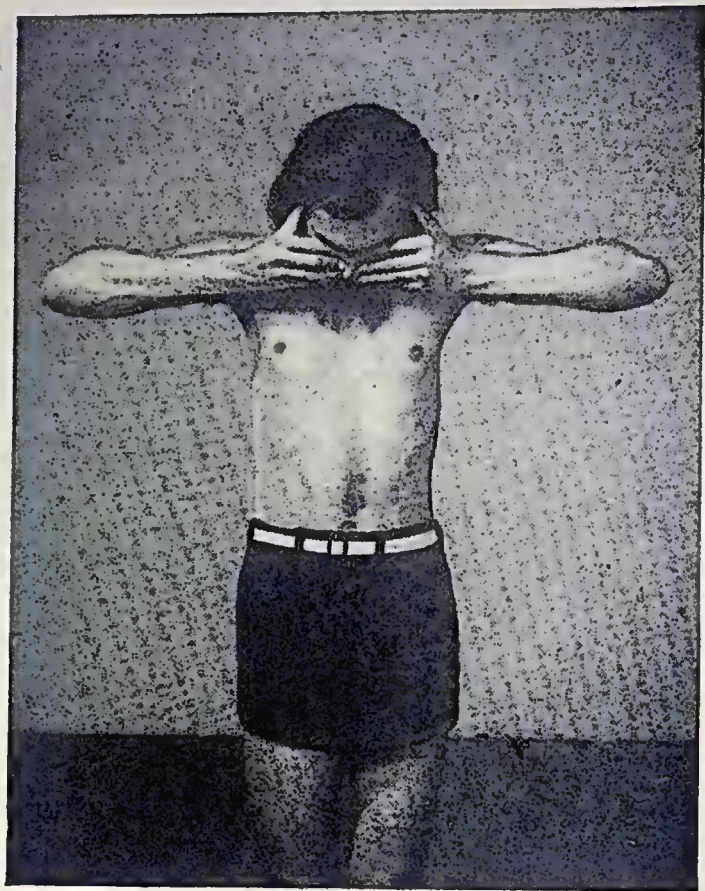
क्रिया नं० ८. कर्णशक्ति-विकासक । गाल फुलाकर यथासाध्य कुम्भक करें । सिर सीधा करके केवल कान बन्द रखते हुए नाक से धीरे-धीरे श्वास छोड़ें । ५ वार। चित्र नं० १०.
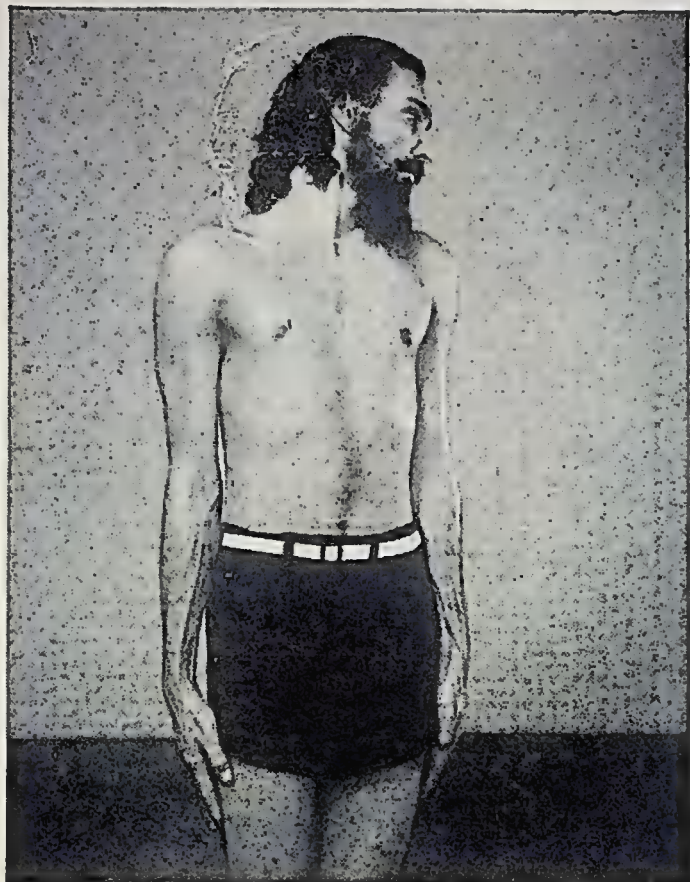
क्रिया नं० ९. ग्रीवाशक्ति-विकासक १ क भाग । झटके से सिर को दायें-बायें ले जावें । २५ बार। चित्र नं० ११.
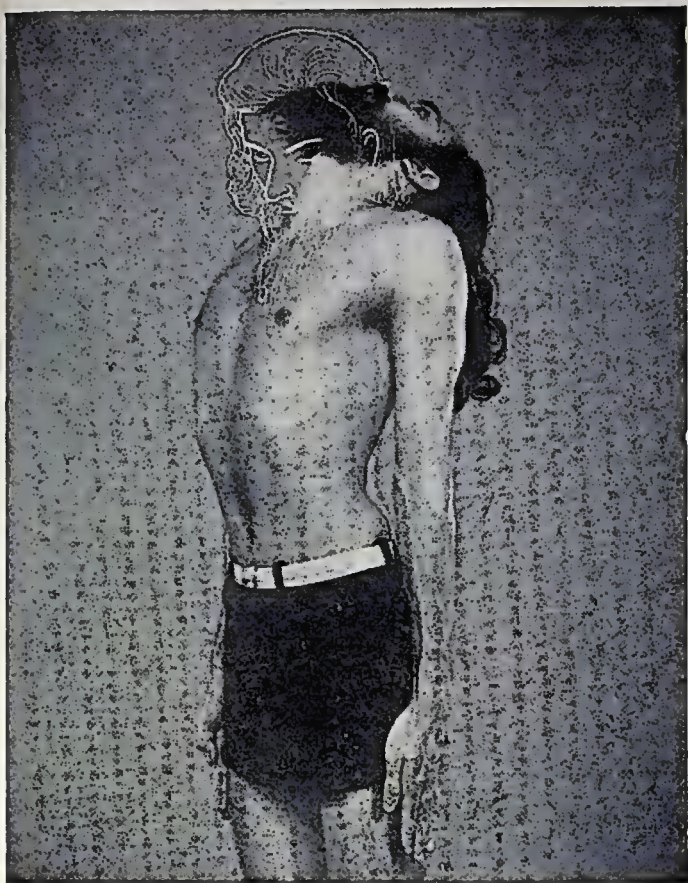
क्रिया नं० ६. ग्रीवाशक्ति-विकासक १ ख भाग। झटके से सिर को आगे-पीछे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० १२.
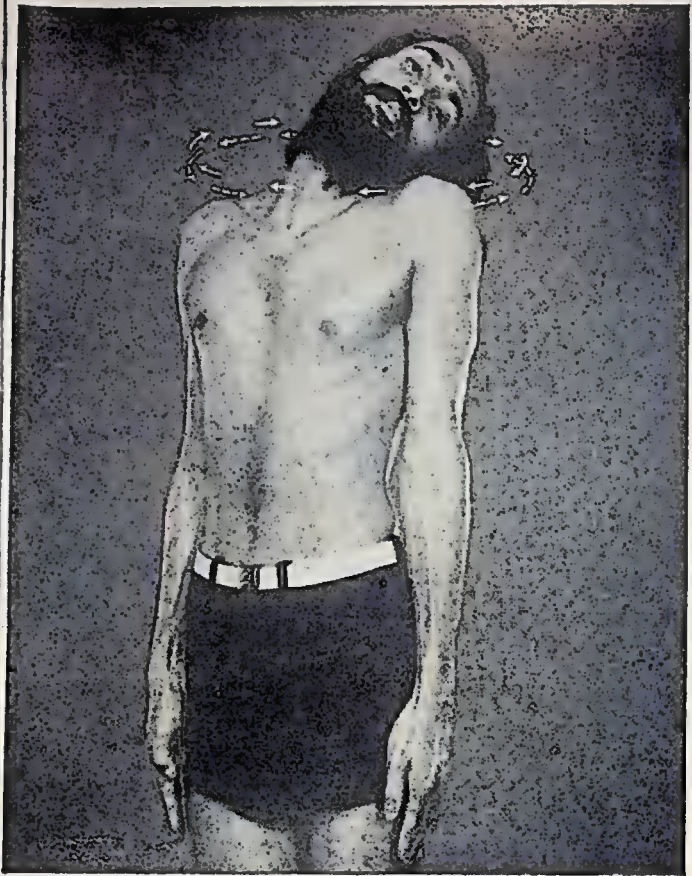
क्रिया नं० १०. ग्रीवाशक्ति-विकासक २। बायें से दायें और दायें से बायें बलपूर्वक चक्राकार सिर धीरे से घुमावें। ५ वार। चित्र नं० १३.
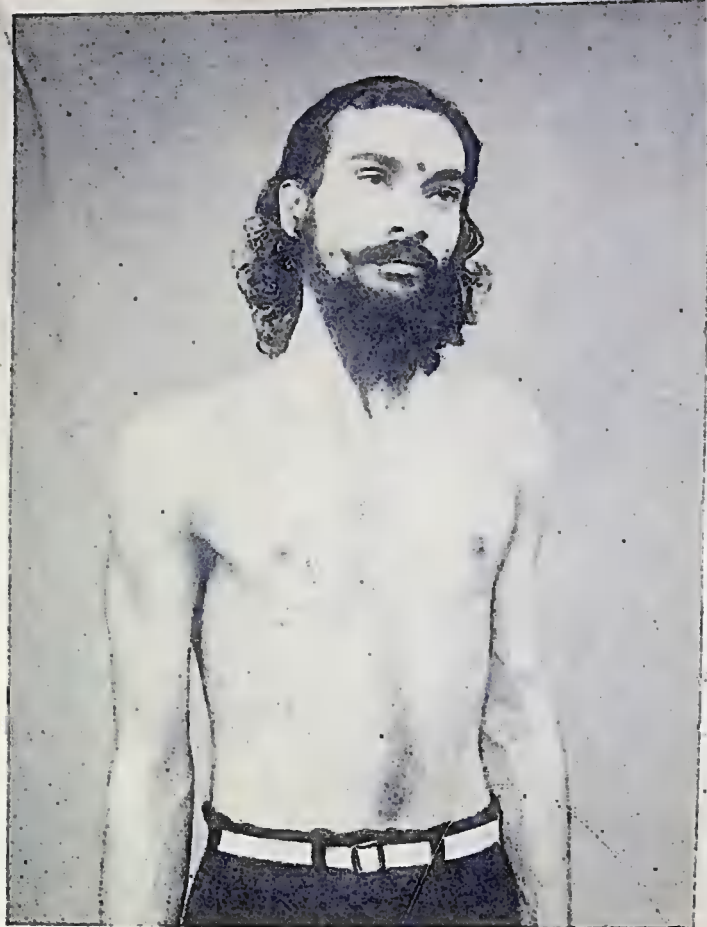
क्रिया नं० ११. ग्रीवाशक्ति-विकासक ३। श्वास-प्रश्वास-सहित पेट फुलाते-पिचकाते हुए ठुड्डी को उत्तान देकर गले की नसें उभारें। २५ बार। चित्र नं० १४.

क्रिया नं० १२. स्कन्ध तथा बाहुमूलशक्ति-विकासक। मुख से]
श्वास भरकर यथासाध्य कुम्भक करें। दोनों स्कन्धों
को तीव्रता से ऊपर-नीचे ले जावें। १० बार।
चित्र नं० १५.
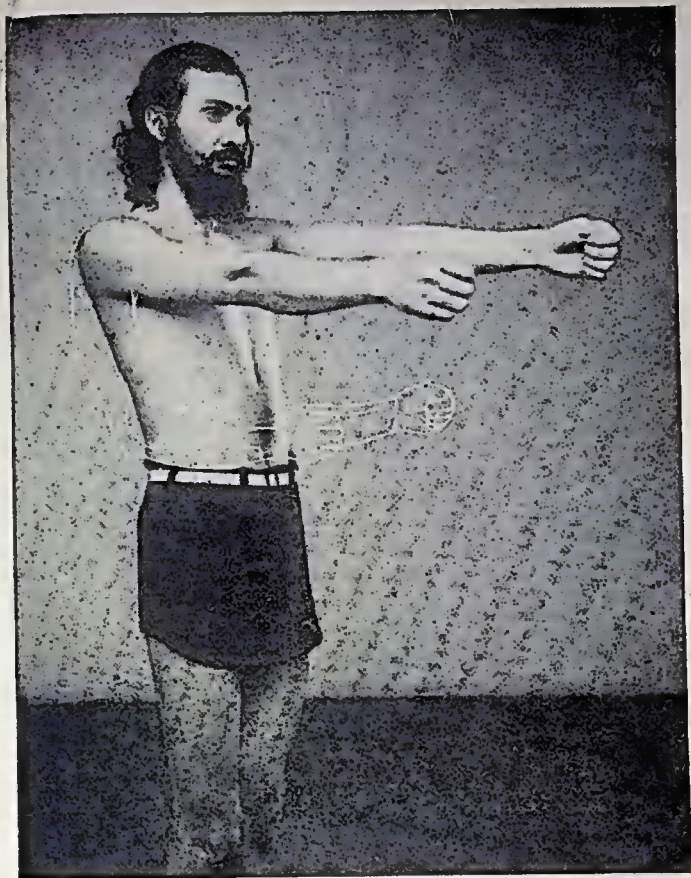
क्रिया नं० १३. भुजबन्धशक्ति-विकासक। भुजाओं को झटके से बार-बार आगे-पीछे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० १६.
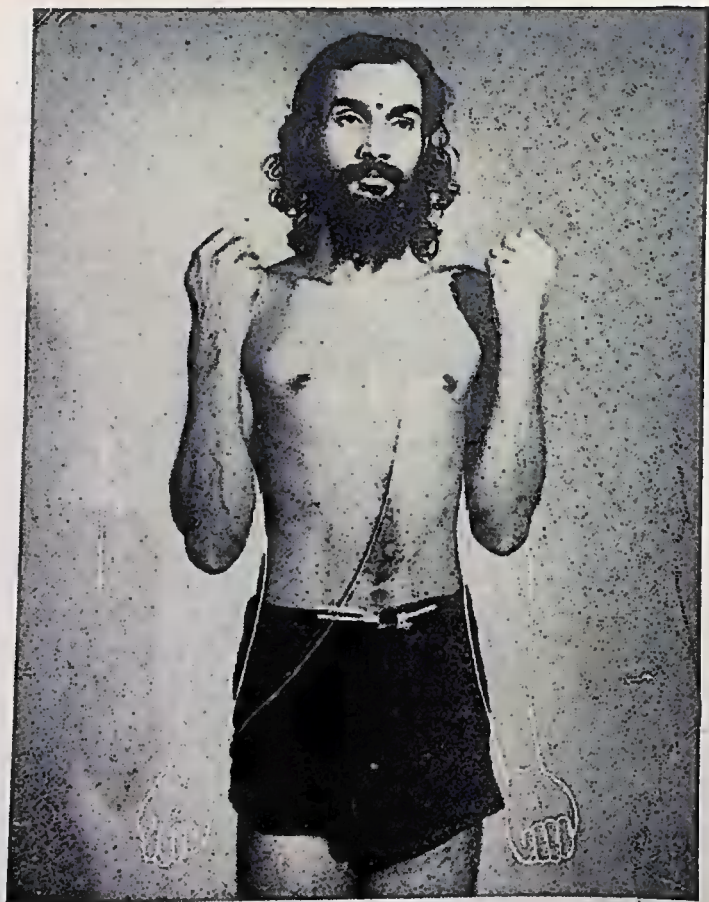
क्रिया नं० १४. कोहनीशक्ति-विकासक क भाग। भुजवल्लियों को झटके से ऊपर-नीचे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० १७.
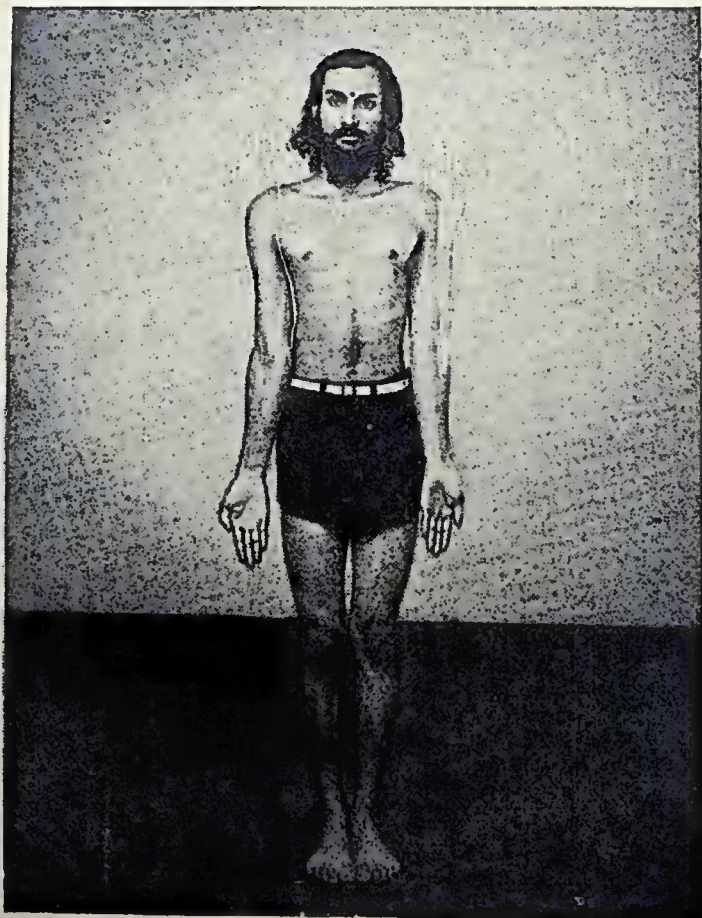
क्रिया नं० १४. कोहनीशक्ति-विकासक ख भाग। भुजवल्लियों को झटके से ऊपर-नीचे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० १८.
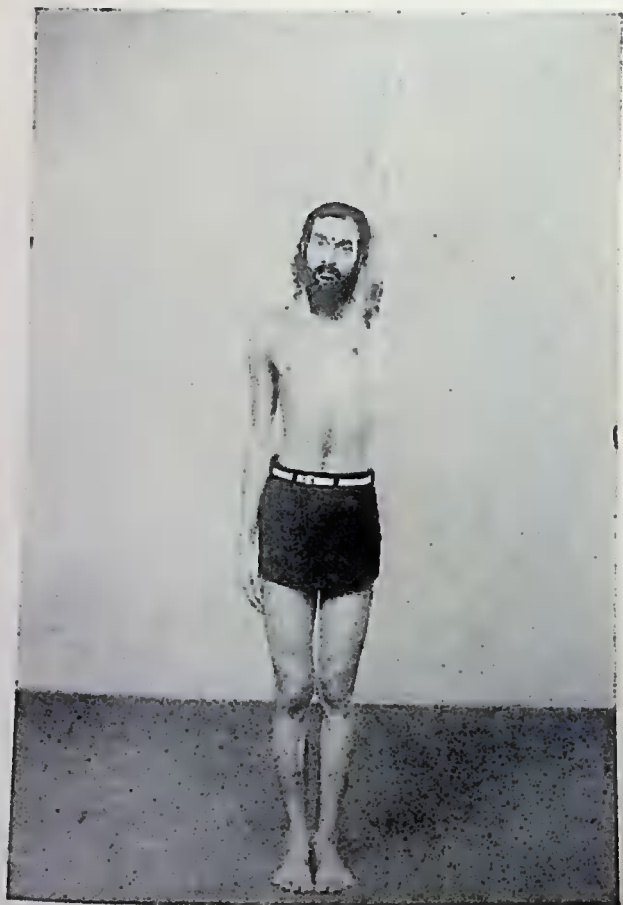
क्रिया नं० १५. भुंजवल्लीशक्ति-विकासक क ख भाग। हाथ सीधा रखकर पहले वायें फिर दायें, हाथ को बार-बार ऊपर-नीचे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० १९.
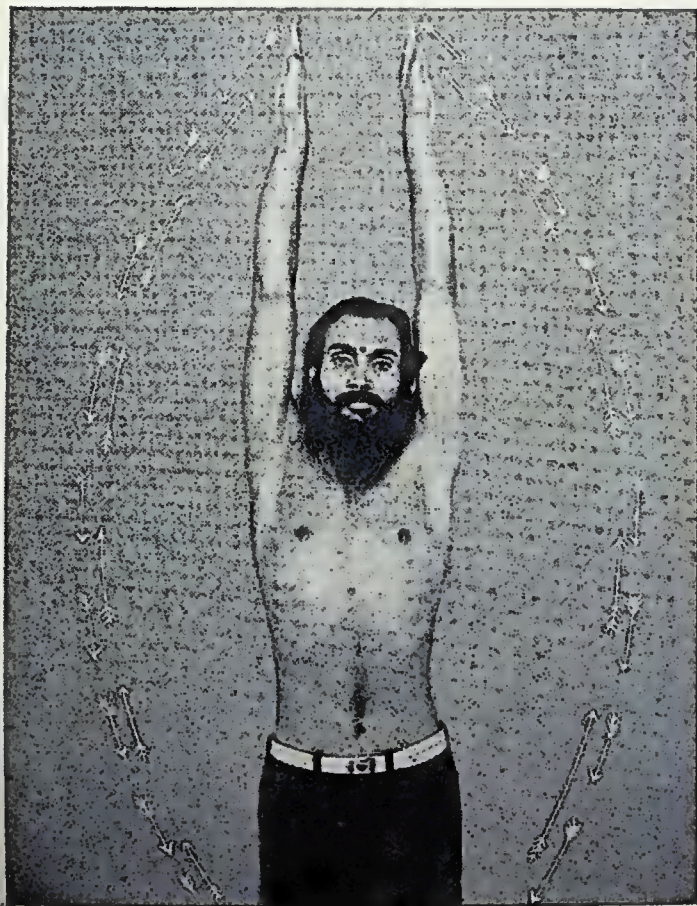
क्रिया नं० १५. भुजवल्लीशक्ति-विकासक ग भाग। दोनों हाथों को एक साथ बार-बार ऊपर-नीचे ले जावें। २५ बार। चित्र नं० २०.
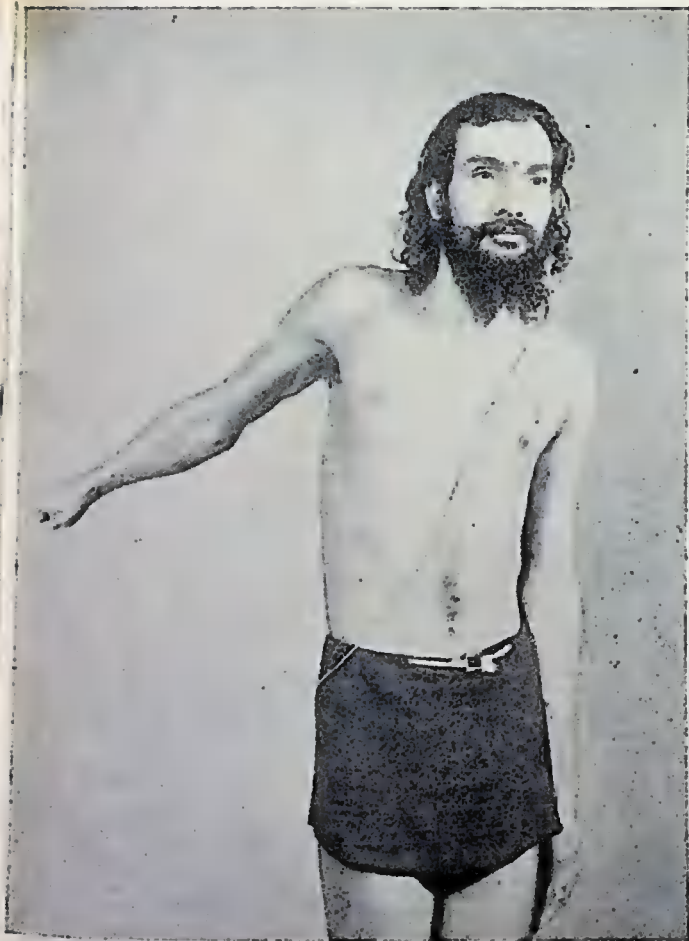
क्रिया नं० १६. पूर्णभुजाशक्ति-विकासक क ख ग घ भाग । नाक से श्वास खींचकर यथासाध्य कुम्भक करें । आगे से ऊपर चक्राकार भुजा को घुमावें, फिर पीछे से ऊपर । इसी प्रकार दूसरी भुजा घुमावें । चित्र नं० २१
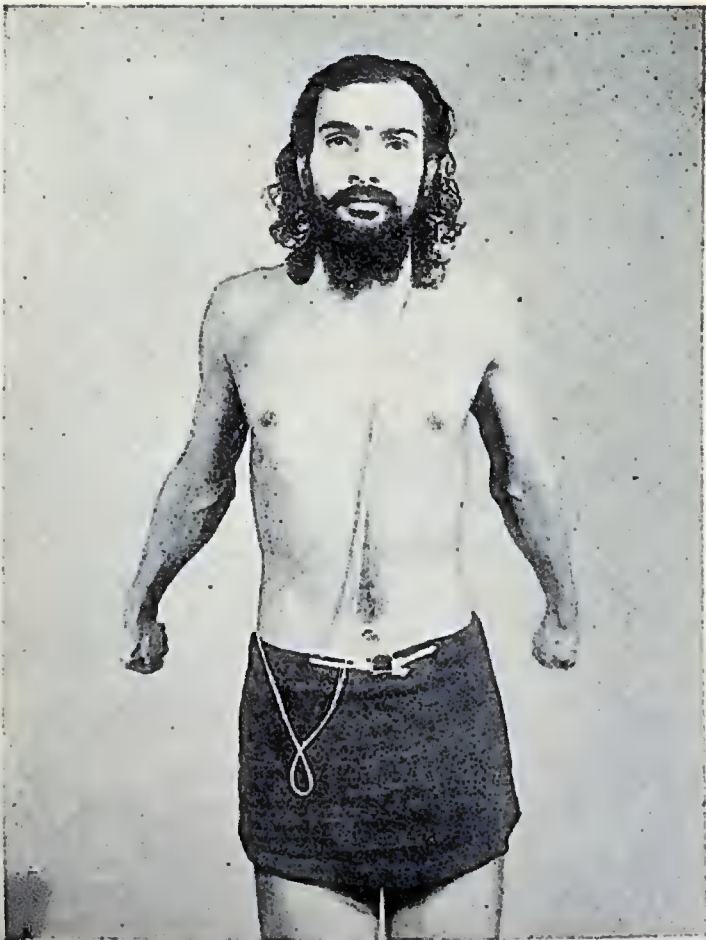
क्रिया नं० १६. पूर्णभुजाशक्ति-विकासक ऊ च भाग। नाक से श्वास भरकर कुम्भक की स्थिति में भुजाओं को आगे से ऊपर चक्राकार घुमावें। फिर पीछे से ऊपर घुमावें। चित्र नं० २२.
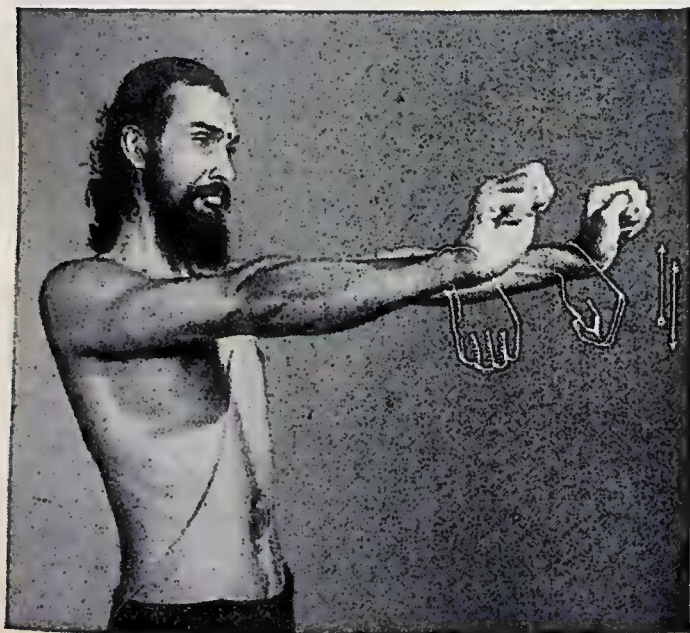
क्रिया नं० १७. मणिवन्धशक्ति-वर्धक क भाग। मणिबन्ध से आगे मुट्ठी को वलपूर्वक यथासाध्य ऊपर-नीचे ले जावें। ५ बार। चित्र नं० २३.

क्रिया नं० १७ मणिबन्ध-वर्धक ख भाग । बलपूर्वक मुट्ठियों को ऊपर-नीचे ले जावें । ५ बार । चित्र नं० २४.

क्रिया नं० १८. करपृष्ठशक्ति-विकासक क भाग। कलाई से अग्रभाग को बलपूर्वक यथासाध्य ऊपर-नीचे ले जावें। ५ वार। चित्र नं० २५.
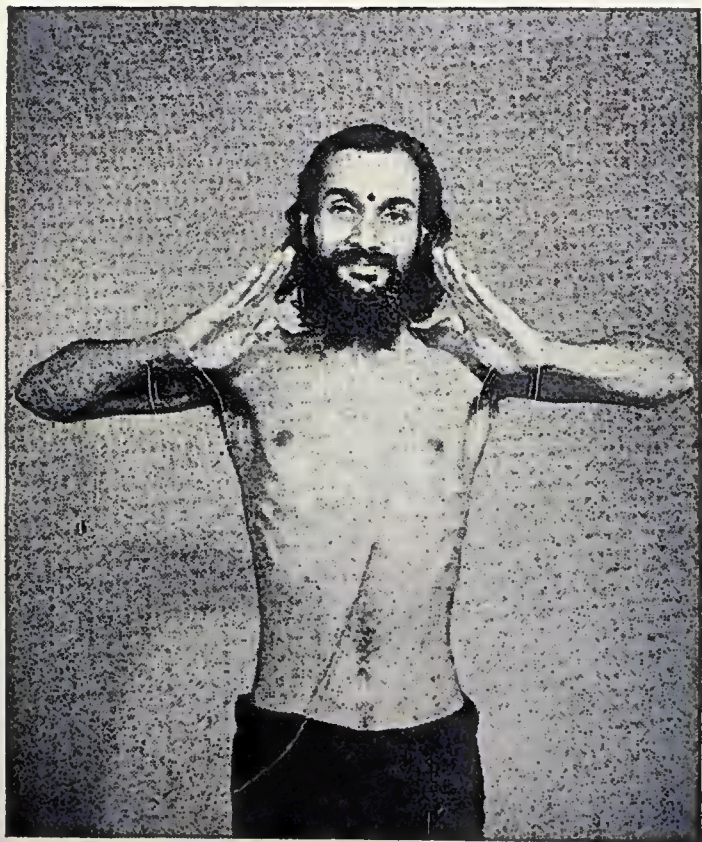
क्रिया नं० १८. करपृष्ठशक्ति-विकासक ख भाग। कलाई से अग्रभाग को बलपूर्वक यथासाध्य ऊपर-नीचे ले जावें। ५ बार। चित्र नं० २६.
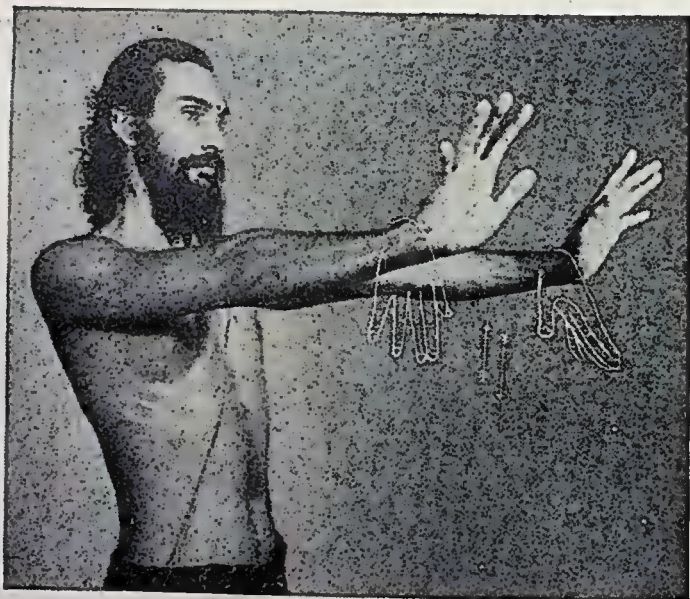
क्रिया नं० १६. करतलशक्ति-विकासक क भाग। यथासाध्य अँगुलियों को फैलाकर कलाई से अग्रभाग को ऊपर-नीचे ले जावें। ५ वार। चित्र नं० २७.
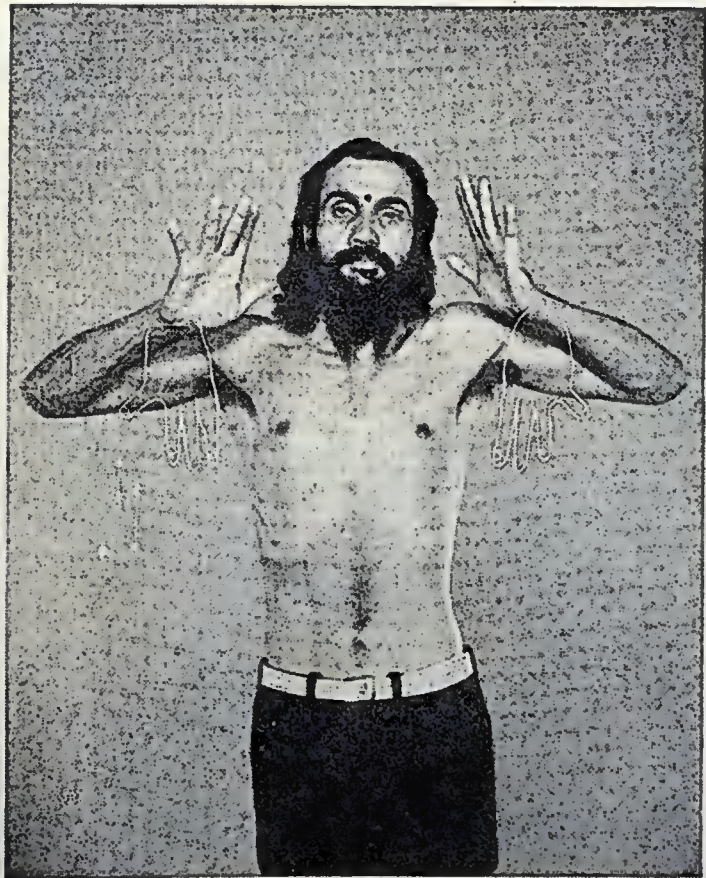
क्रिया नं० १६. करतलशक्ति-विकासक ख भाग। पूर्ववत् करतल को यथासाध्य ऊपर-नीचे ले जावें। ५ बार। चित्र नं० २८.

क्रिया नं० २०. अंगुलीमूलशक्ति-विकासक क भाग। मणिबन्ध तक भुजाओं को यथासाध्य कड़ा रखते हुये हथेली ढीली रखें। चित्र नं० २६.
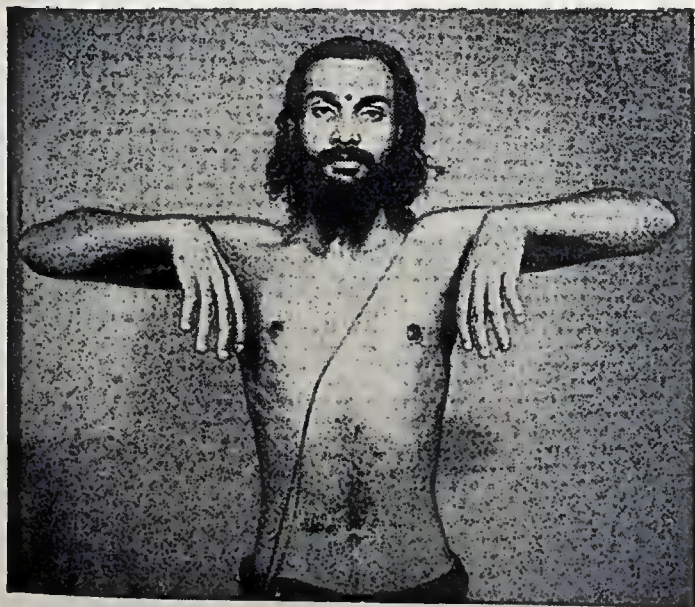
क्रिया नं० २०. अँगुलीमूलशक्ति-विकासक ख भाग। भुजवल्लियों को भुजबन्ध से सटाकर हथेली ढीली रखें। चित्र नं० ३०.
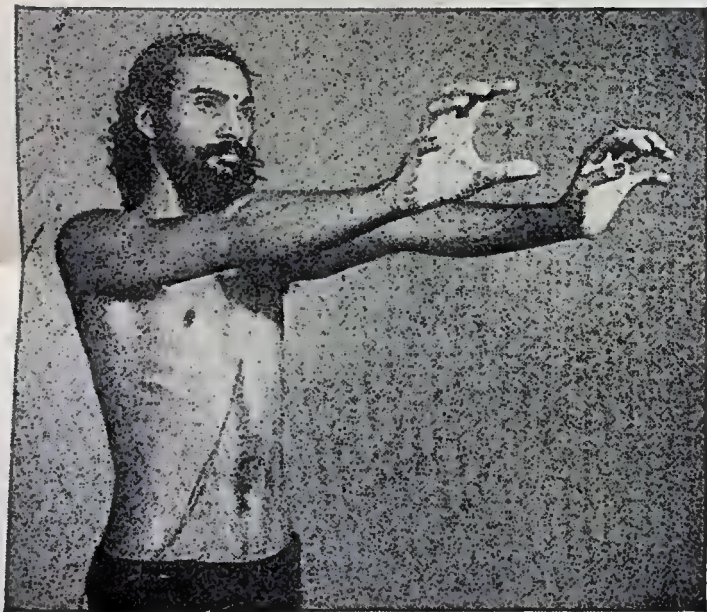
क्रिया नं० २१. अँगुलीशक्ति-विकासक क भाग। अँगुलियों के अग्रभाग को सर्पफण के समान मोड़कर यथासाध्य कड़ा करके रोकें। चित्र नं० ३१.
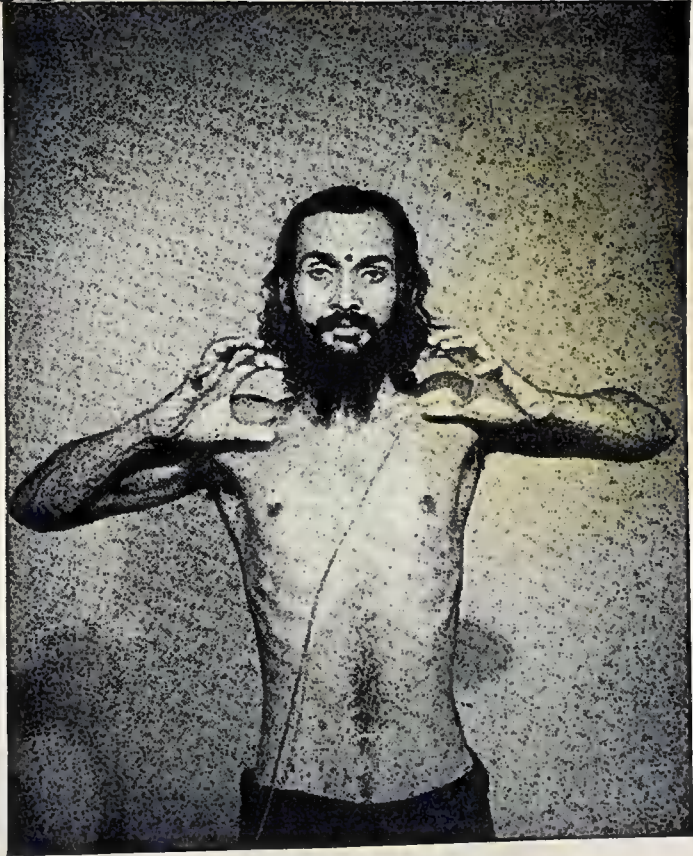
क्रिया नं० २१. अँगुलीशक्ति-विकासक ख भाग। भुजवल्लियों को भुजग्रन्थ के साथ सटाकर अँगुलियां कड़ी करके रोकें। चित्र नं० ३२.

क्रिया न० २२. वक्षःस्थलशक्ति-विकासक १। नाक से श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी भाग को यथासाध्य पीछे की ओर ले जावें। ५ बार। चित्र नं० ३३.
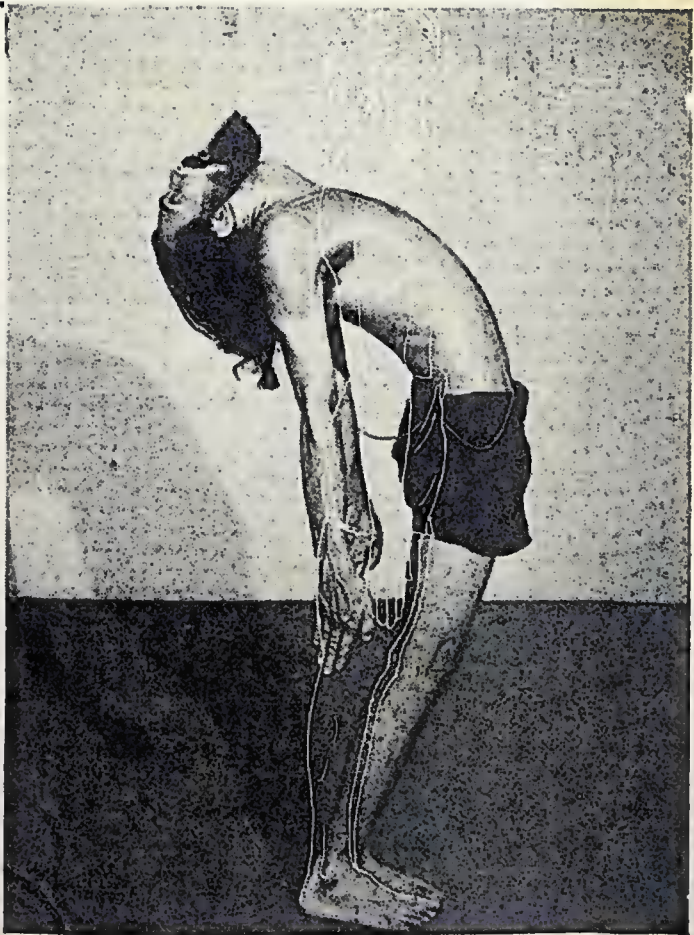
क्रिया नं० २३. वक्षःस्थलशक्ति-विकासक २। श्वास भरते हुए कमर से ऊपरी भाग को यथासाध्य पीछे की ओर ले जावें। श्वास छोड़ते हुए समावस्था में आ जावें। चित्र नं० ३४
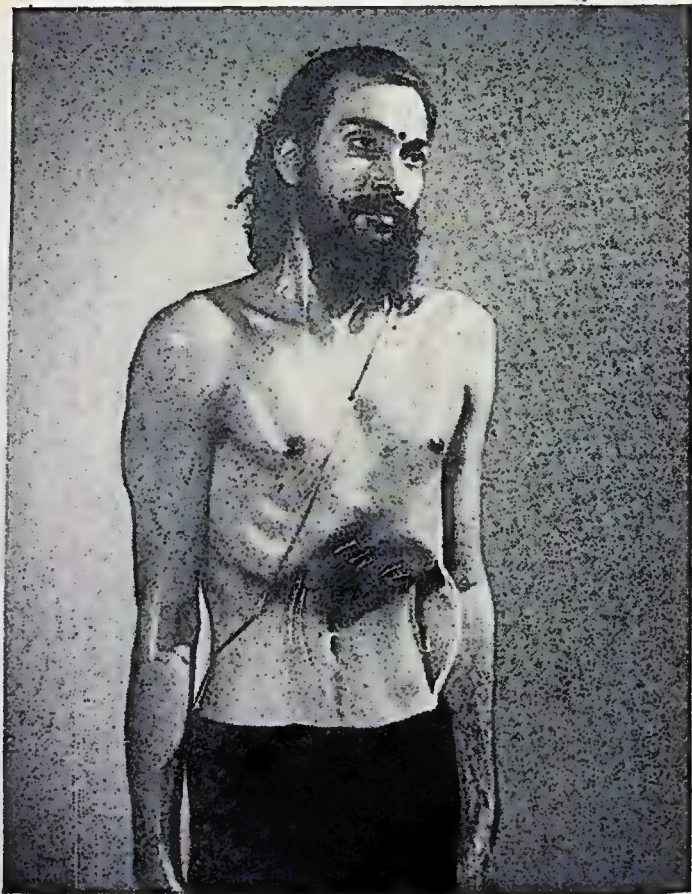
क्रिया नं० २४. उदरशक्ति-विकासक १। नासिका से धीरे-धीरे श्वास छोड़कर पेट को यथासाध्य अन्दर की ओर खींच कर रोकें। फिर श्वास भरकर पेट फुलाकर रोकें। ३ बार।

क्रिय नं० २५.
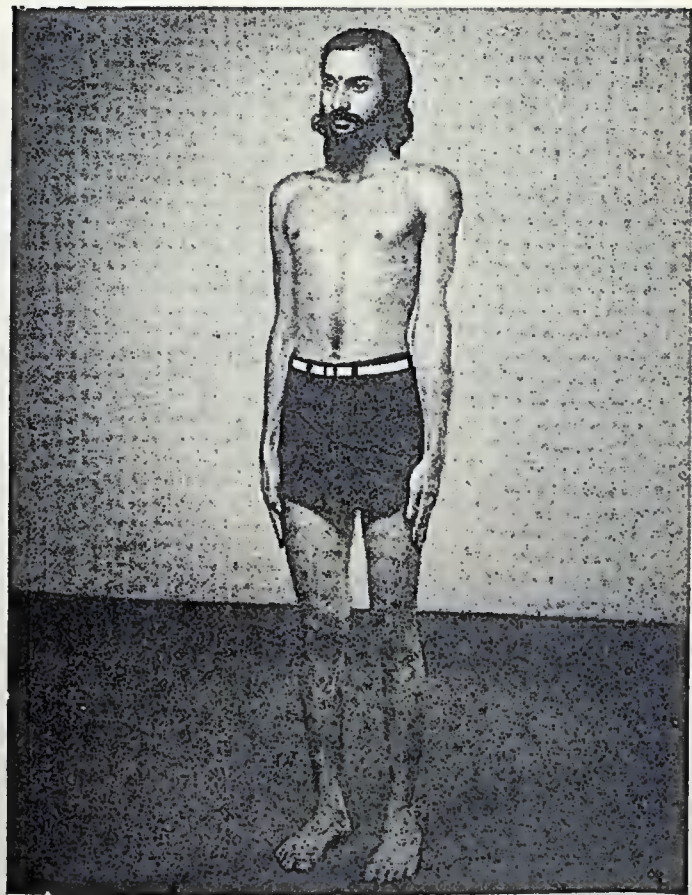
क्रिया नं० २५. उदरशक्ति-विकासक २। नाक से श्वास भरते हुए पेट फुलावें, श्वास निकालते हुए पेट पिचकावें। २५ बार। चित्र नं० ३६.
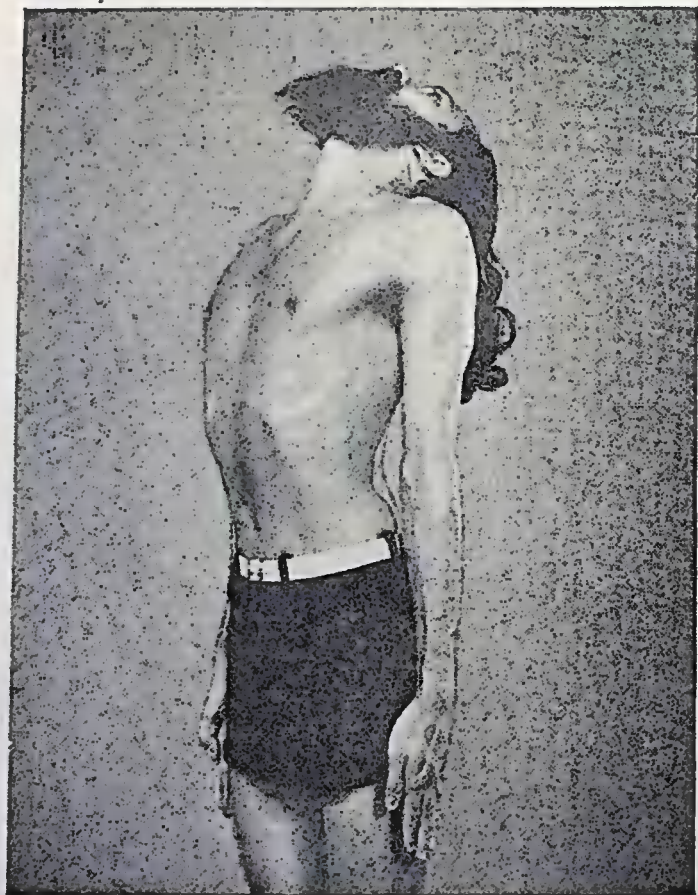
क्रिया नं० २६. उदरशक्ति-विकासक ३। श्वास-प्रश्वास करते हुए पेट फुलावें-पिचकावें। २५ वार। चित्र नं० ३७.
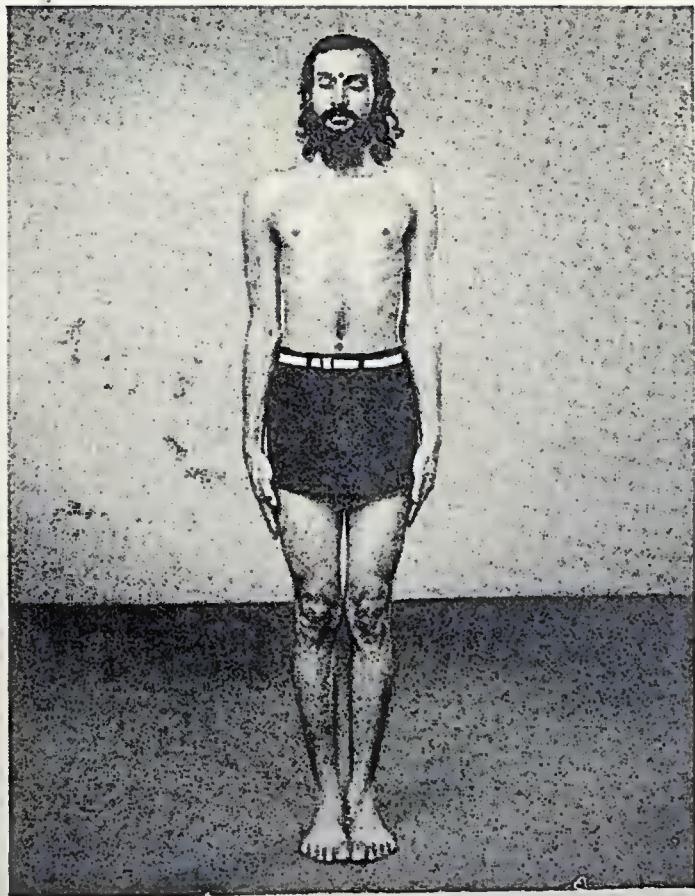
क्रिया नं० २७. उदरशक्ति-विकासक ४। पैरों से डेढ गज दूर पृथ्वी पर देखते हुए श्वास-प्रश्वासपूर्वक पेट फुलावें-पिचकावें। २५ बार। चित्र नं० ३८.
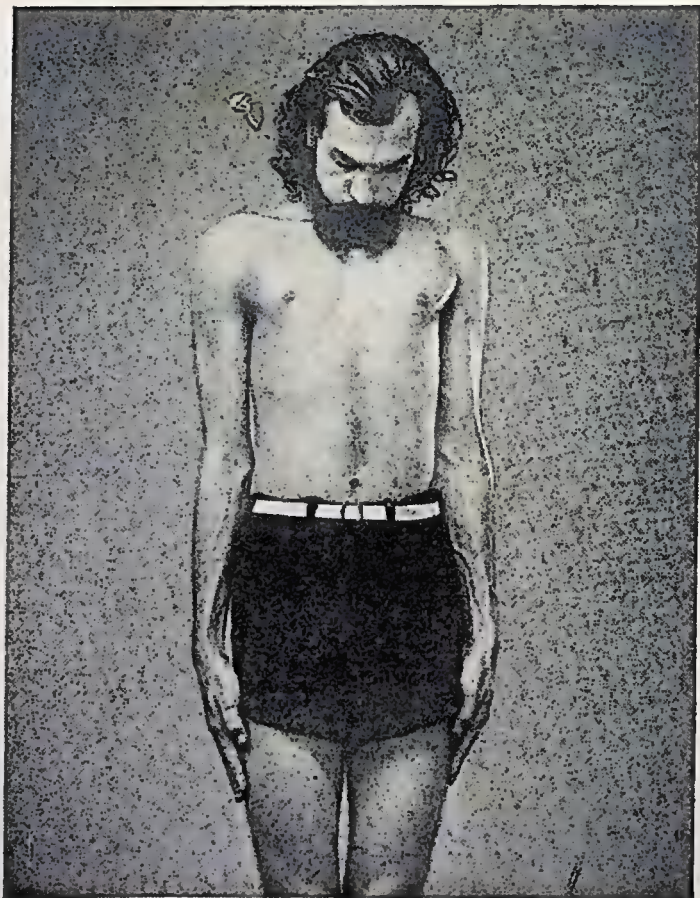
क्रिया नं० २८. उदरशक्ति-विकासक ५ । मुख से श्वास भरकर पेट फुलाकर यथासाध्य रोकें । चित्र नं० ३६.
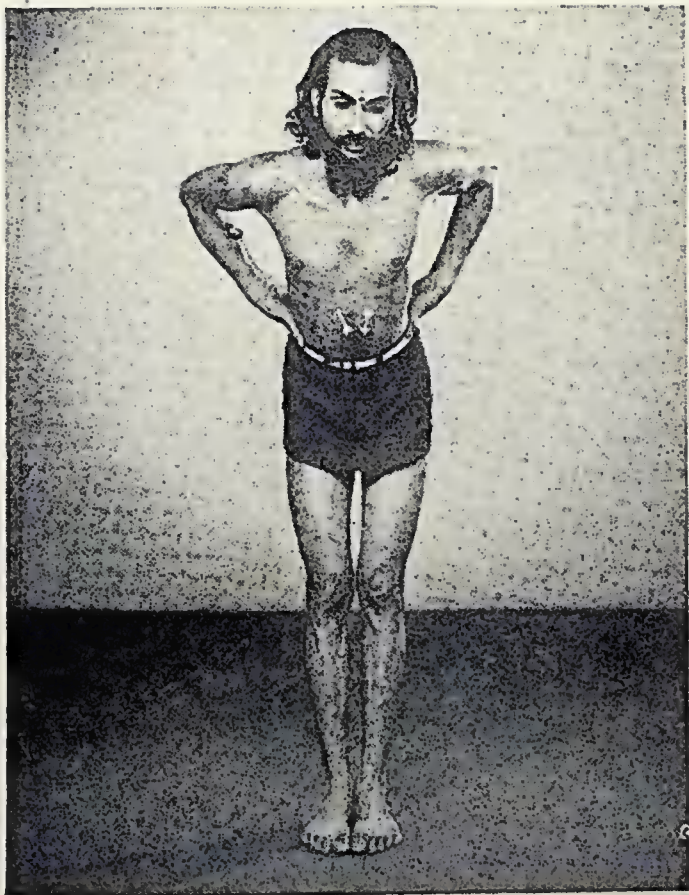
क्रिया नं० २६. उदरशक्ति-विकासक ६। किंचित् आगे झुककर श्वास-प्रश्वास-सहित पेट फुलावे-पिचकावें। २५ वार।
चित्र नं० ४०
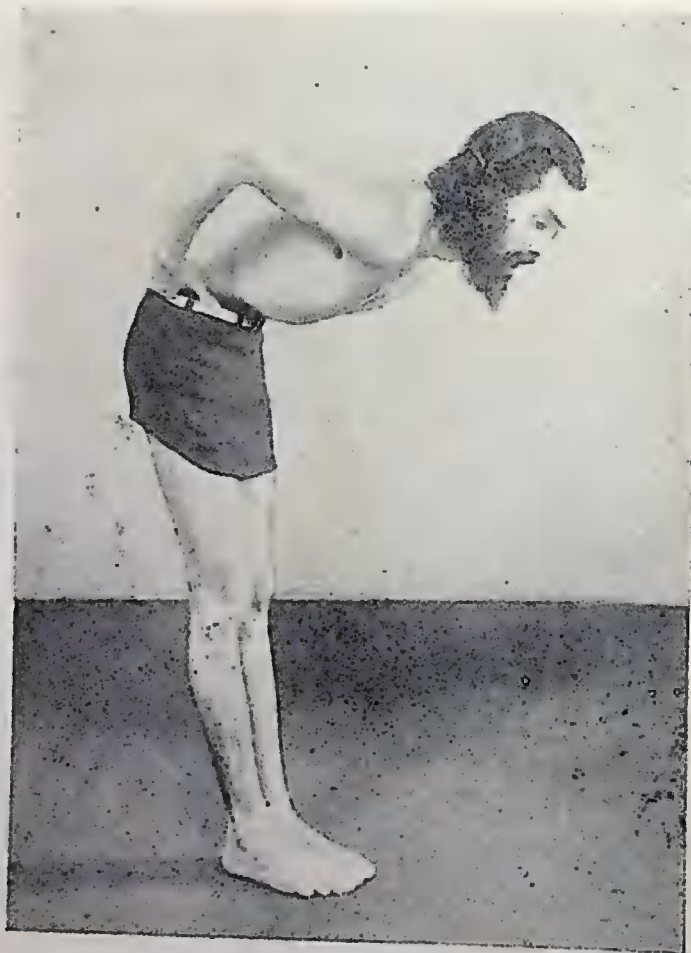
क्रिया नं० ३०. उदरशक्ति-विकासक ७ । नव्बे अंश का कोण बनाते हुए आगे की ओर झुककर श्वास-प्रश्वासपूर्वक
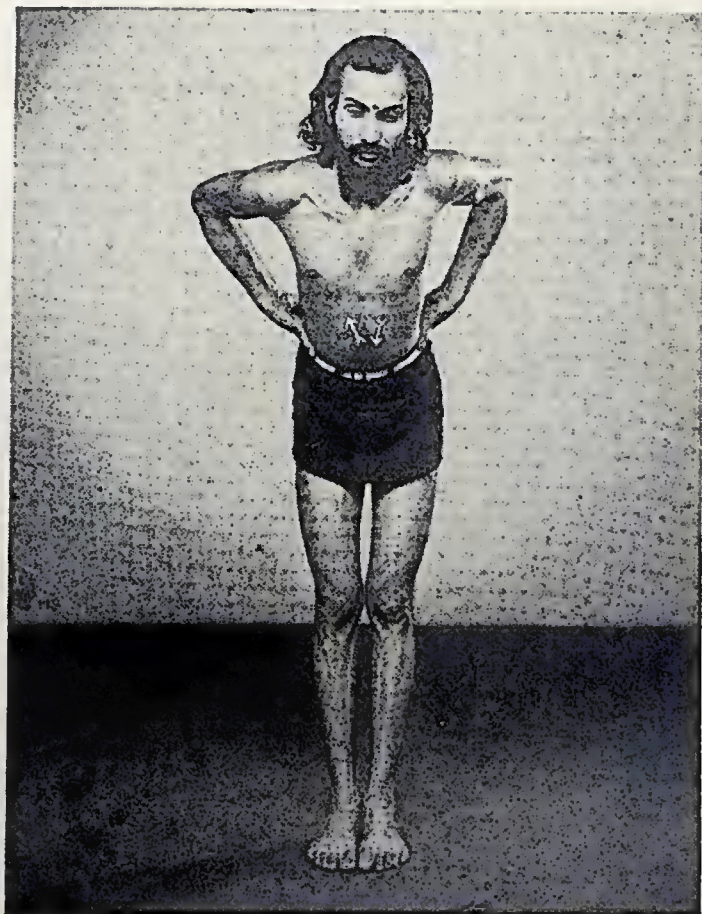
क्रिया नं० ३१. उदरशक्ति-विकासक ८। किंचित् झुककर नाक से श्वास निकाल कर यथासाध्य बाह्य कुम्भक की स्थिति में पेट फुलावें-पिचकावें। २५ बार। चित्र नं० ४२.
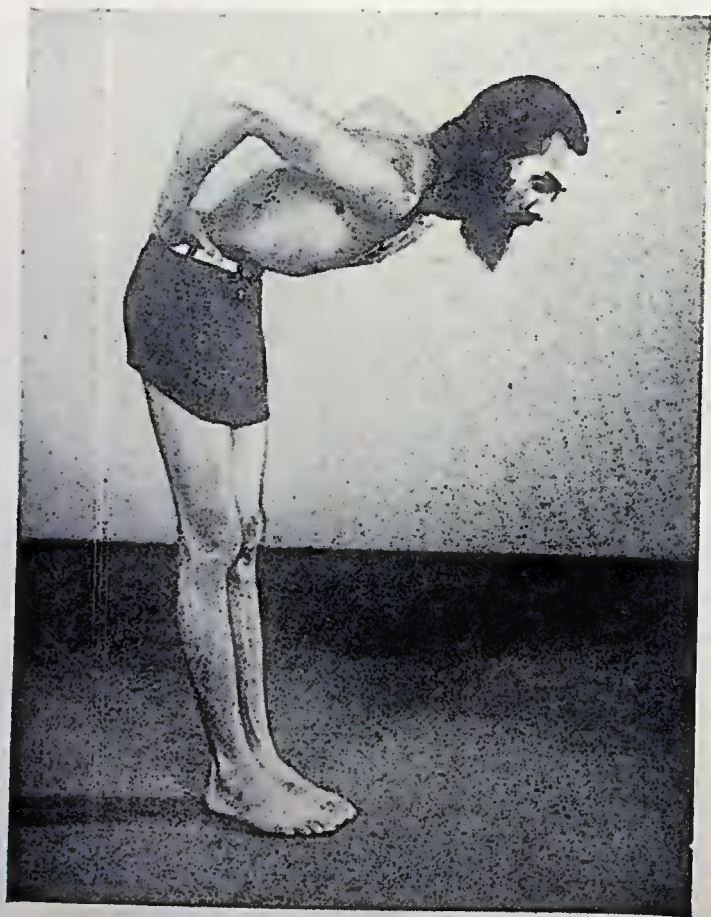
क्रिया नं० ३२. उदरशक्ति-विकासक ९[०] नब्बे अंश[ ]का कोण बनाते हुए झुककर नाक से श्वास बाहर निकाल कर बाह्य कुम्भक की स्थिति में पेट फुलावें-पिचकावें। २५ बार।
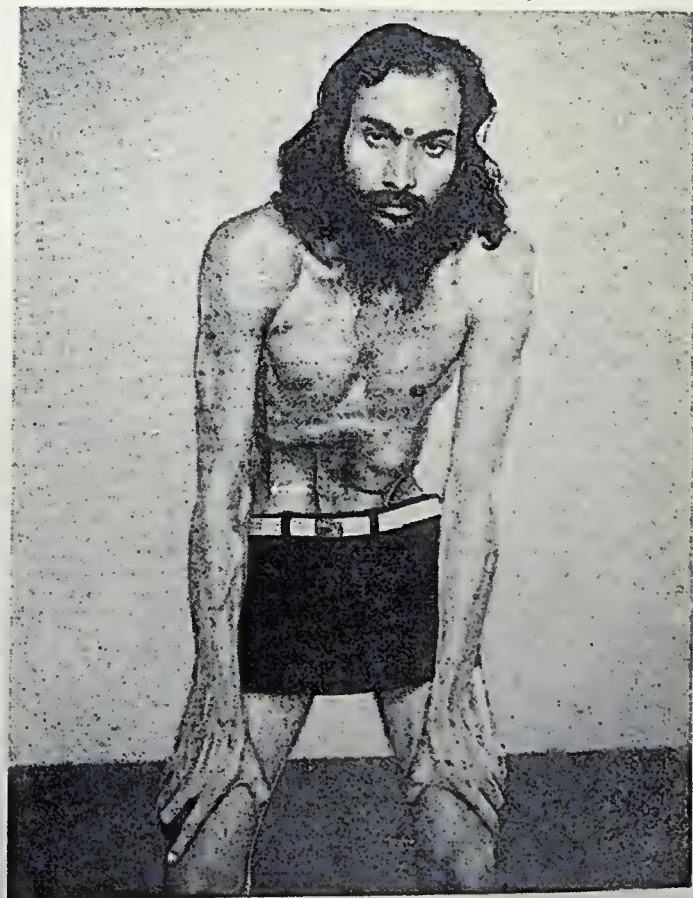
क्रिया नं० २३. उदरशक्ति-विकासक १० क भाग। नाक से श्वास निकाल कर बाईं ओर नल निकालें। चित्र ४४.
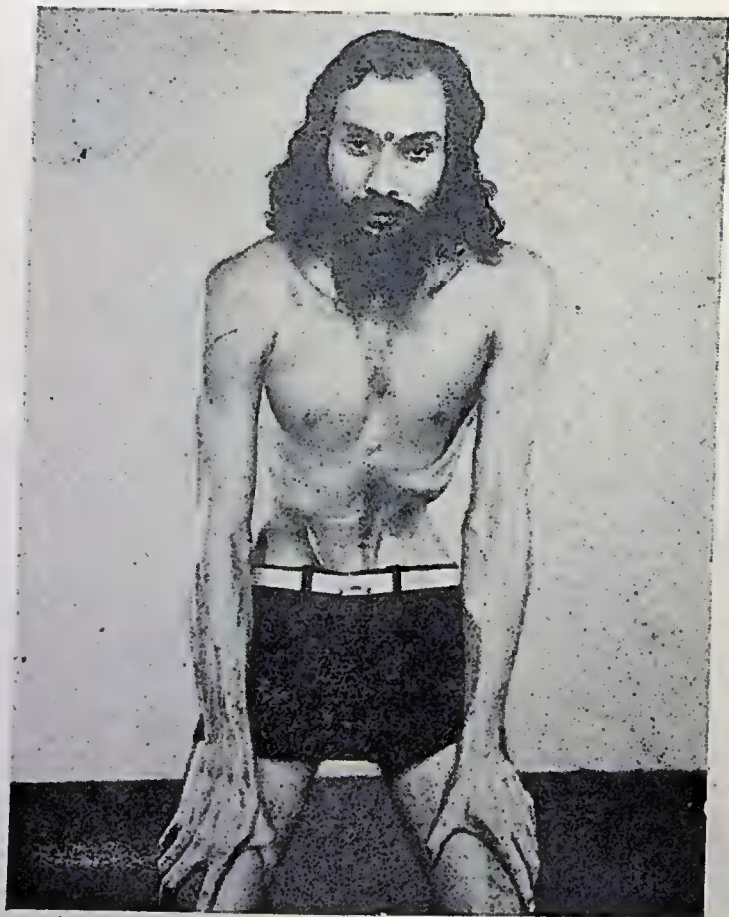
क्रिया नं० ३३. उदरशक्ति-विकासक १० ख भाग। दाईं ओर नल निकालें। [illegible] वार। चित्र नं० ४५.
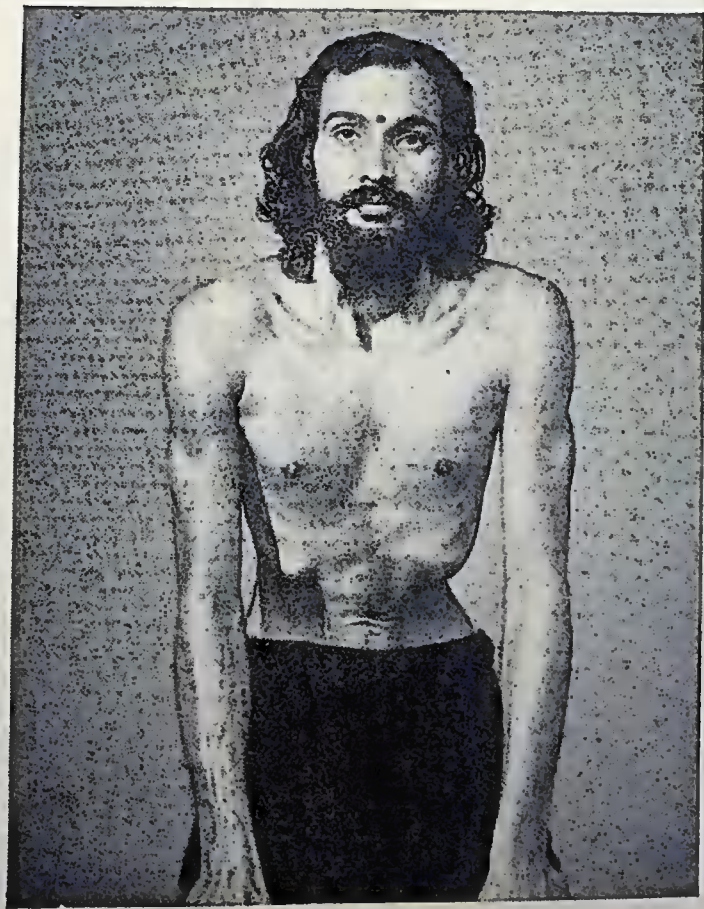
क्रिया नं० ३३. उदरशक्ति-विकासक १० ग भाग। श्वास निकाल कर मध्य में नल निकाल कर यथासाध्य रोकें। चित्र नं० ४६.

क्रिया नं० ३४. कटिशक्ति-विकासक १। नाक से श्वास भरते हुए पीछे तथा श्वास निकालते हुए आगे की ओर धीरे-धीरे यथासाध्य झुकें। ५ बार। चित्र नं० ४७.
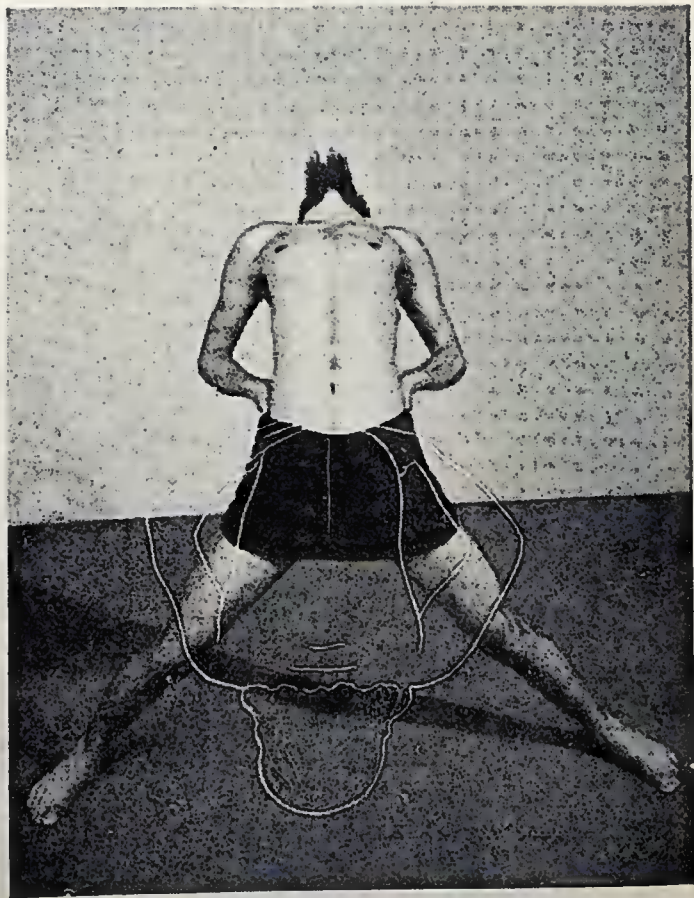
क्रिया नं० ३५. कटिशक्ति-विकासक २। श्वास भरते हुए पीछे तथा श्वास निकालते हुए आगे की ओर धीरे-धीरे यथासाध्य झुकें। ५ बार। चित्र नं० ४८.

क्रिया नं० ३६. कटिशक्ति-विकासक ३। श्वास भरते हुए झटके से पीछे तथा श्वास निकालते हुए आगे की ओर यथासाध्य झुकें। २५ वार। चित्र नं० ४९.
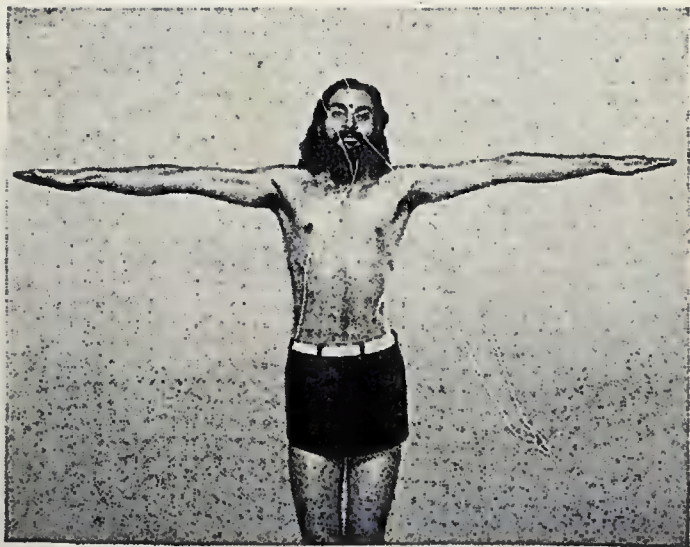
क्रिया नं० ३७. कटिशक्ति-विकासक ४। दोनों भुजाओं को सीध में रखते हुए क्रमशः दाईं-बाईं ओर यथासाध्य झुकें। ५ बार। चित्र नं० ५०.
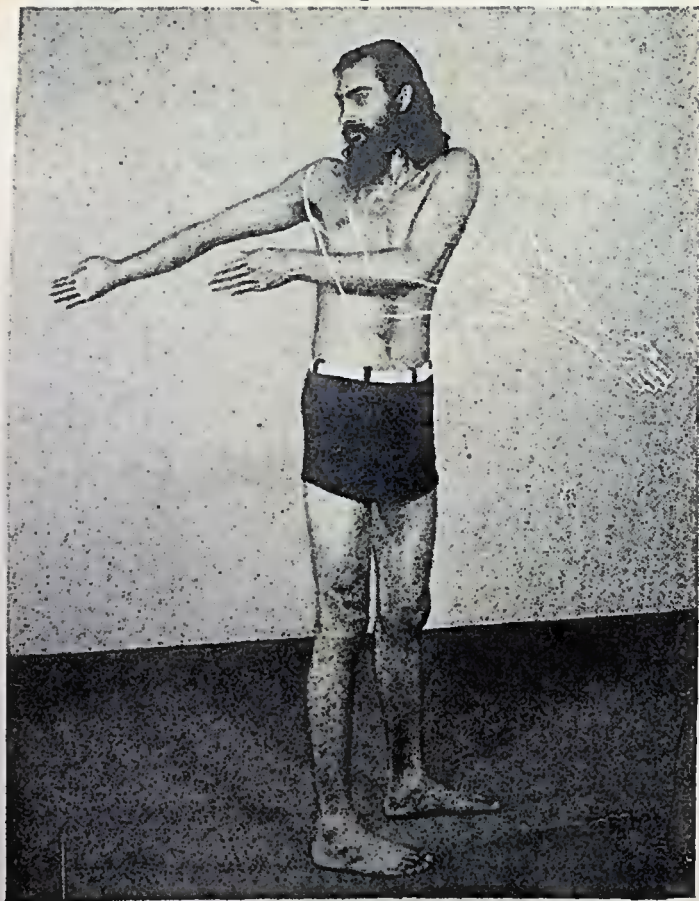
क्रिया नं० ३८. कटिशक्ति-विकासक ५। तेजी से कमर से ऊपरी भाग को क्रमशः दाईं-बाईं ओर ले जाकर नाक से श्वास छोड़ें तथा मध्य में भरें। १० बार। चित्र नं० ५१.
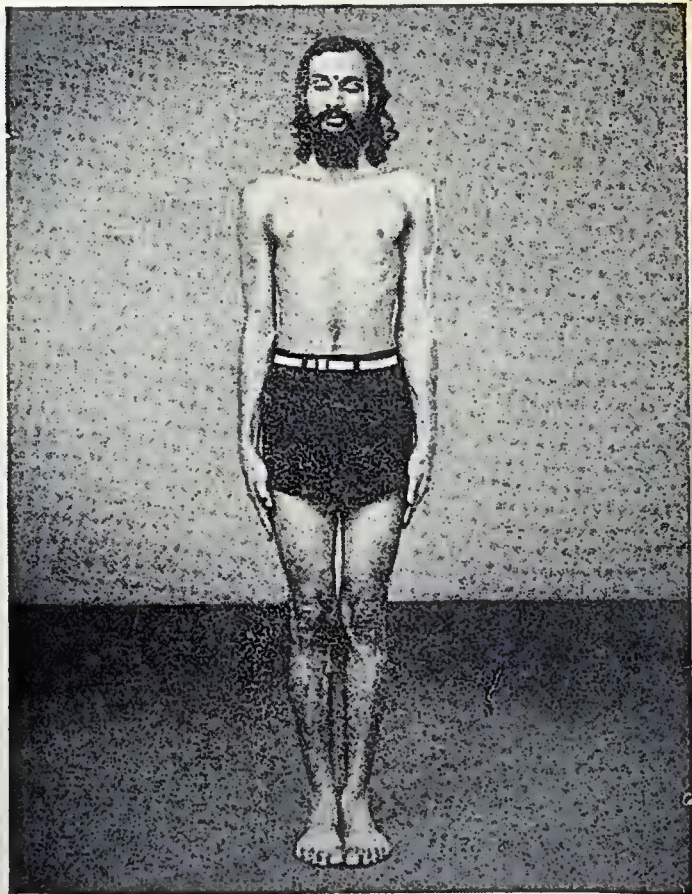
क्रिया नं० ३६. मूलाधारचक्र-शुद्धि क ख भाग। गुदाचक्र को संकोचन करते हुए नीचले शरीर को ऊपर की ओर खींचकर यथासाध्य रोकें। चित्र नं० ५२.

क्रिया नं० ४०. उपस्थ तथा स्वाधिष्ठान चक्र-शुद्धि। आन्तरिक वल द्वारा गुदा-सहित उपस्थ को ऊपर खींचे हुए यथासाध्य रोकें। चित्र नं० ५३.
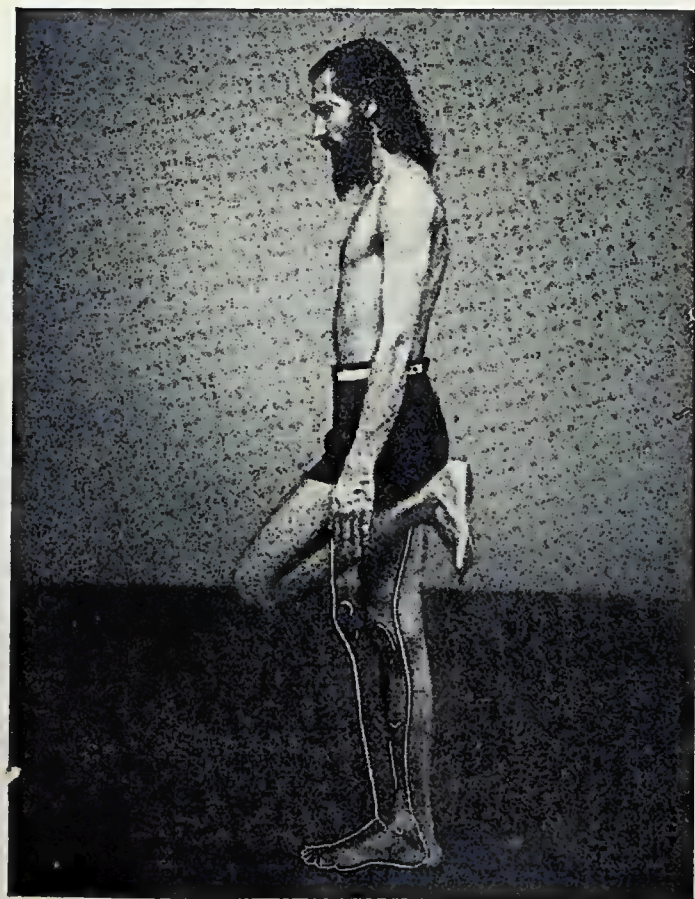
क्रिया नं० ४१. कुण्डलिनीशक्ति-विकासक। क्रमशः बाईं-दाईं एड़ी से नितम्ब-पृष्ठ पर मारें। २५ बार। चित्र नं० ५४.
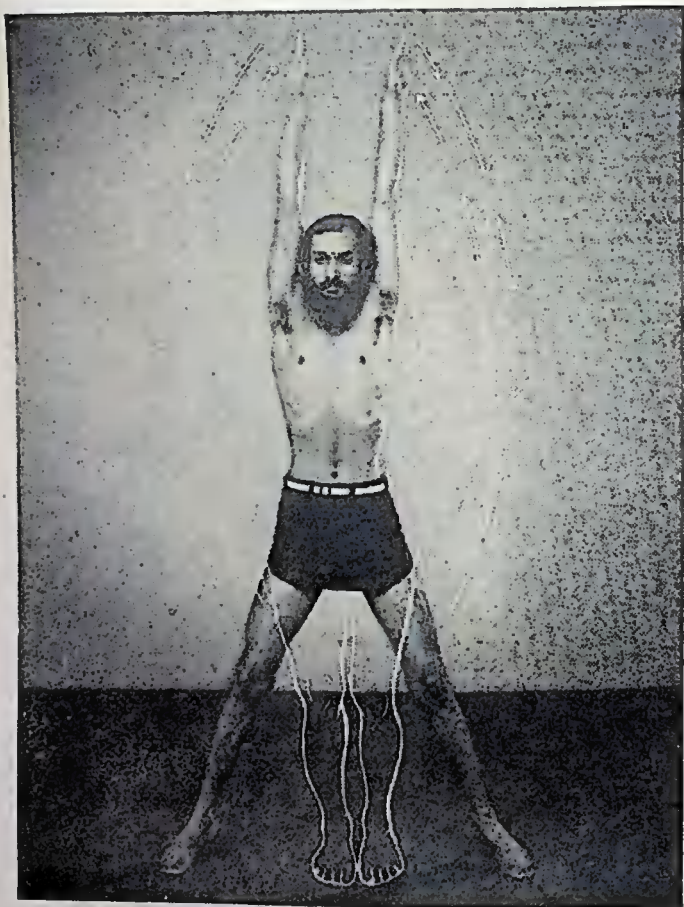
क्रिया नं० ४२. जंघाशक्ति-विकासक १ क ख भाग। हाथ ऊपर करके नाक से श्वास भरें तथा नीचे आते समय निकालें। २५ बार। फिर उसी को श्वास उलट कर करें। २५ बार। चित्र नं० ५५.
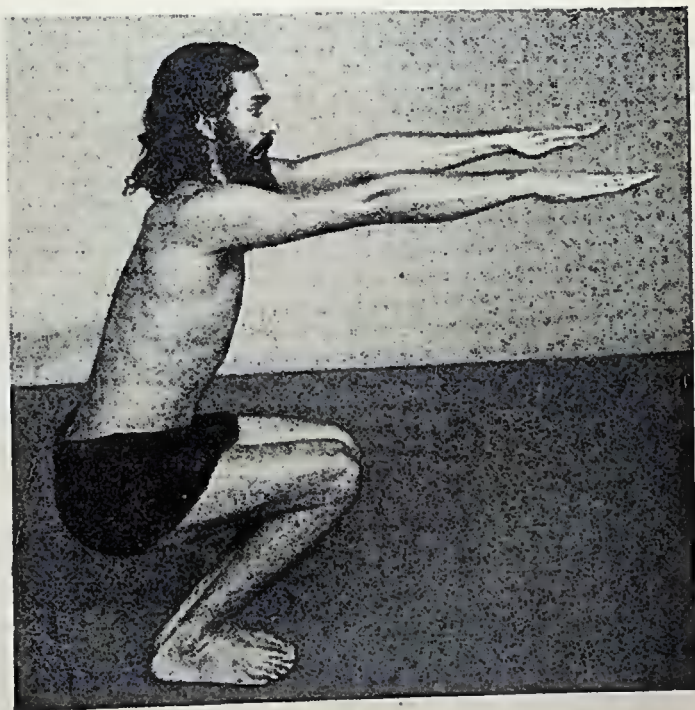
क्रिया नं० ४३. जंघाशक्ति-विकासक २ क भाग। श्वास भरते हुए आधे बैठें। फिर साधारण श्वास में यथासाध्य रुकें। चित्र नं० ५६.

क्रिया नं० ४३. जंघाशक्ति-विकासक २ ख भाग। श्वास रोकते हुए आधे बैठकर साधारण श्वास में यथासाध्य रुकें। चित्र नं० ५७.
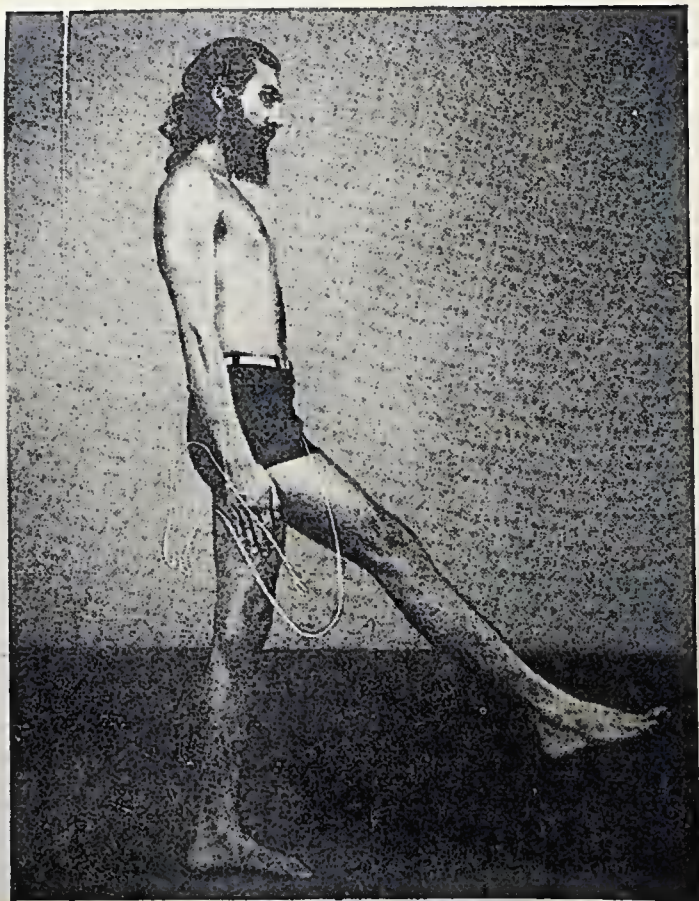
क्रिया नं० ४४. जानुशक्ति-विकासक। क्रमशः दायें-वायें पैर की एड़ी से नितम्व-पृष्ठ पर जोर से मारकर झटका दें। १० वार। चित्र नं ५८.
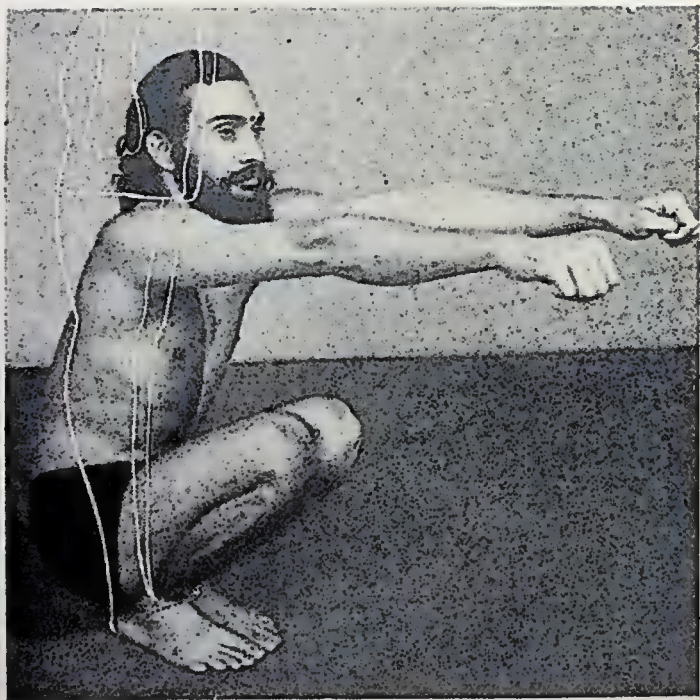
क्रिया नं० ४५. पिण्डलीशक्ति-वर्धक । श्वास भरते हुए दोनों हाथों को आगे ले जाते हुए बैठें। आवृताकार घुमाते हुए उठें। १० बार। चित्र नं० ५६.
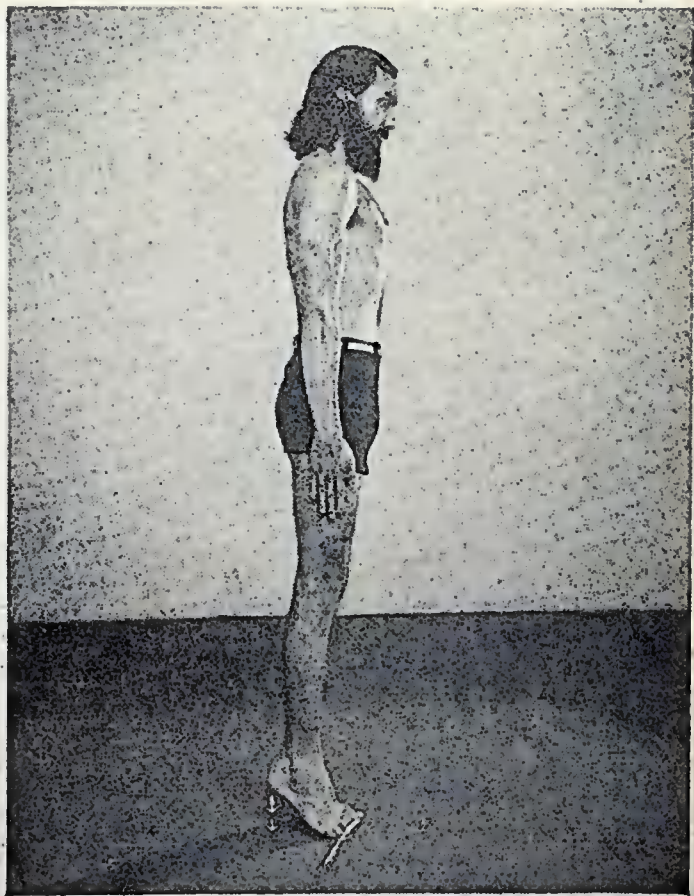
क्रिया नं० ४६. पादमूलशक्ति-विकासक क ख भाग। पंजे के बल स्प्रिंग की भांति एड़ी ऊपर-नीचे करें २५ वार। और पंजों के बल ही ऊपर उछलें। १० वार। चित्र नं० ६०.
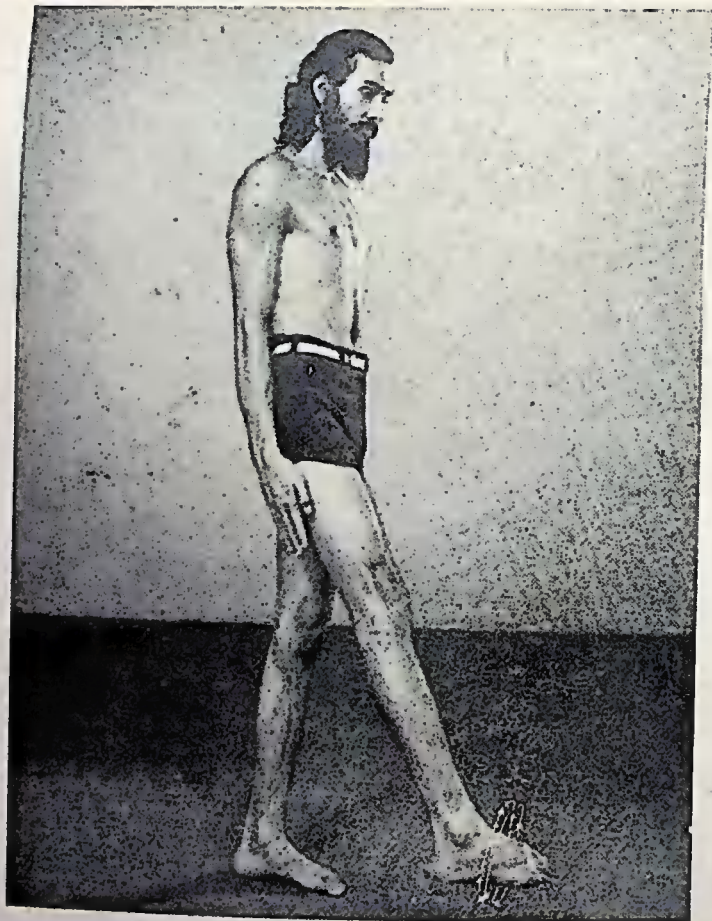
क्रिया नं० ४७. गुल्फ, पादतल, पादपृष्ठ-शक्ति-विकासक । पैर को पृथ्वी से एक बालिस्त ऊपर तीन बार दाईं ओर तीन बार बाईं ओर क्रमशः आवृताकार घुमावें । चित्र नं० ६१.
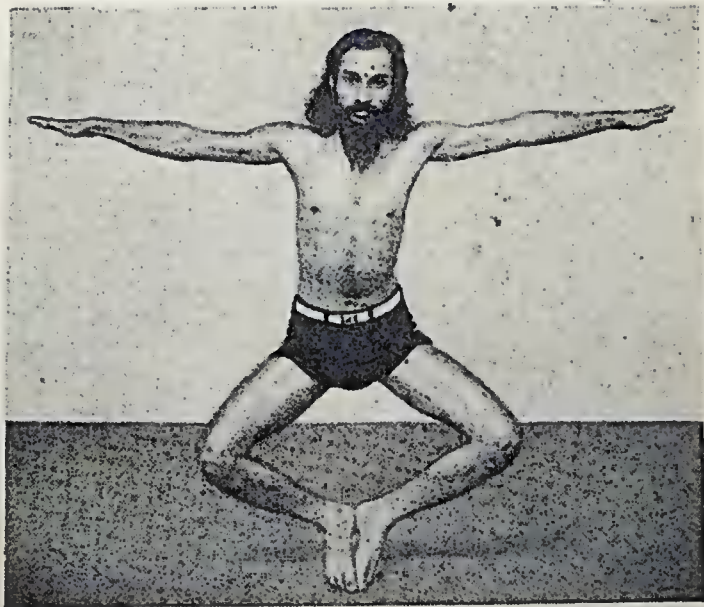
क्रिया नं० ४८. पादांगुलीशक्ति-विकासक । केवल अंगुलियों पर भार देकर यथासाध्य रुकें । चित्र नं० ६२.

नोट—ऊपर लिखे हुए समय सब आरम्भिक क्रम के हैं ।

हमारे प्रकाशन:—

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम	...	...	हिन्दी
यौगिक सूक्ष्म व्यायाम	...	...	इंगलिश
योगासन विज्ञान	...	...	हिन्दी
योगासन विज्ञान	...	...	इंगलिश
यौगिक सूक्ष्म व्यायाम चार्ट	...	...	हिन्दी
यौगिक सूक्ष्म व्यायाम चार्ट	...	...	इंगलिश
आसन चार्ट	...	...	हिन्दी
आसन चार्ट	...	...	इंगलिश

विश्वायतन योगाश्रम

अशोक रोड

गोल डाकखाने के सामने

नई दिल्ली—१

तार : विश्वपथ
नई दिल्ली

दूरभाष :
३८८०१४
३८८११८
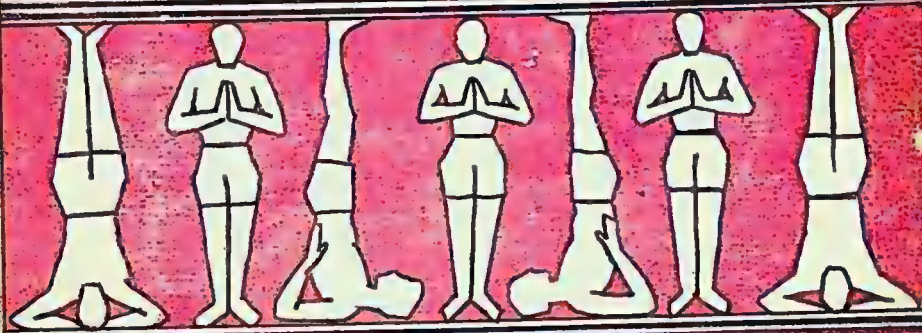
योग आसन
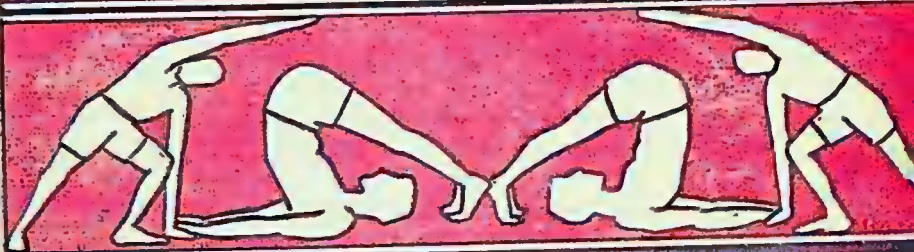
मोटापा कम कैसे करें

राजेश दीक्षित

मोटापे से परेशा स्त्री-पुरुषों के लिए एक अत्यन्त उपयोगी सचित्र पुस्तक, जिसमें मोटापा उत्पन्न होने के कारण, मोटापा कम करने वाले व्यायाम, भोजन तथा अन्य उपायों के साथ ऐसी अनेक सरल विधियां दी गई हैं, जिनका प्रयोग करके सहज में ही मोटापे से छुटकारा पाया जा सकता है। पुस्तक में दिये गए अध्यायों का वर्णन : १. मोटापा और उसके कारण, २. मोटापे की हानियां, ३. मोटापा कम करने के उपाय, ४. मोटापा और औषध प्रयोग, ५. दैनिक कार्यक्रम, ६. स्त्रियों उपयोगी व्यायाम, ७. पुरुषो के लिए उपयोगी व्यायाम, ८. दोबारा मोटापा रोकने के व्यायाम, ९. अवस्था के अनुसार शारीरिक वजन इत्यादि। पृष्ठ सख्या १०८, चित्र ६६।

मूल्य केवल साढ़े चार रुपया

अपना कद कैसे बढ़ाएं

राजेश दीक्षित

मुख तथा शरीर का समस्त सौन्दर्य फीका जान पड़ता है यदि कद छोटा हो। व्यक्तित्व के निखार एवं आकर्षण के हेतू कद बढ़ाने वाले व्यायाम तथा अन्य उपायों का इस पुस्तक में विस्तृत एवं सचित्र वर्णन किया गया है। अपने शारीरिक कद को लम्बा करने के इच्छुक प्रत्येक स्त्री-पुरुप के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक में वर्णित उपायों द्वारा आप अपने तथा अपनी सन्तान के शारीरिक कद में वृद्धि कर सकते हैं।

पृष्ठ सख्या १००　　　　चित्र संख्या ६९

मूल्य केवल साढे चार रुपया

देहाती पुस्तक भण्डार दिल्ली—६
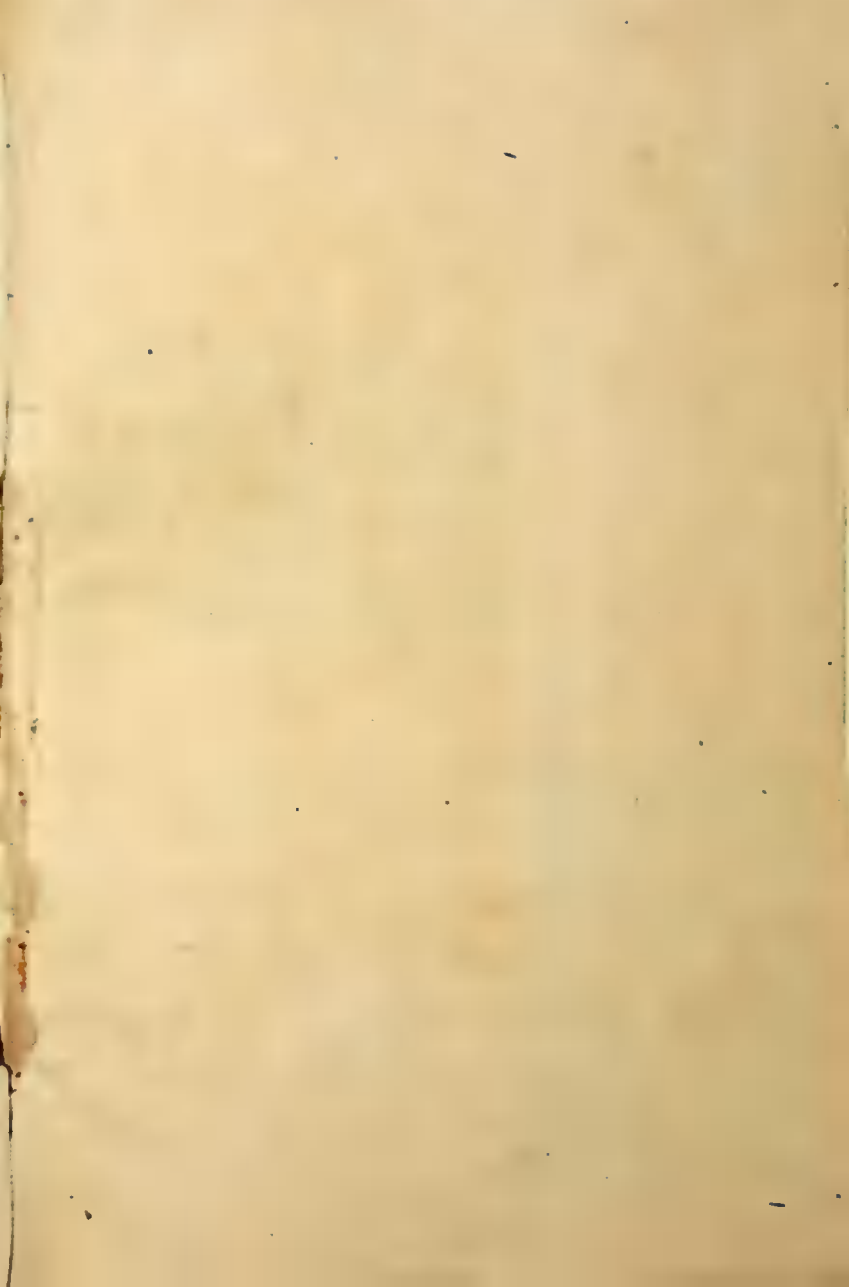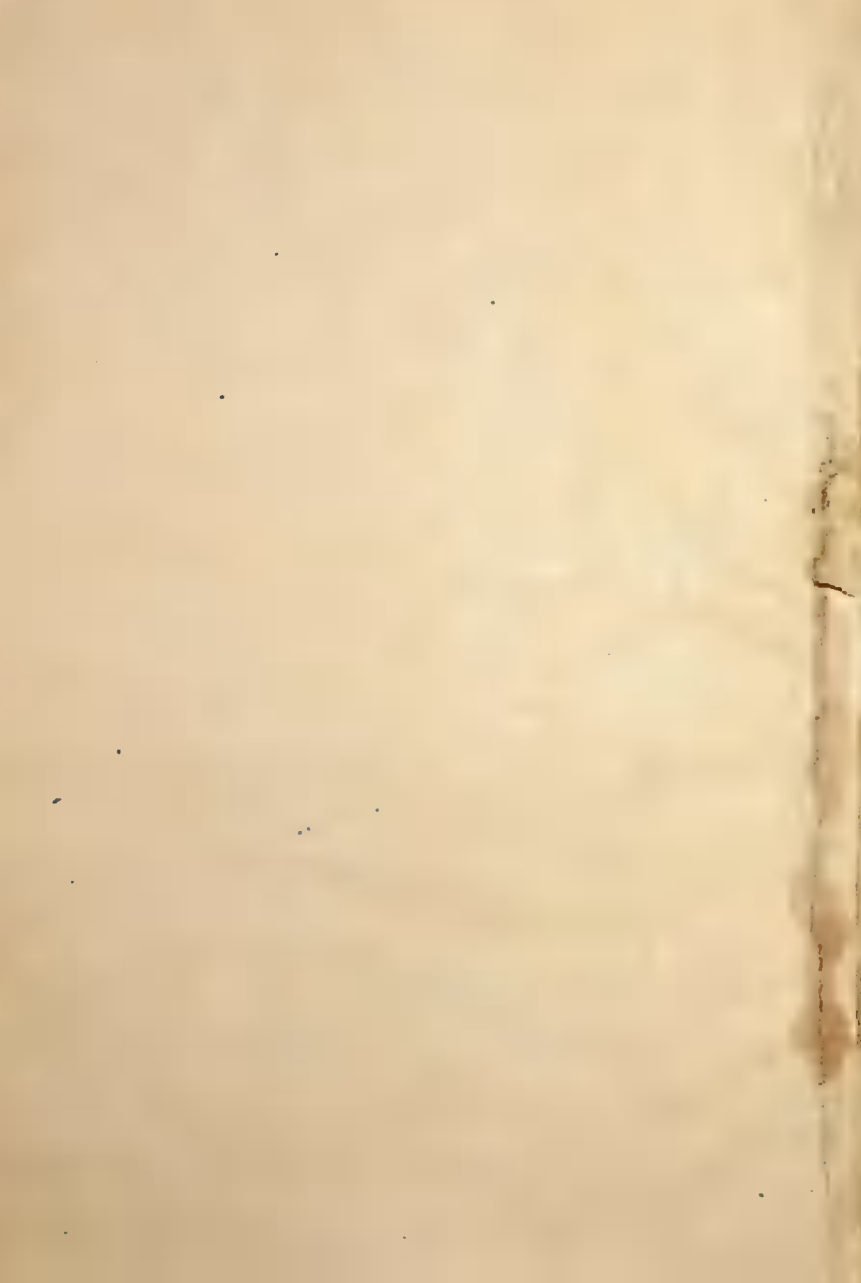
बड़ा
योगासन
प्राचीन व्यायाम-पद्धति

जीवन मे सच्चा सुख पाने के लिए योगासन पद्धति को अपनाएं। इससे आप अपने शरीर को निरोगी एवं पूर्ण स्वस्थ रखकर दीर्घ जीवन तक अपना तथा परिवार का व देश की प्रगति में बहुमूल्य योग दे सकेंगे।

हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों द्वारा बताये हुये योग मार्ग की शरण में आकर मानसिक रोगों (चिन्ता तनाव, संतुलन) एवं शारीरिक रोगों (कब्ज, मोटापा, गैस, ब्लडप्रेशर, हृदयरोग, दमा, डायबिटीज आदि) से छुटकारा पाकर आप सच्चा सुख शान्ति और आनन्द प्राप्तकर परिवार एवं समाज की सेवा में सहभागी बनें।

आज हम जिस ओर भाग रहे हैं, वह मार्ग सीधा नहीं है—एक भुलावा है। डाक्टरों और अस्पतालों की संख्या तो बढ़ी है, पर मरीजों की घटी नहीं है, क्योंकि यह सब काम रोग बढ़ाने के हैं, घटाने के नहीं। आसन, प्राणायाम हमारी प्राचीन वैज्ञानिक व्यायाम-प्रणाली है, जो हमें अच्छा स्वास्थ्य भी देती है और दीर्घायु भी बनाती है और यह प्राणिमात्र के चलने का सीधा मार्ग भी है।

आधुनिक युग में विश्व के अनेक देशवासी योगासनों की ओर आकर्षित हो चुके हैं, खेद है कि अपने घर की ही हम विद्या को भूलते जा रहे हैं।

राजपाल पुस्तक भण्डार

BARA YOGASAN : A Complete Book On Yogasan.

Yogiraj Sewanandji Maharaj

॥ ओ३म् ॥

प्राचीन व्यायाम-पद्धति

बड़ा योगासन

(स्त्रियों के लिए उपयुक्त योगासन की विधियों सहित)

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्

मृत्यु तो किसी के द्वारा रोकी नहीं जा सकती। प्राचीन भारतीय योगासनों के अभ्यास द्वारा १०० वर्ष तक सुन्दर स्वास्थ्य युक्त दीर्घकालीन अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

इस नवीन संस्करण में स्त्रियों के लिए लाभदायक कुछ योगासनों का विवरण और बढ़ा दिया गया है। अतः यह पुस्तक स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ही उपयोगी बन गई है।

लेखक

योगीराज श्री स्वामी सेवानन्द जी महाराज

देहाती पुस्तक भण्डार (Regd.)

चावड़ी बाजार, दिल्ली–110006

फोन : 265403, 264191, 261030

प्रकाशक
देहाती पुस्तक भण्डार
चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६

लेखक
योगीराज श्री स्वामी सेवानंदजी महाराज

मूल्य
स्वदेश में : 6 रुपये
विदेश में : { 15 शिलिंग, ½ £, 1 $ }

मुद्रक
टैक्निकल प्रिंटिंग प्रेस
सोनीपत (निकट दिल्ली)

BARA YOGASAN By YOGIRAJ SEWANAND JI MAHARAJ

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक 'योगासन' में क्या विषय है, यह तो इसके नाम से ही स्पष्ट है। योगासन का शब्दार्थ, उसके शास्त्रीय प्रमाण, उसकी क्रियाविधि तथा लाभादि का वर्णन पुस्तक में विस्तृत रूप से दिया गया है। अतः इस सम्बन्ध में यहां कुछ भी उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। हां, इतना अवश्य निवेदन करना चाहता हूं कि यह योगासन-प्रणाली मेरी अथवा किसी व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत-पूंजी नहीं, वरन् परम्परागत अपने प्राचीन ऋषि, महर्षियों की हमारे लिए अनमोल देन है। समय-समय पर उत्पन्न होने वाले महानुभावों द्वारा इस योगासन परम्परा का अपने अनुभवों द्वारा प्रकटन, देशकाल, बलाबल के अनुसार होता है, इसी कारण इनकी गणना-संख्या भी भिन्न-भिन्न प्राचीन शास्त्रों में पृथक्-पृथक् प्राप्त होती है। अस्तु, जो भी कुछ हो, हम उस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से असहमति प्रकट नहीं करते कि पुरातन भारतीय परम्परा की यह अनमोल प्रणाली आज भी यदि ठीक प्रकार से अपनाई जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि पाश्चात्य सभ्यता के पोषकों की आंखें खोल देने वाली योग प्रणाली आज भी हमारे कल्याण का हेतु बन सकती है और सात्विक भावना को प्रोत्साहित कर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, सुख एवं शान्ति को प्राप्त करा सकती है।

योगासनों के सम्बन्ध में इतना कह देना नितान्त आवश्यक है कि इस विषय के किसी अनुभवी सज्जन की सहायता के बिना केवल पुस्तक के सहारे आरम्भ न करें। पुस्तक तो यथा समय सहायक होगी, परन्तु एक बार प्रत्यक्ष रूप से देखने से क्रियाविधि अधिक सुगम हो जाती है।

—लेखक

रोग और आसन

अजीर्ण : जानुशिरासन, भुजंगासन, पद्मासन
मन्दाग्नि : पश्चिमोत्तानासन, शलभासन, अर्ध-कूर्मासन
आंतों के रोग : पद्मासन, पवन मुक्तासन, भुजंगासन, अर्द्ध पद्मासन, जानुशिरासन, मत्स्यासन
आम वात : पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन
कमर दर्द : जानुशिरासन, हस्त-पादासन, शशकासन, अर्द्धकूर्मासन
कंठ दोष (कंठमाला) : हलासन
खांसी और दमा : हलासन
उदर-दोष : जानुशिरासन, अर्द्ध कूर्मासन
मुटापा : पश्चिमोत्तानासन
घुटने का दर्द : उत्कटासन
गुल्म : हलासन
जंघा का दोष : जानुशिरासन, पादहस्तासन
जुकाम : हलासन
तिल्ली और प्लीहा : हलासन, जानुशिरासन, पादस्तासन, भुजंगासन
नेत्र रोग : हलासन, अर्द्ध कूर्मासन
पांडु रोग : भुजंगासन, हलासन, पद्मासन, जानुशिरासन, वज्रासन
मानसिक विकार : हलासन, अर्द्ध कूर्मासन, हस्तपादासन
वीर्य दोष : पद्मासन, वज्रासन

आसन और रोग

पवनमुक्तासन : आंतों के रोग, गैस आना, चर्बी कम करना, तिल्ली, प्लीहा आदि पर स्वास्थ्यकारी प्रभाव
वज्रासन : वीर्य-रोग, पांडुरोग (पीलिया), साइटिका
अर्द्धकूर्मासन : अजीर्ण, कमर दर्द, उदर रोग, आंत्र आदि
शशांकासन : कमर दर्द, तिल्ली, प्लीहा में लाभ, पाचन शक्ति में वृद्धि
भुजंगासन : अजीर्ण, आंतों के रोग, तिल्ली, प्लीहा, पांडुरोग, कुबड़ापन, अनियमित मासिक को लाभ
जानुशिरासन : अजीर्ण, आंतों के रोग, कटिवात, मधुमेह, जांघों का दर्द, तिल्ली, प्लीहा, पांडुरोग आदि को लाभ
उत्थानपादासन : कब्ज, हर्निया, आंत उतरना, पेट में गैस बनना, टांगों की दुर्बलता, मुटापा को लाभ
शलभासन : अजीर्ण, कब्ज, दुर्बलता, जिगर, रीढ़ और पीठ का दर्द
सुखासन : चित्त की उद्विग्नता दूर होती है, पद्मासन से होने वाले लाभ इसमें भी होते हैं
अर्द्धपद्मासन और पद्मासन : अजीर्ण, आंतों के रोग, पांडु रोग, वीर्य-दोष मानसिक रोग आदि
योगमुद्रा : कब्ज, फेफड़े सम्बन्धी समस्त रोग, प्लीहा, यकृत आदि के लिए
गोमुखासन : हृदय की दुर्बलता, रीढ़ का टेढ़ापन, स्वप्नदोष, अनिद्रा एवं गर्दन तोड़ बुखार
पश्चिमोत्तानासन : अजीर्ण, आम वात और मुटापा
उत्कटासन : घुटनों का दर्द, बेरी-बेरी, कब्ज
पाद-हस्तासन : कमर दर्द कटिवात, जांघों का दर्द, तिल्ली, प्लीहा, मानसिक रोग
अर्द्धचन्द्रासन : आंतों का रोग, कुबड़ापन, यकृत और प्लीहा
हलासन : कंठमाला और अन्य दोष, खांसी, गुल्म, वात, कब्ज, बुढ़ापा, जुकाम, तिल्ली, प्लीहा, मानसिक रोग आदि
मत्स्यासन : अजीर्ण, आंतों के रोग
शीर्षासन : सिर पीड़ा, कान, आंख आदि के रोग, मुटापा, सिर के बाल उड़ना और सिर के बाल पकना, झुर्रियां पड़ना, वीर्यपात
शवासन : तुनलाहट. मानसिक एवं शारीरिक थकान

● ● ●

विषय-सूची

(३) लेटकर करने के आसन

(४) उलटा खड़े होकर करने के आसन

योग-ग्रन्थों में आसन(संक्षेप में ८४ आसनों के नाम व लाभ)

पेट के आसन

स्त्रियोपयोगी योगासन

बड़ा योगासन

प्राचीन व्यायाम-पद्धति

प्रथम भाग

आसन क्या है ?

इससे पूर्व कि आसनों के विषय में विस्तृत विचार किया जाये यह जान लेना आवश्यक है कि आसन है क्या ?

पाणिनि मुनि के 'शब्दानुशासन' (संस्कृत-व्याकरण-अष्टाध्यायी) और कपल मुनि के सांख्य-शास्त्र के भाष्य लिखने वाले महर्षि पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योगदर्शन' में ईश्वर प्राप्ति के साधनों में आसन को भी रखा है। महर्षि कहते हैं :—

योगाङ्गादनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

योगदर्शन अ० १, पा० २, सू० २८

योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से अविद्यादि दोषों का नाश और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

महर्षि अगले सूत्र में उपर्युक्त योगांगों की गणना करते हैं :—

यम-नियम—*आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावंगानि ।

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये (योग के) आठ अंग हैं।

पाठक देखेंगे कि हमारा विवेच्य विषय 'आसन' योग का तीसरा अंग है।

हां तो अब महर्षि के अनुसार ही हम पहले यह देखेंगे कि आसन है क्या चीज। लीजिये, देखिये—

स्थिरसुखमासनम् ।। (योगदर्शन अ० १, पा० २, सू० ४६)

अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक (शरीर और आत्मा) स्थिर हो वह आसन कहलाता है।

पाठकगण ! महर्षि पतंजलि ने आसन की परिभाषा उपयुक्त थोड़े से शब्दों में की है। योगदर्शन के भाष्यकर्ता महर्षि व्यास ने इस सूत्र का भाष्य करते हुए आसन को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, काञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, चेत्येवमादीनि ।।

---

* योगदर्शन में पाठ—'नियमासन'—इस प्रकार संधियुक्त है। हमने पाठकों की सुविधार्थ संधि तोड़ कर पाठ दिया है।—लेखक

अर्थात् पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दंडासन सोपाश्रय, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिविषदन, उष्ट्रनिषदन, समसस्थान, स्थिरसुख और यथासुख इत्यादि आसन होते हैं।

यह हुआ आसन का योगशास्त्रीय अर्थ। अब शब्द-शास्त्र की दृष्टि से आसन का अर्थ लिखते हैं।

'आस्यतेऽनेन'—इति आसनम्।

'आस्—उपवेशने' इस धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करके फिर 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से 'अन' आदेश करके 'आसन' शब्द बनाता है। अर्थात् जिसकी सहायता से भली भांति बैठा जाय उसे आसन कहते हैं। यह आसन जब स्थिर, कम्परहित और योगी को सुखदायक होते हैं तब योग के अंग कहे जाते हैं।

आसन की सिद्धि कैसे ?

अब आसन की सिद्धि कैसे होती है, इस विषय पर विचार करेंगे।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥

(योगदर्शन १–२–४७)

अर्थ—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के ज्ञान से आसन की सिद्धि होती है।

यो०—भाष्य—वह आसन प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त आकाशादि में मन लगाने से स्थिर सुख देने वाला

होता है । अर्थात् योगी जब चाहे कि मैं आसन लगाऊं तब ही बिना अधिक परिश्रम के आसन को जमा सके । योगी का चित्त जब अनन्त आकाश में वा अनन्त ध्येय में चला जाता है तब योगी को अपने शरीर को संभालने का ज्ञान नहीं रहना, जब देहाभ्यास नहीं रहता तब योगी के विघ्न अंग में जयत्व (अंगों का कांपना) आदि नहीं होते, किन्तु आसन की सिद्धि से वह समाधिबाधा—अंगों का कांपना आदि को भी जीत लेता है ।

आसन-सिद्धि का लाभ

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।। (योग दर्शन १—२—४८)

अर्थ—तब (आसन के सिद्ध होने पर) शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों का अभिघात नहीं होता । अर्थात् द्वन्द्व नहीं सताते ।

इस सूत्र से अगले सूत्र में ऋषि ने बताया है कि प्राणायाम की सिद्धि में भी आसन-सिद्धि सहायक होती है । अर्थात् आसन की सिद्धि होने पर ही प्राणायाम सिद्ध हो सकता है उससे पहले नहीं ।

वह आसन का योगदर्शन की दृष्टि से व्याख्यान हुआ । अब लौकिक दृष्टि से देखें तो भी यह निश्चित है कि जब तक किसी काम के लिए जम कर न बैठें या लगें तब तक वह सुचारू रूप से सम्पन्न नहीं होता । आसन की स्थिरता प्रत्येक कार्य के लिये आवश्यक है ।

स्वास्थ्य के लिये आसन

आसनों का उक्त वर्णन योगशास्त्र की दृष्टि से हुआ है। लौकिक या शारीरिक दृष्टि से आसनों का पर्याप्त विस्तार हो चुका है और आसनों की संख्या ८४ तक पहुंच गया है। यद्यपि इन सभी चौरासी आसनों को योगासन ही गिना जाता है पर वह इसी अर्थ में कि योग के लिए स्वस्थ शरीर का होना अत्यन्त आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ये सभी आसन कुछ-न-कुछ उपयोगी हैं।

स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज लिखते हैं—आसनों के अभ्यास से नाड़ी-समूह का मृदुता, सहनशीलता की वृद्धि, शरीर की लघुता, मन की एकाग्रता और प्राण तत्व का ऊर्ध्वगमन होता है तथा शरीर के अनेक रोगों की निवृत्ति होती है।

कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्।

(हठयोग-प्रदीपिका)

अर्थात्–आसनों के अभ्यास से स्थिरता, आरोग्य और शरीर की लघुता की प्राप्ति होती है।

अतः यह बात भली प्रकार स्पष्ट है कि स्वास्थ्य के लिए आसनों का अभ्यास महत्वपूर्ण है।

आसन-लाभ के प्रमाण

केवल इतना कह देने मात्र से ही काम नहीं चलता कि

योग-आसन का अर्थ 'शरीर के स्वास्थ्य लाभ के लिए आसन' है। अतः हम कुछ इस विषय के प्रमाण उद्धृत करते हैं।

(१)

...मेरे आधे शरीर में विकार हुआ और थोड़े ही समय में आधा शरीर चेतनारहित हो गया।...लाहौर के मेयो अस्पताल में प्रविष्ट हुआ...इस अस्पताल में मेरा उपचार ठीक रीति से होने लगा। इस समय के डाक्टर एक योरोपियन महानुभाव थे। ये बड़े सज्जन थे और विशेष मेहनत से मेरी चिकित्सा कर रहे थे। इस अर्धाङ्ग वायु (पक्षाघात) रोग के कारण मेरी एक आंख बिल्कुल बिगड़ गई थी, जिह्वा की रसग्रहण शक्ति चली गई—यहां तक कि कुनैन की कड़वाहट भी प्रतीत नहीं होती थी। एक कान पूर्ण रीति से बन्द हो गया था। एक-एक हाथ और पाँव शून्य-सा हो गया था। तात्पर्य यह कि मेरी अवस्था इस समय बड़ी ही शोचनीय हो गयी थी।...कई मास मैं इस अस्पताल में रहा, किंचित्-सा लाभ तो हुआ परन्तु पूर्ण आरोग्य प्राप्त न हुआ। अस्पताल में इतने मास रहने के कारण मेरे मन की अस्वस्थता बहुत हुई और मैंने बम्बई जाने की आज्ञा मांगी। डाक्टरों ने भी देखा कि अब इसका सुधार होना कठिन है अतः यह चला जाय तो अच्छा है, ऐसा विचार कर उन्होंने मुझे बम्बई जाने की आज्ञा दे दी। पश्चात् एक मित्र की सहायता से मैं उसी अवस्था में बम्बई पहुंच गया।...एक मेरे मित्र के द्वारा श्रीमान् योगी

श्री पाडुरंग गंगाधर नाम जोशीजी के साथ परिचय हुआ ।
ये स्वयं भी योगभ्यासी हैं और योगविद्या के प्रचार के लिए
बड़ा प्रयत्न करके औरों को भी योग साधन सिखाते हैं ।

इनके साथ परिचय होने से मैंने योगसाधन करने का
निश्चय किया । यद्यपि अर्धांग रोग और आयु की अधिकता
इसमें बहुत बड़ी बाधा थी पर गुरू जी की सरल पद्धति के
कारण मेरा थोड़ा-थोड़ा प्रवेश होने लगा । पहले जो 'आसन'
अत्यन्त कठिन और असम्भवप्राय प्रतीत होते थे वे ही २-३
मास में सुगमता से होने लगे ।...पहिले जो शरीर हिलता
ही नहीं था वही शनैः शनैः प्रत्येक आसन करने योग्य होने
लगा ।

आसनों के अभ्यास से शरीर की नस-नाड़ियों की ऐसी
शुद्धि हुई कि सब स्नायु उत्तम प्रकाश से कार्य करने लगे
और थोड़े से महीनों के बाद ही और नियमपूर्वक अभ्यास
से मेरे शरीर में योग्य परिवर्तन होकर मुझे यह निश्चय हुआ
कि इस अष्टांग योग के साधन से मैं निश्चय पूर्वक नीरोग
हो जाऊंगा । ..जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता गया वैसे-वैसे मुझे
आरोग्य भी प्राप्त होता गया । बालपन से जो अनेक बीमा-
रियां थीं वे दूर होने लगीं, अर्धाङ्ग वायु का जो रोग बड़े-बड़े
डाक्टरों के इलाज से दूर नहीं था वह योग-साधन से दूर
होने लगा । ..

मेरी यह अवस्था का यह वृत्तान्त इस समय बहुत से मनुष्यों को मार्गदर्शक हो सकता है। आशा है कि विचार-शील सज्जन इससे उचित बोध प्राप्त कर योग-साधन के मार्ग में आकर शान्ति प्राप्त करेंगे।

पांडुरंग गोपाल बाल महाजन (मुम्बई) †

(२)

···बाईसिकल की सवारी अत्यधिक करने के कारण घुटने में भयानक बीमारी उत्पन्न हुई।···सारे शरीर में इतनी खुजली प्रारम्भ हुई कि ५ मिनट में ही मैं अपना सारा शरीर खुजलाते २ पागल-सा हो गया और दो चार मिनटों में खुजली का रहना असम्भव हो गया।...डाक्टरों को बुलवाया गया ··१५ मिनट बाद डाक्टर आ गये। निदान में रक्तपित्त निश्चित हुआ। उपचार होने लगा। चूर्ण, गोलियां और बोतल में औषधियों के मिश्रण (मिक्सचर) मेरे पास पहुंचे। इतने में मुझे बड़ी सर्दी लगने लगी और बड़े जोर का बुखार आ गया। मैं बिस्तर पर सो गया। आध घण्टा तक थोड़ी सी निद्रा भी आयी फिर आंख खुल गई। तब मैं उठने लगा तो प्रतीत हुआ कि मेरे घुटनों में बड़ी सूजन हो गयी है अतः हिलना जुलना भी असम्भव हो गया, पांव हिलता भी नहीं था, उठना असम्भव हो गया, इतना ही प्रत्युत करवट लेना भी दूसरे की सहायता के बिना

† श्री पं० सातवलेकर कृत 'आसन' से धन्यवादपूर्वक उद्धृत—ले०।

अशक्य हो गया।…जो लोग मुझे देखने आते थे वे भी कहते थे कि ये पांव और घुटना सुधरना कठिन है।

दूसरे दिन फिर डाक्टर आ गये और उन्होंने सब हाल देखकर कहा—'घुटने की बीमारी है।' यह बीमारी महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक वीर शिरोमणि, अतुल प्रतापी शिवाजी महाराज को हुई थी और इसीसे उनका देहान्त हो गया था।

दिन बीतते गये और वैद्यों तथा डाक्टरों के उपाय होते रहे। इसके अतिरिक्त इष्टमित्रों के उपाय भी बीच बीच में चलते रहे।…इसी प्रकार पहिले आठ दिन तक सेक और लेप होता रहा परन्तु कोई आराम नहीं हुआ। इसके पश्चात् बड़े-बड़े डाक्टरों की कमेटी बुलायी गई। उन्होंने सब देखकर कहा—'दूध पर ही रहो।' इस प्रकार उनकी दवा का सेवन शुरू हुआ।…'स्काट्सड्रैसिंग' से पांव बाँध दिया गया।

इस प्रकार एक महीना बीत गया। दर्द कम हो गया पर सूजन कम न हुई। फिर डाक्टरों की कमेटी हुई।…इस प्रकार होता रहा परन्तु कोई लाभ न हुआ। अब मेरी अवस्था बहुत बुरी हो गई थी…प्रतिदिन थोड़ा ज्वर आता था, निद्रा नहीं आती थी, निरन्तर लेटे रहने के कारण शरीर बड़ा दर्द करता था।…इसके अतिरिक्त खूनी बवासीर भी हो गया।…

इस घुटने की बीमारी का अंग्रेजी नाम 'साइनो व्हा-इटिस' है। इसमें घुटने में जल अथवा द्रवरस बनता है और संधि-स्थान में बड़ी सूजन हो जाती है। कई मास बीत जाने पर भी डाक्टरों के इलाज से कोई लाभ न हुआ। अतः डाक्टरों ने रक्त-परीक्षा की। उससे ट्यूबरक्युलर साइनो व्हाइटिस (घुटने की बीमारी के यक्ष्म कृमि हैं) ऐसा निश्चय हुआ।...

इस प्रकार ४–५ मास हो गये। डाक्टरों के उपचार से किसी प्रकार का भी आराम न हुआ। तीक्ष्ण दवाइयों के कारण बड़ी कष्टदायक बीमारी बवासीर हो गई, अन्य कष्ट भी बढ़ने लगे। इस कारण डाक्टरों के औषधियों पर से मेरा विश्वास हट गया और मैंने उनका उपचार बन्द करने का निश्चय किया।

इतने में होमियोपैथी के डाक्टर मिल गये।...उनका इलाज आरम्भ हुआ। परन्तु पन्द्रह दिन तक औषध लेने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। तत्पश्चात् 'वायाकेमिक' औषध लिया पर वह भी मेरे लिये निकम्मा सिद्ध हुआ। इस प्रकार छः मास व्यतीत हुए। जो पांव डाक्टरों ने पट्टियों में बांध रक्खा था वह हिलना बन्द होने के कारण, बारीक हो गया है और सूखने लगा है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ। यह एक नवीन आपत्ति आरम्भ हुई। यदि इस प्रकार पांव सूख

गया तो आगे कैसे होगा—यह विचार मुझे सताने लगा।

इतने में दूसरे पांव की जंघा में एक गांठ सी हो गई। बहुत दिन तक वह दुखती नहीं थी परन्तु प्रतिदिन थोड़ी २ बढ़ जाती थी। और १५-२० दिन में केले से बड़ी हो गयी। और यह एक नई आपत्ति आ गई।···फिर डाक्टरों की शरण लेनी पड़ी। डाक्टर आये। परीक्षा करके निश्चय किया—यक्ष्मग्रन्थि है।···किसी कारण ७—८ दिन डाक्टर न आ सके। इतने समय में गांठ पक गई और एक दिन फूट कर बहुत पीप उससे निकल पड़ा। इसके पश्चात् डाक्टर आये। परन्तु अब उनका आना व्यर्थ हुआ, क्योंकि अब वहां ग्रन्थि ही नहीं रही थी। रात्रि के समय जब मैं घाव को धोने लगा उस समय उसमें से एक बारीक धागा सा बड़ा लम्बा कृमि (जिसको मराठी में 'नारू' कहते हैं) निकल आया। ठीक इसी समय मेरी धर्मपत्नी ने लड़की को जन्म दिया। मेरे घाव से कीड़े का निकलना और पुत्री का जन्म होना ठीक एक ही समय हुआ और इसी समय से मेरे कष्ट कम होने लगे।···ग्रन्थि में से एक लम्बा कृमि निकल गया तथापि उसमें और भी वैसे कृमि होंगे ऐसा प्रतीत होने लगा।···मेरे मित्रों ने कहा कि ग्रामीण वैद्य यद्यपि अनपढ़ तो होते हैं तथापि इन कृमियों को निकालने में प्रवीण होते हैं। मैंने उनको बुलाया। उन्होंने अजब रीति से कृमियों को

निकालना शुरू किया। कई कृमि उन्होंने डाक्टरों के सामने ही मेरी जंघा की ग्रन्थि से निकाल दिये। अस्तु ! इस रीति से यह ग्रन्थि का प्रकरण समाप्त हुआ पर घुटने की बीमारी वैसी ही थी।

इस प्रकार कई महीने के डाक्टरी इलाज से घुटने की बीमारी तो न गई, हां पेट की पाचन-शक्ति चली गई और साथ ही डाक्टरों की फीस देने की शक्ति भी। निदान मेरी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। मित्रों ने बम्बई छोड़कर प्रकृति–सेवन की सलाह दी पर मेरा मन न माना। अंत में मेरे एक मित्र के द्वारा म० नाम जोशीजी के साथ परिचय हुआ। ये महाशय बड़े सज्जन और योगाभ्यासी हैं। इन्होंने आकर प्रेमदृष्टि से मेरी अवस्था अवलोकन की और सरल शब्दों में कहा—'देखिये मैं कोई वैद्य अथवा डाक्टर नहीं हूं। न मुझे शरीर–शास्त्र का ज्ञान है। परन्तु मैं थोड़ा–सा योगाभ्यास करता हूं और आसन प्राणायाम का किंचित् ज्ञान मुझे है। इस योग-शास्त्र के विज्ञान के अनुसार जो-जो उपाय मुझे सूझेगा, मैं करूंगा। परन्तु मैं आपसे एक निवेदन करूंगा कि जैसा आपने गुण न होने पर भी डाक्टरों के मत के अनुकूल पथ्य किया, उसी प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरे कथन के अनुसार बर्ताव अवश्य करना।' मुझे यह सम्मत हुआ क्योंकि सहस्रों, रुपयों का व्यय करके डाक्टरों के इलाज

से ५-७ महीनों में कोई लाभ नहीं हुआ था, इसलिए डाक्टरी इलाज छोड़ना ही मुझे मंजूर था। इस तरह 'योगसाधन' के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ।

डाक्टर कहते थे कि पांव हिलाना नहीं चाहिए परन्तु ये योगिराज कहने लगे कि पांव अवश्य हिलाना चाहिए। दोनों के इलाज में इतना विरोध था। अर्थात् मुझे डाक्टरों की पट्टियां खोलकर अलग रखनी पड़ीं और पांवों का हिलाना प्रारम्भ हुआ। हिलना कठिन प्रतीत हुआ। पहिले-पहिले पांव बिल्कुल हिलता नहीं था,... हाथ से ऊपर उठाने और नीचे रखने का कुछ प्रयत्न किया। दो तीन दिनों में योगी महोदय जी की सहायता से 'शीर्षासन' करने का प्रयत्न किया। इस आसन के करने के समय पांव में बड़ा ही दर्द हुआ। और मेरे सहायकों को भी मेरा शरीर संभालने में बड़े कष्ट हुए। पश्चात् एरण्डी के तेल की मालिश करके आक के पत्तों से सेक दिया। इस प्रकार चार दिन किया। पांचवें दिन विना किसी आधार के मैं कुछ देर तक 'शीर्षासन' में स्थिर रहा। आगे यह अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते १५ दिनों में ही मैं आधा घंटा तक शीर्षासन करने लगा। प्रारम्भ में दर्द होता था, परन्तु प्रतिदिन के अभ्यास से शनैः शनैः दर्द हटता गया और मुझे स्वास्थ्य प्राप्त होता रहा।

आसनों के अभ्यास करने से ८ दिन में ही मैं सोटी की

सहायता से कुछ न कुछ चलने लगा। आसनों का अभ्यास करने से योगसाधन पर मेरा विश्वास दृढ़ होता गया। क्योंकि इसी चिकित्सा से लाभ भी अत्यन्त शीघ्र हुआ। इसलिए मैंने आसनों का अभ्यास बढ़ाया और १० दिन बाद बिना सोटी के ही चलने में समर्थ हुआ। चलते समय कष्ट होता था, शाम के समय सूजन भी बढ़ जाती थी, दर्द भी होता था, परन्तु मैं योगी महाशयजी के कथन के अनुसार ही करता रहा। आसन करना और सेक देना इसके अतिरिक्त और कोई इलाज नहीं था और उससे प्रतिदिन आरोग्य भी बढ़ रहा था।

इतना होने पर भी घुटने का जोड़ सख्त ही था, अभी तक जैसा चाहिए वैसा हिलता नहीं था। ५, ६ दिन लगा–तार प्रयत्न करने पर उसमें थोड़ी सी गति उत्पन्न हुई। मैं अब अपनी इच्छाशक्ति को भी काम में लाने लगा और मुझे अनुभव हुआ कि उससे बड़ा ही लाभ होता है।

इस प्रकार आसनों की चिकित्सा से केवल दो महीने में मुझे पूर्ववत् आराम प्राप्त हुआ। मैं जब डाक्टर के दवाखाने में पहिले गया, उस समय डाक्टर साहब को भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह इतना आराम कैसे हुआ। उसके पूछने पर उनसे कहा कि यह सब 'योग के आसनों' का चमत्कार है। यह आसनों के विषय में मेरा स्वयं का अनुभव है।"

(२५)

इन आसनों पर मेरा इतना विश्वास है कि मैं आजकल सवेरे उठने के पश्चात् शौचादि से निवृत्त होते ही थोड़ी देर शीर्षासन करता हूं और तब दूसरे कार्य करता हूं। आशा है कि जनता को भी योगाभ्यास से इसी प्रकार लाभ होगा।

—गणेश शिवराम रानाड़े (उद्योग मन्दिर, मुम्बई) †

(३)

...जन्म से उत्तम शरीर, पश्चात् इतना नियमपूर्वक व्यायाम करने पर भी चालीस वर्ष की उमर होने के पश्चात् मेरा शरीर गिरने लगा। देशी, विदेशी, जापानी, तथा इतर व्यायाम करने में जो-जो अशुद्धियां मैंने की थीं, उनका फल मुझे मिलने लगा।

विदेशी व्यायामों के कारण मेरे शरीर का लचकीलापन नष्ट हो चुका था, और पीठ और कन्धे, वाहु आदि भाग कि जिन पर विदेशी व्यायाम के कारण वहुत कार्य पड़ा था, वे अब वह दुखने लगे और वड़ा कष्ट हुआ। यह विदेशी व्यायामों के कारण अनिष्ट परिणाम है। पाठक इसका विचार करें।

इस अवस्था में मेरे मित्र श्रीयुत बी० कृष्णराव इंजीनियर की मुझे वड़ी सहायता हुई। उन्होंने 'आसनों' और

---

† 'आसन' से उद्धृत।

मालिशों के व्यायामों के विषय में बड़ा परिश्रम किया है इस विषय में वे बड़े अनुभवी हैं। इनके कहने के अनुसार मैंने 'आसनों' का अभ्यास शुरू किया, उनके साथ ही मैं सुगम आसन करने लगा।

इस समय मेरे शरीर में भेद बहुत बढ़ गया था। यद्यपि व्यायाम करने से बहुत बढ़ने नहीं पाया था। तथापि शरीर में दर्द शुरू होने योग्य बढ़ गया था। किसी भी अन्य देशी, विदेशी–जापानी तथा अन्य व्यायामों से मेरा भेद का विकार कम न हुआ। जैसा २ मैंने आसनों का अभ्यास शुरू किया, वैसा २ मेरा भेद कम होता गया। प्रथम अवस्था में मेरे से आसन भी नहीं होते थे, परन्तु प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रयत्न करने पर चार मास में सुगम आसन करने योग्य मेरा शरीर बन गया और पश्चात् योग के अन्य आसन करने से ही मेरा मेद दूर हो गया और शरीर के अवयवों में जो दर्द होता था, वह भी मेद के साथ दूर हो गया।

आसनों के व्यायाम का ऐसा अनुभव आने से अब मेरा ध्यान आसनों की पद्धति की ओर हो गया। सब आसनों का शास्त्रोय रीति से विधिपूर्वक व्यायाम स्वयं किया और बहुतों को आसन सिखाये।...इस पद्धति के अनुसार स्वयं व्यायाम किया और अनेकों के शरीर पर भी इसका परि-णाम ध्यानपूर्वक देखा, जिससे निश्चय हुआ कि इस 'आसनों

के व्यायाम' से शरीर के सब दोष दूर होते हैं और रोग भी भाग जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। मैंने सब प्रकार के देशी विदेशी व्यायाम किये हैं, सब व्यायामों के गुण और दोष मुझे विदित है, इसलिए मैं कहता हूं कि शरीर की नस-नाड़ी की शुद्धिता के लिए, शरीर निर्दोष और नीरोग करने के लिए, जैसी हमारी आसनों का व्यायाम करने की पद्धति निश्चय से उपयोगी है, वैसी कोई भी अन्य व्यायाम की रीति नहीं है।

...इस समय मेरी आयु ५० वर्ष के करीब है, परन्तु मेरा उत्साह १६ वर्ष के युवक के समान हैं।...अन्त में इतना ही कहना है कि यदि किसी को मेद की बीमारी हो तो पूर्वोक्त आसनादि उपायों से हम निस्संदेह ठीक कर सकते हैं ।

—नागेश वासुदेव गुणा B.A. LL.B. †

शीर्षासन से लाभ

मैंने दो-ढाई वर्ष तक शीर्षासन का अभ्यास किया है। इसलिए यह समझ कर कि मेरा अनुभव भी पाठकों को रुचिकर और कुछ सेवाकारक हो सकेगा, इस विषय पर निम्न पंक्तियां लिखने लगा हूं ।

(१) शीर्षासन करने से भूख बढ़ी ।...यह सत्य है कि शीर्षासन करने वालों को घी दूध आदि का विशेष सेवन

† 'आसन' उद्धृत

करना चाहिए, नहीं तो पेट अग्नि ने जलने लगता है।...मेरी समझ में शीर्षासन करने वाले को नित्य नियमित रूप से अवश्य भोजन करते रहना चाहिये। अर्थात् इस विपरीत-करणी क्रिया के कारण स्थानभ्रष्ट हुए विजातीय द्रव्य (Foreign matter) का परदा कभी-कभी आमाशय पर आ जाने से भूख कभी लुप्त सी हो जाये तो भी भोजन की आवश्यकता शरीर को रहती है, इसलिए भोजन करना चाहिए।

(२) शीर्षासन से यद्यपि पूर्ण रक्षा-तो मुझे नहीं प्राप्त हुई परन्तु स्वप्नदोष की मात्रा और संख्या अवश्य कम हो गई और यह तो सर्वथा निश्चय हो गया कि इस क्रिया से पूर्ण वीर्यरक्षा कालान्तर में हो जायेगी। 'वीर्य का शरीर में खप जाना' इस बात का अनुभव शीर्षासन करने वाले को अवश्य होने लगता है।

(३) तीन-चार बार ऐसा हुआ कि सायंकाल के समय सिर में दर्द हो रहा था, परन्तु मैंने शीर्षासन किया ही। हरेक बार इसका परिणाम यह हुआ कि शीर्षासन से एक बार तो जोर से दर्द बढ़ा और कुछ डकारें आईं और फिर एकदम दर्द अच्छा हो गया, एकदम ऐसा गायब हो गया कि आश्चर्य होता था।

परन्तु मैं अभी अन्य लोगों को यह सलाह देने के लिए तैयार नहीं हूं कि जब आपके सिर में दर्द हो तब आप शीर्षा-

सन करनें खड़े हो जाएं, बल्कि यह कह सकता हूं कि शीर्षा-सन के अभ्यास से सिर दर्द पैदा होना ही बन्द हो जाएगा ।।

(४) मेरा यह निश्चित अनुभव हो गया था कि जब कभी मुझे कुछ रोग होने का भय होता था तब वह मेरे शीर्षासन के समय के आने के पहिले २ ही मुझे दबा सकता था, इसके बाद नहीं। कई बार जब चारों ओर बीमारी फैली हुई थी, मुझे भी कुछ ज्वर की आशंका हुई—कभी-कभी ऐसा मालूम हुआ कि शायद कुछ ज्वर भी हो गया है—परन्तु शीर्षासन करने के बाद शरीर बिल्कुल निर्व्याधि हो जाता था कि कोई आशंका नहीं रह जाती थी। कई बार रोग के कई लक्षण भी उत्पन्न हो जाते थे, परन्तु शीर्षासन के बाद में आश्चर्य से देखता था कि वे सब के सब हट जाते थे, कुछ ज्वर या हरारत, कान में दर्द जुकाम, खांसी की ठसक आदि लक्षण उत्पन्न होकर भी शीर्षासन के बाद स्वयं हीं उड़ जाते थे। कभी, छाती में सर्दी लग गई है, ऐसा भय हो जाता था, परन्तु शीर्षासन कर लेने के बाद शरीर एक समान उष्ण होकर सर्दी का नाम भी न रह जाता था। मेरा विचार है कि यदि किसी को निमोनिया होने का भय हो (बल्कि प्रार-म्भिक अवस्था में आ भी गया हो) तो यदि उससे शीर्षासन कराया जा सके तो वह रोग के आक्रमण से मुक्त हो सकता है। राजयक्ष्मा (तपेदिक) के रोगी को भी यदि शीर्षासन की

क्रिया से अद्भुत लाभ पहुंचे तो मुझे कुछ भी आश्चर्य नहीं होगा। परन्तु यह अभी और अधिक परीक्षण करके देखने योग्य है।

(५) यहां मैं अपनी एक घटना का वर्णन करूंगा। सन् १९२० की बरसात में मैं अपने कस्बे से डेढ़ मील की दूरी पर एक कुटी में रहता था। ३१ जुलाई के दिन मैंने कस्बे के आर्य भाइयों से अगले दिन रात्रि के समय कस्बे में आकर व्याख्यान देने का वायदा कर लिया। परन्तु अगले दिन प्रातः काल ही मुझे ध्यान आया कि आज पहली अगस्त है और महात्मा गांधी के असहयोग का प्रारम्भ दिन है। आज देश में बहुत से लोग उपवास रखेंगे, मुझे भी उपवास रखना चाहिए मैंने दिन भर उपवास रखा परन्तु उस दिन न जाने क्यों उपवास के कारण बहुत अधिक कमजोरी अनुभव हुई। शाम को कस्बे में जाने की इच्छा न थी परन्तु प्रतिज्ञा कर चुका था, जो कड़ा करके चल पड़ा। मन में बहुत बल का ध्यान करता था, परन्तु कमजोरी से मुझे अधिक चलना हो गया। साथ में अपना घोड़ा था, चाचाजी के कहने से उस पर चढ़ गया कि कुछ आराम लगेगा। परन्तु घोड़े पर चढ़ कर मैंने और भी अधिक श्रम अनुभव किया और घर पहुंचते ही सामने पड़ी हुई चारपाई पर बेजान सा होकर पड़ गया। अपनी अवस्था देखकर मन में विचार होने लगा कि

शायद अब उपवास तोड़ना पड़ेगा और व्याख्यान तो मैं दे ही न सकूंगा। परन्तु शीर्षासन का भी समय हो रहा था, जिसे कि मैं छोड़ भी नहीं सकता था और उसके करने की अपने में हिम्मत भी नहीं दीखती थी। आखिर दिल मजबूत करके उठा और धीरे-धीरे कमरे के अन्दर गया, सिर के नीचे कपड़ा रखा और दीवार के सहारे उलटा खड़ा हो गया। मन में सोचा था कि यदि शीर्षासन न कर सकूंगा तो अवश्य ही जाकर भोजन कर लूंगा। परन्तु शीर्षासन का अब चमत्कार देखा। १० मिनट के बाद शरीर सबल हो गया। आनन्द से घंटा भर शीर्षासन करके बाहर निकला। यह भी भूल गया कि आज मैंने भोजन नहीं कर रखा है। समाज में गया और अच्छी तरह से व्याख्यान दिया। भोजन अगले दिन दस बजे किया और तब तक भी सचेतन रहा।

(६)…उस समय तक भी मैं कोष्ठबद्धता से सर्वथा मुक्त न था, क्योंकि कुम्भक के बल से ही मल–त्याग किया करता था। परन्तु अब एक वर्ष से मुझे बिना कुम्भक किये ही स्वयमेव नित्य शौच हो जाता है। इस उन्नति पाने में अन्य आसनादि के साथ शीर्षासन का भी प्रभाव है। शीर्षासन का विशेष लाभ मुझे यह अनुभव होता है कि (१) एक तो उससे पेट में वायु नहीं रह सकती वह सब जरूर निकल जाती है (२) और दूसरे शौच बंध कर होता है।

(७) शायद सबसे पहिले अनुभव से यह होता है कि सम्पूर्ण शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है। सारे शरीर पर एक प्रकार की कान्ति आ जाती है। सम्पूर्ण त्वचा पर बिना तैलादिक मले ही स्निग्धता बनी रहती है। यह अनुभव मुझे ३, ४ मास अभ्यास करने पर ही प्रगट हो गये थे।

(८) शीर्षासन के बाद प्राणायाम करने से उत्तमतया रक्त शुद्धि हो जाती है क्योंकि सम्पूर्ण शरीर का रुधिर मलों को लेकर फेफड़े में पहुंचता है।

मेरा विचार होता है कि केवल शीर्षासन के तथा उसके साथ और बाद में होने वाले प्राणायाम से भी अभ्यासी समाधि तक पहुंच सकता है। कई योगाभ्यासियों के कथन सुनकर मैंने अपना यह मत बनाया है। उनका कहना है कि प्रतिदिन तीन घंटे कपालीमुद्रा (शीर्षासन) के अभ्यास से षट् चक्रवेध आदि सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इसका कारण यही है कि शीर्षासन से प्राण अन्दर खिचने लगता है।

प्राण का आयाम होने से जैसा कि योग ग्रन्थों में लिखा है इस आसन से आयु-वृद्धि होती है और काल पर विजय पाई जाती है।

चेतावनी

अन्त में मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि क्योंकि यह

आसन बहुत उत्तम है इसीलिए सावधानी से करना चाहिए। प्रारम्भ में बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। यदि कुछ हानि प्रतीत हो तो तत्काल इसे छोड़ कर विचार कर लेना चाहिए कि क्यों हानि हुई। कई बार सावधानी से परीक्षण करना चाहिए। हो सकता है कि किन्हीं कारणों से किसी व्यक्ति को यह आसन अनुकूल सिद्ध न हो। उन्हें इसका आग्रह भी न करना चाहिए। उनके लिए योगी गुरुजन अन्य साधन बतायेंगे जो उनके अनुकूल हों।

—देवशर्मा अभय (आचार्य गुरुकुल काँगड़ी) §

(९) किसी मनुष्य के पांव अशक्त हैं और वह पांवों पर खड़ा नहीं हो सकता तो उसके पांवों में शक्ति आने के लिए शीर्षासन अत्यन्त लाभदायक है। पहिले पन्द्रह दिनों में पांच मिनट बढ़ाते हुए, तीन मासों में आधा घंटा तक कर सकते हैं। इस आसन का अभ्यास करने से पांवों में शक्ति बढ़ती है।

(१०) धातुक्षीण मनुष्य ने यदि नियमपूर्वक और विधियुक्त शीर्षासन किया तो उसका वीर्यपात एक मास के अन्दर ही बन्द हो जाएगा। इसका अनुभव कई तरुणों पर देखा है। निस्सन्देह लाभ होता है।

(११) हमारा एक मित्र बवासीर से दुःखी था।

---

§ 'आसन' से उद्धृत

उसने दो मास नियमपूर्वक शीर्षासन किया, जिससे उसका बवासीर का कष्ट दूर हुआ।···यह बवासीर बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में थी।

(१२) मस्तक के विकारों में शीर्षासन करने से बहुत लाभ होता है। शीर्षासन से रुधिराभिसरण ठीक होने से सिर दर्द हट जाता है। इस प्रकार मेरे अनुभव हैं।

—पांडुरग गंगाधर नाम जोशी (योगाभ्यासी) बम्बई।

(१३) मुझे बड़े दिनों से कब्ज की शिकायत थी। एक समय ऊपर की मन्जिल से नीचे उतर रहा था। ५–६ पौड़ियां उतर आने पर अंडकोष के ऊपर और नाभि के नीचे इतना सख्त दर्द हुआ कि दो चार निमेषों में दर्द असह्य हो उठा और बढ़ता ही गया। यह दर्द इतना फैला कि नाभि से लेकर अंडकोष तक फैलता गया। मेरे से चलना-फिरना भी अशक्य हुआ। इतने में 'शीर्षासन' करके देखने का विचार मन में आगया। परन्तु शीर्षासन होगा या नहीं इस विषय में शंका थी। तथापि दर्द के स्थान को हाथ से पकड़ कर मैं अपने कमरे में चला गया और दीवार के सहारे से 'शीर्षासन' करने का यत्न किया। जिस समय मेरा सिर नीचे और पांव ऊपर हो गये उसी निमेष से दर्द बिल्कुल हट गया। मुझे इतना आनन्द और आराम हुआ कि उसका वर्णन होना अशक्य है। इसके बाद आधा घंटा मैं शीर्षासन करता

रहा, पश्चात् आसन खोलकर खड़ा हुआ । परन्तु कोई दर्द न था, पर अंडकोष के ऊपर एक गोला सा था और वहां जलन रहती थी । शीर्षासन करने तक गोला चला जाता था और पुनः खड़ा होने पर आ जाता था और जलन करता था । मैं दिन में दो-तीन बार शीर्षासन करने लगा, इससे चार दिन में यह सब बीमारी हट गयी । पीछे डाक्टरों से यह अवस्था निवेदन की, उन्होंने सब अवयवों की परीक्षा करके कहा कि यह अन्तर्गल की बीमारी काटने (आपरेशन) से ही दूर होती है अथवा कमान का पट्टा बांधने से ।...इसके बाद भी मैं नियमपूर्वक शीर्षासन करता रहा, अब उस प्रकार की कोई पीड़ा नहीं रही ।

—शि० ना० पंडित ।

(१४) मेरा कान इतना बहता था कि किसी भी प्रख्यात दवा से लाभ न हुआ और शरीर भी जीर्ण होने को चला था । मगर शीर्षासन करने से छः महीनों में कर्णः रोग समूल नष्ट हो गया । आराम तो प्रथम सप्ताह में ही मालूम पड़ने लगा था ।

(१५) शीर्षासन से दृष्टि को भी लाभ हुआ । पहिले मैं विना ऐनक के पढ़ नहीं सकता था । परन्तु शीर्षासन करने से अब मुझे ऐनक की आवश्यकता नहीं रही ।

मैं १५ महीने से शीर्षासन कर रहा हूं और प्रति-दिन ४० मिनट करता हूँ । इससे उक्त लाभ हुआ है ।

सम्पूर्ण शरीर चिकना सा मालूम देता है, धातुपतनादि दोष दूर हो गये हैं। इसलिये मैं शीर्षासन 'योगामृत' नाम देता हूं।

—म० गा० पूरणदास।

(१६) मैंने अपने गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारियों को लगभग एक वर्ष से ही आसनों का अभ्यास प्रारम्भ कराया है। उनके शरीर पर अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ है। स्मरण-शक्ति के विषय में भी विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

—रामचन्द्र विद्यारत्न, मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल होशंगाबाद।

(१७) बाबू तुलसीदास जी दत्त के घर में उनका एक नौकर जिसका नाम 'मदन' है और उड़ीसा का रहने वाला है, उनकी गौओं का कार्य करता है। आज ८-३-२४ शनिवार को प्रातःकाल जब दूध दुह कर दूध की बाल्टी अन्दर देने को जा रहा था, अचानक उसके पेट में बड़ी जोर से तिल्ली का दर्द उठा। उसने दूध की बाल्टी एकदम रखदी और बड़े जोर से कराहने लगा। धीरे-धीरे चलकर एक कोने में ६॥ फुट का जवान सिमट कर पड़ गया और उसने आहें भरनी आरम्भ की। मैंने कहा इसे शीर्षासन कराना चाहिए। पहिले तो लोगों को बड़ी हंसी आई कि इस उल्टे खड़े होने से क्या होगा? यहां तक कि वह नौकर 'मदन' भी इसके लिए तैयार नहीं हुआ। पर

मेरे वहुत कहने पर अंत में मदन ने मान लिया और मैंने और दो आदमियों ने मिलकर उसे 'शीर्षासन' कराया। तीन मिनट तक लगातार उसे खड़ा रखा, किन्तु दर्द शान्त नहीं हुआ। उसे नीचे उतारकर फिर मैंने एक गद्दा रख कर एक बार शीर्षासन करने के लिए फिर अनुरोध किया। इस बार ठीक विधिपूर्वक हाथों के ऊपर सिर को रखवा कर ठीक तरह सीधा खड़ा किया। उसके पेट को मैं ध्यानपूर्वक देखता रहा। उसका पेट बड़ा सख्त था। मैंने मदन से पूछा—दर्द कैसा है? उसने उत्तर दिया—बढ़ रहा है। मैंने मुंह बन्द करके नाक से सांस लेने को कहा उसने ऐसा ही किया। मैंने उसके पेट को हाथ लगाया हुआ था। तीन मिनट के बाद देखा कि उसके पेट में अब सख्ती नहीं है, वह बिल्कुल नर्म हो गया है। मैंने पूछा—मदन! दर्द है? उत्तर मिला—अच्छा हो गया। अब धीरे-धीरे हमने उसे उतार लिया। वह धीरे से खड़ा हो गया और फिर पूर्ववत् हंसने लगा। उसके बदन में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं हुई।

—वंशीधर विद्यालंकार कलकत्ता

पाठकगण! अब आपको अवश्य विश्वास हो गया होगा कि आसनों का हमारे स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। आनन्द की बात यह है कि इसमें खर्च एक पैसे का नहीं। गरीब से गरीब भी इससे लाभ उठा सकता है। केवल उचित पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता अवश्य है।

स्वास्थ्य

आसनों का विस्तृत विवेचन हम आगे चलकर करेंगे यहां पर स्वास्थ्य के विषय में थोड़ा सा विचार करते हैं। 'स्वास्थ्य' शब्द का अर्थ है स्वस्थता या स्वस्थ (मनुष्य) का भाव अर्थात् स्वस्थ होना। स्वस्थ का शब्दार्थ है अपने में स्थिर। तात्पर्य यह है कि अपनी प्रकृति की स्वाभाविक स्थिति का (बिना किसी विकार के आनन्दपूर्वक) होना।

औषध आदि के बल पर प्राप्त किया गया स्वास्थ्य सहज स्वाभाविक स्वास्थ्य नहीं कहा जा सकता। वह तो पराधीन है और कहा गया है—"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।" अतः पराधीन स्वास्थ्य सुखदायक कभी नहीं हो सकता। इतना ही नहीं अपितु वह स्वास्थ्य ही नहीं होता उसे तो स्वास्थ्याभास कहना चाहिए। बिना स्वास्थ्य के मनुष्य संसार में कुछ भी नहीं कर पाता। कहावत है—'धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आरोग्यम् मूलकारणम्।' अर्थात् धर्म, अर्थ (धन), काम (भोग) और मोक्ष का मूल कारण आरोग्य (स्वास्थ्य) ही है। जो स्वस्थ नहीं रहता, जिसे कोई न कोई रोग सताता रहता है वह भला किसी भी कार्य को भली प्रकार कैसे सम्पादित कर सकता है? उसकी अधिकांश शक्ति तो रोग से जूझने में ही लगती रहती है।

रोग का मूल

रोग के लिए संस्कृत में एक शब्द है–ग्रामय इस 'ग्रामय' का ग्रर्थ हैं 'ग्राम' से उत्पन्न । ग्राम का तात्पर्य है शरीर में न पचा हुग्रा ग्रन्न । इसीलिए तो वेद में कहा गया है— "ग्रन्नपते ग्रन्नस्य नो देहि ग्रनमीवस्य शुष्मिरणः । प्रपदातारं तारिष ऊर्ज्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ।"

इस वेदमन्त्र में ग्रन्नपति परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि हम दो पैरों वाले (मनुष्यों) ग्रौर चौपायों (पशुग्रों) सभी के लिए ग्रनमीव ग्रौर शुष्मी ग्रन्न की प्राप्ति हो ।

'ग्रनमीव' शब्द का ग्रर्थ है ग्रन्+ग्रमीव-ग्रमीव रहित ग्रमीव का वही ग्रर्थ है जो ग्रामय का है ग्रर्थात् ग्राम से उत्पन्न ग्रर्थात् न पचे हुए ग्रन्न से उत्पन्न । इसका भावार्थ यह हुग्रा कि ग्रन्न ऐसा होना चाहिए जो पच जाए। न पचा हुग्रा ग्रन्न रोग उत्पन्न करता है ग्रौर जो ग्रन्न रोग उत्पन्न करने का कारण बनता है वह बल क्या देगा ? इसीलिए वेद में 'शुष्मी' शब्द 'ग्रनमीव' के बाद में प्रयुक्त हुग्रा है । शुष्म का ग्रर्थ है बल, शुष्मी का ग्रर्थ हुग्रा बलवाला ग्रर्थात् बलप्रद । इससे यह ध्वनि निकलती है कि जो ग्रन्न भली–भांति पच जाता है वही बलप्रद हो सकता है, दूसरा नहीं, तथा रोग का मूल कारण ग्रपच (पेट की खराबी ग्रथवा

आमाशय की खराबी) ही है। बिना आमाशय के खराब हुए कोई रोग नहीं हो सकता। आपका पेट यदि ठीक कार्य करता है तो रोग उत्पन्न होने का कारण नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से रोग के मूल कारण का पता हमें लग गया। पिछले पृष्ठों में हम यही लिख ही चुके हैं कि पेट की खराबी आसनों से भली प्रकार ठीक हो जाती है। अतः अब अगले पृष्ठों में आसनों के विषय में विस्तृत जानकारी देने का यत्न करेंगे।

आसनों के प्रकार

आसनों के मुख्य चार प्रकार हैं (१) खिचाव के आसन (२) प्राणायाम के आसन (३) बलवर्द्धक आसन और (४) स्नायु संचालन के आसन। ये आसनों के मुख्य चार प्रकार हैं।

खिचाव के आसन—ये आसन बड़ी शान्ति के साथ करने चाहिएं। इनसे स्नायु शुद्ध और दोषरहित हो जाते हैं। चिरकाल से शरीर में एकत्रित रोग के बीज इस प्रकार के आसनों से नष्ट हो जाते हैं।

प्राणायाम के आसन—सांस खींचने और फेंकने के साथ जो आसन किये जाते हैं वे प्राणायाम के आसन कहलाते हैं। इन आसनों से खून साफ होकर स्वस्थता प्राप्त होती है।

वलवर्धक आसन—इन आसनों में बोझ उठाने और प्रतिरोध करने (किसी शक्तिशाली वस्तु पर वल प्रयोग करने) वाले आसन या व्यायाम आते हैं। प्रतिरोध करने से अपनी शक्ति बढ़ती है।

स्नायु संचालन के आसन—कई आसन अत्यन्त शीघ्रता के साथ और वार-वार करने से स्नायुओं के संचालन में बहुत उपयोगी होते हैं। शरीर को शीघ्र ही दोषरहित करने में इस प्रकार के साधन वड़े सहायक होते हैं। स्नायु संचालन का अर्थ है–स्नायुओं में गति अर्थात् खून का तेजी से दौड़ना।

अतः उपर्युक्त चारों प्रकार के आसन यदि विधिपूर्वक नियम से किये जाएं तो निश्चय ही स्वस्थ्यता (निरोगता) होकर वलवृद्धि और आयुवृद्धि हो सकती है।

चार अन्य प्रकार

आसनों की स्थिति की दृष्टि से भी आसनों को मुख्यतः चार प्रकार के आसनों में विभक्त कर सकते हैं। (१) खड़े होकर किये जाने वाले (२) बैठ कर किये जाने वाले, (३) भूमि पर लेट कर किये जाने वाले और (४) उलटा होकर अर्थात् सिर नीचे करके और पैर ऊपर करके किये जाने वाले आसन।

तीसरी और चौथी प्रकार के आसनों को करने से हृदय

रोग के रोगियों—कमजोर दिल वालों—को बहुत लाभ पहुंचता है।

सारांश यह है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ न कुछ आसनों का व्यायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। हां अपनी-अपनी शारीरिक स्थिति का ध्यान रखते हुए अपने अनुकूल अपने लिए अधिक लाभ पहुंचाने वाले—आसनों का चुनाव किया जा सकता है। परन्तु इन आसनों के साथ-साथ आहार-विहार युक्त (उचित) ही होना चाहिए। अनुचित आहार-विहार करने वालों को विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता।

भगवान् कृष्ण ने भी कहा है—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा।"

अर्थात् युक्त ही आहार-विहार करने वाले का योग दुःख दूर करने वाला होता है। अस्तु।

आसनों के मूल तत्व

आसनों के विषय में विशेष रूप से लिखने के पूर्व हम यहां थोड़ा सा आसनों के मूल तत्व के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं। आसनों का मूल सिद्धान्त समझ लेने से उसके करने की विधि सीखने में बहुत आसानी हो जाती है। हमारे प्राचीन विद्वान् ऋषि-मुनि प्रकृति के निरीक्षण, पशु-पक्षियों और वनस्पति की गति-विधि का सूक्ष्म विवेचन करने में

अत्यन्त कुशल थे। वे उनकी तनिक-तनिक सी बात से मानव जाति की हितकारी बातों की खोज निकालते थे यही कारण है कि आप देखेंगे आसनों में भी बहुत से आसन पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के नाम पर हैं। निश्चय ही आसन उन पशुओं और वनस्पतियों की स्थिति विशेष के अनुकरण पर कल्पित किये गये होंगे।

आप नित्यप्रति अपने घरों में बिल्लियों को, सड़कों पर

कुत्तों आदि पशुओं को विशेष २ समय पर अपने अंगों को

विशेष प्रकार का रूप देते देखते हैं। कुत्ता जब कभी सोकर उठता है तो वह अपना आलस्य दूर करने के लिए किस प्रकार आगे को लम्बा हो जाता है और कभी पीछे की ओर बदन को खींचता है। और उसके अगले दोनों पैर एक साथ मिले हुए अपने स्थान पर ही रहते हैं, इसी प्रकार पिछले पैर रहते हैं। क्या कभी आपने इस ओर ध्यान दिया है?

इसी प्रकार जब बिल्ली सोने के पश्चात् उठती है तो वह भी अपने आलस्य को दूर करने के लिए अपनी पीठ को ऊपर को ऊंचा उठा कर एक विशेष प्रकार का आसन करती है और फिर यथावत् स्वस्थ होकर अपने काम पर लग जाती है।

हमारे पूर्वज विद्वानों ने इन सब का बारम्बार भली भांति निरीक्षण करके उस अनुभव के आधार पर मनुष्यों के लिए जो आसन लाभदायक प्रतीत हुए उनका प्रचार किया।

हम लोग भी यदि इसी प्रकार प्रकृति का निरीक्षण करें, पशु–पक्षियों की गति-विधि का सूक्ष्म अवलोकन करें तो यदि ऋषि–मुनियों जितना नहीं तो कुछ न कुछ मात्रा में

तो अवश्य ही इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसे मानव जाति के हितार्थ प्रयुक्त कर सकते हैं।

आसनों के विशेषज्ञों ने इसीलिए कहा है कि जितनी जीव जातियां हैं उतने ही आसन हैं। और चूंकि हमारे प्राचीन विद्वान् ८४ लाख योनियां मानते हैं अतः आसनों की संख्या भी इतनी ही हुई। पर यदि हम लाख को प्रकार-वाची शब्द मानलें तो यह संख्या ८४ रह जाती है। इस प्रकार योग के आसनों की संख्या ८४ तक पहुंच गयी।

तात्पर्य यह है कि आसनों का मूलतत्व विभिन्न प्राणियों पशु पक्षियों आदि की अंगचालना में निहित है और हम लोगों को आसन करना सीखने से पूर्व इस बात को भली भांति समझ लेना चाहिए। यदि साधकों के हृदय में यह सिद्धान्त बैठ जायगा तो वे स्वयं भी इस दिशा में प्रगति कर सकेंगे।

पशु-पक्षी आदि ही क्यों, आप मानव जाति का भी यदि इस दृष्टि से अवलोकन करें तो उसमें भी यह आसनों का मूलतत्व आपको दृष्टिगोचर होगा। दो-चार दिन के उत्पन्न हुए छोटे से बच्चे को ही देखिए, कोई आवश्यकता विशेष न होते हुए भी वह किस प्रकार अपने हाथ पैरों को एक विशेष ढंग से चलाता है और निश्चय ही खिचाव की कसरत या आसन करता है। बच्चे की यह गतिविधि उसके

बड़े हो जाने पर भी तब तक किसी न किसी रूप में रहती ही है जब तक कि हम उस पर कृत्रिम गम्भीरता का आवरण नहीं डाल देते। तो इससे हमें पता चला कि शरीर के अंगों का चालन अर्थात् आसन करना मनुष्य आदि सभी प्राणियों का प्राकृतिक एवं स्वाभाविक व्यायाम है और इन आसनों के द्वारा मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भांति स्वस्थता प्राप्त कर सकता है और ऐसा उसे करना भी चाहिए।

स्त्रियों व बालकों के लिए

वैसे तो सब आसन सभी लोग कर सकते हैं। किन्तु कुछ आसन किसी एक के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं तो किसी दूसरे के लिए कोई और ही आसन अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार कुछ विशेष आसन स्त्रियों के लिए और कुछ पुरुषों के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। कुछ दोनों को लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को आसनाभ्यास करने से पूर्व बड़ी सावधानी से अपने अनुकूल आसनों का चुनाव कर लेना उचित है। जिन आसनों में पांव की एड़ी मलेन्द्रिय (गुदा) और मूलेन्द्रिय (पुरुषों के अण्ड-कोष) के बीच में लगानी पड़ती है वे आसन स्त्रियों को नहीं करने चाहिएं। हमारे देश में स्त्रियां वैसे भी बहुत कम व्यायाम करती हैं आसनों की तो कथा ही क्या कहनी। आसन तो पुरुष लोग भी बहुत कम करते हैं। किन्तु निस्स-

न्देह आसनों के अभ्यास से स्त्री और पुरुष दोनों ही लाभ उठा सकते हैं। आसनों का अभ्यास करने और संयमपूर्वक जीवन बिताने से स्त्रियों को गर्भ धारण और प्रसवन-क्रिया में कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता तथा बहुत सरलता से बच्चा जनने की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। किन्तु प्रत्येक दशा में संयम का होना अत्यन्त आवश्यक है।

बालकों को यदि छोटी आयु (लगभग ७—८ वर्ष की अवस्था) से ही आसनों का अभ्यास कराया जाय तो वे प्रत्येक आसन को बड़ी आसानी से सीख और कर सकते हैं तथा उनका शरीर अत्यन्त दृढ़ लचकीला और हृष्ट-पुष्ट बन सकता है। शुरू-शुरू में दो-तीन वर्ष तक आसान आसन करवाने उचित हैं। उसके बाद शनैः शनैः कठिन आसनों का अभ्यास कराया जा सकता है। गुदा और अंडकोष के बीच में एड़ी लगाकर करने वाले आसनों का अभ्यास बालकों से १५—१६ वर्ष की आयु होने से पूर्व नहीं कराना चाहिए। परन्तु जैसे कि आजकल के लड़के कुसंगति के कारण प्रायः बिगड़ जाते हैं वैसे लड़कों में यदि कोई वीर्य—दोष (स्वप्न—दोष) आदि पाया जाये तो ये आसन करने में कोई आपत्ति नहीं। इतना ही नहीं अपितु ऐसी दशा में ये आसन अवश्य कराने चाहिए। इनसे वीर्य—स्तम्भन में बड़ी सहायता मिलती है और ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

रोगी और वृद्ध

आसनों के साथ-साथ यदि प्राणायाम करने का भी अभ्यास किया जाय तो निश्चय ही बहुत लाभ होगा। परन्तु जिनका दिल दुर्बल हो वे बिना प्राणायाम के ही आसन करें, अन्यथा उन्हें हानि होने की सम्भावना है। रोगी और वृद्ध जन भी प्राणायाम रहित आसन करें। रोगियों को आरम्भ में लेट करके आसन करने वाले आसन करना उचित है शनैःशनैः आरोग्य प्राप्त करने और बल बढ़ने पर बैठ कर, फिर खड़े होकर करने के आसन किये जा सकते हैं।

वृद्धों से तात्पर्य ६० वर्ष से ७०-७५ वर्ष की आयु वाले लोगों से है। इस अवस्था के निरोग वृद्ध सब प्रकार के आसन कर सकते हैं। उन्हें अवश्यमेव लाभ होगा। कई वृद्ध पुरुषों ने जिनकी आयु लगभग ७५ वर्ष की थी आसनों के अभ्यास और उचित खान-पान के द्वारा अपने शिथिल एवं गलित प्राय शरीर को पुनः फुर्तीला बना लिया। यों तो कई नवयुवक २५ वर्ष की अवस्था में ही वृद्ध हो जाते हैं और कई वृद्ध ६०-६५ वर्ष की अवस्था में भी नवयुवकों को मात करते हैं। अतः अपने शरीर की दशा का विचार करना और तब स्वोपयोगी आसनों का चुनाव करना-यह एक अत्यन्त आवश्यक बात है। कई लोग अपने शरीर के सामर्थ्य

से कहीं अधिक परिश्रम व्यायाम, आसनादि करते हैं और लाभ के स्थान पर हानि उठाते हैं। ऐसे लोग अपने अविवेक पर तो विचार करते नहीं उल्टा आसन व्यायाम आदि की बुराई करने लगते हैं इसीलिए हम बार-बार इस बात की चेतावनी देते हैं कि कोई असावधानी से कहीं हानि न कर बैठे।

यदि आसनों का कोई अच्छा अभ्यास मनुष्य को मिल जाय तो उसकी देख-रेख में आसन सीखना अधिक उपयुक्त है, पर यदि कोई ऐसा व्यक्ति न मिले तो शनैः-शनैः स्वयं भी अभ्यास किया जा सकता है। ऐसी दशा में शरीर की अवस्था का भली-भांति निरीक्षण करते रहना चाहिए और जिस आसन से लगातार हानि दिखाई दे उसे छोड़ देना चाहिए। यथा कभी कोई अनुभवी व्यक्ति मिले तो उससे पूछताछ करके तदासन विषयक यदि कोई भूल हो तो उसे सुधार लेना चाहिए। इस प्रकार यदि बुद्धि पूर्वक आसनों का अभ्यास किया जाए तो किसी भी प्रकार की हानि न होकर लाभ प्राप्ति होगी।

इस विषय में एक बात और कहनी है। वह यह है कि आजकल विद्यालयों (स्कूलों) में प्रायः व्यायामशिक्षक (ड्रिलमास्टर) रहते हैं। ये लोग आसनों के भी जानकार हों और व्यायाम के कार्यक्रम में आसनों के अभ्यास को भी

सम्मिलित कर लिया जाए तो आसनों का अभ्यास बालकपन से निर्विघ्न रूप से कराया जा सकता है। हमारी राष्ट्रीय सरकारें इस ओर ध्यान दे तो बड़ा उपकार हो।

खड़े होकर करने का आसन

१--ताड़ासन

ताड़, खजूर और नारियल के पेड़ पाठकों ने देखे होंगे। ये सभी वृक्ष प्रायः एक से होते हैं। ये बहुत सीधे और लम्बे (ऊंचे) होते हैं। पत्ते केवल ऊपरी भाग में होते हैं शेष सारा भाग तना रूप बन जाता है। यह प्रायः बिल्कुल सीधा होता है जैसा यह तना (पेड़ का धड़) सीधा होता है ऐसा ही सीधा अपना धड़ रहना चाहिए, सिर भी सीधा हो। साधारण रूप में भी सभी लोग यही समझते हैं कि यह तो कोई बड़ी बात नहीं हम सभी सीधे खड़े होते हैं, पर ऐसी बात नहीं। प्रायः अधिकतर लोग बिल्कुल सीधे बहुत ही कम खड़े होते हैं और जिसे हम सीधा होना समझते हैं उसमें भी कुछ न कुछ टेढ़ होती है। अतः सर्वथा सीधे खड़े होने का अभ्यास करने के लिए हमें चाहिए कि हम किसी दीवार से सट कर खड़े हों। पैरों की एड़ियां नितम्ब (चूतड़) पीठ और सिर का पिछला भाग—ये सब अंग दीवार से छूते रहना चाहिए। इस प्रकार आप बिल्कुल सीधे खड़े हो जायेंगे। कुछ दिनों तक दीवार के सहारे ही यह अभ्यास करते रहना चाहिए। प्रति दिन

कम से कम ५ मिनट से लेकर १५ मिनट तक अभ्यास करना पर्याप्त है। जब अभ्यास इतना हो जाए कि दीवार के सहारे के बिना ही सीधे खड़े रह सकें तो फिर दीवार का सहारा छोड़ देना चाहिए, एक सप्ताह में ही इतना अभ्यास बड़ी आसानी से हो सकेता है, यह वही अवस्था है जिस अवस्था में सैनिक या सिपाही पंक्ति में सीधे खड़े होते हैं। आसन करने के समय के अतिरिक्त भी यदि इस प्रकार सीधा चलने का अभ्यास किया जाय तो बहुत ही अच्छा हो पर वहां बिल्कुल सीधा रहने का नियम शत-प्रतिशत कड़ाई के साथ पालना आवश्यक नहीं, यदि आवश्यकता हो तो झुका भी जा सकता है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि पीठ की हड्डी (मेरु-दन्ड) का योग और स्वास्थ्य दोनों ही दृष्टि से सीधा रखना अत्यन्त आवश्यक है।

ऊपर बताये हुए ढंग से सीधे खड़े होकर दोनों हाथ पहले सीधे नीचे की ओर रखिए, फिर शनैः-शनैः पहिले एक हाथ को कन्धे की सीध में रखते हुए ऊपर की ओर उठाइए, यहां तक कि हाथ बिल्कुल ऊपर की ओर सीधा खड़ा हो जाए और अंगुलियाँ सीधी आकाश की ओर हों। एक हाथ का अभ्यास करके फिर दोनों हाथों को एक साथ ऊपर ले जाने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार आप देखेंगे कि आपके दोनों हाथों की विभिन्न अवस्थाएं मिलकर झाड़ के चारों ओर के पत्तों का रूप धारण कर लेती हैं

और आपका शिरो भाग ताड़ के शिरो भाग जैसा हो जाता है।

ताड के पत्ते

जब उपर्युक्त ढंग से करने का अभ्यास आपका हो जाए तो फिर एक-एक हाथ को क्रमशः तेजी के साथ ऊपर ले जाने का अभ्यास कीजिए। हथेली सामने की ओर होगी, हाथ बिल्कुल सीधा होगा। जितना हो सके हाथ को ऊपर को खींचिए। मानो आपका बिना एड़ी उठाये ऊपर की

किसो ऊंची वस्तु (छत आदि) को छूना हो । ऐसा करते समय आपको अनुभव होगा कि पेट की नस-नाड़ियों के साथ-साथ मल-मूत्रेन्द्रिय के पास की नसें भी ऊपर को खिची जा रही हैं । जव इस प्रकार सभी नस-नाड़ियां ऊपर को खिचती हुई प्रतीत हों तभी आसन की पूर्णावस्था समझनी चाहिए। हाथ के विल्कुल ऊपर की ओर सीधा होने पर ही नस-नाड़ियों का पूरा खिचाव होगा और जव हाथ क्रमशः नीचे-नीचे को आता जायेगा खिचाव कम होता जायेगा । दोनों हाथों को इसी प्रकार वारी-बारी से करना चाहिए ।

इसी प्रकार वारी-वारी से दोनों हाथों को आगे की ओर, पीछे जितना हो सके और बगल की ओर भी सीधा करके खींचना चाहिये । हाथ का यह खिचाव अपने आप ही करना है, किसी दूसरे व्यक्ति से हाथ खिचवाना नहीं है ।

यह आसन वहुत आसान है और दो-चार वार के अभ्यास से ही होने लगना है । थोड़े से अभ्यास के बाद ही आपको पता लगने लगेगा कि आपके हाथ के खिचाव से आपके शरीर की कौन-कौन सी नस–नाड़ियों में खिचाव होता है ।

हाथों का यह खिचाव किसी भी ओर कम से कम एक मिनट तक तो करना ही चाहिए, तभी कुछ लाभ होगा ।

अर्थात् दोनों हाथों के सब ओर (चार–चार) खिंचाव का कुल ८ मिनट से कम तो होना ही नहीं चाहिए।

इस आसन से यह लाभ होता है कि खिंचाव वाली नस-नाड़ियों के मल–दोष दूर होकर रक्त की शुद्धता होती है और पेट पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। आसन करते समय श्वास नाक से ही लेना चाहिए और जहां तक हो सके श्वास गहरा और लम्बा हो।

यह आसन स्त्री, बाल–वृद्ध सभी कर सकते हैं और सभी को इससे लाभ पहुंचता है।

२—कोणासन

पूर्वोक्त ताड़ासन की स्थिति में खड़े होकर पांव फैला लीजिए। फिर एक पांव को बगल की ओर मोड़िए। पांव को इतना मोड़िए कि वह प्रायः समकोण की स्थिति में हो जाये। तदनन्तर जो पांव मोड़ा है उसी ओर के हाथ से उस पांव के अंगूठे को स्पर्श कीजिए। परन्तु शरीर में लोच नहीं आना चाहिए सारा शरीर सीधा रहते हुए ही झुकाइये, दूसरा हाथ जैसे पूर्व स्थिति में सर की ओर सीधा खड़ा था

वैसे ही सीधा रखते हुए, शरीर के ऊपरी भाग (धड़) के बगल

१०.

की ओर मुड़ने पर मुड़ना चाहिए, शिथिल (ढीला) या टेढ़ा नहीं होना चाहिए, कुछ क्षण तक इसी स्थिति में (पैर के अंगूठे को स्पर्श किए हुए) रहिए फिर खड़े हो जाइए। इसके पश्चात् इसी प्रकार दूसरे पैर को मोड़ कर दूसरी ओर करिए। दोनों ओर जब ठीक से कर लेने लगें तो समझना चाहिए कि आसन पूर्ण रूप से करना आ गया।

यह ध्यान रहे कि पैर को समकोण की स्थिति में मोड़ने के बाद जब आप धड़ बगल की ओर झुकाएं तो वह एक साथ ही न झुकाएं बल्कि धीरे-धीरे मन्द गति से झुकाएं।

यदि ऐसा न करेंगे तो इच्छित फल की प्राप्ति पूर्णरूप से नहीं हो सकेगी ।

इस प्रकार नियमानुसार यह आसन करने से पेट की नस–नाड़ियों पर तो अच्छा प्रभाव पड़ना ही है साथ ही साथ और पांव की नसें खिचने से उन्हें भी लाभ होता है। आरम्भ में तो यह आसन कुछ क्षण ही करना चाहिए, फिर धीरे–धीरे अधिक देर १–२ मिनट तक कर सकते हैं। वैसे कम से कम ८–१० सैकिंड तक तो करना ही चाहिए। पूर्ण अभ्यास १०–१२ दिनों में बड़ी आसानी से हो जाता है। जिनका दिल कमजोर हो अथवा खड़े होकर जो लोग यह आसन नहीं कर सकते हों वे जमीन पर लेट कर भी इसे कर सकते हैं। एक दो महीने जमीन पर लेटकर यह आसन के बाद, विश्वास है कि वे खड़े होकर यह आसन करने की स्थिति में अवश्य हो जायेंगे। जमीन पर लेट कर करने की स्थिति में सिर, पीठ, चूतड़, पांवों की एड़ियां तथा हाथों की कुहनियां जमीन को छूती हुई रहेंगी। खड़े होकर करने की भांति ही पहिले पैर को समकोण स्थिति में मोड़ कर लायेंगे फिर शनैः-शनैः धड़ के भाग को सीधा ही बगल की ओर मोड़ते हुए उसी ओर के हाथ से मुड़े हुए पैर के अंगूठे को छुएंगे। दूसरा हाथ सीधा ही मुड़ता रहना चाहिए।

गर्भवती स्त्रियां इस आसन को न करें।

३--हस्तपादांगुष्ठासन

सावधान की स्थिति में बिल्कुल सीधे खड़े हो जाइये। सिर, पीठ, चूतड़ तथा पैर आदि सब एक सीध में होने चाहियें। तत्पश्चात् एक पैर को सीधा रखते हुए भी शनैः-शनैः ऊपर की ओर उठाइये। यह पांव धीरे २ इतना ऊपर की ओर उठ आना चाहिए कि दूसरे पांव के साथ मिलकर करीब २ समकोण का रूप धारण करले अर्थात् भूमि से करीब-करीब समानान्तररूप की स्थिति में हो जाए। इतना हो जाने के बाद जिस ओर का पांव ऊपर को उठाया है उसी ओर के हाथ से उस पैर के अंगूठे को पकड़ लीजिए। ये दोनों (हाथ-पैर) सीधे ही रहने चाहियें। इसमें से कोई भी मुड़ना नहीं चाहिए। दूसरा हाथ कमर पर रख लीजिए। कुछ क्षण कम से कम ३० सेकिण्ड इसी स्थिति में रहिए और फिर ऊपर उठे हुए पैर के घुटने पर अपना सिर या नाक लगाने का प्रयत्न

२२

कीजिए। ऐसा करना तनिक कठिन अवश्य है पर धीरे २ अभ्यास करने से हो जाता है। पहले-पहले तो १ सेकिंड ही उठे पैर के घुटने पर सिर या नाक रखना कठिन प्रतीत होगा पर अभ्यास के बाद न्यूनातिन्यून एक मिनट तक रखा जाना चाहिये इसी प्रकार दूसरे पैर का अभ्यास करें।

इस आसन के निरन्तर करने से गला, पीठ, उदर, कटिभाग और जांघों का नसों को लाभ पहुंचता है। इसका आभास आपको पहिले ही दिन कुछ–न–कुछ मिल जायेगा।

यदि किसी को यह आसन करने में कठिनाई प्रतीत हो तो वह दीवार का सहारा लेकर इसे करने का अभ्यास कर सकता है। इससे गिरने का डर नहीं रहता। यदि फिर भी न हो सके तो इसके अतिरिक्त उठाने वाले पैर के नीचे आवश्यक ऊंची तिपाई आदि कोई वस्तु रख लें जिससे पैर समकोण स्थिति पर ऊंचा उठा रहे और फिर हाथ से उस पैर का अंगूठा पकड़ें। हाथ पैर हर दशा में सीधे रहने चाहिए, उनमें टेढ़ा–पन नहीं रहना चाहिए एवं शेष शरीर भी सीधा ही रखना चाहिए।

इस आसन को स्त्री–पुरुष सभी कर सकते हैं परन्तु गर्भवती स्त्रियों के लिए ठीक नहीं।

४-गरुड़ासन

पहिले सीधे खड़े हो जाइए फिर एक पैर को दूसरे पैर से दूसरे पैर से इस प्रकार लपेटिये जैसे पेड़ के तने पर कोई लता (वेल) लिपट जाती है। इसी प्रकार हाथों को एक दूसरे के साथ लपे-टना चाहिये। हाथों की हथेलियां परस्पर एक दूसरे से मिल जानी चाहिए।

इस आसन के करने से हाथ पांवों की सब नसें अच्छी प्रकार खिच जाती हैं अतः उनके दोष दूर होते हैं। इस आसन के अभ्यास और योग की बस्ति धौति क्रिया के करने से कहा जाता है अण्डकोष के बढ़ने का रोग दूर हो जाता है। साथ ही घुटनों और पांवों का दर्द भी काफूर हो जाता है।

२३

गर्भवती स्त्रियों के अतिरिक्त सब लोग इसे कर सकते हैं।

५--उत्कटासन

कुर्सी पर बैठने से शरीर की जो स्थिति हो जाती है वही स्थिति शरीर की कुर्सी आदि किसी सहारे के बिना इस आसन में बनानी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि आसन करते समय दोनों हाथ कमर के दोनों ओर रख लिए जाते हैं। यद्यपि हाथों का कमर पर रखना आवश्यक नहीं है परन्तु इससे आसन करने में सुविधा अवश्य होती है।

पहले सीधे खड़े हो जाइये, फिर हाथों को कमर पर रख लीजिये और शरीर के ऊपरी भाग को धीरे २ नीचे लाना आरम्भ कर दीजिए। ऐसा करने में दोनों पैर आगे मुड़ते जाएंगे। किन्तु अभ्यास यह होना चाहिये कि पैर आगे अधिक मुड़ें और घुटने यथासम्भव अपने स्थान पर ही रहें और घुटनों से ऊपर का जंघा वाला भाग पीछे की ओर मुड़े। धीरे २ जंघा वाला भाग घुटने की सीध में एक सीधी (पट रेखा पड़ी हुई) रेखा का रूप धारण करले और ऊपर का धड़ भाग इसके यथासम्भव सीधा (समकोण बनाता हुआ) रहे। शरीर का संतुलन बनाये रखने के लिये कि जिससे गिर न पड़े, घुटनों को आगे की ओर इतना ही झुकाया जा सकता है कि घुटने के पैर के अंगूठों की सीध में हो जाएं, अधिक आगे नहीं झुकना चाहिए।

जव इस आसन का अभ्यास पूरी तरह से हो जाये तो पैरों की एड़ियां उठाकर केवल अंगूठों पर हो खड़े रहकर इस आसन को उपर्युक्त प्रकार से ही करने का अभ्यास करें। इस प्रकार केवल अंगूठों के वल पर ही आसन करने से अधिक लाभ होता है। इसके पश्चात् दोनों घुटनों को अलग-अलग फैला कर आसन करें। पैरों की एड़ियां जमीन से उठी होते हुए आपस में मिली रहें। केवल पैरों के घुटनों को हो फैलाइये। दाहिने घुटने को दाहिनी ओर और बायां घुटना बायीं ओर को फैलाइये। इस प्रकार का अभ्यास हो जाने पर समझना चाहिये कि आसन पूर्णतया करना आ गया।

३४

आसन का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर, उससे पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए, विना किसी सहारे के ही करना चाहिए। इससे पाँव मजबूत होते हैं। अतः कमजोर पैरों वाले व्यक्तियों के लिए यह आसन बहुत लाभदायक है।

६—पादहस्तासन

सीधे खड़े होकर हाथ ऊपर सीधे खड़े कर लीजिए फिर

धीरे २ हाथ नीचे की ओर लाइये। ध्यान रहे कि हाथ टेढ़े न हों, सीधे ही रहें। हाथ यहां तक नीचे ले जाइये कि आप दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ लें तब आपका सिर दोनों हाथों के बीच में होना चाहिए और पैर बिल्कुल सीधे आरम्भ से ही रहने चाहिएं। पैर टेढ़े नहीं होने चाहिएं। प्रायः आरम्भ में पैर टेढ़े हो जाते हैं, अतः अभ्यास करना आरम्भ करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।

जब इतना अभ्यास हो जाये तब हाथों से पैर के अंगूठे पकड़े ही रहिए और नाक को घुटने से छुआने का प्रयत्न कीजिए। ऐसा करना तनिक कठिन तो प्रतीत होगा किन्तु शनैः–शनैः थोड़ा–थोड़ा सिर को आगे बढ़ाते जाइये और एक दिन ऐसा आएगा कि आप बिना किसी कठिनाई के नाक से

२०

घुटनों को छू सकेंगे। हाथ यथा-सम्भव सीधे ही रहें और प्रत्येक दशा में सीधे रहने चाहिएं। इस अभ्यास के बाद घुटनों को जरा फैला लें और सिर को उनके बीच में ले जाकर दोनों कानों से दोनों घुटनों को छूने का अभ्यास कीजिये। यह अभ्यास हो जाने के पश्चात् हाथों की हथे-

लियों को पैरों के सामने की निकटतम भूमि पर जमाने का अभ्यास कीजिए ।

यह आसन करते समय पेट को यथासम्भव अन्दर की ओर खींचें । जितना ही अधिक पेट अन्दर की ओर खींचा जाय उतना ही अधिक लाभ होता है ।

इस आसन के अभ्यास से पांव, कमर और पीठ की नसें खिचती हैं अतः ये भाग स्वस्थ बनते हैं । साथ ही जिगर और तिल्ली के रोग से मुक्त होते हैं । पेट में आंतें भी शुद्ध होती हैं । जठराग्नि दीप्त होती है और भूख बढ़ती है । पेट का मोटापा भी कम हो जाता है ।

यह आसन पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये १० मिनट तक अवश्य करना चाहिये, वैसे तो यदि दो एक मिनट तक किया जाये तो भी कुछ न कुछ तो लाभ तो होता ही है । यदि १० मिनट से अधिक समय तक किया जाये तो और अधिक लाभ होगा । इस आसन से शौच खुल कर आने में भी सहायता होती है क्योंकि पेट की हवा की गति नीचे की ओर होती है और वह मलद्वार से निकलती है ।

७—वातायनासन

सर्व प्रथम सीधे खड़े हो जाइये फिर किसी एक पांव के घुटने को भूमि पर रख दीजिये । दूसरा पैर अपने आप

झुक जायेगा और वह कुर्सी की सी आकृति बनायेगा। अब जिस पैर का घुटना भूमि पर रखा है उस पैर के पंजे को उठा कर दूसरे पैर की जाँघ के मूल पर रखकर हाथ जोड़ कर सीधे इसी प्रकार खड़े रहिये। मुड़े हुये पाँव की एड़ी दूसरे घुटने से मिला देनी चाहिये।

दोनों पांव की स्थिति को अदलने-बदलने से यह आसन दो प्रकार का बन जाता है। स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

इस आसन के करने से पावों की शक्ति बढ़ती है।

४७

८—मयूरासन

मोर जब कभी किसी मुंडेर या ऊंचे स्थान पर बैठता है और उसकी पुछाड़ नीचे को लटकती होती है उस समय उस मोर की जो आकृति होती है वैसी और आकृति इस आसन के समय हमारे शरीर की बन जाती है इसीलिए इस आसन को 'मयूरासन' कहते हैं।

इस आसन को मेज के सहारे सरलता से किया जा सकता है। मेज पर अपने दोनों हाथ बराबर २ जमा कर रखिये,

दोनों हाथों की कुहनियों को नाभिस्थान के पास लगाइये, फिर इन कुहनियों पर ही सारे शरीर का भार डालिये। इस समय आपके दोनों पैर जमीन से उठ कर तनिक तिरछा होकर सीधे फैले होने चाहिएं और धड़ भाग अधोभाग से संतुलन रखने के लिये तनिक सा आगे की ओर झुका होना चाहिये। बस मयूरासन बन गया। इस आसन के करने से पेट की जठराग्नि प्रदीप्त होती है और हाथों को पुष्टि मिलती है।
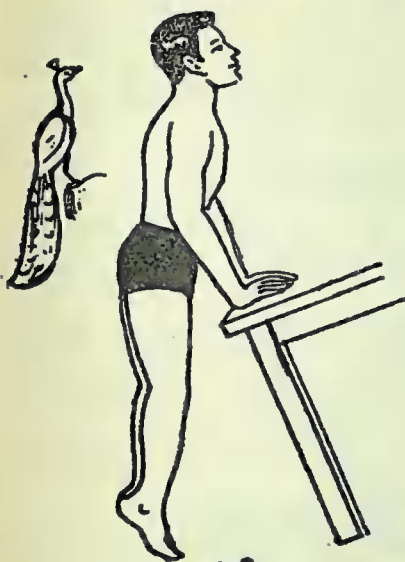
५२

दूसरा प्रकार
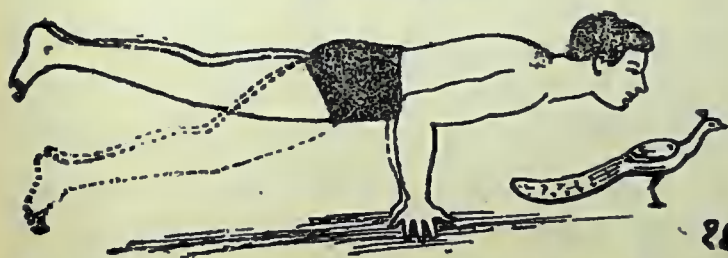
१४

यही आसन जब जमीन पर हाथ रख कर किया

जाता है तो आकृति भूमि पर चलने वाले मोर की जैसी बन जाती है।

(२) बैठकर करने के आसन

९–पश्चिमोत्तानासन

उपर्युक्त आसन सं० ६ जब बैठकर किया जाये तब वह पादहस्तासन के स्थान पर पश्चिमोत्तासन कहलाता है। इसकी विधि यह है कि भूमि पर बैठकर पैरों को आगे की ओर सीधा फैला दीजिये। इसके पश्चात् दोनों हाथों को

२१

सीधा रखते हुए ही आगे की ओर झुकिए। हाथों को धीरे २ आगे की ओर झुकाते-झुकाते बिल्कुल पैरों के अंगूठों के पास तक ले जाइए और फिर पैरों के अंगूठों को हाथों से पकड़ लीजिये। पूर्वोक्त प्रकार इस आसन के करते समय भी पैर सर्वथा सीधे फैले रहने चाहिएं उनमें टेढ़ापन नहीं आना चाहिए और हाथ भी यथासम्भव सीधे रहने चाहियें। सिर दोनों हाथों के बीच में रह सकता है।

जब इतना अभ्यास हो जाये तो फिर नाक से पैरों के घुटनों को—पैरों के अंगूठे हाथों से पकड़े-पकड़े ही छूने का प्रयत्न कीजिये और जब यह अभ्यास भी हो जाये तब सिर को घुटनों के बीच में ले जाकर कानों से घुटनों को छूने का अभ्यास करना चाहिए। यह सारा अभ्यास हो जाने पर आसन पूर्ण होता है। इस आसन का समय और लाभ आदि पूर्वोक्त आसन सं० ६ के ही समान हैं।

६–पादांगुष्ठासन

सर्व प्रथम पैरों के पंजों के बल एड़ियां उठाकर सीधे बैठ जाइए। तत्पश्चात् कोई एक पैर उठाकर दूसरे पैर की जंघा पर रखिये और जिस एक पैर के सहारे आप बैठे हैं उस पैर की एड़ी को अपनी गुदा और अंडकोषों के बीच वाले स्थान पर लगा लीजिये। यह सब करते समय आप एक हाथ को सहारे के लिये जमीन पर रख सकते हैं या दीवार आदि जो कुछ पास में हो उसका सहारा ले सकते हैं। परन्तु जब आसन की स्थिति पूर्वोक्त प्रकार पूर्ण हो जाय तब दोनों हाथों को कमर पर रख लीजिए और किसी भी प्रकार का सहारा न लीजिये। देखिए आगे चित्र।

इस आसन से वीर्यस्तम्भन में बहुत सहायता मिलती है। स्वप्नदोष आदि के रोगी इससे लाभ उठा सकते हैं। स्त्रियों

को यह आसन नहीं करना चाहिये। गृहस्थ पुरुषों को भी

३५

यह आसन अधिक काल तक और लगातार करना ही उचित है।

१०–जानु शिरासन

भूमि पर बैठ जाइए, फिर किसी भी एक पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोष के बीच से लगाइए। इसी पैर की पिंडली का इस पर की जांघ पर अच्छा दबाव भी पड़ना चाहिए। दूसरे पैर को सीधा फैलाइए और फिर दोनों हाथों से इस फैले हुए पैर के पंजे को पकड़िए, फैला हुआ पैर बिल्कुल सीधा रहना चाहिए। इसके अनन्तर फैले हुए पैर

के घुटने पर सिर अथवा नाक लगाइए। बस आसन पूर्ण हो गया। इस स्थिति का ही अभ्यास कीजिये। आधा घण्टा तक इसे कर सकते हैं। कम से कम पांच मिनट तक तो

२२

अवश्य करना चाहिए। आसन करते समय पेट (नाभि) को अन्दर की ओर खींचिए। साथ ही मनोयोग से गुदा और मूलेन्द्रिय की तथा उनके आस–पास की नसों को ऊपर की ओर समेटिये। ऐसा करने से वीर्य–स्तम्भन में बहुत सहायता मिलती है।

यदि आप इस आसन के साथ-साथ पेट (नाभि) को अंदर को ओर और गुदा आदि की नसों को ऊपर की ओर नहीं खींच सकते तो कोई चिन्ता की बात नहीं, इनके बिना भी आसन कर सकते हैं। ये क्रियाएं तो विशेष हैं जिन से कि वीर्यरक्षा में सहायता तो नहीं मिलेगी पर तिल्ली और जिगर की खराबी अवश्य दूर होगी। जीर्णज्वर भी चला जाता है। खांसी, दमा और प्रथम अवस्था का क्षय (तपे-

दिक) रोग भी इस आसन के अभ्यास से दूर हो जाता है। आंतों के निर्दोष हो जाने के कारण भूख भी खुलकर लगती है। जब रोग की दशा के बाद पहले-पहले स्वास्थ्य-लाभ होकर भूख लगने लगे तो पहले गाय या बकरी का दूध पीना चाहिए तत्पश्चात् शनैः-शनैः अन्य सात्विक भोजन और शुद्ध घी का सेवन बढ़ाना चाहिए। उचित फल-मूल, कन्द आदि का भी उपयोग कर सकते हैं। ऐसा न करें कि अंट-संट अनुचित भोजन करके फिर स्वास्थ्य बिगाड़ लें। चटपटी चीजों, मसालेदार और सूखे पदार्थों को बिल्कुल नहीं खाना चाहिए।

इस आसन के अभ्यास से मूल-मूत्र रुकने के, आंतों की गर्मी बढ़ने के और वात प्रकोप के रोग शांत होते हैं। उप-युक्त पथ्य का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। पेट का, नाभि का या सिर का दर्द भी इस आसन से दूर होता है क्योंकि ये दर्द पेट की खराबी के कारण होते हैं और पेट की खराबी इस आसन से ठीक हो जाती है।

चेतावनीः—यह आसन दोनों पैरों से अवश्य करना चाहिए। केवल एक ही पैर से कभी न करना चाहिए, अर्थात् जितनी देर और जितनी बार एक पैर से यह आसन करें उतनी ही देर और उतनी ही बार दूसरे पैर से भी करना चाहिए।

यदि ऐसा न करेंगे तो इच्छित फल की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और बहुत कम लाभ होगा।

थोड़ा सा पानी पीकर यह आसन करने से मलत्याग में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। फिर भी मलत्याग से पहले अभ्यास के रूप में यह आसन करना उचित नहीं है। यह आसन स्त्रियों के लिए ठीक नहीं।

दूसरा प्रकार—यह आसन एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है। इस प्रकार में मुड़े हुए पैर की एड़ी को गुदा और अण्डकोषों के मध्य में न रख कर उस पैर के तलवे को फैले हुए पैर की जांघ पर रखा जाता है। शेष विधि पहले प्रकार के समान ही होती है। इससे पूर्वोक्त सारे लाभ होते हैं। केवल वीर्य-सरंक्षण में अधिक सहायता नहीं मिलती।

११—सिद्धासन

सर्व प्रथम आलथी-पालथी मार कर बैठ जाइये। फिर बायें पैर की एड़ी को अण्डकोष और गुदा के मध्य लगाइये। एड़ी से यह भाग दबता हुआ सा रहना चाहिये। पीठ और सिर आदि सारा शरीर बिल्कुल सीधा रखिये। हाथों को चाहे तो दोनों घुटनों पर रखें, चाहे मध्य में पैर के पंजे के ऊपर रखें। दृष्टि को सामने रखें पर मन से ऐसा ध्यान करें

कि आप दोनों भौहों के मध्य भाग देख रहे हैं । अथवा नाक के अग्र भाग पर भी दृष्टि जमायी जा सकती है । पलकें और आंखें हिलनी नहीं चाहिए अर्थात् एकटक दृष्टि रहनी

चाहिए । यदि भौहों के मध्य नासिकाग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करने में कठिनाई का अनुभव हो तो सामने का कोई एक बिन्दु स्थिर करके उस पर नजर जमा सकते हैं ।

पहले-पहले तो बैठने का ही अभ्यास करना आसान रहता है । अर्थात् आसन लगाकर शरीर को सीधा रखकर

विना हिले-जुले जितनी देर तक बैठे रह सकें बैठे रहें। कम से कम पन्द्रह मिनट से लेकर एक घण्टा तक बैठने का अभ्यास तो करना ही चाहिए। अन्धेरे और शांत वातावरण तथा एकांत में यह आसन सिद्ध करने में सहायता मिलती है।

जब बैठने का अभ्यास हो जाय तो दृष्टि स्थिर रखने का अभ्यास करें और फिर गुदा मूत्रेन्द्रिय और समीपस्थ नाड़ियों को ऊपर की ओर खींचने का अभ्यास करें। पेट को भी अन्दर की ओर खीचें। ऐसा अभ्यास करते समय श्वास बाहर या अन्दर को रोक भी सकते हैं और शान्तिपूर्वक सम-गति से चलने भी दे सकते हैं, जिस प्रकार सुविधा हो वैसा करना चाहिए। पेट को अन्दर की ओर खींचते समय श्वास को बाहर फेंक कर रोका जा सकता है। श्वास अन्दर लेकर पेट को अन्दर की ओर नहीं खींचना चाहिए।

इस आसन के अभ्यास से भोगेच्छा का समन करने और वीर्यरक्षा में बहुत सहायता मिलती है। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों को यह आसन अवश्य करना चाहिए। जिन्हें कामवासना बहुत सताती हो वे भी वासना के शमन में इस आसन से लाभ उठा सकते हैं। पर साथ ही सात्विक भोजन और सात्विक विचारों का होना भी आवश्यक है। गृहस्थियों को यह आसन अल्पकाल और अन्य आश्रमस्थों अधिक काल तक करना चाहिए।

दृष्टि को स्थिर रखने के अभ्यास से मन को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। रीढ़ की हड्डी को सीधा रखने, ठोड़ी को कंठमूल (गले के निकटतम छाती के ऊपरी स्थान) पर लगाने से दिमागी ताकत बढ़ती है। परन्तु इस बात का अनुभव एक वर्ष के निरन्तर अभ्यास के बाद ही हो सकता है।

पेट को अन्दर की ओर खींचने से पेट को बहुत लाभ होता है, पेट की खराबी दूर होकर पाचनशक्ति ठीक होती है और भूख खूब लगती है। परन्तु भूख अधिक लगने पर हानिकारक चटपटी वस्तुए-पकौड़े आदि न खाकर सात्विक भोजन—गाय का दूध आदि का उपयोग ही बढ़ाना चाहिये। अन्धाधुन्ध भी नहीं खाना-पीना चाहिए।

स्त्रियां इस आसन को न करें। हां, जो आजन्म ब्रह्म-चारिणी रहना चाहती हों वे इसे कर सकती हैं। पुरुष भी अपनी-अपनी शारीरिक अवस्था के अनुसार कम अधिक समय तक कर सकते हैं।

१२—पद्मासन

पहले तो आप आलथी-पालथी मार कर सीधे बैठ जाइये फिर बायें पैर को दाहिनी जंघा पर और दाहिने पैर को बायीं जंघा पर आंकड़ा बनाते हुए रखिये। दोनों पैरों के तलुवे लगभग ऊपर की ओर हो जाएंगे। दोनों हाथों को

दोनों घुटनों के ऊपर सीधा रखिये। अब अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच अथवा नाक की नोक या किसी बाहरी बिन्दु पर स्थिर कीजिये। अब आपका आसन पूरा हो गया। जितनी देर तक हो सके आप इसका अभ्यास कीजिये। कम से कम १५ मिनट से लेकर एक घण्टा तक तो करना ही चाहिये।

३८

गुदा और मूत्रेन्द्रिय तथा उसके पास की नस–नाड़ियों को इस आसन के साथ २ ऊपर खींचने से वीर्य–सम्बन्धी रोगों को दूर करने में बहुत सहायता मिलती है। स्त्री और पुरुष सभी इसे कर सकते हैं। केवल गर्भवती स्त्रियां तीन महीने के पश्चात् न करें।

कुछ अधिक मोटे लोगों को दोनों पैर एक दूसरे के

ऊपर रखने में कठिनता अनुभव हो तो आरम्भ में वे केवल एक ही (किसी भी दायें या बायें) पैर को दूसरे पैर की जंघा पर रख कर 'अर्द्ध पद्मासन' का अभ्यास करें । शेष बातें पूर्ववत् करनी होगी । धीरे-धीरे दूसरे पैर को भी रखने का अभ्यास करते जाएं । जो लोग एक ही पैर दूसरे पैर की जंघा पर रखें वे दूसरे पैर की एड़ी को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के मध्य में लगाएं ।

एक पैर से (अर्द्ध पद्मासन) करने वाले सज्जन दोनों पैरों से थोड़ी २ देर करने का अभ्यास करें। साथ ही दूसरे पैर को भी दूसरी जंघा पर रखकर पूर्ण पद्मासन का भी नित्य प्रति अभ्यास करते रहें ।

पूर्ण पद्मासन केवल ५ मिनट के ही अभ्यास से भूख खूब लगने लगती है, पेट में आंव का विकार हो तो वह भी दूर होता है । पेट के ऊपर पसलियों के अन्दर खींचने से और कुछ देर वहीं रोकने से पाचनशक्ति ठीक हो जाती है । रीढ़ की हड्डी सीधी रखने से मस्तिष्क के लिए मज्जा का बहाव ठीक होता है, परिणामतः विचार-शक्ति की वृद्धि होती है । ध्यान मग्न होने में भी इस आसन के सिद्ध होने से सहायता मिलती है ।

१३—उत्थित पद्मासन

पिछले पद्मासन को ही जमा कर इसे करते हैं । इस में

केवल यह अन्तर है कि हाथों को घुटनों पर न रख कर दोनों तरफ भूमि पर सीधा जमा कर उन हाथों के सहारे पर ही सारे शरीर को, पैरों को पद्मासन की स्थिति पर ज्यों का त्यों रखते हुए, उठाते हैं। इसीको 'उत्थित (उठा हुआ) पद्मासन' कहते हैं। पालथी को जितना अधिक ऊपर उठा सकें उठाएं। अधिक ऊपर उठाने से लाभ भी अधिक होगा। इससे पद्मासन के लाभों की प्राप्ति के साथ-साथ हाथ भी पुष्ट होते हैं। कुछ लोग इसे 'दोलासन' भी कहते हैं, क्योंकि हाथों पर झूला सा बन जाता है।

उत्थित पद्मासन।

१४--कुक्कुटासन

कुक्कुट संस्कृत भाषा में मुर्गा को कहते हैं। यह आसन करते समय शरीर को स्थिति मुर्गा के समान बन जाती है, इसीलिए इस आसन का नाम 'कुक्कुटासन' रखा गया है।

यह आसन 'उत्थित पद्मासन' जैसा ही होता है। अन्तर यह है कि 'उत्थित पद्मासन' में हाथों को पैरों के बाहर रखकर भूमि पर जमाते हैं पर इसमें हाथों को पैरों के बीच

में से ले जाकर भूमि पर रखते हैं। दोनों पैरों के पंजे एक दूसरे पैर की जंघा पर रखने से दोनों पैरों से पंजों के आगे

३८

कुछ-कुछ रिक्त स्थान बचता है उसी में से हाथ ले जाये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक हाथ अपनी ही ओर के पैर की जंघा और पिंडली तथा दूसरे पैर के पंजे से बने कुण्डे में से होकर जाता है।

इस आसन के करने से भी 'पद्मासन' और 'उत्थित पद्मासन' से होने वाले लाभ होते हैं। शरीर का आलस्य दूर करके स्फूर्ति लाने में यह आसन बहुत सहायक होता है।

१५-गर्भासन

यह आसन करने के लिए पद्मासन बांध कर हाथों को कुक्कुटासन की भांति पैरों के बीच से नीचे ले जाकर भूमि पर रखने के बजाय बाहर को निकाल कर ऊपर उठाते हुए दोनों हाथों से अपनी-अपनी ओर के कानों को पकड़िए। ऐसा करने से पैरों की पालथी स्वतः ही पेट से जा लगेगी।

२७

यदि हाथों की अंगुलियों से कान न पकड़ कर दोनों हाथ गर्दन के पीछे ले जाकर (एक का पंजा दूसरे के पंजे से फंसाकर) जोड़ दिये जायें और गर्दन पर न रखे जायें तो इस नये आसन को 'उत्तान कूर्मासन' कहते हैं।

इन दोनों आसनों के करने से आंतें दोषविमुक्त होकर

शुद्ध होती हैं। फलतः मलत्याग खुलकर होता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

१६—बद्धपद्मासन

बद्धपद्मासन करने के लिए पहले पद्मासन लगा लीजिए। फिर दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर दाहिने हाथ से दायें पैर के अंगूठे या पंजे को और बायें हाथ से बायें पैर के

30

पंजे अथवा अंगूठे को पकड़ लीजिए। दोनों पैरों की एड़ियां कुछ इस ढंग से रखिए कि पेट के निचले भाग से सट जायें। आसन करते समय पीठ आदि सारा धड़ बिल्कुल सीधा ही रहना चाहिए। दृष्टि भी नाक के अगले भाग पर अथवा सामने के किसी बिन्दु पर जमानी चाहिये।

पेट के अनेकों रोग जैसे कब्ज, आंव आना, दर्द, खट्टी डकार आदि का आना इत्यादि इस आसन के अभ्यास से दूर होते हैं। एतदर्थ न्यूनातिन्यून तीस मिनट तक इस आसन पर बैठना चाहिये। अधिक देर तक करने से अधिक लाभ होगा। घण्टा, डेढ़ घण्टा तक इस आसन पर बैठने का अभ्यास बढ़ाया जा सकता है।

जिन लोगों की कमर टेढ़े बैठने से झुक गयी हो उन्हें अवश्य यह आसन करना चाहिए। साल दो साल तक निरन्तर यह आसन करने से निश्चय ही उनकी कमर सीधी हो जायेगी। सभी आयु वाले लोग इसे कर सकते हैं। कमर टेढ़ी रहने से शरीर की मज्जा का बहाव ठीक न होने से अनेकों व्याधियां होती रहती हैं। अतः स्वस्थ रहने के लिये यह आसन अनिवार्य है।

आरम्भ में हाथों को पीठ के पीछे से लाकर पैरों के अंगूठे या पंजों को पकड़ने में न केवल कठिनाई प्रतीत होगी अपितु असम्भव सा जान पड़ेगा। किन्तु इससे साहस नहीं खो बैठना चाहिए। नित्य प्रति आप ऐसा करने का अभ्यास करें और दिन के सारे समय कमर सीधी रखने का यत्न करें। हमें विश्वास है कि यदि कूबड़ आदि कोई दोष नहीं है। तो एक महीने के अभ्यास के बाद ही आप इस आसन को करने लगेंगे। इस अन्तर में एक ही

हाथ से एक पैर का अंगूठा पकड़िये। बारी-बारी से दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को प्रतिदिन पकड़िये। शरीर को जहां तक हो बिल्कुल सीधा रखिये। इसे 'अर्द्ध पद्मासन' कह सकते हैं किन्तु यह यह कोई स्वतन्त्र आसन नहीं है। अतः कोई विशेष लाभ न होगा। यह तो केवल पूर्ण बद्ध पद्मासन कर सकने की स्थिति तक पहुंचने के लिए एक साधन के रूप में अपनाया जाता है।

इस पूर्ण बद्ध पद्मासन के करने से और साथ ही गुदा और मूत्रेन्द्रिय तथा उसके पास की नस नाड़ियों को ऊपर खींचने से वीर्य सम्बन्धी विकार नष्ट होते हैं।

साथ में यदि समवृत्ति † प्राणायाम भी किया जाये तो आरम्भ का क्षय (तपेदिक), पीलिया, पेट की नितांत अशक्यता, और औषधियों से न जाने वाले जीर्ण ज्वर जैसे रोग भी छः महीने में दूर हो जाते हैं। यह रोगियों पर प्रयुक्त किया गया है और वे नीरोग हो गये हैं। हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोग दिन में तीन-चार बार बद्ध पद्मासन करते थे और प्रत्येक बार आध घण्टे तक करते थे। पर

---

† श्वास और उच्छ्वास का सम प्रमाण में दीर्घ किन्तु मन्द गति से होना समवृत्ति प्राणायाम कहलाता है। श्वास और उच्छ्वास को अकों की गणना या गायत्री आदि मन्त्रों का जाप मन ही मन करके गिन सकते हैं।

पथ्य के साथ ही शुद्ध वायु सेवन, सात्विक अल्प भोजन एवं अन्य खानपान तथा आचार, व्यवहार भी वे योगशास्त्रानु–कूल करते थे।

वैसे तो कोई भी आसन भोजन करने के बाद कम से कम तीन घण्टे पहले नहीं करना चाहिये। पर यह तो करना ही नहीं चाहिये। खाली पेट ही यह आसन करें। रोगी जन तो इस बात का विशेष ध्यान रखें।

बहुत दिनों के ज्वर से प्लीहा (तिल्ली) बढ़ जाती है और जिगर भी ठीक काम करना बन्द कर देता है। इन दोनों को स्वस्थ अवस्था प्रदान करने के लिये यह आसन बहुत उपयुक्त है। खान–पान का पथ्य रखना आवश्यक तो है ही।

ठोड़ी को दायीं, बायीं ओर घुमाने से गले की नस–नाड़ियां ठीक रहती हैं। श्वास जब अन्दर लें तब गुदा आदि को ऊपर की ओर खींचें और जब श्वास बाहर निकालें तो पेट को अन्दर को खीचें। ऐसा करने से उच्छ्वास पर दबाब पड़ता है और पेट को शक्ति प्राप्त होती है।

इन सब लाभों के अतिरिक्त मन आदि इन्द्रियों को एकाग्र करने में यह आसन बहुत सहायक होता है।

१७--मत्स्यासन

पद्मासन जमाकर ज्यों का त्यों रखे हुए भूमि पर चित्त लेट जाइये। बायें हाथ से दाहिने हाथ की ओर, दाहिने हाथ से बायें हाथ की भुजा के पुट्ठों को पकड़िए। बस आपका मत्स्यासन पूरा हो गया। इस बात का ध्यान रखिये कि कमर भूमि से न लगे। यदि आप पालथी को भूमि पर ठीक से जमा रहने देंगे और पेट को ऊपर उठाये रहेंगे तो कमर भूमि से नहीं लगेगी साथ ही ठोड़ी को गले के नीचे और छाती के उच्चतम भाग पर लगावें। इससे रक्त स्वच्छ होता है।

इस आसन के करने से अपान वायु की गति पीछे की ओर होने से अपच हटकर शौच खुलकर आती है। तनिक-सा पानी पीकर करने से शौचशुद्धि में विशेष सहायता मिलती है और आंतें विकार रहित होती हैं। कम से कम १० मिनट तक तो करना ही चाहिए। तभी इच्छित फल की प्राप्ति होगी।

२८

जल पर इस आसन को लगाकर पड़ जाइए, यदि आसन ठीक लगा है तो आप पानी पर उतराने लगेंगे। यदि जल में

तैरते–तैरते थक गया तो जल पर ही विश्वास करने और तैरने के लिए पुनः शक्ति प्राप्त करने के लिए यह आसन बहुत ठीक रहता है। इसलिए तो इस आसन का नाम 'मत्स्य (मछली) आसन' है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जो लोग तैरना नहीं जानते वे भी इस आसन को जल पर जमाकर आजमाएं। तैरना जानने वाले ही इसको जल पर करें।

१८--तोलांगुलासन

यह आसन भी मत्स्यासन की भांति का होता है। इसमें अन्तर केवल यह है कि मत्स्यासन की भाँति हाथ सिर के नीचे न ले जाकर चूतड़ों के नीचे मुट्ठियां बनाकर रखते हैं और उन्हीं मुट्ठियों के ऊपर सारे शरीर को साधते हैं।

२६
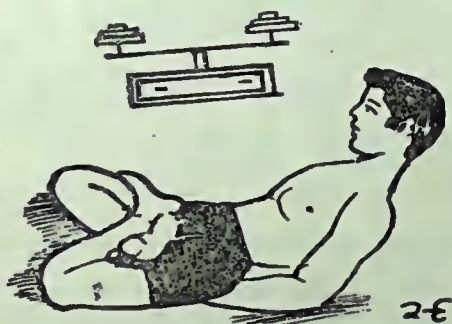
पालथी और पीठ को भूमि से ऊपर उठा लेते हैं, केवल हाथ के घुटनों को ही भूमि पर रख सकते हैं। इस प्रकार शरीर

एक तराज़ू पर तुलता-सा बन जाता है। इसीलिए इस आसन का नाम तोलांगुलासन है। इस आसन के समय भी ठोढ़ी गले के समीपतम छाती पर लगाएं। इससे बहुत लाभ होता है।

१९--बकासन

यह आसन करने के लिए पहले साधारण रूप से भूमि पर बैठ जाइए, फिर दोनों हाथों को सामने भूमि पर रख दीजिए। दोनों पैरों की एड़ियों को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में लगा लीजिए, घुटने फैले रहें। इसके पश्चात् हाथों पर सारे शरीर का बोझ डालते हुए पैरों समेत सारे शरीर को भूमि से ऊपर उठाइये। अब आपका सारा शरीर भूमि से ऊपर और केवल एक (पंजा) भूमि पर होगा।

घुटनों को हाथों के अन्दर रख कर भी यह आसन किया जाता है। एक-एक घुटने को क्रमशः हाथों के भीतर-बाहर रख कर भी यह आसन करते हैं। इस प्रकार हेर-फेर करने से यह आसन ३-४ प्रकार का हो जाता है। लाभ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

२१

इस आसन से हाथ पुष्ट होते हैं।

२०---लोलासन

यह आसन बकासन से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल यह है कि बकासन में पैरों को पीछे की ओर झुकाते हैं और इसमें आगे की ओर।

इस आसन का लाभ भी बकासन जैसा होता है। कुछ लोग इस आसन को लोलासन कहते हैं।

१८

२१--आकर्णधनुषासन

भूमि पर बैठकर दोनों पैरों को आगे फैला दीजिए। दोनों हाथों से अपनी २ ओर के पैरों के अंगूठे को पकड़ लीजिए। तदनन्तर किसी एक पैर को सीधा फैलाये ही रख कर दूसरे पैर को हाथ से पकड़े-पकड़े खींचकर (मोड़ते हुए) दूसरी ओर के कान से लगाइये। अब आसन पूरा हो गया। इसी समय

आपके शरीर की स्थिति इस प्रकार की होगी जैसे कि धनुष पर बाण चढ़ा कर छोड़ने से पहले उसे कान तक खींच कर लाने के समय होती है। इसीलिए इस आसन का नाम 'आकर्ण धनुषासन' है।

३६
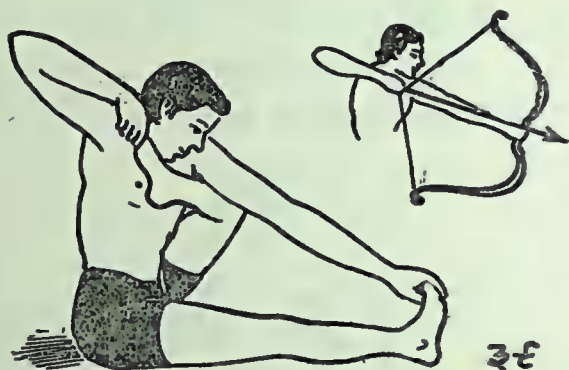
ध्यान रहे कि यह आसन केवल एक ही ओर के पैर को खींच कर न करें अपितु बारी-बारी से दोनों पैरों को खींच कर करें। इसके अतिरिक्त हाथ भी बदले जा सकते हैं। अर्थात् बायें हाथ से दाहिने पैर को और दाहिने हाथ से बायें पैर को खींचकर भी यह आसन किया जा सकता है। इस प्रकार यह आसन चार प्रकार का हो जाता है। इस आसन से पैर, घुटने, जंघायें और भुजायें पुष्ट होती हैं।

२२--वज्रासन

गाय–बैल आदि पशुओं की भांति पैरों को मोड़ कर

बैठ जाइये । अर्थात् पिंडलियों के ऊपर जांघें आ जायेंगी । पैरों के दोनों तलवे चूतड़ के नीचे गुदा के दोनों ओर होंगे । अब आसन की स्थिति यह हुई कि पैरों के घुटनों से
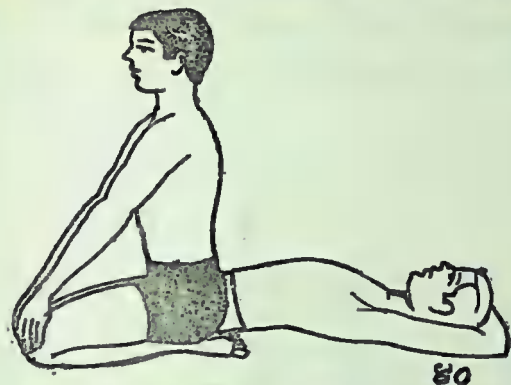
४०

नीचे का भाग (टांगें) भूमि पर होगा और दोनों टांगों के ऊपर आप बैठे होंगे । कमर, पीठ और सिर आदि धड़ भाग बिल्कुल सीधा रखिए । दोनों हाथों को अपनी–अपनी घुटनों पर रख लीजिए । हाथ सीधे रहें । टेढ़े न हों । अब आसन पूरा हो गया ।

२३--सुप्तवज्रासन

उपर्युक्त वज्रासन लगा कर बैठ जाइये । तत्पश्चात् पैरों को वज्रासन की अवस्था में ही रखकर पीछे की ओर चित्त लेट जाइये हाथों की बाहों को परस्पर पकड़ कर उनके ऊपर सिर रख लीजिये । बस यह 'सुप्त वज्रासन' हो गया ।

२४ गोमुखासन

इस आसन को करने के लिए किसी एक पैर का टखना उस पैर के दूसरी ओर के चूतड़ के नीचे रखिए। अर्थात् यदि बायें पैर का टखना है तो उसे दाहिनी ओर के चूतड़

१८

के नीचे रखिए। फिर दूसरे पैर को इस प्रकार रखिए कि इसका घुटना नीचे वाले पैर के घुटने के ऊपर आ जाये और टांग नीचे की ओर लटके। इसके पश्चात् ऊपर वाले पैर की ओर का हाथ ऊपर खड़ा कीजिये, कोहनी तक हाथ (भुजा) ऊपर की ओर सीधा खड़ा रहे और घुटने से पंजे तक का भाग नीचे लटकाइए। दूसरे हाथ को पीठ पर ले जाकर

कोहनी नीचे की ओर रखे-रखे पंजे को ऊपर की ओर ले जाने का प्रयत्न कीजिये। यह प्रयत्न धीरे-धीरे करें और अभ्यास को इतना बढ़ायें कि नीचे से आने वाले पंजे को ऊपर के हाथ के लटकते हुए पंजे से पकड़ सकें। कमर, पीठ तथा सिर आदि भाग बिल्कुल सीधे रहने चाहिये। जब आप एक हाथ से दूसरा हाथ पकड़ने लग जायें तब आसन पूर्ण समझिए। आसन दोनों पैरों और हाथों को अदल-बदल कर करना चाहिए।

इस आसन की पूर्ण स्थिति में शरीर कुछ इस ढंग का रूप ग्रहण कर लेता है कि वह गोमुख-सा दीखने लगता है, इसीलिए इसका नाम गोमुखासन है। इस आसन से छाती और हाथों को बल प्राप्त होता है। खड़े होकर भी यह आसन किया जा सकता है। पैरों के अतिरिक्त हाथों की स्थिति उपर्युक्त रहेगी।

२५—प्राणासन

किसी एक पैर की अंगुलियां उसके दूसरे ओर की बगल और जाँघ के बीच में दबाइये। जिस ओर का पंजा दबाएं उस ओर का हाथ अपनी ओर के पैर के घुटने पर रखिए। दूसरी ओर के हाथ को उसी ओर पैर की जांघ और पिंड-लियों के बीच से ले जाकर भूमि पर जमा दीजिए। यथा—

सम्भव यह हाथ सीधा ही रखें, इसमें मोड़ न आने पाये। इसी ओर के पैर को भूमि पर जमा दें। इस समय इस पैर का घुटना हाथ की भुजा को नीचे दाबेगा और भुजा पैर के घुटने को ऊपर की ओर खींचेगी। ऐसा करने से हाथ और पैर दोनों शक्तिशाली होते हैं। फेफड़ों को भी बल मिलता है।

४१

यह आसन भी अदल बदल कर दोनों ओर से करना चाहिए।

२६–चतुष्कोणासन

किसी एक पैर पर घुटने मोड़कर बैठ जाइये फिर दूसरे पैर के पंजे के पास उसी ओर के हाथ में फांस कर ऊपर को उठाइये। इसी हाथ के पंजे को सिर के पास तक ले जाकर नीचे की ओर से दूसरे हाथ के पंजे को लाकर उससे पकड़िये। इस दूसरे हाथ की कोहनी ऊपर की ओर रहेगी। पीठ आदि भाग सीधा रहना चाहिए। अदल–बदल

कर दोनों पैरों से करना चाहिए । इस आसन के करने से

४२

हाथ, पैरों और गले की नस नाड़ियां खिच कर शुद्ध होती हैं ।

२७—एकपाद भुजासन

किसी एक पैर को उसी ओर के कंधे पर उठा कर रखिए

४३

फिर दोनों हाथों के पंजों को गरदन के पीछे ले जाकर परस्पर पकड़िए। एक पाँव जो कंधे पर रखा है उसे भुजा के ऊपर ही रखिये। दूसरा पैर जैसे साधारण पालथी में रहता है उसी तरह रखिये। दोनों पैरों से बारी-बारी से करें। स्त्रियों को यह आसन करना मना है।

२८–द्विपाद भुजासन

'एकपाद भुजासन' में एक पैर कंधे पर रखते हैं। इसमें दोनों पैरों को अपनी-अपनी ओर के कंधों पर रखते हैं। हाथों को उसी प्रकार गरदन पर ले जाकर पकड़ते हैं। पहले आसन का अच्छा अभ्यास हो जाने पर थोड़े–से प्रयत्न से यह आसन भी होने लगता है। स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिए।

४४

२९–एकपाद शिरासन

पालथी मार कर बैठ जाइए, फिर किसी एक पैर को उठाकर धीरे-धीरे सिर के पीछे ले जाकर गरदन पर रखने का यत्न कीजिये। आरम्भ में तो तनिक कठिनाई प्रतीत होगी।

परन्तु थोड़े दिनों के अभ्यास से ही यह आसानी से होने लगेगा। अतः जल्दी करने का यत्न न करें। गरदन पर पैर

४५

को दोनों हाथों से पकड़े रहिये। दूसरा पैर जैसा पालथी में था, वैसा ही साधारण रूप से रहेगा। दोनों पैरों से अदल-बदल कर आसन करना चाहिए। इससे पांव की जंघा आदि की नसें खिचकर शुद्ध होती हैं। स्त्रियों को मना है।

३०—द्विपाद शिरासन

एक पैर के स्थान पर दोनों पैरों को गरदन पर रखने से

यह आसन सिद्ध होता है। पर यह आसान नहीं। अतः इस आसन को करने के इच्छुक जन बड़े धैर्य के साथ धीरे-धीरे इसको सिद्ध करने का यत्न करें, शीघ्रता बिल्कुल न करें। दोनों हाथों से नमस्कार करें। इस आसन का करना भी स्त्रियों के लिए वर्जित है।

४८

३१—मत्स्येन्द्रासन

प्रथम साधारण रूप से बैठ जाइये, फिर एक पैर को दूसरे पैर की जंघा पर इस प्रकार रखिये कि उसकी एड़ी तोंदी में लगे। तदनन्तर मुड़े पैर के घुटने पर फैले हुए पैर की टांग को इस प्रकार रखिए कि पंजा भूमि पर रख जाए। अब मुड़े हुए पैर की ओर के हाथ को फैले पैर के घुटने के ऊपर से ले जाते हुए इसी पैर के अंगूठे को इससे पकड़िए। इसके बाद दूसरे हाथ को पीठ के पीछे से ले जाकर इससे मुड़े हुए पैर को छूने का प्रयत्न कीजिये। मुंह को पीछे की ओर इतना घुमाइये जितना कि आप घुमा सकें। दृष्टि को नाक की नोक पर जमाइये। यह आसन भी आरम्भ में कठिन

प्रतीत होगा किन्तु निरन्तर अभ्यास करने से असाध्य नहीं रहता। दोनों हाथ पैरों को बदल-बदल कर करना चाहिये।

इसके पूर्व यदि 'अर्ध मत्स्येन्द्रासन' का अभ्यास किया जाये तो यह आसन करने में कुछ सरलता हो जाती है। 'अर्ध मत्स्येन्द्रासन' के अभ्यास में मोड़े जाने वाले पैर के पंजे को दूसरे पैर की जंघा के ऊपर नहीं रखते, अपितु इस मुड़े हुए पैर की एड़ी को गुदा और मूत्रेन्द्रिय के मध्य लगाते हैं। जो हाथ पीठ की ओर से मोड़कर इस मुड़े पैर की एड़ी छूने को लाते थे उससे इस मुड़े पैर की जंघा छुएंगे। शेष सब बातें पूर्ण मत्स्येन्द्रासन की भांति ही की जाती हैं।

४८

यदि आरम्भ में यह 'अर्ध मत्स्येन्द्रासन' करने में भी कठिनाई प्रतीत हो तो हाथ मोड़कर पीठ पीछे से दूसरे पैर की जंघा छूने को ले जाते हैं उसे पीठ पीछे न ले जाइये

अपितु उसी की ओर उसे भूमि पर रख लीजिए। शेष पूर्ण मत्स्येन्द्रासन की भांति करें। इसका नाम 'पाद मत्स्येन्द्रासन' है। इस प्रकार धीरे २ 'पाद मत्स्येन्द्रासन' से 'अर्ध–मत्स्येन्द्रासन' और फिर अन्त में 'पूर्ण मत्स्येन्द्रासन' के अभ्यास तक पहुंच जाना चाहिए।

इस 'पूर्ण मत्स्येन्द्रासन' के करने से पीठ, कमर, पेट के नलों, पर, गले और नाभि के अधोभाग की नसें अच्छी प्रकार खिचती हैं जिससे ये सारे अङ्ग स्वस्थ हो जाते हैं। पेट के रोगों, दर्द, आंव, वात आदि–तथा आंतों क रोगों का विध्वन्स होता है। अतः इस आसन का अभ्यास बहुत ही हितकारी सिद्ध होता है।

३२–समकोणासन

प्रथम बज्रासन की तरह बैठ जाइए। फिर पैरों को धीरे २ बाहर की ओर फैलाइये। शनैः-शनैः पहले एक पैर को इतना फैला लीजिए कि घुटने की सीध में उसका पंजा आ जाये अर्थात् यह पैर एक समकोण बनाले। इसके बाद इसी तरह दूसरे पैर को भी ऐसी ही दशा में ले आइये। जब दोनों पैर समकोण बनालें तो समझो कि आसन सिद्ध हो गया। हाथ करबद्ध नमस्कार की स्थिति में रखें। ध्यान रहे कि यह आसन बहुत कठिन है, अतः बहुत धीरे–धीरे इसका

अभ्यास करना चाहिए। शीघ्रता करने से हानि हो सकती है। आसानी के लिये पहले एक ही पैर का समकोण बनाएं फिर धीरे–धीरे दूसरे पैर का अभ्यास करें।

४६

इस आसन के अभ्यासों को गठिया-बाय, घुटनों का दर्द आदि कभी नहीं सताते। जिनको गठिया बाय आदि होवे यदि इस आसन का अभ्यास करें तो उनका यह रोग दूर हो सकता है।

३३–कन्द पीड़ासन

पालथी मारकर बैठ जाइए। फिर किसी एक पैर के पंजे को दोनों हाथों से धीरे-धीरे घुमाते हुये पंजे को ऊपर उठाइये और पेट पर ले आइए। इसी प्रकार, इस पहले पैर को रखे रखे, दूसरे पैर को भी यहीं ले आइए। अब यह स्थिति होनी चाहिये कि दोनों पैरों के तलवे तो बगल की ओर को होंगे और उनकी पीठें आपस में मिली होंगी। हाथों

को करबद्ध नमस्कार की स्थिति में पैरों के ऊपर रख लीजिये।

इस आसन के अभ्यास से घुटनों की खराबी दूर होती है और मंजा की गांठें शुद्ध होती हैं।

५०

यह आसन बहुत सावधानी से और धीरे-धीरे करना चाहिए। पैरों के पंजे आसानी से जितने घूमें उतने घुमाएं और फिर थोड़ा २ धीरे से और अधिक घुमाने का यत्न करें। ऐसा करने में बल का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए।

(३) लेटकर करने के आसन

३४–उत्तानपादासन

यह आसन करने के लिए भूमि पर उत्तान (चित्त) लेट जाइये। सारे अंगों को ढीला छोड़ दीजिए। इसके पश्चात् दोनों पैरों को सीधा रखे-रखे धीरे २ ऊपर उठाइए।

शीघ्रता तनिक भी नहीं करनी चाहिए। जितना ही धीरे-धीरे पैर ऊपर उठायेंगे उतना ही अधिक लाभ होगा। जब अनुमान से लगभग एक हाथ भूमि से ऊपर तक जाएं तब उन को वहीं रोक कर ठहराइये। पैरों को जितनी देर तक ठहरा सकें उतनी देर ठहराने के बाद पूर्ववत् धीरे २ ही पैरों को नीचे लाइए। भूमि पर पैर आ जाने पर आसन पूरा हो गया।

आरम्भ में जब तक अभ्यास न हो जाए हाथों से चूतड़ों को सहारा दे सकते हैं इससे मन्द गति से पैर उठाने, स्थिर रखने और फिर मन्द गति से नीचे लाने में सहायता मिलती है, पर ऐसा करना कोई आवश्यक नहीं। बिना हाथ के सहारे के भी अभ्यास करने में कोई बहुत कठिनाई नहीं होती। अभ्यास हो जाने पर हाथों को सीधा भूमि पर ही रखना चाहिए। यह ध्यान रहे कि आसन का शुद्ध रूप हाथों को भूमि पर सीधे रखने पर ही होता है और तभी अभीष्ट लाभ प्राप्त होता है।

इस आसन के करने से भूख बढ़ती है, शौच खुल कर

23

आता है और पेट की नसें पुष्ट होती हैं। यह आसन करने

बालों का पेट नहीं बढ़ता और अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहता है। इसे स्त्रियां भी कर सकती हैं।

यदि दोनों पैरों के स्थान पर एक-एक पैर को उसी प्रकार धीरे धीरे ऊपर उठाएं, ठहराएं और फिर धीरे-धीरे ही नीचे लायें तो इस आसन को 'अर्ध उत्तान पादासन कहते हैं। यह आसन 'अर्ध पादासन' की अपेक्षा करने में आसान है। परन्तु इससे लाभ भी कम होता है।

पैरों को जमीन पर सीधा फैलाये रखकर कमर, कमर से ऊपर का भाग, पीठ (छाती) और सिर अर्थात् शरीर के धड़ भाग को भी इसी प्रकार धीरे २ उठाने, ठहराने और नीचे लाने का आसन किया जा सकता है। परन्तु यह आसन पैरों वाले आसन की अपेक्षा करने में कुछ अधिक कठिन पड़ता है। इससे छाती आदि की नसें खिचने से पुष्ट होती हैं।

३५–पवन मुक्तासन

पहले भूमि पर चित्त लेट जाइए फिर एक पैर को मोड़ कर घुटने को दोनों हाथों से पकड़ कर उसे पेट पर दबाइये।
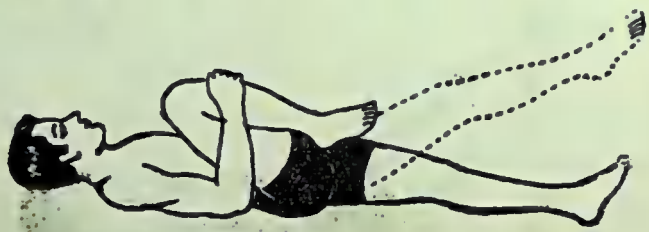
दूसरा पैर या तो सीधा ही फैला रहने दीजिए या इतना ऊपर तक उठाइये कि वह भूमि से हाथ भर के लगभग ऊपर हो जाए। यह पैर ऊपर उठा होते हुए भी सीधा रहना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे पैर से भी पेट को दबाइये और शेष बातें पूर्ववत कीजिए। घुटने से पैर को दबाकर कुछ देर ठहरे रहिये।

इस आसन के करने से पेट पर और विशेषतः नीचे की आंतों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। शौच खुल कर आने में सहायता मिलती है।

दोनों पैरों के घुटनों को एक साथ पेट पर दबाने से इस आसन का एक और प्रकार बनता है। इसका लाभ भी उपर्युक्त ही होता है।

खड़े–खड़े भी एक एक पाँव के घुटने से पेट को दबा कर यह आसन किया जा सकता है।

थोड़ा सा पानी पीकर शौच से पहले थोड़ी देर के लिए यह आसन कर लेने से शौच आने में पर्याप्त सहायता मिलती है। जागते ही बिस्तरे पर ही यदि यह आसन कर लिया जाय तो मल त्याग में सहायता मिलती है।

स्त्रियां भी यह आसन कर सकती हैं किन्तु गर्भवती स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

३–हलासन

इस आसन के करते समय शरीर की स्थिति हल के आकार की सा बन जाती है इसलिए इसे 'हलासन' कहते हैं। इस आसन का दूसरा नाम 'सर्वाङ्गासन' भी है।

३

पूर्ववत् भूमि पर चित्त लेट कर दोनों पैरों को ऊपर को उठाते हुए सिर के बिल्कुल पीछे ले जाकर उनके पंजों को भूमि पर टिका दीजिए। पैर बिल्कुल सीधे हो रहने चाहियें और हाथ जैसे पहले लेटते समय धड़ के दोनों ओर सीधे फैलाये थे वैसे ही सीधे फैले रहने चाहिए। केवल धड़ ही ऊपर को उठेगा। ध्यान रहें हाथों की हथेलियां आकाश की ओर न होकर भूमि की ओर होंगी।

यदि हाथ भूमि पर रखे-रखे आसन करने में कठिनाई हो तो आरम्भ में हाथों को कमर पर रख कर सहारा दे सकते हैं। इससे आसन करने में बहुत सुविधा हो जाएगी।

परन्तु धीरे २ हाथों को भूमि पर फैलाये रखने का ही अभ्यास करना चाहिए, इससे अधिक लाभ होता है ।

इस आसन की पूर्णावस्था की स्थिति पर दो मिनट रहने से ही लाभ की प्रतीति होगी । किन्तु यह समय बढ़ाते-बढ़ाते १०-१२ मिनट तक ले जाना चाहिए । कम से कम दस मिनट तक यह आसन करने से पेट की अग्नि प्रदीप्त होकर भूख खूब लगती है ।

स्त्रियां भी यह आसन कर सकती हैं । पर ४-५ मिनट से अधिक समय तक उन्हें नहीं करना चाहिए । गर्भ धारण करने के पश्चात् अधिकाधिक तीन मास तक वे इस आसन को और कर सकती हैं । तदनन्तर स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिए ।

३७–कर्ण पीडासन

यह पूर्वोक्त हलासन का एक भेद सा है । हलासन में

२८

पैर सिर के पीछे सीधे फैले रह कर पंजों से भूमि स्पर्श

करते हैं पर इस आसन में पंजे भी भूमि पर रखते हैं परन्तु तने न रह कर मुड़ जाते हैं। दोनों घुटने मुड़ कर सिर के दोनों ओर आकर दोनों कानों को छूते हैं।

यह आसन भी आरम्भ में सुविधा के लिए हाथ कमर पर रखकर किया जा सकता है। परन्तु लाभ हाथों को भूमि पर सीधा फैलाये रखने से ही अधिक होता है। अतः शनैः-शनैः अभ्यास करके हाथों को भूमि पर ही फैलाये रखना चाहिए। इस आसन के करने से हलासन के सारे लाभ होते हैं और कुछ अधिक ही लाभ होता है।

३८–ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन

पहले भूमि पर सीधे चित लेट जाइए। फिर दोनों पैरों को सीधे रखकर ऊपर को उठाइए। सहारे के लिए दोनों हाथों को कमर पर रख लीजिए। पैरों को ऊपर लाते हुए सीधे आकाश की ओर खड़े कर दीजिए। परन्तु पैरों के साथ पीठ (धड़ भाग) भी भूमि से ऊपर उठाना चाहिए, भूमि पर सिर और कन्धे ही रखने चाहिए और शेष शरीर आकाश की ओर सीधा (उल्टा) खड़ा हो जाएगा।
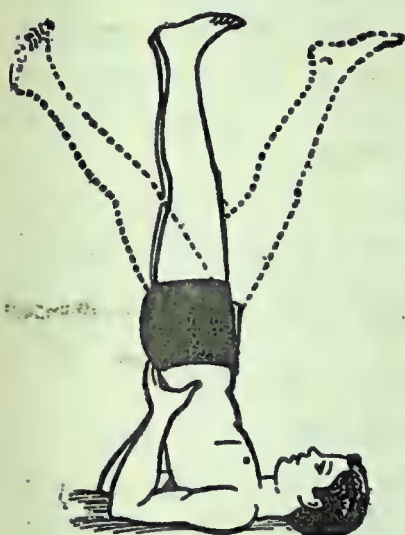
हाथों का सहारा आरम्भ में ही देना चाहिए और धीरे-धीरे बिना हाथों के सहारे के ही यह आसन करना चाहिए। एक पैर को आगे की ओर दूसरे को पीछे की ओर करने से इस आसन के कई भेद बन जाते हैं। इसी प्रकार एक पैर सिर के पीछे ले जाकर भूमि पर लगाने से 'हलोर्ध्व सर्वाङ्गासन' और एक

२५

पैर के घुटने को मोड़कर उससे कान को छूने से 'कर्ण-पीडनोर्ध्व सर्वाङ्गासन' बनता है। इस प्रकार पैरों को विविध स्थितियों में रखकर अदल-बदल कर आसन करना भी अच्छा ही रहता है। परन्तु 'ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन' का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर ये परिवर्तित आसन करने का यत्न और अभ्यास करना चाहिए।

इस 'ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन' के करने से सारा रक्त हृदय और फेफड़ों में होकर बहने से उसकी शुद्धि में बहुत सहा-यता मिलती है। सिर में रक्त उतरने से वहां भी शुद्धि

होती है। इसी कारण इस आसन से शिर–पीड़ा दूर होती है, आंखों को लाभ पहुंचता है और गले के कफदोष में कमी होती है। इस आसन से पेट के दोष कम होकर भूख अच्छी तरह लगने लगती है। तात्पर्य यह है कि शीर्षासन के समान ही यह आसन भी लाभदायक है।

इस आसन की पूर्णावस्था के समय ठोडी को गले के के ठीक पास के स्थान पर लगाने से कंठस्थ निकष्ठ मणि की शुद्धि होती है जिनसे रक्तशुद्धि–कारक केन्द्र स्वकार्य को भली प्रकार सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। फलस्वरूप शरीर की रक्तशुद्धि इस आसन का विशेष लाभ है।

३६–सर्पासन

सर्वप्रथम पेट के बल भूमि पर लेट जाएं। तत्पश्चात् दोनों हाथों को हथेलियों की नाभि के पास की भूमि पर

२५

जमा दें और धड़ भाग को भूमि से ऊपर उठाएं। सिर और छाती का ऊपरी भाग ऊपर की ओर ऐसी आकृति

धारण करले जैसी कि फन फैलाकर उठाए हुए सांप के अग्र भाग की होती है। नाभि से लेकर पैरों तक का सारा अधो-भाग भूमि से लगा रहना चाहिए। दोनों पैरों की एड़ियां आपस में मिली रहें। मन्द पाचन शक्ति वाले लोगों को यह आसन बहुत लाभदायक है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होकर भूख बढ़ेगी।

४०–शलभासन

शलभ का अर्थ है टिड्डी। इस आसन के करते समय शरीर की आकृति बिल्कुल टिड्डी के समान बन जाती है अतः इस आसन का नास शलभासन है।

यह आसन करने के लिए पहले भूमि पर पेट के बल लम्बे लेट जाइए फिर दोनों हाथों की हथेलियों को दोनों

२६

छातियों के दोनों ओर भूमि पर जमाइए और हाथों पर शरीर के बोझ को डालते हुए शिर और छाती तथा दोनों पैरों को सीधा रखते हुए ही ऊपर को उठाइए।

इस आसन के करने से पेट, जांघों, बाहुओं आदि अंगों को लाभ होता है।

४१—चक्रासन

पहले पीठ के बल भूमि पर लेट जाइए, फिर हाथों और पैरों के पंजों को पूर्ण रूप से भूमि पर जमाकर शरीर के कटि आदि शेष भाग को भूमि से ऊपर उठाइए। हाथ

३०
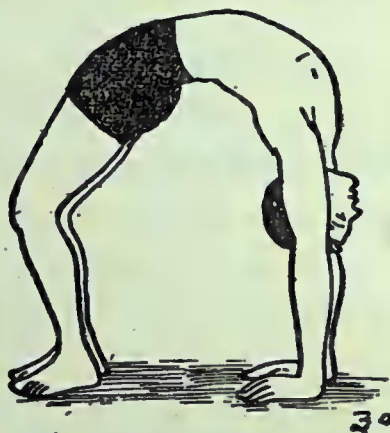
जमाते समय यह ध्यान रहे कि हाथों की उंगलिया पैरों की ओर रहेंगी। अब कमर को इतना ऊपर तक उठाकर ले जाइए कि शरीर एक चक्र के समान रूप धारण करले, केवल हाथ और पैरों के मध्य थोड़ी सी भूमि रह जाएगी। यह भूमि यथासम्भव कम से कम रहनी चाहिए। अर्थात् हाथ और पैरों को धीरे-धीरे एक दूसरे के समीप लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समय सिर दोनों हाथों के बीच रहना

चाहिए । दोनों हाथ बिल्कुल सीधे रहें और पैरों में भी जहां तक हो मोड़ कम से कम रहे ।

यह आसन सीधे खड़े होकर फिर सिर व हाथों को पीठ की ओर पीछे झुकाते हुए शनैः-शनैः हाथों के पंजों को जमीन पर रख कर भी सिद्ध होता है। किन्तु खड़े होकर करना कुछ कठिन है । परन्तु निरन्तर अभ्यास करने से यह भी होने लगता है ।

इस आसन से कटि एवं उदर भाग को लाभ होता है ।

४२--धनुरासन

सर्व प्रथम पेट के बल सीधे लेट जाइए, फिर दोनों पैरों को ऊपर की ओर उठाइए और कमर की ओर लाइए तथा दोनों हाथों से उन्हें पकड़ लीजिए और सरलता से

१८

जितना खींचा जाए खींचिए । इस प्रकार आपका केवल पेट,

छाती, सिर एवं पिंडली, जांघ आदि भूमि से ऊपर उठ जायेगा। गर्दन और सिर को भी पीछे की ओर को झुकाये रखिए। अब आपके शरीर की आकृति धनुष जैसी बन गयी। इसीलिए इस आसन को 'धनुरासन' कहते हैं।

इस आसन के करने से जिगर और तिल्ली (यदि बढ़ गए हों तो) ठीक हो जाते हैं। आंव या बाय की तकलीफ हो तो वह भी दूर हो जाती है। पेट को ठीक रखने के लिए यह आसन बहुत उपयुक्त है।

(४) उल्टा खड़े होकर करने के आसन

४३–शीर्षासन

सिर के बल उल्टा खड़े रहने का नाम शीर्षासन है। योग शास्त्रानुसार इस आसन के (१) कपालासन, (२) विपरीतकरणी और (३) वृक्षासन नाम भी है।

जो पहले इस आसन को करें अर्थात् सीखें उन्हें चाहिए कि किसी सीधी दीवार के सहारे करें और कपड़े की एक गद्दी सी सिर के नीचे रख लिया करें। इसके अतिरिक्त एक दो साथी यदि मिल सकें तो उनकी उपस्थिति में करें। क्योंकि इस आसन के आरम्भ में गिरने का डर रहता है और सहायक साथी न मिल सकें तो आरम्भ में पैरों को

भूमि पर से थोड़ा २ उठाने का ही प्रयत्न करें और शनैः-शनैः उन्हें ऊपर उठाते जाएं।

सर्व प्रथम कपड़े की एक गद्दी बनाकर दीवार की जड़ से लगभग ६ इंच की दूरी पर रख लीजिए, आप पैरों पर उकड़ूं बैठ जाइए (जैसे मलत्याग के समय बैठते हैं) फिर दोनों हाथों की हथेलियों से उस कपड़े की गद्दी को घेर लीजिए, दोनों हाथों के कोहनी से पंजे तक के भाग भूमि पर टिका दीजिए और सिर को गद्दी पर रखिए। दोनों कोहनियों के बीचकी दूरी अपनी सुविधानुसार कम या अधिक रखी जा सकती है किन्तु बहुत ही कम या अत्यधिक रखनी ठीक नहीं है। इसके पश्चात् शरीर के बोझ को सिर और दोनों हाथों की कोहनियों पर संतुलित करते हुए दोनों पैरों को भूमि से उठाइये। आरम्भ में तो कठिनाई प्रतीत होगी परन्तु कई दिनों के अभ्यास के बाद पैर उठने लगेंगे। पहले पैरों को छाती तक उठाइए फिर कमर तक ले जाने का अभ्यास कीजिए। अभी तक पैरों को फैलाना नहीं चाहिए, अपितु जैसे बैठने की दशा में पैर रहते हैं वैसे ही उसी दशा में भी रखें। ऐसा करने से शरीर को सन्तुलित रखने में सहायता मिलेगी। जब कमर की ऊंचाई तक, पैर ले जाने के बाद भी ठहरे रह सकें तब फिर धीरे-धीरे पैरों को फैलाने का यत्न करें और फैला कर दीवार के सहारे लगादें। अब आप

बिल्कुल उलटे सिर के बल सीधे खड़े हो गये। ध्यान रहे सिर दीवार की जड़ से बहुत दूर नहीं रहना चाहिए अन्यथा पैर फैलाने के बाद गिर जाने का डर रहेगा और यदि पीछे
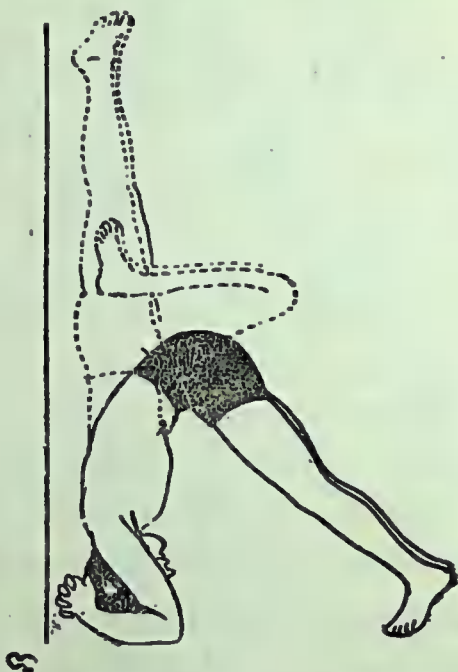
की ओर गिरे तो सिर में मोच आदि आने का डर है। अतः यदि गिरने की आशंका हो तो पैर तत्काल ही आगे की ओर लाकर वापिस भूमि पर रखने का यत्न करना चाहिए। इस प्रकार कोई चोट आदि नहीं लगेगी।

जब आपका अभ्यास इतना हो जाये कि पैर बिल्कुल सीधे खड़े रह सकें तब ही आप शीर्षासन को पूरा हुआ समझें। शीर्षासन का समय एक बारगी अधिक नहीं करना चाहिये, अपितु शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये। (१) प्रथम दिन २० तक गिनती गिनने तक, दूसरे दिन ३० तक, तीसरे दिन ४० तक और चौथे दिन ५० तक इसी प्रकार प्रति दिन दस-दस की गिनती (गिनने का समय) बढ़ाते जाएं। ऐसा करने से दस दिन में आप एक मिनट से कुछ अधिक समय तक आसन कर सकेंगे। (२) इसके पश्चात् यह समय प्रति दिन २० तक गिनती गिनने के समय की गति से बढ़ाया जा सकता है। फलतः अगले दस दिन बाद अर्थात् कुल २० दिन बाद आप ३ मिनट के लगभग आसन पर टिके रह सकेंगे। (३) तदनन्तर गति को इससे भी दुगना कर सकते हैं अर्थात् ४० तक गिनने का समय प्रतिदिन बढ़ा सकते हैं। परिणामतः अगले दस दिन अर्थात् कुल १ मास के पश्चात् आसन के स्थैर्य का समय ७ मिनट के लगभग पहुंच जाएगा। (४) इसके अनन्तर प्रति दिन आधा मिनट (५० तक गिनने का) समय बढ़ाते जाइये। कहां तक बढ़ाना है यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। कोई २ लोग तो एक-एक घण्टा तक शीर्षासन करते हैं, पर हमारे विचार से आधा घण्टा से अधिक समय तक शीर्षासन नहीं करना चाहिये। अधिक समय तक शीर्षासन करने से बुद्धिमन्दता का भय रहता है।

कुछ व्यक्ति सिर के नीचे गद्दी नहीं रखते और भूमि पर ही सिर रखकर शीर्षासन करने लगते हैं, यह बात भी ठीक नहीं । नीचे कठोर (भूमि) होने से भी मस्तिष्क को अत्यधिक हानि पहुंचती है । अतः शीर्षासन करते समय अंगोछे आदि किसी भी कपड़े की मुलायम गद्दी सिर के नीचे अवश्य रख लेनी चाहिए । कुछ लोग कोई गद्दी रखने के स्थान पर दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में फंसाकर हाथ ही सिर के नीचे रख लेते हैं । भूमि पर सिर रखने की अपेक्षा यह अच्छा है । किन्तु ऐसा तभी करना चाहिये जब गद्दी बनाने के लिए कोई अंगोछा आदि कपड़ा संयोगवश उपलब्ध ही न हो सके ।

२

दूसरी रीति—हाथों को उपर्युक्त प्रकार सिर के नीचे रखने से शीर्षासन करने की एक नई रीति भी बन जाती है । इस रीति के अनुसार सहारा कुछ कम हो जाता है । पहली रीति के अनुसार करने से सहारा अधिक मिलता है । अतः पहले पहली रीति के अनुसार ही अभ्यास

करना चाहिये । उसके बाद ही दूसरी रीति से करने का यत्न करें ।

तीसरी रीति—जब सिर को गद्दी या हाथों पर न रख
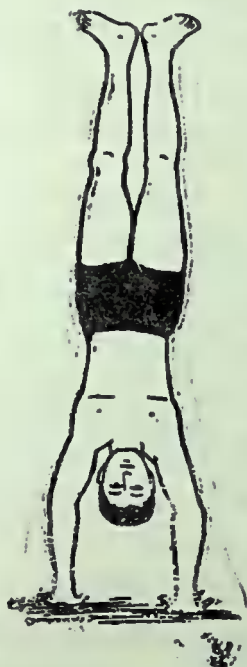
कर ऊपर उठा लेते हैं और दोनों हाथों को सीधा खड़ा करके हाथों के पंजों के बल पर सारे शरीर को साध लेते हैं

तब यह शीर्षासन की तीसरी रीति बन जाती है। इस रीति के अनुसार शीर्षासन तभी किया जा सकता है जबकि प्रथम और दूसरी रीति के अनुसार शीर्षासन करने का बहुत अभ्यास हो चुका हो।

इस रीति से आसन करने के लिए पहले प्रथम रीति से शीर्षासन जमाइये तदनन्तर शनैः-शनैः हाथों को अलग करके उनको (पंजों को) भूमि पर जमा दीजिए और फिर धीरे २ सिर को उठाइये। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखिए कि शरीर सधा रहे, ऐसा न हो कि गिर पड़े। भूमि से सिर उठा कर जब हाथों के बल पर आप शरीर साध लेने लगें तब फिर हाथों को फैलाकर (सीधे तान कर) सिर भूमि से ऊपर उठाये रखकर उसे दोनों हाथों के बीच में रखते हुए सारे शरीर को हाथों के बल पर ही साधे रखने का यत्न और अभ्यास कीजिए।

यह रीति कठिन है अतः एक दो व्यक्ति की सहायता के साथ इसका अभ्यास करना ठीक है।

इस रीति के अनुसार शीर्षासन करने से भुजाओं को अत्यधिक शक्ति मिलती है किन्तु साथ ही गर्दन की पुष्टि नहीं होती।

चौथी रीति—हाथों को फैलाने (सीधा तानने) के स्थान पर उसी प्रकार रखना जैसे प्रथम रीति में रखते हैं। अन्तर

केवल इतना रहेगा कि कोहनी से लेकर पंजों तक हाथ भूमि पर रहेंगे पर दोनों हाथ अलग-अलग सिर के दोनों ओर रहेंगे केवल सिर को भूमि से ऊपर आगे की ओर उठायेंगे ।

पांचवीं रीति—सिर तो गद्दी पर ही रखना परन्तु हाथों को सिर का सहारा न देकर दोनों हाथों को तनिक फैला-कर उनके पंजे भूमि पर जमा कर सारे शरीर के भार को सहारने में सिर को सहायता पहुंचाना । यह पांचवीं रीति है ।

छठी रीति—उपर्युक्त पांचों में से किसी भी रीति के अनुसार शीर्षासन करना पर पैरों को मोड़कर दोनों पैरों की एड़ियों को चूतड़ों से लगाए रखने से छठी रीति बनती है ।

सातवीं रीति—ऊपरलिखित छठी रीति में और इस रीति में यह अन्तर है कि छठी रीति में दोनों पैरों की एड़ियां चूतड़ों से लगा देते हैं जब कि सातवीं रीति में केवल किसी एक पैर की एड़ी चूतड़ों से लगाते हैं और दूसरे पैर को सीधा ही खड़ा रखते हैं । अदल–बदल कर दोनों ही पैरों से ऐसा करते हैं ।

आठवीं रीति—प्रथम रीति के अनुसार शीर्षासन लगा कर फिर ऊपर ही ऊपर पादों को पद्मासन का रूप दे देना या प्रथम ही पद्मासन लगा कर, पद्मासन लगाये-लगाये ही शीर्षासन करना और पद्मासन बद्ध पैरों को ऊपर ले जाना इस रीति की विशेषता है । इस रीति के शीर्षासन को 'ऊर्ध्व पद्मासन' भी कहते हैं ।

चेतावनी

शीर्षासन करते समय शरीर पर कोई भी ऐसा अत्यन्त कसा कपड़ा नहीं रहना चाहिए कि जिससे रक्त-प्रवाह में रुकावट पड़ सके। लंगोट भी कसा न होकर कुछ ढीला ही रहना चाहिए जिससे कि रक्त शरीर के प्रत्येक अंग में निर्बाध गति से स्वच्छन्दतापूर्वक बह सके।

६

शीर्षासन के कुछ लाभ

१—पांव आदि समस्त अङ्गों में शुद्ध रक्त का प्रवाह होता है।

२—हाथ पैरों के सुन्न पड़ जाने का रोग दिन में दो-चार बार थोड़ी-थोड़ी देर शीर्षासन करने से दूर हो जाता है।

३—सिर दर्द छाती की दुर्बलता, एवं आंख-कान के अनेक दोष शीर्षासन से दूर होते हैं।

४—मस्तिष्क में शुद्ध रक्त-प्रवाह होने से बुद्धि तीव्र होती है तथा स्मरण शक्ति बढ़ जाती है।

५—दिल को विश्राम मिलने से उसका बल बढ़ता है।

परन्तु दिल के बीमारों को थोड़ा २ (१०-१५) मिनट ही शीर्षासन करना चाहिये। अधिक समय तक करने से हानि भी हो सकती है।

६—वीर्य सम्बन्धी अनेकों रोग शीर्षासन से दूर होते हैं। यदि कम से कम २०-२५ मिनट प्रति दिन शीर्षासन किया जाये और संयमित जीवन बिताया जाये तो निश्चय ही वीर्यपतन आदि दोष दूर होकर लगभग एक मास में ही वीर्यस्तम्भन होने लगता है शरीर की अवस्था के अनुसार यदि किसी को अधिक समय लग सकता है तो किसी को कम भी। पर लाभ अवश्यम्भावी है।

७—नियमित रूप से प्रतिदिन निरन्तर आधा घंटा शीर्षासन करने से दो महीने में ही क्षुधा तीव्र हो जाती है। परन्तु यदि उचित मात्रा से, भूख के अनुसार, भोजन न मिले तो शरीर दुबला हो सकता है। अतः जो भोजन का उचित प्रबन्ध नहीं कर सकते उन्हें प्रतिदिन १० मिनट से अधिक शीर्षासन नहीं करना चाहिए। जिनको सामर्थ्य है वे भी गाय का दूध, गोघृत, मक्खन आदि सात्विक पदार्थों का ही सेवन करें, राजसी या तामसी भोजन न करें।

८—यदि लगातार एक साल तक कम से कम १५ मिनट तक शीर्षासन किया जाय तो विश्वास है कि सिर के सफेद बाल भी काले हो जायेंगे।

९—त्वचा संकोच भी ६ महीने से निरन्तर शीर्षासनाभ्यास से दूर होकर असामयिक वृद्धत्व नष्ट होता है। अधिक समय के अभ्यास से तो बुढ़ापे में भी जवानी नजर आने लगती है।

१०—शीर्षासन करते समय आंखों की पुतलियों को बार-बार ऊपर नीचे सब ओर वायें-दायें करते रहने तथा गोलाई में घुमाने के अभ्यास से और नाक की नोक या भौंहों के मध्य अथवा दूरस्थित किसी वस्तु-विन्दु पर दृष्टि जमाने से उपनेत्र (ऐनक) धारण करने वालों को (नम्बर बदल जाने के कारण) बार-बार ऐनक बदलने से छुटकारा मिलता है तथा ऐनक न लगाने वालों को ऐनक की आपत्ति नहीं उठानी पड़ती ।

११—मुख का बे स्वाद रहना, गले का विकार, गला आना आदि, छाती की दुर्बलता, पेट का खराब रहना, जिगर और तिल्ली का बढ़ जाना आदि सारे रोग इस आसन के करने से शनैः-शनैः दूर हो जाते हैं।

१२—प्रतिदिन कुछ देर तक शीर्षासन करने से तीन मास में मिरगी की बीमारी दूर हो सकती है ।

छः वर्ष से लेकर सत्तर वर्ष तक की आयु के आबाल वृद्ध सभी जन इस आसन को अपनी शारीरिक अवस्था के अनुकूल उचित समय तक करते हुए लाभ उटा सकते हैं। स्त्री पुरुष सभी इसे कर सकते हैं, सिवाय गर्भवती स्त्री के।

४३—वृश्चिकासन

सर्व प्रथम हाथों पर का तीसरी अथवा चौथी रीति का शीर्षासन कीजिये फिर शनैः शनैः सिर को तनिक आगे की ओर बढ़ा कर और कटि भाग को तनिक पीछे की ओर ले जाकर शरीर का सन्तुलन बनाये रखते हुए दोनों पैरों को सिर के ऊपर ले आइये । पैर सिर से कुछ ऊपर भी रखे जा सकते हैं और सिर से छुआये भी जा सकते हैं । यही वृश्चिकासन बन गया ।

इस आसन से भुजाएं बलवती होती हैं, पेट एवं आंतें शुद्ध होकर क्षुधा बढ़ती है । शरीर में स्फूर्ति बढ़ जाती है । और भारी पन नहीं रहता । किन्तु यह आसन अधिक समय तक न करके जितने समय तक आसानी से हो सके उतने ही समय तक करना चाहिए ।

अभ्यास आरम्भ करते समय किसी व्यक्ति का सहारा लेने से ठीक रहता है । जब पूर्ण अभ्यास हो जाय तभी अकेले यह आसन करना चाहिए ।

१९

योग-ग्रन्थों में आसन

प्रिय पाठकवृन्द ! मैंने आरम्भ में लिखा है कि शनैः-शनैः आसनों की संख्या ८४ तक पहुंच गयी। इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट रूप में मैं यहां लिख रहा हूं। योग की विभिन्न पुस्तकों में आसनों की गणना भी पृथक्-पृथक् मिलती है। देखिये :—

(१) हठयोग प्रदीपिका में १४ आसन वर्णित हैं।
(२) योगप्रदीप† में २१ " " "
(३) घेरण्ड संहिता में ३२ " " "
(४) अनुभवप्रकाश† में ५० " " "

योगिप्रवर गोरखनाथ और भोगशास्त्र के प्रणेता काक के अनुसार आसनों की संख्या ८४ है। वैसे सब सम्बद्ध आंकड़ों को एकत्र किया जाय तो कुल मिला कर यह संख्या १३३ तक पहुंच जाती है।

अब हम संक्षेप में ८४ आसनों के नाम व उनके करने से होने वाले लाभों को लिखते हैं।

---

† यह पुस्तक सं० १८१५ में लिखी गयी थी।

(१) सिद्धासन—इसके करने से शरीर की समस्त नाड़ियां जिनकी संख्या ७२ सहस्र कही जाती है, शुद्ध होती हैं और उनके अन्दर शुद्ध रक्त का प्रवाह होता है। ईश्वर का ध्यान लगाने में सहायता मिलती है जिसके फलस्वरूप माया मोह का नाश होता है।

(२) प्राणसिद्धासन–प्राणायाम के साथ सिद्धासन करने से सिद्धासन ही प्राणसिद्धासन बन जाता है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से सर्वरोगों के विनाश के साथ-साथ संयम और नम्रता की वृद्धि होती है।

(३) पद्मासन—इस आसन के करने से परमात्मा की ओर मन अपने आप आने लगता है। फलतः इष्टसिद्धि होती है।

(४) बद्ध पद्मासन—शान्ति प्रदान करता है।

(५) उत्थित पद्मासन—से दृष्टि को दिव्यता प्राप्त होती है। हृदयकमल प्रफुल्लित होता है। श्वास का रोग दूर हो जाता है।

(६) ऊर्ध्व पद्मासन—से शरीर का मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) सुदृढ़ होती हैं। रक्तप्रवाह सुचारुता से होता है।

(७) सुप्त पद्मासन—से पेट के रोग नष्ट होते हैं।

(८) भद्रासन—करने से किसी कार्य को करने में मन लग जाता है।

(९) स्वस्तिकासन-से शरीर को स्वस्ति प्रात होती है।

(१०) योगासन—मन एकाग्र करने, निद्रा रोग को भगाने का अपूर्व साधन है।

(११) प्राणासन—इसको प्राणायामासन भी कहते हैं। इस आसन को निरन्तर करते रहने से नाड़ियों और खून की शुद्धि होकर मन निर्मल होता है।

(१२) मुक्तासन—सिद्धि प्राप्त कराने वाला यह आसन है।

(१३) पवनमुक्तासन—अधोवायु के स्वाभाविक निर्गमन में बहुत ही सहायक है।

(१४) सूर्यासन—से जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

(१५) सूर्यभेदनासन—इस आसन के अभ्यास से आंखों के रोग दूर होकर आंखों को स्वस्थता प्राप्त होती है।

(१६) भस्त्रिकासन—कैसा ही ज्वर हो इस आसन से भागता नजर आएगा, विषमज्वर भी नहीं टिक सकेगा। रक्तशुद्धता होकर पाचन-शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है।

(१७) सावित्रीसमाधि—यह आसन ओज, तेज और बुद्धि को बढ़ाने वाला है।

(१८) अचिंतनीयासन—चैतन्यता प्रदान करता है।

(१९) ब्रह्माज्वरांकुशासन—भयंकर ज्वर को दूर करता है।

(२०) उद्धारकासन—गुप्तेन्द्रियां पुष्ट होती हैं।

(२१) मृत्युभंजकासन—वायु प्रशान्त करने वाला है।

(२२) आत्मारामासन—इस आसन के ही 'आदि' 'अलोप' और 'अध्यात्म' आसन नाम हैं। इसके अभ्यास से चिन्ता मिटती है।

(२३) भैरवासन—से कुण्डलिनी घबराती है अर्थात् इससे जागने में सहायता मिलती है, हृत्कमल खिल उठता है। हृदय के रोग, वायगोला, जिगर की वृद्धि एवं तापतिल्ली आदि व्याधियां दूर होती हैं।

(२४) गरुड़ासन—करने से चलने का अभ्यास बढ़ता है।

(२५) गोमुखासन—से मुख को व्याधियां दूर होती हैं।

(२६) वातायनासन—प्रगतिप्रदायक आसन है।

(२७) सिद्धमुक्तावली आसन—हर्षप्रद आसन है।

(२८) नेति आसन—शुद्धता देने वाला है।

(२९) पूर्वासन—पिछली स्मृति होने की शक्ति इस आसन से प्राप्त होती है।

(३०) पश्चिमोत्तानासन– यह उदर-कीट नाशक और मंदाग्नि दूर करने वाला है।

(३१) महामुद्रासन–करने वाला मनुष्य रस, विष, पथ्य अपथ्य सभी वस्तुएं पचा जाता है। दिक, कोढ़, पेट में उठने वाला गोला और गांठ जैसे भयंकर रोग भी इस आसन के निरन्तर करने से नष्ट हो जाते हैं।

(३२) वज्रासन—से छोटी मोटी तकलीफें दूर हो जाती हैं।

(३३) चक्रासन–के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग पड़ती है।

(३४) गर्भासन–इस आसन के अभ्यास से शरीर कैसे ही कष्ट को सहन करने का अभ्यासी हो जाता है।

(३५) शीर्षासन–यह आसन तनिक-तनिक भेद के कारण दश प्रकार होता है। तन्दुरुस्ती, खूबसूरती, शक्ति और वीर्यस्तम्भन आदि के लिए अपूर्व साधन है।

(३६) हस्ताधार शीर्षासन–करने से मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है।

(३७) ऊर्ध्व सर्वाङ्गासन–से शरीर खुला-खुला रहता है।

(३८) हस्त पादांगुष्ठासन–इस आसन से गर्दन, कमर और पेट शक्तिशाली बनते हैं।

(३६) पादांगुष्ठासन—आंखों की ज्योति बढ़ाता है।

(४०) उत्तानपादासन—करने से प्राणयायु के शोधन में सहायता मिलती है।

(४१) जानुलग्नहस्तासन—करने से उदरशुद्धि होती है।

(४२) एकपाद शिरासन—शरीर को निर्विकार करता है।

(४३) द्विपाद शिरासन—शरीर को सुखदायक है।

(४४) एक हस्तासन—करते रहने से पसलियों का दर्द नहीं होगा।

(४५) पादहस्तासन—के अभ्यास से शरीर में बल बड़ता है।

(४६) कर्णपीडामूलासन—पाचनशक्ति-वर्द्धक है।

(४७) कोणासन—करने से पेट निर्दोष होता है।

(४८) त्रिकोणासन—से कगर दर्द दूर होता है।

(४६) चतुष्कोणासन—का अभ्यास बुद्धि को बढ़ाता है।

(५०) कन्दपीड़ासन—मन्जा ग्रंथियों को खोल देता है।

(५१) तुलितासन—स्थैर्य प्रदायक है।

(५२) ताड़ या वृक्षासन—के अभ्यास से नाड़ियां शसक्त होती हैं।

(५३) धनुषासन—वीरभाव-वर्द्धक, त्राटकाभ्यास में सहायक एवं आलस्य विनाशक है।

(५४) वियोगासन—ताप तिल्ली को मिटाने वाला है।

(५५) विलोमासन—करने से लम्बी बीमारियां भी दूर होती हैं।

(५६) योन्यासन—मूलेन्द्रिय को शुद्ध करता है।

(५७) गुप्तांगासन—गुप्त रोगों से मुक्ति दिलाता है।

(५८) उन्कटासन—पैरों को शक्ति प्रदान करता है।

(५९) शोकासन—मृगी (मिरगी) को दूर करने वाला है।

(६०) संकटासन—कटि-शूल विनाशक है।

(६१) अन्धासन—इस आसन का अभ्यास निरन्तर करते रहने से'रतौंधी' आदि नेत्र रोग दूर हो जाते है।

(६२) रुण्डासन—यह आसन मनुष्य को निर्भय करता है।

(६३) शवासन—के अभ्यास से अपान वायु खुलता है।

(६४) वृषासन—वीर्यस्तम्भन में बहुत सहायक है।

(६५) गोपुच्छासन—पाप—विनाशक है।

(६६) उष्ट्रासन—गर्मी-सर्दी आदि सहने की शक्ति बढ़ाता है।

(६७) मर्कटासन—नाभि की स्नायु को ठीक रखता है।

(६८) मत्स्यासन—स्थिर रहने की शक्ति देता है।

(६९) मत्स्येन्द्रासन—वीर्यवर्द्धक है।

(७०) मकरासन—शक्ति बढ़ाने वाला है।

(७१) कच्छपासन—के अभ्यास से मन एकाग्र होता है।

(७२) मण्डूकासन—के अभ्यास से शरीर हल्का होता है।

(७३) उत्तान मण्डूकासन—के अभ्यास से तैरने की सामर्थ्य बढ़ जाती है।

(७४) हंसासन—शान्तिवर्द्धक है।

(७५) बकासन—का अभ्यासी व्यक्ति जल के प्रहारों को सह सकने में समर्थ होता है।

(७६) मयूरासन—पेट में गोला उठने का रोग, तिल्ली तथा पेट की अन्य बीमारी तो इस आसन से दूर होती ही हैं साथ ही दूर तक सुनने की शक्ति प्राप्त होती है।

(७७) कुक्कुटासन—कामवासना की भावना को कम करने में यह आसन बड़ा सहायक है।

(७८) फोद्यासन–करने से 'पित्ती' रोग नष्ट होता है।

(७९) शलभासन—भुजाओं को बलिष्ठ बनाता है।

(८०) वृश्चिकासन—यह आसन उग्रभाववर्द्धक है।

(८१) सर्पासन—जठराग्नि-वर्द्धक है।

(८२) हलासन—का अभ्यास शक्तिशाली बनाता है।

(८३) वीरासन—धीरज बढ़ाने वाला है।

(८४) शान्तिप्रियासन—सर्वसुख प्रदायक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक आसन से कुछ न कुछ लाभ तो होता ही है। रोगों को दूर करने में भी आसन सहायक होते हैं। हां यह आवश्यक है कि आसनों का अभ्यास किसी अच्छे जानकार अभ्यासी व्यक्ति की देख रेख में किया जाए।

आसनों के साथ यदि प्राणायामा का अभ्यास भी किया जाए तो निश्चय ही बहुत ही लाभ होता है। प्राणायाम का अभ्यास न केवल शरीर को स्वस्थ रखने में सहायक होता है अपितु चित्त एकाग्र करने, मन को शुद्ध रखने एवं ईश्वर प्राप्ति में भी सहायता पहुंचाता है।

पेट के आसन§

१--सोड्डीयान पद्मासन--चित्र में दिखाये अनुसार पद्मासन लगाकर--दायां पैर घुटने से घुमाकर बायीं जांघ बायां पैर दाहिनी जांघ पर घुमाकर रक्खें और एड़ियां जांघों के

---

§ यह सारा प्रकरण कल्याण के योगांक से लिया गया है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। (लेखक)

मूल पर लगें, ऐसे बैठें और हाथों की हथेलियों को घुटनों पर रखें। इसके पश्चात् श्वास को पूर्ण रूप से बाहर निकाल कर खाली पेट की हालत में पेट को बार बार 'अन्दर बाहर' करें। दम पूरा हो तब पुनः श्वास लेकर उच्छ्वास करें (श्वास बाहर फेंकें) और पेट को पूर्ववत् अन्दर बाहर करें।

लाभ—इससे पेट का बढ़ा हुआ मेद घट जाता है, यकृत, प्लीहादि के विकार दूर होते हैं, पेट के प्रायः सब रोग इसी आसन के नित्य अभ्यास से दूर हो जाते हैं।

२–बद्ध पद्मासन–पद्मासन लगाकर बैठें और पीछे से दायें हाथ से दायें पैर का अंगूठा पकड़ें।

लाभ–इससे पीठ में कूवड़ निकाल कर बैठने की बुरी आदत छूट जाती है, कमर के दोष दूर होते हैं, पेट पिचकता है और श्वासोच्छ्वास सरल होकर आरोग्य और आयु की वृद्धि होती है।

३–बद्धासन–पावों को मिलाकर नितम्ब (चूतड़ों) पर बैठे और दोनों हाथ टांगों के नीचे डालकर पांवों के पंजों को दोनों की पकड़ से पकड़ कर भरसक नितम्ब के समीप खींचे और सीधे बैठे।

लाभ–इससे पेट, कमर और प्रकोष्ठ के स्नायु तन कर विकार रहित और बलवान् होते हैं।

४–वक्रासन–वद्धासन के समान ही करके एक ओर लेट जाय और दोनों घुटनों के वीच का अन्तर भरसक बढ़ावे। फिर दूसरी ओर लेटे।

लाभ–इससे पेट, अरु और कमर विकार रहित और बल वान बनते हैं।

५–अर्धगर्भासन–पद्मासन लगाकर दोनों हाथ टांगों के नीचे से बाहर निकालकर भरसक आगे बढ़ावे।

लाभ–इससे पेट के स्नायु बलवान् होते हैं और उदर वात नष्ट होता है।

६–गर्भासन–अर्धगर्भामन ही करे, पर इस अन्तर के साथ कोहनियों से घुमाकर मुट्ठियों को कानों के समीप रक्खे।

लाभ–इससे पेट के स्नायु, ऊरूमूल, कमर, यकृत प्लीहा हृदय, छाती आदि अंग विकार रहित होते हैं।

७–एकपादकन्धरासन–एक पैर नीचे घुटने से घुमा कर रक्खे। गर्दन और दृष्टि सीधी रक्खे। एक बार एक पैर ऐसा करके दूसरी बार दूसरा पैर ऐसा करे।

लाभ–इससे गर्भासन के सब लाभ होते हैं और साथ ही गर्दन, ऊरू, और पेट के विकार दूर होते हैं। अन्त्रवृद्धि, हर्निया और अपेंडिस जैसे प्राणघातक रोग भी नष्ट होते हैं।

८–लोलासन–पांवों को जुटाकर नितम्ब पर बैठे और

सामने हथेलियों को टेक कर सारा शरीर, ऊपर उठा कर हाथों पर तोले ।

लाभ—इससे एकपादकन्धरासन के सब लाभ होकर हाथ के पजे, कलाई और भुजदण्ड बलवान होते हैं ।

९—भूनमन पद्मासन—पद्मासन करके पीठ पर हाथ बांधे बैठे और फिर सामने झुककर भूमि में सिर लगाये । इस प्रकार पुनः-पुनः सीधे होकर पुनः पुनः झुके ।

लाभ—इससे कमर मजबूत होती है और बढ़ा हुआ पेट पिचकता है । इसे 'योगमुद्रा' भी कहते हैं ।

१०—कर्णस्पृष्टजानु पद्मासन—ऊपर कहे अनुसार पद्मा-सन से बैठ दायें घुटने से दायां और बायां कान लगाना और फिर बायें घुटने से बायां और दायां कान लगाना ।

लाभ—इससे पीठ, पेट, पसली और गर्दन विकार रहित होते हैं ।

११—पार्श्वभूनमनासन—पैरों के पंजों के पृष्ठभाग भूमि पर टिकाकर घुटनों को मिलावे । तदनन्तर एक ओर भरसक झुककर दोनों हाथों के तलवे पास की भूमि पर टिकाकर दोनों हाथों के बीच भूमि पर सिर टिकावे । इसी प्रकार दूसरी बगल करे ।

लाभ—इस आसन से पसलियों के निचले हिस्से और पेट तथा पीठ के नले निर्दोष होते हैं ।

१२–एकपाद पश्चिमोत्तानासन–एक पैर घुटने से पूरा घुमाकर और दूसरा सामने फैलाकर बैठे और फैलाये हुए पैर का अंगूठा दोनों हाथों से पकड़ कर, सिर घुटनों से लगावे। पैर बदलकर फिर ऐसा ही करे।

लाभ–इससे पेट, पीठ, कमर और टांगें निर्दोष होती हैं।

१३–ऊर्ध्वहस्तपश्चिमोत्तानासन–जुटे हुए दोनों पैर सामने फैलाकर बैठे और सिर घुटनों में लगावे और बायां हाथ सामने तथा दायां पीछे फैलाकर दोनों हाथ यथाशक्य ऊपर करें। फिर हाथ बदल कर ऐसा ही करे।

लाभ–इससे उपर्युक्त आसनों के लाभ होने के अतिरिक्त छाती और बाहुमूल दृढ़ होते हैं।

१४–विस्तृतपाद भूनमनासन—बैठकर पैर भरसक दूर फैलावे। तदनन्तर पैरों के अंगूठे हाथों से पकड़कर सिर भूमि पर टिकावे।

लाभ–इससे ऊरू और जंघाप्रदेश तन जाते हैं और टांगे, कमर पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

१५ विस्तृतपादपार्श्वभूनमनासन–पूर्ववत् पैर फैला कर बैठे। तदनन्तर एक पैर के पार्श्व में हथेलियों को भूमि पर टिकाकर दोनों हाथों के बीच, धरती पर सिर रक्खे। इसी प्रकार पार्श्व में करे।

लाभ—इससे दोनों पसली, छाती, पेट, कमर और वाहु दोष रहित होते हैं।

१६—विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन—पूर्ववत् पैर फैला कर शरीर के एक-एक पार्श्व, एक साथ दोनों हाथ भरसक चारों तरफ घुमावे।

लाभ—इससे वाहु, पेट, कमर, फेफड़े और हृदय निर्दोष होते हैं।

१७—पृष्ठासन—पीठ के बल लेट कर घुटनों को मोड़कर छाती में लगावे और पैरों के टखनों के पास हाथों को पकड़ बांधकर, आगे पीछे झोंका खाकर, बैठा जैसा हो जाय और फिर पीठ के बल लेट जाय।

लाभ—इससे कमर निर्दोष होकर पीठ और पेट के शूल, मोच आदि दुरुस्त होते हैं और बढ़ा हुआ पेट कुछ पिचकता है।

१८—उत्थितपृष्ठासन—पद्मासन लगाकर पीठ के बल लेटे। हाथों को कमर के दोनों ओर सीधे फैलाकर भूमि पर चित रक्खे और पद्मासन की बैठक तथा सिर भरसक ऊपर उठावे।

लाभ—इससे मुख्यतः छाती और पेट को हितकर व्यायाम मिलता है।

१९—मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर पीठ के बल लेटें।

पैरों के अंगूठे हाथों से पकड़े। ऊरू भूमि पर अच्छी तरह से टिकावे। तदनन्तर इस रीति से कि छाती भरकर ऊपर उठे और पीठ के नीचे का अङ्ग पोला हो, सिर पर भार डालकर नीचे से कमर की ओर ले जाय दृष्टि बिल्कुल सामने रक्खे।

लाभ–इससे नितम्ब, कमर, मेरुदण्ड, गर्दन, छाती और पेट विकार रहित होते हैं और आयु बढ़ती है।

२०–द्विपन्दचक्रासन–हाथों के पंजे नितम्ब के नीचे रख पेट के बल लेटे और एक पैर के घुटने से मोड़ कर घुटने को पेट के पास लाकर तथा दूसरा पैर तनिक ऊपर उठाकर बिल्कुल सीधी रक्खे और साईकिल पर जैसे पैर चलाते हैं वैसे पैर चलावे।

लाभ—इससे नितम्ब, कमर, पेट और टांगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट और स्थिर होता है।

२१–उत्थितद्विपादासन–पेट के बल लेट कर दोनों पैर ४५ डिग्री तक ऊपर उठाकर, भूमि से विना लगे धीरे-धीरे ऊपर नीचे करे।

लाभ–इससे पेट के स्नायु दृढ़ होते हैं और मलोत्सर्ग क्रिया ठीक होती है।

२२–उत्थित एकैकपादासन–पेट के बल लेटकर दोनों (एक पैर २० डिग्री में और दूसरा २५ डिग्री में) अधर रख, भूमि से बेलाग, ऊपर नीचे करे।

लाभ—इससे कमर के स्नायु बहुत दृढ़ होते हैं, मलोत्सर्ग क्रिया ठीक होती है। स्वप्नदोष नहीं होता है।

२३–उत्थितहस्तमेरुदण्डासन–हाथ पैर एक रेखा में सीधे फैलाकर पेट के बल लेटे। तदनन्तर दोनों हाथ उठाकर पैरों की ओर ले जाय। इस प्रकार पुनः पुनः पीठ के बल लेट कर पुनः पुनः उठे।

लाभ—इस से कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२४–शीर्षबलहस्तमेरुदण्डासन—पूर्ववत् सर्वथा पीठ के बल लेटकर सिर के पीछे हाथ बाँधे, कमर से शरीर ऊपर उठाना। पैर न उठें।

लाभ–इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़ के दोष दूर होते हैं।

२५–जानुस्पृष्ट भालमेरुदण्डासन–उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर बारी-बारी, धीरे-धीरे भाल लगावे। नीचे का पैर भूमि पर टिका सीधा रहे।

लाभ—इससे यकृत, प्लीहा, फेफड़े आदि नीरोगी होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़ और ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं।

२६–उत्थितहस्तपादमेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठ के बल लेट कर हाथ-पैर दोनों एक साथ ऊपर उठावे और पुनः पूर्ववत् एक रेखा में ले आवे, चार-पांच वार ऐसा करे।

लाभ—इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु दोष रहित होते हैं।

२७–उत्थितपादमेरुदण्डासन—पैर सामने फैलाकर हाथों की कोहनियों के बल धड़ उठाये। तदनन्तर पैर ४५ डिग्री तक ऊपर उठाकर ऊपर नीचे करे।

लाभ–इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२८–लाभस्पृष्टद्विजानुमेरुदण्डासन—ऊपर कहे अनुसार ही करे, पर इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनों में लगाये।

लाभ–इससे पेट, पीठ, छाती, रीढ़, और कमर के सब विकार दूर होते हैं।

२९–पादपार्श्वचालनासन–पीठ के बल सीधा लेट जाय। सिर के दोनों ओर एक रेखा में हाथ फैलावे। हाथ के तलवे भूमि पर टिकावे। तदनन्तर पैरों को कमर से उठाकर समकोण रक्खे और उसी हालत में पहले वायें और दायें पार्श्व में ले जाय, हाथ न उठें।

लाभ—इससे कमर और पेट की अंतड़ियाँ शुद्ध होती हैं, स्नायु दृढ़ होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है और फेफड़े सुधरते हैं।

३०–भूस्पृष्टपानसर्वांगासन–पीठ के बल लेटकर पैरों को ऊपर उठा भरसक सिर के सामने सोधे फैलाकर भूमि पर टिकावे। पीठ को दोनों हाथों का सहारा दे।

लाभ—इससे पेट, पीठ, रीढ़, कमर, वीर्याशय, पैर और गर्दन के सब दोष दूर होते हैं, स्वप्नदोष नहीं होता। आयु बढ़ती है।

३१–विपरीतदण्डासन–यह उल्टा दण्ड है। पहले सामने पैर फैलाकर और हाथ पीछे टिका कर बैठे। कमर से एक बलिस्त फासले पर, पीछे की ओर हाथों के 'तलवे, भूमि पर 'उलटी' ओर से टिके हुए हों। तत्पश्चात् एकदम ऊपर उठ कर और पैरों के तलवे भूमि पर टिका कर दण्ड-वत् सोधा हो। इस प्रकार चार पांच बार नीचे ऊपर हो।

लाभ–इससे पेट और टांगें दुरस्त होती हैं।

३२–उत्थित समकोणासन—सामने पैर फैलाकर नितम्ब पर सीधे बैठे और पांव सहित समूचा शरीर हाथों पर समकोण उठाकर तोल रक्खे। कुछ देर इस हालत में रहकर फिर नीचे बैठे और शरीर ऊपर उठाकर तोले।

लाभ–इससे पेट के स्नायु बहुत बलवान और कन्धे तथा बाहु बहुत पुष्ट होते हैं।

३३–उत्थितैकपाद भुजंगासन–पेट के बल लेट कर हाथ

छाती दोनों ओर से कुहनियों में से घुमाकर भूमि पर टिकावे। भुजंग की तरह छाती ऊपर उठाकर दृष्टि सामने रखे और एक पैर भूमि पर टिका रख कर, दूसरा पैर घुटने को बिना मोड़े, भरसक ऊपर उठावे। इस प्रकार बारी-बारी से पैरों ऊपर करे।

लाभ—इससे कटिदोष और यकृत प्लीहादि के विकार दूर होते हैं।

३४—भुजंगासन—पैरों के पजे उलटी ओर से जमीन पर टिका कर और हाथों को भी भूमि पर तनिक टेढ़े रखकर धड़ को कमर से भरसक भुजंगाकर पुनः-पुनः नीचे ऊपर करे।

लाभ—इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदि दोष रहित होते हैं।

३५—सरल हस्तभुजंगासन—हाथों को भूमि पर सीधे रखकर और पैरों को पीछे की ओर ले जाकर दोनों हाथों के बीच कमर आ जाय इस रीति से कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर, सीधे आकाश की ओर देखे।

लाभ—इससे पेट की चर्बी निकल जाती है और पेट, कमर और गर्दन के सब विकार दूर होते हैं।

३६—नौकासन—पेट के बल लेटकर और दोनों पैर भरसक ऊपर उठाकर नीचे ऊपर करे। दोनों हाथ नितम्ब पर नीचे की ओर बांधे रक्खे।

लाभ—इससे हृदय, फेफड़े, छाती, मेरुदण्ड, ऊरु, टांगें, गर्दन और पेट निर्दोष होते हैं।

३७—दोलासन—हाथ पैर फैलाकर पेट के बल सीधे लेटे। हाथ पैर भरसक ऊपर उठाकर शरीर ऐसा बना ले जैसी झोली हो। कुछ देर उसी हालत में रहकर पुनः सीधा हो और वही क्रिया करे।

लाभ—इससे पेट, कमर, छाती, पीठ, रीढ़, उरु और बाहुमूल तनकर विकार रहित होते हैं।

३८—शलभासक—हाथ कमर के दोनों ओर रख कर पेट के बल सीधे लेटे, ठोड़ी भूमि पर टिकावे और कमर व दोनों पैर भरसक उठा रखे। पश्चात् पैरों को नीचे लाकर पुनः ऊपर उठावे।

लाभ—इससे पेट, छाती, गर्दन, और पैरों के विकार दूर होंगे।

३९—पार्श्वासन—इसे बगल मार दंड भी कहते हैं। डंड के समान पहले कमर ऊंची रखकर दोनों हाथों और दोनों पैरों के बीच एक-एक हाथ की दूरी रखे। तदनन्तर शरीर भूमि पर बिना टिकाये, एक ओर से सारा शरीर नीचे लाकर सिर को तनिक दूसरी ओर झुकावे। इसी प्रकार दूसरी ओर से भी करे।

लाभ—इससे यकृत प्लीहादि दोष नष्ट होते हैं।

४०—नासिकास्पृष्टजानुपार्श्वासन—ऊपर कहे अनुसार घुटने को मोड़कर उसमें ललाट या नाक लगावे। एक ओर से करके दूसरी ओर से भी करे।

४१—धनुरासन—पेट के बल लेटकर पीछे से पैरों के टखने पकड़कर खिंची कमान के समान बने। घुटने शुरू-शुरू में नहीं जुटेंगे, इसलिए पहले घुटनों को दूर रखकर किया जा सकेगा।

लाभ—इससे पेट, कमर, रीढ़, छाती, गर्दन और ऊरु प्रदेश तनकर शुद्ध और बलवान होते हैं।

४२—पार्श्वचलित धनुरासन—धनुरासन की स्थिति में ही दोनों ओर बार-बार लटकना।

लाभ—इससे बढ़ा हुआ पेट पिचकता है।

४३—आकर्णधनुरासन—दोनों पैर फैलाकर बैठे। दायें हाथ से बायें पैर का और बायें हाथ से दायें पैर का अंगूठा पकड़ कर, बायें पैर का अंगूठा दायें कान तक ले जाय। कुछ देर तक इसी स्थिति में रहकर दायें पैर का अंगूठा बायें कान तक ले जाय।

लाभ—इससे पेट, पीठ और छाती के रोग दूर होते हैं।

४४–चतुष्पादासन–बन्दर की तरह हाथ पैर सीधे रख-कर चतुष्पाद होकर चले।

लाभ–नित्य ५ मिनट ऐसा करने से कोष्ठ की बद्धता नष्ट होती है। पशुओं को जो मलोत्सर्ग की कोई शिकायत नहीं रहती, इसका कारण उनकी यही नैसर्गिक स्थिति है।

४५–मयूरासन—पहले पैरों के अग्र भागों पर, दोनों घुटने एक हाथ को दूरी पर भूमि पर टिकाकर बैठे। तदनन्तर हथेलियों को भूमि पर टिका करके, कुहनियों तक दोनों हाथ जुटाकर, कुहनियों को नाभि से तनिक नीचे उठावे और पैर उठाकर सारा शरीर कुहनियों पर तोले। आरम्भ में यह तोल रखना बहुत कठिन होगा, पर पीछे अभ्यास से सध जायेगा।

लाभ–इससे कैसा भी अग्निमान्द्य हो, नष्ट हो जाता है, भूख लगती है और मलोत्सर्ग की भी कोई शिकायत नहीं रहती।

४६–शीर्षबद्धहस्तहलासन–पेट के बल लेटे, तब दोनों पैर उठाकर भरसक सिर के पीछे ले जाकर भूमि पर टिकावे। हाथ सिर पर बंधे रक्खे।

लाभ–इससे गर्दन, पीठ और पेट के सब विकार नष्ट होकर आयु बढ़ती है।

४७—शीर्षस्पृष्टपद्महलासन—उपर्युक्त स्थिति में पद्मासन लगाकर घुटने भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिर पर रक्खे। यह वहुत कठिन आसन है।

लाभ—इससे गले और छाती के सब रोग दूर होते हैं, कमर निर्दोष होती है और आयु भी वढ़ती है।

४८—प्रसृतहस्तवृश्चिकासन—भूमि पर चित्त लेट कर दोनों पैर भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिर पर रखें। यह वहुत कठिन है।

लाभ—इससे गले छाती और कमर के सब रोग दूर होते हैं और आयु बढ़ती है।

४९—वलितपादसर्वाङ्गासन—सारा शरीर पीछे से गर्दन तक ऊपर उठावे। पीठ को दोनों हाथों का सहारा देकर पैरों को भरसक घुमावे।

लाभ—इससे गर्दन, छाती, कमर, पेट और हृदय शुद्ध और बलवान बनते हैं। आयु बृद्धि होती है।

५०—विवृत्तत्रिकासन—दोनों पांवों के वीच एक हाथ की दूरी रखकर खड़ा रहे और कुहनियों से मुड़े हुए दोनों हाथ कमर में दोनों ओर से एक साथ आगे पीछे घुमावे।

लाभ—इससे कमर और पेट शुद्ध होते हैं।

५१–प्रसृतहस्तविवृत्तत्रिकासन–पीछे कहे अनुसार ही, पैर फैलाए। दोनों हाथ शरीर के दोनों ओर से भरसक पीछे की ओर मोड़े।

५२–शीर्षबद्धहस्तविवृत्तत्रिकासन–ऊपर की तरह ही, सिर के पीछे हाथ बांधे, कमर के ऊपर का भाग दोनों ओर से घुमावे।

५३–ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन–पांव जोड़कर सीधा खड़ा रहे और घुटनों को बिना झुकाये घुटनों से ललाट लगावे और दोनों जुटे हुए हाथ पीछे से सिर की ओर भरसक ले जाय।

५४–भूस्पृष्टहस्तजानुभालासन–खड़े होकर और कमर से झुककर दोनों हथेलियां जुटे हुए पैरों की दोनों भूमि पर टिकावे और घुटनों से लगावे।

लाभ–इससे टांगें, कमर, पीठ और उरु विकार रहित होते हैं।

५५–पृष्ठबद्धहस्तजानुभालासन–कमर पर पूर्ववत् हाथ जुटे हुए हों और सिर घुटने से लगे।

लाभ–इससे भी पैर, कमर और पीठ विकार रहित होते हैं।

५६–ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन–उपर्युक्त स्थिति में ही,

ऊपर उठकर पीछे की ओर भरसक झोंका खाय । इस प्रकार आगे पीछे झोंका ले ।

लाभ—इससे पेट, छाती, कमर, गर्दन, पैर आदि के विकार दूर होते हैं ।

५७—शुण्डासन—सीधा खड़ा रहे और दोनों हाथ जोड़े हाथी की सूंड के समान दोनों पैरों के बीच भरसक ले जाय ।

लाभ—इससे पेट, पीठ, छाती, कटि, ग्रीवा और पैरों के विकार दूर होते है ।

५८—अर्धचक्रासन—उपर्युक्त स्थिति में ही हाथ ऊपर उठाकर, कमर से झुककर, उन्हें भरसक पीछे ले जाय । इसी प्रकार हाथों को शुन्डासनवत् फिर सामने लाकर पैरों के बीच ले जावे और ऊंचा करके फिर पीछे ले जाय ।

लाभ—इससे कमर का विकार दूर होता है और पेट साफ होता है ।

५९—चक्रासन—अर्धचक्रासन की स्थिति में ही पीछे भूमि तक झोका देकर भूमि पर टिकावे और दोनों पैरों को छूकर शरीर को एक पूरा चक्र बना दे । आसन कठिन है ।

लाभ—इससे कमर का विकार दूर और पेट साफ होता है ।

६०--भूस्पृष्टहस्तवृक्षासन--दोनों पांवों के बीच दो हाथों की दूरी रक्खे। सामने से एक हाथ झुकाकर पैर में लगावे और दूसरा हाथ ऊपर सिर की ओर ले जाकर उसकी ओर देखे। इसी प्रकार दूसरी ओर से करे।

लाभ--इससे कमर, पेट, टांगें और पसलियां शुद्ध होती हैं।

६१--पृष्ठवलितवृक्षासन--दोनों हाथ दो ओर फैलाकर एक ओर से ही शरीर को मोड़कर पीछे की ओर झुके। इसी प्रकार दूसरी ओर से शरीर को मोड़कर पीछे की ओर झुके।

लाभ--इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६२--पार्श्ववलितवृक्षासन--सिर पर सीधे हाथ जोड़कर खड़ा रहे और दायें बायें यथाशक्य झुके।

लाभ--इससे कमर और पसलियां शुद्ध होती हैं।

६३--पार्श्वपृष्ठवलितवृक्षासन--पीछे की ओर झोंके से एक हाथ भूमि पर लगाने का प्रयास करना और दूसरा हाथ ऊपर रखना। इसी प्रकार फिर हाथ बदल कर करना।

लाभ--इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६४--मध्यमनौलि--कमर से झुककर दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रख, पेट अन्दर की ओर खींचकर, पीठ के बल नीचे ढकेले माफिक करने से पेट के नल आप ही आगे को

आते हैं। स्थूल शरीर से, बिना पेट को पिचकाये यह क्रिया नहीं बन सकती। पेट पिचकाने के लिए 'उड्डीयान' नितान्त आवश्यक है। उड्डीयान क्रिया 'स्नायुबल संवर्धन' चित्र में देखें।

६५–दक्षिण नौलि–आगे आये हुए पेट के नल बायीं ओर का पेट अन्दर खींचकर दायीं ओर लावे और तब तुरन्त—

६६–वामनौलि–दायीं ओर का पेट अन्दर खींचकर वे ही नल दायीं ओर से बायीं ओर लावे। इस प्रकार पेट के नल दायीं ओर से बायीं ओर कुछ देर एक संग चलावे जैसे मंथन में मथनी चलायी जाती है। इसी प्रकार फिर बायीं ओर से दायीं ओर चलावे।

लाभ–जो नौलि करना जानता है उसे पेट का कोई रोग कभी नहीं हो सकता और जो रोग पहले से हों वे भी दो चार महीनों में ही इससे बिना औषधि के दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण आनुभविक सत्य है।

★ स्नायुबलसंवर्द्धन ●

१–बाहुदण्ड–पहले भूमि पर घुटने टेककर बैठे। पैरों के

★ यह प्रकरण कल्याण के योगांक से उद्धृत किया गया है। एतदर्थ हम उसके सम्पादक व प्रकाशक के आभारी हैं।

● उपर्युक्त पेट के व्यायाम और 'स्नायुबल संवर्धन' शीर्षक विवरण हमने पूज्य श्रीमत् स्वामी शिवानन्दतीर्थ आश्रम बरुड़

पंजे जुटे हुए हों। घुटनों से एक हाथ, एक बित्ता और चार अंगुल आगे दोनों हाथों के पजे भूमि पर टिकावे। दोनों हाथों के तलवों में एक फुट का अन्तर रहे, कमर ऊपर नीचे न हो और सारा शरीर आड़े डंडे के समान एक रेखा में सरल और सीधा रहे। इसी स्थिति में सारे शरीर को खूब धीरे-धीरे (सावकाशता) हाथों पर ऊपर नीचे करे। सावकाशता और सरलता ही इस दण्ड का मुख्य रहस्य है।

२—भुजंगदण्ड—इस दण्ड में टिकाये हुये घुटनों से एक हाथ, एक बित्ता ही आगे दोनों हाथों के पंजों को भूमि पर टिकावे। हाथों में अन्तर पूर्ववत् ही हो। पर पांवों के तलवे भूमि पर पूरे टिके हुए हों। इस दण्ड में कमर आप ही पहाड़ी का चोटी-सी ऊंची हो जाती है। फिर नीचे जाते हुए पहले छाती नीचे ले जाय और ऊपर उठते हुए सांप की तरह छाती ऊपर करके उठे और जहां तक हो सके, सीधे आकाश की ओर ताके। फिर से पहले की भांति कमर को ऊपर

(अमरावती) की यौगिक व्यायाम पद्धति से लिये हैं। साथ में उन्हीं के यहां के चित्र भी दिये हैं, जिनमें इन व्यायामों को सीखने समझने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। हम उक्त चित्र तथा विवरणों के प्रकाशक श्रीयुत आबा साहेब अगदकर राष्ट्रोद्धार-कार्यालय, श्री शिवाजी मन्दिर, बड़ौदा के हृदय से कृतज्ञ हैं जिन्होंने कृपापूर्वक हमें इस उपयोगी सामग्री को छापने की आज्ञा प्रदान की।

उठाकर और पैरों के तलवों को भूमि पर टिका कर पूर्ववत् आरम्भ में दस बारह दण्ड करे। ये दण्ड शीघ्रता से करने होते हैं और बड़ी आसानी से होते हैं।

लाभ—इस भुजङ्गदण्ड से बढ़ा हुआ पेट पिचक जाता है, पेट के सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्य लाभ होता है। दण्ड करने के बाद किंचित् विश्राम करे, तब हाथों और कलाई की मालिश करके उठे।

३–(अ)--कोहनी मरोड़–हाथ नीचे छोड़ दे। सामने दोनों मुट्ठियों को कस कर घुमावे। दाहिने हाथ को कोहनी से घुमाकर ऊपर समकोण उठावे और उस मुड़े हुए हाथ की कोहनी को उसी हालत में ऊपर उठाकर सिर तक ले जाय। पीछे उस दायें हाथ को नीचे लगाते हुए, बायां हाथ कोहनी से घुमाकर सिर तक ले जाय। इस प्रकार शुरू-शुरू में चार-पांच बार करे।

लाभ—व्यायाम से भुजदण्ड के मांस पिंड अच्छे सुडौल बनते हैं।

३–(आ)—एक साथ दो, पूर्वोक्तवत् मुट्ठियों को बांधकर घुमावे। दोनों हाथ कोहनियों से मोड़कर एक साथ ही ऊपर नीचे चढ़ावे-उतारे।

४–(अ)–कोहनीमरोड़ बगल–दोनों हाथ कंधों के दोनों ओर सीधे फैलाकर और मुट्ठियों को आकाश की ओर कर के, मुट्ठियों को कस कर और घुमाकर दायां हाथ पूर्ववत् सीधा करते हुए बायां हाथ कंधे तक समकोण ले आना। इस प्रकार एक के बाद दूसरा हाथ मुट्ठियों को कसे और घुमाये रहकर घुमाना।

४–(आ) एक साथ दो–पूर्वोक्त कंधों के दोनों ओर सीधे फैलाये हाथ, एक साथ ही समकोण घुमाकर कंधों तक लाना और फिर सीधे करना। ऐसा चार-पांच बार करे।

लाभ–इससे भुजदण्डों के मांसपिंड और प्रकोष्ठ के स्नायु उत्तम होते हैं।

५–(अ) आगे पीछे हाथ–उरु प्रदेशों के दोनों ओर हाथ नीचे लटके हों और मुट्ठियों को पीछे की ओर कसी रखकर, कमर से जरा झुककर, दायां हाथ सामने और बायां हाथ पीछे रखकर दोनों हाथ जितना ऊपर उठाते बने, उठावे। पीछे का हाथ ऊपर उठाने की अधिक सावधानी रखे। इसके बाद बायां हाथ सामने और दायां हाथ पीछे करे।

५–(आ) एक साथ दो—इसी प्रकार दोनों हाथ एक साथ, कमर से थोड़ा झुक कर आगे-पीछे करे।

लाभ—इस व्यायाम से हाथों के स्नायु बहुत दृढ़ होते हैं, पसलियां निर्दोष होती हैं, फेफड़ों और पेट को भी व्यायाम और आरोग्य प्राप्त होता है।

६–(अ) नीचे ऊपर हाथ—पूर्वोक्तवत् छाती आगे निकाल कर सीधे तन कर खड़ा हो और दायां हाथ ऊपर और बायां हाथ नीचे रखकर, जहां तक बन पड़े हाथों को पीछे की ओर ले जाये। तदनन्तर दायां हाथ सीधा तना (कोहनी से बिना मोड़े) नीचे लाकर बायां हाथ ऊपर ले जाय। इस प्रकार एक के बाद दूसरा हाथ नीचे ऊपर करे।

लाभ—इससे उपर्युक्त ही लाभ होते हैं।

६–(आ) एक साथ दो—दोनों हाथ एक साथ छाती आगे को करके, ऊपर करे, फिर नीचे लावे और जहां तक बन पड़े पीछे तक ले जाय।

लाभ—इससे भी वे ही लाभ होते हैं।

७–(अ) हाथ अगाड़ी—दोनों हाथ सामने सीधे तान कर चित्र में दिखाये अनुसार, हाथों की कैंची बना कर, मुट्ठी बन्द कर दोनों हाथ एक दूसरे की विरुद्ध दिशा में ले जाय। हाथों की अदल-बदल करले।

७–(आ) हाथ फैलावे—तदनन्तर इन्हीं हाथों को ढीले छोड़ कर बगल से ही जितना पीछे ले जाते बने, ले जाय।

इस प्रकार हाथों को शीघ्रता से सामने ले आवे और पीछे ले जाय ।

लाभ—इससे छाती के सब दोष दूर होते हैं और छाती चौड़ी होती है ।

८—पृष्ठ स्नायु, पीछे हाथ—चित्र में दिखाये अनुसार पीछे की ओर नीचे सरल सीधी रक्खी हुई ऊर्ध्वमुख हथेलियों की उंगलियों को एक दूसरे में अटका कर 'एक' कहने के साथ हाथों को नितम्ब से जितनी दूर बने ले जाओ 'दो' कहने के साथ फिर पहले की जगह ले आओ । इस प्रकार दूर ले जाना और पास ले आना करे ।

लाभ—इससे विशेषकर पीठ के स्नायु पुंष्ट होते हैं ।

६—पृष्ठ-स्नायु, ऊपर हाथ—पूर्ववत् हाथों की उंगलियों को एक दूसरे में अटका कर, पर हथेलियों को भूमि की ओर करके, हाथों को सामने से सीधे (वीच में विना मोड़े) जितना वने ऊपर ले जाय । ऐसा करते हुए हथेलियां आकाश की ओर खुली होंगी । (अथवा बायें हाथ की उंग-लियों को पृष्ठ भाग की ओर से दायें हाथ से पकड़ कर हाथों को ऊपर ले जाय) हाथ ऊपर ले जाते समय पैरों की एड़ियों को जितना बने ऊपर उठा रक्खे और पैरों के केवल पंजों पर खड़ा रहे और सम्पूर्ण शरीर सीधा और ऊंचा

करे। तदनन्तर हाथों को फिर पूर्व स्थान में ले आवे और एड़ियों को भी भूमि पर टिकावे। इस प्रकार बार २ करे।

लाभ—इससे पीठ के स्नायु विकसित होते हैं, छाती के दोष दूर होते हैं और ऊंचाई बढ़ती है।

१०—(अ) ऊपर हाथ-बगल मरोड़—दोनों हाथ ऊपर, मुट्ठियां कसी बंधी और एक दूसरी की ओर मुड़ी हुई। पहले दायां हाथ को ऊपर, जितना बने, ले जाते हुये, बायां हाथ ऊपर से नीचे बगल में लाना।

लाभ—इससे पसलियों को, पेट और छाती को अच्छा व्यायाम मिलता है।

१०—(आ) एक साथ दो—दोनों हाथों को एक साथ ऊपर नीचे करना।

११—(अ) नीचे हाथ बगल मरोड़—दोनों हाथ नीचे। मुट्ठियां उरु प्रदेशों की ओर कस कर मुड़ी हुई। 'एक' कहने के साथ दायां हाथ कोहनी से मोड़ कर मुट्ठी को नीचे से ऊपर बगल में जितनी बने ले जाना और 'दो' कहने के साथ हाथों को नीचे ले जाना। यह कमर और पेट का व्यायाम है।

११—(आ) एक साथ दो—ऊपर की तरह ही 'एक' कहने के साथ दोनों हाथ एक साथ कोहनियों से मोड़ कर, मुट्ठियों को जितना बने ऊपर बगल में लाना और 'दो' कहने के साथ हाथों को नीचे ले जाना।

लाभ—इससे हाथों और पसलियों को अच्छा व्यायाम मिलता है।

१२—(अ) सामने हाथ मन्थ—दोनों हाथ कन्धों के सामने सीधे रखकर दायां हाथ जितना बने पीछे की ओर ले जाकर, मुट्ठी को वगल में ले आना, और बायां हाथ जितना बने सामने लाना। तदनन्तर दायें हाथ को पूर्ववत् सामने लाते हुए वायां हाथ पीछे की ओर करके मुट्ठी को बगल में लाना। इस प्रकार, स्त्रियां जैसे दही को मथती हुई मथानी चलाती हैं वैसे ही हाथों को शीघ्रता से आगे पीछे करना।

लाभ—इससे छाती और पेट को अच्छा व्यायाम मिलता है, बाहु पुष्ट और फेफड़े बलवान् होते हैं, अन्नपाचन होता है और ठीक तरह से मलोत्सर्ग होता है।

१२—(आ) एक साथ दो—दोनों हाथ साथ आगे-पीछे करना।

१३—कन्धे उठाव—दोनों हाथ पीछे की ओर कमर पर बन्धे रख कर, सामने से कमर से थोड़ा झुके तदनन्तर दोनों हाथों को (हाथों की पकड़ बिना छोड़े) एक साथ नितम्ब के नीचे सीधे ले जाय। इससे कंधे आप ही ऊपर उठेंगे जैसा कि चित्र में दिखाया है।

लाभ—इससे कंधों के स्नायु बहुत पुष्ट और सुडोल होते हैं।

१४–गर्दन दायें–उपर्युक्त रीति से कन्धे उठे होने की हालत में ही सिर को दायें घुमाना और उसी प्रकार बायें घुमाना।

१५–(अ) गर्दन नीचे–ऊपर की स्थित में ही सिर को यथासम्भव नीचे झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ-कूप से लगाना, और फिर—

१५–(आ) ऊपर–इस संकेत के साथ सिर ऊपर उठाकर यथासम्भव (दृष्टि आकाश की ओर सधी हो इतना) पीछे की ओर ले जाय।

१६–गर्दन झुकाव दायें (या बायें)—उपर्युक्त स्थिति में ही, पर गर्दन को बिना घुमाये अर्थात् मुंह को सामने रखकर, केवल गर्दन को पहले दायीं ओर, फिर बायीं ओर लटकाना और सिर को बगल से कन्धे लगाने का प्रयत्न करना।

१७–गर्दन ढकेल–दोनों हथेलियों को ललाट पर रख कर, सिर को जितना बने पीछे ढकेलने और सिर से प्रति-शक्ति लगाकर सिर को पीछे न जाने देने का यथासम्भव हर सावकाश प्रयत्न करना।

१८–गर्दन दबाव–दोनों पंजों को पकड़ नीचे झुकी गर्दन पर रख गर्दन को भरसक ऊपर उठाने का सावकाश प्रयत्न करना।

१. सोड्डयान पद्मासन

२. बद्धपद्मासन

३. बद्धासन

४. वक्रबद्धासन

५. अर्धगर्भासन

६. गर्भासन

७. एकपादकन्धरासन
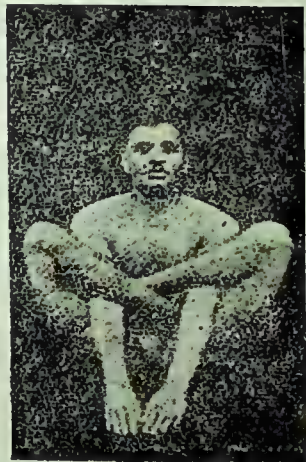
८. लोलासन

९. भूनमन पद्मासन

१०. कर्णस्पृटजानु पद्मासन

११. पार्श्वभूनमासन

१२. एक पादपश्चिमोतानासन

१३. ऊर्ध्वहस्त पश्चिमोतानासन

स्तृतपाद भूनमनासन

१५. विस्तृतपादपार्श्वभूनमननासन

१६. विस्तृतपादहस्त पार्श्वचालनासन

१७. पृष्ठासन

१८. उत्थित पृष्ठागन

१९. मत्स्यासन

२०. द्विपाद चक्रासन

२१. उत्थित द्विपादासन

२२. उत्थित एकैकपादासन

२३. उत्थित हस्तमेरुदण्डासन
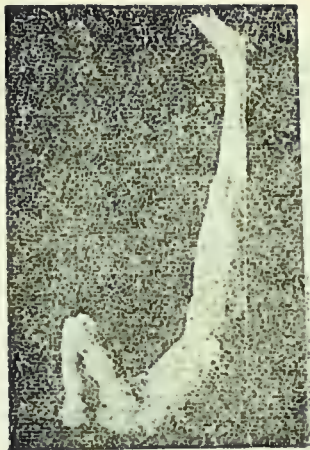
२४. शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन।

२५. जानुभाल मेरुदण्डासन

२६. उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन

२७. उत्थितपाद मेरुदण्डासन
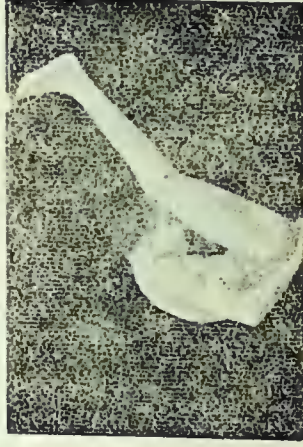
२८. भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन

२९. पार्श्व चालनासन

३०. भूस्पृष्ठपद सर्वांगासन

३१. विपरीत दण्डासन

३२. उत्थित समकोणासन

३३. उत्थितैकपाद भुजगासन

३४. भुजगासन

३५. सरलहस्त भुजंगासन

३६. नौकासन

३७. दोलासन
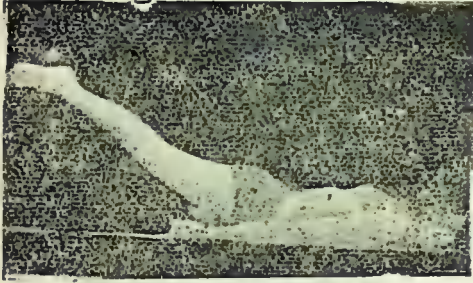
३८. शलभासन

३९. पार्श्वासन

४०. नासिकास्पृष्टजानुपार्श्वासन

४१. धनुरासन

४२. पार्श्वचलितधनुरासन

४३. आकर्णधनुरासन

४४. चतुष्पादासन

४५. मयूरासन

४६. शीर्षबद्धहस्तहलासन

४७. शीर्षस्पृष्टजानुपादासन

४८. प्रसृतहस्त वृश्चिकासन

४९. वलित पाद सर्वांगासन

५०. विवृत्त त्रिकोणासन

५१. प्रसृतहस्त विवृत त्रिकासन

५२. शापवद्धहस्त विवृत त्रिकासन

३५. ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन

५४. भूस्पृष्टहस्तजानुभालासन

५५. पृष्ठनद्धहस्तजानु भालासन

५६. ऊर्ध्वस्थितपृष्ठवक्रासन

५७. शुण्डासन

५८. अर्ध चक्रासन

५९. चक्रासन

६०. भूस्पृष्ठहस्तवृक्षासन

६१. पृष्ठवलितवृक्षासन

६२. पार्श्ववलितवृक्षासन

६२. पार्श्वपृष्ठवलितवृक्षासन

६३. मध्यम नौली

६५. दक्षिण नौली

६६. वाम नौली

१. बाहु-दण्ड

२. भुजंग-दण्ड

३. (अ) कोहिनी-मरोड़

३. (आ) एक साथ दो

४ (अ)

४ (आ)

५. (अ) आगे, पीछे हाथ

५. एक साथ दो

६. (अ) नीचे ऊपर हाथ

६. (अ) एक साथ दो

७. (अ) हाथ घड़ी

७. (आ) हाथ फैल

८. पृष्ठ स्नायु पीछे हाथ

९. पृष्ठ स्नायु ऊपर हाथ
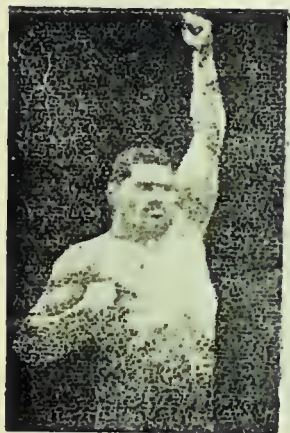
१०. (अ) ऊपर हाथ बगल मरोड़

१०. (आ) एक साथ दो

११. (अ) नीचे हाथ बगल मरोड़

११. (आ) एक साथ दो

१२. (अ) साम् हाथ मथनवनत्

१२. (आ) एक साथ दो

१३. कंधे उठाव

१४. गर्दन दाहिने (बायें)

१५. (अ) गर्दन नीचे

१५. (आ) गर्दन ऊपर

१६. गर्दन झुकाव, दाहिने बायें

१७. गर्दन ढकेल

१८. गर्दन दबाव

१९. गर्दन चक्र

२०. पीठ बाजू, हाथ चक्र

२१. मुद्गर
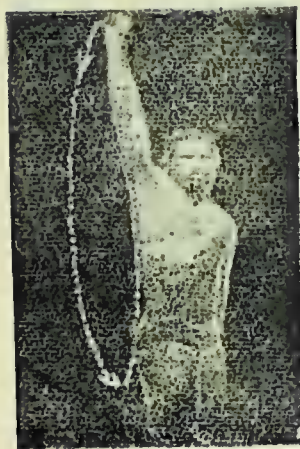
२२. (अ) अणींदार आगे (पीछे)

२२. (आ) एक दो पीछे

२३. कमर तान वाहर भीतर

२४. कमर झुक एड़ी छू

२५. मगर-पकड़

२६. ऊपरगून्न सिरटेक

२७. हनुमान ध्वज

२८. (अ) कमर झुकाव आगे

२८. (आ) कमर झुकाव पीछे

२९. उड्डियान

३०. (अ) कमरचक्र

३०. (आ)

३०. (ह)

३०. (ई)

३१. सीधी कलाई-दवोच
दाहिने (बायें)

३२. उल्टी कलाई दवोच
दाहिने (बायें)

३३. बाहू खींच, दाहिने वायें

३४. हथला ढकेल, दाहिन वायें
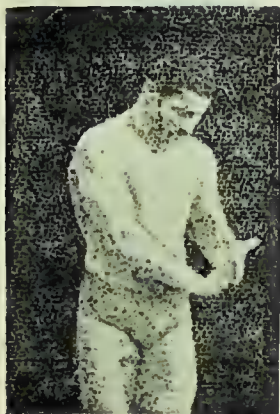
३५. कलाई मोच दाहिने (वायें)

३६. कलाई मरोड़, दाहिने (वायें)

३७. पंजा लड़न दाहिने (बायें)

३८. पंजा खींच

३९. सटाऊं उंगलियां दबोच
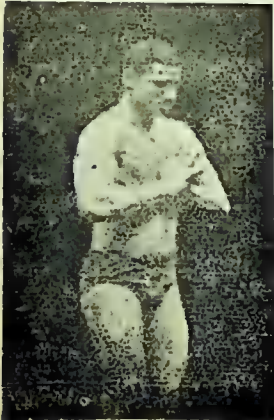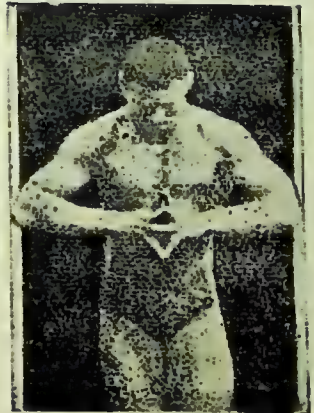
४०. पाली उंगलियां दबोच

४१. उंगलियां ढके

४२. उंगलियां खींच

४३. (अ) बैठक धीमे

४३. (आ)

४३. (इ) उठा

४६. पीछे पांव

४४. बैठक चटकूमे

४७. बाजू पांव

४५. आगे पांव

४८. पेट गूटन

५१. लंगड़ी

४६. हनुमान बैठक

५२. एक ठौर दौड़

५०. आगे पीछे, घलांग

१६–गर्दन चक्र–केवल सिर को दायीं ओर से बायीं ओर और फिर बायीं ओर से दायीं ओर चक्राकार घुमाना ।

लाभ–गर्दन के इन सब व्यायामों से गर्दन बहुत मजबूत पुष्ट और दोष रहित स्वस्थ होती है। मजबूत गर्दन वाले मनुष्य प्रायः दीर्घायु होते हैं। थायराइड ग्लैण्ड के आविष्कार से भी यह बात प्रमाणित हुई है ।

२०–पीठ बगल हाथ चक्र–एक हाथ पीछे से कमर के पीछे और दूसरा इस क्रम से फेरना । दायां हाथ जब सिर के पीछे हो तब बायीं ओर झुकना और बायां हाथ जब सिर के पीछे हो तब दायीं ओर लटकना ।

लाभ–छाती, पेट और पसलियों को इससे अच्छा व्यायाम मिलता है ।

२१–मुद्गर–सिर के चारों ओर जैसे मुद्गर घुमाते हैं वैसे दोनों हाथ मुट्ठियों को बांधकर और घुमाकर एक के बाद दूसरा इस क्रम से, सिर के चारों ओर घुमाना । शरीर के झुकाने की क्रिया ऊपर लिखी जैसी ही ।

लाभ–इससे भी छाती, पेट और पसलियों को अच्छा व्यायाम मिलता है ।

२२–(अ) अणीदार आगे पीछे सीधे तने हाथों से जैसे वर्तुलाकार मुद्गर घुमाते हैं वैसे ही केवल एक हाथ ही,

एक के बाद दूसरा इस क्रम से, मुट्ठी बाधे सामने से पीछे वर्तुलाकार घुमाना (और पीछे कहते ही पीछे से सामने घुमाना)।

लाभ—इससे भुजदण्ड बलिष्ठ होते हैं, छाती चौड़ी होती है और ऊंचाई भी बढ़ती है।

२२–(आ) एक साथ दो आगे पीछे—एक साथ दोनों हाथ तने हुए सामने से पीछे और पीछे कहने के साथ पीछे से सामने की ओर घुमाना।

२३—कमर तान बाहर भीतर—दोनों पांवों के बीच एक हाथ अन्तर रखकर सीधा खड़ा रहे तदनन्तर कमर से झुक कर दोनों हाथों की उंगलियाँ पैरों से जहां तक दूर आगे हो सके, जमीन पर टिकावे। घुटनों को मुड़ने न दे। पीछे दोनों हाथ दोनों पैरों के बीच अन्दर जितना ले जाते बने ले जाय और भूमि को स्पर्श करे।

लाभ—इससे कंधे, ऊरु, जंघा और बगलें मजबूत और विकार रहित होती हैं, ऊंचाई भी बढ़ती है।

२४—कमर झुक एड़ी—पूर्ववत् कमर से झुककर एक साथ दोनों हाथ पहले दायें पैर की एड़ी के पीछे जितना बने घुमाना। इसी प्रकार बायीं ओर से भी घुमाना।

२५—मगर पकड़—चित्र में दिखाये अनुसार उंगलियों में उंगलियां अटका कर और अंगूठों को उंगलियों में

फंसाकर परस्पर विरुद्ध दिशाओं में खींचे। इसी खींचने की हालत में यह पकड़ क्रम से नाभि, छाती, गले, ललाट और गर्दन पर ले जाय। फिर विलोम क्रम से नाभि पर ले आवे।

लाभ—इससे उंगलियां और बाहु बहुत मजबूत होते हैं। यह पकड़ कर खींचने वाले आठ-आठ आदमी भी नहीं छुड़ा सकते।

२६–ऊपर गूठन सिर टेक—कमर के पीछे हाथ बांध खड़ा रहे। पहले दांया पैर घुटने से मोड़कर, घुटने को जितना बने ऊपर उठाकर उसमें सिर टिकाना।

लाभ—इससे यकृत, प्लीहा जैसे रोग दूर होते हैं।

२७–हनुमानध्वज—दायां पैर सामने घुटने के स्थान में मोड़ रक्खे और बायां पैर पीछे सीधा रक्खे। दोनों हाथ जोड़ कर उन्हें घुमाकर इतना पीछे ले जाय कि दृष्टि आकाश की सीध में हो। इसी प्रकार पैरों को वैसे ही घुमाकर, बांया पैर घुटनों के स्थान में मोड़कर और दायां सीधा रख कर हाथों को पीछे ले जाय।

लाभ—इससे सम्पूर्ण शरीर को, विशेषतः कमर और पेट को उत्तम व्यायाम मिलता है।

२८–(अ) कमर झुकाव आगे–चार उंगलियां आगे और

अंगूठा पीछे इस प्रकार कमर पर रखकर सीधा खड़ा रहे और सामने झुककर घुटनों को बिना झुकाये, घुटनों में सिर लगावें। अभ्यास से यह व्यायाम सधेगा।

इसके बाद तुरन्त—

२८–(आ) पीछे–'पीछे' कहने के साथ सिर ऊपर उठाकर पीछे की ओर कमान सा झुककर इतना पीछे ले जाय कि दृष्टि बिल्कुल भिन्न दिशा में हो। ऐसा आगे पीछे करे।

लाभ—इससे विशेषकर कमर और पेट रोग रहित और मजबूत होते हैं।

२९–उड्डीयान–दो घुटनों पर दो हाथ रख खड़ा रहे और श्वास को बिल्कुल बाहर छोड़कर, खाली पेट, पेट को शीघ्रता से भरसक अन्दर-बाहर करे। श्वास पूर्ण होते ही, पुनः बाहर छोड़कर उड्डीयान बन्द करे।

लाभ—यह एकमात्र व्यायाम पेट के सब रोगों को दूर करने में समर्थ है। यह सबके करने योग्य है।

३०–कमर-चक्र (अ, आ, इ, ई)—कमर के पीछे हाथ बंधे रखकर, पहिले नीचे घुटनों तक झुककर दायीं ओर सिर को ऊपर ले जाते हुए धनुष की तरह पीछे लटकाकर बायीं ओर से मोड़कर सिर को पूर्ववत् नीचे ले आवे। इस प्रकार कमर के चारों ओर शरीर को घुमावे। इस प्रकार बायीं ओर से दायीं ओर करे।

लाभ—इससे कमर के सब दोष दूर होते हैं। यह व्यायाम चतुर्विधि हैं। इसके करने में बहुतों को चक्कर ग्रा जाता है। इसलिए ऐसे लोग एक एक ही व्यायाम करके ग्रागे बढ़ें।

३१—सीधी सलाई दबोच—पहले दायाँ हाथ, मुट्ठी को ग्राकाश की ग्रोर करके, समकोण रक्खे ग्रौर दायीं ग्रोर जरा झुककर बायें सीधे हाथ से दायें हाथ की कलाई पर भरसक जोर दे ग्रौर दायां हाथ नीचे से ऊपर उठाने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार से बायां भी।

लाभ—इसके ग्रभ्यास से कलाई में शक्ति ग्राती है ग्रौर हाथों के सब स्नायु बहुत ही दृढ़ ग्रौर सुन्दर बनते हैं।

३२—उलटी कलाई दबोच—ऊपर लिखे ग्रनुसार पर मुट्ठी भूमि की ग्रोर घुमाकर एक हाथ से दूसरे हाथ की कलाई पर पूरा बोझ डालदे ग्रौर नीचे का भारावनत हाथ प्रति-शक्ति लगाकर, भरसक ऊपर उठाने का यत्न करे। इसी प्रकार दूसरा हाथ भी।

लाभ—इससे विशेषकर बाहु ग्रौर प्रकोष्ठ स्नायु बहुत ही सुन्दर ग्रौर मजबूत बनते हैं।

३३—बाहु खींच—चित्र में दिखाये ग्रनुसार दायां हाथ शरीर से जुटा हुग्रा नीचे सरल सीधा रखकर कोहनी के स्थान से बायें हाथ से जोर से खींचे ग्रौर दायां हाथ प्रति-

शक्ति लगा कर, शरीर से भरसक दूर ले जाने का प्रयत्न करे। इसी प्रकार बायां हाथ भी।

लाभ—इससे बाहुओं के स्नायु सुन्दर और बलवान् होते हैं।

३४—हथेली ढकेल—चित्र में दिखाये अनुसार बायें हाथ की हथेली से दायें हाथ की हथेली भरसक पीछे ढकेलने का प्रयत्न करे और दायें हाथ से प्रतिशक्ति लगाकर एतद्विरुद्ध यत्न करे। उसी प्रकार बायां पंजा दायें पंजे से पीछे ढकेले।

लाभ—इससे भी हाथों के सब स्नायु बहुत बलवान् पुष्ट और सुन्दर होते हैं।

३५—कलाई मोच—चित्र में दिखाये अनुसार दायें हाथ की सीधी मुट्ठी बायें हाथ की मुट्ठी से आमने सामने पकड़कर परस्पर विरुद्ध शक्ति लगावे और दायीं कलाई अन्दर की ओर घुमाने का प्रयत्न करे।

लाभ—इससे कलाई बहुत मजबूत होती हैं।

३६—कलाई मोड़—ऊपर लिखे अनुसार, पर इस अन्तर के साथ कि दायें हाथ की उलटी मुट्ठी; बायें हाथ की मुट्ठी में पकड़ कर, परस्पर विरुद्ध शक्ति, दायीं कलाई बाहर की ओर घुमाने का यत्न करे। इसी प्रकार बायीं कलाई भी।

लाभ—इससे कलाई बहुत मजबूत होती है।

३७—पंजा लड़ंत—दायें हाथ के अंगूठे के समीप की उंगली बायें हाथ के अंगूठे के समीप की उंगली पर रख कर

सब उंगलियों को एक दूसरी से बांध ले और परस्पर विरुद्ध शक्ति लगावे । इसी प्रकार दायाँ हाथ समकोण रखकर बायें हाथ की तर्जनी दायें हाथ की तर्जनी पर रखकर पंजा ले ।

लाभ—इससे पंजा अत्यन्त बलवान् होता है । कुश्ती में मजबूत पंजा होना बहुत जरूरी है ।

३८—पंजा खींच—सब उंगलियों को परस्पर में अटका कर परस्पर विरुद्ध बलपूर्वक खींचे ।

लाभ—इससे पंजा और उंगलियों के मूल बहुत मजबूत होते हैं ।

३९—सटी उंगली दबोच—दसों उंगलियों को एक दूसरी से सटाकर परस्पर विरुद्ध दबावे ।

४०—पोली उंगली दबोच—दसों उंगलियों के केवल अग्र भाग परस्पर मिलाकर परस्पर विरुद्ध दबावे ।

४१—उंगली ढकेल-प्रत्येक की उंगलियां मोड़कर उन्हें दूसरे हाथ की हथेली से पीछे ढकेल कर उन्हें सरल करने का प्रयत्न करना ।

४२—उंगली खींच—प्रत्येक उंगली दूसरे हाथ की तत्सम उंगली में अटकाकर परस्पर विरुद्ध खींचना ।

लाभ—इन सब व्यायामों से उंगलियां बहुत मजबूत होती हैं । कुश्ती करने वालों के लिए यह व्यायाम बहुत ही उपयोगी है ।

४३–(अ) बैठक धीमे–दोनों पांवों के बीच एक बित्ता अन्तर रखकर, एड़ियों को उठाकर, सामने बिना झुके, बहुत धीरे-धीरे नीचे जाय और जंघाओं पर न बैठ जंघा और ऊरु के बीच एक या दो अंगुल का अन्तर रक्खे। तदनन्तर उठते हुए—

४३–(आ) इस चित्र के अनुसार तुरन्त उठे और एड़ियों को भूमि पर टिकावे। इस बैठक से ऊरु-प्रदेश का बहुत जल्दी और बहुत सुडौल गठन होता है। यह बैठक सावकाश करना बहुत कठिन है, इसलिए आरम्भ में २-३ बैठकें ही पर्याप्त हैं।

४४–बैठक चट से–पांवों के तलवे भूमि में टिकाए रख कर चट से अर्थात् फुरती से बैठे और उठते हुए नं० ४३ आ चित्र के अनुसार) घुटने जोड़ कर एड़ियों को बिना उठाए शुद्धि और वृद्धि होती है।

४५–आगे पांव–छाती आगे की ओर करके सीधे खड़ा रहे और दायां पैर सावकाश (पीछे 'चट से' कहने पर जल्दी से) ऊपर समकोण उठावे।

४६–पीछे पांव–इससे प्रत्येक पैर, एक के बाद दूसरा पीछे की ओर समकोण उठावे, पहले सावकाश (धीरे-धीरे), पीछे चट से।

४७–बगल पांव–प्रत्येक पैर बगल में समकोण उठावे।

४८—पेटगूठन—प्रत्येक पैर को घुटने से मोड़ कर (पहले धीरे, पीछे जल्दी से) ऊपर उठावे।

लाभ—इन सब व्यायामों से पैर दोष रहित और मजबूत होते हैं। रजो-वीर्य की शुद्धि और वृद्धि होती है। आबाल-वृद्ध सब स्त्री-पुरुषों के करने योग्य है।

४६—हनुमान बैठक—पांवों पर बैठे बैठे दोनों पांव एक साथ आगे पीछे करके बैठक करे। घुटने भूमि से न लगें।

लाभ—इससे ऊरु और जंघा रोगरहित और मजबूत होते हैं।

५०—आगे पीछे फलांग—एक पैर घुटने से मोड़ कर आगे रखे और दूसरा पीछे सीधा फैलावे। इस प्रकार एक साथ दोनों पैरों को आगे पीछे करे।

५१—लंगड़ी—एक पैर भरसक ऊपर उठाकर दूसरे पैर के अगले भाग पर सारा शरीर तोल कर जहां का तहां कूदे।

लाभ—इससे जंघाएं पुष्ट एवं बलिष्ट होती हैं।

५२—एक पैर दौड़—एक पैर नितम्ब तक उठाकर दूसरे पैर के अग्र भाग पर सम्भल कर दौड़ने का व्यायाम करे।

लाभ—इससे जड़ता और भेद झड़ जाता है, हृदय और फेफड़े निर्मल और सबल होते हैं।

इस प्रकरण में स्त्रियों के लिए उपयोगी कुछ योगासनों का वर्णन किया जा रहा है। जिन महिलाओं को ये अपने लिए उपयुक्त जान पड़ें उन्हीं को इनका प्रयोग करना चाहिए। गर्भवती, रजस्वला, मोटे शरीर वाली, बीमार तथा कमजोर स्त्रियों को इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए।

जिन महिलाओं को यह व्यायाम अनुकूल न लगें उन्हें इनका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

महिलाओं के लिए उपयोगी, शारीरिक-स्वास्थ्य एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले व्यायामों की नवीनतम विधियों, आधुनिक स्वास्थ्य-शिक्षकों के अनुभूत प्रयोगों, सरल योगासन, नृत्य एवं यौवन तथा सौन्दर्य वृद्धि करने वाले उपायों का विस्तृत परिचय देने वाली ५६४ चित्रों से युक्त हिन्दी पुस्तक "नारी यौवन, व्यायाम और सौन्दर्य" मूल्य पन्द्रह रुपये मंगाकर लाभ उठावें।

पद्मासन

प्रक्रिया—फर्श पर बैठकर चित्र नं० १ में दिखाये गए अनुसार दायें पांव को बाईं जाँघ पर तथा बायें पांव को

(चित्र नं० १)

दाईं जांघ पर इस प्रकार रखें कि दोनों पांव कैंची की आकृति में आ जाएं। फिर दोनों हाथों को उक्त प्रकार से रखे गए दोनों पांवों की एड़ियों के मध्यभाग में इस प्रकार

रखें कि बाईं भुजा की खुली हथेली पर दाईं भुजा की हथेली खुली स्थिति में रहे।

इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर सीधा बना रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थित रहे तथा छाती बाहर की ओर निकली रहनी चाहिए।

प्रभाव—यह आसन शरीर के समस्त अंगों पर अपना प्रभाव डालता है, उन्हें आराम देता है, पुष्ट करता है, थकान को दूर भगाता है तथा शरीर में रक्त परिभ्रमण को ठीक रखता है। यह सबसे सरल तथा सबसे अच्छा आसन है। इस स्थिति में दस से तीस मिनट तक बैठा जा सकता है।

पर्वतासन

प्रक्रिया—अर्द्ध पद्मासन की स्थिति में बैठकर दोनों हाथों को धीरे-धीरे ऊपर की ओर पूरी ऊंचाई तक, सिर के ऊपर ले जायें। फिर उंगलियों को या तो आपस में

फंसा लें अथवा हथेलियों को एक-दूसरी से सटा लें। (चित्र नं० २)।

(चित्र नं० २)

इसके बाद आप ऊपर की ओर खिचें तथा ऐसा अनुभव करें जैसे सिर के ऊपर किसी वस्तु को पकड़ने की चेष्टा कर रहे हों। भुजाओं को इधर-उधर के कानों से सटाये रखें तथा सिर को सीधा रखें।

फिर पीठ को सीधी करके पेट को भीतर की ओर खींचिए तथा सांस खींचते समय अपने शरीर के ऊपरी भाग को यथासम्भव ऊंचाई तक उठाइए। बाहें कुहनियों पर न मुड़ें तथा हाथ कलाइयों पर न मुड़ें। उन्हें सीधा और खिचा हुआ ही रखना चाहिए।

इस स्थिति को श्वास रोकने की अवधि तक बनाए रहें। इसी स्थिति में अधिकतम खिचाव के प्रयत्न सफल होते हैं।

यदि सम्भव हो तो अपनी दृष्टि को किसी वस्तु पर टिकाये रहें और मन को पूर्णतः सहज स्थिति में रखें।

श्वास लेने की क्रिया तीन सैकिण्ड तक, श्वास रोकने की क्रिया चार सैकिण्ड तक तथा श्वास छोड़ने की क्रिया तीन सैकिण्ड तक करनी चाहिए। आसन की चरम स्थिति में पहुंच जाने के बाद पूर्व स्थिति में आने के बीच में ही श्वास छोड़नी चाहिए।

इन सम्पूर्ण क्रियाओं को १ मिनट में बिना रुके तीन बार दुहराना चाहिए। अभ्यास हो जाने पर १ मिनट में छः बार श्वास लेकर भी इस आसन को किया जा सकता है।

प्रभाव—यह आसन उदर तथा आमाशय की समस्त पेशियों को खींचता है, नितम्बों को ढीला करता है पीठ की पेशियों को सीधा करता है तथा सामान्यतः निष्क्रिय रहने वाले कमर के क्षेत्र को फैलाता और सबल बनाता है। यह

थुलथले तथा भारी पेट को काफी हद तक घटाने में सहायक होता है।

शरीर के ढांचे को ठीक करने वाले आसन की दृष्टि से यह 'पर्वतासन' अत्यन्त श्रेष्ठ है। जो लोग बहुत झुक गये हों अथवा जिनका पेट थुलथला और बाहर की ओर निकला हुआ या लटकता हो, उनके लिए यह आसन बहुत सहायक है। यह यान्त्रिक रूप से शरीर को सीधा रखने में सहायता पहुंचाता है, हड्डियों को सही स्थानों पर बैठाता है तथा शरीर को पुनः नियमित करता है।

स्त्रियों में बैठने की दोषपूर्ण आदतों के कारण मेरुदण्ड सर्वाधिक प्रभाविक होता है। पर्वतासन विकृत मेरुदण्ड के दोषों को दूर करता है।

यह आसन पेट को सपाट करने तथा नितम्बों को संकुचित करने में बहुत सहायक है।

इस आसन को प्रतिदिन कम से कम १ मिनट तक अवश्य करना चाहिए। यदि सम्भव हो तो प्रातः सायं दोनों समय करना चाहिए।

हस्तपादांगुष्ठासन

प्रक्रिया—सीधी खड़ी हो जाएं। टांगें सीधी खड़ी रहें, वक्ष सामने की ओर निकला रहे और एक हाथ बगलों में रहे। श्वास छोड़ने के साथ ही एक पांव को सीधा उठाएं। यहां तक कि वह शरीर से समकोण बनाने लगे। जहां तक सम्भव हो, घुटनों के जोड़ों पर पाँव न झुकने पाएं।

शरीर को एक पांव पर साधे रखकर बाहों को आगें की ओर बढाएं और उस उठे हुए पांव के पंजे का स्पर्श करें अथवा पकड़ लें। चाहे एक हाथ की अथवा दोनों हाथों की उंगलियों से, जैसे सुखद हो पकड़ लें। फिर इसी स्थिति में कुछ क्षण तक स्थिर रहने का प्रयत्न करें (चित्र नं० ३)। यह क्रिया आरम्भ में तथा श्वास रोकने की अवस्था में करनी चाहिए। फिर पूर्व स्थिति में आते समय श्वास लेनी चाहिए।

(चित्र नं० ३)

एक मिनट में प्रत्येक पांव से यही क्रिया तीन बार करनी चाहिए । प्रत्येक क्रिया के बाद पांवों को बदलते जाना चाहिए ।

इस अभ्यास को प्रातःकाल करना अधिक अच्छा रहता है । पूरा आसन तीन मिनट से अधिक समय नहीं लेता ।

प्रारम्भिक अवस्था में यदि उंगलियां पंजे को न छू सकें अथवा किसी भी पांव के घुटने थोड़े झुक जाएं तो गलती को सुधारने के लिए प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिए, जब तक कि ठीक ढंग से करना न आ जाए ।

प्रारम्भिक प्रयत्न में यदि किसी तनाव का अनुभव हो तो हाथों को इधर उधर के नितम्बों पर रख लें तथा तथा केवल पांवों के संचालन का ही अभ्यास करें ।

प्रभाव—यह आसन उदर की अच्छी स्थिति पर अनुकूल प्रभाव डालता है । कब्ज से सुरक्षा एवं मोटापा कम करने की दृष्टि से यह बहुत सहायक सिद्ध होता है ।

हस्तपादासन

प्रक्रिया—इस आसन को प्रारम्भ करते समय सर्वप्रथम त्रिकोणासन की स्थिति में आना चाहिए, जिसमें सीधे खड़े होकर दोनों पांवों को परस्पर मिलाकर रक्खा जाता है ।

फिर आगे की ओर एक समकौणिक स्थिति में झुकें तथा पंजों तक इसी स्थिति में पहुंचने की चेष्टा करें। ध्यान में रखने की विशेष बात यह है कि पांव किसी भी हालत में मुड़ें नहीं।

अब पांवों को सीधे रखते हुए श्वास छोड़ें तथा कमर से ऊपर का शरीर आगे को झुकाएं। इसे धीरे-धीरे इस तरह करना चाहिए कि आंतरिक अङ्गों पर किसी प्रकार के पेशीगत तनाव अथवा असह्य दवाव का अनुभव न हो।

प्रयत्न करके टखनों को अपने हाथों से पकड़ लें तथा सिर को तिरछा नीचे की ओर रखें (चित्र नं० ४)।

(चित्र नं० ४)

इस स्थिति की श्वास रोकने के समय कुछ क्षण तक रक्खें, फिर श्वास लेते हुए पूर्व स्थिति पर लौट आएं।

इस क्रिया को छः बार दुहराना चाहिए।

प्रारम्भ में यदि टखनों को पकड़ने में सफलता न मिले तो हताश नहीं हो जाना चाहिए। प्रतिदिन के अभ्यास से सफलता अवश्य मिलेगी। जब ऐसा करना सम्भव हो जाए, तब टखनों को हाथों द्वारा कसकर पकड़ें। बांहों को कुह-नियों पर से मोड़ें तथा सिर को घुटनों के अधिकाधिक समीप खींचें।

इस क्रम को कुछ सप्ताह तक जारी करना चाहिए। अन्ततः सिर को घुटनों के ऊपर तथा मध्य के स्थान पर टिकाने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि आसन को ४ सैकिण्ड से अधिक समय तक रखना हो तो धीमी स्वाभाविक रूप से श्वास लेनी चाहिए। इस स्थिति में गहरी श्वास हर्गिज नहीं लेनी चाहिए, अन्यथा आन्तरिक कोमल अङ्गों को हानि पहुंच सकती है।

इस आसन को प्रतिदिन कुछ मिनटों तक नियमित रूप से करते रहना चाहिए।

प्रारम्भ में आसन का समय कुछ सैकिण्ड का रखना ही काफ़ी है। धीरे-धीरे इसे एक दो मिनट तक बढ़ाया जा सकता है।

प्रभाव—यह आसन उदर, कटि-रेखा तथा नितम्बों पर प्रभाव डालने वाली, पिछली मांस पेशियों के अत्यधिक खिंचाव, पेट की स्थिति एवं प्रजनन अङ्गों की दशा को सुधारता है। यह अनावश्यक चर्बी को ढीला करके, वितरित अथवा कम करने में भी सहायक है। बड़ी आंत के अन्तिम भाग को स्वच्छ रखना इसका प्रमुख कार्य है।

मत्स्यासन

प्रक्रिया—सर्व प्रथम अपने पांवों को पूरी तरह फैला कर बैठें। फिर पांवों को अर्द्ध पद्मासन की भांति फैलायें। घुटनों पर से पांवों को इस प्रकार झुकाएं कि पांव आमने-सामने की संधियों (पेट तथा जांघ के जोड़) में बैठ जायें। पांवों के तलवे ऊपर की ओर पलटे रहें। इसके बाद पीठ की ओर झुकते हुए, श्वास लेते हुए, धीरे-धीरे तथा साव-धानी के साथ पीछे की ओर गिर जाएं—यदि आवश्यक हो तो हाथों का सहारा लेकर शरीर के भार को कुहनियों पर डालकर। (चित्र नं० ५)

(चित्र नं० ५)

अन्त में पांवों को मोड़े हुए तथा फैलाये हुए ही चित्त लेट जाएं। इसके बाद बाहों को मोड़कर सिर के नीचे ले आएं। हाथ एक-दूसरे को पार करते हुए हों तथा सिर का पिछला भाग उन पर टिका रहे।

इस स्थिति को श्वास रोकने के समय में कायम रखना चाहिए तथा श्वास छोड़ते समय पूर्व स्थिति में आ जाना चाहिए।

इस अभ्यास को तीन बार दुहराना चाहिए तथा आसन को अपनी सुविधानुसार एक से दो मिनट तक करना चाहिए। पिछली स्थिति में सामान्य मन्द श्वास स्वाभाविक रूप से लेनी चाहिए, न कि श्वास को रोक रक्खा जाए।

प्रभाव—यह आसन आन्तरिक जननेन्द्रियों के स्वास्थ्य को सुधारने में अत्यन्त सहायक है। इस आसन को प्रातः काल करना सबसे अच्छा है। मासिक-स्राव के पहले तीन दिनों में तथा गर्भावस्था के अन्तिम महीनों में यह आसन नहीं करना चाहिए।

प्रसवोपरान्त प्रजनन अंगों के व्यायाम के लिए भी मत्स्यासन बहुत उपयोगी है। यह प्रजननांगों एवं रीढ़ के स्नायुओं को बल देता है तथा उन्हें सुधारता है। इसके अतिरिक्त यह आसन योनि सम्बन्धी अक्षमताओं एवं मूत्रा—वरोध को दूर करने में भी सहायक होता है।

पर्यङ्कासन

प्रक्रिया—पहले सामान्य झुकने के आसन की स्थिति में आएं। फिर पांवों को जांघों के नीचे दबाकर पिंडलियों पर बैठ जाएं। इस प्रकार पांव मिलाकर पिंडलियों पर बैठने के बाद पीछे की ओर थोड़ा-सा झुकें तथा कुहनियों का सहारा लेकर चित्त लेट जाएं। घुटनों को मिलाए रहें, क्योंकि उन्हें अलग रखने से उदर तथा प्रजनन-क्षेत्र पर खिचाव कम हो जायेगा। गर्दन तथा शरीर को सीधा रखना चाहिए। इसके बाद दोनों हाथों की उंगलियों को परस्पर फैलाकर, हाथों को वक्षस्थल पर रख लेना चाहिए। (चित्र नं० ६)।

(चित्र नं० ६)

इस आसन में पेट से श्वास—संगति में—धीरे-धीरे लिए जाने पर शीघ्र तथा ऊपरी श्वसन की अपेक्षा अधिक लाभदायक रहती है।

पहले कुछ महीनों तक यह आसन सायंकाल में करना चाहिए। बाद में, अभ्यास में सरलता आ जाने पर इसे प्रातःकाल करना चाहिए।

प्रारम्भ में केवल घुटनों के खिचाव का ही अभ्यास करना चाहिए। जब इसका पूर्ण अभ्यास हो जाए, तब पूरा आसन लगाना चाहिए।

प्रारम्भ में यह आसन कठिन प्रतीत होता है, परन्तु निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर सरल हो जाता है।

आरम्भ में इस आसन को केवल कुछ क्षण तक सीमित रखना चाहिए। बाद में धीरे-धीरे दो मिनट तक अभ्यास बढ़ा देना चाहिए।

प्रभाव—यह अभ्यास पेट, प्रजनन तथा मूत्राशय पर गहरा दबाव डालता है। इनके स्नायविक तथा रक्त संचरण सम्बन्धी क्रियाओं में इस आसन से तेजी आती है। इससे कामेन्द्रियां भी प्रभावित होती हैं। स्त्री की गर्भावस्था में कष्ट-रहित-प्रसव के लिए यह आसन लाभकारी है, परन्तु गर्भस्थिति के चौथे यहीने के बाद इस आसन का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

उष्ट्रासन

प्रक्रिया—घुटनों के बल झुककर बैठें। शरीर को पंजों

और घुटनों पर साधें । फिर क्रमशः पीछे की ओर झुकें । हथेलियों को फर्श पर जमा लें । उंगलियां बाहर को तथा अंगूठा पंजों की ओर रहे । बांहों को सीधी रक्खें । फिर धीरे-धीरे ऊपरी कटि को उठायें तथा श्वास लें । अब शरीर को कमर के ऊपर, बाहर तथा ऊपर की ओर दबायें और गर्दन को नीचे लाएं । इस आसन में रीढ़ पर पड़ने वाला दबाव, पीठ के नीचे से ऊपर कंधों तथा गर्दन की ओर जाता हुआ अनुभव होना चाहिए (चित्र नं० ७) ।

(चित्र नं० ७)

इसकी चरमस्थिति में केवल चार सैकिण्ड तक रहें तथा इसे केवल दो ही बार दुहराएं । जिनका स्वास्थ्य ठीक न हो उन्हें यह आसन नहीं करना चाहिए ।

प्रभाव—यह आसन रक्त-परिभ्रमण को तीव्र करता है तथा गहरे दबाव द्वारा रक्त के उचित बहाव में सहायक होता है।

इससे रीढ़ तथा जांघों के भीतरी स्नायुओं, धड़ तथा गर्दन का व्यायाम हो जाता है। गर्भाशय, थायराइड तथा अन्य एण्डोक्रीन ग्रन्थियों पर इसका बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

यह आसन स्थूलता को रोकता है तथा रीढ़ पर से उस भार को हटाता है, जो दोष पूर्ण शारीरिक ढांचे के कारण होता है।

भुजंगासन

प्रक्रिया—मस्तक को पृथ्वी से स्पर्श कराते हुए पेट के बल लेट जाएं। दोनों बांहें दोनों बगलों में फैली रहें। शरीर को पूर्ण शिथिल बनाकर, शरीर का भार पूर्णतः फर्श के ऊपर छोड़ दें। (चित्र नं० ८)।

(चित्र नं० ८)

फिर धीरे-धीरे अपने सिर को ऊपर उठाएं तथा अपनी पीठ के स्नायुओं का उपयोग करते हुए धड़ को इतना ऊपर उठायें, जितना कि सम्भव हो। इस स्थिति तक हाथों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

फिर चित्र संख्या ९ दिखाये गए अनुसार अपने हाथों को कंधों के नीचे तथा उंगलियों को एक-दूसरी की ओर लायें।

(चित्र नं० ९)

अब अपने हाथों से शरीर को ऊंचा उठाने में सहायता लें। यह ऊपर उठना बहुत धीरे-धीरे इस प्रकार होना चाहिए कि प्रत्येक संचालन का अनुभव होता रहे।

इस प्रक्रिया में सिर पीछे की ओर मुड़ता है तथा रीढ़ क्रमशः धनुषाकार होती चली जाती है।

प्रारम्भ में बिना तनाव का अनुभव किये, जितना ऊपर

उठ सकें उठिए, फिर रुक जाइये। इस चरम स्थिति में बांहें सीधी रहती हैं तथा सिर बहुत पीछे झुका रहता है। पांव शिथिल रहते हैं, तनाव में नहीं (चित्र नं० १०)। आँखें बन्द रखी जा सकती हैं। दस की गिनती तक आप इस चरम स्थिति में रह सकती हैं।
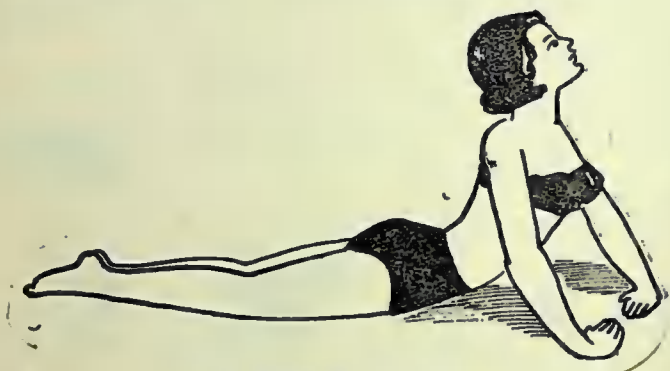
(चित्र नं० १०)

इसके बाद विपरीत ढंग से धीरे-धीरे शरीर को नीचे लाएं। नीचे आते समय रीढ़ धनुषाकार ही रहनी चाहिए।

जब आप स्वयं को लगभग आधा नीचे ले आएं तो भुजाओं को बगलों में ले जायें तथा पीठ के स्नायुओं को कार्य करने दें।

जब आपका मस्तक फर्श पर स्पर्श करने लगे तो उस

स्थिति में कुछ क्षण तक बनी रहें। फिर अपने गाल को फर्श पर टिका दें तथा शरीर को एकदम ढीला छोड़ दें।

इस सम्पूर्ण अभ्यास को बहुत धीरे-धीरे दो वार करना चाहिए।

प्रभाव—तनाव एवं जड़ता को दूर करने में यह आसन आश्चर्यजनक रूप में लाभ पहुंचाता है। यह पीठ तथा रीढ़ पर विशेष क्रिया करता है।

इस आसन को दिन में किसी भी समय किया जा सकता है। कभी भी दो मिनट का समय निकाल कर इस आसन से पीठ को ढीला कर लेना चाहिए।

जिन्हें रीढ़ अथवा कंधों के कष्ट की शिकायत हो वे इस आसन से पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। पीठ, स्कंधस्थियों तथा विशेषकर कटि प्रदेश पर इसका बलवर्द्धक प्रभाव अनुभव होता है।

इस सम्पूर्ण अभ्यास में सिर पीछे की ओर झुका रहना चाहिए। इससे यह भी निश्चित होता है कि गर्दन, रीढ़ एवं शीर्ष के स्नायुओं को भी श्रम करना पड़ता है।

इस आसन का पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए यह रखना चाहिए कि केवल कसकर पीछे की ओर न मुड़ा

जाये; अपितु रीढ़ का क्रमशः धनुषीकरण होना चाहिए। इस झुकाव से तनाव दूर हो जाता है।

प्रारम्भ में उतना ही उठना चाहिए जितना कि बिना कष्ट के सम्भव हो सके तथा उस स्थिति में दस की गिनती तक रहना चाहिए। फिर प्रतिदिन कुछ और अधिक उठने की चेष्टा करनी चाहिए। प्रारम्भ करने से दो सप्ताह के भीतर तनाव का अनुभव किए बिना, चरम स्थिति तक उठने में समर्थ हुआ जा सकता है।

यह एक खिचाव का आसन है। इसमें शरीर को विश्राम देने का प्रयत्न करना चाहिए। इस आसन द्वारा कूल्हों तथा नितम्बों के भारीपन को घटाया जा सकता है।

इस आसन से लचीली रीढ़ तथा युवापन का वरदान प्राप्त होता है।

इस अभ्यास को कार्यालय से लौटने पर भोजन से पूर्व करना उचित है। इससे भोजन के बाद की सुस्ती दूर रहती है।

एक स्वस्थ सामान्य व्यक्ति के लिये यौगिक शरीरसंवर्धन का 'सम्पूर्ण अभ्यासक्रम'

आसन

आसन	अभ्यास
१. शीर्षासन	१/४ मि. से १२ मि. तक; प्रति सप्ताह १/२ मि. की वृद्धि।
२. सर्वांगासन	१/२ मि. से ६ मि. तक; प्रति सप्ताह १ मि. की वृद्धि।
३. मत्स्यासन	१/४ मि. से ३ मि. तक; प्रति सप्ताह १/४ मि. की वृद्धि।
४. हलासन	१ मि. से ४ मि. तक; (सभी अवस्थाओं के लिये) प्रति सप्ताह १ मि. की वृद्धि।
५. भुजंगासन ६. शलभासन ७. धनुरासन	प्रत्येक के ३ से ७ आवर्तन (आसन को १० से. बनाये रखते हुए) प्रति पक्ष (१५ दिन) १ आवर्तन की वृद्धि।
८. अर्धमत्स्येन्द्रासन	१/४ मि. से १ मि. तक प्रत्येक ओर। प्रति सप्ताह १/४ मि. की वृद्धि।
९. पश्चिमतान	१/४ से १ मि. तक। प्रति सप्ताह १/४ मि. की वृद्धि।
१०. मयूरासन	१/४ मि. से २ मि. तक। प्रति सप्ताह १/४ मि. की वृद्धि।

११. शवासन	२ मि. से १० तक। प्रति सप्ताह २ मि. की वृद्धि।

बन्ध

१. उड्डियान	३ से ७ आवर्तन। प्रति सप्ताह १ आवर्तन की वृद्धि।

मुद्रा

१. योग-मुद्रा	१ मि. से ३ मि. तक। प्रति सप्ताह १ आवर्तन की वृद्धि।

क्रियायें

१. नौलि	३ से ७ आवर्तन। प्रति सप्ताह १ आवर्तन की वृद्धि।
२. कपालभाति	प्रत्येक ११ से १२१ तक बहिःश्वसन के ३ फेरे। प्रति सप्ताह प्रति फेरा ७ बहिःश्वासन की वृद्धि।

प्राणायाम

१. उज्जायी	७ से २८ फेरे। प्रति सप्ताह ३ फेरों की वृद्धि।
२. भस्त्रिका	प्रत्येक ११ से १२१ तक बहिःश्वसन के ३ फेरे। प्रति सप्ताह प्रति फेरा ११ बहिःश्वसन की वृद्धि। प्रत्येक फेरे के उपरान्त उचित कुम्भक क्रिया।

सावधानी

१. योगाभ्यासों का परिणाम कभी भी थकान या श्रान्ति में न होना चाहिये। दैनिक अभ्यास पूरा करने पर नाड़ी-स्थैर्य स्थापित होने के कारण विद्यार्थी को एक प्रकार का उल्हास या उत्साह का अनुभव होना चाहिये।

२. सारा अभ्यासक्रम एक साथ लगातार करने की आवश्यकता नहीं है। बीच-बीच में सुविधानुसार विश्राम श्रेयस्कर है।

३. इतना करने पर भी, अभ्यास-कार्य में लगी शक्ति के कारण शरीर पर तनाव तो नहीं पड़ रहा है, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये।

४. 'सदा सावधानी से कार्य करके आत्मविश्वास उत्पन्न करो'—यह हमारा योगाभ्यासी को पुनः पुनः निवेदन है।

५. यदि किसी कारण से बीच में लम्बी अवधि तक अभ्यास खण्डित हुआ हो तो उसका पुनः अभ्यास शनैः शनैः प्रारम्भ करे; परन्तु शरीर पहले का अभ्यस्त होने, के कारण उसकी पूर्णतया कुछ शीघ्रता से अर्थात् अल्पसमय में कर सकते हैं।

६. तीव्र रुग्णावस्था के बाद योगाभ्यास तभी प्रारम्भ किया जाय, जब उस अभ्यास के लिये आवश्यक शक्ति पुनः

प्राप्त हो चुकी हो। सावधानी की दृष्टि से योगाभ्यासों का प्रारम्भ करने के पूर्व लगभग सप्ताह दो सप्ताह तक प्रतिदिन काफी दूर तक आराम से चलने-फिरने से अभ्यस्त होना सदा वांछनीय होता है।

७. मध्यम मात्रा में खाद्य पदार्थ और पूर्ण मात्रा में पेय पदार्थ लेने के पश्चात् लगभग डेढ़ घंटे तक योगाभ्यास कदापि न करना चाहिये। यदि पेय केवल आधा 'कप' ही सेवन किया है, तो आधे घण्टे के पश्चात् अभ्यास प्रारम्भ कर सकते हैं। पेट भर गरिष्ठ भोजन करने के पश्चात् लगभग ४½ घण्टे बीत जाने पर ही योगाभ्यासों को करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि योगाभ्यास सदैव रिक्त पेट (आमाशय) पर ही किये जायं।

८. योगाभ्यासों की समाप्ति के आधे घण्टे के पश्चात् मध्यम मात्रा में भोजन करने में कोई हानि नहीं है।

स्थान

९. किसी हवादार स्थान का उपयोग करें; किन्तु शरीर पर हवा का झोंका झपाटा न लगे इस पर ध्यान दिया जाय।

● ● ●

३२७७३ टैक्निकल प्रिंटिंग प्रेस, सानीपत (निकट दिल्ली) में मुद्रित।

हर प्रकार की पुस्तकें मंगाने का पता-देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

एलोपैथिक दवायें बीमारी की जड़ को खत्म नहीं करतीं बल्कि कुछ समय के लिए दबा देती हैं।

केवल १०५) एक सौ पांच रु० में एक सौ १०० वर्ष की आयू का जीवन बीमा

भारत में लाखों, हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो डाक्टरों, वैद्यों की कड़वी कसैली दवायें खाते-खाते व इन्जेक्शन लगवाते-लगवाते बदन छलनी हो गए हैं और डाक्टरों व वैद्यों ने उनको लाइलाज करार दे दिया है ऐसे महानुभाव हमारे इस अमूल्य सेट को अवश्य मंगायें। धनी, दानी लोग जो शादी व वर्षगांठ के फंग्शन या किसी भी खुशी में, अपने गांव या मोहल्ले की लाइब्रेरी में, अपनी घरेलू लाइब्रेरी में या किन्हीं धार्मिक स्थानों, मन्दिरों व धार्मिक स्थानों में इन अमूल्य पुस्तकों को रखकर स्वयं अध्ययन करें तथा अन्य सभी को पढ़ने को दें तथा इन पर अमल करें। ऐसी वस्तुयें जो हमारे घरों पर व्यर्थ पड़ी रहती हैं और हम उनके गुण व उपयोग नहीं जानते हैं, वे अमूल्य वस्तुयें अपने गुणों के कारण हीरे-जवाहरातों से तोलने योग्य हैं। नेता, धाकीमर, बाबू लोग, मिस्त्री-कारीगर और मजदूर आदि सभी भाई-बहनें इन पुस्तकों का अनुसरण करके आजीवन किसी भी बिमारी के चंगुल में नहीं फंसेंगे। मजदूर भाई या अन्य आम जनता रुपया एकत्रित करके इन पुस्तकों को मंगाकर चमत्कार देखें। जीवन के कदम-कदम पर अपनी सहायता और दिग्दर्शन के लिए इन पुस्तकों को मंगायें। जिसके पास इन पुस्तकों का सेट होगा मानो उसके साथ फेमिली चिकित्सक हर समय मौजूद है।

गुण तथा उपयोग सीरीज की अस्सी पुस्तकों का सेट

1 आक	3.00	21 गाजर	1.50	41 पानी	3.00	61 दूहर	2.00
2 नीम	2.00	22 मूली	1.50	42 मिट्टी	2.00	62 चन्दन	2.00
3 रीठा	1.50	23 तम्बाकू	2.00	43 नींबू	2.00	63 केशर	2.00
4 धतूरा	2.00	24 कद्दू	1.50	44 सन्तरा	1.50	64 केला	2.00
5 बबूल	1.50	25 मिर्च	1.50	45 सेब	1.50	65 जामुन	2.00
6 पीपल	1.50	26 धनियां	1.50	46 अनार	1.50	66 अंजीर	2.00
7 बरगद	1.50	27 हल्दी	1.50	47 अंगूर	1.50	67 इमली	2.00
8 मेंहदी	1.50	28 सिरस	2.00	48 शहतूत	1.50	68 चाय	2.00
9 सत्यानाशी	1.50	29 शहद (मधु	3.00	49 आम	2.00	69 खीरा	2.00
10 इन्द्रायण	1.50	30 जीरा	2.00	50 तरबूज	1.50	70 करेला	2.00
11 ग्वारपाठा	3.00	31 हींग	3.00	51 हरड़	2.00	71 तोरई	2.00
12 ढाक	1.50	32 अदरक सोंठ	2.00	52 बहेड़ा	2.00	72 पान	2.00
13 पिवाबांसा	2.00	33 फिटकरी	3.00	53 आंवला	3.00	73 खजूर	2.00
14 तुलसी	3.00	34 नमक	1.50	54 पपीता	2.00	74 सर्पगन्धा	2.00
15 त्रिफला	1.50	35 बादाम	1.50	55 गिलोय	2.00	75 लिसोढ़ा	2.00
16 गुलाब पुष्प	1.50	36 कौड़ी	1.50	56 अजवायन	2.00	76 ब्राह्मी बूटी	2.00
17 प्याज पलांडू	1.50	37 दूध	3.00	57 टमाटर	2.00	77 चना	2.00
18 लहसुन	1.50	38 घी	1.50	58 बथुआ (पालक	3.00	78 तेल सरसों	2.00
19 अरण्ड	2.00	39 दही	3.00	59 किशमिश	2.00	79 गुलबनबशा	2.00
20 सौंफ	2.00	40 मट्ठा (छाछ	2.00	60 अशोक	2.00	80 राई	3.00

पूरी 80 पुस्तकों का छपा मूल्य 158/- एक सौ अठावन रु० होता है। परन्तु पूरा सेट एक साथ लेने पर सिर्फ 105/- एक सौ पांच रु० लिए जावेंगे। डाक खर्च माफ।

एक साथ कोई भी छपी मूल्य की 30/- तीस रु० की पुस्तक मंगाने पर डाक खर्च माफ। इससे कम की पुस्तकों पर डाकखर्च ग्राहक को देना होगा।

हर प्रकार की पुस्तकें मंगाने का पता-देहाती पुस्तक भण्डार, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

ॐ नमो भगवते विष्णुस्वामिने

योगासन-सोपान

लेखक :—

महन्त श्री १०८

श्रीजमुनादास जी महाराज, सतुआबाबा

(उपनाम—

श्री जगदीश्वरानन्द ब्रह्मचारी)

योगः सर्वार्थदाने परमपटुतया ख्यातनामा धरायां
योग्यो योग्याय यच्छेत् सपदि गुरुवरः शिष्यभावं गताय।
श्रेयः प्रेयः कराग्रे विलसति सुतरां तस्य सर्वत्र कीर्तिस्-
तस्मात् पुम्भिः सदैव प्रतिदिनमिह सः स्वास्थ्यलाभाय सेव्यः॥

श्री सतुआ बाबा आश्रम

सी० के० १०/४८, मणिकर्णिकाघाट

वाराणसी— २२१००१

[भारत]

प्रथम संस्करण—

१ जनवरी सन् १९८७ ई०

मूल्य—पन्द्रह रुपये मात्र

प्रकाशक

श्री सतुआ बाबा आश्रम

प्रधान कार्यालय :—

सी. के. १०/४८, मणिकर्णिकाघाट

काशी— २२१००१

फोन :—५४४५४

शाखाएं—

१. पुआरी कलाँ, वाराणसी
२. कर्दमेश्वर (कँदवा), वाराणसी
३. सागर सेमर, मिर्जापुर
४. श्री सरदार बल्लभ भाई पटेल कोआपरेटिव सोसाइटी, पालीताणा, जि० भावनगर, (गुजरात)
५. मु० बर्तेज काली आँवा, जि० भावनगर (गुजरात)
६. कल्याण परा ता० कड़ी पास अहमदाबाद, जि० महेशाणा (गुजरात)

मुद्रक

खण्डेलवाल प्रेस, मानमन्दिर

वाराणसी

आचार्य ब्रह्मानन्दत्रिपाठिनः शुभाशंसनम्

श्रीकृष्णो योगविद्यानां ज्ञाता त्रैलोक्यचिन्तकः
सर्वज्ञः शाश्वतो ज्ञेयो विष्णुस्वामीति कीर्तितः ॥ १ ॥

तद्भक्तो योगिवर्य्योऽयं जमुनादासनामतः ।
बाबा श्री सतुआ स्वामी महन्तः शीलसंयुतः ॥ २ ॥

श्रद्धया भक्तिभावेन साधूनां सेवया चिरात् ।
योगविद्या प्रयत्नेन करामलकवत् कृता ॥ ३ ॥

शिक्षिता येन सच्छात्राः भूयांसः शीलसिन्धुना ।
येऽद्यापि सुयशस्तस्य विकिरन्ति शशिप्रभम् ॥ ४ ॥

स्वयं योगी विशेषज्ञो योगविद्याविदांवरः ।
य आचरति तान् नित्यमतः सत्स्वास्थ्यमण्डितः ॥ ५ ॥

यशस्वी कीर्तिसम्पन्नः सदा सद्भावभावितः ।
काश्यां सुरसरित्तीरे राजते यस्य मन्दिरम् ॥ ६ ॥

स श्रीमान् सर्वदा शास्ति देशीयानथ पश्चिमान् ।
योगजिज्ञासवः प्रीत्या समागत्य प्रणम्य च ॥ ७ ॥

श्रद्धाभारेण नम्रास्ते नित्यं तत्परया धिया ।
योगविद्यां ततः प्राच्प्य धन्य-धन्याः स्वकान् गृहान् ॥ ८ ॥

यान्ति तेषां वचः श्रुत्वाऽन्येऽपि चायान्ति मानवाः ।
ते चापि कृतकृत्याः स्वां भूमिं गच्छन्ति हर्षिताः ॥ ९ ॥

एतादृग्ऋषिवर्यस्य योगज्ञानपटीयसः ।
ग्रन्थगौरव एतावान् महते श्रेयसे भवेत् ॥१०॥

श्रेयसे स्थेयसे भूयाद् योगज्ञानं विपश्चिताम् ।
इत्येषो हार्दिकोद्‌गारो ब्रह्मानन्दत्रिपाठिनः ॥११॥

प्राणाऽपाननाद-बिन्दुजीवात्म-परमात्मनाम् ।
मेलनाद् घटते यस्मात्तस्माद् वै घट उच्यते ॥

आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥

हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणमिमां तनुम् ।
द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुजः पुनः ॥

स्थूल-सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः ।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ॥

यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः ।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्तितः ॥

(योगशास्त्र)

प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्थूल शरीर का नाम घट है। जलमध्यस्थित आम कुम्भ की तरह शरीर रूपी यह घट सदा जीर्ण ही रहा करता है। इसलिए योगरूपी अनल के द्वारा दग्ध करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिए। जीर्णभाव युक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम मात्र है। इसलिए जिस प्रकार ककारादि वर्णों के अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्र ज्ञान का लाभ होता है, उसी प्रकार जिन कौशलपूर्ण क्रियाओं के द्वारा प्रथमतः स्थूल शरीर को वश में लाकर क्रमशः सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है, उन साधनों को हठयोग की संज्ञा दी गयी है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयमः ।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

(योगशास्त्र)

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि ये हठयोग के सात अंग हैं।

दो शब्द

'अलब्धलाभो योगः' अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहा गया है और 'लब्धपरिपालनं क्षेमः' अर्थात् जो प्राप्त हो गया हो उसका परिपालन क्षेम कहलाता है। मंगल और कल्याण के पर्याय इस योग के अष्टांगों पर योगीराज सतुआ बाबा महन्त जमुना दास महाराज जी ने अपने अनुभूति-निष्ठ विचारों को जिस प्रकार यहाँ प्रस्तुत किया है उससे गागर में सागर की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ हो उठती है। योगमत के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद भी आता है, क्योंकि किसी न किसी रूप में सभी योग मतानुयायी शब्द की उपासना करते हैं जिसे प्रणववाद या स्फोटवाद के नाम से पुकारा गया है।

महाराज सतुआ बाबा ने इस योगासन-सोपान में यौगिक साधना की उन अनेक क्रियाओं को जिनका साक्षात्कार आपने हिमालय की कन्दराओं में किया था उन्हें सचित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय को सार्थक कर दिया है। मैं योगपाद के चार स्तम्भ-ज्ञानपाद (दार्शनिक ज्ञान), योगपाद (योग की शिक्षा का अभ्यास), क्रियापाद (मन्दिर का निर्माण) तथा चर्चापाद (धार्मिक क्रियाएँ) को चरितार्थ करने वाले परोपकारी सन्त शिरोमणि सतुआ बाबा की इस कृति के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करता हुआ आशा एवं विश्वास करता हूँ कि यह योगासन-सोपान हमारे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति में साधक होगा।

डॉ० रामरङ्ग शर्मा
सदस्य—कार्यकारिणी परिषद्
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
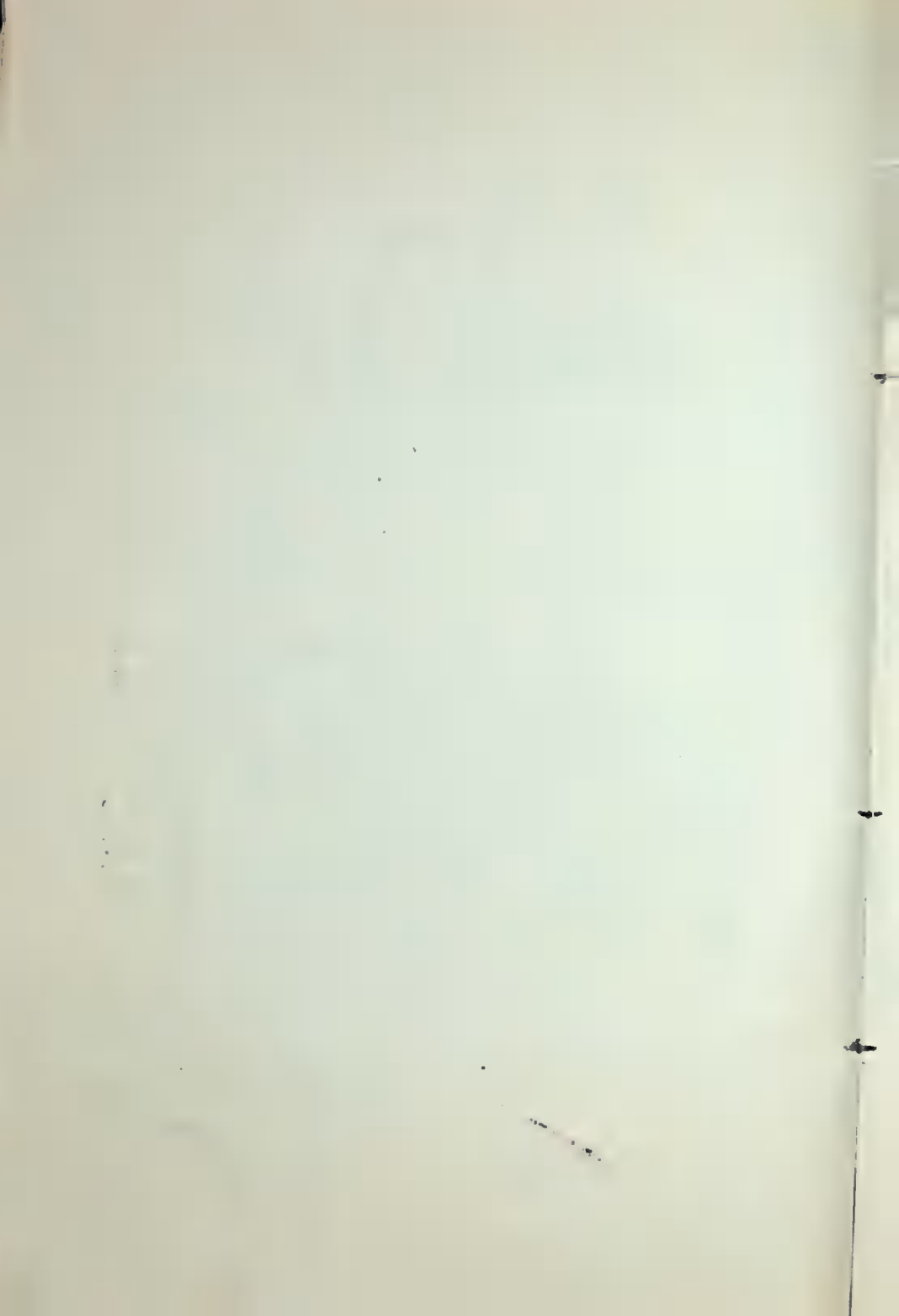
पुरोवचन

योगासन और योग

प्रयोगात्मक विषय केवल मौखिक चर्चा से साध्य नहीं होते हैं। क्षुधा की शान्ति भोजन सम्बन्धी भाषणों या पक्वान्नों की मनोरम चर्चा से नहीं होती है। यही स्थिति योगासनों की भी है, जो मानव को योग मार्ग की ओर प्रवृत्त कराने में सदैव सहायक होते हैं। योग से तत्वज्ञान की प्राप्ति होती है। यह योग कहीं बिकता नहीं, कहीं बँटता नहीं, यह तो योगियों के सम्पूर्ण जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसे पाकर वे किसी दूसरे प्रलोभन की ओर झुकाने पर भी नहीं झुक पाते। देखें—

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥"

(गीता ६।२२)

इसी को भगवान् श्री कृष्ण ने 'आत्यन्तिक सुख' की संज्ञा दी है। इसकी उचित शिक्षा प्राप्त होने और तदनुसार अभ्यास कर लेने पर मानव सांसारिक समस्त वासनाओं से निःस्पृह हो जाता है। और वह 'निवातदीप' की भाँति ज्ञान रूप (अन्तः प्रकाशमय) होकर सुस्थिर हो जाता है। अध्यात्मयोग के आचार्य नचिकेता ने भी इसी पथ को प्रशस्त किया था। देखें—कठ० अ० १ व २ मं० १२ और योगिराज भर्तृहरि ने शतकत्रय की रचना कर मानव को क्रमशः वैराग्य की ओर प्रवृत्त कराने का जो उपक्रम किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। आप इस दृष्टि से उक्त शतकत्रय (नीतिशतक, शृंगारशतक, वैराग्य शतक) का मनन करें, आपको तीनों शतकों में वैराग्य की झलक मिलेगी।

अष्टाङ्गयोग में महर्षि पतञ्जलि ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (योग० पा० १ सू० २) चित्तवृत्ति निरोध को योग का प्रथम चरण

माना है, अतएव इसका निर्वचन भी प्रथम पाद में किया है और उस योग का मार्ग निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। (योग० पाद १ सू० १२) यह योग आत्म-साक्षात्कार का प्रथम सोपान है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट अष्टाङ्ग योग ग्रन्थ योग विषयक महत्वपूर्ण निर्देश है। इन अष्टांगों के नाम ये हैं— १. यम, २. नियम, ३. आसन (विविध प्रकार के योगासन), ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है—*'यह योग कहीं बिकता नहीं'* तो उसे प्राप्त करने का साधन केवल यही है, जिसका उपदेश आनन्दकन्द यदुचन्द नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ने इस प्रकार दिया है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥"

(गीता ४।३४)

अर्थात् उस योग साधन विधि को विनयपूर्वक विविध प्रकार के प्रश्नों द्वारा उस विषय के विशेषज्ञ गुरु से उनकी सेवा करते हुए समय-समय पर पूछते रहो। वे तत्वदर्शी गुरुजन तुम्हें उदारता पूर्वक ज्ञान का उपदेश करेंगे। अन्यत्र भी कहा गया है—

"गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।"
अथवा विद्यया विद्या .... ॥ सूक्ति

विद्या प्राप्ति की पहली सीढ़ी गुरु की सेवा है, भले ही समयानुसार मापदण्ड बदलते रहते हैं किन्तु यह तथ्य आज भी उतना ही सम्माननीय है, जितना प्राचीन काल में था, अपवाद सभी के मिलते रहते हैं।

हम भारतीय हैं हमारा भारतीय दर्शन अद्‌भुत है, बेजोड़ है, जिसके कारण आज भी समस्त भूमण्डल के विचारशील व्यक्ति इस ओर आकृष्ट हैं। समय-समय पर सभी वस्तुओं का ह्रास तथा विकास का क्रम पहिए की भाँति चलता रहता है, किन्तु शाश्वत तथ्यों का

कभी भी पूर्णरूप से विनाश नहीं होता या नहीं हो पाता, वे बीज रूप में अवशिष्ट अवश्य रहते हैं।

योग की साधना करना सर्वसाधारण के वश का विषय नहीं है, अतः कठिन कार्य है, परन्तु मनस्वी पुरुषों के लिये कोई कार्य दुष्कर नहीं होता है। *'योगो मोक्षप्रवर्तकः'* तथा *'योगो ज्ञानप्रदायकः'* और *'योगः कर्मसु कौशलम्'* इस प्रकार आध्यात्मिक ग्रन्थों में योग का अत्यन्त महत्व देखा जाता है, किन्तु यह योग दो प्रकार का होता है—

१. सांसारिक विषयों से योग, २. भगवच्चरणारविन्दों से योग। यहाँ दूसरे योग के सम्बन्ध में ही चर्चा प्रस्तुत है।
   आज भौतिक विज्ञान का युग है, बुद्धिजीवी वर्ग दूसरी ओर अपनी ज्ञान शक्ति का उपयोग कर रहा है।

जिसके अधिकांश परिणाम आज भी घातक सिद्ध हो रहे हैं और भविष्य में भी विनाशकारी सिद्ध होंगे, किन्तु हमारी यह प्रायोगिक योग साधना इस लोक तथा परलोक दोनों में ही वास्तविक सुख को देने वाली है।

आज मानव शान्ति की खोज में लगा है, वह मरुभूमि के मृग की भाँति जल की खोज में लगा हुआ है, मान लीजिये जिनकी दोनों आँखें फूट गयी हों क्या वे चश्मा लगाकर कुछ देख सकते हैं ? इसी प्रकार जिसका मन शान्त नहीं है अथवा जिसके हृदय में शान्ति नहीं है, क्या उसे बाहर शान्ति मिल सकती है ? कभी नहीं, आत्म-शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है आत्मदर्शन, उसका मार्ग है योग और योग का मार्ग है 'योगासन' देखें—

'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'।

—याज्ञवल्क्य

और भी—

'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः।
योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—याज्ञवल्क्य

इस मानव जीवन का सदुपयोग योगाभ्यास द्वारा चिर शान्ति प्राप्त करना है, न कि विषय वासनाओं में फँसकर *'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'* के बन्धन में पड़े रहना है।

'यस्य ज्ञाते जगद् ज्ञातमज्ञाते नास्ति किञ्चन'। –सूक्ति

अर्थात् जिसके जानने पर सम्पूर्ण जगत् करामलकवत् भासमान हो जाता है और जिसके न जानने पर मानव अज्ञानी, मूढ़ या अनभिज्ञ कहा जाता है, उस परम मार्ग में प्रवृत्त कराने के मूल साधनों (योगासनों) को यहाँ हम लोकोपकार की भावना से निर्देश कर अपने दायित्व से मुक्त हो रहे हैं, क्योंकि मानव के ऊपर गुरु ऋण होता है उससे उऋण होने के लिये अपने ज्ञान का रहस्य किसी योग्य शिष्य को बतलाना आवश्यक होता है।

मैंने हिमालय की कन्दराओं में सन् १९६७ से ७२ तक तपस्या करते हुए चिर काल तक साधु महात्माओं के साथ रहकर जो-जो योगासन सीखे और जिन-जिन साधना पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त किया है, वह सर्वसाधारण के लिये अत्यन्त दुरूह कार्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ५२ योगासनों तथा उनके विविध लाभों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। हमारी उत्कट इच्छा थी कि हम उन सभी योगासानों का परिचय प्रस्तुत करते, किन्तु कागज, छपाई, ब्लाक आदि के व्ययभार ने हमारी इच्छा को जहाँ का तहाँ रोक दिया, यदि कभी पुनः आर्थिक सम्बल प्राप्त हुआ तो हम उसे उजागर करने का निश्चित ही प्रयत्न करेंगे।

हम आज अत्यन्त प्रसन्न हैं कि आज इस सारगर्भित किन्तु संक्षिप्त 'योगासन-सोपान' का प्रकाशन कर अपने हृदय स्थित भावों को जिज्ञासु समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने जा रहे हैं। योगासन के ज्ञाता गुरु की उपस्थिति में आप इन आसनों का निरन्तर अभ्यास करें।

हमारा विश्वास है, निश्चय ही इससे आप लाभान्वित होंगे। इनके सम्बन्ध में किसी को कोई जिज्ञासा हो तो वे हमसे मिलकर

उसका समाधान कर सकते हैं। योगासनों के माध्यम से योग के जिज्ञासुओं के प्रति हमारी शुभकामना—

योगासनविशेषज्ञा योगज्ञाश्च मनीषिणः ।
योगप्रवृत्तिकामाश्च योगक्षेमरताश्च ये ॥ १ ॥

स्वास्थ्यसौख्यं समासाद्य सर्वदानन्दसंयुताः ।
हृष्टाः पुष्टा योगनित्याः सुखिनः सन्तु जीवने ॥ २ ॥

महन्त—

श्री १०८ श्री जमुनादास जी महाराज
"सतुआ बाबा"

उपनाम—

श्री जगदीश्वरानन्द ब्रह्मचारी

आदि ब्रह्मीभूत श्री श्री १००८ श्री रणछोड़दास जी महाराज

सतुआ बावा

के

चरण कमलों में सादर

समर्पित

महन्त श्री श्री १०८ श्री जमुनादास जी महाराज
'सतुआ बाबा'
(उपनाम–श्री जगदीश्वरानन्द जी ब्रह्मचारी)
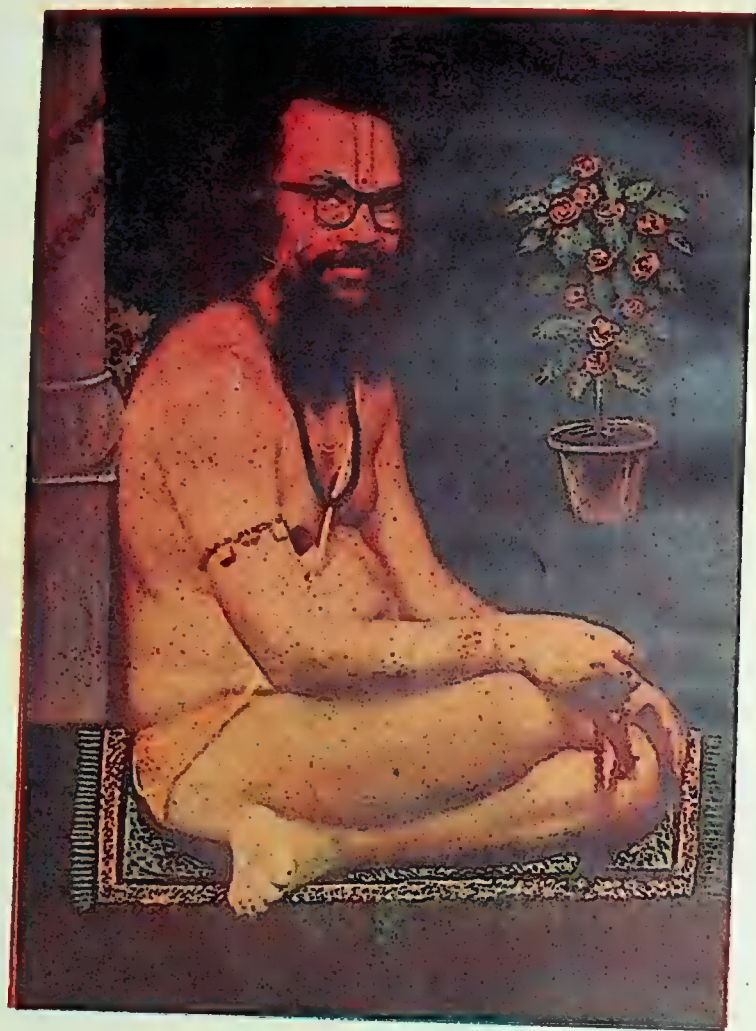
स्वानुभव–संस्मरण

आधुनिक चिकित्सा में ध्यानयोग

प्राचीन काल में योग को एक पुरातन पद्धति समझकर उसका उपयोग मनुष्य केवल अपनी आध्यात्मिक-पिपासा को शान्त करने के लिए करते थे। परन्तु आज वैज्ञानिक युग में जहाँ अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ रोगों के उपचार का दावा करती हैं, वहीं ध्यान योग पर हुये अनेक वैज्ञानिक परीक्षणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि योग न केवल आध्यात्मिक विकास का साधन है अपितु इसके द्वारा अनेक शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों का उपचार भी सम्भव है। *'महर्षि यूरोपियन रिसर्च यूनिवर्सिटी सिलोसवर्ग स्विट्जरलैंड'* में हुए अनेक वैज्ञानिक अनुसंधानों में यह बात स्पष्ट सामने आयी है कि जब मनुष्य प्रातः सायं निरन्तर ध्यान योग का अभ्यास करता है तो उसमें शारीरिक तौर पर कई लाभकारी परिवर्तन होने लगते हैं। इससे शरीर व मन का विकास तो होता ही है साथ ही इसके निरन्तर अभ्यास से कई बीमारियों से भी प्रत्यक्ष छुटकारा मिलता है।

मानसिक बीमारियों में ध्यान योग के सीधे प्रभाव देखे गये हैं। इससे मस्तिष्क की तरंगों में सामञ्जस्यता आ जाती है जिससे विचारों में प्रगाढ़ता आने के कारण कार्यों में सफलता मिलती है। इसके निरन्तर अभ्यास से मानव व्यक्तित्व का विकास होता है। इससे जल्दी निर्णय लेने की क्षमता बढ़ती है। व्यावहारिक स्तर पर आपसी सम्बन्ध प्रगाढ़ होते हैं, एवं गलत आदतों को छोड़ने के लिये आत्मिक बल मिलता है।

ध्यान योग का अभ्यास करने वाले व्यक्ति की दिनचर्या प्राकृतिक नियमों के अनुसार हो जाती है। यह 'तंत्रिका-तन्त्र' में गुणकारी परिवर्तन लाता है। जिससे सभी कार्य नियमित एवं सहज भाव से सम्पादित होने लगते हैं। इससे त्वचा बाहरी वातावरण की प्रतिरोधी हो जाती है जिससे प्रदूषण से होने वाली बीमारियों से स्वतः ही बचाव

हो जाता है। यह शरीर के अन्दर अप्रतिम ऊर्जा का भण्डार पैदा करता है जो असम्भव दिखाई देने वाले कार्यों को भी सम्भव बना डालता है। ये ही पुरातन सिद्धान्त अब वैज्ञानिकों ने भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिये हैं। ध्यान योग से क्रियाशीलता में वृद्धि होती है और शारिक एवं मानसिक तनावों को दूर करता है। इससे शरीर और मन में सामञ्जस्यता पैदा होती है, दोनों एक दूसरे के पूरक बनते जाते है। विद्यार्थी जीवन में ध्यान योग बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ है। ध्यान से बुद्धि एवं स्मरण शक्ति का विकास, कठिन प्रश्नों को हल करने की क्षमता, मन की एकाग्रता, शारीरिक एवं मानसिक स्फूर्ति में विकास तथा अन्तरंग में छिपी हुई शक्तियों का भी विकास होता है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों में पाया गया है कि ध्यान योग के अभ्यास से व्यक्ति के अन्दर मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होते हैं, जिससे घबड़ाहट, उत्तेजना, मानसिक तनाव, स्वार्थ भावना आदि मानसिक परेशानियों में कमी आती है, ठीक इसके विपरीत उसमें सहिष्णुता, साहसिकता, समाजोत्थान की भावना, मित्रता, जीवन कला, कार्यशीलता, एकाग्रता एवं स्थायित्व की भावना सहज रूप से पैदा होने लगती है। इससे स्वाभिमान में वृद्धि, कठोरता के प्रति त्याग की भावना पैदा होती है।

ध्यान योग—ऊपर कहे गये कुछ अन्य प्रयोगों से उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) में कमी आती है तथा हीन रक्त चाप (Low Blood Pressure) को सामान्य अवस्था में लाता है। ध्यान योग के निरंतर अभ्यास से दुर्व्यसनों (शराब, भाँग, गाँजा) आदि में भी स्वाभाविक रूप से कमी आ जाती है। अनेक संक्रामक बीमारियों में भी ध्यान योग के अभ्यास से निश्चित ही सुधार होता है।

सामान्य सिद्धान्त है कि यदि काम की तुलना में उतना ही आराम शरीर व मन को दे दिया जाय तो कई ऐसी बीमारियों से बचा जा सकता है, जो नींद या थकान की पूर्ति न होने से पैदा हो जाती हैं। व्यस्तता के बीच अक्सर लोग यह भूल जाते हैं कि अपनी थकान की चिन्ता न करके अनेक बीमारियों को आमंत्रण दे रहे हैं।

ध्यान योग नींद की कमी को दूर कर थकान को मिटाता है, इससे अनिद्रा व अतिनिद्रा से भी बचा जा सकता है। इससे स्वाभाविक रूप से शरीर व मन को पूर्ण आराम मिलता है कि जितना छः या सात घंटे की नींद में भी नहीं मिलता, इसी आधार पर कहते हैं कि—

"The deeper rest is the basic of dynamic activities" यानी शरीर व मन को जितना गहरा आराम देगें उतनी ही कार्य करने की क्षमता बढ़ेगी, जब ध्यान योग में शरीर को पूर्ण आराम मिल जाता है तो सांस की गति सम अवस्था में आ जाती है जिससे प्राणायाम भी स्वतः ही हो जाता है।

क्योंकि प्राणों (श्वासों) के आयाम (विस्तार) को ही प्राणायाम कहते हैं।

इस प्रकार ध्यान योग पर हुये अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया है कि यह सिर्फ योगियों की ही साधना नहीं बल्कि इसके निरन्तर अभ्यास द्वारा कोई भी इसके लाभों से अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। ध्यान योग से अपना आध्यात्मिक विकास तो होता ही है साथ ही इससे अनेक रोगों में लाभ मिलता है।

इसी के परिणाम स्वरूप ध्यान पर हुये वैज्ञानिक प्रयोगों से चमत्कृत होकर आज अनेक प्रतिष्ठित डाक्टर भी रोगियों को योग तथा प्राणायाम आदि की सलाह देते हैं।

अनेक प्रकार के योगों का शास्त्रों में निरूपण है उसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, ध्यानयोग, लययोग इत्यादि हैं किन्तु सभी योगों का केन्द्र-विन्दु मात्र मन का निरोध ही है।

अतः, उपरोक्त योगों में जो व्यक्ति की प्रकृति के अनुकूल हो उसी का तत्परता पूर्वक अभ्यास करना चाहिए, साथ ही उपर्युक्त योगों के ज्ञाता गुरु का आश्रय अत्यावश्यक है अन्यथा योग से रोग की उत्पत्ति हो सकती है। यह ध्यान देने योग्य है।

आत्मानुभव

योगीजन योग से अपने में अपने आपको देखते हैं, वह देखना इन्द्रियातीत है। इसे इन्द्रियों से नहीं देखते हैं आत्मानुभवी तत्व चिंतक महर्षियों ने प्रकृतिलय नाम की एक अवस्था बतायी है कि इन्द्रियों की वृत्तियाँ बहिर्मुख रहती हैं और विषयों में लिप्त रहती है। प्रातः जागना, खाना-पीना, ड्यूटी करना, लेना-देना, गृहस्थी की व्यवस्था करना, ये सब प्रवृत्तियाँ बाह्यज्ञान में होती रहती हैं, किन्तु इनका कोई सूक्ष्म चिंतन नहीं हो सकता है, क्योंकि इनसे मन दुर्बल, क्षीण और शक्तिहीन हो जाता है जब कोई साधक बाह्य वृत्तियों से विमुख होकर अपनी इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक अन्तर्मुख करता है तब मन सबल होता है। वृत्तियाँ बहुत प्रबल हैं कारण जन्म जन्मान्तर की बनी हैं तथा विषयों से पुष्ट हुई हैं इसलिए हठात् विषयों की ओर प्रवृत्ति होती हैं। अतः उनको सहसा निवृत्त करना कठिन कार्य है फिर भी साधक ईश्वर कृपा का अवलम्ब लेकर आत्मबल से वृत्तियों को लौटाता है इसके लिये शास्त्र में बहुत से उपाय बताये हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान-ये सब वृत्ति निरोध के साधन हैं। जैसे-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह अष्टाङ्ग (आठ अंग का) योग है।

१. यम प्रकरण

सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

यम और नियम के द्वारा संस्कार का शोधन होता है। मनुष्य के अन्दर जैसा संस्कार होता है उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्तियाँ होती हैं। संस्कार विषय-वासना के कारण दूषित हो जाता है, अतः जब यम - नियम से संस्कार शुद्ध हो जाय तभी मन में वास्तविक पवित्रता आ सकती है।

व्रत अन्तःकरण को शोधने की उत्तम प्रक्रिया है, अतः अन्तःकरण की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम यम-नियम का अनुष्ठान करना चाहिये, तभी साधक साधना में आगे बढ़ सकता है।

अहिंसा

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों को यम कहते है, ये भी व्रत हैं। आत्मदर्शनाभिलाषी को सर्व प्रथम ये पाँच प्रकार के व्रत लेना आवश्यक है। *अहिंसा एक व्रत* है। यह कोई अनुष्ठान नहीं है, विचार है। अहिंसा व्रत पालन करने से साधक के दूषित संस्कारों का क्षय होता है।

सत्य

जो साधक सत्यनिष्ठ हो जाता है, उनकी प्रत्येक क्रिया फलवती होती है। वह जो कुछ बोलेगा, जो कुछ करेगा वह सब सत्य होगा, उसकी वाणी में और उसके व्यवहार में सत्य निहित रहता है।

अहिंसा और सत्य के बाद अस्तेय नामक यम भी अत्यन्त महत्व-पूर्ण व्रत है।

अस्तेय

अस्तेय को ही अचौर्य कहते हैं, जिसका अर्थ होता है चोरी न करना। अस्तेय रूप यम के सिद्ध हो जाने पर सब प्रकार के रत्न या बहुमूल्य पदार्थ स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। इससे साधक का मन बाह्य आकर्षणों से निवृत्त हो जाता है। उसे अन्तस्तृप्ति एवं पुष्टि हो जाती है।

ब्रह्मचर्य

यह चौथा व्रत है ब्रह्मचर्य। इसका भाव है--ब्रह्म में चरण (विचरण), प्राणिमात्र में वीर्य नाम का एक तत्व है जो अक्षय अमर है जो एक से अनन्त हो जाता है और अनन्त से पुनः एक हो जाता है। साधक-साधना करके वीर्य को क्षरण होने से रोक सके तो उसके अन्दर अपार क्षमता और अप्रमेय बल प्राप्त होता है उससे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सब प्रकार का बल प्राप्त होता है। प्राचीन काल में इसी के प्रभाव से ब्राह्मण अमर होते थे।

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ."

अपरिग्रह

यह पंचम व्रत है। निष्काम कर्मों से अपरिग्रह की भावना उत्पन्न हो जाती है, तब जन्मान्तरों की स्मृति जागती है और इस जन्म के कर्मों का संस्कार क्षीण हो जाता है।

इस प्रकार अहिंसा आदि पाँच प्रकार के व्रतों को यम कहा है।

शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पाँचों की उपासना से वृत्तियों का नियमन होता है।

२. नियम प्रकरण

नियम का अर्थ है, नियमन करना। जैसे—

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥

इसके मुख्य पाँच अंग है—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान।

शौच

शौच बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का होता है। आहार और विहार ये दोनों इन्द्रियों के व्यापार हैं, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ आहार के साधन हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ बिहार के साधन हैं। ये नेत्र से रूप, श्रोत्र से शब्द, नासिका से गंध, त्वचा से स्पर्श और रसना से रसका आस्वादन करती हैं। आहार का अर्थ है-"खाना" उससे तृप्ति होती है और पुष्टि भी होती है। भोजन करने के उपरान्त पक्वाशय में भोजन का परिपाक होता है। उससे रस, रक्त, माँस, मेदा, अस्थि मज्जा और शुक्र ये सात पदार्थ बनते हैं, इन्हीं से जीवन का धारण-पोषण होता है। भोजन के परिपाक होते-होते अन्त में शुक्र बनता है। वह शुक्र-धातु इन्द्रियाँ और अन्तः करण रूपी वृत्ति के लिये घृत का काम करता है। जैसे दिया में जो बत्ती जलती है वह तैल अथवा घृत पदार्थ के कारण ही जलती है यदि तैल कटु तीक्ष्ण और विषैला हो तो प्रकाश भी कटु, तीक्ष्ण और विषैला होता है। यथा—

"दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।" (चाणक्यनीति)

उस प्रकाश का दूषित प्रभाव वायु मंडल पर पड़ता है इसी प्रकार शरीर का शुक्र, धातु तीक्ष्ण, कटु अथवा विषैला हो तो अंतःकरण और इन्द्रियों की लौ दीप शिखा के समान दूषित हो जाती है। बुद्धि, विवेक, शक्ति कलुषित हो जाती है, मन की चिन्तन क्रिया कटु

होती है इन्द्रियों का देखना सुनना भी दूषित हो जाता है। और कर्म इन्द्रियों का व्यापार है जो कि 'विहार' कहलाता है, विपरीत हो जाता है। आहार की शुद्धि से सत्व धातु की शुद्धि होती है, इससे निश्चल स्मृति जगती है। तव सब प्रकार की ग्रन्थियों का, संदेहों का तथा दूषित कर्मों का बन्धन टूट जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (उपनिषद्)

अतः शौच के लिए सर्व प्रथम आहार की शुद्धि की आवश्यकता है आहार में केवल भोजन ही नहीं समझना चाहिए। भोजन की शुद्धि तो अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ-साथ ज्ञानेन्द्रियों के आहार की भी शुद्धि आवश्यक है।

संसार तीन गुणों का वना है—सत्व, रज और तम। ये तीनों गुण संसार के उपादान कारण हैं। उपादान कारण ही कार्य का स्वरूप होता है। बीज में खट्टा रस है तो फल भी खट्टा होगा, मीठा बीज का मीठा फल तथा कड़वा बीज का फल कड़वा देखा जाता है। अतः सृष्टि का उपादान बीज-सत्त्व रज और कुछ में अधिकांश तम गुण होता है। कुछ अन्न तथा फल सात्विक हैं कुछ राजस हैं और कुछ तामस तो नहीं होते किन्तु उनमें तीन गुणों में से एक की प्रधानता होती है, और दो गौण होते हैं।

ऋषियों ने आहार-विहार के सम्बन्ध में बड़ा अन्वेषण किया, कुछ प्रयोग करके, कुछ अनुभव करके और कुछ समाधि द्वारा देखा है फिर शास्त्रों में उसका उल्लेख किया है। जैसे—

वशिष्ठ ने दिलीप की सन्तान न होने के कारण को देखा—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥

रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय हैं नहीं को इन्द्रियों का आहार कहते हैं। इन्हीं के अनुसार वृत्ति तथा विचार बनते हैं और फिर विवेक बनता है बहुत क्या कहा जाय पूरा जीवन ही बनता है। ऋषियों ने इसीलिये रूप, रस, आदि का विभाग

किया, अमुक प्रकार के रूप, रस आदि सात्विक होते हैं। कुछ रूप रस राजस होते हैं और कुछ प्रकार के रूप रस आदि तामस होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विक प्रियाः॥ १७।८

कट्वम्ललवणात्युष्ण - तीक्ष्णरूक्ष - विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ १७।९

यातयामं गतरसं पूति पर्युंषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १७।१०

इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में गीता आदि अनेक शास्त्रों में वर्णन मिलता है। साधक को सबसे पहले भोजन पर ध्यान देना चाहिए। जीवन में मोड़ लाने के लिये आहार शुद्धि की प्रथम आवश्यकता है। सत्त्व नाम अन्तःकरण का है। शौच से अन्तःकरण में निर्मलता आती है। कामना, वासना आदि अन्तःकरण के मल हैं, जिनसे अन्तःकरण मलिन रहता है। परिणामतः ज्ञान उसी तरह रहता है जैसे गीली लकड़ी में अग्नि प्रज्वलित न होकर केवल धुआँ दिखलायी देता है। अग्नि का आधार लकड़ी है यदि लकड़ी उत्तम जाति की हो तो उसमें अग्नि प्रज्वलित रहती है फिर धुआँ नहीं होता, धुआँ का स्वरूप अंधकारमय है, अग्नि का स्वरूप प्रकाशमय है। दोनों लकड़ी में ही रहते हैं। लकड़ी की उत्तमता शुद्धता प्रकाश का कारण है मलिनता अधमता अन्धकार का कारण है इसी प्रकार अन्तःकरण में ज्ञान तथा अज्ञान दोनों है। शुद्ध, निर्मल अन्तःकरण में ज्ञान का उदय होता है। शौच से मलिनता दूर होती है इसलिए साधक को शौच पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

सन्तोष

सन्तोष रूपी गुण साधक के जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह सिद्धि की एक भूमिका है। शरीर निर्वाह के लिए लौकिक वस्तु की आवश्यकता होती है जिससे कम वस्तुओं से भी जीवन निर्वाह हो जाता है। अधिक वस्तुओं से भी सुख की इच्छा से मनुष्य उनका

संचय करता है, जितना वह संग्रह करता है उतना विक्षेप बढ़ता जाता है। अर्थ का अर्जन करने में तथा अर्जित अर्थ का रक्षण करने में व्यस्तता बढ़ती है। संचित अर्थ में भय, आतंक तथा क्षोभ बना रहता है। चोर, राजा, अग्नि आदि का भय बना रहता है।

अर्थ के व्यय में भी अपार दुःख होता है। जिस सुख की इच्छा से अर्थ का संचय किया जाता है वह सुख दुःख में परिणत होता है। संतोष गुण साधक के जीवन में बड़ा महत्व रखता है। ईश्वर प्राप्ति तथा आत्म ज्ञान की इच्छा के अतिरिक्त अन्य सब इच्छाओं की निवृत्ति का नाम सन्तोष है।

तप

तप का अर्थ बहुत व्यापक है। साधक के लिए सब साधनों में तप प्रधान है। मनोनुकूलता का नाम है सुख, प्रतिकूलता का नाम है दुख। दुख तथा सुख को समान रूप से सहन करना तप कहलाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनो नित्यांस्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥
(भगवद्गीता २।१४)

तप का उत्तम प्रकार यह है—वस्तु पास में रहें किन्तु उसका उपभोग न करें। उत्तम से उत्तम भोजन सामने उपस्थित हो किन्तु न खायें, दूसरों को खिलावें। प्रचुर सुख साधन ऐश्वर्य वैभव होने पर भी निर्लेप रहें। जीवन निर्वाह मात्र का उपयोग करें, उसमें आसक्त न हों, जल में कमल की तरह रहे। अपने-पन का अभिमान त्याग दें, अभिमान त्याग ही सबसे बड़ा तप है, तप से महानता आती है तथा यश और प्रताप बढ़ता है।

स्वाध्याय

सामान्य अध्ययन करना भी स्वाध्याय कहलाता है। किन्तु यह प्रचलित अर्थ है। जिस अध्ययन से स्वरूप का बोध नहीं होता है उसको स्वाध्याय नहीं कहेंगे।

वेद आदि का पढ़ना स्वाध्याय है किन्तु किस्सा-कहानी का नहीं, कालेज, विश्वविद्यालयों में जो विधि शास्त्र, कृषि शास्त्र, शारीरिक विज्ञान (शास्त्र) आदि विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता है वे भी मूल विद्या नहीं है वह तो मात्र कला है। इनसे आत्मबोध नहीं होता है। अतः इन्हें केवल अध्ययन अध्यापन ही कह सकते हैं। किन्तु स्वाध्याय नहीं कहेगें। वेद, शास्त्र, उपनिदष ये सब विद्याएँ हैं। इनमें आत्मा परमात्मा का निरूपण है। पुरुष व प्रकृति का विवेचन है। इनका निरन्तर चिन्तन और बारम्बार आवृत्ति करना ही स्वाध्याय है। इस प्रकार श्रुति के अर्थ का निरन्तर चिन्तन करने से स्वयं का अध्ययन हो जाता है और पूर्ण-ज्ञान उदय होता है।

ईश्वर-प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है, समाधि में आत्मा तथा परमात्मा दोनों तत्त्वों का साक्षात्कार होता है। इसलिए समाधि साधक के जीवन में सर्वोत्तम सिद्धि है। योगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध का नाम योग कहा है। चित्त की चंचलता सब दुःखों का प्रधान कारण है और चित्त की एकाग्रता सुख की सीमा है। चित्त की एकाग्रता के अनेक साधन हैं। उनमें 'ईश्वर-प्रणिधान' एक प्रमुख साधन है। मनुष्यों की रुचि भिन्न-२ होती है। संसार में जितने मनुष्य हैं, हुए और होंगे उन सब का रूप रंग आचार-विचार भिन्न-२ है। वैज्ञानिक चन्द्रमा तक पहुँच गये, चन्द्रमा को देख भी लिया, किन्तु क्या देखा, और क्या समझा ? उसे कहा नहीं जा सकता। जिस पृथ्वी पर वैज्ञानिकों ने जन्म लिया उसे वे पचासों वर्षों से देख रहे हैं। उस पृथ्वी को उन्होंने क्या समझा है ? कहा नहीं जा सकता। हमारे विचार में जब पृथ्वी को ही नहीं जाना तो वे चन्द्रमा को क्या जान सकते हैं ? जैसे चींटी हाथी को देखकर भी समझ नहीं सकती वैसे ही मनुष्य पृथ्वी या चन्द्रमा को देखकर भी समझ नहीं सकता। क्योंकि समष्टि के आगे मनुष्य की इकाई एक अणु से भी अणु है। ईश्वर के सम्बन्ध में बुद्धि से विचार करना नितान्त अज्ञान है। मनीषियों ने अन्तर्दृष्टि से विचार करके अनुभव किया और लिखा है 'यह सत्य है'। दूसरे के कहने या बताने से ईश्वरीय ज्ञान नहीं होता

ईश्वर अनुभव गम्य है। योगदर्शन में कहा है—'ईश्वरप्रणिधाना-देव' (पतञ्जलि)।

यह सूत्र है। ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। ईश्वर क्या है ? इस सम्बन्ध में बताया है—

'तस्य वाचकः प्रणवः'

प्रणव ईश्वर का वाचक है—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

प्रणव जो ईश्वर का नाम है, का जप करें और उसके अर्थ की भावना करें। 'ओम्' को प्रणव कहते हैं, श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥
भगवद्गीता १७।२३

अर्थात् मानव जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर की ओर उन्मुख होना है। इससे चरम शान्ति, सुख और आनन्द की प्राप्ति होती है। मार्ग अनेक हैं। जिस मार्ग में साधक की रुचि हो उस मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये, सब का गन्तव्य स्थल एक ही है।

उपरोक्त पांचों की उपासना से वृत्तियों का नियमन होता है। जैसे जंगल में चरने वाली गायें चारों ओर फैली रहती हैं उनको सब ओर से समेट लाना यम कहलाता है, जो अष्टांग योग का प्रथम अंग है। उन्हें रस्सी द्वारा खूंटे में बाँध लेना नियम कहलाता है, जो अष्टांग योग का दूसरा अंग है। इसी प्रकार विषयों में चारों ओर फैली हुई इन्द्रियों को चारों ओर से समेट लाना 'यम' तथा उन्हें अपने इष्ट में जोड़ लेना नियम है। यम तथा नियम ये दो अंग सामान्य हैं इन दोनों से शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि की सामान्य शुद्धि होती है।

योग के छह अंग विशेष हैं। विशेष का तात्पर्य यह है कि एक-एक साधन से एक-एक सिद्धि की प्राप्ति होती है। आसन से शरीर सिद्धि, प्राणायाम से प्राणसिद्धि, प्रत्याहार से इन्द्रिय सिद्धि,

धारणा से मन सिद्धि, ध्यान से बुद्धि सिद्धि तथा समाधि से आत्म सिद्धि प्राप्त होती है।

३. आसन प्रकरण

सुखेनैव भवेद् यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम् ।।

सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टा तद्वै सिद्धासनं विदुः ।।

आसन का अर्थ है स्थिति। चल के विपरीत स्थिर होना 'आसन' है। अष्टांग योग में आसन एक विशेष योग मात्र जाता है इससे शरीर सिद्ध होता है तथा शरीर हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रहता है। आसन कैसा हो इस सम्बन्ध में कहा है कि—'स्थिरं सुखमासनम्' आसन स्थिर हो तथा सुखमय हो। राजयोग में बहुत आसनों का वर्णन नहीं है, किन्तु हठयोग साधन में ८४ आसनों का निरूपण है। ये सभी आसन एक प्रकार के शारीरिक व्यायाम हैं। इनसे शरीर में रोग नहीं हो पाते हैं और मस्तिष्क के ऊपर दबाव नहीं हो पाता है। आसनों में कुछ रोग निवारक कुछ शरीर संगठन तथा कुछ चेतना जागृत करने वाले हैं। आसन एक स्वतन्त्र प्रकरण है। अतः जिज्ञासु साधक को चाहिए कि विशेष ज्ञान के लिए आसन के ज्ञाता गुरु के सानिध्य में जाकर ज्ञानार्जन करें।

४. प्राणायाम प्रकरण

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वे सर्वभावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।।

आसन के बाद प्राणायाम का महत्व है। प्राण से ही प्राणी बनता है। जिसमें प्राण हो वह प्राणी है। प्राण में गति है, प्राण में बल है, प्राण में क्रिया है। इस प्राण के पाँच भेद हैं—

प्राण, अपान व्यान, उदान, समान। योगी योगाभ्यास के बल पर कुम्भक क्रिया साध लेता है तथा वर्षों तक जमीन के अन्दर अथवा गुफा में बैठे रहने पर भी शरीर में कोई विकार नहीं होता है। योगी

को इतना सामर्थ्य होना चाहिए कि वह चाहे प्राणों को उतार दे तथा चढ़ा दे। इस प्रकार प्राण शरीर का संरक्षक संवर्धक, पालक तथा पोषक है।

५. प्रत्याहार प्रकरण

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः॥

विषयों के बीच आत्मतत्व को देखते हुए मन को चैतन्य रूप में लगाने से प्रत्याहार कहलाता है। मुमुक्षुगणों को इस प्रत्याहार क्रिया का अवश्य साधन करना चाहिए। यह इन्द्रियों को साधने का योग है। अपने विषयों से निवृत्त होकर इन्द्रियाँ चित्त के समान चित्ताकार हो जावें, उसका नाम 'प्रत्याहार है। प्रति नाम लौटाने का है। प्रति+आहार=प्रत्याहार। प्रत्येक इन्द्रिय का आहरण किया जाय या लौटाया जाय तभी प्रत्याहार सिद्ध होता है।

६. धारणा प्रकरण

यत्र यत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥

जहाँ जहाँ मन जाय वहाँ वहाँ ही ब्रह्म स्वरूप दर्शन करते हुए जो मन की स्थिरता का साधन है उसी को धारणा कहते हैं। धारणा के दो प्रकार के देश होते हैं—१. अन्तर्देश २. बाह्यदेश। अन्तर्देश-चक्र आदि हैं। बाह्यदेश-सूर्य चन्द्रमा आदि। धारणा ध्यान से विलक्षण है। ध्यान में चिन्तन होता है धारणा में चिन्तन नहीं होता है उसमें केवल संकल्प-विकल्पों को रोकना पड़ता है। गीता में कहा है—'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'। ऊहा-पोह न करें। मन एक ऐसा तत्व है जिसमें सब समाये हैं मन का स्वरूप है, ४ वेद, ६ वेदांग, ६ शास्त्र, १८ महा-पुराण, १८ उप पुराण, अनेक उपनिषदें तथा सैकड़ों स्मृतियाँ, काव्य, नाटक, चम्पू, उपन्यास, प्रकरण, खगोल-भूगोल, भूगर्भ विद्या, चौसठ कला, भूत विद्या, सर्प विद्या, गरुड़ विद्या, मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र, ये सभी मन में समाये हुए हैं। मन अशेष नामों का अक्षय भण्डार है। जैसे—समुद्र में सभी प्रकार के जल जन्तु हैं वैसे ही मन में सब प्रकार के

नाम हैं। जैसे—पृथिवी में जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज सब प्राणियों के बीज हैं। जो कि पृथिवी से उगते हैं, पृथिवी में समा जाते हैं। ऐसे ही सब शब्द वाणी से उच्चारित होते हैं किन्तु मन में ही रहते हैं। ऐसा मन जब ज्ञान के केन्द्र स्वरूप आत्मा में लग जाता है तब स्थिर हो जाता है। जैसे—सारथी लगाम लगे घोड़ों को सुख पूर्वक जहाँ चाहे ले जा सकता है वैसे ही मन मनुष्य को जहाँ चाहे ले जा सकता है। ऐसा प्रबल यह मन, प्राणियों को उसी तरह नचा रहा है, जैसे मदारी बानर को नचाता है।

७. ध्यानयोग प्रकरण

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्वतया स्थितः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥

मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार सद्वृत्ति के द्वारा निरालम्बरूप जो स्थित है, उसे ध्यान कहते हैं। इससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। ध्येय तथा ध्याता के बीच कोई दूसरा विकल्प नहीं होना चाहिए। तल्ली-नता, तदाकारता, तत्परता पूर्वक ध्याता ध्येय बन जाये। जैसे-राधा कृष्ण का ध्यान करते-करते कृष्ण रूप हो जाती थीं उनकी चित्तवृत्ति कृष्णाकार हो जाती थीं। उस समय अद्वैत हो जाता है। वहाँ पर ध्याता, ध्येय विभाग समाप्त हो जाता है। ध्यान बुद्धि का विषय है। बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। बुद्धि प्रकृति के सात्विक अंश का सूत्र भाग है। चेतन का प्रतिबिम्ब तथा बुद्धि दोनों समरस हैं। जैसे—सफेद मणि के पात्र में शुभ्र जल रख दिया जाय तो सहसा प्रतीत नहीं होता कि जल तथा पात्र भिन्न-भिन्न हैं। वैसे ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित जीवात्मा का सहसा विभाग नहीं होता है।

आत्मदर्शी योगी ध्यान के द्वारा बुद्धि को निर्मल बनाते हैं। चिन्तन का नाम ध्यान है। चिन्तन करते-२ बुद्धि में प्रतिबिम्बत अहम् भाव दूर हो जाता है। बुद्धि में ज्ञान हो जाता है मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, कर्म हमारे नहीं हैं संस्कार हमारे ऊपर नहीं है अंतः करण पर सब स्थित हैं। तब मानव की आत्मस्वरूप में स्थिति होती है।

८. समाधि प्रकरण

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ।।

ऊद्ध्र्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं तदात्मकम् ।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्थस्य लक्षणम् ।।

निर्विकार चित्त होकर अपने आपको ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्णवृत्ति सहित सृष्टिभाव से रहित हो जाने को समाधि कहते हैं। जो ऊर्ध्वपूर्ण, अधःपूर्ण, मध्यपूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थान में पूर्णरूप से विराजमान है वही परमात्मा है। इसी का पूर्णभाव ही समाधि का लक्षण है। धारणा के द्वारा मन को किसी एक में रोका गया फिर ध्यान द्वारा मन को उस एक विषय के आकार में तदाकार किया गया उस विषय के शब्द अर्थ ज्ञान में अर्थ मात्र शेष रह जाता है। चित्त का स्वरूप लीन हो गया अर्थ तथा मन का अन्तर्भेद हो जाता है। उसको समाधि कहते हैं।

समाधि की मुख्यतया चार अवस्थाएँ होती हैं—

१. वितर्क २. विचार ३. आनन्द ४. अस्मिता। इनमें वितर्क तथा विचार स्थूल स्वरूप हैं। आनन्द तथा अस्मिता सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। साधक धारणा-ध्यान करते-करते मन को इस योग्य बना लेता है कि मन में एक विचार धारा बहने लगती है। शब्द अर्थ तथा ज्ञान तीनों अत्यन्त संकीर्ण होकर एक दूसरे में मिश्रित हो जाते हैं। इन तीनों का सहसा विभाग नहीं हो पाता है। किन्तु चिन्तन करने से तीनों भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। शब्द-वाणी का विषय है। अर्थ पदार्थ का विषय है जो पंचमहाभूत पंच तन्मात्राओं का बना होता है। ज्ञान अंतः करण का विषय जो अंतः करण में अनुभव होता है। जैसे–गाय नाम वाणी से उच्चारित हुआ। उसका अर्थ गाय का शरीर है। वह पंचमहाभूतों की बनी हुई है और वाणी से भिन्न है। उसका ज्ञान मन से हुआ वह वाणी तथा पंचभूतों से भिन्न तत्व है। समाधि के अभ्यास से तीनों विभक्त रूप में भासने लगते हैं। यह शब्द है, यह अर्थ है तथा यह ज्ञान है ऐसा तीनों का ज्ञान जब एक साथ होने लगता है, तो उसको सविकल्प समाधि कहते हैं।

सविकल्प समाधि स्थूल विषयक समाधि है। इस प्रकार स्थूल विषय समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान का विभाग रहने तक सविकल्प और शब्द ज्ञान के लुप्त हो जाने पर अर्थ मात्र का आभास रहने पर निर्विकल्प तथा शब्द ज्ञान के लुप्त हो जाने अर्थ मात्र का आभास रहने पर निर्विकल्प समाधि होती है। स्थूल एवं सूक्ष्म विषयक समाधि के सम्बन्ध में अवस्था विषयक समाधि भी होती है। जागृत और स्वप्न, अवस्था स्थूल विषयक समाधि है। सुषुप्ति से तुर्यावस्था सूक्ष्म है। इसके भी समष्टि तथा व्यष्टि रूप से दो भेद हैं। इसके अतिरिक्त शरीर विषयक समाधि में चार भेद हैं–स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर तथा महाकारण शरीर।

स्थूल शरीर पांचभौतिक होता है सूक्ष्म शरीर इन्द्रिय, अंतःकरण तथा प्राण का समुदाय होता है। कारण शरीर वासनामय होता है। महाकारण शरीर आभास मात्र होता है। सृष्टि का सबसे सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्व मूल प्रकृति है। उसी को अव्यक्त माया, शक्ति आदि नामों से जाना जाता है। "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः" उससे सूक्ष्म कोई तत्व नहीं है। इससे परे आत्मा है किन्तु वह न तो सूक्ष्म है न स्थूल है। वह स्थूल तथा सूक्ष्म से विलक्षण है। इन स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों में समाधि सिद्ध हो जाने पर मन अत्यन्त पवित्र तथा एकाग्र हो जाता है उस मन से योगी सृष्टि के आद्योपान्त बाहर-भीतर को देख सकता है। जैसे—सफेद शीशी के अन्दर के सब पदार्थ दिखते हैं ऐसे ही मन में सृष्टि के अन्दर बाहर के सभी पदार्थ दिखने लगते हैं।

धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। इसके पहले जो यम नियमादि पांच योग हैं वे वहिरंग साधन हैं तथा ये तीनों योग अंतरंग साधन हैं। जब ये तीनों सिद्ध हो जाते हैं तब प्रज्ञालोक होता है, यानि बुद्धि का प्रकाश सम्पूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करने लगता है। बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं। इतना होने पर भी यह सविकल्पक समाधि होती है। इसमें बीज का अस्तित्व होता है। इसके अनन्तर निर्विकल्पक समाधि होती है, बुद्धि में संसार का बीज रहता है अनन्त जन्मों की कर्मवासना संसार का बीज है उसी से जीव का जन्म होता है, तब बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा को अपनी बुद्धि का संवेदन होने लगता है।

निर्विकल्पक समाधि में पहुँचे हुए साधक के सब संकल्प निःशेष हो जाते हैं। अतः पुनः सविकल्कपक में आने का कारण ही नहीं रह जाता है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े योगियों की संसार वासना निवृत्त हो जाने पर भी आत्म दर्शन की भावना से उनकी बुद्धि में प्रवृत्ति होती रहती है, किन्तु निर्विकल्पक समाधि में पहुँचे हुए साधक की भावना निवृत्त हो जाती है स्वप्रकाश आत्मा स्वयं में स्वयं को देखने लगती है। वह सब में अपने को तथा अपने में सबको देखने लगती है। एकत्व दर्शन में अहं की निवृत्ति हो जाती है उस समय प्रकृति पुरुष के विभाग दर्शन में बुद्धि लीन हो जाती है। इसी को जीवन-मुक्त अवस्था कहते हैं।

मानव अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये अष्टांग योग का आश्रय लेकर परमात्मतत्व की प्राप्ति कर सकता है। जीव का चरम लक्ष्य यह है कि इन उपरोक्त मार्गों में से किसी एक का भी यदि आश्रय लिया जाय, तो वह तत्परता पूर्वक अपने जीवन मार्ग में अग्रसर हो सकता है।

चित्र १—पद्मासन

लाभ—इसके करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इससे भजनादि में सुख पूर्वक कई घण्टों तक एकाग्रचित्त होकर बैठा जा सकता है। समाधि में कई दिनों तक बैठने के लिए भी यह आसन उपयुक्त है।

२. इससे देह, प्राण, इन्द्रिय तथा मन की थकावट कम होती है।

३. इससे श्वास-प्रश्वास की गति सम रहती है।

४. यह आसन श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि में सहायक होता है।

चित्र २–स्वस्तिकासन

लाभ—इसके करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इसके निरन्तर अभ्यास करने से भजन एवं समाधि में कई दिनों तक आसन सम्बन्धी कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता है।

२. इससे सुषुम्ना का मार्ग खुलने लगता है।

३. इससे प्राण, इन्द्रिय और मन में स्थिरता आती है।

४. इससे उपस्थ (लिंग) में स्थित शुक्र-वाहिनी नाड़ियों के एड़ी द्वारा दबाने से उत्पन्न हुई शिथिलता के कारण ब्रह्मचर्य में दृढ़ता आती है।

५. इससे कामनाओं में बलवती कामेच्छा शान्त होने लगती है।

६. इससे द्वन्द्व (लड़ाई-झगड़ा) सहनकी शक्ति आने लगती है।

चित्र ३ — बद्ध पद्मासन

लाभ—इस आसन के निरन्तर अभ्यास करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इससे तमोगुण के कारण उत्पन्न आलस्य, तन्द्रा, निद्रा कब्ज, स्वप्नदोष आदि विकार दूर होते हैं।

२. यह मृगी, क्षय, दमा, खाँसी, भगन्दर आदि रोगों से मुक्त करता है।

३. यह पाचन शक्ति को बढ़ाता है और मेरुदंड को बल प्रदान करता है।

४. यह कटिभाग से ऊपर के अंगों को पुष्ट करता है।

५. यह मन को स्थिर करता है।

चित्र ४ – सिंहासन

लाभ—इसके करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इससे छाती चौड़ी और उन्नत होती है।

२. इससे उदर कृश, शरीर पुष्ट, जीभ तथा नेत्र विकसित होते हैं।

३. इससे तोतलापन दूर होता है।

४. इससे कण्ठ की नाड़ियाँ दृढ़ होती है एवं पाचन शक्ति बढ़ती है।

५. इससे नेत्र की ज्योति सदैव कार्यक्षम रहती है।

चित्र ५ – गर्भासन

लाभ—गर्भासन के प्रयोग से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. यह देह को लचीला बनाता है।

२. इसस देह के अवयवों में दृढ़ता आती है।

३. इससे शरीर और प्राणों पर एकाधिकार होता है।

चित्र ६ – विपरीत गर्भासन

लाभ—इस आसन को करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. यह आसन बढ़ी हुई श्वास-प्रश्वास की गति को नियमित करता है।

२. यह देह को लचीला बनाता है।

३. यह देह की स्थूलता को घटाता है।

४. यह पाचन शक्ति को प्रदीप्त करता है।

५. यह तमोगुण, जड़ता, आलस्य को नष्ट करता है।

चित्र ७ – गूढ़ गर्भासन

लाभ—इस आसन के निम्नलिखित लाभ हैं—

१. यह उदर के लिए उपयोगी होता है।

२. यह शरीर को सुडौल बनाता है।

३. यह तन्द्रा (उँघाई) को दूर करता है।

४. यह सात्त्विक प्रवृत्ति को प्रदान करता है।

चित्र ८ – द्विपादग्रीव-आसन

लाभ—इसका निरन्तर अभ्यास करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इससे टाँगों, सन्धियों, नसों, नाड़ियों में विशेष रूप से बल मिलता है।

२. इससे समस्त देह सुडौल, स्फूर्तिवान् एवं सुन्दर बनती है।

३. इससे पाचन शक्ति में वृद्धि, मेदस् की कमी तथा कान्ति की अभिवृद्धि होती है।
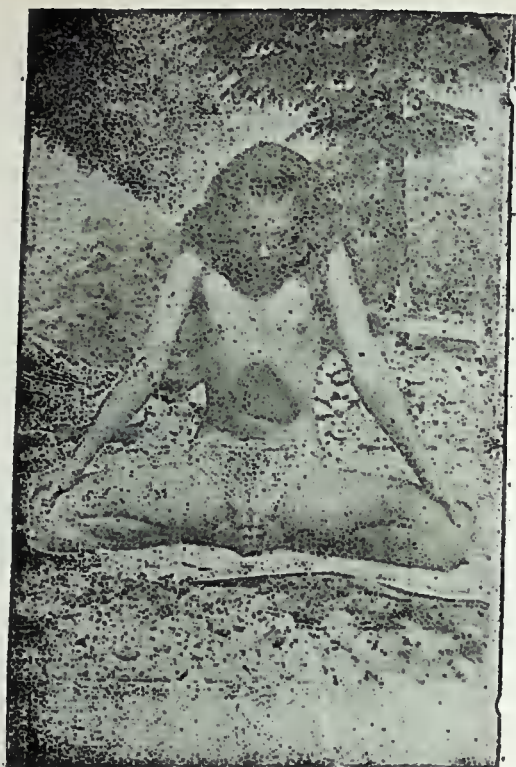
चित्र ८ – भगासन

लाभ—इससे निम्नलिखित लाभ होतेहैं—

१. यह आसन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने में उपयोगी होता है।

२. इससे पैरों की नसों में सुचारु रूप से रक्त का संचार होने लगता है।

३. यह उदर विकारों को दूर करता है।

चित्र १०— कुक्कुटासन

गुण— इस आसन का निम्नलिखित वैशिष्ट्य है—

१. इस आसन से भुजाओं तथा छाती में दृढ़ता आती है।

२. यह जठराग्नि को तीव्र करता है।

३. यह आमाशय तथा पक्वाशय को शक्ति प्रदान करता है।

४. यह उदर कृमि, हाथ पैरों की स्थूलता एवं दुर्बलता को नष्ट करता है।
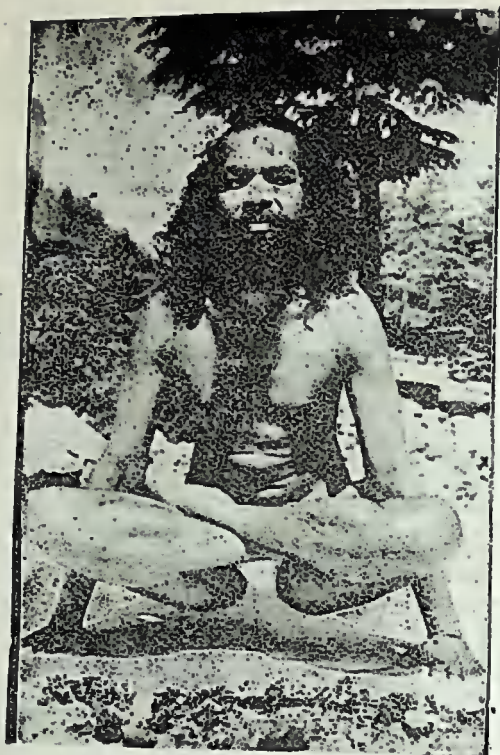
चित्र ११ – तुलासन

गुण— इस आसन की निम्नलिखित देन है—

१. इसके निरन्तर अभ्यास से भुजाएँ, हथेलियाँ, तथा पंजे दृढ़, पुष्ट और बलिष्ठ बनते हैं।
२. इससे छाती तथा कन्धों में दृढ़ता आती है।
३. इससे ग्रीवा भी बलिष्ठ होती है।

चित्र १२ – एकपादांगुष्ठासन

गुण— इस आसन के निम्नलिखित प्रभाव हैं—

१. इससे ब्रह्मचर्य रक्षा में अत्यन्त सहायता मिलती है।

२. यह संयम शक्ति को बढ़ाता है।

३. यह पैरों की नसों-नाड़ियों को पुष्ट एवं लचीला बनाता है।

चित्र १३ – पूर्णमत्स्येन्द्रासन

गुण— इस आसन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. इसके निरन्तर अभ्यास से मन्दाग्नि, तिल्ली, यकृत-विकार तथा गठिया रोग दूर हो जाता है।

२. इसके अभ्यास से उदर विकार नहीं होते।

३. ब्रह्मचर्य पालन तथा योग सिद्धियों की प्राप्ति में यह आसन सहायक होता है।

४. इससे कुण्डलिनी की जागृति होती है।
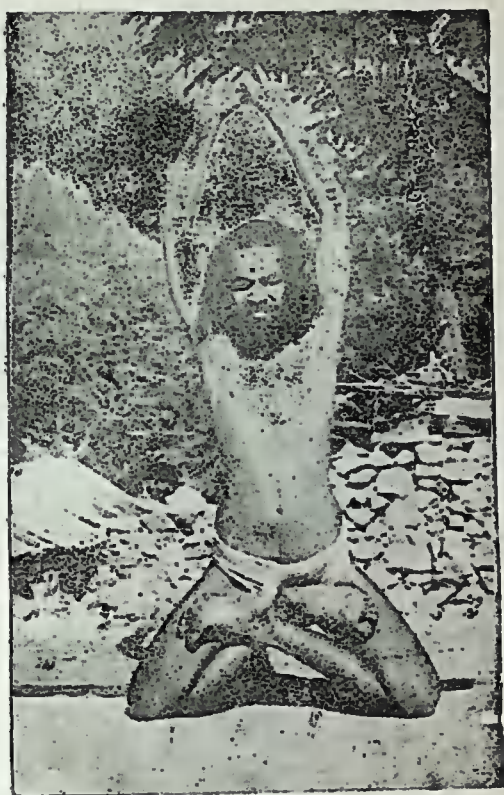
चित्र १४ – पर्वतासन

गुण— इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे प्राण शक्ति की वृद्धि होती है।

२. छाती का विकास और फेफड़ों का शोधन होकर यह बल को बढ़ाता है।

चित्र १५ – कर्णपीडासन

गुण— इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे पीठ, कमर, कानों की पुष्टि के साथ बहरापन और तिल्ली (जिगर) के विकार तथा मंदाग्नि दूर होती है।
२. इससे उदर रोग नहीं होते हैं।
३. इससे मेरुदण्ड पुष्ट तथा लचीला बनता है।
४. इससे उदर कृश हो जाता है।

चित्र १६ – पादांगुष्ठ-नासिकास्पर्शासन

लाभ—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे कटि में स्थित वातपीड़ा दूर हो जाती है।

२. इससे पीठ नरम होती है।

३. इससे पाचन शक्ति बढ़ती है।

४. यह शरीर में लचीलापन लाता है।

चित्र १७—उत्थित एकपादग्रीवा-
जानु-पृष्ठबद्धासन

गुण— इसके निम्नलिखित गुण हैं—

१. इसके अभ्यास से शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है।

२. इससे गरदन तथा छाती दृढ़ होती है।

३. इस आसन को करने के बाद रक्त का संचार भली भाँति होने लगता है।

चित्र १८-महावीरासन

लाभ—इस आसन को करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इससे वक्षस्थल का विकास होता है।
२. यह प्राणों को बलवान बनाता है।
३. यह भुजाओं तथा फुफ्फुसों को शक्ति सम्पन्न करता है।
४. यह कफज तथा वातज विकारों से वक्षस्थल को सुरक्षित रखता है तथा मुख मंडल को तेजस्वी बनाता है।
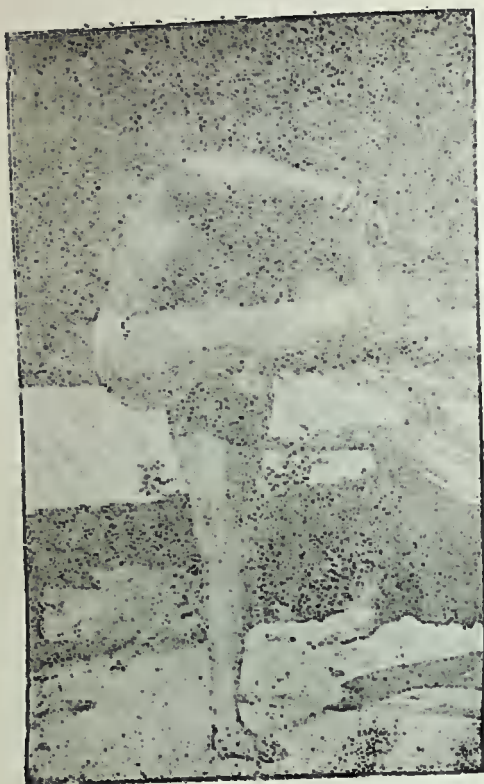
चित्र १९-उत्थित-जानु-शीर्षासन

गुण— इसके निम्नोक्त गुण हैं—

१. इसके अभ्यास से गरदन, छाती दृढ़ हो जाती है।

२. इससे पेट, पीठ, रीढ़ में सबलता आती है।
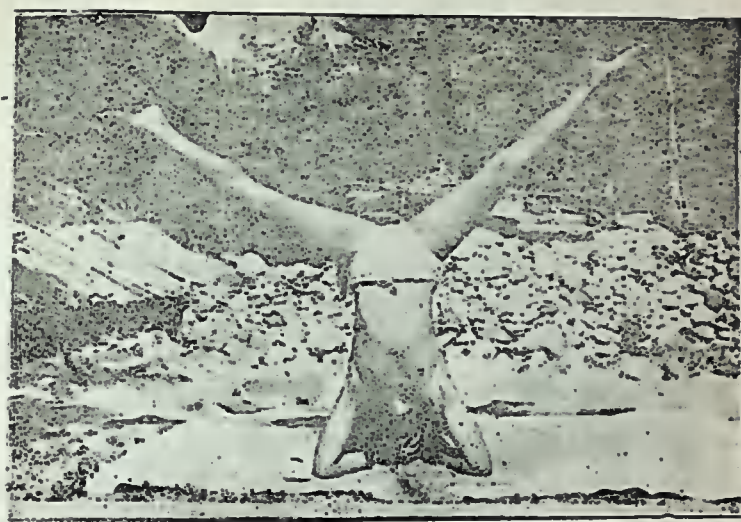
चित्र २०-पादप्रसारित-शीर्षासन

गुण— इस आसन के निम्नलिखित गुण होते हैं—

१. इसमें शीर्षासन के सभी गुण पाये जाते हैं ।

२. यह मस्तिष्क को दोषरहित बनाता है ।

चित्र २१-सर्वाङ्गासन

गुण— इसके निम्नलिखित गुण हैं—

१. यह आसन रक्त शुद्धि, मस्तिष्क, हृदय एवं फुफ्फुसों की पुष्टि के लिए प्रसिद्ध है।

२. यह नेत्र की ज्योति को बढ़ाता है।

३. यह उदर की वायु को बाहर निकाल देता है।

चित्र २२-शीर्षासन

गुण—इस आसन से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. इसको करने से पूर्ण निद्रा का सुख मिलता है।

२. इससे मुख, नाक, कान, गरदन और कण्ठ के विकार भी शान्त हो जाते हैं।

३. इससे नेत्रों की ज्योति स्वस्थ रहती है।

४. यह ब्रह्मचर्य की रक्षा में सहायक होता है।

५. इससे ध्यान करने में मन लगता है।

चित्र २३-ऊर्ध्वपद्मासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे पाचन शक्ति बढ़ती है।

२. इससे आतें सशक्त और कार्यक्षम होती हैं।

३. इससे उदर शूल शान्त होता है।

चित्र २४-हलासन
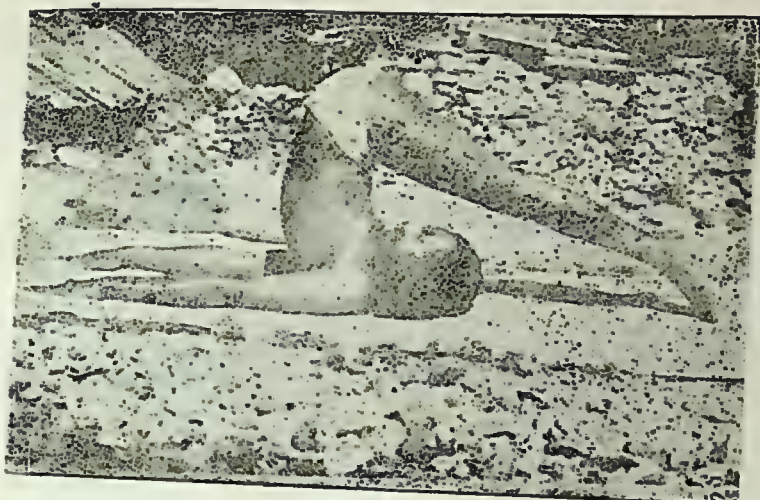
गुण–इसके निम्नलिखित गुण हैं–

१. इससे वक्ष (छाती) और पीठ की पुष्टि, रक्त का यथावत संचार होकर रुधिर शुद्ध एवं जठराग्नि तथा क्षुधा वृद्धि होती है।

२. इससे ग्रीवा की नसें पुष्ट होती हैं।

३. इससे अंतड़ियों की दुर्बलता का नाश हो जाता है।
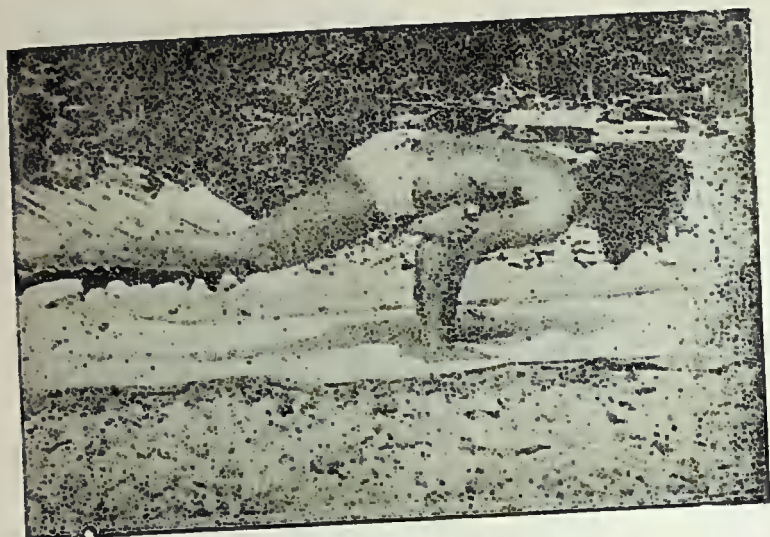
चित्र २५-एकपाद-अर्धमयूरासन

गुण—इसमें भी मयूरासन के ही गुण पाये जाते हैं—

१. इससे उदर विकार, पसलियों की पीड़ा, हृदय रोग दूर होते हैं।
२. इससे शरीर में लचीलापन आ जाता है।

चित्र २६-मयूरासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे गुल्म, जलोदर, उदर रोग, वात रोग, तथा वात-पित्त, कफ के विकार शीघ्र दूर हो जाते है।

२. इससे पाचन शक्ति तथा गुर्दों की कार्यशक्ति बढ़ती है।

३. इससे रक्त संचार बढ़ कर शरीर में तेज, कान्ति एवं लावण्य आ जाता है।
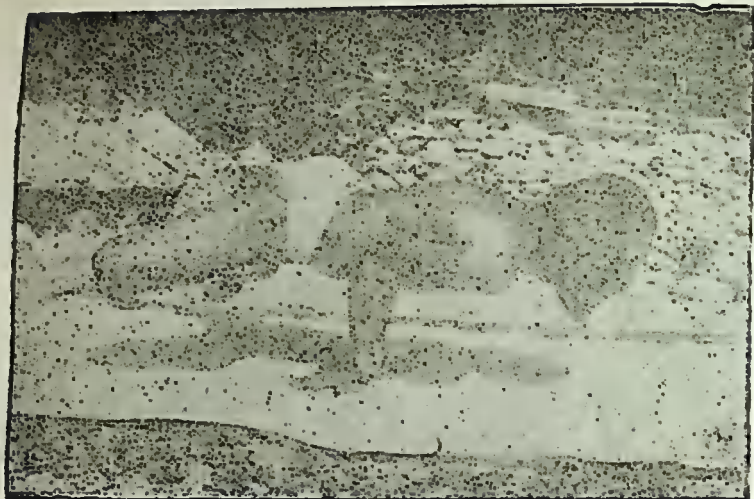
चित्र २७ - बद्धमयूरासन

गुण—इसके निम्न गुण हैं—

१. इसके गुण मयूरासन के समान होते हैं।
२. उदर पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है।
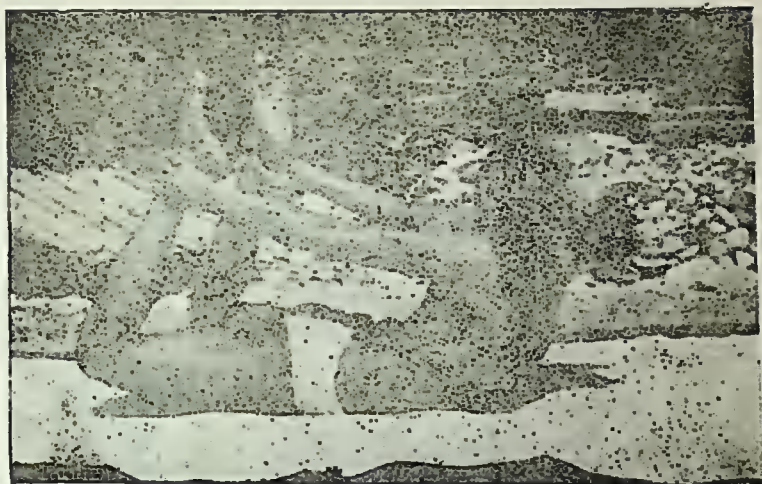
चित्र २८ - धनुषासन

गुण—इसके निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे मन्दाग्नि नहीं होने पाती।

२. इससे वायु विकार दूर होते हैं।

नोट—हृदय के रोगी तथा रक्तचाप के रोगी को यह आसन नहीं करना चाहिए।

चित्र २८ - चक्रासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. छाती, उदर, ग्रीवा, कटि, भुजाएँ, हाथ, टाँगें, घुटने, पैर ये सभी अंग बलिष्ठ और लचीले होने लगते हैं।

२. इससे वृद्धावस्था में भी कमर नहीं झुकती है।

३. इससे शिर, ग्रीवा, हाथों में कम्पन रोग नहीं होता।

४. इससे स्वास्थ अच्छा रहता है।
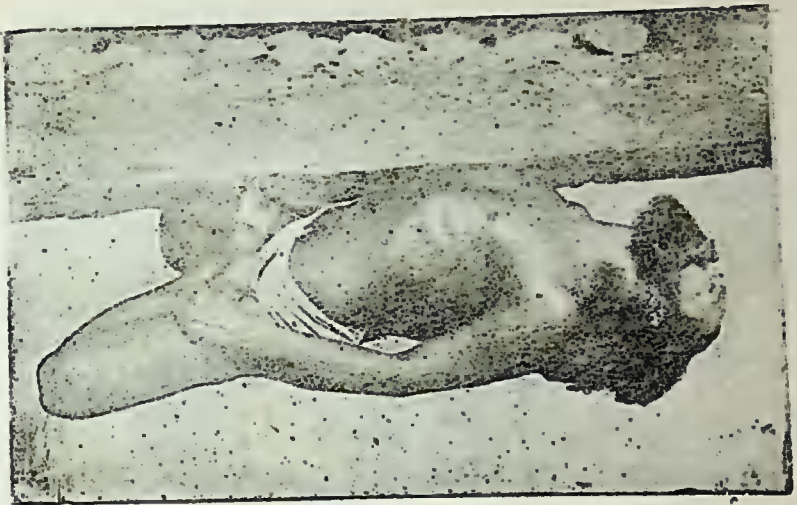
चित्र ३० - मत्स्यासन

गुण—इसके निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे उदर विकार नहीं होता है।

२. यह ब्रह्मचर्य पालन तथा योगसिद्धियों की प्राप्ति में सहायक होता है।
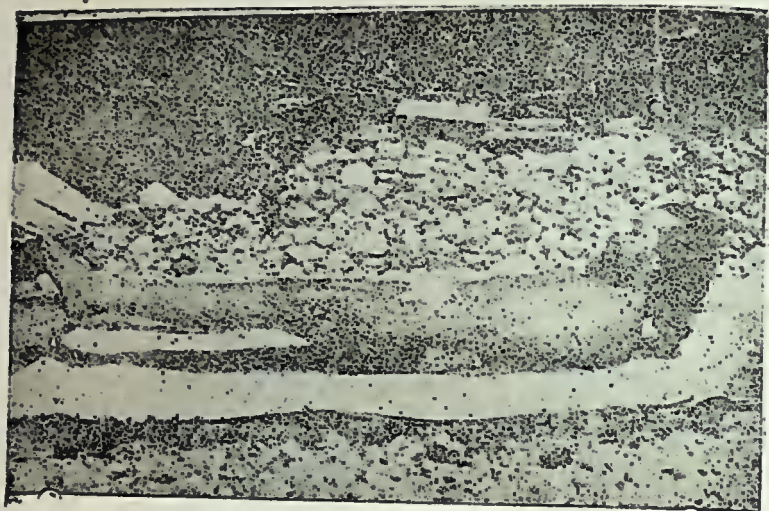
चित्र ३१ - उत्तानपादासन

गुण—इसके निम्नलिखित गुण हैं—

१. यह आसन रक्त शुद्धि, मस्तिष्क, हृदय एवं फुफ्फुसों की पुष्टि के लिए प्रसिद्ध है।

२. यह नेत्रों की ज्योति को बढ़ाता है।

३. यह अपान वायु को बाहर फेंकता है।

चित्र ३२ - एकपादग्रीवासन

गुण–इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं–

१. इससे स्कन्ध तथा वक्षस्थल बलवान् होते हैं।
२. इससे पैरों के अवयव लचीले होते हैं।

चित्र ३३ - अर्धपश्चिमोत्तानासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे भुजदण्ड, स्कन्ध, जानु और जंघाएं लचीली तथा हृष्ट-पुष्ट हो जाती हैं।
२. इससे प्राणों की शक्ति उत्तरोत्तर बलवती होती हैं।
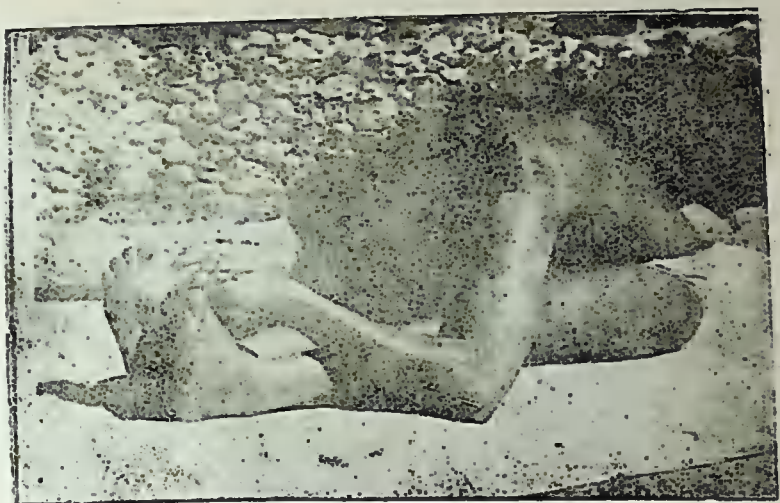
चित्र ३४ - पश्चिमोत्तानासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे सब प्रकार के उदर विकार नष्ट हो जाते हैं।

२. इससे शरीर सुडौल, सुगठित, लचीला बन जाता है।

३. इससे सुषुम्ना द्वार सरलता से खुल जाता है।

४. यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी उत्थान में सहायक होता है।

५. इससे शरीर, प्राण, इन्द्रियों पर अधिकार होकर मन की एकाग्रता बढ़ती है।

चित्र ३५ - पादहस्तासन

गुण–इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे यकृत सम्बधी विकारों का शमन होता है।

२. इससे पाचन क्रिया सुचारु रूप से कार्य करने लगती है।

३. यह पेट के वायु विकारों को दूर करता है।

४. यह माँस पेशियों में दृढ़ता लाता है।

चित्र ३६ - सुप्त एकपादग्रीवासन

गुण–इसके निम्न गुण हैं––

१. यह उदर शूल को दूर करता है।

२. इससे प्राणों को बल प्राप्त होता है।

३. इससे शरीर पुष्ट होता है।
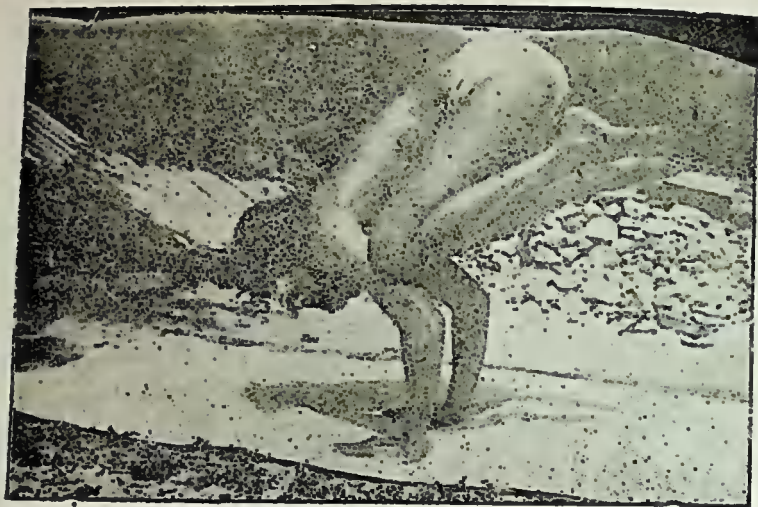
चित्र ३७ - बक-आसन

गुण—इस आसन के निम्नोक्त गुण हैं—

१. यह भुजाओं की, माँसपेशियों, नसों और नाड़ियों को सुगठित तथा दृढ़ करता है।

२. यह छाती को दृढ़ और पुष्ट करता है।

चित्र ३८ - जानु-आसन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इस आसन के अभ्यास से पिण्डलियों, घुटनों, पाद-मूलों को सबलता प्राप्त हो जाती है।

२. इससे सन्धियों की दुर्बलता दूर हो जाती है।

चित्र ३८ - वज्रासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित महत्व हैं—

१. इससे प्राणोत्थान, कुण्डलिनी जागरण में सहायता प्राप्त होती है।

२. इससे सूर्यभेदन, भस्त्रिका, कुम्भक, रेचक आदि प्राणायाम करने में सफलता मिलती है।

चित्र ४० - सुप्त वज्रासन

लाभ—इसके करने से निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. यह समाधि, योगासन आदि के ध्यानाकर्षण के लिए उपयोगी है।

२. यह मन को एकाग्र करने के लिए उपयोगी है।
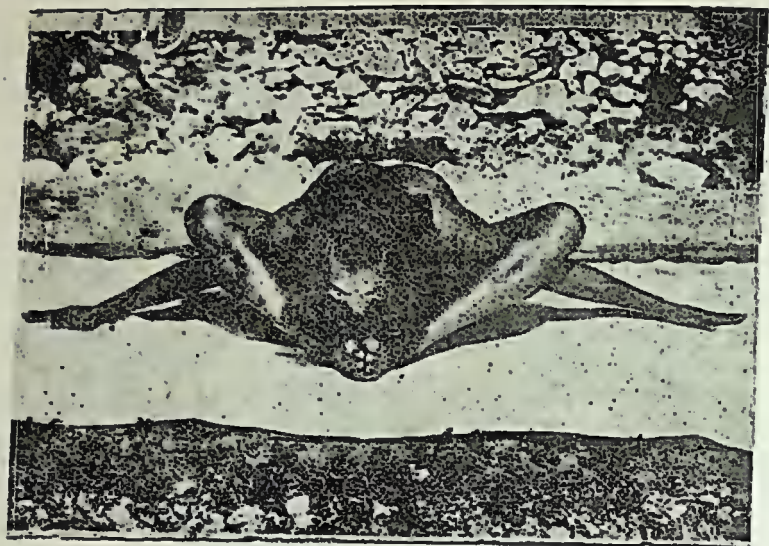
चित्र ४१ - चर्मचटकासन

गुण–इस आसन से निम्नलिखित सफलताएँ प्राप्त होती हैं।

१. यह हाथ, पैर की संधियों को सशक्त बनाता है।

२. इससे रुकी हुई अपानवायु निकलने लगती है।

३. यह वक्ष-स्थल को बलिष्ठ बनाता है।

४. यह शरीर को स्वस्थ रखता है।

चित्र ४२ - धनुष-आकर्षणासन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. यह पेट सम्बन्धी वायुविकारों को दूर करता है।

२. यह रीढ़ की हड्डी में लचीलापन लाता है।

३. इससे शारीरिक रक्तसंचार में वृद्धि होती है।

चित्र ४३ - उत्कटासन

गुण—इससे निम्नलिखित फल प्राप्त होते हैं—

१. इस आसन में बैठकर वज्रौली की जाती है।

२. इस आसन में बैठकर कैथीटर मूत्रनालिका में डालकर जल आदि औषधिद्रव को मसाने में खींचा जाता है।

चित्र ४४ - ग्रन्थि आसन

गुण–इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं–

१. इस आसन के अभ्यास से कटि प्रदेश में स्थित वातदोष जनित पीड़ा का शमन हो जाता है।
२. इससे पृष्ठवंश सुकोमल हो जाता है।
३. इससे पाचन शक्ति बढ़ती है।

चित्र ४५ - मत्स्येन्द्रासन

गुण–इसके निम्नलिखित गुण हैं–

१. यह मधुमेह की शान्ति के लिए उपयोगी है।
२. यह मन्दाग्नि में जठराग्नि को प्रदीप्त करके रस, रक्त आदि की वृद्धि करता है।
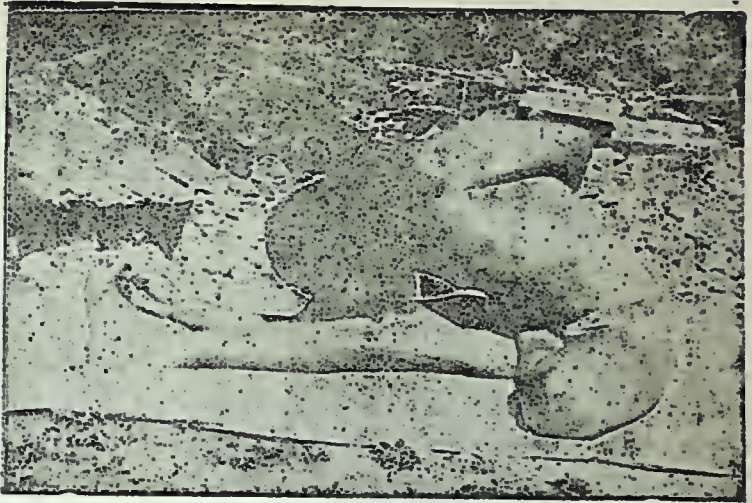
चित्र ४६ - एक पाद-ग्रीवा-जानु-आसन

लाभ—इससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—

१. यह उदर सम्बन्धी वायु विकारों को दूर करता है।

२. यह मांस पेशियों में दृढ़ता लाता है।

३. इससे शरीर में लचीलापन आ जाता है।
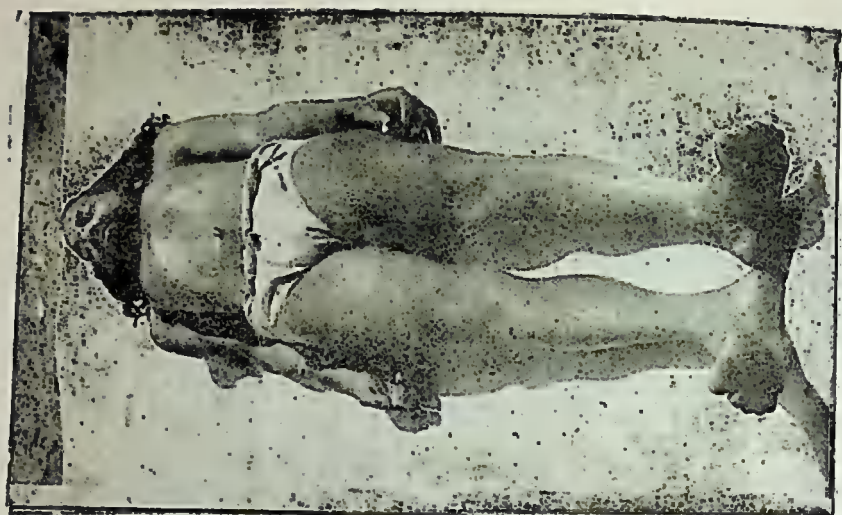
चित्र ४७ - शव आसन

गुण—इस आसन के निम्नलिखित गुण हैं—

१. सब प्रकार के व्यायाम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा तथा समाधि में दीर्घकाल तक बैठने से उत्पन्न थकावट को दूर करने के लिए यह आसन उपयोगी है।

२. यह थकावट को दूर करके देह, प्राण, मन, इन्द्रियों में नवशक्ति तथा स्फूर्ति का संचार कर देता है।

चित्र ४८ - धौति-क्रिया

कासः श्वासः तथा प्लीहा कुष्ठरोगाः कफामयाः ।
धौतिकर्मप्रभावेण नाशं यान्ति न संशयः ॥

१. इससे खाँसी, श्वास, दमा, तिल्ली के विकार, कुष्ठ तथा कफज रोग, जुकाम, फुफ्फुस विकार, दूषित पित्त आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

२. इससे आमाशय तथा पक्वाशय एवं जिगर विकार, कण्ठ-विकार नष्ट होकर पाचन शक्ति बढ़ती है तथा स्वास्थ्य सुधर जाता है।

चित्र ४८ - जलनेति क्रिया

लाभ—इस क्रिया के द्वारा निम्नाङ्कित लाभ होते हैं—

१. कफज, पित्तज रोग तथा शिरपीड़ा, विकृतजुकामजनित कण्ठ शोथ, शिर की साधारण पीड़ा इस क्रिया के करने से दूर हो जाती हैं।
२. नेत्र में पीड़ा का अभाव तथा नेत्रज्योति बढ़ जाती है।
३. इससे मोतियाबिन्द होने की सम्भावना कम होती है।
४. इससे शिर, मस्तिष्क सदा हलके रहते हैं।
५. इससे नाक सदा स्वच्छ तथा चित्त प्रसन्न रहता है।
६. यह छाती के विकारों, कण्ठ विकारों, मस्तिष्क विकारों, शिर में होने वाले विकारों तथा नेत्र विकारों को दूर करने में उपयोगी होता है।

चित्र ५० - सूत्रनेति क्रिया

लाभ—इससे निम्नलिखित लाभ होते हैं—

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जलोदरादिरोगांश्च नेतिराशु निहन्ति च ॥

१. नेति शिरः प्रदेश को शुद्ध करती है ।
२. यह नासिका तथा कण्ठ के मैल को दूर करती है ।
३. इससे ज़ुकाम नहीं होने पाता ।
४. यह नज़ले को कण्ठ में गिरने से रोकती है ।
५. इससे शिर की पीड़ा दूर हो जाती है ।
६. यह दृष्टि को बढ़ाती, मोतियाबिन्द को रोकती तथा स्कन्धः के ऊपरी भाग में होने वाले रोगों को नष्ट करती है ।

चित्र ५१ - कुंजर (गजकरणी) क्रिया

गुण—इस क्रिया के निम्नलिखित गुण हैं—

१. इससे उदर तथा कण्ठ रोग निवृत्त हो जाते हैं।

२. इससे शरीर हल्का और चित्त प्रसन्न रहता है।

३. यह वायुगोला, अफारा, तथा जलन को नष्ट करता है।

चित्र ५२ - नौली क्रिया

गुण–इस क्रिया के निम्नलिखित गुण हैं—

मन्दाग्नि-सन्दीपन-पाचनादिसन्धायिकाऽऽनन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलिः॥

१. यह मन्दाग्नि को प्रदीप्त करती है।

२. यह आहार का भली भाँति पाचन करती है।

३. यह साधक को प्रसन्न रखती है।

४. यह मेदो रोग दूर हो जाता है।

५. यह अँतड़ियों में कोई विकार नहीं आता।

६. इससे कब्ज नहीं रहता।

७. इससे गुल्म रोग, गुर्दे तथा उदर पीड़ा नहीं होती है।

८. मल तथा मूत्र की स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति होने लगती है। मूत्राशय शुद्ध हो कर वीर्य दोष दूर हो जाता है।

९. इससे यकृत और तिल्ली नहीं बढ़ती।

१०. इससे जलोदर रोग नहीं हो पाता।

॥ श्री विष्णुस्वामिने नमः ॥

योग से रोग निवारण

प्रधान निर्देशक—

महन्त श्री १०८ श्री यमुनादास जी महाराज
(उपनाम-श्रीजगदीश्वरानन्द जी ब्रह्मचारी)
'सतुआ बाबा'

योग चिकित्सा संस्थान

सी० के० १०/४८ सतुआ बाबा आश्रम
मणिकर्णिकाघाट, वाराणसी

विभिन्न प्रकार की चिकित्साओं से निराश व्यक्तियों का एक मात्र उपचार योग है।

रोगों के नाम—क्षय, दमा, मलबद्धता (कब्जियत), गुल्म, कैंसर, वायु-विकार, लकवा, श्वास रोग, दृष्टि की मंदता और दाह (जलन) आदि।

नाक के रोग—मस्सा, हड्डी का बढ़ जाना, पीनस आदि।

मुख के रोग—दाँत और जीभ के विविध रोग आदि।

अन्य रोग —हड्डी के रोग, मधुमेह, मेदो रोग (मोटापा) शिरःशूल, मूर्छा (बेहोशी), अनिद्रा, वीर्यक्षय, दूसरे रोगों की भी चिकित्सा जलक्रिया आदि की पद्धति से की जाती है। असाध्य रोगों का उपचार भी तत्परता के साथ विशेष विधि द्वारा किया जाता है।

शरीर-स्वास्थ्यप्रद कतिपय प्रयोग

मलशोधन—नेती, धोती, बस्ति, नौली, कपालभाती और त्राटक आदि।

आसन– सिद्धासन, पूर्णपद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, मयूरासन, मत्स्येन्द्रासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, सिंहमुखासन, शलभासन, विपरीतासन, लोलासन, और शीर्षासन, आदि चौरासी आसनों का उपदेश।

प्राणायाम—अनुलोम-विलोम, सूर्यभेदन, उज्जई, शीतली, शीतकारी, मूर्छा, भ्रामरी, और भस्त्रिका आदि प्राणायाम।

साधना—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तक की समस्त क्रियाएँ पूर्ण रूप से पहले सिखलायी जा सकती हैं।

मुमुक्षुओं के लिये अंतरंग मुद्राएँ– महामुद्रा, महाभेद-मुद्रा, परिधान युक्त परिचालन मुद्रा, शक्तिचालन मुद्रा, बजरोली, खेचरी आदि २१ प्रकार की मुद्राएँ।

आयु के अनुसार बाल्यकाल में शरीर का भार पौंडों में

आयु		औसत भार बालकोंके लिये		औसत भार बालिकाओंके लिये
प्रसव के समय	—	५–८	—	५–८
१ वर्ष तक	—	१६–२२	—	१६–२०
२ वर्ष ,,	—	२९–३५	—	२५–३०
३ वर्ष ,,	—	४०–४८	—	३५–४२
४ वर्ष ,,	—	४८–५५	—	४२–५०
५ वर्ष ,,	—	५५–६०	—	४८-५५
१४ वर्ष ,,	—	११३–१२०	—	११०–११५

ऊँचाई और आयु के अनुसार शरीर का भार पौंडों में

आयु —	१५-१९	२०-२४	२५-२९	३०-३४	३५-३९	४०-४४	४५-५० से ऊपर	
फुट-इंच								
५— ०	११३	११९	१२४	१२७	१२९	१३२	१३४	१३५
५— १	११५	१२१	१२६	१२९	१३१	१३४	१३६	१३७
५— २	११९	१२४	१२८	१३१	१३३	१३६	१३८	१३९
५— ३	१२१	१२७	१३०	१३४	१३७	१३९	१४१	१४२
५— ४	१२४	१३१	१३४	१३७	१४०	१४२	१४५	१४५
५— ५	१२८	१३५	१३८	१४१	१४४	१४६	१४८	१४९
५— ६	१३२	१३९	१४२	१४५	१४८	१५०	१५२	१५३
५— ७	१३६	१४१	१४६	१४९	१५२	१५४	१४६	१५८
५— ८	१४०	१४६	१५०	१५४	१५७	१५९	१६१	१६३
५— ९	१४४	१५०	१५४	१५८	१६२	१६४	१६६	१६८
५—१०	१४८	१५३	१५८	१६३	१६७	१६९	१७१	१७३
५—११	१५३	१५८	१६३	१६८	१७२	१७५	१७७	१७८
६— ०	१५८	१६३	१६९	१७४	१७८	१८१	१८३	१८४

अवस्था के अनुसार प्रति मिनट हृदयकी धड़कनें

६ मास से २ वर्ष की आयुतक	१०५ से ११५ बार
२ वर्ष से ६ वर्ष की ,,	९० से १०५ बार
७ वर्ष से १० वर्ष की ,,	८० से ९० बार
११ वर्ष से १४ वर्ष की ,,	७५ से ८० बार
१५ वर्ष से ४० वर्ष की ,,	७० से ७५ बार

बुढ़ापे में हृदय की धड़कन फिर बढ़ने लगती है। जब बच्चा जन्म लेता है तो यह हृदय की धड़कन प्रति मिनट १४० बार होती है और ६ मास का होने पर घटते-घटते ११५ के लगभग रह जाती है। हर्ष, शोक, ज्वर, क्रोध, सम्भोग, भोजन के बाद, मदिरा पीकर, व्यायाम करने आदि समयों पर हृदय की धड़कनें अपनी वास्तविक मात्रा से बढ़ जाती हैं।

सामग्री	आउंस	ग्राम	प्रोटीन	चर्बी	कार्बो-हाइड्रेट	कैलोरीज
प्रातः दूध	१६	४५४	१५	१६	२०७.९	२८४
दिनका भोजन						
बार्ली	३	८५	९.०८	१.१	५८.५	२८२
गेहूँ	१	२८.५	३.३४	०.४	२०.०५	१००
चना	१	२८.५	४.८०	१.५	१७.३	१५२
दाल	२	५७.०	११.२	०.५७	३१.०	१८७
स्नेह	१	२८.५	—	२८.५०	—	२६०
सब्जी	८	२२७	४.०	०.४	११.०	६०
दही	८	२२७	६.४	६.४	७.०	१११
मध्याह्न में १ बजे एक गिलास पानी में नीबू का रस लें						
फल	८	२२७	२.२	६.२	२२.०	९०
दाल	२	५७.	११.२	०.५७	३१.०	१८७
रात्रिभोजन-						
बार्ली	३	८५	९८	१.१	५८.५	२८२
गेहूँ	१	२८.५	३.३४	०.४	२०.५	१००
चना	१	२८.५	४.८०	१.५	१७.३	१५२
दाल	२	५७.०	१.१२	०.५७	३१.०	१८७
स्नेह	१	२८.५	—	२८.५०	—	२६०
सब्जी	८	२२७	४.९	६.४	११.०	६०
सोतेसमय दूध	८	२२८	७.५	८.०	१०.४	१४२
योग	७४	२१११०	१०५.६१	९९.६५	३६६.००	२८९.६०

फल—नारंगी, मोसमी, सेव, अंगूर, चकोतरा, ककड़ी, खीरा, पपीता और अन्य सामयिक फल।

सब्जियाँ—पालक, चोलाई, करमकल्ला, मेथी, हरीमिर्च, सलाद, आँवला, नीबू, हरे व लाल टमाटर, अधपका पपीता, अन्य सामयिक सब्जियाँ।

अन्वेषण हेतु—आलू, मूली, शलजम, जिमीकंद, गाजर, हरी-सेम, गोभी, पपीता, केला, चावल, चीनी आदि।

शरीरमें प्राणवायुकी गति ६ अंगुल

बाहर जाते में	" " "	१२"	श्वास	
गाने "	" " "	१६"	"	
भोजन "	" " "	२०"	"	
मार्ग चलनेमें	" " "	२४"	"	
नींद "	" " "	३०"	"	
रति "	" " "	३६"	"	

परिश्रम करने पर अधिक परिमाण में श्वास चलती है।

प्रति मिनट श्वास की गति

प्राणवायुके गमनागमन पर आयुकी अवधि होती है।

वर्ग	प्रति मिनट	संख्या	श्वास	वर्ष अवधि
मनुष्य	"	१३	"	१००
कछुवा	"	५	"	५००
कुत्ता	"	३५	"	१२ से १६

नोट—प्राणायाम द्वारा प्राणवायु पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

प्राणायाम द्वारा मनुष्य दीर्घजीवी, तेजस्वी बलवान्, बुद्धिमान् आदि गुणोंसे युक्त होकर अपने इस पार्थिव शरीर से समाज तथा देश सेवा कर सकता है।

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ माला—2

ज्ञानोदयतन्त्रम्

JÑĀNODAYA TANTRAM
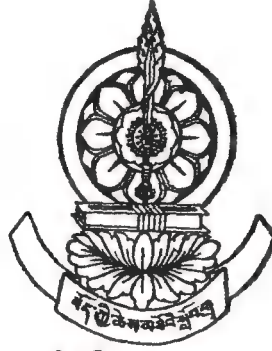
भोट विद्या संस्थानम्

सम्पादक :

प्रो० समदोङ रिनपोछे
योजना निदेशक

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी
उपनिदेशक

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५३१ ख्रीष्टाब्द १९८८

मूल्य : रु० १५.००

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान

सारनाथ, वाराणसी

मुद्रक :

रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, बी० 21/42 ए०, कमच्छा, वाराणसी

RARE BUDDHIST TEXT SERIES—2

JÑĀNODAYA TANTRAM

भोट विद्या संस्थानम्

Editors :

PROF. SAMDHONG RINPOCHE
Project Director

PROF. VRAJVALLABH DWIVEDĪ
Deputy Director

RARE BUDDHIST TEXT PROJECT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
SARNATH, VARNASI

B. E. 2531 C. E. 1988

प्रस्तावना

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की परामर्शदात्री समिति के दिनांक 11–8–1987 के निर्णय के अनुसार 'धीः' के इस चतुर्थ अंक में ज्ञानोदयतन्त्र का प्रकाशन किया जा रहा है। यह तन्त्र क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर विभागों में विभक्त बौद्ध तन्त्रों के योग विभाग के अन्तर्गत आता है।

इसमें चित्त, वाक् और काय चक्रों के अन्तर्गत ध्येय दस भूमियों और चौबीस पीठों का विवरण देने के बाद शरीर में स्थित नाड़ियों और चक्रों का विवरण देकर उनकी भावना का प्रकार बताया गया है। इसके बाद सहजप्रज्ञा योग, वसन्ततिलक योग, समुत्पन्नक्रम योग और प्रज्ञोपाय योग का विवरण देकर षट्चक्र विशुद्धि और पंचज्ञान विशुद्धि की भावना का विस्तार किया गया है।

यह ग्रन्थ अतिसंक्षेप में बौद्ध तन्त्रों में वर्णित योग का समग्र वर्णन प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद उपलब्ध नहीं होता। इन विशेषताओं को देखते हुए ही दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना द्वारा प्रकाशनीय ग्रन्थों में इसका समावेश किया गया था। इसको विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जिन 11 हस्तलेखों के आधार पर इस ग्रन्थ के पाठों का निर्धारण किया गया है, उनका विवरण इस प्रकार है :—

क—राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल सं० 3।658, पत्र सं० 11, देवनागरी लिपि, पूर्ण। श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी के संग्रह की प्रतिलिपि।

ख—रा० अ० का० ने० सं० 5।39, पत्र सं० 19, नेवारी लिपि, पूर्ण। श्री जगन्नाथ उपाध्यायजी के संग्रह की प्रतिलिपि।

ग—रा० अ० का० ने० सं० 3।338, पत्र सं० 20, देवनागरी लिपि, पूर्ण। डा० ठाकुरसेन नेगी के पास की प्रतिलिपि।

घ—इंस्टिट्यूट फार एडवांस स्टडीज आफ वर्ल्ड रिलिजन्स, अमेरिका एम० बी० बी०-II–184, पत्र सं० 13, नेवारी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं० सारनाथ, वाराणसी। फोटो प्रिंट तथा जिराक्स प्रति अस्पष्ट है।

ङ—इंस्टिट्यूट फार···अमेरिका, एम० बी० बी०-I–120, पत्र सं० 20, नेवारी लिपि, अपूर्ण (9–11) पत्र नहीं हैं। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं०। माइक्रोफिश अस्पष्ट है।

च—इंस्टिट्यूट फार···अमेरिका, एम० बी० बी०-I–72, पत्र सं० 13, नेवारी लिपि, अपूर्ण (अन्त में खण्डित)। माइक्रोफिश के० ति० उ० शि० सं०।

छ—संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन टोक्यो युनिवर्सिटी लाइब्रेरी जापान, सं० 143, पत्र सं० 11, नेवारी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिल्म के० ति० उ० शि० सं०।

ज—संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन टोक्यो···सं० 142, पत्र सं० 20, देवनागरी लिपि, पूर्ण। माइक्रोफिल्म के० ति० उ० शि० सं०।

झ—आशा सफू कुशी संग्रह, काठमाण्डू, सं० 2|634, पत्र सं० 26, देवनागरी लिपि, पूर्ण। जिराक्स प्रति के० ति० उ० शि० सं०।

ञ—गायकवाड़ ओरियन्टल, इंस्टिट्यूट बड़ौदा, सं० 13279, पत्र सं० 9, देवनागरी लिपि, पूर्ण।

ट—इंस्टिट्यूट फार····अमेरिका, एम० बी० बी०-I-74, पत्र सं० 19, नेवारी लिपि, माइक्रोफिश प्रति के० उ० ति० शि० सं०। अस्पष्ट एवं अपठनीय।

इन 11 हस्तलेखों की सहायता से सावधानी के साथ संशोधन और सम्पादन करने के उपरान्त भी इस ग्रन्थ के कुछ स्थान अभी पूरी तरह से स्पष्ट नहीं हो पाये हैं। इस सम्बन्ध में हम विद्वानों के सुझाव का स्वागत करेंगे।

इस ग्रन्थ के हस्तलेखों को सुलभ कराने में जिन व्यक्तियों और संस्थाओं ने सहायता की है, जिनका कि नाम निर्देश ऊपर किया जा चुका है, उनका हम आभार स्वीकार करते हैं। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना में कार्यरत विद्वानों को भी हम धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने बड़ी तत्परता से पाठसंकलन, सम्पादन अदि कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न कर परिष्कृत रूप में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत किया है।

एस० रिन्पोछे
निदेशक
दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना

PREFACE

The *Jñānodaya Tantra* which is of the Yoga genre of the Buddhist Tantra as of the three other classes, the Kriyā, the Caryā and the Anuttara Tantras, is being published here as a part of the first volume of the Rare Buddhist Minor Text Series, appearing in the *Dhī* review.

The text enumerates under wheels of the mind, speech and body the ten grounds (Bhūmis) and the twenty four establishments (Pīṭhas) to be reflected upon. These postulates precede the description of the nervous system and the numerous *Cakras* in the body. The awareness of the vital limbs is important in the comprehension of the esoteric system. The work further elicits understanding of the Sahaja-Prajñā Yoga, Vasanta-Tilaka Yoga, Samutpann-Krama Yoga and the Prajñopāya Yoga with the purifying methods of the six cakras and the five sensory perceptions.

The work presents a total view of yoga, as found in Buddhist esotericism. The Tibetan translation of the text has not been found. Keeping in view these importance the work is included in the texts to be published by The Project. We are happy to bring it out for the readers.

For the presentament of the text in its edited form acknowledgement is due to the following organisations for furbishing the contextual matters.

a. National Archives of kathmandu, Nepal. Ms. No. 3/658 fol. 11, Devanāgarī Script—Complete. Ms-in Prof. J. Upadhyaya's private collections.

b. NAKN. Ms. No. 5/39, fol, 19, Nevārī Script, Complete, J (Ms)

c. NAKN, Ms. No. 3/338, fol. 20, Devanāgarī Script, Complete. Ms with Thakur Sen Negi.

d. Institute for Advanced Studies of World Religions, U S A, Ms. No. MBB. II–184, fol, 13, Nevārī Script, complete, microfische copy in the Śāntarakṣhita Library, Saranath.

e. IASWR, U S A, Ms No. MBB, I-120, fol. 20, Nevārī Script, incomplete, microfische copy in Śāntarakṣhita library, Saranath.

f. IASWR, Ms. No. MBB, I-72, fol. 13-Nevārī Script, incomplete fragile last part. microfische copy. in Śāntarakṣhita Library, Saranath.

g. Sanskrit MSS in Tokyo University Library, Japan. MS. No. 143, fol. 11, Nevārī Script, complete, microfilm, Śāntrakṣhita Library, Saranath.

h. SMTUL, MS. No. 142, fol. 20, Devanāgarī Script, complete, microfilm, Śāntarakṣhita Library, Saranath,

i. Āshā Safu Kuśi collections, Kathmandu, MS. No. 2/634, fol. 26, Devanāgari Script, complete, zyrox copy in the Śāntrakṣhita Library, Saranath.

j. Gaekwad Oriental Institute, Baroda, MS. No. 13279/29 fol. 9. Davanāgarī Script, complete.

k. IASWR, U S A, MS. No. MBB--174, fol. 19, Nevārī Script, microfische copy in the Śāntarakṣhita Library, Saranath, illegible.

We are very grateful to individuals and the Institutes which made the mansuscripts available for us. I also express my pleasure for the work done by the scholars of the project in bringing it out in an accomplished form.

S. Rinpoche
Director
Rare Buddhist text Project

विषयसूची

ज्ञानोदयतन्त्रम्

ॐ नमः [1]सर्वज्ञाय[2]

अथातः संप्रवक्ष्यामि ज्ञानं ज्ञानोदयोत्तमम् ।
शरीरार्थं[3] च सर्वेषां ज्ञात्वा [4]यद्धेतुकारणात् ॥ 1 ॥

गिरिगुहायां महोदधौ नदीतीरे वृक्षमूले मातृकागृहे शिवालये उद्याने श्मशाने[5] चतुष्पथे विहारे चैत्यालये वा गृहे विजने निरुपद्रवेऽनुकूले कृतनिलये एषु स्थानेषु प्रदर्शयेत् ।

स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहमिति, प्रकृतिपरिशुद्धाः सर्वधर्माः प्रकृतिपरिशुद्धोऽहमिति निश्चित्य[6] [चित्ते] स्वदेहे [7]वाऽऽधाराधेयमण्डलमधिमुञ्चेत्[8] । अनेन शरीरं कूटागारं[9] समं[10] चतुरस्रं चतुर्द्वारं [11]चाष्टभिरङ्गैरष्टस्तम्भैः शोभितं मध्यमण्डलं रम्यं पञ्चतथागतं [12]पञ्चकामात्मकं [13]पञ्चचक्रम् । तत्र रोमाणि कीरकान्[14] चर्ममांसवज्रप्राकारमस्थिपञ्जरं वज्रपञ्जरं [15]थुलामाला[16]मलजालं च मणिवज्रवितानम्—

[17]वितानं [18]वारसिंहं च मध्ये[19]ऽष्टस्तबकं हृदि ।
कोणे[20]ऽष्टस्तबकं ज्ञात्वा खेटौ[21]फूफुसवुक्कचाः ॥ 2 ॥

चण्डालीज्वाला[22]मालानलार्कैः [23]पण्यादिकं वज्रमयमधिमुञ्चेत् । अन्तरालं धर्मोदयमधिमुञ्चेत् । तत्र [24]कबन्धोऽर्धद्वयशूलभिन्नादिसु(सू)चकैश्चक्रं[25]मन[:]स्थानं पश्येत् । निषद्यादिकारकैर्द्विपुट[26]त्वेन द्विगुणं पृथिव्यप्तेजोवायुधात्वात्मकैः परिगतानष्टौ धातुं(तून्) स्वसनि(त्रि)त्यतया युक्ता[न]ष्टौ श्मशानानधिमुञ्चेत् ।

---

1. श्रीसर्व—च. । 2. 'ॐ नमः श्रीचक्रसंवराय' इत्यधिकः पाठः—घ. । 3. र्थश्च—क. ज. । 4. ये हेतु—ख.छ.झ.ञ । 5. नास्ति—च. । 6 निश्चिते—क. ग. ज. झ. । 7. वाधावाधेय—क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. । 8. मुच्येत्—क ग घ. ज. । 9. कूटाङ्गारं—ध. छ. ज. ञ. । 10. समचतुरस्रचतुर्द्वारैः—च. । 11. वाष्टाभि—ङ. । 12. पञ्चकात्म—ख., पञ्चकायात्म—क. घ. च. छ. ज. झ. । 13. पञ्चक्रमं—छ. । 14. कील—छ. । 15. थूला—ख.च छ.झ.ञ , थूल—घ. । 16. मालासरजालं—ख. ग. घ. च. ज. झ. ञ. । 17. वीता—क ग. ङ. । 18. वाल—छ. । 19. मध्यष्ठास्ते—ग. ज., मध्यस्थं—घ., ष्ठं—ङ च झ. । 20. कोणष्ठां—ङ. च. ज. झ. । 21. खेर्वे—क. । 22. ज्वालावज्रज्वालानला—ख. घ. ङ. च. झ. ञ. । 23. पक्ष्या—ज.ञ. । 24. कबन्धोर्द्धत्वशायित—क. ख. ग. घ., द्वशा—ङ. झ. ञ., द्वन्द्वशा—च. । 25. चक्रमणस्था—घ छ.ञ., मशस्था—क.ग.ज., मूलस्थानं—ङ. । 26. द्विप्रभ—क., द्विपुल—ग , द्विपूत—झ. ।

ततः पादद्वयं(ये) धन्वाभं वायुमण्डलम्, नाभितले त्रिकोणमाग्नेयमण्डलम्, जठलं(रे) वर्तुलं वारुणमण्डलम्, कक्षस्थं(स्थे) चतुरस्रं माहेन्द्रमण्डलमधिमुञ्चेत् । उत्तमाङ्गमष्टशृङ्गसुमेरुमधिमुञ्चेत् । ततस्तत्पृष्ठेऽधिष्ठितं द्वात्रिंशद्दलकमलं तन्मध्ये चन्द्रमण्डलं तन्मध्यगता नाडी [1]सूक्ष्मं [2]खगमुखाकारमनाहतमालिकालिज[3]हूंकारं वज्रसत्त्वस्वरूपं ष[ट्]त्रिंशन्नाडीजनकं समधिमुञ्चेत् । तदुद्भवचन्द्रफलभवैः[4] शशाङ्क-संकाशं सहजसंभोगकायात्मकं [5]कालिस्वभावमुपायरूपं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानात्मकं श्रीहेरुकम्, ततः सहजनिर्माणनभोनिभं सर्वाङ्गप्रत्यङ्गसर्वाशाकाशव्यापकं स्व[ा]भाविक-कायात्मकमालिस्वभाव(वं) [6]प्रज्ञारूपं [7]शु(सु)विशुद्धधर्मधातुस्वभावं [8]वज्रवाराहीमधि-मुञ्चेत् ।

ततः समयचक्रात्मके तारु(लु)कमले पूर्वदले भगवतः पूर्वमूर्ति[ः] शब्दवहा दर्शनज्ञानरूपा शशानामनाडी डाकिनी, उत्तरमूर्तिर्गन्धवहा समताज्ञानरूपा क्षीरवहानाम-नाडी लामा । पश्चिमदले पश्चिममूर्ति[ः] रसवहा प्रत्यवेक्षणाज्ञानस्वभावस्निग्धा नाडी खण्डरोहा, दक्षिणदले दक्षिणमूर्तिः स्पर्शवहा कृत्यानुष्ठानरूपा मधुरानामनाडी रूपिणी । हृत्कमल इत्यपरमुखचतुर्षु [9]इत्ये[व] लोक[ाः] कथयन्ति, त्रिकोणेषु पत्रेषु च[10] सहस्रं प्रनाडिकाः[11] बोधिचित्तवहा वाहे(बाह्ये) [12]चतुःपूजारूपा बोधिचित्तकरोटकाः ।

इति महासुखचक्रं बुद्धभूमिवज्रमतितत्त्वं त्रिलोकं त्रिकायम्

ततः पूं जां ऊं आं गों लां दं[13]मां कां वं[14] त्रि कां[15] क्रां कां[16] लां[17] कां ह्लीं प्रं[18] गुं सां[19] सुं[20] नं सिं [21]मं कूं[22] इति बीजाक्षराणि यथास्थानं क्रमेण भावयेत् ।

ततः पुल्लीरमलयशिरसि खण्डकपालि[23]नखदन्तवहा अजानाडी प्रचण्डा, जालन्धरशिखायां महाकङ्कालकेशरोमवहा नाडी चण्डाक्षी, ओडियानदक्षिणकर्णे कंकार-(ल)[24]त्वङ्मलवहा [25]महानाडी प्रभामति(ती) । मस्तकपृष्ठे अर्बुदविकटदंष्ट्रि(ष्ट्री) मांसवहा बलानाडी महानासा । इति [26]पीठप्रमुदिता[27]भूमिपीठदानदुःखज्ञानम् ।

---

1. शुष्कं–च. । 2. खड्ग–ङ.च. । 3. लितः–क. आलिज–छ. । 4. चन्द्रम्भाव–क ग., 'चन्द्रफलभवैः' नास्ति–ज. झ. ञ. । 5. 'कालि' नास्ति–क. ग. च. ज. । 6. प्रत्यङ्ग–ञ. । 7. शुचिशु–क. ख. ग. घ. । 8. वज्रवज्रवा–ङ. । 9. इत्यनो कथ–क. ङ. ज. । 10. चतुरस्रं–क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 11. डिकां–ख. ग. ङ. छ. । 12. चतुर्भुजा–ङ. च. । 13. दें–ङ च. ज. । 14. भौं–ङ.च., जां–ख घ., ऊं–ज. ञ. । 15. कौं–ख.घ., कें–ङ.च.छ.झ. । 16. 'कां क्रां' इति विपर्यस्तः पाठः–छ. । 17. लं–ङ. । 18. प्रें–ङ. ज. ञ. । 19. सौं–ङ. च. ज. झ. ञ. । 20. सूं–ख. च. । 21. मुं–ङ., मूं–च. । 22. कुं–ङ. । 23. पाल–ङ. । 24. त्वगाल–क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 25. मला–छ. । 26. 'पीठ' नास्ति–घ. । 27. 'भूमिपीठ' नास्ति–क. ख. ग. ङ. छ. ज. झ. ञं. ।

गोदावरीवामकर्णे [1]स्वरवैरिणस्नायुवहा रजानाडी वि(वी)रमती, रामेश्वर-भ्रूमध्ये अमिताभा अस्थिवहा [2]पटानाडी खर्वरी। देवीकोटचक्षुर्द्वये वज्रप्रभा वुक्कवहा भगानाडी लङ्केश्वरी, ता(मा)लवस्कन्धद्वयो[3]र्वज्रदेह[4]हृदयवहा [5]चोद्धतानाडी द्रुमच्छाया। इत्युपपीठविमलाभूमि[6] शीलसमुदयज्ञानम्[7]। चित्तचक्रं धमं हूँ खर्वरी स्वर्गालयः।

कामरूपकक्षद्वयं अङ्कुरिकः[8] अक्षिवहा महानाडी ऐरावती। ओड्रे स्तनयुगले वज्रजटिले[9] पित्तवहा महानाडी महाभैरवी। इति क्षेत्रं प्रभाकरी[10]क्षान्तिनिरोधज्ञानम्।

[11]त्रिशकुनिनाभौ महावीरफुफ्फुसवहा प्रभानाडी वायुवेगा। कोशले नासिकाग्रे वज्रहूंकार-अन्त्रमालावहा [12]हलानाडी सुराभक्षी। इति उपक्षेत्रम् अर्चिष्मती-[13]भूमिवीर्यमार्गज्ञानम्।

कलिङ्गे मुखे [14]सुभद्रगुणवर्तिवहा महानाडी श्यामादेवी। लम्पाककण्ठे वज्र-भद्रा[15] बलवहा[16] सौख्यदा नाडी सुभद्रा। इति छन्दोह-अभिमुखीभूमि[17]ध्यानक्षय-[18] ज्ञानम्।

काञ्चिद्वय[19](पायु) महाभैरवपुली(री)षवहा [20]घनानाडी हयकर्णा। हिमालये मेढ्रे विरूपाक्षां(क्षा) सीमान्तवहा सितानाडी खगानना। इति उपछन्दोहसुदुर्जयाभूमि-प्रज्ञाऽनुत्पाद[21]ज्ञानम्। इति वाक्चक्रम्। संभोग-आभूचरीमर्त्यभोगः।

प्रेतपुर्यां लिङ्गे महाबला[22] श्लेष्मवहा नाडी चक्रवेगा। गृहदेवतायां गुदे रत्न-वज्रपूयवहा[23] नटीनाडी खण्डरोहा। इति मेलापकदूरङ्गमाभूम्युपायो धर्मज्ञानम्।

सौराष्ट्रे ऊरुद्वयोर्हयग्रीवलोहितवहा स्फुटानाडी शौण्डिनी, सुवर्णद्वीपे जङ्घायामाकाशगर्भ[24]स्वेदवहा लतानाडी चक्रवर्मिणी। इति उपमेलापकम् अचलाभूमि-प्रणिधानमद्वयं ज्ञानम्।

नगल(र)पादाङ्गुलिषु श्रीहेरुकमेदोवहा बलानाडी सुवीरा। सिन्धौ पादपृष्ठे पद्मनर्तेश्वर[25]अश्रुवहा शठानाडी महाबला। इति श्मशानं साधुमतिभूमिबलसंवृत्तिज्ञानम्।

---

1. सुरवै—ख. ग. ङ. च. छ. ञ.। 2. परा—च.। 3. 'द्वयो' नास्ति—ज.। 4. देहा—छ. ज.। 5. छता—ञ.। 6. इतः परं 'भूमि' पद नास्ति—क. ख. ग. च. छ. ज. झ. ञ। 7. स्थानम्—क. ग. घ.। 8. रिक—छ. ज.। 9. युगलवज्रतिल—क. ग. जटिल—ज.। 10. प्रभास्था-क. ख. ग. ज., प्रभास्य—च.। 11. त्रिशकुली—क. ग. ज. ञ.। 12. हल—क. ग. ज., लतानाडी—च.। 13. 'भूमि' नास्ति—क. ख. ग. च. छ. ज.। 14. सुभद्रा—घ., द्रे—च.। 15. वज्रप्रभा—घ.। 16. दलवहा—ख. ङ. च. छ. झ., उदरवहा—घ.। 17. 'भूमि'नास्ति—क.ख.ग.च.छ.ज.। 18. ध्यानकरं—क.। 19. काञ्चित्रिय—क. ग., हृदय—घ. झ. ञ., घ्रिय—ज.। 20. तना—क.ग.ज.। 21. अनुत्पन्न.—च.। 22. महाचण्डास्यवहा—क. ग.। 23. पूयमहामती—क. ग.। 24. शसंगर्भश्वेत—छ.। 25. नृत्येश्वर—क. ग. ज. झ.।

मरौ[1] अङ्गुष्ठयोर्वैरोचनश्वेत[2]वहा गणानाडी चक्रवर्तिनी । [3]कुलतायां जानु-द्वयं(ये) वज्रसत्त्वबालसिंघा[4]वहा समानाडी महावीर्या । इति उपश्मशानधर्ममेघा[5]ज्ञान-परचित्तज्ञानम् । इति काय[6]चक्रनिर्माणम् । ॐ पातालवासिनि पातालमधिकारः ।

एतेषां दशपीठ-दशभूमि-दशपारमितास्वभावम् । मुखपूर्वद्वारे उग्रानाडी काकास्या, दक्षिणनासा-उत्तरद्वारे घोरानाडी उलूकास्या, गुदे पश्चिमद्वारे अग्निवदनानाडी श्वानास्या, वामनासादक्षिणद्वारे तेजिनीनाडी शूकरास्या, वामकर्णे आग्नेये खड्गधारी नाडी यमदाती[7], दक्षिणकर्णे नैर्ऋत्ये चक्रीनाडी यमदूती, दक्षिणनेत्रे वायव्ये [8]सूची-मुखानाडी यमदंष्ट्री, वामनेत्रे ऐशाने स्वभावकुक्षिनाडी यममथनी ।

अत्र केचिदेवं वदन्ति—वामपादस्याग्रोत्तरं गुल्फपार्ष्णिदक्षिणगुल्फेषु[9] स्थिता या[10] द्वारपालिन्यः, दक्षिणपादस्याग्रे दक्षिणगुल्फपार्ष्णिवामगुल्फेषु स्थिताः कोणवा-सिन्या(न्यो) योगिन्या(न्यः) इति ।

एवमध्यात्ममाराध्य मण्डलं भावयेत् । यदि वाराहीमूलं विश्ववज्रतन्मध्य-[11] विश्वपङ्केरुह[12]मन्त्र(न्त)श्चतुर्दलं बहिरष्टदलं बिन्दुरूपं[13] विभाव्य तन्मध्यगां निरालम्बां यावद् [14]नाडीत्रयैकरूपां[15] प्रभास्वरां[16] नालरूपां[17] वज्रवाराहीं भावयेत् । तत्र त्रिदलं(ले) बिन्दुरूपास्तिस्रस्तिस्रः शशाद्या नाडिका[18] डाकिन्यादिडाकिनीस्वभावा[19] विभाव्य नाडीचक्रान्तर्वर्तिव्यापकं महाज्ञानं [20]श्रीचक्रसंवरं यावदित्थं(च्छं) चिन्तयेत् । ततः [21]स्फूलयोगेन वाराहीमुत्थाप्य सुखस्थाने[22] सर्वतथागतांश्चोदयेत् । चोदितै-रमृतीभूतैर्यथोक्तमण्डलं सेवयेत् । ततोऽभिमुखीकृत्य अमृतरूपपरममन्त्रमावर्तयेत् । सैव पूजा, सैव स्मृतिः, स एवामृतास्वाद इति ।

इति[23]ज्ञानोदय(ये) नाडीचक्रात्मकपरमगम्भीरो[24]त्पन्नक्रमः

---

1. मरुत–क. ख. ग. ज. झ. ञ. । 2. खेट–ख.ङ.छ.ज.झ.ञ., विड्–घ. । 3. कुलजा–क., कुलताजा–ख.ग. । 4. भालसिंही–च. । 5. मेघा–ञ. । 6. कायक्रम–झ.ञ. । 7. दाढी–ञ. । 8. शुचिमु–क. छ.ज.ञ. । 9. गुल्फे प्रस्थितात्–क. ग. । 10. प्राद्वारपारिण्या–क. ख. ग. ज. ञ., प्रावारपारिण्या–घ. ङ. च, न्याद्वार–झ. । 11. मध्ये–ङ. च. । 12. सहे–ङ. च. । 13. 'बिन्दुरूपं' नास्ति–क. ख. ग. घ. छ. ज. झ. ञ. । 14. हृदयैक–घ. । 15. रूपात्–क. ग. ज. । 16. स्वरात्–क. ग. ज. । 17 नाड्यरूपात्–क. ख. ग. घ. ङ. च., नाडीरूपात्–झ. । 18. नाडी–च. छ. ङ. ञ. । 19. भावं–क. ख. ग. घ. । 20. श्रीमहाचक्र–छ., श्रीचक्रसंवरसंवरं–झ. ञ. । 21. स्फुलन–क. ग. ज. झ., स्फरण–ङ., स्फलन–ञ. । 22. स्थानेन–घ., स्थान्–ङ. । 23. तत्त्वज्ञानो–छ. । 24 .गभीरो–च. ।

जिह्वां तालुगतां कृत्वा योगी योगपरो भवेत् ।
योगजं [1]स्फारयेद् बुद्धं सर्वाशाकाशवस्तुषु ॥ 3 ॥
सिद्धयते जन्मनीहैव मन्दपुण्योऽपि मानवः ।
गुरुपादप्रसादेन योगाभ्यासात्सेन(भ्यासवशेन) च ॥ 4 ॥

तथा [2]चोक्तम्—

वीरस्य वीर[3]जिह्वायां जिह्वा ताल्वन्तरे पुनः ।
तालुदेशे तु वीरेशः कृत्वा ध्यानपरो भवेत् ॥
षण्मासात् सिद्धयते ज्ञानं चिन्तामणिरिवापरम् ॥ 5 ॥ इत्यादि ।

अथा[4]परयोग उच्यते—झटित्यात्मानं श्रीहेरुकं विभाव्य नाभिहृत्कण्ठशीर्षेषु चत्वारि चक्रं(क्राणि) चिन्तयेत् । तत्र नाभिमूले चतुःषष्टिदल[5]विशुद्धया चतुर्देवीनां षोडशशून्यतादिस्वभावषोडशाब्दविशुद्धया वा चतुःषष्टिदलं त्रिकोणं विचित्रं निर्माणचक्रं दलेष्वनुरो(लो)मतः ककारादीनि द्वात्रिंशद्वयञ्जनानि विलोमतस्तानि द्वात्रिंशद्वयञ्जनान्येव च[6] मध्ये अंकारं प्रभास्वरं भावयेत् । हृदये[7] अष्ट[8]दलं चतुरस्रं कृष्टं[9] धर्मचक्रं तस्य दिग्लेषु ॐ[10]हूँ त्रां ह्रीं खँ तद्विदिग्दलेषु लाँ माँ पाँ ताँ तदूर्ध्वतो अ क च ट त प य [11]शं सा(शा)न्तभूतभौतिकरूपं मध्ये[12] हूँकारं भावयेत् । कण्ठे षोडशशून्यताविशुद्धया वा[13]षोडशमर्धचन्द्राभं रक्तं संभोगचक्रम् । तस्य दलेषु षोडशस्वरा मध्ये [14]वंकारं भावयेत् । शिरसि द्वात्रिंशन्नाडीविशुद्धया द्वात्रिंशत्पुरुषलक्षणविशुद्धया द्वात्रिंशद्दलं [15]वर्तुलं शुक्लं महासुखचक्रम् । तस्य दलेषु ककारादिद्वात्रिंशद्वयञ्जनानि तदुपरि षोडशस्वराननुलोमतो मध्ये [16]हूँकारमनाहतश्रवं[17]चित्तधरं[18] विभावयेत् ।

[19]अथवाऽऽहुः—ऊर्ध्वंचक्रमधश्चक्रं त्रिकोणं[20] मध्ये चक्रद्वये [21]हुंकारमिति ।

---

1. स्फुर–क. ग. ज. ञ. । 2. प्रो–क. ग. । 3. वीरं–ञ. । 4. अथ प–ग., परो–घ. । 5. दण्ड–क.ख.ग.घ.च.ज.झ.ञ., दण्डविशुद्धाश्च–ङ, शुद्धांश्च–च. । 6. 'च' नास्ति–छ. ज. झ. ञ. । 7. 'हृदयेऽष्टपते(त्र)विशुद्धया आर्याष्टाङ्गमार्गविशुद्धया अष्टौ विमोक्षविशुद्धया' इत्यधिकः पाठः–झ. । 8. मण्डलं–छ. । 9. कृष्ट्या–क., कृष्णा–ग. ज. झ., ष्णं–ङ. च. छ. । 10. 'हूं' नास्ति–क. ख. ग. घ. ङ. ज. झ. । 11. शः–च. ञ., सं–ज. । 12. मध्यहुं–क. ख. ग. झ. । 13. 'षोडशान्यप्रज्ञासंभोगविशुद्धया षोडशकान्तिविशुद्धया' इत्यधिकः पाठः–झ., 'वा' नास्ति–ज. ञ. । 14. ॐकारं–झ. भ. । 15. चतुर्दलं–ङ. च. । 16. हंकार–क. ख. ग. घ. ज. ञ. । 17. श्रवचि–ग. घ. ड. ज. ञ. । 18. धारं–ख. ग. घ. ङ. ज. झ. । 19. अथ त्वा–ख. घ. ङ. च. । 20. त्रिकोणमध्य–च., विकारं–क. ग. । 21. हंकार–ख. घ. च. ज., हूँकार–ञ. ।

[1]ततस्तेषु चतुर्षु चक्रेषु चतू[2](तुश्)चतूरूपान् यथाक्रमं विभाव्य विचित्र-विपाक-विमर्दविलक्षण–आनन्द-परमानन्द-विरमानन्द-सहजानन्द–दुःख-समुदय–निरोध-मार्ग[3]–आत्मतत्त्व-मन्त्रतत्त्व-देवतातत्त्व-ज्ञानतत्त्व–स्थावर-सर्वास्ति-संविति[4] - महासंघी–निष्पन्न–विपाक-पुरुषकार - वैमल्यानि–त्वरित-बाष्प - विवर्च - विश्वस्थात्[5]–आचार्य-भिक्षु - श्रावणैरक[6]-चैरक[7]–परपीठ - आत्मपीठ - योगपीठ - तत्त्वपीठ–एकार-वंकार-मकार-यकार–लोचना-मामकी-पाण्डरा-तारा–कर्ममुद्रा - धर्ममुद्रा - ज्ञानमुद्रा-महामुद्रा–शून्यता -निर्मिता[8]- प्रणिहिता-अनभिस्कारा[9]–गंगा-सागर - प्रयाग- कुरुक्षेत्र–गया-वाराणसी - जगन्नाथ - काशी–कृत-त्रेता-द्वापर-कलि–पूर्वाह्ण-मध्याह्न-ऽपराह्ण-अर्धरात्रान्, शरत्-शिशिर - ग्रीष्म - वर्षा ओडियान-जालन्धर-देवीकोट-पुल्लीरान्, वात-पित्त-श्लेष्म-सन्निपातान्, सेवा-उपसाधन-रो(सा)धन-महासाधन–पृथ्वी-आप-तेज-वायु–मैत्री-करुणा-मुदिता- उपेक्षा–मृदुयोग-अनु-योग-नियोग-महायोग–पूर्वविदेह- जम्बूद्वीप - अपरगोदावरि-उत्तरकुरु–चतुःसागरस्वभाव–[10]शुभ्रवर्ण-पीतवर्ण-रक्तवर्ण-हरितवर्ण–ॐकार-आकार - हूँकार - फट्कार–प्रज्ञा[11]-उपाय-कालि-आलि–धर्म-संभोग - निर्माण - महासुख–यंकार - रंकार - लंकार-वंकार–ब्राह्मण - क्षत्री-वैश्य-शूद्र–चन्द्र-सूर्य-तारा-राहु–पाताल-पृथ्वी-आकाश-स्वर्गांश्च क्रमेणाधिमुञ्चेत् ।

एवं बुद्धकायं चतुष्टयस्वभावं चतुश्चक्रं विभाव्य चक्रस्थबीजा[12]क्षरैर्मरीचिमुखेभ्यः सर्वतथागतान् [13]सर्वबोधिसत्त्वान् वीरयोगिनीमण्डलाकारेण संस्फार्य तान् विहितजगदर्थान् गृहीताखिलजिन[14]मतांस्तेष्वेव संहृत्य चक्रचतुष्टयं यावदित्थं(च्छं) भावयेत् । तदिदं [15]भावरत्नं चिरकालं भावयेत् । कायचतुष्टयं(य)लाभो इहैव जन्मनि संपद्येत[16] ।

इति ज्ञानोदये[17]चतुश्चक्रभावनायोगः

अथ नाडीत्रययोग उच्यते ।

कण्ठादारभ्य वामेना(न) प्रवृत्ताऽधोमुखी नाभिमण्डलगता मूत्रवहाऽऽलिव्याप्ता नाभेरारभ्य सव्येन प्रवृत्तोर्द्ध(र्ध्व)मुखी कण्ठपर्यन्तगता रक्तवहा कालिव्याप्ता ।

---

1. तत्र–ङ. । 2. 'चतू' नास्ति–क. ग. घ. । 3. मार्गान्–ग. घ. ङ. च. । 4. संवृति-ञ । 5. स्फात्–क. ग., स्थाने–च. । 6. मैरक–क. ग. घ. झ. । 7. नेरक–घ. च. । 8. निमित्ता–ङ. । 9. नाभिरका–ग., नाभिसंस्था–घ. । 10. श्वेत–च. । 11. उपायप्रज्ञा–ख. ग. च. । 12. वीता–क. ग. । 13. सबोधि–क. ग. ज. झ. ञ., संबोधि–च. छ. । 14. जिनज्ञानमतां–क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. झ. । 15. सादरं निरन्तरं–ख.घ.छ. ज. ञ., सारदं–झ. । 16. द्यते–ञ. । 17. 'चतुश्' नास्ति–च. ।

तेन[1] प्रज्ञोपाय–शून्यताकरुणा–चन्द्रसूर्य–आलिकालि–प्रवेशनिष्काश–दिनरात्रि-व(अ)स्तमनोदय–उत्तरायणदक्षिणायां(यन)–संभोगनिर्माण–स्वप्नप्रबोध–परमार्थसंवृति-सूक्ष्म-स्थूल–वेकारवंकार–कंकारअंकार–भावाभाव–ज्ञेयज्ञानौ(न)–ग्राह्यग्राहकौ(क)–ल(र)स-नाललना–इंगलापिंगला–एवमूनविंशत्याकारमधिमुञ्चेत् ।

मध्यमा तु नाडिका द्वयद्वयैकरूपाऽधोमुखी बोधिचित्तवहा कदलीपुष्पसन्निभा लम्बमाना तैलवह्निरिवादी(वोद्दी)प्ता धर्मकाय[2]वाक्चित्तैकरूपा सहजानन्ददायिका । एता एव तिस्रो नाडिका(:) । कुह सन्धिर्भवेत्(?) एकीभावः । योनिनाड्यो भवन्ति । ताः पुनस्त्रि[3]भवपरिणता ग्राह्यग्राहकवर्जिता महासुखकायात्मिका[:] [4]शून्यताकरुणाभिन्नं(न्न)-बोधिचित्तस्वभावा इत्यधिमुञ्चेत् ।

तद्गतैकमानसो[5] मन्त्री यावदिच्छं तिष्ठेत्[6] । नियतं प्रज्ञोपायाद्वयसिद्धिः(द्धीः) संपश्येत[7] ।

इति ज्ञानोदये नाडीत्रयभावनायोगः

अथ सहजप्रज्ञायोग उच्यते—

निर्माणचक्रमध्यस्था प्रज्ञावर्णाग्ररूपिणी ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती सहजात्मिका ।। ६ ।।
विद्यु[8]च्छता(त)प्रतीकाशा सुसूक्ष्मा बिसतन्तुवत् ।
[9]विभाव्योत्थापयेन्मन्त्री सद्गुरू(रोरु)पदेशतः[10]।। ७ ।।

ततस्तान् धर्मसंभोगचक्रमा(गां)स्तथागतान् सबोधिसत्त्वगणान् दग्ध्वा निष्काश-मार्गेण निष्क्रम्य उपायं त्रि[:] प्रदक्षिणीकृत्य ऊर्णाकोशान्(कोश)गतान् भावयेत् । ततो मर्मोद्घाटकद्वारेण निःसृत्य दशदिग्गतानां बुद्धबोधिसत्त्वानां प्रवेशमार्गेण प्रविश्य जाल-न्धरगतांश्चक्रस्थान् ससुतान् सर्वसुगतान् दग्ध्वा गृहीतं तत्पीयूषरसं शिखारन्ध्रेण निर्गत्य स्वप्रवेशमार्गेण प्रविश्य दग्धांस्तथागतादि(तांस्त्रिः) प्रदक्षिणीकृत्य ओडियानेन निर्गत्य जालन्धरेण प्रविष्टांश्चिन्तयेत् । तत्र तत्र श्रवन्ती क्षीरधारा वहन्तः(न्ती) सीमान्तरगता[न्]

1. ते पुनः–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 2. वाग्भिर्नैक–क. ङ., बोधिचित्तैक–च. । 3. विभव–क.ङ., परिरता–क. ग. ङ. । 4. 'शून्यता' नास्ति–क. ख. ग. ङ. ज. । 5. मानसामग्रीं–क. ङ. । 6. तिष्ठतु–ग., इष्टतु–क. ङ. । 7. संपश्यते–ख. घ. ङ. ज. ञ. । 8. विशुद्धता–क. ङ. । 9. विविच्योत्था–क. ग.ङ. । 10. देशक–ज. झ. ञ. ।

दग्धा[न्] तथागतांस्तोषयन्ती[1] पुनरपि निर्माणचक्रे स्थितान् पश्येत् । एवमरहत(ट्ट)-घटिकावच्चित्तविश्रामपूर्वकं पुनः पुनर्भावयेत् । एवम[2]भ्यस्यते(तोऽ)चिरादेव महामुद्रा[3]-सिद्धिरभिमुखी भविष्यति ।

इति ज्ञानोदये सहजप्रज्ञायोगमि(ग इ)ति

[4]अथापरयोगः कथ्यते ।

निर्माणचक्रमध्यस्थां ज्वलन्तीमालीं(लिं) संक्षेपरूपां तिलकाख्यां प्रज्ञामुत्पत्य धर्मचक्रगतेन कालिसंक्षिप्तरूपेण श्रवदमृतधारेण वसन्ताख्येनोपायेन सहजसमापन्नामनु-रक्तामा स(सं)क्षोभ्य सानन्दा(न्दां) भावयेत् । तत्र स्फरणयोगेन व्याप्ताशेषाकाशभावं तामधिमुञ्चेत् ।

इति ज्ञानोदये वसन्ततिलकयोगः

[5]एषामन्यतमो योगः कर्तव्यः सिद्धिमिच्छता ।
तत्राक्षसूत्रेण नियमो जपो ध्यानं तथार्चनम् ॥ ८ ॥
न तिथिर्न च नक्षत्रं नोपवासो न चाहुतिः ।
न च धर्मसमादाय[:] प्रतिमावन्दना न च ॥ ९ ॥
न पूजा [न] परं ध्यानं न मण्डलं तथार्चनम् ।
स एव नियमः[6]पीठे वन्दना सैव योगिनः ॥ १० ॥
सिद्धौ[7] च वसुधादीनां लय[:] [8]स्याद(द्व)शवर्ति ते[9]।
ज्ञानमात्रं [10]सदा तिष्ठेद् [11]भासुरो गगनोपमः ॥ ११ ॥
निमित्तसिद्धिं जानीयान्निमित्तानि[12] तु पञ्चधा ।
अतः संलक्ष्य(क्ष)येत्[13]तानि योगि(गी) धारणचेतसा ॥ १२ ॥
प्रथमं मरीचिकाकारं धूमाकारं द्वितीयकम् ।
तृतीयं खद्योताकारं चतुर्थं दीपवज्ज्वलेत् ॥
पञ्चमं तु सदालोकं निरभ्रं गगणसन्निभम् ॥ १३ ॥

इति पञ्चाकारमिति ।

---

1. यन्ति–ञ. । 2. मत्यास्यते–क. ख. ग. घ. ङ. छ. झ., मुत्पश्यते–च. । 3. समुद्रा–ख. घ. च. । 4. 'अथ' नास्ति–ख. छ. ञ., अथ पर–ग. ज. झ., अपरो–च. । 5. यथा मन्यते मायागः–क. ग. घ. ङ. । 6. मोऽपोत्थं–क. घ. ङ. । 7. सिन्धौ–क. घ. ङ. । 8. स्मा–ग. । 9. मे–ज. झ. । 10 तदा–च. छ. ज. झ. ञ. । 11. दास्तरो–क. घ. ङ., हास्त–ग. । 12. त्तहानि–क. ङ. ज. । 13. लक्षताज्ञानि–क. ग. ङ. ज. ।

एवमभ्यस्यतः[1] सम्यग् योगिनो योगसंभवात्[2] ।
महामुद्राह्वया[3] सिद्धिर्जायते नात्र संशयः ।। 14 ।।
किं पुनः सिद्धयः क्षुद्रा[ः] खड्गवेतालकादयः ।
अणिमादिगुणाश्चापि महाभिज्ञादयस्तथा ।। 15 ।।

समाप्तोऽयं समुत्पन्नक्रमयोगः

शुक्ला याऽस्ति अथ कृष्णा दशम्यां कृतमण्डला(लः) ।
वीरवीरेश्वरीपूजां विदध्याद् विधिवत् सदा ।। 16 ।।
कृष्णाष्टम्यां चतुर्दश्यां शुक्लपक्षे च साधकः ।
संपूज्य वीरयोगिन्या(न्यो) विधिना मदनैर्बलैः ।। 17 ।।
एवं संपूजिताः स्तोत्रं(त्रैः) पुष्टिमि(मृ)च्छन्ति सर्वथा ।
तुष्टाः सिद्धिं[4] प्रयच्छन्ति तस्मात् पूजा(ज्याः)सदैव ताः ।। 18 ।।
वामोद्गतं[5] यत्र जगत् सर्वं स्थावरजङ्गमम् ।
अतः सर्वाणि कर्माणि कुर्याद् वामेन पाणिना ।। 19 ।।
वामोच्चारो[6] भवेद् योगी वामसर्वार्थसाधनः ।
वामजापकरो नित्यं सर्वोपद्रवनाशनम् ।। 20 ।।
इति सञ्चिन्त्य योगीन्द्रः सर्वशङ्काविवर्जितः ।
सिंहवद् विचरेत् [7]स्त्रीभिः सदा योगेन तत्परः ।। 21 ।।
पञ्चस्वपि च वर्णेषु विचरेदेकवर्णवत् ।
निर्विकल्पात्मको भूत्वा भुञ्जयेत् कामपञ्चकम् ।। 22 ।।
योगिनीभिश्च्युतो योगी नीयते परमं पदम् ।
पूजाभि[8]र्बाह्यगुह्याभिः संपूज्या(ज्य) च विधानतः ।। 23 ।।
कृत्वाऽसौ संवरस्य त्रिभवभवस्वभोः[9] साधनं संवराग्रं
यन्मे पुण्यं प्रसूतिं(तं) विध(धु)करविमर(लं)[10] दोषविध्वंसदक्षम्[11] ।
तेनास्य सर्वसत्त्वास्त्रिभवभयहरश्रीसुखस्फीतगात्रा
वीराः श्रीहेरुकाद्या निजयुवतियुता आत्मगोत्रानुरूपाः ।। 24 ।।

इति ज्ञानोदये प्रज्ञोपाययोगः

---

1. मत्यस्यते–क. । 2. संभवेत्–घ. । 3. द्रांकया–क.ग.ङ.झ. । 4. ऋद्धि–क.ख. । 5. गता–क.ख.ग.घ. ङ. ज. । 6. वामचारो–ज.झ.ञ. । 7. नित्यं–छ.ञ., त्रिभिः–झ. । 8. रार्यगुह्या–क, वार्यगुह्या–ग. । 9. भवे–क.ख.ग.ङ.च.छ.ज. । 10. विसरं–च. । 11. विद्युत्सुदक्षं–ख. घ. ङ. च. छ., सदक्षं–क. ग. ।

अथ षट्चक्रविशुद्धिमाह—

शिखास्थाने ललाटे च कण्ठे हृदयनाभितः ।
लिङ्गेषु त्रिदलं पद्मं चतुःषष्टयष्टषोडशम् ॥ 25 ॥
द्वात्रिंशं[1] चतुर्दलं चैव बोधिबीजेन[2] शोभितम् ।
व्यञ्जनं च स्वरं तेषां मातृकास्वरव्यञ्जनम् ॥ 26 ॥

[3]त्रये दले रं च ह्लींकारं वज्रयोगिनी वंकारं हूँकारं हेरुकं ध्यात्वा षट्चक्र परिकीर्तितम् । षट्चक्रः [4]षट्पटाकारमधिमुञ्चेत् । तद्यथा—

वज्रसत्त्वः, अक्षोभ्यः, अमोघसिद्धिः, वैरोचनः, रत्नसंभवः, अमिताभश्चेति षट्जिन[5]स्वभावम् । सर्वस्कन्ध-विज्ञानस्कन्ध-संसारस्कन्ध[6]-रूपस्कन्ध-वेदनास्कन्ध-संज्ञानस्कन्ध[7]इति षट्[8]स्कन्धाकार.(रम्) । [9]विज्ञानधातु-आकाशधातु-वायुधातु-पृथ्वीधातु-तेजोधातु-तोयधातु इति षट्धातुस्वभावम् । मनः-श्रोत्र-घ्राण-काय-चक्षुर्जिह्वा षडिन्द्रिय-स्वभावम् । शब्द-धर्मधातु-स्पर्श-गन्ध-रस-रूप इति षड्रसः । धर्मधात्वीश्वरी[10]-स्पर्श-वज्री-तारा[11]-लोचना-मामकी-पाण्डरा षट् तारा[12] चेति । हेर-नील-मल्प-मुक्ति-कर्केतन-पद्मराग षड्धातुः । इदं ब्रह्माण्डसदृशाकारं ब्रह्मभुवनं गुह्यचक्रं धर्मोदयाकारम् ।

धर्मोदयामहोद्याने नानाकुसुमविराजिते ।
शुक्लरक्तादिपुष्पेण फलप्रसवमण्डितम्[13] ॥
[14]महाधर्मव्याख्यानस्थाने[15] [16]प्रसवभूमिसम्पदम् ॥ 27 ॥

अथ नाडीत्रयभावना—

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥ 28 ॥
कदलीपुष्पसंकाशं(शा) लम्बमाना त्वधोमुखं(खी) ।
तैलवह्निरिवोद्दीप्ता बोधिचित्तसमावहा ॥ 29 ॥
सावधूती स(सु)विज्ञाय(ता) सहजानन्ददायिका ।
प्रधाना[17] सर्वनाडीनां ललनाद्यास्तु नाडिकाः ॥ 30 ॥

---

1. शच्चतुर्दले—क.ख.ङ.छ.ज. । 2. वीर्येण—ङ. । 3. त्रयदलरंचनयो—क., त्रयं दं लं रं च ह्लींकारयो—ङ. ज , त्रयदलं च ह्लींकारं वज्रयो—घ. च. । 4. चक्रमध्यपकार—क., चक्रं—ङ., षड्घटाकार—ग. घ. ज. । 5. जित—क. । 6. 'स्कन्ध' नास्ति—च. । 7. संज्ञास्कं—च.छ. । 8. षट्चक्रस्कन्धा—च. । 9. ज्ञान—ज.झ. । 10. धात्वे—ज.ञ. । 11. वती—क. । 12. तारादेवी—च. 13. ते—क.ख.ग.घ.ङ.च. । 14. सद्धर्म—च. । 15. स्थानेन—क. ख.ग.घ.ङ.च.छ. । 16. प्रशस्त—ज.ग. । 17. प्राधान्य—झ ।

अत एवा[1]श्रयामन्या गङ्गासिन्धुपरापगा:[2] ।
ता एव [3]योनिनाड्या(ड्य:) स्युरेकी[4]भूता: खगानना ॥ 31 ॥
संभोगकायरूपात्मा जानीयाद् देहमाश्रिता: ।
तिस्रस्त्रिया[5](स्त्विमा:) प्रधाना या ललनाद्यास्तु नाडिका: ॥ 32 ॥
ललना संभोगिककायो ल(र)सना निर्माणिकी तनु:[6] ।
अवधूती धर्मकाय[:] स्यादिति कायत्रयो मत: ॥ 33 ॥
एता नाडिका: सर्वा: शरीरशुभकारिणी ।
तस्या: समूहसंजाता(तं) पिण्डेन देवतात्मका: ॥ 34 ॥
पिण्डातीतं भवेत् पिण्डं पिण्डातीतं च देवता ।
तस्मादचित्तयोगेन तथतामयसर्वगा ॥ 35 ॥
प्रवेशाद्[7] वै भवेत्सृष्टि[:]स्थिति[:] निश्चलरूपत: ।
विनाशो निर्गतो वायुर्यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ 36 ॥
प्रत्यक्षं[8] भावयेत् स्वाङ्गे तिष्ठति[9] चक्र उष्णीषे ।
कर्मनित्यक्रमे चैव ललाटे विधि भावयेत् ॥ 37 ॥
खाद्यभोज्यं तथा पिबेत् [10]कण्ठचक्रं विभावयेत् ।
सम्पूर्णं खादयेत् पश्चाद् हृच्चक्रे सुखं तिष्ठति ॥ 38 ॥
मध्याह्ने भावयेद्योगं [11]नाभ्यक्ता क्रम भावयेत् ।
सन्ध्यान्ते गुह्यचक्रे तु प्रज्ञोपायसुखं भवेत् ॥ 39 ॥
येन येनैव भावेन फुल्लित: सर्वहेतुना ।
तेन तेनैव[12] योगेन साधकी[13] सिद्धि[14]मुक्तिदम् ॥ 40 ॥
वर्षं च बह्वतिक्रान्तं [15]मूर्धमूर्द्धगतं भवेत् ।
निर्वाणा[16]कारं जानीयाद्विनिर्गत्पुष्टिशो[17]षयो: ॥ 41 ॥

---

1. वशया—क. ग. ज. झ. ञ. । 2. परोगया—ख. ङ. च., परायणा—घ. । 3. योगिनीनाड्या—क. ङ. ज. ञ., योगिन्याद्या:—घ. । 4. स्युरकीर्तिता:—क. ग. ज. । 5. स्त्रिमस्त्रिमा—क. ग. ङ. । 6. तत:—ख. घ. ङ. च. । 7. शार्द्धं—क. ग. ज. । 8. प्रत्येकं—क. ग., प्रत्यक्ष—ख. घ. च छ । 9. भोष्टानि—क. ज । 10. घण्ट—ङ. च, चक्रे—ञ. । 11. नानेका—क. ग., नोत्यक्ता—ङ. च., नाङ्का—ज, नात्यक्षा—ञ. । 12. तेन च—क ख. । 13. की:—क. ख. ग. घ. ङ. च. । 14 मुक्तिसिद्धि—घ. ङ. च. । 15. मुद्रमूर्धं—क. ज. । 16. णकालं—च. । 17. त्यष्टिषो ययो:—क. ख. ञ, ययौ—घ. ज., पुष्टिपोषयो:—च. ।

कुतो ध्यायान्मृत्युकाले धर्मचक्रे स्वयंभुवः[1] ।
स(त)एव भावमात्रेण गच्छन्ति च सुखावतीम् ॥ 42 ॥

हृदया[2]ब्जगतं वायुः(युं) शीतहूँकारसन्निभम् ।
ध्यायात् समाहितो योऽसौ भवेन्निर्वाणकारकः ॥ 43 ॥

संसार ऊर्ध्वगो वायुर्निर्वाणं स्यादधोगतम्(तः) ।
अप्रतिष्ठितनिर्वाण(णं) हृदयाम्भोरुहस्थिता(तः) ॥ 44 ॥

[3]चक्रैः षड् ज्ञायते धीमान्[4] गुह्यचक्रं विनिर्गतम् ।
स एवंभूतजातीयान्[5] मलमूत्रेषु [6]ज्वालयेत् ॥ 45 ॥

सैव निर्माणकं ज्ञेयं शरीरे नालके जले ।
धर्मचक्रं शुभकुले नोयते सुखात्मकः(कम्) ॥ 46 ॥

नारके अवीचिकण्ठे ललाटे देवशासने ।
उष्णीषं साधकं ध्यात्वा[7] गच्छन्ति अधिमुक्तिके[8] ॥ 47 ॥

इदं पश्यथ भूतानां धर्मकर्म कुरु क्षणम् ।
संयोगं[9] पवनं भेदं[10] सदृशी(शो) नास्ति कस्यचित् ॥ 48 ॥

द्रव्येषु काष्ठेषु च मृत्तिकासु शिलासु चित्तेषु न सन्ति देवाः ।
सर्वेषु देवा मनसो विकारास्तस्मान्मनसाऽऽचरत्ये[11]तदेवम् ॥ 49 ॥

आत्मना सर्वबुद्धत्वं सर्वस्वं चित्तमेव च ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन आत्मानं पूजयेत् सदा ॥ 50 ॥

न[12] वन्दयेद्धीमान् देवान् काष्ठपाषाणमृण्मयान् ।
चित्तादेव भवन्तीति कल्पते भावहेतुना ॥ 51 ॥

इति ज्ञानोदये षट्चक्रविशुद्धियोगः

---

1. स्वयं भवेत्–क. ग. ज., भुवे–च. । 2 हृदयाक्षि–क. ख. ग. घ. ञ., हृदयाक्रमणं–च. । 3. चक्रे–क. ग. । 4. ऽधिमानं–क ख. ग. । 5 जानीयात्–छ. ज. ञ., यान् नित्यमूल–च. । 6. मेलयेत्–क., जोलयेत्–ग. ङ. ज. ञ. । 7. ज्ञात्वा–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 8. मुक्तिवै–क. ख. ग. घ. ङ. च. झ. । 9. योगे–च. । 10. भेदे–च. । 11. चरमेत–क. ख. ग. घ. छ. ज. ञ. । 12. वन्देद्धी–ग. घ. ङ च. छ. ज. झ. ञ. । 'न चापि वन्दयेद् देवान्' इत्यद्वयसिद्धि(15 श्लो०)–सुभाषितसंग्रह(पृ० 54)-स्थितः पाठः ।

अथ बाह्याध्यात्म[1]पञ्चज्ञान[2]विशुद्धिमाह—

ततश्चतुर्दलकमलोपरि मध्ये श्रीवज्रवाराहीरूपं [3]चूर्णकृतरक्तवर्ष(र्णं)[4]मद्यं पद्मभाजनं पश्येत् ।

(1) पूर्वदले डाकिनीरूपं जलचरं आदिरक्तं मद्यं [5]शुक्तिपात्रम् ।

(2) दक्षिणदले रूपिणीरूपं वनचरं शुभ्रमद्यं नारिकेलपात्रम् ।

(3) पश्चिमदले खण्डरोहारूपमाकाशचरं मार्जाल[6]कमद्यं कूर्मपात्रम् ।

(4) उत्तरदले लामारूपं पृथ्वीचरमग्निमद्यं कांस[7]पात्रम् ।

एते(वं)रूपान् विभाव्य ततः कुण्डेन पातालं वरुणभुवं पात्रेण स्वर्गं त्रिभुवनं त्रिकायं त्रिरत्नं त्र्यक्षरं त्रियानं त्रिशरणं त्रिसन्ध्याः—इति त्रयरूपाख्यं विभाव्य कुण्डं पञ्च[8]सारं पञ्चाकारेण रूपमधिमुञ्चेत् । तद्यथा—प्रथमं गोकुदहनं पञ्चाङ्कुशमिति । चक्षुर्घ्राणश्रोत्रजिह्वामनःपञ्चेन्द्रियधातुम् । मध्यद्वीप-पूर्वविदेह-जम्बूद्वीप-अपरगोदावरी-उत्तरकुरु इति पञ्चद्वीपस्वभावम् । चक्रडाक-वज्रडाक-रत्नडाक-पद्मडाक-विश्वडाक इति पञ्चडाकजिनस्वभावो भवेत् । प्राणवायु-अपानवायु-समानवायु-उदानवायु-व्यानवायु इति पञ्चवायु-[9]रूपेति । [10]पाचिनी-मारणी-आकर्षणी-पद्मनृत्येश्वरी-पद्मज्वालिनी[11] पञ्च-चक्र[12]रूपेति, पीठ-क्षेत्र-छन्दोह-मेलापक-श्मशान इति पञ्चपीठरूपम्[13] । रूप्यधातु-शीशकधातु-सुवर्णधातु-ताम्रधातु-लोहधातु इति पञ्चधातुस्वभावम् । डोम्बि(म्बी)-शूद्री-क्षत्री-वैश्या-ब्राह्मी पञ्चजातीति, नर[14]वज्रधाते(त्वी)श्वरी-हस्तिलोचनी-गोमामकी-अश्व-पाण्डुरा[15]-श्वानतारा पञ्चदेवीसंभवेति[16] । आकाश-आप-पृथ्वी-तेज-वायु पञ्चमण्डल-स्वभावेति । रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्पर्श-स्वभावम् । आदर्शण-समता-प्रत्यवेक्षणा-कृत्यानु-ष्ठान-शु(सु)विशुद्धधर्मधातुज्ञानं पञ्चज्ञानमिति । [17]श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा इति पञ्चेन्द्रियरूपं ततोऽभ्यन्तरे भावयेत्[18] ।

---

1. ध्यात्मिकं—क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. । 2. पञ्चसार—ङ. ज. ञ., सालि—च. । 3. वर्ण—च. । 4. मयं—क. । 5. मुक्ति—क. ग. ज. ञ. । 6. रकमलं—च. । 7. कंत्रपा—क., कामपा—च., कंसपा—ज. । 8. सारेण—ज. ञ । 9. 'इति' नास्ति—ञ., रुत्पत्तिः—क., रूपम्—घ. । 10. पातनी—ङ., वाचनी—च. । 11. ज्वाली—क. ख. ग. घ. च. ज. झ. । 12. उत्पत्तिः—क. च. । 13. रूपां—क. च. । 14. नरः—ख. घ. । 15. पाण्डरी—ङ. छ ज. । 16. संभोति—ग. घ. , संभाति—ङ. ज. ञ , समावेति—च. छ. । 17. शुद्धां—क. ख. ङ. झ. । 18. भावयन्—क. ।

दधिना बोधिचित्तरूपम्, [1]अम्रे(म्ले)न रक्तरूपम्, लवणेन पेयलरूपम्, तैलेन स्वेदरूपम्, चूर्णकृतमांसेन ब्राह्मण्यासारमांसरूपं विभाव्य पुनर्बोधिचित्त[2]रूपेण कोषपानं रक्तेन जलचर[3]रूपम्, पेयलेन वनचररूपम्[4], स्वेदेन आकाशचररूपम्[5], ब्राह्मण्यासारमांसेन पृथ्वीचररूपम्[6], एवंरूपान्[7] विभाव्य ततः स्वशरीरेण कुम्भं बोधिचित्ताद्या(द्य)चरुमयम्, मस्तकेन पात्रम्, अर्बुदेन पात्रस्थामृतस्वभावम्, हस्तद्वयेन [8]कुण्डेष्वनन्तवासुकीरूपम्, कुचद्वयेन [9]चन्द्रार्धसूर्याकारम्—एवं[10]रूपांश्च स्वशरीरे सर्वान् [11]भावयित्वा पूजां च कारयेत्[12] ।

अन्य[द्] विवर्जयन्नित्यं स्वशरीरेषु भावयेत् ।
सर्वं च स्वशरीरेऽस्ति[13] तेन शरीरमुत्तमम् ॥ 52 ॥

पुनर्बाह्यपूजाचूर्णकृतमेकेन अर्चयेत् । ततश्चूर्णकृतमेकेन [14]पञ्चाकारोऽस्ति, कथम् ? दधिना मध्ये कोषपानम्, अम्लेन[15] म्लेच्छरूपम्, लवणेन वनचररूपम्, तैलेन आकाशचररूपम्, चूर्णकृतमांसेन पृथ्वीचररूपम्, तदूर्ध्वस्थ[16]मांसेन गोकुदहनं पञ्चाङ्कुशरूपम् । एवमेतेन[17] बाह्यपूजां च कारयेत् ।

ततः स्वादस्य वर्णनमाह—चूर्णकृतरसून[18]सदृशम् । जलचर-मधु । वनचर-लवणम् । आकाशचर-तिक्तम् । पृथ्वीचर-आर्द्रस्वादम् । पञ्चरस-पञ्चस्वादरूपं बाह्यकषायाम्र(म्लं) [19]इत्येतेन षड्रसमधिमुञ्चेत् ॥

॥ [20]इति ज्ञानोदयतन्त्रं समाप्तम् ॥

---

1. आमिषेण–च छ । 2. चित्तेन–क. ख. ग. घ. ञ. । 3. जलचरं–क. ख. ग. घ. ङ. ज. ञ. । 4. 5. 6. 'रूपम्' नास्ति–क. ख. ग. घ. ङ. छ. झ. ञ. । 7. रूपं–च. छ. । 8. कुण्डस्थे–क. ग. ज., कुण्डस्य–घ. च., कण्ठस्थे–ङ. ञ । 9. अर्धचन्द्र–च. । 10. द्वया–क., रूपा–ख. ग. घ. च. झ. । 11. भावित्वा–क ख. ग घ. ङ ज. झ. ञ. । 12 अत्र च. मातृका समाप्ता । 13. स्थितेन–ङ. । 14. पञ्चाकारोऽपि–क. ग. च. । 15 अमृतेन–क. ख. घ च. । 16. तदूर्ध्वमां–ङ., तदर्थस्तमां–क. ग., तदर्धमष्टमां–घ. । 17. मेतेनाचार्यपूजां–क ख. ग. घ. ङ. च. छ. । 18. कृसर–क. ग., कृतरसेन–घ ङ । 19. इत्यनेन–ज. ञ. । 20 इति ज्ञानोदयपञ्जिकायां बाह्यात्मिक कुम्भसाधनं समाप्तम्–ख. ङ. छ. झ. ञ. ।

ज्ञानोदयतन्त्रस्य श्लोकार्धानुक्रमणी

विशिष्टशब्दानुक्रमणी

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

★

लेखक

भीखनलाल आत्रेय, एम॰ ए॰, डी॰ लिट्॰,

प्रोफेसर ऑफ फिलॉसोफी

(दर्शनाध्यापक)

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस

१९५७

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त का प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया था। पाठकों ने इस पुस्तक का आशातीत आदर किया। उनमें से बहुतों को इसके द्वारा जीवन में सान्त्वना और शान्ति मिली। ग्रंथ के कहीं से भी प्राप्य न होने पर लेखक के पास पत्र पर पत्र आने लगे। किन्तु अनेक कारणों से इसका दूसरा संस्करण नहीं निकल पाया। तारा प्रिन्टिंग प्रेस (वाराणसी) के श्री रमाशंकर पण्ड्या के सहयोग से यह पुस्तक अब पुनः पाठकों के सामने उपस्थित है। इसके पुनःप्रकाशन में जो अत्यन्त विलम्ब हुआ उसके लिये लेखक क्षमा चाहता है।

आत्रेय निवास
गंगा दशहरा
सं० २०१४

भीखनलाल आत्रेय

भारतीय धर्म और दर्शन के परम भक्त

सेठ जुगल किशोर बिड़ला के

करकमलोंमें

सादर समर्पित

एतच्छास्त्रश्रवणाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ॥ १ ॥
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ॥ २ ॥
(योगवासिष्ठ २।१८।३६,८ ; ३।८।१३, १५)

इस शास्त्रके बार बार पढ़नेसे और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको भलीभाँति व्यवहारमें लानेसे मनुष्यमें महान् गुणोंवाली नागरिकताका उदय होता है। इस ग्रन्थके श्रवणसे बुद्धिमें परम [illegible] जाता है और जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

लेखककी अन्य पुस्तकें

—:*:—

1. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
2. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
3. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
4. Vasiṣṭhadarṣanam (Sanskrit, with an Introduction in English)
5. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृतभूमिकासहितम्)
6. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
7. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
8. Deification of Man
9. Self-realization
10. The Elements of Indian Logic
11. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)
12. श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद
13. The Place of the Screen in Schools
14. Yogavāsiṣṭha and Some of the Minor Upanishads
15. Address on Jainism
16. Notes on Human Physiology
17. Philosophy and Theosophy
18. Spiritual and moral foundations of Peace
19. The Spirit of Indian culture
20. An Introduction to Para-psychology
21. Practical Vedanta—the Philosophy of Swami Ram Tirtha.

Available at

THE INDIAN BOOK SHOP. BANARAS.

प्रस्तावना

परमात्माका अनेक बार धन्यवाद है कि लेखक आज पाठकोंके सामने "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नामक पुस्तक को रखनेका सौभाग्य प्राप्त कर रहा है। योगवासिष्ठ महारामायण संस्कृत साहित्य में एक अद्भुत, महान्, और अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। जिस जिसने इस महाग्रन्थका विचारपूर्वक अध्ययन किया है उसीने इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। इस परम पावन ज्ञान-गङ्गासे लेखकके इस जन्मका प्रथम परिचय ११ वर्षकी आयु-में पतितपावनी श्रीजाह्नवी के तटपर स्थित परम पुण्य स्थान हरि-द्वारमें एक मित्र के घरपर हुआ था। तभी से अबतक बराबर किसी न किसी रूपमें लेखक इस ग्रन्थरत्नका अनुशीलन करता चला आ रहा है। इसके अति उच्च और गहन दार्शनिक विचारोंकी ओर ध्यान देते हुए लेखकको सदा ही इस बातका बड़ा आश्चर्य रहा है कि इतने उत्तम ग्रन्थ के सम्बन्धमें अभी तक क्यों किसी आधुनिक वैज्ञानिक-समालोचना-निष्णात भारतीय दर्शनके व्याख्याता भारतीय अथवा पाश्चात्य पण्डितने अंग्रेजी या जर्मन भाषामें कोई पुस्तक नहीं लिखी—जबकि इसकी अपेक्षा बहुत क्षुद्र ग्रन्थों तककी व्याख्याएँ और समालोचनाएँ लिखी जा चुकी हैं। भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें लिखनेवाले अधिकतर बड़े बड़े विद्वानोंने योगवासिष्ठका नाम तक भी अपने ग्रन्थोंमें कुछ दिन पहिले तक नहीं लिया था। सन् १९२३ में एम. ए. की परीक्षा पास करके, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें सहा-यक दर्शनाध्यापकके पदपर नियुक्त होते ही, लेखकने यथा अवकाश योगवासिष्ठका नियमित और विचारपूर्वक अध्ययन आरम्भ किया, और इस ग्रन्थके सम्बन्धमें आधुनिक रीतिसे अंग्रेजी भाषामें कुछ लिखनेका

प्रबन्धकोंके सामने लेखककी प्रकाशित पुस्तकोंकी बहुत प्रशंसा की, और उनसे उसकी बृहत् पुस्तकके प्रकाशित करनेका सफल अनुरोध किया। वहाँ के मैनेजर महोदयने तुरन्त ही लेखकसे उस पुस्तककी हस्तलिखित प्रति मँगाई, और पुस्तकको प्रकाशित करनेकी स्वीकृति एक सप्ताहके भीतर ही भेज दी। लेखक श्री सुब्बराव साहबकी इस कृपाका जन्म-भर ऋणी रहेगा। थियोसोफिकल पब्लिशिङ्ग हाउसका भी लेखक सदाके लिये कृतज्ञ है, क्योंकि उसके मैनेजर महोदयने इस बृहत् पुस्तकके छपवाने और प्रकाशित करानेमें विशेष कष्ट उठाया है, और इसको बहुत सुन्दर और शुद्ध रूपमें निकालनेका प्रयत्न किया है। दिसम्बर सन् १९३६ में यह बृहत् ग्रन्थ "दी फिलॉसोफी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" (The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha) नामसे प्रकाशित हुआ। पृथ्वी-मण्डलके प्रायः सबही सभ्य देशोंमें इसको आशातीत सम्मान मिल रहा है। विद्वानों, समालोचकों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी दिल खोल कर प्रशंसा की है। इसके लिये वे सब लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। इस पुस्तक के अनेक पाठकोंके पाससे लेखक के पास जो समय समयपर चिट्ठियाँ आती रहती हैं, उनसे ज्ञात होता है कि योगवासिष्ठके दार्शनिक सिद्धान्तोंसे कुछ लोगोंके संतप्त चित्तको बहुत शान्ति मिली है।* अंग्रेजी पुस्तक "The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha" के साथ साथ ही गवर्नमेण्ट कालेज बनारसके भूतपूर्व प्रिंसिपल विद्वच्छिरोमणि पं० गोपीनाथ कविराज जीकी कृपासे लेखककी संस्कृत

---

*बहुत सी ऐसी चिट्ठियोंमें से केवल एकको ही जैसीकी तैसी (अंग्रेजी भाषामें) पाठकोंके सामने प्रस्तुतकर देना यहाँपर अनुचित नहीं जान पड़ता :—

"Dear Dr. Atreya,

Allow me a stranger to address you and to express deep obligations that I owe you for writing such a splendid book, "The Philosophy of the Yogavasistha." I read a large number of theosophical books, and also Krishnamurti, Trine Marden, James Allen, Buddhism, a number of Commentaries on the Bhagwadgita and Upanishads etc., but nowhere I got satisfy

पुस्तक "श्रीवासिष्ठदर्शनम्" नामक भी यू० पी० गवर्नमेण्टकी "प्रिन्सेस ऑफ़ वेल्स टेक्स्ट्स" मालामें प्रकाशित हो गई। इस कृपाके लिये लेखक कविराज जी का बहुत कृतज्ञ है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दीमें भी योगवासिष्ठ पर एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित करनेकी अभिलाषा लेखकके मनमें बहुत दिनोंसे थी, लेकिन अन्य कार्योंकी अधिकतासे अवकाश न मिलनेके कारण यह अभिलाषा बहुत दिनों तक पूरी न हो सकी। प्रस्तुत पुस्तकके आरम्भ होनेका सबसे अधिक श्रेय काशीके पत्र "सनातनधर्म" के सहकारी सम्पादक पण्डित गया प्रसाद ज्योतिषी जीको है। उनके अनुरोधसे ही यह पुस्तक "सनातनधर्म" में एक लेखमालाके रूपमें १ मार्च सन् १९३४ को आरम्भ हुई थी। कुछ दिनों तक तो यह लेखमाला चलती रही, किन्तु फिर अवकाशके अभावसे बन्द हो गई। उस मालामें जितने लेख छपे थे वे ज्ञानमण्डल प्रेस, काशी की कृपासे साथ साथ पुस्तकाकारमें भी छप गये थे। लेखमाला स्थगित होनेसे पुस्तक भी स्थगित हो गई। इस बीचमें सनातनधर्मका टाइप भी बदल गया। पुस्तक कब प्रकाशित होगी इस सम्बन्धमें अनेक चिट्ठियाँ आनेसे, और श्रीमती आत्रेयके पुस्तकको पूरा कर देनेके बारबारके अनुरोधसे, जब जितना

---

and peace. I am now 47 years of age and have struggled through many crises in life. But your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep [illegible]. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India! Every step should be taken to popularise this teaching. Kindly excuse me for writing this letter.

Yours truly,

........................"

अवकाश मिला उतना ही अंश इस पुस्तकका लिख कर छपवाया गया। इस रीतिसे आज इस पुस्तकका प्रथम भाग समाप्त हो पाया है। पहिले तो विचार यही था कि पूरा ग्रन्थ एक ही जिल्दमें छपे। लेकिन इस विचारसे कि ग्रन्थ बहुत बड़ा हो जाएगा, इसको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। प्रथम भाग पाठकों के सामने है। दूसरे भागमें योग-वासिष्ठका तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन होगा। सारी पुस्तक एक साथ न लिखे जाने और छपनेके कारण इस पुस्तकमें शैली, क्रम और व्याख्याके कुछ दोषोंका आ जाना स्वाभाविक ही है। आशा है कि पाठक और समालोचक उनके लिये लेखकको क्षमा करेंगे। इस पुस्तकमें लेखकने योगवासिष्ठके संस्कृत श्लोकोंका अक्षरशः हिन्दी अनुवाद करनेका साहस नहीं किया; पर जहाँतक हो सका है योगवासिष्ठके भावोंको ही हिन्दुस्तानी भाषामें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है। श्लोकोंके अनुवादके साथ यदि लेखकने अपनी ओरसे कोई बात लिखी है, तो उसको कोष्ठोंके भीतर लिखा है। श्लोकोंके आगेवाले कोष्ठोंके भीतर निर्णयसागरप्रेस बम्बईसे प्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ योगवासिष्ठके प्रकरण, सर्ग, और श्लोकोंके अङ्क दिये गये हैं, ताकि पाठकोंको यह ज्ञात हो जाए कि अमुक श्लोक मूलग्रन्थमें किस स्थानपर है।

इस पुस्तककी अनुक्रमणिकाके बनानेमें लेखकके प्रिय शिष्य और मित्र, श्री श्यामसुन्दर खत्री "सुन्दर" और उनकी सुयोग्य बहिन कुमारी सावित्रीने सहायता दी है। इसके लिये वे दोनों लेखकके धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तकके इस समय समाप्त हो जानेका बहुत श्रेय लेखककी धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मी आत्रेयको है, इसलिये लेखक उनको भी धन्यवाद देकर इस प्रस्तावनाको समाप्त करता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
विजयदशमी
सम्वत् १९९४ वि०

भी० ला० आत्रेय

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त

—❀::❀—

विषय	पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

परिच्छेद १

योगवासिष्ठ का भारतीय दार्शनिक साहित्य में स्थान

श्री योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा का एक बृहत् ग्रन्थ है जो योगवासिष्ठ महारामायण, महारामायण, आर्षरामायण, वासिष्ठरामायण, ज्ञानवासिष्ठ और वासिष्ठ आदि नामों से भी ज्ञात है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका पाठ, मूल तथा भाषानुवाद में, बहुत काल से होता चला आ रहा है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिए श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस का, और कर्मयोगियों के लिये श्रीमद्भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिये श्री योगवासिष्ठ का है। सहस्रों स्त्री-पुरुष— राजा से लेकर रङ्क तक—इस विचित्र ग्रन्थ के अध्ययन से अपने जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते हैं। प्रायः सब ही प्रकार के पाठकों के अनुमोद के लिये इस ग्रन्थ में सामग्री प्रस्तुत है। जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े बड़े विद्वानों की समझ से बाहर की उलझनों और गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है। हमारी समझ में तो यह ग्रंथ महान् और विशाल हिमाचल के सदृश है। पृथ्वी तल पर स्थित होने से प्रायः सभी लोगों की पहुँच हिमालय तक है, लेकिन विरले ही साहसी और पुरुषार्थी खोजक उसके उत्तुङ्ग शृङ्गों को स्पर्श करते हैं। यही हाल योगवासिष्ठ का है। यह ऐसा अद्भुत ग्रंथ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन, सभी का आनन्द वर्तमान है। भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से यह ग्रंथ एक है। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्म भाव में स्थित रह कर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रंथ का पाठ, मनन और निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है।

ऐसा मत केवल हमारा ही नहीं है, वरन् उन सब महापुरुषों

का है जिन्होंने इस ग्रन्थ का अमृतरस पान किया है। आधुनिक समय के परमहंस ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी रामतीर्थजी महाराज ने अमेरिका में अपने एक व्याख्यान "भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता" में योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में कहा है, "भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुततम पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे" (इन दी वुड्स ऑफ गॉड-रिअलाइजेशन, वॉल्यूम ७, पञ्चम संस्करण १९३२, पृ० ६५)। काशी के जगद्विख्यात विद्वान् श्री डाक्टर भगवान्दास जी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक (मिस्टिक एक्सपीरिएन्सेज़) की भूमिका में लिखते हैं—"संस्कृत के ग्रन्थ योगवासिष्ठ का—जिसमें कि ३२ सहस्र श्लोक हैं—भारतीय वेदान्तियों में, इसके दार्शनिक सिद्धान्त, आत्मानुभवप्राप्ति के साधनों तथा इसके साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यमय होने के कारण बहुत ही आदर है। वेदान्तियों में तो यह उक्ति प्रचलित है कि यह ग्रंथ सिद्धावस्थामें अध्ययन करने के योग्य है और दूसरे ग्रन्थ भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र साधनावस्था में अध्ययन किए जाने योग्य हैं।" योगवासिष्ठ के भाषानुवाद की भूमिका में, ब्रह्माभ्यासियों में प्रसिद्ध स्व० लाला बैजनाथ जी ने लिखा है—"वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्त को इतने आख्यानों और दृष्टान्तों और युक्तियों से ऐसा दृढ़ प्रतिपादन करनेवाला आजतक नहीं लिखा गया, इस विषय में सभी सहमत हैं कि इस एक ग्रन्थ के विचार से ही कैसा ही विषयासक्त और संसार में मग्न पुरुष हो वह भी वैराग्य-सम्पन्न होकर क्रमशः आत्मपथ में विश्रान्ति पाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आई है कि इस ग्रन्थ के सम्यक् विचार करनेवाले यथेच्छाचारी होने के स्थान में अपने कार्य को लोकोपकारार्थ, उसी दृष्टि से कि जिस दृष्टि से श्री रामचन्द्रजी करते थे, करते हुए उनकी नाईं स्व-स्वरूप में सदा जागते हैं।" (योगवासिष्ठ महारामायण—भाषानुवाद समेत—भाग २, भूमिका, पृ० ७)

"वह वेदान्त के सब ग्रंथों में शिरोमणि है और कोई मुमुक्षु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता" (यो०प०, भा०, भाग १, भूमिका, पृ० ७)। पंजाब के वर्तमान ब्रह्मनिष्ठ उर्दू कवि मुन्शी सूर्यनारायण 'महर' ने लघु योगवासिष्ठ के अपने उर्दू अनुवाद की भूमिका में लिखा है—"जो योगवासिष्ठ पढ़ता है वह जरूर ही ज्ञानी हो जाता है"। (योगवासिष्ठसार (उर्दू) पृष्ठ १)।

योगवासिष्ठ का लेखक—वह चाहे जो कोई हो—स्वयं अपने ग्रंथ के महत्त्व को अच्छी तरह जानता था। स्वयं वह कहता है, और ठीक ही कहता है:—

> शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
> काव्य रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥१॥ (२।१८।३३)
> अस्मिन्श्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम्।
> मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किंचिदुपयुज्यते ॥२॥ (२।१८।३५)
> सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः। (२।१०।६)
> सुखदुःखक्षयकरं महानन्दैककारणम् ॥३॥ (२।१०।७)
> य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः।
> बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥४॥ ३।८।१३)

अर्थात्—यह शास्त्र सुबोध है। अलङ्कारों से विभूषित है। सुंदर और रसपूर्ण काव्य है। और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं ॥१॥ मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती ॥२॥ यह ग्रंथ सब दुःखों का क्षय करने वाला, बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देने वाला, और महा आनन्द प्राप्ति का एकमात्र साधन है ॥३॥ जो इसको नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धि वाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥४॥

वेदान्त के प्रायः सभी मध्यकालीन लेखकों के ऊपर इस ग्रंथ का किसी न किसी रूप से प्रभाव पड़ा है। योगवासिष्ठ के साथ साथ यदि भर्तृहरि के वैराग्यशतक और वाक्यपदीय, गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका, श्री शंकराचार्य की विवेकचूडामणि,

आत्मबोध, स्वात्मनिरूपण, शतश्लोकी तथा अपरोक्षानुभूति और सुरेश्वराचार्य के **मानसोल्लास** का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि अद्वैत वेदान्त के मध्य कालीन आचार्यगण योगवासिष्ठ के कितने ऋणी हैं (इस विषय का प्रतिपादन आगे किया जायगा। नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही—जब कि श्री शंकराचार्य वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का पुनरुद्धार करने में सफल हो चुके थे—इस बृहत् ग्रन्थ का एक संक्षेप—लघु **योगवासिष्ठ** नामक—लगभग ६००० श्लोकों में, कश्मीर के पण्डित अभिनन्दन गौड़ द्वारा किया गया (**टर्निट्ज़-गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर** वॉ. ३, पृ. ४४३)। उस समय से योग वासिष्ठ का—जो कि पहले बृहत् होने के कारण कठिनता से उपलब्ध होता था—खूब प्रचार हो गया। वेदान्त के प्रसिद्ध लेखक विद्यारण्य स्वामी के **जीवन्मुक्तिविवेक** और **पंचदशी**, नारायण भट्ट के **भक्ति-सागर**, प्रकाशात्मा की **वेदान्तसिधान्तमुक्तावली**, और **शिवसंहिता**, हठ-**योगप्रदीपिका** तथा **रामगीता** इत्यादि ग्रंथों में योगवासिष्ठ की उक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। केवल **जीवन्मुक्ति विवेक** में ही योगवासिष्ठ के २५३ श्लोक उद्धृत हैं।

केवल इतना ही नहीं, गहरी खोज करने पर लेखक को यह भी पता चला है कि १०८ प्रसिद्ध उपनिषदों में से कुछ **उपनिषद्** ऐसे हैं जो कि—सब के सब अथवा जिनके मुख्य (प्रधान) भाग—योगवासिष्ठ में से चुने हुए श्लोकों से ही बने हैं, अथवा जिनमें कहीं कहीं पर योगवासिष्ठ के श्लोक भी पाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकें होने से योगवासिष्ठ जैसा बड़ा ग्रंथ आसानी से उपलब्ध न होने के कारण, लोगों ने इसमें से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार श्लोकों को छाँट कर उनका संग्रह करके उसका नाम उपनिषत् रख लिया। लेखक के अनुसार निम्नलिखित उपनिषदों में योगवासिष्ठ के श्लोक पाए जाते हैं (देखिए **सरस्वतीभवन स्टडीज़** १९३३ में हमारा लेख "योगवासिष्ठ और कुछ उपनिषद्")।

१ महा उपनिषद्—केवल पहिला, छोटासा भूमिकामय अध्याय छोड़ कर सारा उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही (५१० के लगभग) श्लोकों से बना है।

२ अन्नपूर्णा उपनिषद्—सम्पूर्ण। (आरम्भ के १७ श्लोक छोड़ कर)

३ अक्षि उपनिषद्—सम्पूर्ण।

४ मुक्तिकोपनिषद्—दूसरा अध्याय जो कि मुख्य अध्याय है।

५ वराह उपनिषद्—चौथा अध्याय।

६ बृहत्संन्यासोपनिषद्—५० श्लोक।

७ शांडिल्य उपनिषद्—१८ श्लोक।

८ याज्ञवल्क्य उपनिषद्—१० श्लोक।

९ योगकुण्डली उपनिषद्—३ श्लोक।

१० पैङ्गल उपनिषद्—१ श्लोक।

इनके अतिरिक्त दूसरे कुछ ऐसे उपनिषद् भी हैं जिनमें योगवासिष्ठ के श्लोक तो अक्षरशः नहीं पाये जाते लेकिन योगवासिष्ठ के सिद्धान्त अवश्य ही मिलते हैं। अभी तक यह कहना कठिन है कि ये योगवासिष्ठ के पहिले के हैं अथवा पीछे के। वे ये हैं:—

१ जाबाल उपनिषद्—समाधिखण्ड।

२ योगशिखोपनिषद्—१।३४-३७; १।५९, ६०; ४ (समस्त) ६।५८, ५९-६४।

३ तेजोबिन्दूपनिषद्—समस्त।

४ त्रिपुरतापिनी उपनिषद्—उपनिषद् ५, श्लोक १-१९।

५ सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्—द्वितीयखण्ड, श्लोक १२-१६।

६ मैत्रायण्युपनिषद्—प्रपाठक ४, श्लोक १—११।

७ अमृतबिन्दूपनिषद्—श्लोक १—५।

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि भारतीय दर्शन में योगवासिष्ठ का बहुत ऊँचा स्थान है और भारतीय दर्शन के इतिहास

में इसका महत्त्व उपनिषद् और भगवद्गीता से किसी प्रकार कम नहीं वरन् अधिक ही रहा है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वानों का इसकी ओर कम ध्यान गया है। हमारे दर्शन के इतिहास लेखकों ने इसकी अक्षम्य अवहेलना की है। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **भारतीय दर्शन के इतिहास** के प्रथम भाग में, जहाँ कि इस ग्रन्थ का उच्च स्थान होना चाहिए था, योगवासिष्ठ का नाम तक भी नहीं आया। हर्ष की बात है कि दूसरे भाग में उन्होंने अब इसको स्थान दे दिया है। प्रो० राधाकृष्णन् के **भारतीय दर्शन** में भी योगवासिष्ठ पर कुछ भी नहीं लिखा गया। प्रो० हिरियण्ण की पुस्तक **आउटलाइन ऑफ इण्डियन फिलासोफी** में भी योगवासिष्ठ का नाम तक नहीं आता। प्रो० अभ्यङ्कर ने अपने सम्पादन किए हुए **सर्व दर्शन संग्रह** के अन्त में दी हुई भारत के दर्शन ग्रन्थों की नामावली में भी योगवासिष्ठ का नाम नहीं दिया। यही सबसे बड़ा कारण है कि लेखक को इस विषय में अपनी लेखनी उठानी पड़ी।

यही बात नहीं है कि योगवासिष्ठ की ओर आधुनिक लेखकों का ध्यान नहीं गया, वरन् कुछ लोगों ने इसका ज़िक्र करते हुए इसके प्रति अपनी विपरीत भावना का भी परिचय दिया है। डा० विण्टर्निज ने अपने 'भारतीय साहित्य के इतिहास', **गेशिश्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ, ३** के ४४३ पृष्ठ पर लिखा है, "वेदान्त के कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि वे दार्शनिक ग्रंथ हैं अथवा धार्मिक (साम्प्रदायिक)। यही बात योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह अधिकतर साम्प्रदायिक ही पुस्तक है।" इसी प्रकार डा० फर्कुहार साहब अपने ग्रन्थ **'एन आउटलाइन ऑफ़ रिलीजस लिटरेचर ऑफ़ इण्डिया'** के २२ वें पृष्ठ पर कहते हैं— "**योगवासिष्ठ रामायण** १३ वीं या १४ वीं शताब्दी में लिखी हुई उन पुस्तकों में से है जो कि किसी धार्मिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने के निमित्त लिखी गई थीं, लेकिन यह अध्यात्मरामायण की टक्कर की नहीं है।" प्रो०

राधाकृष्णन् साहब को शायद यह मत मान्य है, क्योंकि उन्होंने भी अपने **भारतीय दर्शन (इंडियन फिलॉसोफी)** के दूसरे भाग के ४५२ वें पृष्ठ के फुट नोट में लिखा है—"पीछे लिखे हुए बहुत से उपनिषद्—यथा **महोपनिषद्**—और **योगवासिष्ठ** तथा **अध्यात्म रामायण** जैसे साम्प्रदायिक ग्रंथ भी अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।" ये विचार योगवासिष्ठ के भलीभाँति अध्ययन करने पर काफ़ूर हो जाते हैं। योगवासिष्ठ में किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिकता नहीं है। वह सर्वथा एक दार्शनिक ग्रंथ है, किन्तु अन्य दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं रूखी और सूत्रमयी भाषा में नहीं लिखा गया, बल्कि इस ग्रन्थ में रसमय काव्य के रूप में उपाख्यानों और दृष्टान्तों द्वारा उच्च से उच्च और गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

यदि इसके गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के अपनाने और मानने के लिये नहीं, तो भी अद्वैत वेदान्त के इतिहास से भलीभाँति परिचित होने के लिए, विद्वानों को इसका अध्ययन करना आवश्यक ही है। क्योंकि लेखक का पूरा विश्वास है (जैसा कि आगे चल कर सिद्ध किया जायगा) कि यह ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य के पहिले का है। हमारा यह विचार शरवाट्सकी, कीथ, विण्टर्निज और शरेडर आदि यूरोप के पण्डितों ने मान लिया है। जैसा कि शरेडर साहब (कील, जर्मनी) ने हम को एक चिट्ठी में लिखा है, "यदि यह बात प्रायः मान ली गई, तो अवश्य ही इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ जायगा और प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों का ध्यान इसकी ओर अवश्य ही जायगा।" यदि इस लेखमाला से कुछ विद्वानों की रुचि इस अद्भुत ग्रंथ का अमृत पान करने की ओर हो गई तो लेखक अपने को धन्य समझेगा।

परिच्छेद २

योगवासिष्ठ कब लिखा गया होगा

संस्कृत भाषा के अधिकतर ग्रन्थों का लेख-समय निर्धारित करना बहुत ही कठिन काम है क्योंकि लेखकों ने अपने और अपने समय के सम्बन्ध में अपने ग्रंथों में कुछ नहीं लिखा। आजकल के लेखकों की नांई वे लोग अपना नाम विख्यात करना इतना आवश्यक नहीं समझते थे जितना कि अपने ग्रंथ और तद्गत सिद्धान्तों का प्रचार। उनके इस उच्च कोटि के आत्मत्याग से भारत के ऐतिहासिक ज्ञान को अत्यन्त क्षति पहुँची है। इसी कारण से भारत का प्राचीन इतिहास बहुत अन्धकारमय है, और बड़े बड़े विद्वानों का समय और उनकी शक्ति भारत के प्राचीन इतिहास की खोज में व्यय होती है। कितने दुःख की बात है कि हमको महाकवि कालिदास और आचार्य शङ्कर तक के समय का भी निश्चय नहीं है। यही हाल योगवासिष्ठ का भी है। जितना मतभेद इस ग्रंथ के लेखन-समय के सम्बन्ध में है उतना शायद ही और किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में होगा। एक ओर तो यह मत प्रचलित है कि यह ग्रन्थ रामायण के रचयिता महर्षि आदि कवि श्री वाल्मीकि जी की कृति है, और दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् समझते हैं कि यह ग्रन्थ १३वीं अथवा १४वीं क्रिष्टीय शताब्दी में लिखा गया होगा। निर्णय सागर प्रेस से जो ग्रन्थ छपा है उसके आरम्भ में लिखा है "श्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः योगवासिष्ठः" और प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु" इत्यादि लिखा रहता है। इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में जो योगवासिष्ठ की हस्तलिखित प्रतियाँ मौजूद हैं (देखिये एगलिङ्ग की सूची भाग चौथा, पृष्ठ ११२, संख्या २४०७—२४१४) उनमें भी ऐसा ही लिखा हुआ है। लेकिन यदि फर्कुहार साहब का ग्रन्थ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया पढ़ें तो उसमें यह लिखा हुआ मिलता है कि "योगवासिष्ठ महारामायण उन संस्कृत काव्यों में से है जो १३वीं या १४वीं शताब्दियों में लिखे गये थे" (पृष्ठ २२८)। अब हमको यहाँ पर यथासंभव यह निश्चय करना है कि यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा। प्रथम

हम आधुनिक विद्वानों के मतों की विवेचना करेंगे और पीछे उस मत की जो कि भारत में प्रायः प्रचलित है।

फर्कुहार साहब ने अपने मत के समर्थन में कोई भी युक्ति नहीं दी। किन्तु एक और विद्वान्—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य—ने योगवासिष्ठ के लेखन काल पर मद्रास में हुई दूसरी ओरियेण्टल कान्फरेन्स में एक पाण्डित्यपूर्ण लेख पढ़ा था। उसमें उन्होंने युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया था—"इन सब विचारों से यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ १०—१२वीं शताब्दियों में लिखा गया होगा" (रिपोर्ट पृष्ठ ५५४)। हमारी समझ में योगवासिष्ठ इतने पीछे का ग्रन्थ नहीं है क्योंकि :—

(१) विद्यारण्य स्वामी के समय (१४ वीं शताब्दी के पूर्व भाग) तक योगवासिष्ठ काफ़ी प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थ हो चुका था। उनके सर्वप्रिय ग्रन्थ पञ्चदशी में योगवासिष्ठ से बहुत सी उक्तियाँ हैं और उनका जीवन्मुक्तिविवेक ग्रन्थ तो योगवासिष्ठ के आधार पर ही लिखा हुआ है। इसमें योगवासिष्ठ के कम से कम २५३ श्लोक अपने मत-समर्थन के लिये उद्धृत किए गए हैं। प्रो० भट्टाचार्य जी को शायद यह बात मालूम नहीं थी—क्योंकि उन्होंने अपने लेख में लिखा है—"विज्ञान भिक्षु से पहिले का कोई भी दार्शनिक लेखक या भाष्यकार इस ग्रन्थ को प्रमाण ग्रन्थ नहीं समझता मालूम पड़ता है" (प्रोसिडिङ्ग की रिपोर्ट पृष्ठ ५४९)। विज्ञान भिक्षु का समय १६ वीं शताब्दी समझा जाता है, लेकिन विद्यारण्य तो १४ वीं शताब्दी ही में माने जाते हैं।

(२) नवीं शताब्दी के पूर्व भाग में ही इस बृहत् ग्रन्थ योगवासिष्ठ का कश्मीर देश के पण्डित अभिनन्द गौड़ ने एक सार—लघु योगवासिष्ठ अथवा योगवासिष्ठसार—लोकोपकारार्थ ६००० श्लोकों में कर दिया था। यह घटना प्रायः सभी विद्वान् जानते हैं। इसका उल्लेख कोनो साहब की कर्पूरमंजरी (पृष्ठ १९७), कीथ साहब की बोडलियन पुस्तकालय की पुस्तकसूची (नं० ८४०), विण्टर्निज़ साहब के भारतीय साहित्य के इतिहास (जर्मन—गेशिख्टे डेर

इण्डिशेन लिट्राटुर, वॉ ३, पृष्ठ ४४४) और हाल साहब की बिब्लियोग्राफी (वेदान्त, नं० १४४) में है। यह ग्रन्थ सन् १८८७ में निर्णय सागर प्रेस से छपा था और बाज़ार में मिलता है। मालूम पड़ता है कि प्रो० भट्टाचार्य को इस ग्रन्थ की सत्ता का ज्ञान नहीं था क्योंकि वे लिखते हैं—"लघु योगवासिष्ठ अथवा मोक्षोपायसार, जिससे किसी पूर्व ग्रन्थ का होना सिद्ध होता है, एक बंगाली लेखक का लिखा हुआ ६२ श्लोकों का ग्रन्थ है। इस लेखक का नाम अभिनन्द है। लेकिन यह अभिनन्द कश्मीर के प्रसिद्ध गौड अभिनन्द से अतिरिक्त कोई दूसरा ही व्यक्ति है" (प्रोसीडिंग्स्—पृष्ठ ५५२ ,फुटनोट)

डा० विण्टर्निज साहब ने अपने गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर (भारतीय साहित्य का इतिहास) के तीसरे भाग के ४४४ वें पृष्ठ पर योगवासिष्ठ का समय निर्धारण करते हुए लिखा है—"योगवासिष्ठ का एक सार संस्करण—योगवासिष्ठसार नामक—गौड़ अभिनन्द का किया हुआ है। अभिनन्द गौड़ ६वीं शताब्दी के मध्य काल में हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि योगवासिष्ठ इस समय से पुराना है लेकिन शंकराचार्य ने इसका कहीं भी जिक्र नहीं किया। इस लिए योगवासिष्ठ शंकराचार्यके किसी समकालीन लेखक ने लिखा होगा।" यह युक्ति हमको ठीक नहीं मालूम पड़ती। शंकराचार्य का समय आजकल के विद्वानों के अनुसार—जो कि डा० विण्टर्निज को भी मान्य है (गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर, भाग ३, पृष्ठ ४३४) — ७८८—८२० क्रिष्टीय है, और गौड़ अभिनन्द की बाबत भी यह निश्चित सा ही है कि वह ६वीं शताब्दी के मध्य में हुए हैं (देखिये कोनो की कर्पूरमञ्जरी पृष्ठ १६७)। जरा विचार करना चाहिए कि शंकराचार्य के और गौड़ अभिनन्द के समय में कितना थोड़ा अन्तर है—एक तो ६वीं शताब्दी के प्रथम पाद में और दूसरे उसके मध्य में हुए हैं। यदि विण्टर्निज़ साहब की बात मान लें तो यह मानना पड़ता है कि इस थोड़े से समय में एक ३२००० श्लोकों

का ग्रन्थ (यद्यपि आजकल इसमें केवल २७६८७ श्लोक ही हैं), जिसमें उत्तम काव्य के बहुत से गुण वर्तमान हैं, इस समय में बन भी गया होगा और उस हस्त लेखन के समय में उसका खूब प्रचार भी हो गया होगा और उसका इतना आदर भी हो गया होगा कि गौड़ अभिनन्द जैसा पंडित उसको अध्ययन करे, और उसको भली-भाँति अध्ययन करके उन्होंने उसका सार भी इसी थोड़े समय के भीतर तैयार करके संसार के समक्ष रख दिया होगा। हमको तो यह सब इतने थोड़े से समय में उस जमाने में होना नितान्त ही असंभव प्रतीत होता है।

प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने मद्रास ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़े हुए लेख में लिखा है, "योगवासिष्ठ में 'वेदान्तिनः' और 'वेदान्त-वादिनः' से एक सम्प्रदाय का कथन करना इस बात का सूचक है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पहले का नहीं है" (रिपोर्ट पृष्ठ ५५२)। हमारी समझ में केवल 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्तवादिनः' शब्दों के योगवासिष्ठ में होने से योगवासिष्ठ का शंकराचार्य से पीछे का होना सिद्ध नहीं होता। 'वेदान्त' शब्द शंकराचार्य के पीछे का नहीं है वरन् बहुत पुराना है। मुण्डक उपनिषद् (३।२।६) और श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।२२) में भी 'वेदान्त' शब्द उपनिषद् के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'वेदान्तिनः' शब्द अवश्य ही शंकर से पहिले भी उस सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा जो उपनिषदों के सिद्धान्तों को अध्ययन करते थे और उनको ही मानते थे। गौडपादाचार्य की—जिनका शंकर से पूर्व होना सिद्ध ही है—माण्डूक्यकारिका (२।३१) के पढ़ने से भी मालूम पड़ता है कि उनसे पूर्व भी अद्वैतवाद को अथवा 'वेदान्त' के सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाला कोई सम्प्रदाय था। और शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य को पढ़ने से भी यही ज्ञात होता है कि वे किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार ही वेदान्त सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहे हैं, अपना वैयक्तिक मत का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। कोई कारण नहीं है कि वह पूर्ववृत्त सम्प्रदाय तथा वे आचार्य जिनका मत गौडपादाचार्य तथा शङ्कराचार्य ने प्रतिपादन किया है 'वेदान्तिनः' अथवा 'वेदान्तवादिनः' के नाम से

न पुकारे जाते हों या योगवासिष्ठकार ने उनको इन नामों से न पुकारा हो। इसलिये प्रो० भट्टाचार्य की यह युक्ति योगवासिष्ठ के शङ्कराचार्य के पीछे का ग्रन्थ होने को सिद्ध नहीं करती।

योगवासिष्ठ शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है

१—एक विशेष कारण जिसकी वजह से हमको योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य के पश्चात् का ग्रन्थ नहीं जान पड़ता, यह है कि योगवासिष्ठ यद्यपि अद्वैत सिद्धान्त और औपनिषद् अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादक है,—जिसका प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है—तथापि उसमें उन पारिभाषिक शब्दों का अभाव है जिनका श्री शंकराचार्य ने प्रायः और विशेषतया प्रयोग किया है और जिनका प्रयोग शंकराचार्य के पीछे के सभी अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक लेखकों ने किया है, और जिनका प्रयोग योगवासिष्ठकार भी करता यदि उसको वे शब्द ज्ञात होते। और यदि वह शंकराचार्य के पीछे का लेखक होता तो कोई कारण ही नहीं कि श्री शंकराचार्य के शब्दों का उसको क्यों ज्ञान न होता जब कि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वह अपने इस महान् ग्रन्थ में कर रहा था। उदाहरणार्थ, शंकराचार्य के प्रयोग किए हुए ऐसे शब्दों और संज्ञाओं में से कुछ हम यहाँ देते हैं:—'अध्यास', 'साधन चतुष्टय—विवेक, विराग, षटसम्पत् (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) तथा मुमुक्षुत्व', 'सगुण' तथा 'निर्गुण' ब्रह्म, 'अपर ब्रह्म' 'सविशेष' और 'निर्विशेष ब्रह्म' 'उपाधि', 'क्रममुक्ति', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित' कर्म 'बाध', 'पञ्चकोश', ईश्वर की उपाधि रूप से 'माया' और 'अविद्या', अविद्या का 'अनादित्व', 'कर्म का अनादित्व', ब्रह्म से जगत् का शङ्कराचार्य के अनुसार विकास जो कि सांख्य के अनुसार विकास से भिन्न है, महावाक्यों का एक विशेष प्रकार से अर्थ लगाना इत्यादि।

२—दूसरा कारण यह है कि योगवासिष्ठ का अद्वैतवाद इतने सुसंज्ञित शब्दों में और इतनी निश्चितार्थ तथा दार्शनिक भाषा में नहीं है जितना कि शंकराचार्य का तथा उनके सब अनुयायियों का है। योगवासिष्ठ में प्रायः सभी दार्शनिक संज्ञाएँ कई कई अर्थों की द्योतक हैं।

३—तीसरा कारण यह है कि शङ्कराचार्य जी और उनके अनुयायियों ने जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन किए हैं उन सबको

श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति उन सब के लिये अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी महानता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथाः—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥१॥ (२।१९।६)
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि ॥२॥ (६।१९७।१५)

४—चौथा कारण यह है कि शंकराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रन्थों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खंडन कर के अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सब से उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है। और जहाँ जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं वहाँ वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मान कर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता। उसके लेखक ने प्रायः सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है। शंकर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है। किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया।

५—पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त, और उनकी विशेष संज्ञाएँ नहीं पाई जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे छोटे पद्य-ग्रन्थों में योग-वासिष्ठ के बहुत सिद्धान्त, बहुत सी विशेष संज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं। भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गए हैं, शङ्कराचार्य जी को भाष्य-कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे। इस लिये इन ग्रंथों में कुछ विशेषता

है। यदि शङ्कराचार्य के **विवेकचूडामणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी** आदि पद्य-ग्रंथों का योगवासिष्ठ के साथ साथ अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही यह निश्चित हो जायगा कि शङ्कराचार्य को अवश्य ही योगवासिष्ठ के सिद्धान्त मालूम थे और उसके बहुत से श्लोक उनके स्मृति चित्र पर अंकित थे। इस विषय में यह कह देना भी उचित है कि यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रंथ शङ्कराचार्य के लिखे हुए शायद न हों। लेकिन विद्वान् लोग प्रायः इन ग्रन्थों को उन्हीं के मानते चले आ रहे हैं (देखिये अभ्यङ्कर सम्पादित **सर्वदर्शनसंग्रह** के अन्त में दी हुई सूची तथा राधाकृष्णन् की **इण्डियन फिलासोफी,** वा० २, पृष्ठ ४५०—जहाँ पर कि **विवेक-चूडामणि** शङ्कराचार्य का ग्रन्थ मान लिया गया है)। दूसरी बात यह भी कह देना उचित है कि शङ्कराचार्य जी को योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और श्लोक स्वयं योगवासिष्ठ से न प्राप्त होकर अपने आचार्यों या सम्प्रदाय द्वारा मौखिक पथ द्वारा प्राप्त हुए हों, और योगवासिष्ठ के पढ़ने का स्वयं उनको सौभाग्य और समय न प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस जमाने में पुस्तकें—विशेष कर बड़े ग्रन्थ—सुलभतया नहीं मिलते थे। हम यहाँ पर पाठकों के निश्चय के लिये कुछ थोड़े से ऐसे श्लोक, वाक्य और सिद्धान्त यहाँ पर इन ग्रंथों से उद्धृत करते हैं जो योगवासिष्ठ में प्रायः उसी रूप में पाए जाते हैं:—

विवेकचूडामणि—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

योगवासिष्ठ—

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥३।९।११॥

विवेकचूडामणि—

लीनधीरपि जागर्ति जाग्रद्धर्मविवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

योगवासिष्ठ—

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥२॥ (३।९।४)

विवेकचूडामणि—बीजं संसृतिभूमिजस्य। (१४५)

योगवासिष्ठ—संसृतिवृततेर्बीजम्। (५।९१।८)

विवेकचूडामणि—

नह्यस्त्यविद्या मनोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥ (१६९)

योगवासिष्ठ—

चित्तमेव सकलभूताडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति। (३।११६।१८)
मनोविजृम्भणमिदं संसार इति संमतम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥ (१७०)

योगवासिष्ठ—

मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः ॥ (३।६२।५४)
यथास्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः। (३।५७।५०)
मनोविजृम्भणमिदम्। (४।४७।४८)

विवेकचूडामणि—

मुक्तिंप्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्। (२६९)

योगवासिष्ठ—वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः। (२।२।५)

विवेकचूडामणि—सर्वत्र सर्वतः सर्वम्। (३१६)

योगवासिष्ठ—सर्वत्र सर्वथा सर्वम्। (३।१५९।४१)

विवेकचूडामणि—

वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। (३१७)

योगवासिष्ठ—

प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्तितोच्यते ॥ (३।२२।८)

विवेकचूडामणि—पृथङ्नास्ति जगत्परमात्मनः । (२३५)

योगवासिष्ठ—न जगत्पृथगीश्वरात् । (३।६१।४)

विवेकचूडामणि—स्वयं विश्वमिदं सर्वम् । (३८८)

योगवासिष्ठ—आत्मैवेदं जगत्सर्वम् । (३।१००।३०)

विवेकचूडामणि—

बाह्याभ्यन्तरं शून्यं पूर्णं...ब्रह्माद्वितीयमहम् । (४६२)

योगवासिष्ठ—

अन्तःपूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे । (१।१२६।३८)
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (१।१२६।३९)

विवेकचूडामणि—

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥ (५७३)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (३।१०८।३९)

शतश्लोकी—अतो दृष्टिसृष्टं किलेदम् । (८१)

योगवासिष्ठ—दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः (३।११४।५६)

आत्मबोध—

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्र भासते ।
बुद्धावेवावभासते स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ (१७)

योगवासिष्ठ—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथाऽत्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (५।७१।३९)

स्वात्मनिरूपण—

व्यवहारदशेयं विद्याऽविद्येति वेदपरिभाषा ।
नास्त्येव तत्त्वदृष्ट्या तत्त्वं ब्रह्मैव नान्यदस्त्यस्मात् ॥ (९७)

योगवासिष्ठ—

अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदाम्वरैः ॥ (३।४६।१)
शास्त्रसंव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः । (४।४०।१)
नाऽविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयाऽनया ॥ (३।६।१७)

शतश्लोकी—

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतोः । (१५)

योगवासिष्ठ—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानि चित् । (३।१०८।२०)

शतश्लोकी—

न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्,
न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम् ।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात्,
कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ (१०)

योगवासिष्ठ—

एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्विवीयत्वयोर्द्वयोः ।
एकत्वं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ॥ (३।३३।४)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना ।
अशून्यत्वात्संभवतः शून्यताशून्यते कुतः ॥ (३।१०।१४)

दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम् ।
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरेवोद्भूतं यथा निद्रया ॥१॥

योगवासिष्ठ—

रूपालोकमनस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ (३।२२।२७)
बाह्यमभ्यन्तरं भाति स्वप्नार्थोऽत्र निदर्शनम् । (३।४४।२०)

अपरोक्षानुभूति—

भावितं तीव्रवेगेन वस्तु निश्चयात्मना ।
पुमान्स्तद्धि भवेच्छीघ्रं [illegible] भ्रमरकीटवत् ॥ (१४०)

योगवासिष्ठ—

भावितं तीव्रवेगेन यदेवाशु तदेव हि। (१।२८।३७)
यथैव भावयत्यात्मा तथैव भवति स्वयम्॥ (४।११।२६)

अपरोक्षानुभूति—यथा कनके कुण्डलाभिधा। (६०)

योगवासिष्ठ—हेम्नीव कटकादित्वम्। (३।१।४२)

अपरोक्षानुभूति—यथा नीरं मरुस्थले। (६१)

योगवासिष्ठ—यथा नास्ति मरौ जलम्। (३।७।४३)

अपरोक्षानुभूति—यथैव शून्ये वेतालः। (६२)

योगवासिष्ठ—यथा नास्ति नभोयक्षः। (३।७।४४)

अपरोक्षानुभूति—गन्धर्वाणां पुरं यथा। (६२)

योगवासिष्ठ—यथा गन्धर्वपत्तनम्। (३।३।३०)

अपरोक्षानुभूति—सर्पत्वेन यथा रज्जुः। (७०)

योगवासिष्ठ— यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिः। (२।१७।६)

अपरोक्षानुभूति—कनकं कुण्डलत्वेन तरङ्गत्वेन वै जलम्। (७२)

योगवासिष्ठ—कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथांभसि। (३।२१।६५)

अपरोक्षानुभूति—यथाऽकाशे द्विचन्द्रत्वम्। (६२)

योगवासिष्ठ—

यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम्। (३।६६।७)

अपरोक्षानुभूति—जलत्वेन मरीचिका। (७३)

योगवासिष्ठ—मृगतृष्णाम्भिववासत्यम्। (४।१।७)

६—हमारे इस मत की पुष्टि कालीपुर आश्रम कामाक्षा के स्वामी भूमानन्दजी ने अपने, एक लेख 'Priority of Yogavasishtha to Sankaracharya' में की है। उन्होंने शांकर भाष्य में से दो कुछ वाक्य उद्धृत करके यह बतलाया है कि श्री शंकराचार्य को योगवासिष्ठ के अस्तित्व का ज्ञान था। उदाहरणार्थ दो वाक्य यहाँ दिये जाते हैं।

(१) श्वेताश्वतर उपनिषद् के अपर भाष्य में (८.१) शंकराचार्यजी ने लिखा है 'तथा च वासिष्ठयोगशास्त्रे'।

(२) महाभारत के सनत सुजातीय भाग के ऊपर भाष्य करते हुए (१.१५ और १.३१) श्रीशंकराचार्यजी ने लिखा है कि 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठः' और 'तथा चाह भगवान् वसिष्ठः'।

योगवासिष्ठ गौडपादाचार्य और भर्तृहरि के पूर्व का ग्रन्थ है

गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका का भलीभाँति अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य से पूर्व का अद्वैत वेदान्त—जो कि **माण्डूक्यकारिका** में प्रतिपादित है—**योगवासिष्ठ** प्रतिपादित अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य और उनके अनुयायियों के अद्वैतवाद की अपेक्षा अधिक मिलता जुलता है। **योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका** के विचारों और भाषा में बहुत कुछ समानता है (देखिए—बम्बई में हुई फिलासोफिकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ हमारा लेख—"गौडपाद ऐण्ड वसिष्ठ," रिपोर्ट पृष्ठ १८८)। यहाँ पर हम दोनों में से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं :—

माण्डूक्यकारिका—

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे॥ (२।१५)

योगवासिष्ठ—समस्तं कल्पनामात्रमिदम्। (३।२१०।११)

माण्डूक्यकारिका—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्। (३।३१)

योगवासिष्ठ—

मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम्। (४।११।२३)

माण्डूक्यकारिका—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥ (४।४७)

योगवासिष्ठ—सस्पन्दे समुदेताव निस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलातं इव चक्रता ॥ (३।६।५८)

माण्डूक्यकारिका—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (२।३१)

योगवासिष्ठ—

मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः । (३।५७।५४)
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (३।३३।४५)

माण्डूक्यकारिका— स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां च समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ (२।५)

योगवासिष्ठ—

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१६।११)

माण्डूक्यकारिका—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (२।६)

योगवासिष्ठ—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । (४।४५।४५)

माण्डूक्यकारिका—

न किञ्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (३।४८)

योगवासिष्ठ—

बुद्धानामस्मदादीनां न किञ्चिन्नाम जायते । (३।१४६।१८)
जगद्भ्रान्त्या न चोत्पन्नं न चास्ति न च दृश्यते ॥ (३।७।४०)

माण्डूक्यकारिका—

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो न निवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ (२।१८)

योगवासिष्ठ—

यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात् ।
तथैवैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता ॥ (२।१७।६)

माण्डूक्यकारिका—मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते । (३।३१)

योगवासिष्ठ—

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता......एकाभावाद्द्वयोर्नाशः । (४।१७।१६)

माण्डूक्यकारिका—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ (३।४०)

योगवासिष्ठ—

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्पोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥ (४।३५।२)

कल्पनावाद, भ्रमवाद, अजातवाद तथा मनोनाशवाद योगवासिष्ठ-कार और गौडपाद दोनों ही को मान्य हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों ग्रन्थों—**योगवासिष्ठ** और **माण्डूक्यकारिका**—में कौनसा ग्रन्थ पूर्वकाल का है। हमारे विचार में, निम्नलिखित कारणों से, योगवासिष्ठ **माण्डूक्यकारिका** से पूर्व का ग्रन्थ है।

१—**माण्डूक्यकारिका** अद्वैत सिद्धान्त का स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं है। वह **माण्डूक्य उपनिषद्** के ऊपर एक प्रकार का वार्त्तिक है। उसमें माण्डूक्य उपनिषद् के सिद्धान्तों का किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के मतानुसार प्रतिपादन है। वे पूर्ववृत्त अद्वैतवादी लोग **माण्डूक्यकारिका** में "वेदान्तेषु विचक्षणाः" (२।३१) "तत्त्वविदः" (२।३४) "नायकाः" (४।६८) और "बुद्धाः" (४।८८) आदि शब्दों से संकेत किए गए हैं। इन लोगों के जो सिद्धान्त **माण्डूक्यकारिका** में प्रतिपादन किए गए हैं वे सब योगवासिष्ठ में योगवासिष्ठकार के ही सिद्धान्तों के रूप में वर्तमान हैं।

२—योगवासिष्ठगत सिद्धान्त किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के रूप में नहीं हैं। वे "वसिष्ठ" ऋषि के सिद्धान्त हैं जो कि स्मृति

किसी उपनिषद् अथवा किसी पूर्ववृत्त सम्प्रदाय से प्राप्त नहीं किए बल्कि स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किए थे, और अपने आप ही उनका अनुभव किया था (देखिए—मुमुक्षुप्रकरण का १० वाँ सर्ग)

माण्डूक्यकारिका में दूसरे मतों का तिरस्कार और खण्डन तथा अद्वैतवाद का मण्डन है। योगवासिष्ठ में किसी मत का तिरस्कार अथवा खण्डन नहीं पाया जाता। सब ही मतों का समन्वय है, किसी मत के प्रति भी घृणा का लेश नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ **उपनिषद्** और **भगवद्गीता** की शैली का ग्रन्थ है और **माण्डूक्यकारिका** शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के ग्रन्थों की शैली का है जिसमें अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन और दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्मों के मतों का तिरस्कार और खण्डन है। योगवासिष्ठ के इस प्रकार के भाव के हम यहाँ पर कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) 'विज्ञानवाद' और 'बाह्यार्थवाद' की अविरोधिता का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार कहते हैं:—

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदा सदसंस्थितेः॥ (३।३८।४)

(२) मन का स्वरूप न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय, आर्हत और पाञ्चरात्र आदि दर्शनों के अनुसार बतला कर योगवासिष्ठकार कहता है—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैराकुलत्वतः॥ (३।९६।५२)
स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा।
विचित्रदेशकालोत्था मार्गं स्वं पथिका इव॥ (३।९६।५३)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से बटोही नाना देशों से चले हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगरको जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पदको नाना देश और कालमें बने हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकारसे उस परम पदको पहुँचते हुए वे लोग,—

परमार्थ का किसीको भी ठीक ज्ञान न होनेके कारण और उसका विपरीत ज्ञान होनेसे भी--परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार मार्ग चलने वाले लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसको किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़ कर दूसरे किसी मार्गपर चलना ठीक नहीं है—

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥ (६।१३०।२)

(४) परमतत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है कि वही एक तत्त्व नाना दर्शनों में नाना नामों द्वारा वर्णित है—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम्॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम्॥ (५।८७।१८)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम्॥ (५।८७।१६)

प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यजी का कहना है कि 'इस प्रकारके विचार और इस प्रकार का आदर्श बौद्धकाल में बङ्गाल के पाल राजाओं के समय से पहिले किसी हिन्दू लेखक के लिये सम्भव नहीं थे" (मद्रास फिलॉसोफिकल कांग्रेसकी रिपोर्ट, पृष्ठ ५५१)। पाल राज्य १० वीं शताब्दी के क़रीब हुआ है। लेकिन हर्षचरित्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही मध्य देश में (जो आजकल यू० पी० कहलाता है) इस प्रकार के आदर्शों और विचारों का होना संभव था। बाण ने उस समय की सभ्यता और विचारों की उदारता का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। अपनी यात्रा में राजा हर्ष दिवाकरमित्र नामक एक बौद्ध साधुके

नालन्दामें जाकर उनके यहाँ अनेक विद्वानों को अपने अपने मतों और सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए पाते हैं। वे लोग बड़ी उदारता और बड़े प्रेम से एक दूसरे के साथ अपने अपने सिद्धान्तों पर विचार करते हैं। वहाँपर देश देशान्तरों से आए हुए बौद्ध भिक्षु, श्वेत वस्त्रधारी जैन लोग, कपिल के अनुयायी, लोकायतिक, उपनिषदोंके माननेवाले, नैयायिक, वैशेषिक, मनुस्मृति और पुराणोंके अध्ययन करनेवाले, यज्ञ करानेमें दक्ष और व्याकरण के पण्डित— सभी प्रकार के विद्वान् मौजूद थे। वे अपने अपने शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और दूसरे शास्त्रों का भी। बड़े ही मेल और सहानुभूति का उनका जीवन था। किसीको किसीके प्रति घृणा नहीं थी। सब लोग मित्रता और प्रेम से एक दूसरे से अपने अपने सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करते थे। चाहे यह बात काल्पनिक ही क्यों न हो, तो भी, जैसा कि डा० कार्पेण्टर ने अपने थीइज़्म इन् मेडीवल इण्डिया में लिखा है, यह इतना तो अवश्य ही सूचित करती है कि उस देश के उस समय के लेखक इस प्रकार का विचार अपने मनमें ला सकते थे (पृष्ठ ११२)। इस प्रकार के विचारोंके लिये हमको बंगाल के पाल राज्य में जाने की आवश्यकता नहीं है जैसा कि प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं।

गौडपादाचार्यके काल से पहिले अद्वैत वेदान्त सम्प्रदाय का होना केवल हमारी कल्पना ही नहीं है। इसका लेखबद्ध प्रमाण भी है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का यह विचार हमको ठीक मालूम नहीं होता कि उपनिषदों के पश्चात् गौडपादाचार्य ही अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक हुए हैं (ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी, वॉ १, पृष्ठ ४२२)। भवभूति कवि ने उत्तर-रामचरित में ऐसे विचार पाए जाते हैं जिनका प्रचार गौडपाद और शंकराचार्यने किया है। भवभूति का समय शंकराचार्यसे पूर्वका होना निश्चित ही है (देखिए—भण्डारकर की मालतीमाधव की अंग्रेजी भूमिका)। उत्तररामचरित में दो श्लोक ऐसे हैं जिनमें कि अद्वैत वेदान्त के दो विशेष सिद्धान्तों का जिक्र है—एक विवर्तवाद

और दूसरा ज्ञान द्वारा समस्त अज्ञानरूपी संसार का लय हो जाना। वे ये हैं :—

(१) एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान्विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम् ॥ (३।४७)

(२) विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः॥ (४।६)

इससे यह मालूम पड़ता है कि ये दोनों सिद्धान्त शंकर और गौड़पाद से पहिले के हैं। ये दोनों सिद्धान्त योगवासिष्ठ में प्रचुरता से उन्हीं शब्दों में पाए जाते हैं—

(१) यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि॥ (३।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ चयाचयौ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि॥ (३।११।४१)
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते। (३।१००।२८)
तरङ्गमालयाऽम्भोधिर्यथात्मनि विवर्तते।
तथा पदार्थलक्ष्म्येत्थमिदं ब्रह्म विवर्तते॥ (११।१८-१९)

(२) यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते॥ (३।११४।९)
येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते॥ (३।४९।१८)

भवभूति के श्लोकों से ही यह जान पड़ता है कि इस प्रकार का अद्वैतवाद अवश्य ही उनको ज्ञात था और उनके समय से पहिले ही इसका प्रतिपादन हो चुका था। इसलिये हमें योगवासिष्ठ को भवभूति के समय से पूर्व का कहने में कुछ भी सन्देह नहीं होता।

यह हमारा विचार योगवासिष्ठ का भर्तृहरि के [illegible] वाक्यपदीय और वैराग्यशतक के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से और भी दृढ़ हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में कुछ श्लोक योगवासिष्ठ के पाए जाते हैं। और इनके और योगवासिष्ठ के विचार भी बहुत

मिलते जुलते हैं। जैसा कि आगे के वाक्यों से व्यक्त हो जायगा—

वैराग्यशतक—

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम् ।
लोला यौवनलालनातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥

योगवासिष्ठ—

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलाम्बाम्बुवद्भङ्गुरम्
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला ।
लोला यौवनलालनाजलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम् ॥ (६।१२६।३३)

वैराग्यशतक

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा बुधा जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ (७८)

योगवासिष्ठ—

पुनर्दिनैककलना शर्वरीसंस्थितिः पुनः ।
पुनस्तान्येव कर्माणि लज्जायै न च तुष्टये ॥ (५।२२।३१)
तमेव भुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ।
दिवसे दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते ॥ (५।२२।३३)

वाक्यपदीय—विवर्त्ततेऽर्थभावेन । (१।१।१)

योगवासिष्ठ—विवर्त्तेऽर्थभावेन । (६।६३।४६)

वाक्यपदीय—

द्यौः क्षमा वायुरादित्यः सागराः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (३।७।४१)

योगवासिष्ठ—

द्यौः क्षमावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
अन्तःकरणतत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः ॥ (५।५६।३५)

वाक्यपदीय— नैकत्वमस्ति नानात्वं विनैकत्वेन नेतरत् ।
परमार्थे तयोरेष भेदोऽत्यन्तं न विद्यते ॥ (३।६।२८)

योगवासिष्ठ—एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता ।
एकाभावादभावोऽत्रैकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः ॥ (६।२३।५)

वाक्यपदीय—

न चैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते ॥ (३।१।२१)

योगवासिष्ठ—

न च नास्तीति तद्वक्तुं युक्तं ते तद्वपुर्यदा ।
नचैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ (६।५३।६)

वाक्यपदीय—सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः । (३।१।२२)

योगवासिष्ठ—समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा । (३।६७।२)

वाक्यपदीय—यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम् । (३।३।७०)

योगवासिष्ठ—द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं परम् । (३।१२१।५३)

वाक्यपदीय—न तदस्ति न तन्नास्ति । (४।२।१२)

योगवासिष्ठ—न तदस्ति न तन्नास्ति । (६।३१।३६)

वाक्यपदीय—

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ (१।१।१३१)

योगवासिष्ठ—इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता । (३।६।५८)

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों—भर्तृहरिकृत ग्रन्थ और योगवासिष्ठ—में कौनसा पूर्व कालका है ? हमारा विचार तो यह है कि योगवासिष्ठ ही पूर्वकालीन ग्रन्थ है क्योंकि इसमें भर्तृहरि के 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त का नाम तक भी नहीं आता और 'शब्द ब्रह्म' वाक्यपदीय का विशेषतया प्रतिपादित विषय है। यदि योगवासिष्ठ वाक्यपदीय से पीछे लिखा गया होता तो अवश्य ही उसमें भी 'शब्द ब्रह्म' सिद्धान्त

का वर्णन होता। इसलिये हमारा खयाल है कि योगवासिष्ठ भर्तृहरि के समय में वर्त्तमान था। भर्तृहरि के मरण का साल ६५० क्रिष्टीय समझा जाता है (देखिए—मैक्समूलर के **सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फ़िलॉसोफ़ी**, पृष्ठ ६०, और कीथ का **क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर** पृ० ११८)। इससे यह निश्चय है कि क्रिष्टीय सप्तम शताब्दी के आरम्भ से पूर्व योगवासिष्ठ अवश्य ही वर्त्तमान रहा होगा।

पाठक यह जान कर प्रसन्न होंगे कि लेखक का यह मत कि योगवासिष्ठ शङ्कराचार्य से और सम्भवतः भर्तृहरि से प्राचीन ग्रन्थ है। प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य और डा० विण्टर्निज़ ने भी जिनके मतों का यहाँ पर खण्डन किया गया है मान लिया है। और शरबाटस्की, शरडेर और कीथ प्रभृति यूरोप के बड़े बड़े पण्डितों ने हमारी इस खोज की भूरि भूरि प्रशंसा की है। प्रो० कीथ ने एक चिट्ठी में लिखा है "आपने योगवासिष्ठ का शंकर से प्राचीनतर होना तो साफ़ तौर से सिद्ध कर दिया है और आपकी इसके भर्तृहरि से पूर्व काल का होने की युक्तियाँ भी ठीक ही जान पड़ती हैं।" प्रो० शरेडर ने अपने एक पत्र में लिखा है "मैं अपनी ओर से आपको इस बात पर बधाई देना चाहता हूँ कि आपने योगवासिष्ठ का शंकर से और सम्भवतः गौडपाद से पूर्व का ग्रन्थ होना साबित कर दिया है।"

वर्त्तमान योगवासिष्ठ वाल्मीकिकृत नहीं है

यहाँ तक यह सिद्ध हो चुका है कि योगवासिष्ठ के निर्माणकाल के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में जो विचार प्रचलित हैं वे ठीक नहीं हैं। योगवासिष्ठ अवश्य ही वाक्यपदीय और वैराग्यशतक के रचयिता भर्तृहरि से पहिले का है। अब हमको यह विचार करना है कि यह ग्रन्थ कितना प्राचीन है, और यह कहाँ तक सत्य है कि यह रामायण के रचयिता श्री वाल्मीकि जी की कृति है जैसा कि प्रायः समझा जाता है।

इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है कि कोई प्राचीन ग्रन्थ ऐसा था जिसमें वसिष्ठजी के वे सिद्धान्त वर्णित थे जो उन्होंने

श्री रामचन्द्रजी को सिखाए थे और जो कि उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से सीखे थे। यह हमारा विश्वास निम्नलिखित दो कारणों पर निर्भर है :—

१—महाभारत के अनुशासन पर्व के छठे अध्याय में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से प्रश्न किया है : "आप महाप्राज्ञ और सब शास्त्रों के पण्डित हैं। मुझे बतलाइये कि भाग्य (दैव) प्रबल है अथवा पुरुषार्थ ?" इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा "धर्मराज ! इस विषय में ब्रह्मा और वसिष्ठ का संवाद सुनो" इतना कह कर उन्होंने इस विषय में वे बातें कहीं जो कि ब्रह्मा ने वसिष्ठ को सुनाई थीं। ये बातें प्रायः वे ही हैं जो कि वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कही थीं (देखिए योगवासिष्ठ—मुमुक्षु प्रकरण सर्ग ४-९)। रामचन्द्रजी को यह शिक्षा देकर वसिष्ठजी ने उनसे यह भी कहा है कि यह ज्ञान उनको ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था :—

इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना। (२ १०।९)

इस प्रकार की शिक्षा देने से पहिले भी वसिष्ठजीने रामचन्द्रजीसे यह कहा था कि जो ज्ञान वे उनको देंगे वह ज्ञान उन्होंने स्वयं ब्रह्मा से प्राप्त किया था:—

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥ (२।३।१)

२—वर्त्तमान योगवासिष्ठ के सर्वप्रथम सर्ग—जो कि प्रस्तावनारूप है—पढ़ने से भी यह निश्चित होता है कि वाल्मीकिकृत कोई एक ऐसा ग्रंथ मौजूद था जिसमें कि उन्होंने रामचन्द्रजीको वसिष्ठजी द्वारा किए हुए उपदेश का वर्णन किया था। इस ग्रन्थ को बनाकर वाल्मीकिजी ने अपने शिष्य भरद्वाजको सुनाया था। और फिर बहुत काल पीछे उसी ग्रन्थको उन्होंने राजा अरिष्टनेमी को सुनाया था :—

शृणु राजन्प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम्।
श्रुत्वावधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ (१।१।५२)
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम्।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र वदामि श्रूयतां बुध ॥ (१।१।५३)
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराहमरिमर्दनः।
शिष्यायास्यामि विनीताय भरद्वाजाय धीमते ॥ (१।२।४५)

इन दो प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अवश्य ही वाल्मीकि-कृत कोई

ऐसा प्राचीन ग्रन्थ मौजूद रहा होगा जिसमें कि वसिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन हो। लेकिन जिस रूप में योगवासिष्ठ ग्रन्थ हमारे सामने उपस्थित है उस रूप में यह न बहुत प्राचीन ही है और न वाल्मीकि ऋषि की कृति है। हमारा विचार यह है कि वह कोई प्राचीन ग्रन्थ, पुनः पुनः आवृत्त होने से, और उसमें समय समयपर दूसरे लेखकों द्वारा वृद्धि होने से, इस बृहत् रूप को प्राप्त हो गया है। योगवासिष्ठ के प्रस्तावनारूप प्रथम सर्ग का अध्ययन करने से ही यह विचार निश्चित हो जाता है कि इस ग्रन्थ की बहुत सी आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। (१) वाल्मीकिजी ने इसको रचकर भरद्वाज को सुनाया था और फिर उन्होंने ही इसको कुछ दिन पीछे अरिष्टनेमी राजा को सुनाया (१।२।४; १।२।५३)। (२) जो उपदेश वाल्मीकिजी ने अरिष्टनेमी को दिया था उसका वर्णन इन्द्र के एक दूत ने सुरुचि नाम की एक अप्सरा के सामने किया था (१।१।२३)। (३) यह बात अग्निवेश्य ने अपने पुत्र कारुण्य को सुनाई थी (१।१।१८) और (४) अग्निवेश्य और कारुण्य का यह प्राचीन इतिहास अगस्ति ने सुतीक्ष्ण ब्राह्मण को सुनाया था (१।१।६)। बार बार केवल अपनी स्मृति से पुरानी कथाओं और उपदेशों को दूसरों के प्रति सुनाने में अवश्य ही बहुत सी नई बातें कहने में आ जाया करती हैं और बहुत सी पुरानी बातें विस्मृत हो जाया करती हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध के ५२-५८ सर्गों में महाभारत के संग्राम और श्रीकृष्ण के गीता-उपदेश का भी वर्णन मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्तमान रूप में भी योगवासिष्ठ पूर्णतया और यथार्थ ही श्री वाल्मीकिजी की कृति है।

दूसरा बहुत महत्त्वपूर्ण कारण जिसकी वजह से इस वर्त्तमान योगवासिष्ठ को बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं कह सकते यह है कि इसमें बौद्धमत के 'विज्ञानवाद', 'मध्यमवाद' और 'शून्यवाद' का केवल वर्णन ही नहीं आता बल्कि इन मतों का वर्त्तमान योगवासिष्ठ में बहुत सुन्दरता के साथ सम्मिश्रण और समन्वय है। (देखिए योगवासिष्ठ ५।८७।१८-२० और ३।५।६ इत्यादि)। योगवासिष्ठ का अध्ययन करने पर यह पूरे तौर से निश्चित हो जाता है कि इसमें अश्वघोष, नागार्जुन, असङ्ग और वसुबन्धु आदि बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ

औपनिषद् अद्वैतवाद तथा आत्मवाद का बहुत ही उत्तम समन्वय है। नागार्जुन का समय आधुनिक विद्वानों के अनुसार द्वितीय क्रिष्टीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध है, और विज्ञानवाद के प्रवर्तक वसुबन्धुका समय तत्तु के अनुसार ४२० से ५०० ईस्वी सन् मानना चाहिए। (देखिए दी जर्नल ऑफ़ रुआयल एशियाटिक सोसोइटी, १९०५ पृष्ठ १ आदि)। इसलिये वर्त्तमान योगवासिष्ठ का पाँचवीं ईस्वी शताब्दी के पीछे का ही मानना पड़ता है।

इस विचार को पुष्टि इस कारण से भी होती है कि योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध के ११९ वें सर्ग के १–६ श्लोकों में महाकवि कालिदास के "मेघदूत" का बहुत हो संक्षेप में वर्णन है। केवल मेघदूत का विचार ही नहीं बल्कि कवि कालिदास के शब्द भी इस संक्षिप्त वर्णन में मिलते हैं। पाठकोंके निश्चय के लिये इन श्लोकों को हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं :—

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम्॥ (६।११९।१)
एकत्र शृणु किं वृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम्।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम्॥ (६।११९।२)

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात्।
नैवात्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत॥ (६।११९।३)

आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः।
विद्युल्लता विलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः॥ (६।११९।४)

भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयात्मानिलैः॥ (६।११९।५)

चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वालिङ्गिता सती।
न जाने काधुनैवेतः पयोद दयिता गता॥ (६।११९।६)

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार कालिदास पाँचवीं शताब्दी के

पूर्वार्द्ध में हुए हैं। वर्त्तमान योगवासिष्ठ इस समय के पीछे का ही होना चाहिये।

ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्त्तमान योगवासिष्ठ गुप्त साम्राज्य के पतन होने के समय लिखा गया था। इसके तीसरे और छठे प्रकरणों में बहुत सी लड़ाइयों और आक्रमणों का वर्णन है। उत्पत्ति प्रकरण में विदूरथ और सिन्धु का संग्राम और निर्वाण प्रकरण में वर्णित विपश्चित् के राज्य पर चारों ओर से आक्रमणों का उल्लेख इस बात के द्योतक हैं कि वह समय महा अशान्ति का था। हूणों और पारसीकों का भी जिक्र इन स्थानों पर आता है। युद्ध का वर्णन बहुत ही विस्तृत भाषा में है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ महाकवि कालीदास के पीछे और भर्तृहरि के पूर्व समय का ग्रन्थ है। यदि योगवासिष्ठ की भाषा और उसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं का गहरा अध्ययन किया जाए तो हमें पूर्ण आशा है कि इस विचार अधिकतर पुष्टि हो जायगी। विद्वानों से आशा है कि वे इस ओर ध्यान देकर इस विषय पर अपना मत प्रकट करेंगे।

परिच्छेद ३

योगवासिष्ठ-साहित्य

इस बीसवीं शताब्दी में भी, जब कि पुस्तकों की प्रचुरता से पढ़नेवालों का नाक में दम है, योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पुस्तकों का सर्वथा अभाव है। आजकल भारतीय साहित्य और दर्शन-सम्बन्धी पुस्तकें दिन पर दिन अधिकता से छपती जा रही हैं किन्तु अभी तक योगवासिष्ठ-सम्बन्धी कोई भी उत्तम पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। यहाँ तक कि संस्कृत भाषा के योगवासिष्ठ की भी एक आवृत्ति को छोड़कर कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। लेखक ने इस ग्रन्थ के विषय में सन् १९२५ ई० से लिखना आरम्भ किया है। उससे पहिले इस महान् ग्रन्थ पर प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया था। केवल बाबू (अब डाक्टर) भगवान्-दासजी ने शायद "ल्यूसीफ़र" नामक अंग्रेजी पत्रिका में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के ऊपर कोई लेख लिखा था। तब से लेकर अब तक भी योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में बहुत ही कम लेख छपे हैं। यहाँ पर हम उस समस्त साहित्य का उल्लेख करना चाहते हैं जो कि योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में पाठकों को उपलब्ध हो सकता है।

(१) योगवासिष्ठ के काल-निर्णय के सम्बन्ध में—

१—डा. जे. एन्. फर्कुहार के एन आउटलाइन ऑफ़ दी रिलीजस लिट्रेचर ऑफ़ इण्डिया में २२८ पृष्ठ पर कुछ पंक्तियाँ जिनमें योगवासिष्ठ को १३-१४ शताब्दियों का रचा हुआ माना है।

२—डा० विण्टर्निज के गेशिख्टे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर भा० ३, पृष्ठ ४४३-४४४ पर एक पेराग्राफ़, जिसमें योगवासिष्ठ को श्री शङ्कराचार्य के किसी समकालीन व्यक्ति का लिखा हुआ माना है।

३—प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा मद्रास ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़ा हुआ और उसकी प्रोसीडिंग्स में छपा हुआ एक लेख—"योगवासिष्ठ रामायण, इसका समय और लिखने का स्थान"—जिसमें

कि उन्होंने योगवासिष्ठ को १०-१२ शताब्दियों में किसी बङ्गाली लेखक के द्वारा लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

४—डा० बी० एल० आत्रेय के **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फिलासोफी** में दूसरा लेक्चर जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि योगवासिष्ठ कवि कालिदास से पीछे और भर्तृहरि पहिले का लिखा हुआ ग्रन्थ है।

५—डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के **ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसोफी**, वॉ० २, में "फ़िलासोफ़ी ऑफ़ दी योगवासिष्ठ" नामक अध्याय में उन्होंने अपना यह मत प्रकट किया है कि योगवासिष्ठ तो आठवीं या सातवीं शताब्दी में लिखा गया होगा। यही मत उन्होंने अपने ग्रन्थ "**इण्डियन आइडीयलिज़्म**" में भी पृष्ठ १५४ पर प्रकट किया है। वहाँ पर उन्होंने लिखा है "योगवासिष्ठ का काल निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दि के पीछे का नहीं हो सकता।"

६—डा० बी० एल० आत्रेय का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फरेन्स में भेजा हुआ लेख "दी प्रोबैबिल डेट ऑफ कम्पोजीशन ऑफ़ योगवासिष्ठ", जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि योगवासिष्ठ छठी शताब्दी में लिखा गया होगा।

७—श्री प्रह्लाद सी० दीवानजी का बड़ोदा ओरियण्टल कान्फरेन्स में पढ़ा हुआ लेख, "दी टेड एण्ड प्लेस ऑफ़ ओरिजिन ऑफ़ योगवासिष्ठ", जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है योगवासिष्ठ दसवीं शताब्दी के मध्य में कश्मीर देश में [illegible] गया होगा।

(२) योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में—

१—लाला बैजनाथ द्वारा कराए हुए योगवासिष्ठ के हिन्दी भाषानुवाद में उनकी लिखी हुई भूमिका, जिसमें उन्होंने योगवासिष्ठ के छहों प्रकरणों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया है।

२—श्री नारायण स्वामी अइयर के **इंगलिश ट्रांसलेशन**

लघु **योगवासिष्ठ** की भूमिका, जिसमें कि लघु योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

३—डा० बी० एल० आत्रेयका प्रथम (कलकत्ता) इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१६२५) में पढ़ा हुआ लेख—"फ़िलॉसोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ" जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। यह लेख इस कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

४—डा० बी० एल० आत्रेय का बनारस इण्डियन फिलॉसोफ़िकल कांग्रेस (१६२६) में पढ़ा हुआ लेख—"डिवाइन इमेजिनिज्म ऑफ़ वसिष्ठ"—जिसमें योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का वर्णन है। यह लेख बनारस फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

५—डा० बी० एल० आत्रेय का बम्बई इण्डियन फ़िलॉसोफ़िकल कांग्रेस में पढ़ा हुआ लेख—"गौड़पाद ऐण्ड वसिष्ठ"—जिसमें गौड़पादाचार्य और योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की तुलना की है। यह लेख भी इस कांग्रेस की **प्रोसीडिंग्स** में छपा है।

६—डा० बी० एल० आत्रेय का **योगवासिष्ठ एण्ड इट्स फ़िलासोफ़ी**-जो कि काशी तत्व सभा में योगवासिष्ठ पर दिए हुए १० व्याख्यानों में से पांच का संग्रह है। यह पुस्तक 'इण्डियन बुक शॉप', बनारस से मिल सकती है। इस पुस्तक में योगवासिष्ठ के सिद्धांतों का सरल अंग्रेजी भाषा में प्रतिपादन किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इस लेखक की अंगरेजी में बड़ी पुस्तक (६०० पृष्ठ की) **फ़िलासोफ़ी ऑफ़ योगवासिष्ठ** छप रही है।

७—डाक्टर बी० एल० आत्रेय की हिन्दी पुस्तक **श्री वासिष्ठ दर्शनसार** जिसमें योगवासिष्ठ का १५० श्लोकों में, जिनके नीचे उनका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है, सार सिद्धान्त रखने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भूमिका में योगवासिष्ठ सम्बन्धी और बातों का भी वर्णन है। यह पुस्तक भी इंडियन बुक शॉप, बनारस, से मिल सकती है।

८—डा० बी० एल० आत्रेय का लिखा हुआ कल्याण शिवाङ्क में "शिव-शक्ति-वाद" नामक लेख जिसमें योगवासिष्ठ के "शिव-शक्ति-वाद" का, और मतों की दार्शनिक समालोचना के साथ, समर्थन किया गया है।

९—डा० बी० एल० आत्रेय का कल्याण के भगवद्गीता में लिखा हुआ लेख—"योगवासिष्ठ में भगवद्गीता" – जिसमें योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में अर्जुन को दिए जाने वाले श्रीकृष्ण गीता-उपदेश का वर्णन किया गया है।

१०—डा० बी० एल० आत्रेय का यू० पी० गवर्नमेण्ट की प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ १९३३ में छपा हुआ एक लेख "योगवासिष्ठ एण्ड सम ऑफ़ दी माइनर उपनिषद्स", जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि बहुत से उत्तर कालीन उपनिषद् योगवासिष्ठ के ही सार श्लोकों से बने हैं।

११– डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासोफी के दूसरे भाग में योगवासिष्ठ के दर्शन के ऊपर एक ३० पृष्ठों का अध्याय।

१२—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के इंडियन आयडीयलिज़्म में योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त का ५ पृष्ठों में वर्णन।

१३—डा० भगवान् दास की पुस्तक मिस्टिक एक्स्पीरियन्स जिसमें योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में से चार कहानियाँ अङ्गरेजी में वर्णन है। इसमें कहीं-कहीं उपयोगी फुट नोट भी हैं।

१४—डा० बी० एल० आत्रेय का संस्कृत ग्रन्थ वासिष्ठदर्शन जिसको यू० पी० गवर्नमेण्ट अपने प्रिंस ऑफ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट सीरीज में छपा रही है। यह ग्रन्थ इस समय प्रेस में है। इसमें योगवासिष्ठ के समग्र दार्शनिक सिद्धान्त योगवासिष्ठ ही के करीब २५०० श्लोकों में संग्रह करके क्रमबद्ध रीतिसे रक्खे गए हैं। यह ग्रन्थ योगवासिष्ठ के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों को योगवासिष्ठ के प्रेमियों के सम्मुख रखने का प्रथम प्रयत्न है। इसके आदि में एक अङ्गरेजी की भूमिका

भी है जिसमें योगवासिष्ठ के समग्र आख्यान संक्षेप रूप से दिए हैं।

१५—डा० भी० ला० आत्रेय का हिन्दी ग्रन्थ **योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त** जो आजकल प्रेस में है। इस ग्रन्थ में योगवासिष्ठ सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर विवेचना की गई है।

१६—कन्हैयालाल मास्टर की **कल्याण** में लिखी हुई 'योगवासिष्ठ-सार' नामक लेखमाला। इसमें हिन्दी भाषा में योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली भाँति वर्णन है।

१७—डा० बी० एल० आत्रेय लिखित **योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट** जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों की अर्वाचीन वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ तुलना की है और यह दिखलाया है कि अर्वाचीन विचार योगवासिष्ठ के विचारों से बहुत मिलते हैं।

३—योगवासिष्ठ के अनुवाद—

हिन्दी—

१—योगवासिष्ठ—भाषा टीका सहित—श्रीठाकुर प्रसाद आचार्यकृत भाषा अनुवाद सहित संस्कृत योगवासिष्ठ। यह ग्रन्थ दो भागों में संवत् १९६० में, ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से छपा था। यह अनुवाद [illegible] लाला बैजनाथजी की प्रेरणा से हुआ था और दोनों भागों के आदि में लाला बैजनाथजी की लिखी हुई उत्तम भूमिका है जिसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया गया है। हमको यह अनुवाद अच्छा नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इसमें मनमाना अर्थ किया गया है। जो बातें योगवासिष्ठ के श्लोकों में नहीं हैं वे भी अर्थ में लिख दी हैं। योगवासिष्ठ में अनुवादक ने शाङ्कर वेदान्त के बहुत से सिद्धान्त, जो कि योगवासिष्ठकार को ज्ञात नहीं थे, घुसेड़ दिए हैं। अनुवादक को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। इस पुस्तक का कागज़ इतना जल्द टूटने वाला है कि हम किसी को भी इस पुस्तक के खरीदने की राय नहीं देंगे। इसके दाम २२) रु० हैं।

२—योगवासिष्ठ भाषा—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपा हुआ। दाम ८) रु०। यह ग्रन्थ बम्बई में वेङ्कटेश्वर प्रेस से भी

छपा है। इसमें योगवासिष्ठ के संस्कृत श्लोक नहीं हैं। केवल भाषा में ही योगवासिष्ठ की कथा है। भाषा कुछ पुराने ढङ्ग की है। इस ग्रन्थ की बाबत यह कहा जाता है कि क़रीब १७५ वर्ष के हुए कि पटियाला रियासत के महाराजा-साहेब सिंह की दो बहिनें विधवा हो गई थीं। उन्होंने साधु रामप्रसाद निरञ्जनी से योगवासिष्ठ सुनाने प्रार्थना की। उन्होंने सारा ग्रन्थ उन देवियों को पञ्जाबी भाषा में उल्था करके सुना दिया। जो कुछ वे सुनाते थे दो गुप्त लेखक नोट करते जाते थे। जब ग्रन्थ पूरा सुनाया जा चुका तो यह उल्था छपवा दिया गया। पीछे इस पञ्जाबी उल्था को खड़ी बोली हिन्दी में शुद्ध कराकर लोकोपकार के लिये नवलकिशोर प्रेस ने १९१४ ई० में छाप दिया इस ग्रन्थ का पञ्जाब और पश्चिमीय यू० पी० में बहुत प्रचार है ग्रन्थ है भी बहुत ही उत्तम। इसमें योगवासिष्ठ के सिद्धान्त उसी ग्रन्थ की भाषा में वर्णित हैं। कुछ सर्ग, जिनका दार्शनिक सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है, छोड़ दिये गए हैं। दोष इस ग्रन्थ में यह है कि इसमें जिन श्लोकों का अनुवाद किया गया है उनका अंक नहीं दिया गया। इसके सर्गों के अङ्क भी योगवासिष्ठ के सर्गों के अङ्कों से नहीं मिलते क्योंकि कहीं २ पर वे सर्ग छोड़ दिए गए हैं जिनमें युद्ध, वन इत्यादिक वर्णन था।

३—योगवासिष्ठ-भाषा—वैराग्य और मुमुक्षु प्रकरण—वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित। इसमें योगवासिष्ठ के केवल प्रथम दो प्रकरणों का ही भाषा में अनुवाद है। इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। अनुवाद भी अच्छा है। इसमें भी श्लोकों के अङ्क नहीं दिये गये।

उर्दू—

१—योगवासिष्ठसार—लघु योगवासिष्ठ का मुंशी सूर्यनारायण मेहर का किया हुआ उर्दू अनुवाद, १९१२ में दिल्ली से प्रकाशित। यह लघु योगवासिष्ठ का उर्दू भाषा में बहुत अच्छा अनुवाद है।

२—योगवासिष्ठायन—म० शिवब्रतलाल द्वारा किया हुआ लाहोर से छपा हुआ लघु योगवासिष्ठ का उर्दू अनुवाद। यह अनुवाद भी बहुत ही उत्तम है। इसमें विशेषता यह है कि किताब के किनारे पर हरएक पैरेग्राफ़ के सिद्धान्त दिए हैं।

अंग्रेज़ी—

१—इंग्लिश ट्रांस्लेशन ऑफ़ योगवासिष्ठ महारामायण—बिहारीलाल मित्र का ४ भागों में किया हुआ अनुवाद सन् १८९१ में कलकत्ते से छपा हुआ। इस अनुवाद के करने में अनुवादक ने प्रयत्न तो बहुत ही श्रेष्ठ किया है किन्तु खेद है कि अनुवाद किसी भी काम का नहीं है। इसको पढ़कर कोई भी योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों को नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अंग्रेजी भाषामात्र जानने-वालों को अभी तक योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का भली-भाँति ज्ञान नहीं हो सका।

२—ए ट्रांस्लेशन ऑफ (लघु) योगवासिष्ठ—मद्रास से १८९६ में छपा हुआ के० नारायण स्वामी अइयर का किया हुआ लघु योगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद। यह अनुवाद ऊपरवाले अनुवाद से कुछ अच्छा है, किन्तु इसमें भी बहुत जगहों पर ठीक अनुवाद नहीं है और इसमें श्लोकों का नम्बर नहीं दिया है।

४—मूल ग्रन्थ—संस्कृत योगवासिष्ठ

१—आनन्द बोधेन्द्र कृत टीका सहित सम्पूर्ण योगवासिष्ठ—संवत् १९३६ वि० में गणपत कृष्णजी प्रेस बम्बई में प्रकाशित। यह खुले पत्रों के रूप में छपा है। टाइप भी उत्तम नहीं है और एक श्लोक दूसरे से अलहदा नहीं है। सब श्लोक लगातार एक ही साथ मिले हुए छपे हैं जिससे पढ़नेवालों को कष्ट होता है।

२—श्रीमद्वाल्मीकि महर्षि प्रणीत योगवासिष्ठ—श्रीवासिष्ठ महारामायणतात्पर्यप्रकाशाख्यव्याख्या सहित। वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित निर्णयसागर प्रेस बम्बई से सन् १९१८ में दो भागों में प्रकाशित। इसमें आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती भिक्षु की व्याख्या है। यह व्याख्या उत्तर कालीन शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसार है। यह ग्रन्थ अच्छा छपा है। पाठकों को इसी का पाठ करना उचित है। यह केवल संस्कृत में ही है। इसका दाम १४) है।

संस्कृत लघु योगवासिष्ठ—

१. लघु योगवासिष्ठ—गौड अभिनन्दकृत निर्णयसागर प्रेस बम्बई से संवत् १९४४ में खुले पत्रों में छपा हुआ। इसमें पहले तीन प्रकरणों (वैराग्य, मुमुक्षु और उत्पत्ति) पर आत्मसुखकृत वासिष्ठ चन्द्रिका नामक व्याख्या है और आखरी तीन (स्थिति, उपशम और निर्वाण) पर मिम्मदीदेव की संसारतारिणी नाम की व्याख्या है। इस लघुयोगवासिष्ठ में योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार नहीं है। यह ग्रन्थ भी उत्तम है।

योगवासिष्ठ की कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ—

यहाँ तक हमने पाठकों को योगवासिष्ठ सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकों और लेखों का परिचय दे दिया। अब हम उनको योगवासिष्ठ और उसके संक्षेपों की कुछ हस्तलिखित प्रतियों से भी परिचित कराना चाहते हैं। वे ये हैं :—

१—योगवासिष्ठ (सम्पूर्ण)

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लण्डन में। देखिये ज्यूलियस ऐग्लिङ्ग रचित "दी कैटालोग ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स इन दी लाइब्रेरी ऑफ़ इण्डिया ऑफिस" लण्डन, पार्ट (भाग) ४, पृष्ठ ७७२ आदि पर वर्णित :—

योगवासिष्ठ—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत वासिष्ठ-तात्पर्य-प्रकाश नामक व्याख्या समेत। (नं० २४०७—२४१४) इस प्रति में

१. वैराग्य प्रकरण में (नं० ३०२ अ) ३३ सर्ग हैं और लगभग ११३० श्लोक हैं।

२. मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में २० सर्ग और उनमें ६००० के लगभग श्लोक हैं।

३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग और उनमें लगभग ६००० श्लोक हैं।

४. स्थिति प्रकरण में ६२ सर्ग हैं जिसमें २४०० के लगभग श्लोक हैं।

५. उपशम प्रकरण में ९३ सर्ग हैं जिनमें ४२७० के लगभग श्लोक हैं।

६. निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२८ सर्ग हैं जिनमें ५४६० के लगभग श्लोक हैं।

७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग हैं जिनमें ८८०० के लगभग श्लोक हैं।

यहाँ पर यह उचित जान पड़ता है कि हम पाठकों को यह भी बतला दें कि निर्णय सागर बम्बई से प्रकाशित ग्रन्थ में सर्गों और श्लोकों की संख्या क्या है। उसमें

१. वैराग्य प्रकरण में ३३ सर्ग, ११७६ श्लोक हैं।
२. मुमुक्षु व्यवहार प्रकरण में २० सर्ग, ८०७ श्लोक हैं।
३. उत्पत्ति प्रकरण में १२२ सर्ग, ५२९५ श्लोक हैं।
४. स्थिति प्रकरण में ६२ सर्ग, ४१५ श्लोक हैं।
५. उपशम प्रकरण में ९३ सर्ग ४१६७ श्लोक हैं।
६ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध में १२८ सर्ग, ५१११ श्लोक हैं।
७. निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध में २१६ सर्ग, ८७१६ श्लोक हैं।

इस पुस्तकालय में योगवासिष्ठ की और भी प्रतियाँ हैं (२४१५। २९४१; २४१६—२४२०; २४२१ और २४२२) किन्तु उनमें कोई भी सम्पूर्ण नहीं है।

(२) ऑक्स्फोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय में—(देखिये आफ-फेरेक्ट का "कैटालोगी कोडिकम मैन्युस्क्रप्टोरम् विब्लियोथी की बोडलियने" नं० ८४०)। यहाँ पर जो प्रति वर्त्तमान है उसमें निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है। इस प्रति के प्रारम्भ के शब्द "दिवि भूमौ" हैं।

(३) महाराजा बीकानेर के पुस्तकालय में (देखिये राजेन्द्रलाल मित्र का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० १२१६)। इस प्रति में भी निर्वाण प्रकरण का उत्तरार्द्ध नहीं है इसके आदि के शब्द हैं—"दिक्कालाद्य-नवच्छिन्न"।

(४) अलवर नरेश के पुस्तकालय में (देखिए पिटर्सन का बनाया हुआ सूचीपत्र, नं० ५४८,५४९)। इन प्रतियों पर योगवासिष्ठ के नाम,

'योगवासिष्ठ', 'आर्षरामायण', 'ज्ञानवासिष्ठ', 'महारामायण', 'वासिष्ठ रामायण' और 'वासिष्ठ' हैं। इनके साथ आनंद बोधेन्द्र सरस्वती की व्याख्या भी है।

(५) सरस्वती-भवन पुस्तकालय, क्वीन्स कालिज, बनारस में (देखिए—यहाँ की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची, नं० १८०८—१८१०, १८२० और ५०३७)। यहाँ पर ६ प्रतियाँ हैं किन्तु केवल एक ही, नं० १८२०, सम्पूर्ण है।

(६) मद्रास के गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट पुस्तकालय में। (देखिए रंगाचार्य की बनाई हुई पुस्तक सूची वॉ० ४, भाग १, नम्बर १६१०—१६१४) :—

नं० १६१०, वासिष्ठ रामायणम् सव्याख्यानम्—देवनागरी लिपि। केवल वैराग्य प्रकरण, मुमुक्षु प्रकरण और स्थिति प्रकरण।

नं० १६११, वासिष्ठरामायणम्—सव्याख्यानम्। ग्रन्थ लिपि। उपशम प्रकरण, असम्पूर्ण।

नं० १६१२, वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। देवनागरी लिपि। इसमें निर्वाण प्रकरण के १२२ सर्ग तक ही हैं।

नं० १६१३ वासिष्ठ रामायणम्—सव्याख्यानम्। इसमें निर्वाण प्रकरण के ३६ वें अध्याय से लेकर अन्त तक है। देवनागरी लिपि।

(७) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के ओरियण्टल पुस्तकालय में (देखिये कुञ्जविहारीकृत सूचीपत्र, कलकत्ता १६०४, पृष्ठ १५६) :—

१—आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत व्याख्या सहित वासिष्ठ रामायण, बङ्ग लिपि में।

२—अद्वयरण्यकृत योगवासिष्ठ टीका (वासिष्ठ पददीपिका) देवनागरी लिपि।

२—संक्षिप्त योगवासिष्ठ

१—लघु योगवासिष्ठ, योगवासिष्ठसार, मोक्षोपायसार—

(१) इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी (एग्लिङ्गकृत सूची भाग ४, नं० २४२४।२१२० और २४२५।१३४२)

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (ऑक्स्फोर्ड) कीथ कृत सूची-अपेण्डिक्स। नं० ८४० (एम० एस० फरेज़र ६)। इसके लेखक के सम्बन्ध में कीथ साहब कहते हैं "अभिनन्द के पितामह का पिता काश्मीर के मुक्तापीड राजा के समय (करीब ७२४ ईस्वी) में था। लेखक काश्मीर में पैदा हुआ था किन्तु वह गौड देश में विक्रमशील के पुत्र युवराज हरवर्ष के यहाँ रहता था। देखिए पिटर्सन की सुभाषितावली पृष्ठ ६७।"

(३) अलवर पुस्तकालय में पिटर्सन की सूची नं० ५५०।

(४) सरस्वती सदन पुस्तकालय, क्वीन्सकालिज, बनारस में। हाल के सूचीपत्र "कन्ट्रीब्यूशन टुवर्ड्स एन इंडेक्स टू दी बिब्लियोग्राफ़ी आफ़ इण्डियन फ़िलासोफ़िकल सिस्टम्स" में वेदान्त, नं० १४८ में वर्णित योगवासिष्ठ का संक्षेप "अभिनन्द आफ़ काश्मीर" द्वारा कृत। इसके साथ एक संसारतारिणी नाम की व्याख्या भी है।

(५) मद्रास की गवर्नमेंट ओरियण्टल मैन्युस्क्रप्ट लाइब्रेरी में—(रङ्गाचार्य की सूची नं० १८९२-१८६५)। इसका नाम लघु योगवासिष्ठ और ज्ञानवासिष्ठ है। "यह ४४ सर्गों में बड़े वासिष्ठ-रामायण का सार है। सार करनेवाले का नाम तैलङ्गी लिपि में 'काश्मीर पण्डित' दिया है"।

२— योगवासिष्ठसार

यह बिना रचयिता के नाम का है। किसी किसी प्रति में बनारस के महीधर की व्याख्या है—

(१) इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी में—ऐग्लिङ्ग कृत सूची, भाग ४, नं० २४२६।२५३२ फ। इसमें २२० श्लोक और १० प्रकरण हैं। इसके आदि की पंक्ति है "दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये"। नं० २४२८।१५२१, २४२=।१३६४ सी, और २४२६।२४३६ महीधर कृत योगवासिष्ठ सार वृत्ति अथवा योगवासिष्ठ सार विवरण की प्रतियाँ हैं। यह वृत्ति बनारस के महीधर ने संवत् १६५४ (१५६७ ईस्वी) में लिखी थी।

(२) बोडलियन लाइब्रेरी (आक्सफ़ोर्ड) में कीथकी सूची में नं० १३०२ और आउफरेख्ट की सूची में नं० ५६२। इसके साथ भी

महीधर कृत वृत्ति है। इसमें भी १० प्रकरण हैं।

(३) सरस्वती भवन पुस्तकालय बनारस में हाल के "इण्डेक्स" में पृष्ठ १२१ पर नं० ११६ और ११७।

(४) एशियाटिक सोसाइटी, बङ्गाल के ऑरियण्टल पुस्तकालय में—कुञ्जविहारी कृत सूची में नं० आई. जी. २५। इसका नाम योगवासिष्ठ सार है और इसके साथ महीधर कृत वृत्ति है जो बङ्ग लिपि में है।

(५) इस ग्रंथ का वर्णन राजेन्द्रलाल मित्र ने अपने "नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रप्ट्स" में भी किया है (वॉ १, पृष्ठ १६२ पर नं० ३४०) इसके आदि का श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे॥

३—योगवासिष्ठसार-संग्रह

यह माधवाचार्य कृत, २३०० श्लोकों में, योगवासिष्ठ का सार है और बनारस की क्वीन्स कालेज की संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वती भवन) में है। देखिए सूची नं० १८०७।७० हाल का इंडेक्स भी देखिए, पृष्ठ १२१ नं० १४८।

४—ज्ञानवासिष्ठसमुच्चय

यह तैलङ्गी लिपि में लिखा हुआ ७०० श्लोकों में ज्ञानवासिष्ठ (लघु योगवासिष्ठ) का कृष्णाव्य कृत सार है। इसकी एक प्रति गवर्नमेंट ऑरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास में है (देखिये—रङ्गाचार्य की सूची वॉ ४, भाग १, नं० १६८८)।

५—निर्वाणस्थिति

यह योगवासिष्ठ में से ३०४ श्लोकों में किया हुआ एक संग्रह है जिसमें मुक्ति और उसके साधनों का वर्णन है (देखिए मित्र का "नोटिसेज" वॉ ६, पृष्ठ २८३, नं० ३२०८)

६—नानाप्रस्थानात्माखिलमोक्षोपायाः

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के साथ परिशिष्ट रूप से यह ग्रंथ १४ सर्गों और ५५० श्लोकों में रचा हुआ इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में है। (देखिए एग्लिङ्ग की सूची भाग ४, नं० २४२३।२४४२ बी.)

३—लघु योगवासिष्ठ का फ़ारसी अनुवाद

यह दाराशिकोह का कराया हुआ लघु योगवासिष्ठ का फ़ारसी भाषा में अनुवाद है। इसकी एक प्रति मालती सदन पुस्तकालय बनारस में है। इसमें बड़े बड़े १२० पृष्ठ हैं। इसकी यह नक़ल संवत् १८५५ के श्रावण महीने की नवीं तिथि को बनारस में लाला कुंवरसिंह द्वारा की गई थी। इसकी फ़ारसी बहुत सरस और सुंदर है।

परिच्छेद ३

योगवासिष्ठ और कुछ उत्तर कालीन उपनिषद्

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर कालीन उपनिषदों में से कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिनके सारे अथवा कुछ श्लोक योगवासिष्ठ में वर्त्तमान हैं। लेखक का मत यह है कि ये श्लोक योगवासिष्ठ ही के हैं और उनको योगवासिष्ठ में से बहुत से स्थलों से चुन कर एकत्र करके उस संग्रह का नाम संग्रहकर्त्ता ने उपनिषद् रख दिया। उस समय में पुस्तकों का, विशेषकर बड़ी पुस्तकों का, मिलना कठिन था क्योंकि सब ग्रंथ हाथ से ही लिखे जाते थे। इस कारण से योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थ को पढ़कर लोगों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार इसमें से सार श्लोकों का संग्रह कर लिया, पीछे उसी संग्रह को उन्होंने उपनिषद् नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया, और दूसरे लोगों ने इस उपनिषद् को अपने पाठ के लिये नक़ल कर लिया होगा। इस प्रकार से ये उपनिषद् विख्यात हुए। आजतक इस घटनाका पता किसी विद्वान् को इस कारण से नहीं चला कि योगवासिष्ठ और उपनिषदों का तुलनात्मक गहन अध्ययन किसी ने नहीं किया। शायद ही कोई विद्वान् ऐसा होगा जो किसी श्लोक को पढ़कर यह कह सके कि यह श्लोक योगवासिष्ठ में अमुक स्थलपर है। इस महान् ग्रन्थ के श्लोकों की सूची भी अभीतक नहीं तैयार हुई। लेखक को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उसने कई सालों के कठिन परिश्रम से बहुत से उपनिषदों के श्लोकों को योगवासिष्ठ में पाया है। यह गहरी और महत्त्वपूर्ण खोज पाठकों के समक्ष रखने का यहाँ प्रयत्न किया जाता है। स्थानाभाव से केवल उन श्लोकों का जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ में पाए जाते हैं यहाँ पर अङ्कमात्र दिया जाता है। जो पाठक अधिक उत्सुक हों वे इन नम्बरों के श्लोकों को दोनों ग्रन्थों में से देख कर मुक़ाबला कर लें।

केवल इस घटना से ही कि कोई श्लोक योगवासिष्ठ और किसी उपनिषद् में पाया जाता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह मूलतः योगवासिष्ठ का है और उपनिषद्-कर्ता ने उसे योगवासिष्ठ से ही

लिया है। कुछ और कारण ऐसे हैं जिनकी वजह से हमारा यह विश्वास है कि ये श्लोक जो कि उपनिषदों और योगवासिष्ठ दोनों में पाये जाते हैं योगवासिष्ठ के हैं और उनको संग्रह करके ही ये उपनिषद् बनाये हैं। उनमें से कुछ ये हैं :—

१—बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो कि कई उपनिषदों में नाना स्थलों और नाना सम्बन्धों में मिलते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि संग्रहकर्ताओंने ये श्लोक किसी एक ही जगह से लेकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार सज्जित किए हैं। ये सब श्लोक ऐसे हैं जो कि योगवासिष्ठ में मिलते हैं। यथा :—

योगवासिष्ठ	महोपनिषद्		अन्नपूर्णोपनिषद्
५।७४।३३, ३६	२।४७		२।२५,२६
५।९१।८१	२।४८		४।६९
५।५९।३२	४।१०		१।४७
३।७।१०	४।८२		४।३१
	मुक्तिकोपनिषद्		
५।९०।१४	२।३२		४।१४
५।९०।१६	२।३४ (आधा)		४।१६
५।९०।१८	२।३४ (आधा)		४।१७
५।९०।२०	२।३५ (आधा)		४।१८
५।९०।२३	२।३५ (आधा)		४।१९
५।९१।३७	२।२९		४।४८
५।९१।१४	२।४८		४।४१
५।९१।२९	२।५७		४।४६
५।९२।१७	२।१०		४।८३
५।९२।२२	२।१३		४।८४
५।९२।३४	२।४३		४।९०
	महोपनिषद्		वराहोपनिषद्
३।११८।५–१५	५।२४–३४		४।१–१०
	मैत्रेय्युपनिषद्		
३।११७।९	५।६	२।३०	योगकुण्डल्युपनिषद्
३। ९ ।४७	२।६५	१।१०	३।२४

यो० वा०	मुक्तिकोपनिषद्	म० उ०
३।९।१४	२।७६	२।६३
[illegible] २३।१८	२।४२	५।७५
१।२१। १,२,५,६, ११,१२,१८, २०,२३,२५		३।३९-४८
४।२४।८-१०	२।४०,४१	५।७७-७८
४।३५।१८	२।३९	५।९७-९८

पैङ्गलोपनिषद्	यो० कु० उ०
३।११	३।३४

याज्ञवल्क्योपनिषद्

५:१९

वराहोपनिषद्

अध्युपनिषद्

यो० वा०	वराहोपनिषद्	अध्युपनिषद्
६।१२६।६०-६७	४।१२-१७	३१-३९

२—बहुत से उपनिषदों में इन श्लोकों के आदि में "अत्र श्लोका भवन्ति" ऐसा लिखा है जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि उपनिषत्कारों ने ये श्लोक किसी दूसरे स्थल से लिए हैं।

३—योगवासिष्ठ के उस स्थलपर जहाँ से कि उपनिषदों के श्लोक चुने गए हैं बहुत से और श्लोक उसी प्रकार के वर्तमान हैं जैसे कि वे जोकि चुने गए हैं।

४—उपनिषदों में योगवासिष्ठ से चुने हुए श्लोकों की तरतीब प्रायः ठीक नहीं है। बहुत से स्थलों पर तो योगवासिष्ठ की ही तरतीब ज्यों की त्यों रक्खी गई है, किन्तु बीच के बहुत से श्लोक छोड़ देने पर वह तरतीब जोकि योगवासिष्ठ में ठीक जान पड़ती है उपनिषदों में खराब हो गई।

५—इन उपनिषदों में से कोई भी उपनिषद् पुराना नहीं है। सब ही योगवासिष्ठ से पीछे के बने हुए हैं क्योंकि इनमें से कोई भी श्री शंकराचार्य से पूर्व का नहीं है और हमने ऊपर यह सिद्ध कर दिया है कि योगवासिष्ठ श्री शंकराचार्य से पूर्व का ग्रन्थ है।

६—इन श्लोकों में से जो कि योगवासिष्ठ और इन उपनिषदों में मिलते हैं कोई भी श्लोक ऐसा नहीं है जो लघुयोगवासिष्ठ में न मिलता हो। लेकिन योगवासिष्ठ के बहुत से उत्तम श्लोक लघु योगवासिष्ठ में नहीं पाए जाते और वे ही श्लोक इन उपनिषदों में भी

नहीं मिलते। इससे यह मालूम पड़ता [illegible] कि इन उपनिषदों [illegible] बनाने वालों को केवल लघुयोगवासिष्ठ ही देखने में आया होगा।

महा-उपनिषद् और योगवासिष्ठ

महा-उपनिषद्—जैसा कि इसके नाम से ही जाहिर है—एक बहुत बड़ा उपनिषद् है। इसमें ६ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय एक छोटा सा भूमिका रूप गद्य में लिखा हुआ अध्याय है। बाक़ी [illegible] अध्याय पद्य में हैं और उनमें ५३५ श्लोक हैं। इन ५३५ श्लोकों [illegible] से हमको ५१० श्लोक योगवासिष्ठ में मिल गए। जैसा कि निम्नलिखित अंकों से जाहिर है:—

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
२	१,२	२	[illegible]	८,१०
२	३,५	३	८०	४,६,७
२	९,१०,११	३	८१	२,३,३
२	१३-३५	२	१	११-३४
२	३८-४०	१	३	६,८,१५
२	४१,४२	२	२	५,६
२	४३,४६	५	१६	१८,२१,११,१९
२	४७	५	७४	३३,३६
		५	७५	५२
२	४८	५	९१	८१
२	४९-६०	६	११५	१२,१३,१५,३७,३८,२८ २५,३३,१६,३४,२०,२१
२	६१-६९	३	[illegible]	१२-१५,४७-५०,७५
२	७०-७७	२	[illegible]	३५-३७,४१-४५
३	१-७	१	१२	४,५।७-९,१६,२१,२६
३	८	१	१३	१
३	९-१५	१	१४	१,२,५,१०-१३
३	१६,१७	१	१५	३,९

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	१८-२१	१ ।	१६	। २,१५,२४,२५
३ ।	२२-२५	१ ।	१७	। ८,२९,३१,३२
३ ।	२६-३२	१ ।	१८	। ४,१८,१९,३१,३८,६१
३ ।	३३	१ ।	१९	। ३०
३ ।	३४	१ ।	२०	। ३
३ ।	३५,३६	१ ।	२२	। ६,८
३ ।	३७,३८	१ ।	२३	। ३,१९
३ ।	३९-४८	१ ।	२१	। १,२,५,६,११,१२,१८, २०,२३,३५
३ ।	४९-५१	१ ।	२६	। २३,२५,२९
३ ।	५२-५४	१ ।	२८	। २१,३१.३५
३ ।	५५	१ ।	२९	। १३
३ ।	५६	लघुयोगवासिष्ठ	१	। १६५
३ ।	५७			कई श्लोकों का संक्षेप (देखिये)
		१ ।	३१	। २४
४ ।	२-४	२ ।	११	। ५९,६१,६७
४ ।	५	२ ।	१३	। ११
४ ।	६	५ ।	५०	। १७
४ ।	७,८	५ ।	५६	। १५,२१
४ ।	९	५ ।	५७	। २२
४ ।	१०	५ ।	५९	। ३२
४ ।	११,१२	५ ।	६२	। ६,८
४ ।	१३-१५	४ ।	५६	। ३०,३१,३३
४ ।	१७-२३	४ ।	६१	। १-३, ५-७, १२-१४, १६
४ ।	२४	५ ।	१३	। २०
४ ।	२६	२ ।	१२	। १६,१७
४ ।	२८-३४	३ ।	१३	। ३८-४०, ५८,६१,६७,७२, ७५,८१
४ ।	३५-३७	२ ।	१५	। ३, ६, १२

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
४ ।	३८	२ ।	१८	। २६
४ ।	३९	२ ।	१९	। ९, १०, ११
४ ।	४२,४३	२ ।	१९	। २९, ३१
४ ।	४४-४९	३ ।	[illegible]	। १०,१२,१७,१९,२२,२३
४ ।	५०	३ ।	[illegible]	। २५
४ ।	५१,५२	३ ।	[illegible]	। ३९,४२,४४
४ ।	५३,५४	३ ।	४	। ४४,५८
४ ।	५५,५७	३ ।	५	। ३–५
४ ।	५८,६०	३ ।	१७	। १०,१२,१३
४ ।	६१-६३	३ ।	२२	। ३६,२९,३१
४ ।	६४,६५	३ ।	२०	। ९,१०
४ ।	६६	३ ।	८[illegible]	। ३६
४ ।	६७	३ ।	८९	। ३
४ ।	६८	३ ।	१०३	। १४
४ ।	८२	३ ।	७	। १०
४ ।	८७	३ ।	१०९	। २५
४ ।	८८–९८	३ ।	१११	। १,२,८,१२,१५,१९,२० २२,२३,२५,३६,४०,४२
४ ।	९९–१११	३ ।	११२	। ५–७,११,१६,१७,१९–२५
४ ।	११२	३ ।	११३	। २
४ ।	११३–१३२	३ ।	११४	। ३–५,७,८,१२,१४,१५, [illegible]६–१८,२३,२९,३१,३४, ५१,५३,६०,६१,७५,७६,
४ ।	१३३	३ ।	११५	। ४–५
५ ।	१–२०	३ ।	११७	। २,५,६-१९,२१-२३,२५
५ ।	२१–४०	३ ।	११८	। १-३,५-१९,२१-२३
५ ।	४१,४२	३ ।	११८	। २८-३० (संक्षिप्त) लघुयोगवासिष्ठ, ४।१३।१३०
५ ।	४३	लघुयोगवासिष्ठ, ३।१३।१३२,१३३		

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५ ।	४४-४६	३ ।	११९ ।	२१-२३
५ ।	४८-५१	३ ।	१२१ ।	५३-५६,६८
५ ।	५२-५३	३ ।	१२२ ।	५४,५३
५ ।	५४	४ ।	१ ।	३
५ ।	५५–५८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१४।२,४–६		
५ ।	५९	४ ।	१४ ।	४३
५ ।	६०,६१	४ ।	१५ ।	२१,२५
५ ।	६२–६९	४ ।	२२ ।	१–३,७–१०,३२
५ ।	७०–७५	४ ।	२३ ।	४४,४१,४३,५५–५८
५ ।	७६–८२,८४	४ ।	२४ ।	१,८–१४,१८,१९
५ ।	८५,८६	४ ।	२७ ।	२५,३५
५ ।	८८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१६।७		
५ ।	८९–९५	४ ।	३३ ।	५०–५७,५९
५ ।	९६,९७	४ ।	३५ ।	३,१८
५ ।	९८	लघु योगवासिष्ठ, ४।१७।६		
५ ।	९९–१०३	४ ।	३५ ।	३,७,८,१४,१५
५ ।	१०४–१०७	४ ।	३९ ।	२३–२५,४३
५ ।	१०८–११२ ११४,११७	४ ।	४१	४,१३–१५,२०,३२
५ ।	११३	लघु योगवासिष्ठ ४।१७।४०		
५ ।	११८–१३५	४ ।	४२	११,१३–१६,२१ २३–२६,३१,३४, ३६–३८,४४,४५,५०
५ ।	१३६–१४३	४ ।	४३ ।	१,२,५,९–१२
५ ।	१४४–१६४	४ ।	४४ ।	१४–२८,३०,३१,४२–४९
५ ।	१६५,१६६	४ ।	।	४५,१४,२५,२६
५ ।	१६७–१७७	४ ।	४६ ।	२,४,५,७,१४, १६,१७,२१,२६
५ ।	१७८–१८५	४ ।	५४ ।	२–५,१२,१३,

महा-उपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग	श्लोक
				१८,२२,३७,३८
६ ।	१–५	४ ।	५६	। २५,३४,३७,४१–४७
६ ।	६–९	४ ।	५७	। २२–२५,२९,३७
६ ।	१०	४ ।	५८	। ७,४०
६ ।	११	लघु योगवासिष्ठ ४।१८।४०		
६ ।	१२-१५	५ ।	५	। ३९,४३,६१
६ ।	१६	५ ।	६	। ८
६ ।	१७-२१	५ ।	[illegible]	। ९-११,१३,१७
६ ।	२२-२७	५ ।	९	। २५,३३,३६,४१, ४४,५२,६०
६ ।	२८-३४	५ ।	१३	। २१,२८,३९,३२, ३३,३५,३८
६ ।	३५-३८	५ ।	१४	। ४६,४८,५०,५२
६ ।	३९-४०	५ ।	१५	। २३,२४,२७
६ ।	४१-४९	५ ।	१६	। ७-१२,१५,१८-२१
६ ।	५०-६२	५ ।	१७	। ५,७,९,१३·१७, १९,२०,२२,२७
६ ।	६३-७१	५ ।	१८	। ५-९,१७,१८,२२,२४, १९,२१,६१
६ ।	७२	५ ।	१८	। ६१ और ५,२०,३७
६ ।	७३।७६	५ ।	२१	। २,८,११,१५
६ ।	७६	५ ।	२२	। ३३
६ ।	७७,७८	५ ।	२६	। १३,१४
६ ।	७९-८२	५ ।	२७	। २,२०,२५,३२,३३

अन्नपूर्णोपनिषद् और योगवासिष्ठ

अन्नपूर्णा उपनिषद् में ३३७ श्लोक हैं, जिनमें से प्रथम १७ श्लोक भूमिका के हैं और बाकी श्लोक उपनिषद् के सिद्धान्तों के हैं। प्रथम १७ श्लोकों को—जो कि भूमिकामात्र हैं—छोड़ कर इस उपनिषद् के प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठ के उपशम और निर्वाण (पूर्वार्द्ध) प्रकरण से संग्रह किए हुए हैं।

अन्नपूर्णोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
४ ।	१–८	५ ।	८९ ।	९,१२–१४,२३,२७,३१,३२,३३
४ ।	[illegible]	लघु योगवासिष्ठ ४।२७।६६		
४ ।	११	५ ।	८९	। ६३
४ ।	१२–२४	५ ।	९०	। १२,१५,४,५,१६,१८,२०,२३–२८,३०,३१
४ ।	३१	३ ।	७	। १०
४ ।	३९–७२	५ ।	९१	। ८,१०,१४,१५,२०,२१,२६ २७,२९,३६,३७,३९,४२,४३,४६,४७,६६,७४–७७,८१–८७,१०२,१०५,१०८,११०,१११–११३,११२
४ ।	७३–९१	५ ।	९२	। २–६,९,११–१७,२२,२५,२६,२७,२९,३०,३२,३४,४९,५०
५ ।	१–७	५ ।	९३	। १५,५५,५६,८२,८४,८५,९१
५ ।	८–१३	६ ।	२	। २४–२६,३१,४६,५६
५ ।	१४	६ ।	[illegible]	। ४
५ ।	१५–१९	६ ।	१०	। १४,२०–२२,४४
५ ।	२०,२२,२३	६ ।	११	। ७७,९९
५ ।	२४	६ ।	१२	। [illegible]
५ ।	२५–३२	६ ।	२५	। ३–५,७,३४,६३,६७,६८
५ ।	३३,३४	६ ।	२८	। ४७,६८
५ ।	३५,३६	६ ।	२९	। ६७,१३४
५ ।	३७–४६	६ ।	४४	। २,१०,१४,१६–१८,२४–२६,३०
५ ।	४७,४८	६ ।	५३	। १९,२२
५ ।	४९–५३	६ ।	६९	। १८–२०,४०,४५,४७
५ ।	५५,५६	६ ।	[illegible]	। ३२–३४

अन्नपूर्णोपनिषद् अध्याय, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक
५ । ५७-६०	६/१ । २६ । ८,१२,१४,१६,२०
५ । ६२	६/१ । २५ । २६
५ । ६३	६/१ । ९३ । ४४
५ । ६५, ६६	६/१ । १११ । ३६, ४०
५ । ६८	६/१ । ११३ । २०
५ । ६९	६/१ । ११८ । ७
५ । ७०	६/१ । ११९ । [illegible]
५ । ७१	६/१ । १२० । [illegible]
५ । ८१-९५	६/१ । १२० । १–१०, १२–१६, २२
५ । ९६-१०१	६/१ । १२२ । ४-८, ११
५ । १०२-१०६	६/१ । १२३ । ६-८, १०, ११
५ । १०७-१११	६/१ । १२४ । २३-२७
५ । ११२-११८	६/१ । १२५ । १, २, ४-८

मुक्तिकोपनिषद् और योगवासिष्ठ

मुक्तिकोपनिषद् में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय भूमिका-मात्र है। इस अध्याय में १०८ उपनिषदों के नाम दिए हैं। दूसरे अध्याय में, जोकि उपनिषद् का मुख्य भाग है, ७६ श्लोक हैं। ये श्लोक सारे के सारे योगवासिष्ठ से चुने हुए हैं। लेकिन वे इस ढंग से संग्रह किए गए हैं कि उनको योगवासिष्ठ से ढूँढ निकालना बहुत कठिन है। इनमें से बहुत से श्लोकों का हमको पता चल गया है, जैसा कि नीचे के अंकों से प्रतीत होगा। उपनिषत्कार ने इन श्लोकों के प्रारम्भ में यह लिखकर "अत्र श्लोका भवन्ति" इस बात को सूचित भी कर दिया है कि ये श्लोक किसी दूसरे स्थान से लिए गए हैं।

मुक्तिकोपनिषद् अध्याय २, श्लोक	योगवासिष्ठ प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१	२ । ५ । ४
३-९	२ । ९ । २५-२७,३०-३३,३५,३८
१०-१४	५ । ९२ । १७,१६,१८,२२,२३

मुक्तिकोपनिषद्	योगवासिष्ठ		
अध्याय २, श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
१६,१७	५	३४	३२,२८
१८-२१	५	५७	१९,२६,२८
२५-२७	५	९१	३५,५३,६४,४८
२९	५	९१	३७
३०,३१	२	९	४१।४२
३२-३५	५	९०	४,११,१६,१८,२०,२३
३६-३८	५	९	५५,५६
३९	४	३५	१८
४०	४	२४	८-१०
४२	[illegible]	२३	५८
४३,४४	५	९२	३३-३५
४५,४७	५	९२	३६-३९
४८	५	९१	१४
५१-५२	[illegible]	२५	८,१६,१७
५७-६०	५	९१	२९-३२
६१,६२	१	३	११,१२
६८-७१	४	५७	१९,२०-२२
७६	३	९	१४

वराहोपनिषद् और योगवासिष्ठ

वराहोपनिषद् में पाँच अध्याय हैं, जिनमें से चौथा अध्याय जिसमें कि ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है, योगवासिष्ठ के श्लोकों से बना है। इन श्लोकों से पहले इस उपनिषद् में यह लिखा है: "तत्रैते श्लोका भवन्ति", जिससे यह प्रकट है कि ये श्लोक उपनिषत्कार ने किसी दूसरे स्थान से लिए हैं। वे ये हैं:—

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ		
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण,	सर्ग	श्लोक
१-१०	३	११८	५,६,८-१५

वराहोपनिषद्	योगवासिष्ठ
अध्याय ४, श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
११-१८	६/२ । १२६ । ५२,६०-६९
२१-२७	३ । ९ । ४,६-९,११,१३

अक्ष्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

अक्षि-उपनिषद् एक छोटा सा उपनिषद् है। इसमें ज्ञान की सात भूमिकाओं का वर्णन है। छोटी सी प्रस्तावना को, जो कि गद्य में है, छोड़ कर इस उपनिषद् में ४८ श्लोक हैं। जिनमें से ३६ श्लोक योग-वासिष्ठ के एक ही सर्ग में से, जिसमें कि और बहुत से श्लोक इसी विषय के हैं, चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

अक्ष्युपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
२-४०	६/२ । १२६ । ५८,५९,८-३०,३२,३३,३६ ३८,४१,४२,५८-६८, ७०,७१

संन्यासोपनिषद् और योगवासिष्ठ

संन्यासोपनिषद् में, जिसमें संन्यास का वर्णन है, १०४ श्लोक हैं। जिनमें से आधे के लगभग योगवासिष्ठ के उपशम प्रकरण में से चुने हुए हैं। वे ये हैं :—

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ
श्लोक	प्रकरण, सर्ग, श्लोक
१३-९१	५ । ३४ । ९,२०,६८,६९,९०,१००, १०१,१०४,११२,११४
	५ । ३५ । ४,११,३८,३९,७७,७८,८१
	५ । ३९ । ४७,४८,४९
	५ । ४० । १९
	५ । ४२ । १४,१५
	५ । ५० । २१,२२२,२९,३४ ३५,३९,४२

संन्यासोपनिषद्	योगवासिष्ठ		
श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५१-५७	५ ।	५१	। ३१,३३,३५
	५ ।	५३	। ६७,७५,७८,७९

याज्ञवल्क्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

याज्ञवल्क्योपनिषद् में कुल २४ श्लोक हैं जिनमें से १० श्लोक योगवासिष्ठ के वैराग्य प्रकरण के २१ वें सर्ग में से चुने हुए हैं। वे ये हैं।

याज्ञवल्क्योपनिषद्	योगवासिष्ठ		
श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
५-१४	१ ।	२१	१,२,५,६,११, २,१८, २०,२३,२५

शाण्डिल्योपनिषद् और योगवासिष्ठ

शाण्डिल्योपनिषद् में योगवासिष्ठ के १३ श्लोक हैं इनका विषय प्राणनिरोध द्वारा मनोनिरोध है। इनके आदि में "तदेते श्लोका भवन्ति" लिखा है। वे ये हैं :—

शाण्डिल्योपनिषद्			योगवासिष्ठ		
अध्याय,	खण्ड	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग	श्लोक
१ ।	७	। २४-३६	५ ।	७५	। ८,१५,१६,१८-२१,२५, २७-३१,३९

मैत्रेय्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

मैत्रेय्युपनिषद् में भी योगवासिष्ठ के बहुत से श्लोक मालूम पड़ते हैं। किन्तु हमको निम्नलिखित अङ्कों वाले श्लोक मिल गये हैं।

मैत्रेय्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	[illegible]	प्रकरण,	सर्ग,	[illegible]
१ ।	१०	३ ।	[illegible] ।	[illegible]
२ ।	२७	६ ।	१२६ ।	३८-३९
२ ।	३०	३ ।	११७ ।	[illegible]

योगकुण्डल्युपनिषद् और योगवासिष्ठ

योगकुण्डल्युपनिषद् में हमको केवल दो श्लोक योगवासिष्ठ के मिले हैं। वे ये हैं:—

योगकुण्डल्युपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	२४	३ ।	[illegible]	। ४७
३ ।	३४	३ ।	६	। १४

पैङ्गलोपनिषद् और योगवासिष्ठ

पैङ्गलोपनिषद् में हमको अभी तक केवल [illegible] श्लोक योगवासिष्ठ का मिला है। यह श्लोक और कई उपनिषदों में भी आया है। [illegible] यह है:—

पैङ्गलोपनिषद्		योगवासिष्ठ		
अध्याय,	श्लोक	प्रकरण,	सर्ग,	श्लोक
३ ।	११	३ ।	६	। १४

परिच्छेद ५

योगवासिष्ठ की शैली

योगवासिष्ठ की दार्शनिक ग्रन्थों में गणना न होने का विशेष कारण उसकी लेखशैली ही जान पड़ती है। इस ग्रन्थ में दार्शनिकों के बाल की खाल निकालने वाले तर्क-वितर्कों और नीरस और शुष्क सूत्रमयी भाषा का सर्वथा अभाव है। न इसमें उत्तरकालीन लेखकों की नाईं अनुमान की परिभाषा का ही प्रयोग पाया जाता है, न प्रमाण-ग्रन्थों की उक्तियों। इस ग्रन्थ का लेखक जो कुछ कहना चाहता है, सरल और सीधी भाषा में कहता है, और इस ढंग से कहता है कि उसका कथन हृदय में तीर की नाईं प्रवेश करके मन में बैठ जाता है, और फिर पढ़ने अथवा सुननेवाले को न किसी प्रमाण की आवश्यकता रहती है और न किसी शास्त्र की उक्ति की। वह जो कुछ कहता है अपने अनुभव से कहता और सरल और सुन्दर, सरस और काव्यमयी भाषा में कहता है, और दृष्टान्तों और उपाख्यानों द्वारा अपने कथन का समर्थन करता है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ और दार्शनिक ग्रन्थों की नाईं दार्शनिक विद्वानों को ही प्रिय नहीं बल्कि साहित्य के रसिकों को भी प्रिय है। दृष्टान्तों की प्रचुरता के कारण प्रायः सभी कक्षाओं के पाठक इसका रस ले सकते हैं और इसके सिद्धान्तों को समझ सकते हैं। उपाख्यानों के कारण सर्वसाधारण मनुष्य भी इसमें आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इस कथन में किञ्चिन्मात्र भी अत्युक्ति नहीं है कि यह ग्रन्थ एक उत्तम और सरस काव्य है। योगवासिष्ठकार का यह कहना बिल्कुल ठीक है:—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्॥ (२।१८।३३)

अर्थात् यह शास्त्र सुबोध है, अलङ्कारों से विभूषित है, रसमय सुन्दर काव्य है, और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित हैं।

योगवासिष्ठकार को रसहीन, रूखी और कठिन भाषा पसन्द नहीं है, क्योंकि वह श्रोता के हृदय में न प्रवेश ही कर पाती है और न वहाँ पर जाकर प्रकाश करती है।

यत्कथ्यते हि हृदयंगमयोपमान-
युक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च ।
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि
व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्काम् ॥ (३।८४।४५)
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं
क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम् ।
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति
वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम् ॥ (३।८४।४६)

अर्थात् जो कुछ ऐसी भाषा में कहा जाता है जो कि मधुर शब्दों वाली और समझ में आने वाले दृष्टान्तों (उपमाओं) और युक्तियों वाली हो, वह सुनने वाले के हृदय में प्रवेश करके वहाँ पर इस प्रकार फैल जाती है जिस प्रकार कि तेल की बूँद जल के ऊपर, और सुनने वाले की सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। इसके विपरीत वह भाषा जो कि कठिन, कठोर, कठिनाई से उच्चारण किए जाने वाली, असुन्दर शब्दों और उपमाओं (दृष्टान्तों) से रहित है, वह सुनने वालों के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकती और वह इस प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार राख में पड़ा हुआ घृत ।

उचित दृष्टान्तों के द्वारा ही कठिन से कठिन विषय का हृदय में प्रवेश कराया जा सकता है ।

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या
यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा ।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो
प्रकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव ॥ (३।८४।४७)

अर्थात्—संसार में जितनी कथाएँ और आख्यान हैं और जो जो विषय उचित और गहन हैं, वे सब दृष्टान्त रीति से कहने से ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे कि संसार सूर्य की किरणों द्वारा ।

इन विचारों को अपने हृदय में रख कर योगवासिष्ठकार ने ब्रह्म-विद्या को काव्य के रूप में संसार के समक्ष रखने का प्रयत्न किया है। काव्य, दर्शन और आख्यायिका का यह सुन्दर सङ्गम—त्रिवेणी के समान महत्त्व वाला है। तीर्थराज जिस प्रकार पापों का विनाश करता है उसी प्रकार योगवासिष्ठ भी अविद्या का विनाश करता है।

इसका पाठ करने वाला यह अनुभव करता है कि वह किसी जीते जागते आत्मानुभव वाले महान् व्यक्ति के स्पर्श में आ गया है, और उसके मन में उठने वाली सभी शंकाओं का उत्तर बालोचित सुबोध, सुन्दर और सरस भाषा में मिलता जा रहा है, दृष्टान्तों द्वारा कठिन से कठिन विचारों और सिद्धान्तों का मन में प्रवेश होता जा रहा है, और कहानियों द्वारा यह दृढ़ निश्चय होता जाता है कि वे सिद्धान्त, जिनका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है, केवल सिद्धान्त मात्र और कल्पना मात्र ही नहीं हैं बल्कि जगत् और जीवन में अनुभूत होने वाली सच्ची सच्ची घटनाएँ हैं।

इस ग्रन्थ में किसी दूसरे मत अथवा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का न खण्डन है और न किसी के ऊपर आक्षेप। क्योंकि योगवासिष्ठकार की दृष्टि इतनी उदार और विस्तृत है कि वह सब मतों में ही सत्य को वर्तमान पाता है। उसके विशाल दर्शन में सभी मतों का स्थान है। उसको किसी का भी विरोध नहीं करना है। उसको तो वह सिद्धान्त प्रतिपादन करना है, जिसमें सभी इतर सिद्धान्तों का समावेश है और जिसके विशाल मन्दिर में सभी मत और सम्प्रदाय अविरोधात्मक रूप से अपना अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकते हैं। सत्य तो सत्य ही है। प्रत्येक व्यक्ति और सम्प्रदाय को उसके प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि सभी कोई सत्य की खोज में हैं। उसको कोई किसी एक दृष्टिकोण से देखता है कोई किसी दूसरे से। लड़ाई और विरोध क्यों होना चाहिए। योगवासिष्ठकार के इस प्रकार के भावों के कुछ उदाहरण हम यहाँ पर देते हैं।

(१) बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः। (६।२८।४)

अर्थात् बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद में हमको कोई भेद नहीं जान पड़ता। ऊँची दृष्टि से देखने से दोनों एक ही हैं।

(२) मन के स्वरूप के विषय में नाना दर्शनों के मतों का वर्णन करके योगवासिष्ठकार कहता है :—

सर्वैरेव च गन्तव्यं तैः पदं पारमार्थिकम्।
विचित्रं देशकालोत्थैः पुरमेकमिवाध्वगैः॥ (३।९६।५१)
अज्ञानात्परमार्थस्य विपरीतावबोधतः।
केवलं विवदन्त्येते विकल्पैराकरुज्ञवः॥ (३।९६।५२)

स्वमार्गमभिशंसन्ति वादिनश्चित्रया दृशा ।
विचित्रदेशकालोत्थं मार्गं स्वं पथिका इव ॥ (३।९६।५२)

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से मुसाफिर नाना देशों से चले आए हुए नाना मार्गों द्वारा एक ही नगर को जाते हैं उसी प्रकार सब दर्शन एक ही विचित्र परमार्थ पद को नाना देश और काल में बने हुए मार्गों द्वारा प्राप्त करते हैं। नाना प्रकार से उस परमपद को पहुँचते हुए वे लोग—परमार्थ का किसी को भी ठीक ज्ञान न होने के कारण, और उसका विपरीत ज्ञान होने से भी—परस्पर विवाद करते हैं। जिस प्रकार बटोही लोग अपने अपने मार्ग को ही सर्वोत्तम समझते हैं उसी प्रकार वे भी अपने अपने सिद्धान्तों की ही प्रशंसा करते हैं।

(३) यही नहीं कि योगवासिष्ठकार का दूसरे दर्शनों के प्रति इस प्रकार की उदारता का भाव हो, बल्कि वह तो यहाँ तक कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही उस मार्ग पर चलना चाहिए जिस पर चलने से उसे किसी प्रकार की सफलता और सिद्धि प्राप्त होती हो। उस मार्ग को छोड़कर किसी दूसरे मार्ग पर चलना ठीक नहीं है।

येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः ।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला ॥ (३।१३०।२)

अर्थात्—जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न शोभा देती, न सुख देती है, न उसके हित के लिये है और न शुभ फलवाली होती है।

(४) परम तत्त्व का वर्णन करते हुए योगवासिष्ठकार लिखता है :—

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ (५।८७।१८)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ।
शिवः शशिकलङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (५।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम् ।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (५।८७।२०)

अर्थात्—परम तत्त्व वही है जिसको शून्यवादी लोग शून्य, ब्रह्मवादी ब्रह्म, विज्ञानवादी विज्ञानमात्र, सांख्यदृष्टिवाले पुरुष,

योगवाले ईश्वर, शैव लोग शिव, कालवादी काल, आत्मवादी आत्मा का आत्मा, अनात्मवादी अनात्मा, माध्यमिक लोग मध्यम और सब ओर समानदृष्टि रखनेवाले सर्व कहते हैं।

योगवासिष्ठ में सब गुण होते हुए भी आधुनिक पाठकों की दृष्टि से एक दो बड़े भारी दोष हैं। इसमें पुनरुक्ति बहुत है और किसी प्रकार की भी विषय सम्बन्धी तरतीब नहीं है। सब बातें सब जगह मौजूद हैं। न कोई क्रम है और न कोई विषयों का उचित स्थान। इस कारण से पढ़नेवालों को इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों का ठीक-ठीक और साफ़-साफ़ ज्ञान नहीं होने पाता। प्रकरण विभाग केवल नाममात्र है। प्रत्येक प्रकरण में प्रायः सभी प्रकरणों के सिद्धान्तों का वर्णन है—कितनी अच्छी बात होती कि प्रत्येक प्रकरण में उसी प्रकरण सम्बन्धी बातें होतीं। लेकिन ऐसा नहीं है। तीसरा दोष आजकल के पाठकों की दृष्टि से इस ग्रन्थ में यह है कि यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है। बहुत-सी बातें बार-बार कही गई हैं और उसी रूप में कही गई हैं। बहुत जगहों पर तो लेखक यही भूल गया है कि वह एक दार्शनिक ग्रन्थ लिख रहा है। उसको यही ध्यान रहा है कि वह एक काव्य लिख रहा है और काव्योचित सौन्दर्य की रचना करने में वह अपने आपको पूर्णतया भूल गया है। यह ग्रन्थकार का गुण और दोष दोनों ही है।

इन सब कारणों से हमने उन पाठकों के लाभ के लिये जो केवल इस ग्रन्थ के दार्शनिक सिद्धान्त ही संपूर्णतया और क्रमबद्ध रीति से जानना चाहें, इस बृहत् ग्रन्थ में से २५०० श्लोकों के लगभग चुनकर उनको दार्शनिक दृष्टिकोण से तरतीब देकर और उनको नाना विषयों में विभाजित करके एक ग्रन्थ **वासिष्ठदर्शन** नामक तैय्यार किया है। यह ग्रन्थ "प्रिन्स आफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट सिरीज" में यू० पी० गवर्नमेण्ट द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इसमें योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ, दार्शनिक सिद्धान्त सम्बन्धी २५०० श्लोकों का संग्रह किया गया है। यह संग्रह अपने ढङ्ग का प्रथम प्रयास है। इस संग्रह का भी एक सार १५० श्लोकों में वर्तमान लेखक ने **श्रीवासिष्ठदर्शनसार** नाम से किया है जो कि हिन्दी अनुवाद और भूमिका सहित प्रकाशित हो चुका है।

योगवासिष्ठ के और भी अनेक संक्षेप किए जा चुके हैं। उनमें

कुछ के नाम हम यहाँ पर देते हैं। इन सब में आजकल के पाठकों की दृष्टि से अनेक त्रुटियाँ हैं।

सबसे उत्तम और सबसे प्रथम संक्षेप काश्मीर के गौड अभिनन्द द्वारा नवीं शताब्दी में किया हुआ लघु **योगवासिष्ठ** नामक है। इस में ४८२९ श्लोक हैं (६००० श्लोक कहे जाते हैं)। उन्हीं ६ प्रकरणों में जो कि योगवासिष्ठ में हैं, संक्षेपकार ने बृहत् ग्रन्थ की कहानियों और सिद्धान्तों का सार, ४८२९ श्लोकों में रखने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न बहुत ही सराहनीय है, किन्तु इसमें योगवासिष्ठके बहुतसे दार्शनिक विषय छूट गए हैं, और निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध का सार बिल्कुल ही नहीं दिया गया। यह निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध तक का ही सार है। इस ग्रन्थ में भी यह दोष है कि विषयों का कोई उचित क्रम नहीं है। जो तरतीब बृहत् ग्रन्थ में है वही इसमें है। जो लोग योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और कहानियाँ—दोनों—संक्षेप से जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है, किन्तु जो लोग योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त ही पूर्णतया जानना चाहें उनके लिये यह ग्रन्थ पर्याप्त नहीं है। प्रायः लोग इसी ग्रन्थ का पाठ करते हैं।

एक और सार, जो कि दार्शनिक दृष्टि से लघु योगवासिष्ठ से उत्तम है किसी अज्ञात व्यक्ति का किया हुआ है। उसका नाम **योगवासिष्ठसार** है। इसमें २२५ श्लोकों में निम्नलिखित शीर्षकों में बृहत् ग्रन्थ का सार किया गया है:—१—वैराग्य, २—जगन्मिथ्यात्व, ३—जीवन्मुक्तलक्षण, ४—मनोनाश, ५—वासनाक्षय, ६—आत्मध्यान, ७—आत्मार्चन, ८—आत्मस्वरूप, ९—जीवन्मुक्ति। यह भी एक उत्तम प्रयास है। लेकिन इसमें योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों का अंश मात्र ही आता है। तरतीब भी ठीक नहीं है। यह ग्रन्थ विलायत के कई हस्तलिखित पुस्तकों के पुस्तकालयों में मौजूद है, और कई वर्ष हुए मुरादाबाद के लक्ष्मीनारायण प्रेस से छपा भी था।

योगवासिष्ठ के और संक्षेप—जिनका पता अभीतक किसी को भी नहीं था—**महोपनिषद्** और **अन्नपूर्णोपनिषद्** नामक हैं। इनमें से प्रथम सार ५३५ श्लोकों में और द्वितीय ३३१ श्लोकों में है। इनमें भी ऊपरवाले सार की नाईं कहानियाँ नहीं हैं, केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का ही संग्रह है। किन्तु दोनों में मिलाकर भी योगवासिष्ठ

के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन नहीं होता। और किसी प्रकार का यथोचित क्रम नहीं है।

मुक्तिकोपनिषद् में योगवासिष्ठ के 'वासनात्याग' के सिद्धान्त का ही ७६ श्लोकों में सार है। वराहोपनिषद् में "योगकी सात भूमिकाओं" और "जीवन्मुक्त के लक्षणों" का ही ३० श्लोकों में वर्णन है। "योगकी सात भूमिकाओं" सम्बन्धी योगवासिष्ठ के ४० श्लोकों को लेकर किसी पाठक ने उनका नाम अक्षि-उपनिषद् रख लिया। योगवासिष्ठ के इन सब संक्षेपों में यही त्रुटियाँ हैं कि न तो उनमें कोई ठीक क्रम है और न उसके सारे सिद्धान्त उनमें रखने का प्रयत्न किया गया है। जो बातें जिसको पसन्द आईं उनको उसने योगवासिष्ठ में से निकाल कर अलग कर दिया और उस संग्रह को कोई नाम दे दिया।

इनसे भिन्न प्रकार का हमारा वासिष्ठदर्शन और उसका सार हमारा वासिष्ठदर्शनसार है। इन दोनों में योगवासिष्ठ के सिद्धांत समग्र, क्रमबद्ध, यथोचित शीर्षकयुक्त रूप में रखने का प्रयास है। इनके एक बार पाठ से ही पाठक को योगवासिष्ठ के दर्शन का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा।

परिच्छेद ६

योगवासिष्ठ और भगवद्गीता

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्द्ध के ५२-५८ सर्गों में "अर्जुनोपाख्यान" नामक एक कहानी है। उसमें वसिष्ठजी ने रामचन्द्र जी को यह कहा—

> पाण्डोः पुत्रोऽर्जुनो नाम सुखं जीवितमात्मनः।
> क्षिपयिष्यति निर्दुःखं तथा क्षेपय जीवितम्॥
> (६।५२।६)

अर्थात्—जिस प्रकार पाण्डु का पुत्र अर्जुन अपने जीवन को बिना दुःख के बितावेगा उसी प्रकार तुम भी अपने जीवन को बिताओ।

तब राम ने प्रश्न किया :—

> भविष्यति कदा ब्रह्मन् सोऽर्जुनः पाण्डुनन्दनः।
> कीदृशीं च हरिस्तस्य कथयिष्यत्यसक्तताम्॥
> (६।५२।१०)

अर्थात्—हे ब्रह्मन्! वह पाण्डुपुत्र अर्जुन कब होगा और हरि उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे।

तब वसिष्ठजी ने राम को यह बतलाया कि एक समय ऐसा आवेगा कि लोग बहुत ही घोर पापवृत्ति में हो जायँगे और युधिष्ठिर और दुर्योधन में बड़ा भारी संग्राम होगा। उस संग्राम के आरम्भ में अर्जुन को विषाद होगा और वह युद्ध नहीं करेगा। तब हरि उसको प्रबोधित करेंगे—यह प्रबोध वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को सुनाया है। इन सात सर्गों में इसी का वर्णन है।

भगवद्गीता के साथ इन सर्गों का अध्ययन करने पर यह मालूम पड़ता है कि भगवद्गीता के ७०० श्लोकों में से केवल २७ श्लोक ही ऐसे हैं जो कि पूर्णतया अथवा अंशतः योगवासिष्ठ में पाए जाते हैं। वे ये हैं:—

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध)
२।८	५५।१४
२।१४	५४।२

भगवद्गीता	योगवासिष्ठ (नि० प्रू०)
२।१६	५५।१२
२।१७	५५।१३
२।१७-१८	५३।२
२।१९	५२।३७
२।२०	५२।२६
२।४७/२-२।४८/२	५४।२६
२।४८।१	५३।१६।१
२।७०	५४।३८
३।६	५४।३६
३।७	५४।३७
३।२७।२	५३।५/२
४।१८	५४।२५
४।२०	५४।३३
५।११	५३।९
६।२९	५३।४३
६।२९/१	५३।६०।१
८।१	५८।१
९।२७	५४।२२
९।३४	५३।३४
१०।१	५४।१
१५।५	५३।६६
१५।९	५५।२१
१७।४।१	५५।१८।१

भगवद्गीता के ७०० श्लोकों में से केवल इतने ही श्लोक योगवासिष्ठ में क्यों उद्धृत हैं जब कि वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को अर्जुनोपाख्यान ७ सर्गों में सुनाया, जिसमें कि २६३ श्लोक हैं ? इस उपाख्यान में वर्णन किए हुए सब विचार भी भगवद्गीता के विचारों से नहीं मिलते। कहीं कहीं पर ही भगवद्गीता के विचार योगवासिष्ठगत विचारों से मिलते हैं।

कुछ लोग तो अवश्य ही यह मान लेंगे कि उस समय में भगवद्गीता का उपदेश लेखबद्ध नहीं था, भविष्य में होनेवाला था।

वसिष्ठजी ने उसे अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा ही जानकर रामचन्द्रजी को बतलाया था जैसा कि योगवासिष्ठगत भविष्यकालीन भाषा से प्रकट है। किन्तु इतिहासज्ञ पण्डित यह नहीं मानेंगे। वे तो यही कहेंगे कि भगवद्‌गीता योगवासिष्ठ के रचना काल में अवश्य ही वर्तमान रही होगी। यह सम्भव है कि उसमें आजकल प्राप्त होनेवाले सभी ७०० श्लोक न रहे हों। हमें यहाँ पर इस विषय में और कुछ नहीं कहना है। यह विषय भगवद्‌गीता के विद्वानों के लिए छोड़ते हैं। (देखिये हमारा कल्याण के गीताङ्क में "योगवासिष्ठ में भगवद्-गीता" नामक लेख)।

परिच्छेद ७

योगवासिष्ठ के उपाख्यान

जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं। योगवासिष्ठकार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वानुभव, दृष्टान्त और उपाख्यानों द्वारा किया है। समस्त ग्रन्थ में ५५ उपाख्यान हैं। इनमें से कुछ उपाख्यान तो बहुत ही अच्छे, रोचक और उपदेशप्रद हैं। वसिष्ठ और रामचन्द्रजी का संवाद भी एक उपाख्यान ही के रूप में है। योगवासिष्ठ की दृष्टान्तों और कहानियों द्वारा ब्रह्मज्ञान के उपदेश करने की इस रीति का गुजराती भाषा में चन्द्रकान्त, उर्दू में [illegible] दरवेश और हिन्दी में ज्ञानवैराग्यप्रकाश नामक पुस्तकों में भली-भाँति अनुसरण किया गया है। यहाँ पर हम पाठकों को योगवासिष्ठ के सब उपाख्यानों का दिग्दर्श मात्र कराना चाहते हैं।

(१) योगवासिष्ठ की कथा

एक समय सुतीक्ष्ण नामक एक ब्राह्मण के मनमें यह शंका उत्पन्न हुई कि मोक्ष प्राप्ति का साधन कर्म है अथवा ज्ञान, अथवा दोनों। इस संशय की निवृत्ति के लिये वह अगस्ति के आश्रम पर गया और उसने उनसे यही प्रश्न किया। अगस्ति ने उत्तर दिया :—मोक्ष न केवल कर्म से प्राप्त होता है, न केवल ज्ञान से ही। पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता। जैसे उसे आकाश में उड़ने के लिए दोनों पंखों की आवश्यकता है, ऐसे ही ज्ञान और कर्म दोनों ही मोक्ष प्राप्ति-के साधन हैं। मैं इस विषय में तुमको एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ :—अग्निवेश्य का वेदवेदाङ्ग जानने वाला एक पुत्र गुरु के घर से विद्या पढ़कर लौट आने पर इसी प्रकार की शंका से व्यथित होकर सब नित्य नैमित्तिक कर्मों को त्याग कर चुपचाप रहने लगा। अग्निवेश्य ने अपने पुत्र को इस अकर्मण्य दशा में देखकर उससे कहा :—पुत्र! तुम कर्म क्यों छोड़ बैठे? कर्म किए बिना तुमको सिद्धि कैसे प्राप्त होगी। कारुण ने कहा :—पिताजी! कुछ शास्त्र तो परमार्थ सिद्धि के लिए कर्म करने का उपदेश देते हैं और कुछ कर्म त्याग का। मेरी समझ में नहीं आता कि कौन सा मार्ग ठीक है। आप ही इस विषय में मुझे यथोचित उपदेश दीजिए। अग्निवेश्य बोले :—इस सम्बन्ध में

मैं तुमको एक पुरानी कथा सुनाता हूँ। उसको सुनकर तुम्हारी यह शंका पूर्णतया निवृत्त हो जावेगी :—एक समय सुरुचि नाम की एक सुन्दर अप्सरा हिमालय के शिखर पर बैठी हुई प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रही थी। उसने इन्द्र के एक दूत को अन्तरिक्ष में जाते हुए देखकर बुलाया और उससे पूछा—हे दूत, तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे? दूत ने उत्तर दिया :—सुभगे! भूलोक में अरिष्टनेमी नामका एक राजा था। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर अपने भविष्य कल्याण के लिये गन्धमादन पर्वत पर घोर तप करना आरम्भ कर दिया था। मेरे स्वामी इन्द्र को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अपने दूतों को भेजकर उनको बड़े आदर और सत्कार के साथ अपने यहाँ बुलवा लिया और स्वर्ग में रहने के लिये उनको निमंत्रित किया। राजा ने इन्द्र से यह प्रार्थना की :—हे देव! स्वर्ग में वास करने से पहिले मैं यह जानना चाहता हूँ कि स्वर्ग में वास करने के गुण और दोष क्या हैं। इन्द्र ने कहा :—राजन्, स्वर्ग में नाना प्रकार के भोग हैं, पर वे सब अपने-अपने शुभ कर्मों के अनुसार ही मिलते हैं। उत्तम कर्मोंवालों को उत्तम भोग, मध्यम कर्मोंवालों को मध्यम, और कनिष्ठ प्रकार के पुण्य कर्मोंवालों को कनिष्ठ प्रकार के भोग स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। ऊँची श्रेणी के व्यक्तियों को नीची श्रेणी वालों के प्रति अभिमान, नीची श्रेणीवालों को ऊँची श्रेणीवालों के प्रति ईर्ष्या और मन में वेदना होती है, बराबर श्रेणी के व्यक्तियों में एक को दूसरे के प्रति स्पर्धा होती है। पूर्वकृत पुण्य कर्मों का फल भोग द्वारा क्षीण हो जाने पर स्वर्गवासियों को फिर मर्त्यलोक में वापिस आकर जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। यह सुनकर राजा ने इन्द्र से कहा :—देव! इस प्रकार के स्वर्ग में रहने की मेरी इच्छा नहीं है। मुझे आप कृपया गन्धमादन पर्वत पर वापिस भेज दीजिए। वहीं पर मैं तप करते-करते किसी प्रकार की भोगेच्छा न रखते हुए अपने शरीर का त्याग कर दूँगा। हे देवि! इन्द्र ने तब मुझसे यह कहा :—हे दूत! यह राजर्षि तो तत्त्वज्ञान का अधिकारी है। इसको तुम वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले जाओ वे इनको आत्मज्ञान का उपदेश देंगे, जिसके श्रवण करने से इनको मोक्ष की प्राप्ति होगी। हे सुरुचि! देवराज इन्द्र की यह आज्ञा पाते ही मैं राजा अरिष्टनेमी को वाल्मीकि ऋषि के आश्रम पर ले गया। वहाँ पर पहुँच कर राजा ने वाल्मीकिजी को साष्टांग प्रणाम करके उनसे यह प्रश्न किया—हे

ऋषि ! कृपया मुझे वह मार्ग बतलाइए जिसके द्वारा मैं संसार के बन्धन और दुःखों से निवृत्त हो जाऊँ। ऋषि ने कहा—हे राजन् ! मैं तुमको मोक्षप्राप्ति का वह सारा उपदेश सुनाता हूँ जो कि किसी समय पर वसिष्ठ ऋषि ने अपने शिष्य श्री रामचन्द्रजी को दिया था। उसको सुनकर तुमको आत्मबोध होगा और तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। इस मोक्षोपाय नामक वसिष्ठ-राम-संवाद का मैंने बहुत दिन हुए संग्रह किया था। इसकी रचना करने पर मैंने इसे अपने विनीत शिष्य भरद्वाज को सुनाया था। भरद्वाज इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, और ब्रह्माजी के पास जाकर उन्होंने इसको ब्रह्माजी को सुनाया। ब्रह्माजी इसको सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह आशीर्वचन कहा :—श्री वाल्मीकिजी ने संसार के उपकार के लिये यह ऐसा उत्तम ग्रन्थ बनाया है कि इसके श्रवणमात्र से ही मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो जावेंगे। राजन् ! वही ग्रन्थ मैं तुमको अब तुम्हारे हित के लिये सुनाता हूँ। दूत ने सुरुचि को वह सारी कथा कह सुनाई जो कि उसने वाल्मीकि ऋषि के मुँह से सुनी थी।

(२) वसिष्ठ-राम-संवाद की कथा

अरिष्टनेमी ने वाल्मीकिजी से पूछा :—हे भगवन् ! राम कौन थे और उनको वसिष्ठजी ने क्यों और क्या उपदेश किया ? ऋषि बोले—शाप के कारण [illegible] मनुष्य का रूप धारण किए हुए श्री विष्णु भगवान् ही रामचन्द्र थे। एक समय विष्णु भगवान् ब्रह्मलोक में गए। सब लोगों ने उठकर उनको प्रणाम किया, किन्तु सनत्कुमार शान्तचित्त स्थिरभाव से बैठे रहे। यह देखकर विष्णु को उनपर क्रोध आ गया और उन्होंने उनको शाप दिया—हे सनत्कुमार ! तुमको अपने निष्काम होने का गर्व है इसलिये इस गर्व को दूर करने को मैं तुमको शाप देता हूँ कि तुम शरजन्म नाम के कामी राजा के रूप से पृथ्वी-लोक में जन्म लोगे। सनत्कुमार ने यह सुनकर विष्णु भगवान् से कहा—मैं भी आप को शाप देता हूँ कि आप अपनी सर्वज्ञता को छोड़-कर, जिसका कि आप को गर्व है, कुछ दिनों तक अज्ञानी जीव बनकर भूमण्डल पर वास करोगे। वही विष्णु अयोध्या के राजा दशरथ के यहाँ रामचन्द्र नामक पुत्र के रूप में आए थे, और [illegible] वसिष्ठ जी द्वारा उनको आत्मज्ञान का उपदेश नहीं हुआ था, अज्ञानी ही रहे थे।

इस उपदेश के दिए जाने की कथा इस प्रकार है :—एक समय,

जब कि रामचन्द्रजी शैशवावस्था को समाप्त करके युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे, उनके मन में यह विचार उठा कि जीवन में क्या सार है, यहाँ मनुष्य सुखरूपी मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते-दौड़ते अपना सारा जीवन बिता देते हैं, किन्तु किसी को दुःख से रहित सुख की प्राप्ति नहीं होती। रात दिन संसार की उलझनों में फँसे रहते हैं और कभी शान्ति का अनुभव नहीं करते। उत्पन्न होते हैं और कुछ दिन जीवित रहकर मर जाते हैं। कोई भी नहीं जानता कि कहाँ से आते हैं और कहाँ जाते हैं। यह संसार क्यों बना, कैसे बना और कब बना? इससे छूटने का कोई उपाय है अथवा नहीं है? इत्यादि प्रश्न रामचन्द्रजी के मन में उठे और वे इनको सोचने में इतने लीन हो गए कि उनको अपने नित्य कर्मों और अपने खाने-पीने, शयन और विहार करने में किसी प्रकार की भी रुचि न रही। जड़ शिला की मूर्ति की नाईं दिन रात बैठे हुए सोचते रहते थे।

रामचन्द्रजी की यह दशा देखकर उनके नौकर-चाकरों ने बहुत ही घबराकर दरबार में आकर महाराज दशरथ के प्रति उनकी शोचनीय दशा का इस प्रकार वर्णन किया :—हे राजन्! कुँवर रामचन्द्रजी की दशा अत्यन्त ही शोचनीय हो गई है। हमारी समझ में ही नहीं आता कि उनको हो क्या गया है। बहुत बार याद दिलाने पर वे अपने नित्य कामों को करने में प्रवृत्त होते हैं, और उनको किसी प्रकार का उत्साह नहीं है। सदा ही खिन्न वदन रहते हैं। स्नान, देवार्चन, दान, भोजन आदि कभी करते हैं, कभी नहीं करते। जरा जरा सी बातों पर उनको क्रोध आ जाता है, क्योंकि जो कुछ भी उनको करना पड़ता है वे मन से नहीं करते। कोई भूषण उनको पसन्द नहीं आता। जो युवतियाँ उनको प्रसन्न करने के लिये उनके पास जाती गई हैं, उनसे उनको बहुत ही घृणा होती है। उनको नाचते गाते और झूले में झूलते देखकर उनसे उनको द्वेष होता है। जितने सुन्दर, स्वादु और मनोहर पदार्थ हैं उनको देखकर वे नाक चढ़ा लेते हैं। सदा ही मौन रहते हैं। हास-प्रहास से चिढ़ते हैं। एकान्त पसन्द करते हैं। यदि कभी उनको हम बोलते हुए सुनते हैं तो ऐसे शब्द हमारे कानों में पड़ते हैं :—सम्पत्ति से क्या! विपत्ति से क्या! घर बार से क्या! राग रङ्ग से क्या! सब कुछ व्यर्थ है; किसी वस्तु से परमानन्द नहीं मिलता। हम नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं।

किस चीज़ का ध्यान करते हैं। हम केवल यही जानते हैं कि वे प्रति-दिन कृश होते जाते हैं, पीले पड़ते जाते हैं, और ऐसे प्रभाहीन होते जा रहे हैं जैसे कि शरद् ऋतु के अन्त में वृक्ष। उनकी हालत को देखकर उनके और भाई भी दुखी रहते हैं। माताओं को भी बड़ी चिन्ता लग रही है। हे राजन्, हम नहीं जानते कि उनके लिए क्या किया जाय। अतः आपको सूचित करने आए हैं।

राजा को रामचन्द्रजी की ऐसी दशा सुनकर बहुत शोक हुआ। राजसभा में विश्वामित्रजी, जो कि राजा दशरथ से अपनी यज्ञरक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को माँगने आए थे—और वसिष्ठजी जो कि उनके राजगुरु थे, बैठे हुए थे। यह सब बातें सुनकर और राजा को चिन्तित देखकर विश्वामित्रजी बोले—हे राजन्, यदि रामचन्द्रजी का ऐसा हाल है तो उनको यहाँ बुलवाओ—हम उनका दुःख निवृत्त करेंगे। वसिष्ठजी उनको ऐसा उपदेश देंगे कि उनका सब शोक निवृत्त हो जावेगा, और उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी। और वे संसार में एक आदर्श पुरुष होकर अपने जीवन को इस प्रकार बितावेंगे कि संसार उनका अनुकरण करेगा।

यह सुनकर राजा दशरथ की चिन्ता कुछ कम हुई। उन्होंने रामचंद्रजी को बुलवा लिया। रामचन्द्र वहाँ आए और सबको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गए। वसिष्ठ और विश्वामित्र के पूछने पर उन्होंने अपने मन की व्यथा विस्तारपूर्वक सुनाई। संक्षेपतः उनका कथन यह था:—ज्यों ज्यों मेरी शैशावावस्था व्यतीत हो रही है मेरे मन में यह विचार दृढ़ होता जाता है कि संसार में कोई भी सार वस्तु नहीं है। जगत् में मुझे कुछ भी आस्था नहीं रही। मेरी समझ ही में नहीं आता कि राज्य करने से, भोगों के पीछे दौड़ने से, लक्ष्मी का उपार्जन करने से, सुंदर [illegible] के [illegible] से, मनुष्य को किस सुख की प्राप्ति होती है। रातदिन मैं देखता हूँ कि जिनको यह सब वस्तुएँ प्राप्त हैं वे भी महा दुखी हैं। संसार के भोगों से सुख की आशा करना भ्रम है, मृगतृष्णारूप है। इन्द्रियों के भोग विषैले सर्प के फण की नाईं दुखदायी हैं। मनुष्य को इस जीवन में [illegible] और कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती। जीवन के पीछे क्या होता है हम नहीं जानते। हम कहाँ से आते हैं, कहाँ जाते हैं, कुछ मालूम नहीं है। यह संसार क्या है, क्यों है, और इसका क्या अन्त है, [illegible] नहीं जानते। मनुष्य को किसी अवस्था में चैन नहीं है। शैशावावस्था मोहपूर्ण और दुःखदायी है। युवा [illegible] की रूपी

मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में नष्ट हो जाती है। वृद्धावस्था में सब शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। काल सबको खा जाता है। तब फिर किस लिये मनुष्य संसार के पीछे दौड़ता रहता है? हे ब्रह्मन्, मुझे तो संसार की किसी भी वस्तु की वाञ्छा नहीं है। न मुझे इस जीवन से कुछ प्रेम है—क्योंकि मुझे इसमें कुछ भी सार नहीं दिखाई पड़ता। यदि आप जानते हों तो, कोई ऐसा मार्ग बताओ जिससे मुझे परम शान्ति और परम पद की प्राप्ति हो। मुझे आप वह मार्ग बताओ जिस पर चलने से मुझे संसार रूपी गड्ढे में न गिरना पड़े, जिससे मैं संसार में रहते हुए भी संसार के दुःखों में न फँसूँ। यदि आप मुझे कोई ऐसा उपाय नहीं बतलायेंगे, तो मैं स्वयं अपने आप ही सोच कर किसी ऐसे उपाय को ढूँढूँगा। और यदि मैं अपने निज के प्रयत्न से भी संसार से बाहर न हो सका और परम पद और सत्य की प्राप्ति न कर सका, तो, मैंने यह निश्चय कर लिया है कि अन्न और जल का त्याग करके एक स्थान पर बैठ कर चिन्तन करते करते इस शरीर का त्याग कर दूँगा।

वसिष्ठ और विश्वामित्र रामचन्द्रजी की इस तीव्र जिज्ञासा को देख कर बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को उस तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। इस उपदेश को सुन कर रामचन्द्रजी को आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे जीवन्मुक्त हो कर परम आनन्द को प्राप्त हुए, और संसार में, जल में कमल की नाईं रह कर आदर्श पुरुष बने। रामचन्द्रजी के जीवन को आदर्श बनानेवाला वसिष्ठजी का उपदेश ही योगवासिष्ठ नामक ग्रंथ का विषय है।

३—शुक की कथा

श्रीरामचन्द्रजी का विवेक और वैराग्य और तत्त्वज्ञान के लिये उनकी तीव्र जिज्ञासा देख कर विश्वामित्र राम से बोले - हे राम! तुम तो तत्त्वज्ञान के योग्य अधिकारी हो, तुम को ज्ञान प्राप्त करने में [illegible] भी आयास और समय नहीं लगेगा। तुम्हारा अज्ञान का परदा बहुत ही पतला हो गया है, वसिष्ठजी के उपदेश मात्र से ही तुम्हारा अज्ञान नष्ट होकर आत्मज्ञान का प्रकाश होगा, और तुम जीवन्मुक्त हो कर इस संसारमें जीवन व्यतीत करोगे। व्यास के पुत्र शुक की नाईं तुम ज्ञानके उत्तम अधिकारी हो और उनकी नाईं ही तुमको क्षण भर में ज्ञान हो जावेगा।

राम ने पूछा—हे मुने! शुक के ज्ञान प्राप्त होने की कथा आप मुझे सुनाइये।

विश्वामित्र बोले—

भगवान् व्यास के पुत्र शुक सब शास्त्रों में निपुण थे। एक समय उनके मनमें यह विचार आया कि मैंने सब कुछ पढ़ लिया, किन्तु अभी तक मुझे न परमानन्द का ही अनुभव हुआ और न यही मालूम हुआ कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ है और कैसे इसकी निवृत्ति होगी। यह सोच कर कि उनके पिता व्यासजी सर्वज्ञ हैं वे ही उनकी शङ्काओं की निवृत्ति करेंगे, शुक अपने पिता के पास गए और उनके सम्मुख उन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की। व्यासजी ने उनको कहा—पुत्र! मैं सर्वतत्त्वज्ञ नहीं हूँ, राजा जनक सर्वतत्त्वज्ञ हैं। तुम उनके पास जाओ। वे ही तुम्हारी शंकाओं को निवृत्ति करेंगे। शुकदेवजी पिता की आज्ञा पा कर मिथिला नगरी पहुँचे, और राजा जनक के द्वार पर आ कर उन्होंने द्वारपाल से राजा से मिलने का आशय प्रकट किया। द्वारपाल ने जा कर राजा से कहा कि द्वार पर शुकदेवजी खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं। जनक समझ गए कि शुकदेवजी तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के निमित्त आए हैं। कुछ सोच कर उन्होंने कहा—खड़े रहने दो। शुकदेवजी सात दिन तक द्वार पर ही खड़े रहे। आठवें दिन राजा ने पूछा - शुकदेवजी खड़े हैं या चले गए? द्वारपाल ने कहा—महाराज वे तो उसी प्रकार निश्चल और निस्तब्ध खड़े हैं जैसे कि आने वाले दिन थे। राजा ने कहा—उनको ले आओ और अन्तःपुर में रानियों और सुंदर स्त्रियों के मध्य में उनको रख कर उत्तम प्रकार के भोजन कराओ और सब प्रकार के भोग भुगवाओ। शुकदेवजी इस परिस्थिति में भी सात दिन रहे किन्तु न उनको वहाँ रहने से हर्ष हुआ और न शोक। न किसी वस्तु से उनको घृणा हुई, और न किसी के लिये इच्छा। राजा को उनके व्यवहार की सब सूचना मिलती रही। आठवें दिन फिर राजा ने उनको अपने पास बुलवाया। शुकदेवजी ने जनक को आदर के साथ प्रणाम किया। जनक ने कहा—शुकदेवजी, आप किस लिये यहाँ पर आए हैं। शुकदेवजी बोले—राजन्, मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह संसार कैसे उत्पन्न होता है और किस आधार पर स्थित है और कैसे इसका क्षय होता है। क्या इससे बाहर निकल कर शान्त और निश्चल आनन्द में स्थित रहने का भी कोई उपाय है? राजा बोले, हे शुक! यह संसार अपने चित्त में ही उत्पन्न होता है और चित्त के निःसंकल्प, निर्वेद, अथवा निस्फुरण होने से क्षीण होता है। चित्त के संकल्प में इसकी स्थिति है। दृश्य

के लिये जब तक मन में वासना है तभी तक संसार का अनुभव होता है। वासना का सर्वथा क्षय होने से ही आत्मानुभव होकर परमानन्द में स्थिति होती है। यह सुनकर शुकदेवजी मिथिला से सुमेरु पर्वत पर चले गए और वहाँ जाकर निर्विकल्प समाधिका अनुभव करके निर्वाणपद में स्थित हुए।

४—वसिष्ठजीकी उत्पत्ति और ज्ञानप्राप्ति की कथा

शुकदेवजी की ज्ञानप्राप्ति की कथा सुनकर रामचन्द्रजी की तत्त्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा और भी तीव्र हो गई। उन्होंने वसिष्ठजी से हाथ जोड़कर प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने कहा ! मैं तुमको आज उस पूर्ण ज्ञान का उपदेश देना आरम्भ करूँगा जो कि मुझे सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने दिया था। उसकी कथा इस प्रकार है:—

जब कमलयोनि ब्रह्मा इस जगत् की सृष्टि कर चुके और संसार में मनुष्य कर्म के नियमानुसार सुखदु:ख भँवर में फँस गए, तो उनको मनुष्यों की इस दीन दशा को देखकर बहुत करुणा उपजी। उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय मनुष्यों को बताना चाहिए जिसके द्वारा वे इस संसार चक्र से निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति और अनुभव कर सकें। यह सोचकर उन्होंने तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ इत्यादि उपायों की रचना की, किन्तु उनको यही जान पड़ा कि इसमें से कोई उपाय ऐसा नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य निर्वाण नाम परम सुख की प्राप्ति कर सके। वे फिर सोचने लगे, और उनके ध्यान करते करते उनके संकल्प द्वारा उत्पन्न होकर अक्ष की माला और कमण्डलु धारण किए हुए एक सर्वज्ञ देहधारी मनुष्य उनके सामने खड़ा होकर उनको प्रणाम करने लगा। उनका वह मानसपुत्र मैं ही वसिष्ठ था। मुझे देखते ही ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु उनको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं सर्वज्ञ था, क्योंकि मेरे सर्वज्ञ होने से मुझे अज्ञजनों के प्रति करुणा कैसे आती—जो अज्ञ रहकर सर्वज्ञता को प्राप्त होता है वही अज्ञजनों के दु:खों से अनुदु:खित हो सकता है—इसलिये मुझे उन्होंने शाप दिया कि कुछ काल के लिये मैं अज्ञ हो जाऊँ। मैं अज्ञ हो गया, और पिता ब्रह्मा से मैंने आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान देने की प्रार्थना की और कहा—हे भगवन्! इस महादु:खदायी संसाररूपी व्याधिकी ओषधि बताओ। कैसे यह संसार उदय होता है और कैसे इसका क्षय होता है ? ब्रह्माजी ने मुझे इन सब प्रश्नों का विस्तारपूर्वक उत्तर

दिया, और थोड़े ही समय में मुझे समस्त तत्वज्ञान प्राप्त हो गया। तब ब्रह्माजी ने मुझे यह आज्ञा दी कि मैं जम्बूद्वीप के भारतवर्ष नामक देश में जाकर वास करूँ, और संसार के लोगों के कल्याण के निमित्त उस तत्त्वज्ञान का प्रचार करूँ, जो कि मुझे ब्रह्मा ने दिया था, ताकि कुछ लोग जिनको संसार से विरक्ति हो गई है, आत्मज्ञान प्राप्त करके निर्वाण पद प्राप्त करें। मुझे आज्ञा मिली है कि जो पुरुष कर्मपरायण है और संसार के उत्तम उत्तम भोगों का भोग करना चाहते हैं, उनको मैं कर्मकाण्ड का मार्ग बतलाऊँ; और जो संसार से विरक्त हो गए हैं और संसार-समुद्र के पार निर्वाण पद में स्थित होना चाहते हैं उनको ज्ञान का मार्ग बतलाकर जीवन्मुक्त बनाऊँ। इस प्रकार हे राम ! मैं परमपिता ब्रह्माजी का नियुक्त किया हुआ यहाँ पर स्थित हूँ। तुम ज्ञान के उत्तम अधिकारी हो, इसलिये तुम्हें मैं वह सम्पूर्ण ज्ञान जो कि पिता जी ने मुझे दिया था दूँगा। उसको सुनकर तुम परमानन्द को प्राप्त होगे और जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरोगे।

५—आकाशज की कथा

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी के सम्मुख अपने वैराग्य की दशा को वर्णन करते हुए संसार में मृत्यु के साम्राज्य का वर्णन किया था, और यह बतलाया था कि कोई पुरुष भी ऐसा नहीं है जिसको काल न खाता हो। वसिष्ठ ने सबसे पहिले रामचन्द्रजी को यही बतलाया कि मृत्यु केवल अज्ञानी जीव के लिये ही है जिसने कि अपने आप को मरणशील भौतिक देह ही मान रक्खा है। जो जीव वासनापूर्वक कर्म करता है वही मृत्यु का भाजन है क्योंकि उसको अपनी वासनाओं की पूर्ति करने और अपने कर्मों का फल भोगने के लिए ही दूसरी परिस्थितियों में जन्म लेना होता है। जो तत्वज्ञानी है, जिसके मनमें संसार के विषयों के लिये लेशमात्र भी वासना नहीं है, जो सकाम कर्म नहीं करता, अपने आपको सदा ही चिदाकाश में स्थित रखता है, और भौतिक शरीर का अभिमानी नहीं है, उसके लिए मृत्यु कोई चीज ही नहीं है। मृत्यु उसको स्पर्श करने में भी असमर्थ है। इस विषय में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को आकाशज की कथा सुनाई जो इस प्रकार है:—

आकाशज नामक एक ब्राह्मण था। उसकी उत्पत्ति शुद्ध चिदाकाश से, बिना किसी पूर्व कर्म किए, लीला मात्र से हुई थी। उत्पन्न होकर भी वह सदा ही अपने चिदाकाश स्वरूप में

लिप्त रहता था, किसी विषय के लिये उसके हृदय में वासना नहीं थी, और न वह किसी कामना से प्रेरित होकर कोई कर्म करता था। इस प्रकार का जीवन बिताते हुए उसको जब बहुत समय बीत गया तो मृत्यु को ख़याल आया कि यह ब्राह्मण बहुत समय से जीवित है, अभी तक मरा नहीं, इसको अब मारना चाहिए। मृत्यु ने उसको मारने का बारंबार प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रही। अपने को अपने नित्य के धर्म का पालन करने में इतना असमर्थ पाकर मौत को आश्चर्य, खेद, और क्रोध, सभी कुछ हुआ। जब अपनी असफलता का कारण मृत्यु की समझ में न आया, तो वह अपने स्वामी यमराज के पास पहुँची, और उनके प्रति अपने विस्मय और अपनी असफलता का हाल कहा। उसको सुनकर यमराज बोले—हे मौत, तू तो निमित्तमात्र है। तू किसी को नहीं मार सकती, केवल प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं। जिसने वासनात्मक कर्म किए हैं वही तुम्हारा शिकार होता है। जाओ, आकाशज ब्राह्मण के कर्मों की तलाश करो। यदि तुमको उसका कोई भी कामनापूर्वक किया हुआ कर्म मिल गया, तो तुम उसको मारने में समर्थ हो सकोगी, अन्यथा नहीं। मौत ने ख़ुफिया पुलिस की नाईं ब्राह्मण के साथ गुप्त रूपसे रहकर उसके जीवन का भी निरीक्षण किया, और उसके पूर्व-कालीन जीवन का भी भलीभाँति हाल जाना, किन्तु उसको आकाशज ब्राह्मण के जीवन में एक भी वासनात्मक कर्म न मिला। उसकी स्थिति सदा ही आत्मभाव में रहती थी। किसी विषय के प्रति उसकी वासना नहीं थी। उसके चित्त में कोई भी ऐसी कामना नहीं थी जिसकी सिद्धि के लिए वह कोई कर्म करता हो। उसके सारे काम स्वभाव-प्रेरित थे। वह संसार की किसी वस्तु और प्राणी को भी अपने से भिन्न और बाहर नहीं समझता था। उसको क्षणभंगुर देह और मनके साथ आत्मत्व का अभिमान नहीं होता था। अब मृत्यु की समझ में आ गया कि आकाशज का जीवन क्यों उसके काबू से बाहर है। वह यमराज के पास गई और उनसे यह बोली कि जो आप कहते थे ठीक निकला। मैं किसी को नहीं मारती। प्राणियों के कर्म ही उनको मारते हैं।

६—लीला का उपाख्यान

लीला का उपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ और सबसे लम्बे

उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्र को बहुत सी गूढ़ और विचित्र बातों का उपदेश दिया है। मृत्यु क्या है ? मृत्यु के पीछे क्या होता है ? सृष्टि के भीतर सृष्टि और उसके भीतर भी सृष्टि-प्रकार अनन्त सृष्टियों के होने का वृत्तान्त, वासना के अनुसार आगामी जीवन का बनना-इत्यादि अनेक रहस्यों का इस उपाख्यान में वर्णन है। उपाख्यान बहुत बड़ा है। प्रत्येक पाठक को यह उपाख्यान योगवासिष्ठ में से पढ़ना चाहिए। यहाँ पर हम इसका बहुत संक्षेप से ही वर्णन कर सकते हैं।

पृथ्वीमण्डल पर किसी समय पद्म नाम का एक राजा राज्य-करता था। वह बहुत ही योग्य और सर्व गुण सम्पन्न था। उसके अनुरूप गुणशीलवाली उसकी रानी थी, जिसका नाम लीला था। लीला अपने स्वामी में बहुत अनुरक्त थी और कल्पना में भी कभी उससे जुदा होकर रहना नहीं चाहती थी। वह यही चाहती रहती थी कि उसका स्वामी सदा जीवित रहे, कभी उसकी मृत्यु न हो। लीला ने अपने नगर के सर्वोत्तम पण्डितों को बुलाकर यह पूछा कि कौन सा उपाय ऐसा है जिससे मनुष्य मृत्यु के मुख में न जाए। विद्वानों ने कहा—हे देवि ! कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे संसारी मनुष्य उत्पन्न होकर मरे नहीं; जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है। लीला निराश होकर सरस्वती देवी की उपासना करने लग गई। सरस्वती ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। लीला ने सरस्वती से यह वर माँगा कि यदि उसके स्वामी की मृत्यु उससे पहिले हो जाए तो उनका जीव उसके कमरे में ही रहे, उससे बाहर न जाने पाए। सरस्वती देवी यह वर देकर और यह कहकर कि जब लीला उसको याद करेगी वह प्रकट हो जाया करेगी, अन्तर्धान हो गई। समय आने पर पद्म की मृत्यु हो गई। लीला बहुत दुःखी और शोकातुर होकर रोने लगी। एक आकाशवाणी ने उसको बतलाया कि घबराने की जरूरत नहीं है, राजा का जीव उसके कमरे में ही मौजूद है। राजा के शव को यथाविधि उस समय तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिए जब तक कि वह उसके प्राण लौटने पर पुनर्जीवित न हो जाए। लीला को यह आकाशवाणी सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सरस्वती का ध्यान किया, और सरस्वती देवी अपने वचन के अनुसार आ उपस्थित हुई। लीला ने देवी से पूछा

कि उसके स्वामी अब कहाँ हैं। देवी ने कहा कि वे इसी कमरे में हैं, किन्तु दूसरी सृष्टि में हैं, जो कि इस सृष्टि से सूक्ष्म है और जो इसके भीतर है। लीला को सरस्वती ने बतलाया कि एक जगत के भीतर दूसरा जगत और उसके भीतर एक तीसरा जगत—इस प्रकार यह सिलसिला अनंत तक जारी है। एक सृष्टि दूसरी सृष्टिवाले जीवों के लिये शून्य है। लेकिन यदि कोई जीव दूसरी सृष्टि के व्यवहार को देखना चाहे तो इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लीला यह सुनकर अपने पति को उसकी वर्त्तमान सृष्टि में देखने को बहुत उत्सुक हो गई। यह देखकर सरस्वती देवी ने उसको वह रीति बतलाई जिसके द्वारा वह दूसरी और सूक्ष्मतर सृष्टियों में प्रवेश और वहाँ होनेवाले व्यवहारों का निरीक्षण कर सके।

तब सरस्वती और लीला दोनों ने उस लोक में प्रवेश किया जिसमें कि पद्म उस समय अपने वासनायुक्त पूर्व कर्मों का भोग कर रहा था। पद्म को मरे हुए इस सृष्टि में कुछ क्षण ही हुए थे, किन्तु जिस सृष्टि में वह उस समय था जब कि लीला और सरस्वती उसको देखती हैं, वहाँ पर वह एक १६ वर्ष की अवस्था का राजा बना हुआ एक विशाल राज्य पर राज कर रहा था।

लीला को यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इतने थोड़े समय में १६ वर्ष कैसे व्यतीत हो गए और उसके कमरे के भीतर ही सारी सृष्टि और पद्म का साम्राज्य कैसे दिखाई देता है। सरस्वती ने लीला को समझाया कि देश और काल के अणु-अणु के भीतर महान्-महान् जगत् हैं, और सारे जगतों के देश और काल का हिसाब एक ही नहीं है। जो घटना एक सृष्टि के एक क्षण में हो जाती है, वह दूसरी के एक कल्प में होती है। जिस प्रकार मनुष्य अपने बिस्तर पर पड़ा हुआ एक क्षण में सालों तक होनेवाले स्वप्न के व्यवहारों का एक अनन्त संसारक्षेत्र में अनुभव कर लेता है उसी प्रकार सब सृष्टियों का हाल है। सरस्वती ने लीला से कहा—इसमें तुमको क्या आश्चर्य होता है, इससे अधिक आश्चर्य की तो यह बात है कि कुल एक सप्ताह भी नहीं व्यतीत हुआ कि तुम्हारे स्वामी पद्म बनने से पहिले एक ब्राह्मण थे और तुम उनकी पत्नी थी। यदि तुमको विश्वास न हो तो आओ मैं तुमको दिखलाती हूँ कि उस ब्राह्मण दम्पति की कुटिया अब खाली पड़ी है और उसके लड़के वाले अभी उसकी मृत्यु का शोक

कर रहे हैं। लीला को यह बात सुनकर वह स्थान देखनेकी बहुत उत्सुकता हुई। सरस्वती लीला को उस सृष्टि में ले गई।

वहाँ पर जाकर लीला ने वह झोपड़ी देखी जिसमें कि ब्राह्मण वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती रहते थे। एक दिन वसिष्ठ ने एक राजा की सवारी बड़े ठाठबाट के साथ निकलती देखी। उसको देखकर उनके मन में एक तीव्र वासना उस सुख और वैभव को भोगने की हुई जो कि राजाओं को प्राप्त होता है। उसी दिन ब्राह्मण का शरीर छूट गया। अरुन्धती ने भी यह वर माँग रक्खा था कि यदि ब्राह्मण उससे पहिले मर जाय तो उसका जीव उसकी झोंपड़ी से बाहर न जाने पाए, और सदा उसका और उसके पति का साथ रहे। ब्राह्मण के मरने पर उसकी पत्नी को बहुत दुःख हुआ और उसकी चिता पर बैठकर वह सती हो गई। सरस्वती ने लीला से कहा कि यह सब वृत्तांत केवल एक सप्ताह व्यतीत हुए हुआ था। वह ब्राह्मण तुम्हारे पति पद्म के रूप में और ब्राह्मणी तुम्हारे रूप में इस सृष्टि में राज्य का सुख भोगने के लिये उत्पन्न हुए थे। तुम दोनों का जीव उस कुटिया से बाहर नहीं गया। लीला को बहुत आश्चर्य हुआ और यह जानने की उत्सुकता बढ़ी कि वह उससे पहिले के जन्मों में क्या थी और कहाँ थी। सरस्वती की सहायता से उसको अपने सब पूर्व जन्मों का ज्ञान उदय हो गया।

अब सरस्वती और लीला दोनों उस लोक में लौटीं जहाँ पर पद्म विदूरथ राजा के रूप में राज्य कर रहा था। उनको यह देखकर बहुत विस्मय हुआ कि अब राजा विदूरथ ७० वर्ष की अवस्था के दिखाई पड़ते हैं। उसकी वर्त्तमान स्त्री का नाम भी लीला है। क्योंकि वह लीला को बहुत चाहता था, इसलिये उसको इस जन्म में भी लीला ही मिली। लीला और सरस्वती राजा विदूरथ के एकान्तवास के समय उनके सामने प्रगट हुईं और उनको उनके पूर्व जन्म के पद्मरूप की याद दिलाई। विदूरथ के चित्त में पद्म होने की वासना उदय हो आई। इसी समय दूसरी लीला ने भी सरस्वती देवी से यह वर माँग लिया था कि अगले जन्म में वह अपने पति की पत्नी बने। कुछ समय के पीछे विदूरथ के राज्य पर बाहर से आक्रमण होने लगे और एक बड़ा संग्राम छिड़ गया। इस संग्राम में राजा विदूरथ मारा गया। उसका जीव जो कि लीला के कमरे से कभी बाहर नहीं गया था, वहाँ पर सुरक्षित पड़े हुए

शव में प्रविष्ट हो गया, और पद्म नामक देह जाग उठी। पद्म ने उठते ही अपनी पुरानी दुनिया का अनुभव किया और अपने सामने दोनों लीलाओं को, जिनमें उसकी वासना थी, खड़े हुए पाया। अपनी दोनों पत्नियों के साथ सुख से फिर कुछ काल तक पद्म ने जीवन व्यतीत किया।

वसिष्ठ ने रामचन्द्र से कहा कि जो कुछ हमारे जीवन में होता है सब हमारी वासनाओं के अनुसार ही होता है। जीवन-मरण, साथी-सङ्गी, लोक-लोकान्तर सब हमारी वासनाओं के बनाए बनते हैं।

७—कर्कटी राक्षसी की कहानी

मूर्ख लोग दुःख भोगने और मरने के लिये ही जीते हैं। जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, उस मूर्ख का जीवन ही मृत्यु है। ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि से यह नियम बना रक्खा है कि हिंस्र जीवों (दरिन्दों) के भक्षण के लिए मूढ़ प्राणी हैं, आत्मज्ञानी जन नहीं हैं। संसार में जो उदार गुणों वाले देहधारी हैं, वे इस पृथ्वीतल पर वर्त्तमान चन्द्रमा हैं; वे अपने सङ्ग से सबको शीतलता प्रदान करते हैं। सारे गुणों से उत्तम गुण अध्यात्मविद्या है; उसको जानने से ही राजा राजा होता है और मन्त्री मन्त्री होता है; अन्यथा नहीं।

इन सिद्धान्तों को समझाने के लिये श्री वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को कर्कटी (विषूचिका) का उपाख्यान सुनाया, जो संक्षेपतः इस प्रकार है। हिमालय पहाड़ की उत्तरीय घाटी में कर्कटी नाम की एक राक्षसी रहती थी। वह अन्य जीवों को खाकर अपना पेट भरती थी। किन्तु बहुत दीर्घकाय होने के कारण सदा ही भूखी रहती थी। इसलिये उसने उग्र तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका आकार सुई के समान हो जाय। ब्रह्मा ने एवमस्तु कहा और तभी से कर्कटी का आकार सूचि के समान हो गया और उसका नाम भी विषूचिका पड़ा। उसने इस विषूचिका रूप से बहुत से जीवों का नाश किया। किंतु उसको रह रहकर यह पछतावा होता था कि बहुत बड़े-बड़े जन्तुओं को मारने पर भी उसके शरीर में केवल एक छोटी-सी बूँद खून जाता था। उसने फिर तपस्या की और ब्रह्मा को प्रसन्न करके यह वर माँगा कि उसका शरीर फिर उतना ही बड़ा हो जाए जितना कि पहले था। ब्रह्मा ने यह वर देने से पहले उससे यह वादा करा लिया कि वह केवल मूढ़ जीवों को ही मारकर अपना पेट भरेगी, ज्ञानी को कुछ नहीं कहेगी। कर्कटी ने यह मालूम करने के लिए कि कौन जीव

मूढ़ है और कौन ज्ञानी है प्रश्नों की एक सूची तैयार की। जो जीव उसे मिलता उसी से वह प्रश्न करती थी। उत्तर न पाने पर उसको भक्षण कर जाती थी। ऐसा करते करते जब उसको कुछ समय हो गया तो एक दिन उसको एक वन में सैर करता हुआ एक किरात राजा दिखाई पड़ा। वह दौड़कर राजा के पास आई और उससे उसने अपने सब प्रश्न पूछे। राजा ब्रह्मज्ञानी था। उसने उसके सब प्रश्नों का संतोषजनक और यथोचित उत्तर दे दिया। इसलिये उसने राजा को खाने से छोड़ दिया और उससे मित्रता करना और उसके संग रहना चाहा। राजा की आज्ञा से उसने अपना कुरूप वेष त्याग कर सुन्दर शरीर धारण किया और सुन्दर वस्त्र और भूषणों से अलंकृत होकर वह राजमहल में रहने लगी। राजा के राज्य में जो लोग पाप और अधर्म करते थे और जिनको राजदरबार से मृत्युदण्ड मिलता था, वे उसको खाने के लिये दिये जाते थे। इस प्रकार वह कुछ दिन शान्ति से जीवन बिताकर उत्तम गति को प्राप्त हुई।

८. इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा

जीव केवल संकल्पमय है। जो संकल्प इसके हृदय में दृढ़ हो जाता है वह ही बाह्य आकार धारण कर लेता है। संकल्पमय चित्त जिस प्रकार से जगत् की कल्पना करता है, वैसा ही समस्त जगत् रूप में निर्मित हो जाता है। सारा ब्रह्माण्ड मन की ही कल्पना है, और प्रत्येक मन में जगत के रचने की सामर्थ्य है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजी को ब्रह्मा के मुख द्वारा सुनी हुई इन्दु ब्राह्मण के लड़कों की कथा, जो संक्षेपतः इस प्रकार है, सुनाई:—

एक समय की बात है कि जगत्स्रष्टा ब्रह्मा अपनी महाप्रलय की निद्रा से जागकर जब नई सृष्टि की रचना करने को ही थे तो उनको मालूम पड़ा कि सृष्टि तो पहिले से रची हुई है। उनको बहुत ही आश्चर्य हुआ। जो सृष्टि उनको दिखाई पड़ी उसके सूर्य से उन्होंने पूछा कि यह सृष्टि मेरे रचने से पहले ही कहाँ से आ गई। सूर्य ने कहा, हे देव, एक ही सृष्टि नहीं, ऐसी ऐसी दस सृष्टियाँ आप के रचे बिना ही रची गई हैं। ब्रह्मा ने विस्मय के साथ पूछा कि इनके रचनेवाले कौन हैं? सूर्य देव ने कहा—

भगवन्, आपकी पूर्वरचित सृष्टि में कैलाश पर्वत के नीचे जो जम्बूद्वीप था उसमें स्वर्णजट नाम का एक प्रान्त था। वहाँ पर इन्दु

नाम का एक बहुत पवित्र ब्राह्मण और उसकी सुयोग्य पत्नी वास करते थे। उनके यहाँ जब बहुत काल तक कोई सन्तान न हुई तो उन्होंने तप करके शिवजी महाराज से वर पाया कि उनके यहाँ १० महामना बालक होंगे। ऐसा ही हुआ। कुछ काल जीकर वह ब्राह्मण मर गया। पुत्रों को उसके मरने का बहुत दुःख हुआ। सबने इकट्ठा होकर यह सोचा कि पिताज़ी की यादगार क़ायम रखने के लिये कोई ऐसा बड़ा काम करना चाहिए जो आजतक किसी मनुष्य ने न किया हो। सोचते सोचते वे इस प्रस्ताव पर आए कि उन दसों को १० ब्रह्मा बनकर दस सृष्टियों की रचना करनी चाहिए। यह धारणा करके वे लोग पद्मासन जमाकर समाधि में बैठकर यह संकल्प करने लगे कि वे ब्रह्मा हैं और सृष्टि की उत्पत्ति कर सकते हैं। यथोचित समय बीतने पर वह संकल्प दृढ़ हो गया और १० सृष्टियों की रचना हो गई।

यह सृष्टियाँ तब तक क़ायम रहीं जब तक कि उनके संकल्प की शक्ति क्षीण न हुई।

९. अहिल्या रानी और उसके प्रियतम इन्द्र की कहानी

मन के किसी वस्तु पर स्थिर हो जाने में कितना आनन्द है और स्थिर चित्त वाले प्रेमी को शरीर के दुःखों का किस प्रकार भान नहीं होता-यह बात अहिल्या और इन्द्र की कथा से ज़ाहिर है। कथा संक्षेप से इस प्रकार है:—

मगध देश में इन्द्रद्युम्न नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा था। उसकी स्त्री अहिल्या, बहुत रूपवती थी। उसी नगर में इन्द्र नामक एक अत्यन्त बुद्धिमान् ब्राह्मण-कुमार रहता था। रानी ने उस ब्राह्मण-कुमार की प्रशंसा सुनकर उसको देखना चाहा। किसी सखी द्वारा ब्राह्मण-कुमार इन्द्र के दर्शन कराए जाने पर वह उसकी परम अनुरागिणी बन गई, और यह चाहने लगी कि इन्द्र उसका होकर उसके ही साथ रहे। वह उसमें इतनी अनुरक्त हो गई कि सारे जगत् को इन्द्र तन्मय ही देखने लगी—"ततस्तदनुरक्ता सा पश्यन्ती तन्मयं जगत्"—किसी प्रकार से उसने अपने पास इन्द्र को बुलाया और उससे अपने हृदय का प्रेम प्रकट किया। इन्द्र भी रानी में अनुरक्त हो गया, और सारे संसार को भूलकर उसी के ध्यान में रहने लगा।

अहिल्या को इन्द्र का ध्यान करने में और इन्द्र को अहिल्या का ध्यान करने में अलौकिक आनन्द का अनुभव होता था, और एक की

दूसरे से मिलने की सदा ही चाह रहती थी। रानी जब कभी अवसर पाती इन्द्र को बुला लेती और उसके साथ आनन्द से समय बिताती। यह बात धीरे धीरे राजा को भी मालूम हो गई। राजा ने उन दोनों का विच्छेद कराने का यथाशक्ति यत्न किया किन्तु असफल रहा। उसने उन दोनों को हर एक प्रकार का शारारिक दुःख दिया—मस्त हाथी के पैरों में डलवा दिया, कोड़ों से पिटवाया, अन्न-जल न मिलने दिया—पर उन दोनों का ध्यान एक दूसरे पर इतना लगा हुआ था कि शरीर के कड़े से कड़े दुःख का उनको भान नहीं हुआ।

इन्द्र ने राजा से कहा कि मेरा जगत तो अहिल्यामय है। आपने जो सैकड़ों दुःख मुझे दिए हैं वे मुझे मालूम ही नहीं पड़े। और अहिल्या का जगत् मन्मय है अर्थात् वह सब जगह मुझे ही देखती है, इसलिये उसको भी किसी दूसरे के दुःख देने से जरा भी दुःख नहीं मालूम होता।

राजा को बहुत खेद हुआ क्योंकि वह उन दोनों को सब प्रकार का कष्ट देने पर भी उनको एक दूसरे के मन से दूर न करा सका। तब राजा ने भरत नाम के मुनि के पास जा कर और सब हाल कह कर उनसे यह प्रार्थना की कि वे उन दोनों को शाप दें। भरत ने उनको शाप दिया कि वे नष्ट हो जाएँ। उन दोनों ने भरत और राजा से कहा—इस शाप से हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। ज्यादा से ज्यादा यह शाप हमारे शरीर ही को नष्ट कर देगा। शरीर की तो हमें कुछ सुध बुध ही नहीं। हमारे मनों को जो एक दूसरे के ध्यान में अचल हैं शाप नष्ट नहीं कर सकता। ये दोनों मन जहाँ भी रहेंगे शरीरों की पुनः रचना कर लेंगे।

दोनों शरीर शाप के कारण भूमि पर सूखे वृक्षों की नाईं गिर पड़े। दोनों मृग योनि में पैदा हो कर एक दूसरे से प्रेम करते रहे। इसके पीछे दोनों पक्षी हो कर एक दूसरे में रत रहे। फिर दोनों ब्राह्मण दम्पति के रूप में आए। इसके पीछे भी उनके अनेक जन्म हो चुके हैं लेकिन हर जन्म में वे एक दूसरे को प्रेम करते हैं।

१०—चित्तोपाख्यान

संसार के जितने सुख-दुःख हैं वे सब चित्त के अधीन हैं। बन्ध और मोक्ष भी चित्त की ही अवस्थाएँ हैं। जो चित्त वासनाओं की पूर्ति के लिये इधर उधर दौड़ता रहता है उसको कभी चैन नहीं मिलती, जिसने वासनाओं से निर्मुक्ति पा ली है वही चित्त शुद्ध ब्रह्म

बन जाता है, और अनुपम परमानन्द का अनुभव करता है—इन बातों को समझाते समय वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को चित्तोपाख्यान (चित्त की कहानी) सुनाया, जो इस प्रकार है :—

हे राम ! एक बहुत बड़ा, शान्त और भयानक वन है। एक समय उसमें विचरते हुए मैंने एक विचित्र पुरुष देखा। वह पुरुष बहुत बड़े शरीर वाला, सहस्रों आंखों और हाथों वाला था। उसकी क्रियाएँ पागल की क्रियाओं की नाईं देख पड़ती थीं। वह कभी इधर दौड़ता था, कभी उधर। कभी रोता था, कभी हँसता था; कभी नाचता था, कभी शोकातुर हो कर गिर पड़ता था। उसकी सहस्रों आंखें उसको सहस्रों विषयों का दर्शन कराती थीं, जिनकी प्राप्ति के लिये वह अधीर हो कर चारों ओर दौड़ता रहता था, और किसी एक विषय पर स्थिर मति हो कर उसका आस्वादन नहीं कर पाता था। किसी विषय की प्राप्ति न होने पर अथवा उस विषय से वह आनन्द प्राप्त न होने पर जिसकी कि वह उस विषय से आशा करता था, वह इतना क्रुद्ध हो जाता था कि वह अपने सहस्रों हाथों से अपनी देह को खूब जोर से पीटने लगता था। ऐसा करते करते वह इतना भयभीत हो जाता था कि वह अपने को सुरक्षित रखने के लिये किसी एकान्त और घने कुञ्ज की शरण लेने के लिये उत्सुक होता था। किन्तु रोते-रोते उसकी दृष्टि और विवेक बुद्धि इतनी मन्द पड़ जाती थी कि वह अन्धे की नाईं करञ्जुवे के घने कुञ्ज में प्रवेश करके उसके कांटों से विदीर्ण होता था और चिल्लाने लगता था। उसके शरीर में इतनी वेदना होती थी कि उसको मिटाने के लिए वह एक कुएँ में कूद पड़ता था। वह कुआँ अन्धेरे और विषैले जन्तुओं से भरा हुआ था और उसमें से नाक को दुःख देने वाली दुर्गन्ध आती थी। रात भर उसमें किसी तरह रह कर प्रातःकाल फिर वह उस कूप से बाहर निकल कर अपने बेचैन जीवन का आरम्भ करता था। घूमते फिरते कभी कभी उसको केले का शीतल और सुगन्धित वन मिल जाता था जिसमें वह घड़ी दो घड़ी विश्राम और भर पेट भोजन पा लेता था। लेकिन वहां पर भी उसको शान्ति नहीं मिलती थी। वहां से भाग कर फिर इधर उधर मारा मारा फिरता था। मैंने यह भी विचित्र बात देखी कि मेरे यत्न करने पर भी वह मेरे सम्मुख नहीं होता था। हर समय वह मेरी निगाह से बच कर चलता था। एक समय ऐसा हुआ कि बहुत

यत्न करने पर मैंने उसको अपने सामने बुलाया और एक दृष्टि उसके ऊपर डाली। देखते देखते ही उसके सहस्रों हाथ और नेत्र क्षीण होने लगे। थोड़े ही समय में उसका सारा शरीर छिन्न भिन्न हो गया और वह मेरे हृदय में प्रविष्ट हो कर शान्त हो गया। मैंने तो यह जाना था कि उस वन में ऐसा उन्मत्त पुरुष एक ही था और उसको मेरा दर्शन होते ही मुक्ति मिल गई। लेकिन फिर मुझे ऐसे पुरुष उस वन में बहुत से मिले। जो जो मेरे सन्मुख आए वे सब शान्त हो गए और जिन्होंने मुझसे मुंह छिपाया वे अभी तक उसी प्रकार भ्रमण कर रहे हैं।

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—हे ब्रह्मन्! वह वन कहाँ है और वह पुरुष कौन है? वसिष्ठजी बोले! हे रामजी! वह वन यह संसार है और वह मत्त पुरुष मन है। सहस्रों नेत्र और हाथ मन की अनन्त वासनाएँ हैं। वह अन्धकूप गृहस्थ है, करञ्जवे का कुञ्ज नरक है और कदली वन स्वर्ग है। मैं जिसके सम्मुख होता हूँ वह मन शान्त और मुक्त हो जाता है। मैं विवेक हूँ। विचार और विवेक द्वारा ही मन अमनीभाव को प्राप्त होकर निर्वाण और परमानन्द की प्राप्ति करता है।

११—बालाख्यायिका

जो कुछ दृश्य संसार है वह सब केवल दृष्टि मात्र है। कल्पना और भ्रम से अधिक इसकी सत्ता नहीं है। शून्य ब्रह्म की भित्ति पर मनरूपी चित्रकार ने ये सब चित्र बना रक्खे हैं। मन की कल्पना के अतिरिक्त इसमें कुछ भी सार नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में रचे हुए जगत् में कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है उस प्रकार ही इस संसार की स्थिति है। वस्तुतः तो जगत् है ही नहीं—मन ने अपने भीतर ही इसकी कल्पना कर रक्खी है, और उस कल्पना के वश होकर वह अपने आपको इतना भूल गया है कि उसको दृश्य पदार्थ ही सत्य और वास्तविक जान पड़ते हैं। यह ऐसे ही होता है जैसे कि कोई बालक सर्वथा मिथ्या कहानी को सुनकर उसको सच समझ कर उसमें सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। इस विषय को समझाने के लिये वसिष्ठ ने रामचन्द्रजी को एक वह कहानी सुनाई जो किसी दाई ने एक बालक को सुनाई थी, और बालक ने उसको सच्ची बात मान ली थी। वह कहानी इस प्रकार है—

एक शून्य नाम का नगर है। उसमें तीन राजपुत्र रहते थे, जिनमें से दो तो अभी पैदा ही नहीं हुए थे और एक गर्भ में भी नहीं आया था।

वे विपत्ति में पड़ने के कारण दुःखी होकर सोचने लगे और उन्होंने यह निश्चय किया कि बाहर जाकर धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्ग में उनको बहुत कष्ट हुआ और मार्ग में चलते चलते थककर भूख और प्यास से तंग होकर वे एक तीन वृक्षों के कुंज की छाया में जा बैठे। वे तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमें से दो तो उपजे ही नहीं थे और एक का बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ पर बैठ कर उन्होंने विश्राम किया और अमृत के समान सुस्वादु फलों का भक्षण किया। थोड़ी देर बाद वहाँ से उठकर वे आगे बढ़े और बहुत सुन्दर, निर्मल और शीतल जल वाली तीन नदियाँ उन्हें दिखाई पड़ीं। वे नदियाँ ऐसी थीं कि दो तो जलरहित थीं और एक सूख गई थी। तीनों ने उन नदियों में बड़े आनन्द के साथ स्नान क्रीड़ा की और जल पिया। फिर चलते चलते जब सायंकाल हो गया तो उनको एक भविष्यनगर दिखाई पड़ा। उन्होंने उसमें प्रवेश किया, और उनको रहने के लिये उस नगर में तीन मकान मिले —जिनमें से दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरे में एक भी दीवार नहीं थी। वहाँ रहकर उन्होंने तीन ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया—जिनमें से दो के तो शरीर ही न थे और तीसरे के मुँह ही नहीं था। उन्होंने तीन थालियों में भोजन किया, जिसमें से दो में तो तली ही नहीं थी और तीसरी चूर्णरूप थी। उस भविष्य नगर में वे तीनों बालक आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते रहे।

यह कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि यह संसार भी इस कहानीकी नाईं है। केवल कल्पनापर ही इसकी स्थिति है। सार वस्तु जो कि कल्पित नहीं इसमें कुछ नहीं है।

१२—इन्द्रजालोपाख्यान

इन्द्रजालोपाख्यान योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि सारा जगत् मन के भीतर है। मन इसको एक निमेष में उत्पन्न कर लेता है और एक निमेष में लीन कर देता है। सारा [illegible] संसार स्वप्न के सदृश है। क्षण भर के स्वप्न में वे सब घटनाएँ [illegible] हो जाती हैं जो कि बाह्य जगत् में, जो एक दूसरा स्वप्न है, युगों और कल्पों में होती है! जो कुछ बाह्य जगत् में होता है वही क्षण भर में मन के अन्दर प्रतीत हो सकता है। संक्षेपतः इन्द्रजालोपाख्यान इस प्रकार है :—

एक [illegible] पर उत्तरपाण्डव नाम का एक देश था, उस पर [illegible]

नाम का एक बड़ा धर्मात्मा और प्रतापी राजा राज करता था। एक समय, जब कि राजा अपने दरबार में बैठे हुए थे, वहाँ पर एक इन्द्र-जाली (बाज़ीगर) आया और राजा को यथोचित प्रणाम करके बैठ गया। राजा ने उसको अपना कौतुक दिखाने की आज्ञा दी। इन्द्र-जाली ने अपना पिटारा खोल कर उसमें से एक मोर की पूँछ का गुच्छा निकाल कर राजा के सामने घुमाया। उसके घुमाते घुमाते राजा को निद्रा आ गई और कोई दो घड़ी तक राजा मूर्छित से हो कर निद्रा में पड़े रहे। सब दरबारी लोग सोच में हो गए, और जादूगर को बुरा-भला कहने लगे। जागने पर राजा ने सब लोगों के सन्मुख वह वृत्तान्त सुनाया जिसका कि उन्होंने उस दो घड़ी के समय में अनुभव किया था। वह इस प्रकार था :—

मोर की पूँछ का गुच्छा घूमते देखकर राजा का ध्यान उस ओर ऐसा लगा कि उसको अपनी अवस्था का विस्मरण हो गया और एक विचित्र दृश्य उसके सामने आया। उसने देखा कि एक दूसरे राजा का दूत एक बहुत तेज और सुन्दर घोड़ा लिए उसके सामने उप-स्थित है। दूत ने राजा से प्रार्थना की कि वह घोड़ा उनकी सवारी के लिए उसके राजा ने भेंट रूप से भेजा है। राजा बहुत प्रसन्न हुए और उस घोड़े पर सवार होकर बाहर निकले। घोड़ा बहुत तेज था। राजा को लेकर वह अति वेग से भागा और रोके न रुका। राजा बैठे-बैठे जब तंग आ गए और अपने राज्य से बहुत दूर दक्षिण दिशा में विन्ध्याचल के जंगल में पहुँच चुके, तब उन्होंने घोड़े पर बैठे हुए ही एक पेड़ की शाखा को पकड़ लिया और घोड़े को छोड़ दिया। जब घोड़ा भाग गया तो वे पेड़ से नीचे उतर कर विश्राम करने के निमित्त बैठ गए। उनको इतनी भूख और प्यास लगी थी कि प्राण निकले जाते थे। चारों ओर देखा। कहीं से भी अन्न अथवा जल की प्राप्ति की सम्भावना न ज्ञान पड़ी। वे जीवन से निराश हो ही चुके थे कि एक मलिन वस्त्रों वाली काली और कुरूपा चाण्डाल-कन्या एक बर्तन में जामुन का रस और दूसरे में पके हुए चावल भरे हुए मस्तानी चाल से जाती हुई उनको दिखाई पड़ी। राजा इतने भूखे थे कि सब विचार छोड़कर उससे प्रार्थना करने लगे कि वह अन्न और रस में से कुछ उसको देकर उसके प्राणों की रक्षा करे। कन्या ने राजा से कहा कि वह चाण्डाल-कन्या है और वह अन्न और रस

अपने पिता के लिए ले जा रही है। बहुत प्रार्थना करने पर भी उसने राजा को कुछ न दिया। राजा ने उसका पीछा किया—तब उस कन्या ने राजा से कहा—यदि तुम मेरे पति बनना स्वीकार करो तो मैं अपने पिता के अन्न में से कुछ भाग तुमको दे दूँगी। राजा भूख प्यास से इतने पीड़ित हो रहे थे कि उन्होंने उसका पति बनना स्वीकार कर लिया। उसको थोड़ा सा भात खिलाकर और जामुन का रस पिलाकर वह बड़ी प्रसन्न होकर अपने पिता के पास गई और उससे बोली—मैंने यह सुन्दर पुरुष अपना पति बना लिया है। पिता बहुत प्रसन्न हुए और बोले—बहुत अच्छा किया। जा इसको लेकर घर जा और सुख से जीवन बिता। राजा ने चाण्डाल के घर आकर देखा कि चारों ओर अस्थि, मांस और रुधिर, कुत्ते, गधे और भैंस आदि जानवरों की खालें बिखरी पड़ी हैं। एक बहुत ही गन्दी दुर्गन्धयुक्त झोंपड़ी में उसकी सास मांस पका रही थी। अपने जामाता को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुई; रुधिर और मांस का भोजन राजा को परोसा। सारी चाण्डाल बिरादरी को इकट्ठा करके चाण्डाल-दम्पति ने बड़े समारोह के साथ अपनी पुत्री का विवाह रचाया। थोड़े ही समय में राजा एक प्रतिष्ठित चाण्डाल बन गया। कुछ वर्षों के भीतर उसकी स्त्री से उसके यहाँ तीन पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं। राजा अपने राजभाव को बिल्कुल ही भूल गया, और चाण्डालोचित सब कर्म करने लगा। बहुत सुख से अपने गृहस्थी में रहता रहा। एक समय ऐसा आया कि वर्षा न होने कारण बहुत बड़ा अकाल पड़ गया। उस देश में अन्न और जल का अभाव हो गया। सब लोग भूखे मरने लगे। तब आकर वह चाण्डाल अपनी स्त्री और बच्चों को साथ लेकर दूसरे देश में भोजनोपार्जन करने के लिये बाहर निकला। रास्ते में वे सब भोजन के बिना तंग आ गए और चलने योग्य न रहकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। वहाँ पर पड़े-पड़े, उसके छोटे पुत्र ने पिता से कहा कि भूख के मारे उसके प्राण निकल रहे हैं। पिता के पास और साधन कुछ नहीं था, इसलिए उसने अपने पुत्र की क्षुधा तृप्ति के लिए अपने आपको एक लकड़ी के जलते अन्गार पर रखते हुए कहा कि ले तू मेरा मांस खाकर अपने प्राण की रक्षा कर ले। आग से जलने पर उस चाण्डाल की चेतना दूसरी स्थिति का अनुभव करने लगी—राजा लवण मूर्च्छा से जाग गए और

अपने आपको उन्होंने राजा के रूप में सिंहासन पर बैठा हुआ पाया। सामने इन्द्रजाली बैठा था और सब दरबारी चिन्ताकुल सामने खड़े थे।

राजा को यह सब दृश्य केवल दो घड़ी के भीतर अनुभव करके बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्रजालीने उससे कहा—महाराज ये सब घटनाएँ सच्ची हैं और यदि आप को विश्वास न हो तो आप स्वयं उस देश में जाकर देख लीजिये। राजा अपनी सेना को लेकर दक्षिण को रवाना हुए। चलते हुए रास्ते में उन्होंने वे सब देश, स्थान, और दृश्य देखे। किरात देश में पहुँचकर हूबहू वही सब स्थान देखे जिनमें उसने भ्रमण और वृत्त्युपार्जन किया था। वह स्थान भी देखा जहाँ पर कि उसने अपनी देह का अपने पुत्रों की क्षुधातृप्ति के लिए बलिदान किया था। अकाल के सभी निशान उनको वहाँ पर दिखाई पड़े। चाण्डाल गृह में जाकर देखा तो उनकी सास घर में बैठी हुई अपने जमाई की मृत्यु के शोक में रो रही थी। राजा ने उसके पास आकर उसको सान्त्वना दी। उसको धन देकर प्रसन्न किया, और आश्चर्य से पूर्ण होकर यात्रा से घर लौट आया।

१३—शुक्रोपाख्यान

शुक्रोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि वासना और संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की गति होती है, इसलिये निर्वाणपद प्राप्त करने की इच्छा वाले मनुष्य को संसार के विषयों के लिये वासना नहीं करनी चाहिए, और किसी भी सांसारिक सुख अथवा भोग का अपने मन में संकल्प उदय न होने देना चाहिये।

एक समय की बात है कि मन्दराचल पर्वत पर भृगुमुनि ने उग्र तप करना आरम्भ किया। उनके समीप उनकी देखभाल और सेवा करने के लिये उनके प्रिय और सर्व गुण सम्पन्न पुत्र शुक्र रहने लगे। भृगु ऋषि ने निर्विकल्प समाधि लगाई तो शुक्र को सेवा कार्य से कुछ अवकाश मिला।

एक समय जब कि शुक्र शान्तचित्त बैठे हुए प्रकृति की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे, उनको आकाश मार्ग से जाती हुई एक रूपलावण्य-सम्पन्ना अप्सरा दिखाई पड़ी। उसको देखते ही शुक्र के मन में कामवासना उदय हो आई। उसको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। उनको यह खयाल आया कि यह अप्सरा देवलोक की है इसलिये देवलोक जाना चाहिए। यह संकल्प उदय होते ही उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर देवलोक पहुँचा। शुक्र ने अपने आपको इन्द्रलोक

में पाया। वहाँ पर चारों ओर ऐश्वर्य और भोग, सौन्दर्य और आनन्द का साम्राज्य दिखाई पड़ता था। इन्द्र ने शुक्र का आदर सत्कार किया और उनको स्वर्ग में रहकर वहाँ के आनन्द का भोग करने के लिये निमन्त्रण दिया। शुक्र का मन तो उसी अप्सरा के पीछे लगा था जिसको देखकर वे काम से परास्त हुए थे। स्वर्ग में उसकी तलाश में फिरने लगे। आखिर वह एक वाटिका में विहार करते हुए मिल ही गई। आँखें चार होते ही दोनों में परस्पर स्नेह का उदय हो गया, और आनन्द से एक दूसरे के साथ रहने लगे। इस प्रकार उस विश्वाची नाम की देवसुन्दरी के साथ आनन्द का उपभोग करते करते शुक्र को बहुत समय बीत गया। जब उसके पूर्वकृत पुण्यों का भोग द्वारा क्षय हो गया तो वह स्वर्ग से गिरा। इसी प्रकार वह अप्सरा भी अपने पुण्य क्षीण होने के कारण स्वर्ग से गिरी। कुछ समय तक दोनों के सूक्ष्म शरीर चन्द्रमा की किरणों में रहे। फिर अनाज के पौदों में आकर रहे। उस पौदे के धान्य को जिसमें शुक्र का जीव था दशारण्य देश के एक ब्राह्मण ने खाया और उसके धान्य को जिसमें विश्वाची का जीव था मालव देश के राजा ने खाया। ब्राह्मण के भोजन का वीर्य बनने पर शुक्र उसकी स्त्री के गर्भ से उस ब्राह्मण का पुत्र हुआ, और मालव नरेश के यहाँ विश्वाची का जीव उसकी कन्या बनकर उत्पन्न हुआ। जब कन्या बड़ी होकर रूपवती और विवाह योग्य हुई तो राजा ने उसको स्वयंवर द्वारा वर चुनने की आज्ञा दी। दैवयोग से वह ब्राह्मण-बालक भी यहाँ पर आ निकला। पूर्व स्नेह अदृष्ट रूप से उदय हो आया, और उस कन्या ने विवश होकर ब्राह्मण के ग़रीब बालक को अपना पति बना लिया। कुछ दिन पीछे राजा अपने जामाता को राज्य सौंपकर वन चले गए। इस प्रकार बहुत दिनों तक राज और राजतनया का उपभोग करने पर शुक्र के जीव ने उस देह का त्याग किया। तब वह बङ्ग देश में एक धीवर हुआ। फिर एक सूर्यवंशी राजा हुआ। फिर एक बड़ा विद्वान् गुरु हुआ। फिर एक विद्याधर हुआ। फिर मद्रास में एक राजा हुआ। फिर वासुदेव नाम का एक तपस्वी बालक हुआ। फिर विन्ध्याचल में एक किरात हुआ। फिर सौवीर और कैवट देश में मंत्री हुआ। फिर त्रिगर्त देश में एक गधा हुआ, फिर किरात देश में एक बाँस का पौदा हुआ। फिर चीन के जंगल में एक हरिण हुआ। फिर एक ताड़ के वृक्ष में वास करनेवाला सर्प हुआ। फिर एक वन में मुर्गा

हुआ। इस प्रकार अपनी वासना और कर्मनियमानुसार वह बहुत से रूपों को धारण करता हुआ एक ब्राह्मण-कुमार होकर गङ्गा तट पर तपस्या करने लगा। उसका शुक्र शरीर विकृत होकर शीर्ण होने लगा।

भृगु ऋषि की जब बहुत काल पीछे समाधि खुली तो उन्होंने शुक्र को अपने पास न पाया। तलाश करने पर जब उसके शरीर को मृत अवस्था में पाया तो उनको काल के ऊपर बहुत क्रोध आया और काल को शाप देने के लिये तैयार हुए। इतने ही में काल ने स्थूल रूप धारण करके भृगुऋषि को प्रणाम किया, और कहा—महाराज आप क्या कर रहे हैं। मैं काल तो भगवान् का नियत किया हुआ हूँ, और सदा अपने धर्म का पालन करता हूँ। मुझे आप शाप नहीं दे सकते। मैं सब प्राणियों की वासना और कर्मों के अनुसार उनके स्थूल शरीर की तबदीली किया करता हूँ। आपका पुत्र शुक्र अपनी वासनाओं के और संकल्पों के अनुसार ही अगण्य योनियों में भ्रमण करता फिर रहा है। कालने उसके सब जन्मों का वृत्तान्त सुनाकर भृगु को बतलाया कि शुक्र का जीव इस समय ब्राह्मण-बालक बना हुआ गङ्गा-तट पर तप कर रहा है। विश्वास न हो तो जाकर देख लिया जाए। भृगु मुनि काल को लेकर उसके समीप गए। ब्राह्मण-बालक ने दोनों को देखा किन्तु पहचाना नहीं। भृगु ने उसको ध्यान लगाकर देखने को कहा। तब उसको अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया। पिता की आज्ञानुसार उसने फिर शुक्र होने की तीव्र वासना की और उसके फलरूप ब्राह्मण-बालक के शरीर को छोड़कर उसकी पुर्यष्टक (सूक्ष्म देह) ने शुक्र शरीर में प्रवेश करके उसको जीवित किया।

वसिष्ठजी ने राम से कहा कि शुक्र ने जो रूप धारण किया अपनी वासना के अनुसार किया। हरएक जीव की हरएक वासना उसके लिये एक बाँधनेवाली डोरी है, जो कुछ काल के लिये अवश्य ही उसे उस विषय से बाँधेगी जिसकी वह चाह करता है। किसी उर्दू कवि ने ठीक कहा है:—

आर्ज़ूये दीदे जानां बज़्म में लाई मुझे।
आर्ज़ूये दीदे जानां बज़्म से भी ले चली॥

अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन (प्राप्ति) की अभिलाषा (वासना) ही मुझे संसार में लाती है और वही मुझे संसार से ले जाती है।

कठोपनिषद् में इसी कारण से यह कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

अर्थात्—जब इस जीव के हृदय में वास करनेवाली वासनाओं का परित्याग हो जाता है तभी मर्त्य (मरनेवाला) जीव अमृत होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है ।

१४—दाम, व्याल और कट की कहानी

दाम, व्याल और कट की कहानी सुनाकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्र जी को यह उपदेश दिया कि मनुष्य को सब प्रकार की सिद्धि और विजय प्राप्त करने का एक ही उपाय है और वह है अनहंभावयुक्त पुरुषार्थ। जो मनुष्य अहंभाव से प्रेरित होकर पुरुषार्थ करता है उसको इतनी कामयाबी नहीं प्राप्त होती जितनी कि उसको होती है जो कि अहंभाव से स्पृष्ट न होकर अपने जीवन को हथेली पर रखकर अपने आदर्श की सिद्धि के लिये मृत्यु से ज़रा भी नहीं डरता। जिस मनुष्य में अहंभाव और मृत्यु का डर है और जो सदा ही अपनी जान बचाने का ख़याल रखता है वह परास्त होता है ।

एक समय पाताल लोक के असुर राजा शम्बर ने देवलोकवासी देवताओं से संग्राम छेड़ा। बहुत दिनों तक घोर युद्ध होता रहा। कभी शम्बर परास्त होता था, कभी देवराज इन्द्र। शम्बर को कई प्रकार की माया आती थी। उसने अपनी माया द्वारा तीन विशालकाय दैत्य—दाम, व्याल और कट—उत्पन्न किए। वे ऐसे थे जिनमें अहंभाव लेशमात्र भी न था और न किसी प्रकार की वासना उनके मन में होती थी। जिस कार्य के लिये उनकी उत्पत्ति हुई थी केवल उसके करने में ही उनकी निष्काम प्रवृत्ति थी। उसके फल, अथवा उस सम्बन्धी हानि-लाभ की चिन्ता उनके मन में ज़रा भी नहीं होती थी।

ऐसे दाम, व्याल और कटने संग्राम में देवताओं के दाँत खट्टे कर दिए। वे इतनी बहादुरी से लड़े कि उनके सामने खड़े होने की भी देवताओं में हिम्मत न रही। निदान, देवता लोग भग निकले और ब्रह्मा की शरण में पहुँचे। ब्रह्मा ने ध्यान करके विचार किया तो उनको असुरों की जय का कारण मालूम पड़ गया। उन्होंने देवताओं को समझाया कि जबतक दाम, व्याल और कट अनहंभाव से निष्काम युद्ध करते रहेंगे, तबतक देवताओं को उनके ऊपर विजय प्राप्त न हो सकेगी। इसलिये यदि उनको परास्त करना है, अथवा उनसे

अपनी रक्षा करनी है, तो इस रीति से युद्ध करना चाहिए कि उनके हृदय में विजय की कामना, मृत्यु का भय, जीवन की लालसा और अहं-मम-भाव उत्पन्न हो जाएँ।

देवताओं ने ब्रह्मा की सलाहपर विचार किया और अपने युद्ध का कार्यक्रम निश्चय कर लिया। वे दाम, व्याल और कट से इस रीति से लड़े कि इनके मनमें विजय का अभिमान उत्पन्न हो गया। फिर मरने का भय, पराजय से घृणा, जीवन की लालसा, अहं-मम-भाव उत्पन्न हो गए। इतना होने पर वे देवताओं से युद्ध करने से भय मानने लगे और उनके ऊपर आक्रमण करना छोड़कर भाग निकले और नष्ट हो गए। देवताओं के सर से आफ़त टली।

१५—भीम, भास और दृढ़ की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह उपदेश दिया कि आत्मज्ञानी पुरुष को, जो कि वासनारहित होकर संसार में स्वधर्म का पालन करता है, उसे यहाँ पर विजय और अभ्युदय और मृत्यु के पीछे उत्तम गति प्राप्त होती है।

जब पाताल के दैत्यराज शम्बर को यह मालूम हुआ कि उसके माया द्वारा उत्पन्न किए हुए योद्धा, दाम, व्याल और कट, इस कारण से देवताओं द्वारा परास्त किए गए कि उनमें अहंभाव का उदय हो आया था (जैसा कि ऊपरवाली कहानी में बतलाया गया है), तो उसने अपनी माया द्वारा तीन आत्मज्ञानी योद्धाओं, भीम, भास और दृढ़ की रचना की। उनमें जन्मसिद्ध ही ब्रह्मभाव पूर्ण रूप से वर्तमान था। वे जीवन्मुक्त थे, और किसी कारण से भी उनमें अहंभाव, कामना, भय और फल की आकांक्षा उदय होने की संभावना नहीं थी। वे जिस कार्य को करने के लिये उत्पन्न हुए थे उसको अपनी जान लड़ाकर अनहंभाव से करते थे। जब देवताओं से उनका युद्ध हुआ तो देवताओं के दाँत खट्टे हो गए। देवताओं ने बार-बार उनके चित्त में अहंभाव, वासना और भय आदि उत्पन्न करने का यत्न किया, किन्तु असफल रहे, क्योंकि वे तीनों जीवन्मुक्त थे और स्वधर्मपर दृढ़ रहना ही उनका काम था। जब देवताओं का कोई बस न चला तो वे विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचे। विष्णु भगवान् ने ध्यान धरके देखा तो उनको मालूम हो गया कि भीम, भास और दृढ़ को मारना अथवा परास्त करना

देवताओं के वश से बाहर की बात है। इसलिये वे स्वयं अपना सुदर्शन चक्र लेकर युद्ध-स्थानपर आए और उन तीनों को मारकर उनको अपने लोक में स्थान दिया और देवताओं को भय और दैत्याक्रमण से मुक्त किया।

१६—दाशूरोपाख्यान

मगध देश में शरलोमा नाम का एक मुनि रहता था। उसका एक-मात्र पुत्र दाशूर अपने पिता को बहुत प्यार करता था। समय आनेपर जब शरलोमा की मृत्यु हो गई तो दाशूर को अत्यन्त शोक हुआ, और वह अधीर होकर रोने लगा। उसका तीव्र दुःख देखकर एक वनदेवी को बहुत करुणा आई और वह उसके समीप जाकर अदृष्ट रहते हुए ही उसको समझाने लगी—हे साधो! तू क्यों शोक करता है? क्या तेरे लिये कोई ऐसी घटना हो गई है जो दूसरों के लिये नहीं होती? संसार का यह अटल नियम है कि यहाँपर जीव पैदा होकर कुछ दिन जीकर मर जाते हैं। ब्रह्मा तक को भी एक दिन नाश को प्राप्त होना है। तब फिर किसी के मरने पर शोक क्यों किया जाए? रोना तो बच्चों का काम है जिनको संसार के अटल नियमों का ज्ञान नहीं है। तुम तो बच्चे नहीं हो। उठो और अपने जीवन के ध्येय की प्राप्ति में लगो।

दाशूर को होश आया और उसने विचार किया कि पिता के मरने पर शोक करना व्यर्थ है। शोक करने से पिताजी जीवित नहीं हो सकते। अब अपने जीवन को सुधारना चाहिए। यह सोचकर उसने तप करने का निश्चय किया। तप करने के लिये उसने एक अत्यन्त पवित्र स्थान की खोज करनी शुरू की, लेकिन उसको कहींपर भी कोई पवित्र स्थान न मिला। अन्त में उसकी समझ में यह आया कि यदि वह किसी प्रकार किसी वृक्ष की फुन्गल (अग्रभाग) पर स्थिर रह सके तो वह सबसे शुद्ध स्थान तप करने का होगा। यह इच्छा अपने मन में रखकर उसने कुछ लकड़ियाँ एकत्रित करके आग जलाई और अपना माँस काट काटकर अग्नि देवता को बलि देना आरम्भ किया। ब्राह्मण के माँस की बली आग में पड़ते ही अग्नि-देवता को बहुत दुःख हुआ और वे ब्राह्मण के सामने प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो गए, और उससे वर माँगने को कहा। दाशूर ने अपनी इच्छा प्रकट की। अग्निदेव ने वर दिया कि उनको वहाँपर जाते हुए कदम्ब वृक्ष की शाखा के अग्र भागपर रहने की शक्ति प्राप्त हो।

दाशूर उस कदम्ब वृक्षपर रहकर तप और यज्ञ करने लगे। उनके सब यज्ञ और तप मानसिक थे। मन द्वारा उन्होंने विधिपूर्वक वैदिक रीति से अश्वमेध, नरमेध, गोमेध आदि बड़े बड़े यज्ञों की समाप्ति की। बहुत दिनों तक तप और यज्ञ करने से भी उनको आत्मज्ञान प्राप्त न हुआ, क्योंकि आत्मज्ञान तो केवल विचार से ही उत्पन्न होता है, तप और यज्ञ द्वारा नहीं प्राप्त होता। हाँ इतना हुआ कि निष्काम तप और यज्ञों के करने से दाशूर का अन्तःकरण इतना पवित्र हो गया कि वह अब आत्मा के स्वरूप का विचार करने योग्य हो गया। विचार करने से उसको आत्मज्ञान हो गया, और वह जीवन्मुक्त हो कर आनन्द से उस वन में रहने लगा। अब उसको किसी प्रकार का शोक और मोह नहीं रहा।

एक समय उसके सामने एक वनदेवी आ कर रोने लगी—हे मुने! आपको सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं। आप मेरे शोक को दूर कीजिए। चैत्र शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को इन्द्र के नन्दन वन में कामदेव का उत्सव मनाने के लिये सब देवियाँ एकत्रित हुई थीं। सब के साथ उनकी सन्तानों को देख कर मुझे दुःख हुआ कि मेरे अभी तक कोई पुत्र नहीं है। तब से यह बात मेरे मन में बहुत खटक रही है। हे मुने, आप मेरे इस शोक को दूर करो और मुझे पुत्र प्रदान करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मैं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगी। दाशूर को उस वनदेवी पर दया आई और उन्होंने उसको एक पुष्प देकर यह कहा—जाओ, एक महीने के पीछे तुम्हारे गर्भ से एक पुत्र होगा। लेकिन, चूँकि तुमने अग्नि में प्रवेश करने की धमकी दी थी, इसलिये वह पुत्र अज्ञानी होगा। सांसारिक विद्याएँ उसको सभी आवेंगी, परन्तु आत्मज्ञान उसे बिना किसी ज्ञानी के उपदेश किए न होगा।

प्रसन्नचित्त हो कर वह वनदेवी घर गई और एक महीने पश्चात् उसको पुत्रोत्पत्ति का आनन्द प्राप्त हुआ। माता ने पुत्र का भलीभाँति पालन पोषण किया और उसे सब प्रकार की विद्याएँ पढ़ाईं। जब वह दस वर्ष का हो गया तो उसने उसको दाशूर मुनि के पास लाकर उनसे प्रार्थना की कि वे उसको आत्म-ज्ञान दे कर अपने शाप को दूर करें। दाशूर ने वनदेवी के पुत्र को नाना प्रकार के दृष्टान्तों द्वारा आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया।

वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी से कहा कि एक समय जब कि वे आकाश

मार्ग से सूक्ष्म शरीर द्वारा गङ्गा में स्नान करने जा रहे थे, उन्होंने दाशूर मुनि को वनदेवी के पुत्र को आत्मज्ञान का बड़े सरल और रोचक उपाय से उपदेश करते हुए सुना था। उस समय दाशूर मुनि उसको यह समझा रहे थे कि सारा जगत् संकल्प का प्रसार है। संकल्प ही सारे पदार्थों का उत्पादक है। संकल्प द्वारा ही संसार की रचना होती है, और संकल्प के क्षीण होने पर संसार का नाश होता है। यह संसार केवल एक संकल्प नगर है जो कि शुद्ध चिदाकाश में उदय होता है और उसी में लय हो जाता है।

१७—कच गीता

एक समय देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच को परम शान्ति का अनुभव हुआ और सहज समाधि लग गई। समाधि से जागने पर उन्होंने आत्मा के सर्व व्यापक होने के विषय में निम्नोद्धृत विचारों युक्त एक गीत गाया—वह गीत वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को सुनाया :—

सारा विश्व इस प्रकार आत्मा से परिपूर्ण है जैसे कि महा प्रलय में जगत् जल से पूर्ण होता है। इसलिये मैं किस वस्तु को त्यागूँ और किसके प्राप्त करने की वाञ्छा करूँ? क्या करूँ क्या न करूँ? कहाँ जाऊँ? दुःख भी आत्मा है, सुख भी आत्मा है। सब कुछ आत्ममय है। इसलिये किस बात की चिन्ता होनी चाहिए? देह के बाहर देह के भीतर, ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, सब दिशाओं में आत्मा ही आत्मा है। अनात्म वस्तु कोई भी नहीं है। आत्मा सब जगह स्थित है। आत्मा ही सब कुछ है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो मेरा आत्मा नहीं है। जो कुछ संसार में है वह मेरा ही एक रूप है। मैं सब जगह, सारे ब्रह्माण्ड में सन्मय रूप से पूर्ण हूँ। मैं पूर्ण हूँ, सर्वत्र पूर्ण रूप से स्थित हूँ। आनन्द रूप हूँ। मेरे चारों ओर आनन्द का समुद्र लहरें मार रहा है।

ऐसा कहते कहते कच को फिर समाधि लग गई और वह परमानन्द में लीन हो गया।

१८—जनक के जीवनमुक्त होने की कथा

रामचन्द्रजी को जीवन्मुक्ति का उपदेश करते समय वसिष्ठजी ने उनको राजा जनक के जीवनमुक्त होने की कथा सुनाई। वह इस प्रकार है:—

विदेह नगर के राजा जनक एक समय अपने लीलोपवन में सैर

कर रहे थे। एकाएक उनको कुछ अदृष्ट सिद्धों का गाना सुनाई पड़ा। वह बड़े ध्यान से सुनने लगे। गाना क्या था जनक के लिये चेतावनी और उद्बोधन था। उस गाने का सार यह था—

जो मनुष्य, यह जानकर भी कि संसार के जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सब अन्त में दुःखदायी होते हैं, पदार्थों के पीछे दौड़ता है, वह मनुष्य नहीं है गधा है। जो मनुष्य अपने हृदय के भीतर वर्तमान ईश्वर को छोड़कर और दूसरे बाह्य देवताओं की उपासना के चक्कर में पड़ते हैं और बाहर ईश्वर की तलाश करते हैं, वे ऐसे मूढ़ हैं, जैसे कि वह मनुष्य जो हाथ में मौजूद मणि को फेंक कर काँच के पीछे भागता है। हमलोग तो उस देव की उपासना करते हैं जो कि सबमें है, जिसमें सब हैं, जिसके सब हैं, जिससे सब हैं, जो सब है; जो सत्य है, और जो आत्मा का भी आत्मा है। जो सत् और असत्, प्रकाश और अप्रकाश, द्रष्टा और दृश्य से भी परे और इनके मध्य में है वह आनन्दरूप और स्पन्दरहित आत्मा है। वहाँ पर स्थित होकर सब वासनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं।

इस गीत को सुनकर जनक को बहुत विषाद हुआ। उन्होंने विचार किया कि यह जन्म वृथा ही जा रहा है, अभी तक उस परम पद की प्राप्ति नहीं हुई है जिसको प्राप्त कर लेने पर और कुछ प्राप्त कर लेने की वासना ही नहीं रहती।

घर जाकर जनक एकान्त स्थान में बैठ कर इस प्रकार विचार करने लगे :—

वह प्रपञ्च-रचना इन्द्रजाल के समान है। न जाने मैं इसमें क्यों मोहित हो रहा हूँ? संसार के सारे पदार्थ जल की तरङ्गों के समान क्षणभंगुर हैं, फिर भी मैं उनको प्राप्त करने की वासना करता रहता हूँ, इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है? जिन वस्तुओं में सुख है वे सब दुःखों से मिश्रित हैं, फिर भी मेरी उनमें आस्था है। जो बड़े २ महापुरुष और महाशक्तिशाली मनुष्य हो चुके हैं वे भी मौत के मुँह में चले गए, तब भी मैं जीने की वाञ्छा करता रहता हूँ। संसार के सब पदार्थ नाशवान् हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको सत्य कहा जा सके किस पदार्थ पर आस्था की जाए? संसार के सब भोग विषरूप हैं इनमें आस्था करना महा मूर्खता है। जिन-जिन पदार्थों की लोग वासना करते हैं उन सबका परिणाम मुझे दुःख ही दिखाई

पड़ता है। ऐसा कोई पदार्थ नजर नहीं आता जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर किसी वस्तु की प्राप्ति की वांछा न रहे अथवा जिसको प्राप्त करके पूर्ण सुख का अनुभव हो जाए। एक वस्तु को प्राप्त कर लेने पर दूसरी के प्राप्त कर लेने की वासना तुरन्त ही हृदय में उदय हो जाती है। जो प्राप्त हो चुकी है उसको सन्तुष्टि से उपभोग नहीं करने पाते कि मन उससे विरक्त होकर दूसरे पदार्थ की ओर लग जाता है, और समस्त जीवन इसी प्रकार की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ने में खतम हो जाता है। जैसे पतंग दीपशिखा को सुख रूप जान कर उसकी ओर दौड़ता है और उसको छूते ही भस्म हो जाता है यही हाल हम लोगों का है। भोगों को आनन्द रूप जानकर हम उनका उपभोग करने में अपना सर्वस्व खतम कर देते हैं—अन्त में हाथ मल कर पछताते हैं और रोते हैं कि जीवन वृथा ही बिता दिया। सब सत्ताओं के सर पर असत्ता नाचती है। सब सुन्दर रम्य पदार्थों के भीतर कुरूपता और अरम्यता छिपी बैठी है। सर्व सुखों का परिणाम दुःख है। बतलाइये फिर कैसे किसी पदार्थ, किसी सौन्दर्य अथवा किसी सुख की वाञ्छा की जाए? जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब किसी न किसी रूप में आपत्तियाँ ही हैं। बहुत दिन तक अज्ञानी बना हुआ मैं इनके पीछे फिरता रहा। संसार के अनन्त प्रकार के भोगों की वासनाओं के कारण बहुत से जन्म मरण सहे। अब यह नहीं होगा। अब मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। अब मुझे समझ आ गई है। और अब मुझे मालूम हो गया है कि मेरा दुश्मन जो मुझे संसार के भोगों की ओर ले जाया करता है मेरे ही भीतर मेरे मन के आकार में है। मैं अब उसी को पकड़ूँगा और पकड़ कर ऐसा मारूँगा कि फिर वह सर न उठाने पाएगा। मेरा मनरूपी मोती अभी तक बिंधा नहीं है। अब इसको मैं आत्म-विचार रूपी बर्मे से बींधूँगा।

यह सोच कर राजा जनक ने अपने मनको सम्बोधन करके उसको समझाना आरम्भ किया। चित्त से जनक ने पूछा—हे चित्त, तू बता अब तक जिन-जिन पदार्थों की प्राप्ति की तूने इच्छा की है उनमें से कितने पदार्थ ऐसे हैं जिनको पाकर तुझे तृप्ति हुई हो? क्या तू समझता है कि भविष्य में भी तेरा वही हाल नहीं रहेगा जैसा कि भूतकाल में रहा है? इसलिए तू अच्छी तरह समझ ले कि तेरा भोगों के पीछे दौड़ना वृथा है। इससे तुझे शान्ति कभी प्राप्त नहीं होगी।

इस प्रकार चित्त को बारबार समझाने से जनक का चित्त शान्त हुआ। भोगों की वासना मन से चली गई। आत्मा का प्रकाश होना आरम्भ हुआ। और धीरे-धीरे शान्ति और आनन्द का अनुभव दृढ़ होने लगा। इस प्रकार का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते, और आत्मा का विचार करने से आत्मा में स्थिति होते-होते, जनक ने जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की। उनको न तो किसी वस्तु के प्राप्त करने की वाञ्छा रही, और न त्याग करने की। किसी से न द्वेष रहा, न राग। न राज-पाट को बुरा समझ कर उसको त्याग करने की इच्छा हुई, और न उसके सुखों के भोग करने की वासना मन में रही। जिस स्थिति में वे थे उसके ही अनुसार वे अपने सारे कार्य करते रहे। मन की संकल्प वृत्ति का क्षय हो गया। वे राज्य का सब कार्य यथोचित रूप से करते रहे और किसी कार्य के करने में भी उन्हें किसी प्रकार के हर्ष और विषाद का अनुभव नहीं हुआ। उनका जीवन यंत्रवत् हो गया। न उनको भूत का पश्चात्ताप था और न भविष्यत् की चिन्ता। केवल वर्त्तमान काल के यथायोग्य कार्यों का निरपेक्ष और निरहंभाव से वे सम्पादन करते थे। किसी वस्तु के प्रति भी उनका संग नहीं था। ऐसे राजा जनक राजा होते हुए भी ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ समझे जाते थे।

१९—पुण्य और पावन की कथा

संसार के जितने सम्बन्ध हैं वे सब अस्थायी हैं, एक न एक दिन अवश्य ही टूटेंगे। जिनके साथ पूर्व कर्म और वासनानुसार हमारा इस जन्म में संग हुआ है अवश्य ही उनसे वियोग होना है। यह बात जानते हुए भी जो मनुष्य किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर, अथवा उससे किसी और कारण से वियोग होने पर रोता और शोक करता है वह मूर्ख है। प्रत्येक प्राणी के अनन्तजन्म हो चुके हैं, उन जन्मों में उसका अनन्त जीवों के साथ सम्बन्ध हुआ है और यथा समय सबसे वियोग हुआ है। जबतक जीव को निर्वाणपद की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक यही दशा बराबर रहेगी। यह समझते हुए किसी प्राणी को किसी सम्बन्धी से वियोग होने पर शोक नहीं करना चाहिए—इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को पुण्य और पावन का वृत्तान्त सुनाया, जो इस प्रकार है :—

जम्बुद्वीप के किसी स्थान पर महेन्द्र नाम का एक पर्वत है।

वहाँ पर गङ्गा के तट पर दीर्घतपस् नाम का एक ब्राह्मण अपनी पत्नी सहित वास करता था। उसके दो बड़े योग्य और सुन्दर पुत्र थे, जिनके नाम पुण्य और पावन थे। पुण्य बड़ा और पावन छोटा था। दोनों ने अपने माता-पिता की शिक्षा के अनुसार तप और ब्रह्म-विचार करना आरम्भ कर दिया। पुण्य तो थोड़े ही काल में ज्ञानवान् हो गया और आत्मपद में स्थित रहने लगा; पावन को ज्ञानप्राप्ति नहीं हुई। इसी बीच में उनके पिता का शरीर छूट गया—माता ने भी उसी समय अपना शरीर छोड़ दिया। पुण्य तो जीवन्मुक्त हो चुका था। उसको अपने माता-पिता के मरने का कुछ शोक नहीं हुआ। उसने यथाविधि अपने माता-पिता के मृतक देहों का संस्कार किया और फिर अपने यथोचित कार्य में लग गया। पावन को माता-पिता के मरने का बहुत शोक हुआ, और वह रात दिन उनको याद कर करके रोने लगा। पुण्य को उसकी दशा पर बहुत करुणा आई। एक दिन उसने पावन को बुलाकर इस प्रकार समझाया :—

भाई पावन! तुम किस लिये इतना शोक करते हो। पिता-माता तो ज्ञानी थे—वे तो उस परमपद को प्राप्त हो गए जो सब जीवों का ध्येय है। तुमसे उनको अवश्य ही जुदा होना था—यह संसार का अटल नियम है जो कि तुम्हारे रोने-धोने से नहीं बदल सकता। इस शरीर का सम्बन्ध जीव से तभी तक है जब तक वह उसकी वासनाओं की सिद्धि करता है। जब वह जीव के काम का नहीं रहता तो जीव उसको फटे-पुराने वस्त्र की नाईं फेंक कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। तेरे जीवन के दीर्घ इतिहास में केवल वे ही तेरे माता पिता नहीं हुए। अनेक माता पिता और अनेक स्त्री-पुत्रों से तेरा नाता जुड़ चुका है, और उनसे बिछोह हो चुका है। उनको तू नहीं जानता, क्योंकि तेरी ज्ञान-दृष्टि संकुचित है। मैं तेरे पूर्व जन्मों को जानता हूँ। तू जब मृग योनि में था तो बहुत से मृग और मृगी तेरे बन्धु थे। उनका अब तू क्यों शोक नहीं करता? तू जब हंस योनि में था तो अपने हंस बन्धुओं से वियोग का शोक क्यों नहीं करता? तू वृक्ष योनि में रहा और वृक्ष तेरे बन्धु हुए। तू सिंह हुआ और सिंह जाति के तेरे अनेक बन्धु हुए। तू मत्स्य योनि में रहा, मत्स्य तेरे बन्धु हुए। दशार्णव देश में तू काक और वानर हुआ था; तुषार देश में तू राजपुत्र हुआ। पुण्ड्र देश में तू वनका काक हुआ।

हैहय देश में हाथी ; त्रिगर्त देश में गधा ; शल्व देश में कुत्ता ; साल के वन में पक्षी ; विन्ध्याचल में पीपल का वृक्ष, वट के वृक्ष में घुन ; मन्द्राचल में मुर्गा, कोशल देश में ब्राह्मण ; वङ्ग देश में तीतर ; तुषार देश में घोड़ा हो कर ; ताल की जड़ में कीड़ा, गूलर के वृक्ष में मच्छर ; विन्ध्याचल में बगुला ; हिमालय पर भोजपत्र की छाल में चींटी ; एक गाँव में गोबर के सूखे ढेर में बिच्छू ; एक समय चाण्डाली पुत्र—आदि अनेक योनियों में तुम पैदा हुए और उन योनियों में तुम्हारे अनेक माता-पिता और बन्धुजन हुए। ये सब योनियाँ तुमको तुम्हारे कर्म और वासनाओं के कारण मिलीं। मैं भी आज जो तुम्हारा बन्धु बना हुआ हूँ अनेक योनियों में जीवन बिता चुका हूँ। त्रिगर्त देश में मेंढक ; एक वन में छोटा सा पक्षी ; विन्ध्याचल में चाण्डाल ; बंग देश में वृक्ष ; विन्ध्याचल में ऊँट ; हिमालय में चातक ; पौण्ड्र देश में राजा ; एक वन में व्याघ्र ; दो वर्ष तक गीध ; पाँच मास तक ग्राह ; १०० वर्ष तक सिंह ; आँध्र देश में चकोर ; तुषार देश में राजा ; शैलाचार्य का पुत्र इत्यादि अनेक रूप में मैंने जन्म लिया है। इस योनि में मैं तुम्हारा भाई हूँ ; यह सम्बन्ध स्थायी नहीं है। इसलिये हे भाई माता-पिता का वियोग होने पर तुमको किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिए। जब इस प्रकार पुण्य ने पावन को चेतावनी दी तो पावन को बोध हुआ। अपने भाई पुण्य की नाईं वह भी जीवन्मुक्त होकर जीवन बिताने लगा।

२०—बलि की कथा

संसार के भोगों से चित्त को शान्ति नहीं मिलती। जिन भोगों को एक बार भोग लिया जाता है और यह भी अनुभव कर लिया जाता है कि जिस तृप्ति और आनन्दप्राप्ति की उनसे आशा की थी वह उनके द्वारा नहीं मिली मनुष्य फिर भी बार-बार उन्हीं की इच्छा करता रहता है। इससे अधिक और क्या मूर्खता हो सकती है ? यह विचार हृदय में आने पर राजा बलि को संसार से विरक्ति और उस विरक्ति के कारण उनको आत्मपद की प्राप्ति हुई थी। बलि की कथा इस प्रकार है :—

इस जगत् के नीचे पाताल लोक है। वहाँ पर किसी समय विरोचन का पुत्र राजा बलि राज्य करता था। वह महाप्रतापी राजा था। उसने अपने बाहुबल से देवताओं और दानवों को परास्त करके अपना साम्राज्य चारों ओर फैला लिया था। जब उसको राज्य

करते-करते बहुत वर्ष बीत गए तो एक दिन उसके मन में इस प्रकार का विचार उदय हुआ :—मैं चिरकाल से त्रिलोकी का राज्य भोग रहा हूँ, किन्तु कभी चित्त को शान्ति नहीं मिली। बार-बार वे ही भोग भोगता हूँ, लेकिन कभी इनसे परम तृप्ति नहीं हुई। दिन प्रति दिन वही काम करता रहता हूँ जिनको करने से आत्मा का कुछ भी कल्याण होता नहीं दीखता। सारा जीवन इन्हीं भोगों को भोगते हुए, व्यतीत हो गया, लेकिन हाथ कुछ न आया। सब जीवों की क्रियाएँ उन्मत्त की चेष्टाओं के तुल्य हैं। मेरे पिता विरोचन आत्मज्ञानी थे। वे कहा करते थे कि जीव को उस स्थिति को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, जिसमें परम आनन्द और परम तृप्ति स्वभावसिद्ध है, जिसका आनन्द रूप विषय भोगों के द्वारा प्राप्त सुखों से कहीं उत्तम है, और जिसको प्राप्त करने से विषयों के भोग की वासना नहीं रह जाती। जब वे ऐसी बातें कहा करते थे तब मुझे उनके समझने की शक्ति नहीं थी। लेकिन अब मुझे ज्ञात हो गया है कि जब तक उस पद की प्राप्ति नहीं होगी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। मैंने अच्छी तरह देख लिया है कि संसार के समस्त भोगों को अनन्त काल तक भोग कर लेने पर भी चित्त में शान्ति का अनुभव और परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। भोगों के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह क्षणिक और तुरन्त ही दुःख में परिणत होने वाला है।

इस प्रकार का विचार मन में उदय होने पर बलि अपने गुरु शुक्राचार्य के पास गए, और उनको प्रणाम करके उनसे उस परमपद की प्राप्ति का उपाय पूछा जिसका वर्णन उसके पिता विरोचन किया करते थे। शुक्र ने बलि से कहा :—मुझे इस समय बहुत कुछ कहने का अवकाश नहीं है, कार्यवश कहीं जाना है। केवल एक बात तुमको बतलाए देता हूँ, तुम उसका ही चिन्तन करते रहो। चिन्तन करते करते तुमको निर्विकल्प समाधि लग जायगी और परम आनन्द का अनुभव हो जायगा। वह बात यह है कि जो कुछ संसार में है तुम, मैं और जगत् के सब पदार्थ—वह सब एक ही अखण्ड, शुद्ध, निर्विकार चित् तत्त्व है। उसके अतिरिक्त संसार में और कुछ है ही नहीं। उस पद में अपने आपको विचार द्वारा स्थित करना और अपने आपको वही समझ लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है। यह कहकर शुक्र चले गए।

बलि ने घर आकर विचार करना आरम्भ किया और विचार करते करते उसको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि संसार में जो कुछ है वह सत् चित् तत्त्व ही है; इसके अतिरिक्त यहाँ पर कुछ भी नहीं है। ऐसा सोचते-सोचते उसको निर्विकल्प समाधि लग गई, और उस समाधि में उसको अनुपाधि और शुद्ध परमानन्द का अनुभव हुआ। वह आनन्द ऐसा था कि जिसके मुक़ाबले में उसके सारे जीवन के भोगों का सुख लेशमात्र भी नहीं था। बहुत दिनों तक समाधि में बैठा रहा तो राज्य के कामों में विघ्न पड़ने लगे। यह देख कर शुक्राचार्य वहाँपर आए और बलि को समाधि से जगा कर उसको अपने राज्य-कार्यों के देखने का उपदेश किया। बलि को जीवन्मुक्त पद की प्राप्ति हो चुकी थी, और वह आनन्द जिसका उनको समाधि में अनुभव हुआ था उनका सदा का स्वरूप हो गया था। उस आत्मस्वरूप में स्थित होकर बलि ने बहुत दिनों तक राज्य किया और शरीरान्त होने पर निर्वाण पद की प्राप्ति की।

२१—प्रह्लाद की कथा।

प्रह्लाद की कथा योगवासिष्ठ की सर्वश्रेष्ठ कथाओं में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को भक्ति के सच्चे और उत्तम स्वरूप और ज्ञानप्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधना का उपदेश दिया है। कथा इस प्रकार है:—

एक समय पाताल देश का राजा, जहाँ पर दानव लोग रहते थे, हिरण्यकशिपु था। उसने देवताओं से घोर संग्राम किया और उनको उससे इतना भय हुआ कि उन्होंने विष्णु भगवान् से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की। विष्णु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा उसे मार कर देवताओं को भय से मुक्त किया।

हिरण्यकशिपु के विष्णु भगवान् द्वारा मारे जाने पर उसके पुत्र प्रह्लाद को यह विचार हुआ कि विष्णु से वैर रखने से कोई लाभ नहीं है। वे तो इतने बलवान् हैं, कि उन्होंने उसके अत्यन्त बलशाली पिता को सहज ही में मार डाला। इसलिए ऐसे शक्तिशाली देव की भक्ति करने से जिस लाभ की संभावना है वह उनसे वैर करने पर प्राप्त नहीं हो सकता। यह सोचकर प्रह्लाद ने विष्णु भगवान् की भक्ति करनी आरम्भ कर दी।

प्रह्लाद अपने मन में विष्णु भगवान् की दिव्य मूर्ति को स्थापित

करके मानसिक साधनों द्वारा ही उनकी पूजा करने लगा। धीरे धीरे उसने अपने अन्दर से सब असुर वृत्तियों को निकाल कर अपने आपको विष्णु की कृपा योग्य, शुद्ध चित्त वाला, अनन्य भक्त बना लिया। विष्णु भगवान् के अतिरिक्त उसके मन में और कोई वस्तु नहीं आती थी। सदा ही वह उनके ध्यान में रहता था। इस प्रकार के अनन्य प्रेम के वशीभूत होकर विष्णु भगवान् प्रह्लाद के सामने प्रत्यक्ष रूप से आकर उपस्थित हुए और उससे मन चाहा वर माँगने को कहा। प्रह्लाद ने विष्णु भगवान् से यह प्रार्थना की कि उसको वह आत्मज्ञान प्राप्त हो जाय जिसको पाकर उसे उस पद की प्राप्ति हो, जिसमें परमानन्द और परम शान्ति का अनुभव होता है। विष्णु भगवान् ने प्रह्लाद से कहा—संसार के जितने उत्तम पदार्थ हैं वे मैं सब तुमको दे सकता हूँ, लेकिन आत्मज्ञान देना मेरी शक्ति से बाहर है। आत्मज्ञान किसी को किसी दूसरे से नहीं मिल सकता। गुरु और देवता केवल आत्मज्ञान का साधन ही बता सकते हैं, आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकते। आत्मज्ञान केवल स्वयं विचार करने से उदय होता है। इसलिये तुम भी अपने आप आत्म-विचार करना आरम्भ करो। शुद्ध चित्त और स्थिर बुद्धि द्वारा विचार करते-करते तुमको शीघ्र ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा—यह कह कर भगवान् विष्णु प्रह्लाद की दृष्टि से ओझल हो गए।

प्रह्लाद के मन में आत्मज्ञान प्राप्ति की बहुत तीव्र जिज्ञासा उदय हो गई। उसने विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या वस्तु है। विचार करते-करते वे पहिले तो इस निर्णय पर आए कि कोई भी दृश्य पदार्थ आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्मा तो सब दृश्य पदार्थों का साक्षी द्रष्टा है। किसी भी दृश्य पदार्थ को आत्मा समझना भूल है। इसलिए, इन्द्रियाँ, शरीर, प्राण, मन, बुद्धि आदि वस्तुएँ, जिन सब का ज्ञान आत्मा को होता है, कभी आत्मा नहीं हो सकतीं। आत्मा इन सब दृश्य पदार्थों से परे, इनसे सूक्ष्म, वह तत्त्व है जो स्वयं-संवेद्य है, और जिसका अनुभव हमको उस अवस्था में होता है जब कि हमारे ज्ञान का विषय कोई भी विषय न हो। प्रह्लाद ने उस अनुभव में स्थित होने का प्रयत्न किया। उस अवस्था में स्थित होकर उसको अलौकिक आनन्द और शान्ति का अनुभव होने लगा। ऐसा अभ्यास करते-करते निर्विकल्प समाधि लग गई।

प्रह्लाद को समाधि में बैठे-बैठे बहुत काल व्यतीत हो गया। राज्य में हलचल मच गई। चारों ओर अत्याचार होने लगे। न कोई व्यवस्था रही, और न कहीं न्याय रहा। पाताल लोक की प्रजा निरंकुश होकर दूसरे लोकों के निवासियों पर अत्याचार करने लगी। देवताओं और दानवों में युद्ध भी अब अनियमित रूप से होने लगा। यह दशा देखकर विष्णु भगवान् अपने लोक से पाताल लोक में गए और प्रह्लाद को उन्होंने निर्विकल्प समाधि से जगाकर यह उपदेश दिया :—

प्रह्लाद ! जिस आनन्द और शान्ति का अनुभव तुम निर्विकल्प समाधि में कर रहे हो वही शान्ति और आनन्द सच्चे आत्मज्ञानी को संसार में अपने स्थानोचित धर्म्मों का पालन करते हुए अनुभव में आते हैं। आत्मानुभव नष्ट या तबदील होनेवाली वस्तु नहीं है। न वह किसी अवस्था विशेष का ही नाम है। जिसको एक बार आत्मदर्शन हो गया है वह सदा ही उस पद पर स्थित रहता है जो पूर्ण है, शान्त है, अनन्त है और अखण्ड है। विषय, देह, इन्द्रियां, मन आदि सब ही आत्मतत्व के नाना नाम और रूप हैं। जगत् में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो आत्मा से अतिरिक्त हो। यह सारा जगत् आत्मा का ही प्रकाश है, और आत्मा के भीतर है, इसमें अनात्म कुछ भी नहीं है। इसलिये ज्ञानी पुरुष को संसार को छोड़कर कहीं भागना नहीं चाहिए। संसार में ही रहते हुए, जीवन्मुक्त बनकर, अपने धर्मों का, जो कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से सम्बद्ध हैं, पालन करते रहना चाहिए। जो जीवन्मुक्त अपने शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि द्वारा उनके करने योग्य कर्मों को होने देता है, उसका जीवन ही सुन्दर जीवन होता है। निर्विकल्प समाधि द्वारा प्राप्त स्थिति में ही नित्य स्थित रहते हुए, संसार में रहने और अपने स्थानोचित धर्मों का पालन करते रहने का ही नाम जीवन्मुक्ति है। इसलिये हे प्रह्लाद ! अपने राज्य के कामों को देखो, और राजोचित धर्मों का पालन करो।

प्रह्लाद की समझ में विष्णु भगवान् की बात आ गई। उन्होंने जीवन्मुक्त होकर बहुत समय तक दैत्यलोक का राज्य किया और शरीरान्त होने पर निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

२२—गाधी की कथा

गाधी की कथा योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है।

इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को माया के स्वरूप का उपदेश किया है। इस उपाख्यान का वही तात्पर्य है जो कि इन्द्रजाली के उपाख्यान का था—जो घटनाएँ बाह्य जगत् में बरसों में होती हैं वे ही मन के भीतर उसी रूप से एक क्षण में घटित हो सकती हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसकी रचना मन के भीतर न हो सकती हो। कथा इस प्रकार है :—

कोशल देश में एक बहुत शुद्ध आचार और विचार वाला गाधी नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके मन में एक समय भगवान् की माया का दर्शन करने की इच्छा हुई। अतएव उसने विष्णु भगवान् की भक्ति करना आरम्भ कर दिया। उनके ध्यान के सिवाय उसके मन में और कुछ न आता था। भगवान् प्रसन्न हुए और गाधी के सामने प्रकट होकर उससे बोले कि जो चाहो वर माँगो। गाधी ने कहा, भगवन्! मैं माया का स्वरूप देखना चाहता हूँ। भगवान् यह कहकर कि किसी समय ऐसा ही होगा, अन्तर्धान हो गए।

कुछ दिन पीछे गाधी गङ्गास्नान को गया। कपड़े निकाल कर गङ्गा तट पर रख दिए और जल में प्रवेश करके एक गोता लगाया। गोता लगते ही उसको एक विचित्र स्थिति का अनुभव हुआ जो इस प्रकार की थी :—

गाधी अपने घर पर है। बीमार है, और बीमारी इतनी बढ़ी कि वह मर रहा है। मरने की अवस्था का उसको अनुभव हो रहा है। उसको मृत शरीर को छोड़ कर लोकान्तरों में जाने का अनुभव होता है, और वहाँ पर अपने जीवन की उत्कट और अपूर्ण वासनाओं के अनुसार उसको भोग और दण्ड मिल रहे हैं। इसके पीछे वह फिर इस लोक में आता है, और एक चाण्डाली के गर्भ में प्रवेश करता है। समय पूरा होने पर वह चाण्डाल-शिशु होकर उत्पन्न होता है, बड़ा होता है और एक चाण्डाल-कन्या से जो कि ऐसी ही कुरूपा है जैसा कि वह स्वयं है, विवाह कर लेता है। उसके साथ गृहस्थी का सुख भोगता है, और चाण्डाल-वृत्ति द्वारा धनोपार्जन करके अपना निर्वाह करता है। उसकी पत्नी द्वारा उसके घर में कई पुत्र और कन्याएँ उत्पन्न होकर बड़ी होती हैं। वह स्वयं वृद्ध हो जाता है। एक समय उस किरात देश में, जहाँ पर कि वह चाण्डाल रहता है, बहुत [illegible] [illegible] है। अन्न न होने के कारण उसके कई लड़के और लड़कियाँ

मर जाती हैं। पत्नी का भी देहान्त हो जाता है। वह बहुत रोता है और शोकातुर होकर अपना पेट पालने के वास्ते दूसरे देश को चला जाता है। रास्ते में उसको अचानक ही एक हाथी अपनी सूँड़ में उठाकर अपनी पीठ पर बैठा लेता है। यह हाथी एक राज्य का हाथी है जो कि उस राज्य के राजा की मृत्यु हो जाने पर इसलिये छोड़ा गया है कि जिसे वह उठा लेगा वही राजा बनाया जाएगा। हाथी के पीछे-पीछे राज्य के मंत्री और अन्य कर्मचारी हैं। उन्होंने उस चाण्डाल को प्रणाम किया और हाथी पर से उतारकर उसको स्नान कराया और नृपोचित शृङ्गार कराकर अपने राज्य स्थान पर ले जाकर गद्दी पर बैठा दिया। अब वह चाण्डाल राजा होकर सब प्रकार के भोगों का उपभोग करने लगा। उसके राज्य में किसी बात की कमी नहीं है। धन-धान्य अतुल है। अन्तःपुर में एक से एक उत्तम और सुन्दर स्त्री उसकी सेवा के लिये मौजूद हैं। पूरे आठ वर्ष उसने सब प्रकार के सुख भोगे और बड़ी अच्छी तरह से राज्य किया। दुर्भाग्यवश एक दिन वहाँ पर उसके यौवन के मित्र और सङ्गी कुछ चाण्डाल आ निकले। उनके सामने से राजा साहब की सवारी निकली तो उन चाण्डालों ने अपने पुराने मित्र कटञ्ज चाण्डाल को राजा के रूप में देखकर पहचान लिया और वे प्रसन्न होकर चिल्लाए और उससे मिलने के लिये दौड़े। सिपाहियों के रोकने पर भी न रुके, क्योंकि जिनका मित्र राजा हो उन्हें सिपाहियों का क्या डर। यह रहस्य प्रजा को मालूम हो जाता है और सारे नगर में इस बात की खबर फैल जाती है कि वहाँ का राजा चाण्डाल है। रानियों को और नगर के द्विजों को इस खबर के पाते ही इतना दुःख और पश्चात्ताप हुआ कि नगर के लोगों ने प्रायश्चित करने के लिये एक स्थान पर बहु विस्तृत अग्निकुण्ड बनाकर अग्नि में प्रवेश किया। राजा को यह सब दृश्य असह्य हो गया और उसने भी उसी अग्निकुण्ड में प्रवेश कर लिया। जब उसका शरीर अग्नि से जलने लगा तो वह अचेत हो गया। जब उसे चेतना आती है तो वह अपने आपको गाधी के रूप में गंगा में गोता लगाकर ऊपर को सर उठाता हुआ पाता है। उसकी बुद्धि में ही नहीं आता कि क्या मामला है। तट की ओर जो देखा तो उसके कपड़े वहाँ पर मौजूद हैं, और चारों ओर की स्थिति पर गौर करने से यही मालूम हुआ कि उसने यह सब अनुभव उतने ही समय में कर लिया जितना कि उसको गंगा में एक गोता लगाने में हुआ था।

कुछ दिन पीछे उसके घर पर एक मुसाफ़िर अतिथि होकर आता है। रात को उसको भोजन कराकर और आराम के लिये योग्य आसन देकर गाधी ने उस यात्री से अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाने की प्रार्थना की। यात्री ने कहा—हे ब्राह्मण, मैंने बहुत देश में भ्रमण किया है पर एक देश में मैंने इतना हृदय-विदारक दृश्य देखा है कि उसका ध्यान करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोना आता है। यहाँ से बहुत दूर उत्तर दिशा में एक देश है। वहाँ सारी द्विज-प्रजा और सारी रानियाँ इस कारण अग्नि में प्रवेश कर गईं कि उनको आठ वर्ष तक अज्ञाततया एक चाण्डाल के राज्य में जीवन बिताना पड़ा। चाण्डाल राजा भी दुःखी होकर उसी अग्नि में प्रविष्ट होकर नष्ट हो गया। वह दृश्य मैंने इन्हीं आँखों से देखा है। वहाँ से मैं प्रयाग गया और त्रिवेणी में स्नान करके सीधा यहाँ आ रहा हूँ।

गाधी को यह बात सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उस घटना-स्थान को देखने की प्रबल इच्छा हुई। यात्री को साथ लेकर वे उस राज्य में गए और वहाँ सब बातें उसी प्रकार पाईं जैसे कि उन्होंने अनुभव की थीं। फिर वे किरात देश में गए और वे सब बातें देखीं जो उन्होंने अपने चाण्डाल जीवन में अनुभव की थीं।

इन सब बातों पर विचार करने से उसे ज्ञान हुआ यही माया का स्वरूप है।

२३—उद्दालक की कथा

मनुष्य को शान्ति और आनन्द का अनुभव तभी हो सकता है जब कि वह अपने आपको सत्ता-सामान्य में स्थित कर लेता है। जब तक मनुष्य विकारवान् नाना पदार्थों में अपना अहंभाव रखता है तब तक उसे शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषय पर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को उद्दालक मुनि का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

गन्धमादन पर्वत पर उद्दालक नाम का एक युवा मुनि वास करता था। एक समय उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अभी तक उसको शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं हुआ; उसके लिये प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य यही है। इन्द्रियों के भोग भोगने से मनुष्य को कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मनुष्य को तो वह वस्तु प्राप्त करनी चाहिए जिससे आत्म

कर लेने पर और कुछ प्राप्त करना ही नहीं रहता। मनुष्य का ध्येय तो वह स्थिति है जिसमें अनन्त आनन्द और परम शान्ति का अनुभव हो, और दुःख, शोक और मोह का लेश भी न हो।

यह सोच कर उद्दालक ने निष्काम तप करना आरम्भ किया। कुछ दिन तक तप करने और यम और नियम में स्थित रहने से उसका मन शुद्ध और विवेकवान् हो गया। अब उसने मन को सम्बोधित करके यह पूछना आरम्भ किया :—हे मन ! तू यह बता कि विषयों के पीछे दौड़ने में तुझे क्या सुख मिलता है। यदि तू विचार करके देखे, तो तुझको यह स्पष्ट हो जायगा कि विषयों द्वारा सुख की आशा करना ऐसा ही है जैसा कि किसी प्यासे मनुष्य का मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ना। जिन विषयों को तू सुखदाई समझ कर उनके पीछे दौड़ता है वे सब दुखदाई ही सिद्ध होते हैं। किसी विषय को प्राप्त कर लेने पर ऐसी तृप्ति नहीं होती कि फिर और किसी विषय की इच्छा न हो। जिस विषय को तू प्राप्त कर लेता है, उसीसे तुझे थोड़े ही काल पीछे घृणा हो जाती है । यदि वह विषय सुखदाई होता तो उससे घृणा क्यों होती ? अतएव किसी विषय को सुखदाई समझना तेरा भ्रम है। इसलिए विषयों के लिए वासना छोड़ कर उस आत्म-पद में स्थित होने का प्रयत्न कर, जिसमें स्थित हो जाने पर अतुल, अपार और अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार के विचारों द्वारा जब उसका मन शान्त हुआ तो उद्दालक ने आत्म-विचार आरम्भ किया और अपने से यह प्रश्न पूछा कि मैं क्या हूँ ? क्या मैं इन्द्रियों के विषय हूँ ? नहीं। क्योंकि मेरा आत्म-भाव तो सदा एक रूप है, स्थिर है, और प्रकाश रूप है। विषय नाना हैं, विकारवान् हैं, और जड़ हैं। इन्द्रियाँ भी मेरा आत्मस्वरूप नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ भी नाना हैं, विकारवान् हैं, और मेरे ज्ञान का विषय हैं। ज्ञाता और ज्ञान के विषय कैसे एक हो सकते हैं ? ज्ञाता तो विषय से सदा ही भिन्न होगा। शरीर भी मैं नहीं हूँ क्योंकि वह भी मेरे ज्ञान का विषय है। मैं इसको अपना कहता हूँ, यह विकारवान् है, और उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होता है। आत्मा में न तो विकार है, और न उत्पत्ति और नाश हैं। आत्मा किसी दूसरे ज्ञान का विषय भी नहीं है। स्व-संवेद्य है। आत्मा के अनुभव में कभी भी विच्छेद नहीं होता; शरीर का अनुभव तो सुषुप्ति अवस्था में होता ही नहीं। क्या मैं

कर हूँ ? यह भी कहना ठीक नहीं है। मन भी आत्मा का विषय है, विकारवान् है, और मन का अनुभव भी अविच्छिन्न रूप से नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था में मन का अनुभव नहीं रहता किन्तु आत्मा का अनुभव तो सब अवस्थाओं में होता रहता है। इन सब विचारों से यह निश्चय हुआ कि विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन आदि जितने पदार्थ हैं कदापि आत्मा नहीं हो सकते। आत्मा इन सब का द्रष्टा, इन सबसे अधिक स्थायी और स्वयं प्रकाश तत्व है। उसका न कोई आदि है और न अन्त। वह सदा ही अपनी सत्ता में स्थित है। उसका अनुभव तभी हो सकता है जब कि सब विषयों से आत्म-भाव हटा कर आत्मसत्ता में अपने आप को स्थित कर लिया जाए।

यह सोचकर उद्दालक ने योग द्वारा मन का निरोध करना आरम्भ किया। प्राणायाम द्वारा प्राणों का निरोध करके उसने कुण्डलिनी शक्ति को जागृत किया, और उसको ब्रह्म-स्थान पर ले जाकर ब्रह्म में स्थित किया। ऐसा करने से उसको निर्विकल्प समाधि लग गई। इस स्थिति में उसने परम शान्ति और परम आनन्द का अनुभव किया।

कुछ काल पीछे निर्विकल्प समाधि टूटी और वह जाग्रत अवस्था में आया। अब उसकी दृष्टि दूसरी ही हो गई। उसके चित्त में वही शान्ति और वही आनन्द था जो कि उसने समाधि की अवस्था में अनुभव किया था। अब उसको जागृत अवस्था में भी आत्म-भाव का अनुभव होता था और उसकी स्थिति उस सत्ता-सामान्य में थी जो कि सदा और सर्वत्र एक रूप में स्थित है, जो सब ही वस्तुओं का परम स्वरूप है और जिसमें आनन्द और शान्ति अविच्छिन्न रूप से वर्तमान हैं। इस अवस्था को चारो अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि—से परे की अवस्था, अर्थात् तुर्यातीत अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में स्थित हो जाने पर मनुष्य को और किसी स्थिति के प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती। उद्दालक ने इस प्रकार अपने को सत्ता-सामान्य में, जो कि चारो अवस्थाओं का आधार है, स्थित करके जीवन्मुक्त रूप से अपना शेष जीवन बिताया।

२४—सुरघु की कथा

उद्दालक मुनिकी नाईं किरातराज सुरघु ने भी अपने विचार द्वारा परम शान्ति का अनुभव किया था। उसकी कथा इस प्रकार है—

हिमालय पर्वतों में कैलाश के पास एक देश था जहाँ पर हेमजटा (सोने जैसे बालोंवाली) नामक एक जङ्गली जाति रहती थी। उस जाति के लोग किरात भी कहलाते थे। उन किरातों के राजा का नाम सुरघु था। सुरघु महा प्रतापी और बुद्धिमान् राजा था। वह बहुत न्यायपूर्वक राज्य करता था। एक समय उसको इस प्रकार की वेदना हुई कि राज्य के कार्य न्यायपूर्वक करने से भी उसके हाथों से बहुत से लोगों (अपराधियों) को दुःख पहुँचता है, और इस दुःख को देख कर उसका चित्त बहुत ही अनुदुखित होता है। यदि इस दुःख से बचने के लिए वह राज्य छोड़ दे तो उसकी प्रजा अराजकता के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। यदि न्याय न किया जाए तो भी दुराचारी लोगों के हाथ से सज्जनों को कष्ट पहुँचेगा। इस प्रकार के असमञ्जस में पड़कर राजा सुरघु बहुत दुःखित हुए।

इस अवसर पर माण्डव्य नामक मुनि उधर को आ निकले। सुरघु ने मुनि को प्रणाम करके उनसे अपनी मनोवेदना की चिकित्सा पूछी। माण्डव्य मुनि ने कहा—हे राजन्! तुम्हारी यह वेदना तब तक शान्त नहीं होगी जब तक तुम आत्मज्ञानी होकर निष्काम भाव से राज्य नहीं करोगे। सांसारिक आधि और व्याधि मनुष्य को उस समय तक कष्ट देती है जब तक कि वह जीवन्मुक्त नहीं होता। जीवन्मुक्त हो जाने पर मनुष्य हर स्थिति में आनन्द और शान्ति का अनुभव करता है।

यह कह कर माण्डव्य मुनि अपने स्थान पर चले गये, और सुरघु ने यह विचार करना आरम्भ किया कि आत्मा क्या है। विचार करते-करते वह इस निश्चय पर पहुँचे कि शरीर, इन्द्रिय और मन आदि में से कोई भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब आत्मा के विषय हैं, विकारवान् हैं और सदा अनुभव में आने वाले नहीं हैं। आत्मा का अनुभव सदा अविच्छिन्न रूप से एकरस रहने वाला है। आत्मा का अभाव कोई भी कभी अनुभव नहीं करता, लेकिन इन सब वस्तुओं के अभाव का कभी न कभी अनुभव होता ही रहता है। इसलिये सदा स्व संवेद्य आत्मा का कभी कभी अनुभव में आने वाले विषय-शरीर, इन्द्रियाँ और मन के साथ अहंभाव होना भ्रममात्र है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि तो परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं; किन्तु आत्मा, जो कि चिन्मात्र है, अनन्त और सर्वव्यापक है। कोई वस्तु, देश काल

और लोक-लोकान्तर ऐसा नहीं है जो आत्मा से बाहर हो। आत्मा सब में है और सब पदार्थ आत्मा में हैं। सब वस्तुएँ आत्मा का प्रकाश हैं। इस प्रकार सोचते २ सुरघु को आत्मानुभव होने लगा। उसको सब राज्यकार्य करते रहने पर भी आनन्द और शान्ति का भान होने लगा, और सब स्थितियों में समान रहने का अभ्यास हो गया। वह जो कुछ भी करता था, निष्काम भाव से अपना धर्म समझ के करता था। हानि और लाभ, यश और अपयश, मोह और शोक उसको किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं करते थे। राज्य के सब कार्य यथास्थिति और आवश्यकतानुसार करते रहने पर भी उसके चित्त में पूर्ण शान्ति रहती थी।

एक समय उसके यहाँ उसका मित्र परिघ नामक एक पारसी राजा भ्रमण करता हुआ आ पहुँचा। पारसी नरेश परिघ भी आत्मज्ञानी था। दोनों मित्रों में बड़े प्रेम से आत्म-चर्चा हुई। सबसे उत्तम बात जो सुरघु ने परिघ से कही वह थी समाधि का स्वरूप। राजा परिघ ने सुरघु से पूछा कि क्या आप को कभी समाधि का अनुभव हुआ है। सुरघु ने उत्तर दिया कि कभी क्या उसको हर समय ही समाधि का अनुभव होता है। आत्मज्ञानी जन तो संसार के सब कार्य करते रहने पर भी समाधि में ही रहते हैं, क्योंकि उनकी स्थिति सदा ही आत्मपद में है। उनको सारा जगत् आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है, जगत् की कोई घटना उनको आत्मपद से च्युत नहीं कर सकती। सारा जगत उनको आत्मा का ही प्रकाश जान पड़ता है। कोई वस्तु ऐसी नहीं दिखाई पड़ती जो हेय अथवा उपादेय हो। वे जगत् में रहकर सब काम करते हुए भी आत्मपद पर स्थित रहते हैं। यह ही सर्वोत्तम समाधि है। अज्ञानी का मन किसी अवस्था में भी शान्त नहीं होता, ज्ञानी का मन सदा ही और सब प्रकार के कामों में लगे रहने पर भी शान्त और समाहित रहता है। निष्काम कर्म करने, शोक और मोह से रहित रह कर संसार में विचरने और आत्मदृष्टि से सब वस्तुओं को देखने का नाम समाधि है। अतः ज्ञानी सदा ही समाहित रहता है।

२५--भास और विलास का संवाद

जीव का परम उद्देश्य, जीवन का अन्तिम प्राप्य स्थान, मनुष्य का सर्वोत्तम ध्येय, आत्मानुभव-स्वरूप परमानन्दमय मुक्ति है। उसको

जानता हुआ भी प्रत्येक जीव उसी की तलाश में है। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार-समुद्र में गोते खाने पड़ते हैं। अज्ञान-वश जीव अनात्म पदार्थों को आत्मा समझता है, जहाँ आनन्द नहीं है वहाँ पर आनन्द की कल्पना करता है, और यह समझता रहता है कि अमुक वस्तु की प्राप्ति से उसे परमानन्द की प्राप्ति हो जाएगी, किन्तु उस वस्तु के प्राप्त कर लेने पर ही उसे यह मालूम हो जाता है कि ऐसा समझना उसकी भ्रान्ति थी। क्षण भर पीछे ही उसकी फिर वही दशा होती है—किसी दूसरी अप्राप्य वस्तु की ओर उसका मन दौड़ जाता है और वह उसको प्राप्त करने में अग्रसर हो जाता है। प्राप्त हो जाने पर फिर उसे यही मालूम होता है कि उसका विचार ठीक नहीं था। जब तक उसको परमानन्द के यथार्थ स्वरूप का पता नहीं लग जाता और वह उसका अनुभव नहीं कर लेता, तब तक इस प्रकार की भ्रान्तियाँ बराबर होती रहती हैं। इस भ्रान्तिमय जीवन में कभी चैन नहीं मिलती—सदा ही अशान्ति रहती है। इस सम्बन्ध में वसिष्ठ-जी ने रामचन्द्रजी को भास और विलास का उपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है।

सह्याचल पर्वत पर अत्रि मुनि के आश्रम के समीप दो मुनि रहते थे। उनके दो पुत्र भास और विलास नामक थे। उनमें एक दूसरे के प्रति घनिष्ठ प्रेम था। एक दूसरे से कभी भी जुदा नहीं होता था। दोनों का रहना, खाना, पीना और सोना एक साथ होता था। इस प्रकार रहते रहते उन दोनों के माता पिताओं की मृत्यु हो गई। दोनों ने मिलकर मृतक-संस्कार किया। कुछ समय के पीछे दोनों देश-देशान्तर में घूमने के लिए निकले। दोनों भिन्न दिशाओं में गए और संसार में खूब घूमे, और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किये। कुछ काल पीछे वे अकस्मात् एक ही स्थान पर आ मिले। एक दूसरे को देखकर उनको बहुत ही आनन्द हुआ। विलास ने भास से पूछा—भाई भास, आज आप बहुत दिन में मिले हो। आप को देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है। कहो इतने दिनों तक कुशल से तो रहे? भास ने उत्तर दिया—भाई विलास! इस संसार में कौन कुशल से है? सदा ही किसी न किसी प्रकार का दुःख लगा रहता है। जब तक मनुष्य को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक पर-मानन्द की प्राप्ति नहीं होती तब तक कुशल कहाँ? जब तक मनुष्य

इन्द्रियों के विषयों के पीछे सुख की तलाश में दौड़ता रहता है, तब तक कुशल कहाँ ? जब तक मन में विषयों के सुखों की वासना रहती है तब तक कुशल कैसी ? जब तक बुद्धि सांसारिक रहती और आत्म-विचार नहीं करती तब तक कुशल कहाँ ? जब तक मनुष्य जीवन्मुक्त होकर नहीं विचरता तब तक कुशल कैसी ? जब तक मनुष्य संसार में निष्काम भाव से अपनी स्थिति-अनुसार धर्म का पालन नहीं करता तब तक कुशल कैसी ? जब तक अहंभाव है तब तक कुशल कैसे हो सकती है ? जब तक जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक कुशल कैसी ? भास को विलास की बात ठीक जान पड़ी और दोनों भाइयों ने मिलकर आत्म-विचार करना आरम्भ किया।

२६—वीतहव्य का वृत्तान्त

स्वयं विचार करने से चित्त किस प्रकार शान्त हो जाता है यह बात वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को वीतहव्य की कथा द्वारा समझाई जो इस प्रकार है :—

विन्ध्याचल की कन्दरा में वीतहव्य नामक एक तपस्वी रहता था। उसके मन में सांसारिक विषय-भोगों की बड़ी तीव्र कामना थी इसलिये उसने नाना प्रकार के काम्य कर्म किए और उनके फल भोगे, किन्तु उसके मन में किसी प्रकार तृप्ति न हुई। हमेशा ही किसी न किसी विषय के भोग करने की वासना उसके मन में रहती थी। अपनी इस स्थिति पर विचार करने पर उसे बहुत विषाद हुआ। उसने यह निश्चय किया कि पूर्ण तृप्ति और शान्ति प्राप्त करने का उपाय केवल निर्विकल्प समाधि का अनुभव कर लेना है। यह अनुभव प्राप्त करने के लिये उसने एक पत्तों की कुटी बनाई और उसके भीतर पद्मासन लगाकर बैठ गया, और इस प्रकार विचार करने लगा :—

मैं विषयों के पीछे क्यों दौड़ता हूँ ? इसलिये कि मैं समझता हूँ कि अमुक विषय का भोग करने पर मुझे बहुत आनन्द मिलेगा। अनेक प्रयत्न करने पर जब किसी प्रकार वह विषय प्राप्त हो जाता है और उसको भोग किया जाता है तो थोड़े ही काल पीछे यह अनुभव होने लगता है कि हमारा यह ख्याल गलत था कि उस विषय का भोग कर लेने पर हमको परम आनन्द का अनुभव और परम तृप्ति की प्राप्ति होगी। थोड़े ही समय पीछे हमको

उस विषय से घृणा होने लगती है और हम उसका त्याग करना चाहने लगते हैं। यदि इस समय वह विषय हमसे दूर नहीं होता तो उसका सामीप्य ही हमको दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जो विषय कुछ काल पहले हमको परम आनन्द का उद्गम दिखाई पड़ता था और जिसको प्राप्त कर लेना हम अपने जीवन का ध्येय और सौभाग्य समझते थे, वही विषय प्राप्त हो जाने पर और भोग लेने पर आनन्द रहित और दुखदायी प्रतीत होने लगता है। इस अनुभव से यह साफ़ जाहिर है कि कोई भी विषय स्वयं आनन्द अथवा दुःख गुणवाला नहीं है, ऐसा समझना हमारा भ्रम है। किसी विषय में यदि आनन्द होता तो उसके भोग करने पर अथवा प्राप्त कर लेने पर हमको सदा ही आनन्द-का अनुभव हुआ करता। किन्तु ऐसा कहीं पर भी देखने में नहीं आता। देखने में तो यह आता है कि जो जो भोग जिस मनुष्य को प्रचुरता से प्राप्त हैं उनमें उसे कोई आनन्द महसूस नहीं होता। वह सदा ही उन विषयों के लिये तरसता रहता है कि जो दूसरों को प्राप्त हैं और उसके पास नहीं हैं। दूसरे लोग उन वस्तुओं को आनन्द-दायक समझते रहते हैं कि जो उसको सुलभतया प्राप्त हैं, किन्तु दूसरों के पास नहीं हैं। इसी भ्रम में पड़कर सब जीव संसार-समुद्र में गोते खा रहे हैं। आज यह प्राप्त करना है, कल को इससे घृणा है; कल को वह प्राप्त करना है, परसों उससे पीछा छुड़ाना है। आखिर इस वृथा उद्योग से मिलता ही क्या है? मनुष्य को इस अनुभव से अपने विचार द्वारा यही सीखना चाहिए कि आनन्द प्राप्ति के लिये विषयों के पीछे दौड़ना भूल है। आनन्द किसी विषय के भोग द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा विचार करने पर वीतहव्य के मन में विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई। अब उसका मन किसी विषय की ओर नहीं दौड़ता था। यह स्थिति हो जाने पर उसने इन्द्रियों की ओर ध्यान दिया और विचार करना आरम्भ किया कि इन्द्रियों को आत्मा समझना और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझना, मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। सब इन्द्रियाँ मन और प्राण के साथ सम्बद्ध हुए बिना निष्क्रिय और जड़ हैं। मन यदि इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होकर उनके विषय का भोग नहीं करता तो कोई भी इन्द्रिय

किसी भी विषय का ज्ञान और भोग नहीं प्राप्त कर सकती। ऐसे ही इन्द्रियों की सारी क्रियाएँ प्राण के आधार पर हैं। यदि किसी इन्द्रिय का प्राण-शक्ति के साथ सम्बन्ध न रहे तो उस इन्द्रिय द्वारा कोई क्रिया नहीं हो सकती। मन और प्राण ही इन्द्रियों को चेतना और क्रिया प्रदान करते हैं। स्वयं इन्द्रियां कुछ नहीं कर सकतीं। वे जड़ और अशक्त हैं किन्तु मनुष्य भूल से उनको अपना आत्मा मान बैठता है और उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताएँ समझने लगता है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को इन्द्रियों से छुट्टी मिली। अब वह इन्द्रियों और उनके विषयों के वश में न रहा। उसने अपने आत्मभाव को इनसे ऊँचे उठाकर आगे विचारना आरम्भ किया।

मन और प्राण भी कदापि आत्मा नहीं हो सकते। मन तो चञ्चल है और प्राण जड़ है, किन्तु आत्मभाव तो सदा ही स्थिर और स्वयं-प्रकाश मालूम पड़ता है। क्या कभी ऐसा हुआ है कि आत्मा के अनुभव में किसी प्रकार का भी विकार मालूम पड़े? जितना विकार है वह सब आत्मा के विषयों में ही होता है। आत्मा जो सब विषयों का साक्षी है सदा ही एक रूप और निर्विकार प्रतीत होता है। यदि वह मन होता तो मन का उसको ज्ञान न होता और उसको यह भी न मालूम पड़ता कि मन विकारवान् और चञ्चल है। विकारों का ज्ञान तभी हो सकता है जब कि कोई निर्विकार द्रष्टा उनका निरीक्षण करता हो। प्राण जड़ है। वह न अपने आप का अनुभव करता है और न किसी दूसरे विषय का। आत्मा को प्राण का अनुभव होता है और प्राण की शक्ति भी आत्मा के अधीन है। इस प्रकार विचार करने पर वीतहव्य को यह अनुभव होने लगा कि मन और प्राण से परे और इनका द्रष्टा तथा संचालक आत्मतत्त्व है; इसमें ही स्थित होना ठीक है। बुद्धि भी, जो कि मन से कुछ अधिक स्थिर जान पड़ती है, आत्मा नहीं हो सकती क्योंकि बुद्धि में भी विकार होते हैं और आत्मा को बुद्धि का ज्ञान होता है। मन और बुद्धि दोनों ही गहरी निद्रा में शान्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मा का अनुभव वहाँ पर भी होता है। इसलिये आत्मा बुद्धि से अधिक स्थायी, बुद्धि का द्रष्टा, और गहनतम तत्त्व है। उसमें स्थिति प्राप्त कर लेने पर ही शान्ति का अनुभव हो सकता है।

इस प्रकार विचार करते करते और आत्मतत्त्व का ध्यान करते

करते वीतहव्य को समाधि लग गई। उसकी बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय और शरीर सभी स्थिर हो गए और वह इस स्थिति में बहुत काल तक शिलावत् बैठा रहा। समाधि खुलने पर जब उसकी चेतना जाग्रत् अवस्था में लौटी तो उसको यह मालूम हुआ कि उसके शरीर के ऊपर एक बड़ी भारी बाँबी रची गई है और उसके शरीर और इन्द्रियों में इतनी जड़ता आ गई है कि वह उसको तनिक भी नहीं चला सकता। तब उसकी चेतना भीतर को लौटी और उसने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा अपने पूर्व जीवन और लोकों का अनुभव किया। १०० वर्ष तक कैलाश पर्वत पर एक तपस्वी, १०० वर्ष तक एक विद्याधर, पञ्चयुगों तक इन्द्र और फिर बहुत काल तक गणेश रहा था।

वीतहव्य ने अब यह सोचा कि उसका जड़ और मिट्टी से ढका हुआ शरीर चेतन होकर मिट्टी से स्वतन्त्र हो जाए। इसलिये उसने अपने सूक्ष्म शरीर को सूर्यमण्डल में भेजा और वहाँ से पिङ्गला नामक सूर्य की कला को साथ लाकर उसके द्वारा मिट्टी साफ कराई, और शरीर और इन्द्रियों में पुनः चेतनता और संचलन की उत्पत्ति कराई। अब उसका शरीर पूर्व की नाईं स्वस्थ और चेतन हो गया। जो अनुभव उसने निर्विकल्प समाधि में प्राप्त किया था उसमें अपनी स्थिति करके जाग्रत् अवस्था में ही आत्मभाव से रहने लगा। अब उसका जीवन एक जीवन्मुक्त का जीवन था। न कुछ उसके लिये उपादेय था और न हेय। न किसी वस्तु के प्रति उसको राग था, न घृणा। इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियोचित और शरीर और मन द्वारा शरीर और मन के करने योग्य कर्म वह शान्त रहकर करता था। उसको हर वक्त परमानन्द का अनुभव होता रहता था। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में बहुत समय तक रहकर वीतहव्य के मन में विदेह-मुक्ति की कैवल्य अवस्था में प्रवेश करने का विचार हुआ। यह सोचकर उसने विचार करना आरम्भ किया। अपने संसार और जीवन की एक-एक वस्तु को सम्बोधन करके उसने उनको विदा किया और अपने आपको सबसे निर्मुक्त करके परम शान्त, सत्तासामान्य, तुर्यातीत निर्वाण स्थिति में स्थित करके सदा के लिये शान्त हो गया।

२७—काकभुशुण्ड की कथा

संसार से मुक्त होने के उपाय का नाम योग है। वह दो प्रकार का

है। एक चित्तोपशम और दूसरा प्राणनिरोध। प्राणनिरोध द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है। और चित्त के शान्त होने पर प्राण का निरोध हो जाता है। चित्तोपशम होने पर आत्मानुभव का उदय हो जाता है। कुछ लोग प्राणनिरोध के मार्ग पर चलकर आत्मानुभव प्राप्त करते और कुछ मनोनिरोध के मार्ग पर। पहिले साधकों को योगी और दूसरों को ज्ञानी कहते हैं। योगियों का वर्णन करते हुए, वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को महायोगी काकभुशुण्डजी की कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

वसिष्ठजी ने कहा—एक समय मैं सूक्ष्म शरीर द्वारा इन्द्र की सभा में गया। वहाँ पर बड़े २ ऋषि और मुनि बैठे थे और नाना प्रकार का वार्तालाप हो रहा था। होते-होते चिरञ्जीवी पुरुषों का वृत्तान्त छिड़ गया। शातातप नाम के मुनि ने कहा—संसार में सब से अधिक चिरञ्जीवी काकभुशुण्ड मुनि हैं। सब ने उत्सुकता से पूछा—वे कौन हैं और कहाँ रहते हैं? शातातप मुनि बोले :—सुमेरु पर्वत की पद्मराग नाम वाली कन्दरा के शिखर पर एक कल्पवृक्ष है। उस वृक्ष की दक्षिण दिशा की डाल पर बहुत से पक्षी रहते हैं। उन पक्षियों में एक महा श्रीमान् कौवा रहता है। उसका नाम भुशुण्ड है। वह वीतराग और महा बुद्धिमान् है। जितने काल से वह जीवित है उतने काल से कोई भी जीवित नहीं है। वह शान्त और जीवन्मुक्त है, उसके साथ बातचीत करने से परम आनन्द का अनुभव होता है और चित्त शान्त हो जाता है। यह बात सुनकर मेरे (वसिष्ठ के) चित्तमें काकभुशुण्ड के दर्शन करने की महती उत्कण्ठा हुई। इन्द्रसभा से उठकर मैं सीधा सुमेरु पर्वत की ओर चल दिया। सुमेरु पहाड़ की पद्मरागनाम्नी कन्दरा के शिखर पर पहुंचते ही मुझे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा। उस महा सुन्दर और सब ऋतुओं के फल फूल युक्त वृक्ष के ऊपर नाना प्रकार के पक्षी बैठे आनन्द के राग अलाप रहे थे। आगे बढ़कर मैंने देखा कि उस वृक्ष के एक टहने पर अनेक कौवे बैठे हैं। वे सब के सब अचल और शान्त भाव से बैठे थे और उनके मध्य में एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् ऊँची गर्दन किए हुए वह कौवा विराजमान था जो जगत् में सब जीवों से अधिक चिरञ्जीवी है, जिसने अनेक कल्प देखे हैं और जो सदा ही आत्मभाव में स्थित रहता है। मैं आकाश से नीचे उतरा। मुझे देखते ही उन कौवों में खलबली मच गई। यद्यपि काक

भुशुण्डजी ने मुझे कभी नहीं देखा था तो भी वे अपने आप ही अपनी सर्वज्ञता के कारण समझ गए कि मैं वसिष्ठ हूँ और कुतूहलवश उनके दर्शन करने आया हूं। उन्होंने उठकर मुझे प्रणाम किया और मेरा स्वागत किया। सङ्कल्प द्वारा उन्होंने हाथों की रचना करके वृक्ष के पत्र तोड़ कर मेरे लिये आसन बनाकर मुझ से बैठने की प्रार्थना की। यद्यपि वे सब कुछ समझ गए थे और जानते थे कि मैं किस निमित्त वहाँ पर गया था तो भी मुझ से बोले—हे भगवन्! आपने हम सब को दर्शन देकर कृतार्थ किया। आप कृपा करके आज्ञा दीजिये कि आप की हम क्या सेवा करें? मैंने कहा कि इन्द्र की सभा में चिरञ्जीवियों का वृत्तान्त चलने पर मैंने सुना था कि आप सबसे अधिक चिरञ्जीवी हैं। इसलिए आप कृपया अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाइये।

काकभुशुण्डजी बोले—भगवान् शिव के अधिष्ठातृत्व में अनेक गण और शक्तियाँ हैं उनके अनेक नाम और रूप हैं। उन शक्तियों में से एक का नाम अलम्बुसा है। उसका वाहन चण्ड नामक काक है। और शक्तियों की वाहन हंसनियाँ हैं। एक समय सब शक्तियों ने मिल कर उत्सव मनाया। उनके वाहनों ने भी उत्सव मनाया। और मत्त होकर नाच और गाना किया। नाना प्रकार की क्रीड़ा करते करते यहाँ तक हुआ कि वे सब हंसनियाँ चण्ड काक द्वारा, जो कि अलम्बुसा का वाहन था, गर्भवती हो गईं। मेरी माता ब्राह्मी शक्ति का वाहन थीं। जब शक्तियों को यह पता चला कि उनकी वाहन-हंसनियाँ गर्भवती हो गई हैं तो उन्होंने उनको कुछ दिन के लिये छुट्टी दे दी और अपने आप समाधि में स्थित हो गईं। समय आने पर प्रत्येक हंसनी ने तीन तीन अण्डे दिए। जब उनमें से बच्चे निकले तो हमारे पिता चण्ड हम सबको लेकर ब्राह्मी शक्ति के पास गए और उससे हमको आशीर्वाद दिलाया। उसने हमको आशीर्वाद दिया कि हम लोग कभी भी संसार के चक्र में नहीं पड़ेंगे; सदा आत्मभाव में स्थित रहकर जीवन्मुक्त रहेंगे; कभी भी अज्ञान के वश में नहीं होंगे। यह कहकर उस देवी ने हमको इस कल्पवृक्ष पर एकान्त वास करने की सलाह दी। हम लोग यहाँ आकर वास करने लगे। यहाँ पर हम लोग बहुत काल तक वास करते रहे। मेरे और सब भाई अपने सङ्कल्प के कारण विदेहमुक्तता को प्राप्त हो

गए। मैं ही अकेला अभी तक जीवित हूँ। मुझे यहाँ पर रहते-रहते अनेक कल्प बीत गए। समय-समय पर प्रलय आता है और फिर सृष्टि की रचना होने लगती है। प्रलय के समय मैं अपना यह घोंसला छोड़ कर धारणा द्वारा अति सूक्ष्म बन जाता हूँ। प्रलयकाल में जब कि १२ सूर्य तप कर भूमण्डल को जलाने लगते हैं, मैं पानी की धारणा करके ऊपर आकाश में चला जाता हूँ। जब बहुत जोर की आँधी चलती है और वृष्टि होती है तो मैं अग्नि की धारणा करके आकाश में स्थित रहता हूँ। जब कि सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है तो मैं वायु की धारणा करके जल के ऊपर तैरता हूं। जब सारा ब्रह्माण्ड लय हो जाता है तो मैं सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म में प्रवेश कर जाता हूं, और ब्रह्माण्ड की पुनः सृष्टि तक मैं उसी अवस्था में रहता हूँ। सृष्टि हो जाने पर मैं फिर अपने इसी घोंसले में आकर वास करने लगता हूँ। मेरे संकल्प के कारण यह कल्पवृक्ष प्रत्येक सृष्टि में उदय हो जाता है।

वसिष्ठजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—आपने इतने बड़े जीवन में क्या-क्या देखा ?

भुशुण्डजी बोले—मैंने अनेक आश्चर्य देखे हैं, उनमें से कुछ आप को सुनाता हूँ। एक समय पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे, और कुछ न था। एक समय ११ हजार वर्ष तक पृथ्वी पर भस्म के सिवाय कुछ न था। वृक्ष और तृण सब जल गए थे। एक समय ऐसी सृष्टि हुई कि जिसमें सूर्य और चन्द्रमा आदि प्रकाश ग्रह नहीं उपजे थे। केवल सुमेरु पर्वत पर स्थित कुछ रत्नों द्वारा ही प्रकाश होता था। उस समय दिन रात की गति कुछ नहीं जान पड़ती थी। एक समय ऐसा हुआ कि देवताओं और दैत्यों का युद्ध होकर दैत्य लोगों की विजय हुई और केवल ब्रह्मा, विष्णु और शिव को छोड़कर सब देवता उनके अधीन हो गए और सारे संसार में बीस युग तक दैत्यों का ही अचल राज्य रहा। एक बार दो युग तक पृथ्वी पर वृक्षों के सिवाय कुछ न था। एक समय कई युगों तक पृथ्वी पर पर्वतों के सिवाय कुछ न था। एक बार सारे पृथ्वीमण्डल पर जल के सिवाय कुछ नहीं था। महामेरु ही जल में खम्भे की नांई स्थित था। एक बार विन्ध्याचल पर्वत इतना बढ़ा कि सब पर्वतों से बड़ा हो गया और पृथ्वीमण्डल को दबाने लगा। एक समय सृष्टि में न मनुष्य थे और न देवता आदि। एक समय सृष्टि में ब्राह्मणों के आचरण खराब हो

गए थे। वे मद्यपान और दुराचार करते थे और शूद्र लोग राज्य करते थे। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपाल मेरे सामने ही अनेक बार नष्ट हुए और उत्पन्न हुए। मैंने भगवान् का हिरण्यकशिपु को मारना और देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्र का मन्थन अपनी आँखों से देखा है। मैंने ऐसी सृष्टियाँ देखी हैं जिनमें विष्णु का वाहन गरुड़, शिव का वाहन बैल और ब्रह्मा का वाहन हंस नहीं था। जब सृष्टि उत्पन्न हुई तो, हे वसिष्ठ, आप, भरद्वाज, पुलस्त्य आदि ऋषि उपजे। फिर सुमेरु आदि पर्वत उपजे। आपके आठ जन्म मुझे याद हैं। कभी आप आकाश से उपजे, कभी जल से, कभी अग्नि से, कभी पवन से। बारह बार मैंने समुद्र मन्थन देखा है। तीन बार हिरण्यकशिपु का पृथ्वीको पाताल में ले जाना देखा। छः बार परशु-राम का जन्म देखा है। मैंने ऐसे ऐसे समय देखे हैं कि जब कि वेद और पुराणों के अर्थ दूसरी ही तरह लगाए जाते थे। प्रत्येक काल के उपास्य देवता और शास्त्र और शास्त्रप्रवर्त्तक भिन्न भिन्न रूप के देखे। मुझे मालूम है कि वाल्मीकि जी ने १२ बार रामायण की रचना की है। व्यासजीने मेरे सामने ही सात बार अवतार लिया और कई बार महाभारत की रचना की। मैंने विष्णु भगवान् को भक्तों की रक्षा के हेतु अनेक बार अवतार लेते देखा है। मुझे ११ बार राम-चन्द्र रूप से उनका अवतार लेना और १६ बार कृष्ण रूप से भली भाँति याद है। १०० बार मेरे सामने कलियुग में बुद्ध भगवान् का अवतार हुआ है। मेरी आँखों के सामने ही दो बार दक्ष प्रजापति का यज्ञ भङ्ग हुआ। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मैंने देखी हैं। क्या क्या मैं आपसे कहाँ तक वर्णन करूँ। सृष्टि अनेक बार मेरे सामने रची गई और लय हो गई। कभी और और प्रकार की सृष्टि होती है, कभी इसी प्रकार की जैसी कि अब है। कभी इसके सदृश और कुछ भिन्न रूप की होती है। मेरे रहनेका स्थान कभी सुमेरु होता है, कभी मंदराचल, कभी हिमालय, और कभी माल्यवपर्वत। किसी किसी सृष्टि में युगों के नियम का भंग हो जाता है। कलियुग में सत्युग और सत्युग में कलियुग वर्तने लगता है। नाना सृष्टियों में देश, काल, क्रिया, प्रजा, शास्त्र, राज्य, और धर्म नाना प्रकार के ही देखने में आते हैं। एक समय ऐसा हुआ कि ब्रह्मा अपनी आयु के दो दिन पर्यन्त समाधि-में रहे और दो कल्प तक सृष्टि की रचना ही नहीं हुई।

वशिष्ठजी को इस कथा को सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। बहुत देर तक फिर काकभुशुण्डजी से उनका ज्ञान और योग सम्बन्धी वार्तालाप हुआ जिसका वर्णन आगे सिद्धान्त खण्डमें किया जाएगा।

२८—ईश्वरोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ईश्वर के सर्वोत्तम स्वरूप और उसकी सर्वश्रेष्ठ पूजा की विधि का उपदेश किया है।

वसिष्ठजी ने कहा—हिमालय का एक शिखर कैलाश नाम का है, वहाँ पर चन्द्रकलाधर भगवान् शिव वास करते हैं। मैंने वहाँ पर कुछ दिन वास करके तप और अध्ययन किया है। एक समय जब कि श्रावण बदी अष्टमी की आधी रात को मैं समाधि से जागा तो देखता हूँ कि दशों दिशाएँ मौन और शान्त हैं। महान् अन्धेरा संसार को घेरे हुए है और मन्द मन्द पवन चल रहा है। उसी समय मन्दा शीतल अमृतरूपी किरणों से ओषधियों को पुष्ट करता हुआ चन्द्रमा उदय हो आया। मैं अपनी कुटिया में बैठा हुआ प्रकृति की इस शोभा का आनन्द से निरीक्षण कर रहा था कि यकायक बड़ी तेज रोशनी हुई और सारी प्रकृति चमक उठी। मेरी समझ में नहीं आया कि यह प्रकाश कहाँ से आरहा है। चारों ओर निरीक्षण करने पर पता चला कि भगवान् शिव पार्वती के हाथ में हाथ डाले हुए मेरी कुटिया की ओर चले आ रहे हैं। मैंने दूर से ही मन ही मन में उनका स्वागत किया और उनको आदरपूर्वक प्रणाम किया। उनके निकट आ जाने पर उठकर उनको प्रणाम किया और पाद्य और अर्घ्य दिया और उनके बैठने के लिए आसन बिछाया। महादेव ने बैठते ही मुझसे कुशल पूछी और मुझे आशीर्वाद दिया। मेरे मन में बड़ा आनन्द हुआ। मैंने भगवान् से पूछा—हे प्रभो, आप यदि मेरे ऊपर कृपा रखते हैं तो मुझे बतलाइये कि भगवान् का स्वरूप और उसकी सर्वोत्तम प्रकार की पूजा क्या है? शिवजी बोले :—

हे वसिष्ठ! भगवान् का सर्वश्रेष्ठ रूप न विष्णु है, न शिव, न इन्द्र, न पवन, न सूर्य, न अग्नि। वह देव न देहवाला है और न चित्तरूप। असली देव अनादि और अनन्त शिव है; आकारवान्, परिमित और परिछिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वह देव सब जगह सत्ता और असत्ता रूप से वर्त्तमान है। उसी का नाम शिव है। उसका ही तुम पूजन करो। आकार का पूजन तो उन लोगों के लिए है जो शिव तत्त्व को नहीं जानते। रुद्रादि देवों को पूजने से परिच्छिन्न और परिमित पदार्थों की ही प्राप्ति होती है, परन्तु अनादि और अनन्त आत्मरूप देव के पूजने से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जो लोग अलौकिक आनन्द को छोड़कर औपाधिक सुखों के पीछे पड़ते हैं वे मन्दार-वन को छोड़कर करञ्जवन में प्रवेश करते हैं। वह ब्रह्म जो कि सारा विश्व है, देवों का देव है। उसी की पूजा करना श्रेष्ठ और श्रेयस्कर है। न वह दूर है और न दुष्प्राप्य। वह सबके भीतर मौजूद है। जो उसको जानते हुए आकारवाले देव की पूजा करते हैं वे बालोचित क्रीड़ा करते हैं। परमकारण भगवान् शिव प्रत्येक जीव के आत्मा हैं और उनके पूजने का तरीका केवल आत्मबोध है। पुष्प धूप दीप आदि वस्तुओं द्वारा भगवान् की पूजा करना बाल-बुद्धिवाले पुरुषों को शोभा देता है, हे वशिष्ठ! आप जैसे ज्ञानी पुरुषों को शोभा नहीं देता। वह देव नित्य और सर्वत्र वर्त्तमान है, उसके पूजने के लिए आह्वान और मन्त्र की आवश्यकता नहीं है। बोध के सिवाय उसको पूजने की और कोई विधि नहीं है। वह देव ध्यानद्वारा ही पूजा जाता है। ध्यान ही उसका अर्घ्य और ध्यान ही पाद्य; ध्यान ही पुष्प है और ध्यान ही उपहार। ध्यान से ही वह प्रसन्न होता है। सब काम करते हुए, सब भोगों के भोगते हुए, सब स्थितियों में रहते हुए आत्मा का ध्यान करते रहने से ही आत्मा प्रसन्न होता है। आत्मा की अर्चना प्रत्येक मनुष्य हर स्थिति में रहते हुए कर सकता है। अपने देह में स्थित परम शिव का सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सब प्रकार के भोगों का भोग करते हुए सदा ही ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से ही जीव का परम कल्याण है।

इस प्रकार शिवजी ने वसिष्ठजी को देवपूजा का स्वरूप बताकर कहा कि अब मैं अपने स्थान पर जाना चाहता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो—यह कहकर वे पार्वती को लेकर अपने स्थान पर चले गए और मेरे मन में सदा के लिए चाँदना कर गये। हे राम! तब से मैं इस प्रकार की ही देवपूजा करता हूँ दूसरे और किसी प्रकार की नहीं।

२८—अर्जुनोपाख्यान

रामचन्द्रजी को अनासक्त रहकर सब कर्मों को करने का उपदेश देते हुए वसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! भगवान् कृष्ण जिस असक्तता का अर्जुन को उपदेश देंगे उसी प्रकार की असक्तता को प्राप्त करके तुम भी संसार में अपना जीवन सुख से बिताओ। रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से पूछा—वह अर्जुन कब उत्पन्न होगा और भगवान् उसको किस प्रकार की असक्तता का उपदेश देंगे ? वशिष्ठजी बोले :—

भगवान् यम हर एक चतुर्युगी में कुछ काल के लिए तप किया करते हैं। उस अवस्था में वे उदासीन भाव से रहते हैं। अतः यह भूमण्डल अधिक प्राणियों से व्याप्त हो जाता है और रहने योग्य नहीं रहता। उन दिनों पृथ्वी का भार दूर करने के लिए देवता लोग भी आवश्यकतानुसार प्राणियों को मारते हैं। इस समय पितरों का नायक वैवस्वत नामक यम है। इसको कुछ समय बीत जाने पर अपने पापनाश के निमित्त तप करना होगा। उस समय पृथ्वी प्राणियों के भार से दबकर विष्णु भगवान् की शरण में जाएगी। पृथ्वी का भार उतारने के लिए विष्णु भगवान् दो शरीरों (कृष्ण और अर्जुन) में अवतार लेंगे। उनमें एक वसुदेव पुत्र वासुदेव और दूसरा पाण्डु-पुत्र अर्जुन के नाम से प्रसिद्ध होगा। पाण्डु का एक और पुत्र धर्मपुत्र युधिष्ठिर के नाम प्रसिद्ध होगा। उसके चचा का लड़का दुर्योधन होगा। इन दोनों में पृथ्वी को एक दूसरे से छीनने के लिये घोर युद्ध होगा जिसमें १८ अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का रूप धारण करके विष्णु भगवान् उस सेना का नाश करके पृथ्वी का भार उतारेंगे। विष्णु भगवान् का अर्जुन-रूप युद्ध के आरम्भ में हर्ष शोकादि मानव स्वाभाविक दोषों से युक्त होगा और दोनों ओर से सेना में सम्मिलित अपने बन्धुओं और सम्बन्धियों को देखकर उनको मारने के लिए अनुद्यत होकर अपना धनुष नीचे रख देगा, और अपने सारथी श्रीकृष्ण-रूपधारी विष्णु भगवान् से अपने मन की दशा का वर्णन करेगा। श्रीकृष्ण उस [illegible] अर्जुन को आत्मज्ञान का उपदेश देकर उसके मोह को दूर [illegible] [illegible] उसको [illegible] होकर युद्ध करने की सलाह देंगे। श्रीकृष्ण द्वारा किए

हुए उपदेश से अर्जुन का मोह दूर हो जाएगा और वह युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करेगा। उस घोर संग्राम में बहुत सी प्रजा कट जाएगी और पृथ्वी का भार हलका होगा।

३०—शतरुद्रोपाख्यान

सारा जगत् कल्पनामय है। जीव भी अपनी कल्पना द्वारा ही एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है और अपनी कल्पना द्वारा ही अपने इस बन्धन से मुक्त होता है। जो जैसी कल्पना करता है वैसा ही हो जाता है। वासना और कल्पना जगत् के प्रसार और जीव की भली बुरी गति के रहस्य हैं। इनके द्वारा ही सब कुछ होता है। इस विषय को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्रीरामचन्द्रजी को शतरुद्रोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

हे रामचन्द्र! प्राचीनकाल में एक बड़ा विचारशील और शुद्ध आचरणवाला तपस्वी रहता था। उसने अपने यत्न और अभ्यास द्वारा समाधि में स्थित होने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। वह अपना सारा समय प्रायः समाधि में ही बिताता था। एक दिन, जब कि वह समाधि से उठा ही था, उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक विश्व की रचना करे। यह कल्पना मनमें आते ही उसके संकल्प से एक विश्व की रचना हो गई, और उस विश्व में वह जीवट नामका पुरुष हुआ। अब वह अपनी तपस्वीरूप-स्थिति को भूलकर अपने कल्पित विश्व में जीवट रूप से विचरने लगा। इस रूप में उसने खूब भोग भोगे; मद्यपान किया, और ब्राह्मणों की सेवा भी की। जीवट को एक दिन सोते समय स्वप्न आया और उस स्वप्नजगत् में उसे अपने ब्राह्मण होने का भान हुआ। अब वह ब्राह्मण रूप में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। जब ब्राह्मण रूप में उसको कुछ काल बीत गया तो उसे भान हुआ कि वह एक राजा है और उसके पास बहुत सी सेना और बहुत से नौकर चाकर हैं। उस राजा को एक समय ऐसा भान हुआ कि वह एक महाप्रतापी चक्रवर्ती राजा है। बहुत काल तक चक्रवर्ती राजा के रूप में रहते हुए उसे एक दिन यह भान हुआ कि वह एक देवाङ्गना है और देवताओं के वास में अपने पसन्द किए हुए देवताओं के साथ आनन्द से विहार कर रही है और खूब प्रसन्न है। एक समय जब कि वह काम-क्रीडा के पश्चात् गहरी निद्रा में लीन थी

तो उसे स्वप्न में यह अनुभव हुआ कि वह एक हरिणी है। हरिणी रूप से वह वन में विचरने लगी। हरिणी ने एक दिन स्वप्न में अपने आपको एक हरी और कोमल बेल के रूप में पाया। वल्ली के मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह एक भ्रमर है और भ्रमर रूप से नाना प्रकार के पुष्पों और बेलों का रस पान कर रही है। भ्रमर को एक समय स्वप्न आया कि वह कमलिनी है। एक समय एक हाथी ने उस कमलिनी को तोड़कर खा लिया। उस कमलिनी के हृदय में उस समय यह कल्पना उदय हो आई कि वह एक हाथी है। इस प्रकार नाना रूप धारण करते हुए वह ब्रह्मा का हंस बना। ब्रह्मा ने उसको उपदेश दिया जिसके द्वारा उसे आत्मज्ञान हुआ। एक समय वह हंस सुमेरु पर्वत पर उड़ा हुआ जाता था। वहाँ पर उसने रुद्रोंको देखा और उसके मन में यह कल्पना उदय हुई कि वह रुद्र बने। निदान वह एक रुद्र बन गया। रुद्र रूप में उसे ब्रह्मज्ञान हो गया और अपने पूर्ण ज्ञान के द्वारा उसको अपने पूर्व जन्मों का भी स्मरण हो आया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह अब भी तापस रूप से उसी स्थान पर बैठा हुआ अपने कल्पना जगत् का अनुभव कर रहा है। और इसी प्रकार वह अपने शत (सौ) रूपों में वर्त्तमान है। उसने सोचा कि अब वह अपने सब रूपों को, जो कि उसने नाना कल्पना-जगतों में ग्रहण किए हैं, जगाए और उन सबको तत्त्वज्ञानी बनाकर मुक्त कराए। यह सोचकर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ कि वह तपस्वी के रूप में अपने कल्पना जगत् की रचना कर रहा है। वहाँ पर पहूँचकर उसने तपस्वी को जगाया। तपस्वी को जागने पर ज्ञान हुआ कि अभी उसके कल्पित विश्व में उसके अनेक रूप वर्त्तमान हैं। रुद्र और तपस्वी दोनों ने जीवट को सोते से जगाया। तीनों ने मिलकर वेदपाठी ब्राह्मण को। चारों ने मिलकर राजा को। पाँचों ने चक्रवर्ती राजा को। इस प्रकार होते होते रुद्र के समस्त १०० रूप जाग गए। रुद्र को अपने १०० रूप में वर्त्तमान होकर बड़ा आश्चर्य हुआ। तब रुद्र ने अपने सब रूपों को कहा कि तुम सब अपने अपने स्थान को जाओ और जब तक ये सब शरीर हैं तब तक इन सब शरीरों के योग्य भोगों को वासना और कामनारहित होकर भोगो। शरीर-पात होने पर तुम सब रुद्र रूप में आ जाओगे। उन सब शरीरों का अन्त होने पर वे

सब जीव रुद्र बने और कल्प का अन्त होनेपर सब को विदेह मोक्ष की प्राप्ति हुई।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! यह आश्चर्य-मय घटना कैसे हुई? वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! मन में जो संकल्प होता है वही यथा समय सत्यरूप से प्रतीत होने लगता है। और मन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उतना ही जल्द और उतनी तीव्रता से संकल्प घनीभूत हो जाता है। शुद्ध मन जैसा संकल्प करता है तुरन्त वैसा ही हो जाता है। इस जगत् में संकल्प के सिवाय और कुछ है ही नहीं। जितने नाम और रूप हैं वे सब संकल्प की ही रचनाएँ हैं। कल्पित पदार्थ भी संकल्प करने लगते हैं। अज्ञानियों का संकल्प बाह्य वस्तुओं द्वारा नियमित होता है, ज्ञानियों का अपने विचार द्वारा। इस कथा में ब्राह्मण ने राजा का रूप इस लिये धारण किया था कि वह राजभोगों की इच्छा करने लगा था। राजा चक्रवर्ती राजा इसलिये बना कि उसने उस रूप में ज्यादा आनन्द समझा था। चक्रवर्ती राजा को सुन्दर स्त्रियों के भोग की कामना रहती थी, इसलिये वह देवाङ्गना बना। देवाङ्गना हरिणी इस वास्ते बनी कि उस में हरिणी की जैसी आँखों की वासना थी। हरिणी बेल इसलिये बनी कि उसको सदा बेली की चाहना थी। बेल इस कारण भ्रमर बनी कि उस की वृत्ति भ्रमर रूप पर स्थिर हो गई थी। भ्रमर कमलिनी इस वास्ते बना कि उसके मन में सदा ही कमलिनी का ध्यान रहता था। कमलिनी हाथी इसलिये बनी कि हाथी ने जब उस को तोड़ा तो उसकी वृत्ति में हाथी का ही रूप स्थिर था। इसी प्रकार, हे राम, जो जिस रूप का ध्यान करता है वह उसी रूप को धारण करेगा। यह अटल नियम है। जो जिस वस्तु को निरन्तर चाहता है, या जिस वस्तु का जिस को ध्यान रहता है, वह अवश्य ही वही हो जाता है। योगियों और शुद्ध मन वालों का संकल्प शीघ्र ही सिद्ध होता है। योगी लोग अपने आप अपनी अवस्था में स्थित रहते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेते हैं। विष्णु भगवान् क्षीर समुद्र में रहते हुए ही पृथ्वी मंडल पर अवतार लेकर भूमि का भार उतारते हैं। सहस्रबाहु ने घर पर बैठे-बैठे यह कल्पना की कि वह मेघ होकर बरसे। वहाँ पर तो वह राजा के रूप में रहा और दूसरी जगह मेघ रूप से बरसने लगा। वह अपने घर बैठा हुआ अपने राज्य में चोरादि दुष्टजनों को पकड़ कर उनको दण्ड दे देता था।

योगिनीजन स्वर्ग लोक में रहती हैं तो भी पृथ्वी पर दिखाई पड़ती हैं। इन्द्र स्वर्ग के आसन पर स्थित रहते हुए भी पृथ्वी पर यज्ञ का भाग लेने के लिये आते हुए दिखाई देते हैं। कृष्ण भगवान् सहस्रों रूप से अपनी सहस्रों रानियों को प्रसन्न किया करते हैं।

रामचन्द्रजी ने पूछा—हे भगवन्! क्या और कोई पुरुष भी ऐसा है जो इस समय ही अनेक रूपों में वर्त्तमान हो। वसिष्ठजी बोले—आज रात को मैं समाधि में बैठकर देखूँगा कि इस समय शतरुद्र की नाईं किसी पुरुष का अनुभव है अथवा नहीं। कल तुम को बतलाऊँगा। अगले दिन वसिष्ठजी ने कहा कि उत्तर दिशा में यहाँ से बहुत दूर जिन नामक एक देश है। वहाँ पर दीर्घदृक् नाम का एक तपस्वी है। आज उसे २१ दिन समाधि में बैठे हो गए हैं। उसने इतने समय में सहस्रों जन्मों का अनुभव कर लिया है और वे सब जन्म उसको एक साथ ही प्रत्यक्ष हो रहे हैं, और वह उन सब जन्मों में इस समय विचरण कर रहा है। इतना सुनकर राजा दशरथ ने कहा कि यदि ऐसा है तो मैं अपने दूत भेजकर उस देश में उस योगी का पता चलवा कर उस को जगवाऊँ। वसिष्ठजी बोले—हे राजन्! इस समय वह योगी ब्रह्मा का हंस बनकर जीवन्मुक्त हो गया है और उसका भौतिक देह मृतक हो गया है। यह बात उसके शिष्यों को भी अभी मालूम नहीं है। इसलिये अब उसको जगाया नहीं जा सकता। जब कुछ दिन बाद उसके शिष्य उसका द्वार खोलेंगे तो उसको मरा हुआ पाएँगे। रामचन्द्रजी को यह सब सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

३१ वेतालोपाख्यान

आत्मज्ञानी को संसार में कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता—इस बात को समझाते हुए वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को वेतालोपाख्यान सुनाया जो इस प्रकार है:—

दक्षिण दिशा में मन्दराचल पर्वत की एक कन्दरा में महा भयानक आकार वाला एक वेताल रहता था। वह मनुष्यों को खा कर अपना पेट भरता था। एक समय उसके सामने एक साधु आ गया। उसको भी उसने मार कर खाना चाहा, किन्तु साधु ने उसे यह समझाया कि मनुष्यों को मार कर पेट भरना बड़ा भारी पाप है जिसका बुरा और दुःखदायी परिणाम उस को भुगतना पड़ेगा।

वेताल की समझ में साधु की बात आ गई। उसने सोचा कि मनुष्य यदि सचमुच में मनुष्य अर्थात् मननशील और ज्ञानवान् जीव है, तो अवश्य ही उसे मारना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसे मनुष्य से किसी दूसरों को हानि नहीं पहुँचती, बल्कि उपकार होता है। लेकिन मूर्ख मनुष्य से तो पशु ही कहीं भले—क्योंकि उनसे दूसरे जीवों को इतनी हानि नहीं पहुँचती जितनी कि मूर्ख मनुष्यों से। इसलिये वेताल ने यह सोचा कि अब वह अज्ञानी मनुष्यों का ही भक्षण करेगा ज्ञानी मनुष्यों का नहीं। कौन ज्ञानी है कौन अज्ञानी—इस बात को जानने के लिये उसने एक प्रश्नावली तय्यार की। एक समय कई दिन का भूखा वेताल अपना पेट भरने के लिये रात्रि में बाहर निकला। उसकी उस देश के राजा से भेंट हो गई जो कि रात्रि को अपने राज्य में वीर-यात्रा कर रहा था। वेताल ने राजा से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी कई प्रश्न इस बात की जाँच करने के लिये पूछे कि वह अज्ञानी है या ज्ञानी। राजा ब्रह्मज्ञानी था—उसने वेताल के सब प्रश्नों का तृप्तिजनक उत्तर दे दिया। वेताल को बड़ा आनन्द हुआ और वह एकान्त में जाकर समाधि में स्थित हुआ, और आत्म-पद को प्राप्त करके वेताल शरीर को त्यागकर मुक्त हो गया। इस प्रकार ज्ञानीजन अपनी रक्षा और दूसरों का उद्धार करते हैं।

३२—भगीरथोपाख्यान

संसार में किस प्रकार निर्मम, निरपेक्ष और अनासक्त भाव से मुक्त जीवन बिताना और यथास्थिति संसार के सभी काम करना चाहिए—इस सम्बन्ध में श्री वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को भगीरथ की कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

राजा भगीरथ की जब युवा अवस्था थी उसके मन में यह विचार उदय हुआ कि यह जीवन सर्वथा ही असार है। दिन पर दिन वे ही भोग भोगे जाते हैं किन्तु कभी तृप्ति नहीं होती। कोई ऐसा सुख नहीं है जो दुःखरहित हो। कोई ऐसा भोग का विषय नहीं है जो भोगने पर उतना ही अच्छा जान पड़े जितना कि वह प्राप्त होने से पूर्व प्रतीत होता है। संसार में कोई वस्तु भी सार नहीं दिखाई पड़ती। धन, दारा और पुत्र, जिनमें हमारी इतनी अधिक ममता है, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको प्राप्त कर लेने पर हमारे मन में शान्ति और

सुख का अनुभव होता हो। तब फिर किस लिये हमलोग इन वस्तुओं के पीछे पड़े रहते हैं ? क्यों इनकी प्राप्ति में ही अपने जीवन की सब शक्ति लगाते हैं ? इसलिये कि हमने कभी इनकी असारता पर विचार ही नहीं किया है। विचार उदय हो जाने पर ये सब वस्तुएँ असार और विषवत् जान पड़ती हैं। भोगों में सुख और शान्ति—जिनकी हम सबको चाह है—तलाश करना ऐसा ही है जैसा कि मृगतृष्णा के जल से प्यास बुझा लेने की आशा।

इस प्रकार विचार करते करते राजा को संसार के भोगों के प्रति घृणा हो गई और अपना परम और सत्य ध्येय जानने की इच्छा हुई। इस अवस्था में वे अपने गुरु त्रितुल ऋषि के आश्रम पर गए। अपने मन के विचारों को भगीरथ ने गुरु के समक्ष रक्खा। त्रितुल भगीरथ के विवेक और वैराग्य को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—परम आनन्द और परम शान्ति, जो कि मनुष्य-जीवन के उद्देश्य हैं, विषय भोगों के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते। उनके प्राप्त करने के लिये सब विषयों का और उनके भोगों का त्याग करना चाहिये। देह और इन्द्रियों में आत्माभिमान, स्त्री-पुत्रादिक से सङ्ग, इष्ट की इच्छा और अनिष्ट से द्वेष—ये सब त्यागकर आत्मचिन्तन, आत्मध्यान और आत्मपद में स्थिति के लिये प्रयत्न करने से ही परमानन्द और परम शान्ति की सिद्धि होती है। जो जिस वस्तु की तीव्र वासना करता है वह उसी को प्राप्त करता है—इसलिये भोगों के विषयों की वासना का त्याग करके आत्म-पद के प्राप्त करने की वासना करो। उस पद को प्राप्त कर लेने पर फिर कुछ प्राप्त करना नहीं रहता। उस पद में स्थित होने पर कोई दुःख नहीं रहता। उस पद में स्थित होने पर उस अक्षय और अनन्त आनन्द का अनुभव होता है जिसके आगे संसार के सब सुख कुछ भी नहीं। क्षण भर भी उस आनन्द का अनुभव कर लेने पर मनुष्य संसार के सब सुखों को—जिनका परिणाम सदा ही दुःख है—भूल जाता है।

त्रितुल ऋषि की यह बातें सुनकर भगीरथ ने आत्मपद प्राप्त करने का पक्का इरादा कर लिया। घर आकर सब ओर से ध्यान हटाकर आत्मचिन्तन करने लगा और धीरे-धीरे सब वस्तुओं का त्याग करने लगा। थोड़े ही समय में उसने अपने सब धन, और राज्यपाट का त्याग कर दिया। केवल एक धोती और अंगोछा लेकर घर से

निकलकर वन में विचरने लगा। वहाँ पर विचरते-विचरते आत्म-चिन्तन और आत्मध्यान करते करते उसको आत्मज्ञान हो गया, और परम आनन्द और परम शान्त आत्मपद में उसकी अविचलित रूप से स्थिति हो गई। अब उसको न किसी वस्तु की इच्छा थी, और न किसी से द्वेष था। सारे जगत् को वह आत्ममय ही देखता था। किसी के प्रति न उसे मोह था और न घृणा। सबसे समता और प्रेम का व्यवहार था। अब उसको संसार में और वन में रहना एक सा ही था। उसने देश देशान्तर में भ्रमण करना आरम्भ किया। एक समय वह भ्रमण करता हुआ उस देश में गया जहाँ का वह कभी राजा था। वहाँ उसने भिक्षा माँगी, और ऐसा करने पर उसके मन में किसी प्रकार का भी विकार नहीं आया। लोगों के बहुत कहने पर भी उसने राज्य करने की ज़रा भी इच्छा न की। भ्रमण करते करते उसकी अपने गुरु त्रितुल से भेंट हो गई और कुछ कालतक खूब आत्म-चर्चा हुई। स्वर्गलोक से सिद्धों ने आकर उसकी पूजा की और देवताओं ने सब प्रकार के ऐश्वर्य उसको देना चाहा किन्तु उसने किसी की भी इच्छा न की। बहुत सी अप्सराएँ उसके सामने आकर उसको प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगीं किन्तु उसके मन में किसी भी भोग की अभिलाषा उदय न हुई, क्योंकि उसकी स्थिति उस परम आनन्द में थी जिसके आगे संसार के सब सुख लेशमात्र हैं।

एक समय जब कि भगीरथ एक देश में भ्रमण कर रहा था, उस देश के राजा का देहान्त हो गया था। मन्त्री और प्रजा किसी सुयोग्य राजा की तलाश में फिर रहे थे। साधु के वेष में भगीरथ को देखकर मंत्री ने उसके लक्षणों से पहिचान लिया कि वह पुरुष राजा बनाने योग्य है। उसने भगीरथ से राजा बनने की प्रार्थना की। भगीरथ ने लोकोपकार के लिये, अपनी किसी प्रकार की हानि या लाभ न जानते हुए राजा होना स्वीकार कर लिया— और अति उत्तम रीति से राज्य किया। भगीरथ के राजा होने की खबर दूर तक फैल गई। इस समय उस राज्य की जिस पर वह पहिले राज्य करते थे बड़ी खराब दशा थी। चारों ओर से शत्रुओं ने आक्रमण कर रक्खा था। वहाँ की प्रजा ने दुखी होकर भगीरथ के पास खबर भेजी। भगीरथ ने शत्रुओं को भगाकर अच्छा राज्य स्थापित किया। दोनों राज्यों पर निःसङ्ग और

निर्मोह रूप से राज्य करता रहा। राज्य करते करते एक समय उसको यह ख्याल आया कि उसके साठ हजार पितर, कपिल ऋषि के भस्म किए हुए, अभीतक सद्गति को प्राप्त नहीं हुए; उनको सद्गति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि भूमण्डल पर गङ्गा बहने लगे। यह सोचकर उसने तप किया और तप के प्रभाव से वह श्री गङ्गाजी को पृथ्वीमण्डल पर ला सका जिसकी कथा सब लोग जानते हैं। आत्मस्थित पुरुष ही संसार में दुष्कर से दुष्कर कार्य कर सकते हैं।

२३—रानी चुडाला की कथा

चुडाला का उपाख्यान भी योगवासिष्ठ के सर्वश्रेष्ठ उपाख्यानों में से है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को यह बतलाया है कि आत्मज्ञान प्राप्त करने और योगाभ्यास करके सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने में स्त्रियों का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुषों का। आध्यात्मिक सिद्धि केवल पुरुषों का ही ध्येय नहीं है बल्कि प्राणिमात्र का। यदि स्त्री की आत्मज्ञान में स्थिति हो जाए तो वह पुरुषों को उसी प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करा सकती है जैसे कि एक पुरुष दूसरे को। इस उपाख्याम द्वारा रामचन्द्रजी को वसिष्ठजी ने आत्मपद प्राप्ति का एक मार्ग और आत्मज्ञानी के रहन सहन का ढङ्ग भी दिखलाया है। उपाख्यान इस प्रकार है :—

पहले द्वापर युग में मालव देश में शिखिध्वज नाम का एक बहुत सुन्दर, बलवान् और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसका विवाह सुराष्ट्र देश की एक राजकन्या से, जो कि बहुत सुन्दर, विदुषी और चतुर थी, हुआ था। रानी का नाम चुडाला था। राजा और रानी में एक दूसरे के प्रति घनिष्ट प्रेम और आकर्षण था। दोनों ही अपनी युवा अवस्था में थे। किसी प्रकार के सुख की कमी नहीं थी। खूब आनन्द से जीवन के सभी प्रकार के भोग भोगते थे। दोनों ही विचार-शील थे। सब प्रकार भोग भोगते भोगते उनके मन में यह विवेक उत्पन्न हुआ कि हमारे पास संसार का सारा ऐश्वर्य और सारे भोगों को भोगने के साधन हैं। हमलोग सब प्रकार के भोगों का बार बार आस्वादन कर चुके हैं। इनके भोगने में हमारा बहुतसा जीवन व्यतीत हो चुका है और शरीर की शक्ति भी क्षीण होती जा रही है, किन्तु हृदय में तृप्ति और शान्ति नहीं है। क्या मनुष्यजीवन इसी

लिये है कि सदा ही वह शरीर और इन्द्रियों के सुखों के अनुभव करने में लगा रहे और फिर भी उसको किसी स्थायी सुख, किसी प्रकार की तृप्ति और शान्ति का अनुभव न हो ? विषयों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले सभी सुख क्षणिक और दुःख में परिणत होनेवाले हैं। कौन सा ऐसा सुख है जो चिरस्थायी हो ? जो भोग प्राप्त नहीं हैं उनकी इच्छा होती रहती है, जो प्राप्त हैं उन में सुख का अनुभव नहीं होता, बल्कि उन से घृणा होने लगती है। क्या कोई ऐसा सुख नहीं है जो स्थायी हो, जिसको प्राप्त कर लेने पर वह सदा ही बना रहे और उस से कभी घृणा न हो ? क्या कोई ऐसी तृप्ति भी है जिसको प्राप्त कर लेने पर फिर किसी विषय के भोग की वासना न रह जाए ?

यह सोचकर उनको संसार के सब विषय और भोगों से विरक्ति हो गई, और उन्होंने अपने राज्य के बड़े बड़े विद्वानों को बुलाकर यह पूछा कि मनुष्यों के जीवन का क्या लक्ष्य है और उसको कैसे शान्ति और तृप्ति प्राप्त हो सकती हैं ? विद्वानों ने कहा—महाराज ! आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को परम शान्ति और परम तृप्ति का अनुभव होता है ; वही प्राप्त कर लेना मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। आत्मज्ञान में स्थित हो जानेपर ही परमानन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द के सामने संसार के सब विषयों के भोग के सुख कुछ भी नहीं हैं। आत्म-पद में स्थित मनुष्य सदा ही तृप्त और सुखी रहता है। वह न किसी वस्तु को प्राप्त करने की वांछा करता और न किसी से घृणा करता है।

राजा और रानी दोनों ने आत्मज्ञान प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। रानी राजा से अधिक बुद्धिमती, चतुर और उद्योगशील थी। उसका विचार सूक्ष्म और निश्चयात्मक था। थोड़े ही समय में उसे आत्मज्ञान हो गया। आत्मज्ञान होने पर उसके मुख पर प्रसन्नता और अलौकिक सौंदर्य की झलक आ गई। दिन पर दिन उसका सौंदर्य, तेज और आनन्द बढ़ने लगा। अभी राजा को आत्मज्ञान नहीं हुआ था। वह न समझ सका कि रानी इतनी प्रसन्न और प्रफुल्लित क्यों रहती है। रानी ने राजा को बतलाया कि उसके हृदय में अलौकिक आनन्द का प्रकाश हो गया है। अब उसे सारा जगत् आनन्द-मय ही दिखाई दे रहा है। राजा की समझ में रानी की बात नहीं आती थी। क्योंकि जिसने आत्मानन्द का स्वयं अनुभव नहीं किया वह नहीं जान सकता कि आत्मानन्द क्या है। रानी ने अपने स्वामी को आत्मा-

नुभव प्राप्त करने में सहायता देने का बहुत यत्न किया; किन्तु राजा ने उसकी बातों की विशेष परवाह न की। वह उसको स्त्री समझ कर उससे उपदेश लेने में अपना अपमान समझता था। रानी ने योगमार्ग द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं और राजा को उनका प्रदर्शन कराया, तो भी राजा ने उससे आत्मज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा न लेनी चाही। उसके मन में यही मिथ्याभिमान बना रहता था कि पुरुष स्त्री से अधिक समर्थ और चतुर होता है; उसको स्त्री क्या सिखा सकती है। राजा ने अनेक यत्न किए किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। अब राजा ने यह निश्चय कर लिया कि वह राजपाट को छोड़कर वन में जाकर रहेगा और वहाँपर आत्मज्ञान प्राप्त करेगा। रानी ने बहुत समझाया कि आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे वन में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वन तो उन लोगों को जाना चाहिए जिनके घर में नाना प्रकार के विघ्न, संकट और झंझट होते हों। उनको तो घर में किसी प्रकार का विघ्न नहीं है। ऐसा कहने पर भी राजा की समझ में न आया कि वह वन को न जाय। एक रात्रि को जब कि रानी चुड़ाला गाढ़ निद्रा में थी, चारों ओर अँधेरा और शान्ति छाई थी, राजा वीरयात्रा के बहाने घर से निकल कर चल दिया। चलते-चलते बहुत दूर जा कर एक वन में रहने लगा। वहाँपर रहकर उसने कुछ दिनों तक नाना प्रकार के साधन किए और फिर तीर्थयात्रा की, किन्तु किसी प्रकार भी उसको आत्मानुभव नहीं हुआ। इधर जब रानी की आँख खुली और उसने राजा को अपनी शय्या पर न पाया तो उसने समझ लिया कि राजा राज को त्याग करके वन को चले गए। उसने बड़े शान्तभाव से सोचा कि अब क्या करना चाहिए। राज्य में राजा के चले जाने की खबर सुनकर खलबली पड़ जाएगी और अराजकता फैल जाने से बहुत से मनुष्यों को हानि और दुःख पहुँचेगा। इसलिये उसने अपने आप राज्य करने का इरादा कर लिया और लोगों को यह खबर न होने दी कि राजा वन को चले गए हैं। सुबह उठते ही रानी ने मंत्रियों और सब कर्मचारियों के सामने घोषणा कर दी कि राजा कुछ काल के लिये दूसरे देशों की यात्रा करने गए हैं और रानी को राज्य करने का अधिकार दे गए हैं। चुडालाने राज्य का काम बहुत अच्छी तरह करना आरम्भ कर दिया। राज्य का काम ठीक करके रानी ने यह पता लगाना चाहा कि अब राजा

कहाँ पर हैं। योगी की सब सिद्धियाँ तो उसे प्राप्त हो ही चुकी थीं। समाधि में बैठकर उसने राजा के निवासस्थान का पता चला लिया। आकाश मार्ग से सूक्ष्म शरीर द्वारा उड़कर ठीक उस स्थान पर पहुँच गई जहाँ कि राजा रहता था। अब भी राजा की वही दशा है, न उसके चित्त में शान्ति है और न उसको आत्मज्ञान ही हुआ है। रानी को उसके ऊपर बहुत करुणा आई और उसने विचार किया कि किसी प्रकार राजा को आत्मज्ञान प्राप्त कराना चाहिए। यह सोचकर कि राजा यदि उसको पहचान गया तो उसके उपदेश का उसके ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा चुडाला ने एक ऋषिपुत्र का रूप धारण कर लिया और उसके सामने उस रूप से प्रकट हुई। राजा अपने समीप एक बहुत सुन्दर युवा और तेजवान् ऋषि को आते देख-कर बहुत प्रसन्न हुआ। अतिथि का सब प्रकार से आदर और सत्कार करके राजा ने उससे पूछा—महाराज! आप कौन हैं और कहाँ से आ रहे हैं? ऋषि ने कहा—महाराज! मैं देवर्षि नारद का पुत्र कुम्भज हूँ। देवलोक में रहता हूं, पृथ्वीतल पर भ्रमण करने की इच्छा से यहाँ पर आ गया हूं। आपको इस विजन वन में रहते देखकर मुझे आपसे मिलने और वार्तालाप करने की उत्कण्ठा हो गई। राजा ने पूछा—महाराज! यदि मेरी धृष्टता क्षमा करें तो आपसे यह पूछता हूँ—आप देवर्षि नारदजी के पुत्र कैसे हैं? उन्होंने तो कभी विवाह ही नहीं किया। कुम्भज ने कहा—एक समय की बात है कि नारदजी ने सुमेरु पर्वत पर कुछ समय के लिये समाधि लगाई थी। जब समाधि से जगे तो क्या देखते हैं कि पर्वत के नीचे गङ्गा में उर्वशी आदि अनेक सुन्दर अप्सराएँ स्नान-क्रीड़ा कर रही हैं और उनका एक एक अङ्ग और भाव मोहनेवाला है। उनको देखते ही नारदजी के शरीर में काम का वेग बिजली की नाईं दौड़ गया और उनका वीर्य स्खलित हो गया। उसको उन्होंने एक घड़े में रख दिया और उसमें दूध भर दिया। कुछ काल पीछे उस घड़े से मेरा जन्म हुआ। इसी कारण मेरा नाम कुम्भज पड़ा। राजा को कुम्भज के प्रति बहुत प्रेम और श्रद्धा हो गई और उसने उससे मित्रता करनी चाही। दोनों में मित्रता हो गई। कुम्भज प्रतिदिन राजा के पास आकर उससे वार्तालाप कर जाता था। इस प्रकार रानी राज्य भी करती और कुम्भज के वेष में वह राजा के साथ भी रहती थी। कुम्भज के वेष में उसने राजा को आत्म-सम्बन्धी

अनेक प्रकार की बातें सुनाईं और साधन की विधियाँ बतलाईं। राजा को धीरे धीरे आत्मज्ञान होने लगा। आत्मज्ञान के परिपक्व हो जाने पर उसकी स्थिति आत्मभाव में हो गई, और वह जीवन्मुक्त हो गया। अब उसके मुख पर सदैव प्रसन्नता रहती थी। हर्ष और शोक से वह परे था। किसी कारण से भी उसकी शान्ति भङ्ग नहीं होती थी। हर हालत में वह खुशहाल रहता था। उसके लिये अब न कुछ हेय था और न उपादेय। वह सदा आत्मानन्द में मग्न रहता था। संसार के किसी सुख की न उसे वासना थी और न किसी दुःख से वह दुःखी होता था।

रानी ने अब उसकी परीक्षा करनी चाही। एक दिन कुम्भज बड़ा दुःखी और शोकातुर होकर राजा के पास आया। राजा ने पूछा, मित्र! आज आपका मन क्यों इतना उदास है? आप तो आत्मज्ञानी हैं, आपको शोक क्यों हुआ? कुम्भज बोले, महाराज! क्या कहूँ, मुझे कहते भी लाज मालूम पड़ती है। मैं जब देवलोक से आपके पास चला आ रहा था तो मुझे दुर्वासा ऋषि नाना प्रकार के भूषण और वस्त्र धारण किए हुए रास्ते में मिले। मुझे उनका विचित्र वेष देखकर हँसी आ गई, और हास्य-भाव से मैंने कहा कि महाराज आप तो आज स्त्री मालूम पड़ते हैं। यह सुनकर उनको क्रोध आ गया, और उन्होंने मुझे शाप दे दिया कि मैं प्रत्येक रात को स्त्री बन जाया करूँगा। मुझे इस बात से इतनी लज्जा मालूम पड़ती है कि मेरा चित्त अब देवलोक को भी जाने को नहीं करता। आज से शापवश रात्री में मुझे स्त्री होना पड़ेगा। महाराज! यही कारण है जिससे मैं दुःखी हूँ। राजा ने कहा, ऋषे! इसमें क्या हानि है? पुरुष हुआ तो क्या, और स्त्री हुई तो क्या? दोनों ही एक समान हैं। न कोई बुरा है और न कोई भला। शरीर ही तो स्त्री या पुरुष है, न कि आत्मा। जो जिस स्थिति में होता है उसको उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। स्त्री और पुरुष दोनों ही आत्मज्ञानी हो सकते हैं। रानी को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अब रात्री में वह एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में राजा के पास रहती थी और दिन में कुंभज के रूप में। दोनों में इतनी गहरी मित्रता थी कि दोनों साथ खाते और साथ ही सोते थे, किन्तु राजा के मन में किसी प्रकार का विकार न होता था। एक दिन कुम्भज ने राजा से कहा—महाराज! जब मैं रात्री के समय स्त्री होता हूँ तो मुझे किसी-

चित इच्छाएँ होती हैं, और मेरे शरीर में काम का वेग इतना अधिक हो जाता है कि बिना पुरुष के सङ्ग किए मैं दुःखी रहती हूँ। राजा ने कहा—जब तक शरीर है और इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, अवश्य ही शरीर और इन्द्रियों के स्वाभाविक भोगों के भोगने की आवश्यकताएँ रहती हैं; ज्ञानी मनुष्य को उनका विरोध करना और उनको बलपूर्वक दबाना नहीं चाहिए। शरीर और इन्द्रियों के उचित आवश्यकतानुसार भोगों के भोगने से आत्मा की क्या हानि और न भोगने से आत्मा का क्या लाभ? इसलिये, हे कुम्भज! यदि स्त्री-रूप में आपको स्त्री-सम्बन्धी इच्छा होती है तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिये तुम किसी अपने मन को पसन्द आने वाले योग्य पुरुष की तलाश कर लो और उसकी पत्नी बन जाओ; ताकि तुम्हारा मन शान्त रहे और शरीर का वेग उसको चंचल न बनावे। कुम्भज बोला—महाराज आप मेरे इतने प्रिय मित्र हैं, आपकी और मेरे मन की वृत्ति एक सी ही है आपको मेरा प्रेम है और मुझे आपका प्रेम है। विद्वान् लोग यह कहते हैं कि जो सुख समान मनोवृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों के सङ्ग रहने में होता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर है। इसलिये यदि मेरे लिये संसार में कोई भी उचित भर्ता है तो आप हैं। राजा ने कहा यदि तुम ऐसा समझते हो तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मेरी इसमें न कोई हानि है और न कोई लाभ। ऐसा होने से यदि तुमको सुख मिलता है तो ऐसा ही सही। पूर्णमासी को सायंकाल में मदनिका (जो कि कुम्भज के स्त्री-रूप का नाम था) और राजा ने अपना शास्त्र की विधि से विवाह कर लिया; और अब वे दोनों रात्री में पति और पत्नी के रूप से रहने लगे। लेकिन राजा के मन में किसी प्रकार का भी विकार न उत्पन्न हुआ। आत्मा में वही शान्ति और परम आनन्द रहता था। शरीर और इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वाभाविक कार्य करते थे। उसको इनमें ज़रा भी आत्माभिमान न था। रानी को यह देखकर कि अब राजा की आत्मपद में निश्चल स्थिति है बड़ी प्रसन्नता हुई। इस बीच में भी वह अपने राज्य की देख भाल करती रहती थी। सूक्ष्म शरीर द्वारा वह अपने राज को उड़ जाया करती थी और कर्मचारियों के कामों की देखभाल कर लिया करती थी।

अब उसने राजा के जीवन्मुक्त होने की एक और परीक्षा ली। उसने अपने योगबल से स्वर्गलोक के स्वामी इन्द्र की रचना की।

इन्द्र अपने साथ देवताओं को लेकर राजा के सामने आकर उपस्थित होकर कहने लगे—महाराज ! आप स्वर्गलोक में चलिए और वहाँ पर नाना प्रकार के भोग और ऐश्वर्य भोगिए। राजा ने कहा, हे देवराज ! मुझे तो सब ओर स्वर्ग ही दिखाई पड़ता है ! मेरे मन में परम तृप्ति है और मेरे आत्मा में परम आनन्द है। मुझे स्वर्ग के किसी भी भोग की इच्छा नहीं है।

कुछ दिन पीछे रानी ने राजा की एक और परीक्षा ली—सायंकाल के समय, जब कि राजा संध्यावन्दन के लिये गङ्गा के तीर पर गए थे, उसने अपने योगबल से एक बहुत सुन्दर और तेजवान् युवक की रचना की। राजा के वापिस होने के समय वह युवक और मदनिका दोनों एक दूसरे के साथ प्रेम व्यवहार कर रहे थे, और एक दूसरे के साथ गाढ़ आलिङ्गन में होकर संसार को और परिस्थिति को भूल गए थे। राजा ने अपनी कुटिया पर आकर यह दृश्य देखा और और देखते ही बाहर चले आए जिससे कि युवक और मदनिका के प्रेमालिंगन के सुख में किसी प्रकार का विघ्न न हो। मदनिका तुरन्त उठकर बाहर आई और राजा के सामने दीन भाव से खड़ी होकर अपने आचरण की क्षमा माँगने लगी—महाराज, मैं अपराधिनी हूँ ! क्षमा कीजिए ! मैं स्त्री हूँ, और स्त्री में पुरुष से अष्टगुणा काम होता है; इसलिये मेरी वृत्ति इस पुरुष को देखकर उसकी ओर खिंच गई। राजा बोले—मदनिके ! मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति किसी प्रकार का भी क्रोध नहीं हैं। संसार के जितने प्राणी हैं वे सब सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, और परस्पर इच्छित स्नेह से संसार में बहुत आनन्द मिलता है। इसलिये तुमने ऐसा किया तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। मुझे कुछ शोक नहीं है। केवल आज से पीछे मैं तुम्हें अपनी वधूकी हैसियत से नहीं रक्खूगा। क्योंकि समाज में इस प्रकार का काम निन्द्य समझा जाता है। आज से तुम मेरे साथ पहिले की नाईं मित्र की हैसियत से सुखपूर्वक रहो। राजा के इस प्रकार के समभाव को देखकर रानी बहुत प्रसन्न हुई और उसी समय मदनिका के रूप का त्याग करके चुडाला के रूप में राजा के सामने प्रगट हो गई। राजा को चुडाला को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ काल तक तो उसे विश्वास ही न हुआ और अपने ज्ञान को भ्रम समझता रहा। चुडाला ने जब सब हाल कह सुनाया, तब राजाको उसके चुडाला होने का

विश्वास हुआ। राजा उससे बहुत प्रसन्न हुए, और उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। रानी के कहने से अब राजा अपनी राजधानीको वापिस आकर जीवन्मुक्त रहते हुए राज्य करने लगे। बहुत काल तक भली भाँति राज्य करके, प्रजा को सुखी करके विदेह मुक्त हो गए।

इस कथा को सुनकर रामचन्द्रजी बहुत प्रसन्न हुए। वसिष्ठजी ने कहा—हे राम! स्त्रियों को निरादर की दृष्टि से न देखो। जो अच्छे कुल की स्त्रियाँ होती हैं वे अपने पति को संसार-सागर से पार करने में मदद करती हैं:—

मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि।
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥१॥
शास्त्रार्थगुरुमन्त्रादि तथा नोत्तारणक्षमम्।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥२॥
सखा भ्राता सुहृद् भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम्।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥३॥
सर्वदा सर्वयत्नेन पूजनीयाः कुलाङ्गनाः।
लोकद्वयसुखं सम्यक्सर्वं यासु प्रतिष्ठितम् ॥४॥

अर्थात्—अनादि, अनन्त मोहसागर में गिरे हुए अपने पति को उद्योगशालिनी कुलाङ्गनाएं पार उतारती हैं ॥ १ ॥ शास्त्र, गुरु, मंत्र आदि साधन उस मोहसागर से पार करने में इतने समर्थ नहीं हैं जितनी कि स्नेह से भरी हुई कुलाङ्गनाएं ॥ २ ॥ वे अपने पति की सखा, बन्धु, मित्र, भृत्य, गुरु, धन, सुख, शास्त्र, घर और दास सब कुछ हैं॥३॥ इसलिये सदा, सब प्रकार से, इनकी पूजा करनी चाहिए क्योंकि इनके ऊपर ही इस लोक और परलोक का सुख पूर्णतया निर्भर है ॥४॥

३४—किराटोपाख्यान

किराट की कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को इस बात का उपदेश दिया कि मनुष्य को सदा और सब कामों में उद्योगशील होना चाहिए। किसी वस्तु को भी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। छोटे-छोटे कामों में भी अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। ऐसा करने से कभी-कभी छोटे-छोटे कामों द्वारा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विंध्याचल की घाटी में एक बहुत धनवान् किन्तु कृपण किराट रहता था। एक समय जब कि वह एक घने जङ्गल के बीच में कहीं

जा रहा था। उसकी जेब से एक कौड़ी निकल पड़ी। जब उसे यह मालूम हुआ तो वह उस कौड़ी को ढूँढने लगा। चारों ओर कौड़ी को ढूँढते-ढूँढते उसे तीन दिन बीत गए। जिन लोगों को यह मालूम हुआ कि एक कौड़ी के लिये किराट इतना व्यग्र हो रहा है वे उसकी हँसी उड़ाने लगे। किन्तु उसने किसी के हँसने की परवाह न की और अपनी खोई हुई कौड़ी को ढूँढता ही रहा। दैवयोग से उसकी निगाह एक चमकती हुई चिन्तामणि पर जा पड़ी। उसको देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसके कई दिनों के परिश्रम का फल उसे चिन्तामणि पाने से मिल गया। यदि वह कौड़ी के खो जाने की परवाह न करता और उसको तुच्छ समझ कर आगे चलता होता, तो उसे चिन्तामणि की प्राप्ति न होती।

३५—मणिकाचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा चुडाला रानी ने अपने स्वामी राजा शिखिध्वज को यह समझाया था कि मनुष्य को जो-जो उत्तम पदार्थ और साधना अपने घर पर सुलभतया प्राप्त हों उनकी अवहेलना करके दूसरी जगहों पर और-और पदार्थों और साधनों के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। ऐसा करने से जो मनुष्य को प्राप्त है वह तो नष्ट हो ही जाता है, दूसरी वस्तुएँ और साधन भी नहीं मिलते। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह उन वस्तुओं और साधनों का जो उसे सुलभतया प्राप्त हैं, सदुपयोग करे और अप्राप्त वस्तुओं और साधनों की तलाश में मारा-मारा न फिरे।

एक बहुत उद्योगी और धनसम्पन्न पुरुष ने चिन्तामणि रत्न की प्रशंसा सुन रक्खी थी। उसके मन में चिन्तामणि को प्राप्त करने की तीव्र वासना उदय हुई। वह चिन्तामणि की तलाश में घर से बाहर निकला। थोड़ी ही दूर जाने पर उसको चिन्तामणि नामक रत्न मिल गया। चूँकि वह रत्न उसे अपने घर के पास ही और बिना किसी प्रयत्न किए हुए मिला था, उसको उसके चिन्तामणि होने का विश्वास नहीं हुआ। उसने तो यह सुन रक्खा था कि चिन्तामणि रत्न बहुत प्रयत्न और खोज करने पर मिलता है, और बड़े भाग्यवान् मनुष्य को ही मिलता है। अतएव उसने उस वस्तु के चिन्तामणि होने में सन्देह किया और उसे काँच समझ कर फेंक कर चिन्तामणि की खोज में आगे

बढ़ा। देशदेशान्तरों में फिरा, पर कहीं उसको चिन्तामणि न मिली। अब उसको जहाँ तहाँ कांचके टुकड़े ही मिलते थे लेकिन चिन्तामणि कहीं नहीं मिलती थी।

३६—हस्तिकोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा कुम्भज वेषधारिणी रानी चुड़ालाने अपने स्वामी शिखिध्वज को यह उपदेश दिया था कि मनुष्य को कोई काम अधूरा नहीं छोड़ना चाहिए। जिस काम को करना है उसको पूर्ण-तया करना चाहिए। यदि कुछ शेष रह जाता है तो पीछे हानि पहुँचाता है। दूसरी बात उसने यह भी बतलाई कि मनुष्य को अपना भविष्य अपनी वर्त्तमानकाल की क्रियाओं द्वारा सुधारना चाहिए। वर्त्तमान की छोटी-छोटी ग़लतियाँ भविष्य में विस्तार को प्राप्त होकर मनुष्य को हानि पहुँचाती हैं।

विन्ध्याचल के जंगल में बहुत दीर्घकाय, बलवान्, सुन्दर और बड़े-बड़े दाँतों वाला एक हाथी रहता था। उसको देखकर एक महावत ने उसको पकड़ने का विचार किया। उसने उसको पकड़ने के अनेक यत्न किए। एक समय सोते हुए हाथी को उसने अपनी बुद्धि के बल से लोहे की जंजीरों में जकड़ ही लिया, और अपने आप उसके ऊपर सवार होकर उसको उठाकर चलाने लगा। हाथी को जब अपनी इस दशा का ज्ञान हुआ तो उसके क्रोध और व्यथा का कोई अन्त न रहा। तीन दिन तक वह चिल्लाता हुआ अपने शरीर को इस रीतिसे अंगड़ाइयाँ देता रहा कि उसका बंधन टूट जाए। ऐसा ही हुआ, वह बन्धन से मुक्त हो गया, और उसने महावत को नीचे गिरा दिया। महावत भयभीत हो मुरदे की नाईं निष्क्रिय होकर नीचे पड़ा रहा। हाथी के मन में उसके ऊपर कुछ करुणा आ गई, और कुछ उसने यह सोचा कि अब तो वह मुक्त हो ही गया, महावत को वहीं पड़ा छोड़कर भाग निकले। हाथी ने यह बड़ी भारी भूल की। यद्यपि उस समय वह भूल बहुत छोटी सी जान पड़ती थी, पर भविष्य में उसे अपनी इस भूल का बहुत कड़ुआ परिणाम सहन करना पड़ा। जब हाथी भाग गया तो महावत प्रसन्न होकर उठा और उसने हाथी को दूसरी बार पकड़ने का उपाय कर लिया। कई दिन तक उस वन में घूमते-घूमते उसने

हाथी का पता लगा लिया। जिस जंगल में वह रहता था और जिस मार्ग से वह बहुधा जाया आया करता था, उस मार्ग में एक दिन महावत ने एक बहुत गहरा गडढा खुदवा कर तृणोंसे उसे आच्छादित ऐसा बना दिया कि हाथी को वहाँ पर कोई सन्देह न हो। हाथी जब उस मार्ग से नदी में पानी पीने गया तो धड़ाम से गड्ढे में गिर गया, और अनेक यत्न करने पर भी न निकल सका। कई रोज तक वह वहाँ पड़ा रहा और भूख के कारण दीन और कृश हो गया। अन्त को महावतने अपनी बुद्धिके बलसे उसे बाँध कर निकाला और अपने वशमें कर लिया। यदि वह बलवान् हाथी उस महावत को उस समय जब कि वह उसके आगे पड़ा हुआ था जीवित न छोड़ देता तो उसका भविष्य इतना दुःखदायी न होता।

३७—कचोपाख्यान

इस उपाख्यान द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्रको यह समझाया कि असली त्याग, जिससे मनुष्य को निर्वाणपद मिलता है, वस्तुओं और घर बार का त्याग नहीं है, बल्कि अलङ्कार और ममता का त्याग है। वासना के त्याग से सब कुछ त्यक्त हो जाता है, और वासना के रहते हुए सब कुछ त्याग देने पर भी किसी वस्तु का भी त्याग नहीं होता।

एक समय देवगुरु बृहस्पति का विद्वान् पुत्र अपने पिता के पास गया। साष्टांग प्रणाम करके उनके समीप बैठ गया। पिताकी आज्ञा होने पर उसने उनसे पूछा कि महाराज यह बतलाइये कि मनुष्य का परम कल्याण क्या करने से होता है। बृहस्पति ने उत्तर दिया—सर्वत्याग से। कच यह सुनकर अपने स्थान को वापिस आ गया, और एक एक वस्तु का त्याग करने लगा। वर्षों तक ऐसा करने पर भी उसके चित्तमें शान्ति और उसे परमानन्द की प्राप्ति न हुई। तब फिर वह पिता के पास गया और उसने अपने सर्वत्याग की कथा कह अपने मन की दशा का वर्णन किया। बृहस्पति ने कच को समझाया—बेटा! सर्वत्याग का अर्थ यह नहीं है कि एक-एक वस्तु को छोड़ते चले जाओ और उससे न कोई काम लो और न कुछ सम्बन्ध ही रक्खो। संसार में जब तक जीवन है तब तक ऐसा होना असम्भव है। बाह्य त्याग का नाम त्याग नहीं है। किसी वस्तुको मनसे त्याग

देने ही का नाम त्याग है। इसलिये मनको ऐसा बना लो कि उसमें संसार की किसी वस्तु और इन्द्रियों के विषय के भोगों के लिये कोई वासना न रहे। यही सच्चा त्याग है, और इसी का नाम सर्वत्याग है। इसी त्याग से मनुष्य का परम कल्याण होता है। कचने ऐसा ही किया और वह जीवन्मुक्त हो गया।

४०—इक्ष्वाकु की कथा

संसार-चक्रसे बाहर निकलने के उपायों का वर्णन करते हुए वसिष्ठजीने रामचन्द्रजी को इक्ष्वाकु और मनुका संवाद सुनाया जो इस प्रकार है :—

हे राम ! तुम्हारे आदि पुरुष इक्ष्वाकु राजा जिस प्रकार मुक्त हुए थे उसकी कथा सुनो। एक समय इक्ष्वाकु राजा के मनमें यह प्रश्न उठा कि इस जरा और मरण रूपी संक्षोभ वाले सुख-दुःखयुक्त संसार से बाहर निकलने का क्या उपाय है ? बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर विचार करते रहने पर भी उनकी समझ में कुछ न आया। एक दिन दैवयोग से ब्रह्मलोक से भगवान् मनुका आगमन हुआ। इक्ष्वाकु ने उनका यथायोग्य आदर सत्कार किया और अवसर पाकर उनसे वही प्रश्न किया। मनु बहुत प्रसन्न हुए और बोले—हे राजन् ! जो कुछ यह जगत् दीख रहा है वह सब देखने वाले के मनकी अवस्था पर ही निर्भर है। जब तक मनमें संकल्प विकल्प उठते हैं और दृश्य पदार्थों की वासना है, तभी तक जगत् का अनुभव होता है, और जब आत्मपदमें स्थित होने की वासना होगी और मनुष्य उसमें स्थित होने का प्रयत्न करेगा, तब जगत् का भान नहीं होगा। आत्मदर्शन न शास्त्र द्वारा होता है और न गुरु द्वारा। आत्मा ही के द्वारा शुद्ध बुद्धि से आत्मा देखा जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदिमें बहुत कालसे आत्मबुद्धि हो रही है। वहाँ से उसको हटाकर आत्मा में स्थिर करना चाहिए। यह सिद्धि भी क्रमशः ही प्राप्त होती है। इस सिद्धि के प्राप्त कर लेने का ही नाम योग है। इस योग की सात भूमिकाएँ हैं :—सबसे पहिले मुमुक्षुको शास्त्र और सज्जनों की संगति में रहकर अपनी बुद्धि को शुद्ध और तेज करना चाहिये। जिसकी बुद्धि निर्मल और सूक्ष्म नहीं है वह आत्मज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है ? योग की दूसरी भूमिका का नाम 'विचारणा' है। जब बुद्धि आत्मविचार

करने योग्य हो जाय तो मनुष्य को आत्मा का क्या स्वरूप है, जगत् में क्या सार है, मनुष्य का क्या परम ध्येय है, इत्यादि प्रश्नों पर बार-बार विचार करना चाहिए। तीसरी भूमिका 'असंगभावना' है। धीरे-धीरे मनुष्य को सब दृश्य पदार्थों से असक्त होना चाहिए। किसी भी विषय से संग नहीं रहना चाहिए, क्योंकि जिस विषय में संग होता हो उसी विषय से मनुष्य बँध जाता है। चौथी भूमिका का नाम 'विलापनी' है। इस अवस्था में योगी अपनी सब वासनाओं का त्याग कर देता है और धीरे-धीरे उसकी सारी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। 'आनन्दरूपा' नामक पाँचवीं अवस्था वह है जब कि योगी शुद्ध संवित् रूप हो जाता है और आनन्द में निमग्न रहता है। इस स्थिति में योगी जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरता है और देखने वालों को ऐसा जान पड़ता है कि वह जागता हुआ भी सोता रहता है। छठी अवस्था का नाम है 'स्वसंवेदनरूपा'। इस अवस्थामें योगी सच्चिदानन्द रूप हो जाता है और उसकी स्थिति सोते हुए मनुष्य जैसी हो जाती है। उसको संसार का कोई अनुभव ही नहीं होता, सदा ही वह आत्मानन्द में लीन रहता है और उसको आत्मा ही का निरन्तर भान होता है। यह अवस्था जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या चारों से परे की है। इसका ही नाम मुक्ति है। सातवीं अवस्था का नाम 'परिप्रौढा' है। उस अवस्था में परम निर्वाण की सिद्धि होती है। उसका जीवित योगी अनुभव नहीं करते। शरीर-पात होने पर ही योगी उस अवस्था में प्रवेश करते हैं। उसी को विदेहमुक्ति भी कहते हैं। मनु से योग की भूमिकाओं का वर्णन सुनकर इक्ष्वाकु बहुत प्रसन्न हुए और उनके ब्रह्मलोक चले जाने पर अपने आप इन भूमिकाओं वाले योग-मार्ग पर चलने लगे।

४१--तुर्यावस्था-स्थित मुनि की कथा

मनु द्वारा किए हुए इस उपदेश को सुनकर रामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे पूछा—महाराज! जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इन अवस्थाओं को तो मैं जानता हूँ। इनके अतिरिक्त जो चौथी अवस्था मनुने बतलाई, वह कैसी अवस्था है। उसमें स्थित रहते हुए मनुष्य की कैसी दशा और कैसा व्यवहार होता है—यह मुझे कोई दृष्टान्त देकर समझाइए। वसिष्ठजीने कहा—अहंभाव और अनहंभाव, सत् और असत् दोनों

भावों को छोड़कर असक्त, सम और स्वच्छ स्थिति का नाम चौथी (तुर्या) स्थिति है। उस अवस्था में चित्त का संकल्प शान्त और जगत का भाव विलीन हो जाता है, जीवन्मुक्ति इसी स्थिति में स्थित होने का नाम है। इसको न जाग्रत और न स्वप्न कह सकते हैं, क्योंकि इसमें संकल्प का अभाव होता है; और न सुषुप्ति कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जड़ता नहीं होती। इसमें स्थित रहने वाले की क्या दशा होती है इसको समझाने के लिये मैं तुम्हें एक मुनि का दृष्टान्त सुनाता हूँ।

एक व्याध ने एक महा गहन वन में एक मृग का पीछा किया, और उसे एक बाण भी मार दिया। मृग बहुत तेज़ी से भाग निकला और व्याध के हाथ न आया। मृग की खोज करते करते व्याध एक स्थान पर जहाँ कि एक मुनि बैठा था आया। मुनि को प्रणाम करके व्याध ने उनसे पूछा कि क्या इधर को कोई बाण-भिन्न मृग गया है। मुनि बोले—हे व्याध ! मैं तो नहीं कह सकता कि इधर को कौन आता जाता है, क्योंकि मैंने अपने आप को इन्द्रियों और मन से हटा कर आत्मा में स्थित कर लिया है। जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में समभाव से वर्तमान जो चौथी अवस्था है उसमें मेरी स्थिति है। संसार में क्या हो रहा है मुझे कुछ पता नहीं है। मेरे लिए संसार है ही नहीं। यह सुनकर व्याध को बहुत आश्चर्य हुआ और वह मुनि को प्रणाम करके चला गया।

४२—एक विद्याधर की कहानी

विद्याधरोपाख्यान द्वारा रामचन्द्रजी को वसिष्ठजी ने यह समझाया कि कितना ही शास्त्र का अध्ययन और विचार किया जाय, जब तक मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों को वश में लाने का प्रयत्न नहीं करता, उसे आत्मज्ञान कभी नहीं हो सकता।

वसिष्ठजी ने कहा—हे राम ! एक बार मैंने काकभुशुण्डिजी से यह पूछा कि संसार में कोई ऐसा पुरुष भी है जिसकी आयु बहुत दीर्घ हो गई हो और फिर भी उसने आत्मानुभव न प्राप्त किया हो। काकभुशुण्डिजी ने कहा—हाँ, वसिष्ठजी ! एक विद्याधर ऐसा था जिसने कि ४ कल्पतक जीवित रहने पर भी आत्मानुभव प्राप्त नहीं किया था। बहुत समय तक वह विद्याधर शास्त्रों का अध्ययन करता

रहा, किन्तु उसको आत्मज्ञान न हुआ। मेरा नाम सुनकर वह मेरे पास आया और मुझसे पूछने लगा कि शास्त्र का इतने दिनों तक अध्ययन कर लेने पर भी क्यों उसके चित्त में शांति नहीं आई और उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ, आत्मानन्द में स्थिति तो दूर रही ? काकभुशुंडि जी ने उस विद्याधर को अपने आश्रम में कुछ दिन रहने की सलाह दी। विद्याधर के वहाँ पर रहते हुए भुशुंडिजी ने यह मालूम कर लिया कि उसको आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ। कारण यह था कि विद्याधर के हृदय में इन्द्रियों के भोगों की अनेक वासनाएँ सुप्त रूपसे मौजूद थीं, वे ही उसके मनको शान्त नहीं होने देती थीं। भुशुंडिजीने उसको मनके विकारों को दूर करने और सुप्त वासनाओं को जाग्रत करके ज्ञान द्वारा उनका विच्छेद करने की योग की युक्तियाँ बतलाईं। इस रीतिसे जब विद्याधर ने अपना मन निर्मल और शुद्ध कर लिया तो उसको थोड़े ही समय में आत्मज्ञान होकर परमानन्द की प्राप्ति हुई, और वह जीवन्मुक्त होकर आनन्द से रहने लगा।

४३—इन्द्र की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजीने रामचन्द्र को बतलाया कि परमाणु-परमाणु के भीतर अनन्त और अपार सृष्टियाँ हैं। जो जीव उनका अनुभव करते हैं उनके लिये ही वे सृष्टियाँ सत्य हैं, दूसरों को उनकी सत्ता का ज्ञान नहीं होता :—

एक समय देवताओं और दैत्यों में घोर युद्ध हुआ। देवता लोग हार गये। उनका स्वामी इन्द्र अपनी जान बचाने के लिये भाग निकला। उसने अपनी रक्षा के लिये संसार में कोई स्थान न पाया। तब उसने योग विद्या द्वारा अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बनाकर सूर्य की एक किरण में प्रवेश किया। उस अत्यन्त सूक्ष्म किरण के भीतर भी उसको ऐसा ही संसार दिखाई पड़ा जैसा कि बाह्य ब्रह्माण्ड में था। उस जगत में उसने अपने मनसे एक साम्राज्य की रचना की और उसका राजा बन गया। इस प्रकार उसने उस जगत में बहुत दिनों तक राज्य किया। उसके पुत्र पौत्र आदि ने भी उसी जगत में राज्य किया। बहुत काल बाद उसके वंश में एक राजा ने आत्मज्ञान प्राप्त किया और उसको विराट् ज्ञान भी हुआ। उस ज्ञान से यह भेद खुला कि उसका एक पहला पूर्वज इन्द्र था जो भागकर सूर्य की किरण में प्रवेश कर गया था।

४४—मङ्की की कहानी

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि जब मनुष्य को विवेक और वैराग्य होने पर उसका मन, निर्मल और विचारवान् हो जाता है तो थोड़े से ही उपदेश से उसको आत्मज्ञान हो सकता है।

वसिष्ठजी ने कहा कि एक बार जब कि वे अज राजा के यज्ञ में पुरोहित बनकर जा रहे थे उनको रास्ते में एक ब्राह्मण मिला जिसका नाम मङ्की था। बात करते-करते वसिष्ठजी को ज्ञात हुआ कि वह ब्राह्मण बहुत विरक्त और विवेकी है किन्तु अभी तक उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ। वसिष्ठजी ने उसे आत्मज्ञान का उत्तम अधिकारी पाकर मार्ग में चलते-चलते ही आत्मज्ञान का उपदेश दिया। मङ्की के हृदय में वसिष्ठजी का उपदेश घर कर गया; और उसको तुरन्त ही आत्मानुभव हो गया।

४५—मनोहरिण का उपाख्यान

इस उपाख्यान में वसिष्ठजी ने मन की उपमा मृग से दी है और समाधि की उपमा वृक्ष की ठण्ढी छाया से। जिस प्रकार कि ऊसर भूमि में 'मृगतृष्णा' के जल की तलाश में प्यासा मृग धूप में भटकता फिरता रहता है और कहीं पर उसे किसी घने पेड़ की छाया मिल जाती है और उसका दुःख शांत हो जाता है, उसी प्रकार व्यथित मनको संसार-रूपी ऊसर भूमि में आनन्द की वृथा खोज करते और दौड़ते रहने पर कभी-कभी समाधि का आनंद मिल जाता है। उस मनोमृग का स्वरूप कैसा है यह यहाँ पर बतलाया है :—

आत्मरूपी चर्म के अपहरणार्थ कामक्रोधादि व्याधों से अनुगत, असार, अनेकताकार शरीररूप कंटकों के कुञ्जों में जर्जरीभूत मुखवाला, वासनारूप पवन से प्रेरित संसार-वन में दौड़ता हुआ, अन्तःकरण में तृष्णारूपी दाह से युक्त, अहंतारूपी मृगतृष्णा की नदी की ओर दौड़ता हुआ, संपत्तिरूपी लताओं में पैरों के उलझ जाने से अनेक कंटकों से वेधित शरीरवाला, तृष्णारूपी नदी में तृषा, शोक और मोहादि तरङ्गों से बहा हुआ, अनेक व्याधिरूप दुष्ट व्याधों के दुःखों से पलायमान, विषयों से उत्पन्न दुःखरूपी बाणों से वेधित, पूर्वकाल के दुःखों के संस्कार रूपी पत्थरों से प्रहारित; स्वर्ग-नरकादि ऊँचे-नीचे स्थानों में संपात और निपात से चकित, अपने बुद्धिरचित

अनेक आचार, सम्प्रदायों और परमात्मा की माया से भ्रमित, इन्द्रिय रूपी ग्राम में आकर भागने में तत्पर, भयङ्कर कामरूपी गजेन्द्र की गर्जना से घबराया हुआ, विषय रूपी अजगरों की महा विषरूपी फुंकार से मूर्छित, कामिनी रूपी भूमि पर विषय रूपी रस से मूर्च्छित पड़ा हुआ कोपरूपी दावानल में दग्ध, अनेक अभिलाषारूपी मच्छरों से तङ्ग आया हुआ, भोगों के लोभ में प्रमोद रूपी शृगालों से भगाया हुआ; अपने कर्म से उत्पन्न दरिद्रतारूपी व्याघ्र से पीड़ित; पुत्र कलत्र आदि के मोहरूपी कुहरे से अंधा, नीच कामरूपी गड्ढों में गिरने से भग्न शरीरवाला, मृत्युरूपी व्याघ्र से सुखपूर्वक खाए जाने योग्य यह मनरूपी मृग संसार में भटकता फिरता है।

४६—पाषाणोपाख्यान

पाषाणोपाख्यान द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया कि सारा विश्व कल्पनाकृत है और कल्पना द्वारा इस विश्व के भीतर भी दूसरे विश्वों की रचना की जा सकती है। यह कहानी स्वयं वसिष्ठजी के अनुभव में आई हुई घटना की है।

एक समय वसिष्ठजी की इच्छा किसी एकान्त स्थान में रहकर ध्यान करने की हुई। संसार में चारों ओर विघ्नबाधाओं को देखकर उन्होंने आकाश में ध्यान के योग्य स्थान ढूँढ़ा। किन्तु वहाँ पर भी उनको नाना प्रकार के शब्दों के स्पन्दन अनुभव में आए। इसलिये उन्होंने शून्य लोक में प्रवेश किया। वहाँ पर अपने संकल्प द्वारा एक कुटिया की रचना करके उसमें आसन लगाकर ध्यान लगाना आरंभ किया, और तुरन्त ही समाधि में प्रविष्ट हो गए। समाधि में प्रवेश होकर उन्होंने नाना प्रकार के लोकों में भ्रमण किया जो कि बहुत सूक्ष्म और विचित्र प्रकार के थे। कुछ समय पीछे जब कि वे समाधि से जागे तो उनके कानों में एक बहुत सरस और मनोहर गाने का शब्द सुनाई पड़ा। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस शून्य लोक में शब्द कहाँ से सुनाई पड़ा। आकाश-धारणा द्वारा उनको ज्ञात हुआ कि वह सरस और मनोहर गान एक सुंदर और तरुण रमणी का है। वसिष्ठजी को उस रमणी को देखने की उत्सुकता हुई, और तुरन्त वह स्त्री वसिष्ठजी के सामने उपस्थित हो गई। वसिष्ठजी के पूछने पर उसने बतलाया कि उसका निवास-स्थान उनके एक कल्पित जगत् में है।

वसिष्ठजी द्वारा कल्पित जगत् में पृथ्वी के ऊपर एक पहाड़ है, उस पहाड़ के एक पत्थर के भीतर वह तरुणी और उसका पति रहते हैं। तरुणी अपने पति के मन की कल्पना द्वारा उत्पन्न हुई थी। लेकिन उसके पति ने अभी तक उसको स्त्रियोचित आनन्द प्रदान नहीं किया था। इसी कारण वह महादुःखी थी। इस दुःख को सहन न करने के कारण उसने संसार के सब भोगों की आशा छोड़कर आत्म-ज्ञान की शरण लेनी चाही; किन्तु उसको ज्ञान उत्पन्न करानेवाला कोई नहीं मिला। इसलिये वह स्त्री वसिष्ठजी से प्रार्थना करने लगी कि वे उसको और उसके स्वामी को आत्मज्ञान का उपदेश करके दुःख से मुक्त करें।

वसिष्ठजी को यह बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और इसकी सत्यता की जाँच करने के लिये वे अपने संकल्प के जगत् में पृथ्वी के ऊपर स्थित पहाड़ के उस पत्थर को देखने चल दिए जिस में कि वह देवी और उसका स्वामी वास करते थे। वसिष्ठजी ने उस जगत् में प्रवेश किया और उस जगत् के ब्रह्मा से मिले। जब कि वसिष्ठजी उस ब्रह्मा से मिलने गए तभी वह ब्रह्मा निर्विकल्प समाधि में बैठनेवाला था। वसिष्ठजी से मिलते ही वह ब्रह्मा समाधि में बैठ गया और वह जगत् जिसमें वह शिला थी, और जिसमें वह तरुणी और उसका स्वामी ब्राह्मण रहता था, तुरन्त ही क्षीण हो गया। वसिष्ठजी ने उस जगत् की प्रलय अपनी आँख से देखी और अपने आप वे उससे बच कर चले आए। यह सब अनुभव वसिष्ठजी ने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा ही किया था। अब वह सूक्ष्म शरीर शून्यलोक में स्थित कुटी में वर्त्तमान अपने स्थूल शरीर में प्रवेश करने के लिये वहाँपर जब वापिस आया, तो उसने देखा कि उस कुटिया में कोई एक सिद्ध रहने लगा और वसिष्ठ का शरीर वहाँ नहीं रहा। यह देखकर वसिष्ठजी ने वहाँ पर रहने का संकल्प ही त्याग दिया और स्वर्गलोक में जाकर रहने का निश्चय कर लिया। उनके शून्यलोक में वास करने के संकल्प के क्षीण होते ही उन के संकल्प द्वारा रचित कुटी भी क्षीण हो गई, और उसके क्षीण होते ही उस सिद्ध का शरीर जो कि उस कुटी में था, पृथ्वीमण्डल पर गिर पड़ा। वसिष्ठजी ने सिद्ध को अपना सब हाल कहा और दोनों सिद्धलोक में जा कर रहने लगे।

४७—विपश्चित् की कथा

इस कहानी द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह उपदेश किया कि मनुष्य की वासना और संकल्प ही उसके पुनर्जन्मों को निश्चित करते हैं।

जम्बूद्वीप में तत्तमिति नाम की एक नगरी थी उस पर विपश्चित् नाम का एक राजा राज्य करता था। एक समय उसके राज्य पर चारों दिशाओं से शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। राजा को आक्रमण की सूचना मिलते ही बहुत दुःख हुआ। उसने अग्नि देवता को प्रसन्न कर के वर प्राप्त करने के लिये अपने शरीर की यज्ञ की आग में आहुति दे दी। अग्नि देव ने प्रसन्न हो कर वर मांगने को कहा तो विपश्चित् ने यह वर माँगा कि चारों ओर से आक्रमण करने वाले शत्रुओं का सामना करने के लिये उस के एक के स्थान पर चार शरीर हो जाएँ। अग्निदेव ने 'एवमस्तु' कहा। अब एक के बजाय चार विपश्चितों ने शत्रुओं के साथ घोर युद्ध किया और उनको हरा कर भगा दिया। अपने बल पर विश्वास हो जाने पर अब चारों विपश्चित् चार दिशाओं में दिग्विजय करने को चल दिए। वे नाना देशों में गये और उनको विजय करके आगे बढ़े। बहुत से देशों को विजय करके चारोंने चारों दिशाओं में अपना-अपना साम्राज्य स्थापित किया। कुछ काल तक राज्य करके वे अपने मृत्युकाल आनेपर उन शरीरों को छोड़कर जन्म-जन्मान्तरों को प्राप्त हो गए। वसिष्ठजी ने राम को उनके कुछ जन्मों का भी हाल सुनाया और यह भी बतलाया कि उनमें से एक इस समय राजा दशरथ की पशुशाला में एक मृग के शरीर में वर्त्तमान है। यह मृग राजा दशरथ को त्रिगर्त देश के राजाने भेंट किया था। यह सुनकर रामचन्द्रजी को बहुत आश्चर्य हुआ। रामचन्द्रजी ने उस मृग को उसी समय सभा में मँगवाया, और वसिष्ठजी से अपने कथम को प्रमाणित करने की प्रार्थना की। वसिष्ठजी ने तुरन्त ही अपने संकल्प द्वारा एक अग्निकुण्ड की रचना की और मृग को उसमें प्रविष्ट कराया। मृगदेह भस्म हो जानेपर अग्निकुण्ड से एक मनुष्य निकला और सभा में आकर बैठ गया। उसने अपनी स्मृति के अनुसार वसिष्ठजी के कथन का समर्थन किया और अपने अनेक जन्मों की कथा सुनाई।

४८ वटधाना राजकुमारोंकी कथा

विपश्चित् की कथा समाप्त हो जानेपर विश्वामित्रजी ने इस विषयपर एक कथा सुनाई कि संसार का अनन्त विस्तार है, इसका अन्त किसी ने नहीं पाया। जितनी दूर जाओ उतना ही आगे फैला हुआ संसार दीख पड़ता है।

वटधाना नाम का एक देश है। उसके राजा के तीन पुत्र थे। उन तीनों के मन में यह वासना हुई कि इस जगत् के अन्त का पता चलाया जाय। यह सोच कर वे तीनों घर से चल दिए। उनको भ्रमण करते हुए १७ लाख वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक उन्हें संसार का अन्त नहीं मिला।

४९—शवोपाख्यान

विपश्चित् राजा के अग्निकुण्ड जनित शरीर ने (४७ वें उपाख्यान में) जिसका नाम भास था, अपने अनेक जन्मों का अनुभव सुनाते हुए एक कथा सुनाई जो इस प्रकार है :—

एक समय उसने एक बहुत बड़ी वस्तु आकाश से पृथ्वी पर गिरती देखी। ऐसा जान पड़ता था कि एक पूरा ब्रह्माण्ड टूट कर गिर रहा है। पृथ्वी पर पड़ते ही उसने पृथ्वी के बहुत बड़े भाग को ढक लिया और बहुत से जीव जन्तुओं का नाश कर दिया। उसके गिरते ही चण्डी देवी प्रकट हुई और उसने उस विशाल वस्तु को छिन्न भिन्न कर के उसका नाश किया। विपश्चित् की समझ में जब यह न आया कि वह वस्तु क्या थी तो उसने अपने इष्टदेव अग्नि का आह्वान किया। अग्नि ने प्रकट हो कर विपश्चित् को उस वस्तु का वृत्तान्त सुनाया :—

एक समय एक बधिक ने एक वनवासी मुनि को बहुत कष्ट दिया। मुनि ने उसको मच्छर हो जाने का शाप दिया। वह मच्छर की योनि में पैदा हो गया। मच्छर के मरने पर वह मृग हुआ और फिर व्याध हुआ। व्याध की योनि में उसे किसी मुनि ने उपदेश दिया कि बिना ब्रह्मज्ञानी हुए उसका कल्याण नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिये मुनि ने व्याध को पहिले तप करने की अनुमति दी। तप करके जब व्याध का चित्त शुद्ध हो गया तो उसने मुनि से यह प्रश्न किया कि सङ्कल्प जगत् और बाह्य जगत् में समन्वय कैसे हो सकता है? मुनि ने प्रश्न का उत्तर देते हुए अपना एक अनुभव सुनाया जो ऐसा था :—

एक समय मैंने एक मनुष्य को सोते हुए देखा। मेरे मन में यह उत्सुकता हुई कि मैं यह जान जाऊँ कि वह पुरुष अपने स्वप्न जगत् में क्या क्या अनुभव कर रहा है। धारणाशक्ति द्वारा मैंने अपने आप को सूक्ष्म बनाया और मैं उसके संकल्प-संसार में प्रविष्ट हो गया। मैंने वहाँ पर एक अनन्त जगत् देखा और उनमें मैं विचरण करने लगा। उस जगत् में मैंने सृष्टि और प्रलय भी देखा। मैं अपने असली स्वरूप को भूल कर वहां पर रहने लगा और ऐसा अनुभव किया कि मैं उस जगत् में १०० वर्ष तक रहा। उस जगत् में वर्त्तमान एक मुनि ने मुझे मेरे असली रूप की याद दिलाई। तब मैं उस सोते हुये पुरुष के संकल्प-जगत् (स्वप्न-जगत्) से बाहर आया। तब मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं उसके संकल्प-जगत् में केवल क्षण भर रहा था।

मुनि की यह बात व्याध की समझ में नहीं आई। मुनि ने कहा कि अब फिर एक बार तप करो और यह वर माँगो कि तुम्हारा शरीर ब्रह्माण्ड जैसा विशाल हो जाय। तब तुमको अपने भीतरी ब्रह्माण्ड का अनुभव होगा। व्याधने तप किया और ब्रह्माण्ड जैसा विशाल शरीर प्राप्त किया। जब उसका जीव इस शरीर को छोड़ कर चला गया तो यह ब्रह्माण्ड-समान विशाल देह शव होकर गिरा। अग्निदेव ने विपश्चित् से कहा कि यह दीर्घकाय वस्तु वही शव था। इस शरीर को छोड़ कर वह जीव सिन्धु राजा बना और अपने मन्त्रियों के द्वारा आत्मज्ञान का उपदेश पाकर निर्वाण को प्राप्त हुआ।

५०—शिलोपाख्यान

शिलोपाख्यान केवल एक दृष्टान्त मात्र है। इसमें वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को ब्रह्म की शिला से उपमा देकर यह समझाया है कि जिस प्रकार एक शिला में अव्यक्त रूप से संसार की सभी प्रतिमाएँ वर्त्तमान रहती हैं उसी प्रकार ब्रह्म में भी अव्यक्त रूपसे संसार के सभी व्यक्त पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं।

५१—ब्रह्माण्डोपाख्यान

ब्रह्माण्डोपाख्यान में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कैसे होती है, और इस उत्पत्ति का वर्णन स्वयं ब्रह्माने उनसे कैसे किया था। यह बात आगे चल कर सिद्धान्त प्रकरण में वर्णन की जाएगी।

५२—ऐन्दवोपाख्यान

ऐन्दवोपाख्यान पहिले कही हुई इन्दू ब्राह्मण के लड़कों की कथा (नं० ८) की ही पुनरावृत्ति है।

५३—विल्वोपाख्यान

विल्वोपाख्यान भी एक दृष्टान्त ही है जिसमें ब्रह्म की एक बिल्व फल से उपमा देकर वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया है कि जिस प्रकार एक बिल्व फल के भीतर अनेक वस्तुएं वर्त्तमान हैं उसी प्रकार ब्रह्म के भीतर भी अनन्त पदार्थ वर्त्तमान हैं।

५४—तापसोपाख्यान

रामचन्द्रजी ने वसिष्ठजी से कहा—भगवन्! कुछ दिन हुए हमारी पाठशाला में विदेह नगर का वासी कुन्ददन्त नामक एक ब्राह्मण आया था। उसने अपनी देखी हुई एक आश्चर्यमय घटना सुनाई थी जो इस प्रकार है:—कुन्ददन्त एक समय कहीं जा रहा था। मार्ग में उसने एक तपस्वी को एक वृक्ष पर उलटा लटकते देखा। उसे उस को देख कर बहुत आश्चर्य हुआ। पूछने पर तपस्वीने कुन्ददन्त को बतलाया कि वह तब तक तप करता रहेगा जबतक कि उसे सप्त द्वीप का राजा बनने का वर न मिल जाय। कुन्ददन्त इस तप का फल जानने के लिये वहीं रहने लगा। कुछ दिन के पीछे वहाँ पर सूर्यमण्डल से एक दिव्य पुरुष आया और उसने उस तपस्वी को वर दिया कि वह अगले जन्म में सप्त द्वीप का राजा हो जायगा। वर पाते ही तपस्वी ने अपना तप समाप्त किया। कुन्ददन्त से उसने कहा कि इसी प्रकार उसके सात भाई भी सप्तद्वीप के राजा होने के लिये तपस्या कर रहे हैं। कुन्ददन्त और वह दोनों मिलकर उनको देखने के लिये चले। सबसे मिलने पर यह मालूम हुआ कि उनको भी अगले जन्म में सप्तद्वीप के राजा होने का वर मिल गया है। उधर उन आठों भाइयों की स्त्रियों ने तप किया और प्रत्येक ने यह वर लिया कि मरनेपर उनके स्वामियों के जीव उनके घरों से बाहर नहीं जाने पाएँगे। कुन्ददन्त को यह सब वृत्तान्त जानकर आश्चर्य हुआ और उसने उस तपस्वी से पूछा कि सप्तद्वीप का राज्य एक समय में ही सब भाइयों को कैसे मिल जायगा और सब के सब सप्तद्वीप के राजा होते हुए अपनी स्त्रियों के घरों के भीतर कैसे रहेंगे। सब की वासनाओं में इतना विरोध है कि

वे एक ही समय पर पूरी नहीं हो सकतीं। पर सब को ही उनकी वासनाओं के पूरे होने का वर मिल चुका है। उस कदन्व तापसने कुन्ददन्त ब्राह्मण से कहा—इसका रहस्य केवल वसिष्ठजी ही जानते हैं। वे ही इसको समझा सकते हैं। इसलिये आप को अयोध्या जाना चाहिये और वहाँ पर वसिष्ठजी से इस घटना का रहस्य समझना चाहिए। राम ने कहा—अब वह ब्राह्मण अयोध्या में आ गया है और आप से मिलकर अपनी शंका को निवृत्त करना चाहता है। वसिष्ठजी ने कुन्ददन्त को बुलवा लिया और श्री रामचन्द्रजी के सामने ही उसकी सब शंकाओं की निवृत्ति कर दी।

५५—काष्ठवैवधिकोपाख्यान

यह उपाख्यान योगवासिष्ठ का अन्तिम उपाख्यान है। इसके द्वारा वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को यह समझाया कि यद्यपि गुरु और शास्त्र द्वारा ही ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता तो भी गुरु का बार बार उपदेश सुनने से और शास्त्र का बार बार चिन्तन करने से कभी न कभी आत्मज्ञान हो ही जाता है।

एक अति दीन किन्तु पुरुषार्थी लकड़हारा था। वह प्रति दिन जंगल में जाकर लकड़ियाँ एकत्रित करके लाया करता था और उनको बेच कर अपना और अपने बालबच्चों का पेट पालन करता था। बहुत दिन ऐसा करते रहने पर उसको एक दिन चिन्तामणि मिल गई। उसको पाकर उसका सब दरिद्र दूर हो गया और सब कामनाएँ पूरी हो गई। इस प्रकार शास्त्र और गुरु के उपदेश का सेवन करते रहने पर कभी कभी आत्मानुभव हो जाता है।

परिच्छेद ८

योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्त

पाठक यहाँ तक इन बातों से भली-भाँति परिचित हो गए होंगे कि श्रीयोगवासिष्ठ का आध्यात्मिक ग्रन्थों में कितना ऊँचा स्थान है, यह ग्रन्थ कब लिखा गया होगा, इसकी लेखशैली कैसी है, इसके कौन-कौन से संक्षेप हो चुके हैं, इसमें से कितने उपनिषद् बन गए, इसके सम्बन्ध में आज तक किस-किस ने क्या-क्या लिखा है, इसमें किस विषय की चर्चा है और उसको प्रतिपादन करने के लिये कौन-कौन से उपाख्यान सुनाए गए हैं। अब लेखक ने पाठकों के समक्ष इस ग्रन्थरत्न के दार्शनिक सिद्धान्तों के रखने का इरादा किया है। यह महाग्रन्थ एक अथाह और विशाल समुद्र के समान है। इसमें अनन्त बहुमूल्य रत्न मौजूद हैं। जितनी बार इसमें गोता लगाया जाए उतना ही थोड़ा है। बहुत लोग इसमें गोते लगाते रहते हैं और अनेक रत्न एकत्रित करते और उपभोग का आनन्द लेते रहते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त रत्नों का उपभोग करने के लिये दूसरों को निमंत्रित करते हैं। जब से यह ग्रन्थ बना है ऐसा होता आ रहा है और भविष्य में भी ऐसा होता रहेगा। लेखक ने जो रत्न अपने कई वर्ष के प्रयत्न से इस महासागर में से इकट्ठे किए हैं वे सब "श्री वासिष्ठ दर्शन" नामक ग्रन्थ के रूप में आध्यात्मिक पाठकों की भेंट है, जो कि यू. पी. गवर्नमेण्ट की "प्रिंस आफ़ वेल्स संस्कृत टेक्स्ट्स" पुस्तकमाला में क्वीन्स संस्कृत कालेज, बनारस के प्रिंसिपल पं० गोपीनाथ कविराज जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रहा है। इसका एक सार "वासिष्ठ दर्शन-सार" नामक पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित सन् १६३३ में लेखक ने प्रकाशित कराई थी। यहाँ पर हम पाठकों को उसी 'वासिष्ठ दर्शन' नामक संस्कृत ग्रन्थ के आधार पर योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित कराना चाहते हैं।

१—जीवन में दुःख और अशान्ति का साम्राज्य

यह ऊपर बताया जा चुका है कि श्री रामचन्द्रजी जब शैशवावस्था पार कर चुके और युवावस्था में प्रविष्ट हुए तो उनके मन में जीवन और

संसार की दशा पर विचार उदय हुआ। चारों ओर आँखें खोलकर और विचार करके देखने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि जीवन दुःख और अशान्ति-मय है। संसार में कुछ भी सार नहीं है। जीवन का लक्ष्य कुछ भी दिखाई पड़ता और किसी स्थिति में भी आनन्द और शान्ति का अनुभव नहीं होता। इस विचार के कारण वे आशाहीन, निराशावादी खिन्नमना हो गए थे। वसिष्ठजीने उनसे अपने विचार प्रकट करने को कहा तो उन्होंने संसार और जीवन की असारता का सविस्तार वर्णन किया। यह वर्णन इतनी सुन्दर भाषा में और इतना भावपूर्ण है कि संसार के साहित्य में, जर्मन लेखक और तत्त्वज्ञ शोपेनहार के लेखों को छोड़कर इसकी तुलना कहीं पर शायद ही मिले। यहाँ पर हम उसमें से कुछ श्लोकों का संग्रह करके पाठकों के सामने स्वतन्त्र हिन्दी अनुवाद सहित रखते हैं। रामचन्द्र जी के सारे उद्‌गारों का सार यही है कि संसार अनित्य, असार, क्षणभंगुर और मायामय है। मनुष्य-जीवन भी क्षणिक है और इसमें प्राप्त होनेवाले सभी भोग दूर से देखने में ही मधुर जान पड़ते हैं, परन्तु भोग लेने पर दुःखजनक और मृत्यु को निकट बुलाने वाले हैं; इसलिये समझदार आदमी को उनसे विरक्ति होनी चाहिए।

(अ) संसारमें सर्वत्र दोष ही दिखाई पड़ते हैं:—

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ?
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वम् कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ?
(१।२७।३१)

कौन सी ऐसी दृष्टि है जिसमें दोष न हो ? कौनसी ऐसी दिशा है जिसमें दुःख का दाह न हो ? कौन ऐसी उत्पन्न वस्तु है जो नाशवान् न हो ? कौनसी क्रिया है जो कपट से रहित हो ? अर्थात् संसार में जिधर देखो दोष ही दिखाई पड़ते हैं, सब ओर दुःख, नाश और कपट का साम्राज्य है।

(आ) यहां पर कुछ भी स्थिर नहीं है:—

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजंगमम्।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन्स्वप्नसङ्गमसन्निभम् ॥ १ ॥ (१।२८।१)
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसञ्चयाः।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवत्क्षणात्मकम् ॥ २ ॥ (१।२८।१०)

वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम् ।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥३॥ (१।२८।११)
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः ।
सदैकरूपं भगवन्किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥४॥ (१।२८।३२)
बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥५॥ (१।२८।३७)
क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम् ।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥६॥ (१।२८।३८)
इतश्चान्यदितश्चान्यदितश्चान्यदयं विधिः ।
रचयन्वस्तुना याति खेदं लीलास्विवार्भकः ॥७॥ (१।२८।३९)

हे ब्रह्मन् ! जो कुछ यह स्थावर-जङ्गम (जड़-चेतन) जगत् दीख पड़ता है वह सब स्वप्न के समागम के समान अस्थिर है। बाल्यावस्था अनित्य है, युवावस्था अनित्य है, यह शरीर भी अनित्य है, और द्रव्य का संग्रह अनित्य है। संसार के सारे पदार्थ निरन्तर तरङ्ग के समान पूर्वभाव को त्याग कर दूसरे भाव को ग्रहण करते रहते हैं। हवा में रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान चञ्चल (क्षणभङ्गुर) इस संसार में जीवन है; और तीनों लोकों के पदार्थों की शोभा बिजली की चमक के समान क्षणिक है। हे भगवन् ! इस संसार में एक रूप में स्थिर कोई भी पदार्थ नहीं है। वही मनुष्य पहले किसी और रूप में था, कुछ दिनों में ही दूसरे रूप का हो जाता है। जब अपने शरीर में ही एकरूपता नहीं है तो बाह्य पदार्थों का क्या विश्वास ? बाल्यावस्था थोड़े दिनों में बीत जाती है, यौवन की शोभा भी थोड़े ही दिन रहती है; फिर कुछ दिनों के लिए बुढ़ापा आता है। जैसे नट क्षणक्षण में वेष बदल कर अपनी लीलाएँ दिखाता है, यह मन भी क्षण में आनन्दित होता है, क्षण में शोकयुक्त होता है और क्षण में ही शान्त हो जाता है। सृष्टिकर्ता, बालक की नाईं, अपनी बनाई हुई वस्तु से ऊब जाता है; यहाँ ही वहाँ पर कुछ और वहाँ पर कुछ उत्पन्न करता ही रहता है; किसी वस्तु को क्षण में कुछ और दूसरे क्षण में कुछ और बनाता रहता है।

(इ) जीवन की दुर्दशा :—

आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं चातितरलं बाल्यं जडतया हतम् ॥१॥ (१।२६।१)

कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥२॥ (१।२६।१०)
शत्रवश्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवात्मा मनसैव मनो रिपुः ॥३॥ (१।२६।११)
वस्त्ववस्तुतया ज्ञातं दत्तं चित्तमहंकृतौ ।
अभाववेधिना भावा भावान्तो नाधिगम्यते ॥४॥ (१।२६।१४)
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी ।
नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा ॥५॥ (१।२६।२२)
सर्वे एव नरा मोहाद्दुराशापाशपाशिनः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥६॥ (१।२६।४१)
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥७॥
(१।२७।७)

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते यत्रातिरम्या विषमूर्च्छनैव ॥८॥
(१।२७।१३)

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥९॥
(१।२७।१८)

आयु अत्यन्त चपल है, मृत्यु सर्वथा क्रूर है; युवावस्था अत्यन्त ही चञ्चल है; और बाल्यावस्था अज्ञान में ही नष्ट हो जाती है। सब लोग चिन्ता से कलङ्कित हो रहे हैं। सब बन्धुजन संसार की बेड़ियाँ हैं; जितने भोग हैं वे सब महारोग हैं; और तृष्णा केवल मृगतृष्णा है। अपनी इन्द्रियाँ ही अपने शत्रु हैं। सत्य भी असत्यता को प्राप्त हो गया है; आत्मा ही आत्मा को हनन करता है और मन ही मन का दुश्मन हो रहा है। जो वस्तु जैसी है उसको किसी दूसरे ही प्रकार से जाना जाता है। अहंकार में मन लगा रहता है। सब भावरूप पदार्थ अभाव को प्राप्त होते हैं, और इन सब भावों का क्या अन्तिम लक्ष्य है उसका कुछ पता ही नहीं। सारे भाव आने और जाने वाले (उत्पत्ति और नाशशील) हैं। विषयों की भावना ही संसार से सबको बाँधती है। न जाने ये सब प्राणी कहाँ ले जाए जा रहे हैं। सब मनुष्य मोह के वश हुए, दुःखदायी आशाओं की फाँसी में बन्धे हुए, और दोष

रूपी झाड़ों में अटके हुए मृगों के समान, जीवनरूपी जङ्गल में नष्ट हो रहे हैं। तृष्णारूपी लता के वन में विचरने वाले, मनरूपी मर्कट कामरूपी वृक्षों की अनेक शाखाओं पर भ्रमण करके कालक्षेप करते हैं, और कहीं कुछ भी फल नहीं पाते। हे तात! पुत्र, स्त्रियाँ और धन, जिनको मनुष्य भ्रान्त बुद्धि से रसायन तुल्य समझता है, कुछ भी उपकार नहीं करते; अन्त में ये सब अतिरम्य वस्तुएँ विष द्वारा प्राप्त मूर्च्छा की नाईं दुःखदाई होती हैं। जिस प्रकार वृक्षों के पत्ते उत्पन्न होकर शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार विवेकहीन लोग जन्म लेकर कुछ दिन बाद कहीं चले जाते हैं।

(ई) काल का सब ओर साम्राज्य है :—

न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः॥ (१।२३।४)
किं श्रिया किं च राज्येन किं देहेन किमीहितैः।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति॥२॥ (१।१८।३७)
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवानिलम्।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाऽजरं वपुः॥३॥ (१।१६।६)

जैसे विशाल समुद्र को बड़वानल ग्रास कर जाता है, वैसे ही इस संसार में ऐसी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती जिसको यह सर्वभक्षी काल न खाता हो। लक्ष्मी से क्या? राज्य से क्या? शरीर से क्या? मनोरथों से क्या? थोड़े ही समय में काल इन सबको काट डालता है। यह महाक्रूर आचरण वाला काल तरुण शरीरों को बुढ़ापे तक पकाकर निरन्तर ऐसे भक्षण करता है जैसे सर्प वायु को।

(उ) जीवन में सुख कहाँ है।

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंततिः।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च॥१॥ (१।१२।७)
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः।
आपदां [illegible] पापा भावा विभवभूमयः॥२॥ (१।६२।८)
आपदः सम्पदः सर्वाः [illegible] दुःखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव बत माया विजृम्भितम्॥३॥ (६।९३।२)

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥४॥ (१।२२।३)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥५॥ (३।६।८)
सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (५।१९।६)
मालिन्यं दुःखमप्येव ज्वालाया इव कज्जलम् ॥६॥ (४।९।१७)
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥७॥ (५।१।४१)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसा सरसनैरस्या लुठन्तेषु न को हतः ॥८॥ (३।९३।२९)
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥९॥ (३।९३।७९)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥१०॥ (३।९३।७८)
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥११॥ (५।१।९२)

यह संसार का प्रवाह क्या सुखदायक है ? यहाँ पर प्राणी मरने के लिये उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के लिये ही मरता है। संसार की जितनी चेष्टाएँ हैं वे सब चञ्चल हैं और विभव काल में प्राप्त जितने विषय भोग हैं वे आपत्ति के मूल और पापजनक हैं। सब सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं, सुख केवल दुःख के लिये है और जीवन मरण के लिए है। देखो माया का क्या विस्तार है। मुझे कोई भी भोग सुखदायी नहीं दिखाई देता, क्योंकि सब भोग तभी तक रमणीय मालूम पड़ते हैं जब तक उन पर विचार-दृष्टि नहीं पड़ती। निश्चय ही सब भोग विनाशशील हैं। सारे भोग भयङ्कर परिणामवाले, शीघ्रही विकारयुक्त, क्षणभंगुर, संसार में फँसाने वाले और केवल आरम्भ में बिना विचारे रमणीय मालूम पड़ने वाले हैं। जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला का अन्त कालिमा में होता है, उसी प्रकार सब सुखाशाओं का अन्त दुःखमय होता है। जितने वर्त्तमान पदार्थ हैं उन सबके सिरपर नाश अवश्य स्थित है। सब रमणीय पदार्थों के सिर पर अरम्यता और सुखों के ऊपर दुःख स्थित है। तब फिर मैं किस वस्तु की शरण लूँ ? सारे भोग व विषय विष के समान दुःख देने वाले हैं, स्त्रियां मोह

का उत्पादन करने वाली हैं, और सारे [illegible] पुरुषों में भी विरसता उत्पन्न करनेवाले हैं। फिर इनमें रमण करता हुआ कौन नष्ट नहीं होता ? विषयों के भोग जहरीले सर्पों के फणों के समान हैं; स्पर्शमात्र से ही काट लेते हैं और क्षण-क्षण में देखते-देखते नाशको प्राप्त होते रहते हैं। सारी सम्पत्तियाँ और ललनाओं का सौन्दर्य तरङ्गों के समान क्षणभंगुर हैं, सर्प के फणरूप छत्र की छाया के समान इनमें कौन बुद्धिमान् रमण कर सकता है ? यह संसार संपूर्ण दुःखों का उद्भव-स्थान है, भला इसमें रहते हुए सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

(ऊ) मोहान्धता :—

असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव ॥१॥ (१।१२।११)
न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥२॥ (१।१२।१२)
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः।
मुधैव हि वयं मोहात्संस्थिता बद्धभावनाः ॥३॥ (१।१२।१३)

अत्यन्त खेद की बात है कि हम मूढ़ बुद्धि वाले झूठे सुखसे इस प्रकार खिंचे जा रहे हैं जैसे कि मृगतृष्णा के जल से मूढ़ मृग वन में दूर खिंचे चले जाते हैं यद्यपि किसी ने हमको बेचा नहीं तथापि हम इस प्रकार स्थित हैं जैसे कि बिके हुए (गुलाम)। बड़े अफसोस की बात है कि यह जानते हुए भी कि यह सब मायामय है हमलोग मूढ़ हो रहे हैं। इस प्रपञ्च में विषयों से उत्पन्न होने वाले सुखों की क्या हैसियत है (अर्थात् बहुत थोड़े और क्षणिक हैं)! हम लोग व्यर्थ ही उनकी ओर आशा लगाए रहते हैं।

(ए) लक्ष्मीनिन्दा :—

न श्रीः सुखाय भगवन्दुःखायैव हि वर्धते।
गुप्ता विनाशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥१॥
(१।१३।१०)

मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं कदर्थसाध्या क्षणभङ्गुरा च।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः ॥२॥
(१।१३।२२)

हे भगवन् ! लक्ष्मी की वृद्धि सुख के लिए नहीं, केवल दुःख के

लिये ही होती है। इसकी रक्षा भी नाश का कारण है, जैसे कि सुरक्षित विषलता भी मृत्यु का कारण होती है। लक्ष्मी स्त्री के समान मनोहर रूप धारण करके चित्त की वृत्तिको खींचती है; दुष्ट कर्मों के करने पर प्राप्त होती है और क्षणभंगुर (जल्द नष्ट होने वाली) है, सर्पों की पंक्ति की नाईं अपने असली रूप को लपेटे रहती है और पुराने कुएँ में उत्पन्न हुई फूलों की बेल के समान (बाहर से सुन्दर किंतु भीतर से दुर्गन्धवाली) है।

(ऐ) आयुनिन्दा :—

पेलवं शरदीवाभ्रमस्नेह इव दीपकः।
तरङ्गक इवालोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥१॥ (१।१४।६)
प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम्।
आखुनेव जरच्छुभ्रं कालेन विनिहन्यते ॥२॥ (१।१४।१६)
स्थिरतया सुखभाषितया तया
सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च।
जगति नास्ति तथा गुणवर्जितम्
मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥ (१।१४।२१)

शरत् काल के बादल, तेल रहित दीपक और तरंग के समान, आयु [illegible] और नष्टप्राय है। जिस प्रकार प्रति दिन शनैः शनैः खेद रहित होकर कोई चूहा बिलको छेदता रहता है, उसी प्रकार काल भी आयु को निर्दयता से प्रति दिन शनैः शनैः काटता रहता है। स्थिरता और सुख के अनुभव से सदा रहित, सब गुणों से वर्जित, मृत्यु का पात्र, आयुके समान संसार में और कोई तुच्छ वस्तु नहीं है।

(ओ) चित्त की चञ्चलता :—

चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्चुरम्।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥१॥ (१।१६।१०)
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥ २ ॥ (१।१६।२२)

जिस प्रकार सिंह पिञ्जरे के भीतर कहीं पर स्थिर नहीं रहता, इधर उधर डोलता ही रहता है, उसी प्रकार मन, अपनी चञ्चल वृत्ति के कारण और चिन्ताओं के समूह से लदा हुआ, कभी भी स्थिर नहीं होता। अपने विषयों की ओर चित्त इस फुरती से दौड़ता है जैसे कि

पक्षी अपने खाद्य मांस की ओर, और क्षण भर में ही उनसे इस प्रकार विरक्त हो जाता है जैसे कि बालक खेल से। अर्थात् मनमें जराभी भी स्थिरता नहीं है।

(औ) तृष्णा की जलन :—

तृष्णाभिधानया तात दग्धोऽस्मि ज्वालया तथा।
यथा दाहशमो मह्ये जायते नामृतैरपि ॥१॥ (१।१७।११)
कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी।
दशत्यपि मनाक्स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥२॥ (१।१७।१७)
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥३॥ (१।१७।२९)
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ ४ ॥ (१।१७।३२)
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥५॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥६॥ (१।१७।१)
दृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम्।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥७॥ (५।१५।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
क्षीयते जीयते सर्वं तृष्णैका हि न जीर्यते ॥८॥ (३।९३।२६)

हे तात! तृष्णारूपी अग्नि मुझे इस प्रकार जला रही है कि मुझे सन्देह है कि अमृत से भी यह दाह शान्त नहीं हो सकती। कुटिल, कोमल स्पर्शवाली, विषयरूपी दुःखदायक विष देनेवाली, यह काली सर्पिणीरूपी तृष्णा छूने मात्र से (अर्थात् मनमें आते ही) काट लेती है। यह तृष्णारूपी चञ्चल बन्दरी, अलङ्घ्य स्थान पर भी पैर रखती है, तृप्त होने पर भी और फलों की इच्छा रखती है और किसी एक स्थान पर क्षण भर भी नहीं ठहरती। संसार के सब दोषों में तृष्णा ही सबसे अधिक दुःख देनेवाली है, यह अन्तःपुर में सुरक्षित पुरुष को भी संकट में डाल देती है (क्योंकि जहाँ मनमें किसी वस्तु के प्राप्त करने की तृष्णा उत्पन्न हो गई दुःख का अनुभव आरम्भ हो गया)। जरा, मरण और दुःख इन सबकी पिटारी और शारीरिक

और मानसिक दुःखों को नित्य देनेवाली वेश्या के समान तृष्णा है। जिस समय चित्तरूपी आकाश में, हृदय में अन्धेरा करने वाली दुरन्त तृष्णारूपी रात्रि छा जाती है तभी सब प्रकार के दोषरूपी उल्लुओं की पंक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। तृष्णा का मारा हुआ मनुष्य देखने में दीन, नष्ट हृदय, ओजरहित हो जाता है, नीचता को प्राप्त होता है, मोहित होता है, रोता है और गिर जाता है। बूढ़ा होने पर प्राणी के केश तथा दांत आदि सभी चीजें जीर्ण हो जाती हैं, केवल एक तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती। (इस कारण से उसे और अधिक दुःख होता है, क्योंकि भोगों की तृष्णा रहते हुए भी भोगों के भोगने की शक्ति नहीं रहती)।

(अं) देह की अरम्यता :—

समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम्।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ १ ॥ (१।१८।३४)
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥२॥ (१।१८।३८)
बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिग्धिगस्तु पुनः पुनः ॥३॥ (१।१८।६२)

सब रोगों का स्थान, झुर्रियों से सुकड़ा हुआ, सब मानसिक व्याधियों के सूक्ष्म बीजों से भरा हुआ, यह शरीर मुझे अच्छा नहीं लगता। हे मुने! बाहर और भीतर रक्त और मांस से भरपूर इस नाशवान् शरीर में कौन सा सौन्दर्य है? जो लोग शरीर और जगत् की स्थिति के स्थिर होने में विश्वास करते हैं उन मोहरूपी मदिरा से उन्मत्त जनों को बारबार धिक्कार है।

(अः) बाल्यावस्था की दुर्दशा :—

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्तते ॥ १ ॥ (१।१९।२)
ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त इव कौशिकाः ॥२॥ (१।१९।१०)

अशक्ति, आपत्तियां, तृष्णा, मूकता, मूढ़ बुद्धि, वस्तुओं की अभिलाषा, चञ्चलता, (वस्तुओं के न प्राप्त होने पर) दीनता, ये सब दोष बाल्यावस्था में मौजूद होते हैं। जितने दोष हैं, जितने दुराचार

हैं और जितने भयंकर परिणामवाले रोग हैं वे सब [illegible] में [illegible] प्रकार मौजूद रहते हैं जैसे खराब [illegible] में उल्लू रहते हैं।

(क) यौवनावस्था के दोष :—

निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम् ।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते ॥ १ ॥ (१।२०।८)
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसङ्गमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ २ ॥ (१।२०।१३)
सुनिर्मलापि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ ३ ॥ (१।२०।१८)

निमेष मात्र के लिये प्रकाश होनेवाली चञ्चल मेघों के गर्जनयुक्त बिजली की चमक के समान, क्षणिक यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। बिना विचारे और थोड़े समय के लिये अच्छे लगने वाले और शुद्ध भावों से रहित वेश्या के साथ संग के समान, यह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार निर्मल, विस्तीर्ण और पवित्र नदी भी वर्षा ऋतु में मलीन हो जाती है उसी प्रकार बुद्धि यौवनावस्था में मलीन हो जाती है।

(ख) स्त्रीनिन्दा :—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः [illegible] किमिव शोभनम् ॥ १ ॥ (१।२१।१)
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम् ।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥ २ ॥ (१।२१।२)
आपातरमणीयत्वं कल्प्यते [illegible] स्त्रियाः ।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र [illegible] मोहैककारणम् ॥ ३ ॥ (१।२१।८)
ज्वलतामतिदूरेऽपि [illegible] अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥ ४ ॥ (१।२१।१२)
पुष्पकेसरगौराङ्गी [illegible] ।
कदाऽस्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता [illegible] यथा ॥ ५ ॥ (१।२१।१६)
मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम् ।
पुंसां मन्त्र इवाहीनां बन्धनं [illegible] ॥ ६ ॥ (१।२१।२१)
[illegible] दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु [illegible] [illegible] ॥ ७ ॥ (१।२१।२३)

नाड़ी, हड्डी और ग्रन्थि आदि से बनी हुई नारीरूपी मांस की पुतली के चञ्चल शरीर रूपी पिञ्जरे में कौन सी सुन्दर वस्तु है ? चर्म, मांस, रक्त, अश्रुजल और नेत्र इनको अलग-अलग विचार करके देखो और सोचो कि स्त्री के शरीर में क्या रमणीय है ? तब फिर क्यों फजूल ही लोग मोहित होते हैं ? हे मुने ! स्त्री की रमणीयता विचार-रहित कल्पना में ही है और मेरी समझ में तो उतनी भी नहीं है। स्त्री के सौन्दर्य [illegible] एकमात्र कारण मोह है। ऊपर से सरस मालूम पड़ने वाली पर भीतरसे नीरस स्त्रियाँ दूर से ही जलाने वाली नरक की अग्नि का कठोर और बढ़िया ईंधन हैं। कान्ता वह विष की लता है जो कि फूल के केशर के समान गौर अङ्ग वाली, पुरुष के मारने के लिये सदा उद्यत, और उन्मत्तता की दीनता पैदा करने वाली है। जैसे घोड़ों के लिये अस्तबल, और हाथियों के लिये उनके बाँधने का खम्भा और सर्पों के लिये मंत्र बन्धन का कारण है, उसी प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों के बन्धन का कारण हैं। सर्व दोष रूपी रत्नों की पिटारी, और सदा दुःख देने वाली बेड़ी के समान स्त्री [illegible] मुझे कुछ मतलब नहीं।

(ग) भोगों की नीरसता :—

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु
भोगेषु नाहमलिपक्षतिचञ्चलेषु।
ब्रह्मन् रमे मरणरोगजरादिभीत्या
शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥ [illegible] ॥ (१।२१।३६)

हे ब्रह्मन् ! बिना विचारे ही रमणीय मालूम पड़ने वाले, पार करने में अशक्य, भ्रमर के पंखों के समान चञ्चल भोगों [illegible] मैं मृत्यु, रोग और वार्धक्य के भय से रमण नहीं करना चाहता। अपने प्रयत्न से मैं परम पद को प्राप्त करके शान्त होना चाहता हूं।

(घ) बुढ़ापे की निन्दा :—

जरामार्जारिका भुंक्ते यौवनाखुं तथोद्धता।
परमुल्लासमायाति शरीरामिषगर्धिनी ॥ [illegible] ॥ (१।२२।२९)
न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे।
ते जराजीर्णराक्षस्या पश्याशु विजिता मुने ॥ २ ॥ (१।२२।३१)
हिमाशनिरिवाम्भोजं वात्येव शरदम्बुदम्।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ [illegible] ॥ (१।२२।२)

किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण जरागतेनापि हि जीव्यते यत्।
जरा जगत्यामजिता जनानां सर्वेषणास्तात तिरस्करोति ॥ ४ ॥
(१।२२।३८)

शरीर रूपी मांस को खाने वाली वृद्धावस्था रूपी बिल्ली यौवन रूपी चूहे को भक्षण करके बहुत प्रसन्न होती है। जो योद्धा कभी रण में किसी से नहीं जीते गए और जो पर्वत की कन्दरा के भीतर सुरक्षित रहते हैं, उनको भी वृद्धावस्था रूपी राक्षसी सरलता से जीत लेती है। जैसे हिम का वज्र कमल को और जाड़े की हवा सरदी के बादल को और नदीतीर पर खड़े वृक्ष को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार बुढ़ापा शरीर को नष्ट कर देता है। हे तात! उस बुरे और कठिनाई से जिए जाने वाले जीवन से क्या लाभ, जिसमें बुढ़ापा आ जाने पर भी जीना पड़े? हे तात! किसी से भी न जीता गया यह बुढ़ापा मनुष्यों की सभी अभिलाषाओं का तिरस्कार करता रहता है।

(ङ) जीवन की असारता :—

पातः पक्वफलस्यैव मरणं दुर्निवारणम्।
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ १ ॥ (६।७८।३–४)
शैलनद्यारय इव संप्रयात्येव यौवनम्।
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थितिः ॥ २ ॥ (६।७८।५–६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः।
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ॥ ३ ॥ (६।७८।६–७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभङ्गुरम्।
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ॥ ४ ॥ (६।७८।७–८)

पक्के फल के गिरने के समान मरण अनिवार्य है। आयु प्रतिक्षण इस प्रकार चली जा रही है जैसे कि हथेली पर से पानी। यौवन पहाड़ी नालों की नाईं तेजी से भागा जा रहा है। जीर्ण स्थिति वाला यह जीवन इन्द्रजाल के दृश्य के समान असत्य है। सुख इतनी जल्दी भाग जाते हैं जितनी जल्दी धनुष से छोड़े हुए बाण चित्त दुःखों (को सुख समझ कर उन) की ओर इस प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार कि गिद्ध मांस की ओर। बरसाती बुलबुलों की नाईं यह जीवन क्षणभंगुर है, और विचार करने पर सारा व्यवहार केले के खम्भे की नाईं असार जान पड़ता है।

(च) सब प्रकार का अभ्युदय असार है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ १ ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां [illegible] समाश्वसवानिह ॥ २ ॥ (४।४६।४)

धन और दारा आदि रम्य वस्तुओं की वृद्धि होने पर हर्ष का क्या अवसर है ? मृगतृष्णा की नदी में बाढ़ आने पर भी क्या प्यासे पुरुषों को कुछ आनन्द हो सकता है ? धन और दारा आदि वस्तु की वृद्धि होने पर आनन्द नहीं मानना चाहिये; क्योंकि मोह की माया के बढ़ने पर किसी को भी समाश्वासन नहीं मिलता।

(छ) संसार-जनित दुःख की असहनीयता :—

क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने ।
संसारव्यवहारोत्थं नाशाविषयवैशसम् ॥ १ ॥ (१–२९–१७)

हे मुने ! आरे के दाँतों से चीरा जाना मैं सहन कर सकता हूँ, परन्तु संसार के व्यवहार से उत्पन्न आशा और विषयों द्वारा प्राप्त दुःख को मैं नहीं सह सकता।

(२) रामचन्द्रजी के प्रश्न :—

अतोऽनुत्तममनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
किं तत्स्थितिपदं साधो यत्र शोको न विद्यते ॥ १ ॥ (१।३०।११)
किं तत्स्यादुचितं श्रेयः किं तत्स्यादुचितं फलम् ।
वर्तितव्यं च संसारे कथं नामासमञ्जसे ॥ २ ॥ (१।३०।२०)
केन पावनमंत्रेण दुःसंसृतिविषूचिका ।
शाम्यतीयमनायासमायासशतकारिणी ॥ ३ ॥ (१।३०।२४)
कथं शीतलतामन्तरानन्दतरुमञ्जरीम् ।
पूर्णचन्द्र इवाक्षीणां भृशमासादयाम्यहम् ॥ ४ ॥ (१।३०।२५)
क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ ५ ॥ (१।३।१५)
संसार एव निवहे जनो व्यवहरन्नपि ।
न बन्धं कथमाप्नोति पद्मपत्रे पयो यथा ॥ ६ ॥ (१।३०।१७)

अयं हि दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः ।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ७ ॥ (१।३१।८)
दृष्टसंसारगतिना दृष्टादृष्टविनाशिना ।
केनैव व्यवहर्तव्यं संसारवनवीथिषु ॥ ८ ॥ (१।३१।११)
रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥ ९ ॥ (१।३१।१२)
व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नायाति मे यथा ।
अथवाऽव्यवहारस्य ब्रूत तां युक्तिमुत्तमाम् ॥ १० ॥ (१।३१।१८)

इसलिये हे साधो ! आयास रहित, उपाधि रहित, भ्रम रहित, वह कौन सी सत्य स्थिति है जिसमें शोक न हो ? क्या उचित श्रेय है, क्या उचित प्राप्तियोग्य फल है ? इस असमञ्जस संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये ? कौन से पवित्र मंत्र से यह संसार-रूपी विषूचिका, जो कि अनेक कष्ट दे रही है, शान्त हो सकती है ? आनन्द रूपी वृक्ष की मञ्जरी के सदृश और पूर्ण चन्द्रमा के समान भरपूर आन्तरिक शान्ति को मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ? कौन सा ऐसा उपाय है,कौन सा ऐसा मार्ग है, कौन सा ऐसा विचार है, कौन सा ऐसा आश्रय है कि जिसके द्वारा यह जीवनरूपी जङ्गल दुःखदायी न हो ? संसार के प्रवाह में पड़कर व्यवहार करता हुआ भी आदमी कमल के पत्ते के ऊपर पड़े हुए जल के समान, कैसे बन्धन को प्राप्त न हो (वह साधन बताओ)। यह दग्ध (जला) संसार, जहाँ पर कि निरन्तर दुःख ही दुःख है, सर्वथा नीरस होने पर भी किस प्रकार, मूर्खता को ग्रहण किए बिना, सुस्वादु बनाया जा सकता है (अर्थात् कैसे मनुष्य ज्ञानी होता हुआ भी संसार में स्वाद ले सके) ? इस संसार रूपी वन के रास्तों पर उस पुरुष की नाईं कैसे व्यवहार करें जिसने कि संसार की गति को अच्छी तरह जान लिया हो और जिसने इस लोक और परलोक दोनों के भोगों की वासनाओं को नाश कर दिया हो ? संसाररूपी समुद्र में रहने वाले जन्तु को किस प्रकार राग द्वेष आदि महा रोग, भोगों के समूह और समृद्धि न दुःख पहुँचाएँ ? मुझे वह उत्तम युक्ति बतलाओ जिससे कि मुझे संसार में दुःख न हो—चाहे वह युक्ति संसार में व्यवहार करते हुए बने या संसार का व्यवहार त्याग कर बने ।

२—दुःखनिवृत्ति का उपायः—

रामचन्द्रजी के मुख से जीवन की दुर्दशा का हाल सुनकर वसिष्ठ जी ने समझ लिया कि रामचन्द्रजी आत्म ज्ञान के सर्वोत्तम अधिकारी हैं। इसलिये उन्होंने रामचन्द्रजी को उस आध्यात्मिक विद्या का उपदेश देना आरम्भ किया जो कि उन्होंने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के मुख से जगत् के कल्याण के लिये सुनी थी।

(१) दुःख का कारण संसार का राग है :—

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति, असिरिव छिनत्ति, कुन्त इव वेधयति, रज्जुरिवावेष्टयति, पावक इव दहति, रात्रिरिवान्धयति, अशंकित-परिपतितपुरुषान्पाषाण इव विवशीकरोति, हरति प्रज्ञां, नाशयति स्थितिं, पातयति मोहान्धकूपे, तृष्णा जर्जरीकरोति, न तदस्ति किञ्चिद्दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति। (२।१२।१४)

संसार का राग बहुत ही दुःखदायी है, यह सांप की नाईं डंसता है, तलवार की नाईं काटता है, भाले की नाईं बींधता है, रस्सी की नाईं लपेट लेता है, आग की नाईं जलाता है, जो इसमें शंका रहित होकर गिरते हैं उनको पत्थर की नाईं दबा देता है, बुद्धि को हर लेता है, स्थिरता को नष्ट कर देता है, मोह के अन्धेरे कुएँ में डाल देता है, तृष्णा से मनुष्य को जर्जर कर देता है। ऐसा कोई दुःख नहीं है जो संसारी (संसार से राग रखने वाला)न सहन करता हो।

(२) अज्ञानी को ही दुःख होता है :—

इयं संसारसरणिर्वहत्यज्ञप्रमादतः ।
अज्ञस्योग्राणि दुःखानि सुखान्यपि दृढानि च ॥१॥ (२।९।३३)

यह संसाररूपी प्रवाह अज्ञानी की ही मूर्खता से चल रहा है। अज्ञानी को ही घोर दुःख-सुख होते हैं।

(३) ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति होती है :—

संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम् ।
अज्ञं संमोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत् ॥१॥ (२।११।६९)

प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥२॥ (२।११।४१)
ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥३॥ (२।११।३६)
निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥४॥ (२।१०।२१)
संसारोत्तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥५॥ (२।१०।२२)

संसार रूपी विष का वृक्ष, जो कि सब आपत्तियों का देने वाला है, अज्ञानी को ही दुःख देता है। इसलिये, अज्ञान को हमेशा यत्न करके नष्ट करना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा से भीगे हुए वन को अग्नि की ज्वालाएँ नहीं जला सकतीं, उसी प्रकार मानसिक दुःख भी ज्ञानी को, जिसने जो कुछ जानने योग्य है जान लिया है और शुद्ध दृष्टि प्राप्त करली है, वेदना नहीं दे सकते। ज्ञानयुक्ति रूपी नौका द्वारा बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्र से निमेष मात्र में ही पार हो जाते हैं। निर्वाण नाम वाला परमानन्द, जिसको प्राप्त कर लेने पर मनुष्य का पुनर्जन्म और मरण नहीं होता, ज्ञान से ही प्राप्त होता है। संसार से पार होने का एक मात्र उपाय ज्ञान है; तप दान, तीर्थ आदि उपाय नहीं हैं।

(४) आत्मज्ञान से ही परम शान्ति प्राप्त होती है :—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बु वा ।
नात्मलाभादृते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति ॥१॥ (५।६७।३४)
आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते ॥२॥ (५।७५।४६)
ज्ञायते परमात्माचेद्राम दुःखस्य संततिः ।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥३॥ (३।७।१७)

चाहे त्रिभुवन का राज्य मिल जाए, चाहे मेघ या जल के भीतर कोई प्रवेश करले, आत्मज्ञान की प्राप्ति के बिना किसी को भी शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। जो अपना कल्याण चाहता हो उसको चाहिए कि आत्मज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो, क्योंकि सब दुःखों का नाश आत्मानुभव से होता है। यदि परम आत्मा का ज्ञान हो जाए तो सारे

दुःख का प्रवाह इस प्रकार नष्ट हो जायगा, जिस प्रकार विष का प्रवाह खतम होते ही विषूचिका रोग शान्त हो जाता है।

(५) ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान का उपदेश :—

इदमुक्तं पुराकल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना।
सर्वदु:खक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥१॥ (२।१०।९)
पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥२॥ (२।३।१)

वसिष्ठ जी ने कहा—यह ज्ञान जो कि सब दुःखों का क्षय करने वाला और बुद्धि को परम सान्त्वना देने वाला है मुझे कल्प के पूर्व में परम उपदेशक ब्रह्मा ने दिया था जो ज्ञान सृष्टि के आदि में लोक के कल्याण के निमित्त मुझे ब्रह्मा ने दिया था वही मैं अब (हे रामचन्द्र) तुमको देता हूँ।

———

३—जीवन में पुरुषार्थ का महत्व

(१) पुरुषार्थ द्वारा ही सब कुछ प्राप्त होता है :—

अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते ॥१॥ (३।६।१४)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥२॥ (३।९२।८)
न किञ्चन महाबुद्धे तदस्तीह जगत्त्रये।
यदनुद्वेगिना नाम पौरुषेण न लभ्यते ॥३॥ (६।१९७।३८)
सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥४॥ (२।४।८)
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात्।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते ॥५॥ (२।४।१२)
यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक्।
न तु तूष्णीं स्थितेनेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥६॥ (२।७।१९)
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥७॥ (६।१६२।१८)

यहाँ पर (संसार में) सब दुःखों का क्षय करने के लिये पुरुषार्थ (मनुष्यों के यत्न) के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। संसाररूपी कोश में ऐसा कोई रत्न नहीं है जो शुद्ध पुरुषार्थ से किए हुए शुभ कर्मों द्वारा न प्राप्त हो सके। हे महाबुद्धि वाले राम! तीनों लोकों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उद्वेग रहित पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त न किया जा सके। हे रघुनन्दन! सब कुछ सदा ही सबसे इस संसार में अच्छी भाँति किए हुए पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसको प्राप्त करने के लिये क्रमशः यत्न करता है, वह उसको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है, यदि बीच में प्रयत्न को न छोड़ दे। यहाँ पर चुपचाप बैठे रहने से कुछ प्राप्त नहीं होता, जो जो जैसा यत्न करता है वैसा-वैसा ही फल पाता है। आत्मा ही आत्मा का मित्र है, आत्मा ही आत्मा का शत्रु है,

यदि आत्मा ही आत्मा की रक्षा नहीं करता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(२) पराधीनता की निन्दा :—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥१॥ (२।६।२-७)
कश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥२॥ (२।६।२९)
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामञ्च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥३॥ (२।७।३)
दैवायत्तमिति मन्यन्ते ये हतास्ते कुबुद्धयः।
इति प्रत्यक्षतो दृष्टमनुभूतं श्रुतं कृतम् ॥४॥ (२।९।२९)
ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः।
[illegible]ः किमिव लोकेऽस्मिन्वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥५॥ (२।७।१७)

जो मनुष्य यह समझता है कि वह ईश्वर का भेजा हुआ ही स्वर्ग या नरक में जाता है वह सदा ही पराधीन रहता है; ऐसा मनुष्य पशु है इसमें कोई सन्देह ही नहीं। जो यह समझ कर कि उसको कोई दूसरा ही प्रेरित करता है, दृष्ट (प्रयत्न) को छोड़ बैठता है वह अधम मनुष्य दूर से ही त्याग देने योग्य है। जो उद्योग को छोड़कर भाग्य (तक़दीर) के ऊपर भरोसा करते हैं वे अपने ही दुश्मन हैं और धर्म, अर्थ और काम सब को नष्ट कर देते हैं। जो कुबुद्धि लोग यह समझते हैं कि सब कुछ भाग्य के आधीन है वे नाश को प्राप्त होते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने में, अनुभव में और सुनने में आती है। जो लोग शूर हैं, उन्नति करने वाले हैं, ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, बतलाओ उनमें से कौन इस संसार में भाग्य की प्रतीक्षा करता है।

(३) दैव (भाग्य) कोई वस्तु नहीं है —

दैवं नाम न किञ्चन ॥ १ ॥ (२।९।२८)
दैवं न विद्यते ॥ २ ॥ (२।८।१३)
दैवमसत्सदा ॥ ३ ॥ (२।८।११)
दैवं न किञ्चित्कुरुते केवलं कल्पनेदृशी ॥ ४ ॥ (२।९।३)

मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ ५ ॥ (२।८।१३)
न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ६ ॥ (२।८।८)
दैवमाश्वासनामात्रं दुःखे पेलवबुद्धिषु ।
समाश्वासनवागेषा न दैवं परमार्थतः ॥ ७ ॥ (२।८।१९)

दैव (भाग्य) कुछ नहीं है। दैव है ही नहीं। दैव सदा ही असत् है। दैव कभी कुछ नहीं करता; यह केवल कल्पना मात्र है कि दैव कुछ करता है। दैव मूर्ख लोगों की कल्पना है, इस कल्पना के भरोसे रहकर वे नाश को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् (अक्लमन्द) लोग पुरुषार्थ द्वारा उन्नति करके अच्छे पद प्राप्त करते हैं। संसार में मृत शरीर के सिवाय सभी में क्रिया दिखाई पड़ती है और उचित क्रिया द्वारा ही फलप्राप्ति होती है; इसलिये दैव की कल्पना निरर्थक है। दैव की कल्पना कम बुद्धि पुरुषों को दुःख के समय आश्वासन देने के लिये है। आश्वासन वाक्य के सिवा दैव परमार्थ रूप से कोई वस्तु नहीं है।

(४) दैव शब्द का यथार्थ प्रयोग :—

पुरुषार्थफलप्राप्तिर्देशकालवशादिह ।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥ १ ॥ (२।७।२१)
सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना ।
शुभाशुभार्थसम्पत्तिर्दैवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥ (२।९।४)
भावी त्ववश्यमेवार्थः पुरुषार्थैकसाधनः ।
यः सोऽस्मिल्लोकसंघाते दैवशब्देन कथ्यते ॥ ३ ॥ (२।९।६)
यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा ।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥ ४ ॥ (२।९।१६)
प्राक्स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते । (२।६।४)
प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते ॥ ५ ॥ (२।६।३५)
यथा यथा प्रयत्नः स्यात्तथैवाशु फलं तथा ।
इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ ६ ॥ (२।६।२)

देश और काल के अनुसार, देरी में अथवा शीघ्र ही, किए हुए पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति का नाम दैव है। फल देने वाले पुरुषार्थ

द्वारा शुभा-शुभ अर्थ-प्राप्ति रूप फल-सिद्धि का नाम ही दैव है। जो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही प्राप्त होने वाली वस्तु है वह इस संसार में दैव कहलाती है। जो कर्म दृढ़ता से और तीव्र प्रयत्न से पूर्व काल में किया जा चुका है वही इस समय दैव नाम से पुकारा जाता है। पूर्व-कृत कर्म (पुरुषार्थ) के अतिरिक्त दैव और कोई वस्तु नहीं है; पूर्वकृत पुरुषार्थ ही का नाम दैव है। जैसा-जैसा कोई प्रयत्न किया जाता है वैसा-वैसा ही वह फल देता है। इसलिये पुरुषार्थ ही सत्य है, उसी को दैव कहा जासकता है।

(५) वर्तमान काल के पुरुषार्थ की दैवपर प्रबलता :—

द्वौ हुडा विव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम्।
य एव बलवान्स्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥ १ ॥ (२।६।१०)
ह्यस्तनी दुष्क्रियाभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा।
अद्यैव प्राक्तनी तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान्भव ॥२॥ (३।१६७।२९)
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात्।
सर्वदा पुरुषस्पन्दस्तत्रानुद्वेगवाञ्जयी ॥ ३ ॥ (२।६।१८)
द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद्बलिता भवेत्।
दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते ॥ ४ ॥ (२।६।१९)
परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्णयन्।
शुभेनाशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ ५ ॥ (२।५।९)
प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः।
बलादधस्पदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा ॥ ६ ॥ (२।५।१९)
तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम्।
प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम् ॥ ७ ॥ (२।५।११)

दोनों पुरुषार्थ (पूर्वकृत जिसका नाम दैव है और वर्तमान काल का पुरुषार्थ) दो मेंढ़ों के समान एक दूसरे के साथ लड़ते हैं, जो उनमें अधिक बलवाला होता है वही विजय पाता है। जैसे कल का बिगड़ा हुआ काम आज के प्रयत्न से सुधर जाता है इसी प्रकार आज का किया पुरुषार्थ पूर्व के किए हुए पुरुषार्थ को सुधार सकता है; इसलिये मनुष्य को कार्यशील होना चाहिए। अधिक बली होने पर अब का पुरुषार्थ पूर्व काल के पुरुषार्थ को और पूर्व काल का पुरुषार्थ अब के पुरुषार्थ को नाश करता है, हमेशा ही पुरुष का किया हुआ प्रयत्न विजय पाता है;

जो उद्वेग रहित होकर पुरुषार्थ करता है वही विजय पाता है। यह तो प्रत्यक्ष में ही सिद्ध है कि पूर्व काल के कर्म की अपेक्षा आजकल का किया हुआ कर्म अधिक बलवान् है; इसलिये दैव को अब का पुरुषार्थ इस प्रकार जीत लेता है जैसे कि बच्चे को युवक। इसलिये परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर शुभ कर्म द्वारा पूर्व काल के अशुभ कर्मों पर विजय पाओ। बलपूर्वक इस विचार को दूर करो कि पूर्वकाल का कर्म (दैव) तुमको किसी ओर प्रेरित कर रहा है। अब के पुरुषार्थ से किसी प्रकार भी पूर्व का पुरुषार्थ बलवान् नहीं है। मनुष्य को इतना पुरुषार्थ करना चाहिए कि जिससे उसके पूर्व काल के अशुभ कर्म शान्त हो जावें।

(६) सत्पुरुषार्थ :—

उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ १ ॥ (२।५।४)
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत् ॥ २ ॥ (२।६।२४)

पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है—एक शास्त्रानुसार और दूसरा शास्त्र-विरुद्ध। प्रथम से परमार्थ की प्राप्ति होती है और दूसरे से अनर्थ की। इसलिये शास्त्रों और सज्जनों के सत्सङ्ग से युक्त पुरुषार्थ का आश्रय लेकर बुद्धि को निर्मल करके संसारसमुद्र को पार करो।

(७) आलस्य-निन्दा :—

आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
सम्पूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥ १ ॥ (२।५।३०)

यदि जगत् में आलस्यरूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता। आलस्य के कारण ही यह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी निर्धन और मूर्ख (मनुष्य के रूप में पशु) लोगों से भरी पड़ी है।

४—साधक का जीवन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि जीवन के सभी दुःख अज्ञान जनित हैं। और ज्ञान से, विशेषतः आत्मज्ञान से, सब दुःखों का नाश और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये परम पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि, बिना पुरुषार्थ के यहाँ पर किसी भी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। अब वसिष्ठ जी ने रामचन्द्रजी को यह बतलाया कि आत्मज्ञान द्वारा दुःखों से मोक्ष पाने और परमानन्द के अनुभव की सिद्धि के लिये किस प्रकार के पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

(१) चित्तशुद्धि :—

सबसे पहली बात जो साधक को करनी चाहिये वह है मन की शुद्धि। क्योंकि बिना चित्त के शुद्ध हुए उसमें आत्मा का प्रकाश नहीं होता। मन शुद्ध हुए बिना न शास्त्र ही समझ में आते हैं और न गुरु के वाक्य; आत्मानुभव होना तो दूर रहा। इसलिये कहा है :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जनसङ्गेन नीयतां पुण्यतां मनः ॥१॥ (५।५।१४)
वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥२॥ (५।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम्।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥३॥ (५।५।५)
मनस्युपशमं याते त्यक्तभोगैषणे स्थिते।
कषायपाके निर्वृत्ते सर्वेन्द्रियगणस्य च ॥४॥ (६।१०।१०)
यान्ति चेतसि विश्रान्ति विमला देशिकोक्तयः।
यथा सितांशुके शुद्धे बिन्दवः कुङ्कुमाम्भसः ॥५॥ (६।१०।१३
वासनात्मसु यातेषु मलेषु विमलं सते।
यद्वक्ति गुरुरन्तस्तद्विशतीषुर्यथा बिसे ॥६॥ (६।१०।१४)

हे राम! सबसे पहले शास्त्रों के श्रवण से, सज्जनों के सत्सङ्ग से और परम वैराग्य से मन को पवित्र करो। वैराग्य, शास्त्र और महत्ता

आदि गुण रूपी यत्न से, आपत्तियों को मिटाने के लिये अपने आप ही मन को ऊपर उठाना चाहिए। शास्त्राध्ययन, सज्जनों के सङ्ग और शुभ कर्मों के करने से जिनके पाप दूर हो गए हैं उनकी बुद्धि दीपक के समान चमकने वाली होकर सार वस्तु को पहचानने योग्य हो जाती है। जब भोगों की वासनाएँ त्याग देने पर, इन्द्रियों की कुत्सित वृत्तियों के रुक जाने पर, मन शान्त हो जाता है तब ही गुरु की शुद्ध वाणी मन में प्रवेश करती है, जैसे कि केसर के जल के छींटे श्वेत और धुले हुए रेशम पर ही लगते हैं। जब मनमें से वासना रूपी मल दूर हो गया तभी कमल दण्ड में तीर के समान गुरु के वाक्य हृदय में प्रवेश करते हैं।

(२) मोक्ष के चार द्वारपाल :—

चित्त शुद्धि के लिये साधक को चार साधनों का या उनमें से एक का आश्रय लेना चाहिए। इन्हीं को वसिष्ठ जी ने मोक्ष के द्वारपाल कहा है :—

सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ १ ॥ (२।१२।१९)
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ (२।१६।१८)
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्धाटयन्त्येते मोक्ष राजगृहे तथा ॥ ३ ॥ (२।१२।६०)

शम, सन्तोष, साधुसङ्ग और विचार ये चार संसार-समुद्र के जन्म के पार उतरने के उपाय हैं। मोक्ष के—शम, सन्तोष, साधु-सङ्ग और विचार – ये चार द्वारपाल हैं। इनका या इनमें से तीन या दो का सेवन करने से वे मोक्षरूपी राजमहल का दरवाजा खोल देते हैं।

(अ) शम :—

शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु।
सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥ १ ॥ (२।१३।६०)
यः समः सर्वभूतेषु भावि कांक्षति नोज्झति।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥ २ ॥ (२।१३।७३)
अकुलस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥ ३ ॥ (२।१३।७७)

न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः ।
न च व्याघ्रभुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥४॥ (२।१३।६६)

शमयुक्त सज्जन के भीतर, जो कि सब जीवों के प्रति मित्रता का भाव रखता है, परम आत्म तत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है। शान्त (शमयुक्त) उसको कहते हैं जो अपनी इन्द्रियों को जीतकर सब प्राणियों के साथ एक-सा बर्ताव करता है; न किसी वस्तु का त्याग करता है और न किसी भविष्य में होने वाली वस्तु की आकांक्षा करता है। शान्त उसको कहते हैं जिसकी अमृत बरसाने वाली सौभाग्यशालिनी प्रेम पूर्ण दृष्टि सब लोगों के प्रति समान भाव से पड़ती है। शमयुक्त पुरुष को पिशाच, राक्षस, दैत्य, व्याघ्र, सर्प और शत्रु कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता।

(आ) सन्तोष ।

आशावैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते ।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥१॥ (२।१५।१)
सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्धयः ।
राजानमुपतिष्ठन्ति किंकरत्वमुपागताः ॥२॥ (२।१५।१६)
अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य संप्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः स संतुष्ट इहोच्यते ॥३॥ (२।१५।६)

जिस प्रकार मलीन शीशे में मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता उसी प्रकार आशाओं के वशीभूत सन्तोषरहित चित्त में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। सन्तुष्ट आदमी की सेवा में महा ऋद्धियाँ इस प्रकार उपस्थित होती हैं जिस प्रकार राजा की सेवा में राजा के नौकर चाकर। संतुष्ट वह कहलाता है जो अप्राप्त वस्तु की वाञ्छा को छोड़कर प्राप्त वस्तु में समभाव से बर्तता है और जिसको कभी भी खेद और हर्ष का अनुभव नहीं होता।

(इ) साधु-सङ्ग :—

साधुसङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥ १ ॥(२।१६।१)
यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥२॥ (२।१६।१०)

नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥३॥ (२।१६।११)

सज्जनों का संग इस लोक में सन्मार्ग दिखाने वाला और हृदय के अन्धकार को दूर करने वाला ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है। जो सत्संगति रूपी शीतल और निर्मल गङ्गा में स्नान करता है उसको किसी तीर्थ, दान, तप और यज्ञ से क्या करना है। यदि राग-रहित, गत-सन्देह और हृदय की गांठें खुल गई हैं जिनकी, ऐसे साधु लोग विद्यमान हैं तो हे पाप रहित राम ! फिर किसी तीर्थ पर जाने की अथवा तप करने की क्या आवश्यकता है।

(३) विचार :—

न विचारादृते तत्त्वं ज्ञायते साधु किञ्चन । (२।१४।५२)
विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि (२।१४।५३)
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ।
न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥२॥ (२।१४।५०)
कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥३॥ (५।५८।३२)

बिना विचार किए कोई भी तत्त्व अच्छी तरह नहीं जाना जाता। विचार से ही तत्वज्ञान होता है और तत्वज्ञान से आत्मा में शान्ति आती है। मैं कौन हूँ ? संसार नामक यह दोष कैसे उत्पन्न हो गया है ? इन बातों का न्याय-पूर्वक सोचना विचार कहलाता है। मैं कौन हूँ ? यह जगत कैसे उत्पन्न हो गया ? जन्म और मरण कैसे होते हैं ? इन सब बातों पर अपने अन्दर विचार करके तुम महत्त्व को प्राप्त होगे।

५—स्वानुभूति ही आत्मज्ञान का 'प्रमाण' है

दर्शन-ग्रन्थों में सबसे प्रथम चर्चा 'प्रमाण' सम्बन्धी हुआ करती है। 'प्रमाण' उस साधन का नाम है जिसके द्वारा हमको किसी विषय की प्रमा (अर्थात् सत्य ज्ञान) होती है। ऐसे साधन कौन-कौन से और कितने हैं इस विषय पर दार्शनिकों में बहुत ही मतभेद पाया जाता है। भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने १ से लेकर १० प्रमाण तक स्वीकार किये हैं। उनका विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये देखिये हमारी पुस्तक – Elements of Indian Logic—इनमें से ३ प्रमाण मुख्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्ष उस प्रमाण का नाम है जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियों के द्वारा जाना जाय। अनुमान उसे कहते हैं जिसमें ज्ञात विषय हमारी इन्द्रियों से साक्षात् सम्बद्ध न हो किन्तु उस विषय का अस्तित्व किसी दूसरे इन्द्रिय-गोचर विषय से सम्बद्ध हो। यह सम्बन्ध पूर्व काल में दोनों सम्बद्ध विषयों का साथ-साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे ही जाना जाता है। शब्द उस प्रमाण का नाम है जब कि हमको किसी विषयका, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान-ज्ञान न होते हुए भी, किसी विश्वस्त पुरुष के कहने मात्र से ज्ञान हो। विश्वस्त पुरुष के कथन मात्र से जो ज्ञान होता है उसका नाम शब्द-ज्ञान है। शब्द-प्रमाण में 'शास्त्र' भी अन्तर्गत हैं। बल्कि कुछ दार्शनिकों के मतानुसार तो केवल 'शास्त्र' को ही शब्द-प्रमाण समझना चाहिये क्योंकि शास्त्र के वाक्य ही विश्वसनीय हैं और कोई वाक्य नहीं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी ज्ञान-प्राप्ति के तीन प्रमाण माने हैं जिनके नाम प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द हैं; किन्तु वहाँ पर शब्द को इतना महत्व नहीं दिया गया है जितना कि भारतवर्ष में। यहाँ तो कुछ लोगों के लिये शास्त्र का इतना महत्व है कि उसके आगे प्रत्यक्ष और अनुमान का टका नहीं उठता। यदि निष्पक्ष विचार किया जाए तो सब प्रमाणों में प्रत्यक्ष का ही महत्व अधिक जान पड़ता है। प्रत्यक्ष के ऊपर ही अनुमान निर्भर है। शब्द भी तभी विश्वसनीय है जब कि कहनेवाले को स्वयं विषय का प्रत्यक्ष हो चुका हो; नहीं तो शब्द का कोई मूल्य नहीं है।

अनुमान और शब्द दोनों ही प्रत्यक्ष के आधीन हैं और प्रत्यक्ष के बिना अन्धे हैं। जिस विषय का किसी को कभी स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ उसका उसको अनुमान और शब्द द्वारा कभी ज्ञान नहीं हो सकता। इसी लिये योगवासिष्ठकार ने **प्रत्यक्ष को ही परम प्रमाण माना है :—**

> सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।
> प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥ (२।१९।१६)

जैसे समुद्र सब जलों का अन्तिम स्थान है वैसे ही सब प्रमाणों का आधार एक प्रत्यक्ष ही यहाँ पर माना गया है, उसको सुनो।

योगवासिष्ठकार का प्रत्यक्ष चार्वाक-दर्शनवालों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही नहीं है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा तो केवल इन्द्रिय-गोचर विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ही ज्ञान होता है। न्यायदर्शनवालों ने इस प्रकार के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को बाह्य-प्रत्यक्ष कहकर और एक दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष भी माना है जिसके द्वारा मन की वृत्तियों—सुख-दुःख आदि-का ज्ञान होता है। उसका नाम उन्होंने आन्तर-प्रत्यक्ष रक्खा है। आजकल के पाश्चात्य दार्शनिकों ने विशेषतः फ्रांस के दार्शनिक बर्गसों ने एक तीसरे प्रकार का प्रत्यक्ष बतलाया है जिसमें आत्मा को आत्मा का अनुभव होता है। यह प्रत्यक्ष जिसको हम आत्मानुभव या स्वानुभूति कह सकते हैं इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष या मनः-प्रत्यक्ष से भिन्न और गहनतर अनुभव है। इसका वर्णन करना कठिन है। केवल यही कह सकते हैं कि इसी का नाम ज्ञान अथवा अनुभव है। यह सब प्रकार के ज्ञानों में अनुस्यूत रहता है। **योगवासिष्ठकार का प्रत्यक्ष** यही प्रत्यक्ष है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

> सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः ।
> नूनं तत्प्रतिपत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम् ॥ (२।१९।१७)
> अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाविधम् ।
> प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥ (२।१९।१८)
> स एव संवित्स पुमानहन्ताप्रत्ययात्मकः ।
> स ययोदेति संवित्त्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥ (२।१९।१९)

जो सब इन्द्रियों का अध्यक्ष और सार, जिसका अनुभव स्वयं सिद्ध है और जिसको 'वेदन' कहते हैं उसको ही प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुभूति

वा, वेदन का यथाविधि ज्ञान का ही नाम प्रत्यक्ष है। उसी को हम जीव कहते हैं। उसको ही संवित् कहते हैं और उसी को अहंप्रत्यय वाला पुरुष कहते हैं। उसमें जो-जो संवित्ति उदय होती है उसी का नाम पदार्थ है। परम आत्मा का ज्ञान केवल इसी अनुभव द्वारा होता है। अनुमान और शास्त्र द्वारा नहीं हो सकता। जिसने आत्मा का अनुभव नहीं किया वह अनुमान और शास्त्र द्वारा कभी भी आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता :—

अनुभूर्ति विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते।
अनुभूर्ति विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते॥ (६।६९।१३)

नात्मास्त्यनुमया राम न चाप्तवचनादिना।
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥ (६।७३।१९)

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया (६।११८।४)

तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनानुभूयते।
अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते॥ (६।१२।२८)

जिस प्रकार अपने अनुभव बिना खाँड क्या वस्तु है यह नहीं जाना जा सकता उसी प्रकार स्वानुभूति बिना आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आत्मा का ज्ञान न अनुमान से होता है और न आप्त वचन (शब्द) से। आत्मा का पूर्णतया और सब प्रकार से प्रत्यक्ष सदा स्वानुभूति द्वारा होता है। शास्त्र और गुरु आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते। उसका दर्शन तो केवल अपने आप ही अपनी स्वस्थ बुद्धि द्वारा ही होता है। आत्मा का अनुभव केवल उसको ही होता है जो उसका प्रत्यक्ष करता है, जो उसमें स्थित है और उसमें लीन हो गया है। और लोग तो केवल शास्त्रों के वाक्यों द्वारा ही उसका वर्णन कर सकते हैं।

आत्मानुभव कब होता है ?

अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितोऽन्तः।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा स्वमनुभूयत एव देवदेवः॥ (६।६४।१४)

इस सम्पूर्ण अनन्त आत्मतत्त्व का जो कि चर और अचर, (जड़ चेतन) सभी का आत्मा है और देवों का देव है तब अनुभव होता है जब कि यह अत्यन्त चञ्चल चित्त बाह्य पदार्थों से पूर्णतया विरक्त होकर अपने भीतर शान्त होकर स्थित हो जाए।

अनुभव द्वारा ज्ञात विषय का कुछ ज्ञान दृष्टान्त द्वारा ही दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि योग-वासिष्ठ में दृष्टान्तों की प्रचुरता है। बिना दृष्टान्त अज्ञात विषय का ज्ञान किसी को भी नहीं कराया जा सकता। पूर्ण ज्ञान और यथार्थ ज्ञान तो आत्मानुभव से ही होता है, तो भी दृष्टान्त द्वारा अज्ञानी को उस विषय का कुछ ख्याल हो जाता है। इसलिये दार्शनिकों को दृष्टान्तों का उपयोग करना चाहिए और उच्च-कोटि के दार्शनिक ऐसा करते भी हैं। इसलिये योगवासिष्ठ में कहा है :—

> दृष्टान्तेन विना राम नापूर्वार्थोऽवबुध्यते।
> यथा दीपं विना रात्रौ भाण्डोपस्करणं गृहे (२।१८।६१)
> येनेहानानुभूतेर्थे दृष्टेनार्थेन बोधनम्।
> बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः ॥ (२।१८।६०)

जिस प्रकार बिना दीपक के रात्रि में घर के भीतर के बर्तन-भांडे का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार दृष्टान्त के बिना अपूर्व (पहले न जाने हुए) पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। जब कि किसी अनुभूत पदार्थ का दूसरे व्यक्ति को उसके जाने हुए पदार्थ द्वारा ज्ञान कराया जाता है तो उस पदार्थ को जिसके द्वारा ज्ञान होता है दृष्टान्त कहते हैं।

दृष्टान्त और उस पदार्थ की जिसका दृष्टान्त द्वारा ज्ञान कराया जाता है सब प्रकार से समानता नहीं होती केवल कुछ अंश में ही समानता होती है। इसलिये दृष्टान्त का सदा ही एक अंश—वह जिसमें कि साम्य है—ध्यान में रखना चाहिए :—

> उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता।
> अङ्गीकार्यावबोधाय धीमता निर्विवादिना ॥ (२।१८।६४)
> एकदेशसधर्मत्वादुपमेयावबोधनम्।
> उपमानं करोत्यङ्ग दीपोऽर्थप्रभया यथा ॥ (२।१८।६६)

विवाद न करने वाले बुद्धिमान् श्रोता को ज्ञान प्राप्ति के निमित्त उपमान (दृष्टान्त) की उपमेय से एक अंश में समानता अङ्गीकार करनी चाहिए। उपमेय (जिस विषय का दृष्टान्त द्वारा ज्ञान हो) का ज्ञान उपमान द्वारा एक ही अङ्ग में समानता द्वारा होता है जैसे दीपक की समानता विषय-ज्ञान से एक ही अङ्ग (प्रकाश) में होती है।

६—अद्वैत

जिधर आँख उठाकर देखिये संसार में भिन्न-भिन्न नाना प्रकार की वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं से कुछ निराली ही है और अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है। इस प्रकार संसार में अनन्त वस्तुएँ और व्यक्ति हैं। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसार का ज्ञान प्राप्त करने की है। ज्ञान प्राप्त करनेका साधन बुद्धि है। बुद्धि का स्वभाव दृश्य अनन्त नाना और भिन्न पदार्थों में सादृश्य और एकता को खोजना है। अन्यथा मनुष्य को संसार का ज्ञान ही होना असम्भव है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु का वैयक्तिक स्वरूप इतना निराला है कि उसके अतिरिक्त और कोई उसको न समझ ही सकता है और न उसका वर्णन कर सकता है। इसीलिये मनुष्य ने अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये वस्तुओं के निरालेपन की उपेक्षा करके उनके उस रूप को जानना अपना ध्येय बना लिया है जो कि सब वस्तुओं में एक सा है। साधारण ज्ञान, विज्ञान और दर्शन—जो कि मनुष्य के ज्ञान के क्रमशः तीन प्रस्थान हैं—सभी का उद्देश अनेकता में एकता, भिन्नता में समानता, और नवीनता में परिचितत्व को खोजना है। साधारण ज्ञान ने सभी वस्तुओं का जातियों में वर्गीकरण करके इस उद्देश्य की पूर्ति की। रसायन-विज्ञान ने संसार की सभी वस्तुओं को ९२ प्रकार के भौतिक तत्त्वों के भिन्न-भिन्न मेलों से बना हुआ समझा। वर्तमान भौतिक विज्ञान की खोज के अनुसार समस्त संसार विद्युत्कणों से ही बना है। दार्शनिकों ने भी अनेकता और भिन्नता को कतिपयता और समानता के रूप में समझने का प्रयत्न किया है। ग्रीस देश के दार्शनिक डिमोक्रीटस ने जगत् को समान रूपवाले अनन्त परमाणुओं की ही रचना समझा। एम्पिडोकिल्स का कहना है कि संसार में केवल चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु,—जो कि आकर्षण और विकर्षण के वशीभूत होकर जगत् की रचना कर रहे हैं। भारत में नैयायिकों और वैशेषिकों के मत के अनुसार संसार में केवल ९ पदार्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा हैं।

जगत् के सारे पदार्थ इन्हीं तत्त्वों से मिल कर बने हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् में केवल दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब प्रकृति के रूपान्तर अथवा परिणाम हैं और जितने चेतन जीव हैं वे सब द्रष्टा पुरुष हैं। मनुष्य की बुद्धि की ज्ञान-पिपासा सारे जगत् के अनन्त और भिन्न-भिन्न पदार्थों को दो तत्त्वों में वर्गीकरण करके भी शान्त नहीं हुई। बुद्धि सदा एकत्व की खोज में रहती है और बिना एकत्व को प्राप्त किए तृप्त नहीं होती। बुद्धि की इस एकत्व-पिपासा की शांति अद्वैतवाद में होती है। अद्वैतवादियों के मत में संसार में दो अथवा बहुत से तत्त्व नहीं हैं। समस्त संसार एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होने का नाम है। योगवासिष्ठकार अद्वैतवादी है। यहाँ पर हम संक्षेप से यह बतलाना चाहते हैं कि योगवासिष्ठ के अद्वैत का क्या स्वरूप है।

संसार के सब पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, बिना अद्वैत के सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जो वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं उनके भीतर एक ही तत्त्व वर्तमान होता है। द्रष्टा और दृश्य का भी एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। और द्रष्टा और दृश्य में किसी प्रकार की

एकता हुए बिना द्रष्टा को दृश्य का अनुभव होना असम्भव है:—

ऐक्यं च विद्धि सम्बन्धं नास्त्यसावसमानयोः॥ (३।१२१।४२)
न संभवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः।
न परस्परसंबन्धाद्विनानुभवनं मिथः॥ (३।१२१।३७)

सम्बन्ध एकता का सूचक है। असमान वस्तुओं में कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। विषम वस्तुओं में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और सम्बन्ध बिना एक वस्तु को दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

दृश्य पदार्थ भी द्रष्टा की जाति के ही हैं—अर्थात् वे भी चिन्मय ही हैं:—

सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्येकत्वनिश्चयः॥ (६।२८।१४)
बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते।
नाबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यथा॥ (६।२८।१२)

यदा चिन्मात्रमेवेयं दृष्टिर्दर्शनदृश्यदृक् ।
तदानुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ (६।३८।८)
मृण्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादित्थया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ (६।२५।११)
सर्वं जगद्गतं द्रव्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्णवः ॥ (६।२५।१७)
एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारिवाम्बुधिः ।
तदेव स्पन्दते धीभिः शुद्धवारिव वीचिभिः ॥ (६।१०१।५४)

सजातीय पदार्थ ही एकता को प्राप्त हो सकते हैं, अतएव परस्पर ज्ञान एकत्व का निश्चय कराता है। बोध से जानी हुई वस्तु बोधमात्र ही है। बोध अबोध को नहीं जान सकता। द्रष्टा को दर्शन का अनुभव इस कारण से ही होता है कि द्रष्टा दर्शन और दृष्टि सभी चिन्मात्र हैं। जिस प्रकार मिट्टी के सभी बर्तनों में मिट्टी वर्तमान है, उसी प्रकार सब चेत्य पदार्थों में चित्–तत्त्व वर्तमान है, कोई पदार्थ भी चित् बिना नहीं है। जगत् के सभी पदार्थ बोधमात्र हैं। बोध ही सब में फैला है; जैसे कि हवा के झोंके हवा हैं और समुद्र जल ही जल है। जैसे समुद्र का जल लहरों के रूप में प्रकट होता है उसी प्रकार सारी बुद्धियों में एक ही तत्व प्रकट हो रहा है।

———

७—कल्पनावाद

अद्वैतवादियों के मतानुसार समस्त विश्व में एक ही तत्त्व है, दो या बहुत से स्वतन्त्र और भिन्न सत्तावाले तत्त्व नहीं हैं। वह तत्त्व जड़ाद्वैतवादियों के अनुसार जड़ प्रकृति और चेतनाद्वैतवादियों के अनुसार चेतन ब्रह्म है। संसार की जितनी वस्तुएँ हैं वे सब इसी एक तत्त्व के नाना नाम और रूप हैं। योगवासिष्ठ के अनुसार भी संसार के समस्त पदार्थ जो हमको चारों ओर दिखाई पड़ते हैं चिन्मात्र ब्रह्म के ही अनन्त नाम-रूप हैं। चिन्मात्र ब्रह्म और उसके नाना नाम-रूपों के सिवाय और कुछ नहीं है। इसलिये यहाँ पर कोई भी जड़ पदार्थ नहीं है; जो कुछ भी है वह चेतन आत्मा का ही परिमित, अस्थिर और परिवर्तनशील रूप विशेष है। चेतन और चेतन के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हमको अपने ही भीतर हो सकता है, और कहीं नहीं। बाह्य पदार्थों में हम चेतन को दृश्य रूप में देखते हैं और दृश्य का हमारा ज्ञान इतना पूर्ण और सत्य नहीं हो सकता जितना कि आत्मा और उसके अनन्त नाम रूपों का, जिनका अनुभव हमारे भीतर होता है। इसलिये दृश्य पदार्थों को पूर्णतया और यथार्थ रूप से जानने के लिये हमको उन्हें आत्मा और उसके आन्तर नामरूप वाले विकारों की ही परिभाषा में समझना होगा। यदि गहरा विचार करके देखा जाए तो हमको अपने आत्मा अथवा मन और उसके विकारों के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का ज्ञान कभी होता ही नहीं। बाह्य पदार्थ भी जब तक कि हमारे मन के संवेदनात्मक विकारों का रूप धारण करके हमारे अनुभव में नहीं आते, उनका हमको ज्ञान कभी नहीं हो सकता। हमारी संवेदनाएँ और ज्ञान कहाँ तक मनोमय हैं और कहाँ तक पदार्थों के रूप को बतलाती हैं यह कहना सर्वथा असम्भव है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे वैयक्तिक चेतना में संवेदन उत्पन्न करने के कुछ कारण व्यक्ति से बाहर के पदार्थ हो सकते हैं। परन्तु यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता कि वे कारण स्वयं चेतन अथवा चेतन की विकृतियाँ नहीं हैं। चेतन के विकारों को

समझना यदि हो तो मन और उसकी कल्पनाओं को समझना चाहिए। इनके अतिरिक्त हमारे अनुभव में और कोई चेतन की विकृति नहीं आती। यदि संसार में चेतन आत्मा और उसकी विकृतियों (नाना नाम रूपों) के सिवाय कुछ भी नहीं है तो यही कहना सत्य होगा कि संसार के सब पदार्थ आत्मा तथा मन की कल्पनाएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त संसार में और कोई पदार्थ नहीं है। चेतनाद्वैत को मानने का यही परिणाम है। इसलिये ही योगवासिष्ठकार ने सारे जगत् को कल्पनामय कहा है। उसका यह मत निराला होते हुए भी हास्यास्पद नहीं कहा जा सकता। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक नाना मार्गों द्वारा इसी मत पर आये हैं। भारत में बौद्धों के विज्ञानवाद, पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ, बर्कले, काण्ट, हेगल आदि ने इसी प्रकार के मत का समर्थन किया है। यहाँ पर हम संक्षेप से योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का उसके अनेक अङ्गों में वर्णन करते हैं :—

(१) संसार के सब पदार्थ कल्पनामय हैं :—

समस्तं कल्पनामात्रमिदम् ॥ (३।२१०।११)
विश्वं नानास्त्येव मननादृते । (३।४०।५७)
मनो मनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम् । (४।११।२३)
रूपालोकमनस्कारतत्ताकालक्रियात्मकम् ।
कुम्भकारो घटमिव चेतो हन्ति करोति च । (५।४८।५२)
सर्वं संकल्परूपेण चित्कचमत्कुरुते चिति ।
स्वप्नपत्तननिर्माणपातोत्पातनवज्जगत् ॥ (३।४२।१६)
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
संकल्पकचितं सर्वमेव स्वप्नवदात्मनः ॥ (३।१०१।३५)
धाराकणोर्मिफेणश्रीर्यथा संलक्ष्यतेऽम्भसः ।
तथा विचित्रविभवा नानातेयं हि चेतसः ॥ (३।११०।४८)

यह सारा संसार कल्पनामात्र है। मनन (मन के कार्य) के अतिरिक्त संसार कुछ नहीं है। तीनों जगत् मन के मनन से ही निर्मित हैं। इस रूप (विषय) आलोक (संवेदन) मनस्कार (मन का विचार) तत्ता (पदार्थ का तात्त्विक रूप), काल और क्रिया वाले जगत् को मन इस प्रकार बनाता और तोड़ता है जैसे कि कुम्हार घड़े

को। चित्त अपने भीतर इस सारे संसार को संकल्प के रूप में रखता और समेटता है, जैसे कि स्वप्न के संसार को। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशायें—ये सब आत्मा के संकल्प से इस प्रकार बने हैं जैसे कि स्वप्न बनता है। जिस प्रकार जल के धारा, कण, लहर, और फेन आदि रूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार यह सब नानाता चित्तका ही विचित्र विभव है।

(२) देश और काल भी कल्पित ही हैं:—

देशकालाभिधानेन राम संकल्प एव हि।
कथ्यते तद्वशाद्यस्माद्देशकालौ स्थितिं गतौ (३।११०।६९)

संकल्प ही देश और काल के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि संकल्प से ही देश और काल का अस्तित्व होता है।

(३) देश और कालका परिमाण मनके ऊपर निर्भर है:—

मनोरथे तथा स्वप्ने संकल्पकलनासु च।
गोष्पदं योजनव्यूहः स्यात्सु लीलासु चेतसः ॥ (३।१०३।१३)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ (३।६०।२०)
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ (३।६०।२६)
दुःखितस्य निशा कल्पः सुखितस्यैव च क्षणः।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥ (३।६०।२२)
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ (३।६०।२९)
विष्णोर्यज्जीवितं सर्वं तद्वृषाङ्कस्य वासरः।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ (३।६०।२६)
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत्।
कान्ताविरहिणामेकं यामार्धं वत्सरायते ॥ (३।२०।६१)

मनोरथ, स्वप्न, संकल्प आदि चित्त की लीलाओं में गोष्पद (गौ के पैर रखने योग्य परिमाणवाला स्थान) योजन का विस्तार धारण कर लेता है। निमेष में यदि चित्त कल्प की कल्पना कर लेता है तो वह निमेष कल्प हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यदि कल्प में निमेष की कल्पना कर लेता है तो कल्प निमेष ही हो जाता है।

चित्त-तत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है। दुःखित व्यक्ति को रात भर में कल्प का अनुभव होता है और सुखी को क्षण का। स्वप्न में क्षण कल्प हो जाता है और कल्प क्षण। ब्रह्मा का एक मुहूर्त मनु की पूरी आयु होती है। ब्रह्मा की सारी आयु विष्णु का एक दिन होता है। विष्णु का सारा जीवन-समय शिवजी का एक दिन होता है। चित्तके ध्यान में लीन हो जाने पर न दिन का अनुभव होता है न रात्रि का। हरिश्चन्द्र ने एक रात्रि में ही बारह वर्ष का अनुभव किया था। प्रिया-विरह से पीड़ित पुरुषों के लिये एक रात एक वर्ष के समान बीतती है।

(४) कल्पना के अतिरिक्त पदार्थों में और कोई द्रव्य नहीं है :—

> यादृगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात्।
> न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम् ॥ (३।४।१९)
> यथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम्।
> तथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम् ॥ (३।२०।२९)
> यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः।
> अभ्यासजनितं भाति नास्त्येकं परमार्थतः ॥ (३।२६।६२)
> असदेवाङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात्।
> यथा बालस्य वेतालो नाभाति तदवेदनात् ॥ (३।२६।४५)
> स्वप्ने नगरमुर्वी वा शून्यं खातं च बुध्यते।
> स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याप्यर्थक्रिया नृणाम् ॥ (३।२६।४८)
> त्रस्तक्षीवार्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे।
> वेतालवनवृक्षादिपश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ (३।२६।९१)

देश काल का परिमाण और पदार्थों की विचित्रताएँ सब वास्तव में कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं। जगत् में जो भी पदार्थ हैं वे क्षण भर में (कल्पना से) उदय हो जाते हैं। जिस प्रकार क्षण और कल्प केवल ज्ञानमात्र हैं, उसी प्रकार जगत और सृष्टि का अनुभव भी ज्ञानमात्र है। पदार्थों का स्वरूप पारमार्थिकतया कुछ भी नहीं है। अभ्यास द्वारा जैसी उनकी भावना दृढ़ हो जाती है वे वैसे ही अनुभव में आते हैं। स्वयं कुछ न होते हुए भी वेदना से पृथ्वी आदि पदार्थ कुछ जान पड़ते हैं, जैसा कि बालक को भूत न होते हुए भी भूत दिखाई पड़ता है। भावना न होने से नहीं दिखाई देता। स्वप्न में

शून्य स्थान में भी नगर और पृथ्वी दिखाई पड़ती है। स्वप्न की असत् स्त्री भी पुरुषों को सचमुच की स्त्री के समान सुख देती है। शून्य स्थान में भी दुःखी, नशेवाला, आधी नींदवाला, नाव पर सवार, व्यग्र चित्तवाला मनुष्य, वेताल, वन और वृक्षादि वस्तुओं का अनुभव करता है और उनको प्रत्यक्ष देखता है।

(५) संसार के अटल नियम और स्थिरता भी कल्पित हैं:—

> नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशी स्वप्नसंविदि।
> यावद्भानं किल स्वप्ने तावत्सैव नियंत्रणा ॥ (६।१४८।२०-२१)
> स्वप्ने निमग्नधीर्जन्तुः पश्यति स्थिरतां यथा।
> सर्गस्वप्ने मग्नबुद्धिः पश्यति स्थिरतां तथा ॥ (६।६१।२९-३७)

स्वप्नज्ञान में नियति और अनियति का क्या रूप है? स्वप्न में जो वस्तुएँ जिस क्रम से उदय हो गईं वही उनकी नियति है। इसी प्रकार जगत् में भी है। स्वप्न में जिस प्रकार जीव स्थिरता का अनुभव करता है उसी प्रकार इस संसार में भी करता है। अर्थात् दोनों में ही नियति और स्थिरता कल्पित हैं।

(६) कल्पना ही जड़ता का रूप धारण कर लेती है:—

> मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति।
> देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥ (६।९२।११)
> आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः।
> अत्राधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ (६।८।३४)
> वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माधिभौतिकः।
> न शब्देन न चार्थेन सत्यात्मा शशश्रृङ्गवत् ॥ (३।९७।१६)
> आतिवाहिक एवायं त्वादशैरिव्यक्तदेहकः।
> आधिभौतिकताबुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात् ॥ (३।२१।९४)

हमारी राय में यह ठीक नहीं जान पड़ता कि जिस प्रकार गुड़ आदि के मेल से मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार शरीर में भी चेतना उत्पन्न हो जाती है। हमारा मत तो यह है कि हमारा शरीर विज्ञानजन्य है जैसे कि स्वप्न में होता है। वास्तव में देह भी ज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है। सारे भौतिक पदार्थों का असली रूप

मानसिक ही है। भौतिकता रूपी भूत तो भ्रममात्र है। वस्तुतः पृथ्वी आदि पदार्थों में भौतिकता का लेशमात्र भी नहीं है। भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शशशृङ्ग के समान असत् हैं। मानसिक देह ही अति काल की भावना के अभ्यास से भौतिक शरीर का रूप धारण करती हुई मालूम पड़ने लगती है।

(७) द्रष्टा और दृश्य का अनन्यत्व

द्रष्टा चेत और दृश्य पदार्थों का सम्बन्ध इस प्रकार का है :—

किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः। (३।९४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिताभोगाद्दीपादिव मरीचयः ॥ (३।९४।२१)
स्वमरीचिबलोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव। (३।९४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांशवः ॥ (३।९४।२३)
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः। (३।९४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव ॥ (३।९४।२५)
निर्झरादमलोद्यातात्पयसामिव बिन्दवः। (३।९४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा ॥ (३।९४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा। (३।९४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः ॥ (३।९४।२९)
सर्वा दृश्यदृशो द्रष्टुर्व्यतिरिक्ता न रूपतः। (३।९४।२९)
यथाब्धे पद्मिनीवान्तर्मनोह्यस्ति दृश्यता ॥
मनोदृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित्। (३।३।३६)

जैसे जल की राशि से चञ्चल लहरें, हिलते हुए रोशन चिराग से उसकी किरणें, जलती हुई अग्नि से अपनी रोशनी के बल से फेंकी हुई चिनगारियाँ, चन्द्रमा के बिम्ब से उसकी मन्दार की मञ्जरी के समान किरणें, वृक्ष से उसकी फूल पत्तियों की विचित्र शोभा, सोने से उसके बने हुए कटक, अङ्गद और केयूर आदि गहने, साफ और चमकदार झरने से उसके जलकण, आकाश से घटाकाश, स्थाली (थाली) आकाश और रन्ध्राकाश आदि, जल से उसके भँवर, लहर, फेन और बूँदें, सूर्य की ज्योति से मृगतृष्णा की नदियाँ, भिन्न होते हुए भी स्वरूप से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्रष्टा से सब दृश्यपदार्थ और उनके ज्ञान भिन्न होते हुए भी स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। मन और दृश्य कभी किसी प्रकार

भी एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जैसे पद्माक्ष के भीतर पद्मिनी रहती है, उसी प्रकार मन के भीतर दृश्यता रहती है।

(८) द्रष्टा के भीतर से ही दृश्य का उदय होता है :—

यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु ।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ (३।१।४३)
यत्रतत्रस्थितस्यापि कर्पूरादेः सुगन्धिता ।
यथोदेति तथा दृश्यं चिद्धातोरुदरे जगत् ॥ (३।१।४४)
यथा चात्र तव स्वप्नः संकल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टान्तस्तथा हृद्यस्ति दृश्यभूः ॥ (३।१।४५)
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं [illegible] दृश्यधीः ॥

जैसे पदार्थों में रस, तिलादि वस्तुओं में तेल, फूलों में सुगन्ध होती है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यज्ञान रहता है। कर्पूरादि सुगन्धवाले पदार्थों से जिस प्रकार सुगन्ध का उदय होता है, उसी प्रकार चेतन के भीतर से जगत् का उदय होता है। जैसे तुम्हारे अपने अनुभव में स्वप्न, संकल्प और मनोराज्य का उदय होता है वैसे ही हृदय के भीतर दृश्य जगत् का उदय होता है। जैसे बीज के भीतर देशकाल के अनुकूल अंकुर वर्तमान रहता है, वैसे ही मन भी अपने भीतर देह और दृश्य-जगत का प्रकाश करता है।

(९) स्वप्न और जाग्रत् में भेद नहीं है :—

यदि दृश्य का द्रष्टा से इस प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि ऊपर बतलाया गया है तो फिर स्वप्न-जगत् और वास्तविक जगत्—अर्थात् जाग्रत् अवस्था में ज्ञात जगत्—में क्या भेद है। वसिष्ठजी के मत के अनुसार कोई विशेष भेद नहीं, दोनों में घनिष्ठ समानता है।

जाग्रत्स्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥ (४।१९।११)
स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्वमृच्छति ।
अस्थैर्याज्जाग्रदेवास्ते स्वप्नस्तादृशबोधतः ॥ (४।१९।१२)
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिलप्यते ।
अद्य रात्रौ [illegible] [illegible] [illegible] इत्यभिधीयते ॥ ([illegible]।९९।९)

इदं जाग्रदयं स्वप्न इति नास्त्येव भिन्नता ।
सत्ये वस्तुनि निःशेषसमयोर्यानुभूतितः ॥ (६।१६१।२४)
नैतदेवमिति स्वप्नप्रबोधात्प्रत्ययो यथा ।
मृत्वामुत्रप्रबुद्धस्य जाग्रति प्रत्ययस्तथा ॥ (६।१६१।२५)
कालमल्पमनल्पं च स्वप्नजाग्रदितीह धीः ।
वर्तमानानुभवनसाम्यात्तुल्ये तयोर्द्वयोः ॥ (६।१६१।२६)
बाह्ये तदेवमित्यादिगुणसाम्यादशेषतः ।
न जाग्रत्स्वप्नयोर्ज्यायानेकोऽपि यमयोरिव ॥ (६।१६१।२७)
आजीवितान्तं स्वप्नानां शतान्यनियतं यथा ।
अनिर्वाणमहाबोधे तथा जाग्रच्छतान्यपि ॥ (६।१६१।२९)
उत्पन्नध्वंसिनः स्वप्नाः स्मर्यन्ते बहवो यथा ।
तथैव बुद्धैः स्मर्यन्ते सिद्धै जन्मशतान्यपि ॥ (६।१६१।३०)
यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नास्त्यत्र संशयः ।
स्वप्ने पुरमसद्भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत् ॥ (३।२७।९०)

जाग्रत् और स्वप्न में इसके सिवाय कि एक स्थिर अनुभव का नाम है और दूसरा अस्थिर का, और कोई भेद नहीं है। सदा और सर्वत्र दोनों दशाओं का अनुभव समान है। स्वप्न के समय स्वप्न भी स्थिर रहने के कारण जाग्रत् ही प्रतीत होता है। जाग्रत् भी अस्थिर रूप के आने-जाने पर स्वप्न ही प्रतीत होने लगता है। सर्ग के आदि में चित् का (चेतन का अथवा आत्मा का) स्वप्न जाग्रत् कहलाता है और सर्ग के रहते हुए किसी रात्रि में अनुभव किया हुआ स्वप्न स्वप्न कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर जाग्रत् और स्वप्न में कोई भेद नहीं है। दोनों का अनुभव सर्वथा समान ही है। स्वप्न से जागकर जैसे यह प्रतीति होती है कि जो अनुभव किया था वह वैसा नहीं है, जैसा कि अनुभव किया था, उसी प्रकार यहाँ मरकर दूसरे लोक में जन्म लेने पर जाग्रत् का अनुभव भी ऐसा ही प्रतीत होता है। जाग्रत् और स्वप्न में और सब प्रकार की समानता है, केवल अधिक और अल्प समय तक अनुभूत होने का भेद है। जाग्रत् और स्वप्न में कौनसा अधिक महत्त्व का है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों में ही बाह्य वस्तु की प्रतीति आदि बातें समानरूप से अनुभव में आती हैं। जिस प्रकार एक जीवन में अनेक स्वप्नों का अनुभव होता है, उसी प्रकार जब तक जीव को निर्वाण नहीं प्राप्त होता और वह अज्ञान का जीवन बिताता है,

तब तक जीव को अनेक जाग्रत् अवस्थाओं का अनुभव होता है। जिस प्रकार हमलोग उत्पन्न होकर नष्ट हुए स्वप्नों को याद कर लेते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी सिद्ध लोग भी अनेक जन्मों को याद कर सकते हैं। इसलिये जैसा स्वप्न है वैसा ही जाग्रत् है इसमें कोई शक नहीं है। स्वप्न में स्वप्ननगर असत्य होता हुआ प्रतीत होता है और जाग्रत् में यह जगत्।

(१०) जगत् का अनुभव भी स्वप्न ही है :—

रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते।
यथोदेति तथा तत्र तद्दृश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ (३।६२।२७)
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा।
यथैव तेषां देहादि तथास्माकमिदं स्थितम् ॥ (३।६२।२८)
यथा स्वप्ने धराब्ध्याद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः।
तथा अहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ (३।६२।२९)
यथा स्वप्ने नृभियुद्धकोलाहलगमागमाः।
असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ (३।६२।३०)
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारा युष्मदादिकः।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ (३।६२।४०)
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ (३।६२।४४)
एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवत्स्थितम्।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम् ॥ (३।४२।२४)
दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विद्ध्यहन्तादिसंयुतम् ॥ (३।४२।८)

जैसे स्वप्न में चिदाकाश रूप (विषय) आलोक (विषयज्ञान) और मनस्कार (विषय की मानसिक प्रतिमा) के रूपों में परिणत हो जाता है उसी प्रकार यह सब दृश्य जगत् भी वस्तुतः चिदाकाश का ही विकास है। शरीर, स्थान और इन्द्रिय आदि की वास्तविक सत्ता का क्या प्रमाण है? जैसे स्वप्न में देहादि के अनुभव का उदय होता है वैसे ही इस जगत् में भी होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ—पृथ्वी, सड़कें, पहाड़ और मैदान आदि—चिदाकाश ही के नाम हैं, वैसे ही मैं, तुम और वह और यह संसार चिदाकाश ही हैं। जैसे स्वप्न में मनुष्य की लड़ाई, झगड़े, शोर और आना-जाना वास्तव में न होते हुए भी

अनुभव में आते हैं, वैसे ही संसार का हाल है। स्वप्न के द्रष्टा हमारे तुम्हारे समान साकार जीव हैं, जगत्स्वप्न का द्रष्टा शुद्ध चिदाकाश स्वयं है। चिदाकाश इस जगत् को स्वप्न की नाईं बिना किसी वास्तविक आधार, उपादान और सामान के ही न वर्तमान होते हुए देखता है। इसी प्रकार यह सब जगत् न होता हुआ भी होता हुआ दिखाई पड़ता है और मिथ्या होता हुआ भी स्वप्न के विषयभोग की तरह द्रष्टा को आनन्द देता है। यह अहंतादि से युक्त विश्व एक बहुत बड़ा स्वप्न ही समझना चाहिए।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि योगवासिष्ठकार के मतानुसार जगत् का अनुभव स्वप्न के अनुभव के सदृश है। यही नहीं बल्कि समस्त विश्व एक दीर्घ स्वप्न ही है। यदि ऐसी बात है तो अब एक यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि।यह विश्व-स्वप्न किसका स्वप्न है? किसी एक मुझ जैसे जीव का अथवा किसी ईश्वर का? माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या करनेवाले श्री गौड़पादाचार्य ने भी अपनी माण्डूक्यकारिका में इस प्रश्न को उठाया है। वे पूछते हैं —

क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ?

—माण्डूक्यकारिका, २। ११

अर्थात्, कौन इस भिन्न भिन्न विश्वगत वस्तुओं का द्रष्टा है और कौन इनकी कल्पना करता है? पाश्चात्यदर्शन में भी, जबसे बर्क्ले नामक तत्त्वदर्शी ने यह अकाट्यतया सिद्ध कर दिया कि जगत् के सारे पदार्थ मानसिक संवेदन ही हैं, यह प्रश्न बार-बार उठता चला आ रहा है कि विश्व के पदार्थ किसके संवेदन हैं। किसी जीव-विशेष के अथवा सब जीवों की कल्पना करनेवाले किसी ईश्वर के। कुछ लोगों का कहना है कि प्रत्येक जीव का विश्व अपनी कल्पना की कृति है, इस मत का नाम 'वैयक्तिक कल्पनावाद' है। दूसरे लोगों का कहना है कि विश्वप्रपञ्च ईश्वर की कल्पना है और प्रत्येक जीव उस प्रपञ्च का स्रष्टा न होकर केवल द्रष्टा ही है। इस मत का नाम 'समष्टिकल्पनावाद' है। जीव की दृष्टि से तो इस प्रकार के कल्पनावाद को बाह्यार्थवाद कहने में कोई हानि नहीं होती, क्योंकि विश्व कल्पित होते हुए भी जीव के लिये बाह्यरूप से वर्त्तमान होकर उसकी दृष्टि में आता है। योगवासिष्ठकार का मत इस सम्बन्ध में क्या है यह कहना बड़ा कठिन

ज्ञान पड़ता है, क्योंकि कहीं तो वैयक्तिक कल्पनावाद को समर्थन करने वाले वाक्य पाये जाते हैं और कहीं ईश्वरीय कल्पनावाद के पोषक वाक्य मिलते हैं। दोनों मतों के समन्वय करनेवाले वाक्य भी कहीं-कहीं पर हैं। इसलिये हम यहाँ पर पाठकों के सामने तीनों प्रकार के वाक्यों को उद्धृत करके योगवासिष्ठकार का मत पाठकों को समझाने का प्रयत्न करते हैं—

(११) प्रत्येक जीव का विश्व अलग अलग है और वह जीव ही उस विश्व की सृष्टि करता है :—

> चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।
> असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा तस्य तिष्ठति ॥ (३।१२३।११)
> प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिमत् ॥ (३।४०।२९)
> प्रत्येकमुदितो राम नूनं संसृतिखण्डकः।
> रात्रौ सैन्यनरस्वप्नजालवत्स्वात्मनि स्फुटः ॥ (४।११।२०)
> पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः। (३।४०।२९)
> यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति ॥ (३।१२।१४)
> न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते। (३।९९।६१)
> स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः ॥ (३।९९।६२)
> परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम्।
> महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः ॥ (३।२७।२९)
> जगद्गुच्छसहस्राणि यत्रासंख्यान्यणावणौ।
> अपरस्परलग्नानि काननं ब्रह्म नाम तत् ॥ (४।१८।६)

चित्त (जीव) ही जगत् की सृष्टि करने वाला है। वह जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है वह सत्, असत् अथवा सदसत् रूप से वैसी ही उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की सृजन-शक्ति है। हे राम! जैसे रात को सोते हुए अनेक सैनिकों के मनमें अनेक स्वप्न-जगत् पृथक्-पृथक् उदित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक जीव का संसार उसके भीतर अलग-अलग उदित होता है। जगद्भ्रम प्रत्येक जीवको पृथक्-पृथक् होता है और जिसको जो अनुभव होता है वह उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता। इस प्रकार सब जड़-चेतन जीव अपने-अपने ज्ञान के दायरे के भीतर के विश्व में लीन रहते हैं। परब्रह्म के परमाणु-परमाणु के भीतर अनन्त सृष्टियाँ इस प्रकार

है जैसे सूर्य की किरणों में अनेक त्रसरेणु दिखाई पड़ते हैं। जैसे किसी वन में सहस्रों गुञ्जाफल (घुँघुची के गुच्छे) एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग लटके रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में अणु-अणु के भीतर अनेक सृष्टियाँ हैं।

(१२) ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करता है और सारे जीव ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं :—

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः ।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्यापि स्थिता स्थितिः ॥ (३।९९।४७)
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः ।
तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत् ॥ (६।१८६।६९)
आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता ।
तथा तदा प्रभृत्येवं नियतिः प्रौढिमागता ॥ (३।२१।४६)
निर्झराम्भकणौघोत्पयसामिव बिन्दवः । (३।९४।२६)
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः ॥ (३।९४।२९)

सृष्टि के आदि में स्वप्नपुरुष की तरह ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। वह ब्रह्मा अब तक उसी प्रकार स्थित है। यह सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ ब्रह्मा (प्रजापति) जैसा-जैसा संकल्प करता है वैसी-वैसी ही सृष्टि होती चली जाती है। यह जगत् उसी ब्रह्मा की कल्पना है। जैसे सर्ग के आदि में यह विश्व-भ्रान्ति उदित होती है वैसी ही वह अभी तक स्थित है और नियत रूप से चल रही है। जैसे किसी झरने से पानी की बूँदें गिरती हैं उसी प्रकार ब्रह्मा से सब जीवों की सृष्टि होती है।

(१३) ब्रह्माकृत विश्व और जीवकृत विश्वों में क्या सम्बन्ध है :—

बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः । (६।३८।४)
ब्रह्मपुर्यष्टकस्यादावयं संविदथोदिता ।
पुर्यष्टकस्य सर्वस्य तद्रूपैवेति सर्वता ॥ (६।९१।२)
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम् ।
प्रतिबिम्बितमेतस्माद्यत्तद्यापि संस्थितम् ॥ (३।९९।४८)
अन्योऽन्यमेव पश्यन्ति मिथः संप्रतिबिम्बितात् । (३।९३।२९)
सत्यार्था सा स्वप्ननरस्तत्र स्वप्ननरा वयम् ॥ (६।१९१।१०)

एवमेतदिदं सर्वमन्योन्यं स्वप्नवत्स्थितम् ॥ (३।१९४।११)
कदाचित्प्रतिमैकैव बहूनामपि जायते ।
तथा हि बहवः स्वप्नमेकं पश्यन्ति मानवाः ॥ (६।४९।१०)
संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव ।
तथा त्वमपि मे सत्यं त्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ (३।४२।२०)

हमारे मत में विज्ञानवाद और बाह्यार्थवाद में कोई [illegible] नहीं। जिस प्रकार सर्ग के आदि में ब्रह्मा में विश्व के पदार्थों की संवेदना का उदय होता है उसी प्रकार सब जीवों के मन में पदार्थों की संवेदना का उदय होता है। ब्रह्मा के मन में जो पदार्थसंवित् उदित होती है उसी का प्रतिबिम्ब जीवों के मन में उदित होता है और उदित होकर स्थिर रहता है। चूँकि जीवों की सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टि का प्रतिबिम्ब है इसलिये एक विश्व का ज्ञान दूसरे को होती है। इस रीति से मैं तुम्हारे स्वप्न का व्यक्ति हूं, तुम मेरे स्वप्न के व्यक्ति हो। सब एक दूसरे के स्वप्न-जगत् में वर्तमान हैं। जैसे कभी-कभी एक ही विचार बहुत से आदमियों के मन में आ जाता है और एक ही स्वप्न बहुत से आदमी देख लेते हैं, वैसे ही इस विशाल संसार में मैं तुम्हारे स्वप्न में सत्य हूँ और तुम मेरे स्वप्न में।

८—जगत्

योगवासिष्ठ के कल्पनावाद का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। अब यहाँ पर दृश्य जगत् के विषय में वसिष्ठजी ने रामचन्द्रजी को जो बातें बतलाई उनका उल्लेख किया जाता है।

(१) जगत् के अनेक नाम :—

योगवासिष्ठ में दृश्य जगत् को अनेक नामों से पुकारा है। उनमें से कुछ ये हैं—जगत्, दृश्य, संसृति (संसार), महत्तम (गहन अन्धेरा), मोह, माया, अविद्या, बन्ध, त्वं, अहं इत्यादि की मिथ्या भावना (मैं, तू का मिथ्या व्यवहार)।

> जगत्त्वमहमित्यादि मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
> यावदेतत्सम्भवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ (३।१।२३)
> अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः ।
> कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः ॥ (३।१।२०)

'मैं' और 'तुम' आदि भेद की मिथ्या भावना, जगत् और दृश्य कहलाती है। जब तक इसका अनुभव होता है तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त होता। इस भावना को सर्वज्ञ ऋषियों ने अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह और महान्धकार आदि अनेक नामों से पुकारा है।

(२) जीव-परम्परा :—

इस दृश्य-जगत् की अनेक विशेषताओं में से एक विचित्र विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक दृश्य वस्तु स्वयं द्रष्टा भी है। जो स्वयं किसी मन अथवा जीव की कल्पना है वह स्वयं और वस्तुओं की कल्पना करने की सामर्थ्य रखती है, और उनको उसी प्रकार अपनी कल्पना के रचती है जिस प्रकार वह स्वयं किसी दूसरे जीव द्वारा कल्पना की गई है।

> स्वयं स्वभाव एवैष चिद्घनस्यास्य सुस्फुटम् ।
> यद्यत्संकल्पयत्याशु तत्र तेऽवयवा अपि ॥ (६।२०८।२७)

चिदात्मकतया भान्ति नानात्मकतयात्मना ।
अप्येकसारास्तिष्ठन्ति नानाकारस्वभावगाः ॥ (३।२०८।२८)
यो यो नाम यथा ग्रीष्मे कल्कस्वेदाद्भवेत्कृमिः ।
यद्यद्दृश्यं शुद्धचित्त्वं तज्जीवो भवति स्वतः ॥ (४।११।३)

ब्रह्म का यह स्वभाव ही है कि इसमें जो कुछ भी कल्पित होता है उसके अनेक अवयव भी ब्रह्म के साथ एकात्म होने के कारण नाना प्रकार के जीवों के रूप में स्थित होकर उसी प्रकार कल्पना करने लगते हैं। प्रत्येक दृश्य पदार्थ स्वयं इस प्रकार जीव हो जाता है जैसे गरमी के मौसिम में प्राणियों के शरीर के मैल और पसीने से उत्पन्न हुई वस्तुएँ स्वयं प्राणी बन जाती हैं।

(३) सृष्टि के भीतर अनन्त सृष्टियों की परम्परा :—

जीव जिस सृष्टि की कल्पना करता है उस सृष्टि के भीतर के अनेक पदार्थ भी जीव होकर अनेक सृष्टियों की कल्पना करते हैं और उनके भीतर के अनेक पदार्थ दूसरी अनेक सृष्टियों की कल्पना करते हैं। इस प्रकार यह सिलसिला अनन्त रूप से जारी है।

सर्गे सर्गे पृथग्रूपं सन्ति सर्गान्तराण्यपि । (४।१८।१६)
तेष्वप्यन्तःस्थसर्गौघाः कदलीदलपीठवत् ॥ (४।१८।१७)
चिद्घनैकघनात्मत्वाज्जीवान्तर्जीवजातयः ।
कदलीदलवत्सन्ति कीटा इव धरोदरे ॥ (४।१९।२)
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।
तस्याप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ (५।१२।२०)
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च । (३।४४।३४)
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ॥ (३।४४।३५)
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ (३।५१।३)
जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत् ।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ (३।२२।२६)
परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ (३।६२।१)
तेष्वप्यन्तस्तथैवान्तः परमाणु कणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताहो इत्थमित्यवभासते ॥ (३।६२।२)

अणावणावसंख्यानि तेन सन्ति जगन्ति खे ।
तेषान्तान्व्यवहारौघान्संख्यातुं क इव क्षमः ॥ (३।१७६।६)

प्रत्येक सृष्टि के भीतर नाना प्रकार की अनेक दूसरी सृष्टियाँ हैं; उनके भीतर और दूसरी; उनके भीतर और अनेक; इस प्रकार यह सिलसिला केले के तने की भाँति चलता ही रहता है। जिस प्रकार पृथ्वी के भीतर नाना प्रकार के जीवजन्तु रहते हैं और जिस प्रकार केले के तने में पत्ते के भीतर दूसरा पत्ता और उसके भीतर दूसरा पत्ता रहता है, उसी प्रकार एक जीव के भीतर दूसरे अनेक जीव, और उनके भीतर और दूसरे—इस प्रकार का सिलसिला चलता ही रहता है—क्योंकि सब कुछ चिद्धन (ब्रह्म) है। चित् के एक परमाणु के भीतर जिस प्रकार स्वप्न की त्रिलोकी होती है उसी प्रकार आकाश में अनन्त द्रव्यों के अनन्त परमाणुओं के भीतर भी नाना प्रकार के जगत् हैं। जहाँ जहाँ भी जीवाणु वर्त्तमान है वहीं पर वह जगत् का अपने निज अङ्ग की नाईं अनुभव करता है। इस प्रकार प्रत्येक अणु के भीतर अनन्त सृष्टियों का सिलसिला है और होता रहता है। प्रत्येक परमाणु के एक क्षुद्र टुकड़े के भी लाखवें भाग के भीतर हज़ारों जगत् प्रत्यक्ष सत्यभाव से दिखाई देते हैं। (आधुनिक भौतिक विज्ञान को भी यह ज्ञात हो गया है कि प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर मण्डल की नाईं जगत् है) उन जगतों के परमाणुओं के भीतर भी इसी प्रकार दृश्य जगत् है। यह कितने आश्चर्य की बात है। पर यह सत्य है कि ऐसा है। इस आकाश में अणु-अणु के भीतर जगत् हैं। उनके सब हाल-चाल कौन सुना सकता है?

(४) अनन्त अदृष्ट जगत् :—

एक जीव की सृष्टि का दूसरे जीव को प्रायः ज्ञान नहीं है; इस कारण से ब्रह्माण्ड की अनन्त सृष्टियों का ज्ञान जीवों को नहीं है। केवल अपनी ही सृष्टि का प्रत्येक जीव को ज्ञान होता है। दूसरे जीवों की सृष्टियाँ उसके लिये नहीं के बराबर हैं, क्योंकि वह उनको देख ही नहीं सकता।

प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विचित्राणि च ॥ (३।६३।१२)

अन्योऽन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ (३।६२।१३)
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुसृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ (३।६९।१०)
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि च मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ (३।६९।३४)
संकल्पनगरं सत्यं यथा संकल्पितं प्रति ।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किञ्चन ॥ (३।२।१४९)

प्रत्येक जीव के भीतर बहुत सी नाना प्रकार की एक दूसरी के प्रति अज्ञात सृष्टियाँ उदय हो रही हैं। एक सृष्टि के भीतर क्या है इसका ज्ञान दूसरी सृष्टि को उसी प्रकार नहीं है कि जिस प्रकार गलते हुए एक बीज को दूसरे बीज के भीतर की सृष्टि का ज्ञान नहीं होता। (प्रत्येक बीज के भीतर तदनुरूप सृष्टि सूक्ष्म रूप से होती है। जब वह पृथ्वी में पड़कर गलने लगता है तो उसकी सूक्ष्म सृष्टि स्थूल रूप धारण करने लगती है। उस समय भी एक बीज की सृष्टि का दूसरे बीज को कोई अनुभव नहीं होता); जैसे एक ही समय सोते हुए मनुष्यों के भीतर अनेक प्रकार के व्यवहारों से युक्त स्वप्न-जगत् वर्त्तमान होते हुए भी एक दूसरे के प्रति शून्य हैं; और जिस प्रकार रणक्षेत्र में सोने वाले सिपाहियों के अनेक स्वप्न-जगत् (जिन सबमें प्रायः संग्राम ही होते रहते हैं एक दूसरे के प्रति अज्ञात हैं। ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड की अनन्त सृष्टियों का ज्ञान एक दूसरे को नहीं है)। संकल्प-नगर केवल उसी के प्रति सत्य होता है जो उस जगत् में संकल्पित होता है—चाहे वह सदेह (स्थूल) हो चाहे विदेह (सूक्ष्म), दूसरे के प्रति नहीं। (यही हाल इस जगत् में वर्त्तमान जीवों का भी है)।

(५) सब कुछ सदा सब जगह है :—

यद्यपि दूसरे जीवों के दृश्य जगतों का ज्ञान हमको प्रायः नहीं होता तो भी यदि हम चाहें तो विश्व के समस्त पदार्थों का सब स्थानों का सब काल में अनुभव कर सकते हैं, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय हैं और ब्रह्म सदा सब जगह पूर्ण रूप से विद्यमान है।

ब्रह्म सर्वगतं [illegible] यत्र यदोदितम् ।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्रकत्वैव पश्यति ॥ (३।६२।४२)

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा सर्वरूपिणि । (६।१९९।४१)
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदास्ति तथा परे ॥ (६।१३।२८)
सर्वत्र सर्वशक्त्यात्मा यत्र या शक्तिरुन्नयेत् ।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः ॥ (३।८२।४)

क्योंकि ब्रह्म सब जगह है इसलिये कहीं भी किसी वस्तु का उदय हो सकता है और स्वप्न-शक्ति द्वारा उसका अनुभव होता है। इस प्रकार परम ब्रह्म में जो कि सर्व वस्तुओं का अन्तिम स्वरूप है सदा ही, सब जगह, सर्व रूप से, सब कुछ वर्त्तमान रहता है। ब्रह्म में सब पदार्थ शक्ति-रूप से रहते हैं। जहाँ जिस पदार्थ के अनुभव की तीव्र भावना होती है वहीं पर वह पदार्थ प्रकट हो जाता है।

(६) नाना प्रकार की विचित्र सृष्टियां :—

यह न समझ लेना चाहिये कि सब जगह और सब काल में इसी प्रकार की सृष्टि की रचना होती है जैसी कि हम अनुभव कर रहे हैं। किसी कल्प में किसी प्रकार की सृष्टि और किसी में किसी दूसरे प्रकार की सृष्टि होती है :—

अनन्तानि जगन्त्यस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमहाम्बरे ।
अम्भोधिवीचिवल्लवन्निमज्जन्त्युद्भवन्ति च ॥ (४।१७।१४)
भूयो भूयो विवर्तन्ते सर्गेष्वप्स्विव वीचयः ।
अत्यन्तसदृशाः केचित्केचिदर्धसमक्रमाः ॥ (६।६६।२३)
केचिदीषत्समाः केचिन्न कदाचित्पुनस्तथा । (६।६६।२४)
सर्वासां सृष्टिराशीनां चित्राकारविचेष्टिताः ॥ (४।४७।२७)
दैवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ (६।९९।३२)
कदाचित्सृष्टयः शार्व्यः कदाचित्पद्मजोद्भवाः ।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मुनिर्मिताः ॥ (४।४७।८)
भूरभूत्तृणमयी काचित्काचिदासीद्दृषन्मयी ॥ (४।४७।१२)
आसीद्धेममयी काचित्काचित्ताम्रमयी तथा ।

इस ब्रह्मरूपी महा आकाश में अनन्त प्रकार के अनन्त जगत् इस प्रकार उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं जैसे कि समुद्र में लहरें। जल में तरङ्गों के समान सृष्टियों में नाना प्रकार के विकार होते रहते हैं। उनमें से कुछ समान रूप के, कुछ आधे समान क्रमवाले, कुछ

थोड़ी ही समानतावाले और कुछ बिल्कुल ही निराले ढङ्ग के होते हैं। सब सृष्टियों की बातें विचित्र प्रकार की होती हैं। किसी सृष्टि में देवता लोग ही रहते हैं, किसी में मनुष्य ही, किसी में दैत्य लोग होते हैं, किसी में केवल कीड़े मकोड़े ही। किसी सृष्टि को शिव उत्पन्न करते हैं, किसी को ब्रह्मा, किसी को विष्णु और किसी को मनु। किसी सृष्टि में धरातल मिट्टी का होता है, किसी में पत्थर का, किसी में सोने का, किसी में ताँबे का।

(७) जीवों की सृष्टि और प्रलय का पुनः पुनः होना :—

जीवौघाश्चोद्भविष्यन्ति मधाविव नवाङ्कुराः ।
तत्रैव क्षयमेष्यन्ति ग्रीष्मे मधुरसा इव ॥ (५।९५।१०)
तिष्ठन्त्यजस्रं कालेषु त एवान्ये च भूरिशः ।
जायन्ते च प्रलीयन्ते परस्मिञ्जीवराशयः ॥ (३।९५।११)
उत्पत्योत्पत्य कालेन भुक्त्वा देहपरम्पराम् ।
स्वत एव पदे यान्ति विलयं जीवराशयः ॥ (४।४३।४४)

जैसे चैत्र के महीने में नये अंकुर उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म ऋतु में सब रस सूख जाते हैं उसी प्रकार जीवगण उत्पन्न होते हैं और जहाँ से उत्पन्न हुए थे उसी में लय हो जाते हैं। परम तत्त्व से जीवगण उत्पन्न होते हैं और कुछ समय स्थिर रहकर उसी में लीन हो जाया करते हैं। समय-समय पर ब्रह्म से उदय होकर, और नाना प्रकार के शरीरों का अनुभव करके जीवगण उसी में अपने आप ही लीन हो जाया करते हैं।

(८) कल्प के अन्त में सब कुछ नष्ट हो जाता है :—

पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति ।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमायुषः ॥ (६।२१३।५)
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो द्रुमाः ।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किञ्चिदवशिष्यते ॥ (६।२१३।६)
नश्यन्ति सर्वभूतानि व्योमापि परिणश्यति ।
ससर्वजगदाभासमुपलब्धुरसंभवात् ॥ (६।२१३।७)
ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राद्या ये हि कारणकारणम् ।
तेषामप्यतिकल्पान्ते नामापीह न शिष्यते ॥ (६।२१३।८)

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्।
सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ (३।१।१०)
शाम्यतीक्ष्मशेषेण तथा सर्वत्र सर्वदा।
यथा जाग्रद्विधौ स्वप्नः स्वप्ने वा जागरो यथा ॥ (६।२१३।१९)
यथा स्वप्नपुरं शान्तं न जाने क्वाशु गच्छति।
शान्तं तथा जागृदृश्यं न जाने क्वाशु गच्छति ॥ (६।२१३।१६)

हे पुत्र! जैसे सुषुप्ति में प्रवेश करने के समय सारा का सारा स्वप्न-जगत् नष्ट हो जाता है वैसे ही यह सारा दृश्य-जगत् (प्रलय काल में) नष्ट हो जाता है। पृथ्वी, पहाड़, दसों दिशाएँ, सब क्रियाएँ, काल, क्रम आदि सब बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं—कुछ भी बाकी नहीं रहता। जगत् के द्रष्टा के नष्ट हो जाने पर सब जगत्—सारे प्राणी और आकाश—नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि का भी, जो कि कारणों के भी कारण हैं, कल्प के अन्त में नाम तक नहीं रहता। जिस प्रकार सुषुप्ति के समय स्वप्न का दृश्य अनुभव में नहीं आता वैसे ही कोई भी जड़-चेतन दृश्य पदार्थ कल्प के अन्त में नहीं दिखाई पड़ता। जैसे जाग्रत् अवस्था में स्वप्न का और स्वप्नावस्था में जाग्रत् का पता नहीं लगता वैसे ही जगत् भी प्रलय में पूर्णतया शान्त हो जाता है। शान्त होने पर जैसे स्वप्न का पता नहीं चलता कि कहाँ गया वैसे ही प्रलय हो जाने पर जगत् का पता नहीं चलता कि कहाँ गया।

(९) प्रलयकाल में केवल ब्रह्म ही शेष रहता है:—

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ॥ (३।१।११)
ब्रह्मास्ते शान्तमजरमनन्तात्मैव केवलम्। (३।२।३६)
शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम् ॥ (३।२।३७)

प्रलय के समय अत्यन्त गहन शान्ति रहती है। न तेज रहता है और न अन्धेरा, जो कुछ भाव पदार्थ रहता है वह अव्यक्त है। उसका कोई भी वर्णन नहीं किया जा सकता। वह शान्त, अजर, अनन्त शून्य, सूक्ष्म, निरुपाधि, सदा प्रकाशमान, केवल परमात्मा ब्रह्म है।

(१०) दृश्य जगत् की उत्पत्ति का क्रम:—

जगत् स्वप्न की नाईं कल्पनामय है। इसका उदय और अस्त स्वप्न-जगत् के उदय और अस्त के समान है। नाना प्रकार की सृष्टियाँ हैं

और उनके उदय होने के नाना प्रकार के क्रम हैं। ये सब बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। अब यह देखना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार हमारी वर्त्तमान सृष्टि का उदय किस क्रम से होता है—

सुषुप्तं स्वप्नवद्भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत्।
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तत्र तावत्क्रमं शृणु ॥ (३।१२।२)

शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत्।
जगच्छक्त्यात्मनाऽऽत्मैव ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम्॥ (३।११।३७)

स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ (३।११४।१९)

तदात्मनि स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति।
अगृहीतात्मकं संविदहंमर्षणपूर्वकम् ॥ (३।१२।४)

भाविनामार्थकलनैः किञ्चिदूहितरूपकम्।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन्भाति बोधनम् ॥ (३।१२।५)

ततः सा परमा सत्ता सचेतश्चेतनोन्मुखी।
चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिल्लभ्यतया तथा ॥ (३।१२।६)

घनसंवेदना पश्चाद्भाविजीवादिनामिका।
संभवत्यात्तकलना यदोज्झति परं पदम् ॥ (३।१२।७)

सत्तैव भावनामात्रसारा संसरणोन्मुखी।
तदा वस्तुस्वभावेन त्वनुतिष्ठति तामिमाम् ॥ (३।१२।८)

समनन्तरमेवास्याः खसत्तोदेति शून्यता।
शब्दादिगुणबीजं सा भविष्यदभिधार्थदा ॥ (३।१२।९)

अहंतोदेति तदनु सह वै कालसत्तया।
भविष्यदभिधार्थेन बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ (३।१२।१०)

चितिः तावती व्योमशब्दतन्मात्रभावनात्।
ततो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं भवत्यलम् ॥ (३।१२।१३)

तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः परमात्मनः।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणः ॥ (३।१२।१५)

असत्प्रासाभिधाचारा चिच्चात्स्पर्शस्फुरद्वपुः।
सा चैव स्पर्शतन्मात्रं भावनाद्भवति क्षणात् ॥ (३।१२।१८)

पवनस्कन्धविस्तारं बीजं स्पर्शौघशालिनः।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात्सम्प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।१९)

तत्रैव चिद्विलासेन प्रकाशोऽनुभवाद्भवेत् ।
तेजस्तन्मात्रकं तत्तु भविष्यदभिधार्थकम् ॥ (३।१२।२०)
तत्सूर्याग्निविजृम्भादि बीजमालोकशालिनः ।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२१)
भावयन्स्तनुतामेव रसस्कन्ध इवाम्भसः ।
स्वदनं तस्य सङ्घस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ (३।१२।२२)
भाविवारिविलासात्मा तद्बीजं रसशालिनः ।
अन्योऽन्यस्वदने तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२३)
भविष्यद्रूपसङ्कल्पनामासौ कल्पनात्मकः ।
संकल्पात्मगुणैर्गन्धतन्मात्रत्वं प्रपश्यति ॥ (३।१२।२४)
भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशालिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ (३।१२।२५)
चिता विभाव्यमानानि तन्मात्राणि परस्परम् ।
स्वयं परिणतान्यन्तरम्बूनीव निरन्तरम् ॥ (३।१२।२६)
तथैतानि विमिश्राणि विविक्तानि पुनर्यथा ।
न शुद्धान्युपलभ्यन्ते सर्वनाशान्तमेव हि ॥ (३।१२।२७)
संवित्तिमात्ररूपाणि स्थितानि गगनोदरे ।
भवन्ति वटजालानि यथा बीजकणान्तरे ॥ (३।१२।२८)
प्रसवं परिपश्यन्ति [illegible] स्फुरन्ति च ।
परमाण्वन्तरे मान्ति क्षणात्कल्पीभवन्ति च ॥ (३।१२।२९)
विवर्तमेव धावन्ति निर्विवर्तानि सन्ति च ।
चिद्बोधितानि सर्वाणि क्षणात्पिण्डीभवन्ति च ॥ (३।१२।३०)

जिस प्रकार सुषुप्त आत्मा ही स्वप्नरूप से व्यक्त होता है उसी प्रकार सब का आत्मा और जगत् का आधार ब्रह्म ही जगत् रूप से व्यक्त होता है। जिस क्रम से होता है अब वह सुनिये। ब्रह्म अपने आप ही अपने आप में जगत् को उत्पन्न करनेवाली शक्ति के रूप से वर्त्तमान रहता है। और वह शक्ति बिना किसी अन्य हेतु के अपना कार्य करती है जैसे कि चमकदार पत्थर (हीरे) की किरणें चमकती हैं। वायु अपनी स्पन्दशक्ति की नाईं, जब परमात्मा अपनी संकल्प-शक्ति को आप ही उत्तेजित करता है, तब वह स्वयं ही चेत्यता (objectivity)अर्थात् विषयरूपता को प्राप्त हो जाता है। यह

स्थिति अहंभाव उत्पन्नहोने से पूर्व उस समय की है जब कि परमात्मा को संकल्प के कारण अपने स्वरूप का भान नहीं रहता। उस समय सब जगह आकाश से सूक्ष्म वह शुद्ध बोध फैल जाता है जिसमें कि आगे प्रकाश में आने वाले नाम और रूपों की संभावना और आशा रहती है। तब वह परमसत्ता सचेत होकर चेतनता की ओर उन्मुख होकर कुछ भावात्मक रूप धारण करके "चित्" कहलाने के योग्य हो जाती है। तब वह अपने परम स्वरूप को छोड़कर सृष्टि की कल्पना को अपने भीतर रखकर पीछे जीवादि संज्ञा को धारण करने वाली तीव्र चेतना को प्राप्त होती है। तब संसार को रचने की ओर प्रवृत्त हुई भावना से भरपूर जिस वस्तु का वह ध्यान करती है उसका स्वभाव प्राप्त करके वह वही हो जाती है। तब उससे शून्य आकाश का, जो कि शब्द आदि गुणों का बीज है और जिससे भविष्य में अनेक प्रकार के शब्दों का विकास होगा, उदय होता है। तब काल और अहंकार का उदय होता है। अहंकार जगत् का मुख्य बीज है क्योंकि इससे ही भविष्य में उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुओं का उदय होता है। आकाश और शब्द की तीव्र भावना के कारण शून्य आकाश घना होकर शब्दतन्मात्रा हो जाता है। उस शब्दतन्मात्रा रूपी परमात्मा से जिसके कि सब शब्द और अर्थ विकास मात्र हैं सारे जगत् की सृष्टि होती है। वही शब्द-तन्मात्रा जिसके भीतर जीव की स्पन्द-शक्ति कार्य कर रही है, और जो अभी तक नाम और क्रिया के रूप में व्यक्त नहीं हुई है, तीव्र भावना के कारण स्पर्शतन्मात्राका रूप धारण कर लेती है। उस स्पर्शतन्मात्रा से सब प्रकार के वायु, जो कि सब प्रकार के स्पर्शों के बीज हैं, उदय होते हैं। उसीसे सारे प्राणियों की क्रियाओं का उदय होता है। उसमें चित् की क्रिया होने से प्रकाश का अनुभव होकर रूपतन्मात्रा का उदय होता है जो सब प्रकार के प्रकाशों का बीज है और जिससे सूर्य और अग्नि आदि का विकास होता है। रूप-तन्मात्रा के रूप के अनेक भेद होकर जगत् का उदय होता है। पतले-पन की भावना से उससे रसस्कन्ध का उदय होता है जिसके स्वाद को रसतन्मात्रा कहते हैं। वह रसतन्मात्रा सब रसों का बीज है। उसीसे आगे उत्पन्न होनेवाले सब जलों का उदय होता है और सारे स्वादों के संसार की सृष्टि होती है। रसतन्मात्रा से कल्पना द्वारा गन्धतन्मात्रा का उदय होता है। वह गन्धतन्मात्रा आकार वाले सब पदार्थों का

बीज है और इसीसे सब धरातलों का उदय होता है। चित् द्वारा विभाजित होने से ये सब तन्मात्राएँ एक दूसरी के रूप में परिणत हो जाती हैं और फिर एक दूसरी से अलग-अलग मिलकर मिश्र रूप में प्रकट होती हैं। शुद्ध रूप में प्रलय से पूर्व कहीं दिखाई नहीं पड़तीं। वे आकाश के उदर में सूक्ष्म संवित् के रूप में रहती हैं और इस प्रकार स्थूलता को धारण कर लेती हैं जैसे कि वटका बीज वट के वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, परमाणु के भीतर ही अपनी वृद्धि का अनुभव करती हैं, सैकड़ों शाखाओं में प्रसार करती हैं और क्षण से कल्प का रूप धारण कर लेती हैं। चित् से व्याप्त वे सब क्षण में स्थूल रूप धारण कर लेती हैं और नाना रूपों में परिणत हो जाती हैं और कभी बिना परिणाम के ही स्थित रहती हैं।

(भावार्थ)

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि शुद्ध ब्रह्म अपने ही संकल्प से अपने आप को बाह्य जगत् के रूप में परिणत कर लेता है। अपने ही संकल्प द्वारा वह क्रम से सूक्ष्म नाम-रूपों में और फिर नाना प्रकार के स्थूल नाम-रूपों में प्रकट होकर जगत् की सृष्टि करता है।

(११) तीन आकाश :—

जगत् में तीन प्रकार के आकाश हैं—एक भूताकाश, दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है।

> चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
> द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने ॥ (३।१७।१०)
> देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्।
> निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ॥ (३।१७।१२)
> तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्।
> सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम् ॥ (३।१७।१३)
> चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
> विद्ध्येतत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात् ॥ (३।४०।१९)

आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश—ये तीन आकाश (सर्वव्यापक पदार्थ) हैं। इनमें चिदाकाश सबसे सूक्ष्म है। (ज्ञान के क्षेत्र में) एक विषय से दूसरे विषय की प्राप्ति के समय में जिस अवकाश का क्षणभर के लिए अनुभव होता है उसको चिदाकाश समझो। यदि

उस चिदाकाश में समस्त संकल्पों से रहित होकर स्थिर हो जाओ तो उस परमपद को प्राप्त हो जाओगे जो कि परमतत्त्व और सबका आत्मा है। भेदभाव को त्यागकर आकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश तीनों को एक ही समझना चाहिये।

(१२) नियति :—

जगत् में सारे व्यवहार नियमित रूप से होते दिखाई पड़ते हैं और प्रत्येक वस्तु का स्वभाव निश्चित है। इसका कारण यह है कि जगत् की सृष्टि के आदि में प्रजापति ने जगत् के ठीक चलने के निमित्त वस्तुओं का स्वभाव निश्चित कर दिया है और प्रलयपर्यन्त प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित स्वभाव के अनुकूल कार्य करती रहती है—

> आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
> अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम् ॥ (२।६२।९)
> अवश्यंभवितव्यैषा त्विदमित्थमितिस्थितिः ।
> न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः ॥ (३।६२।२६)
> सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
> अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि ॥ (५।८९।२६)
> सर्गादौ या यथा रूढा संवित्कचनसंततिः ।
> साऽद्याप्यचलितान्येन स्थिता नियतिरुच्यते ॥ (६।९४।२२)
> आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमितिस्थितेः ।
> आतृणापन्नजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता ॥ (६।३७।२२)

सृष्टि के आदि में परमात्मा अपने अनन्त और विचित्र (नाना प्रकारवाले) रूप को इस प्रकार नियमित कर लेता है कि "ऐसा होने पर ऐसा होना चाहिये"—इस नियम का नाम नियति है। "यह वस्तु इस प्रकार का व्यवहार करेगी" अथवा "यह ऐसी है"—यह नियम अटल है और अवश्य होनेवाला है। इसका उल्लंघन रुद्रादि देवता तक भी नहीं कर सकते। कोई भी—चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु, चाहे सर्वज्ञ हो अथवा बहुत बड़ा ज्ञानी हो—नियति को नहीं बदल सकता। सृष्टि के आदि में जो रचना जिस नियम से होने लगती है वह सदा ही आजपर्यन्त उसी नियम के अनुसार चल रही है। महाशिव तक इस नियम से नियन्त्रित होते हैं। इसका नाम

इसी कारण से नियति है कि तृण से लेकर ब्रह्मा तक का व्यवहार इसके द्वारा नियन्त्रित होता है।

(१३) नियति का आरम्भ अकस्मात् घटनाओं से ही होता है :—

जगत् में कार्य-कारण रूपी नियति का चारों ओर साम्राज्य है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। लेकिन यह कार्य-कारण संतति अकस्मात् ही आरम्भ हो जाती है, और एक बार आरम्भ होकर अटल रूप से स्थित हो जाती है :—

> नियत्यनियती ब्रूहि कीदृशे स्वप्नसंविदि। (३।१४८।२०)
> यावज्ज्ञानं किल स्वप्ने तावत्तत्रैव नियंत्रणा ॥ (३।१४८।२१)
> एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता कैव वासना।
> कावावस्था का च नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम् ॥ (३।६०।७)

स्वप्न में नियति अनियति का क्या स्वरूप है? स्वप्न में जब जैसा अनुभव हो जाए वही उस समय नियत ज्ञात होता है। इसी प्रकार इस दृश्य जगत् रूपी मिथ्या भ्रान्ति की क्या स्थिति, क्या अवस्था, क्या नियति, और क्या अवश्यंभाविता (ऐसे होना ही चाहिये इस प्रकार का नियम) कही जा सकती है? अर्थात् जो जिस समय जैसे हो गया वही नियम जान पड़ता है।

(१४) नियति पुरुषार्थ की विरोधी नहीं है :—

बहुधा लोग ऐसा सोचा करते हैं कि यदि संसार में सब बातें नियमित हैं और कार्य-कारण नियम अटल है तो फिर पुरुषार्थ करने से ही क्या होगा? जो होना है वही होगा, फिर हाथ पैर पीटने की क्या आवश्यकता है? वसिष्ठजी के मतानुसार ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वे स्पष्टतया कहते हैं—

> पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता।
> पौरुषेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका ॥ (३।६२।२७)

इस प्रकार की दृष्टि का आश्रय लेकर बुद्धिमान् आदमी को पुरुषार्थ का कभी त्याग नहीं करना चाहिये। नियति पुरुषार्थ के रूप से ही जगत् की नियंत्रणा करती है। (अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा ही नियति सफल होती है)। पुरुषार्थ और नियति में कोई विरोध नहीं "पुरुषार्थ द्वारा फल की प्राप्ति होती है" यह भी नियति का ही एक अङ्ग है।

यदि उचित कारण पुरुषार्थ द्वारा उपस्थित नहीं किये जायेंगे तो भला इच्छित फल कैसे प्राप्त हो सकेंगे)।

(१५) प्रबल पुरुषार्थ कभी कभी नियति को भी जीत लेता है :—

नियतिं यादृशीमेतत्सङ्कल्पयति सा तथा ।
नियतानियतान्कांश्चिदर्थाननियतानपि ॥ (६।२४।३१)
करोति चित्तं तेनैतच्चित्तं नियतियोजकम् ।
निश्चल्यां नियतिं कुर्वन्कदाचित्स्वार्थनामिकाम् ॥ (६।२४।३२)
जीवो हि पुरुषो जातः पौरुषेण स यद्यथा । (६।२४।३५)
संकल्पयति लोकेऽस्मिंस्तत्तथा तस्य नान्यथा ॥ (६।२४।३६)

यह मन जिस प्रकार की नियति की कल्पना करता है वह उसी प्रकार कभी नियत और कभी अनियत पदार्थों की कल्पना करती है। इस प्रकार से यह मन अपने संकल्पित पदार्थों की नाईं नियति का भी कल्पना करने वाला है। नियति को भी कभी अनियति बना देता है। यह जीव अपने पुरुषार्थ के कारण ही पुरुष कहलाता है। वह जैसा-जैसा संकल्प करता है संसार में वैसा ही होता है अन्यथा प्रकार से नहीं (अर्थात्—वास्तविक कर्ता जीव का संकल्प ही है। नियति नहीं। नियति तो नियमित रूप से प्रकट होने का नाम है। नियति सृष्टि का नियम है। सृष्टि करने वाली नहीं है)।

———

१—मन

योगवासिष्ठ में जितना वर्णन मन और उसकी शक्तियों का किया गया है उतना और किसी वस्तु का नहीं। व्यक्त जगत् में मन से बढ़कर शक्तिशाली कोई पदार्थ नहीं है। मन ही जगत् की सृष्टि करता है, मन ही सब प्रकार के दुःख-सुखों का उत्पादक है। मन के हाथ में ही बन्ध और मोक्ष है। मन ही जगत् हो जाता है—मन ही वासना रहित होने पर ब्रह्म हो जाता है। योगवासिष्ठ का सारा ज्ञान केवल मनोविज्ञान ही है। यहाँ पर हम इसका कुछ वर्णन करते हैं।

(१) मन का स्वरूप :—

सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते।
यथा द्रवत्वात्सलिलं तथा स्पन्दो यथाऽनिलात् ॥ (३।४।४३)
यत्र [illegible] तत्र तन्मनोऽङ्ग तथा स्थितम् ।
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केचन ॥ (३।४।४४)
परस्य पुंसः सङ्कल्पमयत्वं चित्तमुच्यते । (६।१३।८०)
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥ (३।४।४२)
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः ।
सङ्कल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः ॥ (३।६९।३)
[illegible] कलनानाम्नी संकल्पानुविधायिनी ।
अवच्छेदवती [illegible] हेयोपादेयधर्मिणी ॥ (६।१३।९६)
तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति नित्यशः ।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥ (३।१।१६)
चिन्निःस्पन्दो हि मलिनः कलङ्कविकलान्तरम् ।
मन इत्युच्यते राम न जडं न च चिन्मयम् ॥ (३।९६।४१)
चितो यच्चेत्यकलनं तन्मनस्त्वमुदाहृतम् ।
चिद्भागोऽत्राजडो भागो जाड्यमत्र हि चेत्यता ॥ (३।९१।३७)
जडाजडदृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम् ।
यश्रितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते ॥ (३।९६।४०)

जडाजडं मनो विद्धि संकल्पात्म बृहद्वपुः।
नाजं ब्रह्मरूपत्वाजडं दृश्यात्मतावशात् ॥ (३।९१।३१)
नाहं वेद्यावभासात्मा कुर्वाणोऽस्मीति निश्चयः।
तस्मादेकान्तकलनस्तद्रूपं मनसो विदुः ॥ (३।९६।४)
मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी।
क्रिया तद्भावितारूपं फलं सर्वोऽनुधावति ॥ (३।९६।१)
नहि दृश्यादृते किञ्चिन्मनसो रूपमस्ति हि ॥ (३।४।४८)
स्वमेवान्यतया दृष्ट्वा चितिर्दृश्यतया वपुः।
निर्विभागाप्येकभागाभं भ्रमतीव भ्रमातुरा ॥ (३।९१।४०)
साधतेनैकरूपेण निश्चयेन विना स्थितिः।
येन सा चित्तमित्युक्ता तस्माज्जातमिदं जगत् ॥ (३।९६।३९)
दृश्यानुभवसत्यात्म न सद्भावे विभासि यत्।
कटकत्वं यथा हेम्नि तथा ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ (३।९१।३२)
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
सर्वत्रैव स्थितं चैतद्विद्धि राम यथा नभः ॥ (३।४।३९)
आतिवाहिकदेहात्मा मन इत्यभिधीयते।
आधिभौतिकबुद्धिं तु स आधत्ते चिरस्थितेः ॥

संकल्प करने का नाम मन है; मन संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है—जैसे जल द्रवत्व (पतलेपन) से और वायु स्पन्दन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। जहाँ संकल्प है वहीं मन है। मन संकल्प से भिन्न कभी किसी प्रकार नहीं है। विषयों का चित् (आत्मा) में उदय होना ही मन है। परम पुरुष (आत्मा) के संकल्पमय होने का नाम ही चित्त (मन) है। अनन्त, सर्वशक्तियुक्त महान् आत्मा के संकल्प-शक्ति द्वारा रचे हुए रूप का नाम मन है। ब्रह्म की यह संकल्पानुसार कार्य करने वाली कलना नामवाली शक्ति अवच्छेदयुक्त (परिमित रूपवाली) और त्याग और ग्रहण करनेवाली है। (अर्थात् इसका कार्य किसी खास पदार्थ को प्राप्त करना और किसका त्याग करना है। यह अनन्त परमतत्त्व को विषय न करती हुई उसको अनेक पदार्थों के रूप में विभाजित सा करती रहती है और उन कल्पित पदार्थों में किसी को अच्छा और किसी को बुरा निर्धारित करती रहती है)। वह मन (नामक शक्ति) अपने आप ही स्वतन्त्रता पूर्वक नित्यप्रति संकल्पों की रचना करता रहता है, उसी के द्वारा

यह विस्तृत माया का जाल (जगत्) तना जाता है। आत्मा का यह मलीन और कलङ्कवाला (भीतर मैलवाला क्योंकि शुद्ध स्वरूप से च्युत हो गया है) स्पन्दन, जो मन कहलाता है, न सर्वथा जड़ ही है और न चेतन। आत्मा की इस विषय की ओर दौड़ने वाली कलना का आत्मभाव तो चेतन है, चेत्य अंश (विषय भाग) जड़ है। मलीन चित् (आत्मा) का स्वयं कल्पना किया हुआ जड़ और चेतन दोनों स्वरूपवाला रूप मन कहलाता है—वह कभी जड़ और कभी चेतन हो जाता है। (ब्रह्म का वह) महान् स्वरूप जो कि संकल्पात्मक है ब्रह्म रूप से चेतन है और दृश्य रूप से जड़ है। जब अपने स्वयं प्रकाश आत्मस्वरूप का विस्मरण होकर कर्तृत्वपन का ही निश्चय रहता है और ध्यान केवल एक विषय की ओर ही रहता है उस समय आत्मा का रूप मन होता है। मन भावनामात्र है, भावना स्पन्द धर्मवाली होती है, और क्रिया की कल्पना करती रहती है जो कि किसी न किसी फल के रूप में परिणत होने के लिये दौड़ती रहती है—अर्थात् किसी पदार्थ की रचना करती है। दृश्य के अतिरिक्त मन का और कोई रूप नहीं है। स्पन्दन के लिये उत्सुक चित् (आत्मा) भ्रमित-सी हो कर अपने आपको दृश्य रूपसे अन्य सी अनुभव करती हुई विभाजित न होते हुए भी अपने एक भाग जैसे रूप को धारण कर लेती है। अपने नित्य एक स्वरूप को भूल कर जो चिति (चेतन स्वरूप आत्मा) की स्थिति है उसका नाम चित्त (मन) है—उससे ही इस जगत की उत्पत्ति हुई है। मन यद्यपि ब्रह्म में इस प्रकार स्थित है जैसे कि सोने में कङ्कण तो भी वह दृश्य के अनुभव को सत्य समझने के कारण अपने सत्-भाव (ब्रह्मभाव) का आनन्द नहीं ले पाता (अर्थात् विषयों की ओर प्रवृत्ति रहने के कारण विषयों की नाई ही अपने को क्षणभङ्गुर समझता है, नित्य नहीं जानता)। वास्तव में मन जो कि सत्-रूप ही है (अर्थात् आत्मा ही है) न बाहर है और न हृदय के भीतर है। वह तो आकाश की नाई सर्वत्र स्थित है। मन सूक्ष्म आकार वाला है, स्थूल भाव को वह अधिक समय तक भावना करते रहने से प्राप्त होता है।

इस समस्त वर्णन का सार यह है कि मन अनन्त, अपार, पूर्ण, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की जगत्-निर्माण करने वाली, दृश्य का अनुभव प्राप्त करने को उत्सुक, स्पन्द-शक्ति का, उस स्थिति में स्थित होती हुई का

माम है जब कि वह अपने आप का व्यक्त रूप से अनुभव करती है और ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अपने आप को भिन्न समझकर जगत् का निर्माण करती है। जगत् का निर्माण वह कल्पना द्वारा करती है। कल्पना द्वारा ही वह अपने आप को दृश्य पदार्थों के आकार में देखती है। इसी कारण उसे जड़ और चेतन दोनों ही कहा है।

(२) मन और ब्रह्म का भेद :—

चेत्येन रहिता यैषा चित्तद्ब्रह्म सनातनम् ।
चेत्येन सहिता यैषा चित्सेयं कलनोच्यते ॥ (६।१३।९३)
किञ्चिदामृष्टरूपं यद्ब्रह्म तत्र स्थितं मनः ।
कल्पना सत्सदैवैतत्सदिवोपस्थिता हृदि ॥ (६।१३।९४)
यथा कटककेयूरैर्भेदो हेम्नो विलक्षणः ।
तथात्मनश्चितो रूपं भावयन्त्याः स्वमांशिकम् ॥ (३।४२।१८)
वातस्य वातस्पन्दस्य यथा भेदो न विद्यते ।
शून्यत्वखत्वोपमयोश्चिन्मात्राहंत्वयोस्तथा ॥ (३।९६।१९)

चेत्य (दृश्य) से रहित चित् (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् (आत्मा) चेत्य (दृश्य) युक्त यह मन कहलाता है। वह ब्रह्म ही दृश्य भाव से किञ्चित् स्पर्श हो जाने पर मन हो जाता है। मन हृदय की कल्पना के समान सत् और असत् रूप है। जिस प्रकार सोने और उससे बने हुए कङ्कणादि गहनों में एक विलक्षण भेद का सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और उसके मनरूपी भावनात्मक रूप में एक विलक्षण भेद का सम्बन्ध है। चिन्मात्र आत्मा और अहंकार (मन) में इस प्रकार तनिक भी भेद नहीं है जैसे कि वायु में और उसके स्पन्दन में और आकाश में और शून्यत्व में नहीं है।

(३) मन के अनेक नाम और रूप :—

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि ।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत् ॥ (३।९६।४३)
चित्राधिकारवशतो विचित्रा विकृताभिधाः ।
यथा याति नरः कर्मवशाद्याति तथा मनः ॥ (३।९६।४४)
यथैव पुरुषः स्नानदानादानादिकाः क्रियाः ।
कुर्वंस्तत्कर्तृ वैचित्र्यमेति तद्वदिदं मनः ॥ (३।९६।९९)

विचित्रकार्यवशतो नामभेदेन कर्तृता।
मनः सम्प्रोच्यते जीववासनाकर्मनामभिः॥ (३।९६।९६)

जैसे एक ही नट (नाटक का पात्र) अनेक रूप धारण कर लेता है वैसे ही भिन्न-भिन्न कामों को करते समय मन भी अनेक नाम और रूपों को धारण कर लेता है। जैसे एक ही मनुष्य अनेक अधिकारों (पदों) पर कार्य करते हुए अनेक नाम और रूपों को धारण करता है वैसे ही मन भी अनेक प्रकार के कार्य सम्पादन करते हुये अनेक नामरूपवाला होता रहता है। जैसे एक ही मनुष्य स्नान, दान, ग्रहण आदि अनेक क्रियाओं को करते समय विभिन्न प्रकार का हो जाता है वैसे मन भी भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं को करते समय विभिन्नता को प्राप्त होता है। नाना प्रकार की क्रियायें करते समय मन के अनेक नाम होते हैं—कभी यह जीव कहलाता है, कभी वासना, और कभी कर्म इत्यादि। नीचे मन के कुछ नाम और रूपों का वर्णन है :—

(अ) मन :—

गतमेव कलङ्कत्वं कदाचित्कल्पनात्मकम्।
उन्मेषरूपिणी नाना तदैव हि मनः स्थिता॥ (३।९६।१७)

परम चित् (शुद्ध चेतन आत्मा) जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप को धारण करके विषय (दृश्य) से गर्भित होती है तब वह मन होती है।

(आ) बुद्धि :—

भावनामनुसंधानं यदा निश्चित्य संस्थिता।
तदैषा प्रोच्यते बुद्धिरियत्ताग्राहणक्षमा॥ (३।९६।१८)
इदमित्थमितिस्पष्टबोधाद्बुद्धिरिहोच्यते ॥ (३।१८८।९)

वही परम चित् जब एक परिमित रूप को धारण करके विषयों की भावना करके यह अमुक विषय है, वह अमुक—इस निश्चय को धारण कर लेती है तब बुद्धि कहलाती है। यह पदार्थ इस प्रकार का है—इस स्पष्टज्ञान के कारण इसका नाम बुद्धि है।

(इ) अहङ्कार :—

अस्मीतिप्रत्ययादन्तरहंकारश्च कथ्यते। (३।१८८।६)

यदा मिथ्याभिमानेन सत्तां कल्पयति स्वकाम् ।
अहंकाराभिमानेन प्रोच्यते भवबन्धनी ॥ (३।९६।१९)

"मैं हूँ" इस भावना के होने पर वह अहङ्कार कहलाती है। जब कि वह मिथ्या अभिमान के कारण अपने आप ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाकर संसार के बन्धन में पड़ जाती है तो उसका नाम अहङ्कार होता है।

(ई) चित्त :—

इदं त्यक्त्वेदमायाति बालवत्पेलवा यदि ।
विचारं संपरित्यज्य तदा सा चित्तमुच्यते ॥ (३।९६।२०)

जब वह बालक की नाईं चञ्चल कलना बिना विचारे ही एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय का चिन्तन करती रहती है, तब वह चित्त कहलाती है।

(उ) कर्म :—

यदा स्पन्दैकधर्मत्वात्कर्तुर्वा शून्यशालिनी ।
आधावति स्पन्दफलं तदा कर्मेत्युदाहृता ॥ (३।९६।२१)

स्पन्दन (क्रिया) ही जिसका एक स्वभाव है ऐसी वह कलना अपने भीतर शून्यता का अनुभव करके जब क्रिया द्वारा प्राप्त होनेवाले किसी फल की ओर दौड़ती है तब वह कर्म कहलाती है।

(ऊ) कल्पना :—

काकतालीययोगेन त्यक्त्वैकघननिश्चयम् ।
यदेहितं कल्पयति भावं तेनेह कल्पना ॥ (३।९६।२२)

जब वह कलना अकारण ही (अर्थात् अकस्मात्) अपने पूर्व प्राप्त विषय की उपेक्षा करके अप्राप्त इच्छित विषयों की कल्पना करने लगती है तब उसका नाम कल्पना होता है।

(ए) स्मृति :—

पूर्वं दृष्टमदृष्टं वा प्राग्दृष्टमिति निश्चयैः ।
यदैवेहां विधत्तेऽन्तस्तदा स्मृतिरुदाहृता ॥ (३।९६।२४)

पूर्व काल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो किन्तु उसका निश्चय के साथ जब ऐसा ध्यान आये कि यह वस्तु पूर्व काल में अनुभूत हो चुकी है तब मन स्मृति कहलाता है।

(ऐ) वासना :—

यदा पदार्थशक्तीनां संभुक्तानामिवाम्बरे ।
वसत्यस्तमितान्येहा वासनेति तदोच्यते ॥ (६।९६।२४)
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ (५।९१।२९)

जब किसी ऐसे पदार्थ की इच्छा, जिसका भोग अभी तक वास्तव में नहीं, केवल मन ही में हुआ हो, इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके सामने और किसी वस्तु की इच्छा न रहे, तब मन वासना कहलाता है। आगे पीछे का विचार छोड़कर जब किसी वस्तु को प्राप्त करने की दृढ़ भावना होती है उसको वासना कहते हैं।

(ओ) अविद्या :—

अस्त्यात्मतत्त्वं विमलं द्वितीया दृष्टिरहिता ।
जाता अविद्यमानैव तदाविद्येति कथ्यते ॥ (३।९६।२९)
बोधादविद्यमानत्वादविद्येत्युच्यते बुधैः । (३।१८८।८)
अविद्येयमनन्तेयं नानाप्रसवशालिनी ॥ (३।१६०।१३)

वास्तव में शुद्ध आत्मतत्त्व ही एक पदार्थ है। जब वस्तुतः विद्यमान न होते हुए भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का भान होने लगे तब इसका नाम अविद्या है। इसको अविद्या इसलिये कहते हैं कि ज्ञान होने पर यह विद्यमान नहीं रहती (अर्थात् ज्ञान हो जाने पर आत्मतत्त्व के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भान नहीं होता)। यह अविद्या अनन्त प्रकार की है और नाना प्रकार के भ्रमों की उत्पादक है।

(औ) मल :—

स्फुरत्यात्मविनाशाय विस्मारयति तत्पदम् ।
मिथ्याविकल्पजालेन तन्मलं परिकल्प्यते ॥ (३।९६।२६)

नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा परमपद को भुला कर आत्मा की हानि कराने के कारण इसका नाम मल होता है।

(अं) माया :—

सदसत्तां नयत्याशु सत्तां वाऽसत्त्वमञ्जसा ।
सत्तासत्ताविकल्पोऽयं तेन मायेति कथ्यते ॥ (३।९६।२९)

सत्ता को असत्ता अथवा सदसत्ता (सत् और असत् दोनों) बनाने की सामर्थ्य होने से इसको माया कहते हैं।

(अः) प्रकृति :—

सर्वस्य दृश्यजातस्य परमात्मन्यलक्षिते ।
प्रकृतत्वे हि भावानां लोके प्रकृतिरुच्यते ॥ (३।९६।२८)

परमात्मा का ज्ञान न होने पर, इस दृश्य संसार के सब भावों का कारण होने के कारण यह प्रकृति कहलाती है।

(क) ब्रह्मा इत्यादि :—

स आतिवाहिको देहस्तदालोकप्रवर्तितः ।
कैश्चिद्ब्रह्मेति कथितः स्मृतः कैश्चिद्विराडिति ॥ (३।१८८।१७)
कैश्चित्सनातनाभिख्यः कैश्चिन्नारायणाभिधः ।
कैश्चिदीश इति ख्यातः कैश्चिदुक्तः प्रजापतिः ॥ (३।१८८।१८)

सृष्टि करने में लगा हुआ मन कभी ब्रह्मा कहलाता है, कभी विराट्, कभी सनातन, कभी नारायण, कभी ईश्वर और कभी प्रजापति।

(ख) जीव :—

जीवनाच्चेतनाजीवो जीव इत्येव कथ्यते। (३।१८८।४)
चेतनं नाम संसारे जीव एव पशुः स्मृतः ॥ (३।७।७)

जीने और चेतन होने के कारण ही यह जीव कहलाता है। संसार में चेतन पदार्थ का नाम जीव और पशु है।

(ग) आतिवाहिक देह :—

एतत्कलनमाद्यन्तमनाकारमनामयम् ।
आतिवाहिकदेहोक्त्या समुदाहियते बुधैः ॥ (३।१८८।९)

यह सादि और सान्त, आकार रहित और अनामय कलना आतिवाहिक देह कहलाती है।

(घ) इन्द्रिय :—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्टवा च भुक्त्वा घ्रात्वा विमृश्य च ।
इन्द्रमानन्दयति तेनेन्द्रियमिति स्मृतम् ॥ (३।९६।२७)

इसको इन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि सुनकर, छूकर, देखकर,

भोगकर, सूँघकर और विचार कर यह आत्मा को, जो कि इस शरीर का इन्द्र (राजा) है, आनन्द देता है।

(ङ) पुर्यष्टक :—

प्रौढसंकल्पजालात्स पुर्यष्टकमिति स्मृतम् । (३।१८८।७)

पक्के संकल्पों से भरपूर होने के कारण इसको पुर्यष्टक कहते हैं।

(च) देह, पदार्थ आदि :—

देहभावनया देहो घटभावनया घटः । (३।९०।१७)

शरीर की भावना होने पर यह शरीर बन जाता है और घट आदि पदार्थों की भावना से वह घट आदि पदार्थ हो जाता है।

(छ) इस विषय में योगवासिष्ठ का अन्य दर्शनों से मतभेद :—

चितेश्चेत्यानुपातिन्या गतायाः सकलङ्कताम् ।
प्रस्फुरद्रूपधर्मिण्या एताः पर्यायवृत्तयः ॥ (३।९६।३१)
अहंकारमनोबुद्धिदृष्टयः सृष्टिकल्पनाः ।
एकरूपतया प्रोक्ता या मया रघुनन्दन ॥ (३।९६।३८)
नैयायिकैरितरथा तादृशैः परिकल्पिताः ।
अन्यथा कल्पिताः सांख्यैश्चार्वाकैरपि चान्यथा ॥ (३।९६।४९)
जैमिनीयैश्चार्हतैश्च बौद्धैर्वैशेषिकैस्तथा ।
अन्यैरपि विचित्रैस्तैः पाञ्चरात्रादिभिस्तथा ॥ (३।९६।५०)

ऊपर वर्णन किये हुये ये सब—मन, बुद्धि, अहंकार आदि—स्पन्दयुक्त कलंक को प्राप्त, दृश्य की ओर प्रवृत्त चिति (आत्मा) के अनेक नाम हैं। यहाँ पर जो ये सब नाना प्रकार की कल्पनाएँ—अहंकार, मन, बुद्धि आदि—एक ही वस्तु के नामरूप बतलाए गये हैं, वे न्याय, सांख्य, चार्वाक, मीमांसा, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, पाञ्चरात्र आदि दूसरे दर्शनों में भिन्न-भिन्न रीति से वर्णन किये गये हैं।

(४) जीव अहंभाव को कैसे धारण करता है :—

जीवोऽहंकृतिमादत्ते संकल्पकलयेद्धया ।
स्वयैतया घनतया नीहिमानमिवाम्बरम् ॥ (३।६४।१४)
तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात् ।
[illegible] ॥ (३।६४।१२)

अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयं संकल्पवशगो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ (३।६४।१९)

संकल्प शक्ति के जागृत हो जाने पर संकल्प की स्थूलता के कारण जीव इस प्रकार अहंभाव को धारण कर लेता है जैसे कि आकाश नीलिमा को। जैसे अग्नि का छोटा सा कण इन्धन की अधिकता होने पर विशाल प्रकाश को धारण कर लेता है वैसे ही जीव भी स्थूल संवेदन के कारण अहंभाव को धारण कर लेता है। जिस प्रकार वायु अपने भीतर की शक्ति से ही संचालित होने लगता है वैसे ही अपने ही संकल्प के कारण जीव अहंभाव को, जो कि आकारवान् होकर आत्मा को देश और काल में परिमित कर देता है, धारण कर लेता है।

(९) जीव शरीर कैसे पाता है :—

जीवाकाशस्त्विमं देहं यथा विन्दति तच्छृणु ।
जीवाकाशः स्वमेवासौ तस्मिंस्तु परमेश्वरे ॥ (३।१३।१८)
अणुतेजःकणोऽस्मीति स्वयं चेतति चित्तया ।
पश्यत्येवोच्छूनमिव भावयत्यात्मनाम्बरे ॥ (३।१३।१९)
असदेव सदाकारं संकल्पेनानुपश्य न सत् ।
क्रमेण भावयन् द्रष्टृदृश्यक्रमतया स्थितः ॥ (३।१३।२०)
एक एव द्वितामेति स्वप्ने स्वमृतिबोधवत् ।
किंचित्स्थौल्यमिवाद्रत्ते तत्त्वावस्तां विदन् ॥ (३।१३।२१)
पृथमाविततमात्मत्वं भावितवाह्निस्वरूपतः ।
स एव स्वात्मा ततोऽयमं सोऽहमिति स्वयम् ॥ (३।१३।२२)
चित्तात्मप्रत्ययसाङ्गत्ते स्वप्ने स्वात्ममिव पान्थताम् ।
तारकाकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ॥ (३।१३।२३)
स्वप्नसंकल्पयोः संविद्दृश्ये जीवकोऽणुके ।
स्वरूपतारकान्तःस्थो जीवोऽयं चेतति स्वयम् ॥ (३।१३।२६)
तदेतद् द्विचित्राद्दिज्ञानसत्तादिरूपकम् ।
जीवाकाशः स्वयंस्तत्र तारकाकारकोऽभवत् ॥ (३।१३।२७)
प्रेक्षेऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रवर्तते खे ।
ततो रन्ध्रद्वयेनैव नयनाख्याभिधं पुनः ॥ (३।१३।२८)

येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति ।
येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ॥ (३।१३।२९)
येन जिघ्रति तद्घ्राणं स्वमात्मनि पश्यति ।
ततस्य स्वदनं पश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ॥ (३।१३।३०)
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेन्द्रियव्रजम् ।
रूपालोकमनस्कारजातमित्यपि भावयन् ॥ (३।१३।३१)
आतिवाहिकदेहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ॥ (३।१३।३२)
मनोबुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम् ।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिकः ॥ (६।५१।५०)
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।
स्वकल्पनान्त आकारमण्डं संस्थं प्रपश्यति ॥ (३।१३।३४)

जीवाकाश (निराकार आत्मा) स्थूल देह भाव को जिस प्रकार धारण करता है वह सुनो । परम ब्रह्म में स्वयं ही इस प्रकार की एक कल्पना का उदय होता है कि मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ । इस केन्द्र का नाम जीव है । अपनी भावना द्वारा वह केन्द्र दीर्घ आकार को धारण करने लगता है । कल्पना के चन्द्रमा के समान वह सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है । आकार की भावना से वह केन्द्र द्रष्टा और दृश्य रूप को धारण कर लेता है । जैसे मनुष्य स्वप्न में अपनी ही मृत्यु का अनुभव कर लेता है वैसे ही जीव केवल द्रष्टा होते हुए भी दृश्य भाव को प्राप्त हो जाता है । एक ही जीव द्विरूपता को धारण करता है । अपने प्रकाश-केन्द्र में स्थित होकर द्विरूपता को प्राप्त होकर वह जीव कुछ स्थूलता का अनुभव करने लगता है । जैसी-जैसी वह भावना करता है वैसे-वैसे ही दृश्य पदार्थ उसके चारों ओर उपस्थित हो जाते हैं । दीर्घकाल तक यह भावना करने से कि मैं कुछ हूँ उसमें अहम्भाव का उदय हो जाता है । जैसे कि अपने चित्त की कल्पना से जीव स्वप्न में अपने-आप को मुसाफिर के रूप में देखता है उसी प्रकार कल्पना द्वारा वह जीव अपने को सूक्ष्म और भविष्य में शरीर कहलानेवाले आकार में अनुभव करता है । अपने आप को सूक्ष्म शरीर के रूप में जीव इस प्रकार देखता है जैसे कि स्वप्न और सङ्कल्प में । विभु आत्मा इस प्रकार अपने आप ही सूक्ष्म रूप धारण करके अपनी सत्ता, ज्ञान, बुद्धि और चित्त आदि अवस्थाओं का अनुभव करता है । देखने की भावना से जब वह आकाश में गमन करता है तब पीछे आँखों के रूप में

परिणत होनेवाले दो रन्ध्रों (छेदों) का, जिनके द्वारा जीव देख सके, उदय होता है। इसी प्रकार जिस कारण द्वारा वह छू सके वह त्वचा, जिसके द्वारा वह सुन सके वह कान, जिसके द्वारा वह सूँघ सके वह नाक, जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्वाद ले सके वह जिह्वा (जीभ) बन जाता है; इसी प्रकार स्पन्दन करने के लिये प्राण और नाना प्रकार की क्रियाओं को करने के लिये कर्मेन्द्रियों का उदय होता है। इस प्रकार विषय (रूप), विषय ज्ञान (आलोक) और विषय का प्रत्यय (मनस्कार) तीनों आत्मा की भावना से ही उदय होते हैं। मन, बुद्धि, अहङ्कार और पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की तन्मात्राएँ—ये सब मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं। पुर्यष्टक ही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है। आतिवाहिक शरीरयुक्त आत्मा, जो कि सूक्ष्म रूपवाला है, अपनी कल्पना में अपने को स्थूल अण्डाकार देह में स्थित अनुभव करने लगता है।

(६) जीव का बन्धन अपने आप का बनाया हुआ है :-

स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः ।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ॥ (४।४३।३)

स्वसङ्कल्पानुसन्धानात्पाशैरिव नयन्वपुः ।
कष्टमस्मिन्स्वयम्बन्धमेत्यात्मा परितप्यते ॥ (४।४२।३२)

स्वसङ्कल्पिततन्मात्रज्वालाभ्यन्तरवर्ति च ।
परां विवशतामेति शृंखलाबद्धसिंहवत् ॥ (४।४२।३४)

इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम् ।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥ (४।४२।३१)

अपनी वासनाओं के द्वारा प्राप्त दशा के वशीभूत होने के कारण जीव नाना प्रकार के बन्धनों में बन्धे हुए हैं। कितने खेद की बात है कि अपने संकल्पों के पीछे दौड़ने के कारण आत्मा अपने आपको बन्धन के पाशों में बाँधकर दुःखी होता है। अपने ही संकल्पों द्वारा रचे हुए विषयों की अग्नि में पड़कर जीव ऐसा बेबस हो रहा है कि जैसे संकलों से बन्धा हुआ सिंह। नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त चित्त घनीभूत अहंभाव को प्राप्त होकर अपनी इच्छा से ही इस

प्रकार बंधन को प्राप्त होता है, जैसे कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुए जाल में फँस जाता है।

(७) बीजनिर्णय :—

संसार का बीज क्या है ? इसके उत्तर में वशिष्ठजी कहते हैं :—

अन्तर्लीनघनारम्भशुभाशुभमहाङ्कुरम् ।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि राघव ॥ (५।९१।८)
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ (५।९१।१०)
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ (५।९१।१४)
आमोदपुष्पवत्तैलतिलवच्च व्यवस्थिते ।
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ॥ (५।९१।५३)
वासनाप्राणपवनस्पन्दयोरनयोर्द्वयोः । (५।९१।६३)
संवेद्यं बीजमित्युक्तं स्फुरतस्तौ यतस्ततः ॥ (५।९१।६४)
यदा संकल्प्य संकल्प्य संवित्संविदते वपुः ।
तदास्य जन्मजालस्य सैव गच्छति बीजताम् ॥ (५।९१।८९)
अथास्याः संविदो राम सन्मात्रं बीजमुच्यते ।
संविन्मात्रादुदेत्येषा प्राकाश्यमिव तेजसः ॥ (५।९१।९८)
विशेषं संपरित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥ (५।९१।१०२)
सत्तासामान्यमात्रस्य या कोटिः कोविदेश्वर ।
सैवास्य बीजतां याता तत एव प्रवर्त्तते ॥ (५।९१।१०९)
सत्तासामान्यपर्यन्ते यत्तत्कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥ (५।९१।११०)
तत्र [illegible] किञ्चिच्च कल्पनास्तीह नास्ति च ।
तत्तदृश्यमदृश्यं च तत्त्वमस्ति न चास्ति च ॥ (५।९१।१२०)

हे राघव संसार रूपी वृक्ष का बीज यह शरीर है जिसके भीतर अंकुर की नाईं शुभ और अशुभ अनेक क्रियायें बिना दिखलाई दिये होती रहती हैं। इस शरीर का बीज चित्त है जो कि अपनी इच्छाओं के अनुसार चलनेवाला, भाव और अभाव की दशा का उद्गम और दुःख रूपी रत्नों की पिटारी है। वृत्तिरूपी लता को धारण करनेवाले चित्त-

रूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक प्राण का स्पन्दन और दूसरी दृढ़ भावना। वासना और प्राणस्पन्दन दो अलग वस्तुयें नहीं हैं, दोनों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है जैसे कि सुगन्ध और फूल का और तेल और तिल का। वासना बिना प्राणस्पन्दन और प्राणस्पन्दन बिना वासना के नहीं रह सकती। वासना और प्राणस्पन्दन दोनों का बीज विषय-ज्ञान है जिसके होने पर ही इन दोनों का उदय होता है। जब कि बार-बार संकल्प करने से चिति में शरीर का भान होने लगता है तो चिति ही इस जन्म-मरण-रूपी विस्तार का बीज हो जाती है। चिति का बीज सत्तामात्र है क्योंकि सत्तासंवित् से चिति इस प्रकार उदय होती है जैसे कि अग्नि से चमक। सत्तामात्र उस अवस्था का नाम है जिसका एक और अनन्त स्वरूप बिना किसी विशेषण और संकल्प के स्थित रहता है। सत्ता का बीज वह अवस्था है जो केवल सत्तासामान्य है इससे ही सत्ता का उदय होता है। सत्तासामान्य में किसी प्रकार की कोई कल्पना नहीं है; न उसका कोई आदि है और न अन्त। न उसका कोई बीज है न उसे किसी नाम से पुकार सकते हैं। न वह सत् है और न असत्, न वह दृश्य है और न अदृश्य, न अहंकारयुक्त और न अहंकार रहित।

यहाँ पर यह सिद्धान्त है कि संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है उसका कारण रहित परमकारण परमब्रह्म है जिसका कोई नाम और आकार नहीं है; जो भाव और अभाव सबसे परे है। उसी को यहाँ पर सत्तासामान्य कहा है। सत्तासामान्य से सत्तामात्र का; सत्तामात्र से चिति का; चिति से विषय-संवेदन का, विषय-संवेदन से वासना और क्रिया का; वासना और क्रिया से चित्त का, चित्त से शरीर का; और शरीर से संसार का उदय होता है। शरीर न हो तो संसार का अनुभव नहीं हो सकता।

(८) जीवों की संख्या अनन्त है :—

> एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनयोहिता।
> ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः॥ (४।४३।१)
> असंख्याताःपुरा जाता जायन्ते चापि चाद्य भोः।
> उत्पतिष्यन्ति चैवाम्बुकणौघा इव निर्झरात्॥ (४।४३।२)

अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणि ॥ (४।४३।४)

इस प्रकार संसार की भावना से युक्त, चिति के रूपान्तर जीव कल्पित आकारवाले ब्रह्मा से लाखों और करोड़ों की संख्या में अथवा असंख्य तादाद में, भूत, वर्त्तमान और भविष्य में उत्पन्न होते हैं; जैसे कि झरने से जल के कण। जैसे जल के ऊपर सदा ही अनेक बुलबुले उठा करते हैं और नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सब देश और काल में अनन्त जीव उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं।

(९) जीव की सात अवस्थायें :—

बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। (३।११७।११)
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ॥ (३।११७।१२)

जीव का मोह सात प्रकार का है :—बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् तथा सुषुप्ति।

(अ) बीजजाग्रत् :—

प्रथमे चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः। (३।११७।१३)
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥ (३।११७।१४)

सृष्टि के आदि में चिति का जो नाम रहित और निर्मल चिन्तन—जिसको भविष्य में होनेवाले जीवादि नामों से पुकारा जा सकता है और जिसमें जाग्रत् अवस्था का अनुभव बीजरूप से स्थित होता है—उसे बीजजाग्रत् कहते हैं।

(आ) जाग्रत् :—

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम। (३।११७।१५)
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ (३।११७।१६)

परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न हुए जीव का यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" "यह मेरा है" जाग्रत् कहलाता है—इसमें पूर्व काल की कोई स्मृति नहीं होती।

(इ) :—महाजाग्रत् :—

अयं सोहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः। (३।११७।१६)
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ॥ (३।११७।१७)

पहले जन्मों में उदय हुआ और दृढ़ता को प्राप्त हुआ यह ज्ञान कि "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" महाजाग्रत् कहलाता है।

(ई) जाग्रत्स्वप्न :—

अरूढमथ वा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् । (३।११७।१७)
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।। (३।११७।१८)
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः । (३।११७।१८)
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।। (३।११७।१९)

जाग्रत् अवस्था का मनोराज्य (भ्रम) चाहे वह दृढ़ हो गया हो अथवा न हुआ हो—जब कि उसमें तन्मयता हो जावे अर्थात् जब जीव उसमें इतना मग्न हो जावे कि उसे कल्पना के बजाय सत्य समझने लगे—जाग्रत्-स्वप्न कहलाता है। वह कई प्रकार का होता है—जैसे एक चन्द्रमा की जगह दो का भान; सीप के स्थान पर चान्दी का भान, रेगिस्तान में मृगतृष्णा की नदी का भान आदि।

प्रचलित भाषा में इस प्रकार के ज्ञान को भ्रम कहते हैं। इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत् दशा में होता है इसलिये इसका नाम जाग्रत्स्वप्न है।

(उ) स्वप्न :—

अल्पकालं मया दृष्टमेवं नो सत्यमित्यपि । (३।११७।१९)
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥ (३।११७।२०)

महाजाग्रत् अवस्था के भीतर निद्रा के समय अनुभव किये विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का भाव हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिये ही हुआ था—इस ज्ञान का नाम स्वप्न है।

(ऊ) स्वप्नजाग्रत् :—

चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः । (३।११७।२०)
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः ॥ (३।११७।२१)
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ॥ (३।११७।२२)

जब अधिक समय तक जाग्रत् अवस्था के स्थूल विषयों का और स्थूल देह का अनुभव न हो तो स्वप्न ही जाग्रत् के समान होकर महा-

जाग्रत् सा मालूम पड़ने लगता है। स्थूल शरीर के मौजूद रहते हुए अथवा न रहते हुए जब इस प्रकार का अनुभव होता है उसे [illegible] जाग्रत् कहते हैं।

(ए) सुषुप्ति :—

षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः। (३।११७।२२)
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः॥ (३।११७।२३)
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्टशिलादयः। (३।११७।२३)
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः॥ (३।११७।२४)

पूर्वोक्त ६ अवस्थाओं से रहित—भविष्य में दुःख देनेवाली वासनाओं से युक्त—जीव की अचेतन (जड़) स्थिति का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में संसार के तृण, मिट्टी, पत्थर आदि सब ही पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान रहते हैं।

(१०) जीवों के सात प्रकार :—

ते स्वप्नजागराः केचित्केचित्संकल्पजागराः।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिरजाग्रास्त्स्थिताः परे॥ (३।९०।२)
घनजाग्रास्त्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधा स्मृताः॥ (३।९०।३)

जीव सात प्रकार के होते हैं।

स्वप्नजागर, संकल्पजागर, केवलजागर, चिरजागर, घनजागर, जाग्रत्स्वप्न, और क्षीणजागर।

(अ) स्वप्नजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः॥ (३।९०।९)
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत्।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते [illegible] [illegible]॥ (३।९०।६)
क्वचिदेवं प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वप्नमुत्थितः।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा [illegible]॥ (३।९०।७)
तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः॥ (३।९०।८)

जब कि [illegible] हो कि किसी पूर्व तथा अन्य कल्प के जगत् में [illegible]

वाले जीव सोते हुए स्वप्न देखें और उनका स्वप्न [illegible] जगत् के रूप में स्थित हो जाए तो [illegible] जीव स्वप्नजागर कहलाते हैं (अर्थात् वे जीव जिनका स्वप्न दूसरों के लिये जाग्रत् जगत् है)। इस प्रकार यदि कभी और कहीं सोते हुए जीवों का स्वप्न हमारे लिये जाग्रत् अवस्था का विषय हो और हम उनके स्वप्न के व्यक्ति हों, तो उन जीवों को जिनका स्वप्न-संसार हमारे लिये जाग्रत्संसार बन जाता है स्वप्नजागर जीव कहाते हैं।

(आ) संकल्पजागर :—

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित्।
अनिद्रालव एवान्तः संकल्पैकपराः स्थिताः ॥ (६।५०।१४)
ध्यानाद्विलुठिता वाथ मनोराज्यवशानुगाः।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः ॥ (६।५०।१५)
संकल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयागतः।
तत्रास्तमितचेष्टानां [illegible] हि संकल्पजागराः ॥ (६।५०।१७)

जब कि किसी पूर्व कल्प अथवा [illegible] जगत् में रहने वाले जीव बिना सोये, ध्यान से च्युत होकर, संकल्प में रत और मनोराज्य में निमग्न हो जाएँ और इतने मग्न हो जाएँ कि उनको अपने जाग्रत्-संसार का कुछ भी ज्ञान न रहे, और उनका संकल्प ही अंशतः या पूर्णतया जाग्रत् भावको धारण कर ले, और उनकी बाहर की सब चेष्टायें शान्त हो जायेंगी, तो वे संकल्प जागर कहलाते हैं।

(इ) केवलजागर :—

प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो [illegible] ।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पन्न विकासिनः ॥ (६।५०।१९)

वृद्धिशील ब्रह्मा से उदय होने पर [illegible] ही जन्म वाले जीव जो आगे विकास को प्राप्त होंगे —केवल जागर कहलाते हैं।

(ई) चिरजागर :—

भूयो [illegible] [illegible] चिरजागराः।
[illegible] प्रौढिमायाताः [illegible] ॥ (६।५०।२०)

वे ही (केवल जागर) जीव कार्य कारण के नियम के अनुसार दूसरे जन्मों में प्राप्त होकर [illegible] होने पर चिरजागर कहलाते हैं।

(उ) घनजागर :—

त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तथा प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ (३।९०।२१)

चिरजागर जीव पाप कर्मों के वश होकर स्थावरादि जड़ अवस्था को प्राप्त होकर स्थूल दशा में स्थित होने पर घनजागर कहलाते हैं।

(ऊ) जाग्रत्स्वप्न :—

ये तु शास्त्रार्थसत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ (३।९०।२२)

जो जीव शास्त्र तथा सज्जन-सङ्ग द्वारा बोध प्राप्त कर लेने पर जाग्रत् दशा को स्वप्न के समान समझने लगते हैं वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं।

(ए) क्षीणजागर :—

ये तु संप्राप्तसंबोधा विश्रान्ता परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ (३।९०।२३)

जो जीव ज्ञान प्राप्त कर लेने पर परम पद में शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं, जिनके लिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव क्षीण हो चुका है और जो चौथी भूमिका (तुर्यावस्था) में स्थित रहते हैं वे क्षीणजागर कहलाते हैं।

(११) जीवों की पन्द्रह जातियाँ :—

सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों के और शुभाशुभ कर्मों के आधार पर संसार के सब जीवों को वसिष्ठ जी ने १५ जातियों में विभक्त किया है। वे ये हैं :—

(१) इदंप्रथमता :—

इदंप्रथमतोत्पन्नो योऽस्मिन्नेव हि जन्मनि ।
इदंप्रथमतानाम्नी शुभाभ्याससमुद्भवा ॥ (३।९४।२)
शुभालोकाश्रया सा च शुभकार्यानुबन्धिनी । (३।९४।३)

जो जीव उत्पन्न होते ही प्रथम जन्म में ही शुभ कामों के करने के कारण और शुभ अभ्यास के द्वारा उत्तम लोकों में जाने के योग्य हो जाते हैं उनकी जाति का नाम "इदंप्रथमता" है।

(२) गुणपीवरी :—

सा चेद्विचित्रसंसारवासना व्यवहारिणी । (३।९४।३)
भवैः कतिपयैर्मोक्षमित्युक्ता गुणपीवरी ॥ (३।९४।४)

यदि वह (इदंप्रथमता) जाति विचित्र संसार के विषयों की वासनाओं में फँस जाने पर भी कुछ जन्मों के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो तो उसे गुणपीवरी (गुणों से भरी हुई स्थूल) कहते हैं।

(३) ससत्त्वा :—

तादृक्फलप्रदानेककार्याकार्यानुमानदा । (३।९४।४)
तेन राम ससत्वेति प्रोच्यते सा कृतात्मभिः ॥ (३।९४।५)

जो जाति शुभ अशुभ कर्मों को समझकर मोक्षदायक शुभ कर्मों का आश्रय लेती है वह आत्मानुभवी पुरुषों द्वारा ससत्त्वा (सत्त्व गुण सम्पन्न) कहलाती है।

(४) अधमसत्त्वा :—

अथ वैचित्र्यसंसारवासनाव्यवहारिणी । (३।९४।५)
अत्यन्तकलुषा जन्मसहस्रैर्ज्ञानभागिनी ॥ (३।९४।५)
तादृक्फलप्रदानैकधर्माधर्मानुमानदा ।
असावधमसत्त्वेति तेन साधुभिरुच्यते ॥ (३।९४।५)

जो जाति संसार के अनेक विषयों की वासना के अनुसार कार्य करने पर बहुत मलीन हो जाती है और हजारों जन्म बाद जिसमें धर्म और अधर्म के पहचानने की बुद्धि होकर मोक्षदायक धर्म पर चलने की प्रवृत्ति होती है उसे साधुलोग अधमसत्त्वा कहते हैं।

(५) अत्यन्त तामसी :—

सैव संख्यातिगानन्तजन्मवृन्दादनन्तरम् । (३।९४।७)
संदिग्धमोक्षा यदि तत्प्रोच्यतेऽत्यन्ततामसी ॥ (३।९४।८)

यदि किसी जाति के लिये अनगिन और अनन्त जन्मों के पश्चात् भी मोक्ष पाना संदिग्ध (संदेहयुक्त) हो तो उसे अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(६) राजसी :—

अनद्यतनजन्मा तु जातिस्तादृक्कारिणी । (३।९४।८)
योत्पत्तिर्मध्यमा पुंसो राम द्वित्रिभवान्तरा ॥ (३।९४।९)
तादृक्कार्या तु [illegible] राजसी राजसत्तम ॥ (३।९४।९)

राजसी वह जाति कहलाती है जो मध्यम प्रकार की हो और जो दो तीन जन्मों के अनन्तर ही राजस प्रकार के कर्म करना आरम्भ कर दे।

(७) राजससात्त्विकी :—

अविप्रकृष्टजन्मापि सोच्यते कृतबुद्धिभिः।
सा हि तन्मृतिमात्रेण मोक्षयोग्या मुमुक्षुभिः ॥ (३।९४।१०)
तादृक्कार्यानुमानेन प्रोक्ता राजससात्त्विकी ॥ (३।९४।११)

राजससात्विकी वह जाति कहलाती है जो यद्यपि जन्म से शुद्ध न होते हुए भी जीवन में ऐसे काम करे कि शरीर की मृत्यु के पश्चात् उसे मोक्ष मिल सके। उसके शुभ कामों के कारण ही उसे राजस-सात्त्विकी कहते हैं।

(८) राजसराजसी :—

सैव वेदितरैरल्पैर्जन्मभिर्मोक्षभागिनी। (३।९४।११)
तत्तादृशी हि सा तज्ज्ञैः प्रोक्ता राजसराजसी ॥ (३।९४।१२)

ज्ञानी लोग उस जाति को राजसराजसी कहते हैं जिसका जन्म अशुभ स्थिति में हो किन्तु उसके काम ऐसे हों कि थोड़े से जन्म के पीछे उसे मोक्ष प्राप्त हो सके।

(९) राजसतामसी :—

सैव जन्मशतैर्मोक्षभागिनी चेच्चिरैषिणी। (३।९४।१२)
तदुक्ता तादृगारम्भा प्राज्ञैः राजसतामसी ॥ (३।९४।१३)

जिस जाति का जन्म अशुभ स्थिति में हुआ हो और उसकी इच्छायें इतनी अधिक हों कि उसे सैकड़ों जन्मों के पीछे मोक्ष-प्राप्ति की संभावना हो उसको सन्त लोग राजसतामसी कहते हैं।

(१०) राजस अत्यन्ततामसी :—

सैव संदिग्धमोक्षा चेत्सहस्रैरपि जन्मभिः। (३।९४।१३)
तदुक्ता तादृशारम्भा राजसात्यन्ततामसी ॥ (३।९४।१४)

जिस जाति का जन्म शुभ स्थिति में न हुआ हो और उसके कर्म भी ऐसे हों कि उसके लिये हज़ारों जन्म तक मोक्ष की सम्भावना न हो उसे राजस अत्यन्ततामसी कहते हैं।

(११) तामसी :—

मुक्तजन्मसहस्रा तु योत्पत्तिर्ब्रह्मणो नृणाम् ।
चिरमोक्षा हि कथिता तामसी सा महर्षिभिः ॥ (३।९४।१५)

ब्रह्मा से उत्पन्न हुए हज़ारों जन्म बीत गए हों जिस जाति के और जिसको अभी मोक्ष प्राप्त करने में भी बहुत समय लगे, उस जीव जाति को ऋषि लोग तामसी कहते हैं।

(१२) तामससत्त्वा :—

तज्जन्मनैव मोक्षस्य भागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१५)
तज्ज्ञैस्तामससत्त्वेति तादृशारम्भशालिनी ॥ (३।९४।१६)

जन्म लेते ही यदि कोई जाति ऐसे काम करने लगे कि वह मोक्ष प्राप्त करने योग्य हो जावे तो उसे तामससत्त्वा कहते हैं।

(१३) तमोराजसी :—

भवैः कतिपयैर्मोक्षभागिनी चेत्तदुच्यते । (३।९४।१६)
तमोराजसरूपेति तादृशैर्गुणवृंहितैः ॥ (३।९४।१७)

जिस जाति के ऐसे गुण हों कि वह कुछ जन्म के पीछे मोक्ष प्राप्त करने के योग्य हो उसे तमोराजसी कहते हैं।

(१४) तामसतामसी :—

पूर्वजन्मसहस्राढ्या [illegible] पुरोजन्मशतैरपि । (३।९४।१७)
मोक्ष[illegible] ततः प्रोक्ता तज्ज्ञैस्तामसतामसी ॥ (३।९४।१८)

जिस जाति के हज़ारों जन्म पहिले हो चुके हैं और [illegible] [illegible] और होकर जिसे मोक्ष का अधिकार होगा, उसे ऋषि लोग तामस-तामसी कहते हैं।

(१५) अत्यन्त तामसी :—

[illegible] तु जन्मसहस्राढ्या जन्मलक्षैः पुरोऽपि [illegible] । (३।९४।१८)
संदिग्धमोक्षा तदसौ [illegible] ॥ (३।९४।१९)

जिस जाति के लाखों जन्म पहिले हो चुके हों और लाखों होने-पर भी जिसके मोक्ष प्राप्त करने में संदेह हो उसे अत्यन्त तामसी कहते हैं।

(१२) सब जीव ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं :—

वसिष्ठजी के मत में जीव अनादि और अनन्त नहीं हैं। उनकी

उत्पत्ति और लय दोनों ही होते हैं। जीवों का उदय ब्रह्मा से, जो कि परम ब्रह्म का सृष्टिकारक आकार है, होता है। ब्रह्मा से जीवों का उद्गम कैसे होता है, उसका योगवासिष्ठ में बहुत सुन्दर और साहित्यिक वर्णन है। उसका दिग्दर्शन मात्र हम यहाँ कराते हैं:—

सर्वा एताः समायान्ति ब्रह्मणो भूतजातयः। (३।१४।१९)
किञ्चित्प्रचलिता भोगात्पयोराशेरिवोर्मयः॥ (३।१४।२०)
स्वतेजःस्पन्दिता भोगाद्दीपादिव मरीचयः। (३।१४।२१)
स्वमरीचिवशोद्भूता ज्वलिताग्नेः कणा इव॥ (३।१४।२२)
मन्दारमञ्जरीरूपाश्चन्द्रबिम्बादिवांशवः। (३।१४।२३)
यथा विटपिनश्चित्रास्तद्रूपा विटपश्रियः॥ (३।१४।२४)
कटकाङ्गदकेयूरयुक्तयः कनकादिव। (३।१४।२५)
निर्झरादमलोद्योतात्पयसामिव बिन्दवः॥ (३।१४।२६)
आकाशस्य घटस्थालीरन्ध्राकाशादयो यथा। (३।१४।२७)
सीकरावर्तलहरीबिन्दवः पयसो यथा॥ (३।१४।२८)
मृगतृष्णातरङ्गिण्यो यथा भास्करतेजसः। (३।१४।२९)
शीतरश्मेरिव ज्योत्स्ना स्वालोक इव तेजसः॥ ३।१४।३०)
सर्वा एवोत्थिता राम ब्रह्मणो जीवराशयः। (३।१४।२५)

सब जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा से इस प्रकार होती है जैसे कि हिलते हुए जल से लहरों की; दीपक की रोशनी से उसकी किरणों की; जलती हुई आग की लटा से चिनगारियों की; चन्द्रमा के बिम्ब से मन्दार की मञ्जरी के समान किरणों की; वृक्ष से उसकी चित्रविचित्र शोभा की; सोने से कड़े, अङ्गद और केयूरादि गहनों की; साफ़ और चमकदार झरने से जलकणों की; आकाश से घटाकाश, थालीआकाश और रन्ध्राकाश आदि छोटे-छोटे आकाशों की; जल से भँवरों, लहरों, बून्दों, और बौछारों की; सूर्य की प्रभा से मृगतृष्णा की नदियों की; चन्द्रमा से चान्दनी की और रोशनी से उसकी चमक की।

(१३) सब जीवों की उत्पत्ति और लय एक ही नियम से होते हैं:—

यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा। (३।६७।६९)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः॥ (३।६७।६८)

जिस प्रकार ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार कीड़े की होती

है; और ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब जीवों का लय केवल सद्‌ज्ञान द्वारा ही होता है।

(१४) संसारके सब पदार्थोंके भीतर मन है :—

एतच्चित्तशरीरत्वं विद्धि सर्वगतोदयम्। (३।४०।२०)
यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथान्तःसंस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना॥ (६।१०।१९)
चिच्छक्तिर्वासना बीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु॥ (६।१०।२३)
बीजेषूल्लासरूपेण जाड्येन जडरूपिषु।
द्रव्येषु द्रव्यभावेन काठिन्येनेतरेषु च॥ (६।१०।२४)
प्राणीवीर्यरसान्तस्था संविज्जङ्गममात्तम्।
तनोति लतिकान्तस्थो रसः पुष्पफलं यथा॥ (६।२८।१८)

संसार की सब ही वस्तुओं के भीतर चित्त (मन) वर्तमान है। जड़ पदार्थों के भीतर भी वासना ऐसे मौजूद है जैसे कि बीज के भीतर पुष्प आदि और मिट्टी में घड़ा। स्थावर (जड़) पदार्थों के भीतर भी वासनाओं की बीजरूपी चित् शक्ति सोती हुई अवस्था में उनके रस के रूप में सदा वर्तमान रहती है। यह शक्ति बीजों में उल्लास के रूप में, जड़ पदार्थों में जड़ता के रूप में, द्रव्यों में द्रव्य भाव से और कड़ी वस्तुओं में काठिन्य के रूप में प्रगट होती है। जिस प्रकार लता के भीतर रहने वाला रस, फूल और फल के आकार में विकसित होता है, उसी प्रकार प्राणियों के वीर्य के रस के भीतर वास करती हुई यह चिति सब चेतन वस्तुओं का विकास करती है।

१०—मनकी अद्‌भुत शक्तियाँ

ऊपर यह बताया जा चुका है कि मन सर्वशक्तिमय, सर्वगत, और अनन्त परम ब्रह्म का ही एक कल्पनात्मक आकार है। मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है; मन और ब्रह्म दो अलग वस्तुएँ नहीं हैं। ब्रह्म ही मन का आकार धारण करता है। इसलिये मन में भी ब्रह्म की भाईं अनन्त और अपार शक्तियाँ हैं। यहाँ पर योगवासिष्ठ के अनुसार मनकी अनेक प्रकार की शक्तियों का उल्लेख किया जाता है।

(१) मन सर्वशक्तिसम्पन्न है।

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः। (३।९१।४)
स्वरूपं सर्वकर्तृत्वं च शक्तत्वं च महात्मनः ॥१॥ (३।९१।१६)
मनो यदनुसंधत्ते तदेवाप्नोति तत्क्षणात्। (३।९२।१८)
यथैतद्भावयत्यन्तं तथैव भवति क्षणात् ॥२॥ (३।९१।९२)
प्रतिभासमुपायाति यद्यदस्य हि चेतसः।
तत्तत्प्रकटतामेति स्थैर्यं सफलतामपि ॥३॥ (३।९१।१७)

मन जगत् को रचनेवाला है, मन ही स्वयं पुरुष है। मन में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं और मन सब कुछ कर सकता है। मन जिस वस्तु के प्राप्त करने का इरादा कर लेता है उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। मन अपने भीतर जैसी भावना करता है क्षण भर में वैसा ही हो जाता है। जो कल्पना चित्त के अन्दर उदय होती है वही बाह्य जगत् में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रकट होती है।

(२) मनमें जगत् को रचने की शक्ति है।

तत्संकल्पात्मकं चेतो यथेदमखिलं जगत्।
संकल्पयति संकल्पैस्तथैव भवति क्षणात् ॥ (३।११४।१७)
विश्वबीजमहत्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जठरपादपः ॥ (३।७।११)
चित्तमेव जगत्कर्तृ संकल्पयति यद्यथा।
असत्सत्सदसच्चैव तत्तथा [illegible] तिष्ठति ॥ (३।१३९।१)

अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रियः ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नादिभ्रमभूमयः ॥ (३।११०।४६)
कल्पं क्षणीकरोति क्षणं क्षणं नयति कल्पताम् ।
मनस्तदायत्तमतो देशकालक्रमं विदुः ॥ (३।१०३।१४)

मन का स्वभाव संकल्प है। जैसे जगत् की मन कल्पना करता है संकल्प द्वारा वैसा ही जगत् निर्मित हो जाता है। अहंभाव (मन) को ही जगत् का बीज समझना चाहिये। इस बीज से ही पहाड़, समुद्र, पृथ्वी और नदियोंवाले जगत् रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। चित्त ही जगत् का उत्पादक है। वह जैसा जैसा संकल्प करता है उसी के अनुसार—सत्, असत् अथवा सदसत्—जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत्, स्वप्न और भ्रम आदि सब अवस्थाएँ इस प्रकार मन के रूपान्तर हैं जैसे कि पत्ते, बेल, फूल, फल आदि अंकुर के रूपान्तर होते हैं। देश और काल का विस्तार और क्रम भी मन के ही आधीन हैं। मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प।

(३) मन जगत् की रचना में पूर्णतया स्वतंत्र है :—

तत्स्वयं स्वैरमेवाशु संकल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥ (३।४।७९)

मन अपने आप ही स्वतंत्रतापूर्वक शरीर की रचना करता है। देहभाव को धारण करके वह जगत्‌रूपी इन्द्रजाल की रचना करता है।

(४) प्रत्येक मन में इस प्रकार की शक्ति है :—

प्रत्येकमेव चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक्प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ (३।४०।२९)

प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की जगत् के उत्पादन करने की शक्ति है। प्रत्येक चित्त में जगत्‌रूपी भ्रम का उदय पृथक् पृथक् होता है।

(५) जीव में सब कुछ प्राप्त करने की अनन्त शक्ति है :—

सर्वं सम्प्राप्नोत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् । (३।४५।१२)
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ (३।४९।१३)
जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति कल्पनया नित्यं तस्य तस्य तथा तथा ॥ (३।४९।१४)

यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ (३।४९।१८)
तपो वा देवता वापि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ (३।४९।१९)
स्वसंविद्यतनादन्यन्न किञ्चिच्च कदाचन ।
फलं ददाति तेनाशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (३।४५।२०)
स्वया वासनया लोको यद्यत्कर्म करोति यः ।
स तथैव तदाप्नोति नेतरस्येह कर्तृता ॥ (४।१३।११)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभकर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ (३।९२।८)

जीव जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीव में चित्-शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है। जीव में जिस जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है उसी उसी प्रकार का फल उसको प्राप्त होता है। जीव जैसा प्रयत्न करता है यथा समय उसका फल मिलता रहता है। कभी तपके रूप में, कभी देवता के रूप में, स्वयं आत्मा ही आत्मा की इच्छायें अकस्मात् पूरी कर देता है। अपने ही प्रयत्न के सिवाय कभी और कोई हमको सिद्धि देनेवाला नहीं है। इसलिये जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो उसके लिये प्रयत्न करो। अपनी वासना से प्रेरित होकर जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। यहाँ दूसरा कोई हमारे भाग्य का निर्माण करनेवाला नहीं है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती हो।

(६) विषयों का रूप हमारे चिन्तन के आधीन है :—

यथा भावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता । (३।९६।३०)
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ (३।९६।३१)
येन येन यथा यद्यद्यथा संवेद्यतेऽनघ ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ (३।६०।१६)
अमृतत्वं विषं याति सदैवामृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसम्वित्तिवेदनात् ॥ (३।६०।१७)
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति ।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ (३।६०।२०)

कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः ।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ (३।६०।२१)
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् । (३।६०।२७)
कटु चायाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ॥ (३।६०।२८)
मित्रबुद्धया द्विषन्मित्रं रिपुबुद्धया रिपुः सुहृत् । (३।६०।२८)
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ॥ (३।६०।२९)
वेदनात्पीतमानीलं शुक्लं वाप्यनुभूयते ।
आपद्बुद्ध्युत्सवः खेदं करोति परिमोहितः ॥ (३।६०।३२)
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात्स्वप्नदृष्टिवत् । (३।६०।३१)
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानप्यपकर्षति ॥ (३।६०।३३)
वेदनात्स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा ।
यद्यथा भासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ (३।६०।३४)
यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।
तत्तथैवानुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ (३।१००।३)
यं यं निश्चयमादत्ते संवित्स्वदृढनिश्चया ।
तथा तथा भवत्येषा फलयुक्त स्वभावतः ॥ (३।१४८।९)

संसार के सब पदार्थों का रूप हमारे चिन्तन पर निर्भर है। चिन्तन करते-करते असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लग जाता है। जिस वस्तु का जिस भाव से चिन्तन किया जाता है वह वस्तु उसी प्रकार से अनुभव में आने लगती है। सदा अमृतरूप से चिन्तन करने से विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभाव से चिन्तन करने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। निमेषमात्र समय भी कल्पभाव से चिन्तन करने पर अवश्य ही कल्प के समान अनुभूत होने लगता है। इसी प्रकार यदि कल्प की निमेषभाव से चिन्तना की जाए तो जरूर ही कल्प निमेष के समान हो जाता है। आत्मा का प्रभाव ही ऐसा है। कटुभाव से चिन्तन करने पर मीठी वस्तु भी कड़वी मालूम होने लगती है और मिठाई के चिन्तन से कड़वी वस्तुएँ मीठी मालूम पड़ने लगती हैं। मित्र बुद्धि से शत्रु मित्र हो जाता है और शत्रु बुद्धि से मित्र शत्रु बन जाता है। जैसा हमारा विचार वैसा हमारा जगत्। चिन्तन द्वारा पीली वस्तु नीली अथवा श्वेत मालूम पड़ने लगती है, और उत्सव को भी आपत्ति समझ कर मूढ़ मनुष्य शोक करने लगता है। स्वप्न की भाँति शून्य स्थान भी भरा हुआ जान पड़ने लगता है और मौजूद न होता

दृढ़ भावना युक्त होकर मन जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में, उतने ही समय तक, और उसी प्रकार का फल देनेवाला अनुभव होता है। यहाँ पर किसी वस्तु को न सत्य कह सकते हैं और न असत्। जिसने जिसको दृढ़ निश्चय के साथ जैसा [illegible] लिया है उसे वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। दृढ़ अभ्यास के द्वारा जो मनुष्य अपने मन में जिस प्रकार के भाव को स्थिर कर लेता है उसी प्रकार की उसकी वासनायें और क्रिया होने लगती हैं। बड़े सौक से वह उसी प्रकार की क्रियायें करने लगता है, और [illegible] अनुसार अपनी भावना के अनुरूप फल पाकर उसका आस्वादन करके उसमें बँध जाता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तु का रूप अपनी भावना के अनुरूप ही देखता है। क्या क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या नहीं—इस प्रकार का निश्चय भी भावना द्वारा ही होता है। दृढ़ निश्चय वाले सब अपनी भावना के अनुसार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। जैसी भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वैसा ही अनुभव होने लगता है; स्वयं तो न नीम कड़वा है और न गन्ना मीठा, न आग गरम, और न चन्द्रमा शीतल। जिस विचार का जीव के हृदय में दृढ़ अभ्यास हो जाता है वही विचार—चाहे वह कितना ही दुखदायी क्यों न हो—बार बार उदय होता है और जीव को अपनी ओर खींचता रहता है। शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह वस्तु उसी प्रकार की तुरन्त ही हो जाती है; जैसे जल में भँवर उत्पन्न हो जाता है। जीव अपने भीतर उसी प्रकार की वस्तुओं का अनुभव करता है जैसी वासनाओं में वह बँधा हुआ है। भावना के कारण ही वह अपने आपको शरीर समझने लगता है। वासना के प्रभाव से ही जीव के लिये विष अमृत हो जाता है और असत्य पदार्थ भी सत्य हो जाता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसका अनुभव होता है। इन्द्रियाँ और उनके विषय सब ही जीव के अपने ख़याल से ही बने हैं।

(८) अभ्यास का महत्व :—

> पौनःपुन्येन [illegible] [illegible] [illegible]।
> पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति [illegible] [illegible] गतिः ॥ (६।७।४३)
> योऽभ्यासः [illegible] [illegible] ।
> [illegible] [illegible] ॥ (६।७।२०)

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ (६।६७।३०)
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत्खमभ्येति पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ (६।६७।३१)
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति संतताभ्यासयोगतः ॥ (६।६७।३३)
दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजंनैव सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ (६।६७।४४)

किसी काम को बार बार करने का नाम अभ्यास है; उसीको पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके बिना किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती। शुद्ध चित् (आत्मा) का उसी प्रकार का आकार दृढ़ हो जाता है जैसे आकार का उसमें अभ्यास होता है—यह बात बालक तक भी जानते हैं। भावना के अभ्यास से सूक्ष्म शरीर, जो कि वास्तव में शुद्ध चिदाकाश (आत्मा) है, आधिभौतिक (स्थूल) भाव को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार आधिभौतिक (स्थूल) देह भी सूक्ष्म धारणा के अभ्यास से पक्षी के समान आकाश में गमन करने लगता है। अभ्यास का इतना महत्व है। बराबर अभ्यास (यत्न) करने से नामुमकिन (असम्भव) भी मुमकिन (सम्भव) हो जाता है; शत्रु मित्र हो जाते हैं; और विष अमृत हो जाता है। यत्न नामवाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में कामयाबी होती है; किसी दूसरे साधन से नहीं।

(९) मन के दृढ़ निश्चय की शक्ति :—

न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्रोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यो बद्धपदतां यातो जन्तोर्मनसि निश्चयः ।
न तेनैव विना ब्रह्मन्नान्येन निवार्यते ॥ (३।८८।१९)
बहुकालं यदभ्यस्तं मनसा दृढनिश्चयम् ।
शापेनापि न तस्यास्ति क्षयो नष्टेऽपि देहके ॥ (३।८८।२०)
वीरं मनो भेदयितुं मनागपि न शक्यते । (३।८९।३८)
का नाम ता महाराज कीदृश्यः कस्य शक्तयः ॥ (३।८९।३८)
याभिर्मनांसि भिद्यन्ते दृढनिश्चयवन्त्यपि । (३।८९।३९)

मन के दृढ़ निश्चय को मिटाने या रोकने की किसी में शक्ति नहीं

है। जिसके मन में जो निश्चय दृढ़ हो गया है उसको उसके सिवाय और कोई नहीं हटा सकता। बहुत समय तक जो बात किसी के मन में गहरे तौर पर बैठ गई है वह शरीर के नष्ट होने पर या शाप द्वारा भी नहीं मन से हटती। दृढ़ निश्चयवाले वीर मनको अपने निश्चय से भंग करने की शक्ति किसी में नहीं है। किसकी ऐसी शक्ति है जो मन को अपने दृढ़ निश्चय से हटा सके ?

(१०) जैसा मन वैसी गति :—

यथा संवित्तथा चित्तं सा तथात्रस्थितिं गता।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यद्दशां पुनः ॥ (३।४०।१३)
चित्तायत्तमिदं सर्वं जगत्स्थिरचरात्मकम्।
चित्ताधीनवतो राम बन्धमोक्षावपि स्फुटम् ॥ (३।९८।३)

जैसा जिसका विचार वैसा ही उसका मन, और जैसा मन वैसी ही उसकी स्थिति होती है। उस स्थिति को दूसरी दशा में लाने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जड़ और चेतन समस्त जगत् चित्त के ही आधीन है। हमारा बन्धन और मुक्ति भी चित्त के हाथ में हैं।

(११) दुःख-सुख भी चित्त के आधीन हैं :—

मनःप्रमादाद्वर्धन्ते दुःखानि गिरिकूटवत्।
तद्वशादेव नश्यन्ति सूर्यस्याग्रे हिमं यथा ॥ (३।९९।४३)
सर्वेषु सुखदुःखेषु सर्वासु कलनासु च।
मनः कर्तृ मनो भोक्तृ मानसं विद्धि मानवम् ॥ (३।११५।२४)
मनः कर्मफलं भुङ्क्ते शुभं वाऽशुभमेव वा।
अतश्चित्तं नरं विद्धि भोक्तारं सुखदुःखयोः ॥ (३।११५।३४)
सर्वेषामेव देहानां सुखदुःखार्थभाजनम्।
शरीरं मन एवेह न तु मांसमयं मुने ॥ (४।१३।८)
यस्त्वकृत्रिम आनन्दस्तदर्थं प्रयतैर्नरैः।
मनस्तन्मयतां नेयं येनासौ समवाप्यते ॥ (४।२१।३४)

मन की मूर्खता से दुःख पहाड़ की चोटी की नाई बढ़ते हैं और मन के द्वारा ही दुःखों का इस प्रकार नाश हो जाता है जैसे कि सूर्य के उदय होने पर पाले का। सब दुःख, सुख और अवस्थाओं का बनानेवाला और भोगनेवाला मन ही है। मनुष्य मनोमय है अर्थात् जैसा किसी का मन वैसा ही वह मनुष्य होता है। शुभ या अशुभ कर्मों का

करनेवाला मन ही है ; इसलिये सुख-दुःख का भोगनेवाला मनुष्य मन ही है। हाड़ मांस से बना हुआ शरीर सुखदुःखों को भोगनेवाला नहीं है—सब शरीरों में मन ही को सुख या दुःख का अनुभव होता है। जो अलौकिक आनन्द मोक्ष दशा में अनुभव में आता है उसके प्राप्त करने के लिये भी पुरुषार्थी लोग मन की ही साधना करते हैं, क्योंकि उसकी सिद्धि भी मन के शुद्ध होने पर ही हो सकती है।

(१२) जीव की परिस्थितियाँ उसके मन की रची हुई हैं—

इदं चित्तेच्छयोदेति लीयते तदनिच्छया। (४।४९।३३)
दीर्घस्वप्नं तथैवेदं विद्धि चित्तोपपादितम्॥ (४।४९।२४)
या येन वासना यत्र सतेवारोपिता यथा।
सा तेन फलसूस्तत्र तदेव प्राप्यते तथा॥ (३।९३।१०)
स्वेनैव चित्तरूपेण कर्मणा फलधर्मिणा।
सङ्कल्पैकशरीरेण नानाविस्तरशालिना॥ (३।९६।८)
इदं ततमनेकात्म मायामयमकारणम्।
विश्वं विगतविन्यासं वासनाकल्पनाकुलम्॥ (३।९६।९)

यह हमारा दृश्य जगत् चित्त की इच्छाओं द्वारा निर्मित है और इच्छाओं के न रहने पर लीन हो जाता है। चित्त द्वारा रचा हुआ यह एक महान् स्वप्न है। जहाँ पर जिसने जैसी इच्छा दृढ़ कर ली है वहीं पर वह उसी प्रकार से फल देती है। यह नाना प्रकार के अनगिन पदार्थोंवाला और तत्त्वरहित संसार वासना के अनुसार नाना प्रकार के विस्तार को धारण करनेवाले और फल प्राप्त करनेवाले संकल्पात्मक मन के कर्म द्वारा रचा हुआ है।

(१३) शरीर भी मन का ही बनाया हुआ है :—

मनसेदं शरीरं हि वासनार्थं प्रकल्पितम्।
कृमिकोशप्रकारेण स्वात्मकोश इव स्वयम्॥ (४।४९।७)
करोति देहं संकल्पात्कुंभकारो घटं यथा॥ (४।११।१९)
योऽयं मांसास्थिसंघातो दृश्यते पाञ्चभौतिकः।
मनोविकल्पजं विद्धि न देहः परमार्थतः॥ (४।१३।१९)
स्वप्नसंकल्पनगरे यथान्यैव जगत्स्थितिः।
तथैवेयं हि संकल्पकल्पना [illegible] हि॥ (३।२८।३०)

प्राक्प्रवाहचिराभ्यस्तो वासनातिशयेन यः ।
तथैव दृश्यते देहस्तथाऽकृत्युदयेन सः ॥ (३।२८।३४)
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः ।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ (३।८९।३)
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः ।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव ॥ (४।२१।१६)

जैसे रेशम का कीड़ा अपने रहने के लिये अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मन ने भी यह शरीर अपनी वासनाओं की पूर्त्ति करने के लिये बनाया है। मन शरीर को अपने सङ्कल्पों द्वारा इस प्रकार बनाता है जैसे कि कुम्हार घड़े को। यह जो हड्डी और मांस का पंचभूतों से बना हुआ पुतला दिखाई पड़ता है वह शरीर नहीं है बल्कि मन की कल्पना द्वारा की हुई एक रचना है। जैसे स्वप्न-जगत् में सब पदार्थ संकल्प द्वारा रचे जाते हैं वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था के जगत् में भी सब वस्तुएँ (शरीर भी) संकल्प द्वारा बनाई जाती हैं। यह शरीर क्या है—केवल पूर्व काल की, अभ्यास द्वारा दृढ़ हुई, वासनाओं की एक आकारवाली मूर्त्ति। देहभावना से मनको देहत्व का अनुभव होता है और देहभावना से स्वतन्त्र हो जाने पर देह के धर्मों का मन को अनुभव नहीं होता। अर्थात् जब तक हम अपने आप को भौतिक शरीर मानते हैं तब तक हमको शरीर के धर्मों का अनुभव होता है; किन्तु जब हम शरीर भाव से ऊँचे चढ़ कर अपने को मन और आत्मा समझने लगते हैं तब हम शरीर के धर्मों से मुक्त हो जाते हैं; उस समय हमें शरीर के सुखदुःखों का अनुभव नहीं होता; और इस प्रकार की भावना के धीरे-धीरे परिपक्व हो जाने पर हम भौतिक शरीर नहीं धारण करते। जैसे जिस प्रकार की गन्ध हवा में छोड़ दी जाती है हवा उसी प्रकार की गन्धवाली हो जाती है; इसी प्रकार जैसे विचार किसी के मन में होते हैं उसका शरीर उसी प्रकार का आकार धारण करता रहता है।

(१४) मानसी चिकित्सा :—

शरीर मन का बनाया हुआ है और मन द्वारा ही इसकी वृद्धि और तबदीली होती रहती है। शरीर के सब रोग विचार और जीवन की अशुद्धि के कारण होते हैं। उनके दूर करने का सबसे उत्तम उपाय

विचारों और जीवन को शुद्ध करना है। जब मन शुद्ध और पवित्र होता है और वासना उच्च कोटि की होती है तब शरीर निरोग और सुन्दर रहता है। ये सब विचार आजकल के समय में "क्रिश्चियन साइंस" के नाम से पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं और बहुत ही नवीन और महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार के विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। योगवासिष्ठ इस प्रकार के विचारों की अनुपम निधि है। इसलिये यहाँ पर वसिष्ठ जीके मानसी चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विचारों को उद्धृत किया जाता है:—

(अ) आधि और व्याधि :—

आधयो व्याधयश्चैव द्वयं दुःखस्य कारणम्।
तन्निवृत्तिः सुखं विद्यात्तत्क्षयो मोक्ष उच्यते ॥ (६।८१।१२)
देहदुःखं विदुर्व्याधिमाध्याख्यं वासनामयम्।
मौर्ख्यमूले हि ते विद्यात्तत्त्वज्ञाने परिक्षयः ॥ (६।८१।१४)
इदं प्राप्तमिदं नेति जाड्याद्वा घनमोहदाः।
आधयः सम्प्रवर्तन्ते वर्षासु मिहिका इव ॥ (६।८१।१६)
भृशं स्फुरन्तीष्विच्छासु मौर्ख्ये चेतस्यनिर्जिते।
दुरान्नाभ्यवहारेण दुर्देशाक्रमणेन च ॥ (६।८१।१७)
दुष्कालव्यवहारेण दुष्क्रियास्फुरणेन च।
दुर्जनासङ्गदोषेण दुर्भावोद्भावनेन च ॥ (६।८१।१८)
क्षीणत्वाद्वा प्रपूर्णत्वान्नाडीनां रन्ध्रसंततौ।
प्राणे विधुरतां याते काये तु विकलीकृते ॥ (६।८१।१९)
दौस्थित्यकारणं दोषाद्व्याधिर्देहे प्रवर्तते ॥ (६।८१।२०)

दुःख के दो कारण हैं—एक आधियाँ और दूसरी व्याधियाँ। उनके दूर होने से सुख होता है और ज्ञानद्वारा उनकी सम्भावना दूर होने का नाम मोक्ष है। शरीर के दुःखों का नाम व्याधि है और मानसिक दुःखों का नाम आधि है। दोनों मूर्खता से उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञान से दोनों का क्षय हो जाता है। गहरे मोह में डालने वाले मानसिक रोग अज्ञान से और "यह वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है यह नहीं हुई है" इस प्रकार के मानसिक विचारों से ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे वर्षा ऋतु में मेंह बरसता है। देह के रोगों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है:—

जब कि अज्ञान के कारण मनुष्य का मन उसके बस में नहीं होता और उसमें नाना प्रकार की तीव्र वासनायें उठती हैं, तो मनुष्य उनको पूरा करने के वास्ते अखाद्य द्रव्यों को खाने लगता है, अगम्य (बुरे) स्थानों में जाने लगता है, अनुचित समय पर और अनुचित तरह के काम करने लगता है, दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में बैठने लगता है, और अपने मन में खोटे भावों को स्थान देने लगता है। ऐसा होने पर उसकी नाडियाँ ठीक-ठीक प्रकार से काम करना छोड़ देती हैं। कुछ नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ अधिक शक्तिवाली हो जाती हैं जिससे उनके द्वारा जीवन शक्ति (प्राण) का शरीर के भीतर समान बहाव नहीं रहता और प्राण शक्ति के संचार में उचित संगठन का ह्रास हो जाता है। ऐसा होने से शरीर की स्थिति डावाँडोल हो जाती है, और उसमें नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होकर दुःख देने वाले अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(आ) आधि से व्याधि की उत्पत्ति :—

चित्ते विधुरिते देहः संक्षोभमनुयात्यलम्। (६/१।८१।३०)
संक्षोभात्साम्यमुत्सज्य वहन्ति प्राणवायवः॥ (६/१।८१।३२)
असमं वहति प्राणे नाड्यो यान्ति विसंस्थितिम्। (६/१।८१।३३)
काश्चिन्नाड्यः प्रपूर्णत्वं यान्ति काश्चिच्च रिक्तताम्॥ (६/१।८१।३४)
कुजीर्णत्वमजीर्णत्वमतिजीर्णत्वमेव वा।
दोषायैव प्रयात्यन्नं प्राणसञ्चारदुष्क्रमात्॥ (६/१।८१।३५)
तथान्नानि नयत्यन्तः प्राणवातः स्वमाश्रयम्। (६/१।८१।३६)
यान्यन्नानि [illegible] तिष्ठन्त्यन्तः शरीरके॥ (६/१।८१।३७)
तान्येव व्याधितां यान्ति परिणामस्वभावतः। (६/१।८१।३७)
एवमाधेर्भवेद्व्याधिस्तस्याभावाच्च नश्यति॥ (६/१।८१।३८)

चित्त में गड़बड़ होने से अवश्य ही शरीर में गड़बड़ होती है। शरीर में जब संक्षोभ होता है तो प्राणों के प्रसार में विषमता आ जाती है और प्राणों की गति में विकार होने से नाड़ियों के परस्पर सम्बन्ध में खराबी उत्पन्न हो जाती है। कुछ नाड़ियाँ तो शक्ति से अधिक पूर्ण हो जाती हैं और कुछ खाली हो जाती हैं। प्राणों की गति में खराबी पैदा होने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता—कभी अन्न अच्छी तरह नहीं पचता, कभी कम पचता है और कभी अधिक पचता है। प्राणों

के यन्त्र में अन्न पहुँच कर वहाँ पर जमा होकर और ... अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने लगता है। इस प्रकार मानसिक रोगों से शरीर के रोगों की उत्पत्ति होती है और उनके नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है।

(इ) आधि के क्षय होने पर व्याधि का क्षय :—

आधिक्षयेणाधिभवाः क्षीयन्ते व्याधयोऽप्यलम्। (६।८१।२४)
शुद्धया पुण्यया साधो क्रियया साधुसेवया॥ (६।८१।४०)
मनः प्रयाति नैर्मल्यं निकषेणेव काञ्चनम्। (६।८१।४०)
आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव॥ (६।८१।४१)
सत्त्वशुद्धया वहन्त्येते क्रमेण प्राणवायवः।
जरयन्ति तथान्नानि व्याधिस्तेन विनश्यति॥ (६।८१।४२)
यन्मयं हि मनो राम देहस्तदनु तद्वशः।
तत्तामायाति गन्धान्तः पवनो गन्धतामिव॥ (४।२१।१६)

आधियों (मानसिक रोगों) के क्षीण हो जाने पर उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ (शारीरिक रोग) भी मिट जाते हैं। शुद्ध और शुभ कर्मों के करने से और सज्जनों के सङ्ग से मन इस प्रकार निर्मल हो जाता है जैसे कि सान पर चढ़ाने से सोना और चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द (निरोगता) का संचार होने लगता है। जीवन के शुद्ध होने पर प्राणों की गति ठीक-ठीक रीति से होने लगती है और शरीर में अन्न का पाचन ठीक-ठीक होने लगता है, जिससे कि शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मन के जैसे विचार होते हैं देह उन्हीं के अनुसार चलती है और उसी प्रकार की हो जाती है जैसे हवा वैसी ही हो जाती है जैसी गन्ध उसमें छोड़ दी जाए।

(ई) मन्त्र चिकित्सा :—

मन्त्रों के अक्षरों में भी उसी प्रकार शरीर पर असर करने की शक्ति है जैसे कि दवाइयों में। किन्तु मन्त्रों का प्रभाव भावना द्वारा होता है।

यथा विरेकं कुर्वन्ति हरीतक्यः स्वभावतः।
भाविभावनया ... कार्यं तथा ...॥ (६।८१।३९)

जैसे हरीतकी (हर्रे) का स्वभाव ऐसा है कि उसके खाने से शरीर में दस्त लग जाते हैं वैसे ही भावना (दृढ़ विश्वास) द्वारा मन्त्रों के अक्षर (... ल व आदि) भी शरीर पर असर करते हैं।

(उ) मूल आधि :—

द्विविधो व्याधिरस्तीति सामान्यः सार एव च।
व्यवहारस्तु सामान्यः सारो जन्ममयः स्मृतः ॥ (६।८१।२३)
प्राप्तेनाभिमतेनैव नश्यन्ति व्यावहारिकाः। (६।८१।२४)
आत्मज्ञानं विना सारो नाधिर्नश्यति राघव ॥ (६।८१।२५)
आधिव्याधिविलासानां राम साराधिसंक्षयः।
सर्वेषां मूलहा प्रावृण्नदीव तटवीरुधाम् ॥ (६।८१।२६)

रोग दो प्रकार के होते हैं—एक सामान्य और दूसरा मूल। सामान्य रोग उनको कहते हैं जो कि लौकिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं। संसार में जन्म लेना मूल रोग है (क्योंकि जब तक जीव संसार में जन्म लेता रहेगा तब तक तो उसे कभी न कभी कोई न कोई रोग लगेगा ही। रोगों से पूरी निवृत्ति जन्म-मरण के चक्कर से बिल्कुल ही छूट जाने पर होती है) लौकिक रोगों की शान्ति तो यथोचित वस्तु प्राप्त हो जाने पर हो जाती है, किन्तु जो मूल रोग है, उसकी शान्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं होती। जीवन की सब आधियाँ (मानसिक रोग) और व्याधियाँ (शारीरिक रोग) मूल आधि (अज्ञान) के नाश होने पर ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नदी के किनारे उत्पन्न होनेवाली बेलें वर्षा ऋतु में नदी की बाढ़ से नष्ट हो जाती हैं।

(ऊ) जीवनको सुखी और निरोग रखनेका उपाय :—

मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः।
देहभावनयाऽयुक्तो देहधर्मैर्न बाध्यते ॥ (३।८९।३)
न मनोनिश्चयकृतं कश्चिद्रोधयितुं क्षमः ॥ (३।८८।१८)
यन्मनोनिश्चयकृतं तद्द्रव्यौषधिदण्डनैः। (३।९१।१४)
हन्तुं न शक्यते जन्तोः प्रतिबिम्बमणेरिव ॥ (३।९१।१५)
पौरुषं स्वमवष्टभ्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम्।
यदि तिष्ठत्यसौ भूत्वा दुःखानां तदनिन्दितः ॥ (३।९२।१४)
आधयो व्याधयश्चैव शापाः पापदृशस्तथा।
न खण्डयन्ति तच्चित्तं पद्मवाताः शिलामिव ॥ (३।९२।२५)
भावाभावमयीं चिन्तामीहितानीहितान्विताम्।
विमृश्यात्मनि तिष्ठामि चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१०)

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ।
इति चिन्ता न मे तेन चिरं जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१२)

प्रशान्तचापलं वीतशोकं स्वस्थं समाहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१६)

किमद्य मम सम्पन्नं प्रातर्वा भविता पुनः ।
इति चिन्ताज्वरो नास्ति तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१८)

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।१९)

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यतः ।
इति ब्रह्मन्न जानामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२०)

आहरन्विहरन्तिष्ठन्नुत्तिष्ठन्श्वसन्स्वपन् ।
देहोऽहमिति नो वेद्मि तेनास्मि चिरजीवितः ॥ (६।२६।२२)

अपरिच्छिन्नया शक्त्या सुदृशा स्निग्धमुग्धया ।
ऋजु पश्यामि सर्वत्र तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२५)

यत्करोमि यदश्नामि तत्त्यक्त्वा तद्गतोऽपि मे ।
मनो नैष्कर्म्यमादत्ते तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२७)

करोमीशोऽपि नाक्रान्ति परितापे न खेदवान् ।
दरिद्रोऽपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।२९)

जीर्णं भिन्नं श्लथं क्षीणं क्षुब्धं क्षुण्णं क्षयं गतम् ।
पश्यामि नववत्सर्वं तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।३३)

सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जी[illegible]नामयः ॥ (६।२६।३४)

आपद्यचलधीरोऽस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावेषु नैवास्मि तेन जीवाम्यनामयः ॥ (६।२६।३९)

मैं शरीर हूँ इस प्रकार की भावना से जीव शरीर के धर्मों का अनुभव करता है, और इस भावना से रहित होने पर जीव को शरीर के गुणों का अपने में अनुभव नहीं होता। मन जिस बात का दृढ़ निश्चय कर लेता है वही होती है—उसे टालने वाला और कोई नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब, मणि पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब किसी साधन से नहीं मिट सकता उसी प्रकार मनने जो अपने लिये निश्चित कर लिया है वह भाव, द्रव्य, औषधि और दण्ड आदि किसी अन्य साधन से

नहीं दूर किया जा सकता। (मन के निश्चय का इतना महत्व है—इसलिये) यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अटल धैर्य को धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दुःख नहीं फटक सकते। ऐसे पुरुष के मन को आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शरीर के रोग) शाप और कुदृष्टि (बुरी नज़र) आदि कुछ भी इस प्रकार हानि नहीं पहुंचा सकता जैसे कमल दंड से पीटने से पर्वत को कुछ नहीं होता। (वसिष्ठ जी ने जब काकभुशुण्डि मुनि से यह पूछा कि आप इतने दीर्घ काल से इतने निरोगी और युवा कैसे बने रहते हैं तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह यह है :—) मैं सदा निरोगी इस वजह से रहता हूँ कि—इष्ट और अनिष्ट के होने और न होने की चिन्ता को त्याग कर मैं आत्म-भाव में स्थित रहता हूं; आज मैंने इस वस्तु को प्राप्त कर लिया, कल उस सुन्दर वस्तु को प्राप्त करूँगा – इस प्रकार की चिन्ता मुझे नहीं होती; मेरा मन चपलता और शोक से रहित शान्त और समाहित (स्थिर) है; आज मुझे क्या प्राप्त हुआ है और कल क्या होगा इस प्रकार की चिन्ता के ज्वर से मैं पीड़ित नहीं हूँ; बुढ़ापे और मौत के दुःख से मुझे डर नहीं है, और राज्य आदि के सुख मिलने से मुझे कोई खुशी नहीं होती; यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मेरा है, यह दूसरे का—इस प्रकार का भेद भाव मेरे मन में नहीं है; आहार-विहार में उठते-बैठते, साँस लेते और सोते—किसी समय भी मुझे यह खयाल नहीं होता कि मैं देह हूं; अपने स्वरूप से, विचलित न होने वाली शक्ति तथा मधुर और प्रेमयुक्त दृष्टि से युक्त होकर मैं सबको समता से देखता हूँ; जो कुछ मैं करता हूँ अथवा जिस वस्तु का मैं भोग करता हूँ उस-उसमें से अभिमान त्याग कर सब कुछ करता हुआ भी मैं मन में निष्क्रिय ही रहता हूँ; मैं समर्थ होने पर भी किसी पर आक्रमण नहीं करता, दूसरों से दुःख दिये जाने पर भी मैं खिन्न नहीं होता, धनहीन होने पर भी मैं किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं करता; जीर्ण, टूटी हुई, शिथिल अङ्गवाली, क्षीण, क्षोभयुक्त, संचूर्णित और नष्टप्राय वस्तुओं में भी मुझे नवीनता का आनन्द आता है; दूसरों को सुखी देखकर मैं सुखी होता हूँ, दुःखी देखकर दुःखी होता हूँ, और सब का मैं प्रिय मित्र हूँ; आपत्ति आने पर मैं अचल और धैर्ययुक्त रहता हूँ, और सम्पत्ति की दशा में सारे जगत् के साथ मित्रता का व्यवहार करता हूँ; भाव और अभाव में मैं सर्वदा एक समान रहता हूँ।

(१९) मन के शान्त और महान् होनेपर ही सब ओर आनन्द का अनुभव होता है :—

मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥ (४।४।९)
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् । (४।५९।३३)
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावादाहमयं जगत् ॥ (४।५६।३४)
न तत्त्रिभुवनैश्वर्यान्न कोशाद्रत्नधारिणः ।
फलमासाद्यते चित्ताद्यन्महत्त्वोपबृंहितात् ॥ (५।२१।१२)
पूर्णे मनसि सम्पूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतेव भूः ॥ (५।२१।१४)

मन सब कुछ है, मन की अपने भीतर ही चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक हो जाता है। अपने भीतर ही यदि शान्ति प्राप्त हो गई, तो सारा संसार शान्त दिखाई पड़ने लगता है। जो अपने भीतर ही तृष्णा की आग से जल रहा हो उसके लिये सारे संसार में आग सी लगी रहती है। चित्त को महान् बनाने से जो फल प्राप्त होता है वह न तीनों लोक (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) के ऊपर राज्य करने से, न रत्नों से भरे हुए खजाने के मिलने से होता है। मन के पूर्ण होनेपर सारा संसार अमृत से भरपूर दिखाई पड़ता है, जैसे कि जूता पहने हुए पुरुष के लिये समस्त पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई सी प्रतीत होती है।

(१६) शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है :—

सर्वत्र स्थितमाकाशमादर्शे प्रतिबिम्बति ।
यथा तथात्मा सर्वत्र स्थितश्चेतसि दृश्यते ॥ (६।७१।३९)
आकाशोपलकुड्यादौ सर्वत्रात्मदशा स्थिता ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे चित्त एवात्र दृश्यते ॥ (६।७१।३६)
चित्तं वृत्तिविहीनं ते यदा यातमचित्तताम् ।
तदा मोक्षमयीमन्तः सत्तामाप्नोषि तां तताम् ॥ (६।२१।२६)

यद्यपि आकाश सब जगह मौजूद है तो भी उसका प्रतिबिम्ब केवल शीशे में ही पड़ता है। ऐसे ही यद्यपि आत्मा सब जगह वर्त्तमान है तो भी उसका दर्शन केवल मन के भीतर ही होता है। आत्मा

यद्यपि आकाश पत्थर और दीवार आदि सब ही वस्तुओं में वर्त्तमान है, तोभी जैसे केवल शीशे में ही वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, आत्मा का दर्शन केवल चित्त में ही होता है। जब चित्त वृत्तिहीन होकर चित्तभाव को त्याग देता है, तब अपने भीतर विस्तृत आकारवाली मोक्षमयी आत्मसत्ता का अनुभव करता है।

(१७) जबतक मन में अज्ञान है तभीतक जीव संसाररूपी अन्धकार में पड़ा रहता है :—

जडधर्मि मनो यावद्गर्तकच्छपवत्स्थितम्।
भोगमार्गवदामूढं विस्मृतात्मविचारणम्॥ (६।६।२७)
तावत्संसारतिमिरं सेन्दुनापि सवह्निना।
अर्कद्वादशकेनापि मनागपि न भिद्यते॥ (६।६।२८)

गड्ढे के कछुवे के समान जबतक अज्ञानी मन आत्मा को भूलकर मूर्खतावश भोगों के मार्ग पर चलता रहता है तबतक संसाररूपी अन्धेरा किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता, चाहे आग और चन्द्रमा-सहित बारहों सूर्य भी अपना प्रकाश कर लें।

(१८) मन जगत्‌रूपी पहिये की नाभि है :—

अस्य संसाररूपस्य मायाचक्रस्य राघव।
चित्तं विद्धि महानाभिं भ्रमतो भ्रमदायिनः॥ (६।६०।६)
तस्मिन् द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः।
गृहीतनाभिवद्दनान्मायाचक्रं निरुध्यते॥ (६।६०।७)

इस भ्रम पैदा करनेवाले, घूमनेवाले, संसाररूपी मायाचक्र की नाभि चित्त है। इस नाभि को बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा जोर से पकड़कर रोक लेने से मायाचक्र की गति रुक जाती है।

११—सिद्धियाँ

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार मनुष्य के भीतर अनन्त और अद्भुत शक्ति वर्तमान है—केवल उसके उपयोग करने की ही कमी है। प्रायः हम अपनी शक्ति का उपयोग बिना जाने ही करते हैं। यदि जानकर और समझ-बूझकर हम अपनी ईश्वरीय शक्ति का उपयोग करें तो जो चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य का मन शक्ति का भण्डार है—क्योंकि वह ब्रह्म का ही एक आकार है। मन को जितना शुद्ध किया जाए वह उतना ही बलवान् और शक्तिशाली होता चला जाता है। मन के अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में भी शक्ति का एक महान् केन्द्र है जिसमें जीव की अनन्त और अद्भुत शक्ति सोती रहती है। यदि योगमार्ग द्वारा उस शक्ति को–जिसको योगशास्त्रों में कुंडलिनी के नाम से पुकारा गया है—जगा दिया जाए तो मनुष्य को अनेक प्रकार की योग्यताएँ, जो कि साधारण मनुष्य को प्राप्त नहीं हैं, प्राप्त हो जाती हैं। उस महान् शक्ति के उपयोग से मनुष्य मन चाही बातें कर सकता है। ऐसी शक्तियों को प्राप्त कर लेने को, जो कि साधारणता से लोगों को प्राप्त नहीं हैं, सिद्धि कहते हैं। योग में आठ प्रकार की सिद्धियाँ मानी जाती हैं। उनके नाम ये हैं :—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व। 'अणिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी इच्छा करने पर अपने स्थूल शरीर को सूक्ष्म से सूक्ष्म बना लेता है। 'लघिमा' उस सिद्धि को कहते हैं जिसके द्वारा योगी अपने शरीर को इतना हल्का बना लेता है कि वह आकाश-मार्ग से जहाँ चाहे जा सके। 'महिमा' वह सिद्धि है जिसके द्वारा योगी अपने शरीर को चाहे जितना बड़ा बना सके। 'गरिमा' द्वारा योगी अपने शरीर को जितना चाहे भारी बना सकता है। 'प्राप्ति' वह सिद्धि कहलाती है जिसके द्वारा योगी इच्छानुसार किसी भी अन्य लोक में जा सके। 'प्राकाम्य' सिद्धि द्वारा योगी जिस पदार्थ की इच्छा करे उसे ही प्राप्त कर लेता है। 'वशित्व' द्वारा योगी के वश में संसार की सब ही वस्तुएँ हो जाती हैं, और वह स्वयं किसी के बस में नहीं रहता। 'ईशित्व' वह सिद्धि है जिसके प्राप्त कर लेने पर

योगी में सब कुछ उत्पन्न और नाश करने की शक्ति आ जाती है। वह चाहे तो नवीन सृष्टि की उत्पत्ति कर सकता है। इनके अतिरिक्त पातञ्जल योगदर्शन में और बहुतसी सिद्धियों का वर्णन है और उनकी प्राप्ति के साधन भी बतलाये गये हैं—जिनमें से कुछ ये हैं:—सब प्राणियों की वाणी समझने की सिद्धि, पूर्वजन्म का ज्ञान, दूसरों के चित्त का ज्ञान, अदृश्य हो जाने की शक्ति, मृत्यु का ज्ञान, अपार बल की प्राप्ति, सूक्ष्म, गुप्त और दूर के पदार्थों का ज्ञान, दूसरे स्थूल और सूक्ष्म लोकों का ज्ञान, तारों की चाल का ज्ञान, अपने शरीर के भीतर के अङ्गों का ज्ञान, भूख और प्यास से निवृत्ति, स्थिरता, सिद्धों का दर्शन, सर्वज्ञता, अपने चित्त का पूर्ण ज्ञान, आत्मज्ञान, दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति, मृत्यु और शारीरिक दुःख पर विजय, दूर की वस्तुओं को इन्द्रियों द्वारा देखना, सुनना और स्पर्श करना, इन्द्रियोंपर विजय, और त्रिकाल दर्शन। यहाँपर योगवाशिष्ठ में वर्णन की हुई सिद्धियों का उल्लेख किया जाता है। योगवासिष्ठ में सिद्धियों के प्राप्त करने के दो विशेष मार्ग हैं। एक मन की शुद्धि और दूसरा कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन। प्रथम हम मन की शुद्धि द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ का वर्णन यहाँपर करते हैं।

(१) मन की शुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ :—

मनो निर्मलसत्त्वात्म यद्भावयति यादृशम्।
तत्तथाशु भवत्येव यथाऽवर्तो भवेत्पयः ॥ (४।१७।४)

शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अवश्य ही जल्द ही वैसी ही हो जाती है—जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है।

(अ) दूसरों के मन का ज्ञान :—

मलिनं हि मनोऽवीर्यं न मिथः श्लेषमर्हति।
अयोऽयसि च संतप्ते शुद्धे तप्तं तु लीयते ॥ (४।१७।२९)
चित्ततत्त्वानि शुद्धानि सम्मिलन्ति परस्परम्।
एकरूपाणि तोयानि यान्त्यैक्यं नाविलानि हि ॥ (४।१७।३०)

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे मन के साथ सङ्गम करने में अशक्त होता है। शुद्ध और गरम किया हुआ लोहा ही दूसरे शुद्ध और तप्त लोहे में मिल सकता है। जैसे समान रूपवाले जल

ही आपस में मिलकर एक होते हैं उसी प्रकार शुद्ध मनों में ही परस्पर एकता हो सकती है।

(आ) सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने की सिद्धि :—

अप्रबुद्धधियः सिद्धलोकान्पुण्यवशोदितान्।
न समर्थाः स्वदेहेन प्राप्तुं छाया इवातपान्॥ (३।९३।२९)
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाथ वरेण च।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु॥ (३।९३।३४)
तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे॥ (३।९४।१)
आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत्॥ (३।२२।१०)
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम्।
यदा तदाह्यसंकल्पांल्लोकान्द्रक्ष्यसि पावनान्॥ (३।१२।२२)

जैसे छाया का धूप में प्रवेश नहीं हो सकता, वैसे ही वे लोग जिनकी बुद्धि में जागृति नहीं हुई, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होनेवाले सिद्ध लोकों में अपने शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकते। दूसरे लोक में प्रवेश पवित्र शरीर, ज्ञान और विवेक, पवित्र कर्म अथवा वर द्वारा होता है। इसलिये आतिवाहिक (सूक्ष्म) लोकों में उन्हीं लोगों का प्रवेश होता है जो या तो ज्ञानी (अर्थात् जो जानने योग्य सब तत्त्वों को जानते हैं) हों या जिनका जीवन पूर्णतया धार्मिक हो। जो जीव प्रबुद्ध होकर सूक्ष्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं वे ही उन दूसरे जीवों से मिल सकते हैं जो कि सिद्ध होकर दूसरे लोकों में जन्म ले चुके हैं। जब सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञान पूर्णतया स्थिर हो जाता है, तब मनुष्य को संकल्प रहित पवित्र सिद्ध लोकों का दर्शन होता है।

(इ) आधिभौतिकता की भावना के कारण जीव को सूक्ष्म लोकों का दर्शन नहीं होता :—

आधिभौतिकदेहोऽयमिति यस्य मतिभ्रमः।
तस्यासावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति मानघ॥ (३।४०।८)
अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नास्ति ममोत्तमा।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात्सोऽन्यनिश्चयः॥ (३।९३।२३)
यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेन न लभ्यते।

तत्रान्यसंकल्पपुरं देहोऽन्यो लभते [illegible] ॥ (३।२१।४३)

जिसके मन में यह भ्रम दृढ़ हो गया है कि मैं आधिभौतिक (स्थूल) शरीर हूँ वह भला सूक्ष्म मार्ग द्वारा दूसरे लोकों में कैसे जा सकता है? जिसके मन में इस प्रकार की भावना दृढ़ हो गई है कि मैं भौतिक शरीर हूँ और मेरा गमन आकाश द्वारा नहीं हो सकता, उसको भला यह कैसे विश्वास हो सकता है कि वह सूक्ष्म देह है और वह आकाश-मार्ग द्वारा जा सकता है? जब कि मनुष्य अपने ही सङ्कल्प-जगत् में अपने स्थूल शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकता तो भला दूसरों के सङ्कल्प-जगत् में उसका प्रवेश स्थूल शरीर द्वारा कैसे हो सकता है?

(ई) सूक्ष्म भाव ग्रहण करने की युक्ति :—

तस्यैवाभ्यसतोऽभ्येति साधिभौतिकतामतिः।
यदा शाम्यति सैवास्या तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ (३।५७।३०)
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधाग्रहः।
शाम्येत्स्वप्ननरस्यैव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ (३।५७।३१)
लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ (३।५७।३२)
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद्यथा देहो लघुर्भवेत्।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत्प्लुतिमान्भवेत् ॥ (३।५७।३३)
रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाम्बरे ॥ (३।५८।१४)
सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ (३।५८।१६)
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति।
तदातिवाहिको भावः पुनरेष्यति देहके ॥ (३।२१।५६)
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते।
तथातिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाधिभौतिकः ॥ (३।२१।६०)
स्वप्नसंकल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा।
तथा जाग्रद्भावनान्ते उदेत्येवातिवाहिकः ॥ (३।२२।३)
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम्।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाम्बुताम् ॥ (३।२२।९)

अवबोधघनाभ्यासाद्देहस्यास्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ (३।२२।१७)

आधिभौतिक (स्थूल) भावना के त्याग देने पर आतिवाहिक (सूक्ष्म) भावना का उदय होता है। तब भारीपन और कड़ेपन का झूठा विश्वास इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कि स्वप्न से अच्छी तरह जाग जाने पर स्वप्न की वस्तुओं की स्थूल भावना का अन्त हो जाता है। हलकेपन और सूक्ष्मता की भावना का तब योगी में ऐसे उदय हो जाता है जैसे स्वप्न में यह जान लेने पर कि यह स्वप्न है। जैसे स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर शरीर सूक्ष्म मालूम पड़ने लगता है वैसे ज्ञान प्राप्त होने पर स्थूल शरीर भी हलका मालूम पड़ने लगता है। जिस ज्ञानी के हृदय में सूक्ष्मभावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है उसके लिये आधिभौतिक (स्थूल) भावना का ऐसे अन्त हो जाता है जैसे सरदी के मौसम का बादल देखते-देखते नष्ट हो जाता है। जैसे गर्भ की अवस्था की यौवन काल में याद नहीं रहती उसी प्रकार जिसके मन में यह भावना दृढ हो गई है कि मैं सूक्ष्म हूँ, वह अपने स्थूल भाव (स्थूल शरीर) को बिल्कुल भूल जाता है। वासनाओं के क्षीण होने पर अवश्य ही शरीर में सूक्ष्मभाव का उदय हो जाता है। जैसे यह जान लेने पर कि वास्तव में यह रस्सी है सर्प नहीं है, सर्प दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही यह जान लेने पर कि हमारा शरीर वास्तव में सूक्ष्म है स्थूल शरीर का अनुभव नहीं रहता। जैसे स्वप्न में अनुभव में आने वाले कल्पना के शरीर की भावना का अन्त होते ही जागने पर स्थूल शरीर की भावना का उदय हो जाता है, वैसे ही जाग्रत् भावना के अन्त होने पर स्थूल शरीर की भावना का नाश हो जाता है। जैसे गर्मी पाकर बर्फ़ पानी हो जाता है, वैसे ही सूक्ष्म वासनाओंवाला और शुद्ध भाव को प्राप्त हुआ मन भी सूक्ष्म हो जाता है। (संसार के पदार्थों की वासनाओं के कम हो जाने पर ज्ञान और अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर में ही सूक्ष्म शरीर के अनुभव का उदय हो जाता है।)

(उ) ज्ञान द्वारा स्थूल भावना की निवृत्ति :—

असत्यमेव संकल्पभ्रमेणेदं शरीरकम् ।
जीवः पश्यति मूढात्मा बालो यक्षमिवोद्गतम् ॥ (६/१।८२।१७)
यदा तु ज्ञानदीपेन सम्यगालोक आगतः ।
संकल्पमोहो जीवस्य क्षीयते शरदभ्रवत् ॥ (६/१।८२।१८)

शान्तिमायाति देहोऽयं सर्वसङ्कल्पसंक्षयात् ।
तदा राघव निःशेषं दीपस्तैलक्षये यथा ॥ (६।८२।१९)
निद्राव्यपगमे जन्तुर्यथा स्वप्नं न पश्यति ।
जीवो हि भाविते सत्ये तथा देहं न पश्यति ॥ (६।८२।२०)
अतत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतः स्थितः ।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात् ॥ (६।८२।२१)
सत्यभावनदृष्टोऽयं देहो देहो भवत्यलम् ।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः ॥ (६।८२।२७)

जैसे बालकको भूत दिखाई पड़ता है, वैसे ही मूर्ख जीवको भी शरीर न होते हुए भी संकल्पके भ्रमसे यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है। जब ज्ञान के दीपकसे चारों ओर चान्दना फैल जाता है तब जीवका संकल्प-मोह शरदृतुके बादलकी नाईं क्षीण हो जाता है। जैसे तेलके खत्म हो जानेपर दीपक बुझ जाता है, वैसे ही संकल्पोंके क्षीण हो जानेपर स्थूल शरीरका अनुभव क्षीण हो जाता है। निद्राके खत्म हो जानेपर जैसे जीवको स्वप्न दिखाई नहीं देते, वैसे ही सत्यकी भावनाके उदय होनेपर जीवको शरीरका अनुभव नहीं रहता। असत्य-में सत्यकी भावना होनेसे जीव स्थूल शरीरसे घिरा हुआ है। एक तत्त्वकी भावनाके दृढ़ हो जानेपर जीव शरीरसे मुक्त और सुखी हो जाता है। शरीरको सत्य समझनेसे ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है, इसको असत्य जान लेनेपर इसका अनुभव नहीं रहता।

(२) कुण्डलिनी शक्तिके उद्बोधन द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ :—

(अ) कुण्डलिनी :—

परिमण्डलिकातारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।
आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ॥ (६।८०।३६)
वीणाप्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।
ओंकारार्धसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ॥ (६।८०।३७)
देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।
कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ॥ (६।८०।३८)
शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला । (६।८०।३९)

ऊरोभ्रूमध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ति वृत्तिचञ्चला ।
अनारतं च सस्पन्दा पवमानेव तिष्ठति ॥ (६।८०।४०)
तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।
या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ॥ (६।८०।४१)
सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।
प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ॥ (६।८०।४२)
अनिशं निःश्वसद्रूपा रुषितेव भुजङ्गमी ।
संस्कृतोर्ध्वीकृतमुखी स्पन्दनाहेतुतां गता ॥ (६।८०।४३)
तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ॥ (६।८०।४०)
नित्यं पातोत्सुकतया प्रवेशोन्मुखया तया ।
सा सर्व संविदां बीजं ह्येका सामान्युदाहृता ॥ (६।८०।४८)
एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।
प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ॥ (६।८१।१)
सान्तः कुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।
कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ॥ (६।८१।२)
जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।
संकल्पाच्चैव संकल्पो बोधाद्बुद्धिरिति स्मृता ॥ (६।८१।३)
अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।
स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ॥ (६।८१।४)
अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।
समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ॥ (६।८१।५)
सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६।८१।७)
समस्तैर्वोर्ध्वमायाति यदि युक्त्या न धार्यते ।
तत्पुमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ॥ (६।८१।८)
सर्वथात्मनि तिष्ठेच्चेत्त्यक्त्वोर्ध्वाधो गमागमौ ।
तज्जन्तोर्हीयते व्याधिरन्तर्मारुतरोधतः ॥ (६।८१।९)
पुर्यष्टकपराख्यस्य जीवस्य प्राणनामिकाम् ।
विद्धि कुण्डलिनीमन्तरामोदस्येव मञ्जरीम् ॥ (६।८१।४४)
मांसं कुर्यन्त्रजठरे स्थितं श्लिष्टमुखं मिथः ।
ऊर्ध्वाधःसंमिलत्स्थूलद्वयम्भःस्थैरिव वैतसम् ॥ (६।८१।६३)

तस्य कुण्डलिनी लक्ष्मीर्निलीनान्तर्निजास्पदे ।
पद्मरागसमुद्गस्य कोशे मुक्तावली यथा ॥ (६।८१।६४)
आवर्तफलमालेव नित्यं सलसलायते ।
दण्डाहतेव भुजगी समुन्नतिविवर्तिनी ॥ (६।८१।६५)

शरीर के मर्मस्थान में चक्र के आकारवाली, सैकड़ों नाड़ियों का आश्रय, आंत्रवेष्टनिका (आँतों से घिरी हुई) नाम की एक नाड़ी है। उसका आकार वीणा के मूल भाग में स्थित आवर्त (गोलाई) के, जलमें भँवर के, ओंकार अक्षर (ॐ) के आधे के, तथा कुण्डल के चक्र के समान है। वह नाड़ी देव, असुर, मनुष्य, मृग, नाकू (मगर), पक्षियों, कीड़े मकोड़े, जल में उत्पन्न होनेवाले जन्तुओं में—संक्षेपतः सब ही प्राणियों के भीतर मौजूद है। उस नाड़ी का आकार ऐसा है जैसे कोई सर्पिणी जाड़े से पीड़ित होकर गूंडली मार कर सो गई हो। गुदा से लेकर भौं तक सब छिद्रों को स्पर्श करनेवाली, चञ्चल वृत्तिवाली, और बराबर स्पन्दन करते रहनेवाली वह नाड़ी है। उस नाड़ी के भीतर जो केले के डंडे के भीतरवाले छेद के समान कोमल है, वीणा की नाईं स्पन्दनयुक्त एक परम शक्ति वर्त्तमान है। कुण्डल के आकारमें उसका स्पन्दन होने के कारण उसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। वह प्राणियों की परम शक्ति है और उनकी अन्य सब शक्तियों को तेजी देनेवाली है। जैसे गुस्से में आकर साँपिनी फुंकार मारती हो, ऐसे ही वह शक्ति ऊपर को मुँह उठाये हुये हरदम सांस सा लेती हुई तमाम शरीर के स्पन्दन का कारण होती है। हृदय में पहुँचनेवाली सब ही नाड़ियाँ उससे सम्बन्ध रखती हैं और उसमें इस प्रकार आ मिलती हैं जैसे कि समुद्रमें नदियाँ। चूँकि सारी नाड़ियाँ उसमें आकर पड़ती हैं और उसका सब से ही सम्बन्ध है, उसको सब प्रकार के ज्ञानों का बीज सामान्य ज्ञान कहा जाता है। पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों का बीज कुण्डलिनी शक्तिमें स्थित है और प्राणोंके द्वारा वह बीज सञ्चालित होता है। वह कुण्डलिनी शक्ति, स्पन्दन, स्पर्श और ज्ञान सब की शुद्ध कला है। संकल्पयुक्त होने से उसका नाम कला है और चेतन होने से उसका नाम चिति है। जीने से जीव, मनन करने से वह मन और बोध-प्राप्त होने से बुद्धि होती है। वही शक्ति अहंभाव को प्राप्त होकर पुर्यष्टक कहलाती है। सब शक्तियों की परम शक्ति वह कुण्डलिनी

शक्ति शरीर में स्थित है। अपान वायु का रूप धारण करके वह शक्ति सदा नीचेकी ओर जाती है, नाभि के मध्य में स्थित होने से वह समान कहलाती है और उदान के नाम से वह ऊर्ध्व भाग में स्थित होती है। यदि उसकी सारी वृत्ति नीचे की ओर हो जाये और बीच में न रुके और न ऊपर को ही जाए, तो वह बाहर निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार यदि नीचे की ओर न जाकर और मध्यभाग में स्थित न रहकर उसकी सारी वृत्ति ऊपर की ओर हो जाए और वह ज़ोर से ऊपर को निकल जाए तो भी मनुष्य मर जाता है। और यदि ऊपर नीचे न बह कर किसी जीव की प्राणशक्ति मध्यभाग में निरुद्ध होकर स्थिर हो जाए, तो वह प्राणी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। पुर्यष्टक नाम जीव की प्राणनामक शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। वह शरीर में इस प्रकार है जैसे फूल में सुगन्ध देनेवाली मञ्जरी। इस देहरूपी यन्त्र के उदर भाग में नाभि के पास परस्पर मिले हुये मुखवाली धौंकनियों के समान मांस का पिण्ड इस प्रकार काँपते हुये स्थित है जैसे कि ऊपर और नीचे से बहनेवाले दो जलों के बीच में स्थित सदा हिलनेवाला बेंत का वृक्ष। उसके भीतर उसकी लक्ष्मी कुण्डलिनी शक्ति इस प्रकार स्थित है जैसे मूँगे की पिटारी में मोतियों की माला। रुद्राक्ष की माला के समान वह नित्य सरसराती है और डंडेसे मारी हुई सर्पिणीके समान वह ऊपर को मुँह उठाये रखती है।

इस सारे वर्णनका सार यह है कि मनुष्य के शरीर के उदर भाग में नाभि के आसपास एक ऐसा स्थान है जहाँपर एक इस प्रकार का चक्राकार अङ्ग है जिसमें जीव की परम शक्ति सुप्तरूप से वर्तमान है। उस अङ्ग का शरीरके सभी अङ्गों से सम्बन्ध है और उसके भीतर रहनेवाली शक्ति, जिसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है, शरीर की सब जाग्रत् तथा कार्यपरायण शक्तियों का आधार है। यदि वह शक्ति पूर्णतया जाग्रत् हो जाए तो मनुष्य को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसका जागरण प्राणों के निरोध और नियमित सञ्चालन से होता है ये बातें आगे बतलाई जाएँगी।

(आ) कुण्डलिनी-योग द्वारा सिद्धियोंकी प्राप्तिः—

तां यदा पूरकाभ्यासादापूर्य स्थीयते समम्।
तदैति मैरवं स्थैर्यं कायस्य पीनता तथा॥ (६।८१।४९)

यदा पूरकपूर्णान्तरायतप्राणमारुतम् ।
नीयते संविदेवोर्ध्वं सोढुं धर्मक्रमं श्रमम् ॥ (६।८१।४६)
सर्पीव त्वरितैवोर्ध्वं याति दण्डोपमां गता ।
नाडी: सर्वाः समादाय देहबद्धा लतोपमाः ॥ (६।८१।४७)
तदा समस्तमेवेदमुत्प्लावयति देहकम् ।
नीरन्ध्रं पवनापूर्णं भस्त्रेवाम्बुगतान्तरम् ॥ (६।८१।४८)
इत्यभ्यासविलासेन योनेन व्योमगामिना ।
योगिनः प्राप्नुवन्त्युच्चर्दीना इन्द्रदशामिव ॥ (६।८१।४९)
ब्रह्मनाडीप्रवाहेण शक्तिः कुण्डलिनी यदा ।
बहिरुर्ध्वं कपाटस्य द्वादशाङ्गुलमूर्धनि ॥ (६।८१।५०)
रेचकेन प्रयोगेण नाड्यन्तरनिरोधिना ।
मुहूर्तं स्थितिमाप्नोति तदा व्योमगदर्शनम् ॥ (६।८१।५१)
मुखाद्बहिर्द्वादशान्ते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ (६।८१।५६)
रेचकाभ्यासयोगेन जीवः कुण्डलिनीगृहात् ।
उद्धृत्य योज्यते यावदामोदः पवनादिव ॥ (६।८२।२९)
त्यज्यते विरतस्पन्दो देहोऽयं काष्ठलोष्टवत् ।
देहेऽपि जीवेऽपि मतावासेवक इवादरः ॥ (६।८२।३०)
स्थावरे जङ्गमे वापि यथाभिमतयेच्छया ।
भोक्तुं तत्संपदं सम्यग्जीवोऽन्तर्विनिवेश्यते ॥ (६।८२।३१)
इति सिद्धिश्रियं भुक्त्वा स्थितं चेत्तद्वपुः पुनः ।
प्रविश्यते स्वमन्यद्वा यद्यत्तात विरोचते ॥ (६।८२।३२)
देहादयस्तथा बिम्बान्व्याप्तवत्याखिलानथ ।
संविदा जगदापूर्य संपूर्णं स्थीयतेऽथवा ॥ (६।८२।३३)

उस कुण्डलिनी में पूरक प्राणायाम के अभ्यास से जब प्राणी समरूप से स्थित हो जाता है तब सुमेरु के समान स्थिरता और गुरुता की सिद्धि हो जाती है। जिस समय पूरक प्राणायाम के अभ्यास से शारीरिक और मानसिक परिश्रम को सहकर कुण्डलिनी शक्ति अपने मूलाधार स्थान से ऊपर उठकर सुषुम्णा नाडी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है, और डण्डे के समान आकारवाली होकर सर्पिणी के समान जब वह ऊपर को जाती है, और सब नाडियों की शक्ति को भी अपने

साथ ऊपर ही ले जाती है, तब इस शरीर को वह इस प्रकार उड़ा ले जाती है (आकाशगमन की सिद्धि) जैसे हवा से भरी हुई मशक जल के ऊपर तैरती हो। इस प्रकार अभ्यास के द्वारा आकाशगमन से योगीजन ऐसे ऊँचे चढ़ जाते हैं जैसे कि कोई दीन जन इन्द्र की पदवी को प्राप्त हो जाता हो। जिस समय अन्य नाड़ियों के व्यापार को रोकनेवाले रेचक प्राणायाम के प्रयोग से कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्णा) के भीतर को होकर दिमाग़ के किवाड़ खोलकर वहाँ से बारह अंगुल ऊपर की ओर मस्तक में जाकर एक मुहूर्त के लिये भी स्थिर हो जाती है, तो आकाशगामी सिद्ध लोगों का दर्शन होता है। रेचक के अभ्यासरूपी युक्ति से प्राण को मुख से १२ अंगुल बाहर बहुत समय तक स्थिर करने के अभ्यास से योगी दूसरे पुरुष के शरीर में प्रवेश कर सकता है। रेचक के अभ्यास से जब योगी अपने जीव को कुण्डली के निवास-स्थान से बाहर इस प्रकार निकाल सके जैसे हवा में से सुगन्ध को, तब वह इस चेष्टारहित शरीर को लकड़ी और पत्थर के समान त्याग देता है, और दूसरे शरीर में, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन, इच्छानुसार प्रवेश करके उसकी सम्पत्ति का भोग कर सकता है। इस प्रकार योगी दूसरे शरीर के भोगों को भोगकर, यदि उसका शरीर बना रहा हो तो उसी में, नहीं तो अपनी रुचि के अनुसार किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करके स्थित रहता है। अथवा अपनी चिति को समस्त जगत् में फैलाकर सारे शरीर में व्याप्त होकर सर्वत्र स्थित रहता है।

(इ) सूक्ष्मता और स्थूलता की सिद्धि कैसे होती है :—

हृत्पद्मवक्त्रकोशोर्ध्वं प्रस्फुरत्यानलः कणः।
हेमभ्रमरवत्सांध्यविद्युल्लव इवाम्बुदे ॥ (६।८२।२)
स प्रवर्धनसंवित्त्या वात्ययेवाशु वर्धते।
संविद्रूपतया नूनमर्कवद्याति चोदयम् ॥ (६।८२।३)
सांध्याभ्रप्रथमार्काभो वृद्धिमभ्यागतः क्षणात्।
गालयत्यखिलं साङ्गं देहं हेम यथानलः ॥ (६।८२।४)
जलस्पर्शाद्धहो युक्त्या गलयेत्प्रपदादपि।
बाह्य एवानलस्पर्शात्स्वान्ते वस्तुविशेषतः ॥ (६।८२।५)

स शरीरद्वयं पश्चाद्विधूय क्वापि लीयते ।
विक्षोभितेन प्राणेन नीहारो वात्यया यथा ॥ (६।८२।६)
आधारनाडीनिर्हीना व्योमस्थैवावशिष्यते ।
शक्तिः कुण्डलिनी वह्नेर्धूमलेखेव निर्गता ॥ (६।८२।७)
क्रोडीकृतमनोबुद्धिसर्वजीवाद्यहंकृतिः ।
अन्तःस्फुरच्चमत्कारा धूमलेखेव नागरी ॥ (६।८२।८)
बिसे शैले तृणे चित्तावुल्ले दिवि भूतले ।
सा यथा योज्यते यत्र तेन निर्यात्यलं तथा ॥ (६।८२।९)
संवित्तिः सैव यात्यन्तु रसाचान्तं यथाक्रमम् ।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना ॥ (६।८२।१०)
रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥ (६।८२।११)
दृढभात्ववशादन्तरस्थीन्याप्नोति सा ततः ।
मातृगर्भनिषण्णेषु स सूक्ष्मेवाङ्कुरस्थितिः ॥ (६।८२।१२)
यथाभिमतमाकारं प्रमाणं वेत्ति राघव ।
योगशक्तिरवाप्नोति सुमेर्वादि तृणादि च ॥ (६।८२।१३)

हृदय-कमल के चक्र के कोश के ऊपर अग्नि (प्रकाश) का एक कण ऐसे चमकता है जैसे सोने का भौंरा अथवा सायंकाल के कम्पप मेघ में बिजली का कण। वह प्रकाश-कण विस्तार भावना के द्वारा वायु की नाईं फैलने और ज्ञान रूप से शरीर में सूर्य के समान चमकने लगता है। प्रातःकाल के बादल से उदय होकर जिस प्रकार सूर्य का तेज क्षण भर में ही वृद्धि को प्राप्त हो जाता है वैसे ही वह कणिका वृद्धिको पाकर सारे अङ्गों समेत शरीर को ऐसे गला देता है जैसे कि आग सोने को। जल के स्पर्श को न सहने वाली वह योग-अग्नि शरीर को सिर से पैर तक भीतर बाहर जला देती है। शरीर के पार्थिव और जलमय दोनों भागों को जलाकर अपने आप भी वह कण विक्षुब्ध प्राण द्वारा कहीं ऐसे गायब हो जाता है जैसे वायु के द्वारा धूम्र। उस समय सुषुम्णा नाड़ी के जल जाने पर कुण्डलिनी शक्ति आकाश में ऐसे स्थित होती है जैसे कि अग्नि से निकली हुई धुवें की लटा। उस समय वह कुंडलिनी शक्ति अपने भीतर मन, बुद्धि, जीव, अहंकार आदि समेत और नाना प्रकार की वासनाओं से पूर्ण, आकाश में ऐसे

सुशोभित होती है जैसे किसी शहर से निकला हुआ धुँवे का स्तम्भ। ऐसी अवस्था में उसका प्रवेश चाहे जिस वस्तु—कमलदंड, पहाड़, तृण, दीवार, पत्थर, आकाश, पृथ्वी—में हो सकता है। वही कुण्डलिनी जब स्थूल भाव को धारण करना चाहती है तो फिर रसभावना द्वारा रस से इस प्रकार भरने लगती है जैसे सूखा हुआ चड़स पानी से भरे जाने पर फूल जाता है। रस से पूर्ण होकर वह जिस आकार को चाहे ऐसे धारण कर लेती है जैसे चित्रकार के मन की रेखाएँ नाना प्रकार के रूप धारण कर लेती हैं। दृढ़ भावना द्वारा वह हड्डियों की इस प्रकार रचना कर लेती है जैसे कि माता के गर्भाशय में पड़ा सूक्ष्म बीज स्थूल आकार को धारण कर लेता है। तब वह जीव-शक्ति इच्छा अनुसार बड़े से बड़ा (सुमेरु के समान) और छोटे से छोटा (तृण के समान) आकार धारण कर सकती है।

(६) प्राणायाम द्वारा भी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं :—

राज्यादिमोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव ॥ (६।८०।३९)

हे राम! प्राणों को वस में कर लेने पर प्रत्येक मनुष्य राज्यप्राप्ति से लेकर मोक्षप्राप्ति तक सब ही प्रकार की सम्पत्तियों को प्राप्त कर सकता है।

प्राण क्या हैं? उनको कैसे वश में किया जाता है और उनके वश में करने पर क्या विशेष लाभ होता है—इन सब बातों का वर्णन आगे चलकर विस्तारपूर्वक होगा।

१२—मैं क्या हूँ ?

अभी तक हमने पाठकों के आगे योगवासिष्ठ के बाह्य जगत् तथा मन सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही वर्णन किया है। अब हमें यह बतलाना है कि योगवासिष्ठ में आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का माना गया है। आत्मा का असली स्वरूप जानने के लिये आन्तर अनुभव का विश्लेषण करना आवश्यक है इसलिये पहिले हमको चारों अवस्थाओं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या—को भलीभाँति समझ लेना चाहिये। आत्मा वह पदार्थ है जो चारों अवस्थाओं में अनुस्यूत रहता है अर्थात् जिसका अभाव किसी भी अवस्था में न हो उस सत्ता का नाम आत्मा है। आत्मा क्या है इसके विषय में नानाप्रकार के मत हैं। कोई कोई तो शरीर ही को आत्मा मान बैठे हैं; कोई मन को; कोई आत्मा को शरीर और मन आदि से परे की कोई ऐसी वस्तु मानते हैं जो इनसे बिल्कुल कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती—इन सब मतों से ऊँचा वह मत योगवासिष्ठ को सबसे अधिक मान्य है जिसके अनुसार आत्मा कोई यह या वह, भीतर या बाहर की वस्तुविशेष नहीं है, बल्कि वह अनन्त और विभु सच्चिदानन्द तत्त्व है जिसका प्रकाश यह सारा विश्व है, जो सब कुछ है, सब जगह है, सदा है, और जिससे बाहर कुछ भी नहीं है।

(१) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और चौथी (तुर्या) अवस्था :—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं त्रयं रूपं हि चेतसः ॥ (६।१२४।३६)
घोरं शान्तं च मूढं च आत्मचित्तमिहास्थितम् ।
घोरं जाग्रन्मयं चित्तं शान्तं स्वप्नमयं स्थितम् ॥ (६।१२४।३७)
मूढं सुषुप्तभावस्थं त्रिभिर्हीनं मृतं भवेत् ।
यच्च चित्तं मृतं तत्र सत्त्वमेकं स्थितं समम् ॥ (६।१२४।३८)

चित्त (मन) की तीन अवस्थायें हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। चित्त की अवस्थाओं के दूसरे नाम हैं—घोर, शान्त और मूढ़। जाग्रत् अवस्था के चित्त को घोर कहते हैं, स्वप्नावस्था के चित्त को शान्त और सुषुप्ति अवस्था के चित्त को मूढ। इन तीनों अवस्थाओं से स्वतन्त्र होने

पर चित्त मृतप्राय हो जाता है (अर्थात् चित्त चित्त नहीं रहता)। मरा हुवा चित्त सत्त्व रूप में स्थित होता है जो कि सर्वत्र एक और समान रूप से स्थित है।

(अ) जाग्रत् अवस्था :—

जीवधातुः शरीरेऽन्तर्विद्यते येन जीव्यते।
तेजो वीर्यं जीवधातुरित्याद्यभिधमङ्ग यत् ॥ (४।१९।१५)
व्यवहारी यदा कायो मनसा कर्मणा गिरा।
भवेत्तदा मरुत्क्षुब्धो जीवधातुः प्रसर्पति ॥ (४।१९।१६)
तस्मिन्प्रसर्पत्यङ्गेषु सर्वा संविदुदेति हि। (४।१९।१६)
ईक्षणादिषु रन्ध्रेषु प्रसरन्ती बहिर्मयम्।
नानाकारविकाराढ्यं रूपमात्मनि पश्यति ॥ (४।१९।१७)
स्थिरत्वात्तत्तथैवाथ जाग्रदित्यवगम्यते। (४।१९।१९)

स्थूल शरीर के भीतर जीवधातु नामक वह एक तत्त्व मौजूद है जिसके रहने से वह शरीर जीवित रहता है। तेज और वीर्य भी उसी के नाम हैं। जब शरीर की किसी प्रकार की क्रिया (मनन, वचन, कर्म) होती है तब वह जीवधातु प्राणों द्वारा क्रियात्मक अङ्गों की ओर प्रवाहित होती है। अङ्गों में जीव धातु का प्रसरण होनेपर उनमें चेतना का अनुभव होता है। ज्ञानेंद्रियों के द्वारा बाहर की ओर प्रवृत्त होकर वह जीवधातु अपने भीतर नाना प्रकार के बाह्य जगत का अनुभव करती है। जीव धातु के इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में स्थित रहने पर जो अनुभव होता है उसका नाम जाग्रत् है।

(आ) सुषुप्ति :—

मनसा कर्मणा वाचा यदा क्षुभ्यति नो वपुः।
शान्तात्मा तिष्ठति स्वस्थो जीवधातुस्तदात्वसौ ॥ (४।१९।२०)
समतामागतैर्वातैः क्षोभ्यते न हृदम्बरे।
निर्वातसदने दीपो यथाऽऽलोकैककारकः ॥ (४।१९।२१)
तदा सरति नाङ्गेषु संवित्क्षुभ्यति तेन नो।
न चेक्षणादीन्यायाति रन्ध्राण्यायाति नो बहिः ॥ (४।१९।२२)
जीवोऽन्तरेव स्फुरति तैलसंविचया तिले।
शीतसंविद्धिम इव स्नेहसंविचया घृते ॥ (४।१९।२३)

जीवाकारा कला काचिच्चितिः स्वच्छतयात्मनि ।
दशामायाति सौषुप्तिं सौम्यवातां विचेतनाम् ॥ (४।१९।२४)

जब कि शरीर में मन, वचन और कर्म रूपी कोई भी क्रिया नहीं होती तब जीव धातु अपने स्वरूप में शान्त भाव से स्थित रहती है, प्राणों की क्रिया में समता आ जाती है, और हृदय में स्थित जीव-धातु में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता। जैसे कि हवारहित स्थान में चान्दना देने वाला दीपक क्षोभ रहित होकर स्थित रहता है उसी प्रकार जीवधातु भी शान्त रहती है। उस अवस्था में जीवधातु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ओर नहीं दौड़ती इस कारण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में चेतना का अभाव रहता है, और उनकी क्रिया बाहिर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। उस समय चेतना जीव के भीतर ही पड़ी रहती है जैसे कि तिलों में तेल, बर्फ में शीतलता और घी में चिकनाई। प्राणों के सौम्य हो जाने पर, बाह्यज्ञान के नष्ट हो जाने पर, जीव के आकार वाली कला नामक चिति सुषुप्ति की दशा में पहुँच जाती है।

(३) स्वप्न :—

सुषुप्ते सौम्यतां यातैः प्राणैः सञ्चाल्यते तदा ।
स जीवधातुः सा संवित्ततश्चित्ततयोदिता ॥ (४।१९।२६)

स्वान्तःसंस्थजगज्जालं भावाभावैः क्रमभ्रमैः ।
पश्यति स्वान्तरेवाशु स्फारं बीज इव द्रुमम् ॥ (४।१९।२७)

जीवधातुर्यदा वातैः किञ्चित्संक्षुभ्यते [illegible] ।
ततोऽस्म्यहं सुप्त इति पश्यत्यात्मनि खे गतिम् ॥ (४।१९।२८)

यदाम्भसा प्लाव्यतेऽसौ तदा वार्यादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्वामोदं कुसुमं यथा ॥ (४।१९।२९)

यदा पित्तादिनाक्रान्तस्तदा ग्रीष्मादिसम्भ्रमम् ।
अन्तरेवानुभवति स्फारं बहिरिवाखिलम् ॥ (४।१९।३०)

रक्तापूर्णो रक्तवर्णान्देशान्कालान्बहिर्यथा ।
पश्यत्यनुभवात्मत्वात्तत्रैव च निमज्जति ॥ (४।१९।३१)

[illegible] वासनां यां यां लोऽन्तः पश्यति निद्रितः ।
पवनक्षोभितो [illegible] बहिरक्षादिभिर्यथा ॥ (४।१९।३२)

अनाक्रान्तेन्द्रियच्छिद्रो [illegible] क्षुब्धोऽन्तरेव सः ।
संविदनुभवत्याशु [illegible] [illegible] इति [illegible] ॥ (४।१९।३३)

सुषुप्ति अवस्था में जब वह जीवधातु सौम्य अवस्था को प्राप्त हुये प्राणों द्वारा क्षुब्ध होती है तब चिति चित्त का आकार धारण करती है, और अपने भीतर ही सारे जगत् के भाव, अभाव, और क्रम के भ्रम को इस प्रकार विस्तृत रूप से अनुभव करती है जैसे बीज अपने भीतर वृक्ष का अनुभव करता है। जब सोती हुई हालत में जीव धातु वायु द्वारा क्षोभित होती है तब स्वप्न में आकाश में उड़ने का अनुभव होता है; जब जल द्वारा क्षोभित होती है तब जल सम्बन्धी स्वप्नों का अनुभव होता है; जब पित्त द्वारा क्षोभित होती है तो गरमी की मौसम के स्वप्नों का मन के भीतर अनुभव होता है। जब रक्त की अधिकता होती है तब लाल रङ्ग के पदार्थों का अनुभव होता है। जीव के अन्दर जैसी-जैसी वासनायें उठती हैं वैसे-वैसे ही प्रकार के स्वप्न वह इस प्रकार देखता है जैसे कि प्राणों से क्षोभित होकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर के पदार्थों को देखता हो। स्वप्न उस ज्ञान का नाम है जो बाह्य ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया के बिना अन्दर के क्षोभ से ही होता है।

(ई) चौथी अवस्था :—

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ (६।१२४।२३)
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्यकलनोच्यते ॥ (६।१२४।२४)
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नं संकल्पानामसंभवात्।
सुषुप्तभावो नाप्येतदभावाज्जडता स्थितेः ॥ (६।१२४।२५)
शान्तं सम्यक्प्रबुद्धानां यथा स्थितमिदं जगत्।
विलीनं तुर्यमेवाहुरबुद्धानां स्थिरं स्थितम् ॥ (६।१२४।२६)
अहंकारकलात्यागे समतायाः समुद्भवे।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥ (६।१२४।२७)
निर्विकल्पा हि चित्तुर्यं तदेवास्तीह नेतरत् ॥ (६।१२४।३६)

अहंभाव और अनहंभाव, सत्ता और असत्ता, दोनों से रहित जो असक्त, सम और शुद्ध स्थिति है उसे चौथी अवस्था कहते हैं। जो स्वच्छ, सम और शान्त साक्षी रूप से जीवन्मुक्त भाव में स्थिति है वह तुर्या अवस्था कहलाती है। यह स्थिति न जाग्रत् है, और न स्वप्न, क्योंकि इस अवस्था में संकल्पों का अभाव होता है, और न सुषुप्ति क्योंकि

इसमें जड़ताका अभाव रहता है। ज्ञानियों की उस अवस्था का नाम जिसमें कि उनके लिये उस जगत् का अनुभव, जो कि अज्ञानियों के लिये स्थिर रूप से स्थित है, शान्त और लीन हो जाता है, तुर्या (चौथी) अवस्था कहलाती है। तुर्यावस्था का अनुभव तब होता है जब कि अहंकार का त्याग, समता की प्राप्ति और चित्त की शान्ति हो जाती है। संकल्प-विकल्प से रहित चिति की स्थिति का ही नाम चौथी अवस्था है।

(२) चार प्रकारका अहंभाव :—

(मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकारसे दिया जाता है। कोई कोई तो अपने आपको स्थूल और नाशवान् शरीर ही समझते हैं और कोई मन समझते हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि शरीर और मन से परे कोई जीव या आत्मा नाम का तत्त्व है जो इन दोनों के धर्मों से परे है—वे वह आत्मा हैं। इन सब से ऊँचा और श्रेष्ठ समझना बहुत थोड़ेसे लोगोंका है जो अपने आपको सारा विश्व या वह तत्त्व जो सारे विश्व में व्याप्त और प्रकाशित हो रहा है, समझते हैं। आत्मा-सम्बन्धी इन चार निश्चयों का योगवासिष्ठ में इस प्रकार वर्णन है :—

१—मैं देह हूँ :—

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो राम बन्धायासद्विलोकनात् ॥ (५।१७।१४)

देहोऽहमिति सां विद्धि दुःखायैव न शान्तये । (५।७३।११)
वर्ज्य एवं दुरात्माऽसौ शत्रुरेव परः स्मृतः ॥ (४।३३।५४)

अनेनाभिहतो जन्तुर्न भूयः परिरोहति ।
रिपुणानेन बलिना विविधाधिप्रदायिना ॥ (४।३३।५५)

एक यह विश्वास है कि मैं माता-पिता से उत्पन्न सिरसे पैर तक विस्तारवाला स्थूल देह हूँ। यह विश्वास सत्य नहीं है। इसी कारण बन्धन में डालनेवाला है। अपने आपको स्थूल देह समझना दुःख का कारण है, शान्ति का साधन नहीं। यह विश्वास हमारा शत्रु है; इसको जहाँतक हो सके दूर करना चाहिये। इस नानाप्रकार के मानसिक क्लेशों के देनेवाले बलवान् शत्रु द्वारा मारा हुआ जीव कभी नहीं पनपता।

२— चित्त है :—

स्वसंकल्पमयाकारं यावत्संसारभावि यत्।
चित्तं तद्विद्धि जीवस्य रूपं रामातिवाहिकम्॥ (३।१२४।१९)

हे राम! जबतक संसार है तब तक रहनेवाला और अपने संकल्प के अनुसार रूप धारण करनेवाला मन जीव का सूक्ष्म रूप है।

३—मैं सब भावोंसे परे रहनेवाला सूक्ष्म आत्मा हूँ :—

अतीतः सर्वभावेभ्यो बालाग्राद्प्यहं तनुः।
इति तृतीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम्॥ (५।१७।१९)
परोऽणुः सकलातीतरूपोऽहं चेत्यहंकृतिः। (५।७३।१०)
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं बालाग्रशतकल्पितः॥ (४।३३।५१)

तीसरा निश्चय जो कि मोक्ष की ओर ले जानेवाला है यह है कि मैं सब भावों से मुक्त, बालकी नोक के सौवें भाग से भी सूक्ष्म, परम अणु, और सब दृश्य पदार्थोंसे परे और सब वस्तुओंसे अलग रहनेवाला (आत्मा) हूँ।

(अ) मैं सर्वातीत कैसे हूँ :—

देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः। (३।७८।१७)
आबालमेतत्संसिद्धं मतौ चैवानुभूयते॥ (३।७८।१८)
कर्मेन्द्रियगणश्चास्माद्भिन्नावयवात्मकाः। (३।७८।१८)
अवयवावयविनोर्न भेदो जड एव च॥ (३।७८।१९)
प्रेर्यंते मनसा यस्माद्यष्ट्येव भुवि लोष्टकः।
मनश्चैव जडं मन्ये संकल्पात्मकशक्ति यत्॥ (३।७८।२०)
क्षेपणैरिव पाषाणः प्रेर्यते बुद्धिनिश्चयैः।
बुद्धिर्निश्चयरूपैवं जडा सत्तैव निश्चयः॥ (३।७८।२१)
ज्ञातेनैव सरित्पूर्णं साहंकारेण [illegible]।
अहङ्कारोऽपि निःसारो जड एव [illegible]॥ (३।७८।२२)
[illegible] जन्यते यद्वो [illegible] [illegible]।
[illegible] चेतनाकाशो वातात्मा हृदये [illegible]॥ (३।७८।२३)
[illegible] [illegible] [illegible] चिद्रूपेणात्मरूपिणा।
[illegible] [illegible] जीवश्चिद्रूपेणव [illegible]॥ (३।७८।२५)

सद्वासद्वा यदाभाति [illegible] [illegible] स्वतः । (६।७८।२७)
स्वरूपमलमुत्सृज्य तदेव भवति क्षणात् ॥ (६।७८।२८)
एवं चिद्रूपमप्येतच्चेत्योन्मुखतया स्वयम् । (६।७८।२८)
जडं शून्यमसत्कल्पं चैतन्येन प्रबोध्यते ॥ (६।७८।२९)
एते हि चिद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः । (६।७८।३१)
असन्तः सर्व एवाहो द्वितीयेन्दुपदस्थिताः ॥ (६।७८।३२)
महाचिदेकैवास्तीह महासत्तेति योच्यते । (६।७८।३२)
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ (६।७८।३३)
शुद्धसंवेदनाकारा शिवं सन्मात्रमच्युतम् । (६।७८।३३)
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती सदा ॥ (६।७८।३४)

बालक तक भी इस बात को समझता है और सबको इस बात का अपने मन में अनुभव होता है कि मैं जड़ और ज्ञानहीन स्थूल शरीर नहीं हूँ। कर्मेन्द्रियां (वाक्, हाथ, पैर, गुदा और लिङ्ग जिनसे शरीर की क्रियाएँ होती हैं) इस जड़ शरीर के अङ्ग ही हैं; अङ्ग और अङ्गी (अङ्गोंवाली वस्तु) में भेद न होने के कारण वे भी जड़ ही हैं। जैसे कि लकड़ी के द्वारा मिट्टी का ढला इधर से उधर फेंक दिया जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ मन की प्रेरणा से क्रिया करती हैं, स्वयं नहीं। सङ्कल्प शक्तिवाला मन भी स्वयं जड़ ही है क्योंकि वह बुद्धि के निश्चयों के द्वारा ऐसे इधर उधर होता रहता है जैसे कि फेंकने से पत्थर। निश्चय करने वाली बुद्धि भी जड़ ही है क्योंकि उसका संचालन अहङ्कार द्वारा ऐसे होता है जैसे नदी का गहरे स्थान की ओर हुआ करता है। अहंकार भी स्वयं चेतन नहीं है; वह तो असार और मुर्दे के समान जड़ है क्योंकि जीव उसको ऐसे उत्पन्न करता है जैसे कि बालक भूत के भ्रम को। यह जीव, वायुरूप चिदाकाश, हृदय के भीतर रहता है। यह जीव विषय के भ्रमयुक्त पुरातन चितिस्वरूप आत्मा द्वारा प्रेरित होता है। जैसी-जैसी, सत्य वा असत्य भावनायें चिति [illegible] हैं चिति अपने स्वरूप को [illegible] कर वैसा ही रूप धारण कर लेती है। इसलिये विषय की ओर प्रवृत्त जो चेतन आत्मा है वह भी असत् के समान [illegible] है और चेत्योन्मुखता के कारण वह जड़ है और चैतन्य द्वारा प्रेरित होती है। चिति द्वारा कल्पित सब दिखाई देने वाले दूसरे चन्द्रमा के समान [illegible] हैं। सत्य तो केवल एक ही वस्तु है। और वह है महाचिति जिसको महासत्ता भी कहते हैं। वह निष्कलङ्क,

सम, शुद्ध, निरहङ्कार, शुद्ध-ज्ञान स्वरूप शिव, सन्मात्र और अच्युत (सर्वदा अपने स्वरूप में स्थित रहनेवाली) है। वह मल रहित है और सदा प्रकाशवाली है।

(आ) शरीर और आत्मा में सम्बन्ध नहीं है :—

नात्मा शरीरसम्बन्धी शरीरमपि नात्मनि।
मिथो विलक्षणावेतौ प्रकाशतमसी यथा॥ (६।६।६)
देहेनास्य न सम्बन्धो मनागेवामलात्मनः।
हेम्नः पङ्कलवेनेव तद्गतस्यापि मानवाः॥ (६।१।२९)
पृथगात्मा पृथग्देही जलपद्मलवोपमौ। (६।१।२६)
मनागपि न संश्लेषः सर्वगस्यापि देहिनः॥ (६।६।१३)
तद्गतस्याप्यतद्वृत्तेरम्बरस्येव वायुतः।
जरामरणमापच्च सुखदुःखे भवाभवौ॥ (६।६।१९)
मनागपि न सन्तीह तस्मात्त्वं निर्वृतो भव। (६।६।१६)

आत्मा का शरीर के साथ कोई (तादात्म्य) सम्बन्ध नहीं है और न शरीर का आत्मा के साथ। शरीर और आत्मा अन्धेरे और चान्दने के भाई दो विलक्षण पदार्थ हैं। जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने से कीचड़ के कणों का कोई सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही शुद्ध स्वरूपवाले आत्मा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। जल और कमल के समान शरीर और आत्मा पृथक् हैं, सर्वत्र वर्तमान रहने वाले आत्मा का शरीर से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे आकाश उस वायु के गुणों से स्पृष्ट नहीं होता जो उसमें स्थित रहती है वैसे ही शरीर की अवस्थाएँ—जन्म, मरण, आपत्ति, दुःख-सुख, आना-जाना आदि आत्मा में नहीं होतीं। इसलिये इनसे मुक्त होकर रहो।

(इ) आत्मा यद्यपि सब जगह है तो भी उसका प्रकाश केवल पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) में ही होता है :—

संस्थितः स हि सर्वत्र त्रिषु कालेषु [illegible]।
सूक्ष्मत्वात्सुमहत्त्वाच्च केवलं न विभाव्यते॥ (६।७३।२०)
सर्वमात्ममयं विश्वं नास्त्यात्समयं क्वचित्। (६।७२।४९)
सति पुर्यष्टके तस्मिञ्जीवः स्फुरति नोपके॥ (६।७३।२४)

आत्मा सब जगह और सब कालों में स्थित है किन्तु बहुत सूक्ष्म और बहुत महान् होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता। आत्मा संसार की

सब वस्तुओं में वर्त्तमान है, कोई वस्तु आत्मा से रहित नहीं है तो भी जहाँ पुर्यष्टक (मन अथवा सूक्ष्म शरीर) होता है वहीं पर आत्मा का अनुभव होता है। पत्थर आदि जड़ पदार्थों में नहीं होता।

२—मैं सारा विश्व हूँ:—

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा।
एवमेष चतुर्थोऽन्यो निश्चयो मोक्षसिद्धये॥ (५।१७।१७)
अहं खमहमादित्यो दिशोऽहमहमप्यधः।
अहं दैत्या अहं देवा लोकाश्चाहमहं महः॥ (५।७६।३)
अहं तमोऽहमभ्राणि भूः समुद्रादिकं त्वहम्।
रजो वायुरथाग्निश्च जगत्सर्वमिदं त्वहम्॥ (५।७३।४)
अहं विदम्बरे भानावहं चिद्भूतपञ्जरे।
सुरासुरेषु चिदहं स्थावरेषु चरेषु च॥ (५।२७।१२)
कुसुमेष्वहमामोदः पुष्पपत्रेष्वहं छविः।
छविष्वहं रूपकला रूपेष्वनुभवोऽप्यहम्॥ (५।३४।५२)
अपारपर्यन्तनभो दिक्कालादिक्रियान्वितम्।
अहमेवेति सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।२६)
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
चित्तं तु नाहमेवेति यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।३१)
सर्वशक्तिरनन्तात्मा सर्वभावान्तरस्थितः।
अद्वितीयश्चिदित्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।२८)
यन्नाम किञ्चित्त्रैलोक्यं स एवावयवो मम।
तरङ्गोऽब्धाविवेत्यन्तर्यः पश्यति स पश्यति॥ (४।२२।३३)

चौथा आत्मा-सम्बन्धी विश्वास जो कि मोक्ष को प्राप्त करानेवाला है यह है कि मैं समस्त जगत् हूँ अथवा वह शून्य, सम, चिदाकाश हूँ जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। मैं आकाश हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं दिशायें हूँ, मैं नीचे हूँ, (मैं ऊपर हूँ), मैं दैत्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं सब लोक हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं तम हूँ, मैं बादल हूँ, मैं समुद्र आदि सब ही हूँ, मैं पृथ्वी हूँ, मैं रज हूँ, वायु हूँ, अग्नि हूँ, मैं यह सब जगत् हूँ। मैं वह चिति हूँ जो कि आकाश में सूर्य के रूप में चमकती है, जो कि सब प्राणियों में है जो कि सुर और असुरों में, जड़ चेतन सब ही वस्तुओं में है। फूलों में मैं खुशबू हूँ, मैं फूल पत्तियों का सौन्दर्य हूँ। सुन्दर वस्तुओं की

अनेकता भी हूँ और सब रूपों में मैं अनुभव हूँ। जो यह समझता है कि "मैं दिक, काल और क्रियावाला अनन्त और अपार, सर्वत्र फैला हुआ आकाश हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं चित्त नहीं हूँ, वह आत्मा हूँ जिस में जगत् की सारी वस्तुयें इस प्रकार पिरोई हुई हैं जैसे कि माला के तागे में उसके मोती" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "मैं सब वस्तुओं के भीतर रहनेवाला, सर्व शक्तियुक्त, अन्तरात्मा हूँ" वही ठीक समझता है। जो यह समझता है कि "जैसे तरङ्ग समुद्र का एक क्षुद्र अङ्ग है वैसे ही तीनों लोक में जो कुछ है वह मेरा ही अंग है" वही ठीक समझता है।

१३—मौत

संसार में सबसे भयानक घटना मौत जान पड़ती है। मौत क्या है? मौत जीवन का अन्त करनेवाली घटना है, जैसा कि प्रायः दिखाई पड़ता है, अथवा मौत के पश्चात् भी कोई दूसरा जीवन प्राप्त होता है—इस विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग, जो शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, कहते हैं कि मौत के द्वारा जब शरीर का सर्वथा नाश हो गया तो फिर बाकी ही क्या रहा? दूसरे लोग, जो शरीर को केवल आत्मा का निवास-स्थान समझते हैं, वे कहते हैं कि मौत केवल शरीर के नाश होने का नाम है। शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव या आत्मा का नाश नहीं होता। वह तो एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। भारतवर्ष में तो केवल चार्वाक् दर्शन के अनुयायियों को छोड़कर प्रायः सभी लोगों का ऐसा विश्वास था। पाश्चात्य देशों में अधिक लोगों के प्रकृतिवादी होने के कारण मृत्यु का अर्थ जीवन का सर्वनाश ही समझा जाता है। कुछ समय से वहाँ पर विज्ञान ने इस समस्या को समझने का बहुत साहस किया है, और "सायकिकल रिसर्च" नामक विज्ञान की एक शाखा का काम इस प्रश्न का भलीभाँति अध्ययन करना ही है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले अनेक विद्वानों को तो पूरा विश्वास हो गया है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं कर देती; मृत्यु के पश्चात् भी जीवन है और मृत जीवों से हमारा वार्तालाप का सम्बन्ध हो सकता है। कभी-कभी हमको मृत जनों (प्रेतों) का दर्शन भी हो सकता है और होता है। बहुत सी घटनायें कभी-कभी ऐसी भी होती रहती हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् प्राप्त किये हुए जीवन में मृत्यु के पूर्व के जीवन के अनुभव की याद बनी रहती है। आजकल इस प्रकार की अनेक पुस्तकें छप रही हैं जिनमें मृत्यु के पश्चात् जीवन और पूर्वजन्म के सिद्ध करने के लिये अनेक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक प्रमाण दिये जाते हैं। योगवासिष्ठकार का मत तो स्पष्टतया ऐसा ही है जैसेकी ओर आजकल का दर्शन और विज्ञान हमें ले जा रहे हैं। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ से मृत्यु-सम्बन्धी विचारों का संग्रह करके पाठकों के सामने रखते हैं।

(१) मौत डरने की वस्तु नहीं है :—

वसिष्ठजी का कहना है कि मृत्यु से डरना तो बिल्कुल ही मूर्खता है। क्योंकि मौत का दो में से एक ही अर्थ हो सकता है : या तो मरने पर मनुष्य का सर्वथा अन्त हो जाता हो या मृत्यु के पश्चात् उसे दूसरा जीवन मिलता हो। इन दोनों बातों में से जो भी हो अच्छी ही है। अन्त ही जब हो गया तो डर किस बात का ? चलो सब आफ़तों और मुसीबतों से सदा के लिये छुट्टी मिली। जीवन का, जिसमें नाना प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं, झंझट मिटा। ऐसा होने पर अफ़सोस किस बात का और ऐसा होने से डर किस बात का है ? यदि मौत से जीवन का अन्त नहीं होता, बल्कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश होता है, तो फिर भी किस बात का डर और अफ़सोस है ? पुराने और रोगी शरीर को छोड़कर नये में प्रवेश करना किसको बुरा लगेगा ? यह तो ऐसा ही है जैसा कि फटे-पुराने कपड़ों को फेंक कर नये कपड़ों को पहनना, अथवा पुराने और टूटे-फूटे मकान को छोड़कर दूसरे नये मकान में प्रवेश करना। ऐसा होने पर तो दुःख के बजाय सुख मानना चाहिये।

(अ) मौत यदि सर्वनाश है तो बहुत अच्छी बात है :—

मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्वामयसंक्षयः । (६।१०१।२६)
मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽप्याप्युपचयो महान् ॥ (६।१०१।२३)
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः । (६।१०१।२३)
मरणं जीवितं [illegible] दुःखं न सुखं यतः ॥ (६।१०१।२४)

अगर मौत से प्राणी का सर्वथा नाश हो जाता हो और मरकर फिर किसी प्रकार का जीवन न हो तो इससे बढ़कर कौन-सा लाभ है ! क्योंकि तब तो संसार के सब ही दुःखों से छुटकारा मिल गया; होने, न होने, लेने और देने के ज्वर की शान्ति हो गई। ऐसी मौत ही तो सच्चा जीवन है, क्योंकि न उसके बाद सुख है और न दुःख।

(आ) मौत के पीछे यदि दूसरा जीवन है तो बहुत उत्सव की बात है :—

मृतस्य देहलाभश्चेत्तव एव महोत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ (६।१०१।२५)

देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ (६।१०१।२२)

मृत्यु के पीछे जीव को यदि दूसरे नवीन शरीर की प्राप्ति होती है तो बहुत हर्ष का अवसर है, क्योंकि तब तो मौत का अर्थ शरीरका ही नाश है। ऐसा होने पर तो सुखी होना चाहिये। एक शरीर को छोड़ कर यदि दूसरा शरीर मिलता है तो बहुत ही खुशी का अवसर है। मरने पर तो आनन्द होना चाहिये न कि अफसोस !

योगवासिष्ठ के अनुसार मौत सर्वनाश नहीं है। मौत क्या है वह यहाँ बतलाया जाता है।

(२) मौत क्या है :—

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते। (६।१८।१)
मृतो [illegible] इति प्रोक्तो मन्ये तत्र [illegible] हासत् ॥ (५।७१।६४)
स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वानुभूयते ॥ (५।७१।६५)
स्वसंकल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते। (६।१८।१)
वासनात्रस्थितो जीवो यात्युत्सज्य शरीरकम् ॥ (५।७१।६७)
अन्यस्मिन्वितते देशे कालेऽन्यस्मिश्च राघव। (५।७१।६८)
इतश्चेतश्च नीयन्ते जीवा वासनया स्वया ॥ (५।७०।६९)
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ (६।१०५।२४)
[illegible] जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते। (६।१०५।२९)
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ (६।१०५।३०)
अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्छनम् ।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत ॥ (३।२०।३१)
प्रतिभान्ति जगन्त्याशु मृतिमोहादनन्तरम् ।
जीवस्योन्मीलनादक्ष्णो रूपाणीवाखिलान्यलम् ॥ (३।२१।१)
निमेषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम् । (३।२०।४४)
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभामुपगच्छति ॥ (३।२०।४५)
दिक्कालकलनाकाशधर्मकर्ममयानि च ।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥ (३।२१।२)
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च ।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ (३।२०।४८)

सर्वनाश करने वाली मौत, कभी नहीं होती। ऐसा कहना कि मरा हुआ प्राणी नष्ट हो गया है बिल्कुल झूठ है। वह तो मरने पर दूसरे देश और काल में दूसरी सृष्टि का अनुभव करने लगता है। अपने संकल्पों के जगत् के भीतर स्थिर हो जाने को मौत कहते हैं (मौत में चेतना भीतर ही रहती है बाहर नहीं रहती)। एक शरीर को छोड़ कर जीव अपनी वासनाओं के आधार पर दूसरे देश और कालमें अपने को पाता है। वासना के कारण ही जीव इधर-उधर भ्रमता रहता है। जैसे स्वप्न के अनुभव करने वाले जीव की स्वप्न-संसार में मौत होजाती है और वह जाग्रत्-संसार में आकर जाग्रत्-रूपी स्वप्न देखने लगता है, ठीक इसी प्रकार यहाँ पर मर कर जीव दूसरे जगत् में जाग जाता है। वहाँपर जागनेपर यह लोक उसको एक स्वप्न सा मालूम पड़ने लगता है। मिथ्या मौत की मूर्च्छा का कुछ देर तक अनुभव करके पूर्व अवस्था को भूल कर जीव दूसरी अवस्था का अनुभव करने लगता है। जैसे आँख मींजते ही नाना प्रकार की स्वप्नसृष्टि का अनुभव होने लगता है वैसे ही मौत की मूर्च्छा आते ही दूसरे संसार का अनुभव उदय हो जाता है। मौत की मूर्च्छा आते ही तुरन्त ही तीनों लोक की विचित्र सृष्टि फिर अनुभव में आने लगती है। कल्प के अन्त तक स्थिर रहने वाले अनेक जगत् अपने-अपने देश, काल, आकाश, धर्म और कर्म सहित दिखाई पड़ने लगते हैं। मौत के बाद तुरन्त ही देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि, इंद्रिय आदि का अनुभव ऐसा होने लगता है जैसा कि जीव को युवावस्था में होता था।

(३) मरनेके समयका अनुभव :— ✓

यदा व्यथावशाभ्राभ्यः स्वसंकोचविकासनैः ।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति [illegible] स्थितिम् । (३।५४।५९)
प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः संप्रविशन्ति नो ।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्स्मृतिर्भवेत् ॥ (३।५४।६०)
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा ।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा ॥ (३।५४।६१)
नाडीप्रवाहे विधुरे [illegible] वातविसंस्थितिम् ।
जन्तुः प्राप्नोति हि [illegible] शाम्यतीवास्य चेतना ॥ (३।५५।२)

केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदासौ जडनामकः ॥ (३।५५।४)
तस्मिन्देहे शवीभूते वाते चानिलतां गते ।
चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति ॥ (३।५५।५)
जीव इत्युच्यते तस्य नामाणोर्वासनावतः । (३।५५।६)
मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ॥ (३।१८।६)
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्संकल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ (३।१८।१०)
स्ववातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसोऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ (३।१८।१०)
इदं दृश्यं परित्यज्य यदास्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव संकल्प एव नामाकृतिस्तदा ॥ (३।५५।८)
तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान्भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ (३।५५।९)
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगाश्रयाः ॥ (३।६३।३२)

जब कि रोगों के कारण नाड़ियों में संकोच और विकास होता है तब शरीर में रहनेवाले प्राण की गति अस्तव्यस्त हो जाती है। भीतर गया हुआ साँस मुश्किल से बाहर आता है और बाहर निकलकर साँस कठिनाई से भीतर जाता है। नाड़ियों की गड़बड़ से प्राण की गति में गड़बड़ हो जाती है, और चेतना केवल भीतर ही रहती है, बाहर की ओर प्रवृत्त नहीं होती। शरीर की नाड़ियों की खराबी से जब कि प्राण की गति ऐसे रुक जाये कि साँस न बाहर निकल सके और न भीतर जा सके, उस समय यह कहा जाता है कि प्राणी मर गया। नाड़ियों में प्राण की इस प्रकार गति रुक जाने पर ऐसा जान पड़ता है कि उस प्राणी की चेतना बिलकुल शान्त हो गई है। वायु की गति के रुक जाने पर प्राणी की सब चेष्टाएँ रुक जाती हैं और उसे मुर्दा कहते हैं। शरीर उस समय सर्वथा जड़ हो जाता है। शरीर के इस प्रकार मुर्दा हो जाने पर और प्राणी के प्राण बाहर निकलकर आकाश में स्थिर रहने पर वासनायुक्त चेतना आत्मा में स्थिर रहती है। उस सूक्ष्म वासनाओं-वाली चेतना का नाम जीव है। पुरुष के शरीर से निकलकर प्राणवायु बाहर के वायुमण्डल में स्थित हो जाता है। इस प्रकार अपने भीतर

नाना प्रकार के संकल्पों को धारण किये हुए अनेक प्राणवायुओं द्वारा भरी हुई सब दिशायें (उनको जो देख सकते हैं) दिखाई पड़ती हैं। वायुमण्डल में मुर्दों के प्राण और उन प्राणों के भीतर उनके मन और मनों के भीतर उनके जगत् इस प्रकार मौजूद हैं जैसे कि तिलों के भीतर तेल रहता है। जब जीव इस दृश्य संसार को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश करता है तो उसे ऐसा जान पड़ता है कि यह जगत् स्वप्न अथवा संकल्प-सा था। जिस स्थान पर जीव के शरीर की मौत होती है उसी स्थान पर उसे पहिले जगत् की तरह दूसरे जगत् का अनुभव होने लगता है। मौत की मूर्च्छा के खत्म होते ही उसे दूसरे शरीर का अनुभव होने लगता है। जो जीव बिना मोक्ष प्राप्त किये हुए मर जाते हैं वे सब इसी प्रकार वायुमण्डल में स्थित होकर अपने-अपने लोकों का अनुभव करते हैं।

(४) मौत के समय अज्ञानी को ही क्लेश होता है :—

अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथा सुखम्।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥ (३।५४।३६)
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः। (३।५४।३७)
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाम्बुजम् ॥ (३।५४।३८)
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः ॥ (३।५४।३९)
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्जनम्।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥ (३।५४।४४)
परमान्ध्यमनालोको दिवाप्युदिततारकः।
साभ्रदिग्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥ (३।५४।४१)
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः।
अकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः ॥ (३।५४।४२)
परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवार्णवे।
नीयमान इवाकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः ॥ (३।५४।४३)
अन्धकूप इवापन्नः शिलान्तरिव योजितः।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाशये ॥ (३।५४।४४)
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवार्पितः।
रथे द्रुत इवारूढो हिमवद्गलनोन्मुखः ॥ (३।५४।४५)

व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवान्न स्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवास्थितः ॥ (३।५४।४६)
भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव बलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवार्पितः ॥ (३।५४।४७)
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चार्णवे ॥ (३।५४।४८)
अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वी विपर्यासदशामनुभवन्स्थितः ॥ (३।५४।४९)
पतन्निवानवरतं प्रोत्पतन्निव चाभितः ।
सुत्काराकर्णनोद्भ्रान्त पूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥ (३।५४।५०)
क्रमाच्छ्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः । (३।५४।५१)
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ॥ (३।५४।५२)
मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनासौ महामोहे निमज्जति ॥ (३।५४।५३)

धारणा का अभ्यास करनेवाला तथा युक्ति (ज्ञान) युक्त पुरुष धारणा करके शरीर को सुखपूर्वक त्याग देता है। लेकिन मूर्ख (अज्ञानी) को, जिसके वश में अपना मन नहीं है, मरते समय बहुत दुःख होता है, और वह टूटे हुए कमल की नाई दीन हो जाता है। जिसने शास्त्रों के अनुसार अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं किया है, जो दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में रहता है उसको मरते समय ऐसी आन्तरिक वेदना होती है जैसे कि अग्निकुण्ड में गिर पड़ा हो। मृत्यु के समय जब कि गले में घरड़वा, चेहरेपर विकृति, और आँखों के सामने अन्धेरा होने लगता है, तब ऐसे पुरुष का मन जिसको विवेक नहीं है, बहुत दुःखी होता है। तब घना अन्धेरा छा जाता है, आँखों से कुछ दिखाई नहीं पड़ता, दिन में ही तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, चारों ओर आकाश में काले बादल छाए हुए नजर आने लगते हैं, हृदय दर्द से मानो फटने लगता है, दृश्यमान पदार्थ घूमते हुए मालूम पड़ने लगते हैं; पृथ्वी आकाश के स्थान पर और आकाश पृथ्वी के स्थान पर दिखाई पड़ने लगता है। सब दिशाएँ घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं; ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र के ऊपर को ले जाया जा रहा है, आकाश में उड़ाया जा रहा है। गहरी नींद की ओर मन की प्रवृत्ति होती है। ऐसा जान पड़ता है कि

अन्धेरे कूएँ में डाल दिया गया हो या पत्थर के भीतर दबा दिया गया हो। रंग फीका पड़ जाता है और हृदय विदीर्ण सा हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है मानो आँधी द्वारा फेंका हुआ आकाशमार्ग से गिर रहा हो; तेज़ी से दौड़नेवाले रथपर सवार हो; बर्फ की तरह गलता हो; संसार का अनुभव फैलता जा रहा हो; बन्धुजनों को छू नहीं सकता हो; घुमाकर किसी वायुयंत्र में ज़ोर से फेंक दिया गया हो; चक्कर आ गया हो; जीभ खींच ली गई हो; जल के भँवर में पड़ कर चक्कर खाने लगा हो; शस्त्रों की मशीन में भींच दिया गया हो; बादल को ज़ोर से उड़ाए ले जाती हुई हवा में तृण के समान उड़ता हुआ हो; जल के साथ ज़ोर से समुद्र में पड़ता हो; अनन्त आकाश में चक्कर खाकर गिरते हुए समुद्र और पृथ्वी को उलटता हुआ देखता हो। चारों ओर गिरता पड़ता हुआ चिल्लाने की आवाज़ सुनता हुआ पागलसा होकर अपनी सब इन्द्रियों में चोट लगी हुई अनुभव करता है। उसकी सब इन्द्रियों का ज्ञान धीरे-धीरे मन्द पड़कर चारों ओर अन्धेरा छा जाता है। स्मरण शक्ति इतनी खराब हो जाती है कि उसको पहिले पीछे का ज्ञान तनिक भी नहीं रहता। मोह के कारण मन में कल्पना शक्ति भी नहीं रहती, और सब प्रकार का विवेक नष्ट होकर वह महा अन्धेर में डूब जाता है।

(५) मौत के पीछे का अनुभव :—

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनानुभूयते।
यैषा तां विद्धि सुमते महाप्रलययामिनीम् ॥ (३।४०।३१)
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्पृथक्।
सहजस्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ (३।४०।३२)
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ (३।४०।३३)
अन्ये त्वमिव ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ (३।४०।३७)
जीवो हि मृतिमूर्च्छान्ते यदन्तः प्रोन्मिषन्निव।
अनुन्मिषित एवास्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ (३।४०।३८)
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तद्व्यक्तं जडाजडम्।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव [illegible] एष भवोदये ॥ (३।४०।३९)

बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत् ।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति स्यात् ॥ (३।४०।४०)
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम् ।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्यातिवाहिकः ॥ (३।४०।४१)
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः ।
आधिभौतिकताबोधमाधत्ते चैष बालवत् ॥ (३।४०।४२)
ततो दिक्कालकलनास्तदाधारतया स्थिताः ।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोः स्पन्दनक्रिया इव ॥ (३।४०।४३)
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ (३।४०।४४)
यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदैव सः ।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम् ॥ (३।४०।४६)
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम् ।
जरामरणवैलव्यं च व्याधिसङ्कटकोटरम् ॥ (३।४०।४७)
स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम् ।
साब्ध्यद्र्युर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम् ॥ (३।४०।४८)

मरने के समय प्रत्येक जीव मूर्च्छा का अनुभव करता है। वह मूर्च्छा जीव के अनुभव में महाप्रलय की रात्रि के समान होती है। उसके पश्चात् प्रत्येक जीव अपनी अपनी सृष्टि स्वप्न और संकल्प की नाई रचता है। जैसे महाप्रलय की रात्रि के पश्चात् परमात्मा इस दृश्य-जगत् की रचना करता है तैसे ही प्रत्येक जीव मृत्यु के पीछे अपने अपने परलोक की सृष्टि करता है। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता तब तक जीव को अपनी स्मृति के कारण मरने जीने का अनुभव होता है। मौत की मूर्च्छा के पश्चात् जीव का अपने भीतर जागकर जो ज्ञान-विस्तार होने लगता है उसे प्रधान कहते हैं। वही जड़-चेतनमय ज्ञानका विस्तार अव्यक्त कहलाता है; उसीसे आकाश की उत्पत्ति होती है। संसार की प्रलय और उसका उद्गम इसी में और इसी से होता है। जब बोध का उदय होता है तो उस अवस्था का नाम महत् है। उसके पश्चात् तन्मात्रायें आदि कालक्रिया और महाभूत आदि की उत्पत्ति होती है। वही ज्ञान बाहर की ओर प्रवृत्त होकर पाँचो इन्द्रियाँ हो जाता है। वही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर हो जाता है। कुछ समय तक कल्पना द्वारा परिपोषित होकर वह सूक्ष्म शरीर बालक

सा स्थूल शरीर धारण कर लेता है। उसी ज्ञान से दिक् और काल के भेद उदय होकर उसी के आधार पर ऐसे स्थिर रहते हैं जैसे वायु-मण्डल में उसके स्पन्दन। जैसे स्वप्न में स्त्रीसङ्ग का अनुभव होने पर भी असत् ही होता है वैसे ही यह सब मृत्यु के पीछे उदय हुआ संसार का विस्तार असत् होता हुआ भी विस्तृत दिखाई पड़ता है। जहाँ पर कोई जीव मरता है वहीं पर वह इस प्रकार की सृष्टि का अनुभव करने लगता है। वहीं पर उसे इन्द्रपुरी, पहाड़, तारागण, बुढ़ापा, कमजोरी, संकट, रोग, मौत, स्वभाव, अभाव, स्थूल और सूक्ष्म, जड़ चेतन सृष्टि, समुद्र, पहाड़, पृथ्वी, दिन, रात, क्षण, कल्प, सर्जन और संहार आदि मय जगत् का अनुभव होने लगता है।

(६) मरने के पश्चात् का अनुभव अपनी अपनी वासना और कर्मों के अनुसार होता है :—

स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम्।
मूर्च्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेणैवाक्रमेण च॥ (३।५५।२६)
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात्।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इव वेदिनः॥ (३।५५।२७)
ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद्यमपुरं त्विति॥ (३।५५।२८)
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान्॥ (३।५५।२९)
हिमानीकण्ठकश्वभ्रशास्त्रपत्रवनानि च।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि सम्प्राप्तानीति पापवान्॥ (३।५५।३०)
इयं मे सौम्यसम्पाता सरणिः शीतशाद्वला।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः॥ (३।५५।३१)
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान्॥ (३।५५।३२)
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च॥ (३।५५।३९)
यः स्वर्गोयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा।
इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः॥ (३।५५।३७)

भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ (३।९९।११)
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ॥ (३।९९।१२)
कश्चिन्महापातकवान्वत्सरं स्मृतिमूर्च्छनम् ।
विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ (३।९९।१३)
ततः कालेन सम्बुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ (३।५९।१४)
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ (३।९९।१९)
अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखलताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ (३।९९।१७)
स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयाथ योनीषु जायन्ते भूतले चिरात् ॥ (३।९९।१७)
अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
स शिलाजठरं जाड्यं किञ्चित्कालं प्रपश्यति ॥ (३।९९।१८)
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ (३।९९।१९)
मृत एवानुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं सम्पन्नमक्षतम् ॥ (३।९९।२०)
स स्वप्न इव संकल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ (३।९९।२१)
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥ (३।९९।२२)
ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ (३।९९।२३)
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।
ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ (३।९९।२४)
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ (३।९९।२९)

मौत की मूर्च्छा के पश्चात् प्रेत लोग (मरे हुए जीव) अपनी अपनी वासना के अनुसार क्रमपूर्वक अथवा क्रम बिना इस प्रकार की स्थिति का अनुभव करते हैं :—हम मर गये हैं और अब बन्धुओं द्वारा

दिये पिण्ड आदि से हमारा नवीन शरीर बना है। तब ऐसा अनुभव होता है कि यमराज के दूत काल के पासों में बाँध कर हमें यमपुर को ले जा रहे हैं। पुण्यवान् प्रेतों को अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त अच्छे अच्छे स्वर्ग के बाग़ और विमान दिखाई पड़ते हैं। पापियों को उनके बुरे कामों द्वारा उत्पन्न बर्फ़ की चट्टानें, काँटे, गड्ढे, शस्त्र, पत्ते और वन दिखाई पड़ते हैं। जो मध्यम श्रेणी के (न पुण्यात्मा और न पापी) प्रेत हैं उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि वे ऐसे मार्ग पर चल रहे हैं जो बहुत सुगम है, जो शीतल (हरे) घास से भरा हुआ है, जिसपर ठण्ढी छाया और पानी पीने के लिये कुएँ हैं। तब प्रेत को ऐसा अनुभव होता है कि वह यमपुर में पहुँचकर यमराज के सामने पेश किया गया है; वहाँ-पर उसके कर्मोंके ऊपर विचार किया जाता है; कर्मों के अनुसार उनका फल मिलता है; शुभ कर्मों के कारण स्वर्ग मेंऔर अशुभ कर्मों के कारण नरक में वह जा रहा है; वह स्वर्ग अथवा नरक में अपने कर्मों के फल भोग रहा है; अनेक योनियों का भोग कर रहा है; और फिर उसी जगत् में (जहाँ कि वह मरा था) उत्पन्न हो रहा है। प्रेत ६ प्रकार के होते हैं, उनके भेद ये हैं:—सामान्य पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मवाले। कोई-कोई महा पाप प्रेत साल भर तक मृत्यु की मूर्च्छा (अज्ञ अवस्था) का अनुभव करके अपने भीतर पत्थर जैसी जड़ अवस्था का अनुभव करता है। कुछ समय के पीछे उस अवस्था से जाग कर वह अपनी वासनाओं से उत्पन्न हुए नरक का बहुत समय तक कठोर दुःख भोगकर नाना प्रकार की नीची और ऊँची योनियों में दुःख भोग कर संसाररूपी स्वप्न के भ्रम में किसी समय शान्ति पाता है। अथवा मौत की मूर्च्छा के पश्चात् वे नाना-प्रकार के जड़ स्थिति के दुःखों को वृक्षादि योनियों में अनुभव करके, अपनी वासनाओं के अनुसार नरक लोक के दुःख भोग कर, बहुत समय के पीछे पृथ्वीमण्डलपर अनेक योनियों में जन्म लेते हैं। मध्यम पाप-वाले जीव मौत की मूर्च्छा के पश्चात् पत्थर के भीतर जैसी जड़ता होती है वैसी का अनुभव अधिक या थोड़े समय तक करके पक्षी आदि योनियों का भोग करके (मनुष्य) संसार में आते हैं। सामान्य (थोड़े से) पापवाला जीव मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार इस प्रकार दूसरे शरीर का अनुभव करने लगता है जैसे स्वप्न और संकल्प के भीतर किया जाता है, और उसकी चेतना तुरन्त ही उदय हो जाती

है। उत्तम और महा पुण्यवाले जीव मौत की मूर्च्छा से जागने पर अपने विचारों के अनुसार स्वर्ग में विद्याधर आदि की योनियों में अपने अपने कर्मों का सुख भोगकर मनुष्य लोक में सज्जन और धन-सम्पन्न घरों में जन्म लेते हैं। मध्यम पुण्यवाले जीव मौत की मूर्च्छा के पश्चात् वायु द्वारा उड़कर, औषधि और फूलों आदि की योनियों में अपने अपने कर्मों का यथायोग्य फल भोगकर उनके द्वारा मनुष्यों के शरीर में प्रवेश करके वीर्य के द्वारा यथोचित गर्भ में प्रवेश करते हैं।

(७) परलोक के अनुभव के पश्चात् फिर वही जीवन की दशायें भुगतनी पड़ती है :—

संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि॥ (३।१९।३८)
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः॥ (३।५९।३९)
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम्।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम्॥ (३।९९।४०)
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्च्छनाम्।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम्॥ (३।९९।४१)
याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम्।
भूयो भूयोऽनुभवति नाना योन्यन्तरोदये॥ (३।९९।४२)
इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम्।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान्॥ (३।५९।४३)

इस प्रकार (जैसा कि ऊपर बतलाया है) वह जीव, जिसकी सब इन्द्रियाँ सुप्त अवस्था में हैं, मनुष्य के भीतर वीर्य रूप में आ जाता है। वह वीर्य स्त्री की योनि में पड़कर गर्भ का रूप धारण कर लेता है। समय पाकर वह गर्भ अपने पूर्व कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा, सुन्दर बालक बन कर जन्म लेता है। तब वह बालक चन्द्रमा के समान धीरे धीरे बड़ा होकर काम पूर्ण यौवन का अनुभव करता है। तब उस बुढ़ापे का जिसमें कि उसके मुख रूपी कमल पर बर्फ़ का वज्रपात होता है। तब रोगों का और मरने की मूर्च्छा का अनुभव; तब फिर उसी स्वप्न के सदृश पिण्डादि द्वारा उत्पन्न शरीर का; फिर उन लोकों का जहाँ पर उसे अपने कर्मों के

अनुसार जाना पड़ता है; तब नाना प्रकार की, एक के पीछे दूसरी, योनियों का। इस प्रकार जब तक जीव को इस जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति नहीं मिलती तब तक बार-बार एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने का अनुभव होता ही रहता है।

(८) योगमार्ग पर चलनेवालों की गति :—

योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः। (६।१२६।४७)
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम्॥ (६।१२६।४८)
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च। (६।१२६।४८)
मेरूपवनकुञ्जेषु रमते रमणीसखः॥ (६।१२६।४९)
ततः सुकृतसंभारे दुष्कृते च पुराकृते। (६।१२६।४९)
भोगजाले परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि॥ (६।१२६।५०)
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम्। (६।१२६।५०)
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः॥ (६।१२६।५१)
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः।
स्मृत्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम्॥ (६।१२६।५१)

जिस जीव ने योग की कुछ भूमिकाओं को पार कर लिया है उसके पाप उन भूमिकाओं के अनुसार क्षीण हो जाते हैं। मरने के पश्चात् वह जीव सुंदर स्त्रियों के साथ देवलोक के विमानों में बैठकर, लोकपालों के नगरों में रहकर और सुमेरु पर्वत के उपवन के कुंजों में विचरकर अनेक प्रकार के सुखों का भोग करता है। जब इस प्रकार के अनेक भोग भोगने पर उसके पूर्वकाल के शुभ कर्म क्षीण हो जाते हैं और पाप कर्म उदय होते हैं तो वह इस संसार में गुणयुक्त, धनवान्, पवित्र आचारवाले योगियों के घर में आकर जन्म लेता है। जन्म लेकर योग मार्ग का आश्रय लेता है और पूर्व जन्म में जिन भूमिकाओं का अभ्यास कर चुका था उनको शीघ्र ही स्मरण करके उनसे ऊँची भूमिकाओं का अभ्यास करना आरम्भ कर देता है और क्रम से ऊँचे चढ़ता है।

(९) एक शरीर को छोड़कर जीव दूसरे में प्रवेश करता है :—

आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः।
कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजाः॥ (४।४३।२६)

काले काले चिता जीवस्त्वन्योऽन्यो भवति स्वयम्।
भाविताकारवानन्तर्वासनाकलिकोदयात् ॥ (३।५१।३९)

जैसे पक्षी एक वृक्ष को छोड़ कर दूसरे वृक्ष पर जा बैठता है वैसे ही आशा के सैकड़ों फाँसों से बँधा हुआ और अनेक वासनाओं के भावों से युक्त जीव भी एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में चला जाता है। अपने भीतर की वासनाओं की कलियों के खिलने से भावना के अनुसार आकार धारण करने के कारण समय-समय पर जीव अपने विचार के अनुसार अपना आकार बदलता रहता है।

(१०) जन्ममरणका अनुभव तब तक होता है जब तक कि आत्मज्ञान नहीं होता :—

तावद्भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्तराशयः।
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमनिन्दितम् ॥ (४।४३।२८)
दृष्ट्वात्मानमसत्त्यक्त्वा सत्यमासाद्य संविदम्।
कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः ॥ (४।३३।२९)

जब तक अज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मा का दर्शन नहीं कर पाते तभी तक इस संसार में जल में भँवरों की नाईं चक्कर काटते रहते हैं। आत्मा का दर्शन करके, असत्य का त्याग करके, सत्य ज्ञान पर आरूढ़ होकर और परम पदको पाकर मौत के पीछे जीव इस संसार में पुनर्जन्म नहीं पाता। मौत से उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जाने पर उसे किसी दूसरे शरीर में जाने की आवश्यकता नहीं रहती।

(११) मरने के पीछे जीवन्मुक्त की गति :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम् ॥ (५।४२।१३)
भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ (५।४२।१४)
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ (३।९।१४)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥ (३।९।१५)

जीवन्मुक्ति जिसको प्राप्त हो गई है (अर्थात् जो अपने सांसारिक जीवन में रहते हुए ही मुक्त अवस्था का अनुभव करने लगा है) वह

मरने के पीछे दूसरा जन्म प्राप्त नहीं करता। जीवन्मुक्त मरकर विदेह मुक्त हो जाता है। उसे फिर दृश्य जगत् का अनुभव नहीं करना पड़ता। जीवन्मुक्त के मन की वासनाएँ इतनी शुद्ध हो जाती हैं कि उनके कारण वह मौत के पीछे संसार में ऐसे जन्म नहीं लेता जैसे भुना हुआ बीज नहीं उगता। जैसे हवा की गति रुक जाती है वैसे ही मौत द्वारा स्थूल शरीर के नष्ट हो जानेपर जीवन्मुक्तता की दशा से वह विदेहमुक्तता की दशा में प्रवेश करता है। विदेहमुक्त को जन्म, मरण, नाश आदि का अनुभव नहीं होता। वह न सत् कहा जा सकता है न असत्, न "मैं" और न "दूसरा" (अर्थात्—विदेहमुक्ति वह दशा है जिसमें जीव ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है)।

(१२) आत्मा के लिये जीवन-मरण नहीं है:—

न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित्।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत्पश्यति केवलम्॥ (३।५५।६७)
पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदान्यत्किं पुमान्भवेत्॥ (३।५४।६८)
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम्।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम्॥ (३।५४।६९)
वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत्स्वयम्।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते॥ (३।५४।७१)
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम्॥ (३।५४।७२)
यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घायां मध्यमध्यतः।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च॥ (३।५४।६६)
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति। (३।५५।३)
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम्॥ (३।१४१।१६)

चेतन पुरुष (आत्मा) न कभी जन्म लेता है न मरता है। भ्रम के कारण केवल स्वप्न की माईं इन सब बातों का अनुभव करता है। पुरुष तो चेतनामात्र है; वह कब और कहाँ नष्ट होता है? चेतनता के अतिरिक्त पुरुष में और क्या है? लाखों शरीरों का नाश होता रहता है, लेकिन चेतन आत्मा तो अक्षय स्थित रहता है। कौन ऐसा जीव आजतक मरा है जिसकी चेतना किसी प्रकार नष्ट हो गई

हो? वासनाओं की नाना रूपों में तबदीली होने का नाम ही जीवन और मरण है। न कोई जीव मरता है और न कोई उत्पन्न होता है, केवल अपनी वासनाओं के भँवरवाले गड्ढे में गिरकर लोटपोट होता रहता है।

(१३) आयु के थोड़े और अधिक होने का कारण :—

देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ (३।९४।३० ,
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत्समे ॥ (३।९४।३०)
वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ।
बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवनमृत्युदैः ॥ (३।९४।३१)
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान्स यथाशास्त्रमायुषः ॥ (३।९४।३२)
मृत्यो न किञ्चिच्छक्यस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत् ॥ (३।२।१०)

मनुष्यों की आयु के अधिक और कम होने में देश, काल, क्रिया और द्रव्यों की तथा उनके किये हुए कर्मों की शुद्धि और अशुद्धि ही कारण होते हैं। आयु का घटना बढ़ना और सम रहना मनुष्यों के धर्म और कर्मों के ऊपर निर्भर है। ऐसे कर्मों से जो वृद्धता में मौत लाते हैं बुढ़ापे में मौत आती है, और ऐसे कर्मों के करने से जो बालकपन में मौत लाते हैं बचपन में मौत होती है। ऐसे कर्मों के करने से जो यौवनावस्था में मौत लाते हैं यौवन में मौत आती है। जो शास्त्रों के अनुसार धर्म और कर्मों को करता है उसको शास्त्र में बतलाई हुई आयु की प्राप्ति होती है। हे मृत्यो! तू अपने बल से किसी को नहीं मार सकती! जो मरता है वह अपने ही कर्मों द्वारा मारा जाता है, किसी दूसरे कारण से नहीं।

(१४) कौन मौत के बस से बाहर है :—

दोषमुक्ताफलप्रोता वासनातन्तुसन्ततिः ।
हृदि न ग्रथिता यस्य मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।९)

निःश्वासवृक्षक्रकचाः सर्वदेहलताघुणाः ।
आधयो यं न भिन्दन्ति मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।६)
शरीरतरुसर्पौघाश्चिन्तार्पितशिरःफणाः ।
आशा यं न दहन्त्यन्तर्मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।७)
रागद्वेषविषापूरः स्वमनोबिलमन्दिरः ।
लोभव्यालो न भुंक्ते यं मृत्युस्तं न जिघांसति ॥ (६।२३।८)
तीतावेशविवेकाम्बुः शरीराम्भोधिवाडवः ।
न निर्दहति यं कोपस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।९)
यन्त्रं तिलानां कठिनं राशिमुग्रमिवाकुलम् ।
यं पीडयति नानङ्गस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।१०)
एकस्मिन्निर्मले येन पदे परमपावने ।
संश्रिता चित्तविश्रान्तिस्तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।११)
वपुःखण्डाभिपतितं शाखामृगमिवोदितम् ।
न चञ्चलं मनो यस्य तं मृत्युर्न जिघांसति ॥ (६।२३।१२)

जिस मनुष्य के गले में पापरूपी मोतियों से गुन्दी हुई वासनारूपी तागों की मालायें नहीं हैं (अर्थात् जिसके चित्त में पापवासनायें नहीं हैं); जिसको मानसिक रोग रूपी आरे नहीं चीरते, जो कि सासों के वृक्ष को काटते हैं और सारे शरीर में घुण पैदा कर देते हैं (अर्थात् जो मानसिक रोगों से मुक्त हैं); जिसे चिन्ता रूपी फणों वाली और शरीर रूपी वृक्ष में वास करनेवाली आशारूपी सर्पिणियां अपने विष से नहीं जलातीं (अर्थात् जो सर्व प्रकार की आशाओं से मुक्त है जो कि चिन्ता उत्पन्न करने वाली हैं); जिसको राग द्वेष के विष से भरा हुआ मनरूपी बिल में रहने वाला लोभरूपी सर्प नहीं डँसता (अर्थात् जो लोभ से बरी है); जिसको विवेकरूपी जल को सुखानेवाला और शरीररूपी समुद्र को जलानेवाला क्रोधरूपी वड़वानल (समुद्र की अग्नि) नहीं जलाता (अर्थात् जो क्रोध के आवेश में आकर विवेक को खोकर अपने शरीर को क्षीण नहीं करता); जिसको कामदेव इस प्रकार नहीं पीड़ा देता जैसे कि तिलों के बड़े और कड़े ढेर को कोल्हू पीड़ देता है (अर्थात् जो काम के वश में नहीं है); जिसका मन एक निर्मल परम पावन ब्रह्म में स्थित होकर शान्त हो गया है; और जिसका चञ्चल मनरूपी बन्दर शरीररूपी टुकड़ोंपर नहीं आ गिरता (अर्थात् जो शरीर को

सुन्दरता पर मोहित नहीं होता) उसको मौत भी नहीं खा सकती, चाहे वह उसे कितना ही खाना चाहे (अर्थात् वह पुरुष मौत के कब्जे से बाहर है) ।

१४—ब्रह्मा

योगवासिष्ठ के जीव और जगत् सम्बन्धी विचार पाठकों के सामने विस्तृत आकार में रक्खे जा चुके हैं। अब हमको यह बतलाना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् का कारण क्या है। जगत् की रचना कौन करता है और किससे जगत् और जीव उदय होते हैं, कहां रहते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं? योगवासिष्ठ में जगत् की सृष्टि करने वाले का नाम ब्रह्मा है। वह ब्रह्मा नित्य और अनन्त परम तत्त्व ब्रह्म की सर्जन शक्ति का मूर्तिमान् आकार है। ब्रह्म की स्पन्द शक्ति ही ब्रह्मा के आकार में प्रकट होकर जगत् की सृष्टि करती है। सबसे पहिले यहां ब्रह्मा का वर्णन किया जाएगा।

(१) जगत् की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है :—

सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनादिप्रजापतिः।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाद्यापि स्थिता स्थितिः॥ (३।९१।४७)
संकल्पयति यन्नाम प्रथमोऽसौ प्रजापतिः।
तत्तदेवाशु भवति तस्येदं कल्पनं जगत्॥ (३।१८६।६५)

सृष्टि के आदि में स्वप्नपुरुष की नाईं जो आदि प्रजापति (प्रथम सृष्टिकर्ता ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ था वह अब भी स्थित है। वह आदि प्रजापति जैसा-जैसा संकल्प करता है वैसी-वैसी सृष्टि उत्पन्न होती है। यह सारा जगत् उसी की कल्पना है।

(२) ब्रह्मा का स्वरूप मन है :—

मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि संकल्पनात्मकम्।
स्ववपुः स्फारतां नीत्वा मनसेदं वितन्यते॥ (३।३।३४)
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः। (३।३।१९)
मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत्॥ (३।३।३९)

मन ही ब्रह्मा का रूप धारण करता है। ब्रह्मा संकल्प करनेवाला मन है। मन ही अपने-आप को विस्तृत करके इस संसार की रचना करता है। मन ब्रह्मा का स्वरूप है और ब्रह्मा मन का स्वरूप है। मन का रूप धारण करके ही ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करता है।

(३) ब्रह्मा की उत्पत्ति परमब्रह्म से होती है :—

मनः सम्पद्यते तेन महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारस्तरङ्ग इव वारिधेः ॥ (३।१।१९)
स्वयमक्षुब्धविमले यथा स्पन्दो महाम्भसि ।
संसारकारणं जीवस्तथायं परमात्मनि ॥ (३।१००।२९)
निस्पन्दवपुषस्तस्य स्पन्दस्तमाचिदेव हि ।
प्रदेशाद्घनतामेति सौम्योऽब्धिश्चलनादिव ॥ (४।४२।४)
अन्तरब्धेजलं यद्वत्स्पन्दास्पन्दवदीहते ।
सर्वशक्तिस्तथैकत्र गच्छति स्पन्दशक्तिताम् ॥ (४।४२।५)
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा रसति मारुतः ।
तथा चैवात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम् ॥ (४।४२।६)
स्वशिखास्पन्दशक्त्यैव दीपः सौम्यो यथोन्नतम् ।
एति तद्वदसावात्मा तत्स्वे वपुषि वल्गति ॥ (५।४२।७)
य एवानुभवात्मायं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ (३।६७।९)
शिवात्प्राकारणात्पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखी ।
उदेति सौम्याज्जलधेः पयः स्पन्दो मनागिव ॥ (३।६७।१८)
स्फुरणाज्जीवचक्रत्वमेति चित्तोर्मितां दधत् ।
चिद्वारिब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान् ॥ (३।६७।१९)

जैसे शान्त महासमुद्र से चञ्चल लहर उदय होती है वैसे ही महान् परमात्मा से मन का उदय होता है। जैसे निर्मल और क्षोभ रहित समुद्र में स्पन्दन उत्पन्न हो जाता है वैसे ही संसार का कारण जीव (ब्रह्मा परमात्मा में उदय हो जाता है। जैसे शान्त समुद्र में स्पन्द होने से उसके एक भाग में घनता आ जाती है वैसे ही स्पन्दरहित ब्रह्म में स्पन्द न होनेपर उसके एक प्रदेश में घनता आ जाती है। जैसे समुद्र के जल के भीतर स्पन्दन और शान्ति दोनों ही वर्तमान रहते हैं वैसे ही सर्वशक्ति ब्रह्म में स्पन्दशक्ति प्रगट होती है। जैसे आकाशमण्डल में आपसे आप ही वायु की गति आरम्भ हो जाती है वैसे ही ब्रह्म में अपनी शक्ति से ही चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है। जैसे दीपक की स्थिर लौ अपनी भीतरी शक्ति द्वारा ही चञ्चलता को धारण कर लेती है वैसे ही ब्रह्म अपने आप ही सृष्टि करने लगता है।

इस प्रकार चिति का अनुभवयुक्त स्पन्दन जो जीव कारण और कर्म आदि नामोंवाला है वही सृष्टि का बीज है। जैसे क्षणभर में शान्त समुद्र में जल का स्पन्दन उदय हो जाता है वैसे ही बिना किसी पूर्व कारण के चिति में चेत्य की ओर प्रवृत्ति उदय हो जाती है। ब्रह्मरूपी समुद्र में चितिरूपी जल चित्त (मन) रूपी लहरों को उठाता हुआ स्पन्दन से जीवरूपी भंवरों को उत्पन्न करता हुआ अनेक सृष्टिरूपी बुल्बुलों को जन्म देता है।

(४) ब्रह्म का यह स्पन्दन स्वाभाविक है :—

यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः ॥ (३।६४।१०)
चिद्रूपस्यात्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम्।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम् ॥ (३।६४।११)

जैसे हवा का चलना, अग्नि की गरमी और बर्फ की शीतलता (स्वाभाविक) है वैसे ही आत्मा (ब्रह्म) का जीवत्व है। चितिरूप आत्म-तत्त्व (ब्रह्म) के अपने स्वभाव द्वारा चेतन होने का नाम जीव (ब्रह्मा) है।

(५) ब्रह्म में स्पन्दन होना उसकी अपनी लीला है :—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः। (४।४४।१४)
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ॥ (४।४४।१५)
समुदेति स्वतस्तस्मात्कला कलनरूपिणी।
जलादावर्तलेखेव स्फुरच्चलतयोदिता ॥ (६।९।३)
स्वयमेवात्मनैवात्मा शक्तिं संकल्पनामिकाम्।
यदा करोति स्फुरता स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ (६।११४।१५)
तदा पृथगिवाभासं संकल्पकलनामयम्।
मनो भवति विश्वात्मा भावयन्स्वाकृतिं स्वयम् ॥ (६।११४।१६)

देश काल आदि से अपरिमित आत्मतत्त्व अपनी ही शक्ति से लीला द्वारा देश और काल से परिमित रूप को धारण कर लेता है। जैसे जल में चञ्चल जलवाला भँवर अपने आप ही उदय हो जाता है वैसे ही उस परमतत्व में अपने आप ही सृष्टि करने वाली कला का उदय हो जाता है। जब आत्मा (ब्रह्म) अपने आप ही अपनी संकल्प

नामक शक्ति का प्रकाश इस प्रकार करता है जैसे कि वायु अपनी स्पन्द शक्ति का, तब आकार की भावना करके वह विश्व का आत्मा (ब्रह्म) संकल्प करनेवाला पृथक् आकारवाला मन बन जाता है।

(६) ब्रह्म का स्पन्दन ब्रह्म से अन्य सा रूप धारण कर लेता है :—

स्वयमन्यैवमस्मीति भावयित्वा स्वभावतः।
अन्यतामिव संयाति स्वविकल्पात्मिकां स्वतः॥ (६।३३।२१)
आदित्यव्यतिरेकेण यो भावयति राघव।
रश्मिजालमिदं ह्येतत्तस्यान्यदिव भास्वतः॥ (६।११४।४)
कनकव्यतिरेकेण यो भावयति राघव।
केयूरमेव तत्तस्य न तस्य कनकं हि तत्॥ (६।११४।६)
सलिलव्यतिरेकेण तरङ्गो येन भाविताः।
तरङ्गबुद्धिरेवैका स्थिता तस्य न वारिधीः॥ (६।११४।७)
पावकव्यतिरेकेण ज्वालाली येन भाविता।
तस्याग्निबुद्धिर्गलति ज्वालाधीरेव तिष्ठति॥ (६।११४।१०)
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्महार्णवे। (४।४।११)
आत्मनोऽव्यतिरिक्तैव व्यतिरिक्तेव तिष्ठति॥ (२।४२।१२)

परमब्रह्म अपने स्वभाव द्वारा अपने आप ही यह भावना करके कि मेरी संकल्प-विकल्प करनेवाली शक्ति मेरे से अन्य है, अपना एक अन्य सा रूप धारण कर लेता है। यह ऐसे ही होता है जैसे कोई पुरुष अपनी भावना द्वारा सूर्य की किरणों को सूर्य से अलग, सोने के गहने को सोने से अलग, जल की तरङ्ग को जल से अलग, अग्नि की ज्वाला को अग्नि से अलग समझने लगे। चित् शक्ति चिति रूपी समुद्र में कुछ क्षोभयुक्त होकर आत्मा से अतिरिक्त दूसरे आकार को धारण- कर लेती है।

(७) ब्रह्मा (मन) ब्रह्म की सङ्कल्प-शक्ति का रचा हुआ रूप है :—

अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सर्वशक्तेर्महात्मनः।
संकल्पशक्तिरचितं यद्रूपं तन्मनो विदुः॥ (३।९६।२)

सब शक्तियोंवाले महान् और अनन्त आत्म-तत्त्व (ब्रह्म) की संकल्प शक्ति द्वारा रचे हुये रूप को मन (ब्रह्मा) कहते हैं।

(८) ब्रह्मा की उत्पत्ति का कोई विशेष हेतु नहीं है :—

शक्तिर्निर्हेतुकैवान्तः स्फुरति स्फटिकांशुवत्। (३।११।३७)
तस्मादकारणं भाति वा स्वचित्तैककारणम्।
स्वकारणादनन्यात्मा स्वयंभूः स्वयमात्मवान् ॥ (३।३।९)
चित्स्वभावात्समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम्।
संसृतौ कारणं पश्चात्कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ (३।६४।२९)
आद्यः प्रजापतिः पूर्वं स्वयंभूरिति विश्रुतः।
प्राक्तनानां स्वकार्याणामभावादप्यकारणः ॥ (३।१४।७)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः। (३।१३।४३)

(ब्रह्म की) शक्ति का (ब्रह्म के) भीतर बिना किसी हेतु के स्फुरण होता है। स्वयंभू (ब्रह्मा) या तो बिना कारण, या अपने ही मन से, या अपने आप ही प्रकट होता है। सब वस्तुओं का कारण ब्रह्मा ब्रह्म के स्वभाव से ही (बिना और किसी कारण के) उदय होता है। उदय होकर सृष्टि में कार्य-कारण के नियम की स्थापना करता है। पूर्व कर्मों के अभाव से आदि प्रजापति (ब्रह्मा) अपने आप ही, बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है। पिछली (पूर्व कल्प की) कोई स्मृति भी ब्रह्मा की उत्पत्ति का कारण नहीं है।

(९) ब्रह्मा कर्मबन्धन से मुक्त है :—

प्राक्तनानि न सन्त्यस्य कर्माण्यद्य करोति नो। (३।२।२४)
प्राणस्पन्दोऽस्य यत्कर्म लक्ष्यते चास्मदादिभिः।
दृश्यतेऽस्माभिरेवं तन्न त्वस्यास्त्यत्र कर्मधीः ॥ (३।२।२९)

ब्रह्मा के न तो पूर्व जन्म के कर्म हैं और न अब वह (ऐसे) कर्म करता है (जिनका फल उसे भोगना पड़े)। हम लोगों को जो उसका प्राण आदि की क्रिया रूपी कर्म दिखाई पड़ता है उसमें उसकी कर्मबुद्धि नहीं है।

(१०) ब्रह्मा का शरीर केवल सूक्ष्म है, स्थूल नहीं :—

सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नास्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥ (३।२।५४)
यथा चित्रकृदन्तःस्था निर्देहा भाति पुत्रिका।
तथैव भासते ब्रह्मा चिदाकाशाच्छरञ्जनम् ॥ (३।२।५५)

आतिवाहिक एवासौ देहोस्त्यस्य स्वयंभुवः ।
नत्वाधिभौतिको राम देहोऽस्योपपद्यते ॥ (३।३।६)
सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम् ।
अजस्य कारणाभावादेक एवातिवाहिकः ॥ (३।३।८)
सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम् ।
अजस्य कारणं नास्ति तेनासावेकदेहवान् ॥ (३।३।९)
नास्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः ।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥ (३।३।१०)
चित्तमात्रशरीरोऽसौ न पृथ्व्यादिकमात्मकः ।
आद्यः प्रजापतिर्व्योमवपुः प्रतनुते प्रजाः ॥ (३।३।११)

जिस मन को ब्रह्मा कहते हैं वह संकल्प मात्र है; वह संकल्प के आकाश में रहनेवाला जीव है; उसमें कोई स्थूल तत्त्व, पृथ्वी आदि नहीं है। जैसे चित्रकार के मन के भीतर रहनेवाली प्रतिमा स्थूल शरीर से रहित होती है वैसे ही ब्रह्मा भी बिना किसी प्रकार की स्थूलता के शुद्ध चिदाकाश रूप में रहता है। ब्रह्मा का शरीर केवल आतिवाहिक है, आधिभौतिक नहीं है। जिन प्राणियों की उत्पत्ति कारण द्वारा होती है उन सबके दो शरीर (एक सूक्ष्म दूसरा स्थूल) होते हैं, किन्तु ब्रह्मा का जिसकी उत्पत्ति किसी कारण द्वारा नहीं होती, सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर होता है। सब प्राणियों का एक परम कारण ब्रह्मा है। उसका कोई कारण नहीं है, इसलिये ब्रह्मा केवल एक ही शरीर वाला है। आदि प्रजापत्ति (ब्रह्मा) का भौतिक शरीर नहीं होता, वह तो शून्य स्वरूप सूक्ष्म देह युक्त ही होता है। आदि प्रजापति केवल मानसिक शरीर वाला होता है, भौतिक शरीर वाला नहीं। सूक्ष्म रूपवाला रहकर ही वह प्रजा की सृष्टि करता है।

(११) ब्रह्मा ही सारे संसार की रचना करता है —

मनो नाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः ।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् ॥ (३।३।३३)
अहंमयी पद्मजभावना चित्
संकल्पभेदाद्वितनोति विश्वम् ।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोट्यंशविधौ युगान्तम् ॥ (३।६१।३८)

मनस्त्वामिव यातेन ब्रह्मणा तन्वते जगत् ।
अनन्यादात्मनः शुद्धाद्द्रवत्वमिव वारिणः ॥ (३।३।२१)
अस्मात्पूर्वात्प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी ।
इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवानिलात् ॥ (३।३।१९)

यह जगत् ब्रह्मा का आकार धारण करने वाले मन नामक जीव (ब्रह्मा) का मनोराज्य (कल्पना) है, किन्तु सत्य प्रतीत होता है। अहं-युक्त ब्रह्मारूपी भावना संकल्पों द्वारा सृष्टिकी रचना करती है। यह चिति अपने भीतर ही निमेष के भी करोड़वें हिस्से में युगों के अन्त तक का अनुभव कर लेती है। मनका रूप धारण करके ब्रह्म इस सृष्टि की जो कि आत्मा से अन्य नहीं है, ऐसे रचना करता है जैसे शुद्ध जल से बहते हुए जल की रचना हो जाती है जैसे वायुमण्डल में हवा चलने लगती है वैसे ही ब्रह्म के सर्व प्रथम स्पन्द ब्रह्मा से उससे अनन्य स्वरूपवाली सृष्टि उदय होती है।

(१२) ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मनोमय है :—

मनोमात्रं यदा ब्रह्म न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।
मनोमात्रमतो विश्वं यद्जातं तदेव हि ॥ (३।३।२९)

जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है वह उसी प्रकार की होती है। इसलिये ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ जगत् मनमात्र है क्योंकि ब्रह्मा स्वयं मनमात्र ही है, उसमें स्थूलता तनिक भी नहीं है।

(१३) हरेक सृष्टि नई है :—

अपूर्व एव स्वप्नोऽयं यद्वै सर्गोऽनुभूयते। (३।१९।४१)
महाकल्पे विमुक्तत्वाद्ब्रह्मादीनामसंशयम् । (३।१३।४२)
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयंभुवः ॥ (३।१३।४३)

सृष्टि के रूप से अनुभव में आने वाला स्वप्न अपूर्व है। महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा आदि सबकी मुक्ति हो जाने के कारण पूर्व काल की कोई स्मृति भी ब्रह्मा का कारण नहीं हो सकती।

ऊपर के सब वर्णन का सार यह है कि अनन्त और सर्व शक्तिमय ब्रह्ममें अपने ही स्वभाव से, बिना और किसी कारण के लीला रूपसे, एक सृष्टि कारक जीवका उदय होता है। वह मन के आकारका बिना किसी स्थूल देहके, होता है। उसे ब्रह्मा कहते हैं। उसीसे कल्पना द्वारा इस समस्त सृष्टि का उदय होता है और उदय होकर सत्य सा प्रतीत होता है।

१५—शक्ति

ब्रह्मा जो कि सारे विश्व का रचनेवाला है ब्रह्म की स्पन्दशक्ति का प्रकाश है। ब्रह्म में स्पन्दशक्ति के अतिरिक्त और बहुत सी शक्तियाँ हैं। बल्कि यह कहना चाहिये कि ब्रह्म अनन्त शक्तियों का भण्डार है। यहाँपर ब्रह्म की शक्तियों का और विशेषतः स्पन्दशक्ति का योगवासिष्ठ के अनुसार वर्णन किया जाता है।

(१) ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ:—

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
यथैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ (३।६७।२)
सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा यद्यथा भावयत्यलम्।
तत्तथा पश्यति तदा स्वसङ्कल्पविजृम्भितम् ॥ (६।३३।४१)
सर्वशक्तिर्हि भगवान्यैव तस्मै हि रोचते।
शक्तिं तामेव विततां प्रकाशयति सर्वगः ॥ (३।१००।६)
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्।
न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि ॥ (३।१००।५)
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृताऽपि च।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः ॥ (६।३७।१६)
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जडशक्तिस्तथोपले ॥ (३।१००।७)
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु तेजःशक्तिस्तथानले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे भवशक्तिर्भवस्थितौ ॥ (३।१००।८)
ब्रह्मणः सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता।
नाशशक्तिर्विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकिषु ॥ (३।१००।९)
आनन्दशक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे।
सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता ॥ (३।१००।१०)

सब का ईश्वर (नियन्ता) ब्रह्म सब शक्तियों से सम्पन्न है। वह जिस शक्ति को चाहें जहाँपर प्रकट कर सकता है। आत्मा (परमात्मा) सब शक्तियों से युक्त है। वह जिस शक्ति की जहाँ भावना करता है वहीं

पर उसे अपने संकल्प द्वारा प्रकट हुआ देखता है। भगवान् सब प्रकार की शक्तियोंवाला है और सब जगह वर्तमान है। वह जहाँ जिस शक्ति को चाहता है वहीं उसे प्रकट कर देता है। नित्य पूर्ण और अक्षय ब्रह्म में सब शक्तियाँ मौजूद हैं। कोई वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जो उस सर्वत्र स्थित ब्रह्म में शक्तिरूप से मौजूद न हो। शान्त आत्मा ब्रह्म में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृताशक्ति, अकर्तृताशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ वर्तमान हैं। ब्रह्म की चेतनशक्ति शरीरधारी जीवों में दिखाई पड़ती है; स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति) हवा में, जड़शक्ति पत्थर में; द्रव (बहने की) शक्ति जल में; चमकने की शक्ति आग में; शून्य (खालीपन) शक्ति आकाश में; भव (कुछ होने की) शक्ति संसार की स्थिति में; सब को धारण करने की शक्ति दशों दिशाओं में; नाशशक्ति नाशों में; शोकशक्ति शोक करनेवाले में; आनन्दशक्ति प्रसन्न चित्तवालों में; वीर्यशक्ति योद्धाओं में; सृष्टि करने की शक्ति सृष्टि में। कल्प के अन्त में सब शक्तियाँ स्वयं ब्रह्म में रहती हैं।

(२) ब्रह्म की स्पन्दशक्ति :—

स्पन्दशक्तिस्तथेच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ (६।८४।६)
सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥ (६।८५।१४)
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
दृश्याभासानुभूतानां कारणात्सोच्यते क्रिया ॥ (६।८४।८)

जैसे शरीरधारी मनुष्य की इच्छा कल्पना के नगर की रचना कर लेती है वैसे ही स्पन्दशक्ति रूपी भगवान् की इच्छा इस दृश्य जगत् की रचना करती है। परमेश्वर शिव की वह स्वाभाविक स्पन्दनशक्ति प्रकृति कहलाती है और वही जगन्माया (जगत् को रचनेवाली माया) के नाम से भी प्रसिद्ध है। जगत् का उपादान होने के कारण वह प्रकृति कहलाती है। दृश्यमान पदार्थों का कारण होने की वजह से उसे क्रिया भी कहते हैं।

(३) प्रकृति :—

यदैव खलु शुद्धाया मनागपि [illegible] संविदः।
तदैव शक्तिरुदिता तदा वैचित्र्यमागतम् ॥ (३।९६।७०)

भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते ।
आत्मैव कोशकारेण लालादार्ढ्यात्मकं यथा ॥ (३।६७।७३)
ऊर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः ।
नित्यात्प्रबुद्धात्पुरुषाद्ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा ॥ (३।९६।७१)
सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेते सा कल्प्यते त्रिधा । (६/१।९।४)
तिष्ठत्येतास्ववस्थासु भेदतः कल्प्यते त्रिधा ॥ (६/१।९।५)
सत्त्वं रजतम इति एषैव प्रकृतिः स्मृता । (६/१।९।५)
अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम् ॥ (६/१।९।६)
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम् । (६/१।९।३)
यावत्किञ्चिदिदं दृश्यमनयैव तदाश्रितम् ॥ (६/१।९।८)

जब शुद्ध संवित् में जड़शक्ति का उदय हो जाता है तब ही संसार की विचित्रता उत्पन्न होती है। ब्रह्मानन्द रूप आत्मा ही भाव-की दृढ़ता से मिथ्या रूप में इस प्रकार प्रकट हो रहा है जैसे कि रेशम-का कीड़ा स्वयं ही अपनी राल को दृढ़ करके जाला बना लेता है। जैसे चेतन मकड़ी से जड़ जाले की उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही नित्य और चेतन ब्रह्म से प्रकृति की उत्पत्ति हो जाती है। प्रकृति के तीन प्रकार होते हैं— सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल। इन तीन अवस्थाओं में प्रकृति स्थित रहती है और इसी कारण तीन प्रकार की प्रकृति होती है। प्रकृति के तीन भेद हैं सत्त्व, रजस् और तमस्। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति को अविद्या भी कहते हैं। इस अविद्या से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इससे परे परमब्रह्म है। सारे दृश्य पदार्थ इस अविद्या के आश्रय पर हैं। अर्थात् अविद्या ही सब दृश्य पदार्थों का उपादान कारण है।

(५) शक्ति का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध :—

यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ (६/१।८४।३)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् । (६/१।८४।२)
व्यावृत्त्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा ।
चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ॥ (६/१।८४।२६)
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ (६/१।८४।२७)

चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ (६।८२।६)
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना । (६।८२।७)
विना तिष्ठति माधुर्यं कथमेक्षुरसः कथम् ॥ (६।८२।९)
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते । (६।८२।१०)
चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ (६।८२।१४)
■ परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ (६।८५।१५)
भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ (६।८५।१६)
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् । (६।८५।१७)
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः ॥ (६।८५।१८)
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति । (६।८५।१८)
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ (६।८५।१९)
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे । (६।८५।१९)
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति ॥ (६।८५।२१)
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिद्रूधाविवाब्धिताम् ॥ (६।८५।२६)

जैसे हवा और उसकी चलने की क्रिया, आग और उसकी गरमी सदा एक ही हैं वैसे ही चिति और स्पन्दशक्ति एक ही हैं। मनोमयी स्पन्दनशक्ति ब्रह्म से अलग नहीं है। जब कि चितिशक्ति, क्रिया-देवी, क्रिया से निवृत्त होकर, अपने स्थान की ओर आत्मा में वापिस आ जाती है और वहीं पर शान्तभाव से स्थित रहती है तो उस अवस्था को शिव (शान्त ब्रह्म) कहते हैं। क्रिया देवी चिच्छक्तिरूपी उस महान् आकृतिवाली स्पन्दशक्ति का अपने असली रूप में स्थित रहने का नाम शिव है। जैसे स्वर्ण किसी आकार के बिना स्थित नहीं होता वैसे ही परम ब्रह्म भी चेतनता के बिना जो कि उसका स्वभाव है स्थित नहीं रहता। जैसे तिक्तता के बिना मिर्च और मधुरता के बिना गन्ने का रस नहीं रहता वैसे ही चिति की चेतनता कुछ स्पन्दन बिना नहीं रहती। प्रकृति से परे, दिखाई न देनेवाला पुरुष है जो कि सदा ही शरद् ऋतु के आकाश की

नाईं स्वच्छ है, शान्त है, और शिवरूप है। भ्रमरूपावली प्रकृति जो कि परमेश्वर की इच्छारूपी स्पन्दात्मक शक्ति है, तभीतक संसार में भ्रमण करती रहती है (अर्थात् पदार्थों की सृष्टि करती रहती है) जब तक कि वह नित्य तृप्त और अनामय (अविकार) शिव का दर्शन नहीं करती। संवित्मात्र सत्ता के साथ उसका तादात्म्य होने के कारण प्रकृति जब कभी भी दैवयोग से पुरुष को स्पर्श कर लेती है (अर्थात् पुरुष का ज्ञान उसे हो जाता है) तभी वह अपने प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ तन्मय (तदात्म) हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में पड़कर अपना रूप छोड़कर समुद्र ही बन जाती है वैसे ही प्रकृति पुरुष को प्राप्त करके पुरुषरूप हो जाती है। शिव की इच्छा चिच्छक्ति शिव को प्राप्त करके शान्त हो जाती है। जैसे नदी समुद्र में पड़कर समुद्र हो जाती है वैसे ही प्रकृति चिति के शान्त हो जानेपर परम पद को पाकर तद्रूप हो जाती है।

———

१६—परम ब्रह्म

योगवासिष्ठ के अनुसार उस परम तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं जिससे जगत् के सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जिसमें सब पदार्थ वर्त्तमान रहते हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं; जो सब जगह, सब कालों में और सब वस्तुओं में मौजूद रहता है। यहाँपर उस परम ब्रह्म का वर्णन किया जायेगा।

(१) ब्रह्म :—

सर्वशक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम्।
सर्वदा सर्वथा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम्॥ (६।१४।८)
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत्।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्॥ (६।१८४।४६)
यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥ (१।१।१)
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टादर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः॥ (१।१।२)
स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥ (१।१।३)

परब्रह्म सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न है और उसमें सब वस्तुयें हैं। वह सदा ही सब प्रकार से सब कुछ है; सब के साथ सब में और सब जगह है। वह परम तत्त्व है जिसमें सब कुछ है, जो सब ओर है, जो पूर्णरूप से सब कुछ है, जो कि सदा और सब जगह पूर्णरूप से स्थित है। जिससे सब प्राणी प्रकट होते हैं, जिसमें सब स्थित हैं, और जिसमें सब लीन हो जाते हैं, उस सत्यरूप तत्त्व को नमस्कार हो। जिससे ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का, और कर्ता, हेतु और क्रिया का उदय होता है उस ज्ञानस्वरूप तत्त्व को नमस्कार हो। जिससे पृथ्वी और स्वर्ग में आनन्द की वर्षा होती है और जिससे सबका जीवन है उस ब्रह्मानन्द स्वरूप तत्त्वको नमस्कार हो। (अर्थात

ब्रह्म उस परम तत्व को कहते हैं जो सब कुछ है, जिसमें सब कुछ है, और जिससे सब कुछ है; जो सत्, चित् और आनन्द है)।

(२) ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता :—

अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् । (६/२।६२।२७)
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ (६/२।३१।३०)
प्रत्यक्षादिप्रमाणानां यदगम्यमचिह्नितम् ।
स्वानुभूतिभवं ब्रह्म वादैस्तल्लभ्यते कथम् ॥ (६/१।१९९।६९)

ब्रह्म केवल उसको जाननेवाले के अनुभव में ही आ सकता है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह अवाच्य है (शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता), अनभिव्यक्त है (किसी प्रकार उसको प्रकट नहीं कर सकते), इन्द्रियों से परे है (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता), और उसको कोई विशेष नाम नहीं दिया जा सकता। उसका कोई चिह्न नहीं है और वह प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म का ज्ञान केवल अपने अनुभव द्वारा होता है। बहस मुबाहसे से ब्रह्म नहीं जाना जा सकता।

(३) नेति नेति (ब्रह्म न यह है और न वह है) :—

न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः ।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान् ॥ (५।७२।४१)
नाभ्याशस्थो न दूरस्थो नैवास्ति न च नास्ति च ।
न प्राप्यो नापि चाप्राप्यो न वा सर्वो न सर्वगः ॥ (५।७२।४२)
न पदार्थो नापदार्थो न पञ्चात्मा न पञ्च च ॥ (५।७२।४३)

ब्रह्म न चेतन है न जड़; न सत् है न असत्; न अहं (मैं) है और न दूसरा; न एक है, न अनेक और न अनेक युक्त; न वह नज़दीक है न दूर; न वह है, न नहीं है; न प्राप्त होनेवाला है और न वह अप्राप्य है; न वह सब कुछ है और न वह सब वस्तुओं में रहनेवाला है; न वह कोई विशेष पदार्थ है और न अपदार्थ; न वह पाञ्च (भूत) है और न पाञ्च भूतों का आत्मा है। (इस वर्णन का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म तो जो कुछ संसार में है वह सब कुछ है; इसलिये ब्रह्म को कोई विशेष वस्तु कहना उसकी विरोधी वस्तु से उसे बाहर करना है अर्थात् उसको परिमित करना है। दोनों विरुद्ध भावों के भीतर और

बाहर ब्रह्म रहता है; इसलिये उसको दोनों में से कोई भी नहीं कह सकते)।

(४) ब्रह्म को एक अथवा अनेक भी नहीं कह सकते :-

सति द्वित्वे किलैकं स्यात्सत्येकत्वे द्विरूपता।
कले द्वे अपि चिद्रूपे चिद्रूपत्वात्तदप्यसत्॥ (६।३३।४)
एकाभावादभावोऽत्र एकत्वद्वित्वयोर्द्वयोः।
एकं विना न द्वितीयं न द्वितीयं विनैकता॥ (६।३३।५)
सनानातोऽप्यनानातो यथाण्डरसबर्हिणः।
अद्वैतद्वैतसत्त्वात्मा तथा ब्रह्मजगद्भ्रमः॥ (६।४७।३१)

दूसरा मौजूद होने पर ही किसी को एक कहा जाता है; एक के मौजूद होने पर दूसरे को दूसरा कहा जाता है। दोनों ही चिति के रूप हैं और दोनों के चिति होने के कारण दोनों का दो होना असत् है। एक के बिना कोई दूसरा नहीं होता और दूसरे के बिना कोई एक नहीं होता। एक के अभाव से एकता और द्वितीयता दोनों का अभाव हो जाता है। जैसे (मोर के) अण्डे के भीतर रस रूप से एकता और पक्षी रूप से अनेकता दोनों ही रहती हैं वैसे ही यहाँ पर ब्रह्म रूप से एकता और जगत् रूप से अनेकता रहती है।

(५) ब्रह्म शून्य है अथवा कोई भावात्मक पदार्थ है यह भी कहना कठिन है :--

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा॥ (६।५३।१)
यथा सदसतोः सत्ता समतायामवस्थितिः।
यतः सदसतो रूपं भावस्थं विद्धि तं परम्॥ (६।४७।३२)
न सन्नासन्न मध्यं च शून्याशून्यं न चैव हि। (६।४८।१२)
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत्॥ (६।३१।३६)
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना।
अशून्यत्वात्सम्भवतः शून्यताशून्यते कुतः॥ (३।१०।१४)
सलिलान्तर्यथा वीचिमृदन्तर्घटको यथा।
तथा यत्र जगत्सत्ता तत्कथं स्यात्मकं भवेत्॥ (३।१०।२०)

अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका ।
तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ (३।१०।७)
एवमित्थं महारम्भपूर्णमप्यजरं पदम् ।
असदृदृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम् ॥ (३।१०।३६)

जैसे कि हम चितिरूप ब्रह्म के सम्बन्ध में यह नहीं कह सकते कि 'वह नहीं है' वैसे ही हम उसके सम्बन्ध में यह भी नहीं कह सकते कि 'वह है'। वह परम तत्त्व वह है जिसमें कि सत्ता और असत्ता दोनों भावों का समावेश है। न वह सत् है, न असत्, न दोनों के बीच की स्थिति; न शून्य है और न अशून्य है। न वह है और न नहीं है। उसको किसी प्रकार वर्णन नहीं कर सकते। शून्य और अशून्य सापेक्षक शब्द हैं। जिसको शून्य नहीं कह सकते उसके सम्बन्ध में शून्यता और अशून्यता का भला क्या जिक्र? भला वह तत्त्व शून्य कैसे कहा जा सकता है जिसमें सारा जगत् इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे कि जल में तरङ्ग और मिट्टी में घड़ा? भला उस तत्त्व को शून्य कैसे कहें जिसके भीतर तमाम विश्व इस प्रकार मौजूद रहता है जैसे लकड़ी के टुकड़े के भीतर उससे बनाई जानेवाली पुतलियाँ? लेकिन हमारे दृष्टिकोण से वह शान्त और अजर तत्त्व जिसमें कि सारी सृष्टि वर्तमान है आकाश से भी अधिक शून्य (सूक्ष्म) है। इसलिये उसे हम शून्य से भी शून्य कह सकते हैं (यद्यपि ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि वह शून्य नहीं कहा सकता)।

(६) ब्रह्म विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) दोनों से परे है :—

विद्याऽविद्यादृशोर्भेदभावनादेव भिन्नता ।
पयस्तरङ्गयोर्द्वित्वभावनादेव भिन्नता ॥ (६।१।१७)
पयस्तरङ्गयोरैक्यं यथैव परमार्थतः ।
नाविद्यात्वं न विद्यात्वमिह किञ्चन विद्यते ॥ (६।१।१८)
विद्याऽविद्यादृशौ त्यक्त्वा यदस्तीह तदस्ति हि ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदवशात्तद्रूपमुद्वह ॥ (६।१।१९)
विद्याविद्यादृशौ न स्तः शेषे वद्धपदो भव ।
नाविद्यास्ति न विद्यास्ति कृतं कल्पनयानया ॥ (६।१।२०)

मिथः स्वान्ते तयोरन्तश्छायातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥ (६।९।२३)
एते राघव लीयेते अवाप्यं परिशिष्यते ।
अविद्यासंक्षयात्क्षीणो विद्यापक्षोऽपि राघव ॥ (३।९।२४)

विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) तब ही तक भिन्न हैं जबतक कि भेदभावना है, जैसे कि जल और तरङ्ग तभीतक एक दूसरे से भिन्न हैं जबतक कि हम उनको दो समझते हैं। जैसे जल और तरङ्ग वास्तव में एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं, वैसे ही वास्तव में न विद्या है और न अविद्या। दोनों प्रतियोगी (विरुद्ध भाव) एक दूसरे का व्यवच्छेद करते हैं (अर्थात एक के होते हुए दूसरा नहीं रहता)। इसलिये परम तत्त्व में न विद्या का अस्तित्व है और न अविद्या का, क्योंकि दोनों विरुद्ध भाव हैं (ब्रह्म दोनों से ऊपर या परे है) उस तत्त्व में स्थित होना चाहिये जिसमें न विद्या की सत्ता है न अविद्या की; क्योंकि न वास्तव में विद्या है और न अविद्या। दोनों कल्पनाओं का त्याग करना चाहिये। अविद्या और विद्या दोनों एक ही सत्ता का प्रकाश हैं, जैसे कि धूप और छाया। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तो अविद्या और विद्या दोनों ही कल्पनायें क्षीण हो जाती हैं। ये दोनों जब लीन हो जाती हैं तब वह तत्त्व शेष रहता है जिसको प्राप्त करना है। अविद्या के क्षीण होनेपर विद्या की भावना भी क्षीण हो जाती है।

(७) ब्रह्म तम और प्रकाश दोनों से परे है :—

मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम् । (३।१०।१८)
ब्रह्मण्ययं प्रकाशो हि न संभवति भूतजः ॥ (३।१०।१९)
महाभूतप्रकाशानामभावस्तम उच्यते ।
महाभूताभावजं तु तेनात्र न तमः क्वचित् ॥ (३।१०।१६)
स्वानुभूतिप्रकाशोऽस्य केवलं व्योमरूपिणः ।
योऽन्तरस्ति स तेनैव नत्वन्येनानुभूयते ॥ (३।१०।१७)

यह अजर (क्षीणता का अनुभव न करनेवाला) पद (सामान्य) तम और प्रकाश से परे है (अर्थात् परम तत्त्व ब्रह्म में हम लोगों के अनुभव में आने वाला न तम (अन्धेरा) है और न प्रकाश (चान्दना) है। अग्नि आदि स्थूल तत्त्वों से उत्पन्न होने वाला प्रकाश ब्रह्म में सम्भव नहीं है। अग्नि आदि महाभूतों के प्रकाश के अभाव का नाम

तम (अन्धेरा) है। वह अन्धेरा भला ब्रह्म में कैसे हो सकता है ? (क्योंकि ब्रह्म तो सब महाभूतों का उद्गम है)। शून्य रूपवाले परम तत्त्व ब्रह्म में अपने अनुभव का ही प्रकाश है (किसी महाभूत—स्थूल तत्त्व का नहीं)। वह प्रकाश उसके अन्दर ही होता है; उसका अनुभव दूसरे किसी को नहीं होता।

(८) ब्रह्म न जड़ है, न चेतन :—

जडचेतनभावादिशब्दार्थश्रीर्न विद्यते।
अनिर्देश्यपदे पत्रलतादीव महामरौ ॥ (३।११।३६)

जैसे महामरुस्थल में लता पत्र आदि का सर्वथा अभाव रहता है वैसे ही उस परम तत्त्व के लिये, जिसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता, जड़, चेतन आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता।

(९) ब्रह्म को "आत्मा" भी नहीं कह सकते :—

नात्मा ॥ (६।९२।३०)
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
तस्य चात्मादिकाः संज्ञाःकल्पिता न स्वभावजाः ॥ (३।१।९)
नात्मायमयमप्यात्मा संज्ञाभेद इति स्वयम्।
तेनैव सर्वगतया शक्त्या स्वात्मनि कल्पितः ॥ (९।७३।१९)

ब्रह्म आत्मा भी नहीं कहा जा सकता। जिसको शब्दों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते, जिसका अनुभव केवल मुक्त पुरुषों को ही होता है, उसके लिये "आत्मा" आदि संज्ञा (नाम) स्वाभाविक नहीं हैं, केवल कल्पित हैं (अर्थात् हम लोग कल्पना द्वारा ही उसको आत्मा कह सकते हैं; वास्तव में ब्रह्म आत्मा नहीं है)। न वह आत्मा है और न अनात्मा। आत्मा और अनात्मा का भेद उसने अपनी सर्वत्र रहनेवाली शक्ति के द्वारा अपने ही भीतर कल्पित कर रक्खा है।

(१०) ब्रह्म का क्या स्वभाव है यह कहना असम्भव है :—

ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसंभवात् ॥ (६।१०।१४)
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्य सम्भवादपि।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः ॥ (६।१०।१९)

ब्रह्म का क्या स्वभाव (वास्तवि स्वरूप) है यह बतलाना नामुमकिन है, क्योंकि अनन्त और परम तत्त्व में, क्या उसका रूप है और क्या उसका रूप नहीं है—यह कहना सर्वथा असम्भव है। भाव की अपेक्षा से अभाव का वर्णन होता है, लेकिन अनन्त और परब्रह्म में भाव और अभाव और स्वभाव और परभाव का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

(११) ब्रह्म के कुछ कल्पित नाम :—

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥ (३।१।१२)
यः पुमान्सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥ (३।५।६)
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्ता सदैव सः ॥ (३।५।७)
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम्।
शिवः शशिकलाङ्कानां कालः कालैकवादिनाम् ॥ (६।८७।१९)
आत्मात्मनस्तद्विदुषां नैरात्म्यं तादृशात्मनाम्।
मध्यं माध्यमिकानां च सर्वं सुसमचेतसाम् ॥ (६।८७।२०)

व्यवहार (बोल चाल) के वास्ते विद्वानों ने परम तत्त्व को 'ऋत', 'आत्मा', 'परब्रह्म', 'सत्य' आदि अनेक कल्पित नामों से पुकारा है। (ये सब नाम ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं करते)। सांख्य दर्शन वाले उसको 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म', विज्ञानवादी बौद्ध उसे शुद्ध और एकस्वरूप 'विज्ञानमात्र' ('विज्ञप्तिमात्र') कहते हैं। वह शून्यवादियों का 'शून्य' है, सूर्य के उपासक लोग उसे 'प्रकाश' कहते हैं। वही 'वक्ता' (बोलनेवाला जीव) 'मन्ता' (विचार करनेवाला मन), 'ऋत' (सत्य), 'भोक्ता' (भोगनेवाला), 'द्रष्टा' (देखनेवाला), 'कर्ता' (कर्म करनेवाला) है। वह सांख्य दर्शन-वालों का 'पुरुष', योगदर्शनवालों का 'ईश्वर', शैवों का 'शिव', काल-वादियों का 'काल', आत्मज्ञानियों का 'आत्मा', अनात्मवादियों का "नैरात्म्य" (अनात्मभाव), माध्यमिकों का 'मध्य', और जिनकी सब ओर समदृष्टि है उनका 'सर्व' है।

(१२) ब्रह्मका वर्णन :—

यद्यपि ऊपर यह बताया जा चुका है कि परम तत्त्व 'ब्रह्म' का किसी प्रकार भी वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता, तथापि मनुष्य किसी न किसी प्रकार उसका वर्णन करने का प्रयत्न करते ही हैं। सब ही दार्शनिक ग्रन्थों में परम तत्त्व का कुछ न कुछ वर्णन किया जाता है। योगवासिष्ठ में भी अनेक स्थानों पर ब्रह्मका विस्तारपूर्वक और साहित्यिक रूप से अति सुन्दर वर्णन पाया जाता है। इसलिये यहाँ पर हम उस वर्णन का सार पाठकों के सामने रखते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्म (परम तत्त्व) का इतना सुन्दर वर्णन संसार के और किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेऽपि या शुद्ध चिन्मात्रसत्ता विद्यते
सा [illegible] परमार्थसंवित् ॥ (६/२।६१।६)

न [illegible] नोपदेशार्हं नात्यासन्नं न दूरगम्। (६/१।४८।१०)
केवलानुभवप्राप्यं चिद्रूपं शुद्धमात्मनः ॥ (६/१।४८।११)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम्। (६/२।९२।३६)
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ (६/१।९२।२७)
तन्न वायुर्न चाकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम्।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नभः ॥ (६/२।९२।२८)
न कालो न मनो नात्मा [illegible] सन्नासन्न देशदिक्।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ (६/२।९२।३०)
यत्सम्वेद्यविनिर्मुक्तं संवेदनमनिर्मितम्।
चेत्यमुक्तं चिदाभासं तद्विद्धि परमं पदम् ॥ (६/२।९९।४)
सा [illegible] परमा काष्ठा सा दृशां दृगनुत्तमा।
सा महिम्नां च महिमा गुरूणां सा तथा गुरुः ॥ (६/२।९९।५)
स जन्तुभूतमुक्तानां परिप्रोतहृदम्बरः।
स भूतमरिचौघानां परमा तीक्ष्णता तथा ॥ (६/२।९९।९)
स पदार्थे पदार्थत्वं स तत्त्वं यदनुत्तमम्।
स सतो वस्तुनः सत्त्वमसत्त्वं वा [illegible] स्वतः ॥ (६/२।९९।१०)
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम्। (६/२।१४।१४)
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ॥ (६/२।९२।३६)
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य संस्थितम् ॥ (६/२।१४।९)

सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (६।१४।१०)
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (६।१४।११)
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ (६।३९।१६)
ईदृशं तत्परं स्थूलं यस्याग्रे यदिदं जगत् ।
परमाणुवदाभाति क्वचिदेव न भाति च ॥ (६।३९।१६)
ईदृशं तत्परं सूक्ष्मं तस्याग्रे यदिदं नभः ।
अणोः पार्श्वे महामेरुरिव स्थूलात्म लक्ष्यते ॥ (६।९६।१६)
स आत्मा तच्च विज्ञानं स शून्यं ब्रह्म तत्परम् ।
तज्ज्ञेयः ■ शिवः शांतः सा विद्या सा परा स्थितिः ॥ (६।९९।६)
योऽयमन्तश्चितेरात्मा सर्वानुभवरूपकः । (६।९९।७)
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
स जगत्तिलतैलात्मा स जगद्गृहदीपकः ।
स जगत्पादपरसः स जगत्पशुपालकः ॥ (६।९९।८)
सन्नप्यसन्नो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥ (३।९।८)
यस्माद्विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ (३।९।९)
यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥ (३।९।१०)
य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च ।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु ■ संस्थितः ॥ (३।९।११)
व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपो यस्य वशो रविः ॥ (३।९।१३)
प्रसरन्ति यतश्चित्राः संसारासारवृष्टयः ।
अक्षयामृतसम्पूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः ॥ (३।९।१४)
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन्मराविव मरीचयः ॥ (३।९।१४)
नाशरूपो विनाशात्मा योऽन्तस्थः सर्वजन्तुषु ।
गुप्तो योऽप्यतिरिक्तोऽपि सर्वभावेषु संस्थितः ॥ (३।९।१६)

यश्विन्मणिः प्रकचति प्रविदेहसमुद्रके ।
यस्मिन्निन्दौ स्फुरन्त्येता जगज्जालमरीचयः ॥ (३।५।१८)
नियतिर्देशकालौ च चलनं स्पन्दनं क्रिया ।
इति येन गताः सत्तां सर्वसत्तातिगामिना ॥ (३।५।२२)
अत्यन्ताभाव एवास्ति संसारस्य यथास्थितेः ।
यस्मिन्बोधमहाम्बोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२०)
द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयं गतः ।
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२१)
अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन्शून्यं जगत्स्थितम् ।
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२२)
यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत्स्थितम् ।
[illegible] वाजडमेवान्तस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।७।२३)
चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ (३।९।५०)
अकर्णजिह्वानासात्वग्नेत्रः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रृणोत्यास्वादयति यो जिघ्रेत्स्पृशति पश्यति ॥ (३।९।५२)
यस्यान्यदस्ति न विभोः कारणं शशश्रृंगवत् ।
यस्येदं च जगत्कार्यं तरङ्गौघ इवाम्भसः ॥ (३।९।५५)
सस्पन्दे समुदेतीय निःस्पन्दान्तर्गतेन च ।
इयं यस्मिञ्जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ (३।९।५८)
जगन्निर्माणविलयविलासो व्यापको महान् ।
स्पन्दास्पन्दात्मको यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ॥ (३।९।५९)
स्पन्दास्पन्दमयी यस्य पवनस्येव सर्वगा ।
सत्तानाम्नैव भिन्नेव व्यवहाराय वस्तुनः ॥ (३।९।६०)
यदस्पन्दं शिवं शान्तं यत्स्पन्दं त्रिजगत्स्थितिः ।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा य एको भरिताकृतिः ॥ (३।९।६२)
नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये ।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं [illegible] वस्तुनः ॥ (३।१०।३९)
नास्ति दृश्यं जगद्द्रष्टा दृश्याभावाद्विलीनवत् ।
भातीति भासनं यत्स्यात्तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ (३।१०।४०)
चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः ।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४१)

अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया मनःस्थितेः ।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तत्तदानघ शिष्यते ॥ (३।१०।४३)
वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४७)
मनः स्वप्नेन्द्रियैर्मुक्तं यद्रूपं स्यान्महाचितेः ।
जङ्गमे स्थावरे वापि तत्सर्वान्तेऽवशिष्यते ॥ (३।१०।५२)
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्ताया संविदो वपुः ।
निमेषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ (३।१०६।४)
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (३।१०६।६)
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसङ्क्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ (३।१०६।७)
रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्यामृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ (३।१०६।९)
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वास्तमयश्चिरस्थं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ (३।१०६।११)
यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्रा परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ (३।१०६।१२)
नेदं नेदं तदित्येव सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किञ्चित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ (३।१०६।१९)
संवेद्येनापरामृष्टं शान्तं सर्वात्मकं च यत् ।
तत्सच्चिदाभासमयमस्तीह कलनोज्झितम् ॥ (३।९।२)
मूकोपमोऽपि योऽमूको मन्ता योऽप्युपलोपमः ।
यो भोक्ता नित्यतृप्तोऽपि कर्ता यश्चाप्यकिंचन ॥ (३।९।६४)
योऽनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः सहस्रकरलोचनः ।
न किंचित्संस्थितेनापि येन व्याप्तमिदं जगत् ॥ (३।९।६५)
निरिन्द्रियबलस्यापि यस्याशेषेन्द्रियक्रियाः ।
यस्य निर्मननस्यैता मनोनिर्माणरीतयः ॥ (३।९।६६)
साक्षिणि स्फार आभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ।
सति यस्मिन्प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ॥ (३।९।६८)
यस्माद्घटपटाकारपदार्थशतपङ्क्तयः ।
तरङ्गगणकल्लोलवीचयो वारिधेरिव ॥ (३।९।६८)

स एवान्यतयोदेति यत्पदार्थशतभ्रमैः।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ (३।९।७०)
यतः काञ्चस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता।
मानसी कल्पना येन यस्य भासा विभासनम् ॥ (३।९।७३)
क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनम्।
यद्वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥ (३।९।७४)
परमाणोरपि परं तदणीयो ह्यणीयसः।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तदाकाशोदरादपि ॥ (३।१०।३२)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वादतिविस्तृतम्।
तदनाद्यन्तमाभासं भासनीयविवर्जितम् ॥ (३।१०।३३)
यद्व्योम्नो हृदयं यद्वा शिलायाः पवनस्य च।
तस्याचेत्यस्य चिद्व्योम्नस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ (३।१०।४४)
अचेत्यस्यामनस्कस्य जीवतो या स्वभावतः।
स्यात्स्थितिः सा परा शान्ता सत्ता तस्याद्यवस्तुनः॥ (३।१०।४९)
स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत्।
मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते ॥ (३।१०।५३)
चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्यापि स्वस्य वा।
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः ॥ (३।१०।४६)
पदार्थौघस्य शैलादेर्बहिरन्तश्च सर्वदा।
सत्ता सामान्यरूपेण या चित्सोऽहममलेपकः ॥ (३।११।९०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु तुर्यातुर्यातिगे पदे।
समं सदैव सर्वत्र चिदात्मानमुपास्महे ॥ (३।११।९८)
परमाकाशनगरलास्यमण्डपभूमिषु।
स्वशक्तिवृत्तं संसारं पश्यन्ती साक्षिवत्स्थिता ॥ (३।३७।१२)
प्रत्यक्षादेरगम्यत्वात्किमप्येव तदुत्तमम्।
सर्वं सर्वात्मकं सूक्ष्ममच्छानुभवमात्रकम् ॥ (३।९६।२७)
स सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् ॥ (३।११९।२३)

आकाश के परमाणु के हज़ारवें भाग के भीतर भी जो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता वर्तमान है वही परमार्थ संवित् है। न वह दिखाई देती है और न वर्णन की जा सकती है। न वह समीप है और न दूर है। शुद्धात्मा का चित्-रूप केवल अनुभव किया जा सकता है (वर्णन

नहीं)। वह सब कुछ है; सबका आत्मा है; और सबसे रहित भी है। वह सब भूतों का आत्मा, शून्य और सत् तथा असत् दोनों ही है। वह न वायु है; न आकाश है; न बुद्धि आदि है; न शून्य है; वह 'कुछ' नहीं है तो भी सबका आत्मा है; वह कोई ऐसा पदार्थ है जो कि आकाश से भी सूक्ष्म है। न वह काल है, न वह मन है, न वह आत्मा है, न सत्ता है, न असत्ता, न देश, न दिशायें, न कोई इन सबके बीच का पदार्थ न अन्त का; न वह ज्ञान है और न अज्ञ पदार्थ है। वह संवेद्य रहित संवित् है, चेत्य रहित चिति है; वह संसार की परम पराकाष्ठा है; वह सब दृष्टियों की सर्वोत्तम दृष्टि है। वह सब महिमाओं की महिमा है; और सब गुरुओं का गुरु है। वह सब प्राणी रूपी मोतियों का तागा है जो कि उनके हृदय रूपी छेदों में पिरोया हुआ है। वह सब प्राणी रूपी मिर्चों की तीक्ष्णता है। वह पदार्थ का पदार्थत्व है, वह सर्वोत्तम तत्त्व है। वह वर्तमान वस्तुओं की सत्ता है और स्वयं सत्ता और असत्ता दोनों है। सब जगह सब वस्तुओं से युक्त तथा सर्व भावों से मुक्त है। सब ओर उसके हाथ और पैर हैं, सब ओर उसके सिर और मुख हैं, सब ओर उसके कान हैं; संसार की सब वस्तुओं को घेरकर वह स्थित है। वह इन्द्रियों द्वारा जाने जाने वाले सब गुणों से रहित है, और उनसे युक्त भी है। सबका भरण करनेवाला, किन्तु असक्त है; सब गुणों के भोगनेवाला, किन्तु निर्गुण है। सब प्राणियों के भीतर और बाहर है। चर और अचर दोनों है। अति सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय (जानने योग्य नहीं) है। वह दूर भी है और समीप भी। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, स्थूल से भी स्थूल, भारी से भी भारी और अच्छे से भी अच्छा है। वह इतना बड़ा है कि उसके आगे सारा जगत् भी परमाणु के समान दिखाई पड़ता है; बल्कि दिखाई भी नहीं पड़ता। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके सामने सूक्ष्म आकाश तत्त्व भी अणु के मुकाबले में महा मेरु जैसा स्थूल मालूम पड़ता है। वह आत्मा है; वह विज्ञान है; वह शून्य है; वह परमब्रह्म है; वह श्रेय है; वह शिव है; वह विद्या है; और वही परम स्थिति है। वह सबका अनुभव रूप अन्तरात्मा है। शरीर में सदा वह चिन्मात्र रूप से स्थित है। वह जगत् रूपी तिल का तेल है; जगत् रूपी घर का दीपक है, जगत् रूपी वृक्ष का रस है; जगत् रूपी पशु का पालनेवाला ग्वाला है। वह जगत् में वर्तमान होते हुए भी नहीं है; वह शरीर में रहते

हुए भी अत्यन्त दूर है; वह ऐसा प्रकाश है जिससे सूर्य का प्रकाश उदय होता है। उससे विष्णु आदि देवता ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि सूर्य के उसकी किरणें; उससे अनन्त जगत् ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कि समुद्र से बुल्बुले। उसकी ओर तमाम दृश्य पदार्थ इस प्रकार जा रहे हैं जैसे कि महा समुद्र की ओर नदियाँ; वह सब पदार्थों को और आत्मा को दीपक की नाईं प्रकाशित करता है। वह आकाश में, शरीर में, पत्थरों में, लताओं में, घाटियों में, पहाड़ों में, हवाओं में और पाताल में वर्तमान है। उसने आकाश को शून्य बनाया, पहाड़ों को कठिन बनाया, और जलों को बहनेवाला बनाया। सूर्य उसके बस में एक दीपक है। जैसे बादल से वर्षा की बून्दें गिरती हैं वैसे ही उस अक्षय और पूर्ण अमृत से नाना प्रकार के असार संसारों के दृश्य उदय होते हैं। जैसे मरुस्थल में मृगतृष्णा की नदियां दिखाई पड़ती हैं वैसे ही उसमें भी त्रिभुवन के उदय और अस्तरूपी लहरें उठा करती हैं। वह सब प्राणियों के भीतर रहकर उनका संहार करनेवाला काल है। सब भावों में गुप्तरूप से वर्तमान रहता हुआ भी वह सबसे अतिरिक्त है। वह हरेक शरीररूपी पिटारी में चितिरुपी मणी के रूप में मौजूद है। उससे नाना प्रकार के जगत् ऐसे उदय होते रहते हैं जैसे कि चन्द्रमा से उसकी किरणें। उस सर्व सत्ताओं से परे की सत्तावाले के कारण ही नियति, देश, काल, गति स्पन्दन और क्रिया की सत्ता है। परमात्मा (ब्रह्म) का वह महान् ज्ञानात्मक रूप है जिसमें संसार का अत्यन्त अभाव रहता है, यद्यपि देखने में वह मौजूद है। परमात्मा का वह शून्य (सूक्ष्म) रूप है जिसमें वर्तमान होता हुआ भी दृश्य जगत् ज्ञात रहता है। परमात्मा का ऐसा रूप है कि वह महा ज्ञानरूप होते हुये भी बड़ी भारी शिला की नाईं जड़ सा प्रतीत होता है। वह चेत्य रहित चिन्मात्र है; वह अनन्त, अजर, आदि, मध्य और अन्तरहित निरामय शिव है। सदा और सब जगह वह बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है, बिना जिह्वा के स्वाद लेता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूँघता है। उसका और कोई कारण नहीं है; जगत् उसका ऐसा कार्य है जैसे कि तरङ्गें जल का। जैसे मशाल के घुमाने से उसमें चक्र दिखाई पड़ने लगता है और उसको स्थिर कर देनेपर चक्र गायब हो जाता है ऐसे ही ब्रह्म में जब स्पन्दन होता है तो संसार की शोभा उदय हो जाती है, और जब शान्ति हो

जाती है तो जगत् का दृश्य ग़ायब हो जाता है। उसका यह व्यापक महान् अक्षय और शुद्ध स्वभाव है कि जब उसमें स्पन्दन होता है तो जगत् की सृष्टि हो जाती है और जब स्पन्दन की शान्ति होती है तो जगत् का प्रलय हो जाता है। जैसे हवा की सत्ता सब जगह या तो शान्तरूप में है या चलते हुये रूप में, उसी प्रकार ब्रह्म अपने शान्त और स्पन्दनयुक्त रूप से सर्वत्र वर्तमान है; उन दोनों सत्ताओं में व्यवहार के कारण ही नाममात्र का भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। वह जब स्पन्दन से रहित होता है तो शान्त शिव होता है और जब स्पन्दन-युक्त होता है तब तीनों जगत्; स्पन्दनयुक्त और स्पन्दनरहित दोनों स्थितियों में वह एक ही पूर्ण पदार्थ है। उस तत्त्व का अवाच्य सद्रूप स्वरूप तब अनुभव में आता है जब कि मन वृत्ति को क्षीण करके अपना अन्त कर दे। उस तत्त्व का रूप वह है जिसमें दृश्य जगत् का अभाव है और दृश्य का अभाव होने से द्रष्टा का भी अभावसा ही हो जाता है; केवल प्रकाशमात्र का अनुभव रहता है। जीव स्वभाववाली चिति की चेत्य की ओर प्रवृत्ति न होनेपर जो शान्त, मलरहित और चिन्मात्र स्थिति होती है वही परमात्मा का स्वरूप है। मन की उस अवस्था का, जो स्वप्नरहित, अजड़ और अनन्त गाढ़ निद्रा है, जो रूप है वही शेष रहता है। ज्ञान का, प्रकाश का, दृश्य का और तम का जो अनादि और अनन्त वेदन (प्रकाश, ज्ञान) रूप भाव है वही परमात्मा का रूप है। महाचिति का वह रूप जो कि जड़ और चेतन सब ही पदार्थों में वर्तमान है, और जो मन, कल्पना और इन्द्रियों से परे है वही सबके अन्त हो जानेपर स्थित रहता है। निमेषमात्र में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को प्राप्त होनेवाली जो संवित् है उसमें जो सत्ता है उसे चिदाकाश कहते हैं। शान्तचित्त पुरुष की उस समान भाव में स्थिति के सदृश चिदाकाश (चित्-आकाश) है जिसमें समस्त इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है। चिदाकाश पुरुष की उस स्वाभाविक अवस्था को कहते हैं जिसमें निद्रा भी न हो और मन के समक्ष कोई विषय भी न हो। पुरुष के उस शरद् ऋतु के आकाश की नाईं निर्मल भाव को चिदाकाश कहते हैं जो मौत से और दृश्य, दर्शन और चिन्तन सबसे परे है। चिदाकाश वह विकाररहित तत्त्व है जिससे और जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों का उदय और अस्त होता है; जिसमें सब पदार्थों के अनुभव उदय होकर तबदील होते रहते हैं; जो कुछ

भी नहीं होत हुआ सदा सब कुछ है; जो यह या वह कुछ न होता हुआ भी सब ही है। (परम ब्रह्म वह तत्त्व है) जो संवेदन (चिन्तन) रहित, कल्पना से मुक्त, शान्त, सत् और चित्—प्रकाशमय सब का आत्मा है; जो अमूक होता हुआ भी मूक है, मनन करता हुआ भी पत्थर के तुल्य जड़ है, भोक्ता होनेपर भी नित्य तृप्त है, और कर्ता होने पर भी कुछ न करनेवाला है। जो अङ्गहीन होते हुए भी सब अङ्गोंवाला और हजारों हाथों और आँखोंवाला है; जो किसी वस्तु में न रहते हुए भी सारे जगत् में हैं व्याप्त है; जिसमें किसी इन्द्रिय की शक्ति नहीं रहते हुए भी सब इन्द्रियों की क्रियायें होती रहती हैं; जिसमें मन न होते हुए भी मनकी सब निर्माण-क्रियायें (जगत् की कल्पना) होती रहती हैं। जैसे दीपक के मौजूद होनेपर व्यवहार होता रहता है वैसे ही उस प्रकाशमान और विस्तृत साक्षी के रहते हुए चित्त की क्रियात्मक इच्छायें प्रवृत्त होती रहती हैं। जैसे समुद्र से तरङ्गें, भँवर और लहरें उदय होती हैं वैसे ही उससे घटपट आदि के आकारवाले अनेक पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे कटक, अङ्गद, केयूर और नूपुर आदि अनेक आभूषणों के रूप में सोना प्रकट होता है वैसे ही वह भी सैकड़ों पदार्थों के झूठे आकार में अन्य सा होकर प्रकट हो रहा है। उससे ही कालकी गति है, दृश्य की दृश्यता है, मनकी क्रिया है, उसी के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतनता आदि का जिसको और जिसके द्वारा ज्ञान होता है वह परमेश्वर है। वह परमाणु से भी परे है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, आकाश के भीतरी भाग से भी शुद्ध, सूक्ष्म, और शान्त है। वह देश और काल आदि से अवच्छिन्न (महदूद) न होने के कारण अति विस्तृत है। उसके प्रकाशका न आदि है और न अन्त, और उसको प्रकाशित करनेवाला और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। परमात्मा का रूप वह है जो कि आकाश के, शिला के और पवन के भीतर मौजूद है और जो अचेत्य (विषय न होने वाला) चिदाकाश है। उस आद्य तत्त्वकी सत्ता का अनुभव तब होता है जब कि जीवकी स्वभावपूर्वक अचेत्य और मन रहित परम शान्त सत्ता में स्थिति हो जाए। उस परमरूप की उपमा जड़ पदार्थों के रूप से दी जा सकती है यदि वे मन और बुद्धि आदि से मुक्त रहते हुए भी बोधमय हो जाएं (अर्थात् परम तत्त्व वह शान्त

और निष्क्रिय बोध है जिसमें मन और बुद्धि की क्रियायें भी न हों और वह जड़वत् शान्त हो)। चिति के प्रकाश के भीतर, आकाश के प्रकाश के भीतर और वस्तुओं के ज्ञान के भीतर भी जो प्रकाश है वह ब्रह्म का रूप समझो। जो निर्लेप चित् समस्त पदार्थों, पहाड़ आदि में भीतर और बाहर सदा ही समान रूप से स्थित है वही मेरा आत्मा है। जो चित् आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या और तुर्यातीत अवस्थाओं में सदा ही सब जगह और समान रूप से स्थित है उसकी मैं उपासना करता हूँ। वह परम चिति परम आकाश, नगर, नाट्य (नाटक), मण्डप, और भूमि आदि सब स्थानों में, संसार को अपनी शक्ति द्वारा घिरा हुआ देखती हुई साक्षी के समान स्थित है। वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परे होने के कारण अवर्णनीय है—केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह कोई बहुत उत्तम, सूक्ष्म, सर्वात्मक शुद्ध अनुभव मात्र तत्त्व है जो कि सब कुछ है; वह न सत् है, न असत्; न दोनों का मध्य; वह कुछ भी नहीं है तो भी सब कुछ है; वह मन और वचन में आनेवाली कोई वस्तु नहीं है; वह शून्य से शून्य और सुख से भी अधिक सुखरूप है (अर्थात् परमानन्द है)।

१६—ब्रह्म का विकास

ब्रह्म, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक मात्र परमतत्त्व है जिसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जगत् में जो कुछ दिखाई पड़ रहा है वह सब ब्रह्म से ही उदय होकर ब्रह्म में ही स्थित है। यहाँ पर इस सिद्धांन्त का योगवासिष्ठ के अनुसार सविस्तार वर्णन कियाजायेगा।

(१) जगत् ब्रह्म का बृंहणमात्र है :—

ब्रह्मबृंहैव हि जगज्जगच्च ब्रह्मबृंहणम्। (६।२।५१)
ब्रह्मैव तदनाद्यन्तमब्धिवत्प्रविजृम्भते ॥ (६।२।२७)
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तुजातैरिवोदितम्।
तरङ्गकणकल्लोलैरनन्ताम्बवम्बुधाविव ॥ (६।७२।२३)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ (६।११।१६)
चिदाकाशमिदं पुत्र स्वच्छं कचकचायते।
यन्नाम तज्जगद्भाति जगदन्यन्न विद्यते ॥ (६।२१३।१८)
इदमाद्यन्तरहितं सर्वं संसारनामकम्।
चिच्चमत्कृतिनामात्मनभः कचकचायते ॥ (६।९९।८)
यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम्।
परं परे परापूर्णं सममेव विजृम्भते ॥ (६।९९।१८)
जायते नश्यति तथा यदिदं याति तिष्ठति।
तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा च विवर्तते ॥ (३।१००।२८)
शून्यं शून्ये समुच्छूनं ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहितम्।
सत्यं विजृम्भते सत्ये पूर्णे पूर्णमिव स्थितम् ॥ (६।३।११)
ब्रह्म ब्रह्मणि बृंहाभिर्ब्रह्मशक्त्येव बृंहति। (६।११।२०)
स्फुरति ब्रह्मणि ब्रह्म नाहमस्मीतरात्मकः ॥ (६।११।२३)
अज्ञानमेव यद्भाति संविदाभासमेव तत्।
यज्जगद्दृश्यते स्वप्ने संवित्कचनमेव तत् ॥ (३।११।१६)
यथा पुरमिवास्तेऽन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः।
तथा जगदिवाभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥ (३।११।२०)

यदिदं भासते किञ्चित्तत्तस्यैव निरामयम् ।
कचनं काचकस्येव कान्तस्यातिमणेरिव ॥ (३।२१।६८)
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चिद्विनश्यति ।
जगद्गन्धर्वनगररूपेण ब्रह्म जृम्भते ॥ (३।६७।६६)
अपारावारविस्तारसंविरसलिलवलगनैः ।
चिदेकार्णव एवायं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ (३।६९।४)
ब्रह्मणा चिन्मयेनात्मा सर्गास्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चानन्यत्वाद्बीजेनान्तरिव द्रुमः ॥ (३।६१।२६)
शुद्धचिन्मात्रममलं ब्रह्मास्तीह हि सर्वगम् ।
तद्यथा सर्वशक्तित्वाद्विन्दते याः स्वयं कलाः ॥ (३।१४।२१)
चिन्मात्रानुक्रमेणैव सम्प्रफुल्ललतामिव ।
ननु मूर्तामसूर्तां वा तामेवाशु प्रपश्यति ॥ (३।१४।२२)
यथा स्वप्ने सुषुप्ते च निद्रैकैवाक्षयान्निशम् ।
सर्गेऽस्मिन्प्रलये चैव ब्रह्मैकं चितिरव्ययम् ॥ (६।२१३।२२)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ (६।१९१।४४)
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
एकं ब्रह्मैव हि जगत्स्थितं द्वित्वमुपागतम् ॥ (६।२।२३)
यः कणो या च कणिका या वीचिर्यस्तरङ्गकः ।
यः फेनो या च लहरी तद्यथा वारि वारिणि ॥ (६।११।४०)
यो देहो या च कलना यद्दृश्यं यौ क्षयाक्षयौ ।
या भावरचना योऽर्थस्तथा तद्ब्रह्म ब्रह्मणि ॥ (६।११।४१)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च ।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ (६।२।२८)

ब्रह्म की बृंहा ('वर्द्धन शक्ति) ही जगत् है और जगत् ब्रह्म का बृंहण है। अनादि और अनन्त ब्रह्म ही समुद्र की नाई बढ़ रहा है। जैसे तरङ्ग, कण और लहरों के रूप में समुद्र प्रकट होता है वैसे ही समस्त वस्तुओं के रूप में आत्मा ही प्रकट हो रहा है। जो कुछ भी यह फैला हुआ जगत्-जाल दिखाई दे रहा है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। जगत् में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह स्वच्छ चिदाकाश ही चमक रहा है; और कुछ नहीं है। यह संसार क्या है? अनादि और अनन्त आत्माकाश ही चमक रहा है। यह जो कुछ

दिखाई देता है सब परम सत् अपने में स्थित है; पूर्ण और सम परम-ब्रह्म अपने आप में ही विस्तृत हो रहा है। ब्रह्म ही ब्रह्म में उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थित होता है; ब्रह्म ही ब्रह्म द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। शून्य शून्य में फूल रहा है; ब्रह्म ब्रह्म में फैल रहा है; सत्य सत्य में विस्तृत हो रहा है; पूर्ण पूर्ण में स्थित है। ब्रह्म ब्रह्म में ही अपनी वर्द्धन शक्ति द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है; ब्रह्म ही ब्रह्म में प्रकाशित हो रहा है; मैं और कुछ दूसरा पदार्थ नहीं हूँ। जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब अज्ञान ही है; संवित् (ज्ञान) का आभास मात्र है; जैसे जो जगत् स्वप्न में दिखाई देता है वह संवित् का ही प्रकाश है और कुछ नहीं है। जैसे स्वप्न-संवित् के भीतर नगर आदि दिखाई पड़ते हैं वैसे ही जो वस्तु हमको जगत् के आकार में दिखाई पड़ती है वह आत्मा ही आत्मा के भीतर नजर आ रहा है। जैसे चन्द्रकान्त मणि की चमक चारों ओर फैलती है वैसे ही जो कुछ यहांपर दिखाई देता है वह सब उस (आत्मा) का ही विकार रहित प्रकाश है। न यहाँ (और कुछ) उत्पन्न होता है और न (और कुछ) नष्ट होता है; केवल ब्रह्म ही गन्धर्व नगर (भ्रम-जगत्) की नाईं जगत् रूप से दिखाई पड़ता है। चिदात्मा रूपी समुद्र ही, जिसकी संवित् का विस्तार अपार और अनन्त है, जगत् रूपी जल की लहरों के रूप में प्रकट हो रहा है, चिन्मय ब्रह्म ही सृष्टि रूप से प्रकट हो रहा है, दूसरा और कुछ नहीं है; जैसे बीज ही वृक्ष का आकार धारण कर लेता है। सब वस्तुओं के भीतर मल रहित, शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म ही वर्त्तमान है; वह सर्व-शक्ति-युक्त होने के कारण अपनी जिस कला का चाहे अनुभव करने लगता है। वह क्रमपूर्वक सूक्ष्म और स्थूल रूपों में विकास पाता है और उनका अनुभव भी करता है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में निद्रा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है वैसे ही सृष्टि और प्रलय दोनों में ब्रह्म की अक्षय चिति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जैसे स्वप्न में स्वप्न के ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है वैसे ही निराकृति परमात्मा ही जगत् की नाना प्रकार की आकृतियों में स्थित है। देश और काल से अनवच्छिन्न, ब्रह्म ही, जिसको न यह कह सकते हैं न वह, जगत् रूप से स्थित होकर द्वैत भाव को प्राप्त हो रहा है। जैसे जल की बूँद, कण, लहर, तरङ्ग, फेन, भँवर आदि जल में जल ही हैं, वैसे ही शरीर, इच्छा, दृश्य जगत्, सृष्टि और प्रलय, भाव की उत्पत्ति, विषय आदि जो कुछ भी जगत् में

हैं वह सब ब्रह्म में ब्रह्म ही है। पाताल में, पृथ्वीपर, स्वर्ग में, तृण में, प्राणियों में, आकाश में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब चिद्रूप ब्रह्म ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

(२) तीनों जगत् ब्रह्म के भीतर स्थित हैं :—

फलपुष्पलतापत्रशाखाविटपमूलवान् ।
वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ (३।१००।११)
सूर्यकान्ते यथा वह्निर्यथा क्षीरे घृतं तथा। (६।१।२७)
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये।
यथा स्फुलिङ्गा अनलाद्यथा भासो दिवाकरात् ॥ (६।१।२८)
तस्मात्तथेमा निर्यान्ति स्फुरन्त्याः संविदश्चितः ॥ (६।१।२९)
यथाम्भोधिस्तरङ्गाणां यथामलमणिस्त्विषाम्। (६।१।२९)
कोशो नित्यमनन्तानां तथा तत्संविदां त्विषाम् ॥ (६।१।३०)
वटश्च वटधानायामिव पुष्पफलादिमान्। (६।१।२६)
चिदन्तरस्ति त्रिजगन्मरिचे तीक्ष्णता यथा ॥ (६।२।९२)
यथैतत्सरणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवापि च ॥ (३।६१।२२)
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ (३।६१।२३)
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि।
यथा वर्णा मषीकल्पे तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ (३।६१।२४)

जैसे जड़, तने शाख, पत्तों, बेल, फूल और फूलोंवाला वृक्ष अपने बीज के भीतर मौजूद रहता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्म में मौजूद है। जैसे सूर्यकान्त मणि के भीतर आग और दूध के भीतर घी रहता है वैसे ही यह सारा जगत् उस ब्रह्म में स्थित रहता है जिससे देश और काल के क्रम का उदय होता है। जैसे आग से चिनगारियाँ और सूर्य से रोशनी उत्पन्न होती है वैसे ही संसार की सभी दृश्य वस्तुयें ब्रह्म से उदय होती हैं। जैसे समुद्र तरङ्गों का और जैसे साफ़ मणि किरणों का कोश है वैसे ही वह (ब्रह्म) अनन्त दृश्य वस्तुओं के ज्ञान का कोश है। जैसे फूल और फलवाला बड़ का पेड़ बड़ के बीज के भीतर रहता है और जैसे मिरच में तीक्ष्णता रहती है वैसे ही तीनों जगत् (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) चिति के भीतर रहते हैं। जैसे वायु का

चलना वैसे ही ब्रह्म का सृष्टि-क्रम है। वह सत्य में असत्य और असत्य में सत्य की नाईं दिखाई दे रहा है। जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से अन्य न होती हुई भी अन्य के समान उत्पन्न हो जाती है वैसे ही यह जगल्लक्ष्मी चेतन ब्रह्म में सत्य और असत्य रूप से स्थित है। जैसे गारे और लकड़ी में बिना गढ़ी हुई मूर्तियाँ और स्याही में बिना बनाई हुई तस्वीरें वर्तमान रहती हैं वैसे ही परमब्रह्म में सब सृष्टियाँ मौजूद रहती हैं।

(३) ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रकट होता है :—

सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत्।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम्॥ (३।३९।६)
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वाऽशून्यवत्स्फुटम्।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम्॥ (३।३९।७)
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत्।
सदेवासदिवादृश्यं तदेवातदिवोदितम्॥ (३।३९।८)
अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवत्ततम्।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम्॥ (३।३९।९)
अनहं सोहमिव तदनाशमिव नाशवत्।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत्॥ (३।३९।१०)
आलोकि ध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम्।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजद्गणम्॥ (३।३९।११)
सर्वात्मकमपि त्यक्तं दृष्टं कष्टेन भूयसा।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा॥ (३।३९।१२)
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम्।
ब्रह्म विद्धि विदां नाथमपामिव महोदधिम्॥ (३।३९।१३)

एक सत्य ब्रह्म अनेक प्रकार के जगत् के रूप में प्रकट हो रहा है; एक सबके आकार में; शुद्ध अशुद्ध के रूप में; अशून्य शून्य के रूप में; शून्य अशून्य के रूप में; प्रकाशित अप्रकाशित के रूप में और अप्रकट प्रकट के रूप में; अविकार (विकार रहित) विकारवान् के रूप में; सम और शांत अशान्त के रूप में; सत् असत् के रूप में; अदृश्य दृश्य के रूप में; अचेत्य चेतत्य के रूप में; अंशरहित अंशयुक्त के रूप में; अहंभावरहित अहंभाव-युक्त के रूप में; नाश रहित नाशयुक्त के रूप में; कलङ्करहित कलङ्कयुक्त के

रूप में; निर्वेद्य वेद्य के रूप में; प्रकाशमय गहन तम के रूप में; नया पुराने के रूप में; परमाणु से भी सूक्ष्म आकारवाला ऐसे आकार में जिसके भीतर सारा जगत् मौजूद हो; जाल (पेचीदगी) से रहित जाल से पूर्ण रूप में; अकेला अनेक आकारों में; माया-रहित होता हुआ भी वह ब्रह्म माया की किरणों से सूर्य की नाँई घिरा हुआ, सब प्रकार के विषय-ज्ञानों से इस प्रकार पूर्ण दिखाई पड़ता है जैसे जलों से समुद्र।

(४) जगत् के रूप में प्रकट होना ब्रह्म का स्वभाव ही है :—

> एष एव स्वभावोऽस्या यदेवं भाति भासुरा। (३।१११।१०)
> एतत्तु स्वप्नसङ्कल्पनगरेष्वनुभूयते॥ (३।१११।११)

यह इस (ब्रह्म-चिति) का स्वभाव ही है कि इस प्रकार यह प्रकट हो; स्वप्न और संकल्पनगर (दिवास्वप्न) में चिति के इस स्वभाव का अनुभव होता है।

(५) सारा सृष्टिकाल ब्रह्म के लिये निमेष का अंश मात्र है :—

> तुल्यकालनिमेषशलक्षभागप्रतीति यत्।
> निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा॥ (३।६१।१७)
> क्षणकल्पजगत्संघा समुद्यन्ति गलन्ति च।
> निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्च क्रमं शृणु॥ (३।४०।३०)

अपनी आत्म-संवित् का जो निमेष के लाखवें भाग का अनुभव है वह सृष्टि का सारा क्रम होता है। किसी के क्षण के अनुभव में और किसी के कल्प के अनुभव में; क्षण कल्प और जगत् की सृष्टियाँ होती और बिगड़ती रहती हैं।

(६) एक ब्रह्म में अनेक प्रकार की सृष्टि करने की शक्ति है :—

> चिति तत्त्वेऽस्ति नानाता तदभिव्यञ्जनात्मनि।
> विचित्रपिच्छिकापुञ्जो मयूराण्डरसे यथा॥ (३।४७।२९)
> स्फटिकान्तः सन्निवेशः स्थाणुताऽवेदनाद्यथा।
> शुद्धेऽनानापि नानेव तथा ब्रह्मोदरे जगत्॥ (३।६७।३९)

ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम् ।
फलपत्रलतागुल्मपीठबीजमिव स्थितम् ॥ (३।६७।३६)
एकमेव चिदाकाशं साकारत्वमनेककम् ।
स्वरूपमजहद्धत्ते यत्स्वप्न इव तज्जगत् ॥ (६।१४४।२३)
यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिकाः ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ (६।३४।२९)
तेजःपुञ्जैर्यथा तेजः पयःपूरैर्यथा पयः ।
परिस्फुरति सस्पन्दैस्तथा चित्सर्गविभ्रमैः ॥ (४।३६।१६)

उस चितितत्व में, जो कि स्वयं अविभक्त-रूप है, नानाता (बहुरूपता) इस प्रकार मौजूद रहती है जैसे कि मोर के अण्डे के रस के भीतर उसकी पूँछ के नाना प्रकार के रङ्ग। जैसे शिला के भीतर न दिखाई देनेवाली स्थूल प्रतिमा मौजूद रहती है वैसे ही शुद्ध और एकरूप ब्रह्म में जगत् की बहुरूपता मौजूद होती है। जैसे फल, फूल, बेल, पत्ती और तने सहित वृक्ष बीज के आकार में स्थित रहता है वैसे ही सारा जगत् एक अखण्ड पिण्ड के आकार में ब्रह्मरूप से स्थित है। जैसे अपना स्वरूप न त्यागते हुए स्वप्नज्ञान नाना प्रकार के स्वप्नों में प्रकट होता रहता है वैसे ही अपना स्वरूप न त्यागते हुए एक चिदाकाश अनेक प्रकार के जगत् के साकाररूपों में दिखाई पड़ता है। ब्रह्म में सृष्टि इस प्रकार रहती है जैसे जल में तरङ्ग आदि, वृक्ष में पुतलियाँ और मिट्टी में घड़े आदि। ब्रह्म जगत् के भ्रम में इस प्रकार अपने स्पन्दनों से प्रकट होता है जैसे कि प्रकाश अपनी किरणों में और जल अपने कणों में।

(७) स्वयं ब्रह्म में नानाता का स्पर्श नहीं होता :—

चित्स्थैः सर्गैश्चिदाधारैर्न स्पृष्टा चित्परा क्वचित् ।
स्वाधारैरम्बुदैः स्वस्थैर्न स्पृष्टं गगनं यथा ॥ (४।३६।९)
जगदाख्ये महास्वप्ने स्वप्नात्स्वप्नान्तरं व्रजत् ।
रूपं त्यजति नो शान्तं ब्रह्म शान्तत्वबृंहणम् ॥ (६।७२।३)
यथा पयसि वीचीनामुन्मज्जननिमज्जनैः ।
न जलान्यत्वमेवं हि भावाभावैः परैः पदे ॥ (६।१९९।२७)

परम चित् को उसमें स्थित नाना प्रकार की सृष्टियाँ इस प्रकार स्पर्श नहीं करतीं (अर्थात् उसमें किसी प्रकार की नानाता नहीं आती)

जैसे आकाश को उसमें स्थित बादल नहीं भिगो सकते। जगत्‌रूपी महास्वप्न में एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में प्रवेश करते हुए भी शान्त ब्रह्म अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। जैसे जल में लहरों के उत्थान और पतन से जल से अन्य कोई रूप परिवर्त्तन नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयों के होने से ब्रह्म का अपना रूप तबदील नहीं होता (ब्रह्म वैसे का वैसा ही रहता है)।

(८) सत्तामात्र से ही ब्रह्म का कर्तृत्व है :—

सर्वकर्ताऽप्यकर्तैव करोत्यात्मा न किञ्चन।
तिष्ठत्येवमुदासीन आलोकं प्रति दीपवत् ॥ (४।५६।१७)
कुर्वन्न किञ्चित्कुरुते दिवाकार्यमिवांशुमान्।
गच्छन्न गच्छति स्वस्थः स्वास्पदस्थो रविर्यथा ॥ (४।५६।१८)
सङ्कल्पपुरुषस्वप्नजनद्वीन्दुत्वविभ्रमम् ।
यथा पश्यसि पश्य त्वं भावजातमिदं तथा ॥ (४।५६।२४)
इयं सन्निधिमात्रेण नियतिः परिजृम्भते।
दीपसन्निधिमात्रेण निरिच्छैव प्रकाशते ॥ (४।५५।२७)
अभ्रसन्निधिमात्रेण कुटजानि यथा स्वयम्।
आत्मसन्निधिमात्रेण त्रिजगन्ति तथा स्वयम् ॥ (४।५६।२८)
सर्वेच्छारहिते भानौ यथा व्योमनि तिष्ठति।
जायते व्यवहारश्च सति देवे तथा क्रिया ॥ (४।५६।२९)
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथालोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रेण देवे तु तथैवायं जगद्गणः ॥ (४।५६।३०)
अतः स्वात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ (४।५६।३१)
सर्वेन्द्रियाद्यतीतत्वात्कर्ता भोक्ता न सन्मयः।
इन्द्रियान्तर्गतत्वात्तु कर्ता भोक्ता स एव हि ॥ (४।५६।३२)
सर्वदैवाविनाशात्म कुम्भानां गगनं यथा।
यथा मणेरयःस्पन्दे अयस्कान्तस्य कर्तृता ॥ (६।९।३१)
अकर्तुरेव हि तथा कर्तृता तस्य कथ्यते।
मणिसन्निधिमात्रेण यथाऽयः स्पन्दते जडम् ॥ (६।९।३२)

परमात्मा सर्वकर्ता (सब कुछ करनेवाला) होने पर भी कुछ नहीं करता। जैसे रोशनी के उत्पादन में दीपक उदासीन की नाईं स्थित

रहता है वैसे ही सृष्टि करने में ब्रह्म उदासीन रूप से स्थित रहता है। जैसे सूर्य दिन के कामों का कारण है वैसे ही ब्रह्म कुछ न करता हुआ भी सब कुछ करता है। न चलता हुआ भी वह ऐसे चलता है जैसे कि अपने स्थानपर स्थित सूर्य चलता है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह ब्रह्म के स्वभाव से उत्पन्न हो रहा है; तुम उसको ऐसे जानो जैसे कि संकल्प का पुरुष, स्वप्न की प्रजा और दो चन्द्रमाओं का भ्रम (अर्थात् कुछ न होते हुए भी दिखाई दे रहा है)। जैसे दीपक के मौजूद होनेपर ही प्रकाश का उदय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के वर्तमान रहने पर ही सारा सृष्टिक्रम प्रचलित होता रहता है। जैसे बादल के होनेपर कुटज खिल उठते हैं वैसे ही परमात्मा की सत्तामात्र से ही तीनों जगत् स्वयं ही उदय होते रहते हैं। जैसे सूर्य को कोई इच्छा न रहते हुए भी आकाश में उसकी मौजूदगी मात्र से सारी क्रिया होती रहती हैं वैसे ही परमात्मा के मौजूद होने से ही सारा जगत् का व्यवहार होता रहता है। जैसे रत्न के मौजूद होनेपर बिना उसकी इच्छा के चान्दना हो जाता है उसी प्रकार परमात्मा की सत्तामात्र से ही संसार की उत्पत्ति होती रहती है। परमात्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही हैं। किसी प्रकार की इच्छा न होने से वह अकर्ता है और उसकी मौजूदगी मात्र से सृष्टि होने के कारण वह कर्ता है। वह सब इन्द्रियों से परे होने के कारण कर्ता और भोक्ता नहीं है, लेकिन सब इन्द्रियों के भीतर मौजूद रहने के कारण कर्ता और भोक्ता है। अमर परमात्मा, जो सब जगह रहनेवाला है, इस प्रकार जगत् का कर्ता है जैसे आकाश घटाकाशों का और चुम्बकमणि लोहे के प्रति कर्ता है। चुम्बकमणि के मौजूद होते ही जड़ लोहा चलने लगता है, वैसे ही ब्रह्म अकर्ता होते हुए भी जगत् का कर्ता हो जाता है।

१८—अद्वैत

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् के सब पदार्थ ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् सारा जगत् ब्रह्ममय है। जब कि सब पदार्थ ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। योगवासिष्ठ के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म ही है। यह सिद्धान्त यहाँपर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है:—

(१) सब कुछ ब्रह्म से अभिन्न है:—

द्वैतं यथा नास्ति चिदात्मजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः॥
(३।६९।१२)

कर्मैव देहो ननु देह एव चित्तं तदेवाहमितीह जीवः।
स जीव एवेश्वरचित्त आत्मा सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत्॥ (३।६९।१२)

जैसे चिदात्मा और जीव में द्वैत नहीं है वैसे ही जीव और चित्त में द्वैत नहीं है। जैसे जीव और चित्त में भेद नहीं है वैसे ही शरीर और कर्म में भेद नहीं है। कर्म ही देह है; देह ही चित्त है; चित्त ही अहंकार और जीव है; जीव ही ईश्वर है; वही आत्मा है, वही सब कुछ है; वही एक परम पद शिव है।

(२) प्रकृति का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध:—

नात्मनः प्रकृतिर्भिन्ना घटान्मृन्मयता यथा।
सन्मृन्मात्रं यथा चान्तरात्मैवं प्रकृतिः स्थिता॥ (६।४९।२९)
आवर्तः सलिलस्येव यः स्पन्दस्त्वयमात्मनः।
प्रोक्तः प्रकृतिशब्देन तेनैवेह स एव हि॥ (६।४९।३०)
यथैकः स्पन्दपवनौ नाम्ना भिन्नौ न सत्तया।
तथैकमात्मप्रकृती नाम्ना भिन्नौ न सत्तया॥ (६।४९।३१)

अबोधादेतयोर्भेदो बोधेनैव विलीयते ।
अबोधात्तन्मयो याति रज्वां सर्पभ्रमो यथा ॥ (६।४९।३२)
यद्ब्रह्मात्मापि तुर्यंश्च याऽविद्या प्रकृतिश्च या ।
तद्भिन्नसदैकात्म यथा कुम्भशतेषु मृत् ॥ (६।४९।२८)
ब्रह्माहं त्रिजगद्ब्रह्म त्वं ब्रह्म खलु दृश्यभूः ।
द्वितीया कलना नास्ति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ (६।४९।२३)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकल्पनाक्रमः ।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ (६।४९।१७)

आत्मा से प्रकृति ऐसे भिन्न नहीं है जैसे कि मिट्टी से घड़ा भिन्न नहीं है। जैसे घड़ा मिट्टी ही है वैसे ही प्रकृति भी आत्मा ही है। आत्मा का स्पन्दन ही प्रकृति कहलाता है जैसे जल का स्पन्दन भँवर; इसलिये प्रकृति आत्मा ही है। जैसे हवा और उसका स्पन्दन (चलना) दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं, केवल नाम मात्र का ही भेद है, वैसे ही आत्मा और प्रकृति दो वस्तुएँ नहीं हैं नाम मात्र का ही उनमें भेद है। अज्ञान के कारण ही इन दोनों में भेद दिखाई पड़ता है; ज्ञान से भेद नष्ट हो जाता है; जैसे कि रस्सी और साँप का भेद ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है। जैसे सैकड़ों घड़ों में एक ही मिट्टी अभिन्न सत्ता से स्थित रहती है वैसे ही प्रकृति, अविद्या, तुर्या, ब्रह्म और आत्मा सब वास्तव में एक ही हैं। मैं ब्रह्म हूँ; तू ब्रह्म है; तीनों जगत् ब्रह्म हैं; सारी दृश्य वस्तुएँ ब्रह्म हैं; दूसरा कुछ भी नहीं है; जैसा चाहो करो। यह अविद्या है, यह जीव है—इस प्रकार की विचारधारा अज्ञानियों को समझाने के लिये बुद्धिमानों ने बना रक्खी है (वास्तव में सत्य नहीं है)।

(३) मन का ब्रह्म के साथ तादात्म्य :—

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यारूपादयश्च ये ।
मनःशब्दैः प्रकल्प्यन्ते ब्रह्मजातान् विद्धि तान् ॥ (३।१००।२३)
ब्राह्मी शक्तिरसौ तस्माद्ब्रह्मैव तदरिन्दम । (३।१००।१७)
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ (६।८४।२)

प्रतियोगी (एक दूसरे के विरुद्ध) शब्दों द्वारा वर्णन किये जाने योग्य, संख्या और रूपवाले जो मन हैं वे सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, अतएव उन्हें ब्रह्म ही समझो। मन ब्रह्म की शक्ति है; इसलिये वह ब्रह्म ही है। उसकी मनोमयी स्पन्दशक्ति को उससे अनन्य समझो।

(४) जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य :—

यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ (३।१।१७)

कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न संभवत्येवं न जगत्पृथगीश्वरात् ॥ (३।६।१४)

यथोर्मयोऽनभिव्यक्ता भाविनः पयसि स्थिताः ।
न स्थिताश्चात्मनोऽन्यत्वाच्चित्तत्वे सृष्टयस्तथा ॥ (४।३६।२)

स्पन्दत्वं पवनादन्यन्न कदाचन कुत्रचित् ।
स्पन्द एव सदा वायुर्जगत्तस्मान्न भिद्यते ॥ (३।९।३३)

काकतालीयवच्चित्त्वाज्जगतो भाति ब्रह्म स्वम् ।
स्वप्नसंकल्पपुरवत्तत्तस्माद्भिद्यते कथम् ॥ (६।३४।२४)

यथा न भिन्नमनलादौष्ण्यं सौगन्ध्यमम्बुजात् ।
कार्ष्ण्यं कज्जलतः शौक्ल्यं हिमान्माधुर्यमिक्षुतः ॥ (६।३।५)

आलोकश्च प्रकाशाङ्गादनुभूतिस्तथा चितेः ।
जलाद्वीचिर्यथाऽभिन्ना चित्स्वभावात्तथा जगत् ॥ (६।३।६)

यदात्ममरिचस्यान्तश्चित्त्वात्तीक्ष्णत्ववेदनम् । (५।५७।१)
यदात्मलवणस्यान्तश्चित्त्वाल्लवणवेदनम् ॥ (५।५७।२)
स्वतो यदन्तरात्मेक्षोश्चित्त्वान्माधुर्यवेदनम् । (५।५७।३)
स्वतो यदात्मदृषदश्चित्त्वात्काठिन्यवेदनम् ॥ (५।५७।४)
स्वतो यदात्मशैलस्य ज्ञतया जाड्यवेदनम् । (५।५७।५)
स्वतो यदात्मतोयस्य चिद्द्रवत्वाद्विवर्तनम् ॥ (५।५७।६)
यदात्मगगनस्यान्तश्चित्त्वाच्छून्यत्ववेदनम् । (५।५७।८)
स्वतो यदात्मवृक्षस्य शाखादिस्तस्य वेदनम् ॥ (५।५७।७)
स्वतो यदात्मकुड्यस्य नैरन्तर्यं निरन्तरम् । (५।५७।१०)
स्वतो यदात्मसत्तायाश्चित्त्वात्सत्त्वैकवेदनम् ॥ (५।५७।११)
अन्तरात्मप्रकाशस्य स्वतो यदवभासनम् । (५।५७।१२)
परमात्मगुडस्यान्तर्यच्चित्स्वादूदयात्मकम् ॥ (५।५७।१४)
अन्तरस्ति यदात्मेन्दोश्चिद्रूपं चिद्रसायनम् ।
स्वत आस्वादितं तेन तदहंतादिनोदितम् ॥ (५।५७।१३)
अनया तु वचोभङ्ग्या मया ते रघुनन्दन ।
नाहंतादिजगत्तादिभेदोऽस्तीति निदर्शितम् ॥ (५।५७।१९)

चिद्रूपेण स्वसंवित्त्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते ।
स्वयमेव रूपहृदयं वातेन स्पन्दनं यथा ॥ (३।६१।११)
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च ।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च ॥ (३।६१।२७)
स्थितोऽन्यो यथाऽन्यः सन्नास्ति तत्र तथात्मनि ।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत् ॥ (३।६१।२८)
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम् ।
तद्कारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते ॥ (३।६१।२९)
चिदग्न्यौष्ण्यं जगल्लेखा जगच्चिच्छङ्खशुक्लता ।
जगच्चिच्छैलजठरं चिज्जलद्रवता जगत् ॥ (३।१४।७२)
जगच्चिदिक्षुमाधुर्यं चित्क्षीरस्निग्धता जगत् ।
जगच्चित्क्षौद्रमाधुर्यं जगच्चित्कनकाङ्गदम् ॥ (३।१४।७३)
जगच्चित्सर्षपस्नेहो वीचिश्चित्सरितो जगत् ।
जगच्चिद्धिमशीतत्वं चिज्ज्वालाज्वलनं जगत् ॥ (३।१४।७४)
जगच्चित्पुष्पसौगन्ध्यं चिल्लताप्रफलं जगत् ।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः ॥ (३।१४।७६)
चित्त्वंचेत्यविकल्पेन स्वयं स्फुरति तन्मयम् ।
विकारादि तदेवान्तस्तत्सारत्वान्न भिद्यते ॥ (३।३३।७)
पुष्पपल्लवपत्रादि लताया नेतरद्यथा ।
द्वित्वैकत्वजगत्त्वादि त्वन्त्वाहन्त्वं तथा चितेः ॥ (३।३३।१२)

जैसे 'कड़ा' शब्द का अर्थ सोने से कोई पृथक् वस्तु नहीं है और जैसे सोना कड़े से 'कोई' पृथक् वस्तु नहीं है वैसे ही जगत् शब्द से कोई परम 'ब्रह्म' से अन्य वस्तु नहीं समझनी चाहिये। सोने से पृथक् कड़े का और जल से पृथक् तरङ्ग का अस्तित्व नहीं हो सकता; वैसे ही जगत् ईश्वर से पृथक् नहीं हो सकता। जैसे जल से पृथक् उसकी लहरें नहीं स्थित हो सकतीं वैसे ही सृष्टियाँ भी आत्मा से पृथक् स्थित नहीं हो सकतीं। जैसे पवन से उसका स्पन्दन कभी अन्य नहीं है, स्पन्दन सदा वायु ही है, वैसे ही जगत् भी ब्रह्म से अन्य वस्तु नहीं है। ब्रह्माकाश ही काकतालीय योग से (अकस्मात् ही) जगत्रूप से प्रकट हो जाता है, जैसे स्वप्न और संकल्प का जगत्; इसलिये जगत् ब्रह्म से भिन्न कैसे हो सकता है ? जैसे आग से उसकी उष्णता भिन्न नहीं है, कमल से उसकी गन्ध भिन्न नहीं है, स्याही से उसकी कालिमा भिन्न नहीं है;

वर्फ से उसकी सुफैदी भिन्न नहीं है, गन्ने स उसका मिठास भिन्न नहीं है, धूप से उसकी चमक भिन्न नहीं है, चिति से उसका अनुभव भिन्न नहीं है, जल से उसकी लहर भिन्न नहीं है, वैसे ही चित्स्वभाव (आत्म तत्त्व) से जगत् भिन्न नहीं है। अहंकारादिका अनुभव आत्मा में ऐसा है जैसा कि मिरच के लिये उसकी तीक्ष्णता का, नमक के लिये उसकी नमकीनता का, गन्ने के लिये उसके मिठास का, शिला के लिये उसकी कठोरता का, पहाड़ के लिये उसकी जड़ता का, जल के लिये उसकी द्रवता का, आकाश के लिये उसकी शून्यता का, वृक्ष के लिये उसकी शाखा आदि का, दीवार के लिय उसके ठोसपन का, आत्मा को अपनी सत्ता का, अन्तरात्मा को अपने प्रकाश का, गुड़ को अपने स्वाद का, चन्द्रमा को अपने भीतर स्थित रसायन (अमृत) का। वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम ! इन दृष्टान्तों द्वारा मैंने तुमको यह समझाया है कि जगत् और अहंभाव आदि में कोई भेद नहीं है। चिद्रूप से स्वयं चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि स्पन्दनरूप से स्वयं वायु। जैसे दूध का मिठास, मिरच का चिरचिरापन, जल का पतलापन और वायु का स्पन्दन, उनसे अन्य होते हुए अनन्य ही है वैसे ही यह सारा जगत् भी परमात्मा का ही रूप है। यह जगत् ब्रह्मरूपी रत्न की अकारण चमक है; अतएव उससे अलग कोई वस्तु नहीं है। जगत् चित्रूपी अग्नि की चमक है, चित्रूपी शंख की जगत् शुक्लता है; चित् रूपी पहाड़ की जगत् कठिनता है; चित्-रूपी जल की जगत् द्रवता है; चित्-रूपी गन्ने का जगत् मिठास है; चित्-रूपी सोने का जगत् कड़ा है; चित्-रूपी सरसों का जगत् तेल है; चित्-रूपी नदी की जगत् लहर है; चित्-रूपी बर्फ की जगत् शीतलता है; चित्-रूपी फूल की जगत् सुगन्ध है; चित्-रूपी लता का जगत् फल है; चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है, और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। चित्-सत्ता ही चेत्य के आकार में विकल्प को प्राप्त होती है और अपने भीतर ही विकार को धारण करती है; वही सारे जगत् का सार है इसलिये जगत् उससे भिन्न नहीं है। जैसे पत्ते, कोंपल और फूल आदि लता से अन्य नहीं हैं वैसे ही चिति से, द्वित्व, एकत्व, जगत्, तुम और मैं आदि अलग नहीं हैं।

(५) ईश्वर की सत्ता जगत् के बिना नहीं है :—

सन्निवेशं विना सत्ता यथा हेम्नो न विद्यते। (६।१९६।४३)
तथा जगदहंभावं विना नैशस्य संस्थितिः॥ (६।१९६।४४)

चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः। (३।१४।७९)
अत्र भेदविकारादि नखे मलमिव स्थितम् ॥ (३।१४।७६)

जैसे किसी आकार के बिना सोना नहीं रहता वैसे ही ईश्वर भी बिना अहंभाव और जगत् के नहीं रहता। चित् की सत्ता जगत् की सत्ता है और जगत् की सत्ता चित् की सत्ता है। भेद और विकार आदि ईश्वर में इस प्रकार स्थित है जैसे कि आकाश में मल (नीलापन)।

(६) सब कुछ ब्रह्म ही है:—

करणं कर्म कर्ता च जननं मरणं स्थितिः।
सर्वं ब्रह्मैव नह्यस्ति तद्विना कल्पनेतरा ॥ (३।१००।३०)
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ (६।६०।२८)
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ (६।९६।३)
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः।
परमार्थघनं शैलाः परमार्णघनं द्रुमाः ॥ (३।९९।४९)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते।
तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम् ॥ (६।११।१६)
पाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेऽपि च।
दृश्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि ॥ (६।२।२८)

करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण, स्थिति—सब कुछ ब्रह्म ही है; उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जगत् का जाल ब्रह्माकाश है, दशों दिशायें ब्रह्माकाश हैं; कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब ही ब्रह्माकाश है। जैसे स्वप्न के पदार्थ पहाड़ और नगर आदि सब ही चिदाकाश हैं वैसे ही जाग्रत् जगत् के पदार्थ भी चिदाकाश ही हैं। पृथ्वी, आकाश, पहाड़ और वृक्ष सब ही परमार्थ तत्त्व हैं। जो कुछ भी इस जगत् में दिखाई पड़ता है वह सब शुद्ध ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित दिखाई पड़ता है। पाताल में, पृथ्वीपर, स्वर्ग में, प्राणियों में और आकाश में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह सब चित्-रूप परम ब्रह्म ही है; और कुछ भी नहीं है।

———

१९—जगत् का मिथ्यापन

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् में ब्रह्म के सिवाय और कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। जगत् के सारे पदार्थ ब्रह्ममय हैं; जगत् की नानाता ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। यहाँपर हमको जगत् के ऊपर एक दृष्टि डालकर यह विचार करना है कि जगत् स्वयं सत्य है अथवा मिथ्या। अद्वैत वेदान्त का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"

अर्थात् ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। योगवासिष्ठ का भी सिद्धान्त इसी प्रकार का है:—

मायेयं स्वप्नवद्भ्रान्तिर्मिथ्यारचितचक्रिका।
मनोराज्यमिवालोलसलिलावर्तसुन्दरी ॥ (४।४७।४१)

यह सृष्टि माया है, स्वप्न के समान भ्रम है, मिथ्या रचे हुए चक्र के समान है, मनोराज्य (कल्पना) के समान चञ्चल है, जल के भँवर के समान सुन्दर दिखाई पड़नेवाली है।

यहाँपर हमें यह देखना है कि योगवासिष्ठ के अनुसार इन सब कथनों के क्या अर्थ हैं। जगत् को मिथ्या, भ्रम, माया, और असत् क्यों और किस अर्थ में कहा है।

(१) सत्य और असत्य का अर्थ:—

आदावन्ते [illegible] यन्नित्यं तत्सत्यं नाम नेतरत्। (५।५।९)
आदावन्ते [illegible] यत्सत्यं वर्तमाने सदैव तत् ॥ (४।४५।४६)
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। (४।४५।४५)
आदावन्ते च यन्नास्ति कीदृशी [illegible] सत्यता ॥ (५।५।९)
यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन राघव। (३।४।६२)

आदि और अन्त में जो नित्य है वही 'सत्य' है, दूसरा नहीं; जो आदि और अन्त में सत्य है वही वर्त्तमान में भी सत्य है। जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह वर्त्तमान में भी सत्य नहीं कहा जा सकता। जो आदि और अन्त में नहीं है उसकी सत्यता कैसी जो (सत्य) है

उसका नाश कभी नहीं हो सकता (अर्थात् जिसका नाश हो जाता है वह सत्य नहीं कहा जा सकता)।

इस कथन का अर्थ यह है कि जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होती है वह नित्य नहीं हो सकती; अतएव वह सत्य भी नहीं हो सकती। सत्य वही वस्तु है जो तीनों काल—भूत, वर्त्तमान और भविष्य में वर्त्तमान रहे। जिसका आदि और अन्त हो वह तो केवल एक ही काल में रहती है। अतएव वह सत्य नहीं कही जा सकती।

जगत् और जगत् के सब पदार्थ सादि और सान्त हैं। अतएव सत्य नहीं है। लेकिन उनको सर्वथा असत्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो वस्तु किसी काल में भी प्रतीत हो सकती है वह सर्वथा असत्य नहीं है। सर्वथा असत्य तो वह पदार्थ है जो कभी भी प्रतीत न हो। अतएव जगत् न सत्य है और न असत्य। जो न सत्य है न असत्य, उसे मिथ्या कहते हैं। वह भ्रम की नाईं वास्तव में सत्य न होता हुआ भी प्रतीत होता है। अतएव उसे सत्य और असत्य दोनों भी कह सकते हैं।

(२) जगत् न सत्य है, न असत्य :—

न सन्नासन्न सञ्जातश्चेतसो जगतो भ्रमः।
[illegible] धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः॥ (३।६९।६)
नातः सत्यमिदं दृश्यं न चासत्यं कदाचन। (३।४४।३३)
न तत्सत्यं न चासत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा॥ (३।४४।४१)
न सत्यं न च मिथ्यैव स्वप्नजालमिवोत्थितम्। (६।११४।२०)
एवं न सन्नासदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते॥ (३।४४।२७)

जगत् का दृश्य न सत्य है, न असत्य, वह चित्त में इस प्रकार भ्रम रूप से उदय हुआ है जैसे कि बुद्धि में इन्द्रजाल का दृश्य उदय हो जाता है। यह दृश्य-जगत् न सत्य है और न असत्य। रस्सी में साँप के भ्रम की नाईं न वह सत्य है और न सर्वथा असत्य ही। स्वप्न जगत् की नाईं वह उत्पन्न हुआ है; न वह सच्चा है और न झूठा। केवल भ्रान्तिमात्र है; केवल दिखाई पड़ता है।

(३) जगत् सत् और असत् दोनों ही है :—

सती वाप्यसती वापनद्येव लहरी चला।
मनसेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते॥ (३।१।२९)

असत्यमस्थैर्यवशात्सत्यं संप्रतिभा सतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ (३।६९।९)
यथा नभसि मुक्तावलीपिच्छकेशोण्ड्रकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दशां जगत् ॥ (३।४२।७)
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् । ३।९४।२१)
अकृतं चानुभूतं च न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ॥ (३।१३।४२)

जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है, जैसे कि मृगतृष्णा की बहती हुई नदी। मन द्वारा ही यह जगत्-रूपी इन्द्रजाल की शोभा रची गई है। जगत् सदा स्थिर न होने के कारण असत्य कहलाता है और प्रतीत होने के कारण सत्य कहलाता है। अतएव स्वप्न की नाईं जगत् सत्य और असत्य दोनों ही है। जैसे भ्रमवश आकाश में मोतियों की लड़ियाँ, मोर की पूँछ और केशों के गुच्छे आदि दिखाई पड़ने लगते हैं, और वास्तव में असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होने लगते हैं, वैसे ही जगत् भी दिखाई पड़ता है। असत्य होता हुआ भी जगत् सत्य सा प्रतीत होता है; न होता हुआ भी अनुभव में आता है; सत्य न होता हुआ भी सत्य के समान स्थित है।

(४) जगत् केवल भ्रम है, वास्तव में सत्य नहीं है :—

एवं तावदिदं विद्धि दृश्यं जगदिति स्थितम् ।
अहं चेत्याद्यनाकारं भ्रान्तिमात्रमसन्मयम् ॥ (४।१।२)
मृगतृष्णाम्बुवदसत्यं सत्यवत्प्रत्ययप्रदम् । (४।१।७)
अनुभूतं मनोराज्यमिवासत्यमवास्तवम् ॥ (४।१।१२)
शून्ये प्रकचितं नानावर्णमाकारितात्मकम् ।
अपिण्डगृहमाशून्यमिन्द्रचापमिवोत्थितम् ॥ (४।१।१३)
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ (३।९४।२०)
मृगतृष्णा यथा तापान्मनसोऽनिश्चयात्तथा ।
असन्त इव दृश्यन्ते सर्वे ब्रह्मादयोऽप्यमी ॥ (४।४९।१७)
मिथ्याज्ञानधनाः सर्वे जगत्याकारराशयः ।
यथा नौ यायिनो मिथ्या स्थाणुस्पन्दमतिस्तथा ॥ (४।४९।१८)
मनोव्यामोह एवेदं रज्ज्वामहिभयं यथा ।
भावनामात्रवैचित्र्याच्चिरमावर्तते जगत् ॥ (४।४९।२१)

मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलवोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ (३।६२।४)
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत्संकथेहापुराद्रिवत् ।
संकल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ (३।६२।५)
समस्तस्याप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ (३।५७।१९)
स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन्स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ (३।५७।२०)
मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रं दृशो भ्रान्तिः शून्या स्वप्नानुभूतयः ॥ (३।५७।५४)
प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरीक्षयम् ।
यथा गन्धर्वनगरं तथा संसृतिविभ्रमः ॥ (३।३३।४५)
स्वप्नार्थमृगतृष्णाम्बुद्वीन्दुसङ्कल्पितार्थवत् ।
मिथ्या जगदहं त्वं च भाति केशोण्ड्रकं यथा ॥ (३।११०।१३)
मायामात्रकमेवेदमशेषकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ (३।६०।३६)
भ्रान्तिरेवमनन्तेऽयं चिद्व्योमव्योम्नि भासुरा ।
अपकुड्या जगन्नाम्नी नगरी कल्पनात्मिका ॥ (३।२१।४)
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः सम्वत्सरशतभ्रमः ॥ (३।४१।५०)
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ (३।४१।५१)
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्तनम् ॥ (३।४१।५२)
यथा समञ्जसं स्वप्ने स्वशिरःप्रविकर्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ (३।४१।५३)
यथा मरौ जलं बुद्ध कटकत्वं च हेमनि ।
असत्सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ (३।२८।१५)
ससर्गावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुद्दृष्टे व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा ॥ (३।२०।१०)
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षिमलाविलम् ।
चिच्चेतनकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ॥ (३।६६।७)

यथा मदवशाद्भ्रान्तान्क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान्संसारांश्चित्रपश्यति ॥ (३।६६।८)
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृचक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ॥ (३।६६।९)
पत्रमात्राहते नान्यत्कदल्या विद्यते यथा ।
भ्रममात्राहते नान्यज्जगतो विद्यते तथा ॥ (३।६६।४)
अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते ।
अलीकमेव स्वदते तथालीकं विलीयते ॥ (३।६७।७६)

जो दृश्य जगत् और अहं आदि पदार्थ स्थित दिखाई पड़ते हैं उन्हें केवल भ्रान्ति मात्र और असत्य समझो । मृगतृष्णा के जल के समान, अनुभव में आए हुए कल्पना-जगत् के समान, यह जगत् सत्य के समान प्रतीत होता हुआ भी अवास्तव और असत्य है । इन्द्र धनुष की नाईं यह शून्य पट पर नाना रङ्गों द्वारा रचा हुआ बिना किसी वास्तविक पदार्थ के सर्वथा शून्य है । जगत् कभी स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ ; जो कुछ दिखाई पड़ता है वह केवल चिदाकाश की ऐसी काल्पनिक रचना है जैसा कि स्वप्न की स्त्री के साथ सम्भोग । जैसे सूर्य की गरमी से मृगतृष्णा की नदी की दृष्टि उदय हो जाती है वैसे ही मन के विचलित होने से ब्रह्मा आदि असत्य होते हुए भी अनुभव में आने लगते हैं । जैसे नाव में बैठे हुए मनुष्य को स्थिर वस्तुयें भी चलती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं वैसे ही जगत् की सब वस्तुएँ मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होती हैं । भावना की विचित्रता से ही जगत् का विकार उत्पन्न होता है, जैसे मन के भ्रम से रस्सी में साँप का भ्रम उदय हो जाता है । जैसे महामरुस्थल में तीरपर पेड़, लता और पुष्पवाली मृगतृष्णा की नदी दिखाई पड़ने लगती है वैसे ही मिथ्या सृष्टि भी दिखाई पड़ने लगती है । स्वप्न इन्द्रजाल और सङ्कल्प के नगर और पहाड़ की नाईं सृष्टि का अनुभव मिथ्या ही होता है । यह सृष्टि सब अज्ञानी मनों के भीतर बिना किसी बीज के मिथ्या ही उत्पन्न हो गई है । जैसे घूमता हुआ व्यक्ति सारी पृथ्वी को घूमता हुआ देखता है वैसे ही स्वप्न के समान इस सृष्टि का अनुभव ही होता है । ये सब सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, और मोह से उत्पन्न होती हैं । ये सब स्वप्न की अनुभूतियों के समान शून्य हैं और दृष्टि की भ्रान्ति होने के कारण मायामात्र हैं । सृष्टि का उदय भ्रान्ति है, सृष्टि का लय भ्रान्ति है, जैसा गन्धर्व नगर

(भ्रम का दृश्य) वैसी ही जगत् की सृष्टि। जगत्, मैं, तुम और सब कुछ, स्वप्न के पदार्थ, मृगतृष्णा की नदी के जल, दूसरे चान्द, सङ्कल्प की वस्तु और भ्रम के केशोण्ड्रक की नाईं मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न के दृश्य होते हैं वैसे ही ये हैं। यह जगत् माया मात्र है; इसमें न ठोसता है और न स्थूलता, यद्यपि इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। यह जगत् नामवाली कल्पना की नगरी आकाश में शून्य रूपवाली अनन्त भ्रान्ति है; इसमें कहीं भी ठोसपन नहीं है। जैसे एक घंटे के स्वप्न के भीतर सैकड़ों बरसों का भ्रम पैदा हो जाता है वैसे ही असत् रूपवाला यह जगत्-भ्रम चित्त-रूपी सूर्य के आगे उपस्थित हो गया है जैसे सङ्कल्प के संसार में जीना और मरना होता है; जैसे गन्धर्व नगर में दीवार आदि की रचना होती है; जैसे नाव में बैठे हुए पुरुष को नाव के हिलने पर वृक्ष और पर्वत हिलते हुए दिखाई देते हैं, जैसे अपना जी घबराने पर पूर्व का पहाड़ डोलता दिखाई देता है; जैसे स्वप्न में अपना सिर कटता अनुभूत होता है, उसी प्रकार यह संसार की विस्तृत भ्रान्ति भी मिथ्या उदय होती है। जैसे मरुस्थल में झूठा जल दिखाई पड़ता है, जैसे स्वर्ण के स्थान पर कड़ा ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा में यह असत्य दृश्य दिखाई पड़ता है। जैसे मैल से आक्रान्त होने पर आँखें एक चन्द्रमा के स्थान पर दो चन्द्रमा देखती हैं, वैसे ही चेत्य की कलना के वशीभूत होकर चिति परमात्मा में जगत् को देखती है। जैसे नशेबाज शराब पीकर वृक्षों को घूमता और हिलता देखता है वैसे ही आत्मा भी संसार का अनुभव करता है, जैसे खेलते समय बच्चे घूम कर जगत् को कुम्हार के चाक की तरह घूमता हुआ देखते हैं वैसे ही चित्त इस दृश्य जगत् का अनुभव करता है। जैसे केले में पत्तों के सिवाय और कुछ भी नहीं है वैसे ही जगत् में भ्रम के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जगत् की उत्पत्ति झूठी है, जगत् की वृद्धि झूठी है; जगत् का स्वाद (अनुभव) झूठा है, और जगत् का लय होना भी झूठा ही है।

(५) जीवका मिथ्यापन :—

आत्मैवानात्मवदिह जीवो जगति राजते ।
द्वीन्दुत्वमिव दुर्दृष्टेः [illegible] समुत्थितम् ॥ (३।१००।३९)

पिच्छकैः स्पन्दकाकेश्च [illegible] कल्प्यते मनः ।
मिथ्यैव तत्समुत्पन्नं [illegible] तदुच्यते ॥ (५।१३।८८)

एषा ह्यविद्या कथिता मायैषा सा निगद्यते ।
परमेतत्तदज्ञानं संसारादिविषप्रदम् ॥ (५।१३।८९)

जैसे दोषयुक्त दृष्टिवाले को दूसरा चन्द्रमा दिखाई पड़ता है वैसे ही जीव भी सत्य और असत्य रूप से आत्मा में अनात्म रूपका भ्रम उत्पन्न हो गया है। चित्-शक्ति और स्पन्द-शक्ति के झूठे और कल्पित सम्बन्ध का नाम मन है। वह मिथ्या ही उदय हुआ है और मिथ्या ज्ञान कहलाता है। इसी को अविद्या कहते हैं; इसी को माया कहते हैं; यही परम अज्ञान है जो कि संसार आदि के विष को उत्पन्न करने वाला है।

(६) अविद्या :—

संसारबीजकणिका यैषा विद्या रघूद्वह ।
एषा ह्यविद्यमानैव सतीव स्फारतां गता ॥ (३।११३।११)
दृश्यते प्रकराभासा सद्यं नोपयुज्यते । (३।११३।१९)
अतः शून्यापि सर्वत्र दृश्यते सारसुन्दरी ॥ (३।११३।१७)
न क्वचित्संस्थितापीह सर्वत्रैवोपलक्ष्यते । (३।११३।१७)
निमेषमप्यतिष्ठन्ती स्थैर्याशङ्कां प्रयच्छति ॥ (३।११३।१८)
प्रतिभासवशादेषा त्रिजगन्ति महान्ति च ।
मुहूर्तमात्रेणोत्पाद्य धत्ते ग्रासीकरोति च ॥ (३।११३।२७)
मनोराज्यमिवाकारभासुरा सत्यवर्जिता ।
सहस्रशतशाखापि न किञ्चित्परमार्थतः ॥ (३।११३।३३)
इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ (६।९२।९)
अविद्येति धृता संविद्ब्रह्मणात्मनि सत्तया ।
तद्भ्रमेणासदप्यस्याः सद्रूपमिव लक्ष्यते ॥ (६।१६०।११)
असन्मयमविद्याया रूपमेव तदेव हि ।
यद्वीक्षितासती नूनं नश्यत्येव न दृश्यते ॥ (६।९१।१३)

संसार के बीज को अविद्या कहते हैं। यह अविद्या न होते हुए भी होती हुई के समान विस्तार को प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है तो भी इसको सत्य नहीं कह सकते। भीतर शून्य रूपवाली होने पर भी देखने में सारवाली सुन्दर मालूम पड़ती है। कहीं पर सत्य न होते हुए भी यह सब जगह दिखाई पड़ती है।

निमेष मात्र के लिये भी स्थिर न होती हुई ऐसी जान पड़ती है कि वह स्थिर है। तीनों महान् जगतों को यह प्रतिभास (भ्रम) द्वारा मुहूर्त मात्र में उत्पन्न करके धारण करती है और ग्रास कर जाती है। मनोराज्य (कल्पना) की नाई प्रकट आकारवाली, सहस्रों शाखाओंवाली होती हुई भी वह सत्य से रहित है और परमार्थतः कुछ भी नहीं है। यह दृश्य जगत् की भ्रान्ति अविद्या कहलाती है क्यों वह वस्तुतः ऐसे विद्यमान नहीं है जैसे मृगतृष्णा की नदी में जल नहीं होता। ब्रह्म ने अपनी सत्ता द्वारा अपने भाव अविद्या को धारण कर रक्खा है; इसी कारण से असत्य होते हुए भी वह सत्य सी जान पड़ती है। असत्यरूप अविद्या का यह स्वभाव है कि जब उसका ज्ञान हो जाता है तब ही वह नष्ट हो जाती है और फिर दिखाई नहीं पड़ती।

(अ) चित्त ही अविद्या है :—

चित्तमेव सकलाडम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि।
सा विचित्रकेन्द्रजालवशादिदमुत्पादयति।
अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नास्ति
वृक्षतरुशब्दयोरिव॥ (३।११६।८)

चित्त को ही सारे आडम्बर को उत्पन्न करने वाली अविद्या समझना चाहिये। वह ही विचित्र इन्द्रजाल शक्ति द्वारा इस जगत को उत्पन्न करती है। जैसे वृक्ष और तरु शब्द एक ही वस्तु के नाम हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है, वैसे ही अविद्या, चित्त, जीव और बुद्धि आदि में कोई भेद नहीं है।

(आ) अविद्या की असत्ता :—

कृत्वा [illegible] प्रबोधाय। (६।९१।१७)
नामैवेदमविद्येति भ्रममात्रमसद्विदुः।
न विद्यते या सा सत्या कोऽह्याम भवेत्किल॥ (६।४९।१४)

ब्रह्मतत्त्वमिदं सर्वमासीदस्ति भविष्यति।
निर्विकारमनाद्यन्तं नाविद्यास्तीति निश्चयः॥ (६।४०।११)

[illegible] एषा कथं चेति विकल्पामनुदाहरन्।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः॥ (६।५२।७)

'अविद्या' शब्द की रचना शास्त्रों ने बोध कराने के लिये की है। अविद्या असत्य और भ्रममात्र है, केवल नाम-मात्र है। जो वास्तव में है ही नहीं उसका नाम ही क्या होगा। केवल ब्रह्म तत्त्व ही सब कुछ है, था और होगा। वह निर्विकार और अनादि और अनन्त है। अविद्या नाम का और कोई तत्त्व नहीं है—यह निश्चय है। अविद्या कहाँ से आई? कैसे आई? इन प्रश्नों के करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञान द्वारा यह जान लोगे कि न यह है और न और कुछ है।

(७) माया :—

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया॥ (३।७०।१८)
ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति॥ (४।४१।१५)
विवेकमाच्छादयति जगन्ति जनयत्यलम्।
न च विज्ञायते कैषा पश्याश्चर्यमिदं जगत्॥ (४।४१।१६)
अप्रेक्ष्यमाणा स्फुरति प्रेक्षिता तु विनश्यति।
मायेयमपरिज्ञायमानरूपैव वल्गति॥ (४।४१।१७)
नूनं स्थितिमुपायाता समासाद्य पदं स्थिता।
कुतो जातेयमिति ते राम मास्तु विचारणा॥ (४।४१।३२)
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि राघव॥ (४।४१।३३)
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्।
वस्तुतः किल नास्त्येषा विभात्येषा न वेक्षिता॥ (४।४१।३४)
उपदेश्योपदेशार्थं शास्त्रार्थप्रतिपत्तये।
शब्दार्थवाक्यरचनाभ्रमो मा तन्मयो भव॥ (४।४१।६)
शब्दार्थवाक्प्रपञ्चोऽयमुपदेशेषु कल्पितः।
सदाऽज्ञेषु न तज्ज्ञेषु विद्यते पारमार्थिकः॥ (४।४१।९)
कलनामलमोहादि किञ्चिन्नात्मनि विद्यते।
नीरागं ब्रह्म परमं तदेवेदं जगत्स्थितम्॥ (४।४१।१०)

ब्रह्म की अपार आदि और अन्त रहित चित्-शक्ति ही माया के रूप में प्रकट होती है। माया का स्वभाव कोई नहीं जानता; ज्ञान होते ही यह नष्ट हो जाती है और नाश होने पर यह सुख देती है। माया

क्या है यह नहीं जाना जाता; यह विवेक को नष्ट करके जगत् के अनुभव को उत्पन्न करती है। यह जब तक नहीं जानी जाती तभी तक सृष्टि करती है; जब इसका ज्ञान हो जाता है तब यह नष्ट हो जाती है। कैसे और कहाँ से यह उत्पन्न हुई है इस प्रकार के विचार करने की आवश्यकता नहीं है; विचार यह होना चाहिये कि मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ। जब यह अस्त होकर क्षीण हो जायेगी तब इसका स्वरूप समझ में आजायेगा। तब यह समझ में आजायेगा कि यह कहाँ से आई और क्या है और कैसे नष्ट हो जाती है। वस्तुतः माया कोई वस्तु नहीं है; केवल दिखाई ही पड़ती है। अधिकारी को उपदेश देने के लिये और शास्त्र का ज्ञान कराने के लिये यह शब्द, अर्थ और वाक्यों का भ्रम खड़ा किया गया है। उसमें नहीं फँसना चाहिये। यह सब बातें उपदेश के लिये रची गई हैं और अज्ञानी जनों के लिये ही हैं; वस्तुतः ज्ञानियों के लिये नहीं हैं। आत्मा में माया और मोह आदि कुछ भी नहीं हैं। परम ब्रह्म जो रागरहित है; और वही जगत् के रूप में स्थित है।

(८) मूर्खों के लिये ही जगत् सत्य है :—

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत् ॥ (३।४२।१)
यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ (३।४२।२)
ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम्।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ (३।४२।३)
यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी।
अर्थक्रियाकारी [illegible] तथा मूढधियां जगत् ॥ (३।४२।४)
अव्युत्पन्नस्य [illegible] कानके [illegible] यथा।
कटकज्ञप्तिरेवास्ति न मनागपि हेमधीः ॥ (३।४२।५)
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा।
दृश्यं दृश्यदृगेवास्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥ (३।४२।६)
येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम्।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम् ॥ (३।२८।१३)
दीर्घसंसारमायेयं राम राजसतामसैः।
धार्यते [illegible] पुरुषैरिव [illegible] ॥ (५।५।२)

सत्त्वस्थजातिभिर्धीरैस्त्वादृशैर्गुणबृंहितैः ।
हेलया त्यज्यते पक्वा मायेयं त्वगिवोरगैः ॥ (६।६।३)

यह झूठा जगत् उस पुरुष के लिये वज्र के समान दृढ़ सारवाला है जिसकी बुद्धि में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है और जो परम पद में स्थित नहीं हुआ है। जैसे बाल को वास्तव में न होता हुआ भूत मौत तक का दुःख देता है वैसे ही मूढ़ बुद्धि वाले के लिये यह जगत् दुःख देनेवाला है। जैसे असत्य मृगतृष्णा का जल मृगों के चित्त में भ्रम पैदा कर देता है वैसे ही यह जगत् मूर्खों के लिये है। जैसे स्वप्न की झूठी मौत सत्य सी अनुभव में आकर दुःख देती है वैसे ही मूर्खों के लिये यह जगत् है। जैसे नासमझ आदमी के लिये सोने के गहनों में सोने का भाव न होकर केवल गहने का भाव ही रहता है, वैसे ही मूर्ख को इस दृश्य जगत् में शहर, महल और पहाड़ आदि की भावना होती है; परमार्थ की भावना नहीं होती। जिसको ज्ञान हो गया है उसके लिये तो यह जगत् आकाश से भी शून्य है, और जो अज्ञानी है उसके लिये यह वज्र और पहाड़ के समान कठोर है। जैसे मण्डप मज़बूत खम्भों के ऊपर खड़ा होता है वैसे ही यह संसार की माया रजोगुण और तमोगुण वाले पुरुषों के ऊपर टिकी हुई है। हे राम! तेरे जैसे सत्त्व गुणवाले पुरुष इस माया को सहज में ही इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे कि साँप अपनी केंचुली को त्याग देते हैं।

(९) जब तक अज्ञान है तभी तक जगत् का अनुभव है :—

यावदज्ञानकलना यावदब्रह्मभावना ।
यावदास्था जगज्जाले तावच्चित्तादिकल्पना ॥ (३।२।३०)

देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन्यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥ (३।२।३१)

यावन्नोदितमुच्चैस्त्वं सज्जनासङ्गसङ्गतः ।
यावन्मौर्ख्यं न संक्षीणं तावच्चित्तादिनिम्नता ॥ (३।२।३२)

यावच्छिथिलतां यातं नेदं भुवनभावनम् ।
सम्यग्दर्शनशक्त्यान्तस्तावच्चित्तादयः स्फुटाः ॥ (३।२।३३)

यावदज्ञत्वमन्धत्वं वैवश्यं विषयाशया ।
मौर्ख्यान्मोहसमुच्छ्रायस्तावच्चित्तादिकल्पना ॥ (३।२।३४)

यावदाशाविषामोदः परिस्फुरति हृद्वने ।
प्रविचारचकोरोऽत्र तावत्प्रविशत्यलम् ॥ (६ २।३९)

जब तक अज्ञान है, जब तक ब्रह्मभावना का उदय नहीं हुआ, जब तक जगत् में आस्था है, तभी तक चित्त आदि की कल्पना दृढ़ रहती है। देह में जब तक अहंभाव है, दृश्य जगत् के साथ जब तक आत्मभाव है, जब तक "यह मेरा है" इस प्रकार की भावना है, तब तक यह भ्रम रहता है। जब तक सज्जनों की सङ्गत से उच्च भावनायें उत्पन्न नहीं हुई, जब तक मूर्खता क्षीण नहीं हुई, तब तक ही नीची अवस्था रहती है। जब तक कि सम्यक् दर्शन की शक्ति से अपने भीतर से जगत् की भावना मन्द नहीं पड़ गई है, तभी तक जगत् का अनुभव स्पष्ट है। जब तक अज्ञान, अन्धापन, विवशता, विषयों के ऊपर निर्भरता और मूर्खता के कारण मोह का प्रसार है तभी तक जगत् की कल्पना है। जब तक हृदयरूपी वन में आशारूपी विष की गन्ध फैली हुई है तब तक विचाररूपी चकोर का वहाँ प्रवेश नहीं होता।

(१०) ज्ञान से अविद्या का नाश :—

अविद्यैवमवमविज्ञाता चिरानन्तावभासते ।
परिज्ञाता तु नास्त्येव मृगतृष्णानदी यथा ॥ (६।१६०।८)
यथोदिते दिनकरे क्वापि याति तमस्विनी ।
तथा विवेकेऽभ्युदिते क्वाप्यविद्या विलीयते ॥ (३।११४।९)
यदा ब्रह्मात्मिकैवेयमविद्या नेतरात्मिका ।
तदास्त्येषाऽपरिज्ञाता परिज्ञाता न भिद्यते ॥ (६।१६०।१२)
एवमालोक्यमानैषा क्वापि याति पलायते ।
असद्रूपा ह्यवस्तुत्वाद्दृश्यते ह्यविचारणात् ॥ (६।१२०।३६)

अज्ञात अविद्या ही बहुत और अनन्त काल तक अनुभव में आती है। ज्ञात अविद्या मृगतृष्णा की नदी की नांई तुरन्त ही नष्ट हो जाती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात गायब हो जाती है वैसे ही विवेक के उदय होते ही अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या ब्रह्मात्मक है और किसी दूसरे तत्त्व के आश्रित नहीं है; इसलिये जब तक इसका ज्ञान नहीं होता तभी तक यह है। जब ज्ञान हो जाता है तब उसमें ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं रहता। असत्य और अवास्तविक होने के कारण यह

अविद्या विचार के बिना अनुभव में आती है; ज्ञान होने पर वह भाग जाती है।

(११) जगत् के भ्रम का क्षय :—

भोगेष्वनास्थमनसः शीतलामलनिर्वृतेः।
छिन्नाशापाशजालस्य क्षीयते चित्तविभ्रमः॥ (६।२।३६)
तृष्णामोहपरित्यागान्नित्यशीतलसंविदः।
पुंसः प्रशान्तचित्तस्य प्रबुद्धा त्यक्तचित्तभूः॥ (६।२।३७)
भावितानन्तचित्तस्वरूपरूपान्तरात्मनः।
स्वान्तावलीनजगतः शान्तो जीवादिविभ्रमः॥ (६।२।३९)
असम्यग्दर्शने शान्ते मिथ्याभ्रमकरात्मनि।
उदिते परमादित्ये परमार्थैकदर्शने॥ (६।२।४०)
अपुनर्दर्शनायैव दग्धसंशुष्कपर्णवत्।
चित्तं विगलितं विद्धि वह्नौ घृतलवं यथा॥ (६।२।४१)
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक्संवेदनात्क्षयः। (३।६७।६८)

जिसके मन में भोगों के प्रति लालसा नहीं है; जो शीतल, मल रहित और विरक्त है, जिसने आशा-रूपी पाशों के जाल को तोड़ दिया है, उसके लिये यह भ्रम क्षीण हो जाता है। जिसका मन तृष्णा और मोह को त्याग देने से सदा के लिये शीतल और शान्त हो गया है, उसकी बुद्धि चित्त की भूमि को त्याग कर प्रबुद्ध हो जाती है। जिसने अपने भीतर अपने अन्तरात्मा के अनन्त स्वरूप की भावना कर ली है और उसमें जगत् लीन कर दिया है, उसके लिये जीवत्व आदि का भ्रम शान्त हो जाता है। मिथ्या भ्रम को उत्पन्न करने वाले असत्य विश्वास के लीन होने पर परमार्थ मात्र के दर्शन कराने वाले परम ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर, चित्त इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे घी की बून्द आग पर पड़ने से; और फिर उसका अनुभव ऐसे नहीं होता जैसे कि सूखे पत्ते जल जाने पर दिखाई नहीं पड़ते। ब्रह्मा से लेकर कीड़े तक के (दृश्य) ज्ञान का क्षय सम्यक्-ज्ञान द्वारा होता है।

(१२) अविद्या के विलीन होने का नाम नाश नहीं है :—

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत्।
वस्तुतो यच्च नास्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः॥ (३।२१।१८)

रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्ट सत्यबोधवशात्सुत।
सर्पो न नष्ट उन्नष्टो वेत्येवं कैव सा कथा ॥ (३।२१।६९)
न विनश्यत एवेदं यतः पुत्र न विद्यते।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ (३।२१३।११)
यत्तु वस्तुत एवास्ति न कदाचन किञ्चन।
यद्भावात्म तद्राम कथं नाम विनश्यति ॥ (३।२१३।१२)

जो वास्तव में मौजूद होता है उसके लीन होने पर 'नाश' शब्द का प्रयोग उपयुक्त मालूम पड़ता है। जो वास्तव में है ही नहीं उसका नाश कैसा ? सत्य ज्ञान द्वारा जब रस्सी में दिखाई देने वाला साँप विलीन हो जाता है तो यह कहना कि सर्प नष्ट हो गया कुछ अर्थ नहीं रखता। जो मौजूद ही नहीं है वह नष्ट भी नहीं होता। और जो नहीं है (असत्य है) उसकी मौजूदगी (भाव) नहीं हो सकती, और जो सत्य है उसका अभाव कभी नहीं हो सकता। जो सत्य वस्तु है उसका कभी भी किसी प्रकार से अभावात्मक नाश नहीं हो सकता।

(१३) ज्ञान द्वारा जगत् आत्मा में विलीन हो जाता है :—

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ (३।९७।४४)

अस्पन्दस्य यथा वायोः सस्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम्।
अनन्यात्मा तथैवायं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ (३।९७।४५)

स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेह स्फुरत्यलम्।
अस्फुरन्ती च तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ (३।९७।४६)

जैसे वायु के झोंके वायु में लीन हो जाते हैं वैसे ही स्वप्न, भ्रम और संकल्प के पर्वत आदि पदार्थ संवित् में ही लीन हो जाते हैं। जैसे जब वायु शान्त हो जाती है तो चलनेवाली वायु उसी में लीन हो जाती है वैसे ही स्वप्न के पदार्थ संवित् में लीन हो जाते हैं। स्वप्न आदि अनुभवों में संवित् ही पदार्थों का रूप धारण कर लेती है। जब संवित् का स्पन्दन शान्त हो जाता है तो वे सब पदार्थ तद्रूप (संविद्रूप) हो जाते हैं।

२०—सब से ऊँचा सिद्धान्त

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही सत्य है। यहाँ पर योगवासिष्ठ का इससे भी ऊँचा सिद्धान्त वर्णन किया जायेगा जिसका नाम अजातवाद है। अजातवाद, जिसका कि वसिष्ठ, गौड़पाद और नागार्जुन ने विशेषता से प्रतिपादन किया है, दर्शन का सबसे ऊँचा और कठिनता से समझ में आनेवाला सिद्धान्त है। इसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति कभी न हुई और न होगी। वास्तव में जगत् है ही नहीं; जो है, वह ब्रह्म ही ब्रह्म है। संक्षेपतः यह सिद्धान्त योगवासिष्ठ के अनुसार इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है :—

जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन। (३।४।६७)
वस्तुतस्तु जगन्नास्ति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥ (४।४०।३०)

जगत् नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। वास्तव में जगत् है ही नहीं। सब कुछ केवल ब्रह्म ही है।

अब हम अजातवाद की योगवासिष्ठ के अनुसार विशेष व्याख्या करेंगे।

(१) भेद को मान लेना केवल अज्ञानियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने के लिये है :—

अप्रबुद्धदृशां पक्षे तत्प्रबोधाय केवलम्।
वाच्यवाचकसम्बन्धकृतो भेदः प्रकल्प्यते ॥ (३।१००।४)
अविद्येयमयं जीव इत्यादिकलनाक्रमः।
अप्रबुद्धप्रबोधाय कल्पितो वाग्विदां वरैः ॥ (६।४९।१७)
काचिद्वा कलना यावन्न नीता राघव प्रथाम्।
उपदेश्योपदेशश्रीस्तावल्लोके न शोभते ॥ (३।९५।९)
अतो भेददृशादीनामङ्गीकृत्योपदिश्यते।
ब्रह्मेदमेते जीवा नै वेति वाचमयं [illegible] ॥ (३।९५।६)
अप्रबुद्धजनाचारो यत्र राघव दृश्यते।
तत्र ब्रह्मण उत्पन्ना जीवा इत्युक्तयः स्थिताः ॥ (३।९५।३)

उपदेशाय शास्त्रेषु जातः शब्दोऽथवार्थजः ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यालक्षणपक्षवान् ॥ (३।८४।१९)
भेदो दृश्यत एवायं व्यवहारान्न वास्तवः ।
वेतालो बालकस्येव कार्यार्थं परिकल्पितः ॥ (३।८४।२०)
कार्यकारणभावो हि तथा स्वस्वामिलक्षणम् ।
हेतुश्च हेतुमांश्चैवावयवावयविविभ्रमः ॥ (३।८४।२२)
व्यतिरेकाव्यतिरेकौ परिणामादिविभ्रमः ।
तथा भावविलासादि विद्याविद्ये सुखासुखे ॥ (३।८४।२३)
एवमादिमयी मिथ्यासङ्कल्पकल्पना मिता ।
अज्ञानमवबोधार्थं न तु भेदोऽस्ति वस्तुनि ॥ (३।८४।२४)

अज्ञानियों की दृष्टि का पक्ष लेकर केवल उनको ज्ञान कराने के लिये भेद की कल्पना की जाती है। विद्वान् लोग अज्ञानियों को उपदेश देने के लिये ही इस प्रकार की बातें मान लेते हैं कि यह अविद्या है, यह जीव है। जब तक किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं की जाती तब तक उपदेश भी नहीं किया जा सकता। इसीलिये यह ब्रह्म है, ये जीव हैं, इस प्रकार के भेद को मान कर ही उपदेश किया जाता है। जहाँ पर अज्ञान का व्यवहार दिखाई पड़े वहाँ पर इस प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है कि ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में "उत्पत्ति" शब्द उपदेश के लिये ही प्रयुक्त होता है। जैसे बालक को समझाने के लिये "भूत" की कल्पना की जाती है वैसे ही व्यवहार के लिये ही भेद की कल्पना की जाती है। कार्य-कारण, स्व-स्वामी, हेतु हेतुमान्, अवयव-अवयवी, व्यतिरेक-अव्यतिरेक, परिणाम-परिणामी, भाव-अभाव, विद्या-अविद्या, सुख-दुःख आदि भेदों की मिथ्या कल्पना अज्ञानियों को उपदेश देने के लिये ही की जाती है; वास्तव में भेद है ही नहीं।

(२) परम सिद्धान्त :—

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्यास्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लमम् ॥ (६।१२५।१)
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यं चिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन ॥ (३।११४।१४)
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् । (३।४।६८)
सर्वमेकमनाद्यन्तमविभागमखण्डितम् ॥ (३।८४।२६)

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चेत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥ (३।११४।१६)
चेत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्त्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥ (३।११४।१२)
तस्मान्नैवाविचारोऽस्ति नाऽविद्यास्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ (३।२१।७२)
बुधानामस्मदादीनां न किंचिन्नाम जायते ।
न च नश्यति वा किञ्चित्सर्वं शान्तमजं च सत् ॥ (६।१४६।११)
परे शान्ते परं नाम स्थितमित्थमिदन्तया ।
नेह सर्गो न सर्गाख्या काचिदस्ति कदाचन ॥ (३।११९।२९)
न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥ (३।११४।१९)
न जगन्नापि जगती शान्तमेवाखिलं स्थितम् ।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्मात्मनात्मनि ॥ (३।१३।९१)
नाधेयं तत्र नाधारो न दृश्यं न च द्रष्टृता ।
ब्रह्माण्डं नास्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित् ॥ (३।१३।९०)
तेन जातं ततो जातमितीयं [illegible] गिराम् ।
[illegible]संव्यवहारार्थं न राम परमार्थतः ॥ (४।४०।१७)
न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम् ।
न शून्यं न [illegible] नो चिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥ (३।४।७०)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि परमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (६।१४६।२१)
वस्तुतस्त्वस्ति न स्वप्नो न जाग्रन्न सुषुप्तता ।
न तुर्यं न ततोऽतीतं सर्वं शान्तं परं नभः ॥ (६।१६७।१८)

अध्यात्म शास्त्रों का सब से ऊँचा सिद्धान्त यही है कि न अविद्या है, न माया है, केवल शान्त ब्रह्म ही सब कुछ है। सब कुछ नित्य चिद्रूप ब्रह्म ही है; मन नाम की कोई कल्पना नहीं है। सब कुछ अजर, अमर, अव्यय, अनादि, अनन्त और खण्ड और विभाग रहित परम ब्रह्म ही है। सर्व सामान्य लक्षणवाला, चेत्य की भावना रहित, प्रकाशमय, चिन्मात्र ब्रह्म ही है; और कुछ नहीं है। सामान्य रूप से सब जगह रहनेवाला, चेत्यता रहित, अवर्णनीय चित् तत्त्व ही परमात्मा ईश्वर है। न अज्ञान है, न अविद्या है, न बन्धन है, न मोक्ष है। जो है वह

विरोध रहित, शुद्ध बोध ही प्रकाशित हो रहा है (वसिष्ठ जी कहते हैं) हम जैसे ज्ञानियों की दृष्टि में न कुछ उत्पन्न होता है, न कुछ नष्ट होता है। न कुछ है ही। जो है वह शान्त और अजन्म ब्रह्म ही है। परम शान्त ब्रह्म में ब्रह्म ही इस प्रकार स्थित है। न सृष्टि है और न सृष्टि के नाम की ही कोई वस्तु है। तीनों लोकों में न कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही होता है। यहाँ पर किसी भी विकार का अस्तित्व नहीं है। जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है; आत्मा ही आत्मा में प्रकाशित हो रहा है। न आधार है न आधेय है, न दृश्य है और न द्रष्टा है, न ब्रह्मा है और न ब्रह्माण्ड है, न और किसी प्रकार का झगड़ा है "जगत् उसने पैदा किया है, उससे उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार की बातें शास्त्र और व्यवहार के लिये ही हैं, वास्तविक नहीं हैं। न दृश्य सत्य है न द्रष्टा, न दर्शन। न शून्यता सत्य है, न जड़ता, न चेतनता। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है। परमार्थ जानने-वालों के लिये जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि कुछ नहीं है; जो है सो है। वास्तव में न स्वप्न है न जाग्रत्, न सुषुप्ति, न तुर्या और न तुर्यातीत पद। जो कुछ है वह सब शान्त ब्रह्म ही है।

(३) ब्रह्म को जगत् का कर्ता नहीं कह सकते :—

अनाख्योऽप्रतिघः स्वात्मा निराकारो य ईश्वरः ।
स करोति जगदिति हासायैव वचोऽधियाम् ॥ (६।१८।८)

नेदं कर्तृकृतं किंचिन्न वा कर्तृकृतक्रमम् ।
स्वयमाभासते चेदं कर्त्रकर्तृपदं गतम् ॥ (४।१६।१)

अकर्तृकर्मकरणमकारणमबीजकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्म कर्तृ कथं भवेत् ॥ (६।१९।१३)

निराकार ईश्वर जो कि विरोध रहित अपना आत्मा है और जिसके स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता जगत् की उत्पत्ति करता है, यह उक्ति हास्यजनक है। यह जगत् किसी का बनाया हुआ नहीं है, न इसमें किसी के बनाने का क्रम दिखाई पड़ता है। स्वयं वही प्रकाशित हो रहा है। वह ब्रह्म भला जगत् का कर्ता कैसे हो सकता है जो ज्ञान और तर्क से परे है और जिसके लिये कर्ता, कर्म, करण, कारण, और बीज आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता ?

(४) ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता :—

अपुनः प्रागवस्थानं यत्स्वरूपविपर्ययः ।
तद्विकारादिके तात यत्क्षीरादिषु वर्तते ॥ (६।४९।२)
पयस्तां पुनरभ्येति दधित्वान्न पुनः पयः ।
बुद्बुमाद्यन्तमध्येषु ब्रह्म ब्रह्मैव निर्मलम् ॥ (६।४९।३)
क्षीरादेरिव तेनास्ति ब्रह्मणो न विकारिता ।
अनाद्यन्तविभागस्य न चैषोऽत्रयविक्रमः ॥ (६।४९।३)
आत्मा त्वाद्यन्तमध्येषु समः सर्वत्र सर्वदा ।
स्वमप्यन्यत्वमायाति नात्मतत्त्वं कदाचन ॥ (६।४९।८)
अरूपत्वात्तथैकत्वान्नित्यत्वादयमीश्वरः ।
वशं भावविकाराणां न कदाचन गच्छति ॥ (६।४९।९)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते ।
कारणं क्वचिदेवेह किंचिद्भवितुमर्हति ॥ (६।१९१।१४)
न ह्यन्यजनकाद्यास्ताः सम्भवन्त्युक्तयः परे ।
एकमेव ह्यनन्तत्वात्किं कथं जनयिष्यति ॥ (४।४०।२६)
सर्वस्मात्सर्वगात्तस्मादनन्तात्ब्रह्मणः पदात् ।
नान्यत्किञ्चित्संभवति तदुत्थं यत्तदेव तत् ॥ (४।४०।३४)
यादृगाद्यन्तयोर्वस्तु तादृगेव तदुच्यते ।
मध्ये यस्य यदन्यत्वं तद्वो राद्विजृम्भितम् ॥ (६।४९।७)
समस्याद्यन्तयोर्येयं दृश्यते विकृतिः क्षणात् ।
संविदः सम्भ्रमं विद्धि नाऽविकारेऽस्ति विक्रिया ॥ (६।४९।९)

इस प्रकार की रूप की तबदीली को जिसमें वस्तु फिर अपने पहिले रूप को न प्राप्त हो सके विकार कहते हैं; जैसे दूध से दही बन जाना। जब दूध दही बन जाता है तो फिर वह दूध नहीं बन सकता। लेकिन ब्रह्म तो जगत् के आदि, मध्य और अन्त में भी ब्रह्म ही रहता है। इस लिये जिसमें आदि और अन्त का विभाग नहीं हो सकता और जिसमें अवयवों की विक्रिया नहीं हो सकती उस ब्रह्म में उस प्रकार का विकार जो दूध से दही बनने में होता है, नहीं हो सकता। ईश्वर में किसी प्रकार की तबदीली (उत्पत्ति, वृद्धि, नाश आदि) सम्भव नहीं है, क्योंकि वह रूपरहित है, एक है, और नित्य है। अविकार और अजर कारण बिना नाशको प्राप्त हुए कैसे विकारवान हो सकता है?

इसलिये परम ब्रह्म के सम्बन्ध में उत्पन्न और उत्पादक आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता; क्योंकि वह एक और अनन्त होने से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं कर सकता। वस्तु का मध्य में भी वही रूप होना चाहिये जो आदि और अन्त में होता है। यदि मध्य में कोई दूसरा रूप दिखाई पड़ने लगे तो उसे भ्रममात्र समझना चाहिये। सदा एक समान रूपवाले ब्रह्म की जो क्षणिक विकृति दिखाई पड़ती है उसे अज्ञानजनित भ्रम समझना चाहिये, क्योंकि वास्तव में विकार रहित वस्तु में विकार होना असम्भव है।

(५) ब्रह्म को जगत् का कारण कहना ठीक नहीं है :—

नित्यानन्दतयाऽस्य कारणं नास्ति कार्यकृत्। (६।१०।१०)
स्वसत्तायां स्थितं ब्रह्म न बीजं न च कारणम् ॥ (६।१७।२)
संस्थितं सर्वदा सर्वं सर्वाकारमिवोदितम्।
अदृश्यत्वादलभ्यत्वान्न तत्कार्यं न कारणम् ॥ (६।१६।२६)
आख्यानाख्यास्वरूपस्य निराभासप्रभादृशः।
सतो वाप्यसतो वाथ कथं कारणता भवेत् ॥ (६।१६।२८)
यदि कारणतापत्तियोग्यं शान्तं पदं भवेत्। (६।१७।८)
अनिङ्गितमनाभासमप्रतर्क्यं कथं भवेत् ॥ (६।१७।९)
न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत्।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ (६।६३।१७)
न चाविकारमजरं सविकारं क्षयादृते।
कारणं क्वचिदेवेह किञ्चिद्भवितुमर्हति ॥ (६।११९।१४)
न हि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित्। (३।१८।१८)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ॥ (६।१९०।९)
सम्पद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्रावलोक्यते ॥ (३।१८।२०)
न ब्रह्मजगतामस्ति कार्यकारणतोदयः।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम् ॥ (३।२१।३७)

अजन्मा परमात्मा नित्य ही आनन्द से परिपूर्ण है। इसलिये वह जगत्‌रूपी कार्य का कारण कैसे हो सकता है? अपनी ही सत्ता में स्थित ब्रह्म न किसी का कारण है और न बीज। वह सदा ही सर्व आकारों में स्थित है, लेकिन न दिखाई देता है और न प्राप्त होता है।

इसलिये न वह कारण है और न कार्य (कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु ब्रह्म तो सब ही आकारों में समान रूप से मौजूद है। इस लिये न वह कारण है और न कार्य। जिसका रूप ऐसा है जो वर्णन में न आ सके और जिसका प्रकाश किसी दूसरे प्रकाश के आधीन नहीं है, जो सत् और असत् दोनों हो है, भला वह कारण कैसे हो सकता है? यदि वह कारण हो सकता है तो अवर्णनीय, स्वयंप्रकाश और अतर्क्य कैसे रह सकता है? आदि और अन्त रहित, निराकार ब्रह्म भला अब्रह्म रूप, साकार, दृश्य जगत् का कारण कैसे हो सकता है? अविकार और अजर ब्रह्म बिना क्षय को प्राप्त हुए विकार वाले जगत् का कारण कैसे हो सकता है? जैसा कार्य होता है वैसा ही उसका कारण समझना चाहिये। लेकिन ज्ञान ज्ञेय कैसे हो सकता है? जो कार्य सहकारी (कार्य के उत्पादन में कारण की सहायता करनेवाले) कारणों की सहायता से उत्पन्न होता है वही मुख्य कारण से भिन्न रूप का हो सकता है। लेकिन ब्रह्म के साथ दूसरे सहकारी कारण न होने से ब्रह्म से भिन्न जगत् रूपवाला कार्य कैसे उत्पन्न हो सकता है?

(६) ब्रह्म को जगत् का बीज भी नहीं कह सकते :—

यद् बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये।
भूते च एवमग्रस्त्वमेतत्तस्यास्ति शैशवम् ॥ (४।१।२१)
मनः षष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादतितरामणु।
बीजं तद्भवितुं शक्तं स्वयंभूर्जगतां कथम् ॥ (४।१।२५)
आकाशादपि सूक्ष्मस्य परस्य परमात्मनः।
सर्वाख्यानुपलंभस्य कीदृशी बीजता कथम् ॥ (४।१।२६)
गगनाङ्गादपि स्वच्छे शून्ये तत्र परे पदे।
कथं सन्ति जगन्मेरुसमुद्रगगनादयः ॥ (४।१।२८)
मेरुरास्ते कथमणौ कुतः किञ्चिद्घनाकृतौ।
तदतद्रूपयोरैक्यं क्व छायातपयोरिव ॥ (४।१।३२)
साकारवटधानादावङ्कुराः सन्ति युक्तिमत्।
नाकारे तन्महाकारं जगदस्तीत्ययुक्तिकम् ॥ (४।१।३३)
यत्तु ब्रह्म परं शान्तं का तत्राकारकल्पना।
परमाणुत्वयोगेऽपि तस्य केवात्र बीजता ॥ (६।५४।२२)

जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ (६।६४।२४)
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ (६।६४।२६)
यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च विसता सहकारिभिः ॥ (६।६४।२०)
सहकारीकारणानामभावे त्वङ्कुरोद्गतिः ।
वन्ध्याकन्येव दृष्टेह न कदाचन केनचित् ॥ (४।२।३)
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ (६।६४।२१)
बीजं जहद्बीजवपुः फलीभूतं विलोक्यते ।
ब्रह्माजहन्निजवपुः फलं बीजे च संस्थितम् ॥ (४।१८।२४)
बीजोदरे तु या सत्ता बीजमेव हि सा भवेत् ।
बीजेऽङ्कुरोऽङ्कुरतया संश्रितो नोपलभ्यते ॥ (६।१६६।३४)
ब्रह्मणोऽन्तर्जगत्तैवं जगत्तैवोपलभ्यते ।
अस्ति चेत्तद्भवेन्नित्यं सा ब्रह्मैवाविकारि तत् ॥ (६।१६६।३६)
अविकारादनाकाराद्विकार्याकृतिभासुरम् ।
उदेतीति किलास्माभिर्नैव दृष्टं न च श्रुतम् ॥ (६।१६६।३६)
अनाकृतावाकृतिमन्न चैतत्स्थातुमर्हति ।
परमाणौ न चैवान्तरिव सम्भान्ति मेरवः ॥ (६।१६६।३७)
समुद्गके रत्नमिव जगद्ब्रह्मणि तिष्ठति ।
महाकारं निराकारे इत्युन्मत्तवचो भवेत् ॥ (६।१६६।३८)
शान्तं परं च साकारस्याधार इति राजते ।
न वक्तुं राजते क्वेव साकारस्याविनाशिता ॥ (६।१६६।३६)

जो व्यक्ति यह कहता है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म में इस प्रकार रहता है जैसे बीज में अंकुर रहता है वह अपने अज्ञान और शैशव का परिचय देता है। जो स्वयम्भू ब्रह्म मन और इन्द्रियों से भी अतीत है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म रूपवाला है, वह भला जगत् का बीज कैसे हो सकता है? आकाश से भी सूक्ष्म और संख्या आदि से अतीत ब्रह्म भला कैसे बीज हो सकता है? जगत् सुमेरु-पर्वत, आकाश आदि भला आकाश से भी सूक्ष्म परम ब्रह्म में कैसे मौजूद रह सकते हैं। आकृति रहित परम सूक्ष्म ब्रह्म में जगत्, जो उससे इतना भिन्न है

जितनी धूप से छाया, कैसे रह सकता है ? आकारवाले बड़ के बीज में बड़ का अंकुर रहे यह तो युक्तियुक्त भी जान पड़ता है, लेकिन परम शान्त ब्रह्म में आकारवाला जगत् रहे यह समझ में नहीं आ सकता। ब्रह्म में किसी आकार की कल्पना करना ठीक नहीं है। इसलिये वह बीज नहीं हो सकता। जगत् परम अणु (सूक्ष्म) ब्रह्म के भीतर रहता है यह ऐसी ही अज्ञान जन्य कल्पना है जैसे यह कहना कि सरसो के कण के भीतर सुमेरु-पर्वत। जब बीज ही मौजूद हो तब ही कार्य कारण की परिभाषा का प्रयोग होता है। निर्विकार न किसी का बीज ही हो सकता है और न उससे किसी की उत्पत्ति हो सकती है। जब बीज़ मौजूद होता है तभी सहकारी कारणों द्वारा अंकुर और शाखा आदि फैलते हैं। सहकारी कारणों के बिना भी बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती; यह कहना कि होती है ऐसा कहना है कि बाँझ स्त्री के यहाँ कन्या उत्पन्न हुई है—जो कभी देखी न सुनी। जब सब प्राणियों का प्रलय हो गया तो उस समय आकारवाला कौन सा बीज रह गया और कौन से उसके सहकारी कारण रह गये जिनसे जगत् की उत्पत्ति हो जाये ? (दूसरी बात यह है कि) बीज से जब अंकुर की उत्पत्ति होती है तो बीज का पूर्वरूप नष्ट हो जाता है; लेकिन ब्रह्म का रूप तो सदा ही एक समान रहता है। बीज के भीतर जो सत्ता होती है वह बीज के ही आकार की होती है, अंकुर के आकार की नहीं। बीज में अंकुर कहीं दिखाई नहीं देता। लेकिन ब्रह्म के भीतर रहनेवाला जगत् तो जगत् ही दिखाई पड़ता है। लेकिन यदि ब्रह्म में जगत् सदा ही रहे तो वह ब्रह्म के समान नित्य और विकार-रहित होगा। अविकार और अनाकार से विकार और आकारवाले की उत्पत्ति होना न देखा है और न सुना। यदि आकाररहित में आकारवाला रह सकता है तो परमाणु के भीतर भी सुमेरु रह सकता है। जो यह कहता है कि जगत् ब्रह्म में इस प्रकार रहता है जैसे कि डिबिया में रत्न, वह उन्मत्त है। परम शान्त ब्रह्म आकारवाले जगत् का आधार है यह कहना उचित नहीं है। आकारवाला कभी नाशरहित नहीं हो सकता।

(७) कारण रहित होने से जगत् भ्रममात्र है :—

कारणं यस्य [illegible] भूमिपाल न विद्यते।
विद्यते नेह तत्कार्यं तत्संवित्तिस्तु विभ्रमः ॥ (६।९४।९४)

अकारणं तु यत्कार्यं संदिवाग्रेऽनुभूयते ।
तद्द्रष्टुर्विभ्रमाद्विद्धि मृगतृष्णाजलोपमम् ॥ (६।९४।९६)
कारणाभावतः कार्यमभूत्वा भवतीति यत् ।
मिथ्याज्ञानादृते तस्य न रूपमुपपद्यते ॥ (६।९९।९९)
कारणाभावतः कार्यं न कस्यचिदिदं जगत् ।
अकारणत्वादकार्यत्वं भ्रमाद्विद्धि त्विदं जगत् ॥ (६।९९।१७)
कारणेन विना कार्यं किम किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ (६।९४।१९)
यस्त्वकारणको भाति न स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण संकल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ (६।९४।१६)
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम् । (३।३।२८)
स्वरूपमजहत्त्येव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ (६।९४।१७)

जिस कार्य का कोई कारण नहीं वह कार्य वास्तविक नहीं होता, वह केवल दृष्टि का भ्रम है। जो कारण रहित कार्य प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़े उसे मृगतृष्णा के जल के समान देखने वाले की दृष्टि का भ्रम समझो। बिना कारण के जो कार्य होता है उसका स्वरूप भ्रम से अतिरिक्त कुछ नहीं होता। इसलिये कारण न होने से जगत् वास्तविक कार्य नहीं है, भ्रममात्र है। बिना कारण के कार्य कैसे हो सकता है ? यदि कहीं दिखाई पड़े तो उसे भ्रम समझो – जैसे बिना पुत्र वाले को पुत्र का दर्शन। जो कारण रहित जगत् दिखाई दे रहा है वह आत्मा ही के भीतर संकल्प और गन्धर्व नगर के समान मिथ्या दृष्टि उदय हो रही है। जगत् का विवर्त (भ्रम) है। वास्तव में जगत् और ब्रह्म एक ही हैं।

(८) जगत् का दृश्य स्वप्न के समान है :—

स्वप्ने चिन्मात्रमेवाद्य स्वयं भाति जगत्तया ।
यथा तथैव सर्गादौ नात्रान्यदुपपद्यते ॥ (६।१७६।९)
तस्मात्स्वप्नवदाभासः संविदात्मनि संस्थितः ।
सर्गादिनानाकृतिना परमात्मा निराकृतिः ॥ (६।१९९।४४)

जैसे स्वप्न में चिति जगत् का आकार धारण कर लेती है ठीक वैसे ही सृष्टि के आदि में भी चिति में जगत् का दृश्य उदय होता है। इसलिए संवित् रूप आत्मा में स्वयं निराकार परमात्मा ही जगत् के रूप में प्रकट हो रहा है।

(९) अजातवाद :—

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ (३।११।९)
यथा स्वप्नेऽवनिर्नास्ति स्वानुभूताऽपि कुत्रचित् ।
तथेयं दृश्यता नास्ति स्वानुभूताप्यसन्मयी ॥ (३।११।२२)
न किञ्चिदपि सम्पन्नं न च जातं न दृश्यते । (३।१३।४०)
न मिथ्यात्वं न सत्यत्वं किमपीदमजं ततम् ॥ (३।११९।२३)
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते । (३।९३।१९)
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ॥ (३।९३।१६)
यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम् ।
कटकत्वं तु नैवास्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ (३।११।८)
हेम्न्यूर्मिकारूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नास्ति च ब्रह्मणि ॥ (३।२१।३३)
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि ।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ (३।१९।६)
पिण्डग्रहो जगत्यस्मिन्विज्ञानाकाशरूपिणि ।
मरुनद्यां जलमिव न सम्भवति कुत्रचित् ॥ (३।१९।७)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादिपरमार्थविदां विदाम् ।
न विद्यते किञ्चिदपि यथास्थितमवस्थितम् ॥ (३।१४६।२१)
स्वप्नसङ्कल्पपुरयोर्नास्त्यप्यनुभवस्थयोः ।
मनागपि यथा रूपं सर्गादौ जगतस्तथा ॥ (३।१४६।२२)
जगत्संविद्धि जातायामपि जातं न किञ्चन । (३।१३।४८)
परमाकाशमाशून्यमच्छमेव व्यवस्थितम् ॥ (३।१३।४९)
जातशब्दो हि सन्मात्रपर्यायः श्रूयतां कथम् ।
प्रादुर्भावे जनिस्तूक्तः प्रादुर्भावस्य भूर्वपुः ॥ (३।१४६।१६)
सत्तार्थ एव भूः प्रोक्तस्तस्मात्सञ्जातमुच्यते ।
सर्गतो जात इत्युक्ते संसर्ग इति शब्दितम् ॥ (३।१४६।१७)
एवं न किंचिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥ (३।२१।२४)
तस्माद्राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति ।
चेतनाकाशमेवाशु कचतीत्थमिवात्मनि ॥ (४।२।८)

जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न नाश होती है और न है ही। जब है ही नहीं तो उसकी उत्पत्ति और नाश का क्या कहना है? जैसे स्वप्न में अनुभूत होने पर भी पृथ्वी कहीं नहीं है वैसे ही अनुभव में आनेवाली दृश्यता भी कहीं नहीं है। न कुछ उत्पन्न हुआ है, न कुछ है और न कुछ वास्तव में दिखाई ही पड़ता है। न मिथ्यात्व है, न सत्यत्व है। जो है वह अजन्मा है। कारण के अभाव से जगत् न उत्पन्न हुआ है और न है। जो अकारण है उसकी सत्ता नहीं होती। जैसे सोने के कड़े में कड़ापन दिखाई देने पर सोने से अतिरिक्त कड़े की कोई सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं है। जैसे अँगूठी के आकारवाले सोने में अँगूठी की कोई सत्ता नहीं है वैसे ही ब्रह्म में जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। जैसे स्वप्न और संकल्प में अनुभूत होने पर भी पृथ्वी आदि नहीं होती वैसे ही अनुभव में आनेवाला जगत् भी शून्य ही है। इस शून्य, विज्ञानआकारवाले जगत् में स्थूलता तनिक भी नहीं है; जैसे मरुस्थल में उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की नदी में जल नहीं होता। परमार्थ को जाननेवालों के लिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि कुछ भी नहीं है—जो है सो है। जैसे स्वप्न और संकल्प के जगत् अनुभव में आने पर भी असत् हैं वैसे ही दृश्य जगत् भी असत् है। जगत् का दृश्य दिखाई देने पर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है। परम आकाश शुद्ध रूप से स्थित है। "जात" (उत्पन्न) होने का अर्थ धातु के अनुसार वर्तमान ही है। कैसे? सुनो! जात का अर्थ है "प्रादुर्भूत"। प्रादुर्भूत में "भू" धातु है। भू का अर्थ सत्तात्मक है। इसलिये जात शब्द का अर्थ सत् ही है। इसलिये जगत् उत्पन्न नहीं हुआ। इसलिये जगत् नाम की कोई वस्तु न उत्पन्न हुई है और न है। केवल चिदाकाश ही अपने में स्थित है! हे राम जगत् न उत्पन्न हुआ है न है और न होगा। चेतमाकाश ही अपने आप में प्रकाशित हो रहा है।

(१०) यह सिद्धान्त उसको नहीं बताना चाहिये जो इसका अधिकारी नहीं है :—

अर्धव्युत्पन्नबुद्धेस्तु नैतद्वक्तं हि शोभते।
दृश्यानया भोगदृशा भावयन्नेष नश्यति॥ (४।३९।२१)

परां दृष्टिं प्रयातस्य भोगेच्छा नाभिजायते ।
सर्वं ब्रह्मेति सिद्धान्तः काले नामास्य युज्यते ॥ (४।३९।२२)
आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत् ।
पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥ (४।३९।२३)
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् ।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥ (४।३९।२४)
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः ।
नास्त्यविद्यामलमिति युक्तं वक्तुं महात्मनः ॥ (४।३९।२५)

जिसमें अभी बुद्धि का पूरा प्रकाश नहीं हुआ है उसको इस प्रकार के सिद्धान्त का उपदेश करना उचित नहीं है, क्योंकि वह इस सिद्धान्त को भोग की दृष्टि से काम में लाकर नाश की ओर प्रवृत्त होगा। जिसके चित्त में भोग की इच्छा न हो और जिसकी दृष्टि ऊँची हो गई हो उसी को "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकार का उपदेश देना चाहिये। पहिले शिष्य को शम, दम आदि अच्छे गुणों द्वारा शुद्ध करना चाहिये। तब उसको "यह शुद्ध ब्रह्म ही है" इस प्रकार का उपदेश करना चाहिये। जो अज्ञानी और अप्रबुद्ध को "सब कुछ ब्रह्म है" इस सिद्धान्त का उपदेश देता है वह उसे नरक की ओर प्रवृत्त करता है। जिसकी बुद्धि चेतन हो गई है, जिसके मन से भोग की इच्छायें निकल गई हैं और जिसको किसी प्रकार की आशायें नहीं हैं, उस महात्मा को ही यह उपदेश देना चाहिये कि न अविद्या है और न पाप है। और को नहीं।

२१—परमानन्द

ब्रह्म चिन्मात्र सत्ता ही नहीं है, आनन्द भी है। संसार और जीवन में जो आनन्द का लेश दिखाई पड़ता है वह ब्रह्मानन्द का ही आभास मात्र है। सारे प्राणी आनन्द की खोज में रहते हैं, किन्तु कोई भी आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह आनन्द की तलाश बाह्य विषयों में करता रहता है। आनन्द की प्राप्ति तभी होती है जब जीव बाहर के विषयों में उसकी खोज न करके अपने आत्मा में ही उसका अनुभव करने लगता है। संसार में आनन्द कहीं नहीं है। आनन्द केवल आत्मा में ही है। जब तक मनुष्य की दृष्टि बाहर के विषयों पर लगी रहती है तब तक वह दुःखी रहता है। विषयों को त्याग कर जब वह आत्मा में स्थित हो जाता है तब ही सुखी हो सकता है। योगवासिष्ठ का यह सिद्धान्त यहाँ पर विशेषतया प्रतिपादित किया जायेगा। योगवासिष्ठ के अनुसार सब ही प्राणी आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं :—

आनन्दायैव भूतानि यतन्ते यानि कानिचित्। (६।१०८।२०)

सब प्राणी आनन्द के लिये ही यत्न करते हैं।

लेकिन जीवन में आनन्द कहाँ है।

(१) विषयों के भोग दूर से देखने मात्र को अच्छे लगते हैं :—

आपातमात्रमधुरमावश्यकपरिक्षयम् ।
भोगोपभोगमात्रं मे किं नामेदं सुखावहम् ॥ (५।२२।३०)
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणा भोगभूमयः ॥ (६।६।८)

विषयों का भोग कभी भी सुख देनेवाला नहीं है, वह तो दूर से देखने मात्रको अच्छा लगता है और क्षण भर में क्षीण हो जाता है। संसार के सभी भोग आरम्भ में और दूर से अच्छे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन वे सब क्षणिक हैं, संसार में फँसाने वाले हैं, भय के उत्पादन करने वाले और अल्प काल में ही दुःख में तबदील हो जाने वाले हैं।

(२) संसार के सब सुख दुःखदाई हैं :—

सर्वस्या एव पर्यन्ते सुखाशायाश्च संस्थितम् । (४।९१।१६)
मालिन्यं दुःखमप्येवं ज्वालाया इव कज्जलम् ॥ (४।९१।१७)
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता ।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ (५।९।४१)
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरतापि च ।
सत्येष्वसत्यतार्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ (६।९३।११)
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥ (६।९३।३९)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ (६।९३।७३)
भोगा विषयसम्भोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक्स्पृष्टा दृष्टाः नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ (६।९३।७५)
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ (६।९३।७८)
शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ (६।९३।८४)
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ (५।९।५२)

जैसे अग्नि की ज्वाला के सिर पर धुएँ की कालस मौजूद रहती है वैसे ही संसार के सभी सुखों की आशाओं का अन्त दुःख में ही होता है। भाव का अन्त अभाव में, सौन्दर्य का अन्त कुरूपता में और सुख का अन्त दुःख में होता है—किसके पीछे दौड़ ? रम्य वस्तुओं में अरम्यता दिखाई पड़ती है; स्थिर पदार्थों में अस्थिरता; सत्य में असत्यता। इसी कारण मेरे लिये किसी वस्तु में रस नहीं रहा। विषय विष के समान दुःखदाई हैं; स्त्रियाँ काम के मोह में फँसाने वाली हैं; स्वादों का अन्त निरसता में होता है; इनके चक्कर में पड़ कर कौन नहीं मारा जाता ? संसार की जितनी सम्पत्तियाँ हैं वे सब आपत्तियाँ हैं, जितने सुख हैं वे सब दुःख देने वाले हैं; जीवन मरने के लिए है। विषयों के भोग साँपों के फणों की नाईं विषैले हैं; जहाँ ज़रा उनको स्पर्श किया कि फ़ौरन ही डँस लेते हैं। विषय भोग इतने क्षणिक हैं कि देखते-देखते उनका

अन्त हो जाता है। सम्पत्तियाँ और स्त्रियों का सौन्दर्य तरङ्गों के समान चलायमान हैं। कौन बुद्धिमान आदमी इनके सहारे ऐसे रहेगा जैसे कोई साँपो के फणों की छाया में बैठकर सुखी होगा? यौवन का सौन्दर्य ऐसा अस्थिर है जैसा कि शरदृऋतु के बादल की छाया; दूर से रम्य दिखाई पड़नेवाले विषय जीवन के अन्त तक दु:ख देते हैं। संसार तो दु:खों की अन्तिम सीमा है, उसमें पड़कर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?

(३) संसार का सारा व्यवहार असार है :—

पातः पक्वफलस्येव मरणं दुर्निवारणम्। (६/१।७८।३)
आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥ (६/१।७८।४)
शैलनद्यारय इव सम्प्रयात्येव यौवनम्। (६/१।७८।५)
इन्द्रजालमिवासत्यं जीवनं जीर्णसंस्थिति ॥ (६/१।७८।६)
सुखानि प्रपलायन्ते शरा इव धनुश्च्युताः। (६/१।७८।६)
पतन्ति चेतो दुःखानि तृष्णा गृध्र इवामिषम् ॥ (६/१।७८।७)
बुद्बुदः प्रावृषीवाप्सु शरीरं क्षणभंगुरम्। (६/१।७८।७)
रम्भागर्भ इवासारो व्यवहारो विचारगः ॥ (६/१।७८।८)
सत्वरं युवता याति कान्तेवाप्रियकामिनः। (६/१।७८।८)
बलादरतिरायाता वैरस्यमिव पादपम् ॥ (६/१।७८।९)

जैसे पके हुए फल का नीचे गिरना नहीं रुक सकता, (उसे अवश्य ही गिरना है), वैसे ही मौत भी नहीं रोकी जा सकती, (एक न एक दिन अवश्य ही आती है)। प्रत्येक क्षण आयु ऐसे क्षीण होती जा रही है जैसे कि हथेली पर रक्खा हुआ जल। यौवन इस तेजी से दौड़ा जा रहा है जैसे कि पहाड़ी नदी; अस्थिर जीवन ऐसा झूठा है जैसे इन्द्रजाल का दृश्य। सुख इतनी जल्दी से भाग जाते हैं जितनी जल्दी से धनुष से छूटे हुए बाण। दु:ख मन के ऊपर इस प्रकार आक्रमण करते हैं जैसे गिद्ध मांस के ऊपर आ गिरता है। शरीर इतना क्षणभंगुर है जितने कि बरसाती नालों के ऊपर के बुल्बुले। विचार करने पर संसार का सारा व्यवहार इतना सारहीन दिखाई पड़ता है जितना कि केले का खम्भा। यौवन इस शीघ्रता से भाग जाता है जैसे किसी अप्रिय कामी को छोड़ कर उसकी प्रिया दूसरे युवक के साथ भाग जाती है। सब विषयों में नीरसता उदय हो जाती है, जैसे कटे हुए पेड़ का रस सूख जाता है।

(४) सांसारिक अभ्युदय सुख देनेवाला नहीं है :—

रम्ये धनेऽथ दारादौ हर्षस्यावसरो हि कः ।
वृद्धायां मृगतृष्णायां किमानन्दो जलार्थिनाम् ॥ (४।४६।३)
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टयः ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ (४।४६।४)

धन और स्त्री पुत्र आदि की वृद्धि होने पर हर्ष करने का अवसर क्या है ? मृग-तृष्णा की नदी में यद्यपि बाढ़ भी आ जाए तो भी जल की चाहना रखनेवालों (प्यासों) को क्या आनन्द हो सकता है ? धन और स्त्री आदि के बढ़ने पर खुशी न होनी चाहिये बल्कि दुःख होना चाहिये । मोह की माया के अधिक होने पर किसको आनन्द होता है ?

(५) सुख दुःख का अनुभव कब होता है :—

यथा प्राप्तिक्षणे वस्तु प्रथमे तुष्टये तथा ।
न प्राप्त्येकक्षणादूर्ध्वमिति को नानुभूतवान् ॥ (६/१।४४।२)
वाञ्छाकाले यथा वस्तु तुष्टये नान्यदा तथा । (६/१।४४।३)
वाञ्छाकाले तुष्टये यत्तत्र वाञ्छैव कारणम् ॥ (६/१।४४।४)
बद्धवासनमर्थो यः सेव्यते सुखयत्यसौ ।
यत्सुखाय तदेवाशु वस्तु दुःखाय नाशतः ॥ (६/१।१२०।१८)
अविनाभावनिष्ठत्वं प्रसिद्धं सुखदुःखयोः ।
तनुवासनमर्थो यः सेव्यते वा निवासनम् ॥ (६/१।१२०।१९)
नासौ सुखायते नासौ नाशकाले न दुःखदः । (६/१।१२०।२०)
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ॥ (६/२।६८।३१)
अकृत्रिममनाद्यन्त यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ (६/२।६८।३१)
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नापि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ (६/२।३६।२४)
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तत्सुखमकृत्रिमम् ।
न स्वर्गादौ सम्भवति मरौ हिमगृहं यथा ॥ (६/१।४४।२६)
चित्तोपशमजं स्फारमवाच्यं वचसा सुखम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ (६/१।४४।२७)
आशापरिकरे राम नूनं परिहृते हृदा ।
पुमानागतसौन्दर्यो ह्लादमायाति चन्द्रवत् ॥ (५।७४।२४)

न तथा सुखयत्यङ्गसंलग्ना वरवर्णिनी।
यथा सुखयति स्वान्तमिन्दुशीता निराशता॥ (५।७४।४०)
अपि राज्यादपि स्वर्गादपीन्दोरपि माधवात्।
अपि कान्तासमासङ्गान्नैराश्यं परमं सुखम्॥ (५।७४।४४)
इदमेवास्त्विदं मास्तु ममेति हृदि रञ्जना।
न यस्यास्ति तमात्मेशं तोलयन्ति कथं जनाः॥ (५।७४।५०)

किसको इस बात का अनुभव नहीं है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति के क्षण में जो खुशी किसी व्यक्ति को होती है वह खुशी उस वस्तु की प्राप्ति के क्षण के पीछे नहीं होती। जब किसी वस्तु की कोई इच्छा करता है तभी वह वस्तु उसको सुख देनेवाली जान पड़ती है—और जैसी सुखदाई वह इच्छा रहते हुए जान पड़ती है वैसी दूसरे समय (जब कि उसकी इच्छा न हो) नहीं जान पड़ती। अतएव हमारी इच्छा ही वस्तु में सुख का आभास उत्पन्न करती है। वासना के रहते हुए जब किसी वस्तु का उपभोग किया जाता है तभी वह सुखदाई जान पड़ती है, और जो वस्तु सुखदाई जान पड़ती है उसके नष्ट होने पर ही हमको दुःख होता है। जिस वस्तु से हमको सुख होता है उसी से हमको दुःख भी होता है। बिना वासना के अथवा अल्प वासना से जिस वस्तु का सेवन किया जाता है वह न तो भोग करने से सुख देती है और न उसका नाश होने से हमको दुःख ही होता है। अनुभूति के क्षणिक होने के कारण सुख दुःख में परिणत होता है। जो सुख किसी खास बाह्य कारण से उत्पन्न नहीं होता; जो अनादि और अनन्त है, वही आत्मा का सुख असली सुख है—(क्योंकि वह सुख क्षणिक न होने के कारण दुःख में परिणत नहीं होता)। इच्छा के उदय होने पर जो दुःख होता है वह दुःख नरक में भी नहीं होता, और इच्छा के शान्त होने पर जो सुख होता है वह सुख ब्रह्मलोक में भी नसीब नहीं होता। जैसे मरुभूमि में कहीं पर भी बर्फ का स्थान नहीं होता वैसे ही जो अकृत्रिम सुख चित्त (इच्छा, वासना) के न उदय होने से होता है वह स्वर्ग जैसे स्थानों में भी नहीं प्राप्त हो सकता। चित्त के शान्त हो जाने पर जिस सुख का अनुभव होता है वह सुख (आनन्द) इतना महान् है कि वचनों से प्रकट नहीं किया जा सकता। उसमें कमी और वृद्धि नहीं होती, और वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। जब हृदय से सब आशाओं (इच्छाओं) का त्याग कर दिया जाता है

तब मनुष्य को बड़ा आनन्द होता है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा की शोभा की नाईं हो जाती है। परम सुन्दर और चाही हुई स्त्री आलिङ्गन करने पर उतना आनन्द नहीं दे सकती जितना आनन्द अपने भीतर से आशाओं (इच्छाओं) के निकाल देने पर होता है। इच्छारहित होना राज्य से, स्वर्ग से, चन्द्रमा से, भगवान् से, प्रेमिका की प्राप्ति से भी अधिक सुखदाई है। "यह वस्तु मुझे मिले, यह वस्तु मेरे से दूर हो"—जिस पुरुष के हृदय में इस प्रकार की भावना नहीं रही, भला उस आत्मा के स्वामी की तुलना किससे की जा सकती है? (अर्थात् उसके ऐसा सुखी कोई नहीं है)।

(६) आत्मानन्द :—

> क्षणं वर्षसहस्रं वा तत्र लब्ध्वा स्थितिं मनः।
> रतिमेति न भोगौघे दृष्टस्वर्ग इवावनौ॥ (६।९४।६९)
> तत्पदं सा गतिः शान्ता तच्छ्रेयः शाश्वतं शिवम्।
> तत्र विश्रान्तिमासाद्य भूयो नो बाधते भ्रमः॥ (६।९४।७०)
> तां महानन्दपदवीं चित्तादासाद्य देहिनः।
> दृश्यं न बहु मन्यन्ते राजानो दीनतामिव॥ (६।९५।७२)

जैसे जिस आदमी ने स्वर्ग का सुख देख लिया है उसका मन पृथ्वी पर नहीं लग सकता वैसे, जिसने कुछ समय के लिये भी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर ली है उसका मन भोगों में नहीं लग सकता। आत्मानुभव ही हमारा अन्तिम पद है, वही हमारी अन्तिम शान्त गति है, वही हमारा परम, नित्य और कल्याणमय श्रेय है। उसमें विश्राम पाकर फिर हमको भ्रम में नहीं पड़ना पड़ता। उस महा आनन्द की पदवी को प्राप्त करके प्राणी दृश्य जगत् को कुछ भी नहीं समझता (उसकी क़दर नहीं करता), जैसे राजा लोग दीन अवस्था की चाहना नहीं करते।

२२—बन्धन और मोक्ष

ऊपर बतलाए हुए आत्मानन्द का अनुभव किसी किसी पुरुष को ही होता है। जिसको आत्मा का ज्ञान ही नहीं है, और जो पुरुष आत्मा को न जानकर विषयों के भोगों में ही आनन्द की तलाश करता फिर रहा है, और एक विषय में उसे न पाकर दूसरे विषयों की इच्छा करता हुआ एक जन्म से दूसरे जन्म में भटकता रहता है वह सदा ही दुःखी रहता है। इस प्रकार के भटकने और दुःख की अवस्था का ही नाम बन्धन है और इस अवस्था से छूटकर निजानन्द में स्थिर हो जाने का ही नाम मुक्ति या मोक्ष है। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार बन्धन और मुक्ति का वर्णन करेंगे।

(१) बन्धन का स्वरूप—

पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। (२।२।९)
सुखदुःखैर्युतो योऽसौ स्वयं बन्धानुभूतिमान्॥ (६।१२९।३४)
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविवर्जनम्।
यदेतन्मनसो राम तद्बन्धं विद्धि नेतरत्॥ (६।१३।२०)
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते। (३।१।२२)
वासनावासने एव कारणं बन्धमोक्षयोः॥ (६।१२९।६१)
जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ (३।१।२३)

जगत् के पदार्थों की वासना के दृढ़ होने का नाम बन्धन है। जो सुख और दुःखों से युक्त है वही बन्धन का अनुभव करता है। उपादेय (प्राप्त करने योग्य) वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा करना और हेय (त्यागने योग्य) वस्तुओं से द्वेष करना ही बन्धन है और दूसरा कुछ नहीं। द्रष्टा का दृश्य की सत्ता में विश्वास बन्धन है। वासना का होना और न होना ही बन्धन और मोक्ष के कारण हैं। जगत्, तू, और मैं आदि का जो यह झूठा दृश्य है, जबतक इसमें विश्वास है तबतक मोक्ष नहीं होता।

(२) बन्धन के कारण :—

(अ) वासना :—

वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः ।
वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगा इव ॥ (४।२७।१८)
ये भिन्नवासना धीराः सर्वत्रासक्तबुद्धयः ।
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति दुर्जयास्ते महाधियः ॥ (४।२७।१९)
कोशकारवदात्मानं वासनातनुतन्तुभिः ।
वेष्टयच्चैव चेतोऽन्तर्बालत्वान्नावबुध्यते ॥ (३।१०।८)

आशा के फाँसों में बँधे हुए और वासना की रस्सियों से जकड़े हुए जीव संसार में इस प्रकार बन्धन को प्राप्त होते हैं जैसे रस्सी से बँधे हुए पक्षी। जो धीर पुरुष अपनी वासना (रूपी रस्सी) को तोड़ चुके हैं, जो सब जगह असक्त हैं और जो न किसी अवस्था में प्रसन्न होते हैं और न किसी से क्रुद्ध, वे कभी बन्धन में नहीं पड़ते। वासनाओं के तागों से मन अपनी मूर्खता के कारण अपने आप को इस प्रकार बन्धन में डाल लेता है जैसे कि रेशम का कीड़ा।

(आ) अपने आप को परिमित समझना :—

इयन्मात्रपरिच्छिन्नो येनात्मा भव्यभावितः ।
स सर्वज्ञोऽपि सर्वत्र परां कृपणतां गतः ॥ (४।२७।२२)
अनन्तस्याप्रमेयस्य येनेयत्ता प्रकल्पिता ।
आत्मनस्तस्य तेनात्मा स्वात्मनैवावशीकृतः ॥ (४।२७।२३)
आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः ।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामाकरं विदुः ॥ (४।२७।२९)
अयं सोऽहं ममेदं तदित्याकल्पितकल्पनः ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ (४।२७।२१)

जिसने अपने भीतर यह भावना दृढ़ कर ली है कि "मैं केवल इतना ही हूँ" वह सर्वज्ञ और विभु होता हुआ भी क्षुद्रता को प्राप्त होता है। जिसने अनन्त और अप्रमेय आत्मा को महदूद (परिच्छिन्न) मान लिया है उसने अपने आपको बन्धन में डाल दिया। आस्था अनन्त दुःखों का उद्गम है और अनास्था अनन्त सुखों का। जैसे समुद्र में जलों का प्रवेश होता है वैसे ही उस प्राणी के ऊपर अनेक आपत्तियाँ

आती हैं जो "यह मैं हूँ, यह मेरा है" इस प्रकार की कल्पना करता रहता है।

(ई) मिथ्या भावना :—

मिथ्याभावनया ब्रह्मन्स्वविकल्पकलङ्किताः।
न ब्रह्म वयमित्यन्तर्निश्चयेन ह्यधोगताः॥ (४।१२।२)
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वं ब्रह्मार्णवगता अपि।
भावयन्त्यो विमुह्यन्ति भीमासु भवभूमिषु॥ (४।१२।३)

अपनी कल्पनाओं द्वारा उत्पन्न की हुई इस प्रकार की मिथ्या भावना के दृढ़ होने से कि "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" हमलोग अधोगति को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मरूपी समुद्र में वास करते हुए भी हमलोग यह समझ कर कि हम ब्रह्म से कोई अलग वस्तु हैं—और इस प्रकार की भावना को दृढ़ करके—संसार की भयानक अवस्थाओं में मोह को प्राप्त होते हैं।

(ई) आत्मा को भूलना :—

हेतुर्विहरणे तेषामात्मविस्मरणादृते।
न कश्चिल्लक्ष्यते साधो जन्मान्तरफलप्रदः॥ (३।९९।१४)
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। (३।११४।२३)

संसार में घूमने और जन्मजन्मान्तर का फल पाने का हेतु जीवों के लिये आत्मा को भूलने के सिवाय कुछ भी नहीं है। "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" इस संकल्प से मन दृढ़ बन्धन में पड़ जाता है।

(उ) अहंभावना :—

अहमित्येव संकल्पो बन्धायातिविनाशिने।
नाहमित्येव संकल्पो मोक्षाय विमलात्मने॥ (३।९९।११)

"मैं यह हूँ" इस प्रकार का संकल्प नाशकारी बन्धन में डालनेवाला है और "मैं यह नहीं हूँ" इस संकल्प से मोक्ष प्राप्त होता है।

(ऊ) अज्ञान :—

जडो देहो न दुःखार्हो दुःखी देहाविचारतः।
अविचारो घनाज्ञानादज्ञानं दुःखकारणम्॥ (३।११९।१९)
अपरिज्ञात आत्मैव भ्रमतां समुपागतः।
ज्ञात आत्मत्वमायाति सीमान्तः सर्वसंविदाम्॥ (३।१०।४)

जड़ देह को दुःख नहीं होता, विचारहीन देहवाले को ही दुःख होता है। गहरे अज्ञान से विचारहीनता आती है—इसलिये अज्ञान ही दुःख का कारण है। आत्मा के अज्ञान से ही भ्रम उत्पन्न होता और आत्मा के ज्ञान से ही सर्व प्रकार की सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है।

(३) मोक्ष का स्वरूप :—

सकलाशास्वसंसक्त्या यत्स्वयं चेतसः क्षयः।
स मोक्षनाम्ना कथितस्तत्त्वज्ञैरात्मदर्शिभिः ॥ (५।७३।३६)
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यत्त्वासनमासितम्।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ (६।४२।५१)
दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तं गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ (६।२८।३२)
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनो मृतमुच्यते।
तदेव च तपःशास्त्रसिद्धान्तो मोक्ष उच्यते ॥ (३।११२।८)
परस्य पुंसः संकल्पमयत्वं चित्तमुच्यते।
अचित्तत्वमसंकल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ॥ (५।१३।८०)
दृश्यं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित्।
तदा नेच्छा प्रसरति तदैव च विमुक्तता ॥ (६।३७।३३)
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचन कस्यचित् ॥ (३।२१।११)
अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ (६।२०।१७)

सब इच्छाओं से अलग होने पर जो चित्त का क्षीण हो जाना है उसे आत्मदर्शी तत्त्वज्ञानी मोक्ष कहते हैं। जगत् को भ्रम समझ कर, सब विषयों को नीरस समझ कर, वासना रहित होकर स्थित होने का नाम निर्वाण है। आत्मा में मनकी क्रिया के ऐसे शान्त हो जाने को जैसे कि दीपक बुझ जाता है निर्वाण कहते हैं। जब मन चञ्चलता से मुक्त हो जाता है तब उसको मुर्दा मन कहते हैं। उसका ही नाम योग और शास्त्रों में मोक्ष है। परम आत्मा जब संकल्पयुक्त होता है तब उसे मन कहते हैं। संकल्प रहित होने पर वह मन नहीं रहता। उस स्थिति का नाम ही मोक्ष है। जब दृश्य पदार्थ में रस न प्रतीत हो और उनमें किसी प्रकार का स्वाद न आवे, और उनके प्राप्त करने की

इच्छा मनमें न उदय हो तब मुक्ति का अनुभव होता है। जब जगत् का इतना विस्मरण हो जाए कि उसकी किसी वस्तु के लिये न इच्छा हो और न द्वेष, तब मोक्ष का अनुभव होता है। मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुई अज्ञान की झूठी गाँठ जो अहंभाव के रूप में अनुभूत हो रही है जब खुल जाती है तब मोक्ष का अनुभव होता है।

(४) मोक्ष का अनुभव कब होता है :—

यदा ब्रह्मगुणैर्जीवो युक्तस्त्यक्त्वा मनोगुणान्। (६।१२८।४५)
संशान्तकरणग्रामस्तदा स्यात्सर्वगः प्रभुः॥ (६।१२८।४६)
देहेन्द्रियमनोबुद्धेः परस्तस्माच्च यः परः। (६।१२८।४६)
सोऽहमस्मि यदा ध्यायेत्तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।४७)
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। (६।१२८।४८)
यदा पश्यत्यभेदेन तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।४९)
कर्तृभोक्त्रादिनिर्मुक्तः सर्वोपाधिविवर्जितः। (६।१८।४७)
सुखदुःखविनिर्मुक्तस्तदानीं विप्रमुच्यते॥ (६।१२८।४९)
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यं हित्वा स्थानत्रयं यदा। (६।१२८।४९)
विशेत्तुरीयमानन्दं तदा जीवो विमुच्यते॥ (६।१२८।५०)
यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥ (३।६६।१९)
यत्राभिलाषस्तन्नूनं संत्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम्॥ (३।६६।२१)

जब सब इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और जीव मन के गुणों का त्याग करके ब्रह्म के गुणों को ग्रहण कर लेता है, तब वह विभुत्व का अनुभव करता है। जब जीव इस प्रकार का ध्यान करता है कि वह सब इन्द्रियों, मन और बुद्धि से भी जो परे है उससे भी परे रहनेवाला तत्त्व है, तब मुक्त हो जाता है। जब जीव सर्व प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सब प्राणियों को देखता है और किसी प्रकार का भेद नहीं समझता, तब वह मुक्त होता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मुक्त, सब उपाधियों से छूटा हुआ, सुख दुःख के अनुभव से बरी होने पर जीव मुक्त होता है। जब जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठ कर चौथी अवस्था के आनन्द का अनुभव करने लगता है, तब वह मुक्त होता है। यदि सब विषयों का मनसे

त्याग करके, वासनाओं से ऊँचे उठ जाए तो जीव उसी क्षण मुक्त हो जाता है—इसमें जरा भी संशय नहीं है। मोक्ष प्राप्त करना क्या मुश्किल है? जिस-जिस विषय की इच्छा हो उस उसका त्याग करता रहे तो मोक्ष ही है।

(५) मोक्ष दो प्रकार का है :—

द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनघाकृते।
सदेहैका विदेहान्या विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ (५।४२।११)

मोक्ष दो प्रकार का होता है—एक सदेह और दूसरा विदेह। उनका भेद सुनो।

(अ) सदेह मोक्ष :—

असंसक्तमतेर्यस्य त्यागादानेषु कर्मणाम्।
नैषणा तत्स्थितिं विद्धि त्वं जीवन्मुक्तामिह ॥ (५।४२।१२)

जिस जीते हुए पुरुष के लेने और देने के कामों में किसी प्रकार की वासना नहीं रहती (केवल कर्म करता है) उसे जीवन्मुक्त (जीते हुए अर्थात् शरीर के रहते हुए ही मुक्त) कहते हैं।

(आ) विदेह मोक्ष :—

सैव देहक्षये राम पुनर्जननवर्जिता।
विदेहमुक्तता प्रोक्ता तत्स्था नायान्ति दृश्यताम् ॥ (५।४२।१३)

शरीर के नष्ट हो जाने पर जब फिर जन्म होने की सम्भावना न हो उस प्रकार की मुक्ति को विदेह-मुक्ति कहते हैं।

(६) सदेह और विदेह मुक्ति में विशेष भेद नहीं है:—

न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः।
सस्पन्दोऽप्यथवाऽस्पन्दो वायुरेव यथानिलः ॥ (२।४।९)

जैसे चलती हुई और स्थिर वायु में जरा भी भेद नहीं है ठीक वैसे ही सदेह और विदेह मुक्ति में कोई विशेष भेद नहीं है।

(७) मुक्ति और जड़स्थिति का भेद :—

चिच्छक्तिर्वासनाबीजरूपिणी स्वापधर्मिणी।
स्थिता रसतया नित्यं स्थावरादिषु वस्तुषु ॥ (३।१०।२३)

यथा बीजेषु पुष्पादि मृदो राशौ घटो यथा।
तथाऽन्तः संस्थिता साधो स्थावरेषु स्ववासना ॥ (६।१०।१९)

यत्रास्ति वासनाबीजं तत्सुषुप्तं न सिद्धये।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ (६।१०।२०)

अतः सुप्ता स्थिता मन्दा यत्र बीज इवाङ्कुरः।
वासना तत्सुषुप्तत्वं विद्धि जन्मप्रदं पुनः ॥ (६।१०।१६)

स्थावरादय एते हि समस्ता जडधर्मिणः।
सुषुप्तपदमारूढा जन्मयोग्याः पुनः पुनः ॥ (६।१०।१८)

वासनायास्तथा वह्नेः ऋणव्याधिद्विषामपि।
स्नेहवैरविषाणां यः शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ (६।१०।२१)

अन्तः संलीनमननं परितः सुप्तवासनम्।
सुषुप्तं जडधर्मापि जन्मदुःखशतप्रदम् ॥ (६।१०।१७)

तत्र दूरस्थिता मुक्तिर्मन्ये वेदविदां वर।
सुप्तपुर्यष्टका यत्र चित्स्थिता दुःखदायिनी ॥ (६।१०।११)

निर्दग्धवासनाबीजसत्तासामान्यरूपवान् ।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ (६।१०।२२)

बुद्धिपूर्वं विचार्येदं यथावस्त्ववलोकनात्।
सत्तासामान्यबोधो यः स मोक्षश्चेदनन्तकः ॥ (६।१०।१३)

परिज्ञाय परित्यागो वासनानां स उत्तमः।
सत्तासामान्यरूपत्वं तत्कैवल्यपदं विदुः ॥ (६।१०।१४)

विचार्यार्यैः सहालोक्य शास्त्राण्यध्यात्मभावनात्।
सत्तासामान्यनिष्ठत्वं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥ (६।१०।१९)

जड़ वस्तुओं के भीतर भी वासना के बीज के रूप में सोई हुई चित्-शक्ति उनके रस (विशेष तत्त्व) के आकार में वर्त्तमान रहती है। जैसे बीज में फूल आदि, और मिट्टी में घड़ा रहता है, वैसे ही जड़ वस्तुओं के भीतर उनकी वासना रहती है। वह सुषुप्ति (जड़वत् स्थिति) जिसमें वासना का बीज शेष रहता है, सिद्धि देनेवाली नहीं है (अर्थात् इस प्रकार की स्थिति का नाम मोक्ष नहीं है)। सिद्धि देनेवाली वह तुर्या स्थिति है जिसमें वासना निर्बीज हो जाती है। वह अवस्था जिसमें मन्द रूप से वासना सोई रहती है जैसे कि बीज के भीतर अंकुर रहता है, दूसरे जन्मों के देनेवाली है। स्थावर आदि जितनी ऐसी जड़ स्थितियाँ हैं जिनमें वासना सुप्त अवस्था में रहती

है, अवश्य ही दूसरे जन्मों को उत्पन्न करानेवाली हैं। आग, ऋण, व्याधि, बैरी, प्रेम, बैर और विष का जैसे ज़रा सा भी अंश शेष रह जाने पर दुःख देता है वैसे ही वासना का लेशमात्र भी दुःख देनेवाला होता है। जड़ अवस्था की सुषुप्ति की स्थिति जिसमें कि मन का अभी उदय नहीं हुआ है और जिसमें सोई हुई वासनाएँ मौजूद हैं अनेक जन्मों के दुःखों के देनेवाली है। उस हालत से मुक्ति बहुत दूर है जिसमें चित्त के भीतर दुःख देनेवाली सोई हुई वासना मौजूद है। इसके विपरीत वह सत्ता सामान्य रूपवाली स्थिति है जिसमें वासनारूपी बीज दग्ध हो गया है। ऐसी स्थिति, चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, दुःख देनेवाली नहीं है। बुद्धिपूर्वक विचार करके और वस्तुओं का यथार्थ रूप जानकर सत्ता सामान्य स्थिति का जो अनुभव होता है उसे मोक्ष कहते हैं। जानकर वासनाओं का त्याग करना और तब सत्ता-सामान्य रूप में स्थित होना कैवल्यपद (मोक्ष) कहलाता है। सज्जनों के साथ विचार करके, शास्त्रों का अध्ययन करके और आध्यात्मिक भावना द्वारा जो सत्ता सामान्य रूप में स्थिति प्राप्त होती है वही ब्रह्म का अनुभव है।

(८) बन्धन और मोक्ष दोनों ही वास्तव में मिथ्या हैं :—

मिथ्याकाल्पनिकीवेयं मूर्खाणां बन्धकल्पना।
मिथ्यैवाभ्युदिता तेषामितरा मोक्षकल्पना॥ (३।१००।३९)
एवमज्ञानकादेव बन्धमोक्षदृशोऽस्मृतेः।
वस्तुतस्तु न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति महामते॥ (३।१००।४०)
बन्धमोक्षादिसंमोहो न प्राज्ञस्यास्ति कश्चन।
संमोहबन्धमोक्षादि ह्यज्ञस्यैवास्ति राघव॥ (३।१००।४२)
नित्यासंभवबन्धस्य बद्धोऽस्मीति कुकल्पना।
यस्य काल्पनिकस्तस्य मोक्षो मिथ्या न तत्त्वतः॥ (३।१००।३७)

बन्धन और मोक्ष दोनों ही अज्ञानियों की मिथ्या कल्पनायें हैं। बन्धन और मोक्ष दोनों अज्ञान और भूल के कारण से हैं। वस्तुतः न बन्धन है और न मोक्ष। बन्धन और मोक्ष का मोह अज्ञानियों के लिये ही है, ज्ञानियों के लिये नहीं। जो कभी बन्धन में नहीं पड़नेवाला है वह भला कैसे बद्ध हो सकता है? जो कल्पना द्वारा बद्ध हो जाता है उसी के लिये मुक्ति भी है। वास्तव में न बन्धन है और न मुक्ति।

२३—मोक्ष प्राप्ति का उपाय

यद्यपि बन्धन काल्पनिक ही है तथापि अज्ञानियों के लिये वह इतना ही सत्य प्रतीत होता है जितना कि उनका अहंभाव और दृश्य जगत्। इसलिये मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न करना पड़ता है। मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा साधन क्या है इस विषय में लोगों में बहुत मतभेद है। योगवासिष्ठ का स्पष्ट सिद्धान्त यह है कि ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का कोई उपाय नहीं है। ज्ञान द्वारा ही मोक्ष का अनुभव सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन यहाँ पर किया जाता है।

(१) ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का दूसरा और कोई उपाय नहीं है :—

संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता।
नापि स्वदेशावासित्वं न च कष्टतपःक्रिया॥ (६।१९९।३०)
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः।
नाचारेषु समारंभविचित्रफलपालयः॥ (६।१९९।३१)
न तीर्थेन न दानेन न स्नानेन न विद्यया।
न ध्यानेन न योगेन न तपोभिर्नचाध्वरैः॥ (६।१७४।२४)
न दैवं न च कर्माणि न धनानि न बान्धवाः। (५।१३।८)
किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम्॥ (३।६।४)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्। (६।१९७।१८)
तपस्तीर्थादिना स्वर्गाः प्राप्यन्ते न तु मुक्तता॥ (६।१७४।२६)
ततो वच्मि महाबाहो यथा ज्ञानेतरा गतिः।
नास्ति संसारतरणे [illegible] चेतसः॥ (५।६७।२)

संसार-समुद्र से पार होने का उपाय न वन में वास करना है, न किसी विशेष देश में वास करना, न शरीर को कष्ट देने वाले तप और क्रियायें, न क्रियाओं का त्याग करना, न किन्हीं क्रियाओं का अनुष्ठान करना, न किसी विशेष और विचित्र प्रकार के आचार व्यवहार; न तीर्थाटन, न दान, न कोई विशेष प्रकार की विद्या, न कोई विशेष ध्यान, न योग, न तप, न यज्ञ, न दैव (तक़दीर), न विशेष प्रकार के

कर्म, न धन, न बन्धुजन, न व्रत आदि, न शास्त्र, न गुरु का वाक्य, न ईश्वर की पूजा। तप और तीर्थ आदि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं। इसलिए मैं कहता हूँ कि बन्धन में पड़े हुए मन के लिये संसार से पार होने का ज्ञान से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

(२) ज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन है :—

ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धि सुदुस्तरम्।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥ (२।११।३६)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते। (३।६।२)
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या विना ज्ञानं न शाम्यति ॥ (३।८।२)
अयं स देव इत्येव संपरिज्ञानमात्रतः।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥ (३।६।६)
ज्ञानेन सर्वदुःखानां विनाश उपजायते। (५।९३।१८)
ज्ञानवानुदितानन्दो न क्वचित्परिमज्जति ॥ (५।९३।२४)
ज्ञानवानेव सुखवान्ज्ञानवानेव जीवति।
ज्ञानवानेव बलवांस्तस्माज्ज्ञानमयो भव ॥ (५।९२।४९)
ज्ञानान्निर्दुःखतामेति ज्ञानादज्ञानसंक्षयः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नान्यस्माद्राम वस्तुतः ॥ (५।८८।१२)
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम दुःखस्य संततिः।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥ (३।७।१७)
दुरुत्तरा या विपदो दुःखकल्लोलसंकुलाः।
तीर्यंते प्रज्ञया ताभ्यो नानाऽपद्भ्यो महामते ॥ (५।१२।२०)
कलना सर्वजन्तूनां विज्ञानेन शमेन च।
प्रबुद्धा ब्रह्मतामेति अमलीतरथा जगत् ॥ (५।१३।९९)

बुद्धिमान् लोग दुस्तर संसार-समुद्र से ज्ञानयुक्ति-रूपी नौका द्वारा जरासी देर में पार हो जाते हैं। मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान ही एक अनुष्ठान है; दूसरा कोई नहीं है। ज्ञान से ही परम सिद्धि प्राप्त होती है और किसी अनुष्ठान के कष्ट से नहीं। मिथ्या ज्ञानरूपी विषूचिका बहुत पुराना रोग है; इसी का नाम जगत् और अविचार है। यह बिना ज्ञान के शान्त नहीं होता। आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राणी को दुःख

शान्त हो जाते हैं और उसे जीवन्मुक्तता का अनुभव होता है। ज्ञान से सब दुःखों का नाश हो जाता है। ज्ञानवान् को ही परम आनन्द प्राप्त होता है और वह संसार में नहीं डूबता। ज्ञानी ही सुखी, ज्ञानी ही बलवान् होता है, ज्ञानी ही जीता है। इसलिये ज्ञानी बनो। ज्ञान से सब दुःखों की शान्ति हो जाती है; ज्ञान से अज्ञान दूर हो जाता है। ज्ञान से ही परम सिद्धि प्राप्त होती है; दूसरे किसी उपाय से नहीं। जैसे विष का [illegible] चले जाने पर विषूचिका रोग शान्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर सब दुःख शान्त हो जाते हैं। नाना प्रकार की आपत्तियों और कठिन से कठिन दुःखदाई विपत्तियों के समुद्र को ज्ञान द्वारा पार किया जा सकता है। ज्ञान और शम (मन को शान्त करने) से ही सब प्राणियों का जीव ब्रह्मरूप हो जाता है। अन्यथा वह जगत् में भ्रमण करता रहता है।

(३) मोक्ष-प्राप्ति के लिये किसी देवता की आराधना करने की जरूरत नहीं है।

(अ) आत्मा के सिवाय किसी देवता की आराधना नहीं करनी चाहिये :—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥ (६।१६२।१८)
अभ्यासवैराग्ययुतादाक्रान्तेन्द्रियपन्नगात् ।
नात्मनः प्राप्यते यत्तत्प्राप्यते न जगत्त्रयात्॥ (५।४३।१८)
आराधयात्मनात्मानमात्मनात्मानमर्चयेत् ।
आत्मनात्मानमालोक्य संतिष्ठस्वात्मनात्मनि॥ (५।४३।१९)
सर्वेषामुत्तमस्थानां सर्वासां चिरसंपदाम्।
स्वमनोनिग्रहो भूमिर्भूमिः सस्यश्रियामिव॥ (५।४३।३९)
स्वात्मयत्नविचारेभ्यो मूर्खाणां प्रपलायिनाम्।
कल्पिता वैष्णवी भक्तिः प्रवृत्त्यर्थं शुभस्थितौ॥ (५।४३।२०)
क्रियते माधवादीनां प्रणयप्रार्थना स्वयम्।
तथैव क्रियते [illegible] स्वकस्यैव चेतसः॥ (५।४३।२९)
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं नराधमाः॥ (५।४३।२६)

वरमाप्नोति यो वापि विष्णोरमिततेजसः।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः॥ (६।४३।३४)

आत्मा ही अपना बन्धु, आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा द्वारा यदि हमारा त्राण नहीं होता तो दूसरा और कोई उपाय ही नहीं है। जो गति अभ्यास, वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रह द्वारा आत्मा से प्राप्त होती है वह तीनों लोकों में और किसी से भी नहीं मिलती। इसलिये आत्मा की ही पूजा करो, आत्मा की ही आराधना करो, आत्मा का ही दर्शन करके आत्मा में स्थित रहो। जैसे भूमि से सब अन्न उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अपने मन के निग्रह करने से ही सब उत्तम स्थानों और सब चिरस्थायी सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है। विष्णु आदि देवताओं की भक्ति तो उन लोगों को शुभ मार्ग पर लाने के लिये बनाई गई है जो मूर्ख आध्यात्म-शास्त्र, यत्न और विचार से दूर भागते हैं। यदि विष्णु आदि देवताओं को प्रसन्न करने का यत्न कर सकते हो तो अपने मन ही को शुद्ध करने का यत्न क्यों नहीं करते? सब प्राणियों के हृदय में विष्णु (आत्मा) निवास करते हैं। अपने भीतर रहने वाले विष्णु को छोड़कर विष्णु का तलाश जो लोग बाहर करते हैं वे अधम हैं। अमित तेजवाले विष्णु से जो वर प्राप्त होता दिखाई पड़ता है वह भी वास्तव में अपने ही अभ्यास रूपी वृक्ष का फल है।

(आ) कोई देवता भी विचाररहित पुरुष को आत्मज्ञान नहीं दे सकता :—

रामापर्यवसानेयं माया संसृतिनामिका।
आत्मचित्तजयेनैव क्षयमायाति नान्यथा॥ (६।४४।१)
चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः॥ (६।४३।१०)
यद्यदासाद्यते किञ्चित्केनचित्क्वचिदेव हि।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नान्यतः क्वचित्॥ (६।४३।१३)
न हरेर्न गुरोर्नार्थात्किञ्चिदासाद्यते महत्।
आक्रान्तमनसः स्वस्माद्यदासादितमात्मनः॥ (६।४३।१७)
गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते।
उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ॥ (६।४३।१६)

हे राम ! यह संसार-नामवाली अनन्त माया अपने आत्मा को जीत लेने पर ही शान्त होती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। बहुत समय तक आराधना करने से बहुत प्रसन्न होने पर भी विष्णु आदि देवता विचार न करने वाले पुरुष को ज्ञान नहीं दे सकते। जो पुरुष कुछ भी कहीं और कभी प्राप्त करता है वह सब अपने ही शक्ति के प्रयोग से प्राप्त करता है, और किसी के द्वारा नहीं। जो अपने मन को वश में करने से और आत्मा को जानने से सिद्धि होती है वह न धन से, न गुरु से और न हरि से मिल सकती है। यदि गुरु आदि किसी व्यक्ति का उसके अपने पुरुषार्थ के बिना ही उद्धार कर सकते हैं तो वे ऊँट, हाथी और बैल का उद्धार क्यों नहीं कर देते ?

(इ) ईश्वर सब के भीतर रहता है :—

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ (३।७।२)
चिन्मात्रमेष शशिभृच्चिन्मात्रं गरुडेश्वरः।
चिन्मात्रमेव तपनश्चिन्मात्रं कमलोद्भवः ॥ (३।७।४)
न ह्येष दूरे नाभ्याशे नालभ्यो विषमे न च।
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥ (३।६।३)
संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ (५।८।१४)

वह ईश्वर कहीं दूर नहीं है। चिन्मात्र रूप से शरीर के भीतर ही सदा रहता है। शिव भी चिन्मात्र है, विष्णु भी चिन्मात्र है, ब्रह्मा भी चिन्मात्र है, सूर्य भी चिन्मात्र है। न भगवान् दूर है और न कठिनाई से प्राप्त होने वाले हैं। वह तो अपने ही भीतर से ही निजानन्द के रूप में प्रकट होते हैं। निज हृदय की गुफा में वास करने वाले ईश्वर को छोड़कर जो व्यक्ति दूसरे ईश्वर की तलाश करता है वह अपने हाथ में आई हुई कौस्तुभ मणि को छोड़कर मामूली रत्न की तलाश करता है।

(ई) ज्ञान से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है :—

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्नत्वनुष्ठानदुःखतः ॥ (३।६।१)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो। (६।३८।३०)
अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ॥ (३।६।२)

इस देवों के देव परम परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान द्वारा ही होती है और किसी प्रकार के अनुष्ठान के दुःख से नहीं। बिना ज्ञान के और किसी साधन से यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। परमात्मा के प्राप्त करने में ज्ञान ही एक अनुष्ठान है, और दूसरा कोई नहीं है।

(उ) आत्मदेव की पूजा करने की विधि :—

अव्युत्पन्नधियो ये हि बालपल्लवचेतसः।
कृत्रिमार्चामयं तेषां देवार्चनमुदाहृतम् ॥ (६।३०।९)
संवेदनात्मकतया गतया सर्वगोचरम्।
न तस्याह्वानमंत्रादि किञ्चिदेवोपयुज्यते ॥ (६।३९।२४)
न दीपेन न धूपेन न पुष्पविभवार्पणैः।
नान्नदानादिदानेन न चन्दनविलेपनैः ॥ (६।३८।२३)
न च कुंकुमकर्पूरभोगैश्चित्रैर्न चेतरैः।
नित्यमक्लेशलभ्येन शीतलेनाऽविनाशिना ॥ (६।३८।२४)
एकेनैवाऽमृतेनैष बोधेन स्वेन पूज्यते।
एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता ॥ (६।३८।२५)
नित्यमेव शरीरस्थमिमं ध्यायेत्परं शिवम्। (६।३९।३)
एषोऽसौ परमो योग एषा सा परमा क्रिया ॥ (६।३८।३६)
शमबोधादिभिः पुष्पैर्देव आत्मा यदर्च्यते।
तत्तु देवार्चनं विद्धि नाकारार्चनमर्चनम् ॥ (६।२९।१२८)
पूजनं ध्यानमेवान्तर्नान्यदस्त्यस्य पूजनम्। (६।३८।६)
स्वसंविदात्मा देवोऽयं नोपहारेण पूज्यते ॥ (६।३८।२२)
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्। (६।३८।२६)
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्शुद्धसंविन्मयो भवेत् ॥ (६।३८।२७)
ध्यानामृतेन सम्पूज्य स्वयमात्मानमीश्वरम्। (६।३८।२७)
ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानं ह्यस्य समीहितम् ॥ (६।३८।२८)
ध्यानमर्घ्यं च पाद्यं च शुद्धसंवेदनात्मकम्।
ध्यानसंवेदनं पुष्पं सर्वं ध्यानपरं विदुः ॥ (६।३८।२९)
विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो।
ध्यानात्प्रसादमायान्ति सर्वभोगसुखश्रियः ॥ (६।३८।३०)

जिनकी बुद्धि चेतन नहीं हुई और जिनका चित्त चञ्चल है, केवल उन्हीं लोगों के लिये बाहरी और बनावटी देव-पूजा की विधि

है। जो देव सब जगह मौजूद है और ज्ञान रूप से सब प्राणियों के भीतर है, उसके लिये आह्वान और मंत्र आदि की आवश्यकता नहीं है। आत्मदेव की पूजा में न दीपक की, न धूप की, न फूलों की, न अन्न की, न दान की, न चन्दन लगाने की, न केसर, कपूर और भोग की आवश्यकता है। उसकी पूजा केवल एक ही विधि से होती है। वह है उसका ध्यान जिसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं है और जो शीतलता देने वाला अमृत है। यही बड़ा भारी ध्यान है और यही बड़ी भारी पूजा है कि शरीर में स्थित परम शिव आत्मा का ध्यान किया जाए। यही परम योग है और यही बड़ी भारी क्रिया है। शम और बोध आदि फूलों द्वारा आत्मा की पूजा करना ही असली पूजा है; किसी आकार की पूजा करना वास्तविक पूजा नहीं है। अपने भीतर आत्मा का ध्यान करने के सिवाय और कोई आत्मा की पूजा ही नहीं है। संवित् (ज्ञान) रूप आत्म देव किसी उपहार से प्रसन्न नहीं होता। देखते हुए, सुनते हुए, छूते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, जाते हुए, सोते हुए, साँस लेते हुए, बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, अर्थात् सब ही कामों को करते हुए, संवित्मय बनना चाहिये। अपने आत्मा रूपी ईश्वर को ध्यान रूपी अमृत से पूजो। आत्म देव के लिये ध्यान ही सर्वोत्तम उपहार है। ध्यान ही इसको प्रसन्न करने की विधि है। शुद्ध संवेदनात्मक ध्यान ही इसके लिये अर्घ्य और पाद्य है; वही इसके लिये फूल हैं। ध्यान का आश्रय लो, बिना ध्यान के और किसी विधि से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्म-ध्यान से ही सब भोग सुख और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

(ऊ) ज्ञानी लोगों की देवपूजा :—

यथाप्राप्तेन सर्वेण तमर्चयति वस्तुना।
समया सर्वया बुद्ध्या चिन्मात्रं देवचित्परम् ॥ (६।३९।३०)
यथाप्राप्तक्रमोत्थेन सर्वार्थेन समर्चयेत्।
मनागपि न कर्तव्यो यत्नोऽत्रापूर्ववस्तुनि ॥ (६।३९।३१)
प्राप्तदेहतया नित्यं यथार्थक्रिययाऽनया।
कामसंसेवनेनाथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥ (६।३९।३२)
भक्ष्यभोज्यान्नपानेन नानाविभवशालिना।
शयनासनयानेन यथाप्तेनार्चयेच्छिवम् ॥ (६।३९।३३)

कान्तान्नपानसंभोगसंभारादिविलासिना ।
सुखेन सर्वरूपेण सम्बुद्ध्याऽऽत्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३४)
आधिव्याधिप्रीतेन मोहसंरम्भशालिना ।
सर्वोपद्रवदुःखेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३५)
दारिद्र्येणाथ राज्येन प्रवाहपतितात्मना ।
विचित्रचेष्टापुष्पेण शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।३७)
रागद्वेषविलासेन शुद्धात्मानं समर्चयेत् । (६।३९।३८)
मैत्र्या माधुर्यधर्मिण्या हृत्स्थमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।३९)
उपेक्षया करुणया सदा मुदितया हृदि ।
शुद्धया शक्तिपद्धत्या बोधेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४०)
आकस्मिकोपयातेन स्थितेनानियतेन च ।
भोगाभोगैकभोगेन प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।४१)
भोगानामनिषिद्धानां निषिद्धानां च सर्वदा ।
त्यागेन वीतरागेण स्वात्मानं शुद्धमर्चयेत् ॥ (६।३९।४२)
ईहितानीहितौघेन युक्तायुक्तमयात्मना । (६।३९।४३)
निर्विकारतयैतद्धि परमार्चनमात्मनः ॥ (६।३९।४४)
सर्वदैव समस्तासु चेष्टानिष्टासु दृष्टिषु ।
परमं साम्यमाधाय नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४५)
त्यक्तेनाप्तेन चार्थेन ह्यर्थानामीशमर्चयेत् । (६।३९।४३)
नष्टं नष्टमुपेक्षेत प्राप्तं प्राप्तमुपाहरेत् ॥ (६।३९।४४)
आपातरमणीयं यद्यच्चापातसुदुःसहम् ।
तत्सर्वं सुसमं बुद्ध्वा नित्यात्मार्चाव्रतं चरेत् ॥ (६।३९।४७)
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यजेत् ।
सर्वं ब्रह्मेति निश्चित्य शुद्धात्मानं समर्चयेत् ॥ (६।३९।४८)
सर्वदा सर्वरूपेण सर्वाकारविकारिणा ।
सर्वं सर्वप्रकारेण प्राप्तेनात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।[illegible])
अनीहितं परित्यज्य परित्यज्य तथेहितम् ।
उभयाश्रयणेनापि नित्यमात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५०)
देशकालक्रियायोगाद्यदुपैति शुभाशुभम् ।
अविकारं गृहीतेन तेनैवात्मानमर्चयेत् ॥ (६।३९।५३)

चिन्मात्र आत्मदेव की पूजा सम बुद्धि से सभी यथा प्राप्त वस्तुओं द्वारा होती है। उसकी पूजा के लिये किसी अप्राप्त और अपूर्व

वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी पूजा सब ही यथाप्राप्त वस्तुओं से करनी चाहिये। देह द्वारा की जाने वाली सब क्रियाओं से आत्मा की पूजा होती है। काम के भोग से, भक्ष्य भोजन के खाने से, नाना प्रकार के विभव की प्राप्ति से, यथाप्राप्त सवारी पर चढ़ने से और बिस्तर पर सोने से, स्त्री, और अन्नपान आदि के उपभोग से, सब प्रकार के सुखों के भोग से, आधि और व्याधि के सहन से, मोह में डालने वाली प्रीति के अनुभव से, यथाप्राप्त सब मुसीबतों के दुःख बर्दाश्त करने से, यथाप्राप्त दरिद्रता या राज को भोगने से, नाना प्रकार की चेष्टाओं से, राग द्वेष से, मधुर मित्रता से, करुणा उपेक्षा अथवा प्रसन्नता से, शक्ति के शुद्ध उपयोग से, अकस्मात प्राप्त, अनियत अथवा स्थिर भोगों के उपभोग से, वीतराग होकर निषिद्ध अथवा अनिषिद्ध भोगों के त्याग से, युक्त अथवा अयुक्त, इच्छित अथवा अनिच्छित भोगों को निर्विकार रहकर भोगने से, सब प्रकार की दृष्टियों में, चेष्टाओं में सदा ही समभाव रखने से, धन को प्राप्त करने अथवा उसका त्याग करने से, जो गया उसकी उपेक्षा और जो आता है उसकी प्राप्ति करने से, जो दूर से सुखदाई अथवा दुखदाई दिखाई पड़ते हैं उन सब दृश्यों में सम बुद्धि होकर विचरण करने से, मैं यह हूँ यह नहीं हूँ इस विचार को त्याग कर सब कुछ ब्रह्म है यह भाव निश्चित करनेसे, सब रूप से, सब आकारों से, सब प्रकार से, इच्छित और अनिच्छित दोनों प्रकार के पदार्थों के त्याग वा ग्रहण से, देश, काल और क्रिया द्वारा जो कुछ शुभ अथवा अशुभ फल प्राप्त हों उनको बिना किसी मानसिक विकार के ग्रहण करने से (अर्थात् सब प्रकार की क्रियाओं को करते हुए और सब भोगों को भोगते हुए), प्राणी आत्म देव की पूजा कर सकता है। (तात्पर्य यह है कि आत्मा की पूजा के लिये न किसी विशेष क्रिया के करने की आवश्यकता है और न त्यागने की। आवश्यकता है केवल आत्मभाव में स्थित रह कर जीवन बिताने की और आत्म देव के निरन्तर ध्यान करने की)।

(ए) बाहरी देवता की पूजा मुख्य नहीं गौण है :—

हृद्गुहावासिचित्तस्त्वं मुख्यं सानातनं वपुः।
शङ्खचक्रगदाहस्तो गौण आत्मा आत्मनः॥ (६।४३।२७)

यो हि मुख्यं परित्यज्य गौणं समनुधावति ।
त्यक्त्वा रसायनं सिद्धं साध्यं संसाधयन्यसौ ॥ (६।४३।२८)

मुख्यः पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मदर्शने ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥ (६।४३।११)

अभ्यासयत्नो प्रथमं मुख्यो विधिरुदाहृतः ।
तदभावे तु गौणः स्यात्पूज्यपूजामयक्रमः ॥ (६।४३।२१)

अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरङ्गचित्तवशीकृतः ।
शंखचक्रगदापाणिमर्चयेत्परमेश्वरम् ॥ (६।४३।३०)

तत्पूजनेन कष्टेन तपसा तस्य राघव ।
काले निर्मलतामेति चित्तं वैराग्यकारिणा ॥ (६।४३।३१)

नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति ।
आम्र एव दशामेति साहकारीं शनैः शनैः ॥ (६।४३।३२)

एतदप्यात्मनैवात्मा फलमाप्नोति भावितम् ।
हरिपूजाक्रमाख्येन निमित्तेनारिसूदन ॥ (६।४३।३३)

आत्मा का मुख्य आकार वह नित्य चित् तत्त्व है जो हृदय की गुफा में वास करता है। हाथ में शंख, चक्र, गदा आदि को धारण करने वाला विष्णु आदि रूप गौण है। जो मुख्य आकार को छोड़कर भगवान् के गौण आकार के पीछे दौड़ता है वह सिद्ध रसायन को फेंक कर दूसरी को सिद्ध करने का प्रयास करता है। आत्मा के दर्शन करने में मुख्य यत्न पुरुष का स्वयं किया हुआ आत्म विचार है। वर आदि गौण साधन हैं। गौण को छोड़कर मुख्य का आश्रय लेना चाहिये। जो आदमी अपने चित्तको बस में न कर सकता हो और जिसके अन्दर आत्मा और अनात्मा का विवेक उत्पन्न न हुआ हो उसी को चाहिये कि शंख, चक्र, गदा आदि को हाथ में लिये हुए साकार ईश्वर की पूजा करे। संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाली उस भगवान् की पूजा करने के कष्ट और तप से समय पाकर उसका मन शुद्ध हो जायेगा। जैसे कच्चा आम धीरे-धीरे पक जाता है ऐसे ही उसका मन नित्य के अभ्यास और विवेक से कुछ काल में शुद्ध हो जाता है। इस प्रक्रिया में भी वास्तव में आत्मा ही फल देता है। हरि-पूजा आदि साधन तो निमित्त मात्र हैं।

(४) जन्म भर कर्मों का त्याग नहीं हो सकता, इसलिये मोक्ष-प्राप्ति के लिये कर्मत्याग की आवश्यकता नहीं है :—

कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (६।२८।८)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (६।२८।६)
अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ (६।२।३१)
एतच्चेतनमेवान्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः।
वासनेच्छामनःकर्मसङ्कल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ (६।२।३४)
प्रबुद्धस्याप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ (६।२।३९)
जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते। (६।२।३६)
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते ॥ (६।२।४२)
मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः। (६।२।४३)
सा चादेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ (६।२।४४)
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा।
यादृग्वासनमेतत्स्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)
तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च।
कर्तृता न तु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)
राजन्यावदयं देहस्तावन्मुक्तधियामपि।
यथाप्राप्तक्रियात्यागो रोचते न स्वभावतः ॥ (५।६।१६)
यावदायुरिदं राम निश्चितं स्पन्दते तनुः।
तद्यथाप्राप्तमव्यग्रं स्पन्दतामपरेण किम् ॥ (६।११९।९)

कर्म पुरुष है और पुरुष कर्म है। जैसे बरफ और शीतलता अभिन्न हैं वैसे ही पुरुष और कर्म अभिन्न हैं। पुरुष और कर्म में संवित् और स्पन्दमय आत्मा में, कल्पना के अतिरिक्त जरा भी भेद नहीं है। अतएव वेदनात्मक सूक्ष्म कर्म का, जब तक शरीर है तब तक त्याग और ग्रहण निरर्थक है (अर्थात् जब तक शरीर है कर्म करना ही है)। जब तक आत्मा में चेत्य की ओर प्रवृत्ति है तब

तो वह वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि रूपों में प्रकट होती ही रहती है। चाहे ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, जब तक शरीर में चित्त है तब तक कर्म का त्याग नामुमकिन है। शरीर जब तक रहता है तब तक कर्म का त्याग नहीं हो सकता। कर्म की जड़ वासनात्मक मन की संवित् है; वह बिना ज्ञान प्राप्त किये नष्ट नहीं की जा सकती। नरक में हो अथवा स्वर्ग में, कर्म करते हुए अथवा न करते हुए, जैसी जिसकी वासना होती है वैसा ही उसका मन अनुभव करता है। इसलिये जिसने तत्त्व को नहीं जाना वह तो, कर्म करे या न करे, कर्म का कर्ता है ही। ज्ञानी कर्म करने और न करने दोनों पर ही अकर्ता है क्योंकि उसमें वासना नहीं है। जब तक शरीर है तब तक मुक्त पुरुषों को भी स्वाभाविक कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। जब तक आयु है तब तक शरीर तो अवश्य ही क्रिया करता ही रहेगा। इसलिए यथा प्राप्त अवसर के अनुसार बिना व्यग्र हुए काम करना चाहिए। (अतएव कर्मत्याग की मुक्ति के लिए आवश्यकता नहीं है)।

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी देवता विशेष की भक्ति और पूजा करने की आवश्यकता नहीं; और न कर्मत्याग करने की, और न किसी अन्य साधन की। केवल आत्मज्ञान ही एक पर्याप्त साधन है। अब यह देखना है कि मोक्षदायक ज्ञान का क्या स्वरूप है।

(५) सम्यक् ज्ञान का स्वरूप :—

अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येको निश्चयः स्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ (५।७९।२)
इमा घटपटाकाराः पदार्थशतपंक्तयः ।
आत्मैव नान्यदस्तीति निश्चयः सम्यगीक्षणम् ॥ (५।७९।३)
ज्ञानस्य ज्ञेयता नास्ति केवलं ज्ञानमव्ययम् ।
अवाच्यमितिबोधोऽन्तः सम्यग्ज्ञानमिति स्मृतम् ॥ (६।१९०।५)

यहाँ पर अनादि और अनन्त प्रकाश वाला परमात्मा ही है इस प्रकार का शङ्कारहित निश्चय सम्यक् ज्ञान कहलाता है। घट-पट के आकार वाले जितने संसार के पदार्थ हैं वे सब आत्मा ही हैं, आत्मा के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कोई तत्त्व नहीं है—इस प्रकार का निश्चय सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं हो सकता, यहाँ पर केवल

अक्षय ज्ञान ही है और वह वर्णन नहीं किया जा सकता इस प्रकार का बोध सम्यक् ज्ञान है।

(६) आत्मज्ञान की उत्पत्ति अपने ही यत्न और विचार से होती है :—

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना।
स देवो ज्ञायते राम न तपःस्नानकर्मभिः॥ (३।६।९)
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया। (६।११८।४)
सर्वदा सर्वथा सर्वं स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥ (५।७३।१९)
सुन्दर्या निजया बुद्ध्या प्रज्ञयेव वयस्यया।
पदमासाद्यते राम न नाम क्रिययान्यया॥ (५।१२।१८)
स्वयमेव विचारेण विचार्यात्मानमात्मना।
यावन्नाधिगतं ज्ञेयं न तावदधिगम्यते॥ (५।५।६)
स्वयमालोक्य प्राज्ञ संसारारम्भदृष्टिषु।
किं सत्यं किमसत्यं वा भव सत्यपरायणः॥ (५।५।८)
विचारेणावदातेन पश्यत्यात्मानमात्मना।
संसारमननं चित्रं विचारेण विलीयते॥ (५।१३।१३)

आत्मदेव का ज्ञान अपने ही पुरुषार्थ और विवेक से होता है; तप, स्नान आदि किसी अनुष्ठान से नहीं होता। आत्मा अपने आप ही अपनी सात्त्विक बुद्धि द्वारा जाना जाता है। वह सब जगह और हमेशा अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। अपनी प्रज्ञामयी हितकारिणी बुद्धि द्वारा ही वह पद प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रिया से नहीं। जब तक कि अपने आप ही अपने विचार द्वारा आत्मा का दर्शन नहीं किया जाता तब तक उसका ज्ञान नहीं होता। बुद्धिमान आदमी को चाहिये कि संसार की सभी वस्तुओं के ऊपर इस दृष्टि से विचार करे कि इनमें से कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य। निश्चय हो जाने पर असत्य का त्याग करे और सत्य का ग्रहण। शुद्ध विचार से ही आत्मा आत्मा को जानता है। संसार की भावना विचार ही से लीन होती है।

(७) विचार के लिये चित्त को शुद्ध करना चाहिये :—

पूर्वं राघव शास्त्रेण वैराग्येण परेण च।
तथा सज्जनसंगेन नीयतां पुण्यतां मनः॥ (५।५।१४)

वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ।
यत्नेनापद्विघातार्थं स्वयमेवोन्नयेन्मनः ॥ (५।२१।११)
शास्त्रसज्जनसत्कार्यसङ्गेनोपहतैनसाम् ।
सारावलोकिनी बुद्धिर्जायते दीपकोपमा ॥ (५।५।५)

हे राम ! शास्त्र के अध्ययम से, गहरे वैराग्य से और सज्जनों के सङ्ग से मन को पवित्र करना चाहिये । आपत्तियों के नाश करने के लिये वैराग्य, शास्त्र और उत्तम गुणों द्वारा यत्नपूर्वक मन को ऊँचे उठाना चाहिये । शास्त्र के अध्ययन, सज्जनों की संगत और शुभ कर्मों के करने से पाप क्षीण होकर सार को समझाने वाली दीपक के समान प्रकाश वाली बुद्धि का उदय हो जाता है ।

(८) विचार के कुछ विषय :—

कोऽहं कथमिदं किंवा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरेवं त्वं महत्तामलमेष्यसि ॥ (५।५८।३२)
येषु येषु पदार्थेषु धृतिं बध्नाति मानवः ।
तेषु तेष्वेव तत्यायं दृष्टो नाशोदयो भृशम् ॥ (५।९।३४)
आगमापायि विरसं दशावैषम्यदूषितम् ।
असारसारं संसारं किं तत्पश्यति दुर्मतिः ॥ (५।९।३७)
सुखदुःखानुभावित्वमात्मनीत्यवबुध्यते ।
असत्यमेव गगने बिन्दुताम्लानते यथा ॥ (५।५।३३)
सुखदुःखेन देहस्य सर्वातीतस्य नात्मनः ।
एते ह्यज्ञानकस्यैव तस्मिन्नष्टे न कस्यचित् ॥ (५।५।३४)
मिश्रीभूतमिवानेन देहेनोपहतात्मना ।
व्यक्तीकृत्य स्वमात्मानं स्वस्थो भवत मा चिरम् ॥ (५।५।२४)

मैं कौन हूँ ? यह संसार क्यों है, क्या है और कैसे है ? जन्म और मरण क्यों होते हैं ? इन सब बातों पर विचार करने से मन शुद्ध और महान होता है । जिस-जिस पदार्थ का मनुष्य आश्रय लेता है, वही नाशवान् है—यह देखने में आता है । संसार असार है, उत्पन्न और नाश होने वाला है, दुःखदाई अवस्थाओं से परिपूर्ण है—क्या यह नीच बुद्धिवाले को मालूम है ? आत्मा में सुख और दुःख का अनुभव होना इतना असत्य है जितना कि आकाश में गोलाई और नीलेपन का होना । दुःख और सुख न देह को होते हैं, न आत्मा को होते हैं । अज्ञान से ही

इनका अनुभव होता है। उसके नष्ट होने पर इनका अनुभव किसी को नहीं होता। आत्मा और शरीर एक दूसरे से मिले हुए स्थित हैं। देह से आत्मा को अलग करके सुखी हो।

(९) अविद्या से ही अविद्या का नाश होता है :—

योमुमुक्षोरविद्यांशः केवलो नाम सात्त्विकः।
सात्त्विकैरेव सोऽविद्याभागैः शास्त्रादिनामभिः॥ (६।४१।५)
अविद्यां श्रेष्ठयाऽश्रेष्ठां क्षालयन्निह तिष्ठति।
मलं मलेनापहरन्युक्तिज्ञो रजको यथा॥ (६।४१।६)
काकतालीयवत्पश्चादविद्याक्षय आगते।
प्रपश्यात्यात्मनैवात्मा स्वभावस्यैव निश्चयः॥ (६।४१।७)
पश्यत्यात्मानमात्मैव विचारयति चात्मना।
आत्मैवेहास्ति नाविद्या इत्यविद्याक्षयं विदुः॥ (६।४१।१०)

मोक्ष चाहने वाले अधिकारी की सात्त्विक अविद्या शास्त्र आदि सात्त्वि अविद्या द्वारा नष्ट हो जाती है। जैसे बुद्धिमान् धोबी मैल को मैल से ही साफ़ करता है वैसे ही मुमुक्षु अश्रेष्ठ अविद्या को श्रेष्ठ अविद्या से दूर कर देता है। जब अविद्या क्षीण हो जाती है तो काक-तालीय योग से (अकस्मात् ही) आत्मा में आत्मा का विचार उदय हो जाता है, और अपने स्वरूप का निश्चय हो जाता है। अविद्या के क्षीण होने का यह अर्थ है कि आत्मा आत्मा का विचार करता है और आत्मा आत्मा को जानता है; और यह अनुभव होता है कि आत्मा ही है अविद्या नहीं है।

(१०) ज्ञानप्राप्ति में शास्त्र का उपयोग :—

वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि॥ (६।१९७।१५)
केवलं सर्ववाक्यार्थैर्व्यमानावगम्यते।
कालश्रीः प्रसवेनेव स्वानुभवेन सा॥ (६।१९७।१६)
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम्।
सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति॥ (६।१९७।१७)
न शास्त्रान्न गुरोर्वाक्यान्न दानान्नेश्वरार्चनात्।
एष सर्वपदातीतो बोधः सम्प्राप्यते [illegible]॥ (६।१९७।१८)
एतान्यकरणान्येव कारणत्वं [illegible]।
परमात्मैकविश्रान्तौ यथा राघव तच्छृणु॥ (६।१९७।१९)

शास्त्रादभ्यासयोगेन चित्तं यातं विशुद्धताम् ।
अनिच्छदेवमेवाशु पदं पश्यति पावनम् ॥ (६।१९७।२०)
एतच्छास्त्रादविद्यायाः सात्त्विको भाग उच्यते ।
तामसः सात्त्विकेनास्या भागेनायाति संक्षयम् ॥ (६।१९७।२१)
नूनं मलं प्रधानेन क्षालयच्छास्त्ररूपिणा ।
पुरुषः शुद्धतामेति परमां वस्तुशक्तितः ॥ (६।१९७।२२)
मुमुक्षुशास्त्रयोरेवं मिथः सम्बन्धमात्रतः ।
सर्वसंवित्पदातीतमात्मज्ञानं प्रवर्तते ॥ (६।१९७।२६)
लोष्टेन लोष्टं सलिले क्षालयन्बालको यथा ।
क्षयेण लोष्टयोर्हस्तनैर्मल्यं लभते परम् ॥ (६।१९७।२७)
तथा शास्त्रविकल्पौघैर्विकल्पांश्चेतनाद्बुधः ।
क्षालयन्स्वविचारेण परमां याति शुद्धताम् ॥ (६।१९७।२८)
महावाक्यार्थनिश्चयं स्वात्मज्ञानमवाप्यते ।
शास्त्रादेरिक्षुरसतः स्वाद्विव स्वानुभूतितः ॥ ६।१९७।२९)
शास्त्रार्थैर्बुध्यते नात्मा गुरोर्वचनतो न च ।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः ॥ (६।४१।१९)
गुरूपदेशशास्त्रार्थैर्विना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञानप्रकाशिनी ॥ (६।४१।१६)

शास्त्र में (धर्म, अर्थ और काम इन) तीन वर्गों का ही उपदेश है। ब्रह्म प्राप्ति का विषय तो अवाच्य होने के कारण शास्त्र में नहीं मिलता। शास्त्र के सब वाक्यों के अर्थों पर विचार करने से समय पाकर ब्रह्म प्राप्ति का अनुभव होता है। ब्रह्मज्ञान शास्त्र के सब अर्थों से परे का विषय है, जैसे स्त्री का सौन्दर्य उसके शरीर के सब अंगों से परे की वस्तु है (अर्थात् जैसे स्त्री का सौन्दर्य किसी एक या सब अङ्गों में नहीं है बल्कि सब अङ्गों से ऊपर है वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी शास्त्र के सब वाक्यों से परे और ऊपर का विषय है)। सब शब्दों से अतीत ब्रह्मज्ञान न शास्त्र से प्राप्त होता है, न गुरु के वाक्यों से और न दान और ईश्वरपूजा आदि से। ये सब परमात्मा में विश्राम प्राप्ति के कारण न होते हुए भी जिस कारण होते हैं, हे राम, वह सुनो। शास्त्र के अनुसार अभ्यास और योग करने से चित्त शुद्ध होता है, और शुद्ध होने पर चित्त आप से आप ही परम पद का अनुभव करने लगता है। शास्त्र (भी अविद्या के अन्तर्गत होने से) अविद्या का अंश है; किन्तु है सात्त्विक अंश।

सात्त्विक भाग से अविद्या का तामसिक भाग क्षय को प्राप्त हो जाता है। शास्त्र रूपी मैल से अविद्या रूपी मैल को धोकर पुरुष परम शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। मुमुक्षु और शास्त्र के मेल से सब ज्ञानों से परे का आत्मज्ञान उदय हो जाता है। जैसे बालक हाथों में लगी हुई मिट्टीको मिट्टी से धोकर साफ कर लेता है, वैसे ही शास्त्रगत कल्पनाओं के द्वारा अपने मन की सांसारिक कल्पनाओं को दूर करके ज्ञानी परम पवित्रता को प्राप्त कर लेता है। जैसे गन्ने में मौजूद रस को चूस कर मनुष्य उसका स्वाद लेता है ऐसे ही शास्त्रों के महावाक्यों में जो ब्रह्मानन्द भरा हुआ है उसका भोग ज्ञानी अपने निज के अनुभव द्वारा ही करता है। वास्तव में आत्मा शास्त्र द्वारा नहीं जाना जाता, न गुरु के वचन द्वारा। वह तो अपने अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना भी आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी, शास्त्र और गुरु तीनों का संयोग होने पर ही आत्मानुभव का प्रकाश होता है।

———

२४—ज्ञानप्राप्ति के साधन।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञान ही मुक्ति का एक साधन है। वह ज्ञान केवल वाचिक ज्ञान नहीं है, न वह तर्क मात्र ही है। मुक्ति का अनुभव करने वाला ज्ञान आत्मा का अनुभव है, और वह अनुभव वास्तविक होना चाहिये, केवल कथन मात्र नहीं। जीव को ब्रह्म दृष्टि प्राप्त करके, उसमें आरूढ़ होकर उस दृष्टि के अनुसार व्यवहार भी करना है। यदि हमारा जीवन हमारी उच्चतम दृष्टि के अनुसार नहीं है तो हमारा ज्ञान परिपक्व ज्ञान नहीं है। केवल वाद-विवाद और जीविका के लिये जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो मोक्ष-पदको दिला सके। ज्ञानी वह है जिसका जीवन आध्यात्मिक जीवन हो। यदि जीवन को ऊँचा बनाने के लिये ज्ञान प्राप्त नहीं किया और केवल नाम, यश और जीविका आदि के लिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया है, तो ऐसे ज्ञानी को योगवासिष्ठ में ज्ञानी न कहकर "ज्ञानबन्धु" कहा है। "ज्ञानी" और "ज्ञान-बन्धु" का भेद योगवासिष्ठ में इस प्रकार बतलाया है :—

(१) ज्ञानबन्धु :—

अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्। (६/२।२१।१)
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्॥ (६/२।२१।३)
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते। (६/२।२१।३)
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते॥ (६/२।२१।४)
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥ (६/२।२१।५)
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥ (६/२।२१।६)
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्॥ (६/२।२१।७)
आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः॥ (६/२।२१।८)

मैं ज्ञानबन्धु से अज्ञानी को ज्यादा अच्छा समझता हूं। ज्ञानबन्धु वह है जो शास्त्रों का पठन और चर्चा शिल्पकार की नाईं भोगों को प्राप्त करने के लिये करता है, उनके अनुसार चलने के लिये नहीं; जिसके ज्ञान का उसके जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता; जो अन्न और वस्त्र मात्र की प्राप्ति को शास्त्र के अध्ययन का उचित फल समझता है जैसे कि शिल्प-शास्त्र का जानने वाला; और जो श्रुति में कहे हुए प्रवृत्ति मार्ग पर चलना ही अपना धर्म समझता है और ज्ञान से दूर रहता है। आत्मा का ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान है और वस्तुओं के ज्ञान तो ज्ञानाभास हैं क्योंकि उनके द्वारा सार वस्तु का ज्ञान नहीं होता। जो लोग आत्मज्ञान को न पाकर और प्रकार के ज्ञानों से सन्तुष्ट हो जाते हैं वे ज्ञानबन्धु कहलाते हैं।

(२) ज्ञानी :—

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।१)
ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।२)
अन्तःशीतलतेहास्तु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥ (६।२२।३)
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदाशेषा व्यवस्था शिल्पजीविका॥ (६।२२।४)
प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते॥ (६।२२।५)

जो पुरुष ज्ञान से जाने हुए ज्ञेय पदार्थ के ध्यान में इतना लग जाए कि उसको अपने मन का भी ध्यान न रहे—जिसका चित्त अचित्त हो जावे—और कर्मफल की भी चिन्ता न रहे, वह ज्ञानी है। जो जानने योग्य वस्तु को जान कर कर्म करने में वासनारहित हो जाता है, वही ज्ञानी है। जिसके मन की इच्छाएँ शान्त हो गई हैं और जिसकी शीतलता बनावटी नहीं, वास्तविक है, उसे ज्ञानी कहते हैं। जिसका ज्ञान ऐसा है जिससे पुनर्जन्म होने की सम्भावना नहीं है, वही ज्ञानी है। खाना पहनना और देना आदि क्रियाएँ तो शिल्पी की जीविका मात्र हैं। जैसा अवसर आ पड़े उसके अनुसार कामना और

संकल्प के बिना शान्त हृदय होकर जो काम करता रहता है वही ज्ञानी है।

(३) बिना अभ्यास के ज्ञान सिद्ध नहीं होता :—

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥ (५।९२।२३)
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।(६।६७।४३)
अभ्यासेन विना साधो नाभ्युदेत्यात्मभावना ॥ (६।११।१)
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ (३।२२।२४)
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्यन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ ३।२२।२६)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)
नाभ्यासेन विना ज्ञाने शिवे विश्रान्तिवानसि ।
अभ्यासेन तु कालेन भृशं विश्रान्तिमेष्यसि ॥ (६।१९९।१३)

सैकड़ों जन्मों में अनुभूत होने के कारण बहुत दृढ़ हुई संसार-भावना का क्षय बिना बहुत समय तक (ज्ञान का) अभ्यास और योग किये नहीं होता। किसी काम को पुनः-पुनः करने का नाम अभ्यास है। बिना अभ्यास के आत्म-भावना का उदय नहीं होता। उसी का चिन्तन करना, उसी का वर्णन करना, एक दूसरे को उसी का ज्ञान कराना, उसी एक के विचार में तत्पर रहना, (ब्रह्मज्ञान का) अभ्यास कहलाता है। जिनके भीतर वैराग्य-रस से रञ्जित, उदारता और सौन्दर्य से परिपूर्ण आनन्द का प्रसार करने वाली बुद्धि का उदय हो गया है, वे आत्मज्ञान के अभ्यासी हैं। जो युक्ति और शास्त्र की सहायता से ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के अभाव का अनुभव करने का यत्न करते रहते हैं वे अभ्यासी कहलाते हैं। बिना अभ्यास कल्याणकारी ज्ञान में विश्राम नहीं प्राप्त होता। अभ्यास करते रहने से समय पाकर अवश्य शान्ति का अनुभव होगा।

(४) संसार से पार उतरने के मार्ग का नाम 'योग' है–

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते ।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ (६।१३।३)

आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि ।
द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ (६।१३।४)
प्रकारौ द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि ।
तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ (६।१३।६)
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ॥ (६।१३।८)
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ (५।७८।८)
चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये ।
स्वयं गुणो गुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः (५।७८।७)

संसार से पार उतरने की युक्ति का नाम योग है। वह चित्त को शान्त करने वाली युक्ति दो प्रकार की है। इसका एक प्रकार है आत्मज्ञान और दूसरा है प्राण-निरोध। यद्यपि दोनों मार्गों का नाम योग है, तथापि "प्राण निरोध" के लिये ही "योग" शब्द अधिक प्रचलित है। किसी के लिये योग-मार्ग कठिन है, किसी के लिये ज्ञान-मार्ग कठिन है। मेरी राय में तो ज्ञान-निश्चय का अभ्यास ज्यादा सुगम है। चित्त को शान्त करने के दो उपाय हैं एक योग और दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का अर्थ है यथावस्थित वस्तु को जानना। चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है, दूसरा उसका गुण है; एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(५) योग की निष्ठा (प्राप्य अवस्था) :—

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका (६।१२८।९१)
योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ॥ (६।१२८।९१)
मनस्यस्तंगते पुंसां तदन्यत्रोपलभ्यते ।
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ॥ (६।१२८।९२)

जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति जिसका नाम तुर्या है, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के बीज से रहित है, जो आनन्द और चिति का अनुभव है, और परम ज्ञान और आनन्द

है, वही योग का प्राप्य अनुभव है। उस स्थिति का अनुभव बिना उस अमृत के समुद्र में, जिसमें की सब लहरें शान्त हो गई हैं, मन के अस्त हुए, असम्भव है।

(६) तीन प्रकार का योगाभ्यास :—

एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा।
मनोविनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ॥ (५।६९।२७)
एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम् ॥ (५।६९।३०)
त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम्।
साध्यं विद्धि तदेवाशु साध्यं भवति तच्छिवम् ॥ (५।६९।२९)

योग (संसार से पार उतरने की युक्ति) शब्द के तीन अर्थ हैं :—(१) तत्त्व का गहरा अभ्यास, (२) प्राणों का निरोध और (३) मन का निग्रह। इन तीनों—एक तत्त्व का अभ्यास, प्राण निरोध और चित्त-नाश—में से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन तीनों प्रयोगों में से मन को शान्त करना सबसे उत्तम है। इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण हो जाता है।

१—एक तत्त्व का गहरा अभ्यास :—

एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः।
तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ (५।६९।४८)

एक तत्त्व के गहरे अभ्यास से मन सहज में शान्त हो जाता है। मन के स्वभाव में लीन हो जाने पर प्राण भी शान्त हो जाता है।

एक तत्त्व के गहरे अभ्यास करने की भी योगवासिष्ठ में तीन रीतियाँ वर्णन की गई हैं :—ब्रह्म-भावना, पदार्थों के अभाव की भावना और केवलभावना। उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

(अ) ब्रह्म-भावना :—

विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय।
मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ॥ (५।६९।४९)
प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव।
विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ॥ (५।६९।५२)

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम् ।
तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥ (४।११।५९)
भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।
अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ॥ (४।११।६०)

अनन्त आत्मतत्त्व का विचार करके मन को तन्मय बनाने का यत्न करना चाहिये। मन के तल्लीन होने पर वह स्थिर हो जाता है। आत्मतत्त्व (ब्रह्म) में मन को स्थिर करने से प्राणों सहित मन ऐसे लीन हो जाता है जैसे कि वह भोग्य पदार्थों का क्षीण होने पर [illegible] जाता है। आत्मा जैसी-जैसी भावना करता है वह शीघ्र ही वैसा ही हो जाता है और वैसी ही शक्ति से पूर्ण हो जाता है। जैसे बरसाती नाले बारिश होने से बड़ी-बड़ी नदियाँ बन जाते हैं वैसे ही भावना द्वारा मन आत्मा होकर अनन्त और सब कुछ हो जाता है (अर्थात अपने आप को ब्रह्म समझते-समझते वह एक दिन ब्रह्म ही बन जाता है)।

(आ) पदार्थों के अभाव की भावना :—

सत्यदृष्टौ प्रपञ्चायामसत्ये क्षयमागते ।
निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ॥ (४।२१।४३)
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अत्यन्ताभावसम्बोधे यदि रूढिरलं भवेत् ॥ (३।७।२७)
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नान्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नान्या शुभा गतिः ॥ (३।७।२८)
जगन्नाम्नोऽस्य [illegible] स्वसत्तासम्भवं विना ।
बुध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥ (३।७।३०)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ द्रष्टृदृश्यदशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ (३।२१।७६)
वासनाक्षयबीजेऽस्मिन्किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका [illegible] ॥ (३।२१।७७)
संसारसम्भवश्चायं निर्मूलत्वमुपेष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ (३।२१।७८)
अत्यन्ताभावसम्पत्ति विनाहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ (३।२१।१२)
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या [illegible] यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥ (३।२२।२७)

सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ (३।२२।२८)
दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः (३।२२।३१)

असत्य दृष्टि के क्षीण हो जाने पर और सत्य दृष्टि के दृढ़ हो जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चितिका आकार धारण कर लेता है, जगत् रूपी भ्रम के, जो कि आकाश में रङ्ग की नाईं देखने मात्र को है वास्तविक नहीं है, अत्यन्त अभाव के ज्ञान के दृढ़ हो जाने पर ब्रह्म के रूप का ज्ञान होता है; अन्य प्रकार से नहीं। दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना के बिना दूसरी और कोई शुभ गति नहीं है। इस जगत् नाम वाले दृश्य की सत्ता को असम्भव समझे बिना कभी भी कोई परम तत्त्व को नहीं जान सकता। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सब को अत्यन्त असत् समझकर निर्विकल्प समाधि में एकतत्त्व के ध्यान में निमग्न होने पर, हृदय में वासना के क्षय के अंकुर का बीज आरोपित होने पर, क्रम से राग द्वेष आदि की उत्पत्ति नहीं होती, संसार की भावना निर्मूल हो जाती है और निर्विकल्प समाधि भी दृढ़ होने लगती है। अहंभाव और जगत् के अत्यन्त असत् होने का अभ्यास किये बिना नित्यरूप मुक्ति का अनुभव उदय ही नहीं होता। जो लोग युक्ति और शास्त्र के अध्ययन द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को अत्यन्त असत् समझने का प्रयत्न करते हैं वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। यह जगत्, मैं और सब दृश्य वस्तुयें कभी न उत्पन्न हुई हैं, और न हैं—इस प्रकार का निश्चित ज्ञान और ज्ञान का वास्तविक अभ्यास है। दृश्य के असम्भव होने के ज्ञान का ही नाम ज्ञान है। यही जानने योग्य भी है। इसके अभ्यास से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसलिये अभ्यास बड़ी चीज है।

(६) केवलीभाव :—

यद्द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद्बलात् ।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः [illegible] (३।४।९३)
सत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ॥ (३।४।९४)
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्तामुपागते ।
द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥ (३।४।९६)

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ (३।४।१८)

दृश्य के अत्यन्त अभाव होने पर जब द्रष्टा का द्रष्ट्टत्व (द्रष्टापन) आप ही लय हो जाता है तब जो सत्ता शेष रहती है उसे केवलीभाव कहते हैं। जैसे हवा के रुक जाने पर उसकी क्रियायें शान्त हो जाती हैं वैसे ही उस भाव (केवलीभाव) के प्राप्त हो जाने पर राग द्वेष आदि की सभी वासनायें शान्त हो जाती हैं। तीनों जगत्, तुम, मैं और सब दृश्य शान्त हो जाने पर द्रष्टा को अपने शुद्ध आत्म स्वरूप होने का केवलीभाव अनुभव में आने लगता है। मैं, तुम, और जगत् आदि दृश्य के भ्रम के शान्त हो जाने पर और द्रष्टा के अनुभव में न आने पर केवलता का अनुभव उदय होता है।

२—प्राणों की गति का निरोधः—

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ॥ (३।६९।४१)
तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः । (५।७८।१९)
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥ (५।७८।१६)
प्राणशक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते ।
द्रव्यच्छायानु तद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम् ॥ (५।१३।८३)

जैसे पंखे की गति रुक जाने पर हवा की गति रुक जाती है वैसे ही प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है। प्राण के निरोध करने से अवश्य ही मन शान्त हो जाता है। मन के शान्त होने पर अवश्य ही यह संसार विलीन हो जाता है। प्राण की शक्ति के निरुद्ध हो जाने पर अवश्य ही हे राम! मन विलीन हो जाता है। जैसे द्रव्य की छाया की गति द्रव्य की गति के समान होती है वैसे प्राण का रूप भी मानसिक है।

(अ) प्राण और मन का सम्बन्ध चित्त का ही बनाया हुआ है :—

तेन सङ्कल्पितः प्राणः प्राणो मे गतिरित्यपि ।
न भवामि विनानेन तेन तत्परायणम् ॥ (३।१३।१२)
एवं यन्मनसाभ्यस्तमुपलब्धं तथैव तत् ।
तेन मे जीवितं प्राणा इति प्राणे मनः स्थितम् ॥ (३।१३।१०)

मनने ही प्राणों की कल्पना की है और इस बात की भी कल्पना की है कि प्राण उसकी गति है और प्राण के बिना उसकी स्थिति नहीं है। इस कारण से ही वह प्राण के ऊपर निर्भर रहता है। मन जिसका अभ्यास कर लेता है उसी का अनुभव करता है। मन समझता है कि प्राण उसका जीवन है, इसलिये ही प्राण में मन की स्थिति है।

(आ) प्राणविद्या :—

सर्वदुःखक्षयकरी सर्वसौभाग्यवर्धिनी। (६।२४।८)
कारणं जीवितस्येह प्राणचिन्ता समाश्रिता ॥ (६।२४।९)
इडा च पिङ्गला चास्य देहस्य मुनिनायक।
सुस्थिते कोमले मध्ये पार्श्वकोष्ठे निमीलिते ॥ (६।२४।२०)
पद्मयुग्मत्रयं यन्त्रमस्थिमांसमयं मृदु।
ऊर्ध्वाधोनालमन्योन्यमिलत्कोमलसद्दलम् ॥ (६।२४।२१)
सेकेन विकसत्पत्रं सकलाकाशचारिणा।
चलन्ति तस्य पत्राणि मृदु व्याहतानि वायुना ॥ (६।२४।२२)
चलत्सु तेषु पत्रेषु स मरुत्परिवर्धते।
वाताहते लतापत्रजाले बर्हिरिवाभितः ॥ (६।२४।२३)
वृद्धिं नीतः स नाडीषु कृत्वा स्थानमनेकधा।
ऊर्ध्वाधोवर्तमानासु देहेऽस्मिन्प्रसरत्यथ ॥ (६।२४।२४)
प्राणापानसमानाद्यै स्ततः ■ हृदयानिलः।
संकेतैः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्विचित्राकारचेष्टितैः ॥ (६।२४।२५)
हृत्पद्मयन्त्रत्रितये समस्ताः प्राणशक्तयः।
ऊर्ध्वाधः प्रसृता देहे चन्द्रबिम्बादिवांशवः ॥ (६।२४।२६)
यान्त्यायान्ति विकर्षन्ति हरन्ति विहरन्ति च।
उत्पतन्ति पतन्त्याशु ■ एताः प्राणशक्तयः ॥ (६।२४।२७)
स एष हृत्पद्मगतः प्राण इत्युच्यते बुधैः।
अस्य काचिन्मुने शक्तिः प्रस्पन्दयति लोचने ॥ (६।२४।२८)
काचित्स्पर्शमुपादत्ते काचिद्वहति नासया।
काचिदन्नं जरयति काचिद्वक्ति वचांसि च ॥ (६।२४।२९)
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वमेव शरीरके।
करोति भगवान्वायुर्यन्त्रेहामिव यान्त्रिकः ॥ (६।२४।३०)
तत्रोर्ध्वाधो द्विसंकेतौ प्रसृतावनिलौ मुने।
प्राणापानाविति ख्यातौ प्रकटौ द्वौ वरानिलौ ॥ (६।२४।३१)

सहस्रविनिकृत्ताङ्गाद्बिसतन्तुलवादपि
दुर्लक्ष्या विद्यमानापि गतिः सूक्ष्मतराऽनयोः ॥ (६।२४।३७)
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽयमुपरि स्थितः॥ (६।२५।३)
अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन्स्पन्दशक्तिः सदागतिः।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे त्वपानोऽयमवाक्स्थितः ॥ (६।२५।४)
प्राणापानगतिं प्राप्य सुस्वस्थः सुखमेधते।
प्राणस्याभ्युदयो ब्रह्मन्पद्मपत्राद्धृदि स्थितात् ॥ (६।२५।२९)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते प्राणोऽस्तं यात्ययं बहिः।
अपानस्योदयो बाह्याद्द्वादशान्तान्महामुने ॥ (६।२५।३०)
अस्तङ्गतिरथाम्भोजमध्ये हृदयसंस्थिते।
प्राणो यत्र समायाति द्वादशान्ते नभःपदे ॥ (६।२५।३१)
पदात्तस्मादपानोऽयं सादेति समनन्तरम्।
बाह्याकाशोन्मुखो प्राणो वहत्यग्निशिखा यथा ॥ (६।२५।३२)
हृदाकाशोन्मुखोऽपानो निम्ने वहति वारिवत् ॥ (६।२५।३३)
अपानशशिनोऽन्तस्था कला प्राणविवस्वता ॥ (६।२५।३६)
यत्र ग्रस्ता तदासाद्य पदं भूयो न शोच्यते।
प्राणार्कस्य तथाऽन्तस्था यत्रापानसितांशुना ॥ (६।२५।३७)
ग्रस्ता तत्पदमासाद्य न भूयो जन्मभाङ्नरः।
प्राण एवार्कतां याति सबाह्याभ्यन्तरेऽम्बरे ॥ (६।२५।३८)
आप्यायनकरीं पश्चाच्छक्तितामधितिष्ठति।
प्राण एवेन्दुतां त्यक्त्वा शरीराप्यायकारणीम् ॥ (६।२५।३९)
क्षणादायाति सूर्यत्वं संशोषणकरं पदम्।
अर्कतां सम्परित्यज्य न यावच्चन्द्रतां गतः ॥ (६।२५।४०)
प्राणस्तावद्विचार्यान्तेऽदेशकाले न शोच्यते।
हृदि चन्द्रार्कयोर्ज्ञात्वा नित्यमस्तमयोदयम् ॥ (६।२५।४१)
आत्मनो निजमाधारं न भूयो जायते मनः।
सोदयास्तमयं सेन्दुं सरश्मि सगमागमम् ॥ (६।२५।४२)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणः समुदेति हृदम्बुजात् ॥ (६।२५।४७)
प्राणे त्वस्तङ्गते बाह्यादपानः प्रोदितः क्षणात् ॥ (६।२५।४८)

प्राणविद्या से जीवके सब दुःखोंका नाश होता है और सब प्रकार के सौभाग्य की वृद्धि होती है। शरीर के मेरुदण्ड (पार्श्वकोष्ठ)

के मध्य में दो मिली हुई कोमल इडा और पिङ्गला नामक नाड़ियाँ स्थित हैं। अस्थि और मांस से बने हुए, ऊपर और नीचे को जाने वाली नालियों समेत, कोमल पंखड़ियों वाले कमल के फूल के जोड़ों के समान, तीन यन्त्र (शरीर के ऊपरी भाग में) स्थित हैं। इन यन्त्रों के पत्र वायु के प्रवेश से विकसित होते हैं। वायु से व्याप्त होने पर उनके पत्र धीरे-धीरे हिलते हैं। उन पत्तों के हिलने से वायु की वृद्धि होती है, जैसे वायु द्वारा लता और पत्रों के स्पन्दित होने पर बाहर चारों ओर हवा फैलती है। भीतर जब वायु का आकार बढ़ता है तो वह वायु ऊपर नीचे चारों ओर शरीर में नाड़ियों द्वारा फैलती है। हृदय में प्रविष्ट वायु शरीर में फैल कर नाना प्रकार की चेष्टायें करती हुई और विशेष स्थानों में रहती हुई प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामों से प्रसिद्ध होती है। शरीर के भीतर हृदय में स्थित तीनों यन्त्रों में फैलती है जैसे चन्द्रमा से किरणें फैलती हैं। वे प्राणशक्तियाँ जाती हैं, आती हैं, आकर्षण करती हैं, हरण करती हैं, विहार करती हैं, ऊपर चढ़ती हैं, नीचे गिरती हैं। हृदयकमल में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है; इसकी एक शक्ति तो आँखों में जाकर उनका सञ्चालन करती है; एक त्वचा में जाती है; एक नाक में; एक भोजन को पचाती है, एक जिह्वा में जाकर वाणी का सञ्चालन करती है। बहुत कहने से क्या, सारे शरीर को भगवान् प्राण इस प्रकार चलाता है जैसे कि कोई यांत्रिक (इञ्जीनियर) किसी यन्त्र को चलाता हो। शरीर के भीतर रहने वाली वायु के दो विशेष भाग हैं, एक ऊपर की ओर जाता है और दूसरा नीचे की ओर—उनके नाम हैं प्राण और अपान। कमल की नाल एक तन्तु के हजारवें हिस्से से भी सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य गति प्राण और अपान की है। देह के बाहर और भीतर ऊपरी भाग में सदा-गति और स्पन्दशक्ति वाला प्राण सदा रहता है। देह के बाहर और भीतर नीचे के भाग में सदागति और स्पन्दशक्ति वाला अपान सदा रहता है। प्राण और अपान की गति को जान कर और वश में करके योगी स्वस्थ रहकर सुख भोगता है। हृदय में स्थित कमलपत्र से प्राण का उदय होता है और द्वादश (१२) अङ्गुल तक बाहर आकर वह अस्त हो जाता है। अपान का १२ अङ्गुल दूरी पर उदय होकर भीतर हृदय में स्थित कमल के मध्य में अस्त होता है। जहाँ बारह

अंगुलपर बाहर प्राणका अस्त होता है वहींसे प्राणके अस्तके पीछे अपानका उदय होता है। प्राणकी गति अग्निशिखाकी नांई हृदयसे ऊपरकी ओर बाहरको है, और अपानकी गति जलकी नांई हृदय आकाशकी ओर बाहर से भीतरको नीचेकी ओर है। अपान रूपी चन्द्रमाकी कला जब और जहाँ प्राण रूपी सूर्य द्वारा ग्रस्त हो जाती है (अर्थात् जब और जहाँ अपान और प्राण एक होते हैं) उस स्थानको प्राप्त करके फिर शोक नहीं होता (अर्थात् उस समयही निस्पन्द अवस्थाका अनुभव होता है जो कि आत्माकी अवस्था है)। इसी प्रकार जब प्राणकी कलाको अपान ग्रस्त कर लेता है (अर्थात् जहाँ और जब प्राण और अपान एक हो जाते हैं और स्पन्दन नहीं होता) उस स्थानको प्राप्त करके फिर जन्म नहीं होता। भीतर और बाहर रहनेवाली वायु ही प्राण और अपान का, जो कि शरीर को पुष्ट करते हैं, रूप धारण करती है। जब बाहर (१२ अंगुल पर) प्राण तो शान्त हो जाए और अपान का उदय न हो, तब ध्यान लगाने पर शोक नहीं होता। इसी प्रकार हृदयके भीतर जब अपान शान्त हो जाए और प्राणका उदय अभी न हुआ हो, उस समय ध्यान लगाने से पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि वही आत्मा का आधार है। वह ऐसा स्थान है जिसमें प्राण और अपान, उदय और अस्त, सूर्य और चन्द्रमा, दोनों का समागम होता है। हृदय में अपान के अस्त होने पर प्राण का उदय होता है और बाहर प्राण का अस्त होने पर अपान का उदय होता है। इन दोनों उदय और अस्त के बीच की अवस्था, जिसमें प्राण और अपान दोनों ही की गति का अनुभव नहीं होता, आत्मा की निजी अवस्था है। उसमें स्थित होना ही योगी का ध्येय है। उसमें तब नित्य स्थिति होती है जब कि प्राण की गति का बिलकुल निरोध हो जाए।

(इ) स्वाभाविक प्राणायामः—

जाग्रतःस्वपतश्चैव प्राणायामोऽयमुत्तमः।
प्रवर्तते यतस्तज्ज्ञ तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥ (६।२५।५)

बाह्योन्मुखत्वं प्राणानां यद्धृदम्बुजकोटरात्।
स्वरसेनास्तयत्नानां तं धीरा रेचकं विदुः ॥ (६।२५।६)

द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतामधः।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ (६।२५।७)

बाह्यात्परापतत्यन्तरपाने यत्नवर्जितः ।
योऽयं प्रपूरणः स्पर्शो विदुस्तमपि पूरकम् ॥ (६।२५।८)
अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि ।
तावत्सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥ (६।२५।९)
रेचकः कुम्भकश्चैव पूरकश्च त्रिधा स्थितः ।
अपानस्योदयस्थाने द्वादशान्तादधो बहिः ॥ (६।२५।१०)
स्वभावाः सर्वकालस्थाः सम्यग्यत्नविवर्जिताः ।
ये प्रोक्ताः स्फारमतिभिस्ताञ्छृणु त्वं महामते ॥ (६।२५।११)
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ताद्बाह्यादभ्युदितः प्रभो ।
यो वातस्तस्य तत्रैव स्वभावात्पूरकादयः ॥ (६।२५।१२)
सदन्तरस्था निष्पन्नघटवद्या स्थितिर्बहिः ।
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रसमसंमुखे ॥ (६।२५।१३)
व्योम्नि नित्यमपानस्य तं विदुः कुम्भकं बुधाः ।
बाह्योन्मुखस्य वायोर्या नासिकाग्रावधिर्गतिः ॥ (६।२५।१४)
तं बाह्यपूरकं त्वाद्यं विदुर्योगविदो जनाः ।
नासाग्रादपि निर्गत्य द्वादशान्तावधिर्गतिः ॥ (६।२५।१५)
या वायोस्तं विदुर्धीरा अपरं बाह्यपूरकम् ।
बहिरस्तङ्गते प्राणे यावन्नापान उद्गतः ॥ (६।२५।१६)
तावत्पूर्णं समावस्थं बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ।
यत्तत्कलमुखत्वं स्यादपानस्योदयं विना ॥ (६।२५।१७)
तं बाह्यरेचकं विद्याच्चिन्त्यमानं विमुक्तिदम् ।
द्वादशान्तादधुत्थाय रूपपीवरता परा ॥ (६।२५।१८)
अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः ।
बाह्यानान्तरांश्चैतान्कुम्भकादीननारतम् ॥ (६।२५।१९)
प्राणापानस्वभावांस्तान्बुद्ध्वा भूयो न जायते (६।२५।२०)
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ॥ (६।२५।२१)
[illegible] निरोधमायान्ति प्रकृत्याऽतिचलानिलाः ।
यत्करोति यदश्नाति बुद्ध्यैवालमनुस्मरन् ॥ (६।२५।२२)
कुम्भकादीन्नरः स्वान्तस्तत्र कर्ता न किञ्चन ।
अव्यग्रमस्मिन्व्यापारे बाह्यं परित्यजन्मनः ॥ (६।२५।२३)
दिनैः कतिपयैरेव पदमाप्नोति केवलम् ।
[illegible] पुंसो [illegible] विषयकृत्सु ॥ (६।२५।२४)

बध्नाति रतिं [illegible] वहती ब्राह्मणो यथा । (६।२५।२४)
अस्तङ्गतवति प्राणे त्वपानेऽभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।५०)
बहिः कुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।
अपानेऽस्तङ्गते प्राणे किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे ॥ (६।२५।५१)
अन्तःकुम्भकमालम्ब्य चिरं भूयो न शोच्यते ।
प्राणरेचकमालम्ब्य अपानाद्दूरकोटिगम् ॥ (६।२५।५२)
स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य न भूयः परितप्यते ।
अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरस्थितम् ॥ (६।२५।५३)
स्वसंस्थं पूरकं दृष्ट्वा न भूयो जायते नरः ।
प्राणापानावुभावन्तर्यत्र तौ विलयं गतौ ॥ (६।२५।५४)
तदालम्ब्य पदं शान्तमात्मानं नानुतप्यते ।
प्राणभक्षोन्मुखेऽपाने देशं कालं च निष्कलम् ॥ (६।२५।५५)
विचार्य बहिरन्तर्वा न भूयः परिशोच्यते ।
अपानभक्षणपरे प्राणे हृदि तथा बहिः ॥ (६।२५।५६)
देशं कालं च सम्प्रेक्ष्य न भूयो जायते मनः ।
यत्र प्राणो ह्यपानेन प्राणेनापान एव च ॥ (६।२५।५७)
निगीर्णौ बहिरन्तश्च देशकालौ च पश्यतो ।
क्षणमस्तं गतप्राणमपानोदयवर्जितम् ॥ (६।२५।५८)
अयत्नसिद्धबाह्यस्थं कुम्भकं तत्पदं विदुः ।
अयत्नसिद्धो ह्यन्तस्थकुम्भकः परमं पदम् ॥ (६।२५।५९)
एतत्तदात्मनो रूपं शुद्धं वा परमेव चित् ।
एतत्तत्सदाभासमेतत्प्राप्य न शोच्यते ॥ (६।२५।६०)

जो सबसे उत्तम प्राणायाम है और जिसको ज्ञानी लोग सोते जागते करते रहते हैं उसको अपने कल्याण के लिए सुनो। हृदय कमल के कोश से (फेफड़ों से) प्राण के बाहर निकलने का नाम रेचक है। बाहर बारह अंगुल से प्राणों के भीतर के अङ्गों में लाने का नाम पूरक है। बाहर से अपान के अन्दर आजाने पर उसके द्वारा भीतर के अङ्गों को यत्न से भरने का नाम भी पूरक है। हृदय में आकर जब अपान अस्त हो जाए और वहाँ से प्राण का उदय न हो, तो वह भीतरी कुम्भक कहलाती है। योगी लोगों को उसका अनुभव होता है। रेचक कुम्भक और पूरक भी तीन प्रकार के हैं। वे स्वाभाविक हैं और सदा होते रहते हैं; उनको करने के लिये विशेष यत्न की आवश्यकता नहीं

है। बुद्धिमानों ने जिस प्रकार उनका वर्णन किया है वह सुनो। जो वायु बारह अंगुल बाहर से उदय होती है उसके वहीं पर (बाह्य) पूरक आदि प्राणायाम होते हैं। नाक से बाहर बारह अंगुलकी दूरी पर, मिट्टी में अप्रकटित घड़े की नांई, जब वायु आकाश में स्थित रहती है तो उसे बाह्य कुंभक कहते हैं। बाहर की ओर जानेवाली वायु के नाककी फुङ्गल तक जानेको योग जागनेवाले लोग प्रथम बाह्य पूरक कहते हैं; और नाक की फुङ्गल से बाहर बारह अंगुल तक प्राण के जाने को धीर लोग दूसरा बाह्य पूरक कहते हैं। प्राण के बाहर जाकर अस्त हो जाने पर जब तक कि वहाँ से अपान का उदय नहीं होता उस पूर्ण और सम अवस्था को बाह्य कुंभक कहते हैं। अपान के उदय होने से पूर्व जो उसकी अन्दरकी ओर जाने की प्रवृत्ति होने लगती है उस मुक्तिदायक प्राणायाम को बाह्य रेचक कहते हैं। बारह अङ्गुल बाहर से उठकर अपान का आकार-मय होना दूसरा पूरक कहलाता है। इन बाहरी और भीतरी प्राणों के स्वभावों, कुंभक आदि को जानकर योगी दूसरा जन्म नहीं लेता। चलते, ठहरते, सोते, जागते, इन प्राणायामों को करते रहने से स्वाभाविक चञ्चल वृत्तिवाले प्राण भी वश में आ जाते हैं। इन प्राणायामों को करता रहता हुआ पुरुष बुद्धिको इनमें लगाकर जो चाहे करे और खाये पिये, उसको कर्तृत्वका स्पर्श नहीं होता। इस अभ्यास में खूब लग कर, बाहर से मनको रोक कर, कुछ दिन में मनुष्य केवल पदको प्राप्त कर लेता है। इनका अभ्यास करने पर मनको बाहर के विषयों में आनन्द नहीं आता, जैसे ब्राह्मण को कुत्ते के मांस में (खाल में) मजा नहीं आता। जब प्राण बाहर आकर अस्त हो जाए और अपानका उदय होने को हो (हुआ न हो), उस बाह्य कुंभकका अवलम्बन करके योगी शोक से रहित हो जाता है। जब हृदय में अपान का अस्त हो जाए और प्राण का उदय न हुआ हो, उस भीतरी कुंभक का अवलंबन करके भी योगी शोक से पार हो जाता है। प्राण को निकाल कर अपान को ग्रहण न करके जो शुद्ध (बाह्य) कुम्भक होता है उसका अभ्यास करके योगी को परिताप नहीं होता। अपान को भीतर लेकर प्राण को बाहर न निकाल कर जो भीतरी कुंभक होता है उसका अभ्यास करने से मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता। प्राण और अपान दोनों ही जब भीतर लीन हो जाएँ, उस अवस्था का अभ्यास करके आत्मा के शान्त हो जाने पर शोक नहीं होता। प्राण को भक्षण करने से जब

अपान उद्यत होता है उस कल्पना रहित काल का ध्यान करने से फिर शोक नहीं होता। इसी प्रकार अपान को भक्षण करने को जब प्राण उद्यत होता है उस देश और काल का ध्यान करके शोक नहीं होता। जब और जहाँ बाहर और भीतर प्राण और अपान एक दूसरे को निगल जाते हैं और क्षण भर के लिये प्राण वायु की गति रुक जाती है, प्राण और अपान दोनों का अभाव हो जाता है, उस बिना किसी यत्न किये सिद्ध अवस्था को बाहर और भीतर का कुम्भक कहते हैं; उस अवस्था में ही आत्मा के शुद्ध रूप का भान होता है। उसमें स्थिर होकर शोक नहीं होता।

(ई) प्राणों की गति को रोकने की युक्तियाँ :—

वैराग्यात्कारणाभ्यासाद्युक्तितो व्यसनक्षयात्।
परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः॥ (५।१३।८९)

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वसंसारवृत्तिषु॥ (५।७८।१८)

यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात्।
एकतत्त्वघनाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।१९)

पूरकादिनिलायामाद्दृढाभ्यासादखेदजात्।
एकान्तध्यानसंयोगात्प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२०)

ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२१)

रेचके नूनमभ्यस्ते प्राणे स्फारे खमागते।
न स्पृशत्यङ्गरंध्राणि प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२२)

पूरके नूनमभ्यस्ते पूराद्गिरिघनस्थिते।
प्राणे प्रशान्तसञ्चारे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२३)

कुम्भके कुम्भवत्कालमनन्तं परितिष्ठति।
अभ्यासात्स्तंभिते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२४)

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घंटिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२५)

समस्तकलनोन्मुक्ते न किञ्चिन्नाम सूक्ष्मले।
ध्यानात्संविदि लीनायां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥ (५।७८।२६)

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे।

संविदृदृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।२७)
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतने केतने बुद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।२९)
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे ।
प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।२८)
झटित्येवं यदुद्भूतं ज्ञानं तस्मिन्दृढाश्रिते ।
असंश्लिष्टविकल्पांशे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।३१)
तस्मात्संविन्मये शुद्धे हृदये हृतवासने ।
बलान्नियोजिते चित्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।३८)
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ (६।७८।३९)
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ (६।७८।४६)

वैराग्य, कारणका अभ्यास, व्यसनक्षय, परमार्थका ज्ञान; शास्त्र और सज्जनोंका संपर्क; अभ्यास, संसार की वस्तुओं में आस्था का त्याग, ध्यान द्वारा प्राप्त एकता का अनुभव; एक तत्त्वका गूढ़ अभ्यास; पूरक आदि प्राणायामों का अभ्यास, एकान्त में बैठकर ध्यान लगाना; ओंकार के उच्चारण द्वारा शब्द तत्त्व की भावना, सुषुप्त अवस्था में संवित् को ले जाना, रेचक का अभ्यास, प्राण को शान्त करने का अभ्यास, पूरक के अभ्यास द्वारा प्राण को शान्त करने का अभ्यास, तालू के मूल में स्थित घंटी को जिह्वा से दबाकर प्राण को ऊर्ध्वरन्ध्र में लेजाना, सब कल्पनाओं को शून्याकार आत्मा में लीन करके ध्यान लगाना, नाक की फुङ्गल से बारह अङ्गुल बाहर ध्यान लगाकर संवित् को लीन करना, भ्रुओं के मध्य में स्थित तारे का ध्यान लगाकर चेतन आत्मा में स्थिति प्राप्तकरना, अभ्यास द्वारा प्राण को ऊर्ध्वरन्ध्र द्वारा तालू से बारह अङ्गुल पर लेजाकर शान्त करना; अकस्मात् ही जो आत्मज्ञान उदय हो जाए उसमें दृढ़ता से स्थित होकर कल्पनाओं को लीन करना; चित्तको बलपूर्वक शुद्ध वासना रहित संवित्-मय आत्मा में लगाना आदि अनेक विधिओं द्वारा, जिनका अनेक गुरुओं ने उपदेश दिया है, प्राण की गति का निरोध हो जाता है। अभ्यास द्वारा प्राणों की गति के रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और निर्वाण ही शेष रह जाता है।

१—मनका [illegible] :—

([illegible]) मन संसार-चक्रकी नाभि है :—

चित्तं नाभिः किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।
स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते ॥ (५।४९।४०)

तस्मिन्द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।
गृहीतनाभिवद्दनान्मायाचक्रं निरुद्धयते ॥ (५।५०।७)

इदं संसारचक्रं हि नाभौ सङ्कल्पमात्रके । (६।२९।५)
संरोधितायां वहनाद्रघुनन्दन रुद्धयते ॥ (६।२९।६)

परं पौरुषमास्थाय बलं प्रज्ञां च युक्तितः । (६।२९।७)
नाभिं संसारचक्रस्य चित्तमेव निरोधयेत् ॥ (६।२९।८)

मनोनिष्ठतया विश्वमिदं परिणतिं गतम् । (५।२४।१४)
तस्मिञ्जिते जितं सर्वं सर्वमासादितं भवेत् ॥ (५।२४।१५)

चित्तसत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चित्तकम् ।
एकाभावाद्द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात् ॥ (४।१७।१९)

चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।
चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ॥ (५।५०।१४)

शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा [illegible] प्रशाम्यति ।
तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ॥ (६।६९।४४)

चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।
शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ॥ (६।९३।४४)

अस्याश्रितं विदुः क्षेत्रं संसृतेः सस्यसन्ततेः ।
क्षेत्रे त्वक्षेत्रतां [illegible] शाकैः क इव [illegible] ॥ (६।९३।४५)

चित्तमेव विचित्रेहं भावाभावविलासिना ।
विवर्ततेऽर्थभावेन जलमूर्मितया यथा ॥ (६।९३।४६)

चित्तोत्सादनरूपेण सर्वत्यागेन भूपते ।
सर्वमासाद्यते सम्यक्साम्राज्येनेव सर्वदा ॥ (६।९३।४७)

संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति [illegible] स्वस्य निग्रहः ॥ (४।३५।२)

मनोविलयमात्रेण दुःखशान्तिरवाप्यते । (३।११२।१५)
सर्वं सर्वगतं शान्तं [illegible] सम्पद्यते तदा ॥ (३।११२।१९)

स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा ।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति [illegible] गतिः ॥ (३।११२।१२)

इस मायाचक्रकी नाभि मन है। यदि इसको ज़ोर से पकड़ कर स्थिर कर दिया जाये तो फिर संसार दुःख नहीं देता। मनको बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा बस में कर लेने पर यह माया-चक्र संसार ऐसे बस में आ जाता है जैसे कि नाभि के पकड़ने से पहिया। संकल्प नामक मनको रोकने से संसार की गति ऐसे रुक जाती है जैसे कि नाभि के रोक लेने पर पहिये की गति। परम पुरुषार्थ का आश्रय ले कर बल, प्रज्ञा और युक्ति द्वारा संसार-चक्र की नाभि, मनको रोकना चाहिये। यह संसार मन के सहारे पर ही चल रहा है, मन के जीत लेने पर सब कुछ जीता जाता है। चित्त की सत्ता से जगत् की सत्ता है, जगत् की सत्ता चित्त की सत्ता है; एक के अभाव होने पर दोनों ही का अभाव हो जाता है; और वह होता है सत्य के विचार से। चित्त के भीतर संसार इस प्रकार है जैसे कि घड़े के भीतर घटाकाश; चित्त के नाश होने पर संसार इस प्रकार नहीं रहता जैसे कि घड़े के नाश होने पर घटाकाश नहीं रहता। वायु का चलना बन्द हो जाने पर जैसे गन्ध का आना बन्द हो जाता है वैसे ही मन के स्पन्दन (गति) के शान्त हो जाने पर प्राणों की गति भी रुक जाती है। चित्त के त्यागे जाने और लीन होने पर, द्वैत और ऐक्य सब प्रकार से लीन हो जाते हैं; केवल एक शान्त और अविकार परम तत्त्व ही शेष रहता है। इस संसार रूपी खेती के खेत को चित्त कहते हैं। जब खेत ही न रहेगा तो खेती के पैदा होने की सम्भावना कहाँ है? जैसे जल ही तरङ्ग के रूप में प्रकट होता है वैसे ही चित्त भाव और अभाव वाली वस्तुओं के रूपमें परिणत होता है। जैसे साम्राज्य के प्राप्त होने पर सब सम्पत्तियों की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही चित्त नाश रूपी सर्वत्याग से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। इन सब उपद्रवों के पैदा करनेवाले संसाररूपी दुःखसे छूटने का एक ही उपाय है। वह है अपने मन का निग्रह। मन के विलीन होने मात्र से दुःखों की शान्ति हो जाती है और सर्वगत, शान्त ब्रह्म का अनुभव होने लगता है। अपने ही पुरुषार्थ से सिद्ध होनेवाले, इच्छित वस्तुओं के त्याग स्वरूप मनके प्रशम बिना शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती।

(आ) मन कैसे स्थूल होता है :—

अन्यात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयानया।
पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम्॥ (५।५०।९७)

अहङ्कारविकारेण ममतामलहेलया ।
इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६८)
जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।
दोषाशाविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६९)
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः ।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।५०।६०)
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६१)
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च ।
आस्थादानेन चारेण चित्ताहिर्याति पीनताम् ॥ (६।६०।६२)
आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।
भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥ (६।६०।६३)

अनात्म में आत्मभाव से, देह में विश्वास से, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहङ्कार के विकार से, ममता के मलसे, "यह मेरा है" इस भाव से, व्यर्थ वृद्धिको प्राप्त होने वाले दोषों के कोश, जरा और मरण आदि देने वाले दुःखों से, उपादेय (प्राप्त करने योग्य) और हेय (त्यागने योग्य) को प्राप्त करने और त्यागने में प्रयत्न करने से, आधि और व्याधियों को प्राप्त कराने वाली संसार की आशाओं से, स्नेह से, धन के लोभ से, दूर से सुन्दर दिखाई देनेवाली मणि और स्त्रियों की प्राप्ति से चित्त स्थूल होता है। दुराशा रूपी दूध के पीने से, भोग रूपी वायु के बल से, आस्था रूपी चारे से चित्त रूपी सर्प मोटा होता है। उत्पत्ति और नाश वाले शरीर से विष के समान दुःखदायी भोगों के अधिक भोगने से चित्त स्थूल होता है।

(६) मन किस प्रकार ब्रह्म हो जाता है :—

संयोजितं परे चित्तं शुद्धं निर्वासनं भवेत् ।
ततस्तु कल्पनाशून्यमात्मतां याति राघव ॥ (३।९८।२)
मन एव विचारेण मन्ये विलयमेष्यति ।
मनोविलयमात्रेण ततः श्रेयो भविष्यति ॥ (३।९७।१०)
मनोनाम्नि परिक्षीणे कर्मण्याहितसंभ्रमे ।
मुक्त इत्युच्यते जन्तुः पुनर्नाम न जायते ॥ (३।९७।११)
प्रबुद्धानां मनो राम [illegible] नेतरत् ।
[illegible]सामान्यकुड्यानामभेदो नान्यस्तरङ्गकः ॥ (३।१००।२)

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात्।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ (५।५५।२)

परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासनारहित और शुद्ध हो जाता है। शुद्ध और वासनारहित होने पर वह कल्पनाशून्य होकर आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है; और मन के लय हो जाने पर ही कल्याण होता है। मन नाम वाले उस कर्म के क्षीण होने पर जिसने कि इस भ्रम को रच रक्खा है, प्राणी जीवन्मुक्त हो जाता है; फिर उसका दूसरा जन्म नहीं होता। ज्ञानियों का मन ब्रह्म ही है, और कुछ नहीं; जैसे जलमात्र पर दृष्टि रखने वालों के लिये समुद्र ही समुद्र है, तरङ्ग कोई वस्तु नहीं है। अभाव की अत्यन्त भावना द्वारा जब चित्त क्षीण हो जाता है तो सामान्य रूप वाली चितिका जो कि सत्ता सामान्य है, अनुभव होता है।

(३) मनके निरोध करने की युक्तियां :—

अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्। (५।९२।३९)
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ (५।९२।३४)
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
... समुत्सृज्य युक्तिं ते तान्हठान्नियमन्ति ते ॥ (५।९२।४०)
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्। (५।९२।३८)
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः ॥ (५।९२।३९)
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ (५।९२।३६)
स्वसंविद्यत्नसंरोधाद्यथा चेतः प्रशाम्यति।
न तथाङ्ग तपस्तीर्थविद्यायज्ञक्रियागणैः ॥ (६।१६३।८)
स्वेनैव पौरुषेणाशु स्वसंवेदनरूपिणा।
यत्नेन चित्तवेतालस्त्यक्त्वेष्टं वस्तु जायते ॥ (३।११११२)
विवेकैकानुसंधानाच्चिदंशात्मतया मनः।
चिदेकतामुपायाति हठाभ्यासवशादिह ॥ (३।११२।१९)
त्यजन्नभिमतं वस्तु यस्तिष्ठति निरामयः।
जितमेव मनस्तेन दन्तैरिव हस्तिना ॥ (३।११११३)

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या राम सोच्यते ।
वासनापदनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥ (३।११२।११)
या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥ (३।११२।२२)
विषयान्प्रति भोः पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा ।
अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये ॥ (५।२४।१७)
ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ॥ (६।९१।३१)
ज्ञानात्सर्वपदार्थानामसत्त्वंसमुदेत्यलम् ।
ततोऽङ्ग वासनानाशाद्वियोगः प्राणचेतसोः ॥ (६।९१।३६)
[illegible]स्त्वात्मविचारोऽयं कोऽहं स्यामिति रूपधृक् ।
चित्तदुद्रुमबीजस्य दहने [illegible] स्मृतः ॥ (६।९४।२९)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं [illegible] ब्रह्मेति भावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ (६।८७।२९)

जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता। जो उचित युक्ति को छोड़ कर मन को जीतने का उपाय करते हैं वे हठी हैं उनको एक भयके पीछे दूसरा भय और एक दुःख के बाद दूसरा दुःख होता रहता है। जो (बिना युक्ति के) बलपूर्वक चित्तको जीतने का प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्ति के समान हैं जो कि उन्मत्त हाथी को कमल के तन्तुओं से बाँधना चाहता है। चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियाँ हैं—अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्सङ्ग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तप से, न तीर्थ से, न विद्या से, न यज्ञ से, और न किसी विशेष अनुष्ठान से हो सकता है। अपने ही ज्ञानरूपी पुरुषार्थ से इच्छित वस्तुओं के त्याग से चित्तरूपी वेतालपर विजय प्राप्त होती है। विवेक द्वारा इस बात का निश्चय कर लेने पर कि मन आत्मा (चिति) का ही अंश है और दृढ़ अभ्यास के द्वारा मन आत्मा (चिति) के साथ एकता का अनुभव करता है। इच्छित वस्तु का त्याग कर के जो विकार रहित स्थित हो जाता है वह मनको इस प्रकार जीत लेता है जैसे हाथी को [illegible]। [illegible] वासना नामवाली चञ्चलता जो अविद्या है उसको

विचार द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। जो जो दूसरी वस्तुओं के प्रति वासना मनमें उठे, उस उसको त्यागने से अविद्या क्षीण हो जाती है। मन के जीतने की एक युक्ति यह है कि सब विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए। ज्ञान द्वारा वासना रहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी रुक जाता है; केवल शान्ति ही शेष रहती है। ज्ञानसे सब पदार्थों की असत्यता का निश्चय हो जाता है; उससे वासनाओं का क्षय होता है और प्राण और मनका वियोग हो जाता है। "मैं कौन हूँ और क्या हो सकता हूँ" इस प्रकार का आत्मविचार वह आग है जिससे चित्तरूपी बुरे वृक्ष का बीज जलाया जा सकता है। "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस प्रकार की भावनासे जिसका अज्ञान क्षीण हो गया है उस ज्ञानी के मन में वासना का इस प्रकार उदय नहीं होता जैसे कि मरुस्थल में बादल नहीं उठता।

यहाँ पर योगवासिष्ठ में जहाँ तहाँ वर्णन की हुई मन के निरोध करने की अनेक युक्तियों का संग्रह और विस्तार के साथ वर्णन किया जाता है :—

१—ज्ञानयुक्ति :-

अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।
सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ॥ (६।११११३१)
यथैतदेवं तनय तथा शृणु वदामि ते ।
अज्ञानमात्रसंसिद्धं वस्तु ज्ञानेन नश्यति ॥ (६।१११।३२)
यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।
मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ॥ (६।१११।३४)
मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम् ।
इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम् ॥ (४।११।२७)

अहंकार (मन) का त्याग करने में जरा भी क्लेश नहीं होता; वह तो फूल को कुचल देने और आँखों के मीचने से भी सहल है। यह कैसे होता है? सुनो मैं बताता हूँ—जो वस्तु अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होती हो वह अवश्य ही ज्ञान से नष्ट हो जाती है। अहंकार वैसे ही मिथ्या है जैसे और मिथ्या ज्ञान। मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, बनावटी (झूठा) रूप है। इसलिये मैं मन नहीं हूँ—इस प्रकार मनको त्याग देने पर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

२—संकल्पोंका उच्छेदन :—

सङ्कल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता। (६।१।२७)
अचित्तत्वमसङ्कल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ॥ (५।१३।८०)

सङ्कल्पमात्रमेवेदं जगन्मिथ्यात्वमुत्थितम्।
असंकल्पनमात्रेण ब्रह्मन्क्वापि विलीयते ॥ (६।३३।४२)

उपशान्ते हि सङ्कल्पे उपशान्तमिदं भवेत्।
संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ॥ (४।५४।१९)

संकल्पेनैव संकल्पं मनसा स्वमनो मुने।
छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥ (४।५४।१८)

भावनाभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्।
संकल्पनाशयत्नेन न भयान्यनुगच्छति ॥ (४।५४।१३)

संकल्पो येन हन्तव्यस्तेन भावविपर्ययात्।
अप्यर्धेन निमेषेण लीलयैव निहन्यते ॥ (४।५४।१६)

अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः।
नभोऽर्थभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ॥ (६।१।३)

संकल्प ही मनका बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तता है। संकल्प रहित होने से मनुष्य चित्त रहित हो जाता है, और चित्त रहित होने से मोक्ष का अनुभव होने लगता है। संकल्प द्वारा ही जगत्का मिथ्या अनुभव उत्पन्न हुआ है और संकल्प के क्षीण होने पर यह कहीं लीन हो जाता है। संकल्प के शान्त हो जाने पर संसार का सारा दुःख जड़ से नष्ट हो जाता है। संकल्प को निर्मूल करना कठिन नहीं है; अपने संकल्प द्वारा संकल्प को, अपने मन द्वारा मन को काट कर आत्मा में स्थित हो जाओ। भावना के अभाव मात्र से संकल्प अपने आप ही क्षीण हो जाता है। संकल्प-नाश के यत्न से मनुष्य किसी प्रकार के भय को प्राप्त नहीं होता। भावविपर्यय (भाव अभाव समझने) से आधे निमेषमें ही लीला मात्र से संकल्प को नष्ट करने की इच्छा करने वाला संकल्प का नाश कर सकता है। अपने अहंभावका आरोपण करना ही संकल्प है और अहंभाव को शून्य करनेका यत्न ही संकल्प-त्याग कहलाता है।

३—भोगों से विरक्ति :—

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। (४।३५।३)
यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ॥ (३।६१।३९)

किमन्यैः शास्त्रसन्दर्भैः किमुक्तामिदमेव तु ।
यद्यत्स्वाद्विह तत्सर्वं दृश्यतां विषवह्निवत् ॥ (४।३५।४)
जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान्प्रति मनागपि ।
तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ (३।६१।३४)
न भोगेष्वरतिर्यावज्जायते भवनाशनी । (६।२४।३७)
न परा निर्वृतिस्तावत्प्राप्यते जयदायिनी ॥ (६।२४।३८)
तावद्भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।
विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ॥ (६।२४।२२)
आत्मावलोकनेनैषा विषयारतिरुत्तमा ।
हृदये स्थितिमायाति श्रीरिवाम्भोजकोटरे ॥ (६।२४।४३)
परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।
एते मिथः स्थिते दृष्टी तेजोदीपदृशे यथा ॥ (६।२४।६३)
विचारो भोगगर्हातो विचाराद्भोगगर्हणम् । (६।२४।६२)
परं पौरुषमाश्रित्य भोगेष्वरतिमाहरेत् ॥ (६।२४।३७)
क्रमादभ्यस्यमानैषा विषयारतिरात्मनः ।
सर्वतः स्फुटतामेति सेकसिक्ता लता यथा ॥ (६।२४।२०)
पुरुषार्थादृते पुत्र नेह सम्प्राप्यते शुभम् । (६।२४।२९)
[illegible] [illegible] काङ्क्षतापि शठात्मना ॥ (६।२४।२१)

भोगों की इच्छा होना ही बन्धन है, और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जिस जिस वस्तु से विरक्ति हो जाती है उसी उसी वस्तु से मुक्ति मिल जाती है। और शास्त्रोक्त साधनों से क्या प्रयोजन है, केवल इतना [illegible] ही काफी है कि जो जो वस्तुएँ स्वाद देने वाली हैं उन सबको विष और अग्नि के समान भयंकर समझो। यदि प्राणी को हृदय में भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न जाए तो तुरन्त ही उच्च पद की प्राप्ति हो जाती है—ऐसा श्रुति कहती है। जब तक संसार को नाश करने वाली भोगों के प्रति विरक्ति मनमें उदय नहीं होती तब तक विजय प्राप्त कराने वाली परम निर्वृत्ति की प्राप्ति नहीं होती। संसार रूपी गड्ढे में पड़े हुये प्राणी तभी तक भ्रमते रहते हैं जब तक कि विषयों के प्रति विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। विषयों से विरक्ति की उत्पत्ति आत्म-चिन्तन से हृदय में उत्पन्न हो कर कमल के फूल की शोभा की नाईं प्रकाश पाती है। जैसे दीपक और उसका प्रकाश एक दूसरे से सम्बद्ध है वैसे ही परा दृष्टि

प्राप्त हो जाने पर तृष्णा का क्षय होता है और तृष्णा के क्षय हो जाने पर परा दृष्टि की प्राप्ति होती है। भोगों की घृणा से विचार उत्पन्न होता है और विचार से भोगों के प्रति घृणा होती है। परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर भोगों के प्रति विरक्ति को उत्पन्न करो। जैसे पानी से सींचने से शनैः शनैः लता की वृद्धि होती है वैसे ही विषयों की विरक्ति धीरे-धीरे अभ्यास करने से सिद्ध होती है। हे पुत्र ! बिना पुरुषार्थ के यहाँ पर कुछ भी प्राप्त नहीं होता, बिना अभ्यास किये मूर्ख किसी सिद्धि को भी प्राप्त नहीं कर सकता, चाहे वह उसे कितना ही क्यों न चाहे।

४—इन्द्रियों का निग्रह :—

विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते।
वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते॥ (६।१६३।१९)
मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः।
क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः॥ (३।११४।४७)
तस्मान्मनोनुसंधानं भावेषु न करोति यः।
अन्तश्चेतनयत्नेन स शान्तिमधिगच्छति॥ (३।११४।४८)
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया।
भोगाशाभावनां चित्तात्समूलामलमुद्धरेत्॥ (३।११४।९१)
चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः॥ (६।१६३।६)

जो विवेकवाला और उदार-आत्मा है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं—वह संसार समुद्र में वासना रूपी लहरों के बीच में पड़कर नहीं घबराता। जैसे राजा की आज्ञा का मंत्री लोग पालन करते हैं वैसे ही जो मन का निश्चय होता है उसीको इन्द्रियों की वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं। इसलिये जो संसार के विषयों में मन को नहीं लगाते और अपने भीतर विवेक प्राप्ति का यत्न करते रहते हैं वे शान्ति का अनुभव करते हैं। परम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर बुद्धिपूर्वक यत्न करके भोगों की आशा को चित्त से समूल नष्ट कर देना चाहिये। चित्त इन्द्रियों की सेना का नायक है। उसके जीतने से सब ओर जीत होती है, जैसे कि जूता पहनने वाले के लिये सारी पृथ्वी चमड़े से ढक जाती है।

५—वासनाओं का त्याग :—

वासनैव महाराज स्वरूपं विद्धि चेतसः ।
चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ॥ (१।९४।९)
यथा स्वप्नपरिज्ञानात्स्वप्नदेहो न वास्तवः ।
अनुभूयोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसत् ॥ (३।२२।१)
प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।
अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ (३।२२।८)
सर्वेषणानां संशान्तौ शुद्धचित्तस्य या स्थितिः ।
तत्सत्यमुच्यते सैषा विमला चिदुदाहृता ॥ (४।१७।३)
इदमस्तु ममेत्यन्तर्येषा राघव भावना ।
तां तृष्णां शृङ्खलां विद्धि कलानां च महामते ॥ (६।१७।७)
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ।
संत्यज्य परमोदारः परमेति महामनाः ॥ (६।१७।८)
बन्धाशामथ मोक्षाशां सुखदुःखदशामपि ।
त्यक्त्वा सदसदाशां च तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥ (६।१७।९)

महाराज ! वासना को ही चित्त का स्वरूप जानो। वासना और चित्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे "यह स्वप्न" है इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न का शरीर असत्य मालूम पड़ने लगता है वैसे ही वासनाओं के क्षीण हो जाने पर अनुभव में आने वाला संसार भी असत् ही दिखाई पड़ने लगता है। वासना के क्षीण हो जाने पर जो जीवन की स्थिति होती है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं; उसका ज्ञान उनको नहीं हो सकता जो मुक्त नहीं हैं। सब इच्छाओं को त्याग देने पर शुद्ध चित्त की जो स्थिति है वह मलरहित चिति है। उसीको सत्य कहते हैं। हे राम ! "यह वस्तु मेरी हो जाए" इस प्रकार की अपने भीतर की भावना को तृष्णा कहते हैं यही सबसे बड़ी जंजीर है। सब सत् और असत् पदार्थों के प्रति इस प्रकार की वासना का पूर्णतया और सदा के लिये त्याग करके महामना और उदारात्मा पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है। बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख, सत् और असत्— सब की आशा का त्याग करके क्षोभ रहित समुद्र की नांई स्थिर हो जाओ।

(अ) तृष्णा की बुराई :—

जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ (१।१७।३९)
हार्दान्धकारशर्वर्यां तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपंक्तयः ॥ (१।१७।१)
हृष्टदैन्यो हतस्वान्तो हतौजा याति नीचताम् ।
मुह्यते रौति पतति तृष्णयाभिहतो जनः ॥ (५।१९।१०)
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ (६।९३।७६)

तृष्णा जरा (बुढ़ापा) और मरण के दुःखों की पिटारी है और आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग) को देने वाली है। अपार तृष्णा द्वारा हृदय में अज्ञान की अन्धेरी रात्रि के छा जाने पर ही चेतन (आत्मा) आकाश में दोषरूपी उल्लुओं की पंक्तियाँ उड़ने लगती हैं। तृष्णा से मारा हुआ व्यक्ति दीन हो जाता है, अपने भीतर का बल खो देता है, अपना तेज खो देता है, दुर्गति को प्राप्त होता है, मोह में पड़ता है, चिल्लाता है और पतन को प्राप्त होता है। बुढ़ापा आने पर दाँत गिरने लगते हैं, बाल सुफ़ेद हो जाते हैं, सब कुछ जीर्ण और क्षीण हो जाता है; तो भी तृष्णा क्षीण नहीं होती।

(आ) इस संसार में न कुछ प्राप्त करने योग्य है और न कुछ त्यागने योग्य है।

मनःप्रकल्पिते भग्ने हृदि विस्तीर्ण[illegible] ।
वृद्धि [illegible] ब्रूहि किं वृद्धं कस्य किं [illegible] ॥ (४।४९।३९)
सर्वथासत्यभूतेऽस्मिन्प्रपञ्चे कामकारिणि ।
संसारे किमुपादेयं प्राज्ञो [illegible] ॥ (४।४९।४२)
सर्वत्र सत्यभूतेऽस्मिन्ब्रह्मतत्त्वमयेऽपि च ।
किं स्यात्त्रिभुवने हेयं प्राज्ञाः परिहरन्तु यत् ॥ (४।४९।४३)
[illegible] ।
[illegible] मेघ[illegible] ॥
लोकं यौवन[illegible] ।
पुत्र [illegible] ॥ (६।१३६।३३)

मन द्वारा कल्पित, हृदय में विस्तृत इस टूटे फूटे संसार नगर में किसी प्रकार की वृद्धि होने पर क्या किसका बढ़ता और क्या किसका घटता है ? इस सब प्रकार से झूठे ऐन्द्रजालिक संसार में ऐसी कौन सी प्राप्य वस्तु है जिसकी ज्ञानी आदमी इच्छा करे ? इस ब्रह्मतत्त्वमय सर्वत्र सत्यमय संसार में ऐसी कौनसी त्याज्य वस्तु है जिसको विद्वान् त्यागे ? आयु इतनी क्षणभङ्गुर (क्षणिक) है जितना कि वायु द्वारा उड़ाकर लाया हुआ शरत् ऋतु का बादल का टुकड़ा, भोग ऐसे चञ्चल हैं जैसी कि मेघों में चमकती हुई बिजली। यौवन और सौन्दर्य जल के बहाव की नांई तेजी से जाने वाले हैं; शरीर क्षण में नष्ट होनेवाला है; इसलिये हे पुत्र इन सबसे विरक्त होकर निर्वाण को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

(इ) वासना त्याग के दो प्रकार :—

सर्वत्र वासनात्यागो राम राजीवलोचन।
द्विविधः कथ्यते तज्ज्ञैर्ज्ञेयो ध्येयश्च मानद॥ (५।१६।६)
द्वावेव राघव त्यागौ समौ मुक्तपदे स्थितौ।
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेव विगतज्वरौ॥ (५।१६।१५)

हे सबको मान देने वाले राम, ज्ञानियों ने वासना-त्याग दो प्रकार का बतलाया है— एक ध्येय और दूसरा ज्ञेय। दोनों प्रकार के त्याग समान हैं और मुक्ति अवस्था में स्थिति रखने वाले, ब्रह्म रूप को प्राप्त और क्लेशों से बरी (मुक्त) हैं।

(१) ध्येय त्याग का स्वरूप :—

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्।
नाहमेभिर्विना कश्चिन्न मयैते विना किल॥ (५।१६।७)
इत्यन्तर्निश्चयं कृत्वा विचार्य मनसा सह।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ (५।१६।८)
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वत्या लीलया क्रियाम्।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो राम स कीर्तितः॥ (५।१६।९)
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ (५।१६।११)

मैं इन सब वस्तुओं का और ये सब मेरा जीवन हैं—मैं इनके विना और ये मेरे बिना नहीं रह सकते—इस निश्चय को अपने भीतर दृढ़

करके और मनसे अच्छी तरह विचार कर और यह धारणा करके कि न ये वस्तुएँ मेरी हैं और न मैं इनका, शान्त बुद्धिसे जो वासना का त्याग किया जाता है उसे वासना का ध्येय त्याग कहते हैं। जो लीला से अपनी अहंकारमयी वासना का त्याग करके जीता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

(२) ज्ञेय त्याग :—

सर्वं समतया बुद्ध्वा यं कृत्वा वासनाक्षयम्।
जहाति निर्ममो देहं ज्ञेयोऽसौ वासनाक्षयः॥ (५।१६।१०)
निर्मूलकलनां त्यक्त्वा वासनां यः समं गतः।
ज्ञेयत्यागमयं विद्धि मुक्तं तं रघुनन्दन॥ (५।१६।१२)

सम बुद्धिसे जो सब वासनाओं का क्षय करके और ममता रहित होकर शरीर का त्याग कर देता है उसका वासना त्याग ज्ञेय त्याग कहलाता है। जो कल्पारहित वासना का त्याग करके शान्ति को प्राप्त कर चुका है उस मुक्त पुरुष के त्याग को ज्ञेय त्याग कहते हैं।

(३) वासना को त्याग करने की तरकीब :—

बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥ (४।५७।१९)
तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः।
मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम्॥ (४।५७।२०)
तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि।
अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः॥ (४।५७।२१)
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज॥ (४।५७,२२)
चिन्मयः कलनाकालप्रकाशतिमिरादिकम्।
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्॥ (४।५७।२३)
समूलमपि संत्यक्त्वा व्योमसौम्यप्रशान्तधीः।
यस्त्वं भवसि सद्बुद्धे स भवानस्तु संस्तुतः॥ (४।५७।२४)
हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः।
यस्तिष्ठति गतव्ययः स मुक्तः परमेश्वरः॥ (४।५७।२५)
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः॥ (४।५७।२६)

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थो न तस्यार्थोऽस्ति कर्मभिः ।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ (४।९७।२७)
यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ॥ (१।८७।२९)
परमार्थावबोधेन समूलं राम वासना ।
दीपेनेवान्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ॥ (५।७४।२१)

वासना से बँधा हुआ मनुष्य बद्ध (बन्धन में) है। वासना क्षीण होने से मोक्ष होता है। (सांसारिक) वासनाओं को त्याग करके मोक्ष की वासना भी त्याग दो। विषयों के सम्बन्ध की तामसी वासनाओं का त्याग करके मैत्री आदि शुभ वासनाओं को धारण करना चाहिये। इनके अनुसार व्यवहार करते हुए, इनको भी त्याग कर, अपने अन्दर सब वासनाओं से रहित होकर चिन्मात्र आत्मा की वासना का आश्रय लो। मन और बुद्धि से संयुक्त उस चिन्मात्र की वासना को भी त्याग करके जो कुछ शेष रहे उसमें स्थिर हो जाओ। जिस वासना के द्वारा दूसरी वासनाओं का त्याग करो उसको त्याग दो। वासना को, वासना करने वाले को, कलना, काल, तिमिर (अन्धेरा) आदि और प्राण-स्पन्दन—इन सबको जड़ सहित उखाड़ कर सौम्य आकाश की नांई शान्त होकर जो रहता है वही हो जाओ। जो व्यक्ति अपने चित्त से सब वस्तुओं का त्याग करके व्यथा से रहित हो जाता है, वही मुक्त और परम ईश्वर है। समाधि लगाए या न लगाए, कर्म करे या न करे, जो अपने हृदय से सब आस्थाओं को त्याग देता है वही महाशय मुक्त है। जिसका मन वासना रहित हो गया है उसे न कर्म त्यागने की आवश्यकता है और न कर्म करने की, न समाधि की जरूरत है और न जप की। जैसे मरुभूमि से बादल नहीं उठ सकता वैसे ही उस पुरुष के हृदय में वासना नहीं उदय होती जिसका अज्ञान "सब कुछ ब्रह्म ही है" इस भावना से दूर हो गया है। परमार्थ के भली भाँति जान लेने पर वासना इस प्रकार समूल नष्ट हो जाती है जैसे कि दीपक के आने पर अंधेरा; और ज्ञान का प्रकाश उदय हो जाता है।

६—अहंकार का त्याग :—

अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते ।
नूनं सम्प्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः ॥ (५।१३।१७)

चिज्ज्योत्स्ना यावदेवान्तरहंकारघनावृता ।
विकासयति नो तावत्परमार्थकुमुद्वतीम् ॥ (४।३३।२८)

अहंबीजश्चित्तद्रुमः सशाखाफलपल्लवः ।
उन्मूलय समूलं तमाकाशहृदयो भव ॥ (६/२।९४।१३)

अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ (६/२।२६।२९)

भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।
अहंभावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ (६/२।१९।२)

ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहंत्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ (६/२।८।२)

अहङ्काररूपी बादल के विलीन हो जाने पर चितिरूपी आकाश के निर्मल हो जाने से आत्मज्ञानरूपी सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश होता है। चितिरूपी चाँदनी जब तक अहङ्काररूपी बादल में छिपी रहती है, तब तक परमार्थरूपी कुमुद नहीं खिलने पाता। चित्तरूपी शाखा, पत्ते और फलवाले वृक्ष के अहंभावरूपी बीज को जड़ से उखाड़ कर शून्य-हृदय हो जाओ। भ्रम और भाव विकारोंवाली स्थिति अहंभाव से आरम्भ होती है। अहंभाव के अभाव से शान्तिपूर्ण स्वभाव में स्थिति हो जाती है। आकाश की नीलिमा के समान भ्रमात्मक संसार का आदि मूल अहंभावयुक्त आत्मा है। यह जगत्-रूपी वृक्ष अहंभाव रूपी बीज से उदय होता है। उसको ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म कर देने पर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

(अ) अहंभाव को मिटाने की विधि :—

प्रेक्ष्यमाणं च नास्त्येव किलाहं त्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ (६/२।८।३)

चिन्मात्रदर्पणाकारे निर्मले स्वात्मनि स्थिते ।
इति भवानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३। ३)

मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।
इत्यन्तरानुसंधानादहंकारो न जायते ॥ (४।३३।४४)

अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।
समतायां प्रसन्नायां नाहंभावः प्रवर्धते ॥ (४।३३।४६)

अहंभाव को जब जान लिया जाता है तब वह नहीं रहता—इस सम्बन्ध में इतना ही जानना काफ़ी है—इससे दुःख नहीं होता।

चिन्मात्ररूपी दर्पण में जब अपना आत्मा ही दृष्टि आवे और आत्म-भाव का ही चिन्तन हो तब अहंभाव की उत्पत्ति नहीं होती। यह सब इन्द्रजाल का तमाशा मिथ्या है, इसलिये मुझे इससे न स्नेह है और न वैराग्य – इस प्रकार की आन्तरिक धारणा से अहंभाव की उत्पत्ति नहीं होती। मैं ही सारा जगत् हूँ इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाए और समता का अनुभव हो जाए तब अहंभाव की वृद्धि नहीं होती।

(आ) ब्रह्मभाव का अभ्यास :—

शान्तो दान्तश्चोपरतो निषिद्धाकाम्यकर्मणः।
विषयेन्द्रियसंश्लेषमुक्तश्च श्रद्धयान्वितः॥ (६।१२८।१)
मृद्वासने समासीनो जितचित्तेन्द्रियक्रियः।
ओमित्युच्चारयेत्तावन्मनो यावत्प्रसीदति॥ (६।१२८।२)
प्राणायामं ततः कुर्यादन्तःकरणशुद्धये।
इन्द्रियाण्याहरेत्पश्चाद्विषयेभ्यः शनैः शनैः॥ (६।१२८।३)
देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः।
यस्माद्भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत्॥ (६।१२८।४)
विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम्।
अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे॥ (६।१२८।५)
मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत्।
आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत्॥ (६।१२८।६)
वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत्।
पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु॥ (६।१२८।७
श्रोत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुं भोगप्रसिद्धये।
दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत्॥ (६।१२८।८)
चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत्।
प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत्॥ (६।१२८।९)
विष्णौ तथाऽऽत्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च।
उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत्॥ (६।१२८।१०)
बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेद्देवताः करणदेवताः। (६।१२८।११)
एवं न्यस्यात्मनो देहं विराडस्मीति चिन्तयेत्॥ (६।१२८।१२)
क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत्। (६।१२८।१६)

अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।
नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ॥ (३।१२८।१७)
स्थित्वा तस्मिन्क्षणं योगी लिङ्गमात्रशरीरधृक् ।
वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्मविद्ये तथैव च ॥ (३।१२८।१८)
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।
ततोऽर्धोण्डाद्बहिर्यातस्तत्रात्मास्मीति चिन्तयेत् ॥ (३।१२८।१९)
लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ॥ (३।१२८।२०)
नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ॥ (३।१२८।२१)
अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।
तत्र सर्वे लयं गत्वा तिष्ठन्त्यव्यक्तरूपिणः ॥ (३।१२८।२२)
निःसम्बन्धा निरास्वादाः सम्भवन्ति ततः पुनः ।
तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ॥ (३।१२८।२३)
अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् । (३।१२८।२४)
ध्यायेत्तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ॥ (३।१२८।२५)

मनको शान्त करके, इन्द्रियों को वश में करके, उपरति युक्त होकर, निषिद्ध, और काम्य (कामना युक्त) कर्मों का त्याग करके, इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर, श्रद्धावान् होकर, इन्द्रियों और चित्त की वृत्तियों को वश में करके, कोमल आसन पर बैठे और जब तक मन शान्त न हो तब तक ओ३म् का उच्चारण करता रहे तब अन्तः करण की शुद्धि के लिये प्राणायाम करे, फिर धीरे-धीरे इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटावे। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस-जिस तत्त्व से उदय हुआ है उनको उस-उस तत्त्व में विलीन करे। पहिले विराट् में स्थित हो, फिर आत्मा में, फिर अव्याकृत में, फिर परम कारण में। शरीर के माँस आदि पार्थिव भाग को पृथ्वी में विलीन करे, रक्त आदि जल भाग को जल में, अग्नि से बने हुए भागों को अग्नि में, वायु से बने हुए भाग को वायु में, आकाश से बने हुए भाग को आकाश में। (अर्थात् जो भाग जिस तत्त्व से बना है उसमें उस तत्त्व की दृष्टि उत्पन्न करे, उस भागकी दृष्टि न रक्खे)। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय में जिस तत्त्व से वह बनी है उसके होने की भावना करे। आत्मा के भोग के लिये जो कर्मेन्द्रियाँ बनी हैं उनको भी इसी प्रकार उनके तत्त्वों में लीन करे। कानों को दिशाओं में, त्वचाको विद्युत्

में, चक्षुको सूर्य के बिम्ब में, जिह्वा को जल में, प्राण को वायुमें, वाक्को अग्नि में, हाथ को इन्द्र में, पैरों को विष्णु में, पायुको मित्र में, उपस्थको कश्यप में, मनको चन्द्रमा में, बुद्धिको ब्रह्मा में, विलीन करे। (अर्थात् जो-जो ज्ञान और कर्म इन्द्रिय जिस-जिस तत्त्व से बनी है उसको वह वह इन्द्रिय न समझ कर वह वह तत्त्व समझना चाहिये—क्योंकि प्रत्येक कार्य में उसका उपादान कारण वर्तमान रहता है, जैसे कि घट में मिट्टी और कड़े में सोना। जैसे घड़े में मिट्टी की दृष्टि और कड़े में सोने की दृष्टि उत्पन्न करनी चाहिये वैसे ही प्रत्येक अङ्ग में उसके कारण तत्त्व की दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये)। ऊपर कहे हुए देवता करणदेवता हैं। इस प्रकार अपने शरीर को ब्रह्माण्ड के समष्टि शरीर में विलीन करके मैं विराट् हूं इस भावना का अभ्यास करे। तब पृथ्वी को (उसके कारण तत्त्व) जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को महा आकाश में, जो कि समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है। लिङ्ग शरीर धारण किये हुए योगी उस तत्त्व में कुछ देर स्थित रहे। सूक्ष्म भूत, वासना, कर्म, विद्या, दश इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) मन और बुद्धि ये सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। तब ब्रह्माण्ड से बाहर होकर यह अनुभव करे कि मै सब कुछ हूं। लिङ्ग शरीर को सूक्ष्म और अव्याकृत और अव्यक्त तत्त्व में विलीन करे। जिस तत्त्व में यह जगत् नाम रूप से मुक्त होकर स्थिर रहता है उसे कोई प्रकृति कहता है कोई माया, कोई प्रमाणु, कोई अविद्या। उस तत्त्व में लीन होकर सब पदार्थ अव्यक्त रूप से स्थित रहते हैं। निःसम्बन्ध और निःस्वाद होकर सारा जगत् सृष्टि उदय होने के पूर्व उसमें उसके ही रूप में रहता है। इसलिये स्थूल, सूक्ष्म, और कारण इन तीनों अवस्थाओं से परे की चौथी अव्यक्त अवस्था का ध्यान करके, और लिङ्ग शरीर (और सूक्ष्म भाव) को विलीन करके, अपने आत्मा को परम आत्मा में विलीन करके उसका अनुभव स्थिर करे।

अद्वैत वेदान्त के शास्त्रों में इस युक्ति का नाम, जिसका ऊपर उल्लेख किया है, लय योग है। इसकी विधि यही है कि प्रत्येक वस्तु को अपने विचार द्वारा उसके कारण में लय करके मन में वस्तुभाव न रख कर कारणभाव रक्खे; व्यष्टि की दृष्टि को हटाकर समष्टि की दृष्टि की, और कार्य दृष्टि को हटाकर कारण दृष्टि की स्थापना करे।

ऐसा करते करते किसी समय परम कारण और परम व्यापक सत्ता-सामान्य शुद्ध चेतन ब्रह्म की दृष्टि का अनुभव हो जायेगा। इस योगके क्रम की समझ तब ही आती है जब कि सृष्टि के विकास के क्रम का ज्ञान हो। सृष्टि का विलय उसके विकास के क्रम के विरुद्ध क्रम सेहोता है।

(इ) अहंभाव के क्षीण हो जाने पर सब दोषों से निवृत्ति हो जाती है :—

यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे।
तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते ॥ (४।३३।३९)
गलिते वा मनाग्रूपे चित्तेऽहंकारनामनि। (६।११६।१)
बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्यात्मवत् सितम् ॥ (६।११६।२)
लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम्। (६।११६।२)
मुदितायाः श्रियो वक्त्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ॥ (६।११६।३)
वासनाग्रन्थयश्छिन्ना इव त्रुट्यन्त्यलं शनैः।
कोपस्तानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ (६।११६।४)
कामः क्लमं गच्छति च लोभः क्वापि पलायते।
नोल्लसन्तीन्द्रियाण्युच्चैः खेदः स्फुरति नो क्वचित् ॥ (६।११६।५)
न दुःखान्युपघ्नन्ति न वल्गन्ति सुखानि च।
सर्वत्र समतोदेति हृदि शैत्यप्रदायिनी ॥ (६।११६।६)

संसार में जो कुछ सुख-दुःख मिलता है वह सब अहंकार का विकार है। अहंकार नामक मन की वृत्ति के क्षीण हो जाने पर या क्षीण होने लगने पर, लोभ और मोह आदि दोष शुद्ध हृदय को इस प्रकार स्पर्श नहीं करते जैसे कि पानी कमल को, और प्रसन्नता आदि जनित सौन्दर्य मुख पर सदा विराजमान रहता है; वासनाओं की गांठें खुल जाती हैं और वे धीरे धीरे क्षीण हो कर गिर जाती हैं; गुस्सा बहुत कम हो जाता है और मोह मन्द पड़ जाता है; काम शान्त हो जाता है और लोभ कहीं भाग जाता है; इन्द्रियां बससे बाहर नहीं जातीं और किसी प्रकार का खेद नहीं होता; दुःख और सुख दोनों शान्त हो जाते हैं और शीतलता देने वाली समता का चारों ओर उदय हो जाता है।

७—असङ्ग का अभ्यास :—

सम्वित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तस्थो वासनारसः।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना [illegible] ॥ (६।२८।२३)

अन्तःसङ्गत्वाज्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ॥ (५।६७।३०)
असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥ (५।६७।३३)
संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः । (५।६८।२०)
संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ॥ (५।६८।४७)
असत्प्रायो हि सम्बन्धो यथा सलिलकाष्ठयोः ।
तथैव मिथ्यासम्बन्धः शरीरपरमात्मनोः ॥ (५।६७।२४)
देहभावनयैवात्मा देहदुःखवशे स्थितः ।
तत्त्यागेन ततो मुक्तो भवतीति विदुर्बुधाः ॥ (५।६७।२६)
चिदात्मा निर्मलो नित्यः स्वावभासो निरामयः ।
देहस्त्वनित्यो मलवांस्तेन सम्बध्यते कथम् ॥ (५।७१।२४)
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चेत्यावलम्बिनि ।
सर्वत्र नीरसमिव तिष्ठत्वात्मरसं मनः ॥ (५।६९।८)
तत्रस्थो विगतासङ्गो जीवोऽजीवत्वमागतः ।
व्यवहारमिमं सर्वं मा करोतु करोतु वा ॥ (५।६९।९)
नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते ।
सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (५।६८।६)
सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ॥ (५।६८।४)
सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणं यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ (५।६८।८)
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारता ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ (५।९३।८४)
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना । (५।९३।८५)
तामसङ्गाभिधां विद्धि यावद्देहं च भाविनी ॥ (५।९३।८६)
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यत्समागमम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु [illegible] विदुर्बुधाः ॥ (६।२८।२४)
अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।
यथा कयाचिद्युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव [illegible] ॥ (६।२८।२५)

जन्मजन्मान्तर को देने वाला बीज व्यष्टि) संवित् है । उसका भीतर का [illegible] जो कि (संसार रूपी अंकुर को उत्पन्न करता है) वासना

है। उस वासना रस को असङ्ग रूपी अग्नि से जला दो। जिसके मन में सङ्ग नहीं है वह संसार-सागर से पार हो गया है। संसारी मन भी यदि असक्त है तो उसे मुक्त जानो और दीर्घ तप से शुद्ध किया हुआ मन यदि सक्त (सङ्गयुक्त) है तो उसे बन्धन में समझो! समस्त दुःख संसक्ति से उदय होते हैं। संसक्त चित्त में ही सारे दुःखों की परम्परा आती है। (शरीर से भी सङ्ग होना वृथा है क्योंकि) जैसे जल और लकड़ी का (जो कि जल के ऊपर तैर रही हो) सम्बन्ध कुछ नहीं है वैसे ही आत्मा और शरीर का भी सम्बन्ध झूठा है। देह-भावना (शरीर को अपना आप समझने) से ही आत्मा को शरीर के दुःख-सुख के वश में होना पड़ता है; ज्ञानी लोग कहते हैं कि उसके त्यागने से ही आत्मा मुक्त होता है। आत्मा नित्य, निर्मल, निरामय और स्वयं प्रकाश चिति होता है और शरीर अनित्य और मलयुक्त है—भला फिर दोनों में सम्बन्ध कैसा? मन को चाहिये कि वह संसार की सब वस्तुओं के प्रति नीरस होकर आत्मा के रस में ही मग्न होकर चिति में विश्राम ले। वहाँ स्थित होकर और सब प्रकार के सङ्ग से मुक्त होकर जीव जब अजीव हो जाता है, तब वह संसार के किसी व्यवहार को करे या न करे। असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समान भाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में जमना; और जिसने सब कर्मों के फल का त्याग कर दिया हो। "यह सब कुछ आत्मदेव ही है, किस वस्तु की इच्छा करूँ और किस वस्तु का त्याग करूँ?" इस प्रकार की असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुष में होती है। सब कर्मों के फलों को मन से ही पूर्णतया त्यागने वाले को, न कि कर्म से, असंसक्त कहते हैं। पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोकरूपी मलीन वासना होने का नाम सङ्ग है। जब हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असङ्ग कहते हैं। शुभ या अशुभ कामों को करते हुए मन का उनमें लिप्त न होना असङ्ग कहलाता है। वासना के दूर करने का नाम भी असङ्ग है। किसी न किसी युक्ति द्वारा उसको प्राप्त करना चाहिये।

८—सम-भाव का अभ्यास :—

मा कोर्य भज हेयेषु नोपादेयपरो भव।
हेयोपादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः स्वच्छतां व्रज॥ (५।१३।२१)

हेयोपादेयकलने क्षीणे यावन्न चेतसः ।
न तावत्समता भाति साभ्रे व्योम्नीव चन्द्रिका ॥ (५।१३।२३)
अवस्त्विदमिदं वस्तु यस्येति लुलितं मनः ।
तस्मिन्नोदेति समता शाखोट इव मञ्जरी ॥ (५।१३।२४)
युक्तायुक्तैषणा यत्र लाभालाभविलासिनी ।
समता [illegible] कुतो वैराग्यभासिनी ॥ (५।१३।२६)

हेय (त्याज्य) वस्तु से खेद न करो और उपादेय (प्राप्य) वस्तु से सङ्ग न करो । 'हेय' और 'उपादेय' दोनों दृष्टियों का त्याग करके दोनों से रहित भाव में निर्मल रहो । जैसे जबतक बादल नहीं उड़ता तबतक आकाश में चान्दनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे ही जबतक चित्त से हेय और उपादेय भाव नहीं जाता तबतक समता का उदय नहीं होता । जिसके मन में इस प्रकार की कल्पनाओं का उदय होता रहता है कि "यह वस्तु (प्राप्य) है और यह वस्तु (प्राप्य) नहीं है" उसके अन्दर समता का उदय ऐसे नहीं होता जैसे कि शाखोट में मञ्जरी का । वैराग्य का प्रदर्शन करने वाली स्वच्छ समता का [illegible] कैसे चित्त में कैसे हो सकता है जिसके चित्त में युक्त को प्राप्त और अयुक्त को त्याग करने की वासना बनी रहती है ?

(अ) समता का आनन्द :—

न तदासाद्यते राज्यान्न कान्ताजनसङ्गमात् ।
अनपायि सुखं सारं समत्वाद्यदवाप्यते ॥ (६।११८।१०)
द्वन्द्वोपशमसीमान्तं संरम्भज्वरनाशनम् ।
सर्वदुःखातपाम्भोदं समत्वं विद्धि राघव ॥ (६।११८।११)
सुखदुःखेषु भीमेषु सन्ततेषु महत्स्वपि ।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति समदृष्टयः ॥ (६।११८।२७)

जो अनन्त और सार आनन्द समता से प्राप्त होता है वह न राज्यप्राप्ति से मिलता है और न सुन्दर युवतियों के साथ रमण करने से । समता द्वन्द्व का अन्त करनेवाली और व्यग्रता के ज्वर का नाश करनेवाली है; उसे सब प्रकार के दुःखों की गर्मी को शान्त करनेवाला बादल समझो । समदृष्टिवाले व्यक्ति महान्, बराबर रहनेवाले और भयानक सुखों और दुःखों में भी सदा एकरस रहते हैं ।

(आ) सबको अपना बन्धु समझना चाहिए :—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु विगतावरणैव धीः॥ (६।१८।६१)

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मम।
इति निर्णीय धीराणां विगतावरणैव धीः॥ (६।१८।६२)

सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बान्धवाः।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काश्चन॥ (६।१८।६४)

एकत्वे विद्यमानस्य सर्वगस्य किलात्मनः।
अयं बन्धुः परश्चायमित्यसौ कल्पना कुतः॥ (६।२०।४)

यह मेरा बन्धु है और यह मेरा बन्धु नहीं है इस प्रकार का भेद-भाव क्षुद्र मनवालों में होता है; उदार भाववालों की बुद्धि में इस प्रकार भेद नहीं रहता। "ऐसा कौनसा स्थान है जहाँ मैं नहीं हूँ और ऐसी कौनसी वस्तु है जो मेरी नहीं है" इस निश्चय को दृढ़कर लेनेपर बुद्धि में भेदभाव नहीं रहता। हे राम! संसार के सभी प्राणीगण तेरे बन्धु हैं क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो तुमसे बिल्कुल सम्बन्ध न रखता हो। जब कि एक ही आत्मा सब में मौजूद है, 'यह मेरा भाई है और यह दूसरा है' इस प्रकार का विचार कैसे आया?

९—कर्तृत्व का त्याग :—

कृष्णतासंक्षये यद्वत्क्षीयते कज्जलं स्वयम्।
स्पन्दात्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः॥ (३।९१।२९)

वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः।
द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव निलीयते॥ (३।९१।३७)

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम्। (३।१२४।९)
सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज॥ (३।१२४।६)

अवेदनमसंवेद्यं यद्वासनमासितम्।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते॥ (३।३।२४)

जैसे स्याही के खतम हो जानेपर काजल स्वयं ही खतम हो जाती है ऐसे ही स्पन्दनरूप कर्म (कर्तृत्वभाव) के क्षीण होनेपर मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है। चित्त और (कर्तृत्व) दोनों आग और गरमी की नाईं सम्बद्ध हैं; दोनों में से किसी एक का अभाव हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है। आत्मा के अज्ञान से कर्म करने का

संकल्प उदय होता है और संकल्प युक्त होना ही बन्धन का कारण है; उसको अवश्य त्यागो। कर्मत्याग तब होता है जब कि आत्मा में से वेदन और संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे, और कल्पना रहित शान्त भाव में उसकी स्थिति हो जाए।

१०—सब वस्तुओं का त्याग :—

यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।
सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते॥ (६।९८।४४)
सर्व सर्वात्मनैवात्मा लाभाय यतति स्वयम्।
त्यक्त्वान्यकार्यं प्राप्नोति तन्नाम नृप नेतरत्॥ (६।९८।४६)
न किञ्चिद्येन सम्प्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यन्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (६।३४।७६)
विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम्।
तमनन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः॥ (६/१।९०।१)
सर्वत्यागेन शुद्धेन सर्वमासाद्यतेऽनघ।
सर्वत्यागो हि साम्राज्यं किं चिन्तामणितो भवेत्॥ (६/१।९०।६)

सब वस्तुओं का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। सब अवस्थाओं का त्याग करने पर जो बाकी रहता है वही आत्मा है। जो और सब कामों को छोड़ अपनी पूरी ताक़त से आत्मा को प्राप्त करने का यत्न करता है वही आत्मा को पाता है; दूसरा कोई नहीं। जो और किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करता वही इस परम अमृत आत्मा को पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है। सच्चा सर्वत्याग ऐसी चिन्तामणि है जिससे सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है? शुद्ध बुद्धियुक्त होकर तुम उसका ही साधन करो। सर्व त्याग से ही सब कुछ प्राप्त होता है; चिन्तामणि ही नहीं, सर्वत्याग तो साम्राज्य है।

(अ) सर्वत्याग का स्वरूप :—

साधो न देहत्यागेन न राज्यत्यजनेन च।
न चोटजादिशोषेण सर्वत्यागो भवेन्नृप॥ (६/१।९३।२९)
सर्वस्यैव मनो बीजं तद्बीजं तरोरिव। (६/१।९३।३४)
सर्वस्य बीजे संत्यक्ते सर्वं त्यक्तं भवत्यलम्॥ (६/१।९३।३५)

चित्तं सर्वमिति प्राहुस्तत्त्यक्त्वा पुत्र राजसे।
चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागं सर्वविदो जनाः॥ (६।१११।२१)
यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन्सर्वैककारणे।
सर्वस्मिन्संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत्॥ (६।९३।३०)
सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम्।
सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम्॥ (६।९३।४१)

सर्वत्याग न शरीर के त्यागने से सिद्ध होता है, न राज्य आदि के त्यागने से; और न झोपड़ियों में रहकर तप करने से। वृक्ष के बीज की नाईं सब वस्तुओं का बीज मन है। सब के बीज के त्याग देनेपर सब ही का त्याग हो जाता है। हे पुत्र! चित्त को ही सब कुछ कहते हैं; चित्त का त्याग ही सर्वत्याग है। उसको त्यागकर शोभा को प्राप्त करो। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है उस सबके एक कारण (परमात्मा) में सबको त्याग (अर्पण) करके सर्वत्याग होता है। जो तीनों काल में स्थित जगज्जाल को इस प्रकार अपने भीतर समझता है जैसे मोती तागे को, उसने ही वास्तविक सर्वत्याग किया है।

(आ) महात्यागी का स्वरूप:—

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी।
धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२३)
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२४)
न मे देहो न जन्मापि युक्तायुक्ते न कर्मणी।
इति निश्चयवानन्तर्महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२६)
देहस्य मनसो दुःखैरिन्द्रियाणां मनःस्थितेः।
नूनं येनोज्झिता सत्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२९)
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्।
सर्वमन्तः परित्यक्तं महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२७)
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता महात्यागी स उच्यते॥ (६।११९।२८)

जिसने मन से धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, मरण-जन्म की भावनाओं का त्याग कर दिया है, वह महात्यागी है। जिसने अपनी बुद्धि द्वारा

सब इच्छाओं का, सब शङ्काओं का, सब तृष्णाओं का और सब निश्चयों का त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है। देह मेरी नहीं है, जन्म मरण मेरे नहीं हैं, युक्त और अयुक्त कर्म भी मेरे नहीं हैं-जिसके मन के भीतर इस प्रकार का निश्चय हो गया है वह महात्यागी है। जिसके मन से शरीर की, मन की और इन्द्रियों की सत्ता का विश्वास निकल गया है वह महात्यागी है। जिसके अन्दर धर्म और अधर्म की भावना, मन की कल्पनात्मक क्रिया और इच्छा नहीं रही वह महात्यागी कहलाता है। जो कुछ भी दृश्य जगत् दिखाई पड़ता है वह सब जिसने भली भाँति त्याग दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

(ई) त्याग का फल :—

न गृह्णाति हि यत्किञ्चित्सर्वं तस्मै प्रदीयते। (६।९३।६२)
सर्वं त्यजति यस्तस्य सर्वमेवोपतिष्ठते॥ (६।९३।९१)

जो कुछ भी नहीं लेता उसीको सब कुछ दिया जाता है। जो सब वस्तुओं का त्याग कर देता है उसी की सेवा में सब वस्तुएं उपस्थित हुआ करती हैं।

११—समाधि :—

यदि वापि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत्।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येतामलं पदम्॥ (३।१।३६)

यदि निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जावे तो अक्षय सुषुप्ति के समान शुद्ध पदकी प्राप्ति हो जाती है।

(अ) समाधि का सच्चा स्वरूप :—

बद्धपद्मासनस्यापि कृतब्रह्माञ्जलेरपि।
अविश्रान्तस्वभावस्य कः समाधिः कथं च वा॥ (५।६२।७)
तत्त्वावबोधो भगवन्सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ (५।६२।८)
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी।
साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः॥ (५।६२।९)
अक्षुब्धा निरहङ्कारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतराकृतिः॥ (५।६२।१०)
निश्चिन्ताधिगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता।
प्रोक्ता समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः॥ (५।६२।११)

यतः प्रभृति बोधेन युक्तमात्यन्तिकं मनः ।
तदारभ्य समाधानमव्युच्छिन्नं महात्मनः ॥ (५।६२।१२)
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् । (६।४५।४६)
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ॥ (६।४६।१६)
सर्वार्थशीतलत्वेन बलादूध्याने यदाऽऽगतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ (६।४६।१७)
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ (६।४६।१८)

पद्म आसन लगाकर बैठ जाने और ब्रह्मको हाथ जोड़ कर बैठ जाने पर भी, जब तक कि मनमें शान्ति नहीं है, समाधि नहीं लगती। चुपचाप बैठे रहने का नाम समाधि नहीं है; सब आशा (इच्छा) रूप तिनकों को जलाने के लिये अग्निरूप तत्त्वज्ञानको समाधि कहते हैं। समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान देने वाली है। सुमेरु के समान उस स्थिर स्थिति का नाम समाधि है जिसमें चञ्चलता नहीं, अहंकार नहीं, और जिसमें द्वन्द्वों की भावनाएँ नहीं हैं। मनकी उस पूर्ण अवस्था का नाम समाधि है जिसमें कोई चिन्ता नहीं, जिसमें सब इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है, और जिसमें हेय और उपादेय की दृष्टि नहीं है। महात्माओं की समाधि उसी समय से आरम्भ हो जाती है जब से कि ज्ञान द्वारा मन पूर्ण रूप से स्थिर हो जाए। विषयों में बिल्कुल भी तृष्णा न होने का नाम समाधि है। विषयों के प्रति दृढ़ विरक्ति होने का नाम ध्यान है। समाधि और कुछ नहीं है, केवल ज्ञानद्वारा मन में विषयों के प्रति विरक्ति और चारों ओर शीतलता का अनुभव है। ऐसा ध्यान ही जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो और वासनाओं का लेश भी न हो, आनन्दपदवाला निर्वाण होता है।

(उ) मन के लीन होने का आनन्द :—

संशान्ते चित्तवेताले यामानन्दकलां तनुः ।
याति तामपि राज्येन जागतेन न गच्छति ॥ (४।१९।२०)
सर्वाशाज्वरसंमोहमिहिकाशरदागमम् ।
अचित्तत्वं विना नान्यच्छ्रेयः पश्यामि जन्तुषु ॥ (४।१९।२४)

त एव सुखसंभोगसीमान्तं समुपागताः ।
महाधिया शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ॥ (४।१८।२८)

चित्तताम्रे शोधिते हि परमार्थसुवर्णताम् ।
गतेऽकृत्रिम आनन्दः किं देहोपलखण्डकैः ॥ (३।११।४९)

चित्त रूपी वेताल के शान्त हो जाने पर जो आनन्द अनुभव में आता है वह सारे जगत् का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त होता। सब आशाओं के ज्वर और सम्मोह रूपी बरसात को दूर करने के लिये शरद् ऋतु के आगमन रूप चित्तनाश के सिवाय और कोई कल्याणकारी वस्तु नहीं है। वे ही महामना, शान्त बुद्धि वाले लोग सुख भोग की सीमा पर पहुंच जाते हैं जो मन को मार लेते हैं। चित्तरूपी ताम्बे को शोधकर परमार्थ रूपी सोना बनाकर सच्चा आनन्द मिलता है। शरीर रूपी पत्थरों से नहीं।

२५—ज्ञान की सात भूमिकायें

आत्मज्ञान के अभ्यास के अनेक मार्गों का योगवासिष्ठ के अनुसार विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उसको पढ़ने से पाठक के मन में यह तो साफ़ जाहिर हो गया होगा कि ज्ञान को पूर्णतया प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। केवल वाचिक ज्ञान से कुछ लाभ नहीं होता। ज्ञान का अभ्यास क्रमशः होता है, और उस क्रम का एक ही जीवन में आरम्भ और समाप्त होना भी साधारणतया सम्भव नहीं है। ज्ञान को प्राप्तकरने और उसको अभ्यास द्वारा सिद्ध करने में अनेक जन्म लग जाते हैं। कितने समय और कितने जन्मों में ज्ञान की सिद्धि और उससे जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होगी यह प्रत्येक व्यक्ति के अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है। जिनमें अधिक लगन होती है और जो अधिक यत्न करते हैं, वे जल्द ही परम पद को प्राप्त कर लेते हैं; जो ढीले-ढाले चलने वाले होते हैं वे देर में। जब अत्यन्त तीव्र वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होती है तो क्षण भर में मोक्ष का अनुभव हो जाता है। इसलिये मोक्ष की वासना होने और मोक्ष का अनुभव होने में कितने समय का अन्तर है यह नहीं बतलाया जा सकता। ज्ञानी और विद्वान् लोग केवल इसी बात का निर्णय कर सकते हैं कि ज्ञान-मार्ग का क्रम क्या है, किन किन सीढ़ियों पर चढ़कर ज्ञान की सिद्धि का इच्छुक अपने ध्येय पर पहुँच जाता है। ज्ञान के मार्ग पर जो जो विशेष क्रमिक अवस्थाएँ आती हैं उनका नाम योगवासिष्ठ में भूमियाँ अथवा भूमिकायें हैं। जैनियों ने उनका नाम गुणस्थान रक्खा है, पातञ्जल योग में उनको योग के अङ्ग कहा है। जैनियों के मतानुसार १४ गुणस्थान हैं; बौद्धों के अनुसार दस भूमियाँ हैं; पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अङ्ग हैं। योगवासिष्ठकार ने ज्ञान की सात भूमिकाएँ मानी हैं। हम यहाँ पर योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञानमार्ग की सात भूमिकाओं का वर्णन करेंगे। योगवासिष्ठ में भी तीन स्थानों पर इन भूमिकाओं का कुछ कुछ भिन्न विवरण दिया है। पाठकों के विशेष परिचय के लिये हम तीनों स्थानों पर दिये हुए विवरण को यहाँ पर संक्षेपतः रखने का यत्न करेंगे।

ज्ञान की सात भूमिकायें :—

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जसि ॥ (३।११८।१)
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः ।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥ (३।११८।२)

हे राघव ! ज्ञान की सात भूमिकाओं को अलग अलग जानकर तुम मोह के कीचड़ में नहीं फँसोगे । बहुत से लोग योगभूमिकाओं को भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं; मेरी राय में तो वे शुभ गति को देनेवाली इस प्रकार हैं ।

(१) योगभूमिकाओं का प्रथम विवरण :—

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं सप्तभूमिकम् ।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्तं भूमिकासप्तकात्परम् ॥ (३।११८।३)
सत्यावबोधो मोक्षश्चैवेति पर्यायनामनी ।
सत्यावबोधो जीवोऽयं नेह भूयः प्ररोहति ॥ (३।११८।४)
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ (३।११८।५)
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ (३।११८।६)
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥ (३।११८।७)
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ (३।११८।८)
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ (३।११८।९)
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥ (३।११८।१०)
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ (३।११८।११)
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात्प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥ (३।११८।१२)

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ (३।११८।१३)
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥ (३।११८।१४)
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ (३।११८।१५)
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥ (३।११८।१६)

आत्मा का बोध देनेवाले ज्ञान की सात भूमिकायें हैं; मुक्ति इन सातों भूमिकाओं से परे है। मोक्ष और सत्य का ज्ञान ये पर्यावाची शब्द हैं। जिसको सत्य का ज्ञान हो गया है वह जीव फिर जन्म नहीं लेता। सात भूमिकायें ये हैं :-शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी, तुर्यगा। इनके अन्त में मुक्ति है जिसको प्राप्त करके शोक नहीं रहता। अब इन भूमिकाओं का वर्णन सुनो :—

१—शुभेच्छा—वैराग्य उत्पन्न होने पर इस प्रकार की इच्छा कि मैं अज्ञानी क्यों रहूँ, क्यों न शास्त्र और सज्जनों की सहायता से सत्य को जानूँ शुभेच्छा कहलाती है।

२—विचारणा—शास्त्र के अध्ययन से और सज्जनों के सङ्ग से, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की ओर प्रवृत्ति का नाम विचारणा है।

३—तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों के प्रति असक्तता होने से जो मन की स्थूलता का कम होना है उसे तनुमानसा कहते हैं।

४—सत्त्वापत्ति—पूर्वोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से, विषयों की ओर विरक्ति हो जाने पर, जब शुद्ध आत्मा में चित्त की स्थिरता होने लगे तब सत्त्वापत्ति कहलाती है।

५—असंसक्ति—जब पूर्वोक्त चार अवस्थाओं का अभ्यास हो जाने के कारण संसार के विषयों में असंसक्ति होने पर, सत्ता के प्रकाश में मन स्थिर हो जाये तब उसे असंसक्ति कहते हैं।

६—जब पूर्वोक्त पाँचो भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा में दृढ़ स्थिति हो जाने पर भीतर और बाहर के सब पदार्थों के अभाव की बड़े प्रयत्न से भावना करके उनको असत् समझ लिया जाये, तब पदार्थभावनी नामवाली भूमिका का उदय होता है।

७—तुर्यगा-पूर्वोक्त छः भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर और भेद के न दिखाई देने पर जो आत्मभाव में अविचलितभाव से स्थिति हो जाती है उसे तुर्यगा कहते हैं। इसको ही तुर्या अवस्था कहते हैं और इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। विदेह मुक्ति तो तुर्या अवस्था से परेका विषय है।

(२) ज्ञान की भूमिकाओं का दूसरा विवरण :—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः ॥ (६।१२०।१)
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना ।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥ (६।१२०।२)
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ (६।१२०।३)
स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः ॥ (६।१२०।४)
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम् ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ (६।१२०।५)
तुर्यातीता तु यावस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परिप्रौढा विषयः स्यान्न जीवताम् ॥ (६।१२०।६)
पूर्वावस्थात्रयं त्वत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र है जगत् ॥ (६।१२०।७)
आनन्दैकघनीभावात्सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपाथ षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ (६।१२०।८)
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशपदात्मिका ॥ (६।१२०।९)

सबसे पहिले शास्त्रों का अध्ययन और सज्जनों की सङ्गत करके बुद्धि को बढ़ावे—योगियों ने इसे योग की प्रथम भूमिका कहा है। दूसरी विचारणा है, तीसरी असङ्गभावना है, चौथी है विलापिनी जिसमें वासनायें लीन हो जाती हैं; पाँचवी है शुद्ध संवित् में स्थिति जिसको आनन्दरूपा कहते हैं। जागता या दिखाई देनेवाला आधा सोया हुआ जीवन्मुक्त इसी अवस्था में रहता है। छठी भूमिका है स्वसंवेदनरूपा जिसमें आत्मा का अनुभव हो)। यह स्थिति

आनन्द से भरपूर है और सुषुप्ति के सदृश है। यह वह शान्त तुर्या अवस्था है जो कि शुद्ध, सम, और सौम्य है, और जिसमें पहुँचने पर ही मुक्ति का अनुभव होता है। सातवीं भूमिका वह है जिसका अनुभव जीव को नहीं होता। वह निर्वाण स्वरूप वाली तुर्यातीत परम अवस्था है। पहिली तीन भूमिकाओं में जाग्रत् अवस्था रहती है। चौथी भूमिका में स्वप्न अवस्था—जैसा अनुभव होता है—इसमें स्थित जीव को जगत् स्वप्न के समान दिखाई पड़ता है। आनन्दमात्र से पूर्ण होने के कारण पाँचवीं भूमिका सुषुप्ति कहलाती है। और छठी असंवेदन रूप होने से (किसी दूसरे विषय का उसमें ज्ञान न होने से) तुर्या कहलाती है। सप्तमी भूमिका तुर्यातीत अवस्था है—उसमें आत्मा अपने ही प्रकाश में स्थित रहता है। वह मन और वचन से परे है।

(३) ज्ञानकी सात भूमिकाओं का तीसरा वर्णन :—

१—प्रथम भूमिका :—

अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान्। (६।१२६।४)
असारा वत संसारव्यवस्थालं ममैतया ॥ (६।१२६।५)
कथं विरागवान्भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम्।
एवं विचारणपरो यदा भवति सन्मतिः ॥ (६।१२६।७)
विरागमुपयात्यन्तर्भावनास्वनुवासरम् ।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥ (६।१२६।८)
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सति।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥ (६।१२६।९)
मनोऽनुद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते।
पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ (६।१२६।१०)
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ (६।१२६।११)
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते। (६।१२६।१२)
यतः कुतश्चिदानीय ज्ञानशास्त्राण्यवेक्षते ॥ (६।१२६।१३)

अनेक जन्मों के भुगत लेने पर मनुष्य में विवेक की उत्पत्ति होती है, और वह यह सोचने लगता है कि यह सब संसार असार है, मुझे इसकी जरा भी इच्छा नहीं है। इस प्रकार जब उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है और यह इच्छा होती है कि वह संसार-समुद्र से पार

हो जाए तब वह उत्तम बुद्धिवाला विचार में तत्पर होता है। विचार से दिन पर दिन अपनी वासनाओं से उसे वैराग्य होने लगता है, और वह दूसरों के उपकार रूप वाली, उदार क्रियायें करने लगता है, और उनके करने में आनन्द लेता है; ग्राम्य और कठोर चेष्टाओं से बचने का प्रयत्न करता है; किसी के चित्त को दुखी नहीं करता और शुभ कर्म करता है; जो दूसरों के मनको उद्विग्न न करें ऐसे मृदुल कर्म करता है; पापसे डरता है और भोगों की उपेक्षा करता है; मीठे और प्रेम से भरे हुए, उचित और चातुर्यपूर्ण, देश और काल के अनुरूप वचन बोलता है, मन, वचन और कर्म से सज्जनों की सेवा करता है। इधर उधर से लाकर ज्ञान शास्त्रों का अध्ययन करता है। (प्रथम विवरण में पहिली भूमिका का नाम शुभेच्छा दिया गया है। दूसरे और तीसरे में कोई नाम नहीं दिया गया)।

१—दूसरी भूमिका:—

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणाम् ।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्श्रयते श्रेष्ठपण्डितान् ॥ (६/१।१२६।१५)
पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम् ।
जानात्यधिगतश्रव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ (६/१।१२६।१६)
मदाभिमानमात्सर्यमोहलोभातिशायिताम् ।
बहिरप्याश्रितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ (६/१।१२६।१७)
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवनात् ।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ (६/१।१२६।१८)

तब, वह ऐसे श्रेष्ठ पण्डितों की शरण में जाता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान आदि की अच्छी व्याख्या कर सकते हों। जैसे गृहस्थ अपने घर के कामों को अच्छी तरह जानता है वैसे ही वह भी शास्त्रों को सुनकर और पढ़कर पदार्थों का विभाग और कार्य और अकार्य का निर्णय जान जाता है। जैसे साँप अपनी बाहर वाली खालको धारण किये हुए भी उसको धीरे-धीरे अलग करता रहता है वैसे ही वह भी मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह, लोभ और आतिशयिता (ज्यादती) को बाहर से धारण किए हुए भी धीरे-धीरे त्याग करता रहता है। इस प्रकार की बुद्धिवाला पुरुष शास्त्र, गुरु और सज्जनों को सेवन करके सारे ज्ञान के रहस्य को प्राप्त कर लेता है। (प्रथम और द्वितीय वर्णन में दूसरी भूमिका का नाम विचारणा दिया गया है)।

(३) तीसरी भूमिका :—

यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम् ।
तापसाश्रमविश्रामैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥ (६।१२६।२०)
संसारनिन्दकैस्तद्वद्वैराग्यकरणक्रमैः ।
शिलाशय्यासमासीनो नयत्यायुरातताम् ॥ (६।१२६।२१)
वनवासविहारेण चित्तोपशमशोभिना ।
असङ्गसुखसौम्येन कालं नयति नीतिमान् ॥ (६।१२६।२२)
द्विविधोऽयमसंसङ्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च । (६।१२६।२५)

तब वह शास्त्रों के वाक्यों में अपनी बुद्धि को स्थापित करके, तपस्वियों के आश्रमों पर आध्यात्मिक उपदेश सुनकर, पत्थर के आसनों पर बैठकर, संसार का दोष दर्शन करानेवाले और वैराग्य उत्पन्न कराने वाले विचारों में अपनी आयु को बिताता है। वह, नीति के अनुसार चलने वाला, असंसक्ति का शान्त सुख भोगता है। असङ्ग दो प्रकार का होता है—एक सामान्य असङ्ग, दूसरा श्रेष्ठ असङ्ग।

(अ) सामान्य असङ्ग :—

प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव च ॥ (६।१२६।२६)
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ।
भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः ॥ (६।१२६।२७)
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियः ।
कालः कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम् ॥ (६।१२६।२८)
अनास्थयेति भावानां यद्भावनमान्तरम् ।
वाक्यार्थलब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥ (६।१२६।२९)

मैं सुख और दुःख का कर्ता कैसे हो सकता हूं? सुख दुःख तो पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ईश्वर के आधीन हैं; सब भोगों के भोग महारोग हैं और सब सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ हैं; सब संयोग वियोग हैं और बुद्धि की सब व्याधियाँ मानसिक रोग हैं, सब भावों को खाने के लिये काल सदा ही तत्पर रहता है—इस प्रकार सोचकर जब मन में वस्तुओं के प्रति अनास्था का भाव उदय हो जाता है तो उसे सामान्य असङ्ग कहते हैं।

(आ) श्रेष्ठ असङ्ग :—

अनेकक्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् ।
वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम् ॥ (६।१२६।३०)
पौरुषेण प्रयत्नेन संततभ्यासयोगतः ।
करामलकवद्वस्तुन्यागते स्फुटतां दृढम् ॥ (६।१२६।३१)
संसाराम्बुनिधेः पारे सारे परमकारणे ।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥ (६।१२६।३२)
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥ (६।१२६।३३)

योग के नाना कर्मों से, महात्माओं के सत्सङ्ग से, दुर्जनों से दूर रहने से, आत्मज्ञान के आन्तर प्रयोग से, पुरुषार्थ से, नित्यप्रति अभ्यास योग से, जब तत्त्व का हस्तामलकवत् (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो जाए और संसारसमुद्र का पार परम कारण और सार वस्तु मिल जाए, तब इस प्रकार का दृढ़ निश्चय हो जाना कि मैं कर्ता नहीं हूँ कर्ता या तो ईश्वर है या मेरे प्रकृतिजन्य कर्म, और शब्द और अर्थों की भावना को त्याग कर मौन और शान्त रहना श्रेष्ठ असङ्ग कहलाता है।

(तीसरी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में तनुमानसा (असक्तता) और दूसरे में असङ्गभावना है)।

४—चौथी भूमिका :—

भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते ।
सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचन्द्रोदयोपमे ॥ (६।१२६।५८)
निर्विभागमनाद्यन्तं योगिनो युक्तचेतसः ।
समं सर्वं प्रपश्यन्ति चतुर्थी भूमिकामिताः ॥ (६।१२६।५९)
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकांश्चतुर्थी भूमिकामिताः ॥ (६।१२६।६०)

पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से अज्ञान के क्षीण हो जाने पर और पूर्ण चन्द्रमा के समान सम्यग्ज्ञान के उदय हो जाने पर, योगी लोग चतुर्थ भूमिका में प्रवेश करके युक्तचित्त होकर सब वस्तुओं को एक अनादि, अनन्त, अखण्ड और समरूप से देखते हैं। द्वैत के शान्त और अद्वैत के दृढ़ हो जाने से चौथी भूमिका में स्थित ज्ञानी संसार को

स्वप्न के समान देखने लगता है। (चौथी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में सत्वापत्ति और दूसरे में विलापिनी और स्वप्न है)।

५—पांचवीं भूमिका :—

सत्तावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः।
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् ॥ (६।१२६।६२)
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ।
गलितद्वैतनिर्भासमुदितोऽन्तः प्रबुद्धवान् ॥ (६।१२६।६३)
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकामितः।
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ॥ (६।१२६।६४)
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते।
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः ॥ (६।१२६।६५)

सुषुप्त पद नामक पाँचवीं भूमिका में पहुँचने पर योगी का अनुभव सत्तामात्र का ही रह जाता है। उसके लिये विशेषतायें सब क्षीण हो जाती हैं और उसकी स्थिति अद्वैतमात्र में रहती है। द्वैत का भान मिट जाता है; भीतर चान्दना हो जाता है। बाहर के काम करता हुआ भी पाँचवीं भूमिका में आया हुआ पुरुष अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति के कारण सुषुप्ति में लीन रहता है। इस भूमिका का अभ्यासी वासना रहित होकर अपनी परम शान्तता के कारण सोता हुआ सा दिखाई पड़ता है। (पाँचवीं भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में असंसक्ति और दूसरे वर्णन में आनन्दरूपा और सुषुप्ता है)।

६—छठी भूमिका :—

षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्क्रमति भूमिकाम्।
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ॥ (६।१२६।६६)
केवलं क्षीणमननमास्ते द्वैतैक्यनिर्गतः।
निर्ग्रन्थिः शान्तसन्देहो जीवन्मुक्तो विभावनः ॥ (६।१२६।६७)
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ (६।१२६।६८)
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
किञ्चिदेवैष सम्पन्नस्त्वथ वैष न किञ्चन ॥ (६।१२६।६९)

क्रम से अभ्यास करता हुआ योगी तुर्या नामक षष्ठी भूमिका में

प्रवेश करता है। उस अवस्था में उसे न सत् का अनुभव होता है न असत्-का, न अपनेपन का और न अनहंकार का। उस अवस्था में गया हुआ जीवन्मुक्त, भावना रहित, द्वैत से मुक्त और क्षीण मनवाला होता है; उसके सब सन्देह शान्त हो जाते हैं और मन की गाँठ खुल जाती है। चित्र के दीपक की नांई वह स्थिर रहता है। निर्वाण में प्रवेश न किये बिना भी उसके लिये निर्वाणसा ही है। जैसे आकाश के बीच में रक्खे घड़े के भीतर और बाहर शून्य ही शून्य है वैसे ही इस अवस्था को प्राप्त योगी को भी शून्यता का अनुभव होता है। जैसे समुद्र में रक्खे हुए पूर्ण घड़े के भीतर और बाहर पूर्णता का अनुभव होता है ऐसे ही इस भूमिका में गये हुये योगी को पूर्णता का अनुभव होता है। वह न कुछ हुआ है और न कुछ नहीं हुआ है। (षष्ठी भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में पदार्थाभावनी और दूसरे वर्णन में स्वसंवेदनरूपा और तुर्या है)।

७—सातवीं भूमिका :—

षष्ठ्यां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् ।
विदेहमुक्तता तूक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥ (६।१२६।७१)
अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा भवभूमिषु । (६।१२६।७१)
नित्यमव्यपदेश्यापि कथंचिदुपदिश्यते ॥ (६।१२६।७३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति ॥ (३।९।२५-४९)
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो नचाहं न च नेतरः ॥ (३।९।१९)

षष्ठी भूमिका को पार करके योगी सप्तमी भूमिका में आता है। सप्तमी योगभूमि विदेह मुक्ति कहलाती है। वह शान्त अवस्था सब भूमिकाओं की अन्तिम सीमा है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। नित्य ही अवर्णनीय होते हुए भी किसी न किसी रीति से उसका उपदेश किया ही जाता है। उसको मुक्ति कहते हैं, ब्रह्म कहते हैं; उस पूर्ण से भी पूर्ण अवस्था को निर्वाण भी कहते हैं। विदेह मुक्त न उदय होता है और न अस्त, न उसका अन्त होता है। न वह सत् है और न असत्; न वह दूर है; न वह मैं हूँ, न वह कोई दूसरा है। सातवीं भूमिका का नाम प्रथम वर्णन में तुर्यगा और दूसरे वर्णन में तुर्यातीता है)।

विचार करके देखने से पाठकों को मालूम पड़ जायेगा कि दूसरे और तीसरे वर्णनों में विशेष भेद नहीं है। प्रथम और पिछले दो में थोड़ा सा भेद है और वह यह है कि प्रथम वर्णन के अनुसार मुक्ति सब भूमिकाओं से परे है; दूसरे और तीसरे वर्णन के अनुसार मुक्ति भी एक भूमिका है। वास्तव में योगवासिष्ठ के अनुसार बन्धन और मुक्ति दोनों ही मिथ्या कल्पनायें हैं। इसलिये मुक्ति का सातवीं भूमिका होना ठीक ही जान पड़ता है।

२६—कर्म बन्धन से छुटकारा

प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मों का बुरा या भला फल अवश्य ही पाता है—यह सृष्टि का एक अटल नियम है। किये हुए कर्मों का फल पाने के लिये ही जीव को एक जन्म से दूसरे जन्म में और एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति में जाना पड़ता है। यद्यपि प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, तो भी किये हुये कर्मों के फल भोगने में वह परतन्त्र सा ही है। उसे अवश्य ही अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। यदि ऐसा है तो फिर मुक्ति की सम्भावना कैसी? वर्त्तमान काल में हम अपने पूर्व काल में किये हुए कर्मों का फल भोग रहे हैं और जो कर्म अब कर रहे हैं उनका फल भविष्य में भोगना पड़ेगा। ऐसा कोई समय नहीं है जब कि हम कर्म न करते हों—इसलिये ऐसा समय कैसे हो सकता है जब कि हम अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जीवन धारण न करेंगे? योगवासिष्ठ के अनुसार हम इस नियम के रहते हुए भी कर्म-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। कैसे? यह यहाँ पर पाठकों के सामने वर्णन किया जाएगा।

(१) कर्मफल का अटल नियम :—

न स शैलो न तद्व्योम न सोऽब्धिश्च न विष्टपम्।
अस्ति यत्र फलं नास्ति कृतानामात्मकर्मणाम्॥ (३।९५।३३)
ऐहिकं प्राक्तनं वापि कर्म यद्रचितं स्फुरत्।
पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ (३।९५।३४)

संसार में ऐसा कोई स्थान—पहाड़, आकाश, समुद्र, स्वर्ग आदि-नहीं है जहाँ पर अपने किये हुए कर्मों का फल न मिलता हो। पूर्व जन्म में अथवा इस जन्म में जो भी कर्म किया गया है वह अवश्य ही (फल रूप में) प्रकट होता है। वह पुरुष का किया हुआ यत्न है; वह फल लाये बिना कभी नहीं रहता।

(२) कर्म का वास्तविक स्वरूप :—

क्रियास्पन्दो जगत्यस्मिन्कर्मेति कथितो बुधैः।
पूर्वं तस्य मनो देहं कर्मातश्चित्तमेव हि॥ (३।९५।३२)

मानसोऽयं समुन्मेषः कलाकलनरूपतः ।
एतत्तत्कर्मणां बीजं फलमस्यैव विद्यते ॥ (३।९५।२९)
कर्मबीजं मनःस्पन्दः कथ्यतेऽथानुभूयते ।
क्रियास्तु विविधास्तस्य शाखाश्चित्रफलास्तरोः ॥ (३।९६।११)

(कर्म केवल बाहर से दिखाई देनेवाली कर्मेन्द्रियों की क्रिया को ही नहीं कहते । कर्म का असली रूप भीतरी है—वह है मन की इच्छा) । जगत् में जिस क्रिया को कर्म कहा जाता है उसका सबसे प्रथम रूप मानसिक है । अतएव मन का स्पन्दन और कर्म एक ही हैं । कर्मों का बीज मन का कलनात्मक समुन्मेष (वासनात्मक स्पन्दन) है । इसी का फल प्राप्त होता है । सब कर्मों का बीज मन का स्पन्दन है । यह कहा भी जाता है और अनुभव में भी यही आता है । विविध प्रकार की क्रियायें जो नाना प्रकार के फल लाती हैं उसकी अनेक शाखायें हैं ।

(३) पुरुष (जीव) और कर्म में भेद नहीं है :—

कुसुमाशययोर्भेदो न यथा भिन्नयोरिह ।
तथैव कर्ममनसोर्भेदो नास्त्यविभिन्नयोः ॥ (३।९५।३१)
कल्पनात्मिकया कर्मशक्त्या विरहितं मनः ।
न सम्भवति लोकेऽस्मिन्गुणहीनो गुणी यथा ॥ (३।९६।६)
यथा वह्न्यौष्ण्ययोः सत्ता न सम्भवति भिन्नयोः ।
तथैव कर्ममनसोस्तथात्ममनसोरपि ॥ (३।९६।७)
मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशाहते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ (६।२८।६)
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ (६।२८।८)
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ (६।२८।१०)
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ (६।२८।२१)

जैसे फूल और उसके आशय में कोई भेद नहीं है वैसे ही कर्म और मन में कोई भेद नहीं है । दोनों अभिन्न हैं । जैसे कोई गुणी (गुणयुक्त) बिना गुण के नहीं रह सकता, वैसे ही कोई मन अपनी कल्पनात्मक कर्मशक्ति से रहित नहीं हो सकता । जैसे अग्नि और उसकी उष्णता

अलग नहीं रह सकतीं वैसे ही मन, कर्म और आत्मा अलग नहीं हैं। कल्पना के सिवाय पुरुष और कर्म में, आत्मा और संवित्स्पन्द में, कोई भेद नहीं है। कर्म ही पुरुष है और पुरुष ही कर्म है। ये दोनों इस प्रकार अभिन्न हैं जैसे बरफ और उसकी शीतलता। दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित् के स्पन्दन के ही पर्यायवाची शब्द हैं। कर्म आदि पृथक् स्थित नहीं हैं। जैसे बीज और अंकुर में, जल और तरङ्ग में भेद नहीं है वैसे ही पुरुष, कर्म और क्रिया में वास्तविक भेद नहीं है।

(४) उत्पत्ति (सृष्टि) से पहिले जीव के पूर्व कर्म नहीं होते :—

सर्गादिषु स्वयं भान्ति ब्रह्माद्या ये स्वयम्भुवः।
विज्ञप्तिमात्रदेहास्ते न तेषां जन्मकर्मणी ॥ (६।१४२।२४)
सर्गादौ प्राक्तनं कर्म विद्यते नेह कस्यचित्।
सर्गादौ सर्गरूपेण ब्रह्मैवेत्थं विजृम्भते ॥ (६।१४२।२६)
अकारणमुपायान्ति सर्वे जीवाः परात्पदात्। (६।१२४।४)
पश्चात्तेषां स्वकर्माणि कारणं सुखदुःखयोः ॥ (६।१२४।५)
यथा ब्रह्मादयो भान्ति सर्गादौ ब्रह्मरूपिणः।
भान्ति जीवास्तथान्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ (६।१४२।२७)
किन्तु ये ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुध्यन्ते सात्त्विकोद्भवाः।
अबोधा ये त्वचिद्भाख्यं बुद्ध्वा द्वैतमिदं स्वयम् ॥ (६।१४२।२८)
तेषामुत्तरकालं तत्कर्मभिर्जन्म दृश्यते।
स्वयमेव तथाभूतैस्तैरवस्तुत्वमाश्रितम् ॥ (६।१४२।२९)
यैस्तु न ब्रह्मणोऽन्यत्वं बुद्धं बोधमहात्मनि।
निरवद्यास्त एतेऽत्र ब्रह्मविष्णुहरादयः ॥ (६।१४२।३०)
न सम्भवति जीवस्य सर्गादौ कर्म कस्यचित्।
पश्चात्स्वकर्म निर्माय भुङ्क्ते कल्पनया चित् ॥ (६।१४२।३८)
सर्गे सर्गतया रूढे भवेत्प्राक्कर्मकल्पना।
पश्चाज्जीवा भ्रमन्तीमे कर्मपाशवशीकृताः ॥ (६।१४२।४१)
स्वप्नद्रष्टुर्दृश्यनृणामस्ति काल्पनिकं यथा।
न वास्तवं पूर्वकार्म जाग्रत्स्वप्ने तथा नृणाम् ॥ (६।१४३।१०)
यथा प्राक्कर्म पुंस्त्वे न स्वप्ने पुंसां न विद्यते।
तथा जाग्रत्स्वप्ननृणां भावानामपि नो तथा ॥ (६।१४३।११)

ब्रह्मणो हृदि सर्गोऽयं हृदि ते स्वप्नपूर्यथा।
कार्यकारणता तत्र तथास्तेऽभिहिता यथा॥ (६।१४३।२३)

सृष्टि के आदि में जो ब्रह्मा आदि अपने आप ही उदय होते हैं उनके शरीर ज्ञानमय हैं। उनका न कोई (पूर्व) जन्म है और न उनके कर्म। सृष्टि से पूर्व का किसी का कोई कर्म नहीं होता। सर्ग के आदि में ब्रह्म स्वयं सर्ग रूप से प्रकट होता है। परम ब्रह्म से सारे जीव बिना किसी कारण (पूर्व कर्म के) आप से आप ही उदय हो जाते हैं। उत्पन्न होने के पीछे उनके अपने कर्म उनके दुःख सुख का कारण हो जाते हैं। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में ब्रह्मरूपी ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं उसी प्रकार सैकड़ों और हज़ारों और जीव भी प्रकट होते हैं। उनमें से जो जीव अपने को ब्रह्म से अन्य समझते हैं और अज्ञान के कारण प्रकृति नामक द्वैत (दूसरे तत्त्व) को मानने लगते हैं, भविष्य में कर्मों के अनुसार उनका जन्म होता है, क्योंकि वे अपने और भूतों (तत्त्वों) के सम्बन्ध में असत्य धारणा कर लेते हैं। जो जीव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि—अपने को ब्रह्म से अन्य नहीं समझते वे आत्मज्ञान से अविचलित नहीं होते। सृष्टि के आदि में जीव का कोई कर्म नहीं होता, लेकिन पीछे कर्म की कल्पना करके जीव उसका फल भोगता है। सृष्टि के चालू हो जाने पर ही पूर्व कर्म की कल्पना की जाती है—उसके पीछे जीव अपने अपने कर्मों की जंजीरों में जकड़े हुए संसार में भ्रमण करते रहते हैं। स्वप्न देखने वाले के स्वप्न के मनुष्यों के पूर्व कर्म जैसे काल्पनिक हैं, वास्तविक नहीं हैं, वैसे ही जाग्रत्‌रूपी स्वप्न के जीवों के (सृष्टि से) पूर्व कर्म भी काल्पनिक ही हैं—वास्तविक नहीं हैं। जैसे स्वप्न में उत्पन्न हुए पुरुष के पूर्व कर्म नहीं होते वैसे ही जाग्रत्‌रूपी स्वप्न में प्रकट हुए जीवों के पूर्व कर्म नहीं होते। ब्रह्मा के हृदय के भीतर यह सृष्टि ऐसे ही है जैसे कि तेरे हृदय में स्वप्न का नगर। वहाँ पर भी कार्य और कारण का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि तेरे स्वप्न के भीतर।

(५) वासना ही जीव को कर्म के फल से बाँधती है :—

वासनामात्रसारत्वादज्ञस्य सफलाः क्रियाः।
सर्वा एवाफला ज्ञस्य वासनामात्रसंक्षयात्॥ (६।८७।१८)

सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव॥ (६।८७।१९)

ऋत्वन्तरे यथा याति विलयं पूर्वमार्तवम् ।
तथैव वासनानाशे नाशमेति क्रियाफलम् ॥ (६।८७।२०)
न स्वभावेन फलति यथा शरलता फलम् ।
क्रिया निर्वासना पुत्र फलं फलति नो तथा ॥ (६।८७।२१)

अज्ञानी को अपने सब कर्मों का फल इसलिये भुगतना पड़ता है कि उसके कर्मों का सार वासना है। वासना के क्षीण हो जाने से ज्ञानी को अपनी किसी क्रिया का फल नहीं भोगना पड़ता। वासना के अभाव से सब क्रियाएँ फल-रहित हो जाती हैं, चाहे वे अशुभ फल देनेवाली ही क्यों न हो - जैसे कि सींचे बिना लता सूख जाती है। जैसे ऋतु के पलट जाने पर क्रियाओं का फल क्षीण हो जाता है। जैसे बेंत का स्वभाव यह है कि उस पर फल नहीं आता वैसे ही वासना-रहित क्रिया भी फल नहीं लाती।

(६) कर्म के बन्धन से मुक्त होने की विधि :—

आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः संकल्पः कर्मकारणम् ।
संकल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ॥ (६।१२४।६)
कर्मकल्पनया संवित्स्वकर्मफलभागिनी ।
कर्मकल्पनयोन्मुक्ता न कर्मफलभागिनी ॥ (६।१४९।२३)
सर्वा हि वासनाभावे प्रयान्त्यफलतां क्रियाः ।
अशुभाः फलवन्त्योऽपि सेकाभावे लता इव ॥ (६।८७।१९)
समया स्वच्छया बुद्ध्या सततं निर्विकारया ।
यथा यत्क्रियते राम तददोषाय सर्वदा ॥ (६।१९७।७)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः ॥ (६।१९९।३३)
शुभाशुभाः क्रिया नित्यमकुर्वन्नपि दुर्मतिः ।
निमज्जत्येव संसारे परित्यक्तमनाः शठः ॥ (६।१९९।३४)

यो ह्यन्तस्थाया मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानस्तत्कर्तृत्व-शब्देनोच्यते ॥ (४।३८।२)

चेष्टावशात्तादवफलभोक्तृत्वं वासनानुरूपं स्पन्दते पुरुषः स्पन्दानुरूपं फल-मनुभवति । फलभोक्तृत्वं नाम कर्तृत्वादिति सिद्धान्तः ॥ (४।३८।३)

कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स्वर्गेऽपि नरकेऽपि वा ।
यादृग्वासनमेवास्यान्मनस्तदनुभूयते ॥ (४।३८।४)

तस्मादज्ञाततत्त्वानां पुंसां कुर्वतामकुर्वतां च कर्तृता नतु ज्ञाततत्त्वानामवासनत्वात् ॥ (४।३८।५)

ज्ञाततत्त्वो हि शिथिलीभूतवासनः कुर्वन्नपि फलं नानुसंदधाति । अथच स्पन्दमात्रं केवलं करोत्यसक्तबुद्धिः सम्प्राप्तमपि फलमात्मैवेदं सर्वमेव कर्मफलमनुभवति ॥ (४।३८।६)

मनो यत्करोति तत्कृतं भवति यन्न करोति तन्न कृतं भवति अतो मन एव कर्तृ न देहः ॥ (४।३८।७)

अकुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं शय्यासनगतोऽपि श्वभ्रपातवासनावासिते चेतसि श्वभ्रपतनदुःखमनुभवति । अपरस्तु कुर्वन्नपि श्वभ्रपतनं परमुपशममुपगतवति मनसि शय्यासनसुखमनुभवति । एवमनयोः शय्यासनश्वभ्रपातयोरेकः श्वभ्रपतनस्याकर्तापि कर्ता संपन्नो द्वितीयश्च श्वभ्रपतनस्य कर्ताप्यकर्ता सम्पन्नश्चित्तवशात्-तस्माद्यच्चित्तं तन्मयो भवति पुरुष इति सिद्धान्तः । तेन तत्र कर्तुरकर्तुर्वा नित्यमसंसक्तं भवतु चेतः ॥ (४।३८.१२-१३)

एवं मनः सर्वकर्मणां सर्वहितानां सर्वभावानां सर्वलोकानां सर्वगतीनां बीजं तस्मिन्परिहृते सर्वकर्माणि परिहृतानि भवन्ति सर्वदुःखानि क्षीयन्ते सर्वकर्माणि क्षयमुपयान्ति । मानसेनापि कर्मणा यत्कृतेनापि ज्ञो नाक्रम्यते न विवशीक्रियते न रज्जनामुपैत्यव्यतिरिक्तात् ॥ (४।३८।१६)

यथा बालो मनसा नगरस्य निर्माणं निर्मृष्टं च कुर्वन्नगरनिर्माणं मनःकृतमकृतमिव लीलयानुभवति नोपादेयतया सुखदुःखमकृत्रिममिति पश्यति नगरनिर्मथनं च मनःकृतं कृतमिति पश्यतीति दुःखमपि लीलयानुभवन्नपि न दुःखमिति पश्यति । एवमसौ परमार्थतः कुर्वन्नपि न लिप्यत एवेति ॥ (४।३८।१७)

शुभाशुभात्म कर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ (६।३।७)

अवेदनमसंवेद्यं यद्वासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं च कर्मत्याग उच्यते ॥ (६।३।२४)

समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ (६।३।२७)

इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्मविचारसक्ताम् ।

निर्वासनः सकलसंकलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेऽक्षमास्स्व ॥ (६।२८।३२)
ये त्वेव कर्मसंत्यागमकृत्वान्यत्प्रकुर्वते ।
अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ (६।३।३४)
कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः ।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वभ्येतु वोदयम् ॥ (६।३।३७)
गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याप्यरण्यानि विजना सजना पुरी ॥ (६।३।३८)

आत्मा के अज्ञान से ही कर्म के कारण सङ्कल्प का उदय होता है। सङ्कल्पयुक्त होने से ही बन्धन होता है; इसलिये सङ्कल्प का त्याग करो। कम की कल्पना से ही संवित् कर्मफल पाती है; कर्म की कल्पना से रहित संवित् कर्म का फल नहीं पाती। जैसे बिना पानी के दिये लता सूख जाती है वैसे ही अशुभ फल वाली क्रियाएँ भी वासना के अभाव से फल नहीं लातीं। सम, शुद्ध और विकार-रहित बुद्धि से जो कुछ भी किया जाता है वह कभी दोष नहीं लाता। असक्त मन वाला मुनि शुभ या अशुभ क्रियाओं को नित्य प्रति करता हुआ या त्यागता हुआ भी कभी संसार में नहीं पड़ता; और जिस मूर्ख ने मन से त्याग नहीं किया वह शुभ या अशुभ क्रियाओं को न करतां हुआ भी सदा संसार-समुद्र में डूबता ही रहता है। मनका इस प्रकार का निश्चय कि यह वस्तु प्राप्त करने योग्य है, और उसको प्राप्त करने की वासना कर्तृत्व (कर्तापन) कहलाते हैं। किसी विशेष फल की प्राप्ति की इच्छा से जब मनुष्य किसी क्रिया को करता है तो जैसा उसका प्रयत्न होता है उसके अनुसार वह फल पाता है। कार्य के कर्ता होने के कारण ही जीव उसका फल भोगने वाला होता है, यह सिद्धान्त है। चाहे कोई क्रिया करे या न करे तो भी जैसी-जैसी वासनाएँ होती हैं, स्वर्ग और नरक में वैसा-वैसा ही फल उसका मन अनुभव करता है। इसलिये अज्ञानी जीव चाहे कर्म करें या न करें तो भी वे कर्ता (कर्म करने वाले) हैं; और वासना-रहित होने से ज्ञानी जीव अकर्ता हैं चाहे वे कर्म करें या न करें। ज्ञानी वासनाओं के क्षीण हो जाने से कर्म को करके भी उसका फल नहीं भोगता। वह तो असक्त बुद्धि होकर क्रिया मात्र कर्म करता है (फल की वासना से नहीं); इसलिये फल की प्राप्ति होने पर भी इस भावना से कि आत्मा ही सब कुछ है कर्म के फल का अनुभव करता है। मन के

जो कर्म किया जाता है वही कर्म है और मन से जो कर्म नहीं किया जाता वह कर्म नहीं है। इसलिये कर्म का कर्ता मन ही है, शरीर नहीं। गड्ढेमें गिरने का भय (वासना) मन में होने पर चारपाई पर सोता हुआ और वास्तव में गड्ढे में न गिरता हुआ मनुष्य भी अपने मन के भीतर गड्ढे में गिरने का दुःख पाता है। दूसरा आदमी गड्ढे में गिरा हुआ भी अपने मन के शान्त होने के कारण अपने मन में चारपाई पर सोने के सुख का अनुभव करता है। एक चारपाई पर सोता हुआ गड्ढे में गिरने का दुःख भोगता है और दूसरा गड्ढे में गिरने पर भी चारपाई पर सोने का सुख भोगता है—एक अकर्ता भी कर्ता है और दूसरा कर्ता भी अकर्ता है; केवल चित्तके कारण। इसलिये जैसा जिसका मन वैसा ही वह पुरुष है—यह सिद्धान्त है। इसलिये कर्म करते हुए और न करते हुए सदा मन को असक्त रखना चाहिये। इसलिये मन ही सब कर्मों का, सब इच्छाओं का, सब भावों का, सब लोकों का, सब गतियों का बीज है। उसके त्याग देने पर सब कर्मों का त्याग हो जाता है, सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और सब कर्म लय हो जाते हैं। ज्ञानी लोग तो मानसिक कर्म से भी आक्रान्त नहीं होते; न उसके वश में होते हैं और न उसके रङ्ग में ही रँगे जाते हैं, क्योंकि वे उससे असक्त रहते हैं। जैसे जब कोई बालक कल्पना द्वारा नगर को बनाता और बिगाड़ता है तब नगर को कल्पना से रचते हुए वह वास्तविक रचना न करते हुए भी लीला से मानसिक रचना का अनुभव करता है। यदि वह बुरा भला बन गया तो उसे वास्तव में दुःख सुख होता है। यदि उसका नगर गिर जाता है, तो मानसिक रचना को वास्तविक रचना समझने से, उसको वास्तविक दुःख न होते हुए भी, दुःख होता है। इसलिये वास्तव में कर्म करनेवाला भी कर्म में लिप्त नहीं होता और न करनेवाला लिप्त हो जाता है। विवेक द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करना चाहिये—यह तब हो सकता है जब कि ज्ञान द्वारा यह निश्चय दृढ़ हो जाए कि कर्म कुछ है ही नहीं। बिना किसी दृश्य की ओर प्रवृत्ति के, बिना वासना के, और बिना किसी कल्पना के शान्त होकर स्थित रहने का नाम कर्मत्याग है। जो कर्म को जड़ सहित त्याग कर शान्ति प्राप्त कर चुके हैं उनके लिये (कर्म) किया या करना और न करना एकसा ही है; करने से उन्हें कुछ नहीं

मिलता, न करने से उनका कुछ नहीं जाता। इसलिये इस निश्चय को दृढ़ करके, कर्म-विचार की शङ्का को छोड़कर, सब कल्पनाओं और इच्छाओं का त्याग करके, शुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर रहो। जो लोग इस प्रकार के सच्चे कर्मत्याग को न करके अत्यागरूपी कर्मत्याग करते हैं (अर्थात् बाह्य क्रियाओं का तो त्याग कर देते हैं किन्तु भीतर की वासनाओं का त्याग नहीं करते) वे आकाश को मारने का प्रयत्न करते हैं। जो ज्ञान द्वारा कर्मत्याग में स्थित हो गया है और वासनारहित जीवन्मुक्त है, वह चाहे घर में रहे चाहे वन में, चाहे शान्त हो जाए चाहे उन्नति कर ले; उसके लिये सब एकसा है। उपशान्त व्यक्ति के लिये तो घर ही दूरवर्त्ती निर्जन वन के समान है और अशान्त पुरुष के लिये निर्जन वन भी मनुष्यों से भरी हुई नगरी के समान है।

(७) कर्मयोगः—

अलब्धज्ञानदृष्टीनां क्रिया पुत्र परायणम्।
यस्य नास्त्यम्बरं पट्टं कम्बलं किं त्यजत्यसौ॥ (६।८७।१७)

बहुनात्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते।
संकल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता॥ (६।१।२७)

नेह कार्यं न वाकार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित्।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्॥ (६।१।२८)

सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत्।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम्॥ (६।१।१६)

यथाप्राप्तं हि कर्तव्यमसक्तेन सदा सता।
मुकुरेणाकलङ्केन प्रतिबिम्बक्रिया यथा॥ (३।८८।११)

एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम्।
यद्वासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता॥ (६।१।२४)

प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित्।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते॥ (६।३७।३१)

अज्ञस्तु दितचित्तत्वात्क्रियानियमनं विना।
गच्छन्न्यायेन मात्स्येन परं दुःखं प्रयाति हि॥ (६।६९।९)

प्राज्ञास्त्विष्टेष्वनिष्टेषु न निमज्जन्ति वस्तुषु।
यतेन्द्रियत्वाद्बुद्धत्वान्निर्वासनतया तथा॥ (६।६९।१०)

न निन्द्यमस्ति नानिन्द्यं नोपादेयं न हेयता।
न चात्मीयं न च परं कर्मज्ञविषयं क्वचित् ॥ (६।६९।१३)

महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ।
सर्वाः शङ्काः परित्यज्य धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ॥ (६।११५।१)

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले।
[illegible] करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१२)

न किञ्चन द्वेष्टि न किञ्चिदभिकाङ्क्षति।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२१)

सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः।
धिया येन परित्यक्ता महात्यागी स उच्यते ॥ (६।११५।३४)

[illegible] संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१८)

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्।
अन्तः सर्वपरित्यागी लोके विहर राघव ॥ (५।१८।१९)

अन्तर्नैराश्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः।
बहिस्तप्तोऽन्तरा शीतो लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२१)

बहिः कृत्रिमसंरम्भी हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर राघव ॥ (५।१८।२२)

बहिर्लोकोचिताचारस्त्वन्तराचारवर्जितः।
[illegible] [illegible] तिष्ठ त्वं संशान्तसकलैषणः ॥ (४।१५।४४)

सर्वैषणाविमुक्तेन स्वात्मनात्मनि तिष्ठता।
कुरु कर्माणि कार्याणि नूनं देहस्य संस्थितिः ॥ (४।१५।४५)

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्याऽवलम्ब्य च।
सबाह्याभ्यन्तरं [illegible] मा गृहाण विमुञ्च [illegible] ॥ (४।४६।१४)

अत्यन्तविरतः स्वस्थः सर्ववासविवर्जितः।
व्योमवत्तिष्ठ नीरागो राम कार्यपरोऽपि सन् ॥ (४।४६।१५)

यथैव कर्मकरणे कामना नास्ति धीमताम्।
तथैव कर्मसंत्यागे कामना नास्ति धीमताम् ॥ (३।८८।१२)

अतः सुषुप्तोपमया धिया निष्कामया तया।
सुषुप्तबुद्धसमया कुरु [illegible] यथागतम् ॥ (३।८८।१३)

गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः।
स्पन्दो विगतसंकल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६।१।१५)

स्पन्दस्वाकृतसंकल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ (६।१।१७)
रसभावनमन्तस्ते मास्तं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ (६।१।१८)
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः । (६।१।१९)
चिदानन्दरसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ॥ (६।१।२१)
अवासनमसंकल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ (६।१।२५)

जिसको अभीतक ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है उसे कर्म पर ही निर्भर रहना चाहिये—जैसे जिसे रेशम की बढ़िया चादर की प्राप्ति नहीं हुई उसे अपना कम्बल नहीं फेंक देना चाहिये। बहुत कहने की जरूरत नहीं है—संक्षेप से यह बताता हूँ कि सङ्कल्प ही मन को बांधनेवाला है और संकल्प के अभाव से मुक्ति होती है। न मनुष्य को कुछ करना है और न कुछ नहीं करना है; सब कुछ अज, अनन्त और शान्त शिव ही है; वही हो जाओ। सब कामों के फलरूपी मल को सुप्त पुरुष की नाई भूलकर, वेदनारहित होकर, जैसा अवसर पड़े वैसी क्रिया करते रहो। जिस प्रकार शुद्ध शीशे के भीतर प्रतिबिम्ब पड़ने की क्रिया आप से आप होती रहती है वैसे ही असक्त रहकर यथाप्राप्त कामों को सदा करते रहना चाहिये। जन्म के दुःखों को सदा दूर करनेवाला यह बहुत अच्छा धैर्य है कि अपने कामों को वासनारहित होकर करने का अभ्यास रक्खे। आत्मज्ञानी के लिये कोई विधि (यह करना चाहिये) और निषेध (यह नहीं करना चाहिये) नहीं है। जिसकी सब इच्छाएँ शान्त हो गई हैं उसे कौन और क्यों कुछ करने की आज्ञा देगा ? अज्ञानी व्यक्ति, जिसने विषयों की ओर चित्त प्रवृत्त कर रक्खा है, क्रिया के भले बुरे जाने बिना उसको करता हुआ, मछली की नाईं बहुत दुःख पाता है। ज्ञानी लोग जितेन्द्रिय होने के कारण, तत्त्वज्ञानी होने के कारण और वासनारहित होने के कारण इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं के चक्कर में नहीं पड़ते। उनके लिये तो न कोई कर्म बुरा है और न कोई भला; न त्याज्य है और न कार्य; न अपना है और न दूसरे का। हे पापरहित राम ! तुमको महा कर्ता, महा भोक्ता और महा त्यागी बनना चाहिये; सब शङ्काओं को त्यागकर अनन्त धैर्य को धारण करो। महा कर्ता वह है जो रागद्वेष, सुख

दुःख, धर्म और अधर्म, सफलता और विफलता आदि सबका भोग अनपेक्ष भाव से करता है। महा भोक्ता वह है जो न किसी वस्तु को चाहता है और न किसी वस्तु से द्वेष करता है, बल्कि सबका स्वाभाविक रीति से उपभोग करता है। महा त्यागी उसे कहते हैं जिसने अपने मन के भीतर से बुद्धिपूर्वक सब इच्छाओं, तृष्णाओं, निश्चयों और शङ्काओं को दूर कर दिया है। हे राम! बाहर से सब काम करते हुए, मन के भीतर आशा, राग और वासना से रहित होकर संसार में विचरण करो! बाहर से तो उदार और मनोहर आचरणवाले और सब प्रकार के सदाचारों के अनुसार क्रिया करनेवाले, लेकिन भीतर से सबको त्याग किये हुए रहकर, संसार में विचरण करो। बाहर से सब प्रकार की आशाओं से पूर्ण, लेकिन भीतर कोई आशा न रख कर, बाहर तप्त और अन्दर शीतल रह कर संसार में विचरण करो। बाहर से सब प्रकार की क्रियाओं का सम्पादन करते हुए, अन्दर से कोई क्रिया न करते हुए, बाहरी तौर पर कर्ता और भीतर से अकर्ता बने रह कर संसार में विचरण करो। बाहर से लोकोचित आचार के अनुसार क्रिया करते हुए अन्दर किसी आचार विचार के बन्धन में न पड़ते हुए, अत्यन्त सम हो कर और सब वासनाओं को शान्त कर के रहना चाहिये। जबतक शरीर कायम है तब तक करने योग्य कर्मों को सब इच्छाओं का त्याग कर के और आत्मभाव में स्थित हो कर करते ही रहना चाहिये। सत् और असत् के मध्य में अपनी स्थिति कर के, और उस स्थिति का आश्रय ले कर, बाहर और भीतर के दृश्य को न प्राप्त करने की इच्छा करो न त्याग करने की। हे राम कामों को करते हुए भी रागरहित, अत्यन्त विरत, आत्मा में स्थित और वासनाओं से रहित हो कर अपने मन को आकाश के समान शून्य रक्खो। बुद्धिमान् लोगों में जैसे कर्म करने की कामना नहीं होती, वैसे ही कर्म त्यागने की भी कामना नहीं होती। इसलिये निष्काम बुद्धि से सोते हुए पुरुष की नाईं यथा प्राप्त कामों को जरूर करो। जैसे किसी विशेष स्थान को जाने वाले पथिक के पैर बिना किसी सङ्कल्प के ही उस स्थान की ओर पड़ते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सङ्कल्प रहित हो कर यथोचित क्रिया करते रहो। बिना किसी सङ्कल्प के, सुख दुःख की भावना न करते हुए, यथा प्राप्त कामों को ऐसे करते रहो जैसे तृण अपनी इच्छा न रहते हुए भी इधर से उधर उड़ता रहता है। जैसे लकड़ी की मशीन, अपने आप कुछ रस न लेते हुए भी,

दूसरों के लिये क्रिया करती है, वैसे ही (लोकोपकार के लिये) काम करते हुए तुम्हारे मन के भीतर उसका स्वाद नहीं आना चाहिये। तुम्हारी इन्द्रियों की सभी वृत्तियाँ नीरस हो जानी चाहियें—बाहर की ओर प्रवृत्त होते हुए भी उनमें चिदानन्द का ही रस होना चाहिये। जैसे चक्र शनैः शनैः घूमता रहता है वैसे ही तुम भी यथा प्राप्त क्रियाओं को सङ्कल्प और वासनाओं से रहित होकर करते ही रहो।

(८) आर्य का लक्षण :—

> कर्तव्यमाचरन्काममकर्तव्यमनाचरन् ।
> तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५४)
>
> यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम् ।
> व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥ (६।१२६।५५)

कर्त्तव्य को करता हुआ और अकर्त्तव्य को न करता हुआ जो स्वाभाविक रीति से काम करता रहता है उसे आर्य कहते हैं। जो व्यक्ति शास्त्र, सदाचार, परिस्थिति और अपने चित्त के अनुसार व्यवहार करता रहता है उसे आर्य कहते हैं।

———

RRana

२७—आत्मा का अनुभव

आत्मज्ञान की और उसके अभ्यास की पराकाष्ठा आत्मानुभव में होती है। विचार और अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर आत्मा का अनुभव उदय हो जाता है। वह अनुभव एक विचित्र अनुभव है—जिसकी उपमा किसी दूसरे अनुभव से नहीं दी जा सकती। उसका वर्णन भी करना कठिन है। उसको वही जानता है जिसको वह अनुभव होता है। यहाँ पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार आत्मानुभव से पाठकों को परिचित कराना चाहते हैं।

(१) आत्मानुभव के उदय होने के [illegible] :—

जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ।
मननं त्यजतो ज्ञात्वा किञ्चित्परिणतात्मनः ॥ (४।२२।१)

दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ।
द्रष्टारं पश्यतो दृश्यमद्रष्टारमपश्यतः ॥ (४।२२।२)

जागर्तव्ये [illegible] तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ।
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि ॥ (४।२२।३)

पर्यन्तात्यन्तवैराग्यात्सरसेष्वरसेष्वपि ।
भोगेष्वाभोगरम्येषु विरक्तस्य निराशिषः ॥ (४।२२।४)

संसारवासनाजाले [illegible] इवाखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥ (४।२२।७)

[illegible] फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति ॥ (४।२२।८)

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥ (४।२२।९)

शान्ते संदेहदौरात्म्ये गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥ (४।२२।१०)

जनितोत्तमसौन्दर्या दूरादस्तमयोन्नता ।
[illegible] [illegible] [illegible] वात इवार्णवे ॥ (४।२२।११)

अन्धकारमयी मूका जाड्यजर्जरितान्तरा ।
तनुत्वमेति संसारवासनेवोदये क्षपा ॥ (४।२२।१२)
दृष्टचिद्भास्करा प्रज्ञा पद्मिनी पुण्यपल्लवा ।
विकसत्यमलोद्योता प्रातर्द्यौरिव रूपिणी ॥ (४।२२।१३)
प्रज्ञा हृदयहारिण्यो भुवनाह्लादनक्षमाः ।
सत्वलब्धाः प्रवर्धन्ते सकलेन्दोरिवांशवः ॥ (४।२२।१४)
तरङ्गवदिमे लोकाः प्रयान्त्यायान्ति चेतसः ।
क्रोडीकुर्वन्ति चाज्ञं ते न ज्ञं मरणजन्मनी ॥ (४।२२।१८)
विवेक उदिते क्षीते मिथ्या भ्रममरूदिता ।
क्षीयते वासना साग्रे मृगतृष्णा मराविव ॥ (४।२२।२१)

जैसे कतक (एक फल का नाम है) को पानी में डालते ही पानी निर्मल हो जाता है वैसे ही पक्षियों के जाल के चूहे द्वारा कट जाने की नाईं, वैराग्य से संसार की वासनाओं के जाल के कट जाने पर, और हृदय की ग्रन्थियों के ढीला होकर खुल जाने पर, ज्ञान के कारण उस व्यक्ति के भीतर आत्मा का प्रकाश हो जाता है जो विचार कर चुका है; जिसके चित्त की वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं; जिसने मन को कल्पना शक्ति का त्याग कर दिया है और उसे आत्मा में परिणत कर लिया है; जिसने दृश्य को त्याग दिया है और हेयत्व और उपादेयत्व बुद्धि को छोड़ दिया है; जिसकी दृष्टि अद्रष्टा दृश्य की ओर न जाकर द्रष्टा आत्मा की ओर ही जाती है; जो परम तत्त्व में, जिसमें कि जागना चाहिये, जागने का यत्न कर रहा है, और गहन अन्धकार वाले संसार मार्ग में सो गया है; जो सरस भोग्य पदार्थों के प्रति भी वैराग्य द्वारा नीरसता प्राप्त करके विरक्त हो चुका है; और जो आशा-रहित हो गया है। जैसे पिञ्जरे से पक्षी बाहर निकल भागता है वैसे ही राग-रहित, द्वन्द्व-रहित और (बाहर के) आश्रय-रहित मन मोह से बाहर निकल जाता है। सन्देह, कौतुक और भ्रम के शान्त हो जाने पर परिपूर्ण होकर मन पूर्ण चन्द्रमा के समान विराजता है। जैसे हवा के बन्द हो जाने पर समुद्र शान्त हो जाता है वैसे ही (आत्मानुभव प्राप्त हो जाने पर) उस समता का अनुभव होता है जिसमें उदय और अस्त नहीं है और जो उत्तम सौन्दर्य को उत्पादन करने वाली है। जैसे सूर्य के उदय होने पर सुनसान और अन्धेरी रात्री क्षीण हो जाती है वैसे ही जड़ता से जर्जरित वासना क्षीण हो जाती है। जैसे प्रातःकाल में सुन्दर पंखड़ियोंवाली

कमल सूर्य को देख कर खिल उठता है वैसे ही आत्मा की ओर दृष्टि-वाली शुद्ध प्रज्ञा का उदय होता है। जैसे पूर्ण चन्द्रमा से किरणें फैलती हैं वैसे ही हृदय को मोहनेवाले, संसार को प्रसन्न करनेवाले, सत्त्व को प्राप्त ज्ञानों का उदय होता है। तरङ्ग के समान आने और जाने वाले ये लोक और जन्म-मरण अज्ञानी को ही अपनी गोद में लेते हैं (वश में करते हैं), ज्ञानी इनसे बच जाता है। जैसे शीतकाल के आने पर मरुस्थल में मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुई मृगतृष्णा की नदी देखते ही देखते ग़ायब हो जाती है, वैसे ही विवेक के उदय हो जाने पर मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न हुई वासना भी क्षीण हो जाती है।

(२) आत्मा का अनुभव :—

> अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये हि या स्थितिः।
> निरस्तमनना यासौ स्वरूपस्थितिरुच्यते॥ (३।११७।८)
> संशान्तसर्वसङ्कल्पा या शिलान्तरिव स्थितिः।
> जाड्यनिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः स्मृता॥ (३।११७।९)
> अहंतांशे क्षते शान्ते भेदे निस्पन्दतां गते।
> अजडा या प्रकचति तत्स्वरूपमिति स्थितम्॥ (३।११७।१०)

चित्त के एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होने के मध्य की जो मानसिक क्रिया रहित स्थिति है वह आत्मस्वरूप की स्थिति है। शिला के भीतर के समान, सब सङ्कल्पों के क्षीण हो जाने पर जड़ता और निद्रा से रहित जो अपने भीतर का अनुभव है वह स्वरूप में स्थित होना है। अहंभाव के शान्त हो जाने पर, भेद का अनुभव न रहने पर, और स्पन्दहीन हो जाने पर, जो अजड़ अनुभव होता है वह अपने स्वरूप का अनुभव है।

(३) आत्मा के अनुभव का वर्णन नहीं हो सकता :—

> अहंकारे परिक्षीणे यावस्था सुसमोदया।
> सावस्था भरिताकारा सा सेव्या मोक्षकाङ्क्षिणा॥ (६।६४।४७)
> परिपूर्णार्णवप्रख्या न वाग्गोचरमेति सा।
> नोपमानमुपादत्ते नानुधावति सा कृतम्॥ (६।६४।४८)
> केवलं चित्प्रकाशांशकलिका स्थिरतां गता।
> तुर्या चेत्प्राप्यते दृष्टिस्तत्त्वा सोपमीयते॥ (६।६४।४९)

अदूरगतसादृश्यात्सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
सावस्था भरिताकारा गगनश्रीरिवातता ॥ (५।६४।५०)
मनोहंकारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ।
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ॥ (५।६४।५१)
सा स्वयं योगसंसिद्धा सुषुप्ताद्दूरभाविनी ।
न गम्या वचसां राम हृद्येवेहानुभूयते ॥ (५।६४।५२)
अनुभूतिं विना तत्त्वं खण्डादेर्नानुभूयते ।
अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते ॥ (५।६४।५३)
आत्मज्ञानविदो यान्ति यां गतिं गतिकोविदाः ।
पण्डितास्तत्र शक्रश्रीर्जरत्तृणलवायते ॥ (६।१४३।२)
पाताले भूतले स्वर्गे सुखमैश्वर्यमेव वा ।
न तत्पश्यामि यन्नाम पाण्डित्यादतिरिच्यते ॥ (६।१४३।३)

अहंकार के क्षीण हो जाने पर जो सुख और प्रसन्नता देने वाली परिपूर्ण रूपवाली अवस्था उदय होती है उसमें स्थित रहने का प्रयत्न करना चाहिये। ऊपर तक भरे हुए समुद्र के समान वह परिपूर्ण अवस्था शब्दों द्वारा वर्णन नहीं की जा सकती। न उसका कोई वर्णन हो सकता है, और न उसकी कोई उपमा ही दी जा सकती है। चित्त के प्रकाश का एक अंशमात्र जो तुर्य्या अवस्था है यदि वह स्थिर हो जाए तो आत्मानुभव से उसकी कुछ उपमा दी जा सकती है। उस आकाश के समान विस्तृत और परिपूर्ण अवस्था की कुछ कुछ (बहुत कम) उपमा सुषुप्ति से भी दी जा सकती है। मन और अहंकार के लीन हो जाने पर जो परम आनन्दवाली और परमेश्वर के रूपवाली अवस्था, जो कि सब पदार्थों के भीतर स्थित है, और जो अपने आप किये हुए योग से ही सिद्ध होती है, अनुभव में आती है वह सुषुप्ति से बहुत भिन्न है। उसका अनुभव केवल अपने भीतर ही हो सकता है- शब्दों द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे बिना अनुभव किये मिठाई का स्वाद नहीं मालूम होता उसी प्रकार बिना अपने अनुभव के आत्मा का स्वरूप नहीं मालूम पड़ता। आत्मा का अनुभव जिनको हो गया है वे ज्ञानी जिस गति को प्राप्त होते हैं उसके सामने इन्द्र की लक्ष्मी भी तृण के समान तुच्छ है। पाताल, भूतल और स्वर्ग में कहीं भी वह सुख और ऐश्वर्य दिखाई नहीं पड़ता जो आत्मज्ञान से बढ़ कर हो।

(४) आत्मानुभव में मन का अस्तित्व नहीं रहता :—

अविद्यत्वादचित्तत्वान्मायात्वाच्चासदेव हि।
ध्रुवं नास्त्येव वा चित्तं भ्रमादन्यत्खवृक्षवत् ॥ (५।८१।३)
चक्रारोहभ्रमस्यान्ते पर्वतस्पन्दनं यथा।
मौर्ख्यमोहभ्रमे शान्ते चित्तं नोपलभामहे ॥ (५।८१।५)
मृतं चित्तं गता तृष्णा प्रक्षीणो मोहपञ्जरः।
निरहंकारता जाता जाग्रत्यस्मिन्प्रबुद्धवान् ॥ (५।८१।९)
परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते।
बोधोऽप्यसङ्गवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ (६।४६।१)
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत्।
परमार्थदृशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ (६।४६।२)
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽसर्वात्मिका सती ॥ (६।४६।४)
सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ (६।४६।५)
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलैषणम्।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ (६।४६।६)
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम्।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ (६।४६।८)

विद्यमान न होने के कारण, असत्य होने के कारण, मायामय होने के कारण, मन आकाश-वृक्ष की नाईं भ्रम के सिवाय कुछ भी सत् पदार्थ नहीं है। जैसे चक्रारोह भ्रम (घूमते हुए यन्त्र पर चढ़ने से जो चारों ओर की वस्तुएँ घूमती हुई दिखाई पड़ने लगती हैं उस भ्रम) के अन्त हो जाने पर जैसे पर्वतों का घूमना बन्द हो जाता है, वैसे ही अज्ञान और मोह के भ्रम के शान्त हो जाने पर चित्त (मन) का अनुभव नहीं रहता। ज्ञानी के आत्मभाव में जाग्रत हो जाने पर मन मर जाता है, तृष्णा भाग जाती है, मोह क्षीण हो जाता है और अहङ्कार विलीन हो जाता है। परमार्थ का ज्ञान हो जाने पर, और मुक्ति में परिणति हो जाने पर, मन रूपी सच्चा मृग भी असत् हो जाता है; जैसे जिस दीप का तेल खतम हो गया है वह बुझ जाता है, वैसे ही आत्मानुभव हो जाने पर मन की चञ्चलता कहीं चली जाती है और अनन्त प्रकाशवाली

परमार्थ दशा ही बाक़ी रह जाती है; मन की मनस्ता (चित्तपना, चञ्चलता और सङ्कल्प-विकल्पात्मकता) कहीं चली जाती है, और वह शुद्ध बोध ही शेष रह जाता है जो बोधरहित, विभागरहित, सब कुछ, सूक्ष्म और परमार्थ वस्तु है। विवेक के उदय हो जाने पर चित्तसत्ता ही शुद्ध बोध में परिणत हो जाती है, और अनादि और अनन्त शुद्ध प्रकाश का अनुभव देने लगती है। तब आप से आप ही उसके स्थान पर अनादि, अनन्त और अनायास ध्यान ही, जिसमें सब वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं, शेष रह जाता है। परमार्थ की एकता का अनुभव हो जाने पर न जाने कहाँ मन चला जाता है, कहाँ वासना, कहाँ कर्म, और कहाँ हर्ष और शोक का अनुभव?

(५) एक बार जाकर अविद्या फिर नहीं लौटती :—

क्षीणे स्वहृदयग्रन्थौ न बन्धोऽस्ति पुनर्गुणैः।
यत्नेनापि पुनर्बद्धं केन वृन्ते च्युतं फलम्॥ (५।७४।७९)
परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्॥ (५।७४।८३)
एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः।
न शक्यते चालयितुं देवैरपि सवासवैः॥ (४।७४।८४)
अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति।
मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नावकर्षति॥ (९।७४।२०)
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि।
सा परिक्षीयते भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः॥ (५।६४।१३)

जैसे एक बार वृक्ष से गिरा हुआ फल यत्न से भी उस पर नहीं लगाया जा सकता, वैसे ही एक बार हृदय की गांठ खुल जाने पर फिर गुणों के बन्धन में मन नहीं पड़ सकता। जैसे किसी के प्रेम में फँसी हुई स्त्री अपने घर के कामों में लगी हुई भी अपने प्रेमी के साथ के स्वाद में मस्त रहती है, वैसे ही धीर पुरुष जब परम शुद्ध एक तत्त्व में विश्राम पा लेता है तब उसे इन्द्र सहित सब देवता भी उस पद से नहीं डिगा सकते। जैसे मृगतृष्णा का ज्ञान हो जाने पर वह प्यासे को भी नहीं आकर्षण करती, वैसे ही जानी गई अविद्या ज्ञानी को आकर्षित नहीं करती। जब अविद्या का पूरा ज्ञान हो जाता है तभी वह स्वप्न के भोगों की नाईं क्षीण हो जाती है।

(६) परम तृप्ति का अनुभव :—

मोक्षमिच्छाम्यहं कस्माद्बद्धः केनास्मि वै पुरा ।
अबद्धो मोक्षमिच्छामि केयं बालविडम्बना ॥ (५।२९।१०)
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति मौर्ख्यं मे क्षयमागतम् ।
किं मे ध्यानविलासेन किं वाध्यानेन मे भवेत् ॥ (५।२९।११)
ध्यानाध्यानभ्रमौ त्यक्त्वा पुंस्त्वं स्वमवलोकयत् ।
यदायाति तदायातु न मे वृद्धिर्न वा क्षयः ॥ (५।२९।१२)
न ध्यानं नापि वाऽध्यानं न भोगान्नाप्यभोगिताम् ।
अभिवाञ्छामि तिष्ठामि सममेव गतज्वरः ॥ (५।२९।१३)
न मे वाञ्छा परे तत्त्वे न मे वाञ्छा जगत्स्थितौ ।
न मे ध्यानदशाकार्यं न कार्यं विभवेन मे ॥ (५।२९।१४)
नाहं मृतो न जीवामि न सन्नासन्न सन्मयः ।
नेदं मे नैव चान्यन्मे नमो मह्यमहं ततः ॥ (५।२९।१५)
इदमस्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यत्र तु संस्थितः ।
नैव वास्तु जगद्राज्यं तिष्ठाम्यात्मनि शीतलः ॥ (५।२९।१६)
किं मे ध्यानदशा कार्यं किं राज्यविभवश्रिया ।
यदायाति तदायातु नाहं किञ्चन मे क्वचित् ॥ (५।२९।१७)
न किञ्चिदपि कर्तव्यं यदि नाम मयाधुना ।
तत्कस्मान्न करोमादं किञ्चित्प्रकृतकम वै ॥ (५।२९।१८)
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न च भोगविवर्जने । (५।३९।३८)
अस्ति सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित् ॥ (६।१०७।२६)
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ।
सुखेषु मम नापेक्षा नोपेक्षा दुःखवृत्तिषु ॥ (५।३९।३९)
सुखदुःखान्युपायान्तु यान्तु वाप्यहमेषु कः ।
वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा ॥ (५।३९।४०)
देहस्त्याहमहं देहोऽति क्षीणे [illegible] ।
त्यजामि न त्यजामीति किं मुधा [illegible] ॥ (५।४०।१२)
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धात्मव्यपदास्पदः ।
अनिर्वृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा ॥ (५।७४।३९)
सर्वत्रैव हि तुष्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो ।
अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहम् ॥ (६।१०७।२७)

सर्वं सुखं इदं नेति मिथुने क्षयमागते।
सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथासुखम् ॥ (६।१०९।७०)

मोक्ष की मैं क्यों इच्छा करूँ, मुझे बन्धन ही किस बात का था? जब मैं बद्ध ही नहीं हूँ तो मेरी मोक्ष की इच्छा भी बाल विडम्बना है। मेरा अज्ञान दूर हो गया है; अब न बन्धन है और न मोक्ष। ध्यान से मुझे अब क्या? और ध्यान न लगाने से मुझे क्या? ध्यान और अध्यान दोनों को छोड़कर अपने आत्मा को अनुभव करने वाले के लिये जो आवे सो आवे; न मेरी वृद्धि होती है और न मेरा क्षय! न मुझे ध्यान की अब इच्छा है और न अध्यान की; न भोगों की और न भोग त्याग की; मैं तो बिना किसी दुःख के समभाव से स्थित हूँ। न मेरी परम तत्त्व में वाञ्छा है और न मेरी जगत् की स्थिति में वाञ्छा है! न मुझे ध्यान से कुछ मतलब और न संसार के वैभव से! न मैं मरा हूँ, न मैं जीता हूँ; न मैं सत् हूँ, न मैं असत् हूं। न यह मेरा है न यह मेरा है! मैं बहुत ही महान् हूँ, मुझे नमस्कार है! यदि जगत् का राज्य मिले तो भी मैं स्वस्थ हूँ! राज्य चला जाए तो भी मैं शीतल भाव से स्थित हूँ। मुझे ध्यान से कुछ नहीं करना, मुझे राज्य के विभव से कुछ नहीं करना! जो आता है वह आवे! न मैं कुछ हूँ और न मेरा कुछ है। जब कि अब मेरे लिये कुछ कर्त्तव्य (करने योग्य काम) नहीं है, तो मैं क्यों न प्राकृत कामों को करता रहूँ? मुझे न भोगों की प्राप्ति के लिये वाञ्छा है न भोगों के त्याग के लिये। मेरा स्वर्ग कहीं एक स्थान पर नहीं है; मेरे लिये सब जगह ही स्वर्ग है। जो आता हो वह आए, जो जाता हो वह जाए। न मेरी सुखों में वाञ्छा है और न दुःखों से द्वेष। दुःख-सुख आवें या जावें! मैं इनमें पड़ने वाला कौन हूँ? इस शरीर में अनेक वासनाएँ उदय और अस्त होती रहें, मुझे क्या? जब मनमें से यह भ्रम मिट गया कि यह शरीर मेरा है मैं इस शरीर का हूँ तो फिर यह बात फिजूल ही है कि मैं इस शरीर को रक्खू या त्यागूँ। मैंने सबसे उत्तम विश्राम और दुर्लभ पद की प्राप्ति कर ली है, और मन, वचन और कर्म के द्वारा उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है जहाँ से फिर लौटना नहीं है। यह सुखदायक है यह सुखदायक नहीं है—इस प्रकार के मेरे विचार क्षीण हो गये हैं। अब मैं शान्त और सम पद में आनन्द पूर्वक स्थित हूँ।

२८—जीवन्मुक्ति

ऊपर वर्णन की हुई अवस्था जिसको प्राप्त हो गई है वह मुक्त कहलाता है। इस प्रकार की मुक्ति शरीर के मौजूद रहते हुए ही प्राप्त हो जाती है। प्रारब्ध कर्मों से बना हुआ और प्राकृत क्रियाएँ करता हुआ शरीर इस प्रकार की मुक्ति का अनुभव करने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालता। जब प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जानेपर वह शरीर मौत के द्वारा क्षीण हो जाता है तो ज्ञानी विदेहमुक्त हो जाता है। उसके लिये किसी शरीर का कर्मकृत बन्धन नहीं रहता। मुक्त ज्ञानी शरीरकी मृत्यु पर्यन्त जीवन्मुक्त (अर्थात् जीवित अवस्था में ही मुक्त) कहलाता है। यहाँपर हम योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्ति की दशा का और जीवन्मुक्त पुरुषों का वर्णन करेंगे।

(१) जीवन्मुक्तोंके [illegible] :—

न सुखाय सुखं यस्य दुःखं दुःखाय [illegible] नो।
अन्तर्मुखमतेर्नित्यं स मुक्त इति कथ्यते ॥ (६।१६९।१)

सुखदुःखेषु भीमेषु संकटेषु महत्स्वपि।
मनागपि न वैरस्यं प्रयान्ति [illegible] ॥ (६।१९८।२७)

यस्य [illegible] क्वचिद्रसिकतास्ति नो।
व्यवहारवतोऽप्यन्तः स विश्रान्त उदाहृतः ॥ (६।१६९।८)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
यथाप्राप्तं विहरतः स विश्रान्त इति स्मृतः ॥ (६।१६९।९)

नाभ्यस्यते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित्।
कार्येषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ (६।१०२।१३)

उह्यमानेऽपि नो लोकस्त्वेषां [illegible] च ॥ (६।१९८।२)

[illegible] तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽस्य ॥ (६।१९८।१)

मनोज्ञमधुराचाराः [illegible] ॥ (६।१९८।३)

[illegible] कार्येषु [illegible] क्षणादपि ॥ (६।१९८।४)

अक्षुब्धमकराचारा [illegible] सागरा इव।
[illegible] [illegible] [illegible] सर्वार्थशीतलाः ॥ (६।१९८।९)

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तः शीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ (६।४९।१०)

प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ (६।२२।९)

वर्णधर्माश्रमाचारशास्त्रयन्त्रणयोज्झितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात्पञ्जरादिव केसरी ॥ (६।१२२।२)

सर्वकर्मफलत्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन लिप्यते नेतरेण च ॥ (६।१२२।९)

वासनाग्रन्थयश्छिन्ना [illegible] त्रुट्यन्त्यलं शनैः ।
कोपस्त्वानवमायाति मोहो मान्द्यं हि गच्छति ॥ (६।११६।४)

मुदिताद्याः श्रियो वक्रं न मुञ्चन्ति कदाचन ।
न निन्दन्ति न नन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ (६।१२।२)

केषुचिन्नानुबध्नाति तृप्तमूर्तिरसक्तधीः ॥ (५।९३।३५)

जीवन्मुक्तो गतासङ्गः सम्राडात्मेव तिष्ठति ॥ (५।९३।२४)

परिपूर्णमना मानी मौनी शत्रुषु चाचलः ॥ (५।९३।३९)

सम्पत्स्वापत्सु चोग्रासु रमणेषूत्सवेषु च ॥ (५।९३।५२)

विहरन्नपि नोद्वेगी नानन्दमुपगच्छति ।
अन्तर्मुक्तमना नित्यं कर्मकर्तेव तिष्ठति ॥ (५।९३।५३)

न बिभेति न चादत्ते वैवर्ण्यं न च दीनताम् ।
स्वः स्वस्थमना [illegible] धीरस्तिष्ठति शैलवत् ॥ (५।९३।५५)

आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः ।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते ॥ (५।८९।१६)

न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः ।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः ॥ (५।८९।१८)

समग्रसुखभोगात्मा सर्वाशास्विव संस्थितः ।
करोत्यखिलकर्माणि त्यक्तकर्तृत्वविभ्रमः ॥ (५।७७।११)

उदासीनवदासीनः प्रकृतः क्रमकर्मसु ।
नाभिवाञ्छति न द्वेष्टि न शोचति न हृष्यति ॥ (५।७७।१२)

अनुबन्धपरे जन्तावसंसक्तेन चेतसा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ (५।७७।१३)

बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेष्वनुदुःखितः ॥ (५।७७।१४)

न तस्य सुकृतेनार्थो न भोगैर्न च कर्मभिः।
न दुष्कृतेन भोगानां संत्यागेन न बन्धुभिः॥ (६।७७।१८)

एवं सर्वप्रकारेण गृह्णाति च जहाति च।
अनुपादेयसर्वार्थो बालवच्च विचेष्टते॥ (६।७७।२९)

स तिष्ठन्नपि कार्येषु देशकालक्रियाक्रमैः।
न कार्यसुखदुःखाभ्यां मनागपि हि गृह्यते॥ (६।७७।२६)

न कदाचन दीनात्मा नोद्धतात्मा कदाचन।
न प्रमत्तो न खिन्नात्मा नोद्विग्नो न च हर्षवान्॥ (६।७७।३२)

अयत्नोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः।
भुङ्क्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम्॥ (६।७४।६३)

सर्वशत्रुषु मध्यस्थो दयादाक्षिण्यसंयुतः। (६।१८।६)
रागद्वेषैः स्वरूपज्ञो नावशः परिकृष्यते॥ (६।७४।६१)

इमं विश्वपरिस्पन्दं करोमीत्यस्तवासनम्।
प्रवर्तते यः कार्येषु स मुक्त इति मे मतिः॥ (६।६।१)

यः कुर्वन्सर्वकार्याणि पुष्टे नष्टेऽथ तत्फले।
समः सन्सर्वकार्येषु न तुष्यति न शोचति॥ (६।६।१०)

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम्॥ (४।४६।८)

न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥ (४।४६।२६)

विगतेच्छा यथाप्राप्तव्यवहारानुवर्तिनः।
विचरन्ति समुन्नद्धाः स्वस्था देहरथे स्थिताः॥ (४।४६।२९)

बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत्।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्त स उच्यते॥ (३।९।५)

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥ (३।९।१२)

यस्य नाहंकृतो भावो [illegible] बुद्धिर्न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥ (३।९।९)

पुत्रदारसमप्राणि मित्राणि च धनानि [illegible]।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति॥ (६।४५।१४)

न स [illegible]चेतयते काश्चिल्लोकव्यवहारधनैषणाः।
अपूर्वपदविश्रान्तो [illegible] [illegible]॥ (६।४९।१७)

आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ (५।१६।१८)

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्येष्टानिष्टवस्तुषु ।
सुषुप्तवच्चरति यः स मुक्त इति कथ्यते ॥ (५।१६।१९)

हेयोपादेयकलने ममेत्यहमिहेति च ।
यस्यान्तः संपरिक्षीणे स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (५।१६।२०)

हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (५।१६।२१)

सर्वप्रकृतकार्यस्थो मध्यस्थः सर्वदृष्टिषु ।
ध्येयं तं वासनात्यागमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ (५।१८।३)

सर्वत्र विगतोद्वेगः सर्वार्थपरिपोषकः ।
विवेकोच्चतदृष्टात्मा प्रबोधोपवनस्थितिः ॥ (५।१८।४)

सर्वातीतपदालम्बी पूर्णेन्दुशिशिराशयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ (५।१८।५)

सङ्गरङ्गविनिष्क्रान्तः शान्तमानमनोज्वरः ।
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ॥ (५।७४।३३)

निर्मृष्टकामपङ्काङ्कश्छिन्नबन्धनिजक्रमः ।
द्वन्द्वदोषभयोन्मुक्तस्तीर्णसंसारसागरः ॥ (५।७४।३४)

सर्वाभिवाञ्छितारम्भो न किञ्चिदपि वाञ्छति ।
सर्वानुमोदितानन्दो न किञ्चिदनुमोदते ॥ (५।७४।३६)

सर्वारम्भपरित्यागी सर्वोपाधिविवर्जितः ।
सर्वाशासम्परित्यागी जीवन्मुक्त इति स्मृतः ॥ (५।७४।३८)

जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितौ ।
प्रकृतेनाथकार्याणि किञ्चित्कुर्वन्ति वा नवा ॥ (३।११८।१८)

आत्मारामतया तांस्तु सुखयन्ति न काश्चन ।
[illegible] सुसंसुसान्त्वपालोकाः [illegible] यथा ॥ (३।११८।२०)

नाभिनन्दन्ति सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिशोचति ।
केवलं विगताशङ्कं सम्प्राप्तमनुवर्तते ॥ (३।१२२।१४)

[illegible] नास्तमायाति सुखे दुःखे [illegible] ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ (३।९।६)

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं [illegible] ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छान्तः स [illegible] उच्यते ॥ (३।९।८)

यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
पदार्थेष्वपि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ (३।९।१३)

जिस अन्तर्मुखी वृत्तिवाले को सुखों से सुख और दुःखों से दुःख का अनुभव नहीं होता वह मुक्त कहलाता है। ऐसे समदृष्टिवाले लोग बड़े बड़े भयानक और बार बार आनेवाले सुख-दुःखों से भी मन में विकार नहीं आने देते। जगत् का सब व्यवहार करते हुए भी जिसके मन में किसी वस्तु के प्रति रसिकता नहीं आती वह शान्त कहलाता है। जिसके सब काम इच्छा और सङ्कल्प से रहित होते हैं और जो यथा-प्राप्त क्रियाएँ करता रहता है वही शान्त कहलाता है। मुक्त पुरुष को न किसी वस्तु के प्रति रसिकता होती है और न नीरसता। वह विषयों का इच्छुक होकर विषयों में नहीं रमता। रागवाला दिखाई देता हुआ भी वह रागरहित रहता है। मुक्त पुरुष न किसी को उद्विग्न करते हैं और न वे किसी से उद्विग्न होते हैं। उनके लोभ मोह आदि दुश्मन नष्ट हो जाते हैं। वे दूसरों के मन के भावों को जानकर लोकप्रिय आचरण करते हैं और प्रिय और मधुर वाणी बोलते हैं। वे क्षण भर में कार्य्यों का विवेचन और निर्णय कर लेते हैं। वे नागरिक जनों के समान आचारवाले और सब के बन्धु होते हैं; बाहर से तो वे सब काम करते हुए दिखाई पड़ते हैं लेकिन भीतर सब प्रकार से शान्त रहते हैं। मुक्त पुरुष प्राप्त वस्तु की उपेक्षा नहीं करता, और अप्राप्त वस्तु की वाञ्छा नहीं करता; सब वृत्तियों में अपने अन्दर शान्त और शीतल रहता है। जो कार्य जीवन-प्रवाह में करने को मिले उसे जो कामना और सङ्कल्प-रहित होकर और हृदय में शून्यता का भाव रखकर करते हैं वे ही ज्ञानी हैं। मुक्त पुरुष वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार और शास्त्रों की कल्पना से बरी होकर जगत् के जञ्जाल से इस प्रकार निकल भागता है जैसे पिञ्जरे से शेर। सब कर्मों का फल त्यागनेवाला, सदा तृप्त, किसी के आश्रित न रहनेवाला वह पुण्य, पाप या और किसी भाव में लिप्त नहीं होता, उसकी वासनाओं की गांठें खुलकर धीरे धीरे गिर जाती हैं; गुस्सा कम हो जाता है और मोह मन्द पड़ जाता है। उसके चेहरेपर सदा ही प्रसन्नता की शोभा छाई रहती है। वह जीवन की चाह और मौत की निन्दा नहीं करता। वह किसी वस्तु के फन्दन में नहीं पड़ता; सदा ही शान्त और असक्त रहता हुआ सम्राट् की नाइ प्रसन्न रहता है। वह परिपूर्ण मनवाला, अपने मान में रहनेवाला,

मौनी और शत्रुओं के मध्य में भी अचल रहनेवाला है। भयानक आपत्तियों में, सम्पत्ति की अवस्थाओं में और आनन्ददायक उत्सवों में विचरण करते हुए, उसे न उद्वेग होता है और न आनन्द। मन के भीतर सदा मुक्त रहता हुआ भी वह सब कामों को करता रहता है। न वह डरता है, न वह विवश और दीन होता है; वह मौनी, सम और स्वस्थ मन होकर पर्वत के समान धीरता से रहता है। सब वस्तुओं से विरक्त, इच्छाओं से रहित, वह आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है; न किसी वस्तु की चाहना करता है और न इस ही लिये कोई काम करता है। न उसको आकाशगमन आदि सिद्धियों की इच्छा होती है और न भोगों की प्राप्ति की, न प्रभाव की, न सम्मान की, न मरने की और न जीने की। वह सब सुखों का भोगता हुआ और सब प्रकार की आशाओंवाला दिखाई पड़ता है, और कर्त्ता होने के भ्रम को त्यागकर वह सब कामों को करता रहता है। प्राकृत कामों में लगा हुआ भी वह उदासीन के समान रहता है; वह न वाञ्छा करता है, न सोच फ़िक्र; न द्वेष करता है और न हर्ष। जैसा अवसर हो उसके अनुसार असक्त मन से वह भक्त के प्रति भक्त का, शठ के प्रति शठ का, बालक के प्रति बालक का सा, बूढ़ों के प्रति बृद्धों का सा, धीरों के प्रति धीरता का व्यवहार करता है। यौवन-वृत्तिवालों में वह युवा की नाईं रहता है और दुःखियों को देखकर दुःखी होता है। उसको न भले काम करने से कुछ मतलब, न बुरे; न भोगों से और न कर्म करने से, न भोगों के त्यागने से, और न बन्धुओं से। सब वस्तुओं को सब प्रकार से वह ग्रहण और त्याग करता रहता है। उसे कुछ प्राप्त वा करना ही नहीं तो भी बालकों की नाईं वह सदा काम में लगा रहता है। वह देश, काल, क्रिया और द्रव्य के अनुसार सब कर्मों को करता हुआ भी कामों से उत्पन्न सुख दुःखों से परे रहता है। वह न कभी दीन होता है, न कभी उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न, न हर्षित। जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही वह भी बिना विशेष यत्न किये यथाप्राप्त भोगों को लीला से असक्त मन होकर भोगता रहता है। शत्रुओं के बीच में भी वह दया और चतुराई से रहता है। अपने स्वरूप को जाननेवाला वह राग द्वेषों के वश में नहीं होता। वासना रहित होकर जो इस भाव से कामों को करता है कि वह किसी का किया हुआ नहीं है, वह मुक्त है। वह कामों के करते हुए बनने और बिगड़ने से प्रसन्न नहीं होता और सोच फ़िक्र नहीं करता और सदा

ही समभाव से रहता है। अप्राप्त की वाञ्छा न करना और प्राप्त भोगों को भोग लेना ज्ञानियों का लक्षण है। ज्ञानी लोग जगत् के व्यवहार को न त्यागते हैं और न उसकी कामना ही करते हैं जैसा-जैसा अवसर होता है वे वैसा ही व्यवहार करते हैं। अपने शरीररूपी रथ में स्वस्थ और उन्नत मस्तक होकर बैठे हुए मुक्त लोग इच्छा-रहित रहते हुए यथाप्राप्त व्यवहार को करते हुए विचरते हैं। बोधमात्र में स्थित वे जीवन्मुक्त जागते हुए भी सोते से दिखाई पड़ते हुए जगत् के सब व्यवहार करते रहते हैं। जीवन्मुक्त को सब सांसारिक कल्पनाएँ शांत हो गई हैं। वह कल्पना युक्त होता हुआ भी कल्पना-रहित है; चित्तयुक्त होता हुआ भी चित्त रहित है। काम करते हुए या न करते हुए उसमें अहंभाव नहीं रहता; उसकी बुद्धि किसी काम में लिप्त नहीं होती। स्त्री पुत्र, मित्र धन सम्पत्ति को वह पूर्व जन्म के किये हुए कर्म्मों का फल और स्वप्न के समान समझता है। उसके अन्दर लोकेषणा, दारेषणा और धनेषणा नहीं उत्पन्न होतीं; वह अपूर्व विश्रान्ति का अनुभव करता है और जीता हुआ ही मुर्दे के समान दिखाई पड़ता है। सामयिक आपत्तियों में, सदा रहने वाले सुखों और दुःखों में; न वह प्रसन्न होता है और न ग्लानि का अनुभव करता है। इष्ट वस्तु की चाहना और अनिष्ट वस्तु से नफरत उसके मन में नहीं होती; वह सदा सोते हुए पुरुषों की नाई प्रकृत आचरण करता रहता है। जिसके भीतर हेय और उपादेय की कल्पना और "मैं और मेरा" भाव क्षीण हो गया है वह जीवन्मुक्त है। जिसके मन पर हर्ष और शोक, भय, क्रोध, काम और कृपणता आदि का असर नहीं होता वह जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त सब स्वाभाविक कामों को करता है और सब दृष्टियों में अव्यस्त रहता है (अर्थात् किसी एक दृष्टि का पक्षपात नहीं करता)। वह सदा ध्येय वासना-त्याग का अवलम्बन करके स्थित रहता है। सदा और सब जगह उद्वेग से रहित और सब कामों में सहायता देने वाला है। वह विवेक में स्थिर, आत्मा को जानने वाला और प्रबोधरूपी उपवन में सदा वास करने वाला है। वह सब से परे वाले पद का ही अवलम्बन करता है; न कभी उद्विग्न होता है और न हर्षित; वह संसार में कभी दुःख नहीं पाता। वह संगरूपी रज से रहित है; उसका अभिमान रूपी ज्वर उतर चुका है; वह आत्मानुभव के आनन्द में स्थित रहता है; पूर्ण और पवित्र मन वाला होता है। वह काम रूपी

कीचड़ से स्पृष्ट नहीं होता; उसका भ्रमरूपी बन्धन कट चुका है; वह द्वन्द्व, दोष और भय से मुक्त है और संसारसागर से पार हो चुका है। यद्यपि उसके कामों से ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कुछ चाहता है, किन्तु वास्तव में वह कुछ भी नहीं चाहता; सब कामों में प्रसन्न होता और आनन्द लेता दिखाई देता हुआ भी वह वास्तव में किसी विषय से प्रसन्न नहीं होता। वह किसी भी काम के करने की वासना नहीं रखता, सब उपाधियों से बरी रहता है, और सब आशाओं को त्याग चुका है। जीवन्मुक्त किसी दुःख-सुख देने वाली स्थिति में नहीं फँसते; केवल स्वाभाविक काम करते हैं; या कुछ भी नहीं करते। वे सदा ही आत्मा में रत रहते हैं, संसार के व्यवहार उनको इस प्रकार कुछ आनन्द नहीं दे सकते जैसे कि सोये हुए पुरुष को मनोहर रूपवाली स्त्रियां। जो उनको प्राप्त नहीं है उसकी वे चिन्ता नहीं करते, और जो उनको प्राप्त हो गया है उसकी वे प्रशंसा नहीं करते, शंकारहित होकर वे यथाप्राप्त स्थितियों के अनुसार व्यवहार करते हैं। उस यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार व्यवहार करने वाले जीवन्मुक्त के मुख की शोभा सुख-दुःख में उदय और अस्त नहीं होती; बाहर राग द्वेष और भय आदि भावों के अनुसार आचरण करता हुआ भी वह भीतर आकाश के समान शुद्ध रहता है। वह सब विषयों के बीच में व्यवहार करता हुआ भी शीतल और परिपूर्ण रहता है।

(२) जीवन्मुक्त के लिये न कुछ प्राप्य है और न त्याज्य :—

हेयोपादेयदृष्टी द्वे यस्य क्षीणे हि तस्य वै ।
क्रियात्यागेन कोऽर्थः स्यात्क्रियासंश्रयणेन वा ॥ (६।११९।२)
न तदस्तीह यत्त्याज्यं ज्ञस्योद्वेगकरं भवेत् ।
न वास्ति यदुपादेयं तज्ज्ञसंश्रेयतां गतम् ॥ (६।११९।३)
ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥ (६।११९।४)
नित्यं प्रबुद्धचित्तास्तु कुर्वन्तोऽपि जगत्क्रियाः ।
आत्मैकतत्त्वसंनिष्ठाः सदैव सुसमाधयः ॥ (५।६२।६)
काकतालीयवद्भूतां क्रियां कुर्वन्ति ते सदा ।
नकुर्वन्त्यपि ते [illegible] कंचिदपि ग्रहः ॥ (६।६१।११)

रूपालोकनमस्कारान्कुर्वन्नपि न किञ्चन ।
ज्ञः करोत्यनुपादेयान्न ज्ञस्यैव हि कर्तृता ॥ (६।३।१२)

यस्माद्‌ात्मनो व्यतिरिक्ते वस्तुनि सिद्धे सति तत्रेच्छा प्रवर्तते । यत्र स्यात्मनो व्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि सम्भवति तत्रात्मा किमिव वाञ्छन्किमनुस्मरन्धावतु किमुपैतु ॥ (४।३७।१०)

अत इदमीहितमिदमनीहितमित्यात्मानं न स्पृशन्ति विकल्पाः । अतो निरिच्छतायामात्मा न किञ्चिदपि करोति कर्तृकरणकर्मणामेकत्वात् नच निरिच्छस्यात्मनो नैष्कर्म्यमभिमतं, द्वितीयायाः कल्पनाया अभावात् ॥ (४।३७।११)

जिसके मनमें यह विचार ही नही रहा कि अमुक वस्तु प्राप्य है और अमुक वस्तु त्याज्य है उसको कर्मों का त्याग करने से क्या और उनको करने से क्या ? कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ज्ञानी को उद्वेग देनेवाली, अतएव त्याज्य हो; न कोई ऐसी वस्तु है जो कि ज्ञानी के लिये प्राप्य हो और जिसके लिये वह यत्न करे । ज्ञानी को कर्मों के त्यागने से कुछ लाभ नहीं, और न कर्मों के करने से कोई हानि है; इसलिये वह जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार व्यवहार करता है । वे सदा प्रबुद्ध मन वाले संसार के सब काम करते हुए भी आत्मा में ही स्थित रहने के कारण सदा ही समाधि में रहते हैं । संयोगवश जो काम उनके पल्ले पड़ जाता है उसे वे सदा करते हैं । यदि वे न भी करें तो उनके ऊपर कोई मजबूरी नहीं है । इन्द्रियों और मनकी सभी क्रियाएँ करते हुए भी ज्ञानी उनको इस भावना से नहीं करता कि उसको किसी वस्तु की प्राप्ति करनी है । अतएव ज्ञानी कभी कर्ता नहीं होता । यदि आत्मा से अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ सत्य हो तभी तो उसको प्राप्त करने की इच्छा की जावे; जब कि आत्मा से अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं तब फिर आत्मा किसकी इच्छा करे, किसका ध्यान करे, किसके पीछे दौड़े और किसको प्राप्त करे ? इसलिये यह वाञ्छनीय है और यह अवाञ्छनीय है इस प्रकार का विचार मुक्त के आत्मा में नहीं उठता ! इस प्रकार की इच्छा न होने पर आत्मा कुछ भी नहीं करता क्योंकि कर्ता, कर्म और कारण सब आत्मा ही है । इच्छा रहित आत्मा कर्म रहित भी नहीं होना चाहता, क्योंकि आत्मा के सिवाय और कोई वस्तु है ही नहीं जिससे वह डरे ।

(३) जीवन्मुक्त महाकर्ता है :—

धर्माधर्मौ महाभाग शङ्काविरहिताक्षयः ।
यः करोति यथाप्राप्तौ महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।११)

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्षेण महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१२)

मौनवान्निरहंभावो निर्मलो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१३)

शुभाशुभेषु कार्येषु धर्माधर्मौ कुशङ्कया ।
मतिर्न लिप्यते यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१४)

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते यो नोदेति महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१६)

उदासीनः कर्त्ता च कर्माकर्माचरंश्च यः ।
समं यात्यन्तरत्यन्तं महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१८)

स्वभावेनैव यः शान्तः समतां न जहाति वै ।
शुभाशुभं ह्याचरन्यो महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।१९)

जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य महाकर्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२०)

वह महाकर्ता है जो यथा प्राप्त धर्म और अधर्म को शङ्का रहित होकर करता है; जो रागद्वेष, सुख-दुःख, धर्म अधर्म, सफलता और विफलता में निरपेक्ष रहकर काम करता है; जो अहंभाव, मल और मत्सर से रहित होकर मौनी की नाईं उद्वेग रहित रहकर काम करता है; जिसके मन में शुभ और अशुभ धार्मिक और अधार्मिक कामों के करते हुए शङ्का नहीं होती; जो उद्वेग और आनन्द से रहित है, जो सम और शुद्ध बुद्धि से काम करते हुए न उल्लासित होता है और न चिन्ता करता है; जो कर्म और अकर्म दोनों में उदासीन रहकर काम करता हुआ भीतर समभाव से रहता है; जो स्वभाव से ही शान्त है, जो शुभ या अशुभ कामों को करता हुआ कभी समता का त्याग नहीं करता; और जिसका मन उत्पत्ति, स्थिति, नाश, उदय और अस्त, इन अवस्थाओं में समान रहता है।

(४) संसार का व्यवहार करता हुआ भी [illegible] समाधि में ही रहता है :—

व्यवहारी प्रबुद्धो वा प्रबुद्धो यो वने स्थितः ।
द्वावेतौ सुसमौ नूनमसंदेहं पदं गतौ ॥ (५।५६।१२)
अकर्तृ कुर्वदप्येतच्चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरंगतमना जन्तुः कथासंश्रवणे यथा ॥ (५।५६।१३)
अकुर्वदपि कर्तैव चेतः प्रघनवासनम् ।
निस्पन्दाङ्गमपि स्वप्ने श्वभ्रपातस्थिताविव ॥ (५।५६।१४)
चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥ (५।५६।१५)
गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहंकृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ (५।५६।२२)
अरण्यसदने तुल्ये समाहितमनोदृशाम् ॥ (५।५६।२३)
अन्तः शीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ॥ (५।५६।३३)
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा ।
यः पश्यति सदात्मानं स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।२७)
यः सर्वगतमात्मानं पश्यन्समुपशान्तधीः ।
न शोचति ध्यायति वा स समाहित उच्यते ॥ (५।५६।४४)
ईदृशाशयसम्पन्नो महासत्त्वपदं गतः ।
तिष्ठतूदेतु वा यातु मृतिमेतु न तत्स्थितिम् ॥ (५।५६।५१)
वसतूत्तमभोगाढ्ये स्वगृहे वा जनाकुले ।
सर्वभोगोज्झिताभोगे सुमहत्यथवा वने ॥ (५।५६।५२)
उद्दाममन्मथं पानतत्परो वापि नृत्यतु ।
सर्वसङ्गपरित्यागी सममायातु वा गिरौ ॥ (५।५६।५३)
चन्दनागरुकर्पूरैर्वपुर्वा परिलिम्पतु ।
ज्वालाजटिलविस्तारे निपतत्वथवाऽनले ॥ (५।५६।५४)
पापं करोति सुमहद्बहुलं पुण्यमेव च ।
[illegible] मृतिमायातु कल्पान्तनिचयेन वा ॥ (५।५६।५५)
नासौ किञ्चिन्न तत्किञ्चित्स्पृष्टं तेन महात्मना ।
नासौ कलङ्कमाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥ (५।५६।५६)

व्यवहार में लगा हुआ ज्ञानी और वन में रहने वाला ज्ञानी दोनों

हो एक से हैं—दोनों ही सन्देह रहित (मुक्ति) पद को प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्त का मन वासना के क्षीण हो जाने के कारण कर्म करते हुए भी अकर्ता है, जैसे कथा सुनने में उस आदमी का मन जिसका ध्यान दूर चला गया हो। जिसके चित्त में गहरी वासनायें भरी हैं उनका मन कर्म न करते हुए भी कर्ता है—जैसे कि कुछ भी क्रिया न करता हुआ व्यक्ति स्वप्न में गड्ढे में गिरने का अनुभव कर लेता है। चित्त का अकर्तृत्व भाव ही उत्तम समाधि है। उसी को केवली भाव और उसी को परम निवृत्ति कहते हैं। जिनका चित्त भली भांति स्थिर है और जिनका अहंभाव रूपी दोष क्षीण हो चुका है, उन गृहस्थियों के लिये उनका घर ही निर्जन वन के तुल्य है। समाहित चित्तवालों के लिये तो घर वन एक से हैं। जब अपने भीतर शीतलता आ जाती है तो सारा संसार शीतल हो जाता है। जो अपने आत्मा को सब भावों और पदों से परे और सब भावों को युक्त रूप से देखता है वही समाधिस्थ है। जो आत्मा को सब वस्तुओं के भीतर देखता हुआ शान्तबुद्धि होकर न किसी वस्तु का ध्यान करता है और न किसी की सोच करता है वही समाहित है। जीवन्मुक्त महासत्त्व पद को प्राप्त करके इतनी ऊँची पदवी पर पहुँच जाता है कि उसको इस बात की जरा भी परवाह नहीं रहती कि वह रहे या न रहे मरे या जिये; सब प्रकार की उत्तम भोगने योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण और अनेक व्यक्तियों से भरे हुए घर में रहे, अथवा सब प्रकार के भोगों से रहित विशाल वन में; उद्दीप्त काम युक्त सुरापान किये हुए नाचे, अथवा सब प्रकार के सङ्ग को त्याग करके पहाड़ों पर जाए; चन्दन, अगरु, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों को शरीर पर लगाये, अथवा महाप्रचण्ड लटाओंवाली अग्नि में कूदे; बहुत बड़े पाप करे अथवा पुण्य; उसे आज ही मौत आ जाये अथवा कल्प के अन्त में। ऐसा कोई काम नहीं है जो मुक्त पुरुष करे या न करे। जैसे कीचड़ में पड़कर भी सोना मैला नहीं होता वैसे ही जीवन्मुक्त को किसी काम करने में कलंक नहीं लगता।

(५) जीवन्मुक्त महाभोक्ता है :—

न [illegible] न [illegible] दैवप्राप्ताः [illegible] ।
सरितः सागरेणेव भोक्तव्या भोगभूमयः ॥ (६।२।१९१)

अथवोपनतं सर्वं लीलयासक्तमानसः ।
भुंक्ते भोगभरं प्राज्ञस्त्वालोकमिव लोचनम् ॥ (५।७४।६३)
काकतालीयवत्प्राप्ता भोगाली ललनादिका ।
स्वादिताप्यङ्ग धीरस्य न दुःखाय न तुष्टये ॥ (५।७४।६४)
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च सम्भोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ (४।४६।८)
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदपि काङ्क्षति ।
भुंक्ते च प्रकृतं सर्वं महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२१)
नादत्तेऽप्याददानश्च नाचरत्याचरन्नपि ।
भुञ्जानोऽपि न यो भुंक्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२२)
साक्षिवत्सकलं लोकव्यवहारमखिन्नधीः ।
पश्यत्यपगतेच्छं यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२३)
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो वेत्ति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२५)
महान्ति सुखदुःखानि यः पयांसीव सागरः ।
समं समुपगृह्णाति महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२६)
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमुत्तमम् ।
अधमं योऽत्ति साम्येन महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२८)
सरसं नीरसं चैव सुरतं विरतं तथा ।
यः पश्यति समं सौम्यो महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।२९)
क्षारे खण्डप्रकारे च शुभे वाप्यशुभे तथा ।
समता सुस्थिरा यस्य महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३०)
इदं भोज्यमभोज्यं चेत्येवं त्यक्त्वा विकल्पितम् ।
गताभिलाषं यो भुङ्क्ते महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३१)
आपदं सम्पदं मोहमानन्दमपरं परम् ।
यो भुङ्क्ते समया बुद्ध्या महाभोक्ता स उच्यते ॥ (६।११५।३२)

दैवयोग से प्राप्त जो स्वाभाविक भोग हैं उनको बिना वाञ्छा और बिना घृणा के ऐसे भोगना चाहिये जैसे कि समुद्र अपने में पड़ी हुई नदियों का भोग करता है। जैसे आँख देखने का आनन्द लेती है वैसे ही ज्ञानी भी बिना किसी विशेष यत्न के प्राप्त भोगों को असक्त मन होकर लीला से भोगते हैं। दैवयोग से प्राप्त स्त्री आदि भोग भोगने पर

धीर पुरुष को न आनन्द होता है और न दुःख। अप्राप्त भोगों की वासना न करना और प्राप्त भोगों का भोग करना ही ज्ञानियों का लक्षण है। जीवन्मुक्त महाभोक्ता है। महाभोक्ता उसे कहते हैं जो न किसी विषय की इच्छा करता है और न किसी से घृणा करता है; सब स्वाभाविक भोगों को भोगता है; जो देते हुए भी कुछ नहीं देता; जो करते हुए भी कुछ नहीं करता; जो भोगते हुए भी कुछ नहीं भोगता; जो समस्त लोक व्यवहार को बिना खिन्न मन के साक्षी के समान इच्छा-रहित होकर देखता है; जो बुढ़ापे और मौत को, आपत्ति, राज्य और दारिद्र्य को एक सा ही रम्य समझता है; जो महान् दुःख और सुखों को समान भाव से ऐसे ग्रहण करता है जैसे समुद्र सब नदियों को; जो कडुये, खट्टे, नमकीन, चर्चरे और मीठे, उत्तम और अधम खाद्य पदार्थों को समान भाव से खाता है; जो सरस और नीरस, सुरत और विरत को समान भाव से और शान्त रहकर देखता है; जिसके लिये नमक और मिठाई, शुभ और अशुभ ठीक समान जान पड़ते हों; जो अभिलाषा-रहित होकर और इस विचार को छोड़कर खाता है कि यह खाने लायक़ (स्वादिष्ट) पदार्थ है और यह खाने लायक़ नहीं, और जो आपत्ति और सम्पत्ति, आनन्द और मोह अपने और पराये सब का समबुद्धि से भोग करता है।

(६) जीवन्मुक्त को शरीर से घृणा नहीं होती; वह शरीर नगरी पर राज्य करता है :—

[illegible] उत्तमपदालम्बी चक्रभ्रमवदास्थितः।
शरीरनगरीराज्यं कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ (४।२३।१)
तस्येयं भोगमोक्षार्थं तज्ज्ञस्योपवनोपमा।
सुखायैव न दुःखाय स्वशरीरमहापुरी॥ (४।२३।२)
रम्येयं देहनगरी राम सर्वगुणान्विता।
ज्ञस्यानन्तविलासाढ्या स्वालोकार्कप्रकाशिता॥ (४।२३।४)
स्वशरीरमनोज्ञस्य सर्वसौभाग्यसुंदरी।
सुखायैव न दुःखाय परमाय हिताय च॥ (४।२३।१७)
अज्ञस्येयमनन्तानां दुःखानां कोशमालिका।
ज्ञस्य त्वियमनन्तानां सुखानां कोशमालिका॥ (४।२३।१८)

सुखावहैषा नगरी नित्यं वै विदितात्मनः ।
भोगमोक्षप्रदा चैषा शक्रस्येवामरावती ॥ (४।२३।२९)
अत्रस्थः पुरुषो भोगानात्मा सर्वगतोऽपि सन् ।
विश्वकल्पकृतान्भुक्त्वा पुंसामधिगतार्थभाक् ॥ (४।२३।३३)
इन्द्रियाणां न हरति प्राप्तमर्थं कदाचन ।
नाददाति तथा प्राप्तं संपूर्णो ज्ञोऽवतिष्ठते ॥ (४।२३।४९)

जीवन्मुक्त उत्तम पद पर स्थित रहता हुआ चक्रभ्रम (हिण्डोले) पर बैठे हुए व्यक्ति की नाईं शरीर-नगरी पर राज्य करता हुआ भी नहीं लिप्त होता । ज्ञानी के लिये यह शरीर-नगरी उपवन के समान भोग और मोक्ष के देनेवाली है; सुख देनेवाली है, दुःख देनेवाली नहीं है । हे राम ! यह देहनगरी बड़ी सुरम्य और सर्व गुण सम्पन्न है; ज्ञानी [illegible] अनन्त आनन्द देनेवाली आत्मसूर्य का प्रकाश करनेवाली है। जो अपने शरीर और मन का ज्ञान रखता [illegible] उसके लिये यह सर्व सौभाग्य और सौन्दर्य वाली शरीर-नगरी दुःख देनेवाली नहीं है; बल्कि परम हित सुख को देनेवाली है । [illegible] शरीर ज्ञानियों को तो अनन्त प्रकार के [illegible] और आनन्द का और अज्ञानियों को [illegible] प्रकार [illegible] दुःखों को देनेवाला है । जैसे इन्द्र को अमरावती सुख देती है वैसे ही यह देह भी ज्ञानियों को सुख देती है और उनके भोग और मोक्ष का साधन होती है । शरीर में बैठा हुआ सर्वगत आत्मा नाना प्रकार [illegible] भोगों को भोगता हुआ अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है । ज्ञानी लोग इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों का तिरस्कार नहीं करते और अप्राप्त विषयों को पाने का यत्न नहीं करते; परिपूर्ण भाव [illegible] स्थित रहते हैं ।

(७) जीवन्मुक्त यथाप्राप्त अवस्था के अनुसार व्यवहार करता है :—

यावद्देहमवस्थासु समचित्ततयैव [illegible] ।
कर्मेन्द्रियैर्न तिष्ठन्ति [illegible] [illegible] तत्त्वविदः [illegible] ॥ (६।१०४।४०)
ये ह्यतत्त्वविदो मूढा राजन्यास्त्वेव ते ।
[illegible] पलायन्ते गृहीतान्यः स्वभावतः ॥ (६।१०४।४१)
यावच्चित्तं [illegible] [illegible] यावद्देहं तथा दशा ।
यो न देहदशामेति [illegible] च्छिनत्यसिनाम्बरम् ॥ (६।१०४।४२)

एष देहदशादुःखपरित्यागो ह्यनुत्तमः ।
यत्साम्यं चेतसो योगान्न तु कर्मेन्द्रियस्थितेः ॥ (६।१०४।४३)
यावद्देहं यथाचारं दशास्वङ्गं विजानता ।
कर्मेन्द्रियैर्हि स्थातव्यं नतु बुद्धीन्द्रियैः क्वचित् ॥ (६।१०४।४४)
क्रमप्रवृत्तमासृष्टेः सुखं साध्यं मनोरमम् ।
प्रकृतं कुर्वतः कार्यं दोषः क इव जायते ॥ (६।१०६।६)

वे ज्ञानी नहीं हैं, मूर्ख हैं, जो जब तक देह है तब तक समचित्त होकर देह की अवस्थाओं के अनुसार कर्मेन्द्रियों का व्यवहार नहीं करते । जो मूर्ख तत्त्व को नहीं जानते वे ही अपने बालकपन के कारण स्वाभाविक अवस्थाओं से दूर भागते हैं । जब तक तिल है तब तक तेल है, वैसे ही जब तक यह शरीर है तब तक इसकी स्वाभाविक दशायें हैं । जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता वह तलवार से आकाश को काटता है । देह की दशा के अनुसार होनेवाले दुःख-सुखों का त्याग करना ठीक नहीं । चित्त की शान्ति और समता तो योग से प्राप्त होती है न कि कर्मन्द्रियों को स्थगित कर देने से । जब तक शरीर है तब तक ज्ञानपूर्वक सदाचार के अनुसार कर्मेन्द्रियों द्वारा देह की आवश्यकतायें पूरी करनी चाहिये—मन द्वारा नहीं । जब तक सृष्टि है तब तक काम करने ही से मनको प्रसन्न करने वाले को सुख मिलता है । स्वाभाविक कामों के करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता ।

(८) बाह्य व्यवहार में ज्ञानी और अज्ञानी की समानता :—

व्यवहारे यथैवाज्ञस्तथैवाखिलपण्डितः ।
वासनामात्रभेदोऽत्र कारणं बन्धमोक्षयोः ॥ (४।१९।३७)
यावच्छरीरं तावद्धि दुःखे दुःखं सुखे सुखम् ।
असंसक्तधियो धीरा दर्शयन्त्यप्रबुद्धवत् ॥ (४।१९।३८)
मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि ।
बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि ॥ (४।१९।४२)
सुखदुःखदृशो लोके बन्धमोक्षदृशस्तथा ।
हेतुर्बुद्धीन्द्रियाण्येव तैर्मुक्तोऽत्र प्रमुच्यते ॥ (४।१९।४३)

(बाह्य) व्यवहार में जैसा अज्ञानी वैसा ही सर्वज्ञ। भेद केवल वासना का है जो कि बन्धन और मोक्ष का कारण है। जब तक शरीर है तब तक दुःख में दुःख और सुख में सुख अज्ञानियों की नाईं असंसक्त ज्ञानियों के शरीर में भी होते दिखाई पड़ते हैं। जो मन से मुक्त है वही मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में बँधा हुआ ही हो, और जो मन से बद्ध है वही बद्ध है, चाहे कर्मेन्द्रियों से कुछ भी न करता हो। संसार में सुख-दुःख का अनुभव दिलानेवाली और बन्ध मोक्ष की ओर ले जानेवाली केवल बुद्धीन्द्रियां (मन, बुद्धि आदि) ही हैं, कर्मेन्द्रियाँ नहीं, जैसे सूर्य की किरण प्रकाश का हेतु हैं।

(९) जीवन्मुक्त का चित्त :—

मूढं चित्तं चित्तमाहुः प्रबुद्धं सत्त्वमुच्यते। (६।१०।३१)
भूयः प्रजायते चित्तं सत्त्वं भूयो न जायते॥ (६।१०।३२)

आत्मविदां हि तन्मनः परमुपशममागतं मृगतृष्णाजलमिव वर्षति जलदे हिमकण इव चण्डातपे विलीनं तुर्यदशामुपागतं स्थितम्॥ (४।३८।९)

भृष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना॥ (५।४२।१४)

जीवन्मुक्ता महात्मानो ये परावरदर्शिनः।
तेषां या चित्तपदवी सा सत्त्वमिति कथ्यते॥ (६।२।४२)

जीवन्मुक्तशरीरेषु वासना व्यवहारिणी।
न चित्तनाम्नी भवति सा हि सत्त्वपदं गता॥ (६।२।४३)

निश्चेतसो हि तत्त्वज्ञा नित्यं समपदे स्थिताः।
लीलया प्रकटाचार सत्त्वसंस्थितिहेलया॥ (६।२।४४)

विवेकविशदं चेतः सत्त्वमित्यभिधीयते।
भूयः फलति नो मोहं दग्धबीजमिवाङ्कुरम्॥ (६।२।४७)

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम्।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुनेश्चित्तादिविभ्रमाः॥ (६।२।४६)

मूढ चित्त ही चित्त कहलाता है, प्रबुद्ध चित्त सत्त्व कहलाता है। चित्त का दूसरा जन्म होता है सत्त्व का नहीं। आत्मज्ञानियों का मन अत्यन्त उपशमको वैसे प्राप्त होकर जैसे कि बादल के बरसने पर मृगतृष्णा की नदी का जल और तेज धूप के पड़ने पर बरफ का कण विलीन हो जाते हैं, तुर्य दशा में स्थित हो जाता है। जीवन्मुक्तों का हृदय शुद्ध

होकर इस प्रकार दूसरे जन्म को उत्पन्न नहीं करता जैसे कि भुना हुआ बीज नये अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। उन जीवन्मुक्त महात्माओं का चित्त, जिन्होंने उस तत्त्व का दर्शन कर लिया है जो यहाँ और वहाँ सब जगह है, सत्त्व कहलाता है। जीवन्मुक्त के शरीर में व्यवहार करनेवाली वासना का नाम चित्त नहीं है; वह सत्त्व कहलाती है। तत्वज्ञानी लोग जो नित्य समभाव में स्थित हैं चित्तरहित हो जाते हैं। वे सत्त्व के स्पन्दन द्वारा लीला से संसार में भ्रमण करते हैं। विवेक द्वारा शुद्ध किया हुआ चित्त 'सत्त्व' कहलाता है; जैसे भुने हुए बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही सत्त्व से मोह उत्पन्न नहीं होता। जो मुनि अन्तर्मुख होकर चित्तरूपी अग्नि में तीनों जगत्रूपी तृणों की आहुति देता रहता है उसके लिये चित्त आदि का भ्रम मिट जाता है।

(१०) जीवन्मुक्त और सिद्धियाँ :—

तत्वज्ञो वाप्यतत्त्वज्ञो यः कालद्रव्यकर्मभिः।
यथाक्रमं प्रयतते तस्योर्ध्वंत्वादि सिद्ध्यति ॥ (५।८९।१६)
आत्मवानिह सर्वस्मादतीतो विगतैषणः।
आत्मन्येव हि संतुष्टो न करोति न चेहते ॥ (५।८९।१७)
न तस्यार्थो नभोगत्या न सिद्ध्या न च भोगकैः।
न प्रभावेण नो मानैर्नाशामरणजीवितैः ॥ (५।८९।१८)
यस्तु वा भावितात्मापि सिद्धिजालानि वाञ्छति।
स सिद्धिसाधकैर्द्रव्यैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ (५।८९।२३)
द्रव्यकालक्रियामन्त्रप्रयोगाणां स्वभावजाः।
एतास्ताः शक्तयो राम यद्व्योमगमनादिकम् ॥ (५।८९।२७)
सदा स्वभाववशतो द्रव्यकालक्रियाक्रमाः।
नियतं साधयन्त्याशु प्रयोगं युक्तियोजिताः ॥ (५।८९।२९)
यथोदेति च यस्येच्छा [illegible] तथा [illegible] तथा।
यथाकालं तदाप्नोति ज्ञो वाप्यज्ञतरोऽपि वा ॥ (५।८९।३४)
याः फलावल्यो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः।
तास्तेनाधिगता राम निजात्प्रयत्नक्रमात् ॥ (५।८९।३[illegible])

तत्त्वज्ञानी हो या अज्ञानी हो, जो कोई काल, द्रव्य और क्रिया द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही आकाशगमन आदि

सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्त आत्मभाव में स्थित है उसकी सब वासनायें क्षीण हो गई है, वह सबसे परेके पद पर स्थित है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है। वह किसी प्रकार का यत्न नहीं करता। न उसे आकाश गमन आदि सिद्धियों से कुछ मतलब है, और न भोगों से; न उसे प्रभाव की इच्छा है और न सन्मान की; उसे न जीने की आशा है और न मरने का भय। यदि कोई आत्मज्ञानी भी सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहे तो वह भी सिद्धि के देने वाले द्रव्यों द्वारा उनको क्रम से प्राप्त कर सकता है। द्रव्य, काल, क्रिया, मन्त्र और प्रयोग की जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उनको वश में करने से आकाश गमन आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं। द्रव्य, काल, क्रिया और कम युक्ति से उपयोग में लाने पर अपने स्वाभाविक फलों को देते हैं। जिसके चित्त में जैसी इच्छा उत्पन्न होती है, वह, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, यत्न करके उसको यथा समय पूरी कर लेता है। जो जो सिद्धि-नामक फल जिस-जिसने प्राप्त किये हैं वे सब उन्होंने अपने-अपने ही पुरुषार्थ रूपी वृक्ष से पाये हैं।

(११) जीवन्मुक्त सब आपत्तियों से छूट जाता है :—

येत्ति नित्यमुदारात्मा त्रैलोक्यमपि यस्तृणम्। (४।३२।३७)
तं त्यजन्त्यापदः सर्वाः सर्पा इव जरत्त्वचम्॥ (४।३२।३८)
परिस्फुरति यस्यान्तर्नित्यं सत्त्वचमत्कृतिः। (४।३२।३८)
ब्राह्मण्डमिवाखण्डं लोकेशाः पालयन्ति तम्॥ (४।३२।३९)
न किञ्चिद्येन संप्राप्तं तेनेदं परमामृतम्।
सम्प्राप्यान्तः प्रपूर्णेन सर्वं प्राप्तमखण्डितम्॥ (५।३४।७६)

जो उदार चित्तवाला महात्मा त्रिलोकी को तृण के समान समझता है उसको छोड़कर सारी आपदायें ऐसे चली जाती हैं जैसे कि सांप अपनी पुरानी खाल (केंचुली) को। जिसके भीतर सदा सत्त्व का प्रकाश रहता है उसकी लोकपाल इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे सारे ब्रह्माण्ड की। जो कुछ भी नहीं लेता उसी को परम अमृत मिलता है जिसको पाकर वह सब कुछ अखण्ड और पूर्ण रूप से पा लेता है।

(१२) जीवन्मुक्त का जीवन ही शोभायुक्त जीवन है :—

यस्य नोत्क्रामति मतिः स्वात्मतत्त्वावलोकनात्।
यथार्थदर्शिनो ह्यस्य जीवितं तस्य शोभते॥ (५।३९।४६)

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभावेषु जीवितं तस्य राजते ॥ (६।३९।४७)
योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।४८)
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।४९)
अवस्तुसदृशे वस्तुन्यसक्तं कल्पनामके ।
येन लीनं कृतं चेतो जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५०)
सत्यां दृष्टिमवष्टभ्य लीलयेयं जगत्क्रिया ।
क्रियतेऽनासनं येन जीवितं तस्य राजते ॥ (६।३९।५१)
नान्तस्तुष्यति नोद्वेगमेति यो विहरन्नपि ।
हेयोपादेयसंप्राप्तौ जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५२)
शुद्धपक्षस्य शुद्धस्य हंसौघः सरसो यथा ।
यस्माद्गुणौघो निर्याति जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५३)
यस्मिन्श्रुतिपथं प्राप्ते दृष्टे स्मृतिमुपागते ।
आनन्दं यान्ति भूतानि जीवितं तस्य शोभते ॥ (६।३९।५४)
यद्यत्संसारजालेऽस्मिन्क्रियते कर्म भूमिप ।
तत्समाहितचित्तस्य सुखायान्यस्य नानघ ॥ (६।६२।२)
पूर्वं धिया विचार्यैते भोगा भोगिभयप्रदाः ।
भोक्तव्याश्चरमं राम गरुडेनेव पन्नगाः ॥ (६।७६।१८)
विचार्य तत्त्वमालोक्य सेव्यन्ते या विभूतयः ।
ता उदर्कोदया जन्तोः शेषा दुःखाय केवलम् ॥ (६।७६।१९)
असंसङ्गेन भोगानां सर्वा राम विभूतयः ।
परं विस्तारमायान्ति प्रावृषीव महापगाः ॥ (६।६८।४९)
बलं बुद्धिश्च तेजश्च दृष्टतत्त्वस्य वर्धते ।
सवसन्तस्य वृक्षस्य सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ (६।७६।२०)

जिस यथार्थदर्शी ज्ञानी की बुद्धि आत्मावलोकन से विचलित नहीं होती उसका ही जीवन शोभायुक्त है। जिसके अन्दर अहंभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि विषयों में लिप्त नहीं होती; जो सब भावों में सम रहता है, उसका ही जीवन शोभा पाता है। जो रागद्वेष से रहित है और शीतल बुद्धि से इस जीवन को साक्षी के समान देखता है, जीवन

उसका ही शोभित होता है। जिसने यथार्थ ज्ञान पाकर और हेय और उपादेय भावना को त्याग कर अपने मन के भीतर ही मन को स्थापित कर लिया है, जीवन उसी का शोभा पाता है। सच्ची दृष्टि को प्राप्त करके जो लीला से ही जगत् की क्रियाओं को वासनारहित होकर करता है जीवन उसका ही शोभायुक्त होता है। जो हेय और उपादेय विषयों में विचरण करता हुआ अपने मन में न उद्विग्न होता है और न हर्षित, जीवन उसका ही शोभित होता है। जैसे शुद्ध सरोवर से श्वेत हंसों की पंक्ति निकलती है वैसे ही जिसमें से सद्गुणों की पंक्तियाँ निकलती हैं, जीवन उसका ही शोभित होता है। जिसके गुणों को सुनकर, जिसको देखकर, जिसका स्मरण करके सब प्राणियों को आनन्द होता है जीवन उसका ही शोभायुक्त है। संसार में जो-जो काम किये जाते हैं उनसे समाहित चित्तवालों को ही आनन्द मिलता है, दूसरों को नहीं। बुद्धि द्वारा विवेक प्राप्त कर लेने पर ही सांप की नाईं भयदायक भोगों को इस प्रकार भोग करना चाहिये जैसे कि गरुड़ सांपों को खा जाता है। तत्त्व का विचार और दर्शन कर लेने पर विभूतियों का सेवन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है, अन्यथा दुःख मिलता है। जैसे वर्षा ऋतु में नदियाँ बड़ा आकार धारण कर लेती हैं वैसे ही दुःख रहित होकर भोगों को भोगने पर उनकी विभूतियाँ और अधिक हो जाती हैं। जैसे बसन्त ऋतु में वृक्षों की सुन्दरता और शोभा आदि गुण बढ़ जाते हैं वैसे ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य में बल, बुद्धि और तेज की वृद्धि हो जाती है।

(१३) शरीर के अन्त हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेह मुक्ति में प्रवेश करता है :—

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ (३।९।१४)

विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥ (३।९।१५)

सूर्यो भूत्वा प्रतपति विष्णुः पाति जगत्त्रयम्।
रुद्रः सर्वान्संहरति सर्गान्सृजति पद्मजः॥ (३।९।१६)

खं भूत्वा पवनस्कन्धं धत्ते सर्षिसुरासुरम्।
कुलाचलगतो भूत्वा लोकपालपुरास्पदः॥ (३।९।१७)

भूमिर्भूत्वा बिभर्तीमां लोकस्थितिमखण्डिताम् ।
तृणगुल्मलता भूत्वा ददाति फलसंततिम् ॥ (३।९।१८)
बिभ्रज्जलानलाकारं ज्वलति द्रवति द्रुतम् ।
चन्द्रोऽमृतं प्रसवति मृतं हालाहलं विषम् ॥ (३।९।१९)
तेजःप्रकटयत्याशास्तनोत्यन्ध्यं तमो भवत् ।
शून्यं सद्व्योमतामेति गिरिः सन् रोधयत्यलम् ॥ (३।९।२०)
करोति जङ्गमं चित्तः स्थावरं स्थावराकृतिः ।
भूत्वार्णवो वलयति भूमियं वलयो यथा ॥ (३।९।२१)
परमार्कवपुर्भूत्वा प्रकाशान्तं विसारयन् ।
त्रिजगत्त्रसरेण्वोघं शान्तमेवावतिष्ठते ॥ (३।९।२२)
यत्किञ्चिदिदमाभाति भातं भानमुपैष्यति ।
कालत्रयगतं दृश्यं तदसौ सर्वमेव च ॥ (३।९।२३)
मुक्तिरेषोच्यते राम ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं पूर्णात्पूर्णतराकृति ॥ (३।९।२४)

जैसे चलती हुई हवा स्थिर हवा में प्रवेश कर जाती है वैसे ही देह के काल द्वारा नष्ट हो जाने पर जीवन्मुक्त विदेह मुक्त हो जाता है। विदेह मुक्त न उदय होता है और न अस्त होता है; न उसका नाश होता है। न वह सत् रहता है न असत्, न कहीं दूर जाता है। न वह मैं हूँ न कोई दूसरा। (वह किसी कर्म के फल पाने के वशीभूत होकर शरीर धारण नहीं करता। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है वह जब चाहे जो रूप धारण कर ले)। वह सूर्य होकर जगत् को गर्मी देता है; विष्णु होकर त्रिलोकी का पालन करता है; रुद्र होकर सबका संहार करता है; ब्रह्मा होकर सृष्टि की रचना करता है; आकाश के रूप में वह सुर असुर और ऋषियों सहित वायु-मण्डल को धारण करता है; कुलाचल होकर लोकपालों के नगर को धारण करता है; भूमि होकर सारे लोकों को धारण करता है; तृण गुल्म और लता होकर फल फूलों को धारण करता है; जल का आकार धारण करके वह दौड़ता है; आग का आकार धारण करके वह जलाता है; तेज होकर आकाश देता है; तम होकर अन्धेरा फैलाता है; शून्य होकर आकाश बनता है; पर्वत होकर रुकावट पैदा करता है; चेतन होकर चेतन जीवोंको उत्पन्न करता है और जड़होकर जड़ वस्तुओं को; समुद्र होकर वह त्रिवली कीनाईं पृथ्वी को

घेरता है; परम सूर्य होकर प्रकाश को फैलाता है; तीनों जगत् के परमाणु रूप से वह शान्ति से स्थित रहता है; जो कुछ भी यह जगत् दिखाई पड़ा है, पड़ता है, या दिखाई देगा—अर्थात् तीनों कालों में दिखाई देनेवाला दृश्य जगत्—सब कुछ वही है। हे राम! इस अवस्था का नाम ही मुक्ति है; इसी को ब्रह्म कहते हैं; यही पूर्ण से भी परिपूर्ण स्वरूपवाला निर्वाण कहलाता है।

२९—स्त्रियाँ और योग

जिस योग-मार्ग का ऊपर वर्णन किया गया है और जो जीवन्मुक्ति के पद पर ले जानेवाला है, उसके ऊपर चलने का, वसिष्ठजी के अनुसार, सब मनुष्यों को अधिकार है; चाहे वे ब्राह्मण हों अथवा शूद्र; देव हों अथवा दैत्य; पुरुष हों अथवा स्त्री। यही नहीं, योगवासिष्ठ के पढ़ने से तो ऐसा मालूम पड़ता है कि योगसाधन में स्त्रियों को शीघ्रतया और अधिकतर सफलता हो सकती है, क्योंकि वे पुरुषों से अधिक तीव्र बुद्धिवाली और लगनवाली होती हैं। वे जिस बात के पीछे पड़ती हैं उसको सिद्ध किये बिना चैन नहीं लेतीं। लीला और चुडाला के उपाख्यान इस विषय में प्रमाण हैं। लीला ने सरस्वती की (जो स्वयं स्त्री थी) उपासना द्वारा जीवन और मरण का सारा रहस्य जान लिया था और अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। वह त्रिकालदर्शिनी होकर सभी ब्रह्माण्डों और लोकों में जा सकती थी, और उसने अपने मृत पति को दूसरे लोकों से बुलाकर जीवित कर लिया था। शिखिध्वज राजा की बुद्धिमती और चतुर रानी चुडाला ने अपने पति के योगसाधन के लिये सब कुछ त्यागकर वन चले जाने पर, उसके राज्य पर बड़ी निपुणता से राज्य करते हुए ही, अपने पति से पहिले आत्मज्ञान प्राप्त करके, प्रच्छन्न वेष से वन में जाकर उसे ब्रह्मज्ञान और जीवन्मुक्ति का परम सुन्दर उपदेश किया, और उसको जीवन्मुक्त बना दिया। वास्तव में, लीला और चुडाला के उपाख्यानों में योगवासिष्ठ के सारे सिद्धान्त आ जाते हैं। ये दोनों उपाख्यान योगवासिष्ठ का हृदय हैं। इनको पढ़कर पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि योगवासिष्ठ के अनुसार स्त्री का स्थान कितना ऊँचा है। वैराग्य प्रकरण में की हुई स्त्री निन्दा वसिष्ठ का मत नहीं है; वह मत है बाल और सद्यविरक्त रामचन्द्र का। वहाँ पर भी उनहीं स्त्रियों की निन्दा की गई है जो विषय-भोगों और कामवासनाओं की तृप्ति को ही अपने जीवन का ध्येय समझकर पुरुषों को अपने मोहजाल में फँसाने का

प्रयत्न करती रहती हैं। इसके विपरीत अच्छे कुल की और सुशील स्त्रियाँ अपने पतियों को संसार-सागर से पार उतारने में सहायक होती हैं। उनके सम्बन्ध में योगवासिष्ठ में कहा गया है :—

मोहादनादिगहनादनन्तगहनादपि
पतितं व्यवसायिन्यस्तारयन्ति कुलस्त्रियः ॥ (६।१०९।२६)
शास्त्रार्थगुरुमंत्रादि तथा नोत्तारणक्षमम् ।
यथैताः स्नेहशालिन्यो भर्तॄणां कुलयोषितः ॥ (६।१०९।२७)
सखा भ्राता सुहृद् भृत्यो गुरुर्मित्रं धनं सुखम् ।
शास्त्रमायतनं दासः सर्वं भर्तुः कुलाङ्गनाः ॥ (६।१०९।२८)

अर्थात्—अच्छे कुलों की प्रयत्नशील स्त्रियाँ मनुष्य को अनन्त और अनादि गहरे मोह से पार कर देती हैं, शास्त्र, गुरु और मंत्र आदि में से कोई भी संसार से पार उतारने में इतना सहायक नहीं है जितनी कि स्नेह से भरी हुई अच्छे कुलों की स्त्रियाँ अपने पति की सखा, बन्धु, सुहृद्, सेवक, गुरु, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, मन्दिर, दास आदि सभी कुछ होती हैं।

यदि किसी मुमुक्षुको ऐसी समान विचारों वाली सहगामिनी मिल जाए तो, योगवसिष्ठ के अनुसार, इस संसार में इससे अधिक आनन्द-दायक कुछ नहीं है :—

समस्तानन्दवृन्दानामेतदेवोपरि स्थितम् ।
यत्समानमनोवृत्तिसङ्गमास्वादने सुखम् ॥ (६।८५।४३)

संसार के सब आनन्दों से बढ़कर वह सुख है जो कि समान मनोवृत्ति वाले दम्पती को एक दूसरे की संगत में प्राप्त होता है।

३९—उपसंहार

श्री योगवासिष्ठ महारामायण के दार्शनिक सिद्धान्तों का विशेष विवरण समाप्त हो चुका। यहाँ पर यदि उनको संक्षिप्त और सूक्ष्म रूप में पाठकों के सामने दुहरा दिया जाए तो अनुचित न होगा। वसिष्ठजी के सिद्धान्तों का सार यह है :—

मनुष्य के जीवन के अधिकतर अथवा सभी दुःखों का कारण उसका अज्ञान है। जितना-जितना मनुष्य को अपने और जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता जाएगा उतना ही मनुष्य का दुःख कम होता चला जाएगा। पूर्ण आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर और तदनुसार आचरण करने पर, मनुष्य के सब दुःख क्षीण हो जाते हैं, और उसे परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इस परम आनन्द और परम शान्ति को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक जीव को अपने आप ही पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये। बिना पुरुषार्थ किये, किसी दूसरे की कृपा-मात्र से, मनुष्य को उस परम पद की प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये उसका अधिकारी बनना चाहिये। आत्मज्ञान का अधिकारी बनने के लिये विचार, साधु-सङ्ग, समता और सन्तोष की आवश्यकता है। इनके अभ्यास से मन शुद्ध और शान्त हो जाता है और नित्य आध्यात्मिक साधनों को करते-करते एक दिन आत्मा अथवा ब्रह्म के वास्तविक रूप का साक्षात्कार कर लेता है। बिना अपने आप साक्षात्कार किये तत्त्वज्ञान नहीं होता। जगत् और ईश्वर के वास्तविक रूप का ज्ञान केवल आत्मानुभव द्वारा ही हो सकता है; उसका और कोई दूसरा साधन नहीं है।

जिन लोगों ने तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है उनके अनुसार सारे जगत् में एक ही तत्त्व का प्रकाश है—द्रष्टा और दृश्य दोनों एकही चिन्मात्र तत्त्व के रूपान्तर हैं—सारे द्रष्टा और सारे दृश्य पदार्थ वास्तव में चिन्मय हैं। संसार के सारे पदार्थ चिति की कल्पनाएँ हैं। देश और काल भी कल्पित और मन के ऊपर निर्भर हैं। कल्पना के अतिरिक्त पदार्थों में कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। संसार की स्थिरता और निश्चलता भी मनकी ही कल्पनायें हैं। कल्पना ही जड़ता का आकार

धारण कर लेती है। सारे दृश्य पदार्थों का उदय द्रष्टा के मन से ही होता है और वे सब मन के ही अङ्ग हैं। वास्तव में स्वप्न-जगत् और बाह्य जाग्रत) जगत् में कोई भेद ही नहीं है। यह सारा जगत् एक स्वप्न ही है। प्रत्येक जीव के भीतर यह जगत्स्वप्न पृथक्-पृथक् उदय हो रहा है अतएव प्रत्येक जीवका विश्व दूसरे जीव के विश्व से भिन्न है। समानता के कारण ही सबका एक ही विश्व जान पड़ता है। प्रत्येक जीव अपने-अपने विश्व की सृष्टि और प्रलय (अंशतः अथवा पूर्णतया) करता रहता है। तो भी सब जीवों का मूलरूप एक समष्टि जीव अथवा समष्टि मन है जिसका नाम ब्रह्मा है। ब्रह्मा से ही सब व्यष्टि जीवों और उनके संसारों की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक जीव उसी रीति और उसी प्रकार से अपने-अपने विश्व की रचना करता रहता है जैसे कि ब्रह्मा सारे ब्रह्माण्ड की करता है। संसार में जीवों की संख्या अनन्त है। अतएव सृष्टियों की भी। प्रत्येक सृष्टि के भीतर अनन्त जीव हैं, और प्रत्येक जीव के भीतर उसकी सृष्टि है— यह परम्परा भी अनन्त है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु के भीतर ब्रह्माण्ड की समस्त अनन्त शक्ति का भण्डार है। अतएव सब कुछ सदा और सब जगह है, और ऐसा होना सम्भव है। सब सृष्टियाँ एक सी नहीं हैं। नाना प्रकार की सृष्टियाँ हैं। सब सृष्टियों की उत्पत्ति और प्रलय होता है। कोई सृष्टि नित्य नहीं है। कल्प के अन्त में सब सृष्टियाँ नष्ट होकर विलीन हो जाती हैं। केवल परम ब्रह्म अपनी प्रकृति-शक्ति को अपने भीतर समाये हुए स्थित रहता है। सब सृष्टियों की उत्पत्ति उसी क्रम से होती है जिससे कि स्वप्न सृष्टि की होती है। वासना ही सृष्टिका मूल कारण है। सृष्टि तीन प्रकार के आकाशों में स्थित है—भूताकाश (स्थूल), चित्ताकाश (सूक्ष्म) और चिदाकाश (कारण)। जो कुछ संसार में होता है वह सब नियम से होता है। नियति का सब ओर साम्राज्य है। परन्तु नियति कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। नियति मन की ही बनाई हुई है। मन चाहे तो अपनी अपार शक्ति और अपने कठिन पुरुषार्थ से नियति को बदल सकता है और उस पर विजय प्राप्त कर सकता है।

मन क्या है? मन का स्वरूप अनन्त और अपार है। मन और ब्रह्म में कोई भेद ही नहीं है। ब्रह्म ही अपनी सङ्कल्प-शक्ति द्वारा सृष्टि करने के लिये मन के आकार में प्रकट होता है। मन के अनेक रूप हैं।

मन जैसी-जैसी क्रिया करता है वैसा ही उसका रूप और नाम हो जाता है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, मल, माया, प्रकृति, ब्रह्मा आदि देवता, जीव, आतिवाहिक देह, इन्द्रिय, पुर्यष्टक, भौतिक शरीर और बाह्य पदार्थ--ये सब मन के ही अनेक नाम और रूप हैं। मन ही जीव है, वही अहङ्कार हो जाता है, वही शरीर का रूप धारण कर लेता है। संसार के जितने बन्धन हैं, और जितनी इयत्ता (महदूदियत) है, वे सब मन ने अपनी वासना के लिये बनाये हैं। मन ही एक से अनन्त और नाना प्रकार के जीव हो जाता है। जीवों की सात अवस्थाएँ—बीज-जाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति—हैं। जीव सात प्रकार के होते हैं:—स्वप्न-जागर, सङ्कल्प-जागर, केवल-जागर, चिर-जागर, घन-जागर, जाग्रत्स्वप्न और क्षीण-जागर। सारे जीव इन १५ जातियों में विभक्त किये जा सकते हैं:—इदंप्रथमता, गुणपीवरी, ससत्त्वा, अधमसत्त्वा, अत्यन्ततामसी, राजसी, राजससात्त्विकी, राजसराजसी, राजसतामसी, राजसात्यन्ततामसी, तामसी, तामससत्त्वा, तमोराजसी, तामसतामसी, और अत्यन्ततामसी। ये सब प्रकार के जीव ब्रह्मा (समष्टि मन) से उत्पन्न होते हैं, और इन सबकी उत्पत्ति और लय एक ही प्रकार के नियमों से होती है। संसार का ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसके भीतर मन (जीव) न हो।

मन का जैसे स्वरूप अनन्त है वैसे ही उसकी शक्तियाँ भी अनन्त और अपार हैं। मन में सब प्रकार की शक्तियाँ हैं। मन जगत् की सृष्टि करता है, और सृष्टि के करने में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। प्रत्येक मन में इस प्रकार की स्वतन्त्र शक्ति है। प्रत्येक मन जो चाहे सब सम्पादन कर सकता है। हमारी सब परिस्थिति हमारे मन के विचारों के अनुरूप मन की शक्ति द्वारा ही रची हुई है। जैसी दृढ़ जिसकी भावना होती है वैसा ही उसकी शक्ति का प्रकाश होता है। दृढ़ निश्चय और अभ्यास द्वारा मन जो चाहे सो प्राप्त कर लेता है। जैसा जिसका मन है वैसी ही उसकी गति होती है। भौतिक शरीर भी मन का ही रचा हुआ है; इसका आकार और रूप मन के ही आधीन है। मन शरीर को अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये इस प्रकार बनाता है जैसे कुम्हार अपनी इच्छा के अनुसार बर्तन को बनाता है। शरीर के सब रोग मानसिक अशान्ति, व्यथा और अव्यवस्था से उत्पन्न होते हैं,

और इनके दूर हो जाने पर दूर हो जाते हैं। शरीर के रोगों का नाम व्याधि है और मन के रोगों का नाम आधि है। आधि से व्याधि की उत्पत्ति होती है और आधि के दूर हो जाने पर व्याधि दूर हो जाती है। आधि और व्याधि दोनों की जड़ मूल आधि अर्थात् आत्मा का अज्ञान है। उसके ज्ञान द्वारा दूर हो जाने पर आधि व्याधि सब ही समूल नष्ट हो जाती हैं। जीवन को शान्त और सुखी बनाने का उपाय भी मन को शुद्ध, उच्च और महान् बनाना ही है। जीवन को सब प्रकार सुखी और निरोग रखने का एकमात्र उपाय है मन की शुद्धि। मन जब शान्त और सुखी है तो सारा संसार शान्त और सुखी दिखाई पड़ता है। व्यथित मनवाले को संसार में आग सी लगी हुई दिखाई पड़ा करती है। शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जब तक मन में अज्ञान है तभी तक जीव संसाररूपी अन्धकार में पड़ा हुआ हाथ पैर पीटता रहता है। वास्तव में मन जगत्-रूपी पहिये की नाभि है जिसको जोर से पकड़ लेने पर सारा संसार वश में हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में अलौकिक और असाधारण शक्ति या सिद्धि प्राप्त करने की वासना रहती है, और वह वासना तब-तक रहती है जब तक कि मनुष्य पूर्णता का अनुभव नहीं कर लेता। परम पूर्णता तो ब्रह्मानुभव द्वारा ही प्राप्त होती है। जब तक ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति नहीं होती तब तक मनुष्य सिद्धियों के लिये इधर-उधर टक्कर मारता है और अनेक साधन करता रहता है। इन साधनों द्वारा प्रयत्न करने से मनुष्यों को अनेक सिद्धियों अर्थात् असाधारण शक्तियों की प्राप्ति हो जाती है। योगवासिष्ठ में सिद्धियों के प्राप्त करने के तीन विशेष साधन बताये हैं:—(१) मन की शुद्धि (२) कुण्डलिनी शक्ति का उद्बोधन तथा नियमित संचालन और (३) प्राणायाम। जो इन साधनों का यथोचित रीति से अभ्यास कर लेता है उसको अनेक प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मनुष्य कोई भी सिद्धि प्राप्त कर ले, उसको परम आनन्द और परम तृप्ति की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान लेता। आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझने के लिये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या अवस्थाओं का भली भाँति अध्ययन कर लेना चाहिए। तब वह समझ में आ जाएगा कि उस आत्मा का जो कि इन चारों अवस्थाओं में वर्तमान रहता है क्या स्वरूप है।

हम लोग प्रायः जाग्रत् अवस्था को ही प्रधान अवस्था समझते हैं, और इस अवस्था में व्यवहार करनेवाले शरीर को ही अपना आप (अहंभाव) समझते हैं। यह विचार युक्ति और अनुभव दोनों के विरुद्ध है, और सन्तोषजनक नहीं है। इससे ऊँचा और अधिक सन्तोषजनक विचार उन लोगों का है जो कि मन को आत्मा मानते हैं। मन को आत्मा माननेवालों से उच्च विचार उनका है जो मन से सूक्ष्म रूपवाले मन की गति को देखने और चलाने वाले, सब दृश्य भावों से परे रहने वाले सूक्ष्म जीवात्मा को आत्मा समझते हैं। ऐसा माननेवालों के मत में यह जीवात्मा शरीर से बिल्कुल अलग रहने वाला एक सूक्ष्म तत्त्व है जो कि शरीर से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। आत्मसम्बन्धी इन सब विचारों अथवा निश्चयों से श्रेयस्कर, युक्ति और अनुभव के अनुकूल और सबसे अधिक सन्तोषजनक, योगवासिष्ठकार का वह मत है जो आत्मा और समस्त विश्व के बीच में कोई दीवार नहीं मानता। आत्मा की कहीं पर इयत्ता नहीं है। हमारा आत्मा शरीर, मन और जीवतक ही परिमित नहीं है। वह तो समस्त विश्व में ओत-प्रोत है। जगत् में कोई काल और स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मेरा आत्मा नहीं है। जगत् की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें मेरा आत्मा नहीं है। जगत् मुझमें है और मैं जगत् में हूँ। जो इस प्रकार अनुभव करता है वही आत्मा का वास्तविक रूप जानता है; और ऐसा अनुभव कर लेने पर ही जीवन में पूर्णता आती है।

जब तक मनुष्य की इस दृष्टि में स्थिति नहीं हो जाती और जबतक वह अपने आप को देश, काल और वस्तुओं में परिमित समझता है, तब तक उसको जन्म और मरणरूपी संसार में गोते खाने पड़ते हैं। उसको यह भी पता नहीं चलता कि जन्म और मरण का रहस्य क्या है और क्यों उसको मौत आती है। प्रायः जिनका अहंभाव स्थूल शरीर तक ही परिमित रहता है वे ही मौत से डरा करते हैं—वे ही समझते हैं कि मौत से उनकी हस्ति (अस्तित्व) का खात्मा (अन्त) हो जायगा। सारी ज़िन्दगी उनको मौत का भय सताया करता है और उससे बचने का वे अनेक प्रकार से यत्न करते हैं। यदि हमको मौत का रहस्य भी मालूम न हो तो भी मौत से डरने का कोई कारण नहीं है। यदि मौत द्वारा किसी व्यक्ति का सर्वनाश ही हो जाता है तो क्या बुराई है? मानो जीवन के सब झंझटों और सुख-दुःखों से सदा के लिये छुट्टी मिली।

और यदि मौत के पीछे हमको दूसरा जीवन मिलता है तो भी बहुत प्रसन्नता का अवसर है, क्योंकि जरा और व्याधियों से जर्जरित हुए इस शरीर को, और जिस स्थान पर रहते-रहते हम ऊब गये हैं उस स्थान को, छोड़कर हमको नया शरीर और नई परिस्थिति मिलेगी। इससे अच्छी भला और क्या बात हो सकती है ? दुःख हमको केवल आसक्ति और मोह के कारण होता है। हमारी इस भौतिक शरीर से, मित्रों, सम्बन्धियों और परिस्थितियों से जो आसक्ति हो जाती है वही हमको मौत से डराती है, और उसी के कारण हमको मरते समय अनेक मानसिक और उनसे उत्पन्न होनेवाले शारीरिक कष्ट होते हैं। जो ज्ञानी हैं और जिनकी दृष्टि विस्तृत है, उनको मौत से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। वे शान्ति और आनन्दपूर्वक इस जीर्ण शरीर को त्यागकर अपने पुण्य कर्म्मों के कारण उत्तम से उत्तम लोकों का अनुभव करते हैं। उनको इस संसार से भी कहीं अच्छे संसारों का अनुभव होता है, और वे उन संसारों में अपने मन की पवित्र वासनाओं की पूर्ति का अनुभव करते रहते हैं। अज्ञानी, पापी और मूर्ख लोगों को मरते समय तो कष्ट होता ही है, वे मरने के पश्चात् भी अपने पूर्व पाप-कर्मानुसार अधम लोकों का अनुभव करते हैं, और उनमें पड़कर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं। मौत क्या है ? केवल जीव के अनुभव की तबदीली का नाम मौत है। मरकर जीव एक दृश्य जगत् और शरीर का अनुभव छोड़कर दूसरे दृश्य जगत् और शरीर का अनुभव करने लगता है और यह अनुभव जीव की वासना और कर्म्मों के अनुसार होता है। जैसे-जैसे संस्कार और भावनायें परलोक के सम्बन्ध में जीव के भीतर रहती हैं वैसे-वैसे ही लोकों का वह अनुभव करता है। परलोकों का अनुभव करके, इस भौतिक संसार की अनेक अपूर्ण वासनाओं के कारण, जीव को फिर यहीं आना पड़ता है। जिनके मन में यहाँ की वासनायें नहीं रहतीं वे यहाँ पर नहीं आते। जो योग का अभ्यास करते-करते मर जाते हैं वे जीव परलोक का अनुभव करके, यथायोग्य कुल में जन्म लेकर, फिर अपने पूर्व अभ्यास की ऊँची भूमिकाओं पर चढ़ने लगते हैं। यह जन्म-मरण का अनुभव तभी तक होता है जब तक कि जीव आत्म-ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त नहीं हो जाता। जीवन्मुक्त जीव जन्म-मरण के नियम से मुक्त हो जाता है, क्योंकि जन्म-मरण तो शरीर और मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं—वह तो अमर है। यद्यपि मौत का आना

अनिवार्य है तो भी आयु को यथेच्छ दीर्घ किया जा सकता है—ऐसा करने का विशेष उपाय पवित्र, शान्त और निर्मोह जीवन है।

व्यष्टि-मन की ओर से अब हम दृष्टि को हटाकर समष्टि मन की ओर ले जाते हैं। सारे विश्व का—जिसमें कि अनन्त जीव और उनके संसार हैं—सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है। ब्रह्मा का वास्तविक स्वरूप मन है। ब्रह्मा की उत्पत्ति परम ब्रह्म से होती है। यह ब्रह्मारूपी मन ब्रह्म का स्वाभाविक लीला-जनित स्पन्दन है। इस स्पन्दन द्वारा ब्रह्म ब्रह्मा का आकार धारण कर लेता है। यह आकार ब्रह्म की सङ्कल्प-शक्ति का, हेतु-रहित, सङ्कल्पमय रूप में प्रकट होना है। ब्रह्मा की उत्पत्ति किसी पूर्व कर्म के अनुसार नहीं होती। उसका आकार सूक्ष्म है, स्थूल नहीं है। ब्रह्मा इस प्रकार उदय होकर सृष्टि की रचना करता है, और उसकी रची हुई सृष्टि मनोमय है। प्रत्येक कल्प की सृष्टि अपूर्व और नई है।

ब्रह्म की जिस स्पन्दन-शक्ति का प्रकाश ब्रह्मा के आकार में होता है उसको ही प्रकृति और माया कहते हैं। ब्रह्म में और भी अनन्त और अनेक शक्तियाँ हैं। ब्रह्म और उसकी शक्ति दो पदार्थ नहीं हैं। ब्रह्म की स्पन्दन-शक्ति सदा ही ब्रह्म के आश्रित रहती है, और उससे अनन्य है। सृष्टि के समय वह आकार धारण करती है और प्रलय के समय वह ब्रह्म में लीन हो जाती है।

उस परम ब्रह्म का, जिसकी एक मात्र शक्ति से जगत् की सृष्टि, रक्षा और प्रलय होते हैं, क्या स्वरूप है यह कहना मनुष्य के लिये प्रायः असम्भव सा ही है—क्योंकि मनुष्य के पास जितने शब्द, भाव और विचार हैं वे सब द्वन्द्वात्मक जगत् की वस्तुओं के द्योतक हैं। जो तत्त्व दोनों प्रतियोगी पदार्थों का आत्मा है और जगत् के भीतर और बाहर है; और जिससे जगत् के सब दृश्य पदार्थ और उनको जानने वाले द्रष्टाओं की उत्पत्ति हुई है, वह भला उन शब्दों द्वारा कैसे वर्णन किया जा सकता है जो कि इन सबके ही वर्णन करने के लिये बने हैं? इसलिये ब्रह्म का वर्णन नहीं हो सकता। वह न यह है और न वह है; इसमें भी है, उसमें भी है, और इस और उस दोनों से परे भी है। ब्रह्म को न एक कह सकते हैं और न अनेक, क्योंकि दोनों सापेक्षक हैं। ऐसे ही न ब्रह्म को भावात्मक कह सकते हैं न शून्यात्मक; ब्रह्म न ज्ञान है और न अज्ञान; न तम है न प्रकाश; न जड़ है और न चेतन; न आत्मा है न अनात्मा। ब्रह्म का क्या स्वभाव है यह कहना भी असम्भव है। ब्रह्म

का कोई विशेष नाम भी नहीं हो सकता। ब्रह्म के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह वह परम तत्त्व है जिससे जगत् के सब ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित रहते हैं; और जिसमें विलीन हो जाते हैं; जिससे दृश्य, द्रष्टा और दृष्टि उदय होकर उसमें स्थित रहकर उसी में विलीन हो जाते हैं; जो अनुभव में आने वाले सभी प्रकार के आनन्दों का उद्गम है। ब्रह्म अपने उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ से कहीं सुन्दर और परिपूर्ण होना चाहिये, क्योंकि कारण हमेशा कार्य से अधिक पूर्ण होता है। उसका स्वरूप सभी आधिभौतिक पदार्थों, मन, जीव और आत्मा आदि सभी पदार्थों के स्वरूप से उत्कृष्ट होना चाहिये। उसकी शक्ति सभी व्यक्त पदार्थों और प्राणियों की शक्ति से अधिकतर होनी चाहिए। उसका ज्ञान सर्वज्ञ होना चाहिए। वह सदा, सब जगह, सब वस्तुओं में परिपूर्ण रूप से वर्त्तमान है। वही सब कुछ, सदा और सब जगह है। वह महान् से भी महान्, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, और दूर से भी दूर और समीप से भी समीप है; वही सबका आत्मा है और वही सबका अन्तिम आदर्श है। उसीके भीतर प्रत्येक जीव अणुतम रूपसे उदय होकर शनैः शनैः महत्ताको प्राप्त होकर तदाकार होकर शान्त हो जाता है। उसमें सारी सृष्टि बीज रूपसे सदा ही स्थित रहती है। उसके सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जो कुछ भी जहाँ कहीं है वह वही है। यह सारा जगत् ब्रह्म का बृंहण मात्र है। तीनों जगत् (भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् अथवा पृथ्वी, आकाश और पाताल) ब्रह्मके भीतर ही स्थित हैं; जगत् में ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। ब्रह्म ही प्रत्येक पदार्थ के रूप में प्रकट हो रहा है। इस प्रकार प्रकट होना उसका स्वभाव ही है। किसी बाह्य कारण द्वारा ऐसा नहीं होता है। सारा सृष्टि-क्रम ब्रह्म के भीतर निमेष मात्र की क्रिया या स्पन्दन है। ब्रह्म स्वयं एक रूप है परन्तु उसमें अनेक रूपों में प्रकट होने का शक्ति और अनेक रूपों में प्रकट होते हुए भी ब्रह्म की एक रूपता में क्षति नहीं आती। नानाता एकता के भीतर है। ब्रह्म अपनी सत्ता मात्र से ही सृष्टि करता रहता है। वास्तव में उसकी सत्ता में किसी प्रकार का विकार नहीं आने पाता।

अनन्त प्रकार की सृष्टियाँ होते हुए भी ब्रह्म से अन्य संसार में कोई पदार्थ नहीं है। ब्रह्म से अभिन्न यहाँ कुछ नहीं है। प्रकृति और ब्रह्मका, मन और ब्रह्म का; जगत् और ब्रह्म का सदा ही तादात्म्य सम्बन्ध है।

ब्रह्म जगत् के बिना कभी नहीं रहता, सृष्टि न होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से जगत् ब्रह्म में रहता ही है। जगत् की सत्ता तो ब्रह्म ही की सत्ता है। सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है।

यदि सत् उसको कहते हैं जो सदा अपने रूप में स्थित रहे और असत् उसे कहते हैं जो कभी अनुभव में ही न आवे, अथवा यदि सत् वह है जिसका कभी नाश न हो और असत् वह है जिसकी कभी सत्ता ही न हो, तो जगत् को न सत् कह सकते हैं और न असत्, क्योंकि जगत् का नाश भी होता है और जगत् की सत्ता का भी अनुभव होता है। दूसरी रीति से, जगत् सत् भी है और असत् भी, क्योंकि वह देखने में भी आता है और नाशवान् भी है। जो वस्तु सत् भी हो और असत् भी; न सत् हो और न असत् हो, उसका नाम मिथ्या है। प्रायः जितने भ्रम होते हैं वे सब मिथ्या होते हैं। जगत् और उसके सभी पदार्थ इसी प्रकार मिथ्या और भ्रमात्मक हैं। भ्रम का ही नाम अविद्या है। उसी को माया भी कहते हैं। वास्तव में जगत् माया है (मा-या= जो है नहीं), अविद्या है (अ=न-विद्यते=जो है ही नहीं)। जगत् तभी तक अनुभव में आता है जब तक अज्ञान वश हमको इसके सत्य होने का भ्रम हो रहा है। जगत् की सत्ता मूर्खों के मन में ही है; ज्ञानियों के लिये यह सत्य नहीं है। सत्य पदार्थ के ज्ञान से उसमें उत्पन्न हुए भ्रम का नाश हो जाता है। अविद्या के लीन हो जाने पर जगत् का भ्रम आत्मा में ही लीन हो जाता है।

सब से ऊँची आध्यात्मिक दृष्टि वह है जिसमें यह समझ में आ जाये कि यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जगत् का न ब्रह्म में उदय होता है और न अस्त। जगत् न कभी उत्पन्न होता है और न लीन होता है। क्योंकि जो वस्तु सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकती और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकती। ब्रह्म सदा ही ब्रह्म है; वह ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरी वस्तु कभी नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि जगत् को ब्रह्म ने उत्पन्न किया है तो वह ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि पूर्ण और नित्य ब्रह्म क्यों अपूर्ण और अनित्य पदार्थों की उत्पत्ति करेगा। जगत् ब्रह्म का विकार है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म की जगत् में ऐसे परिणति नहीं होती जैसे कि दूध की दही में—ब्रह्म तो सदा ही अपने नित्य रूप में स्थित

रहता है। यदि उसमें परिणति होने लगे तो वह नित्य कैसे रहेगा? ब्रह्म को जगत् का बीज भी नहीं कह सकते, क्योंकि बीज से वृक्ष की उत्पत्ति बीज के नाम रूप नष्ट हो जाने पर होती है। ब्रह्म जगत् को उत्पादन करने में अपने स्वरूप का नाश नहीं करता। ब्रह्म और जगत् का कारण और कार्य का भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कार्यरूप में परिणत होने पर कारण को अपना पूर्व नाम और रूप खो देना पड़ता है। ब्रह्म का स्वरूप तो नित्य है उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं माना जा सकता। इन सब विचारों से यह सिद्ध होता है कि जगत् कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ब्रह्म ने उत्पन्न की हो, या ब्रह्म का विकार हो, या ब्रह्म का कार्य हो। ब्रह्म से अतिरिक्त या भिन्न जगत् नामक वस्तु नाममात्र को भी यहाँ मौजूद नहीं है; न उत्पन्न हुई है, और न उसके उत्पन्न होने की सम्भावना ही है। केवल एक ही बात जगत् के सम्बन्ध में कह सकते हैं। जगत् केवल एक भ्रम है जो कि ब्रह्म के आधार पर उत्पन्न होता और नष्ट होता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जगत् ब्रह्म का विवर्त मात्र है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ रहा है। जबतक अज्ञान है तभी तक यह भ्रम है; ज्ञान के उदय होने पर यह भ्रम लुप्त हो जाता है। क्यों ब्रह्म में अज्ञान और तज्जन्य विवर्त है इसका उत्तर इसके सिवाय और कुछ नहीं है-कि यह ब्रह्म का स्वभाव ही है। ब्रह्म जगत् रूप से प्रकट होता ही रहता है। स्वयं ब्रह्म पूर्ण अविकारी है। जगत् की दृष्टि से ही वह विकारी दिखाई पड़ता है। ज्ञान होने पर न विवर्त रहता है और न यह भ्रम।

मनुष्य की ज्ञान-पिपासा तब तक पूर्णतया शान्त नहीं होती जब तक वह इस पूर्ण और उच्चतम दृष्टि को प्राप्त नहीं कर लेता। इसी प्रकार उसकी आनन्द प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा तब तक पूर्ण नहीं होती जब तक कि वह अपने वास्तविक स्वरूप में, जो कि पूर्ण ब्रह्म ही है, स्थित नहीं हो जाता। प्रायः सभी प्राणी आनन्द की खोज में रहते हैं; किन्तु अधिकतम प्राणी आनन्द से वञ्चित ही रहते हैं क्योंकि वे आनन्द की ऐसी जगह तलाश करते हैं जहाँ पर वह नहीं मिल सकता। विषयों के भोग में जहाँ पर कि सब लोग आनन्द को खोजते हैं— आनन्द का निवास नहीं है। विषयों के भोग तो दूर से देखने मात्र से ही आनन्ददायक प्रतीत होते हैं। वास्तव में वे आनन्ददायक नहीं हैं। जितने विषय सुख हैं वे सब दुःख में परिणत होनेवाले हैं। सारे विषय-

भोग इस रीति से असार हैं।- उनमें आनन्द की खोज करना व्यर्थ है। संसार के सब विषयों के भोगों की प्राप्ति होने पर भी मनुष्य को सच्चे और दुःख-रहित आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। संसार के जितने सुख हैं वे विषयों की प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाली अशान्ति और दुःख का नाश होने पर आत्मा की निज रूप में शान्त स्थिति के नाम हैं। विषयों की प्राप्ति से उनकी प्राप्ति की इच्छा शान्त हो जाती है और उस इच्छा की पूर्ति न होने से जो बेचैनी रहती थी वह भी शान्त होकर आत्मा के स्वाभाविक आनन्द का क्षणिक अनुभव होता है। इसको मनुष्य अपने अज्ञान से विषय से उत्पन्न होनेवाला सुख समझने लगता है। यदि सुख विषय से मिलता तो फिर विषय की प्राप्ति और भोग पर तुरन्त ही वह दुःख में क्यों परिणत हो जाता? विषय तभी तक सुखदाई मालूम पड़ते हैं जब तक उनकी प्राप्ति नहीं होती। एक विषय के प्राप्त हो जाने पर दूसरे विषय की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक इच्छा दुःख देनेवाली है। अपने नाश से ही वह सुख देती है। विषय की प्राप्ति इच्छा का नाश करती है। यदि हमारे मन में किसी भी विषय की इच्छा न हो और हम आत्मा में स्थित रहकर यथा प्राप्त कार्मो को और स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहें तो हमको सदा ही अविच्छिन्न आनन्द का अनुभव होता रहेगा। संसार के सारे सुख आत्मानन्द के लेशमात्र भी नहीं हैं, क्योंकि वे सब अभावात्मक हैं और निजानन्द भावात्मक।

इस निजानन्द का पूर्णतया अनुभव तब तक नहीं होता जब तक कि जीव मुक्त नहीं हो जाता। बन्धन की अवस्था सुख-दुःख की अवस्था है। मोक्ष की अवस्था परम आनन्द की अवस्था है। अपने को ब्रह्म अनुभव करना मोक्ष है और शरीर, मन या जीव अनुभव करना बन्धन है। बन्धन को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के ये कारण हैं:—(१) वासना, (२) अपने को परिमित समझना, (३) मिथ्या भावना, (४) आत्मा को भूल जाना, (५) अनात्म पदार्थों में अहंभावना और (६) अज्ञान। मोक्ष का अनुभव करने के लिए शरीर का त्याग करना आवश्यक नहीं है। शरीर सहित और शरीर बिना भी मोक्ष का अनुभव होता है; प्रथम सदेह मोक्ष (जीवन्मुक्ति) और दूसरा विदेह मोक्ष (विदेह-मुक्ति) कहलाता है। दोनों के अनुभव में कोई विशेष भेद नहीं है। मुक्ति जड़वत् स्थिति का नाम नहीं है। मुक्ति में चेतना की पराकाष्ठा

होती है। अचेतन स्थिति में आगे (भविष्य में) चेतन होनेवाली वास-नायें सोई रहती हैं। मुक्ति में आत्मा वासना-रहित हो जाता है।

मोक्ष की दशा को प्राप्त करने का कौनसा निश्चित और सच्चा उपाय है? योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञान के सिवाय मोक्षप्राप्ति का और दूसरा कोई उपाय नहीं है। आत्मज्ञान से मोक्ष का अनुभव उदय होता है। मोक्षप्राप्ति के निमित्त किसी देवी, देवता अथवा गुरु की उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। समझदार मनुष्य को तो आत्मदेव के सिवाय किसी और दूसरे देवता की आराधना नहीं करनी चाहिये। कोई देवता या गुरु विचार-रहित पुरुष को आत्मज्ञान नहीं प्रदान कर सकता। आत्मज्ञान का उदय तो केवल आत्म-विचार से होता है। ईश्वर सब के हृदय में निवास करता है। भीतर के ईश्वर को छोड़कर जो लोग बाहर ईश्वर की खोज करते हैं वे मूर्ख हैं। ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से और आत्मपूजा से होती है। ज्ञानी लोग संसार में सब कर्मों को आत्मदेव को निवेदन करके आत्मदेव की पूजा करते हैं। आत्मा की प्राप्ति की इच्छा, आत्मा का वर्णन, आत्मा ही का ध्यान, आत्मा को ही सब कर्मों और भोगों का समर्पण—ये सब देवों के देव आत्मदेव के प्रसन्न करने की विधि हैं। मोक्षप्राप्ति के लिये संसार और कर्मों को त्यागने की भी आवश्यकता नहीं है।— क्योंकि जबतक संसार-भावना मन में है तबतक संसार से छुटकारा नहीं होता, और जबतक जीवपन, मनस्ता और शरीरभाव है तबतक धर्म करना ही पड़ता है। कर्म और पुरुष में भेद नहीं है। हमारा व्यक्तित्व कर्म ही से निर्मित है। जबतक व्यक्तित्व है कर्म होता ही रहेगा। मोक्ष दशा में कर्म के त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वासना और सङ्ग-रहित कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। अत-एव मोक्ष के लिये न किसी देवता की उपासना करनी है और न कर्मों का त्याग ही करना है। करना क्या है? आत्मज्ञान-प्राप्ति। वह होती है अपने ही पुरुषार्थ और विचार से। विचार तब होता है जब कि चित्त शुद्ध हो जाए। चित्त की शुद्धि शुभ कर्मों के करने से, साधुओं की सङ्गत से और शास्त्रों के अध्ययन से होती है। शास्त्रों के सिद्धान्तों के ऊपर विचार और मनन करने से वे समझ में आते हैं, और समझ में आनेपर उनका अपने अनुभव में साक्षात्कार किया जाता है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता तबतक ज्ञान नहीं होता। शास्त्रादि तो सङ्केत मात्र हैं। ज्ञान तो अपने ही विचार और अनुभव से होता है।

केवल वाचिक और मानसिक निश्चय को ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान उसको कहते हैं जो जीवन के व्यवहार में आता हो। जिसका जीवन ज्ञानमय नहीं है, जो कहता कुछ है और करता कुछ है; जो ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानचर्चा रुपया पैसा और आदर-सम्मान ही प्राप्त करने के लिये करता है वह ज्ञानी नहीं है, ज्ञान-बन्धु है। ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान के अनुसार आचरण करता है; जो ज्ञान में स्थित रहता है और जो अपने ज्ञान को अनुभव करता है। ऐसी दशा नित्य के अभ्यास से प्राप्त होती है। सहसा नहीं आ जाती। इस प्रकार के अभ्यास का नाम योग है। योग द्वारा ही मनुष्य संसार से पार होता है। योगाभ्यास की तीन विशेष रीतियाँ हैं:— (१) एकतत्त्व का गहरा अभ्यास, (२) प्राणों की गति का निरोध और (३) मन का लय। एकतत्त्व का अभ्यास तीन प्रकार से होता है—(१) ब्रह्म की भावना से, (२) पदार्थों के अभाव की भावना से और (३) केवलीभाव से। प्राणों की गति का मन की गति से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि प्राण की गति रोक ली जाए तो मन की गति भी रुक जाती है। मन की गति के रुक जानेपर संसार का अनुभव क्षीण होकर आत्मा का अनुभव ही शेष रह जाता है। प्राणों की गति के रोकने के अनेक उपाय हैं जिनको किसी योग्य गुरु से सीखकर प्रयोग में लाना चाहिये। मन को विलीन करने की युक्ति आत्मा के अनुभव के प्राप्त कराने में सबसे सरल है। इसका अभ्यास आसानी से हो सकता है। मन संसारचक्र की नाभि है। जब मन वश में हो जाता है तब सारा संसार वश में हो जाता है; जब मन विलीन हो जाता है तब संसार भी ग़ायब हो जाता है। योगवासिष्ठ में मन के निरोध करने की अनेक युक्तियाँ बताई गई हैं; उनमें से कुछ ये हैं:—(१) ज्ञान द्वारा मन को असत्य और मिथ्या (भ्रम) समझकर उसका परित्याग करना, (२) सङ्कल्पों का उच्छेदन करना, (३) विषयों के भोगों से विरक्त होना, (४) इन्द्रियों का निग्रह, (५) वासनाओं का परित्याग, (६) अहङ्कार का त्याग, (७) असङ्ग का अभ्यास, (८) समता का अभ्यास, (९) कर्तृत्वभाव का त्याग, (१०) मन से सब वस्तुओं का त्याग और (११) नित्य समाधि का अभ्यास। मन के विलीन होनेपर परम आनन्द का अनुभव होता है।

योगाभ्यास धीरे-धीरे और क्रमशः ही सिद्ध होता है। शास्त्रकारों ने आत्मा का पूर्ण अनुभव होने तक इसकी सात भूमिकाएँ निश्चित की हैं। इनका वर्णन योगवासिष्ठ में कई स्थानों पर आया है।

वे सात भूमिकायें ये हैं :—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावना और (७) तुर्यगा। इन सातों भूमिकाओं को पार कर लेनेपर मुक्ति का अनुभव होता है जिसमें जीव के सब बन्धन कट जाते हैं।

जीव के बन्धन में से कर्म का बन्धन एक बड़ा भारी बन्धन है। जीव जैसा जैसा कर्म करता है उसका उसे अवश्य ही फल प्राप्त करना होता है। कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता, और प्रत्येक जीव को अपने किये हुए कर्म का फल भुगतने के लिये अपना व्यक्तित्व बनाये ही रखना पड़ता है। जबतक जीव जीव है और उसके मन में संसार के विषयों की वासना है, तबतक वह उनके प्राप्त करने का यत्न करता है। यह यत्न ही कर्म है। उस कर्म का फल अवश्य ही जीव को मिलता है। इस प्रकार जीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, और एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमता रहता है। एक कर्म का जब फल पा लेता है तो दूसरा कर्म करने लगता है। बहुधा कर्म का फल तब मिलता है जब कि उसकी प्राप्ति की इच्छा भी नहीं रहती। उस समय हम यह अनुभव करते हैं कि वास्तव में कर्म-फल का नियम एक बहुत बड़ा बन्धन है। क्योंकि इच्छा न रहते हुए भी हमें बहुत से पदार्थों से बन्धना पड़ता है—यद्यपि ये वही पदार्थ हैं जिनके लिये कभी हमारे मन में प्रबल इच्छा थी और जिनकी प्राप्ति के लिये हमने कभी पूरा यत्न किया था। कर्म का बन्धन तभी आरम्भ हो जाता है जब कि जीव के हृदय में वासना का उदय होता है। वासना ही जीव को कर्म के फल से बान्धती है। यदि हम वासना रहित होकर कर्म करते रहें तो हमको उस कर्म के फल से नहीं बन्धना पड़ता। वासना रहित रह कर कर्म करते रहने से जीव के सब बन्धन कट जाते हैं, और उसका जीवत्व ब्रह्मत्व में परिणत हो जाता है। मुक्त पुरुष कर्म के बन्धन से पूर्णतया छूट जाता है।

आत्मा का अनुभव जब उदय हो जाता है तब अविद्या और राग आदि का अभाव हो जाता है। परम तृप्ति और परम आनन्द का ही भान रहता है। यह वह अनुभव है जिसका न तो वर्णन ही हो सकता है और न जिसकी किसी और अनुभव से उपमा ही दी जा सकती है। उसको वही समझ सकता है जिसको यह अनुभव हो चुका हो। जिसको क्षणभर के लिये भी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिति प्राप्त हो

गई है वह स्वर्ग के सुखों को भी उस अनुभव के आनन्द के सामने हेय समझने लगता है। क्योंकि आत्मा का जो स्वाभाविक आनन्द है, संसार के सब आनन्द उसकी कला मात्र हैं।

इस अनुभव और आनन्द में जो मनुष्य जीते जी ही स्थित हो जाते हैं और जिनके सब प्रकार के बन्धन कट जाते हैं उनको योग-वासिष्ठ में जीवन्मुक्त कहा गया है। जीवन्मुक्त के लक्षण विस्तारपूर्वक वर्णन किये जा चुके हैं। उनके यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। केवल यही कह देना पर्याप्त होगा कि जीवन्मुक्त वह पुरुष है जिसने अपने ब्रह्मभाव को पूर्णतया जान लिया है और जिसका सारा ज्ञान, सारा व्यवहार, और सारे भाव उस उच्चतम दृष्टि से होते हैं। उसके लिये समस्त ब्रह्माण्ड उसका स्थान है; सारे प्राणी उसके बन्धु और आत्मा हैं। वह सब कामों को निरपेक्ष भाव से करता है; सब भोगों को वासना रहित होकर भोगता है; सब अवस्थाओं में आनन्द से परिपूर्ण रहता है। कभी मोह और अज्ञान के वश में नहीं होता। उसका जीवन परिपूर्ण, शान्त और दिव्य जीवन है। तीनों लोकों में उसके लिये न कुछ प्राप्य है और न कुछ त्याज्य है। वह महाकर्ता और महाभोक्ता है। संसार के सारे व्यवहार करते हुए भी वह नित्य समाधि में रहता है। वह भौतिक शरीर से न प्यार करता है और न घृणा। वह अपने शरीर को अपने वश में रखकर उससे लोकोपकार के काम करता है। जैसा-जैसा अवसर प्राप्त होता है उसके अनुसार वह व्यवहार करता है। प्राकृत व्यवहार से वह घृणा नहीं करता। बाहर से देखनेपर उसके और अज्ञानी के कामों में विशेष भेद नहीं जान पड़ता, पर आन्तरिक भेद बहुत रहता है। अज्ञानी की सभी क्रियायें वासना से प्रेरित होती हैं—जीवन्मुक्त की क्रियाएँ यथाप्राप्त स्थिति के अनुसार, वासना से रहित होती हैं। जीवन्मुक्त के मन की दशा भी एक अद्भुत दशा होती है। उसमें किसी प्रकार की वासना और संकल्प विकल्प नहीं उठते।-वह सदा ही शान्त और सत्त्व रूप में रहता है। ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियाँ जीवन्मुक्त की सेवा और रक्षा किया करती हैं; और उसका जीवन एक दिव्य और ज्योतिर्मय जीवन हो जाता है—जिसके स्पर्श में आते ही दूसरे लोगों का कल्याण हो जाता है। प्रारब्ध कर्म द्वारा प्राप्त भौतिक शरीर को समय आनेपर छोड़कर जीवन्मुक्त का किसी शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता; वह सब प्रकार से

ब्रह्ममय हो जाता है। पूर्ण से पूर्ण स्थिति का अनुभव करता है। वह समस्त ब्रह्माण्ड के साथ एकता का अनुभव करने लगता है, और उसका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। इस अवस्था का नाम विदेह मुक्ति अथवा निर्वाण है। जीव का यही अन्तिम ध्येय है।

श्री योगवासिष्ठ महारामायण के दार्शनिक सिद्धान्तों को लेखक ने अपनी बुद्धि के अनुसार पाठकों के सामने विस्तारपूर्वक तथा संक्षेपतः रखने का प्रयत्न कर दिया। इस सिद्धान्त को पढ़ते समय विद्वान् पाठकों के मन में बहुधा यह बात आई होगी कि इस प्रकार के सिद्धान्त भारतवर्ष के अनेक प्राचीन ग्रन्थों—उपनिषत्, भगवद्गीता, पुराण और दर्शनों में भी पाये जाते हैं। यही नहीं, इस प्रकार के विचार माध्यमिक और विज्ञानवादी बौद्धदर्शन, मध्यकालीन सन्तों की वाणी और मुसलमानों के तसव्वुफ़ (सूफ़ीमत) और ईसाइयों के सन्तों के उपदेशों में भी मिलते हैं। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भी इस प्रकार के अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। आजकल के दर्शन और विज्ञान तो स्पष्टतया हमको वसिष्ठजी के सिद्धान्तों की ओर ही ले जाते हुए जान पड़ते हैं (इस विचार की पुष्टि लेखक ने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ "योगवासिष्ठ ऐण्ड मोडर्न थॉट" में की है)। लेखक ने इस प्रकार का तुलनात्मक विवरण यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं किया। दूसरे भाग में इस प्रकार का अध्ययन पाठकों के सामने रखकर योगवासिष्ठ के इस कथन को पुष्टि की जायेगी कि—

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
इदं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥" (३।८।१२)

जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे और और ग्रन्थों में भी मिलेंगी। जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। विद्वान लोग इसको सब विज्ञान-शास्त्रों का कोश समझते हैं।

तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् यह भी आवश्यक है कि हम योगवासिष्ठ के दार्शनिक सिद्धान्तों को निष्पक्ष भाव से समालोचक की दृष्टि से देखकर यह निश्चित करें कि ये सिद्धान्त कहाँ तक युक्तियुक्त हैं, क्योंकि वसिष्ठजी ने स्वयं हमको यह शिक्षा दी है कि—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरस्थं तं को नाशास्त्यतिरागिणम् ॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ (२।१८।३,४,२)

युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिये; लेकिन युक्ति से च्युत बात को तृण के समान त्याग देनी चाहिये, चाहे वह ब्रह्मा ने ही क्यों न कही हो। जो अतिरागवाला पुरुष अपने पास मौजूद रहते हुये गङ्गाजल को छोड़कर कूँवें का जल इसलिये पीता है कि यह कूँवाँ मेरे पिता का है, वह सबका गुलाम है। जो न्याय के भक्त हैं उनको चाहिये कि जो शास्त्र युक्तियुक्त और ज्ञान की वृद्धि करनेवाला है उसको ही ग्रहण करें, चाहे वह किसी साधारण मनुष्य ही का बनाया हुआ क्यों न हो; और जो शास्त्र ऐसा नहीं है उसको तृण के समान फेंक दें, चाहे वह किसी ऋषि का बनाया हुआ ही हो।

इस प्रकार के समालोचनात्मक अध्ययन के लिये भी यहाँ पर स्थान नहीं है, यह भी दूसरे भाग का विषय होगा (जो पाठक अंग्रेजी भाषा से भलीभाँति परिचित हों वे इस सम्बन्ध में हमारी अंग्रेजी पुस्तक "दी फिलासोफी ऑफ दी योगवासिष्ठ" का अन्तिम अध्याय पढ़ लें)। अब तो हम इस भाग को यहीं समाप्त करके ईश्वर से प्रार्थना करते हैं :—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नन्दतु ॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

सब लोग कष्टों को पार करें, सब लोग भलाई ही देखें, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब सर्वत्र प्रसन्न रहें। दुर्जन सज्जन बन जावें, सज्जन शान्ति प्राप्त करें, शान्त लोग बन्धनों से मुक्त हों, तथा मुक्त लोग औरों को मुक्त करें।

इति।

अनुक्रमणिका

लेखक की योगवासिष्ठ सम्बन्धी पुस्तकों पर विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं की कुछ सम्मतियाँ:—

Prof. Dr. Th. Stcherbatsky (Leningrad) :—

"A very thorough investigation imbibed with a real scientific spirit and conducted in accordance with the methods of modern criticism...a work that tends to the advancement of our knowledge...Prof. Atreya has brought the problem (of the date of the *Yogavasistha*) very near to its final solution...Prof. Atreya deserves the highest praise for introducing into his exposition numerous and various references to European philosophy."

Prof. A Berriedale Keith (Edinburgh) :—

"It seems clear that you have proved it to be before Śankara's date, and there seems to be a good case for placing it before Bhartṛhari...Despite the appearance of Prof. Das Gupta's Second volume I have no doubt that your contribution to the study of Yogavasistha has much value."

Prof. Dr. Schrader (Kiel) :—

"I became acquainted with Yogavasistha when I was in Adyar, and I have always since been wondering that Indologists did not seem to care for it.... ..I am inclined to congratulate you on your having proved that Yogavasistha is earlier than Śankara and possibly even Gauḍapada. When this will have been generally admitted the interest in that much neglected work (neglected, at least, by orientalists) is bound to grow immensely."

Prof. Winternitz (Prague) :—

"The arguments for your date of the *Yogavasistha* are certainly deserving of most earnest consideration......Your discovery of the source of some of the Minor Upanishads seems to me very important."

Dr. Gualtherus H. Mees (Leyden) :—

"I am most happy that this one of the most profound and exalted books of the world has been taken to hand so thoroughly and in such a scientific maner."

Prof. Jules Bloch (Paris) :—

"Your exposition is as lucid as it is thorough".

Prof. W. Stede (London) :—

"I sincerely appreciate these lofty truths and see in them an invaluable help for the improvement of the affairs of our so called civilised world."

Prof. H. von Glassenapp (Koenigsberg) :—

"Your valuable work I have read with the greatest interest."

Prof. L. D. Barnett (London) :

"It is very interesting."

Prof. Turner (London) :

"It is indeed most encouraging to find that Indian philosophy (in which India has made perhaps a greater contribution to mankind than in anything else) receives so much cultivation and that too in the most fitting home, the University of Benares. With best wishes for the prosecution of your researches."

Sadhu Kripanand (America) :—

"I congratulate you for the splendid and monumental work entitled *Yogavasistha and its Philosophy.* You have won the sublime approbation of the civilised world, and I do most forcibly review your book in the columns of *"The Atlantic Monthly"* of Boston and *"The Pan-Pacific Progress"* of Mass. Only people of your stamp could interpret the sublime works of the Rishis."

Dr. Keval Motwani (U. S. A.) :—

"Your effort to elucidate the hidden and the subtle philosophy of *Yogavasistha,* to give it a modern garb, and to place it alongside the philosophical thought of today, is highly commendable and deserves gratitude. I am one of those who believe that our ancient philosophers, seers and sages did probe very

deeply the mysteries of God, nature and man and their contributions, when relieved of the technical and the philological debris that has accumulated around them as a result of time and arid erudition, will stand shoulder to shoulder with the contributions of the great seers and sages of other countries and secure for them a place in the valhalla of immortality. Every one of our young luminaries who can participate in this work of interpretation places his readers and his countrymen under a deep debt of gratitude. I am greatly struck with the rich variety of material contained in the *Yogavasistha*, and with your laborious research in finding parallel passages in the writings of modern philosophers. May *Yogavasistha* and you receive the recognition which you both richly deserve. I shall look forward with interest to your further works on the subject."

Paul Brunton :—

"I have just completed writing an article on your book, and I have done my best to give it a highly favourable commendation to Western readers............I consider it ought to be brought to wider notice."

Dr. Sir Radhakrishnan :—

"He gives an admirable account of the main ideas of the system and his comparisons with western views are as a rule stimulating. The range of the author is as wide as his judgement is measured. Dr. Atreya's work is certain to rank among the dependable English treatises on Samskrit philosophical classics."

Prof. S. N. Dasgupta (Calcutta) :—

"It is a very elaborate work which testifies to the great industry of the writer in going carefully through the problems of Yogavasistha and of arranging them in a modern form... There is no doubt that the writer bestowed immense time and labour in digesting the material of this great work and in attempting to give it a modern shape. He also gave a very lucid and clear exposition of the general position of Yogavasistha Philosophy."

Dr. Bhagavan Das :—

"Your judicious and excellently classified selection of verses from the vast original, printed under significant headings which briefly but clearly indicate the essential meaning of what follows, will, I feel sure, facilitate the study of this important work and make it more widely known."

Prof. B. P. Adhikari (Benares) :—

"Has done here something which is not known to have been attempted hitherto by any writer with such thoroughness ....I cannot but admire the degree of perseverence with which this has been done and the extent of studies undertaken for the purpose......... .. ..In the actual presentation of the position.........the author.........evinces a thoroughness which is simply admirable...........He displays, throughout the work, a deep analytic penetration into and a thorough intelligent grasp of the thoughts dispersed in the original work ....The exposition is on the whole simple and direct,"...........“The concluding chapter is devoted to the discussion of [illegible] of the most important problems of the present day philosophy of the West and the place the Yoga-vasistha can occupy in connection with them .. ..Has made out a case for this position on the problems, which is thought-provoking and deserves due consideration from any thinker."

Principal Gopi Nath Kaviraj (Benares) :—

"I have glanced through the pages of Prof. Atreya's "Vasistha Darshanam." The arrangement of the Sanskrit text in the way it has been done will prove highly useful, not only to the students of the particular work, but also to all who are interested in the history of Indian Philosophy in general.........Certainly a distinct service to the cause of Indian Philosophy." (8-11-27).

A. [illegible]. Dhruva (Ex-Pro : Vice-Chancellor, Benares Hindu University) :—

"I commend to every earnest student of Vedanta this book of selections from the *Yogavasistha* which has [illegible] carefully

and lovingly gathered and classified by my friend Dr. B. L. Atreya."

Dr. Ganga Nath Jha (in the *Leader*, Allahabad) :—

"The *Yogavasistha 'Ramayana'* is one of those works in Sanskrit which deserves most to be read, and yet is the least read by students of Sanskrit literature. It is a work wherein philosophy has been brought down as near as possible to practical life...The *Yogavasistha* embodies within itself the quest of a bewildered soul—that of Rama, the ideal man, faced by practical problems of life—as met by Vasistha, his guide, philosopher and friend. The book under review is an attempt,—and a fairly successful attempt,—at bringing within easy reach of the modern student, just those teachings that allayed the striving heart of Sri Ramachandra...................The work is a comprehensive one: dealing with the entire field of Indian philosophy...It has to be confessed that the outlook of the work is mainly, if not entirely, *Vedantic*; but that is as much to say that it represents the essence of Indian philosophy. Like all roads leading to Rome, all principle '*Darshanas*' lead but to one Goal, the *Universal Absolute*, which is attainable only by the path of *Universal Brotherhood*. And herein lies the value of Prof. Atreya's work at the present moment, when in India, and in the world at large, every individual and every community is trying to trangle the other......The professor deserves to be congratulated on having presented to us the main teachings of the great text in a readable and understandable form."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore) :—

"You have done splendid research work in a very important field of Indian thought. My most hearty congratulations to you."

Prof. V. Subrahmanya Iyer (Mysore) :—

"The valuable work you have been doing in the field of Indian Philosophy...Your researches in the teachings of Yogavasistha are of *first rate* importance. Your new publication, *Yogavasistha & Modern Thought*' is another piece of work not less valuable. It also bears the impression of a wide range

of study combined with equally critical thinking. The parallels you have quoted reveal not only your extensive knowledge of Western and Eastern thinkers of eminence, but also your great insight".

Prof. Ranade (Allahabad) :—

"I am sure the book will be widely appreciated".

Dr. Girindra Shikhar Bose (Calcutta) :—

"I found it extremely interesting. You have a remarkable gift of clear exposition and you write from deep appreciation... The probable date of composition of the present work has been very likely correctly fixed by you".

Dr. G. Bose (Calcutta) :—

"Dr. B. L. Atreya, M. A., D. Litt., has been a keen student of Yogavasistha Ramayana for several years past and to him belongs the credit of drawing the attention of modern scholars to the great worth of this book. The original work is a voluminous one and in preparing an abridged edition Dr. Atreya has done a great service to students of indology and Indian Philosophy. He has discussed the different aspects of this great work in an extremely lucid manner and has shown wonderful judgment in his selection of material. The work teems with passages which may truly be called literary gems. The philosophy of Vasistha is the well known Vedantic Monism but the way of approach is something quite original. It has a freshness which is charming. Prof. Atreya's "Vasistha darshanam" will be undoubtedly recognised as the best introduction to "Yogavasistha Ramayana."

Prof. Hiriyanna (Mysore) :—

"Your account of the work is very interesting and you have made it clear that it deserves to be closely studied by all students of Indian Philosophy."

Dr. J. N. Sinha (Meerut) :—

"Nothing is more gratifying to me than to find that the Banaras Hindu University is doing something to spread the light of Hindu culture. Such an intensive study of a particular aspect of Indian Philosophy and its intepretation in terms of

modern concepts of philosophy is the thing most needed in India today. Please accept my hearty congratulations on your achievement."

Principal Pramath Nath Tarkabhushana (Benares) :—

"He has rendered a valuable service to the thinkers of Hindu Philosophy."

Dr. Naga Raja Śarma (in the *Hindu*, Madras) :—

"Dr. B. L. Atreya has made a laudable effort to push into the focus of modern philosophical thought the truths embodied in *Yogavasistha*."

Prof. N. G. Damle (Poona) :—

"I have liked your book so much".

Prof. P. M. Bhambhani (Agra) :—

"It is an excellent piece of literature and forms a very valuable addition to it."

Prof. Shiva Prasad Bhattacharya (Calcutta) :—

"I congratulate you heartily for the really admirable presentation of the many of the prominent philosophical doctries of the Yogavasistha".

Janakdhari Prasad (Muzaffarpur) :

"Your book has given me a new insight of life and I hava found peace, solace and rest which I could not succeed in getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. Yogavasistha in original was in itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling. Your book has cleared up everything and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude. May I make one request ? Will you bring out a Hindi Edition of the book for the understanding of those who do not know English ? It is clear that it was the teaching of Yogavasistha which made India so great. We are now fallen because we have quite forgotten it. May this book of yours infuse a new life into the decaying nerves of India ? Every step should be taken to popularise this teaching."

M. K. Acharya *in The Federated India*, (**Madras**) :—

"In the present pamphlet an attempt is made to point out "the agreement of the East and the West on fundemental problems." The author has selected some forty-three of such problems...and under each heading he has given the teachings of *Yogavasistha* along with the conclusions or findings of some great modern writer or journal on the subject. He has drawn from over eighty modern thinkers to corroborate the findings of *Yogavasistha* of old. A recognition of this truth that the greatest minds in every age have come particularly to the same conclusions on the higher problems of life should go towards building a common World-Culture which, as Dr. Atreya says, "is the crying need of the times."

P. C. Divanji (**Jalgaon**) :—

"I was very much pleased to find that you were able to lay your hands on the works of a host of leaders of modern thought for the purpose of showing that Western science has now advanced so much as to enable the thinkers of the West to meet those of the East on a common platform to discuss the nature of the absolute..................Your work is an eloquent testimony of your firm determination to raise the *Yogavasistha* in the eyes of the intelligentia of the world and the possession by you of the inexhaustible fund of energy for the realisation of that ideal.

Prof. Phani Bhushan Adhikari (**Benares**) :—

"The pains the candidate appears to have so carefully taken in this work of compilation and the analytic judgement he has displayed in the selection of relevant texts and in their classification according to topics, evince by themselves the importance of the undertaking. This Sanskrit part of the thesis can by itself form a separate and independent book bearing on the philosophical position of Yogavasistha, which may be utilised with facility by scholars who would like to refer to the original sources on points of interest. The candidate has, in my opinion, done here something which has a value of its own."

Principal Gopinath Kaviraj (Benares) :—

"An attempt, made perhaps for the first time in the history of the work, to sum up the philosophical teachings of the Yogavasisth Ramayana in a consistent and systematic manner. The earlier attempts of Abhinand (900 A. D.) and Mahidhara (1690) and others did not claim to be any more than abridged redactions of the text, but to Professor Atreya belongs the credit of presenting briefly the philosophy of this unique treatise in the language of the original text, with the topics arranged in logical sequence....It is unfortunate that a work of such monumental grandeur (the *Yogavasistha*), the like of which is hardly to be met with even in Sanskrit literature, should have been allowed to remain obscure and neglected so long. It is hoped that interest in the study of Yogavasistha will again be revived and that the present booklet will serve as an humble introduction to this study."

Mr. P. C. Divanji (Jalgaon) :—

"Your study of the work is very comprehensive and many sided ; . . . . I have a profound regard for your intelligence, patience and industry."

Mr. B. Subba Rao (Kanara) :—

"It is a book containing highly inspiring selected thoughts which every one should ponder over in everyday life."

R. V. Subrahmanyam (Tirupattur) :—

"I congratulate you on your splendid and original contribution on *Yogavasistha*—a rare Sanskrit work and not handled by any scholar upto date."

Mr. R. V. Subrahmania Iyer (Tirupattur) :—

"It is a piece of original research and you have thrown much light on what is altogether a closed book to many modern students of philosophy and religion."

Pt. Ram Narayan Misra (Benares) :—

"Your attempt to bring the East and the West together is laudable. The book is inspiring."

The Leader **(Allahabad) :—**

"The author has really rendered valuable service by presenting in a simple, yet scientific way, the essence of a philosophical thought as contained in the extensive and voluminous work known as *Yogavasistha.*

The Leader **(Allahabad) :—**

"This is a comparative, critical and synthetic survey of the philosophical ideas of Vasistha as presented in the *Yogavasistha Maharamayana* ...... The author has shown by his original researches that the *Yogavasistha* existed before the time of Shankara and Gaudapada .... The author must be congratulated on his able presentation of the details of Vasistha's philosophy in a systematic and coherent manner .,.. He has not only pointed out similarities in the thoughts of other thinkers, ancient and modern, Indian and Western but also has brilliantly summed up the salient features of this philosophy. There is a chapter at the end dealing with the critical estimate of the philosophical position of Vasistha ...... Every library worth the name ought to have a copy of this book."

The Hindu **(Madras) :—**

"Dr. Atreya......is to be congratulated on making available to the English knowing render so comprehensive an account of a work which has hardly received from modern scholars the attention that it deserves.............. The volume is divided into two main sections. The first of them deals with general points touching the work. like its date and place in the philosophical literature of India; and the second, which is by far the bigger. is devoted entirely to an elucidation of its teaching.. Dr. Atreya, with his intimate knowledge of the work, has succeeded in giving us a full and connected account of it. He writes in a simple and interesting manner; and his exposition is interspersed throughout with free renderings into English of passages from the original. These passages are printed in Deva Nagari characters at the foot of the page for ready reference. Another noteworthy feature of the exposition is the comparison he now and then

institutes between Vasistha's teachings and the views of modern thinkers. The printing and the get-up of the book, are excellent."

The Theosophy in India (**Benares**) :—

"The *Yogavasistha* is a very important book, but its philosophy is somewhat difficult, so that writers on Indian philosophy give it scant attention. Dr. Atreya has made a special study of it and tries to make it popular by placing the fruits of his labour in easy manuals before the public. The author's researches on this book have necessitated modification of certain opinions held by western Orientalists, and this is high praise of his work......All the works of this writer are written in a popular style. He is doing a great service to the country by making the philosophy of the *Yogavasistha* available to the public in simple and short form. We would recommend all the books of this writer on *Yogavasistha* to our readers."

The Vaitarani (**Cuttack**) :—

"It is an excellent specimen of lucid exposition............ Such contributions, it is hoped, will soon be classed according to Ruskin amongst the books for all times."

The Hindustan Times (**Delhi**) :—

"Yogavasistha is a very important field of Indian mataphysics, and any scientific research in it naturally requires a good deal of sustained effort......Dr. Atreya has treated his subject in the true spirit sf a scholar.

The Madras Mail :—

"Dr. Atreya...is deservedly proud that he has been the first to give the rightful place that that work (the *Yogavasistha*) deserves. The range of the author's knowledge is wide and his judgements are tendentious. The book has the merit of making comparison between Eastern and Western philosophy and this work is proud to rank as a first rate work in English among other philosophical classics."

The Parasaki Magazine, (**Bangalore**) :—

"Dr. B. L. Atreya has won for himself an undying reputation for making a most brilliant contribution satisfying all canons of true scientific spirit and modern criticism, upon a very important but least known section of Indian Philosophical and Religious literature "*Yoga Vasistha*" by presenting in an illuminating manner the essence of the reputed system of thought in a series of books of which three are already published and the other two are in preparation. A careful perusal of its Contents and the Bibliography reveals the author's phenomenal industry and unflagging enthusiasm to dispel from the reader's mind the erroneous belief that "the East is East and the West is West and never the twain shall meet" and seeks to impress unequivocally the cardinal Principle that in the world's Great plan, East and West, past or present, nay future too, do not differ fundamentally in their outlook and visualisation of a common World Culture towards which some of the International movements are aiming......I have no hesitation in saying that this book and indeed all his books deserve to be classed according to Ruskin as "the Books for all Times."

The Federated India (**Madras**) :—

"A most valuable contribution to a study of ancient Indian philosophical systems—very valuable both to the general study of Indian thought, and to the specialist interested in the evolution of the Advaita system."

The United India and Indian States (**Delhi**) :—

"The writer claims, and with considerable justification, that he has been the first to draw the attention of modern scholars to the unique position of *Yogavasistha* which has made a unique and important contribution not only to Indian wisdom, but to the thought of the world as well."

The Young Builder (**Karachi**) :—"An excellent introduction to the study of Yogavasistha."

Prof. Shyama Charan (Agra) :—

"The other day...I came across your book "The Philosophy of the *Yogavasistha*"...All the Philosophies, Mysticisms, Occultisms and Yogas are there—well classified and presented in an orderly sequence".

Prof. Khitish Chandra Chakravarty (Katmandu) :—

"......Prof. Atreya has, in a finely analytical and scientifically accurate manner, here, laid bare the truths of the highest human philosophy for the modern English-knowing reader, who must admire the true spirit of research that permeates his whole work. The book, a monument of devoted and learned industry, is the best, reliable and thoroughgoing English treatise, I have yet seen, in the realm of Indian Idealistic interpretation of the Philosophy of Religion. It opened up before my wondering gaze a new and pleasant vista uniting the Eastern and Western modes of approach to the Truth of life ; and......I have every reason to congratulate the modern *savant* on his splendid success and service done to the cause of the revival of ancient Indian Learning and Wisdom at this proper hour."

Durlabhram Jyestharam Bhatt (Ahmedabad) :—

"I have no words to thank you and to admire your labours. How can I praise your efforts ? Yogavasistha was for me like a dense and thick forest with no roads and paths in it. You are a man who has surveyed the whole forest, cut paths and roads on it......I have found greatest solace in your books in my old age. Now I am reading Yogavasistha again through the specks of your efforts...I am confident that you are a fit man to stand in the line of Sir Radhakrishnan and Dasgupta".

The Divine Life—October 1939—(Rishikesh) :—

"Prof. Sri B. L. Atreya is the ornament of the Banaras Hindu University. He is spending his leizure hours in the research on this mighty work (*Yogavasistha*). He has already published several books on this subject. All his books will certainly adorn a library. He has done incalculable good to the philosophical world. May he live long and continue his noble research work in philosophy and religion".

Seth Amb 1 1 Sarabhai (Ahmedabad):—

"I have been wanting to write to you to tell you that I derived great pleasure and benefit by reading your *Philosophy of Yogavasistha.* I believe that you can just be proud of your study of the subject and the manner in which you have summarised and presented the philosophy of Vasistha. I have been studying Philosophy and Religion for the last few years. It has been my good fortune to read several books on the subject, and I consider your *Philosophy of Yogavasistha* to be one of the best......In your book I find what I want in brief and concise manner. I often feel that most writers do not do credit to the intelligence of the readers. You cannot be blamed for doing so in your *Philosophy of Yogavasistha.*"

Dr. P. Narasimhayya (Delhi) :—

"I have recently read your books and articles with real interest. Especially your *Yogavasistha* is a pioneering and real contribution to Indian Philosophical literature."

Dr. V. S. Srouthulu (Kaja, Kistan Dst.) :—

"I had the fortune to have a copy of "The Philosophy of the Yogavasistha" from a friend of mine. It is with utmost zeal and interest that I have gone through it. I am very much pleased and immensely benefited. How ably you have dealt with the subject, and in how nice a manner you have presented it to the modern world, leading it to the cultural heights with the most sublime philosophy of the Yoga Vasistha in all its entirety. You have fulfilled a longfelt need of the many, who with a sincere hankering after knowledge had been looking forward for Vasistha Darshana, to have a clearer understanding of the dynamics of the Mind, a chosen subject of Swami Rama Tirthaji. Many of the eminent Orientalists and writers on Philosophy have enriched themselves and their works on the darshanic lore of Yogavasistha, yet all of them have failed to correctly express it. You alone have the good fortune. I offer my sincerest thanks to you for all that you have done in this respect. Yogi Vasistha is speaking through you. I feel you are the embodiment of Truth and Knowledge Absolute".

Captain D. Mansingh (Jhansi):—

"These days I am studying your "Philosophy of the Yoga-vasistha" .... This is our most wonderful book; one of the best books I have ever read."

P. K. Gode, M.A. Editor, "Review of Philosophy and Religion" in *the Oriental Literary Digest*:—

"As Sir Radhakrishnan observes in his foreword to the volume under review, Dr. Atreya's work will help to correct the defect noticeable in the recent historical accounts of Indian philosophy which hardly do justice to the importance of the *Yogavasistha*, as he gives an "admirable account of the main ideas of the system and his comparisons with western views are as a rule stimulating". "The range of the author is as wide as his judgment is measured. Dr. Atreya's work is certain to rank among the dependable English treatises on Sanskrit philosophical classics" .. The analysis of the subject-matter of the *Yogavasistha* and its synthesis in Part IV of Book II of the present volume reminds us of Deussen's analysis and synthesis of the *magnum opus* of Sri Shankaracharya, viz., the *Shankara-Bhashya* .... Dr. Atreya's critical estimate of the philosophical position of the *Yogavasistha* is quite artistic and "measured", not to say "dependable", as Sir Radhakrishnan puts it....In fact, the last two chapters should be read by all lovers of Indian Philosophy, as they contain in a nut-shell everything that a general student of Philosophy is expected to know. It is difficult to do full justice in this brief notice to the varied contents of the *Yogavasistha* or its present analysis and synthesis by Dr. Atreya, who has devoted a major part of his life to these studies. Dr. Atreya has done well in creating our interest in the study of this remarkable book and its doctrines, and hence deserves our best thanks for this labour of love."

Janakdhari Prasad, Esq. (Muzaffarpur):—

"Your book has given me a new insight of life and I have found peace, solace and rest which I could not succeed in

getting so long. I therefore owe you a deep gratitude for opening up a new avenue in life. *Yogavasistha* in original was itself incomprehensible and its hugeness and constant repetitions were baffling. Your book has cleared up everythiug, and it is now possible for us to fathom its deep sea. Hence I, although a stranger, acknowledge my gratitude."

Swami Narayanananda (Calcutta) :—

"No doubt, you have taken much pain in bringing out this present volume of *the Philosophy of the Yogavasistha* in an adequate and efficient form, as to suit the taste of the modern man successfully. Surely it is the blessing of the Lord that has enabled you, as you put it, to deal with the work skilfully, we want men like you to bring forth from every nook and corner of Hinduism all hidden treasures and broadcast them all over the world for the welfare of the whole humanity. I sincerely wish your earnest work will meet with full success."

Swami Sivananda Rishikesh :—

"This is a splendid research work. It is a valuable companion for a student of Vedanta. The exposition is lucid."

K. K. Murti, Esq. :—

"I feel quite incompetent to express my proud feelings of high respect for "Yogavasistha" as presented by you with comparative modern views on every problem of life, besides the critical, analytical and synthetic survey."

Swami Bhumanand (Kamakhya) :—

"I am highly pleased or rather glad to get your publications on *Yogavasistha*. You are the first man I see who had read the beok or rather studied it so carefully and critically."

Sri Hanuman Prasad Poddar (editor, Kalyana, Gorakhpur) :—

"Your noble work is bound to meet appreciation at every quarter which it so nobly deserves......Your contibution to the cause of *Yogavasistha* will create a landmark in the history of Indian Philosophy and your name will go down in history as an npholder of a cause which forms really the corner stone of Hindu philosophy and Hindu culture. You are heartily to be

congratulated for your intense passion for this most monumental but most neglected piece of spiritual encyclopedia."

Rohini Prasad Pant (Gyaneswar. Nepal):—

"*The Philosophy of the Yogavasistha*, an ever-lasting service to the country."

Nagin (Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry) :—

"Please note that your book "The Philosophy of Yogavasistha" is much read here. I could get it for my reading two months after you sent it to me. Many people are still very eager to read it now."

Sri Ramana Maharishi (Tiruvannamalai) :—

"In this particular field of philosophy your services have elicited universal appreciation."

A. G. Bhatt (Ahmedabad) :—

"I have no words to express my sincere admiration of your excellent work, "The Philosophy of Yogavasistha." As a Professor of Sanskrit, teaching various systems of Philosophy to my students, I have found your work of immense value to me. In fact, I should like to keep your book as my constant guide and companion."

Piara Mall (Amritsar) :—

"The more I read your exposition of the Yogavasistha the more I admire you".

Dr. D. Appalanarasayya (Salur, Vizagapatam) :—

"Your Philosophy of the Yogavasistha...is so wonderfully interesting that I have been reading some pages from it almost daily".

Dr. R.D. [illegible] (Solan) :—

"I have read with great pleasure and profit your great and excellent work, "The philosophy of the Yogavasistha".

"I have been a student of philosophy for the last forty years. As a student I sat at the feet of Ladd, Royce, Munsterberg and Hocking in America and Windelband, Falckenberg and Rudolf Eucken in Germany.

I feel it my duty as a student of the philosophic history of India to say a few words in appreciation of your monumental work.

"To read your work is to read the entire history of modern Western thought as well as the ancient Indian thought. The chief merit of your work, as far as I can judge, is this. You have been quite successful in your comparison of the thoughts of the Yogavasistha with those of the Western thinkers and other great Indian thinkers. In another direction also your achievement is quite unique. To have been able to find the exact equivalents of the Sanskrit technical terms in English is a great credit not only to your intelligence and scholarship but to your wide acquaintance with and your sympathetic understanding of the thoughts of others.

"Certainly the author of the Yogavasistha was one of the greatest minds that the world has ever produced and requires a long focal distance to be seen. His massive intellect has hardly any parallel in the long history of human thought .....The author of the Yogavasistha was a mystic of unering vision and soaring imagination and has vastly enriched the storehouse of human knowledge by offering us some of the most original and boldest views on life that are rarely to be met with in the thought and speculations of all the great system builders of the East and the West put together.

"In a sense your work on Yogavasistha is a more valuable contribution to the present day philosophical thought than the volumes on Indian philosophy by Prof. Radhakrishnan...Such a work as yours was greatly needed and you have rendered a great service to the cause of philosophy by bringing the views of Yogavasistha within the easy reach of modern students of Eastern and Western thought. It has a colour and worth all its own. What Tilak has done for the Gita, Ranade for the Upanishads, M. N. Sarkar for the Vedanta, and Nath for the Chaitanya Charitamrita, you have done for the Yogavasistha. But more credit is due to you in as much as you have proceeded

to your task almost unaided and independent, as an explorer in an unknown region and untrodden field.

"I do highly commend your intelligent scholarship and your calm and penetrating insight into the larger philosophical issues. I have a decided respect for your intellectual honesty and balanced judgment.

"I congratulate you heartily on your wholehearted devotion to the *Yogavasistha* and your signal success as a critic and expounder of this greatest of all philosophical classics".

Chandra Mohan Nath Chak (Fyzabad) —

"I enjoyed it thoroughly, and learnt a great deal from it. I owe you a great debt of gratitude for introducing me to this great work".

Brahma Shum Sher Jang Bahadur Rana (Babar, Mahal Nepal):

"Your works give in a comparatively short and lucid form the great and immortal teachings of one great Rishis (Prophets). They are no doubt a valuable contribution and help to the students and aspirants of the modern age, Please accept my congratulations".

"I have heard much about you and the valuable work you and Sir Radhakrishnan are doing for the revival of our great cultural (Hindu) heritage".

Miss E. V. James (Meerut):—

"I have really no words to express my grateful appreciation. I am so very interested in your book that I have to force myself to direct my attention to my work".

Madan Bihari, Advocate, (Motihari):—

"Needless to say your contributions, specially on Yogavasistha, are obviously enriching the world spiritually".

The Hindustan Times (Delhi):—

"*Yogavasistha* is a very important field of Indian metaphysics, and any scientific research in it natually requires a good deal of sustained effort......Dr. Atreya has treated his subject in the true spirit of a scholar."

Dr. K. C. Varadachari (Tirupati) :—

"I shall prize it highly as a work of great importance for Indian Idealism".

Pro. A. C. Mukerjee (Allahabad) :—

"I had a mind to tell you something about your exeellent book "*Yogavasistha and Its Philosophy*"......You know I have a very strong rationalistic prejudice....When I read your book, I was naturally glad to find in a student of mine a rationalistic tendency of equal strength. What surprised me all the more was Vasistha's rationalism as discovered by you; and thought that Vasistha's position should be known to a wider publio in view of the current notion that Vedantism in India has always stood on a dogmatic foundation. Your small volume...... abounds in materials that, as far as I can see, might easily be moulded into a rationalistic system of philosophy which will effectively dissipate the prevailing impression on the foundation of Indian monism. And, I believe, you are the best person to undertake the work."

P. Viranjaniyulu (Kanchakacherla, Kistna Dst.) :—

"I studied the whole book and found it very instructive. The researches you have made on the stupendous and voluminous work which was very long neglected are very laudable and no amount of appreciation can repay the labour and intelligence you spent in presenting the book to the Ehglish reading public."

The Parasakti Magazine (Bangalore) :—

"Dr. B. L. Atreya has won for himself an undying reputation for making a most brilliant contribution satisfying all canons of true scientific spirit and modern criticism, upon a very important but least known section of Indian Philosophical and Religious literature "*Yoga Vasistha*" by presenting in an illuminating manner the essence of the reputed system of thought in a series of books of which three are already published and the other two are in preparation. A careful perusal of its Contents and the Bibliography reveals the author's phenomenal

industry and unflagging enthusiasm to dispel from the reader's mind the erroneous belief that "the East is East and the West is West and never the twain shall meet" and seeks [illegible] impress unequivocally the cardinal Principle that in the world's great plan, East and West, past or present, nay future too, do not differ fundamentally in their outlook and visualisation of a common World Culture towards which some of the international movements are aiming.........I have [illegible] hesitation in saying that this book and indeed all his books deserve [illegible] be classed according to Ruskin [illegible] "the Books for all Times." "

Y. Subrahmanya Sarma, Editor, Adhyatma Prakasa (Holenarsipur) :—

"I have now gone through your excellent work *Sri Vasistha-darshanam* and also *Sri Yogavasistha-sara.* It is an admirable synopsis and [illegible] very valuable exhibition of the spiritual gems found in the voluminous work in Sanskrit".

Sri Satyacharan Mukerjee (Konnagar, Hooghly) :—

"I am an ardent devotee of *Yogavasistha*...Your first class selection and excellent classification are helping me [illegible] great deal in wading through the big sheet of *Yogavasistha* waters."

5. Yogavasistha aur uske Siddhanta (*Hindi*)

Sri Hanuman Prasad Poddar: (Editor, (*Kalyan*) Gorakhpur :—

"I am very grateful to you for your valuable gift of the "Yogavasistha aur uske Siddhanta"......Your contribution to the cultural history of India is remarkable. My very hearty congratulations to you."

Seth Narayan Das Bajoria (Calcutta) :—

"You have indeed rendered [illegible] signal service to the cause of Indian philosophy by your very laborious and enthusiastic study of the great book of our Rishis."

B. Subba Rao Esq. (Mudbidri) :—

"I am glad to [illegible] that the book has been neatly printed and is really charming to see; the paper used and the cover

also being satisfactory, so much so that I can say that it is just like our Adyar Theosophical Publications, and therefore the price is not high."

Sri Lalit Mohan Garg (Bangarmau, Unao) :—

"May I take this opportunity of expressing my gratitude to you for popularising this classic work of the Hindus and bringing it in a form which would suit the man of today and making the message of it within the means of every body".

Dr. R.D. Khan (Solan) :—

"The more I read your Hindi Yogavasistha the more I wonder how it was possible for you to produce such a remarkable work."

"Whenever I read your Yogavasistha in Hindi I feel that it would have been impossible for any modern student to understand *Yogavasistha* without the help of your excellent work. I am personally very grateful to you since you have made it possible for me to come into contact with one of the greatest minds of the world. My only desire is to see your *Yogavasistha* in the hands of every man and woman of our land".

"We can now burn all our libraries for their value is in this single book. May your immortal work bring peace and comfort to thousands of our countrymen."

6. *The Elements of Indian Logic*

Prof. A. B. Keith (Edinburgh) :—

"It seems to me to be a very simple and straight-forward presentation of the essentials of the topic, and it will, I trust, serve the useful purpose of giving beginners a sound elementary basis on which they may proceed to enlarge their knowledge of the classical form of Indian logic."

Prof. H. von Glasenapp (Konigsberg) :—

"It is very useful and I shall make use of it for my lectures and recommend it to my students."

श्लाघनीयतामश्नुते। तदिदं स्तुत्यं कार्यं विपश्चितां पुरस्तादुपस्थापितमेतेन, स्वकीयनैपुण्यपरिचयोऽपि प्रदत्तः। इदमहं विश्वसिमि यत्पुस्तकमिदं वेदान्तविद्यानुरागविवशीकृतमनसां विदुषामन्तःसन्तोषमाधातुमिष्टे।"

राजा सूर्यपालसिंह जी (आवागढ़):—

"हमको 'योगवासिष्ठ एण्ड मौडर्न थॉट' नामकी किताब पढ़कर बड़ा सन्तोष और आनन्द हुआ और यह भरोसा हो गया है कि हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा हिन्दू धर्म का रक्षण और हिन्दू जाति का कल्याण अवश्य होगा! ...... सम्पादक जी के उपकार के उपलक्ष में उनके चरणों की भेंट हम मु० १००१) भेजते हैं। उनके अमूल्य ग्रन्थ की किञ्चित् मात्र यह भेंट बराबर नहीं है, किन्तु अंग्रेज़ी पढ़े लिखों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने में अगर सहायता दे सके तो हम अपना कर्तव्य पूरा हुआ समझेंगे।"

श्री विष्णुराम गिरधरलाल सनावद्या (नीमाड़) :—

"...'श्री वासिष्ठदर्शनसार' को मैंने बड़े ही ध्यान पूर्वक आद्योपान्त पढ़ा। आपने गागर में सागर समाने का अच्छा प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। पुस्तक की छपाई सफाई तो बहुत ही उत्तम है। आप की अनुवादिक भाषा बड़ी सरल एवं सुबोध है......'योगवासिष्ठ' जैसे संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम अध्यात्म-ग्रन्थ का गूढ़-रहस्य आपने १५० श्लोकों में सफलतापूर्वक समझाने का प्रयास किया, इस कठिन प्रयास के हेतु आप धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तिका अध्यात्म विषय प्रेमियों को अधिक रुचिकर होगी।"

प्रताप (कानपुर) :—

"श्री योगवासिष्ठ-महारामायण संस्कृत साहित्य में संसार का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ बहुत बृहत् है इसमें ३२००० श्लोक हैं।......... प्रस्तुत पुस्तिका के संग्रहकर्ता ने इसी बृहत् अध्यात्म ग्रन्थ से २५०० चुने हुए श्लोकों को लेकर 'वासिष्ठदर्शन' नामक एक क्रमबद्ध संग्रह तैयार किया है। यह पुस्तिका हिन्दी अनुवाद सहित उसी संग्रह का १५० श्लोकों में सार है। विद्वान् संग्रहकर्ताने को चेष्टा की है कि इतने ही श्लोकों में योगवासिष्ठ के सारे सिद्धान्त आ जाये। अनुवाद की भाषा बहुत सरल और स्पष्ट है। इस छोटी पुस्तिका के पढ़ने से श्री योगवासिष्ठ का निचोड़ सर्व साधारण के सामने आ जायगा। पुस्तिका की छपाई सफाई भी अच्छी है।"

Phulchand Murarka, Esq., (Tulsihatta, Maldah):—

"आप की हिन्दी "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नामक पुस्तक पढ़ रहा हूँ। पुस्तक क्या है मानो ज्ञान रूपी समुद्र का आनन्द रूपी रत्न है। ऐसे अमूल्य रत्न को संसार के सामने रखकर आपने मानव मात्र का जो उपकार किया है उसका वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। धन्य हैं आप। जिस मानव की मुक्ति के लिये इस अमूल्य ग्रन्थ के जोड़ की दूसरी कोई पुस्तक नहीं है।"

Guru Narayan Shorawala, Esq., (Etawah):—

"आपने अपना बनाया हुआ योगवासिष्ठ की टीका (योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त) देकर मुझे दीवाना बना दिया। अब इस दास की यह हालत है :—"ज़ाहिर में गो कि बैठा लोगों के दरम्यां हूँ। पर यह ख़बर नहीं है, मैं कौन हूँ और कहां हूँ"। इन्हीं कारणों से मैं आपको अपना गुरु स्वीकार करता हूँ। क्योंकि आपने मेरे साथ वह उपकार किया है जो मुझको शेष का मुख मिलने पर भी उस उपकार का बदला नहीं दिया जा सकता; 'ज्ञान के अंजन की आंखों में सलाई फेर दी।।कौन दे सकता है निर्भय गुरुकृपा का बदला।" मैंने वेदान्त के निम्न लिखित ग्रन्थ पढ़े हैं। बल्कि बहुत से ग्रंथ और भी पढ़े हैं जिनके नाम इस समय याद नहीं पड़ता और लाइब्रेरी की जो सूची है—जिसमें १००० के करीब पुस्तकें हैं—सो इतनी बड़ी सूची को देख कर जो वेदान्त के ग्रंथ पढ़े हैं उनके नाम लिखना मैं उचित नहीं समझता :—दसों बड़े उपनिषद्, १०८ छोटे उपनिषद्, गीता—में कि अनेक तरह की भगवद्गीता को छोड़कर जो हैं वे सब, श्रीमद्भगवद्गीता के सब भाष्य जो आज तक भाषाटीका सहित छपे हैं जैसे शाङ्कर भाष्य, रामानुज भाष्य, मधुसूदन भाष्य, स्वामी चिद्घनानन्द का भाष्य, नारायण स्वामी का भाष्य, ज्ञानेश्वरी भाष्य इत्यादि, ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र प्रभुदयाल कृत रामानुजभाष्य, पञ्चदशी वृत्तिप्रभाकर व विचार सागर स्वामी निश्चलदास कृत, तत्त्वानुसन्धान विचार दीपक, विचार पर स्वामी ब्रह्मनाथ की लिखी पुस्तक योगवासिष्ठ के ६ प्रकरण—बम्बई छापा व नवलकिशोर छापा केवल भाषा में प्रश्नोत्तरी बाबा नगीनासिंह के सब उर्दू के ग्रन्थ, स्वामी रामतीर्थ के सब ग्रन्थ, स्वामी निर्भयानन्द के सब ग्रन्थ, इनके अलावा बहुत से ग्रन्थ हिन्दी उर्दू में—परन्तु न मालूम अब तक मुझे इतना अनुभव क्यों नहीं हुआ था जो आप के योगवासिष्ठ भाष्य के पढ़ने से एक दम हो गया। अब तो यही हालत है—"या

निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।" ये तमाम बातें हृदय खोल कर आप के सामने इस कारण रखनी पड़ीं कि मैं आपको अपना गुरु मान चुका हूँ और पूर्ण आशा ही नहीं वरन् दृढ़ विश्वास है कि आप मुझको अपने शिष्यों में स्वीकार करेंगे।"

The Hindustan (New Delhi) :—

लेखक ने दर्शनशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें अंग्रेज़ी और संस्कृत में कोई डेढ़ दर्जन लिखी हैं, लेकिन हिन्दी में लिखने का यह पहिला ही प्रयास है और उसमें उन्हें पूरी सफलता प्राप्त हुई है। दर्शन सरीखे रूखे विषय को भी उन्होंने इतना सरल बना दिया है कि बालक कथा कहानी की तरह उसे पढ़ सकता है। ....दर्शनशास्त्र के प्रेमियों के लिये पुस्तक खूब काम की है। संस्कृत ज्ञान रहित व्यक्ति भी इसके स्वाध्याय से योगवासिष्ठ के सिद्धान्तों का पूरा परिचय प्राप्त कर सकता है। श्री आत्रेय जीने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी भाषी जनता पर एक उपकार कर उसके जीवन की भी वृद्धि की है।

संन्यासी श्रीरामआश्रम बहादुर (भवाना, मेरठ)

हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक श्रीमान् प्रोफेसर पं० भीखनलाल जी, एम० ए०, डी० लिट्०, ने संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध योगवासिष्ठ नामक महान् वेदान्त ग्रन्थ का एक "योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त" नाम से सारभूत (संक्षिप्त) ग्रंथ लिखा है। वास्तव में प्रोफेसर साहब के इस बड़े उद्योग ने गागर में सागर भरने का काम किया है। विषयों का चुनाव इस प्रशंसनीय ढङ्ग से किया है कि जिसने इस छोटी सी पुस्तक द्वारा उस महान् ग्रन्थ को हस्तामलकवत् बना दिया है। इस ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि जिस योगवासिष्ठ ग्रंथ रूपी हीरेका, बहुत काल तक अज्ञान मतों में पड़े रहने के कारण मैल चढ़ जाने से, असली रूप धुंधला गया था उसको नवीन विचार रूपी सान पर चढ़ाकर चमकदार ज्ञान हीरा बना दिया है। आप ने केवल योगवासिष्ठ का संक्षेप मात्र लिखकर ही लोकोपकार नहीं किया, अपि तु उन २ अकाट्य प्रमाणों द्वारा और व्यापक परिश्रम तथा अन्वेषण द्वारा जो उक्तग्रन्थ की ऐतिहासिक प्राचीनता सिद्ध की है इसके लिये भी संस्कृत साहित्य तथा हिन्दू जाति आपकी ऋणी रहेगी।

सनातनधर्म (काशी) :—

"हाल ही में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक डॉ० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्०, ने योगवासिष्ठ पर विशेष चिन्तन और मनन करके हिन्दी भाषा-भाषियों के लिये श्री योगवासिष्ठ के ३२००० श्लोकोका सार १५० श्लोकों में निकाल कर रख दिया है। यह प्रयास सचमुच ही गागर में सागर रखने का है।......आशा करते हैं कि हिन्दी जानने वाले इस श्री वासिष्ठ दर्शनसारका उचित आदर और स्वागत करेंगे। प्रत्येक धार्मिक पुरुष और [illegible] लिये यह अत्यन्त अमूल्य निधि है।"

हनुमान प्रसाद पोद्दार (सम्पादक कल्याण, गोरखपुर)।

"योगवासिष्ठ को प्रकाश में लाकर तथा उसके दार्शनिक उच्च सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख [illegible], विशेषतः विदेशी विद्वानों की आँखें खोलकर, आपने भारतीय गौरव और आदर्शका मुख उज्ज्वल किया है। वस्तुतः इस दिशा में यदि आप प्रयत्नशील नहीं होते तो अभी बहुत दिनों तक यह [illegible] अन्धकार में ही पड़ा रहता तथा भारतवर्ष और बाहर के [illegible] इसके विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होते। भारतीय संस्कृति के इतिहासको गौरव प्रदान कर आप कोटि कोटि हृदयों के धन्यवाद के पात्र हैं।"

नारायण स्वामी (सुजानगढ़) :—

आप की पुस्तक निरन्तर देख रहा हूँ। दो बार देख चुका हूँ, किन्तु जब कभी भी इसको उठाता हूँ तो कोई न कोई नवीन आदेश प्राप्त हो जाता है। इस अद्भुत [illegible] को छोड़ने को जी नहीं चाहता...स्वामी रामतीर्थ ने मुजफ्फर नगर के ऑनरेरि लाला निहालचन्द से कहा था कि योगवासिष्ठ का एक पुस्तक [illegible] इसी जिले में होगा। यह बात उन्होंने [illegible] के [illegible] विद्यार्थी से भी कही थी। वह विद्यार्थी [illegible] ६०-६५ वर्ष का है एवं जोधपुर में [illegible] सज्जन है। उसने स्वामी रामतीर्थ की वाणी का [illegible] मुझे घोषित कर दिया था किन्तु उसका भ्रम दूर हटाने को मैंने आज उसे पत्र लिखकर [illegible] ऋषिका 'जुडा' का पता लिख दिया है।"

लेखक को योगवासिष्ठ-सम्बन्धी पुस्तकें

1. Yogavāsiṣṭha and Its Philosophy
2. Yogavāsiṣṭha and Modern Thought
3. The Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
4. An Epitome of the Philosophy of the Yogavāsiṣṭha
5. Deification of Man
6. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत) (With English Introduction)
7. वासिष्ठदर्शनम् (संस्कृत)
8. वासिष्ठदर्शनसार (संस्कृत-हिन्दी)
9. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (हिन्दी)
10. वासिष्ठयोगः (संस्कृत)
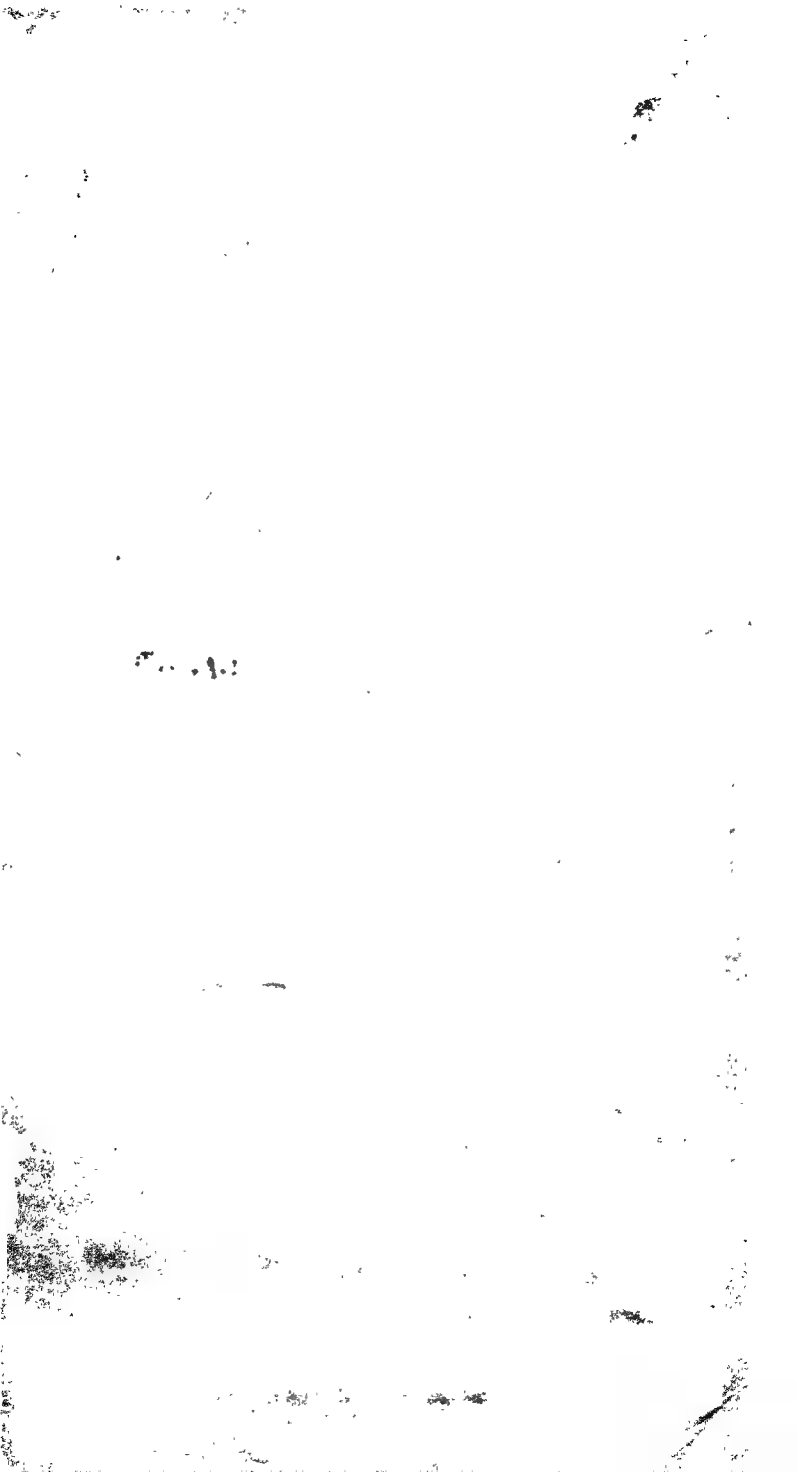
योगासन

संत श्री आसारामजी आश्रम
साबरमती, अमदावाद-5.

अनुक्रम...

आध्यात्मिक विद्या के उदगाता

प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद संत श्री आसाराम जी महाराज आज समग्र विश्व की चेतना के साथ एकात्मकता साधे हुए एक ऐसे ब्रह्मज्ञानी महापुरूष हैं कि जिनके बारे में कुछ लिखना कलम को शर्मिन्दा करना है। पूज्यश्री के लिए यह कहना कि उनका जन्म सिन्ध के नवाब जिले के बेराणी नामक गाँव में ई.स. 1941 में वि.सं. 1998 चैत वद 6 को हुआ था, यह कहना कि उनके पिताश्री बड़े जमींदार थे, यह कहना कि उन्होंने बचपन से साधना शुरू की थी और करीब तेईस साल की उम्र में उन्होंने आत्म-साक्षात्कार किया था – इत्यादि सब अपने मन को फुसलाने की कहानियाँ मात्र हैं। उनके विषय में कुछ भी कहना बहुत ज़्यादती है। मौन ही यहाँ परम भाषण है। सारे विश्व की चेतना के साथ जिनकी एकतानता है उनको भला किस रीति से स्थूल सम्बन्धों और परिवर्तनशील क्रियाओं के साथ बांधा जाये?

आज अमदावाद से करीब तीन-चार कि.मी. उत्तर में पवित्र सलिला साबरमति के किनारे ऋषि-मुनियों की तपोभूमि में धवल वस्त्रधारी परम पूज्यपाद संतश्री लाखों-लाखों मनुष्यों के जीवनरथ के पथ-प्रदर्शक बने हुए हैं। कुछ ही साल पहले साबरमति की जो कोतरे डरावनी और भयावह थीं, आज वही भूमि लाखों लोगों के लिए परम आश्रय और आनंददायी तीर्थभूमि बन चुकी है। हर रविवार और बुधवार को हजारों लोग आश्रम में आकर ब्रह्मनन्द में मस्त संतश्री के मुखारविंद से निसृत अमृत-वर्षा का लाभ पाते हैं। ध्यान और सत्संग का अमृतमय प्रसाद पाते हैं। पूज्यश्री की पावन कुटीर के सामने स्थित मनोकामनाओं को सिद्ध करने वाले कल्पवृक्ष समान बड़ बादशाह की परिक्रमा करते हैं ओर एक सप्ताह के लिए एक अदम्य उत्साह और आनन्द भीतर भरकर लौट जाते हैं।

कुछ साधक पूज्यश्री के पावन सान्निध्य में आत्मोथान की ओर अग्रसर होते हुए स्थायी रूप से आश्रम में ही रहते हैं। इस आश्रम से थोड़े ही दूरी पर स्थित महिला

आश्रम में पूज्यश्री प्रेरणा से और पूज्य माता जी के संचालन में रहकर कुछ साधिकाएँ आत्मोथान के मार्ग पर चल रही हैं।

अमदावाद और सूरत के अलावा दिल्ली, आगरा, वृन्दावन, हृषिकेश, इन्दौर, भोपाल, उज्जैन, रतलाम, जयपुर, उदयपुर, पुष्कर-अजमेर, जोधपुर, आमेट, सुमेरपरु, सागवाड़ा, राजकोट, भावनगर, हिम्मतनगर, विसनगर, लुणावाड़ा, वलसाड़, वापी, उल्हासनगर, औरंगाबाद, प्रकाशा, नाशिक एवं छोटे-मोटे कई स्थानों में भी मनोरम्य आश्रम बन चुके हैं और लाखों-लाखों लोग उनसे लाभान्वित हो रहे हैं। हर साल इन आश्रमों में मुख्य चार ध्यान योग साधना शिविर होते हैं। देश-विदेश के कई साधक-साधिकाएँ इन शिविरों में सम्मिलित होकर आध्यात्मिक साधना के राजमार्ग पर चल रहे हैं। उनकी संख्या दिनोदिन विशाल हो रही है। पूज्यश्री का प्रेम, आनन्द, उत्साह और आश्वासन से भरा प्रेरक मार्गदर्शन एवं स्नेहपूर्ण सान्निध्य उनके जीवन को पुलकित कर रहा है।

किसी को पूज्यश्री की किताब मिल जाती है, किसी को पूज्यश्री के प्रवचन की टेप सुनने को मिल जाती है, किसी को टी.वी. एवं चैनलों पर पूज्यश्री का दर्शन-सत्संग मिल जाता है. किसी को पूज्यश्री का कोई शिष्य, भक्त मिल जाता है और कोई श्रद्धावान तो पूज्यश्री का केवल नाम सुनकर ही आश्रम में चला जाता है और पूज्यश्री का आत्मिक प्रेम पाकर अनन्त विश्वचेतना के साथ तार जोड़ने का सदभागी होता है। वह भी आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुल जाने से आनन्द से भर जाता है।

पूज्यश्री कहते हैं- तुम अपने को दीन-हीन कभी मत समझो। तुम आत्मस्वरूप से संसार की सबसे बड़ी सत्ता हो। तुम्हारे पैरों तले सूर्य और चन्द्र सहित हजारों पृथ्वियाँ दबी हुई हैं। तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप में जागने मात्र की देर है। अपने जीवन को संयम-नियम और विवेक वैराग्य से भरकर आत्माभिमुख बनाओ। अपने जीवन में ज़रा ध्यान की झलक लेकर तो देखो! आत्मदेव परमात्मा की ज़री झाँकी करके तो देखो! बस, फिर तो तुम अखण्ड ब्रह्माण्ड के नायक हो ही। किसने तुम्हें दीन-हीन बनाए रखा है? किसने तुम्हें अज्ञानी और मूढ बनाए रखा है? मान्यताओं ने ही ना...? तो छोड़ दो उन दुःखद मान्यताओं को। जाग जाओ अपने स्वरूप में। फिर देखो, सारा विश्व तुम्हारी सत्ता के आगे झुकने को बाध्य होता है कि नहीं? तुमको सिर्फ जगना है.... बस। इतना ही काफी है। तुम्हारे तीव्र पुरूषार्थ और सदगुरू के कृपा-प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो जाता है।

कुण्डलिनी प्रारम्भ में क्रियाएँ करके अन्नमय कोष को शुद्ध करती है। तुम्हारे शरीर को आवश्यक हों ऐसे आसन, प्राणायाम, मुद्राएँ आदि अपने आप होने लगते हैं। अन्नमय

कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष की यात्रा करते हुए कुण्डलिनी जब आनन्दमय कोष में पहुँचती है तब असीम आनन्द की अनुभूति होने लगती है। तमाम शक्तियाँ, सिद्धियाँ, सामर्थ्य साधक में प्रकट होने लगता है। कुण्डलिनी जगते ही बुरी आदतें और व्यसन दूर होने लगते हैं।

इस योग को सिद्धयोग भी कहा जाता है। आनन्दमय कोष से भी आगे गुणातीत अवस्था करने के लिए इस सिद्धयोग का उपयोग हो सकता है तथा आत्मज्ञान पाकर जीवन्मुक्त के ऊँचे शिखर पर पहुँचने के लिए योगासन सहाय रूप हो सकते हैं।

- श्री योग वेदान्त सेवा समिति

अमदावाद आश्रम

स्वास्थ्य के लिए मंत्र

अच्युतानन्त गोविन्द नमोच्चारणभेषजात्।

नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।

हे अच्युत! हो अनन्त! हे गोविन्द! इस नामोच्चारणस्वरूप औषध से तमाम रोग नष्ट हो जाते हैं, यह मैं सत्य कहता हूँ, यह मैं सत्य कहता हूँ.... सत्य कहता हूँ।

प्रास्ताविक

साधारण मनुष्य अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोष में जीता है। जीवन की तमाम सुषुप्त शक्तियाँ नहीं जगाकर जीवन व्यर्थ खोता है। इन शक्तियों को जगाने में आपको आसन खूब सहाय रूप बनेंगे। आसन के अभ्यास से तन तन्दरूस्त, मन प्रसन्न और बुद्धि तीक्षण बनेगी। जीवन के हर क्षेत्र में सुखद स्वप्न साकार करने की कुँजी आपके आन्तर मन में छुपी हुई पड़ी है। आपका अदभुत सामर्थ्य प्रकट करने के लिए ऋषियों ने समाधी से सम्प्राप्त इन आसनों का अवलोकन किया है।

हजारों वर्ष की कसौटियों में कसे हुए, देश-विदेश में आदरणीय लोगों के द्वारा आदर पाये हुए इन आसनों की पुस्तिका देखने में छोटी है पर आपके जीवन को अति महान बनाने की कुँजियाँ रखती हुई आपके हाथ में पहुँच रही है।

इस पुस्तिका को बार-बार पढ़ो, आसनों का अभ्यास करो। हिम्मत रखो। अभ्यास का सातत्य जारी रखो। अदभुत लाभ होगा....... होगा........ अवश्य होगा। समिति की सेवा सार्थक बनेगी।

संत श्री आसारामजी बापू

ब्रह्मचर्य-रक्षा का मन्त्र

ॐ नमो भगवते महाबले पराक्रमाय मनोभिलाषितं मनः स्तंभ कुरू कुरू स्वाहा।

रोज दूध में निहार कर 21 बार इस मंत्र का जप करें और दूध पी लें। इससे ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। स्वभाव में आत्मसात कर लेने जैसा यह नियम है।

रात्रि में गोंद पानी में भिगोकर सुबह चाट लेने से वीर्यधातु पुष्ट होता है। ब्रह्मचर्य-रक्षा में सहायक बनता है।

आसनों की प्रकिया में आने वाले कुछ शब्दों की समझ

रेचक का अर्थ है श्वास छोड़ना।

पूरक का अर्थ है श्वास भीतर लेना।

कुम्भक का अर्थ है श्वास को भीतर या बाहर रोक देना। श्वास लेकर भीतर रोकने की प्रक्रिया को आन्तर या आभ्यान्तर कुम्भक कहते हैं। श्वास को बाहर निकालकर फिर वापस न लेकर श्वास बाहर ही रोक देने की क्रिया को बहिर्कुम्भक कहते हैं।

चक्रः चक्र, आध्यात्मिक शक्तियों के केन्द्र हैं। स्थूल शरीर में चर्मचक्षु से वे दिखते नहीं, क्योंकि वे हमारे सूक्ष्म शरीर में स्थित होते हैं। फिर भी स्थूल शरीर के ज्ञानतन्तु,
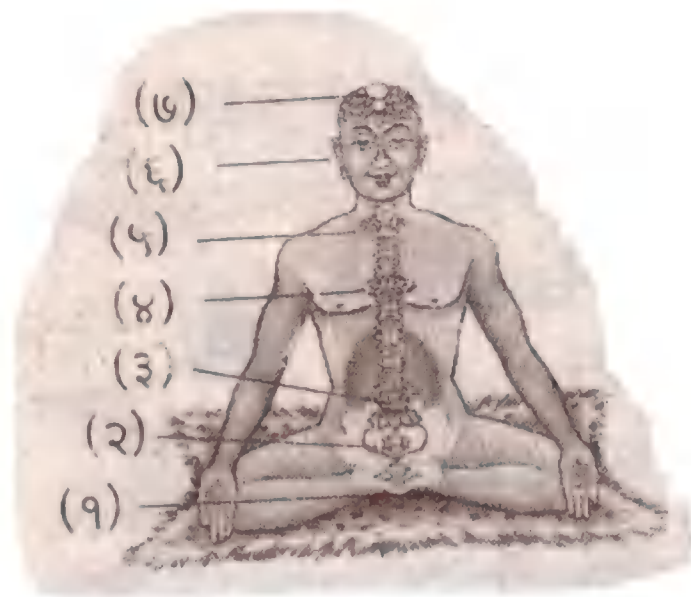
स्नायु केन्द्र के साथ उनकी समानता जोड़कर उनका निर्देश किया जाता है। हमारे शरीर में ऐसे सात चक्र मुख्य हैं। 1. मूलाधारः गुदा के पास मेरूदण्ड के आखिरी मनके के पास होता है। 2. स्वाधिष्ठानः जननेन्द्रिय से ऊपर और नाभि से नीचे के भाग में होता है। 3. मणिपुरः नाभिकेन्द्र में होता है। 4. अनाहतः हृदय में होता है। 5. विशुद्धः कण्ठ में होता है। 6. आज्ञाचक्रः दो भौहों के बीच में होता है। 7. सहस्रारः मस्तिष्क के ऊपर के भाग में जहाँ चोटी रखी जाती है, वहाँ होता है।

नाड़ीः प्राण वहन करने वाली बारीक नलिकाओं को नाड़ी कहते हैं। उनकी संख्या 72000 बतायी जाती है। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन मुख्य हैं। उनमें भी सुषुम्ना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आवश्यक निर्देश

1. भोजन के छः घण्टे बाद, दूध पीने के दो घण्टे बाद या बिल्कुल खाली पेट ही आसन करें।

2. शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर आसन किये जाये तो अच्छा है।

3. श्वास मुँह से न लेकर नाक से ही लेना चाहिए।

4. गरम कम्बल, टाट या ऐसा ही कुछ बिछाकर आसन करें। खुली भूमि पर बिना कुछ बिछाये आसन कभी न करें, जिससे शरीर में निर्मित होने वाला विद्युत-प्रवाह नष्ट न हो जायें।

5. आसन करते समय शरीर के साथ ज़बरदस्ती न करें। आसन कसरत नहीं है। अतः धैर्यपूर्वक आसन करें।

6. आसन करने के बाद ठंड में या तेज हवा में न निकलें। स्नान करना हो तो थोड़ी देर बाद करें।

7. आसन करते समय शरीर पर कम से कम वस्त्र और ढीले होने चाहिए।

8. आसन करते-करते और मध्यान्तर में और अंत में शवासन करके, शिथिलीकरण के द्वारा शरीर के तंग बने स्नायुओं को आराम दें।

9. आसन के बाद मूत्रत्याग अवश्य करें जिससे एकत्रित दूषित तत्त्व बाहर निकल जायें।

10. आसन करते समय आसन में बताए हुए चक्रों पर ध्यान करने से और मानसिक जप करने से अधिक लाभ होता है।

11. आसन के बाद थोड़ा ताजा जल पीना लाभदायक है. ऑक्सिजन और हाइड्रोजन में विभाजित होकर सन्धि-स्थानों का मल निकालने में जल बहुत आवश्यक होता है।

12. स्त्रियों को चाहिए कि गर्भावस्था में तथा मासिक धर्म की अवधि में वे कोई भी आसन कभी न करें।

13. स्वास्थ्य के आकांक्षी हर व्यक्ति को पाँच-छः तुलसी के पत्ते प्रातः चबाकर पानी पीना चाहिए। इससे स्मरणशक्ति बढ़ती है, एसीडीटी एवं अन्य रोगों में लाभ होता है।

योगासन

पद्मासन या कमलासन

इस आसन में पैरों का आधार पद्म अर्थात कमल जैसा बनने से इसको पद्मासन या कमलासन कहा जाता है। ध्यान आज्ञाचक्र में अथवा अनाहत चक्र में। श्वास रेचक, कुम्भक, दीर्घ, स्वाभाविक।

विधिः बिछे हुए आसन के ऊपर स्वस्थ होकर बैठें। रेचक करते करते दाहिने पैर को मोड़कर बाँई जंघा पर रखें। बायें पैर को मोड़कर दाहिनी जंघा पर रखें। अथवा पहले बायाँ पैर और बाद में दाहिना पैर भी रख सकते हैं। पैर के तलुवे ऊपर की ओर और एड़ी नाभि के नीचे रहे। घुटने ज़मीन से लगे रहें। सिर, गरदन, छाती, मेरूदण्ड आदि पूरा भाग सीधा और तना हुआ रहे। दोनों हाथ घुटनों के ऊपर ज्ञानमुद्रा में रहे। (अँगूठे को तर्जनी अँगुली के नाखून से लगाकर शेष तीन अँगुलियाँ सीधी रखने से ज्ञानमुद्रा बनती है।) अथवा बायें हाथ को गोद में रखें। हथेली ऊपर की ओर रहे। उसके ऊपर उसी प्रकार दाहिना हाथ रखें। दोनों हाथ की अँगुलियाँ परस्पर लगी रहेंगी। दोनों हाथों को मुट्ठी बाँधकर घुटनों पर भी रख सकते हैं।

(पद्मासन या कमलासन)

रेचक पूरा होने के बाद कुम्भक करें। प्रारंभ में पैर जंघाओं के ऊपर पैर न रख सकें तो एक ही पैर रखें। पैर में झनझनाहट हो, क्लेश हो तो भी निराश न होकर अभ्यास चालू रखें। अशक्त या रोगी को चाहिए कि वह ज़बरदस्ती पद्मासन में न बैठे। पद्मासन

सशक्त एवं निरोगी के लिए है। हर तीसरे दिन समय की अवधि एक मिनट बढ़ाकर एक घण्टे तक पहुँचना चाहिए।

दृष्टि नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में स्थिर करें। आँखें बंद, खुली या अर्ध खुली भी रख सकते हैं। शरीर सीधा और स्थिर रखें। दृष्टि को एकाग्र बनायें।

भावना करें कि मूलाधार चक्र में छुपी हुई शक्ति का भण्डार खुल रहा है। निम्न केन्द्र में स्थित चेतना तेज और औज़ के रूप में बदलकर ऊपर की ओर आ रही है। अथवा, अनाहत चक्र (हृदय) में चित्त एकाग्र करके भावना करें कि हृदयरूपी कमल में से सुगन्ध की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। समग्र शरीर इन धाराओं से सुगन्धित हो रहा है।

लाभः प्राणायाम के अभ्यासपूर्वक यह आसन करने से नाड़ीतंत्र शुद्ध होकर आसन सिद्ध होता है। विशुद्ध नाड़ीतंत्र वाले योगी के विशुद्ध शरीर में रोग की छाया तक नहीं रह सकती और वह स्वेच्छा से शरीर का त्याग कर सकता है।

पद्मासन में बैठने से शरीर की ऐसी स्थिति बनती है जिससे श्वसन तंत्र, ज्ञानतंत्र और रक्ताभिसरणतंत्र सुव्यवस्थित ढंग के कार्य कर सकते हैं। फलतः जीवनशक्ति का विकास होता है। पद्मासन का अभ्यास करने वाले साधक के जीवन में एक विशेष प्रकार की आभा प्रकट होती है। इस आसन के द्वारा योगी, संत, महापुरूष महान हो गये हैं।

पद्मासन के अभ्यास से उत्साह में वृद्धि होती है। स्वभाव में प्रसन्नता बढ़ती है। मुख तेजस्वी बनता है। बुद्धि का अलौकिक विकास होता है। चित्त में आनन्द-उल्लास रहता है। चिन्ता, शोक, दुःख, शारीरिक विकार दब जाते हैं। कुविचार पलायन होकर सुविचार प्रकट होने लगते हैं। पद्मासन के अभ्यास से रजस और तमस के कारण व्यग्र बना हुआ चित्त शान्त होता है। सत्त्वगुण में अत्यंत वृद्धि होती है। प्राणायाम, सात्त्विक मिताहार और सदाचार के साथ पद्मासन का अभ्यास करने से अंतःस्रावी ग्रंथियों को विशुद्ध रक्त मिलता है। फलतः व्यक्ति में कार्यशक्ति बढ़ने से भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास शीघ्र होता है। बौद्धिक-मानसिक कार्य करने वालों के लिए, चिन्तन मनन करने वालों के लिए एव विद्यार्थियों के लिए यह आसन खूब लाभदायक है। चंचल मन को स्थिर करने के लिए एवं वीर्यरक्षा के लिए या आसन अद्वितिय है।

श्रम और कष्ट रहित एक घण्टे तक पद्मासन पर बैठने वाले व्यक्ति का मनोबल खूब बढ़ता है। भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, मदिरा, तम्बाकू आदि व्यसनों में फँसे हुए व्यक्ति

यदि इन व्यसनों से मुक्त होने की भावना और दृढ़ निश्चय के साथ पद्मासन का अभ्यास करें तो उनके दुर्व्यसन सरलता से और सदा के लिए छूट जाते हैं। चोरी, जुआ, व्यभिचार या हस्तदोष की बुरी आदत वाले युवक-युवतियाँ भी इस आसन के द्वारा उन सब कुसंस्कारों से मुक्त हो सकते हैं।

कुष्ठ, रक्तपित्त, पक्षाघात, मलावरोध से पैदा हुए रोग, क्षय, दमा, हिस्टीरिया, धातुक्षय, कैन्सर, उदरकृमि, त्वचा के रोग, वात-कफ प्रकोप, नपुंसकत्व, वन्धव्य आदि रोग पद्मासन के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। अनिद्रा के रोग के लिए यह आसन रामबाण इलाज है। इससे शारीरिक मोटापन कम होता है। शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए यह आसन सर्वोत्तम है।

पद्मासन में बैठकर अश्विनी मुद्रा करने अर्थात गुदाद्वार का बार-बार संकोच प्रसार करने से अपानवायु सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। इससे काम विकार पर जय प्राप्त होने लगती है। गुह्योन्द्रिय को भीतर की ओर सिकोड़ने से अर्थात योनिमुद्रा या वज्रोली करने से वीर्य उर्ध्वगामी होता है। पद्मासन में बैठकर उड्डीयान बन्ध, जालंधर बन्ध तथा कुम्भक करके छाती एवं पेट को फुलाने कि क्रिया करने से वक्षशुद्धि एवं कण्ठशुद्धि होती है। फलतः भूख खुलती है, भोजन सरलता से पचता है, जल्दी थकान नहीं होती। स्मरणशक्ति एवं आत्मबल में वृद्धि होती है।

यम-नियमपूर्वक लम्बे समय तक पद्मासन का अभ्यास करने से उष्णता प्रकट होकर मूलाधार चक्र में आन्दोलन उत्पन्न होते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने की भूमिका बनती है। जब यह शक्ति जागृत होती है तब इस सरल दिखने वाले पद्मासन की वास्तविक महिमा का पता चलता है। घेरण्ड, शाण्डिल्य तथा अन्य कई ऋषियों ने इस आसन की महिमा गायी है। ध्यान लगाने के लिए यह आसन खूब लाभदायक है।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशम्।

दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि।।

इस प्रकार सर्व व्याधियों को विनष्ट करने वाले पद्मासन का वर्णन किया। यह दुर्लभ आसन किसी विरले बुद्धिमान पुरूष को ही प्राप्त होता है।

(हठयोगप्रदीपिका, प्रथमोपदेश)

सिद्धासन

पद्मासन के बाद सिद्धासन का स्थान आता है। अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने वाला होने के कारण इसका नाम सिद्धासन पड़ा है। सिद्ध योगियों का यह प्रिय आसन है। यमों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, नियमों में शौच श्रेष्ठ है वैसे आसनों में सिद्धासन श्रेष्ठ है।

ध्यान आज्ञाचक्र में और श्वास, दीर्घ, स्वाभाविक।

(सिद्धासन)

विधिः आसन पर बैठकर पैर खुले छोड़ दें। अब बायें पैर की एड़ी को गुदा और जननेन्द्रिय के बीच रखें। दाहिने पैर की एड़ी को जननेन्द्रिय के ऊपर इस प्रकार रखें जिससे जननेन्द्रिय और अण्डकोष के ऊपर दबाव न पड़े। पैरों का क्रम बदल भी सकते हैं। दोनों पैरों के तलुवे जंघा के मध्य भाग में रहें। हथेली ऊपर की ओर रहे इस प्रकार दोनों हाथ एक दूसरे के ऊपर गोद में रखें। अथवा दोनों हाथों को दोनो घुटनों के ऊपर ज्ञानमुद्रा में रखें। आँखें खुली अथवा बन्द रखें। श्वासोच्छोवास आराम से स्वाभाविक चलने दें। भ्रूमध्य में, आज्ञाचक्र में ध्यान केन्द्रित करें। पाँच मिनट तक इस आसन का अभ्यास कर सकते हैं। ध्यान की उच्च कक्षा आने पर शरीर पर से मन की पकड़ छूट जाती है।

लाभः सिद्धासन के अभ्यास से शरीर की समस्त नाड़ियों का शुद्धिकरण होता है। प्राणतत्त्व स्वाभाविकतया ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। फलतः मन को एकाग्र करना सरल बनता है।

पाचनक्रिया नियमित होती है। श्वास के रोग, हृदय रोग, जीर्णज्वर, अजीर्ण, अतिसार, शुक्रदोष आदि दूर होते हैं। मंदाग्नि, मरोड़ा, संग्रहणी, वातविकार, क्षय, दमा, मधुप्रमेह, प्लीहा की वृद्धि आदि अनेक रोगों का प्रशमन होता है। पद्मासन के अभ्यास से जो रोग दूर होते हैं वे सिद्धासन के अभ्यास से भी दूर होते हैं।

ब्रह्मचर्य-पालन में यह आसन विशेष रूप से सहायक होता है। विचार पवित्र बनते हैं। मन एकाग्र होता है। सिद्धासन का अभ्यासी भोग-विलास से बच सकता है। 72 हजार नाड़ियों का मल इस आसन के अभ्यास से दूर होता है। वीर्य की रक्षा होती है। स्वप्नदोष के रोगी को यह आसन अवश्य करना चाहिए।

योगीजन सिद्धासन के अभ्यास से वीर्य की रक्षा करके प्राणायाम के द्वारा उसको मस्तिष्क की ओर ले जाते हैं जिससे वीर्य ओज तथा मेधाशक्ति में परिणत होकर दिव्यता का अनुभव करता है। मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

कुण्डलिनी शक्ति जागृत करने के लिए यह आसन प्रथम सोपान है।

सिद्धासन में बैठकर जो कुछ पढ़ा जाता है वह अच्छी तरह याद रह जाता है। विद्यार्थियों के लिए यह आसन विशेष लाभदायक है। जठराग्नि तेज होती है। दिमाग स्थिर बनता है जिससे स्मरणशक्ति बढ़ती है।

आत्मा का ध्यान करने वाला योगी यदि मिताहारी बनकर बारह वर्ष तक सिद्धासन का अभ्यास करे तो सिद्धि को प्राप्त होता है। सिद्धासन सिद्ध होने के बाद अन्य आसनों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। सिद्धासन से केवल या केवली कुम्भक सिद्ध होता है। छः मास में भी केवली कुम्भक सिद्ध हो सकता है और ऐसे सिद्ध योगी के दर्शन-पूजन से पातक नष्ट होते हैं, मनोकामना पूर्ण होती है। सिद्धासन के प्रताप से निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है। मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध अपने आप होने लगते हैं।

सिद्धासन जैसा दूसरा आसन नहीं है, केवली कुम्भक के समान प्राणायाम नहीं है, खेचरी मुद्रा के समान अन्य मुद्रा नहीं है और अनाहत नाद जैसा कोई नाद नहीं है।

सिद्धासन महापुरूषों का आसन है। सामान्य व्यक्ति हठपूर्वक इसका उपयोग न करें, अन्यथा लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना है।

सर्वांगासन

भूमि पर सोकर शरीर को ऊपर उठाया जाता है इसलिए इसको सर्वांगासन कहते हैं।

ध्यान विशुद्धाख्य चक्र में, श्वास रेचक, पूरक और दीर्घ।

विधिः भूमि पर बिछे हुए आसन पर चित्त होकर लेट जाएँ। श्वास को बाहर निकाल कर अर्थात रेचक करके कमर तक के दोनों पैर सीधे और परस्पर लगे हुए रखकर ऊपर उठाएं। फिर पीठ का भाग भी ऊपर उठाएं। दोनों हाथों से कमर को आधार दें। हाथ की कुहनियाँ भूमि से लगे रहें। गरदन और कन्धे के बल पूरा शरीर ऊपर की और सीधा खड़ा कर दें। ठोडी छाती के साथ चिपक जाए। दोनों पैर आकाश की ओर रहें। दृष्टी दोनों पैरों के अंगूठों की ओर रहे। अथवा आँखें बन्द करके चित्तवृत्ति को कण्ठप्रदेश में विशुद्धाख्य चक्र में स्थिर करें। पूरक करके श्वास को दीर्घ, सामान्य चलने दें।

इस आसन का अभ्यास दृढ़ होने के बाद दोनों पैरों को आगे पीछे झुकाते हुए, जमीन को लगाते हुए अन्य आसन भी हो सकते हैं। सर्वांगासन की स्थिति में दोनों पैरों को जाँघों पर लगाकर पद्मासन भी किया जा सकता है।

(सर्वांगासन)

प्रारम्भ में तीन से पाँच मिनट तक यह आसन करें। अभ्यासी तीन घण्टे तक इस आसन का समय बढ़ा सकते हैं।

लाभः सर्वांगासन के नित्य अभ्यास से जठराग्नि तेज होती है। साधक को अपनी रूचि के अनुसार भोजन की मात्रा बढ़ानी चाहिए। सर्वांगासन के अभ्यास से शरीर की त्वचा लटकने नहीं लगती तथा शरीर में झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। बाल सफेद होकर गिरते नहीं। हर रोज़ एक प्रहर तक सर्वांगासन का अभ्यास करने से मृत्यु पर विजय मिलती है, शरीर में सामर्थ्य बढ़ता है। तीनों दोषों का शमन होता है। वीर्य की ऊर्ध्वगति होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है। मेधाशक्ति बढ़ती है, चिर यौवन की प्राप्ति होती है।

इस आसन से थायराइड नामक अन्तःग्रन्थि की शक्ति बढ़ती है। वहाँ रक्तसंचार तीव्र गति से होने लगता है, इससे उसे पोषण मिलता है। थायराइड के रोगी को इस आसन से अदभुत लाभ होता है। लिवर और प्लीहा के रोग दूर होते हैं। स्मरणशक्ति बढ़ती है। मुख पर से मुँहासे एवं अन्य दाग दूर होकर मुख तेजस्वी बनता है। जठर एवं नीचे उतरी हुई आँतें अपने मूल स्थान पर स्थिर होती हैं। पुरूषातन ग्रन्थि पर सर्वांगासन का अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वप्नदोष दूर होता है। मानसिक बौद्धिक प्रवृत्ति करने वालों को तथा विशेषकर विद्यार्थियों को यह आसन अवश्य करना चाहिए।

मन्दाग्नि, अजीर्ण, कब्ज, अर्श, थायराइड का अल्प विकास, थोड़े दिनों का अपेन्डीसाइटिस और साधारण गाँठ, अंगविकार, असमय आया हुआ वृद्धत्व, दमा, कफ, चमड़ी के रोग, रक्तदोष, स्त्रियों को मासिक धर्म की अनियमितता एवं दर्द, मासिक न आना अथवा अधिक आना इत्यादि रोगों में इस आसन से लाभ होता है। नेत्र और मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है। उनके रोग दूर होते हैं।

थायराइड के अति विकासवाले, खूब कमजोर हृदयवाले और अत्यधिक चर्बीवाले लोगों को किसी अनुभवी की सलाह लेकर ही सर्वांगासन करना चाहिए।

शीर्षासन करने से जो लाभ होता है वे सब लाभ सर्वांगासन और पादपश्चिमोत्तानसन करने से मिल जाते हैं। शीर्षासन में गफलत होने से जो हानि होती है वैसी हानि होने की संभावना सर्वांगासन और पादपश्चिमोत्तानासन में नहीं है।

हलासन

इस आसन में शरीर का आकार हल जैसा बनता है इसलिए इसको हलासन कहा जाता है।

(हलासन)

ध्यान विशुद्धाख्या चक्र में। श्वास रेचक और बाद में दीर्घ।

विधिः भूमि पर बिछे हुए आसन पर चित्त होकर लेट जाएँ। दोनों हाथ शरीर को लगे रहें। अब रेचक करके श्वास को बाहर निकाल दें। दोनों पैरों को एक साथ धीरे-धीरे ऊँचे करते जायें। आकाश की ओर पूरे उठाकर फिर पीछे सिर के तरफ झुकायें। पैर बिल्कुल तने हुए रखकर पंजे ज़मीन पर लगायें। ठोड़ी छाती से लगी रहे। चित्तवृत्ति को विशुद्धाख्या चक्र में स्थिर करें। दो-तीन मिनट से लेकर बीस मिनट तक समय की अवधि बढ़ा सकते हैं।

लाभः हलासन के अभ्यास से अजीर्ण, कब्ज, अर्श, थायराइड का अल्प विकास, अंगविकार, असमय वृद्धत्व, दमा, कफ, रक्तविकार आदि दूर होते हैं। इस आसन से लिवर अच्छा होता है। छाती का विकास होता है। श्वसनक्रिया तेज होकर ऑक्सीजन से रक्त शुद्ध बनता है। गले के दर्द, पेट की बीमारी, संधिवात आदि दूर होते हैं। पेट की चरबी कम होती है। सिरदर्द दूर होता है। वीर्यविकार निर्मूल होता है। खराब विचार बन्द होते हैं। नाड़ी तंत्र शुद्ध होता है। शरीर बलवान और तेजस्वी बनता है। गर्भिणी स्त्रियों के सिवा हर एक को यह आसन करना चाहिए।

रीढ़ में कठोरता होना यह वृद्धावस्था का चिह्न है। हलासन से रीढ़ लचीली बनती है, इससे युवावस्था की शक्ति, स्फूर्ति, स्वास्थ्य और उत्साह बना रहता है। मेरूदण्ड

सम्बन्धी नाड़ियों के स्वास्थ्य की रक्षा होकर वृद्धावस्था के लक्षण जल्दी नहीं आते। जठर की नाड़ियों को शक्ति प्राप्त होती है।

जठर की माँसपेशियाँ तथा पाचनतंत्र के अंगों की नाड़ियों की दुर्बलता के कारण अगर मंदाग्नि एवं कब्ज हो तो हलासन से दूर होते हैं। कमर, पीठ एवं गरदन के रोग नष्ट होते हैं। लिवर और प्लीहा बढ़ गए हों तो हलासन से सामान्य अवस्था में आ जाते हैं। काम केन्द्र की शक्ति बढ़ती है। अपानशक्ति का उत्थान होकर उदानरूपी अग्नि का योग होने से वीर्यशक्ति ऊर्ध्वगामी बनती है। हलासन से वीर्य का स्तंभन होता है। यह आसन अण्डकोष की वृद्धि, पेन्क्रियास, अपेन्डिक्स आदि को ठीक करता है। थायराइड ग्रन्थि की क्रियाशीलता बढ़ती है। ध्यान करने से विशुद्ध चक्र जागृत हो जाता है।

पवनमुक्तासन

शरीर में स्थित पवन (वायु) यह आसन करने से मुक्त होता है। इसलिए इसे पवनमुक्तासन कहा जाता है।

ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास पहले पूरक फिर कुम्भक और रेचक।

विधिः भूमि पर बिछे हुए आसन पर चित्त होकर लेट जायें। पूरक करके फेफड़ों में श्वास भर लें। अब किसी भी एक पैर को घुटने से मोड़ दें। दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाकर उसके द्वारा मोड़े हुए घुटनों को पकड़कर पेट के साथ लगा दें। फिर सिर को ऊपर उठाकर मोड़े हुए घुटनों पर नाक लगाएं। दूसरा पैर ज़मीन पर सीधा रहे। इस क्रिया के दौरान श्वास को रोककर कुम्भक चालू रखें। सिर और मोड़ा हुआ पैर भूमि पर पूर्ववत् रखने के बाद ही रेचक करें। दोनों पैरों को बारी-बारी से मोड़कर यह क्रिया करें। दोनों पैर एक साथ मोड़कर भी यह आसन हो सकता है।
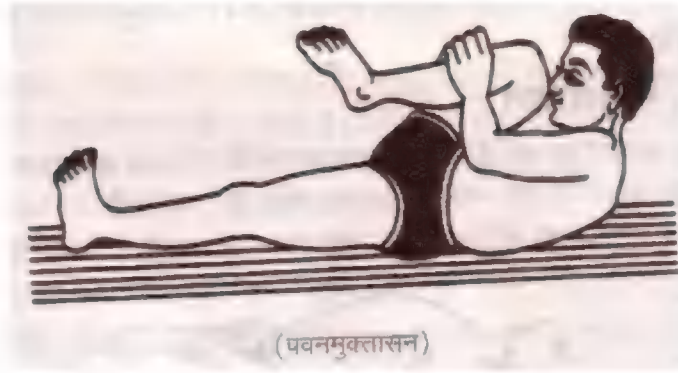
(पवनमुक्तासन)

लाभः पवनमुक्तासन के नियमित अभ्यास से पेट की चरबी कम होती है। पेट की वायु नष्ट होकर पेट विकार रहित बनता है। कब्ज दूर होता है। पेट में अफारा हो तो इस आसन से लाभ होता है। प्रातःकाल में शौचक्रिया ठीक से न होती हो तो थोड़ा पानी पीकर यह आसन 15-20 बार करने से शौच खुलकर होगा।

इस आसन से स्मरणशक्ति बढ़ती है। बौद्धिक कार्य करने वाले डॉक्टर, वकील, साहित्यकार, विद्यार्थी तथा बैठकर प्रवृत्ति करने वाले मुनीम, व्यापारी आदि लोगों को नियमित रूप से पवनमुक्तासन करना चाहिए।

मत्स्यासन

मत्स्य का अर्थ है मछली। इस आसन में शरीर का आकार मछली जैसा बनता है अतः मत्स्यासन कहलाता है। प्लाविनी प्राणायाम के साथ इस आसन की स्थिति में लम्बे समय तक पानी में तैर सकते हैं।

(मत्स्यासन)

ध्यान विशुद्धाख्या चक्र में। श्वास पहले रेचक, बहिर्कुम्भक, फिर पूरक और रेचक।

विधिः भूमि पर बिछे हुए आसन पर पद्मासन लगाकर सीधे बैठ जायें। फिर पैरों को पद्मासन की स्थिति में ही रखकर हाथ के आधार से सावधानी पूर्वक पीछे की ओर चित्त होकर लेट जायें। रेचक करके कमर को ऊपर उठायें। घुटने, नितंब और मस्तक के शिखा स्थान को भूमि के स्थान लगायें रखें। शिखास्थान के नीचे कोई नरम कपड़ा

अवश्य रखें। बायें हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा और दाहिने हाथ से बायें पैर का अंगूठा पकड़ें। दोनों कुहनियाँ ज़मीन को लगायें रखें। कुम्भक की स्थिति में रहकर दृष्टि को पीछे की ओर सिर के पास ले जाने की कोशिश करें। दाँत दबे हुए और मुँह बन्द रखें। एक मिनट से प्रारम्भ करके पाँच मिनट तक अभ्यास बढ़ायें। फिर हाथ खोलकर, कमर भूमि को लगाकर सिर ऊपर उठाकर बैठ जायें। पूरक करके रेचक करें।

पहले भूमि पर लेट कर फिर पद्मासन लगाकर भी मत्स्यासन हो सकता है।

लाभः मत्स्यासन से पूरा शरीर मजबूत बनता है। गला, छाती, पेट की तमाम बीमारियाँ दूर होती हैं। आँखों की रोशनी बढ़ती है। गला साफ रहता है। श्वसनक्रिया ठीक से चलती है। कन्धों की नसें उल्टी मुड़ती हैं इससे छाती व फेफड़ों का विकास होता है। पेट साफ रहता है। आँतों का मैल दूर होता है। रक्ताभिसरण की गति बढ़ती है। फलतः चमड़ी के रोग नहीं होते। दमा और खाँसी दूर होती है। छाती चौड़ी बनती है। पेट की चरबी कम होती है। इस आसन से अपानवायु की गति नीचे की ओर होने से मलावरोध दूर होता है। थोड़ा पानी पीकर यह आसन करने से शौच-शुद्धि में सहायता मिलती है।

मत्स्यासन से स्त्रियों के मासिकधर्म सम्बन्धी सब रोग दूर होते हैं। मासिकस्राव नियमित बनता है।

भुजंगासन

इस आसन में शरीर की आकृति फन उठाये हुए भुजंग अर्थात सर्प जैसी बनती है इसलिए इसको भुजंगासना कहा जाता है।

(भुजंगासन या सर्पासन)
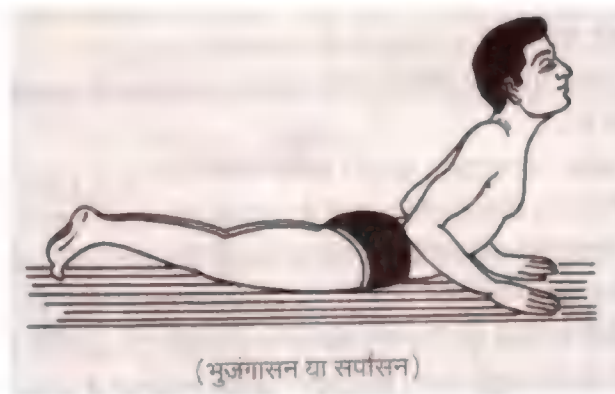
ध्यान विशुद्धाख्या चक्र में। श्वास ऊपर उठाते वक्त पूरक और नीचे की ओर जाते समय रेचक।

विधिः भूमि पर बिछे हुए कम्बल पर पेट के बल उल्टे होकर लेट जायें। दोनों पैर और पंजे परस्पर मिले हुए रहें। पैरों के अंगूठों को पीछे की ओर खींचें। दोनों हाथ सिर के तरफ लम्बे कर दें। पैरों के अंगूठे, नाभि, छाती, ललाट और हाथ की हथेलियाँ भूमि पर एक सीध में रखें।

अब दोनों हथेलियों को कमर के पास ले जायें। सिर और कमर ऊपर उठाकर जितना हो सके उतने पीछे की ओर मोड़ें। नाभि भूमि से लगी रहे। पूरे शरीर का वजन हाथ के पंजे पर आएगा। शरीर की स्थिति कमान जैसी बनेगी। मेरूदण्ड के आखिरी भाग पर दबाव केन्द्रित होगा। चित्तवृत्ति को कण्ठ में और दृष्टि को आकाश की तरफ स्थिर करें।

20 सेकण्ड तक यह स्थिति रखें। बाद में धीरे-धीरे सिर को नीचे ले आयें। छाती भूमि पर रखें। फिर सिर को भूमि से लगने दें। आसन सिद्ध हो जाने के बाद आसन करते समय श्वास भरके कुम्भक करें। आसन छोड़ते समय मूल स्थिति में आने के बाद श्वास को खूब धीरे-धीरे छोड़ें। हर रोज एक साथ 8-10 बार यह आसन करें।

लाभः घेरंड संहिता में इसका लाभ बताते हुए कहा है- भुजंगासन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, सर्व रोगों का नाश होता है और कुण्डलिनी जागृत होती है।

मेरूदण्ड के तमाम मनकों को तथा गरदन के आसपास वाले स्नायुओं को अधिक शुद्ध रक्त मिलता है। फलतः नाड़ी तंत्र सचेत बनता है, चिरंजीवी, शक्तिमान एवं सुदृढ़ बनता है। विशेषकर मस्तिष्क से निकलने वाले ज्ञानतंतु बलवान बनते हैं। पीठ की हड्डियों में रहने वाली तमाम खराबियाँ दूर होती हैं। पेट के स्नायु में खिंचाव आने से वहाँ के अंगों को शक्ति मिलती है। उदरगुहा में दबाव बढ़ने से कब्ज दूर होता है। छाती और पेट का विकास होता है तथा उनके रोग मिट जाते हैं। गर्भाशय एवं बोनाशय अच्छे बनते हैं। फलतः मासिकस्राव कष्टरहित होता है। मासिक धर्म सम्बन्धी समस्त शिकायतें दूर होती हैं। अति श्रम करने के कारण लगने वाली थकान दूर होती है। भोजन के बाद होने वाले वायु का दर्द नष्ट होता है। शरीर में स्फूर्ति आती है। कफ-पितवालों के लिए यह आसन लाभदायी है। भुजंगासन करने से हृदय मजबूत बनता है। मधुप्रमेह और उदर के

रोगों से मुक्ति मिलती है। प्रदर, अति मासिकस्राव तथा अल्प मासिकस्राव जैसे रोग दूर होते हैं।

इस आसन से मेरूदण्ड लचीला बनता है। पीठ में स्थित इड़ा और पिंगला नाड़ियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। कुण्डलिनी शक्ति जागृत करने के लिय यह आसन सहायक है। अमाशय की माँसपेशियों का अच्छा विकास होता है। थकान के कारण पीठ में पीड़ा होती हो तो सिर्फ एक बार ही यह आसन करने से पीड़ा दूर होती है। मेरूदण्ड की कोई हड्डी स्थानभ्रष्ट हो गई हो तो भुजंगासन करने से यथास्थान में वापस आ जाती है।

धनुरासन

इस आसन में शरीर की आकृति खींचे हुए धनुष जैसी बनती है अतः इसको धनुरासन कहा जाता है।

(धनुरासन)
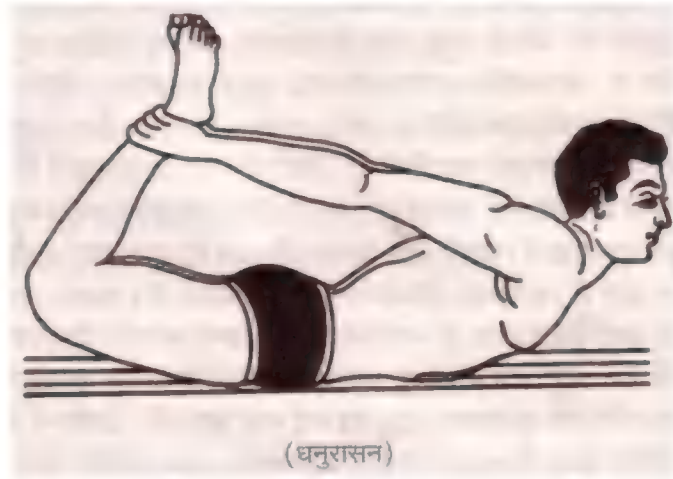
ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास नीचे की स्थिति में रेचक और ऊपर की स्थिति में पूरक।

विधिः भूमि पर बिछे हुए कम्बल पर पेट के बल उल्टे होकर लेट जायें। दोनों पैर परस्पर मिले हुए रहें। अब दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ें। दोनों हाथों को पीछे ले जाकर दोनों पैरों को टखनों से पकड़ें। रेचक करके हाथ से पकड़े हुए पैरों को कसकर धीरे-धीरे खींचें। जितना हो सके उतना सिर पीछे की ओर ले जाने की कोशिश करें। दृष्टि भी ऊपर एवं पीछे की ओर रहनी चाहिए। समग्र शरीर का बोझ केवल नाभिप्रदेश के ऊपर ही रहेगा। कमर से ऊपर का धड़ एवं कमर से नीचे पूरे पैर ऊपर की ओर मुड़े हुए रहेंगे।

कुम्भक करके इस स्थिति में टिके रहें। बाद में हाथ खोलकर पैर तथा सिर को मूल अवस्था में ले जायें और पूरक करें। प्रारंभ में पाँच सेकण्ड यह आसन करें। धीरे-धीरे समय बढ़ाकर तीन मिनट या उससे भी अधिक समय इस आसन का अभ्यास करें। तीन-चार बार यह आसन करना चाहिए।

लाभः धनुरासन के अभ्यास से पेट की चरबी कम होती है। गैस दूर होती है। पेट को रोग नष्ट होते हैं। कब्ज में लाभ होता है। भूख खुलती है। छाती का दर्द दूर होता है। हृदय की धडकन मजबूत बनती है। श्वास कि क्रिया व्यवस्थित चलती है। मुखाकृति सुंदर बनती है। आँखों की रोशनी बढ़ती है और तमाम रोग दूर होते हैं। हाथ-पैर में होने वाला कंपन रूकता है। शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। पेट के स्नायुओं में खिंचाव आने से पेट को अच्छा लाभ होता है। आँतों पर खूब दबाव पड़ने से पेट के अंगों पर भी दबाव पड़ता है। फलतः आँतों में पाचकरस आने लगता है इससे जठराग्नि तेज होती है, पाचनशक्ति बढ़ती है। वायुरोग नष्ट होता है। पेट के क्षेत्र में रक्त का संचार अधिक होता है। धनुरासन में भुजंगासन और शलभासन का समावेश हो जाने के कारण इन दोनों आसनों के लाभ मिलते हैं। स्त्रियों के लिए यह आसन खूब लाभकारक है। इससे मासिक धर्म के विकार, गर्भाशय के तमाम रोग दूर होते हैं।

चक्रासन

इस आसन में शरीर की आकृति चक्र जैसी बनती है। अतः चक्रासन कहा जाता है।

(चक्रासन)
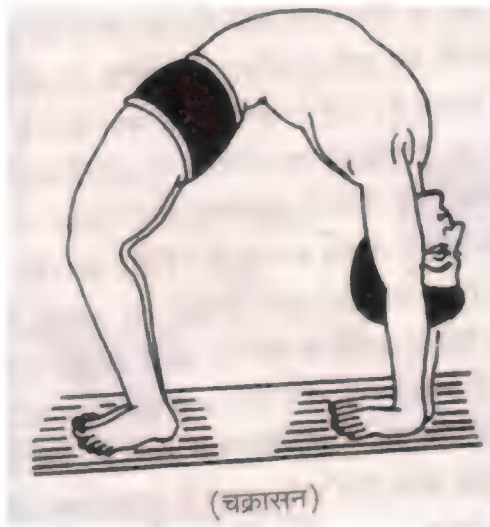
ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास दीर्घ, स्वाभाविक।

विधिः भूमि पर बिछे हुए आसन पर चित्त होकर लेट जायें। घुटनों से पैर मोड़ कर ऊपर उठायें। पैर के तलुवे ज़मीन से लगे रहें। दो पैरों के बीच करीब डेढ़ फीट का अन्तर रखें। दोनों हाथ मस्तक की तरफ उठाकर पीछे की ओर दोनों हथेलियों को ज़मीन पर जमायें। दोनों हथेलियों के बीच भी करीब डेढ़ फीट का अन्तर रखें। अब हाथ और पैर के बल से पूरे शरीर को कमर से मोड़कर ऊपर उठायें। हाथ को धीरे-धीरे पैर की ओर ले जाकर स्मपूर्श शरीर का आकार वृत्त या चक्र जैसा बनायें। आँखें बन्द रखें। श्वास की गति स्वाभाविक चलनें दें। चित्तवृत्ति मणिपुर चक्र (नाभि केन्द्र) में स्थिर करें। आँखें खुली भी रख सकते हैं। एक मिनट से पाँच मिनट तक अभ्यास बढ़ा सकते हैं।

लाभः मेरूदण्ड तथा शरीर की समस्त नाड़ियों का शुद्धिकरण होकर यौगिक चक्र जागृत होते हैं। लकवा तथा शरीर की कमजोरियाँ दूर होती हैं। मस्तक, गर्दन, पीठ, पेट, कमर, हाथ, पैर, घुटने आदि सब अंग मजबूत बनते हैं। सन्धि स्थानों दर्द नहीं होता। पाचनशक्ति बढ़ती है। पेट की अनावश्यक चरबी दूर होती है। शरीर तेजस्वी और फुर्तीला बनता है। विकारी विचार नष्ट होते हैं। स्वप्नदोष की बीमारी अलविदा होती है। चक्रासन के नियमित अभ्यास से वृद्धावस्था में कमर झुकती नहीं। शरीर सीधा तना हुआ रहता है।

कटिपिण्डमर्दनासन

इस आसन में कटिप्रदेश (कमर के पास वाले भाग) में स्थित पिण्ड अर्थात मूत्रपिण्ड का मर्दन होता है, इससे यह आसन कटिपिण्डमर्दनासन कहलाता है।

(कटिपिण्डमर्दनासन)
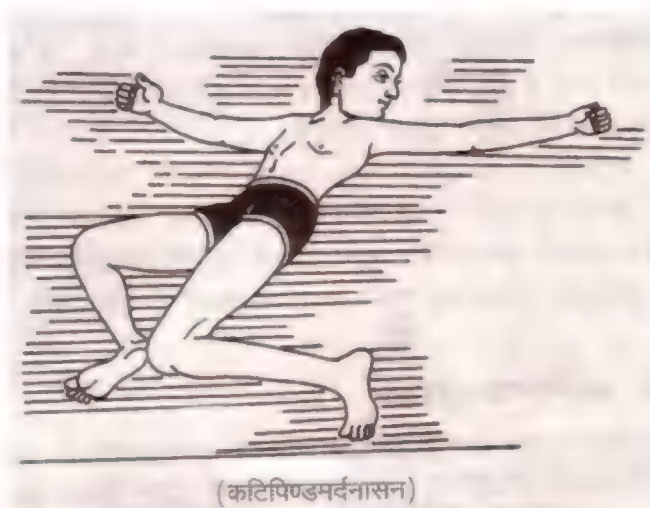
ध्यान स्वाधिष्ठान चक्र में। श्वास पूरक और कुम्भक।

विधिः बिछे हुए कम्बल पर पीठ के बल चित्त होकर लेट जायें। दोनों हाथों को आमने-सामने फैला दें। मुट्ठियाँ बन्द रखें। दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर खड़े कर दें। पैर के तलवे ज़मीन से लगे रहें। दोनों पैरों के बीच इतना अन्तर रखें कि घुटनों को ज़मीन पर झुकाने से एक पैर का घुटना दूसरे पैर की एड़ी को लगें... सिर दायीं ओर मुड़े तो दोनों घुटने दाहिनी ओर ज़मीन को लगें। इस प्रकार 15-20 बार क्रिया करें। इस प्रकार दोनों पैरों को एक साथ रखकर भी क्रिया करें।

लाभः जिसको पथरी की तकलीफ हो उसे आश्रम (संत श्री आसारामजी आश्रम, साबरमति, अमदावाद-5) से बिना मूल्य मिलती काली भस्म करीब डेढ़ ग्राम, भोजन से आधा घण्टा पूर्व और भोजन के बाद एक गिलास पानी के साथ लेना चाहिए और यह आसन भूखे पेट ठीक ढंग से करना चाहिए। इससे पथरी के दर्द में लाभ होता है। पथरी टुकड़े-टुकड़े होकर मूत्र के द्वारा बाहर निकलने लगती है। मूत्रविकार दूर होता है। कमर दर्द, साइटिका, रीढ़ की हड्डी की जकड़न, उदासीनता, निराशा, डायाबिटीजं, नपुंसकता, गैस, पैर की गाँठ इत्यादि रोगों में शीघ्र लाभ होता है। नाभि स्थान से च्युत हो जाती हो तो पुनः अपने स्थान में आ जाती है।

मासिक धर्म के समय एवं गर्भावस्था में स्त्रियाँ यह आसन न करें। कब्ज का रोगी सुबह शौच जाने से पहले उषःपान करके यह आसन करे तो चमत्कारिक लाभ होता है। श्वास को अन्दर भर के पेट को फुलाकर यह आसन करने से कब्ज जल्दी दूर होता है।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रासन की रचना गोरखनाथ के गुरू स्वामी मत्स्येन्द्रनाथ ने की थी। वे इस आसन में ध्यान किया करते थे। मत्स्येन्द्रासन की आधी क्रियाओं को लेकर अर्धमत्स्येन्द्रासन प्रचलित हुआ है।

(अर्धमत्स्येन्द्रासन)

ध्यान अनाहत चक्र में। श्वास दीर्घ।

विधिः दोनों पैरों को लम्बे करके आसन पर बैठ जाओ। बायें पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी गुदाद्वार के नीचे जमायें। पैर के तलवे को दाहिनी जंघा के साथ लगा दें। अब दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर खड़ा कर दें और बायें पैर की जंघा से ऊपर ले जाते हुए जंघा के पीछे ज़मीन के ऊपर रख दें। आसन के लिए यह पूर्वभूमिका तैयार हो गई।

अब बायें हाथ को दाहिने पैर के घुटने से पार करके अर्थात घुटने को बगल में दबाते हुए बायें हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ें। धड़ को दाहिनी ओर मोड़ें जिससे दाहिने पैर के घुटने के ऊपर बायें कन्धे का दबाव ठीक से पड़े। अब दाहिना हाथ पीठ के पीछे से घुमाकर बायें पैर की जांघ का निम्न भाग पकड़ें। सिर दाहिनी ओर इतना घुमायें कि ठोड़ी और बायाँ कन्धा एक सीधी रेखा में आ जाय। छाती बिल्कुल तनी हुई रखें। नीचे की ओर झुके नहीं। चित्तवृत्ति नाभि के पीछें के भाग में स्थित मणिपुर चक्र में स्थिर करें।

यह एक तरफ का आसन हुआ। इसी प्रकार पहले दाहिना पैर मोड़कर, एड़ी गुदाद्वार के नीचे दबाकर दूसरी तरफ का आसन भी करें। प्रारम्भ में पाँच सेकण्ड यह आसन करना पर्याप्त है। फिर अभ्यास बढ़ाकर एक एक तरफ एक एक मिनट तक आसन कर सकते हैं।

लाभः अर्धमत्स्येन्द्रासन से मेरूदण्ड स्वस्थ रहने से यौवन की स्फूर्ति बनी रहती है। रीढ़ की हड्डियों के साथ उनमें से निकलने वाली नाडियों को भी अच्छी कसरत मिल जाती है। पेट के विभिन्न अंगों को भी अच्छा लाभ होता है। पीठ, पेट के नले, पैर, गर्दन,

हाथ, कमर, नाभि से नीचे के भाग एवं छाती की नाड़ियों को अच्छा खिंचाव मिलने से उन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। फलतः बन्धकोष दूर होता है। जठराग्नि तीव्र होती है। विकृत यकृत, प्लीहा तथा निष्क्रिय वृक्क के लिए यह आसन लाभदायी है। कमर, पीठ और सन्धिस्थानों के दर्द जल्दी दूर हो जाते हैं।

योगमुद्रासन

योगाभ्यास में यह मुद्रा अति महत्त्वपूर्ण है, इससे इसका नाम योगमुद्रासन रखा गया है।

(योगमुद्रासन)
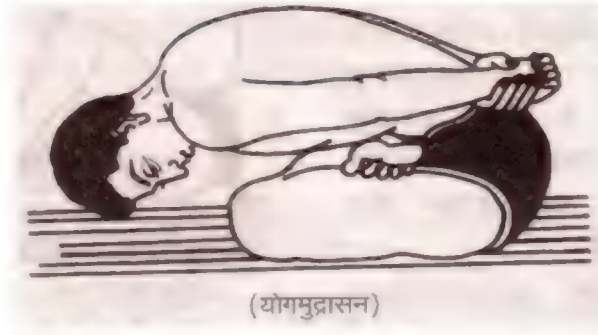
ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास रेचक, कुम्भक और पूरक।

विधिः पद्मासन लगाकर दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जायें। बायें हाथ से दाहिने हाथ की कलाई पकड़ें। दोनों हाथों को खींचकर कमर तथा रीढ़ के मिलन स्थान पर ले जायें। अब रेचक करके कुम्भक करें। श्वास को रोककर शरीर को आगे झुकाकर भूमि पर टेक दें। फिर धीरे-धीरे सिर को उठाकर शरीर को पुनः सीधा कर दें और पूरक करें। प्रारंभ में यह आसन कठिन लगे तो सुखासन या सिद्धासन में बैठकर करें। पूर्ण लाभ तो पद्मासन में बैठकर करने से ही होता है। पाचनतन्त्र के अंगों की स्थानभ्रष्टता ठीक करने के लिए यदि यह आसन करते हों तो केवल पाँच-दस सेकण्ड तक ही करें, एक बैठक में तीन से पाँच बार। सामान्यतः यह आसन तीन मिनट तक करना चाहिए। आध्यात्मिक उद्देश्य से योगमुद्रासन करते हों तो समय की अवधि रूचि और शक्ति के अनुसार बढ़ायें।

लाभः योगमुद्रासन भली प्रकार सिद्ध होता है तब कुण्डलिनि शक्ति जागृत होती है। पेट की गैस की बीमारी दूर होती है। पेट एवं आँतों की सब शिकायतें दूर होती हैं। कलेजा, फेफड़े, आदि यथा स्थान रहते हैं। हृदय मजबूत बनता है। रक्त के विकार दूर होते

हैं। कुष्ठ और यौनविकार नष्ट होते हैं। पेट बड़ा हो तो अन्दर दब जाता है। शरीर मजबूत बनता है। मानसिक शक्ति बढ़ती है।

योगमुद्रासन से उदरपटल सशक्त बनता है। पेट के अंगों को अपने स्थान टिके रहने में सहायता मिलती है। नाड़ीतंत्र और खास करके कमर के नाड़ी मण्डल को बल मिलता है।

इस आसन में ,सामन्यतः जहाँ एड़ियाँ लगती हैं वहाँ कब्ज के अंग होते हैं। उन पर दबाव पड़ने से आँतों में उत्तेजना आती है। पुराना कब्ज दूर होता है। अंगों की स्थानभ्रष्टता के कारण होने वाला कब्ज भी, अंग अपने स्थान में पुनः यथावत स्थित हो जाने से नष्ट हो जाता है। धातु की दुर्बलता में योगमुद्रासन खूब लाभदायक है।

गोरक्षासन या भद्रासन

(गोरक्षासन या भद्रासन)
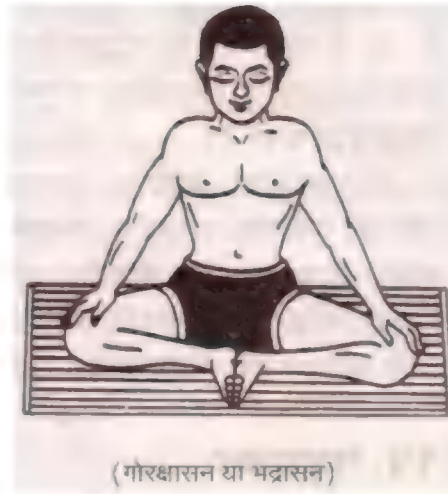
ध्यान मूलाधार चक्र में। श्वास प्रथम स्थिति में पूरक और दूसरी स्थिति में कुम्भक।

विधिः बिछे हुए आसन पर बैठ जायें। दाहिना पैर घुटने से मोड़कर एड़ी सीवन (उपस्थ और गुदा के मध्य) के दाहिने भाग में और बायाँ पैर मोड़कर एड़ी सीवन के बायें भाग में इस प्रकार रखें कि दोनों पैर के तलवे एक दूसरे को लगकर रहें।

रेचक करके दोनों हाथ सामने ज़मीन पर टेककर शरीर को ऊपर उठायें और दोनों पैर के पंजों पर इस प्रकार बैठें कि शरीर का वजन एड़ी के मध्य भाग में आये। अंगुलियों वाला भाग छूटा रहे। अब पूरक करते-करते दोनों हाथों की हथेलियों को घुटनों पर रखें।

अन्त में कुम्भक करके ठोड़ी छाती पर दबायें। चित्तवृत्ति मूलाधार चक्र में और दृष्टि भी उसी दिशा में लगायें। क्रमशः अभ्यास बढ़ाकर दसके मिनट तक यह आसन करें।

लाभः इस आसन के अभ्यास से पैर के सब सन्धि स्थान तथा स्नायु सशक्त बनते हैं। वायु ऊर्ध्वगामी होकर जठराग्नि प्रदीप्त करता है। दिनों दिन जड़ता नष्ट होने लगती है। शरीर पतला होता है। संकल्पबल बढ़ता है। बुद्धि तीक्षण होती है। कल्पनाशक्ति का विकास होता है। प्राणापान की एकता होती है। नादोत्पत्ति होने लगती है। बिन्दु स्थिर होकर चित्त की चंचलता कम होती है। आहार का संपूर्णतया पाचन हो जाने के कारण मलमूत्र अल्प होने लगते हैं। शरीर शुद्धि होने लगती है। तन में स्फूर्ति एवं मन में प्रसन्नता अपने आप प्रकट होती है। स्नायु सुदृढ़ बनते हैं। धातुक्षय, गैस, मधुप्रमेह, स्वप्नदोष, अजीर्ण, कमर का दर्द, गर्दन की दुर्बलता, बन्धकोष, मन्दाग्नि, सिरदर्द, क्षय, हृदयरोग, अनिद्रा, दमा, मूर्छारोग, बवासीर, आंत्रपुच्छ, पाण्डुरोग, जलोदर, भगन्दर, कोढ़, उल्टी, हिचकी, अतिसार, आँव, उदररोग, नेत्रविकार आदि असंख्य रोगों में इस आसन से लाभ होते हैं।

मयूरासन
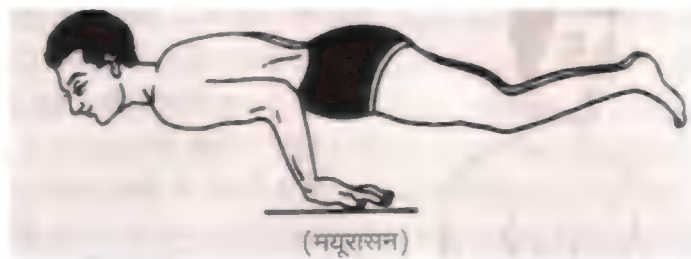
(मयूरासन)

इस आसन में मयूर अर्थात मोर की आकृति बनती है, इससे इसे मयूरासन कहा जाता है।

ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास बाह्य कुम्भक।

विधिः जमीन पर घुटने टिकाकर बैठ जायें। दोनों हाथ की हथेलियों को जमीन पर इस प्रकार रखें कि सब अंगुलियाँ पैर की दिशा में हों और परस्पर लगी रहें। दोनों कुहनियों को मोड़कर पेट के कोमल भाग पर, नाभि के इर्दगिर्द रखें। अब आगे झुककर दोनों पैर को पीछे की लम्बे करें। श्वास बाहर निकाल कर दोनों पैर को जमीन से ऊपर उठायें और सिर का भाग नीचे झुकायें। इस प्रकार पूरा शरीर ज़मीन के बराबर समानान्तर रहे ऐसी स्थिति बनायें। संपूर्ण शरीर का वजन केवल दो हथेलियों पर ही

रहेगा। जितना समय रह सकें उतना समय इस स्थिति में रहकर फिर मूल स्थिति में आ जायें। इस प्रकार दो-तीन बार करें।

लाभः मयूरासन करने से ब्रह्मचर्य-पालन में सहायता मिलती है। पाचन तंत्र के अंगों की रक्त का प्रवाह अधिक बढ़ने से वे अंग बलवान और कार्यशील बनते हैं। पेट के भीतर के भागों में दबाव पड़ने से उनकी शक्ति बढ़ती है। उदर के अंगों की शिथिलता और मन्दाग्नि दूर करने में मयूरासन बहुत उपयोगी है।

वज्रासन

वज्रासन का अर्थ है बलवान स्थिति। पाचनशक्ति, वीर्यशक्ति तथा स्नायुशक्ति देने वाला होने से यह आसन वज्रासन कहलाता है।
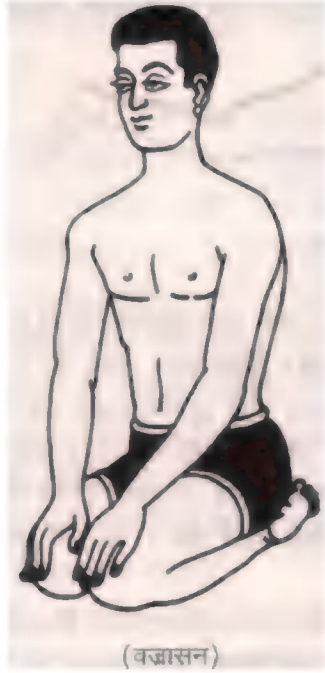
(वज्रासन)

ध्यान मूलाधार चक्र में और श्वास दीर्घ।

विधिः बिछे हुए आसन पर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर एड़ियों पर बैठ जायें। पैर के दोनों अंगूठे परस्पर लगे रहें। पैर के तलवों के ऊपर नितम्ब रहे। कमर और पीठ बिल्कुल सीधी रहे, दोनों हाथ को कुहनियों से मोड़े बिना घुटनों पर रख दें। हथेलियाँ नीचे की ओर रहें। दृष्टि सामने स्थिर कर दें।

पाँच मिनट से लेकर आधे घण्टे तक वज्रासन का अभ्यास कर सकते हैं। वज्रासन लगाकर भूमि पर लेट जाने से सुप्त वज्रासन होता है।

लाभः वज्रासन के अभ्यास से शरीर का मध्यभाग सीधा रहता है। श्वास की गति मन्द पड़ने से वायु बढ़ती है। आँखों की ज्योति तेज होती है। वज्रनाड़ी अर्थात वीर्यधारा नाड़ी मजबूत बनती है। वीर्य की ऊर्ध्वगति होने से शरीर वज्र जैसा बनता है। लम्बे समय तक सरलता से यह आसन कर सकते हैं। इससे मन की चंचलता दूर होकर व्यक्ति स्थिर बुद्धिवाला बनता है। शरीर में रक्ताभिसरण ठीक से होकर शरीर निरोगी एवं सुन्दर बनता है।

भोजन के बाद इस आसन से बैठने से पाचन शक्ति तेज होती है। कब्ज दूर होती है। भोजन जल्दी हज्म होता है। पेट की वायु का नाश होता है। कब्ज दूर होकर पेट के तमाम रोग नष्ट होते हैं। पाण्डुरोग से मुक्ति मिलती है। रीढ़, कमर, जाँघ, घुटने और पैरों में शक्ति बढ़ती है। कमर और पैर का वायु रोग दूर होता है। स्मरणशक्ति में वृद्धि होती है। स्त्रियों के मासिक धर्म की अनियमितता जैसे रोग दूर होते हैं। शुक्रदोष, वीर्यदोष, घुटनों का दर्द आदि का नाश होता है। स्नायु पुष्ट होते हैं। स्फूर्ति बढ़ाने के लिए एवं मानसिक निराशा दूर करने के लिए यह आसन उपयोगी है। ध्यान के लिये भी यह आसन उत्तम है। इसके अभ्यास से शारीरिक स्फूर्ति एवं मानसिक प्रसन्नता प्रकट होती है। दिन-प्रतिदिन शक्ति का संचय होता है इसलिए शारीरिक बल में खूब वृद्धि होती है। काग का गिरना अर्थात गले के टान्सिल्स, हड्डियों के पोल आदि स्थानों में उत्पन्न होने वाले श्वेतकण की संख्या में वृद्धि होने से आरोग्य का साम्राज्य स्थापित होता है। फिर व्यक्ति बुखार से सिरदर्द से, कब्ज से, मंदाग्नि से या अजीर्ण जैसे छोटे-मोटे किसी भी रोग से पीड़ित नहीं रहता, क्योंकि रोग आरोग्य के साम्राज्य में प्रविष्ट होने का साहस ही नहीं कर पाते।

सुप्तवज्रासन

(सुप्तवज्रासन)
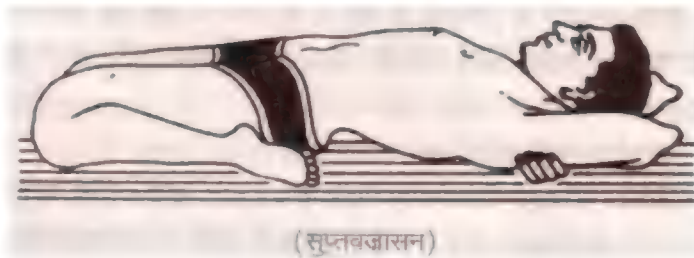
ध्यान विशुद्धाख्याचक्र में। श्वास दीर्घ, सामान्य।

विधिः वज्रासन में बैठने के बाद चित्त होकर पीछे की ओर भूमि पर लेट जायें। दोनों जंघाएँ परस्पर मिली रहें। अब रेचक करते बायें हाथ का खुला पंजा दाहिने कन्धे के नीचे इस प्रकार रखें कि मस्तक दोनों हाथ के क्रास के ऊपर आये। रेचक पूरा होने पर त्रिबन्ध करें। दृष्टि मूलाधार चक्र की दिशा में और चित्तवृत्ति मूलाधार चक्र में स्थापित करें।

लाभः यह आसन करने में श्रम बहुत कम है और लाभ अधिक होता है। इसके अभ्यास से सुषुम्ना का मार्ग अत्यन्त सरल होता है। कुण्डलिनी शक्ति सरलता से ऊर्ध्वगमन कर सकती है।

इस आसन में ध्यान करने से मेरूदण्ड को सीधा करने का श्रम नहीं करना पड़ता और मेरूदण्ड को आराम मिलता है। उसकी कार्यशक्ति प्रबल बनती है। इस आसन का अभ्यास करने से प्रायः तमाम अंतःस्रावी ग्रन्थियों को, जैसे शीर्षस्थ ग्रन्थि, कण्ठस्थ ग्रन्थि, मूत्रपिण्ड की ग्रन्थी, ऊर्ध्वपिण्ड तथा पुरूषार्थ ग्रन्थि आदि को पुष्टि मिलती है। फलतः व्यक्ति का भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास सरल हो जाता है। तन-मन का स्वास्थ्य प्रभावशाली बनता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मलावरोध की पीडा दूर होती है। धातुक्षय, स्वप्नदोष, पक्षाघात, पथरी, बहरा होना, तोतला होना, आँखों की दुर्बलता, गले के टान्सिल, श्वासनलिका का सूजन, क्षय, दमा, स्मरणशक्ति की दुर्बलता आदि रोग दूर होते हैं।

शवासन

शवासन की पूर्णावस्था में शरीर के तमाम अंग एवं मस्तिष्क पूर्णतया चेष्टा रहित किये जाते हैं। यह अवस्था शव (मुर्दे) जैसी होने से इस आसन को शवासन कहा जाता है।

(शवासन)

विधिः बिछे हुए आसन पर चित्त होकर लेट जायें। दोनों पैरों को परस्पर से थोड़े अलग कर दें। दोनों हाथ भी शरीर से थोड़े अलग रहें। इस प्रकार पैरों की ओर फैला दें। हाथ की हथेलियाँ आकाश की तरफ खुली रखें। सिर सीधा रहे। आँखें बन्द।

मानसिक दृष्टि से शरीर को पैर से सिर तक देखते जायें। पूरे शरीर को मुर्दे की तरह ढीला छोड़ दें। हर एक अंग को शिथिल करते जायें।

शरीर में सम्पूर्ण विश्राम का अनुभव करें। मन को भी बाह्य विषयों से हटाकर एकाग्र करें। बारी-बारी से हर एक अंग पर मानसिक दृष्टि एकाग्र करते हुए भावना करें कि वह अंग अब आराम पा रहा है। मेरी सब थकान उतर रही है। इस प्रकार भावना करते-करते सब स्नायुओं को शिथिल होने दें। शरीर के एक भी अंग में कहीं भी तनाव (टेन्शन) न रहे। शिथिलीकरण की प्रक्रिया में पैर से प्रारम्भ करके सिर तक जायें अथवा सिर से प्रारम्भ करके पैर तक भी जा सकते हैं। अन्त में, जहाँ से प्रारम्भ किया हो वहीं पुनः पहुँचना चाहिये। शिथिलीकरण की प्रक्रिया से शरीर के तमाम अंगों का एवं ज्ञानतंतुओं को विश्राम की अवस्था में ला देना है।

शवासन की दूसरी अवस्था में श्वासोच्छोवास पर ध्यान देना है। शवासन की यही मुख्य प्रक्रिया है। विशेषकर, योग साधकों के लिए वह अत्यन्त उपयोगी है। केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिये प्रथम भूमिका पर्याप्त है।

इसमें श्वास और उच्छवास की नियमितता, दीर्घता और समानता स्थापित करने का लक्षय है। श्वास नियमित चले, लम्बा और गहरा चले, श्वास और उच्छवास एक समान रहे तो मन को एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त होती है।

शवासन यदि ठीक ढंग से किया जाए तो नाड़ीतंत्र इतना शांत हो जाता है कि अभ्यासी को नींद आने लगती है। लेकिन ध्यान रहे, निन्द्रित न होकर जाग्रत रहना आवश्यक है।

अन्य आसन करने के बाद अंगों में जो तनाव (टेन्शन) पैदा होता है उसको शिथिल करने के लिये अंत में 3 से 5 मिनट तक शवासन करना चाहिए। दिनभर में अनुकूलता के अनुसार दो-तीन बार शवासन कर सकते हैं।

लाभः शवासन के द्वारा स्नायु एवं मांसपेशियों में शिथिलीकरण से शक्ति बढ़ती है। अधिक कार्य करने की योग्यता उसमें आती है। रक्तवाहनियों में, शिराओं में रक्तप्रवाह तीव्र

होने से सारी थकान उतर जाती है। नाड़ीतंत्र को बल मिलता है। मानसिक शक्ति में वृद्धि होती है।

रक्त का दबाव कम करने के लिए, नाड़ीतंत्र की दुर्बलता एवं उसके कारण होने वाले रोगों को दूर करने के लिये शवासन खूब उपयोगी है।

पादपश्चिमोतानासन

यह आसन करना कठिन है इससे उग्रासन कहा जाता है। उग्र का अर्थ है शिव। भगवान शिव संहारकर्त्ता हैं अतः उग्र या भयंकर हैं। शिवसंहिता में भगवान शिव ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा हैः यह आसन सर्वश्रेष्ठ आसन है। इसको प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखें। सिर्फ अधिकारियों को ही इसका रहस्य बतायें।

(पादपश्चिमोत्तानासन या उग्रासन)

ध्यान मणिपुर चक्र में। श्वास प्रथम स्थिति में पूरक और दूसरी स्थिति में रेचक और फिर बहिर्कुम्भक।

विधिः बिछे हुए आसन पर बैठ जायें। दोनों पैरों को लम्बे फैला दें। दोनों पैरों की जंघा, घुटने, पंजे परस्पर मिले रहें और जमीन के साथ लगे रहें। पैरों की अंगुलयाँ घुटनों की तरफ झुकी हुई रहें। अब दोनों हाथ लम्बे करें। दाहिने हाथ की तर्जनी और अंगूठे से दाहिने पैर का अंगूठा और बायें हाथ की तर्जनी और अंगूठे से बायें पैर का अंगूठा पकड़ें। अब रेचक करते-करते नीचे झुकें और सिर को दोनों घुटनों के मध्य में रखें। ललाट घुटने को स्पर्श करे और घुटने ज़मीन से लगे रहें। रेचक पूरा होने पर कुम्भक करें। दृष्टि एवं चित्तवृत्ति को मणिपुर चक्र में स्थापित करें। प्रारम्भ में आधा मिनट करके क्रमशः 15 मिनट तक यह आसन करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिये। प्रथम दो-चार दिन कठिन लगेगा लेकिन अभ्यास हो जाने पर यह आसन सरल हो जाएगा।

लाभः पादपश्चिमोत्तनासन मे सम्यक अभ्यास से सुषुम्ना का मुख खुल जाता है और प्राण मेरूदण्ड के मार्ग में गमन करता है, फलतः बिन्दु को जीत सकते हैं। बिन्दु को जीते बिना न समाधि सिद्ध होती है न वायु स्थिर होता है न चित्त शांत होता है।

जो स्त्री-पुरूष काम विकार से अत्यंत पीड़ित हों उन्हें इस आसन का अभ्यास करना चाहिए। इससे शारीरिक विकार दब जाते हैं। उदर, छाती और मेरूदण्ड को उत्तम कसरत मिलती है अतः वे अधिक कार्यक्षम बनते हैं। हाथ, पैर तथा अन्य अंगों के सन्धि स्थान मजबूत बनते हैं। शरीर के सब तंत्र बराबर कार्यशील होते हैं। रोग मात्र का नाश होकर स्वास्थ्य का साम्राज्य स्थापित होता है।

इस आसन के अभ्यास से मन्दाग्नि, मलावरोध, अजीर्ण, उदररोग, कृमिविकार, सर्दी, वातविकार, कमर का दर्द, हिचकी, कोढ़, मूत्ररोग, मधुप्रमेह, पैर के रोग, स्वप्नदोष, वीर्यविकार, रक्तविकार, एपेन्डीसाइटिस, अण्डवृद्धि, पाण्डूरोग, अनिद्रा, दमा, खट्टी डकारें आना, ज्ञानतन्तु की दुर्बलता, बवासीर, नल की सूजन, गर्भाशय के रोग, अनियमित तथा कष्टदायक मासिक, बन्ध्यत्व, प्रदर, नपुंसकता, रक्तपित्त, सिरोवेदना, बौनापन आदि अनेक रोग दूर होते हैं। पेट पतला बनता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कफ और चरबी नष्ट होते हैं।

शिवसंहिता में कहा है कि इस आसन से वायूद्दीपन होता है और वह मृत्यु का नाश करता है। इस आसन से शरीर का कद बढ़ता है। शरीर में अधिक स्थूलता हो तो कम होती है। दुर्बलता हो तो वह दूर होकर शरीर सामान्य तन्दुरूस्त अवस्था में आ जाता है। नाडी संस्थान में स्थिरता आती है। मानसिक शांति प्राप्त होती है। चिन्ता एवं उत्तेजना शांत करने के लिए यह आसन उत्तम है। पीठ और मेरूदण्ड पर खिंचाव आने से दोनों विकसित होते हैं। फलतः शरीर के तमाम अवयवों पर अधिकार स्थापित होता है। सब आसनों में यह आसन सर्वप्रधान है। इसके अभ्यास से कायाकल्प (परिवर्तन) हो जाता है।

यह आसन भगवान शिव को बहुत प्यारा है। उनकी आज्ञा से योगी गोरखनाथ ने लोककल्याण हेतु इसका प्रचार किया है। आप इस आसन के अदभुत लाभों से लाभान्वित हों और दूसरों को भी सिखायें।

पादपश्चिमोत्तानासन पूज्यपाद आसारामजी बापू को भी बहुत प्यारा है। उससे पूज्यश्री को बहुत लाभ हुए हैं। अभी भी यह आसन उनके आरोग्यनिधि का रक्षक बना हुआ है।

पाठक भाइयों! आप अवश्य इस आसन का लाभ लेना। प्रारम्भ के चार-पाँच दिन जरा कठिन लगेगा। बाद में तो यह आसन आपका शिवजी के वरदान रूप आरोग्य कवच सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

त्रिबन्ध

मूलबन्ध

शौच स्नानादि से निवृत्त होकर आसन पर बैठ जायें। बायीं एड़ी के द्वारा सीवन या योनि को दबायें। दाहिनी एड़ी सीवन पर रखें। गुदाद्वार को सिकोड़कर भीतर की ओर ऊपर खींचें। यह मूलबन्ध कहा जाता है।

लाभः मूलबन्ध के अभ्यास से मृत्यु को जीत सकते हैं। शरीर में नयी ताजगी आती है। बिगड़ते हुए स्वास्थ्य की रक्षा होती है। ब्रह्मचर्य का पालन करने में मूलबन्ध सहायक सिद्ध होता है। वीर्य को पुष्ट करता है, कब्ज को नष्ट करता है, जठराग्नि तेज होती है। मूलबन्ध से चिरयौवन प्राप्त होता है। बाल सफेद होने से रुकते हैं।

अपानवाय ऊर्ध्वगति पाकर प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। सहस्रारचक्र में चित्तवृत्ति स्थिर बनती है। इससे शिवपद का आनन्द मिलता है। सर्व प्रकार की दिव्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। अनाहत नाद सुनने को मिलता है। प्राण, अपान, नाद और बिनदु एकत्रित होने से योग में पूर्णता प्राप्त होती है।

उड्डीयान बन्ध

आसन पर बैठकर पूरा श्वास बाहर निकाल दें। सम्पर्णतया रेचक करें। पेट को भीतर सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचें। नाभि तथा आँतें पीठ की तरफ दबायें। शरीर को थोड़ा सा आगे की तरफ झुकायें। यह है उड्डीयानबन्ध।

लाभः इसके अभ्यास से चिरयौवन प्राप्त होता है। मृत्यु पर जय प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य के पालन में खूब सहायता मिलती है। स्वास्थ्य सुन्दर बनता है। कार्यशक्ति में वृद्धि होती है। न्योलि और उड्डीयानबन्ध जब एक साथ किये जाते हैं तब कब्ज दुम दबाकर भाग खड़ा होता है। पेट के तमाम अवयवों की मालिश हो जाती है। पेट की अनावश्यक चरबी उतर जाती है।

जालन्धरबन्ध

आसन पर बैठकर पूरक करके कुम्भक करें और ठोड़ी को छाती के साथ दबायें। इसको जालन्धरबन्ध कहते हैं।

लाभः जालन्धरबन्ध के अभ्यास से प्राण का संचरण ठीक से होता है। इड़ा और पिंगला नाड़ी बन्द होकर प्राण-अपान सुषुम्ना में प्रविष्ट होते हैं। नाभि से अमृत प्रकट होता है जिसका पान जठराग्नि करता है। योगी इसके द्वारा अमरता प्राप्त करता है।

पद्मासन पर बैठ जायें। पूरा श्वास बाहर निकाल कर मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध करें। फिर खूब पूरक करके मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध और जालन्धरबन्ध ये तीनों बन्ध एक साथ करें। आँखें बन्द रखें। मन में प्रणव (ॐ) का अर्थ के साथ जप करें।

इस प्रकार प्राणायाम सहित तीनों बन्ध का एक साथ अभ्यास करने से बहुत लाभ होता है और प्रायः चमत्कारिक परिणाम आता है। केवल तीन ही दिन के सम्यक अभ्यास से जीवन में क्रान्ति का अनुभव होने लगता है। कुछ समय के अभ्यास से केवल या केवली कुम्भक स्वयं प्रकट होता है।

केवली कुम्भक

केवल या केवली कुम्भक का अर्थ है रेचक-पूरक बिना ही प्राण का स्थिर हो जाना। जिसको केवली कुम्भक सिद्ध होता है उस योगी के लिए तीनों लोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। कुण्डलिनी जागृत होती है, शरीर पतला हो जाता है, मुख प्रसन्न रहता है, नेत्र मलरहित होते हैं। सर्व रोग दूर हो जाते हैं। बिन्दु पर विजय होती है। जठराग्नि प्रज्वलित होती है।

केवली कुम्भक सिद्ध किये हुए योगी की अपनी सर्व मनोकामनायें पूर्ण होती हैं। इतना ही नहीं, उसका पूजन करके श्रद्धावान लोग भी अपनी मनोकामनायें पूर्ण करने लगते हैं।

जो साधक पूर्ण एकाग्रता से त्रिबन्ध सहित प्राणायाम के अभ्यास द्वारा केवली कुम्भक का पुरूषार्थ सिद्ध करता है उसके भाग्य का तो पूछना ही क्या? उसकी व्यापकता

बढ़ जाती है। अन्तर में महानता का अनुभव होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है। केवली कुम्भक की महिमा अपार है।

जलनेति

विधिः एक लिटर पानी को गुनगुना सा गरम करें। उसमें करीब दस ग्राम शुद्ध नमक डालकर घोल दें। सैन्धव मिल जाये तो अच्छा। सुबह में स्नान के बाद यह पानी चौड़े मुँहवाले पात्र में, कटोरे में लेकर पैरों पर बैठ जायें। पात्र को दोनों हाथों से पकड़ कर नाक के नथुने पानी में डुबो दें। अब धीरे-धीरे नाक के द्वारा श्वास के साथ पानी को भीतर खींचें और नाक से भीतर आते हुए पानी को मुँह से बाहर निकालते जायें। नाक को पानी में इस प्रकार बराबर डुबोये रखें जिससे नाक द्वारा भीतर जानेवाले पानी के साथ हवा न प्रवेश करे। अन्यथा आँतरस-खाँसी आयेगी।

इस प्रकार पात्र का सब पानी नाक द्वारा लेकर मुख द्वारा बाहर निकाल दें। अब पात्र को रख कर खड़े हो जायें। दोनों पैर थोड़े खुले रहें। दोनों हाथ कमर पर रखकर श्वास को जोर से बाहर निकालते हुए आगे की ओर जितना हो सके झुकें। भस्त्रिका के साथ यह क्रिया बार-बार करें, इससे नाक के भीतर का सब पानी बाहर निकल जायेगा। थोड़ा बहुत रह भी जाये और दिन में कभी भी नाक से बाहर निकल जाये तो कुछ चिन्ताजनक नहीं है।

नाक से पानी भीतर खींचने की यह क्रिया प्रारम्भ में उलझन जैसी लगेगी लेकिन अभ्यास हो जाने पर बिल्कुल सरल बन जायेगा।

लाभः मस्तिष्क की ओर से एक प्रकार का विषैला रस नीचे की ओर बहता है। यह रस कान में आये तो कान के रोग होते हैं, आदमी बहरा हो जाता है। यह रस आँखों की तरफ जाये तो आँखों का तेज कम हो जाता है, चश्मे की जरूरत पड़ती है तथा अन्य रोग होते हैं। यह रस गले की ओर जाये तो गले के रोग होते हैं।

नियमपूर्वक जलनेति करने से यह विषैला पदार्थ बाहर निकल जाता है। आँखों की रोशनी बढ़ती है। चश्मे की जरूरत नहीं पड़ती। चश्मा हो भी तो धीरे-धीरे नम्बर कम होते-होते छूट जाता भी जाता है। श्वासोच्छोवास का मार्ग साफ हो जाता है। मस्तिष्क में ताजगी रहती है। जुकाम-सर्दी होने के अवसर कम हो जाते हैं। जलनेति की क्रिया करने

से दमा, टी.बी., खाँसी, नकसीर, बहरापन आदि छोटी-मोटी 1500 बीमीरियाँ दूर होती हैं। जलनेति करने वाले को बहुत लाभ होते हैं। चित्त में प्रसन्नता बनी रहती है।

गजकरणी

विधिः करीब दो लिटर पानी गुनगुना सा गरम करें। उसमें करीब 20 ग्राम शुद्ध नमक घोल दें। सैन्धव मिल जाये तो अच्छा है। अब पंजों के बल बैठकर वह पानी गिलास भर-भर के पीते जायें। खूब पियें। अधिकाअधिक पियें। पेट जब बिल्कुल भर जाये, गले तक आ जाये, पानी बाहर निकालने की कोशिश करें तब दाहिने हाथ की दो बड़ी अंगुलियाँ मुँह में डाल कर उल्टी करें, पिया हुआ सब पानी बाहर निकाल दें। पेट बिल्कुल हल्का हो जाये तब पाँच मिनट तक आराम करें।

गजकरणी करने के एकाध घण्टे के बाद केवल पतली खिचड़ी ही भोजन में लें। भोजन के बाद तीन घण्टे तक पानी न पियें, सोयें नहीं, ठण्डे पानी से स्नान करें। तीन घण्टे के बाद प्रारम्भ में थोड़ा गरम पानी पियें।

लाभः गजकरणी से एसिडीटी के रोगी को अदभुत लाभ होता है। ऐसे रोगी को चार-पाँच दिन में एक बार गजकरणी चाहिए। तत्पश्चात महीने में एक बार, दो महीने में एक बार, छः महीने में एक बार भी गजकरणी कर सकते हैं।

प्रातःकाल खाली पेट तुलसी के पाँच-सात पत्ते चबाकर ऊपर से थोड़ा जल पियें। एसीडीटी के रोगी को इससे बहुत लाभ होगा।

वर्षों पुराने कब्ज के रोगियों को सप्ताह में एक बार गजकरणी की क्रिया अवश्य करनी चाहिए। उनका आमाशय ग्रन्थिसंस्थान कमजोर हो जाने से भोजन हजम होने में गड़बड़ रहती है। गजकरणी करने से इसमें लाभ होता है। फोड़े, फुन्सी, सिर में गर्मी, सर्दी, बुखार, खाँसी, दमा, टी.बी., वात-पित्त-कफ के दोष, जिह्वा के रोग, गले के रोग, छाती के रोग, छाती का दर्द एवं मंदाग्नि में गजकरणी क्रिया लाभकारक है।

शरीर शोधन-कायाकल्प

यह चालीस दिन का कल्प है। पूज्यपाद आसारामजी बापू ने यह प्रयोग किया हुआ है। इससे शरीर सुडौल, स्वस्थ और फुर्तीला बनता है। रक्त में नये-नये कण बनते हैं, शरीर के कोषों की शक्ति बढ़ती है। मन-बुद्धि में चमत्कारिक लाभ होते हैं।

विधिः अगले दिन पपीता, सेव आदि फल उचित मात्रा में लें। अथवा मुनक्का 50 ग्राम दस घण्टे पहले भिगो दें। उनको उबालकर बीज निकाल दें। मुनक्का खा लें और पानी पी लें।

प्रातःकाल उठकर संकल्प करें कि इस कल्प के दौरान निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार ही रहूँगा।

शौच-स्नानादि नित्यकर्म से निवृत्त होकर सुबह 8 बजे 200 या 250 ग्राम गाय का उबला हुआ गुनगुना दूध पियें। पौन घण्टा पूर्ण आराम करें। बाद में फिर से दूध पियें। शारीरिक श्रम कम से कम करें। ॐ सोऽहं हंसः इस मंत्र का मानसिक जप करें। कभी श्वास को निहारें। बस साक्षीभाव।

मनोराज्य चलता हो तो ॐ ... जोर-जोर से जप करें।

इस प्रकार शाम तक जितना दूध हजम कर सकें उतना दूध दो से तीन लिटर पियें। 40 दिन तक केवल दुग्धाहार के बाद 41वें दिन मूँग का उबला हुआ पानी, मोसम्मी का रस आदि लें। रात्रि को अधिक मूँगवाली हल्की खिचड़ी खायें। इस प्रकार शरीर-शोधन-कायाकल्प की पूर्णाहूति करें।

यदि बुद्धि तीक्षण बनानी हो, स्मरणशक्ति बढ़ानी हो, तो कल्प के दौरान ॐ ऐं नमः इस मंत्र का जप करें। सूर्य को अर्घ्य दें।

इस कल्प में दूध के सिवाय अन्य कोई खुराक लेना मना है। चाय, तम्बाकू आदि व्यसन निषिद्ध हैं। स्त्रियों के संग से दूर रहना तथा ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त आवश्यक है।

कलजुग नहीं..... करजुग है यह

कलजुग नहीं करजुग है यह, यहाँ दिन को दे अरु रात ले।

क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले।। टेक

दुनियाँ अजब बाज़ार है, कुछ जिन्स[1] यां कि साथ ले।

नेकी का बदला नेक है, बद से बदी की बात ले।।

मेवा खिला, मेवा मिले, फल फूल दे, फल पात ले।

आराम दे, आराम ले, दुःख दर्द दे, आफत[2] ले।। 1 ।।

काँटा किसी को मत लगा गो मिस्ले-गुल[3] फूला है तू।

वह तेरे हक[4] में तीर है, किस बात पर झूला है तू।।

मत आग में डाल और को, क्या घास का पूला है तू।

सुन ऱख यह नकता[5] बेखबर, किस बात पर भूला है तू।।

कलजुग नहीं...।। 2 ।।

शोखी शरारत मकरो-फन[6] सबका बसेखा[7] है यहाँ।

जो जो दिखाया और को, वह खुद भी देखा है यहाँ।।

खोटी खरी जो कुछ कही, तिसका परेखा[8] है यहाँ।

जो जो पड़ा तुलता है मोल, तिल तिल का लेखा है यहाँ।।

कलजुग नहीं...।। 3 ।।

जो और की बस्ती[9] रखे, उसका भी बसता है पूरा।

जो और के मारे छुरी, उसको भी लगता है छुरा।।

जो और की तोड़े घड़ी, उसका भी टूटे है घड़ा।

जो और की चेते[10] बदी, उसका भी होता है बुरा।।

कलजुग नहीं... ।। 4 ।।

जो और को फल देवेगा, वह भी सदा फल पावेगा।

गेहूँ से गेहूँ, जौ से जौ, चाँवल से चाँवल पावेगा।।

जो आज देवेगा, यहाँ, वैसा ही वह कल पावेगा।

कल देवेगा, कल पावेगा, फिर देवेगा, फिर पावेगा।।

कलजुग नहीं... ।। 5 ।।

जो चाहे ले चल इस घड़ी, सब जिन्स यहाँ तैयार है।

आराम में आराम है, आजार में आजार[11] है।।

दुनियाँ न जान इसको मियाँ, दरया की यह मझधार है।

औरों का बेड़ा पार कर, तेरा भी बेड़ा पार है।।

कलजुग नहीं... ।। 6 ।।

तू और की तारीफ कर, तुझको सनाख्वानी[12] मिले।

कर मुश्किल आसां औरों की, तुझको, भी आसानी मिले।।

तू और को मेहमान कर, तुझको भी मेहमानी मिले।

रोटी खिला रोटी मिले, पानी पिला पानी मिले।।

कलजुग नहीं... ।। 7 ।।

जो गुल[13] खिलावे और का उसका ही गुल खिलता भी है।

जो और का कीले[14] है मुँह, उसका ही मुँह किलता भी है।।

जो और का छीले जिगर, उसका जिगर छिलता भी है।

जो और को देवे कपट, उसको कपट मिलता भी है।।

कलजुग नहीं... ।। 8 ।।

कर जो कुछ करना है अब, यह दम तो कोई आन[15] है।

नुकसान में नुकसान है, एहसान में एहसान है।।

तोहमत में यहाँ तोहमत मिले, तूफान में तूफान है।

रेहमान[16] को रहमान[17] है, शैतान को शैतान है।।

कलजुग नहीं... ।। 9 ।।

यहाँ जहर दे तो जहर ले, शक्कर में शक्कर देख ले।

नेकों का नेकी का मजा, मूजी[18] को टक्कर देख ले।।

मोती दिये मोती मिले, पत्थर में पत्थर देख ले।

गर तुझको यह बावर[19] नहीं तो तू भी करके देख ले।।

कलजुग नहीं... ।। 10 ।।

अपने नफे के वास्ते, मत और का नुकसान कर।

तेरा भी नुकसां होवेगा, इस बात पर तू ध्यान कर।।

खाना जो खा सो देखकर, पानी पिये तो छानकर।

यां पाँवों को रख फूँककर, और खोफ से गुजरान कर।।

कलजुग नहीं... ।। 11 ।।

गफलत की यह जगह नहीं, तू साहिबे-इदराक[20] रह।

दिलशाद[21] रख दिल शाह रह, गमनाक रख गमनाक रह।।

हर हाल में भी तू नजीर[22] अब हर कदम की रह।

यह वह मकां है ओ मियाँ! याँ पाक[23] रह बेबाक[24] रह।।

कलजुग नहीं... ।। 12 ।।

1. वस्तु 2. मुसीबत, 3. पुष्प की तरह 4. तेरे लिये 5. रहस्य 6. दगा-धोखा 7. घर 8. परखना 9. नगरी 10. विचार करें 11. दुःख 12. तारीफ-स्तुति 13. फूल 14. किसी को बोलने न देना 15. घड़ी, पल 16. दयावान 17. दयालु भगवान 18. सताने वाला 19. विश्वास 20. तीव्र दृष्टा, तेज समझने वाला पुरूष 21. प्रसन्नचित्त 22. कवि का नाम है 23. शुद्ध पवित्र 24 निडर।

****

MANTRA-YOGA SAMHITĀ

RAMKUMAR RAI

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
VARANASI

CHAUKHAMBHA PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
NO. 3

MANTRA-YOGA SAṀHITĀ

Edited Text with English Translation

by

Dr. RAMKUMAR RAI

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

A House of Oriental and Antiquarian Books
Head office : Post Box No. 32
Gokul Bhawan K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)

Tel. 63354 Gram : Gokulotsav

Branch : Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar, Delhi-7

Second Edition : Varanasi 1982

Price Rs. [illegible]-00
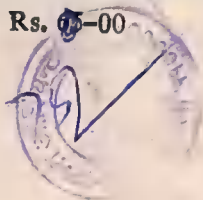
Printed in India

By B.R.D Gupta, at Srigokul Mudranalaya, Gopal Mandir Lane, Varanasi—221001 and published by B. B. D. Gupta for Chaukhambha Orientalia, Gopal Mandir Lane, Varanasi—221001

PREFACE

Mantra Yoga is one of the four kinds of Yogas—others beings Haṭha-, Laya-, and Rāja-yoga. The creation being of the nature of name and form, the devotee only through the support of name and form can free himself from the bondage of creation and attain salvation. When a person falls on the ground he can rise up again only with the support of that very ground. Nominal and formal subjects keep a person in bondage. Nominal and formal nature and splendour prey on men through their ignorance. Now that Yoga, which is practised through the support of nominal sound and emotional form contemplated in accordance with the directions of one's own nature and disposition is called Mantra Yoga. And according to the predominance of the five elements human nature being of five kinds, the procedure of worship described in Mantra Yoga is also of five kinds. This is called Pañcopāsanā.

Science of Mantra Yoga :

Where there is some activity there always is some vibration; where there is vibration there also is an essential possibility of the presence of sound. The creation is also a kind of activity and the vibration emanating from the first billow of the nature, and the sound which is produced thereby, is the auspicious Praṇava in the form of Oṁkāra. Just as the sound of the nature connected with state of equipoise is Oṁkāra of the form of

Brahmā, Viṣṇu, and Śiva, so are there the various sounds of the nature in the state of inequality—and these various sounds are the seed-mantras of various worships. As the creation is five-elemental the entire creation is divided into five parts, and therefore the Vedas have ordained five kinds of worship. According to the nature and disposition if the Guru instructs the Mantra and according to the Bhāvanā of the disciple instructs the Deity to be worshipped, then the disciple desirous of emancipation can soon reach his destination.

Different steps (Aṅgas) of Mantra Yoga :

Mantra Yoga is embellished with sixteen constituent parts or steps (aṅgas) which are Bhakti, Śuddhi, Āsana, Pañcāṅga-sevana, Ācāra, Dhāraṇā, Divyadeśa-sevana, Prāṇa-kriyā, Mudrā, Tarpaṇa, Havana, Bali, Yāga, Japa, Dhyāna and Samādhi. All these steps are integral parts of this system and are to be practised in their sequence of enumeration.

The Present Saṁhitā :

The Mantra Yoga Saṁhitā, which is being presented here for the first time in English, is the only systematic work in which this Yoga has been described in detail and step-by-step with such clarity and insight that any sādhaka can immensely benefit from it in beginning and continue his sādhanā to its fruition. Each step has been described with all the connected rituals and the most important part of the work is Mantra Astrology which is quite a closely gaurded secret of the system. This part would enable a sādhaka to determine the

time, place, day and date for beginning his sādhanā, and also determine the Mantra and the Deity suitable to his disposition. Without such predetermination a sādhanā may not only remain unfructuous but at times become harmful to the sādhaka. Therefore, it is needless to stress the importance of such a work. Moreover, there is no other work on the subject now available and this fact makes it an indispensable companion for every sādhaka.

I have tried to include various charts and diagrams to make the subject more comprehensive. Their picturisation is in strict accordance to their description found in the work.

With my limited knowledge, which is mostly confined to the practical side of the subject and obtained through my contact with various mystics of the country, I have tried to make the work as useful as possible, yet the subject being highly technical and mysterious, certain obscurities at places may not be ruled out.

In the end, I extend my heartiest thanks to the proprietors of the famous publication concern, Chaukhambha Orientalia of Varanasi, for bringing out this work so beautifully and promptly.

Ramkumar Rai

विषय-सूची

CONTENTS

ॐ

मन्त्रयोगसंहिता

मङ्गलाचरणम्

श्रीसच्चिदानन्दमयात्परात्मनस्समुद्गतम्विश्वमिदं यतो विभोः ।
स्थितिश्च यस्मिञ्जगतो लयोऽपि च नमोऽस्तुतस्मै परमात्मने भृशम् ॥
एकं रूपविवर्जितं निखिलगं ध्यायन्ति पञ्चात्मना
विष्णुं वैष्णवपुंगवा गणपतिं यं गाणपत्या जनाः ॥
शक्तिन्तच्चरणारविन्दरसिकास्सौर्य्याश्च सूर्य्यं शिवम्
शैवा यं समुपासते नम इदं लीलात्मनेस्तान्मम ॥ २ ॥
यो निर्गुणो मनोवाचामगोचरतया स्थितः ।
सोऽयं साधक कल्याणम्विधातुं सगुणां तनुम् ॥ ३ ॥
धृत्वा नयति तानाशु परमं पदमव्ययम् ।
एकत्वेऽप्यद्वितीयत्वे यस्य वै परमात्मनः ॥ ४ ॥
भगवच्छक्तिगणपसूर्य्यरुद्रान्वितासुवै ।
गीतासु कर्णनंभेदात्सोऽधुना सन्नमस्यते ॥ ५ ॥
आचार्य्या मन्त्रयोगे यदपि मुनिगणास्सन्ति चान्ये प्रसिद्धाः
मन्त्र व्याख्याविशेषैर्जगति बहुमतो नारदोऽसौ पुलस्त्यः ।
गर्गो वाल्मीकिराय्र्यो भृगुरमरगुरुः शुकदेवोवसिष्ठः
स्मृत्वा नामाष्टकं तच्छुभमनुविहिता संहिता मन्त्रयोगे ॥ ६ ॥

MANGALĀCARAṆAM

Salutation to that Omnipresent, Saccidānanda, Paramātmā from Whom originated this entire Universe, Who is the protector of this Universe and in Whom at

the time of Final Dissolution this Universe ultimatley dissolves.

Salutations to that Lord Who, though being Omnipresent and Formless, is yet worshipped by the Vaiṣṇavas in the Form of Viṣṇu, by the Gāṇapatyas in the form of Gaṇapati, by the Śāktas in the form of Śakti, by the Sauryas in the form of Sūrya, and by the Śaivas in the form of Śiva.

Salutations to that Paramātmā Who is Formless and beyond Speech and Mind, yet Who for the benefit of the Sādhakas assumes a Form to lead them to the highest place: Who is without a Second and inspite of being separately determined by the Bhagvadgīta, Bhagavatīgīta, Gaṇapatigīta, Ādityagīta, and Śivagīta, is yet One.

Although many of the Aryan Ṛṣis and great men have given instructions in Mantra Yoga, yet due to the multiplicity of such instructions only the sages like Nārada, Pulastya, Garga, Vālmīki, Bhṛgu, Bṛhaspati, Śukra, and Vasiṣṭha, are the venerated Munis considered best of all Ācāryas Therefore, after remembering them and paying our homage to them we now begin this Mantra Yoga Saṁhitā.

अथ मन्त्रयोगलक्षणम्

२. नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोतिसाधकः ॥ १ ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनस्सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥ २ ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात् ॥ ३ ॥

आत्मनस्सूक्ष्मप्रकृतिम्प्रवृत्तिश्चानुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोश्शब्दभावयोरवलम्बनात् ।
यो योगः साध्यते सोऽयं मन्त्रयोगः प्रकीर्त्तितः ॥ ४ ॥
श्रेयः सम्पादकत्वेन सर्व्वेषामधिकारिणाम् ।
मन्त्रयोगस्समाख्यातः सर्वजीवहितप्रदः ॥ ५ ॥
प्रधान्यात्पञ्चतत्त्वानां पञ्चधा प्रकृतिर्मता ।
उपासना पञ्चविधा मन्त्रयोगस्य कथ्यते ॥ ६ ॥
मानव प्रकृतेर्भेदात्पञ्चोपासनमिष्यते ।
उपासनाऽवताराणामत्रैवान्तर्भवत्यतः ॥ ७ ॥
उपासनम्पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत् ।
निश्चितोऽयं मन्त्रयोगो वेदविज्ञानसम्मतः ॥ ८ ॥

CHARACTERISTICS OF MANTRA-YOGA

2. The Creation being of the nature of Name and Form, a devotee only through the support of Name and Form can free himself from the bondage of Creation and attain Salvation. When a person falls on the ground he can rise up again only with the support of that very ground. Nominal and Formal subjects keep a person in bondage. Nominal and Formal nature and splendour prey on men through their ignorance. Now, that Yoga which is practised through the support of nominal sound and emotional form contemplated in accordance with the direction of one's own nature and disposition, is called Mantra Yoga which being a benefactor of all those who deserve, is all-beneficial. And according to the predominance of the five elements human nature being of five kinds, the procedure of worship described in Mantra Yoga is also of five kinds—

and this is called Pañcopāsanā or worship of five Deities. The worship of incarnations also comes under these five. These five worships are in fact the worship of Brahman. The Mantra Yoga is in full consonance with the Vedic science and non-misleading.

अथ मन्त्रयोगविज्ञानम्

३. कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकम् ।
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सुविदितश्शब्दान्वयी सर्वदा ।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी ।
शब्दश्चोद्भवत्तदा प्रणव इत्योंकाररूपः शिवः ॥ १ ॥
साम्यस्थप्रकृतेर्यथैवविदितः शब्दो महानोमिति
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः ।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् वीचानि नाम्ना तथा ॥ २ ॥
जगति भवति सृष्टिः पञ्चभूतात्मिका यत्तदिह
निखिलसृष्टिः पञ्चभागैर्विभक्ता ।
श्रुतिरपि विधिरूपेणादिशन्तीह पञ्च
विविधविहितपूजारीतिभेदान् प्रमाणम् ॥३ ॥
प्रकृतिमिह जनानां सम्परीक्ष्य प्रवृत्तिं
गुरुरिह यदि दद्यान्मन्त्रशिक्षां यथावत् ।
रुचिसमुचितदेवोपासनामादिशेद्वा
व्रजतिलघु स शिष्यो मोहपारं मुमुक्षुः ॥ ४ ॥
अकारो न हि विद्यते किमपि वा रूपं परब्रह्मणो
रूपं तत्परिकल्प्यते जनगणैः किञ्चिज्जगद्रूपिणः ।
ध्यायद्भिर्निजवृत्तिमार्गचलितैर्देवं परं रूपिणं
मन्त्रं वा सततं जयद्भिरिहतैर्मुक्तिः परा लभ्यते ॥ ५ ॥

योगेऽयं परिकथ्यते क्रमयुतस्सन्मन्त्रयोगस्थिरो
योगः कर्म्मसु कौशलं निगदितं शास्त्रेषु विद्वद्वरैः ।
ध्यायन् रूपविवर्ज्जितस्य निखिलाधारस्य रूपं शुभं
देही भक्तिरतः प्रयाति परमां मुक्तिं शिवोपासकः ॥ ६ ॥

SCIENCE OF MANTRA YOGA

3. Where there is some activity there always is some vibration; where there is vibration there is also an essential possibility of the presence of sound. The creation is also a kind of activity, and the vibration emananting from the first billow of nature, and the sound which is produced thereby is the auspicious Praṇava in the form of Oṁkāra.

Just as the sound of the nature connected with the state of equipoise[1] is Oṁkāra of the from of Brahmā, Viṣṇu and Śiva, so are there the various sounds of the nature in the state of inequality—and these various sounds are the Seed-mantras (mystical syllables) of various worships. As the creation is five-elemental, the entire creation is divided into five parts, and therefore the Vedas have ordained five kinds of worship. According to the nature and disposition if the Teacher (Guru) instructs a Mantra, and according to the Bhāvanā of the disciple instructs the Deity to be worshipped then the disciple desirous of emancipation, can soon reach his destination.

1. The state of equipoise is that where there is equality of the three qualities—the Rajas, Tamas, and Sattva, and there is no creation; the state of nature in inequality is that where the equality of the Qualities is destroyed, and there is creation.

The Supreme Brahman is shapeless and has no form. The form of that formless and Virāṭa Supreme Spirit is imagined by the devotee through his devotional feeling (Bhāvanā). Through this contemplation of the form of God according to one's Bhāvanā, and through the repetition of the Seed-mantra a Yogi soon attains emancipation. This is the order of Yoga which is called Mantra Yoga. The erudites have described the skillful action in the scriptures with the word Yoga. Imagining thus the shapeless and all-sustaining Brahman as endowed with an auspicious form, when a devout person perfoms his worship, only then can he be called a devotee; and only then will he gradually achieve the state of emancipation.

अथ साधनप्रशंसावर्णनम्

४. प्राप्तं जीवैः परममभयदं शाश्वतं ब्रह्मयोगैः
लब्धं ज्ञानं परमममृतं साधनैः साधकेन ।
श्लाघ्यो योगो यमनुसरतो नास्तिकश्चिद्विषादो
धन्यो योगी सुरनरगुरुर्ब्रह्मविद् ब्रह्मरूपः ॥ १ ॥

EULOGY OF SĀDHANĀ

4. With the Sādhanā (practice by which the desired end may be attained) the Sādhaka (one who practices) achieves the state of fearlessness. Sādhanā bestows the supreme and imperishable knowledge. In following this praiseworthy Yoga there is absolutely no despair. Worshipped by both God and men, its Sādhaka knowing the Brahman becomes himself like the Brahman.

(दीक्षा प्रयोजनम्)

५. दीक्षामूलो जयस्सर्वो दीक्षामूलं परं तपः ।
सद्गुरोराहिता दीक्षा सर्व्वकर्म्माणिसाधयेत् ॥ २ ॥
अदीक्षिता ये कुर्व्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥ ३ ॥
देवि ! दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात्सर्व्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥ ४ ॥

(NEED FOR INITIATION)

Initiation is the root of all Japa; initiation is also the root of austerity. Initiation received from a Siddha Guru is the fulfiller of all actions. Those who perform the actions of Japa and worship, etc., (without initiation) thier such actions remain fruitless like a seed sown on stone. No action performed by an uninitiated person ever succeeds; nor he himself ever attains beatitude. Therefore, inspite of all the efforts, it is proper to obtain initiation from a Sadguru.

(श्रीगुरुमहिमा)

६. यादृगस्तीह सम्बन्धो ब्रह्माण्डस्येश्वरेण वै ।
तथा क्रियाख्ययोगस्य सम्बन्धो गुरुणा सह ॥ ५ ॥
दीक्षाविधावीश्वरो वै कारणस्थलमुच्यते ।
गुरुकार्य्यस्थलश्चातो गुरुर्ब्रह्म प्रगीयते ॥ ६ ॥
गुरौ मानुषबुद्धिन्तु मन्त्रे चाक्षरभावनां ।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्व्वाणो नरकं व्रजेत् ॥ ७ ॥
जन्महेतु हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः ।
गुरुर्विशेषतः पूज्यो धर्म्माऽधर्म्मप्रदर्शकः ॥ ८ ॥

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः ।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ॥ ९ ॥

(GREATNESS OF GURU)

6. Just like the relation which the universe has with God, is the relation of the Action-yoga with the Guru. In initiational procedure God is said to be the Causal place and Guru the Actional place. Therefore the Guru is like the Brahman Himself. Those who have a notion of a human about the Guru, notion of letters about the Mantras, and notion of a stone about the Idol of Deity, they go to hell. Mother and father are venerable because they give birth, but the Guru gives the knowledge of what is right and wrong, and therefore he should be venerated even with greater earnestness than what is done for the parents. Guru is the father, Guru is the mother, Guru is the Deity, and Guru alone is the beatitude. When the Supreme God is displeased Guru is there to save, but when the Guru is displeased there is no saviour at all.

(सद्गुरुलक्षणम्)

७. सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्व्वशास्त्रार्थवित्सदा ।
सुवचाः सुन्दरः स्वंगः कुलीनः शुभदर्शनः ॥ १० ॥
जितेन्द्रियस्सत्यवादी ब्राह्मणश्शान्तमानसः ।
पितृमातृहिते युक्तः सर्व्वकर्म्मपरायणः ॥
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते ॥ ११ ॥
आचार्यगुरुशब्दौ द्वौ सदा पर्य्यायवाचकौ ।
कश्चिदर्थगतो भेदो भवत्येवं तयोः क्वचित् ॥ १२ ॥

औपपत्तिकमं शन्तु धर्मशास्त्रस्य पण्डितः ।
व्याचष्टे धर्म्ममिच्छूनां स आचार्यः प्रकीर्त्तितः ॥ १३ ॥
सर्व्वदर्शी तु यः साधुर्मुमुक्षूणांहिताय वै ।
व्याख्याय धर्म्मशास्त्रांशं क्रियासिद्धिप्रबोधकम् ॥ १४ ॥
उपसनाविधेः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः ।
भेदान् प्रशास्ति धर्म्मज्ञः स गुरुः समुदाहृतः ॥ १५ ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां शास्त्रोक्तानां विशेषतः ।
प्रभेदान् यो विजानाति निगमस्यागमस्य च ॥ १६ ॥
ज्ञानस्य चाधिकारांस्त्रीन् भावतात्पर्य्यलक्ष्यतः ।
तन्त्रेषु च पुराणेषु भाषायास्त्रिविधां स्मृतिम् ॥ १७ ॥
सम्यग्भेदैर्विजानाति भाषातत्त्वविशारदः ।
निगुणो लोकशिक्षायां श्रेष्ठाचार्य्यः स उच्यते ॥ १८ ॥
पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदान् विशेषतः ।
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग् जानाति कोविदः ॥ १९ ॥
चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनाम् ।
गम्भीरार्थां विजानीते बुधो निर्म्मलमानसः ॥ २० ॥
सर्व्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् ।
करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते ॥ २१ ॥

(CHARACTERISTICS OF A SADGURU)

7. One who is adept in all the scriptures, who is clever, knows the essence of all the Śastras, is soft-spoken, has all the parts of his body intact and well-shaped, is born in a good family, is beautiful in appearance; who has control over all his senses, who always speaks the truth, is of fair complexion, whose mind is fully composed, who is benefactor like the father and

mother, who observes all the sacred performances, belongs to one of the four orders of religious life (viz. is a clebate, house-holder, anchorite, or an ascetic), and is a resident of Bhārata—such a great person endowed with all the good qualities can become a Guru. Although Ācārya and Guru are synonymous terms, yet according to the difference of characteristcics of work, there is a difference in an Ācārya and a Guru. Being well-versed in all the Vedas and Śāstras, those who impart their theoretical knowledge to the disciples are called Ācāryas. Those all-seeing saints, who for the benefit of aspirants of emancipation, explain to the Śiṣya the successful actions and the kind of worship of the Supreme Lord as described in the religious scriptures, are called Guru. The superior Ācāryas who know all the distinctions of the Vedas and Śāstras in accordance with the seven planes of the philosophies, fully understand the three pains (Ādhyātmika, Ādhidaivika, and Ādhibhautika), and understanding the threefold language (Samādhi–language, Worldly–language, and the Strange-language) of Mantras and the Puranas are adept in educating the mankind. The great men, who understand all the secrets of the five Saguṇa worship (Viṣṇu-worship, Sūrya-worship, Śakti-worship, Gaṇeśa-worship and Śiva-worship) in accordance with the five elements, and those great Yogis who know the fourfold worship (according to Mantra-yoga, Haṭha-yoga, Laya-yoga and Rāja-yoga) such scholars, clear-hearted, adept in all actions, free of three-pains and doing good to all creatures, and liberated great souls are called Guru.

(शिष्यलक्षणम्)

८. अलुब्धः स्थिरगात्रश्च आज्ञाकारी जितेन्द्रियः ।

आस्तिको दृढभक्तश्च गुरौमन्त्रे च दैवते ॥ २२ ॥
एवम्विधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद्गुरोः ॥ २३ ॥

(CHARACTERISTICS OF A ŚIṢYA OR DISCIPLE)

8. Free of greed, having organs composed, obedient to the Guru, having full control over his senses, believer in God, and one who has complete faith in the Guru, Mantra and the Deity is the Śiṣya qualified for initiation. The person whose qualities are contrary to these characteristics is one who gives pain to the Guru.

(निन्द्यगुरुलक्षणम्)

९. श्वित्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामनः ।
कुनखः श्यावदन्तश्च स्त्रीजितो ह्यधिकाङ्गकः ॥ २४ ॥
हीनाङ्गः कपटी रोगी बह्वाशी बहुजल्पकः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स गुरुः शिष्यसम्मतः ॥ २५ ॥

(Characteristics of a Reprehensible Guru)

9. Patient of Leprosy either in an early or advanced stage, diseased in eye, dwarf, who has diseased nails and black teeth, who is henpecked, has some extra organs or is deprived of some organ, who is a cheat, or a diseased person, who eats too much, or is garrulous —is a person not fit to become a Guru. One who is free from all these defects is the one who can be a competent Guru for a Śiṣya.

अथ दीक्षाविवरणम्

१०. कुलाकुलं नामचक्रं राशिचक्रं तथैव च ।
नक्षत्राकथहचक्रमकडमं चक्रमीरितम् ॥ १ ॥
तत्र चेन्निर्गुणो मन्त्रो नान्यचक्रम्विचिन्तयेत् ।
तथा च धनिमन्त्रं न गृह्णीयाद् यत्प्रयोजनम् ॥ २ ॥

गुरुर्दीक्षापूर्व्वदिने स्वशिष्यमभिमन्त्रयेत् ।
दर्भशय्याम्परिष्कृत्य शिष्यं तत्र निवेशयेत् ॥ ३ ॥
स्वापमन्त्रेण मन्त्रज्ञः शिखां तस्य प्रबन्धयेत् ।
तन्मन्त्रं स्वापसमये पठेद्वारत्रयं शिशुः ॥ ४ ॥
श्रीगुरोः पादुके ध्यात्वातूपवासी जितेन्द्रियः ।
"नमोजयत्रिनेत्राय पिङ्गलायमहात्मने ॥ ५ ॥
रामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः ।
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्व्वकार्य्येष्वशेषतः ॥ ६ ॥
क्रियासिद्धिम्विधास्यामित्वत्प्रसादान्महेश्वरः ।"
स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत्प्रातः शिशुं गुरुः ॥ ७ ॥
कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम् ।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फलिनं द्रुमम् ॥ ८ ॥
पर्व्वतं तुरगं मेध्यमाममांसं सुरासवम् ।
एवमादीनि सर्व्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९ ॥
वर्षेणैकेन योग्यः स्याद् विप्रो गुणसमन्वितः ।
वर्षद्वयेन राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः ॥ १० ॥
चतुर्भिर्वत्सरैश्शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता ।
तथा गुरुश्च स्वाधीनस्सर्व शक्तियुतो विभुः ॥ ११ ॥
यदि भाग्यवशेनैव सिद्धो हि पुरुषो मिलेत् ।
तदैव दीक्षांगृह्णीयात्त्यक्त्वा कालविचारणाम् ॥ १२ ॥

DESCRIPTION OF INITIATION

10. Before imparting Initiation one should consider the Kulākula-cakra, Nāma-cakra, Rāśi-cakra, Nakṣatra-cakra, Akathaha-cakra and Akaḍama-cakra (or what is called the cakra for the extrication of the Mantra). For the extrication of the Nirguṇa mantras (for a Sādhaka aspiring to attain emancipation) no other

cakra is to be considered. Consideration of Ṛṇi-dhani cakra is not necessary for him. (This Ṛṇi-dhani cakra should be considered for those Sādhakas who want benefactions connected with wordly life).

A day prior to Initiation, Guru versed in Mantras, should call the Śiṣya, seat him on a mat of Kuśa grass, and then with the Sleep-mantra tie his crown-lock (Śikhā). The Śiṣya, fasting and observing sexual continence, should repeat the mantra thrice before sleep, and cotemplating upon the feet of the Guru retire to rest. The Mantra reads thus :

Namo jaya trinetrāya piṅgalāya mahātmne
Rāmāya viśvarūpāya svapnādhipataye namaḥ;
Svapne kathaya me tathyaṁ sarvakāryeṣvaśeṣatah,
Kriyāsiddhiṁ vidhāsyāmitvatprasādanmaheśvaraḥ.

The Śiṣya should repeat this mantra before retiring to bed. Next morning after rising he should appear before the Guru. obtaining his permission should describe the objects seen in dream and seek their auspicious-inauspicious significance from him.

If the Śiṣya sees in dream a girl, an Umbrella, a Charriot, a Lamp, a Palace, a Lotus flower, a River, an Elephant, a Ram, Garland, Sea, a Flowering tree, Mountain, Horse, Sacred flesh, Wine, and Spiritous liquor, then it is proper to think that the Mantra would be efficacious. Living in the company of the Guru a merited Brāhmaṇa in one year, a Kṣatriya in two years, a Vaiṣya in three years, and a Śūdra in four years qualifies himself to become a Śiṣya. However, the Guru is omnipotent and Godlike. Therefore he can impart instruction whenver he likes, and without any consideration of time and place. If, fortunately an

aspirant comes across an emancipated person, he should immediately seek Initiation. Consideration of time and place is not necessary on such an occasion

अथ दीक्षोपयोगी कालोदेशश्च
(मासनिर्णय)

११. मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात्समस्तपुरुषार्थदः ।
वैशाखे रत्नलाभस्स्याज्ज्यैष्ठे च मरणंभवेत् ॥ १ ॥
आषाढ़े बन्धुनाशस्स्यात्पूर्णायुः श्रावणे भवेत् ।
प्रजानाशोभवेद्भाद्रे अश्विने रत्नसञ्चयः ॥ २ ॥
कार्तिके मन्त्रसिद्धिस्स्यान्मार्गशीर्षे तथा भवेत् ।
पौषे तु शत्रुपीड़ा स्यान्माघे मेघाविवर्द्धनम् ॥ ३ ॥
फाल्गुने सर्व्वकामास्स्युर्मलमासं विवर्ज्जयेत् ॥ ४ ॥

TIME AND PLACE SUITABLE FOR INITIATION
(Determination of Month)[1]

11. Initiation in Caitra month accomplishes all Puruṣārthas.[2] Initiation in Vaiśākha brings riches; in Jyeṣṭha death; in Aṣāḍha destruction of kinsmen; in Śrāvana longevity; In Bhādrapada destruction of progeny; In Aśvina collection of wealth; in Kārtika and Agrahaṇa success of the Mantra; in Pauṣa pain to enemy; in Māgha increase in intellectual capacity; and in Phālguna fulfilment of all desires. However, when

1. Name of the twelve months are given according to Hindu Calendar. These are : Caitra, Vaiśākha, Jyeṣṭha, Aṣāḍha, Śrāvan, Bhādrapada, Aśvina, Kārtika, Agrahaṇa, Pauṣa, Mārgśīrṣa (Māgha), and Phālguna.
2. It means any of the four objects or aims of existence, viz. Kāma, or gratification of desire; Artha or acquirement of wealth; Dharma or discharge of duty; and Mokṣa or final emancipation.

even a good month becomes an intercalary month it should be avoided.

(वारनिर्णयः)

१२. रविवारे भवेद्वित्तं सोमे शान्तिर्भवेत्किल ।
आयुरङ्गारके हन्ति तत्र दीक्षाम्विवर्जयेत् ॥ ५ ॥
बुधे सौन्दर्य्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु बृहस्पतौ ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानिश्शनैश्चरे ॥ ६ ॥

(Determination of Day)[1]

12. By adopting a Mantra on Ravivāra one gets riches; on Somavāra peace, and on Maṅgalavāra reduction of the life-span. Therefore initiation on Maṅgalavāra is prohibited. By adoption of a Mantra on Budhavāra one obtains beauty; on Bṛhaspativāra increase of knowledge; on Śukravāra good fortune; and on Śanivāra loss of reputation.

(तिथिनिर्णयः)

१३. प्रतिपद्विहिता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता ।
द्वितीयायां भवेज्ज्ञानं तृतीयायां शुचिर्भवेत् ॥ ७ ॥
चतुर्थ्यां वित्तनाशस्स्यात् पञ्चम्यां बुद्धिवर्द्धनम् ।
षष्ठ्यां ज्ञानक्षयः सौख्यं लभते सप्तमीतिथौ ॥ ८ ॥
अष्टम्यां बुद्धिनाशस्स्यान्नवम्यां वपुषः क्षयः ।
दशम्यां राजसौभाग्यमेकादश्यां शुचिर्भवेत् ॥ ९ ॥
द्वादश्यां सर्वसिद्धिस्स्यात्त्रयोदश्यां दरिद्रता ।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्यां हानिर्मासावसानके ॥ १० ॥

---

1. Here Hindu names of weekdays are mentioned, which are : Ravivāra, Somvāra, Maṅgalvāra, Budhavāra, Bṛhaspativāra, Śukravāra and Śanivāra, each corresponding to Sunday onwards upto Saturday respectively of the English weekdays.

पक्षान्ते धर्म्मवृद्धिस्स्यादस्वाध्यायम्त्रिवर्ज्जयेत् ।
सन्ध्यागर्ज्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ॥ ११ ॥
एतानन्यांश्च दिवसान् श्रुत्युक्तान् परिवर्ज्जयेत् ॥ १२ ॥

(Determination of Tithi)[1]

13. Result of adoption of a Mantra on Pratipadā is destruction of knowledge; on Dvitīyā (2) increase in knowledge; on Tṛtīyā (3) Purity; on Caturthī (4) destruction of wealth; on Pañcamī (5) increase of intellect; on Ṣaṣṭhī (6) decay of knowledge; on Saptamī (7) comfort; on Aṣṭamī (8) destruction of intelligence; on Navamī. (9) bodily decay; on Daśamī (10) regal fortune; on Ekādaśī (11) piousness; on Dvādaśī (12) fulfillment of all the desired actions; on Trayodaśī (13) poverty; and on Caturdaśī (14) next birth in the animal world. There is loss of the desired work when initiation is received on the last day of the month and enhancement of Dharma when it is received on the last day of fortnight. In the adoption of a Mantra the day on which study of Vedas is prohibited, should also be avoided. Days of a thunderous evening, of an earthquake, of the fall of a meteorite, etc., are such when study of Vedas is prohibited, and therefore such days sould be rejected.

(नक्षत्रनिर्णयः)

१४. अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं ध्रुवम् ।
कृत्तिकायां भवेद्दुखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ॥ १३ ।
मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम् ।
पुनर्वसौ धनाढ्यस्स्यात्पुष्ये शत्रुविनाशनम् ॥ १४ ॥

---

1. Tithis indicate the days of a fortnight of the lunar month.

अश्लेषायां भवेन्मृत्युर्मघायां दुःखमोचनम् ।
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्यां प्राप्नोति च न संशय ॥ १५ ॥
ज्ञानं चोत्तरफल्गुन्यां हस्तर्क्षे च धनी भवेत् ।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिस्स्यात् स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥ १६ ॥
विशाखायां सुखं चैवानुराधा वन्धुवर्द्धिनी ।
ज्येष्ठायां सुतहानिस्स्यान्मूलर्क्षे कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥ १७ ॥
पूर्व्वाषाढ़ोत्तराषाढे भवेतां कीर्त्तिदायिके ।
श्रवणायाम्भवेद् दुःखी धनिष्ठायां द्ररिद्रता ॥ १८ ॥
वुद्धिः शतभिषायां स्यात् पूर्व्वभाद्रे सुखी भवेत् ।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्त्तिवर्द्धनम् ॥ १९ ॥

(Determination of Nakṣatra)[1]

14. By adopting a Mantra in Aśvinī (1) Nakṣatra one gets comfort; in Bharaṇī (2) death; in Kṛttikā (3) suffering; in Rohiṇī (4) learning; in Mṛgaśirā (5) comfort; in Ārdrā (6) destruction of kinsmen; in Punarvasu (7) full wealth; in Puṣya (8) destruction of enemy; in Aśleṣā (9) death; in Maghā (10) destruction of suffering; in Pūrvāphālgunī (11) beauty; in Uttarā-phālgunī (12) knowledge; in Hasta (13) wealth; in Citrā (14) knowledge; in Svātī (15) destruction of enemy; in Viśākhā (16) comfort; in Anurādhā (17) increase of kinsmen; in Jyeṣṭhā (18) loss of progeny; in Mūla (19) increase in fame; in Pūrvāṣāḍhā (20) and Uttarāṣāḍha (21) fame; in Śravaṇa (22) suffering; in Dhaniṣṭhā (23) poverty; in Śatabhiṣā (24) intellect; in Purvabhadra (25) and Uttarabhadra (26) comfort; and in Revatī (27) increase in fame.

1. The Hindu year is divided into 27 Nakṣatras. All the Nakṣatras have thier own names, which are enumareted in their proper sequence.

(योगनिर्णयः)

१५. योगास्स्युः प्रीतिरायुष्मान्सौभाग्यशोभनो धृतिः ।
वृद्धिर्ध्रुवः सुकर्मा च साध्यश्शुक्लश्च हर्षणः ॥ २० ॥
वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा इन्द्रश्च षोडश ॥ २१ ॥

(Determination of Yoga)

15. Prīti, Āyuṣmān, Saubhāgya, Śobhana, Dhṛti, Vṛddhi, Dhruva, Sukarma, Sādhya, Śukla, Harṣaṇa, Varīyān, Śiva, Siddha, Brahmā, and Indra are the sixteen yogas. By receiving Initiation in these Yogas the Initiation becomes fruitful.

(करणनिर्णयः)

१६. बवबालवकौलवतैतिलवणिजस्तु पञ्च ।
करणानि शुभान्येव सर्वतन्त्रेषु भाषितम् ॥ २२ ॥

(Determination of Karaṇa)

16. Bava, Bālava, Kaulava, Taitila, and Vaṇija—all these Karaṇas are auspicious for receiving Initiation So has been propounded in all the Tantras.

(लग्ननिर्णयः)

१७. वृषे सिंहे च कन्यायां धनुर्मीनाख्य लग्नके ।
चन्द्रतारानुकूले च कुर्याद्दीक्षाप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥
स्थिरलग्नं विष्णुमन्त्रे शिवमन्त्र चरं शुभम् ।
द्विस्वभावगतं लग्नं शक्तिमन्त्रे प्रशस्यते ॥ २४ ॥
त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्र त्रिकोणगाः ।
दीक्षायान्तु शुभास्सर्वे वक्रस्थास्सर्वनाशकाः ॥ २५ ॥

(Determination of Lagna)

17. After finding the favourable condition of the Moon–Planets, initiation is considered proper in the

five Lagnas known as Vṛṣa, (Taurus), Simha (Leo), Kanyā (Virgo), Dhanu (Saggittarius) and Mīna (Pisces) Vṛṣa, Simha, Vṛścika (Scorpio) and Kumbha (Aquarius) are the only four stable Lagnas auspicious for the adoption of Viṣṇu-mantra. The moving Lagnas, viz. Meṣa (Aries), Karkaṭa (Cancer), Tulā (Libra) and Makara (Capricorn) are auspicious for the adoption of Śiva-mantra. In initiation of Śakti the dual-natured Lagnas, viz. Mithuna (Gemini), Kanyā (Virgo), Dhanu (Sagittarius) and Mīna (Pisces) are auspicious. When the third, sixth and eleventh houses of a Lagna are occupied by malignant planets, and the fourth, seventh, tenth, ninth and fifth houses are occupied by auspicious planets, then the initiation is beneficial. The crooked planets being all-destructive are to be avoided in an initiation.

(पक्षनिर्णयः)

१८. शुक्ले पक्षे शुभा दीक्षा कृष्णोऽप्यापञ्चमाद्दिनात् ।
भोगकामैः शुक्लपक्षे मुक्तिकामैश्शुभं परे ॥ २६ ॥
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा ।
सूर्य ग्रहणकालस्य समानो नास्ति भूतले ॥ २७ ॥

(Determination of Pakṣa or Fortnight)

18. Initiation in the bright fortnight of a month and even on the first five days of the dark fortnight is auspicious. The bright fortnight is proper for Sādhakas with worldly desires, and the dark fortnight is proper for the Sādhakas free from worldly desires. If there is an occasion of an eclipse even in a condemned month, then the initiation becomes auspicious. There can be no better time in the world for intiation than an occasion of a Solar eclipse.

(दीक्षास्थान निर्णयः)

१९. गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने ।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च दीक्षणम् ॥ २८ ॥
धात्रीबिल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुहासु च ।
गंगायाश्च तटे वापि कोटिकोटिगुणम्भवेत् ॥ २९ ॥
अथवा गुरुरेवास्य दीक्षयेच्छत्र तच्छुभम् ।
गुरोः परतरन्नास्ति तद्वाक्यं श्रुतिसन्निभम् ॥ ३० ॥

(Determination of the place for Initiation)

19. Initiation should be given in a cowshed, in the house of Guru, in a temple, in the forest, in a sacred place (Tīrtha), in the garden, on the bank of a river, near an Āmalakī (Emblic Myrobalan) or a Bilva (Aegle Marmelos) tree, on a mountain, or in a cave. Initiation on the bank of the river Ganges is millions of times more fruitful. Or any other place, where the Guru wants to give Initiation is fruitful because there is nothing above the Guru in this world. His words are like the words of Veda.

अथ मन्त्रनिर्णयविधिः

२०. ऋतम्भरधिया वापि नानाचक्रसहायतः ।
मन्त्रानाशु विनिर्णीय शिष्यानुपदिशन्ति ते ॥ १ ॥
एकाक्षराः सेतुयुक्ता मन्त्रश्चाप्यधिकाक्षराः ।
शाखा पल्लवसंयुक्ता निर्णेयास्ते विचारतः ॥ २ ॥
चक्रं कुलाकुलन्नाम राशिनक्षत्रचक्रकम् ।
एवमाद्यानि साहाय्यं कुर्वन्ति ह्युपदेशने ॥ ३ ॥
अपेक्षितानि चक्राणि निखिलान्यपि कुत्रचित् ।
क्वचिदेकमिति ज्ञेयं गुरुभिर्योगपारगैः ॥ ४ ॥

(Procedure for the Determination of Mantra)

20. The Guru should instruct the Śiṣya after determination of the mantra with the help of his own intellect which contains the truth in itself, or with the help of various Cakras. The Mantras are of various types according to their nature of construction, viz., Ekākṣara (one syllabled), Adhikākṣara (many syllabled), Sasetuka (with bridge), and Śakhā-pallava-saṁyukta (accompanied with branches and leaves), etc. Therefore it should be thoughtfully decided as to which type of Mantra is to be accepted. For the purpose of instruction of an Initiatory Mantra various Cakras, such as, Kulākula cakra, Rāśi-cakra, and Nakṣatra-cakra are helpful. In certain cases all the cakras my be necessary and in others even one may suffice. The Guru adept in Yoga should know this.

(कुलाकुल चक्रम्)

२१. कुलाकुलस्य भेदो हि प्रोच्यते मन्त्रिणामिह ।
वाय्वग्निभूजलाकाशाः पञ्चाशल्लिपयः क्रमात् ॥ ५ ॥
पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्तासन्धिसम्भवाः ।
कादयः पञ्चशः ष क्ष ल स हान्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥
अ आ ए क च ट त प य षा मारुताः
इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षा आग्नेयाः ।
उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल लाः पार्थिवाः ।
ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व सा वारुणाः ।
ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श हा नाभसाः ॥ ७ ॥
साधकस्याक्षरं पूर्वं मन्त्रस्यापि तदक्षरम् ।
यद्येकभूतदैवत्यं जानीयात् स्वकुलं हि तत् ॥ ८ ॥

भौमस्य वारुणं मित्रं आग्नेयस्यापि मारुतम् ।
मारुतं पार्थिवानाञ्च आग्नेयश्चाम्भसां रिपुः ॥ ९ ॥
नाभसं सर्वमित्रं स्याद्विरुद्धं नैव शीलयेत् ॥ १० ॥
गुह्यातिगुह्यविषयास्तत्वज्ञानं विशेषतः ।
मन्त्राणाञ्चाऽनुकूलानां तत्वज्ञानेन निर्णयः ॥ ११ ॥
कुलाकुलाख्यचक्रेणतत्वज्ञानं प्रजायते ।
अतः कुलाकुलं चक्रं सिद्धिदायि प्रकीर्त्तितम् ॥ १२ ॥

(Kulākula Cakra)

21. Now the Kulākula cakra is being described for the benefit of the knowers of Mantra-śāstra. Five short and Five long vowels, vowels ending in Anusvāra, letters produced by grammatical Sandhis, five series of consonants (the Guttural or Ka-varga; Palatials or Ca-varga; Cerebrals or Ṭa-varga; Dentals or Ta-varga, and Labials or Pa-varga), and the alphabets ṣ, kṣ, l, s, and ha—all these are of the nature of Vayu, Agni, Pṛthivī, Jala, and Ākāśa. That is the five short vowels and five long vowels, Aṁ and the letters produced by grammatical Sandhi, such as e, o, au, ya, ra, la, va and ṣa, and the five letters each of the series of consonants beginning from Ka-varga (and ending with pa-varga), and the letters, kṣa, la, ṣa, and ha—all these fifty letters have been divided into five elements. A, Ā, E, Ka, Ca, Ṭa, Ta, Pa, Ya, Ṣa, are all Māruta (endowed with the nature of Vāyu). I, Ī, Ai, Kha, Cha, Ṭha, Tha, Pha, Ra, and Kṣa, are all Āgneya (endowed with the nature of Agni). U, Ū, O, Ga, Ja, Ḍa, Da, Ba, La, are all Pārthiva (endowed with the nature of Pṛithivī). Ṛ, Ṝ, Au, Gha, Jha, Ḍha, Bha, Va, Sa, are all Vāruṇa (endowed with the nature of Varuṇa, the Lord of

Waters.). And L, L̄, Aṁ, Ṃa, Ña, Ṇa, Na, Ma, Śa, Ha, all these are Nābhasa (endowed with the nature of Nabha or Ākāśa).

Kulākula Cakra

वायु	अग्नि	भूमि	जल	आकाश
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	ल	स	ह

If the first letter of the name of a Sādhaka and the first letter of a Mantra are the same elemental god, that is come within the same bracket, then they should be regarded as belonging to the same family. Pṛithivī is a friend of Jala (Water), and Agni (Fire) is a friend of Vāyu (Air); Vāyu and Agni are enemies of Pṛithivī; and Agni is the enemy of Jala. Ākāśa is the friend of all. When the Mantra is an enemy it should not be given. If it is a friend or belongs to the same family, only then it should be imparted. There are extra-mysterious subjects in the science, and the knowledge of essence is particularly extra-mysterious. The favourable Mantras are determined by knowledge of

essence, and the knowledge of essence comes from Kulākula cakra. Therefore Kulākula cakra is said to be a bestower of success.

(तन्त्रान्तरे कुलाकुलचक्रम्)

२२. पञ्चभूताज्जगत् सृष्टं पञ्च देवा हि मानवैः ।
पूज्यन्ते तद्रहस्यन्तु ज्ञायते योगपारगैः ॥ १३ ॥
पञ्चतत्त्वरहस्यानि प्रकाशयति तत्त्वतः ।
अतः कुलाकुलं चक्रं परमं मंगलं स्मृतम् ॥ १४ ॥
मन्त्राणां देवतानाञ्च कुलनिर्णयकारकम् ।
पाञ्चभौतिकशक्तेर्हि भेदान्मन्त्रविनिर्णयः ॥ १५ ॥
पञ्चाधिकारभेदेन चोपासनविनिश्चयः ।
चक्रे नैतेन सिद्ध्यन्ति तस्मादेतच्छुभावहम् ॥ १६ ॥

Science of Kulākula cakra of another Tāntric School

22. The Creation is five elemental. That is the Creation is composed of the five elements known as Pṛthivī, Jala, Agni, Vāyu, and Ākāśa. Therefore worship of Five Deities has been ordained for men. Only the Guru adept in Yoga understands the mysteries of worship. Therefore, being the exponent of the five elemental mysteries, the Kulākula cakra is super-beneficial. One can determine from this cakra the family of a Mantra and the family of a Deity. The determination of a Mantra through the comparative value of five physical powers, and the determination of the right of worship through the five-divisional rights, is established with the help of this cakra. This cakra is therefore super-beneficial.

(राशिचक्रम्)

२३. रेखाद्वयं पूर्व्वपरेण कुर्य्यात् ।
तन्मध्यतो याम्यकुबेरभेदात् ॥
ऐशान्यमारभ्य निशाचरान्तं ।
कुर्य्याद्वि रेखामनिलाऽनलान्तः ॥ १७ ॥
वेदाग्निवह्नियुगलश्रवणाक्षिपञ्च-
पञ्चेषुबाणशरवेदमितादि वर्णान् ।
मेषादिराशिभवनेषु लिखेच्च सर्व्वान् ।
कन्यागृहे प्रविलिखेदथ शादिवर्णान् ॥ १८ ॥
राशीनां शुद्धताज्ञेया त्यजेच्छत्रुं मृतिं व्ययम् ।
स्वराशेर्मन्त्रराश्यन्तं गणनीयं विचक्षणैः ॥ १९ ॥
तेन मन्त्राद्यवर्णेन नाम्नश्चाद्यक्षरेण च ।
गणयेद्यदि षष्ठो वाप्यष्टमो द्वादशस्तु वा ॥ २० ॥
रिपुर्मन्त्राद्यवर्णः स्यात्तेन तस्याहितं भवेत् ।
लग्नं धनं भ्रातृबन्धू प्रत्रशत्रू कलत्रकम् ॥
मरणं धर्मकर्म्मायव्ययाद्वादश राशयः ॥ २२ ॥
नामानुरूपमेतेषां शुभाऽशुभफलं लभेत ॥ २३ ॥
लग्ने सिद्धिस्तथा नित्यं धने धनसमृद्धिदम् ॥
भ्रातरि भ्रातृवृद्धिः स्याद् बांधवे बांधवप्रियः ॥ २४ ॥
पुत्रे च पुत्रवृद्धिस्स्याच्छत्रौ शत्रुविवर्द्धनम् ।
कलत्रे मध्यमं प्रोक्तं मरणे मरणं भवेत् ॥ २५ ॥
धर्म्मे च धर्म्मवृद्धिस्स्यात् सिद्धिदः कर्म्मसंस्थिताः ।
आये च धनसम्पत्तिर्व्यये च सञ्चितव्ययः ॥ २६ ॥

(Rāśi–Cakra)

23. First of all drawing two lines on the east and west sides and then between these two lines drawing

two other lines on the north and south sides, and finally drawing four more lines in the four mid-quarters, one should complete the Rāśi-cakra. In the twelve houses of this cakra after fixing the twelve Rāśis (Zodiacs) as per rules is proper to write the letter in the order beginning from Meṣa (Aries). Four letters in the house of Meṣa (Aries), three in Vṛṣa (Taurus), three in Mithuna (Gemini); two in Karkaṭa (Cancer); two in Siṁha (Leo); two in Kanyā (Virgo); five in Tulā (Libra); five in Vṛścika (Scorpio); five in Dhanu (Sagattarius); five in Makara (Capricorn); five in Kumbha (Aquarius) four in Mīna (Pisces); and the remaining Sa-kara etc., letters in the house of Kanyā (Virgo), need to be written. In this manner the Rāśi cakra is consulted after the placement of all the alphabets is complete.

Rāśi Cakra

वृष उ ऊ ऋ मिथुन ॠ लृ ॡ	मेष अ आ इ ई	मीन य र ल व क्ष कुम्भ प फ ब भ म
कर्क ए ऐ	RAŚICAKRA	मकर त थ द ध न
सिंह ओ औ कन्या अं अः श ष स ह	तुला क ख ग घ ङ	धनु ट ठ ड ढ ण वृश्चिक च छ ज झ ञ

Adoption of a Mantra favourable to one's own Rāśi

is beneficient. Therefore, it is proper for the erudites to take the first letters of their name and Rāśi and then consider the purity of Rāśi by counting from the Name Rāśi to the Rāśi of the Mantra. Counting in such a manner mantras situated in the sixth (enemy), eighth (deadly), and twelfth (expenseful) are to be rejected, because the adoption of Mantras situated in these Rāśis is inauspicious. Lagna, Dhana, Bhrātṛ, Bandhu, Putra, Śatru, Kalatra, Mṛtyu, Dharma, Kāma, Āya, and Vyaya etc. are the names of the twelve Rāśis respectively. The auspicious and inauspicious are determined on the basis of word meanings of these names. In the Viṣṇu-worship one should understand Śatru in place of Bandhu, and Bandhu in place of Satru.

The Mantra situated in Janma-rāśi (birth sign of Zodiac) gives Mantra-siddhi; the Mantra in the house of Dhana (wealth) increases wealth; Mantra of the Bhrātṛ-house (house of the brother) increases brothers; Mantra of the Bandhu-house (house of the kinsmen) increases affection towards kinsmen; Mantra of the Putra-house (house of the sons) gives sons; Mantra of the Śatru-house (house of the enemy) increases enemies; Mantra of the Kalatra-house gives medium fruits; Mantra of the Mṛtyu-house (house of death) brings death; Mantra of the Dharma-house (house of merits) increases Dharma; Mantra of the Karma-house (house of actions) gives suceess in works; Mantra of the Āya-house (house of income) gives money and wealth; and the Mantra of the Vyaya-house (house of expenses) brings destruction even of the saved money.

(नक्षत्र चक्रम्)

२४. "उत्तराद्दक्षिणाग्रान्तु रेखाङ्कुर्याच्चतुष्टयीम् ।
दशरेखाः पश्चिमाग्राः कर्त्तव्या वीरवन्दिते ॥ २७ ॥
अश्विन्यादिक्रमेणैव विलिखेत्तारकाः पुनः ।
अकारादिक्षकारान्तान् द्विचन्द्रवह्निवेदकान् ॥ २८ ॥
भूमीन्दुनेत्रचन्द्रांश्च अश्लेषान्तं खगौ प्रिये ।
द्विभूनेत्रनेत्रयुग्मांश्चेन्दुनेत्राग्नियुग्मकान् ॥ २९ ॥
मघादिकं च ज्येष्ठान्तं द्वितीयं नवतारकम् ।
वह्निभूमीन्दुचन्द्रांश्च युग्मेन्दुनेत्रवह्निकान् ॥ ३० ॥
वेदेन भेदितान् वर्णान् रेवत्यन्तं गतान् क्रमात् ।
पूर्वोत्तरत्रयं चैव भरण्यार्द्राथ रोहिणी ॥ ३१ ॥
इमानि मानुषाण्याहुर्नक्षत्राणि मनीषिणः ॥ ३२ ॥
ज्येष्ठा शतभिषामूला धनिष्ठाश्लेषकृत्तिकाः ।
चित्रा मघा विशाखाः स्युस्ताराराक्षसदेवताः ॥ ३३ ॥
अश्विनी रेवती पुष्या स्वाती हस्ता पुनर्वसुः ।
अनुराधा मृगशिरः श्रवणा देवतारकाः ॥
स्वजातौ परमा प्रीतिर्मध्यमा भिन्नजातिषु ॥ ३४ ॥
रक्षोमानुषयोर्नाशो वैरं दानवदेवयोः ।
जन्म सम्पद्विपत् क्षेमं प्रत्यरिः साधको वधः ॥ ३५ ॥
मित्रं परममित्रं च जन्मादीनि पुनः पुनः ।
रसाष्टनवभद्राणि युग्मयुग्मगतानि च ॥ ३६ ॥
इतराणि न भद्राणि तत्याज्यानि मनीषिणा ।
प्रदक्षिण्येन गणयेत् साधकाद्यक्षरात् सुधीः ॥ ३७ ॥

(Nakṣatra cakra)

24. Drawing four lines from north to south and ten

lines from east to west between these two a set of twenty-seven houses is constructed. Putting the twenty-seven Nakṣatras in their respective order of Aśvinī, etc., in these twentyseven houses, all letters from A-kāra etc. , to kṣa-kāra should be placed in them according to rules. In the first two houses two letters; in the second one letter; in the third three letters; in the fourth four letters; in the fifth one letter; in the sixth one letter; in the seventh two letters; in the eighth one letter; in the ninth two letters; in the tenth two letters; in the ninth two letters; in the tenth two letters; in the eleventh one letter; in the twelfth two letters; in the thirteenth two letters; in the fourteenth two letters; in the fifteenth one letter; in the sixteenth two letters; in the seventeenth three letters; in the eighteenth one letter; in the nineteenth three letters; in the twentieth one letter; in the twentyfirst one letter; in the twenty second one letter; in the twentythird two letters; in twentyfourth one letter; in the twentyfifth two letters; in the twentysixth three letters; and in the twenty-seventh four letters, should be placed in their usual order.

Purvā phālgunī, Purvāśāḍhā, Purva-bhadra, Uttarā-phālgunī, Uttarāṣāḍhā, Uttara-bhadra, Bharaṇī, Ārdrā, and Rohiṇī are the nine Nakṣatras whose Gaṇas are Mānuṣa (Human beings). Jyeṣṭhā, Śatabhiṣā, Mūla, Dhaniṣṭhā, Āśleṣā, Kṛttikā, Citrā, Maghā, and Viśākhā are the nine Nakṣatras whose Gaṇas are Rākṣasas (Demons). Aśvinī, Revatī, Puṣya, Svātī, Hasta, Punar-vasū, Anurādhā, Mṛgaśirā, and Śravaṇa are the nine Nakṣatras whose Gaṇas are Devas (Gods). One should know that there is extreme love in one's own Jāti

NAKṢATRA CAKRA

अश्विनी	भरणी	कृत्तिका	रोहिणी	मृगशिरा	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	आश्लेषा
अ आ	इ	ई उ ऊ	ऋ ॠ लृ ॡ	ए	ऐ	ओ औ	क	ख ग
देव	नर	राक्षस	नर	देव	नर	देव	देव	राक्षस
मघा	पू. फाल्गुनी	उ. फाल्गुनी	हस्ता	चित्रा	स्वाती	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा
घ ङ	च	छ ज	झ ञ	ट ठ	ड	ढ ण	त थ द	ध
राक्षस	नर	नर	देव	राक्षस	देव	राक्षस	देव	राक्षस
मूल	पूर्वाषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिषा	पू. भाद्रपद	उ. भाद्रपद	रेवती
न प फ	ब	भ	म	य र	ल	व श	ष स ह	ळ क्ष अं अः
राक्षस	नर	नर	देव	राक्षस	राक्षस	नर	नर	देव

(caste); medium love in different Jāti; destruction in Rākṣasas and Manuṣyas; and enemity in Rākṣasas and Devas.

It is proper to count together the houses in which the first letters of Birth-nakṣatra and Mantra-nakṣatra are situated. If the Mantra and the Mantra adopter are the same Gaṇa then it is proper to regard the mantra as auspicious. If the Śiṣya is Mānuṣagaṇa and the Mantra Devagaṇa, even then the Mantra is beneficial. Enemity producing Mantras are not desireable for adoption. Thereafter it is again proper to count from the Birth-nakṣatra to the Mantra-nakṣatra, in the order of Janma (birth), Sampat (wealth), Vipat (calamity), Kṣema (welfare), Pratyari (hostile), Sādhaka (fulfiller), Vadha (murder), Mitra (friend), and Parama-mitra (best friend). If on counting the Mantra-Nakṣatra is third, fifth or seventh from the Birth-nakṣatra it is worth rejection; if it is sixth, eighth, second, ninth or fourth it is auspicious. All the mantra other than these five places should be regarded as inauspicious. Therefore the erudites should reject the Mantra of the Janma etc. places. Thus the extrication from this cakra is made by counting from the Birth-nakṣatra in the afore-said manner.

(अकथहचक्रम्)

२५. चतुरंस्र लिखेत् कोष्टं चतुःकोष्ठसमन्वितम् ।
पुनश्चतुष्कं तत्रापि लिखेद्धीमान् क्रमेण तु ।
ततः षोडशकोष्ठेषु लिखेद्वर्णान् यथाक्रमात् ॥ ३८ ॥
इन्द्वग्निरुद्रनवनेत्रयुगार्कदिक्षु ।
ऋत्वष्टषोडशचतुर्दशभौतिकेषु ।

पातालपञ्चदशवह्निहिमांशुकोष्टे ।
वर्णांल्लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु धीमान् ॥ ३९ ॥
नामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिमाक्षरम् ।
चतुर्भिः कोष्टैरेकैकमिति कोष्ठचतुष्टयम् ।
पुनः कोष्ठगकोष्टेषु सव्यतो नाम्न आदितः ॥ ४० ॥
सिद्धः साध्यः सुसिद्धोऽरिः क्रमाज्ज्ञेयो विचक्षणैः ॥ ४१ ॥
सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्तु सेवकाः स्मृताः ।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातकाः स्मृताः ॥ ४२ ॥
सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यस्तु जपहोमतः ।
सुसिद्धो ग्रहणादेव रिपुर्मूलं निकृन्तति ॥ ४३ ॥
सिद्धसिद्धोयथोक्तेन् द्वैगुण्यात् सिद्धसाध्यकः ।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान् ॥ ४४ ॥
साध्यसिद्धो द्विगुणकः साध्यसाध्यो निरर्थकः ।
तत्सुसिद्धस्तुद्विगुणात् साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान् ॥ ४५ ॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात् ततसाध्यो द्विगुणोऽधिकात् ।
तत्सुसिद्धो ग्रहादेव सुसिद्धारिः स्वगोत्रहा ॥ ४६ ॥
अरिसिद्धः सुतान् हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाः ।
तत्सुसिद्धस्तु पत्नीघ्नस्तदरिर्हन्तिसाधकम् ॥ ४७ ॥
वटपत्रे लिखित्वारिमंत्रं स्रोतसि निक्षिपेत् ।
एवं मंत्रविमुक्तिः स्यादित्याह भगवान् शिवः ॥ ४८ ॥

(Akathaha-cakra)

25. On the first instance draw a square with four houses in it. Again, draw a four houses in each of these four houses. Thus drawing a sixteen housed cakra, place the A-kārādi alphabets in them in the following manner: Place A in the first house, Ā in the third,

I in the eleventh, Ī in the ninth, U in the second, Ū in the fourth, Ṛ in the twelfth, Ṝ in the tenth, L in the sixth, L̄ in the eighth, E in the sixteenth, Ai in the fourteenth, O in the fifth, Au in the seventh, Aṁ in the fifteenth, and Aḥ in the thirteenth. Writing thus the sixteen vowels in the sixteen houses, consonants from Kakārādi to Ha should be written in the houses in the same manner.

अकपह १	उ ङ प २	आ ख द ३	ऊ च फ ४
ओडब ५	लृ झ म ६	औ ढ श ७	लॄ ञ य ८
ईघन ९	ॠ ज भ १०	इ ग ध ११	ऋ छ व १२
अः त स १३	ऐ ठ ल १४	अं ण ष १५	ए ट र १६

Preparing a cakra in the aforesaid manner one should take the first letter of the name and count from left to right up to the first letter of the Mantra, first in the four primary houses and then four houses situated within these four, assuming each one after another in the order as Siddha, Sādhya, Susiddha, and Ari (enemy).

The Siddha mantras are called Bāndhava (brotherly), Sadhya Mantras Sevaka (Servants), Susiddha Mantras Poṣaka (Supporter) and Ari Mantra Ghātaka (Fatal). When a Siddha Mantra is adopted it becomes efficacious at proper time. When a Sādhya Mantra is adopted it becomes efficacious by Japa and Homa, etc. When a Susiddha Mantra is adopted it becomes efficacious

immediately. And when an Ari Mantra is adopted the Sādhaka meets his total destruction. Siddha-Siddha Mantra becomes fruitful after a short time; Siddha-Sādhya Mantra becomes fruitful by doing double the number and the Siddha-Susiddha Mantra by doing half the number of Japas of the first category. By the Japa of a Siddha-Ari Mantra the kinsmen are destroyed. Sādhya-Siddha Mantra becomes fruitful by doing double the number of Japas. The Japa of a Sādhya-Sādhya Mantra is fruitful by doing double the number of Japa. By the Japa of Sādhya-Ari Mantra kinsfolk are destroyed; Susiddha-Siddha Mantra becomes fruitful by half the number, and Susiddha-Sādhya Mantra by more than double the number of Japas. A Susiddha-Susiddha Mantra destroys one's own species. Japa of an Ari-Siddha Mantra destroys the sons. Japa of an Ari-Sādhya Mantra destroys the daughters. Japa of Ari-Susiddha Mantra destroys the wife. Japa of Ari-Ari Mantra destroys the Sādhaka himself. Therefore in no case is it proper to adopt an Ari Mantra. If by mistake one happens to adopt it, he should write it on a Baṭa-(Ficus Indica) leaf and then throw that leaf in some river or stream. An Ari Mantra is discarded in this manner, which is the procedure described by Lord Śiva Himself.

(अकडमचक्रम्)

२६. रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात्तन्मध्यतो याम्य कुबेरभेदात् ।
महेशरक्षोऽधिपतिक्रमेण तिर्यक्तथा वायुहुताशनेन ॥ ४९ ॥
अकारादिक्षकारान्तान् क्लीवहीनान् लिखित्ततः ।
एकैकक्रमतो लेख्यान् मेषादिसु वृषान्तकान् ॥ ५० ॥

गणयेत् क्रमशो भद्रे नामादिवर्णपूर्वकान् ।
मेषादितश्च मीनान्तं गणयेत् क्रमशः सुधीः ॥ ५१ ॥
जप्तुः स्वनामतो मंत्री यावन्मंत्रादिमाक्षरम् ॥ ५२ ॥
सिद्धसाध्यसुसिद्धारीन् पुनः सिद्धादयः पुनः ।
नवैकपञ्चमे सिद्धः साध्यः षड्दशयुग्मके ॥ ५३ ॥
सुसिद्धः त्र्यर्षिरुद्रे च वेदाष्टद्वादशे रिपुः ।
एतत्ते कथितं देवि अकडमादिकमुत्तमम् ॥ ५४ ॥

(Akaḍama-Cakra)

26. Drawing two parallel lines from east to west two more parallel lines be drawn across these from north to south. Thereafter drawing four lines at the four mid-corners (known as Īśāna, etc.) a Rāśi-cakra should be completed. Beginning from the midpoint one should place the twelve Rāśis, from Meṣa to Vṛṣa one each in each of the twelve houses, and then starting again from the same midpoint (House of Meṣa) one should place the letters from A-kāra to Kṣa-kāra in the order of one letter in each house by rotation. Only the four neuter letters Ṛ, Ṝ, Ḷ, Ḹ should be left out.

Now, the Meṣa house would receive the four letters A, Ka, Ḍa, Ma. For the extrication of a Mantra one should follow the procedure of counting from Meṣa to Mīna respectively Siddha, Sādhhya, Susiddha and Ari Mantras, These are counted by beginning from the house containing the first letter of the name of a Sādhaka to the house of the first letter of the Mantra. Mantras situated in the ninth, first and fifth houses should be regarded as Siddha; in the sixth, tenth and second as Sādhya; in the third, seventh and eleventh

as Susiddha, and in the fourth, eighth and twelfth as Ari. O Devi! Lord Śiva ordains that this is Akaḍama Cakra.

AKAḌAMA CAKRA

मीन अः ठ भ कुम्भ अं ट ब	मेष अ क ड म	वृष आ ख ढ य मिथुन इ ग ण र
कर्क ओ व फ क्ष	अकडम चक्रम्	मकर ई घ त ल
धनु ओ क्ष प ह वृश्चिक ऐ ज न स	तुला ए छ ध ष	सिंह उ ङ थ व कन्या ऊ च द श

(ऋणिधनिचक्रम्)

२७. कोष्ठा एकादशोन्नेयाः वेदेन परिपूरिताः ।
अकारादिहकारांताँल्लिखेत् कोष्ठेषु तत्त्ववित् ॥ ५५ ॥
प्रथमं पञ्चकोष्ठेषु ह्रस्वदीर्घक्रमेण तु ।
द्वयं द्वयं लिखेत्तत्र विचारेण तु साधकः ॥ ५६ ॥
शेषेष्वेकैकशो वर्णान् क्रमशस्तु लिखेत् सुधीः ॥

अपिच

द्वौ द्वौ स्वरौ पञ्चसु कोष्ठकेषु
शेषान् स्वरान् षट्सु षडेकमेकम् ।
कादीन् हशेपान् त्रिलिखेत्ततोऽर्णान्
एकैकमेकादशसु त्रिकेषु ॥ ५८ ॥

षट्-काल-काल-वियदग्नि-समुद्र-वेद-
खकाश-शून्य-दहनाः खलु साध्य-वर्णाः ।
युग्म-द्विपञ्च-वियदम्बरयुक्शशांक-
व्योमाब्धि वेद-शशिनः खलु साधकार्णाः ॥ ५९ ॥

(साधकाङ्काः)

नामाज्झलादकठबाद्रजभक्तशेषम् ।
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात् ॥ ६० ॥

मन्त्रो यद्यधिकाङ्कः स्यात्तदा मन्त्रं जपेत् सुधीः ।
समेऽपि च जपेन्मन्त्रं न जपेत्तु ऋणाधिकं ॥ ६१ ॥

शून्ये मृत्युं विजानीयात्तस्माच्छून्यं परित्यजेत् ॥ ६२ ॥

सुप्तोजागर्त्ति येनासौ दूरस्थः प्रतिभाषते ।
वदत्यन्यमनस्कोऽपि तन्नाम ग्राह्यमेव च ॥ ६३ ॥

(Ṛṇi-Dhani-Cakra)

27. First of all drawing eleven houses and completing them with four houses in each, one should prepare a Cakra. In the first five houses of this cakra the ten vowels are placed at the rate of one short and one long vowel in each house in A-kārādi order. Thereafter, starting with S-kārādi vowels and consonants from Ka to Ha one letter each is placed in each house in the usual order. Above these four rows are written the Sādhya numbers 6,6,6,0,3,4,4,0,0,0, and 3, one in each house; and at the bottom the Sādhaka numbers 2.2,5,0, 0,2,1,0,4,4, and 1, one in each house.

Rni-Dhani Cakra

६	६	६	०	३	४	४	०	०	०	३
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	लृ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
२	२	५	०	०	२	१	०	४	४	१

Now one should place all the vowels and consonants of the Mantra in a separated order and then all the letters which occur should be located in this Cakra. Then the numbers at the top of each house in which the letters are located, should be picked up and added together, their total divided by eight and remainder noted. In the same manner all the vowels and consonants of the name of the recipient of a Mantra are placed in separate order. After locating each of these letters in the cakra one should note this time the number at the bottom of each of the houses in which the letters have been located. Now adding them together, divide the total by eight to find out the remainder. Thereafter, the formerly noted remainder and this second remainder number, both are the object of consideration. The number which is greater is called Ṛṇi and the number which is lesser is called Dhani. If the Mantra is Ṛṇi, that is if the remainder number of the Mantra is greater, then that Mantra is worth adopting. And if the Mantra is Dhani, that is its number

is lesser, then such a Mantra should not be adopted. In case of Mantra and Name numbers being equal, then too the Mantra can be adopted. But if both the numbers are zero then by adopting such a Mantra one meets his death. Therefore such a Mantra should be rejected. The name, calling with which a sleeping person awakens, hearing from a distance the name to which he replies inspite of concentration in some work, the name on which he speaks, is the name which should be taken for consideration and counting on this Ṛṇi-Dhani cakra. (The word "Akathavada" in the text indicates the first letter of each of the rows of the houses of the cakra).

अथ उपास्यनिर्णयविधिः

२८. निराकारात्समुत्पन्नं साकारं सकलं जगत् ।
तत्साकारं समाश्रित्य ध्याने भवति तन्मयम् ॥ १ ॥
तत्त्वाद्ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्त्तते ।
तत्त्वेन लीयते देवि तत्त्वाद्ब्रह्माण्डनिर्णयः ॥ २ ॥
शिवः सूर्यो गणेशश्च विष्णुः शक्तिर्यथाक्रमम् ।
सगुणोपासनायाश्च देवताः पञ्चकीर्त्तिताः ॥ ३ ॥
उपासनानां पञ्चानां पञ्चतत्त्वविवेकतः ।
निर्णयो मुनिभिः पूर्वं कृतः सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ॥ ४ ॥
वेदप्रमाणतश्चैव तथायुक्तिविचारतः ।
सिद्धः स सर्वथादेवि सर्वकल्याणकारकः ॥ ५ ॥
विरोधो दृश्यते योऽसौ सम्प्रदायवतामिह ।
अज्ञानजोऽयं हेतुर्वै दुर्गतेनात्र संशय ॥ ६ ॥

PROCEDURE FOR THE DETERMINATION OF THE UPĀSYA

28. This entire formal world emanates from the Formless. Therefore, by concentration on shape a man becomes concentrated and absorbed. The entire universe originates from the Tattva (fundamental reality, the essence); the change and dissolution of the entire Universe is also determined by the Tattva. The worshipped Deity (Upāsya Devatā) of Saguṇa worship (Attributive worship or worship of a Deity in his form) are determined in order to be Śiva, Sūrya, Gaṇeśa, Viṣṇu, and Śakti. On the basis of the five elements, the keen-sighted great sages have described five kinds of worship. This worship-differentiation becomes all-beneficial through the consideration of Veda and expediency. The mutual opposition between sectarial Ācāryas which is seen these days doubtessly originating from ignorance, is the cause of distress.

(पञ्चदेवविज्ञानम्)

९. प्रकृतेः पर एवाऽन्यः स नरः पञ्चविंशकः ।
तस्येमानि च भूतानि तेन नारायणः स्मृतः ॥ ७ ॥
सविता सर्वभूतानां सर्वान् भावान् प्रसूयते ।
सवनात् पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥ ८ ॥
ब्रह्माण्डमूलभूता या पूजिता देवतागणैः ।
ईशनात्सर्वलोकस्य मता सा वै महेश्वरी ॥ ९ ॥
गुणत्रयेश्वरोऽतीततत्त्वो व्यक्तः सुनिर्मलः ।
गणानामीश्वरो यस्मात् तस्माद् गणपतिर्मतः ॥ १० ॥

ब्रह्मादीनां सुराणां च मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।
तेषां महत्वाद्देवोऽयं महादेवः प्रकीर्त्तितः ॥ ११ ॥
देवपञ्चकमित्याहुरेकं देवं सुधीवराः ।
एकमेव परं ब्रह्म परमात्मपराभिधम् ॥ १२ ॥

SCIENCE OF THE FIVE DEITIES

29. The Puruṣa, who is beyond the Prakṛti and is the twentyfifth Tattva and who is the lord of this moveable and immoveable world, is called Nārāyaṇa. One who creates all the beings and objects, and purifies the world, is for this reason called Savitā (Sūrya or the sun). One who is the root-form of this Universe, who is worshipped by the Deities, who is the Īśvara of the world is for this reason called Maheśvara. One who is the Lord of the three Qualties, is beyond the Tattvas, is unmanifest and extremely free of impurites, and is the Lord of the Gaṇas, is called Gaṇapati (Gaṇeśa). One who is great among Brahmā and other Deities, Ascetics, Brahmavādins that God is called Mahādeva (Śiva). In this manner the venerable great sages have differentiated one and the same Parabrhaman Paramātmā into five kinds of Deities.

(अधिकारनिर्णयः)

३०. मनवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्त्तिताः ।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको बुधैः ॥ १३ ॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात् ।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तन्त्रवित् ॥ १४ ॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्यं विमृश्य विधिपूर्वकम् ।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदवर्णयत् ।

उपासनाः पञ्चविधा इत्थं निर्णयते स्फुटम् ॥ १५ ॥
आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चापि महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥ १६ ॥
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं तञ्चधागताम् ।
परीक्ष्य कुर्य्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम् ॥ १७ ॥
ऋतम्भरधिया ज्योतिः स्वरोदयसहायतः ।
उपासनाधिकारो वै निर्णेतु शक्यते ध्रुवम् ॥ १८ ॥
चित्तसंवेगवैराग्यधारणादिविनिर्णयम् ।
परीक्ष्य चास्यान्तरिकान् भावाँच्छिष्यस्य योगवित् ॥१९॥
तत्सम्प्रदायनियमं तेषां प्रकृतिसन्निभम् ।
करोति जीवकल्याणकल्पनाकलितान्तरः ॥ २० ॥

(Determination of the Right of Worship)

30. The creation is five-elemental and therefore the nature of man is also of five kinds. Although, due to the natural diversity there is always some difference in the natures of men, yet according to the Ākāśādi five Elements great sages adept in Tantra have divided men's right to worship into five kinds in accordance with the predominance of any one of the Ākāśādi five elements. In the worship of the five, the right to worship the five Deities is determined in this manner : The Lord of Ākāśa is Viṣṇu; Lord of Agni is Maheśvra; of Vāyu is Sūrya; of Pṛthivī is Śiva, and of Jala is Gaṇeśa. The Guru adept in Yoga should decide the right of worship of the Śiṣya on the basis of his (Śiṣya's) five-fold nature. Truth containing wisdom, Svarodaya (s. v) and Astrology are the three bases with the help of which a right of worship can be

decided. After the determination of the right of worship in accordance with the worship of Five, when on the basis of tests of internal feelings and also on the basis of his emotions, aversion from worldly desires, and concentration, the sect and form is decided in consonance with his disposition then the welfare of the Śiṣya is assured.

अथ मन्त्रयोगाङ्गवर्णनम्

३१. भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः ॥ १ ॥
भक्तिः शुद्धिश्चाऽऽसनं च पञ्चाङ्गस्याऽपि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥ २ ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रातर्पण हवणं बलिः ।
योगो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥ ३ ॥
भक्तेर्भेदास्त्रयो ज्ञेयाश्चाऽधिकारस्य भेदतः ॥
त्रैगुण्यभेदात्त्रिविधोऽधिकारोऽस्याः प्रकीर्त्तितः ॥ ४ ॥
शुद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता चाऽऽसनं द्विविधं स्मृतम् ।
पंञ्चाङ्गसेवनं गीतास्तोत्रपाठादिकं मतम् ॥ ५ ॥
आचारस्त्रिविधः प्रोक्तोऽधिकारास्तस्य सप्तवै ।
धारणा द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तर भेदतः ॥ ६ ॥
षोऽशाङ्गं विनिर्दिष्टं दिव्यदेशस्य सेवनम् ।
आविर्भवन्तीष्टदेवा अत्रैवाशु स्वभावतः ॥ ७ ॥
यदङ्गभूता न्यासाद्याः सैका प्राणक्रिया मता ।
भावबाहुल्यवत्त्वाद्धि बह्व्यो मुद्राः प्रकर्त्तिताः ॥ ८ ॥
देवानां प्रीतिकृज्ज्ञेयं तर्पणं हवनं बलिः ।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन यज्ञभेदो द्विधा मतः ॥ ९ ॥

श्रद्धोपचारभेदेन पूजाया भेदकल्पना ।
जपस्य हि त्रयोभेदा ध्यानं बहुविधं मतम् ॥
परं समाधिरेकः स्यान्महाभावेतिनामकः ॥ १० ॥

DESCRIPTION OF THE CONSTITUENT PARTS OF MANTRA YOGA

31. Just as the Moon is embelished with sixteen Kalās, so is the Mantra Yoga also embelished with sixteen constituent parts (Aṅgas). Bhakti, Śuddhi, Āsana, Pañcāṅgasevana, Ācāra, Dhāraṇā, Divyadeśa-sevana, Prāṇa-kriyā, Mudrā, Tarpaṇa, Havana, Bali, Yāga, Japa, Dhyāna, and Samādhi are the sixteen organs or parts of Mantra Yoga.

Bhakti has three divisions and with the difference of right and suitability of Upāsanā the rights of Bhakti are also three in accordance with Triguṇas. Śuddhi has four kinds and Āsana has two. On the basis of Gītā, Stotra, etc., which are five, is the ritual of Pañcāṅga-sevana so named. Inspite of three kinds of Ācāra the rights of Sādhakas are assumed to be seven. On the basis of Internal and External, the Dhāraṇā is also of two kinds. Divyadeśa-sevana has sixteen kinds in which quite naturally the manifestation of Deities takes place. Prāṇa-kriyā is one, but Nyāsa etc., are its parts. Being multi-expressional, the kinds of Mudrās are numerous. Tarpaṇa, Havana, and Bali are loved by Deities. On the basis of external and internal , the Yajña is of two kinds. The Pūjā is conceived in accordance with the difference in reverence, and the kinds of Pūjā are differentiated in accordance with faithfulness. Japa is threefold. Although, in

accordance with the difference of Upāsanā, Dhyāna being manifold (in accordance with the worship of Five Deities) yet Samādhi is of only one kind. This Samādhi of Mantra Yoga is called Mahābhāva.

अथ भक्तिवर्णनम्

३२. भक्तिस्तु त्रिविधा ज्ञेया वैधी रागात्मिका परा ।
देवे परोऽनुरागस्तु भक्तिः सम्प्रोच्यते बुधैः ॥ १ ॥
विधिना या विनिर्णीता निषेधेन तथा पुनः ।
साध्यमाना च या धीरैः सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥ २ ॥
ययाऽऽस्वाद्य रसान्भक्तेर्भावे मज्जति साधकः ।
रागात्मिका सा कथिता भक्तियोगविशारदैः ॥ ३ ॥
पराऽऽनन्दप्रदा भक्तिः परा भक्तिर्मता बुधैः ।
या प्राप्यते समाधिस्थैर्योगिभिर्योगपारगैः ॥ ४ ॥
त्रैगुण्यभेदात्त्रिविधा भक्ता वै परिकीर्त्तिताः ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी तथा त्रिगुणतः परः ॥
पराभक्त्यधिकारी यो ज्ञानिभक्तः स तुर्यकः ॥ ५ ॥
उपासकाः स्युस्त्रिविधास्त्रिगुणस्याऽनुसारतः ।
ब्रह्मोपासक एवाऽत्र श्रेष्ठः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥ ६ ॥
सगुणोपासना या स्यादवतारप्रपूजनम् ।
विहिता ब्रह्मबुद्ध्या चेदत्रैवान्तर्भवन्ति ताः ॥ ७ ॥
सकाम बुद्ध्या विहितं देवर्षिपितृपूजनम् ।
द्वितीयश्रेणिका ज्ञेयास्तत्कर्त्तारस्तथा पुनः ॥ ८ ॥
तृतीय श्रेणिकास्ते स्युः क्षुद्रशक्तिसमर्चकाः ।
प्रेताद्युपासनं चैव निम्नश्रेणिकमुच्यते ॥ ९ ॥
ब्रह्मोपासनमेवाऽत्र मुख्यं परममङ्गलम् ।
निःश्रेयसकरं ज्ञेयं सर्वश्रेष्ठं शुभावहम् ॥ १० ॥

DESCRIPTION OF BHAKTI

32. There are three kinds of Bhakti, viz. Vaidhi bhakti; Rāgātmikā-bhakti and Parā-bhakti. Exclusive attachment towards ones worshipped Deity is called Bhakti by persons of composed mind. Determined by procedural restrictions and feasibility is the Bhákti called Vaidhī. Infúsing sense of devotion the Bhakti which absorbs a Sādhaka in a particular attachment is called Rāgātmikā. The Bhakti providing Paramānanda (Supreme Bliss) is called Parā-bhakti, which a Yogī adept in Yoga obtains in the state of Samādhi. According to the differentiation of Triguṇa, a Bhakta (Devotee) is also of three kinds, viz. Ārta, Jijñāsu and Arthārthī. There is a fourth kind also known as Jñānī, which is above the Triguṇas. Only a Jñānī devotee is entitled to Parā-bhakti. In accordance with the Triguṇa differentiation the worshippers are of three kinds. Brahmopāṣaka is the best of all—so has been said by the erudites. Saguṇa-worshippers through Brahmabuddhi and Avatāra-worshippers also through Brahmabuddhi come under this very category. The worshippers of Sages (Rṣis), Deities (Devatā), and Fathers (Pitaras) through selfish intellect are considered second raters while worshippers of petty powers are regarded as third raters. The worship of Demigods and Pretas, etc., comes under this third category. The worship of the first kind, viz., the Brahmopāsanā is most prosperous and being of Supreme good is worth knowing as the best of all.

अथ शुद्धिवर्णनम्

३३. काय-चित्त-दिशा-स्थानभेदाच्छुद्धिश्चतुर्विधा ।

यद्वा —

स्थानशुद्धिश्च दिक्शुद्धिर्बाह्यशुद्धिस्तथैव च ॥ १ ॥
अन्तःशुद्धिरिति प्रोक्तास्ताश्चतस्रो यथाक्रमम् ॥
स्थानशुद्धया पुण्यवृद्धिः पावित्र्यञ्च प्रजायते ॥ २ ॥
दिक्शुद्धयाशक्त्यधिगमो बाह्यशुद्धयात्महृष्टता ।
इष्टदेवकृपाप्राप्तिश्चान्तःशुद्धयेष्टदर्शनम् ॥ ३ ॥
समाधिसिद्धिर्भवति, योगी शुद्धीः समाचरेत् ॥

DESCRIPTION OF ŚUDDHI

33. On the basis of differentiation of Kāyā (body), Mana (mind), Dik (Quarters), and Sthāna (Place), Śuddhi is of four kinds. These are called in the order—Sthāna-śuddhi, Dikśuddhi, Bāhya (External, of Kāyā)-śuddhi. and Antaḥ(Mana)-śuddhi. The Sthāna-śuddhi increases piousness and virtuosness. From Dik-śuddhi one obtains Śakti (power). From Bāhya or Kāya-śuddhi one gets self-rejoicing and the kindness of Iṣṭa-Davatā (Worshipped Deity). And from Antaḥ-śuddhi one obtains the vision of his Iṣṭadevatā and Samādhi. A Yogi should always observe all these four Śuddhis.

(दिक्शुद्धिः)

३४. आसीनः प्राङ्मुखोनित्यं जपं कुर्याद्यथाविधि ।
रात्र्यावुदङ्मुखेः कुर्याद्दैवं कार्यं सदैव हि ॥ ४–५ ॥
दिक्शुद्धया साधकः सिद्धिं साधने लभतेऽञ्जसा ।
मनश्च वश्यतां यातीत्यतः कार्या प्रयत्नतः ॥ ६ ॥

(Dik-śuddhi)

34. Sitting with his face either towards east or north, one should perform Japa properly, and in

the night sitting with face towards north always perform rites of the Devatā. Through Dik–śuddhi a Sādhaka obtains Siddhi in his Sādhanā. Therefore a careful Yogī should always observe Dik–śuddhi.

(स्थानशुद्धिः)

३५. गोमयेन यथा स्थानं कायो गङ्गोदकेन च ।
पञ्चशाखायुतं देशं तथा सिद्धिप्रदायकम् ॥ ७ ॥
गोशाला वै गुरोर्गेहं देवायतन-काननम् ।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं सदा पूतं प्रकीर्त्तितम् ॥ ८ ॥

(Sthāna–śuddhi)

35. Just as the body is purified with Ganges–water, so is it proper to purify a place with cowdung. A place under the five kinds of trees, viz. Aśvattha (Ficus Religiosa), Baṭa (Ficus Indica), Āmalakī (Emblic Myrobalan), Bilva (Aegle Marmelos), and Aśoka (Jonesia Asoka Roxb.) known as Pañcavaṭī, is the one which gives all Siddhis (Accomplishments). Gośālā (Cowpen); Guru's house, Temple, Forest, Tirtha (a Sacred place), and a Nadī-taṭa (River bank) are the places always regarded as sacred.

(कायशुद्धिः)

३६. स्थानमूलाः क्रियाः सर्वाः श्रुतिस्मृत्युदिता नृणाम् ।
तस्मात्स्नानं निषेवेत श्री-पुष्ट्यारोग्यवर्द्धनम् ॥ ९ ॥
मान्त्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसञ्चैव सप्तस्नानं प्रकीर्त्तितम् ॥ १० ॥
आपोहिष्ठादिभिर्मान्त्रं भौमं देहप्रमार्जनम् ।
आग्नेयं भस्मनास्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥ ११ ॥

यत्तदाऽऽतपवर्षेण स्नानं दिव्यमिहोच्यते ।
वारुणं चावगाहः स्यान्मानसं विष्णुचिन्तनम् ॥ १२ ॥
अनन्तादित्यसङ्काशं वामदेवं चतुर्भुजम् ।
शङ्खचक्रगदापद्ममुकुटं शेषशायिनम् ॥ १३ ॥
प्रभूतसत्त्वसम्पन्नं ध्यायेन्नारायणं विभुम् ।
अथ स्नानं प्रकुर्वीत यथा शास्त्रविधिः स्मृतिः ।
मलप्रक्षालनं स्नानं स्वशाखोक्तं समाचरेत् ॥ १४ ॥
ताम्रपात्रं सदूर्वं च सतिलं सजलं तथा ।
गृहीत्वा स्वेष्टदेवस्य प्रीतये स्नानमाचरेत् ॥ १५ ॥
गुरुपङ्क्तिं तु सन्तर्प्य तर्पयेदिष्टदेवताम् ।
मान्त्रं स्नानं साधको वै नित्यं कुर्याद्यथाविधि ॥ १६ ॥

(Kāya-Śuddhi)

36. In the process of Sādhanā bathing is the first thing for a person—so has been laid down by the Vedas and Dharmaśāstras. A further speciality about this bathing is that it adds both to the nutrition and health of the body. Bathing is of seven kinds, viz. Mantra-snāna, Bhauma-snāna, Āgneya-snāna, Vāyavya-snāna, Divya-snāna, Vāruṇa-snāna, and Mānasa-snāna. Bathing with water along with the recitation of "Apohiṣṭhā"[1] etc., Mantras is called Mantra-snāna. Rubbing the body well with a towel is called Bhauma-snāna. Smearing the body with Bhasma (remnants of oblation poured in a Yajña) is called Āgneya-snāna. Smearing the body or bringing it in contact with Goraja (a particle of dust on a cow-hair) is called

1. Rv. X. 9, 1; Av. I. 5, 1; Sv. II. 1187; Vaj Sam, XI. 50; Tait. Sam. IV. 1, 5, 1; etc.

Vāyavya–snāna. Bathing directly in rain water when simultaneously there is also sunshine, is called Divya-snāna. Bathing dipped under water is called Vāruṇa snāna. Cnncentration on Lord Viṣṇu is called Mānasa-snāna. Concentration upon the form of Viṣṇu, brilliant as millions of Suns, Vāmadeva, four–armed, holding Śaṅkha (conch–shell), Cakra (discus), Gadā (club), and Padma (lotus), wearing a Mukuṭa (diadem), lying on Śeṣa (King of Serpents), and full of Sattva–Guṇa, is called Mānasa–snāna. One should take his bath according to the procedures laid down in his sect so that the impurities of the body are removed. Holding a copper pot filled with Dūrvā (a grass, Panicum Dactylon) and Til (Sesamum indicum) one should take his bath for the pleasure of his Iṣṭa–devatā. First of all he should present libations of water (Tarpaṇa) to the line of Gurus, and then do the same to the Iṣṭa–devatā. In this manner it is proper for a Sādhaka to take the Mantra–snāna daily.

(अन्तःशुद्धि)

३७. अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वगृध्नुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानिता ।
भवन्ति सम्पदो दैव्यश्चित्तनैर्मल्यकारणम् ॥ ३ ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाऽभिजातस्य विद्यात्सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
दैवीं सम्पत्तिमासाद्य निस्त्रैगुण्यो भवेत्सुधीः ॥ ५ ॥

(Antaḥ-śuddhi)

37. Fearlessness, cheerfulness, Jñāna-yoga (that is deep confidence in the procedures of obtaining Self-knowledge), charity, control of senses, Yajña, study of Vedas and Śāstras, Tapa (austerity), simplicity, Ahiṁsā (non-violence), truth, refraining from anger, non-attachment to the fruits of action, peace of mind, discarding the evil tendencies, kindness, greedlessness, discarding egoism, feeling ashamed in committing an evil act, getting rid of fickleness of character, brilliance, mercy, patience, cleanliness, having no ill will towards others and not thinking too high of oneself—all these have been called divine wealth. Antaḥ-śuddhi is obtained by a constant practice of all these virtues. Pride, arrogance, roughness, inconsiderateness, etc. should be known as Demoniacal wealth. The aforesaid divine wealth is a means for emancipation and the demoniacal wealth keeps a man in bondage. Therefore it is proper for intelligent persons to always practice the divine wealth and thus proceed on the path of Emancipation.

आसन वर्णन

३८. प्रधानतो मन्त्रयोग आसने द्वे हितप्रदे ।
पद्मं च स्वस्तिकं चैव तथा तच्छुद्धिरुच्यते ॥ १ ॥
भेदशुद्धिक्रियाभ्यासादासनं शुद्धयति ध्रुवम् ।
यत्रास्यते साधकेन भेदास्तस्य पृथक्-पृथक् ।
वेदेषु तन्त्रेषु तथा कथिता मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥

सकामाकामं भेदेनोपासनायाश्च भेदतः ।
कामनातारतम्याच्च निर्णीतान्यासनानि वै ॥ ३ ॥

धारणाशुद्धितो मन्त्रोच्चारणादपि शुद्धयति ।
आसनं तच्च द्विविधं कर्मोपासनभेदतः ॥ ४ ॥

बहुशो वर्णितं कर्मोपासनाकाण्डयोः स्फुटम् ।
निर्णीतमासनविधैर्विज्ञानं विधिपूर्वकम ॥ ५ ॥

परमात्मदर्शिभिः पूर्वैर्हठयोगविशारदैः ।
योगिनां श्रेयसे सिद्धिरासनस्य प्रकीर्त्तिता ॥ ६ ॥

DESCRIPTION OF ĀSANAS

38. Being helpful in Mantra yoga, chiefly only two postures (Āsanas) have been accepted, which are Svāstika-Āsana and Padma-Āsana. Āsana-Śuddhi (purification of Āsana) is done by differentiation of Āsana, purification of Āsana and practice of Āsana. The object on which a Sādhaka should sit has been variously specified by the sages in Vedas and Tantras. The differences in Āsanas have been determined on the basis of worship with or without desire, mode of worship, and the motive sought. The Āsana is purified by the purification of Dhāraṇā (Concentration), and recitation of Mantras. Āsana has been determined in various ways in accordance with rituals and modes of worship in the chapter dealing with these two subjects. Science of practice of Āsanas has been methodically laid down by former self-seeing sages adept in the essence of Haṭha-Yoga. Perfect accomplishment of Āsana is extremely beneficial for Yogis.

(आसन भेद)

३९. सुचैलं काम्बलं कौशं सिंहव्याघ्रमृगाजिनम् ।
एतेषामासनं शुद्धं सिद्धये वैफलाय च ॥ १ ॥
काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम् ।
कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिर्मोक्षः स्याद्व्याघ्रचर्मणि ॥ २ ॥
कुशासने भवेदायुश्चैलं व्याधिविनाशनम् ।
योगसिद्धिप्रदाने तु चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ३ ॥
धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्ये दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडनम् ॥ ४ ॥
तृणासने यशोहानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
जपध्यानतपोहानिर्वसनासनतो भवेत् ॥ ५ ॥
नादीक्षितो विशेज्जातु सिंहव्याघ्राजिने गृही ।
उदासीनवदास्येत स्नातकब्रह्मचारिभिः ॥ ६ ॥
पृथिवीमन्त्रस्य च ऋषिर्मेरुपृष्ठ उदाहृतः ।
सुतलं च तथाच्छन्दः कूर्मो देवोऽस्य कीर्त्तितः ॥ ७ ॥
आसने विनियोगः स्यादासने सुखदे विशेत् ।
जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥ ८ ॥

(Differentiation of Seat (Āsana)

39. Seats of a good piece of silken cloth, blanket, sheet made of Kuśa grass (Poa cynosuroides), lion skin, tiger-skin, and deer-skin are considered extremely pure and only these are accomplishers of the desired aims. Blanket is good for acts done from interested motives, but here the seat made of red blanket is considered best. Seat of a black deer-skin gives accomplishment of knowledge; Tiger-skin gives emancipation;

Kuśa seat gives longevity, and seat of silken cloth is destroyer of diseases. A seat prepared by placing in sequence, first, the Kuśa-āsana, then deer-skin over it, and then on the top a silken cloth, gives suceess in Yoga Sādhanā.

Now, painful or prohibited Āsanas (seats) are being described : By using earth as a seat one gets pain; by using wooden seat there is the beginning of misfortune; by using a seat made of bamboo there is poverty; by using stone seat there is suffering from disease; by using a straw seat there is loss of fame; by using a seat of leaves there is insanity, and by using a seat made of cloth there is loss of Japa, Dhyāna and Tapa. Therefore, seats of these materials are prohibited. A householder, without initiation from a Guru, should never sit on seats of lion-skin, tiger-skin and black deer-skin. A householder can sit on such seats only with the permission of a Guru. But a chaste student can sit on such seats like an indifferent person. Sitting on a proper seat reciting the name of the Ṛṣi of Pṛthivī-mantra—that is after reciting the meter etc. in order of Meru-pṛṣṭha, etc, and purifying the seat with "Asane-viniyogah", when one comfortably performs Pūjā, then he can accomplish his desired aims. Doing otherwise the performance of Sādhana becomes fruitless.

पञ्चाङ्ग सेवन वर्णन

४०. गीतासहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च ।
हृदयं चेति पञ्चैते पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः ॥ १ ॥

स्वोपासनानुसारेण गीतायाः पठनाद्ध्रुवम् ।
सहस्रनामाध्ययनात्स्वपद्धत्यनुसारतः ॥ २ ॥
स्तोत्रस्यकवचस्याऽपि हृदयस्य च पाठतः ।
योगसिद्धिमवाप्नोति योगी विगतकल्मषः ॥ ३ ॥
गीता पञ्चविधा प्रोक्ता पञ्चोपासनभेदतः ।
भगवत्सूर्यशक्तीनां गणेशस्य शिवस्य च ॥ ४ ॥
तथा सहस्रनामाद्या विविधाः परिकीर्त्तिताः ।
अनेकोपासनाभेदाद्विज्ञेया गुरुदेवतः ॥ ५ ॥
गीतासुवर्णितं ह्येकं जगज्जन्मादिकारणम् ।
विचित्रभावशबलं विज्ञानं ब्रह्मणः स्फुटम् ॥ ६ ॥
ब्रह्मोपासनतां यान्ति यतः पञ्चाऽप्युपासनाः ।

DESCRIPTION OF PAÑCĀṄGA-SEVANA
(Serving the Five Organs)

40. Gītā, Sahasranāma (Thousand names of the Deity), Stava, (Panegyric), Kavaca (Amulet), and Hṛdaya (Essence of knowledge) have been enumerated by the erudites as Pañcāṅga (Five Organs). By daily reading of Gīta according to one's own sect of worship and recitation of Sahasranāma, Stava, Kavaca and Hṛdaya according one's own sectarial procedures, a Yogī getting rid or impurities achieves Yoga-Siddhi (fulfilment of Yogic Aims). According to the worship of Five Deities (Pañca devatā) the number of Gitās is also five, viz. Bhagavadgītā, Gaṇeśa-Gītā, Bhagavatī-gītā, Sūrya-gītā, and Śiva-gītā. Similarly there are five separate numbers of Sahasranāmas also.

And according to different sects of worship the Stavas, Kavacas and Hṛdayas are many, and these be

learnt from instructions of one's Guru. In all the Gītās, with reference to the cause and creation of world etc., a mysterious dispositional science of unique Brahman is described, because Pañcopāsanā (Worship of Five Deities) is nothing but Brahmopāsanā.

आचार वर्णन

४१. आचारस्त्रिविधः प्रोक्तः साधाकानां मनीषिभिः ।
दिव्यदक्षिणवामाश्चाधिकाराः सप्त कीर्त्तिताः ॥ १ ॥
सप्ताधिकारा विदुषः साधकस्य मताइमे ।
दीक्षा ततो महादीक्षा पुरश्चरणमेव च ॥ २ ॥
ततो महापुरश्चर्याऽभिषेकस्तदनन्तरम् ।
षष्ठो महाभिषेकश्च तद्भावोऽन्तिम ईरितः ॥ ३ ॥
साधकोऽनेन लभते मोक्षं नाऽस्तीह संशयः ॥
एषां सप्ताधिकाराणां नामानि विविधानि वै ॥ ४ ॥
तन्त्रादिशास्त्रे कथितान्याचारस्याऽनुसारतः ।
परस्परं विप्रतीपावाचारौ वामदक्षिणौ ॥ ५ ॥
द्वयोरभिन्नलक्ष्यत्वेऽप्येकः प्रवृत्तिनिष्ठितः ।
निवृत्तिनिष्ठो ह्यपरः प्रवृत्तिर्हि निसर्गजा । ६ ॥
महाफला निवृत्तिस्तु विज्ञेया वेदवादिभिः ।
अतो ह्युपासनायां वै आचारोद्विविधो मतः ॥ ० ॥
उपासनान्तर्भावा वै त्रिविधाश्चाऽपि शुद्धयः ।
आचारैः परिचीयन्ते प्रोक्तमेतन्मनीषिभिः ॥ ८ ॥
स्वाचारभेदा विज्ञेया गुरुदेवोपदेशतः ॥
निवृत्तिमार्गपथिका रतायत्रनिसर्गतः ॥ ९ ॥
दिव्याचारः स भवति यस्तृतीयतया मतः ।
द्वौ वामदक्षिणाचारौ विरुद्धौ हि परस्परम् ॥ १० ॥

दिव्याचारो नो विरुद्धः सर्वजीवहितप्रदः ।
वामः प्रवृत्तिपरको दक्षिणस्तु निवृत्तिगः ॥
दिव्याचार उभाभ्यां वै परः श्रेयस्करो मतः ॥ ११ ॥

DESCRIPTION OF ĀCĀRAS

41. For the benefit of Sādhakas the Ācāryas have formulated three kinds of Ācāras, viz., Divya, Dakṣiṇa and Vāma. And the rights of Sādhakas have been described as seven, viz. , Dīkṣā, Mahādīkṣā, Puraścaraṇa, Mahāpuraścaṇa, Abhiṣeka, Mahābhiṣeka, and Tadbhāva. Through these rights a Sādhaka doubtlessly can attain the state of emancipation. According to to Divya, Dakṣiṇa and Vāma the names of these seven rights of Sādhakas have been variously described in the Tantra literature, and these are current in different sects of Sādhakas. Dakṣiṇa and Vāma Acāras are mutually opposite. Although the aim of both originates from Nivṛtti (non-attachment), yet (in practice) one is Pravṛtti–inclind and the other Nivṛtti-inclind. In the disposition of men Pravṛtti (attachment) is quite natural, but Nivṛtti is highly fruitful, and therefore in worship also the description of these Ācāras can easily be seen. Aeāras are the expression of inherent dispositions and threefold purifications of worship—so has been said by the erudites. One should learn the difference of his own Ācāra from his Guru. The Ācāra in which persons fully qualified in Nivṛtti-mārga are naturally absorbed, is called Divyācāra, and this is different from the two former Ācāras. Vāma and Dakṣiṇa Ācāras are mutually opposed but Divyācāra is not opposed to either, and therefore is beneficial

to all. Vāma. ācāra is dependent on Pravṛtti and Dakṣiṇa on Nivṛtti; but Divyācāra is above both Pravṛtti and Nivṛtti. Therefore, being above conflict it is regarded as the bestower of Supreme Bliss.

(लता-साधन)

४२. उपासना-विधौ यस्तु भावो बाह्यक्रियाश्रयः ।
आचारः कथ्यते सोऽसौ तन्त्रशास्त्रप्रवर्त्तकैः ॥ १ ॥
विष्णु-सूर्य-गणेशानां शिवस्योपासनासु च ।
चतसृष्वयमाचारो भवत्येकविधः सदा ॥ २ ॥
द्विविधस्तु भवत्येष वाम-दक्षिणभेदतः ।
आचारः शक्तिपूजायां सर्वतन्त्रानुसारतः ॥ ३ ॥
शक्तिप्राधान्यतश्चाऽस्मिञ्छक्तिपूजाविधौ नृणाम् ।
साधनानां सुविस्तारः क्रियते तत्त्वदर्शिभिः ॥ ४ ॥
अधिकारोऽत्र पूजायां द्विविधो दृश्यते तथा ।
तन्त्रेषु बहुविस्तारः शक्तिपूजाविधेरभूत् ॥ ५ ॥
दक्षिणाचारतो योऽयं विपरीतो भवेदिह ।
वामाचारः स विज्ञेयस्तन्त्रशास्त्रविशारदैः ॥ ६ ॥
जनेसत्त्वप्रधाने तु दिव्याचारः प्रशस्यते ।
पश्वाचारो रजोमुख्ये वामाचारश्च तामसे ॥ ७ ॥
वामाचारस्तु योऽयं वै वीराचारः स कथ्यते ।
लोककल्याणसिद्ध्यर्थं निर्णीतोऽसौ कलौयुगे ॥ ८ ॥
स्वां स्वां प्रकृतिमाश्रित्य जीवाः परवशाः कलौ ।
वामाचारमनुष्ठाय लप्स्यन्तेशुभमव्ययम् ॥ ९ ॥
एवं प्रवृत्तिकार्येषु निवृत्तेर्लक्ष्यतावशात् ।
नूनं प्रवृत्तिचेष्टासु घोरास्वपि च साधकः ॥ १० ॥

प्रभवेत्साधितुं सिद्धिमात्मनश्चोन्नतिं सदा ।
वामाचाररहस्यं वै ह्येतन्मुनिसमादृतम् ॥ ११ ॥
वामाचारक्रियामुख्यं लतासाधनवर्णनम् ।
विहितं तन्त्रमर्मज्ञैः, प्रायशः शक्त्युपासने ॥ १२ ॥
अन्येषु सम्प्रदायेषु युग्मोपासनवर्णना ।
विहिता यत्र, तत्रैव क्रियेयमुपवर्णिता ॥ १३ ॥

यथा द्वैविध्यमापन्नो दक्षिणाचार उच्यते ।
वामाचारे तथा चाष्टौ भेदाः प्रोक्ताहितान्त्रिकैः ॥ १४ ॥
वामाचारेऽधिकाराः स्युः सप्त वै परिकीर्तिताः ।
प्राप्यन्ते साधकैस्ते हि गुरुदेवकृपावशात् ॥ १५ ॥

महाभिषेके प्राप्नोति साधकः परिपूर्णताम् ।
शून्यो विधिनिषेधाभ्यां जीवन्मुक्तो भवेत्ततः ॥ १६ ॥
तथा गुरुकृपां प्राप्य तत्सारूप्यं प्रपद्यते ।
प्राधान्यं चात्र तत्त्वानां पञ्चानां हि विधीयते ॥ १७ ॥

गीयन्ते पञ्चतत्त्वानि शक्तिरूपाणिनिश्चितम् ।
अन्यत्र ब्रह्मरूपाणि तत्त्वानि कथितानि तु ॥ १८ ॥
अत्र सर्वं शक्तिमयं तत्साहाय्यात्परं पदम् ।
प्राप्तुं यत्नः परो लक्ष्यः साधनस्याऽस्यकीर्त्तितः ॥ १९ ॥

मनोवीर्यं तथा वायुः कारणस्थूलसूक्ष्मतः ।
भवन्ति त्वेकरूपाणि शक्तिरूपाणि चैव हि ॥ २० ॥
स्थूलशक्तिं विजित्याशु सूक्ष्मशक्तेः पराजयात् ।
कृपालाभो हि शक्तेश्च मुख्योलक्ष्योऽस्य कीर्तितः ॥ २१ ॥

शक्तेः स्थूलविभूतीनां पूजनात्तत्कृपावशात् ।
सेवनात्पञ्चतत्त्वानां साफल्यं स्यादुपासने ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वरेतस्त्वसंप्राप्त्या मनसो वै पराजयः ।
तन्मात्राणां वशीकाराज्जित्वा सर्वांश्च वृत्तिकाः ।
स्वस्वरूपोपलब्धिर्हि लक्ष्यश्चास्यान्तिमं स्मृतम् ॥ २३ ॥

LATĀ SĀDHANA

42. The external rituals, which have been incorporated in the procedure of Upāsanā are called Ācāras by the proponents of Tantra-śāstra. These Ācāras are always identical for Viṣṇu-worship, Sūrya-worship, Gaṇeśa-worship, and Śiva-worship; but in the Śakti-worship the Ācāra, according to all Tantra-śāstras, has been differentiated as of two kinds, viz., Vāmācāra and Dakṣiṇācāra. In this Śakti-worship, due to the predominance of Śākti, the Seers of Truth have greatly elaborated the procedures, and the rights also have been laid down as two. In the Tantras there is great deal of elaboration of the Śakti-worship. The sages adept in Tantraśāstra have called Vāmācāra as that which is opposite of Dakṣiṇācāra. when the Sādhaka is Sāttvika the Divyācāra is beneficial. For a Rājasika Sādhaka Paśyācāra is beneficial, while a Tāmasika Sādhaka is qualified for Vāmācāra. Vāmācāra is also known as Virācāra. This has been decided to be generally beneficial in Kaliyuga. In the Kaliyuga era men, being slaves to their respective dispositions, can derive undecaying benefit from this Ācāra.

In this manner, due to the inclusion of the aims of Nivṛtti even in the Pravṛtti efforts, a Sādhaka, elevating his self, can attain Siddhis through these efforts of extreme Pravṛtti. This is the secret of Vāmācāra respected even by the Sages. Usually, it is connected

with Śakti-worship. The Tantras describe the Latā Sādhana dominated by Vāmācāra actions. But even in the four-sects of Vaiṣṇavites, etc., where the procedure or dual-worship is prevalent, this action is sporadically described in some Tantras. Just as there are two kinds of Dakṣiṇācāra, similarly the Tantrikas enumerate eight kinds of Vāmācāra. In this Ācāra there have been laid down seven rights of a Sādhaka, which he obtains from his Guru, as he gradually progresses in his Sādhanā. In the Mahābhiṣeka, a Sādhaka achieves perfection, becoming rid of ritual prohibitions enjoys emancipation, and obtaining the kindness of Guru becomes one with the Brahman. In this Ācāra there is a dominance of the Five Elements. These Five Elements are considered as endowed with Śakti. In other Ācāras everything is regarded as endowed with Brahman, but in this (Vāmācāra) everything is Śakti-maya. And attainment of Supreme state through the help of Śakti is the ultimate aim of this Ācāra. Mānas, Vāyu, Vīrya—these three causes are one in both subtle and gross forms, and are Śaktirūpa (of the form of Śakti). Performance of Japa through Gross-Śakti and then soon progressing to Subtle-Śakti, the attainment of benediction of Śakti is the primary aim of this (Vāmācāra) Sādhanā. The worship of gross attributes of Śakti, the achievement of the favour of these attributes, attainment of success in Upāsanā through the service of the Five Elements, conquering the mental disposition through the attainment of chastity, conquest of tendencies through taming of Tanmātras, and attainment of Selfhood

through the favour of Nature, is the ultimate aim of this Sādhanā.

(सप्त-अधिकार)

४३. यदोपदिशते मन्त्रं शिष्यं कृत्वा दया गुरुः ।
स एव दीक्षासंस्कारोवर्णितो मुनिपुङ्गवैः ॥ १ ॥
ततस्तु साधकं योग्यं ज्ञात्वा प्रारभते गुरुः ।
गुरुलक्ष्यसमायुक्ताः क्रिया योगस्य शोभनाः ॥ २ ॥
उपदेष्टुं निजं शिष्यं तदा नद्धं प्रतिज्ञया ।
कथितेयं महादीक्षा तन्त्रशास्त्रविशारदैः ॥ ३ ॥
गुरुलक्ष्यसमायुक्तसाधनेनेह साधकः ।
येन क्रमेण संसिद्धिं मन्त्रस्याप्नोति शर्म्मदाम् ॥ ४ ॥
तदेवाऽत्र महाधीभिः पुरश्चरणमीरितम् ।
ग्रहणादिशुभे काले रीत्या सामान्यया किल ॥ ५ ॥
क्रियते यो मन्त्रजपः तत्पुरश्चरणं मतम् ।
क्रियाविशेषसंसाध्या कालसाध्योपदेशतः ॥ ६ ॥
साध्या च या पुरश्चर्य्या सा महादिः प्रकीर्तिता ।
लब्ध्वा सिद्धिं पुरश्चर्य्याद्वारा साधक उन्नतः ॥ ७ ॥
अधिकारी यदा जातः सद्गुरोः कृपया तदा ।
योग्यं ज्ञात्वाऽऽनन्दराज्ये रहस्यमनुशास्ति तम् ॥ ८ ॥
एषोऽभिषेको विद्वद्भिस्तान्त्रिकैः परिकीर्तितः ।
पञ्चदेवात्मकाः पञ्च सम्प्रदाया श्रुताः त ॥ ९ ॥
श्रूयन्तेऽस्यैव नामानि तेषु नूनं पृथक् पृथक् ।
अत्युन्नतैस्तु संस्कारैः संस्कृतं साधकं गुरुः ॥ १० ॥
स्वस्मिन्यदा मेलयति स महादिः प्रकीर्तितः ।
आध्यात्मिकोन्नतिद्वारोच्चावस्थां प्राप्य साधकः ॥ ११ ॥

नामरूपैकताज्ञाने सामर्थ्यं लभते बहु ।
सर्वोत्तमाधिकारोऽयं बुधैस्तद्भाव ईर्यते ॥ १२ ॥
साधकोऽनेन भावेन स्वेष्टदेवैकतां दृढाम् ।
संस्थाप्याऽन्ते महाभावं लभते ब्रह्मविन्मतम् ॥ १३ ॥

SEVEN ADHIKĀRAS or RIGHTS

43. When showing favour a Guru instructs the Devatā and Mantra to the Śiṣya then that ritual is called Initiation (Dīkṣā) (1). After this, considering the Sādhaka as deserving, when the Guru starts iustructing the Yoga-kriyās embodying his aims along with practical procedures besides binding the Śiṣya with vows, then this second and higher right is called Mahādīkṣā (2). The procedure embodying the aims of the Guru with which the Sādhaka gradually attains Mantra-siddhi, is called Puraścaraṇa (3). That Puraścaraṇa which is done according to the ordinary procedures during auspicious occasions of Eclipses etc., is connoted by the word "Puraścaraṇa". And that Puraścaraṇa which is performed with special rites, at special times, and through instructions, is called "Mahāpuraścaraṇa". (4). With the attainment of Siddhis through Puraścaraṇa a Sādhaka qualifies for still higher rights. When the Guru considers a Śiṣya worthy of receiving secret instructions regarding procedures of Sādhanā, then revealing these secrets to the Śiṣya a Guru entitles him (Śiṣya) to the kingdom of bliss. This procedure is called Abhiṣeka (Consecration) (5). In the respective sects of the worship of Five Deities this Abhiṣeka has been given different names. When through most developed rituals the Guru,

making the Śiṣya like himself, assimilates him within himself then this is called Mahābhiṣeka (6) or Great Consecration. In some Tantras this is known as Pūrṇābhiṣeka (Complete Consecration). Through spiritual progress when a worshipper, achieving the highest state, becomes capable of obtaining the unity of name and form, then that best of all rights is called Tadbhāva (Becoming that) (7). Through this Bhāva the Sādhaka begins to manifest a unity with his Iṣṭa-Devatā, and through this very state he attains the Mahābhāva or the Samādhi of Mantra-yoga.

(धारणा-वर्णन)

४४. बाह्याऽभ्यन्तरभेदेन धारणाद्विविधा मता ।
सहायतां प्रकुरुते मन्त्रयोगे हि धारणा ॥ १ ॥
बाह्यवस्तुमनोयोगाद् बाह्य भवति धारणा ।
अन्तर्जगत्सूक्ष्मद्रव्ये मनोयोगान्मताऽपरा ।
श्रद्धायोगसमभ्यासात्स्फुटं सिध्यति धारणा ॥ २ ॥

DESCRIPTION OF DHĀRAṆĀ OR CONCENTRATION

44. With the differentiation of External and Internal, Dhāraṇā is of two kinds. Dhāraṇā is of extreme help in Mantra-yoga. Through Concentration of mind in external objects one attains the Bahirdhāraṇā (External Concentration), and through concentration of mind upon subtle-most objects of innermost world, one attains Antardhāraṇā (Internal Concentration). The perfect accomplishment of Dhāraṇā originates from faith and Yoga.

(धारणाऽधिकार वर्णन)

४५. धारणासिद्धिमासाद्य सिद्धिं वै ध्यानमन्त्रयोः ।
प्राप्नोति साधको नित्यं मन्त्रयोगपरायणः ॥ १ ॥
भक्तिर्जपस्य ससिद्धिराचारः प्राणसंयमः ।
साक्षात्कारो देवताया दिव्यदेशेषु नित्यशः ॥ २ ॥
देवशक्तिविकाशो वै हीष्टदर्शनमेव च ।
लभ्यन्ते धारणासिद्धया सर्वाणीति विनिश्चयः ॥ ३ ॥
स्थूलसूक्ष्मक्रिया या वै धारणासिद्धिलब्धये ।
विज्ञेया योगमर्मज्ञाद् गुरुदेवाद्यथाविधि ॥ ४ ॥

(DESCRIPTION OF RIGHTS OF DHĀRAṆĀ)

45. By a perfect accomplishment of Dhāraṇā a Yogi can achieve Mantra-sīddhi and Dhyāna-siddhi (accomplishment of Meditation). Bhakti, Ācāra, Prāṇa-saṁyama (control of vital breaths), Japa-siddhi, Devatā-sānnidhya (proximity with the Deity), manifestation of Divine power in Divyadeśa, etc., and the vision of Iṣṭa-devatā, are all obtainable only through the perfect accomplishment of Dhāraṇā. There are various gross and subtle practices for the accomplishment of Dhāraṇā, which should be poperly learnt from a Guru.

(मन्त्रों के दस संस्कार)

४६. जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा ।
अथाऽभिषेको विमलीकरणाऽऽप्यायने पुनः ॥ १ ॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ।
मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥ २ ॥

स्वर्णादि पात्रे संलेख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम् ।
कश्मीरचन्दनेनाऽपि भस्मना वाऽथ सुव्रते ॥ ३ ॥
काश्मीरं शक्तिसञ्चारे चन्दनं वैष्णवे मनौ ।
शैवे भस्म समाख्यातं मातृकायन्त्रलेखने ॥ ४ ॥
मन्त्रोष्टदलपद्मो हि कार्यः पूर्वं यथाविधि ।
कादिमान्ताः पञ्चवर्गा दिक्षु पूर्वादितो न्यसेत् ॥ ५ ॥
योदिवान्ताः शादिहान्ता लक्ष्मीशे प्रविन्यसेत् ।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं दिक्षु वं ठं विदिक्षु च ॥ ६ ॥

(अपिच)

व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वै स्फुरत्केसरम् ।
वर्गोल्लासिवसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम् ॥ १ ॥
पंङ्क्तिक्रमेण विधिना जननं वै विधीयते ॥ २ ॥
प्रणवाऽन्तरितान्कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत्सुधीः ।
प्रत्येकं शतवारं तु जीवनं तदुदीरितम् ॥ ३ ॥
मन्त्रवर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाऽम्भसा ।
प्रत्येकं वायुबीजेन पूर्ववत्ताडनं मतम् ॥ ४ ॥
विलिख्य मन्त्रवर्णांस्तु प्रसूनैः करवीरजैः ।
तन्मन्त्रवर्णसङ्ख्याकैर्हन्याद्रेफेण बोधनम् ॥ ५ ॥
विलिख्याऽक्षरसंख्यातैरक्तपुष्पहयाऽरिभिः ।
मन्त्रवर्णान्वह्निनैकमभिमन्त्र्य सकृत्सकृत् ॥ ६ ॥
तत्तन्मन्त्रोक्त विधिनाऽभिषेकस्तु प्रकीर्त्तितः ।
अश्वत्थपल्लवैःसिञ्चेन्मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया ॥ ७ ॥
सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं सुषुम्नामूलमध्यतः ।
ज्योतिर्मन्त्रेण विधिवद्दहेन्मलत्रयं यती ॥ ८ ॥

तारं व्योमाऽग्निमनुयुग्दण्डी ज्योतिर्मनुर्मतः ।
स्वर्णेन कुशतोयने पुष्पतोयने वा तथा ॥ ९ ॥
तेन मन्त्रेण विधिवदाप्यायनविधिः स्मृतः ॥ १० ॥
मन्त्रेणवारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं मतम् ।
मधुना शक्तिमन्त्रेषु वैष्णवे चेन्दुमज्जलैः ॥ ११ ॥
शैवेघृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम् ॥ १२ ॥
तारमायारमायोगो मनोर्दीपनमुच्यते ।
जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम् ॥ १३ ॥
संस्कारा दशसम्प्रोक्ताः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः ।
मान् कृत्वा सम्प्रदायेन मन्त्री वाञ्छितमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

TEN SAṀSKĀRAS (RITUALS) OF MANTRA

46. Janana, Jīvana, Tāḍana, Bodhana, Abhiṣeka, Vimalīkaraṇa, Āpyāyana, Tarpaṇa, Dīpana, and Gupti are the ten rituals through which a Mantra is made efficacious. Extrication of the letters of Mantra through Matṛkā-yantra is called Janana. A Mātṛkā-yantra is drawn by Kesara (filaments of a flower, of the plants Rottleria Tinctoria, Mimusops Elengi, and Meusa ferrea), Candana (Sandal, Sirium myrtifolium), or Bhasma (ash) on a plate of Gold, etc. Drawing this Yantra with Kesara in Śakti-worship, with Candana in Viṣṇu-worship, and with Bhasma in Śiva-worship is specially useful.

Procedure for drawing a Mātṛka-Yantra : After drawing an eight petalled lotus, eight set of letters (Aṣṭavarga) should be entered in their order in these eight petals. Outside the lotus, drawing four gates and four angles, the lotus should be enclosed. On the four

corners of Yantra the Mantra "Ṭhaṁ" and on the gates Mantra "Baṁ" should be written. Vyoma or Hakāra, Indu or Sakāra, Aukāra, Rasanārṇa or Visarga—all these combined in the form of "Hsyauḥ" (ह्स्यौः) Mantra should then be placed in the pericarp of the lotus. Then, with two vowels in each the eight filaments of the lotus should be completed—entering two vowels in each, and then these filaments should be enclosed by a circle.

MĀTṚKĀ-YANTRA
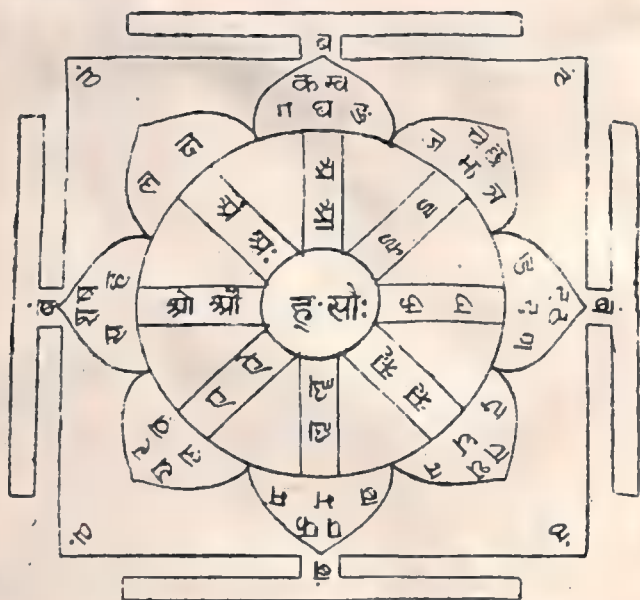
When the letters quoted by the Mātṛkā-yantra in the aforesaid manner, are written in a line their respective order, and when a 100 or less Japa is performed of each letter affixed with Praṇava, then this is called Jīvana.

Writing each letter of the Mantra separately, when they are individually struck with Sandal-water accompanied by Baṁ Mantra then this ritual is called, by the sages, Tāḍana.

Writing the letters of Mantra separately when according to the numbers of the letters of Mantra the letters are beaten with flowers of red oleander (Nerium Odorum) with the accompaniment of Raṁ Mantra the ritual is called Bodhana.

Writing the letters of Mantra when according to the number of letters of Mantra each letter is consecrated by red oleander flowers accompanied by Raṁ Mantra, and after that according to the number of letters of the Mantra the letters are again bathed with a leaf of Aśvattha (Ficus Religiosa) then the ritual is called Abhiṣeka.

Contemplating the Mantra in the root-part and mid-part of Suṣumnā (Spinal cord) when the three impurities are burnt with "Oṁ Hrauṁ" Mantra the ritual is called Vimalīkaraṇa. (The impurity which is produced in women is called "Māyika", that produced in men is called "Karmaṇā" and that produced by the interaction of both is called "Ānavya". These three impurities are obstacles in Sādhanā.)[1]. Tārā = Oṁ; Vyoma = Ha; Agni = Ra; Manu = Au; and Daṇd = M; All these combine to make "Om Hrauṁ" which is called 'Jyotirmantra'. With accompaniment of

1. Malatraya :—

आनव्यं कार्मणं मायिकं चेति मलत्रयम् ।
मायिको नाम योषोत्थं पौरुषं कार्मणं मलम् ।
आनव्यं तद्द्वयं प्रोक्तं निषिद्धं तन्मलत्रयम् ॥

the Jyotirmantra (Om Hrauṁ) when the letters of a Mantra are satiated properly in Gold water or Kusa (Poa Cynosuroides) water or flower water the ritual is called "Apyāyana". Offering libations of water to the Mantra with the accompaniment of the aforesaid Mantra (Jyotirmantra) is called Tarpaṇā. The Śāstras have laid down that Tarpaṇa of a Śakti-mantra is done with honey, a Viṣṇu-mantra with Camphor mixed water, and Śiva-mantra with milk.

Tārā = Om; Māyā = Hrīm; and Rāma = Śrīṁ—That is when illumination of a Mantra is performed with "Om Hrīṁ Śrīṁ" the ritual is called "Dīpana". And keeping that Mantra as extra-secret with which Japa is being performed is designated with the ritual "Gupti".

These are the Ten Saṁskāras of Mantras which are held very secret in the Tantras. According to one's respective sect the Mantrin performing Japa of a Mantra purified by these ten Saṁskāras, obtains the desired fruit.

अथ दिव्यदेश वर्णनम्

४७. यथा गवां सर्वशरीरजं पयः
पयोधरान्निःसरतीह केवलम् ।
तथा परमात्माऽखिलगोऽपिशाश्वतो
विकाशमाप्नोति स दिव्यदेशकैः ॥ १ ॥
तन्त्रेषु दिव्यदेशाः षोडशा प्रोक्ता यथाऽत्र कथ्यन्ते ।
अग्न्यम्बुलिङ्गवेद्यो भित्तौरेखा तथा च चित्रं च ॥ २ ॥
मण्डलविशिखौ नित्ययन्त्रं पीठं च भावयन्त्रं च ।
मूर्तिर्विभूतिनाभी हृदयं मूर्धा च षोडशैतेस्युः ॥ ३ ॥

यथाधिकारं लभते दिव्यदेशेह्युपासनाम् ।
योगसिद्ध्युपलब्धौ हि सहकारितया मता ॥ ४ ॥
धारणासहकारेण दिव्यदेशे प्रकाशते ।
इष्टदेवो मन्त्रयोगे दिव्यदेशो हितप्रदः ॥ ५ ॥
वेदेषु तन्त्रशास्त्रेषु दिव्यदेशस्य वर्णना ।
भेदश्च वर्णितो विज्ञैर्विस्तरेण महात्मभिः ॥ ६ ॥
कुर्यादावाहनं मूर्तौ मृण्मयादौ सदैव हि ।
प्रतिमायां जले वह्नौ नावाहनविसर्जनं ॥ ७ ॥

DESCRIPTION OF DIVYADEŚA

47. Just as milk pervading the entire body of a cow comes out only through her udder, so also the Supreme Ātmā, though all-pervasive, develops only in the Divya-deśas (divine places). Tantras enumerate sixteen Divya-deśas, viz., Vahni, Ambu, Liṅga, Sthaṇḍila, Kuṇḍya, Paṭa, Maṇḍala Viśikha, Nitya-yantra, Bhāva-yantra, Pīṭha, Vigraha, Vibhūti, Nābhi, Hṛdaya, and Mūrdhā. A Sādhaka is instructed to worship in any of these Divya-deśas according to his qualifications. All these are extremely helpful in obtaining Yoga-siddhi. With the help of Dhāraṇā the Iṣṭadevatā manifests in the Divya-deśas. Divya-deśa-sevana is extremely beneficial in Mantrayoga. Detailed descriptions and the kinds of Divyadeśas have been variously given in the Vedas and Tantras. It is proper to start worship only after first invocating the Deity in earthen (etc.) idols. But invocation and discharge is not needed in case of a consecrated idol, in Agni purified with rituals, and in water.

अथ प्राणक्रिया वर्णनम्

४८. मनः प्राणा मरुच्चैतेऽभेदसम्बन्धयोगिनः ।
कार्यकारणरूपत्वं वायोः प्राणस्य चेष्यते ॥ १ ॥
अतः प्राणक्रियायोगयुक्ता न्यासाः प्रकीर्त्तिताः ।
प्राणायामस्य भेदा वै वर्णिता हठयोगिभिः ॥ २ ॥
मन्त्रयोगेऽपि सहितः प्राणायामो विधीयते ॥ ३ ॥
मन्त्रयोगे तथा केचिदाचार्या वै प्रचक्षते ।
प्राणायामो हि सहजः सर्वलोकहितप्रदः ॥ ४ ॥
न्यासा यद्यपि बहवः परं तत्र प्रधानता ।
सप्तानां ते तु विज्ञेया गुरुदेवोपदेशतः ॥ ५ ॥
साधारणोपासनायां करन्यासाङ्गन्यासकौ ।
उपकारितया प्रोक्तौ विस्तरोपासनासु तु ।
ऋष्यादिमातृकान्यासो ह्यनुष्ठेयतया मतः ॥ ६ ॥
दिग्दर्शनार्थं न्यासस्य प्राणायामस्य चैव हि ।
विन्यस्यतेऽवबोधाय तथोदाहरणं स्फुटम् ॥ ७ ॥

PRĀṆA–KRIYĀ

48. Mana, Prāṇa and Vāyu—all these three are bound into one relationship. Vāyu and Prāṇa are of the nature of Cause and Effect and therefore the Nyāsa has an unitary relationship with Prāṇāyāma. Detailed varieties of Prāṇāyāma have been given by Ācaryas of Haṭha-yoga. In Mantra-yoga also the Sahita-Prāṇāyāma has been adopted which is exteremely beneficial. Some Ācaryas have also advocated the Sahaja-Prāṇāyāma.

Nyāsa is of many kinds, but out of these only seven are considered important and they may be learnt from the Guru according to one's qualifications. In ordinary worship Kara-nyāsa and Aṅga-nyāsa only are useful.

In elaborate worship, however, Ṛṣi-nyāsa and Mātṛkā-nyāsa should always be performed. The examples of these are being given below.

(प्राणायामवर्णनम्)

४९. यदा प्राणं समारोप्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
प्रणवेन सुसंयुक्तां व्याहृतिभिश्च संयुताम् ॥ ८ ॥
गायत्रीं च जपेद्विप्रः प्राणसंयमने त्रयम् ।
पुनश्चैवं त्रिभिः कुर्यात् पुनश्चैवं त्रिसन्धिषु ॥ ९ ॥

DESCRIPTION OF PRĀṆĀYĀMA

49. Withdrawing the Prāṇa from external objects of senses, it should be filled in the stomach. Then the Sādhaka should perform three times the Japa of Gāyatri-mantra associated with Praṇava and Vyāhṛti. And then again, performing Japa of Gāyatri-mantra thrice in each of the Sandhis (joints), he should complete the Prāṇāyāma.

(वाह्यमातृकान्यासः)

५०. ललाटेऽनामिकामध्ये विन्यसेन्मुखपङ्कजे ।
तर्जनीमध्यमानामा वृद्धानामे च नेत्रयोः ॥ १० ॥
अङ्गुष्ठं कर्णयोर्न्यस्य कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ नसोः ।
मध्यास्त्रिस्रो गण्डयोस्तु मध्यमाश्चोष्ठयोर्न्यसेत् ॥ ११ ॥
अनामां दन्तयोर्न्यस्य मध्यमामुत्तमाङ्गके ।
मुखेऽनामां मध्यमाश्च हस्तपादेषु पार्श्वयोः ॥ ११ ॥
कनिष्ठानामिकामध्यास्तास्तु पृष्ठे च विन्यसेत् ।
ताः साङ्गुष्ठा नाभिदेशे सर्वाः कुक्षौ च विन्यसेत् ॥ १३ ॥
हृदये च तलं सर्वमसयोश्च ककुत् स्थले ।
हृत्पूर्वं हस्तपत्कुक्षिमुखेषु तलमेव च ॥ १४ ॥

एतास्तु मातृकामुद्राः क्रमेण परिकीर्तिताः ।
आज्ञात्वा विन्यसेद्यस्तु न्यासः स्यात्तस्य निष्फलः ॥१५॥
ललाटे मुखनेत्रे च श्रुतिघ्राणे च गण्डयोः ।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्यदोः पत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥ १६ ॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ जठरे हृदयेंऽसके ।
ककुद्यंसे च हृत्पूर्वं पाणिपादयुगे तथा ॥
जठराननयोर्न्यस्येन्मातृकार्णान् यथाक्रमात् ॥ १७ ॥
ओमाद्यन्तो नमोऽन्तो वा सबिन्दुर्बिन्दुवर्जितः ॥
पञ्चाशद्वर्णविन्यासः क्रमादुक्तो मनीषिभिः ॥ १८ ॥

BĀHYA–MĀTṚKĀ–NYĀSA

50. One should perform Nyāsa (placing the tips of the fingers and palm of the right hand on various parts of the body accompanied by particular Mantras), in the forehead with ring-finger (Anāmikā) and middle finger (Madhyamā); in the mouth with the fore-finger (Tarjanī), middlefinger and ring finger; in the eyes with the thumb and ring finger; in the two ears with the thumb; in the two nostrils with the thumb and the little finger; on the cheeks with the fore, middle and ring fingers; on the two lips with middle finger; in the two rows of teeth with ring finger; on the Uttamāṅga (the head) with middle finger; inside the mouth with the ring and middle fingers; on the hands, legs and the two sides with little, ring and middle fingers; on the back with little, ring and middle fingers; in the navel with the little, ring and middle fingers and thumb; on the stomach with all the fingers; and in the Antaḥkaraṇa, two shoulders and Kakud (hump

portion) with the palm. From heart to hands, from heart to legs, from heart to the belly, and from heart to mouth it is proper to perform Nyāsa with palm. These Mātṛkā-Mudrās have been laid down in a sequence. The Nyasa of a person, who does not know this, becomes fruitless.

Forehead, face, both eyes, both ears, both nostrils, both cheeks, both lips, both the rows of teeth, head, mouth, joints of arms and feet, fore legs and fore arms, both sides, back, navel, belly, heart, right shoulder, space between the shoulders on the back of the neck (Kakuda-sthāna), léft shoulder, from heart to hands, from heart to legs, from heart to belly, and from heart to mouth—all these are the organs of the body where one has to perform Nyāsa of the Mātṛkās (Fifty letters of the Sanskrit alphabet) with order of enumeration of these organs. The sages have laid down that Nyāsa should be performed with the fifty letters putting Praṇava at the beginning and Namaḥ at the end of each letter pronounced either with Bindu or without Bindu.

(मातृकान्यासः)

५१. मातृकां शृणु देवेशि न्यसेत् पापनिकृन्तनीम् ।
ऋषिर्ब्रह्मास्य मन्त्रास्य गायत्रीछन्द उच्यते ॥ १९ ॥
देवता मातृकादेवी बीजं व्यञ्जनमुच्यते ।
शक्त्यस्तु स्वरा देवि ! षडङ्गन्यासमाचरेत् ॥ २० ॥
अं आं मध्ये कवर्गान्तु इं ईं मध्ये चवर्गकम् ।
उं ऊं मध्ये टवर्गन्तु एं ऐं मध्ये तवर्गकम् ॥ २१ ॥
ओं औं मध्ये पवर्गन्तु, विन्दुयुक्तं न्यसेत् प्रिये ॥ २२ ॥

अनुस्वाराद्विसर्गान्तौ यशवर्गौ सलक्षकौ ।
हृदयश्च शिरो देवि शिखा कवचकं तथा ॥ २३ ॥
नेत्रमस्त्रं न्यसेन् ङेन्तं नमः स्वाहा क्रमेण तु ।
वषट् हुँ वौषडन्तश्च फडन्तं योजयेत् प्रिये ॥ २४ ॥
षडङ्गोऽयं मातृकायाः सर्वपापहरः स्मृतः ।
एकैकवर्णमुच्चार्य मूलाधाराच्छिरोऽन्तकम् ॥ २५ ॥
नमोऽन्त इति विन्यास आन्तरः परिकीर्त्तितः

अथान्तर्मातृकान्यासो मूलाधारे चतुर्दले ।
सुवर्णाभे वशषसचतुर्वर्णविभूषिते ॥ २६ ॥
षड्दले वैद्युतनिभे स्वाधिष्ठानेऽनलत्विषि ।
वभैर्मैर्यरलैर्युक्ते वर्णैः षड्भिश्च सुव्रते ॥ २७ ॥
मणिपूरे दशदले नीलजीमूतसन्निभे ।
डादिफान्तदलैर्युक्ते बिन्दूद्भासितमस्तकैः ॥ २८ ॥
अनाहते द्वादशारे प्रवालरुचिसन्निभे ।
कादिठान्तदलैर्युक्ते योगिनां हृदयङ्गमे ॥ २९ ॥
विशुद्धे षोडशदले धूम्राभे स्वरभूषिते ।
आज्ञाचक्रे तु चन्द्राभे द्विदले हक्षलाञ्छिते ॥ ३० ॥
सहस्रारे हिमनिभे सर्ववर्णविभूषिते ।
अकथादित्रिरेखात्महलक्षत्रयभूषिते ॥ ३१ ॥
तन्मध्ये परबिन्दुश्च सृष्टिस्थितिलयात्मकम् ।
एवं समाहितमना ध्यायेन्न्यासोऽयमान्तरः ॥ ३२ ॥

MĀTṚKĀ–NYĀSA

51. Śiva says: "O Devi: listen to Mātṛkā-nyāsa. All the sins are destroyed by performing these Mātṛkā-nyāsas. The Ṛṣi of the Mātṛkā Mantra is Brahmā; its

Chanda is Gāyatrī; its Devatā is Mātṛkā Devī; its seeds (Bījas) are the consonants and all the vowels are its Śakti. The procedure is to perform Ṣadaṅga-nyāsa (placing Mātṛkās on six limbs or organs of body) after pronouncing the said Mātṛkās. Taking Aṁ, Āṁ, and placing between them the letters of 'Kavarga' with Bindus; taking Iṁ, Īṁ and placing between them the letters of 'Cavarga' with Bindus; taking Uṁ Ūṁ and placing between them the letters of 'Ṭavarga' with Bindus; taking Eṁ, Aiṁ and placing between them the letters of 'Tavarga' with Bindus; taking Oṁ, Auṁ and placing between them the letters of 'Pavarga' with Bindus; and taking Ṁ, Aḥ and placing between them letters of Yavarga, Savarga, La, and Kṣa with Bindus; one should then put the words Hṛdaya, Sira, Śikhā, Kavaca, Netra, and Astra in their Caturthī form (fourth case), respectively after each of the sets of letters specified; and then again, after each set so formed the words Namaḥ, Svāhā, Vaṣaṭa, Huṁ, Vauṣaṭ, and Phaṭ should be placed respectively. Now, Nyāsa of each organ of the body (viz. heart head, crownlock, Kavaca, eyes, and front and back of the palm) is performed by pronouncing the respective set of Mantras formed in the above manner. This Ṣnḍaṅga-Nyāsa destroys the sins of the Sādhaka. Pronouncing each letter with Bindu and placing word Namaḥ at its end (for example Kaṁ Namaḥ, etc.) when Nyāsa is performed from Mūlādhāra upwards it is called Antarmātṛkā-nyāsa. For example, one should form the mental disposition of Mūlādhāra Cakra as golden and four-petalled containing the letters Va. Śa, Ṣa, and Sa,

each with Bindu (viz. Vaṁ, Śaṁ, Ṣaṁ, Saṁ, etc.); of Svādhiṣṭhāna Cakra as bright and brilliant like lightning and Agni, of six petals embelished with the letters Ba, Bha, Ma, Ya, Ra, La, each with Bindu; of Maṇipūra Cakra like blue clouds with ten petalled lotus embelished with Ḍa, Ḍha, Ṇa, Ta, Tha, Da, Dha, Na, Pa, Pha, each with Bindu; of Anāhata Cakra situated in the heart of Yogis brilliant like Pravāla (coral gem), twelve-petalled containing the letters Ka, Kha, Ga, Gha, Ṅa, Ca, Cha, Ja, Jha, Ña, Ṭa, Ṭha, each with Bindu; of Viśuddhi Cakra of smoky brilliance with sixteen vowels, each with Bindu; of Ājñā Cakra brilliant like Moon, with two petals, containing the letters Ha and Kṣa each with Bindu; and of Sahasrāra Cakra of snow-white brilliance, with thousand petals containing all the letters, and the three letters Ha, La, Kṣa with Bindu, situated on the three Akathādi lines. In the middle of this, one should contemplate with composed mind the Parabindu (Paraṁ Siva) who is the cause of all Creation and Dissolution.

(ऋष्यादिन्यास)

५२. महेश्वरमुखाज ज्ञात्वा यः साक्षात् तयसा मनुं ।
संसाधयति शुद्धात्मा स तस्य ऋषिरीरितः ॥
गुरुत्वान्मस्तके चाऽस्य न्यासस्तु परिकीर्तितः ॥ ३३ ॥
सर्वेषां मन्त्रतत्त्वानां छादनाच्छन्द उच्यते ।
अक्षरत्वात्पदत्वाच्चमुखे छन्दः समीरितम् ॥ ३४ ॥
सत्वेषामेव जन्तूनां भाषणात्प्रेरणात्तथा ।
हृदयाम्भोजमध्यस्था देवता तत्र तां न्यसेत् ॥ ३५ ॥

ऋषिश्छन्दोऽपरिज्ञानान्न मन्त्रफलभाग् भवेत् ॥
दौर्बल्यं याति मन्त्राणां विनियोगमजानताम् ॥ ३६ ॥
ऋषिं न्यसेन्मूर्ध्नि देशे छन्दस्तु मुखपङ्कजे ।
देवतां हृदये चैव बीजं तु गुह्यदेशके ।
शक्तिश्च पादयोश्चैव सर्वाङ्गे कीलकं न्यसेत् ॥ ३७ ॥

ṚṢI–NYĀSA

52. One who performs Sādhanā after learning the Mantras through austerities from the mouth of Lord Maheśvara, only that pure hearted is supposed to be the Ṛṣi of that Mantra. Due to his superiority Ṛṣi's Nyāsa is performed on the head. That which covers all the Mantra-essences is called Chanda. The Nyāsa of Chanda should be performed in the mouth, because Chanda is of the nature of spoken letters and words. Nyāsa of the Deity who, situated in the lotus of hearts of all the men, motivates all men to speak, should be performed in the heart-lotus. A Mantra is never fruitful when one does not know the Ṛṣi and Chanda. The power of Mantras decreases when one does not know their Viniyoga (application).

The Nyāsa of Ṛṣi should be performed in the head, of Chanda in the mouth, of the Deity in the heart; of the Bīja in the hidden part (that is, Anus), of Śakti in the feet; and of Kīlaka (that is, that which comes at the end or closes) in the whole body.

(मुद्रा वर्णन)

५३. मोदनात् सर्वदेवानां द्रावणात् पापसन्ततेः ।
तस्मान्मुद्रेति विख्याता मुनिभिस्तंत्रवेदिभिः ॥ १ ॥

अथ मुद्राः प्रवक्ष्यामि सर्वतन्त्रेषुकल्पिताः ।
याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्रदेवता ॥ २ ॥
अर्चने जपकाले च ध्याने काम्ये च कर्मणि ।
स्नाने चाऽऽवाहने शङ्खे प्रतिष्ठायां च रक्षणे ॥ ३ ॥
नैवेद्ये च तथान्यत्र तत्तत्कल्पप्रकाशिते ।
स्थाने मुद्रा प्रद्रष्टव्याः स्वस्वलक्षणलक्षिताः ॥ ४ ॥
आवाहन्यादिका मुद्रा नव साधारणी मता ।
तथा षडंगमुद्राश्च सर्वमन्त्रेषु योजयेत् ॥ ५ ॥
एकोनविंशतिर्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः ।
शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-वेणु-श्रीवत्स-कौस्तुभाः ॥ ६ ॥
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा बिल्वाऽऽह्वया तथा ।
गरुडाख्या परा मुद्रा विष्णोः सन्तोषवर्धिनी ॥ ७ ॥
नारसिंही च वाराही हायग्रीवी धनुस्तथा ।
बाणमुद्रा च परशुर्जगन्मोहनिका परा ॥ ८ ॥
काममुद्रा पराख्याता शिवस्य दश मुद्रिकाः ।
लिङ्गयोनित्रिशूलाख्या मालेष्टाभीमृगाऽऽह्वयाः ॥ ९ ॥
खट्वाङ्गा च कपालाख्या डमरुः शिवतोषदाः ।
सूर्यस्यैकैव पद्माख्या सप्त मुद्रा गणेशितुः ॥ १० ॥
दन्तपाशाङ्कुशा विघ्नपरशुलज्जुसंज्ञिताः ।
बीजपूराऽऽह्वया मुद्रा ज्ञेया विघ्नेषपूजने ॥ ११ ॥
पाशांकुशवराभीतिखड्गचर्मधनुः शरा ।
मौशली मुद्रिका दौर्गी मुद्राः शक्ते प्रियंकराः ॥ १२ ॥
लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्या वाग्वादिन्याश्च पूजने ।
अक्षमाला तथा वीणा व्याख्या पुस्तकमुद्रिकाः ॥ १३ ॥

सप्तजिह्वाऽऽह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्निपूजने ।
मत्स्यमुद्रा च कूर्माख्या लेलिहा मुण्डसंज्ञिका ॥ १४ ॥
महायोनिरितिख्याता सर्वसिद्धिसमृद्धिदा ।
शक्त्यर्चने महायोनिः श्यामादौ मुण्डमुद्रिका ॥ १५ ॥
मत्स्यकूर्मलेलिहाख्या मुद्रा साधारणी मता ।
तारार्चने विशेषास्तु कथ्यन्ते पञ्च मुद्रिका ॥ १६ ॥
योनिश्च भूतिनी चैव बीजाख्या दैत्यधूमिनी ।
लेलिहानेति संप्रोक्ताः पञ्चमुद्रा प्रकाशिताः ॥ १७ ॥
दशका मुद्रिका ज्ञेयास्त्रिपुरायाः प्रपूजने ।
संक्षोभद्रावणाकर्षवश्योन्मादमहाङ्कुशाः ॥ १८ ॥
खेचरी बीजयोन्याख्याः त्रिखण्डाः परिकीर्त्तिता ।
कुम्भमुद्राभिषेके स्यात् पद्ममुद्रासने तथा ॥ १९ ॥
कालकर्णी प्रयोक्तव्या विघ्नप्रशमकर्मणि ।
गालिनी च प्रयोक्तव्या जलशोधनकर्मणि ॥ २० ॥
श्रीगोपालार्चने वेणुर्नृहरेर्नारसिंहिका ।
वराहस्य च पूजायां वराहाख्यां प्रयोजयेत् ॥ २१ ॥
हयग्रीवार्चने चैव हायग्रीवीं प्रदर्शयेत् ।
रामार्चने धनुर्बाणमुद्रे पर्शुस्तथाऽर्चने ॥ २२ ॥
परशुरामस्य विज्ञेया जगन्मोहनसंज्ञिका ।
वासुदेवाऽऽह्वया ध्याने कुन्तमुद्रा तु रक्षणे ॥
सर्वत्र प्रार्थने चैव प्रार्थनाख्यां प्रयोजयेत् ॥ २३ ॥
यथाधिकारं शिक्षेयुः साम्प्रदायिकसाधकाः ।
गुरोर्मुद्रालक्षणानि तान्त्रिकैर्वर्णितानि वै ॥ २४ ॥

देवदेवी प्रसादाय बह्वयो मुद्राः प्रदर्शिताः ।
या वर्णिताः पद्धतिषु तासु तासु मनीषिभिः ।
मुद्राश्च कथिताः पञ्चोपासनस्यानुसारतः ॥ २५ ॥
यथा देवप्रसादाय मुद्राभेदा निरूपिताः ।
तथर्षिप्रीणनार्थाय मुद्रा काचिन्निगद्यते ॥ २६ ॥
ज्ञानमुद्रा भक्तिमुद्रा कर्ममुद्रा तथैव च ।
तपोमुद्रा दानमुद्रा ऋषीणां तुष्टिकारिकाः ॥ २७ ॥
मुद्रावरा अभयदा प्रीणयन्ति जगत्त्रयम् ।
देवर्षींश्च पितृंश्चापि कस्य स्यादत्र संशयः ॥ २८ ॥

DESCRIPTION OF MUDRĀS

53. Pleasure of the Deities is increased through the Mudrās and Mudrās also destroy the sins of the Sādhaka. This is the reason sages adept in Tantras have named them as Mudrā. The God of Gods, Mahādeva, says that he will now describe the Mudrās which have been incorporated in all the Tantras and the practice of which at the time of worshipping a Deity pleases the Deity of the Mantra. In worship, in Japa, in Concentrations, in Kāmya Karma (rites done to effect particular objects), at the time of bathing, at the time of invocation, in the consecration of Śaṅkha, in the life-giving (Prāṇa-pratiṣṭhā) of an Idol, in protection, in offering to a Deity and in various rites montioned in the Kalpas, the Mudrās be properly performed in accordance with the qualities of the respective rites. The nine kinds of Invocational etc., Mudrās are supposed to be general in nature. The Ṣaḍaṅga Mudrās are also useful for all purposes. The

erudites have specified nineteen Mudrās for the worship of Viṣṇu. Śaṅkha, Cakra, Gadā, Padma, Veṇu, Śrīvatsa, Kaustubha, Vanamālā, Jñāna, Bilva, Garuḍa, Nārasiṁhī, Vārāhī, Hayagrīvī, Dhanuṣ, Bāṇa, Paraśu, Jaganmohanikā, and Kāma are the name of nineteen Mudrās with which Lord Viṣṇu derives pleasure. Liṅga, Yoni, Triśūla, Mālā, Vara, Abhaya, Mṛga, Khaṭvāṅga, Kapāla, and Damaru are the ten Mudrās which please Mahādeva. For the worship of Sūrya only one, Padma mudrā, has been prescribed. Danta, Pāśa, Aṁkuśa, Vighna, Parśu Laḍḍūka, and Bījāpura are the seven Mudrās prescribed for the worship of Gaṇeśa. Pāśa, Aṁkuśa, Vara, Abhaya, Khaḍga, Carma, Dhanu, Śara, and Musala are the nine Mudrās loved by Durgā, and these should be used particularly for the worship of all kinds of Śakti. Lakṣmī Mudrā for the worship of Lakṣamī, and Akṣamāla, Viṇā, Vyākhyā and Pustaka Mudrās have been specified for the worship of Sarasvatī. The Mudrās named Saptajihvā are famous for the worship of Agni. Matsya, Kūrma Lelihā, Muṇḍa, and Mahāyoni are the Mudrās which bestow all kinds of wealth and properities. The Mahāyoni Mudra is used for the worship of Śakti Goddess; Muṇḍa Mudrā is used for the worship of Śyāma, etc., and Matsya, Kūrma, and Lelihā Mudrās are used for general worship. Yoni, Bhūtinī, Bīja, Daityadhūminī, and Lelihānā are the five Mudrās specially specified for the worship of Goddess Tārā. The ten Mudrās specified for the worship of Tripurā-Sundarī are Kṣobhinī, Drāviṇī, Ākarṣiṇī, Vaśya, Unmādinī, Mahāṁkuśā, Khecarī, Bīja, Yoni, and Trikhaṇḍa. Kumbha Mudrā is speci-

fied for the consecrational rites; Padma Mudrā is specified for Āsana; Kālakarṇī Mudrā is specified for rites connected with suppression of disturbances; and Galinī Mudrā is specified for purification of water. Veṇu Mudrā is specified for the worship of Gopāla, and Nārsiṁhī for the worship of Nṛsiṁha. In the worship of Varāha the Vārāhī and in the worship of Hayagrīva the Hayagrīvī Mudrās should be exhibited. For the worship of Śri Rāma the Dhanuṣ and Bāṇa Mudrās have been considered proper. The Mudrās specified for the worship of Paraśurama are Parśu and Sammohinī. For the invocational rites the Vāsudeva; for the preservational rites the Kumbha, and for prayer the Prārthanā Mudrās should be performed. According to their rights and qualification the Sādhakas of all the five sects should learn the respective Mudrās from their Gurus. The detailed characteristics of all the Mudrās are given in the Tantras. There are various Mudrās which please the Deities and the descriptions obtainable from different worshipping procedures. Here only names, and that too of only a few Mudras have been described in accordance with the worship of Five Deities. Just as the names of such Mudrās have been enumerated which please the various Devas and Devis, so are being described the various Mudrās which please the Ṛṣis. Jñānamudrā, Bhaktimudrā, Tapomudrā, Karmamudrā, and Dānamudrā are such which please the sages (Ṛṣis). Vara Mudrā and Abhaya Mudrā are those with which the Ṛṣis, Deities, Pitṛs and the inhabitants of the three worlds are pleased.

अथ तर्पणवर्णनम्

५४. तर्पणाद्देवताप्रीतिस्त्वरितं जायते यतः ।
अतस्तत्तर्पणं प्रोक्तं तर्पणत्वे न योगिभिः ॥ १ ॥
सकामनिष्कामतया द्विभेदं तर्पणं मतम् ।
सकामतर्पणद्रव्यं भिन्नं निर्दिश्यते बुधैः ॥ २ ॥
तर्पणं मन्त्रयोगस्य मुख्यमङ्गं निरूपितम् ।
इष्टान सन्तर्प्य प्रथमं देवर्षिपितरस्तथा ॥
सन्तर्प्याश्चैव गदितस्तर्पणस्य विधिः शुभः ॥ ३ ॥
माहात्म्यश्चास्य भवति विधिना तर्पितेन यत् ।
न पितृदेवभूतानां यज्ञानुष्ठानमिष्यते ॥ ४ ॥
अनिशं तर्पणं कार्यमात्मश्रेयोऽभिलाषुकैः ।
तूर्णं हि स्वेष्टदेवस्य वाञ्छद्भिश्च प्रसादनाम् ॥ ५ ॥
मधुना तर्पणं कुर्यात् सर्वकामप्रपूरकम् ।
मन्त्रसिद्धिकरं साक्षान् महापातकनाशनम् ॥ ६ ॥
कर्पूरमिश्रितैस्तोयैर्मासमात्रं हि तर्पयेत् ॥
वशीकृत्य नृपान् सर्वान् भोगी स्याज्जीवनाऽवधि ॥ ७ ॥
घृतैः पूर्णायुषः सिद्ध्यै दुग्धैरारोग्यसिद्धये ।
अगुरुमिश्रितैस्तोयैः सर्वकालं सुखी भवेत् ॥ ८ ॥
नारिकेलोदकैर्मिश्रैस्तोयैः सर्वार्थसिद्धये ।
मरीचमिश्रितैस्तोयैस्तथा शत्रून् विनाशयेत् ॥ ९ ॥
केवलैरुष्णतोयैश्च शत्रुमुच्चाटयेत् क्षणात् ।
ज्वराक्रान्तो भवेच्छत्रुर्दुग्धसेजात् समंततः ॥ ०१ ॥
शताभिजप्रमात्रेण रोचनातिलकं नरः ।
कृत्वा पश्यति यं मन्त्री तं कुर्याद्दासवत् सुधीः ॥ ११ ॥

DESCRIPTION OF TARPAṆA

54. As the Deities are soon pleased by Tarpaṇa (Satiating, refreshing especially the Goda and deceased persons, by presenting to them libations of water), therefore it (Tarpaṇa)[1] has been so named. In accordance with the objects of desire and desirelessness, the Tarpaṇa is of two kinds. In case of Tarpaṇa for the fulfilment of desired objects, the materials used for Tarpaṇa have been variously specified. Tarpaṇa is an important part of Mantra Yoga. After the Iṣṭa Tarpaṇa (Tarpaṇa of the worshipped Deity) it has been specified to perform Ṛṣi-tarpaṇa, Tarpaṇa of other Deities, and Pitṛ-tarpaṇa. The speciality of Tarpaṇa is that when properly performed there remains no necessity of performing Deva-yajña, Bhūta-yajña, and Pitṛ-yajña. If one wants to please his worshipped Deity soon, then he should perform Tarpaṇa properly every day. By performing Tarpaṇa with honey all the desires are fulfilled, the Mantras become efficacious, and all the great sins are destroyed. By performing Tarpaṇa for one month with Camphor mixed with water one, after captivating all the kings, lives all his life in comfort. By performing Tarpaṇa with Ghee (clarified butter) one gets a complete life-span. In order to remain in a disease-free state it is proper to perform Tarpaṇa with milk. One who regularly performs Tarpaṇa with Agaru (Amyris Agallocha) mixed water, always gets perfect comfort. All the desired objectives are achieved by Tarpaṇa with water mixed with coconut-

---

1. Tarpaṇa is derived from the root "Tṛp" meaning to Satiate.

water. One who performs Tarpaṇa with water mixed with Marica (Strychnos Potatorum) destroys all his enemies. By performing Tarpaṇa only with warm water the enemy is either ruined or is seized by fever. If one wants to remove the troubles of his enemy then he should subside those troubles by Tarpaṇa with milk. If a Sādhaka, after performing Tarpaṇa and a hundred Japa of the Mantra and putting a Tilaka of Rocana (a yellow pigment) on his forehead, sees anyone then that person becomes a slave of the Sādhaka.

अथ हवनतर्पणम्

५५. नोसिध्यत्यजपान्मन्त्रो नाहुतश्च फलप्रदः ।
नानिष्टो ददते कामान् तस्मात्त्रितयमर्जयेत् ॥ १ ॥
पूजया लभते पूजां जपात् सिद्धिर्न संशयः ।
विभूतिश्चाग्निकार्येण सर्वसिद्धिश्च विन्दति ॥ १२ ॥
नित्यहोमं प्रवक्ष्यामि सर्वार्थं येन विन्दति ।
सपर्यां सम्यगापाद्य बलिपूर्वं चरेद्विधिम् ॥ ३ ॥
ततो होमं तर्पणञ्च चरेत् साधकसत्तमः ।
बलिर्वैश्वादिकञ्चैव ब्राह्मणः समुपाचरेत् ॥ ४ ॥
अर्घ्योदकेन संप्रोक्ष्य तिस्रो रेखाः समालिखेत् ।
विधिवदग्निमानीय क्रव्यादेभ्यो नमस्तथा ॥ ५ ॥
मूलमंत्रं समुच्चार्य्य कुण्डे वास्थण्डिलेऽपि वा ।
भूमौ वा संस्तरेद्वर्हि व्याहृतित्रितयेन च ॥ ६ ॥
स्वाहान्तेन त्रिधा हुत्वाषडङ्गहवनं चरेत् ।
ततो देवीं समावाह्य मूलेन षोडशाहुतीः ।
हुत्वा स्तुत्वा नमस्कृत्य विसृजेदिन्दुमण्डले ॥ ७ ॥

न विना पञ्चयज्ञेन सिद्धिमाप्नोति साधकः ।
त्रिविधाः सिद्धयः पञ्चमहायज्ञेन शाश्वतम् ॥ ८ ॥
पञ्चाङ्गसेवने नैव ब्रह्मयज्ञफलागमः ।
स्वेष्टदेव प्रसादः स्यान्नित्यं होमानुशीलनात् ॥ ९ ॥
देवा देव्यश्च तृप्यन्ति होमेनानेन निश्चितम् ।
योगाङ्गयुक्तास्ते यज्ञा यतः शुद्धिविधायकाः ॥ १० ॥
अनुष्ठेयः स यत्नेन मोक्षप्राप्त्यभिलाषुकैः ।
साम्प्रदायिकमाङ्गल्यो नित्यहोमो विधीयते ॥ ११ ॥
इष्टदेवप्रीणनाय हुत्वा पूर्वं यथाविधि ।
ततश्चान्यान्प्रीणयितुं हवनं परिकीर्तितम् ॥ १२ ॥

DESCRIPTION OF HAVANA

55. A Mantra never succeeds without Japa; no fruit can be obtained without Havana (the act of offering oblations with fire) and no desired aim is achieved without worshipping one's Iṣṭa-devatā (worshipped Deity); therefore, all these three must be performed. From worship is obtained worship, from Japa is obtained Siddhis, and from Havana is obtained prosperity and the Siddhis. Now the procedure for daily Homa is being described with which all the desires are fulfilled. First of all, one should perform proper worship and the rite of Balidāna (offerings) succeeded by Homa and Tarpaṇa. Brāhman Sādhakas should also perform the rite of Bali-Vaiśvadeva. After purifying the ground with Arghyodaka one should draw three lines, and then bringing Agni (Fire) he should pronounce the Mantra "Kravyyādebhyo Namaḥ" and the Mūla-

mantra[1] and consecrate the Agni in a Kuṇḍa (firepit) or on a small platform or on a bare ground with the accompaniment of the three Vyāhṛtis. Then, first of all three Havanas should be performed with "Svāhānta" Mantra (Mantra ending in Svāhā) after which should follow Ṣaḍaṅga Havana. Thereafter, invoking the Devī[2] should give sixteen Āhutīs with the accompaniment of the Mūla-mantra. Performing Havana in this manner one should submit his prayer and then discard it in the Īndu-maṇḍala. No Sādhaka can achieve Siddhi without performing Pañca-Mahāyajña (five great sacrifices). This Pañca-mahāyajña bestows threefold Siddhis. The Brahma-yajña succeeds with Pañcāṅga-sevana; the Iṣṭadeva and all the Gods and Goddesses are pleased with regular Homa. Being purificatory at three instances the Pañca-mahā-yajña has been included as a part of Yoga. Worshippers desirous of emancipation should regularly perform Homa. Havana is beneficial for every Yogī whether he belongs to the sects of Vaiṣṇava, Śākta, Śaiva, Gāṇapatya or Saurya. First of all submitting Āhuti (oblation) for the pleasure of Iṣṭa-deva it is proper to submit Āhutīs to other Deities considering them all as parts of his Īṣṭa-deva.

---

1. The primary Mantra of a Devatā is known as the Mūla Mantra (Root-mantra).

2. Here use of the word Devī is indicative of Śakti worship. From this it is proper to understand that the Sādhakas of Vaiṣṇava, Saurya, Gāṇapatya etc., sects should in accordance with their respective customs, invoke their Iṣṭa-devatās in this very order and sequence, because the Mantra-yoga incorporates worship of the five Deities. Such an indication should be understood throughout this work.

अथ बलिवर्णनम्

५६. बलिदानाद्विघ्नशान्तिः स्वेष्टदेवस्य पूजने ।
बलिदानेषु सर्वेभ्यः श्रेष्ठ आत्मबलिः स्मृतः ॥ १ ॥
एतेन नष्टाऽहङ्कारः कृतार्थो मानवो भवेत् ।
कामक्रोधादिशत्रूणां बलिरत्र द्वितीयकः ॥ २ ॥
अन्तर्यागेन संबद्धाः सर्वे चैते प्रकीर्तिताः ।
देवान् सम्पूज्य यत्नेन तदद्रव्यैर्हि बलिक्रिया ।
इष्टदेवाः प्रसीदन्ति विधिनाऽनेन निश्चितम् ॥ ३ ॥
सम्प्रदाये क्वचिद्देव प्रीणनाय विलोक्यते ।
फलोपहारस्य विधिर्वर्णितो मुनिपुङ्गवैः ॥ ४ ॥
क्वचिद्यज्ञपशोरेव बलिदानविधिः स्मृतः ।
बलिभेदा हि निर्दिष्टास्त्रिगुणस्यानुसारतः ॥ ५ ॥
इष्टदेव प्रसादाय बलिं दत्वा यथाविधि ।
भूतानां तृप्तये पश्चाद्बलिदानविधिः स्मृतः ॥ ६ ॥
पूजाशिष्टैः फलैः पुष्पैस्तथा द्रव्यैः सुगन्धिभिः ।
बलिं निजेष्टदेवायावश्यं भक्तः समर्पयेत् ॥ ७ ॥
बलिप्रदानतः स्वेष्टदेवो नूनं प्रसीदति ।
विघ्नाः सर्वे प्रणश्यन्ति बलिदानप्रभावतः ॥ ८ ॥
प्रथमं वेष्टदेवाय बलिं दद्याद्यथाविधि ।
भक्त्या ततोन्यदेवेभ्यः पितॄणां तृप्तये ततः ॥ ९ ॥
ब्रह्मणे गृहमध्ये तु विश्वेदेवेभ्य एव च ॥
धन्वन्तरिं समुद्दिश्य प्रागुदीच्यां बलिं क्षिपेत् ॥ १० ॥
प्राच्यां शक्राय याम्यायां यमाय बलिमाहरेत् ।
प्रतीच्यां वरुणायैवसोमयोत्तरतो बलिम् ॥ ११ ॥

दद्याद्धात्रे विधात्रे च बलिं द्वारे ग्रहस्य च ।
अर्यम्णे च बलिं दद्यात् ग्रहेभ्यश्चसमन्ततः ॥ १२ ॥
नक्तश्चरेभ्यो भूतेभ्यो बलिमाकाशतो हरेत् ।
पितॄणां निर्वपेच्चैव दक्षिणाभिमुखः स्थितः ॥ १३ ॥
गृहस्थस्तत्परो भूत्वा सुसमाहितमानसः ।
ततस्तोयमुपादाय तिष्ठेदाचमनाय वै ॥ १४ ॥
स्थानेषु निक्षिपेत् प्राज्ञस्तास्ता उद्दिश्य देवताः ।
एवं ग्रहबलिं कृत्वा गृहे गृहपतिः शुचिः ॥ १५ ॥
आप्यायनाय भूतानां कुर्य्यादुत्सर्गमादरात् ।
श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातरुदाहृतम् ॥ १६ ॥

DESCRIPTION OF BALI

56. No success can be obtained in the worship of a desired Deity without pacifying the disturbing elements. Bali (presentation of an offering to a Deity) is therefore offered for the pacification of the disturbing elements. Of all the Balis the Ātmabali (offering one's own self) is the best. Ātmabali destroys the Ahaṁkāra and the Sādhaka becomes successful in his aims. In the process of Bali the offering of enemies like Kāma (desire) and Krodha (anger) occupy second place. All these are subjects connected with internal Bali. After the worship when remaining things are offered as Bali then the Iṣṭa-devatā is pleased. In certain sects good fruits are offered as Bali. In some others the practice of Bali of the Sacrificial Animals is also current. All these differences of Bali have been determined on

the basis of the three qualities. After offering Bali for the pleasure of Iṣṭa-devatā it is proper to offe further Balis for the satiation of all the Bhūtas of the world. After performing worship a devotee should always offer Bali of the remaining fruits, flowers and fragrances to his Iṣṭa-devatā. There is no doubt that the Iṣṭa-deva is pleased by Bali, and all the disturbances are also removed through it. First of all one should offer Bali to his Iṣṭa-deva, and then to other Deities. Thereafter a devoted Sādhaka should offer Bali for the satiation of his Pitṛs. For Brahmā and Viśvedevas it is quite proper to offer Bali in one's own house. For Dhanavantari the Bali should be performed in the Northern direction. Balis should be offerred for Indra in the East, for Yama in the South, for Varuṇa in the West, for the Moon in the North. For Dhātā and Vidhātā it is customary to offer Bali at the door of the house. For the Rākṣasas the Bali should be offerred in the direction of the Sky, and for the satiation of Pitṛs one should offer Bali with his face towards South. A householder should first compose and concentrate his mind and then perform Ācaman (sipping water from the palm of the hand for purification; the water so sipped should not be spit out again); then taking water should offer Bali to the above-mentioned Deities at their specified places. Getting purified in this manner a householder should perform Graha-bali (offering to the planets). Again, be should place food-grains on the ground for the satiation of dogs, Śvapacas (low caste people) and birds. This Vaiśvadeva offerring should be performed both in the mornings and evenings.

अथयोगवर्णनम्

५७. अन्तर्यागो बहिर्यागश्चेति यागो द्विधा मतः ।
अत्रोपचारास्त्रिविधा दश षोडश पञ्च च ॥ १ ॥
अत्राध्यात्मं गृहीत्वैव लक्ष्यं स्याच्छ्रेयसा युतः ।
अन्तर्यागस्य महिमा सर्वश्रेष्ठः प्रकीर्त्तितः ॥ २ ॥
नाऽऽपेक्षिता देशशुद्धिर्नापि कालशरीरयोः ।
यागे जपे मानसे वै तथा कर्मणि निश्चितम् ॥
सर्वदा शक्त्ये कर्तुं मानसी निखिला क्रिया ॥ ३ ॥
दिव्यदेशेषु कस्यापि देशस्याश्रयतो भवेत् ।
यागस्य साधनं स्थूलात् सूक्ष्मे कोटिगुणं फलम् ॥ ४ ॥
योगसिद्ध्या जपः सिद्धो ध्यानसिद्धिस्ततः परम् ।
ततः समाधिसिद्धिः स्यादेतया देवदर्शनम् ।
आविर्भवन्तीष्टदेवा दिव्यदेशेषु नित्यशः ॥ ५ ॥
एषु स्थानेषु कल्पाणि यजन्ति परमां शिवाम् ।
अरूपां रूपिणीं कृत्वा कर्मकाण्डरता नराः ॥ ६ ॥
गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यथा ।
तथा सर्वात्मको देवः प्रतिमादिषु राजते ॥ ७ ॥
अभिरुप्याच्च बिम्बस्य पूजायाश्च विशेषतः ॥
साधकस्य च विश्वासाद् देवतासन्निधिर्भवेत् ॥ ८ ॥

DESCRIPTION OF YĀGA

57. In accordance with the differentiation of external and internal Yāga is of two kinds. The Upacāras of Yāga have been differentiated into three, on the basis of their number being either sixteen, ten or five. It is all the more beneficial to incorporate a spiritual

aim in the Ūpacāras of a Yāga. The glory of Antaryāga (Internal Yāga) is above all. For Mānasa Yāga, Mānasa Japa, and Manasa Karma, there is no necessity of Kāla-śuddhi (purification of time), Deśa-śuddhi (purification of place) and Śarīra-śuddhi (purification of Body), because they can be performed at all times and in all conditions. It is proper to practice Yāga at any one of the sixteen Divyadeśas (Divine places). Subtle place (Sūkṣma-deśa) is a million times more fruitful than a Gross place (Sthūla Deśa). After the Siddhi of Yāga, along with the Siddhi of Japa comes the Siddhi of Dhyāna (concentration), and with the Siddhi of Dhyāna comes Samādhi. With the Siddhi of Yāga one can have a vision of the Deity also—the Deity manifests in the Divya-deśas.

Imagining a Form of the One essentially Formless, the person adept in sacrificial rites should worship the Deity Bhagavatī at the above-mentioned places. Just as milk pervades the entire body of a cow but comes out only through her udders, so being all-pervasive the Deities only develop in the central places, such as in Idols etc. There is contiguity of the Deity in the Idol because of the similarity with His form, speciality of worship, and deep faith of the devotee.

(पूजोपचार वर्णनम्)

५८. उत्तमो मानसो यागो मध्यमं वहिरर्चनम् ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य पश्चाद्देयमुदीरयेत ॥ ९ ॥
सम्प्रदानं तदन्तेषु त्यागार्थकपदं ततः ।
एवं क्रमेण सद्वृत्ते ! उपचारात् प्रकल्पयेत् ॥ १० ॥

उपचारा विनिर्दिष्टाः पूजायामेकविंशतिः ॥
मुनिभिर्योगतत्त्वज्ञैर्दश षोडश पञ्च च ॥ ११ ॥

DESCRIPTION OF UPACĀRAS (Things done or used in Pūjā) OF PŪJĀ (Worship)

58. Mānasa Yāga is best, and External Pūjā is medium. First of all, pronouncing the Mūla-Mantra, one should pronounce the name of the thing which he intends to offer to the Deity. Thereafter, the name of the Deity, to whom the thing is being offerred, should be pronounced, and then again, the words of offering be repeated. In this manner all the Upacāras should be offerred to the Deity. The great sages versed in Yoga-science have laid down four categories of Upacāras on the basis of their number in Pujā being either twentyone, sixteen, ten or five.

(एकविंशत्युपचाराः)

५९. आवाहनं स्वागतञ्च ह्यासनं स्थापनं तथा ।
पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं वसनञ्चोपवीतकम् ॥ १२ ॥
भूषणं गन्धपुष्पे वै धूपदीपौ तथैव च ।
नैवेद्याचमने चैव ताम्बूलं तदनन्तरम् ।
माल्यं नीराजनं चैव नमस्कारविसर्जने ॥ १३ ॥

Twentyone Upacāras

59. Āvāhana (Invocation), Svāgata (Welcome), Āsana (Seat for the Image), Sthāpana (Seating), Pādya (Water for washing the feet), Arghya (Offering of unboiled rice, flowers, sandal paste, dūrvā-grass, etc. to the Deity), Snāna (water for bathing), Vastra Cloth), Upavīta (the sacred thread), Bhūṣāṇa

(Ornaments), Gandha (fragrance, sandal paste), Puṣpa (flowers), Dhūpa (incense stick), Dīpa (light), Naivedya (food), Ācamana (water for sipping), Tāmbūla (betal leaves), Mālya (garlands), Āratī (waving lights before an image), Namaskāra (prayer), and Visarjana (bidding the Deity Invoked to go) are the twentyone Upacāras.

(षोडशोपचाराः)

६०. आवाहनं स्थापनञ्च पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
स्नानं वस्त्रं भूषणं वै गन्धपुष्पे च धूपकाः ॥ १४ ॥
दीपस्तथा च नैवेद्यं तथैवाचमनं भवेत् ।
नीराजनञ्च ताम्बूलं प्रणाम इति षोडश ॥ १५ ॥

(Sixteen Upacāras)

60. Āvāhana, Sthāpana, Pādya, Arghya, Snāna, Vastra, Bhūṣaṇa, Gandha, Puṣpa, Dhūpa, Dīpa, Naivedya, Ācamana, Tāmbūla, Āratī and Praṇāma (obeisance) are the sixteen Upacāras.

(दशोपचाराः)

६१. पाद्यमर्घ्यं तथा स्नानं मधुपर्काचमौ तथा ।
नैवेद्यान्ता गन्धमुखा उपचारा दश क्रमात् ॥ १६ ॥

Ten Upacāras

61. Pādya, Arghya, Snāna. Madhuparka (honey, ghee, milk, and curd offerred in a silver or brass vessel), Ācaman, Gandha, Puṣpa, Dhūpa, Dīpa, and Naivedya are the ten Upacāras.

(पञ्चोपचाराः)

६२. गन्धपुष्पे तथा धूपो दीपो नैवेद्यमेव च ।
अखण्डं फलमासाद्य कैवल्यं लभते ध्रुवम् ॥ १७ ॥

Five Upacāras.

62. Gandha, Puṣpa Dhūpa, Dīpa, and Naivedya are the five Upacāras. A Sādhaka gets unlimited bounties with these Upacāras and at the end he gets the state of Kaivalya.

(उपयागवर्णनम्)

६३. विद्वानविद्वरैस्तन्त्रशास्त्रतात्पर्य वेदिभिः ।
ब्रह्मयागो जीवयाग उभौ मार्गौ निरूपितौ ॥ १८ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानां तन्त्राणाच्चैव पाठतः ।
उत्पद्यते ब्रह्मयागो यद्द्वारा साधकोत्तमः
निजेष्टदेवताज्ञाने समर्थो जायते ध्रुवम् ॥ १९ ॥
वैष्णवा गाणपत्या वा शाक्ताः शैवास्तथैव वा ।
सौरा वा साधकाः सर्वे स्वस्वकल्याणकाङ्क्षिणः ॥ २० ॥
पठेयुर्नियतं गीतां श्रीकृष्णमुखनिर्गताम् ।
गीतां भागवतीञ्चैवादित्यगीतां तथा पुनः ॥ २१ ॥
शिवगीतां तथा गीतां गाणेशीं वा यथाक्रमम् ।
एता हि परमोत्कृष्टास्तेषां स्वाध्यायपोषिकाः ॥ २२ ॥
अनुसृत्याऽधिकारं स्वं गीतापाठे रतो नरः ।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं चतुर्वर्गं समश्नुते ॥ २३ ॥
सर्वेषां प्राणिनामत्र दयया रक्षयापिच ।
मुखन्तु ब्रह्मणो मत्वा ब्राह्मणान्वेद पारगान् ॥ २४ ॥
अतिथींश्चेष्टदेवेन समान् बुद्ध्वा यदर्प्यते ।
भोजनं वसनं पानं जीवयागः स उच्यते ॥ २५ ॥
आभ्यांद्वाभ्यां साधनाभ्यामस्मिन् लोके परत्र च ।
लभन्ते मानवाः शर्म सत्यमेतन्न संशयः ।
उभौ नित्यमनुष्ठेयाववश्यं साधकोत्तमैः ॥ २६ ॥

DESCRIPTION OF UPAYĀGA

63. The Yogīs adept in the sciences of Tantra and knowing its secrets have made two divisions of Ūpayāga, viz. the Brahma-Yāga and the Jīva-Yāga. The Brahma is accompanied by the studies of Vedas, Smṛtis, Purāṇas and Tantras. Through the practice of Brahmayāga a Sādhaka undoubtedly achieves the ability to know the form of his Iṣṭa-devatā. Desirous of their welfare, all the Sādhakas, whether they are Vaiṣṇava, Gāṇapatya Śākta, Śaiva or Saurya, should in accordance with their respective worships study Bhagvadgītā, Bhagavatīgītā, Ādityagītā, Śivagītā, and Gaṇeśgītā. All these Gitās are very good. Their recitation should be perfected by their study. The Sādhaka, who according to his qualifications, studies Gītā, achieves the fulfilment of the four aims of sentient being known as Dharma, Artha, Kāma, and Mokṣa. When for the mercy of all the beings, and for their own protection all the food, clothes, water, etc. are offerred to the Brāhmaṇas adept in Vedic science considered as the mouth of Brahmā, and to the guests cosidered as one's own Iṣṭa-devatā, then that is Jīvayāga. Through the practice of these Brahmayāgas and Jīvayāgas, the Sādhaka undoubtedly obtains unlimited benefaction both in this and the other world. Therefore, every Sādhaka should invariably practice both these Yāgas.

अथ जपवर्णनम्

६४. मननात्त्रायते यस्मात्तस्मात् मन्त्रः प्रकीर्त्तितः ।
जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः ॥ १ ॥

मनः संहृत्य विषयान्मन्त्रार्थगतमानसः ॥
न द्रुतं न बिलम्बेन जपेनमौक्तिकहारवत् ॥ २ ॥

जपः स्यादक्षरावृत्तिर्धानसोपांशुवाचिकैः ।
स्वकर्णागोचरो यस्तु स जपो मानसः स्मृतः ।
उपांशुर्निजकर्णस्य गोचरः परिकीर्त्तितः ॥ ३ ॥

मन्त्रानुच्चारयेद्वाचा स जपो वाचिकः स्मृतः ।
उच्चैर्जपाद्विशिष्टः स्थादुपांशुर्दशभिर्गुणैः ।
जिह्वाजपः शतगुणं सहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ४ ॥

अतिह्रस्वो व्याधिहेतुरतिदीर्घो वसुक्षयः ।
अक्षराक्षरसंयुक्तं जपेन्मौक्तिकहारवत् ॥ ५ ॥

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः ।
न सिध्यति वरारोहे कल्पकोटिशतैरपि ॥ ६ ॥

जातसूतकमादौ स्यादन्ते च सूतसूतकम् ॥ ७ ॥
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिध्यति ॥
गुरोस्तत्र हितं कृत्वा मन्त्रं यावज्जपेद्धिया ॥ ८ ॥

सूतकद्वयनिर्मुक्तः स मन्त्रः सर्वसिद्धिदः ।
तस्माद्देवि प्रयत्नेन ध्रुवेण पूटितं मनुम् ॥ ९ ॥

अष्टोत्तरशतं वाऽपि सप्तवारं जपादितः ।
जपान्ते च ततो जप्याच्चतुर्वर्गफलाप्तये ॥ १० ॥

ब्रह्मवीजं मनोर्दत्वा चाद्यन्ते परमेश्वरि ।
सप्तवारं जपेन्मन्त्रं सूतकद्वयमुक्तये ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रा न वेत्ति यः ।
शतकोटिजपेनापि तस्य सिद्धिर्न जायते ॥ १२ ॥

लुप्तबीजाश्च ये मन्त्रा न दास्यन्ति फलं प्रिये ।
मन्त्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ॥ १३ ॥
चैतन्यरहिता मन्त्राः प्रोक्तवर्णास्तु केवलाः ।
फलं नैव प्रयच्छन्ति लक्षकोटिशतैरपि ।
मन्त्रोच्चारे कृते यादृक् स्वरूपं प्रथमं भवेत् ॥ १४ ॥
शते सहस्रे लक्षे वा कोटिजापेन तत्फलम् ।
हृदये ग्रन्थिभेदश्च सर्वावयववर्द्धनम् ॥ १५ ॥
आनन्दाऽऽश्रूणि पुलको देवावेशः कुलेश्वरि ।
गद्गदोक्तिश्च सहसा जायते नात्र संशयः ॥ १६ ॥

DESCRIPTION OF JAPA

64. That which, from Manana (thinking, reflection) gives Trāṇa (liberation from bondage of the phenomenal world) is called MANTRA. That is, with the Japa (repeated utterance or recitation of a Mantra according to certain rules) of which a Sādhaka is protected or liberated is called Mantra. With persistent Japa a Sādhaka undoubtedly obtains Siddhis. Withdrawing his mind from worldy objects, one perfectly following the meaning of the Mantra, should perform its Japa, neither with a fast nor with a slow but with a medium speed. Repeated utterances or recitation of a Mantra is called Japa. Japa is of three kinds, viz. Mānasa, Upāṁśu and Vācika. Mānas-japa is that which is inaudible even to the person performing Japa. Upāṁśu-japa is that which is audible only to the person performing the Japa. And, Vācika-japa is that in which the Mantra is audibly recited. The Upāṁśu-japa is ten times and Mānasa-japa a thousand times more fruitful

than Vācika-japa. Japa with a very slow speed produces diseases; and Japa with a very fast speed produces destruction of wealth. Therefore, Japa should be performed in a connected form like the pearls in a garland. A person who is unable to excercise Saṁyama (control) over Mana, Śiva, Śakti, and Vāyu, cannot obtain Siddhi even if he does Japa for a whole Kalpa (a fabulous period of time). Before the Mantra there is Jāta-sūtaka (birth difilement) and at the end Sūta-sūtaka (death defilement). A Mantra with two Sūtakas (defilements) can never provide a Siddhi. Therefore with special service of Guru the Sādhaka should perform Japa thoughtfully. Only the Mantra which is free of the two Sūtakas can become fruitful. Therefore, combining the Mantra with Dhruva one should perform its Japa for a hundred and eight times or seven times. Then, again, repeating the same at the end one should do Japa for the attainment of the fruit of Caturvarga (four aims of sentient beings). In order to get rid of the two defilements one should perform seven times the Japa of a Mantra preceded and followed by Brahma-bīja. One who is ignorant of the meaning of the Mantra, of the methods of giving life or vitality to the Mantra (Mantra-caitanya), and of the Yoni-Mudrā, cannot attain Siddhi, even by its Japa for a hundred millions of times. The Mantras which do not contain Bījas (seeds) can never be fruitful. A Mantra which has been infused with life or vitality, becomes decidedly fruitful. Without giving life to Mantra, its Japa only in the form of combination of a few alphabets never gives any Siddhi even though the Japa is performed

millions of times or indefinitely. When Japa of a Mantra is performed a hundred thousand times strictly in accordance with that form which is its natural and real characteristics emerging from its pronunciation, then the fruit of that Japa is equal to ten million Japas. This opens the knot of the heart, all the organs become strengthened, tears of joy and a feeling of thrill of hairs come to the Sādhaka; he receives the orders of the Deity and his voice becomes overwhelmed with joy—there is no doubt about all these.

(साधनस्थानवर्णनम्)

६५. विष्णोः सूर्यस्य शक्तेश्च विघ्नेशस्य शिवस्य च ।
उपासनापरैः कार्यं स्थित्वा वै देवमन्दिरे ॥
पूते च विजने गेहे साधनं शुभलक्षणम् ॥ १७ ॥
गोमयैर्गाङ्गपानीयैः शोध्यं सग्धनसद्म तत् ।
शोभितं चैव कर्तव्यं चित्रैर्भावभरैः शुभैः ॥ १८ ॥
प्राप्येत येन चित्तस्य पूतना साधकैः स्फुटम् ।
रजस्तमोभ्यां युक्तं यन्नकुर्यात्तत्र कर्म तत् ॥ १९ ॥
मोक्षं कामयमानेन साधनीयः प्रयत्नतः ।
गङ्गातीरे पञ्चवट्यामरण्ये च श्मशानके ॥ २० ॥
तीर्थे च सम्प्रदायस्य चात्मनो ह्यनुसारतः ।
भूगर्ते च तथा योगगुहायामनुपद्रुतैः ॥
साधनीयः प्रयत्नेन प्रेष्ठसिध्यभिलाषुकैः ॥ २१ ॥
योगसद्म विधातव्यं प्रत्यूहो यत्र नो भवेत् ।
असंस्पृष्टं च विषयैर्विश्वोद्भूतैर्निरापदम् ॥ २२ ॥

DESCRIPTION OF THE PLACE OF SĀDHANĀ

65. It is proper for the worshippers of Viṣṇu, Sūrya, Śakti, Gaṇeśa and Śiva to perform their Sādhanā either in a temple or in some quiet abode suitable for Sādhanā. A place of Sādhanā should always be purified by cowdung and Ganges water and tastefully decorated with pictures communicating pious disposition. No Rājasika or Tāmasika works be performed in a Sādhanā-place, nor irreligious people be allowed entrance in it. A Sādhaka desirous of emancipation should, according to his respective sect, perform Sādhanā at the bank of Ganges, under Pañcavaṭī, in a forest, a Śmaśāna (cremation ground), or sacred place (Tīrtha). If one desires to accomplish some special Siddhi then he should make an underground cave and fully undisturbed practice his Sādhanā there. The place for the practice of Yoga should be such where there is no possibility of disturbances, and it should be completely cut off from the external world.

(साधनाधिकारवर्णनम्)

६६. उपासको भवेद्यस्य सम्प्रदायस्य कस्यचित् ।
विना गुरुपदेशेन नैष्फल्यं साधने भवेत् ॥ २३ ॥
पुराणतन्त्रशास्त्रेषु संहितोपनिषत्सु च ।
वर्णितं विविधं रूपं पञ्चोपासनभेदतः ॥ २४ ॥
यथाधिकारं मन्त्राणां देवतायाश्च निर्णयः ।
न ग्रन्थैः साध्यते किन्तु गुरोरेवोपलभ्यते ॥ २५ ॥
नैशं तमोऽपनेतुं सूर्यः शक्तो न दीपचन्द्राद्याः ।
तद्वद् यथाधिकारं शक्तागुरवो विनयानय ॥ २६ ॥

विना गुरूपदेशेन मन्त्रयोगस्य साधने ।
नैष्फल्यं समवाप्नोति साधकः साधनोन्मुखः ॥ २७ ॥

DESCRIPTION OF COMPETENCY FOR SĀDHANĀ

66. A Sādhaka, whether he is a worshipper of either Viṣṇu, Sūrya, Śakti, Gaṇeśa or Śiva, will always meet failure if he performs his Sādhanā without instructions of a Guru. Although various Mantras are described in the Upaniṣads, Saṁhitās, Purāṇas, Tantras and Mantraśastras; and various forms of worship of the Five Deities are also available in the Śāstras, yet the determination of Mantra and Devatā in accordance with one's qualification can never be done with the help of a book. Just as a lantern cannot remove the darkness of night altogether—the darkness of night vanishes only by sunlight—so the Sādhaka also can obtain his respective competency for Sādhanā only through the mouth of a Guru. Without instruction of a Guru the Sādhanā of a Mantra Yogī becomes fruitless and even harmful.

(मन्त्रसिद्धेरुपायः)

६७. मन्त्रे सम्यक् प्रजपिते यदि सिद्धिर्न जायते ।
पुनस्तथैव कर्तव्यं ततः सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ २८ ॥
भूयोऽप्यनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते ।
पुनस्तथैव कर्तव्यं ततः सिद्धो न संशयः ॥ २९ ॥
पुनः सोऽनुष्ठितो मन्त्रो यदि सिद्धो न जायते ।
उपायास्तत्र कर्त्तव्याः सप्तशङ्करभाषिताः ॥ ३० ॥

भ्रामणं रोधनं वश्यं पीडनं शोषपोषणे ।
दहनान्तं क्रमात् कुर्यात् ततः सिद्धो भवेन्मनुः ॥ ३१ ॥

WAYS FOR THE ATTAINMENT OF MANTRA-SIDDHI

67. When even after performing Puraścaraṇa (repetition, after certain preparations and under certain conditions, of a Mantra a large number of times) in specially careful manner the Mantra does not become Siddha (potent or efficacious), then one should repeat the proceedings a second time. Even then if the Mantra does not become Siddha one should repeat a third time. If even after the third effort the Mantra does not become Siddha, one should respectively take resort to seven procedures, viz. Bhrāmaṇa, Rodhana, Vaśīkaraṇa, Pīdana, Śodhana, Poṣaṇa, and Dāhana, described by Lord Śiva. Detailed description of these seven procedures are available in various works of Tantra. Therefore, when necessary, a Sādhaka should learn these from a guru versed in Tantraśāstra.

(पञ्चाङ्गशुद्धिः)

६८. आत्मस्थान-मन्त्र-द्रव्य-देवशुद्धीर्यथाक्रमात् ।
यावन्न कुरुते देवि तस्य देवार्चनं कुतः ॥ ३२ ॥
पञ्चशुद्धिं विना पूजा अभिचाराय कल्पते ।
स्नानेन भूतशुद्ध्या च प्राणायामादिभिस्तथा ॥ ३३ ॥
षडङ्गाद्यखिलन्यासैरात्मशुद्धिरुदीरिता ।
सम्मार्जनानुलेपाद्यैर्दर्पणोदरवच्छुभम् ॥ ३४ ॥
वितानधूपदीपादिपुष्पमाल्यादिशोभितम् ।
पञ्चवर्णरजोभिश्च स्थानशुद्धिरितीरितम् ॥ ३५ ॥

ग्रथित्वा मातृकावर्णैर्मूलमन्त्राक्षराणि च ।
क्रमोत्क्रमाद्विरावृत्त्या मन्त्रशुद्धिरितीरितम् ॥ ३६ ॥
पूजाद्रव्याणि सम्प्रोक्ष्य मूलमन्त्रैर्विधानतः ।
दर्शयेद्धेनुमुद्रादीन् द्रव्यशुद्धिः प्रकीर्त्तिता ॥ ३७ ॥
पीठदेवीं प्रतिष्ठाप्य साधको मन्त्रविद्वरः ।
मूलमन्त्रेण माल्यादीन्धूपादीनुदकेन च ॥ ३८ ॥
त्रिवारं प्रोक्षयेद्विद्वान्देवशुद्धिरितीरितम् ।
पञ्चशुद्धिं विधायेत्थं पश्चात् पूजां समाचरेत् ॥ ३९ ॥

PURIFICATION OF FIVE ORGANS

68. Unless a Sādhaka completes the purification of his own self, of the place of Sādhanā, of the Mantra, of the Materials of Pūjā, and the Deity, how can he perform Pūjā ? The result of a Pūjā which is done without purification of the five organs is only sorcery. The Self-purification comes through Snāna (Bathing), Bhūta-śuddhi (purification of the five elements), Prāṇāyāma, and sixfold Nyāsa. The place is purified by brooming it, pasting with cowdung, laying down a bed sheet over it and then by adoring it with Dhūpa, Dīpa, and garlands, etc. The Mantra is purified when each of its letters are repeated in combination with Mātṛkāvarṇas (Saṁskṛt letters) once in forward and then in reverse order. The materials of Pūjā are purified when after washing them with waters they are consecrated with Mantras and shown the Dhenu Mudrā. A Sādhaka having knowledge of the Mantra, should consecrate the presiding Deity with the Mūla Mantra. Then again, after offering flowers, garlands, and Dhūpa etc., he should bathe the Deity with water.

These rites effect the purification of the Deity. The Pūjā should be started only after completing these five purifications in the manner specified herein.

(सिद्धिवर्णनम्)

६९. स्वभावसिद्धा जीवानां वासनेतिमुनेर्मतम् ।
तन्नाशेन विना मुक्तिप्राप्तिः परमदुष्करा ॥ ४० ॥
परं तस्या अनादित्वान्मध्यमैरधिकारिभिः ।
सम्बन्धो हि विनिर्दिष्टो नातः पूर्वं निवर्त्तते ॥ ४१ ॥
अपेक्षिता सा सुतरां मध्यमैरधमैरपि ।
मन्त्रयोगी मन्त्रसिद्ध्या तपःसिद्ध्या हठान्वितः ।
ऐशीं विभूतिमाप्नोति लययोगी च संयमैः ॥ ४२ ॥
मन्त्रयोगस्य माहात्म्यं कथितं वेदवित्तमैः ।
यत्नेनैवाऽधिगम्यन्ते त्रिविधाः शुद्धयोजनैः ॥ ४३ ॥
मन्त्रसाधनतो देवा देव्यः संयान्ति वश्यताम् ।
विभवाश्चैव जगतो यान्ति तस्योपभोग्यताम् ॥ ४४ ॥
यत्साधनक्रियाशुद्ध्या शुद्ध्या वैद्रव्यमन्त्रयोः ॥
विभूतयोऽधिगम्यन्ते महादेववचो यथा ॥ ४५ ॥
एतेन साधनेनात्र वैफल्यं नैव जायते ॥ ४६ ॥

DESCRIPTION OF SIDDHI

69. Vāsanā (Passion) is naturally present in all beings. There can be no emancipation without the destruction of Vāsanā; but due to eternal relation with people. Vāsanā is present even in persons of medium competency. Therefore, persons of both medium and low competence need Siddhis. A Mantra-yogī through Mantra-siddhi, a Haṭha-yogī through Japa-siddhi, and a Laya-yogī through Saṁyama achieve such Siddhis.

The speciality about Mantrayoga is that through it one obtains the threefold purifications of Ādhyātma, Ādhidaiva and Ādhibhūta. Through the activation of Mantra the Devas and Devis themselves become enamoured. All the splendours of life become available to the Yogi who has obtained Mantra-Siddhi. Lord Mahādeva has said that the Sādhanā done with proper Mantra-śuddhi, Kriyāśuddhi and Dravya-śuddhi makes all kinds of Siddhis accessible to the Sādhaka. Such a Sādhanā never meets frustration.

(मन्त्रभेदवर्णनम्)

७०. उपासनाविधेर्भेदाद् बीजमन्त्राः पृथक्-पृथक् ।
कृष्णबीजं रामबीजं शिवबीजमथापरम् ॥ ४७ ॥
गणेशबीजमित्यष्टबीजेभ्यश्चापरं मतम् ।
मूलबीजेन संयोगाद्बीजमन्त्रस्य चैव वा ॥ ४८ ॥
एकबीजेनान्यबीजमेलनाज्जायते ध्रुवम् ।
वैचित्र्यं मन्त्रशक्तीनां वदन्तीत्थं पुराविदः ॥ ४९ ॥
शाखापल्लवसंयुक्ता मन्त्रास्युरन्यभावकाः ।
बीजं शाखापल्लवौ च मन्त्रे भवति कुत्रचित् ॥ ५० ॥
शान्तिः पुष्पं फलञ्चेष्टदर्शनं विनिगद्यते ।
भावप्रधानाः शाखा वै पल्लवाश्चोपवर्णिताः ॥ ५१ ॥
बीजेषु शक्तिर्निहिता मन्त्रा बीजविवर्जिताः ।
शाखा पल्लवयुक्ताश्च भावमुख्या मता इमे ॥ ५२ ॥
परीक्ष्य शक्तिं प्रकृतिं प्रवृत्तिं साधकस्य वै ।
उपासनाधिकारश्च दत्तो मन्त्रः शुभावहः ॥ ५३ ॥
तन्त्रमन्त्रोपनिषदां विज्ञाता योगपारगः ।
मन्त्रज्ञाने चोपदेशे शक्नोति स महामतिः ॥ ५४ ॥

प्रणवो मुख्यबीजश्चोपासनाबीजमेव च ।
तद्युक्तं वीतबीजं च मन्त्राः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥ ५५ ॥
साधकानां हि प्रकृतिं प्रवृत्तिमनुसृत्य वै ।
मन्त्रः समुपदेष्टव्य एष मन्त्रविधिः स्मृतः ॥ ५६ ॥
मन्त्रयोगस्य माहात्म्यमिदमत्राऽपरं मतम् ॥
हठे लये तथा राजयोगे सहकरोत्यतः ॥ ५७ ॥
तन्त्रोपनिषदां संख्या यथाऽनन्ता विधीयते ।
तथा मन्त्रा ह्यनन्ता वै मुनीनामेष निश्चयः ॥ ५८ ॥

DESCRIPTION OF KINDS OF MANTRAS

70. According to the differences in worship the Bīja-mantras are also different. For example, Kṛṣṇa-bīja, Rāma-bīja, Śiva-bīja Gaṇapati bīja etc., are the eight Bījas which are there in addition to the various Mūlabījas. Again, with the conjunction of a Mūlabīja with the Bījas, or of one Bīja with another, there manifest different results in the power of Mantras. Again, when a Mantra is conjoined with branches and leaves, then it assumes another disposition. Special Mantras include all the three things, viz. the Bījas, Branches and Leaves. Śānti (peace) is flower, meeting with the worshipped Deity is the fruit, and branches and leaves are only dispositional factors inherent in Śakti-bījas. Certain Mantras are devoid of Bīja, but are conjoined with branches and leaves. Such Mantras are said to be dispositionally predominant. When the instruction of a Mantra is given after testing the Sādhaka's nature, disposition, competence, for worship, and emotional intensity, only then a Sādhaka obtains full fruits. Only

Yogis versed in Upaniṣads, Tantras, and Mantraśāstra are capable of knowing the extent of a Mantra and only they are capable of giving instruction according to the competence of a Sādhaka. The Mantras are of five kinds, viz., Praṇava, Primary Bīja, Worship-Bīja, Bīja conjoined with branches and leaves, and Mantras devoid of Bījas but conjoined with branches and leaves. The instruction of a Mantra is given only after proper test of a Sādhaka's nature, disposition, and competence. One special characteristic of Mantra is that in all the Mantra-yoga, Haṭha-yoga, Laya-yoga, and Rāja-yoga, it is necessary to take the help of Mantras. Upaniṣads and Tantras being many in number, the Mantras are also many.

(मन्त्रबीजवर्णनम्)

७१. प्रणवः सर्वमन्त्राणां श्रेष्ठः सेतुनिभः स्मृतः ।
मन्त्रशक्तिरनेनैव शब्दब्रह्मात्मकश्च सः ॥ ५९ ॥
बीजमन्त्रास्त्रयः पूर्वे ततोऽष्टौ परिकीर्तिताः ।
गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततो भवेत् ॥ ६० ॥
कामबीजं योगबीजं तेजो बीजमथापरम् ।
शान्तिबीजं च रक्षा च प्रोक्ता चैषां प्रधानता ॥ ६१ ॥
उपासनासु सर्वासु भवन्ति शुभदानि वै ।
एषां रहस्यं संयोगो विज्ञेयौ योगपारगात् ॥ ६२ ॥
क्लौंकामबीजं निर्दिष्टमीमकारपुरस्कृतौ ।
ककारसहितं रेफमीमकारपुरस्कृतम् ॥
योगबीजं वदन्तीदं योगज्ञास्ते पुराविदः ॥ ६३ ॥
आएमकारसहितं गुरुबीजं प्रकीर्तितम् ॥ ६४ ॥

हकाररेफसहितं ईकारोमपुरस्सरः ।
शक्तिबीजं विनिर्दिष्टं रमाबीजमिहोच्यते ॥ ६५ ॥
शकाररेफईकारमकारैः किल जायते ।
रेफात्कारसहित ईकारस्तदनन्तरम् ।
ततो मकारश्चैवं हि तेजोबीजं विधीयते ॥ ६६ ॥
सतौ रकारेकाराभ्यां मकारेण च संयुतौ ।
शान्तिबीजमिदं प्रोक्तं रक्षाबीजमथोच्यते ॥ ६७ ॥
लयुतेन हकारेण हीकारमयुतेन च ।
बीजं रक्षामयं प्रोक्तमृषिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ६८ ॥
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता कारणब्रह्मणो यथा ।
याभिराविर्वभूवेदं कार्यब्रह्म सनातनम् ॥ ६९ ॥
तथा प्रधानभूतानि बीजान्यष्टौ मनीषिभिः ।
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः कार्यरूपस्य ब्रह्मणः ॥ ७० ॥
उपासनासु सर्वासु कल्याणाय भवन्ति वै ॥ ७१ ॥

DESCRIPTION OF MANTRA-BĪJA

71. Praṇava is the crest-jewel among all the Mantras. Praṇava is the bridge (Setu) of all the Mantras; all Mantras achieve their full prowess from Praṇava; Praṇava is of the nature of Śabda-Brahman. Primarily Bīja-mantras are three; and secondly their number is eight, viz., Guru-Bīja, Śakti-Bīja, Kāma-Bīja, Yāga-Bīja, Teja-Bīja, Śānti-Bīja and Rakṣā-Bīja—these are the eight chief Bījas. Although they are externally helpful in all kinds of worship, yet only the Yogīs adept in Four Yogas (Yoga-catuṣṭaya) can know their mysteries and proper combination. K, L, Ī and M-kāra combine to convey the Kāma-Bīja (Klīṁ). K, R, Ī

and M-kāra combine to convey the Yoga-Bīja (Krīṁ). A, E and M-kāra combine to convey the Guru-Bīja (Aiṁ). H, R, Ī and M-kāra combine to convey the Śakti-Bīja (Hrīṁ). S, R, Ī and M-kāra combine to convey the Rāma-Bīja (Śrīṁ). T, R, Ī and M-kāra combine to convey the Teja-Bīja (Trīm). S, T, R, Ī, and M-kāra combine to convey the Śānti-Bīja (Strīṁ). H, L, Ī, and M-kāra combine to convey the Rakṣā-Bīja (Hlīṁ). Just as the nature of causal Brahman, from whom has originated the manifest Brahman, is eightfold, so are these eight Bījas the eight natures of the Śabda-Brahman; and these are said to be the eight chief Bījas. They are beneficial in all kinds of worships. In different Tantras there also exist differences in their names.

(मन्त्रोत्पत्तिवर्णनम्)

७२. तदा समभवत्तत्र नादो वै शब्दलक्षणः ।
ओमोमिति सुरश्रेष्ठाः सुव्यक्तः प्लुतलक्षणः ॥ ७२ ॥
किमिदन्त्विति सञ्चिन्त्य मया तिष्ठन् महास्वनम् ।
लिङ्गस्य दक्षिणे भागे तदापश्यत्सनातनम् ॥ ७३ ॥
आद्यं वर्णमकारन्त उकारश्चोत्तरे ततः ।
मकारं मध्यतश्चैव नादान्तं तस्यचोमिति ॥ ७४ ॥
सूर्यमण्डलवद्दृष्ट्वा वर्णमाद्यन्तु दक्षिणे ।
उत्तरे पावकप्रख्यमुकारं पुरुषर्षभः ॥ ७५ ॥
शीतांशुमण्डलप्रख्यमकारं मध्यमं तथा ।
तस्योपरि तदापश्यच्छुद्धस्फटिकवत्प्रभुम् ॥ ७६ ॥
तुरीयातीतममृतं निष्कलं निरुपप्लवम् ।
निर्द्वन्द्वं केवलं शून्यं वाह्याभ्यन्तरवर्जितम् ॥ ७७ ॥

सबाह्याभ्यन्तरञ्चैव सबाह्याभ्यन्तरस्थितम् ।
आदिमध्यान्तरहितमानन्दस्यापि कारणम् ॥ ७८ ॥
मात्रास्तिस्रस्त्वर्द्धमात्रं नादाख्यं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
ऋग्यजुः सामवेदा वै मात्रारूपेण माधवः ॥ ७८ ॥
वेदशब्देभ्य एवेशं विश्वात्मानमचिन्तयत् ।
तदाभवद्दषिर्वेद ऋषेः सारतमं शुभम् ॥ ९० ॥
तेनैव ऋषिणा विष्णुर्ज्ञातवान् परमेश्वरम् ।
आवयो स्तुतिसन्तुष्टो लिङ्गे तस्मिन् निरञ्जनः ॥ ८१ ॥
दिव्ये शब्दमये रूपमास्थाय प्रहसनम् स्थितः ।
अकारस्तस्य मूर्द्धा तु ललाटं दीर्घमुच्यते ॥ ८२ ॥
इकारो दक्षिणं नेत्रमीकारो वामलोचनम् ।
उकारो दक्षिणं श्रोत्रमूकारो वाममुच्यते ॥ ८३ ॥
ऋकारो दक्षिणं तस्य कपोलं परमेष्ठिनः ।
वामं कपोलमृकारो लृ लॄ नासापुटे उभे ॥ ८४ ॥
एकारमोष्ठमूर्द्धश्च ऐकारस्त्वधरो विभोः ।
ओकारश्च तथौकारो दन्तपङ्क्तिद्वयं क्रमात् ॥ ८५ ॥
अमस्तु तालुनी तस्य देवदेवस्य धीमतः ।
कादिपञ्चाक्षराण्यस्य पञ्च हस्तानि दक्षिणे ॥ ८६ ॥
चादिपञ्चाक्षराण्येवं पञ्च हस्तानि वामतः ।
टादि पञ्चाक्षरं पादस्तादिपञ्चाक्षरं तथा ॥ ८७ ॥
पकारमुदरं तस्य फकारः पार्श्व उच्यते ।
बकारो वामपार्श्वं वै भकारं स्कन्धमस्य तत् ॥ ८८ ॥
मकारं हृदयं शम्भोर्महादेवस्य योगिनः ।
यकारादि-सकारान्ता विभोर्वै सप्तधावतः ॥ ८९ ॥

हकार आत्मरूपं वै क्षकारः क्रोध उच्यते ।
तं दृष्ट्वा उमया सार्द्धं भगवन्तं महेश्वरम् ॥ ९० ॥

प्रणम्य भगवान् विष्णुः पुनश्चापश्यदूर्ध्वतः ।
ओंकारप्रभवं मन्त्रं कलापञ्चकसंयुतम् ॥ ९१ ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशं शुभाष्टत्रिंशदक्षरम् ।
मेधाकरमभूद्भूयः सर्वधर्मार्थसाधकम् ॥ ९२ ॥

गायत्रीप्रभवं मन्त्रं हरितं वश्यकारकम् ।
चतुर्विंशतिवर्णाढ्यं चतुष्कलमनुत्तमम् ॥ ९३ ॥

अथर्वमसितं मन्त्रं कलाष्टकसमायुतम् ।
अभिचारिकमत्यर्थं त्रयस्त्रिंशच्छुभाक्षरम् ॥ ९४ ॥

यजुर्वेदसमायुक्तं पञ्चत्रिंशच्छुभाक्षरम् ।
कलाष्टकसमायुक्तं सुश्वेतं शान्तिकं तथा ॥ ९५ ॥

त्रयोदशकलायुक्तं बालाद्यैः सह लोहितम् ।
समोद्भवं जगत्याद्यं वृद्धिसंहारकारणम् ॥ ९६ ॥

वर्णाः षडधिका षष्टिरस्य मन्त्रवरस्य तु ।
पञ्च मन्त्रांस्तथा लब्ध्वा जजाप भगवान हरिः ॥९७॥

अथ दृष्ट्वा कलावर्णमृग्यजुः सामरूपिणम् ।
ईशानहमीशमुकुटं पुरुषास्यं पुरातनम् ॥ ९८ ॥

अघोरहृदयं हृद्यं वामगुह्यं सदाशिवम् ।
सद्यः पादं महादेवं महाभोगीन्द्रभूषणम् ॥ ९९ ॥

विश्वतः पादवदनं विश्वतोऽक्षिकरं शिवम् ।
ब्रह्मणोऽधिपतिं सर्ग-स्थिति-संहारकारणम् ॥ १०० ॥

तुष्टाव पुनरिष्टाभिर्वाग्भिर्वरदमीश्वरम् ॥ १०१ ॥

DESCRIPTION OF THE ORIGIN OF MANTRAS

72. The Liṅga Purāṇa[1] gives a description about the origin of the Mantras. The summary of the same is as follows : The Pluta-lakṣaṇa Au-kāra became the light of the Nāda. The nature of such a Nāda situated all around the Liṅgam is as follows : His first letter is A-kāra which is situated in the South, and is bright like the Sun. On the North is situated U-kāra of the brilliance like Agni; and in the middle is situated the M-kāra bright like the Moon. Above all these letters is situated the Supreme Puruṣa of the nature of Auṁkara shining like a white Sphaṭika (Crystal). That Puruṣa is beyond Turīya state, is immortal, fruitless, undisturbed, without any conflict, Kevala, like the Ākāśa, pervading both within and without yet uninvolved with either, devoid of beginning, middle and end, and cause even of Bliss. The three vowels in Him are like three feet and the half vowel is like the Brahmā obtainable in the Turīya state. Ṛka, Yajuḥ, and Sāma are His three feet or three vowels. His universal form is imagined from these Vedas. The Ṛṣis (sages) originate only to enlighten these Vedas. Therefore the essence from the auspicious things of the sages are the Vedas. Even Viṣṇu obtained the form of Brahmā through the Hymns which blossomed in the heart of these Sages. From the Universal form of that Supreme Brahman of the nature of Auṁkāra, arose all the Mantras. For example, Akāra is his head and Ākāra is his high forehead. I-kāra is his right eye and Ī-kāra is the left

1. Op. cit. I. 17, 49 et. seq.

eye. U-kāra is his right ear and Ū-kāra the left ear. Ṛ-kāra is his right cheek and Ṝ-kāra the left cheek. Ḷ-kāra and Ḹ-kāra are his two nostrils. E-kāra and Ai-kāra are his both upper and lower lips. O-kāra and Au-kāra are the two rows of teeth. Aṁ and Aḥ are his palate. The five letters from Ka to Ṅ are his five right hands and five letters from Ca to Ñ his five left hands. The five letters from Ṭa to Ṇa and the five letters from Ta to Na are his feet Pa kāra is his stomach; Pha-kāra his right side, Ba-kāra left side, Bha-kāra shoulder and Ma-kāra heart. The letters from Ya to Sa are the seven Dhātus of the Virāṭa-puruṣa of the nature of Auṁkāra. Ha-kāra is his Self-form and Kṣa–kāra his anger-form.

Lord Viṣṇu, then having a vision of Lord Maheś-vara along with Umā, saluted Him. Thereafter He also saw the Mantras conjoined with five Kalās springing from Auṁkāra. Thereafter, that visible white crystal endowed with wisdom, fulfiller of all Dharmas and Arthas, auspicious, and of the nature of thirtyeight letters, became the (Gāyatrī) Mantra of all the sciences. Chief among the Gāyatrīs, containing twentyfour letters, of four Kalās, best, captivating, green-coloured, is the Rudra-Gāyatrī Mantra. Of Supreme usefulness in sorcery, endowed with eight Kalās, containing thirty-three letters, black-hued, is the Aghora Mantra of Atharvaveda. That in which there are thirtyfive auspicious letters, which is of eight Kalās, is pure white-hued, and providing quiescence is the Sadyojāta Mantra described in Yajurveda. That in the beginning of which is Jagatī-chand, which is the cause of both crea-

tion destruction, which is red-hued, and which has thirteen Kalās, is the Vāmadeva Mantra described in Sāmaveda. This superior Mantra contains sixtysix letters. Lord Viṣṇu, obtaining these five Mantras, performed their Japa. Thereafter, who is of the form of Ṛig, Yajuḥ, and Sāmavedas, who is Īśāna, whose diadem is the Īśāna Mantra, whose mouth is of the form of Tatpuruṣā–Mantra, whose brilliance only is the sixtyfour Kalās, who is compassionate, and the one who should pervade every heart, who is Vāmaguhya, whose feet are like newly born (Sadyojāta, also an epithet of Śiva) Mantra, who is Sadāśiva, Mahādeva and Bhogīndrabhūṣaṇa (epithet of Śiva), whose feet and face pervade the Universe, is that Mahādeva Śaṁkara the Lord even of Brahmā and cause of creation, preservation and destruction, whom the Lord Viṣṇu (Hari) saw. Seeing Him (Śiva) Lord Viṣṇu again submitted a prayer in his desired language to that benefactor God (Śiva).

(प्रणवप्रशंसा)

७३. श्रुतं ब्राह्मं वाक्यं श्रुत इह जनैर्यैश्च प्रणवो ।
गत ब्राह्मं धाम प्रणव इह यैः शब्दित इव ॥
पदं ब्राह्मं दृष्टं नयनपथगो यस्य प्रणवः ।
इतं ब्राह्मं रूपं मनसि सततं यस्य प्रणवः ॥ १०२ ॥

शास्त्राणां प्रणवः सेतुर्मन्त्राणां प्रणवः स्मृतः ।
स्रवत्यनोङ्कृतः पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यते ॥ १०३ ॥

निःसेतु सलिलं यद्वत् क्षणान्निम्नं प्रगच्छति ।
मन्त्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात् क्षरति यज्वनाम् ॥ १०४ ॥

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारं परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥ १०५ ॥
यथा पर्णं पलाशस्य शङ्कुनैकेन धार्यते ।
तथा जगदिदं सर्वमोङ्कारेणैव धार्यते ॥ १०४ ॥
सिद्धानां चैव सर्वेषां वेदवेदान्तयोस्तथा ।
अन्येषामपि शास्त्राणां निष्ठार्थोङ्कार उच्यते ॥ १०७ ॥
आद्यं मन्त्राक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सर्वमन्त्रप्रयोगेषु ओमित्यादौ प्रयुज्यते ॥ १०८ ॥
तेन सम्परिपूर्णानि यथोक्तानि भवन्ति हि ।
सर्वमन्त्राधियज्ञेन ओंकारेण न संशयः ॥ १०९ ॥
तत्तदोङ्कारयुक्तेन मन्त्रेण सफलं भवेत् ॥ ११० ॥

EULOGY OF PRAṆAVA

73. Hearing Auṁkāra is like hearing the Brahman. Pronouncing Auṁkāra is like going to the abode of Brahman. The vision of Auṁkāra is like the vision of one's own form. The contemplation of Auṁkāra is like the attainment of the Brahman-form. Praṇava is like a bridge of Śāstras and Mantras. If it is not placed in the beginning of a Mantra that Mantra becomes degraded, and if it is not placed at the end of a Mantra, the Mantra becomes squandered. Just as in the absence of a dam the water flows off towards lower grounds in a moment, so a Japa without Praṇava (i.e. without Auṁkāra) destroys the Jāpaka (one who is performing Japa) in a moment. Auṁkāra is benefactor, pious, preserver of Dharma, and it fulfills all kinds of desires. Aumkāra is like the Supreme Brahman and lord of all Mantras, Just as only one twig holds the leaves of a Palāśa

(Butea Frondosa), similarly Auṁkāra supports this entire Universe. For the sake of all kinds of Siddhis, and for the establishment of faith in Atharvaveda, Vedānta, and various Śāstras, Auṁkāra is invariably pronounced. Primal Mantra from Praṇava has been determined by the three Vedas. In the use of all the Mantras this Praṇava or Auṁkāra is always affixed in the beginning. Auṁkāra is pronounced for the Siddhi of all the Mantras; therefore Auṁkara is undoubtedly lord of all the Mantras.

(ब्रह्ममन्त्रप्रशंसा)

७४. सगुणो ब्रह्ममन्त्रश्च द्वौ भेदौ समुदीरितौ ।
मन्त्रस्य मन्त्रयोगज्ञैर्विद्वद्भिः परमर्षिभिः ॥ १११ ॥
सगुणेनाप्यते तूर्णं समाधिः सविकल्पकः ।
ब्रह्ममन्त्रेण च तथा निर्विकल्पो हि साधकैः ॥ ११२ ॥
ब्रह्ममन्त्रे हि प्रणवः सर्वश्रेष्ठतया मतः ।
अन्ये भावमया ब्रह्ममन्त्रा योगविशारदैः ॥ ११३ ॥
महावाक्यतया प्रोक्ताश्चत्वारस्तत्र मुख्यकाः ।
चतुर्वेदानुसारेण चैते निर्णयतां गताः ॥ ११४ ॥
प्रधानानि भवन्त्येव महावाक्यानि द्वादश ।
वेदशाखानुसारेण महावाक्यप्रधानता ॥ ११५ ॥
कल्पे सहस्रैकशताशीतमन्त्रा मता इह ।
ब्रह्ममन्त्रेषु मुख्यो हि गायत्रीमन्त्र ईरितः ॥ ११६ ॥
स्वरूपद्योतका मन्त्राश्चात्मज्ञान प्रकाशकाः ।
ब्रह्ममन्त्रो हि विहितः केवलं राजयोगिने ॥ ११७ ॥

EULOGY OF BRĀHMA-MANTRA

74. The great Sages versed in the essence of Yoga have made two distinctions of Mantras on the basis of

their being either Saguṇa (Attributive) Mantras or Brāhma Mantras. Through Saguṇa Mantras is obtained Sa-vikalpa Samādhi; and through Brāhma-Mantra the Nir-vikalpa Samādhi. In a Brāhma Mantra it is Prāṇa which is supreme. Some other Brāhma Mantras involving mental dispositions, are called Mahāvākyas. There are four chief Mahāvākyas, determined according to Vedas. There are also twelve chief Mahāvākyas (according to certain sects . Again, according to different reclensions the Rāja-yogīs have described one lakh eighty thousand Brāhma Mantras. Gāyatrī Mantra is the most superior among all these Brāhma Mantras and is over and above their number stated herein. All the Brāhma Mantras are indicators of Svarūpa and propagators of Self-knowledge. Only the Rājayogīs are entitled to Brāhma Mantras

(करमालानिरूपणम्)

७५. तर्जनीमध्यमानामा कनिष्ठा चेतिताः क्रमात् ।
तिस्रोऽङ्गुल्यस्त्रिपर्वाणो मध्यमा चैकपर्विका ॥ ११८ ॥
पर्वद्वयं मध्यमाया मेरुत्वेनोपकल्पयेत् ।
अनामामध्यमारभ्य कनिष्ठादित एव च ।
तर्जनीमूलपर्यन्तं दशपर्वसु संजपेत् ॥ ११९ ॥
अनामामूलमारभ्य कनिष्ठादित एव च ।
तर्जनीमध्यपर्य्यन्तमष्टपर्वसु सञ्जपेत ॥ १२० ॥
अनामिकात्रयं पर्व कनिष्ठायास्त्रिपर्विका ।
मध्यमायाश्च त्रितयं तर्जनी मूलपर्वणि ।
तर्जन्यग्रे तथा मध्ये यो जपेत् स तु पापकृत् ॥ १२१ ॥
अङ्गुलीर्न वियुञ्जीत किञ्चिदाकुञ्चिते तले ।
अङ्गुलीनां वियोगाच्च छिद्रे च स्रवते जपः ॥ १२२ ॥

जपसंख्यातु कर्त्तव्या नासंख्यातं जपेत् सुधीः ।
असंख्यया प्रजपतः सर्वं भवति निष्फलम् ॥ १२३ ॥

DESCRIPTION OF KARAMĀLĀ[1]

75. The Karamālā should be imagined on the four fingers (excluding the thumb). The three phalanges each of the forefinger (Tarjanī), Ringfinger, and one phalange of the middle finger are used for counting the number of Japas. The two phalanges of the middle finger should be assumed as Meru. From the middle phalange of the ringfinger through the little finger to the root phalange of the forefinger are the ten phalanges on which the Japa is to be performed. In this manner, after doing Japa a hundred times, one should perform eight Japas in this manner : Beginning from the rootphalange of the ringfinger, through little finger to the middle phalange of the fore-finger one should perform eight Japas.

(The procedure for the Japa of Śakti Mantras is as follows) : Three phalanges each of ringfinger, little finger and middle fingers and the root phalange of the fore finger are the ten phalanges on which Japa should be performed. (See Figure on page 122 for the method of using the fingers for counting the number of Japas of Śiva and Śakti Mantras.)

A Sādhaka who performs Japa on the tip and middle phalanges of the forefinger is a sinner. While performing Japa the fingers should not be kept apart, and the other (left) hand should be kept folded. If a Japa is performed with fingers kept apart then the

1. Hand used as a Rosary where the phalanges of the fingers correspond to the beads.

fruit of Japa escapes out through the gaps of the fingers. For a conscientious Sādhaka it is proper always to keep the number of Japas counted. If Sādhaka who performs Japa without counting the entire fruit of his Japa is necessarily destroyed.

नं. १ नं. २

नं. १ नं. २
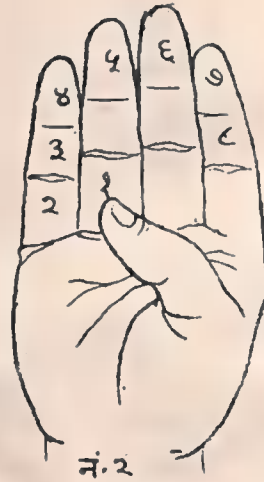
(मालाविचारवर्णनम्)

७६. अरिष्टपत्रं वीजश्च शङ्खपद्मौमणिस्तथा ।
कुशग्रन्थिश्च रुद्राक्ष उत्तमं चोत्तरोत्तरम ॥ १२४ ॥
प्रवालमुक्तास्फटिकैर्जपः कोटिफलप्रदः ।
तुलसीमणिभिर्येन गणितं चाक्षयं फलम् ॥ १२५ ॥
हिरण्यगर्भमणिभिर्जप्तं शतगुणं भवेत् ।
सहस्रगुणमिन्द्राक्षैरुद्राक्षैर्नियुतं भवेत् ॥ १२६ ॥
साम्राज्यं स्फाटिके स्यात्तु पुत्रजीवे परां श्रियम् ।
आत्मज्ञानं कुशग्रन्थौ रुद्राक्षाः सर्वकामदाः ॥ १२७ ॥
प्रवालैश्च कृता माला सर्वलोकवशङ्करी ।
मोक्षप्रदा च माला स्यादामलक्याः फलैः कृता ॥ १२८ ॥
मुक्ताफलैः कृता माला सर्वविद्याप्रदायिनी ।
माणिक्यरचिता माला त्रैलोक्यस्त्रीवशङ्करी ॥ १२९ ॥
नीलैर्मरकतैर्वापि कृता शत्रुभयप्रदा ॥
सुवर्णरचिता माला दद्याद्वै महतीं श्रियम् ॥ १३० ॥
तथा रौप्यमयी माला कन्यां यच्छतिकामिताम् ।
उक्तानां सर्वकामानां दायिनी पारदैः कृता ॥ १३१ ॥
तुलसीरचिता माला विष्णुभक्तिप्रदायिनी ।
जपने यादृशी माला संख्यानेऽपि च तादृशी ॥ १३२ ॥
रुद्राक्षमालामाहात्म्यं बहुतन्त्रेष्वनेकशः ।
प्रोक्तं तद्धारणे चापि फलं बहुविधं स्मृतम् ॥ १३३ ॥
रुद्राक्षमालया सर्वसम्प्रदायस्य साधकः ॥
परं श्रेयः समाप्नोति तन्त्रेष्वेतन्निरूपितम् ॥ १३४ ॥

पञ्चानां सम्प्रदायानां हितं रुद्राक्षमालया ।
यथोपासनपूजाद्या गुरोरेवाधिगम्यते ॥ १३५ ॥
तथा तद्धारणविधिस्तस्मादेवावगम्यताम् ॥ १३६ ॥

DESCRIPTION OF ROSARY

76. The Rosaries made of Ariṣṭapatra, Bīja, Śaṇkha, Padma, Maṇi, Kuśa-granthi, and Rudrākṣa are considered successively superior in this order. Rosaries made of Pravāla, Muktā and Sphaṭika are comparatively more fruitful. The Rosaries made of Tulsī or Maṇi bestow undecaying fruits. Performing Japa with a Hiraṇyagarbha Maṇi one gets a hundred times greater fruit. The Indrākṣa Rosary mixed with Rudrākṣa gives a thousand times greater fruit. The Rosaries made of Sphaṭika bestow kingdom; of Putra-jīva bestow fame and wealth; of Kuśagranthi bestow Self-knowledge; and of Rudrākṣa bestow fulfilment of all desires. From a Rosary of Pravāla one gets power of captivating every one; from that of a Āmalakī emancipation, and from that of a Muktā all kinds of knowledge and learning. From a Rosary of Māṇika the woman of the three worlds are captivated; from that of Nīla Marakata the enemies are terrified; and from that of gold one gets immense wealth and fame. From a silver Rosary one gets maidens; from that of Pārada all aforesaid fruits are obtained, and from that made of Tulsī wood one gets devotion to Viṣṇu. But it is important to keep a record of the number of Japas on a Rosary made of the same material from which the Rosary for regular Japa is made of. Extraodinary things are mentioned in the Tantras towards the glorification of a Rudrākṣa

Rosary. Many supernatural descriptions are available in Purāṇas and Tantras about the results of wearing Rudrākṣa. Many Tantra-śāstras are of the opinion that from a Rosary of Rudrākṣa Sādhakas of all sects can derive benefit. Rudrākṣa is extermely beneficial for the worshippers of the five Deities. Just as one has to learn the procedures of worship and Pūjā etc., from the mouth of the Guru, so the procedure for wearing or using a Rosary or Mālā is also to be learnt from the mouth of a Guru.

अथ ध्यानवर्णनम्

७७. ध्यानं वै मन्त्रयोगस्याध्यात्मभावाद्विनिर्गतम् ।
परानन्दमये भावेऽतीन्द्रिये च विलक्षणे ॥ १ ॥
भ्रमद्भिः साधकश्रेयो वाञ्छद्भिर्योगवित्तमैः ॥
उपासनां पञ्चविधां ज्ञात्वा साधकयोग्यताम् ॥ २ ॥
मन्त्रध्यानं हि कथितमध्यात्मस्यानुसारतः ।
वेदतन्त्रपुराणेषु मन्त्रशास्त्रप्रवर्तकैः ॥ ३ ॥
वर्णितं श्रेय इच्छद्भिर्मन्त्रयोगपरस्य वै ।
ध्यानानां वै बहुत्वेऽपि तत्प्रोक्तं पञ्चधैव हि ।
तेषा भावमयत्वेन समाधिरधिगम्यते ॥ ४ ॥

DESCRIPTION OF DHYĀNA
(CONCENTRATION)

77. The Dhyānas of Mantrayoga have originated from spiritual feelings. In accordance with the competence for the worship of the Five Deities the procedures for concentration of Mantrayoga have been laid down for the various Sādhakas on the basis of ideals of roaming deep into the wonderful and blissful king-

dom of feelings beyond senses and the aggregate of various spiritual dispositions. The sages adept in essence of Self-knowledge have described its variou forms in the Vedas and Purāṇas for the benefit of the Mantra Yogīs. Although being numerous, yet all these Dhyānas (forms of Concentrations) are divided according to the worship of the five Deities into five categories All the Dhyānas, however, being of non-misleading disposition, are bestowers of Samādhi.

(रूपभेदवर्णनम्)

७८. भावप्रधानं ध्यानं वै मन्त्रयोगे निरूपितम् ।
कारणब्रह्म वै कार्यं ब्रह्मभावमयं विदुः ॥ ५ ॥
कार्यब्रह्म यथा भावमयं निर्दिश्यते बुधैः ।
भावगम्यं तथा ब्रह्म मनोवाचामगोचरम् ॥ ६ ॥
यथा शब्देन संबद्धा मन्त्रा वै परिकीर्त्तिताः ।
तथा भावेन रूपस्य सम्बन्धो विनिगद्यते ॥ ७ ॥
मन्त्रयोगोपासनाया ध्यानानि निविधानि वै ।
भवानन्त्यं यतस्तस्माद् व्याहृतानि मनीषिभिः ॥ ८ ॥
विजानद्भिर्मन्त्रभेदान् वेदतन्त्रविशारदैः ।
ध्यानानि वर्णितानीत्थं कथ्यन्ते तानि तत्त्वतः ॥ ९ ॥
उद्यत्कोटिदिवाकराभमनिशं शङ्खं गदां पङ्कजम् ।
चक्रविभ्रतमिन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयम् ॥
कोटीराङ्गदहारकुण्डलधर पीताम्बरं कौस्तुभो-
द्दीप्तं विश्वधरं स्ववक्षसि लसच्छ्रीवत्सचिह्नं भजे ॥ १० ॥
भास्वद्रत्नाढ्यमौर्गलः स्फुरदधररुचारञ्जितश्चारुकेशो ।
भास्वान् यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः ॥

विश्वाकाशावकाशे ग्रहगणसहितो भाति यश्चोदयाद्रौ ।
सर्वानन्दप्रदाता हरिहरहृदयः पातु मां विश्वचक्षुः ॥११॥

सिंहस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्या चतुर्भिर्भुजैः ।
शङ्खं चक्रधनुः शरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता ।
आमुक्ताङ्गदहारकङ्कणरणत्काञ्ची क्वणन्नूपुरा ।
दुर्गादुर्गतिहारिणी भवतु नोरत्नोल्लसत्कुण्डला ॥ १२ ॥

खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं ।
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ॥
दन्तघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरम् ।
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्मसु ॥ १३ ॥

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसम् ।
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ॥
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम् ।
विश्वाद्यं विद्याबीजं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥१४॥

FORM-DIFFERENTIATION

78. The Dhyānas described in Mantra Yoga are oriented to the meditational disposition (Bhāva-pradhāna). The Kāraṇa Brahma and the Kārya Brahma are both Bhāvamaya. The Kārya Brahma is no doubt Bhāvamaya, but even the Kāraṇa Brahma, which is inaccessible to mind and language, is accessible to Bhāvanā or meditational disposition. Just as Sound is related to the Mantra so is the Form related to Bhāva. The number of Bhāvas being unlimited, the Dhyānas of the worship of the Five Deities in Mantra Yoga are also numerous. The Yogīs adept in four kinds of Yogas

and the secrets of Tantras, have made some important differentiations of Dhyāna, which are as follows :

Viṣṇu-dhyāna :--

I worship Him who is brilliant like many rising Suns; who holds Śaṅkha, Cakra, Gadā, and Padma; on the sides of whom Lakṣmī and Vasumatīs are seated; who is adorned with various types of ornaments; who wears yellow robe; who is embellished with Kaustubha Maṇi; in whom all the three worlds are contained; and whose chest is adorned with Śrīvatsa sign.

Sūrya-dhyāna :—

That Viśvacakṣu (who has an eye for all the worlds) Sun-god should protect me, whose head is adorned with finest of the jewels; who is resplendent with the brilliance of his shining lips; whose hairs are beautiful; who contains supernatural glittering brilliance; whose two hands are like lotuses; is golden-hued in his replendence; who with planets adorns the mountain of Sunrise and from whom the entire human world derives pleasure.

Śakti-dhyāna :—

That Durgā may remove all our troubles who is seated on a lion, who is of green-complexioned like an emarald, who is holding Śaṁkha, Cakra, Bow and Arrow in her four hands; who is adorned with three eyes and who is embellished with ornaments like Aṅgada, Hara, Kaṅkaṇa, Kañci and Nūpura.

Gaṇeśa-dhyāna :—

Salutation to that Pārvatī's son Gaṇeśa whose structure is Kharva (Dwarfish), whose body is fat, whose

face is like the Moon, whose belly is large, who is beautiful, from whose temples is exuding Mada (an intoxicating fluid) attracted from the smell of which the black bees are producing a humming sound, who tears the enemies from the strike of his teeth and creates beauteous Sindūra from their blood, and who gives Siddhis in all kinds of rites and works.

Mahādeva-dhyāna :—

One should constantly concentrate upon the five-faced and three-eyed Mahādeva who is white complexioned like a silver mountain; whose head is ornamented with the Moon; who is embellished with various jewels and ornaments; in whose hand are contained the Parśu, Mṛga, Vara and Abhaya; who is seated in Padmāsana; whom all the Deities pray; whose clothing is lion skin; and who is the seed (Bīja) of the entire Universe.

(विशेषरूपभेदवर्णनम्)

७९. विष्णोः सूर्यस्य शक्तेश्च गणेशस्य शिवस्य च ।
मुख्यानि पञ्च रूपाणि पञ्चोपासनभेदतः ॥ १५ ॥

तन्त्रेषु मन्त्रशास्त्रेषु पुराणेषु तथैव च ।
निर्दिष्टा बहवो भेदास्तेऽत्रैवान्तर्भवन्ति वै ॥ १६ ॥

साधकस्य हि प्रकृतिं प्रवृत्तिमनुसृत्य च ।
यथाधिकारं रूपस्योपदेशः प्राप्यते गुरोः ॥ १७ ॥

यो यस्य सम्प्रदायः स्याद्या च वै कुलदेवता ।
तावेव तस्य निर्दिष्टौ तन्त्रेषु परमर्षिभिः ॥ १८ ॥

युक्तियुक्तमिदं भाति यतः कुलक्रमागता ।
प्रकृतिः पैतृकगुणासाधकेषु विलोक्यते ॥ १९ ॥
परं यथाधिकारं वै ह्युपदेशः शुभावहः ॥ २० ॥
उपासनाया भेदस्य बहुत्वेऽपि प्रदर्श्यते ।
भेदस्तन्त्रेषु यो विज्ञैर्वर्णितस्तन्त्रमार्मिकैः ॥ २१ ॥
अनुसृत्योपदेष्टव्यो देवोपासनपद्धतिम् ।
विधिं चैते च द्रष्टव्ये तन्त्रशास्त्रेषु योगिभिः ॥ २२ ॥
उपासनायाः साहाय्यं करोत्युपनिषत् स्फुटम् ।
पुराणकथिताः पञ्चगीताश्चापि सहायिकाः ॥ २३ ॥
मन्त्रयोगाङ्गपूर्णाश्च पद्धत्या सहिताश्च वै ।
रहस्यग्रन्थाः सप्त स्युर्वैष्णवे सम्प्रदायके ॥ २४ ॥
सौर्ये द्वौ शक्तिपूजायां चतुर्विंशति कल्पिताः ।
शैवे पञ्चत्रयः प्रोक्ता गाणपत्ये प्रधानतः ॥ २५ ॥
गणेशस्य च प्राधान्याद्रूपभेदो द्विधा मतः ।
क्वचिच्च त्रिविधः प्रोक्तो मताः श्रेयस्करा इमे ॥ २६ ॥

DESCRIPTION OF SPECIAL FORM-DIFFERENTIATION

79. According to the worship of the five Deities there are five chief forms of Viṣṇu, Sūrya, Durgā, Gaṇapati and Śiva. The works of Mantra, Tantra and Purāṇas contain numerous differentiations of these five. But all these, inspite of being many, come under these very five forms. A competent Sādhaka receives the instructions about the form of the Deity according to his qualifications, nature and disposition, from his Guru. In the Tantra, at places there is also a provision that it is proper to give instruction to a Sādhaka about the

form only of that Deity, in whose sect he is born, and who is his family Deity This sanction is reasonable, because there is always a possibility that the Sādhaka will inherit his parental qualities and dispositions originating in his own family. However, it is more beneficial to impart instruction according to the competency of a Sādhaka. Inspite of many divisions in the worship of the Five Deities, here are being described only the important ones in the form they are expounded in the Tantras.

The instructions should be given according to the procedure of worship and method of respective Deities. The procedure and methods can be found in various Tantras. Many Upaniṣads are helpful in the worship of Five Deities. The five Gītās described in the Purāṇas are also helpful in the worship of the Five Deities. Complete with all the organs of Mantrayoga and also containing the procedure of worship are the secret books whose numbers are seven for the Vaiṣṇava sect, two for the Saurya, twentyfour for the Śākta, five for Saiva, and three for the Gāṇpatya. According to some sects there are two chief form-distinctions of Gaṇapati while some others make it three. In the respective worship of different persons these secret books are of supreme help.

(ध्यानभेदवर्णनम्)

८०. मन्त्रयोगानुसारेण तन्त्रशास्त्रविधानतः ।
ध्यानं सप्तविधं ख्यातं विष्णुदेवस्य पूजने ॥ २७ ॥
चतुर्विंशतिरूपं च ध्यानं वै शक्ति दैवतम् ।
शङ्करोपासनायां च ध्यानं पंचविधं मतम् ॥ २८ ॥

श्रीसूर्यस्य समर्चायां तथा गणपतेः पुनः ।
उपासनासु कथिते ध्याने द्वे रूपकल्पिते ॥ २९ ॥
ध्यानमिष्टस्वरूपस्य वेदनं मनसा खलु ।
ध्यानमेव हि जन्तूनां कारणं वन्धमोक्षयोः ॥ ३० ॥
ध्यायेद् यथा यथात्मानं तत्समाधिस्तथा तथा ।
ध्यात्वैवात्मनि संस्थाप्यो नान्यथात्मावशो भवेत् ॥ ३१ ॥
एवमेव हि सर्वत्र यत् प्रसक्तस्तु यो नरः ।
तथात्मा सोऽपि तत्रैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ ३२ ॥
अभिन्नतां यथा गच्छेत् नद्यम्बु जलधिस्थितम् ।
तथात्माभिन्न एवात्र तद्भावं समवाप्नुयात् ॥ ३३ ॥

DESCRIPTION OF THE KINDS OF DHYĀNA

80. According to Mantra and Tantra Śāstras the Yogis have stated seven kinds of Dhyāna in the worship of Viṣṇu. In the worship of Bhagavatī the number and forms of Dhyānas have been imagined to be twenty-four. In the worship of Mahādeva five kinds of Dhyānas have been assumed. In the worship of Sūrya and Gaṇeśa the number of Dhyānas assumed are two for each. The knowledge of the form of Iṣṭadevatā through one's own mind is called Dhyāna Dhyāna alone is the cause of knowledge and emancipation of man. As the self-concentration (Ātma-dhyāna) of a person increases gradually, so he attains the Samādhi. The Ātmā can be subjugated only through Dhyāna—there is no other way for this. In this manner wherever the Ātmā of a person becomes devoted, there the person attains Samādhi. Just as the water of a river becomes one with seawater after falling in the sea—

that is, the river water then loses its independent existence; so also after obtaining the State of Tadbhāva (becoming that) the Ātmā of a person becomes one with Him.

(अथ समाधिवर्णनम्)

८१. समाधिर्लययोगस्य महालय इतीरितः ।
हठस्य च महाबोधो यथायोगपरायणैः ।
तथैव मन्त्रयोगस्य महाभावः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
ध्यानाधिकारः सम्प्रोक्तो यावद्वै त्रिपुटीस्थितिः ।
विलीनायां च तस्यां वै महाभावसमुद्भवः ॥ २ ॥
मन्त्रसिद्ध्या देवतायां विधाय मनसो लयम् ।
त्रिपुटीनाशतो योगी समाधिमधिगच्छति ॥ ३ ॥
मनो मन्त्रस्तथा देवो ज्ञायते प्रथमं पृथक् ।
ततः परस्परं तत्तज्ज्ञाने लीनं प्रजायते ॥ ४ ॥
ध्येय-ध्यातृ-ध्यान-रूपत्रिपुटीविलयो भवेत् ॥ ५ ॥
इमामवस्थां संप्राप्य साधकेषु प्रजायते ।
रोमोद्गमस्तब्धता च तथाऽऽनन्दाश्रुवर्षणम् ॥ ६ ॥
क्रमेण च मनोलीने समाधिः किल जायते ।
समाधिना भवन्त्याशु कृत्यकृत्या हि साधकाः ।
महाभावोपलब्धिर्हि मन्त्रयोगेऽन्तिमं फलम् ॥ ७ ॥

DESCRIPTION OF SAMĀDHI

81. Just as the Samādhi of Laya-yoga is called Mahālaya and the Samādhi of Haṭha-yoga called Mahābodha so the Samādhi of Mantra-Yoga is called Mahābhāva. So long as there is existence of Tripuṭī there remains a competence for Dhyāna. The Mahā-

bhāva arises when there is an absorption of Tripuṭī. Along with the attainment of Mantra-siddhi (ability to make a Mantra efficacious) when there is absorption of mind into the Deity and the Tripuṭī is destroyed then a Yogī attains Samādhi. In the beginning there are individual and independent cognitions of the mind, Mantra, and the Deity, but when all these three cognitions are mutually absorbed there is also an absorption of the Tripuṭī—that is of the Dhyātā (one who is performing Dhyāna), Dhyāna and the Dhyeya (object of Dhyāna). It is in this state that the symptoms of tears of joy and thrill of the hair (Romāñca) develop. Gradually there is absorption of the mind and the state of Samādhi arises. Through the attainment of Samādhi a Sādhaka becomes fulfilled in his objectives. This is the attainment of Mahābhāva, the supreme objective of Mantra Yoga.

(मनोविज्ञानवर्णनम्)

८२. अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मधारकम् ।
अधिभूतश्च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ८ ॥

मनो महान् मतिर्ब्रह्मापूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञासंवित् चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥ ९ ॥

पर्य्यायवाचकाः शब्दा मनसः परिकीर्तिताः ॥ १० ॥

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो ।
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता ।
कर्माऽनिन्दितमस्पृहा च विनयो धर्मे सदैवादरः ।
एतेसत्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणाज्ञानिभिः ॥११॥

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाऽधिका ।
दम्भः कामुकताप्यलीकवचनं चाधीरताऽहङ्कृतिः ॥
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशयिताऽऽनन्दोऽधिकश्चाटनं ।
ख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैतेगुणाश्चेतसः ॥ १२ ॥
नास्तिक्यं सुविषण्णताऽतिशयिताऽलस्यं च दुष्टामतिः ।
प्रीतिर्निन्दित कर्मशर्मणिसदा निद्रालुताहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततंक्रोधान्धतामूढ़ता ।
ख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥ १३ ॥
साधकानां मनः सत्वप्रधानं हितकारकम् ।
तद्वारैव परानन्द लभन्ते साधकाः जनाः ॥ १४ ॥
भूमयः पञ्चमनसः षतञ्जलिमुनेर्मताः ।
क्षिप्ता तथा च विक्षिप्ता मूढैकाग्रा ततः परा ॥ १५ ॥
निरुद्धा पञ्चमी बोध्या यस्याः प्राप्तिः सुदुर्लभा ।
एकाग्रतासहायेनाप्नुयात्तां साधकोत्तमः ॥ १६ ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासङ्गि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ॥ १६ ॥
मनःस्थं मनमध्यस्थं मध्यस्थं मनवर्जितम् ।
मनसा मनमालोक्य स्वयं सिध्यन्ति योगिनः ॥ १८ ॥
इत्थ मनः सुसंयम्य योगिनो यतमानसाः ।
भवाम्भोधिं समुत्तीर्य यान्तिधाम परात्परम् ॥ १९ ॥

इत्यध्यात्मविद्यायां योगशास्त्रे समाप्तेयं

मन्त्रयोगसंहिता

DESCRIPTION OF MANOVIJÑĀNA

82. Mānas (mind), the container of five elements, is Adhyātma; Saṁkalpa is Ādhibhūta; and Candramā the Ādhidaiva. Mana, Mahān, Mati, Brahmā, Pūḥ, Buddhi, Khyāti, Īśvara, Prajñā, Samvit, Citi, Smṛti—all these are synonymous of Mānas. Āstikya (piety), sharing food, Anuttāpa, truthfulness, Medhā (intellect), Buddhi, Dhṛti (firmness), Kṣmā (pardon), Dayā (mercy), Jñāna (knowledge), refrain from pride, non-indulgence in condemned actions, Niḥspṛhatā (freedom from desires), Vinaya (submissiveness) and Dharma (religiousness), have been stated by the wise to be the qualities of a Sāttvika Mānas.

Krodha (anger), interest in punishment, too much sorrow, desire for more comfort, Dambha (haughtiness), Kāmukatā (passion), Untruthfulness, lack of patience, Egoism, Pride emanating from wealth, too much pleasure-seeking, too much roaming—all these are qualities of a Rājasika Mānas.

Nāstikatā (athiesm), Viṣāda (sorrow), too much sloth, crookedness, fear, indulgence in condemned actions, always averse to good deeds, Ajñāna (lack of knowledge), too much anger, foolishness—all these are qualities of a Tāmasika Mānas.

The Sattva-dominated mind is extremely beneficial for Sādhakas, because a man can attain supreme bliss through it. According to the opinion of sage Patañjali there are five Vṛttis (mental modifications) of mind, viz. Kṣita, Vikṣipta, Mūḍha, Ekāgra, and Niruddha. The first is most difficult to achieve. Through Ekāgratā

(one pointedness) a Sādhaka does attain that fifth mental modification. The Mānas (mind) is the cause of bondage and also emancipation of man. When it is attached to the subjective world it is a cause of bondage; but when it is free of such subjective attachments then a Sādhaka attains emancipation. The Yogīs attain success by seeing through the mind the inner mind, that mind which is independent of the peripheral mind. Thus restraining the mind a composed Yogī crosses the world-ocean and attains the Supreme State.

Here ends the translation of the Tantra named
Mantra Yoga Saṁhitā.

SANSKRIT INDEX

ENGLISH INDEX

“सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन”

(कोटा जिले में योग गतिविधियों एवं इसके सामाजिक प्रभाव का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)

“Siddha Yoga and Social Change”

(A Sociological Study Of Yoga Activites & Its Social Impact In Kota District)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की पी.एच.डी.(समाजशास्त्र) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

(सामाजिक विज्ञान संकाय)

शोधकर्ता

नाज़िया खिलजी

शोध निर्देशक

प्रो. एस. सी. राजोरा (सेवानिवृत्त)

सामाजिक विज्ञान विभाग

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

2017

Thesis Approval for Doctor of Philosophy

This thesis entitled **"SIDDHA YOGA & SOCIAL CHANGE" (A SOCIOLOGICAL STUDY OF YOGA ACTIVITIES & ITS SOCIAL IMPACT IN KOTA DISTRICT)** by NAZIYA KHILJI to the Department of Social Science, University of Kota, Kota , is approved for the award of Degree or Doctor of Philosophy.

Examiners

. . . .

. . . .

Supervisor (s)

. . . .

....

Date: ....

Place: ....

(Certificate to be given by the Supervisor)

CERTIFICATE

I feel great pleasure in certifying that the thesis entitled **"SIDDHA YOGA & SOCIAL CHANGE" (A SOCIOLOGICAL STUDY OF YOGA ACTIVITIES & ITS SOCIAL IMPACT IN KOTA DISTRICT)** is submitted by NAZIYA KHILJI under my guidance. She has completed the following requirements as per Ph.D regulations of the University

(a) Course work as per the university rules.

(b) Residential requirements of the university (200 days).

(c) Regularly submitted annual progress report.

(d) Presented her work in the departmental committee.

(e) Published/accepted minimum of one research paper in a referred research journal.

I recommend the submission of thesis.

Date:

Professor S. C. Rajora

Retired Professor of Social Science

University of Kota, Kota.

(RAJ)

CANDIDATE'S DECLARATION

I hereby certify that the work, which is being presented in the thesis, entitled **"SIDDHA YOGA & SOCIAL CHANGE" (A SOCIOLOGICAL STUDY OF YOGA ACTIVITIES & ITS SOCIAL IMPACT IN KOTA DISTRICT**) in partial fulfilment of the requirement for the award of the Degree of Doctor of Philosophy, carried under the supervision of Retired Professor S. C. Rajora and submitted to the Department of Social Science, University of Kota, (Kota), represents my ideas in my own words and where others ideas or words have been included. I have adequately cited and referenced the original sources. The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any other degree of diploma from any Institutions. I also declare that I have adhered to all principals of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea/data/fact/source in my submission. I understand that any violation of the above will be cause for disciplinary action by University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited or from whom proper permission has not been taken when needed.

NAZIYA KHILJI

Date: ....

This is to certify that the above statement made by NAZIYA KHILJI is correct to the best of my knowledge.

Date:

Professor S. C. Rajora
Retired Professor of Social Science
University of Kota, Kota
(RAJ)

प्रस्तावना

विश्व को भारत की सबसे बड़ी देन योग है। योग भारतीय संस्कृति का मूल है। सुख और शांति के लिये ही सारी दुनिया के लोग धर्म के मार्ग का अनुसरण करते हुए दिव्य चेतना को जागृत करने का प्रयास करते हैं, इस दिव्य चेतना को ही "ब्रह्म या परमात्मा" कहा गया है दिव्य चेतना से साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम ही योग है। योग का अर्थ है मिलन। आत्मा का परमात्मा में मिलना ही योग साधना का परम लक्ष्य है एवं सिद्धयोग परम्परा झिलमिलाते मणिदीपों की एक लड़ी है जो पुरातन काल से अब तक अज्ञान और मोह के अन्धकार को परास्त करती आई है।

सिद्धयोग का मार्ग वह मार्ग है जिस पर महान संत चले हैं सिद्धयोग की परम्परा महान व लम्बी है जिसका अस्तित्व सृष्टि के आरम्भ से है। सिद्धयोग को महान योग कहा जाता है क्योंकि इसमें अन्य सभी योगों का समावेश है जैसे हठयोग, भक्तियोग, क्रियायोग, लययोग, ज्ञानयोग आदि।

पूरे अध्ययन को छः खण्डों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय – प्रस्तुत अध्याय विषय–प्रवेश का है। शोध कार्य के प्रस्तुत अध्याय में योग एवं सिद्धयोग के अवधारणात्मक पहलू को प्रस्तुत किया गया है। जिसके अन्तर्गत शोध कार्य का समाजशास्त्रीय महत्व, योग की अवधारणा, व्यवहारिक महत्व, अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस, योग का आरम्भ, भारत में योग का स्थान, प्रचलित षड्–दर्शनों में योग का स्थान, योग के उद्देश्य, प्रकार, एवं प्राचीन पुस्तकों में योग इत्यादि के बारे में बताया गया है एवं अध्याय का विषय बिन्दु सिद्धयोग का आरम्भ, नाथ सम्प्रदाय में सिद्धो के नाम, पंथ एवं सिद्धयोग क्या है, इसके लाभ को प्रस्तुत करना रहा है।

द्वितीय अध्याय – इस अध्याय में प्रयुक्त शोध–प्रविधि और तथ्य–संकलन के लिये उपयोग में लिये गये उपकरणों का विवेचन किया है। इसमें अध्ययन के उद्देश्य और सीमाओं को भी स्पष्ट किया गया है। विषय पर किये गये साहित्य समीक्षा को भारतीय शास्त्रों में योग के अवधारणात्मक एवं सैद्धान्तिक पहलू व शोध अध्ययनों के विश्लेषणात्मक पहलूओं के रुप में वर्णन को भी इसके अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय – इसमें योग एवं सिद्धयोग प्रवर्तकों के द्वारा कराये जा रहे योग अभ्यास को वर्णित किया है। जिसके अन्तर्गत प्राचीन काल व वर्तमान में प्रचलित 5 योग गुरुओं का वर्णन है। सभी योग गुरुओं के जीवनकाल को प्रस्तुत किया है सर्वप्रथम सिद्धयोग के

प्रवर्तक रामलाल सियाग के सम्पूर्ण जीवनकाल, उनके आध्यात्मिक जीवन के अनुभव, सिद्धयोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि आदि का विवरण प्रस्तुत अध्याय में बताया गया है।

उसके पश्चात योग के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि के जीवनकाल का चित्रण, उनकी कृतियों, प्रमुख ग्रंथ, योगसूत्र एवं योग के प्रति इनकी अवधारणाओं एवं किस प्रकार महर्षि पतंजलि ने उस समय के प्रचलित प्राचीन अभ्यासों को व्यवस्थित व वर्गीकृत किया और इससे संबंधित ज्ञान को पातंजलियोगसूत्र नामक ग्रन्थ में क्रमबद्ध तरीके से व्यवस्थित किया आदि को अध्याय में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसके पश्चात् अरविन्द के जीवनकाल का चित्रण एवं उनका योग के प्रति क्या दृष्टिकोण है ? इसकी जानकारी भी प्रस्तुत अध्याय से मिलती है। इसी क्रम के सिद्धयोगी मुक्तानंद द्वारा कुण्डलिनी जागरण के बारे में बताया गया है। जिसमें शक्तिपात के महत्व का व इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन किया गया है।

अन्त में रामदेव के जीवन चरित्र, उनके योगदान की समीक्षा को प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा करवाये जा रहे प्राणायाम, योगासान व व्यायाम के प्रकारों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय – प्रस्तुत अध्याय में गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से लाभन्वित उत्तरदाताओं की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि की जानकारी व सिद्धयोग के विभिन्न घटकों के बारे में बताया है। समकालीन समाज में योग एवं सिद्धयोग के विविध आयाम को समझाने का प्रयास किया गया है जिसके अर्न्तगत आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र, चिकित्सा के क्षेत्र व शिक्षा के क्षेत्र में इसका महत्व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में किस प्रकार मुख्य भूमिका निभा रहा है। सिद्धयोग में ध्यान के द्वारा साधक शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक व्याधियों से मुक्त हो रहा है, एवं किस प्रकार मानव को स्वस्थ जीवन व अरोग्यता प्रदान कर रहा है, इन सभी पहलुओं को प्रस्तुत अध्याय में समझाने का प्रयास किया है।

पँचम अध्याय – गुरु सियाग के सिद्धयोग अपनाने से आने वाले प्रभाव व परिवर्तन के बारे में, तथ्यात्मक रूप से सारणी के आंकड़ो एवं 6 केस स्टडी के माध्यम से प्रस्तुत अध्याय में समझाने का प्रयास किया गया है।

छठा अध्याय – अन्तिम अध्याय में अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर उपकल्पना की जाँच की गई, साथ ही आमजन व सरकार को दिए गऐ सुझावों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है।

समाजशास्त्र में सिद्धयोग के संदर्भ में किये गये अध्ययन का अभाव है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत अध्ययन मेरी ओर से व्यापक अध्ययन का आधार तैयार करने के लिये लघु प्रयास है।

आभार

प्रस्तुत शोध कार्य के लिये सर्वप्रथम मैं उस ईश्वरीय सत्ता व गुरुदेव रामलाल सियाग का आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी प्रेरणा और आशीर्वाद से ही यह शोध कार्य सम्पन्न हो पाया।

मैं अपने शोध निर्देशक प्रो. एस. सी. राजोरा (सेवानिवृत्त), कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन, महत्वपूर्ण सुझावों एवं निरन्तर प्रेरणादायी मधुर व्यवहार के चलते यह शोध कार्य संभव हो पाया है। इस पूरे अध्ययन में आपने मेरी हर संभव मदद की। साथ ही अध्ययन के सफलतापूर्वक सम्पादन में हर कदम पर मेरा उत्साहवर्धन किया।

मैं अपने परिवारजनों, मित्रों एवं शुभचिन्तकों की भी आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा, निरन्तर सहयोग, समय–समय पर महत्वपूर्ण सुझावों व मार्गदर्शन द्वारा मेरा यह कार्य पूरा हो पाया।

शोधकर्ता

नाज़िया खिलजी1

अनुक्रमणिका

सारणी सूची

अध्याय–1

योग एवं सिद्धयोग का अवधारणात्मक पहलू

- शोध कार्य का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- योग की अवधारणा
- योग का आरम्भ
- भारत में योग का स्थान
- भारत के प्रचलित षड्–दर्शनों में योग का स्थान
- योग के उद्देश्य
- योग के प्रकार
- प्राचीन पुस्तकों में योग
- सिद्धयोग का आरम्भ

अध्याय 1

योग एवं सिद्धयोग का अवधारणात्मक पहलू

आज सम्पूर्ण जगत में निराशा, आक्रोश, अशांति और असंतोष का प्रभाव है। मनुष्य इन सब से इस तरह से घिर चुका है, कि वह जगत के कल्याण की सोच भी नहीं पा रहा है। हमारे चारों ओर प्रकृति का संकट भी मंडरा रहा है, इन सब से निजात पाने के लिए इस समय हमें जीवन में शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक संतुलन की जरूरत है। उपरोक्त त्रिक के समन्वय को स्थापित करने के लिए योग अति आवश्यक है।

आधुनिक जगत में योग का महत्व बढ़ गया है। इसके बढ़ने का कारण व्यस्तता है जबकि मन और शरीर अत्यधिक तनाव, वायु प्रदूषण तथा भागमभाग के जीवन में रोग ग्रस्त हो चला है। आधुनिक व्यक्ति का चित या मन अपने केन्द्र से भटक गया है। अंतर्मुखी और बहिर्मुखी होने में संतुलन नहीं रहा है। आध्यात्मिक उन्नति या शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए योग की आवश्यकता व महत्व को प्रायः सभी दर्शनों एवं भारतीय सम्प्रदायों ने एकमत व मुक्त कंठ से स्वीकारा है। योग पूर्ण रूप से प्रायोगिक विज्ञान है। योग जीवन जीने की कला है। योग एक पूर्ण चिकित्सा पद्धति है।

हमारे भारत वर्ष को योग विद्या को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। योग ही एक ऐसा मार्ग है जिससे मानव सब दुखों से मुक्त होकर अपने जीवन को आनंदमय व दीर्घायु बना सकता है। योग से विमुख होने के कारण ही आज हर व्यक्ति दुखी तथा व्यथित है। आज व्यक्ति अपनी शारीरिक निस्तेजता खोता जा रहा है। अल्पायु में ही नाना प्रकार के रोगों ने उम्र से पहले ही व्यक्ति को बूढ़ा बना दिया है।

योग दर्शन एक मानवतावादी सार्वभौम, सम्पूर्ण जीवन दर्शन है और भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। इस भौतिकवादी क्लेशमय जीवन में योग की सबसे अधिक आवश्यकता है। योग एक ऐसी वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति है जो व्यक्ति को सदैव प्रसन्नचित्त रखती है, उसमें अनन्त ज्ञान का भंडार भरती है तथा मन पर नियंत्रण करने की क्षमता विकसित करती है। जड़ तत्व से प्राण और फिर प्राण से मन और मन से परे विज्ञान, तत्पश्चात पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। योग उस दिशा में मानवता को ले जाने वाला एक प्रशस्त मार्ग है। यद्यपि योग साधना वैयक्तिक है, परन्तु उसका परिणाम सार्वजनिक है, क्योंकि इसका उद्देश्य मनुष्य को अति मानसिक स्तर तक ले जाना है। योग अत्यन्त प्राचीन

विज्ञान है। योग मुख्यतः हमें जीवन जीने की शैली सिखाता है। सभी प्रकार की परिस्थितियों में सदैव एक समान रहने की कला ही योग है। योग वर्तमान समाज के लिए जो कि अनेक रोगों व सामाजिक व्याधियों से पीड़ित हैं, वरदान है। योग प्राचीन भारतीय परम्परा का अमूल्य उपहार रहा है (चुतुर्वेदी 2007ः 6)।

शोध कार्य का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य–

योग एवं सिद्धयोग भारतीय सामाजिक संरचना का एक अत्यन्त अहम बिन्दु है। यह हिन्दु जीवन शैली के चार उद्देश्यों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की धुरी है जो "वसुधैव कुटुम्बकम्" की धारणा का आधार स्तम्भ है। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रुप से चलाने के लिए गुण व कर्मों के आधार पर समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया ठीक इसी प्रकार समाज को कैसे एक सूत्र में बनाऐ रखें इसी संदर्भ में योग एवं सिद्धयोग का उल्लेख किया है। आगस्त कॉम्टे की एकमत सार्वभौमिकता इस बात का प्रतीक है कि सार्वभौमिक एकमतता समाज का अस्तित्व के लिए आवश्यक है उनका यह भी विचार है कि छोटी–छोटी इकाईयों का समग्र से मिलना और समाज के विभिन्न भागों में पारस्परिक निर्भरता पाया जाना एक स्वभाविक सी बात है क्योंकि इनमें पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है (कॉम्ट 1855) इसी प्रकार योग एवं सिद्धयोग भी समाज का ही एक अंग है। कूले ने किसी न किसी रुप में सावयवी एकता पर अपने विचार व्यक्त किये हैं (कूले 1909)। दुर्खीम ने भी धर्म व समाजशास्त्र के संदर्भ में समाज को ही प्रमुख और व्यक्ति को गौण माना है। इस दृष्टि से योग एवं सिद्धयोग सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को जोड़ने वाला है क्योंकि समाज का अस्तित्व ही व्यक्ति के अस्तित्व को बनाता है (दुर्खीम 1934)।

रेड़क्लिफ ब्राउन मे भी समाज को प्रकार्यात्मक एकता के रुप में देखा है इस एकता का आधार विभिन्न सामाजिक इकाईयों में प्रकार्यात्मक सम्बद्धता है, योग एवं सिद्धयोग भी इसी की एक इकाई है (ब्राउन 1952)।

मैलिनावैस्की ने लिखा है कि प्रत्येक संस्था एक ओर सम्पूर्ण समुदाय की क्रियाशीलता में योगदान करती है किन्तु दूसरी ओर यह व्यक्ति की अर्जित एवं मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है इस संदर्भ में समाज की इकाई के रुप में योग एवं सिद्धयोग समाज के अस्तित्व के लिए सामंजस्य और वैयक्तिक इकाई के रुप में सतोगुण,

तमोगुण एवं रजोगुण की आवश्यकताओं में संतुलन को बनाये रखता हैं (मैलिनोवस्की 1926)।

आधुनिक समाजशास्त्रियों में टॉलकाट पारसन्स ने क्रिया व्यवस्था रुप में माना है और क्रिया व्यवस्था विभिन्न अंगों से मिलकर बनती है समाज के प्रमुख चार आधार माने है–

1. व्यक्तिक व्यवस्था

2. सामाजिक व्यवस्था

3. सांस्कृतिक व्यवस्था

4. जैविकीय व्यवस्था (पारसन्स 1937)।

पारसन्स का मत है कि समाज में सन्तुलन और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सदस्यों के स्वीकृत आदर्श के अनुकूल चलने की प्रेरणा देने वाला एक आर्दशात्मक प्रतिमान भी प्रत्येक समाज में होता है, वर्तमान में योग एवं सिद्धयोग समाज को संतुलित करने में योगिक क्रियाओं के माध्यम से समाज की व्यवस्था बनाऐ हुआ है। भारतीय समाज की जीवनशैली के रुप में योग एवं सिद्धयोग भी एक प्रतिमान है (पारसन्स 1952)। सामाजिक विघटन और पुर्नर्निमाण समाज की कोई एकाकी व्यवस्था नहीं हैं। इसमें जहाँ एक और संगठित करने वाले अच्छे तत्व हैं वही विघटित करने वाले बुरे तत्व भी पाये जाते हैं। थॉमस और नैनकी ने किसी भी समूह के सदस्यों को नियंत्रित करने वाले व्यवहारों की प्रभावहीनता माना हैं।

ए.के. कोहन ने इसे विचलित व्यवहार जबकि वुडलैड एवं सदरलैण्ड ने इसे "रुढ़ियों एवं संस्थानों " में संघर्ष माना है (कोहन 1982)। मर्टन ने सामाजिक विघटन को सामाजिक संरचना के संदर्भ समझाने का प्रयास किया है (मर्टन 1962)। ठीक इसी प्रकार योग एवं सिद्धयोग से सामाजिक विघटन को रोका जा सकता है एवं इससे समाज संगठित रहेगा। दुर्खीम ने इसे प्रोद्यौगिक परिवर्तन का परिणाम माना है (दुर्खीम 1938)।

भारतीय समाज के संदर्भ में यदि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखे डालें तो तुर्क, हुण, कुषाण एवं मुसलमानों की विदेशी शैली आक्रमणों के पूर्व यहाँ की जीवन शैली "सादा जीवन उच्च विचार" व "वसुधैव कुटुम्बकम्" से ओतप्रोत थी। योग केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से और शारीरिक कसरत का केन्द्र बिन्दु नहीं था, यह हिन्दू जीवन शैली का आधार स्तम्भ

था जिसमें सत, तम व रज वृत्ति का संतुलन था। प्रस्तुत शोध में उल्लेख है कि योग एवं सिद्धयोग का अभ्यास व्यक्ति में तमो व रजो वृत्ति को सतो वृत्ति में परिवर्तित कर रहा हैं।

भारतीय समाज की तीन अनूठी संस्थाओं में संयुक्त परिवार, जाति व्यवस्था व ग्रामीण समुदाय में विदेशी आक्रमणों के बावजूद भी इन मूल्यों और परम्पराओं को जीवित रखा।

यदि मर्टन की भाषा में कहें तो एक अनुपयोगी मूल्य के रुप में इसके प्रकार्य कम होने लगा है (मर्टन 1962)। भारतीय संस्कृति पर पश्चिमीकरण का प्रभाव इतना अधिक हुआ कि भौतिकवाद आडम्बर, खानपान वृत्ति, आदतों, व्यवहार, आहार–विहार सब में परिवर्तन हुआ है। परम्पराओं एवं आधुनिकता में द्वन्द की स्थिति उत्पन्न हुई जिसने सामाजिक समस्याओं और सामाजिक विघटन को जन्म दिया है। श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण का प्रभाव अलग–अलग समूहों पर अलग–अलग पड़ा। ब्राह्मणों की वेशभूषा, ज्ञान–विज्ञान पर प्रभाव पड़ा लेकिन भोजन, नृत्य, शिकार, अशुद्धता से मुक्ति आदि को स्वीकार नहीं किया और अपने बच्चों को पश्चिमी स्कूलो में अंग्रेजी में शिक्षा प्राप्त करने को भेजा तात्पर्य यह है कि पश्चिमीकरण के परिणामस्वरुप लघु और वृहत् दोनों परम्परायें को प्रभावित हुई और योग केवल ऋषि – मुनियों का है, अभिजात वर्ग, उपयोगी वर्ग एवं और अन्य समाजों से लगभग योग लुप्त हो गया है पश्चिमीकरण के परिणामस्वरुप जन सामान्य के मूल्यों विचारधारा, आदतों में परिवर्तन आया (डेविस 1945)।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् समाज सुधारकों के प्रयत्नों में भारतीय समाज का पुर्ननिर्माण हुआ और धीरे–धीरे अनेक कुरीतियों जैसे बाल विवाह, विधवा विवाह, अस्पृश्यता आदि के उन्मूलन के साथ पुनः योग जन सामान्य की आधुनिक युग में योग मन, वचन, कर्म से नहीं बल्कि शारीरिक व्याधियों, मानसिक व्याधियों को दूर करने के रुप में उभर कर आया है।

योग की अवधारणा

ऐसा माना जाता है कि जब से सभ्यता शुरु हुई है तभी से योग किया जा रहा है। योग की उत्पत्ति हजारों साल पहले हुई थी, पहले धर्मों या आस्था के जन्म लेने के काफी पहले हुई थी। योग विद्या में शिव को पहले योगी या आदि योगी तथा पहले गुरु या आदि

गुरु के रुप में माना जाता है। भारतीय योग जानकारों के अनुसार योग की उत्पत्ति भारत में लगभग 5000 वर्ष से भी अधिक समय पहले हुई थी। परन्तु कुछ भारतीय विद्वानों का मानना है कि योग की उत्पत्ति लगभग 2500 वर्ष पहले हुई थी और यह समय भारत में गौतम बुद्ध अर्थात् बौद्ध धर्म के संस्थापक का माना गया है। योग की आर्श्चयजनक खोज 1920 के शुरुआत में हुई। 1920 में पुरातत्व वैज्ञानिकों ने तथाकथित सिन्धु सरस्वती सभ्यता को खोज कर संसार को आश्चर्य में डाल दिया। वास्तव में यह सभ्यता पुरातन युग की सबसे बड़ी सभ्यता थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के बड़े नगरों के भवनों की खोज करने वालों ने पाया कि मुद्राओं पर अंकित आकृतियाँ योगी की आकृति से मेल खाती है।

ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक ज्ञान के आधार पर योग का विकास क्रमशः ज्ञात सभ्यताओं में सबसे प्राचीन सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता से शुरु होकर निम्नानुसार हुआ। ऐतिहासिक विकास क्रम को व्यवस्थित करने हेतु पुरातात्विक धरोहरों एवं प्राचीन साहित्य को आधार बनाया गया है। काल क्रम के अनुसार योग का ऐतिहासिक विकास निम्नलिखित प्रकार से है

– पूर्व वैदिक काल
– वैदिक काल
– उपनिषदों का काल
– महाकाव्य काल
– सूत्र काल
– स्मृति काल
– पौराणिक काल
– मध्य काल
– पूर्व–आधुनिक काल
– 21वीं शताब्दी का प्रारम्भ काल (http://www.yogamdniy.nic.in)।

योग का अर्थ

योग शब्द संस्कृत की "युज" धातु से बना है, जिसका अर्थ है समाधि और मिलान। महर्षि व्यास ने योग को समाधि वाचक माना है। जिसमें मन को भलीभाँति समाहित किया जाये उसे समाधि और आत्मा का परमात्मा से मेल को योग कहा है। योगः समाधिः व्यास भाष्य (योग दर्शन/1/1) व्याकरणशास्त्र में "युज" धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द की व्युत्पत्ति होती है। जिसका अर्थ ऋषि पाणिनी धातुपाठ के

दिवादिगण में "युज समाधौ", रुधादिगण में "युजिर् योगे" तथा चुरादिगण में "युज् संयमने" अर्थ में युज धातु आती है। अर्थात् संयमपूर्वक साधना करते हुये आत्मा का परमात्मा के साथ योग कर समाधि का आनन्द लेना योग है।

योग के विभिन्न अर्थ

- आत्मा का परमात्मा से मिलन योग है।
- इड़ा का पिंगला से मिलन योग है।
- प्राणवायु का अपानवायु से मिलन योग है।
- शिव और शक्ति का मिलन योग है।

योग की परिभाषा

- पातंजल योग दर्शन के अनुसार– योगश्चित्तवृत्ति निरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।
- सांख्य दर्शन के अनुसार– पुरुषप्रकृत्योर्वियोगेपि योगइत्यमिधीयते। अर्थात् पुरुष एवं प्रकृति के पार्थक्य को स्थापित कर पुरुष का स्व स्वरुप में अवस्थित होना ही योग है।
- विष्णु पुराण के अनुसार– योगः संयोग इत्युक्तः जीवत्म परमात्मने। अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा का पूर्णतया मिलन ही योग है।
- स्कन्द पुराण के अनुसार– "ज समाधौः" मन का समाधियस्त हो जाना योग है (सिंह, मिश्र और मिश्र 1997)।

योग का व्यवाहारिक महत्व

योगिक जीवन पद्धति साधु सन्तों, महात्माओं और ब्रह्मचारियों जिन्होंने गृहस्थ आश्रम या सांसारिक बंधनों का त्याग कर दिया है, केवल उनके अपनाने का विज्ञान नहीं है। बल्कि योग पद्धति को कोई भी व्यक्ति विवाहित, अविवाहित, स्त्री, पुरुष अपनाकर योग के वैज्ञानिक सिद्धांतो द्वारा अपने जीवन को सुखमय एवं सहज बना सकता है। व्यक्ति

किसी भी आयु–वर्ग, व्यवसाय, धर्म, लिंग, जाति, सम्प्रदाय का हो। योगिक आचार–विचार से व्यक्ति में परिवर्तन आने लगते हैं एवं योगाभ्यास व्यक्ति को तम एवं रज प्रधान अवस्था से सत प्रधान अवस्था की ओर ले जा रहा है। इसलिए सुखी एवं निरोगी जीवन के लिए योगाभ्यास एक परम आवश्यक एवं श्रेष्ठतम मार्ग है।

वर्तमान जीवन पद्धति दिन प्रतिदिन दुःखी, अशान्त और नीरस बनती जा रही है। इसका मूल कारण यह है कि उन्नति के नाम पर हम प्रतिस्पर्धा और तनावपूर्ण जीवन जीने लगे हैं। व्यक्ति का जीवन असन्तुलित हो गया है। क्योंकि जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक स्वास्थ्य, आध्यात्मिक स्वास्थ्य में सन्तुलन के कोई प्रयास नहीं किये जा रहे हैं। इस कारण व्यक्ति दुखित एवं निराश है। योग "व्यक्ति को उसके अस्तित्व के सभी पक्षों पर प्रभाव डालते हुए सन्तुलित करता है" उसे पूर्ण स्वास्थ्य, समृद्धि, सुख और शांति प्रदान करता है। आधुनिक युग में योग का महत्व और भी बढ़ गया है क्योंकि यह स्त्री, पुरुष, बच्चे, युवा, वृद्ध सभी के लिए लाभप्रद है योग समग्र स्वास्थ्य संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण है। समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा योग को कई संदर्भ में उपयोग में लिया जा रहा है, जैसे–

- शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से बीमार वर्ग– शारीरिक रोगों से मुक्ति के स्वास्थ्य प्रबंधन में, शारीरिक सौन्दर्य विकास के क्षेत्र में, मानसिक स्वास्थ्य में मन व मस्तिष्क की शांति, मानसिक क्षमताओं का विकास के संदर्भ में।
- कामकाजी वर्ग– औद्योगिक कर्मचारियों की दक्षता के विकास में, कार्यकुशलता में बढ़ोतरी, सहनशीलता, कार्यस्थल के तनाव में कमी एवं आपसी सामंजस्य बनाने में।
- शैक्षणिक वर्ग– विद्यार्थी की स्मरण शक्ति एवं बौद्धिक क्षमता के विकास, तार्किक शक्ति एवं कार्य कुशलता में गुणात्मक प्रभाव होने से आत्मविश्वास को बढ़ानें में, शिक्षण संस्थानों के सभी स्तरों एवं क्षेत्रों में तनावों एवं संघर्षो से मुक्ति में उपयोगी।
- आस्तिक वर्ग– आध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति, परमात्मा को जानने के मार्ग में।
- इसके अतिरिक्त योग व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के निर्माण में सहायक होता है, इसका चिकित्सा, विशेषकर आयुर्वेदिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा में, सिद्ध एवं यूनानी चिकित्सा के क्षेत्र में, आत्मानुशासन एवं वैश्विक शांति के क्षेत्र में इसकी उपादेयता को देखा जा रहा है, वर्तमान में स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए "विश्व स्वास्थ्य संगठन" स्वास्थ्य को केवल रोग और अपंगता का अभाव भर नहीं मानता बल्कि व्यक्ति की सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक एवं सामाजिक सम्पन्नता की स्थिति को स्वास्थ्य से जोड़कर देखता है (पाण्ड़ेय 1975)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान

गतिशील विश्व में स्वास्थ्य की खोज में भटक रहे लोगों को योग एक महत्वपूर्ण सहारे के रुप में दिखाई दे रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस –

संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा योग को विश्व योग दिवस के रुप में घोषित होने में तीन महीने से भी कम का समय लगा है इतिहास में यह पहली बार था कि किसी देश की पहल को 90 दिन के भीतर संयुक्त राष्ट्र के संगठन में प्रस्तावित और कार्यान्वित किया गया है। इस प्रस्ताव को वैश्विक स्वास्थ्य और विदेश नीति के तहत महासभा द्वारा अपनाया गया है। ताकि दुनिया भर के लोगों के स्वास्थ्य और भलाई के लिए समग्र दृष्टिकोण प्रदान किया जा सके। विश्व की मानव आबादी को एक महान स्तर की चेतना बनाने और सकारात्मक रुप से बदलने के लिए, विशेष रुप से एक दिन योग दिवस के रुप में अपनाया गया। नकारात्मक जलवायु परिवर्तनों की वजह से गिरावट वाले स्वास्थ्य से निपटने के लिए अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस को अपनाया गया खासकर, अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस को अपनाने के लिए 21 जून का सुझाव दिया क्योंकि यह उत्तरी गोलार्द्ध क्षेत्र में सबसे लंबा दिन है और योग भी मनुष्य को दीर्घ जीवन प्रदान करता है। दुनिया के कई हिस्सों में लोगों के लिए इसका बहुत महत्व है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, चीन आदि सहित 170 से अधिक देशों के लोगों द्वारा मनाया जा रहा है।

निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस को अपनाया गया –

- लोगों को योग का अद्भुत और प्राकृतिक लाभ पता करने के लिए
- योग का अभ्यास करके लोगों को प्रकृति से जोड़ने के लिए
- स्वास्थ्य की चुनौतिपूर्ण बीमारी की दर को कम करने के लिए

प्रथम अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस – 21 जून 2015 को राजपथ, नई दिल्ली में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस का सफल आयोजन किया। जिसमें दो गिनीज विश्व रिकार्ड बने। पहला 35,985 प्रतिभागियों के साथ सबसे बड़ा योग सत्र तथा दूसरा एक ही योग अभ्यास सत्र में सर्वाधिक देशों (84) के नागरिकों की प्रतिभागिता होना। विज्ञान भवन में 21 एवं 22 जून, 2015 को "संपूर्ण स्वास्थ्य के लिए योग" विषय पर दो दिवसीय अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई जिसमें भारत तथा विदेश से लगभग 1300 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। पहली

बार आयोजित इस अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस में भारत और दुनिया के लाखों लोगों ने भागीदारी की (https://en.wikipedia.org/wiki/InternationalYoga_Day)।

1.1 योग का आरम्भ

विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेद में सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है वेद का मुख्य प्रतिपाध विषय ब्रह्म ज्ञान ही था। अन्य कर्म तो बाह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये थे। योग के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय लुप्त हैं) पतंजलि मुनि ने योग दर्शन का निर्माण किया (स्वामी 1949ः 144)।

सृष्टि के आरम्भ काल से ही योग क्रिया का प्रचलन था योग के प्रथम वक्ता के बारे में याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है–

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः अर्थाथ हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं इससे पुरातन कोई नहीं।

महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

(महाभारत, 12/349/65)

अर्थाथ सांख्य के वक्ता परम ऋषि कपिल कहे गये हैं और योग के प्राचीन वक्ता हिरण्यगर्भ कहे गये हैं।

अद्भुत रामायण में तो स्पष्ट ही हिरण्यगर्भ को जगत् का अन्तरात्मा बताया है।

(अद्भुत रामायण, 516)

श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है–

इदं योगेश्वर ! योगनैपुण हिरण्यगर्भ भगवान् जगादयत् ।।

(श्री मद्भागवत, 5/19/13)

अर्थाथ हे योगेश्वर, मनुष्य अनन्तकाल में देहाभिमान त्यागकर आपके निर्गुण स्वरुप में चित्त लगाये, इसी को भगवान हिरण्यगर्भ ने योग की सबसे बड़ी कुशलता बताई है। हिरण्यगर्भ का ब्रह्म रूप में, वेदों में उल्लेख है, हिरण्यगर्भ ने सनातन योग का उपदेश दिया–

सनातन योग

ब्रह्मयोग अथवा राजयोग के अनुयाई — सनक, सनातन, सनन्दन, कपिल

कर्मयोग के अनुयाई — विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु
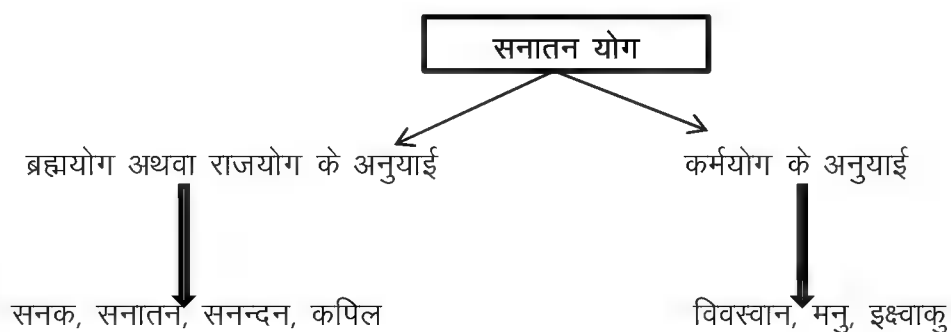
ब्रह्मयोग को कालान्तर में सांख्ययोग, ज्ञानयोग, आध्यात्म योग आदि नाम से जाना जाता है (सिंह, मिश्र और मिश्र 1997)।

1.2 भारत में योग का स्थान

भारत की इस विश्व को सबसे बड़ी देन ''योग'' है। योग भारतीय संस्कृति का मूल है, एक सर्वोत्तम उपासना पद्धति है, मानव जीवन के लिये एक आदर्श आचार संहिता है, योग पवित्रतम जीवन पद्धति के अतिरिक्त जीवन का सर्वोच्च और अंतिम लक्ष्य है (चुतुर्वेदी 2007: 6)।

भारत के ऋषि मुनियों और सन्त महात्माओं ने सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में गूढ़ चिन्तन किया धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव की बहुर्मुखी उन्नति तभी संभव है जब वह लौकिक उन्नति के साथ साथ पारलौकिक उन्नति की ओर भी अग्रसर हो (शर्मा 2007: 13)।

सुख और शान्ति के लिये ही सारी दुनिया के लोग धर्म के मार्ग का अनुसरण करते हुए दिव्य चेतना को जागृत करने का प्रयास करते हैं इस दिव्य चेतना को ही '' ब्रह्म या परमात्मा '' कहा गया है दिव्य चेतना से साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम योग है (वही पृ.सं.: 14)।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में ''अदृश्य शक्ति'' का समावेश होता है इसे हम ईश्वर प्रदत्त ''जीवन शक्ति'' के नाम से जानते हैं (वही पृ.सं.: 4)।

भारतीय दर्शन की 2 विचारधाराएं प्रचलित है– आस्तिक व नास्तिक, सामान्यरुप से वेदों को प्रमाण न मानने वालों को नास्तिक कहा जाता है, उक्त आधार पर आस्तिक दर्शन के छः प्रकार के हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा और वेदान्त। ये समस्त दर्शन वेद की प्रमाणिकता को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। नास्तिक दर्शनों में चार्वाक्, जैन,

बौद्ध, शाक्त और वैष्णव आदि प्रमुख हैं। इनमें वेदों को प्रामाणिक नहीं माना गया है–(सिंहः 13)। भारतीय दर्शन में आस्तिक दर्शन को वैदिक दर्शन व नास्तिक दर्शन को अवैदिक दर्शन भी कहा गया है (वही पृ.सं.: 23)।

1.1 भारत के प्रचलित षड्–दर्शनों में योग का स्थान

वैदिक परम्परा में हमारे षड्–दर्शनों की गणना उपांगों में की जाती है षड् दर्शन वैदिक संस्कृति व धर्म का एक ऐसा दर्पण है जिनमें धर्म, अर्थ, काम व, मोक्ष के स्वरूप, उपादेयता व उनकी प्राप्ति के विभिन्न सोपानों की विवेचना है (वही पृ.सं.: 33)।

इन षड्–दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं–

a) महर्षि पंतजलि रचित – 'योगसूत्र' या योगदर्शन
b) महर्षि गौतम रचित – 'न्याय –दर्शन'
c) महर्षि कणाद रचित – 'वैशेषिक –दर्शन'
d) महर्षि कपिल का – 'सांख्य–दर्शन'
e) महर्षि जैमिनी प्रणीत – 'मीमांसा–दर्शन'
f) महर्षि व्यास प्रणीत – 'वेदान्त दर्शन'(चुतुर्वेदी 2007: 4)।

काल की दृष्टि से पंतजलि योग से सांख्यदर्शन प्राचीन है। सांख्यदर्शन में तत्वों के परिगणन और प्रकृति का व्याख्यान होने से यह दर्शन सांख्य कहलाता है (सिंहः 35)।

सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन के रचियता महर्षि कपिल ने इस दर्शन में लिखा है कि मूलतः दो अनादि तत्व हैं प्रकृति और पुरुष, पुरुष चेतन और प्रकृति अचेतन। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का संचालन हो रहा है। यह दर्शन यह भी प्रतिपादित करता है कि पदार्थ का नाश नहीं होता, उसका केवल रूपान्तरण होता है। यह सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद व ऊर्जा सिद्धान्त से काफी मिलता है। इसमें ज्ञान से मुक्ति तथा ज्ञान के उपायरूप से वृत्तिनिरोध, आसन, धारणा, ध्यान, अभ्यास, वैराग्यादि का उल्लेख किया गया है (व्यास 2000: 15)।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के रचियता महर्षि कणाद के इस दर्शन में विशेष पदार्थ का व्याख्यान होने से इसे वैशेषिक कहा है (सिंहः 34)। कहा गया है कि ईश्वर व जीव नित्य है। जीव का कार्य है कि वह धर्म का पालन कर अपना जीवन व्यतीत करे। धर्म वही है जो अभ्युदय एवं निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति कराये। इस दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समन्वय और अभाव ये सात पदार्थ हैं। पंच महाभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। वैशेषिक दर्शन आधुनिक, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान एवं मनोविज्ञान का मिश्रण है इसमें कर्म के भेद, संस्कार के प्रकार व परमाणुवाद पर भी चर्चा की गई है। यह दर्शन न्याय दर्शन से बहुत साम्य रखता है (व्यास 2000ः 14)।

न्याय दर्शन

न्याय का सामान्य अर्थ है– यर्थाथ, ज्ञान, नियम और अर्थ परीक्षण (सिंहः 33)

इसके प्रणेता महर्षि गौतम हैं। इसमें ज्ञान के चार साधन बताये गये हैं– 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान 3. उपमान 4. शब्द।

आत्मा, देह, मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, फल, दोष, स्वर्ग, मोक्ष आदि पर भी इस दर्शन में चर्चा की गई है। इसमें पदार्थों के स्थूलरुप और गुणों से ऊपर उठकर उनके परमाणु रुप का भी इसमें वर्णन है। इस दर्शन का अध्ययन कर सामान्य जन की यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है कि इसमें मनुस्मृति के सदृश्य शास्त्र के बारे में लिखा होगा (व्यास 2000ः 15)।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा शब्द का अर्थ है – जानने की इच्छा (सिंहः 17) मीमांसा के दो प्रकारों की व्याख्या की गई है

1. कर्म मीमांसा (पूर्व मीमांसा)
2. ज्ञान मीमांसा (उत्तर मीमांसा)

पूर्व मीमांसा वेदव्यास के शिष्य जैमिनी मुनि ने प्रवृति मार्गी गृहस्थियों तथा कर्मकण्डियों के लिये बनाई थी।

– कर्म मीमांसा तथा पूर्व मीमांसा के नाम से अभिहित दर्शन " मीमांसा " कहा जाता है।

– ज्ञान मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा के नाम से प्रसिद्ध दर्शन " वेदान्त " कहलाता है

पूर्व मीमांसा दर्शन में वेद के कर्मकाण्ड भाग और धर्म पर विचार किया गया है और उत्तर मीमांसा में वेद के ज्ञानकाण्ड भाग एवं ब्रह्म पर विचार किया है।

वेदान्त दर्शन

उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है इसलिए इसे वेदान्त कहते हैं वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है– वेदों का अन्त (अथवा सार)

वेदान्त ज्ञानयोग की शाखा है इसका मुख्य श्रोत उपनिषद् हैं जो वेद ग्रन्थों का सार समझे जाते हैं (http://hp.wikipidia.org/s/2f2)।

यह महर्षि वेदव्यास रचित है। महर्षि व्यास के अनुसार यह 'ब्रह्म' सूत्र हैं ब्रह्म के बारे में बताया गया है कि जिसमें सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं (व्यास 2000: 15)।

योगसूत्र या योगदर्शन

इस दर्शन के रचियता महर्षि पतंजलि हैं। महर्षि पतंजलि ने केवल एक ही वाक्य में मानवमात्र को चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का सूत्र दिया है और वह है–

"योगश्चित्तवृत्तिानिरोधः"

समाधिपाद 1 : 2

इस सूत्र का अर्थ है– 'योग वह है जो देह और चित्त की खींचतान के बीच मानव को अनेक जन्मों तक भी आत्मदर्शन से वंचित रहने से बचाता है चित्त की वृत्तियों का निरोध दमन से नहीं, उसे जानकर उत्पन्न न होने देना है। पतंजलि के 'योग' शब्द का अर्थ है "मिलाना"।

यह मानव देह या मनुष्य जन्म ही हमें मुक्ति तक पहुँचा सकता है। देह की आवश्कताएं और तुष्टि जब तक पूर्ण नहीं होंगी, चित्त तब तक व्याकुल ही रहेगा। चित्त की व्याकुलता जब तक समाप्त न होगी तब तक आत्मदर्शन संभव न होगा। आत्मा की भी एक व्याकुलता है, आकांक्षा है, और वह है बार–बार के जन्म – मरण से ऊब, इस भटकन से मुक्ति, अपने शुद्ध–बुद्ध स्वरुप में स्थित हो जाना, जहाँ न जन्म है न मरण, जहाँ सारे समाधान स्वयं ही हो जाते हैं, जहाँ चिर विश्रांति है, सत्–चित्–आनंद की चिरसमाधि है (आत्मानंद 2006: 10–11)। योग दर्शन "युज् समाधौ" धातु से समाधि के अर्थ में 'योग' शब्द निष्पन्न होता है। भुजिद्–योगे धातु से भी यह शब्द बनता है जिसका अर्थ जोड़ना अर्थात् चित्त एवं उसकी शक्तियों का परमार्थिक सत्ता ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करना। महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों को रोकना 'योग' कहा है (सिंह: 36)। महर्षि पतंजलि ने

पातंजल योग दर्शन "अथ योगानुशासनम्" शब्द से प्रारम्भ किया है इससे स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन के आदर्शों में अनुशासन को कितना महत्व दिया है। पतंजलि योग विकास, आठ क्रमों में होता है इसलिए इसे अष्टांग योग भी कहते हैं।

योग के क्रमिक विकास में यम–नियम द्वार हैं (मिश्रा 2011ः 15)।

समाधिपाद 1 : 2

अष्टांग योग के अन्तर्गत 8 अंग बताये गये हैं–

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि (शर्मा 2007ः 18–20)।

पतंजलि ऋषि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, को साधनापाद (2) एवं धारणा, ध्यान, समाधि को विभूतिपाद (3) में विस्तार से समझाया है।

1. यम

अहिंसास सत्यास्तेय ब्रह्मचर्चा परिग्रहा यमाः।।30।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) ये पांच यम हैं –

- **अहिंसा**

मन वाणी और शरीर से किसी प्राणी को कभी किसी प्रकार का किंचितमात्र भी दुखः न देना 'अहिंसा' है।

- **सत्य**

इन्द्रिय और मन से प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया जाता है वैसा का वैसा वचन बोलना ''सत्य'' है। (प्रिय एवं हितकर तथा दूसरे में उद्वेग उत्पन्न न करने वाले वचन)

- **अस्तेय**

दूसरे के स्वत्वका अपहरण करना, छल से या अन्य किसी उपाय से अन्यायपूर्वक अपना बना लेना ''स्तेय'' (चोरी) है। चोरिओं का अभाव अस्तेय है।

- **ब्रह्मचर्य**

मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्था में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ''ब्रह्मचर्य'' है।

- **अपरिग्रह**

अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और भोग सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है। और इसके अभाव को 'अपरिग्रह'' कहते हैं (मिश्रा 2011: 2)।

2. **नियम**

''शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि नियमाः"।।32।।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति (ये पांच) नियम हैं

- **शौच** – शरीर, वस्त्र, मकान आदि के मल को दूर करना बाहर की शुद्धि है जप, तप और शुद्ध विचारों द्वारा एवं मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग – द्वेषादि मलों का नाश करना भीतर की पवित्रता है।
- **संतोष** – कर्तव्य पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार अपने आप जो कुछ भी प्राप्त हो जिस अवस्था और परिस्थिति में रहने का संयोग प्राप्त हो जाये, उसी में संतुष्ट रहना और किसी प्रकार की भी कामना या तृष्णा न करना संतोष है।
- **तप** – अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक अधिक से अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष स्वीकार करना इसका नाम 'तप' है (वही पृ.सं.: 55–56)।

3. **आसन**

स्थिरसुखमासनम् ।।46।।

निश्चल (हिलन चलन से रहित) सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है भाव यह है जो साधक अपनी योग्यता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले डुले स्थिर भाव से सुखपूर्वक बिना किसी प्रकार की पीड़ा के बहुत समय तक बैठ सके वही आसन उसके लिये उपयुक्त है जिस पर बैठ कर साधना की जाती है उनका नाम भी आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ।।47।।

उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से (सिद्ध होता है)

ततो द्वन्द्वानभिघातः।।48।।

उक्त आसन की सिद्धि से शीत – उष्ण आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता।

4. **प्राणायाम**

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।49।।

उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति रुक जाना ''प्राणायाम'' है।

बाह्यभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।50।।

(उक्त प्राणायाम) बाह्ययवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति (ऐसे तीन प्रकार का) होता है (तथा वह) देश, काल और संख्या द्वारा भलीभांति देखा जाता हुआ लम्बा और हलका (होता जाता है)

बाह्यभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।।51।।

बाहर और भीतर के विषयों का त्याग करने से अपने – आप होने वाला चौथा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।52।।

उस (प्राणायाम के अभ्यास) से प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मानसः।।53।।

प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है।

5. प्रत्याहार

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।54।।

अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का जो चित्त के स्वरुप में तदाकार – सा हो जाना है वह प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।।55।।

उस (प्रत्याहार) से इन्द्रियों की परम वश्यता (हो जाती है)।

6. धारणा

देशबन्धश्चित्तस्थ्य धारणा ।।1।।

(बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है। नाभि चक्र, हृदय कमल आदि शरीर के भीतरी देश हैं।

7. ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।2।।

(जहाँ चित्त को लगाया जाये) उसी में वृत्तिका एकतार चलना ध्यान है।

8. समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः।।3।।

जब ध्यान में केवल ध्येयमात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरुप शून्य सा हो जाता है तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है (वही पृ.सं.: 62–70)।

1.2 योग के उद्देश्य

1. मानसिक शक्ति का विकास करना।
2. रचनात्मकता का विकास करना।
3. तनावों से मुक्ति पाना।
4. प्रकृति विरोधी जीवनशैली में सुधार करना।
5. वृहत–दृष्टिकोण का विकास करना।
6. मानसिक शान्ति प्राप्त करना।
7. उत्तम शारीरिक क्षमता का विकास करना।
8. शारीरिक रोगों से मुक्ति पाना।

9. मदिरापान तथा मादक द्रव्यव्यसन से मुक्ति पाना।

10. मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण (सिंह, मिश्र और मिश्र 1997)।

भारत की इस विश्व को सबसे बड़ी देन ''योग'' है। योग भारतीय संस्कृति का मूल है एक सर्वोत्तम उपासना पद्धति है, मानव जीवन के लिये एक आदर्श आचार संहिता है, योग पवित्रतम जीवन–पद्धति है। जीवन का सर्वोच्च और अंतिम लक्ष्य ''आत्म साक्षात्कार" ईश्वर साक्षात्कार अथवा मोक्ष है। यदि किसी भाग्यशाली व्यक्ति को आत्म–साक्षात्कार हो जाता है तो उसकी परिणति ईश्वर साक्षात्कार ही होगी और जिसे ईश्वर साक्षात्कार हो चुका है, वह मुक्त पुरुष है, वह मोक्ष का अधिकारी है (चुतुर्वेदी 2007: 6)।

उपरोक्त आठ अंगो का अभ्यास करने से पूर्व व्यक्तियों को षट्कर्म करना अत्यावश्यक होता है षट्कर्म के निम्न प्रकार बताये गऐ हैं (शर्मा 2007: 18–20)।

योगिक षट्कर्म

शरीर के सभी विषाक्त द्रव्य निकालने तथा शरीर को सुसंचालित करने की 6 विधियों को षट्कर्म कहते हैं।

1. नेति
2. धौति
3. वस्ति
4. कपालभाति
5. भाटक (त्राटक)
6. नौलि

1. नेति क्रिया (जल नेति)

इसमें एक टोंटीदार लोटे की सहायता से नमकयुक्त गुनगुना पानी बारी– 2 से एक नासाछिद्र से डाला जाता है एवं दूसरे नासाछिद्र से निकाला जाता है।

2. धौति क्रिया

इसमें 4 इंच चौड़ी सूती मुलायम कपड़े की पट्टी को निगलकर उसे पुनः धीरे–धीरे निकालते हैं, इसी के अन्तर्गत कुंजल क्रिया भी आती है जिसमें नमकयुक्त गुनगुना पानी पीकर मुँह में ऊँगली डालकर उल्टी (वमन) की जाती है।

3. वस्ति क्रिया

यानि एनिमा, इसमें 1 लीटर नमकयुक्त पानी नोजल एवं पाइप लगे बर्तन की सहायता से गुदा में डाला जाता है और पेट को हिलाकर शौच जाया जाता है।

4. कपालभाति की क्रिया

जल नेति के बाद यह क्रिया खड़े होकर ही जाती है जिसमें, सिर को ऊपर–नीचे, दाँयें–बाँयें घुमाते हुए एक नासाछिद्र से श्वास ली जाती है एवं दूसरे से बाहर छोड़ी जाती है।

5. भाटक (त्राटक) क्रिया

आँखों के इस व्यायाम में एक स्थान पर बैठकर अपने सामने किसी बिन्दु पर लगातार बिना पलक झपकाये टकटकी से देखते हैं जब तक कि आँखों से पानी न आ जाये।

6. नौलि क्रिया

ये पेट का व्यायाम है जिसमें खड़े होकर झुककर अपने दोनों हाथ घुटनों पर लगाकर, ठुड्डी गले से चिपकाने के बाद श्वास को बाहर निकाल कर पेट का व्यायाम किया जाता है (मिश्रा 2011ः 34–38)।

1.3 योग के प्रकार

भारतीय योग शास्त्रियों ने योग को 8 प्रकार का बतलाया है–

1. हठयोग
2. लययोग
3. राजयोग
4. भक्तियोग
5. ज्ञानयोग
6. कर्मयोग
7. जपयोग
8. अष्टांगयोग (शर्मा 2007ः 18–20)

1. हठयोग

प्राचीन समय में हठयोग में सिद्ध महात्मा घेरण्ड हुए हैं। इन्होंने अपने शिष्य चण्डकपालि को क्रियात्मक रुप से समझाने के लिए घेरण्ड संहिता नामक पुस्तक की रचना की जो आज भी उपलब्ध है। यह हठयोग का एक प्रमाणिक एवं सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसमें हठयोग के सात अंगो षटकर्म आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि का विशद वर्णन है (गर्ग 2000: 245)।

हठयोग में विशेषतः शारीरिक क्रियाओं का समावेश है शरीर को षट्चक्र भेदन के लिए उपयुक्त करने के लिए गौरक्षनाथ जी ने कई मुद्राओं पर बल दिया है जैसे काकी मुद्रा (जिव्हा को कौऐ की चोंच के समान कर प्राणवायु पान करना) खेचरी मुद्रा (जीभ को जिव्हामूल की ओर पलटकर वायुपान करना) उसके पश्चात् चौरासी आसनों का निष्पन्न करना। मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध जालन्धर बन्ध लगाना आदि (भारती 2008: 170)।

2. लययोग

योग के आचार्यों ने लय को भी ईश्वर प्राप्ति का एक साधन माना है इसका अर्थ है–

''मन को आत्मा में लय कर देना, लीन कर देना।''

''आनंद तः पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति।''

''वे विद्वान पुरुष उसे आनन्द (आत्मा) स्वरुप देखते हुए उनमें लय हो जाते हैं और फिर उससे भिन्न उन्हें कुछ भी नहीं दिखाई देता ''

इस प्रकार ज्ञान द्वारा सत्य की खोज करते करते मनुष्य आत्मा तक पहुँच जाता है और वह देखता है कि केवल यह मेरा मन ही नहीं, सभी लोक लोकान्तर उसी में लीन हैं। यह आत्मा ही परमात्मा है दोनो में कोई भेद नहीं, यही लय योग है (गर्ग 2000: 129)।

3. राजयोग

''राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः'' ।

स्मृतियों में ऐसा कहा गया है कि सभी योग साधनों में श्रेष्ठ होने के कारण तथा सभी योग प्रक्रियाओं का राजा होने के कारण इसे राजयोग कहा गया है।''

राजयोग का ध्यान ब्रह्म ध्यान, समाधि को निर्विकल्प समाधि तथा राजयोग में सिद्ध महात्मा, जीवनमुक्त कहलाता है राजयोग के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रमाणित ग्रन्थ महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगदर्शन है। ऐसा कहा जाता है कि चित्त की चंचलता को दूर कर,

मन को एकाग्र तथा बुद्धि को स्थिर करके जीवात्मा को परमात्मा में विलीन करने की जो साधना है वह स्वयं ब्रह्मा ने वेदों के द्वारा ऋषियों की बताई। कुछ योगशास्त्रों ने राजयोग को सोलह कलाओं से पूर्ण माना है अर्थात् 16 अंग माने हैं। सात ज्ञान की भूमिकाएं, दो प्रकार की धारणा – प्रकृति धारणा और ब्रह्मधारणा, तीन प्रकार का ध्यान – विराट ध्यान, ईश ध्यान और ब्रह्मध्यान, तथा चार प्रकार की समाधि – दो सविचार और दो निर्विचार अर्थात् वितर्कानुगत, विचारनुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। इस क्रम से साधना करता हुआ राजयोगी अपने स्वरुप को प्राप्त करके इसी जीवन में मुक्त हो जाता है (वही पृ.सं.: 200)।

4. भक्ति योग

भक्ति में स्वयं को अकर्ता माना जाता है– निष्काम कर्म अर्थात कर्म करते हुए कर्मफल की आकांक्षा नहीं रखते हैं। भक्ति मार्ग का पालन करने से साधक को ईश्वर की अनुभूति स्वयं होने लगती है।

गीता में कहा है– ''पत्रं पुष्पं फलं तोयंयो में भक्तया प्रयच्छति ''

''अर्थात पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि को कोई भक्त मेरे लिए प्रेम से अर्पण कर देता है उसे मैं अत्यन्त खुशी से स्वीकार करता हूँ (मिश्रा 2011: 20)।''

5. ज्ञानयोग

संसार में ज्ञान से बढ़कर कुछ भी पवित्र नहीं है। गीता–'' नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते''

दो प्रकार का ज्ञान होते है – तार्किक ज्ञान

– आध्यात्मिक ज्ञान

–तार्किक ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है यह वस्तु के आभास में सत्यता के निरुपद के लिए किया जाता है इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान रहता है।

–आध्यात्मिक ज्ञान को ''ज्ञान'' कहा जाता है इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है ऐसा व्यक्ति सब रूपों में ईश्वर देखता है (वही पृ.सं.: 19)।

6. कर्मयोग

यज्ञार्था कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः

गीता–तक्ष्र्थ कर्म कौन्तेय मुक्तासंगः समाचारः।।

यह संसार कर्म की श्रृंखला से बंधा हुआ है इसलिए हे अर्जुन तू कर्म कर। स्वंय यज्ञ की उत्पति कर्म से होती है खेतों में अन्न कर्म से ही पैदा होता है अर्जुन तू अनासक्त होकर कर्म कर क्योंकि योगी लोग आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर हर एक को कर्म करने पड़ते हैं। कर्मों के फल से छुट्टी पाये बिना मुक्ति नहीं (वही पृ.सं.: 21)।

7. जप योग

(www.yogamag.net//manjap.html) जप एक दिव्य शक्ति का एक मंत्र या नाम है। स्वामी शिवानंद के अनुसार जप योग एक महत्वपूर्ण अंग है जप इस कलयुग व्यवहार में अकेले शाश्वत् शांति परमानंद व अमरता दे सकता है। जप अभ्यस्त हो जाना चाहिये और सात्विक भाव, पवित्रता, प्रेम और श्रद्धा के साथ लिया जाना चाहिये। जप योग से बड़ा कोई योग नहीं है। यह आपको सभी (जो आप चाहते हैं) सत् सिद्धी, भक्ति व मुक्ति प्रदान कर सकता है।

8. अष्टांग योग

महर्षि पतंजलि ने पातंजल योग दर्शन, "अथयोग अनुशासनम्" शब्द से प्रारम्भ किया है इससे स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन के आदर्शो में अनुशासन को कितना महत्व दिया है। पंतजलि योग विकास, आठ क्रमों में होता है इसलिए इसे अष्टांग योग भी कहते हैं (मिश्रा 2011: 5)।

समाधिपाद 1:1

1.4 प्राचीन पुस्तकों में योग

विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेद में सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है वेद का मुख्य विषय ब्रह्म ज्ञान ही था अन्य कर्म तो ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये थे। सृष्टि के आरम्भ काल से ही योग क्रिया का प्रचलन था योग के प्रथम वक्ता के बारे में याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है–

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन।

अर्थाथ हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं इससे पुरातन कोई नहीं (सिंह, मिश्र और मिश्र, 1997)

- **वेदों में योग –**

ऋगवेद के अनुसार

यस्मादूते न सिध्यति यज्ञो विपश्चि ।

स धीनां योगभिन्वति।। (।।18/7)

अर्थाथ जिन देवताओं के बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानी का जीवन यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसी में ज्ञानियों को अपनी बुद्धियों और कर्मों का योग करना चाहिये। योग के इस प्रधान लक्षण का प्रतिपादन यजुर्वेद के 11 वें अध्याय के प्रथम पांच मंत्रों में अत्यन्त स्पष्ट तथा सरल रुप से किया गया है। अथर्ववेद के एक मंत्र (4/14/3) में राजयोग की प्राणायाम प्रणाली से होने वाली शक्ति का वर्णन किया है।

- **उपनिषदों तथा स्मृतियों में योग**

प्रायः सभी उपनिषदों में योग विद्या की व्याख्या की गई है मनु स्मृति में यम का विवेचन करते हुए कहा है।

अंहिसा सत्यमस्तेयं शैचमिन्द्रियनिग्रह

मनुस्मृति में प्राणायाम का उल्लेख मिलता है

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां यथा मलाः।

तयेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्यनिग्रहात् ।।(मनुस्मृति 6/71)

अर्थाथ जिस प्रकार धातुओं में दग्ध करने पर समस्त मल नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणों के निग्रह से अर्थाथ प्राणायाम की विधि से इन्द्रिय सम्बन्धी दोष दूर होते हैं।

- **महाभारत में योग**

महाभारत के शान्ति पर्व एवं अनुशासन पर्व में अनेक स्थानों पर योग प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया गया है।

महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत में योगिक महिमा का विस्तारपूर्वक निरुपण किया है। महर्षि वेदव्यास जी का कथन है–

छिन्नदोषों मुनिर्योगान युक्तोमुन्श्रीत द्वादश।

देशकर्मोनुरागार्थनुपायापायनिश्चयैः।।

चक्षुराहारसं हारैर्मनसा दर्शनेन च।

अर्थाथ समाहित चित मुनि को चाहिये वह हृदय में राग द्वेषों को नष्ट करके योग में सहायता पहुँचाने वाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष, आहार, संहार मन और दर्शन इन बारह योगों के आश्रय से ध्यान योग का अभ्यास करे।

- **गीता में योग**

गीता महाभारत का एक अंग है वास्तव में सम्पूर्ण योग ग्रन्थ ही है आत्मा, अहं, बुद्धि तथा योग, ये शब्द अनेक बार गीता में कहे गये हैं। गीता में कहा गया है कि असंयत मन द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार असम्भव है अतः एकाग्र मन से अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करें। गीता में योगाभ्यास के लिए कहा गया है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः

नात्युच्छितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोन्तम।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचिन्तेन्द्रियक्रियः

उपविश्यासने युन्ज्याघोगमात्मविशुद्धये।। (6/11–12)

अर्थाथ योगी पवित्र स्थान में जो न अति ऊँचा हो न अति नीचा हो, कुश का आसन और वस्त्र बिछाकर उस स्थान पर बैठकर इन्द्रियों एवं चित्त की क्रियाओं को वश में करते हुए एकाग्रमन से अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करें।

- **पुराणों मे योग**

पुराणों में अनेक स्थलों पर योगिक क्रियाओं का उल्लेख मिलता है शिव से सम्बन्धित सभी पुराणों में योगिक क्रियाओं का वर्णन है। विष्णु पुराण में यम नियम का वर्णन इस प्रकार है–

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेथा परिग्रहान्।

सवेते योगी निष्कामों योग्यतान स्वंमनोनयन्

स्वाध्यायशौच संतोष पासि नियतात्मवान्।

कुर्वोत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्पुतणंमनः विमुक्तदाः (6/7/36–38)

अर्थाथ अपने मन को समर्थ बनाते हुये निष्काम भाव से योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन करे। अपने मन का निग्रह करके योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे और उसी परब्रह्म में मन को आसक्त कर दे अर्थाथ प्राणिधान करे।

- **श्री योग वासिष्ठ में योग**

श्री योग वासिष्ठ में आध्यात्मिक योग का वर्णन है इसमें राम व वासिष्ठ के संवाद के रुप में दर्शन, ज्ञानयोग एवं कर्म सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, योग वासिष्ठ के अनुसार संसार सागर के पार होने की मुक्ति का नाम योग है।

- **चरक संहिता में योग**

चरक संहिता में योग की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्मा को मन और इन्द्रियों के साथ, विषयों के सम्पर्क से सुख दुख होते हैं। जब मन आत्मा में स्थिर हो जाता है तब सुख दुख की अनुभूति नहीं होती है।

योग द्वारा सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। योग स्वंय मोक्ष नहीं है अपितु योग की उपासना से मोक्ष की प्राप्त होती है।

- **रामचरितमानस में योग**

महात्मा तुलसीदास ने भगवान प्राप्ति के मुख्य स्त्रोतों में योग, ध्यान और तल्लीनता को ही प्रधान कारण माना है।

भगवान श्री राम ने कहा है–

धर्म ते विरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान, मोक्षप्रद वेद बखाना।

जाते बोगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदायी।

प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीति। नित निज कर्म निरत श्रुति रीति।

एहिकर फल पुनि विषय विरागा, तब मम धर्म उपज अनुरागा

मामचा वाचा कर्मणा भगवान को ही मानना तथा निष्काम भजन करना ही योग है (वही पृ.सं.: 19–22)।

1.5 सिद्धयोग का आरम्भ

सिद्धयोग परम्परा झिलमिलाते मणिदीपों की एक लड़ी है, जो पुरातन काल से अब तक अज्ञान और मोह के अन्धकार को परास्त करती आयी है। वे मणिदीप अन्नत कोटि सूर्यों की प्रभा वाले, सर्वज्ञ, सर्वक्षम योगी हैं, जो सिद्ध कहलाते हैं।

उनकी एक परम्परा है, जो आदि शिव से आरम्भ होकर अनेक सिद्धों में प्रवाहित होती हुई आज भी उतनी ही वरदायिनी हैं। सिद्धों की इस अखण्ड परम्परा के अन्तर्गत गुरु अपने शिष्य को इस परम्परा की शक्ति व अधिकार सोंपते आये हैं (परमहंस 1997: 3)।

सिद्धयोग नाथमत के योगियों की देन है इसमें सभी प्रकार के योग जैसे भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, लययोग, भावयोग, हठयोग आदि सम्मिलित हैं इसलिए इसे पूर्ण योग या महायोग भी कहते हैं (www.the–comforter.org)।

नाथ सम्प्रदाय में हाथ में चिमटा, कमंडल, कान में कुंडल, कमर में कमरबंध, जटाधारी धूनी रमाकर, ध्यान करने वाले नाथ योगियों को अवधूत या सिद्ध कहा जाता हैं ये गले में काली ऊन का जनेऊ पहनते है जिसे सिले कहते हैं, गले में सींग का नादी रखते हैं दोनों को "सींगी सेली" कहते हैं।

नाथ लोग अलख (अलक्ष) शब्द से शिव का ध्यान करते हैं परस्पर "आदेश" या आदीश शब्द से अभिवादन करते हैं जिसका अर्थ प्रवण या परम पुरुष होता है।

- **प्रारम्भिक 10 नाथ :–** आदिनाथ, आनंदिनाथ, करालानाथ, विकरालानाथ, महाकालनाथ, कालभैरवनाथ, बटुकनाथ, भूतनाथ, वीरनाथ, श्रीकांथनाथ
- **नौ नाथ :–** 1. मच्छेन्द्रनाथ 2. गोरखनाथ 3. जालंधरनाथ 4. नागेशनाथ 5. भारतीनाथ 6. चर्पटीनाथ 7. कनीफनाथ 8. गेहनीनाथ 9. रेवननाथ

8वीं सदी में 84 सिद्धों के साथ बौद्ध धर्म के महायान के वज्रयान की परम्परा का प्रचलन हुआ, ये सभी नाथ ही थे। सिद्ध धर्म के वज्रयान शाखा के अनुयायी सिद्ध कहलाते थे उनमें से प्रमुख जो हुए उनकी संख्या 84 मानी गई (http:hi.wikipidia.org/s/16/jI.)।

84 सिद्धों का नाम

1. ज्वालेन्द्रनाथ 2. कपिलनाथ 3. विचारनाथ 4. बालगुंदईनाथ 5. कानीपानाथ 6. श्रंगेरीनाथ 7. रत्ननाथ 8. महासिद्धि मस्तनाथ 9. धर्मनाथ 10. चन्द्रनाथ 11. सुखदेवनाथ 12. खेचरनाथ 13. भूचरनाथ 14. गंगानाथ 15. गेहरावलनाथ 16. लंकानाथ 17. रघुनाथ 18. सनकनाथ 19. सनातन नाथ 20. सनन्दननाथ 21. नागार्जुननाथ 22. सनत्कुमारनाथ 23. बीरबंकनाथ 24. धुन्धुकानाथ 25. मुत्रजुनाथ 26. भद्रनाथ 27. गोरक्षनाथ 28. वीरनाथ 29. चर्पटनाथ 30. चक्रनाथ 31. वक्रनाथ 32. प्रोढ़नाथ 33. सिद्धासननाथ 34. माणिकनाथ 35. लोकनाथ 36. पाणिनाथ 37. तारानाथ 38. गौरवनाथ 39. गोरननाथ 40. कालनाथ 41. मल्लिकानाथ 42. मारकण्डेथनाथ 43. ज्ञानेश्वरनाथ 44. निवृत्तिनाथ 45.

गहनीनाथ 46. मेरूनाथ 47. विरूपाक्षनाथ 48. विलेशयनाथ 49. शवरनाथ 50. दरियावनाथ 51. सिद्धवुधनाथ 52. कायनाथ 53. एकनाथ 54. शीलनाथ 55. दयानाथ 56. नरमाईनाथ 57. भगईनाथ 58. ब्रहमाईनाथ 59. श्रुताईनाथ 60. मनसाईनाथ 61. कणकाईनाथ 62. भुसकाईनाथ 63. मनिनाथ 64. बालकनाथ 65. कोरंटनाथ 66. सुरानंदनाथ 67. निरजंननाथ 68. सिद्धनादनाथ 69. चौरंगीनाथ 70. सारस्वताईनाथ 71. काकचण्डीनाथ 72. अल्लामनाथ 73. प्रभुदेवनाथ 74. नारदेवनाथ 75. टिण्टिाणिनाथ 76. पिप्पलनाथ 77. याज्ञवलक्यनाथ 78. सूरतनाथ 79. पूज्यपादनाथ 80. पारश्वनाथ 81. तरदनाथ 82. घोडाचोलीनाथ 83. हवाईनाथ 84. औघडनाथ।

बारह पंथो के नाम

बारह पंथ नाथ सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने से गोरक्षनाथ ही इसके मूल आचार्य हैं। रुपान्तर से नाथ सम्प्रदाय कल्पवृक्ष रुप मूल हैं आदिनाथ, गोरक्ष उसके अमृतमय फल हैं, उनके भोक्ता सिद्धयोग तथा सिद्धयोगी हैं (yogisantosh nath.com)।

क्र.सं.	पंथ का नाम	संस्थापक	स्थान	राज्य
1.	सत्यनाथ	ब्रह्मा	पाताल भुवनेश्वरी	उत्तराखण्ड़
2.	रामनाथी	विष्णु	धनौरी गड्डी	हरियाणा
3.	पागल पंथी	पागलनाथ	अस्थल बोहरा (पुराना)	हरियाणा
4.	पावनाथ	जालन्धर नाथ	जालौर	राजस्थान
5.	धर्मनाथ	धर्मराज युधिष्ठिर	गोरखपुर	उत्तरप्रदेश
6.	मनोनाथी	राजा रिशालू	जोधपुर	राजस्थान
7.	कपलानी	कपिल मुनि	कोलकत्ता	बंगाल
8.	गंगानाथी	भागीरथ	गंगासागर	बंगाल
9.	नटेश्वरी	लक्ष्मण	गोरख टीला	झेलम, पंजाब
10.	आईपंथ	विमला देवी	अस्थल बोहर	हरियाणा (जिला रोहतक)
11.	वैराग्य	भरत्रिहारी नाथ	राताडूण्डा	राजस्थान
12.	रावलपंथी	रावलपंथ	गइलापुर	अफगानिस्तान

कुछ अन्य पंथ

क्र.सं.	पंथ का नाम	संस्थापक	स्थान	राज्य
1.	कंथड़ पंथ	गणेशनाथ	कंथड़ कोट	कच्छ(गुजरात)
2.	तनपंथ	बनखण्ड़ीनाथ	मारवाड़ पाली	राजस्थान
3.	ध्वजपंथ	वीराबंकनाथ	अम्बाला	हरियाणा
4.	पंखपंथ	पंखनाथ	अखण्ड़ ब्रह्म में	—
5.	वरकारी	जननन‌ाथ	पन्तारपुर	महाराष्ट्र(yogigorkhnath.org)

सिद्धयोग

यह योग (सिद्धयोग) नाथमत के योगियों की देन है इसमें सभी प्रकार के योग जैसे भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, लययोग, भावयोग, हठयोग आदि सम्मिलित हैं, इसलिए इसे पूर्ण योग या महायोग भी कहते हैं। इससे साधक के त्रिविध ताप, आदि दैहिक (फिजीकल), आदि भौतिक (मेन्टल), आदि दैविक (स्प्रीचुअल) नष्ट हो जाते हैं तथा साधक जीवनमुक्त हो जाता है। महर्षि अरविन्द ने इसें "पार्थिव अमरत्व" Territorial Immortality की संज्ञा दी है। पातंजलि योग दर्शन में साधनापाद के 21वें श्लोक में योग के आठ अंगो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन है। बौद्धिक प्रयास से इस युग में उनका पालन करना असम्भव है। इसलिए इतने महत्वपूर्ण दर्शन के बारे में नगण्य लोगों को ही जानकारी है। परन्तु गुरु शिष्य परम्परा में शक्तिपात– दीक्षा से कुण्डलिनी जाग्रत करने का सिद्धान्त है। सद्‌गुरुदेव साधक की शक्ति (कुण्डलिनी) को चेतन करते हैं। वह जाग्रत कुण्डलिनी साधक को उपर्युक्त अष्टांगयोग की सभी साधनाएं स्वयं अपने अधीन करवाती है। यह शक्तिपात केवल समर्थ सद्‌गुरु की कृपा द्वारा ही प्राप्त होता है इस शक्तिपात के फलस्वरूप ध्यान के दौरन ही साधक को समस्त प्रकार की योगिक क्रियाऐं, आसन, बन्ध, प्राणायाम, मुद्राऐं स्वतः ही होने लगती हैं इसमें साधक किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इसलिए इसे सिद्धयोग कहा जाता है जबकि अन्य सभी प्रकार के योग मानवीय प्रयास से होते हैं।

गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से होने वाले लाभ

1. भारतीय योग दर्शन के अनुसार सभी प्रकार के असाध्य रोगों जैसे– एड्स, कैंसर, हीमोफीलिया, डायबिटीज, टी.बी. उच्च रक्तचाप (बी.पी.) आदि समस्त शारीरिक रोगों से मुक्ति संभव।
2. सभी प्रकार के मानसिक रोगों जैसे– तनाव, उन्माद, भय, डिप्रेशन, चिन्ता, अनिद्रा, आक्रोश आदि से मुक्ति संभव।
3. सभी प्रकार के नशों जैसे–शराब, अफीम, स्मेक, हेरोइन, भाँग, तम्बाकू (जर्दा), बीड़ी, सिगरेट, गुटखा आदि से बिना परेशानी के छुटकारा संभव।
4. आध्यात्मिकता के पूर्ण ज्ञान के साथ भूत, वर्तमान एवं भविष्य की घटनाओं को ध्यान के दौरान प्रत्यक्ष देखना और सुनना संभव।
5. गृहस्थ जीवन में रहते हुए 'भोग' एवं 'मोक्ष' दोनों तत्वों की सहज प्राप्ति तथा जीवन की समस्त सांसारिक परेशानियों से छुटकारा संभव।
6. मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण संभव।
7. विद्यार्थियों की एकाग्रता एवं याददाशत में सिद्धयोग द्वारा अभूतपूर्व वृद्धि
8. वृति परिवर्तन (तामसिक से सात्विक) संभव (www.the-comforter.org)।

इस प्रकार स्पष्ट है योग एवं सिद्धयोग, सामाजिक संरचना को संगठित करने की एक इकाई हैं अतः वर्तमान गतिशील एवं सांस्कृतिक घुटन वाले युग में समाज की संरचना व व्यवस्था को सुसंगठित बनाऐ रखने व सामाजिक विघटन को रोक के लिए योग व सिद्धयोग पर पारस्परिक निर्भरता बढ़ रही है।

संदर्भ

आत्मानंद, स्वामी अक्षय, 2006, योग और योगासन, नई दिल्लीः प्रतिभा प्रतिष्ठान.

भारती राकेश, 2008, योगदर्शन, दिल्लीः पंकज बुक्स.

Brown, R. A. 1952. Structure and function in primitive society, Cohen and West Ltd.

चुतुर्वेदी, खेमचंद, 2007, योग साधनाः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, वाराणासीः विश्वविद्यालय प्रकाशन.

Comte, A. 1855. The Positive Philosophy of Auguste Comte, NewYork: free press.

Cooly, CH. 1909. Social Organsation, New York: Charles Scrabness.

Cohen P.S. 1982. Morden Sociological Theory, NewYork: Basic Books.

Davis, K. and Moore W. 1945. Some Principles Of Stratification, Ameica Sociological Review, April.

Durkhim, E. 1934. Division Of Labour in the Society.

गर्ग, कुमार कृष्ण, 2000, योग विज्ञान तथा विज्ञान तथा व्यवहारिक जीवन में उसकी उपयोगिता, दिल्लीः प्रकाशन आत्माराम.

https://en.wikipedia.org/wiki/International_Yoga_Day (accessed on *10 March 2017).*

http:hi.wikipidia.org/s/16/jI. (accessed on 31May 2013).

http://hp.wikipidia.org/s/2f2 (accessed on10 July 2014).

http://www.yogamdniy.nic.in (accessed on 22 April 2017)

Malinowski, 1926. Crime and Customs in savang society, London: french and traebner.

Merton, R.K. 1962. Social Thoery and Social Strcture, The free Press glance.

मिश्रा, महेन्द्र कुमार, 2011. योग द्वारा स्वास्थय, जयपुरः इंडियन पब्लिशिंग हाऊस.

Parson, T. 1937. Strcture of Social Action, NewYork: Mc Graw Hill, The free Press.

पाण्ड़ेय, लाल संगम, 1975. भारतीय दर्शन सर्वेक्षण, इलाहाबादः सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस.

परमहंस, स्वामी मुक्तानंद, 1997. कुण्ड़लिनी जीवन का रहस्य, चेन्नईः चितशक्ति पब्लिकेशन.

सिंह, कर्म, भारतीय दर्शन में समन्वय, दिल्लीः पाराशर पुस्तक भण्डार.

सिंह, सुरेन्द्र, मिश्र, पी.डी., और मिश्र, बीना, 1997, योग एक परिचय, लखनऊः सुलभ प्रकाशन.

शर्मा, उर्षा, 2007, योगासन और उसके लाभ, इलाहबादः भारती प्रकाशन.

स्वामी, ओम तीर्थ, 1949, पातंजलियोगप्रदीप, गोरखपुरः गीता प्रेस.

व्यास, मनोहर श्याम, 2000, भारतीय संस्कृति एवं दर्शन, संघी प्रकाश.

www.the-comforter.org (accessed on 24 November 2014)

www.yogamag.net//manjap.html (accessed on 2 Januray 2015)

yogigorkhnath.org (accessed on 2 Augest 2013)

yogi santosh nath.com (accessed on 31 May 2013)

अध्याय–2

अनुसंधान प्रविधि एवं अध्ययन क्षेत्र

- अध्ययन के उद्देश्य
- प्रस्तुत अध्ययन का महत्व
- उपकल्पना
- शोध अभिकल्प
- निदर्शन
- भौगोलिक क्षेत्र का चयन
- तथ्य संकलन के स्त्रोत
- तथ्य संकलन प्रविधियाँ
- तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या
- विषय पर किये गये कार्यों की समीक्षा
- अध्ययन की सीमाएं

अध्याय 2

अनुसंधान प्रविधि एवं अध्ययन क्षेत्र

प्रस्तावना

सामाजिक अनुसंधान एक वैज्ञानिक तरीका/प्रक्रिया है जिसके माध्यम से समाज में होने वाली किसी घटना के कार्य, कारण एवं सम्बन्धों की खोज की जाती है जिसका उद्देश्य तार्किक एवं व्यवस्थित विधियों की सहायता से नए तथ्यों की खोज करना है। किसी भी शोध कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ निश्चित वैज्ञानिक चरणों से होकर गुजरना पड़ता है जिसमें शोध समस्या का चयन, अध्ययन क्षेत्र परिसीमन, अध्ययन का उद्देश्य, उपकल्पना का निर्माण, शोध अभिकल्प, सूचना के स्त्रोतों का निर्धारण, उत्तरदाताओं का चयन, तथ्य संकलन के लिए उपकरणों का निर्माण, तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, सारणीयन, तथ्यों का विश्लेषण एवं निर्वचन मुख्य चरण होते हैं।

2.1 अध्ययन के उद्देश्य

पिछले कुछ दशकों से तकनीक एवं विज्ञान ने समाज को गहराई से प्रभावित किया है। तकनीक के प्रभाव से सामाजिक व्यवस्थाऐं, मनुष्य की जीवन शैली, दिनचर्या आदि में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। मानवीय व्यवहार को नकारात्मक रूप से प्रभावित करने में भी तकनीक एवं विज्ञान को एक महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है, इन सभी का उल्लेखनीय प्रभाव व्यक्ति के मानसिक तनाव, मानसिक दबाव एवं पारिवारिक विघटन के रूप में देखा जा सकता है। ऐसी समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार के उपचार किये जाते हैं इनमें से योगिक क्रियाऐं भी पिछले कुछ समय से सामान्यजन में लोकप्रिय होने लगी हैं। प्रस्तावित अध्ययन सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन पर केन्द्रित है।

प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

1) योग एवं सिद्धयोग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करना।
2) योग एवं सिद्धयोग के अवधारणात्मक पहलूओं को समझना।

3) चयनित क्षेत्र में योग एवं सिद्धयोग से प्रभावित व्यक्तियों की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
4) योग एवं सिद्धयोग के प्रभावों को समझना व विश्लेषण करना।
5) सामाजिक परिवर्तन में योग एवं सिद्धयोग की भूमिका का मूल्यांकन करना।
6) सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न शक्तियों के सन्दर्भ में योग एवं सिद्धयोग की प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

2.2 प्रस्तुत अध्ययन का महत्व

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न आयामों पर समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों के द्वारा उल्लेखनीय योगदान किया है सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, संस्कृतिकरण जैसी अवधारणाऐं समाजशास्त्रीय अध्ययनों का ही योगदान हैं। लेकिन योग एवं सिद्धयोग से सम्बंधित अध्ययनों की ओर समाजशास्त्रियों ने अभी तक विशेष रुचि नहीं दिखाई है। एक नवीन आयाम होने के कारण सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन जैसे विषय पर अनुसंधान करना विशेष महत्व रखता है प्रस्ताविक शोध सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है इसमें योग एवं सिद्धयोग की अवधारणाओं का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से विश्लेषण किया जाना है इन अवधारणाओं का, सिद्धांतों के निर्माण में तार्किक उपयोग भी संभव हो सकेगा अतः प्रस्तावित शोध सिद्धयोग से होने वाले वैयक्तिक एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयोगी होगा।

समाजशास्त्र में निरन्तर शोध कार्य होते रहे हैं तथा प्रत्येक अध्ययन, विषय के ज्ञान में वृद्धि के लिए उपयोगी होता है। इस दृष्टि से प्रस्तावित अध्ययन एक नयी दिशा में नये आयामों के साथ समकालीन परिवर्तन से सम्बंधित है अतः समाजशास्त्र के, योग, सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन से सम्बंधित निष्कर्ष, ज्ञान में वृद्धि करेंगे तथा इन क्षेत्रों में रुचि रखने वाले अध्ययनकर्ताओं के लिए मील का पत्थर बन सकेंगे।

नीति निर्धारकों के लिए भी प्रस्तावित शोध उपयोगी हो सकेगी। इसे हम आयुर्विज्ञान से सम्बंधित नीतियों के सन्दर्भ में उपयोग में ला सकते हैं। समकालीन समाज में विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार हेतु प्रचलित उपचारों की कड़ी में योग एवं सिद्धयोग भी उल्लेखनीय आयाम बनता जा रहा है इसे वैज्ञानिक विधि के द्वारा प्रमाणित करके व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर नीति बनाई जा सकती है। अतः नीति निर्धारकों के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी होगा।

प्रस्तावित अध्ययन का समाजशास्त्रीय विद्या के लिए महत्वपूर्ण योगदान है। वृहत स्तर पर सामाजिक तनाव, विभिन्न असाध्य रोगों आदि को दूर करने में योग एवं सिद्धयोग की भूमिका एवं प्रक्रिया का विश्लेषण, चिकित्सा क्षेत्र के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

2.3 उपकल्पना

1) योगिक क्रियाऐं मानव समाज में तनावों व संघर्षो को कम करने में सहायक होती हैं।
2) सिद्धयोग से विभिन्न प्रकार की जटिल/लाइलाज बीमारियों, एवं नशों का उपचार किया जा सकता है।
3) सिद्धयोग सामाजिक एकता को स्थापित करने एवं समाज व्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए उपयोगी है।

2.4 शोध अभिकल्प

प्रस्तुत शोध कार्य की प्रकृति अन्वेषणात्मक एवं वर्णनात्मक है। इसमें सिद्धयोग के अवधारणात्मक पहलुओं एवं विभिन्न व्यावहारिक पक्षों की वास्तविक जानकारी ली जायेगी। यह किस प्रकार समाज में प्रभाव व परिवर्तन लायेगा, इसके पहलूओं को समझा जायेगा।

2.5 निदर्शन

निदर्शन समग्र का एक छोटा भाग या अंश है। जो कि समग्र का प्रतिनिधि है। प्रस्तुत अध्ययन में निदर्शन की स्नोबॉल तकनीक (गैर सम्भावना निदर्शन) द्वारा 150 उत्तरदाताओं का चयन किया गया है इस तकनीक का प्रयोग उस समय किया जाता है जब अध्ययनकर्ता के पास समग्र के बारे में कोई वैयक्तिक स्थिति उपलब्ध नहीं होती है। प्रस्तुत अध्ययन में अध्ययनकर्ता ने दैव निदर्शन (Random Sample) के माध्यम से शोध विषय के बारे में अनुभव रखने वाले उत्तरदाताओं से सम्पर्क करने का प्रयास किया है। सबसे पहले 2 से 3 व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ फिर अन्य व्यक्तियों के बारे में पूछा गया फिर अन्य से और अन्य के बारे में, इस प्रकार स्नोबॉल तकनीक से उत्तरदाताओं का नेटवर्क (जाल) विकसित होता गया, एवं 150 उत्तरदाता निर्धारित हो गये।

2.6 भौगोलिक क्षेत्र का चयन

भौगोलिक क्षेत्र की दृष्टि से राजस्थान देश का सबसे बड़ा राज्य है जिसमें 33 जिले हैं शोध अध्ययन क्षेत्र कोटा, जिला राजस्थान के दक्षिण पूर्वी भाग में स्थित है। कोटा संभाग में स्नोबॉल निदर्शन तकनीक (गैर सम्भावना निदर्शन) के माध्यम से तीन तहसीलों (लाड़पुरा, सांगोद, दीगोद) का चयन किया गया है।

जिसमें सिद्धयोग से लाभान्वित 150 उत्तरदाताओं का प्रतिनिधि के रुप में चयन किया गया है एवं लाड़पुरा तहसील के 6 उत्तरदाताओं से केस स्टडी के माध्यम से प्राथमिक तथ्य एकत्र किये गऐ हैं।

2.7 तथ्य संकलन के स्त्रोत

शोध कार्य में तथ्यों का संकलन प्राथमिक व द्वितीयक स्त्रोतों पर आधारित है– सिद्धयोग में प्राथमिक तथ्यों का संकलन साक्षात्कार–अनुसूची, असहभागी अवलोकन, वैयक्तिक अध्ययन पद्धति (केस स्टडी) के माध्यम से किया गया है तथा कई सूचनाऐं व तथ्य द्वितीयक स्त्रोतों से ली गई हैं। जिसमें प्रकाशित व अप्रकाशित लेख, सार्वजनिक प्रलेख आदि हैं।

2.8 तथ्य संकलन प्रविधियाँ

शोध कार्य हेतु प्रयुक्त तथ्यों को मनमाने ढंग से एकत्रित न करके विभिन्न विधियों के माध्यम से संकलित किया है। गुणात्मक व गणनात्मक दोनों विधियों से तथ्य लिये हैं, प्रस्तुत शोध कार्य में प्राथमिक तथ्य संकलन के लिए निम्न विधियों का उपयोग किया गया है।

2.8.1 प्राथमिक तथ्य संकलन प्रविधि

- **साक्षात्कार–अनुसूची** – यह अध्ययन, क्षेत्र से प्राथमिक तथ्यों का संकलन करने का सर्वोत्तम माध्यम होता है। इसमें सिद्धयोग से सम्बन्धित व्यावहारिक व सैद्धान्तिक प्रश्नों की अनुसूची तैयार की गई है एवम् उत्तरदाता से व्यक्तिगत सम्पर्क साधते हुए प्रत्येक प्रश्न का निश्चित क्रम में उत्तर लिया गया है।

- **असहभागी–अवलोकन** – सिद्धयोग में होने वाली योगिक क्रियाओं को असहभागी अवलोकन के माध्यम से अवलोकित किया गया है। गुरु पूर्णिमा व अन्य कई शिविरों व कार्यक्रमों में उपस्थित होकर असहभागी रूप से योगिक क्रियाओं के पश्चात् होने वाले लाभों, प्रभावों व परिवर्तनों को देखा गया है। कुछ हद तक इसमें सहभागी अवलोकन का भी प्रयोग हुआ है। योगिक क्रियाओं के प्रभावों को स्वयं अध्ययनकर्त्ता में भी महसूस किया गया है।
- **वैयक्तिक अध्ययन (केस स्टडी)** – प्रस्तुत शोध में केवल लाड़पुरा तहसील के 6 उत्तरदाताओं का केस स्टडी के माध्यम से सूक्ष्म व गहन अध्ययन किया गया है। जिसमें सिद्धयोग से लाभान्वित उत्तरदाता के अतीत व वर्तमान जीवन की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अन्य आवश्यक पृष्ठभूमि की जानकारी ली गई है। सिद्धयोग से जुड़ने के पूर्व व पश्चात होने वाले प्रभाव व परिवर्तनों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। विभिन्न पहलूओं की जानकारी ली गई जिससे उनका सिद्धयोग के प्रति आस्था व विश्वास बना है।

2.8.2 द्वितीयक तथ्य संकलन प्रविधि

प्राथमिक तथ्यों के साथ साथ द्वितीयक तथ्यों का भी शोध कार्य में महत्वपूर्ण भाग होता है। इसके अन्तर्गत सिद्धयोग एवं योग से सम्बन्धित संकलित सभी सूचनाओं को पुस्तकों, पत्रिकाओं, शोध पत्रों, विभिन्न प्रकाशित व अप्रकाशित लेखों एवं इन्टरनेट आदि के माध्यम से संकलित किया गया है। सिद्धयोग की ऐतिहासिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि, अवधारणात्मक पहलूओं एवं अन्य सम्बन्धित तथ्यों का संकलन किया गया है।

2.9 तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या

तथ्यों के विश्लेषण एवं व्याख्या के बिना शोध कार्य अपूर्ण एवं अधूरा माना जायेगा क्योंकि विश्लेषण शोध का रचनात्मक पक्ष है। अध्ययन क्षेत्र से तथ्यों के संकलन के पश्चात बिखरे हुए तथ्यों का समानता व एकरूपता के आधार पर वर्गीकरण किया गया है ताकि निष्कर्ष में आसानी रहे एवं अधिक निश्चित रूपरेखा प्रदान करने के लिए सारणीयन किया गया है प्राप्त तथ्यों को साधारण आवर्त सारणी व क्रॉस सारणीयन के

माध्यम से दर्शाया है। इसमें कई ग्राफ, पाई डायग्राम, चित्रमय प्रदर्शन, सरल बार चित्र आदि के माध्यम से तथ्यों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

2.10 विषय पर किये गये कार्यों की समीक्षा

Review of Literature (Present and Past Status)

योग एवं योगिक क्रियाओं का सम्बन्ध धर्म ग्रंथों से रहा है एवं समाज को सुचारु रुप से चलाने के लिए इस प्रकार के निर्देशों का उल्लेख श्री कृष्ण ने गीता में किया–

'संयोग योग इत्युक्तो जीवात्या परमात्मनः'
अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा के मिलन का नाम योग है।

'योगः कर्मसुकौशलम'

अर्थात् प्रत्येक कार्य को कुशलता के साथ करना ही योग है।

महर्षि पतंजलि ने कहा – 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'
अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है।

समाधिपाद 1:2

इसी प्रकार जिन विद्वानों ने योग के बारे में वैचारिक एवं शोध अध्ययन के आधार पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, उनकी समीक्षा प्रासंगिक है एवं यहां पर उसका उल्लेख किया है जिसे दो भागों में विभक्त किया है–

1. भारतीय शास्त्रों में योग का अवधारणात्मक एवं सैद्धान्तिक पहलू

योग अत्यन्त व्यापक विषय है। वेद, उपनिषद, भागवत आदि पुराण, रामायण, महाभारत, आयुर्वेद, अलंकार आदि ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं है, जिसमें "योग" का उल्लेख न मिलता हो। प्रस्तुत अध्याय में योग के अवधारणात्मक एवं सैद्धान्तिक पहलूओं के बारे में विद्वानों ने अपने विचार, योगदान एवं विश्लेषणों के सम्बन्ध में अपने मत प्रस्तुत किये हैं–

- गोविन्द सदाशिव घुर्ये – धर्म के समाजशास्त्र के अपने अध्ययन में घुर्ये ने धार्मिक विश्वास, कर्मकाण्ड, संस्कार, तथा भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका पर प्रकाश डाला है। घुर्ये ने भारतीय धर्म में विभिन्न देवी–देवताओं यथा शिव, विष्णु और दुर्गा आदि के उद्भव और उसकी भूमिका का सारगर्भित विवेचन किया है। धर्म के समाज से सम्बन्धी उनकी बहुचर्चित एक कृति 'भारतीय साधुगण' (1953) में सन्यास में दोहरी भूमिका की समीक्षा की है। इस पुस्तक पर विभिन्न श्रेणियों के साधुओं, जिनमें शैव (दशनमी) और वैष्णव (वैरागी) प्रमुख हैं भारतीय मंदिरों के प्रेरणा स्त्रोत भारतीय तत्व थे। उनकी विषय वस्तु वेदों, महाकाव्यों और पुराणों पर आधारित थी **(Nagla: 104-106)**।
- इन्होंने धर्म के समाजशास्त्र अध्ययन में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस सम्बन्ध में इन्होंने 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप' (1912) में आदिवासीय धर्मों के अपने विश्लेषण में सामाजिक चेतना, सामाजिक प्रतिनिधान और पवित्रता–अपवित्रता के माध्यम से धर्म के समाजशास्त्र पर प्रकाश डाला है। दुर्खीम ने धर्म की व्याख्या निरीक्षण योग्य एक तथ्य के रूप में की है।

  दुर्खीम की व्याख्या इस तथ्य पर बल देती है कि यह मानव प्रणाली ही है जिसने ईश्वर जैसी सत्ता के अस्तित्व में विश्वास पैदा किया है ईश्वर वस्तुतः समाज का ही छद्मवेश है। सामूहिक रूप में व्यक्तिगण समाज की ही पूजा करते हैं। समाज ही वास्तविक देवता है **(Fletcher 2008: 184)**।
- मैक्स वेबर की सबसे महत्वपूर्ण और सर्वाधिक विदित देन ''धर्म का समाजशास्त्र है।'' वेबर ने विश्व के प्रमुख धर्मों का व्यापक अध्ययन किया और इस अध्ययन के आधार पर धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयत्न किया।

  वेबर ने विश्व के छः महान धर्मों को चुन लिया, वे धर्म है– कन्फ्यूशियन, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम तथा यहूदी धर्म। इनमें से प्रत्येक धर्म के आर्थिक आचारों का विश्लेषण किया, मैक्स वेबर का अधिक महत्वपूर्ण तथा परिपक्व सामान्य निष्कर्ष उनकी सर्वाधिक प्रख्यात रचना **"The Protestant ethic & The Spirit of Capitalism"** इसमें प्रोटेस्टेन्ट धर्म और पूँजीवाद के सम्बन्ध को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है (वही, पृ. सं.: 184)।

  इसी प्रकार योग के अवधारणात्मक एवं सैद्धान्तिक पहलूओं के बारे विद्वानों, धर्म गुरुओं, चिन्तकों एवं उपदेशकों ने अपने मतों को बताया है।

- आज मानव समाज में ज्ञान के अपार तीव्र गति के विस्तार से अनेकानेक सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं, पिछले 60 वर्षों में जितने वैज्ञानिक और प्राविधिक अनुसंधान किये गये हैं, उतने मानव समाज के पूर्ण इतिहास में सम्मिलित रूप से भी नहीं पाये जाते हैं। आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया है। हम लोगों ने वे उपलब्धियाँ भी प्राप्त कर ली हैं, जिनके विषय में हमारे पूर्वजों ने शायद सोचा भी नहीं होगा। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के सूक्ष्मतर रहस्य को जानने में सफलता प्राप्त कर ली है, जिसके कारण आणविक शक्ति का उपयोग घरेलू कार्यों में किया जाने लगा है। आज व्यक्ति के पास अनेकानेक सुख सुविधाओं के साधन उपलब्ध हैं। देखने में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वर्ग जमीन पर उतर आया हो, हम अणु तथा जीन्स के विषय में काफी कुछ जानते हैं। लेकिन दुःख इस बात का है कि हम इससे प्रसन्न नहीं, मानव के विषय में हमारा ज्ञान, भौतिक तथा जैविकीय विज्ञान की अपेक्षा काफी पिछड़ गया है **(मिश्रा 2008: 49)**।

- **(सिंह, मिश्र और मिश्र 1997: 18)–** के अनुसार योग शब्द की उत्पति ''युज्" धातु से हुई है, जिसका तात्पर्य होता है – जोड़ना

विभिन्न धर्मों में योग

ईसाई धर्म के अनुसार – परमात्मा तुम्हारे हृदय में वास करता है।

कुरान के अनुसार – हम परमात्मा की ज्योतिमयी किरण हैं।

हिन्दु धर्म के अनुसार "तत्वमसि" अर्थात तुम ही परमात्मा हो।

इस प्रकार सभी धर्मों ने आत्मा को परमात्मा का अंश माना है।

भारत की इस विश्व को सबसे बड़ी देन योग है। योग भारतीय संस्कृति का मूल है, एक सर्वोत्तम उपासना पद्धति है, मानव जीवन के लिए एक आदर्श आचार संहिता है, योग पवित्रतम् जीवन पद्धति के अतिरिक्त जीवन का सर्वोच्च और अंतिम लक्ष्य है। यदि किसी भाग्यशाली व्यक्ति को आत्म साक्षात्कार हो जाता है, तो उसकी परिणिती ईश्वर साक्षात्कार होगी और जिसे ईश्वर साक्षात्कार हो चुका है, वह मुक्त पुरूष है, वह मोक्ष का अधिकारी है। "आत्म साक्षात्कार, ईश्वर साक्षात्कार, अथवा मोक्ष ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है"।

मोक्ष की व्युत्पति संस्कृत की मोक्ष धातु में धञ् प्रत्यय लाने से हुई है जिसका अर्थ छुटकारा, स्वतंत्रता, बचाव, मुक्ति है।

- **(शर्मा 2007: 13)** – का मानना है कि "तन व मन का संयोग ही योग है"

भारत के ऋषि मुनियों और संत महात्माओं ने सृष्टि की रचना के सम्बंध में गूढ़ चिन्तन किया धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया । तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव की बहुमुखी उन्नति तभी संभव है जब वह नैतिक उन्नति के साथ साथ पारलौकिक उन्नति की ओर अग्रसर हो।

भारतीय योग शास्त्रियों ने योग को आठ प्रकार का बतलाया है –

1. हठयोग
2. लययोग
3. राजयोग
4. भक्तियोग
5. ज्ञानयोग
6. कर्मयोग
7. जपयोग
8. अष्टांगयोग

अष्टांग योग के अंतर्गत आठ अंग बताये गये हैं।

1. यम
2. नियम
3. आसन
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि

उपरोक्त आठ अंगों का अभ्यास करने से पूर्व व्यक्तियों को षट्कर्म करना अतिआवश्यक होता है षट्कर्म निम्न प्रकार से बताये गये हैं –

1. नेति
2. नौलि
3. धौति
4. वस्ति
5. कपाल भाति
6. त्राटक

- सिद्ध योग में सिद्ध गुरु दृष्टि, शब्द, स्पर्श या संकल्प के द्वारा शिष्य की सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में कुशल होते हैं। इसको "शक्तिपात" कहते हैं, जिसके पश्चात् इस महायोग की प्रकिया स्वतः आरम्भ हो जाती है, जिसका मूल गुरुकृपा है।

शक्तिपात का अनुभव बहुत तीव्र या बहुत से लोगों को शांत और सूक्ष्म गति से होता है, जाग्रत कुण्डलिनी की चर्चा बहुत श्रद्धा और भक्ति से की गई है। कुण्डलिनी की

महान शक्ति में प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव का रहस्य निहित है, जो सच्चे धर्म का प्राण है। कुण्डलिनी प्रत्येक मानव में विद्यमान है और साधारणतया सुप्तावस्था में ही रहती है। "प्रत्येक मानव के भीतर एक ऐसी अनन्त शक्ति निवास करती है जो विश्व का आदि कारण है इस अनन्त शक्ति के दो रूप हैं, एक प्रकट, दूसरा सम्भाव्य अथवा प्रसुप्त, अव्यक्त रूप में ये शक्ति प्रत्येक में विद्यमान है"। एक बार जब ये जाग्रत हो जाये, तब हमारा आध्यात्मिक विकास होना निश्चित है।

केवल वे गुरु ही शक्तिपात कर सकते हैं जिनको अपने गुरु से शक्तिपात मिला हो, जिसकी कुण्डलिनी पूर्ण विकसित हो गई हो।

गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति!

''गुरु ईश्वर की अनुग्रह करने वाली शक्ति है।''

शिष्य में जाग्रत हुई शक्ति पर गुरु का पूर्ण प्रभुत्व होता है, वे उसकी जाग्रत शक्ति के वेग को अनुशासित व नियन्त्रित कर सकते हैं **(परमहंस 1997: 3)**।

- इनका विचार है कि कुण्डलिनी योग का उद्भव सिद्ध सम्प्रदाय के योगियों द्वारा हुआ है, जिसमें मुख्यतया सिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ, सिद्ध गोरखनाथ, सिद्ध जालन्धरनाथ, सिद्ध घेरण्ड, कनिया, सहरपा आदि 84 सिद्ध माने गये हैं।

  कुण्डलिनी योग का काल विक्रम सम्वत् का प्रारम्भिक काल था। महर्षि पंतजलि, महर्षि कपिल मुनि आदि की योग साधना में इसका उल्लेख नहीं मिलता है **(भारती 2008: 17–18)**।

- भगवद्गीता के एक मुख्य वाक्यांश में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चरित्र व आजीविका के आधार पर भगवान के द्वारा चार वर्ग बनाऐ गए हैं **(Nadkarni 2008: 403)**।
- दर्शन आध्यात्मिक दृष्टि, रूपान्तरण और दार्शनिक अनुमान की एक कार्यविधि है।
- "दर्शन" केवल शारीरिक इन्द्रियों (आँखों) के द्वारा देखना और स्पर्श करना मात्र नहीं है आध्यात्मिक अनुभव और बिना किसी में बाह्य विचलन के, आन्तरिक मानसिक स्थिति तक पहुँचना होता है। इसे केवल आन्तरिक दृष्टि के माध्यम से देखा जाता है– **(Eck 1981: 165)**।

- **(स्वामी 2005: 48)** — ने प्राणायाम रहस्य में कहा है कि सिद्धयोग के अन्तर्गत कुण्डलिनी का जागरण शक्तिपात द्वारा किया जाता है सदगुरु के शक्तिपात से साधक को अतिश्रम नहीं करना पड़ता, उसका समय बच जाता है और साधना में सफलता भी शीघ्र प्राप्त हो जाती है परन्तु ऐसे शक्तिपात करने वाले सिद्ध पुरूष मिलना अत्यधिक दुर्लभ हैं।
- योग इस शरीर में आत्मा के अस्तित्व का बोध कराता है। यह रहस्यों से भरा पथ है, जो तर्को से साबित नहीं किया जा सकता। यह तो शोध का विषय है। देह में ही कुण्डलिनी के उत्थान और ध्यानादि से काया मे अद्‌भुत सिद्धियाँ जाग्रत हो जाती हैं। खेचरी मुद्रा के अभ्यास में बहुत भय है।

  कुण्डलिनी ही प्राण शक्ति है– **(बाबा 2005: 48)**।
- **(दण्डी 1978: 44)** – का विचार है कि यह मनुष्य शरीर पृथ्वी पर दुर्लभ है, इस मानव देह को प्राप्त करने की देवता भी इच्छा करते हैं।
- योग के आसन, प्राणायाम मुद्रा और बन्ध का आविष्कार ध्यान की अवस्था में हुआ तथा ध्यान की विभिन्न अवस्थाओ में विभिन्न आसन एवं मुद्रा बन जाती हैं। अब भीतर यदि कुण्डलिनी जाग रही है तो कुण्डलिनी के लिये मार्ग देने के लिये शरीर आड़े तिरछे न मालूम कितने रूप लेगा, वह मार्ग कुण्डलिनी को भीतर मिल सके, इसलिये शरीर की रीढ़ बहुत तरह के तोड़ करेगी, सिर भी विशेष स्थितियाँ लेगा, शरीर को ऐसी स्थितियाँ लेनी पड़ेगी जो उसने कभी नहीं लीं **(ओशो 1998: 111)**।
- **(पोद्दार: 737)** – ने बताया शिवशास्त्र में परमात्मा शिव ने शाम्भवी, शास्त्री और मान्त्री 3 प्रकार की दीक्षा का उपदेश दिया है। गुरु के दृष्टि मात्र से, स्पर्श से तथा सम्भाषण से भी जीव को तत्काल पाशों का नाश करने वाली संज्ञा सम्यक् बुद्धि प्राप्त होती है, वह शाम्भवी दीक्षा कहलाती है। गुरु योग मार्ग से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके ज्ञानदृष्टि से ज्ञानवती दीक्षा देते हैं वह "शात्ती" कही गई है। उत्कृष्ट बोध एवं आनन्द की प्राप्ती ही शाक्तिपात का लक्षण है एवं बाह्य शरीर में कम्पन (कम्पन्न) रोमांच, स्वरविकार (कण्ठ से गद्यवाणी का प्रकट होना) नेत्र विकार (नेत्रों से अश्रुपात होना) अंगविकार (शरीर में जड़ता तथा स्वेद आदि का उदय होना) प्रकट होते हैं।
- अक्टूबर 1935 में अरविन्द ने लिखा था "24 नवम्बर 1926" के दिन भौतिक में श्रीकृष्ण का अवतरण हुआ था। कृष्ण अतिमानसिक ज्योति नहीं हैं कृष्ण के अवतरण का मतलब है अधिमानसिक देव का अवतरण, जो अपने आप तो वास्तव में अतिमानसिक नहीं है

पर अतिमन और आनन्द के अवतरण के लिए तैयारी कर रहे हैं कृष्ण आनन्दमय हैं वे आनन्द की ओर अभिमुख विकास को अधिमानस के द्वारा सहारा देते हैं **(रवीन्द्र 1994: 53—54)**।

- **(गोयन्दका: 17)** — ने समाधिपाद — 1

तस्यवाचक : प्रणव : ।।27।।

अर्थात् — उस ईश्वर का नाम ॐ कार है।

- महर्षि अरविन्द ने कहा है कि क्रम विकास में अगला कदम जो मनुष्य को एक उच्चतर और विशालतर चेतना में उठा ले जायेगा और उन समस्या को हल करना प्रारम्भ कर देगा, जिन समस्याओं ने मनुष्य को हैरान और परेशान कर रखा है **(सियाग 1993: 14)**।
- **(योगानन्द 2010: 323—324)** — का कहना हैं आध्यात्मिक महामानव अपने शिष्यों के कर्मभार के कुछ हिस्से को अपने ऊपर लेकर उसके शारीरिक और मानसिक कष्टों को न्यूनतम स्तर तक कम कर सकता है। ध्यान में सुस्पष्ट सुनाई देने वाले ऊँ के ब्रह्म नाद को पतंजलि ईश्वर कहते हैं।

2. शोध अध्ययनों के विश्लेषणात्मक पहलूओं की समीक्षा

योग एक शोध का विषय है सम्बन्धित तथ्य को प्रमाणित करने हेतु कई अध्ययनकर्ताओं द्वारा शोध कार्यो का मूल्यांकन एवं विश्लेषण भी किया गया है जिससे सम्बन्धित समीक्षा प्रस्तुत अध्याय में वर्णित है—

- **(www.uni-marburg.de)** — सिद्धयोग के अभ्यास में शक्तिपात दीक्षा, मंत्रजाप और गुरु सेवा सम्मिलित होती है।

सिद्धयोग में सबसे मुख्य विषय जो पहचाना गया है वह है गुरु — शिष्य का सम्बंध। इस परम्परा में गुरु भक्ति व गुरु पूजा की धारणा पर मुख्य रूप से जोर दिया गया है।

- **(Coyte, Gilbert and Vichalls 2007)** — ने भारतीय उपमहाद्वीप की बौद्धिक परम्परा ने एक सर्वोच्च अलौकिक आत्मा को पहचाना जिसको अलग—अलग नाम दिये हैं, साथ ही प्राकृतिक एवं परमात्मा से सम्बंधित अद्वैतवाद को पहचानना।

- योग के सम्बंध में प्रमुख ग्रन्थ ''पतंजलि योग सूत्र'' के अनुसार योगस्चित्तवृत्तिरोधः (योगसूत्र 1.2) चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना, इस अवस्था को समाधि कहा है और अधिकांश पूर्वकाल के एवं आधुनिक योग का लक्ष्य है **(Gerald, Kunt 2005: 4)**।
- **(Benar 2001)** – प्रार्थना एवं स्पिरिचुअल हीलिंग (आध्यात्मिकता द्वारा रोग मुक्ति) पर पहले 40 वर्षों से अनुसंधान किया जा रहा है। आध्यात्मिक जागरूकता से अनेक रोगों के उपचार में सहायता मिल रही है। स्पिरिचुअल हीलिंग को नैतिकता के नियमानुसार एक होलिस्टक (पवित्रता) आधार पर उपयोग में लाना एक चुनौती है।
- **(www.holistichealingresearch.com)** भरोसा आध्यात्मिकता की समझ को विकसित एवं गहरा करने में हमारी मदद करता है। भरोसा तार्किक सत्य पर आधारित होता है और कारण के द्वारा अनुमान लगाने के बजाय इसे सीधा ही हृदय में जाना जाता है।
- समकालीन मानव विज्ञान और अंध भक्ति या जड़ पूजा, दार्शनिक सिद्धांत के साथ, मार्क्स और धर्म की आलोचना एवं योग के विश्लेषण द्वारा सामाजिक मूल्यों के बहाली पर प्रकाश डालता है। योग धार्मिक चेतना के ऐतिहासिक विकास में एक बदलाव का प्रतिनिधित्व करता है **(Alter 2006: 763-783)**।
- **(http://bod.sagepub.com/content/13/2/25.abstract)** – के अनुसार यह लेख 'आधुनिक योग आसन' एक प्रकार से ''अष्टांग विन्यास योग'' का प्रारम्भिक योग विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह बताता है कि योग का अभ्यास करने वालों के अनुभव मुख्यतः शारीरिक होते हैं एवं यह लेख इस शारीरिक आधार पर सांस्कृतिक विचारों के आदान–प्रादान की योग द्वारा उपयोगिता को समझाता है।
- इन्होंने अध्ययन में पाया कि डिप्रेशन एक सामान्य बीमारी है जो 10 प्रतिशत आबादी को प्रभावित करती है एवं जीवनभर में 16 प्रतिशत व्यक्तियों को, योग से डिप्रेशन के लक्षणों में महत्वपूर्ण सुधार पाया गया एवं डिप्रेशन कम हुआ।

  योग डिप्रेशन के उपचार में एक पूरक पद्धति पाया गया **(Mehta and Sharma 2010: 156-170)**।

- **(Varabally 2012: 89)** – का कहना है कि शिजोफ्रिनिया गंभीर मानसिक बीमारियों में से एक है। आधुनिक इलाज एवं दवाओं के बावजूद भी मरीज पूर्ण ठीक

नहीं हो पाता है, अनुभव प्राप्त करने एवं सामाजिक रूप में कमी रहती है। डिप्रेशन एवं एंजाइटी (व्याकुलता, चिंता) के उपचार में दवाओं के साथ में योग भी उपचार में प्रभावी सिद्ध हुआ है।

- **(Ramos-Jimenez et al.2009) –** इन्होनें उत्तरी मैक्सिको में एक अध्ययन किया गया जिसका उद्देश्य मध्यम उम्र की एवं बुजुर्ग महिलाओं में गहन हठयोग के प्रभाव का मूल्यांकन करना था अध्ययन के पश्चात् यह पाया गया कि मध्यम उम्र की एवं बुजुर्ग महिलाओं में गहन हठयोग, हृदय एवं रक्तवाहिनियों से सम्बन्धित रिस्क फैक्टर में सुधार करता है।
- द्वितीय लेबनान युद्ध के बाद जो बच्चे बमवर्षा वाले क्षेत्रों में रहते थे उनमें तनाव को कम करने के लिये एक प्रोजेक्ट आरम्भ किया गया, जिसमें इन बच्चों में योग के प्रभाव का अध्ययन किया गया।

  अध्यापकों ने इन बच्चों में एकाग्रता मिजाज (मूड) एवं दबाव में कार्य करने की क्षमता में प्रभावशाली सुधार पाया, जबकि बच्चे अपने व्यवहार में बदलाव से अनभिज्ञ थे। सभी में खुशी रिपोर्ट की गई एवं लगभग सभी ने स्कूल समय में योग की प्रैक्टिस को निरन्तर जारी रखने में रुचि प्रदर्शित की। इस प्रकार योग युद्ध के बाद तनाव को कम करने में लाभप्रद है **(Miron, Bar and Strulov 2010: 42-43)**।

- अध्ययन से स्पष्ट है कि बाँये नासिका से श्वास लेने एवं चन्द्रनाड़ी प्रणायाम द्वारा ब्लड प्रैशर व हार्ट रेट पर तुरन्त पडने वाले प्रभाव की स्टडी की गई, जिसमें (6 सांस/प्रति मिनट एवं 27 राउण्ड) किये गये। जिसके तुरन्त बाद हार्ट रेट एवं सिस्टोलिक ब्लड प्रैशर एवं पल्स प्रैशर में प्रभावी कमी रिकार्ड की गई। अतः चन्द्रनाडी प्राणायाम को हार्टरेट एवं सिस्टोलिक प्रैशर में कमी लाने हेतु प्रभावी पाया गया (डायस्टोलिक प्रैशर पर प्रभाव नहीं पड़ा)**(Bhavanani, Mohan and Sanjay 2012: 108-111)**।

- **(Choi et al. 2011)** – ने जाना कि एक्यूप्रेशर और ध्यान को दर्द के चिकित्सकीय उपचार में व्यापक रूप से उपयोग में लिया जा रहा है। एक अध्ययन किया गया जिसमें पाया गया कि ध्यान करने वालों में अन्य की तुलना में ज्यादा दर्द सहने की क्षमता है।

- माइन्ड फुलनैस मेडिटेशन स्किल कोर्स, तनाव प्रबंधन के लिए प्रभावी हो सकता है **(John, Sharon and Christoffer 2009)**।
- **(http://www.explorejournal.com/artical/s1550-8307(1)0028-x/abstract)** – माइन्ड फुलनैस बेस्ड स्ट्रैस रिडक्शन पर एक प्रोग्राम आयोजित किया जो ध्यान के अभ्यास पर आधारित था और पाया कि ध्यान की पद्धति पुरानी अनिद्रा की बीमारी के उपचार में प्रभावकारी है।
- **(Shamra and Haider 2012: 199-205)** – के अध्ययन में पाया गया कि ब्लड प्रेशर पूरी दुनिया भर में एक स्वास्थ्य से सम्बंधित चिन्ता का विषय है। इससे हृदय रोग एवं स्ट्रोक (लकवा) का खतरा बढता है। इसमें योग को महंगी दवाओं की तुलना में ब्लड प्रेशर को नियंत्रित करने में वैकल्पिक एवं पूरक पाया गया।
- ब्राजील के शहरी केन्द्रों में विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर के लोगों में योग किया जाता है। योग को शरीर, दिमाग व आत्मा के संबंध में, पूर्ण शाकाहारी बनने, शांतिपूर्ण संस्कृति, नशों से मुक्ति, आध्यात्मिक चेतना का विकास, व्यक्तित्व का एकीकरण में उपयोगी पाया गया **(Siegel and Barros, 2009: 93-107)**।
- **(Soni et al. 2012)** – ने स्पष्ट किया कि क्रोनिक ऑब्सट्रक्टिव पल्मोनरी डिजीज (COPD) के मरीजों में डिप्रेशन एवं चिन्ता, व्याकुलता की अधिक सम्भावना रहती है। इन मरीजो में सुबह प्राणायाम एवं आसन कराये गये और उनकी डिफ्यूजन केपेसिटी में सुधार पाया गया। अतः क्रोनिक ऑब्सट्रक्टिव पल्मोनरी डिजीज के मरीजों में योग को मेडिकल उपचार के साथ ही सहयोगी पद्धति के रूप में उपयोग में लाया जा सकता हैं।
- इन्होंने गुण (व्यक्तित्व) पर योग के प्रभाव को जानने के लिए एक अध्ययन किया गया। जिसमें प्रतिदिन आसन, प्राणायाम, ध्यान, काल्पनिक सुधार एवं भक्ति सत्र का अभ्यास कराया गया। जिसमें गीता में वर्णित सत्व, रजस और तमस पर योग के प्रभाव का अध्ययन किया गया और सत्व में सुधार एवं तमस में कमी पाई गई **(Desh Pande, Nagendra, and Raghuram 2009: 13-21)**।
- **(Bali et al. 2010: 18-25)** – ने विभिन्न अध्ययनों में पाया गया कि गर्दन के साधारण दर्द में दवा, फिजियोथेरेपी, कसरत के साथ पारम्परिक उपचार के तरीके पर्याप्त नहीं हैं। बीमारियों में तनाव में कमी एवं पुराने कमर के निचले हिस्से में दर्द में योग की तकनीक प्रशंसनीय पद्धति के रूप में प्रभावी पाई गई है। योग से गर्दन में दर्द

में कमी, छूने पर दर्द में कमी, गर्दन की लचक में सुधार, चिन्ता में कमी, विकलांगता में कमी पाई गई है।

- **(Ebnezar et al. 2012: 28-36)** – इन्होनें घुटनों के ऑस्टियो आर्थराइटिस (OA) में योग के प्रभाव का अध्ययन किया गया, जिसमें उन्होंने योगिक लूजनिंग एवं स्ट्रेंथनिंग अभ्यास, आसन, प्राणायाम, ध्यान कराये। जिससे घुटने के दर्द में कमी, सुबह घुटने के अकड़न में कमी, तनाव में कमी, सिस्टोलिक ब्लडप्रेशर एवं डायस्टोलिक ब्लडप्रेशर में कमी, पल्स रेट में कमी पाई गई।

2.11 अध्ययन की सीमाएं

समाज विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख विशेषता अध्ययन के क्षेत्र का परिसीमन करना है। गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग संबंधी प्राथमिक व द्वितीयक आंकड़े एकत्रित करते समय कई सीमाओं का सामना करना पड़ा है। जो निम्न प्रकार है–

1. समंक (डाटा) की उपलब्धता भी एक महत्वपूर्ण सीमा के रूप में रही है।
2. इस शोध परियोजना का कार्यक्षेत्र कोटा जिले की तीन तहसीलों तक ही सीमित है। जिसमें एक तहसील से 50 उत्तरदाता लिये गये हैं अर्थात् कुल 150 उत्तरदाताओं से साक्षात्कार अनुसूची के माध्यम से तथ्य एकत्रित किये गये हैं।
3. अध्ययन में सिद्धयोग से अधिकतम 15 वर्ष व न्यूनतम 2 वर्ष से जुड़े लाभान्वित उत्तरदाताओं को ही लिया गया है।
4. गहन अध्ययन के लिए 6 केस स्टडी केवल लाड़पुरा तहसील की ही ली गई हैं। क्योंकि समय व धन के व्यय को ध्यान में रखते हुए लाड़पुरा तक ही सीमित रहना पड़ा।
5. असाध्य रोग से पीड़ित उत्तरदाताओं से जानकारी एकत्रित करने में थोड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा, उनकी सूचनाओं को गोपनीय रखने का विश्वास दिलाया गया।
6. वैयक्तिक अध्ययन (केस स्टडी) लेने में समय अधिक लगा, एक से अधिक बार जाकर गहन व सूक्ष्म जानकारी ली गई। कम समय में अधिक से अधिक जानकारी लेना आसान कार्य नहीं रहा।
7. शोध कार्य में अनुसंधानकर्ता को एक साथ कई कार्यों का सम्पादन करना होता है साक्षात्कार–अनुसूची भरना, अवलोकन, वैयक्तिक अध्ययन समय आदि को ध्यान में रखकर करना पड़ा जो कि एक शोधार्थी के लिए चुनौती भरा कार्य रहा है।

8. सिद्धयोग के अन्य कई लाभान्वितों को इस शोध कार्य में सम्मिलित नहीं कर सके क्योंकि समय व क्षेत्र सीमित रखना पड़ा।

संदर्भ

Alter, Joseph S. ‘Yoga and Fetishism: Reflections on Marxist Social theory, American Journal of Sociology, 12(4): 763-783.

ओशो, रजनीश, 1998, कुण्डलिनी और तन्त्र, नई दिल्ली: डायमण्ड पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड.

Bali Yogitha; R Nagarathana, John Ebnezar and HR Nagendra . 2010. ‘Complimentary Effect of Yogic Sound Resonance Relaxation Technique in Patients with Common Neck Pain’,3 (1): 18-25.

बाबा, पायलट, हिमालय कह रहा है –भाग 2, नैनीताल: श्री पायलट बाबा आश्रम.

Benar, J. Anieal. 2001. ‘Prayer and Spiritual Healing in Medical Setting: A Research Review, International Journal of Healing and Caring’, 1 (1), September.

Bhavanani, Ananda Balayogi; Madan Mohan and Zeena Sanjay .2012. ‘Immediate Effect of Chandranadi Pranayama (left unilateral forced nostril breathing) on Cardiovascular Parameters in Hypertensive Patients’, 5(2): 108-111.

भारती, राकेश, 2008, योगदर्शन, दिल्ली: पंकजबुक्स 109–ए, पटपडगंज.

Choi Kyung- Eun; Rampp Thomas, Saha J. felix, Dobos J. Gustav and Musial Frauke, 2011. ‘Pain Modulation & Meditation & Electroacupuncture in Experimental Submaximum Effort Tourniquent Technique (SETT)’, 7(4): 239-245.

चुतुर्वेदी, खेमचंद, 2007, योग साधना: आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, वाराणासी: विश्वविद्ययालय प्रकाशन.

Coyte, Ellen Mary; Peter Gilbert and Vicky Vicholls. 2007. 'Spirituality values and Mental Health Jewels for the Journey', Publisher Jessica kingsley.

दण्डी, वेदान्त, 1978, दृष्टान्त–रत्नामाला, एटाः आर्षगुरूकुल यज्ञतीर्थ.

Desh Pande, Sudheer; HR Nagendra and Raghuram Nagrathana. 2009. 'A Randomized Control Trial of the Effect of the Yoga on Gunas (Personality) and Self Esteem in Normal Healthy Volunteers', 2(1): 13-21.

Ebnezar, John; Raghuram Nagarathan, Bali Yoginath, Hongasandra Ramarao Nagendra. 2012. 'Effect of Intregrated Yoga Therpy on Pain, Morning Stiffness and Anxiety in Osteoarthritis of Knee Joint : A Randomized Control Study' Vol 5: 28-36.

E.ck., L. Diana. 1981. Darsan: Seeing the Divine Image in India, Chambersburg (Pennsylvania): Animal Book.

Fletcher, Ronald. 2000. The Making of Sociology A Study of Sociological Theory, Jaipur and New Delhi: Rawat, Vol. 1: 184.

गोयन्दका, हरिकृष्णदास टीकाकार, सम्वत् 2061, पतंजलि योगदर्शन, गोरखपुरः गीता प्रेस.

http://www.explorejournal.com/artical/s1550-8307(1)0028-x/abstract (accessed on 12 February 2013).

http://www.bodsagepub.com/content/13/2/25.abstract (accessed on 15 February 2013).

http://www.ijoy.org.in/article.asp?issn=0973-2 (accessed on15 January 2013).

John, D. Agee; Sharon Danoff-Burg and Christoffer A.Grant. 2009. 'Comparing Brief Stress Management Courses in a Community Sample: Mindfulness Skills & Progressive Muscle Relaxation', 5(2):104-109.

Larsen,Gerald, James and kunt A. Jacobsen. 2005. 'Theory and Practice of Yoga: Essays in Honour of Gerald James Larson, Konin Klijke Brill NV, Netherland,' P4.

Mehta, Puravi and Manoj Sharma. 2010. 'Yoga as a Complementary Therapy for Clinical Depression: Complementary Health Practice Review'.

मिश्रा, शैलेष कुमार, 2008, योग क्या करता है, जयपुरः कैप्रीकॉर्न पब्लिशिंग हाऊस.

Miron, Ehud,; An Dov Bar and Avshalom Strulov. 2010. 'Here and Now : "Yoga in Israeli Schools ".Vol 3 : 42-47.

Nadkarni, M.V. 2008. 'Hinduism and Caste', Sociology Bulletin, 57(3): 403.

Nagla, B.K. 2008. Indian Sociology Thought, Jaipur: Rawat.

पोद्दार, प्रसाद हनुमान, सम्वत् 2056, संक्षिप्त शिव पुराण, गोरखपुरः गीताप्रेस.

परमहंस, स्वामी मुक्तानंद, 1997, कुण्ड़लिनी जीवन का रहस्य, चेन्नईः चितशक्ति पब्लिकेशन.

Ramos-Jimenez, Arnulfo; Rosa P Hernandez-Torres, Abraham Wall-Medrano, Maria Dj Munoz-Daw, Patricia V Torres-Duran, and A Marco Juarez-Oropeza.2009.'Cardiovascular and Metabolic Effects of Intensive Hatha Yoga Traning in Middle-aged and Older Women from Northern Mexico', 2(2): 49-54.

रवीन्द्र, 1994, लाल कमल, पाण्डेचेरीः श्री अरविन्द सोसायटी.

सिंह, सुरेन्द्र, मिश्र, पी.डी. और मिश्र, बीना., 1997, योग एक परिचय, लखनऊः सुलभ प्रकाशन.

सियाग, चौधरी रामलाल, 1993, पवित्र धार्मिक ग्रंथ–बाइबिल की भविष्यवाणियाँ, जोधपुर :आध्यात्मिक सत्संग केन्द्र.

शर्मा, उर्षा, 2007, योगासन और उसके लाभ, इलाहबादः, भारती प्रकाशन.

स्वामी, रामदेव, 2005, प्राणायाम रहस्य, हरिद्वारः दिव्य प्रकाशन.

Siegel, Pamela and Nelson, F. de Barros .2009. 'Yoga in Brazil and the National Health System' P 93-107.

Sharma, Manoj and Taj Haider. 2012. 'Yoga as an Altenative and Complementary Treatment for Hypertensive Patients', Vol 1, P199-205.

Soni, Ritu; Kanika Munish, K P Singh, and Savita Singh. 2012. 'Study of the Effect of the Yoga Training on Diffusion Capacity in Chronic Obstractive Pulmonary Disease Patient : A Controlled Trial', 5 (2): 123-127.

Varambally, Shivarama and B.N. Gangadhar. 2012. 'Yoga: A Spiritual Practice With Therapeutic Value in Psychiatry (NIMHANS), Bangalore,' 5(2): 189.

योगानन्द, परमहंस, 2010, योगी कथामृत, कोलकाताः योगदा सत्संग सोसायटी ऑफ इण्डिया.

www.holistichealingresearch.com (accessed on 12 May 2013)

www.uni-marburg.de (accessed on 10 March 2013)

अध्याय–3

योग एवं सिद्धयोग के प्रवर्तक एवं उनका व्यक्तित्व

- गुरुदेव रामलाल सियाग : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- महर्षि पतंजलि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- महर्षि अरविन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- मुक्तानंद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
- रामदेव : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अध्याय 3

योग एवं सिद्धयोग के प्रवर्तक एवं उनका व्यक्तित्व

भारत में तो योग अनादिकाल से चला आ रहा है। ऋषियों–मुनियों के काल से ही ध्यान व समाधि को अपनाया है। योग का अभ्यास पूर्व वैदिक काल में भी किया जाता था।

प्रस्तुत अध्याय में योग एवं सिद्धयोग प्रवर्तकों के द्वारा कराये जा रहे योग अभ्यास को वर्णित किया है। इसके अन्तर्गत प्राचीन काल व वर्तमाान में प्रचलित 5 योग गुरुओं का वर्णन है। सभी योग गुरुओं के जीवन काल को प्रस्तुत किया गया है सर्वप्रथम सिद्धयोग के प्रवर्तक गुरुदेव रामलाल सियाग के सम्पूर्ण जीवनकाल, उनके आध्यात्मिक जीवन के अनुभव, सिद्धयोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि आदि का विवरण प्रस्तुत अध्याय में बताया गया है। उसके पश्चात योग के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि के जीवनकाल का चित्रण, उनकी कृतियों प्रमुख ग्रंथ योग सूत्र एवं योग के प्रति इनकी अवधारणाओं एवं किस प्रकार महर्षि पतंजलि ने उस समय के प्रचलित प्राचीन अभ्यासों को व्यवस्थित व वर्गीकृत किया और इससे संबंधित ज्ञान को पातंजलियोगसूत्र नामक ग्रन्थ में क्रमबद्ध तरीके से व्यवस्थित किया है। इसके पश्चात अरविन्द के जीवनकाल का चित्रण एवं उनका योग के प्रति क्या दृष्टिकोण है ? इसकी जानकारी भी प्रस्तुत अध्याय से मिलती है। इसी क्रम में सिद्धयोगी मुक्तानंद द्वारा कुण्डलिनी जागरण के बारे में बताया गया है। जिसमें शक्तिपात के महत्व का व इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का वर्णन किया गया है।

अन्त में रामदेव के जीवन चरित्र, उनके योगदान की समीक्षा को प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा करवाये जा रहे प्राणायाम, योगासान व व्यायाम के प्रकारों का वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत अध्याय योग एवं सिद्धयोग के प्रवर्तकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केन्द्रित रहा है।

कोटा में गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग कार्यक्रम में उपस्थित जनसमूह

जोधपुर आश्रम

कोटा आश्रम

गुरुदेव रामलाल सियाग : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

- **गुरु का जीवन परिचय**

भारत के समकालीन संतो मे से एक 87 वर्षीय गुरु रामलाल सियाग ने प्राचीन भारत की समृद्ध वैदिक आध्यात्मिक धरोहर में से योग की एक अद्वितीय पद्वति विश्व को प्रदान की है। जोधपुर की आध्यात्मिक सस्था अध्यात्म विज्ञान सत्संग केन्द्र (ए.वी.एस.के.) के संस्थापक एवं संरक्षक गुरुदेव सियाग वर्तमान में भारत के राजस्थान के जोधपुर जिले में निवास करते हैं। संस्था की शाखाऐं कोटा सहित देश के कई स्थानों पर हैं। 1980 के दशक के मध्य से ही गुरुदेव सियाग एक विशुद्व आध्यात्मिक आन्दोलन की अगुआई कर रहे हैं।

साधना के दौरन गुरु सियाग को 1968 मे रहस्यमय आध्यात्मिक अनुभव दिव्य शक्तियों से आशीर्वाद स्वरुप प्राप्त हुए। गुरुदेव सियाग अनगिनत मनुष्यों को शारीरिक मानसिक संतापो से छुटकारा दिलाकर स्वयं की खोज एवं ईश्वरानुभूति के पथ पर अग्रसर कर चुके हैं।

- **आरम्भिक जीवन**

गुरुदेव सियाग का जन्म 24 नवम्बर 1926 को बीकानेर शहर के पूर्व में 25 कि.मी. दूर स्थित एक छोटे से ग्राम पलाना में एक गरीब किसान परिवार में हुआ था। गुरुदेव का बचपन कठिन संघर्षों से पूर्ण रहा, जो मात्र 3 वर्ष की उम्र में पिता की अचानक मृत्यु के कारण और भी अधिक कठिन हो गया। इनकी माँ एक दृढ आध्यात्मिक भरोसे वाली महिला थीं, जिन्होनें अपने अकेले बेटे की परवरिश घरेलू कार्य करते हुए की। जब उनकी माँ काम पर जाती थीं तब उनके परिवार मे उनकी देखभाल करने वाला अन्य कोई भी न होने के कारण, गुरुदेव को उस समय एक स्थानीय अनाथालय में रखा गया। सुविधाओं के अभाव के बीच रहते हुऐ गुरुदेव ने एक स्थानीय स्कूल से 10वीं तक की पढ़ाई पूर्ण की फिर जब वह 18 वर्ष के हुऐ, उन्हें अपनी माँ की वृद्धावस्था के कारण कॉलेज शिक्षा का विचार त्याग कर भारतीय रेलवे में एक बाबू की नौकरी करनी पड़ी।

ब्रिटिश शासन काल में बीकानेर में रेलवे जंक्शन के इर्दगिर्द सामान व यात्रियों के आवागमन के कारण रोजगार उपलब्ध था। हृदय से ईमानदार युवा सियाग जीवनयापन हेतु अधिक देर तक कठिन परिश्रम करते थे। उनके प्रसन्नता पूर्ण व्यवहार, ईमानदारी और कार्य के प्रति समर्पण से उन्हें न सिर्फ साथी कर्मचारियों से बल्कि प्रबन्धकों व स्थानीय रेल्वे तंत्र के उच्च वर्ग से आदर व प्रशंसा प्राप्त हुई। उनकी शीघ्र ही शादी हो गई और उन्होंने पारिवारिक जीवन आरम्भ किया। बाद के वर्षों में उनके पाँच बच्चे, एक पुत्री तथा चार पुत्र हुए।

- **मृत्यु का भय**

वर्ष 1967 की शीत ऋतु गुरुदेव के जीवन में एक परिवर्तन लाई। उनके जीवन मे अचानक व्यवधान तब आया जब वह अवर्णनीय मृत्यु भय की गिरफ्त में आये यद्यपि वह किसी भी रोग से ग्रसित नहीं थे स्थानीय भविष्यवक्ता ने गुरुदेव को बताया कि उन पर मारकेश (ग्रह नक्षत्रों का एक समूह, जो मृत्युकारक होता है) की दशा है कुछ स्थानीय हिन्दू पुरोहितों ने बतलाया की एक विशेष क्रिया पद्वति द्वारा गायत्री की आराधना कर उनका आशीर्वादप्राप्त करें तो इस भयावह मृत्यु से बचा जा सकता है। गायत्री जो लौकिक प्रकाश की देवी है केवल वही उन्हें मृत्यु के पंजे से बचा सकती है। गुरुदेव के लिए शास्त्रों को पलटना तथा मंदिरों के चक्कर लगाना जीवन के संघर्ष से कहीं ज्यादा कठिन था। लेकिन मृत्यु भय ने अनिच्छापूर्वक उन्हें इस सहारे को अपनाने के लिये मजबूर कर दिया। उन्हें एक हवन करने का परामर्श दिया गया। पवित्र अग्नि को जलाकर प्रतिदिन प्रातः गायत्री मंत्र का जाप करने को कहा गया। दिव्य सुरक्षा कवच हेतु पूर्ण विधि विधान से सवा लाख मंत्रों का जापकर प्रार्थना पूर्ण करने हेतु उन्हें बतलाया गया।

वर्ष 1967 के अक्टूबर माह में नवरात्रि के दौरान पूरी गम्भीरता के साथ गुरुदेव ने विधान आरम्भ किया वह प्रतिदिन सुबह जल्दी उठकर और कार्यालय जाने से पहले कुछ घंटों तक हवन करते हुए पवित्र गायत्री मंत्र का जाप करते थे, अतार्किक भय की गिरफ्त का दबाव इतना ज्यादा था कि पूर्ण एकाग्रता तथा निष्कपटता पूर्वक प्रतिदिन यह शास्त्रीय विधान सम्पन्न किया। इसे पूर्ण करने मे 3 माह लगे उन दिनों का स्मरण करते हुए गुरुदेव ने बाद में कहा वह ऐसा था जैसे एक ईश्वरीय शक्ति ने कृत्रिम भय की अवस्था उत्पन्न कर उन्हें सांसारिक जीवन, जो वह तब तक व्यतीत कर रहे थे उसे बदलकर आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाया है।

- **जीवन बदलने वाला अनुभव**

जिस दिन यह विधान समाप्त हुआ गुरुदेव यह सोचते हुए बिस्तर पर गये कि गायत्री की कठिन उपासना पूर्ण हो चुकी है, अगले दिन प्रातः वह सामान्य समय पर उठेंगे। लेकिन जल्दी उठने की आदत पड़ जाने के कारण अगली प्रातः वह जल्दी ही जाग गये। जैसे ही उन्होंने आँखें खोली और बिस्तर में बैठे, उन्होंने अपने पूरे शरीर में एक तीव्र सफेद प्रकाश महसुस किया। वह एक प्रकार का चमकीला प्रकाश था, जिसकी तुलना वह अन्य किसी से न कर सके यहाँ तक कि सूर्य के प्रकाश से भी नहीं। उन्होंने अपने शरीर को अन्दर के प्रकाश से प्रकाशित हुआ पाया प्रकाश न तो गर्म था और ना ही ठंडा। उससे शान्ति की लहर सी छा गयी वह शीघ्र ही पूर्ण प्रसन्नता एवं आनन्द की अवस्था में डूब गये जिसको उन्होंने पहले कभी महसूस नहीं किया था। प्रकाश ने उन्हें एक अन्तरदृष्टि प्रदान की, गुरुदेव ने देखा वह स्वच्छ चमकीला प्रकाश जिसने उनके शरीर को अदंर से प्रकाशित किया हुआ था, इसके बावजूद वह अपने आन्तरिक अंगो की झलक तक नहीं पा सके, ऐसा था जैसे उनका शरीर मात्र एक खाली खोल था। रेलवे चिकित्सालय के मुर्दाघर में मृत मरीजों के शवों का पोस्टमार्टम करने वाले डॉक्टरों के सहायक के रुप में यदाकदा कार्य करते हुऐ गुरुदेव को मानव शरीर के आन्तरिक अंगों मांसपेशियों तथा हड्डियों की स्थिति के बारे में जानकारी हो चुकी थी और फिर भी उनमें से कुछ भी अपने शरीर के अन्दर, वह नहीं देख सके। शीघ्र ही उन्हें भिनभिनाहट की ध्वनि सुनाई पड़ी जैसे मधुमक्खियाँ छत्ते के ऊपर झुण्ड़ में भिनभिना कर शोर कर रही हों, जब उन्होंने ध्वनि की ओर ध्यान केन्द्रित किया तो उन्होंने महसूस किया कि वह ध्वनि नाभि के केन्द्र स्थल से आ रही है जैसे ही उन्होंने ध्यान और केन्द्रित किया तो उन्होंने अचम्भित होकर पाया कि भिनभिनाहट कुछ और नहीं थी बल्कि गायत्री मन्त्र आश्चर्यजनक रुप से तेज रफ्तार के साथ जपा जा रहा था, जिससे मघुमक्खियों की भिनभिनाहट की जैसी आवाज पैदा हो रही थी, बहुत बाद में उन्हें मालूम पड़ा कि जिस गायत्री मन्त्र का उन्होंने स्वेच्छापूर्वक प्रयास करते हुऐ जाप किया था, अब वही स्थायी रुप से उन्हें ईश्वरीय शक्ति से जोड़ते हुऐ स्वतः प्रेरित, अविकल रुप से जाप में स्थापित हो चुका था बाद में उन्होंने महसूस किया कि दिव्य मातृशक्ति ने स्वयं ही उन्हें योग में प्रेरित किया था।

जब गुरुदेव प्रसन्नता शान्ति एवं प्रेम के अद्वितीय अनुभव की लहरों पर आर्श्यचकित होते हुए बह रहे थे कि अचानक वह शानदार दृश्य वैसे ही समाप्त हो गया जैसे वह आया था। बिस्तर के पास ही बाथरुम में खुले हुए नल से सुबह पानी आने पर होने वाली आवाज

एवं पानी गिरने की आवाज ने जिस समाधि की सी अवस्था में वह थे उसे छिन्न भिन्न कर दिया।

ईश्वरीय तेज, गुरुदेव के लिए अन्य खोज लेकर आया। उन्होंने महसूस किया कि भौतिक जगत में अपने अस्तित्व एवं समानता के बाहरी भाग के पीछे सम्पूर्ण रुप से बहुत ही भिन्न सत्ता है। वह न तो अपनी भौतिक सीमाओं में बंधे हैं ओर न ही, भौतिक जगत जिसमें वह रहते हैं, उससे बंधे हैं। उन्होंने महसूस किया कि उनकी व्यक्तिगत सत्ता इतनी ज्यादा विस्तृत हो गई है कि समस्त ब्रह्मांड को अपने आलिंगन में ले सकते हैं एवं वह समस्त विश्व हैं और जो भी सजीव एवं निर्जीव सत्ता इसमें निवास कर रही हैं वह उनकी अपनी हैं एवं वह उनका कम्पन महसूस कर सकते थे। अपने अपूर्व अनुभव द्वारा उन्होंने यह भी महसुस किया कि वास्तव में वे वह हैं जैसा कि प्राचीन वैदिक संतों ने सर्वव्यापक, अपरिवर्तनशील, निराकार ईश्वरीय शक्ति, ब्रह्मा, को कहा है।

- **पुराने और नये जीवन के बीच संघर्ष**

अचानक सांसारिक भौतिक जगत में पीछे लौटना गुरुदेव को बहुत ही अरुचिकर लगने लगा। उन्होंने महसूस किया जैसे उनका विशाल अस्तित्व छुद्र अवस्था में समेटकर एक अपरिचित एवं विपरीत जगत के अन्दर अविकसित अस्तित्व में दबा दिया गया है। गुरुदेव ने साधना के पश्चात् जो अद्भुत दृश्य अनुभव किया था, उसके बारे में बाद में वह बहुत दिनों तक विस्तार से सोचते रहे। वह यह विश्वास नहीं कर सकते थे कि कोई बिना आन्तरिक अंगों के रह सकता था और फिर भी उन्होंने दृश्य के दौरान जो अनुभव किया था वह इतना वास्तविक था कि उसे मतिभ्रम कहकर खारिज नहीं किया जा सकता था। वर्षों बाद उन्होंने जाना कि उन्होंने जो अनुभव किया था वह, भविष्य की आकृति थी, जब आज की स्थूल अवस्था से मानव शरीर बहुत हल्का एवं चमकीला होगा। उन्होंने अदभुत् भविष्य अनुभव किया जो मानव सभ्यता की प्रतीक्षा कर रहा है। गुरुदेव के लिये शीघ्र ही यह मानना आनन्ददायक रहा कि गायत्री की उपासना ने उन्हें मौत के उस डर से मुक्त कर दिया जो उनमें पहले जड़ें जमाये था। उन्होंने यह भी माना कि भौतिक कठिनाईयाँ जो अब तक स्थायी रुप से लगातार आ रही थी वह अब समय के साथ आसान होनी आरम्भ हो गयी हैं लेकिन उन पर शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि जीवन अब पहले जैसा नहीं रहा है। जीवन की सांसारिक वास्तविकताओं जैसे खाना, सोना, काम करना तथा पारिवारिक कर्तव्यों के निर्वहन आदि में उन्हें अब वह गहरी दिलचस्पी नहीं रही जो साधना की घटना से पहले रहा करती थी। उन्होंने एक परिवर्तन और देखा यद्यपि वह झूठ पहले से ही नहीं

बोलते थे। लेकिन अब सच बोलने की मांग प्रबलता से महसूस होने लगी थी चाहे यह उनके आसपास रहने वालों को रुचिकर लगे या नहीं इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

उनकी सच्चाई के कारण उनके कार्यालय के साथियों ने गुरुदेव को रेलवे के स्थानीय कर्मचारी संघ का नेता चुन लिया। संघ के मुद्दों पर विचार करते वक्त जो उन्हें सही लगता था उस पर उनका गैर समझौतावादी रुख साथी कर्मचारियों को पसन्द आया लेकिन संघ की कार्यकारिणी के अनेक साथियों व प्रबन्धकों को वह व्यथित कर रहा था।

यूनियन के भ्रष्ट अधिकारी, एवं प्रबन्धक, जो अक्सर कर्मचारियों के हितों के विरुद्ध उनका वाज़िब हक न देने तथा उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करने के लिये कपटपूर्ण चालें चलते थे उसमें गुरुदेव का सहयोग न मिलने से उन्हें कठिनाई होती थी। इससे कार्यालय में शत्रुता पैदा होने लगी तथा जीवन के लिये संघर्ष और भी कठिन हो गया। वह अपने परिवार के साथ रेलवे कैम्पस में छोटे से एक कमरे वाले घर में रहते थे। गर्मियों में जब तापक्रम 45 सेंटीग्रेड से अधिक हो जाता था, तब उनके तथा उनके परिवार के सदस्यों के लिये जीना, असहनीय हो उठता था क्योंकि उनमें अपने कमरे को ठंडा रखने के लिये एक सीलिंग फेन खरीदने की क्षमता नहीं थी। वरिष्ठता के आधार पर कुछ खास दर्जे के कर्मचारियों को रेलवे विभाग सीलिंग फेन उपलब्ध कराता था। गुरुदेव इस लाभ को पाने के अधिकारी नहीं थे। अधिकारियों ने उन्हें उसूलों से समझौता करने की शर्त पर बिना बारी आये यह सुविधा उपलब्ध कराने का इशारा किया लेकिन उन्होंने एकदम से उन्हें इसके लिये मना कर दिया।

- **स्वयं की तलाश**

इसके कुछ महीनों बाद गुरुदेव बहुत अशांत हो गये। भौतिक जीवन से उनकी दिलचस्पी खत्म हो गयी। उनकी ईश्वर में जो यदाकदा आस्था थी धीरे धीरे वह दृढ विश्वास में बदल गयी। अब वह अपना अधिकांश समय ईश्वर आराधना तथा ध्यान करने में व्यतीत करते थे। वह जैसे ही अर्न्तमुखी हुऐ, वह जीवन के बारे में ही आश्चर्य करने लगे। विचार, जैसे .वास्तव में मैं कौन हूँ ? मैं यहाँ क्यों हूँ ? मैं कहाँ जा रहा हूँ ? यह उन्हें रात–दिन लगातार सताने लगे। जब उन्होंने गायत्री की साधना के बाद आये अपने इस नजरिये में बदलाव बाबत पुराणों के पारंगत कुछ पण्डितों से परामर्श किया तो उन्हें बतलाया गया कि वास्तव में उन्हें देवी की सिद्धि प्राप्त हुई है, उन्होंने उन्हें भौतिक जीवन

में निरन्तर आ रही कठिनाइयों को दूर करने के लिये उस शक्ति का प्रयोग करने का परार्मश दिया।

गुरुदेव ने उनकी राय पर ध्यान देने से शालीनतापूर्वक मना कर दिया। उन्हें विश्वास था कि ईश्वर ने उनके जीवन में परिवर्तन कर उन्हें आध्यात्मिक मार्ग पर इसलिये नहीं डाला है कि, इससे वह पैसा कमा सकें और सुखद भौतिक जीवन जियें, अगर ईश्वर ने उन्हें ईश्वरीय पथ पर बढ़ाया है तो गुरुदेव ने माना कि उसने ऐसा किसी खास उद्देश्य से किया है, और वह आगे भी रास्ता दिखायेगा। 20 वीं शताब्दी की महानतम् हस्तियों में एक स्वामी विवेकानन्द जिन्होनें न सिर्फ भारत, बल्कि अमेरिका तथा यूरोप में हिन्दू आध्यात्मिक विरासत का उद्धार किया उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन पर गुरुदेव आगामी कुछ माह में आध्यात्मिक अनुसरण के दौरान आ पहुँचे। वैदिक सिद्धान्त जो सार्वभौमिक रुप से लागू होते हैं, उनके द्वारा मानवता के प्रायोगिक रुपान्तरण पर स्वामी के जोर ने गुरुदेव को प्रभावित किया, गुरु शिष्य परम्परा को पुनर्जीवित कर उससे वैदिक दर्शन पर चलने की विवेकानन्द पुरजोर वकालत करते थे उनका विश्वास था कि केवल यही मार्ग समस्त विश्व में आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता था।

- **बाबा गंगाईनाथ से मुलाकात**

स्वामी विवेकानन्द की राय पर ध्यान देते हुए गुरुदेव ने पूर्ण तत्परता के साथ गुरु की तलाश आरम्भ की। जब उन्हें एक भी न मिल सका तो उन्होनें निराशा महसूस की। उन्हें ध्यान के दौरान जामसर स्थित आश्रम को देखने की उत्कृष्ट इच्छा हुई जिसे उन्होनें नजर अंदाज कर दिया, फिर भी उन्होंने महसूस किया कि आन्तरिक माँग बलवती हो उठी है। अप्रैल 1983 में वह जामसर आश्रम गये वहाँ कृपालु दृष्टि वाले प्रमुख सन्यासी बाबा गंगाईनाथ से उनकी मुलाकात हुई।

प्रत्यक्ष रुप से उनकी मुलाकात के बारे मे विशेष कुछ नहीं था। आश्रम छोड़ने के बाद भी बाबा की कृपालु दृष्टि गुरुदेव के साथ बनी रही एवं कुछ दिनों बाद उन्हें बाबा का पवित्र स्थान देखने की पुनः इच्छा हुई अप्रैल 1983 में बाबा से यह उनकी दूसरी मुलाकात थी जब गुरुदेव झुके तथा बाबा के चरणस्पर्श किये तब बाबा ने गुरुदेव के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, जिस क्षण बाबा ने गुरुदेव को स्पर्श किया उन्होंने विद्युत गुजरने जैसी अत्यधिक तीव्र तरंगे शरीर में महसुस कीं।

बाबा गंगाईनाथ योगी

सिद्धयोग की अद्वितीय विधि द्वारा यह बाबा का गुरुदेव को दीक्षित करने का तरीका था। गुरुदेव शीघ्र ही आश्रम से वापस लौट आये, कुछ भी शब्दों का आदान प्रदान नहीं हुआ। तब गुरुदेव ने थोड़ा माना कि उन्हें जिस गुरु की तलाश थी वह मिल चुका था, तथा उनका जीवन एक बार फिर से बदल चुका था।

बाबा गंगाईनाथ योगी आईपंथी नाथ सम्प्रदाय के सन्यासी योगी थे। उनका जन्म राजसमंद जिले के सिरमा ग्राम में हुआ। वे बाल्यकाल से ही ईश्वर की भक्ति में लीन रहते थे। उनका प्रारम्भिक आराधना काल आईपंथी नाथों के अस्थलभोर अखाड़े (हरियाणा), बनारस व हिमाचल प्रदेश में बीता। फिर काजलवास (ग्यारह नाथों की समाधि) नामक स्थान पर आराधना कर रहे। नाथ योगी बाबा भाउनाथ जो कि काजलवास में विराजते थें, ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से बाबा गंगाईनाथ को बुलाया तथा अपनी शक्तिपात की सम्पूर्ण सामर्थ्य प्रदान की। उसके पश्चात् वे कुछ वर्षों बाद तक काजलवास में ही रहे। उसके कुछ वर्षों बाद अपनी आन्तरिक प्ररेणा से बीकानेर के पास जामसर नामक स्थान पर रेत के टीले पर धूणा स्थापित कर लम्बे समय तक तपस्या की। फिर अप्रैल 1983 में अपनी योग शक्ति से बीकानेर रेलवे में कार्यरत गुरुदेव रामलाल सियाग को बुलाकर, गुरुपद सौंपकर आदेश दिया कि "वैदिक दर्शन को विश्व दर्शन बनाना है।" तत्पश्चात 31.12.1983 को जामसर में ही समाधिस्थ हो गये। वर्तमान में यह स्थान बीकानेर शहर से उत्तर दिशा की ओर श्रीगंगानगर रोड पर 27 कि. मी. दूरी पर स्थित है।

- **विचित्र घटनायें**

मई, जून 1983 तक उन्होंने मानसिक व्यवधान और भी अधिक बढ़ा हुआ महसूस किया। यह स्थिति आश्रम जाने के बाद भी लगातार बनी रही। अगस्त 1983 के अन्त में अवस्था इतनी ज्यादा खराब हो गई कि गुरुदेव कार्यालय में जाकर कार्य नहीं कर सके, और उन्होंने बिना कोई छुटटी का प्रार्थना–पत्र दिये ड्यूटी पर जाना बन्द कर दिया। 31 दिसम्बर 1983 की सुबह 5 बजे एक बड़ा झटका लगा।

बाबा गंगाईनाथ योगी समाधि स्थल, जामसर

काजलवास में नाथों की समाधियाँ

तेज भूकम्प से समूचा उत्तरी–पश्चिमी भारत हिल गया, पृथ्वी हिली उसके कुछ सैकेण्ड पहले उस सुबह प्रातः ही एक अज्ञात धक्के से गुरुदेव गहरी नींद से झटके के साथ उठ गये थे। गुरुदेव ने बाद में जाना कि निश्चित रुप से उस क्षण बाबा गंगाईनाथ योगी गुजर चुके थे।

बाबा के गुजरने का गुरुदेव पर बाहरी रुप से कोई प्रभाव नहीं पड़ा, यद्यपि उन्होंने बाद में जाना कि बाबा की मौत ने वर्षों पूर्व पिता की मौत के बाद एक बार पुनः उन्हें अनाथ बना दिया था। फिर शीघ्र ही बाबा की समाधि पर जाने की एक अज्ञात आन्तरिक मांग उन्हें महसूस हुई जिसे उन्होंने दिमागी सोच समझकर स्थगित कर दिया। गुरुदेव का व्यवहार असाधारण हो गया। जब वह कार्य से लगातार अलग थे। तब भी आन्तरिक परेशानियाँ उन पर प्रबल वेग से प्रहार कर रही थीं। वह अपने पैतृक गाँव पलाना वापस लौटे जहाँ पत्नी और बच्चों की परवरिश कैसे करें इस चिन्ता ने उन्हें एक प्रकार से पागल ही कर दिया।

एक बार जब वह गर्मियों में शाम के समय सड़क पर टहल रहे थे। पेड़ के नीचे बैठे एक स्थानीय युवक ने उन्हें बुलाया। उसने गुरुदेव से जो कहा वह उन्हें बहुत ही विचित्र लगा। युवक ने कहा कि आपको जामसर बाबा की समाधि पर लाने के लिये बाबा गंगाईनाथ उसे परेशान करते हैं। जब युवक ने कहा कि वह संत उसके स्वप्न मे आकर उसे आदेश देते हैं। इसे ईश्वरीय बुलावा समझकर गुरुदेव बाबा की समाधि पर गये तथा वहाँ प्रार्थना की।

हिन्दू विचार धारा में एक प्रमुख नियम है कि आत्मा अमर है। जब एक व्यक्ति गुजर जाता है तो उसका शरीर मरता है आत्मा नहीं। यह भी विश्वास किया जाता है कि एक आध्यात्मिक गुरु या एक संत अपना नश्वर शरीर त्यागने के बाद भी अपने शिष्यों को निर्देशित करना जारी रखता हैं। इसलिए ईश्वरीय आशीषों के झरने के रुप मे एक संत की समाधि पूजनीय होती है गुरुदेव ने थोड़े आश्चर्य के साथ महसूस किया कि बाबा की समाधि के दर्शन के बाद चिन्ता के काले बादल धीरे धीरे छँट रहे थे।

- **बाबा का दूसरी दुनियाँ से सन्देश**

जैसे जैसे उनका ध्यान प्रबल हुआ गुरुदेव ने बाबा से आन्तरिक संदेश प्राप्त करने आरम्भ कर दिये। बिना किसी शंका के गुरुदेव को जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि बाबा गंगाईनाथ ही वह गुरु थे जिसकी उन्हें तलाश थी। गुरुदेव ने यह भी माना कि नश्वर शरीर छोड़ने के बावजूद बिना किसी बाधा के प्रबल शक्ति के साथ बाबा उन्हें आध्यात्मिक मार्ग दिखला सकते थे। आन्तरिक संदेश प्राप्त करने का तरीका उस अनुभव से भिन्न था जिससे गुरुदेव अन्य व्यक्ति से सम्पर्क करने के लिये किया करते थे। किन्हीं शब्दों का आदान प्रदान नहीं होता था जैसे पौराणिक कहानियों या फिल्मों में ईश्वरीय सम्पर्क को नेता के भाषण के रुप में प्रदर्शित किया जाता है। एक बिल्कुल स्पष्ट विचार बिना किसी प्रयास या आकांक्षा के साधारण तरीके से गुरुदेव के दिमाग से, सुस्पष्ट रुप से उन्हें यह बताते हुए गुजरता कि उन्हें समझने के लिये क्या आवश्यक है या उन परिस्थितियों में क्या करना है। यह प्रकाश की एक किरण की तरह था जो गहरे पानी में से एक छोटी लहर की तरह से सतह की ओर बढ़ते हुए आगे का मार्ग प्रकाशित करती है ।

बाबा ने शीघ्र ही गुरुदेव को यह एहसास करा दिया की वह पूर्व निर्धारित सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिये नहीं हैं। गहरे ध्यान के दौरान अंसख्य अवसरों पर उन्हें यह स्पष्ट करा दिया गया कि गुरुदेव को सम्पूर्ण मानवता के रुपान्तरण के लिये धार्मिक क्रांति की अगुआई करने की व्यवस्था करनी है। गुरुदेव का स्वयं का जो रुपान्तरण हो रहा था उसका अभिप्राय वास्तव में उन्हें आगे आने वाले दुःसाध्य कार्य के लिये तैयार करना था। 20 वीं शताब्दी के भारत के महानतम धार्मिक गुरुओं में से एक अरविन्द की शिक्षा द्वारा वर्षों बाद गुरुदेव को सीखना था कि एक व्यक्ति में दिव्य रुपान्तरण अन्ततः समस्त मानवता में दिव्य रुपान्तरण का उद्घोषक होगा क्योंकि वह ज्ञान प्राप्त व्यक्ति दूसरों को मार्ग दिखलायेगा। गुरुदेव को स्पष्ट शब्दों में बतला दिया गया था कि वह ही एक मात्र इस मिशन के लिये चुने गये हैं। यद्यपि उनकी स्वयं की चेतना की सरलता तथा परिस्थितिजन्य प्रयास जो उन्होंने स्वयं के अंदर पाये, उसने ईश्वरीय भविष्यवाणी पर विश्वास करना उनके लिये अधिक कठिन बना दिया था।

- **पैगम्बर से सम्बन्धित दृश्य**

यह 1984 की पीड़ा भरे दिनों की बात है, जब गुरुदेव को एक अन्य घटना से गुजरना पड़ा, जिसकी झंझट आगे आने वाले वर्षों में मानवता को प्रभावित कर सकती थी। एक रात जब वह सोने चले गये उन्होंने स्वप्न में एक दृश्य देखा। दृश्य में उन्हें पुस्तक का एक अंश दिखलाया गया जिसे वह संदेह के साथ जान सके कि वह किसी पवित्र पुस्तक का हो सकता था, एक अनुकूल कहावत के शब्दों के साथ "तू वही है तू वही है" (तत्वमसि) अगली सुबह गुरुदेव ने उस अज्ञात दृश्य के बारे में विस्तार से सोचा तथा यह जानने का प्रयास किया कि उन्होंने जो कुछ स्वप्न में देखा था, क्या वह दृश्य था या सिर्फ एक अज्ञात स्वप्न। गुरुदेव स्वपन में सुनाई पड़े वचनों पर चिंतन करते रहे लेकिन वह उन शब्दों का अर्थ न समझ सके "तू वही है तू वही है" जो पहले उन्होंने कभी नहीं सुना था क्योंकि पुस्तक का वह अंश हिन्दी में था गुरुदेव उस अंश के कुछ ही शब्दों को वापस याद कर सके लेकिन उनके लिये इसका कोई अर्थ नहीं था।

कुछ दिनों के पश्चात् गुरुदेव के छोटे पुत्र राजेन्द्र जब स्कूल से घर आ रहे थे तो सड़क के किनारे एक मोची की दुकान पर उन्होंने एक फटी पुरानी पुस्तक जिसके कोने मुडे हुऐ थे यूँ ही पड़ी देखी उन्हें उस पुस्तक को लेने की अज्ञात आकांक्षा महसूस हुई और वह उसे ले आये, जिसे बाद में उन्होंने गुरुदेव को दे दिया बिना किसी खास रुचि के जैसे ही गुरुदेव ने उस पुस्तक के पन्नों को पलटा वह एक झटके से सावधान हो गए, जब उन्होंने उसके एक पृष्ट पर वह अंश देखा, जो उन्हें स्वप्न में दिखाया गया था। उन्होंने वह पुस्तक पढ़ी, कुछ दिनों बाद फिर पढ़ी लेकिन वह किस बारे में थी इसकी गहराई का पता न लगा सके। वह सिर्फ इतना समझ सके कि वह पुस्तक बच्चों के लिये थी। जिसमें साधारण शब्दों में चित्रों द्वारा इसाई धर्म को समझाया गया था। स्वयं बहुत ज्यादा धार्मिक न होने के कारण गुरुदेव हिन्दू (वेदों) के बारे में भी ज्यादा नहीं जानते थे। अन्य धर्मों के दर्शन के बारे में तो और भी कम जानकारी रखते थे।

यद्यपि वह स्वप्न उनके लिए पहेली बना रहा गुरुदेव ने महसूस किया कि एक नये तरह की शान्ति आनी आरम्भ हो गई है। वह पलाना से बीकानेर लौटे आये और वापस काम पर लौटे तथा कार्यालय में सामान्य तरीके से कार्य करने लगे। आश्चर्यजनक रुप से, किसी ने भी कोई उनके अनधिकृत रुप से लम्बे समय तक कार्य से अनुपस्थित रहने पर भी कोई गम्भीर आपत्ति नहीं की, जो सामान्यतः उनको नौकरी से हटाये जाने तक में परिणत

हो सकती थी। वह इस तरह था जैसे उन्होंने अपना कार्य कभी छोड़ा ही नहीं था। दो वर्ष बाद उन्होंने पहली बार गुरु गंगाईनाथ योगी की समाधि पर जाकर प्रार्थना की।

एक बार फिर बीकानेर में गुरुदेव ने आसपास के सामाजिक लोगों से पूछा कि क्या ईसाई धर्म में कोई पवित्र ग्रन्थ होता है जैसे हिन्दुओं में भगवतगीता होती है। तब उन्हें बाइबल के बारे में पता चला। उन्हें बतलाया गया कि किताब के जो अंश उन्होंने दृश्य में देखे थे वह पवित्र पुस्तक के हैं तथा वह अंश सेन्ट जॉहन द्वारा लिखित बाइबल में ईसा मसीह के सुसमाचार का एक हिस्सा हैं और स्वप्न में जो उन्होंने देखा था वह अध्याय 15ः 26–27 तथा 16ः 7–15 थे। बाद में एक मित्र ने, जिसने पवित्र पुस्तक बाइबल के बारे में स्वयं परिचय प्राप्त करने हेतु एक लघु कोर्स किया था उसने गुरुदेव को छोटी किताब के आकार का एक हिन्दी संस्करण भेंट किया। उस छोटी पुस्तक को पढ़ने से गुरुदेव को ईसाइयत के बारे में कुछ जानकारी हुई। फिर हिन्दू धर्म मानने के कारण गुरुदेव ने सोचा कि बाइबल का और आगे अनुसरण करना असंगत है और उस विषय में रुचि समाप्त कर दी।

पुनः नवीन आग्रह के साथ आन्तरिक संदेश व आवाज शीघ्र ही वापस लौटी, गुरुदेव से मूल अँग्रेजी में बाइबल को पढ़ने की बार बार मांग हुई। एक मित्र जो स्थानीय लॉ कॉलेज में व्याख्याता था उससे बाइबल की एक प्रति उधार ली। अँग्रेजी की बाइबल पढ़ना कोई मददगार साबित नहीं हुआ, पुस्तक का वह अंश जो उन्होंने स्वप्न में देखा था वह किताब में नहीं मिला। अतः गुरुदेव ने किताब वापस लौटा दी तथा इस विषय को यह सोचते हुए एक बार फिर छोड़ दिया कि भयावह कथा का यह अन्त था, लेकिन वह नहीं होना था। आन्तरिक आग्रह अब और अधिक तीव्रता के साथ लौटा। एक बार पुनः पूछताछ करने पर जो जानकारी मिली उससे वह आश्चर्यचकित हुए। ईसाईयत बहुत से भागों में बंटी हुई थी, उनमें से दो मुख्य कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट हैं, जबकी जो बाइबल उन्होंने पहले पढ़ी थी वह कैथोलिक थी तथा प्रोटेस्टेन्ट द्वारा जो अपनाई गई है वह सेन्ट जॉहन द्वारा लिखित है तथा जो अंश उन्होंने स्वप्न में देखे थे वह उस पुस्तक के थे।

बाबा के आशीर्वादसे, गुरुदेव ने प्रोटेस्टेन्ट बाइबल की एक प्रति का प्रबन्ध कर लिया तथा ईसा मसीह के सुसमाचारो में से उन्होंने उस भाग को पढ़ा जिसके लिए लगातर उन्हें प्रेरित किया जा रहा था, ईसा मसीह के समाचारों में से सबंधित भाग में एक भविष्यवाणी की गई थी वह और किसी ने नहीं, स्वयं ईसामसीह ने की थी, जो आनन्ददायक महत्वपूर्ण व्यक्ति के आगमन के बारे में थी। उन्होंने भविष्यवाणी की हुई थी कि वह व्यक्ति मृत्यु से

सिर्फ सच्चे वफादारें की रक्षा करेगा और शेष मानवता को 21 वीं शताब्दी में अकाल तथा युद्ध से उत्पन्न आपदा में ईश्वरीय भयानक प्रतिकार का सामना करना होगा गुरुदेव को बाद में मालूम हुआ कि बाइबल के प्रथम भाग ओल्ड टेस्टामेंट (पुराना वसीयतनामा) जिसे यहूदी लोग अपनाते हैं उसमें भविष्यवक्ता मलाकी द्वारा आनन्दमय महत्वपूर्ण व्यक्ति जिसे वह एलिय्याह कहते हैं, इनके आगमन बाबत एक ऐसी ही भविष्यवाणीयाँ की गई है। ईसाई तथा यहूदी दोनों द्वारा अपनाई जाने वाली पवित्र पुस्तक की भविष्यवाणीयों को पढने के बाद गुरुदेव ने माना कि ईसाईयत तथा जुडाइज्म (यहूदी धर्म) दोनों से हजारों वर्ष पूर्व भगवान कृष्ण द्वारा गीता में दिये गये आदेशों से वह भविष्यवाणी किसी न किसी प्रकार जुड़ी है।

- **सिद्धगुरु का पद ग्रहण करना**

अवतार (Comforter) को क्या करना है ? इस बारे में भविष्यवाणियों को आगे पढ़ते हुए गुरुदेव सहमत हुए कि किसी भी तरह इन भविष्यवाणियों को अमल में लाने हेतु उन्हें आन्तरिक योग (जिसे वह नवरात्रि की साधना के बाद वाली घटना से गहरे ध्यान के दौरान सीख रहे थे) द्वारा पार्ट अदा करना था।

जब से बीकानेर लौटकर कार्यालय का कार्य शुरु किया, गहरे ध्यान के दौरान गुरुदेव ने बाबा से आदेश प्राप्त किये कि उन्हें नौकरी छोड़ देनी चाहिए तथा उन्हें अपने आपको पूर्ण रुप से उस आध्यात्मिक मिशन को समर्पित कर देना चाहिए जो उन्हें सुपुर्द किया गया है। अतः बाबा के आग्रह पर गुरुदेव ने सेवानिवृत्ति की उम्र से लगभग 7 वर्ष पूर्व ऐच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। गुरुदेव ने बाद में टिप्पणी की मैं पहले रेलवे की नौकरी करता था अब मैं अपने गुरु की नौकरी करता हूँ यह जीवनभर की नौकरी है, जिसे मैं कभी नहीं छोड़ सकता मैने अपने परिवार की भौतिक आवश्यकताओं की चिन्ता पूर्ण रुप से उन पर छोड़ दी है। मैं अपने गुरु का वफादार नौकर हूँ, जो कुछ भी मैं इस मिशन में प्राप्त करूँ अथवा खोउँ वह उनकी इच्छानुसार ही होगा।

बाबा ने उन्हें गुरुपद प्रदान किया तथा अपने शिष्य के रुप में अन्य लोगों को सिद्धयोग की दीक्षा देने के लिए उन्हें निर्देश दिये। गुरुदेव ने आरम्भ में जोधपुर में तथा राजस्थान के कुछ अन्य शहरों में दीक्षा कार्यक्रमों के द्वारा सिद्धयोग की दीक्षा देनी आरम्भ की। जो व्यक्ति उनके पास आये और उनके शिष्य बन गये, उन्होंने अपने जीवन में एक आश्चर्यजनक धनात्मक परिवर्तन महसूस किया, उनकी बीमारियाँ/पुरानी व्याधियाँ ठीक हो

गुरुदेव रामलाल सियाग के 05 जून,2017 को
ब्रह्मलीन होने के पश्चात गुरु पूर्णिमा महोत्सव पर
साधकों को होने वाली योगिक क्रियाएँ
(09 जुलाई,2017)

गईं तथा इन कार्यक्रमों में गुरुदेव के द्वारा दिये गये ईश्वरीय मंत्र के जाप तथा ध्यान से उन्होंने आध्यात्मिक जागरुकता महसुस की। गुरुदेव के अद्वितीय सिद्धयोग तथा आरोग्यकर शक्तियों की बात चारों ओर तेजी से फैली। गुरुदेव को अन्य शहरों तथा कस्बों में कार्यक्रम सम्पन्न करने हेतु आमंत्रित किया गया। गुरुदेव के आशीर्वाद प्राप्त करने में लोगों के साथ जाति, रंग, लिंग व धर्म आदि का कोई भेदभाव नहीं किया गया। तब से गुरुदेव ने भारत के विभिन्न शहरों की यात्रा कर लाखों लोगों को आध्यात्मिक विकास एवं अच्छे स्वास्थ्य के मार्ग पर डाला है। गुरुदेव कई बार कहा करते थे कि –

"मेरा भौतिक शरीर चला भी जायेगा तो भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा। क्योंकि मेरी तस्वीर से योग हो रहा हैं। जब तक यह संसार रहेगा, तब तक तस्वीर नहीं मरेगी।"

- **गुरुदेव सियाग के विचार**

  - "मेरे जीवन का उद्देश्य है वैदिक दर्शन को विश्व दर्शन बनना।"
  - मानवता में सतोगुण का उत्थान और तमोगुण का पतन करने संसार में अकेला ही निकल पड़ा हूँ, मुझ पर किसी भी जाति–विशेष, धर्म–विशेष और देश–विशेष का एकाधिकार नहीं है।
  - गुरुदेव ने कहा है कि "यह सार्वभौमिक दर्शन है इस पर किसी एक जाति, धर्म या राष्ट्र का एकाधिकार नहीं है।"
  - सभी भारतीयों का कर्तव्य हैं इस दर्शन को विश्व दर्शन बनाने के लिए कार्य करें। वे कहते हैं कि इस कार्य में चाहे कोई सहयोग करे या ना करे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि यह परिवर्तन होकर रहेगा।
  - गुरुदेव ने कहा है कि आज हम, युग परिवर्तन के संधिकाल से गुजर रहे हैं लेकिन समझ नहीं पा रहे हैं।
  - जब तक आध्यात्म विज्ञान, भौतिक विज्ञान का संचालन अपने अधीन नहीं कर लेता, विश्व में शांति असम्भव हैं।

- **गुरु सियाग के ब्रह्मलीन पश्चात्**

क्षेत्रीय अध्ययन कार्य के अन्तिम चरण में 5 जून 2017 को गुरु सियाग ब्रह्मलीन हो गये। तत्पश्चात् गुरु पूर्णिमा महोत्सव (9 जुलाई 2017) पर साधकों का अवलोकन किया जिसमें योगिक क्रियाएें यथावत् गुरु सियाग के समय के अनुरुप ही हुईं। इसके आधार

पर यह कहा जा सकता है कि सिद्धयोग का गुरु की मृत्यु के कारण अंत नहीं हो जाता। वह अनन्त, अविनाशी, सार्वभौमिक एवं सर्वव्यापक है।

- **सिद्धयोग का परिचय**

योग का क्या मतलब है ?

विस्तृत वैदिक हिंदू साहित्य का वह समस्त ज्ञान जो भारतीय आध्यात्मिकता से सम्बन्धित है योग उसका लगभग सर्म्पूण भाग समझा जाता है। "योगसूत्र" जिसमें 195 सूत्र हैं उनमें अष्टांग योग की आठ अवस्थाओं के बारे में स्पष्ट रुप से समझाकर लिखा गया है। जब साधक आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढता है तो उसे इन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। योग, दिव्य के साथ मिलन है अर्थात् आत्मा का परमात्मा (सार्वलौकिक चेतना शक्ति) से मिलना है। भारतीय योग दर्शन में वर्णित 'योग' का मूल उद्देश्य "मोक्ष" है। आज संसार में भारतीय योग के नाम से जो शारीरिक कसरत करवाई जा रही है उसका भारतीय योगदर्शन मे वर्णित योग से कोई सम्बंध नहीं है। भारतीय योग तो वेद रुपी कल्पतरु का अमर–फल है। यह योग साधक के त्रिविध तापों आदि दैहिक, आदि भौतिक, आदि दैविक, का शमन कर देता है। जब तक साधक इन त्रिविध तापों से सम्पूर्ण मुक्त और समाधिस्त नहीं होता, परमतत्व की प्रत्याक्षानुभूति और साक्षात्कार असम्भव है तथा उसकी प्रत्यक्षानुभूति और साक्षात्कार के बिना "मोक्ष" असम्भव है। यह ज्ञान सदगुरु की कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में वराहोपनिषद के अध्याय दो में कहा है –

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभतत्वदर्शनम्।

दुर्लभों सहजावस्था सदगुरोः करुणा बिना।।76।।

''बिना सद्गुरु की कृपा के विषय–त्याग दुर्लभ है और सहज समाधि की अवस्था भी दुर्लभ है''।

सिद्धयोग क्या है ?

'सिद्धयोग' नाथमत के योगियों की देन है इसमें सभी प्रकार के योग जैसे भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, क्रियायोग, लययोग, भावयोग, हठयोग आदि सम्मलित हैं इसीलिए इसे पूर्ण योग या महायोग भी कहते हैं इससे साधक के त्रिविध ताप आदि दैहिक (फिजीकल), आदि भौतिक (मेन्टल), आदि दैविक (स्प्रीचुअल) नष्ट हो जाते हैं तथा साधक जीवनमुक्त हो जाता है। महर्षि अरविन्द ने इसे पार्थिव अमरत्व की संज्ञा दी है। पतंजलि योगदर्शन में

योग के आठ अंगों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन है। बौद्विक प्रयास से इस युग में उनका पालना करना असम्भव है। इसलिये इतने महत्वपूर्ण दर्शन के बारे में नगण्य लोगों को ही जानकारी है परन्तु गुरु शिष्य परम्परा में शक्तिपात दीक्षा से कुण्डलिनी को जागृत करने का विधान है। सद्‌गुरुदेव साधक की कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करते हैं वह जागृत कुण्डलिनी साधक को उपर्युक्त अष्टांगयोग की सभी साधनाऐं स्वयं अपने अधीन करवाती है इस प्रकार जो योग होता है उसे सिद्धयोग कहते है। यह शक्तिपात केवल समर्थ सदगुरु की कृपा द्वारा ही प्राप्त होता है इसलिये इसे सिद्धयोग कहा जाता है जबकि अन्य सभी प्रकार के योग मानवीय प्रयास से होते हैं।

सिद्धयोग क्यों आवश्यक है ?

दुनियाँ भर में बड़े शहरों तथा छोटे कस्बों में रहने वाले अनगिनत लोग तनावपूर्ण जीवन जीते हुए, किसी ऐसी सर्वरोगनाशक औषधि की तलाश में रहते हैं जो उन्हें तनाव तथा सभी प्रकार की बीमारियों से, जिन पर वर्तमान औषधियाँ कारगर नहीं होतीं, छुटकारा दिला सके, कुछ लोग सनातन सत्य तथा परमात्मा की हार्दिक तलाश में हैं। इसमें से बहुत से लोग अपने इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योग अपनाते हैं कुछ समय बाद धीर–धीरे उनका उत्साह कमजोर पड़ना आरम्भ हो जाता है क्योंकि उनमें से अधिकांश यह जान जाते हैं कि या तो समय की कमी या फिर कार्य के अनियमित घन्टे होने के कारण रोजाना योग के थका देने वाले खानपान एवं रहन सहन सबंधी नियम अधिक समय तक बनाये रखना आसान नहीं है। इसके अलावा योग की विभिन्न क्रियाऐं जैसे आसन, बन्ध, मुद्रायें, प्राणायाम आदि बहुत से लोगों के लिये करना आसान नहीं है, अधिकांश केसेज में गुरु अथवा योग टीचर की निगरानी के बिना आरम्भ में योग की मुद्रायें करने का परार्मश नहीं दिया जाता हैं। जिनके पास समय व धन की कमी है उनके लिये योग की कक्षाओं में जाना या तो अव्यवहारिक होता है या अधिक खर्चीला होता है। क्या इसका यह मतलब है कि योग जनसाधारण के लिये नहीं है ? जिनके पास या तो समय की कमी है या जो साधन सम्पन्न नहीं है, जो नियमानुसार योग के प्रशिक्षण में पहुंच सकें। सामान्य उत्तर होगा, हाँ योग सबके लिये सम्भव नहीं है।

फिर भी, एक अत्यधिक विकसित आध्यात्मिक गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का उपयोग करके अपने शिष्यों के लिए योग के अभ्यास अत्यधिक साधारण व आसान बना सकता है जो शिष्य के लिए अपनाना आसान व प्रभावशील हो। गुरु सियाग एक ऐसे ही आध्यात्मिक गुरु हैं जो अपने शिष्यों के लिए जिम में जाये बिना या घर पर योग के थका

देने वाले गहन प्रशिक्षणों के किये बिना ही सिद्धयोग के द्वारा, योग के सर्वोतम लाभ उपलब्ध करा देते हैं। सिद्धयोग में, एक इच्छुक व्यक्ति को, गुरु सियाग से दीक्षा लेनी होती है तथा उनके बताये अनुसार ध्यान एवं मंत्रजाप करना होता है।

सिद्वयोग के अभ्यास में क्या सम्मिलित है ?

सिद्धयोग में गुरु सियाग के प्रति पूर्ण विश्वास एवं समर्पण के साथ दीक्षा में दिये गये मंत्र का जाप एवं ध्यान सम्मिलित है। गुरु सियाग एक साधक को जो उनका शिष्य बनना चाहता है ''एक मंत्र'' (एक दिव्य शब्द) देते हैं, जिसका चुपचाप मानसिक रुप से जाप करना होता है तथा वह बतलाते हैं कि प्रतिदिन ध्यान कैसे करना है, रोजाना ध्यान, मानसिक रुप से मंत्रजाप के साथ होता है। कुछ दिनों तक लगातार मंत्र का जाप करते रहने से ''अजपा जाप'' बन जाता है। यह सीधे तौर पर इस बात पर निर्भर करता है कि जाप कितनी निष्कपटता, विश्वास तथा तीव्रता के साथ किया गया है, कुछ साधकों मे यह जाप कुछ सप्ताह में ही अजपा बन सकता है तथा अन्य में कुछ महीने या अधिक समय भी लग सकता है। शिष्य को मंत्र जाप के साथ–साथ सुबह शाम 15–15 मिनट के लिये ध्यान भी करना होता है। मानसिक मंत्र जाप जितना अधिक सम्भव हो उतना अधिक करना चाहिये। मंत्र जाप ही इस साधना की मूल चाबी है।

एक दीक्षित व्यक्ति जैसे–जैसे सिद्धयोग के मार्ग पर आगे बढता है वह शीघ्र ही महसूस करता है कि तनाव दूर हुआ है, ध्यान केन्द्रित करने की शक्ति बढ़ी है तथा विचार अधिक धनात्मक हुए हैं। ध्यान की अवस्था में बहुत से साधकों को विभिन्न योगिक मुद्राऐं तथा क्रियायें स्वयं होती हैं साधक इन योगिक क्रियाओं को न तो इच्छानुसार कर सकता है न ही नियंत्रित कर सकता है और ना ही रोक सकता है। यह क्रियायें हर साधक के लिये उसके शरीर की आवश्यकतानुसार अलग अलग होती हैं ऐसा इस कारण होता है कि यह दिव्य शक्ति जो गुरु सियाग की आध्यात्मिक शक्ति के नियंत्रण में कार्य कर रही होती है वह यह अच्छी तरह से जानती है कि साधक को शारीरिक एव मानसिक रोगों से छुटकारा दिलाने एवं उसे आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिये कौनसी विशेष मुद्रायें, क्रियायें आवश्यक हैं। इस कारण सिद्धयोग में योगिक मुद्रायें आदि अन्य योग विद्यालय में इच्छानुसार वांछित प्रभाव लाने के लिये किसी क्रम विशेष में व्यवस्थित विधि द्वारा कराई जाने वाली योगिक क्रियाओं के अनुसार नहीं होती हैं। सिद्धयोग में लोगों को समूह में ध्यान करते देखकर एक निरीक्षणकर्ता यह देखकर अचम्भित हो जाता है कि भाग लेने वाले

लगभग प्रत्येक व्यक्ति की योगिक मुद्रायें भिन्न भिन्न हैं। बहुत से साधक ध्यान के दौरान उमंग एवं खुशी अनुभव करते हैं जो उन्होंने पहले कभी भी महसूस नहीं की हुई होती है।

सिद्धयोग कैसे कार्य करता है ?

प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थ वेदों के अनुसार मानव शरीर परमपिता, जिसे हम ईश्वर या विभिन्न नामों से पुकारते हैं, की समग्र स्थूल अवस्था है अर्थात् जो ब्रहाण्ड में है वही पिन्ड में है। मानव शरीर में सूक्ष्म स्तर पर नसों एवं नाड़ियों का एक जाल है, जो रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से से लेकर गले में थॉयराइड ग्रन्थि तक एक निश्चित अन्तराल पर एक, के ऊपर एक इस तरह छः चक्रों अथवा उर्जा केन्द्रों को आपस में जोड़ता है, यह चक्र सुषुम्ना नाड़ी में होते हैं, जो रीढ़ की हड्डी के समानान्तर नीचे से उपर की ओर, सिर के उपरी हिस्से तक जाती है सिर के इस ऊपरी भाग को सहस्त्रार कहते हैं जो ईश्वर का निवास स्थान है।

जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो यह सहस्त्रार में स्थित अपने स्वामी से मिलने के लिये लहराती हुई ऊपर की ओर उठती है। समर्थ सदगुरु साधक की कुण्डलिनी को चेतन करते हैं। जागृत कुण्डलिनी पर समर्थ सदगुरु का पूर्ण नियंत्रण होता है, वे ही उसके वेग को अनुशासित एवं नियंत्रित करते हैं समाधिस्त होने के लिये पहली शर्त है पूर्ण रोग मुक्ति। भारतीय योग दर्शनानुसार कोई रोग असाध्य नहीं है। गुरुकृपा रुपी शक्तिपात दीक्षा से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर 6 चक्रों का भेदन करती हुई सहस्त्रार तक पहुँचती है कुण्डलिनी द्वारा जो योग करवाया जाता है उससे मनुष्य के सभी अंग पूर्ण स्वस्थ हो जाते हैं, साधक का जो अंग बीमार या कमजोर होता है मात्र उसी की योगिक क्रियायें ध्यानावस्था में होती हैं एवं कुण्डलिनी शक्ति उसी बीमार अंग का योग करवाकर उसे पूर्ण स्वस्थ कर देती है।

- **सिद्धयोग के लाभ**

मनुष्यों मे होने वाली बीमारीयों को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने दो श्रेणियों में बांटा है

1. शारीरिक 2. मानसिक।

भारतीय योगीयों ने पाया कि शारीरिक तथा मानसिक बीमारियों के अलावा आध्यात्मिक बीमारियाँ भी होती हैं। दूसरे शब्दों में कर्म का आध्यात्मिक नियम, पूर्व जन्म के कर्म इस जन्म की बीमारीयों तथा दुःखों के कारण हैं जो मनुष्य को जन्म जन्मान्तर

तक कभी समाप्त न होने वाले चक्र में बांधे रखते हैं सिर्फ रोगों को दूर करने के उद्देश्य से इसे काम लेना इसके मुख्य उद्देश्य को ही छोड़ देना है क्योंकि यह तो साधक को उसके कर्मों के उन बन्धनों से मुक्त करता है जो निरन्तर चलने वाले जन्म–मृत्यु के चक्र में उसे बाधंकर रखते हैं। योग का दर्शन मानव शरीर तथा लौकिक अतिमानस के बीच अति सूक्ष्म सम्बन्ध को मान्यता देता है जो शरीर विशेष की रचना के लिये उत्तरदायी है।

पंतजलि ऋषि ने अपनी पुस्तक योग सूत्र में बीमारियों का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया है–

1. शारीरिक "आदि दैहिक"
2. मानसिक "आदि भौतिक"
3. आध्यात्मिक "आदि दैविक"

आध्यात्मिक बीमारी के लिये आध्यात्मिक इलाज की आवश्कता होती है। मनुष्य की आध्यात्मिक बीमारियों का आध्यात्मिक इलाज योग के नियमित अभ्यास द्वारा आध्यात्मिक गुरु, जैसे गुरु सियाग की मदद द्वारा ही सभंव हो सकता है। एक मात्र गुरु ही हैं जो शिष्य को उसके पूर्व जन्मों के कर्म बंधनो को काटकर, उसे बीमारियों तथा दुःखों से छुटकारा दिलाकर उसे जीवन के सही उद्देश्य और आत्म साक्षात्कार तक पहुचाँने में उसकी सहायता कर सकते हैं।

गुरु सियाग ने अनेक केसेज में यह सिद्ध किया है कि सिद्धयोग योग का नियमित अभ्यास लम्बे समय से चली आ रही बीमारीयों जैसे गठिया, डायबिटीज, ब्लड प्रेशर तथा अन्य घातक रोगों जैसे कैंसर, एच.आई.वी./एड्स में सिर्फ आराम ही नहीं पहुँचता है बल्कि उन्हें ठीक भी कर सकता है। अनगिनत मरीज, जिनका चिकित्सकों के पास कोई इलाज नहीं था, उन्होनें सिद्धयोग को अन्तिम विकल्प के रुप में अपनाया और गुरुदेव से आशीर्वादप्राप्त किया तथा दीक्षा ली, वह न सिर्फ जीवित और पूर्ण स्वस्थ हैं। बल्कि अपना सामान्य जीवन भी रहे हैं। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जहाँ किसी बीमारी मे लाभ पहुँचाने या उसे ठीक करने मे असमर्थ रहता है वहाँ योग सफलतापूर्वक उसे ठीक कर सकता है।

हमारा शरीर एक माध्यम है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये वैदिक दर्शन, साधकों को, जो आध्यात्मिकता के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हैं, पूर्ण स्वस्थ होने की आवश्यकता पर बल देता है। दैनिक जीवन के एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट

की जा सकती है। मान लो हमें 'अ' स्थान से 'ब' स्थान तक की यात्रा करनी है। अगर वाहन चालू व बिलकुल ठीक हालत में है तो वह 'ब' स्थान तक हमें जल्दी और सुविधापूर्वक पहुँचायेगा बजाय उस वाहन के जो बुरी हालत में है। संक्षेप में, आध्यात्मिक प्रगति के लिये पूर्ण रुप से स्वस्थ होना पहली आवश्यकता है। सिद्धयोग का नियमित अभ्यास ठीक यही करता है वह हमें सबसे पहले पूर्ण रुप से स्वस्थ करता है।

सिद्धयोग का दर्शन

संक्षिप्त पृष्ठभूमि

सिद्धयोग, योग के दर्शन पर आधारित है जो कई हजार वर्ष पूर्व प्राचीन ऋषि मत्स्येन्द्रनाथ ने प्रतिपादित किया तथा एक अन्य ऋषि पतंजलि ने इसे लिपिबद्ध कर नियम बनाये, जो 'योगसूत्र' के नाम से जाने जाते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस योग को हिमायल में कैलाश पर्वत पर निवास करने वाले शास्वत सर्वोच्च चेतना के साकार रुप भगवान शिव से सीखा था, ऋषि को इस ज्ञान को मानवता के मोक्ष हेतु प्रदान करने के लिये कहा गया था। ज्ञान तथा विद्वता से युक्त यह योग, गुरु शिष्य परम्परा में समय – समय पर दिया जाता रहा है।

कुण्डलिनी शक्ति

परमपिता का अर्द्धनारीश्वर भाग शक्ति कहलाता है यह ईश्वर की पराशक्ति है (प्रबल लौकिक ऊर्जा शक्ति)। जिसे हम राधा, सीता, दुर्गा या काली आदि के नाम से पूजते हैं। इसे ही भारतीय योगदर्शन में कुण्डलिनी कहा गया है। यह दिव्य शक्ति मानव शरीर में मूलाधार में (रीढ की हड्डी का निचला हिस्सा) सुषुप्तावस्था में रहती है, यह रीढ की हड्डी के आखिरी हिस्से में साढे तीन आंटे लगाकर कुण्डली मारे, सोए हुए सांप की तरह पड़ी रहती है। इसलिए यह कुण्डलिनी कहलाती है। चूँकि कुण्डलिनी वह लौकिक ऊर्जा है जो अतिमानस से उत्पन्न हुई है यह एक त्रिकालदर्शी शक्ति है जो योग करने वाले को उस की सत्यता का भान एवं आत्मसाक्षात्कार कराती है और उसे संसार के दुःख तथा बन्धनों से अन्तिम रुप से मुक्त कराने के पश्चात मोक्ष की प्राप्ति कराती है।

कुण्डलिनी तथा 72,000 नाडियों के पेचीदा नेटवर्क के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है। इन नाड़ियों का पूरे मानव शरीर में एक जाल सा बिछा रहता है। इनमें से तीन मुख्य नाडियां

हैं जो मूलाधार से आपस में लिपटती हुई ऊपर की ओर मस्तिष्क के ऊपरी हिस्से (सहस्त्रार) तक जाती है। मध्य नाड़ी जो प्रमुख है सुषुम्ना कहलाती है। दो अन्य नाडियां, जो सूषुम्ना के अगल बगल चलती हैं इड़ा तथा पिंगला के नाम से जानी जाती हैं सुषुमना में थोडे –थोडे अन्तराल पर एक के ऊपर एक नीचे से ऊपर की ओर छः चक्र या चेतना के केन्द्र या लौकिक ऊर्जा केन्द्र तथा तीन ग्रन्थियां होती हैं।

इन नाडियों, चक्रों तथा ग्रन्थियों का तमाम जाल अलग आयाम में स्थित है जिसके बारे में विज्ञान को कुछ पता नहीं है। यह इतनी सुक्ष्म अवस्था में हैं कि अति उन्नत प्रयोगशाला के उपकरण इनकी उपस्थिति का पता नहीं लगा सकते।

जब ध्यान तथा मंत्र जाप से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है तो यह सुषुम्ना के रास्ते ऊपर उठती हुई सहस्त्रार तक पहुंचती है, जो उसका अन्तिम गन्तव्य स्थान है जहाँ इसके स्वामी 'परम शिव' शाश्वत अतिमानस का निवास है। चूंकि यह सुषुम्ना के चारों ओर लपेटे लेते हुए ऊपर उठती है, यह पूरे नाड़ीतंत्र को ऊर्जावान बना देती है तथा एक एक कर छः चक्रों मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञा चक्र और तीन ग्रंथियों ब्रह्म (रज), रुद्र(तम) एवं विष्णु (सत) का भेदन करती है, और अन्त में साधक को समाधि स्थिति, जो समत्व बोध की स्थित है, प्राप्त करा देती है। जाग्रत कुण्डलिनी, सुषुम्ना के रास्ते से अतिमानस से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लेती है। इससे मानव शरीर पूर्णतः रोगमुक्त हो जाता है तथा साधक ऊर्जा युक्त होकर आगे की आध्यात्मिक यात्रा हेतु तैयार हो जाता है। शरीर के रोग, मुक्त होने के दौरान ध्यान के समय जो बाह्रय लक्षण हैं देखने में आते उनमें योगिक क्रियाऐं जैसे दायें–बायें हिलना, कम्पन, झुकना, लेटना, रोना, हंसना, सिर का तेजी से घूमना, ताली बजाना, हाथों एवं शरीर की अनियंत्रित गतियां, तेज रोशनी या रंग दिखाई देना या अन्य कोई आसन, बंध, मुद्रा या प्राणायाम की स्थिति आदि मुख्यतः होते हैं।

कुण्डलिनी जागरण का प्रभाव

आरम्भ करने वाला कभी–कभी स्वैच्छिक होने वाली योगिक क्रियाओं से यह सोचकर भयभीत हो जाता है कि या तो कुछ गलत हो गया है या फिर किसी अदृश्य शक्ति की पकड़ में आ गया है लेकिन यह भय निराधार है। वास्तव मे यह योगिक क्रियायें या शारीरिक हलचलें दिव्य शक्ति द्वारा निर्दिष्ट हैं, और प्रत्येक साधक के लिये भिन्न–भिन्न

होती हैं। ऐसा इस कारण होता है कि इस समय दिव्य शक्ति जो गुरु सियाग की आध्यात्मिक शक्तियों के माध्यम से कार्य कर रही होती है, वह यह भली भांति जानती है कि साधक को शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्त करने के लिये क्या विशेष मुद्रायें आवश्यक हैं यह क्रियायें कोई भी हानि नहीं पहुँचाती हैं शरीर शोधन के दौरान असाध्य रोगों सहित वंशानुगत रोग जैसे हीमोफिलिया आदि से भी छुटकारा मिल जाता है, सभी तरह के नशे छुट जाते हैं। साधक, बढ़ा हुआ अन्तर्ज्ञान, भौतिक जगत के बाहर अस्तित्व के विभिन्न स्तरों को अनुभव करना, अनिश्चित काल तक का भूत व भविष्य की घटनाओं को देख सकने की क्षमता आदि प्राप्त कर सकता है। आत्मसाक्षात्कार होने के पश्चात् आगे चल कर साधक को सत्यता का भान हो जाता है जो उसे कर्मबन्धनों से मुक्त करता है और इस प्रकार कर्मबन्धनों के कट जाने से दुःख का ही अन्त हो जाता है, कुण्डलिनी के सहस्त्रार में पहुँचने पर साधक की आध्याात्मिक यात्रा पूर्ण हो जाती है इस अवस्था पर पहुँचने पर साधक को स्वंय के ब्रहा होने का पूर्ण एहसास हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। फिर भी यदि कोई साधक इन (क्रियाओं) से अत्यधिक भयभीत है तो इन्हें रोकने हेतु, गुरु सियाग से प्रार्थना करने पर क्रियायें तत्काल रुक जायेंगी।

मानव शरीर आत्मा का भौतिक घर

हमारे ऋषियों ने गहन शोध के बाद इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि जो ब्रहाण्ड में है वही सब कुछ पिण्ड (शरीर) में है। इस प्रकार मूलाधार चक्र से आज्ञा चक्र तक का जगत माया का और आज्ञा चक्र से लेकर सहस्त्रार तक का जगत परब्रह्म का है। वैदिक ग्रन्थों में लिखा है कि मानव शरीर आत्मा का भौतिक घर मात्र है, आत्मा सात प्रकार के कोषों से ढकी हुई है –

1– अन्नमय कोष (द्रव्य भौतिक शरीर के रुप मे जो भोजन करने से स्थिर रहता है), 2– प्राणामय कोष (जीवन शक्ति), 3– मनोमय कोष (मस्तिष्क जो स्पष्टत बुद्धि से भिन्न है), 4– विज्ञानमय कोष (बुद्धिमत्ता), 5– आनन्दमय कोष (आनन्द या अक्षय आनन्द जो शरीर या दिमाग से सम्बन्धित नहीं होता), 6– चित्मय कोष (आध्यात्मिक बुद्धिमत्ता) तथा 7– सत्मय कोष (अन्तिम अवस्था जो अनन्त के साथ मिल जाती है)। मनुष्य के आध्यात्मिक रुप से पूर्ण विकसित होने के लिये सातों कोषों का पूर्ण विकास होना अति आवश्यक है।

भौतिक विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने प्रथम चार कोषों को चेतन करने में सफलता पा ली है अन्तिम तीन कोषों को वह किस प्रकार चेतन करेगा ? अरविन्द

ने अपनी फ्रेंन्च सहयोगी शिष्या के साथ, जो माँ के नाम से जानी जाती थीं अपनी ध्यान की अवस्थाओं के दौरान यह महसूस किया कि अन्तिम विकास केवल तभी हो सकता है जब लौकिक चेतना जिसे उन्होंने कृष्ण की अधिमानसिक शक्ति कहा है, पृथ्वी पर अवतरित हो।

प्रथम चार कोष जो मानवता मे चेतन हो चुके हैं वहाँ विद्या पर अविद्या का अधिपत्य है शेष तीन आध्यात्मिक कोष जो मानवता मे चेतन होना बाकी हैं यहाँ अविद्या पर विद्या का प्रभुत्व है। उपरोक्त सातों कोषों के पूर्ण विकास को ही ध्यान में रखकर, महर्षि अरविन्द ने भविष्यवाणी की है कि आगामी मानव जाति दिव्य शरीर (देह) धारण करेगी। हमारे ऋषियों ने मनुष्य शरीर को विराट स्वरुप प्रमाणित करके उसके अन्दर सम्पूर्ण सृष्टि को देखा, इसके जन्मदाता परमेश्वर का स्थान सहस्त्रार में ओर उसकी पराशक्ति (कुण्डलिनी) का स्थान मूलाधार में है। साधक की कुण्डलिनी चेतन होकर सहस्त्रार में लय हो जाती है, इसी को मोक्ष कहा गया है।

सिद्धयोग के क्या लाभ हैं ?

– इससे साधक के सभी प्रकार के असाध्य रोग जैसे कैंसर, एच.आई.वी./एड्स, गठिया, दमा व डायबिटीज, ब्लड प्रेशर आदि शारीरिक रोगों से मुक्ति संभव है।

– मानसिक रोग जैसे भय, चिन्ता, डिप्रेशन, अनिद्रा, आक्रोश, तनाव, आदि से मुक्ति संभव।

– सभी प्रकार के नशों जैसे शराब, अफीम, स्मेक, हेरोइन, भांग, बीड़ी, सिगरेट, गुटका, जर्दा आदि से बिना परेशानी के छुटकारा संभव।

– मनोवैज्ञानिक एवं भावनात्मक असंतुलन को दूर कर शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाता है।

– आध्यात्मिकता के पूर्ण ज्ञान के साथ भूत तथा भविष्य की घटनाओं को ध्यान के समय कभी –2 प्रत्यक्ष देख पाना सम्भव।

– एकाग्रता एवं याददाश्त में वृद्धि।

– सिद्धयोग साधक को उसके कर्मों के उन बन्धनों से मुक्त करता है जो निरन्तर चलने वाले जन्म–मृत्यु के चक्र में उसे बांधकर रखते हैं।

– ईश्वरीय शक्ति द्वारा तामसिक वृत्ति के शान्त होने से मानव जीवन का दिव्य रुपान्तरण संभव।

– साधक को उसकी सत्यता का भान एवं आत्मसाक्षात्कार कराता है।

– गृहस्थ जीवन में रहते हुए भोग और मोक्ष के साथ ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति सम्भव।

गुण और उनका प्रभाव क्या है ?

वैदिक धर्मशास्त्र, ब्रह्म के द्वैतवाद को स्वीकार करते हैं जिसमें एक ओर वह आकार रहित, असीमित, शास्वत तथा अपरिवर्तनशील, अतिमानस चेतना है तो दूसरी ओर उसका चेतनायुक्त दृश्यमान तथा नित्य परिवर्तनशील भौतिक जगत है। यह चेतना भौतिक जगत के सभी सजीव तथा निर्जीव पदार्थों पर, जो तीन गुणों के मेल से बने हैं, अपना प्रभाव डालती है। सात्विक (प्रकाशित पवित्र बुद्धिमान व धनात्मक), राजस (आवेशयुक्त तथा ऊर्जावान) और तामस (ऋणात्मक, अंधकारमय, सुस्त तथा आलसी)।

सत्व सतुंलन की शक्ति है। सत्व के गुण अच्छाई, अनुरुपता, प्रसन्नता तथा हल्कापन हैं। राजस गति की शक्ति है राजस के गुण संघर्ष तथा प्रयास, जोश या क्रोध की प्रबल भावना व कार्य हैं। तमस निष्क्रियता तथा अविवेक की शक्ति है। तमस के गुण अस्पष्टता, अयोग्यता तथा आलस्य हैं।

मनुष्यों सहित सभी जीवधारियों में यह गुण पाये जाते हैं। फिर भी ऐसे विशेष स्वभाव का एक भी नहीं हैं जिसमें इन तीन लौकिक शक्तिओं में से मात्र एक ही हो। सब जगह सभी में यह तीनों ही गुण होते हैं लगातार तीनों ही गुण कम ज्यादा होते रहते हैं यह निरन्तर एक दूसरे पर प्रभावी होने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। यही वजह है कि कोई व्यक्ति सदैव अच्छा या बुरा, बुद्धिमान या मूर्ख, कियाशील या आलसी नहीं होता है।

जब किसी व्यक्ति में सतोगुणी वृत्ति प्रधान होती है तो अधिक चेतना की ओर उसे आगे बढ़ाती है जिससे वह अतिमानसिक चेतना की ओर, जहाँ उसका उद्‌गम था, वापस लौट सके और अपने आपको कर्मबन्धनों से मुक्त कर सके। राजसिक या तामसिक वृत्ति प्रधान व्यक्ति सुख–दुःख, जीवन–मृत्यु के समाप्त न होने वाले चक्र में फँसता है। सिद्धयोग की साधना, सात्विक गुणों का उत्थान करके अन्ततः मोक्ष तक पहुँचाती है, जो अन्तिम रुप से आध्यात्मिक मुक्ति है।

वृत्तियाँ क्या हैं ?

प्रत्येक मनुष्य में तीन वृत्तियाँ होती हैं। इन वृत्तियाँ के अनुसार ही, समग्र रुप से, मनुष्य का व्यवहार होता है। यह वृत्तियाँ, सत्व, रजस और तमस गुणों से प्रभावित होती हैं। गीता तथा योग सूत्र के अनुसार इनमें से प्रत्येक गुण सिद्धयोग की साधना से उभारा या दबाया जा सकता है। महाकाव्य महाभारत में भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि राजस तथा तामस वृत्तियों को दबाने तथा सात्विक वृत्तियों के उत्थान में, ध्यान मदद करता है, जिससे व्यक्ति स्थायी स्वास्थ्य, सच्चा उच्च ज्ञान एवं आत्मसाक्षात्कर प्राप्त कर सकता है। वैदिक धर्म शास्त्रों के अनुसार केवल समर्थ सिद्ध गुरु ही परमार्थवाद संबंधी उद्देश्य वाले साधक को योग में दीक्षित करके उसकी वृत्तियों में धनात्मक परिवर्तन ला सकता है। चूँकि सतोगुण एक संतुलनकारी शक्ति है जो सत्य ज्ञान की मार्गदर्शक है। बड़े स्तर पर इसकी अभिवृद्धि सम्पूर्ण मानवता का रुपान्तरण कर उसे लड़ाई–झगड़ों से मुक्त कर सकती है तथा विश्व में शान्ति एवं एकता ला सकती है।

वृत्ति परिवर्तन व बुरी आदतों का छूटना

इसी प्रकार निरन्तर नाम जप व ध्यान से वृत्ति परिवर्तन भी होता है। मनुष्य में मूलतः तीन वृत्तियाँ होती हैं सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी। मनुष्य में जो वृत्ति प्रधान होती है उसी के अनुरुप उसका खानपान एवं व्यवहार होता है निरन्तर नाम जप के कारण सबसे पहले तमोगुणी (तामसिक) वृत्तियाँ दबकर कमजोर पड़ जाती हैं। बाकी दोनों वृत्तियाँ प्राकृतिक रुप से स्वतंत्र होने के कारण क्रमिक रुप से विकसित होती जाती हैं। कुछ दिनों में प्रकृति उन्हें इतना शक्तिशाली बना देती है कि फिर से तमोगुणी वृत्तियाँ पुनः स्थापित नहीं हो पाती हैं। अन्ततः मनुष्य की सतोगुणी प्रधानवृत्ति हो जाती है। ज्यों ज्यों मनुष्य की वृत्ति बदलती जाती है दबने वाली वृत्ति के सभी गुणधर्म स्वतः ही समाप्त होते जाते हैं, वृत्ति बदलने से उस वृत्ति के खानपान से मनुष्य को आन्तरिक घृणा हो जाती है। इसलिये बिना किसी कष्ट के सभी प्रकार की बुरी आदतें अपने आप छूट जाती हैं। इस संबंध मे स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका मे कहा था "कि मनुष्य उन वस्तुओं को नहीं छोड़ता वे वस्तुऐं उसे छोडकर चली जाती हैं।"

यह परिवर्तन सम्पूर्ण मानव जाति में समान रुप से हो रहा है इसमें जाति भेद एवं धर्म परिवर्तन जैसी कोई समस्या नहीं है। इसमें साधक स्वयं के धर्म में रहता हुआ इस योग की साधना कर सकता है। मोक्ष का अर्थ है मनुष्य अपने जीवनकाल में ही पूर्णता प्राप्त कर

ले। इस स्थिति पर पहुँचने पर साधक पूर्ण शान्ति अनुभव करता है। उसे किसी प्रकार का शारीरिक एवं मानसिक कष्ट नहीं रहता है।

शान्ति की खोज

इस युग का मानव भौतिक विज्ञान से शान्ति चाहता है परन्तु विज्ञान ज्यों ज्यों विकसित होता जा रहा है वैसे वैसे शान्ति दूर भाग रही है और अशान्ति तेज गति से बढ़ती जा रही है क्योंकि शान्ति का सम्बन्ध अन्तरात्मा से है अतः विश्व में पूर्ण शान्ति, मात्र वैदिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर ही स्थापित हो सकती है अन्य कोई पथ है ही नहीं। भारतीय योग दर्शन में वर्णित सिद्धयोग से विश्व शान्ति के रास्ते की सभी रुकावटों का समाधान सम्भव है।

- **रोगों का दूर होना**

सिद्धयोग बीमारियाँ कैसे दूर करता है ?

मनुष्यों में होने वाली बीमारियों को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने दो श्रेणियों में बाँटा है (1) शारीरिक (2) मानसिक, इनकी चिकित्सा आन्तरिक औषधियों एवं औषधीय लेपों द्वारा की जाती है।

प्राचीन भारतीय ऋषियों ने ध्यान के द्वारा जीवन के रहस्यों की गहराई तक छानबीन की और यह पाया कि बीमारियों का कारण केवल कीटाणुओं अथवा विषाणुओं के सम्पर्क में आना ही नहीं है बल्कि अधिकांश मनुष्यों में पीडा व सन्ताप का कारण पूर्व जन्म में उनके द्वारा किये गये कर्मों का फल भी है। प्रत्येक कर्म चाहे वह अच्छा हो या बुरा, उसका परिणाम भोगना पडता है, चाहे वह इसी जन्म में मिले या फिर आगामी जन्म में, चूँकि प्रत्येक मनुष्य, जीवन तथा मृत्यु के कभी समाप्त न होने वाले चक्र में, फँसा हुआ है, मनुष्य की बीमारियाँ व भोग तथा जीवन का उत्थान–पतन अनवरत रुप से चलता रहता है।

आधुनिक विज्ञान मृत्यु के बाद जीवन की निरन्तरता को स्वीकार नहीं करता। इसी कारण वह बीमारियों के भौतिक हल ढूँढता है और अन्ततः स्थायी चिकित्सा में असमर्थ रहता है। अगर विज्ञान एक बीमारी का हल खोजता है तो दूसरी अधिक जटिल बीमारियाँ मनुष्यों में कभी–कभी उत्पन्न हो जाती हैं। इसका कारण है, इस विश्वास से इनकार करना कि इस समस्या की जड़ मनुष्य के भौतिक जीवन से बहुत दूर कहीं और है।

भारतीय योगियों ने पाया कि शारीरिक तथा मानसिक बीमारियों के अलावा आध्यात्मिक बीमारीयाँ भी होती हैं जो मनुष्य को जन्म जन्मान्तर तक कभी समाप्त न होने वाले चक्रों में बाँधे रखती हैं।

असाध्य रोगों का ठीक होना

निरन्तर जाप एवं ध्यान के दौरान लगने वाली खेचरी मुद्रा में साधक की जीभ स्वतः उलटकर तालू से चिपक जाती है, जिसके कारण सहस्त्रार से निरन्तर टपकने वाला दिव्य रस "अमृत" साधक के शरीर में पहुँचकर साधक की रोग प्रतिरोधक शक्ति को अद्‌भुत रुप से बढ़ा देता है, जिससे साधक को समस्त असाध्य रोगों एवं एड्स कैन्सर जैसे प्राणघातक रोगों से भी पूर्ण मुक्ति मिल सकती है। महायोगी गोरखनाथ ने कहा है कि –

गगन मण्डल मे ऊँधा–कुँआ, तहाँ अमृत का वासा।

सगुरा होइ सो भरि भरि पीवे, निगुरा जाइ प्यासा।।

गुरु के प्रति पूर्ण निष्ठा व भक्ति आवश्यक

आरम्भ करने वाले इस बात को लेकर चिन्तित होते हैं कि किस प्रकार से प्रयास कर जाप किया जाये। लेकिन कुछ दिनों तक ही निष्ठापूर्वक लगातार प्रयास की आवश्यकता होती है। जब कुछ दिनों तक लगातार मंत्र का जाप किया जाता है तो यह स्वतः ही जपा जाने लगता है इसे अजपा जाप की स्थिति कहा जाता है फिर भी यह इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी निष्ठा, ईमानदारी और लगन के साथ प्रयास किया गया है। साधक को यह हिदायत दी जाती है कि यदि उनकी प्रगति धीमी हो तो भी वह इसे छोड़े नहीं, अन्ततः वह भी अजपा की स्थिति प्राप्त कर लेगा।

जो भी इसमें रुचि रखता है उसके लिये सिद्धयोग का अभ्यास करना बहुत सरल है। योग के बारे में पूर्व जानकारी या अनुभव आवश्यक नहीं है और न ही कोई खास उपकरणों, सहायता अथवा ड्रेस विशेष की आवश्यकता होती है योग प्रशिक्षक की उपस्थिति भी आवश्यक नहीं होती। किसी रस्मों–रिवाज की भी जरुरत नहीं होती। सिद्धयोग के साधक को अपना धार्मिक विश्वास छोड़ने या जीवन पद्धति में बदलाव लाने या खानपान में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती। अच्छा स्वास्थ्य तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिये साधक को सिर्फ गुरु सियाग के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं भक्ति की जरुरत होती है।

- **ध्यान**

ध्यान क्या है ?

चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। चित्त को एकाग्र करके किसी ओर लगाने की क्रिया। यह योग के आठ अंगो (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि) में से सातवां अंग है जो समाधि से पूर्व की अवस्था है।

समाधि क्या है ?

यह ध्यान में परमात्मा से मिलन की अवस्था है। योग के आठ अंगो में से यह आठवां अंग है तथा योग में यह बहुत अच्छी स्थिति मानी जाती है। समाधि की सर्वोच्च अवस्था निर्विकल्प समाधि कहलाती है इसमे ज्ञेय, ज्ञान, तथा ज्ञाता आदि का कोई भेद नहीं रहता है।

ध्यान (दीक्षा प्राप्त करने से पहले)

वे लोग, जिन्होंने गुरु सियाग से अभी दीक्षा प्राप्त नहीं की है

- सर्वप्रथम आरामदायक स्थिति मे किसी भी दिशा की ओर मुँह करके बैठें।
- दो मिनट तक गुरुदेव रामलाल सियाग के चित्र को खुली आँखों से ध्यानपूर्वक देखें।

ध्यान के दौरान स्वतः होने वाली योगिक क्रियाऐं

- यदि आप किसी बीमारी, नशे या अन्य परेशानी से पीड़ित हैं, तो गुरुदेव से, उससे मुक्ति दिलाने हेतु अन्तर्मन से करुण पुकार करें।
- मन ही मन 15 मिनट के लिये गुरुदेव से अपनी शरण में लेने हेतु प्रार्थना करें।
- इसके बाद आंखें बन्द करके आज्ञा चक्र (भोंहों के बीच) जहाँ बिन्दी या तिलक लगाते हैं वहाँ पर गुरुदेव के चित्र का स्मरण करें।
- इस दौरान मन ही मन गुरुदेव–गुरुदेव शब्द का मानसिक जाप, बिना जीभ या होंठ हिलाये करें। कोई भी ईश्वरीय नाम, अपने धर्म के अनुसार, जैसे राम–राम, कृष्ण–कृष्ण, अल्लाह–अल्लाह, वाहिगुरु–वाहिगुरु, यीशु–यीशु का भी मानसिक जाप कर सकते हैं।
- ध्यान के दौरान शरीर को पूरी तरह से ढीला छोड़ दें, आँखें बन्द रखें, चित्र ध्यान में आये, या न आये उसकी चिन्ता न करें। मन में आने वाले विचारों की चिन्ता न करते हुए मानसिक जाप करते रहें।
- ध्यान के दौरान कम्पन, झुकने, लेटने, रोने, हंसने, तेज रोशनी या रंग दिखाई देने या अन्य कोई आसन, बंध, मुद्रा या प्राणायाम की स्थिति बन सकती है, इससे घबरायें नहीं, इन्हें रोकने का प्रयास न करें। यह मातृशक्ति कुण्डलिनी शारीरिक रोगों को ठीक करने के लिये करवाती है।
- समय (15 मिनट) पूरा होने के बाद आप ध्यान की स्थिति से स्वतः ही सामान्य स्थिति में आ जायेंगे।
- योगिक क्रियायें या अनुभूतियाँ न होने पर भी इसे बन्द न करें। रोजाना सुबह शाम खाली पेट ध्यान करने से कुछ ही दिन बाद अनुभूतियाँ होना प्रारम्भ हो जायेंगी।

ध्यान (दीक्षा प्राप्त करने के बाद)

गुरुदेव सियाग दीक्षा कार्यक्रम के समय एक मंत्र (एक दिव्य शब्द) देते हैं। दीक्षा (मंत्र) गुरुदेव की आवाज में ऑडियो या वीडियो CD द्वारा, इन्टरनेट पर वेबसाइट द्वारा, मोबाइल फोन पर ऑडियो या वीडियो द्वारा, व्हाटसएप या अन्य मेसेन्जर द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है।

ध्यान करते समय उसी मंत्र का मानसिक जाप करें तथा जब ध्यान न कर रहे हों तब भी खाते पीते उठते–बैठते, नहाते धोते, पढ़ते–लिखते, कार्यालय आते जाते, गाड़ी चलाते अर्थात् हर समय ज्यादा से ज्यादा उस मंत्र का मानसिक जाप करें। दैनिक अभ्यास

में 15–15 मिनट का ध्यान सुबह शाम या अपनी सुविधा के समय खाली पेट करना चाहिये।

जब एक बार कोई व्यक्ति गुरु सियाग से जुड़ जाता है चाहे उसने मंत्र दीक्षा ली हो या फिर मात्र उनके फोटो से ध्यान किया हो, वह उनका शिष्य बन जाता है। समय या दूरी चाहे कितनी भी हो भारत में हों या दुनियाँ के किसी भी कोने में हों अथवा किसी ग्रह पर विभिन्न टाइम क्षेत्र में हों, गुरुदेव अपनी अद्वितीय आध्यात्मिक शक्ति द्वारा प्रत्येक शिष्य की खैर–खबर एवं परोपकारी दृष्टि बनाये रखते हैं। इस प्रकार गुरु सियाग अपने शिष्य को जो विभिन्न प्रकार के मकड़जाल, दुःख तथा आकर्षणों से घिरा हुआ है, उसे ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति तथा आत्मसाक्षात्कार का मार्ग दिखाते हैं। यह दिव्य अनुभूति गुरु सियाग के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है पैसे, चालाकी, छल, कपट या धमकी द्वारा नहीं।

ध्यान कहाँ करें ?

ध्यान घर पर या अन्य किसी भी स्थान पर, जिसे आप ध्यान हेतु उपयुक्त समझें, किया जा सकता है। आरम्भ में ऐसा स्थान चुनें जो शान्त हो तथा जहाँ ध्यान के दौरान व्यवधान पैदा न हो, उपयुक्त रहेगा, प्रतिदिन सुबह जल्दी, हो सके तो सूर्योदय से पहले तथा शाम को उपयुक्त तथा सुविधाजनक समय पर ध्यान करें। ध्यान के दौरान मंत्र का मानसिक जाप करना चाहिए चूँकि ध्यान आँख बन्द करके किया जाता है, ध्यान करने वालों को शुरु–शुरु में यह आशंका रहती है कि समय का कैसे पता चलेगा, हो सकता है कि अधिक देर तक बैठे रह जायें और दैनिक कार्यक्रम गड़बड़ा जायें। लेकिन उन्हें यह जानना चाहिए कि सिद्धयोग ईश्वरीय मदद से होता है, जिसका अर्थ है कि ध्यान करने से पूर्व मानसिक तौर पर जितने समय ध्यान के लिए प्रार्थना की है उतने समय के बाद ध्यान स्वतः ही हट जायेगा। अतः अलार्म घड़ी आदि की आवश्यकता नहीं होती है।

विभिन्न आयु वर्ग के साधकों में स्वतः होने वाली योगिक क्रियाऐं
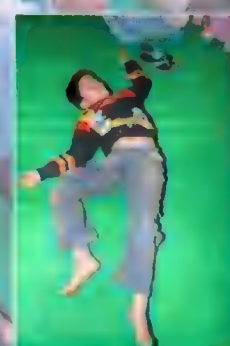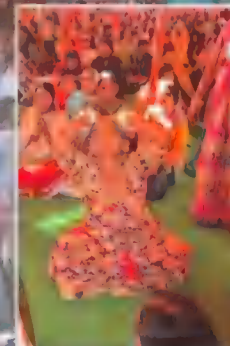
गुरु सियाग ध्यान कर सकते हैं –

कोई भी – किसी भी धर्म, पंथ, रंग, देश, जाति व वर्ण के स्त्री या पुरुष

कभी भी – सुबह, दोपहर, शाम या रात्रि को

कितनी भी देर तक – 5, 10, 15, 20, 30 मिनट तक

कहीं भी – कार्यालय, घर, बस, ट्रेन में

किसी भी जगह – कुर्सी पर, बिस्तर में, फर्श या सोफे पर

किसी भी स्थिति में – सुखासन, पद्मासन, लेटे हुए या कुर्सी पर बैठकर

किसी भी उम्र के – बच्चे, जवान, अधेड़ या बुजुर्ग

कोई भी रोग – शारीरिक, मानसिक, या किसी भी नशे की लत को छुड़ाने हेतु

कोई भी तनाव – परिवार, व्यापार या कार्य से सम्बन्धित (www.the-comforter.org)।

महर्षि पतंजलि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

योग सूत्र के रचनाकार पतंजलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में चर्चा में थे इनका जन्म गोननरद्य (गोनिया) में हुआ था लेकिन कहते हैं कि ये काशी में नागकूप में बस गये थे। यह भी माना जाता है कि वे व्याकरणाचार्य पाणिनी के शिष्य थे। पतंजलि को शेषनाग का अवतार भी माना जाता है। काशीवासी आज भी श्रावण कृष्ण 5 नागपंचमी को "छोटे गुरु का, बड़े गुरु का नाग लो भाई नाग लो" कहकर नाग के चित्र बाँटते हैं।

भारतीय दर्शन साहित्य में पतंजलि के लिखे हुये 3 प्रमुख ग्रन्थ मिलते हैं योगसूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य और आयुर्वेद पर ग्रन्थ। विद्वानों के इन ग्रन्थों के लेखक को लेकर मतभेद है कुछ मानते हैं कि तीनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति ने लिखे, अन्य की धारणा है कि ये विभिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं।

पतंजलि ने पाणिनी के अष्टाध्यायी पर अपनी टीका लिखी जिसे महाभाष्य कहा जाता है इसका काल लगभग 200 ई.पू. माना जाता है। पतंजलि ने इस ग्रन्थ की रचना कर पाणिनी के व्याकरण की प्रमाणिकता पर अंतिम मोहर लगा दी थी।

महाभाष्य व्याकरण का ग्रन्थ होने के साथ–साथ तत्कालीन समाज का विश्वकोष भी है।

पतंजलि एक महान चिकित्सक थे और उन्हें ही कुछ विद्वान 'चरक संहिता' का प्रणेता भी मानते हैं। पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य थे, अभ्रक, विंदास, धातुयोग और लौहशास्त्र इनकी देन है। पतंजलि संभवतः पुष्यमित्र शुंग (195–142ई.पू.) के शासन काल में थे। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है। द्रविण देश के सुकीब रामचन्द्र दीक्षित ने अपने 'पतंजलि चरित' नामक काव्य ग्रन्थ में उनके चरित्र के संबंध में कुछ नये तथ्यों की संभावनाओं को व्यक्त किया है। उनके अनुसार शंकराचार्य के दादागुरु आचार्य गौड़पाद पतंजलि के शिष्य थे किन्तु तथ्यों से इस बात की पुष्टि नहीं होती है। दरअसल पतंजलि के योग का महत्व इसलिये अधिक है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही योग विद्या को सुव्यवस्थित रुप दिया। पतंजलि के अष्टांग योग में धर्म और दर्शन की समस्त विद्या का समावेश तो हो ही जाता है साथ ही शरीर और मन के विज्ञान को पतंजलि ने योगसूत्र में अच्छे से व्यक्त किया है (Hindi.Webdunia.Com/article/yogaarticle/महर्षिपतंजलि–108051400089–1.htm) ।

पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं जो हिन्दुओं के 6 दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) में से एक है। योगसूत्र, योग दर्शन का मूल ग्रन्थ है। योग सूत्र में चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन करने का विधान है। पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों को चंचल होने से रोकना (चित्तवृत्तिनिरोधः) ही योग है, अर्थात् मन को इधर उधर भटकने न देना केवल एक ही वस्तु पर स्थिर रखना ही योग है (https#//hi.wikipedia.org/wiki/पतंजलि) (https#//hi.wikipedia.org/s/g4)

पतंजलि योगदर्शन में रोग का कोई उल्लेख नहीं है वो तो मनुष्य के क्रियात्मक विकास की बात करता है।

योगदर्शन के सूत्राकार पतंजलि मुनि की जीवनी का ठीक ठाक पता नहीं चलता, किन्तु यह बात निसन्देह सिद्ध है कि पतंजलि मुनि भगवान कपिल के पश्चात् और अन्य चार दर्शनकारों से बहुत पूर्व हुये।

एक मत के अनुसार पाणिनी व्याकरण का महाभाष्य एवं वैधक की चरक संहिता ये दोनों इन्हीं के रचे हुए हैं जैसा कि कहा गया है–

"योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैधकेन।

योऽपाकरोत् तं प्रवंर मुनीनां, पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि।

अर्थाथ में उन मुनियों में श्रेष्ठ पतंजलि को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिसने कि योग से चित्त का, पद (व्याकरण) से वाणी का और वैद्यक (चरक ग्रन्थ के द्वारा) से शरीर के मल को दूर किया है ।

अन्य धारणा के अनुसार यह ग्रन्थ अन्य व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। प्राचीन काल के पतंजलि मुनि का महाभाष्य का रचियता होना भी एक विचित्र रुप में दिखाया गया है जिसके अनुसार पतंजलि मुनि को शेषनाग अवतार मानकर काशी में एक बावड़ी पर पाणिनी मुनि के समझ स्वरुप में प्रकट होना बताया गया है (तीर्थ 1960: 152–153)।

- **पतंजलि ऋषि की रचनायें**

पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार है, एवं पतंजलि योगदर्शन एक बड़ा ही महत्वपूर्ण शास्त्र है इसमें योग के 195 सूत्र है।

1. **समाधिपाद (51 सूत्र)**

इस ग्रन्थ के पहले पाद में योग के लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपायों का वर्णन करते हुए चित्त की वृत्तियों के पांच भेद और उनके लक्षण बतलाये गये हैं इस पाद में प्रधानता से समाधि के स्वरुप का वर्णन है, इस कारण इसे समाधिपाद कहते हैं। योग के तीन भेद माने गये हैं जिनमें सम्प्रज्ञात योग के दो भेद हैं, एक सविकल्प योग है, वह तो पूर्णावस्था है, उसमें विवके ज्ञान नहीं होता है। दूसरा निर्विकल्प योग है जिसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं जब वह निर्मल हो जाता है उस समय उसमें विवेक, ज्ञान प्रकट होता है। जब चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं रहती यह निर्बीज समाधि है यही योग का अन्तिम लक्ष्य है।

ऋषि द्वारा समादिपाद के सूत्र 21, 23, 51 में निर्बीज समाधि, सूत्र 46 में सबीज समाधि तथा 41 से 44 में सम्प्रज्ञात समाधि, सवितर्क व निर्वितर्क समाधि के बारे में बताया गया है।

24 से 29 वें सूत्र में ऋषि ने कहा है कि हरि नाम के जप के बिना कोई योग सिद्ध नहीं होगा। उस नाम से सारे कष्टों का अन्त होता है ऋषि ने स्पष्ट कहा है जो

कष्ट भोग चुके वो भोग चुके लेकिन नाम जप से आगे आने वाले कष्टों से बचा जा सकता है (टीकाकारः 5)।

2. साधनपाद (55 सूत्र)

इस पाद में प्रधानता से समाधि के साधनों का वर्णन है इस कारण उसे साधनपाद कहते हैं। निर्बीज समाधि वही साधक प्राप्त कर सकता है जिसका अन्तःकरण स्वभाव से ही शुद्ध हो गया है। अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक निर्बीज–समाधि प्राप्त करने का उपाय साधनापाद में बताये गये हैं एवं ऋषि ने साधनापाद के सूत्र 2 से 10 में क्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश के बारे में बताया है तथा 11 वें कहा है कि उन क्लेशों की वृत्तियां, ध्यान के द्वारा नाश करने योग्य हैं। 29वें सूत्र में योग के आठ अंगों (यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) के बारे में बताया है।

साधनापाद में उक्त 8 अंगों में से बहिरंग साधनों (प्रथम 5) का वर्णन है। 30वें सूत्र में 'यम', 32वें सूत्र में 'नियम', 46वें सूत्र में 'आसान', 49वें सूत्र में 'प्राणायाम', 54वें सूत्र में 'प्रत्याहार' के बारे में विस्तार से बताया है, साथ ही यह भी बताया है कि उक्त का पालन करने से साधक को क्या फायदे (फल) प्राप्त होते हैं (वही पृ.सं.: 14–30)।

3. विभूतिपाद (55 सूत्र)

विभूतिपाद के पहले सूत्र में 'धारणा', दूसरे में 'ध्यान' तथा तीसरे में 'समाधि' के बारे में बताते हुऐ ऋषि ने 7वें सूत्र में उक्त तीनों को अन्तरंग साधन बताया है। 12वें सूत्र में चित्त की वृत्तियों, सूत्र 16 में भूत भविष्य की घटनाओं का ज्ञान होने, सूत्र 22 में साधक को मृत्यु का पूर्व ज्ञान होने एवं सूत्र 23 से 32 तक साधक को प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों का ज्ञान हो जाने के बारे में विस्तार से बताया है।

विभूतिपाद के 33 और 36वें सूत्र में ऋषि ने कहा है साधक में प्रातिभज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे अनिश्चित कालीन भूत भविष्य की घटनाओं को देखा और सुना जा सकता है। साथ ही 6 अन्य प्रकार की सिद्धियों (प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता) के प्रकट होने के बारे में बताया है (वही पृ.सं.: 33)।

आठ अंगो के तीन अन्तरंग साधन जब किसी एक ध्येय में पूर्णतया किये जाते हैं तब इनका नाम संयम हो जाता है। योग की विभूतियां प्राप्त करने के लिये संयम की आवश्यकता है इस पाद में प्रधानता से समाधि द्वारा प्राप्त होने वाली नाना प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है अतः इसे विभूतिपाद कहते हैं (वही,पृ.सं.: 87–90)।

4. कैवल्यपाद (34 सूत्र)

कैवल्यपाद के 2 और 3वें सूत्र में ऋषि ने जात्यान्तरण की बात कही है जिसमें मनुष्य की वृत्ति बदल जाती है। तमोगुण से सतोगुण वृत्ति हो जाती है।

उपरोक्त तीनों पादों में समाधि का वास्तविक फल (कैवल्य) का वर्णन प्रसंगानुसार हुआ है किन्तु विवेचनापूर्ण नहीं हुआ, अतः उसका अच्छी तरह वर्णन इस पाद में किया गया है इसलिये इसका नाम ''कैवल्यपाद'' रखा गया है (वही पृ.सं.: 69)।

भारतीय ग्रन्थों, दर्शनों में भी योग का उपदेश कई स्थलों में मिलता है हिरण्यगर्भ द्वारा प्रवर्तित एवं अनादिकाल से परम्परागत रुप से चले आ रहे योगिक सिद्धातों को महर्षि पतंजलि ने एकत्र करके समयानुरुप बोधगम्य बनाकर सूत्रों में ग्रन्थित करके समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। अतः''पतंजलि मुनि'' द्वारा रचित योग सूत्र में निहित दर्शन भी ''पातंजलियोग दर्शन'' के नाम से विख्यात हुआ (वही पृ.सं.: 104)।

पतंजलि का योगसूत्र सांख्य प्रवचन के नाम से कहा जाता है। वाचरचति मिश्र सांख्य योग के उपदेष्दा वार्षगण्य का ''योगशास्त्रव्युत्पादयिता'' कहकर उल्लेख करते हैं तथा स्वयं पतंजलि, सांख्य तत्वज्ञान के आधार से ही योग के सिद्धांतों की रचना करते हैं (स्वामी 1994: 5–6)।

यद्यपि पतंजलि को योगशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है किन्तु, वे योग के प्रचारक मात्र थे। इस शास्त्र के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ बताये गए थे (जैन 1984: 119)।

महर्षि अरविन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

- **आरम्भिक जीवन**

अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 को कलकत्ता में हुआ था उनके पिता कृष्णधर घोष, मेडिकल ऑफिसर थे एवं वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इंग्लैंड जाने वाले पहले व्यक्तियों में थे। अरविन्द की आरम्भिक शिक्षा दार्जलिंग के आयरिश स्कूल में हुई। उनके पिता 1879 में अरविन्द सहित अपने तीनों पुत्रों को इंग्लैंड ले गये वहां उन्होंने इन्हें एक अंग्रेज पादरी को किसी भारतीय से परिचय न कराने के निर्देश के साथ सौंप दिया। बचपन से ही अरविन्द ने लैटिन व ग्रीक का अध्ययन किया। मेनचेस्टर में सेंटपॉल स्कूल में पढ़ाई के साथ अरविन्द ने अंग्रेज काव्य (स्वामी 1994: 7) साहित्य एवं उपन्यास तथा फ्रैंच साहित्य और प्राचीन, मध्ययुगीन एवं अर्वाचीन यूरोप के इतिहास के अनुशीलन में ही व्यतीत किया। कुछ समय उन्होंने इटालियन, जर्मन, स्पेनिश सीखने में लगाया। इंग्लैंड में अरविन्द का नाम उनके पिता द्वारा अरविन्द एक्रायड घोष लिखवाया गया। इंग्लैंड छोड़ने से पहले अरविन्द ने अपने नाम से 'एक्रायड' शब्द को निकाल दिया।
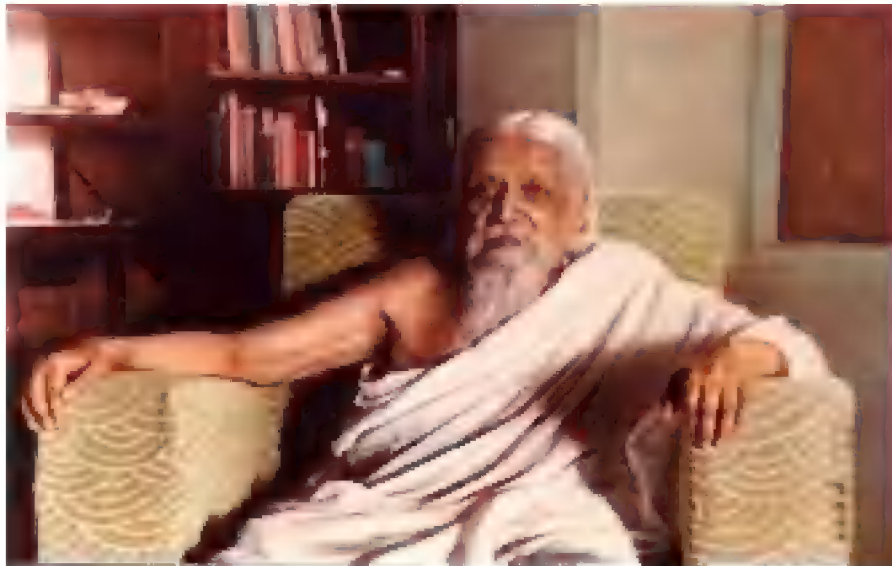
उनके पिता उन्हें 'बंगाली' नामक अंग्रेज समाचार पत्र भेजा करते थे जिसमें वे भारतीयों के साथ अंग्रेजों के दुर्व्यवहार के समाचारों पर निशान लगा देते थे, ग्यारह वर्ष की अवस्था में अरविन्द को तीव्र अनुभव हो गया कि जगत में सार्वभौम उथल पुथल और महान क्रांतिकारी परिवर्तन का समय आ रहा है।

युवा अरविन्द इंग्लैंड में रहते हुऐ "Lotus and Dagger" "कमल और कटार" नाम की एक संस्था के सदस्य बने। इसमें प्रत्येक सदस्य ने भारत को स्वाधीन करने के लिये कुछ ना कुछ कार्य करने एवं इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये कोई विशेष कार्य भी अपने ऊपर लिये (अरविन्द 1995: 1)।

- **बड़ौदा रियासत का सेवाकाल (1893–1906)**

भारत आने पर उन्होंने बड़ौदा रियासत में कार्य किया। पहले उन्हें भूमि–व्यवस्था विभाग (Land Sattlement Department) फिर स्टाम्पस ऑफिस (Stamps Office) उसके बाद केन्द्रीय राजस्व कार्यालय (Central Revenue Office) और मंत्रालय (Secretariat) में नियुक्त किया गया। बाद में अच्छे कॉलेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर के पद पर आगे चलकर वाइस प्रिंसिपल बन गये और कुछ समय कार्यवाहक प्रिंसिपल भी रहे साथ ही वे महाराज का निजी कार्य भी गैर सरकारी हैसियत से करते थे। इसी दौरान उनका आर्य सभ्यता व संस्कृति के प्रति आकर्षण बढ़ता गया और उन्होंने बंगला, हिन्दी और संस्कृत भाषा अच्छी तरह से सीखी एवं उन्होंने उपनिषदों तथा गीता का गम्भीर और गहन अध्ययन–मनन किया और इस निर्णय पर आये कि इन ग्रन्थों में गम्भीर गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान के भंडार भरे पड़े हैं। इसी दौरान वें "इन्दु प्रकाश" पत्रिका से जुड़ गये 'इन्दु प्रकाश' में उनके लेख बिना नाम के प्रकाशित हुआ करते थे।

इसी दौरान बंगाल में 'वंदे मातरम' के मंत्र और क्रांतिकारी आन्दोलन में कूद पड़ने से ही प्रांत की जनता में परिवर्तन हुआ था (वही पृ.सं.: 2–10)। 1901 में अरविन्द का विवाह मृणालिनी देवी से हुआ। 1904 में या इसके आसपास उन्होंने योगाभ्यास आरम्भ किया अपने विचारों को स्पष्ट रुप देने के लिये नहीं बल्कि ऐसी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिये जो उन्हें सहारा दे उनके पथ को आलोकित करे (वही पृ.सं.: 16)। 1906 में बड़ौदा कॉलेज से इस्तीफा देकर कलकत्ता के लिये प्रस्थान किया जहाँ जाकर अरविन्द ने दैनिक पत्र "वंदे मातरम्" का कार्यभार संभाल लिया।

- **भारतीय राष्ट्रीयता के नायक (1906–1910)**

अरविन्द के राजनीतिक विचारों एवं कार्यो के तीन पहलू थे–

1. गुप्त क्रांतिकारी प्रचार और संगठन जिसका उद्देश्य सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना।
2. सार्वजनिक प्रचार और सम्पूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता के आदर्श की दीक्षा देना।

3. जनता को संगठित करना जिससे असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा विदेशी शासन का सार्वजनिक एवं संयुक्त रुप से विरोध करके उसकी जड़ें खोखली कर दी जायें।

अरविन्द का यह भी मत था कि राष्ट्र को हिंसा द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करने का पूरा अधिकार है। इन्होंने 'युगान्तर' नामक पत्र के माध्यम से खुले विद्रोह तथा अंग्रेज राज्य के पूर्ण बहिष्कार का प्रचार करना, गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा देने वाली लेख माला निकाली (वही पृ.सं.: 19)।

'वंदे मातरम्' के संपादक के रुप में सरकार ने उस पर मुकदमा चलाया उसके बाद अरविन्द बंगाल में राष्ट्रीयता के सर्वमान्य नेता बन गये।

इसी दौरान उनको पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया एवं अलीपुर जेल में लगभग 1 वर्ष तक रखा गया। जेल में वे अपना प्रायः सारा समय गीता और उपनिषदों के स्वाध्याय, गंभीर ध्यान तथा योगाभ्यास में व्यतीत करने लगे, इसी दौरान अरविन्द को आन्तरिक आश्वासन मिला कि वे इस मुकदमें से छुट जायेंगे। इस काल में जीवन दृष्टि आमूल परिवर्तित हो गई (वही पृ.सं.: 22–23)। अलीपुर जेल के एकान्त में उन्हें रहस्यात्मक आलौकिक दृश्यों व शक्तियों के दर्शन हुए थे, साथ ही कई ईश्वरीय आदेश उन्हें प्राप्त हुये जिसमे उनको सनातन धर्म के सत्य को बताया गया और मनुष्य जाति के उत्थान हेतु कार्य करने का आदेश दिया गया।

महर्षि अरविन्द ने कहा था कि इस देश का उद्धार दो मंत्र करेंगे, पहला 'वंदे मातरम्' जो 1906 में प्रकट हो गया एवं दूसरे के लिये उन्होंने कहा कि वो संजीवनी मंत्र है और वह मंत्र अधिक गुप्त और रहस्यपूर्ण है जो अभी उद्घाटित नहीं हुआ है।

आरम्भ में उन्होंने योग का अवलंबन अपने जीवन कार्य के लिये आध्यात्मिक बल और शक्ति तथा दिव्य मार्ग दर्शन प्राप्त करने के विचार से किया था, बाद में यह देश की सेवा और स्वतंत्रता के कार्य को अतिक्रम कर बहुत ऊँचे स्तर पर चला गया और एक ऐसे ध्येय में केन्द्रित हो गया जिसकी पहले केवल एक झांकी ही मिली थी और जो अपने प्रभाव में विश्वव्यापी होने के साथ–साथ मानव जाति के संपूर्ण भविष्य से संबंध रखता था (वही पृ.सं.: 27)।

जेल के बाहर आने के बाद वे "कर्मयोगिनी" पत्र से जुड़े उनके लेखों के कारण अरविन्द को सूचना मिली कि सरकार उन्हें पुनः गिरफ्तार करने का निश्चय कर चुकी है, वे इस पर विचार कर ही रहे थे कि उन्हें सहसा ऊपर से एक आदेश मिला कि वे फ्रेंच भारत

के चन्दननगर चले जायें उस भगवत आदेश की प्रेरणा से वे तुरन्त ही चन्दननगर जाने हेतु प्रस्थान कर गये। चन्दननगर में वे एकांत ध्यान में डूब गये और अन्य सब काम काज बन्द कर दिये।

अरविन्द 4 अप्रैल 1910 को पांडिचेरी पहुँच गये। पांडिचेरी आते ही वे योगाभ्यास में अधिकाधिक तल्लीन होते गये एवं किसी भी सार्वजनिक राजनीतिक कार्य में भाग लेना उन्होंने बंद कर दिया। अरविन्द ने योग अपने आप ही बिना किसी गुरु के शुरु किया था प्रारम्भ में उनका योग केवल प्राणायाम तक ही सीमित था। वे गुरु की खोज में थे इसी दौरान एक नागा सन्यासी ब्रह्मानन्द आदि से मिले इसी समय वे ''विष्णु भास्कर लेले'' से मिले एवं लेले ही उनके सहायक गुरु बने (वही पृ.सं.: 35–36)। लेले के साथ वे 3 दिन तक एकांत कमरे में इकट्ठे रहे। तब से अरविन्द का योग एक ऐसी दिशा में मुड़ गया जिसका कि उन्हें पहले से अनुमान तक न था, एक ही बार में अरविन्द वहाँ जा पहुँचे जिसे बौद्धों ने निर्वाण, हिन्दूओं ने परब्रह्म एवं चीन निवासियों ने ताओ कहा है। वे उस सुविख्यात 'मुक्ति' में जा निकले जिसे आध्यात्मिक जीवन का 'सर्वोच्च शिखर' माना जाता है एवं भारतीय दर्शन के अनुसार जागृत कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगमन करती हुई साधक को समत्व बोध तक विकसित कर देती है इसी को भारतीय दर्शन जीवन मुक्त होने की संज्ञा देता है अरविन्द ने इसे "पार्थिव – अमरत्व" की संज्ञा दी है।

अरविन्द ने कहा भारत, जीवन के सामने योग का आदर्श रखने के लिये उठ रहा है वह 'योग' के द्वारा ही सच्ची स्वाधीनता, एकता और महानता प्राप्त करेगा और योग के द्वारा ही उसका रक्षण करेगा। उनका दर्शनशास्त्र भारतीय व पाश्चात्य विचारधारा का समन्वय है। इनका यह विश्वास था कि भारतीय अध्यात्मवाद और यूरोपिय लौकिकवाद व भौतिकवाद के बीच उचित व व्यावहारिक सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ऐसा हो जाने पर वह केवल भारत के लिए ही नहीं, समग्र संसार के लिए कल्याणकारी व क्रांतिकारी होगा। इस पूर्व पश्चिम के समन्वय के फलस्वरूप जिस नवीन विचारधारा या दर्शन का जन्म होगा उसमें स्वभावतः ही पदार्थ (भूत, द्रव्य) तथा आत्मा या परमात्मा दोनों के महत्व को स्वीकार किया जाएगा।

अरविन्द के अनुसार परम सत् एक आध्यात्मिक तत्व है, वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनुभवतीत, और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है, अपितु उसमें गतिशीलता, उद्विकास तथा एक से अनेक में परिवर्तित होने के गुण मौजूद रहते हैं। ब्रह्मण्ड के विकास हेतु आत्मा अपनी चेतना को स्वतः ही समाप्त व सीमित करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है इसी

से ही विकास का क्रम आरम्भ होता है। उत्तरोत्तर द्रव्य, जीवन तथा मन का विकास होता है।

अरविन्द ने लिखा है "हम देखते हैं कि भारत में संन्यासवाद के आदर्श का प्रतिपादन करने वालों ने वेदान्त के सूत्र "एक ही है दूसरा नहीं" (वह सब कुछ ब्रह्म है) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की ओर समुचित ध्यान नहीं किया है। एक ओर जहां मनुष्य में ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त करने की उत्कृष्ट आकांक्षा दिखाई देती है। वहीं दूसरी ओर परमात्मा में भी अपनी अभिव्यक्ति को अपने में शाश्वत रूप में समेटने के उद्देश्य से नीचे की ओर उतरने की प्रवत्ति भी स्पष्ट देखने को मिलती है। इन दोनों बातों को समुचित ढ़ंग से परस्पर संबंध करने का प्रयास हमने अब तक नहीं किया है। अर्थात् पदार्थ में निहित ब्रह्म शक्ति की वास्तविकता को उतनी अच्छी तरह नहीं समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्मा में निहित सत्य (या परमात्मा) का साक्षात्कार कर लिया गया।

अरविन्द ने कहा कि आत्मनिष्ठावादी युग के स्थान पर आध्यात्मिक युग आना चाहिये क्योंकि इस युग के आने पर महान आत्मा (जो परमात्मा का ही शाश्वत अंश है) की सम्पूर्ण शक्तियां मानव विकास का पथ प्रदर्शन करेंगी। पांडेचरी आश्रम (श्री अरविन्द आश्रम) की स्थापना कर उन्होनें अपना सम्पूर्ण जीवन योग साधना में लगा दिया, इनके कई ग्रन्थ हैं जिसमें प्रमुख है–

-The Life Divine

-The Mystery Of Gita

-Human Cycle

-The Synthesis Of Yoga

-Savitri (वही पृ.सं.: 38)।

रवीन्द्र ने अपनी पुस्तक "लाल कमल" में लिखा है कि 24 नवम्बर 1926 वह ऐतिहासिक दिवस या जिसे आश्रम के इतिहास में माता और अरविन्द के जन्मदिन के बराबर महत्वपूर्ण माना जाता है इसका संक्षिप्त–सा वर्णन पुराणी से सुनिये जो स्वंय वहाँ उपस्थित थे।

"एकदम स्तब्ध नीरवता छाई हुई थी कइयों ने उपर से उतरने हुए प्रकाश के सागर को देखा। सभी उपस्थित लोगों ने सिर के ऊपर एक दबाव महसूस किया। सारा वातावरण मानो बिजली की ऊर्जा से भरा हुआ था" उस नीरवता में ही दत्ता (एक अंग्रेज शिष्या) ने अन्तः प्रेरणा में आकर घोषणा की" आज प्रभु भौतिक तत्व में अवतरित हुए हैं।"

अक्टूबर 1935 में अरविन्द में इस अवसर के बारे में लिखा था कि थी कि "24 नवम्बर 1926 को श्री कृष्ण का पृथ्वी पर अवतरण हुआ था, श्री कृष्ण के अवतरण का अर्थ है अधिमानसिक देव का अवतरण, जो जगत को अतिमानस और आनन्द के लिये तैयार करता है। श्री कृष्ण आनन्दमय है वे अतिमानस को अपने आनन्द की ओर उद्‌बुद्ध करके विकास का सर्मथन और संचालन करते हैं।"

24 नवम्बर 1926 के पश्चात अरविन्द ने अपने को आश्रम एवं बाह्य कार्य से पूर्णतया खींच लिया एवं अपने ईश्वरीय कार्य में पूर्णतः केन्द्रित हो गये।

महर्षि अरविन्द ने कहा है कि Man is a transitional being, he is not final, but he will be. साथ ही उन्होनें कहा कि आगामी मानव जाति दिव्य शरीर धारण करेगी।

अरविन्द ने मानस की नीरवता, चेतना के अनेक स्तरों, अतिचेतन, चेतना का आरोहण, अतिमानसिक चेतना एवं भविष्य में मनुष्य में होने वाले दिव्य रूपान्तरण की संभावना पर भी विस्तार से अपनी पुस्तकों में उल्लेख किया हैं।

5 दिसम्बर 1950 को अरविन्द ने अपना शरीर त्याग दिया एवं श्री माँ ने उनका कार्य जारी रखा (रवीन्द्र 1994: 53–54)।

मुक्तानंद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

मुक्तानंद का जन्म दक्षिण भारत के कर्नाटक राज्य के मंगलौर नगर के पास धर्म स्थल गाँव में सन् 1908 में हुआ। उनके बचपन का नाम कृष्णराव था। शैशवकाल से ही उन्हें संतो के चरित्र सुनने की प्यास थी, उन्हें सत्संग की लालसा थी। उन्हें एक ही लगन थी, भगवान को पाना है अतः 15 वर्ष की आयु में उन्होंने घर त्याग दिया और अपनी ही खोज में निकल पड़े।

पहला पड़ाव सिद्धरुढ़ स्वामी का आश्रम था जहाँ उन्होंने सन्यास एवं 'स्वामी मुक्तानंद' नाम ग्रहण किया उन्होंने सिद्धरुढ़ के सानिध्य में हुबली के संस्कृत वेदान्त और योग की विभिन्न शाखाओं को सीखा एवं दशानामी संम्प्रदाय में सन्यास की दीक्षा ली। सिद्धरुढ़ के स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् मुक्तानंद अगले तीस वर्षों तक सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करते रहे और साठ से अधिक सन्तों से मिले। वे उनकी आत्मशुद्धि कठोर तपस्या व परीक्षा के दिन थे। आत्म साक्षात्कार की लगन दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही गई।

यात्रा के दौरन 1947 में मुक्तानंद गणेशपुरी में भगवान नित्यानंद की शरण में आये जिनका क्षणिक दर्शन वे एक बार शैशवकाल में पा चुके थे।

15 अगस्त 1947 को प्रातकालः भगवान नित्यानंद की अनुग्रहकारिणी शक्ति ने मुक्तानंद पर दिव्य शक्तिपात किया। मुक्तानंद प्रायः यह कहा करते थे कि उनकी आध्यात्मिक यात्रा वास्तव में तब तक शुरु नहीं हुई जब तक उन्होंने शक्तिपात प्राप्त नहीं किया।

बाहरी यात्राऐं समाप्त हो गईं और वे एक आन्तरिक दिव्य यात्रा पर चल पड़े, वर्षों तक अनेक आलौकिक अनुभव और अकल्पनीय, इन्द्रियातीत अनुभूतियाँ उन्हें आत्म साक्षात्कार के द्वार पर ले आयीं और सन् 1956 में उन्होंने साधना का अन्तिम चरण पूरा किया। दूर अपने कक्ष में बैठे सर्वज्ञ, भगवान नित्यानंद हर्षातिरेक में उठ कर नाचने लगे " मुक्तानंद परब्रह्म हो गया (मुकर्जी 1999)"।

सन् 1961 में महासमाधि लेने से पहले भगवान नित्यानंद ने मुक्तानंद को अपनी महान विभूतिपूर्ण आध्यात्मिक शक्ति एवं सिद्ध परम्परा का अधिकार प्रदान किया।

सन् 1970 में मुक्तानंद ने पहली विदेश यात्रा की और एक महान क्रांति का सूत्रपात किया। बाबा मुक्तानंद अतुलनीय साधना के धनी थे। साथ ही उन्हें गुरु के आदेशों की शक्ति प्राप्त थी। उनका प्रत्येक शब्द, विचार और कर्म गुरु की आज्ञा का पालन था।

2 अक्टूबर 1982 को बाबा ब्रह्मलीन हुऐ। मुक्तानंद ने ' चितशक्ति विलास ' नामक अपनी आध्यात्मिक आत्मकथा को सोमवार 12 मई 1969 को महावलेश्वर में श्री आनन्द भवन में लिखना आरम्भ किया।

मुक्तानंद ने परमार्थ प्रकाश, सत्य की ओर, गुरुतत्व सार, कुण्डलिनी–जीवन का रहस्य नामक पुस्तकें एवं कुण्डलिनी शक्ति, वेदान्त, कश्मीरी शैविज्म पर कई और पुस्तकें भी लिखीं।

- **मुक्तानंद की अनुभूतियाँ**

1. **दिव्य दीक्षा**– ये अनुभूतियाँ मुक्तानंद ने चितशक्ति विलास नामक अपनी आध्यात्मिक आत्माकथा में लिखी हैं। 15 अगस्त 1947 के दिन गुरुदेव नित्यानन्द

बाहर आये और मेरे सामने बार–बार खड़े होकर जोर से "हूँ" की आवाज निकालते रहे, ऐसे करीब 1 घंटा बीत गया, फिर गुरुदेव ने मेरे अंगो से अपने अंग सटा लिये और मैं नेत्र खोलकर देखने लगा, देखा कि गुरुदेव के शाम्भवी मुद्रा में पूरे खुले हुए नेत्र मेरे नेत्रों में एकाकार हो गये थे, उनकी आँखों के मध्य बिन्दु से ज्योति किरण मेरे अन्दर प्रवेश कर रही थी, किरण अखण्ड थी उसमें दिव्य चमक थी। कभी उसका रंग अग्नि से तप्त स्वर्णकान्ति जैसा था, कभी केसर जैसा, कभी चमकते हुये नक्षत्र से ज्यादा तेजयुक्त गहरे नीले रंग का। उस तेजोमय किरणों को अपने अन्दर प्रवेश होते हुये देख में स्तब्ध, स्थिर हो गया। पूरा शरीर जड़ हो गया (परमहंस 1970: 15)।

2. **मन की स्थिति**– ध्यान में अनेक प्रकार के भाव आते थे। कभी लाल ज्योति जलते देखता। पहले दिन जो मुझे प्रलयादि अनन्त दृश्य दिखे और ज्योति का दिव्य तेज दिखा, उनके बारे में उस समय मुझे कुछ जानकारी नहीं थी। बाद में मालूम हुआ कि ये सब 'शक्तिपात' की प्रक्रियाएँ थीं (वही पृ.सं.: 73)।
3. **रक्तेश्वरी**– ध्यान चढ़ जाता। ध्यान चढ़ते – चढ़ते चम चम करती पूर्व की रोशनी गायब हो जाती और मेरे ही आकार की लाल रंग की ज्योति मुझे घेर कर अंदर बाहर व्याप्त हो कर स्थिर रहती। ध्यान करते–करते शरीर कभी हिलता या डुलता कभी अंगों की क्रियाऐं भी होती। नाना प्रकार के आसन स्वतः ही होते कभी मेंढ़क की तरह उछल–कूद करता।
4. **तन्द्रालोक**– मैं बैठे–बैठे तन्द्रालोक में चला जाता। वहाँ निद्रा जैसा लगने पर भी वह मेरे रोज की निद्रावस्था का स्थान नहीं था। कारण यह कि हर रोज़ जब मैं निद्रा से प्रातः उठता तब इतनी मस्तीभरी अनुभूतियाँ नहीं होती थीं, कोई दृष्टान्त भी नहीं होता था। परन्तु ध्यान–तन्द्रा में यदि दृष्टान्त होता तो वह पूर्ण सत्य हो जाता। उसमें मैं कोई आगामी घटना देखता तो वह वैसे ही घटती। किसी को आते देखता तो वह आ ही जाता था।

   ध्यान में कभी देवस्थनों, मूतियों के दर्शन होते, एक सात्विक नशा सा चढ़ा रहता था। ध्यान में ही शरीर कभी सर्पाकार हो कर लोट पोट करता अन्दर से फुँफकार का शब्द भी निकलता। कभी गर्दन इतनी हिलती कि चट–चट की आवाज आती और कभी गर्दन अत्यधिक तेजी से हिलती कि कन्धे से भी पीछे चली जाती थी। गर्दन घूमते– घूमते ठोड़ी के नीचे, गले के कण्ठकूप में दबाव के साथ जा लगती थी और इस प्रकार एक दिव्य हठ योगिक बंध (जालंधर बंध) हो जाता था। इसके

साथ ही नीचे गुदा में ऐसी क्रिया होती जो अपने आप कुछ ना करते हुए बन्द हो जाती, फिर खुल जाती। ध्यान में शरीर की नाड़ियाँ दिखाई देती थीं। ये सभी क्रियाऐं अपने आप होती थीं। कभी लोहार की धोंकनी की भाँति श्वास–प्रश्वास आता जाता था (वही पृ.सं.: 91–92)।

5. **योगिक क्रियाएँ**– शक्तिपात के पश्चात् किस प्रकार की कैसी–कैसी योगिक क्रियाएँ होती हैं और क्या–क्या अनुभव होते हैं, इसका ज्ञान नहीं था। रोज नई–नई क्रियाऐं ध्यान के दौरान स्वतः ही होती थीं। ध्यान में मूलबंध (गुदा का संकुचन), उड्डियान बंध (नाभि का पीछे की ओर खिंचना), जालंधर बंध (ठोड़ी का कण्ठकूप पर जोर से दबाव डालना) उपरोक्त तीनों बंधों के साथ ही ध्यान में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली मुद्रा इत्यादि स्वतः ही हुआ करती थीं। इसी प्रकार अनेक प्रकार के प्राणयाम होने लगे, कभी मुँह किंचित् भुजंगिनी मुद्रा में फैला कर वायुपान करता। कभी जिव्हा ऊपर तालु में लग जाती और कुम्भक हो जाता। इस नभोमुद्रा से रोग नष्ट होते हैं और जिव्हा कपाल–कुहर में प्रवेश करने योग्य होती है आगे खेचरी मुद्रा की क्रिया होती है। किसी समय जिव्हा को काक की चोंच के समान बना कर वायु अन्दर की ओर खींच लेते, यह काकी या शीतली मुद्रा कहलाती है।

   कभी–2 ध्यान में इतनी सिंह गर्जना करता था कि लोग दौड़े चले आते थे। कभी नृत्य का मन होता था एक और महापुरुष जिप्रुअण्णा के सम्पर्क से कई प्रश्नों का उत्तर मिला। श्वेत ज्योति भी दिखने लगी और अनेक क्रियाऐं बदल–बदल कर होती थीं। शरीर पतला होने लगा। लेकिन उसकी ताकत बढ़ गई। कभी बुखार आता या सर्दी होती या अतिसार होता तो ये सब बीमारी तुरन्त ही स्वतः ही मिट जाती थीं। ध्यान करते–करते रोग मिट जाता था। ध्यान में ही दिव्य नयन भी प्राप्त हो जाता था जिससे सारा ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्ष देखता था, कभी मुद्रा लगती थी (वही पृ.सं.: 97–104)।

6. **श्वेतेश्वरी–** रक्तेश्वरी के पश्चात् पूर्ण श्वेतेश्वरी का ध्यान होने लगा ये पूरी अंगुष्ठ जितनी सामने आकर खड़ी हो जाती थी थी (वही पृ.सं.: 121–123)।

7. **कृष्णेश्वरी–** श्वेत ध्यान के बाद अब कृष्ण ध्यान शुरु हो गया कृष्ण रंग की ज्योति अंगुली के अग्र भाग जितनी दिखने लगी।

8. **सर्पदंश–** ध्यान में ही एक बार काले नाग ने तीव्र वेग से आकर मुझे दंश मारा। बाद में पता चला कि सिद्धयोग मार्ग में यह अभय चिह्न एवं दृष्टान्त है।

9. **बिन्दु–भेद–** अब दोनों आँखों की पुतलियाँ समान हो गई। दोनों आँखों से एक ही वस्तु दिखनी शुरु हो गई। इसे शास्त्रों में 'बिन्दु–भेद' कहते हैं। तदन्तर आँखों में नीला प्रकाश का उदय हुआ। यह शाम्भवी मुद्रा होने की पूर्व तैयारी है। इस दौरान मेरी आँखों की पुतलियाँ बड़े वेग से उल्टी–सुल्टी, ऊपर–नीचे फिरती रहतीं। ऐसा लगता था कि मेरी आँखें बाहर निकल जायेंगी। इसी दौरान एक तिल के आकार का छोटा सा, अत्यन्त तेजोमय नील बिन्दु आँखों में से बिजली के वेग के समान निकल कर पुनः अन्दर चला गया। यह एक गुप्त, रहस्यमयी, आश्चर्यमयी क्रिया थी। छोटा सा नील बिन्दु क्षण में सम्पूर्ण दिशाओं को चमका देता था। इसी दौरान अब ध्यान में नीलेश्वरी भी दिखाई देने लगी।

10. **लोक दर्शन–** स्वर्ग, नरक, इन्द्रलोक, नागलोक इत्यादि भी ध्यान में दिखे और वहाँ के देवताओं के दशर्न हुये तब मुझे शास्त्रों में पूर्ण श्रद्धा होने लगी कि उनमें बताया हुआ बिल्कुल सत्य है।

11. **प्रतीक दर्शन**– ध्यान में रक्तेश्वरी से श्वेतेश्वरी फिर कृष्णेश्वरी एवं नीलेश्वरी के उदय होने पर में स्वयं को अपने सामने बैठा हुआ देखने लगा। आँखें खुल जाने पर भी में अपने को सामने देखता गुरुदेव ने इसे प्रतीक दर्शन बतलाया (वही पृ.सं.: 139–153)।

ध्यान में मेरे कर्णमूल में दिव्य संगीत की ध्वनियाँ आने लगीं जिसको "नाद" कहा जाता है गुरुदेव ने बताया कि ये नाद कर्ण में ना होकर अन्तराकाश में होता है। इस नाद के सहारे ही ध्यानयोगी और ज्ञानीजन अपने मूल स्थान का पता लगाते हैं। ज्ञानेश्वर कहा है – नादाचिए पैलतीरीं, तुरीयाचिये माझें घर।

अर्थाथ नाद के उस पार मेरा तुरियारुपी घर है।

ध्यान में दिखने वाला तिल जितना छोटा बिन्दु वह आत्मा का घर है उसके अन्दर परमेश्वर है। वह पूर्णरुप आत्मदेव है। यदि बिन्दु का दर्शन हुआ तो समझना कि साधक की अन्तरात्मा उसी के अन्दर है (वही पृ.सं.: 159–162)।

ध्यान में ही अनेक दिव्य गन्धें आती थीं यह गन्ध इतने उच्च कोटि की होती है कि कोई भी सांसारिक सुगन्ध उसके सामने फीकी पड़ जाती है। इसी दौरान सहज में ही विशेष प्रकार का प्राणायाम अपने आप होता था।

ध्यान के दौरान ही सिद्धलोक के दर्शन हुये जहाँ असंख्य सिद्धों को तन्मय होकर अपने ध्यान में मग्न देखा। ध्यान में ही पितृलोक को देखा। पितृलोक में अनेक प्रकार के पितर हैं जो हम सबके पूर्वज हैं (वही पृ.सं.: 166–167)।

12. नादलोक– ध्यान में एक नया स्थान प्राप्त हुआ। उस स्थान का नाम है नादलोक। नाद अनेक प्रकार के हैं। मेघगर्जन, वीणा जैसी मधुर झंकार, चिन–चिन, चिंचिण, भ्रमर, मधुमक्खी की आवाज, घण्टा, शंख, वीणा, करताल, वंशी, मृदंग, भेरी ऐसे दस नाद सुनता था। इसी नादानुसन्धान के समय में एक नृत्य कला उदित हो जाती है। साधक नाचने लग जाता है। मैं भी कभी–कभी रात्रि में ऊपर पहाड़ पर जाकर घण्टों तक नाचता था (वही पृ.सं.: 177–185)। तदन्तर अन्तिम नाद सुना, जिसका नाम है मेघनाद। यह महान दिव्य नाद है। यह योगियों की अपनी इष्टपूर्ति कर देने वाली कामधेनु है। इसके श्रवण में ऊर्ध्वाकाश धमक उठता है। थोड़े दिन के लिए उस दिव्य ध्वनि की गड़गड़ाहट के कारण साधक को होश नहीं रहता, क्योंकि योग का लक्ष्य 'समाधि' को प्राप्त करा देने वाला यह नाद है। इस मेघनाद में से ही योगी को उद्गीथ नाद यानी ॐ कार का नाद सुनायी देता है। तब पता लगता है कि ॐ कार स्वयंस्फुरित है। यह किसी महन्त का रचा हुआ नहीं है यह स्वयं भू नाद है। यह सहस्त्रार के ऊर्ध्वाकाश में सहज ही स्फुरता है। यह स्वयंस्फुरित है, किसी प्ररेणा से स्फुरित नहीं है। इस नाद का उदय होते ही योगी बड़ी मस्ती में आ जाता है।

13. नील पुरुष के दर्शन यानी सगुण साक्षात्कार– सहस्त्रार में गड़गड़ाहट करती हुई गर्जना होने लगी फिर एक महान चमत्कार का उदय हुआ। वह महातेजस्वी नीलबिन्दु अन्तरंग की अनन्त प्रकार की तेजयुक्त किरणों सहित मेरे समीप आते ही बढ़ने लगा। वह मेरे सामने अण्डाकृत होकर मनुष्य के आकार में बढ़ता चला। फिर उसका तेज कम होता चला गया। देखा कि उसमें एक नील मनुष्य है। उसका शरीर सप्तधातुओं के रसवीर्यों का बना हुआ नहीं था।

वह तो जिस नीलपुंज का 'चिन्मय अंजन' कह कर तुकाराम महाराज ने वर्णन किया है, वह नील पुरुष मेरे सामने आकार बोला" हमें सब ओर से दिखाई देता है। आँखों से भी दिखाई देता है। नाक से भी दिखाई देता है। हमें पांव से भी दिखता है हमारे सर्वत्र चक्षु हैं।"

मेरे सर्वत्र जिव्हाऐं हैं मैं जिव्हा के साथ हाथ, पांव से भी बोलता हूँ। मेरे सर्वत्र कान हैं। मैं सर्वांग से सुन सकता हूँ। मैं पांव से भी चलता हूँ और सिर से भी। मैं एक क्षण में कितनी भी दूर जा सकता हूँ। पाँव बिना चलता हूँ, हाथ बिना पकड़ता हूँ, जिव्हा बिना बोलता हूँ, आँखें बिना देखता हूँ। दूर से दूर होते हुए भी

बहुत नजदीक रहता हूँ और सभी शरीरों मे शरीर होकर रहते हुऐ भी शरीर से भिन्न रहता हूँ।

मेरे देखते–देखते वह नील अण्डा, जो छः फुट तक बड़ा था, अब सिकुड़ने लगा। छोटा और छोटा होता गया। छोटा होते–होते वह नीलेश्वरी हो गया। वह मेरी नील ज्योति यानी नीलबिन्दु हो गया। मैं अत्यन्त विस्मित था। अन्तर में महान आनन्द था। श्री गुरुदेव भगवान नित्यानन्द की कृपा का, परमेश्वरी श्री चिति कुण्डलिनी का परम स्मरण होते ही मैं तन्द्रालोक में चला गया। तन्द्रालोक में जाते ही वहाँ समझ में आया कि ये ही वे नीलपुरुष हैं जिनको सगुण साक्षत्कार के दाता बोलते हैं। इनको अव्यक्त महापुरुष भी कहते हैं। वह महापुरुष कुछ आशीर्वाद दे कर जिस नील से आया था उसी नील में चला गया। ऐसा होते ही ध्यानोत्थान हो गया।

मेरे मन में यह निश्चय हुआ कि वह गीता के तेरहवें अध्याय में वर्णन किया हुआ दिव्य पुरुष था–

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

अर्थात् जिसके सर्वत्र हाथ और पाँव हैं, जिसके सर्वत्र आँखें, सिर और मुख हैं, जो सभी को जान कर, सबको आवृत करके स्थित है (वही पृ.सं.: 192–196)।

मुक्तानन्द कहते हैं कि सिद्धयोग का मार्ग पूर्ण गुरुकृपा के बिना खुलता ही नहीं। सिद्धयोग में साधक को गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, सर्मपण और गुरु आज्ञा का पालन करना चाहिये। कितनी भी भक्ति करो, तप करो या ध्यान करो, योग की अनन्त क्रियाऐं भी होती रहें, फिर भी बिना गुरुकृपा के ये मार्ग खुलना कठिन है इसका तो केवल एक ही उपाय है– गुरुकृपा एवं गुरु आज्ञा का पालन "गुरुकृपा हि केवलम। गुरोराज्ञा हि साधनम।" शक्तिपात एवं कुण्डलिनी महायोग या सिद्धयोग में गुरुकृपा ही तरणोपाय है सिद्धयोग का साधक शब्द के अर्थ का अनर्थ करके, गुरु आज्ञापालन में आलस्य, प्रमाद, अल्प श्रद्धा, गुरु में दोष दर्शन करता है तो उसकी शक्ति कालान्तर में नष्ट हो जाती है (वही पृ.सं.: 201–203)।

रामदेव : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

रामदेव एक भारतीय योग गुरु हैं जिन्हें अधिकांश लोग बाबा रामदेव के नाम से ही जानते हैं। रामदेव को पतंजलि ऋषि एवं उनके अष्टांग योग की जानकारी घर घर तक पहुँचाने का श्रेय जाता है। उन्होंने आम आदमी को योगासन व प्राणायाम की सरल विधियाँ बताकर योग के क्षेत्र में अदभुत क्रांति की है। पतंजलि के अष्टांग योग के माध्यम से जो देशव्यापी स्वास्थ्य जागरूकता एवं योग के प्रचार प्रसार का जन जागरण अभियान इस सन्यासी ने प्रारम्भ किया, उसका सर्वत्र स्वागत हुआ। रामदेव ने भ्रष्टाचार को मिटाने के लिये भी मुहिम चलाई।

- **जीवन चरित्र**

भारत के हरियाणा राज्य के महेन्द्रगढ जनपद स्थित अली सैयदपुर नामक एक साधारण से गाँव में 11 जनवरी 1971 को गुलाबी देवी एवं रामनिवास यादव के घर जन्मे रामदेव का वास्तविक नाम रामकृष्ण था। बालक रामकृष्ण जब 9 वर्ष के थे, कमरे में लगे क्रान्तिकारी रामप्रसाद 'बिस्मिल' व स्वतंत्रता सेनानी सुभाषचन्द्र बोस के चित्र टकटकी लगाकर घण्टों देखते और मन में विचार किया करते कि जब ये अपने पुरुषार्थ से युवकों के आदर्श बन सकते हैं तो वह क्यों नहीं बन सकते ?

इसका खुलासा 20 फरवरी 2011 को बेड़िया कम्युनिटी हाल डिब्रगूढ़ असम में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में रामदेव ने स्वयं किया था। बचपन में जागृत वह क्रान्तिकारी स्वरुप, बाबा के आचरण में आज प्रत्यक्ष सबको दिखायी दे रहा है। समीपवर्ती गाँव शहजादपुर के सरकारी स्कुल से आठवीं कक्षा तक पढाई पूरी करने के बाद रामकृष्ण ने खानपुर गाँव के एक गुरुकुल में आचार्य प्रद्युम्न व योगाचार्य बल्देव से संस्कृत व योग की शिक्षा ली। रामदेव ने सन् 1995 से योग को लोकप्रिय और सर्वसुलभ बनाने के लिये अथक् परिश्रम करना प्रारम्भ किया। कुछ समय तक काल्वा गुरुकुल, जींद जाकर निःशुल्क योग सिखाया तत्पश्चात् हिमालय की कन्दराओं में ध्यान और धारणा का अभ्यास करने निकल गये। वहाँ से सिद्धि प्राप्त कर प्राचीन पुस्तकों व पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने हरिद्वार आकर कनखल में स्थित स्वामी शंकरदेव के कृपालु बाग आश्रम में रहने लगे। युवा सन्यासी ने कृपालु बाग आश्रम में रहते हुए स्वामी शंकरदेव जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों के संरक्षण में 5 जनवरी 1995 में दिव्य योग मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना की।

आचार्य बालकृष्ण के साथ उन्होंने "दिव्य फार्मेसी" नाम से आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण कार्य भी आरम्भ कर दिया। तभी संयोग से एक चमत्कार और हुआ। अरविन्द घोष की मूल बाँग्ला पुस्तक "योगिक साधना" हिन्दी में छपकर पुस्तकालय में आ गयी। रामदेव ने इस छोटी सी 36 पन्ने की पुस्तक को पढ़ा और मन में संकल्प सिद्ध करके योग–साधना व योग–चिकित्सा शिविरों के माध्यम से योग व आयुर्वेदिक क्रान्ति का ऐसा शंखनाद, बिस्मिल व बोस की जन्मसदी वर्ष 1997 में किया कि वह सचमुच महाभारत के पांचजन्य का उद्घोष हो गया। रामदेव ने सन् 2003 से "योग सन्देश" पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया जो आज 11 भाषाओं में प्रकाशित होकर एक कीर्तिमान स्थापित कर चुकी है। इस समय बाबा रामदेव के पतंजलि योग पीठ (ट्रस्ट), भारत स्वाभिमान (ट्रस्ट), पतंजलि ग्रामोद्योग (ट्रस्ट), पतंजलि रिसर्च फाउण्डेशन (ट्रस्ट), तथा दिव्य फार्मेसी, पतंजलि आयुर्वेद, पतंजलि विश्वविद्यालय, पतंजलि आयुर्वेद कॉलेज, गोशाला, योग ग्राम, वानप्रस्थाश्रम, पतंजलि चिकित्सालय, आरोग्य केन्द्र, स्वदेशी केन्द्र, दिव्य प्रकाशन आदि प्रमुख सेवा प्रकल्प हैं। इसके अलावा पतंजलि योग समिति, महिला पतंजलि योग समिति, भारत का स्वाभिमान, युवा भारत व किसान पंचायत जैसे संगठन पूरे देश में जन जागरण का कार्य कर रहे हैं।

रामदेव के प्रमुख कार्य

रामदेव ने सन् 2006 में महर्षि दयानन्द ग्राम हरिद्वार में पतंजलि योगपीठ ट्रस्ट के अतिरिक्त अत्याधुनिक औषधि निर्माण इकाई पतंजलि आयुर्वेद लिमिटेड नाम के दो सेवा

प्रकल्प स्थापित किये। इन सेवा प्रकल्पों के माध्यम से बाबा रामदेव योग, प्राणायाम, अध्यात्म आदि के साथ–साथ वैदिक शिक्षा व आयुर्वेद का भी प्रचार प्रसार कर रहे हैं। उनके प्रवचन विभिन्न टी.वी. चैनलों जैसे आस्था, नेटवर्क, सहारा वन, तथा इण्डिया टी.वी. पर प्रसारित होते हैं। अमेरिका, इंग्लैंड, व चीन सहित विश्व के 120 देशों की लगभग 100 करोड़ से अधिक जनता टी. वी. चैनलों के माध्यम से बाबा के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों की प्रसंशक बन चुकी है और स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर रही है। रामदेव प्रत्येक समस्या का समाधान योग एवं प्राणायाम ही बताते हैं।

सम्पूर्ण भारत में भ्रष्टाचार को समाप्त करने के साथ–साथ एवं यहाँ के मेहनतकशों के खून पसीने की गाढ़ी कमाई को देश के राजनीतिक लुटेरों द्वारा विदेशी बैंकों में जमा करने के खिलाफ उन्होंने व्यापक जनआन्दोलन छेड़ रखा है। इटली व स्विटजरलैण्ड के बैंकों में जमा "कालेधन" को स्वदेश वापस लाने की माँग करते हुए बाबा ने आम जनता में जाग्रति लाने हेतु पूरे भारत की एक लाख किलोमीटर की यात्रा भी की। यात्रा के दौरान उन्होंने अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद की पुण्य तिथि (27 फरवरी 2011) को दिल्ली में भ्रष्टाचार के विरुद्ध विशाल रैली का आयोजन किया। जिसमें भारी संख्या में देश की जागरुक जनता ने पहुँचकर उन्हें अपना समर्थन दिया और कई करोड़ लोगों के हस्ताक्षरयुक्त मेमोरेण्डम भी सौंपा जिसे बाबा ने उसी दिन राष्ट्रपति सचिवालय तक पहुँचाया।

- **प्राणायाम, योगासान व व्यायाम**

रामदेव अपने योग शिविरों में निम्नलिखित आठ प्रकार के प्राणायाम सिखाते हैं–

1. आभ्यन्तर 2. भ्रस्त्रिका 3. कपाल–भाति 4. अनुलोम–विलोम 5. बाह्य 6. उज्जायी 7. भ्रामरी 8. उद्गीथ

1. आभ्यन्तर

प्राणायाम से प्राणवायु अर्थात ऑक्सीजन को फेफड़ों में रोककर रक्त को शुद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। जितनी देर तक ऑक्सीजन फेफड़ों में रहेगी उतनी ही अधिक कोशिकाओं का निर्माण होना।

2. भ्रस्त्रिका

प्राणायाम से साँस लेने की गति नियमित होती है। एक मिनट में 12 बार साँस लेने का अभ्यास सिद्ध कर लेने से कोई भी व्यक्ति 100 वर्ष तक जीवित रह सकता है।

3. कपाल–भाति

प्राणायाम में फेफड़ों से श्वास को बाहर धकेलने का अभ्यास करवाया जाता है ऐसा करने से मानव शरीर के सभी आन्तरिक अंग रोगमुक्त हो जाते हैं तथा प्राणायाम करने वाले के मस्तक (कपाल) पर चमक (भाति) आ जाती है।

4. अनुलोम विलोम

प्राणायाम में नाक के दोनो छिद्रों में अदल– बदल कर साँस लेने का अभ्यास कराया जाता है। अनुलोम–विलोम को नियमित करने से व्यक्ति की एकाग्रता, रचनात्मकता बढ़ती है एवं डायबिटीज और कोलेस्ट्रोल के नियंत्रण में लाभप्रद है।

5. बाह्य

प्राणायाम में फेफड़ों से साँस को पूरी तरह बाहर निकाल कर 7 सेकंड तक अन्दर न आने का अभ्यास कराया जाता है बाह्य प्राणायाम नियमित करने वाले की हृदय गति रुक भी जाये तो उसकी मृत्यु एक दम नहीं हो सकती, कुछ समय अवश्य लगेगा।

6. उज्जायी

प्राणायाम में कण्ठ की नली से साँस को अन्दर खींचने का अभ्यास कराया जाता है। इसे प्रतिदिन नियमित करने वालों को कण्ठ का कोई भी रोग नहीं होता।

7. भ्रामरी

प्राणायाम में दोनों कान को दोनों अँगूठों से पूरी तरह बन्द रखते हुए तर्जनी माथे पर, मध्यमा दोनों आँखों पर तथा अनामिका नाक के ऊपरी भाग पर रखी जाती है और अन्दर से ओम् कार की ध्वनि ओऽओऽ ओम् ऐसे निकाली जाती है, जैसे भ्रमर आवाज करता है।

8. उद्‌गीथ

प्राणायाम इसमें आँख बन्द करके ॐ कार की ध्वनि को इस प्रकार निकालते हैं कि ओम् के पहले अक्षर ओ तथा दूसरे अक्षर म् में तीन व एक का अनुपात रहे अर्थात् ओ को 21 सेकंड तक खींचना है तो म् को 7 सेकंड लगने

चाहिये। 'ओ' का उच्चारण करते समय होंठ खुले व 'म' के उच्चारण में बन्द रहने चाहिये। इसका नियमित अभ्यास करने से आत्मा, जो प्रत्येक प्राणी में निवास करती है, परमात्मा से सीधा जुड़ जाती है (वही पृ.सं.: 294–295)।

- **सिद्धयोग द्वारा कुण्डलिनी जागरण**

इस बारे में रामदेव ने अपनी पुस्तक प्राणायाम रहस्य में कहा है कि – सिद्धयोग के अन्तर्गत कुण्डलिनी का जागरण शक्तिपात द्वारा किया जाता है। यदि कोई परम तपस्वी, साधनाशील सिद्धगुरु मिल जाये तो उसके प्रबलतम 'शक्तिसम्पात' अर्थाथ मानसिक संकल्प से शरीर में व्याप्त 'मानस–दिव्य तेज' सिमट कर ध्यान के समय ज्योति या क्रिया की धारा–सी बनकर शरीर में कार्य करने लगता है। सदगुरु के शक्तिपात से साधक को अति श्रम नहीं करना पड़ता है, उसका समय बच जाता है और साधना में सफलता भी शीघ्र प्राप्त हो जाती है। परन्तु ऐसे शक्तिपात करने वाले सिद्ध पुरुष का मिलना अत्यधिक दुर्लभ है। इस कारण बाबा रामदेव हठयोग से कुण्डलिनी जागरण की विधि सिखाते हैं (स्वामी 2005: 48)।

- **सम्मान एवं यश–प्रसार**

  - न्यूयॉर्क अमेरिका की संस्था नसाउ काउण्टी ने रामदेव को सम्मानित किया तथा 30 जून 2007 का दिन नसाउ काउण्टी में स्वामी रामदेव दिवस के रुप में मनाया गया।
  - ब्रिटिश संसद के "हाउस ऑफ कॉमन्स" में रामदेव का सम्मान किया गया।
  - ग्राफिक एरा विश्वविद्यालय द्वारा रामदेव को ऑनरेरी डॉक्ट्रेट प्रदान की गयी।
  - डी. वाई. पाटिल यूनीवर्सिटी द्वारा अप्रैल 2010 में डी.एस सी. (ऑनर्स) इन योगा की उपाधि दी गयी एवं KIIT भुवनेश्वर, बेहरामपुर विश्वविद्यालय, एमिटी विश्वविद्यालय द्वारा डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की गई।
  - जनवरी 2011 में महाराष्ट्र के राज्यपाल के. शंकरनारायण द्वारा चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती अवार्ड प्रदान किया गया। राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरूपति, आंध्र प्रदेश द्वारा "महामहोपाध्याय" की उपाधि ये सम्मानित किया गया।

- एसोचैम द्वारा "ग्लोबल नॉलेज मिलेनियम ऑनर" का सम्मान दिया गया।
- इंडिया टुडे पत्रिका एवं अन्य शीर्ष पत्रिकाओं ने लगातार उनको देश के प्रभावशाली पचास लोगों की सूची में सम्मलित किया गया।

- **अनशन का शस्त्र**

बाबा ने जब 27 फरवरी 2011 को रामलीला मैदान में जनसभा की थी तो उसमें प्रायः सभी विचारधाराओं के लोग सम्मिलित हुए थे क्योंकि रामदेव ने कह दिया था कि जो भी उनके मुद्दों से सहमत हो वह आकर मंच से अपनी बात कह सकता है किसी के लिये कोई मनाही नहीं है। उस जनसभा में स्वामी अग्निवेश के साथ–साथ अन्ना हजारे भी पहुँचे थे और दोनों ने ही भ्रष्टाचार को जड़मूल से उखाड़ फेंकने में बाबा को पूरा समर्थन प्रदान किया।

इसके बाद दिल्ली के जन्तर मन्तर पर 5 अप्रैल 2011 से अन्ना हजारे ने लोकपाल बिल लाने हेतु सत्याग्रह के साथ आमरण अनशन की घोषणा की जिसमें एक दिन के लिये रामदेव भी सम्मिलित हुए।

रामदेव ने भ्रष्टाचार को लेकर 4 जून 2011 से दिल्ली के रामलीला मैदान में अन्ना हजारे की तर्ज पर आमरण अनशन के साथ सत्याग्रह की घोषणा कर दी, लेकिन यह अभियान सरकारी दबाव के कारण सफल नहीं हो पाया (http://hi.Wikipedia.org /wiki/ रामदेव)।

संदर्भ

अरविन्द, श्री, 1995, अपने विषय में, पांडिचेरीः श्री अरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग.

गोयन्दका, हरिकृष्णदास टीकाकार, 2061 सम्वत्, पंतजलि योगदर्शन, गोरखपुरः गीता प्रेस.

Hindi.Webdunia.Com/article/yoga-article/महर्षिपतंजलि–108051400089–1.htm (accessed on 8 Septumber 2015).

https#//hi.wikipedia.org/wiki/पतज्जलि(https#//hi.wikipedia.org/s/g4v) (accessed on 8 Septumber 2015)

http://hi.wikipedia.org/wiki/रामदेव (accessed on15 May 2014)

जैन, जगदीशचन्द, 1984, भारतीय दर्शन एक नयी दृष्टि वारणासीः चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन.

मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, 1999, सामाजिक विचारधारा कॉम्टे से मुकर्जी तक, दिल्लीः विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर.

स्वामी, रामदेव, 2005, प्राणायाम रहस्य, हरिद्वार: दिव्य प्रकाशन.

परमहंस स्वामी मुक्तानंद, 1970, चितशक्ति विलास आध्यात्मिक आत्मकथा, चेनन्ईः सिद्धयोग प्रकाशक चित शक्ति पब्लिकेशन.

रवीन्द्र, 1994, लाल कमल, पांडिचेरीः श्री अरविन्द सोसायटी.

स्वामी सत्यानंद, सरस्वती, 1994, मुक्ति के चार सोपान, श्री गोपी कृष्ण केजरीवाल, बिहार योग महाविद्यालय बिहार.

स्वामी, रामदेव, 2005, प्राणायाम रहस्य, हरिद्वार, दिव्य प्रकाशन.

तीर्थ, नन्द ओमा, 1960, पतंजलि योगप्रदीप, गोरखपुरः गीता प्रेस.

www.the-comforter.org (accessed on 26 July 2014).

अध्याय–4

समकालीन समाज में योग एवं सिद्धयोग के विविध आयाम

- उत्तरदाताओं की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि
- सिद्धयोग के घटक
- सिद्धयोग की भूमिका
    - ➢ आध्यात्मिक साधना का क्षेत्र
    - ➢ चिकित्सा का क्षेत्र
    - ➢ शिक्षा का क्षेत्र

अध्याय 4

समकालीन समाज में योग एवं सिद्धयोग के विविध आयाम

यह तो स्पष्ट है कि योग एवं सिद्धयोग समाज की संरचना के ही भाग हैं तथा इनकी प्रकार्यात्मक (Functional) उपयोगिता का विश्लेषण भी किया जा सकता है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत के सन्दर्भ की चर्चा करें तो योग एवं सिद्धयोग से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाऐं व्यक्ति के द्वारा सम्पादित की जाने वाली प्रक्रियाऐं हैं। इसके साथ इनका सम्बन्ध सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संस्थाओं से है। संरचना के विभिन्न अंगों के अंतरसंबंधो के प्ररिप्रेक्ष्य में योग एवं सिद्धयोग के भाग के रूप में विभिन्न क्रियाओं के माध्यम से कर्ताओं को प्रभावित करते हैं।

मार्क अब्राहम का तर्क है कि संरचनात्मक प्रकार्यवाद अकेले पत्थर (Monolithic) की तरह नहीं है अर्थात् इसके अनेक अंग होते हैं एवं उनमें अंतरसंबंध और प्रकार्यात्मक अंतरनिर्भरता होती। अब्राहम ने संरचनात्मक प्रकार्यवाद की विस्तृत विवेचना की है (George 1992: 233)।

प्रस्तुत अध्याय में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की दृष्टि से योग एवं सिद्धयोग का विश्लेषण इसके विविध आयामों के सन्दर्भ में करने का प्रयास किया है। समाज की प्रमुख संस्थाओं और उनके अंतरसंबंधों के आधार पर योग एवं सिद्धयोग का कर्ताओं पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण विभिन्न चरों का उल्लेख करते हुए किया गया है।

योग दर्शन एक मानवतावादी सार्वभौम सम्पूर्ण जीवन दर्शन है और भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है। इस भौतिकवादी क्लेशमय जीवन में योग की सबसे अधिक आवश्यकता है। योग साधना जीवन से पलायन की प्रवृत्ति नहीं है, न ही संसार छोड़ने की विधि है योग का आधार यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में कुछ भी काम करता हुआ अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है (चतुर्वेदी 2007: 1–8)।

योग इस शरीर में आत्मा के अस्तित्व का बोध कराता है। यह रहस्यों से भरा पथ है जो तर्कों से साबित नहीं किया जा सकता यह तो शोध का विषय है (बाबाः 29)।

योग वह साधन है जो की आधुनिक जीवन शैली से उपजी समस्याओं से छुटकारा दिलाने में सहायक है।

महर्षि अरविन्द ने कहा है– " पश्चिम के लोग भौतिक जीवन को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा चुके हैं। अब एक ऐसी चीज की जरूरत है, जिसे देना उनके वश की बात नहीं है क्योंकि यह कार्य आत्मा और अन्तःचेतना की अभिवृद्धि द्वारा ही होगा, इसका प्रारम्भ भारत ही करेगा। "

भारत के भविष्य के बारे में महर्षि अरविन्द ने कहा है– "भारत विश्व के सामने "योग" का आदर्श रखने के लिये उठ रहा है वह "योग" के द्वारा ही सच्ची स्वाधीनता, एकता और महानता प्राप्त करेगा और योग द्वारा ही उसका रक्षण करेगा (सियाग 1993: 8)।

उत्तरदाता की सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि

सामाजिक अनुसंधान का एक अनिवार्य अंग अध्ययन की जाने वाली इकाई से सम्बन्धित तथ्यों का विश्लेषण करना है।

सामाजिक घटना का अध्ययन करते हुए, समाज वैज्ञानिक उन घटनाओं का केवल तथ्यात्मक अवलोकन ही नहीं करता वरन् उन घटनाओं का अन्तः सम्बन्ध, सामाजिक संरचना, आर्थिक–सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इत्यादि को ज्ञात करने का भी प्रयत्न करता है।

वस्तुतः सामाजिक अनुसंधान की एक मौलिक मान्यता यह है कि सामाजिक घटनाऐं अन्तः सम्बन्ध होती हैं और विभिन्न प्रकार के कारकों की पारस्परिक अन्तः क्रियाओं के परिणामस्वरुप सामाजिक घटनाऐं उत्पन्न होती हैं। अतः किसी भी अध्ययन की समस्या का विश्लेषण उसके विशिष्ट पृष्ठभूमि अथवा सामाजिक–आर्थिक परिवेश के संदर्भ में करना चाहिए।

सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि को महत्वपूर्ण मानते हुए प्रस्तुत अध्याय में गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग करने वाले उत्तरदाताओं की सामाजिक, आर्थिक, पृष्ठभूमि को दर्शाने वाली जानकारी का विश्लेषण किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य सिद्धयोग से लाभान्वितों का विभिन्न सामाजिक, आर्थिक चरों के सहसम्बन्ध का विश्लेषण करना है जिससे सिद्धयोग की प्रभाविकता को ज्ञात किया जा सके, संक्षेप में आयु, लिंग, धर्म, व्यवसाय, शैक्षणिक स्थिति, निवास की प्रकृति, आर्थिक स्थिति आदि की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत है।

सारणी 4.1

उत्तरदाताओं का निवास के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	निवास की प्रकृति	अध्ययन क्षेत्र तहसील	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	ग्रामीण	सांगोद	50	33.34
		दीगोद	50	33.33
2.	नगरीय	लाड़पुरा	50	33.33
3.	योग		150	100

मानव के निवास के स्थानों को कई विद्वानों ने उनकी जनसंख्या, मकानों की बसावट, प्रशासन तथा वैधानिक एवं सरकारी आधार पर कई भागों में विभक्त किया है जिसमें ग्रामीण समुदाय एवं नगरीय समुदाय आते हैं। भारत को देहातों का देश भी कहा जाता है क्योंकि 75 प्रतिशत लोग गाँव में निवास करते हैं उनका जीवन प्रकृति प्रेमी, सादगी एवं शांति वाला होता है, ऐसे समुदाय में धर्म, प्रथा, रुढ़ियों का महत्व अधिक पाया जाता है। इनमें जादू–टोना, भूत–प्रेतों, स्थानीय देवताओं का प्रभाव, ऊँच–नीच, शुद्धता–अशुद्धता के भाव विकसित होते हैं। परन्तु नगरीय समुदाय ठीक इसके विपरीत है यहाँ व्यक्तिवादिता, सामाजिक विजातीयता, सामाजिक समस्याऐं आदि होती हैं। इस प्रकार सिद्धयोग अपनाने वाले उत्तरदाताओं का चयन ग्रामीण व नगरीय पृष्ठभूमि से किया गया है, उत्तरदाताओं की पृष्ठभूमि के प्रभाव का आंकलन के लिए 100 उत्तरदाता ग्रामीण तहसील व 50 नगरीय से लिए गये हैं।

सारणी 4.2

उत्तरदाताओं का लिंग के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	लिंग	उत्तरदाताओ की संख्या	प्रतिशत
1	महिला	65	43.34
2	पुरुष	85	56.66
3	योग	150	100

प्रस्तुत शोध कार्य में सिद्धयोग से लाभन्वित कुल चयनित उत्तरदाताओं की संख्या 150 है, जिन्हें तीन तहसीलों से लिया गया है जिसके अन्तर्गत 65 महिला, एवं 85 पुरुष उत्तरदाताओं का चयन किया गया है।

सारणी 4.3

अध्ययन क्षेत्र में लिंग के आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

क्र.सं.	अध्ययन क्षेत्र(तहसील)	महिला	पुरुष	योग
1.	सांगोद(ग्रामीण)	19(38)	31(62)	50(33.34)
2.	दीगोद(ग्रामीण)	21(42)	29(58)	50(33.33)
3.	लाड़पुरा(नगरीय)	25(50)	25(50)	50(33.33)
	योग	65(43.33)	85(56.67)	150(100)
नोट :– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याएँ प्रतिशत में हैं।				

गुरु सियाग के सिद्धयोग को अपनाने वाले उत्तरदाताओं की पृष्ठभूमि ग्रामीण व नगरीय क्षेत्र से रही है। अध्ययन के लिए कोटा जिले की तीन तहसीलों के 150 उत्तरदाताओं का चयन किया गया जिनमें दो तहसील ग्रामीण पृष्ठभूमि से सम्बन्धित व एक तहसील नगरीय पृष्ठभूमि वाली है इसके अन्तर्गत 6 केस स्टडी (नगरीय क्षेत्र) का गहन अध्ययन किया गया है।

सारणी 4.4

उत्तरदाताओं का आयु के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	आयु	उत्तरदाताओ की संख्या	प्रतिशत
1	14–20 वर्ष	13	8.67
2	21–30 वर्ष	42	28
3	31–40 वर्ष	39	26
4	41–50 वर्ष	29	19.33
5	50 के ऊपर	27	18
	योग	150	100

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोणों में आयु ऐसा कारक है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से व्यक्ति को प्रभावित करता है। आयु न केवल एक जैविकीय तथ्य है अपितु यह एक सामाजिक–धार्मिक अवधारणा भी है। जैविकीय प्ररिप्रेक्ष्य में आयु–काल, अर्थ–काल आयाम पर व्यक्ति की वह स्थिति है जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति प्राप्त करता है। व्यक्ति की शारीरिक–मानसिक परिपक्वता की अभिव्यक्ति आयु द्वारा प्रकट होती है। सामाजिक व धार्मिक दृष्टिकोण से आयु का एक विशेष स्थान है। आयु के आधार पर व्यक्ति अपनी उपासना पद्धति का निर्धारण करता है। सिद्धयोग में आयु के आधार पर विशेष आयु वर्ग के उत्तरदाताओं को ही लिया गया है जो अपने बौद्धिक स्तर पर ध्यान कर सकते हैं।

सिद्धयोग अपनाने वाले उत्तरदाताओं में निदर्शन में अधिकतम (81), 21 से 40 वर्ष की आयु वर्ग के हैं जो की कुल उत्तरदाताओं (150) का 54 प्रतिशत हैं एवं सबसे कम (13) 14–20 वर्ष की आयु वर्ग के हैं जिनका 8.67 प्रतिशत रहा है एवं 50 वर्ष से ऊपर (18) के 37.33 प्रतिशत उत्तरदाता हैं। स्पष्ट है कि युवा वर्ग व गृहस्थ जीवन में सिद्धयोग के प्रति सर्वाधिक रूझान रहा है। जबकि बढ़ती (गृहस्थ जीवन के बाद) आयु पर ही लोग ईश्वरीय साधना को अपने जीवन में स्थान देते हैं।

सारणी 4.5

उत्तरदाताओं का शैक्षणिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	शैक्षिक स्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	निरक्षर	10	6.67
2	साक्षर	10	6.67
3	10वीं तक	45	30
4	डिग्री	40	26.66
5	प्रोफेशनल कॉर्स	45	30
	योग	150	100

मनुष्य के जीवन में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा औपचारिक व अनौपचारिक दोनों प्रकार की संस्थाओं से प्राप्त की जाती है। शिक्षा एक ऐसा तत्व है जिसके आधार पर परम्परागत सामाजिक संरचना (ढ़ाचे) में परिवर्तन के बारे में आशा की जा सकती है। इसके द्वारा सम्पूर्ण समाज के विचारों, मूल्यों, विश्वास, अभिप्रेरणा, आचारों, रुढ़ियों आदि में परिवर्तन लाकर समाज को परिवर्तित किया जा सकता है।

शिक्षा व्यक्ति के व्यवहार, नैतिकता, परिस्थिति को बनाऐ रखती है। इसके माध्यम से व्यक्ति में जागरूकता स्वचेतना नैतिक मूल्यों का विकास होता है। प्रस्तुत अध्ययन में शिक्षित वर्ग के साथ–2 निरक्षर उत्तरदाताओं को सम्मिलित किया गया है।

सर्वाधिक उत्तरदाता 30 प्रतिशत (45) 10वीं व 30 प्रतिशत (45) अन्य (स्नातकोत्तर, प्रोफेशनल कोर्स) तक शिक्षित हैं। न्यूनतम निरक्षर (10) 6.67 प्रतिशत हैं, जबकि स्नातक स्तर के 26.66 प्रतिशत (40) उत्तरदाता हैं। जो सारणी 4.5 से पूर्ण स्पष्ट है कि सिद्धयोग अपनाने वाले उत्तरदाताओं में निरक्षर एवं विभिन्न शिक्षा स्तर के उत्तरदाता रहे हैं अर्थात् सिद्धयोग को अपनाने में शैक्षणिक स्तर का विशेष महत्व नहीं रहा है।

सारणी 4.6

उत्तरदाताओं का व्यवसाय के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	व्यवसाय	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	कृषि	33	22
2	व्यापार	18	12
3	नौकरी	45	30
4	गृहणी	28	18.67
5	छात्र	26	17.33
	योग	150	100

समाज में जीवनयापन करने के लिए व्यवसाय का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। व्यवसाय का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाला शारीरिक या मानसिक श्रम जिससे उसको बदले में कुछ पारिश्रमिक या आय प्राप्त होती हो तथा आजीविका निर्वाह, सृजनात्मक व बौद्धिकता की तुष्टि, व्यक्तित्व का विकास, समाज में प्रतिष्ठित स्थान, धन संग्रह, आरामदायक जीवन आदि उद्देश्य की पूर्ति हो। वर्तमान में आजीविका का चयन, मात्र आवश्यकता की पूर्ति हेतु नहीं बल्कि अधिकाधिक धनोपार्जन के मूल्य पर आधारित हो गया है क्योंकि यह सामाजिक प्रतिष्ठा एवं उच्च प्रस्थिति का सूचक है। जो समाज में सामाजिक व पारिवारिक प्रतिष्ठा का सर्वोच्च मापदण्ड बन गया है।

सारणी 4.6 से स्पष्ट है कि नौकरी करने वाले उत्तरदाताओं का जुड़ाव सबसे अधिक (45) है। जो कुल उत्तरदाताओं (150) का 30 प्रतिशत है एवं ग्रामीण क्षेत्रों में भी सिद्धयोग अपनाने वाले किसानों की संख्या (33) 22 प्रतिशत है। सबसे कम (18) व्यापारी वर्ग है जो कि केवल 12 प्रतिशत है।

अर्थात शिक्षा के विस्तार व समय की महत्वपूर्णता होते हुए नौकरी करने वालों का रूझान अधिक पाया गया है क्योंकि बढ़ते तनाव, अवसाद व मशीनीकरण के युग में समय का अभाव होते हुऐ शरीर को स्वस्थ रखने के लिए वैकल्पिक पद्धति के रूप में सिद्धयोग की लोकप्रियता अधिक बढ़ रही है।

सारणी 4.7

उत्तरदाताओं का आर्थिक स्तर के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	आर्थिक स्तर	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	निम्न वर्ग	14	9.33
2	निम्न मध्यम वर्ग	54	36
3	मध्यम वर्ग	58	38.66
4	मध्यम उच्च वर्ग	20	13.34
5	उच्च वर्ग	04	2.67
	योग	150	100

समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की मूलभूत आवश्यकताऐं रोटी, कपड़ा और मकान हैं एवं प्रत्येक व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई ना कोई व्यवसाय करता है। इससे व्यक्ति को आय प्राप्त होती है जो कि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का निर्धारण करता है तथा समाज में उसको एक स्थान प्रदान करती है। इसलिए अध्ययन के अन्तर्गत उत्तरदाताओं की आय से सम्बन्धित तथ्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

सारणी 4.7 के आँकड़े बताते हैं, कि 38.67 प्रतिशत मध्यम वर्ग के सर्वाधिक (58) उत्तरदाता हैं जो सिद्धयोग से जुड़े हैं एवं न्यूनतम 2.67 प्रतिशत (4) उच्च वर्ग के पाये गये हैं। अतः स्पष्ट है कि सिद्धयोग से जुड़ने वाले मुख्यतः निम्न मध्यम एवं मध्यम वर्ग के लोग हैं जिनका प्रतिशत 74.67 है। निम्न वर्ग में बी पी एल श्रेणी के व निम्न मध्यम वर्ग में 1–2 लाख वार्षिक आय वाले व मध्यम वर्ग 2 से 5 लाख तक के तथा इससे ऊपर की आय वाले उच्च वर्ग के माने गये हैं।

सारणी 4.8

धार्मिक आस्था के आधार पर वर्गीकरण

क्र. सं.	धर्म	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हिन्दू	136	90.67
2	मुस्लिम	08	5.34
3	सिक्ख	01	0.66
4	ईसाई	01	0.66
5	जैन	04	2.67
	योग	150	100

प्राचीन काल से ही भारत विभिन्न धर्मों की पुण्य भूमि रहा है। विश्व में शायद ही कोई ऐसा देश है जिसमें इतनी विविधता एवं बहुलता पाई जाती हो। धर्म संस्कृति का अभिन्न अंग है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो इसका प्रभाव और भी अधिक देखने को मिलता है। धर्म एक अति महत्वपूर्ण चर है जो अध्ययन के तथ्यों को प्रभावित करती है, क्योंकि धर्म के आधार पर व्यक्ति की अलग–2 सोच होती हैं। भारतीय समाज बहुधर्मी एवं आध्यात्मिकता प्रदान समाज है। इसी कारण धर्म के आधार पर चयनित उत्तरदाताओं का भी वर्गीकरण करना आवश्यक है। हिन्दू धर्म के उत्तरदाताओं का सर्वाधिक (136) 90.67 प्रतिशत है। अन्य धर्मों (मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन) में (14) 9.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने ही सिद्धयोग को अपनाया है अर्थात् सिद्धयोग के प्रति हिन्दू लोगों का रुझान ज्यादा है जबकि सिद्धयोग का मूल उद्देश्य मानव मात्र के कल्याण से है न कि किसी धर्म विशेष से। अभी इसका सही रूप से प्रचार–प्रसार भी नहीं हुआ है।

सिद्धयोग के घटक

सिद्धयोग को पूर्ण महायोग की संज्ञा दी गयी है इसके अन्तर्गत सभी योग का पूर्ण समावेश है। सिद्धयोग में कुछ विशेष घटकों का स्थान महत्वपूर्ण बताया है जिसमें कुण्डलिनी, शक्तिपात कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, ध्यान, दीक्षा, मंत्र, नाद, गुरु,

श्रद्धा–समर्पण आदि हैं। इन सभी घटकों को प्रस्तुत अध्याय में समझाने का प्रयास किया गया है।

1. कुण्डलिनी

कुण्डलिनी प्रत्येक मानव में विद्यमान है। साधारणतया यह सुषुप्तावस्था में ही रहती है ''प्रत्येक मानव के भीतर एक ऐसी अनन्त शक्ति निवास करती है जो विश्व का आदि कारण है इस अनन्त शक्ति के दो रूप हैं एक प्रकट, दूसरा प्रसुप्त। अव्यक्त रूप में यह शक्ति प्रत्येक में विद्यमान है।'' एक बार जब यह जागृत हो जाये, तब हमारा आध्यात्मिक विकास होना निश्चित है (परमहंस 1997ः 13)।

जिस देवी शक्ति को बाहर हम राधा, सीता, पार्वती, अम्बा, भवानी, जोगमाया, सरस्वती आदि के नामों से पूजते हैं, वही परम चेतना हमारे शरीर में रीढ़ की हड्डी के अन्तिम सिरे अर्थात् मूलाधार में नागिन (सर्पिणी) के रूप में साढ़े तीन फेरे (कुण्डली) लगाकर सुषुप्त अवस्था में रहती है, जिसे योगियों ने कुण्डलिनी कहा है (सियाग 2008ः 19)।

शक्तिपात

सिद्धयोग में सिद्ध गुरु दृष्टि, शब्द, स्पर्श या संकल्प के द्वारा शिष्य की सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में कुशल होते हैं। इसको '' शक्तिपात '' कहते हैं जिसके पश्चात् इस महायोग की प्रक्रिया स्वतः आरम्भ हो जाती है जिसका मूल गुरुकृपा है (परमहंस 1997ः 5)।

कुण्डलिनी जागरण के सम्बन्ध में कहा हैं–

''यावत्सा निद्रिता देहे तावत जीवः पशुर्यथा

ज्ञानम् न जायते तावत कोटियोग – विधैरपि''

स्वामी विष्णु तीर्थ – शक्तिपात

जब तक कुण्डलिनी शरीर में सुषुप्तावस्था में रहेगी तब तक मनुष्य का व्यवहार पशुवत् रहेगा और वह उस दिव्य–परमसत्ता का ज्ञान पाने में समर्थ नहीं होगा, भले ही वह हजारों प्रकार के योगिक अभ्यास क्यों न करे (सियाग 1993ः 22)।

कुण्डलिनी के विषय में लगभग हर परम्परा में उल्लेख है– जापान में इसे ''की'' कहते हैं, चीन में ''ची'' कहा गया है, ईसाई धर्म के ग्रन्थ इसे ''पवित्र आत्मा'' कहते हैं।

कुण्डलिनी आत्मा की शक्ति है, चिति शक्ति है। परम शक्ति है जिसकी पूजा भारत के ऋषि ब्रह्माण्ड की जननी के रूप में करते हैं। ''शिवसूत्र'' में कहा गया है (इच्छा शक्तिरूपा कुमारी)

''वह ईश्वर की चिरकुमारी इच्छा शक्ति है जिसे उमा कहते हैं'' उसे चिरकुमारी इसलिए कहते हैं क्योंकि वह सतत् क्रीड़ारत है उसकी क्रीड़ा है– विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय।

कुण्डलिनी का दूसरा नाम है, चिति। यह विश्वव्यापी चेतना है। कश्मीरी शैवदर्शन के एक अन्य मुख्य ग्रंथ 'प्रत्यभिज्ञाहदयम्' के प्रथम सूत्र अनुसार ''चितीः स्वतंत्रता विश्व सिद्धि हेतुः'' चितिशक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से इस विश्व की रचना करती है'' चिति के सृजन के लिये कोई बाध्य नहीं करता। वह स्वयं परम स्वतंत्रता से, बिना किसी बाध्य आधार के, विश्व का सृजन करती है दूसरे सूत्र में कहा गया है–

स्वेच्छा स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति

'' वह स्वयं अपने ही पट पर सारे विश्व को प्रकट करती है (परमहंस 1997: 25–27)''

कुण्डलिनी जागरण की आवश्यकता

अन्तर कुण्डलिनी की जागृति से ही आध्यात्मिक यात्रा का सच्चा आरम्भ होता है जब तक अन्तर कुण्डलिनी सुषुप्तावस्था में रहती है, तब तक हम कितनी भी कठोर तपस्या कर लें कितना भी योगाभ्यास कर लें, कितने भी मंत्र जप कर लें। हमें अपनी अन्तरात्मा के साथ एकात्मता की अनुभूति कभी नहीं हो सकती। हम अपनी दिव्यता को कभी नहीं जान पायेंगे, ईश्वर को कभी नहीं समझ पायेंगे। चिति की सर्वव्यापकता का अनुभव कभी नहीं कर पायेंगे। जब हमारी अन्तर कुण्डलिनी जागृत होती है तभी हमें अपने सत्य स्वरूप का बोध होता है कि, न केवल हम ईश्वर के हैं, हम स्वयं ईश्वर हैं। यदि हमारी अन्तर शक्ति जागृत नहीं हुई, तो यदि भगवान भी शरीर धारण कर हमारे सामने प्रकट हो जायें तब भी हम उनके सच्चे स्वरूप को न जान पायेंगे और ना ही अनुभव कर पायेंगे।

कुण्डलिनी की जागृति

यद्यपि कुण्डलिनी पूरे मानव शरीर में व्याप्त है फिर भी, उसका विशेष निवास स्थान शरीर के मध्य में मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार चक्र में है। यर्थाथ में, शरीर में तीन प्रकार की

कुण्डलिनी है– प्राण कुण्डलिनी, चित्त कुण्डलिनी और परा कुण्डलिनी– यह तीनों अलग अलग स्थानों पर स्थित हैं। कुण्डलिनी इन तीनों स्थानों पर जाग्रत की जा सकती है। परन्तु साधारणतः उसे मूलाधार में जागृत किया जाता है मूल शब्द का अर्थ है ''जड़'' आधार का अर्थ है 'आलम्ब' योगशास्त्रों के अनुसार यह मूलाधार तीन इंच लंबा होता है और इसके भीतर शक्ति सूक्ष्म रूप में, साढ़े तीन फेरे लगाकर, कुण्डली मारकर निवास करती है जागृत होकर वह अपनी कुण्डली खोल देती हैं और ऊर्ध्वमुखी होकर, सहस्त्रार में शिव से मिलने के लिये चल पड़ती है।

कुण्डलिनी जाग्रत की सबसे उत्तम विधि है, गुरु, द्वारा शक्तिपात। शक्तिपात द्वारा गुरु अपनी दिव्य शक्ति को शिष्य में सीधे सम्प्रेषित करते हैं। शक्तिपात एक महान और दिव्य विज्ञान है यह महानतम ऋषि मुनियों द्वारा दी जाने वाली गुप्त दीक्षा है जो आदिकाल से गुरु द्वारा शिष्य को दी जा रही है (सियाग 1993ः 30–33)।

प्रायः जब कुण्डलिनी पहली बार क्रियाशील होती है तो किसी–किसी का सिर भारी हो जाता है और तन्द्रा जैसी आने लगती है यह कुण्डलिनी जागरण का निश्चित प्रमाण है। कभी–कभी कुण्डलिनी जागरण की इस प्रक्रिया की अवधि में, छिपे हुऐ रोग के कीटाणु उभर कर बाहर निकल आते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति उस रोग से ग्रस्त हो जाता है। परन्तु यह उस रोग को शरीर से सदा के लिये बाहर निकालने के लिये होता है (वही पृ.सं.ः 51–52)।

कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर वह हमारे दृष्टिकोण को रूपान्तरित कर देती है जिससे हम आसपास के जगत को एक नयी दृष्टि से देखते हैं।

–जीवन जो पहले कठिन और निराशाजनक लगता था अब वह आनंद से भरा और रमणीय दिखाई देने लगता है।

– साधक को अपने कार्यों के प्रति नया उत्साह पैदा हो जाता है।

– कुण्डलिनी लोगों के परस्पर सौहार्द की भावना का जन्म देती है।

– जीवन को सभी अपूर्णताओं को दूर कर उसे पूर्ण बनाती है।

– विद्यार्थियों की स्मरणशक्ति और एकाग्रता को अधिक बढ़ा देती है।

– अपने–अपने क्षेत्र में बेहतर बनाती है। सिद्धयोग केवल मोक्ष के लिये नहीं है यह सांसारिक सुख भी देता है आन्तरिक इच्छाओं की पूर्ति कराता है, कुण्डलिनी कल्पतरु है जो चाहिये उसकी प्राप्ति करा देती है (वही पृ.सं.: 57–59)।

देह में ही कुण्डलिनी के उत्थान और ध्यानादि से काया में अद्‌भुत सिद्धियाँ जागृत हो सकती हैं (बाबाः 87)।

कुण्डलिनी का अर्थ

(शाब्दिक अर्थ : कुण्डल–आकार) आदि शक्ति अथवा विश्वव्यापी प्राण शक्ति जो प्रत्येक व्यक्ति के मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में सर्पाकार रहती है। जब यह जाग्रत हो जाती है तो सूक्ष्म मध्य नाड़ी सुषुम्ना के माध्यम से (रास्ते से) चक्रों को भेदती हुई ऊपर उठती है और अनेक योगिक क्रियाओं को सम्पन्न करती है जिस से शरीर का पूर्ण शुद्धिकरण व परिमार्जन हो जाता है। जब कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित आध्यात्मिक केन्द्र, सहस्त्रार, में प्रवेश कर जाती है तो आत्मा–परमात्मा का मिलन हो जाता है और साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है (परमहंस 1997: 319)। परमात्मा की यह शक्ति अन्नत प्रकार के कार्य करती है। वह कभी–कभी अपने ऐश्वर्यमय, उल्लासमय और आनन्दमय स्फुरणों के सहित गुरु भक्तिनिष्ठ साधक में अद्‌भुत रूप में स्फुरित होती है। तब साधक नाचता है, गाता है, रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी अंग–प्रत्यंग की क्रियाएँ करता है। मेंढ़क की तरह कूदना, चक्कर लगाना, जमीन पर लोट–पोट होना, अपने मुँह पर स्वयं चपत लगाना, गर्दन को वेग से घुमाना, तरह–तरह के आसन तथा मुद्राएँ होना, कम्पन होना, स्वेद आना, जालन्धर, उड्डियान और मूलबन्ध की क्रियाएँ होना, जिव्हा का अंदर की ओर खिंच जाना या ऊपर की ओर तालु से खेचरी मुद्रा में लग जाना, आँखों की पुतलियों का ऊपर की ओर चढ़ जाना, तरह–तरह की आवाजें करना, सिंह की गर्जना तथा अन्य पशुओं की आवाजें, मंत्रों का एवं प्रणव का जोर–जोर से उच्चारण करना इत्यादि क्रियाएँ साधक स्वयं में करता हैं। तरह–तरह के प्राणायाम भी स्वतः होते हैं। भस्त्रिका, भ्रामरी, शीतली, सीतकारी, उज्जायी आदि अनेक प्राणायाम साधक स्वयं करता है। केवल कुम्भक, सहज कुम्भक स्वतः होने लगते हैं। जैसे–जैसे ध्यान बढ़ता जाता है वैसे–वैसे कुम्भक, दीर्घ होता जाता हैं। कभी कुछ साधारण बीमारी भी आ जाती हैं, परन्तु जल्दी ही मिट जाती हैं। शरीर में जो रोग छिपा हुआ रहता है, वह प्रकट होकर निकल जाता है। ये सब क्रियाएँ और कार्य, सर्वज्ञा ज्ञानशालिनी गुरु कृपा से ही सम्भव है। कभी–कभी साधक को एक नशा–सा चढ़ जाता है। मस्तक भारी सा लगता है। तन्द्रा की दशा बनी रहती है (वही पृ.स.: 34)।

2. गुरु

आध्यात्मिक साधना में गुरु को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है अनेक बार साधना की प्रक्रिया में व्यक्ति किसी कठिनाई को स्वयं दूर नहीं कर पाता और उलझ जाता है। ऐसी स्थिति में गुरु की सहायता आवश्यक होती है।

प्रथम प्रणऊँ गुरु के पाया। जिन मोहि आत्मब्रहम लखाया।।

सतगुरु सबद कहया तें बूझया। तृहूंलोक दीपक मनिसूझया।।

गोरखवाणी प्राणसंकली–1

तीन लोक नौ खण्ड़ में, गुरु तें बड़ा न कोइ।

करता करै न करिं सकै, गुरु करै सो होइ।। (कबीर)

गुरु करता गुरु करणै जोगु। गुरु परमेसुर है भी होगु।।

कहु नानक प्रभि इहैं जनाई। बिनु गुरु मुकति न पाइऐ भाई (सियाग 1993ः 1)।।

महला–5 (शब्द 3) नानक

गुरु महिमा के बारे में संत कबीर दास जी ने कहा है

''सात समंदर मसि करौं

लेखनी सब बनराय

सब धरती केरा कागज करौं

तो भी गुरु गुण लिखया ना जाय।''

गुरु गीता में गुरु महिमा का बखान है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है गुरु

भगवान महेश है, गुरु प्रत्यक्ष

रूप से परम ब्रह्म है, उस गुरु को प्रणाम।

ध्यानमूलं गुरोमूर्ति, पूजा मूलं गुरोः पदं।

मंत्र मूलं गुरोवक्यिं, मोक्ष मूलं गुरो कृपा।।

ध्यान का मूल गुरु की मूर्ति है

पूजा का मूल गुरु के चरण है

मंत्र का मूल गुरु मुखर्विन्द से बोला

वाक्य है और मोक्ष का मूल गुरु की कृपा है।

आध्यात्मिक मार्ग में गुरु का स्थान सबसे ऊँचा है गुरु निर्गुण निराकार ईश्वर का सगुण साकार रूप है (वही, पृ.सं.: 13–14)।

गुरु की सर्वोत्तम व्याख्या है जो ''गोविन्द से मिलाय (वही पृ.सं.: 73)।''

गुकारश्चान्धकारस्तु रूकारस्तन्निरोधकृत।

अन्धकारविनाशित्वात् गुरुरित्यभिधीयत्।।३४।।

'गुरु' का कार अन्धकार है उसको दूर करने वाला 'रु' कार है। अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करना के कारण ही गुरु कहलाते हैं।

गुकारश्च गुणातीतो रूपातीतो रूकारकः।

गुणरुपविहीनत्वात् गुरुरित्यभिधीयते।।३५।।

'गुरु' कार से गुणातीत कहा जाता है 'रु' कार से रूपातीत कहा जाता है। गुण और रूप से होने के कारण 'गुरु' कहलाते हैं।

जैसी प्रीती कुटुम्ब से तैसी गुरु से होय।

कह कबीर तो दास को पला न पकड़े कोय ।। संत कबीर

जन रज्जब गुरु की दया दृष्टि परापति होय।

परगट गुप्त पहचानिये जिसहिं न दिखै कोई।।

संत रज्जब

गुकारं च गुणातीतं रूकारं रूपबर्जितम्।

गुणातीतमरूपं च यो दधात् स गुरुः स्मृतः।।४५।।

'गुरु' शब्द का 'गु' अक्षर गुणातीत अर्थ का बोधक हैं और 'रु' अक्षर रूप रहित स्थिति का बोधक है। ये दोनों (गुणातीत और रूपातीत) स्थितियाँ जो देते हैं उनको गुरु कहा है।

गुकारश्चान्धकारस्तु हिरूकारस्तेज उच्यते।

अज्ञानग्रासकं ब्रह्म गुरुरेव न संशयः।।३३।।

'गुरु' शब्द का अर्थ अन्धकार (अज्ञान) और 'रु' शब्द का अर्थ प्रकाश (ज्ञान)। अज्ञान को नष्ट करने वाले जो ब्रह्म रूप प्रकाश है वह गुरु है इसमें कोई संशय नहीं है (गीता :93)।

गुरु की महानता

परमेश्वर का साक्षात्कार एक मात्र गुरु से सम्भव है।

गुरु की महिमा रहस्यमय और अति दिव्य है। वे मानव को नया जन्म देते हैं ज्ञान की प्रतीति कराते हैं साधना बता कर ईशानुरागी बनाते हैं (परमहंस 1970ः 19)।

गुरु वह है जो शिष्य की, अन्तर–शक्ति जगा कर उसे आत्मानन्द में रमण कराता है। गुरु की व्याख्या यह है– जो शक्तिपात द्वारा आन्तरिक शक्ति, कुण्डलिनी को जगाता है, यानी मानवदेह में परमेश्वरी शक्ति को संचारित कर देता है, जो योग की शिक्षा देता है, ज्ञान की मस्ती देता है, भक्ति का प्रेम देता है, कर्म में निष्कामता सिखा देता है, जीते जी मोक्ष देता है। वह परम गुरु, शिव से अभिन्न रूप है।

गुरु का श्रद्धापूर्ण स्पर्श करने से शिष्य आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण हो जाता है (योगानन्द 2010ः 160)।

गुरु तभी विश्व चैतन्य का यह अनुभव अपने शिष्य को प्रदान करता है जब उसने ध्यान, धारणा द्वारा अपने मन को इतना सुदृढ़ बना लिया हो कि वह विराट दृश्यों को देखकर घबरा ना जाये (वही पृ.सं. 202)।

गुरु अपने शिष्यों के क्रम विकास में अत्यधिक गति लाना चाहता है। तब वह उसके अवांछनीय कर्मों के बहुत बड़े भाग को अपने ऊपर लेकर उनके परिणामों को अपने शरीर में भोगकर उन्हें निष्फल कर सकता है (वही पृ.सं. 279)।

गीता के अनुसार गुरु से ऊँचा कोई भी नहीं है।

गुरु के विषय में मुक्तानंद ने कई पुस्तकों में स्वयं के एवम् भगवान नित्यानंद के संबंधों के बारे में लिखते हुए इस धारणा पर बल दिया कि गुरु ही भगवान हैं। सभी व्यक्ति भगवान हैं केवल उन्होंने अभी तक यह जाना नहीं है (Nealy: 20)।

गुरु मिलन जीवन का पहला सौभाग्य है

गुरु के वचनों पर श्रद्धा होना दूसरा सौभाग्य है।

गुरु वचनों का मंथन करके जीवन की प्रयोगशाला में प्रयोग तीसरा सौभाग्य है (दिव्य गुरु दर्शनः 2012)।

यदि गुरु एक महान दैवी आत्मा है जो परम सत्य में लय हो चुका है तो उसके रूप का ध्यान शिष्यों के लिये अत्यन्त लाभदायक है उसका शरीर बाह्य रूप से स्थूल होते हुए भी वास्तव में उतना ही सूक्ष्म है जितना की उसकी अन्तरात्मा। यदि ऐसे गुरु के स्वरूप पर ध्यान करते हैं तो न केवल हमारी स्थूलता का ह्रास होने लगता है अपितु गुरु की अन्तरात्मा की सूक्ष्मतम अवस्था भी हमारे हृदय में प्रविष्ठ होने लगती है (चन्द्रमिशन 1998: 69)।

3. ध्यान

" तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " अर्थात् जहाँ चित्त को लगाया जाये उसी में वृत्तिका एक तार चलना ध्यान है (गोयन्दकाः 69)।

चित्त को एकाग्र कर किसी एक ओर लगाने की क्रिया ही ध्यान है। यह योग के आठ में से सातवां अंग और धारणा तथा समाधि के बीच की अवस्था है (वही पृ.स.: 325)।

ध्यान का परिणाम प्रायः तुरन्त नहीं होता यद्यपि कुछ साधकों की साधना अतिशीघ्र और अकस्मात् सी कुसुमित हो जाती हैं पर बहुत को अनुकूल बनने में या तत्पर होने की तैयारी में थोड़ा बहुत समय लगता ही है (अरविन्द 1935ः 50)।

ध्यान के समय यह कठिनाई होती है कि सभी प्रकार के विचार मन में घुस आते हैं, तो यह विरोधी शक्तियों के कारण नहीं होता, बल्कि यह मानव–मन के साधारण स्वभाव के कारण होता है सभी साधकों को यह कठिनाई होती है और बहुतों के साथ तो यह बहुत लंबे समय तक लगी रहती है (अरविन्द 1939ः 52)।

ध्यान के फलस्वरूप समय के बीतने पर एकाग्रता आती है। ध्यान करते समय मन मे आने वाले बाह्य विचारों के प्रति सर्वथा उदासीन होकर ध्यान करना ही उचित तरीका है।

ध्यान करते समय आपको केवल ध्यान करना चाहिये– ध्यान के बीच में आने वाले विचारों से संघर्ष नहीं, एकाग्रता ध्यान का फल है (चन्द्रमिशन 1998ः 35)।

4. दीक्षा

गुरु शिष्य परम्परा में दीक्षा का एक विधान है। सभी प्रकार की दीक्षाओं में ''शक्तिपात दीक्षा'' सर्वोत्तम होती है (सियाग 1993ः 21)।

शक्तिपात क्या है

उस प्रक्रिया को जिसके द्वारा गुरु कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं, शक्तिपात कहते हैं– दिव्य शक्ति का सम्प्रेक्षण (परमहंस 1997ः 17)।

इसमें गुरु अपनी इच्छा से चार प्रकार से शिष्य की शक्ति (कुण्डलिनी) को चेतन करके सक्रिय करते हैं–

1. स्पर्श से
2. दृष्टि मात्र से
3. शब्द (मंत्र) से
4. संकल्प मात्र से

1) स्पर्श दीक्षा में गुरु अपनी शक्ति शिष्य में तीन स्थानों आज्ञाचक्र, हृदय, मूलाधार पर स्पर्श कर प्रवाहित करते हैं।

2) मंत्र दीक्षा में गुरु की शक्ति, शिष्य में मंत्र के द्वारा प्रवाहित होती है।

3) दृक दीक्षा अर्थाथ मात्र दृष्टि द्वारा ही दी जाने वाली दीक्षा, ऐसी दीक्षा देने वाले गुरु की दृष्टि अन्तर–लक्षी होती है।

4) मानस दीक्षा, जिसमें गुरु से दीक्षा लेने का मानस बनने मात्र से दीक्षा मिल जाती है (सियाग 1993ः 22)।

- शिवशास्त्र में परमात्मा शिव ने शाम्भवी, शाक्ती और मान्त्री 3 प्रकार की दीक्षा का उपदेश दिया है। गुरु के दृष्टिपात मात्र से, स्पर्श से तथा सम्भाषण से भी जीव को तत्काल पापों का नाश करने वाली संज्ञा सम्यक् बुद्धि प्राप्त होती है वह शाम्भावी दीक्षा कहलाती है गुरु योगमार्ग से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके ज्ञान दृष्टि से ज्ञानवती दीक्षा देते हैं, वह "शाक्ती" कही गई है (पोद्दार : 736–737)।

शैवधर्म का अनुसरण शक्तिपात मूलक है जिस शिष्य में गुरु, की शक्ति का पात नहीं हुआ उसमें शुद्धि नहीं आती तथा उसमें न तो विद्या, न शिवाचार, न मुक्ति, न सिद्धियाँ ही होती हैं।

उत्कृष्ट बोध और आनन्द की प्राप्ति ही शक्तिपात का लक्षण है बाह्य शरीर में कम्प (कम्पन) रोमांच, स्वरविकार (कण्ठ से गदग्दवाणी का प्रकट होना), नेत्रविकार (नेत्रों से अश्रुपात होना) अंगविकार (शरीर में जड़ता या क्रिया तथा स्वेद आदि का होना) प्रकट होते हैं (वही पृ. सं. 739)।

सामूहिक शक्तिपात दीक्षा बिना विश्व शांति असम्भव है (सियाग 1993ः 46)।

दीक्षा

धार्मिक संस्कार

प्रायः मंत्र दे कर गुरु द्वारा शिष्य को दी गई धार्मिक शिक्षा या कराया गया संकल्प। सिद्धयोग में इसका तात्पर्य है शक्तिपात द्वारा शिष्य में गुरु द्वारा शक्ति का सम्प्रेषण (परमहंस 1997ः 324)।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैव्लयं परमं पदम्।

सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव।।

– योगशिखोपनिषद

वह स्थान हमारे परम पिता गुरु दीक्षा द्वारा प्राप्त करा देते हैं, दीक्षा दे कर पाप का नाश करके परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करा देते हैं–

दीयते शिवसायुज्यं क्षीयते पाश्बन्धनम्।

अतो दीक्षेति कथिता बुधैः सच्छास्त्रवेदिभिः।।

दीक्षा काल में गुरुशक्ति ही शिष्य में प्रवेश करती है। जैसे बीज के रूप में वृक्ष ही है, वैसे गुरु के रूप में शक्ति ही है जो शिष्य में प्रविष्ट होती है और नाना प्रकार की योग क्रियाओं को कराती है (परमहंस 1970: 25)।

5. मंत्र (शब्द)

मंत्र विद्या हमारे देश में आदिकाल से चली आ रही है। शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धान्त पर ही हमारे ऋषियों ने मन्त्रों की रचना की है। शब्दब्रह्म से परब्रह्म की प्राप्ति का हमारे दर्शन का सिद्धान्त पूर्णरूप से सत्य है। यह हमारे दर्शन का उच्चतम दिव्य विज्ञान है।

'गुरु शिष्य' परम्परा में मंत्र दीक्षा का विधान है। शब्द की धारा के सहारे ही सहस्त्रार में पहुँचना संभव है, अन्यथा नहीं। इस संबंध में कबीर ने रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है–

कबीर धारा अगम की, सद्गुरु दई लखाय।

उलट ताहि पढ़ियें सदा, स्वामी संग लगाय।

संत मत के अनुसार एक धारा अगम लोक से नीचे की ओर चली, वह सभी लोकों की रचना करती मूलाधार में आकर ठहर गई (सियाग 1993: 33)।

शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति के सार्वभौम सिद्धान्त के आधार पर हमारे ऋषियों ने मंत्र शास्त्र की रचना की है सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में संकिलिनी तंत्र में कहा है।

आकाशाज्जायते वायुर्वायोत्पद्यते रविः।

रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पधते महि।।

आकाश से हवा, हवा से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है और संसार के सभी प्राणी उत्पन्न हुए। हमारे शास्त्र भी इन्हीं पांच तत्वों से मनुष्य शरीर की रचना मानते हैं।

मंत्र का रहस्य जब तक समझ नहीं आता, तब तक साधक उससे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता, मंत्र का रहस्य कैसे जाना जा सकता है इस संबंध में मालिनी विजयोतंत्र में कहा गया है–

शिष्येणापि तदा ग्राह्मा यदा सन्तोषितो गुरुः।

शरीर द्रव्य विज्ञान शुद्धि कर्म गुणादिभिः।।

बोधिता तु यदा तेन गुरुणा दृष्ट चेतसा।

तदा सिद्धिप्रदा ज्ञेया नान्यथा वीरबन्दिते ।।

मंत्र का रहस्य तभी समझ में आ सकता है, जब गुरु शिष्य के सद्‌गुणों से संतुष्ट हो जाते हैं। हे देवी जब गुरु हृदय से प्रसन्न होते हैं, तभी मंत्र का रहस्य खोलते हैं, और मंत्र मुक्ति देता है।

गुरु संतोष मात्रेण अन्यथा नहीं ।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः।

गुरु मौखिक उपदेश के स्थान पर इस महाज्ञान का संचार अलाक्षित रूप से करते हैं, इससे हृदय के मर्म में प्रविष्ट सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं (वही पृ.सं.: 73–74)।

परोक्ष ज्ञान के पश्चात् गुरु की ही मंगलमयी इच्छा की सहायता से भांति–भांति की अवस्थाओं को पार करते हुए साधक आगे बढ़ता है उसके विश्वास व धैर्य की परीक्षा होती है। चित्त के जिस अंश में दुर्बलता होती है, उसी का परीक्षण होता है, यह स्थिति घोर अभावरूप, अन्धकारमय और आंतकप्रद होती है। संयम, सहनशीलता, प्रबल उत्कण्ठा और गुरु कृपा पर पूर्ण विश्वास यही एकमात्र कर्तव्य है (भारती 2008ः 26)।

नामजप

अन्तर शक्ति को महावेग से क्रियाशील बनाता है, नाम प्रकट परमात्मा है। इसलिए नाम जपो। नाम ध्याओ। नाम गाओ। नाम का ही ध्यान करो। नामजप होता है या नहीं इतना ही

ध्यान बहुत है। नामजप, साधना में रुचि और गुरु में पूर्ण प्रेम बढ़ाता है (परमहंस 1970ः 35)।

मंत्र की पाँचवी अवस्था अर्थात् अजपा का इतना अधिक महत्व है। हमारे भीतर इतनी गहराई से बैठ जाना चाहिए कि उसका जप स्वयमेव होता रहे, अक्सर हमें उसके बारे में तनिक सोचना न पड़े, यह आवश्यक नहीं हैं, कि मंत्र को जोर से बोला जाये, महत्व इस बात का हैं कि उसकी ध्वनि हमारे भीतर निरन्तर गूँजती रहे। हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका में मंत्र का स्पंदन होना चाहिए (महैंश्वरानंद 1989ः 189–190)।

6. नाद

नाद का बहुत वैशिष्टय है, भेद भी बहुत हैं, परन्तु मूल नाद एक ही है, नाद के प्रभाव से ही विशुद्ध सृष्टि की सूचना होती है जो नाद अविच्छिन्न होता है उसका विराम नहीं। जब तक मन विक्षिप्त रहता है, नाद की उपलब्धि नहीं होती। नाद तंरगरूप में प्रवाहित होता है चिदाकाश अथवा कुण्डलिनी से ही उसका प्रवाह, उद्गम होता है। नाद ही मन को आकर्षित करता है, जिस मात्रा में मन नाद में आकर्षित होता है, उसी मात्रा में मन की एकाग्रता बढ़ती जाती है (भारती 208ः 174–175)।

ध्यान में सुस्पष्ट सुनाई देने वाले ओम के ब्रह्म नाद को पतंजलि ईश्वर कहते हैं (योगानन्द 2010ः 323)।

जब शक्ति श्रवण केन्द्र में पहुँचती है इन अन्तर नादों को आकाश संगीत कहा गया है, बाह्य संगीत, इन अन्तर नादों के समान सुरीले संगीत की रचना करने का प्रयास मात्र है श्रेष्ठ से श्रेष्ठ संगीतकार या अति उत्तम वाद्य यंत्र भी इन अन्तर–नादों की रचना नहीं कर सकते। इस दिव्य नाद को सुनते–सुनते साधक को मेघनाद सुनायी पड़ने लगता है और 'खेचरी मुद्रा' होने लगती है जिसमें जिव्हा ऊपर की ओर उल्टी मुड़कर, तालुमूल में लग जाती है यह मुद्रा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। योगी लगभग पंद्रह वर्षों की लम्बी अवधि तक अपनी जिव्हा को खींचकर लम्बा करने का प्रयास करते हैं, यहाँ तक कि कभी–2 छुरी से अपनी जिव्हा को नीचे से काट भी देते हैं, फिर भी वे "खेचरी मुद्रा" लगाने के प्रयास में सफल नहीं हो पाते।

नाद दैवी गायन या शब्द जो ध्यान की उच्चावस्था में सुनाई पड़ता है।

प्रणवः स्वरध्वनि–विशिष्ट गुह्य शब्द ''ॐ''का पर्याय (परमहंस 1970ः 324)।

7. खेचरी मुद्रा

शरीर को षटचक्र भेदन के लिये उपयुक्त करने के लिये गोरक्षनाथ ने कई मुद्राओं पर बल दिया है जैसे काकी मुद्रा (जिव्हा को कव्वे की चोंच के समान कर प्राणवायु पान करना), खेचरी मुद्रा (जीभ को जिव्हामूल की ओर पलटकर वायुपान करना) (भारती 2008ः 170)।

जीभ को ऊपर उल्टी ले जाकर तालु–कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गड्ढा) में लगाये रखने का नाम करना खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिव्हा को बढ़ाने हेतु तीन साधन किये जाते हैं– छेदन, चालन और दोहन (तीर्थ 1949ः 436)।

हमारे अंदर कैसी–कैसी दिव्य ज्योतियाँ है, इसका ज्ञान होगा, मस्तक में अन्नत गुणों का भण्ड़ार रूप नाद उदित होगा।

वह शब्द एक दिव्य 'रस' का स्वाद करायेगा। वह रस शब्द से निकलने वाले, हमारे तालु से प्राप्त होने वाला, सुन्दर रस है।

इस रस को पाकर हमारे अन्दर के सब रोग मिट जाते हैं और हम स्वयं रसवान बन जाते हैं। तदनन्तर हमें रूखा–सूखा, कच्चा–पक्का, सब, चीजों के खाने–पीने में सब रस मिलेगा। ताप मिटेगा। चाह घटेगी। मैं–मेरी मिटेगी। स्वयं अमृत रसरूप बन जायेंगे। तदनन्तर पति–पत्नी में, बाल–बच्चों में हमेशा प्रेमरस प्राप्त होगा।

रसो वै सः। रसं ह्रोवायं लब्ध्वानन्दी भवति

रस पाते ही रसमय होते ही, हमें अपने में आनन्द की अनुभूति होगी (परमहंस 1997ः 12)।

खेचरी मुद्रा के लिए लम्बे और सघन अभ्यास की आवश्यकता होती है जो योगी यह मुद्रा सिद्ध कर लेते हैं, वे कुछ भी खाये पीये बिना दीर्घकाल तक जीवित रह सकते हैं। ऐसा योगी वस्तुतः वायु पर जीवित रहता है और वह वायु से ही ऊर्जा प्राप्त करता है, जिससे शरीर में अमृत उत्पन्न होता है (महैंश्वरानंद 1989ः 116)।

8. श्रद्धा एवं सर्मपण

अच्छा बुरा, ऊपर–नीचे चाहे जो भी हो आप सारी परिस्थितियों में समभाव होकर "ईश्वर की कृपा" मानकर स्वीकार करते हैं, तो वही "समर्पण" है। केवल मंदिर और चर्च

जाकर यह कहना है कि आप ईश्वर के प्रति समर्पित हैं कुछ भी मतलब नहीं रखता। समर्पण का दूसरा नाम है अडिग विश्वास, इसका अर्थ यह नहीं है कि आप जो "अच्छा" समझते हैं सदैव आपके जीवन में वही होगा। इसका अर्थ है कि चाहे जो भी हो आप बिना किसी शर्त के सदैव ईश्वरीय शक्ति के शरणागत रहेंगे।

समर्पण ईश्वर को धन्यवाद करने का, उनसे प्रेम करने का और स्वयं का उनके प्रति अभिव्यक्ति का एक तरीका है। समर्पण का अर्थ है संसार को उसकी (ईश्वर) दृष्टि से देखिये, अपने अंतरात्मा की आवाज पर ध्यान दीजिये और धैर्यपूर्वक उसके (ईश्वर के) उत्तर को समझने का प्रयास कीजिये। वस्तुतः सच्चा समर्पण हर जाँच या परीक्षा को सहन करता है (hi.omswami.com/ आत्म समपर्ण–क्या हैं.html)।

पूर्ण श्रद्धा विश्वास ऐसा होना चाहिऐ कि जो कुछ हमारे लिये सर्वोत्तम है वही होगा, पर साथ ही यह आस्था भी होनी चाहिये कि अगर हम सच्चे यंत्र बन जायें तो इसके फलस्वरूप जिस कर्म को भागवत ज्योति से परिचालित हमारा संकल्प अपना कर्तव्य समझता है वही कर्म संपादित होगा (अरविन्द 1939ः 23)।

श्रद्धा अनिवार्य है श्रद्धा के बिना प्रेम नहीं हो सकता है, संदेह बना रहता है।

श्रद्धा किस पर रखें, सबसे पहले स्वयं पर, अपने आत्मन् पर श्रद्धा रखें (महैंश्वरानंद 1989ः 23)।

समर्पण अवश्य ही क्रम से होता है, आरम्भ मात्र से ही कोई पूर्ण समर्पण करने में समर्थ नहीं हो सकता। समर्पण ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो एक दिन में हो जाए।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो पूर्ण समर्पण की सच्ची और बलवती इच्छा के साथ ही योगारंभ करते हैं, एक बार यह मान लेते हैं कि समर्पण ही साधना का सिद्धान्त है (अरविन्द 1935ः 36–37)।

इस युग का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही यह है कि अपने आप को पूर्णरूपेण एकमात्र भगवान के हवाले कर दो। जो निस्संकोच होकर अपने सब अंगो समेत अपने आप को भगवान के समर्पण कर देते हैं उन्हें भगवान् भी अपने आप को दे देते हैं।

समर्पण की केवल बातचीत या संपूर्ण आत्मदान की कोरी कल्पना अथवा दुर्बल सी इच्छा होने से ही कुछ नहीं होता, आमूल और पूर्ण परिवर्तन के लिये एक आवेग होना चाहिए।

जो योग की साधना करते हैं उन्हें आत्मदान, आत्म समर्पण करना ही होगा, क्योंकि इस प्रकार के उत्तरोत्तर बुद्धिशील समर्पण के बिना किसी भी दिशा में लक्ष्य के समीप पहुँचना असम्भव है। उद्घाटित रहने का मतलब है माता की शक्ति को अपने अंदर कार्य करने के लिये बुलाना और यदि इस शक्ति के प्रति तुम समर्पण नहीं करते, तो इसका मतलब यह होता है कि तुम उस शक्ति को अपने अंदर बिल्कुल कार्य नहीं करने देते अथवा केवल इस शर्त पर करने देते हो कि यह शक्ति तुम जिस तरह हो उस तरह से कार्य करे, अपनी उस रीति से न करे जो कि भागवत सत्य की रीति है (वही पृ.सं.: 33–34)।

यदि हमें अपने मार्ग से चलकर सिद्धि तक पहुँचना है तो उसके लिए श्रद्धा की आवश्यकता होगी। हम जो भी कर रहे हैं उसके बारे में हमारे मन में इतनी गहरी श्रद्धा होनी चाहिए कि हम आत्मविश्वासपूर्वक स्वयं से कह सकें कि "मैं यह कार्य करने में पूरी तरह समर्थ हूँ" ऐसा न सोचें कि, लाओ करके देखते हैं। यह जो 'करके देखने' की वृत्ति है यह आरम्भ से हमारे प्रयास को निष्फल बना देती है।

गुरु पर विश्वास रखो। गुरु अपरिहार्य है जिसके मन में, निरन्तर शंका बनी हुई है वह सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। सत्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हमें अपने गुरु पर उसी प्रकार की दृढ़ श्रद्धा हो जैसी कि बालक को अपनी माँ पर होती है इसे ही श्रद्धा कहते है (महैंश्वरानंद 1989: 24)।

उपनिषद् में हिरण्मयेण (हिरण्मयेन) पात्रेण, सत्यस्थापिहित मुखम्।

तत्त्वं पूषन्न पावृणु, सत्य धर्माय दृष्टये।।

साधना में दृढ़ संकल्प एवं दृढ़ आस्था तथा पूर्ण सर्मपण का होना परम आवश्यक है (www.shrinathjimaharajkaasharm.org)।

सिद्धयोग की भूमिका

योग व सिद्धयोग तत्व ज्ञान प्राप्ति की विधि है अथवा पूर्ण मानसिक विश्रान्ति द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने का माध्यम है। प्रत्येक व्यक्ति में सुख, शांति और सामंजस्य प्राप्त करने की लालसा रहती है हम दैनिक जीवन के तनावों व द्वन्द्वों से बचना चाहते हैं तथा मनोवैज्ञानिक संतुलन प्राप्त करना चाहते हैं।

सिद्धयोग की भूमिका विभिन्न क्षेत्रों में–

- आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में
- चिकित्सा के क्षेत्र में
- शिक्षा के क्षेत्र में

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में :–

आध्यात्मिक साधना का तात्पर्य है अपने आप को जानना, इसी को कहते हैं आत्मानुसन्धान। साधना का मतलब है, अर्न्तजगत् में विद्यमान सत्य को जानना, उसको पहचानना, और उसको पहचानकर उसमें लीन हो जाना। ऐसा करने से हमें अपने पूर्णत्व का ज्ञान होने के पश्चात् इस संसार में रहते हुये भी हम सांसारिक लोगों और वस्तुओं पर निर्भर नहीं होते, जीवन की हर परिस्थिति में हम अपने भीतर ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

मन का अध्ययन करना ही अध्यात्म का लक्ष्य है क्योंकि मन का ज्ञान होने के पश्चात् ही मन के अन्दर छिपी हुई शक्तियों का ज्ञान हो पाता है।

इस समय सम्पूर्ण विश्व का युवा वर्ग आध्यात्मिक जगत के धर्माचार्य और साधु सन्तों से प्रायः निराश हो चुका है इस जगत के सभी धर्मों के धर्माचार्य मात्र अतीत के गुणगान करके, धर्म की इति श्री कर रहे हैं। धार्मिक जगत का अधिक पतन तो उस समय प्रारम्भ हुआ जब से भौतिक विज्ञान में तेजी से तरक्की प्रारम्भ हुई है, अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये आध्यात्मिक जगत के आचार्यो ने अपने और भौतिक विज्ञान के आचार्यो के बीच में विश्व स्तर पर एक काल्पनिक लक्ष्मण रेखा खींच दी। अपने को आस्तिक और भौतिक विज्ञान के सच्चे लोगों को नास्तिक की संज्ञा देकर अपनी प्रतिष्ठा को बचाने का असफल प्रयास ज्यों–ज्यों तेज किया, धर्म पर से लोगों की आस्था कम होती चली गई। जबकि अध्यात्म विज्ञान, भौतिक विज्ञान का जनक है, इस असंतुलन के कारण ही संसार में अशांति व्याप्त है। जब तक अध्यात्म विज्ञान, भौतिक विज्ञान का संचालन अपने अधीन नहीं कर लेता विश्व में शांति असंभव है (सियाग 1993: 1)।

अध्यात्म जगत के लोग, धर्म के नाम पर केवल अतीत के गुणगान मा्त्र करके इति श्री कर रहे हैं, जब कि ईश्वर प्रत्यक्षानुभूति और साक्षात्कार का विषय है (वही पृ.सं.: 7)।

- आध्यात्मिक साधना का अर्थ है – भीतर की यात्रा
- अध्यात्म का अर्थ है – आत्मा के भीतर

आत्मा के बाहर ही हम यात्रा कर रहे हैं कभी भीतर जाने का अवसर ही नहीं मिला, हम जानते हैं दुनियाँ में जो सार है वह बाहर ही है। भीतर कुछ भी नहीं। वास्तविकता यह है कि जो, भीतर की यात्रा कर लेता है, उसे बाहर का सत्य, असत्य जैसा प्रतिभासित होने लगता है।

सभी धर्म इसी ओर संकेत कर रहे हैं –

- उपनिषद् कहते हैं 'शिवों भूत्वा शिव यजेत'।
- शिव बनकर शिव का अनुभव करो। अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो।
- बाइबिल कहती है ' O Father, make my the eye, make my the light '
- कुरान कहती हैं ' मेरे खुदा, तेरे नूर की रोशनी इस बंदे में भर दे '।

  सभी घोषणाऐं एक ही गन्तव्य की ओर संकेत कर रही हैं, वीथीकाएं, पगडंडियाँ अलग–अलग हो सकती हैं पर लक्ष्य सबका एक ही है वह लक्ष्य है– आत्मा का साक्षात्कार या आत्मा की अनुभूति। आत्मा की अनुभूति बिना आदमी का आमूल–चूल रूपान्तरण संभव नहीं है। आत्मानुभूति के लिए एक ठोस, वैज्ञानिक एवं प्रमाणिक मार्ग चाहिए, एक विश्वसनीय पद्धति (www.shrinathjimaharajkaasharm.org)।

सारणी 4.9

सिद्धयोग की जानकारी का माध्यम एवं आवास की प्रकृति

सिद्धयोग की जानकारी ग्रामीण तथा नगरीय उत्तरदाताओं तक किस माध्यम से पहुँच रही है इसके बारे में उत्तरदाताओं से जानकारी प्राप्त करने पर निम्न तथ्य सामने आये हैं जिसे कि सारणी 4.9 में दर्शाया गया है।

माध्यम	ग्रामीण	नगरीय	योग
मित्र/रिश्तेदार द्वारा	84(84)	38(76)	122(81.33)
न्यूज पेपर द्वारा	–	02(4)	02(1.33)
टी.वी. द्वारा	–	01(2)	01(0.67)
पेम्फलेट, बैनर द्वारा	10(10)	05(10)	15(10)
अनजान व्यक्ति द्वारा	04(4)	02(4)	06(4)
अन्य	02(2)	02(4)	04(2.67)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)

नोट :– कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

अध्ययन से स्पष्ट है कि कुल चयनित 100 ग्रामीण उत्तरदाताओं में से अधिकतम 84 प्रतिशत उत्तरदाताओं को सिद्धयोग के बारे में जानकारी मित्रों/रिश्तेदारों द्वारा मिली एवं इसी प्रकार कुल चयनित 50 नगरीय उत्तरदाताओं में से अधिकतम 76 प्रतिशत उत्तरदाताओं को भी सिद्धयोग की जानकारी इसी माध्यम से प्राप्त हुई।

इससे ज्ञात होता है कि सिद्धयोग का प्रचार प्रसार नगरीय और ग्रामीण क्षेत्र में लगभग समान रुप से व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे को आमने सामने बताने से ही हुआ है एवं नगरीय क्षेत्र में टी.वी. और न्यूज पेपर से भी जानकारी फैली है जिनकी अभी ग्रामीण क्षेत्र में तुलनात्मक कम पहुँच है।

सारणी 4.10

सिद्धयोग की जानकारी का माध्यम एवं लिंग

ठीक इसी प्रकार महिला एवं पुरूष में इस योग की जानकारी प्राप्त करने का माध्यम क्या रहा इसे जानने का प्रयास भी प्रस्तुत शोध में किया गया है।

माध्यम	महिला	पुरुष	योग
मित्र/रिश्तेदार द्वारा	55(84.64)	67(78.83)	122(81.33)
न्यूज पेपर द्वारा	01(1.53)	01(1.17)	02(1.33)
टी.वी. द्वारा	01(1.53)	–	01(0.67)
पेम्फलेट, बैनर द्वारा	04(6.15)	11(12.95)	15(10)
अनजान व्यक्ति द्वारा	04(6.15)	02(2.35)	06(4)
अन्य	–	04(4.70)	04(2.67)
योग	65(43.33)	85(56.67)	150(100)

नोट :– कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

सारणी 4.10 से स्पष्ट है कि महिला वर्ग को इस योग की सर्वाधिक (84.64) जानकारी मित्र/रिश्तेदार व न्यूनतम न्यूज पेपर व टी.वी. के माध्यम से मिली।

पुरुष वर्ग में भी अधिकतम उत्तरदाताओं (78.83) जानकारी का माध्यम समान रहा है परन्तु (12.95) को पेम्फलेट, बैनर द्वारा भी जानकारी मिली जिसका कारण पुरुषों के ज्यादातर घर से बाहर रहने के कारण वो अधिक लोगों के सम्पर्क में आते है, तो वे सिद्धयोग को ज्यादा समझ पाये हैं।

इससे सिद्ध होता है कि जहाँ तक महिला तथा पुरुष उत्तरदाताओं का प्रश्न है, पुरुष उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक रही है, हो सकता है पुरुष उत्तरदाताओं ने महिला उत्तरदाताओं की अपेक्षा सिद्धयोग को ज्यादा अच्छी तरह से समझ हो।

विभिन्न धर्म के साधकों में योगिक क्रियाऐं

(हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, जैन इत्यादि)

सारणी 4.11

सिद्धयोग की जानकारी का माध्यम एवं धर्म

शोध कार्य में धर्म को महत्वपूर्ण चर मानते हुए इसमें सिद्धयोग की जानकारी का माध्यम क्या रहा। इससे सम्बन्धित तथ्यों को भी सारणी 4.11 में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

माध्यम	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	योग
मित्र/रिश्तेदार द्वारा	108(79.41)	8(100)	1(100)	1(100)	4(100)	122(81.33)
न्यूज पेपर द्वारा	2(1.48)	–	–	–	–	02(1.33)
टी.वी. द्वारा	1(0.73)	–	–	–	–	01(0.67)
पेम्फलेट, बैनर द्वारा	15(11.02	–	–	–	–	15(10)
अनजान व्यक्ति द्वारा	6(4.41)	–	–	–	–	06(4)
अन्य	4(2.95)	–	–	–	–	04(2.67)
योग	136(90.67)	8(5.33)	1(0. 67)	1(0.67)	4(2.66)	150(100)

नोट :– कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

अध्ययन में पाया कि हिन्दू धर्म में सर्वाधिक उत्तरदाताओं 108 (79.41) को जानकारी मित्र/रिश्तेदार से प्राप्त हुई एवं 15 प्रतिशत उत्तरदाताओं को पेम्फलेट और बैनर से जानकारी प्राप्त हुई। मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन धर्म के व्यक्तियों में जानकारी केवल मित्रों/रिश्तेदारों के माध्यम से हुई है।

इसका अर्थ ये है कि सिद्धयोग का प्रचार–प्रसार सही ढंग से नहीं हो पाया है और लोगों द्वारा अभी भी इसे धर्म विशेष से जोड़ कर देखा जा रहा हैं।

सिद्धयोग व धर्म का सम्बन्ध

सिद्धयोग का किसी धर्म विशेष से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सभी (150) उत्तरदाताओं का कहना है कि इसे सभी धर्म के लोगों द्वारा अपनाया जा सकता ळें

सारणी 4.12

सिद्धयोग से जुड़ाव एवं आवास की प्रकृति

सिद्धयोग से लाभान्वित सूचनादाताओं में इससे जुड़ने के भिन्न–भिन्न कारण देखे गये एवं इसी आधार पर सारणी में आंकड़ो का विवेचन किया गया है।

जुड़ने का कारण	ग्रामीण	नगरीय	योग
बीमारी के कारण	38(38)	15(30)	53(62..35)
जिज्ञासा के कारण	36(36)	10(20)	46(54.11)
आध्यात्मिक रुझान के कारण	19(19)	19(38)	38(44.70)
नशों से मुक्ति हेतु	–	01(2)	01(0.67)
पारिवारिक सदस्य की व्याधि के कारण	03(3)	02(4)	05(3.33)
अन्य	04(4)	03(6)	07(4.66)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)
नोट :– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

सारणी 4.12 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि आवास की प्रकृति के आधार पर नगरीय तथा ग्रामीण उत्तरदाता जो व्याधि के कारण सिद्धयोग से जुड़े हैं उनकी सर्वाधिक संख्या 53 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 62.35 प्रतिशत है। इसी प्रकार जिज्ञासा के कारण सिद्धयोग से जुड़ने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 46 अर्थात् 54.11 व आध्यात्मिक रुझान के कारण 44.70 प्रतिशत है। अंततः महत्वपूर्ण बात यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्र के अधिकतम 38 प्रतिशत उत्तरदाता व्याधि के कारण जुड़े हैं।

सिद्धयोग के बारे में ग्रामीण व्यक्तियों में जिज्ञासा नगरीय क्षेत्र के व्यक्तियों से अधिक है जिसका प्रतिशत क्रमशः 36 एवं 20 है एवं आध्यात्मिक रुझान के कारण नगरीय क्षेत्रों के लोगों का जुड़ाव ग्रामीण क्षेत्र की तुलना में दोगुना पाया गया जो कि क्रमशः 38 एवं 19 प्रतिशत है। ठीक इसी प्रकार अन्य चरों के आधार पर भी तथ्यों का विश्लेषण किया गया है।
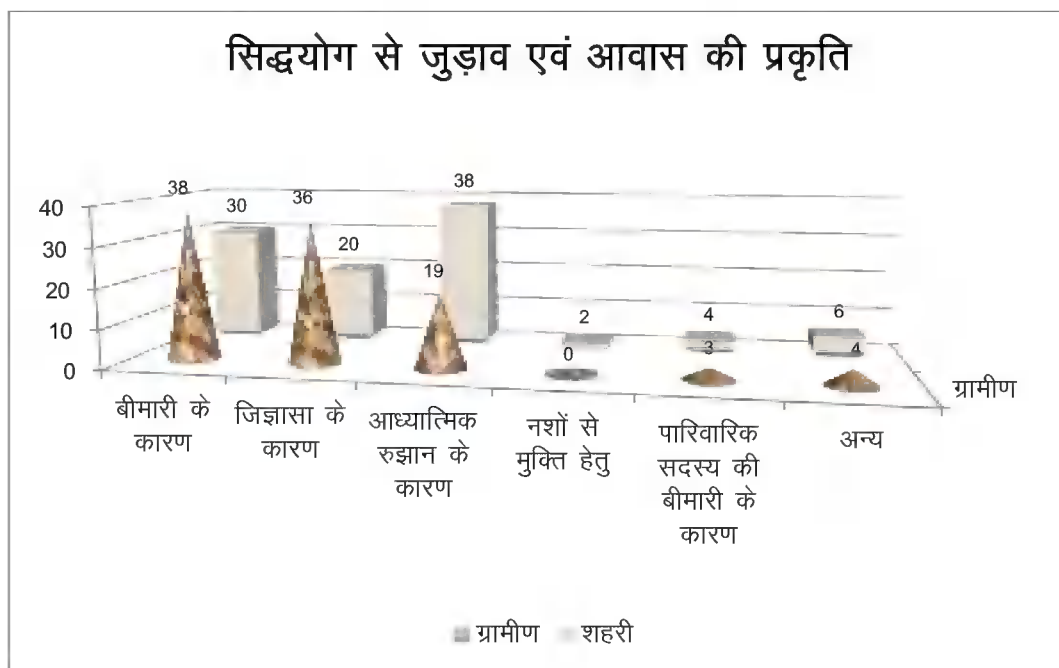
सारणी 4.13

सिद्धयोग से जुड़ने का कारण एवं लिंग

शोध कार्य में जब लिंग के आधार पर इस योग से जुड़ने के कारण पूछे गये तो प्रस्तुत जानकारी दी गई एवं तथ्यों का गहन विश्लेषण करने का प्रयास किया।

जुड़ने का कारण	महिला	पुरुष	योग
बीमारी के कारण	30(46.15)	23(27.05)	53(62..35)
जिज्ञासा के कारण	18(27.70)	28(32.95)	46(54.11)
आध्यात्मिक रुझान के कारण	12(18.46)	26(30.59)	38(44.70)
नशों से मुक्ति हेतु	–	01(1.17)	01(0.67)
पारिवारिक सदस्य की व्याधि के कारण	02(3.07)	03(3.53)	05(3.33)
अन्य	03(4.62)	04(4.71)	07(4.66)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)
नोट :–सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

सारणी 4.13 से स्पष्ट है, कि महिलायें, पुरुषों की तुलना में व्याधि के कारण सिद्धयोग को ज्यादा अपना रही हैं जिनका प्रतिशत क्रमशः 46.15 एवं 27.05 है। पुरुषों में सिद्धयोग के प्रति आध्यात्मिक रुझान महिलाओं की तुलना में अधिक पाया गया जो कि 30.58 एवं 18.46 रहा।

इसी प्रकार पुरुषों में जिज्ञासा के कारण सिद्धयोग से जुड़ने का प्रतिशत महिलाओं की तुलना में अधिक रहा जो कि 32.9 एवं 27.70 है। केवल नशे मुक्ति हेतु सिद्धयोग से जुड़ने का प्रतिशत सर्वाधिक निम्न रहा है।

सारणी 4.14

सिद्धयोग से जुड़ने की अवधि

प्रस्तुत शोध में सिद्धयोग से जुड़ने की अवधि के आधार पर उत्तरदाताओं से यह जानने का प्रयास किया गया कि वे कितने समय से सिद्धयोग से जुड़े हैं।

क्र.सं.	सिद्धयोग से जुड़ने की अवधि (वर्ष में)	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	2 वर्ष लगभग	25	16.67
2	5 वर्ष लगभग	59	39.33
3	10 वर्ष लगभग	40	26.67
4	15 वर्ष लगभग	26	17.33
	योग	150	100

अध्ययन के आंकड़ो में पाया कि सिद्धयोग में 15 वर्ष से जुडने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 26 है। जो कुल उत्तरदाताओं का (150) 17.33 प्रतिशत है। इससे ज्ञात होता है कि सिद्धयोग का प्रचार एवं इससे प्रभावित होने के परिणाम पिछले 15 वर्षो से ही आने लगे हैं और गत 5 वर्षों में लोगों का सिद्धयोग के प्रति रुझान और अधिक होने लगा है इसकी पुष्टि सारणी 4.12 से स्पष्ट होती है अर्थात् सर्वाधिक 59 उत्तरदाता ऐसे हैं जो गत 5 वर्षों से सिद्धयोग से जुड़े हैं जिनका प्रतिशत 39.33 है।

इस शोध में अधितकम 15 वर्ष व न्यूनतम 2 वर्ष तक के उत्तरदाताओं को ही लिया गया है।

सारणी 4.15

सिद्धयोग एवं गुरुदर्शन

गुरुदर्शन के प्रति समाज में यही धारणा है कि जीवन में एकबार जाना ही होता है परन्तु सिद्धयोग में इसके प्रति अलग ही मत मिले हैं जिन्हें सारणी में दर्शाया गया है।

गुरुदर्शन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
गुरु के पास नियमित रूप से जाना चाहिये	2	1.33
गुरु के पास जीवन में एक बार (दीक्षा के समय) तो जाना चाहिये	6	4
कभी—कभी जाते रहना चाहिये जैसे गुरुपूर्णिमा व गुरु अवतरण दिवस	14	9.34
गुरु के पास जाने का कोई बन्धन नहीं है क्योंकि जीवन में एक बार भी गुरु के समक्ष ना जाने पर भी साधना के कोई अन्तर या प्रभाविता में कमी नहीं आती, गुरु शक्ति सर्वव्यापक व सर्वसमर्थ है।	128	85.33
योग	150	100

जब उत्तरदाताओं से गुरुदर्शन के बारे में जानकारी लेने का प्रयास किया तो सर्वाधिक 85.33 प्रतिशत ने बताया कि इस योग में गुरु के पास जाने का कोई बन्धन नहीं है क्योंकि जीवन में एक बार भी गुरु के समक्ष ना जाने पर भी साधना के कोई अन्तर या प्रभाविता में कमी नहीं आती, गुरु शक्ति सर्वव्यापक व सर्वसमर्थ है।

सारणी 4.16

दीक्षा लेने की विधि

पिछले 5 वर्षो में गुरुदेव ने अपने सानिध्य में दीक्षा देना बंद कर दिया एवं अन्य संचार माध्यम से दीक्षा देना आरम्भ किया। अतः दीक्षा लेने की विधि के बारे में उत्तरदाताओं से विचार जानने का प्रयास किया गया।

दीक्षा लेने के तरीके	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
गुरुदेव के सानिध्य में	107	71.33
सी.डी. से	18	12
इन्टरनेट से	1	0.66
टी.वी. से	10	6.67
मोबाइल फोन से	14	9.34
योग	150	100

सारणी 4.16 से स्पष्ट है कुल चयनित 150 उत्तररदाताओं में से अधिकतम 107 अर्थात् 71.33 प्रतिशत ने गुरुदेव के सानिध्य में दीक्षा ली है एवं 28.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अन्य संचार के माध्यमों से भी ली गई। इससे सिद्ध होता है कि दीक्षा अनेक तरीकों से ली जा सकती है लेकिन अधिकांशतः पुराने शिष्यों ने गुरुदेव के सानिध्य में दीक्षा ली है क्योंकि 2009 से पहले गुरुदेव केवल अपने सानिध्य में ही दीक्षा दिया करते थे। इसके पश्चात् गुरुदेव ने दीक्षा संचार के अन्य माध्यम से भी देना आरम्भ कर दी।

दीक्षा लेने के तरीके

गुरुदेव के सानिध्य में | सी.डी. से | इन्टरनेट से | टी.वी. से | मोबाइल से

मोबाइल से
टी.वी. से 6.67
इन्टरनेट से 0.66
सी.डी. से
गुरुदेव के सानिध्य में
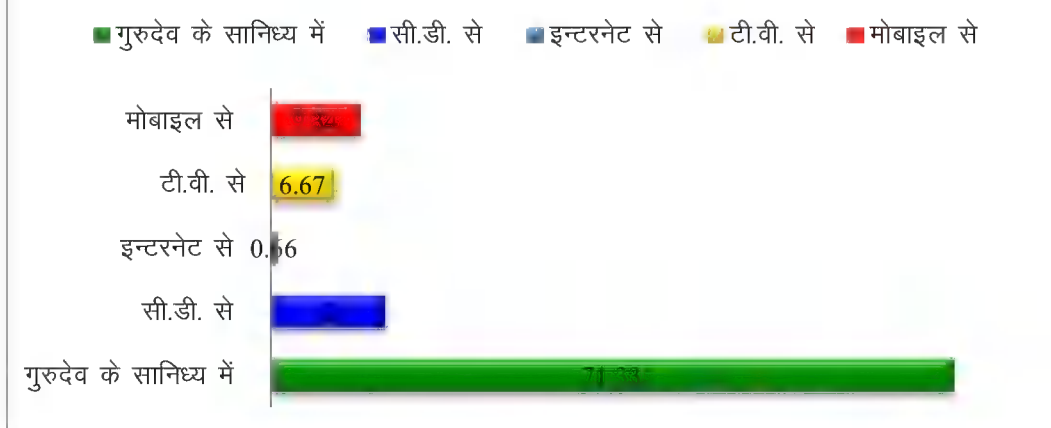
सारणी 4.17

विभिन्न धर्म एवं दीक्षा की विधि

सिद्धयोग में समर्थ गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति से किसी भी माध्यम से दीक्षा दे सकते हैं क्योंकि गुरु शक्ति सर्वव्यापक एवं सर्वभूत है। इस आधार पर विभिन्न धर्म के उत्तरदाताओं में दीक्षा प्राप्ति की विधि में अन्तर पाया गया।

दीक्षा की विधि	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	योग
गुरुदेव के सानिध्य में	105(77.20)	02(25)	—	—	—	107(71.33)
सी.डी. से	18(13.25)	—	—	—	—	18(12)
इन्टरनेट से	01(0.73)	—	—	—	—	1(.66)
टी.वी. से	04(2.94)	03(37.5)	—	01(100)	02(50)	10(6.67)
मोबाइल फोन से	8(5.88)	03(37.5)	01(100)	—	02(50)	14(9.34)
योग	136(90.67)	8(5.33)	1(0.67)	1(0.67)	4(2.66)	150(100)
नोट :— सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

सारणी 4.17 से स्पष्ट है कि अधिकांश हिन्दू उत्तरदाताओं ने दीक्षा गुरुदेव के सानिध्य में ली है जबकि अधिकांश अल्पसंख्यक वर्ग के उत्तरदाताओं ने दीक्षा संचार के

अन्य माध्यम द्वारा ली है, इसका कारण इस वर्ग के लोगों का किसी भी कारण से खुलकर सामने न आना रहा है।

सारणी 4.18

आवास की प्रकृति एवं दीक्षा का तरीका

प्रस्तुत तालिका में आवास के आधार पर उत्तरदाताओं से यह जानने का प्रयास किया गया कि दीक्षा लेने के तरीके के बारे में उनके क्या विचार हैं।

दीक्षा का तरीका	ग्रामीण	नगरीय	योग
गुरुदेव के सानिध्य में	63(63)	44(88)	107(71.33)
सी.डी. से	14(14)	04(8)	18(12)
इन्टरनेट से	—	01(2)	1(.66)
टी.वी. से	10(10)	—	10(6.67)
मोबाइल फोन से	13(13)	01(2)	14(9.34)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)
नोटः— सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

जैसा कि सारणी 4.18 में दर्शाया गया है कि नगरीय एवं ग्रामीण उत्तरदाता जिन्होंने गुरुदेव के सानिध्य में दीक्षा ली उनकी संख्या सर्वाधिक है। ग्रामीण क्षेत्र के उत्तरदाताओं ने नगरीय क्षेत्र की तुलना में इलेक्ट्रोनिक माध्यम से दीक्षा ज्यादा ली है जिसका प्रतिशत क्रमशः 37 एवं 6 रहा है।

ग्रामीण उत्तरदाताओं का इलेक्ट्रोनिक माध्यम से दीक्षा अधिक लेने का कारण उनका गुरुदेव के पास न पहुँच पाना/आर्थिक कारण भी हो सकता है।

सारणी 4.19

दीक्षा का प्रभाव

समय, व परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति द्वारा भिन्न–भिन्न माध्यमों से दीक्षा ली गई एवं इनकी प्रभाविकता का मत भी जाना गया।

विभिन्न प्रकार की दीक्षा मत	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
सभी दीक्षाएं समान होती हैं।	126	84
गुरु के सानिध्य में ली गई दीक्षा का प्रभाव ज्यादा है।	17	11.33
पता नहीं	7	4.67
योग	150	100

संकलित आंकड़ो से पता चलता है कि सभी दीक्षायें समान होती हैं यह कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 126 है जो कुल उत्तरदाताओं (150) का 84 प्रतिशत है इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की दीक्षा लेने के तरीके में कोई बन्धन नहीं है एवं सभी दीक्षायें समान होती हैं।

सारणी 4.20

प्रतिदिन ध्यान

सिद्धयोग अभ्यास के अन्तर्गत ध्यान भी महत्वपूर्ण घटक है इसमें किये जाने वाले ध्यान की संख्या की अहम भूमिका है अतः उत्तरदाताओं से इससे सम्बन्धित तथ्य एकत्रित किये गये हैं जो सारणी 4.20 से स्पष्ट हैं।

प्रतिदिन कितनी बार ध्यान करते हैं	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
एक बार	48	32
दो बार	84	56
तीन बार	—	—
कोई निश्चित नहीं	18	12
योग	150	100

अध्ययन में पाया कि दो बार ध्यान करने वालों की संख्या 84 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 56 प्रतिशत है जिन्होंने ध्यान का कोई समय ही निश्चित नहीं किया है उनकी संख्या 18 है अर्थात् 12 प्रतिशत है। इससे ज्ञात होता है कि ध्यान कितनी भी बार किया जा सकता है परन्तु अधिकांश उत्तरदाता दो बार ध्यान के पक्ष में हैं, वैसे गुरुदेव भी दो बार ध्यान करने के लिए कहते हैं।

ध्यान के, मन शरीर पर प्रभाव एवं इसकी निदानिक प्रभाविकता पर बड़ी संख्या में अध्ययन प्रकाशित हुये हैं। ध्यान अधिक व्यापक रूप से चिकित्सकीय साधन के रूप में देखा जाता है। ध्यान से लाभ हमेशा होता है। उपचारात्मक प्रभाव को प्राप्त करने के लिये नियमित अभ्यास हेतु प्रेरित करने के लिये, ध्यान के तरीके को चुनना महत्वपूर्ण है (Burke: 237-242)।

सारणी 4.21

ध्यान का समय

इस प्रकार उत्तरदाताओं ने स्पष्ट किया कि ध्यान किसी भी समय किया जा सकता है परन्तु अधिकांश उत्तरदाता सुबह एवं शाम ध्यान करने के पक्ष में हैं। इसे कब करना चाहिए सारणी के आंकड़ो में देखा जा सकता है।

ध्यान का समय	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
केवल सुबह	26	17.33
केवल शाम	26	17.33
सुबह–शाम का समय	60	40
कोई समय निश्चित नहीं	38	25.34
योग	150	100

आंकड़ो से स्पष्ट है कि सुबह–शाम ध्यान करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 60 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 40 प्रतिशत है। केवल सुबह और केवल शाम ध्यान करने वाले उत्तरदाता की संख्या भी समान रही।

अतः कह सकते हैं कि ध्यान कभी भी कि किया जा सकता हैं लेकिन अधिकांश उत्तरदाताओं का मत सुबह–शाम ध्यान करने का है वैसे गुरुदेव भी सुबह–शाम ध्यान करने के लिए कहते हैं।

सारणी 4.22

ध्यानावधि

सारणी में उत्तरदाताओं द्वारा किये जाने वाले ध्यान की अवधि को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ध्यान की अवधि	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
5 से 10 मिनट	19	12.67
15 से 20 मिनट	105	70
30 मिनट	8	5.33
कोई समय निश्चित नहीं	18	12
योग	150	100

इसी प्रकार जो उत्तरदाता 15 से 20 मिनट का ध्यान करते हैं, उनकी संख्या सर्वाधिक 105 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 70 प्रतिशत है जो 30 मिनट ध्यान करते हैं उनकी संख्या 8 है जो कुल उत्तरदाता की संख्या (150) का 5.33 प्रतिशत है। जिन उत्तरदाताओं ने ध्यान की अवधि निश्चित नहीं की है उनकी संख्या 18 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 12 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि ध्यान कितनी ही अवधि के लिए किया जा सकता है लेकिन सर्वाधिक उत्तरदाता भी 15 से 20 मिनट का ही ध्यान करते हैं और गुरुदेव भी 15 से 20 मिनट ध्यान करने के लिए कहते हैं।

सारणी 4.23

ध्यान के बाद की स्थिति

सारणी के आंकड़ो से जाना कि सिद्धयोग में 2 बार सुबह–शाम, 15–20 मिनट ध्यान के पश्चात् उत्तरदाताओं की मनोस्थिति में क्या अन्तर आता है।

(Choi et.al. 2011) ने पाया कि एक्यूप्रेशर और ध्यान को दर्द के चिकित्सकीय उपचार में व्यापक रूप से उपयोग में लिया जा रहा है। एक अध्ययन किया गया जिसमें पाया गया कि ध्यान करने वालों में अन्य की तुलना में ज्यादा दर्द सहने की क्षमता है।

क्र.सं.	ध्यान के बाद की स्थिति	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	शांति, आराम का अहसास होता है	120	80
2.	कोई खास फर्क नहीं पड़ता	01	0.67
3.	कभी अच्छा लगता है कभी कुछ नहीं लगता	15	10
4.	सिर भारी हो जाता है एवं अजीब सा अहसास होता है	14	9.33
	योग	150	100

शोध में पाया कि शान्ति/आराम का अनुभव होता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की सर्वाधिक संख्या 120 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 80 प्रतिशत है। यह योग मन को शांत करने में मदद करता है।
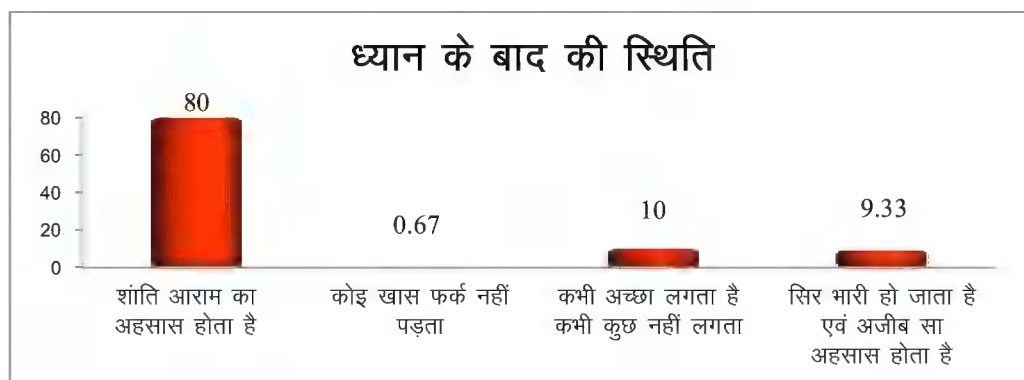
सारणी 4.24

प्रतिदिन मंत्र जाप

इस पद्धति के अन्तर्गत दीक्षित शिष्य द्वारा ध्यान में मंत्र जाप किया जाता है जाप का सम्बन्ध केवल ध्यान के समय करने से ही नहीं, वरन इसे अधिकतम समय करना चाहिए। इसके पश्चात् अभ्यास करने पर अजपा आने लग जाता है। गुरु सियाग अधिकतम मंत्र जाप करने को कहते हैं। सिद्धयोग में मंत्र जाप के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं के भिन्न–भिन्न प्रकार के विचार मिले हैं।

क्र. सं.	प्रतिदिन मंत्र जाप करने के सम्बन्ध में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	1 से 3 घण्टे	12	8
2	3 से 5 घण्टे	9	6
3	कह नहीं सकते बीच–बीच में याद आता है तो कर लेते हैं	48	32
4	केवल ध्यान के समय ही करते हैं बाकी तो कभी–कभी कर पाते हैं	23	15.33
5	अब मंत्र जाप नहीं करते हैं (नाद सुनते हैं)	24	16
6	स्वतः ही नाम जप निरन्तर चलता रहता है करना नहीं पड़ता (अजपा)	34	22.67
	योग	150	100
नोट :–कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

सारणी के अवलोकन से स्पष्ट है कि, मंत्र जाप करने के संदर्भ में जिसमें कह नहीं सकते बीच–बीच में याद आता है तो कर लेते हैं ऐसा कहने वाले सबसे ज्यादा उत्तरदाता 48 (32) मिले एवं स्वतः ही नाम जप निरन्तर चलता रहता है करना नहीं पड़ता (अजपा) ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 34 (22.67) हैं एवं 24(16) उत्तरदाताओं को नाद सुनाई देता है, कोई केवल ध्यान के दौरान जाप करता है, बाकी सब अपनी–अपनी सुविधा से करते हैं,

जबकि गुरुदेव का कहना है जितना नाम जाप (मंत्र) किया जायेगा उसके अनुपात में ही परिणाम प्राप्त होंगे।

सारणी 4.25

अजपा जाप के सम्बन्ध में

क्षेत्रीय अध्ययन में ऐसे उत्तरदाताओं को भी चिन्हित किया गया जिन्हें अजपा जाप आता है। अजपा जाप के अन्तर्गत साधक को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता बल्कि इसमें मंत्र निरन्तर स्वतः ही चलता रहता है।

क्र. सं.	अजपा जाप आने के सम्बन्ध में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	34	65.39
2	कभी कभी महसूस होता है	18	34.61
	योग	52	100
नोटः— केवल अजपा जाप आने वाले कुल उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

सारणी 4.25 से स्पष्ट है कि अजपा जाप आने लगता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की सख्या 34 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (52) का 65.39 प्रतिशत है इसी प्रकार अजपा जाप कभी—कभी महसूस होता है, ऐसा कहने वाले उतरदाताओं की संख्या 18 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (52) का 34.61 प्रतिशत है।

इससे स्पष्ट होता है कि, सिद्धयोग की साधना से उतरदाताओं को अजपा जाप आने लगता है, इसके पश्चात् एक विशेष ध्वनि कानों में सुनाई देनी शुरू हो जाती है जिसे नाद के नाम से जाना जाता है।

अजपा जाप के सम्बन्ध में

हाँ 65.39

कभी कभी महुसस होता है 34.61
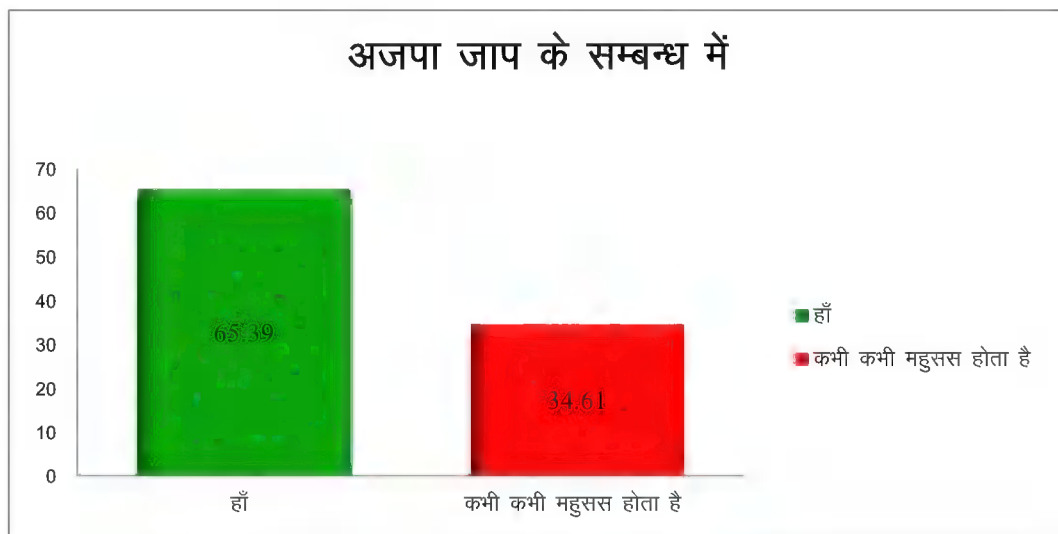
<u>सारणी 4.26</u>

<u>नाद शुरू होने का समय</u>

नाद व अजपा का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जब अजपा जाप आ जाता है तो परिणामस्वरूप विशेष ध्वनि कान में सुनाई देना शुरू हो जाती है (नाद) एवं नाद आने की समयावधि में भिन्नता पायी गयी है।

क्र.सं.	नाद शुरू होने का समय	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	1 वर्ष में	06	25
2	1 से 3 वर्ष में	12	50
3	3 वर्ष से अधिक	06	25
4	योग	24	100
नोटः— केवल नाद वाले उत्तरदाताओं को लिया गया।			

प्रस्तुत सारणी 4.26 से स्पष्ट है कि नाद 1 से 3 वर्ष बाद आता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 50 प्रतिशत हैं इसी प्रकार जिन उत्तरदाताओं ने कहा कि नाद 1 वर्ष में व 3 वर्ष से अधिक समय में आया, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं का प्रतिशत (25) दोनों में समान है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि सिद्धयोग की साधना करने वालों में ज्यादातर को नाद 1 से 3 वर्ष बाद आता है।

सारणी 4.27

नाद के साथ जाप का सम्बन्ध

जब नाद सुनाई देने लगता है तो उसके साथ नाम जाप (मंत्र) करने व नहीं करने के संदर्भ में जानकारी ली गई एवं निम्न तथ्यों की प्राप्त हुई।

क्र.सं.	नाद सुनाई देने के बाद भी मंत्र जाप करने के सम्बन्ध में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	10	41.67
2	नहीं (मंत्र जाप करते ही नहीं)	06	25
3	जब नाद सुनाई नहीं देता, तब मंत्र जाप करते हैं।	08	33.33
	योग	24	100
नोटः– केवल नाद आने वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

सारणी 4.27 में दर्शाया गया है नाद सुनाई देने के बाद भी मंत्र जाप करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 10 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (24) का 41.67 प्रतिशत है इसी प्रकार जिस समय नाद सुनाई नहीं देता है तब मंत्र जाप करते हैं, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 8, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (24) का 33.33 प्रतिशत है। नाद सुनाई देने के बाद मंत्र जाप नहीं करने एवं केवल नाद ही सुनने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 06, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (24) का 25 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता हैं कि नाद सुनाई देने के बाद भी कुछ उत्तरदाता मंत्र जाप चालू रखते हैं, कुछ उत्तरदाता केवल नाद ही सुनते हैं और मंत्र जाप रोक देते हैं। कुछ तेज आवाज या दिन के दौरान नाद सुनाई न देने पर मंत्र जाप करना पसन्द करते हैं।

सारणी 4.28

नाद आने के संदर्भ में

नाद का अर्थ कानों में निरन्तर सुनाई देने वाली विशेष आवाज, जिसमें अलग–अलग प्रकार की ध्वनि का आना बताया गया।

क्र. सं.	नाद आने के बारे में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	नहीं आता है	126	84
2	झींगुर की आवाज की तरह	15	10
3	चिड़िया की चहक जैसा	04	2.67
4	बांसुरी जैसी आवाज	05	3.33
5	योग	150	100

शोध में सामने आया कि नाद झींगुर की आवाज की तरह आता है ऐसा कहने वाले उतरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 15 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 10 प्रतिशत है जैसा सारणी 4.28 में दर्शाया गया है। इसी प्रकार ऐसे उत्तरदाता जिनका कहना है, कि नाद बांसुरी की आवाज जैसा आता है उनकी संख्या 5 है तथा ऐसे उत्तरदाता जिनका कहना है कि नाद चिड़ियों की चहक जैसा आता है उनकी संख्या 4 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का क्रमशः 3.33 तथा 2.67 प्रतिशत है।

अतः कह सकते हैं कि सिद्धयोग की साधना करने वालो को विभिन्न प्रकार का नाद आ सकता है लेकिन सर्वाधिक उत्तरदाताओं को झींगुर की आवाज की तरह का नाद आता है।

सारणी 4.29

नाद की स्थिति

नाद की ध्वनि उत्तरदाताओं को अलग–अलग सुनाई देती है परन्तु जब नाद की स्थिति पूछी तो इस प्रकार के तथ्य भी मिले जिन्हें सारणी में स्पष्ट किया गया है।

क्र.सं.	नाद की स्थिति	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	दोनो कानों में समान आता है	15	62.5
2	दाहिने कान में ज्यादा आता है	5	20.83
3	बाँये कान में ज्यादा आता है	4	16.67
4	योग	24	100
नोटः– केवल नाद सुनाई देने वाले कुल उत्तरदाताओं का लिया गया।			

आंकड़े दर्शाते है कि नाद दोनों कानों में समान रुप से आता है, ऐसे कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या कुल उत्तरदाताओं 24 का सर्वाधिक 62.5 प्रतिशत है एवं 37.5 प्रतिशत उत्तरदाताओं को नाद ध्वनि केवल दाँहिने कान व बाँये कान में ही ज्यादा सुनाई देता है अर्थात् नाद अधिकांशतः दोनों कानों में समान रुप से आता है, परन्तु यह किसी भी कान में दूसरे की अपेक्षा अधिक भी आ सकता है।

सिद्धयोग में ध्यान के दौरान स्वतः होने वाली योगिक क्रियाऐं
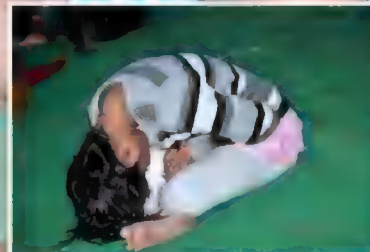
सारणी 4.30

सिद्धयोग में योगिक क्रियाऐं

योगिक क्रियाऐं सिद्धयोग का अहम् घटक हैं गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग अभ्यास के दौरान साधक में होने वाली योगिक क्रियाओं की जानकारी प्राप्त करने का भी प्रयास किया।

क्र. सं.	सिद्धयोग में होने वाली योगिक क्रियाऐं	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	स्वतः होती हैं एवं इन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है	143	95.34
2.	स्वतः होती हैं एवं इनको रोका भी जा सकता है	05	3.33
3.	मन की सोच पर निर्भर है सोचते हैं तो क्रियाऐं होने लगती हैं	02	1.33
	योग	150	100

सारणी 4.30 बताती है कि क्रियाऐं स्वतः होती हैं, इन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 143 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 95.34 प्रतिशत है। क्रियाऐं स्वतः होती हैं एवं इनको रोका भी जा सकता है ऐसा कहने वाले लोगों की संख्या मात्र 5 है जो कुल व्यक्तियों की संख्या (150) का मात्र 3.33 प्रतिशत है।

अतः इससे ज्ञात होता है, कि अधिकांशत सिद्धयोग में योगिक क्रियाऐं स्वतः होती हैं, उन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है। इन योगिक क्रियाओं में भिन्नता पाई जाती है।

सिद्धयोग में योगिक क्रियाऐं

95.34
3.33
1.33

स्वतः होती हैं एवं इन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है
स्वतः होती हैं एवं इनको रोका जा सकता है
मन की सोच पर निर्भर हैं सोचते हैं तो क्रियाऐं होने लगती हैं

सारणी 4.31

योगिक क्रियाओं का प्रकार

गुरु सियाग के सिद्धयोग में होने वाली योगिक क्रियाओं में भिन्नता देखी गई एवं योगिक क्रियाऐं व्याधि (बीमारी) के अनुसार बदलती हैं ऐसी जानकारी उत्तरदाताओं ने दी है।

क्र. सं.	ध्यान मे योगिक क्रियाओं का प्रकार	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	हमेशा एक समान होती हैं	20	13.34
2.	प्रतिदिन अलग अलग होती हैं	108	72
3.	(बीमारी) व्याधि के अनुसार बदलती रहती हैं	17	11.33
4.	कोई क्रिया नहीं होती	05	3.33
	योग	150	100

शोध के अन्तर्गत पाया गया है कि कुल 150 उत्तरदाताओं में से 108 अर्थात् 72 प्रतिशत में प्रतिदिन अलग–2 योगिक क्रियायें होती हैं। व्याधि के अनुसार योगिक क्रियायें बदलती हैं, ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 11.33 प्रतिशत रहे हैं। अतः इससे स्पष्ट होता है कि सिद्धयोग में ध्यान के दौरान होने वाली योगिक क्रियाऐं प्रतिदिन अलग–अलग होती हैं परन्तु यह व्याधि या परेशानी के अनुसार भी बदलती हैं जैसे–जैसे व्याधि ठीक होती हैं, उसी हिसाब से योगिक क्रिया भी बदलती जाती हैं।

सारणी 4.32

बिना दीक्षा के गुरुदेव के फोटो से ध्यान में योगिक क्रियाओं का होना

दीक्षा का योगिक क्रियाओं से कोई सम्बनध नहीं है क्योंकि योगिक क्रियाऐं कुण्डलिनी जागरण से ही शुरू हो जाती हैं, यह गुरुदेव रामलाल सियाग के फोटो के ध्यान से ही जाग्रत हो जाती है।

क्र.सं.	बिना दीक्षा के गुरुदेव के फोटो से योगिक क्रियायें शुरू हुई	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	93	84.55
2	नहीं	17	15.45
3	योग	110	100
नोटः—बिना दीक्षा के ध्यान आरम्भ करने वाले उत्तरदाताओं को लिया गया			

गुरुदेव से दीक्षा लिए बिना ही केवल गुरुदेव के फोटो से ही ध्यान करने पर योगिक क्रियाओं का होना 93 उत्तरदाताओं में पाया गया जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 84.55 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.32 से स्पष्ट होता है।

इससे सिद्ध होता हैं कि गुरुदेव से दीक्षा लिये बिना भी गुरुदेव के फोटो से ध्यान करने पर योगिक क्रियाऐं होती हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि एक निर्जीव चित्र का ध्यान करने पर मनुष्य के शरीर में विभिन्न क्रियायें कैसे आरम्भ हो जाती हैं।

खेचरी मुद्रा

ध्यान में स्वतः लगने वाले विभिन्न प्रकार के आसन, बन्ध एवं मुद्राऐं

योगिक क्रियाओं के प्रकार

योगिक क्रियाओं के प्रकार

- बन्ध लगने के संदर्भ में
  - मूलाधार बंध, गुदा ऊपर की ओर खिंचना
  - उड्डियान बंध, पेट का अन्दर की तरफ खिंचना
  - जालंधर बंध, ठोडी का सीने को दबाना
- प्राणायाम होने के बारे में
  - एक प्रकार के
  - कई प्रकार के
  - अनेक प्रकार के
- कुण्डलिनी शक्ति एवं चक्रों का अहसास
- खेचरी मुद्रा लगना जीभ का पीछे की ओर उलट कर तालू को स्वतः ही दबाना एवं दिव्य रस का तालू में से टपकना
- ध्यान में विभिन्न मुद्रा एवं आसन के बारे में
  - अनेक प्रकार के होते हैं जिसका उल्लेख किसी योग पुस्तक मे नहीं मिलता हैं
  - जैसे योग पुस्तक में बताये जाते हैं, वैसे ही लगते हैं।
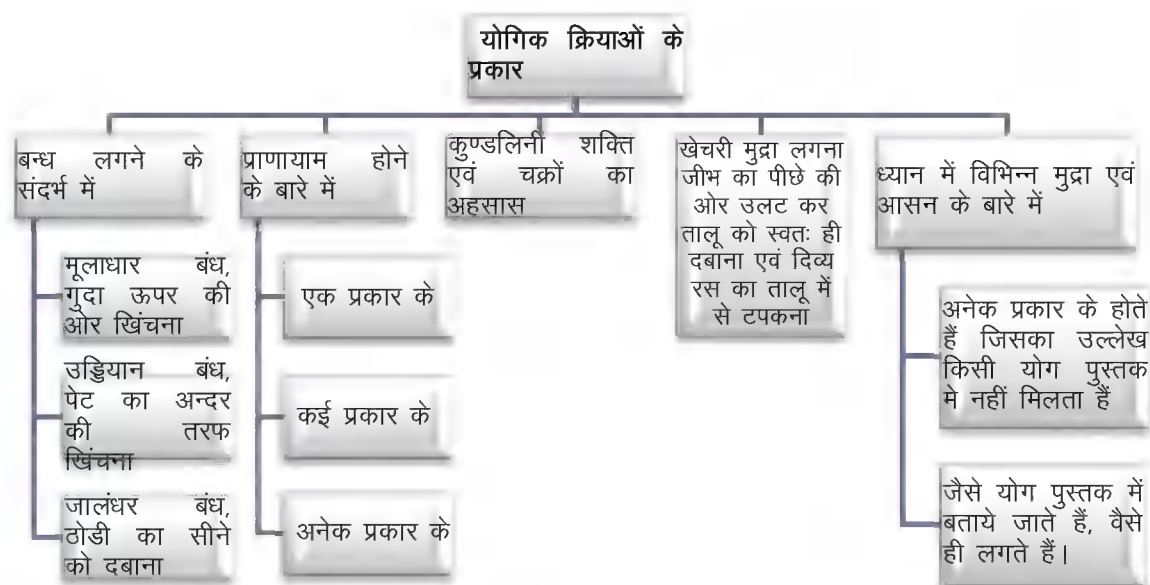
सारणी 4.33

बंध लगने के संदर्भ में

सिद्धयोग में विभिन्न प्रकार की योगिक क्रियाऐं होती हैं। इसके अर्न्तगत बन्ध भी योगिक क्रिया का ही प्रकार है, कौन–कौन से बन्ध लगते हैं उत्तरदाताओं से इनकी जानकारी ली गई।

बंध लगने के बारे में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
मूलाधार बंध, गुदा का ऊपर की ओर खिंचना	38	25.33
उड्डियान बंध, पेट का अन्दर की तरफ खिंचना	55	36.67
जालंधर बंध, ठोड़ी का, सीने को दबाना	95	63.34
नहीं लगे	34	22.26
नोट :– कई उत्तरदाताओं को 1 से ज्यादा बन्ध लगे हैं।		

प्रस्तुत सारणी में बंध लगने के संदर्भ मे कई उत्तरदाताओं ने बतलाया कि उन्हें जालंधर बंध लगा, जिसमें ठोडी स्वतः ही सीने से चिपक जाती है। ऐसा कहने वाले उत्तररदाताओं की संख्या सर्वाधिक 95 है, जो कुल उत्तरदाताओं का 63.34 प्रतिशत है, इसी प्रकार उड्डियान बंध जिसमें पेट अन्दर की ओर खिंचता है, कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 55 तथा मूलाधार बन्ध, जिसमें गुदा ऊपर की ओर खिंचता है, कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 41 है, जो कुल उत्तरदाताओं का क्रमशः 36.67 प्रतिशत तथा 25.33 प्रतिशत है।

स्पष्ट होता है कि सिद्धयोग की साधना में अधिकांश उत्तरदाताओं को विभिन्न प्रकार के बन्ध लगते हैं, उत्तरदाताओं को बन्ध एक, दो या तीनों प्रकार के भी लग सकते हैं, सर्वाधिक उत्तरदाताओं को जालंधर बंध लगा।

बंध लगने के संदर्भ मे

22.66
36.67
25.33
63.34

उड्डियान बंध पेट का अन्दर की तरफ खिंचना
जालंधर बंध ठोड़ी का सीने को दबाना
मूलाधार बंध गुदा ऊपर की ओर खिंचना
नहीं लगे
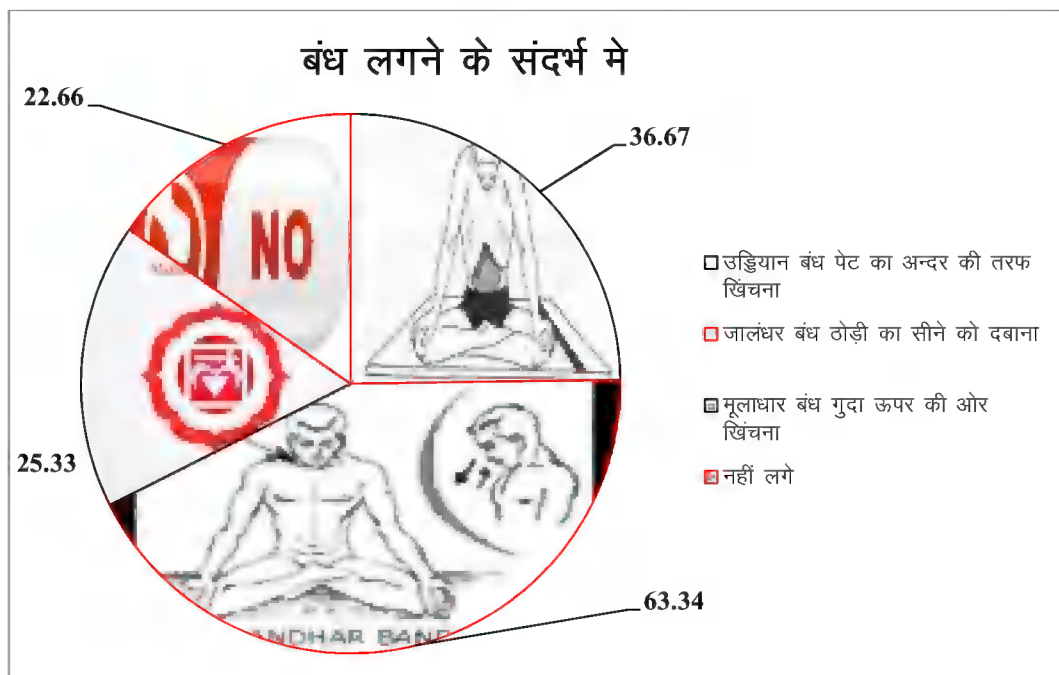
सारणी 4.34

प्राणायाम होने के संदर्भ में

ठीक इसी प्रकार बन्ध के साथ–साथ प्राणायाम भी स्वतः होने वाली योगिक क्रिया का ही भाग हैं।

प्राणायाम होने के बारे में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
एक प्रकार का	49	32.66
अनेक प्रकार के	65	43.34
नहीं हुऐ	36	24
योग	150	100

सारणी के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से 114 अर्थात् 76 प्रतिशत ऐसे उत्तरदाता मिले जिन्हें एक से अनेक प्रकार के प्राणायाम हुए हैं। जिससे पता चलता है कि सिद्धयोग की साधना करने पर अनेक प्रकार के प्राणायाम स्वतः ही होते हैं।

सारणी 4.35

कुण्डलिनी शक्ति एवं चक्रों का अहसास

कुण्डलिनी शक्ति जब जागृत होती है तो वह अपना प्रमाण देती है एवं इसका एहसास साधक को होता है, चक्रों का एहसास होना भी इसकी ही प्रक्रिया है। इस शोध में कुण्डलिनी व चक्रों के स्तर के एहसास को जाँचा है।

- प्राणायाम रहस्य में कहा है, कि सिद्धयोग के अन्तर्गत कुण्डलिनी का जागरण शक्तिपात द्वारा किया जाता है, सद्गुरु के शक्तिपात से साधक को अतिश्रम नहीं करना पड़ता, उसका समय बच जाता है और साधना में सफलता भी शीघ्र प्राप्त हो जाती है परन्तु ऐसे शक्तिपात करने वाले सिद्ध पुरूष मिलना अत्यधिक दुर्लभ हैं (स्वामी 2005: 48)।

कुण्डलिनी व चक्रों के स्तर का अहसास	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	36	24
नहीं	90	60
कभी–कभी महसूस होता है	24	16
योग	150	100

तथ्यों से स्पष्ट होता है कि कुण्डलिनी–शक्ति एवं चक्रों के स्तर का अहसास होता है, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 36 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 24 प्रतिशत है, अहसास कभी कभी होता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 24 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 16 प्रतिशत है इससे ज्ञात होता हैं कि सिद्धयोग की साधना करने से कुण्डलनी शक्ति एवं चक्रों के स्तर का अहसास होता है।

सारणी 4.36

खेचरी मुद्रा

वैसे तो खेचरी मुद्रा हर किसी को नहीं लगती है क्योंकि इसे विशेष मुद्रा माना जाता है। परन्तु गुरु सियाग के सिद्धयोग में जिन साधकों को खेचरी मुद्रा लगी उसे सारणी 4.36 में दर्शाया गया है।

खेचरी मुद्रा लगना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
नहीं लगी	130	86.67
हाँ	12	8
जीभ उलटती है परन्तु दिव्य रस नहीं टपकता	8	5.33
योग	150	100

अध्ययन से पता चलता है खेचरी मुद्रा लगती है, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 12 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 8 प्रतिशत है इसी प्रकार जिन उत्तरदाताओं ने कहा कि जीभ उलटती है, परन्तु दिव्य रस नहीं टपकता है, उनकी संख्या

8 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 5.33 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना में साधकों को खेचरी मुद्रा लगती है।

सारणी 4.37

ध्यान में आसन, प्राणायाम व बन्ध

अनुसंधान में पाया कि ध्यान में कई प्रकार के बन्ध, प्राणायाम व आसन लगते हैं, लेकिन इनमें योग पुस्तक के अलावा भिन्नता देखी गई जैसा प्रस्तुत सारणी से स्पष्ट है।

आसन, प्राणायाम व बन्ध	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
जैसे योग पुस्तक में बताये जाते हैं वैसे ही लगते हैं।	12	8
अनेक प्रकार के होते हैं जिसका उल्लेख किसी योग पुस्तक में नहीं मिलता है	105	70
कभी लगे ही नहीं	33	22
योग	150	100

उत्तरदाताओं से प्राप्त आंकड़ो के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि ध्यान में विभिन्न प्रकार के आसन, प्राणायम एवं बन्ध लगते हैं। जिनका उल्लेख किसी योग पुस्तक में नहीं मिलता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 105 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 70 प्रतिशत है, जैसे योग पुस्तक में बताये गये हैं, वैसे ही आसन, बन्ध, प्राणायाम होते हैं ऐसा 12 उत्तरदाताओं ने कहा है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 8 प्रतिशत हैं अर्थात सिद्धयोग में ध्यान के दौरान स्वतः ही विभिन्न प्रकार के आसन, प्राणायाम व बन्ध लगते हैं।

सारणी 4.38

ध्यान में अनुभूति का एहसास

जब साधक ध्यान करता है तो उसे स्वतः ही कुछ अनुभूति होती है जिसकी सत्यता की जाँच के लिए निम्न तथ्यों को आधार बनाकर जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

ध्यान में अनुभूति का एहसास	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हमेशा सत्य होती हैं	16	10.67
कभी कभी सत्य होती हैं	16	10.67
पता नहीं, समझ नहीं आता अनुभूति हैं भी या नहीं	47	31.33
नहीं होती हैं	67	44.66
अन्य	4	2.67
योग	150	100

अध्ययन से ज्ञात हुआ है 21.34 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि ध्यान में हुई अनुभूतियाँ हमेशा या कभी कभी सत्य होती हैं। पता नहीं समझ नहीं आता अनुभूति हैं भी या नहीं कहने वाले अधिकतम 31.33 प्रतिशत उत्तरदाता हैं। सारणी 4.38 से स्पष्ट है कि सिद्धयोग के ध्यान में अनुभूतियों का अहसास तो होता ही है।

सारणी 4.39

ध्यान में नील बिन्दु का दिखना

होने वाली अनुभूतियों में नील बिन्दु का दिखना भी अनुभूति का ही भाग है जो कि आध्यात्मिक खोज वालों के लिए एक सकारात्मक संकेत को दर्शाता है।

ध्यान मे नील बिन्दु का दिखना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	38	25.33
नहीं	112	74.67
योग	150	100

सारणी 4.39 के अवलोकन से स्पष्ट है कि ध्यान में नील बिन्दु दिखाई देता हैं, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 38 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 25. 33 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता हैं कि सिद्धयोग का ध्यान करने पर नील बिन्दु भी दिखाई देता है परन्तु अधिकांश उत्तरदाताओं को नील बिन्दु दिखाई नहीं दिया है।

सारणी 4.40

ध्यान में दिव्य गंध व कम्पन का अनुभव

सिद्धयोग में ध्यान के अन्तर्गत होने वाली अनुभूतियां क्या–2 रहीं, इसकी जानकारी उत्तरदाताओं से ली गई।

ध्यान में दिव्य गंध व कम्पन का अनुभव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
कम्पन का	92	61.33
दिव्य गंध का	13	8.67
दोनों का नहीं हुआ	46	30
योग	150	100

इस प्रकार अध्ययन से स्पष्ट है कि ध्यान में सर्वाधिक उत्तरदाताओं को कम्पन का अनुभव हुआ जिनकी संख्या 92 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 61.33 प्रतिशत है, जैसा सारणी 4.40 से स्पष्ट है, दिव्य गंध का अनुभव हुआ, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 13 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 8.67 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता हैं कि ध्यान के दौरान कम्पन, दिव्य गंध का अनुभव होता है।

सारणी 4.41

ध्यान में प्रकाश दिखना

ध्यान में दिखने वाले प्रकाश के रंग की भिन्नता की अनुभूति भी उत्तरदाताओं द्वारा बताई गयी है। सारणी 4.41 विभिन्न रंगो का विश्लेषण किया गया हैं।

ध्यान में प्रकाश दिखना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
नीले रंग का	20	13.33
सफेद रंग का	60	40
पीले रंग का	21	14
प्रकाश नहीं दिखता	49	32.67
योग	150	100

शोध के अनुसार सर्वाधिक 40 प्रतिशत उत्तरदाताओं को ध्यान में सफेद रंग का प्रकाश दिखाई देता है। जिन्हें नीला, पीला प्रकाश दिखा ऐसे उत्तरदाता 27.33 प्रतिशत हैं अतः कहा जा सकता है। कि ध्यान के दौरान विभिन्न प्रकार के प्रकाश दिखाई देते हैं।

सारणी 4.42

ध्यान में गुरुदेव के आदेश/संकेत

इसके पश्चात उत्तरदाताओं ने बताया कि सिद्धयोग में गुरुदेव सियाग इन्हें आदेश/संकेत देते हैं और उसका सम्बन्ध भौतिक व आध्यात्मिक जीवन की घटनाओं से होता है जिसे समझने का प्रयास भी किया गया है।

ध्यान मे गुरुदेव के आदेश/संकेत आना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	25	16.67
नहीं	100	66.67
कभी कभी लगता है पर यह निश्चित नहीं होता, कि यह आदेश/संकेत थे	23	15.33
कह नहीं सकते	2	1.33
योग	150	100

ध्यान में गुरुदेव के आदेश या संकेत प्राप्त होते हैं ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 25 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 16.67 प्रतिशत है जैसा सारणी 4.42 से स्पष्ट है। कभी–कभी लगता है पर यह निश्चित नहीं होता, कि यह आदेश/संकेत थे, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 23 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 15.33 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता है, कि ध्यान में उत्तरदाताओं को गुरुदेव से आदेश/संकेत प्राप्त होते हैं।

सारणी 4.43

आदेश/संकेत की सत्यता

अनुसंधान में ज्ञात हुआ कि साधक को ध्यान के दौरान आदेश/संकेत आते हैं, तथ्यों के माध्यम ये इसकी सत्यता का गहन विश्लेषण करने का भी प्रयास किया गया।

क्र.सं.	आदेश/संकेत	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	संकेत/आदेश नहीं आते हैं	100	66.67
2	हमेशा पूर्ण सत्य होते हैं	25	16.67
3	कभी कभी सत्य हो जाते हैं	23	15.33
4	कह नहीं सकते	2	1.33
	योग	150	100

शोध में पाया गया है कि 66.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं को ध्यान में किसी प्रकार के आदेश/संकेत नहीं आते हैं। ध्यान के दौरान गुरु के माध्यम से मिलने वाला आदेश/संकेत पूर्ण सत्य होते हैं ऐसे उत्तरदाता 16.67 प्रतिशत हैं जैसा कि सारणी 4.43 से स्पष्ट है। कभी कभी सत्य होते हैं इनका प्रतिशत 15.33 रहा है। 32 प्रतिशत उत्तरदाता जिनको आदेश/संकेत आते हैं, वे हमेशा पूर्ण सत्य या कभी–कभी सत्य पाये गये इसका अर्थ है कि जो साधक ध्यान में गुरु से जुड़ जाता है उसे आवश्यक मार्गनिर्देशन ध्यान के दौरान मिलता रहता है।

सारणी 4.44

आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति

➢ योग इस शरीर मे आत्मा के अस्तित्व का बोध कराता है। यह रहस्यों से भरा पथ है, जो तर्कों से साबित नहीं किया जा सकता। यह तो शोध का विषय है (बाबाः 87)।

आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति हुई	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	13	8.67
कुछ–कुछ महसूस हुआ	4	2.66
नहीं	133	88.67
योग	150	100

प्रस्तुत कथन के आधार पर इस शोध में आत्म साक्षात्कार की अनुभूति हुई ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 13 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 8.67 प्रतिशत है, आत्मसाक्षात्कार की कुछ–कुछ अनुभूति हुई, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 4 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 2.67 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.44 से स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता हैं कि सिद्धयोग की साधना करने से आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति हो सकती है जो कि आध्यात्म के पथ पर चलने वालों के लिए मील का पत्थर होगा। परन्तु अधिकांश 88.67 प्रतिशत को इसकी अनुभूति नहीं हुई है।

सारणी 4.45

सिद्धयोग एवं प्रातिभज्ञान

ध्यान में होने वाली अनुभूतियों में नीला प्रकाश, आदेशो/संकेत आदि से सम्बन्धित तथ्य प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार जितनी भी घटना व दृश्य ध्यान के समय दिखाई देते हैं वो भविष्य में सत्य भी घटित होते हैं ऐसे तथ्य भी शोध में सामने आऐ हैं जिसे कि प्रस्तुत सारणी में दिखाया है।

प्रातिभज्ञान की अनुभूति	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
अनुभूति नहीं हुई	104	87.39
हाँ अक्सर होती है	8	6.72
कभी कभी हो जाती है	6	5.05
समझ नहीं आता, कह नहीं सकते हैं	1	0.84
योग	150	100

- प्रातिभज्ञान (ध्यान में किसी घटना का दिखना जो बाद में सत्य घटित होती है)

अध्ययन के अन्तर्गत सिद्धयोग की साधना करने पर प्रातिभज्ञान के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं के विचारों को जानने का प्रयास किया गया, कुल मिलाकर 15 उत्तरदाताओं ने सिद्धयोग की साधना करने से प्रातिभज्ञान की बात स्वीकारी जो कुल उत्तररदाताओं का (119) 12.61 प्रतिशत है, इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना करने से प्रातिभज्ञान की अनुभूति होती है अर्थात् ध्यान के दौरान जो घटनाऐं दिखाई देती हैं बाद में वह सत्य रूप से घटित होती हैं परन्तु अधिकांश 87.39 प्रतिशत उत्तरदाताओं को इसकी अनुभूति नहीं हुई है।

सिद्धयोग एवं प्रातिभज्ञान

87.39
6.72
5.05
0.84
100
80
60
40
20
0
अनुभूति नहीं हुई
हाँ अक्सर होती है
कभी कभी हो जाती है
समझ नहीं आता , कह नहीं सकते है
प्रतिशत
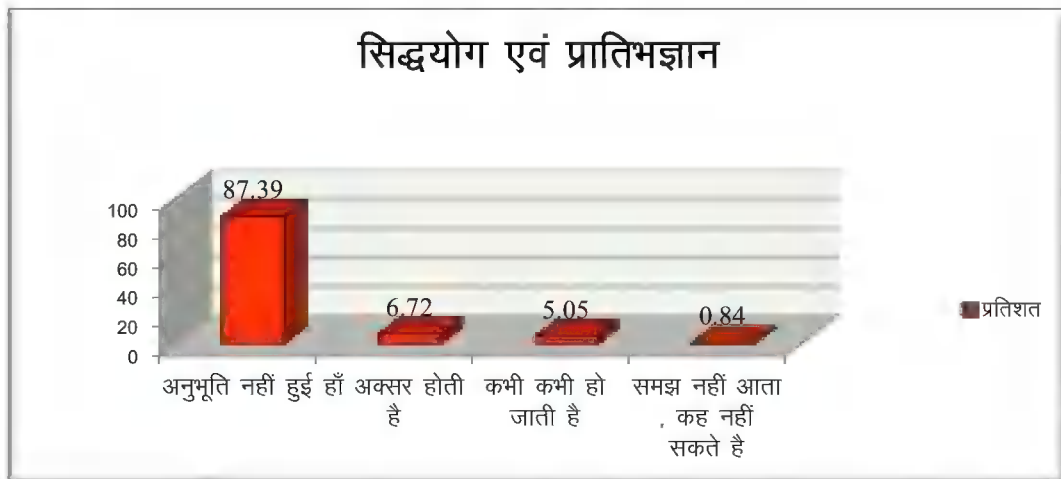
सारणी 4.46

ईश्वरीय शक्ति का अनुभव होना

- स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि "अनुभति –अनुभति" की यह महती शक्तिमय वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगन मण्डल से अर्विभूत हुई है, एक मात्र हमारा वैदिक धर्म ही है, जो बारम्बार कहता है, ईश्वर के दर्शन करने होंगे उसकी प्रत्यक्षानुभूति करनी होगी, तभी मुक्ति संभव है।

"ईश्वर प्रत्यक्षानुभूति और साक्षात्कार का विषय है" (सियाग 1993ः 2)।

ईश्वरीय शक्ति का अनुभव होना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ होता है	71	47.34
कह नहीं सकते	8	5.33
अनुभव होता है परन्तु कह नहीं सकते केवल महसूस कर सकते हैं	44	29.33
नहीं होता है	27	18
योग	150	100

प्रस्तुत अध्ययन में प्राप्त तथ्यों से सत्य सिद्ध होता है कि "ईश्वर प्रत्यक्षानुभूति और साक्षात्कार का विषय है"। जैसा कि सारणी 4.46 में पाया है कि कुल 150 उत्तरदाताओं में से 71 (47.34) उत्तरदाताओं ने ही ईश्वरीय शक्ति को अनुभव किया है। अनभुव होता है परन्तु बता नहीं सकते केवल महसूस कर सकते 29.33 प्रतिशत हैं, एवं कुछ कह नहीं सकते वाले उत्तरदाता 8(5.33) रहे हैं अतः तथ्यों से स्पष्ट कि आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले के लिए ईश्वरीय शक्ति का अनुभव होना महत्वपूर्ण घटना है, जो कि सिद्धयोग के अपनाने से हो रही है।

सारणी 4.47

सिद्धयोग से पूर्वाभास

यह योग साधक को ध्यान के समय भविष्य में आने वाली परेशानियों का पूर्वाभास भी करा देता है अतः इस शोध में ऐसे उत्तरदाताओं को भी चिन्हित किया गया है।

क्र.सं.	भविष्य में परेशानियों का पूर्वाभास	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	26	17.33
2	कभी कभी होता है	42	28
3	नहीं होता	82	54.67
	योग	150	100

सारणी 4.47 से स्पष्ट है सिद्धयोग की साधना अपनाने पर भविष्य में आने वाली परेशानियों के पूर्वाभास के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं के मत को जानने का प्रयास किया गया। सभी 150 उत्तरदाताओं के विचार जाने तो भविष्य में आने वाली परेशानियों का पूर्वाभास होता है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 26 अर्थात् 17.33 प्रतिशत है तथा सिद्धयोग की साधना अपनाने पर भविष्य में आने वाली परेशानियों का कभी–कभी पूर्वाभास होने की बात कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 42 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 28 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना करने पर भविष्य में आने वाली परेशानियों का पूर्वाभास होता है। जिससे कि व्यक्ति को अपने अच्छे–बुरे का ज्ञान हो जाता है और वह जीवन में असफल नहीं होता है।

सिद्धयोग से पूर्वाभास

17.33%
28%
54.67%
हाँ
कभी कभी होता है
नहीं होता
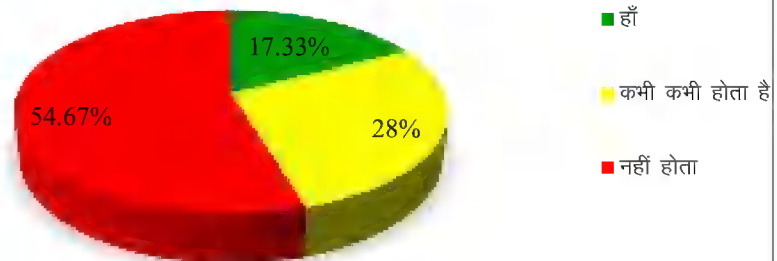
<u>सारणी 4.48</u>

<u>सिद्धयोग एवं मनोकामना पूर्ति</u>

व्यक्ति द्वारा किसी भी पद्धति का अनुसरण अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु किया जाता है, सिद्धयोग में भी ऐसे तथ्य मिले जो बताते हैं कि गुरु सियाग का सिद्धयोग साधकों की मनोकामनाऐं पूर्ण करने में मदद कर रहा है।

क्र.सं.	सिद्धयोग से मनोकामना पूर्ण का सम्बन्ध	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	सभी पूरी हो जाती हैं	87	58
2	कुछ कुछ पूरी होती हैं	47	31.34
3	इसका सिद्धयोग से कोई लेना देना नहीं है	4	2.66
4	अन्य (अब कुछ नहीं बची हैं)	12	8
	योग	150	100

प्रस्तुत सारणी में मनोकामना पूर्ण होने के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं के विचार जानने का प्रयत्न किया गया, 134 उत्तरदाताओं का कहना है कि सिद्धयोग से सभी एवं कुछ मनोकामनाऐं पूरी हो जाती हैं जो कुल उत्तरदाताओं (150) का 89.34 प्रतिशत है जबकि 12

उत्तररदाताओं का कहना है कि अब बाकी कुछ भी नहीं बची हैं, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 8 प्रतिशत है। इससे साबित होता है कि सिद्धयोग से मनोकामनाऐं पूरी होती हैं।
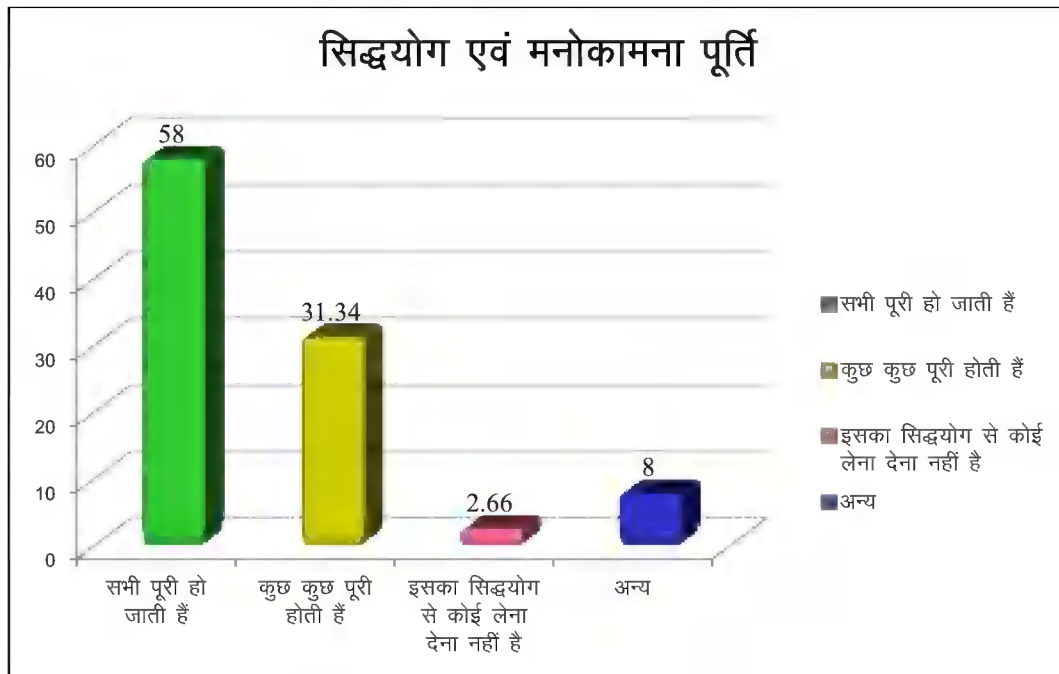
सिद्धयोग एवं मनोकामना पूर्ति

58
31.34
2.66
8
60
50
40
30
20
10
0
सभी पूरी हो जाती हैं
कुछ कुछ पूरी होती हैं
इसका सिद्धयोग से कोई लेना देना नहीं है
अन्य
सभी पूरी हो जाती हैं
कुछ कुछ पूरी होती हैं
इसका सिद्धयोग से कोई लेना देना नहीं है
अन्य

चिकित्सा के क्षेत्र में

वर्तमान युग में मानवीय दिनचर्या मशीनी एवं तनावपूर्ण हो गयी है, वह अनेक शारीरिक व मानसिक रोगों से ग्रस्त होकर, निवारण की विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ खोजता है। योग व सिद्धयोग मूल रूप से, चिकित्सा पद्धति न होते हुऐ भी, इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि अंग एक वैकल्पिक पद्धति के आधार हैं।

योग व सिद्धयोग के स्वास्थ्यपरक तथा आध्यात्मिक लाभ स्वतः ही सिद्ध हैं, परन्तु योग व सिद्धयोग के द्वारा रोगों की चिकित्सा करना विवाद का विषय है, अब भी कई लोग इसके चिकित्सीय महत्व को मानते हैं, परन्तु विभिन्न योग संस्थानो में हो रहे प्रयोगों से, बहुत से रोगों की सफल चिकित्सा होने से योग व सिद्धयोग को चिकित्सा विधि के रूप में विकसित किया जा रहा है। साथ ही पाया गया है कि योग एवं सिद्धयोग का नियमित रुप से अभ्यास करने पर व्यक्ति तनाव से मुक्त हो जाता है, मन प्रफुल्लित रहता है और शरीर हल्का, फुर्तीला एवं तेजस्वी बन जाता है, तथा बुद्धि प्रखर हो जाती है, ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप शारीरिक व मानसिक रोग ठीक होने लगते हैं और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है।

सारणी 4.49

सिद्धयोग एवं आध्यात्मिक व्याधि (बीमारी)

सिद्धयोग में व्याधियों (बीमारी) को 3 भागों में वर्गीकृत किया है आदि दैहिक (शारीरिक व्याधि), आदि भौतिक (मानसिक व्याधि) एवं आदि दैविक (आध्यात्मिक व्याधि) अर्थात् शोध के अर्न्तगत ऐसे उत्तरदाता भी चिन्हित किये जो आध्यात्मिक व्याधि अर्थात् ऊपरी हवा, देवी प्रकोप, भूत–प्रेत, आत्मा के प्रभाव से पीड़ित थे इसे सारणी 4.49 में स्पष्ट किया गया है।

क्र.सं.	आध्यात्मिक व्याधि से पीड़ित	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	16	10.67
2	नहीं	96	64
3	पता नहीं	38	25.33
4	योग	150	100

संकलित आंकड़ो से पता चला कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से 16 उत्तरदाता अर्थात् 10.67 प्रतिशत ही आध्यात्मिक व्याधि से ग्रसित मिले एवं 38 अर्थात् 25.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है उन्हें इसके बारे में कोई जानकारी नहीं है।

सारणी 4.50

आध्यात्मिक व्याधि (बीमारी) से मुक्ति एवं आवास

आध्यात्मिक व्याधियों को आवास, लिंग आदि चरों के आधार पर विश्लेषित किया गया जो निम्न सारणीयों के माध्यम से स्पष्ट है। गुरु सियाग के सिद्धयोग से जुड़ने के पश्चात् ग्रामीण व नगरीय उत्तरदाताओं में आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से मुक्त होने की जानकारी लेने का प्रयास किया गया।

आवास की प्रकृति	आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से मुक्त हो गए	(बीमारी) व्याधि नियंत्रण में है पर कभी कभी प्रकोप प्रभावी हो जाता है	ठीक ही नहीं हुई	योग
ग्रामीण	08(80)	01(20)	01(10)	10(62.5)
नगरीय	05(83.34)	01(16.66)	—	6(37.5)
योग	13(81.25)	02(12.5)	01(6.25)	16(100)

नोट :— सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।
केवल आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से पीड़ित उत्तरदाताओं को लिया गया।

तथ्य से स्पष्ट है कि आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से मुक्त हो गये, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 13 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (16) का 81.25 प्रतिशत है, व्याधि नियंत्रण में हैं पर कभी कभी प्रकोप प्रभावी हो जाता है, ऐसा कहने वाले ग्रामीण व नगरीय उत्तरदाताओं की संख्या 2 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (16) का 12.5 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रों में (लगभग समान रूप से) जो उत्तरदात आध्यात्मिक (ऊपरी) व्याधि से पीड़ित थे, वे ठीक हो जाते हैं और स्थिति नियंत्रण में बनी रहती है।

आध्यात्मिक व्याधि (बीमारी) से मुक्ति एवं आवास

90
80
70
60
50
40
30
20
10
0
80 83.34
16.66
10
10
0
ग्रामीण
शहरी
आध्यात्मिक व्याधि से मुक्त हो गए
व्याधि नियंत्रण में है पर कभी कभी प्रकोप प्रभावी हो जाता है।
ठीक ही नहीं हुई

सारणी 4.51

आध्यात्मिक व्याधि (बीमारी) से मुक्ति एवं लिंग

आध्यात्मिक व्याधि महिला एवं पुरुष दोनों वर्गों में पायी गई है परन्तु महिलाऐं इसके प्रभाव में अपेक्षाकृत अधिक आ जाती हैं जिसको सारणी के आंकड़ो में दर्शाया गया है।

लिंग के आधार पर	आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से मुक्त हो गए	(बीमारी) व्याधि नियंत्रण में है पर कभी कभी प्रकोप प्रभावी हो जाता है।	ठीक ही नहीं हुई	योग
महिला	09(81.82)	01(9.09)	01(9.09)	11(68.75)
पुरुष	04(80)	01(20)	–	5(45.45)
योग	13(81.25)	03(12.5)	01(6.25)	16(100)

नोट :– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।
केवल आध्यात्मिक व्याधि से पीड़ित उत्तरदाताओं को लिया गया है।

महिलाओं में पुरुषों की तुलना में आध्यात्मिक व्याधि अधिक पाई गई जिनका प्रतिशत क्रमशः 68.75 एवं 45.45 था। इसी प्रकार महिलाओं में आध्यात्मिक (बीमारी) व्याधि से पूर्ण मुक्ति का प्रतिशत 81.82 रहा जबकि पुरुषों में 80 प्रतिशत रहा।

इससे सिद्ध होता हैं कि आध्यात्मिक व्याधि महिलाओं में पुरुषों की अपेक्षा कुछ अधिक पाई जाती हैं एवं उन व्याधि से मुक्ति का प्रतिशत महिला एवं पुरुष में लगभग समान है। अतः कह सकते हैं कि आध्यात्मिक व्याधि सिद्धयोग लिंगीय आधार से ज्यादा प्रभावित नहीं होती है।

लिंग व आध्यात्मिक व्याधि (बीमारी) से मुक्ति

100
50
0
81.82 80
9.09 20
9.09
आध्यात्मिक व्याधि से मुक्त हो गए
व्याधि नियंत्रण में है पर कभी कभी प्रकोप प्रभावी हो जाता है।
ठीक ही नहीं हुई
महिला
पुरुष
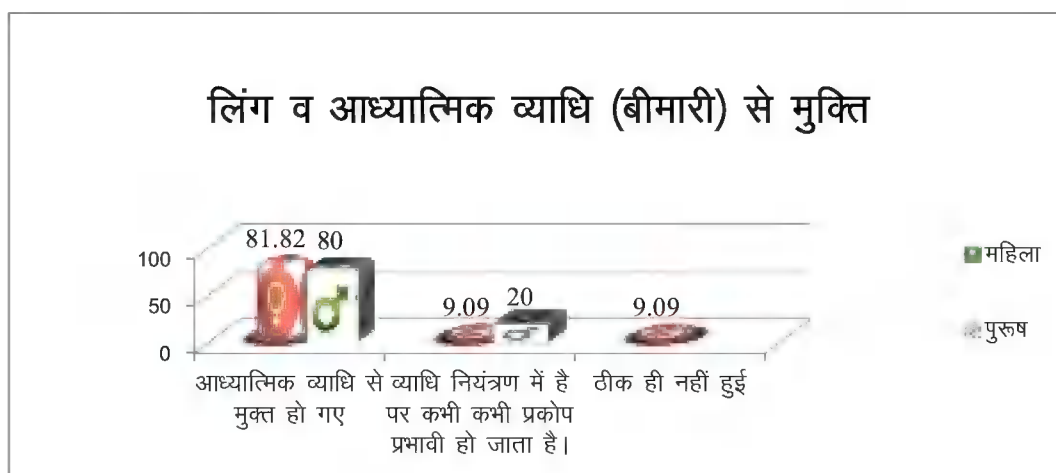
सारणी 4.52

सिद्धयोग एवं व्याधि (बीमारी) से मुक्ति

सिद्धयोग एक उपचारात्मक पद्धति के रुप में नवीन आयाम बन कर उभर रहा है। इससे व्याधि किस स्तर तक ठीक हो रही है, सम्बन्धित तथ्यों को तालिका में दर्शाया गया है।

क्र.सं.	व्याधि का ठीक होना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	पूरी तरह ठीक हो गई है	56	67.46
2	केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है	24	28.93
3	ठीक नहीं हुई	03	3.61
4	योग	83	100
नोटः– केवल व्याधि पीड़ित उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

सिद्धयोग से व्याधि पूरी तरह ठीक हो गई, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 56 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 67.46 प्रतिशत है, जैसा कि सारणी 4.52 से स्पष्ट है, केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है

ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 24 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 28.93 प्रतिशत है अर्थात् सिद्धयोग की साधना कम होते ही व्याधि वापस हो सकती है साधना कम करने वालों की व्याधि, नियंत्रण में रहती हैं एवं यदि सिद्धयोग की नियमित साधना व जाप पूर्ण श्रद्धा और समर्पण से की जाये तो व्याधि पूरी तरह से ठीक हो जाती है।
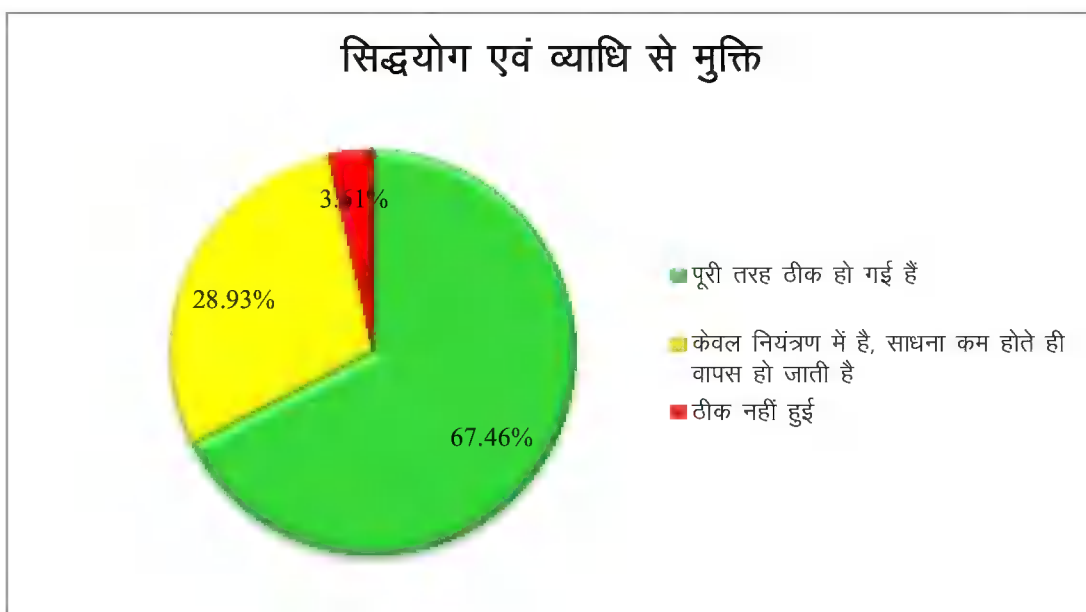
सारणी 4.53

व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं आवास

व्याधि तो सभी पृष्ठभूमि के उत्तरदाताओं में पायी गई, परन्तु किस पृष्ठभूमि में इसके ठीक होने स्तर क्या रहा, प्राप्त तथ्य को सारणी में दर्शाया गया है।

व्याधि (बीमारी)	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
पूरी तरह ठीक हो गई	42(70)	14(60.86)	56(67.46)
केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है	18(30)	06(26.09)	24(28.93)
ठीक नहीं हुई	0	03(13.05)	03(3.61)
योग	60(72.28)	23(27.72)	83(100)
नोटः— केवल व्याधि उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

अध्ययन में पाया है कि ग्रामीण उत्तरदाताओं ने, जिन्होंने कहा कि व्याधि पूरी तरह ठीक हो गई उनकी संख्या सर्वाधिक 42 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (60) का 70 प्रतिशत है जैसा सारणी 4.53 में दर्शाया गया है, व्याधि केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है कहने वालों की संख्या 18(30) तथा साधना जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का क्रमशः 28.93 प्रतिशत हैं। इसी प्रकार नगरीय उत्तरदाताओं में व्याधि पूरी तरह ठीक होने का प्रतिशत 60.86 एवं व्याधि नियंत्रण में रहने का प्रतिशत 26.09 रहा।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से, व्याधि ठीक होने के बारे में सकारात्मक प्रभाव पड़ता है लेकिन साधना लगातार करते रहना चाहिए। ग्रामीण उत्तरदाताओं में व्याधि पूरी तरह ठीक होना नगरीय की तुलना में 9.14 प्रतिशत अधिक रहा। हो सकता है नगरीय लोगों की अपेक्षा ग्रामीण लोग ज्यादा विश्वास एवं भरोसे से सिद्धयोग को करते हों।

व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं आवास

80
60
40
20
0
70
60.86
30
26.09
0
13.05
पूरी तरह ठीक हो गई
केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है
ठीक नहीं हुई
ग्रामीण
शहरी
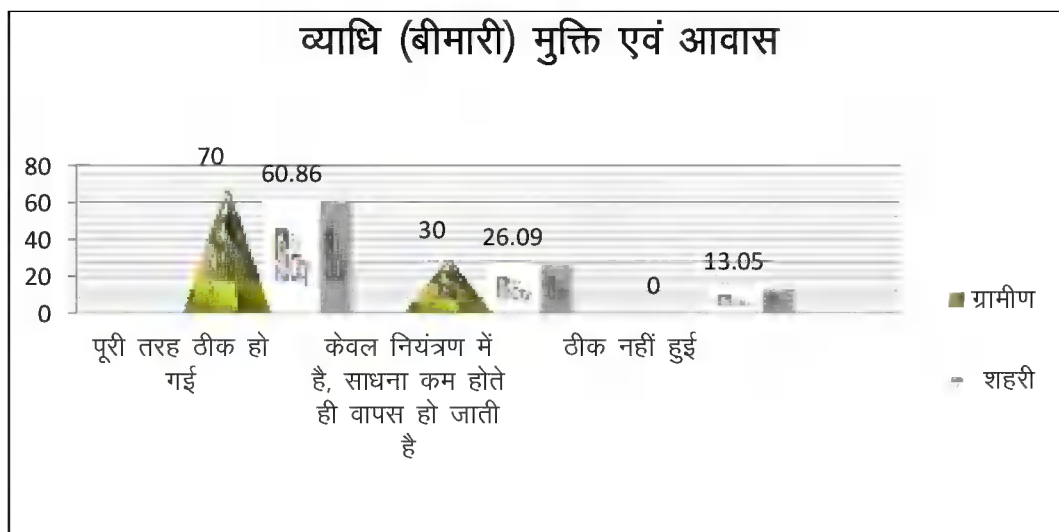
सारणी 4.54

व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं धर्म

सिद्धयोग को अपनाने वाले विभिन्न धर्मों के उत्तरदाता रहे हैं। हिन्दूओं के अलावा अन्य धर्म के उत्तरदाता भी बीमार पाये गये एवं उनमें बीमारी ठीक हुई या नियंत्रण में इसे जानने के लिए तथ्यों का एकत्रण किया गया।

व्याधि (बीमारी)	धर्म					योग
	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	
पूरी तरह ठीक हो गई	52(67.53)	02(100)	–	–	02(100)	56(67.46)
केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है	22(28.95)	–	01(100)	01(100)	–	24(28.93)
ठीक नहीं हुई	3(3.90)	–	–	–	–	03(3.61)
योग	77(92.78)	02(2.41)	01(1.20)	01(1.20)	02(2.41)	83(100)
नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याएें प्रतिशत में हैं।						

शोध में पाया कि व्याधि के बारे में राय प्रकट करने वाले हिन्दू उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 77 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 92.78 प्रतिशत है, मुस्लिम

मतदाताओं की संख्या 2 तथा ईसाई और सिक्ख उत्तरदाताओं की संख्या मात्र एक–एक है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का क्रमशः 2.41 प्रतिशत तथा 1.20 व 1.20 प्रतिशत है। व्याधि पूरी तरह ठीक होने का प्रतिशत हिन्दू, मुस्लिम, जैन में क्रमशः 67.53, 100, 100 प्रतिशत रहा जबकि व्याधि केवल नियंत्रण में है ऐसा कहने वाले हिन्दू, ईसाई, सिक्ख धर्म के उत्तरदाताओं का प्रतिशत क्रमशः 28.95, 100, 100 प्रतिशत रहा।

यह कहा जा सकता हैं कि यद्यपि अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों का रुझान सिद्धयोग की साधना के प्रति कम है, फिर भी जो भी व्यक्ति इससे जुड़े वो पूर्ण विश्वास से जुड़े हैं इस वर्ग में व्याधि पूर्ण ठीक होने एवं नियंत्रण में है इसका प्रतिशत क्रमशः 66.67 एवं 33.33 है क्योंकि सिद्धयोग किसी धर्म विशेष के लिए नहीं वरन् यह तो मानव के क्रियात्मक विकास की प्रक्रिया है।

सारणी 4.55

व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं आयु

बीमारी व आयु का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं क्योंकि आजकल बीमारी हर वर्ग में देखी जा सकते है परन्तु शोध कार्य में आयु के आधार पर उत्तरदाताओं का वर्गीकरण किया है ये भिन्न–भिन्न आयु वर्गों के उत्तरदाताओं से ज्ञात हुआ उनकी बीमारी ठीक हुई या नहीं।

व्याधि (बीमारी)	आयु					योग
	14–20 वर्ष	21–30 वर्ष	31–40 वर्ष	41–50 वर्ष	51 से ऊपर	
पूरी तरह ठीक हो गई	06(100)	19(70.38)	11(52.38)	12(75)	08(61.53)	56(67.46)
केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है	–	8(29.62)	07(33.33)	04(25)	05(38.46)	24(28.93)
ठीक नहीं हुई	–	0	0	03(14.28)	–	03(3.61)
योग	06(7.22)	27(32.55)	21(25.30)	16(19.27)	13(15.66)	83(100)
नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

आंकड़ो से स्पष्ट है कि विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाताओं ने, जिन्होंने यह कहा कि व्याधि पूरी तरह ठीक हो गई उनकी संख्या सर्वाधिक 56 है। इनमें 14 से 20 वर्ष के 100 प्रतिशत, 41 से 50 वर्ष के 75 प्रतिशत हैं। 21 से 30 के और 31 से 40 वर्ष के उत्तरदाताओं का पूरी तरह ठीक होने का प्रतिशत क्रमशः 70.38 एवं 52.38 रहा। इसी प्रकार सभी आयु वर्ग के उत्तरदाताओं ने व्याधि के नियंत्रण में रहने के बारे में भी कहा जिसका प्रतिशत लगभग सभी में समान रहा जैसा कि सारणी 4.55 से स्पष्ट है।

इससे सिद्ध होता हैं कि सिद्धयोग की साधना व्याधियों पर सकारात्मक प्रभाव ड़ालती है तथा साधना बराबर करते रहना चाहिए एवं विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाताओं की अपेक्षा 21 से 30 वर्ष की आयुवर्ग के उत्तरदाता सबसे ज्यादा सिद्धयोग से जुड़े उनकी संख्या सर्वाधिक (27) रही है। साधना को सर्वाधिक गम्भीरता से 14–20 वर्ष के उत्तरदाताओं ने लिया उनका पूर्ण रोग मुक्ति शत प्रतिशत रहा।
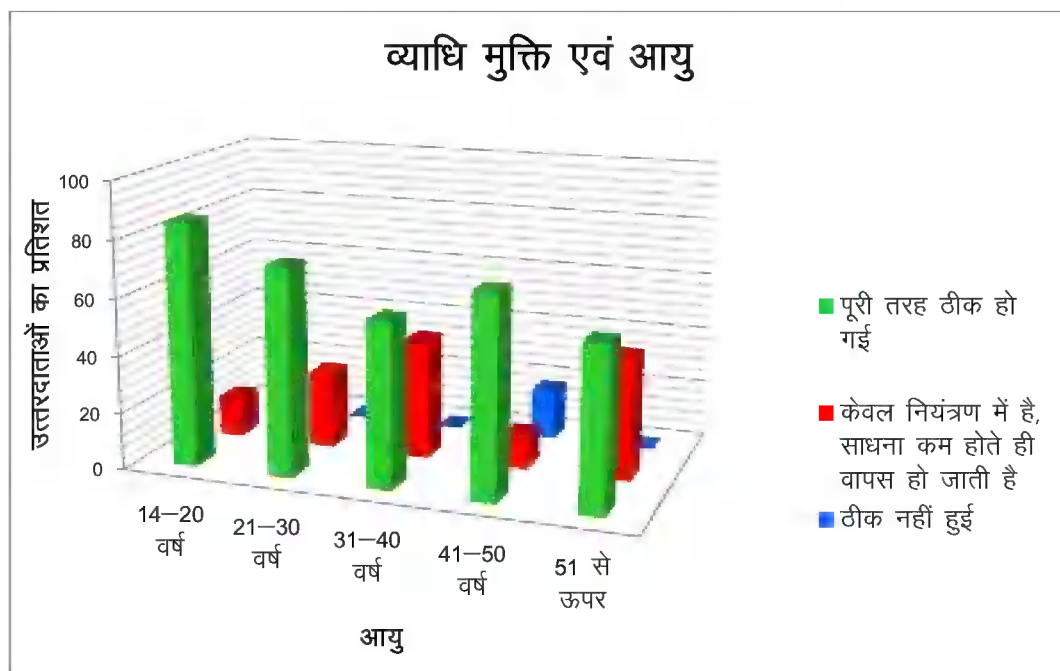
सारणी 4.56

व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं आर्थिक स्थिति

आय के आधार पर ही व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार अध्ययन में विभिन्न आय वर्ग के उत्तरदाता लिये गये हैं जिन्होंने बताया कि उनकी बीमारी में कितना आराम आया।

व्याधि (बीमारी)	आर्थिक स्थिति					योग
	निम्न वर्ग	निम्न मध्यम वर्ग	मध्यम वर्ग	मध्यम उच्च वर्ग	उच्च वर्ग	
पूरी तरह ठीक हो गई	03(50)	26(74.28)	17(68)	07(58.33)	03(60)	56(67.46)
केवल नियंत्रण में है, साधना कम होते ही वापस हो जाती है	03(50)	09(25.72)	07(28)	04(33.34)	01(20)	24(28.93)
ठीक नहीं हुई	—	0	01(04)	01(8.33)	01(20)	03(3.61)
योग	06(7.22)	35(42.16)	25(30.12)	12(14.45)	05(6.05)	83(100)

शोध की जानकारी के आधार पर विभिन्न आर्थिक स्थिति वाले कुल उत्तरदाता जिन्होंने कहा कि व्याधि पूरी तरह ठीक हो गई उनकी संख्या सर्वाधिक 56 है। निम्न मध्यम आय वर्ग के उत्तरदाता जिन्होंने व्याधि के बारे में अपनी राय प्रकट की उनकी सर्वाधिक संख्या 35 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 42.16 प्रतिशत है, मध्यम वर्ग के उत्तरदाता 30.12 प्रतिशत, मध्यम उच्च वर्ग के 14.45 प्रतिशत, निम्न वर्ग के 7.22 प्रतिशत तथा उच्च वर्ग के मात्र 6.05 प्रतिशत हैं। निम्न मध्यम वर्ग के उत्तरदाता सर्वाधिक 74.28 प्रतिशत पूर्ण ठीक हुये। व्याधि नियंत्रण में है ऐसा कहने वाले सर्वाधिक उत्तरदाता 50 प्रतिशत निम्न वर्ग के हैं।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से व्याधि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, जरूरत इस बात की है कि साधना बराबर करते रहना चाहिए, हो सकता है अन्य आय वर्गो के लोगों की अपेक्षा निम्न मध्यम वर्ग के लोग, योग के प्रति ज्यादा गम्भीर रहे हों इस कारण उनकी संख्या सर्वाधिक (35) रही है।

क्योंकि सिद्धयोग में कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर सभी व्याधियाँ स्वतः ही ठीक होने लगती हैं इसमें किसी धर्म, आय वर्ग का प्रभाव नहीं पड़ता।

व्याधि मुक्ति एवं आर्थिक स्थिति
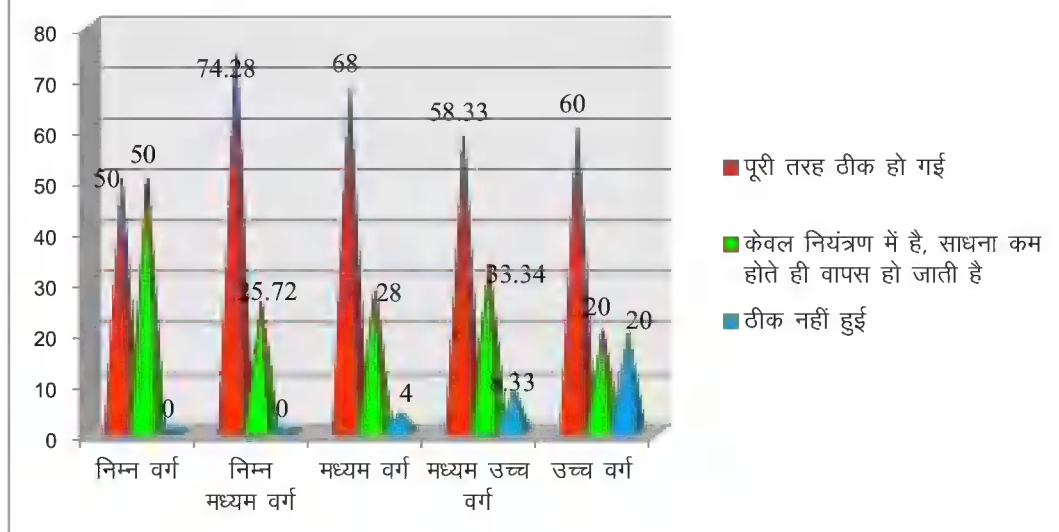
सारणी 4.57

व्याधि (बीमारी) मुक्ति विधि एवं आवास

शोध के अर्न्तगत व्याधियाँ तो सभी परिवेश के उत्तरदाताओं में चिन्हित की गई, परन्तु आवास के आधार पर वर्गीकृत उत्तरदाताओं में इससे मुक्ति की विधि क्या रही, सम्बन्धित आंकड़ो का विश्लेषण सारणी में किया गया।

व्याधि मुक्ति विधि	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
केवल ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से	47(78.33)	17(73.91)	64(77.11)
ध्यान, मंत्र जाप, प्रार्थना व दवा से	10(16.66)	6(26.08)	16(19.28)
ठीक नहीं हुई	3(5)	—	3(3.61)
योग	60(72.28)	23(27.71)	83(100)
नोट :— सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

तथ्यों से सामने आया कि ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से नगरीय व ग्रामीण उत्तरदाता जो व्याधि से ठीक हुए उनकी संख्या सर्वाधिक 64 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 77.11 प्रतिशत है। ग्रामीण क्षेत्र के कुल उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 60 (72.28 प्रतिशत) जिसमें ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से व्याधि ठीक होने का कहने वाले की संख्या 47 (78.33 प्रतिशत) है। जो कि सारणी 4.57 में दर्शाया गया है इसी प्रकार नगरीय क्षेत्र के कुल उत्तरदाताओं की संख्या 23 (27.71 प्रतिशत) है इसके अर्न्तगत भी ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से रोग मुक्त हुए ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 17 (73.91 प्रतिशत) रहे हैं।

अतः इस अध्ययन से स्पष्ट हैं कि ग्रामीण एवं नगरीय सभी लोगों का विश्वास दवाओं से ज्यादा साधना में पाया गया जिसका उनको अपेक्षित परिणाम भी मिला।

सारणी 4.58

व्याधि (बीमारी) मुक्ति विधि एवं लिंग

लिंग के आधार पर इसका गहन विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य पाये गये जैसा कि सारणी 4.58 में दर्शाया गया है।

व्याधि मुक्ति विधि	लिंग		योग
	महिला	पुरुष	
केवल ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से	37(84.10)	27(69.23)	64(77.11)
ध्यान, मंत्र जाप, प्रार्थना व दवा से	6(13.63)	10(25.65)	16(19.28)
ठीक नहीं हुई	1(2.27)	2(5.12)	3(3.61)
योग	44(53.01)	39(46.99)	83(100)
नोट :—सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

शोध के अनुसार महिला तथा पुरुषों जिनका कहना हैं कि ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से व्याधि ठीक हुई उनकी सर्वाधिक संख्या 64 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 77.11 प्रतिशत है। इसी प्रकार कुल महिला उत्तरदाताओं की संख्या 44 (53.01 प्रतिशत)

तथा पुरुष उत्तरदाताओं की संख्या 39 (46.99 प्रतिशत) है। अध्ययन से स्पष्ट है कि 84.10 प्रतिशत महिलायें केवल ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से व्याधि ठीक हो गई जो कि पुरुषों की तुलना में 14.87 प्रतिशत अधिक हैं।

अर्थात् सिद्धयोग की साधना से महिलाओं में पुरूषों की अपेक्षा अधिक प्रभावी रूप से व्याधि ठीक होना पाया गया।

सारणी 4.59

सिद्धयोग : व्याधि (बीमारी) मुक्ति एवं समयावधि

गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से व्याधि मुक्त होने में लगने वाले समय को एक निश्चित अवधिकाल में वर्गीकृत कर प्रस्तुत सारणी में बताया है।

क्र.सं.	व्याधि मुक्ति समयावधि	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	1 माह के अन्दर	8	9.64
2	1 से 6 माह के अन्दर	40	48.20
3	6 माह से 1 वर्ष	24	28.92
4	1 वर्ष से 3 वर्ष	8	9.64
5	ठीक नहीं हुई	3	3.61
	योग	83	100
नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

संकलित तथ्यों के आधार पर स्पष्ट होता है कि सर्वाधिक 48.20 प्रतिशत रोगी उत्तरदाता एक से छः माह की अवधि में स्वस्थ हो गये।

अतः पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि ज्यादातर व्यक्तियों (86.76 प्रतिशत) की व्याधि उनकी साधना और व्याधि की गम्भीरता के आधार पर 1 माह से, 1 वर्ष के अन्दर में, ही ठीक हो जाती है इस कारण लोगों का रुझान सिद्धयोग की तरफ बढ़ रहा है।
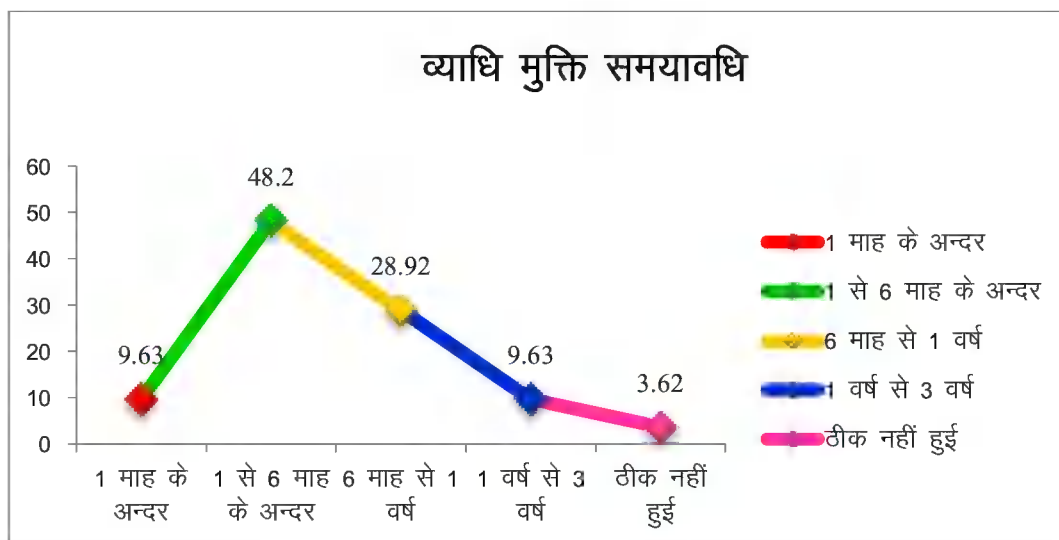
सारणी 4.60

व्याधि मुक्ति (बीमारी) समयावधि एवं आवास

बीमारी 1 माह से, 1 वर्ष में, अधिक ठीक हुई हैं, परन्तु इस अवधिकाल से लाभान्वित उत्तरदाताओं की पृष्ठभूमि, आयु, लिंग, व्यवसाय, आर्थिक स्थिति क्या रही इसके तथ्य एकत्रित किये एवं ग्रामीण व नगरीय पृष्ठभूमि में कौन कितने समय में ठीक हुआ इसके आंकड़ो को सारणी में दर्शाने का प्रयास किया गया है

व्याधि मुक्ति समयावधि	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
1 माह के अन्दर	07(11.66)	01(4.34)	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	28(46.66)	12(52.17)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	17(28.34)	7(30.43)	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	05(8.33)	03(13.04)	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	03(5)	–	03(3.61)
योग	60(72.29)	23(27.71)	83(100)

नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया।

सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

सारणी 4.60 से स्पष्ट है कि व्याधि ठीक होने का प्रतिशत 1 से 6 माह के अन्दर, ग्रामीण व नगरीय दोनों उत्तरदाताओं में सर्वाधिक पाया गया जो कि क्रमशः 46.66 एवं 52. 17 प्रतिशत रहा। 1 माह के अन्दर व्याधि ठीक होने का प्रतिशत ग्रामीण आवास के उत्तरदाताओं में अधिक पाया गया। 6 माह से अधिक में व्याधि ठीक होने का प्रतिशत नगरीय एवं ग्रामीण उत्तरदाताओं में लगभग समान पाया गया।

इससे सिद्ध होता हैं कि व्याधि मुक्त होने में आवास की प्रकृति का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

व्याधि मुक्ति समयावधि एवं आवास

ग्रामीण शहरी

11.66 4.34 46.66 52.17 28.34 30.43 8.33 13.04 5 3.61

1 माह के अन्दर
1 से 6 माह के अन्दर
6 माह से 1 वर्ष
1 वर्ष से 3 वर्ष
ठीक नहीं हुई

सारणी 4.61

व्याधि मुक्ति (बीमारी) समयावधि एवं लिंग

महिला व पुरूष दोनों वर्गों में बीमारी देखी गई है परन्तु इन वर्गों में बीमारी ठीक होने की समयावधि अलग–अलग रही है। इसके बारे में पूछने पर प्रस्तुत तथ्य सामने आए जो कि निम्न सारणी में स्पष्ट है।

व्याधि मुक्ति समयावधि	लिंग		योग
	महिला	पुरूष	
1 माह के अन्दर	04(9.09)	04(10.25)	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	23(52.27)	17(43.59)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	11(25)	13(33.35)	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	05(11.37)	03(7.69)	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	01(2.27)	02(5.12)	03(3.61)
योग	44(53.02)	39(46.98)	83(100)

नोटः— केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है।

सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

शोध के अनुसार महिला व पुरुष उत्तरदाताओं ने जिन्होंने, यह कहा कि व्याधि 1 से 6 माह के अन्दर ठीक हो गई उनकी संख्या सर्वाधिक 40 है इनमें महिलाओं में ठीक होने का प्रतिशत 52.27, पुरुषों की तुलना में (43.59) अधिक पाया गया। 1 माह के अन्दर एवं 6 माह से अधिक में महिला और पुरुष दोनों में ठीक होने का प्रतिशत लगभग समान पाया गया।

महिलाओं का व्याधि से पुरुषों की तुलना में जल्दी ठीक हो जाना उनकी धार्मिक प्रवृति और अधिक भरोसे के कारण हो सकता है।

व्याधि मुक्ति समयावधि एवं लिंग

पुरुष

महिला

1 माह के अन्दर

1 से 6 माह के अन्दर

6 माह से 1 वर्ष

1 वर्ष से 3 वर्ष
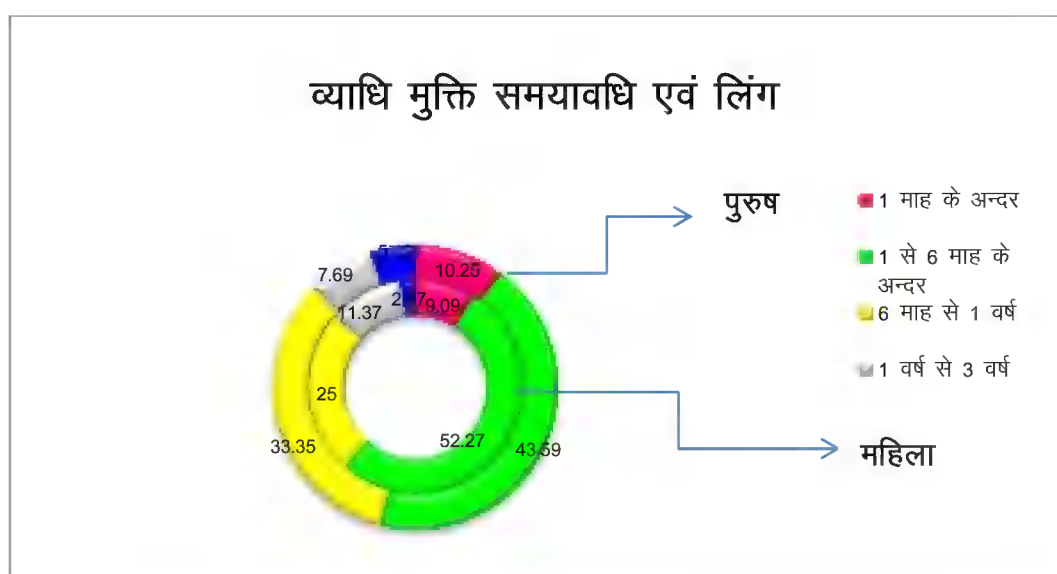
सारणी 4.62

व्याधि मुक्ति (बीमारी) समयावधि एवं धर्म

धर्म के आधार पर भी व्याधि से मुक्त होने वाले उत्तरदाता शोध में पाये गये एवं इनकी बीमारी अलग–अलग अवधि काल में ठीक हुई इसके आंकड़े निम्न प्रकार है।

व्याधि मुक्ति समयावधि	धर्म					योग
	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	
1 माह के अन्दर	08(10.39)	–	–	–	–	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	35(45.46)	02(100)	–	1(100)	2(100)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	24(31.16)	–	–	–	–	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	07(9.09)	–	01(100)	–	–	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	03(3.89)	–		–	–	03(3.61)
योग	77(92.80)	02(2.40)	01(1.20)	01(1.20)	02(2.40)	83(100)
नोटः– केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

आंकड़ो से स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म के सर्वाधिक उत्तरदाता 77 हैं जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) के 92.80 प्रतिशत हैं मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन उत्तरदाताओं की संख्या 6 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) के 7.2 प्रतिशत हैं। अल्पसंख्यक वर्ग में 1 से 6 माह में ठीक होने का प्रतिशत 83.33 है जबकि हिन्दू धर्म में यह 45.46 प्रतिशत है।

धर्म के आधार पर तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अल्पसंख्यक वर्ग के लोग व्याधि के कारण सिद्धयोग से अधिक जुड़े हैं और उनमें व्याधि से शीघ्र ठीक होने का प्रतिशत हिन्दुओं की तुलना में काफी अधिक है। लेकिन यह भी प्रमाणित होता है कि सभी धर्मों के अधिकांश उत्तरदाता (86.75) प्रतिशत 1 वर्ष के अन्दर अपनी व्याधि से मुक्त हो जाते हैं।
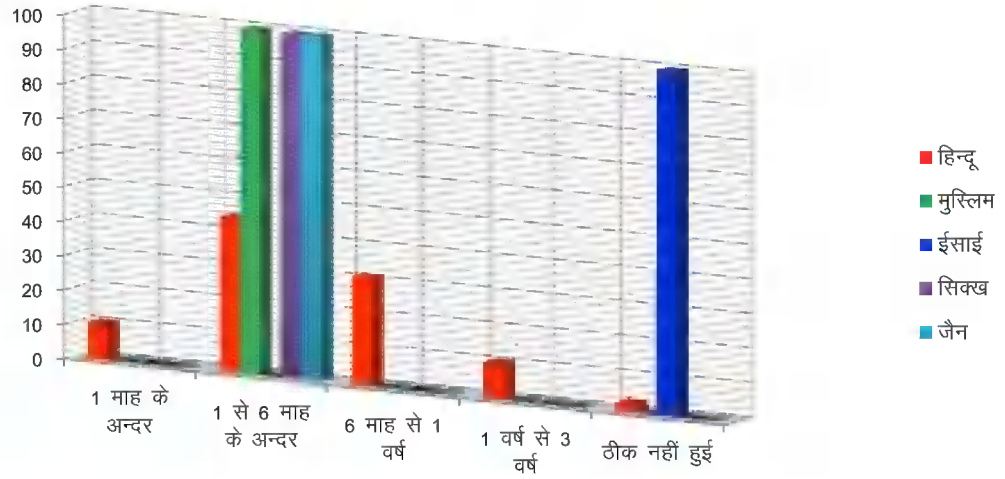
सारणी 4.63

व्याधि मुक्ति (बीमारी) समयावधि एवं आयु

इसी प्रकार विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाताओं में भी अलग–अलग समयावधि के अनुसार बीमारी का ठीक होना पाया जो कि सारणी के आंकड़ो से ज्ञात होता है।

व्याधि मुक्ति समयावधि	आयु					योग
	14–20 वर्ष	21–30 वर्ष	31–40 वर्ष	41–50 वर्ष	50 से ऊपर	
1 माह के अन्दर	–	02(7.40)	03(14.28)	02(12.5)	01(7.69)	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	05(83.33)	10(37.03)	07(33.35)	09(56.25)	09(69.24)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	01(16.67)	12(44.45)	06(28.57)	03(18.75)	02(15.38)	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	–	03(11.12)	02(9.52)	02(12.52)	01(7.69)	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	–	–	03(14.28)	–	–	03(3.61)
योग	06(7.22)	27(32.55)	21(25.30)	16(19.27)	13(15.66)	83(100)

नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है।
सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

अवलोकन से स्पष्ट है कि विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाता, जिन्होंने कहा कि व्याधि 1 से 6 माह के अन्दर ठीक हो गई, उनकी संख्या सर्वाधिक 40 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 48.20 प्रतिशत हैं। जैसा कि सारणी 4.63 से स्पष्ट है कि सर्वाधिक उत्तरदाता 27 हैं, जो 21–30 वर्ष की आयु वर्ग के हैं, जो 32.55 प्रतिशत हैं, इसी प्रकार 31–40 वर्ष आयु वर्ग के उत्तरदाता 25.30 प्रतिशत, 41 से 50 वर्ष की आयुवर्ग के उत्तरदाता 16 अर्थात् 19.27 प्रतिशत, 51 से ऊपर के उत्तरदाता 15.66 प्रतिशत तथा 14 से 20 वर्ष की आयुवर्ग के उत्तरदाताओं की संख्या 6 का (7.22 प्रतिशत) है।

विश्लेषण से पता चलता हैं कि सिद्धयोग की साधना में व्याधि ठीक होने में लगा समय कम–ज्यादा हो सकता हैं शीघ्र व्याधि ठीक होने का प्रतिशत 14 से 20 वर्ष के उत्तरदाताओं में सर्वाधिक (83.33 प्रतिशत) रहा, हो सकता है इस वर्ग के उत्तरदाता जब किसी कार्य को करते हैं तो पूर्ण भरोसे और लगन से करते हैं तो परिणाम भी सर्वाधिक आते हैं।

व्याधि मुक्ति समयावधि एवं आयु

90
80
70
60
50
40
30
20
10
0

14–20 वर्ष
21–30 वर्ष
31–40 वर्ष
41–50 वर्ष
50 से ऊपर

1 माह के अन्दर
1 से 6 माह के अन्दर
6 माह से 1 वर्ष
1 वर्ष से 3 वर्ष
ठीक नहीं हुई
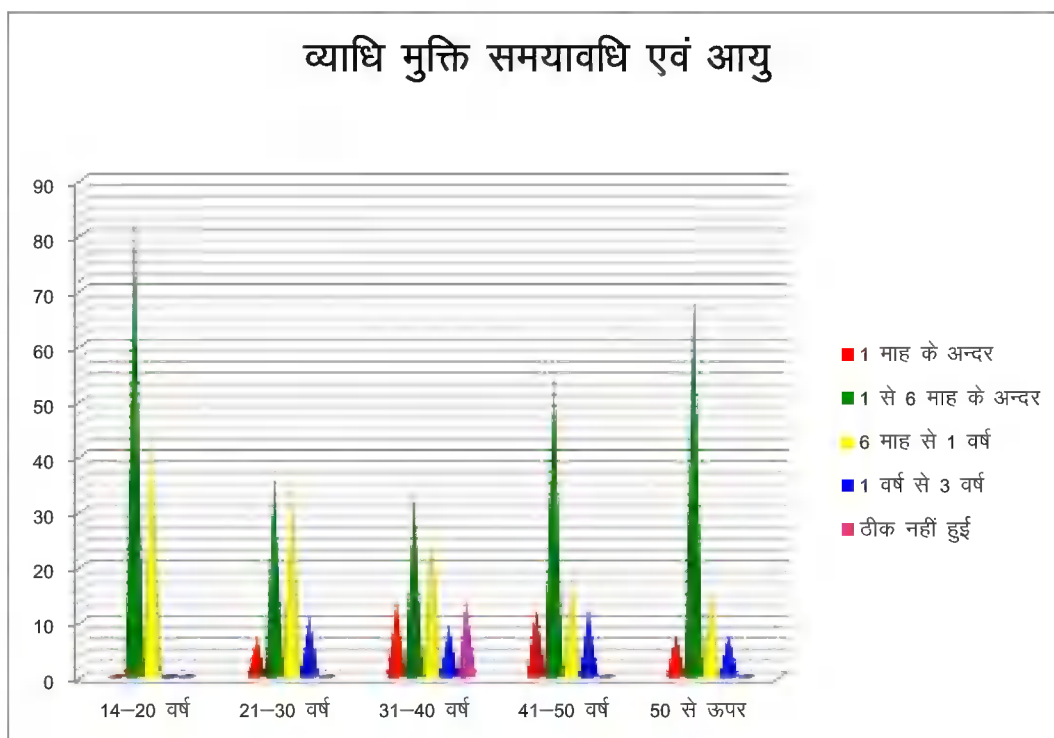
सारणी 4.64

व्याधि मुक्ति समयावधि एवं व्यवसाय

सिद्धयोग से जुड़े उत्तरदाता कृषि से लेकर नौकरी पेशा वाले वर्ग के रहे हैं इनकी बीमारी ठीक होने का समय भिन्न रहा परन्तु इन्होंने स्वास्थ्य को लेकर इसे कितनी गम्भीरता से अपनाया उसी आधार पर निम्न परिणाम प्राप्त हुए।

व्याधि मुक्ति समयावधि	व्यवसाय					योग
	कृषि	व्यापार	नौकरी	गृहणी	छात्र	
1 माह के अन्दर	03(15)	–	03(11.53)	02(10.53)	–	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	09(45)	01(14.28)	14(53.86)	08(42.10)	08(72.72)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	05(25)	05(71.44)	05(19.23)	07(36.84)	02(18.18)	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	03(15)	–	02(7.69)	02(10.53)	01(9.10)	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	–	01(14.28)	02(7.69)	–	–	03(3.61)
योग	20(24.09)	07(8.45)	26(31.32)	19(22.89)	11(13.25)	83(100)

नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है।

सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

सारणी से स्पष्ट है कि विभिन्न व्यवसाय के आधार पर ऐसे उत्तरदाता, जिन्होंने कहा कि 1 से 6 माह के अन्दर रोगमुक्त हो गये, उनकी संख्या सर्वाधिक 40 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 48.20 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.64 से स्पष्ट है। 1 से 6 माह में सर्वाधिक ठीक होने वाले उत्तरदाताओं में छात्र, कृषि, नौकरी से जुड़े एवं गृहणी उत्तरदाता रहे जिनका प्रतिशत क्रमशः 72.72, 45, 53.86, 42.10 रहा। व्यापारी वर्ग के उत्तरदाताओं का अवलोकन करने पर पाया कि उनके व्याधि मुक्त होने का प्रतिशत सर्वाधिक (71.44) 6 माह से 1 वर्ष के भीतर पाया गया।

इससे सिद्ध होता है कि सभी व्यवसाय के लोग सिद्धयोग से अपनी व्याधि से मुक्त हो रहे हैं लेकिन छात्र सर्वाधिक तेजी से रोग मुक्त हो जाते हैं इसका कारण उनकी लगन और साधना होता है इसी प्रकार नौकरी पेशा लोग भी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करते हैं क्योंकि वे भी सिद्धयोग के प्रति गंभीर हैं।

व्याधि मुक्ति समयावधि एवं व्यवसाय

80
70
60
50
40
30
20
10
0
कृषि
व्यापार
नौकरी
गृहणी
छात्र
1 माह के अन्दर
6 माह के अन्दर
6 माह से 1 वर्ष
1 वर्ष से 3 वर्ष
ठीक नहीं हुई
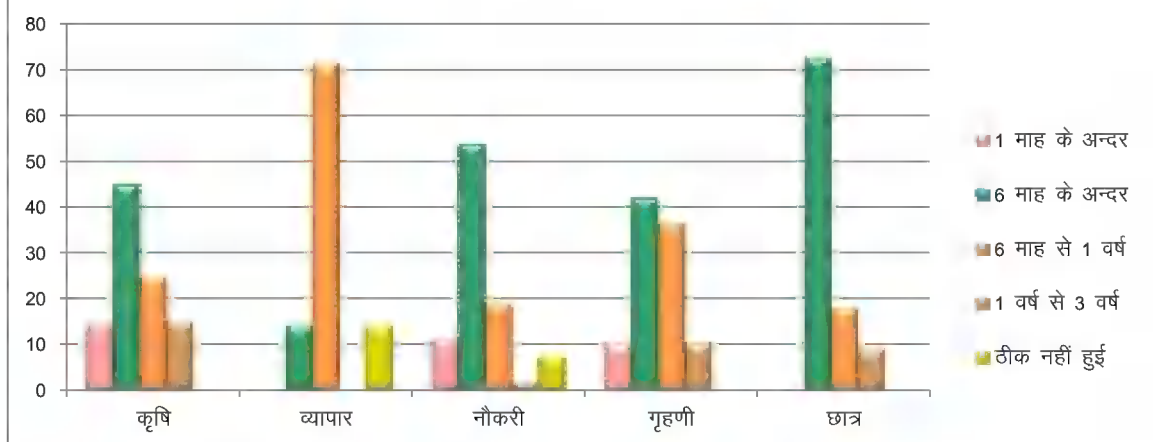
सारणी 4.65

व्याधि मुक्ति (बीमारी) समयावधि एवं आर्थिक स्थिति

आय के आधार पर विभाजित वर्गों में व्याधि मुक्ति की समयावधि के बारे में पूछने पर उत्तरदाताओं द्वारा प्राप्त तथ्य के आधार पर आंकड़ो को विश्लेषित किया गया जो कि सारणी से स्पष्ट है।

व्याधि मुक्ति समयावधि	आर्थिक स्थिति					योग
	निम्न वर्ग	निम्न मध्यम वर्ग	मध्यम वर्ग	मध्यम उच्च वर्ग	उच्च वर्ग	
1 माह के अन्दर	–	05(13.89)	03(10.72)	–	–	08(9.64)
1 से 6 माह के अन्दर	–	17(47.22)	13(46.42)	09(75)	01(100)	40(48.20)
6 माह से 1 वर्ष	06(100)	09(25)	06(21.42)	03(25)	–	24(28.91)
1 वर्ष से 3 वर्ष	–	05(13.89)	03(10.71)	–	–	08(9.64)
ठीक नहीं हुई	–	–	03(10.72)	–	–	03(3.61)
योग	06(7.22)	36(43.40)	28(33.73)	12(14.45)	01(1.20)	83(100)

नोटः– केवल व्याधि वाले उत्तरदाताओं को लिया गया है।
सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

अध्ययन के अनुसार विभिन्न आर्थिक स्थिति के उत्तरदाता, जिन्होंने कहा कि व्याधि 1 से 6 माह के अन्दर ठीक हो गई उनकी संख्या सर्वाधिक 40 है जैसा कि सारणी 4.65 से स्पष्ट है सर्वाधिक उत्तरदाता निम्न मध्यम आय वर्ग के हैं जिनकी संख्या 36 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 43.40 प्रतिशत हैं।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से व्याधि ठीक होने में लगा समय कम–ज्यादा हो सकता है मध्यम–उच्च एवं उच्च वर्ग के लोगों में 6 माह में पूर्ण स्वस्थ होने का प्रतिशत, निम्न–मध्यम एवं मध्यम वर्ग की तुलना में अधिक रहा। जबकि निम्न–मध्यम वर्ग के अधिकतम लोगों ने व्याधि से मुक्ति हेतु सिद्धयोग को ही अपनाया।
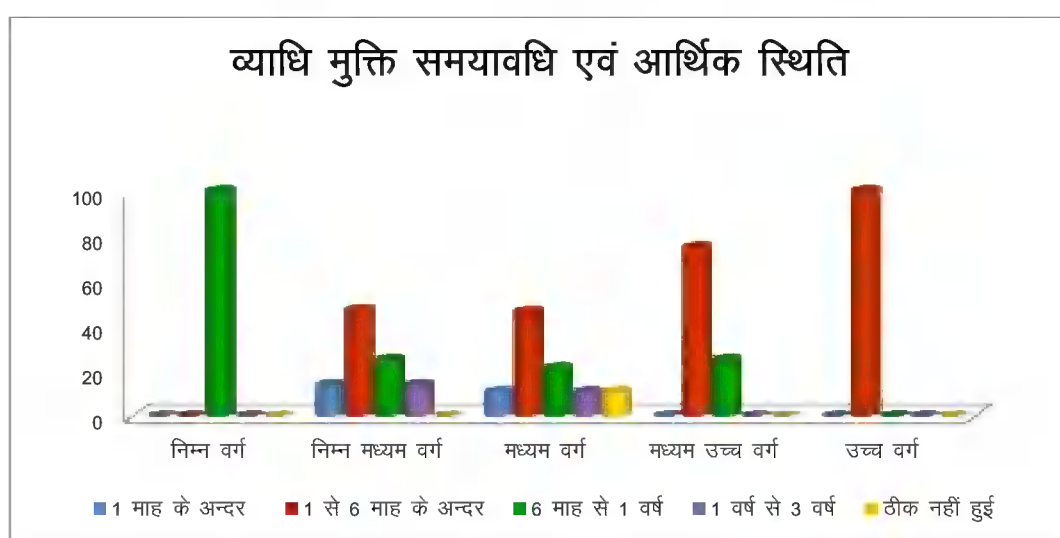
सारणी 4.66

सिद्धयोग: नकारात्मक विचार एवं अवसाद (डिप्रेशन)

इस अध्ययन में ऐसे उत्तरदाता भी अंकित किये गये जिनमें मानसिक रोग के अर्न्तगत विचारों में नकारात्मकता व अवसाद (डिप्रेशन) पाया गया, जब उत्तरदाताओं से गुरु सियाग के सिद्धयोग अपनाने से, इन रोगों में आऐ अन्तर के बारे में पूछा तो निम्न तथ्य निकल कर आऐ जिन्हें सारणी में विश्लेषित किया।

➢ डिप्रेशन एक सामान्य व्याधि है जो 10 प्रतिशत आबादी को प्रभावित करती है एवं जीवनभर में 16 प्रतिशत व्यक्तियों को। योग से डिप्रेशन के लक्षणों में महत्वपूर्ण सुधार पाया गया एवं डिप्रेशन कम हुआ। "योग डिप्रेशन के उपचार में एक पूरक पद्धति पाया गया" (Mehta and Sharma 2010: 156-157)।

क्र.स.	विचार	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं अवसाद (डिप्रेशन) जैसा भाव खत्म हो गया	108	72
2	थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय समय पर आते रहते हैं	36	24
3	अन्य	6	4
	योग	150	100

प्रस्तुत सारणी में नकारात्मक विचारों एवं अवसाद (डिप्रेशन) के संबंध में आने वाले अन्तर को जानने का प्रयास किया, जिसमें कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से 108 (72) ने बताया कि सिद्धयोग से जुड़ने के बाद ऐसे विचार आने ही बंद हो गये। थोड़ा अंतर आता है पर विचार समय–समय पर आते रहते हैं ऐसे कहने वाले उत्तरदाता 36 (24) हैं इन आँकड़ो से स्पष्ट है कि सिद्धयोग विचारों के संबंध में सकारात्मक परिवर्तन लाने में प्रभावी रहा है एवं इसके प्रभाव को आवास, धर्म व लिंग के आधार पर जानने का प्रयास भी प्रस्तुत शोध में किया गया है। सारणी में प्राप्त आंकड़े निम्न कथन को प्रमाणित करते हैं।
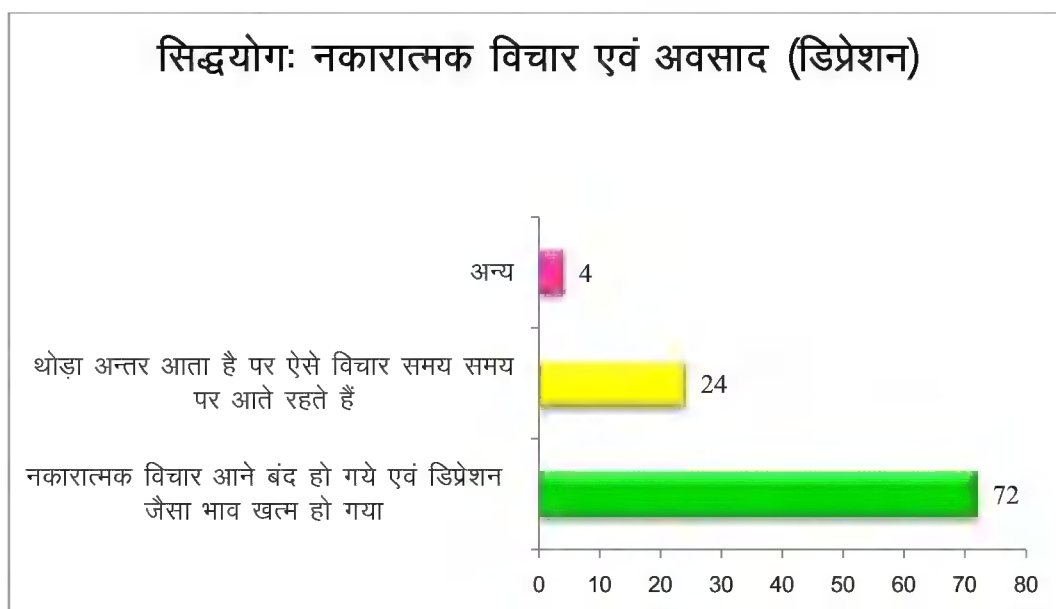
सारणी 4.67

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं आवास

शोध के अर्न्तगत उत्तरदाता नगरीय तथा ग्रामीण पृष्ठभूमि से लिये गये हैं बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा व तनावयुक्त माहौल का प्रभाव शहर के साथ–साथ ग्रामीण पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को भी समान रूप ये प्रभावित कर रहा है। इसलिए नकारात्मक विचारों व अवसाद (डिप्रेशन) के आंकड़ो को पृष्ठभूमि के आधार पर दर्शाया है।

विचार	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं अवसाद (डिप्रेशन) जैसा भाव खत्म हो जाता है	73(73)	35(70)	108(72)
थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय–समय पर आते रहते हैं	23(23)	13(26)	36(24)
अन्य	04(04)	02(04)	06(4)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)
नोटः– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

अध्ययन में नगरीय तथा ग्रामीण उत्तरदाताओं जिनका कहना है कि नकारात्मक विचार आने बन्द हो गये एवं अवसाद का भाव खत्म हो गया सर्वाधिक 108 हैं जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 72 प्रतिशत हैं, इसी प्रकार थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय–समय पर आते रहते हैं उनकी संख्या (नगरीय तथा ग्रामीण को मिलाकर) 36 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 24 प्रतिशत है इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग से सभी उत्तरदाताओं में लगभग समान रूप से अवसाद एवं नकारात्मक विचार आने बंद हो जाते हैं और व्यक्ति सकारात्मक सोच का होने लगता है।

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं आवास

	नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं डिप्रेशन जैसा भाव खत्म हो गया	थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय समय पर आते रहते हैं	अन्य
ग्रामीण	73	23	4
शहरी	70	26	4
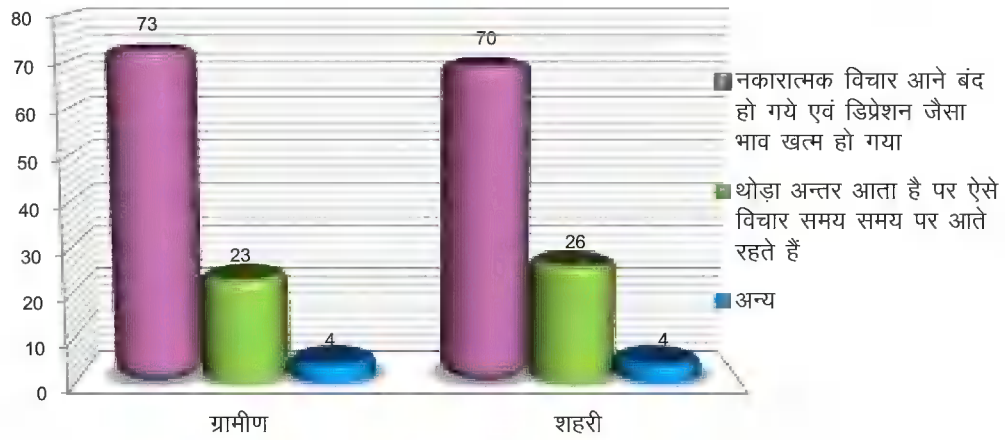
सारणी 4.68

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं धर्म

धर्म के आधार पर नकारात्मक विचार व अवसाद (डिप्रेशन) के प्रभाव का गहन विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य पाये गये जो सारणी में दर्शाया गये हैं।

विचार	धर्म					योग
	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	
नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं अवसाद (डिप्रेशन) जैसा भाव खत्म हो जाता है	97(71.32)	05(62.5)	01(100)	01(100)	04(100)	108(72)
थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय–समय पर आते रहते हैं	33(24.26)	03(37.5)	—	—		36(24)
अन्य	06(4.42)	—	—	—		06(04)
योग	136(90.67)	08(5.32)	01(0.67)	01(0.67)	04(2.67)	150(100)
नोटः–सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

आंकड़ो से ज्ञात हुआ कि नकारात्मक विचार आने बन्द हो गये एवं अवसाद (डिप्रेशन) जैसा भाव खत्म हो गया ऐसा कहने वाले विभिन्न धर्मों के उत्तरदाता अधिकतम 72 प्रतिशत हैं। जैसा कि सारणी 4.68 से स्पष्ट है। नकारात्मक विचार आने बन्द हो गये ऐसा कहने वाले हिन्दू उत्तरदाताओं की संख्या 97 है जो कुल हिन्दू उत्तरदाताओं का 71.32 प्रतिशत है, इसी प्रकार अल्पसंख्यक उत्तरदाताओं की संख्या 11 है जो कुल अल्पसंख्यक उत्तरदाताओं की संख्या (14) का 78.57 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि गुरु सियाग के सिद्धयोग की साधना करने पर नकारात्मक विचारों एवं अवसाद पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है, इसका प्रभाव अल्पसंख्यक लोगों पर हिन्दुओं की तुलना में कुछ अधिक पाया गया।

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं धर्म

120
100
80
60
40
20
0
हिन्दू मुस्लिम ईसाई सिक्ख जैन

नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं डिप्रेशन जैसा भाव खत्म हो गया
थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय समय पर आते रहते हैं
अन्य
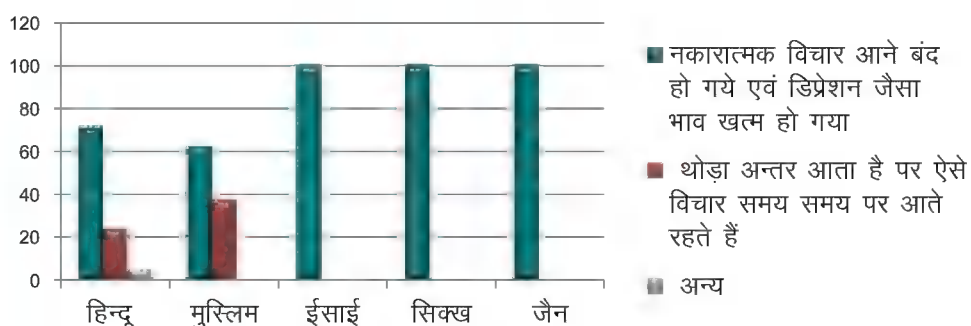
सारणी 4.69“

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं लिंग

लिंग के आधार पर उत्तरदाताओं से नकारात्मक विचार व अवसाद (डिप्रेशन) के बारे में जानकारी प्राप्त की जो कि सारणी में विश्लेषित है।

विचार	लिंग		योग
	महिला	पुरूष	
नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं अवसाद (डिप्रेशन) जैसा भाव खत्म हो गया	44(67.70)	64(75.30)	108(72)
थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय–समय पर आते रहते हैं	19(29.23)	17(20)	36(24)
अन्य	02(3.07)	04(4.70)	06(04)
योग	65(43.33)	85(56.67)	150(100)
नोटः– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

अध्ययन के अनुसार नकारात्मक विचार आने बन्द हो गये एवं अवसाद जैसा भाव खत्म हो गया ऐसा कहने वाले महिला एवं पुरूष उत्तरदाताओं की कुल संख्या 108 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 72 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.69 से स्पष्ट है।

इसमें 75.30 प्रतिशत पुरुष उत्तरदाता थे एवं ऐसा ही कहने वाली महिला उत्तरदाताओं का प्रतिशत 67.70 रहा। नकारात्मक विचार आने बन्द हो गये, एवं समय समय पर आते भी रहते हैं, ऐसा कहने वाले पुरुषों की संख्या सर्वाधिक 85 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 56.67 प्रतिशत है इसी प्रकार महिलाओं की संख्या 65 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 43.33 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग से नकारात्मक विचारों एवं अवसाद पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता हैं पुरुषों में इसका प्रभाव महिलाओं की तुलना में अधिक सकारात्मक पाया गया, हो सकता है कि पारिवारिक दबाव के कारण एवं घरों के माहौल आदि के कारण महिलाओं में तुलनात्मक कम असर पाया गया हो।

नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) एवं लिंग

पुरुष 56.66%

महिला 43.33%

सारणी 4.70

सिद्धयोग : शारीरिक, मानसिक व्याधि

यह तो स्पष्ट हो गया कि सिद्धयोग चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक उभरती हुई सकारात्मक उपचार पद्धति बनती नजर आ रही है, जिसका प्रभाव शारीरिक व्याधियों में स्पष्ट रूप से सकारात्मक पाया गया है। ठीक इसी प्रकार इसे, शारीरिक एवं मानसिक व्याधि में सुधार की प्रतिशतता के आधार, पर प्राप्त तथ्यों के अनुसार विश्लेषित किया गया है।

➢ शिजोफ्रेनिया गंभीर मानसिक बीमारियों में से एक है। आधुनिक इलाज एवं दवाओं के बावजूद भी मरीज पूर्ण ठीक नहीं हो पाता है, अनुभव प्राप्त करने एवं सामाजिक रूप में कमी रहती है। अवसाद एवं एंजाइटी (व्याकुलता, चिंता) के उपचार में दवाओं के साथ में योग ही उपचार में प्रभावी सिद्ध हुआ है (Varambally and Gangadhar 2012: 189)।

क्र.सं.	परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	सुधार नहीं हुआ	03	3.62
2	25–50%	03	3.62
3	51–75%	06	7.23
4	76–90%	15	18.07
5	पूर्ण सुधार	56	67.46
	योग	83	100
नोटः– केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

इस प्रकार स्पष्ट है शारीरिक व मानसिक व्याधि में पूरा सुधार कहने वाले व्यक्तियों की संख्या सर्वाधिक 56 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 67.46 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.70 से स्पष्ट है। तथा 50 प्रतिशत से अधिक सुधार कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 21 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 25.30 प्रतिशत है

इससे सिद्ध होता है कि गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से शारीरिक एवं मानसिक व्याधि में सुधार होता है। कथन प्रस्तुत सारणी को सत्य सिद्ध करता है।

सिद्धयोग : शारीरिक, मानसिक व्याधि

80
60
40
20
0
3.62
3.62
7.23
18.07
67.46
सुधार नहीं हुआ
25–50 प्रतिशत
51–75 प्रतिशत
76–90 प्रतिशत
पूर्ण सुधार

सुधार नहीं हुआ
25–50 प्रतिशत
51–75 प्रतिशत
76–90 प्रतिशत
पूर्ण सुधार
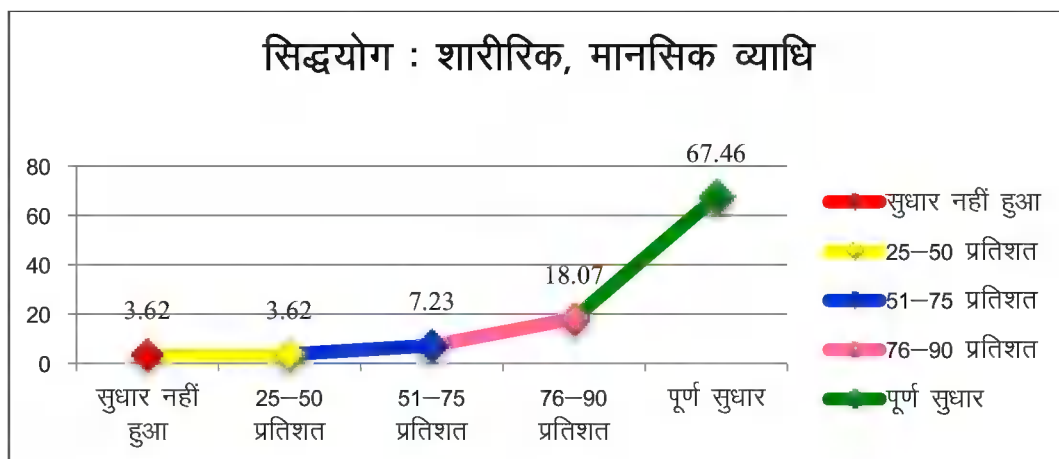
सारणी 4.71

शारीरिक, मानसिक व्याधि एवं आवास

➢ कुण्डलिनी योग की प्राचीन प्रणाली ध्यान की विस्तृत तकनीकों को सम्मिलित करती है और इनमें से तकनीक विशेष रूप से मानसिक विकारों के उपचार हेतु खोजी गई थी, इस प्रकार की एक ध्यान की तकनीक को आब्सेसिव कम्पलसिव डिआर्डर (OCD) के उपचार के लिए विशिष्ट पाया गया है (Shannahoff-khalsa: 2004)।

परिवर्तन	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
सुधार नहीं हुआ	03(5)	–	03(3.62)
25–50 प्रतिशत	02(3.33)	01(4.34)	03(3.62)
51–75 प्रतिशत	05(8.33)	01(4.34)	06(7.23)
76–90 प्रतिशत	8(13.34)	07(30.45)	15(18.07)
पूर्ण सुधार	42(70)	14(60.86)	56(67.46)
योग	60(72.28)	23(27.71)	83(100)
नोटः–केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

जैसा कि सारणी 4.71 से स्पष्ट है ग्रामीण तथा नगरीय उत्तरदाताओं ने शारीरिक व मानसिक व्याधि में पूर्ण सुधार होना बतलाया, ऐसे उत्तरदाताओं की संख्या क्रमशः 42 (70), 14 (60.86) सर्वाधिक है इसी प्रकार 50 प्रतिशत से अधिक सुधार वाले ग्रामीण तथा नगरीय उत्तरदाताओं 13 (21.67), 8 (34.79) रही। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से शारीरिक, मानसिक व्याधि के संदर्भ में सकारात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं पूर्ण सुधार के मामले में नगरीय उत्तरदाताओं का प्रतिशत ग्रामीण उत्तरदाताओं की तुलना में काफी अधिक है जो कि नगरीय उत्तरदाताओं का सिद्धयोग को अधिक अच्छी तरह समझ पाने के कारण हो सकता है।
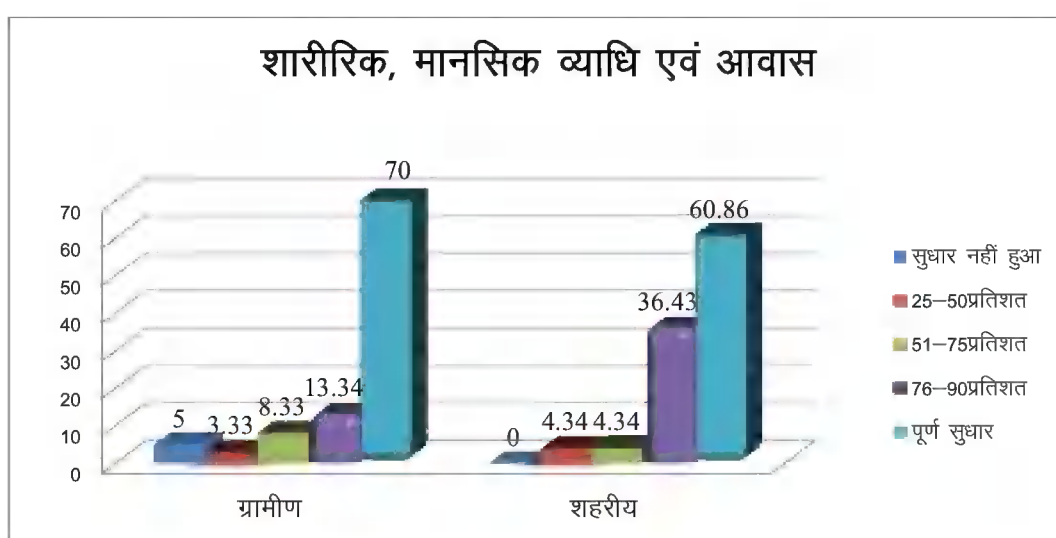
सारणी 4.72

शारीरिक, मानसिक व्याधि एवं लिंग

व्याधि शारीरिक या मानसिक हो यह महिला व पुरुष दोनों वर्गों को प्रभावित करती है। इसमें आने वाले सुधार के प्रतिशत को ज्ञातकर आंकड़ो को सारणी में दर्शाया गया है।

परिवर्तन	लिंग		योग
	महिला	पुरूष	
सुधार नहीं हुआ	01(2.27)	02(5.12)	03(3.62)
25–50%	02(4.54)	01(2.56)	03(3.62)
51–75%	04(9.09)	02(5.12)	06(7.23)
76–90%	08(18.18)	7(17.94)	15(18.07)
पूर्ण सुधार	29(65.90)	27(69.23)	56(67.46)
योग	44(53.01)	39(46.99)	83(100)
नोटः—केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है। सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

तथ्यों के अनुसार महिला व पुरुषों ने शारीरिक, मानसिक व्याधि में पूर्ण सुधार होना बताया ऐसे उत्तरदाताओं का 67.46 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.72 में दर्शाया गया है। पूर्ण सुधार बताने वाले पुरुषों व महिला उत्तरदाताओं का प्रतिशत क्रमशः 69.23 एवं 65.90 रहा। इसी प्रकार 50 प्रतिशत से अधिक सुधार में यह प्रतिशत क्रमशः 23.06 एवं 27.27 रहा।

सिद्धयोग से शारीरिक एवं मानसिक व्याधि के संदर्भ में महिला एवं पुरुषों में सकारात्मक परिणाम प्राप्त होते हैं। महिला व पुरुषों में सुधार का प्रतिशत लगभग समान हीपाया गया इससे सिद्ध होता है कि इस साधना से व्याधि ठीक होने में लिंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।
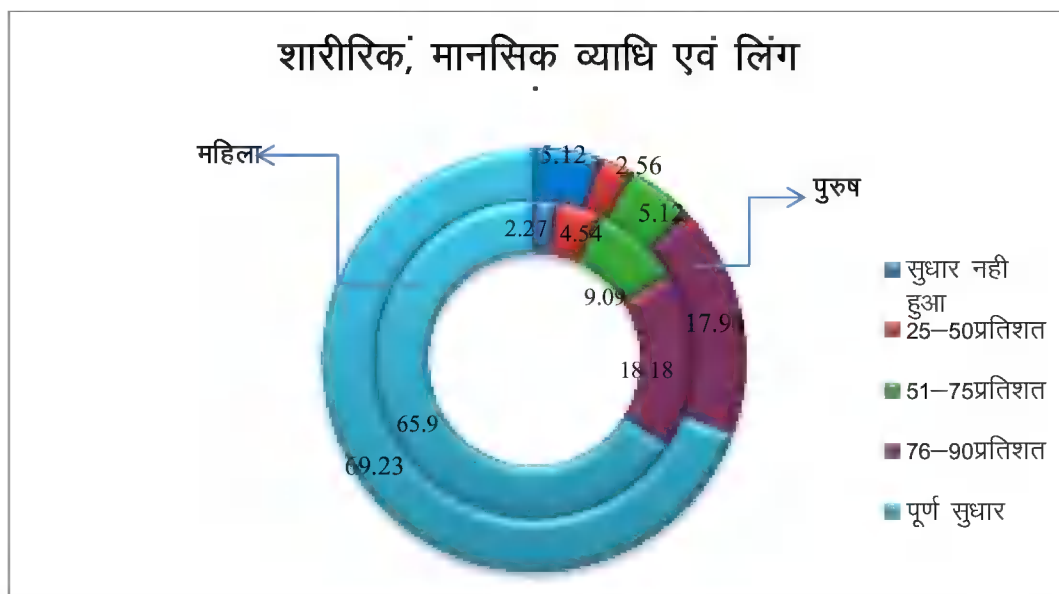
सारणी 4.73

शारीरिक, मानसिक व्याधि एवं धर्म

धर्म के आधार पर भी शारीरिक एवं मानसिक व्याधि में सुधार को बताया गया है क्योंकि चयनित उत्तरदाताओं में हिन्दू धर्म के उत्तरदाताओं की संख्या अधिक परन्तु परिणाम, अन्य धर्म में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी/सकारात्मक रहा जिसको सारणी में समझाने का प्रयास किया।

परिवर्तन	धर्म					योग
	हिन्दू	मुस्लिम	ईसाई	सिक्ख	जैन	
सुधार नहीं हुआ	3(3.89)	–	–	–	–	03(3.62)
25–50%	02(2.60)	–	01(100)	–	–	03(3.62)
51–75%	06(07.79)	–	–	–	–	06(7.23)
76–90%	14(18.18)	–	–	–	01(50)	15(18.07)
पूर्ण सुधार	52(67.54)	02(100)	–	01(100)	01(50)	56(67.46)
योग	77(92.80)	02(2.40)	01(1.20)	01(1.20)	02(2.40)	83(100)

नोटः– सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है।

अध्ययन से जानकारी प्राप्त हुई कि विभिन्न अवधि में व्याधि ठीक हुई ऐसा कहने वाले हिन्दू उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक (77) 92.80 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.73 से स्पष्ट है, अन्य धर्म के उत्तरदाताओं का 7.2 प्रतिशत है। सभी धर्मों के ऐसे उत्तरदाता जिन्होंने कहा कि शारीरिक एवं मानसिक व्याधि में पूर्ण सुधार हुआ उनकी संख्या 56 अर्थात् 67.46 प्रतिशत है।

धर्मों के अनुसार विश्लेषण करने पर पाया कि हिन्दू व अल्पसंख्यक वर्ग के उत्तरदाताओं में बीमारी से पूर्ण मुक्ति लगभग समान रूप में हुई इससे सिद्ध होता है कि धर्म का बीमारी ठीक होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। सिद्धयोग की साधना करने वालों को चाहे वो किसी भी धर्म के हों शारीरिक एवं मानसिक व्याधि में लाभ समान रूप से पाया गया है जो उनकी सिद्धयोग के प्रति लगन व साधना के अनुरुप होता हैं।

सारणी 4.74

सिद्धयोग : अनिद्रा, तनाव व अशांति

गुरु सियाग सिद्धयोग से अनिद्रा, तनाव व अशांति में अन्तर आवास, आयु, शैक्षणिक योग्यता एवं आर्थिक स्थिति का गहन विश्लेषण कर, आने वाले आंशिक व पूर्ण आराम के तथ्यों को सारणी में वर्गीकृत किया गया है।

- (John, Sharon and Christoffer: 104-109) ने बताया कि माइन्ड फुलनैस मेडिटेशन स्किल कॉर्स तनाव प्रबंधन के लिए प्रभावी हो सकता है।
- माइन्ड फुलनैस बेस्ड स्ट्रेस रिडक्शन पर एक प्रोग्राम आयोजित किया जो ध्यान के अभ्यास पर आधारित था। ध्यान की पद्धति पुरानी अनिद्रा की व्याधि के उपचार में प्रभावकारी पाई गई है (http://www.explorejournal.com/artical/s1550-8307(1)0028-x/abstract)।

क्र.सं.	अनिद्रा, तनाव व अशांति में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	कोई फर्क नहीं पड़ा	3	2
2.	आंशिक कम हो गयी	8	5.33
3.	पूर्ण आराम आ गया	114	76
4.	कभी कम कभी ज्यादा होते रहते हैं	22	14.67
5.	अन्य	3	2
	योग	150	100

सारणी से स्पष्ट है कि 76 प्रतिशत उत्तरदाताओं में अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम आ गया है, एवं 14.67 प्रतिशत उत्तरदाता ऐसे भी मिले जिनमें अनिद्रा, तनाव व

अशांति कभी कम कभी ज्यादा होते रहते हैं अर्थात् वर्तमान में सिद्धयोग अनिद्रा, तनाव व अशांति जो इस समय पूरी दुनिया में बहुत बड़ी समस्या बनी हुई है और अधिकांश

लोग इससे पीड़ित हैं उनके लिये यह एक सफल चिकित्सा पद्धति के रूप में उभर कर आई है जिसके परिणाम चौकाने वाले मिले हैं।

सिद्धयोग : अनिद्रा, तनाव व अशांति

80
70
60
50
40
30
20
10
0
2
5.33
76
14.67
2
कोई फर्क नहीं पड़ा
आंशिक कम हो गयी
पूर्ण आराम आ गया
कभी कम कभी ज्यादा होती रहती हैं
अन्य
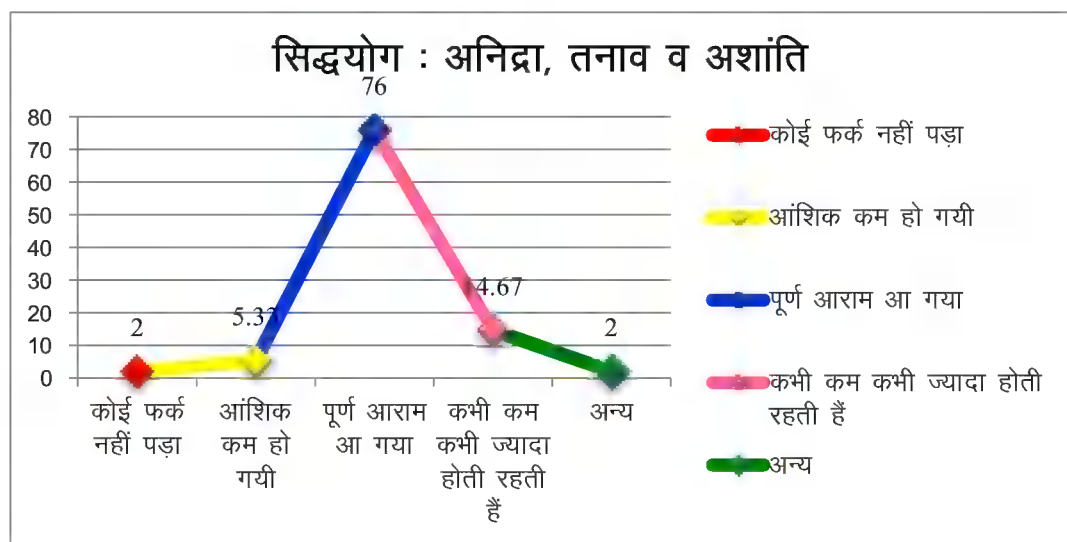
सारणी 4.75

अनिद्रा, तनाव व अशांति एवं आवास

- (http:\\academic.research.microsoft.com\publication\10659057Journal:jou) योग एवं ध्यान, चिन्ता व विकारों के उपचार हेतु उपयोगी हैं साथ ही वह तकनीकें भी जो भय को काबू में रखना सीखना, गुस्से में मन को शान्त करने के लिये, नकारात्मक विचारों को सकारात्मक विचारों में बदलने के लिये हैं।

  ग्रामीण व नगरीय परिवेश में आने वाले अन्तर को अलग–अलग तरीकों से उत्तरदाताओं द्वारा बताया गया पूर्ण आराम व आंशिक आराम के बारे में आंकड़े दर्शाये गऐ है।

परिवर्तन	आवास की प्रकृति		योग
	ग्रामीण	नगरीय	
कोई फर्क नहीं पड़ा	1(1)	2(4)	3(2)
आंशिक कम हो गयी	3(3)	5(10)	8(5.33)
पूर्ण आराम आ गया	89(89)	25(50)	114(76)
कभी कम कभी ज्यादा होती रहती है	7(7)	15(30)	22(14.67)
अन्य	–	3(6)	3(2)
योग	100(66.67)	50(33.33)	150(100)
नोटः–सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।			

सारणी 4.75 से स्पष्ट है कि आवास के आधार पर नगरीय तथा ग्रामीण उत्तरदाताओं ने अनिद्रा, तनाव व अशांति से पूर्ण सुधार होना बतलाया, ऐसे उत्तरदाता सर्वाधिक 76 प्रतिशत हैं तथा ग्रामीण परिवेश के कुल 100 उत्तरदाताओं में से अधिकतम 89 प्रतिशत को अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम आ गया। जबकि नगरीय परिवेश के कुल 50 उत्तरदाताओं में सर्वाधिक 25 (50) को पूर्ण आराम आया। इस आधार पर कह सकते हैं कि ग्रामीण एवं नगरीय सभी उत्तरदाताओं में सिद्धयोग के अभ्यास से तनाव, अनिद्रा, तनाव व अशांति में बहुत आराम मिलता है एवं पूर्ण आराम का प्रतिशत ग्रामीण उत्तरदाताओं में नगरीय उत्तरदाताओं की तुलना में अधिक है क्योंकि ग्रामीण माहौल शहर

की तुलना में ज्यादा शान्तिपूर्ण होता है और वहाँ शहर जैसी भागादौड़ी एवं आपाधापी नहीं होती है।

सारणी 4.76

अनिद्रा, तनाव व अशांति एवं आयु

आयु के आधार पर अनिद्रा, तनाव व अशांति में अन्तर की जानकारी उत्तरदाताओं से प्राप्त कर उन आंकड़ो का सारणीबद्ध कर विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है

परिवर्तन	आयु					योग
	14—20 वर्ष	21—30 वर्ष	31—40 वर्ष	41—50 वर्ष	50 से ऊपर	
कोई फर्क नहीं पड़ा	1(7.69)		—	1(3.1)	1(4.76)	3(2)
आंशिक कम हो गयी	—	05(11.11)	1(2.56)	2(6.25)	—	8(5.33)
पूर्ण आराम आ गया	10(76.92)	34(75.56)	29(74.35)	24(75)	17(80.95)	114(76)
कभी कम कभी ज्यादा होती रहती है	2(15.39)	5(11.11)	9(23.09)	3(9.4)	3(14.28)	22(14.67)
अन्य	—	01(2.22)	—	2(6.25)	—	3(02)
योग	13(8.67)	45(30)	39(26)	32(21.33)	21(14)	150(100)
नोटः—सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

अध्ययन के अन्तर्गत विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाता जिन्हें अनिद्रा, तनाव व अशांति में अन्तर महसूस हुआ उनमें यह कहने वाले कि पूर्ण आराम आ गया उनकी संख्या 114 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 76 प्रतिशत है जैसा कि सारणी 4.76 से स्पष्ट है। जहाँ तक विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाताओं की बात है, 21—30 वर्ष की आयु वर्ग वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 45 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 30 प्रतिशत है। इसी प्रकार 14—20 वर्ष की आयु वर्ग वाले उत्तरदाताओं का प्रतिशत 8.67 है

जो न्यूनतम है। सभी आयु वर्ग के उत्तरदाता में लगभग समान रूप से पूर्ण आराम पाया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि सिद्धयोग की साधना करने वालों को अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम आ सकता है।

सारणी 4.77

अनिद्रा, तनाव व अशांति एवं शैक्षणिक योग्यता

शिक्षा व तनाव का सीधा सम्बन्ध है क्योंकि वर्तमान में ज्ञान प्राप्ति की होड़ में कोई भी पीछे नहीं रहना चाहता है इसका व्यक्तिवाद व भौतिकवाद भी दिखाई देता है। परन्तु इस योग में सभी स्तर के उत्तरदाताओं में अनिद्रा, तनाव व अशांति की स्थिति में सुधार को भिन्न–भिन्न रूप से बताया गया है।

परिवर्तन	शैक्षणिक योग्यता					योग
	निरक्षर	साक्षर	10वीं	डिग्रीकोर्स	प्रोफेशनल कोर्स	
कोई फर्क नहीं पड़ा	–	–	2(3.70)	–	1(2.56)	3(2)
आंशिक कम हो गयी	–	–	3(5.55)	1(2.13)	4(10.25)	8(5.33)
पूर्ण आराम आ गया	5(83.33)	4(100)	42(77.77)	40(85.10)	23(58.98)	114(76)
कभी कम कभी ज्यादा होती रहती है	1(16.67)	–	6(11.11)	5(10.64)	10(25.65)	22(14.67)
अन्य	–	–	1(1.85)	1(2.13)	1(2.56)	3(02)
योग	6(4)	4(2.67)	54(36)	47(31.33)	39(26)	150(100)

नोटः–सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

जानकारी से स्पष्ट है कि विभिन्न शैक्षणिक योग्यता वाले उत्तरदाताओं में जो अनिद्रा, तनाव व अशांति से पीड़ित थे, एवं जिन्होंने सिद्धयोग की साधना की, तो पूर्ण आराम आ गया ऐसा कहने वाले 76 प्रतिशत हैं।

इसी प्रकार 10वीं तक की योग्यता वाले सबसे ज्यादा उत्तरदाता 54 (36), डिग्री कोर्स वाले 47 (31.33), प्रोफेशनल कोर्स वाले 39 (26) हैं। आज कल के प्रतिस्पर्द्धा के युग में, विद्यार्थी वर्ग शिक्षा को लेकर काफी तनाव/अशांति में रहते हैं, प्रोफेशनल कोर्स वाले उत्तरदाताओं में पूर्ण सुधार का प्रतिशत, अन्य की तुलना में कम पाया गया, हो सकता है प्रोफेशनल व्यक्ति अपने कार्य की व्यस्तता के कारण साधना के लिये अधिक समय नहीं निकाल पाते हों। सारणी 4.77 का अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि सिद्धयोग सभी शैक्षणिक योग्यता के लोगों के लिये सिद्धयोग अनिद्रा, तनाव व अशांति दूर करनें में अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुआ है।
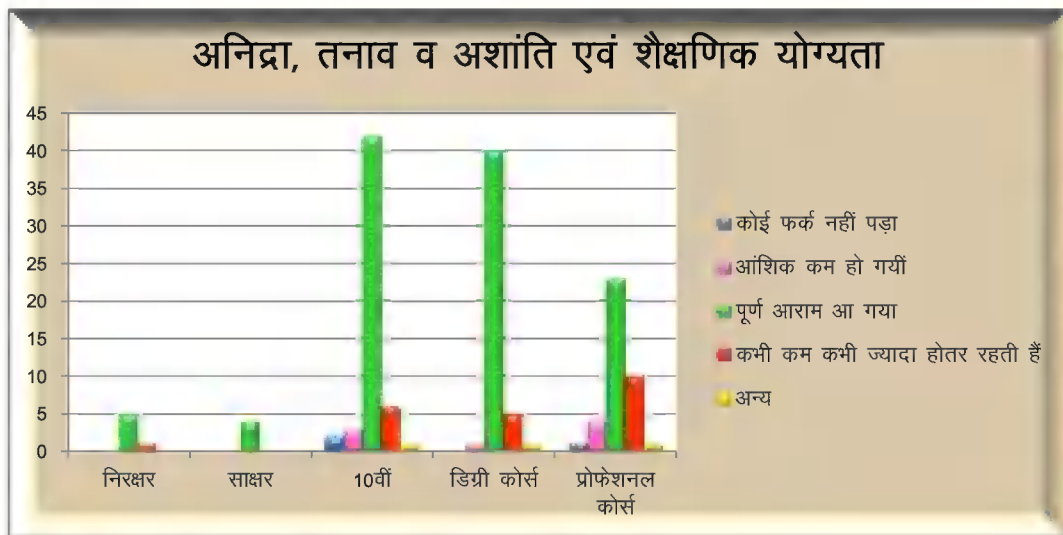
सारणी 4.78

अनिद्रा, तनाव व अशांति एवं आर्थिक स्थिति

अगर व्यक्ति की आर्थिक स्थिति कमजोर है तो वह अनिद्रा, तनाव व अशांति से ग्रसित हो सकता है किस आय वर्ग में यह कम या ज्यादा होती है/पूर्ण आराम है इस बारे में उत्तरदाताओं से पूछा गया।

परिवर्तन	आर्थिक स्थिति					योग
	निम्न वर्ग	निम्न मध्यम वर्ग	मध्यम वर्ग	मध्यम उच्च वर्ग	उच्च वर्ग	
कोई फर्क नहीं पड़ा	—	2(4.25)	1(1.56)	—	—	3(2)
आंशिक कम हो गयी	—	1(2.12)	5(7.81)	2(8)	—	8(5.33)
पूर्ण आराम आ गया	8(80)	38(80.85)	46(71.88)	46(71.88)	4(100)	114(76)
कभी कम कभी ज्यादा होती रहती है	2(20)	6(12.78)	10(15.62)	4(16)	—	22(14.67)
अन्य	—	—	2(3.13)	1(4)	—	3(02)
योग	10(6.67)	47(31.33)	64(42.67)	25(16.67)	4(2.67)	150(100)
नोटः—सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।						

सारणी 4.78 से पता चलता है कि विभिन्न आर्थिक स्थिति वाले उत्तरदाताओं में सिद्धयोग की साधना करने पर अनिद्रा, तनाव व अशांति के बारे में जानने का प्रयास किया गया तो पूर्ण आराम आ गया कहने वाले विभिन्न आर्थिक स्थिति वाले उत्तरदाताओं में मध्यम वर्ग के उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 64 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 42.67 प्रतिशत है, निम्न—मध्यम वर्ग के उत्तरदाताओं की संख्या 47, मध्यम—उच्च वर्ग वाले उत्तरदाताओं की संख्या 25, निम्न वर्ग वालों की संख्या 10 तथा उच्च वर्ग वालों की संख्या केवल 4 है, जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का क्रमशः 31.33, 16.67, 6.67, तथा 2. 67 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग से सभी आय वर्ग के लोगों में अनिद्रा ,तनाव व अशांति में आराम आता है। पूर्ण आराम का आना उच्च वर्ग, निम्न वर्ग एवं निम्न—मध्यम वर्ग के उत्तरदाताओं में सर्वाधिक देखा गया है हो सकता है इस वर्ग वाले उत्तरदाता किसी भी तरह के अनिद्रा, तनाव एवं अशांति से अधिक परेशान हों इस कारण उन्होंने ज्यादा भरोसे व लगन से साधना की हो।

अनिद्रा, तनाव व अशांति एवं आर्थिक स्थिति

कोई फर्क नहीं पड़ा
आंशिक कम हो गयी
पूर्ण आराम आ गया
कभी कम कभी ज्यादा होते रहती हैं

निम्न वर्ग
निम्न मध्यम वर्ग
मध्यम वर्ग
मध्यम उच्च वर्ग
उच्च वर्ग
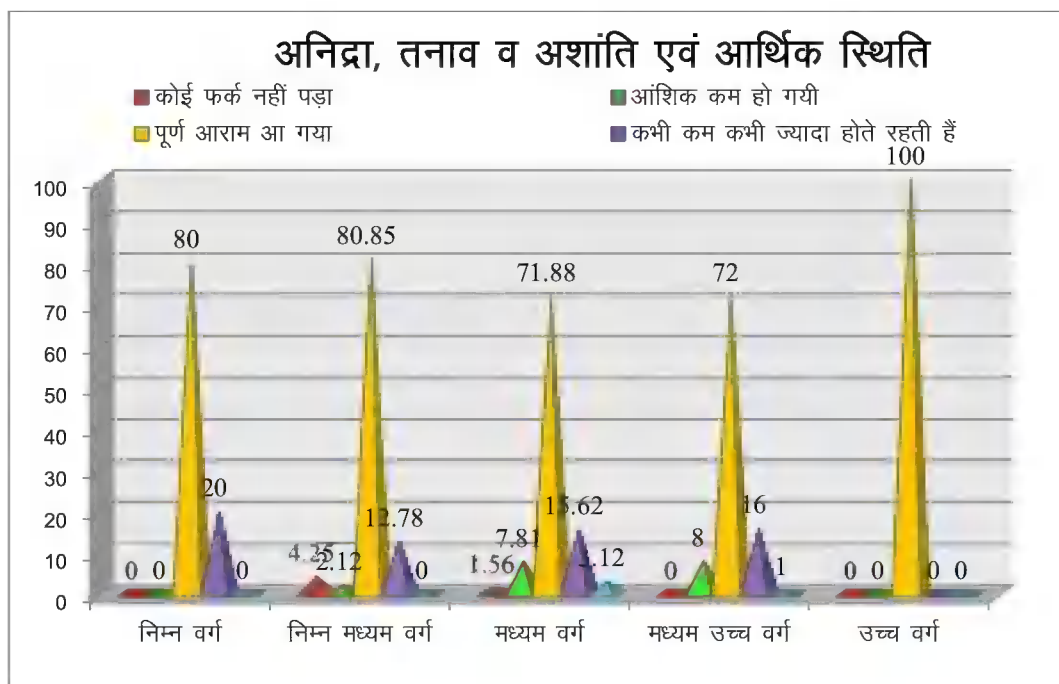
सारणी 4.79

सिद्धयोग की साधना एवं सामान्य बीमारी में स्वास्थ्य लाभ

गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से लाभ जटिल व असाध्य बीमरी में ही नहीं होता है वरन् ये सामान्य बीमरी के लाभ के संदर्भ में भी उतना ही लाभदायक है। साधना व दवा के आधार पर सामान्य बीमारियों में लाभ को जानने का प्रयास किया गया।

क्र.सं.	सामान्य व्याधि (बीमारी) में ठीक हेतु (बुखार, जुकाम, उल्टी, दस्त)	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	केवल साधना से ठीक हो जाती हैं	72	48
2	साधना के साथ दवा भी लेनी पड़ती हैं	78	52
	योग	150	100

प्रस्तुत सारणी के आंकड़े बताते हैं कि इस योग की साधना अपनाने पर सामान्य बीमारियों जैसे (बुखार, जुकाम, उल्टी, दस्त आदि) के बारे में उत्तरदाताओं के विचार जानने का प्रयास किया गया कि सिद्धयोग अपनाने से उन्हें कितना लाभ हुआ। केवल सिद्धयोग की साधना करने से ही ठीक हो जाते हैं ऐसे 48 प्रतिशत उत्तरदाता मिले हैं तथा साधना

के साथ–साथ औषधियाँ भी लेनी पड़ती हैं, वे 52 प्रतिशत हैं, इससे सिद्ध होता हैं कि सामान्य व्याधियों में यदि सिद्धयोग की साधना के साथ–साथ औषधियों का भी सेवन किया जाये तो स्वास्थ्य लाभ जल्दी होता है, साथ ही सिद्धयोग की पद्धति से भी सामान्य व्याधियाँ बिना औषधि लिये भी ठीक हो जाती है।

शिक्षा के क्षेत्र में

योग मुख्यतः प्राचीन शिक्षा पद्धति का विषय रहा है। योग अभ्यास से मस्तिष्क की कार्य पद्धति में सुधार तथा चेतना का विस्तार और परिष्कार होता है। शिक्षा में योग पद्धति का समावेश होने से आधुनिक शिक्षा पद्धति से प्राचीन शिक्षा पद्धति (योग) को समायोजित किया जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली, विद्यार्थी की बौद्धिकता को विकसित नहीं करती। योग द्वारा विद्यार्थी में एकाग्रता एवं विचारों की स्थिरता का गुण विकसित होता है, योग शिक्षण में स्मरण शक्ति व तर्क शक्ति का विकास होता है।

योग शिक्षण द्वारा विद्यार्थी की सोच व भावनात्मक आधार को सही दिशा दी जाती है। योग द्वारा ही विद्यार्थी मन, शरीर, और भावना का संतुलन व समन्वय करने में सक्षम होगा। शिक्षा में योग के समावेश से आध्यात्मिक वैश्विक संस्कृति को सही दिशा प्राप्त होगी तथा आध्यात्म आधारित भारतीय योग का पुनरुत्थान होगा।

<u>सिद्धयोग एवं विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति</u>

- सिद्धयोग व शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है शिक्षा प्रणाली में इसके द्वारा विद्यार्थीयों का शारीरिक, मानसिक, व आध्यात्मिक संतुलन बनाते हुए उनके सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धयोग एवं विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति

3.33%
3.33%
93.34%
हाँ
कोई खास प्रभाव नहीं
अन्य
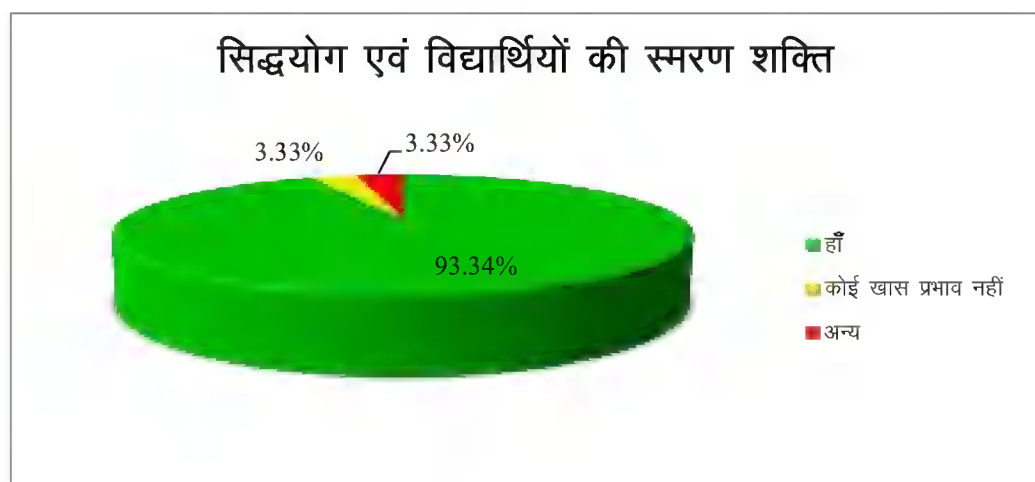
शोध के अनुसार कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से 93.34 प्रतिशत उत्तरदाताओं का कहना है कि गुरु सियाग के सिद्धयोग से विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति एवं एकाग्रता में बढ़ोतरी होती है। यह बताता है कि सिद्धयोग आने वाली पीढ़ी के लिए एक सकारात्मक संकेत है। गुरुकुल शिक्षा पद्धति, जो योग को स्वीकार करते हुए समग्र व्यक्तित्व के विकास के लिए बनी है। वह दृश्य व मौखिक याददाश्त को बढ़ाने में आधुनिक शिक्षा पद्धति की तुलना में ज्यादा प्रभावशाली हैं (Ragan R, Nagendra HR and Bhat Ramachadra G: 2009)।

सारणी 4.80

सिद्धयोग एवं परीक्षा के प्रति डर

- (http://www.joy.org./article. asp issn =0973) कई योगिक स्टडी में पाया गया है कि अत्यधिक तनाव विद्यार्थियों की शिक्षा सम्बन्धी प्रदर्शन एवं सर्तकता में बाधा डालता है, बच्चों में तनाव का शिक्षा सम्बन्धी प्रदर्शन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना इस स्टडी का मुख्य लक्ष्य था। रिजल्ट में पाया गया कि जिस ग्रुप ने योग का अभ्यास किया था उन्होंने परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन किया। इस अध्ययन को सिद्धयोग से प्राप्त तथ्यों के आंकड़े भी सत्य साबित करते हैं जिसको सारणी में दर्शाया गया है।

क्र.सं.	परीक्षा में डर कम होना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	137	91.33
2	कोई विशेष अन्तर नहीं आता	01	0.67
3	नहीं	09	06
4	कह नहीं सकते	03	02
	योग	150	100

तथ्यों से प्राप्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सर्वाधिक 91.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं से जानकारी मिली कि सिद्धयोग से परीक्षा के प्रति डर कम होता है, जैसा सारणी 4.80 में दर्शाया गया है, इससे सिद्ध होता हैं कि सिद्धयोग की साधना करने पर परीक्षा के प्रति डर कम होता है।

सिद्धयोग एवं परीक्षा के प्रति डर

100
80
60
40
20
0

91.33
0.67
6
2

हाँ
कोई विशेष अन्तर नहीं आता
नहीं
कह नहीं सकते
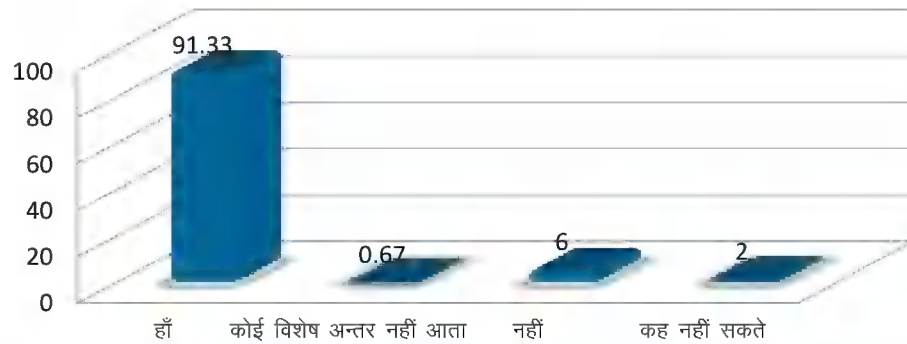
शिक्षा के क्षेत्र में

सिद्धयोग से विद्यार्थियों की स्मरण की शक्ति एकाग्रता मे बढोतरी के संदर्भ में

हाँ (93.34%)
कोई खास प्रभाव नहीं (3.33%)
अन्य(3.33%)

सिद्धयोग से परीक्षा के प्रति डर संदर्भ में

हाँ (91.34%)
कोई विशेष अन्तर नहीं आता (0.67%)
नहीं (6%)
कह नहीं सकते (2%)

संदर्भ

अरविन्द, श्री, योग प्रदीप, 1935, पांडिचेरीः श्री अरविन्द आश्रम पब्लिकेशन.

अरविन्द, श्री, 1939, योग के आधार, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी.

बाबा, पायलट, हिमालय कह रहा हैं –भाग 2, श्री पायलट बाबा आश्रम, नैनीताल.

भारती, राकेश, 2008, योगदर्शन, दिल्लीः पंकजबुक्स.

Burke Adam, Explore: 'The journal of science and Healing', 2012: 237-242.

Choi Kyung- Eun; Rampp Thomas, Saha J.felix, Dobos J.gustav and Musial Frauke. 2011. 'Pain modulation & meditation & electroacupuncture in experimental submaximum effort tourniquent technique (SETT)', 7(4): 239-245.

चुतुर्वेदी, खेमचद, 2007, योग साधनाः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, वाराणासीः विश्वविद्यालय प्रकाशन.

चन्द्रमिशन, राम, 1998, सहज मार्ग शैक्षणिक श्रृंखला भाग–1, चैन्न,: श्रीरामनगर.

दिव्य गुरु दर्शन– मासिक पत्रिका /अंक/अक्टूबर 2012.

George, Ritzer.1992. Sociological Theory 3rd(edition), Newyork: Mc GRAW Hill INC.

गीता, श्री गुरु, श्री योग वेदान्त सेवा समिति, संत श्री आसाराम आश्रम, साबरमती अहमदाबाद.

hi.omswami.com/ आत्म समपर्ण–क्या हैं.html(accessed on 10 March 2016).

http:\\academic.research.microsoft.com\publication\10659057Journal: jou (accessed on 12 December 2013).

http://www.joy.org./article. asp issn =0973 (accessed on 3 January 2013).

http://www.explorejournal.com/artical/s1550-8307(1)0028-x/abstract (accessed on 12 February 2013).

John D. Agee; Sharon Danoff-Burg and Christoffer A.Grant. 2009. 'Comparing brief stress management courses in a community sample: Mindfulness skills & progressive muscle relaxation', 5(2): 104-109.

महैंश्वरानंद, स्वामी योगीराज, 1989, दिव्य दर्शन (कुण्डलिनी–योग), वियनाः ऑस्ट्रियन इण्ड़ियन योग वेदान्त सोसायटी.

Nealy, Poul John, Yearing to Belong: Discovery a New Religious Movement, Weycourt East: Ashgate Publishing Limited.

Puravi Mehta and Sharma Manoj. 2010. 'Yoga as a complementary therapy for clinical depression: Complementary Health practice Review'.

परमहंस, स्वामी मुक्तानंद, 1997, कुण्डलिनी जीवन का रहस्य, चेन्नईः चितशक्ति पब्लिकेशन.

पोद्दार, प्रसाद हनुमान, सम्वत् 2056, संक्षिप्त शिव पुराण, गोरखपुरः गीताप्रेस.

Ragan, R; HR Nagendra and G Ramachadra Bhat. 2009. 'Effect of Yogic education system and morden education system of memory', 2(2): 55-61.

सियाग, रामलाल चौधरी, 1993, पवित्र धार्मिक ग्रंथ–बाइबिल की भविष्यवाणियाँ, जोधपुरः आध्यात्मिक सत्संग केन्द्र.

सियाग, ओम प्रकाश, 2008, स्पिरिचुअल साइंस, जोधपुरः अध्यात्म विज्ञान सत्संग केन्द्र.

स्वामी, रामदेव, 2005, प्राणायाम रहस्य, हरिद्वारः दिव्य प्रकाशन.

तीर्थ ओम, स्वामी, 1949, पातंजलियोगप्रदीप, गोरखपुरः गीता प्रेस.

Shannahoff-khalsa, David S. 2004. ‘An Introducation to Kundalini Yoga Meditation Technique That Are Specific for the Treatment of Psychiatric disorders’, 10(1): 91-101.

Varambally, Shivarama and Gangadhar B.N. 2012. ‘Yoga: A spiritual practice with therapeutic value in psychiatry (NIMHANS), Bangalore,’ 5(2): 189.

www.shrinathjimaharajkaasharm.org (accessedon 22 December 2017).

योगानन्द, परमहंस, 2010, योगी कथामृत, कोलकाताः योगदा सत्संग सोसायटी ऑफ इण्डिया.

अध्याय–5

योग एवं सिद्धयोग का प्रभाव व परिवर्तन

- वैयक्तिक अध्ययन

अध्याय 5

योग एवं सिद्धयोग का प्रभाव व परिवर्तन

प्रस्तुत अध्याय योग एवं सिद्धयोग से आने वाले प्रभाव एवं परिवर्तन पर केन्द्रित है। इस योग से ग्रामीण व नगरीय उत्तरदाताओं में शारीरिक रोग, मानसिक रोग (तनाव, अनिद्रा, भय, क्रोध) आध्यात्मिक बीमारी व नशों से मुक्ति पायी गई है। इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से ग्रसित समस्याओं से मुक्ति व अन्य कई लाभों के बारे में अध्ययन किया गया।

योग का शरीर पर प्रभाव देखा गया है योग से शारीरिक शुद्धि, मानसिक शांति, आध्यात्मिक सुख, स्वयं से साक्षात्कार, जीवन में सफलता की प्राप्ति, ध्यान में वृद्धि, कर्तव्यों का पालन, मोक्ष प्राप्ति होती है।

मन, बुद्धि और चित्त की एकाग्रता के साथ—साथ योग शरीर को स्वस्थ और निरोगी रखने में बहुत अधिक सहायक है।

मानव का निर्माण पंच महाभूत रचित शरीर तथा मन से हुआ है। मन चेतन है तथा इसकी चेतना का स्तर, चेतना के परम स्त्रोत ब्रह्म के साथ सन्निकटता पर निर्भर करता है। चेतना के स्तर में वृद्धि के साथ परम आनन्द अनुभव होता है जिसे सुख—दुःख, हानि—लाभ, इत्यादि भंग नहीं कर पाते। योग मन की चेतना के स्तर में वृद्धि का एक मात्र साधन है। आज मानव भौतिक विकास की दृष्टि से विकास की आश्चर्यचकित करने वाली ऊँचाइयों को छू रहा है किन्तु आध्यात्मिक विकास न होने से अधःपतन के गर्त में गिर गया है। आज अर्थ प्रधान दृष्टिकोण ने जितनी अराजकता एवं अव्यवस्था पैदा कर दी है उतनी शायद ही किसी दूसरे तत्व ने उत्पन्न की हो। आज भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच उपयुक्त सामंजस्य की आवश्यकता है। जिसकी स्थापना में योग की अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। (मिश्रा 2008: 53—54)।

सारणी 5.1

सिद्धयोग एवं सकारात्मक परिणाम

गुरु रामलाल के सिद्धयोग से उत्तरदाता लाभान्वित हो रहे हैं यह तो पूर्ण स्पष्ट हो चुका है परन्तु इसके प्रभाव व परिवर्तन सकारात्मक रूप में आये एवं बहुत ही कम अवधि में आये हैं। निम्न तथ्यों को सारणी 5.1 में दर्शाने का प्रयास किया है।

क्र.सं.	सकारात्मक परिणाम की अवधि	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	तुरन्त	07	4.67
2	कुछ की दिनों में	53	35.34
3	कुछ माह में	79	52.66
4	कुछ वर्षो में	11	7.33
	योग	150	100

अध्ययन से स्पष्ट है कि कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से सर्वाधिक उत्तरदाता 79 अर्थात् 52.66 का मानना है कि सिद्धयोग से आने वाले परिवर्तन व सकारात्मक परिणाम के लिए ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ता इसका प्रभाव कुछ माह में आ जाता है एवं 40 प्रतिशत उत्तरदाता ऐसे भी जिन्होंने सिद्धयोग से आने वाले परिवर्तन व सकारात्मक परिणाम को तुरन्त एवं कुछ ही दिनों में आना बताया है।
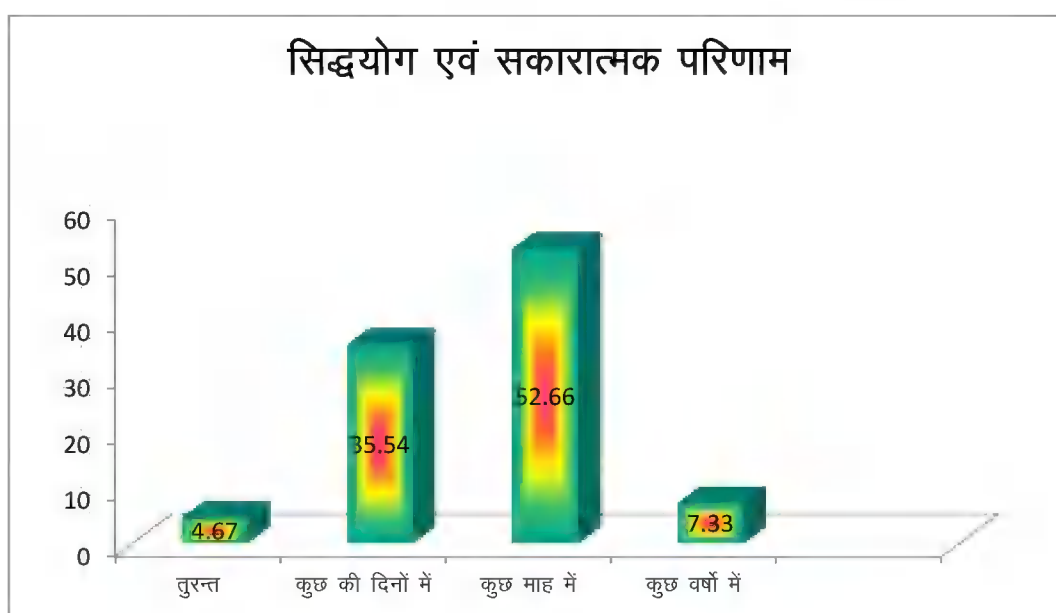
सारणी 5.2

सकारात्मक परिणाम एवं लिंग

ज्ञात तथ्यों से यह तो सिद्ध हो गया कि सिद्धयोग से सकारात्मक परिणाम तो आ ही रहे हैं एवं इन्हें लिंग के आधार पर जाना गया।

क्र.सं.	सकारात्मक परिणाम की अवधि	महिला	पुरुष	प्रतिशत
1	तुरन्त	01(1.54)	06(7.05)	07(4.67)
2	कुछ की दिनों में	27(41.53)	26(30.58)	53(35.34)
3	कुछ माह में	31(47.70)	48(56.47)	79(52.66)
4	कुछ वर्षो में	06(9.23)	05(5.9)	11(7.33)
	योग	65(43.33)	85(56.67)	150(100)

अध्ययन से स्पष्ट है कि सिद्धयोग से सकारात्मक परिणाम तो आते हैं परन्तु लिंग के आधार पर परिवर्तन की अवधि के बारे में पूछा तो सारणी 5.2 से स्पष्ट है कि सिद्धयोग की साधना से महिला एवं पुरुष दोनों में ही लगभग समान रुप से कुछ माह में ही सकारात्मक परिणाम आ जाते हैं जिनका प्रतिशत पुरुष में 56.47 है एवं महिला में 47.70 प्रतिशत रहा है। जब कि तुरन्त व कुछ ही दिन में आराम आने का प्रतिशत क्रमशः 37.63 व 43.70 रहा।

अतः कहा जा सकता है कि लिंग के आधार पर सकारात्मक परिणाम की अवधि में कोई विशेष अन्तर नहीं है यह इस तथ्य का प्रतीक है कि सकारात्मक परिणाम इस आधार पर प्रभावित नहीं हो रहा है।

सारणी 5.3

सिद्धयोग एवं गृहस्थ जीवन

इस योग के प्रभाव को गृहस्थ जीवन व परिवार से भी जोड़ कर देखा गया है एवं परिणामस्वरूप प्राप्त आंकड़ो के आधार पर विश्लेषण किया गया।

क्र.सं.	गृहस्थ जीवन व परिवार पर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	गृहस्थ जीवन ज्यादा सुखमय हो जाता है एवं पारिवारिक संघर्षो में कमी आती है	124	90.52
2	कोई फर्क नहीं पड़ा	05	3.64
3	परिवारिक कलह/संघर्ष में वृद्धि हुई है	04	2.92
4	कम फायदा/लाभ हुआ	04	2.92
	योग	137	100
नोटः—केवल गृहस्थ उत्तरदाताओं द्वारा उत्तर दिये गऐ हैं।			

सारणी 5.3 बताती है कि अधिकांश 124 उत्तरदाता जिनका प्रतिशत 90.52 है का मानना है कि इस पद्धति से गृहस्थ जीवन ज्यादा सुखमय हो जाता है एवं पारिवारिक संघर्षो में कमी आती है अर्थात् तथ्यों से स्पष्ट है कि सिद्धयोग व्यक्ति की सात्विक वृत्ति को प्रभावी कर रहा है, बुरी आदतों से विरक्ति आ रही है इससे उनकी आपसी कलह कम हो रही हैं एवं गृहस्थ जीवन ज्यादा सुखमय हो रहा है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सिद्धयोग से गृहस्थ जीवन एवं परिवार पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है एवं गृहस्थ जीवन ज्यादा सुखमय हो जाता है।
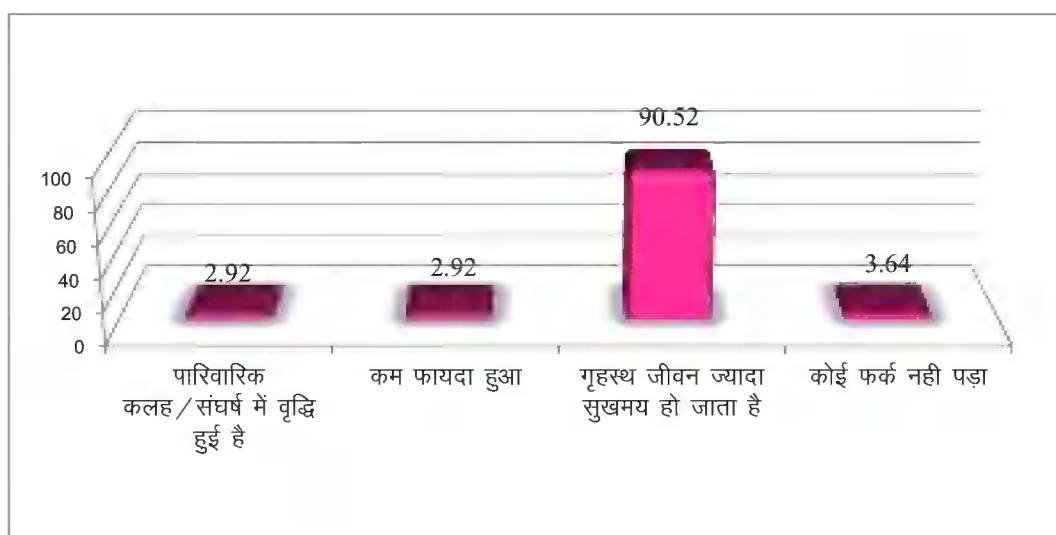
सारणी 5.4

सिद्धयोग एवं साधको में परिवर्तन

प्रस्तुत अध्ययन में परिजनों एवं मित्रों से साक्षात्कार करने पर पाया गया कि साधक में सिद्धयोग के पश्चात् व्यवहार एवं स्वभाव में परिवर्तन देखा गया। जैसा कि सारणी 5.4 से स्पष्ट है।

क्र.सं.	परिजन/मित्र द्वारा साधक में बदलाव महसूस	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	आत्मविश्वास में बढ़ोतरी	86	35
2	प्रसन्नता एवं आंनद में वृद्धि	88	36
3	सोचने के ढंग में बदलाव	60	24.56
4	उनको बदलाव नहीं लगता	01	0.44
5	अन्य	09	4
	योग	244	100
नोट :– उत्तरदाताओं द्वारा एक से अधिक उत्तर दिये गऐ हैं।			

शोध में ज्ञात हुआ कि प्रसन्नता तथा आनन्द में वृद्धि हुई है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 88 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (244) का 36 प्रतिशत है। इसी प्रकार आत्मविश्वास में बढ़ोतरी हुई है ऐसे उत्तरदाता 35 प्रतिशत तथा सोचने के ढंग में बदलाव आया है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 60 अर्थात् 24.56 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से आत्मविश्वास में बढ़ोतरी तथा सोचने के ढंग में बदलाव के साथ–साथ बड़ी बात यह है कि प्रसन्नता एवं आनन्द में वृद्धि होती है, इस बदलाव को परिजन तथा मित्रों द्वारा भी महसूस किया जाता है।

सिद्धयोग एवं साधको में परिर्वतन

40
30
20
10
0
35
36
24.56
0.44
4
आत्मविश्वास में बढ़ोत्तरी
प्रसन्नता एवं आंनद में वृद्धि
सोचने के ढंग में बदलाव
उनको बदलाव नहीं लगता
अन्य
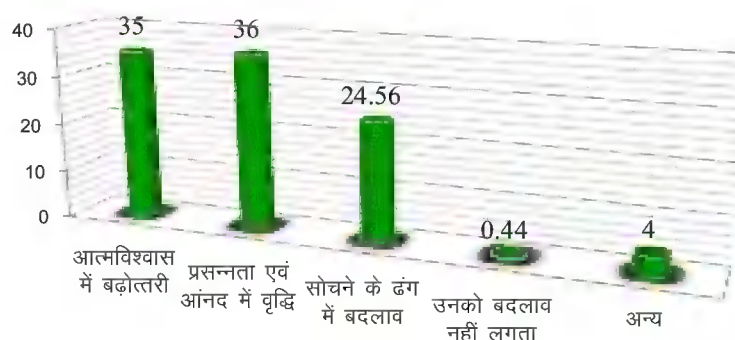
सारणी 5.5

सिद्धयोग एवं खान पान में परिवर्तन

मनुष्य जिस वृत्ति का होता है उसी आधार पर शरीर मांग करता है, अगर वृत्ति सात्विक है तो सादा भोजन किया जाता है एवं तामसिक है तो मांस व तेज मिर्च मसाले की मांग करेगा, वही शरीर को देना पड़ता है परन्तु वृत्ति ही बदल जाऐ तो मांग व पूर्ति का काम ही खत्म हो जाऐ। यह योग आन्तरिक मांग को खत्म कर सात्विकता की ओर ले जा रहा है, इस प्रकार की जानकारी उत्तरदाताओं ने दी, जिन्हें सारणी 5.5 में स्पष्ट बताया है।

स्वामी विवेकानंद ने कहा कि " **मनुष्य उन वस्तुओं को नहीं छोड़ता, वे वस्तुऐं उसे छोडकर चली जाती हैं** " **(You need not to give up the things, the things will give you up)**

इस संबंध में भगवान श्री कृष्ण ने गीता के 14वें अध्याय में कहा है–

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।

" हे अर्जुन सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ऐसे (यह) प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण (इस) अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।" अर्थात् श्री कृष्ण भी यही समझाना चाह

रहे हैं कि व्यक्ति की वृत्ति के आधार पर ही शरीर को खानपान दिया जाता है (सियाग 1993: 49)।

क्र.सं.	सिद्धयोग और खानपान में परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	लहसुन प्याज छूट गया	27	15.70
2	मांसाहारी भोजन से अरुचि (यदि आप पूर्व में मांसाहारी थे तो)	11	6.35
3	तेज मिर्च व मसालेदार भोजन से अरुचि	65	37.80
4	कोई अन्तर नहीं आया	66	38.40
5	अन्य (चाय भी छूट गयी)	03	1.75
	योग	172	100
नोटः– उत्तरदाताओं द्वारा एक से अधिक उत्तर दिये गऐ हैं।			

अध्ययन में गुरु सियाग के सिद्धयोग को अपनाने से खान पान में आने वाले परिवर्तन के सम्बंध में उत्तरदाताओं के विचार जानने का प्रयास किया गया। सिद्धयोग से लहसुन प्याज छूट गया ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 27 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (172) का 15.70 प्रतिशत है। जो उत्तरदाता मांसाहारी थे, सिद्धयोग से उन्हें मांसाहारी भोजन से अरुचि हो गई ऐसे 6.35 प्रतिशत हैं। तेज मिर्च मसाले वाले भोजन से अरुचि की बात 65 लोगों ने स्वीकारी जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (172) का 37.80 प्रतिशत हैं। कुल उत्तरदाताओं में से अधिकांश के खानपान में स्पष्ट अन्तर आया और उनका भोजन सात्विक हो गया।

इससे ज्ञात होता है कि सिद्धयोग से खान पान में परिवर्तन आता है अर्थात् वृत्ति बदल जाती है इसलिए उस वृत्ति के खानपान एवं नशों से मनुष्य को आंतरिक घृणा हो जाती है अतः किसी प्रकार के कष्ट बिना ही साधक तामसिक भोजन से सात्विक भोजन की ओर स्वतः ही प्रेरित होने लगता है एवं इससे व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन को भी देखा गया है।

सिद्धयोग एवं खान पान में परिवर्तन

अन्य (चाय भी छूट गयी) 1.75 %

लहसुन प्याज छूट गया 15.70%

मांसाहारी भोजन से अरुचि (यदि आप पूर्व में मांसाहारी थे तो) 6.35 %

तेज मिर्च व मसालेदार भोजन से अरुचि 37.80%

कोई अन्तर नहीं आया 38.40 %
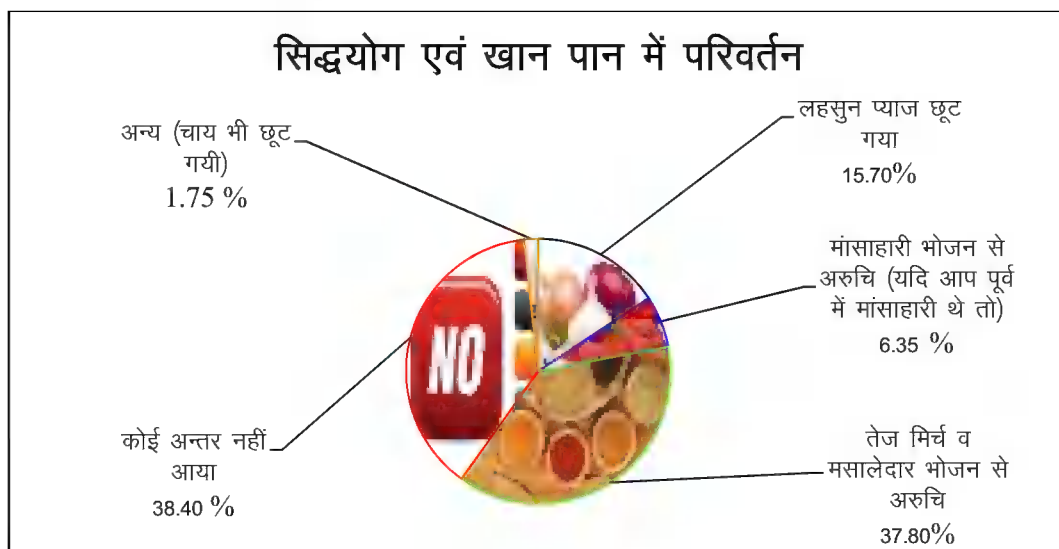
सारणी 5.6

सिद्धयोग एवं स्वभाव में परिवर्तन

यह तो स्पष्ट है कि सिद्धयोग से खानपान में परिवर्तन आ रहा है किन्तु स्वभाव व आहार का सम्बन्ध भी पाया गया है व्यक्ति जिस प्रकार का भोजन करता है उसका स्वभाव वैसा ही होता है अतः उक्त सारणी में स्वभाव में आए परिवर्तनों को पूछने का प्रयास किया गया है।

क्र.सं.	सिद्धयोग से स्वभाव में परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	कोई बदलाव नहीं	2	0.84
2	मन शांत रहता है	75	31.25
3	गुस्सा कम आता है	50	20.83
4	उत्साह बना रहता है	46	19.16
5	चिड़चिड़ापन बढ़ गया	—	—
6	सोच नकारात्मक हो गई	2	0.84
7	सकारात्मक बदलाव	60	25
8	दूसरों के प्रति सोच बदल गई	5	2.08
	योग	240	100
नोटः— उत्तरदाताओं द्वारा एक से अधिक उत्तर दिये गए हैं।			

सिद्धयोग से स्वभाव में परिवर्तन आने वाले उत्तरदाताओं से जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया जिनका कहना है कि मन शान्त रहता है उनकी संख्या सर्वाधिक 75 (31.25) है जैसा कि सारणी 5.6 से स्पष्ट है। इसी प्रकार सकारात्मक बदलाव कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 60 (25), गुस्सा कम आता है कहने वाले 50 (20.83), उत्साह बना रहता है कहने वाले 46 (19.16), तथा दूसरों के प्रति सोच बदल गई ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 5 (2.08) हैं। 98 प्रतिशत लोगों ने स्वभाव में बहुत अच्छा परिवर्तन महसूस किया।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग मनुष्य के लिए एक वरदान जैसा है जो मन को शान्त कर के सकारात्मक बदलाव ला रहा है।

सिद्धयोग एवं स्वभाव में परिवर्तन

35
25
15
5
.5
31.25
20.83
19.16
0.84
0
0.84
कोई बदलाव नहीं
मन शांत रहता है
गुस्सा कम आता है
उत्साह बना रहता है
चिड़चिड़ापन बढ़ गया
सोच नकारात्मक हो गई
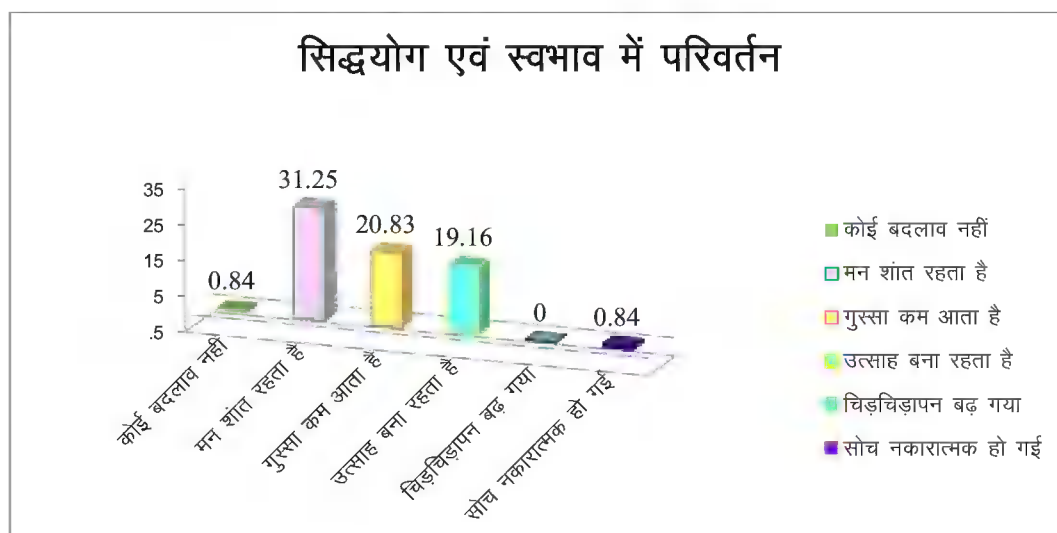
सारणी 5.7

स्वभाव में परिवर्तन एवं आयु वर्ग

स्वभाव व आयु का विशेष संबंध माना जाता है बढ़ती आयु व जिम्मेदारी के कारण व्यक्ति का व्यवहार प्रभावित होता है गुस्सा अधिक आना, नकारात्मक सोच होना आदि में आने वाले अन्तर का विवरण सारणी 5.7 दर्शाया गया है।

स्वभाव	आयु					योग
	14—20वर्ष	21—30वर्ष	31—40 वर्ष	41—50वर्ष	51से उपर	
कोई बदलाव नहीं	—	—	1(1.29)	1(1.78)	—	2(0.84)
मन शांत रहता है	5(21.75)	15(28.30)	21(27.30)	18(32.14)	16(51.61)	75(31.25)
गुस्सा कम आता है	9(39.15)	9(16.98)	13(16.89)	13(23.22)	6(19.35)	50(20.83)
उत्साह बना रहता है	3(13.05)	9(16.98)	17(22.07)	13(23.22)	4(12.90)	46(19.16)
सोच नकारात्मक हो गई	—	1(1.89)	1(1.29)	—	—	2(0.84)
सकारात्मक बदलाव	5(21.75)	18(33.96)	23(29.87)	9(16.07)	5(16.14)	60(25)
दूसरों के प्रति सोच बदल गई	1(4.3)	1(1.89)	1(1.29)	2(3.57)	—	5(2.08)
योग	23(9.58)	53(22.08)	77(32.08)	56(23.35)	31(12.91)	240(100)
नोटः— सारणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐ प्रतिशत में हैं।						

शोध के अनुसार विभिन्न आयु वर्ग के उत्तरदाताओं में सिद्धयोग से स्वभाव में परिवर्तन 31 से 40 वर्ष की आयु वर्ग वालों में सर्वाधिक 77 (32.08) पाया गया है अधिकांश उत्तरदाताओं ने मन शांत रहना, गुस्सा कम आना, उत्साह बना रहना एवं सकारात्मक सोच का होना बतलाया है।

स्वभाव में होने वाले परिवर्तन पर एक से अधिक जवाब उत्तरदाताओं से प्राप्त हुए हैं इससे पता लगता है कि सिद्धयोग से हर उम्र के लोगों में कई प्रकार से सकारात्मक परिवर्तन हुये हैं। उम्र बढ़ने के साथ मन शांत रहना एवं किशोरों में गुस्सा कम आना सिद्धयोग से आने वाला सकारात्मक प्रभाव हैं।

स्वभाव में परिवर्तन एवं आयु वर्ग

14–20वर्ष 21–30वर्ष 31–40वर्ष 41–50वर्ष 51से उपर

कोई बदलाव नहीं
मन शांत रहता है
गुस्सा कम आता है
उत्साह बना रहता है
सोच नकारात्मक हो गई
सकारात्मक बदलाव
दूसरों के प्रति सोच बदल गई
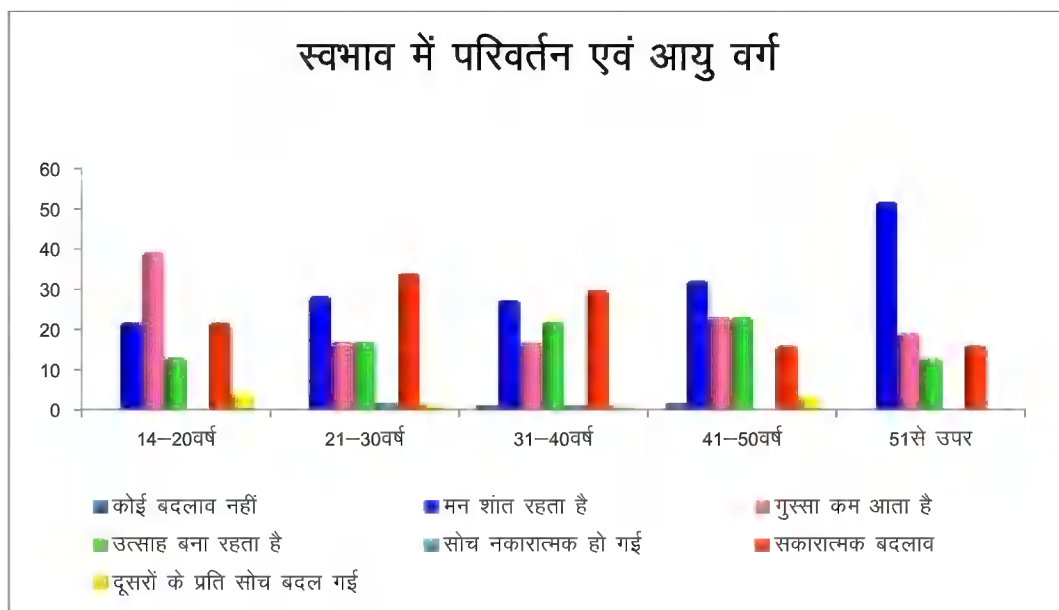
सारणी 5.8

सिद्धयोग एवं शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता

क्षेत्रीय अध्ययन में उत्तरदाताओं से जाना कि सिद्धयोग की साधना रोग प्रतिरोधक क्षमता में किस प्रकार परिवर्तन ला रही है।

क्र.सं.	शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	पहले से बढ़ी है	141	94
2	कोई बदलाव नहीं आया	07	4.67
3	कम हुई है	—	—
4	कुछ कह नहीं सकते	02	1.33
	योग	150	100

सारणी 5.8 से स्पष्ट है कि सिद्धयोग की साधना अपनाने पर शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता में होने वाले अन्तर को जानने हेतु उत्तरदाताओं के विचार जानने का प्रयास किया गया तो 94 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने माना कि सिद्धयोग की साधना करने से पहले की अपेक्षा शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता बढ़ी है। इससे स्पष्ट है कि यह योग शरीर को अन्दर से मजबूत करने में मदद कर रहा है।

सिद्धयोग एवं शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता

100
90
80
70
60
50
40
30
20
10
0
94
4.67
0
1.33
पहले से बढ़ी है
कोई बदलाव नही आया
कम हुई है
कुछ कह नही सकते
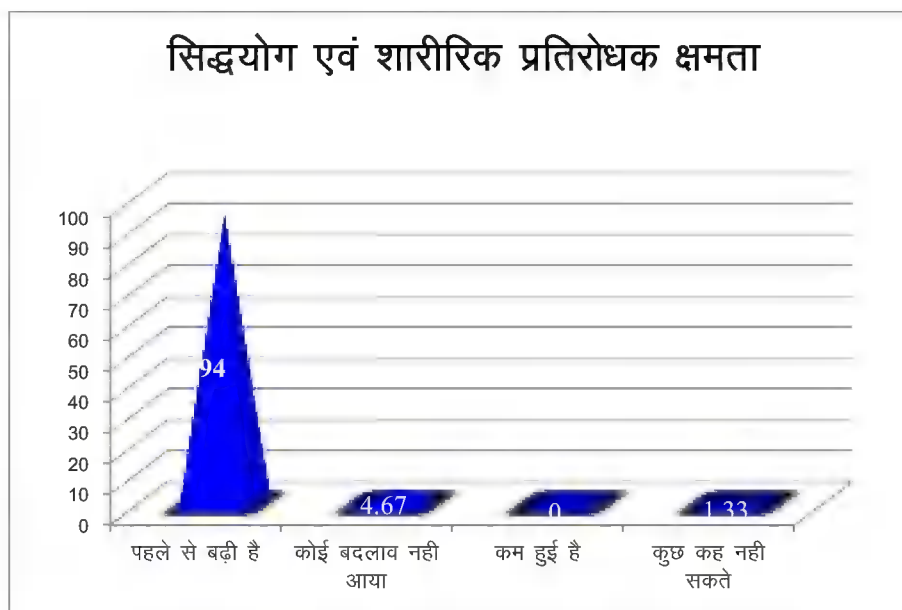
सारणी 5.9

खेचरी मुद्रा व परिवर्तन

खेचरी मुद्रा के लिए लम्बे और सघन अभ्यास की आवश्यकता होती है जो योगी यह मुद्रा सिद्ध कर लेते हैं, वे कुछ भी खाये पीये बिना दीर्घकाल तक जीवित रह सकते हैं। ऐसा योगी वस्तुतः वायु पर जीवित रहता है और वह वायु से ही ऊर्जा प्राप्त करता है, जिससे शरीर में अमृत उत्पन्न होता है (महैंश्वरानंद 1989: 116)।

प्रस्तुत सारणी में ऐसे उत्तरदाताओं का विश्लेषण किया गया है जिन्हें इस मुद्रा का अनुभव स्वतः बिना किसी प्रयास के हो रहा हैं परिणामस्वरुप उनमें परिवर्तन आ रहा है।

खेचरी मुद्रा से परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
नहीं लगी	130	86.67
बीमारी मिट गई	1	0.66
शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति बढ़ गई	12	8
लगी किन्तु कोई अन्तर नहीं आया	07	4.67
योग	150	100

सारणी 5.9 से पता चलता है कि अधिकांश (86.67 प्रतिशत) उत्तरदाताओं को खेचरी मुद्रा नहीं लगी एवं 9 प्रतिशत उत्तरदाताओं को खेचरी मुद्रा लगी जिसके फलस्वरुप उनकी बीमारी मिटी एवं शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति बढ़ गई। इससे सिद्ध होता है जिन साधकों को खेचरी मुद्रा लग जाती है उनकी शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है जिससे वे स्वस्थ एवं रोग मुक्त होने लगते हैं। क्योंकि खेचरी मुद्रा लगने पर तालु से एक दिव्य रस टपकने लगता है वो साधक के त्रिविध ताप समाप्त कर शरीर में रोग प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न करता है।

सारणी 5.10

सिद्धयोग एवं नशा

व्यक्ति अपने तनाव, अवसाद, कुंठा को दूर करने के लिए किसी ना किसी प्रकार के नशे का आदी हो जाता है अतः क्षेत्रीय अध्ययन में ऐसे उत्तरदाताओं को भी चयनित किया गया जो सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व नशे के आदी थे।

क्र.सं.	नशे के आदी	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	41	27.33
2	नहीं	109	72.67
3	योग	150	100

सारणी 5.10 के आंकड़ो के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कुल 150 उत्तरदाताओं में से 41 उत्तरदाता सिद्धयोग का अभ्यास करने से पूर्व 1 या एक से अधिक प्रकार के नशे के आदी थे जिनका प्रतिशत 27.33 था।

सारणी 5.11

सिद्धयोग करने/अपनाने से पूर्व नशे के आदी

अनुसंधान कार्य में ऐसे उत्तरदाताओं भी चिन्हित किया गया जो गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग अपनाने से पहले ही भिन्न–2 प्रकार के नशों में लिप्त थे।

क्र.सं.	नशे का प्रकार	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	शराब	12	29.26
2	तम्बाकू,जर्दा	35	85.36
3	बीड़ी,सिगरेट	18	43.90
4	अफीम,ड्रग्स	02	4.87
नोटः—केवल नशे के आदी उत्तरदाताओं को लिया गया। (कई उत्तरदाताओं ने 1 से अधिक उत्तर दिये)			

सारणी 5.11 में नशे के आदी उत्तरदाताओं को लिया गया है इसमें पाया गया कि नशे के कुल आदी 41 उत्तरदाताओं में से शराब (12), तम्बाकू, जर्दा (35), बीड़ी, सिगरेट (18), अफीम, ड्रग्स के (2), उत्तरदाताओं का प्रतिशत क्रमशः 29.26, 85.36, 43.9, 4.87 था ये उत्तरदाता एक या उससे अधिक प्रकार के नशे के आदी थे।

सिद्धयोग अपनाने से पूर्व नशे के आदी

90
80
70
60
50
40
30
20
10
0
29.26
85.36
43.9
4.87
शराब
तम्बाकू,जर्दा
बीड़ी,सिगरेट
अफीम,ड्रग्स
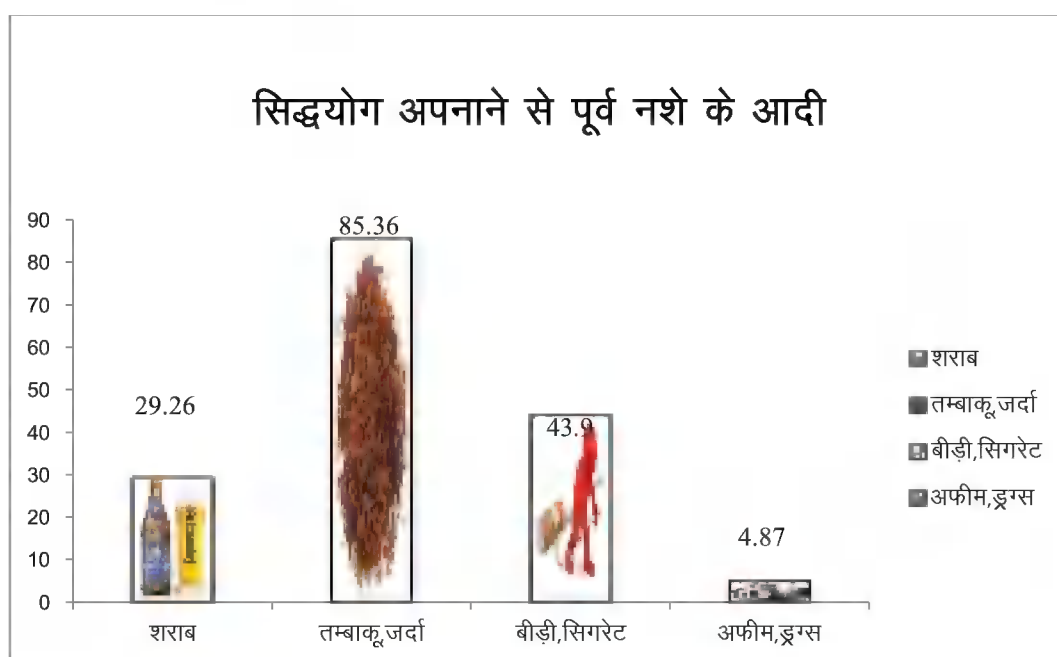
सारणी 5.12

सिद्धयोग एवं नशा मुक्ति

नशा समाज में व्याप्त गम्भीर समस्याओं में से एक है यह व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामुदायिक विघटन के लिए जिम्मेदार है, सिद्धयोग किस प्रकार इस विघटन को रोक रहा है इस बारे में नशा मुक्ति हेतु उत्तरदाताओं द्वारा किये जाने वाले प्रयासों के बारे में बात की तो निम्न जानकारी प्राप्त हुई जो सारणी 5.12 के आंकड़ो से स्पष्ट है।

क्र.सं.	नशा मुक्ति हेतु	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	आन्तरिक घृणा हुई एवं स्वतः छुट गये।	24	82.75
2	मन की इच्छा का दमन करना पड़ा इच्छा तो रहती है।	2	6.90
3	थोड़ा प्रयास करना पड़ा	3	10.35
4	योग	29	100
नोट :–केवल नशा छूटने वाले उत्तरदाताओं को लिया गया।			

आंकड़ो से स्पष्ट है कि अधिकतम 82.75 प्रतिशत उत्तरदाताओं को आन्तरिक घृणा हुई एवं नशे स्वतः छुट गये। इसी प्रकार इच्छा तो रहती है, परन्तु मन की इच्छा का दमन करना पड़ा, ऐसा कहने वालों की संख्या केवल 2 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (29) का 6.90 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना करने वालों की वृत्ति बदल जाती है तथा नशों से आन्तरिक घृणा हो जाती है एवं नशे स्वतः ही छूट जाते हैं।

सारणी 5.13

नशा मुक्ति की अवधि

शोध में पाया कि नशा तो सिद्धयोग से भिन्न–2 तरीके से प्रभावी रुप से छूट ही रहा है लेकिन इसकी समयावधि क्या रही है सम्बन्धित तथ्यों को सारणी 5.13 में स्पष्ट किया है।

क्र.सं.	नशा मुक्ति में लगा समय	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	15 से 20 दिन में	06	14.63
2	1 से 6 माह में	11	26.83
3	1–2 वर्ष में	12	29.27
4	नहीं छूटा	12	29.27
	योग	41	100
नोटः–केवल नशे के आदी उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

संकलित तथ्यों के आधार पर कुल चिन्हित 41 उत्तरदाताओं में से सर्वाधिक 12 उत्तरदाताओं अर्थात् 29.27 प्रतिशत का नशा 1–2 वर्ष में छूट गया तथा केवल 15 से 20 दिन ही लगे ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं का प्रतिशत 14.63 रहा। कुल 41 उत्तरदाताओं में से 29 लोगों के नशे छूटे, जिनका प्रतिशत 70.73 रहा एवं नशा नहीं छुटने वालों का प्रतिशत 29.27 रहा। इससे स्पष्ट होता है कि सिद्धयोग बिना किसी दवा व पैसे खर्च के बहुत कम समय में नशे (मुक्ति) छुड़ाने में बहुत प्रभावी पाया गया है।

सारणी 5.14

नशा मुक्ति (छूटने) का शरीर पर प्रभाव

यह योग नशा मुक्ति में प्रभावी पद्धति बन रहा है परन्तु क्या नशा छूटने पर शरीर पर प्रतिकार प्रभाव आते हैं इस प्रकार की जानकारी को भी उत्तरदाताओं से एकत्रित किया है

क्र.सं.	नशा छूटने का शरीर पर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	सुस्ती व चिड़चिड़ापन आया	3	10.39
2	शरीर काम नहीं करता था बीमार जैसा हो गया	1	3.45
3	कोई प्रभाव नहीं पड़ा	17	58.62
4	शरीर में स्फुर्ती उल्लाहस आया	8	27.58
5	योग	29	100
नोट :–केवल नशे के आदी उत्तरदाताओं को लिया गया है।			

संकलित तथ्यों से स्पष्ट है कि नशा छुटने का शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 17 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (29) का 58.62 प्रतिशत है इसी प्रकार शरीर में स्फूर्ति व उल्लास आया, ऐसा कहने वालों की संख्या 8, सुस्ती व चिड़चिड़ापन आया कहने वालों की संख्या 3 तथा शरीर काम नहीं करता था बीमार जैसा हो गया था, कहने वालों की संख्या केवल 2 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (23) का क्रमशः 27.58 प्रतिशत, 10.39 प्रतिशत तथा 3.45 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना करने वालों के नशे छुट जाते हैं एवं शरीर पर नशीले पदार्थों के प्रतिकार जैसे कोई प्रभाव नहीं पड़ते हैं एवं अधिकांश साधक स्वयं को सामान्य या अधिक स्फूर्तिवान महसूस करते हैं।

सारणी 5.15

सिद्धयोग साधक एवं जन साधारण का तुलनात्मक विश्लेषण

गुरु सियाग का योग व्यक्ति में क्रियात्मक परिवर्तन की बात करता है और आने वाला बदलाव ठोस होता है जिसे साधक के आसपास के सभी जन साधारणों द्वारा महसूस किया जाता है। इन परिवर्तनों की जानकारी लेने पर निम्न तथ्य प्राप्त हुऐ।

क्र.सं.	सिद्धयोग से आये परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हमेशा एक शक्ति का एहसास होता है जो हर कदम पर मदद करती है।	114	76
2	सोचने व समझने का तरीका बदल गया है	60	40
3	बीमार नहीं होते अगर होते हैं तो जल्दी ठीक हो जाते हैं	83	55.33
4	सात्विक वृत्ति हो गई है	61	40.66
5	अधिकांश कार्य आत्मबल एवं प्रार्थना से हो जाते हैं	84	56
6	कोई अन्तर नहीं दिखता दूसरे की तुलना में	03	02
7	कुछ कह नहीं सकते	04	2.66
	योग	409	
नोटः—उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर दिये हैं।			

सारणी 5.15 के अवलोकन में सर्वाधिक उत्तरदाता ऐसे हैं जिन्होंने कहा कि हमेशा एक शक्ति का अहसास होता है 114 (76) उत्तरदाताओं ने कहा एक शक्ति है जो हर कदम पर मदद करती है, इसी प्रकार अधिकांश कार्य आत्मबल एवं प्रार्थना से हो जाते हैं कहने वालों की संख्या 84 (56), बीमार नहीं होते, अगर होते हैं तो जल्दी ठीक हो जाते हैं

कहने वालों की संख्या 83 (55.33), सात्विक वृत्ति हो गई है कहने वालों की संख्या 61 (40. 66), सोचने व समझने का तरीका बदल गया कहने वालों की संख्या 60 (40) रही।

इस आधार पर कह सकते हैं कि जो सिद्धयोग अपनाते हैं वह सिद्धयोग न अपनाने वालों की तुलना में अपेक्षाकृत अलग दिखते हैं क्योंकि सिद्धयोग अपनाने वालों को हमेशा एक शक्ति का एहसास होता है जो उन्हें हर कदम पर मदद करती है इसी कारण ऐसे उत्तरदाताओं की संख्या भी सर्वाधिक है।

सारणी 5.16

सिद्धयोग का प्रभाव

सिद्धयोग अपनाने के पश्चात् उत्तरदाताओं में लम्बे समय के बाद कई प्रकार के प्रश्न भी मन में आने लगते हैं अतः साधक की मनोःस्थिति को जानने का प्रयास भी प्रस्तुत सारणी में किया गया है।

क्र.सं.	सिद्धयोग का प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	अपने साथियों की तुलना में आप सांसारिक रूप से उनसे पीछे हो गये	—	—
2	लम्बी साधना के बाद भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो रही है	—	—
3	संसारिकता में मन नहीं लगता	—	—
4	कुछ समझ नहीं आता आगे क्या होगा	2	1.33
5	एक डिप्रेशन व निराशा जैसा भाव आता है	2	1.33
6	ऐसा कुछ नहीं सब ठीक है	146	97.34
	योग	150	100

उपरोक्त सारणी 5.16 के विश्लेषण से स्पष्ट है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सिद्धयोग के प्रभाव पर प्रकाश डाला तो पाया कि 146 (97 प्रतिशत), उत्तरदाताओं ने सिद्धयोग साधना से भौतिक और मानसिक रूप से सब कुछ सही होना बताया, अतः इससे

सिद्ध होता है कि सिद्धयोग साधना, सांसारिक रूप से सफल जीवन व्यतीत करने साथ ही आध्यात्मिक प्रगति हेतु उत्तम मार्ग बन रहा है।

सारणी 5.17

सिद्धयोग व समाज में व्याप्त विभिन्न संघर्षों में होने वाले परिवर्तन

समाज में विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक, प्रजाति, वर्ग, एवं राजनीतिक संघर्ष पाये जाते हैं। परन्तु सिद्धयोग के माध्यम से इनमें कमी आ सकती है। इसके संदर्भ में तथ्यों का संकलन किया एवं प्राप्त जानकारी सारणी 5.17 से स्पष्ट है।

क्र.सं.	समाज में व्याप्त विभिन्न संघर्षों में होने वाले परिवर्तन	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हिंसात्मक वृत्ति में कमी होती है।	138	92
2	वैयक्तिक संघर्ष में कमी आती है।(घृणा/द्वेष)	127	85
3	प्रजाति संघर्ष (रंग/नस्ल भेद) में कमी आती है।	121	89
4	वर्ग संघर्ष (आर्थिक/सामाजिक असमानता) में कमी	124	83
5	राजनीतिक संघर्ष में कमी	90	60
नोटः–उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर दिये हैं।			

अध्ययन में सामने आया कि सर्वाधिक 138 उत्तरदाताओं अर्थात् (92 प्रतिशत) ने बताया कि इस योग से हिंसात्मक वृत्ति में कमी आती है जो कि सामाजिक विघटन को रोकने का सकारात्मक संकेत है एवं सबसे कम 60 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि इससे राजनीतिक संघर्ष में कमी आ रही है। अतः कहा जा सकता है कि गुरु रामलाल का सिद्धयोग तमो गुणों (वृत्ति) का पतन कर, सतोगुणों का उत्थान कर कर रहा है एवं वर्तमान समय में समाज में व्याप्त हिंसा, वैयक्तिक संघर्ष, घृणा, द्वेष, रंग/नस्ल भेद एवं संघर्ष को दूर करने के लिये अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हो रहा है।

सारणी 5.18

सिद्धयोग एवं विज्ञान जगत

कुछ लोग ये सोचते हैं कि विज्ञान और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। ये दोनों ही सत्य की खोज करते हैं, प्रकृति को जानना चाहते हैं। फर्क बस इतना है कि विज्ञान, भौतिक के रास्ते से होकर जाना चाहता है और अध्यात्म, अभौतिक के रास्ते से।

सिद्धयोग एवं विज्ञान जगत	उत्तरदाताओ की संख्या	प्रतिशत
सिद्धयोग विज्ञान विरोधी है	—	—
सिद्धयोग विज्ञान की सच्चाई को भी मानता है	130	86.66
सिद्धयोग विज्ञान के साथ ही अध्यात्म विज्ञान को भी प्रमाणित कर रहा है	140	93.33
नोटः—उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर दिये हैं।		

सारणी 5.18 के आँकड़ो के अवलोकन से स्पष्ट है कि सिद्धयोग विज्ञान के साथ ही अध्यात्म विज्ञान को भी प्रमाणित कर रहा है ऐसा कहने वाले उत्तरदाता सबसे अधिक 93.33 प्रतिशत हैं तथा सिद्धयोग विज्ञान की सच्चाई को भी मानता है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं का प्रतिशत 86.66 है।

अतः इससे स्पष्ट है कि गुरु सियाग का सिद्धयोग विज्ञान विरोधी नहीं है, यह तो विज्ञान के साथ ही अध्यात्म विज्ञान को भी प्रमाणित करता है।

सारणी 5.19

सिद्धयोग एवं सन्यास मार्ग

किसी भी साधना को लेकर यह विचार जन सामान्य के मन में अक्सर आता है कि ईश्वर प्राप्ति (साधना) के मार्ग पर चलने का अर्थ सन्यास मार्ग से है इसलिए सिद्धयोग में भी यह जानने का प्रयास किया कि यह साधक को किस मार्ग की ओर ले जा रहा है।

सिद्धयोग व सन्यास मार्ग	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
हाँ	6	4
नहीं	144	96
योग	150	100

शोध में सामने आया कि कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से सर्वाधिक 96 प्रतिशत ने कहा कि गुरु सियाग का सिद्धयोग सन्यास मार्ग की ओर नहीं ले जाता है। जबकि 4 प्रतिशत ऐसे उत्तरदाता मिले जिनका यह कहना है कि सिद्धयोग सन्यास मार्ग की ओर ले जाता है।

तथ्यों से सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना सन्यास मार्ग की ओर नहीं ले जाती, यह तो वह साधना है जो प्रवृति मार्गी है अर्थात् घर परिवार व इष्ट मित्रों के बीच रहते हुए, सभी से सांसारिक संबंध बनाये रखकर करनी होती है।

सारणी 5.20

गुरुदेव रामलाल सियाग के ब्रह्मलीन पश्चात् साधना

इस अनुसंधान में यह तो स्पष्ट हो गया कि गुरु रामलाल सियाग की तस्वीर से ही योग हो रहा है परन्तु जब उत्तरदाताओं से पूछा कि जब गुरुदेव सियाग ब्रह्मलीन हो जायेंगे तो साधना पर क्या प्रभाव आयेगा तो निम्न तथ्य सामने आये।

साधना	उत्तरदाताओं की संख्या	
साधना खण्डित हो जायेगी	1	0.67
साधना का प्रभाव कम हो जायेगा	3	2
कोई अन्तर नहीं आयेगाा क्योंकि गुरुदेव की तस्वीर से ही कुण्डलनी जागृत होकर समस्त क्रियाऐं कराती है एवं गुरुदेव का चित्र कभी नहीं मरेगा	145	96.66
गुरुशक्ति किसी अन्य शिष्य (उत्तराधिकारी) के माध्यम से काम करेगी	1	0.67
योग	150	100

शोध के अन्तर्गत सारणी 5.20 से पता चलता है कि कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से अधिकतम 145 अर्थात् 96.66 प्रतिशत का मानना है कि साधना में कोई अन्तर नहीं आयेगा क्योंकि गुरुदेव की तस्वीर से ही कुण्डलनी जागृत होकर समस्त क्रियाऐं कराती है एवं गुरुदेव का चित्र कभी नहीं मरेगा। अतः स्पष्ट है कि गुरुदेव के होने या ना होने से, भविष्य में कोई फर्क नहीं पड़ेगा एवं साधना यथावत ही चलती रहेगी। तथा नये जुड़ने वाले साधकों को भी चित्र के माध्यम से समस्त लाभ मिलते रहेंगे।

सारणी 5.21

सिद्धयोग के मूल उद्देश्य

योग का मूल उद्देश्य मानव कल्याण है, जिसका अर्थ समस्त समस्याओं से मुक्ति है। ठीक इसी प्रकार गुरु सियाग का सिद्धयोग भी मानव हित एवं उसकी समस्याओं को दूर करने का उचित माध्यम बनता जा रहा है। जो कि प्रस्तुत सारणी 5.21 के आंकड़ो से स्पष्ट है।

क्र.सं.	सिद्धयोग का मूल उद्देश्य	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	बीमारी और नशों से मुक्ति	4	2.67
2	मोक्ष प्राप्ति	12	8
3	मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण	8	5.33
4	ईश्वर प्राप्ति	8	5.33
5	उपरोक्त सभी	118	78.67
	योग	150	100

संकलित तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि इसका मूल उद्देश्य सभी क्षेत्रों में है बीमारी और नशों से मुक्ति, मोक्ष प्राप्ति, मनुष्य का दिव्य रूपान्तारण, ईश्वर प्राप्ति, आदि को मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 118 (78.67प्रतिशत) है अर्थात् सिद्धयोग की आवश्यकता हर क्षेत्र में है। सिद्धयोग वसुधैव कुटुम्बकम् को बढ़ावा देता है।

सारणी 5.22

सिद्धयोग का आध्यात्मिक मान्यताओं पर प्रभाव

गुरु सियाग को सिद्धयोग अपनाने से आध्यात्मिक मान्यताओं के प्रभाव क्षेत्रों को जानना चाहा एवं इसकी प्रभाविकता को कई क्षेत्रों में देखा गया है। क्योंकि उत्तरदाताओं की पृष्ठभूमि ग्रामीण भी रही है। यहाँ के लोगों का धर्म, प्रथा व रूढ़ियों, ईश्वर के प्रति आस्था व विश्वास अधिक होता है।

क्र.सं.	सिद्धयोग का आध्यात्मिक मान्यताओं पर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	अंधविश्वास मिटाने में	46	27.05
2	भूतप्रेत के प्रति विश्वास समाप्त करने में	9	5.30
3	देवी–देवताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने में	6	3.54
4	ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति में	92	54.11
5	अन्य	17	10
नोट :–उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये है। कोष्ठक में दी गई सभी संख्या प्रतिशत में है।			

सारणी 5.21 से विश्लेषित है कि सिद्धयोग ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्षानुभूति करने में सहायक है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 92 (54.11) है सिद्धयोग अंध विश्वास मिटाने में सहयोग करता है, ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 46 (27.05), भूतप्रेत के प्रति विश्वास समाप्त करता है कहने वाले 9 (5.30), तथा देवी–देवताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने में सहायक कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 6(3.54) है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग साधना ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्षानुभूति कराने का सर्वाधिक सुलभ मार्ग है।

सिद्धयोग का प्रभाव

ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति में 54.11

अन्य 27.05

अंधविश्वास मिटाने में 10

देवी–देवताओ के बारे में जानकारी प्राप्त करने में 3.54

भूतप्रेत के प्रति विश्वास समाप्त करने में 5.3

सारणी 5.23

सिद्धयोग एवं वैश्वि क शांति

गुरु रामलाल सियाग का सिद्धयोग विश्व स्तर पर परिवर्तन लाने में भी अहम् भूमिका निभा सकता है इससे हर क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन आ रहा है जो कि में विश्व शान्ति लाने में योगदान कर सकता है। इसकी पुष्टि हेतु निम्न तथ्यों का सारणी 5.23 में विश्लेषण करने का प्रयास किया गया।

क्र.सं.	सिद्धयोग का वैश्वि क स्तर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	विश्व शान्ति में मदद कर सकता है	145	96.66
2	धार्मिक उन्माद को कम कर सकता है।	140	93.33
3	युवाओं को आतंकवाद व हिंसक प्रवृत्तियों की ओर जाने से रोक सकता है	140	93.33
4	नस्लीय भेद/झगड़ों को रोकने में सक्षम है।	145	96.66
नोट :–उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये हैं।			

शोध में पाया कि सिद्धयोग विश्वशान्ति में मदद कर सकता है एवं नस्लीय भेद/झगड़ों को रोकने में सक्षम है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं का 96.66 प्रतिशत है, इसी प्रकार 93.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि यह धार्मिक उन्माद एवं युवाओं को आतंकवाद व हिंसक प्रवृत्तियों की ओर जाने से रोक सकता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि वर्तमान समय में संसार की उपरोक्त चार प्रमुख समस्याओं के निराकरण में सिद्धयोग अत्यन्त ही प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है।

सारणी 5.24

सिद्धयोग से समाज पर प्रभाव

व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है समाज में व्याप्त समस्याओं से वह प्रभावित होता रहता है जिसमें रोग, नशों व पारिवारिक कलह के प्रभाव को समझने का प्रयास भी इसके अर्न्तगत किया गया है।

क्र.सं.	सिद्धयोग से समाज पर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है।	126	84
2	बीमारी में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है।	131	87.33
3	नशों से मुक्ति मिलने से पारिवारिक कलह झगड़ों में कमी आती है।	120	80
4	उपरोक्त सभी	126	84
नोट :—उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये हैं।			

सिद्धयोग से प्रभाव के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं का कहना है कि इससे बीमारी में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है साथ ही नशों से मुक्ति मिलने से पारिवारिक कलह व झगड़ों में कमी आती है एवं सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है इन सभी कारणों को सिद्धयोग द्वारा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 126 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 84 प्रतिशत है। सिद्धयोग से बीमारियों में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या

131 है तथा नशों से छुटकारा मिलने से पारिवारिक कलह व झगड़ों में कमी आती है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 120 हे जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का क्रमशः 87.33 प्रतिशत तथा 80 प्रतिशत है। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग के लाभ के रूप में बीमारी में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है एवं नशों से छुटकारा मिलने से पारिवारिक कलह व झगड़ों में कमी आती है और सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है।

सिद्धयोग से समाज पर प्रभाव

84
87.33
80
84
88
86
84
82
80
78
76
सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है।
बीमारी में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है।
नशों से छुटकारा मिलने से पारिवारिक कलह झगड़ों मे कमी आती है।
उपरोक्त सभी
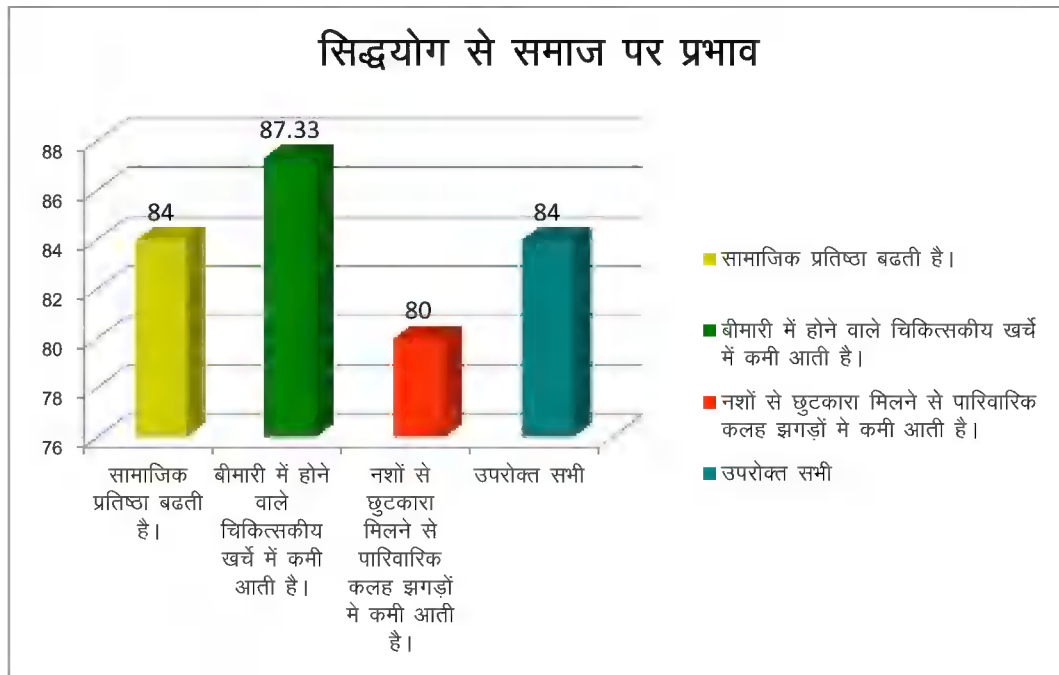
सारणी 5.25

सिद्धयोग का विभिन्न संस्कृतियों पर प्रभाव

सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न धर्मों के लोग निवास करते हैं। इनकी संस्कृतियों में विभिन्नता है, परन्तु गुरु सियाग के सिद्धयोग को अपनाने वाले उत्तरदाताओं का भिन्न–2 संस्कृतियों से सम्बन्ध रहा है इसलिए सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ रहा है।

क्र. सं.	सिद्धयोग से संस्कृतियों पर प्रभाव	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	सामाजिक एकता को बढ़ा रहा है	140	93.33
2	सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ा रहा है	112	74.66
3	धार्मिक एकता को बढ़ा रहा है	148	98.66
4	सामाजिक मूल्यों का उत्थान कर रहा है	132	88
नोट :–उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये है			

शोध में कुल चयनित 150 उत्तरदाताओं में से 148 उत्तरदाताओं अर्थात् 98.66 ने माना कि सिद्धयोग धार्मिक एकता को बढ़ावा दे रहा है एवं सामाजिक एकता को बढ़ावा कहने वाले 93.33 उत्तरदाता रहे हैं। अतः इन तथ्यों से स्पष्ट है कि इसके माध्यम से समाज में एक बहुत ही बड़ा तथा सकारात्मक परिवर्तन आ रहा है जो कि देश में सांस्कृतिक प्रसार व सामाजिक मूल्यों के उत्थान को दर्शाता है।

सिद्धयोग का विभिन्न संस्कृतियों पर प्रभाव

88
93.33
98.66
74.66
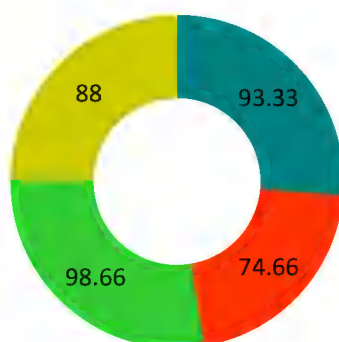
सामाजिक एकता को बढ़ा रहा है
सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ा रहा है
धार्मिक एकता को बढ़ा रहा है
सामाजिक मूल्यों का उत्थान कर रहा है

इजराइल व अमेरिका यात्रा पर गुरु रामलाल सियाग
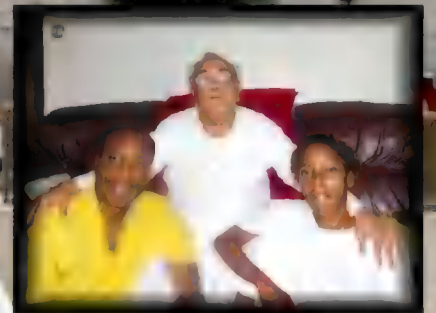
सारणी 5.26

सिद्धयोग व संतुष्टि का प्रकार्यात्मक पक्ष

वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार सिद्धयोग लोगों को किस स्तर तक संतुष्ट कर रहा है या अभी भी लोगों द्वारा कोई और पद्धति खोजी जा रही है सम्बन्धित जानकारी सारणी 5.26 में दशाई गई है।

क्र.सं.	संतुष्ट	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	143	95.33
2	नहीं	–	–
3	तलाश जारी है	04	2.67
4	अभी कोई निर्णय नहीं लिया है	03	2
	योग	150	100

अध्ययन के आंकड़े बताते हैं कि उत्तरदाता सिद्धयोग से संतुष्ट हैं ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 143 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (150) का 95.33 प्रतिशत है। अतः स्पष्ट है कि अभी तक तो सिद्धयोग लोगों को उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने में, पूर्ण रूप से सहायक रहा है।

सारणी 5.27

सिद्धयोग का सरकार द्वारा सत्यापन की आवश्यकता

तथ्यों में पाया कि गुरु सियाग का सिद्धयोग आमजन के लिए उनकी समस्याओं को कम करने में मददगार रहा है अतः सरकार को इसकी सत्यता को ज्ञात कर, इसे आमजन तक पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए। इसे सारणी 5.27 में समझाने का प्रयास किया गया है।

क्र.सं.	सिद्धयोग की सत्यता का सरकार द्वारा पता लगाने की आवश्यकता	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	147	98
2	नहीं	1	0.66
3	कह नहीं सकते	2	1.33

अध्ययन में पाया कि 98 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने माना कि सरकार द्वारा सिद्धयोग की सत्यता की जाँच कर, इसे आमजन के लाभ हेतु दुनियाँ के सामने लाने का प्रयास करना चाहिए, ताकि समाज के जरूरतमंदो, निम्न मध्यम वर्ग के लोगों, असाध्य बीमारी, मानसिक तनाव व अशांति, से पीड़ित आमजन को घर बैठे निःशुल्क लाभ मिल सके।

सारणी 5.28

सिद्धयोग में कमी

सिद्धयोग सकारात्मक उपचार पद्धति के रुप में उभर के आया है, फिर भी इसमें पाई जाने वाली कमी से सम्बन्धित जानकारी को सारणी 5.28 में दर्शाया गया है।

क्र.सं.	सिद्धयोग में कमी	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	गुरु शिष्य को सम्मोहित करते हैं	01	0.67
2	शिष्य आत्म सम्मोहित हो जाता है	–	–
3	यह व्यक्ति को गुरु की गुलामी की ओर ले जाता है	–	–
4	आध्यात्मिक प्रगति का पता नहीं चलता	05	3.33
5	बीमारी पूर्णतया नहीं मिटती साधना कम होते ही पुनः प्रभावी हो जाती है	34	22.66
6	कोई कमी नहीं है	110	73.33
	योग	150	100

इस प्रकार अध्ययन से पूर्णतया स्पष्ट है कि 73.33 प्रतिशत अर्थात् तीन चौथाई उत्तरदाताओं ने माना कि सिद्धयोग में कोई कमी नहीं है। जब कि बीमारी पूरी तरह नहीं मिटती साधना कम होते ही पुनः प्रभावी हो जाती है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 34 (22.66 प्रतिशत) है अतः यह योग पूर्ण श्रद्धा व समपर्ण को ज्यादा महत्व देता है इस कारण सिद्धयोग में व्यक्ति की साधना व विश्वास पर ही उसकी बीमारी का ठीक होना निर्भर करता है।

सारणी 5.29

अन्य धर्म के लोगों का सिद्धयोग से कम जुड़ने का कारण

धर्म को लेकर आधुनिकीकरण के समय में भी संकीर्णता एवं तनाव की भावना देखी गई है और इसी का प्रभाव सिद्धयोग से अन्य धर्म के लोगों का कम जुड़ने का कारण सारणी 5.29 में दिखाया गया है।

क्र.सं.	अन्य धर्म के लोगों का सिद्धयोग से कम जुड़ने का कारण	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	वो इसे हिन्दुओं का मानते हैं	146	97.33
2	इसे अपने धर्म के विरुद्ध मानते हैं	146	97.33
3	वो अपने समाज के लोगों से डरते हैं	148	98.66
4	वो इस दर्शन को समझना नहीं चाहते हैं	148	98.66
नोट :–उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये हैं।			

तथ्यों से ज्ञात हुआ कि अन्य धर्म के लोगों द्वारा सिद्धयोग कम अपनाने का कारण यह है, कि वो इसे हिन्दुओं का मानते हैं, अपने धर्म के विरुद्ध मानते हैं, इन दोनों कारणों को मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 146 हैं जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या का 97.33 प्रतिशत है। इसी प्रकार वो अपने समाज के लोगों से डरते हैं एवं इस दर्शन को समझना नहीं चाहते हैं, इनकी संख्या 98.66 प्रतिशत है इससे स्पष्ट है कि सिद्धयोग का प्रचार अभी ठीक से नहीं होने के कारण व दार्शनिक पृष्ठभूमि का लोगों में ज्ञान नहीं होने के कारण अन्य धर्म के लोग सिद्धयोग को अपनाने में कम रुचि ले रहे हैं।

सारणी 5.30

सिद्धयोग का प्रचारात्मक पक्ष

योग की जानकारी तो लगभग आमजन को है क्योंकि इसको फैलाने में सरकार ने भी अहम् भूमिका निभाई है, परन्तु सिद्धयोग को अभी विश्व स्तर पर पहचान नहीं मिली है क्योंकि यह लोगों द्वारा लोगों को निःशुल्क माध्यम से पहुँचाया जा रहा है, तो आमजन को विश्वास नहीं हो पाता कि बिना पैसे खर्च के कोई भी लाभ कैसे संभव है। इसलिए यह अभी तक लोगों में सामान्यकृत नहीं हुआ एवं इन्हीं कारणों से यह तेजी से नहीं फैला पा रहा है।

क्र.सं.	सिद्धयोग का तेजी से नहीं फैलने के कारण	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	मंत्र जाप व साधना करना कठिन है	4	1.33
2	परिणाम बहुत कम या धीरे मिलता है	2	0.67
3	आज की व्यवस्था और सांसारिकता के चक्कर में बताई गई साधना मुश्किल है	1	0.34
4	श्रद्धा व समर्पण रखना कठिन है	57	19
5	लोगों को भरोसा नहीं होता क्योंकि सब जगह लोगों को ठगा जाता है	122	40.67
6	सही ढंग से प्रचार नहीं हो पा रहा है	68	22.66
7	लोगों तक सही जानकारी नहीं पहुँच पा रही है	46	15.33
	योग	300	100
नोट :—उत्तरदाताओं ने एक से अधिक उत्तर भी दिये हैं।			

संकलित तथ्यों से स्पष्ट है कि सिद्धयोग का प्रचार विश्व स्तर पर अधिक तेजी से क्यों नहीं फैल पा रहा इसके संदर्भ में जानने का प्रयास किया तो अधिकांश उत्तरदाताओं ने बताया कि सब जगह लोगों को ठगा जाता है, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 122 है एवं सही ढंग से प्रचार भी नहीं हो रहा है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 68, श्रद्धा व सर्मपण रखना कठिन है कहने वाले 57, जो कि कुल उत्तरदाताओं

की संख्या (150) का क्रमशः 40.67, 22.66, 19 प्रतिशत है। वर्तमान में कई ढोंगी बाबाओं ने हमारे देश के लोगों की आस्था, श्रद्धा व समर्पण को सबसे ज्यादा आघात पहुँचाया और लोगों को ठगा है। इससे लोगों में डर बना हुआ है।

सारणी 5.31

महर्षि अरविन्द द्वारा बताये गये दिव्य रूपान्तरण की संभावना

अरविन्द की भविष्यवाणी थी कि आगामी मानव जाति दिव्य शरीर धारण करेगी। इस कथन के संदर्भ में उत्तरदाताओं से पूछने पर निम्न जानकारी सामने आयी।

क्र.सं.	महर्षि अरविन्द द्वारा बताये गये दिव्य रूपान्तरण की संभावना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	हाँ	80	53.33
2	अभी कहा नहीं जा सकता	8	5.33
3	पता नहीं	62	41.33
4	योग	150	100

जब उत्तरदाताओं से महर्षि अरविन्द द्वारा बताये गये मनुष्य के दिव्य रूपान्तरण की संभावना के बारे में विचार जानने का प्रयास किया गया तो हाँ कहने वाले सर्वाधिक उत्तरदाता पाये गये जिनकी संख्या 80 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या का 53.33 प्रतिशत है। इसी तरह पता नहीं कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 62 (41.33 प्रतिशत) तथा अभी कहा नहीं जा सकता कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 8 (5.33 प्रतिशत) है। प्राप्त जानकारी से पता लगता है कि गुरु सियाग के सिद्धयोग से एक नया बदलाव आ रहा है इसी आधार पर महर्षि अरविन्द की भविष्यवाणी मूर्त रूप लेती नज़र आ रही है।

सारणी 5.32

सिद्धयोग व धार्मिक वैमनस्य

भारतीय समाज में धार्मिक वैमनस्य गम्भीर समस्या है, धार्मिक वैमनस्य का अर्थ अन्य धर्मों के प्रति लोगों में घृणा, तिरस्कार, एवं उपेक्षा के भाव से है जब अध्ययन के अन्तर्गत इसके बारे में पूछा तो निम्न तथ्य निकल कर आये।

क्र.सं.	सिद्धयोग का धार्मिक वैमनस्य से सम्बन्ध	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	पहले जैसा है।	25	16.67
2	अन्य धर्म के लोगों से प्रेम बढ़ा है।	115	76.66
3	अन्य धर्म के लोगों से वैमनस्य बढ़ा है।	10	6.67
	योग	150	100

प्रस्तुत सारणी 5.32 से ज्ञात हुआ कि सिद्धयोग से अन्य धर्म के लोगों से प्रेम बढ़ा है ऐसे कहने वाले कुल 150 उत्तरदाताओं में से सर्वाधिक उत्तरदाता 115 अर्थात् 76.66 प्रतिशत हैं इससे स्पष्ट है कि सिद्धयोग से धार्मिक वैमनस्य में कमी आ रही है। जो कि सामाजिक एकता को बढ़ाने में सकारात्मक संकेत को दर्शाता है।

सारणी 5.33

सिद्धयोग व छुआछूत पर प्रभाव

पूर्व सारणी से स्पष्ट हो गया कि सिद्धयोग से धार्मिक वैमनस्य में कमी आ रही है एवं सिद्धयोग सामाजिक एकता को बढ़ा रहा है। इसी शोध के अन्तर्गत यह भी जानना चाहा कि सिद्धयोग छुआछूत की भावना को दूर करने में किस स्तर तक मदद कर रहा है।

क्र.सं.	छुआछूत के प्रति मत	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	भावना पहले जैसी है।	28	18.66
2	कुछ खत्म हुई है।	29	19.34
3	पूर्ण रुप से खत्म हो गयी है।	93	62
4	योग	150	100

अध्ययन के तथ्यों से ज्ञात होता है कि सिद्धयोग को अपनाने वाले 150 उत्तरदाताओं में से 93 अर्थात् 62 प्रतिशत का कहना है कि छुआछूत पूर्ण रुप से खत्म हो गयी है, अब धर्म व जाति कोई विशेष महत्व नहीं रखते हैं। यह तो एक सामाजिक व्यवस्था के अंग हैं। सिद्धयोग लोगों में मानव मात्र के कल्याण की बात करता है।

सारणी 5.34

त्यौहार मनाने की रुचि

साधकों से यह जानने का प्रयास किया कि सिद्धयोग से जुड़ने के पश्चात् उनके द्वारा धार्मिक त्यौहारों को मनाने के प्रति क्या अन्तर आया है, इसे सारणी 5.33 में बताया गया है।

क्र.सं.	त्यौहार मनाने के संदर्भ में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	अपने धर्म के त्यौहारों को मनाने में रुचि कम हुई है।	12	08
2	सिद्धयोग से जुड़े पर्वों की ओर रुझान बढ़ा है।	125	83.33
3	सभी धर्मों के त्यौहार मनाने में रुझान बढ़ा है।	06	04
4	कोई परिवर्तन नहीं आया	7	4.67
5	योग	150	100

शोध के आधार पर यह पाया गया कि लोगों का त्यौहारों के प्रति रुझान में अन्तर आया है इसके अर्न्तगत सर्वाधिक 83.33 प्रतिशत अर्थात् तीन चौथाई से अधिक उत्तरदाताओं का कहना है कि वे सिद्धयोग से जुड़े पर्वों को जैसे गुरु पूर्णिमा, गुरुदेव के जन्म दिन को मनाने लगे हैं एवं 08 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि अपने धर्म के त्यौहारों का मनाने में रुचि कम होने लगी है।

इसी के अन्तर्गत योग व सिद्धयोग में मूल अन्तर भी सामने आया है जिसमें निम्न बिन्दुओं को सम्मिलित किया गया–

1. ऋग्वेद के अनुसार "योग एक अभिवृति है, एक प्रयत्न है जो व्यक्ति को समष्टि से जोड़ता है" (सिंह, मिश्र, और मिश्र 1997ः 2)।
2. सद्‌गुरु साधक की शक्ति (कुण्डलिनी) को चेतन करते हैं वह जाग्रत कुण्डलिनी साधक को उपर्युक्त अष्टांग योग की सभी साधना स्वयं अपने अधीन करवाती है इस प्रकार जो योग होता है उसे सिद्धयोग या महायोग कहते हैं (सियाग 1993 :14)।

क्षेत्रीय अध्ययन के दौरान उत्तरदाताओं से सि़द्धयोग एवं योग में अन्तर के बारे में पूछा गया तो 88 उत्तरदाताओं ने सिद्धयोग को महायोग बताया और कहा कि इसमें होने वाली योगिक क्रियाऐं कुण्डलिनी शक्ति के ऊपर उठने के कारण होती हैं जबकि योग को व्यायाम कहा। उत्तरदाताओं ने कहा कि योग बाह्य प्रयासों से कराये जाने वाली कसरत है जिसमें शरीर को मोड़ा जाता है। योग में यम नियम का पालन करना होता है। निश्चित समय पर ही योग किया जाता है। जबकि 62 उत्तरदाताओं ने बताया कि सिद्धयोग में होने वाली योगिक क्रियाऐं कुण्डलिनी स्वतः अपने अधीन कराती है। इसमें किसी तरह के नियमों की पालना नहीं करनी पड़ती है। इसे किसी भी समय पर किया जा सकता है। इसमें व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता नहीं होती है।

योग एवं गुरु सियाग के सिद्धयोग में मूलभूत अन्तर

- योगासन अनुभवी योग शिक्षक के निर्देशन में कई दिनों तक सीखने के पश्चात् ही करना होता है जबकि सिद्धयोग में किसी अनुभवी योग शिक्षक की आवश्यकता नहीं होती है।
- योग में शारीरिक अभ्यास से बीमारियों में कुछ सुधार आता है परन्तु सिद्धयोग में रोग पूर्ण ठीक हो जाता है।
- उम्र व क्षमता के अनुसार योगाभ्यास करना चाहिए जबकि सिद्धयोग को किसी भी उम्र व क्षमता वाला व्यक्ति कर सकता है।
- योगासन के पश्चात् पौष्टिक आहार, अल्पाहार में दूध, फल लेना लाभदायक होता है लेकिन सिद्धयोग में ऐसा करना आवश्यक नहीं है।
- योग को नियमित समय (प्रातःकाल) अभ्यास के लिए कहा जाता है। विशेष प्रकार के आसन व दिशा में बैठकर ही करना भी महत्वपूर्ण माना जाता है। जबकि सिद्धयोग को

किसी भी समय व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार कर सकता है जिसमें दिशा विशेष को ध्यान में नहीं रखा जाता है।

प्रस्तुत अध्याय में सिद्धयोग से लाभान्वित उत्तरदाताओं से उनमें आने वाले प्रभावों को जानने के लिए और भी तथ्यों का संकलन किया गया एवं सिद्धयोग को अपनाने के पश्चात् आये बदलाव को निम्न रुप में दर्शाया गया है।

असाध्य बीमारी एवं सिद्धयोग

कुछ बीमारियाँ असाध्य मानी जाती हैं तथा उनके उपचार हेतु रोगी को निरन्तर बहुत लम्बे अरसे तक दवाईयों का उपयोग करना होता है। अध्ययन के समय (37) ऐसे उत्तरदाता भी चिन्हित किऐ गऐ जो कैंसर (3), एड्स (2), हृदय रोग (2), टी.बी. (2), हिपेटाइटिस बी (2), गठिया (4), एक्जिमा (2), मधुमेह (3), ब्लडप्रेशर (4) एवं 13 मानसिक बीमारी से ग्रसित थे। ये सभी बीमारियाँ लम्बे उपचार के बाद ही नियंत्रित की जा सकती हैं लेकिन दवा के साथ साथ जब उत्तरदाताओं ने नियमित रूप से ध्यान किया तो चौंकाने वाले परिणाम सामने आऐ।

शरीर–रूपी यंत्र को समझने और उसमें होने वाली विकृतियों को ठीक करने के लिए, भौतिक विज्ञान हर संभव प्रयास कर रहा है। परन्तु विज्ञान, इस यंत्र को समझने में अभी तक पूर्ण सफल नहीं हो सका है। यही कारण है, मानव जाति अनेक असाध्य रोगों से भयंकर कष्ट सहन कर रही है। ऐसे अनेक प्राणघातक रोग हैं, जिनका निदान भौतिक विज्ञान बिलकुल नहीं कर पा रहा है।

भारतीय योग दर्शन विश्व में एक मात्र दर्शन है, जो मनुष्य के पूर्ण विकास की क्रियात्मक विधि बताता है। पूर्णता प्रप्त करने के बाद मनुष्य सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है। मनुष्य के त्रिविध ताप शांत हो जाते हैं। इस संबंध में महायोगी गोरखनाथ ने कहा है– "यह योग वेदरूपी कल्पतरू का अमर फल है", जिससे साधक के त्रिविध ताप– आदि दैहिक, आदि भौतिक, आदि दैविक शांत होते हैं (सियाग 1993: 14)।

सिद्धयोग अपनाने के पश्चात् भी नशे नहीं छूटने वाले उत्तरदाताओं की जानकारी

कुल 150 उत्तरदाताओं में से सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व 41 उत्तरदाता ही नशे के आदी मिले जिसमें से 29 उत्तरदाताओं का नशा छूट गया परन्तु 12 उत्तरदाताओं के नशे नहीं छूट पाये जब इनसे पूछा गया कि वो कौन–कौन से नशे हैं जो अभी तक नहीं छूट पाये हैं तो इन्होंने बीड़ी, सिगरेट एवं जर्दा आदि बताये।

सिद्धयोग अभ्यास के दौरान ही असाध्य रोग से ग्रसित उत्तरदाताओं का वर्गीकरण

सिद्धयोग पद्धति का अनुसरण करने के पश्चात् भी क्षेत्रीय अध्ययन में ऐसे उत्तरदाता भी चिन्हित किये गये जो इसी दौरान विभिन्न रोगों से ग्रसित हुए जो कुल 150 उत्तरदाताओं में से 8 थे, ये मलेरिया, टाइफाइड, हर्निया, एक्जिमा, पेप्टिक अल्सर, अस्थमा, आदि रोगों से पीड़ित हो गये, परन्तु जब उत्तरदाताओं से इनके उपचार हेतु पूछा गया तो 5 उत्तरदाताओं ने कहा की कोई दवा नहीं ली केवल ध्यान एवं प्रार्थना से ठीक हो गये। ध्यान एवं प्रार्थना के साथ–साथ थोड़े समय दवा भी लेनी पड़ी ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 3 रही।

अर्थात् सिद्धयोग व्यक्ति के दबे हुए रोगों को प्रकट कर बाहर निकालने में मदद करता है एवं आस्था व विश्वास में कमी आते ही रोग उभर आते हैं परन्तु पूर्ण आस्था से ध्यान करने पर असाध्य रोगों से मुक्ति संभव है।

गुरु सियाग के सिद्धयोग का प्रकार्यात्मक पक्ष

अध्ययन के समय उत्तरदाताओं से सिद्धयोग अपनाने पर होने वाले लाभ के बारे में जानकारी ली गयी तो 150 उत्तरदाताओं ने भिन्न–भिन्न प्रकार के लाभ के बारे में बताया जिसमें 94 उत्तरदाताओं ने शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक रोगों से पूर्ण मुक्ति की बात कही, 45 उत्तरदाताओं ने इसे पूर्ण महायोग की संज्ञा दी, इसे ईश्वर प्राप्ति का सही मार्ग बताया व असाध्य रोगों, नशों से मुक्ति के साथ–साथ वृत्ति परिवर्तन में सकारात्मक परिणाम लाने वाला बताया। 13 उत्तरदाताओं से जो विद्यार्थी वर्ग के थे उनसे पूछने पर स्मरण शक्ति व एकाग्रता में वृद्धि की बात सामने आई।

सिद्धयोग अंधविश्वास मिटाने, सामाजिक एकता व सांस्कृतिक आदान प्रदान को बढ़ावा देने में सहायक है ऐसा कहने वाले कई उत्तरदाता थे। उत्तरदाताओं का कहना है कि वर्तमान समय में सिद्धयोग एक अतिमहत्वपूर्ण पद्धति है जो अनेक माध्यमों से लोगों के लिए मददगार साबित हो रही है। लाभान्वित उत्तरदाताओं में से 92 ने भिन्न–भिन्न लाभ की जानकारी दी जो निम्न प्रकार है –

सिद्धयोग से आत्म विश्वास में बढ़ोतरी, रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि, मूर्तिपूजा के स्थान पर स्वयं के अन्दर ईश्वर की खोज, अंधविश्वास से मुक्ति, निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि, माँग खत्म हो गई, नास्तिक से आस्तिक बने, दिव्य अनुभूति जिसकी विज्ञान व्याख्या नहीं कर सकता, गुरु से जो भी माँगा सब मिला, सात्विक वृत्ति आ गई, आध्यात्मिक चेतना व आनंद की अनुभूति, पढ़ाई में फायदा, नशों से मुक्ति, शारीरिक, मानसिक कार्यक्षमता में वृद्धि, नौकरी लग गयी, अब बीमार नहीं होते, चिन्ता नहीं होती, सकारात्मक सोच आने लगी, क्रोध कम हो गया, आगे का मार्ग का दिखता है जिस पर हम स्वतः चल सकते हैं, गुरु ही ईश्वर का स्वरूप है इसका ज्ञान सिद्धयोग से हुआ, गृहस्थ जीवन की परेशानियों में कमी आ गयी, आर्थिक स्थिति में सुधार। इस प्रकार कई लाभ उत्तरदाताओं द्वारा बताये गये।

सिद्धयोग व अन्तःप्रेरणा (सिद्धि)

शोध के समय सिद्धयोग से लाभान्वित कुल 150 उत्तरदाताओं में 6 उत्तरदाता ऐसे भी मिले जिन्हें सिद्धि का अनुभव हुआ इसके अन्तर्गत एक उत्तरदाता ने बताया कि उनके द्वारा किसी भी व्यक्ति को जो भी कहा जाता है वो बात हूबहू घटित हो जाती है, दूसरे ने कहा कि हर किसी के मन की बात का पता चल जाता है, किसी को भी याद करते हैं तो या तो वह घर आ जाता या टेलिफोन से सम्पर्क कर लेता है। इसी प्रकार अन्य ने बताया कि भविष्य में घटने वाली घटनाओं का पूर्वाभास हो जाता है, ध्यान में वह घटना पहले ही दिख जाती है।

सिद्धयोग एवं अलौकिक अनुभूतियाँ (विशेष घटनाऐं)

क्षेत्रीय अध्ययन में लाभान्वित कुल 150 उत्तरदाताओं से अपने जीवन में गुरु सियाग के सिद्धयोग अपनाने के बाद विशेष घटनाऐं पूछने पर उन्होंने भिन्न–भिन्न अनुभूतियों के बारे में बताया जैसे ध्यान में समाधि का अनुभव, शरीर से आत्मा का निकलना, दिव्य गंध का अनुभव, खेचरी मुद्रा का लगना, दिव्य लोक का अनुभव, अन्नमय कोष में कमी (कम खाने में तृप्ति), ध्यान में गुरुदेव के दर्शन, गुरुदेव के नाम से ही काम हो जाते हैं, भविष्य में आने वाले संकट का आभास, अंदर से आवाज आती है यह कर ये नहीं, शादी के 14 वर्ष पश्चात् संतान का जन्म होना, ध्यान में रंगीन प्रकाश दिखना, परिवार के सदस्यों की मृत्यु 10 साल पहले दिख जाना जो ठीक वैसे ही घटित हुई। जब किसी को गुरुदेव के बारे में बताते हैं तो लगता है जैसे गुरुदेव खुद बोल रहे हैं, अनगिनत आसन प्राणायाम हुऐ, इत्यादि।

वैयक्तिक अध्ययन पद्धति

वैयक्तिक अध्ययन अथवा एकल अध्ययन पद्धति किसी व्यक्ति, संस्था एवं समुदाय के सर्वांगीण अध्ययन की एक विशेष विधि है। अर्थात् किसी भी वस्तु स्थिति का भलीभाँति बारीकी से जांच पड़ताल करना व जानना है। वास्तविकता यह है कि सामाजिक अनुसंधान के अंतर्गत केवल सांख्यिकीय और परिमाणात्मक प्रविधियों से ही अध्ययन करना पर्याप्त नहीं होता है बल्कि अनेक तथ्य ऐसे होते हैं जिन्हें समझने के लिए गुणात्मक विधि द्वारा अध्ययन नितांत आवश्यक हो जाता है। सामाजिक अनुसंधान में वैयक्तिक अध्ययन तब किए जाते हैं जब शोधकर्ता को किसी घटना को समझने या उसकी व्याख्या करना हो। वैयक्तिक अध्ययन का केन्द्र सामान्यतः कोई व्यक्ति या छोटा समूह होता है। वैयक्तिक अध्ययन में अध्ययन किए जाने वाले परिवर्तनीय तत्वों या घटनाओं की पहचान करने का अवसर मिलता है (बोअर्स 1984: 23–25)।

प्रस्तुत अध्याय में 6 नगरीय उत्तरदाताओं का चयन वैयक्तिक अध्ययन के हेतु किया गया है, जिसके अर्न्तगत गुरु रामलाल सियाग का सिद्धयोग अपनाने के पूर्व एवं पश्चात् इनके जीवन में आने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया गया है। इसमें मुख्य रुप से ऐसे उत्तरदाताओं का चयन किया गया है जिन्हें असाध्य रोगों से मुक्ति, आत्मसाक्षात्कार एवं आध्यात्मिक प्रगति की अनुभूति हुई है।

वैयक्तिक अध्ययन

- परिचय
- पारिवारिक विवरण
- प्रारम्भिक जीवन एवं प्रमुख घटनाऐं
- शिक्षा व रोजगार
- गृहस्थ जीवन
- सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक स्थिति
- धार्मिक जीवन व उपासना पद्धति
- परेशानी, रोग एवं नशा

- सिद्धयोग से प्रभावित होने के कारण
- सिद्धयोग से समस्या का निवारण
- सिद्धयोग अपनाने के बाद परिवर्तन
- अनुभूति एवं घटनाऐं
- सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार
- निष्कर्ष

प्रस्तुत घटनाक्रम उत्तरदाताओं के साथ प्रत्यक्ष वार्ताओं के आधार पर उन्हीं के विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। इसके अन्तर्गत उत्तरदाता के सम्पूर्ण जीवन के पहलू का अध्ययन किया है जिससे उत्तरदाता विशेष रुप से प्रभावित हुआ है (होलाड 1952)।

परिचय

ओम शरण पेशे से डॉक्टर (रिटायर्ड सहायक निदेशक पशुपालन विभाग), धर्म हिन्दू, उम्र 72 वर्ष है। वर्तमान में यह कोटा शहर में निवास करते हैं इनका सिद्धयोग से जुड़ाव का मुख्य कारण आध्यात्मिक रुझान रहा है ।

- **पारिवारिक विवरण**

ओम शरण के स्व. माता व पिता मूल रूप से उत्तरप्रदेश के एटा जिले के रहने वाले थे। इनके 6 भाई व 2 बहन थीं। इनकी पत्नी श्रीमती कमला देवी की उम्र 70 वर्ष है, इनके 2 पुत्र हैं बड़ा पुत्र मेकेनिकल इन्जीनियर जो वर्तमान में राजकीय पॉलीटेक्निक कॉलेज कोटा में लेक्चरर के पद पर कार्यरत है। इनकी पत्नी बी.ए. पास गृहणी हैं इनके एक पुत्र है जो 12वीं कक्षा में अध्ययनरत है।

इसी प्रकार इनका छोटा पुत्र जो वर्तमान में राजकीय चिकित्सालय गंगापुर सिटी (सवाईमाधोपुर) में चिकित्सा–अधिकारी के पद पर कार्यरत है इनकी पत्नी एम.ए., बी.एड. एवं गृहणी हैं। इनके भी एक पुत्र जो 12वीं कक्षा में और पुत्री 11वीं कक्षा में पढ़ रहे हैं।

- **प्रारम्भिक जीवन एवं प्रमुख घटनाऐं**

ओम शरण का जन्म एक मध्यम वर्ग के परिवार में ग्राम सकतपुर जिला एटा में हुआ था इनके पिता एटा के कोर्ट में वकील के पास क्लर्क का कार्य करते थे एवं आयुर्वेद पद्धति से लोगों का उपचार किया करते थे जिसे उन्होंने अपने पिता से सीखा था। ग्राम में लगभग 30 बीघा जमीन एवं गाय बैल भैसें इत्यादि थीं, खेती का कार्य स्वयं न करके बटाई (दुसरे व्यक्ति से आधी हिस्सेदारी) पर कराते थे। घर में ही परचूनी की दुकान थी जिसे इनकी माता सम्भालती थीं, पिता साइकिल से ही एटा जाया करते थे गाँव की प्रथम साइकिल इनके पिता द्वारा ही खरीदी गई थी।

ओम शरण का जन्म प्रीमेच्योर अवस्था (7 माह) में घर पर ही हुआ था, जीवित रहना मुश्किल था। ये जीवित हैं यह जानने के लिये, नाक के आगे रुई के धागे लटकाकर उनके हिलने पर साँस लेने का अनुमान लगाया जाता था, उस स्थिति में इनके दादाजी ने इन्हें गोद में उठाकर इनकी माँ को यह कहते हुये दिया कि लो मैं तुम्हें इसे देता हूँ इसके बाद इनके दादा जी बीमार हो गये और अन्ततः स्वर्गवासी हो गये। इनके पिता की बुआ ने इस कारण इनको जरकटा (जड़ काटने वाला), दादा को मारने वाला कहती थीं तथा इनको मारने के फिराक में रहती थीं इस कारण बुआ को कुछ समय पश्चात ही उनके ससुराल भिजवा दिया गया। इसके बाद शीघ्र ही इनका शारीरिक विकास तेजी से होने लगा एवं 6 माह में ही खटोले (छोटी नीची चारपाई) को पकड़ कर उसके चक्कर लगा लेते थे, माँ कहती थीं मैं अपने बेटे को डॉक्टर बनाऊँगी उनकी यह इच्छा बाद में पूर्ण हुईं।

इनके गाँव में स्कूल नहीं था देश अंग्रेजों का गुलाम था एवं स्कूल में पढ़ने का कोई माहौल भी नहीं था लेकिन इनके पिता घर पर ही इनको पढ़ाते थे, गाँव के पास कबार नाम का एक कस्बा था जिसमें प्राइमरी स्कूल था, उसी स्कूल में इन्हें 7 वर्ष की आयु में ले जाया गया वहाँ के प्रधानाध्यापक ने इनकी परीक्षा लेकर सीधा ही कक्षा 4 में भर्ती कर लिया, 6 माह बाद ही इनको कक्षा 5 में बिठा दिया गया एवं 8 वर्ष की उम्र में कक्षा 5 पास कर ली एवं तहसील स्तर पर प्राइमरी विद्यालयों में प्रथम स्थान प्राप्त किया। कक्षा 6 में इन्होंने जिला मुख्यालय पर एडमिशन लिया उसी दौरान एक विचित्र घटना घटी, एक दिन ये अपने पिता के साथ साइकिल पर स्कूल जा रहे थे रास्ते में रपरपा (मीलों तक दूर तक केवल बंजर धरती, बिना पेड़ पौधों का मैदान) से होकर गुजर रहे थे अचानक रास्ते में एक साधु नजर आया इनके पिता एवं इन्होंने उस साधु के चरण स्पर्श किये उसी समय उस साधु ने इनके पिता का हाथ देखकर कहा कि बेटा घबराना मत लेकिन तुम्हारा एक

पुत्र अन्धा हो जायेगा। इसी दौरान ओम शरण ने भी अपना हाथ आगे बढ़ा दिया तो साधु ने इनका हाथ देखकर कहा कि बेटा तुम्हारा तो भगवान ही मालिक है अर्थात् इनकी अल्प आयु की ओर इशारा किया था, फिर उन्हें प्रणाम कर ये लोग पुनः साइकिल पर रवाना हुए तथा तुरन्त ही पीछे मुड़कर देखा तो दूर–दूर तक साधु का की कोई पता नहीं था। साइकिल रोक कर भी चारों ओर मीलों लम्बे मैदान में नजर घुमाई तो साधु कहीं नहीं था। अपने दादा के आशीर्वाद से ही शायद ओम शरण की अल्प आयु का योग टल गया था। इसकी पुष्टि साधु की दूसरी भविष्यवाणी से हो गई। कुछ समय पश्चात इनके छोटे भाई को जिनकी उम्र 6 माह थी आँखो में इन्फेक्शन हुआ जिसका एटा अलीगढ़ सिरसागंज तक के चिकित्सकों से बहुत इलाज कराया परन्तु दोनों आँखों की ज्योति को नहीं बचाया जा सका एवं वो हमेशा के लिये पूर्णरूप से दृष्टिहीन हो गये।

कक्षा 6 से 12 तक का अध्ययन एटा, शिकोहाबाद में किया। कक्षा 12 में जब पढ़ते थे वहाँ एक साधु आये जो इनके कमरे में ही ठहरे अन्य बच्चों के आग्रह पर साधु इनके सामने ही कागज पेन लेकर कम्बल ओढ़ कर बैठ गये एवं कक्षा 11 का पेपर लिख कर दे दिया वो अगले दिन हूबहू आया।

अगले दिन वो साधु खाना खाते खाते घबरा कर उठे और यह कहकर कि मेरे गुरु आ रहे हैं वो मेरी पिटाई करेंगे मुझसे नाराज हो गये हैं छिपने के लिये भागे और सीढ़ियों के नीचे बनी भण्डरिया में जिसमें उपले (कण्डे) एवं लकड़ी रखी थी उसमें जाकर छिप गये। करीब 10 मिनट बाद एक अन्य साधु गुस्से में आये एवं सूँघते हुये सीढ़ियों के पास जाकर उन साधू को निकाल लाये एवं यह कह कर कि तूने मेरी बताई विद्या का दुरुपयोग किया है डण्डे से पिटाई करते हुये पकड़ कर ले गये। पेपर आउट की घटना ने ओम शरण को आश्चर्य में डाल दिया।

उसी दौरान एक अन्य साधु इनके यहाँ ठहरे उन्होंने इनको आशीर्वाद देकर प्रसाद खाने को दिया जिस ये चुपचाप नाली में फैंक आये बाद में उन साधु ने मुस्कुरा कर कहा कि तुमने प्रसाद खाया नहीं है उसी दिन ये सभी लोग किसी परिचित के आने का इन्तजार कर रहे थे जो कि सिकन्दरपुर से आने वाला था, इस पर उन साधु ने बोला कि वो आज नहीं आ पायेंगे क्योंकि बस पंचर हो गई है उसके बाद स्टेपनी भी हो गई है बस पाड़म पर खड़ी है यह कह कर साधु चले गये, अगले दिन वो सज्जन आये और उन्होंने घटना की पुष्टि की, इस बात से भी ओम शरण को अत्यन्त अचरज हुआ।

कक्षा 12 में परीक्षा के दौरान ही इनका शिव मन्दिर जाने का प्रोग्राम बना लेकिन जूते पहने होने के कारण बाहर से मन ही मन प्रणाम कर वापस आ गये, लौटते ही घर पर आते ही तेज पेट दर्द आरम्भ हो गया डॉक्टर की दवा लेने पर भी आराम नहीं मिला और सो गये रात को स्वप्न में एक अन्य शिव मन्दिर दिखाई पड़ा, जहाँ पर कोई नहीं था ये जैसे ही प्रणाम करने को आगे बढ़े मूर्ति एवं इनके बीच एक लोहे का जंगला आ गया, मूर्ति ने कहा कि तुम्हारी तो मुझमें श्रद्धा ही नहीं है, इन्होंने कहा कि ये आप कह रहे हैं ? मूर्ति मुस्कुराई एवं जंगला हट गया, मूर्ति ने उदासी का कारण पूछा तो इन्होंने कहा कि पेट दर्द से परेशान हूँ पढ़ाई नहीं हुई एवं सुबह पेपर है तो मूर्ति ने कहा कि चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें 2 प्रश्न बताता हूँ मूर्ति ने जो 2 प्रश्न बताये वो दोनों ही आउट ऑफ कोर्स थे, एकदम इनकी आँख खुल गई एवं पेट दर्द भी बन्द था मन में शंका भी थी कि बचे समय में ये आउट ऑफ कोर्स प्रश्न पढ़ें या पुराना पढ़ा हुआ दोहरायें। अन्ततः इन 2 प्रश्नों को ही तैयार करने का निर्णय लिया अगले दिन पेपर में पहले 2 प्रश्न वही थे कोई अन्य बच्चे उन प्रश्नों को नहीं कर पाये। शिव जी ने आश्चर्यजनक रुप से कृपा करी एवं इनका ईश्वर की ओर समर्पण और तेजी से बढ़ने लगा।

- **शिक्षा एवं रोजगार**

बी.एस.सी. प्रथम वर्ष में आगरा कॉलेज में एडमिशन लिया तथा पी.वी.टी. की परीक्षा दी, जिसमें ये सफल हुऐ एवं मथुरा वेटेनरी कॉलेज से 1963 में B.V.Sc & A.H. की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा लखनऊ में ही बायोलॉजिकल प्रोडक्टस डिवीजन में रिसर्च असिस्टेंट के पद पर नौकरी आरम्भ की एवं जुलाई 2000 को सहायक निदेशक के पद से सेवानिवृति प्राप्त की।

- **गृहस्थ जीवन**

कक्षा 11 उत्तीर्ण करने के पश्चात ही 11 मई 1956 को 14 वर्ष की आयु में इनका विवाह ग्राम शिवसिंहपुर जिला मेनपुरी उत्तरप्रदेश के नाथूराम की 12 वर्षीय पुत्री कमला से हुआ, कमला ने उसी दौरान सिलाई में अपना डिप्लोमा एवं शिक्षा पूर्ण की तथा आना जाना बना रहा।

राजकीय सेवा में आने के बाद से, पति–पत्नी साथ ही रहने लगे एवं इनके 2 पुत्र हुये।

- **सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक स्थिति**

1965 से ही राजपत्रित अधिकारी के रूप में कार्य आरम्भ करने के पश्चात राजस्थान में जयपुर, भरतपुर, जैसलमेर, भीलवाड़ा, बून्दी, झालावाड़, कोटा आदि स्थानों में कार्य किया एवं इनके पुत्रों की शिक्षा भी अलग–2 स्थानों पर होती रही।

आर्थिक रूप में स्थिति सुदृढ़ रही एवं सामाजिक रूप सें प्रतिष्ठित परिवार रहा। परिवार में कभी कोई परेशानी नहीं रही, बच्चों ने अपनी–2 पढ़ाई पूर्ण की एवं बडा पुत्र बी.ई. करने के बाद राजकीय पॉलीटेक्निक कॉलेज में व्याख्यता एवं छोटा पुत्र एम. बी. बी. एस. करने के बाद चिकित्सा अधिकारी के रूप में कार्यरत है।

- **धार्मिक जीवन एवं उपासना पद्धति**

बचपन में इनके पिता आर्यसमाजी विचार धारा एवं सत्यार्थ प्रकाश पुस्तक से प्रभावित थे। आर्यसमाजी लोग कहते थे कि ईश्वर मनुष्य रूप में जन्म नहीं ले सकता यह बात ईश्वर के सर्व समर्थ होने के विरुद्ध लगने के कारण इन्होंने यह विचारधारा छोड़ दी।

बचपन से ही घर में धार्मिक पुस्तक कल्याण आती थी अतः शिव, कृष्ण, राम से प्रभावित हुये। युवावस्था में कुछ अनुभवों एवं चमत्कारों के अनुभव के कारण शिव मन्दिर व कृष्ण मन्दिर आदि में जाना शुरू किया।

नौकरी के कुछ सालों पश्चात् कृष्ण एवं शिव के प्रति रुचि अधिक हुई एवं अपने परिवार के साथ ही गोवर्धन परिक्रमा की व जन्माष्टमी आदि पर्व मनाते रहे। साथ ही पूरे विधि विधान से शिव तांडवस्त्रोत, शिव चालीसा एवं अन्य मंत्रो से शिव की आराधना करते रहे एवं ईश्वर प्राप्ति हेतु जिज्ञासा बढ़ती रही लेकिन विशेष उपलब्धि न होने के कारण गुरु के माध्यम से बढ़ने का प्रयास किया।

1984 में ब्रह्मकुमारी संस्था से जुड़े एव कुछ समय पश्चात वहाँ से संतुष्ट न होने के कारण 1985 में ओशो ध्यान पद्धति आरम्भ की एवं ओशो का सानिध्य पाये हुये व्यक्तियों के साथ ही साधना आरम्भ करी एवं ध्यान की भिन्न–भिन्न विधियों का अभ्यास किया। लेकिन यहां भी संतुष्टि नहीं मिली।

लगभग 1993 के करीब धन–धन सतगुरु रामरहीम सिंह से जुड़े एव साधना करी परन्तु यहाँ भी मन को तसल्ली नहीं हई।

1995 में संत आशाराम के 2 शिविरों में भाग लिया लेकिन दीक्षा लेने की आन्तरिक इच्छा नहीं हुई अतः तलाश जारी रही।

सन् 2000 के करीब निरंकारी बाबा हरदेव सिंह से जुड़े एवं उनकी पद्धति अपनाते हुए भजन गायन, कविता पाठ, प्रवचन आदि में बढ़ चढ़कर भाग लिया लगभग 2 वर्ष तक जुड़े रहने पर भी ईश्वरीय अनुभूति ना होने के कारण यहाँ से भी मन सन्तुष्ट नहीं हुआ।

सन् 2002 में जब इनके पुत्रों एवं उनके परिवार ने गुरु सियाग के सिद्धयोग को अपनाया तब आरम्भ में यह जानकर कि इस पद्धति से कुण्डलिनी शक्ति तुरन्त जागृत हो जाती है, इस पर भरोसा न होने के कारण इसका विरोध किया एवं इस पद्धति को तांत्रिक विधि भी कहा एवं बच्चों से इससे दूर रहने को कहा।

लेकिन बाद में विस्तार से जानने के बाद एवं रिश्तेदारों एवं परिचितों में होने वाली योगिक क्रियाओं, रोगों एवं समस्याओं के निवारण इत्यादि से प्रभावित होकर 24 अप्रेल 2003 को पत्नी सहित बॉम्बे में जाकर गुरु रामलाल सियाग से दीक्षा ली। सिद्धयोग से अनेक लोगों के लाभ देख कर इसमें आस्था दृढ़ से दृढ़तर होती गयी एवं स्वयं को जो अनुभूतियाँ हुई उनसे इस ओर पिछले 10 वर्ष में और भी झुकाव बढ़ा।

- **परेशानी, रोग, एवं नशा**

– इनको कोई भी दुरव्यसन नहीं रहा, नशे के नाम पर केवल चाय या कॉफी को ही नशा माना जा सकता है।

– इनके जीवन में कोई रोग एवं परेशानी नहीं रही।

- **सिद्धयोग योग से प्रभावित होने के कारण**

इनके गुरु सियाग के सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व ही इनके पुत्र व परिवार सिद्धयोग से जुड चुके थे तथा कुछ ही दिन में बड़ी पुत्र वधु की सर्वाइकल स्पोन्डिलाइटिस की बीमारी ध्यान में होने वाली योगिक क्रियाओं से ठीक हो गई थी इसी प्रकार इनके छोटे पुत्र को भी उसकी परेशानी में आराम आ गया था। साथ ही इनके भाई एव भाभी की बीमारियाँ कुछ ही दिन में ठीक हो गईं, फिर रिश्तेदारों द्वारा भी ध्यान करने पर उनको लाभ होने लगा।

जब इनकी पत्नी ने ध्यान किया तो कुछ ही माह में कन्धे की फ्रोजन शोल्डर नामक बीमारी ठीक हो गई एवं हाथ पूरी तरह से कार्य करने लगा। एवं दोनों घुटनों की आर्थराइटिस की बीमारी ठीक हो गई।

इस प्रकार अपने चारों ओर लोगों में होने वाले लाभ को देखकर ये इस योग से प्रभावित होते गये साथ ही निम्न बातों ने इनको और भी अधिक प्रभावित किया –यह योग निःशुल्क था, इसे हर धर्म के व्यक्ति कर सकते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं था।

- **सिद्धयोग से समस्याओं का निवारण**

इनके अल्प आयु के बारे में कई लोगों एवं ज्योतिषियों ने कहा था उसी की अनुभूति कई बार इनको महसूस होती थी।

एक दिन इनको सोते समय मन में बेचैनी सी हुई तो ये जाग गये एवं उठ कर बैठ गये तो एक ओर सघन काला धुआँ सा उठता नजर आया तब इन्होंने गुरुदेव रामलाल सियाग को स्मरण करते हुऐ दाँये हाथ से उस पर मुक्के से प्रहार किया लेकिन इनका हाथ उस धुँये तक नहीं पहुँचा, अचानक ही एक अन्य हाथ प्रकट हुआ जिसने 2 या 3 फुट आगे जाकर उस धुँये को रोक दिया उसके बाद धुँआ एवं हाथ भी गायब हो गया एवं बेचैनी भी खत्म हो गई। इन्होंने उस हाथ को अच्छी तरह पहचान लिया कि ये गुरुदेव सियाग का ही हाथ था। जागृत अवस्था में इस प्रकार की घटना खुली आँखो से देखकर ये आश्चर्य चकित रह गये बाद में गुरुदेव की कृपा से पता चला कि यह काल की दस्तक थी एवं गुरुदेव से उसे दूर धकेल दिया था।

इस प्रकार मृत्यु टाल कर सबसे बड़ी समस्या का निवारण गुरुदेव सियाग द्वारा कर दिया गया।

- **सिद्धयोग अपनाने के बाद परिवर्तन**

सामाजिक परिवर्तन– ईश्वर प्राप्त की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई एवं स्वयं में ही ईश्वर की तलाश हेतु साधना करने के कारण अन्य लोगों से निरर्थक एवं सांसारिक बातों में मन न लगने के कारण धीरे–2 रिश्तेदारों एवं मित्रों से सम्पर्क कम होता जा रहा है लेकिन उनकी कमी महसूस नहीं हो रही है।

आर्थिक परिवर्तन– आर्थिक रुप से कोई परेशानी नहीं है सब ठीक चल रहा है।

पारिवारिक परिवर्तन– पत्नी, पुत्रों एवं पोता–पोती के साथ सहज रुप से प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत हो रहा है।

- **अनुभूति एवं घटनाऐं**

– गुरुदेव से मिले बगैर पहले ही ध्यान में कुछ दृश्य (विशेष प्रकार के खेजड़ी के वृक्ष, मैदान, टयूबैल, व्यक्ति) दिखे वो ही वास्तविक दृश्य 6 माह बाद गुरुदेव के दर्शन हेतु बीकानेर जाते हुये रास्ते में देखा। इस प्रकार प्रातिभज्ञान की अनुभूति हुई।

– दो बार नील बिन्दु दिखाई दिया।

– ध्यान में पीले एवं नीले रंग का प्रकाश दिखाई दिया।

– जालन्धर बन्ध लगा।

– दोनों कानों में नाद आता है। अपने आप जाप चलता रहता है।

– ध्यान करने, गुरु चर्चा करने, गुरुदेव के बारे में सोचने पर आज्ञाचक्र पर एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है एक विशेष प्रकार का स्पंदन महसूस होता है।

– 3.5 पावर का पढ़ने का चश्मा था वह उतर गया एवं बिना चश्मे के ही पढ़ने लगे।
– गुरुदेव से जुड़ने के बाद एक बार सपरिवार गोवर्धन परिक्रमा हेतु 2 गाड़ियों से गये। अगली गाड़ी में बड़ा पुत्र व परिजन थे अचानक 70–80 कि.मी. को रफ्तार पर गाड़ी सड़क से उतरकर 3 पलटी खाते हुये 10–15 फीट नीचे गहराई में सीधी जा कर खड़ी हो गई गाड़ी एक तरफ से टेढ़ी होकर पिचक गई आगे पीछे से शीशे निकल कर दूर जा गिरे। पिछली गाड़ी में ये बैठे हुये थे, सब गुरुदेव को याद करते हुए अँधेरे में फिसलते हुये नीचे गये वहाँ आवाज सुनकर ग्रामीण एकत्रित हो गये लेकिन गुरु कृपा से किसी को भी एक खरोंच तक नहीं आई एवं जहाँ से ये लोग फिसलते हुए नीचे गये वहाँ ढेरों काँटे पड़े हुए थे उनको इन्होंने वापस चढ़ते समय गाँव वालों की टॉर्च की रोशनी में देखा लेकिन किसी को कोई खरोंच तक नहीं आई। कुछ माह पश्चात सब गुरुदेव के दर्शन को बीकानेर गये वहाँ जाने पर गुरुदेव धीरे से बुदबुदाये कि लाल गाड़ी है (वैन) किसी को चोट तो नहीं आई लेकिन हमनें ध्यान नहीं दिया सोचा यूँ ही कुछ बोल रहे हैं। बाद में गुरु माँ से मिलने पर उन्होंने स्थानीय भाषा में बार–2 किसी घटना के बारे में कहा पर हमारे समझ नहीं

आया वहीं खड़ी एक बच्ची से हमने पूछा कि माँ क्या कह रही हैं उस बच्ची ने कहा कि वो कह रही हैं कि उन्होंने आँचल में लपेट कर गाड़ी के साथ तीन गुलाटी खाई और किशन (गुरुदेव) ने डोर उपर खींच कर गाड़ी सीधी कर दी तब जाकर गुरुदेव की बात याद आई एवं साधारण सी दिखने वाली ग्रामीण बुजुर्ग, गुरू माँ के प्रति श्रद्धापूर्ण आश्चर्य से मनभर गया।

- **सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार**

ओम शरण ने बताया कि यह साधना इतनी सरल है कि कोई कर्मकांड नहीं है, कोई बंधन नहीं है, कोई दिखावा नहीं है, केवल मंत्रजाप और ध्यान से सब सही होने लगता है एवं आध्यात्मिक प्रगति जिसे बताया नहीं जा सकता केवल अनुभव किया जा सकता है उस पर चलने का यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है गुरुदेव सियाग के फोटो की सर्वव्यापकता इस बात से सिद्ध होती है कि दुनिया में उनसे मिले एवं देखे बिना ही समस्या, रोग, नशों, बीमारियों से छुटकारा मिल जाता है। यह सब किसी मानव द्वारा सम्पादित कृत्य नहीं हो सकता यह केवल भारतीय दर्शन में वर्णित अवतार ही कर सकता है। ओम शरण के अनुसार गुरु सियाग ही कल्कि अवतार हैं जो मनुष्य के रूपान्तरण का कार्य करने के लिये ही धरती पर आये हैं एवं कलयुग का अन्त कर सतयुग का प्रारम्भ करेंगे।

- **निष्कर्ष**

ओम शरण उत्तरप्रदेश के मध्यम वर्ग के परिवार में पले एवं बड़े हुए, युवावस्था में ही उनके समस्त घटे घटनाक्रम व पारिवारिक ईश्वरीय रुझान से वह आध्यात्म की ओर अग्रसर हुये। मूर्ति पूजा एव गुरुओं के माध्यम से ईश्वरीय खोज के अपने लक्ष्य हेतु वर्तमान में सिद्धयोग को अपनाते हुये गुरुदेव रामलाल सियाग द्वारा बताई साधना पद्धति से साधना कर रहे हैं। 72 वर्ष की आयु में भी कोई शारीरिक रोग या मानसिक परेशानी का न होना, किसी प्रकार का नशा न होना एवं इनको आध्यात्मिक अनुभूतियों का होना सिद्धयोग की विधि के प्रभावी होने का प्रमाण है।

परिचय

कैलाश परासिया (अध्यापक, इमानुअल मिशन स्कूल) धर्म हिन्दू, उम्र 40 वर्ष, कोटा शहर पुलिस लाइन रहने वाले हैं, इनका सिद्धयोग से जुड़ाव का मुख्य कारण आध्यात्मिक रुझान है।

- **पारिवारिक विवरण**

कैलाश परासिया के पिता शंकरलाल व माता चुन्नी बाई कोटा शहर में निवास करते हैं। इनके तीन बहनें हैं। कैलाश परासिया सबसे बड़े पुत्र हैं, इनका विवाह योग लक्ष्मी से हुआ, इनके एक पुत्र है, जिसकी आयु 10 वर्ष है, वह पाँचवी कक्षा में अध्यनरत है।

- **प्रारम्भिक जीवन एवं प्रमुख घटनाऐं**

कैलाश का जन्म एक गरीब परिवार में पोल तबेला फाटक एम.ई.एस. (मिलिट्री इंजीनियरिंग सर्विसेज) के पास दरबार बृजराज सिंह की कोठी के बाहर स्टेशन रोड़ पर बने एक कमरे के क्वाटर में हुआ था, एक कमरे के घर में 6 सदस्य थे। इनके पिता नागपाल कॉम्बिंग मिल में 300/– प्रतिमाह पर काम करते थे। यहाँ ये ऊन को साफ किया करते थे। इनके साथ ही इनके पिता बागवानी भी करते थे।

जब ये कक्षा 1 में थे तो, दरबार की कोठी में अस्तबल में चलने वाले स्कूल में चॉक लेने जाते थे, एक बार इन्होंने वहाँ करीब 5 फुट की ऊँचाई पर दीवार के सामने के स्थान पर एक राजपूती ड्रेस में खुले बालों में घुँघरु बजाते हुए एक डरावनी महिला को देखा जिसके लगभग आधे माथे पर एक बिन्दी थी, वह इन्हें बुला रही थी ये घबरा कर भागे और पास के गैराज से मेकेनिक को बुला कर लाये तो वहाँ कोई नहीं मिला।

जब यह 6 या 7 वर्ष के थे तो इन्होंने एक मृत व्यक्ति को जाते हुए देखा, उसे देखकर यह घबरा गये और सोचने लगे कि क्या इस मुर्दे की तरह मुझे भी ले जाया जायेगा।

गरीबों को देखकर इनका मन विचलित हो जाता था लेकिन स्वयं की गरीबी के कारण उनकी कोई मदद नहीं कर पाते थे। सोचा कि फिल्म लाइन में जाना चाहिए वहाँ बहुत पैसा है। फिल्म सिटी नोयडा से डायरेक्टर के कोर्स की जगह निकली उसमें आवेदन किया और A.A.F.T.(Asian Academy of Film T.V.) कोर्स पूरा किया। इस जगह का दृश्य

इन्हें स्वपन में पहले ही दिखाई पड़ गया था इसके बाद सहायक बनने के लिए मुम्बई जाना था। यह घर आये और शीघ्र ही इनकी शादी 6 मई 1994 को कर दी गई।

- **शिक्षा एवं रोजगार**

इनकी एल. के. जी. से प्रथम क्लास की शिक्षा अदालत के पास सेंट जॉन स्कूल में आरम्भ हुई। कक्षा दूसरी से ग्यारहवीं तक की शिक्षा मॉर्डन स्कूल गढ़ पैलेस कोटा में हुई। बी.ए. वारंगल हैदराबाद से की। गवर्मेन्ट कालेज कोटा से एम.ए. राजनीति विज्ञान में की। बी.एड. जम्मू से 2011–12 में की।

शुरुआत इन्होंने होली एंजिल पब्लिक स्कूल सिविल लाइन में अध्यापक के रुप में की परन्तु स्कूल के निदेशक से न बनने के कारण नौकरी छोड़नी पड़ी। ससुराल पक्ष से सहयोग मिलने से गुजर बसर होती रही। फिर धानमण्डी आश्रम (अध्यात्म विज्ञान सत्संग केन्द्र शाखा, कोटा) पर 2500/– प्रतिमाह पर करीब डेढ़ वर्ष तक कार्य किया फिर सीन्ता में आश्रम बन जाने पर वहाँ का कार्य संभालना इनके लिए सम्भव नहीं हो सका। फिर मण्डी में एक आड़त की दुकान पर सवा एक साल तक कार्य किया। तत्पश्चात् इमानुअल मिशन स्कूल रायपुरा में अध्यापक की नौकरी मिल गयी। एक वर्ष बाद इनकी पत्नी की भी नौकरी उसी स्कूल में लग गई। अब पति–पत्नी दोनों एक ही स्कूल में पढ़ाने के लिए साथ–साथ ही स्कूल के वाहन से आते जाते हैं।

- **गृहस्थ जीवन**

इनका विवाह कोटा से करीब 50 कि.मी. दूर अन्ता में 6 मई 1994 को रामेश्वर दयाल की छोटी पुत्री योगलक्ष्मी से हुआ। रामेश्वर एक हठ योगी हैं इसके कारण इनका पूरा परिवार धार्मिक था, योगलक्ष्मी पहले से ही आध्यात्मिक परिवार सम्बन्धित थीं। योग लक्ष्मी ने भी बी.एड. जम्मू से 2011–12 में किया। इनके एक पुत्र है।

- **सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक स्थिति**

- इनके पिता निम्न वेतन भोगी कर्मचारी थे एवं इनका बचपन भी अभावों एवं गरीबी में बीता।
- पढ़ाई पूरी करने के बाद भी अच्छी नौकरी नहीं मिली एवं शादी के बाद पारिवारिक जिम्मेदारी और बढ़ गयी।

- पुत्र के जन्म बाद पारिवारिक मतभेद होने के कारण किराये के मकान में पत्नी एवं पुत्र को लेकर रहे एवं जैसे तैसे गुजारा चलता रहा।
- वर्तमान में पति–पत्नी दोनों ही प्राइवेट स्कूल में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं एवं अपने माता–पिता के साथ ही घर पर रहते हैं एवं घर पर ही टुयूशन का कार्य भी करते हैं। अब आर्थिक स्थिति में काफी सुधार है एवं सामाजिक प्रतिष्ठा भी बढ़ी है।

- **धार्मिक जीवन एवं उपासना पद्धति**

- बचपन से ही साधु सन्तों से पूछते थे मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? आदमी क्यों मरता है आदि।
- देवताओं के चित्र के ऊपर बने प्रकाश वलय (ऑरा) को देखकर सोचते थे यह क्या है ? उनके भी होना चाहिये।
- शिव भगवान को चित्र में हिमालय में ध्यान करते देख इनकी भी इसी प्रकार बर्फ में बैठकर साधना करने की इच्छा होती थी।
- दुनियाँ के दुख दर्द एवं लोगों के विभिन्न अभावों उनकी, बीमारियों एवं लोगों को परेशान देखा जैसे भूख से परेशान, पहनने के कपड़े नहीं, कई के घर नहीं, चारों ओर दुखः ही दुःखः देख–देखकर विचार आया कि मूर्ति में भगवान नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब लोग उस मूर्ति से अपनी परेशानी से छुटकारा पाने की प्रार्थना करते हैं पर वो मूर्ति कोई मदद नहीं कर रही। इस प्रकार ये नास्तिक हो गये एवं दीपक, अगरबत्ती, पूजा आदि नहीं करते थे।

इनकी शादी एक धार्मिक परिवार की लड़की से हुई थी, शादी के बाद ये ससुराल पक्ष के साथ वृंदावन की यात्रा पर गये वहाँ इन्होंने महसूस किया कि यहाँ भगवान कृष्ण गायें चराते होंगे एवं काफी रोमांच महसूस किया। वहाँ से कोटा आने के बाद अपनी सासू माँ को ध्यान करते देख इनकी भी ध्यान की इच्छा हो गयी, तब इनके साले ने इनको ''ॐ'' पर ध्यान केन्द्रित करने की सलाह दी, 30 मिनट पद्मासन लगाकर त्राटक करने पर आँख में आँसू बह रहे थे बाद में आसन खोलने पर ऐसा लगा कि टांगे बेकार हो गयी हैं तो सोचा यदि ध्यान ऐसा होता है तो इसे नहीं करना है।

कुछ समय पश्चात कोटा में मेले में ब्रह्मा कुमारी वालों की प्रर्दशनी लगी, उससे ये प्रभावित हुए, उन्हें 7 दिन के फ्री शिविर में बुलाया वहाँ मुरली सुनना और लाल प्रकाश के सामने बैठकर ध्यान करना, ये इनके मन को शान्त नहीं कर पाया। इसी दौरान इन्होंने एक पोस्टर देखा जिस पर लिखा था कि सिद्धयोग से कुण्डलिनी जागरण और समाधि की

सहज प्राप्ति तब इन्होंने सोचा यहाँ ध्यान की सही प्रक्रिया मिल सकती है और अगले दिन (9 अक्टूबर 1994) को वहाँ पहुँच गये एवं 10 अक्टूबर 1994 को गुरुदेव रामलाल सियाग से दीक्षा प्राप्त की।

- **परेशानी, रोग एवं नशा**

इनको किसी भी प्रकार का नशा नहीं था केवल चाय पीने की लत थी वो भी अब छूट गयी। आर्थिक स्तर पर अत्यधिक परेशानी थी। शारीरिक रुप से इनको हमेशा जुकाम रहता था, पेशाब में जलन एवं गले में खराश रहती थी, आधे सिर में दर्द एवं कब्ज की शिकायत थी परन्तु यह सभी गुरुदेव से जुड़ने के बाद ध्यान में होने वाली क्रियाओं द्वारा स्वतः ही समाप्त हो गयीं। तकिया लगाना भी छूट गया अब चाहकर भी नहीं लगा सकते, गर्दन में दर्द होने लगता है।

- **सिद्धयोग से प्रभावित होने के कारण**

जिस दिन ये गुरुदेव सियाग के दर्शन को पहुँचे उस दिन गुरुदेव को इन्होंने साधारण व्यक्ति के रुप में देखा जो कि इनको दादा जी जैसे लगे एवं जब गुरुदेव ने कहा कि महर्षि अरविन्द के अनुसार ''आगामी मानव जाति दिव्य शरीर धारण करेगी'', तो कक्षा 10वीं में पढ़ी किसी जीव वैज्ञानिक की बात याद आ गई जिसने कहा था कि मानव का क्रमिक विकास, विकास की अगली कड़ी में किसी भी प्रकार का हो सकता है तब इनको लगा कि गुरुदेव सच बोल रहे हैं अब तो गुरुदेव जो कहेंगे वही करुँगा। फिर पहले ही ध्यान में इनके शरीर में कम्पन होने लगा एवं जब गुरुदेव ने इनके सिर पर हाथ रखा तो कमल के फूल जैसा महसूस हुआ एवं गहरी शान्ति प्राप्ति हुई। अगले दिन दीक्षा के बाद शरीर में तेज–तेज क्रिया होने लगी एवं आनन्द आने लगा। इस प्रकार सतत् आनन्द एवं एक नशे की स्थिति एवं प्रतिदिन नये–नये आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि ने इनको सिद्धयोग के मार्ग पर चलने को प्रेरित किया।

- **सिद्धयोग से समस्या का निवारण**

शारीरिक समस्या के रुप में जुकाम, गले की खराश जो हमेशा रहते थे साथ ही आधे सिर में दर्द, कब्ज एवं पेशाब में जलन की परेशानी बिना दवा के पूर्ण रुप से ठीक हो गयीं।

आर्थिक स्थिति पहले से सुदृढ़ हो गयी पति–पत्नी ने बी.एड. कर लिया एवं प्राइवेट स्कूल में अध्यापन का कार्य करते हैं एवं घर पर ट्यूशन का कार्य भी कर लेते हैं अपने माता–पिता के साथ पुनः रहने लगे अब घर का मकान है एवं सामाजिक प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई है।

एक बार एक बच्चे को टयूशन पढ़ाते समय ये 30 मिनट तक जड़ अवस्था में हो गये (बैठे–बैठे) इस दौरान वह बच्चा भी पढ़ता रहा और कोई उस कमरे में कोई नहीं आया।

खाने में स्वाद आने लगा, सूखी रोटी में भी मिठाई जैसा महसूस होता था। आज्ञा चक्र के पास गुदगुदी महसूस होती थी। कभी–कभी ध्यान में श्वेत प्रकाश दिखता है जैसे रात्रि में चाँदनी हो गयी हो। शरीर में 7 जगह पर चक्रों की तरह स्पंदन एवं खिंचाव महसूस होता रहता है, कभी–कभी शक्ति नीचे से चलती हुई ऊपर सहस्त्रार तक (चोटी के स्थान) पहुँचती थी और ऐसा लगता था कि सहस्त्रार में सिर फट जायेगा।

कभी सिर बर्फ की तरह जम जाता है कभी लगता मानो सिर है ही नहीं। कानों में झींगुर का नाद आता है बीच–बीच में तेज आवाज के साथ आता है फिर चला जाता है।

दीक्षा के 3–4 माह बाद एक दिन ये घर पर ध्यान कर रहे थे तो पूरे शरीर की प्राणवायु खिंचकर एक जगह आ गई और पूरा शरीर जड़ हो गया उसके बाद रुई की तरह हल्का हो गया और रॉकेट की तरह तेज गति से जाने लगा तब इन्होंने सोचा की ये कैसे हो गया है एक शरीर तो नीचे बैठा है और दूसरा ऊपर ऊठ रहा है इस स्थिति में घबरा गये तो गुरुदेव से वापस आने की प्रार्थना की तो धीरे–धीरे शरीर में वापस आने लगे, सबसे पहले पैरों में हलचल महसूस हुई और धीरे–धीरे पूरे शरीर में प्राणवायु का संचार हो गया। बाद में गुरुदेव ने इसे आत्म साक्षात्कार की अनुभूति कहा।

जब गुरुदेव कोटा आते थे तो इनको ध्यान में पहले ही पता लग जाता था कि गुरुदेव कहाँ ठहरेंगे वो पूरी जगह दिख जाती थी। इनको अपने शरीर में हमेशा एक शक्ति का अहसास होता रहता है जो इनके शरीर को स्थिर नहीं रहने देती एक जगह स्थिर खड़े नहीं रह सकते पूरे शरीर में हलचल चलती रहती है।

एक बार इनके मन में प्रेरणा हुई कि गुरु सेवा में जोधपुर जायें तो जोधपुर आश्रम पहुँचकर कुछ दिन रहे वहाँ एक दिन हॉल में बैठे ध्यान कर रहे थे तो 1 घन्टे तक जड़ अवस्था में रहे उस समय मस्तिष्क के बीच हलचल हो रही थी एवं बहुत तेज दर्द हो रहा

था तब इनका ध्यान किसी ने हटाया उसके बाद भी 30 मिनट तक ध्यान लग गया एवं शरीर पूर्ण ऊर्जावान हो गया।

ये अपने तय प्रोगाम से 3 दिन पहले ही कोटा आ गये उसी दिन इनकी माँ को बाँयी ओर लकवा हो गया, डॉक्टर को दिखाया और योगिक क्रियाऐं होने लगीं और 13–14 दिन में माँ पूर्ण रुप से ठीक हो गईं।

एक बार मुक्तानन्द की 'चित्शक्ति विलास' पुस्तक पढ़ते–पढ़ते आँखे बन्द हो गयीं वहाँ देखा कि मुक्तानन्द आये हैं उनसे इन्होंने कुण्डलनी की स्थिति पूछी तो उन्होंने रीढ़ की हड्डी के बीच में बताई एवं उन्होंने हाथ के अंगूठे से इनकी रीढ़ की हड्डी को दबाया उसके बाद आँख खुल गयी तो रीढ़ की हड्डी के उस स्थान पर असहनीय दर्द हो रहा था तो इन्होंने गुरुदेव से इसकी मुक्ति की प्रार्थना की तो दर्द आनन्द में बदल गया तथा 5–6 घन्टे तक नशे की हालत में बने रहे, कभी आँख खुलती, कभी बंद होती रही बिस्तर से भी नहीं उठ पा रहे थे।

- **सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार**

इनके अनुसार गुरुदेव रामलाल सियाग एक 'सुपरामेंन्टल फोर्स' हैं। यह फोर्स मनुष्य को विकास के क्रम में आगे ले जा रही है इस विकास को गुरुदेव 'सिद्धयोग' के माध्यम से मनुष्य में मूर्त रुप दे रहे हैं। ये गुरुदेव में 3 चीजें महसूस करते हैं–

1. सर्वव्यापक 2. सर्वशक्तिमान 3. सर्वज्ञ

इन्होंने जब महसूस किया कि इनका शरीर इनके नियंत्रण से हटकर शरीर के अन्दर की शक्ति के अधीन हो गया है, और यह शक्ति गुरु सियाग द्वारा नियंत्रित है तो सोचा कि यह कार्य केवल ईश्वर ही कर सकता है। यह विचार इनको 20 वर्ष पहले ही आ गया था और साथ ही बचपन से वह परेशानी कि गरीबों का क्या होगा, सबके कष्ट कैसे दूर होंगे इत्यादि सब हट गयी कि आगे का काम अब इसी ईश्वर को करना है।

- **निष्कर्ष**

इनका बचपन अत्यधिक गरीबी में बीता था, बचपन से ही इन्हें मृत्युभय उत्पन्न हो गया था तथा यह चिन्ता रहती थी कि गरीबों के अभाव कष्ट कैसे दूर होंगे। बचपन से ही समाधि में जाने की इच्छा थी। गुरुदेव रामलाल सियाग के सिद्धयोग से जुड़ने के पश्चात् इनको समाधि का अनुभव होता है, मृत्युभय खत्म हो गया है, तथा गरीबों के प्रति चिन्ता

खत्म हो गयी है क्योंकि अब रामलाल सियाग ही इन सब का उद्धार करेंगे ऐसा इनका सोचना है आर्थिक रुप से अब स्थिति ठीक हो गयी है।

परिचय

सुनीता मेहरा, ग्रहणी, धर्म हिन्दू, उम्र 47 वर्ष, कोटा शहर की रहने वाली हैं इनका सिद्धयोग से जुड़ाव का मुख्य कारण आध्यात्मिक बीमारी रहा है।

- **पारिवारिक विवरण**

सुनीता मेहरा के पति मोहनलाल मेहरा कोटा शहर में निवास करते हैं। इनके 1 पुत्र और 2 पुत्रियाँ है। इनका पुत्र 12 वीं कक्षा व पुत्रियाँ B com. व M com. में अध्यनरत हैं।

- **प्रारम्भिक जीवन व प्रमुख घटनाऐं**

इनका जीवन साधारण रूप से व्यतीत हुआ है कोई विशेष घटना इनके जीवन में नहीं हुई है। विवाह के पश्चात् आध्यात्मिक बीमारी से लम्बे समय तक पीड़ित रही हैं।

- **शिक्षा एंव रोजगार**

इनकी शिक्षा अहमदाबाद के पास नड़ियाल से हुई, इन्होंने गुजराती माध्यम में B com. की है। 1987 में विवाह हो जाने पर इन्हें पढ़ाई छोड़कर कोटा आना पड़ा। नौकरी करने की इच्छा होने के कारण इन्होनें घर पर ही टयुशन का कार्य भी किया। आर्थिक स्थिति ठीक होने के कारण इन्हें घर वालों ने नौकरी नहीं करने दी।

- **गृहस्थ जीवन**

कोटा शहर में इनका विवाह मोहनलान मेहरा के साथ 1987 में हुआ। इनके पति की सेन्ट्रल गवर्नमेंट की नौकरी है।

- **सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक स्थिति**

शादी से पहले इनके घर की आर्थिक स्थिति मध्यम वर्ग की रही है। इनका आधा समय अपने मौसा–मौसी के घर बीता है। अब पति की नौकरी अच्छी होने के कारण आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है। सामाजिक प्रतिष्ठा भी अच्छी रही है।

- **धार्मिक जीवन एवं उपासना पद्धति**

घर में ज्यादा धार्मिक माहौल नहीं रहा परन्तु फिर भी माँ अम्बे का पूजा पाठ होता था परन्तु इनका कृष्ण के प्रति अधिक रुझान रहा। धार्मिक आस्था के कारण बचपन में नवरात्रा व जन्माष्टमी पर व्रत किया करती थीं। इन्होंने सबकी अराधना की है। गुरुदेव सियाग से जुड़ने से पहले एक स्वप्न बार–बार आता था जिसमें सफेद वस्त्र वाले व्यक्ति सभी को ध्यान कराते थे जबकि ध्यान के बारे में इनको कोई जानकारी पूर्व में नहीं थी। गुरुदेव रामलाल सियाग से मिलने पर पता लगा कि ये ही थे, वो स्वप्न वाले व्यक्ति।

- **परेशनी, रोग, नशा**

यह गुरुदेव से जुड़ने के 8 साल पहले डिलेवरी के समय डर गई थीं उस समय इन्होंने दवा से लेकर हर तरीके से पीर, फकीर, बाबा, माताजी से इलाज कराया परन्तु कोई आराम नहीं आया। 8 साल तक एक आदमी की आवाज आती थी जो कहता था "सुनीता चल" लेकिन कभी दिखाई नहीं देता था। अकेले में बहुत भय लगता था। मानसिक रूप से चिड़चिड़ापन व डर बना रहता था और कोई भी इनकी इस मनोस्थिति को समझ नहीं पाता था। इस परेशानी से 8 साल तक पीड़ित रही हैं।

डर के कारण ये पूरी रात सो नहीं पाती थीं इसी कारण सिरदर्द व कमर में दर्द भी रहने लगा। इसका भी इन्होंने इलाज कराया परन्तु कोई खास आराम नहीं आया।

कुछ बाबा, फकीरों ने बताया कि ऊपरी हवा का असर है एक आदमी इनके पीछे पड़ा है वो ही परेशान करता है।

इन्हें किसी प्रकार नशा नहीं रहा।

- **सिद्धयोग के प्रभावित होने का कारण**

साधारण वेशभूषा वाले गुरुदेव का नामजप करने पर एक मिनट में उन्होंने दर्शन दिये और ध्यान में कहा क्यों डर रही है ? सब ठीक हो जायेगा। जिस परेशनी से 8 साल तक परेशान रहीं वो 7 महीने में पूर्ण रूप से ठीक हो गई। गुरुदेव को बिना कुछ दिये (भेंट) ही पूर्ण रूप से परेशानी से मुक्ति ही इनके प्रभावित का कारण रहा है। सिद्धयोग से जुड़ने के बाद हर तकलीफ खत्म हो गई।

- **सिद्धयोग से समस्याओं का निवारण**

इनकी शारीरिक परेशानी जिसमें सिरदर्द व कमरदर्द बहुत जल्दी ठीक हो गईं। चिड़चिड़ापन व पारिवारिक कलह खत्म हुए हैं। ध्यान से मानसिक शांति आई है।

आध्यात्मिक बीमारी पूर्ण रूप से ठीक हो गई जिसके कारण ही अन्य परेशानियाँ भी खत्म हुई हैं।

- **सिद्धयोग अपनाने के बाद परिवर्तन**

- आध्यात्मिक साधना की ओर ध्यान गया।
- शरीर पूर्णरूप से स्वस्थ व निरोगी हो गया जो किसी दवा से नहीं हो सका ।
- एक अजीब ही मानसिक शांति अनुभव होती है।
- परिवार में प्रेम बढ़ा है।
- ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास बढ़ा है।

- **अनुभूति एवं घटनाऐं**

- इन्हें अपने पिताजी की मृत्यु एक महीने पहले दिखी जो सत्य हुई। पड़ोस में अंकल की मृत्यु का एहसास भी 2 दिन पहले हो गया ट्रेन का एक्सीडेंट पहले दिखा।
- बहन के ससुर की बरसी में जाने का प्रोग्राम दिखा वो घटना सच में घटित हुई।
- सोते समय एक औरत ने पैरों में गुदगुदी की गुरुदेव से प्रार्थना की उस समय शरीर सो रहा था, परन्तु एहसास जागने जैसा था और इन्होंने औरत से बैठ के बात की उसने कहा में तुम्हें परेशान करने आई हूँ तो इन्होंने जप किया और हाथ में डंडा आ गया, इन्होंने मारा तो वो औरत भाग गई।
- ध्यान के बाद व ध्यान में एक औरत महसूस होती थी जो पास में आकर बैठती थी पर डर नहीं लगता था, दिखाई भी देती थी। सुन्दर, लम्बे बाल वाली, राजपूती वेशभूषा वाली थी। वो औरत इनकी पुत्री को भी दिखती थी, गुरुदेव के पास जाने पर गुरुदेव ने जामसर, योगी गंगाईनाथ बाबा की समाधि स्थल पर जाने को कहा, उसके बाद से सब ठीक हो गया।
- इन्हें एक आदमी रोज रात में दिखता था, उसे जगे हुए, बंद आँखों से महसूस किया है लेकिन मंत्र जाप के 2 महीने बाद बन्द हो गया।

- **सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार**

इनका कहना है ऐसा योग कही नहीं देखा जिसमें स्वतः योग हो और तुरन्त परिणाम आता हो। गुरुदेव रामलाल सियाग ने ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करवाया है। इन्होंने बताया कि ऐसे गुरु पाकर जीवन धन्य हो गया। यह एक ईश्वरीय सत्ता है जो सभी की मदद कर रही है।

- **निष्कर्ष**

मध्यम वर्ग की रहने वाली सुनीता को पूर्ण रूप से आध्यात्मिक बीमारी से मुक्ति मिल गई। मानसिक शांति एवं पारिवारिक कलह खत्म हुए हैं। पूर्णरूप से स्वस्थ व निरोगी हो गई हैं।

परिचय

सुरेश जैन नयापुरा बग्गी खाना कोटा शहर निवासी, उम्र 38 वर्ष, इनका सिद्धयोग से जुड़ाव का मुख्य कारण HIV+ve होना रहा है।

- **पारिवारिक विवरण**

सुरेश जैन का जन्म झालावाड़ जिले में हुआ इनके पिता की आर्थिक स्थिति बहुत ही कमजोर रही है, वे किराने की दुकान से घर का खर्च चलाया करते थे, इनके 5 बहनें हैं।

- **प्रारम्भिक जीवन व प्रमुख घटनाऐं**

इनका परिवार निम्न वर्ग से होने के कारण सामान्य रूप से जीवन का आरम्भ हुआ, एक सामान्य बालक की तरह ही इनका लालन पालन हुआ। जैन धर्म से होने के कारण बचपन से स्थानक गुरु के प्रवचन सुनने जाया करते थे उनकी धार्मिक बातें सुना करते थे जो इन्हें प्रसन्नचित्त रखती थीं।

जब ये कक्षा 6 में पढ़ते थे तभी से स्थानक में शिविर में भाग लेते थे, इन्होंने 10वीं से ही शिविर में लोगों को प्रशिक्षण भी दिया।

- **शिक्षा एवं रोजगार**

इनकी आरम्भिक शिक्षा कक्षा 5 तक इनके जन्म स्थान पर हुई, इसके बाद कक्षा 6 से 10वीं तक आवर कस्बे में इनके ननिहाल में पढ़े। यह कक्षा में होशियार छात्रों में से एक थे, इस कारण कक्षा 8 में पढ़ते हुऐ 10वीं के विद्यार्थीयों को होम ट्यूशन दिया करते थे।

12वीं कक्षा भवानीमण्डी एवं स्नातक की डिग्री कोटा गवर्नमेंन्ट कॉलेज से प्राप्त की। पारिवारिक स्थिति कमजोर होने के कारण ये आगे शिक्षा नहीं ले पाए व कोटा में ही चाय पत्ती बेचने का काम करने लगे। इसी से घर का खर्च चलाया करते थे।

- **गृहस्थ जीवन**

सन् 1999 में इनका विवाह मंदसौर जिले की संगीता जैन से हो गया, इसी के बाद इनका पूरा परिवार कोटा में किराये के मकान में रहने लगा। यहाँ इनके पिता ने किराने की दुकान लगाई।

संगीता 8वीं तक पढ़ी हैं, इनका परिवार भी निम्न वर्ग से ही था। इनके 4 भाई व 5 बहनें हैं। वर्तमान में सुरेश जैन के एक पुत्री है जो 7वीं कक्षा में पढ़ती है।

गृहस्थ जीवन इनका संघर्षमय रहा, विवाह के 6 महीने पश्चात् इनका स्वास्थ्य अचानक खराब हो गया एवं इन्हें MBS Hospital में एक महीने तक भर्ती रखा गया। सभी प्रकार की जाँचे डॉक्टर द्वारा की गईं परन्तु कोई भी बीमारी सामने नहीं आई, इसी बीच इनका शरीर बहुत कमजोर हो गया। इनको किराने की दुकान भी बंद करनी पड़ी एवं इन्होंने फिर नया व्यवसाय किशमिश व मूंगफली बेचने का शुरू किया।

सन् 2001 में संगीता ने एक पुत्र को जन्म दिया व 2004 में पुत्री को।

- **धार्मिक जीवन एवं उपासना पद्धति**

यह शुरूआत से ही परिवार के साथ धार्मिक उपासना पद्धति में जुड़े रहे जो कि जैन धर्म की थी। मुख्य रूप से इन्होंने स्थानक में लगने वाले शिविरों में बढ़ चढ़कर भाग लिया।

- **परेशानी, रोग, नशा**

विवाह के बाद बीमार हो जाने से काफी कमजोरी आ चुकी थी। 2004 में बेटा बीमार हो गया, उसे डॉक्टर गीता बंसल (शिशुरोग विशेषज्ञ) को दिखाया वहाँ आराम नहीं आने पर भारत विकास परिषद् अस्पताल में भर्ती करवा दिया। तब वहाँ बेटे के HIV+ve होने का पता चला, तब डॉक्टर ने इन पति–पत्नी को भी जाँच कराने की सलाह दी, पता चला कि ये भी HIV+ve हैं, लेकिन डॉक्टर ने कहा आप सरकारी अस्पताल में भी दुबारा जाँच करायें ताकि प्रमाणित हो जाऐ, MBS अस्पताल में जाँच कराई गई और वहाँ की जाँच भी +ve आई।

यह जानकर इनको लगा अब दुनिया खत्म हो गई है। बहुत ज्यादा तनाव, व नकारात्मकता आ गई।

MBS Hospital में HIV रोगी की Counseling की जाती है वहाँ से लोग रोज जाने लगे, वे इन्हें उत्साहित करते की आप अलग नहीं हो, सब ठीक हो जाऐगा परन्तु सत्य तो इनको भी ज्ञात था कि अब इनका जीवन लगभग खत्म ही है। इनके जैसे कई रोगियों से इनकी रोज मुलाकात होती थी, डॉक्टर द्वारा इनकी CD 4 count की जाँच करवाई गई सुरेश की CD 4 count 72 व उनकी पत्नी की 112 आई। (HIV रोगियों के लिए होने वाली जाँच CD 4 count)

डॉक्टर ने इन्हें तुरन्त ART Therapy (Anti retroviral therpy) शुरू करने की सलाह दी, और कहा नहीं तो ये लोग ज्यादा दिन जीवित नहीं रह पायेंगे।

इसी दौरान एक Counselor ने डॉक्टर राजीव के बारे में बताया कि वे इनकी मदद कर सकते हैं जो की पेशे से डॉक्टर हैं। डॉक्टर राजीव से सम्पर्क किया, तब उन्होंने इनको गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग के बारे में बताया और 45 दिन तक रोज (सुबह–शाम) अपने के घर पर ही ध्यान को बुलाया करते थे। इनकी आर्थिक स्थिति ठीक न होने कारण आने जाने का ऑटो किराया भी डॉक्टर साहब दिया करते थे। ध्यान के समय सुरेश एवं इनकी पत्नी को अनगिनत योगिक क्रियाऐं हुईं जिसमें बंध, प्राणायाम, हाथ पैर का हिलना, शीर्षासन जैसी योगिक क्रियाऐं थीं। सभी योगिक क्रियाऐं अपने आप हो रही थीं इससे पहले इनको योग की जानकारी भी नहीं थी इनको बहुत आश्चर्य होता था कि ये सब अपने आप कैसे होता है। इन क्रियाओं से शरीर में स्फूर्ति लगती थी, जब ये किशमिश बेचा करते थे तो लम्बे समय तक खड़ा रहना पड़ता था इससे पैरों, हाथों में दर्द होता था लेकिन ध्यान के समय ज्यादातर क्रियाऐं इन्हीं हिस्सों में हुआ करती थीं और शरीर में स्फूर्ति महसूस होती थी।

3 महीने बाद CD 4 count के लिए जाँच कराई गई इनकी Count 312 आई, HIV +ve की गाइड लाईन के अनुसार इनको दवाई की जरूरत नहीं थी और इससे इनका विश्वास बढ़ता गया, दुगने उत्साह से ध्यान करने लगे, परामर्श केन्द्र में बाकी रोगियों को इन्होंने भी इसकी जानकारी दी लगभग सभी को इसका फायदा हुआ।

कुछ समय बाद बेटा वापस बीमार हो गया HIV +ve होने के कारण डॉक्टर ने इलाज करने से मना कर दिया। तब तक HIV रोगियों के अधिकार की काफी जानकारी हो चुकी थी इस कारण प्रशासन व मीडिया का सहारा लिया और बेटे का इलाज करवाया। करीब 2

सप्ताह तक वह भर्ती रहा, तब लगा कि इनके जैसे अनेक लोग होंगे जिन्हें अपने अधिकारों की जानकारी नहीं होगी उन्हें बताना चाहिये और एक संगठन बनाने का विचार आया।

इनका बेटा भी कभी–कभी ध्यान करता था, उसे भी योगिक क्रिया होती थीं, पत्नी का रुझान थोड़ा कम था परन्तु इन्हें भी योगिक क्रिया हुआ करती थीं।

ये 2007 में हाड़ोती नेटवर्क फॉर पीपल विद HIV/AIDS समिती, नामक संस्था से जुड़े।

फिर एक के बाद एक नये बड़े प्रोजेक्ट से जुड़ने लगे। 2011 में वापस बेटा बीमार हो गया पर संस्था के कार्य में व्यस्त रहने के कारण ध्यान के लिए समय नहीं निकाल पाते थे।

इनकी पत्नी के 2006 में दवाईयाँ शुरू हो गईं। इन्होंने 2010 में CD 4 count कराया तो 287 आया WHO की नई गाइड लाइन के अनुसार दवाई लेने की जरूरत थी इसी कारण इनको दवा शुरू करने को कहा गया। वैसे इनको कोई परेशानी महसूस नहीं हो रही थी और खुद को पूर्ण स्वस्थ महसूस कर रहे थे।

- **सिद्धयोग से प्रभावित होने का कारण**

➢ बिना पैसे, दवा के (2004–2010) 6 साल तक पूर्ण रूप से स्वस्थ जीवन व्यतीत किया।

➢ अनगिनत योगिक क्रियाऐं हुईं जिनके बारे में बताने को शब्द नहीं।

➢ एक अजीब सा सुकून महसूस होता है ध्यान में।

➢ 2010 से भी दवा की आवश्यकता महसूस नहीं होती है लेकिन WHO गाइड लाइन के अनुसार डॉक्टर की सलाह पर दवा खा रहे हैं।

- **सिद्धयोग से समस्याओं का निवारण**

➢ इनकी CD 4 count बिना दवा के नॉर्मल आई।

➢ शरीर स्फूर्तिदायक व स्वस्थ लगने लगा, आत्मविश्वास में जबरदस्त बढ़ोतरी एवं नकारात्मक विचार खत्म हुई। सामाजिक दूरी में कमी आई, जीवन में एक सकारात्मक सोच बनी।

- **सिद्धयोग अपनाने के बाद परिवर्तन**

इससे एक नई सोच ने जन्म लिया कि HIV रोगी भी पूर्ण रूप से स्वस्थ, सामान्य जीवन जी सकता है। मानसिक शांति, पारिवारिक व सामाजिक तनाव कम हुआ। NGO से जुड़े तो सामाजिक प्रतिष्ठा में बढोतरी हुई, ईश्वरीय मदद का एहसास हुआ।

- **अनुभूति व घटनाऐं**

➢ इनके जीवन की सबसे बड़ी अनुभूति 6 साल तक बिना किसी दवा के स्वस्थ रहना एवं वर्तमान तक सामान्यजन की तरह स्वस्थ रहना है।

➢ इनका कहना है कि इन्हीं की साधना (समय में कमी के कारण) कम हो पाई अन्यथा इन्हें अभी भी दवा की जरूरत नहीं होती।

- **सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार**

इन्होंने बताया कि गुरुदेव से जुड़ने के कारण ही अभी तक जीवित हूँ। गुरुदेव सियाग साक्षात् ईश्वर का अवतार हैं। यह एक ऐसी शक्ति हैं जो केवल मानव मात्र के कल्याण के लिए है। यही हैं जो HIV/AIDS जैसे असाध्य रोग से मुक्ति दिला सकते हैं।

- **निष्कर्ष**

इतनी कम उम्र में ही HIV से ग्रसित हो जाने व अन्य परेशानियों व संघर्षों भरा जीवन जीने वाले सुरेश को गुरुदेव मिलते ही एक नया जीवन मिला गया है। पति–पत्नी दोनों खुशहाल एवं स्वस्थ जिन्दगी बिता रहे हैं। अब इनका लक्ष्य अन्य लोगों को भी HIV/AIDS जैसे असाध्य रोग से मुक्ति दिलाना है।

परिचय

अनीता, गृहणी, धर्म हिन्दू, उम्र 47 वर्ष, कोटा शहर निवासी इनका सिद्धयोग से जुड़ाव का मुख्य कारण जन्मजात हृदय रोग व आध्यात्मिक रुझान रहा है।

- **पारिवारिक विवरण**

अनीता, पति हरिमोहन कोटा शहर के रहने वाले हैं। इनका पुत्र 9वीं कक्षा में अध्ययनरत है। पति का निजी व्यवसाय है।

- **प्रारम्भिक जीवन व प्रमुख घटनाऐं**

इनका जन्म छत्तीसगढ़ के एक आध्यात्मिक व उच्च वर्ग वाले परिवार में हुआ। इनका परिवार आध्यात्मिक होने के कारण इनकी माँ के द्वारा गुरु ग्रंथ साहिब की वाणी सुनाई जाती थी जिसमें कहा जाता था कि कलयुग में एक सच्चा गुरु होगा बाकी सब भ्रमित करने वाले होंगे, बस यही बात इनके मन में घर कर गई। यह प्रश्न बन गया कि वह गुरु कब और कहाँ मिलेगा, इसकी तलाश बन गई। गुरु ग्रंथ साहिब में लिखा था कि एक मंत्र ही मोक्ष प्रदान करेगा।

जब ये कक्षा 8 में थीं तब से इनका परिवार राधा स्वामी से जुड़ा था। इनकी तलाश जारी थी और यह भी स्वामी जी से जुड़ गई। मंत्र की तलाश के कारण इन्होंने सेवा कार्य शुरू कर दिया लेकिन यहाँ एक शर्त थी कुंवारी लड़की को मंत्र नहीं दिया जाता था एवं मंत्र प्राप्ति की प्रबल इच्छा बढ़ती गई।

- **शिक्षा एवं रोजगार**

उच्च वर्ग से होने के कारण इनकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहा। छत्तीसगढ़ के इंग्लिश मीडियम कॉन्वेंट स्कूल से इन्होंने अपनी शिक्षा पूर्ण की।

पारिवारिक स्थिति सुदृढ़ होने के कारण इन्होने नौकरी नहीं की।

- **गृहस्थ जीवन**

सन् 2001 में कोटा निवासी हरिमोहन के साथ इनका विवाह हो गया। जिनका निजी व्यवसाय है।

इनका सुसराल पक्ष भी आध्यात्मिक है। ये आनंदपुरी गुरु को मानते थे।

- **सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक स्थिति**

इनके ससुराल व पीहर दोनों पक्ष की पारिवारिक स्थिति सुदृढ़ रही है। सामाजिक प्रतिष्ठा भी उच्च वर्ग से होने के कारण अच्छी रही है। दोनों ओर के परिवारों की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक रही है।

- **धार्मिक जीवन एवं उपासना पद्धति**

इनके पीहर व सुसराल दोनों पक्ष पूर्णरूप से आध्यात्मिक विचार धाराओं के थे, इसी कारण इनका अध्यात्म की ओर ज्यादा रुझान रहा।

इन्होंने कश्मीर से कन्या कुमारी तक लगभग हर प्रमुख मन्दिर के दर्शन किये हैं, केवल उस मंत्र की तलाश में जो मोक्ष देगा और ईश्वर से प्रार्थना थी कि मंत्र जवानी में देना, बुढ़ापे में नहीं। लेकिन राधा स्वामी से मंत्र की प्राप्ति नहीं हुई और अन्य गुरु की तलाश बनी रही। हिड़म्बा देवी, वैष्णो देवी इन सभी स्थानों पर भी जाने के बाद भी खालीपन सा लगा।

- **परेशानी, रोग, नशा**

कक्षा 9वीं में सर्दी के समय इन्हें Rehumatic Arthritis का अटैक आया जिससे पूरे शरीर (पीठ, हाथ, पैर) में अकड़न, सिकुड़न व कुबड़ापन आ गया।

डॉक्टर ने कई तरह की जाँचें करवाईं जिसमें हृदय रोग का पता चला Mitral Valve में छेद बताया गया। जिसके कारण पूर्ण शुद्ध रक्त पूरे शरीर में संचारित नहीं हो रहा था व इस कारण यह अटैक आया था।

उस समय डॉक्टर ने 22 वर्ष की उम्र तक शादी नहीं करने को कहा, क्योंकि प्रसव के समय जान को खतरा हो सकता है, इन्हें एनस्थीसिया नहीं दिया जा सकता था। ये 22 साल की उम्र होने तक नियमित रूप से मुम्बई के कार्डियोलॉजिस्ट से दवा लेती रही और इनका वजन बहुत अधिक बढ़ गया। दवाईयाँ मुम्बई से पापा लाया करते थे। Tab Panicillin 400 mg प्रतिदिन 7 साल तक चली, लगातार शरीर में दर्द रहता था। खून की विभिन्न जाँचे लगातार की जाती रहीं थीं। इन जाँचों के कारण इनको रोना आता था, हृदय जाँच में शर्म व तनाव लगता था।

सामान्य बच्चों की तरह खेल नहीं सकती थीं, साइकिल चलाना मना था। इस कारण स्कूल जाने हेतु Kinetic Scooter दिलाया गया।

मन बहुत दुखी होता था, ईश्वर से एक ही पुकार बनी रही आखिर में ही क्यों बीमार हुई ?

पिताजी ने बताया कि यह एक आनुवांशिक रोग है, इनकी बुआ के भी यह रोग रहा था। डॉक्टर द्वारा लगभग 35 वर्ष की उम्र में इनका ऑपरेशन करने को कहा। सन् 2001 में शादी के बाद पति को बीमारी का बताया। सन् 2002 में सामान्य प्रसव से पुत्र का जन्म हुआ, ईश्वर से प्रबल पुकार थी बचा लेना।

अभी भी गुरु ढूँढ़ने की चाह बनी रहती थी, इसे लेकर पति से झगड़ा होता था। टी.वी. में गुरु की तलाश इनकी चलती रही। शाम होते–होते रोना आ जाता, अंदर ही अंदर घुटन होती आखिर वो गुरु कहाँ है ? कब मिलेगा ? इन्हें किसी प्रकार का नशा नहीं रहा।

2009 में कोटा दशहरा मैदान में गुरुदेव रामलाल सियाग के प्रोग्राम में एक रिश्तेदार जबरदस्ती ले गई, मन तो नहीं था रुकने का, पर सभी के कारण रुकना पड़ा।

मंच पर गुरु की फोटो देखी, परन्तु मन में राधा स्वामी थे। जब गुरुदेव सियाग मंच पर आये तो एकदम अंदर से आवाज आई कि तू जिस राधा के स्वामी को ढूँढ़ रही है वो मैं ही हूँ, पर वे समझ नहीं पाई और अपने मन का ख्याल समझा। गुरुदेव के सिद्धयोग की जानकारी देने पर बार–बार मन में आता कि जल्दी से मंत्र बताओ, गुरुदेव की वाणी सुनते–सुनते शरीर में कँपकपी सी होने लगी। जैसे ही मंत्र सुना मन में ठण्डक सी आ गई, ऐसा लगा जैसे व खालीपन क्षणभर में भर गया है।

इन्होंने गुरुजी के सामने ध्यान नहीं किया अपने घर पहुँचकर बंद कमरे में ध्यान शुरू किया तो गर्दन में योगिक क्रिया शुरू हो गई।

रोज नई–नई योगिक क्रियाऐं होती थीं। जैसे शरीर हिलना, रोशनी दिखना और शरीर में ताकत आने लगी। लगभग एक साल बाद पीहर में 5 बजे करीब ध्यान में बैठीं, तो अचानक आवाज आई एनस्थीसिया दिया जा रहा है। खुद को बादलों में घिरा हुआ महसूस किया। उसी समय एक अज्ञात ऊँगली इनके हृदय में प्रवेश कर के घड़ी की दिशा में जैसी घूमी और फिर बाहर आ गई, यह एहसास इन्हें शरीर में पूर्णरूप से महसूस हो रहा था, ध्यान खुलने के बाद भी यह एहसास बना रहा। इन्होंने अपनी माँ को पूरी घटना बताई, तब

माँ को समझ आ गया और उन्होंने कहा कि अब तुम्हारी हृदय की बीमारी ठीक हो गई है। इसके बाद से इन्होंने मान लिया की ठीक हो गई। लगभग 35 वर्ष की उम्र में डॉक्टर ने ऑपरेशन के लिए कहा था, इसलिए कुछ जाँच करानी पड़ी, हृदय रोग विशेषज्ञ ने 3 बार जाँच कराई और आश्चर्यजनक रूप से बोले कि मैं मान ही नहीं सकता तुम्हें हृदय रोग था, मतलब जाँच सामान्य आई थी। जबकि पूर्व में मुम्बई के प्रसिद्ध हृदय रोग विशेषज्ञ व अन्य डॉक्टर ने इस बीमारी की पुष्टि व उपचार किया था।

इसके बाद में खुशी से अपने गृहस्थ जीवन में रहने लगी परन्तु 2012 में इन्हें अचानक रक्त स्त्राव होने लगा, डॉक्टर को दिखाया तो सोनोग्राफी करवाई जिसमें बच्चेदानी में ऑपरेशन की बात बताई गई और इन्हें तुरन्त गर्भाशय निकलाने को कहा गया, परन्तु इन्होंने कोई ऑपरेशन नहीं कराया, ना ही कोई दवा ली केवल गुरुदेव का ध्यान व मंत्र जाप किया। तबियत रोज खराब रहने लगी, सभी लोगों ने कहा ऐसे तो आप जीवित नहीं रहोगी, जल्दी से ऑपरेशन करा लो। परन्तु इनके मन में दृढ़ विश्वास था कि गुरु कुछ नहीं होने देंगे। ध्यान में लगता था कि गुरुदेव कहते हैं कि गर्भाशय मत निकलाना।

एक दिन ध्यान में बैठी थीं तभी, इन्हें गुरु रामलाल सियाग आसन पर बैठे नजर आये, गुरुदेव ने इन्हें चारपाई पर बैठाने को कहा, उसी समय गुरु माँ आईं और कहा कि घुटने के बल मुड़ जा (उल्टी हो) और उन्होंने गर्भाशय में से दो चिथड़े से निकाले, उस समय सब कुछ सत्य ही लगा और बहुत तेज दर्द महसूस हुआ, ध्यान खुल गया और अजीब सा लगने लगा, बुखार हो गया। लगभग 2 दिन तक बुखार रहा, शरीर ऐसा हो गया कि कोई ऑपरेशन हुआ है और कमजोरी सी आई। इन्होंने 3–4 दिन बेड रेस्ट किया और उसके बाद से इनके रक्त स्त्राव में कमी आने लगी। पहले महीने में पूरे 30 दिन तक रक्त स्त्राव रहा लेकिन अब 2–2 दिन छोड़कर होने लगा फिर 4, 6, 8 व अंत में 15 दिन में एक बार होने लगा। इसके बाद पूर्णरूप से सामान्य महिला जैसे मासिक धर्म आने लगा, वर्तमान में यह पूर्णतयाः स्वस्थ हैं।

- **सिद्धयोग से प्रभावित के कारण**

➢ जिस गुरु की तलाश बचपन से रही, वो सारे गुण इनमें पाऐ।

➢ मोक्ष देने वाला गुरु मंत्र पाकर आत्मिक शांति महसूस हुई।

➢ सारी समस्याओं का समाधान इनके ध्यान से हो गया।

➢ पहले ही दिन योगिक क्रिया का इनके इच्छा के विपरीत होना।

- आंतिरक जुड़ाव महसूस हुआ।

सिद्धयोग से समस्याओं का निवारण

- इनकी जन्मजात हृदय रोग की समस्या का बिना ऑपरेशन के ठीक होना।
- गर्भाशय से हो रहा रक्त स्त्राव भी बिना दवा के ठीक हो गया।
- नकारात्मक विचार आना खत्म हुए।
- चिड़चिड़ापन दूर हो गया।

- **सिद्धयोग अपनाने के बाद परिवर्तन**

- स्वयं में आध्यात्मिक प्रगति महसूस होने लगी, नाद आने लगा जिसकी आवाज कभी चिड़िया, घंटी जैसी आती है।
- खानपान में बदलाव (अण्डा छूट गया)
- आत्मविश्वास में बढ़ोतरी
- मानसिक शांति
- मृत्यु का भय खत्म हो गया
- मन में छल, कपट खत्म हो गया
- अब किसी के प्रति द्वेष भावना मन में नहीं आती
- शारीरिक स्फूर्ति में बढ़ोतरी

- **अनुभूति एवं घटनाऐं**

- एक महीने तक विशेष गंध का एहसास होना।
- इनको आधी रात में नीला प्रकाश दिखा, जिसमें आनन्द महसूस हो रहा था, वहाँ से आने का मन भी नहीं हो रहा था, उस अनुभूति को आज तक महसूस करती हैं।
- पहली बार गुरुदेव के दर्शन नींद में हुए तब उन्होंने कहा तू आ, जबकि मुझे पता नहीं था, कहाँ आने को कह रहे हैं।
- ध्यान में आगे होने वाली घटनाऐं दिखाई देती हैं।
- पिता की मृत्यु एक सप्ताह पहले दिखी, उसी तरीके से एक सप्ताह बाद उनकी मृत्यु हुई।
- स्कूटी चलाते समय तेज रफ्तार में होने पर एक्सीडेंट की घटना रोकी, और स्कूटी की चाबी अपने आप ऑफ हो गई।
- जोधपुर जाते समय बस का टायर ब्लास्ट होने की घटना पहले दिखना।

➢ ध्यान में गुरुदेव द्वारा मार्गदर्शन करना, वही घटना सत्य होना।

- **सिद्धयोग एवं गुरुदेव के बारे में विचार**

गुरुदेव रामलाल सियाग के बारे में जितना कहा जाये कम है इस कलयुग में ऐसे गुरु मिल पाना असभंव है जो बिना कुछ लिए ही यह प्रसाद बाँट रहे हैं। गुरुदेव सियाग कल्कि का अवतार हैं। जो सभी को परेशानियों से मुक्त करने आये हैं।

- **निष्कर्ष**

छत्तीसगढ़ में जन्मी अनीता को सिद्धयोग ने एक नया जन्म दिया, उन्हें जन्मजात असाध्य रोग से मुक्ति मिली है। अब वो शारीरिक व मानसिक रुप से अधिक स्फूर्ति महसूस करने लगी हैं। अध्यात्म में विश्वास रखने वाली अनीता अब सुखमय गृहस्थ जीवन व्यतीत कर रही हैं।

परिचय

गंगा सहाय पारीक, 67 वर्ष हिन्दू, जन्म स्थान मेहरू गाँव मालपुरा तहसील, जिला टोंक, परन्तु 1967 से कोटा आई.एल. में कार्यरत थे। ये शुरूआत में सिद्धयोग से जिज्ञासा के कारण जुड़े थे लेकिन इसी दौरान इनका गले का कैंसर सिद्धयोग से पूर्ण ठीक हुआ।

- **पारिवारिक विवरण**

पिता अध्यापक व माता गृहणी। इनके दो भाई व एक बहन हैं एवं इनका परिवार संयुक्त रहा है।

- **प्रारम्भिक जीवन एवं प्रमुख घटनाऐं**

इनका बचपन (मेहरू गाँव) टोंक जिले में बीता। बाल्यावस्था में ये दीपावली के समय बैल पूजन व उनकी सजावट के पहले जब बैलों को तालाब में नहला रहे थे, तो अचानक वहाँ से 3–4 बैल भागे एवं इनके ऊपर से चढ़कर निकल गऐ इतने बैलों के पैरों के बीच गिरे रहने पर भी ये सुरक्षित बच गऐ जो कि आश्चर्यजनक घटना थी।

इसी प्रकार एक और घटना इनके साथ स्कूल में हुई, कम पढ़ाई करने के कारण एक अध्यापक ने इनको मारा तो आँख में खून जम गया एवं ये पीतल के गिलास पर गिरे जो कि इनकी आँख के पास धँस गया था, तब भी घर वालों ने कपड़ा जलाकर इनकी नाक में भर दिया और कोई भी उपचार नहीं कराया केवल उसी से ये ठीक हो गये जबकि 1 से.मी. से ज्यादा बड़ा कट था जिसका निशान आज भी है।

- **शिक्षा व रोजगार**

इनकी 5वीं तक की शिक्षा गाँव में ही हुई, कक्षा में प्रथम स्थान आया करता था, इनके पिता भी यहाँ अध्यापक थे। आगे 10वीं तक की पढ़ाई मालपुरा से पूरी की एवं 1967 में ये कोटा आ गये, 10वीं पास करते ही इनकी नौकरी आई.एल., कोटा में हैल्पर के पद पर लग गयी। नौकरी के साथ–साथ इन्होंने अपनी पढ़ाई को भी चालू रखा तथा 11वीं, बी.ए., एम. ए.(सोशियोलॉजी) एवं डी.एल.एल. (डिप्लोमा ऑफ लेबर लॉ) किया जिससे इनके प्रमोशन होते गये और यह पर्सनल ऑफिसर के पद तक पहुँच गये।

- **गृहस्थ जीवन**

इनकी विवाह राज कँवर पारीक से हुआ, इनके 2 पुत्र व 1 पुत्री हैं। दोनों पुत्रों का विवाह भी हो चुका है।

- **सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक स्थिति**

इनके पिता अध्यापक थे, इस कारण आर्थिक स्थिति मध्यम वर्गीय थी, सामाजिक प्रतिष्ठा अच्छी रही है वर्तमान में आर्थिक स्थिति और भी सुदृढ़ हुई है।

- **धार्मिक जीवन व उपासना पद्धति**

परिवार सामान्य रूप से ईश्वर की अराधना करता था जब ये कक्षा 6 में थे स्कूल जाते समय स्वतः ही अंतरप्रेरणा से गाँधी पार्क मालपुरा से स्कूल पहुँचने तक मौन रहकर मन ही मन राम–राम का जप किया करते थे। सन् 1970 में हनुमान चालीसा, नारायण कवच, एवं राम की महिमा के स्त्रोत इत्यादि एवं नवरात्रा में अखण्ड दीपक जलाकर, सुंदर कांड, रामायण पाठ किया करते थे।

एक दिन इनके पड़ोसी परिवार ने इन्हें गुरुदेव रामलाल सियाग के बारे में बताया कि इनके ध्यान से सभी बीमारियाँ ठीक होती हैं एवं कई चमत्कारपूर्ण घटना घटती हैं इनको भरोसा नहीं हुआ कि यह कैसे संभव है और 1996 में मल्टीपरपज स्कूल गुमानपुरा में गुरुदेव रामलाल सियाग का प्रोग्राम हुआ उसमें ये गये और दीक्षा ली, वहाँ लोगो में अनेक क्रियाऐं स्वतः होते हुये देखीं। अलग–अलग लोगों में अलग–अलग क्रियाऐं होते देख इन्होंने स्वयं भी ध्यान करने का निश्चय किया। ध्यान के दौरान इनका पूरा शरीर हिलता था, जबकि इनको कोई बीमारी नहीं थी। इस बात को इन्होंने गुरुदेव से पूछा जिस पर गुरुदेव ने कहा कि शरीर की नेगेटिव एनर्जी एवं पूर्व जन्मों के संस्कार के कारण सभी कमियाँ व बुराईयाँ इन क्रियाओं से दूर हो जाती हैं इनको विभिन्न क्रियायें तथा प्राणायाम (कई प्रकार के) लगभग 1 वर्ष तक शरीर में होते रहे।

इस समय इनका ध्यान अत्यधिक गहरा होने लगा इनको पता ही नहीं रहता था कि ध्यान में क्या हो रहा है 1 वर्ष पश्चात् कान में नाद आना शुरू हो गया, अलग–2 प्रकार की ध्वनियाँ (घंटी, शंख बजने की आवाज) आना शुरू हो गई।

इनको ध्यान में कई रंग का प्रकाश दिखता था। सफेद, नीला, पीला, बिन्दु ध्यान में व खुली आँखों से 5 मिनट तक दिखता रहता था। इनको जर्दा खाने का शौक था, पूरे दिन जर्दा खाना एवं गुटका खाकर ही सो जाते थे। दीक्षा के 5 से 6 साल बाद इनको इन चीजों से आन्तरिक घृणा होने लगी और ये नशे छूट गये। नौकरी के कारण इनको अक्सर बाहर जाना पड़ता था एवं होटल के मसालेदार भोजन किया करते थे, धीरे–2 इस प्रकार के खाने से विरक्ति हो गई अब केवल पूर्ण सात्विक व सादा भोजन (दाल, रोटी) ही पसंद करते हैं।

- **सिद्धयोग से प्रभावित होने का कारण**

इसमें कर्मकांड, तामझाम व बंधन नहीं है। परिणाम तुरन्त मिलता है। अध्यात्म के पथ पर चलने हेतु श्रेष्ठ व सरल मार्ग है।

- **सिद्धयोग से समस्या का निवारण**

सन् 1998 में जब आई.एल. में पर्सनल ऑफिसर के पद पर थे तब इनके गले में गाँठ हो गई थी जिसका इन्होंने देशी इलाज कराया बाद में होम्योपैथिक एवं आयुर्वेदिक उपचार कराया लेकिन लाभ नहीं हुआ और गले की गाँठ बढ़ती गयी।

कोटा में इन्होंने ई.एन.टी. सर्जन डॉक्टर सक्सेना को बताया पर लाभ नहीं हुआ फिर कोटा के ई.एन.टी. सर्जन डॉक्टर आर.के. शर्मा ने जाँच के उपरान्त कहा कि कैंसर की गाँठ है इनकी तबियत दिनों दिन बिगड़ती जा रही थी, फिर इन्होंने कोटा मेडिकल कॉलेज के डॉक्टर वैष्णव को बताया जो कि प्रोफेसर के पद पर कार्यरत थे, उन्होंने भी F.N.A.C., Biopsy, CT Scan कराया व कैंसर घोषित कर दिया एवं घर वालों को कहा का इनका जीवन अब 15 दिन से अधिक का नहीं है, कैंसर सिर तक पहुँच गया है। इस पर वो घबरा गये और गुरुदेव के पास पहुँच गये, गुरुदेव ने कहा कई बार संस्कार वश रोग उभर आते हैं तू चिन्ता मत कर मंत्र जाप व ध्यान करता रह और डॉक्टर का बताया इलाज लेता रह तुझे कुछ भी नहीं होगा, कुछ समय की परेशानी है। फिर भी यह जयपुर जाकर SMS मेडिकल कॉलेज के कैंसर स्पेशलिस्ट डॉक्टर गोविन्द शर्मा व डॉक्टर हेमन्त मल्होत्रा से मिले जिन्होंने पुनः कैंसर की पुष्टि करते हुये कीमोथेरेपी व रेडियोथेरेपी हेतु कहा। इन्होंने जब कीमोथेरेपी व रेड़ियोथेरेपी ली उस समय गुरुदेव ध्यान में दिखते थे और ठीक होने का आशीर्वाद देते थे। इस समय इनका वजन 40 kg रह गया था एवं रेडियोथेरेपी भी वहाँ स्टाफ की हड़ताल की वजह से पूरी नहीं ले पाये इसके बाद इन्होंने ध्यान व मंत्र जाप पर

ध्यान दिया इस दौरान गुरुदेव ने कहा कि तू चिन्ता मत कर तेरी बीमारी मैंने अपने ऊपर ले ली है तू पूर्ण स्वस्थ हो गया है अपनी जाँच करा ले, 3 माह में इनका वजन बढ़कर करीब 70 kg हो गया इसके पश्चात् CT Scan इत्यादि जाँच कराने पर रोग पूर्ण रूप से खत्म होना व 3 माह में वजन 30 kg बढ़ जाने पर डॉक्टर भी आश्चर्यचकित रह गये, उनके हिसाब से पूर्ण रोग मुक्ति व इतना वजन बढ़ना संभव नहीं था। तब से 16साल हो चुके हैं ये पूर्णरूप से स्वस्थ हैं सन् 2000 से इन्होंने कोई भी दवा नहीं ली है। कैंसर पूर्ण रुप से समाप्त हो चुका है।

- **अनुभूति एवं घटनाऐं**

कोटा में ही जब एक बार गुरुदेव सियाग पधारे तब गुरुदेव ने कहा कि अब तू गाँव जाकर रह और वहाँ जा कर मकान खरीद ले साथ ही बताया कि मकान किस प्रकार का होगा एवं वो मकान संत महंत का होगा। गाँव जाकर ये रहने लगे परन्तु ऐसा मकान उनको नजर नहीं आया।

एक दिन इनके मित्र आये हुये थे उन्होंने कहा कि एक संत रामानन्द अपना मकान बेच रहे हैं चाहे तो ले लो ये देखने गये तो मकान का हूबहू वही नक्शा था जो गुरुदेव ने बताया था इनके पास मकान खरीदने के पैसे भी नहीं थे इन्होंने कहा कि में आईएल से वीआरएस लूंगा तब पैसे दे दूंगा इस पर वो मान गये एवं केवल 5 लाख 51 हजार में मकान देने को तैयार हो गये जब कि उसकी बाजार कीमत काफी ज्यादा थी।

–इनको किसी भी भविष्य में होने वाली दुर्घटना का पूर्व एहसास हो जाता है।

–अत्यधिक मानसिक शांति रहती है।

–मृत्यु भय पूर्णरुप से खत्म हो चुका है।

–कोई भी समस्या होने पर गुरुदेव के फोटो के आगे बोल देते हैं तो उसका कोई ना कोई मार्ग निकल आता है।

–आर्थिक रुप से कभी कोई कार्य नहीं रुकता है, व्यवस्था हो जाती है।

- **गुरुदेव के बारे में विचार**

गुरुदेव सियाग के बारे में ये कहते हैं कि इनके बारे में, मैं क्या कहूँ शब्द नहीं हैं इन्होंने वो किया है जो ईश्वर ही कर सकते हैं। सब के दुःख को हरने वाले हैं यह, इनके सानिध्य से जीवन का अर्थ समझ आने लगा। अब अध्यात्म की ओर रुझान बढ़ने लगा है।

- **निष्कर्ष**

पर्सनल ऑफिसर पद पर कार्यरत गंगा सहाय का जीवन गुरुदेव सियाग का दिया है इन्होंने तो सब तरह हार मान ली थी। बहुत कम समय में आध्यात्मिक प्रगति हुई, ध्यान में विशेष अनुभूतियाँ, नाद का 1 वर्ष पश्चात् ही आ जाना एवं असाध्य रोग (कैंसर) से मुक्ति इनके जीवन की विशेष उपलब्धि रही है।

संदर्भ

बोअर्स, जेडब्लू, और कोर्टराइट, 1984, कम्यूनिकेशन रिसर्च मेथड्स ग्लेनव्यु आईएलः स्काटफोर्समेंन.

Holland, Spicer Edward. 1952. Human problem in Technological Change a Case Book, New York: Russel Sage Foundation.

मिश्रा, शैलेष कुमार, 2008, योग क्या करता है, जयपुरः कैप्रीकॉर्न पब्लिशिंग हाऊस.

महेँश्वरानंद, स्वामी योगीराज, 1989, दिव्य दर्शन कुण्डलिनी–योग योगीराज, ऑस्ट्रियन इण्ड़ियन योग वेदान्त सोसायटीः वियना.

सिंह, सुरेन्द्र, मिश्र, पी.डी., और मिश्र, बीना, 1997, योग एक परिचय, लखनऊः सुलभ प्रकाशन.

सियाग, चौधरी रामलाल, 1993, पवित्र धार्मिक ग्रंथ–बाइबिल की भविष्यवाणियाँ, जोधपुरः आध्यात्मिक सत्संग केन्द्र.

अध्याय—6

निष्कर्ष एवं सुझाव

1

1

अध्याय 6

निष्कर्ष एवं सुझाव

"योग साधना का उद्देश्य केवल वैयक्तिक पूर्णता नहीं है, वरन विश्व उत्थान है। योग का उद्देश्य समस्त मानवता, समस्त विश्व का देवत्विकरण अर्थात् सार्वभौमिक मुक्ति है। मानव जब अतिमानवत्व प्राप्त करेगा तो अतिमानसिक रूपान्तरण द्वारा उसका मन, प्राण और शरीर दिव्य स्वरूप में रूपान्तरित हो जायेगा। इसी का नाम पार्थिव–अमरत्व (Terristorial Immoratality) हैं"– महर्षि अरविन्द

प्रस्तुत शोध कार्य में योग एवं गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग के अवधारणात्मक पहलूओं को जाना एवं सिद्धयोग से आने वाले सामाजिक परिवर्तन को केन्द्रित कर इसके प्रभावों का आकलन किया गया। इसी प्रकार समकालीन समाज में योग एवं सिद्धयोग के विभिन्न आयामों की बढ़ती हुई भूमिका की महत्ता को स्पष्ट कर, समाज में आने वाले प्रभाव व परिवर्तनों को मुख्य रूप से अवलोकित किया एवं इसकी सत्यता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है।

प्राकल्पनाओं का सत्यापन

प्रथम प्राकल्पना–

योगिक क्रियाऐं मानव समाज में तनावों व संघर्षों को कम करने में सहायक होती हैं।

अध्ययन के तथ्य प्रथम प्राकल्पना को पूर्णतया सत्य सिद्ध करते हैं कि गुरु सियाग के ध्यान से होने वाली योगिक क्रियाऐं वैयक्तिक आधार पर तनाव कम करती हैं जिससे आंतरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व परिष्कृत होता है एवं भावनात्मक स्तर पर भी सुदृढ़ता प्राप्त होती है।

इस संदर्भ में आँकड़े (सारणी 4.74) दर्शाते हैं कि सिद्धयोग से अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम आ जाता है ऐसे लाभान्वित उत्तरदाताओं की संख्या सबसे अधिक 114 रही जो कि जो कुल उत्तरदाताओं 150 का 76 प्रतिशत है अर्थात् वर्तमान में सिद्धयोग एक सफल चिकित्सा पद्धति के रूप में उभर कर आई है, जिसके परिणाम चौंकाने वाले मिले हैं।

इसी प्रकार अनिद्रा, तनाव व अशांति में आवास (सारणी 4.75), आयु वर्ग (सारणी 4.76), शैक्षणिक योग्यता (सारणी 4.77), एवं आर्थिक स्थिति (सारणी 4.78) के आधार पर विश्लेषण करने पर पूर्ण आराम प्राप्त उत्तरदाताओं का परिणाम (76 प्रतिशत) समान रहा।

आवास के क्षेत्र में, अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम का प्रतिशत ग्रामीण उत्तरदाताओं में नगरीय उत्तरदाताओं की तुलना में अधिक है क्योंकि ग्रामीण माहौल शहर की तुलना में ज्यादा शान्तिपूर्ण होता है और वहाँ शहर जैसी भागादौड़ी एवं आपाधापी नहीं होती है तथा 21–30 वर्ष की आयु वर्ग के उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक (45) रही है, अर्थात् इस आयु वर्ग के उत्तरदाता सिद्धयोग के प्रति ज्यादा गम्भीर रहे हैं एवं 50 वर्ष से अधिक के उत्तरदाताओं में सर्वाधिक (80.95 प्रतिशत) पूर्ण आराम आया। आज के समय मे अनिद्रा, तनाव व अशांति से सर्वाधिक ग्रसित आयु वर्ग 50 वर्ष से अधिक वाला ही है। आज कल के युग में प्रतिस्पर्द्धा के कारण शैक्षणिक क्षेत्र में विद्यार्थी वर्ग शिक्षा को लेकर काफी तनाव व अशांति में रहते हैं लेकिन सिद्धयोग को अपनाने से सभी शैक्षणिक योग्यता वाले उत्तरदाताओं में अधिकांश (76 प्रतिशत) को पूर्ण आराम पाया गया है। अनिद्रा, तनाव एवं अशांति की समस्याओं से ग्रसित विभिन्न आय वर्गों में पूर्ण आराम उच्च वर्ग, निम्न वर्ग एवं निम्न–मध्यम वर्ग के उत्तरदाताओं में सर्वाधिक देखा गया है, हो सकता है इस वर्ग वाले उत्तरदाता अनिद्रा, तनाव एवं अशांति से अधिक परेशान हों इस कारण उन्होंने ज्यादा भरोसे व लगन से साधना की हो।

अध्ययन में (सारणी 4.66) नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन के संबंध में आने वाले अन्तर को जानने का प्रयास किया तो 108 (72 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने बताया कि सिद्धयोग से जुड़ने के बाद ऐसे विचार आने ही बंद हो गये।

इसी प्रकार नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन के सम्बन्ध में आने वाले परिवर्तन को जानने का प्रयास भिन्न–भिन्न क्षेत्र, आवास (सारणी 4.67), धर्म (सारणी 4.68) एवं लिंग (सारणी

4.69) को आधार मान किये जाने वाले अध्ययन में नकारात्मक विचारों में पूर्णतया अवरुद्ध हो जाने के अर्थ में परिणाम प्राप्त उत्तरदाताओं की प्रतिशतता (72) समान रही।

नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन में ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही आवास के उत्तरदाताओं में समान रुप से ही पूर्ण सुधार क्रमशः 73 प्रतिशत एवं 70 प्रतिशत पाया गया।

इसका प्रभाव अल्पसंख्यक उत्तरदाताओं पर हिन्दुओं की तुलना में कुछ अधिक पाया गया। सिद्धयोग से नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है पुरुषों में इसका प्रभाव महिलाओं की तुलना में अधिक सकारात्मक पाया गया, हो सकता है कि पारिवारिक माहौल एवं परिस्थिति आदि के कारण महिलाओं में तुलनात्मक कम असर पाया गया हो।

समाज में होने वाले संघर्षो के सन्दर्भ में जब उत्तरदाताओं से पूछा गया तो (सारणी 5. 23) विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि 96.66 प्रतिशत के अनुसार सिद्धयोग विश्वशान्ति, नस्लीय भेद/झगड़ो को रोकने में सहायक है। इसी प्रकार 93.33 प्रतिशत के अनुसार सिद्धयोग की साधना से समाज में धार्मिक उन्माद भी कम होता है एवं यह युवाओं को आतंकवाद व हिंसक प्रवृत्तियों की ओर जाने से रोकता है।

तथ्यों के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि गृहस्थ जीवन पर सिद्धयोग का प्रभाव सकारात्मक है (सारणी 5.3) 90.52 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि यह पारिवारिक कुसामंजस्य (Maladjustment) को रोकता है।

समाज में पाये जाने वाले विभिन्न संघर्षों के बारे में उत्तरदाताओं के विचारों को जानने का प्रयास किया तो (सारणी 5.17) पाया कि अधिकांश (83 से 92 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने बताया कि इस योग के द्वारा हिंसात्मक वृत्ति, वैयक्तिक संघर्ष (घृणा, द्वेष), प्रजातीय संघर्ष (रंग/नस्ल भेद), वर्ग संघर्ष (आर्थिक/सामाजिक असमानता) में कमी आती है।

गुरु सियाग का सिद्धयोग व्यक्ति, परिवार और सामाजिक एकीकरण, संगठित व्यक्तित्व, पारिवारिक विघटन को रोकने में सहायक होता है और व्यक्ति, परिवार तथा समाज का सम्बन्धात्मक प्रतिमान सुचारू रूप से संचालित होता है। परिणामस्वरूप समाज में स्थायित्व बना रहता है और वसुधैव कुटुम्बकम् जैसे सार्वभौमिक मूल्यों का परिपोषण होता है। अप्रत्यक्ष रूप से

तामसिक एवं हिंसक प्रवृत्तियों का स्थान सात्विक प्रवृत्तियाँ लेने लगती हैं जो सामाजिक जीवन के लिए कल्याणकारी होता है और शाश्वत् मूल्य जैसे दया, करुणा, प्रेम, बलिदान, सत्य, अहिंसा का विकास होने लगता है।

द्वितीय प्राकल्पना–

सिद्धयोग से विभिन्न प्रकार की जटिल / लाइलाज बीमारियों एवं नशों का उपचार किया जा सकता है।

अध्ययन के तथ्य द्वितीय प्राकल्पना को पूर्णतया सत्य सिद्ध करते हैं, कि गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग से विभिन्न प्रकार की जटिल / लाइलाज बीमारियों एवं नशों का उपचार किया जा सकता है।

इस अध्ययन में सिद्धयोग से उत्तरदाताओं में शारीरिक व मानसिक बीमारी में होने वाले सुधार को जानने का प्रयास किया गया।

- जिसमें बीमारी (व्याधि) कितनी ठीक हुई (पूरी तरह, नियंत्रण में या ठीक नहीं हुई)
- बीमारी (व्याधि) ठीक होने की विधि (केवल सिद्धयोग, सिद्धयोग व दवा से या ठीक नहीं हुई)
- बीमारी (व्याधि) ठीक होने की अवधि (1 माह में, 1–6 माह, 6 माह से 1 वर्ष, 1 वर्ष से 3 वर्ष, ठीक नहीं हुई)
- बीमारी (व्याधि) ठीक होने का प्रतिशत (सुधार नहीं, 25–50%, 51–75%, 76–90%, पूर्ण सुधार)

उपरोक्त 4 बिन्दुओं पर आवास, धर्म, आयु, लिंग, आर्थिक स्थिति, व्यवसाय आदि के आधार पर उत्तरदाताओं को विभाजित कर परिणाम प्राप्त किये गये।

कुल 150 उत्तरदाताओं में से 83 उत्तरदाता सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व विभिन्न बीमारियों से ग्रसित थे, जिनमें से 37 उत्तरदाता असाध्य/जटिल/लाइलाज शारीरिक व मानसिक बीमारी से पीड़ित थे जिनमें मानसिक रोगों जैसे चिंता, भय, व्याकुलता, अवसाद, OCD,

शिजोफ्रेनिया के 13 उत्तरदाता थे। इसी प्रकार शारीरिक रोगों जैसे कैंसर (3), एड्स (2), ह्रदयरोग (2), ब्लडप्रेशर (4), मधुमेह (3) इत्यादि के 24 उत्तरदाता पाये गये।

- आँकड़ों से स्पष्ट है कि 67.46 प्रतिशत उत्तरदाताओं के अनुसार (सारणी 4.52) उनकी बीमारी पूरी तरह ठीक हो गई एवं 28.93 प्रतिशत ने कहा बीमारी नियंत्रण में है और साधना कम होते ही पुनः प्रभावी होने लगती है।
- **ग्रामीण–नगरीय विश्लेषण**– आवास की प्रकृति के आधार पर (सारणी 4.53, 4.71) पाया गया कि ग्रामीण में नगरीय उत्तरदाताओं की तुलना में 9.14 प्रतिशत अधिक "पूर्ण सुधार" आया। जो कि उनके जीवन शैली की भिन्नता का परिणाम है, क्योंकि ग्रामीण व्यक्ति, नगरीय की अपेक्षा अधिक आस्तिक, धार्मिक प्रवृत्ति वाले एवं प्रकृति के समीप होते हैं।
- बीमारी (व्याधि) ठीक होने में लगने वाले समय (सारणी 4.59) का अध्ययन करने पर पाया गया कि सर्वाधिक उत्तरदाता (48.22 प्रतिशत) 1 से 6 माह में ठीक हुये एवं 6 माह से 1 वर्ष में ठीक होने वालों का प्रतिशत 28.92 रहा।
- ग्रामीण एवं नगरीय उत्तरदाताओं में (सारणी 4.60) 1 वर्ष के अन्दर ठीक होने वालों का प्रतिशत लगभग समान रहा। साथ ही 5 प्रतिशत ग्रामीण उत्तरदाताओं की बीमारी (व्याधि) ठीक भी नहीं हुई जबकि सभी नगरीय उत्तरदाताओं में सुधार पाया गया।
- ग्रामीण क्षेत्र के उत्तरदाताओं में केवल ध्यान, मंत्र जाप व प्रार्थना से (बिना दवा के) (सारणी 4.57) ठीक होने का प्रतिशत 78.33 रहा जो कि नगरीय उत्तरदाताओं से 4.42 प्रतिशत अधिक था। क्योंकि उनका विश्वास दवा के स्थान पर ईश्वरीय अराधना में अधिक होता है।
- आयु के आधार पर (सारणी 4.63) जानने पर पाया कि 14 से 20 वर्ष के सभी उत्तरदाता 1 वर्ष से कम समय में ठीक हो गये।
- 14 से 20 वर्ष के उत्तरदाताओं की बीमारी सर्वाधिक (शत प्रतिशत) पूरी तरह ठीक हुई (सारणी 4.55) क्योंकि युवावस्था में पूर्व विकसित भ्रांतियों को त्यागने की क्षमता अधिक होती है। यह वर्ग परिवर्तन के मार्ग पर चलने एवं नया करने को तत्पर है, वे ज्यादा कट्टरता में नहीं उलझते हैं।

- महिला तथा पुरुषों (सारणी 4.72) में भी लगभग समान रूप से बीमारी में सुधार पाया गया। परन्तु महिला उत्तरदाताओं (सारणी 4.58) में बिना दवा के केवल सिद्धयोग की साधना से ठीक होने का प्रतिशत (84.10) पुरुषों (69.23) की तुलना से 14.87 प्रतिशत अधिक रहा। महिला एवं पुरुष उत्तरदाताओं में (सारणी 4.61) 1 वर्ष के अन्दर सुधार होने का प्रतिशत लगभग समान रहा।

क्योंकि महिलाऐं स्वभाविक रूप से धर्म भीरू और धैर्य धारिणी होती हैं। वह दवा के स्थान पर ईश्वरीय आराधना, धार्मिक मार्ग का अनुसरण पूरी आस्था के साथ पुरुषों की अपेक्षा अधिक करती हैं और परिणामस्वरूप स्वास्थ्य लाभ तीव्र गति से प्राप्त करती हैं।

अल्पसंख्यक उत्तरदाताओं एवं हिन्दुओं में (सारणी 4.54 व 4.73) बीमारी में सुधार समान पाया गया एवं इनमें (सारणी 4.62) 1 वर्ष में बीमारी पूर्ण ठीक होने का प्रतिशत भी समान ही रहा। क्योंकि रोग की स्थिति में व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ कहीं से भी प्राप्त करना चाहता है।

वर्गीय स्थिति विश्लेषण– आर्थिक स्थिति के आधार पर (सारणी 4.56) जानकारी लेने पर "निम्न–मध्यम वर्ग" के उत्तरदाताओं में बीमारी पूर्ण रूप से ठीक होने का प्रतिशत (74.28) सर्वाधिक रहा।

अल्प आय वर्ग व मध्यम आय वर्ग के व्यक्ति द्वारा हर बीमारी का ईलाज करा पाना संभव नहीं है ऐसे में धनाभाव के परिणाम–स्वरूप "निम्न मध्यम आय वर्ग" वाले उत्तरदाताओं ने निःशुल्क माध्यम से बीमारी ठीक होने के लिए इस पद्धति को पूर्ण समर्पण के साथ अपनाया होगा।

- आर्थिक स्थिति के आधार पर जानकारी लेने पर पाया कि 1 वर्ष से कम समय में बीमारी ठीक होने का प्रतिशत उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में मध्यम वर्ग की तुलना में अधिक पाया गया (सारणी 4.65)।

यह भी सत्य है कि हर रोग का उपचार चिकित्सा विज्ञान से संभव नहीं क्योंकि आजकल क्लेशमय व भौतिकवादी, प्रतिस्पर्द्धा युक्त संस्कृति के कारण उच्च वर्ग को भी मानसिक तनाव, अशांति, व कई असाध्य रोगों ने जकड़ लिया है इस कारण से इस वर्ग ने भी इसका मन से अनुसरण किया होगा।

- व्यवसाय के आधार पर उत्तरदाताओं में (सारणी 4.64) बीमारी से 1 वर्ष में ठीक होने का प्रतिशत छात्रों और गृहणियों में लगभग समान रुप से सर्वाधिक पाया गया।

यद्यपि आध्यात्मिक बीमारी को अभी तक विज्ञान ने मान्यता प्रदान नहीं की है, परन्तु उत्तरदाताओं से ज्ञात हुआ कि व्यक्तियों में ऊपरी हवा/आध्यात्मिक बीमारी का प्रकोप पाया जाता है जिसको ये लोग शरीर में प्रत्यक्ष रुप से अनुभव करते हैं एवं इनसे मुक्ति पाने हेतु अलग–2 धर्मों में उनके धार्मिक कर्मकाण्डों द्वारा प्रयास किया जाता है।

- इस अध्ययन में 150 उत्तरदाताओं में से 16 (10.67 प्रतिशत) उत्तरदाता सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व आध्यात्मिक बीमारी से पीड़ित थे।

अध्ययन में (सारणी 4.49) आवास की प्रकृति के आधार पर (सारणी 4.50) जानकारी लेने पर पाया कि 16 में से 13 (81.25 प्रतिशत) उत्तरदाता आध्यात्मिक बीमारी से पूर्ण मुक्त हुये जिसमें नगरीय उत्तरदाताओं के ठीक होने का प्रतिशत ग्रामीण उत्तरदाताओं से 3.34 प्रतिशत अधिक रहा। इसका कारण यह हो सकता है कि नगरीय रोगी तार्किक अधिक होते हैं और बीमारी को स्थायी नहीं मानते हैं।

- लिंग के आधार पर (सारणी 4.51) अध्ययन से ज्ञात हुआ आध्यात्मिक बीमारी से मुक्त होने का प्रतिशत महिलाओं (81.82 प्रतिशत) एवं पुरुषों (80 प्रतिशत) में समान रहा।
- संकलित तथ्यों में सिद्धयोग से जुड़ने से पूर्व 150 उत्तरदाताओं में से 41 उत्तरदाता विभिन्न प्रकार के नशों से ग्रसित (सारणी 5.10) थे। जो कि शराब, तम्बाकू, जर्दा, बीड़ी, सिगरेट, अफीम, ड्रग्स का सेवन कर रहे थे। (सारणी 5.11) इनमें सर्वाधिक 85.36 प्रतिशत उत्तरदाता तम्बाकू, जर्दा, के आदी पाये गये।
- शोध विश्लेषण के आधार पर नशे के आदी 41 उत्तरदाताओं में से 29 (70.73 प्रतिशत) उत्तरदाताओं के नशे विभिन्न तरीके से छूटे (सारणी 5.12) जिसमें सर्वाधिक 24 (82.75 प्रतिशत) उत्तरदाताओं को आन्तरिक घृणा हुई एवं नशे स्वतः छूट गये।
- ज्ञात आंकड़ो में नशे छूटने में लगने वाले समय (सारणी 5.13) के आधार पर 41 उत्तरदाताओं में से 6 (14.63 प्रतिशत) के नशे केवल 15 से 20 दिन में स्वतः ही छूट गये

जो कि चौंकाने वाला परिणाम था, इसी प्रकार 11 (26.83 प्रतिशत) के नशे 1 से 6 माह में छूट गये।

- शोध में पाया कि नशे छूटने के पश्चात् शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी ली गयी तो 8 (27.58 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने शरीर में स्फूर्ति और उल्लाहस का आना बताया जबकि 17 (58.62 प्रतिशत) ने शरीर पर कोई प्रभाव नहीं आना कहा (सारणी 5.14)। अचानक नशे छूटने पर शरीर पर Withdrawl Symptoms का ना आना अपने आप में किसी चमत्कार से कम नहीं है और चिकित्सा विज्ञान के लिये एक शोध का विषय है।

तृतीय प्राकल्पना–

सिद्धयोग सामाजिक एकता को स्थापित करने एवं सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए उपयोगी है।

अध्ययन बताता है कि गुरु सियाग का सिद्धयोग ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्षानुभूति कराने में सहायक है ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 115 (76.67 प्रतिशत) है जब व्यक्ति ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्षानुभूति करने लगता है (सारणी 4.46) तो वो गलत कार्य करने से बचता है इस प्रकार वो व्यक्ति एक स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक होने लगता है।

विश्लेषण में पाया कि सिद्धयोग से विभिन्न संस्कृतियों पर प्रभाव (सारणी 5.25) में कुल 150 उत्तरदाताओं में से 93.33 प्रतिशत ने कहा कि सिद्धयोग से सामाजिक एकता को बढ़ावा, सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा (74.66 प्रतिशत), धार्मिक एकता को बढ़ावा (98.66 प्रतिशत), साामाजिक मूल्यों का उत्थान (88 प्रतिशत) हो रहा है। अतः इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सिद्धयोग से समाज में एक बहुत ही बड़ा तथा सकारात्मक परिवर्तन आ रहा है।

इसी प्रकार सिद्धयोग की साधना से व्यक्ति एवं परिवार में चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है (सारणी 5.24) ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 131 (87.33 प्रतिशत) हैं, साथ ही व्यक्ति एवं परिवार के सदस्यों में सभी प्रकार के नशे छूटने लगते हैं ऐसा कहने वाले उत्तरदाता 120 (80 प्रतिशत) हैं।

उत्तरदाताओं के स्वभाव में (सारणी 5.6) आने वाले परिवर्तन के बारे में जानने पर पाया कि 75 (31.25 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने मन का शान्त होना, 60 (25 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने उनमें सकारात्मक बदलाव, 46 (19.16 प्रतिशत) ने उत्साह का बना रहना बताया। जब व्यक्ति में ये परिवर्तन आते हैं तो वह सामाजिक संरचना को व्यवस्थित रखने में सहायक सिद्ध होने लगता है।

सिद्धयोग द्वारा अन्य धर्म के लोगों से प्रेम बढ़ा जिससे धार्मिक वैमनस्य में कमी आई है (सारणी 5.32) ऐसा 76.66 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा। यह सामाजिक एकता को बढ़ाने में सकारात्मक संकेत है।

शोध में सामने आया कि 83.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं का (सारणी 5.34) सिद्धयोग से जुड़े पर्वों की ओर रुझान बढ़ा है।

शोध के विश्लेषण (सारणी 5.33) से ज्ञात होता है कि सिद्धयोग अपनाने वालों में से 62 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि छुआछूत पूर्ण रुप से खत्म हो गयी है, अब धर्म व जाति कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। यह तो एक सामाजिक व्यवस्था के अंग हैं। सिद्धयोग लोगों में मानव मात्र के कल्याण की बात करता है।

अन्त में विशेष तथ्य के रूप में कहा जा सकता है कि गुरु रामलाल सियाग का –

- सिद्धयोग पूर्णतः निःशुल्क है इसमें गुरु सियाग के पास एक बार भी जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।
- इसे सभी धर्मों के व्यक्ति कर सकते हैं। यह धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित नहीं करता वरन् अपने ही धर्म में रहते हुए मनुष्य के विकास की बात करता है।
- सिद्धयोग में उत्तरदाताओं को उनके धर्म के अनुसार उपासना छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती है।
- इसमें अधिकांश उत्तरदाता (62.35 प्रतिशत) व्याधि (बीमारी), (0.67 प्रतिशत) नशा मुक्ति, (54.11 प्रतिशत) जिज्ञासा, (44.70 प्रतिशत) आध्यात्मिक रुझान के कारण जुड़े।

- सिद्धयोग में किसी भी प्रकार के नियम की पालना करने की आवश्यकता नहीं है एवं किसी भी प्रकार के खानपान, रहन–सहन, नशे को करने की मनाही नहीं है। इसमें स्वतः परिवर्तन होता है।
- इसमें दीक्षा गुरुदेव सियाग के सानिध्य में, सी.डी. से, इन्टरनेट द्वारा, टी.वी., मोबाइल से गुरुदेव की आवाज में मंत्र सुनकर ली जा सकती है। उक्त सभी प्रकार से ली गई दीक्षा समान रुप से प्रभावी होती है।
- अध्ययन में पाया कि दीक्षा लेने से पूर्व भी सिद्धयोग की विधि द्वारा गुरुदेव के बताये अनुसार साधना करने पर भी सभी प्रकार की शारीरिक, मानसिक बीमारियाँ व नशों के छूटने की प्रकिया प्रारम्भ हो जाती है।
- सिद्धयोग से जुड़ने के बाद उत्तरदाता कम बीमार पड़ते हैं और जब बीमार पड़ते हैं तो स्वतः ही या साधना के साथ–2 दवा के प्रयोग से बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाते हैं।
- शोध से ज्ञात हुआ है कि 94 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने माना है कि सिद्धयोग से शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है।
- इससे मिलने वाला लाभ उत्तरदाता के स्वप्रयास के साथ, मंत्रजाप, ध्यान व गुरु सियाग के प्रति श्रद्धा, समर्पण पर निर्भर करता है। इसे अपनाने के बाद उत्तरदाताओं में कई परिवर्तन हुए जैसे नकारात्मक विचार आना बंद/कम हो गये, मन शांत रहने लगा, गुस्सा कम आने लगा व सोच सकारात्मक हो गयी।
- विश्लेषण में पाया कि 86 प्रतिशत में सिद्धयोग से शारीरिक एवं मानसिक कार्य क्षमता में बढ़ोतरी हुई है।
- यह योग भविष्य में आने वाली परेशानियों का पूर्वाभास भी करा देता है।
- सिद्धयोग अपनाने से खानपान में भी परिवर्तन देखा गया, 45 प्रतिशत में मांसाहारी भोजन व तेज मिर्च मसाले के प्रति अरुचि पाई गई।
- लगभग शत प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि मन की बहुत सारी इच्छाऐं इस योग से पूरी होने लगती हैं।
- सिद्धयोग से उत्तरदाताओं की आर्थिक स्थिति में सुधार देखा गया है।
- सिद्धयोग की साधना करने से प्रातिभज्ञान की अनुभूति होती है।

- आंकड़े दर्शाते हैं कि 76.67 प्रतिशत उत्तरदाताओं को ईश्वरीय शक्ति का अनुभव होता है या महसूस करते हैं।
- सिद्धयोग की साधना से उत्तरदाताओं को ध्यान के दौरान गुरु से आदेश/संकेत भी प्राप्त होते हैं।
- गुरु सियाग के सिद्धयोग के दौरान स्वतः योगिक क्रियाऐं होती हैं, इन पर साधक का नियंत्रण नहीं होता है। क्रियाऐं उसी अंग की होती हैं जो बीमार होता है, समय (15 से 20 मिनट) पूरा होते ही साधक पुनः सामान्य स्थिति में आ जाता है।
- ध्यान में उत्तरदाताओं को अनुभूति का अहसास हुआ जैसे ध्यान करने पर नील बिन्दु दिखाता है, उनका प्रतिशत 25.33 पाया गया।
- तथ्यों से स्पष्ट है कि ध्यान के दौरान कम्पन व दिव्य गंध का 61.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं को अनुभव हुआ।
- तीन चौथाई उत्तरदाताओं ने बताया कि ध्यान के दौरान अनेक प्रकार के आसन, प्राणायाम, बन्ध स्वतः ही लगते हैं।
- ध्यान में कई बार अनुभूतियों का एहसास होता है जो 21.34 प्रतिशत सत्य साबित हुई हैं।
- सिद्धयोग में 25 उत्तरदाताओं ने अर्थात् 16.67 प्रतिशत ने कहा कि ध्यान में कभी–कभी गुरुदेव संकेत या आदेश देते हैं।
- अध्ययन में 65.39 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि उनको अजपा जाप (मंत्र का स्वतः ही शरीर द्वारा जपा जाना) आने लगा है।
- अध्यात्म के क्षेत्र में नाद का विशेष स्थान है 16 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि उनको "नाद" (कानों में निरन्तर आने वाली ध्वनि) आता है।
- शोध के अर्न्तगत पाया कि उत्तरदाताओं को एक या अधिक प्रकार के बन्ध (मूलाधार, उड्डियान, जालंधर बंध) ध्यान के दौरान स्वतः ही लगते हैं।
- तीन चौथाई उत्तरदाताओं को ध्यान के दौरान एक या कई प्रकार के प्राणायाम (सांस का विभिन्न प्रकार से अन्दर बाहर आना) स्वतः ही हुये या होते हैं।
- शोध में सामने आया है कि 13.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं को 'खेचरी मुद्रा' (जीभ का स्वतः ही उलट कर तालू को एक स्थान पर दबाना व दिव्य रस का टपकना) लगी।

- तथ्यों के आधार पर स्पष्ट है कि 91.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि सिद्धयोग से विद्यार्थीयों में परीक्षा के प्रति डर/फोबिया अन्य विद्यार्थीयों की तुलना में कम पाया गया।
- सिद्धयोग से विद्यार्थीयों की स्मरण शक्ति/एकाग्रता में बढ़ोतरी हुई।
- इसी प्रकार 93.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि सिद्धयोग, विज्ञान के साथ ही अध्यात्म विज्ञान को भी प्रमाणित कर रहा है।
- सिद्धयोग द्वारा ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्षानुभूति संभव है।
- सिद्धयोग द्वारा व्यक्ति सांसारिक (प्रवृत्ति) जीवन व्यतीत करता हुआ योग एवं भोग दोनों तत्वों की सहज प्राप्ति करता है।
- शत प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि सिद्धयोग द्वारा कुण्डलिनी जागरण से साधक को कोई नुकसान नहीं होता है ना ही शरीर पर कोई दुष्प्रभाव पड़ता है।
- सिद्धयोग अपनाने से ईश्वरीय शक्ति का अहसास होता रहता है, सोचने व समझने का तरीका सकरात्मक हो जाता है, बीमार अपेक्षाकृत कम होते हैं अगर होते हैं तो जल्दी ठीक हो जाते हैं, अधिकांश कार्य आत्मबल एवं प्रार्थना से हो जाते हैं।
- सिद्धयोग अपनाने के बाद परिजन/मित्र उस व्यक्ति के स्वभाव, वृत्ति, आत्मविश्वास आदि में सकरात्मक परिवर्तन महसूस करते हैं।
- शोध में 53.33 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि सिद्धयोग अपनाने वालों को स्पष्ट महसूस होता है कि महर्षि अरविन्द द्वारा बताई गई मनुष्य के दिव्य रूपान्तरण की सम्भावना सिद्धयोग द्वारा मूर्त रूप ले रही है।
- तथ्यों से ज्ञात हुआ कि तीन चौथाई से अधिक उत्तरदाताओं ने कहा कि सिद्धयोग का मूल उद्देश्य बीमारी और नशों से मुक्ति, मोक्ष प्राप्ति, मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण व ईश्वर प्राप्ति है।
- सिद्धयोग को हिन्दू धर्म के अलावा अन्य धर्मों के लोग कम अपना रहे हैं क्योंकि इसको वे हिन्दुओं का मानते हैं, अपने समाज के लोगों से डरते हैं व अपने धर्म के विरुद्ध मानते हैं साथ ही वे इस दर्शन को समझना भी नहीं चाहते हैं।
- शोध के अनुसार 96.66 प्रतिशत उत्तरदाताओं का मानना है कि गुरु सियाग के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् साधना में कोई अन्तर नहीं आयेगा, क्योंकि गुरुदेव की तस्वीर से ही

कुण्डलिनी जाग्रत होकर समस्त योगिक क्रियाऐं कराती है एवं गुरुदेव का चित्र कभी नहीं मरेगा।

- गुरु सियाग के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् भी उत्तरदाताओं एवं नये जुड़ने वाले साधकों में समस्त योगिक क्रियाऐं एवं लाभ यथावत हो रहे हैं।

सुझाव

प्रस्तुत शोध का मुख्य उद्देश्य समाज में व्याप्त समस्याओं में गुरु रामलाल सियाग के सिद्धयोग के माध्यम से परिवर्तन की संभावना को ढूँढना है। इसमें निम्न सुझाव सरकार को एवं आमजन को दिऐ जा सकते हैं।

- सिद्धयोग की सत्यता का पता लगाकर सरकार को आमजन के लाभ के लिए इसे विश्व के सम्मुख लाना चाहिए।
- एक ऐसी नीति सरकार द्वारा बनायी जानी चाहिए ताकि आमजन की समस्याओं का सिद्धयोग से समाधान हो सके।
- सभी संस्थानों, विद्यालयों में सिद्धयोग केन्द्र बनाया जाये ताकि इसकी जानकारी समस्त जन को मिल सके।
- इसके प्रचार व प्रसार की जिम्मेदारी भी सरकार को लेनी चाहिए ताकि यह आमजन तक पहुँच सके।
- इस शोध कार्य में देखा गया है कि सिद्धयोग एड्स/कैंसर, हेपटाइटिस, हीमोफिलिया जैसे प्राणघातक एवं जन्मजात रोगों को दूर करने में मददगार रहा है। सरकार को इसका वैज्ञानिक परीक्षण कराना चाहिए और लाभ पाये जाने पर मेडिकल पॉलिसी में सम्मिलित करना चाहिए।
- सिद्धयोग विश्व शान्ति, धार्मिक उन्माद, युवाओं में आंतकवाद एवं हिंसक प्रवृत्तियों, नस्लीय भेद/झगड़ों को रोकने में सक्षम हो सकता है। अतः सरकार को इसका विश्व स्तर पर प्रचार करना चाहिए।

वर्तमान समय का व्यक्ति अनेक समस्याओं से ग्रसित है, समाज में व्यक्ति मानसिक तनाव, संघर्ष, अवसाद, व शारीरिक रोगों से पीड़ित है। आधुनिक शिक्षा पद्धति से बच्चों में तनाव बढ़ता

जा रहा है। समाज का अधिकांश युवा वर्ग नशे में लिप्त है। इन सभी परेशानियों से मुक्ति दिलाने में गुरु सियाग के सिद्धयोग को प्रभावी पद्धति के रूप में पाया गया है।

आजकल चिकित्सक रोगी को योग की सलाह देते दिख रहे हैं, रोग दूर करने की दवा चिकित्सक दे रहे हैं लेकिन रोगी की प्रसन्नता, शान्ति, आत्मज्ञान, ईश्वर से साक्षात्कार, मोक्ष की प्राप्ति दवा से नहीं, बल्कि सिद्धयोग से हो सकती है जिसको प्राप्त करना रोगी व प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है तभी उसका रोग जड़ से दूर हो सकेगा और वह निरोगी होते हुए ईश्वर में विलीन होकर मोक्ष प्राप्त कर सकेगा।

प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार सिद्धयोग सामाजिक व्यवस्था की ही एक उपव्यस्था है अर्थात् गुरु रामलाल सियाग का सिद्धयोग एक ऐसा साधन बन रहा है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रुप से बनाया रखा जा सकता है।

प्रस्तुत शोध कार्य में मुख्य रुप से पाया गया कि गुरु रामलाल के सिद्धयोग की साधना समाज में परिवर्तन लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है क्योंकि आजकल की भागदौड़ वाली दिनचर्या में इसका अनुसरण आसानी से संभव है। इसकी उपादेयता शिक्षा, चिकित्सा एवं आध्यात्म के क्षेत्र में सकारात्मक रूप में बढ़ती हुई पायी गई है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति करना है इसकी प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियों की, चित्त की शुद्धि एवं उन पर नियंत्रण आवश्यक है और इसके बाद चित्त को स्थिर करना आवश्यक है यह सिद्धयोग से संभव हो सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि गुरु सियाग का सिद्धयोग समाज में वृहत स्तर पर परिवर्तन लाने का सशक्त माध्यम है जो कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित कर रहा है। यह सभी धर्मों, आयु वर्गों, आर्थिक स्थिति वालों के लिए उत्तम मार्ग निकल कर आया है एवं नीति निर्धारकों के लिए भी प्रस्तुत शोध उपयोगी हो सकेगा, इससे सम्बन्धित राष्ट्रीय स्तर पर नीति बनाई जा सकती है।

1

1

1

1

1

1

परिशिष्ट 'अ' साक्षात्कार – अनुसूची

(Interview Schedule)

साक्षात्कार अनुसूची

उत्तरदाता का परिचय

नाम :– ....

पिता / पति का नाम :– ....

आयु :– ....

धर्म :– ....

शैक्षणिक योग्यता :– ....

पता :– ....

....

फोन नं. 1 ....

2 ....(पारिवारिक सदस्य / मित्र का नम्बर)

व्यवसाय :– ....

परिवार की आर्थिक स्थिति :– निम्न वर्ग (BPL) / निम्न – मध्यम वर्ग /

मध्यम वर्ग (2.5 से 5 लाख वार्षिक) /

मध्यम – उच्च वर्ग / उच्च वर्ग

1. क्या आपको योग के बारे में जानकारी है ?

हाँ / नहीं

2. क्या आपको सिद्धयोग के बारे में जानकारी है ?

हाँ / नहीं

3. आपको सिद्धयोग व योग में क्या अन्तर लगता है ?

....

4. आप किन गुरु का बताया सिद्धयोग करते हैं ?

(अ) गुरुदेव रामलाल सियाग (ब) अन्य

5. आपको सिद्धयोग के बारे में कैसे पता चला ?

(अ) मित्र / रिश्तेदार द्वारा (ब) न्यूजपेपर द्वारा

(स) टी.वी. द्वारा (द) पेम्फलेट / बैनर द्वारा

(य) किसी अनजान व्यक्ति द्वारा (र) अन्य

6. आप सिद्धयोग से कब जुड़े ?

(अ) 2 वर्ष लगभग (ब) 5 वर्ष लगभग

(स) 10 वर्ष लगभग (द) 15 वर्ष लगभग

7. क्या सिद्धयोग सभी धर्मों के लोग कर सकते हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) ....

8. क्या सिद्धयोग धर्म परिवर्तन के लिये प्रेरित करता है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अन्य............................

9. क्या सिद्धयोग में मुस्लिम / ईसाई / अन्य धर्मों के अनुयाईयों को उनकी उपासना / भरोसा को छोड़ना पड़ता है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अन्य............................

10. आप सिद्धयोग से क्यों जुड़े ?

(अ) बीमारी के कारण (ब) जिज्ञासा के कारण

(स) आध्यात्मिक रुझान के कारण (द) नशे से मुक्ति हेतु

(य) पारिवारिक सदस्य की बीमारी के कारण (र) अन्य..........

11. क्या सिद्धयोग में यम/नियम आदि का पालन करना होता है ? क्या गुरु किसी प्रकार के बन्धन शिष्य पर लगाते हैं ? जैसे खास प्रकार का खान–पान, रहन–सहन, नशा करने को मनाही इत्यादि–

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) पता नहीं

12. आपने दीक्षा कैसे ली ?

(अ) गुरुदेव के सानिध्य में (ब) सी.ड़ी. द्वारा

(स) इन्टरनेट से वेबसाइट पर (द) टी.वी. द्वारा

(य) मोबाइल पर

13. क्या उपरोक्त विभिन्न प्रकार से ली गई दीक्षा में कोई अन्तर होता है ?

(अ) सभी दीक्षायें एक समान होती हैं

(ब) गुरु के सानिध्य में ली गई दीक्षा का प्रभाव ज्यादा होता है

(स) पता नहीं

14. यदि आप बीमारी के कारण सिद्धयोग से जुड़े तो क्या आपकी बीमारी बिना दीक्षा लिये मिटना आरम्भ हो गयी थी ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) शुरू से ही दीक्षा ले ली थी (द) ....

15. क्या आपको दीक्षा लिये बिना ही, केवल गुरुदेव के फोटो का ध्यान करने मात्र से ही योगिक क्रियायें शुरू हो गई थीं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं

16. सिद्धयोग आरम्भ करने के कितने दिन बाद आपको सकारात्मक परिणाम आने लगे थे ?

(अ) तुरन्त (ब) कुछ ही दिनों में (स) कुछ माह में (द) कुछ वर्षों में

17. क्या आप किसी असाध्य रोग से पीड़ित थे यदि हाँ तो किस या किन–किन रोगों से ?

....

....

18. आपकी बीमारी कैसे ठीक हुई ?

(अ) ध्यान, मंत्र, जाप एवं प्रार्थना से (ब) ध्यान, जाप, प्रार्थना व दवाओं

(स) ठीक नहीं हुई

19. यदि आप सिद्धयोग से किसी शारीरिक या मानसिक बीमारी के कारण जुड़े थे तो उसमें कितना सुधार आया ?

(अ) सुधार नहीं हुआ (ब) 25–50 प्रतिशत (स) 51–75 प्रतिशत

(द) 76–90 प्रतिशत (य) पूर्ण सुधार

20. आपकी बीमारी सिद्धयोग से जुड़ने के कितने समय बाद ठीक हो गई ?

(अ) 1 माह के अन्दर (ब) 1 से 6 माह के अन्दर (स) 6 माह से 1 वर्ष में

(द) 1 से 3 वर्ष में (य) ठीक नहीं हुई

21. क्या सिद्धयोग से आपकी ठीक हुई बीमारी ?

(अ) पूरी तरह ठीक हो गई

(ब) केवल कन्ट्रोल/नियंत्रण में है साधना कम होते ही वापस हो जाती है

(स) ठीक नहीं हुई

22. सिद्धयोग से जुड़ने के बाद क्या आप किसी नई असाध्य बीमारी से पीड़ित हुए हैं ? (जिसके लिये निरन्तर दवा लेनी होती है) यदि हाँ तो कौनसी ? उसके लिये आप क्या–क्या कर रहे हैं ?

....

....

23. साधना के दौरान होने वाली सामान्य बीमारियों (बुखार, जुकाम, उल्टी, दस्त आदि) में स्वास्थ्य लाभ हेतु आप क्या करते हैं ?

(अ) केवल साधना से ठीक हो जाती हैं (ब) साधना के साथ दवा भी लेनी पड़ती हैं

24. क्या आपकी शारीरिक प्रतिरोधक क्षमता ?

(अ) पहले से बढ़ी है (ब) कोई बदलाव नहीं आया वैसी ही है

(स) कम हुई है (द) कुछ कह नहीं सकते

25. सिद्धयोग नहीं करने वाले व्यक्तियों की तुलना में आप कितना बीमार पड़ते हैं ?

(अ) उनसे कम (ब) लगभग उतना ही

(स) उनसे ज्यादा

(द) बीमार तो उतना ही होते हैं पर ठीक जल्दी हो जाते हैं

26. क्या आप आध्यात्मिक बीमारी (देवी–देवता/नकारात्मक शक्तियों का प्रकोप) से पीड़ित रहे हैं ? यदि हाँ तो सिद्धयोग से आपको क्या लाभ हुआ–

(अ) आध्यात्मिक बीमारियों से पीड़ित नहीं थे

(ब) कोई फर्क नहीं पड़ा

(स) आध्यात्मिक बीमारी से मुक्त हो गये

(द) बीमारी नियंत्रण में हैं कभी–2 प्रकोप में प्रभावी हो जाता है

(य) अन्य.................

27. सिद्धयोग से मिलने वाला लाभ किन–किन बातों पर निर्भर करता हैं ?

(अ) मंत्र जाप एवं ध्यान पर | (ब) साधक के स्वप्रयास एवं लगन पर

(स) गुरु के प्रति श्रद्धा व समर्पण पर | (द) उपरोक्त सभी

28. सिद्धयोग से जुड़ने के पश्चात् अपने मन में आने वाले निराशा, नकारात्मक विचार, अवसाद (डिप्रेशन) में क्या अन्तर महसूस किया ?

(अ) नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं अवसाद(डिप्रेशन)जैसा भाव खत्म हो जाता है

(ब) थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय–समय पर आते रहते हैं

(स) अन्य

29. सिद्धयोग से आपको अनिद्रा, तनाव व अशांति में क्या फर्क महसूस हुआ ?

(अ) कोई फर्क नहीं पड़ा | (ब) आंशिक कम हो गयी

(स) पूर्ण आराम आ गया | (द) कभी कम कभी ज्यादा होते रहते हैं

(य) अन्य

30. सिद्धयोग से आपके स्वभाव में क्या परिवर्तन आया ?

(अ) कोई बदलाव नहीं | (ब) मन शांत रहता है

(स) गुस्सा कम आता है | (द) उत्साह बना रहता है

(य) चिड़चिड़ापन बढ़ गया | (र) सोच नकारात्मक हो गई

(ल) सकारात्मक बदलाव | (व) दूसरों के प्रति सोच बदल गई

(ज्ञ) अन्य......................

31. सिद्धयोग से शारीरिक व मानसिक कार्य क्षमता में क्या अन्तर आया ?

(अ) शारीरिक व मानसिक क्षमता में वृद्धि हुई

(ब) शारीरिक क्षमता में वृद्धि, जैसे थकान नहीं होती

(स) केवल मानसिक क्षमता में वृद्धि (द) कोई परिवर्तन नहीं

(य) शारीरिक व मानसिक क्षमता में वृद्धि नहीं हुई (र) अन्य................

32. क्या आपको भविष्य की परेशानियों का पूर्वाभास हो जाता हैं ?

(अ) हाँ (ब) कभी कभी होता है

(स) नहीं होता (द) अन्य..........................

33. क्या सिद्धयोग से आपके खानपान में परिवर्तन आया है ?

(अ) लहसुन प्याज छूट गया

(ब) मांसाहारी भोजन से अरुचि (यदि आप पूर्व में मांसाहारी थे तो)

(स) तेज मिर्च व मसालेदार भोजन से अरुचि

(द) कोई अन्तर नहीं आया

(य) अन्य (चाय भी छूट गयी)

34. क्या सिद्धयोग से आपकी मनोकामनायें–

(अ) सभी पूरी हो जाती हैं (ब) कुछ–कुछ पूरी होती हैं

(स) इसका सिद्धयोग से कोई लेना देना नहीं (द) अन्य (अब कुछ नहीं बची हैं)

35. सिद्धयोग का गृहस्थ जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा हैं ?

(अ) गृहस्थ जीवन ज्यादा सुखमय हो जाता है एवं पारिवारिक संघर्षो में कमी आती हैं

(ब) कोई फर्क नहीं पड़ता है

(स) पारिवारिक कलह / संघर्ष में वृद्धि हुई है (द) कम फायदा / लाभ हुआ

36. आपके परिवार में कितने व्यक्ति (पति, पत्नी, बच्चे) सिद्धयोग करते हैं ?

(अ) सभी (ब).............................

37. सिद्धयोग से आपके परिवार की आर्थिक स्थिति पर क्या फर्क पड़ा ?

(अ) कोई प्रभाव नहीं पड़ा (ब) आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ

(स) आर्थिक स्थिति बिगड़ गई (द) अन्य.................

38. क्या आपको प्रातिभज्ञान (ध्यान में किसी घटना का दिखना जो बाद में सत्य घटित होती है) की अनुभूति हुई है

(अ) अनुभूति नहीं हुई

(ब) हाँ, अक्सर होती है

(स) कभी–कभी हो जाती है

(द) समझ नहीं आता, कह नहीं सकते है

39. क्या आपको स्वयं में आध्यात्मिक प्रगति या ईश्वरीय शक्ति का अनुभव होता है ?
    (अ) हाँ (ब) नहीं (स) कह नहीं सकते
    (द) अनुभव होता है परन्तु कह नहीं सकते केवल महसूस कर सकते हैं
40. क्या आपको कुण्डलिनी–शक्ति एवं शरीर के विभिन्न चक्रों के स्तर का अहसास होता है ?
    (अ) हाँ (ब) नहीं (स) कभी–कभी महसूस होता है
41. सिद्धयोग से आपको किसी प्रकार की सिद्धि का अनुभव हुआ है ? यदि हाँ तो किस प्रकार की ?
    (अ) कोई अनुभव नहीं (ब) अन्य..........
42. क्या आपको कभी आत्मसाक्षात्कार (आत्मा को शरीर से अलग महसूस करना) की अनुभूति हुई है ?
    (अ) हाँ (ब) कुछ–कुछ महसूस हुआ (स) नहीं
43. आप मंत्र जाप –
    (अ) केवल गुरुदेव द्वारा बताया करते हैं (ब) दूसरे मंत्रो का जाप करते हैं
    (स) कभी–कभी त्यौहार आदि पर ही अन्य मंत्रों का पाठ करते हैं (द) अन्य.........
44. आप अनुमान से कुल मिलाकर प्रतिदिन कितना मंत्र जाप कर लेते हैं
    (अ) 1 से 3 घण्टे (ब) 3 से 5 घण्टे
    (स) कह नहीं सकते बीच–बीच में याद आता है तो कर लेते हैं
    (द) केवल ध्यान के समय ही करते हैं बाकी तो कभी–कभी कर पाते हैं
    (य) अब मंत्र जाप नहीं करते हैं (नाद सुनते हैं)
    (र) स्वतः ही नाम जप निरन्तर चलता रहता है करना नहीं पड़ता (अजपा)
45. आप प्रतिदिन कितनी बार ध्यान करते हैं ?
    (अ) एक बार (ब) दो बार
    (स) तीन बार (द) कोई निश्चित नहीं
46. आप ध्यान किस समय करते हैं ?
    (अ) केवल सुबह (ब) केवल शाम
    (स) सुबह–शाम का समय (द) कोई समय निश्चित नहीं

47. आप ध्यान कितने समय के लिये करते हैं ?

(अ) 5 से 10 मिनट (ब) 15 से 20 मिनट

(स) 30 मिनट (द) कोई समय निश्चित नहीं

48. आप जितने समय के लिये गुरुदेव से ध्यान हेतु प्रार्थना करते हैं, क्या उतने समय में ध्यान स्वतः हट जाता है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं

(स) लगभग वही समय होता है थोड़ा ऊपर–नीचे होता है

(द) ध्यान हेतु समय ही नहीं मांगते (य) अन्य..........

49. ध्यान के बाद आपको कैसा महसूस होता है ?

(अ) शांति, आराम का अहसास होता है

(ब) कोई खास फर्क नहीं पड़ता

(स) कभी अच्छा लगता है कभी कुछ नहीं लगता

(द) सिर भारी हो जाता है एवं अजीब सा अहसास होता है

(य) अन्य..........

50. सिद्धयोग से होने वाली योगिक क्रियायें–

(अ) स्वतः होती हैं एवं इन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है

(ब) स्वतः होती हैं एवं इनको रोका भी जा सकता है

(स) मन की सोच पर निर्भर है सोचते हैं तो क्रियाऐं होने लगती हैं

51. क्या ध्यान में आपको योगिक क्रियायें हुई हैं यदि हाँ तो तो वो–

(अ) हमेशा एक समान होती है (ब) प्रतिदिन अलग अलग होती हैं

(स) (बीमारी) व्याधि के अनुसार बदलती रहती हैं (द) कोई क्रिया नहीं होती

52. आपको ध्यान के दौरान –

(अ) समाधि का अनुभव हुआ है/होता है (ब) विचार शून्यता लगती हैं/लगी हैं

(स) विचार तीव्रता से चलते हैं (द) मन शांत हो जाता है

(य) मन नहीं लगता पर जानकर ध्यान में बैठते हैं

(र) उपरोक्त सभी स्थिति कभी–कभी आती हैं, ध्यान हमेशा अलग–अलग प्रकार का होता है

(ल) अन्य..........

53. आपको ध्यान में नील बिन्दु (तिल के आकार का नीला बिन्दु) दिखा/दिखता है

(अ) हाँ (ब) नहीं

54. ध्यान में आपको कभी प्रकाश दिखता है/दिखाई दिया यदि हाँ, तो किस रंग का ?

(अ) नीले रंग का (ब) सफेद रंग का

(स) पीले रंग का (द) प्रकाश नहीं दिखता

55. क्या ध्यान में आपको दिव्य गंध व कम्पन का अनुभव हुआ है ?

(अ) कम्पन का (ब) दिव्य गंध का

(स) दोनों का नहीं हुआ

56. आपको ध्यान में आसन, प्राणायाम, बन्ध लगते हैं ?

(अ) कभी लगे ही नहीं

(ब) जैसे योग पुस्तक में बताये जाते हैं, वैसे ही लगते हैं।

(स) अनेक प्रकार के होते हैं जिसका उल्लेख किसी योग पुस्तक में नहीं मिलता है

(द) अन्य ....

57. क्या ध्यान में आपको कोई अनुभूति हुई यदि हाँ तो –

(अ) नहीं होती है (ब) पता नहीं, समझ नहीं आता अनुभूति है भी या नहीं

(स) हमेशा सत्य होती है (द) कभी कभी सत्य होती है (य) अन्य ....

58. क्या ध्यान में गुरुदेव आपको आदेश/संकेत देते हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं

(स) कभी कभी लगता है पर यह निश्चित नहीं होता, कि यह आदेश/संकेत थे

(द) कह नहीं सकते

59. क्या आपको आये आदेश/संकेत –

(अ) आदेश/संकेत नहीं आते (ब) हमेशा पूर्ण सत्य होते हैं

(स) कभी कभी सत्य होते हैं (द) ज्यादातर सही होते हैं

(य) हमेशा या ज्यादातर गलत होते हैं (र) अन्य ....

60. क्या सिद्धयोग से जुड़ने से पहले आप नशे के आदी थे यदि हाँ तो कौनसे ?

(अ) शराब (ब) तम्बाकू , जर्दा

(स) बीड़ी, सिगरेट (द) अफीम, ड्रग्स (य) अन्य ....

61. आप जिस नशे के आदी थे उनमें से कौन–कौन से नशे छूटे व कौनसे नहीं छूटे ?

....

62. नशे छूटने में कितना समय लगा ?

(अ) 15 से 20 दिन में (ब) 1 से 6 माह में

(स) 1 से 2 वर्ष में (द) नहीं छूटा

63. क्या नशा छोड़ने हेतु –

(अ) थोड़ा प्रयास करना पड़ा (ब) आन्तरिक घृणा हुई एवं स्वतः छूट गये।

(स) मन की इच्छा का दमन करना पड़ा इच्छा तो रहती है।

64. नशा छूटते समय आपके के शरीर पर क्या प्रभाव पड़े ?

(अ) सुस्ती व चिड़चिडापन आया (ब) शरीर काम नहीं करता था बीमार जैसा हो गया

(स) कोई प्रभाव नहीं पड़ा (द) शरीर में स्फुर्ति, उल्लाहस आया

65. क्या आपको अजपा जाप (मंत्र का स्वतः ही शरीर द्वारा जपा जाना) आता है ?

(अ) हाँ (ब) कभी कभी महसूस होता है (स) नहीं

66. क्या आपको नाद (कानों में आने वाली निरन्तर ध्वनि) आता है यदि हाँ तो किस तरह का ?

(अ) नहीं आता है (ब) झींगुर की आवाज की तरह का

(स) चिड़िया की चहक जैसा (द) बांसुरी की आवाज जैसा (य) अन्य........

67. आपको नाद दीक्षा के कितने समय बाद आना शुरू हुआ ?

(अ) 1 वर्ष में (ब) 1 से 3 वर्ष में

(स) 3 वर्ष से अधिक वर्ष में (द) याद नहीं

68. क्या आपको नाद ?

(अ) दोनों कानों में समान आता है (ब) दाहिने कान में ज्यादा आता है

(स) बाँये कान में ज्यादा आता है

69. क्या आप नाद सुनने के साथ मंत्र जाप भी करते हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं

(स) जब नाद सुनाई नहीं देता, तब मंत्र जाप करते हैं।

70. क्या आपको बंध लगते हैं/लगे हैं यदि हाँ तो कौन–कौन से ?

(अ) नहीं लगे (ब) मूलाधार बंध (गुदा का ऊपर की ओर खिंचना)

(स) उड्डीयान बंध (पेट का अन्दर की तरफ खिंचना)

(द) जालंधर बंध (ठोड़ी का सीने को दबाना)

71. क्या आपको प्राणायाम (सांस का तेजी से अन्दर बाहर आना) हुये या होते हैं, यदि हाँ तो कितने प्रकार के–

(अ) नहीं हुऐ (ब) एक प्रकार का

(स) अनेक प्रकार के

72. क्या आपको कभी खेचरी मुद्रा (जीभ का उलटकर तालू को एक स्थान से दबाना व दिव्य रस टपकना) लगी है ?

(अ) नहीं लगी (ब) हाँ

(स) जीभ उलटती है परन्तु दिव्य रस नहीं टपकता

73. खेचरी मुद्रा लगने के बाद आप में क्या परिवर्तन आया ?

(अ) नहीं लगी (ब) बीमारी मिट गई

(स) शारीरिक प्रतिरोधक शक्ति बढ़ गई (द) लगी किन्तु कोई अन्तर नहीं आया

74. क्या सिद्धयोग से विद्यार्थियों में परीक्षा के प्रति डर/फोबिया अन्य विद्यार्थियों का तुलना में कम होता है ?

(अ) हाँ (ब) कोई विशेष अन्तर नहीं आता

(स) नहीं (द) कह नहीं सकते

75. क्या सिद्धयोग से विद्यार्थियों की स्मरण शक्ति एवं एकाग्रता बढ़ती है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) कोई खास प्रभाव नहीं

76. क्या सिद्धयोग ?

(अ) विज्ञान विरोधी है

(ब) विज्ञान की सच्चाई को भी मानता है

(स) विज्ञान के साथ ही अध्यात्म विज्ञान को भी प्रमाणित कर रहा है

77. क्या सिद्धयोग से ?

(अ) सामाजिक प्रतिष्ठा बढती है।

(ब) बीमारी में होने वाले चिकित्सकीय खर्चे में कमी आती है।

(स) नशों से मुक्ति मिलने से पारिवारिक कलह झगड़ो में कमी आती है।

(द) उपरोक्त सभी

78. सिद्धयोग का प्रभाव किन–किन क्षेत्रों में लाभ पहुँचा रहा है ?

(अ) अंधविश्वास मिटाने में

(ब) भूतप्रेत के प्रति विश्वास समाप्त करने में

(स) देवी–देवताओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने में

(द) ईश्वरीय शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति में (य) अन्य

79. सिद्धयोग से विभिन्न संस्कृतियों पर कैसा प्रभाव आ रहा है ?

(अ) सामाजिक एकता को बढ़ा रहा है (ब) सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ा रहा है

(स) धार्मिक एकता को बढ़ा रहा है (द) सामाजिक मूल्यों का उत्थान कर रहा है

80. क्या सिद्धयोग ?

(अ) विश्व शान्ति में मदद कर सकता है (ब) धार्मिक उन्माद को कम कर सकता है।

(स) युवाओं को आतंकवाद व हिंसक प्रवृत्तियों की ओर आने से रोक सकता है

(द) नस्लीय भेद/झगड़ो को रोकने में समक्ष है।

81. क्या सरकार को सिद्धयोग की सत्यता का पता लगाकर इसे आमजन के लाभ हेतु दुनियाँ के सामने लाना चाहिये ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अन्य

82. क्या सरकार को एड्स/कैंसर जैसे प्राणघातक रोगों पर सिद्धयोग के प्रभाव का वैज्ञानिक परीक्षण कराना चाहिये और लाभ पाये जाने पर भारत की मेडिकल पॉलिसी में इसे सम्मिलित करना चाहिये ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अन्य

83. क्या सिद्धयोग व्यक्ति को सन्यास मार्ग की ओर ले जाता है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अन्य

84. क्या सिद्धयोग में गुरु दक्षिणा का महत्व या विधान है ?

(अ) हाँ गुरु दक्षिणा देनी चाहिये (ब) नहीं देनी चाहिये

(स) अपने मन पर निर्भर करता है दें या ना दें (द) अन्य

85. क्या आप गुरु दक्षिणा देते हैं ? यदि हाँ तो कितनी ?

(अ) जितना मन में आता है (ब) आय का 10 प्रतिशत

(स) नहीं देते हैं (द) दीक्षा के समय ही दी थी

(य) अन्य

86. सिद्धयोग द्वारा कुण्डलिनी जागरण से क्या आपको कोई नुकसान/दुष्प्रभाव हुआ ?

(अ) नहीं (ब) मानसिक स्थिति बिगड़ गई (स) नींद नहीं आती (द) अन्य....

87. क्या आप साधना काल में पीर/फकीर/तांत्रिक/जादूटोना/लच्छे/ताबीज/देवी–देवताओं की सहायता लेते हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) कभी–कभी (द) अन्य

88. क्या आपके परिवार/मित्रों में से सिद्धयोग को किसी ने छोड़ा ? यदि हाँ तो आपके अनुसार से लोग क्यों छोड़ते हैं ?

(अ) जिस बीमारी या नशे के कारण जुड़ते हैं वह ठीक नहीं होते

(ब) आध्यात्मिक प्रगति का पता नहीं चलता

(स) दर्शन समझ नहीं आता

(द) धर्म के विरूद्ध लगता है

(य) सिद्धयोग से चमत्कार की उम्मीद रखते हैं

(र) साधना नहीं करना चाहते

(व) अन्य..................

89. क्या सिद्धयोग में गुरुदर्शन हेतु बार–बार जाना जरूरी है ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अपने मन पर निर्भर करता है (द) अन्य......

90. सिद्धयोग से जुड़ने के बाद आपके जीवन में आने वाली परेशानियों के पीछे क्या कारण रहता है ?

(अ) सिद्धयोग के कारण आती हैं (ब) अपने संस्कार के कारण आती हैं

(स) परेशानियाँ तो सब के जीवन में आती हैं इसका सिद्धयोग से कोई लेना–देना नहीं है

(द) अन्य..................

91. आपको सिद्धयोग में कोई कमियाँ लगती हैं ? यदि हाँ तो कौनसी ?

(अ) गुरु शिष्य को सम्मोहित कर देते हैं

(ब) शिष्य आत्म सम्मोहित हो जाता है

(स) यह व्यक्ति को गुरु की गुलामी की ओर ले जाता है

(द) आध्यात्मिक प्रगति का पता नहीं चलता है

(य) बीमारी पूर्णतया नहीं मिटती (शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक) (र) कोई कमी नहीं

92. कोई भी सिद्धयोग का तेजी से लाभ कैसे ले सकता है ?

(अ) निरन्तर मंत्र जाप से (ब) नियमित ध्यान से

(स) गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं समर्पण से (द) उपरोक्त सभी से (र) अन्य.............

93. क्या आप अपने अन्दर शारीरिक या मानसिक, कोई परिवर्तन महसूस करते है ?

(अ) हमेशा एक शक्ति का एहसास जो हर कदम पर मदद करती है।

(ब) सोचने व समझने का तरीका बदल गया

(स) बीमार नहीं होते, अगर होते हैं तो जल्दी ठीक हो जाते हैं

(द) सात्विक वृत्ति हो गई है

(य) अधिकांश कार्य आत्मबल एवं प्रार्थना से हो जाते हैं

(र) कोई अन्तर नहीं दिखता दूसरे की तुलना में

(ल) कुछ कह नहीं सकते (व) अन्य..................

94. क्या आप सिद्धयोग से संतुष्ट हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) तलाश जारी है

(द) अभी निर्णय नहीं लिया (य) अन्य....

95. आपके परिजन/मित्र जो काफी समय बाद आप से मिलते हैं वो आपको पहले से बदला महसूस करते हैं ?

(अ) आत्म विश्वास में बढ़ोतरी (ब) प्रसन्नता एवं आनन्द में वृद्धि

(स) सोचने के ढंग में बदलाव (द) उनको बदलाव नहीं लगता (य) अन्य......

96. क्या आपको लगता है महर्षि अरविन्द द्वारा बताई मनुष्य के दिव्य रूपान्तरण की संभावना सिद्धयोग द्वारा मूर्त रूप ले रही हैं ?

(अ) हाँ (ब) नहीं (स) अभी कहा नहीं जा सकता

(द) पता नहीं (य) अन्य..................

97. इतने लाभ के बावजूद सिद्धयोग तेजी से क्यों नहीं फैल पा रहा है ?

(अ) मंत्र जाप एवं साधना करना कठिन है (ब) परिणाम बहुत कम व धीरे मिलता है

(स) आज की व्यवस्था व सांसारिकता के चक्कर में बताई गयी साधना मुश्किल है

(द) श्रद्धा एवं समर्पण रखना कठिन है

(य) लोगों को भरोसा नहीं होता क्योंकि सब जगह लोगों को ठगा जाता है

(र) सही ढंग से प्रचार नहीं हो पा रहा है

(ल) लोगों तक सही जानकारी नहीं पहुँच पा रही है

98. सिद्धयोग का मूल उद्देश्य क्या है ?

(अ) बीमारी और नशों से मुक्ति (ब) मोक्ष प्राप्ति

(स) मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण (द) ईश्वर प्राप्ति (य) उपरोक्त सभी

99. क्या आपको लगता है कि सिद्धयोग को अपनाने से –

(अ) अपने साथियों की तुलना में आप सांसारिक रूप से उनसे पीछे हो गये

(ब) लम्बी साधना के बाद भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो रही है

(स) सांसारिकता में मन नहीं लगता (द) कुछ समझ नहीं आता आगे क्या होगा

(य) एक डिप्रेशन व निराशा जैसा भाव आता है (र) ऐसा कुछ नहीं सब ठीक है

100. हिन्दू धर्म के अलावा अन्य धर्म के ज्यादातर लोग सिद्धयोग को क्यों नहीं अपना रहे हैं

(अ) वो इसे हिन्दूओं का मानते हैं (ब) इसे अपने धर्म के विरूद्ध मानते हैं

(स) वो अपने समाज के लोगों से डरते हैं (द) वो इस दर्शन को समझना नहीं चाहते

(य) उपरोक्त सभी

101. सिद्धयोग अपनाने के पश्चात् धार्मिक वैमनस्य के प्रति क्या मत है ?

(अ) पहले जैसा है (ब) अन्य धर्म के लोगों से प्रेम बढ़ा है

(स) अन्य धर्म के लोगों से वैमनस्य बढ़ा है

102. गुरुदेव रामलाल सियाग के ब्रह्मलीन होने के पश्चात् साधना पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

(अ) साधना खण्डित हो जायेगी (ब) साधना का प्रभाव कम हो जायेगा

(स) साधना में कोई अन्तर नहीं आयेगा क्योंकि गुरुदेव की तस्वीर से ही योग होता है एवं गुरुदेव का चित्र कभी नहीं मरेगा

(द) गुरुशक्ति किसी अन्य शिष्य (उत्तराधिकारी) के माध्यम से काम करेगी

103. क्या सिद्धयोग से समाज में व्याप्त विभिन्न संघर्षों में कमी आई है ?

(अ) हिंसात्मक वृत्ति में कमी होती है

(ब) वैयक्तिक संघर्ष में कमी आती है (घृणा/द्वेष)

(स) प्रजातीय संघर्ष (रंग/नस्ल भेद) में कमी आती है

(द) वर्ग संघर्ष (आर्थिक/सामाजिक असमानता) में कमी (य) राजनीतिक संघर्ष में कमी

104. क्या सिद्धयोग अपनाने से छूआछूत की भावना ?

(अ) भावना पहले जैसी है (ब) कुछ खत्म हुई है (स) पूर्ण रुप से खत्म हो गयी है

105. क्या सिद्धयोग त्यौहार मनाने की रूचि को प्रभावित कर रहा है ?

(अ) अपने धर्म के त्यौहारों का मनाने में रूचि कम हुई है।

(ब) सिद्धयोग से जुड़े पर्वों की ओर रुझान बढ़ा है।

(स) सभी धर्मों के त्यौहार मनाने में रुझान बढ़ा है।

(द) कोई परिवर्तन नहीं आया

सिद्धयोग से आप को क्या लाभ हुआ ?

....

आपके जीवन की विशेष घटनाऐं एवं अनुभूतियाँ जो सिद्धयोग से जुड़ने के बाद आपको हुई ?

....

क्या आप किसी मुस्लिम/ईसाई/सिक्ख अन्य अल्पसंख्यक समुदाय के व्यक्ति को जानते हैं जो सिद्धयोग कर रहे हैं ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

क्या आपके किसी परिचित की आध्यात्मिक बीमारी ठीक हुई ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

क्या आपके किसी परिचित की एड्स, कैंसर जैसी बीमारी ठीक हुई ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

क्या आपके किसी परिचित के नशे सिद्धयोग से छूटे ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

क्या कोटा जिले के ग्रामीण क्षेत्र में आपके परिचित/रिश्तेदार सिद्धयोग कर रहे हैं ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

कोटा शहर में आपके परिचित जो सिद्धयोग कर रहे हैं ? (नाम, पता, फोन नं. बतायें)

....

संदर्भ ग्रंथ सूची

BIBLIOGRAPHY[1]

1

संदर्भ ग्रंथ सूची‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘‘

BIBLIOGRAPHY

Alter, Joseph S., Yoga and Fetishism: Reflections on Marxist Social Theory, American journal of Sociology, vol, 12, no.4, December, P763-78.

Aravamudam, S. 2007. Guru English: South Asian Religion a Comopolitian Language. Princetion University Press.

Acri, Andrea. 2011. “Dharma Patanjala: A Saiva Scripture from Ancient Java: Studied in the Light of Related Old Javanese and Sanskrit Texts.” PhD diss., Leiden University.

Agni Purana. See Upadhyaya 1966.

Aithal, Parameswara. 1972. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts. Vol. 8, Samkhya, Yoga, Vaisesika, and Nyaya. Chennai: Adyar Library and Research Centre.

Aiyangar, K. V. Rangaswami. 1945. Krtyakalpataru of Bhatta Laksmidhara. Vol. 14. Vadodara: Oriental Institute.

Banerjea, A.K. 1990. Philosophy of Gorakhnath: with Goraksha - Vacana – sangraha .New dehli: Motilal Banarsidass.

Banerji, S.C. 1995. Studies in origion and Development of Yoga, Calcutta: Punthi Pustak.

Bailey, Alice. 1927. The Light of the Soul, Its Science and Effect: A Paraphrase of the Yoga Sutras of Patanjali. New York: Lucis.

Ballantyne, J[ames] R., trans. 1852. The Aphorisms of the Yoga Philosophy of Patanjali with Illustrative Extracts from the

Commentary by Bhoja Raja. Allahabad: Presbyterian Missionary Press.

Ballantyne, J[ames] R., and Govinda Shastri Deva. 1983. The Yoga Philosophy: Being the Text of Patanjali with Bhoja Raja's Commentary. Mumbai: Bombay Theosophical Fund, 1885. Reprinted as Yoga-Sutras of Patanjali with Bhojavrtti Called Rajamartanda (in English Translation). Delhi: Parimal Publications (1983 cited edition).

Bangali Baba, trans. 1976. Yogasutra of Patanjali with the Commentary of Vyasa. 1943; Delhi: Motilal Banarsidass (1976 cited edition).

Bayly, Christopher A. 1993. Rulers, Townsmen, and Bazaars: North Indian Society in the Age of British Expansion, 1770–1870. Cambridge: Cambridge University Press, 1983. Indian reprint, Delhi: Oxford University Press (1993 cited edition).

Benavides, Gustavo. 2001. "Jakob Wilhelm Hauer, or Karmayoga as a Cold War Weapon." In The Academic Study of Religion during the Cold War, edited by Iva Doležalová, Luther H. Martin, and Dalibor Papoušek, 225–38. New York: Peter Lang.

Bernasconi, Robert. 2003. "With What Must the History of Philosophy Begin? Hegel's Role in the Debate on the Place of India within the History of Philosophy." In Hegel's History of Philosophy, edited by David A. Duquette, 35–49. Albany: State University of New York Press.

Besant, Annie. 1907. "An Introduction to Yoga." Found at http://www.anandgholap.net/Introduction_To_Yoga-AB.htm.

Bhagavad Gita. See Van Buitenen 1981.

Connolly, P. 2007. A Student´s Guide to history & philosophy of Yoga. London: Equinox.

Coyte Ellen Mary, Gilbert Peter and Vicholls Vicky. 2007. Spirituality Values and Mental Health Jewels for the Journey, Jessicakingsley: Public Ltd.

Choi Kyung-Eun, Rampp Thomas, Felix J. Saha, Gustav J. Dobos and Frauke Musail (July 2011).

Devis, C. 2005. The Yogic exercises of 17th century Sufis.In: Theory and Practice of Yoga k Jacobsen (ed.) Leiden: Brill: 303-316.

Dahnhardt, Thomas. 2002. Change and Continuity in Indian Sufism: A Naqshbandi-Mujaddidi Branch in the Hindu Environment. New Delhi: D. K. Printworld.

Dasgupta, Surendranath. 1975. A History of Indian Philosophy. Vol. 1. Cambridge: Cambridge University Press, 1922; Delhi: Motilal Banarsidass (1975 cited edition).

Dass, Khemraj Shrikrishan, ed. 1984. Matsya Purana. Mumbai: Sri Venkateshwar Steam Press, 1923; reprint, New Delhi: Meharchand Lachhmandas (1984 cited edition).

Davis, Craig. 2005. "The Yogic Exercises of the 17th Century Sufis." In Theory and Practice of Yoga: Essays in Honour of Gerald James Larson, edited by Knut Jacobsen, 303–16. Leiden: Brill.

De Michelis, Elizabeth. 2004. A History of Modern Yoga: Patañjali and Western Esotericism. New York and London: Continuum.

Descartes, René. 1641. Meditationes de prima philosophia: In qua dei existentia et anima immortalitas demonstrantur. Paris: Michel Soly.

Desikachar, Kausthub. 2005. The Yoga of the Yogi: The Legacy of T. Krishnamacharya. Chennai: Krishnamacharya Yoga Mandiram.

Desikachar, T.K.V. 1982. The Yoga of T. Krishnamacharya. Chennai: Krishnamacharya Yoga Mandiram.

———. 1997. Sri Krishnamacharya the Purnacarya. New York: Aperture.

———. 1999. The Heart of Yoga: Developing a Personal Practice. Rochester, VT: Inner Traditions International.

———. 2011. Yoga Makaranda: The Nectar of Yoga. Chennai: Krishnamacharya Healing and Yoga Foundation.

Desikachar, T.K.V., and R. H. Cravens. 1998. Health, Healing, and Beyond: Yoga and the Living Tradition of Krishnamacharya. New York: Aperture.

Deva, Guruling, ed. 1936. Virasaivanandacandrika srimannarnajana Maritondarya Sivayogiviracita. Hubli: Somashekhar Shastri.

Devibhagavata Purana. See Simha 1986.

Dutt, Romesh Chunder. 1889. A History of Civilization in Ancient India. Vol. 1. Kolkata: Thacker, Spink.

Eliade, M. 1963. Yoga Immortality and freedom Willard trask (trans.) Princeton, NJ: Princeton University Press.

Goodde, Hatt. 1952. Method in Social Research MC Grew Hill: Kogakusha Ltd: 209.

Halbfass, Wilhelm. 1988. India and Europe: An Essay in Understanding. Albany: State University of New York Press.

Hall, Fitzedward. 1859. A Contribution towards an Index to the Bibliography of the Indian Philosophical Systems. Kolkata: C. B. Lewis.

Hara, Minoru. 2002. Pasupata Studies. Edited by Jun Takashima. Vienna: Institut für Südasien-, Tibet-, und Buddhismuskunde.

Hartranft, Chip. 2003. The Yoga-Sutra of Patanjali: A New Translation with Commentary. Boston: Shambhala.

Hathayoga Pradipika. See Iyangar 1972.

Hauer, J[akob] W[ilhelm]. 1932. Der Yoga als Heilweg nach den indischen Quellen dargestellt. Stuttgart: W. Kohlhammer.

———. 1958. Der Yoga: Ein Indischer Weg zu Selbst. Stuttgart: W. Kohlhammer.

Heehs, Peter. 2008. The Lives of Sri Aurobindo. New York: Columbia University Press.

Herring, Herbert, ed. and trans. 1995. G.W.F. Hegel's On the Episode of the Mahabharata Known by the Name Bhagavad-Gita by Wilhelm von Humboldt, Berlin 1826. New Delhi: Indian Council of Philosophical Research.

Kawamura, Leslie S. 2004. "Paramita." In Encyclopedia of Buddhism. Vol. 2, 631–32. New York: Thomson Gale.

Kearns, Cleo McNelly. 1987. T. S. Eliot and Indic Traditions: A Study in Poetry and Belief. Cambridge: Cambridge University Press.

Keith, Arthur Berriedale. 1932. "Some Problems of Indian Philosophy." Indian Historical Quarterly 8 (3): 425–41.

Killingly, D. H. 1990. "Yoga-Sutra IV, 2–3 and Vivekananda's Interpretation of Evolution." Journal of Indian Philosophy 18: 151–79.

King, Richard. 1999. Indian Philosophy: An Introduction to Hindu and Buddhist Thought. Edinburgh: Edinburgh University Press.

Kipling, Rudyard. 1901. Kim. New York: Doubleday, Page.

Kochumuttom, Thomas A. 2010. "A Christian Reading of Patanjali's Yoga-Sutra." Journal of Dharma 35 (3): 233–57.

Koelmans, Gaspar M. 1970. Patanjali's Yoga: From Related Ego to Absolute Self. Pune: Papal Athenaeum.

Koestler, Arthur. 1945. The Yogi and the Commissar. New York: Macmillan.

———. 1960. The Lotus and the Robot. London: Hutchinson.

Kolff, Dirk A. 1990. Naukar, Rajput, and Sepoy: The Ethnohistory of the Military.

Larsen, James Gerald and Jacobsen, A. Kunt. 2005. Theory and Practice of Yoga, Konim Klijke brill, Netherland, p4.

Miller, B. 1996. Yoga: Discipline of freedom, The Yoga Sutra Attributed to Patanjali. Berkeley,CA: University of California Press.

Nagla, B.K., Indian Sociology thought, Rawat, Jaipur, 2008, PP104-106A.

Narasimhan, M., M. A. Jayashree, and Mark Singleton. 2011. "Yogamakaranda of T. Krishnamacharya." In Yoga in Practice, edited by David Gordon White, 337–52. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Narayanan, Kirin. 1993. "Refractions of the Field at Home: American Representations of Hindu Holy Men in the 19th and 20th Centuries." Cultural Anthropology 8 (4): 476–509.

O'Donnell, William H., ed. 1994. W. B. Yeats: Later Essays. New York: Scribner.

Oman, John Campbell. 1908. Cults, Customs, and Superstitions of India. London: T. Fisher Unwin.

Princh, W. 2006. Warrior Ascetics and Indian Empires. Cambridge: Cup.

Rochford, E.B. 2007. Hare Krishna Transformed. Newyork: University Press.

Radhakrishnan, S. 1973. Indian Philosophy. Princeton, NJ: Princeton University Press.

Raghavan, V. 1980. Abhinavagupta and His Works. Varanasi: Chaukhambha Orientalia.

Rajneesh, Bhagwan. 1984. Yoga: The Science of the Soul. New York: St. Martin's Griffin.

Samuel, G. 2008. The Origion of Yoga and Tantra. Cambridge: Cambridge University Press.

Taimni, I. K. 1965. The Science of Yoga: A Commentary on the Yoga-Sutras of Patanjali in the Light of Modern Thought. Chennai: Theosophical Publishing House.

Tantraloka of Abhinavagupta. See Dwivedi and Rastogi 1987.

Vander Veer, P. 2001. Imperical Encounters: Religion and Mordinity in Indian and Britain Oxford: Ricenton University Press.

White,D.G. (ed.) (fortcoming). Yoga in Practice Princeton Readings in Religion: Pricenton,NJ. Pricenton Press.

Woods, J.H. 1914. The Yoga – System of Patanjali Cambridge, MA: Harvard University Press.

Young, P.V. 1968. Scientific Social Survey and Research New Dehli: Prentice hall of India PVT. Limited.

Yadav, Kripal Chandra. 1976. Autobiography of Swami Dayanand Saraswati. New Delhi: Manohar Book Service.

Yamashita, Koichi. 1994. Patanjala Yoga Philosophy with Reference to Buddhism. Kolkata: Firma KLM Private Limited.

Journals & Bulletine

SAGE journal

Journal : Annals of Behaviour Medicine

Journal : Applied psychophysiology & Biofeedback Journal : Pain

Journal : Thorax

Journal : British Medical Journal – BMJ

Journal : Clinical Child Psychology & Pschyiatry

Journal : Psychology of women quarterly

Journal : Journal of Affective Disorder

Journal : Chicago American Journal of Sociology

IJOY (International Journal of Yoga)

IJHC (The International Journal of Healing and Caring)

Explore : The Journal of Science and Healing

Asian Journal of Psychiatry

Adam Burke, Explore: The Journal of Science and Healing, july 2012: 237-242

Bharati, A. 1970. The Hindu Ranaissance. In: The journal of Asian Studies 29(2): 267-287.

Benar,J.anieal. 2001. Prayer and Spiritual Healing in Medical Setting, International Journal of Healing and Caring, Vol-1(1).

Ehud Miron, An dov bar, Avshalom Strulov, Here and Now : "Yoga in Israeli Schools," 2010. Vol 3: 42-47.

Fletcher, Ronald. 2000. The Making of Sociology A study of Sociological Theory, Rawat, Jaipur and New Delhi, Vol. 1: 395-415.

Leai j. 2009. "Libaration or Limitation? Understanding lyngar Yoga as a Practice of the Self ."Body and Society 15(3) :71-92.

Pye, Michael (ed.), frankeeidth (co-ed.), 2010 Morburg Journal of Religion, vol. 15: 3.

Nadkarni, M.V., Hinduism and caste, Sociology bulletin, Vol.57, no.3, P403.

Mehta Puravi and Sharma Manoj. 2010. Yoga as a Complementary Therapy for Clinical Depression,:156-157.

Varambally Shivarama, Gangadhar B.N., Yoga: A Spiritual Practice With Therapeutic Value in Psychiatry, (NIMHANS), Bangalore, 2012,Vol 5, lssue2, P 189.

John D.,Agee, Sharon Danoff-Burg and Christoffer A.Grant. 2009. Comparing brief Stress Management Courses in a Community Sample: Mindfulness Skills & Progressive Muscle Relaxation,5(2): 104-109 Sociological Bulletin. Vol.57(3) Sept.-Dec.,Indian Sociological Society, New Delhi, 2008.

S.Alter, joseph, Yoga and Fetishism: Reflections on Marxist social Theory, American Journal of Sociology, Vol, 12, no.4, December, P763-78.

Smith Richard Benjamin, Body, Mind and Spirit ? Towards an Analysis of the Practice of Yoga, 2007, P25-46.

The Time of India, Jaipur, Thursday, Dec.20,2012.

Websites

www. Uni-marburg.de

www. Mahayoga.org

http://hp.wikipidia.org/s/2f2

www.the –comforter.org.

http:hi.wikipidia.org/s/16/jl.

yogi santosh nath.com

yogigorkhnath.org

www.the-comforter.org

RESEARCH ANALYSIS

Academic Journal

ISSN No. 2278-375X

Vol. VI No. 2 July-December 2016

Editor

Mrs. Madhur Shrivastav

CONTENTS

समग्र स्वास्थ्य संरक्षण में सिद्धयोग की भूमिका : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

- नाज़िया खिलजी

आज सम्पूर्ण जगत में निराशा, आक्रोश, अशांति और असंतोष का बोलबाला है। मनुष्य इन सब से इस तरह से घिर चुका है, कि वह जगत के कल्याण की सोच भी नहीं पा रहा है। हमारे चारों ओर प्रकृति का संकट भी मंडरा रहा है, इन सब से निजात पाने के लिए इस समय हमें जीवन में शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक संतुलन की जरूरत है। उपरोक्त त्रिक के समन्वय को स्थापित करने के लिए योग अति आवश्यक है।

आधुनिक जगत में योग का महत्त्व बढ़ गया है। इसके बढ़नें का कारण व्यस्तता है जबकि मन और शरीर अत्यधिक तनाव, वायु प्रदूषण तथा भागम-भाग के जीवन में रोग ग्रस्त हो चला है। आधुनिक व्यक्ति का चित या मन अपने केन्द्र से भटक गया है। अंतर्मुखी और बहिर्मुखी होने में संतुलन नहीं रहा है। आध्यात्मिक उन्नति या शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए योग की आवश्यकता व महत्त्व को प्रायः सभी दर्शनों एवं भारतीय सम्प्रदायों ने एकमत व मुक्त कंठ से स्वीकारा है। योग पूर्ण रूप से प्रायोगिक विज्ञान है। योग जीवन जीने की कला है। योग एक पूर्ण चिकित्सा पद्धति है।

योग की अवधारणा

ऐसा माना जाता है कि जब से सभ्यता शुरु हुई है तभी से योग किया जा रहा है। योग की उत्पत्ति हजारों साल पहले हुई थी, पहले धर्मों या आस्था के जन्म लेने के काफी पहले हुई थी। योग विद्या में शिव को पहले योगी या आदि योगी तथा पहले गुरु या आदि गुरु के रुप में माना जाता है।

योग शब्द संस्कृत की "युज" धातु से बना है, जिसका अर्थ है समाधि और मिलान। महर्षि व्यास ने योग को समाधि वाचक माना है। जिसमें मन को भलीभाँति समाहित किया जाये उसे समाधि और आत्मा का परमात्मा से मेल को योग कहा है।

योग का आरम्भ

विश्व के प्राचीनतम साहित्य वेद में सर्वप्रथम योग का संकेत मिलता है वेद का मुख्य प्रतिपाधविषय ब्रह्म ज्ञान ही था। अन्य कर्म तो बाह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये थे। योग के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय लुप्त हैं) पतंजलि मुनि ने योग दर्शन का निर्माण किया।

सृष्टि के आरम्भ काल से ही योग क्रिया का प्रचलन था योग के प्रथम वक्ता के बारे में याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है- **'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'** अर्थात हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं इससे पुरातन कोई नहीं।

भारत में योग का स्थान

भारत की इस विश्व को सबसे बड़ी देन "योग" है। योग भारतीय संस्कृति का मूल है, एक सर्वोत्तम उपासना पद्धति है, मानव जीवन के लिये एक आदर्श आचार संहिता है, योग पवित्रतम जीवन पद्धति के अतिरिक्त जीवन का सर्वोच्च और अंतिम लक्ष्य है।

भारत के ऋषि मुनियों और सन्त महात्माओं ने सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में गूढ़ चिन्तन किया धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे

कि मानव की बहुर्मुखी उन्नति तभी संभव है जब वह लौकिक उन्नति के साथ साथ पारलौकिक उन्नति की ओर भी अग्रसर हो।

सिद्धयोग का आरम्भ

सिद्धयोग परम्परा झिलमिलाते मणिदीपों की एक लड़ी है, जो पुरातन काल से अब तक अज्ञान और मोह के अन्धकार को परास्त करती आयी है। वे मणिदीप अन्नत कोटि सूर्यों की प्रभा वाले, सर्वज्ञ, सर्वक्षम योगी हैं, जो सिद्ध कहलाते हैं। उनकी एक परम्परा है, जो आदि शिव से आरम्भ होकर अनेक सिद्धों में प्रवाहित होती हुई आज भी उतनी ही वरदायिनी हैं। सिद्धों की इस अखण्ड परम्परा के अन्तर्गत श्रीगुरु अपने विषय को इस परम्परा की भाक्ति व अधिकार सोंपते आये हैं।

सिद्धयोग नाथमत के योगियों की देन है इसमें सभी प्रकार के योग जैसे भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, लययोग, भावयोग, हठयोग आदि सम्मिलित हैं इसलिए इसे पूर्ण योग या महायोग भी कहते हैं।

सिद्धयोग क्या है?

यह योग (सिद्धयोग) नाथमत के योगियों की देन हैं इसमें सभी प्रकार के योग जैसे भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, लययोग, भावयोग, हठयोग आदि सम्मिलित हैं, इसलिए इसे पूर्ण योग या महायोग भी कहते हैं। इससे साधक के त्रिविध ताप, आदि दैहिक (फिजीकल), आदि भौतिक (मेन्टल), आदि दैविक (स्प्रीचुअल) नष्ट हो जाते हैं तथा साधक जीवनमुक्त हो जाता है। महर्षि अरविन्द ने इसें "पार्थिव अमरत्व" Territorial Immortality की संज्ञा दी है। पातंजलि योग दर्शन में साधनापाद के 21वें श्लोक में योग के आठ अंगो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का वर्णन है। बौद्धिक प्रयास से इस युग में उनका पालन करना असम्भव है। इसलिए इतने महत्वपूर्ण दर्शन के बारे में नगण्य लोगों को ही जानकारी है। परन्तु गुरु शिष्य परम्परा में शक्तिपात– दीक्षा से कुण्डलिनी जाग्रत करने का सिद्धान्त है। सद्गुरुदेव साधक की शक्ति (कुण्डलिनी) को चेतन करते हैं। वह जाग्रत कुण्डलिनी साधक को उपर्युक्त अष्टांगयोग की सभी साधनाएं स्वयं अपने अधीन करवाती है। यह शक्तिपात केवल समर्थ सद्गुरु की कृपा द्वारा ही प्राप्त होता है इस शक्तिपात के फलस्वरूप ध्यान के दौरान ही साधक को समस्त प्रकार की योगिक क्रियाऐं, आसन, बन्ध, प्राणायाम, मुद्राऐं स्वतः ही होने लगती हैं इसमें साधक किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। इसलिए इसे सिद्धयोग कहा जाता है जबकि अन्य सभी प्रकार के योग मानवीय प्रयास से होते हैं।

सिद्धयोग क्यों आवश्यक है ?

दुनियाँ भर में बड़े शहरों तथा छोटे कस्बों में रहने वाले अनगिनत लोग तनावपूर्ण जीवन जीते हुए, किसी ऐसी सर्वरोगनाशक औषधि की तलाश में रहते हैं जो उन्हें तनाव तथा सभी प्रकार की बीमारियों से, जिन पर वर्तमान औषधियाँ कारगर नहीं होती, छुटकारा दिला सके, कुछ लोग सनातन सत्य तथा परमात्मा की हार्दिक तलाश में हैं। इसमें से बहुत से लोग अपने इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योग अपनाते हैं कुछ समय बाद धीरे धीरे उनका उत्साह कमजोर पड़ना आरम्भ हो जाता है क्योंकि उनमें से अधिकांश यह जान जाते हैं कि या तो समय की कमी या फिर कार्य के अनियमित घन्टे होने के कारण रोजाना योग के थका देने वाले खानपान एवं रहन सहन सबंधी नियम अधिक समय तक बनाये रखना आसान नहीं है। इसके अलावा योग की विभिन्न क्रियाऐं जैसे आसन, बन्ध, मुद्रायें, प्राणायाम आदि बहुत से लोगों के लिये करना आसान

नहीं है, अधिकांश केसेज में गुरु अथवा योग टीचर की निगरानी के बिना आरम्भ में योग की मुद्रायें करने का परामर्श नहीं दिया जाता हैं। जिनके पास समय व धन की कमी है उनके लिये योग की कक्षाओं में जाना या तो अव्यवहारिक होता है या अधिक खर्चीला होता है। क्या इसका यह मतलब है कि योग जनसाधारण के लिये नहीं है ? जिनके पास या तो समय की कमी है या जो साधन सम्पन्न नहीं है, जो नियमानुसार योग के प्रशिक्षण में पहुंच सकें। सामान्य उत्तर होगा, हाँ योग सबके लिये सम्भव नहीं है।

ध्यान (दीक्षा प्राप्त करने से पहले)

वे लोग, जिन्होंने गुरु सियाग से अभी दीक्षा प्राप्त नहीं की है –

1 सर्वप्रथम आरामदायक स्थिति मे किसी भी दिशा की ओर मुँह करके बैठें।

2 दो मिनट तक सदगुरुदेव श्री रामलाल जी सियाग के चित्र को खुली आँखों से ध्यानपूर्वक देखें।

3 यदि आप किसी बीमारी, नशे या अन्य परेशानी से पीड़ित हैं तो गुरुदेव से, उससे मुक्ति दिलाने हेतु अन्तर्मन से करुण पुकार करें।

4 मन ही मन 15 मिनट के लिये गुरुदेव से अपनी शरण में लेने हेतु प्रार्थना करें।

5 इसके बाद आंखें बन्द करके आज्ञा चक्र (भोंहों के बीच) जहाँ बिन्दी या तिलक लगाते हैं वहाँ पर गुरुदेव के चित्र का स्मरण करें।

6 इस दौरान मन ही मन गुरुदेव–गुरुदेव शब्द का मानसिक जाप, बिना जीभ या होंठ हिलाये करें। कोई भी ईश्वरीय नाम, अपने धर्म के अनुसार, जैसे राम–राम, कृष्ण–कृष्ण, अल्लाह–अल्लाह, वाहिगुरु–वाहिगुरु, यीशु–यीशु का भी मानसिक जाप कर सकते हैं।

7 ध्यान के दौरान शरीर को पूरी तरह से ढीला छोड़ दें, आँखें बन्द रखें, चित्र ध्यान में आये, या न आये उसकी चिन्ता न करें। मन में आने वाले विचारों की चिन्ता न करते हुए मानसिक जाप करते रहें।

8 ध्यान के दौरान कम्पन, झुकने, लेटने, रोने, हंसने, तेज रोशनी या रंग दिखाई देने या अन्य कोई आसन, बंध, मुद्रा या प्राणायाम की स्थिति बन सकती है, इससे घबरायें नहीं, इन्हें रोकने का प्रयास न करें। यह मातृ–शक्ति कुण्डलिनी शारीरिक रोगों को ठीक करने के लिये करवाती है।

9 समय (15 मिनट) पूरा होने के बाद आप ध्यान की स्थिति से स्वतः ही सामान्य स्थिति में आ जायेंगे।

10 योगिक क्रियायें या अनुभूतियाँ न होने पर भी इसे बन्द न करें। रोजाना सुबह शाम खाली पेट ध्यान करने से कुछ ही दिन बाद अनुभूतियाँ होना प्रारम्भ हो जायेंगी।

ध्यान कर सकते हैं –

- कोई भी– किसी भी धर्म, पंथ, रंग, देश, जाति व वर्ण के स्त्री या पुरुष

- कभी भी – सुबह, दोपहर, शाम या रात्रि को
- कितनी भी देर तक – 5, 10, 15, 20, 30 मिनट तक
- कहीं भी – कार्यालय, घर, बस, ट्रेन में
- किसी भी जगह – कुर्सी पर, बिस्तर में, फर्श या सोफे पर
- किसी भी स्थिति में – सुखासन, पद्मासन, लेटे हुए या कुर्सी पर बैठकर
- किसी भी उम्र के – बच्चे, जवान, अधेड़ या बुजुर्ग
- कोई भी रोग – शारीरिक, मानसिक, या किसी भी नशे की लत को छुड़ाने हेतु
- कोई भी तनाव – परिवार, व्यापार या कार्य से सम्बन्धित

सिद्धयोग से लाभ

1. भारतीय योग दर्शन के अनुसार सभी प्रकार के असाध्य रोगों जैसे– एड्स, कैंसर, हीमोफीलिया, डायबिटीज, टी.बी. उच्च रक्तचाप (बी.पी.) आदि समस्त शारीरिक रोगों से मुक्ति संभव।
2. सभी प्रकार के मानसिक रोगों जैसे– तनाव, उन्माद, भय, डिप्रेशन, चिन्ता, अनिद्रा, आक्रोश आदि से मुक्ति संभव।
3. सभी प्रकार के नशों जैसे– शराब, अफीम, स्मेक, हेरोइन, भाँग, तम्बाकू (जर्दा), बीड़ी, सिगरेट, गुटखा आदि से बिना परेशानी के छुटकारा संभव।
4. आध्यात्मिकता के पूर्ण ज्ञान के साथ भूत, वर्तमान एवं भविष्य की घटनाओं को ध्यान के दौरान प्रत्यक्ष देखना और सुनना संभव।
5. गृहस्थ जीवन में रहते हुए 'भोग' एवं 'मोक्ष' दोनों तत्वों की सहज प्राप्ति तथा जीवन की समस्त सांसारिक परेशानियों से छुटकारा संभव।
6. मनुष्य का दिव्य रूपान्तरण संभव।
7. विद्यार्थियों की एकाग्रता एवं याददाश्त में सिद्धयोग द्वारा अभूतपूर्व वृद्धि
8. वृति परिवर्तन (तामसिक से सात्विक) संभव।

उत्तरदाता की सामाजिक, आर्थिक, पृष्ठभूमि

सिद्धयोग को अपनाने वाले उत्तरदाताओं की पृष्ठभूमि ग्रामीण व शहरी क्षेत्र से रही है। अध्ययन के लिए कोटा जिले की तीन तहसीलों के 150 उत्तरदाताओं का चयन किया गया जिनमें दो तहसील ग्रामीण पृष्ठभूमि से सम्बन्धित व एक तहसील शहरी पृष्ठभूमि वाली है।

सारिणी 1.1 उत्तरदाता की सामाजिक, आर्थिक, पृष्ठभूमि

क्र.सं.	अध्ययन क्षेत्र(तहसील)	महिला	पुरुष	योग
1.	सांगोद(ग्रामीण)	19(38)	31(62)	50(33.34)
2.	दीगोद(ग्रामीण)	21(42)	29(58)	50(33.33)
3.	लाड़पुरा(शहरी)	25(50)	25(50)	50(33.33)
	योग	65(43.33)	85(56.67)	150(100)

नोट :– सारिणी के कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि को महत्वपूर्ण मानते हुए प्रस्तुत अध्याय में सिद्धयोग करने वाले उत्तरदाताओं की सामाजिक, आर्थिक, पृष्ठभूमि को दर्शानें वाली जानकारी का विश्लेषण किया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उत्तरदाताओं की आयु, लिंग, शैक्षणिक योग्यता, धर्म, व्यवसाय, निवास की प्रकृति, परिवार की आर्थिक स्थिति आदि किस तरह से सिद्धयोग के लाभान्वितों को प्रभावित करते है। इन सभी के आधार पर सिद्धयोग की प्रभाविकता का आंकलन किया जा सकता है।

अध्ययन के उद्देश्य

पिछले कुछ दशकों से तकनीक एवं विज्ञान ने समाज को गहराई से प्रभावित किया है। तकनीक के प्रभाव से सामाजिक व्यवस्थाऐं, मनुष्य की जीवन शैली, दिनचर्या आदि में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। मानवीय व्यवहार को नकारात्मक रूप से प्रभावित करने में भी तकनीक एवं विज्ञान को एक महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है, इन सभी का उल्लेखनीय प्रभाव व्यक्ति के मानसिक तनाव, मानसिक दबाव एवं पारिवारिक विघटन के रूप में देखा जा सकता है। ऐसी समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार के उपचार किये जाते हैं इनमें से योगिक क्रियाऐं भी पिछले कुछ अरसे से सामान्यजन में लोकप्रिय होने लगी हैं। प्रस्तावित अध्ययन सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन पर केन्द्रित है

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न आयामों पर समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों के द्वारा उल्लेखनीय योगदान किया है सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित पश्चिमीकरण, आधुनीकीकरण, संस्कृतिकरण जैसी अवधारणाऐं समाजशास्त्रीय अध्ययनों का ही योगदान हैं। लेकिन योग एवं सिद्धयोग से सम्बंधित अध्ययनों की ओर समाजशास्त्रीयों ने अभी तक विषेश रुचि नहीं दिखाई है। एक नवीन आयाम होने के कारण सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन जैसे विषय पर अनुसंधान करना विषेश महत्व रखता है प्रस्ताविक शोध सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है इसमें योग एवं सिद्धयोग की अवधारणाओं का समाज शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से विश्लेषण किया जाना है इन अवधारणाओं का, सिद्धातों के निर्माण में तार्किक उपयोग भी संभव हो सकेगा अतः प्रस्तावित शोध सिद्धयोग से होने वाले वैयक्तिक एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयोगी होगा।

समाजशास्त्र में निरन्तर शोध कार्य होते रहे हैं तथा प्रत्येक अध्ययन, विषय के ज्ञान में वृद्धि के लिए उपयोग होता है। इस दृष्टि से प्रस्तावित अध्ययन एक नयी दिशा में नये आयामों के साथ समकालीन परिवर्तन से सम्बंधित है अतः समाजशास्त्र के योग, सिद्धयोग एवं सामाजिक परिवर्तन से सम्बंधित निष्कर्ष ज्ञान में वृद्धि करेंगे तथा इन क्षेत्रों में रुचि रखने वाले अध्ययनकर्ताओं के लिए मील का पत्थर बन सकेंगे।

प्रस्तावित अध्ययन समाजशास्त्र विद्या के लिए महत्वपूर्ण योगदान है। वृहत्तर स्तर पर सामाजिक तनावों, विभिन्न असाध्य रोगों आदि को दूर करने में योग एवं सिद्धयोग की भूमिका एवं प्रक्रिया का विश्लेषण, चिकित्सा क्षेत्र के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

सिद्धयोग के विभिन्न आयाम

योग व सिद्धयोग तत्त्व ज्ञान प्राप्ति की विधि है अथवा पूर्ण मानसिक विश्रान्ति द्धारा ईश्वर को प्राप्त करने का माध्यम है। प्रत्येक व्यक्ति में सुख, शांति और सामंजस्य प्राप्त करने की

लालसा रहती है हम दैनिक जीवन के तनावों व द्वन्द्वों से बचना चाहते हैं तथा मनोवैज्ञानिक संतुलन प्राप्त करना चाहते हैं।सिद्धयोग से लाभ के विभिन्न आयाम है जो कि उल्लेखित है–

- **शिक्षा के क्षेत्र में**
- **चिकित्सा के क्षेत्र में**

1. शिक्षा के क्षेत्र में

योग मुख्यतः प्राचीन शिक्षा पद्धति का विषय रहा है। योग अभ्यास से मस्तिष्क की कार्य पद्धति में सुधार तथा चेतना का विस्तार और परिष्कार होता है। शिक्षा में योग पद्धति का समावेश होने से आधुनिक शिक्षा पद्धति से प्राचीन शिक्षा पद्धति (योग) को समायोजित किया जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली विद्यार्थी की बौद्धिकता को विकसित नहीं करती। योग द्वारा विद्यार्थी में एकाग्रता एवं विचारों की स्थिरता का गुण विकसित होता है, योग शिक्षण में स्मरण शक्ति व तर्क शक्ति का विकास होता है।

योग शिक्षण द्वारा विद्यार्थी की सोच व भावनात्मक आधार को सही दिशा दी जाती है। योग द्वारा ही विद्यार्थी मन, शरीर, और भावना का संतुलन व समन्वय करने में सक्षम होगा। शिक्षा में योग के समावेश से आध्यात्मिक वैश्विक संस्कृति को सही दिशा प्राप्त होगी तथा आध्यात्म आधारित भारतीय योग का पुनुरुत्थान होगा।

1.2 सिद्धयोग से विद्यार्थियो की स्मरण शक्ति मे फायदा

सिद्धयोग व शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध हैं शिक्षा प्रणाली में इसके द्वारा विद्यार्थीयों के शारीरिक, मानसिक, व आध्यात्मिक संतुलन बनाते हुए उनके सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धयोग से विद्यार्थियो की स्मरण शक्ति एवं एकाग्रता में बढ़ोतरी होती है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 140 है जो कुल उत्तरदाताओं 150 का 93.34 प्रतिशत है। इसी प्रकार सिद्ध योग से विद्यार्थियो की स्मरण भाक्ति एवं एकाग्रता पर कोई खास प्रभाव नहीं पडता, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 5 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या 150 का 3.33 प्रतिशत हैं, इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना से विद्यार्थियो की स्मरण शक्ति एवं एकाग्रता मे बढोतरी होती है। ऐसा मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या भी सर्वाधिक हैं।

सिद्धयोग से विद्यार्थियों की स्मरण की शक्ति एकाग्रता में बढोतरी

1.3 चिकित्सा के क्षेत्र में

वर्तमान युग में मानवीय दिनचर्या मशीनी एवं तनावपूर्ण हो गयी है, वह अनेंक शारीरिक व मानसिक रोगों से ग्रस्त होकर, निवारण की विभिन्न चिकित्सा पद्धितियाँ खोजता हैं। योग व सिद्धयोग मूल रूप से, चिकित्सा पद्धति न होते हुऐ भी, इसके यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि अंग एक वैकल्पिक पद्धित के आधार हैं।

योग व सिद्धयोग की स्वास्थ्यपरक तथा आध्यात्मिक लाभ स्वतः ही सिद्ध है, परन्तु योग व सिद्धयोग के द्वारा रोगों की चिकित्सा करना विवाद का विषय है, अब भी कई लोग इसके चिकित्सीय महत्त्व को मानते हैं, परन्तु विभिन्न योग संस्थानो में हो रहे प्रयोगों से, बहुत से रोगों की सफल चिकित्सा होने से योग व सिद्धयोग को चिकित्सा विधि के रूप में विकसित किया जा रहा हैं। साथ ही पाया गया है कि योग एवं सिद्धयोग का नियमित रुप से अभ्यास करने पर व्यक्ति तनाव से मुक्त हो जाता है, मन प्रफुल्लित रहता हैं और शरीर हल्का, फुर्तीला एवं तेजस्वी बन जाता है, तथा बुद्धि प्रखर हो जाती है, ध्यानाभ्यास के फलस्वरूप शारीरिक व मानसिक रोग ठीक होने लगते है और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता हैं।

➢ **Shivrama Varabally** (2012) के अनुसार शिजोफ्रेनिया गंभीर मानसिक बीमारियों में से एक है। आधुनिक इलाज एवं दवाओं के बावजूद भी मरीज पूर्ण ठीक नहीं हो पाता है, अनुभव प्राप्त करने एवं सामाजिक रूप में कमी रहती है। डिप्रेशन एवं एंजाइटी (व्याकुलता, चिंता) के उपचार में दवाओं के साथ में योग ही उपचार में प्रभावी सिद्ध हुआ हैं।

सिद्धयोग से शारीरिक व मानसिक बीमारी में सुधार सारिणी 1.3			
क्र.स.	शारीरिक व मानसिक बीमारी में सुधार	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	आंशिक	01	1.20
2	25–50:	04	4.82
3	51–75:	09	10.84
4	76–90:	19	22.89
5	पूर्ण सुधार	50	60.25
	योग	83	100

नोटः– केवल बीमारी उत्तरदाताओं को लिया गया है।

शारीरिक एवं मानसिक बीमारी में आंशिक सुधार कहने वाला उत्तरदाता मात्र एक है, जो कुल उत्तरदाताओं (83) का 1.20 प्रतिशत हैं, 76–90 प्रतिशत सुधार कहने वाले लोगों की संख्या 19 हैं जो कुल लोगों की संख्या (83) का 22.89 प्रतिशत हैं तथा शारीरिक व मानसिक बीमारी में पूरा सुधार कहने वाले व्यक्तियों की संख्या सर्वाधिक 50 हैं जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 60.25 प्रतिशत है जैसा कि सारणी से स्पष्ट है।

इससे सिद्ध होता हैं कि सिद्धयोग से शारीरिक एवं मानसिक बीमारी में सुधार अवश्य होता है एवं वर्तमान समय के लोगों के लिए वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति है।

सिद्धयोग से अनिद्रा, तनाव व अशांति सारणी 1.4			
क्र.सं.	अनिद्रा, तनाव व अशांति में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1.	कोई फर्क नही पड़ा	3	2
2.	आंशिक कम हो गयी	8	5.33
3.	पूर्ण आराम आ गया	114	76
4.	कभी कम कभी ज्यादा होते रहते हैं	22	14.67
5.	अन्य	3	2
	योग	150	100

इसी प्रकार सिद्धयोग से भी अनिद्रा, तनाव व अशांति में पूर्ण आराम आ जाता है, ऐसे लाभान्वित उत्तरदाताओं की संख्या सबसे अधिक 114 रही जो कि जो कुल उत्तरदाताओं 150 का 76 प्रतिशत है, कभी कम कभी ज्यादा होते रहते हैं, 22 (14.67), अर्थात् वर्तमान में सिद्धयोग अनिद्रा, तनाव व अशांति जो इस समय पूरी दुनिया में बहुत बड़ी समस्या बनी हुई है और अधिकांश लोग इससे पीड़ित हैं उनके लिये यह एक सफल चिकित्सा पद्धति के रूप में उभर कर आई, जिसके परिणाम चौकाने वाले मिले हैं।

नोट :—कोष्ठक में दी गई संख्याऐं प्रतिशत में हैं।

सिद्धयोग से बीमारी ठीक होना सारिणी 1.5			
क्र.स.	बीमारी का ठीक होना	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	पूरी तरह ठीक हो गई है	56	67.46
2	केवल नियंत्रण में है	24	28.93
3	साधना कम होते ही वापस हो जाती है	03	3.61
4	योग	83	100

नोटः— केवल बीमार उत्तरदाताओं को लिया गया है।

सिद्ध योग से बीमारी पूरी तरह ठीक हो गई, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या सर्वाधिक 56 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 67.46 प्रतिशत है, जैसा कि सारिणी से स्पष्ट है, बीमारी नियंत्रण में है ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 24 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 28.93 प्रतिशत है, तथा साधना कम होते ही बीमारी वापस हो जाती है, ऐसा कहने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 3 है जो कुल उत्तरदाताओं की संख्या (83) का 3.61 प्रतिशत है।

इससे सिद्ध होता है कि सिद्धयोग की साधना के कम होते ही बीमारी वापस हो सकती है साधना कम करने वालों की बीमारी, नियंत्रण में रहती हैं।

नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन के संबंध में सारिणी 1.8			
क्र.स.	नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन के संबंध में	उत्तरदाताओं की संख्या	प्रतिशत
1	नकारात्मक विचार आने बंद हो गये एवं डिप्रेशन जैसा भाव खत्म हो गया	108	72
2	थोड़ा अन्तर आता है पर ऐसे विचार समय समय पर आते रहते हैं	36	24
3	अन्य	6	4
	योग	150	100

नकारात्मक विचारों एवं डिप्रेशन के संबंध में आने वाले अन्तर को जानने का प्रयास किया, जिसमें कुल उत्तरदाताओं 150 में से 108 (72) ने बताया कि सिद्धयोग से जुड़ने के बाद ऐसे विचार आने ही बंद हो गये, थोड़ा अंतर आता है पर विचार समय–समय पर आते रहते हैं ऐसे 36 (24) हैं इन आँकड़ो से स्पष्ट हैं कि सिद्धयोग विचारों के संबंध में सकारात्मक परिवर्तन लाने में प्रभावी रहा है।

निष्कर्ष– हमारे भारत वर्ष को योग विद्या को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। योग ही एकमात्र मार्ग है जिससे मानव सब दुखों से मुक्त होकर अपने जीवन को आनंदमय बना सकता है।

सिद्धयोग परम्परा झिलमिलाते मणिदीपों की एक लड़ी है, जो पुरातन काल से अब तक अज्ञान और मोह के अन्धकार को परास्त करती आयी है।

सिद्धयोग समाज में व्यापत सभी परेशानियों से मुक्ति का उत्तम माध्यम सिद्ध हो रहा है। सिद्धयोग सामाजिक व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बनाता जा रहा है।

नीति निर्धारकों के लिए भी यह शोध उपयोगी हो सकेगी। इसे हम आर्युविज्ञान से सम्बंधित नीतियों के सन्दर्भ में उपयोग में ला सकते हैं। समकालीन समाज में विभिन्न प्रकार के रोगों के उपचार हेतु प्रचलित उपचारों की कड़ी में योग एवं सिद्धयोग भी उल्लेखनीय आयाम बनता जा रहा है इसे वैज्ञानिक विधि के द्वारा प्रमाणित करके व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर नीति बनाई जा सकती है। अतः नीति निर्धारकों के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी होगा।

संदर्भ

1. www.the–comforter.org.
2 http:hi.wikipidia.org/s/16/jI.
3- yogi santosh nath.com

4. yogigorkhnath.org
5. www.the-comforter.org
6. सिंह, कर्म, भारतीय दर्शन में समन्वय पारशर भण्ड़ार दिल्ली, पृ.स. 35
7. व्यास, मनोहर श्याम, 2000, भारतीय संस्कृति एवं दर्शन, संघी प्रकाशन, जयपुर, पृ.स. 15
8. सिंह, कर्म, भारतीय दर्शन में समन्वय पाराशर पुस्तक भण्डार, दिल्ली, पृ.स. 34
9. सिंह, कर्म, भारतीय दर्शन में समन्वय पाराशर पुस्तक भण्ड़ार, दिल्ली, पृ.स. 36
10. मिश्रा, महेन्द्र कुमार, 2011, योग द्वारा स्वास्थ्य, इंडियन पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, प . स. 5
11. शर्मा, उषा, 2007, योगासन और उसके लाभ, भारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृ.स. 18–20
12. चुतुर्वेदी, खेमचद, 2007, योग साधनाः आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणासी, पृ.सं. 1–8

++++

शोध छात्रा,
समाजशास्त्र विभाग,
कोटा, विश्वविद्यालय, कोटा

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा
एम.बी.एस.रोड कोटा- 324005
फोन न. 0744.2471037

DIRECTORATE OF RESEARCH
UNIVERSITY OF KOTA, KOTA
MBS Road Kota-324005
Phone No.: 0744-2471037

Ref: F()/Research/CS_CW Cert./2017/ 6582 Dated: 18/07/2017

TO WHOM SO EVER IT MAY CONCERN

This is to certify that **Ms./Mrs. Naziya Khilji D/o Sh. Nazim Ali** has been successfully completed her Ph.D. Course Work - 2013 in the subject of Sociology Under the Department of Social Science. University of Kota, Kota as per the norms of UGC [UGC Minimum Standards and Procedures for award of Ph.D. degree Regulations 2009].

The details are as follows:

Roll No. : SOC- 4

Faculty: Social Science

Subject: Sociology

Department: Social Science

Ph.D. Course work Result:

NAME OF PAPER	MAX. MARKS	MARKS OBTAINED
PAPER I . Research Methodology Computer Application & Mechanics of Writing	100	57
PAPER II : Review of Literature & Research Technique	GRADE : Excellent	
	RESULT	Pass

I wish her for every success in life.

Dy. Reg. (Research)

Date: 18/07/2017

Place: Kota

NATIONAL SEMINAR

on

Environmental Issues and Social Concerns

Department of Social Sciences , University of Kota

&

Indian Sociological Society, RC-11(Environment and Society)

Estd. 1951

Certificate

This is to certify that Prof. / Dr. / Mr. / Ms. नाज़िया खिलजी *Institute* समाजशास्त्र, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा *has participated in the National Seminar on "Environmental Issues and Social Concerns" organised by Department of Social Sciences, University of Kota, Kota & ISS, RC-11 on 21-22 March, 2014.*

He/She presented a paper entitled, " जैव विविधता - ह्रास एवं संरक्षण *"*

Mr. Kishna Ram Choudhary
Organising Secretary

Prof. Suresh Chandra Rajora
Dean & Head
Convener RC-11

RAJASTHAN SOCIOLOGICAL ASSOCIATION

22nd National Conference on

'Emerging Social Issues and Problems of Contemporary Indian Society'

18 - 19 December, 2015

Department of Sociology

Sh. M.L.V. Govt. College, Bhilwara (Raj.)

CERTIFICATE

This is to certify that नाजिया खिलजी

of UNIVEERSITY OF KOTA, KOTA (RAJ.)
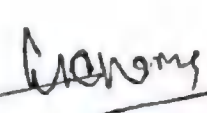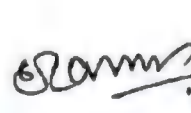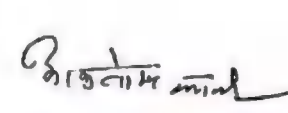
has participated / chaired a session/ and presented a paper

entitled कोटा जिले के सुल्तानपुर पंचायत में मनरेगा : दशा एवं दिशा

in 22 nd National Conference of R.S.A. held at

Sh. M.L.V. Govt. College, Bhilwara (Raj.)

RSA RAJASTHAN SOCIOLOGICAL ASSOCIATION 1973

Prof. B.L. Malviya	Prof. S.L. Sharma	Dr. H.N. Vyas	Dr. Ashutosh Vyas
Principal	President R.S.A	Organizing Secretary	Secretary R.S.A.

37th Annual Conference of Rajasthan Economic Association

On

"Sustainable Development and Inclusive Growth: Prospects and Challenges"
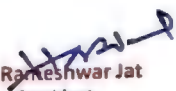
27th – 28th January 2017

Organized by

Department of Social Sciences, University of Kota

CERTIFICATE

This is to certify that, Prof./Dr./Mr./Ms. NAZIYA KHILJI of UOK College / University participated as a Resource Person / Registered Delegate in the 37th Annual Conference of Rajasthan Economic Association held at University of Kota during 27-28 January 2017. He / she attended and presented a paper entitled Biodeversity And Towrsim. in this conference.

Dr. Rameshwar Jat
President
Rajasthan Economics Association

Mr. Yashwardhan Singh
General Secretary
Rajasthan Economics Association

Mr. K.R. Choudhary
Convener
37th Annual Conference, REA

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

प्रकाशन-वर्ष :

सन् १९८१

मूल्य :

तीस रुपये

मुद्रक :

एजूकेशनल प्रिंटर्स
गोला दीनानाथ, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशकीय

डा० अर्हद्दास बन्डोबा दिगे पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के शोध-छात्र रहे है। इन्हे जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई के द्वारा प्राप्त आर्थिक सहयोग से शोध छात्रवृत्ति प्रदान की गई थी। आपने "जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन" नामक विषय पर परिश्रम-पूर्वक अपना शोध-प्रबन्ध लिखा था, जिस पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा सन् १९७० मे पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

यद्यपि यह शोध-प्रबन्ध काफी पहले ही प्रकाशित होना चाहिये था किन्तु प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग उपलब्ध न हो पाने के कारण जैन योग जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध अपने प्रकाशन की लम्बे समय तक प्रतीक्षा ही करता रहा। संस्था के कोषाध्यक्ष श्री गुलाबचन्दजी जैन ने इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के सम्बन्ध मे महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी से चर्चा की। उन्होने एवं स्व० प्रो० पृथ्वीराजजी जैन ने श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि के अधिकारियो को प्रेरणा देकर इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन हेतु ५ हजार रुपये का सहयोग प्रदान करवाया। इसके लिए विद्याश्रम साध्वी श्री जी का, श्री आत्म-वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि के अधिकारियो का एवं संस्था के कोषा-ध्यक्ष श्री गुलाबचदजी का अत्यन्त आभारी है कि इन सबके सहयोग के फलस्वरूप आज हम इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित कर पा रहे है।

आज जब मनुष्य मानसिक तनावो और मानसिक विक्षोभो से आक्रात है और उसकी मानसिक शान्ति उससे छिन चुकी है, आज जब मानवता भौतिक सुख-सुविधाओ की अच्छी दौड मे अपने विनाश के कगार पर खड़ी हुई है, ऐसी स्थिति मे यदि आज मनुष्य को कोई उसकी शान्ति और आनन्द वापस लौटा सकता है तो वह अध्यात्म ही है। आज मनुष्य के सामने भौतिकवाद की व्यर्थता स्पष्ट हो चुकी है और मनुष्यता आध्यात्म की शीतल छाया मे आने के लिए लालायित है, जिसके स्पष्ट संकेत आज हमें पश्चिम के देशों में मिलने लगे हैं।

आज विदेशी लोग भारतीय योग साधना के प्रति अधिकाधिक

आकर्षित हो रहे हैं। जैन योग भारतीय योग परम्परा की ही एक विशिष्ट धारा है जो आचारशुद्धि के साथ-साथ विचारशुद्धि पर भी बल देती है। भारतीय योग परम्परा के सम्यक् अध्ययन के लिए जैन योग का अध्ययन भी आवश्यक है। डॉ० अर्हद्दास बन्डोबा दिगे का जैन योग संबंधी यह शोध प्रबन्ध भारतीय योग परम्परा के अध्येताओं के लिए तो उपयोगी होगा ही साथ ही साथ उन लोगो के लिए भी उपयोगी होगा जो जैन योग के सैद्धान्तिक परिचय के साथ-साथ अध्यात्म की साधना मे आगे बढना चाहते हैं।

हम संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन के भी आभारी हैं जिन्होने ग्रन्थ के सम्पादन एव प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया। साथ ही हम शोधछात्र श्री रविशंकर मिश्र एवं श्री मगल प्रकाश मेहता तथा एजुकेशनल प्रिंटर्स के प्रति भी आभारी हैं जिन्होने इस ग्रन्थ के प्रूफ-रीडिंग एवं मुद्रण आदि कार्यों मे सहयोग देकर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

समर्पण

परमपूज्य जिनशासन रत्न

आचार्य प्रवर

श्री विजय समुद्र सूरि जी म० सा०

को

सादर समर्पित

जिनकी स्मृति मे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है

ज्ञान प्रभाकर पजाव केशरी जैनाचार्य

श्री श्री १००८ श्री विजय वल्लभ सूरि जी म० सा०

जन्म	दीक्षा	आचार्य पद	स्वर्गवास
वि० स० १९२७	वि० स० १९४४	वि० स० १९८१	वि० स० २०११

जन-जन वल्लभ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर

मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु रहा है। इसे देवभूमि, ऋषिभूमि, धर्मधरा आदि के नाम से याद किया जाता रहा है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर का मत था कि भारतीय शिशु को आध्यात्मिकता वंशपरम्परा से प्राप्त है। उपनिषदो मे उल्लेख है कि जब ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी सासारिक संपत्ति का बँटवारा अपनी दो पत्नियो मे करने लगे तो मैत्रेयी ने कहा, 'मै उस संपत्ति को लेकर क्या करूँगी जिससे अमृतत्व की प्राप्ति नही होती।' आत्मजिज्ञासु बालक नचिकेता ने यमराज द्वारा दिए जानेवाले भौतिक वरदानो को ठुकरा कर कहा था कि मुझे तो आत्मविद्या दीजिए। प्रागैतिहासिक काल से प्रवाहित हुई सन्तो और महात्माओ की यह परंपरा इस देवभूमि भारत में अभी भी अक्षुण्ण है।

इसी शृंखला की एक कड़ी हैं ज्ञान-भास्कर, कलिकाल कल्पतरु, भारतदिवाकर, पंजाबकेसरी, युगवीर जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महाराज, जिन्होने प्रातःस्मरणीय, न्यायाम्भोनिधि, नवयुग-प्रवर्तक जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयानद सूरि जी (प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी) के पट्टालंकार बनकर उनके मिशन की पूर्ति के लिए सर्वस्व की बाजी लगा दी थी। चरित्रनायक श्री विजयवल्लभ जी ने जिनधर्म-प्रचार, शिक्षा-प्रसार, जिनमन्दिरोद्धार, साहित्य प्रकाशन, साहित्य सकलन, मध्यमवर्ग उत्कर्ष, जैन एकता, राष्ट्र निर्माण आदि के ऐसे अनेक कार्य किए जो इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो मे सुदीर्घकाल तक अंकित रहेगे।

जीवन रेखा हमारे चरित्र नायक का जन्म कार्तिक शुक्ला द्वितीया (भाईदूज) वि० सं० १९२७ के दिन बड़ौदा मे हुआ था। बाल्यावस्था का नाम छगनलाल था। धर्ममना पूज्य पिताश्री दीपचद का निधन उस समय हो गया जब बालक मात्र ९ वर्ष का था। कुछ समय पश्चात् महायात्रार्थ प्रस्थान करती हुई पूज्या माता से बालक छगनलाल ने

पूछा कि मुझे किसके सहारे छोड़ रही हैं। धर्म से ओत-प्रोत माता का उत्तर था—'अरिहंत की शरण'। ये शब्द छगनलाल की आत्मा से अविनाभाव संबंध से बद्ध हो गए और ८४ वर्ष की आयु के अंतिम क्षण तक छगनलाल अरिहंत के पादपंकजो मे तल्लीन रहे।

बालक गृहवास करता हुआ भी हृदय से संसार-विरक्त था। यही कारण है कि १७ वर्ष की आयु मे उसने तत्कालीन जैन समाज के आध्यात्मिक नेता धुरधर विद्वान् और विश्वविख्यात जैनमुनि श्री आत्माराम जी से 'आत्मधन' की याचना की। अनेक बाधाओ को पार करते हुए वि० सं० १९४४ मे छगनलाल जैनमुनि के रूप में दीक्षित हुए और उनका नाम 'वल्लभविजय' रखा गया। नाम ऐसा गुणानुरूप सार्थक सिद्ध हुआ कि वे अपने आदर्श चरित्र, शासनसेवा, समाजसेवा और राष्ट्रसेवा के कारण जन-जन के हृदय के वल्लभ-प्रिय हो गए। साधु-जीवन मे प्रवेश करते ही उन्होने व्याकरण, साहित्य. दर्शन, आगम, न्याय, काव्य, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन किया और उच्चकोटि के प्रतिष्ठित विद्वान् बन गए। लगभग नौ वर्ष तक उन्हे श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर की छत्रछाया प्राप्त होती रही। वि० स० १९५३ मे इस महान् गुरु का स्वर्गवास हुआ। अंतिम समय मे उन्होने गुरुवल्लभ को सरस्वती मन्दिरों की स्थापना तथा पंजाब के जैनसंघो मे धर्म संस्कारो को सुदृढ़ करने का सन्देश दिया। गुरुवल्लभ ने अपने गुरु की इन अभिलाषाओ को साकार रूप देने के लिए अपने समस्त जीवन की आहुति दे दी। वि० सं० १९८१ मे लाहौर मे उन्हे आचार्य पद से अलकृत किया गया और वि० स० २०११ मे बबई मे चिरनिद्रा मे लीन हो गए।

शासनसेवा—जैन परम्परा में आचार्य का पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। अरिहंत तीर्थंकर की सद्वाणी के प्रचार और उसके सम्यक् अर्थ का उत्तरदायित्व उन्ही पर है। साथ ही चतुर्विध संघ के सन्मार्गदर्शन, नेतृत्व, धर्म मे स्थैर्य आदि का भार भी उन्ही के कधों पर है। वे स्वयं शास्त्रज्ञ, साकार आचार, कुशल नेता, आदर्शरूप और लोकप्रिय होने चाहिए। शास्त्रो के अर्थ का चयन, आचार मे उसका सस्थापन और स्वतः आचरण आचार्य के धर्म हैं। श्रीमद् विजयवल्लभ सूरि इस कसौटी पर पूरे उतरे। उन्होने श्रद्धा को पुष्ट करने के लिए अनेक जिन-मन्दिरो का निर्माण और जीर्णोद्धार कराया। कालकोठरी मे बन्द सूर्य-

की किरणों से अस्पृष्ट हस्तलिखित ग्रन्थो को बाहर निकालने की प्रेरणा दी। अहिंसा और शाकाहार का प्रचार किया। स्याद्वाद की उदार व्याख्या कर हमें सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया और मानवता का पुजारी बनाने का भरसक प्रयास किया। एक वार वम्बई में समस्त श्रोतागण उनकी विश्वमैत्री के प्रति नतमस्तक हो गये जब उनके अन्तःकरण से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित हुई—'न मैं जैन हूँ, न बौद्ध, न वैष्णव न शैव, न हिन्दू न मुसलमान। मैं तो वीतराग परमात्मा को खोजने के मार्ग पर चलनेवाला एक मानव यात्री हूँ।"

जैनो के चारो संप्रदायो की एकता के लिए वे इतने उत्सुक थे कि अपना आचार्य पद छोडने को सर्वप्रथम तत्पर थे। उनके अन्तिम उद्‌गार उनकी जीवन साधना के सजीव द्योतक है—

"मेरी आत्मा यही चाहती है कि साम्प्रदायिकता दूर होकर जैन समाज केवल महावीर स्वामी के झण्डे के नीचे एकत्रित होकर श्री महावीर की जय बोले तथा जैनशासन की वृद्धि के लिए एक जैन विश्वविद्यालय नामक संस्था स्थापित होवे।" युगवीर आचार्य श्री के ये उद्‌गार उनके देवलोकगमन के २० वर्ष वाद साकार हुए। भ० महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसग पर जैन समाज के चारो सम्प्रदायो ने एक ध्वजा के नीचे एकत्रित होकर अपने निकट उपकारी भगवान् वर्धमान महावीर के जय-जयकार का उद्‌घोष किया। उस समय की एकता का दृश्य अभूतपूर्व और ऐतिहासिक था।

शासनसेवा के लिए उनमे अदम्य उत्साह था। वृद्धावस्था उन्हें पराजित करने मे सदैव असफल रही। ८० वर्ष की अवस्था मे संघ उन्हे आचार्य सम्राट् की पदवी से अलकृत करना चाहता है और वे उत्तर देते हैं कि 'मुझे पद नही, काम दो। मेरी चलने की, वोलने की तथा देखने की शक्ति घटी है। तुम मेरी वृद्धावस्था देखकर मुझे आराम करने की सलाह देते हो। हमारे जैसे साधु को आराम से क्या मतलब? शरीर से समाज का जितना कल्याण हो सके, उतना जीवन के अन्त तक करते रहना, हम साधुओ का धर्म है। मेरी भावना यह है कि अभी भी विहार करूँ। शिक्षण संस्थाएँ खुलवाऊँ।'

शिक्षा प्रचार के अग्रदूत तथा साहित्य सेवी—गुरुवल्लभ की सबसे महत्त्वपूर्ण और महती देन शिक्षा के क्षेत्र म है। अपने गुरुदेव के अन्तिम

आदेश को कार्यान्वित करने के लिए उन्होने देश के विभिन्न भागों में शिक्षालयो का जाल बिछवा दिया। उनका विश्वास था कि शिक्षा के प्रचार के बिना समाज और देश की प्रगति की कल्पना निराधार है। वे कहते थे—'डब्बे में बन्द ज्ञान द्रव्यश्रुत है, वह आत्मा में आए तभी भावश्रुत बनता है। ज्ञानमन्दिर की स्थापना से सन्तुष्ट न होवो, उनका प्रचार हो, वैसा उपाय करो।' श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला (अब पाकिस्तान), श्रीआत्मानन्द जैन कॉलेज, अम्बाला शहर, श्री उमेद जैन कॉलेज, फालना, श्रीपार्श्वनाथ जैन विद्यालय, वरकाना एवं लुधियाना, मालेर कोटला, अम्बाला शहर तथा जण्डियाला, गुरु के हाई स्कूल, अनेक कन्या विद्यालय, छात्रालय, पुस्तकालय, वाचनालय, गुरुकुल आदि गुरुवल्लभ की प्रेरणा के सुमधुर फल हैं। उनकी कृपा से बीसियों छात्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सहायता और छात्रवृत्तियाँ मिली। देश के यशस्वी नेता महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को भी उन्होने दान दिलाया। अजैन छात्रों की भी मदद की।

शिक्षा प्रचार के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन के कार्य को भी गति दी। हिन्दी भाषा में गद्य-पद्य में अनेक रचनाएँ कर जैन साहित्य की समृद्धि की। जन्म से गुजराती होते हुए भी उन्हे राष्ट्रभाषा हिन्दी से प्रगाढ स्नेह था। उन्होने जो कुछ लेखनीबद्ध किया अथवा वाणी द्वारा प्रगट किया, वह सब हिन्दी मे। उनके गुरु श्रीमद् विजयानन्द सूरि हिन्दी को लोकभाषा कहते थे। उनका साहित्य भी हिन्दी मे ही है। अन्तिम दिनो मे गुरुवल्लभ ने अनेक सुशिक्षित गृहस्थो से विचार-विमर्श किया कि विदेश मे जैन धर्म के प्रचारार्थ किस प्रकार के साहित्य का निर्माण किया जाए।

राष्ट्र निर्माण—गुरुवल्लभ सूरीश्वरजी ने राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। ये शुद्ध खादी और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग तथा प्रचार करते थे। खिलाफत आन्दोलन मे भी उन्होने आर्थिक सहायता दिलवाई। मद्यनिषेध और शाकाहार प्रचार द्वारा जनता के नैतिक जीवन का स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया। अनेक राजनैतिक नेता उनके दर्शन करके आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

उनकी पीयूषवाणी का पान कर प० मोतीलाल नेहरू ने धूम्रपान का त्याग कर दिया था। सद्‌शिक्षा के प्रचार को उन्होने राष्ट्रनिर्माण का प्रमुख अङ्ग माना था। जैन समाज मे शिक्षा प्रचार पर बल देनेवाले सन्तो मे गुरुवल्लभ का नाम सर्वोपरि है।

समाज का उत्कर्ष—श्रीमद् विजयानन्द सूरि तथा श्रीमद् विजय वल्लभ सूरि जैन इतिहास में इस दृष्टि से सम्भवतः अनुपम स्थान रखते हैं कि उन्होंने आत्मसाधना के साथ-साथ श्रावक, श्राविका रूपी तीर्थ की प्रगति और कल्याण की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। 'न धर्मो धार्मिकैः विना' का आदर्श शास्त्रो मे सीमित था। उसे मूर्त रूप प्रदान करने के भागीरथ प्रयास का श्रेय गुरुवल्लभ को है। वे मानते थे कि समाज और संघ के उत्थान के लिए कोइ भी आवश्यक और विवेकपूर्ण प्रवृत्ति उतनी ही मूल्यवती है जितनी कि सच्चे त्याग की क्रिया। फलत उन्होने समाज सुधार और मध्यमवर्ग के उत्कर्ष के लिए भी आत्मानन्द जैन महासभा की स्थापना करवाई, जैन कांफ्रेन्स बम्बई की प्रवृत्तियो को प्रेरणा दी, अनेक उद्योगशालाएँ खुलवाईं, सहधर्मीवात्सल्य का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया कि इसका तात्पर्य केवल प्रीति-भोज नही, साधर्मी भाई को स्वाश्रयी बनाना है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि गुरुवर श्रीविजयवल्लभ सूरीश्वर जहाँ आदर्श त्यागी, सयमी, मधुर प्रभावशाली वक्ता, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् तथा जैन शासन के उन्नायक थे, वहाँ जैन समाज के उत्थान के लिए एक मसीहा और राष्ट्रनिर्माण की प्रवृत्तियों के मूक प्रेरक भी। उनकी जीवन-ज्योति हमारे लिए प्रकाश स्तम्भ का काम देती रहेगी। जैन समाज उनकी पुनीत स्मृति मे भारत की राजधानी दिल्ली मे भव्य स्मारक का निर्माण कर अपने पुनीत कर्तव्य का पालन कर रहा है। उसकी पूर्ति जैन शासन की अनूठी सेवा होगी।

प्रो० पृथ्वीराज जैन
एम० ए०, शास्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में अर्थ सहयोग दाता संस्था का परिचय

श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि, दिल्ली

वर्तमान युग में जैन समाज के जिन त्यागी, संयमी, तप पूत, जिन शासन दीपक आचार्यों ने समाज और देश की प्रगति के लिए अपने जीवन को निष्ठापूर्वक समर्पित किया, उनमे न्यायाम्भोनिधि, प्रातः स्मरणीय नवयुग-प्रवर्तक, जैनाचार्य श्री श्री १००८ स्व० श्रीमद् विजयानन्द सूरि (वि० सं० १८९४-१९५३) तथा अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु, भारतदिवाकर, पंजाबकेसरी, युगवीर जैनाचार्य श्री श्री १००८ स्व० श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर (वि० सं० १९२७-२०११) के नाम विशेष उल्लेखनीय और अविस्मरणीय हैं। जब वि० सं० २०११ (ई० १९५४) में बम्बई मे श्री विजयवल्लभ सूरिजी का देवलोकगमन हुआ, तब ही एकत्रित जनसमूह के अन्तर्हृदय से एक विचार उभर रहा था। एकाकी गुरुवल्लभ ने अपने आराध्य गुरुदेव श्रीमद् विजयानन्द सूरि के मिशन की पूर्ति के लिए अपने जीवन की आहुति दी, धर्मप्रचार और समाजसेवा के सैंकडो महान् कार्य किए। हम गुरुवल्लभ के लाखो उपकारो के ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करें ? यह निश्चय हुआ कि उनकी पुण्यस्मृति मे अखिल भारतीय स्तर पर दिल्ली मे भव्य स्मारक का निर्माण किया जाए। कुछ समय बाद श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब ने इस योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। वन्दनीया साध्वी श्री शीलवती जी तथा श्री मृगावती जी का चतुर्मास उस समय अम्बाला शहर मे था। उनकी ओजस्विनी प्रेरणा से श्री आत्मानन्द जैन महासभा के प्रमुख कार्यकर्ता बाबूराम जी प्लीडर, ला० खेतराम जी, श्री ज्ञानदास सीनियर सब जज, ला० सुन्दरलाल जी तथा प्रो० पृथ्वीराज जी आदि इस काम मे जुट गए। किन्तु कतिपय कारणो मे दिल्ली से भूमि प्राप्त करने मे सफलता न मिली। श्री ज्ञानदास जी तथा श्री बाबूराम जी के निधन से कार्य मे शिथिलता आ गई। समय का चक्र चलता रहा लगभग १८ वर्ष बीत गए परन्तु इस दिशा मे प्रगति नही हो सकी।

यद्यपि समाज की भावना को साकार होने मे विलम्ब अवश्य हो रहा था, किन्तु निराशा नही थी। १९७२ ई० मे बड़ौदा मे स्वर्गस्थ गुरुदेव के पट्टविभूषण, जिनशासन रत्न, शान्त मूर्ति आचार्यश्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी ने अन्तर्दृष्टि और दूरदर्शिता से जैन भारती श्री मृगावती जी को स्मारक योजना का कार्यभार सौंपा। उन्होने गुरुभक्तिवश इसे सहर्ष स्वीकृत किया। उनके हृदय मे स्मारक विषयक आद्यप्रेरणा पुनः बलवती हुई और उन्होने निश्चय किया कि इस कार्य को पूर्ण करने के लिए उन्हे हर प्रकार का बलिदान करना होगा। अब क्या था ? विघ्न बाधाओ के अन्तराय रूप बादल फटने लगे और आशा की स्वर्णिम किरणे दृष्टिगोचर होने लगी।

साध्वी जी ने ग्रीष्मऋतु की कठिनाइयो की उपेक्षा कर दिल्ली की ओर उग्र विहार प्रारभ कर दिया। स्मारक के लिए भूखंड की प्राप्ति के निमित्त शिष्याओ सहित उन्होने अभिग्रह धारण कर लिया। ला० रतनचदजी तथा श्री मदनकिशोर ने भी अनुकरण किया। श्री आत्म-वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि ट्रस्ट की स्थापना हुई और १२-६-१९७४ को इसका पंजीकरण हुआ। १५-६-७४ को दिल्ली-पानीपत राष्ट्रीय मार्ग न० १ के २०वें कि० मी० के निशान के समीप छ. एकड भूमि खरीद ली गई। अभिग्रह पूर्ण हुआ। ३०-६-१९७४ को भगवान् महावीर के २५वे निर्वाण शताब्दी महोत्सव के मार्गदर्शन के लिए आचार्य श्री जी भी शिष्यमडल सहित दिल्ली पधारे।

निर्वाण शताब्दी महोत्सव के बाद आचार्य श्री जी ने पजाब की ओर विहार किया। २७-१२-१९७४ के दिन उन्होने स्मारक भूमि की यात्रा की तथा परिक्रमा करते हुए चारदिवारी की नीव को वासक्षेप से पवित्र किया। आकाश जयजयकार से गूज उठा। शिक्षणनिधि ट्रस्ट के सस्थापक श्री रामलाल जी दिल्ली ने सर्वश्री सुन्दरलाल जी तथा खैराती लालजी को आजीवन ट्रस्टी नियुक्त किया। तीनो ने मिलकर १२ अन्य ट्रस्टियों का चयन किया। धारा ८० (जी) के अन्तर्गत ट्रस्ट के लिए आयकर से छूट प्राप्त की गई। इस समय ट्रस्ट बोर्ड के ३५ सदस्य हैं। बोर्ड पजीकृत विधान के अनुसार कार्य कर रहा है। २४ ट्रस्टी तीन वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। प्रतिवर्ष एक तिहाई ट्रस्टी अवकाश प्राप्त करते है। उनकी स्थानपूर्ति अन्य ट्रस्टी निर्वाचन द्वारा करते हैं।

तीन आजीवन ट्रस्टी बोर्ड के सदस्य है। श्री आत्मानन्द जैन महासभा एक ट्रस्टी की नियुक्ति तीन वर्ष की अवधि के लिए करती है। वर्तमान मे श्री धर्मपाल ओसवाल उनकी ओर से नियुक्त ट्रस्टी हैं। शेष ट्रस्टीगण कॉप्ट किए जाते हैं। प्रादेशिक प्रतिनिधियो पर आधारित १०१ सदस्यों की परामर्श परिषद् का भी विधान है। ट्रस्ट बोर्ड तथा प्रबंधक समिति की नियमानुसार समय-समय पर बैठक होती है। आय-व्यय का हिसाब प्रति वर्ष आडिट होता है। बोर्ड के आद्यसंरक्षक थे—जैन समाज के सर्व-सम्मत नेता, भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति स्वर्गीय सेठ कस्तूरभाई लालभाई। उन्होने इस बात मे विशेष रुचि ली कि स्मारक का निर्माण भारतीय स्थापत्य कला के अनुसार हो। आजकल उनके सुपुत्र सेठ श्रेणिक कस्तूरभाई तथा बम्बई जैन समाज के प्रतिष्ठित नेता श्री जे० आर० शाह शिक्षण निधि के सरक्षक हैं। वर्तमान में श्री रतनचद जी जैन (देहली) प्रधान, श्री राजकुमार जैन (अम्बाला) एव श्री बलदेवकुमार जैन उपप्रधान, श्री राजकुमार जैन (रूपनगर देहली) मन्त्री तथा श्री मनोहरलालजी (रूपनगर देहली) कोषाध्यक्ष हैं। इनके अतिरिक्त श्री सत्य-पाल जैन जीरा, श्री इन्द्रप्रकाश जैन, श्री विनोद दलाल, श्री निर्मल-कुमार जैन, श्री सूरजप्रकाश जैन, श्री शांतीलाल जैन (सभी देहली) सदस्य हैं। इस प्रकार ट्रस्ट का विधान लोकतन्त्र की आधारशिला पर तैयार किया गया है।

आचार्य श्री जी स्मारक भूमि की यात्रा के पश्चात् पजाब की ओर चले गए। परन्तु उनका ध्यान स्मारक के काम मे केन्द्रित रहा। उन्होने जैन-भारती साध्वी श्री मृगावती जी को तथा दिल्ली श्री सघ के कार्यकर्ताओ को ३-२-७६ के पृथक्-पृथक् पत्रो मे प्रबल प्रेरणा दी कि स्मारक का कार्य शीघ्र सपन्न किया जाए। स्वर्गवास के डेढ़ मास पूर्व जगाधरी मे साध्वी जी महाराज को आशीर्वाद देते हुए उन्होने कहा "मृगावती तुम्हे स्मारक का कार्य सिद्ध करना है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

मई १९७७ मे मुरादाबाद मे आचार्य श्री जी का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् उनके पट्टालंकार परमार क्षत्रियोद्धारक श्रीमद् विजय इन्द्र-दिन्न सूरिजी महाराज का मंगल आशीर्वाद स्मारक के शुभकायो जैसे भूमिखनन, शिलान्यास, कान्फ्रेंस अधिवेशन, जिनमन्दिर शिलान्यास

आदि के प्रसंगों पर पू० साध्वी जी को तथा दिल्ली श्री संघ को मिलता रहा है। पू० गुरुत्रय की कृपा से और वर्तमान आचार्य महाराज के आशीर्वाद से आज तक सफलता मिली है और भविष्य मे भी मिलेगी।

२७-७-७९ के शुभदिन साध्वी श्रीमृगावतीजी महाराज के सान्निध्य मे ट्रस्ट के प्रधान ला० रतनचन्दजी मालिक फर्म रतनचंद रिखवदास ने भूमिखनन और खाद मुहूर्त सम्पन्न किया। सैकडो गुरुभक्त उपस्थित थे। अव तो भवन निर्माण के डिज़ाइन की स्वीकृति भी सम्बन्धित अधिकारियो से प्राप्त हो गयी है। १५००० वर्ग फीट मे भवन निर्माण होगा।

२९-११-७९ को अखिल जैन समाज की २५ वर्ष से आरोपित भावना साकार हुई। समारोहपूर्वक समग्र भारत के प्रतिनिधि हजारो गुरुभक्तो की उपस्थिति मे एन० के० इण्डिया रबर कं० प्रा० लि० दिल्ली तथा मे० नरपतराय खरायती लाल फर्म के मालिक उदार हृदय, धर्मनिष्ठ, श्रावक रत्न ला० खरायतीलालजी ने अपने शुभ करकमलों से आत्मवल्लभ सस्कृति मन्दिर का शिलान्यास किया। परम हर्ष और सौभाग्य का विषय यह है कि यह शिलान्यास समारोह और अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स का २४वां अधिवेशन भी वल्लभ स्मारक की आद्य प्रेरक महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी महाराज के सान्निध्य मे आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुआ।

स्मारक निर्माण की ओर इससे अगला चरण बढा २१-४-८० को, जव स्मारक के प्रांगण मे श्री वासु पूज्य स्वामी के नूतन जिनालय का शिलान्यास महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी के सान्निध्य मे श्रीराम मिल्स के प्रधान तथा मे० बाटलीवाय कम्पनी लिमिटेड के अध्यक्ष श्रीप्रताप भोगी लाल, उनके कनिष्ट भ्राता महेश भाई, पूज्या माता श्रीमती चम्पा बहन तथा परिवार के अन्य सदस्यो के शुभ करकमलो से सम्पन्न हुआ।

स्मारक के अन्तर्गत सम्भावित गतिविधियाँ

१. भारतीय एव जैन दर्शन पर शोध कार्य
२. संस्कृत एवं प्राकृत विद्यापीठ
३ विजयवल्लभ प्राच्य जैन पुस्तकालय
४ प्राचीन भारतीय दर्शन पर तुलनात्मक विवेचन
५. जैन एवं भारतीय स्थापत्य कला का संग्रहालय
६. योग और ध्यान केन्द्र

७ प्राकृतिक चिकित्सा शोध कार्य
८ जैन साहित्य और शोध साहित्य का प्रकाशन
९. पुरातन साहित्य का पुनःप्रकाशन
१० नारी शिल्प केन्द्र
११ चलता फिरता औषधालय।

भवन की रूपरेखा

श्री आत्मवल्लभ सस्कृति मन्दिर के अन्तर्गत बननेवाले भवन आदि की रूपरेखा सामान्यत इस प्रकार है—

कलात्मक प्रवेश द्वार से लगभग ३०० फीट अन्दर, ८४ फीट ऊँचा पुरातन जैन कला के अनुरूप एक भव्य प्रासाद निर्मित होगा। भवन की Plinth (स्तम्भपीठ) सड़क से १३' फीट ऊँची होगी। इसके बीच में ६ फीट दीर्घा से घिरा हुआ ६३ फीट व्यास का रंगमडप बनेगा। सीढियो पर श्रृंगार चौकियाँ तथा ऊपर साभरण इसे सुशोभित करेंगे। पीछे स्थित शोध ब्लाक मे प्राकृतिक चिकित्सा पर शोध कार्य, शिक्षाविद्, प्रबन्धको तथा पर्यटकों के निवास का प्राविधान है। समूचे भवन के नीचे भूतलघर (बेसमेन्ट्) मे पुस्तकालय, विद्यापीठ, संग्रहालय तथा प्रकाशन विभाग होगा। प्रवेशद्वार से भवन तक पहुँचने का रास्ता फुलवारियो तथा फव्वारो से युक्त होगा। पक्के रास्ते के मध्य क्वचित् छोटी-छोटी सीढियाँ होगी जिससे दर्शनार्थी सहज मे १३ फुट की चौकी तक पहुँच सकेगा। सार्वजनिक सभाओ के लिए पीछे खुला प्रागण होगा। पर्यटको के लिए जलपान गृह की भी व्यवस्था होगी।

निर्माणाधीन स्मारक का नाम 'आत्मवल्लभ सस्कृति मन्दिर' रखा गया है। स्मारक भवन के निर्माण मे पाँच-सात वर्ष का समय अपेक्षित है। व्यय का अनुमान एक करोड़ है, सम्भव है परिस्थितिवश इससे भी अधिक हो। आज तक पू० महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी महाराज की ओजस्वी प्रेरणा से ५५ लाख की धनराशि के वचन मिले हैं। प्रबन्धको की अभिलाषा है और प्रयास है कि जहाँ स्मारक भवन भारतीय और जैन स्थापत्य कला का अतीव सुन्दर भव्य और आकर्षक प्रतीक हो वहाँ साहित्यिक, अनुसंधान, अध्ययन, प्रकाशन आदि प्रवृत्तियो का प्रमुख केन्द्र हो। हम चाहते हैं कि देश विदेश के जिज्ञासु यहाँ से लाभान्वित हो और यह परम पावन स्मारक स्वाध्याय, योग, ध्यान और साधना का प्रेरणा केन्द्र बने।

—राजकुमार जैन, मन्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा स्रोत

महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी म० सा०

लगभग ५२ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १९८२में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष मे सप्तमी के दिन राजकोट (सौराष्ट्र) से १६ मील दूर सरधार नगर में श्री डूँगरशी भाई की धर्मपरायणा अर्धांगिनी श्रीमती शिवकुंवरबहिन ने सरस्वतीरूपा एक पुण्यशीला बालिका को जन्म दिया। दो भाइयों की एकमात्र बहिन भानुमती को पाकर समस्त परिवार प्रसन्नचित था। किन्तु सुख और दुःख का चक्र अबाध गति से चलता रहता है। अभी बालिका की दो वर्ष की आयु भी पूर्ण न हुई थी कि पिता स्वर्गवासी हो गए। कुछ ही वर्षों बाद दोनों प्रिय भ्राता अपनी पूज्य माता और प्यारी बहिन को असहाय छोड़कर अपने पिताश्री के पास ही पहुँच गए। इससे माता के हृदय को बड़ा आघात लगा। संसार की अनश्वरता का बोध इतना तीव्र बन गया कि सांसारिक मोह-माया को तोड़कर भागवती दीक्षा लेने की प्रेरणा बलवती हो गई। माता शिवकुंवर साध्वी शीलवती बनी और पुत्री निजशिष्या के रूप मे साध्वी मृगावती बन गई।

पूज्य साध्वी शीलवती जी का लक्ष्य यही रहा कि "मृगावती" अधिक से अधिक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर जगत् को ज्ञान-प्रकाश दे सके।

साध्वी श्री मृगावती जी ने भी विद्या अध्ययन में अपना मन लगा दिया। श्री छोटेलाल जी शास्त्री, पं० बेचरदास जी दोशी, प० सुखलाल जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया, आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी आदि विद्वत् वर्ग के सान्निध्य में आपका अध्ययन हुआ।

१९५३ मे कलकत्ता में हुई सर्व-धर्म-परिषद् में जब आपने जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया तो आपकी भाषण कला और ज्ञान की धाक् चारो ओर फैल गयी। लाखों की सख्या में जैन और अजैन आपका सार्वजनिक भाषण सुनने को लालायित रहने लगे।

पजाब-केसरी श्री गुरुवल्लभ ने आपको योग्य जानकर पजाब पधारने का आदेश भेजा। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर आपने तुरन्त कलकत्ता से विहार कर दिया।

मार्ग में पावापुरी में भारत सेवक समाज का शिविर लगा था। श्री गुलजारीलाल नन्दा ने जब सुना कि महासती जी शीलवती व मृगावती जी उधर आ रही है तो उन्होने तुरन्त आगे जाकर शिविर मे पधारने की विनती की। आप श्री जी का सार-गर्भित प्रवचन सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उस प्रवचन मे लगभग ८०,००० की उपस्थिति थी।

मार्ग मे आपने झरिया मे देवशी भाई को मन्दिर और उपाश्रय बनवाने की प्रेरणा दी। १२०० मील का लम्बा रास्ता तय करते हुए आपने पंजाब मे प्रथम चातुर्मास अम्बाला मे किया। अम्बाला मे जन-जागरण कर वल्लभविहार की नीव रखी। अम्बाला के कॉलेज के दीक्षान्त समारोह मे श्री मुरारजी भाई आपके प्रवचन को सुनकर बहुत ही प्रभावित हुए।

पजाब मे फैली कुरीतियो को देखकर आपका मन बडा दु:खी हुआ और समाज के लिए कुछ ठोस कार्य करने की मन मे धारणा लिये आपने लुधियाना नगर मे इन कुरीतियो के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया। समाजसुधार के सार्वजनिक भाषणो की धूम मच गयी, जैन-अजैन पूरी रुचि और श्रद्धा से आपकी शरण मे आने लगे। सैकड़ों युवको ने दहेज न लेने की प्रतिज्ञाएँ की, सैकड़ो परिवारो ने कुटुम्बी के मरणोपरान्त स्यापा इत्यादि का त्याग किया। जैन स्कूल के निर्माण के लिए दान की महिमा पर आपके ओजस्वी भाषण को श्रवण कर उपस्थित लोगो ने अपने आभूषण तक उतारकर दान कर दिये। जन-जागरण करते हुए आपने सारे पजाब का भ्रमण किया और आपकी ही योजना से लुधियाना मे सन् १९६० मे जिनशासन-रत्न आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी के सान्निध्य में अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स का सफल आयोजन हुआ।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रकाण्ड विद्वान् सरलात्मा जैनागम-रत्नाकर आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज आपके विद्याभ्यास से विशेष प्रभावित हुए और आपको मार्ग-दर्शन देते रहे।

कुछ वर्ष पंजाब में विचरकर विद्याभ्यास के लिए आप फिर अहमदाबाद मे आगम-प्रभाकर श्रीपुण्यविजयजी म० सा० के पास विद्याध्ययन करने चली गयी। वहाँ से सौराष्ट्र, बम्बई, मैसूर, बगलोर, मद्रास इत्यादि क्षेत्रो मे विचरते हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के तीर्थ-क्षेत्र मूलबिद्री मे जाने

वाली प्रथम श्वेताम्बर जैन साध्वी आप थी। बम्बई मे वल्लभ शताब्दी के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने मे आपका सक्रिय योगदान रहा, चाहे आप उस समय बगलोर मे थी।

बड़ौदा में गुरुदेव की आज्ञा से आपने साध्वी-सम्मेलन किया और साध्वी वर्ग को समाज-कल्याण के कार्यों में आगे आने की प्रेरणा दी।

वल्लभ-स्मारक देहली का काम कई वर्षों से रुका हुआ था, अतः वही गुरुवर्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी ने आदेश दिया कि इस कार्य को आप ही सम्पन्न करें। गुरु-आज्ञा पाकर आप साहस के साथ उस कार्य मे जुट गयी तथा समाज को योग्य मार्ग-दर्शन देकर वह कार्य सम्पन्न करवाया। गुरुदेव श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जब पंजाब से मुरादाबाद प्रतिष्ठा करवाने हेतु जा रहे थे, तब उन्होने आपको जगाधरी मे आदेश दिया था कि पजाब की सार-सभाल ले तथा लुधियाना, कागडा और लहरा के काम पूरे करें, गुरु का विश्वास आपका शक्तिसम्बल बना, आपके सद्-प्रयासो के फलस्वरूप सभी अधूरे रहे हुए कार्य सम्पन्न हुए।

आपकी तीन शिष्याएँ श्री सुज्येष्ठा श्री जी, श्री सुव्रता श्री जी और श्री सुयशा श्री जी जहाँ आपके प्रत्येक कार्य में अपना पूरा सहयोग देती है, वही अपने आतमसाधना के पथ को भी प्रशस्त कर रही हैं।

—गुलाबचन्द जैन
कोषाध्यक्ष
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान

प्रास्ताविक

भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न और विशाल परम्परा मे विभिन्न मत-वादो या आचार विचारो का अद्भुत समन्वय है। यद्यपि वे विभिन्न आचार-विचार अपनी विशिष्टताओ के कारण अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं, तथापि उनमे एकसूत्रता भी पर्याप्त है। कितने ही ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रकारान्तर से एक दूसरे के पर्याय अथवा एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय योग-परम्परा भी इस दृष्टि-बोध का अपवाद नही है। योग परम्परा मे भी भारत की प्रमुख तीन धाराएँ अन्तर्भुक्त हैं—वैदिक, बौद्ध एवं जैन। कुछ सदर्भो मे साम्य होते हुए भी तीनो का अपना वैशिष्ट्य है, जिन पर इनकी अपनी सस्कृति की छाप स्पष्ट है। वैदिक धारा मे योग विषयक विवेचन-विश्लेषण अधिकता से हुआ है, बौद्ध धारा मे भी योग की व्याख्या अनेकविध हुई है, लेकिन जैनधारा मे योग के सम्यक् एव आलोचनात्मक उपवृहण की अपेक्षा सर्वदा रही है और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत शोध-प्रबंध का उपस्थापन हुआ है। वस्तुत जैन योग परम्परा की सम्यक् व्याख्या, उसके बिखरे हुए अवयवो का संगठन तथा विशाल योग वाङ्मय का सुसम्बद्ध अध्ययन तथा तत् प्रसूत तत्त्वों का प्रस्तुतीकरण अपने आप मे एक महार्थ प्रयास की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से लेखक का यह प्रयास श्रमसाध्य अवश्य है, लेकिन समयसाध्य भी है। लेखक ने प्रयास किया है कि जैन योग का एक स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या, सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन यथाशक्य प्रस्तुत किया जाय ताकि भारतीय योग के अध्येताओ को एक सुलझी दृष्टि प्राप्त हो सके, क्योकि बिना जैन योग का अध्ययन चिन्तन किए सम्पूर्ण भारतीय योग परम्परा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। इसी सिलसिले मे लेखक ने यह भी ध्यान रखा है कि जैन योग के विभिन्न सदर्भों मे भारतीय अन्य योग परम्पराओ के विचारो का भी यथाशक्य तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध सात अध्यायो मे विभक्त है। 'भारतीय परम्परा मे योग' नामक पहले अध्याय मे सर्वप्रथम योग-परम्परा की पृष्ठभूमि, योग शब्द एवं उसका अर्थ, योग का स्रोत एवं उसके क्रमिक-विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास है। इसमे वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, स्मृति, भागवतपुराण, योगवासिष्ठ आदि ग्रथो मे प्रतिपादित योग-विषय की चर्चा की गई है। साथ

ही हठयोग, नाथयोग, शैवयोग, पातंजल-योग, अद्वैत दर्शन आदि के अनुसार भी योग के विभिन्न अगो का विवेचन-विश्लेपण हुआ है, क्योकि वैदिक वाङ्मय के सर्वेक्षण के विना योग-परम्परा का न विकास ही दिखाया जा सकता है और न भारतीय योग परम्परा का समुचित मूल्यांकन ही हो सकता है। इसी अध्याय मे वौद्ध परम्परा सम्मत योग का भी दिग्दर्शन कराया गया है क्योंकि इसके अभाव मे जैन योग का समुचित विश्लेषण कर पाना संभव नहीं। अतः इस अध्याय का उपयोग वस्तुतः इस शोध-प्रवध मे पीठिका स्वरूप है।

दूसरे अध्याय मे 'जैन योग साहित्य' का समुचित परिचय दिया गया है, क्योंकि जैन योग-विपयक ग्रंथो के विवेचन-विश्लेषण से ही जैन योग का समुचित स्वरूप स्थिर किया जा सकता है और विकास-क्रम भी स्थिर किया जा सकता है। जैन योग विपयेक प्रमुख ग्रथ इस प्रकार हैं—ध्यानशतक, मोक्षपाहुड, समाधितंत्र, तत्त्वार्थसूत्र, इष्टोपदेश, योगविन्दु, परमात्मप्रकाश, योगसार, योगशतक, ब्रह्मसिद्धान्तसार, योगविंशति, योगदृष्टिसमुच्चय, पोडशक, आत्मानुशासन, योगसार-प्राभृत, ज्ञानसार, ध्यानशास्त्र अथवा तत्त्वानुशासन, योगशास्त्र, ज्ञानार्णव आदि।

'योग का स्वरूप' नामक तीसरे अध्याय मे योग का महत्त्व एव लाभ; योग के लिए मन की समाधि एवं प्रकार, योगसग्रह, गुरु की आवश्यकता एव महत्त्व, आत्मा-कर्म का सवध, योगाधिकारी के भेद, आत्मविकास मे जीव की स्थिति, चित्तशुद्धि के उपाय, योग के विभिन्न प्रकार एवं अनुष्ठान, योगी के प्रकार, जप तथा उसका फल, कुण्डलिनी का महत्त्व आदि विषयो का वर्णन किया गया है, ताकि जैन योग के स्वरूप का विवेचन स्पष्टतापूर्वक हो सके। वस्तुत. उक्त विपयो के प्रतिपादन से ही जैन योग की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

चौथे अध्याय मे 'योग के साधन-आचार' के विपय मे विचार किया गया है। इस अध्याय के दो परिच्छेद हैं—प्रथम परिच्छेद के अंतर्गत वैदिक एव वौद्ध परम्परान्तर्गत आचार पर संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत की गई है और प्रमुख रूप से जैन आचार के अन्तर्गत श्रावकचार-विपयक आचार-नियमो का उल्लेख किया गया है। इस सदर्भ मे अणुव्रत, रात्रिभोजनविरमणव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, प्रतिमाएँ एवं सत्कर्मों का निरूपण क्रमशः हुआ है। दूसरे परिच्छेद में श्रमण के आचार-नियमो का प्रतिपादन किया गया है। इसमे पंचमहाव्रत एव उनकी भावनाएँ, गुप्तियाँ एवं समितियाँ, षडावश्यक, धर्म, अनुप्रेक्षाएँ,

सलेखना, परीषह, तप, उसका महत्त्व एवं उसके भेद, विभिन्न परंपराओं मे तप का विवेचन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा का यथाशक्य प्ररूपण हुआ है। जैन योग की स्पष्टता के लिए इस अध्याय का भी बड़ा महत्त्व है, क्योकि योग और आचार का सबध परम्परावलम्बी है। अत: उक्त आचार-नियमो के पर्यालोचन से ही जैनयोग के पोषक तत्त्वो का परिज्ञान हो सकता है।

'योग के साधन रूप-ध्यान' की व्याख्या करना पाँचवें अध्याय का प्रतिपाद्य है, जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम वैदिक एव बौद्ध योग में ध्यान की स्थिति, स्वरूप एव प्रकार आदि की चर्चा है और बाद मे जैन योग के अनुसार ध्यान की विस्तृत व्याख्या की गई है। व्याख्या के क्रम मे प्रयत्न किया गया है कि जैन-योगानुसार ध्यान के विभिन्न अगो-प्रत्यगो का समुचित प्रतिपादन हो, क्योंकि ध्यान योग का प्रमुख अंग है और बिना इसके समुचित विवेचन के जैनयोग संबंधी ज्ञान का सम्यक्रूप से प्रतिपादन नही किया जा सकता।

छठे अध्याय का विषय आध्यात्मिक-विकास है, जिसके अन्तर्गत क्रमश वैदिक एवं बौद्ध योग के अनुसार क्रमिक आध्यात्मिक विकास का वर्णन हुआ और इसके बाद जैन योगानुसार आध्यात्मिक विकास की विस्तृत भूमिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इन्ही सन्दर्भो मे क्रमश कर्म, आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध, लेश्याएँ, गुणस्थानो का वर्गीकरण तथा योगविहित आठ दृष्टियो का समुचित प्रतिपादन किया गया है। इसी क्रम में आध्यात्मिक विकास के अन्यान्य सोपानो की भी चर्चा हुई है। वस्तुत: यह अध्याय योग फलित अध्यात्म विकास की ही विवृत्ति करता है। इसलिए यह अध्याय भी योग का ही पूरक सन्दर्भ है।

सातवें अध्याय का विषय 'योग का लक्ष्य-लब्धिया एवं मोक्ष' है, जिसमें वैदिक, बौद्ध एव जैन परम्पराओ मे वर्णित विभिन्न लब्धियो का तथा मोक्ष का विचार किया गया है और योगानुसार सिद्धजीवो के प्रकारो तथा उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है। अध्याय का सर्वोपरि महत्त्व इसलिए है कि इसमे योग के लक्ष्य-तत्त्व निर्वाण या मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है।

इस प्रकार जैन योग पर सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत करते हुए शोध-प्रबध के अन्त मे 'उपसहार' लिखा गया है, जिसमें जैन योग की मौलिक विशिष्टताओ का निदर्शन हुआ है। यद्यपि जैन योग कुछ अशो मे सामान्य भारतीय योग परपरा का ही अनुकरण करता है तथापि कुछ अंशो मे अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य भी रखता है, जो इसकी मौलिक देन है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ मे लेखक सर्वप्रथम गुरुवर डॉ० मोहनलाल मेहता (अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी) का आभारी

है जिनके सम्यक् निर्देशन, स्नेह तथा प्रेरणा से यह शोध प्रबन्ध यथासमय पूरा हो सका। गुरुवर डॉ० आर० एस० मिश्र (कार्यकारी अध्यक्ष, भारतीय दर्शन एव धर्म-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति लेखक नम्रीभूत है, जिनसे वह समय-समय पर शोधसम्बन्धी विचारो से उपकृत होता रहा है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये (डीन, फैकल्टी ऑफ आर्टस्, शिवाजी युनिवर्सिटी, कोल्हापुर) डॉ० टी० जी० कलघटगी (प्रिन्सिपल, कर्नाटक कॉलेज, मारवाड़) और डॉ० जी० सी० चौधरी (प्रो० नवनालन्दा पाली शोधसंस्थान, विहार) वस्तुत' लेखक के प्रेरणास्रोत ही रहे है, इसलिए लेखक उनका हृदय से कृतज्ञ है। लेखक उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज और मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज आदि का भी अत्यन्त ऋणी है, क्योकि उन्होने सदा स्नेह तथा ज्ञान द्वारा उसे प्रोत्साहित किया है। इनके अतिरिक्त लेखक डॉ० वा० के० लेले (रीडर, मराठी विभाग, का० हि० वि० वि०), डॉ० एल० एन० शर्मा, (अध्यापक, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०), श्री एन० एच० हिरेमठ स्वामी, (तन्त्रयोग विभाग, वा० स० विश्वविद्यालय) डॉ० ए० एस० डी० शर्मा, (सीनियर फेलो, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग, का० हि० वि० वि०), डॉ० बी० एन० सिन्हा, श्री हरिहर सिह, श्री कपिलदेव गिरि तथा केसरीनन्दनजी को भी नही भूल सकता, जिनका स्नेह और सद्भाव पाकर उसने सतत् गतिशील बने रहने का प्रयास किया है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी का तो लेखक अत्यन्त आभारी है ही, जहाँ से उसे दो वर्ष तक शोधवृत्ति प्राप्त हुई है तथा अन्य अनेक सुविधाएँ मिली हैं। एल० डी० इन्स्टिट्यूट, अहमदाबाद तथा स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्रति भी लेखक आभारी है जिनकी पुस्तको का उपयोग किया गया है।

अन्त मे, लेखक यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि उसने अहिंदी भाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अनुराग के कारण ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध हिन्दी मे लिखने का उपक्रम किया है। इसलिए भाषाविषयक त्रुटियो का होना स्वाभाविक ही है इसके लिए सुधी पाठकगण उसे स्नेहपूर्वक क्षमा करेंगे ऐसी अपेक्षा है।

अध्यक्ष
दर्शन शास्त्रविभाग,
कराड कला एव वाणिज्य महाविद्यालय
सतारा (महाराष्ट्र)

अर्हद्दास बंडोबा दिगे

अनुक्रमणिका

: १ : भारतीय परम्परा में योग

'योग' शब्द भारतीय सस्कृति तथा दर्शन की वहुमूल्य सम्पत्ति है। योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्रायः सभी धर्मो तथा दर्शनो मे स्वीकृत है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसे कोई भी बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म-विशेष की अपेक्षा के अपना सकता है। प्राचीन भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग-प्रणाली की परम्परा अविच्छिन्न रूप मे चलती आयी है। वैदिक तथा अवैदिक वाङ्मय मे आध्यात्मिक वर्णन वहुलता से पाया जाता है। इनका अन्तिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक साधन है।

जैसे चिकित्सा-शास्त्र में चतुर्व्यूह के रूप में रोग, रोग का कारण, आरोग्य और उसका कारण वर्णित है, वैसे ही योगशास्त्र में भी चतुर्व्यूह का उल्लेख है—ससार, ससार का कारण, मोक्ष और मोक्ष का साधन।[1] चिकित्सा-शास्त्र के समान ही योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चार वाते स्वीकार करता है : (१) आध्यात्मिक दु.ख, (२) उसका कारण (अज्ञान), (३) अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यग्ज्ञान एव (४) आध्यात्मिक वन्धन से मुक्ति अथवा पूर्णता की सिद्धि। इस प्रकार सभी आध्यात्मिक साधनाएँ इन चारो सिद्धान्तो को स्वीकार करती हैं, भले ही विभिन्न परम्पराओ मे ये विभिन्न नामो से व्यवहृत हुए हो।

योगसाधना को एक विशिष्ट क्रिया माना गया है, जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के आचार, ध्यान तथा तप का समावेश है। परन्तु इन सबका लक्ष्य आत्मा का विकास ही है और इसके लिए मनोविकारो को जीतना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओ के आदर्श विभिन्न ग्रन्थो मे अलग-अलग हैं,

---

१. यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहम्। तद्यथा ससारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दु.खवहुल. संसारो हेयः। —योगदर्शन, व्यासभाष्य, २।१५

जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ संक्षेप मे उनका सार बता देना अभीष्ट है, जिससे कि प्रस्तुत विषयवस्तु का अर्थ स्पष्ट हो सके। उपनिषद् मे जहाँ योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करानेवाली क्रिया के रूप मे स्वीकार किया गया है, वहाँ गीता मे कर्म करने की कुशलता का ही नाम योग है। योगदर्शनानुसार जहाँ चित्तवृत्ति का निरोध ही योग माना गया है, वहाँ बौद्धयोग में उसे बोधिसत्त्व की प्राप्ति करानेवाला कहा गया है। जैनयोग मे आत्मा की शुद्धि करानेवाली क्रियाएँ ही योग हैं। इस तरह योग को किसी-न-किसी प्रकार आत्मा को उत्तरोत्तर विकसित करनेवाले साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है।

'योग' शब्द एवं उसका अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। सस्कृत-व्याकरण मे दो युज् धातुओ का उल्लेख है, जिनमे एक का अर्थ जोडना या सयोजित करना है[१] तथा दूसरे का समाधि, मन.स्थिरता है।[२] अर्थात् सामान्य रीति से योग का अर्थ सम्बन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना है।[३] इस प्रकार लक्ष्य तथा साधन के रूप में दोनो ही योग हैं। इस शब्द का उपयोग भारतीय योगदर्शन मे दोनो अर्थों मे हुआ है। 'योग' शब्द का सम्बन्ध 'युग' शब्द से भी है जिसका अर्थ 'जोतना' होता है, और जो अनेक स्थलो पर इसी अर्थ मे वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त है। 'युग' शब्द प्राचीन आर्य-शब्दो का प्रतिनिधित्व करता है। यह जर्मन के जोक (Jock), ऐंग्लो-सैक्सन Anglo-Saxon) के गेओक (Geoc), इउक (Iuc), इओक (Ioc), लैटिन के इउगम (Iugum) तथा ग्रीक जुगोन (Zugon) की समकक्षता या समानार्थकता मे देखा जा सकता है।[४] गणितशास्त्र मे दो या अधिक सख्याओ के जोड़ को योग कहा जाता है।

भारतीय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिए योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन मे क्रमश कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही हैं।

---

१. युजपी योगे।—हेमचद्र, धातुमाला, गण ७

२. युजिच समाधौ।—वही, गण ४

३. दर्शन और चितन, प्रथम खण्ड, पृ० २३०

४. Yoga Philosophy, p. 43

विभिन्न दर्शनो के विभिन्न मार्ग होने पर भी फलितार्थ सबका एक ही है, क्योकि चित्तवृत्तियो की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलब्ध होता है, न आत्मलीनता सधती है। अत- चञ्चल मन प्रवृत्तियो को रोकना अथवा उनका नियन्त्रण करना सभी दर्शनो का उद्देश्य रहा है।

पतजलि ने चित्तवृत्तियो के निरोध को ही योग कहा है।[1] यहाँ निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियो को नष्ट करना है। लेकिन इस परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए कहा गया है कि चित्तवृत्तियो को दुर्बल या क्षीण किया जा सकता है, परन्तु उनका पूर्ण निरोध सम्भव नही है। वृत्तियो के प्रवाह का नाम ही चित्त है, और चित्तवृत्ति के पूर्ण निरोध का मतलब होगा—चित्त के अस्तित्व का ही लोप तथा चित्ताश्रितभूत समस्त स्मृतियो और सस्कारों का नाश। निरुद्धावस्था में कर्म तो हो ही नही सकता और उस अवस्था मे कोई सस्कार भी नही पड़ सकता, स्मृतियाँ नही बन पाती, जो समाधि से उठने के बाद कर्म करने मे सहायक होती हैं।[2] योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योग समाधि'[3] कहकर योग को समाधि के रूप मे ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार। इस प्रकार वैदिक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष या प्रकारान्तर से योग के लिए दो उपादानो की अपेक्षा बतायी गयी है—मानसिक चञ्चल वृत्तियो का नियन्त्रण तथा एकाग्रता। मानसिक वृत्तियो के नियन्त्रण के विना न एकाग्रता सम्भव है और न एकाग्रता के बिना सच्चिदानन्द का साक्षात्कार अथवा पुरुष का स्वरूप मे स्थित होना।

बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ समाधि किया है, तथा तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन बताया है। बौद्ध-विचारक ईश्वर और नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही करते, तथापि दु ख से निवृत्ति और निर्वाण-लाभ उनका प्रयोजन रहा है।[4]

जैनों के अनुसार शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध सवर है और यही योग है।[5] यहाँ पतंजलि का 'योग' शब्द 'संवर' शब्द का समानार्थक ही है। हरिभद्र के मतानुसार योग मोक्ष प्राप्त करानेवाला

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.।—योगदर्शन, १।२

२. हिन्दी विश्वकोश, भा० ९, पृ० ४९६ ३. योगदर्शन, व्यासभाष्य, पृ० २

४. बौद्धदर्शन, पृ० २२२

५. आस्रवनिरोधः सवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१

अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़नेवाला है।[1] हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपायरूप योग को ज्ञान, श्रद्धान और चारित्रात्मक कहा है।[2] यशोविजय भी हरिभद्र का ही अनुसरण करते हैं।[3] इस प्रकार जैनदर्शन मे योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध तथा मोक्षप्रापक धर्म-व्यापार है। उससे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्ष के लिए अनुकूल हो। अत. योग समस्त स्वाभाविक आत्मशक्तियो की पूर्ण विकासक क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुखी चेष्टा है। इसके द्वारा भावना, ध्यान, समता का विकास होकर कर्म-ग्रन्थियो का नाश होता है। वैदिक, बौद्ध एव जैन ग्रन्थो में योग, समाधि और ध्यान (तप) बहुधा समानार्थक हैं।

योग का स्रोत एवं विकास

'योग' शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद[4] मे मिलता है। यहाँ योग शब्द का अर्थ केवल 'जोडना' है। ई० पू० ७००-८०० तक के निर्मित साहित्य मे इसका अर्थ इन्द्रियो को प्रवृत्त करना तथा उसके बाद के साहित्य में (लगभग ई०पू० ५०० अथवा ६००) इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना भी निर्देशित है।[5]

ब्राह्मणधर्म के मूल मे 'ब्रह्मन्' शब्द है और यज्ञ को केन्द्र मे रखकर ही ब्राह्मणधर्म की परम्परा का विकास हुआ है। फिर भी यज्ञ से सम्बन्धित

---

१. मोक्खेण जोयणाओ जोगो।—योगविंशिका, १

२. मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मक ।
—अभिधान चिन्तामणि, १।७७

३. मोक्षेण योजना देव योगोह्यत्र निरुच्यते ।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतु व्यापार तास्य तु।—योगलक्षण द्वात्रिंशिका, १

४. स घा नो योग आ भुवत्।—ऋग्वेद, १।५।३
स धीना योगमिन्वति।—वही, १।१८।७,
कदा योगो वाजिनो रासभस्य। —वही, १।३४।९
वाजयन्निव नू रथान् योगा अग्नेरुप स्तुहि।—वही, २।८।१
योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
—वही, १०।१६६।५

5. Philosophical Essays, p 179

वैदिक मन्त्रो[1] और ब्राह्मण-ग्रन्थो में तप की शक्ति एवं महिमा के सूचक 'तपस्' शब्द का निर्देश प्राप्त होता है।[2] अतः यह भी सम्भव है कि 'तप' शब्द योग का ही पर्यायवाची रहा हो। यो उपनिषदो मे 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ मे मिलता है।[3] इसका उपयोग 'ध्यान' तथा 'समाधि' के अर्थ मे भी हुआ है। उपनिषदो में योग एव योग-साधना का विस्तृत वर्णन है, जिसमे जगत्, जीव और परमात्मासम्बन्धी विखरे हुए विचारों मे योग-विषयक चर्चाएँ अनुस्यूत हैं।[4] मैत्रेयी एव श्वेताश्वतर आदि उपनिषदो मे तो स्पष्ट और विकसित रूप में योग की भूमिका प्रस्तुत हुई है। यहाँ तक कि योग, योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी, विविध मन्त्र, जप आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. त्व तपः परितप्याजय. स्वः।—ऋग्वेद, १०।१६७।१

२ (क) एत द्वै परम तपो। अद्वयाहितः तप्यते परम ह्यॆव लोक जयति।

—शतपथब्राह्मण, १४।८।११

(ख) अथर्ववेद, ४।३५।१-२

३ (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति।

—कठोपनिषद्, १।२।१२

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो॥—वही, २।३।११

(ख) तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४

४ जिनमें केवल योग का ही वर्णन हुआ है, ऐसे उपनिषदो की संख्या २१ है—

(१) योगराजोपनिषद्, (२) अद्वयतारकोपनिषद्, (३) अमृतनादोपनिषद्, (४) अमृतबिन्दूपनिषद्, (५) मुक्तिकोपनिषद्, (६) तेजोबिन्दूपनिषद्, (७) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, (८) दर्शनोपनिषद्, (९) ध्यानबिन्दूपनिषद्, (१०) नादबिन्दूपनिषद्, (११) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, (१२) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, (१३) महावाक्योपनिषद्, (१४) योगकुण्डल्योपनिषद्, (१५) योगचूडामण्युपनिषद्, (१६) योगतत्त्वोपनिषद्, (१७) योगशिखोपनिषद्, (१८) वाराहोपनिषद्, (१९) शाण्डिल्योपनिषद्, (२०) ब्रह्मविद्योपनिषद्, (२१) हसोपनिषद्।

महाभारत[1] एव श्रीमद्भगवद्गीता मे योग के विभिन्न अंगों का विवेचन एव विश्लेषण उपलब्ध है। यहाँ तक कि गीता[2] के अठारह अध्यायो मे अठारह प्रकार के योगो का वर्णन है, जिनमे अनेकविध साधनाएँ कही गयी हैं। भागवत[3] एवं स्कन्दपुराण[4] में कई स्थलो पर योग की चर्चा है। भागवतपुराण मे तो स्पष्ट रूप से अष्टांगयोग की व्याख्या, महिमा तथा अनेक लब्धियो का विवेचन है। योगवासिष्ठ[5] के छह प्रकरणो मे योग के विभिन्न सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या है, जिनमें योग-निरूपण के साथ-साथ आख्यानको की सृष्टि हुई है। इन आख्यानको के माध्यम से योगसम्बन्धी विचारो को पुष्टि मिली है। न्यायदर्शन[6] मे भी योग को यथोचित स्थान मिला है। कणाद् ने वैशेषिकदर्शन[7] मे

---

१. देखिये, महाभारत के शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व एव भीष्मपर्व।

२. गीतोक्त अठारह प्रकार के योग इस प्रकार हैं—
(१) समत्वयोग, २।४८, ६।२९; ३३, (२) ज्ञानयोग, ३।३, १३।२४; १६।१; (३) कर्मयोग, ३।३, ५।२, १३।२४, (४) दैवयोग, ४।२५; (५) आत्मसयमयोग, ४।२७, (६) यज्ञयोग, ४।२८; (७) ब्रह्मयोग, ५।२१; (८) संन्यासयोग, ६।२, ९।२८, (९) ध्यानयोग, १२।५२, (१०) दु:खसयोगवियोग-योग, ६।२३; (११) अभ्यास-योग, ८।८, १२।९, (१२) ऐश्वरीयोग, ९।५, ११।४,९; (१३) नित्याभियोग, ९।२२; (१४) शरणागति-योग, ९।३२–३४, १८।६४–६६, (१५) सातत्ययोग, १०।९, १२।१, (१६) बुद्धियोग, १०।१०, १८।५७, (१७) आत्मयोग, १०।१८, ११।४७, (१८) भक्तियोग, १४।२६

३. भागवतपुराण, ३।२८, ११।१५; १९–२०

४. स्कन्दपुराण, भाग १, अध्याय ५५

५ देखिये, योगवासिष्ठ के वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण।

६. समाधि विशेषाभ्यासात्।—न्यायदर्शन, ४।२।३६
अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेश । —वही, ४।२।४०
तदर्थं यमनियमास्यात्म सस्कारो योगाच्चात्मविध्युपायै. ।
—वही, ४।२।४६

७. अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्यगुरुकुलवास वानप्रस्थयज्ञदान मोक्षणदिङ् नक्षत्र मन्त्रकाल नियमाश्चादृष्टाय।—वैशेषिकदर्शन, ६।२।२

यम, नियमादि योगो का सम्यक् उल्लेख किया है। पतंजलि का योग-दर्शन तो योगराज ही है, जिसमें सम्यक्रूप से योग-साधना का सांगोपांग विवेचन हुआ है। ब्रह्मसूत्र[1] के तीसरे अध्याय का नाम साधन-पाद है, जिसमे आसन, ध्यान आदि योगागो की चर्चा है।

तन्त्रयोग के अन्तर्गत हठयोग-सिद्धान्त[2] की स्थापना करते हुए आदिनाथ ने योग की क्रियाओ द्वारा शरीर के अग-प्रत्यगों पर प्रभुत्व प्राप्त करने तथा मन की स्थिरता प्राप्त करने का रहस्य बताया है।

बौद्ध-परम्परा निवृत्ति-प्रधान है, इसलिए इस परम्परा में भी आचार, नीति, खान-पान, शील, प्रज्ञा, ध्यान आदि के रूप में योग-साधना का गहरा विवेचन हुआ है। बौद्ध योग-साधना का विशुद्धिमार्ग, समाधिराज, दीघनिकाय, शेकोद्देशटीका आदि ग्रन्थो में विस्तृत वर्णन है। यह प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त होने के पहले छह वर्षों तक ध्यान द्वारा योगाभ्यास किया था।

योग की विस्तृत और अविच्छिन्न परम्परा में जैनो का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। बौद्धों की भाँति निवृत्तिपरक विचारधारा के पोषक जैन-साहित्य मे भी योग की बहुत चर्चा हुई है और उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमो मे उल्लिखित 'अज्झप्पजोग'[3] 'समाधिजोग[4]' आदि पदो मे, जिनका अर्थ ध्यान या समाधि है, योग की ही ध्वनि सन्निहित है। वास्तव मे देखा जाय तो योग के क्रमबद्ध विवेचन का सूत्रपात आचार्य हरिभद्र ने किया

---

१. ब्रह्मसूत्र, ४।१।७–११

२ हठयोग से सबधित हठयोग-प्रदीपिका, शिवसहिता, घेरण्डसहिता, योगतारावलि, विन्दुयोग, योगवीज, गोरक्षशतक, योगकल्पद्रुम, अमनस्कयोग आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

३ एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दन्ते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूविरूवे परिसहोवसग्गे उवट्ठि ठिअप्पा संखाए परदतमोई भिक्खु त्ति वच्चे।—सूत्रकृताग, १।१६।३

४ इह जीवियं अणियमेता पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जन्ति आसुरे काए।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ८।१४

है। उन्होने योग की सागोपाग व्याख्या योगशतक, योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगविंशिका, आदि ग्रन्थो मे की है। इस सन्दर्भ में शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र का योगशास्त्र तथा यशोविजय के योगावतार-वत्तीसी, (जैनमतानुसार) पातजल योगसूत्र, योगविंशिका की टीका तथा योगदृष्टिनी सज्झायमाला, अध्यात्मोपनिषद् आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है, जिनमें योगविषयक विस्तृत विवेचन हुआ है।

इस प्रकार योग की परम्परा भारतीय संस्कृति में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है और चिरकाल से भारतीय मनीषियो, सन्तो, विचारकों तथा महापुरुषो ने अपने जीवन एवं विचारों मे योग को यथोचित स्थान दिया है।

वेदकालीन योग-परम्परा

वेद-मन्त्र रहस्यमय विचारो से भरे हुए हैं। उन मन्त्रो पर गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि उनमे योगपरक सामग्री बहुत है। ऋग्वेद का प्रत्येक शब्द प्रतीकात्मक है। प्राय. अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु इस वर्णन के पीछे आध्यात्मिक अनुभव का मूल है जो उस सन्दर्भ मे लक्षित अर्थ को लगाने पर ही समझ मे आता है। इस तरह देखा जाय तो वैदिक काल से ही योग-परम्परा प्रारम्भ हो जाती है जो योगमाया नाम से व्यवहृत है।[1] इतना ही नही, मोहनजोदड़ो मे प्राप्त एक मुद्रा पर अकित चित्र में त्रिशूल, मुकुट-विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्गमुद्रा, नासाग्रदृष्टि, योगचर्या, बैल का चिह्न आदि हैं, जिससे सिद्ध होता है कि मूर्ति किसी योगी के अतिरिक्त और किसी की नही है।[2] मोहनजोदडो[3] की सभ्यता का काल अनुमानत: ई० पू० ३२५०-२७५० है, जो करीब-करीब वैदिककाल ही है। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि योग का स्थान भारतीय संस्कृति मे प्राचीन काल से ही रहा है।

इस प्रकार वेदो मे योग-प्रणाली का अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार

---

१. अथ सैषा योगमायामहिमा परम्परास्माकं वेदेभ्य आरभ्य।

—वैदिकयोगसूत्र, पृ० २२

2. Mohen-Jodaro and the Indus Civilization, Vol. I, p. 53
3. History of Ancient India, p. 25

अवश्य रहा है। कहा गया है कि विद्वानो का भी कोई यज्ञ-कर्म बिना योग के सिद्ध नही होता।[1] इस कथन से योग की महत्ता सिद्ध है। योगाभ्यास तथा योग द्वारा प्राप्त विवेक-ख्याति के लिए प्रार्थना की गयी है कि ईश्वर की कृपा से हमें योगसिद्धि होकर विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारी तरफ आवें।[2] प्रार्थना के ही क्रम मे कहा गया है कि हम (साधक लोग) हर योग मे, हर मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आवाहन करे।[3] दीर्घतमा ऋषि के कथन से भी योग की सार्थकता एवं महनीयता लक्षित होती है। उनका यह कथन है कि "मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है, जो सभी इन्द्रियो का त्राता है और कभी नष्ट नही होनेवाला है, वह भिन्न-भिन्न नाड़ियो के द्वारा अन्दर-बाहर आता-जाता है, तथा यह अध्यात्मरूप मे वायु, आधिदैवरूप में सूर्य है।"[4] इनके अतिरिक्त अभय-ज्योति[5] तथा परमव्योमन्[6] की प्राप्ति के सन्दर्भ में भी प्रकारान्तर से योग का ही वर्णन हुआ है। प्राणविद्या के अन्तर्गत[7] योग की साधना का उल्लेख भी वेदकालीन योग के प्रचलन की पुष्टि करता है। योग शब्द कई बार प्रयुक्त होकर 'जोड़ना' या 'मिलाना' अर्थ को व्यजित करता है, जो योग की उपस्थिति का ही प्रमाण है।[8] ऋग्वेद में लिखा है कि 'सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र

---

१ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।
—ऋग्वेद, १।१८।७

२. सामवेद, ३०१।२१०।३; अथर्ववेद, २०।६९।१; ऋग्वेद, १।५।३

३. योगे योगे तवस्तर वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये।
—ऋग्वेद, १।३०।७

४. अपश्य गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥
—वही, १।१६४।३१; १०।१७७।३

५. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृमा कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः॥
—वही, २।२७।१४

६. वही, १।१४३।२ ७ ऐतरेयोपनिषद्, २।२।११

८. कदा योगो वाजिनो रासभस्य। —ऋग्वेद, १।३४।९

पति हैं, जिन्होने अंतरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी सबको धारण किया। उन प्रजापति देव का हम हव्यद्वारा पूजन करते हैं।[1] इस कथन से ज्ञात होता है कि सृष्टि-क्रम मे सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए और यह प्राचीनतम पुरुष योगशास्त्र के प्रथम वक्ता हैं, अत यह योगशास्त्र भी प्राचीनतम है।

इस तरह वेदो मे योग का निरूपण भले ही पारिभाषिक शब्दों मे क्रम से न हुआ हो, परन्तु उसमे मन्त्रवाक्यों, प्राकृतिक वस्तुओं तथा अन्य प्रतीको के आधार पर योग का जो वर्णन हुआ है, वह स्पष्ट ही योगाभ्यास का दर्शक है।

उपनिषदों में योग

औपनिषदिक काल योगसाधना की अच्छी भूमि रही है, क्योकि वेदों मे अकुरित योग के बीज का विकास एव पल्लवन इस काल मे पर्याप्त हुआ है। वेद-काल मे अध्यात्मवाद उन्मुख हुआ, उसका सर्वांगीण संवर्धन उपनिषद्-काल मे ही हुआ है। इक्कीस उपनिषदो मे योग की पर्याप्त चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर में योग का स्पष्ट एव विस्तृत विवेचन है। इसके दूसरे अध्याय मे, विशिष्टता के साथ, योग की साधना, उसका परिणाम आदि के बारे मे स्पष्टतया वर्णन है, जो योगदर्शन के रूप मे एक नया ही सन्दर्भ प्रस्तुतः करता है।[2] इसमे षडगयोग का वर्णन करते हुए निर्देशित किया गया है कि शरीर को तिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर को उन्नत करके हृदय में, मन मे, इन्द्रियो को रोककर ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् लोग इस भयानक प्रवाह को पार करे, तथा प्राणो को रोककर मुक्त हो और उनके क्षीण होने पर नासिका से श्वास लें। इस प्रकार इन दुष्ट घोड़ो की मनरूपी लगाम को

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋग्वेद, १०।१२१।१

2. The Constructive Survey of the Upanishadic Philosophy, p. 338

विद्वान् लोग अप्रमत्त होकर धारण करें।[1] इस प्रकार की साधना करने के बाद ही ध्यानरूप मन्थन से अत्यन्त गूढ आत्मा का दर्शन करने का उपदेश दिया है।[2]

इस योग के संदर्भ मे पचकोशों के साथ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का भी विशद विवेचन किया गया है। इनमे अन्नमयकोश स्थूल शरीर की अवस्था है तथा जाग्रत अवस्था के अनुरूप है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर तथा स्वप्नावस्था को निर्देशित करते हैं। आनन्दमयकोश कारण-शरीर है और सुषुप्ति अवस्था का सकेत करते हैं। सुषुप्ति अवस्था मे जीव-ब्रह्म का अस्थायी सयोग होता है और जाग्रत अवस्था आते ही पुन जीव अपनी वासनाओ के अनुसार कार्यों ने लग जाता है। यहाँ ब्रह्म को ही आत्मा की सत्ता माना गया है, जो चेतन सत्ता है।[3]

उपनिषदो मे प्रयुक्त 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ को संवलित करता है, क्योकि योग, ध्यान, तप आदि शब्द समाधि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।[4] आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त करने के कारण योग को मोक्ष-प्राप्ति का हेतु माना गया है,[5] क्योकि बताया गया है कि योग से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है[6] तथा ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को जानता है

---

१ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं। हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्ट क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वासीत्।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।८-९

२. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देव पश्येन्निगूढवत्। —वही, १।१४

३. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१–६

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४; छान्दोग्योपनिषद्, ७।६।१, श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।११।६

५ त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
—कठोपनिषद्, १।२।१२

६. (क) एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।—वही, २।६
(ख) ब्रह्मविदाप्नोति परम्। —तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१

और जो परमात्मा को जानता है वह इस संसार से मुक्त हो जाता है।[1] षडगयोग[2] के प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि के वर्णन मे कहा गया है कि विषयासक्त मन बन्धन मे फँसाता है तथा निर्विषय मन मुक्ति दिलाता है। इसलिए विषयासक्ति से मुक्त और हृदय मे निरुद्ध मन जब अपने ही अभाव को प्राप्त होता है तब वह परमपद पाता है।[3]

इस परमगति को प्राप्ति के लिए आचार-विचार अपेक्षित है, जैसे श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान, दया आदि, और इनकी महती आवश्यकता का उल्लेख विभिन्न उपनिषदो मे हुआ है।[4] लेकिन आचार-नीति का पालन करने मात्र से ही मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है, उसके लिए ज्ञान तथा योग का समन्वय अपना प्रमुख स्थान रखता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तप एव समाधि की अनिवार्यता बतायी गयी है, जो योग के ही अग है। योग अथवा समाधि अवस्था में वाणी एवं मन निवृत्त हो जाते हैं, साधक निर्भीक बनता है और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।[5] ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के बाद वह जन्म-मरण के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।[6]

---

१. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३।८

२. प्रत्याहारस्तथा ध्यान प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते॥—अमृतनादोपनिषद्, ६

३. निरस्तविषयासगा सन्निरुद्ध मनोहृदि।
यदा यात्युन्मनीऽभाव तदा तत्परम् पदम्॥—ब्रह्मविन्दूपनिषद्, ४

४ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते।
—प्रश्नोपनिषद्, १।१०

सत्यमेव जयते नानृतम्।—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।६
तदेतत् त्रय शिक्षेद्दम दान दयामिति।—वृहदारण्यकोपनिषद्, ५।२।३,
यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसभवन्ति।—वही, ६।२।१६

५. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥—तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।९

६ तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः ·· परावतः ·· वसन्ति ···तेषा ····न पुनरावृत्ति.।
—वृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।१५

योग के दो प्रकारो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि विहित कर्मो में, इस वुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मन का ऐसा नित्य वन्धन ही कर्मयोग है तथा चित्त का सतत श्रेयार्थ मे रहना ज्ञानयोग है। इस तरह योग के दो भेद किये हैं।[1] योग के चार भेद भी उल्लिखित हैं—मत्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग।[2] इन चारो को महायोग कहा है, जिनमे आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि का विधान है।

इस प्रकार उपनिषदो मे योगविषयक विखरी हुई सामग्री के प्रकाश मे यह तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक योग आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा आत्मा को पहचानने के लिए यह एक साधनभूत अर्थ मे प्रसिद्ध रहा है।[3]

महाभारत में योग

महाभारत भारतीय संस्कृति का अनमोल ग्रन्थ-रत्न है, जिसमें आचार-मीमासा, नीति, कर्म आदि के सम्वन्ध मे अनेक प्रकार के दैनिक कर्तव्यों का निर्देश है। इसी क्रम में कई स्थलो पर योग का निरूपण किया गया है। वताया गया है कि सर्वप्रथम इन्द्रियो को जीतना चाहिए, क्योकि वे ही चचल, अस्थिर तथा अनेक प्रकार के कषायो की जड हैं।[4] इसमे अन्य धर्मों की तरह साधक योगी को अहिंसा

---

१. कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
वन्धन मनसो नित्यम् कर्मयोग' स उच्यते।
यत चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि वन्धनम्।
ज्ञानयोग. स विज्ञेय: सर्वसिद्धिकर शिवः।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्यय मनः।
—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, २५-२७

२. योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारत.।
मत्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः॥—योगतत्त्वोपनिषद्, १९

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो। वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
—वृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।५

४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ९६। २८-३०

का पालन करने को कहा गया है।[१] क्योकि उसके बगैर समता एवं शान्ति नही आ सकती। इसी सन्दर्भ में बताया गया है कि मुनि क्षमाभाव, इद्रियनिग्रह[२] आदि का सम्यक् पालन करे, जो तप के पर्याय है। इस ग्रन्थ मे योग की क्रियाओ तथा अभ्यास के कथन भी पद-पद पर विभिन्न शैलियो मे प्राप्त होते है। इस ग्रन्थ के अनुशासन, शान्ति एव भीष्म पर्वों मे योग की विस्तृत चर्चा है। यहाँ भी पातजल-योग की तरह योग के दो प्रकार वर्णित है—सबीज तथा निर्बीज।[३]

योग की चर्चा करते हुए मन को सुदृढ बनाने, अपनी इन्द्रियो की ओर से उसे समेटने और मन.पूर्वक योगाभ्यास[४] करने का आदेश दिया गया है तथा कभी स्थिर नही रहनेवाली अति चचल इन्द्रियो को वश मे करने का उपदेश है।[५] लेकिन ऐसा कर पाना बहुत कठिन है। यही कारण है कि योगी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह मन को धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा विषयो से विमुख करके चित्त को ध्यान मे लगावे[६] तथा सयम और योगाभ्यास करते-करते उसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त होगी तथा वह अपने मे सन्तुष्ट होने लगेगा। ऐसा करने से जब उसका मन एकाग्र हो जाय तो उसे चाहिए कि वह रागादि विषयो को छोड़कर ध्यान-योगाभ्यास मे सहायक देश, कर्म, अर्थ, उपाय, अपाय, आहार, सहार, मन, दर्शन, अनुराग, निश्चय और चक्षुष् इन बारह योगो का आश्रय ले।[७] इस तरह वह सभी दोषो को ध्यान से नष्ट कर पर-

---

१ अहिसा परमो धर्मस्तथा हिसा परो दमः।
अहिसा परम दानमहिसा परमं तपः॥
—महाभारत, अनुशासनपर्व, ११६।२८

२ व्रतोपवासयोगश्च क्षमायेन्द्रियनिग्रहः।
दिवारात्र यथायोग शौच धर्मस्य चिन्तनम्॥—वही, १४२।६

३. स च योगो द्विधा भिन्नो ब्रह्मदेवर्षिसम्मत.।
समानमुभयत्रापि वृत्त शास्त्रप्रचोदितम्॥—वही, १४५।११९०

४. वही, १४५।१२०० ५. शान्तिपर्व, १९५।११

६. एवमेन्द्रिय ग्रामं शनैः सम्परिभावयेत्।
संहरेत क्रमश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति।—वही, १९५।१९

७ छिन्न दोषो मुनिर्योगान युक्तोयुंजीत द्वादश। देशकर्मानुरागार्थेनुपायापाय-निश्चयो। चक्षुराहारसहारैमनसा दर्शनेन च।—वही, २२६।५४

मात्मा के स्वरूप मे स्थित होने के योग्य बनता है, जहाँ से वह वापस नही लौटता ।[१] इस प्रकार ब्रह्मोपलब्धि के लिए योगमार्ग का निर्देश है जिसमे योग का अर्थ 'जीव और ब्रह्म का संयोग' करते हुए कहा है कि जीव और ब्रह्म मे अभेद का ज्ञान प्राप्त करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। साथ ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञान-योग तीनो की उपयुक्तता सिद्ध की गयी है।

गीता में योग

योग की व्यवस्थित एव सागोपांग भूमिका प्रस्तुत करने मे श्रीमद्-भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। गीता का प्रत्येक अध्याय 'ॐ तत्स-दिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिपत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे.......... योगो नाम .... अध्याय' इन शब्दो से समाप्त होता है, जो योग की अनिवार्यता का ही द्योतक है। गीता में विभिन्न योग-पद्धतियों का समन्वय दिखाई पड़ता है, जिनका उद्देश्य प्रमुखत एक ही है। इसमे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, समत्वयोग, ध्यानयोग आदि के उल्लेख है। इनके मुख्य तीन उद्देश्य हैं[२]—(१) जीवात्मा का साक्षात्कार, (२) विश्वात्मा का साक्षात्कार, तथा (३) ईश्वर-साक्षात्कार। योग-विषयक अनेक विचारो का सग्रह या समन्वय होने के कारण ही जिज्ञासु पाठक तथा विद्वान् अपनी-अपनी दृष्टि और रुचि के अनुसार गीता की व्याख्या करते हैं।

विभिन्न योगो की चर्चा के साथ-साथ गीता में योग के कुछ सामान्य लक्षणो का भी निर्देश है, जिन्हे योग के तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कहा जा सकता है। व्यावहारिक योग के लक्षण विभिन्न अध्यायो मे विभिन्न प्रकार के हैं, जैसे, कर्मफल की इच्छा का न होना,[३] विषयो

---

१. नावर्तन्ते पुन पार्थमुक्ता ससारदोपत. जन्मदोप परिक्षीणाः स्वभावेपर्य-वस्थिताः ।—वही, १९५।३

२ कल्याण, माधनांक, वर्ष १५, अ० १, पृ० ५७५

३ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
—गीता, २।४७ तथा ४।२०, ५।१२

के प्रति अनासक्ति, समत्वयोग,[1] निष्कामता,[2] सुख-दु ख एवं लाभ में समता[3] आदि।

उक्त सभी अभावात्मक लक्षणो के अतिरिक्त भावात्मक विधान भी हैं; जैसे, सभी कार्य भगवान् को अर्पण करना,[4] सब अवस्थाओ में संतुष्टि[5] मन को भगवान् मे एकाग्र रखना आदि।

गीता के अनुसार विशेष प्रकार की कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है।[6] कर्मो के प्रति असगता की प्राप्ति के लिए अहकार का नाश आवश्यक है, क्योकि उसकी उपस्थिति से मनुष्य में असंग-भाव, समता, क्षमा, दया आदि योग के लक्षणो का अभाव होता है। क्रोध, काम आदि दुर्वृत्तियां अहकार से ही उत्पन्न होती हैं और इनके विषय पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच भूत, मन और वुद्धि हैं। इन विषयो की शुद्धि के लिए इन्द्रिय-संयम अत्यावश्यक है, जिससे योग की लब्धि होती है। इस प्रकार योग दुःख से विमुक्त ऐसी अवस्था का नाम है, जिसमे ऊपर से छाये हुए स्थान मे रखे दीपक की लौ की भाँति मन प्रकम्पित नहीं होता। जब आत्मा के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है, उस समय मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है और परम आनन्द की अनुभूति मे वह लीन हो जाता है। उस अवस्था में पहुँचने पर वह विचलित नही होता।[7] यही योग मुक्ति की पहचान

---

१. योगस्थ. कुरु कर्माणि सगं त्यक्त्वा धनजय।
सिद्धयसिद्धयो समोभूत्वा समत्व योग उच्यते॥
—वही, २।४८ तथा ३।१९

२. यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिता.।—वही, ४।१९

३. सुखदु.खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयो।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ —वही, २।३८

४. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते॥ —वही, १२।६

५. मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ —वही, १०।९

६. योग कर्मसु कौशलम्। —वही, २।५०

७. यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति। —वही, ६।२०

है। क्योकि मुक्ति की अवस्था मे साधक का मन शुद्ध होता है और उसका अन्त.करण स्थिर रहता है। उसका कोई भी कर्म फल, भोग, अथवा लाभ की आशा से नहीं होता। वह सिद्धि-असिद्धि दोनो में समबुद्धि रहता है। यह समत्वभाव ही योग है।[1]

गीता के छठे अध्याय के १० से २६ तक के श्लोको मे मन की एकाग्रता के साधनरूप राजयोग का निरूपण है, जिसमे समत्वयोग मे आरूढ साधक को एकान्त में रहकर चित्त और इन्द्रियो को वश मे करने तथा एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने का आदेश है। वहाँ यह भी निर्देशित है कि वह सुविधाजनक आसन के अनुसार आसीन होकर काया, सिर, गर्दन को समरेखा मे रखते हुए अचल रहे। वह अपनी दृष्टि नासाग्र रखकर निर्भय होते हुए अपनी अन्तःकरण की वृत्तियो को शान्त रखे तथा सयमित होकर ब्रह्मचर्य का पालन करे और मन को संयमित करके अपने आपको मुक्त करता हुआ ध्यानयोग मे लीन हो जाय। ऐसे परम निर्वाण शान्त स्वरूप को प्राप्त योगी ही योगी है।[2] अतः योगाभ्यास करने के लिए शारीरिक समस्त चेष्टाओ को शान्त करना आवश्यक माना गया है, क्योकि शारीरिक क्रियाओ में समता रहने पर ही मन में एकाग्रता की प्रतिष्ठा होती है। इसी सन्दर्भ मे आहार, शयन, रहन-सहन, जागरण आदि क्रियाओ को यथायोग्य समप्रमाणित करने का भी निर्देश है।[3] तेरहवें अध्याय के ८ से १२ तक के श्लोको मे ज्ञान के लक्षण बताते हुए अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासना, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, आदि गुणों की चर्चा है। ये सभी नैतिक गुण आत्मा को ऊपर उठानेवाले हैं। १३वें और १४वें अध्याय मे आत्मा का स्वरूप और संसार के साथ उसके सबध का वर्णन है। १५वें अध्याय में पुरुषोत्तम-योग का प्ररूपण है जिसमे पुरुषोत्तम का साक्षात्कार ही सर्वोत्तम अनुभूति है तथा यह प्राप्त करने के लिए साधक को श्रद्धाशील बनने का विधान है, क्योकि श्रद्धा के विना ज्ञान एव कर्म व्यर्थ है। श्रद्धा के स्वरूप एव उसके विविध भेदो का वर्णन १७वें अध्याय मे है।

इस प्रकार गीता मे प्रत्येक योग का वास्तविक अथवा स्वरूप-भूत लक्षण वर्णित है और हर हालत मे आत्मसंयम, कामनात्याग, प्राणि-

---

१. गीता, २।४८

२ गीता का व्यवहारदर्शन, पृ० २१८ ३. वही, पृ० २२२

मात्र से प्रेम, अहंकारशून्यता, निर्भयता, शीतोष्णता, सुख-दुःख एवं निंदास्तुति मे समताभाव आदि गुणो की अपेक्षा रखी गयी है। फिर भी कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग क्रमशः कर्म, ध्यान, भक्ति एवं ज्ञान पर विशेष जोर देते है। यहाँ प्रत्येक योग का अपना एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, जो उसके लक्ष्य का निर्देशक भी है[1] जैसे कर्मयोग का निश्चित लक्ष्य लोकसग्रह अर्थात् सव लोगो का कल्याण है। ज्ञान-योग का लक्ष्य 'वासुदेवः सर्वमिति' ज्ञान है। साख्ययोग का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है, राजयोग एव ध्यानयोग का लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्शरूप अक्षय सुख की प्राप्ति है।[2] इसी प्रकार विश्वरूपदर्शन-योग का लक्ष्य भगवान् के विश्वरूप का दर्शन है और भक्तियोग का लक्ष्य भगवान् का अतिशय प्रिय होना है।[3]

संक्षेप मे गीता एक कल्पना-पद्धति है और जीवन का विधान भी है। यह बुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसधान है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है। इसलिए प्रत्येक अध्याय के उपसहारपरक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है, जो एक अनिश्चित काल से प्राप्त होता जा रहा है, वह यह कि यह एक योग-शास्त्र है अथवा ब्रह्मसबधी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन है।[4]

स्मृति ग्रन्थों से योग

सम्पूर्ण स्मृतिशास्त्रो को आचार-विचार की नीतियो का अमूल्य खजाना कह सकते है, जिनमे वैदिक परम्परा-विहित चारो आश्रमो[5] की विभिन्न नीतियो की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की गयी है। याज्ञ-

१. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति ॥—गीता, २।७२

२. युजन्नेव सदात्मान योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्म सस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते ॥ —वही, ६।२८

३. ये तु धर्म्यामृतमिद यथोक्त पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया ॥ —वही, १२।२०

४. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४९१

५. चत्वारः आश्रमा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ परिव्राजका।
—वसिष्ठस्मृति, २०६

वल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पाराशरस्मृति आदि स्मृतियों मे साधकों के अनेक कर्तव्यो तथा गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा है।[1] विहित वर्णों तथा आश्रमों के सम्यक् धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है।[2] क्योकि ऐसी अवस्था मे साधक अपनी इन्द्रियो पर संयम रखता है, जिससे कि उसकी सारी क्रियाओ का सपादन सम्यक् रूप से होता है। यही कारण है कि गृहस्थाश्रम में भी धर्म-पालन करने से मोक्ष-प्राप्ति का विधान किया गया है। योग की क्रियाओ तथा अभ्यास के द्वारा[3] इन्द्रियो पर[4] विजय प्राप्त करें तथा आचार, दम, अहिंसा आदि क्रिया एवं योगाभ्यास से आत्मदर्शन की प्राप्ति करे।[5] इस प्रकार प्राचीन कालीन इन स्मृतियो मे भी योगाभ्यास की उन सभी क्रियाओ का विवरण मौजूद है जिनसे मोक्ष-प्राप्ति होती है।

भागवतपुराण आदि में योग

योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भागवतपुराण का स्थान औपनिषदिक योग तथा पातजल-योग के बीच के काल मे है। इसमे भक्तियोग के साथ अष्टांगयोग का भी विवेचन है। इसमें कथाओं के माध्यम से यौगिक क्रियाओ एवं साधनाओ की विस्तृत चर्चा है जिसमे योग-सम्बन्धी शब्दों के अनेक सकेत प्राप्त होते हैं, यथा

---

१ सध्यास्नानं जपो होम स्वाध्याय देवतार्च्चनम् ।
विश्वदेवातिथेंच षट् कर्म्माणि दिने दिने ॥ —पाराशरस्मृति, ३९

२. योगशास्त्र प्रवक्ष्यामि सक्षेपात् सारमुत्तमम् ।
यस्य च श्रवणाद्यान्ति मोक्षचेव मुमुक्षव. ॥ —हारीतस्मृति, ८।२

३. प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण च इंद्रियम् ।
धारणाभिवशकृत्वा पूर्वं दुर्धषण मन. ॥—वही, ८।४

४. अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रिय प्रीति निवर्तकस्य ।
अध्यात्मचिन्तागत मानसच्य ध्रुवा ह्यनावृत्ति पेक्षकस्य इति ॥
—वसिष्ठस्मृति, २५४

५. इज्याचार दमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्मणाम् ।
अय तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥—याज्ञवल्क्यस्मृति, ८

मनः प्रणिधान[1] आसन[2] मांडकर भगवान् में अपना मन भक्तिपूर्वक लगाना, मन, वचन एव दृष्टि की वृत्तियो से अपनी आत्मा को एकाग्र करके अन्त.श्वास लेना तथा शान्त होना, अन्तिम वार श्वास को भीतर खीचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण त्याग करना[3] आदि।

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि समाधि द्वारा ही कपिल की माता ने अपनी देह त्यागी थी।[4] नारद ने ध्रुव को आसन लगाकर, प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर करके ध्यानस्थ हो जाने का उपदेश दिया था।[5] श्रीकृष्ण की अलौकिक घटनाओ के प्रदर्शन भी योग-साधना की ही देन माने जाते हैं।

भागवत के तीन स्कन्धो मे योग का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। दूसरे स्कन्ध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायो, तीसरे स्कन्ध के २५वें तथा २८वें अध्यायो एव ११वे स्कन्ध के १३वे तथा १४वे अध्यायो में ध्यानयोग का सविस्तार वर्णन हुआ है। १५वें अध्याय में अणिमा, महिमा आदि अठारह सिद्धियो का उल्लेख है। १९ तथा २८–२९ अध्यायों मे क्रमश यम, नियमादि तथा अष्टांगयोग का वर्णन है। पतञ्जलि ने जहाँ आठ योगो मे यम-नियम के पाँच-पाँच भेदो का विधान किया है वहाँ इसमे प्रत्येक के बारह भेद वर्णित हैं। यम के बारह भेद इस प्रकार

---

१. तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थितः।
आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थ यथाश्रुतमचिन्तयम्॥
ध्यायतश्चरणाम्भोज. भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकुलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरि॥
—भागवतपुराण, १।६।१६-१७

२. तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो वदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्॥ —वही, १।७।३

३. कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टि वृत्तिभि.।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तश्वास उपारमत्॥ —वही, १।९।४३

४. नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा।
न सस्मार तदाऽऽत्मान स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः॥ —वही, ३।३३।२७

५. प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम्।
शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणां गुरुम्॥ —वही, ४।८।४४

हैं[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असंग, (५) ह्री, (६) असंचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा तथा (१२) अभय। नियम के बारह भेद इस प्रकार हैं[2]— (१) वाह्य शौच, (२) आभ्यन्तर शौच, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवद्दर्शन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थ चेष्टा, (११) सतोप और (१२) आचार्य सेवन।

शिवपुराण मे प्राणायाम के दो भेद बताये गये हैं—(१) सगर्भ और (२) अगर्भ।[3] सगर्भ ध्यान के अन्तर्गत जप और ध्यान के विना प्राणायाम किया जाता है तथा अगर्भ के अन्तर्गत जप एव ध्यान सहित प्राणायाम किया जाता है। विष्णुपुराण मे इन्ही दोनो सगर्भ एवं अगर्भ को क्रमश सवीज एवं अवीज कहा है।[4] इनके अतिरिक्त कुम्भक, पूरक एवं रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने को कहा गया है।[5] इस प्रकार भागवत मे अष्टागयोग का यथेष्ट विवरण प्राप्त होता है, जिसके द्वारा साधक को इस संसार से ऊपर उठने तथा चित्त को एकाग्र करने का उपदेश दिया गया है, जिससे कि उसे सहज निर्वाण की प्राप्ति हो सके। कहा भी है कि भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लावित योगी के लिए योग का उद्देश्य मात्र कायाकल्प तथा शरीर को सुदृढ बनाना ही नही है, बल्कि उसका मुख्य ध्येय भगवान् मे चित्त को लगाना भी है।[6]

---

१ अहिंसा सत्यमस्तेयमसगो ह्रीरसचय।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौन स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥
—भागवतपुराण, ११।१९।३३

२ शौच जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ —वही, ११।१९।३४

३ अगर्भश्च गर्भसयुक्त प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसयमम॥
—शिवपुराण, वायवीयसहिता, ३७।३३

४ विष्णुपुराण, ६।७।४०

५ प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः। —भागवतपुराण, ३।२८।९

६ योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ —वही, ११।२८।४३

इस तरह भागवतपुराण मे योग का प्रतिपादन, भगवद्भक्ति मे चित्त को एकाग्र करने के अतिरिक्त सिद्धि-प्राप्ति के साधन के रूप मे भी हुआ है, क्योकि अखिल आत्मस्वरूप भगवान् मे लगी हुई भक्ति के समान कल्याणप्रद मार्ग योगियों के लिए और दूसरा नही है।[1]

योगवासिष्ठ में योग

योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यत योग का ही निरूपण हुआ है तथा इसकी कथाओ, उपदेशो, प्रसगो आदि मे ससार-सागर से निवृत्त होने की युक्ति बतलायी गयी है। वास्तव मे योग द्वारा मानव अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है एव अन्त मे संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ मे मन का विस्तृत वर्णन है। मन को ही शक्तिशाली एव पुरुषार्थ का सहायक माना गया है। बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रियाँ, देह, पदार्थ, आदि को मन के ही रूप बताया गया है।[2] यहाँ तक कि मन की पूर्ण शान्ति होने पर ही ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।[3] मन को शान्त करने के अनेक उपायों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सकल्प करने का ही नाम मन है तथा उसके ही हाथ मे बन्धन और मोक्ष है। योग द्वारा ही मन स्थिर एवं पूर्ण शान्त होता है एव जाग्रति, स्वप्न, और सुषुप्ति से भिन्न तुरीयावस्था की स्थिति मे पहुँचने मे समर्थ होता है। इन अवस्थाओ का विस्तृत विवेचन यहाँ विभिन्न सन्दर्भों मे किया गया है।[4]

योगवासिष्ठ मे योग की तीन रीतियो का प्ररूपण हुआ है जो क्रमश. इस प्रकार हैं[5]—(१) एकतत्त्वघनाभ्यास, (२) प्राणो का निरोध एवं (३)

---

१. न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिव. पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ —वही, ३।२५।१९

२ योगवासिष्ठ, ६।११४।१७; ६।७।११; ६।१३९।१; ३।११०।४६

३. वही, ५।८६।९

४. वही, ४।१९।१५–१८; ५।७८।१०

५ योगमनोविज्ञान, पृ० १२

मनोनिरोध। एकतत्त्वघनाभ्यास के अन्तर्गत ब्रह्माभ्यास द्वारा अपने को उसीमे लीन कर देना होता है। प्राणो के निरोध मे प्राणायाम आदि की अपेक्षा की जाती है एव कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है। मनोनिरोध मे समस्त इच्छाओं का पूर्ण परिगमन किया जाता है।

इस ग्रन्थ मे भी सदाचार एव विचार के सम्यक् परिपालन पर जोर दिया गया है एवं विचार को परमज्ञान कहा गया है।[1] सदाचार एवं ज्ञान की उपमा क्रमश दीपक एव सूर्य से दी गयी है और कहा है कि जब तक ज्ञान का सूरज प्रकट नही होता तब तक अज्ञान के गहन अन्धकार मे सदाचार का ही दीपक मार्गदर्शक होता है।[2] अविद्या को दु खों का मूल कारण माना गया है तथा इसका विनाश सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है।[3] इसके अनुसार चित्त की एकदम क्षीण अवस्था हो जाने पर मोक्ष होता है, जबकि वह समस्त क्रियाओ एव वासनाओ से रहित हो जाता है। वैसी सकल्प-विकल्परहित आत्मस्थिति मे मिथ्याज्ञान से उत्पन्न अहभावरूपी अज्ञानग्रन्थि का सर्वथा समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[4]

हठयोग

हठयोग-सिद्धान्त की चर्चा योगतत्त्वोपनिषद् तथा शाण्डिल्योपनिषद् मे है। हठयोग के अवान्तर भेद भी हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अनपेक्षित है। शिव हठयोग के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं।[5] हठयोग का अर्थ है—चन्द्र-सूर्य, इडा-पिगला, प्राण-अपान का मिलन अर्थात् ह=सूर्य, ठ=चन्द्र यानी सूर्य और चन्द्र का सयोग।[6] हठयोग का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक उन्नति है। यह योग सर्वप्रथम शारीरिक विकास या

---

१ विचारः परम ज्ञान। —योगवासिष्ठ, २।१६।१९

२. साधु संगतयो लोके'सन्मार्गस्य च दीपिका ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्तव ॥ —वही, २।१६।९

३. प्राज्ञ विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शमाधय: ।
न दहन्ति वन वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥ —वही, २।११।४१

४. वही, ३।१००।३७–४२

५ हठयोगप्रदीपिका, १।१ ६. वही, १।१, ३।१५

उन्नति की ओर विशेष ध्यान देता है, क्योकि शरीर की सुदृढ़ता और स्वस्थता से ही इच्छाओ पर नियन्त्रण होता है और इससे मन शान्त अवस्था को प्राप्त होता है, जो योग धारण के लिए परम आवश्यक है।

हठयोग मे सात अग प्रमुख है[१]—षटकर्म,[२] प्राणायाम, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि। इनमे आसन, मुद्रा एव प्राणायाम का विशेष महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। इन प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओ के द्वारा शरीर हलका करने एवं भारी बनाने की लब्धि प्राप्त होती है, लेकिन इन लब्धियो की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य नही है।[३] उसका उद्देश्य आन्तरिक देह की शुद्धि करके राजयोग की ओर जाना है। अत. हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग असम्भव है।[४] अभिहित मुद्राओ तथा प्राणायामो द्वारा नाडियों को शुद्ध किया जाता है, जिनपर हठयोग आधृत है। हठयोग का सम्बन्ध शरीर से अधिक है और मन तथा आत्मा से कम।[५] ऐसी स्थिति मे मन निरोधावस्था मे पहुँचता है, जहाँ से राजयोग का प्रारम्भ होता है। नाड़ियो के शुद्ध होने पर कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है तथा यह षट्चक्रो का भेदन करती हुई सहस्राधार में पहुँचती है। ऐसी स्थिति मे साधक का चित्त निरालम्ब एव मृत्यु-भय-रहित होता है जो योगाभ्यास की जड़ है,[६] इसीको कैलाश भी कहते हैं।[७]

---

१. षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।
प्राणायामल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तश्च मुक्तिरेव न सशयः॥ —घेरण्डसहिता, १।१०-११

२ धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चेतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ —हठयोगप्रदीपिका, २।२२

३. नाथयोग, पृ० १९ ४. हठयोगप्रदीपिका, २।७५

५. सन्त मत का सरभग सम्प्रदाय, पृ० ६६—६८

६ भारतीय संस्कृति और साधना, भा० २, पृ० ३९७

७. अतऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम्।
ब्रह्माण्ड व्यस्त देहस्थं वाह्यं तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥ —शिवसहिता, ५

हठयोग में यम एवं नियमों के पालन का विधान है[1] और अनेक वस्तुओ को त्यागने का भी आदेश है। अर्थात् आचार एव विचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यम-नियमों का पालन करता हुआ हठयोगी स्थूल शरीर द्वारा अपनी शक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर, सूक्ष्म शरीर को वश मे करके चित्तनिरोध करता है और क्रमशः परमात्मा का साक्षात्कार करता है। यह पद्धति ही हठयोग है।

नाथयोग

नाथयोग के उद्‌भव के विषय मे निश्चितरूपेण कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन माना जाता है कि इसका प्रारम्भ अथवा पुनर्स्थापन गोरखनाथ से हुआ है।[2] गोरखनाथ का समय १०वी[3] अथवा ११वी[4] शती से पूर्व का है, जो इस सम्प्रदाय का समय माना जा सकता है। ऐसी धारणा है कि शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को योग की दीक्षा दी थी और मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को। नाथपन्थीय परम्परा इस प्रकार मानी जाती है—आदिनाथ (शिव), मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ एव ज्ञानदेव।[5] नाथ-सम्प्रदाय मे मुख्यतः नौ नाथ माने गये है—गोरखनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ, गाहिनीनाथ, चर्पटनाथ, खेणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ।[6] यह पन्थ अलग-अलग नामो से भी जाना जाता है, यथा—सिद्धमत, योगमार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-सम्प्रदाय, अवधूतमत आदि।[7] दीक्षा धारण करने के समय कान फड़वाकर कुण्डल धारण करने के कारण इन्हें कनफटा योगी भी कहते हैं।[8]

इस योगमार्ग का परमपद नाथ है। इस योगमार्ग की क्रियाएँ तथा

---

१. हठयोगप्रदीपिका, १०५७-६३
२. Siddha Siddhanta Paddhati and Other Works of Nath Yogis, p. 7 ३. Ibid. p 10
४ Gorakhnath and the Kanfata Yogis, pp. 235-36
५ कबीर, पृ० ३८
६. गोस्वामी, प्रथम खण्ड, वर्ष २४, अ० १२, १९६०, पृ० ९२
७ कबीर की विचारधारा, पृ० १५३
८ नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५९

योग-साधना हठयोगियो से मिलती-जुलती है, फिर भी दोनो के अन्तिम साध्य नितान्त भिन्न है। जहाँ तन्त्र, हठ तथा रसशास्त्र शरीर को अमर बनाते है, वहाँ नाथयोग आत्मा का अमरत्व, नादमधु का आनन्द तथा शिवभक्ति के साथ समरसता स्थापित करता है, क्योकि इसका उद्देश्य शाश्वत आत्मा की अनुभूति प्राप्त करना है।[१] इस योग मे मनःशुद्धि के अतिरिक्त कायशुद्धि पर भी जोर दिया जाता है, क्योकि मन.शुद्धि के लिए कायशुद्धि अपेक्षित है।

इस योग में हठ तथा तन्त्र के समान ही गुरु की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि गुरु की कृपा से ही संसार-बन्धन को तोडकर शिव की प्राप्ति सम्भव है।[२] नाथ-सिद्धान्तयोग द्वैताद्वैत विलक्षणी कहा जाता है, क्योकि शिव द्वैत या अद्वैत नही हैं, वरन् वे अवाच्य तथा निरुपाधि हैं।[३] वे द्वैत तथा अद्वैत अथवा साकार तथा निराकार से परे है। वे शिव ही चित्तनित्यतत्त्व तथा स्वयंसिद्ध है। नाथयोग के अनुसार मोक्ष वह है जिसमे मन के द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है अर्थात् आत्म-शक्ति को यथार्थ रूप से जानना ही जीवन्मुक्ति है और इस मुक्ति के लिए मन एवं शरीर दोनो की शुद्धि अनिवार्य है।

हठयोग एवं तन्त्र की तरह इस सम्प्रदाय मे भी कुण्डलिनी-शक्ति की मान्यता प्राप्त है। इसके अनुसार यह शक्ति सर्पाकार वृत्ति मे सुप्त रहती है और वह आत्मसंयम द्वारा जाग्रत होती है। जब वह जागती है तो शरीरस्थ षट्चक्रो को भेदती हुई ब्रह्माण्ड अर्थात् सहस्राधार तक पहुँचती है और वहाँ शिव के साथ एकरूप हो जाती है। इस प्रकार शिव के साथ यह मिलन जीवात्मा का परमात्मा मे लीन होने का प्रतीक है।[४] शिव और शक्ति का मिलन ही इस योग का ध्येय है।[५]

---

१ ज्ञानेश्वरी (मराठी), प्रस्तावना, पृ० ४३

२. (क) एव विधु गुरोः शब्दात् सर्वं चिन्ताविवर्जित.।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत्। —अमनस्क योग, १५

(ख) Siddha Siddhant Paddhati and other works of Nath Yogis, p 5,54-80

३. अमनस्क योग, पृ० २५ ४ सतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० ६९

५ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तर. शिव.।
अन्तर नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ४।२६

इस प्रकार नाथों की योग-साधना का आदर्श पातंजलयोग से ही तत्त्वतः भिन्न नही है, अपितु पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती बौद्धमतवादों के साथ भी बहुत दूर तक शाकरवेदान्त से भिन्न है। प्राचीन और मध्यकालीन आगमानुयायी अद्वैतवादी मतवादो से नाथादर्श की पर्याप्त समानता है, जिसे सामरस्य कहा गया है।[1]

शैवागम एवं योग

शैवागम शिव के पाँच मुखो से निर्गत अनुभूतियो का साहित्य है। इसमे मूलतः पूर्णस्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। यह शिव परम अखण्ड महाप्रकाशस्वरूप है और इसे समस्त सृष्टि-स्थिति का अर्थात् अभिव्यक्त-सृष्टि का केन्द्र माना जाता है। इस केन्द्र-विन्दु से स्फुटित पांच विन्दु ही शिव के पाँच मुख हैं—१ सद्योयान, २ वामदेव, ३ अघोर, ४. ईशान्य तथा ५ तत्त्वाश।[2] इन पाँच मुखो से निर्गत आगम को शिव, रुद्र एवं भैरव आगम भी कहते हैं। ये आगम अट्ठाईस माने गये हैं।

शैवमतानुसार योग के चार पाद हैं—क्रिया, चर्या, ज्ञान एव योग।[3] इनसे निर्गत दार्शनिक योग-धाराएँ प्रवाहित होती है जिनमे वताया गया है कि पूर्णस्वरूप से मिलने पर भी अपने स्वरूप को अलग रखना द्वैत है। इसी प्रकार इसमे द्वैताद्वैत एव विशिष्टाद्वैत का भी निरूपण हुआ है। इसके अनुसार जीव सामान्यतया पशुतुल्य माना गया है, जो तीन मल से आवृत है। ये तीन मल आणव, माया तथा कर्म हैं।[4] इसके अनुसार जीव अपने स्वरूप को भूलकर सुख-दु खादि का अनुभव करता रहता है। शिवस्वरूप वनने के लिए जीव को शक्तिपात्त एव दीक्षा के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है। ऐसा करने मे मल से निवृत्ति होती है एव विशेष साघना का भी सहारा लेना होता है। इन

---

१. Philosophy of Gorakhnath, Introduction, p 26

२. तन्त्रालोक, कण्ठसहिता, भाग १, पृ० ३७-३८

३. सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ३२२

४ आणव-मायीय—कर्ममलावृतत्वात् त्रिमय.।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० १५

मलावरणों को हटाकर स्वरूप को प्राप्त होना ही मोक्ष है, अर्थात् स्वरूप-शक्ति का बोध ही मोक्ष कहलाता है।[1]

काश्मीर के प्रत्यभिज्ञ दार्शनिकों ने 'योग' की जगह 'समवेश' शब्द का प्रयोग किया है और उसका योग शब्द से विलक्षण अर्थ प्रतिपादित किया है।[2] आणव, शाक्त एव सांभव[3] इन तीन उपायो के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार सम्भव होता है। इस मत मे दीक्षा का विशेष महत्त्व है, क्योकि गुरु-दीक्षा द्वारा ही स्वरूप का सम्बन्ध होता है[4] और शक्तिपात या ईश्वर-प्रपात द्वारा अन्तस्तल की सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होकर स्वरूप का बोध कराती है और फिर अखण्ड पद प्राप्त होता है। यह सामरस्य अवस्था या अखण्ड सामरस्य अवस्था है, जो शिवयोग के नाम से अभिहित है। शिवयोग का विशेष वर्णन करते हुए परमार्थसार[5] मे कहा गया है कि शिवयोगी के लिए समाधि-उत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योकि वह स्वय शिवस्वरूप में स्थित होता है। इसके अनुसार साधना की अनुभूति को विशेष स्थान प्राप्त है।

इस परम्परा मे अज्ञान के दो प्रकार माने गये हैं[6]—बुद्धिगत अज्ञान और पौरुष-अज्ञान। चित् शक्ति का संकोच अज्ञान् है तथा इस सकोच की चरम सीमा ही संसार है। स्वरूप-संकोच के कारण स्वयं चेतन ही जड बन जाता है। चैतन्य को ही प्रमाण, प्रमेय माना गया है और चित्-शक्ति को विशेष स्थान दिया गया है।

परमात्मा के पाँच कृत्य इस प्रकार हैं—(१) सृष्टि, (२) स्थित्ति, (३) सहार, (४) अनुग्रह, तथा (५) विलय।[7] इन कृत्यो की निरन्तरता अव्या-

१. तन्त्रालोक, १।६२

२. Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study., p 312

३ Ibid , p 293

४ Ibid , p 304

५ परमार्थसार, ५६-६०

६. द्विविधं च अज्ञान—बुद्धिगतं पौरुषं च।—तन्त्रसार, अध्याय १, पृ० २-३; तन्त्रालोक, १।३६, पृ० ७३

७. तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति।
सृष्टि सहारकर्तार विलय स्थिति कारकम्।
अनुग्रहकरं देवप्रणतार्ति विनाशनम्।—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ३२

हत है। यह वस्तुतः परमात्मा का ही खेल है। इसके फलस्वरूप जीव मे स्वरूपबोध की आन्तरिक इच्छा बलवती होती है, वह अपने में अभाव का बोध करता है। वैसी स्थिति में वह कर्मसाम्य एवं मलपरिपाक की अपेक्षा करता है। यहाँ कर्मसाम्य का तात्पर्य मनुष्य के पुण्य और पाप कर्म के साम्य के फलस्वरूप उत्पन्न सहजकृपा का उन्मेष है और कालानुगत मल (अज्ञान) अवस्था की परिपक्व अवस्था होते ही ज्ञान का आविर्भाव होना मलपरिपाक है। इन दोनो क्रियाओ के अनुसार जीव की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, फिर गुरु अथवा किसी माध्यम द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है और वह ऊर्ध्वमुख होकर सहस्राधार तक पहुँचती है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि एवं अहंकार शक्तिस्वरूप बनकर शिव से तादात्म्य होकर खेलने लगते हैं। इस प्रकार सुप्त शक्ति का शिव से मिलन ही योग है। इसे नित्ययोग अथवा नित्यमिलनयोग भी कहा जाता है।

पातंजल-योग

यो तो योग का उल्लेख योगपद्धति-सहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो मे हुआ है, लेकिन योग को व्यवस्थित एवं सम्यक् स्वरूप प्रदान किया है महर्षि पतंजलि ने। पातजल योगसूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमे व्यास-भाष्य सबसे प्रामाणिक माना जाता है तथा अनेक प्रमुख टीकाकारो में विज्ञानभिक्षु, भोज एवं वाचस्पति मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

पातंजल-योग साख्यसिद्धान्त की नीव पर खड़ा है। योगसूत्र चार पादों मे विभक्त है। प्रथम पाद मे योग के लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायो का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधनपाद है जिसमें दु.खो के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय विभूतिपाद मे धारणा, ध्यान, समाधि, एव सिद्धियो का वर्णन है तथा चतुर्थ कैवल्यपाद मे चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन है।

महर्षि पतजलि की योग की परिभाषा है : 'चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है'।[1] इस परिभाषा के अनुसार चंचल मन प्रवृत्तियों का सयमन योग के लिए अनिवार्य है। चित्त की ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं[2]—प्रमाण,

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—योगदर्शन, १।२

२. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय.।—वही, १।६

विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। इन वृत्तियों के निग्रहमात्र से ही योगसिद्धि नही हो जाती। इन वृत्तियों के साथ सस्कार भी जुडे होते है और इन सूक्ष्म सस्कारो को भी रोकने की प्रक्रिया योगसिद्धि के लिए अपेक्षित है।

योग के दो भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। चित्त मे अनेक वृत्तियाँ रहती हैं। किसी एक वस्तु मे ध्यानस्थ होने पर, उनमें से एक ही वृत्ति कार्यशील होती है और अन्य वृत्तियाँ क्षीण होती हैं। उसको प्रज्ञा कहते हैं। अतः एकाग्र भूमि मे एक वस्तु के सतत भाव मे लगे रहना सम्प्रज्ञात समाधि है। असम्प्रज्ञात समाधि अथवा योग के अन्तर्गत सभी वृत्तियों का पूर्णत निरोध आवश्यक है। सम्प्रज्ञात के चार भेद निर्दिष्ट हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।[१] असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य की स्थिति है, क्योंकि इस समाधि मे चित्त की अवस्था बिलकुल शान्त एव सस्काररहित होती है; लेकिन ऐसी अवस्था मे सस्कार बहुत बाधक बनते हैं, जिनका पूर्वजन्मानुसार जीव मे आगमन होता रहता है। इनका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व है, इसीसे कर्म बँधते है और ये कर्म क्लेशो से उत्पन्न होते है। इन कर्म-क्लेशो के पाँच भेद हैं[२]—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। अत इन वासनाओ, कर्मो तथा क्लेशो का सर्वथा नाश विवेक अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही होता है और तभी आत्मतत्त्व पहचानने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति ही आत्मलीनता अथवा कैवल्यधाम है, जो योग का लक्ष्य है।[३]

इस प्रकार मन.शुद्धि करके क्रमशः आत्मस्वरूप मे स्थित होने के लिए आठ योगाग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एव समाधि।[४] अहिसा, सत्य, अस्तेयादि

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।—योगदर्शन, १।१७

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पचक्लेशा।—वही, २।३

३. पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति-रिति।—वही, ४।३४

४. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।
—वही, २।२९

यम[1] तथा शौच, संतोषादि नियमों[2] के अनुष्ठान का विधान है, जिनसे साधक संयम मे स्थित होता है। साधना के दौरान योगी के समक्ष अनेक अन्तराय[3] आते हैं।

क्रियायोग तथा समाधियोग के सतत अभ्यास से योग की सिद्धि होती है। यहाँ क्रियायोग का तात्पर्य तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान है।[4] तप का मतलब है चान्द्रायण, कान्ह्रामणादि व्रत। वेदो का अध्ययन, चिन्तन-मनन करना स्वाध्याय है तथा ईश्वर को सम्मुख रखकर बार-बार उसके गुणों का स्मरण करना ईश्वर-प्रणिधान है। इस क्रियायोग से इन्द्रियों का दमन होता है। अभ्यास और वैराग्य[5] की सतत भावना उसके लिए अनिवार्य है। इस तरह सावधानीपूर्वक अष्टांग-योगयुक्त योग-समाधि सलीन योगी ही दीर्घकाल तक योग मे रमण कर सकता है।[6] योगदर्शन मे अनेक लब्धियो का भी वर्णन है।

अद्वैतवेदान्त एवं योग

भारतीय दर्शनो में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नही, व्यावहारिक भी है। इसमे परमलक्ष्य अथवा आत्मोपलब्धि के लिए उन साधनो का विचार किया गया है जो योगसाधना के लिए आवश्यक हैं।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार माया के कारण ही जीव ससार मे भ्रमण करता है। आत्मदर्शन मे मग्न रहकर तथा योगारूढ होकर ही इस ससार से पार हुआ जा सकता है।[7] योग का उद्देश्य आत्मा पर पड़े

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । —वही, २।३०

२. शौचसतोषतप.स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा. ।—वही, २।३२

३ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया. । —वही, १।३०

४ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग । —वही, २।१

५ अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध. । —वही, १।१२

६ योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।
यो प्रमत्तस्तु ऽयोगेन स योगे रमते चिरम् ।
—योगदर्शन, व्यासभाष्य, पृ० ५१७

७ उद्धरेदात्मनात्मानं मग्न ससारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥ —विवेकचूडामणि, ९

आवरण या अविद्या को हटाना है। इस अविद्या के कारण ही जीव अपनी चित् शक्ति को पहचान नही पाता है। इस आवरण को हटाने के लिए ही वेदान्त मे साधन-चतुष्टय वतलाये गये है, जिनके द्वारा अज्ञान नष्ट होता है तथा साधक को ब्रह्मजिज्ञासा होती है। ये चार साधन हैं[1]—(१) नित्यानित्य वस्तुविवेक, (२) वैराग्य, (३) षट् सम्पत्तियाँ . शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान, और (४) मुमुक्षत्व। वेदान्त की साधना ज्ञान पर आधृत है, इसलिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन[2] द्वारा ज्ञान प्राप्त करके यह भव पार करने को कहा गया है।

वेदान्त-योग मे ब्रह्म तथा जीव एक हो जाते हैं। ब्रह्म के सगुण रूप का एकनिष्ठ ध्यान करना और उसमे लीन होना ही योग का वास्तविक स्वरूप है।[3] जब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं, तब जीव के समस्त अहंकारादि दोष नष्ट हो जाते है। माया के कारण जीव आत्मस्वभाव को भूला हुआ है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। यही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्त करना ही अद्वैत-वेदान्त-योग का साध्य है।

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग ये मुक्ति के कारण है और इनसे ही देहबन्धन का उच्छेद होता है।[4] इस निर्विकल्प समाधि से ही अज्ञान[5] नष्ट होता है, क्योकि अविद्या ससार का मूल कारण है और इस वंधन को तोड़ना ही मोक्ष है।[6] इसके लिए मन, वचन तथा काया का निरोध

---

१. आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेक. परिगण्यते।
इहामूत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्॥ —वही, १९

२. तत श्रुतिस्तन्मनन सतत्वध्यानं चिरं नित्यनिरतर मुने.। —वही, ७८

३. योगमनोविज्ञान, पृ० २९

४. श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रु तेर्गी.।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात्॥
—विवेकचूडामणि, ४६

५. अज्ञानहृदय ग्रथिनि शेष विलयस्तदा।
समाधिऽविकल्पेन् यदा द्वैतात्मदर्शनम। —वही, ३५३

६ अविद्यास्तभयो मोक्ष. सा वन्ध उदाहृत। —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७६३

आवश्यक है, क्योंकि वाणी का मन में, मन का बुद्धि मे और बुद्धि का आत्मा में तथा आत्मा का पूर्ण ब्रह्म मे लय करने पर ही परम शान्ति प्राप्त की जा सकती है।[1]

बौद्ध योग

यौगिक क्रियाओ के आदर्श विभिन्न आध्यात्मिक शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदों मे योग का प्रतिपादन ब्रह्म के साक्षात्कार के रूप मे हुआ है। पतंजलि के योगदर्शन मे इसका अर्थ सत्य का अन्तर्वेक्षण है और बौद्धधर्म में इसकी संज्ञा बोधिसत्त्व की प्राप्ति अथवा जगत् की निःसारता का ज्ञान प्राप्त करना है।[2] बौद्धधर्म में भी तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन स्वीकृत है। बौद्ध ग्रन्थों मे प्रयुक्त समाधि[3] एवं ध्यान शब्द योग को ही व्यंजित करते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के साधन मे योग की अनिवार्यता स्वीकार की है, जैसा कि मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में योग की महत्ता जैन ग्रन्थों मे प्रतिपादित है। यही कारण है कि बुद्ध ने बोधिसत्त्व की प्राप्ति होने से पहले प्राणायाम द्वारा श्वासोच्छ्वास के निरोध का प्रयत्न किया था[4] और इसी साधन के द्वारा वे बोधि प्राप्त करना चाहते थे। परन्तु इसमे सफलता नहीं मिली। फलतः हठयोग-पद्धति का निषेध करके उन्होने अष्टाग-मार्ग[5] की प्रतिष्ठापना की। उल्लेखनीय है कि प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि[6] योग के इन छह अंगो मे प्राणायाम को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि बौद्धधर्म के प्रारम्भिक काल मे योग का निरूपण स्पष्ट रूप मे नही

---

१. वाच नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शांति परमा भजस्व।
—विवेकचूडामणि, ३६९

२. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग० १, पृ० ३९२

३. कुसलचित्तेकग्गता समाधि। —विशुद्धिमार्ग, ३।१

४. योगशास्त्र : एक परिशीलन, पृ० ३०

५. संयुक्तनिकाय, ५।१०

६. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगयोग उच्यते॥—शैकोद्देशटीका, पृ० ३०

मिलता, परन्तु महायानियो ने योग पर विस्तृत एवं व्यापक रूप में विचार किया है। बौद्ध योग मे 'समाधि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको प्राप्त करने के लिए ध्यान[1] का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है : (१) वितर्क विचार प्रीति सुख एकाग्रता सहित, (२) प्रीति सुख एकाग्रता सहित, (३) सुख एकाग्रता सहित और (४) एकाग्रता सहित।

ध्यान की एकाग्रता के लिए योगी को आचार-विचार एवं नीति-नियमो का सम्यक्रूपेण पालन करना चाहिए, क्योकि संयम के विना ध्यान अथवा समाधि लगाना वैसे ही निरर्थक है, जैसे कि फूटे घड़े मे पानी भरना व्यर्थ है। चित्तवृत्तियो की पूर्ण शान्ति एवं एकाग्रता के लिए भी सयमी तथा सदाचारी रहना वाछनीय है। इन सारे आचार-विचारो का विस्तृत वर्णन सुत्तपिटकों में हुआ है। बौद्धागम मे प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा है। प्राणायाम की विधि के उपयोग की सार्थकता बताते हुए कहा है कि चित स्थिर रखने के लिए साधक को चाहिए कि वह शरीर स्थिर करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि इस पर भी उसका चित्त शान्त नही होता है तो साधक को चाहिए कि वह गणना, अनुबन्धा, स्पर्श, स्थापना का प्रयोग करे।[2]

बौद्ध योग मे नैतिक जीवन के सिद्धान्त इस प्रकार माने गये हैं—दान, वीर्य, शील, शान्ति, धैर्य, ध्यान और प्रज्ञा,[3] क्योकि इनके द्वारा व्यक्ति मे उच्च भावो का विकास होता है तथा दृष्टि क्षिति का विस्तार होता है। बौद्ध योग-साधना मे चार स्मृतियाँ अर्थात् कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्मृतियो के अन्तर्गत ही इन्द्रिय-सयम, चार आर्यसत्य, अष्टागिक मार्ग, सप्त बौध्यग, चार ध्यान तथा अनात्मवाद आते हैं।[4] इस प्रकार शरीर को निश्चल करने का मार्ग बतलाकर संसार के चार कारणो अर्थात् चार

---

१. दीघनिकाय, १।२; पृ० २८-२९
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, परिच्छेद ८
३. उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुत ॥—बोधिचर्यावतार, ५।८३
४. दीघनिकाय, २।९, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भा० १, पृ० ३४३

आर्य सत्यो[1] का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है : (१) दु:ख, (२) दु:ख समुदाय, (३) दु:खनिरोध और (४) दुःख-निरोध के उपाय। बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मे दु ख ही दुःख है। इन दु ख समुदायो की जड़ें बहुत हैं, जिन्हे द्वादश निदान अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।[2] वे इस प्रकार हैं—(१) अविद्या, (२) सस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जाति, और (१२) जरामरण। इन सबका सम्बन्ध भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ है। इन आर्यसत्यो का निरोध करने के लिए अविद्या का निरोध अत्यावश्यक है, क्योंकि केवल अविद्या ही इन द्वादश निदानो की जड़ है। इस सन्दर्भ मे दुःख-निरोध-मार्ग की चर्चा करते हुए बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का मार्ग बतलाया है जो अष्टागमार्ग से भी जाना जाता है।[3] यह अष्टांग मार्ग इस प्रकार है—(१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक्सकल्प, (३) सम्यक्वचन, (४) सम्यक्कर्मान्त, (५) सम्यक्-आजीव, (६) सम्यक्व्यायाम, (७) सम्यक्स्मृति, तथा (८) सम्यक्-समाधि। इन मार्गो के सम्यक् सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है एवं निर्वाण प्राप्त होता है।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बतलाये गये हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील अर्थात् सात्विक कर्म जिनका पालन भिक्षु-भिक्षुणी एव श्रावको के लिए अनिवार्य है।[4] अहिसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा व्यसन-निरोध को पचशील कहा गया है। ये पंचशील आचार-विचार को नियन्त्रित एव शुद्ध करते हैं, जो बोधि-लाभ करनेवाले साधक के लिए आवश्यक हैं। इन पचशीलो के साथ-साथ भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए अपराह्न मे भोजन करने का त्याग, माला धारण न करना, सगीत से परहेज, सुवर्ण-रजत के व्यामोह का त्याग तथा महार्घ शय्या का भी परित्याग करना आवश्यक है।

---

१. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १६, पृ० १०५

२. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १७, पृ० १२९

३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १६, पृ० १२१

४. दीघनिकाय, पृ० २४–३३

इस प्रकार संयमपूर्ण आचार-विचार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विधान किया है, जो योग के ही स्रोत हैं। इनके अतिरिक्त योग-साधना के विभिन्न अगोपागो की विस्तृत चर्चा 'मिलिन्दप्रश्न' में है।[१] बौद्ध योग मे यद्यपि पातंजल योग की भाँति व्यवस्थित एव क्रमबद्ध योग की चर्चा नही हुई है, तथापि बुद्ध ने बोधिप्राप्ति के लिए जो-जो उपाय बतलाये हैं, वे निश्चय ही आध्यात्मिक अथवा योग-मार्ग के सोपान है।

१. मिलिन्दप्रश्न, ६।१।१

: २ :

जैन योग-साहित्य

प्रस्तुत प्रकरण मे केवल जैन योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थो का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है, ताकि जैन योग की परम्परा एव विकासक्रम का परिचय प्राप्त हो सके। जैन योग की मौलिकता, व्यापकता तथा विविक्तता पर विशेष विचार तृतीय अध्याय मे किया गया है।

भारतीय वाङ्मय में योग विषयक ऊर्जस्वी विचार अपने मूलरूप मे अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद में योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, कठ-तैत्तिरीयादि उपनिषदो मे 'योग' की परिभाषा, महाभारत, गीता तथा बौद्ध ग्रंथो मे वर्णित योग विषयक प्रचुर सामग्री को देखकर योग-दर्शन एव साधना की अतिव्यापकता एव प्राचीनता का अनुमान सहज ही लग जाता है।

'योग-विद्या' के प्रवर्तको में महर्षि पतंजलि अग्रगण्य एवं प्रधान आचार्य हैं, जिन्होने अनेक प्राचीन ग्रन्थो में बिखरे हुए योग सम्बन्धी विचारो को अपनी असाधारण प्रतिभा तथा प्रयोगो द्वारा सजा-सँवार कर 'योगदर्शन' ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह ग्रन्थ उनकी असाधारण प्रतिभा तथा गम्भीर मेधाशक्ति का परिचायक है।

जैन परम्परा मे सर्वप्रथम, (ई० ८वीं शती मे) हरिभद्रसूरि ने 'योग' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ मे किया है। 'योग' शब्द के समानार्थक सवर, ध्यान, तप आदि शब्द आगमों में मिलते हैं। आगमों मे ध्यान के भेद-प्रभेद तथा आचार-संहिता आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।[१] आगमो में योग से सम्बन्धित विषयो का विशद वर्णन निर्युक्ति में मिलता है।[२] इनमे ध्यान के साथ कायोत्सर्ग तप का विशेष रूप से वर्णन है।

---

१. स्थानागसूत्र, ४।१; भगवतीसूत्र, २५।७
समवायागसूत्र, ४, उत्तराध्ययनसूत्र, ३०।३५

२. आवश्यकनिर्युक्ति, १४६२-१४८६

ध्यानशतक[1]

जैन योग विषयक प्राचीन ग्रन्थ 'ध्यानशतक' है। इसके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (ई० सातवी शती) हैं। यह ग्रन्थ आगम-शैली मे लिखा गया है। इसमे ध्यान के चारों प्रकारो का वर्णन है। प्रथम दो ध्यान आर्त्त और रौद्र कषाय तथा वासनाओ को बढाते हैं, तथा अन्य दो ध्यान धर्म और शुक्ल मोक्ष के कारणभूत हैं। धर्मध्यान मोक्ष का सीधा कारण नही है। वह शुक्लध्यान का सहयोगी मात्र है। शुक्लध्यान मोक्ष का सीधा कारण है।[2] इस ग्रंथ मे बताया गया है कि जीव को कषाये, वासनाएँ एव लेश्याएँ कैसे बाँधती हैं। इसमे आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षाओ का भी वर्णन है।

मोक्षपाहुड

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनका समय अनुमानतः ई० पू० द्वितीय शताब्दी के आसपास है।[3] मोक्षपाहुड मे १०६ गाथाएँ है। इसमे जैन योग सम्बन्धी बहुत महत्त्वपूर्ण बातो का वर्णन है। इस छोटे-से ग्रन्थ मे आत्मा के विभिन्न स्वरूपो का परिचय कराते हुए बताया है कि मिथ्यात्व के कारण जीव की कैसी दशा होती है। आत्मध्यान में प्रवृत्त होने के लिए कषायो के आवरण को हटाने का उपदेश है, क्योंकि इसमे सभी आस्रवो का निरोध होता है और संवर-निर्जरा से सचित कर्मों का क्षय होता है। मुनि के लिए पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि चारित्र का भी वर्णन है। बहुत से योगी विषय-वासना से मोहित होकर तपोभ्रष्ट हो जाते हैं, अतः योगी मुनि को ध्यान-साधना में सावधान रहने के लिए कहा है। इसमे श्रावक-धर्म का भी वर्णन है। यथार्थतः यह रचना योग-शतक रूप से लिखी गयी प्रतीत होती है और इसको 'योगपाहुड' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन मे योग के जिन यम-नियमादि आठ अंगो का निरूपण है, उनमें से प्राणायाम को

---

१. इस पर हरिभद्र की टीका है।

२. शुक्लशुचिनिर्मल शकलकर्ममलक्षयहेतुत्वात्।

—योगशास्त्रप्रकाश ४, श्लोक १५, स्वोपज्ञ विवरण

३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना, पृ० ७०

छोड, शेष सात का विषय यहाँ स्फुट रूप से जैन परम्परानुसार पाया जाता है।[1]

समाधितन्त्र

यह[2] भी कुन्दकुन्दाचार्य की रचना है। इसमे ध्यान तथा भावना का निरूपण है। इस पर पर्वतधर्म और नाथूमल रचित दो टीकाएँ भी थी, जो अनुपलब्ध है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी हैं। इनका समय विक्रम की पहली से चौथी शती के बीच मे आँका जाता है।[4] इस ग्रन्थ मे जैनदर्शन का पूर्णरूपेण समावेश हुआ है। इस ग्रन्थ पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो के आचार्यों ने अनेक टीकाएँ अथवा भाष्य लिखे है।[5] यह मोक्ष-मार्ग प्रतिपादक एक अनूठा सूत्रग्रन्थ है। इसमे दस अध्याय हैं। पहले अध्याय मे ज्ञान-क्रिया का वर्णन है। दूसरे से लेकर पाँचवें अध्याय तक ज्ञेय का और छठे से लेकर दसवें तक चारित्र का वर्णन है। योग-निरूपण मे प्राय. चारित्र का ही वर्णन होता है, क्योकि चारित्र के पालन से ही आध्यात्मिक विकास होता है।

इष्टोपदेश

योग विषयक आचार्य पूज्यपादकृत जो दो संस्कृत रचनाएँ उल्लेखनीय हैं, उनमे एक इष्टोपदेश है।[6] आचार्य पूज्यपाद का समय विक्रम की पाँचवी-छठी शती है।[7] इष्टोपदेश ५१ श्लोको की छोटी-सी रचना

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११६
२. इस नाम से पूज्यपाद एवं यशोविजयगणि की भी रचनाएँ प्राप्त हैं।
—जिनरत्नकोश, पृ० ४२१
३. वही।
४. तत्त्वार्थसूत्र (प० सुखलाल-विवेचन), प्रस्तावना, पृ० ९
५. विशेष के लिए देखिए, वही।
६ आशाधर-टीका, अनुवादक-धन्यकुमार तथा चम्पतराय, प्रकाशक-रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९५४
७. इष्टोपदेश, पृ० ६

है। इसमे योग के निरूपण के साथ-साथ साधक की उन भावनाओ का उल्लेख भी है, जिनके चिन्तन से वह अपनी चचल वृत्तियो को तज कर अध्यात्ममार्ग मे लीन होता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध करके आत्मानुष्ठान मे स्थिर होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।

समाधिशतक[1]

पूज्यपाद का योग से सम्बन्धित यह दूसरा ग्रन्थ है। इसमे १०५ श्लोक हैं, जिनमे आत्मा की तीन अवस्थाओं (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा) का वर्णन है। ध्यान-साधना मे अविद्या, अभ्यास एव संस्कार के कारण अथवा मोहोत्पन्न राग-द्वेष द्वारा चित्त मे विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खीचकर आत्मतत्त्व में नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। इस छोटे-से किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मे ध्यान तथा समाधि द्वारा आत्मतत्त्व को पहचानने के उपायों का सुन्दर विवेचन है। विषय की दृष्टि से इसका कुन्दकुन्दकृत मोक्ष-पाहुड से बहुत-कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओ का शब्दशः अथवा किंचित् भेद-सहित अनुवाद पाया जाता है।[2] इस पर प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म तथा दशचन्द्र की टीकाएँ और मेघचन्द्र की एक वृत्ति भी मिलती है।[3]

परमात्मप्रकाश[4]

इस अपभ्रश ग्रन्थ के रचयिता योगीन्दुदेव हैं। डा० हीरालाल

---

१. यह कृति सनातन जैन ग्रन्थमाला ने सन् १९०५ मे, फतेहचन्द देहली ने वि० स० १९७८ मे तथा अग्रेजी अनुवाद के साथ एम० एन० द्विवेदी ने अहमदाबाद से सन् १८९५ मे प्रकाशित की है। मराठी अनुवाद के साथ इसकी द्वितीय आवृत्ति आर० एन० शाह ने शोलापुर से सन् १९४० मे प्रकाशित की है।

२. भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १२०

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २५८

४. परमात्मप्रकाश और योगसार, रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ई० सन् १९१५, सपादक डा० ए० एन० उपाध्ये, ई० सन् १९३७; दूसरा संस्करण, ई० स० १९६०

जैन और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इस ग्रन्थ का समय अनुमानत ई० छठी शताब्दी है। परमात्मप्रकाश पर अनेक टीकाएँ रची गयी हैं, जिनमें ब्रह्मदेव, बालचन्द्र, पण्डित दौलतरामजी तथा मुनिभद्रस्वामी (कानडी की टीका) प्रमुख हैं।[1] इस पुस्तक में मानसिक दोषो के परिहार के उपाय एवं त्रिविध आत्मा के सम्बन्ध में समुचित विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में ३४५ दोहे हैं। परमात्मप्रकाश के कुछ दोहे आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत हैं।

योगसार

यह भी योगीन्दुदेव की ही अपभ्रंश भाषा की छोटी-सी १०७ दोहों की रचना है। इन दोहो के माध्यम से आध्यात्मिक गूढ तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इस ग्रन्थ पर इन्द्रनन्दी की टीका है।[2] योगसार नाम के अन्य ग्रन्थ भी हैं, जिनका उल्लेख आगे आयेगा।

हरिभद्र की योग विषयक रचनाएँ

आचार्य हरिभद्र का समय ई० सन् ७५७ से ८२७ तक है। योग सम्बन्धी उनकी छह रचनाएँ इस प्रकार हैं : (१) योगशतक, (२) ब्रह्मसिद्धान्तसार, (३) योगविंशिका, (४) योगदृष्टि समुच्चय, (५) योगबिन्दु और (६) षोड्शक। इनमें से योगशतक और योगविंशिका प्राकृत में हैं एवं शेष कृतियाँ संस्कृत मे हैं। यहाँ संक्षेप में आचार्य हरिभद्र की रचनाओ का परिचय दिया जा रहा है।

(अ) योगशतक[3]—१०१ प्राकृत गाथाओ के इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप निरूपित है। गाथा ३८ से ५०

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११८

२. परमात्मप्रकाश तथा योगसार, सम्पादक ए० एन० उपाध्ये, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७, पृ० ११५

१. यह ग्रन्थ सन् १९६५ मे स्वोपज्ञवृत्ति तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के साथ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। डा० इन्दुकला झवेरी द्वारा सम्पादित योगशतक हिन्दी अनुवाद के साथ गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद से सन् १९५९ मे प्रकाशित हुआ है।

तक साधक के आध्यात्मिक विकास के उपाय वर्णित हैं। गाथा ५९ से ८० तक बताया गया है कि चित्त को स्थिर करने के लिए साधक को किस तरह अपने रागादि दोष तथा परिणामो का चिन्तन करना चाहिए। इनमे शयन, आसन, आहार तथा योगो से प्राप्त लब्धियो का भी वर्णन है। इस तरह योग का स्वरूप, योगाधिकारी के लक्षण एवं ध्यानरूप योगावस्था का सामान्य वर्णन जैन-परम्परानुसार किया गया है।

(आ) ब्रह्मसिद्धान्तसार—इस ग्रन्थ मे ४२३ श्लोक हैं, जिनमे ब्रह्मादि सिद्धान्तो का वर्णन जैन योगानुसार किया गया है। इस ग्रन्थ मे सर्व-दर्शनो का समन्वयवाला अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(इ) योगविंशिका[1]—यह २० गाथाओं की छोटी-सी रचना है जिसमें अति सक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण है, जिनमें कुछ नये पारिभाषिक शब्द हैं। हरिभद्र ने इस ग्रन्थ मे आचारनिष्ठ एवं चारित्रसम्पन्न व्यक्ति को योग का अधिकारी माना है और मोक्ष के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले धर्मव्यापारो को योग कहा है। योग के इन पाँच भेदो का वर्णन भी है—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन। इस ग्रन्थ मे चैत्यवन्दन की क्रिया का महत्त्व भी वर्णित है। इनके अतिरिक्त इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि इन चार यमो एवं प्रीति, भक्ति, वचन और असग अनुष्ठानो का भी वर्णन है। इस पर यशोविजयजी की एक टीका भी है।

(ई) योगदृष्टिसमुच्चय[2]—इसमे २२७ संस्कृत पद्य हैं, जिनमे आध्या-

---

१. (क) पं० सुखलालजी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ श्री जैन आत्मानन्द महासभा, भावनगर से सन् १९२२ मे प्रकाशित हो चुका है।
(ख) ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्वर संस्था, रतलाम से सन् १९२७ मे प्रकाशित।
(ग) प्रो० के० वी० अभ्यकर द्वारा सम्पादित, सन् १९३२ मे पूना से प्रकाशित।
(घ) श्री बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बीजापुर (उत्तर गुजरात) द्वारा वि० सं० १९९७ मे प्रकाशित।

२. यह कृति स्वोपज्ञवृत्ति के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत से सन् १९११ मे प्रकाशित हुई है। ताराचन्द मेहता द्वारा सम्पादित योगदृष्टिसमुच्चय सविवेचन बम्बई से सन् १९५० मे प्रकाशित।

त्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है और उनमे अपनी कुछ नवीन विशेषताओ के साथ योगबिन्दु में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति भी की गयी है। योगविन्दु मे वर्णित पूर्वसेवा का वर्णन इसमे योगबीज रूप से हुआ है।

यहाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार जिसे योगदृष्टि कहते हैं, इसमे योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर उसके अन्त तक की भूमिकाओ को क्रमश: दिखलाया गया है। वे आठ दृष्टियाँ इस प्रकार हैं—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग का समावेश किया गया है। तृतीय वर्गीकरण के अन्तर्गत योगाधिकारी के रूप मे गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी का वर्णन है। प्रथम वर्गीकरण मे निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियो में ही १४ गुणस्थानों की योजना कर ली गयी है।

इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने एक स्वोपज्ञवृत्ति रची है, जो ११७५ श्लोकप्रमाण है। इस ग्रन्थ पर एक और वृत्ति की रचना हुई है जिसके लेखक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणि हैं। यह ग्रन्थ ४०५ श्लोक-प्रमाण है।[1]

ध्यातव्य है कि उक्त आठ योगदृष्टियो (मित्रा, तारा, बला आदि) पर यशोविजयजी ने चार द्वात्रिंशिकाएँ भी लिखी हैं और गुजराती मे योगदृष्टिनी सज्झाय नामक छोटी-सी पुस्तक लिखी है। इन दृष्टियो की समुचित विवेचना जैनदृष्टिए योग (गुजराती भाषा) तथा अध्यात्म-तत्त्वालोक (संस्कृत) मे क्रमश. मोतीचन्द कापडिया और मुनि न्याय-विजयजी ने की है।

(उ) योगबिन्दु[2]—हरिभद्र के इस ग्रन्थ मे ५२७ सस्कृत पद्य हैं,

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २३७

२. योगविन्दु, हरिभद्रीय स्वोपज्ञटीका, सम्पादक, डा० एल० सुआलि, प्रकाशक—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९११; जैनग्रन्थ प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९४०, बुद्धिसागर जैन ज्ञानमन्दिर, सुखसागर ग्रंथमाला, तृतीय प्रकाशन, सन् १९५०

जिनमें जैन योग के विस्तृत प्ररूपण के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों की भी चर्चा है और उन योगो के साथ जैन योग की समालोचना भी की गयी है। योगाधिकारियो के सम्बन्ध मे बतलाया गया है कि वे दो प्रकार के होते हैं: (१) चरमावर्ती तथा (२) अचरमावर्ती। चरमावर्ती योगी ही मोक्ष के अधिकारी हैं। विभिन्न प्रकार के जीव के भेदो के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि अथवा भिन्न ग्रन्थि, देशविरति तथा सर्वविरति की चर्चा की गयी है। पूर्वसेवा के सन्दर्भ में योगाधिकार प्राप्ति के विविध अपेक्षित आचार-विचारो का वर्णन है। आध्यात्मिक विकास के क्रमशः अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षेप—इन पाँच भेदों का निर्देश है, जिनके सम्यक् पालन से कर्मक्षय होता है तथा मुक्ति प्राप्त होती है। प्रत्येक योगाधिकारी के अनुष्ठान की कोटियो का वर्णन भी है, जिन्हे लेखक ने विष, गरल, सद्-असद् अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृतानुष्ठान द्वारा निर्दिष्ट किया है।

(ऊ) षोडशक[1]—इस ग्रन्थ के कुछ ही प्रकरण योग विषयक हैं। ग्रन्थ के चौदहवे प्रकरण में योग-साधना मे बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुग् और आसग इन आठ चित्त-दोषो का वर्णन किया गया है। सोलहवें प्रकरण मे उक्त आठ दोषो के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति—इन आठ चित्त-गुणो का निरूपण है। योगसाधना द्वारा क्रमशः स्वानुभूति-रूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण है। इस ग्रन्थ पर योगदीपिका नाम की एक वृत्ति है जिसके लेखक यशोविजयगणि हैं। इस पर यशोभद्रसूरि का विवरण भी है।

आत्मानुशासन[2]

आचार्य गुणभद्र की संस्कृत श्लोकों की यह कृति योगाभ्यास को

---

१ यशोभद्रसूरि के विवरण सहित, ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, वीर नि० सं० २४६२

२. आत्मानुशासन, टीकाकार एवं अंग्रेजी अनुवादक जे० एल० जैनी, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनाज ग्रन्थमाला, ई० सन् १९२८; पं० टोडरमल्ल रचित टीका के साथ, संपादक इन्द्रलाल शास्त्री, मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, जयपुर, वीर नि० सं० २४८२

पूर्वपीठिका है। इसमे बताया गया है कि मन को बाह्य विषयो से हटाकर आत्मध्यान की ओर प्रेरित करना चाहिए। इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० ९वी शताब्दी का मध्यभाग है।[1]

योगासारप्राभृत[2]

इस संस्कृत ग्रन्थ के रचयिता मुनि अमितगति है, जिसमे ५४० श्लोक हैं। रचना-काल ई० १०वीं शताब्दी है। इसमे ९ अधिकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) सवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष, (८) चारित्र, एवं (९) चूलिका। इस ग्रन्थ मे योगसम्बन्धी अपेक्षित विषय का विस्तृत वर्णन है। इनके अतिरिक्त जीव-कर्म का सम्बन्ध, जीव-कर्म के कारण, कर्म से छूटने के उपाय, ध्यान, चारित्र आदि का भी वर्णन है। अन्त में मोक्ष के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला गया है। मुनि एव श्रावक के व्रतो की भी चर्चा है।

ज्ञानसार[3]

यह योगपरक एक नातिदीर्घ महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ है। इसमें कुल ६३ गाथाएँ हैं। इसके रचयिता मुनि पद्मनन्दि हैं जिनका समय विक्रम स० १०८६ है। यद्यपि इस ग्रन्थ के वर्ण्यविषय ज्ञानार्णव के ही अनुसार हैं और इसमे ध्यान के भेद-प्रभेद, विविध प्रकार के मन्त्र एव जप, शुभ-अशुभ के फल आदि का वर्णन हुआ है, तथापि इन विषयों के प्रतिपादन मे रोचकता एवं स्पष्टता अधिक है।

ध्यानशास्त्र अथवा तत्त्वानुशासन[4]

इस ग्रन्थ के लेखक रामसेनाचार्य हैं, जिनका समय विक्रम की १०वीं

---

१. भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १२१

२. (अ) हिन्दी अनुवाद के साथ पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९१८

(ब) भाष्य के साथ जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९६९

३. सम्पादक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत, वीर नि० सं० २४७०

४. (अ) माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्रथम संस्करण, वि० स० १९७५

शताब्दी है ।[1] इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः ध्यान है और ध्यान के नैमित्तिक एवं सहायक तत्वो का विश्लेषण-विवेचन भी है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र की अनिवार्यता निरूपित है। मन की एकाग्रता के लिए ध्यान का महत्त्व वतलाया गया है, इसलिए ध्यान के भेदो का विशेष वर्णन है। मन्त्र, जप, आसन आदि का भी वर्णन है।

पाहुडदोहा[2]

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि रामसिंह हैं। डा० हीरालाल जैन के अनुसार इनका समय ई० सन् ९३३ और ११०० के बीच अर्थात् १००० के आसपास होना चाहिए।[3] यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य योगिन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश और योगसार से साम्य रखता है, तथापि इस ग्रन्थ मे बहुत से ऐसे दोहे हैं जिनमें वाह्य क्रियाकाण्ड की निष्फलता तथा आत्मसयम और आत्मदर्शन मे ही सच्चे कल्याण का उपदेश है। झूठे जोगियो को खूब फटकारा गया है। इसमे योग एव तन्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो के भी दर्शन होते हैं, जैसे शिव, शक्ति, देहदेवली, सगुण-निर्गुण, दक्षिण-मध्य आदि। इस ग्रन्थ मे २२२ दोहे हैं। यह अपभ्रंश भाषा मे है।

ज्ञानार्णव[4]

आचार्य शुभचन्द्रकृत इस ग्रन्थ के दो अन्य नाम भी मिलते हैं

(ब) सम्पादक, जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन्, १९६३

१. तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पृ० ३४

२. सम्पादक, डा० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन कारजा, सन् १९३३

३. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११९

४. (अ) रायचन्द जैन ग्रन्थमाला, वम्बई, ई० स० १९०७

इस ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ प्राप्त होती हैं, जिनके टीकाकार हैं—श्रुतसागर, नयविलास और अज्ञात।

(आ) जैन संस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, ई० स० १९७७, श्री प० वालचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित सस्करण।

यथा योगार्णव अथवा योगप्रदीप। ये सम्भवत. राजा भोज के काल में अर्थात् विक्रम की १२वी शती मे हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ मे ३९ प्रकरण और २२३० श्लोक हैं। यह एक उत्कृष्ट योगपरक ग्रन्थ है। इसमें बारह भावनाओ के स्वरूप, संसारबन्धन के कारण, कषाय, मन के विषय, आत्मा एवं बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध, यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि का विस्तृत एव सुस्पष्ट वर्णन है। ध्यान एव ध्यान के भेदो का विशेष विश्लेषण-विवेचन है; साथ ही मन्त्र, जप, शुभ-अशुभ, शकुन, नाडी आदि विषयो पर भी प्रकाश डाला गया है।

योगशास्त्र अथवा अध्यात्मोपनिषद्[2]

यह ग्रन्थ १२वी शताब्दी के कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रकृत है। वस्तुत. यह योगशास्त्र का एक बहुचर्चित ग्रन्थ है, जो एक हजार श्लोक-प्रमाण है। इस पर उनकी एक स्वोपज्ञवृत्ति भी है, जिसके द्वारा योगशास्त्र के ही विषयो को कथाओ एव दृष्टान्तों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया गया है। यह वृत्ति बारह हजार श्लोकप्रमाण है। योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

योगशास्त्र मे बारह प्रकाश अथवा अध्याय हैं। प्रथम से तृतीय अध्याय तक साधु एवं गृहस्थों के आचारों का निरूपण है। चौथे अध्याय में कषायो पर विजय पाने तथा समतावृत्ति के स्वरूपादि का वर्णन है।

---

१ भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १२१,
जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, पृ० ३०

२. (अ) हेमचन्द्रीय स्वोपज्ञवृत्ति, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९२१

(आ) स्वोपज्ञवृत्ति सहित, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, ई० १९२६,

(इ) सम्पादक मुनि समदर्शी, ऋषभ जौहरी, दिल्ली, सन् १९६३

(ई) गुजराती भाषा मे अनूदित एवं सम्पादित, जगजीवनदास, बम्बई, सन् १९४१

(उ) गो० जी० पटेल द्वारा सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३८

(ऊ) इस पर इन्द्रनन्दी की एक टीका प्राप्त है जो कारजा के ग्रन्थभण्डार मे सुरक्षित है। इसका समय वि० सं० ११८० है।

(ऋ) इस पर दूसरी टीका सवत् १३२४ मे लिखी हुई देवपत्तन मे प्राप्त है।

पाँचवें अध्याय में प्राणायाम का विषय है और बताया गया है कि प्राणायाम मोक्ष-साधना के लिए अनावश्यक है। छठे अध्याय मे परकायाप्रवेश, प्रत्याहार एवं धारणा के स्वरूप और उनके फलो का वर्णन है। सात से दसवें अध्याय तक आर्त्त, रौद्र और धर्मध्यान के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा है। ग्यारहवे एव बारहवे अध्याय मे क्रमश. शुक्लध्यान तथा स्वानुभव के आधार पर योग का सम्यक् विवेचन है।

अध्यात्मरहस्य अथवा योगोद्दीपन[1]

योगविषयक इस ग्रन्थ के रचयिता पं० आशाधरजी है। उन्होने वि० सं० १३०० मे अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका पूरी की और उसमे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[2] अतएव उससे कुछ समय पहले ही इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इस ग्रन्थ की पदसख्या ७२ है। इस ग्रन्थ में विशेषत. अध्यात्मयोग की चर्चा है और उसके सन्दर्भ मे ही आत्मा एव परमात्मा से सम्बन्ध रखनेवाले गूढ तत्त्वों का भी वर्णन है। अवान्तर रूप मे कर्म, ध्यान आदि विषयो का भी विवेचन है।

योगसार[3]

विक्रम की १२वी शती के पूर्व विनिर्मित यह ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक है। इस ग्रन्थ में कुल १०६ सस्कृत पद्य हैं, जिनमे पाँच प्रस्तावो के विधान हैं, यथा—(१) यथावस्थित देवस्वरूपोपदेश, (२) तत्त्वसार धर्मोपदेश, (३) साम्योपदेश, (४) सत्वोपदेश और (५) भावशुद्धिजनकोपदेश।

योगप्रदीप[4]

इस सस्कृत ग्रंथ के प्रणेता का नाम एवं उनका समय अज्ञात है।

---

१. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९५७

२ अध्यात्मरहस्य, प्रस्तावना, पृ० ३४

३. गुजराती अनुवाद अमृतलाल कालीदास दोशी, जैन विकास साहित्य मण्डल, बम्बई, सन् १९६८

४. (अ) सम्पादक जीतमुनि, जोधपुर, वीर नि० स० २४४८
(आ) प्रकाशक-जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, ई० सन् १९६०

इसमे कुल १४२ श्लोक हैं, जिनमें परमात्मा के साथ शुद्ध मिलन, परमपद की प्राप्ति आदि की विस्तृत चर्चा है। प्रसगवश उन्मनी-भाव, समरसता, रूपातीत ध्यान, सामायिक, शुक्लध्यान, अनाहतनाद, निराकार ध्यान आदि विषयो का प्रतिपादन भी है।

यशोविजयकृत योगपरक ग्रन्थ

यशोविजयजी का समय ई० १८वी शताब्दी है। इन्होने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतारबत्तीसी, पातंजल योगसूत्रवृत्ति, योगविंशिका की टीका तथा योगदृष्टिनी सज्झायमाला की रचना की है। इन ग्रन्थो में इन्होने योगसम्बन्धी बहुत सी बातों का विवेचन व स्पष्टीकरण किया है। रचनाओ का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१. **अध्यात्मसार**[1]—यह ग्रन्थ सात प्रकरणो में विभक्त है। योगाधिकार एवं ध्यानाधिकार प्रकरण मे मुख्यत गीता एव पातंजल योग-सूत्र के विषयो के सन्दर्भ में जैन योग-परम्परा के प्रसिद्ध ध्यान के भेदो का समन्वयात्मक विवेचन है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की उपयोगिता स्वयसिद्ध है।

२. **अध्यात्मोपनिषद्**[2]—इस ग्रन्थ मे शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रिया-योग और साम्ययोग पर समुचित प्रकाश डाला गया है और औपनिषदिक एवं योगवासिष्ठ की उद्धरणियों के साथ जैन-दर्शन की तात्त्विक समानता दिखलायी गयी है।

३. **योगावतारबत्तीसी**[3]—इस ग्रन्थ मे ३२ प्रकरण हैं जिनमे आचार्य हरिभद्र के योग-ग्रन्थो की ही विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रतिपादित है।

४. **पातंजलयोगसूत्र एवं योगविंशिका**[4]—पातंजलयोगसूत्र के सन्दर्भ में जैन योग का विश्लेषण एवं विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है।

---

१. श्री यशोविजयगणि, प्रकाशक, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर वि० सं० १९९४

२. वही

३. सटीक, प्रकाशक-जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९६६

४. सम्पादक—पं० सुखलाल, प्रकाशक-जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२

प्रसंगवश दोनो परम्पराओं के योगो मे समानता एव असमानता पर भी प्रकाश डाला गया है। योगविंशिका मे योगसूत्रगत समाधि की तुलना जैन ध्यान से की गयी है।

५ **योगदृष्टिनी सज्झायमाला**—यह गुजराती भाषा की रचना है। योगदृष्टिसमुच्चय मे प्रतिपादित आठ दृष्टियो का ही सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करना इस का प्रतिपाद्य है।

ध्यानदीपिका[1]

यह देवेन्द्रनन्दि की वि० स० १७६६ में लिखी गुजराती रचना है। छह खण्डो मे विभक्त इस कृति मे बारहभावना, रत्नत्रय, महाव्रत, ध्यान, मन्त्र तथा स्याद्वाद का निरूपण है।

ध्यानविचार[2]

इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के शास्त्र-भण्डार मे है। यह गद्यात्मक है। इसमे भावना, ध्यान, अनुप्रेक्षा, भावनायोग, काययोग एवं ध्यान के २४ भेदो का विवेचन है।

वैराग्यशतक[3]

यह धनदराज की कृति है। इसमे १०८ पद्य हैं। दूसरे श्लोक मे इस ग्रन्थ को शमशतक भी कहा गया है। इसमे योग, काल की करालता, विषयो की विडम्बना और वैराग्यपोषक तत्त्वो का निरूपण है।

अध्यात्मकमलमार्तण्ड[4]

कवि राजमल्ल विरचित इस ग्रन्थ मे २०० श्लोक हैं। इसमे चार परिच्छेद तथा मोक्षमार्ग, द्रव्य-लक्षण, द्रव्य-विशेष और जीवादि सात तत्त्वो का निरूपण है।

---

१ अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल द्वारा सन् १९२९ मे प्रकाशित।

२. यह ग्रन्थ जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से सन् १९६१ मे प्रकाशित हुआ है।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २२३

४. यह कृति माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से वि० स० १९९३ मे प्रकाशित है।

अध्यात्मतत्त्वालोक[1]

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि न्यायविजय हैं। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय योग है। इसमे आठ प्रकरणो के निर्देश इस प्रकार है :

प्रथम प्रबोधन नामक प्रकरण मे आत्मा के विकास का वर्णन है।

द्वितीय पूर्वसेवा नामक प्रकरण में गुरु, माता-पिता तथा अपने से बड़ो की पूजा का वर्णन है।

तृतीय अष्टाग नामक प्रकरण मे आठ योगो का निरूपण है।

चतुर्थ कषाय नामक प्रकरण मे कषायो पर जय पाने का विस्तृत वर्णन है।

पञ्चम ध्यानसामग्री प्रकरण में चञ्चल मानसिक वृत्तियो को स्थिर रखने के उपाय बतलाये गये हैं।

षष्ठ ध्यानसिद्धि प्रकरण मे आगमोक्त चार प्रकार के ध्यानो का विवेचन है।

सप्तम योगश्रेणी प्रकरण मे योग की विभिन्न श्रेणियो को बतलाते हुए योग की उस उच्चतम अवस्था का उल्लेख है, जहाँ से आत्मा कभी लौटती नही।

अष्टम या अन्तिम उद्‌गार नामक प्रकरण मे साधु-असाधु अथवा ज्ञानी-अज्ञानी के आत्मतत्त्व पहचानने के उपाय बतलाये गये हैं।

साम्यशतक[2]

यह १०६ श्लोको मे निबद्ध विजयसिंहसूरि की रचना है। इस पुस्तक की विषयवस्तु समाधिशतक जैसी ही है।

योगप्रदीप[3]

२३ प्रकाशो मे विभक्त इस ग्रन्थ के कर्त्ता उपाध्याय श्रीमंगलविजय-जी महाराज हैं। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'आर्हत-धर्म प्रदीप' भी है। ग्रन्थकार ने पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थो का अनुगमन किया है, फिर भी अपनी

---

१ श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन द्वारा वीर नि० स० २४६९ में प्रकाशित।

२. ए० एम० एण्ड कम्पनी, बम्बई की ओर से सन् १९१८ मे प्रकाशित।

३. हेमचन्द सवनचन्द शाह, कलकत्ता द्वारा वीर नि० सं० २४६६ मे प्रकाशित।

विशिष्ट शैली द्वारा इसको अनूठा बना दिया है। इसमें जैन योग के साथ-साथ पातंजल योगसूत्र, हठयोग, गीता एवं बौद्ध योग की तुलना की गयी है।

अध्यात्मकल्पद्रुम[1]

इस ग्रन्थ की रचना मुनिसुन्दरसूरीश्वर महाराज ने की है। इस ग्रन्थ के १६ अधिकारो मे योगी के लिए अपेक्षित सामग्रियों की चर्चा है। प्रथम अधिकार में चार भावनाओ का निरूपण हुआ है। दूसरे अधिकार मे स्त्री को परिग्रह-स्वरूप बतलाकर उसका परित्याग करने का उपदेश है। तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अधिकार मे क्रमश. पुत्र, धन और शरीर की व्यर्थता बतलाकर उनसे मोहरहित होने का उपदेश है। छठे तथा सातवे अधिकार मे ससार के मूल कारणरूप कषायो का निरूपण है और सयमी जीवन बिताने का निर्देश है। आठवें अधिकार मे शास्त्रपूजा तथा चतुर्गति का विवेचन है। नवे तथा दसवें अधिकार में मनोनिग्रह तथा वैराग्य का उपदेश है। ग्यारहवें, बारहवे तथा तेरहवे अधिकार में धर्म-शुद्धि, देव-शास्त्र-गुरु-पूजा तथा मुनि के आचार सम्बन्धी विचार वर्णित हैं। चौदहवे अधिकार मे सवर, पन्द्रहवे अधिकार मे आवश्यक क्रियाओ और सोलहवे अधिकार मे समता-फलरूपी मोक्ष का वर्णन है।

जैन योग (अंग्रेजी)

इस अग्रेजी पुस्तक के लेखक आर० विलियम्स हैं। इसमे योग का वर्णन न करके योग के आधारभूत अर्थात् श्रावकाचार का ही मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है। श्रावकाचार की पूरी आचारसहिता इसमे आलोचनात्मक ढग से वर्णित है।

इस प्रकार योग-विषयक उन्ही ग्रन्थों का परिचय यहाँ अभीष्ट रहा

---

१. निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई से सन् १९०६ मे प्रकाशित, मूलकृति धनविजयगणि की टीका के साथ मनसुखभाई तथा जमनाभाई भगुभाई ने वि० स० १९७१ मे; जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९११ मे, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९४० मे, तथा भोगीलाल साकलचन्द, अहमदाबाद द्वारा सन् १९३८ मे।

२. ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन द्वारा सन् १९६३ मे प्रकाशित।

है जो प्रमुखतः जैन योगपरक हैं। इनके अतिरिक्त जिनरत्नकोश[1] में अध्यात्म नाम से शुरू होनेवाले ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार दी गयी है—अध्यात्म-भेद, अध्यात्मकलिका, अध्यात्मपरीक्षा, अध्यात्मप्रदीप, अध्यात्मप्रबोध, अध्यात्मलिंग और आध्यत्मसारोद्धार।

जिनरत्नकोश[2] मे योगविषयक अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख है, जिनके कर्त्ता अज्ञात हैं और कृतियाँ प्रायः अनुपलब्ध हैं। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र, योगभक्ति, योगमाहात्म्य, योगरत्नसमुच्चय, योगरत्नावलि, योगविवेकद्वात्रिंशिका, योगसकथा, योगसंग्रह, योगानुशासन एवं योगावतारद्वात्रिंशिका। योगकल्पद्रुम एवं योगतरगिणी ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु उनके कर्त्ता अज्ञात हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी योगविषयक[3] ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है, जिनके लेखको का निर्देश किया गया है—

१. योगदीपिका	—पं० आशाधर
२. योगभेद द्वात्रिंशिका	—पं० परमानन्द
३. योगमार्ग	—प० सोमदेव
४. योगरत्नाकर	—मु० जयकीर्ति
५ योगलक्षणद्वात्रिंशिका	—मु० परमानन्द
६. योगविवरण	—श्री यादवसूरि
७. योगसग्रहसार	—श्री जिनचद्र
८. योगसंग्रहसारप्रक्रिया	—मु० नन्दीगुरु
९. योगसार	—पं० गुरुदास
१०. योगांग	—श्री शान्तरस
११ योगामृत	—श्री वीरसेनदेव

१. जिनरत्नकोश, वि० १, पृ० ५-६, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २६४।
२ वही, तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास; भा० ४, पृ० ३२१-२२।
३ वही, पृ० २५१।

जैन योग का स्वरूप

पृष्ठभूमि

भारतीय सस्कृति मे आध्यात्मिक दृष्टि से निवृत्तिपरक विचार-धारा का अपना मूल्य एव महत्त्व है। निवृत्ति जैनधर्म का प्राणतत्त्व है। आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विकास के लिए निवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है और इसके लिए योग नितान्त अपेक्षित है। यही कारण है कि जैन सस्कृति आचार-विचार एव तपोमूलक प्रवृत्ति को लेकर अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकी है। ऋग्वेद[1] मे वातरशना मुनि के सम्बन्ध में बताया गया है कि अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगलवर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्त होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।[2] अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तप अर्थात् योग की परम्परा, जैन सस्कृति में प्रारम्भ से रही है। उपनिषदो मे[3] तापस और श्रमण को एक माना गया है। इन तथ्यो से स्पष्ट है कि श्रमणो की तपस्या और योग की साधना[4] अत्यन्त पुरानी है और आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य मानी गयी है। मोहनजोदड़ो[5] से प्राप्त

---

१. ऋग्वेद, १०।१३६।२

२. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १३

३. अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा.। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डाल पौल्कसोऽपौल्कस: श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागत पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाछोकान्हृदयस्य भवति।
—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।२२

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, (प्रस्तावना), पृ० २१

5. Modern Review, August, 1932, pp 155-56

कायोत्सर्ग-मुद्रा से युक्त मूर्ति तथा पटना[1] के नजदीक लोहानीपुर से प्राप्त नग्न कायोत्सर्ग मूर्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है।

महर्षि पतञ्जलि ने जैसे 'योग' शब्द का प्रयोग 'आत्मसाधना' के अर्थ में किया है, वैसे 'योग' शब्द का प्रयोग जैनधर्म मे आत्मसाधना के लिए नही हुआ है। जैन-परम्परा मे मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। यह आस्रवरूप है। फिर भी योगसाधना को व्यक्त करनेवाले अगभूत ऐसे अनेक शब्दो का व्यवहार आगमों में हुआ है जैसे ध्यान, तप, समाधि, सवर आदि। समाधि, तप, ध्यान[2] आदि शब्दों का उपयोग योग की तरह ही हुआ है और वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एव सामर्थ्य शब्द प्रकारान्तर से योग के अर्थ को ही व्यजित करनेवाले माने गये हैं।[3] जैनधर्म-दर्शन का पारिभाषिक शब्द संवर- कर्मास्रवो को रोकता है और साधना की दृष्टि से योग से साम्य रखता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[4] (प्रवृत्ति) से रजित कर्म ही आस्रव है तथा इन प्रवृत्तियो का निरोध ही सवर है।[5] योगसूत्रानुसार चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। सवर शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे जैन-परम्परा मे हुआ है। जैन-परम्परा में योग का अर्थ है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। जैसे वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन एवं काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो के चंचल होने को योग कहा गया है,[6] क्योकि इन तीनो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारो से ही कर्मों का आस्रव होता है। अत' जैन-परम्परा मे 'योग' शब्द योगदर्शन के 'योग' शब्द से साम्य नही रखता,

---

१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, प्राक्कथन, पृ० १०

२. झाणसंवरजोगे य।—अभिधानराजेन्द्रकोश, भा० ४, पृ० १६५०

३ जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सति सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥

—पचसग्रह, भा० २, ४

४ पचआसवदारा पण्णत्ता, तं जहा, मिच्छत्त, अविरई, पमायो, कसाया, जोगा।—समवायाग, ५

५ आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१

६ विशेषावश्यकभाष्य, ३५८

क्योकि योगदर्शन के अनुसार वृत्तियो का निरोध योग है और वह पुरुष के कैवल्य की प्राप्ति मे प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरज को आत्मा तक लाता है।[1]

जैन-परम्परा में 'योग' शब्द का पातंजल-योगदर्शनसम्मत सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र द्वारा किया गया है। योग को पारिभाषित करते हुए उन्होने कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो धर्म-क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्म-व्यापार 'योग' है।[2] यम-नियमादि व्यापार जीव के परिणामो की शुद्धि के लिए ही किये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य मन, वचन एव काय द्वारा अर्जित कर्मो की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचारो का अनुष्ठान उत्तम योग है[3], क्योकि इनसे सयम वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की ही विशुद्धावस्था का मार्ग है, जिससे जीव को सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति होती है।

योग का महत्त्व एवं लाभ

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्नत्रय-योग ही परम उच्च मोक्षपद को प्राप्त करने का उत्तम साधन है।[4] यह योग शास्त्रों का उपनिषद् है, मोक्षप्रदाता है तथा समस्त विघ्नबाधाओ को शमन करनेवाला है, इसलिए कल्याणकारी है।[5] यह इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति करानेवाला कल्पतरु एवं चिन्तामणि है। धर्मो मे प्रधान यह योगसिद्धि स्वयं के अनुग्रह अथवा अध्यवसाय से मिलती है।[6] सच्चा

---

१ पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचनकर्ता पं० कैलाशचद्र शास्त्री, पृ० १५०

२. मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।—योगविंशिका, १

३. यतः समितिगुप्तिना प्रपचो योग उत्तम ।—योगभेदद्वात्रिंशिका, ३०

४. ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयात्मकः।
योगोमुक्तिपदप्राप्तानुप्राय. परिकीर्तित ॥—योगप्रदीप, ११३

५ शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी।
अपायशमनो योगो, योगकल्याणकारकम् ॥
—योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका, १

६ योगकल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि पर ।
योगः प्रधान धर्माणा, योग. सिद्धे स्वयग्रहः ॥—योगबिन्दु, ३७

योगी वही है जिसने श्वास को जीत लिया है, जिसके लोचन निस्पन्द हो गये हैं।[1] जो इन्द्रियो के वश मे होते हैं, वे योगी नही हैं।[2]

योग के लिए मन की समाधि एवं प्रकार

योगसिद्धि के लिए मन की समाधि परम आवश्यक है। योगाभ्यास के लिए सर्वप्रथम मन को सयमी करना अनिवार्य है; क्योकि मन के कारण ही इन्द्रियाँ चचल होती हैं, जो आत्मज्ञान मे बाधक हैं तथा एकोन्मुखता के मार्ग मे भटकाव पैदा करती हैं। मन की अस्थिरता के कारण ही रागादि भाव की वृद्धि होती है तथा कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्म चाहे पुण्यप्रकृति के हो या पापप्रकृति के, अन्ततः दोनों ही ससार-बन्धन के कारण हैं। इसलिए दोनो प्रकार के कर्मो को नष्ट करना यौगिक स्थिरता के लिए आवश्यक है। चञ्चल मन को सर्वथा स्थिर करना योग की पहली शर्त है। अतः मन की समाधि योग का हेतु तथा तप का निदान है, क्योकि मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है, तप शिवशर्म का, मोक्ष का मूल कारण है।[3]

योगशास्त्र के अनुसार मन के चार प्रकार हैं[4] : (१) विक्षिप्त मन, (२) यातायात मन, (३) श्लिष्ट मन, (४) सुलीन मन।

विक्षिप्त मन का स्वभाव चञ्चल होता है और यातायात मन का स्वभाव विक्षिप्त मन की अपेक्षा कुछ कम चञ्चल होता है तथा मन को शान्ति प्रदान करनेवाला भी होता है। इसलिए योग-साधकों के लिए इन दो प्रकार के मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।[5] योग की प्रथम

---

१ णिज्जियसासो णिप्फद लोमणो मुक्कसयलवावारो।
एयाइ अवत्य गओ सो जोयउ णत्थि सदेहो ॥—पाहुडदोहा, २०३

२. सो जोयउ जो जागयई णिम्मलि जोइयजोइ।
जो पुणु इदियवसि गयउ सो इह सावयलोई ॥—वही, ९६

३ योगस्य हेतुर्मनसः समाधि परं निदानं तपस्यश्चः योग ।
तपश्च मूल शिवशर्म मन समाधि भज तत्कथंचित्।
—अध्यात्मकल्पद्रुम, ९।१५

४ इह विक्षिप्तं यातायात श्लिष्ट तथा सुलीन च।
चेतश्चतु. प्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत् ॥—योगशास्त्र, १२।२

५ विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायात च किमपिसानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प-विषयग्रह तत्स्यात् ॥—योगशास्त्र, १२।३

अवस्था मे साधक की स्थिति मर्कटलीला की तरह होती है अर्थात् वह क्षण-क्षण एक विषय से दूसरे विषय में सचरित होता है, जिसके फल-स्वरूप अनेक कर्म-पुद्गलो के परिणाम बँधते है और चित्त की विकलता बढती है। यद्यपि विक्षिप्त मन की अपेक्षा यातायात मन मे इन्द्रियाँ कुछ शान्त रहती है, लेकिन शान्ति कुछ समय के लिए ही होती है। जैसे ही विषयो के साधन समक्ष आते है, वैसे ही रागादि भाव उमड़ पडते हैं। अत इन दोनो को आन्तरिक शान्ति के लिए, अभ्यासपूर्वक शान्त करने का प्रयास योगी के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है।

श्लिष्ट मन की भूमिका यातायात मन के वाद प्रारम्भ होती है। इस मन के निरोध के अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तथा आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगता है। सुलीन मन में आनन्द की अनुभूति के कारण चित्त एकाग्र होकर आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि इस मन के अभ्यास से साधक को परमानन्द अर्थात् स्वानु-भूति का आनन्द होता है।[1]

इस सन्दर्भ मे कहा गया है कि मन स्थिर करने के लिए साधक को सर्वप्रथम अपनी प्रिय वस्तु पर मन को केन्द्रित करना चाहिए। इस चुनाव मे साधक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मन शुभ प्रवृत्ति की ही ओर प्रवृत्त रहे। इस प्रकार प्रिय वस्तु का बारम्बार चिन्तन-मनन करने से एक स्थिति ऐसी आयेगी कि साधक का मन अपने आप उस वस्तु से ऊब जायेगा और दूसरी वस्तु की ओर उन्मुख होगा। उस वस्तु के बारम्बार चिन्तन-मनन से पुन॰ ऊब पैदा होगी और स्वभावतः उसका मन दूसरी वस्तु की ओर प्रवृत्त होगा। ऐसा करने से दो लाभ होते है। एक तो ऐसे मन की एकोन्मुखता का अभ्यास होता जाता है, जो ध्यान तथा योग के लिए आवश्यक है। दूसरे, वस्तु की यथार्थता तथा व्यर्थता का ज्ञान होता है और स्वभावत॰ मन परमतत्त्व की ओर आकर्षित होता जाता है। अतः मन के इस प्रकार के अभ्यास से साधक की द्विविधा नष्ट हो जाती है और उसका मन किसी एक ही विपय मे स्थिर हो जाता है। इन चार प्रकार के मन का क्रमश. अभ्यास करते-करते साधक ध्यान का स्थिरीकरण भी कर लेता है, क्योकि ध्यान और मन का

---

१ श्लिष्ट स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम्।
तन्मात्रक. विषयग्रहमुभयमपि बुधस्तदाम्नातम्॥—वही, १२।४

सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर ही निर्भर करता है। जिसने मन को वश मे कर लिया उसके लिए संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो वश में न की जा सके।[1] इस प्रकार मन की विजय योग की सफलता की कुञ्जी है।

योग की साधना मे सलग्न होने के लिए साधक को विभिन्न आचार-विचारो का सम्यक्‌रूप से पालन करने का विधान है। यहाँ तक कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्राचार का पालन योगसाधना को प्राथमिक भूमिका से लेकर निष्पन्न अवस्था तक किया जाता है। श्रावको और श्रमणो के लिए अलग-अलग आचार-चर्या का विधान है। श्रमणो की अपेक्षा श्रावकों को परिस्थिति एवं काल की अपेक्षा से मर्यादित व्रत-नियमो का पालन करना पड़ता है, फिर भी योग-साधना के लिए उसे भी पूरी छूट है। वह भी श्रमण की भाँति सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त होकर अर्थात् वैराग्य धारण करके योग-साधना मे संलीन हो सकता है। अतः चारित्र-विकास की दृष्टि से दोनो श्रेणियों के योगी साधको के लिए आवश्यक-अनावश्यक वस्तुओ के त्याग एव ग्रहण करने का विधान है, जिनका उल्लेख योग-सग्रह के अन्तर्गत हुआ है।

योग-संग्रह

योग-संग्रह[2] सक्षेप मे ३२ प्रकार का है—

१. आलोचना—गुरु के निकट अपने दोपो को स्वीकार करना।

२. निरपलाप—शिष्य के दोप दूसरो पर प्रकट नही करना।

३. व्रतों मे स्थिरता—आपत्ति-काल में अंगीकृत व्रत-नियमो का परित्याग न करना।

४ अनिश्रितोपधान—दूसरो की सहायता के बिना तप करना।

५. शिक्षा—शास्त्रो का पठन-पाठन।

६. निष्प्रतिकर्मता—शरीर-सस्कार न करना।

७ अज्ञातता—तप के बारे मे गुप्तता रखना।

८ अलोभता—किसी वस्तु के प्रति लोभ न रखना।

---

१ ध्यानं मन-समायुक्तं मनस्तत्र चलाचलम्।
वश्य येन कृतं तस्य भवेद्वश्यं जगत्त्रयम्॥—योगप्रदीप, ७९

२. समवायागसूत्र, ३२; स्थानांगसमवायाग, पृ० १७

९. तितिक्षा—परीषहजय।
१० ऋजुभाव—भावो मे सरलता।
११. शुचि—सत्य और संयमवृद्धि।
१२. सम्यग्दृष्टि—साधना व चर्या मे श्रद्धा।
१३. समाधि—एकाग्रता रखना।
१४. आचार—आचार मे दृढता।
१५. विनय—भावो मे मृदुता रखना।
१६. धृतिमति—धैर्यप्रधान दृष्टि।
१७. संवेग—संसारभय।
१८ प्राणिधि—मायारहित होना।
१९ सुविधि—सदनुष्ठान।
२० संवर—कर्मों के कारणो को रोकना।
२१. आत्मदोषोपसहार—अपने दोषों का निरोध।
२२. सर्वकाम विरति—कामनाओ के प्रति विरक्ति।
२३. प्रत्याख्यान—मूलगुणविषयक।
२४ प्रत्याख्यान—उत्तरगुणविषयक।
२५. व्युत्सर्ग—त्याग।
२६. अप्रमाद—प्रमाद से वचना।
२७ लवालव—प्रत्येक समय मे साध्वाचार का पालन करना।
२८ ध्यान—सवरयोग।
२९ मारणातिक उदय—मरणकाल मे दु ख-क्षोभ प्रकट नहीं करना।
३०. सग का त्याग।
३१. प्रायश्चित्त।
३२ मारणातिक आराधना—शरीर-त्याग और कषाय क्षीण करते समय का तप।

इस योगसग्रह को योग की आधार-भूमि माना गया है और इसे सुदृढ तथा फलीभूत बनाने का आदेश दिया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि श्रावक व्यावहारिक जीवन बिताते हुए भी इन योग-सग्रहों का सम्यक् पालन करने से पूर्ण योगी की भूमिका पर पहुँच सकता है। गृहस्थ-धर्म मे मार्गानुसारी[1] के कई ऐसे गुण हैं जो उनके लौकिक

१. मार्गानुसारी के ३५ गुण बतलाये हैं।—योगशास्त्र, १।४७-५६

जीवन से सम्बन्ध रखते हैं तथा समतायुक्त एवं अनासक्त होने और आत्म-कल्याण हेतु प्रयत्नशील बनने का आदेश देते है। वस्तुतः इन आधार-भूमिकाओ के स्थिर हो जाने पर गृहस्थ साधक भी श्रमणो की भाँति योगसाधना में सफल होते हैं, क्योकि मोही साधु की अपेक्षा निर्मोही श्रावक श्रेष्ठ होता है।[1]

योग-संग्रह को ही प्रकारान्तर से योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय[2] तथा योगशतक[3] मे क्रमशः पूर्वसेवा, योगबीज तथा लौकिक धर्म-पालन की संज्ञा दी गयी है और कहा है कि इनका पालन साधक के लिए आवश्यक है।

गुरु की आवश्यकता एवं महत्ता

योगी पूर्वसेवा अर्थात् प्रारम्भिक क्रियाओ के सम्यक्पालन के साथ-साथ योग्य गुरु का सत्सग भी करता है, क्योकि बिना सद्गुरु के विषयो तथा कषायो की चञ्चलता मे वृद्धि होती है तथा शास्त्र एव शुद्ध भावनाओ का नाश होता है।[4] अत. गुरु द्वारा साधक शास्त्र-वचनो का मर्म तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है, जिनसे आध्यात्मिक ज्ञान मे वृद्धि होती है और आत्मविकास होता है। कहा भी है कि तत्त्वज्ञान अर्थात् ज्ञान की लब्धि दो प्रकार से होती है-(१) पूर्वसस्कार से तथा (२) गुरु की उपासना से।[5] पूर्व-सस्कार से उत्पन्न ज्ञान मे भी गुरु-सवाद अर्थात् आत्मचर्चा निमित्त कारण होती है। सयम की वृद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के लिए गुरु का सान्निध्य आवश्यक है, क्योकि उनके सान्निध्य और उपदेश

---

१ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो, मोहिनो मुने।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।३३

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २२–३; २७–८

३. योगशतक, २५–२६

४ तावद् गुरुवच. शास्त्रं तावत् तावच्च भावना।
कषायविषयैर्यावद् न मनस्तरली भवेत्। —योगसार, ११९

५. तत्र प्रथमतत्त्वज्ञाने संवादको गुरुर्भवति।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत्तस्मात्॥ —योगशास्त्र, १२–९

से योगसाधना मे सफलता प्राप्त होती है। गुरु-सेवादि धर्मकृत्य बाधा-रहित करने से लोकोत्तर तत्त्व की सम्प्राप्ति होती है।[१] गुरु की भक्ति एवं सानिध्य से साधक का मन ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि उस अवस्था मे उसे तीर्थंकर-दर्शन का साक्षात् लाभ होता है और साधक मोक्षगति भी प्राप्त करता है।[२]

आत्मा व कर्म का सम्बन्ध

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। दोनो का स्वभाव परस्पर-विरोधी है।[३] आत्मा जहाँ स्वभाववश चेतन व ज्ञानादिरूप है; वहाँ कर्म अचेतन व रागादिभाव से युक्त है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि जो मन की पाप-प्रवृत्तियाँ हैं, उन्ही से कर्मों की उत्पत्ति एवं स्थिति होती है। इस प्रकार जीव अर्थात् आत्मा जब परद्रव्य मे राग तथा द्वेष-वश शुभ एव अशुभ भाव को ग्रहण करता है, तब वह कर्मास्रवो का कारण बनता है,[४] क्योकि जीव अपने स्वरूप को भूलकर परद्रव्यो के अवलम्बन मे ही लगा रहता है और भ्रमवश उन्ही विषयो को अपने लिए सुखद अथवा दु खद मान बैठता है।[५] अत योगसाधना मे उपार्जित कर्मो का पूर्णत क्षय किया जाता है तथा आनेवाले कर्म-पुद्गलो का भी वर्जन कर दिया जाता है।

योगाधिकारी के भेद

योगबिन्दु के अनुसार योगाधिकारी साधक की दो कोटियाँ हैं—अचरमावर्ती तथा चरमावर्ती। अचरमावर्ती जीव पर मोहादि भावो का चरम दबाव रहता है, जिसके फलस्वरूप उसकी प्रवृत्ति घोर सासारिक,

---

१. एवं गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया।
इत्यादिकृत्यकरण लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्ति ॥ —षोड़शक, ५।१६

२ गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम्।
समापत्यादिभेदेन निर्वाणैकनिवन्धनम् ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, ६४

३. योगसारप्राभृत, ५।८९

४. वही, ३।३०-३१

५. पचाक्षविषया किंचिन् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दु खदा मम। —वही, ५।२८

विवेकरहित एवं अध्यात्म-भावनादि क्रिया-कर्मों से विमुख होती है।[1] सांसारिक पदार्थों मे लोभ-मोह के कारण ही जीव को भवाभिनन्दी कहा गया है। यद्यपि अचरमावर्ती अथवा भवाभिनन्दी जीव धार्मिक व्रत-नियमो का अनुष्ठान भी करता है, लेकिन यह सब श्रद्धाविहीन होता है। सद्धर्म एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से उसे लोकपक्तिकृतादर भी कहा गया है।[2] ऐसी भावनावाले जीव की वृत्ति कभी स्थिर नही रहती और आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह में लिप्त रहने के कारण वह सदैव दु खी एवं सतप्त रहता है। वह सदा दूसरों की बुराइयो एव प्रतिघातो मे लगा रहता है। इस प्रकार वह जीव क्षुद्रवृत्ति, अपरोपकारी, भयभीत, ईर्ष्यालु, मायाचारी और मूर्ख होता है।[3] ऐसे स्वभाववाले साधक भले ही यम-नियमो का पालन करें, लेकिन अन्त शुद्धि के अभाव मे वे योगी नही हो सकते। वे भी योगी होने के अधिकारी नही हो सकते, जो लौकिक हेतु अथवा लौकिक प्रदर्शन या आकर्षण के भाव से योग-साधना मे प्रवृत्त होते हैं।

चरमावर्त मे चरम और आवर्त दो शब्द हैं। चरम का अर्थ है अन्तिम और आवर्त का अर्थ है पुद्गलावर्त। अत. इस आवर्त में स्थित जीव चरमावर्त्ती कहलाता है। इसमे जीव की धार्मिक, यौगिक अथवा आध्यात्मिक जागृति होती है अर्थात् योगदृष्टि का प्रादुर्भाव यही से होता है।[4] चरमावर्ती जीव स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा निर्मल होते हैं।[5]

---

१ प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात्तथा।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च, नान्येष्वन्यस्य जातुचित्। —योगबिन्दु, ७३
तस्मादचरमावर्तेष्व अध्यात्मं नैव युज्यते॥ —योगबिन्दु, ९३

२. भवाभिनन्दिन. प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिता,
केचित् धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादरा.।
लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते सत्क्रियासात्र लोकपक्तिरुदाहृता॥ —योगबिन्दु, ८६-८८;
तथा योगसारप्राभृत, ८।१८-२१

३. क्षुद्रोलाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ.।
अज्ञो भवाभिनन्दि स्यान्निष्फलारम्भसगत.॥ —योगबिन्दु, ८७

४ योगशतक, परिशिष्ट, पृ० १०९; आत्मस्वरूपविचार, १७३-७४

५. नवनीतादिकल्पस्तच्चरमावर्त इष्यते।
अत्रैव विमलो भावो गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात्।
—योगलक्षणद्वात्रिंशिका, १८

वे संसारप्रवाह मे मर्यादित तथा परिमित काल के लिए होते हैं तथा संसार-बन्धनों का उच्छेद करने की शक्ति रखते है। वे जीव शुक्ल-पाक्षिक, भिन्नग्रन्थि एवं चारित्रिक जैसे अध्यात्म उपायो के अधिकारी होते हैं, क्योकि उन पर मोह का अथवा मिथ्यात्व-परिणामों का तीव्र दबाव भी नही रहता और न मन मे मलिनता ही रहती है। वे मुक्ति के निकट होते हैं।[1] चरमावर्त मे आया हुआ प्राणी मुक्ति के निकट होता है। उसने बहुत से पुद्गल-परावर्तो का उल्लघन कर दिया है। उसका एक बिन्दु स्वरूप मात्र एक आवर्त शेष है, जैसे कि समुद्र मे एक बिन्दु जल अवशिष्ट रहे[2]। अर्थात् चरमावर्ती साधक सम्पूर्ण मिथ्यात्वो से रहित होकर मुक्ति के द्वार पर पहुँच गया होता है।

चरमावर्त-काल में जीव सम्पूर्ण आन्तरिक भावो से परिशुद्ध होकर जिन क्रियाओ का सम्पादन करता है, उन क्रियाओ के साधनो को योग कहा गया है[3] तथा जीव आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए समता की प्राप्ति करता है, जहाँ उसे न सुन्दर-असुन्दर का मोह होता है, न किसी प्रकार का सांसारिक प्रलोभन रहता है और न मिथ्यात्व का परिणाम ही रहता है।

आत्मविकास में जीव की स्थिति

आत्मविकास की ओर अग्रसर होने के क्रम मे चरमावर्ती जीव जिन-जिन स्थितियो से गुजरता है, उन स्थितियो की चार कोटियाँ हैं—(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि, (३) देशविरति एव (४) सर्वविरति।[4]

अपुनर्बन्धक वह स्थिति है, जहाँ साधक मिथ्यात्व परिणामी रहते

---

१. चरमेपुद्गलावर्ते, यतो य शुक्लपाक्षिक ।
भिन्न ग्रंन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् । —योगबिन्दु, ७२,
मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमल मनः ।
सद्बुद्धयासन्न भावेन, यदमीषां महात्मानाम् ॥ —वही, ९९

२. चरमावर्तिनो जन्तो सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥
—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका, २८

३ योगलक्षणद्वात्रिंशिका, २२

४. योगशतक, १३–१६, योगबिन्दु, १७७-८, २५३, ३५१–२, १०२

हुए भी विनय, दाक्षिण्य, दया, वैराग्य आदि सद्गुणो की प्राप्ति मे तत्पर रहता है।[१] अर्थात् अचरमावर्ती जीवो के विपरीत इस स्थान में साधक ज्ञान एव चारित्रयुक्त होकर ग्रथिभेद करने मे समर्थ होता है। इसके बाद सम्यग्दृष्टि की स्थिति प्रारम्भ होती है, जिसमे साधक सासारिक प्रपञ्चो से व्यामोहित होते हुए भी मोक्षाभिमुख होता है। अर्थात् योगी ससार मे रहते हुए भी आन्तरिक भावनाओ के द्वारा मुक्ति के उपायो के विषय में चिन्तन करता रहता है। इस कारण उसे भावयोगी भी कहा जाता है।[२] भावयोगी घर-गृहस्थी मे रहते हुए भी लोभ, ममता आदि बन्धनो से विमुक्त और आत्मध्यान मे लीन रहता है। वस्तुत यह स्थिति देशविरति की है। इस प्रकार वह आचार-विचारो से संवलित और विकसित होकर अनेक प्रकार के कायक्लेश सहता हुआ, मार्गानुसारी की विधियों का सम्यक्रूपेण पालन करता हुआ, श्रद्धालु, लोकप्रिय एवं पुरुषार्थी बनकर, शुभपरिणामों को धारण करता हुआ सर्वविरति की अन्तिम भूमिका मे पहुँचता है।[3] यहाँ पहुँचकर वह क्रमश· सर्वप्रकार के परिग्रहों के त्याग के बाद सर्वज्ञ बन जाता है। वहाँ उसकी योग-साधना पूर्ण हो जाती है।

चित्तशुद्धि के उपाय

जैन योग के अन्तर्गत धर्म-व्यापार के रूप मे अष्टागयोग[४] का निर्देश है जिसके क्रम में पाँच प्रकार की चित्तशुद्धि का वर्णन है, जिनसे क्रिया-शुद्धि होती है और जिनके सम्यक् पालन से साधक की प्रवृत्ति धार्मिक अनुष्ठानो की ओर उन्मुख होती है। फलतः शुभ-विचारो के निरन्तर चिन्तन से कर्मो की शुद्धि होती जाती है। चित्तशुद्धि के पाँच प्रकार ये

---

१. भवाभिनन्दि दोषाणा प्रतिपक्षगुणैर्यत ।
वर्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मत· ॥ —योगबिन्दु, १७८

२. भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनु· ।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः ॥
न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्त न जायते ॥ —वही, २०३, २०५

३. वही, ३५१-५२ ४. योगप्रदीप, ५१-५२

है—(१) प्रणिधान, (२) प्रवृत्ति, (३) विघ्नजय, (४) सिद्धि और (५) विनियोग।[1]

१ प्रणिधान—अपने आचार-विचार मे अविचलित रहते हुए निम्न कोटि के जीवो के प्रति किसी भी प्रकार का राग-द्वेष न रखना प्रणिधान चित्तशुद्धि है। साधक को स्वार्थी, दम्भी एवं दुराग्रही जीवो के प्रति भी श्रद्धा, परोपकार, विनय आदि भावना रखनी चाहिए।

२. प्रवृत्ति—विहित धार्मिक व्रत-नियमो अथवा अनुष्ठानो का एकाग्रतापूर्वक तथा सम्यक् पालन करना प्रवृत्ति है—निर्दिष्ट योग-साधनाओ मे मन को प्रवृत्त किया जाता है।

३ विघ्नजय—योग-साधना के दौरान आनेवाले विघ्नो पर जय पाना विघ्नजय क्रियाशुद्धि है। क्योकि यम-नियमो का पालन करते समय अनेक प्रकार की वाह्य, आन्तरिक एव मोहदशाजन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती है और विना उन पर विजय पाये साधना पूर्ण नही हो सकती।

४. सिद्धि—इस चित्तशुद्धि की अपेक्षा तव होती है, जव साधक को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है और उसको आत्मानुभव होने से किसी प्रकार की कठिनाई नही होती। समताभावादि की उत्पत्ति से साधक की कषायजन्य सारी चचलता नष्ट हो जाती है और वह निम्नवर्ती जीवो के प्रति दयाभाव, आदर-सत्कारादि सहज ही वरतने लगता है।

५. विनियोग—सिद्धि के बाद विनियोग-चित्तशुद्धि प्रारम्भ होती है, क्योकि तव तक साधक की धार्मिक वृत्तियो मे क्षमता, शक्ति आ जाती है तथा उत्तरोत्तर आत्मिक विकास होने लगता है। इस अवस्था में परोपकार, कल्याण आदि भावनाओं की वृद्धि करने के प्रयत्न को ही विनियोग-जय[2] कहते हैं।

वैराग्य

योगसिद्धि के लिए जितना महत्त्व तप, उपवास, आसन आदि शारीरिक क्रियाओ का है; उससे अधिक महत्त्व आन्तरिक विषय-वास-

---

१ प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोग भेदतः प्राय.।
धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पचधाऽत्र विधौ ॥ —षोडशक, ३।६

२ षोडशक, ३।७-११

नाओ को हटाकर मन को परिशुद्ध करने का है। अतः मनोविजय के लिए अथवा विषय-वासनाओ के क्रमश क्षय के लिए इन्द्रियों का सयम रखना तथा ससार के प्रति वैराग्य का भाव रखना आवश्यक है, क्योकि संयम जहाँ साधक की इन्द्रियो को अपने वश मे करने का प्रयत्न करता है, वहाँ वैराग्य की भावना सांसारिक लोभ, मोह आदि कषायों से क्रमशः निवृत्ति का उपक्रम करती है। अतः साधक के लिए संसार के प्रति नि सारता का भाव रखना आवश्यक है। वैराग्य के तीन प्रकार है—१. दु खगर्भित, २. मोहगर्भित, ३. ज्ञानगर्भित।[1]

१. **दुःखगर्भित वैराग्य**—जीवन के प्रति निराश होकर कुटुम्ब का त्याग करके साधु बनना।

२ **मोहगर्भित वैराग्य**—आसजनो के मर जाने पर मोहवश अथवा असह्य वियोग के कारण साधुवृत्ति अपनाना।

३. **ज्ञानगर्भित वैराग्य**—पूर्व-संकार अथवा गुरूपदेश से आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर ससार त्यागना। अर्थात् इस वैराग्य मे सस्कारवश अथवा गुरु के उपदेशो से संसार के प्रति निवृत्ति की भावना पैदा होती है।

अत इन तीनो प्रकार के वैराग्यो मे प्रथम दो प्रकार के वैराग्य कषायोजनक हैं। उनमे पूर्ण अनासक्ति अथवा वीतरागता का अंग नहीं होता। परन्तु तीसरे प्रकार के ज्ञानगर्भित वैराग्य मे सांसारिक वस्तुओं के प्रति तनिक भी मोह-माया नही होती। इस प्रकार वैराग्य धारण करने से योग-साधना मे यथोचित सहायता मिलती है और साधक सरलता-पूर्वक साधना मे विकास करता रहता है।

साधन की अपेक्षा से योग के प्रकार

प्रमुख रूप से योग के उत्कृष्ट साधन इस प्रकार हैं—(१) स्थान, (२) ऊर्ण (वर्ण), (३) अर्थ, (४) आलम्बन तथा (५) अनालम्बन। इन साधनो को दृष्टि मे रखकर योग के भी पाँच प्रकार माने गये हैं। इनमें से प्रथम दो प्रकार के साधन कर्मयोग के अन्तर्गत आते है, क्योकि इनमें कायोत्सर्गादि आसन, तप, मंत्र, जप आदि क्रियाओं को करना पडता है। वस्तुत ये साधन आचार-मीमांसा से सम्बन्धित माने गये है। शेष

---

१. कर्तव्यकौमुदी, भा० २, पृ० ७०-७१

तीन प्रकार के साधन ज्ञान-योग मे परिगणित होते है, क्योकि इनमे क्रिया की अपेक्षा ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है।[1]

१ स्थान—इसमें आसनादि क्रियाओं का विधान है।

२ ऊर्ण अथवा वर्ण—इसमे शास्त्रविहित सूत्रो का पाठ होता है तथा सूत्र के उच्चारण मे उसके स्वर, सम्पदा, मात्रा आदि पर ध्यान दिया जाता है। इस साधन को वर्णयोग भी कहते है।

३ अर्थ—वस्तुत: अर्थ का तात्पर्य उन सूत्रों से है, जो सही-सही उच्चारणपूर्वक पढे जाते हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व के गूढ रहस्य को समझने के लिए सूत्र का सम्यक् अर्थ समझना आवश्यक है और इसके लिए सूत्रों का शुद्ध उच्चारण अपेक्षित है। यह साधन ज्ञानयोग का प्रारम्भ-विन्दु है।

४ आलम्बन—इसमे साधक किन्ही बाह्य साधनो को ध्येय मानकर ध्यान की क्रिया करता है, जो मन की एकाग्रता के लिए आवश्यक है। इस साधन को उत्तम योगानुष्ठान कहा गया है।

५. अनालम्बन—बाह्य आलम्बनो का त्याग करके केवल आत्म-स्वरूप का ही चिन्तन करने को अनालम्बन योग कहा जाता है। इस योग मे बाह्य पदार्थो का सम्पूर्णत: वहिष्कार हो जाता है, मन केन्द्रित हो जाता है, आत्मस्वरूप की प्रतीति होने लगती है और योग की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

योग के पॉच अनुष्ठान

योग-साधना की सिद्धि के लिए अनुष्ठान अर्थात् क्रियाएँ आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास मे सहायक अनुष्ठान पाँच प्रकार के हैं[2]—(१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अननुष्ठान, (४) तद्धेतु अनुष्ठान तथा (५) अमृतानुष्ठान। इन अनुष्ठानो मे पहले तीन असदनुष्ठान है, क्योकि ये रागादिभाव से युक्त होने के कारण लौकिक हैं। अन्तिम दो अनुष्ठान रागादिभाव से रहित होने के कारण सदनुष्ठान माने जाते हैं इसलिए पारलौकिक हैं।

---

१. ठाणुन्नत्थालम्बण-रहिओ ततम्मि पचहाएसो।
दुग्गमित्थ कम्मजोगो तहातियं नाणजोगो उ॥ —योगविंशिका, २

२. योगबिन्दु, १५५

१. विष-अनुष्ठान—इस अनुष्ठान में साधक का उद्देश्य इस जन्म में लब्धि अथवा अलौकिक शक्तियो के द्वारा कीर्ति, सन्मान आदि प्राप्त करना होता है। इस दृष्टि से चारित्र का पालन करना विष-अनुष्ठान कहा गया है। विष-अनुष्ठान इसलिए कहा जाता है कि इसमे रागादि-भावों की अधिकता होती है।

२. गरानुष्ठान—इस जन्म के बाद अनेक प्रकार के स्वर्गिक सुख भोगने की अभिलाषा रखना और इसी दृष्टि से धार्मिक अनुष्ठानो को करना गरानुष्ठान है।

३ अननुष्ठान—इस अनुष्ठान में गुरु-देवादि की पूजा अथवा सत्कार किया जाता है, लेकिन यह क्रिया संमूर्च्छन[1] जीवो की मानसिक शून्यता जैसी होती है, फलत इन क्रियाओं के प्रति न श्रद्धा होती है, न विवेक ही। इस अनुष्ठान मे मात्र शरीर-निर्वाह ही होता है।

४. तद्धेतु अनुष्ठान—इसमें साधक यम, नियम, ध्यान, जपादि धार्मिक अनुष्ठानो को अपनी शुभ प्रवृत्ति द्वारा करता है। यद्यपि इस अनुष्ठान में भी रागादि भावो का अंश होता है, परन्तु वह सासारिक न होकर मोक्षाभिमुखी होता है। इसलिए अद्वेषबुद्धि के कारण इस अनुष्ठान को अमृतानुष्ठान का कारण माना गया है।

५. अमृतानुष्ठान—सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग का समझ-बूझकर एवं श्रद्धापूर्वक आचरण कर मोक्ष प्राप्त करना अमृतानुष्ठान है। साक्षात् मोक्षदायक होने के कारण यह उत्तम अनुष्ठान माना गया है। इसमें समस्त इच्छाएं फलीभूत होती हैं।[2]

योग के अन्य तीन प्रकार

साधनो की अपेक्षा से योग के पांच प्रकारों के अतिरिक्त तीन प्रकार के योगो का भी उल्लेख मिलता है। वे इस प्रकार हैं—(१) इच्छायोग, (२) शास्त्रयोग तथा (३) सामर्थ्ययोग।

१ इच्छायोग[3]—इस योग में मात्र अनुष्ठान करने की इच्छा जाग्रत

---

१ बिना गर्भ के उत्पन्न होनेवाले जीवो को संमूर्च्छन कहते हैं।

२. योगबिन्दु, १५९-१६०

३. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादत.।
विकलो धर्मयोगो य स इच्छायोग उच्यते ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, ३

होती है। यद्यपि साधक अनुष्ठानो को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्न-शील होता है, तथापि वह आलसवश उनको कार्यान्वित नही कर पाता।

२ **शास्त्रयोग**—इस योग मे साधक आलसरहित एव श्रद्धायुक्त होकर अनुष्ठानो का पालन करता है,[1] जिससे तात्त्विक बोध अर्थात् सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है।

३ **सामर्थ्ययोग**—आत्मकल्याण के लिए शास्त्रो मे योग के जिन-जिन उत्तम अनुष्ठानो की चर्चा है, उनका अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए पालन करना सामर्थ्ययोग है।[2] यह योग वस्तुतः मोक्ष का साक्षात् कारण है, क्योंकि यह प्रातिभज्ञान से युक्त तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति करानेवाला है। इस योग के साधक का अनुभव अनिर्वचनीय होता है।[3]

सामर्थ्ययोग के भी दो भेद हैं[4]—१ धर्मसन्यासयोग तथा २. योग-सन्यासयोग। धर्मसंन्यासयोग उसे कहते हैं जिसमे रागादि से उत्पन्न क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भाव होते है तथा व्रतो का पालन करते समय कभी जीव उन्नतावस्था मे रहता है तो कभी अवनतदशा मे। योगसन्यासयोग मे जीव को ऊपर-नीचे होने का प्रश्न ही नही रहता, क्योंकि तब तक उसने सम्पूर्ण मन, वचन एव काय के व्यापार का पूर्णतः निरोध कर लिया होता है। धर्मसन्यास-योगी आत्मविकास करते-करते क्रमश. योगसन्यास की अवस्था तक पहुँचता है। इसी अवस्था को शैलेशीकरण की अवस्था भी कहते हैं।[5] इस अवस्था का

---

१. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यऽप्रमादिन.।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥ —वही, ४

२. शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचर.।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमृत्तमः ॥ —वही, ५

३. न चैतदेव यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥ —वही, ८

४. द्विधा यं धर्मसन्यासयोगसन्याससंज्ञितः।
क्षायोपशमिकाधर्मा योगो कायादिकर्म तु। —वही, ९

५. द्वितीयाऽपूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इतितद्विदः। —वही, १०

अपरनाम अयोग-अवस्था अथवा सर्वसंन्यासयोग अवस्था है, क्योकि इस अवस्था मे योगी की आत्मा मुक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही सर्वोत्तम योग माना गया है।[1]

अधिकारियों की अपेक्षा से योगी के प्रकार

यद्यपि योगी के प्रकारों के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जा चुका है, तथापि यहाँ अधिकारी की अपेक्षा से योगी के प्रकारो पर दृष्टिपात कर लेना उचित है। अधिकारी की दृष्टि से योगी के प्रमुख चार प्रकार हैं—१ कुलयोगी, २ गोत्रयोगी, ३. प्रवृत्तचक्रयोगी तथा ४ निष्पन्नयोगी।

कुलयोगी—जो योगी योगसाधना मे लीन रहकर यथाविधि धार्मिक अनुष्ठानो का पालन करता है और किसी प्रकार का आलस नही करता, उसे कुलयोगी कहते हैं। कुलयोगी का अधिकारी कोई भी सामान्य जन हो सकता है, क्योकि वह इच्छानुसार धर्म मे प्रवृत्त रहते हुए भी अन्य जीवो के प्रति राग-द्वेष नही रखता, देवगुरु के प्रति श्रद्धा रखता है, ब्रह्मचर्य मे रत रहता है, ब्राह्मणो का प्रिय होता हैं, इन्द्रियो को वश मे रखता है तथा विवेकी, विनम्र और दयालु होता है।[2]

गोत्रयोगी—साधक के गोत्र मे जन्म लेनेवाले योगी को गोत्रयोगी कहते हैं। इस योगी का आचार-विचार कुलयोगी के विपरीत होता है। वह यम-नियमादि का पालन करनेवाला नहीं होता है, क्योकि उसकी प्रवृत्ति संसाराभिमुख होती है। अत ऐसे व्यक्ति को योग के लिए अनधिकारी माना गया है।

प्रवृत्तचक्रयोगी—यह योगी क्रमश. अपनी मोक्षाभिलाषा को बढाने वाला, सेवाशुश्रूषा अर्थात् दया, प्रेम, शील, ज्ञान आदि मे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला होता है।[3] यह भी योगाधिकारी होता है।

---

१ अतस्त्वयोगो योगाना योग पुरमुदाहृत ।
मोक्षयोजन भावेन सर्वसन्यास लक्षण· ॥
—वही, ११; तथा अध्यात्मतत्त्वालोक, ७।१२

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २०८-९

३. प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यम द्वयसमाश्रया. ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्त शुश्रूषादिगुणान्विता ।. —वही, २१०

यम की अपेक्षा से इस योगी के भी चार विभेद किये गये हैं—१ इच्छायम, २ प्रवृत्तियम, ३ स्थिरयम और ४ सिद्धियम।[1] यहाँ यम शब्द का व्यवहार अहिंसा, सत्य आदि के वाचक के रूप मे हुआ है। अत. इन पाँचो व्रतो का निष्ठापूर्वक पालन करनेवाला, योग-कथा में अभिरुचि रखनेवाला तथा योगकथाओ द्वारा अपने मन को स्थिर करनेवाला योगी इच्छायम कहलाता है। उपगमादि भावो को धारण करके जो योगी यमादि व्रतो का पालन करता है, वह प्रवृत्तियम है। क्षयोपशमभाव से अतिचारो की चिन्ता न करके, दृढ भावना से यमो का पालन करनेवाला योगी स्थिरयम कहलाता है और जिसकी अन्तरात्मा विशुद्ध होकर परमार्थपद की प्राप्ति के लायक होती है, वह सिद्धियम योगी कहा जाता है।[2]

इस प्रकार प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मोन्नति के लिए अनेक प्रकार के चारित्र का पालन करता हुआ, राग-द्वेषादि से रहित होता है तथा आत्मगुणो की वृद्धि के क्रम में तीन प्रकार के अवचक्रो को पूरा करता है।

अवंचक्र के प्रकार

अवचक्र तीन प्रकार के है—१ योगावचक्र, २. क्रियावचक्र तथा ३ फलावचक्र।[3] जिनके दर्शन से कल्याण एवं पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसे सद्गुरुओ का सत्संग ही योगावंचक्र है। पापक्षय के लिए सद्गुरुओ की प्राप्ति के वाद उनकी पूजा-सत्कार करना क्रियावंचक्र है। गुरु के उपदेशानुसार सम्यक्रूप से यमनियमादि का पालन करते हुए धर्म की सिद्धि को प्राप्त होकर उत्तम योग के फलो को पाना फलावचक्र कहलाता है।[4]

इस प्रकार योग-प्राप्ति की ओर उन्मुख साधक अव योगावचक्र

---

१ यमाश्चतुर्विधा इच्छाप्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धय ।—योगभेदद्वात्रिंशिका, २५

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २१३–१६

३ योगक्रियाफलाख्यं यच्छ्रूयते वचकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परम भिपुलक्ष्यक्रियोपमम् । —वही, ३४

४. वही, २१७-१८

नामक प्रथम योग को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है और फिर शेष दोनों अवचकों को साध लेता है, तब वह प्रवृत्तचक्रयोगी कहा जाता है।[1]

निष्पन्नयोगी--उस योगी को कहते हैं, जिसका योग निष्पन्न अर्थात् पूरा हो गया है। अतः इस योगी को भी योग का अधिकारी नहीं माना गया है, क्योंकि सिद्धि की प्राप्ति के अधिक निकट होने के कारण इस योग में धर्म-व्यापार का सर्वथा लोप हो जाता है और योगी के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

जप एवं उसका फल

चूँकि ध्यान के अन्तर्गत ही विभिन्न प्रकार के मन्त्रों, जपों आदि का विधान है, अतः इनके सम्बन्ध में विस्तृत रूप से वर्णन आगे किया जायेगा। इसके सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना यहाँ प्रसगोचित जान पड़ता है, क्योंकि इनके द्वारा योग के स्वरूप का पूर्ण प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है। किसी मन्त्र का बार-बार चिन्तन-मनन करना ही जप है। मन्त्र देवता अथवा जिनेन्द्र की स्तुति से सम्बन्धित होता है और इन मन्त्रों से जहाँ पाप, क्लेश, विषाद आदि दूर होते हैं, वहाँ मानसिक एकाग्रता भी प्राप्त होती है।[2] ऐसे जापों से मोह, इन्द्रियलिप्सा, काम आदि कषायों का शमन होता है और मनोजय, परीषहजय, कर्मनिरोध, कर्मनिर्जरा, मोक्ष तथा शाश्वत आत्मसुख प्राप्त होता है।[3]

कुण्डलिनी

जहाँ तक जैन-योग का सम्बन्ध है, कुण्डलिनी की चर्चा न आगम-ग्रन्थों

---

१. आद्यावचक्रयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विद.॥ —वही, २११

२ जपः सन्मन्त्रविषय. स चोक्तो देवतास्तव.।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद्विषापहरणं यथा॥ —योगबिन्दु, ३८१

३ सन्मन्त्रजपनेनाहो, पापारि क्षीयतेतराम्।
मोहाक्षस्मर चौराद्यै., कषायैं सह दुर्धरै.। १५०;
मन.परीषहादीना, जय. कर्मनिरोधनम्।
निर्जरा कर्मणा मोक्षः, स्यात्सुखं स्वात्मजं सताम्। १५१,
—नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत), पृ० १४

मे प्राप्त होती है, न परवर्ती योग-विषयक वाङ्मय मे। केवल मन्त्रराज-रहस्य[1] नामक पुस्तक में कुण्डलिनी की चर्चा मिलती है। योगशास्त्र एव ज्ञानार्णव में ध्यान के अन्तर्गत अवश्य कुछ यौगिक क्रियाओं का वर्णन मिलता है, जिसका सम्बन्ध कुण्डलिनी से है। यद्यपि उन यौगिक क्रियाओ पर आगे विचार किया जायेगा, लेकिन यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कुण्डलिनी द्वारा योगी आत्मस्वरूप की प्राप्ति करता है। अर्थात् योगी कुण्डलिनी के नवचक्रो के आधार पर क्रमश. जप एव मन्त्रो का चिन्तन करते-करते मन को एकाग्र करता है तथा आत्मदर्शन करने मे समर्थ होता है। कुण्डलिनी के नवचक्र इस प्रकार हैं[2]—१. गुदा के मध्यभाग मे आधार चक्र, २. लिंगमूल के पास स्वाधिष्ठान चक्र, ३ नाभि के पास मणिपूर चक्र, ४ हृदय के पास अनाहत चक्र, ५ कण्ठ के पास विशुद्ध चक्र, ६. घण्टिका के पास ललना चक्र, ७ कपालस्थित आज्ञा चक्र, ८. मूर्ध्वास्थित ब्रह्मरन्ध्र चक्र एव ९. उर्ध्वभाग स्थित सुषुम्ना चक्र।

जैन योग-साधना शारीरिक कष्टो अर्थात् अनेक प्रकार के तपो पर भी जोर देती है, क्योकि उनके द्वारा इन्द्रियो के विषयो को स्थिर किया जाता है। इन्द्रियो को स्थिर करने पर मन एकाग्र होकर अनेकविध धर्म-व्यापारो द्वारा चित्तशुद्धि, समताभाव आदि गुणो को प्राप्त करता है, जिनसे कि साधक क्रमश. आत्मोन्नति करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करते हुए मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

१ वि० स० १३३३ मे रचित।

—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० ३१०

२. गुदमध्य लिंगमूलेनाभौ हृदि कण्ठ-घटिका भाले।
मूर्ध्नन्यूर्ध्वे नवषट्क (चक्र) ठान्ता पच भालेयुताः॥

—नमस्कार स्वाध्याय (सस्कृत), पृ० १२१

: ४ : योग के साधन : आचार

(१) श्रावकाचार

जैन-दर्शनानुसार रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र को, जो कि मोक्ष के कारणभूत है, साधन-योग माना गया है।[1] अतः योग के लिए चारित्र आधारस्तम्भ है, क्योकि सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने पर ही साधक अथवा योगी अपनी अन्तर्बाह्य प्रवृत्तियो को सयमित करके अथवा भोग-कषायादि प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करने पर आत्म-स्वरूप का चिन्तन करने योग्य बनता है। चारित्र का सम्यक् पालक योगी ही वैराग्य तथा समता की ओर उन्मुख होकर आत्म-चिन्तन मे स्थिर होता है। इस प्रकार योग के लिए चारित्र एक अनिवार्य साधन है, जिससे आत्मिक विकास एव मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चारित्र मे शुद्ध आचार-विचार का बडा महत्त्व है, क्योकि आचार एव विचार दोनो परस्परावलंबी हैं और दोनो के सम्यक् पालन से ही चारित्र का उत्कर्ष होता है। इसी को ध्यान मे रखकर जैन योग मे आचार-विचार के सम्यक् पालन का विधान है। बिना आचार-विचार की शुद्धि के चारित्र की प्राप्ति नही हो सकती और बिना चारित्र की सम्पन्नता के न योग सम्भव है तथा न मोक्ष की प्राप्ति ही।

अत. चारित्र की दृढ़ता एवं सम्पन्नता के लिए जैन-दर्शन मे विभिन्न व्रतो, क्रियाओ, विधियो, नियम-उपनियमो आदि का विधान है जिनमें तप, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान आदि प्रमुख हैं। इस सदर्भ मे निर्देश किया गया है कि ध्यानादि नियम उत्तरोत्तर चित्त की शुद्धि करते हैं, इसलिए ये सभी चारित्र ही हैं।[2]

---

१. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगोस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप, रत्नत्रय च स ॥ —योगशास्त्र, १।१५

२. चारित्रिणस्तु विज्ञेय शुद्धयपेक्षो यथोत्तरम्।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥ —योगबिन्दु, ३७१

योग की सम्पन्नता एव सफलता अथवा चारित्र की प्राप्ति के लिए गृहस्थो (श्रावको) एव श्रमणों (साधुओं) के आचार-विचारो के विधान अलग-अलग हैं; क्योकि दोनो की साधना-भूमि अथवा जीवन-व्यवहार अलग-अलग है। इस दृष्टि से श्रावकाचार एवं साध्वाचार का दिग्दर्शन आवश्यक जान पड़ता है। इस सन्दर्भ मे यह भी निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन श्रावक अपने सम्यक् आचार-विचार के परिपालन से साधुत्व तक पहुँच सकता है एव साध्वाचार के सम्यक् परिपालन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से योग के विकास एवं महत्त्व के प्रतिपादन के लिए क्रमश. वैदिक, बौद्ध एवं जैन आचार-विकास का सिंहावलोकन करना भी आवश्यक होगा।

वैदिक परम्परासम्मत आचार

यद्यपि वेदकालीन साहित्य के अनुसार ऐहिक सुख-प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य रहा है, तथापि संहिताओ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगो के हृदय मे सत्य, दान, आदि के प्रति सम्मान था, क्योंकि विविध प्रकार के नियमो, गुणो एव दण्डों के प्रवर्तको के रूप मे विभिन्न देवो की कल्पना की गयी है।[1]

उपनिषदो मे दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सन्तोष, सत्य आदि आत्मिक गुणो का विधान है और इन्हे आत्मानुभूति के लिए आवश्यक माना गया है, क्योकि उन गुणो के आचरण से श्रेय की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि उपनिषदो मे ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्य आदि व्रतो के पालन का आदेश[2] है और साधक के लिए साध्य की ओर बढने के लिए दस यमो का सयमपूर्वक पालन करना तथा शुद्ध आत्म-तत्त्व की पहचान करना आवश्यक माना गया है।[3]

स्मृतिशास्त्रो मे आचार, विचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दण्ड आदि का विधान विस्तारपूर्वक वर्णित है, जिनमे चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) एव चारो वर्णो सम्बन्धी विधि-

---

१ जैन आचार, पृ० ९

२. ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्य च यत्नेन। —आरुणिकोपनिषद्, ३

३. तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। —शाण्डिल्योपनिषद्, १

विधानों एव कर्तव्यो का वर्णन है तथा योगी साधक के लिए गृहस्था-श्रम महत्त्वपूर्ण माना गया है।[१] सदाचार, दम, अहिंसा, दान, कर्तव्य, स्वाध्याय आदि एवं योगाभ्यास द्वारा आत्म-दर्शन करना चाहिए[२] तथा इन्द्रियो को विषयों से रोककर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।[३]

महाभारत तो वैदिक सस्कृति का आचार-कोश ही है। इसमे पग-पग पर गृहस्थ, योगी, त्यागी आदि के आचार, विचार, आहार आदि सम्बन्धी वर्णन भरा है। इसमें जहाँ मन, इन्द्रिय, सत्य, काम, क्रोधादि कषायो का निरूपण है[४] वहाँ व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, अतिथि-सेवा[५] का भी विधान है। गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करने[६] पर विशेष जोर देते हुए कहा गया है कि वही साधक परमात्मा को प्राप्त करता है जो गृहस्थ-धर्म का सम्यक्रूप से पालन करता है।[७]

गीता महाभारत का ही एक अंग है। इसमे भी विभिन्न योगो के माध्यम से यज्ञ मे होनेवाली हिंसा को अनावश्यक[८] बताया गया है और अहिंसा, समता सन्तोष, तप, कीर्ति आदि[९] भावो के सम्यक् पालन का उपदेश है। इसमें यति-मुनि को इन्द्रिय-सयमी, इच्छाभयरहित, क्रोध-रहित, मोक्षपरायण तथा मुक्त[१०] माना गया है और वेदविद् तथा वीत-राग कहा गया है।[११] इस प्रकार गीता मे विभिन्न प्रकार के आचार-

१. (क) मनुस्मृति, अध्याय २, ३।७७
(ख) याज्ञवल्क्यस्मृति (ब्रह्मचारी प्रकरण), १७–२३,
(गृहस्थप्रकरण) ९७–१०३, ११८–२४
२. इज्याचारदमाहिंसादान स्वाध्यायकर्म्मं च।
अय तु परमो धर्म्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, ८
३. इद्रियाणा प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धि नियच्छति ॥ —मनुस्मृति, २।९३
४. महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय, १६०
५. वही, मोक्षधर्म, २२१ ६. वही, शान्तिपर्व, १२
७. वही, मोक्षधर्म, २२० ८. भगवद्गीता, ४।२३-३३
९. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश.।—वही, १०।५
१०. यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो य. सदा मुक्त एव स। —वही, ५।२८
११. वही, ५।२६; ८।११

विचार का सयोजन है, जिनमे गृहस्थ एवं मुनि धर्मो की झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

पुराणो मे भी कथा एव आख्यानो के माध्यम से तरह-तरह के आचार-विचार का प्रतिपादन हुआ है, जिनमें वानप्रस्थ के कर्त्तव्यो[१] का, यतिधर्म[२] का गृहस्थ सम्बन्धी सदाचार[३] का तथा मोक्षधर्म[४] का प्ररूपण है। इन आचार-पद्धतियो के द्वारा सत्य की प्राप्ति, चारित्र का निर्माण तथा जीवन को सयममय बनाने का उपदेश है। वैदिक दर्शनों मे भी यम-नियम तथा योगशास्त्रविहित अध्यात्मविधि तथा उपायसमूह द्वारा आत्म-संस्कार[५] का उल्लेख है और बताया गया है कि योगियो को आत्म-प्रत्यक्ष होता है एव आत्मकर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६]

योगदर्शन मे तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्राणिधान को क्रियायोग[७] कहा गया है, क्योकि इनसे समाधि की उत्पत्ति तथा क्लेशो का शमन होता है।[८] योग की यह साधना सम्पन्न होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है और इस साधना के लिए विभिन्न सम्यक् आचारो का सफल अनुसरण अष्टागयोग द्वारा होता है।

बौद्ध-परम्परा में आचार

बौद्ध-परम्परा मे भी श्रावको एवं श्रमणो के आचार एव विचार पर विशेष बल दिया गया है। इतना अवश्य है कि बौद्ध-परम्परा में गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणो के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन आदि से सम्बन्धित नियम-उपनियमो का विधान विशेष है। यही कारण है कि श्रमणो का मुख्य धर्म है शील एव प्रज्ञा का समुचित पालन करना।

---

१. श्री भागवतपुराण, स्कन्ध ७, अध्याय १२
२. वही, ,, ,, १३
३ वही, ,, ,, १४
४. वही, ,, ,, १५
५. तदर्थयमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायै. ।
— न्यायदर्शन, ४।२।४६
६ वैशेपिकदर्शन, ६।२।१६
७ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।—योगदर्शन, २।१
८. समाधिभावनार्थ. क्लेशतनूकरणार्थश्च ।—वही, २।२

यहाँ शील का तात्पर्य धर्म को धारण करना, कर्त्तव्यों मे प्रवृत्त होना तथा अकर्त्तव्यो से पराङ्मुख होना है।[1] समाधि का तात्पर्य चित्त मे एकाग्रता अर्थात् एक ही आलम्बन मे चित्त को स्थापित करना है।[2] कुशल चित्तयुक्त विपश्य विवेकज्ञान ही प्रज्ञा है।[3] इस प्रकार इन तीनो साधनों के सम्यक् परिपालन द्वारा ही श्रमण साधक को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जैन-परम्परा में आचार

जैन-परम्परा मे आचार अथवा चारित्रधर्म का सर्वाधिक महत्त्व है। जैन-परम्परा में श्रावक तथा श्रमण दोनो के आचार-विचार का अति विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। श्रावक एव श्रमण के विभिन्न आचार-विधानो का विधिवत् पालन करने का निर्देश है, क्योकि मुक्ति-लाभ के लिए विशुद्ध विचारो के साथ-साथ विशुद्ध अर्थात् अतिचाररहित आचरण अपेक्षित है। यही कारण है कि मोक्ष के हेतुभूत समस्त धर्म-व्यापार-क्रिया को योग कहा गया है[4] और प्रकाशक ज्ञान, शोधक तप तथा गुप्तिकारी सयम इन तीनो के समायोग को जिनशासन मे मोक्ष कहा गया है।[5] इसी विचार के समानान्तर मुक्तिलाभ के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप[6] का विधान है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र[7] मे समाविष्ट हैं। इन तीनो को रत्नत्रय कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थो मे मोक्ष प्रमुख है। अत. मोक्ष-प्राप्ति के जो कारणभूत साधन हैं, वही योग है। अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा और

---

१ विशुद्धिमार्ग, १।१९-२५

२ वही, ३।२-३

३. वही, १४।२-३

४ दर्शन और चिन्तन, खण्ड १, पृ २४१

५ णाण पयासग सोहओ तवो सजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हपि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ।

—आवश्यकनिर्युक्ति, १०३

६ नाण च दसणं चैव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नतो, जिणेहि वरदसिहि॥ —उत्तराध्यन, २८।२

७. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, १।१

चारित्र ही योग है।[१] दूसरे शब्दो मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र निश्चय-योग भी है और व्यवहार-योग भी। आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है और उसी को सत्यार्थ समझना निश्चयदृष्टि से योग है,[२] क्योंकि वही मोक्ष है। रत्नत्रय के पालन से अथवा स्वरूपाचरण से जीव के परिणामो मे शुद्धता आती है और ज्यो-ज्यो परिणामो मे उत्तरोत्तर विकास होता जाता है त्यो-त्यो कर्मविकार घटते जाते है और साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। आत्मविकास के लिए चारित्र के अन्तर्गत अनेक यमनियमो का, शास्त्रीय विधि-निषेधो का अनुसरण आवश्यक है और आध्यात्मिक शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानादि के कारणो का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है, उसे व्यवहारयोग कहते हैं।[३] अतः धर्मशास्त्रोक्त विधि के अनुसार गुरु की विनय तथा परिचर्या आदि करना और यथाशक्ति विधि-निषेधो का पालन करना व्यवहारयोग है।[४]

सम्यग्दर्शन

जैन-दर्शन मे दर्शन शब्द अनाकार-ज्ञान का प्रतीक माना गया है[५] और श्रद्धा के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।[६] सही दर्शन सही ज्ञान तक और सही ज्ञान ही सही आचरण तक ले जाने की क्षमता रखता है।[७] अत· धर्म का मूल दर्शन है। इस दृष्टि से आप्तवचनों तथा तत्त्वो पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[८] आप्तपुरुष वह है जो अठारह दोषो से विमुक्त

---

१. अभिधानचिन्तामणि, १।७७

२. निच्छायओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह सबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेंहि। —योगशतक, २

३ ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाण पि।
जो सम्बन्धो वि य कारणज्जोवयाराओ। —योगशतक, ४

४. गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जहसती। —वही, ५

५ साकारं ज्ञान अनाकार दर्शनम्। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ८६

६. उत्तराध्ययन, २८।३५　　७ वही, २८।३०

८. समयसार, १४

हो।[1] आप्तवचनो के प्रति श्रद्धान, रुचि, अनुराग, आदर, सेवा एव भक्ति रखने से सत्य का साक्षात्कार होता है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष के प्रति श्रद्धान या विश्वास ही सम्यक्त्व है।[2] आत्मा परद्रव्यो से भिन्न है, यह श्रद्धा ही सम्यक्त्व है।[3] इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए सच्चा गुरु एवं धर्म-वुद्धि आवश्यक है, जिनके द्वारा यथार्थ-अयथार्थ का विवेक उत्पन्न होता है।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण[4]

१. शम—क्रोध, मान, माया तथा लोभ का उदय न होना,
२. सवेग—मोक्ष की अभिलाषा,
३ निर्वेद—ससार के प्रति विरक्ति,
४. अनुकम्पा—बिना भेदभाव के दु खी जीवों के दु.ख को दूर करने की भावना,
५ आस्तिक्य—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा।

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष माने गये हैं, जो सम्यक्त्व की प्राप्ति के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करते हैं। उनसे साधक को रहित होने का

---

१ पुह तण्हा भय दोसो रायो मोहो जरा रुजा चिन्ता।
मिच्चू खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥
निद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अता।
वयण तस्य पमाणं सतत्थपरुवय जम्हा ॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, ८-९
अर्थात्-क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद, अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष हैं। जो आत्मा इन दोषो से रहित है, वही आप्त है और इसी आप्त के वचन प्रमाण माने जाते हैं।

२ (क) तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र, १।२
(ख) जीवाजीवास्रववन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—वही, १।४
(ग) रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते।—योगशास्त्र, १।१७

३ परद्रव्यनतैं भिन्न आपमे रुचि, सम्यक्त्व भला है। —छहढाला, ३।२

४. शम-सवेग निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्य लक्षणैः।
लक्षणैः पचभिः सम्यक्, सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ —योगशास्त्र, २।१५

आदेश है।[1] वे दोष इस प्रकार हैं—तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि।[2]

तीन मूढ़ताएँ—१ देवमूढ़ता, २. गुरुमूढ़ता एवं ३ लोकमूढ़ता।

आठ मद—(१) ज्ञान, (२) अधिकार, (३) कुल, (४) जाति, (५) बल, (६) ऐश्वर्य, (७) तप और (८) रूप।

छह अनायतन—(१) कुदेव, (२) कुदेवमन्दिर, (३) कुशास्त्र, (४) कुशास्त्र के धारक, (५) कुतप एवं (६) कुतप के धारक।

आठ शंका आदि (सम्यक्त्व के आठ अंगो से विपरीत)—(१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) अन्यदृष्टि प्रशंसा, (५) निन्दा, (६) अस्थितीकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना। इन्ही दोषो मे सम्यक्त्व के पाँच अतिचारो का अन्तर्भाव है।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्त्वो पर श्रद्धान अथवा विश्वास अपेक्षित है, उनको विधिवत् जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान का लक्ष्य है।[3] अर्थात् अनेक धर्मयुक्त स्व तथा पर-पदार्थों को यथावत् जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[4]

वस्तुतः जीव मिथ्याज्ञान के कारण चेतन-अचेतन वस्तुओ को एक-रूप समझता है, परन्तु चेतनस्वभावी जीव या आत्मा अचेतन या जड़

---

१. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतानि षड्।
अष्टौ शकादयश्चेति दृग्दोषा पंचविंशति ॥
—उपासकाध्ययन, २१।२४१

२ योगशास्त्र मे सम्यक्त्व के पाँच दोष क्रमशः शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशसा तथा मिथ्यादृष्टिसस्तव बताये गये हैं।

शकाकाङक्षाविचिकित्सा-मिथ्यादृष्टिप्रशसनम्।
तत्सस्तवश्च पचापि, सम्यक्त्व दूषयन्त्यलम् ॥
—योगशास्त्र, २।१७

३ नाणेण जाणई भावे। —उत्तराध्ययन, २८।३५

४ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्। —प्रमेयरत्नमाला, १

पदार्थों के साथ एकीभूत कैसे हो सकता है ? विषय-भेद के कारण इसके चार भेद हैं,[1] जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नही है।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान का होना असंभव है।[2] सम्यग्ज्ञान के तीन दोष–सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय स्व तथा पर पदार्थों के अन्तर को जानने के मार्ग मे बाधक हैं। अत· इन तीनो दोषो को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए।[3] आत्मस्वरूप का जानना ही निश्चय-दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।[4]

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। क्योकि दृष्टि मे परिवर्तन आ जाता है, दृष्टि परिशुद्ध, यथार्थ बन जाती है। राग-द्वेषादि कषाय-परिणामो के परिमार्जन के लिए अहिंसा, सत्यादि व्रतो का पालन करने के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है।[5] ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा तथा मोक्ष का हेतु है। दूसरे शब्दों मे अज्ञानपूर्वक चारित्र का ग्रहण सम्यक् नही होता, इसलिए चारित्र का आराधन सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक् कहा गया है।[6]

---

१ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग।
—समीचीन धर्मशास्त्र, २, ४३–४६

२ सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना.।
ज्ञानाराधनमिष्ट, सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥
कारणकार्यविधान समकालं जायनोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३३-३४

३. तातैं जिनवरकथित तत्त्वअभ्यास करीजे।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे ॥ —छहढाला, ४।६

४. आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है। —छहढाला, ३।२

५. मोहतिमिराऽपहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान।
रागद्वेपनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र, ३।२१।४७

६. नहि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधन तस्मात् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३८

श्रमण एवं गृहस्थ की दृष्टि से चारित्र दो प्रकार का है[१]—(१) सकलचारित्र और (२) विकलचारित्र। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहो के त्यागपूर्वक श्रमण द्वारा गृहीत चारित्र सर्वसयमी अर्थात् सकलचारित्र है। गृहस्थो या श्रावको द्वारा गृहीत चारित्र देशसयत अर्थात् विकलचारित्र है। उक्त दोनों प्रकार के चारित्र को क्रमश सर्व-देश तथा एकदेश[२] कहा गया है। चारित्र के पाँच भेदो का भी वर्णन किया गया है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म संपराय तथा (५) यथाख्यात।[३]

१. सामायिकचारित्र—जिसका राग-द्वेष परिणाम शान्त है अर्थात् समचित्त है, उसे सामायिकचारित्र कहते हैं। इस चारित्र की प्राप्ति के बाद मन मे किसी प्रकार की ईर्ष्या, मोह आदि नही रह पाते।

२. छेदोपस्थापनाचारित्र—पहली दीक्षा ग्रहण करने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के लिए जीवन भर के लिए जो पुन· दीक्षा ली जाती है और प्रथम ली हुई दीक्षा मे दोषापत्ति आने से उसका उच्छेद करके पुनः नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है उसे छेदोपस्थापना-चारित्र कहते हैं।

३ सूक्ष्मसंपरायचारित्र—जहाँ सूक्ष्म कषाय विद्यमान हो अर्थात् किंचित् लोभ आदि हों, वह सूक्ष्मसंपरायचारित्र है।

४. परिहारविशुद्धिचारित्र—कर्म-मलों को दूर करने के लिए विशिष्ट तप का अवलम्बन लेने को अर्थात् आत्मा की शुद्धि करने को परिहार-विशुद्धिचारित्र कहते हैं।

---

१. सकलं विकलं चरण तत्सकलं सर्वसंग–विरतानाम्।
अनगाराणा, विकलं सागाराणां ससगानाम्॥
—समीचीन धर्मशास्त्र, ३।४।५०

२. छहढाला, ४।१०

३. सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे वीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह सपरायं च॥
अकसायंअहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकर, चारित्तं होइ आहियं॥—उत्तराध्ययन, २८।३२-३३

५. **यथाख्यातचारित्र**—आत्मा में स्थित लोभादि कषायों का भी अभाव हो जाना यथाख्यातचारित्र है। यह अवस्था सिद्धपद के पूर्व चारित्र-विकास की पूर्णता की सूचक है।

इस संदर्भ में योगाधिकारी की दृष्टि से भी चारित्र के चार भेद वर्णित हैं और चारित्र अर्थात् चारित्रशील के क्रमशः चार लक्षणो का प्रतिपादन किया गया है। वे चार लक्षण इस प्रकार हैं[1]—(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि, (३) देशविरति तथा (४) सर्वविरति।

१ **अपुनर्बन्धक**—जो उत्कट क्लेशपूर्वक पाप-कर्म न करे, जो भयानक दुःखपूर्ण संसार मे लिप्त न रहे और कौटुम्बिक, लौकिक एवं धार्मिक आदि सब बातो मे न्याययुक्त मर्यादा का अनुपालन करे, वह अपुनर्बन्धक है।

२. **सम्यग्दृष्टि**—धर्म-श्रवण की इच्छा, धर्म मे रुचि, समाधान या स्वस्थता बनी रहे, इस तरह गुरु एवं देव की नियमित परिचर्या—ये सब सम्यग्दृष्टि जीव के लिंग हैं।

३ **देशविरति**—मार्गानुसारी, श्रद्धालु, धर्म-उपदेश के योग्य, क्रिया-तत्पर, गुणानुरागी और शक्य बातो मे ही प्रयत्न करनेवाला देशविरति चारित्री होता है।[2]

४ **सर्वविरति**—अन्तिम वीतरागदशा प्राप्त होने तक सामायिक यानी शुद्धि के तारतम्य के अनुसार तथा शास्त्रज्ञान को जीवन मे उतारने की परिणति के तारतम्य के अनुसार सर्वविरति-चारित्री होता है।

---

१. पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं।
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ॥१३॥
सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाण जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥१४॥
मग्गणुसारी सड्ढो पन्नवणिज्जो कियावरो चेव।
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥१५॥
एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा मुणेयव्वो।
आणापरिणइभेया अंते जा वीयरागो त्ति ॥१६॥—योगशतक

२. योगबिन्दु, ३५२-५३

प्रथम अधिकारी (चारित्री) मे मिथ्याज्ञान के रहने से दर्शन प्रकट नही होता, क्योकि दर्शनमोहनीय कर्म अस्तित्व में रहता है। द्वितीय अधिकारी मे मोहनीय कर्म का क्षय होता है, परन्तु वीतरागता की प्राप्ति नही होती। तीसरे अधिकारी मे कर्म अल्पाश मे नष्ट होते हैं, किन्तु पूर्णत नही। और चौथे मे जाते-जाते पूरे कर्म ढीले पड़ जाते है तथा पूर्ण चारित्र का उदय हो जाता है।[1]

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र आत्मविकास की क्रमिक सीढ़ियाँ हैं, मोक्ष-मार्ग के साधन हैं, क्योकि इनके द्वारा क्रम-क्रम से आत्मविकास होता है, कषाय एव कर्म क्षीण होते जाते हैं और स्वानुभूति की परिधि का विस्तार होता जाता है तथा एक ऐसी अवस्था आती है जब साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

चारित्र के दो भेद

पूर्व वर्णित चारित्र के दो भेद—सकलचारित्र एव विकलचारित्र, क्रमश श्रमण एवं श्रावक के होते हैं, क्योकि मुनि जहाँ बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रहो का त्यागी होता है वहाँ श्रावक वैसा न होकर कुछ परिग्रहो का त्यागी होता है। मुनि विरक्त एव गृहत्यागी होने के कारण ऐसा करने मे सक्षम हो सकते हैं, लेकिन श्रावक के लिए सर्वसग-परित्यागी बनना अशक्य है। उसे जीविकोपार्जन के लिए विविध उद्योग-व्यवसाय आदि का अवलम्बन लेना पडता है। इस प्रकार मोटे तौर पर जैनशास्त्र मे दो प्रकार की आचार-सहिताओ का विधान है, जिनका वर्णन क्रमश- यहाँ किया जाता है।

श्रावकाचार

श्रावक देशसयमी होता है। उसके आचार मे मर्यादापूर्वक आत्म-विकास की छूट है। यही कारण है कि आरम्भ-समारम्भपूर्ण श्रावकधर्म मे सदाचार एव सद्विचार की प्रतिष्ठा द्वारा निर्वाण, वीतरागता की प्राप्ति का विधान है। श्रावकाचार श्रमणाचार का पूरक अथवा उस दिशा मे सहायक होता है।

---

१. योगशतक, पृ० २१

श्रावक के लिए देशसयमी, गृहस्थ, श्राद्ध, उपासक, अणुव्रती, देश-विरत, सागार, आगारी आदि शब्दो के भी प्रयोग होते हैं।[1]

श्रावक के विभिन्न दृष्टियो से कई भेद-प्रभेद किये गये है। सागार-धर्मामृत के अनुसार श्रावक तीन प्रकार के हैं—१ पाक्षिक, २. नैष्ठिक, और ३. साधक।[2] निर्ग्रन्थ धर्म मे श्रद्धा रखनेवाला पाक्षिक, श्रावक-धर्म का पालन करनेवाला नैष्ठिक तथा आत्मध्यान मे लीन होकर सलेखना लेनेवाला साधक है। ग्यारह प्रतिमाओ के आधार पर भी श्रावक तीन प्रकार के कहे गये हैं[3]—१ जघन्य, २ मध्यम तथा ३ उत्कृष्ट। चामुण्डराय ने गृहस्थ को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमो में विभाजित किया है।[4] इसमें वैदिक परम्परा का अनुकरण स्पष्ट दीख पड़ता है। हरिभद्र ने सामान्य और विशेष दो प्रकार के श्रावक बताये है।[5] श्रावक के भेद-विभेद मे न जाकर यहाँ केवल श्रावकाचार का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है।

श्रावक-धर्म अथवा श्रावकाचार का प्ररूपण मुख्यत तीन प्रकार से किया गया है—(१) बारह व्रतो के आधार पर, (२) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर तथा (३) पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर। उपासकदशाग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि मे संलेखनासहित बारह व्रतो के आधार पर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र-प्राभृत में, स्वामि कार्तिकेय ने द्वादश अनुप्रेक्षा मे एव आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि-श्रावकाचार मे ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक-धर्म का प्ररूपण किया है।[6] श्रावक के बारह व्रत

---

१. जैन आचार, पृ० ८३

२ पाक्षिकादिभिदा त्रेधा, श्रावकस्तत्र पाक्षिक ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो, नैष्ठिक. साधक: स्वयुक् ।—सागारधर्मामृत, १।२०

३. वही, ३।२-३

४. चारित्रसार, पृ० २०

५. तत्र च गृहस्थधर्मोऽपि द्विविध' —सामान्यतो विशेषतश्चेति ।
—धर्मबिन्दु, १।२

६. जैन आचार, पृ० ८३-८४

इस प्रकार है--पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।[१] उपासकदशांग मे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के लिए सामूहिक नाम शिक्षाव्रत व्यवहृत हुआ है।[२] कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं के साथ ही बारह व्रतो का उल्लेख कर दिया है।[३] तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी बारह व्रतो का ही उल्लेख किया है।[४] पाँच अणुव्रतो को मूलगुण भी माना गया है, लेकिन इन व्रतों के साथ मद्य, मास एव मधु का त्याग भी मूलगुण के अन्तर्गत ही है।[५] कही-कही पाँच अणुव्रतो के साथ जुआ, मद्य एवं मास-त्याग को भी मूलगुण माना गया है।[६] पद्मपुराण मे मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रि-भोजन एव वेश्यागमन के त्याग को नियम[७] कहा गया है। हरिवशपुराण के अनुसार पाँच उदुम्बर फल के त्याग एवं परस्त्री-त्याग को नियम कहा गया है।[८]

अणुव्रत

श्रावक के लिए विहित पाँच अणुव्रत मुनि के महाव्रतो की अपेक्षा लघु अथवा सरल, स्थूल होते हैं। अहिंसा आदि महाव्रतो का पालन तीन योग (मन, वचन, काय) तथा तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदन)

---

१. सम्यक्त्वमूलानि पचाणुव्रतानि गुणात्रयः।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम्।—योगशास्त्र, २।१,
तथा विंशतिविंशिका, ९।३

२. ......पचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय दुवालसविह सावय धम्म...... ।
—उपासकदशाग, १।५५

३ प्राभृतसंग्रह, पृ० ५९

४ तत्त्वार्थसूत्र, ७।१५-१६

५. (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६६, (ख) सागारधर्मामृत, २।२

६. हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमीमूलगुणा ॥
—चारित्रसार, पृ० १५

७ मधुनो मद्यतो मासाद् द्यूततो रात्रिभोजनात्।
वेश्यासगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः ॥ —पद्मपुराण,१४।२०२

८. हरिवशपुराण, १८।४८

पूर्वक होता है,[1] लेकिन अणुव्रतो का पालन साधारणतः तीन योग तथा दो करणपूर्वक होता है।[2]

अणुव्रत पाँच हैं—(१) स्थूल प्राणातिपात-विरमण, (२) स्थूल मृषावाद-विरमण, (३) स्थूल अदत्तादान-विरमण, (४) स्वदारसन्तोष तथा (५) इच्छा-परिमाण।[3]

१ **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—इसे अहिंसाणुव्रत भी कहते हैं। अहिंसाणुव्रती श्रावक स्थूल हिंसा का त्यागी होता है। स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवो की हिंसा। दो, तीन, चार एव पाँच इन्द्रियो के जीव त्रसजीव कहलाते हैं। गृहस्थ होने के कारण श्रावक को अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं, अतः वह पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकता; वरन् परिस्थिति-विशेष मे सूक्ष्म हिंसा किसी-न-किसी प्रकार उससे होती ही है। अतः इस व्रत के अनुसार श्रावक अपनी सुविधा, शक्ति एवं परिस्थिति के अनुसार स्थूल हिंसा का त्याग करता है।

श्रावक की अपेक्षा से हिंसा चार प्रकार की होती है—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। अहिंसाणुव्रती श्रावक केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी होता है। महाव्रती मुनि सब प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है।

इस सन्दर्भ मे, उल्लेखनीय है कि हिंसा के प्रमुख दो भेद हैं—(१) भावहिंसा एवं (२) द्रव्यहिंसा।[4] मन, वचन एवं काय मे राग-द्वेष आदि कषाय की प्रवृत्ति भावहिंसा है तथा कषाय की तीव्रता, दीर्घश्वासोच्छ्वास एव हस्तपादादिक से किसी को कष्ट पहुँचाना अथवा प्राणघात करना द्रव्यहिंसा है। वास्तव मे भाव एवं द्रव्य हिंसा का सर्वथा त्याग

---

१. दशवैकालिक, ४।७

२. विरतिस्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिना। —योगशास्त्र, २।१८

३ स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पंचेति। —धर्मबिन्दु, ३।१६

४. (क) प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।८

(ख) यत्खलुकषाययोगात्प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चित्ता भवति सा हिंसा।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४३

शास्त्र,[1] धर्मबिन्दु[2] आदि मे इन अतिचारों का उल्लेख इस प्रकार है—(१) सच्चा-झूठा समझाकर किसी को विपरीत मार्ग में डालना मिथ्योपदेश है, (२) रागवश विनोद के लिए किसी पति-पत्नी को अथवा अन्य स्नेहियो को अलग कर देना अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना रहस्याभ्याख्यान है, (३) मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का आदि चलाना कूटलेखक्रिया है, (४) कोई धरोहर रखकर भूल जाय तो उसका लाभ उठाकर थोडी या पूरी धरोहर दबा जाना न्यासापहार है, (५) किन्ही की आपसी प्रीति तोडने के विचार से एक-दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना साकार मन्त्र-भेद है ।[3]

३. स्थूलअदत्तादानविरमण

इसे अचौर्याणुव्रत भी कहते हैं। अचौर्याणुव्रती श्रावक व्यावहारिक एवं सामाजिक-दृष्टि से चोरी करने-कराने तथा चोरी का व्यापार करने का त्यागी होता है। अहिंसा एव सत्य व्रतो की प्रतिष्ठा एव सपोषण के लिए श्रावक स्थूलअदत्तादानविरमणव्रत का पालन करता है। बिना किसी की आज्ञा से किसी वस्तु को ले लेने पर मन मे अशांति उत्पन्न हो जाती है, दिन-रात, सोते-जागते चौर्य कर्म की चुभन होती रहती है ।[4] श्रावक के लिए केवल दो करण तथा तीन योग से ही इस व्रत का पालन करना आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं[5]—(१) प्रतिरूपकव्यवहार अर्थात्

---

१. योगशास्त्र, ३।९१

२. धर्मबिन्दु, ३।२४

३. मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।
—तत्वार्थसूत्र, ७।२१

४. दिवसे वा रजन्या वा स्वप्ने वा जागरेऽपि वा ।
सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्य नर. क्वचित् ॥ —योगशास्त्र, २।७०

५ (क) स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं द्विड्राज्यलङ्घनम् ।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्व चास्तेयसश्रिता ॥ —योगशास्त्र, ३।९२

(ख) स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहारा. । —तत्त्वार्थसूत्र, ७।२२

अच्छी वस्तु मे खराब वस्तु को मिलाकर वेचना या असली के स्थान पर नकली वस्तु चलाना। (२) स्तेन प्रयोग अर्थात् किसी को चोरी करने के लिए प्रेरित करना अथवा चोरी करनेवालो की मदद करना। (३) स्तेन-आहृतदान अर्थात् चोरी करके लायी गयी वस्तु को लेना। (४) विरुद्धराज्यातिक्रम अर्थात् राज्य की ओर से निर्धारित नियमो का उल्लघन करना और (५) हीनाधिक मानोन्मान अर्थात् न्यूनाधिक नाप, बाट तथा तराजू आदि से लेन-देन करना।

व्रती-श्रावक को इन अतिचारो से बचना या सावधान रहना चाहिए। अचौर्याणुव्रती श्रावक वही है जो दूसरे की तृणमात्र वस्तु को चुराने के अभिप्राय से न अपने लिए ग्रहण करता है और न दूसरो को देता है।[१]

४. स्वदारसंतोष

इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते है। यह व्रत श्रावक के लिए नितान्त आवश्यक है और उसे अपनी पत्नी मे ही सतुष्ट रहना चाहिए।[२] वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियो को माँ, बहन एव बेटी के रूप मे देखे।[३] इस व्रत का प्रतिपादन कई ग्रथो मे विभिन्न दृष्टियों से किया गया है, जिनमें रत्नकरण्डश्रावकाचार,[४] सर्वार्थसिद्धि,[५] पुरुषार्थ सिद्‌युपाय,[६] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[७] सागारधर्मामृत आदि उल्लेखनीय हैं।[८] ज्ञानार्णव मे तो स्त्री-समागम के दस दोषो[९] का उल्लेख है,

---

१. परस्वस्याप्रदत्तस्यादान स्तेयमुदाहृतम।
सर्वस्वाधीनतोयादेरन्यत्र तन्मतंसताम्। —प्रबोधसार, ६१
(ख) उपासकाध्ययन, २६।२६४

२. उपासकदशागसूत्र, १।१६

३. अमितगतिश्रावकाचार, ६।४६

४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३।१३

५. सर्वार्थसिद्धि, ७।२०

६. पुरुषार्थसिद्‌युपाय, ११८

७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३८

८. सागारधर्मामृत, १३।५२

९. ज्ञानार्णव, ११।७-९

ही अहिंसा है। क्योकि कषायो की वृद्धि से ही हिंसा का भाव उत्पन्न होता है और मद्य, मांस, मधु आदि चीजो के सेवन करनेवालों के मन में कषायो की वृद्धि अधिक होती है। इसलिए इन वस्तुओ का वर्जन अहिंसा-पालन के लिए आवश्यक है।

सावधानीपूर्वक व्रत का पालन करते हुए भी श्रावक को प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगने की सम्भावना रहती है। ये दोष अतिचार कहलाते हैं। प्रथम अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—(१) बन्ध, (२) वध, (३) छेद अथवा छविच्छेद, (४) अतिभारारोपण, तथा (५) अन्नपाननिरोध।[1]

१. बन्ध—तीव्र क्रोध से प्रेरित होकर, किसी भी प्राणी को उसके इष्ट स्थान पर जाने से रोकना या बाँधकर रखना।

२ वध—किसी भी प्राणी पर लाठी, कोड़े आदि से या अस्त्र-शस्त्रादि से घातक प्रहार करना।

३. **छेद अथवा छविच्छेद**—क्रोध अथवा स्वार्थवश किसी भी प्राणी के नाक-कान, चमडी आदि अंगो का भेदन या छेदन करना।

४ अतिभारारोपण—मनुष्यो या पशुओ आदि पर शक्ति से अधिक भार लादना या अधिक कार्य लेना।

५. अन्नपाननिरोध—किसी भी प्राणी के खान-पान मे कटौती करना अथवा रुकावट डालना।

गृहस्थ को इन दोषो से यथासम्भव वचना चाहिए। किन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पड़ने पर या विशेष प्रयोजनवश इन दोषो का सेवन करना ही पड़े तब भी कोमल भाव से ही काम लेना चाहिए।[2]

२. **स्थूल मृषावादविरमण**—इसे सत्याणुव्रत भी कहते है। सत्याणुव्रती श्रावक स्थूल असत्य का, झूठे व्यवहार का त्यागी होता है। इससे जहाँ समाज मे व्यक्ति की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ अहिंसा का पोषण भी होता है, सत्य और अहिंसा दोनो अन्यो-

---

१　वन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, ७।२०

२. पं० सुखलालजी, तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ १८७

न्याश्रित हैं तथा एक-दूसरे के पूरक भी। श्रावक नवकोटि से सर्वथा मृषावाद का त्याग नही कर सकता, क्योकि उसे जीवन-यापन के लिए व्यवहार-व्यापार करना पडता है।

असत् कथन को अनृत[1] अर्थात् हेय माना गया है। असत्य की विभिन्न ग्रन्थो मे कई कोटियाँ वर्णित हैं। पुरुपार्थसिद्धयुपाय[2] एवं अमितगति श्रावकाचार[3] मे असत्य के चार भेद किये गये हैं, जैसे (१) सद्आलापन, (२) असद्आलापन, (३) अर्थान्तिर तथा (४) निंद्य। उपासकाध्ययन[4] के अनुसार असत्यासत्य (२) सत्यासत्य, (३) सत्यसत्य, एवं (४) असत्य-असत्य—इन चार प्रकारों का उल्लेख है। असत्य के पाँच भेद भी बताये गये है—कन्यालीक, गौअलीक अर्थात् गवालीक, भूम्यलीक, न्यासापहार एव कूटसाक्षी।[5] सागारधर्मामृत[6] मे भी यही बात है। कन्यादि के वैवाहिक सवंध की बातचीत मे झूठ बोलना कन्यालीक है। पशुओ की खरीद-बिक्री मे झूठ का व्यवहार गौअलीक अर्थात् गवालीक है। भूमि की खरीद-बिक्री मे मिथ्याभापण करना भूम्यलीक है। दूसरो की अमानत-धरोहर को हजम करना न्यासापहार है। और उसी प्रकार कचहरी के कामों मे झूठा व्यवहार करना कूटसाक्षी है।

स्थूलमृषावाद अथवा असत्य-व्यवहार के त्यागी श्रावक को सत्याणुव्रत के पालन मे सावधानी रखनी चाहिए। सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं, जो विभिन्न ग्रथो मे अनेक नामो से वर्णित हैं। उपासकादशाग[7] सागारधर्मामृत,[8] पुरुपार्थसिद्धयुपाय,[9] अमितगतिश्रावकाचार,[10] योग-

---

१. असदभिधानमनृतम्।—तत्त्वार्थसूत्र, ७।१४

२ पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ९१-९८

३. अमितगतिश्रावकाचार, ६।४९-५४

४ उपासकाध्ययन, ३८३

५. कन्यागोभूम्यलीकानि, न्यासापहरण तथा।
कूटसाक्ष्यच पचेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन्।—योगशास्त्र, २।५४

६ सागारधर्मामृत, ४, ३९

७. उपासकदशाग, १।४६

८ सागारधर्मामृत, ४।४५

९ पुरुपार्थसिद्धयुपाय, १८४

१० अमितगतिश्रावकाचार, ७।४

जिनको टालकर मन, वचन, एवं कायपूर्वक स्वदारसन्तोषव्रत का पालन करना चाहिए।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[1]—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन अर्थात् रुपये देकर किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत स्त्री या वेश्या के साथ अमुक समय तक गमन करना, (२) अपरिगृहीतागमन अर्थात् वेश्या, कुलटा, वियोगिनी आदि का उपभोग करना, (३) अनगक्रीडा अर्थात् सृष्टि विरुद्ध या अस्वाभाविक कामसेवन, (४) परविवाहकरण अर्थात् कन्यादान के फल की भावना से दूसरो की संतति का व्याह करवाना, एवं (५) तीव्र कामभोगाभिलाषा अर्थात् बारबार विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना।

इन अतिचारो के प्रति श्रावक के साथ-साथ श्राविका को भी सावधानी रखनी चाहिए। श्राविका को भी चाहिए कि स्वपति सतोष रूप, स्थूलमैथुनविरमणव्रत का पालन करे और किसी भी दूसरे पुरुष के साथ वैषयिक सम्बन्ध न रखे।

५. इच्छा-परिमाण व्रत

इसे अपरिग्रहाणुव्रत या परिग्रह-परिमाणव्रत भी कहते हैं। इच्छाएँ अनन्त हैं और मनुष्य इच्छाओ के अनुरूप अपनी आवश्यकताओ को बढाते-बढाते उनके पीछे ही दु ख, दारिद्रय आदि सकटो मे फँस जाता है। यह व्रत इस तथ्य का द्योतक है कि श्रावक देश, काल, परिस्थिति एवं सामर्थ्य के अनुसार अपनी आवश्यकताओ को परिमित करे और किसी वस्तु के प्रति मूर्च्छा अथवा ममत्व न रखे। क्योकि मूर्च्छा ही परिग्रह है[2], और धन-धान्यादि के संग्रह से ममत्व घटाना अथवा लोभ कषाय को कम करके सतोषपूर्वक वस्तुओ का आवश्यकता भर उपयोग करना परिग्रहपरिमाणव्रत है।[3] इस प्रकार श्रावक को अपनी इच्छाओ की मर्यादा अवश्य बाँध लेनी चाहिए। आवश्यकतानुसार वस्तुओ को

---

१. (क) इत्वरात्तागमोऽनातागतिरन्य —विवाहनम्।
मदनात्याग्रहोऽनगक्रीडा च ब्रह्मणि स्मृता.॥ —योगशास्त्र, ३।९३
(ख) परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्र कामाभिनिवेशा.। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।२३

२ मूर्च्छा परिग्रह। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।१२

३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९-३४०

परिमित करने का सकल्प व्यावहारिक होना चाहिए, कथन मात्र का नही, क्योकि केवल कथन से वस्तुत्याग का संकल्प कर लेना निरर्थक है।[१] परिग्रह ही ससार में जन्म-मरण का मूल है।[२]

परिग्रह के अनेक भेद-प्रभेद वर्णित है। पुरुपार्थसिद्धयुपाय[३] में अन्तरग एव बहिरग दो प्रकार के परिग्रह की चर्चा है, जिसमे अन्तरग परिग्रह के चौदह तथा बहिरग के दो भेद वतलाए गये हैं, जवकि उपासकाध्ययन[४] मे वाह्य परिग्रह दस प्रकार का कहा गया है। इसी तरह सिद्धसेनगणी[५] ने भी आभ्यंतर परिग्रह के चौदह भेद ही गिनाये हैं। वाह्य परिग्रह के नव[६] एव दस[७] भेद भी मिलते है। इन परिग्रहो के परिमाण के निर्णय के सवंध मे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[८] तथा लाटीसहिता[९] आदि ग्रथो में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

इस व्रत के अतिचारो के सवध मे अनेक मत हैं, जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक नही है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार इस प्रकार के है[१०]–(१) क्षेत्र वास्तु परिमाण-अतिक्रमण अर्थात् जमीन, आदि वस्तुओ की मर्यादा का उल्लघन, (२) हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम अर्थात् सोने एव चाँदी

---

१. तस्मादात्मोचिताद् द्रव्याद् ह्रासनं तद्वर स्मृतम्।
   अनात्मोचितसकल्पाद् ह्रासन तन्निरर्थकम्॥ —लाटीसहिता, ८६
२. ससारमूलमारम्भास्तेषा हेतु परिग्रह.।
   तस्मादुपासक कुर्यादल्पमल्प परिग्रहम्॥ —योगशास्त्र, २।११०
३. पुरुषार्थसिध्युपाय, ११५–११७
४ उपासकाध्ययन, ४३३
५ तत्वार्थाधिगमसूत्रम्, भा० २, ७।२४
६ नवपदप्रकरण, ५८
७ चारित्रसार, पृ० ७
८. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९–४०
९ लाटीसहिता, ८६–८७
१० धनधान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्रवास्तुन।
   हिरण्यहेम्नश्च सख्याऽतिक्रमात्र परिग्रहे। —योगशास्त्र, ३।९४
   (ख) क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा।
   —तत्त्वार्थसूत्र, ७।२४

आदि की मर्यादा का उल्लंघन, (३) धनधान्य-प्रमाणातिक्रम अर्थात् चतुष्पद आदि जानवरो एव अनाज की मर्यादा का अतिक्रमण, (४) दासीदास प्रमाणातिक्रम—नौकर चाकरो आदि कर्मचारियो की सख्या मर्यादा का अतिक्रमण, (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम अर्थात् वर्तनो एव वस्त्रो के प्रमाण का अतिक्रमण।

रात्रिभोजनविरमण व्रत

जैनधर्म मूलत. अहिंसाप्रधान है, इसलिए श्रमण के लिए रात्रि-भोजन के त्याग का विधान है। यहाँ तक कि इसे छठा व्रत कहा गया है। रात्रिभोजन मे बहुत से जीवो की हिंसा होती है।[१] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[२] एव रत्नकरण्डश्रावकाचार[३] के अनुसार रात्रिभुक्तिविरत श्रमण वे ही हो सकते है जिन्होने रात्रि में चारों प्रकारो के भोजन का त्याग कर दिया है। योगशास्त्र[४] के अनुसार भी रात्रि मे किसी प्रकार का भोजन करना विहित नही है। सावयवधम्म दोहा[५] के अनुसार श्रावकों को रात्रि मे केवल औषध, पानी एव पान खाने की छूट है। भोजन तो रात मे निषिद्ध ही है। उल्लेखनीय है कि चारित्रसार[६], उपासकाध्ययन[७], वसुनन्दि श्रावकाचार,[८] अमितगति श्रावकाचार[९], सागारधर्मामृत[१०] के अनुसार रात्रि मे स्त्री-भोग करने एव दिन मे ब्रह्मचर्य का

---

१. घोराधकाररुद्धाक्षैः पतन्ती यत्र जन्तव ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुजीत को निशि। —योगशास्त्र, ३।४९;
—दशवैकालिक, ४।१३; १५।१

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८२

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५।२१

४. योगशास्त्र, ३।४८–७०

५. सावयवधम्मदोहा, ३७

६ चारित्रसार, पृ० १९

७ उपासकाध्ययन, ८५३

८. वसुनन्दि श्रावकाचार, २९६

९. अमितगति श्रावकाचार, ७।७२

१०. सागारधर्मामृत, ७।१२

पालन करने को ही रात्रिभुक्तिविरत अथवा दिवामिथुनविरत कहा गया है।

यह स्वतंत्र व्रत नहीं है, बल्कि अहिंसाव्रत मे ही निहित है, क्योकि इस व्रत का मूल उद्देश्य मूल व्रतों को विशुद्ध रखना ही है।

गुणव्रत

अणुव्रत के साथ-साथ श्रावकों के लिए गुणव्रतो का भी विधान है। गुणव्रत अणुव्रतों की रक्षा एवं विकास के लिए ही है। इन व्रतो के साथ शिक्षा-व्रतो को जोड़कर सामूहिक नाम 'शीलव्रत' रखा गया है और कहा गया है कि जैसे नगर के चारो ओर बने प्राकार से नगर की रक्षा होती है वैसे ही शीलो से व्रतो की रक्षा होती है।[1] अतः व्रतो का पालन करने के लिए शीलो का पालन करना आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि गुणव्रत अणुव्रत की तरह एक ही वार ग्रहण किये जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत वार-वार ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् अणुव्रत एवं गुणव्रत जीवनभर के लिए होते हैं और शिक्षाव्रत अमुक समय के लिए ही होते हैं।[2]

गुणव्रत के भेदो के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। जहाँ इसके कुछ भेद शिक्षाव्रत मे गिनाये जाते हैं, वहाँ शिक्षाव्रत के भी भेद गुणव्रत मे संकलित कर लिये जाते हैं। यहाँ तक कि गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो को सामूहिक नाम 'शीलव्रत' देकर दोनो के भेदो को एक साथ समाहित कर दिया गया है। इस विचारधारा का प्रतिपादन उपासकदशांग[3], तत्त्वार्थसूत्र[4], पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन[5], चारित्रसार[6], अमितगति श्रावका-

---

१. परिधय इव नगराणि व्रतानि परिपालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३६

२. जैन आचार, पृ० ११३

३ उपासकदशाग, १।११

४. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६

५. उपासकाध्ययन, ४४८—४५९

६. चारित्रसार, पृ० ८

चार[1], पद्मनन्दिपंचविंशति[2] आदि ग्रन्थो में हुआ है। अर्थात् प्राभृत-संग्रह[3] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[4], सागारधर्मामृत[5], धर्मविन्दु[6], योग-शास्त्र[7], पद्मचरित[8], रत्नकरण्डश्रावकाचार[9] आदि ग्रंथों में नाम एव क्रम मे अन्तर रहते हुए भी गुणव्रत का निर्देश इस प्रकार हुआ है—

(१) दिग्व्रत, (२) अनर्थ-दण्डव्रत एव (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रत। सर्वार्थसिद्धि[10], हरिवंशपुराण[11], वसुनन्दिश्रावकाचार[12], आदिपुराण[13] आदि ग्रथो मे नाम एव क्रम मे अन्तर रहते हुए भी गुणव्रत का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत एवं (३) अनर्थ-दण्डव्रत।

इस तरह पता चलता है कि इन दोनो विचारधाराओ ने दिग्व्रत एव अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत मे स्वीकार किया है, लेकिन जहाँ कुन्दकुन्द, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, सागारधर्मामृत आदि ने गुणव्रत मे भोगोपभोग-परिमाणव्रत को लिया है, वहाँ सर्वार्थसिद्धि, वसुनन्दिश्रावकाचार, आदिपुराण आदि ग्रन्थों ने उसका उल्लेख शिक्षाव्रत के अन्तर्गत किया है और उसके वदले देशव्रत का उल्लेख किया है। उसी प्रकार देशव्रत के बदले देशावकाशिक की सज्ञा देकर रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्वामिकार्ति-केयानुप्रेक्षा आदि ने इसे शिक्षाव्रत के अन्तर्गत रखा है।

---

१. अमितगति श्रावकाचार, ६।७६–९५
२ पद्मनन्दिपचविंशति, ६।२४
३. प्राभृतसग्रह, पृ० ६०
४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६१–३८६
५ सागारधर्मामृत, ५।१
६ धर्मविन्दु, ३।१७
७ योगशास्त्र, ३।१।४।७३
८ पद्मचरित, १४।१९८
९ रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३:२१
१०. सर्वार्थसिद्धि, ७।२१
११. हरिवंशपुराण, १८।४६
१२. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१४–१६
१३ आदिपुराण, १०।६५

१. दिग्व्रत

जिस व्रत द्वारा दिशाओं की मर्यादा स्थिर की जाती है उसे दिग्व्रत कहते हैं।[1] इस व्रत द्वारा श्रावक दशो दिशाओ की सीमा बाँधकर संकल्प लेता है कि वह मरणपर्यन्त अमुक दिशा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा।[2] ऐसा करने से लोभ, तृष्णादि का नियन्त्रण होता है ओर परिणामस्वरूप संग्रह की भावना पर अंकुश लगता है तथा चराचर प्राणियों की व्यर्थ हिंसा से भी बचाव होता है।[3] इस व्रत के पाँच अतिचार हैं, जिनका सम्यक्रूपेण पालन करना श्रावकों के लिए अनिवार्य है। वे अतिचार इस प्रकार हैं[4]—(१) उर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लघन, (२) अधो दिशा की मर्यादा का उल्लघन, (३) तिरछी दिशाओ की मर्यादाओं का उल्लंघन, (४) दिशाविदिशाओ की मर्यादाओ का उल्लंघन एवं (५) क्षेत्र-वृद्धि अर्थात् क्षेत्र की मर्यादा का उलंघन करना।

२. अनर्थदण्डव्रत

निष्प्रयोजन मन वचन काय की अशुभ या पापप्रवृत्ति का नाम अनर्थदण्ड है। दिग्व्रत मे तो मर्यादा से बाहर पापोपदेश आदि का त्याग होता है, किन्तु अनर्थदण्डव्रत में मर्यादा के भीतर ही उनका त्याग किया जाता है। यह त्यागरूप व्रत ही अनर्थदण्डव्रत है।[5] इस व्रत के मुख्य

---

१. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लघ्यते।
स्यातं दिग्विरतिरिति प्रथम तद्गुणव्रतम् ॥—योगशास्त्र, ३।१

२. दिग्वलय परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।६८

३. चराचराणां जीवाना विमर्दन निवर्त्तनात्।—योगशास्त्र, ३।२

४. स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमः।
क्षेत्रवृद्धिश्च पचेति स्मृता दिग्विरतिव्रते ॥—वही, ३।९७

५. पीडापापोदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनागिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥—सागारधर्मामृत, ५।६

पांच भेद हैं[1]--(१) पापोपदेश अर्थात् हिंसा, खेती और व्यापार आदि को विषय करनेवाला प्रसग बारबार उठाना। ऐसे वचन को व्याध, ठग और चोर आदि से नही कहने का उपदेश दिया गया है। (२) हिंसादान अर्थात् विष और हथियार आदि हिंसा के कारणभूत उपकरण या पदार्थ दूसरों को देना। (३) अपध्यान अर्थात् दूसरो के नुकसान, पराजय, मृत्यु आदि का चिन्तन करना। (४) दुःश्रुति अर्थात् आरम्भ, परिग्रह, विषयभोग आदि से चित्त को मलिन करनेवाले शास्त्रो का श्रवण करना और (५) प्रमादचर्या अर्थात् निष्प्रयोजन पृथ्वी के खोदने, वायु को रोकने, अग्नि को बुझाने, जल को उछालने-गिराने तथा वनस्पति को छेदने का कार्य करना। योगशास्त्र मे दु श्रुति का उल्लेख नही है।[2]

उक्त कार्यो को किसी भी रूप मे न करना श्रावक के लिए व्रत रूप है। अहिंसादि व्रतो के सम्यक् निर्वाह के लिए और आत्मविशुद्धि के लिए अनर्थदण्ड से बचना चाहिए।

इस व्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं[3]—(१) सयुक्ताधिकरणता अर्थात् हल, मूसल आदि हिंसाजनक उपकरणो को जोडकर रखना जैसे उखल के साथ मूसल, हल के साथ फाल आदि। (२) उपभोगातिरिक्तता अर्थात् आवश्यकता से अधिक भोग, उपभोग की वस्तुएँ रखना, (३) मौखर्य अर्थात् बिना विचारे बकवाद करना, (४) कौत्कुच्य अर्थात् शारीरिक कुचेष्टाएँ करना, तथा (५) कन्दर्प अर्थात् कामोत्पादक वचन बोलना।

इस सदर्भ मे ध्यातव्य है कि उक्त अतिचारो के नामों में भिन्नता भी देखी जाती है, लेकिन अर्थ मे नही।

३. भोगोपभोगपरिमाण

जो पदार्थ एक बार भोगने के बाद पुनः भोगने योग्य नही रहता, उसे

---

१. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३४४-३४८

२. शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थित. ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीय तु गुणव्रतम् ॥—योगशास्त्र, ३।७४

३. सयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्य्यमथ कौत्कुच्य कन्दर्पोऽनर्थदण्डगा ॥—वही, ३।११५

भोग कहते हैं, जैसे भोजन, गध, माला आदि, और जो पदार्थ बार-बार भोगा जा सकता है, उसे उपभोग कहते हैं[1], जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। दोनो ही प्रकार की वस्तुओ की मर्यादा निश्चित करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। इस व्रत के द्वारा श्रावक भोग-उपभोग की वस्तुओ को नियत काल तक मर्यादा बाँधता है अर्थात् उन वस्तुओ का निषेध अथवा इच्छा करता है। इस व्रत का पालक श्रावक मधु, मांस आदि पदार्थों के एव साधारण वनस्पतियो के भक्षण का भी त्याग करता है, जिनमें अनेक जीवो की हिंसा होने की सम्भावना रहती है।[2]

इस व्रत के पाँच अतिचार है[3]—(१) सचित्त भोजन अर्थात् चेतना वाली हरितकाय वनस्पति का सेवन, (२) सचित्त वृक्षादि से सम्बद्ध गोद या पके फल का जैसे खजूर, आम आदि का सेवन, (३) सचित्त संमिश्र अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें सूक्ष्म जन्तु होते हैं उनका सेवन, (४) दुष्पक्व अर्थात् अनेक द्रव्यों के संयोग से निर्मित सुरा, मदिरा आदि का सेवन अथवा दुष्टरूप से पके, कम पके पदार्थ का सेवन, (५) अभिषव भोजन अर्थात् पतले अथवा गरिष्ठ पदार्थों का सेवन।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे भिन्न प्रकार के अतिचार वर्णित हैं।[4]

शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत भी गुणव्रत की ही तरह अणुव्रतो की सुरक्षा और विकास मे सहायक हैं। शिक्षाव्रतो को ग्रहण करने मे श्रावक को बार-बार अभ्यास करना होता है।

---

१. सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिक ।
पुन पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिक. ॥—वही, ३।५

२. जत्थेक्क मरइजीवो, तत्थ दु मरण हवे अणताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ-णताणं ॥
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १९३

३. (क) सचित्त तेन सम्बद्ध, समिश्र तेन भोजनम् ।
दुष्पक्वमभिषवं, भु जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥—सागारधर्मामृत, ५।२०
(ख) योगशास्त्र, ३।९७

४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।९०

शिक्षाव्रत के भेदो मे मतभेद है। चारित्रपाहुड[1], पद्मचरित[2], भाव सग्रह[3], हरिवंशपुराण[4], आदिपुराण[5] आदि के अनुसार इस व्रत के क्रमशः सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और संलेखना चार प्रकार हैं और रत्नकरण्डश्रावकाचार[6], स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[7], सागारधर्मामृत[8] आदि के अनुसार देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास एव अतिथिसंविभाग ये चार प्रकार हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार[9] के अनुसार इस व्रत के चार भेद क्रमशः भोगविरति, परिभोग-विरति, अतिथिसंविभाग तथा संलेखना का उल्लेख है। शीलव्रत के निरूपण के क्रम में तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन, उपासकदशांग, चारित्र-सार, योगशास्त्र आदि के अनुसार इस व्रत के चार भेद इस प्रकार हैं--(१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) देशावकाशिक तथा (४) अतिथिसंविभाग।

१. सामायिक—इंद्रियों को स्थिर करके रागद्वेषरूपी परिणामो को छोडकर, समताभाव धारण करके आत्मलीन हो जाना सामायिक शिक्षाव्रत है।[10] इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[11]—(१) मन की सदोष प्रवृत्ति, (२) वचन की सदोष प्रवृत्ति, (३) काय की सदोष प्रवृत्ति, (४)

---

१. चारित्रपाहुड, २५
२ पद्मचरित, १४।१९९
३. प्राभृतसग्रह, पृ ६०
४ हरिवंशपुराण, १८।४७
५ आदिपुराण, १०।६६
६. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।१
७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३५२, ३५५, ३५८, ३६७
८ सागारधर्मामृत, ५।२४
९ वसुनन्दिश्रावकाचार, २१३
१०. रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश. सामायिक कार्यम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४८
११. कायवाङ्मनसा दुष्ट-प्रणिधानमनादर.।
स्मृत्यनुपस्थापनच स्मृता: सामायिक व्रते॥ —योगशास्त्र, ३।११६

सामायिक के प्रति अनादर भाव एवं (५) सामायिक ग्रहण करने के समय का ज्ञान नही होना।

२. प्रोषधोपवास--कषायो को त्यागकर प्रत्येक चतुर्दशी एवं अष्टमी के दिन उपवास करके तप ब्रह्मचर्यादि धारण करना प्रोषधोपवास है।[1] इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[2]—(१) बिना देखे भूमि पर मल-मूत्रादि करना, (२) पाट, चौकी आदि को विना देखे उठाना-रखना, (३) विना देखे विस्तर, आसन लगाना, (४) प्रोषधव्रत के प्रति आदर न होना और (५) प्रोषध करके भूल जाना।

३ देशावकाशिक—गमनागमन की मर्यादित निश्चित दिशा को दिन एव रात्रि मे यथोचित और संक्षिप्त करना देशावकाशिकव्रत है।[3] इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं[4]—(१) मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी व्यक्ति को काम से भेजना, (२) क्षेत्र के बाहर की वस्तुओ को मँगवा लेना, (३) क्षेत्र के बाहर ध्यान आकर्षित करने के लिए पत्थर फेंकना, (४) क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को आवाज देकर बुलाना और (५) किसी व्यक्ति को आ जाने के लिए बाहरी क्षेत्र में स्थित आदमी को अपना चेहरा दिखाना।

४ अतिथिसंविभाग—त्यागियो, मुनियो आदि को खानपान, रहन-सहन आदि वस्तुएँ देकर स्वयं खानपान करना अतिथिसंविभागव्रत है।[5] इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं[6]—(१) सचित्त पदार्थों से आहार ढँकना,

---

१ चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्य-क्रिया-स्नानादित्याग. पोषधव्रतम ॥ —वही, ३।८५

२. वही, ३।११७

३ दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य संक्षेपण पुन.।
दिनेरात्रौ च देशावकाशिक-व्रतमुच्यते ॥ —वही, ३।८४

४ प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा।
शब्दरूपाऽनुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥ —वही, ३।११७

५. दानं चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसद्मानाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥ —वही, ३।८७

६. सच्चित्ते क्षेपणं तेन, पिधान काललघनम्।
मत्सरोऽन्यापदेशश्च, तुर्यशिक्षाव्रते स्मृता. ॥ —वही, ३।११८

(२) देय वस्तु को सचित्त पदार्थों के ऊपर रख देना, (३) भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना, (४) ईर्ष्या से प्रेरित होकर दान देना और (५) परायी वस्तु कहकर दान देना ।

प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष ।[१] श्रावक जब श्रमण के सदृश ही जीवन व्यतीत करना चाहता है, तब इन प्रतिमाओ का आश्रय लेता है, क्योकि गुण-स्थानो की तरह इन प्रतिमाओ के द्वारा क्रमिक आत्मविकास होता है। इस दृष्टि से प्रतिमाएँ आत्मविकास की क्रमिक सोपान हैं, जिसके डण्डों पर चढ़ते हुए श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मुनि की दीक्षा ग्रहण करने की भूमिका पर पहुँचता है।

प्रतिमाओ की संख्या, क्रम एवं नामो के सम्बन्ध मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा में किंचित् अन्तर दिखाई पड़ता है, लेकिन यह अन्तर नगण्य है। श्वेताम्बर परम्परा के दशाश्रुतस्कन्ध[२] एवं समवायाग[३] आगमों मे क्रमश: दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोपधोपवास, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यपरित्याग, उद्दिष्टत्याग एवं श्रमणभूत इन ग्यारह प्रतिमाओ का वर्णन है। आचार्य हरिभद्र ने 'नियम' के स्थान पर 'पडिमा' का उल्लेख किया है।[४] दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दिश्रावकाचार[५], सागारधर्मामृत[६] आदि ग्रन्थों मे दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग एवं उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं का

---

१. जैन आचार, पृ० १२५

२. दशाश्रुतस्कन्ध, ६-७

३ समवायाग, ११

४. दसणवय सामाइय पोसह पडिमा अवभ सच्चित्ते ।
आरंभ पेस उदिट्ठवज्जए समणभूए य ।। —विंशतिर्विंशिका, १०।१

५. वसुनन्दिश्रावकाचार, २०१-३०१

६. सागारधर्मामृत, ३।२-३

क्रम वर्णित है और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[1] में सम्यग्दृष्टि नामक एक और प्रतिमा जोड़कर वारह प्रतिमाओं का उल्लेख है।

दोनों परम्पराओं के अनुसार प्रथम चार प्रतिमाओ मे कोई अन्तर नहीं है। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्वर-परम्परा मे पाँचवाँ है जब कि श्वेताम्वर-परम्परा मे सातवाँ है। दिगम्बराभिमत 'रात्रिभुक्तित्याग' श्वेताम्बराभिमत पाँचवी प्रतिमा 'नियम' मे समाविष्ट है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा श्वेताम्बर-परम्परा मे छठी है जब कि दिगम्बर-परम्परा मे सातवी है। दिगम्बरसम्मत 'अनुमतित्याग' श्वेताम्बरसम्मत 'उद्दिष्टत्याग' मे ही समाविष्ट हो जाती है, क्योकि इस प्रतिमा मे श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ ही किसी प्रकार के आरम्भ का समर्थन भी नही करता और श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूतप्रतिमा ही दिगम्वराभिमत उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है।[2]

इन ग्यारह प्रतिमाओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. दर्शनप्रतिमा—दर्शन अर्थात् सम्यक्दृष्टि। इस प्रतिमा के धारक श्रावक को सर्वगुण विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, दृष्टि की विशुद्धता प्राप्त होती है और वह पंचगुरुओं के चरणों मे जाकर दृष्टि-दोषो का परिहार करता है।[3] वसुनन्दिश्रावकाचार के अनुसार वह पाँच उदुम्बर फलादि और सात व्यसनो का त्याग करता है।[4]

---

१. सम्मदंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।
वयधारी सामाइउ पव्ववइ पासुयाहारी ॥३०५॥
राइ-भोयण-विरओ मेहुण-सारम-सग चत्तो य।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥३०६॥
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

२. जैन आचार, पृ० १३०-३१

३ श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणा पूर्वगुणै. सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा· ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१३६

४ पंचुंबर सहियाइं परिहरेइ जो सत्त विसणाइं।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २०५

२ **व्रतप्रतिमा**—इस द्वितीय प्रतिमा का धारक श्रावक अणुव्रतो, गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो को सम्यक्‌रूप मे धारण करता है और उनका विधिवत् पालन करता है।[1]

३ **सामायिकप्रतिमा**—इस तृतीय प्रतिमा में श्रावक मन, वचन एवं काय से तीनों संध्याओ मे सामायिक करता है।[2] इस प्रतिमा मे सामायिक, देशावकाशिक व्रतो की आराधना होती है, लेकिन अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व-दिनों मे प्रोषधोपवास का पालन नही होता।[3]

४. **प्रोषधोपवासप्रतिमा**—इस चतुर्थ प्रतिमा मे श्रावक महीने के चारो पर्वों पर अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी व अष्टमी पर शक्ति के अनुसार शुद्ध भावना से प्रोषधनियमो का पालन करता है।[4]

५. **सचित्तत्यागप्रतिमा**—पचम प्रतिमाधारी श्रावक सचित्त अर्थात् हरित वनस्पति का सेवन नही करता, परन्तु आरंभी हिंसा का त्याग नही कर पाता है।[5] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार श्रावक जिस वस्तु को ग्रहण नही करे वह दूसरो को भी ग्रहण करने के लिए न दे, क्योकि दोनो क्रियाओ मे कोई अन्तर नही है।[6]

६. **रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमा**—छठी प्रतिमाधारी श्रावक रात्रि मे

---

१. पचैवणुव्वयाइ गुणव्वयाइं हवन्ति पुणतिण्णि।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणामि॥ —वही, २०७

२. चतुरावर्त्त-त्रितयश्चतु. प्रणाम. स्थितो यथाजात.।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसध्यमभिवन्दी॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१३९

३ दशाश्रुतस्कन्ध, ६।३

४ पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणधिपर प्रोषधानशनः॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१४०

५. जाव राओ वराय वा वंभयारी सचित्ताहारे से परिणाए भवति।
आरभे से अपरिणाए भवति।—दशाश्रुतस्कन्ध, ६।७

६. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८०

चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है।[1] इस प्रतिमा का धारक मन, वचन, काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से दिवामैथुन का त्याग करता है।[2] श्वेताम्बर परम्परानुसार इस प्रतिमा को नियमप्रतिमा कहा गया है और रात्रि-भोजन त्याग, दिवामैथुन आदि क्रिया को वर्जित माना गया है।[3]

७ **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—इस सप्तम प्रतिमा मे पूर्वोक्त छह प्रतिमाओ का निरतिचार पालन करते हुए मन को वश मे करनेवाला श्रावक मन वचन काय से मानवी, दैवी, तिर्यंची और उनकी प्रतिरूप समस्त स्त्रियो के सेवन की अभिलाषा नही करता।[4]

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारक श्रावक आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर देता है। वह मन, वचन, एव काय से कृषि, सेवा, व्यापार विषयक आरम्भ न तो स्वयं करता है न दूसरो को करने के लिए कहता है।[5]

९ **परिग्रहत्यागप्रतिमा**—नवम प्रतिमाधारी श्रावक पूर्ण परिग्रह का त्यागी होता है। वह शरीर ढँकने के लिए एक-दो वस्त्र रखकर शेष सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देता है तथा मूर्च्छारहित होकर रहता है।[6]

---

१. अन्न पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरत सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१४२

२ मणवयणकाय कयकारियाणुमोएहिं मेहुण णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २९६

३ दशाश्रुतस्कन्ध, ५।६

४ तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा।
यो जात्वशेषा नो योषा, भजति ब्रह्मचार्यसौ॥—सागारधर्मामृत, ७।१६

५ निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघातागत्वात् करोति न।
न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा॥ —वही, ७।२१;
तथा स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८५, समीचीन धर्मशास्त्र, ७।१४४

६ मोत्तूणवत्थमेत्तं परिग्गह जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छण्ण करेइ जाण सो सावओ णवमो॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २९९

१०. अनुमतित्यागप्रतिमा—इस प्रतिमा का धारी अब इतना मोहयुक्त हो जाता है कि कृषि आदि आरभ, धन-धान्यादि बाह्य पदार्थ, विवाहादि लौकिक कार्यों मे मनवचनकाय से अनुमति नही देता है।[1]

११. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—यह अन्तिम और ग्यारहवी प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक घर को त्यागकर मुनिजनो के निकट चला जाता है और गुरु के निकट व्रतो को ग्रहण करके छोटी चादर मात्र रखकर भैक्ष्यभोजन करता है और तपस्या आदि मे लग जाता है।[2] इस प्रतिमा मे कोई वस्त्र-खण्ड भी रखते हैं, कोई मात्र कोपीनधारी होते हैं।[3]

इस प्रकार इन प्रतिमाओ के द्वारा श्रावक क्रमश. आत्मविकास के सोपानो पर चढता है और ग्यारहवी प्रतिमा पर पहुँचकर वह उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् श्रमणवत् बन जाता है। प्रतिमाओ के द्वारा जहाँ व्रतो के पालन मे एकनिष्ठता, श्रद्धा, आत्मशुद्धि, वैराग्य आदि गुणो का आविर्भाव होता है, वहाँ कलुषता, क्षुद्रता आदि कषायो का स्वतः परिशमन हो जाता है। योगारभ मे इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु का त्याग तथा भोग की मात्रा पर ध्यान दिया जाता है। जैसे-जैसे आत्मशुद्धि में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे सांसारिक मोहबन्ध की आशा छूटती जाती है।

श्रावक के छह आवश्यक

श्रमण के दैनिक आवश्यको की भाँति श्रावक के दैनिक छह आवश्यको का भी विधान है। देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, सयम, तप एव दान ये श्रावक के षट्कर्म हैं, जो प्रतिदिन करणीय हैं।[4] इनके करने से

---

१ नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरत· त्रिधा।
यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम्॥—सागारधर्मामृत, ७।३०

२. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चैलखण्डधर.॥ —समीचीन धर्मशास्त्र, ७।१४७

३. एयारसेसु पढम वि जदो णिसिभोयण कुणतस्स।
ठाण ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा।
—वसुनन्दिश्रावकाचार, ३१४

४. देवसेवागुरूपास्ति स्वाध्याय· सयमस्तपः।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने॥ —उपासकाध्ययन, ४६।९११

संयम मे वृद्धि होती है, धर्म-व्यापार मे मन स्थिर होता है, आन्तरिक दोषो का नाश होता है, समता, मैत्री, भावना आदि शुद्ध भाव पैदा होते हैं। इनके अभ्यास से आत्मविकास होता है।

१ **देवसेवा**—इसके अन्तर्गत अरहंत प्रभु का अभिषेक, पूजन, गुणों का स्तवन, जप तथा ध्यान की क्रियाएँ आती हैं।[1]

२ **गुरुपूजा**—इसके अन्तर्गत आचार्य तथा गुरु के प्रति श्रद्धा एवं पूजाभाव, शास्त्रों का मनन-विवेचन, सम्यक्आचरण आदि क्रियाएँ आती हैं, जो कल्याणप्रद है।[2] इसमें बताया गया है कि माता-पिता, विद्या गुरु, ज्ञाति कुटुम्ब, श्रुतशील एवं धर्म प्रकाशक गुरु हैं[3] और इनका आदर-सत्कार आदि करना धर्म है। इसी संदर्भ मे गीता के अनुसार उनकी सेवा करना तथा ज्ञान प्राप्त करना विहित माना गया है।[4]

३. **स्वाध्याय**—स्वाध्याय का अर्थ है आत्मा का अध्ययन अथवा अध्यात्म का चिन्तवन अर्थात् चारो अनुयोगो का एवं गुणस्थान, मार्गणा आदि का सम्यक् पठन-पाठन।[5] इससे चित्त स्थिर होता है और आत्मा की ओर देखने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है।

४ **संयम**—कषायो का निग्रह, इन्द्रियजय, मन-वचन-काय की

---

१. स्नपन पूजनं स्तोत्र जपो ध्यान श्रुतस्तवः।
षोढाक्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥
—वही, ४६।९१२, योगशास्त्र, ३।१२२-२३

२ आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम्।
तत्क्रियाणामनुष्ठान श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥
—वही, ४६।९१३ ; योगशास्त्र, ३।१२४

३. मातापिताकलाचार्य एतेषा ज्ञातयस्तथा।
वृद्धाधर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सता मतः ॥—योगबिन्दु, ११०

४. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। भगवद्गीता, ४।३४

५. अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥
—उपासकाध्ययन, ४६।९१५

प्रवृत्ति का त्याग और व्रतो का नियमपूर्वक पालन करना ही सयम है ।[1] संयमपालन से ही धर्मपालन में स्थिरता आती है । गीता के अनुसार भी इन्द्रिय, मन, वाणी, विचार, रसेन्द्रिय, काम, क्रोध आदि पर अंकुश रखना सयम है ।[2]

५ **तप**—इसके सम्बन्ध मे विस्तार के साथ अगले अध्याय मे प्रकाश डाला गया है।

६ **दान**—श्रावक के लिए आवश्यक माना गया है कि वह पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और काल के अनुसार अपनी शक्ति एव मर्यादाओ को ध्यान मे रखकर दान करे ।[3] दान देने मे राग-द्वेष, कीर्ति की लालसा आदि मनोभावो को न आने दे ।

इस प्रकार ये षट्कर्म या आवश्यक श्रावक के दैनिक कर्तव्य हैं। आदिपुराण मे पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम एवं तप को 'कुलधर्म' कहा गया है ।[4]

(२) श्रमणाचार (साध्वाचार)

साध्वाचार अथवा श्रमणाचार जैन संस्कृति का मूल आधार है तथा सयममय योगपूर्ण जीवन का मूल मत्र है। यही कारण है कि साधु या मुनि योग के सम्पूर्ण स्तरों का सम्यक् रूप से पालन करने मे समर्थ होता है। योग के लिए किन-किन नियमो, उपक्रमों आदि की अपेक्षाएँ होती है वे अनायास ही अभ्यास-क्रम मे प्राप्त हो जाती हैं। योग-सिद्धि के लिए श्रमणचर्या सहायक है। अत उसका उपयुक्त एवं समीचीन विश्लेषण यहाँ किया जाता है।

---

१ कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् ।
सयम संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥—वही, ४६।९२४

२. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन. ।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥—भगवद्गीता, १६।२१

३ पात्रागमविधिद्रव्य-देश-कालानतिक्रमात् ।
दानं देयं गृहस्थेन, तपश्चर्यं च शक्तित. ॥ —सागारधर्मामृत, २।४८

४. आदिपुराण, २४।२५

श्रावक अथवा गृहस्थ के अणुव्रत आदि व्रत-शील साधक को साधुत्व की ओर प्रेरित करते हैं और दीक्षा लेने के उपरांत साधु संसार सम्बन्धी ममता-मोह तथा राग-द्वेष से ऊपर उठकर समभाव में स्थित होते हैं। साधु-सामाचारी के सम्बन्ध में कहा गया है कि गुरु के समीप रहना, विनय करना, निवासस्थान की शुद्धि रखना, गुरु के कार्यों मे शांति-पूर्वक सहयोग देना, गुरु-आज्ञा को निभाना, त्याग में निर्दोषता, भिक्षा-वृत्ति से रहना, आगम का स्वाध्याय करना एव मृत्यु आदि का सामना करना आवश्यक है।[१] सामाचारी का तात्पर्य ही यह है कि विवेकपूर्वक सयम-चारित्र का पालन करना।[२] उत्तराध्ययनसूत्र मे भी कहा है कि विनय की शिक्षा का स्रोत यही है।[३] साधु या निर्ग्रन्थ हिंसा आदि का पूर्णतः त्यागी होता है। उसके अहिंसादिव्रत महाव्रत कहलाते है। पहले कहा ही गया है कि श्रावक देशव्रती होता है और श्रमण सर्वदेशव्रती या सकल चारित्र का पालनकर्ता। साधु के अट्ठाईस मूलगुण[४] और सत्तर उत्तर-गुण[५] कहे गये हैं, जिनका पूरी तरह पालन करना प्रत्येक श्रमण के लिए नितान्त आवश्यक है। इन मूलगुणो एवं उत्तरगुणों मे श्रमण की चर्या समाहित हो जाती है, फिर भी क्रमशः पंचमहाव्रतो, त्रिगुप्तियो, पंचसमि-तियो आदि का वर्णन यहाँ कर देना उपयुक्त होगा।

---

१. योगशतक, २३-२५

२. वही, पृ० ४६

३. सामाचारी का सामान्य अर्थ है सम्यक्चर्या या सम्यक् आचरण। यह सब दु:खो से मुक्त करानेवाली है। इसके दस अग हैं—आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, अभ्यु-त्थान, उपसंपदा। —उत्तराध्ययन, २६।१-७

४. महाव्रत-समित्यक्षरोधा. स्यु पंचचैकशः।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता॥
अदन्तधावन भूमिशयनं स्थिति-भोजनम्।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यते॥—योगसारप्राभृत, ८।६-७

५. पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इन्दियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चैवकरणं तु॥
—ओघनिर्युक्तिभाष्य, पृ० ६

पंचमहाव्रत

श्रमण के पांच महाव्रत इस प्रकार हैं[1]—

(१) सर्वप्राणातिपातविरमण (अहिंसाव्रत)

यह प्रथम महाव्रत है। श्रमण को अहिंसा का सम्पूर्णतया पालन तीन योग एवं तीन करण से करना होता है। अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं हैं—(१) **ईर्यासमिति**—साधु उठने-बैठने, गमनागमन करने आदि मे अत्यन्त सावधानी बरते ताकि किसी भी जीव की विराधना न हो।[2] (२) **मन की अपापकता**—मन मे अनेक प्रकार के विचार आते हैं। वे सावद्यकारी, आस्रव करनेवाले, सक्रिय, छेदन-भेदन एवं कलह करनेवाले, दोषपूर्ण एवं प्राणो के घातक हो सकते हैं, जिन्हे मन से हटाना साधु के लिए अनिवार्य है।[3] (३) **वचनशुद्धि**—वाणी के समस्त दोषो से बचना चाहिए।[4] अर्थात् साधु को ऐसे वचनो का प्रयोग करना चाहिए, जिनसे दूसरे जीवो को पीडा अथवा तकलीफ न हो और न किसी भी प्रकार के दोष उत्पन्न हो। (४) **भण्डोपकरणसमिति**—साधु को पात्रादि उपकरणो के रखने आदि मे सावधानी रखनी चाहिए, क्योकि इनसे अनेक प्रकार की हिंसा होना संभव है।[5] (५) **आलोकित-पानभोजन**—विवेकपूर्वक आहारचर्या की जाय ताकि किसी प्रकार की हिंसा न हो। आहार-पानी की असावधानता से छोटे-मोटे जीवो की हिंसा सम्भव है, इसलिए हिंसा आदि दोषो से युक्त आहार का निषेध है। साधु को शुद्ध, निर्दोष आहार ही लेना विहित है।[6]

---

१. अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो य बंभ अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि, चरिज्जधम्मं जिणदेसियं विऊ॥
—उत्तराध्ययन, २१।१२

२. तत्थिमा पढमा भावना इरियासमिए से निग्गथे·· अणइरिया समिइत्ति पढमा भावना। —आचारागसूत्र, द्वितीय श्रुत०, अ० १५ पृ० १४२०

३. वही, पृ० १४२२

४. वही, पृ० १४२३

५. आचारागसूत्र, द्वि० श्रुत०, अ० १५, पृ० १४२४

६. वही, पृ० १४२६

(२) सर्वमृषावादविरमण[1] (सत्यव्रत)

यह द्वितीय सत्य महाव्रत है। साधु को अहिंसा की भाँति ही सत्य-महाव्रत का पालन तीन योग तथा तीन करण से करना होता है। इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं—

(१) अनुवीचिभाषण—विवेक-विचारपूर्वक बोलना।

(२) क्रोधत्याग—साधु को क्रोध या आवेश से बचना चाहिए।

(३) लोभत्याग—साधु को लोभ से सर्वथा दूर रहना चाहिए, जिससे कि मिथ्याभाषण का दोष न लगे।

(४) भयत्याग—साधु को हर प्रकार के भय से सर्वथा अलग रहना चाहिए।

(५) हास्यत्याग—हँसी-मजाक भी असत्य का कारण है। इसलिए साधु को इससे दूर रहना चाहिए।

(३) सर्वअदत्तादानविरमण (अस्तेयव्रत)

यह तृतीय अचौर्य महाव्रत है। बिना अनुमति से साधु को एक तिनका भी ग्रहण करना वर्जित है। साधु को तीन योग तथा तीन करण से अचौर्य महाव्रत का पालन करना होता है।[2] इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं—

(१) **विचारपूर्वक वस्तु या स्थान की याचना**—साधु को सोच-समझकर ही उपयोग के लिए वस्तु या स्थान के स्वामी या श्रावक से याचना करनी चाहिए।

(२) **गुरु की आज्ञा से भोजन**—विधिपूर्वक अन्नपानादि लाने के बाद गुरु को दिखाकर उनकी अनुज्ञापूर्वक उपभोग करना चाहिए।

(३) **परिमित पदार्थ ग्रहण**—साधु को स्थान, उपकरण, आहार आदि के ग्रहण मे परिमितता अर्थात् मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए।

(४) **पुनः पुनः पदार्थों की मर्यादा**—साधु को बार बार अवग्रह की मर्यादा निर्धारित करनी चाहिए।

---

१. वही, पृ० १४३०-३१

२. वही, पृ० १४३७-३८

(५) **सार्धमिक अवग्रहयाचन**—साधु अपने समानधर्मी दूसरे साधु से आवश्यक होने पर परिमित स्थान की याचना करे।

इस प्रकार साधु को विवेकपूर्वक स्थान या वस्तु ग्रहण करना चाहिए।

(४) सर्वमैथुनविरमण (ब्रह्मचर्यव्रत)

यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। अन्य महाव्रतो की भाँति ही इस महाव्रत का पालन साधु को मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक करना होता है। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं—

(१) **स्त्रीकथात्याग**—साधु को कामवर्धक स्त्रीकथा या बाते नही करना चाहिए।

(२) **मनोहर क्रियावलोकनत्याग**—महाव्रती को अपने से विजातीय व्यक्ति के मुख, स्तन, दण्ड, बाल आदि कामोद्दीपक अंगो का अवलोकन करना वर्जित है।

(३) **पूर्वरतिविलासस्मरणत्याग**—साधु को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने के पूर्व के काम-भोगो का स्मरण न करे।

(४) **प्रणीतरसभोजनत्याग**—प्रमाण से अधिक अथवा कामवर्धक रसयुक्त आहारपानी ग्रहण नही करना चाहिए।

(५) **शयनासन-त्याग**—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि के आसन अथवा शैया आदि का उपयोग करना साधु को विहित नही है।[1]

इस तरह सभी प्रकार से मन, वचन एवं काय द्वारा मैथुन-भावनादि की निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है और उसका सम्पूर्णतया पालन करना किसी भी योगी के लिए नितान्त आवश्यक है।

(५) सर्वपरिग्रहविरमण (अपरिग्रहव्रत)

यह पाँचवाँ अपरिग्रह महाव्रत है। साधु को सब प्रकार के अन्तरङ्ग एव बाह्य परिग्रह से मुक्त रहना चाहिए। परिग्रहों से मन कलुषित होता है, अशांति, भय, तृष्णा, बढती है और मन एकाग्र नही हो पाता। परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा के कारण अहिंसादि महाव्रतो का पालन

१ वही, पृ० १४४५-४६

२. वही, पृ० १४५५-५७

भी नही हो पाता। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं, जो पांच इंद्रियों के विषयो से सम्बन्धित हैं—

(१) **श्रोतेन्द्रिय मे अनासक्ति**—साधु प्रिय-अप्रिय, कोमल-कठोर शब्दो के प्रति राग-द्वेष नही रखे।

(२) **चक्षुरिन्द्रियों में अनासक्ति**—साधु को प्रिय-अप्रिय रूपों के अवलोकन के प्रति उदासीन रहना चाहिए।

(३) **घ्राणेन्द्रिय में अनासक्ति**—साधु सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध के प्रति उदासीन रहे।

(४) **रसनेन्द्रिय में अनासक्ति**—साधु को प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु के स्वाद मे, रस मे आसक्ति नही रखनी चाहिए।

(५) **स्पर्शेन्द्रिय मे अनासक्ति**—प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय में द्वेष उत्पन्न होता है और ऐसा रागद्वेष रखने से शान्ति भङ्ग होती है। अत. साधु को हर प्रकार के स्पर्श के प्रति उदासीन रहना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत के धारी साधु या योगी को संसार के प्रति सारी आसक्ति का त्याग कर देने का विधान है। अपरिग्रही साधु ही सही अर्थ मे योगी होता है।

गुप्तियाँ एवं समितियाँ (अष्ट प्रवचनमाता)

मानसिक एकाग्रता एव विशुद्धि के लिए अशुभ प्रवृत्तियो का शमन और शुभ प्रवृत्तियो का आचरण आवश्यक है। मन की विशुद्धता एवं एकाग्रता श्रमण के महाव्रतो की रक्षा एवं पोषण करती है और आत्मिक विकास अर्थात् योग द्वारा मोक्ष की स्थिति तक पहुँचाने मे सहायक है। इसके लिए गुप्तियो और समितियो का विधान है, क्योकि गुप्तियाँ मन, वचन एव काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती हैं, और समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं।[1] वस्तुत गुप्ति एव समिति से एकाग्रता प्राप्त होती है तथा शुभ प्रवृत्तियो की ओर उन्मुख होने का अभ्यास प्रबल बनता है। इन दोनो का संयुक्त नाम अष्ट प्रवचनमाता है।[2]

---

१ एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो ॥—उत्तराध्ययन, २४।२६

२ एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूना, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिता ॥
—योगशास्त्र, १।४५; उत्तराध्ययन, २४।१

(अ) गुप्तियाँ

गुप्ति का लक्षण—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक त्रियोग (मन, वचन, काय) को अपने अपने मार्ग में स्थापित करना गुप्ति है।[१] वस्तुतः मन, वचन एव काय की प्रवृत्ति सर्वदा राग-द्वेष की ओर रहती है। साधु अपनी साधना द्वारा मन-वच-न-काय को शुभ प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करता है। तथा कषायरूपी वासनाओ से रक्षा के लिए गुप्ति रूपी अस्त्र का प्रयोग करना काहिए।[२]

गुप्ति के भेद—गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

(१) **मनोगुप्ति**—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त मन को रोकना मनोगुप्ति है।[३] दूसरे शब्दों मे रागद्वेष आदि कषायो से मन को निवृत्त करना मनोगुप्ति है। इसके चार भेद है[४]—सत्या, मृषा, सत्यामृषा एवं असत्यामृषा। सत्य चिंतन करना सत्या मनोगुप्ति है और असत्य चिन्तन करना मृषामनोगुप्ति है। सत्य असत्य का मिश्रित चिंतन सत्या-मृषा मनोगुप्ति तथा केवल लोक-व्यवहार देखना (न सच न झूठ) असत्या मृषा मनोगुप्ति है।

(२) **वचनगुप्ति**—असत्य भाषणादि से निवृत्त होना या मौन धारण

---

१ (क) वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधक।
त्रियोगरोधक वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ॥—ज्ञानार्णव, १८।४;
(ख) सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकत्रिविधयोगस्य शास्त्रोक्त विधिना स्वाधीनमार्ग—व्यवस्थापन रूपत्व गुप्ति सामान्यस्य लक्षणम्।
—आर्हत्दर्शनदीपिका, ५।६४२

२ सद्धं नगर किच्चा, तवसवरमग्गल।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्त दुप्पधसय ॥ —उत्तराध्ययन, ९।२०

३. (क) वही, २४।२१
(ख) जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति।
—मूलाराधना, ६।११८७

४. सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा, मणगुत्ती चउव्विहा ॥—उत्तराध्ययन, २४।२०

करना वचनगुप्ति है।[1] असत्य, कठोर, आत्मश्लाघी वचनों से दूसरो के मन का घात होता है अर्थात् वाचना, पृच्छना, प्रश्नोत्तर आदि में वचन का निरोध करना ही वचनगुप्ति है।[2] अत. चाहे सत्य हो या असत्य हो जिससे दूसरो के मन को पीडा पहुँचे ऐसे वचन नही बोलना चाहिए। इसके चार भेद हैं[3]—सत्यवाग्गुप्ति, मृषावाग्गुप्ति, सत्यामृषावाग्गुप्ति, असत्यामृषावाग्गुप्ति।

(३) कायगुप्ति—अज्ञानवश शारीरिक क्रियाओं द्वारा बहुत-से जीवो को पीड़ा होती है, उनका घात होता है अत इससे साधु को वचना चाहिए। इस प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भपूर्वक कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति है,[4] जिससे कि खड़े रहने, शयन करने, बैठने, लघन अथवा प्रलंघन करने मे किसी भी जीव की हिंसा न हो।

(आ) समितियाँ

सयम मे दृढता तथा चारित्र-विकास के लिए—महाव्रतों की रक्षा के लिए—समितियो का विधान महत्त्वपूर्ण है। समितियाँ पाँच हैं—

(१) ईर्यासमिति—मार्ग, उद्योग, उपयोग एवं आलम्बन की शुद्धियों का आश्रय करके गमन करने मे ईर्यासमिति का व्यवहार किया जाता है।[5] सावधानीपूर्वक गमन करना, जिससे किसी भी जीव की विराधना न हो, मार्गशुद्धि है। प्रकाश मे देखभालकर सावधानीपूर्वक चलना उद्योतशुद्धि और द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से गमन करना उपयोग-शुद्धि है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय

---

१. सञ्ज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥—योगशास्त्र, १।४२

२. वाचनप्रच्छनप्रश्नव्याकरणादिष्वपि सर्वथा वाङ्निरोधरूपत्व, सर्वथा भाषानिरोधरूपत्वं वा वाग्गुप्तेर्लक्षणम्। —आर्हत्दर्शनदीपिका, ५।६४४

३ उत्तराध्ययन, २४।२२

४. उत्तराध्ययन, २४।२४-२५

५ मग्गुज्जोदुपओगालंवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवणम्मि।
—मूलाराधना, ६।११९१, ज्ञानार्णव, १८।५-७; उत्तराध्ययन, २४-४.

उपदेश देना, गुरु, तीर्थ एवं चैत्यवदना का निर्वाह करना आलंबन-शुद्धि है। इस प्रकार सम्यक् रूप से देखभालकर चलना ईर्यासमिति है।

(२) **भाषासमिति**—संयतमुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता, विकथा आदि आठ दोषो से रहित यथासमय परिमित एवं निर्दोष भाषा बोले।[1]

(३) **एषणासमिति**—आहारादि की गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा मे आहारआदि के उद्गम, उत्पादन आदि दोषो का निवारण करना एषणासमिति है।[2] इस समिति के द्वारा साधु को अपने धर्मोपकरणो का शुद्धिपूर्वक उपयोग करने का विधान है। बौद्धयोग[3] के अनुसार गमन, शयन स्थान और निषद्या ये चार ईर्यापथ है, जिन्हे भलीभाँति देखकर धर्मप्रवृत्ति करने का विधान है।

(४) **आदाननिक्षेपसमिति**—सामान्य और विशेष, दोनो प्रकार के उपकरणो को आँखो से प्रतिलेखना तथा प्रमार्जन करके लेना और रखना आदाननिक्षेपसमिति है।[4] चक्षु से सम्यक् रूप से देखना प्रतिलेखना है और वस्तु को साफ करने की क्रिया प्रमार्जना है।

(५) **परिष्ठापना या व्युत्सर्गसमिति**—जीव-जन्तुरहित भूमि पर, साफ करके मलमूत्रादि का, नाक, आँख, कान तथा शरीर के मैल का उत्सर्ग करना परिष्ठापना या व्युत्सर्गसमिति है।[5] यह विसर्जन स्थण्डिलभूमि मे

---

१. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विगहासु तहेव य ॥
एयाइ अट्ठ ठाणाइ परिवज्जित्तु सजए।
असावज्ज मिय काले, भास भासेज्ज पन्नव ॥—उत्तराध्ययन, २४।९–१०,
तथा योगशास्त्र, १।३७

२. उत्तराध्ययन, २४।११-१२; ज्ञानार्णव, १८।११

३ विशुद्धिमार्ग, पृथ्विकसिणनिदेश, ४

४. चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया ॥—उत्तराध्ययन, २४।१४,
तथा योगशास्त्र, १।३९

५. विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम्।
क्षिपतो ऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥ —ज्ञानार्णव, १८।१४,
तथा उत्तराध्ययन, २४।१५

किया जाता है जो चार प्रकार की होती है, जैसे—अनापात असंलोक, अनापात सलोक, आपात असंलोक तथा आपात सलोक ।[1]

इस प्रकार साधु अथवा साधक को गुप्ति-समितिपूर्वक अर्थात् सावधानीपूर्वक क्रियाएँ करने का विधान है। समिति एव गुप्ति से आतरिक और वाह्य प्रवृत्तियो का सयमन होता है और साथ-साथ शुभ प्रवृत्तियों का पोषण भी ।

षडावश्यक[2]

जिस प्रकार श्रावक के लिए पूजा-पाठ, स्वाध्याय, वदनादि दैनिक आवश्यक क्रियाओ का विधान है, उसी प्रकार साधु अथवा श्रमण के लिए भी आवश्यक (करने योग्य क्रियाओ) का विधान है। ये आवश्यक क्रियाएँ छह है—

(१) **सामायिक**—सम की आय अर्थात् समताभाव का आना ही सामायिक है। अर्थात् देहधारणा और प्राण-वियोग मे, इच्छित वस्तु का लाभ-अलाभ, इष्टानिष्ट के सयोग-वियोग, सुखदु ख, भूख-प्यास आदि वाधाओ मे राग-द्वेषरहित परिणाम होना सामायिक है। जो मन, वचन और काय की पापपूर्ण प्रवृत्तियों से हटाकर निरवद्य व्यापार मे प्रवृत्त कराती है, उसे सामायिक कहते है।[3]

(२) **चतुर्विंशतजिनस्तव**—चौवीस तीर्थंकरो की श्रद्धापूर्वक स्तुति करना चतुर्विशतिजिनस्तव आवश्यक है।

(३) **वन्दना**—मन, वचन एव काय की शुद्धिपूर्वक अरहत, सिद्ध, गुरु आदि की वदना करना वन्दना आवश्यक है।

(४) **प्रतिक्रमण**—धर्म-विधि अथवा दैनिक क्रियाओ मे प्रमाद आदि के कारण अशुभ परिणाम होने या दोष लगने पर उनकी निवृत्ति के लिए

---

१ उत्तराध्ययन, २४।१६

२ सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनाया प्रतिक्रमे ।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य सवर ॥ —योगसारप्राभृत, ५।४६

३. यत् सर्व-द्रव्य-सदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम् ।
आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥—वही, ५।४७

चिंतन करना प्रतिक्रमण आवश्यक है। इससे स्वीकृत व्रतो के छिद्र बन्द होते है। आठ प्रवचनमाता के आराधन से विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करते हुए साधु सन्मार्ग मे सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है।[1]

(५) **कायोत्सर्ग**—देहभाव के विसर्जन को ही कायोत्सर्ग कहते हैं। इस आवश्यक के अन्तर्गत बैठकर या खड़े रहकर ध्यान करते हुए साधु आत्मस्वरूप का चिंतन करता है। इसके द्वारा जीव अपने अतीत और वर्तमान काल के प्रायश्चित्त योग्य दोषो का शोधन करता है और प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।[2]

(६) **प्रत्याख्यान**—प्रत्याख्यान का अर्थ है सासारिक विषयों का त्याग। इस आवश्यक द्वारा नित्य के आहारादि में अमुक पदार्थ का अमुक काल विशेष के लिए त्याग किया जाता है। प्रत्याख्यान करने से कर्मास्रव रुकते हैं, इच्छाओ का निरोध होता है और सयम की वृद्धि होती है।[3]

इनका पालन करने से सम्यक्त्व या चारित्र की प्राप्ति होती है। इन आवश्यको मे जो साधक भक्तिपूर्वक संलीन होता है, उसके कर्मो का आस्रव रुक जाता है, परम शाति एव समाधि मे स्थित होता है।

दस धर्म

यद्यपि महाव्रतो अथवा अणुव्रतो में आत्मविकासमूलक धर्म का अतर्भाव हो जाता है, तथापि श्रमण अथवा श्रावक के लिए भाव या गुणमूलक धर्म का विधान अलग से प्ररूपित है, क्योकि सयम की स्थिरता और आत्मविकास के लिए ये धर्म सहायक और उपयुक्त हैं। यही कारण है कि मुक्तिलाभ के लिए आत्मोन्नति के क्रमिक विकास को धर्म कहा गया है।[4] श्रावक अथवा मुनि के जीवन मे कभी भी प्रमाद अथवा रागद्वेषवश कषायो की उत्पत्ति संभव है और किसी व्यक्ति मे क्षमादि भावों का अभाव होता है। अतः दैनिक जीवन की मन, वचन एवं कायादि सबंधी

---

१ उत्तराध्ययन, २९।९-१२

२. उत्तराध्ययन २९।१३, योगसारप्राभृत, ५।५२

३. उत्तराध्ययन, २९।१४, योगसारप्राभृत, ५।५१

४. अभ्युदयापवर्गहेतुरूपत्वं धर्मस्य लक्षणम्।—आर्हत्दर्शनदीपिका, ३।३५१

अनेक क्रियाओं के परिमार्जन तथा क्षमादि भावो की प्राप्ति के लिए धर्म का चिन्तवन एवं अभ्यास किया जाता है। अर्थात् साधु वही है जो लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र आदि मे न द्वेष रखता है न रागादि भाव। वह सदा रत्नत्रय से युक्त क्षमादि भावो मे लीन समताभाव का पोषक अथवा अभ्यासी होता है।[१]

धर्म दस प्रकार का है[२]—(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) सयम, (७) तप, (८) त्याग (९) आकिंचन्य एव (१०) ब्रह्मचर्य। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन्हे उत्तम कहा है। अर्थात् ये धर्म उत्कृष्ट हैं। नवतत्त्वप्रकरण मे इन्हे यति-धर्म की संज्ञा दी गयी है।[३] विंशतिविंशिका[४] के अनुसार आर्जव के बाद शौच के स्थान पर 'मुक्ति' है जो त्याग के अर्थ मे व्यवहृत है।

(१) **क्षमा**—अज्ञानी लोगों द्वारा शारीरिक कष्ट, अपशब्द, अपमान हँसी तथा दुर्व्यवहार किये जाने पर भी क्रोधकषाय या क्षोभ का प्रकट न होना क्षमाभाव है।[५]

(२) **मार्दव**—जाति, कुल, ऐश्वर्य या सौंदर्य, ज्ञान, शक्ति आदि का गर्व नही करना, विनय रखना ही मार्दव है।[६]

(३) **आर्जव**—मन, वचन एवं काय द्वारा कुटिल प्रवृत्तियो को रोकना, सरलभाव रखना आर्जव है।[७]

---

१. जो रयणत्तय जुत्तो खमादि-भावेहिं-परिणदो-णिच्चं।
सत्वत्थवि मज्झत्थो सो साहू भण्णदे धम्मो।
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३९२

२. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
—तत्वार्थसूत्र, ९।६

३. नवतत्त्वप्रकरण, २९

४. खतीय-मुद्दव अज्जव मुत्ती तव सजमं य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥
—विंशतिविंशिका, ११।२

५. पद्मनंदि पंचविंशतिका, १।८५

६. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९।६

७. योगस्य वक्रता आर्जवम्। —वही, ९।६

(४) **शौच**—लोभ, तृष्णादि वृत्तियो का त्याग करना तथा भोजन मे गृद्धि नही रखना शौच है।[१] अन्तर्बाह्य शुचिता का ही महत्त्व है।

(५) **सत्य**—आचार का पालन करने मे असमर्थ होते हुए भी झूठ नही बोलना, आप्तवचनो को असत्य नही मानना तथा कठोर, निन्द्य बात न कहना ही सत्य है।[२]

(६) **संयम**—प्राणियो को पीड़ा न पहुँचाना तथा इन्द्रिय-विषयो में आसक्ति नही रखना संयम है।[३]

(७) **तप**—तप का तात्पर्य अपनी इद्रियों के विषयो को तपाकर आत्मशुद्धि करने से है और तप की आराधना अनेक प्रकार के काय-क्लेशो द्वारा होती है जिनमे इहलोक या परलोक के सुख की अपेक्षा नही होती।[४]

(८) **त्याग**—चेतन एव अचेतन समस्त अन्तर्बाह्य परिग्रह की निवृत्ति ही त्याग है।[५] त्याग का स्थूल अर्थ दान भी है।

(९) **आकिंचन्य**—मन, वचन एव काय से सब प्रकार की धन-सम्पत्ति, गृह-वैभव आदि परिग्रह मे ममत्वबुद्धि न रखना ही आकिंचन्य है।[६] त्याग और आकिंचन्य मे अन्तर यह है कि त्याग करने के बाद भी त्यक्त पदार्थ मे आसक्ति रह जाती है। त्याग करने के बाद साधक जब अपने को अकिंचन, शून्य बना लेता है, तभी उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

(१०) **ब्रह्मचर्य**—स्त्री-सहवास, भोगे हुए कामभोगो का चिंतन-

---

१ स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३९७

२. जिणवयणमेव भासदि त पालेंदु असक्क माणोवि।
ववहारेण वि अलिय ण वददि जो सच्चवाई सो ॥—वही, ३९८

३ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहार. संयम.।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५९६

४. इह पर लोयं सुहाणं णिखेक्खो जो करेदि समभावो।
विविह काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स ॥
— स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४०

५. परिग्रहनिवृत्तिस्त्याग:।—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५९५

६. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०२

स्मरण, स्त्री के रूप एव अगादि का दर्शन, कामोत्तेजक साहित्य का पाठ आदि प्रवृत्ति से दूर रहना तथा आत्मचर्या मे लीनता ही ब्रह्मचर्य है।[1]

इस तरह इन उत्तम धर्मों का पालन करने से दीर्घकाल से संचित राग-द्वेष, मोहादि का शीघ्र ही उपशमन हो जाता है तथा अहकार, परीषह, कषाय का भी भेदन होता है।[2] अतः योग-साधना मे दस धर्मों का आत्यन्तिक महत्त्व है, क्योकि योग के लिए वाह्य आचारो की अपेक्षा अन्तरग परिणामो, भावो की शुद्धता ही परम आवश्यक है।

बारह अनुप्रेक्षाएँ

जिस प्रकार योगदर्शन मे क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो वृत्तियो का उल्लेख है,[3] उसी प्रकार जैनदर्शन मे भी सकषाय और अकषाय इन दो मार्गों का निर्देश है।[4] जैसे क्लिष्ट वृत्ति मे अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एव अभिनिवेश ये पाँच क्लेश आते हैं, वैसे ही सकषायवृत्ति मे भी मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का वर्णन है।[5] इस प्रकार संसार के मूल कारण मे अज्ञान अथवा मिथ्यात्व ही है। जैन-दर्शन के इस मिथ्यात्व को ही योग-दर्शन मे अविद्या तथा बौद्ध-दर्शन मे अज्ञान कहा गया है। इसी मिथ्यात्व अथवा मोह के कारण जीव इस संसार मे अनत काल से भटकता आ रहा है। इसी संसार-बंधन में पड़कर जीव रागद्वेष, कषाय[6] आदि के कारण स्वभाव को भूलकर जन्म-मरण करता रहता है। अतः पिछले जन्म के कर्म-सस्कारो तथा वर्तमान जन्म के कर्मों को नष्ट करना जीव के लिए अत्यत आवश्यक है, ताकि वह मोक्ष प्राप्त करने

---

१. वही, ४०३

२. दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम्।
दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥ १७९ ॥
ममकाराहंकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रवलान्।
हन्ति परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥ १८० ॥—प्रशमरतिप्रकरणम्

३. योग-दर्शन, २।१२

४. सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।—तत्त्वार्थसूत्र, ६।५

५ वही, ८।१

६. कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

मे समर्थ हो सके। इस दृष्टि से जैन-योग मे श्रावकाचार तथा साध्वाचार के निमित्त विभिन्न आचार-नियमो का प्ररूपण हुआ है। वस्तुत. इन आचार-नियमो के द्वारा जीव मे सयम की वृद्धि होती है, जिसे चारित्र कहा जाता है, और कर्मो का आस्रव रुकता है अर्थात् संवर की प्राप्ति होती है।[1] परन्तु साधक की इन्द्रियाँ तथा मन साधक को सर्वदा अपने मार्ग से विचलित करने एवं रागद्वेषादि भावों को बढाने के लिए तत्पर रहते हैं। इसलिए इन पर विजय प्राप्त करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का विधान है, जिनके द्वारा चंचल प्रवृत्तियो का सयमन तथा आत्मविकास होता है। अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य की जननी भी कहा है।[2]

अनुप्रेक्षा का अर्थ है गहन चिंतन, क्योकि आत्मा का विशुद्ध चिंतन होने के कारण इनमें सांसारिक वासना-विकारो का कोई स्थान नही रहता और साधक विकास करता हुआ मोक्षाधिकारी होने में समर्थ होता है। अनुप्रेक्षा से कर्मों का बंधन शिथिल होता है।[3] जब जीव में शुभ विचारो का उदय होता है, तब अशुभ विचारों का आना क्रमशः बंद होता जाता है। अत· अनुप्रेक्षाएँ कर्म-निरोध की साधना भी हैं। साधक को धर्म-प्रेम, वैराग्य, चारित्र की दृढता तथा कषायों के शमन के लिए इनका अनुचिंतन करते रहना चाहिए,[4] क्योकि जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध होती है, वह सब दु खो से मुक्त हो जाता है।[5] इस बात का समर्थन योग-दर्शन मे भी प्राप्त होता है। इसके अनुसार भावना अर्थात् अनुप्रेक्षा तथा जीव मे बहुत गहरा संबंध है और भावनाओ का चिंतवन करने से आत्मशुद्धि होती है। इसलिए ईश्वर का बार-बार जप करने का विधान है। कहा गया है कि जप के बाद ईश्वर-भावना करनी

---

१. आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१

२. वैराग्य उपावन माई, चिंतो अनुप्रेक्षा भाई।—छहढाला, ५।१

३. उत्तराध्ययन, २९।२२

४. ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः॥—ज्ञानार्णव, २।६

५ भावणाजोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥—सूत्रकृताग, १।१५।५

चाहिए और ईश्वर की भावना के पश्चात् जप। इस तरह दोनों योगों की प्राप्ति होने पर परमेश्वर-साक्षात्कार होता है।[1]

जैन-दर्शन मे अनुप्रेक्षाओं की महती प्रतिष्ठा है। अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ बारह हैं। यथा—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधिदुर्लभ।[2] अनुप्रेक्षा के इन प्रकारो का वर्णन बारस अणुवेक्खा[3], तत्त्वार्थसूत्र[4], प्रशमरतिप्रकरण[5], मूलाचार[6], स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[7], शातमुधारस[8], मनोनुशासन[9]; बृहद् द्रव्यसग्रह[10], ज्ञानार्णव[11] आदि ग्रथो मे भी है। यद्यपि इनके क्रम मे कही-कही किंचित् अन्तर दीख पड़ता है, परन्तु प्रकारो में अंतर नही है।

(१) अनित्यानुप्रेक्षा—यह शरीर अपवित्र, अनित्य तथा अनेक अशुचियो से भरा है तथा विनष्ट होनेवाला है। जो जन्मता है वह मरता ही है। इसलिए संसार को अनित्य, अस्थिर, नाशवान् समझना और ऐसा चिंतवन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।[12]

(२) अशरणानुप्रेक्षा—इस ससार में जीव का कोई शरण नही है, क्योकि जब वह रोगशय्या पर पड़ता है अथवा छेदन-भेदन किया जाता

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्।—योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।२८
२. योगशास्त्र, ४।५५-५६
३. अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोयमसुइत्तं।
आसवसवरणिज्जर धम्मं बोधि च चिंतिज्ज॥—बारसअणुवेक्खा, २
४. तत्त्वार्थसूत्र, ९।७
५ प्रशमरतिप्रकरण, ८।१४९-५०
६. मूलाचार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, पृ० १-७६
७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, २-३
८. शान्तसुधारस, १।७-८
९. मनोनुशासन, ३।२२
१०. बृहद् द्रव्यसंग्रह, टीका, ३५
११. ज्ञानार्णव, अध्याय २
१२. इम सरीर अणिच्च, असुइ असुइसभव।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायण।—उत्तराध्ययन, १९।१३

है तब कोई भी सबधी उसके दुःख मे हाथ बँटाने नही आता।[1] यहाँ सभी अपनी रक्षा को ही सोचते हैं। बालपन, यौवन एव बुढापा क्रमशः आता है, काल किसी का इन्तजार नही करता और विद्या, मंत्र, औषधि या जड़ी-बूटी से भी किसी का मरण टलता नही है।[2] अतः जीव का एक-मात्र सहारा अथवा शरण धर्म ही है। धर्म से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति भी होती है। अत धर्म की शरण मे जाना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार का चिन्तवन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) **संसारानुप्रेक्षा**—यह जीव हमेशा यानी जन्म-जन्म मे शरीर धारण करता है और छोडता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र हमेशा चलता रहता है। ससार मे सुख लेशमात्र नही है, वह दु खों से भरा है। प्रत्येक जीव ससरण कर रहा है। संसार के स्वरूप का ऐसा चिन्तवन करना ससारानुप्रेक्षा है।[3]

(४) **एकत्वानुप्रेक्षा**—इस ससार मे जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। सुख, दु ख, रोग, शोक एव वेदना उसी को सहन करनी पडती है।[4] चाहे जितना धन-वैभव, घर-द्वार, पुत्र-कलत्र हो, मरते समय किसी का कोई साथ नही देता। ऐसा चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(५) **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—ससार के सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। अर्थात् शरीर तथा बाह्य वस्तुओ आदि का चेतन आत्मा से कुछ सबध नही है, क्योकि वे सभी जीव के स्वभाव नही हैं[5], ऐसा चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

---

१ पितुर्मातु. स्वसुर्भ्रातुस्तनयाना च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥—योगशास्त्र, ४।६२

२. विद्यामंत्रमहौषधिसेवा, सृजतुवशीकृत-देवा।
रसतु-रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुचति मरणम् ॥—शान्तसुधारस, २।४

३ न याति कतमा योनिं कतमा वा न मुञ्चति।
संसारी कर्मसम्बन्धादवक्रयकुटीमिव ॥—योगशास्त्र, ४।६६

४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ७४-७५

५. क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहनोः।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा।
—पद्मनंदि पंचविंशतिका, ६।४९; योगशास्त्र, ४।७०

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—जिसे हम अपना मानकर चलते है, वह शरीर अनेक दुर्गन्धित पदार्थो से भरा है जिसमे रक्त, मांस, रुधिर, चर्बी आदि भरे हैं।[1] शरीर के प्रति प्रेम अथवा ममत्व रखना व्यर्थ है और फिर यह शरीर भी तो नाशवान् है। शरीर एवं ससार की अशुचिता, अपवित्रता का चिन्तवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

(६) आस्रवानुप्रेक्षा—मन, वचन, एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। इसी से शुभ-अशुभ कर्मों का आगमन होता है। मन, वचन, काय के व्यापार ही कर्मों के आस्रव के द्वार हैं।[2] शुभाशुभ कर्मास्रव का चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) संवरानुप्रेक्षा—आस्रवो का निरोध अर्थात् कर्मो के आने के मार्गों को बन्द करके साधना की ओर उन्मुख होना ही सवर है। संवर दो प्रकार का है—(१) द्रव्यसवर व भावसंवर। कर्मो के आगमन का रुकना द्रव्यसवर कहा जाता है और भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओ का त्यान भावसवर है।[3] इस प्रकार संवर का चिंतवन करना सवारानुप्रेक्षा है।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—पूर्वसंचित अथवा बँधे हुए कर्मो को तप के द्वारा नष्ट करना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—सकाम-निर्जरा तथा अकाम-निर्जरा। तपस्वी या योगीगण तपस्या द्वारा कर्मों को नष्ट करते है। अत उनके सकाम-निर्जरा होती है। आत्मा के शुद्ध-निर्मल रूप का चिन्तवन करना ही निर्जरानुप्रेक्षा है।[4]

१०. धर्मानुप्रेक्षा—इस ससार मे अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है, जिसे देवता भी नमस्कार करते हैं।[5] साधक चिन्तवन

---

१. असृग्मासवसापूर्णं शीर्णंकीकसपंजरम्।
शिरानद्ध च दुर्गन्ध क्व शरीरं प्रशस्यते ॥—ज्ञानार्णव, २।१०७

२. मनोवाक्कायकर्माणि योगा. कर्म शुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥—योगशास्त्र, ४।७४

३. वही, ४।८०

४. ज्ञानार्णव, २।१४०—१४८

५. दशवैकालिक, १।१

करता है कि धर्म ही गुरु और मित्र है, धर्म ही स्वामी और बन्धु है, असहायों का सहज प्रेमी है और रक्षक है। इस प्रकार मुनि क्षमादि दस धर्मो का बार-बार चिंतवन करता है।[1]

११. लोकानुप्रेक्षा—इस लोक अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के स्वरूप का, उसकी स्थिति का विचार करना कि इसको न किसी ने बनाया है और न धारण किया है। यह अनादि अनन्तकाल से स्वयमेव सिद्ध है, तीन वातवलयो से वेष्टित है, निराधार है—यह लोकानुप्रेक्षा है।[2]

१२ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद अपने कर्मो को धीरे-धीरे क्षीण करता हुआ मोक्षमार्ग मे अग्रसर होता है।[3] मोक्ष की प्राप्ति दु.साध्य है, क्योकि जन्म-जन्मान्तरो के सचित कर्म शीघ्र क्षय नही होते हैं। चतुर्गति मे भ्रमण करनेवाले जीव के लिए चार बातों की प्राप्ति अति दुर्लभ है—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा एवं संयम में पुरुषार्थ।[4] अतः साधक इन चार दुर्लभ तत्त्वो का सहारा लेकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान-प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है। आत्मज्ञान का चिन्तन करना ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओ अथवा भावनाओ के चिन्तवन से चित्त समभावयुक्त होता है जिनसे कषायो का उपशमन होता है और सम्यक्त्व प्रकट होता है।[5] वैराग्य मे दृढ़ता आती है। ससार सम्बन्धी दु.ख, सुख, पीडा, जन्म-मरण आदि का मनन-चिन्तन करने से वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, रागद्वेषमोहादि की भावना क्षीण होती है और आत्म-शुद्धि होती है। इसी कारण इन्हे वैराग्य की जननी कहा है और इनका चिन्तवन महाभाग्यशाली मुनि-योगी करते रहते हैं।

---

१. ज्ञानार्णव, २।१४९-१७०

२ योगशास्त्र, ४।१०४-६

३. वही, ४।१०७-९

४. चतारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा सजममि य वीरिय ॥ —उत्तराध्ययन, ३।१

५. योगशास्त्र, ४।१११

संलेखना

संलेखना श्रमण तथा श्रावक दोनो के लिए समान रूप से शरीर और आत्मा को शुद्ध करनेवाला अन्तिम व्रत है।[1] इसे व्रत न कहकर व्रतान्त कहना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि इसमे समस्त व्रतो का अन्त होता है। इसमें जैसे शरीर का प्रशस्त-अन्त अभीष्ट है, वैसे ही व्रतों का भी पवित्र अन्त वांछित है।[2] यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवनभर का यम, नियम, स्वाध्याय, तप, पूजा, दान आदि निष्फल है।[3] अतः मृत्यु सन्निकट आ जाने पर अथवा आचार आदि पालन मे अशक्तता आने पर आहार आदि का त्याग करके प्राणो का उत्सर्ग करना ही सलेखना है। संलेखना शब्द सत् और लेखना शब्दो के योग से बना है, जिसका क्रमशः अर्थ सम्यक् प्रकार से और कृश करना है अर्थात् सम्यक्-प्रकार से कषाय आदि वृतियों को क्षीण करना ही संलेखना है।

संलेखना को आत्महत्या नही कह सकते। वास्तव में जो लोग क्रोधादि कषायो के वशीभूत होकर, रागद्वेषपूर्वक श्वास, जल, अग्नि आदि द्वारा शरीरघात करते हैं, वह आत्मघात कहलाता है[4], परन्तु जो साधक विषयादि से पूर्ण निवृत्त होकर मरणकाल निकट जानकर प्रसन्न रहते हैं वह सलेखना है।[5] अतः इसमे आत्म-हनन का भाव लेशमात्र भी नही। सलेखना मे तो उपवास से शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायो को कृश किया जाता है।[6] यद्यपि सलेखना धारण करने का

---

१ न इम सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुगारिसु। —उत्तराध्ययन, ५।१९

२. जैन आचार, पृ० १२१

३. उपासकाध्ययन, ८९७, पृ० ३२३

४. यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविपशस्त्रै.।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवध।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १७८

५. (क) मरणं पि सपुण्णाणं जहा मेयमणुस्सुय।
विप्पसण्णमणाघायं सजयाणं वुसीमओ॥ —उत्तराध्ययन, ५।१८
न सल्लेखना प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोपः।
—सर्वार्थसिद्धि, ७।२२

६. उपवासादिभिरगे कषायदोषे य वोधिभावनाया।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये॥ —उपासकाध्ययन, ४५।८९६

कोई समय निर्धारित नही है, तथापि इसे धारण तभी किया जाता है जब शरीर की शक्ति घट जाती है, खाना-पीना छूट जाता है, दूसरा कुछ भी काम करने का उपाय नही रहता और स्वयं शरीर ही समाधि-मरण का आकांक्षी हो जाता है।[1] अत शरीर का निर्जर अथवा पतन होते ही प्रेमपूर्वक संलेखना धारण करना चाहिए।[2] संलेखना के काल में साधक मन में किसी भी प्रकार का मोह न रखे, संसार संबन्धी आशा-आकाक्षा के न रहने पर ही समाधि-मरण सार्थक है। श्रावक ममत्व-रहित होकर समझे कि जन्म-मरण बाह्य शरीरादि का होता है, आत्मा का नही।[3]

सलेखना के पाँच अतिचार हैं[4]— जीने की इच्छा, मरने की इच्छा, मित्रो का स्मरण, भोगे हुए भोगो का स्मरण तथा आगामी भोगो की आकांक्षा। इनसे साधक को बचना चाहिए। सलेखना को समाधि-मरण, पंडितमरण, मरण-समाधि आदि भी कहते है।

परीषह

साधना-अवस्था मे श्रमण अथवा श्रावक के समक्ष तरह-तरह की बाधाएँ, कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें परीषह अथवा उपसर्ग कहते हैं। अर्थात् मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थं जो सहन करने योग्य हो, वे परीषह हैं।[5] बाईस परीषह इस प्रकार हैं—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या,

---

१. प्रतिदिवसं विजहद्‌बलमुज्झद्‌भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणा निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम्॥
—उपासकाध्ययन, ४५।८९३

२. देहे प्रीत्या महासत्व. कुर्यात्सल्लेखनाविधिम्। —सागारधर्मामृत, ८।१२

३. जन्ममृत्युजरातंका: कायस्यैव न जातु मे।
न च कोऽपि भवत्येप ममेत्यगेऽस्तु निर्ममः॥—वही, ८।१३

४. जीवितमरणाशसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधि.।
एते सनिदाना स्यु सल्लेखनहानये पञ्च॥—उपासकाध्ययन, ४५।९०३

५. मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहा.।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।८

आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।[१]

साधक को इन परीषहों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है. क्योकि परीषह-जय के विना न चित्त की विकलता हटेगी, न मन एकाग्र होगा, न सम्यक् ध्यान होगा और न कर्मों का क्षय ही होगा। परीषह या उपसर्ग प्राकृतिक और देव मानव-तिर्यंचकृत तीनो प्रकार के होते हैं। उपसर्गजन्य पीडा को समभावपूर्वक सहन करने मे साधक यह समझता है कि यह उपसर्ग कर्मक्षय मे सहायक है।

तप का महत्त्व

'तप' दस धर्मांगो मे से एक अंग है। वस्तुत यह योग की एक ऐसी कड़ी है, जिससे साधक समस्त कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। सभी भारतीय धर्म-परम्पराओ मे जीवन के नैतिक तथा सम्यक् उन्नयन के लिए तप की महती प्रतिष्ठा है। तप द्वारा ही कर्म-पाशो (अज्ञान) से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र को प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व को ज्ञानस्वरूप जानना ही सम्यग्ज्ञान है तथा इसकी अनुभूति तप से होती है। अत. तपस्या भारतीय दर्शन-परम्परा की ही नही, किन्तु उसके सम्पूर्ण इतिहास की प्रस्तावना है। भारतीय सस्कृति मे जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है—प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है—वेद, वेदाग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र में जीवन की साधनारूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं।[२]

तप की आराधना गृहस्थ एवं साधु दोनो के लिए आवश्यक है। लेकिन गृहस्थ तपस्वी की भाँति तप की कठोर आराधना नही कर

---

१ (क) क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या-क्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।

—वही, ९।९

(ख) देखें, उत्तराध्ययन, अध्ययन २।

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ७१–७२।

सकता, क्योकि व्यावहारिक कर्तव्यों का सम्पूर्ण उच्छेद कर देना उसके लिए संभव नही है। तप का अर्थ ही होता है कर्ममल या सचित कर्म को जलाना या नष्ट करना तथा ऐसी साधना के लिए सर्वांशतः तपस्वी अथवा साधक ही उपयुक्त ठहरते हैं।

अतः तप का उद्देश्य कर्मों को क्षीण करना अथवा नष्ट करना है तथा आत्मतत्त्व की पहचान भी है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनो परम्पराओ मे तप का विस्तृत वर्णन मिलता है। यहाँ संक्षेप में तप का विवेचन प्रस्तुत है।

वैदिक परम्परा में तप

वैदिक वाङ्मय में तप का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। प्राचीन ऋषि-परम्परा तप पर ही विशेष जोर देती है। यही कारण है कि 'तपस्या से ही ऋत और सत्[१] उत्पन्न हुए हैं' तथा 'आत्मा को तप से तेजस्वी करने'[२] जैसे विधान मिलते हैं। यह ठीक है कि वैदिक धर्म मे यज्ञ का प्रचलन विशेष रूप से रहा है, लेकिन परिस्थिति के अनुसार वह ज्ञान तप मे परिवर्तित हो गया।[3] तप प्रथमतः देहदमन के लिए आवश्यक माना जाता रहा, परन्तु जैसे-जैसे आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्ति होने लगी वैसे-वैसे देहदमन के साथ ही साथ इंद्रिय-दमन के अर्थ मे भी तप प्रयोजनीय समझा जाने लगा। यही कारण है कि उपनिषद्काल में 'तप के द्वारा ही ब्रह्म प्रबृद्ध होता है'[४] तथा कहा गया कि ऋत तप है, सत्य तप है, श्रुत तप है, शांति तप है और दान तप है।[५] तपस्वी के लिए तप के साथ श्रद्धा-युक्त होना भी आवश्यक है।[६]

श्रीमद्भगवद्गीता में तप के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—दैहिक, वाचिक, तथा मानसिक।[७] दैहिक तप के अन्तर्गत पवित्रता, सरलता

---

१. ऋतं च सत्यं चामीद्धात्तपसोऽध्यजायत्।—ऋग्वेद, १०।१९०।१
२. अजो भागस्तपसा त तपस्व।—वही, १०।१६।४
३. तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।—तैत्तिरीय आरण्यक, ९।२
४. तपसा चीयते ब्रह्म ...।—मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
५. तैत्तिरीय आरण्यक (नारायणोपनिषद्), १०।८
६. तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति। —मुण्डकोपनिषद् १।२।११
७. भगवद्गीता, १७।१४–१६

तथा ज्ञानीजनों की पूजा-सेवा करने की प्रवृत्ति का होना और वाणी विपयक तप के अन्तर्गत स्वाध्याय, अकषायी तथा सुभाषी होना आवश्यक है। तथा मानसिक प्रसन्नता, भगवद्-चिंतन, शांति, मनोनिग्रह, पवित्रता को मानसिक तप कहा गया है। वही पर आगे तप के सात्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन भेद निरूपित हैं, जो साधको के स्वभाव के द्योतक हैं। अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का निष्कामभाव से पालन करना सात्विक तप है। मान, प्रतिष्ठा या अन्य प्रलोभनवश तप करना राजसिक तप है तथा अपने को तथा दूसरो को भी तप द्वारा पीडा पहुँचाना तामसिक तप है।[1] इस तरह गीता में तप के विभिन्न अंगों का विवेचन करते हुए सात्विक तप को ही श्रेष्ठ तथा आत्मशुद्धि का श्रेष्ठ साधन कहा गया है।

योग-दर्शन मे तप की महत्ता मे कहा है कि तप से शरीर तथा इंद्रियो की शुद्धि एव सिद्धि होती है।[2] वैदिक योग मे तप के अनेक प्रकार एवं विधियाँ बतलायी गयी हैं। चांद्रायण, कृच्छादि तप, सूर्याग्नि तथा जल में खड़े होकर तप करना आदि सभी तपो का उद्देश्य एक ही है कि शरीर का दमन किया जाय, परन्तु शरीर-दमन के साथ ही साथ इन्द्रियविषयों को जीर्ण कराने का भी भाव उसमे निहित है।

बौद्ध-परम्परा में तप

बौद्ध-परम्परा के अनुसार चित्तशुद्धि का सतत प्रयत्न करना ही तप का उद्देश्य है। ब्रह्मचर्य, चार आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण के साक्षात्कार के साथ तप को भी उत्तम मगल कहा गया है,[3] क्योकि आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियाँ अथवा पापवासनाएँ तप से क्षीण होती हैं।[4] यही कारण है कि बौद्ध आगमिक साहित्य मे तपस्या का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।[5] बुद्ध ने भी प्रारम्भ मे शरीरदमन के लिए तप

---

१. वही, १७।१७–१९
२. कार्येद्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। —योगदर्शन, २।४३
३. तपो च ब्रह्मचरियं च, अरियसच्चान दस्सनं।
निब्बाण सच्छिकिरिया च एतं मंगलमुत्तमं ॥—महामंगलसुत्त, १०
४. बुद्धलीलासारसंग्रह, पृ० २८०–८१
५. दीघनिकाय, ३।२, मज्झिमनिकाय, १।२।२

साधना की थी, परन्तु जब उन्हें उससे समाधान नही हुआ, तब उन्होंने मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया। अतः बुद्ध की तपस्या में शारीरिक यत्रणा का भाव नही था, किन्तु वह सर्वथा सुखसाध्य भी नही थी। जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है, सैद्धान्तिक रूप मे बुद्ध ने तप के बिना भी निर्वाण-प्राप्ति की सभावना को स्वीकार किया है, किन्तु व्यावहारिक रूप मे वे प्रायः सबके लिए तप की आवश्यकता मानते हैं।[१]

बौद्ध-परम्परा मे तप का वर्गीकरण इस प्रकार निर्दिष्ट है—यथा, (१) जो आत्मन्तप है परन्तु परन्तप नही है, (२) दूसरा वह जो परन्तप है परन्तु आत्मन्तप नही, (३) तीसरा आत्मन्तप भी है और परन्तप भी है तथा (४) चौथा वह जो आत्मन्तप भी नही और परन्तप भी नही है। इस तरह भगवान् बुद्ध ने चौथे प्रकार के तप का प्रतिपादन करते हुए मध्यममार्ग के अनुसार उसका आचरण करने को कहा है।[२]

जैन-परम्परा में तप

जैन-साधना का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और इसके लिए तप को विशेष साधन कहा गया है, क्योकि तप से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है।[३] यही कारण है कि तप का विशेष वर्णन जैन आगमो एवं अन्य ग्रंथो मे दृष्टिगोचर होता है।

श्रावक तथा श्रमण दोनो के लिए तप का विधान है, क्योकि तप से शरीर एवं इद्रियो का सयम सधता है। स्वभावतः इन्द्रियाँ चंचल होती हैं तथा वैराग्य एवं अध्यात्म की ओर उन्मुख होने के बदले विषय-वासना की ओर अधिक दौड़ती हैं। लालसा, तृष्णा, इच्छा आदि अनत और असर्यादित हैं। और इनकी जितनी ही पूर्ति की जाती है, उतनी ही ये उग्र बनती जाती हैं। इनके वशीभूत मनुष्य कभी भी शाति प्राप्त नही कर सकता। इसलिए इनके नियंत्रण के लिए सामर्थ्य के अनुसार जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है, वही तप है।[४] दूसरे शब्दो मे तप से

---

१. Indian Philosophy, Radhakrishnan, Vol. I, p 436

२. मज्झिमनिकाय, २।५।४, २।१।१

३. तपसा निर्जरा च।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।३

४. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः।—सर्वार्थसिद्धि, ६।२४

आत्मा परिशुद्ध होती है।[1] अतः तप वह विधि है, जिससे जीव बद्ध कर्मों का क्षय करके व्यवदान-विशुद्धि को प्राप्त होता है।[2]

तप के भेद—जैन-आगम के अनुसार तप दो प्रकार का है[3]—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य तप का उद्देश्य शारीरिक विकारों को नष्ट करना तथा इन्द्रियो पर जय प्राप्त करना है और आभ्यंतर तप के द्वारा कषाय, प्रमाद आदि विकारो को नष्ट किया जाता है। बाह्य तप आतरिक तप में सहायक या पूरक होते हैं। बाह्यतपो से इंद्रिय-विषयो की तृष्णा मंद होती है और फिर क्रमशः जब आत्म-शक्ति बढती है तो आतरिक शुद्धि होती है। इन दोनो प्रकार के तपो का सम्यक् रूप से पालन करनेवाला पडितमुनि शीघ्र ही सर्वससार से मुक्त हो जाता है।[4]

शरीर को कष्ट देना आत्मघात नही है, क्योंकि उसके पीछे इद्रियों के दमन का उद्देश्य निहित है। शरीर को कष्ट देना इसलिए भी जरूरी है कि तपावस्था मे किसी भी प्रकार के उपद्रव या सकट के आ जाने पर साधक देहेन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर उपस्थित शारीरिक, प्राकृतिक अथवा अन्यकृत पीड़ा अथवा कष्ट को सहन करने में समर्थ हो सके। इस सदर्भ मे ध्यातव्य है कि तप मे मन हमेशा पवित्र रहे तथा इन्द्रियो की विकार-शक्तियो का ह्रास हो एव दैनिक चर्या मे शिथिलता न आने पाये। जैन-परम्परा में इसे 'समत्वयोग की साधना' कहा गया है और यही समत्वयोग समष्टि की दृष्टि से अथवा आचरण के व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा कहलाती है और यही अहिंसा निषेधात्मक रूप मे तप बन जाता है।[5]

---

१. तवेण परिसुज्झई।—उत्तराध्ययन, २८।३५

२ तवेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? तवेण वोदाण जणयइ।

—वही, २९।२८

३ सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भतरो तहा।—वही, ३०।७

४. एय तव तु दुविहं, जे सम्म आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वससारा, विप्पमुच्चई पडिए॥—वही, ३०।३७

५ जिनवाणी, अगस्त-सितम्बर, १९६६, वर्ष २३, अंक ८-९, पृ० ९९

बाह्यतप

बाह्यतप छह प्रकार का है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन, तथा (६) कायक्लेश ।[1]

१. अनशन—विशिष्ट अवधि तक या आजीवन सब प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन की अवधि एक या दो अथवा तीन दिनो की भी हो सकती है अर्थात् अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधक लम्बी अवधि तक का भी अनशन कर सकता है। इसे उपवास भी कहते हैं।

२. अवमौदर्य या ऊनोदरी—किसी विशेष स्थान या समय पर जितनी भूख हो उससे कम आहार ग्रहण करना ऊनोदरी या अवमौदर्य तप है।

३ वृत्तिपरिसंख्यान—विविध वस्तुओं की लालसा कम करना, वस्तुओ की सख्या की मर्यादा करना वृत्तिपरिसख्यान तप है।

४. रसपरित्याग—दूध, घी, मक्खन, मधु आदि गरिष्ठ विकारवर्धक पदार्थों का त्याग करना रस-परित्याग है। प्रतिदिन एक-एक रस का परित्याग भी किया जाता है। स्वादेन्द्रिय-विजय का अपना महत्त्व है।

५. विविक्तशय्यासन—अपने ध्यान अथवा तप में बाधा उत्पन्न होने की आशका से बाधारहित एकान्त स्थान मे रहना अथवा तप करना प्रतिसलीनता तप है, क्योकि इसका अर्थ 'गोपन रखना' ही है। इसके चार भेद हैं[2]—(१) इद्रिय प्रतिसलीनता (२) कषाय प्रतिसंलीनता (३) योग प्रतिसंलीनता तथा (४) विविक्तशय्यासन।

६ कायक्लेश—ठंढ, गरमी, अथवा विविध आसनो द्वारा शरीर को कष्ट पहुँचाना कायक्लेश तप है।[3]

---

१. (क) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तप. ।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९

(ख) अनशनमौनोदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं तथा ।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तप ॥—योगशास्त्र, ४।८९

२. ठाणांग, ६।५११, प्रवचनसारोद्धार, २७०-७२

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९।१९, तत्त्वार्थसूत्र (प० सुखलालजी), पृष्ठ २११

ये सब बाह्यतप खाद्य एवं स्वाद्य पदार्थों की अपेक्षा से वर्णित हैं, क्योंकि साधक स्वाभिप्राय के अनुसार उनका सेवन करते हैं। बाह्यतप से जहाँ पाँचों इद्रियों की विषयवासना क्षीण होती है, वहाँ चित्त के आंतरिक विकारो के परिशमन मे भी मदद होती है।

आभ्यन्तरतप

आभ्यंतरतप से आत्म-परिणामो मे विशुद्धि आती है। अतिशय कर्मों को नष्ट करने में समर्थ तप को आभ्यंतरतप कहते हैं।[1] आभ्यंतर तप भी छह प्रकार का है—(१) प्रायश्चित, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग तथा (६) ध्यान।[2]

१. प्रायश्चित-तप—किसी व्रत-नियम के भंग होने पर उसमे लगे दोप का परिहार करना अथवा गुरु के समक्ष चित्तशुद्धि के लिए दोषो की आलोचना करना और उसके लिए प्रायश्चित स्वीकार करना प्रायश्चित तप है।[3]

इस प्रायश्चित तप के भी नौ भेद हैं, जैसे—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तदुभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) परिहार और (९) उपस्थापना।[4]

---

१. अतिशयेन कर्मनिर्दहन् समर्थरूपत्वमाभ्यन्तर तपसो लक्षणम् :

—आर्हत्दर्शनदीपिका, ६९३

२. (क) प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्य स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभ ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तप.॥

—योगशास्त्र, ४।९०;

(ख) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२०

३. (क) प्रमाददोष परिहार प्रायश्चित्तम्।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४७८

(ख) बाहुल्येन चित्तशुद्धि हेतुत्वात् यत् प्रायश्चित्तं।

—तत्त्वार्थसूत्र, (हरिभद्र), पृ० ४७८

(ग) योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ८६०

४ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२२

(क) **आलोचना**—व्रत की मर्यादा का उल्लंघन होने पर, गुरु के पास जाकर, दोष स्वीकार करना तथा उसके बदले नया व्रत ग्रहण करना।

(ख) **प्रतिक्रमण**—हो चुकी भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और नयी भूल न हो उसके लिए सावधान रहना।

(ग) **तदुभय**—उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनो साथ-साथ करना।

(घ) **विवेक**—खाने-पीने आदि की यदि अकल्पनीय वस्तु आ जाय और बाद मे पता चले तो उसका त्याग करना या वस्तु की शुद्धता-अशुद्धता का विचार करना।

(च) **व्युत्सर्ग**—एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारो को छोड़ना।

(छ) **तप**—अनशनादि वाह्य तप करना।

(ज) **छेद**—दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या (दीक्षा) कम करना।

(झ) **परिहार**—दोषपात्र व्यक्ति से दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी प्रकार का संसर्ग न रखकर उसे दूर से परिहरना।

(ट) **उपस्थापन**—अहिंसादि व्रतो का भंग हो जाने पर शुरू से उन महाव्रतों का आरोपण करना।[1]

२. **विनय-तप**—अपने से वरिष्ठ गुरु अथवा आचार्यों का आदर करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना विनय तप है।[2] इसके भी चार भेद हैं—(क) ज्ञान, (ख) दर्शन, (ग) चारित्र और (घ) उपचार।[3]

निम्न ग्रंथो मे प्रायश्चित्त के दस भेदो का वर्णन है—उत्तराध्ययन, ३०।३१; स्थानांग, ७३३, भगवतीसूत्र, २५।७।८०१; जीतकल्प मे इस प्रकार कहा गया है :

तं दसविहमालोयण-पडिकमणो-भय-विवेग-वोस्सग्गा।
तव-छेद-मूल-अणवठ्या य पारचियं चेव ॥—जीतकल्प, ४

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलालजी), पृष्ठ २२०

२. पूज्येष्वादरो विनयः।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

३ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२३

(क) **ज्ञान**—ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और भूलना नही। हरिभद्र ने मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय तथा केवलज्ञान को ज्ञान विनय कहा है।[1]

(ख) **दर्शन**—तत्त्व की यथार्थ प्रतीतिस्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होनेवाली शंकाओ का निवारण करके नि शंकभाव की साधना करना।

(ग) **चारित्र**—सामाजिक आदि चारित्रो में चित्त का समाधान रखना।

(घ) **उपचार**—अपने से सद्‌ग्रथो मे श्रेष्ठ आचार्यों के समक्ष उठने, बैठने, बोलने, नमस्कार करने आदि क्रियाओ मे आदर एव नम्रतापूर्वक वर्तन करना, वन्दन करना आदि।[2]

३. **वैयावृत्त्य-तप**—शरीर से अथवा योग्य साधनो को जुटाकर उपासना-भाव से गुरु, मुनि, वृद्ध व रोगी साधक आदि की सेवाशुश्रुषा करना वैयावृत्त्य तप है।[3] इस तप के भी दस भेद हैं—(क) आचार्य, (ख) उपाध्याय, (ग) तपस्वी, (घ) शैक्ष्य, (च) ग्लान, (छ) गण, (ज) कुल, (झ) संघ, (ट) साधु और (ठ) मनोज्ञ।[4]

(क) आचार्य—व्रत और आचार ग्रहण करानेवाला तथा चतुर्विध सघ को अनुशासित करनेवाला।

(ख) **उपाध्याय**—श्रुताभ्यास करानेवाला।

(ग) **तपस्वी**—महान् एव उग्र तप करनेवाला।

(घ) **शैक्ष्य**—नवदीक्षित होकर श्रुत का अध्ययन करनेवाला शिक्षार्थी।

---

१ (क) श्रीतत्त्वार्थसूत्रम्, (हरिभद्र), पृ० ४८२-८३

(ख) स्थानागसूत्र मे इसके सात भेद हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय तथा (७) लोकोपचार विनय।—स्थानागसूत्र, ५८५

२ सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२, तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलालजी), पृष्ठ २२०

३. कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। —सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

४. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसघसाधुसमनोज्ञानाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२४

(च) **ग्लान**—रोग आदि से क्षीण साधक।

(छ) **गण**—भिन्न-भिन्न-आचार्यों के सहाध्यायी शिष्यों का समुदाय या संघ।

(ज) **कुल**—एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य-परिवार।

(झ) **संघ**—धर्म का अनुयायी समुदाय संघ है, जो साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप मे चतुर्विध है।

(ट) **साधु**—संयम का पालन करनेवाला प्रव्रजित मुनि।

(ठ) **समनोज्ञ**—ज्ञान आदि गुणों मे समान या समानशील।[१]

४. **स्वाध्याय-तप**—ज्ञान-प्राप्ति के लिए आलस तजकर अध्ययन करना स्वाध्याय तप है।[२] ज्ञान प्राप्त करने, उसे सन्देहरहित, विशद और परिपक्व बनाने एवं उसका प्रचार करने का प्रयत्न भी स्वाध्याय है। अतः अभ्यास-शैली के क्रमानुसार यह तप भी पाँच प्रकार का है—(क) वाचना, (ख) प्रच्छना, (ग) अनुप्रेक्षा, (घ) आम्नाय तथा (च) धर्मोपदेश।[३]

(क) **वाचना**—शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना।

(ख) **प्रच्छना**—जिनागमो के बारे मे संशय निवारणार्थ, अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना।

(ग) **अनुप्रेक्षा**—आत्म-स्वरूप का, शब्द और अर्थ का चिंतन-मनन करना।

(घ) **आम्नाय**—सीखी गयी वस्तु का, शास्त्र का शुद्धिपूर्वक बार-बार उच्चारण करना।

(च) **धर्मोपदेश**—अनपढ़ अथवा अल्पज्ञानी लोगो के कल्याण के लिए उपदेश द्वारा धार्मिक वातावरण निर्माण करना, धर्म की प्रभावना करना।

५. **व्युत्सर्ग**—अहकार, ममकार आदि सभी उपधियो का त्याग

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२, विविध अर्थ के लिए देखें हरिभद्र का—श्रीतत्त्वार्थसूत्रम्, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्।

२ ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्याय.।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

३. वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा ।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२५

करना व्युत्सर्ग तप है।[1] इसके भी दो भेद हैं—(क) बाह्य और (ख) आभ्यंतर।[2] धन, धान्य, मकान आदि बाह्य वस्तुओं की ममता का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। शरीर की ममता का त्याग करना एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है।

६. ध्यान—चित्त की चचल वृत्तियों का परित्याग करके एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति को स्थापित करना ध्यान-तप है।[3] इस तप के बहुत-से भेद-प्रभेद हैं, जिनके सबंध मे आगे विचार किया जायेगा।

इस संदर्भ मे ज्ञातव्य है कि तप के भी बहुत भेद-प्रभेद हैं, जिनका उल्लेख करना यहां अभीष्ट नही है।[4]

इस तरह वैदिक, बौद्ध एव जैन तीनों ही परम्पराओ मे तप का

---

१. आत्माऽऽत्मीयसकल्पत्यागो व्युत्सर्गः।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

२. बाह्याभ्यन्तरोपध्यो.।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२६

३. चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

४. योगबिंदु मे हरिभद्र ने चार प्रकार के तप का उल्लेख किया है—

(क) चाद्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न और पापसूदन।—योगबिंदु, १३१

(ख) तपोरत्नमहोदधि में तो तप के बहुत प्रकार गिनाये हैं जो कि देखने योग्य हैं।

(ग) स्थानागसूत्र में—(१) उग्रतप, (२) घोरतप, (३) रसपरित्याग तथा (४) जितेन्द्रिय प्रतिसलीनता, इस तरह चार तप कहे गये हैं।—स्थानाग, ३०८

(घ) भगवतीसूत्र श० २५, उद्दे० ७,

(च) प्रकीर्णक तप के अनेक भेद हैं, यथा—चन्द्रप्रतिभ तप के दो भेद हैं— यवमध्य और वज्रमध्य। आवली के तीन भेद हैं—कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली। सिह-विक्रीडित के दो भेद हैं—लघु और महान। प्रतिमा के चार भेद हैं—भद्रोत्तर, आचाम्ल, वर्धमान और सर्वतोभद्र। भिक्षु प्रतिमा के बारह भेद हैं—मासिक से लेकर सप्तमासिकी तक सात भेद, सप्तरात्रिकी के तीन भेद, अहोरात्रिकी और एक रात्रिकी।

(देखिए—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, पृ० ३९१)

विधान है। तप का उद्देश्य कायक्लेश अथवा देहदमन नही है, बल्कि इद्रिय-वृत्तियो का सयम तथा मन की शुद्धि करना है। वैदिक योग में वर्फ मे वैठने, नदियो मे घटो खडे रहने, एक पैर पर खड़े रहने, पचाग्नि में तपना, महीनो केवल पानी पीकर उपवास करना, धूप मे तप करना आदि बहुत प्रकार के तप गिनाये गये है, जिनकी गणना तामसिक तथा राजसिक तपो में की गयी है। योग मे ऐसे तपो को निन्द्य वताया गया है, क्योकि इससे शरीर एव इन्द्रियाँ अनेक रोगो की शिकार वन जाती हैं। वौद्ध योग में भी इस प्रकार के तप अमान्य हैं। जैन योग मे भी वाह्य और आभ्यंतर तपो का विधान है, जिनका विवेचन ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार सभी योग-परम्पराओ मे तप द्वारा शरीर, इन्द्रियो के विषय, प्राण, मन को उचित रीति से नियन्त्रित करने की वात कही गयी है। आत्म-विकास एवं शुद्धिकारक तप से संचित कर्मो का नाश, विषय-वृत्तियो का क्रमश. शमन तथा अनेक प्रकार के दुःख-सुख, गर्मी-ठण्ड, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि वृत्तियो पर नियंत्रण प्राप्त होता है और योगसाधना मे मदद होती है। ऐसे तप से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा भी कहा गया है।

आसन

यौगिक क्रियाओ की निष्पन्नता अथवा चित्त-स्थिरता के लिए आसनो का महत्त्व है, क्योकि आसन मे शरीर तथा मन अन्य चेष्टाओ से रहित होकर किसी एक दशा में केद्रित हो जाते हैं। यही कारण है कि आसनो के द्वारा सकल्प-शक्ति को विकसित करके वाछित परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। अत आसन मन तथा शरीर दोनों को कावू में करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का साधन है और यही मन एवं शरीर पर अधिकार प्राप्त करना योग का आधार है।[१]

उपनिषदो में आसनों का वर्णन मिलता है।[२] भगवद्गीता मे वर्णन

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० १९०

२. (क) तस्मा आसनमाहृत्य। —वृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।४;
(ख) तेषा त्वया सनेऽऽन प्रश्वसितव्यम्। —तैत्तिरीयोपनिषद्, १।११।३

है कि आसन के द्वारा मन स्थिर होता है।[1] भागवतपुराण में भी स्थान-स्थान पर आसन का वर्णन है।[2] पातजल-योग के अनुसार सुखपूर्वक अधिकतम समय तक स्थिर होकर बैठना ही ध्यान है।[3] यह भी कहा गया है कि जो आसन स्थिर तथा सुखद हो, वही करना चाहिए। ऐसे आसनो में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंकासन आदि आसनो का वर्णन है।[4] हठयोग के अनुसार आसनों का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ बनाना, आलस्य दूर करना, तथा शरीर के भारीपन को दूर करना भी है।[5] आसन के साथ ही साथ हठयोग मे विभिन्न मुद्राओ का भी निरूपण हुआ है, जो आसन के अंगीभूत साधन हैं।

बौद्धयोग-साधना मे भी आसनो का महत्त्व है तथा पर्यंकासन को सबसे उत्तम माना गया है। इस आसन के विषय मे बताया गया है कि बायी जाघ पर दाहिना पैर रखना चाहिए तथा दाहिनी जाघ पर बायाँ पैर रखना चाहिए। ऐसा ही लक्षण पद्मासन का है। इसमे बुद्धासन, सिद्धासन, वज्रासन का भी वर्णन है।[6]

जैन-परम्परा मे यद्यपि चित्त की स्थिरता के लिए अमुक आसन का ही प्रयोग करना चाहिए—ऐसा कोई नियम नही है, परन्तु जिस आसन द्वारा मन स्थिर होता है उसी आसन का उपयोग ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त माना गया है।[7] इस तरह जिन-जिन आसनो के द्वारा दीर्घकाल

---

१. स्थिरमासनमात्मनः। —भगवद्गीता, ६।११; ६।१२, ११।४२
२. श्रीमद्भागवतपुराण, २।१।१६; ३।२८।८; ४।८।४४
३. स्थिर सुखमासनम्। —योगदर्शन, २।४६
४. योगदर्शन व्यासभाष्य, पृ० ४८०
५. घेरण्डसंहिता, २।२-६
६. (क) Tibetan Yoga and Secret Doctrines, p 184–85
(ख) बौद्धदर्शन, पृ० २३
७ जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान साधनम्॥ —योगशास्त्र, ४।१३४

तक ध्यान अथवा तप सहजतया करना संभव है, उन-उन आसनों का विस्तृत निर्देश भी है।[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गौदोहिकासन तथा कार्योत्सर्गासन का उल्लेख किया

---

१. (१) पर्यंकासन—दोनो जंघाओ के निचले भाग को पैरो के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बायाँ हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण-उत्तर मे रखना 'पर्यंकासन' है।

(२) वीरासन—बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बायी जांघ पर रखना वीरासन है। इसकी दूसरी विधि इस तरह है—एक पैर को पृथ्वी पर रखना और दूसरा पैर घुटने को मोड़कर उसके ऊपर रखते हुए स्थित रहना।

(३) वज्रासन—वीरासन के पश्चात् वज्र की आकृति की तरह दोनो हाथो को पीछे रखकर क्रमशः बायें, दाहिने पैर के अंगूठे पकडने पर जो आकृति बनती है वह वज्रासन है।

(४) पद्मासन—एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्य भाग मे मिलाकर रखना पद्मासन है। अर्थात् वज्रासन की विधि मे स्थित होकर हृदय के चार अंगुल के बीच मे दाढी के अग्रभाग को रखना और नासिका के अग्रभाग का निरीक्षण करते हुए स्थित रहना पद्मासन है।

(५) भद्रासन—दोनो पैरो के तलभाग वृषण-प्रदेश मे—अण्डकोषो की जगह एकत्र करके, उनके ऊपर दोनो हाथो की अंगुलियाँ एक दूसरी अंगुली मे डालकर रखना भद्रासन है।

(६) दण्डासन—जमीन पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अंगुलियाँ, गुल्फ और जांघें जमीन के साथ लगी रहे। इसे दण्डासन कहा गया है।

(७) उत्कटिक और गौदोहासन—जमीन से लगी हुई एडियो के साथ जब दोनो नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटिक आसन होता है और जब एडियाँ जमीन से लगी हुई नही होती, तब वह गौदोहासन कहलाता है।

(८) कायोत्सर्गासन—दोनो भुजाओ को नीचे लटकाकर स्थित होना अथवा बैठकर या शारीरिक कमजोरी की अवस्था में लेटकर सभी प्रकार का व्यामोह छोडकर स्थिर होना कायोत्सर्गासन है। इसकी विशेषता यह है कि इस आसन मे किसी प्रकार की कायिक या मानसिक क्रिया नही होती।

है।[1] साथ ही आम्रकुब्जासन, क्रौंचासन, हंसासन, अश्वासन, गजासन, आदि आसनो का भी उल्लेख है, परन्तु दण्डासन का नामोल्लेख तक नही है। ज्ञानार्णव[3] तथा उपासकाध्ययन[4] मे वर्णित सुखासन का जो सामान्य रूप है वह योगशास्त्र तथा अमितगतिश्रावकाचार[5] मे वर्णित पर्यंकासन से मिलता-जुलता है।

सुखासन गृहस्थ तथा साधु दोनो के लिए है। प्रथमतः पद्मासन लगाकर वैठना, तत्पश्चात् बायी हथेली के ऊपर दायी हथेली रखना। ऐसी अवस्था मे दृष्टि सम हो, शरीर तना हुआ तथा सरल हो। खड्गासन मे दोनो पैरो के बीच चार अगुल का अन्तर होना चाहिए। सिर, गर्दन स्थिर हो, एडी, घुटने, भ्रकुटि, हाथ और आँखे समान रूप से निश्चल हो। साधक न तो खाँसे तथा न खुजली खुजाये। यहाँ तक कि उसे ओठ का चलाना, शरीर का कँपाना, बोलना, मुस्कराना, दूर तक देखना, कटाक्ष करना, पलक का हिलाना वर्जित है। साधक अपनी दृष्टि नासाग्रभाग पर स्थिर रखे। यह भी उल्लिखित है कि यह ध्यान-विधि हृदय में चचलता, तिरस्कार, मोह और दुर्भावना के न होने पर तथा तत्त्वज्ञान के होने पर ही सुलभ होती है।

प्राणायाम

योगसाधना मे प्राणायाम नितान्त आवश्यक है और इसके लिए आसन का सिद्ध होना भी अपेक्षित है, क्योकि प्राण का नियन्त्रण मन के नियत्रण के लिए तथा मन का नियन्त्रण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। आसन-सिद्धि के वाद मन की चचलता दूर हो जाती है और श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति का नियत्रण कर मन की

---

१. (क) पर्यंक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च।
उत्कटिका-गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्॥ —योगशास्त्र, ४।१२४
(ख) स्थानाग, ३९६–४९०; वृहत्कल्पसूत्र, पृ० १५७०

२. योगशास्त्र, स्वोपज्ञटीका, ४।१२४

३ ज्ञानार्णव, २६।११

४. उपासकाध्ययन, ३९।७३३–३७

५. अमितगतिश्रावकाचार, ८।४६

वृत्तियो को पूर्णत: केन्द्रित करने मे साधक सफल होता है। श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति के अभाव को ही प्राणायाम कहते हैं और इसकी गति के व्युच्छेद के साथ-साथ चित्त की गति का भी व्युच्छेद होना यथार्थ प्राणायाम है।[1]

ऐतरेयोपनिषद्[2] मे प्राण (श्वास) एव अपान (प्रश्वास) का वर्णन मिलता है। उपनिषदो[3] मे तो इस शब्द के विभिन्न संदर्भों पर प्रकाश डाला गया है।

गीता के अनुसार प्राण का नियंत्रण ही प्राणायाम है। अर्थात् प्राण-वायु को अपान मे अथवा अपानवायु को प्राणवायु मे ले जाना और इन दोनो की गति को अवरुद्ध करना ही प्राणायाम है।[4] इन्ही शब्दो का प्रकारान्तर से समर्थन करता हुआ पातजल योग-दर्शन भी 'आसन स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति रोकने' को प्राणायाम कहता है।[5] इसके चार भेद भी निर्देशित हैं—(१) वाह्यवृत्तिक, (२) आभ्यतरवृत्तिक, (३) स्तम्भवृत्तिक, तथा (४) वाह्यातर विषयाक्षेपि।[6] बताया गया है कि इन्ही से चित्त-संस्कारो को स्थिर बनाकर अविद्या आदि क्लेशो को नष्ट करके विवेकख्याति की प्राप्ति होती है।[7]

शिवसहिता[8] मे श्वासोच्छ्वास की मात्रा पर आधृत प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीन प्रकारो का वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० १९१

२ ऐतरेयोपनिषद्, ३

३ अमृतनादोपनिषद्, ६-१४, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, ९४-१२९; योगकुण्डल्युपनिषद्, १९-३९, योगचूडामणि, ९५-१२१; योगशिखोपनिषद्, ८६-१०० आदि।

४. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा: ॥ —भगवद्गीता, ४।२९

५ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:। —योगदर्शन, २।४९

६. वही, २।५०-५१

७ तत: क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम्। —वही, २।५२

८ शिवसहिता, ३।२२-२३

घेरण्डसंहिता[1] मे कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद उल्लिखित हैं; यथा—(१) सहित, (२) सूर्यभेदी, (३) उज्जायी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा तथा (८) केवली। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के अनुसार प्राण की स्थिरता प्राणायाम है और इसके रेचक, पूरक, कुम्भक और सघट्टीकरण ये चार प्रकार हैं।[2] इनसे पाप एवं दु.ख का नाश होता है, तेज एवं सौदर्य वढता है, दिव्यदृष्टि, श्रवणशक्ति, कामाचारशक्ति, वाक्शक्ति आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[3] इस प्रकार प्राणायाम से अनेक सिद्धियो की प्राप्ति होती है।

वौद्ध-दर्शन में प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा गया है।[4] आन का अर्थ है सास लेना और अपान का अर्थ है सास छोड़ना। इन्हे आश्वास-प्रश्वास भी कहते हैं।[5] कर्मस्थान[6] ४० हैं और इन्ही कर्म-स्थानो की भावना कर सभी वुद्ध, प्रत्येकवुद्ध तथा वुद्ध श्रावको ने विशेष फल प्राप्त किया था।[7]

जैन-परम्परा में प्राणायाम के सबंध मे दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार, प्राण का निरोध करने से शरीर में व्याकुलता उत्पन्न होती है और मन भी विचलित हो जाता है, जिससे मन स्वस्थ तथा स्थिर नही रह पाता। पूरक, कुम्भक और रेचक (प्राणायाम) करने मे परिश्रम करना पडता है, जिससे मन मे सक्लेश पैदा होता है।[8] दूसरे मत के

---

१ सहित. सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भक.॥ —घेरण्डसहिता, ५।४६

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।३५

३ शिवसहिता, ३।२९, ३०, ५४

४. Tibetan Yoga and Secret Doctrines. pp 187-89

५ वौद्धधर्मदर्शन, पृ० ८१

६ मज्झिमनिकाय, २।२।२; ३।२।८

७ विसुद्धिमग्गो, पृ० २६९

८ तन्नाप्नोति मन.स्वास्थ्यं प्राणायामै. कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्त-विप्लवः॥
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः।
चित्त-संक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह-कारणम्॥—योगशास्त्र, ६।४-५

अनुसार, प्राणायाम की प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग का निवारण किया जा सकता है, परन्तु साध्य को सिद्ध नही किया जा सकता।[1] इन मतो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राणायाम किसी न किसी प्रकार साधना के एक साधन के रूप में अपेक्षित है।

वायु का नाम है प्राण तथा इस प्राण को फैलाने अथवा विस्तार करने को आयाम कहते हैं। इस तरह दोनो प्रकार के श्वासो को बाहर निकालने अथवा भीतर लेने की क्रिया को ही प्राणायाम कहा गया है। अर्थात् मुख तथा नासिका से संचरित होनेवाले वायु को प्राण कहते हैं तथा इसका निरोध करना ही प्राणायाम है। इसके तीन प्रकार हैं—(१) पूरक, (२) रेचक और (३) कुम्भक।[2] चार प्रकार के प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है—(१) प्रत्याहार, (२) शान्त, (३) उत्तर एवं (४) अघर।[3]

बाहर के वायु को शरीर के भीतर लेकर उसे अपान (गुदा) तक भर लेना पूरक है। नाभि से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वायु को बाहर निकालना अर्थात् भीतर की वायु को बाहर फेकना ही रेचक है। पूरक से उपलब्ध वायु को नाभिस्थल मे रोकना तथा स्थिर करना कुम्भक है।[4]

---

१. योगशास्त्र : एक परिशीलन, पृ० ४१

२. (क) त्रिधा लक्षणभेदेन सस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरक कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥ —ज्ञानार्णव, २६।४३

(ख) रेचकः स्याद्बहिर्वृत्तिरन्तर्वृत्तिश्चपूरकः।
कुम्भकः स्तंभवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिघेत्ययम्॥
—द्वात्रिंशिका, २२।१७

३. प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा।
एभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु ससधा कीर्त्यते परै॥ —योगशास्त्र, ५।५

४. समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भक॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः।
बहि प्रक्षेपण वायोः स रेचक इति स्मृत॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, २६।४९ (१-२)

इस प्रकार वायु को बाहर निकालना, भीतर ग्रहण करना अथवा वायु पर नियन्त्रण रखना आदि क्रियाएँ मन की चञ्चलता को रोकती हैं, क्योकि मन तथा वायु का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए योग में पहले वायु को नियन्त्रित करने का विधान है। योगशास्त्र मे वायु के पाँच प्रकार वर्णित हैं—(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान तथा (५) व्यान।[1] नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास के रूप में सचरित होनेवाला वायु प्राण है। प्राणवायु का स्थान नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैर के अगूठे तक का है और यह हरे वर्ण का है। शरीर के मल-मूत्रादि को बाहर फेकने मे सहयोग देनेवाले अथवा गुदा एव लिंग से बाहर निकलनेवाले वायु को अपान कहते हैं। इसका स्थान गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एडी है तथा इसका वर्ण काला है। समानवायु भोजनरस को शरीर के विभिन्न विभागो मे पहुँचाता है। इसका स्थान हृदय, नाभि तथा शरीर के सभी सन्धिस्थल हैं तथा इसका वर्ण श्वेत है। उसी रस को शरीर के ऊपरी भागो मे ले जानेवाले वायु को उदान कहते हैं। इसका स्थान हृदय, कण्ठ, तालु, भृकुटि का मध्य भाग तथा मस्तक है और इसका वर्ण लाल है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु को व्यान कहते हैं। इसका स्थान सम्पूर्ण त्वचा बताया गया है और इसका वर्ण इन्द्रधनुषी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इन वायुओ को रेचक, पूरक एवं कुम्भक प्राणायाम द्वारा जीतना अथवा नियन्त्रित करना चाहिए।

नाभि मे से वायु को खीचकर हृदय में ले जाना तथा हृदय मे से वायु को नाभि मे स्थिर करना प्रत्याहार प्राणायाम है अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाना ही प्रत्याहार प्राणायाम है। नासिका एवं मुख द्वारा वायु को नियन्त्रित करना शान्त नामक प्राणायाम है। वायु को बाहर से शरीर के भीतर ले जाकर हृदय मे स्थापित करना उतर

---

१ प्राणमपानसमानावुदान व्यानमेव च।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियार्थ-बीजवत्॥

—योगशास्त्र, ५।१३; ५।१४-२०

प्राणायाम है तथा वायु को हृदय से नीचे की ओर (नाभि मे) ले जाना अधर प्राणायाम है ।[1]

ज्ञानार्णव मे एक और 'परमेश्वर' नामक प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है अर्थात् जो वायु नाभिस्कन्ध से निकलकर हृदय में आता है और वहाँ से चलकर ब्रह्मरन्ध्र अथवा तालुरन्ध्र मे स्थित हो जाता है, उसे परमेश्वर प्राणायाम कहते है ।[2]

इस सन्दर्भ में वायु के अन्य चार प्रकार वर्णित हैं[3], जो कि नासिका विवर के क्रमशः चार मण्डलो से सम्बन्ध रखते हैं।[4] जैसे-(१) पुरन्दर–यह वायु पीला, उष्ण तथा स्वच्छ है और आठ अगुल नासिका से बाहर तक रहता है। इस वायु का सम्बन्ध पार्थिव मण्डल से है जो पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण तथा वज्रचिह्न से युक्त है। (२) वरुण—यह श्वेत तथा शीतल है और नीचे की ओर बारह अगुल तक शीघ्रता से बहता है। यह वारुण-मण्डल के अन्तर्गत अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, अष्टमी के चन्द्रमा के आकार का होता है। (३) पवन—वह वायु काला तथा उष्ण-शीत होता है और छह अगुल प्रमाण वहता रहता है। यह वायव्य-मण्डल के अन्तर्गत गोलाकार, मध्यविन्दु के चिह्न से व्याप्त, पवनबीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ, चञ्चल होता है। तथा (४) दहन—यह वायु लाल तथा उष्णस्पर्श और ववण्डर की तरह चार अगुल ऊँचा वहनेवाला है। यह आग्नेय-मण्डल के अन्तर्गत त्रिकोण, स्वस्तिक-चिह्न से युक्त तथा अग्निवीज रेफ '' चिह्न से युक्त होता है।

उक्त चारो प्रकार के वायु बायी तथा दाहिनी नाड़ी से होकर शरीर मे प्रवेश करते हैं। इस प्रकार इनका प्रवेश शुभ फलदायक समझा

---

१. स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्षं प्रत्याहार. प्रकीर्तितः ।
तालुनासाननद्वारैर्निरोध शान्त उच्यते ॥
आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।
उत्तर स समाख्यातोऽविपरीतस्ततोऽधर. ॥—योगशास्त्र, ५।८-९

२ नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते तु विश्रान्तं त ज्ञेय परमेश्वरम् ॥—ज्ञानार्णव, २६।४७

३. योगशास्त्र, ५।४८-५१

४ वही, ५।४२

जाता है और जब उक्त वायु दोनों नाड़ियो से निकल रहे होते हैं तो अशुभ फलदायक।[1] बायी तरफ की नाड़ी को इडा या चन्द्र कहते हैं और दाहिनी तरफ की नाड़ी को पिगला या सूर्य कहते हैं तथा इन दोनो के बीच की नाडी सुषुम्ना है जिसे मोक्षस्थान भी कहते हैं।[2]

अतः निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि योगसाधना के लिए प्राणायाम अपेक्षित है, क्योकि जहाँ इससे शरीर तथा मन का शुद्धीकरण होता है, वहाँ इसकी सिद्धि से जन्म एव मृत्यु-काल अथवा शुभाशुभ का ज्ञान होता है। फिर भी विभिन्न प्राणायामो की सिद्धि मे मानसिक अवरोध उत्पन्न होने से जैन-योग इसे विशेष महत्त्व नही देता, यद्यपि प्राणायाम के विषय मे कई प्रकार के विवेचन, विश्लेषण जैन-योग ग्रथो मे उपलब्ध हैं।

प्रत्याहार

वैदिक-परम्परा मे योग-साधना की सिद्धि के लिए प्राणायाम के बाद प्रत्याहार[3] का भी बडा महत्त्व है, क्योकि प्रत्याहार के सिद्ध होने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है और चित्त की निरुद्धता से इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियाँ पूर्णतः वश में हो जाती हैं और इसके अभ्यासी के समस्त सासारिक रोग तथा पाप पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।[4] उपनिषदो में पाँच प्रकार के प्रत्याहारो का वर्णन है[5], यथा—(१) ज्ञानेन्द्रियो को विषयो की ओर जाने से शक्तिपूर्वक

---

१ शशाक-रवि-मार्गेण वायवामण्डलेष्वमी।
विशन्त शुभदा. सर्वे निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृता.॥ —योगशास्त्र, ५।५७

२. इडा न पिंगलाचैव सुषुम्णा चेति नाडिका।
शशि-सूर्य-शिव-स्थान वाम-दक्षिण-मध्यगा॥ —वही, ५।६१

३. प्राणायाम प्रत्याहार। —मैत्रेयी उपनिषद्, ६।१८

४ दर्शनोपनिषद्, ७।९-१०

५. स पचविध विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणा बलादाहरणं प्रत्याहारः यद्यत्-पश्यति तत्सर्वमात्मेति। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषय-पराङ्मुखत्वं प्रत्याहार। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारण प्रत्याहारः। —शाण्डिल्योपनिषद्, १।८

रोकना, (२) मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य-जगत् को आत्म-रूप समझना अथवा ब्रह्म के रूप मे देखना, (३) समस्त दैनिक कर्मों के फलो का त्याग, (४) समस्त इन्द्रिय-सुखों से निवृत्ति तथा (५) अठारह मर्मस्थानो पर प्राणवायु का एक निश्चित क्रम से स्थापन करते चलना।

पतंजलि ने प्रत्याहार की परिभाषा मे कहा है कि इन्द्रियो का अपने विषय से सबध छूट जाने पर चित्त के स्वरूप मे विलीन हो जाना ही प्रत्याहार है, जिससे इद्रियां पूर्णतः वश मे हो जाती हैं।[1] सिद्धसिद्धान्त-पद्धति के अनुसार चित्त मे उत्पन्न नाना विकारो से निवृत्ति होना प्रत्याहार है।[2]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार प्रत्याहार से बिम्बदर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है, क्योकि दसो इद्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप मात्र मे अनुवर्तन प्रत्याहार है और इस अनुवर्तन के समय इद्रियों की विषयभावापत्ति अथवा विषयग्रहण नही होता। प्रत्याहार से वैराग्य, त्रिकालदर्शन, धूमादि दस निमित्तो के दर्शन की सिद्धि होती है।[3]

जैन-परम्परा के अनुसार बाह्य तथा आभ्यतर विषयो से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार है।[4] दूसरे शब्दो मे ज्ञातयोगी इद्रियो तथा मन को इद्रिय-विषयो से निवृत्त करके इच्छानुसार जहां जहां धारण करता है, उसे प्रत्याहार कहते हैं।[5] अतः सम्पूर्ण रागद्वेष से मन को हटाकर अपने को आत्मा में केन्द्रित कर लेना प्रत्याहार है।[6] इस प्रकार तीनों परपराओ मे प्रत्याहार के द्वारा ध्यान को केन्द्रित तथा रागद्वेष आदि प्रवृत्तियो को नियन्त्रित किया जाता है।

---

१ स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः।
तत परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। —योगदर्शन, २।५४-५५

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।३६

३ बौद्धधर्मदर्शन (भूमिका), पृ० ३८

४. इद्रियै सममाकृष्य विषयेभ्यः प्रशान्तधी.। —योगशास्त्र, ६।६

५ समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य साक्ष चेत. प्रशान्तधी.।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते॥—ज्ञानार्णव, २७।१

६ विषयासप्रयोगेऽन्त. स्वरूपानुकृति' किल।
प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायतताफल'॥ —द्वात्रिंशिका, २४।२

धारणा

धारणा योगसमाधि का एक प्रमुख तत्त्व है, जिसके द्वारा साधक मनोविकारो को सर्वथा त्यागकर किसी एक दिशा की ओर उन्मुख होने मे सफल होता है; क्योंकि बाह्य विकर्षणों से निवृत होने के लिए आसन और प्राणायाम आवश्यक है और आंतरिक विकर्षणों से निवृत्त होने के लिए प्रत्याहार एवं धारणा जरूरी है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक का बाह्य जगत् से संबंध छूट जाता है जिससे उसे बाह्य-जगत्-जन्य कोई बाधा नही होती। इसलिए वह किसी बाह्य बाधा के बिना चित्त-निरोध का अभ्यास करने के योग्य हो जाता।[१] प्रत्याहार के अभ्यास के बाद धारणा का अभ्यास भली-भाँति करना सम्भव होता है। यही कारण है कि धारणा मे बाह्य विषयो से इद्रियो को हटाकर अन्तर्मुख किया जाता है तथा मन को किसी एक जगह स्थिर एव शान्त किया जाता है।

योग-दर्शन मे धारणा की परिभाषा मे कहा गया है कि चित्त को समस्त विषयो से हटाकर किसी विशेष दिशा मे परमात्मा मे बद्ध करना धारणा है।[२] इस परिभाषा का समर्थन उपनिषदो[३] ने किया है। अमृतोपनिषद् के अनुसार सकल्पपूर्ण मन को आत्मा मे लीन करके परमात्म-चिंतन मे लगाना धारणा है।[४] योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सबमे आत्मविचार करना धारणा है।[५] शिवसहिता से भी इन बातों की पुष्टि होती है।[६]

बौद्धधर्म मे धारणा को योग का चतुर्थ अग माना गया है और कहा

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० २१४

२. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योग-दर्शन, ३।१

३. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, १३३-३४, शाण्डिल्योपनिषद्, ७।४३-४४

४ मन. सकल्पक ध्यात्वा सक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वातथात्मान धारणा परिकीर्तिता॥ —अमृतोपनिषद्, १६

५ योगतत्त्वोपनिषद्, ६८-७१

६ शिवसहिता, ५।४३-१५७

है कि अपने इष्ट, मंत्र, प्राण का हृदय में ध्यान करते हुए उसे ललाट में निबद्ध करना चाहिए (मन का प्राणभूत होने के कारण प्राण ही मंत्र पद का वाच्य है। ऐसी स्थिति मे प्राण का संचरण अर्थात् श्वास-प्रश्वास नही रहता। धारणा का फल वज्रसत्व मे समाविष्ट है, अत. इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न अर्थात् प्राणवायु नाभिचक्र से चांडाली (कुण्डलिनी) शक्ति को उठाता है तथा इसकी सिद्धि होने पर चांडाली (कुण्डलिनी) शक्ति स्वभावतः उज्ज्वल हो जाती है।[1]

जैन-योग के अनुसार भी योग-साधना के लिए धारणा की भूमिका आवश्यक है। ज्ञानार्णव के अनुसार इंद्रियो के विषयो को रोककर और रागद्वेष को दूर कर एव समताभाव का अवलम्बन कर मन को ललाट-देश में सलीन करना चाहिए,[2] क्योकि ऐसा करने से समाधि की सिद्धि होती है। योगशास्त्र के अनुसार चित्त को स्थिर करना ही धारणा है और नाभि, हृदय नासिका का अग्रभाग, कपाल, भृकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक ये धारणा के स्थान हैं[3] अर्थात् इन स्थानो में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना धारणा के लिए आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि चित्त को किसी एक ध्येय पर एकाग्र करना ही धारणा है[4] और योग-साधना की दृष्टि से यह आवश्यक तत्त्व है, क्योकि बिना इसके समाधि की पूर्णता प्राप्त नही हो सकती।

---

१. बौद्धधर्मदर्शन (भूमिका), पृ० ३८-३९

२. निरुद्ध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेशसलीन विदध्यान्निश्चल मन. ॥—ज्ञानार्णव, २७।१२

३ नाभी-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टय.।
मुख कर्णौशिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्त्तयन् ॥—योगशास्त्र, ६।७

४. चित्तस्यधारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता।—द्वात्रिंशिका, २४।१८

: ५ : योग के साधन : ध्यान

योग मे ध्यान का वहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन अथवा चित्त कभी स्थिर नही रहता और किसी भी ध्येय वस्तु पर अधिक समय तक ध्यान ठहरता भी नही। अतः सर्वप्रथम चित्त की विकलता दूर कर उसे स्थिर करने का निर्देश किया गया है। इसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और तप आदि क्रियाओ का विधान है, ताकि साधक इनके सम्यक् पालन से मन की चचलता, विकलता हटाकर तथा उसे अन्तर्मुख कर अपने ध्यान को आत्मा पर केंद्रित करे। ध्यान की पराकाष्ठा समाधि मानी गयी है।

ध्यान की इसी महत्ता और महनीयता की दृष्टि से वैदिक, बौद्ध एवं जैन योगो में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक-योग में ध्यान

अनेक उपनिषदो में ध्यान एवं समाधि का सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है।[1] ब्रह्मविंदूपनिषद्[2] में कहा गया है कि हृदय में मन का तव तक निरोध करना चाहिए जव तक कि उसका क्षय न हो जाय। समाधि की ऐसी अवस्था मे व्यक्ति परमात्मा को पाकर अपने को उसके जैसा समझने लगता है।[3] अर्थात् ऐसी अवस्था मे ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय की त्रिपुटी नही रहती।[4] जव साधक ध्यान मे स्थूल का आलम्वन लेकर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, तब एक ऐसी स्थिति आती है, जहाँ उसे किसी भी वस्तु के आलम्वन की अपेक्षा नही रह जाती। समाधि की यही अवस्था सांख्यदर्शनानुसार 'ध्यान निर्विषय मन.'[5] मन का निर्विषय

---

१. दर्शनोपनिषद्, ९।१-६; ध्यानविन्दूपनिषद्, १४-३७,
योगकुण्डल्यूपनिषद्, ३।१५-३२, शाण्डिल्योपनिषद्, १।६।३-४

२ तावदेवं निरोद्धव्यं यावद्धृदि-गतं क्षयम्। —ब्रह्मविन्दूपनिषद्, ५

३. अमृतनादोपनिषद्, १६

४. शाण्डिल्योपनिषद्, ११

५. सांख्यसूत्रम्, ६।२५

होना ही ध्यान है। योगदर्शनानुसार[1] आत्म-चिंतन करते-करते ईश्वर के एक ही प्रत्यय में तल्लीन हो जाना ही ध्यान है। इस ध्यान मे केवल आत्मतत्त्व अनुभव मे आना ही समाधि है।[2] हठयोगसंहिता में बताया है कि प्राणायाम के द्वारा समाधि की सिद्धि अर्थात् वायु के निरोध के द्वारा मन का निरोध होता है।[3]

ध्यान अथवा समाधि के विविध प्रकारो का वर्णन विभिन्न वैदिक ग्रंथो मे मिलता है। घेरण्डसहिता के अनुसार स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म ये ध्यान के तीन प्रकार वर्णित हैं।[4] पतञ्जलि के अनुसार समाधि के दो भेद हैं[5]—(१) सम्प्रज्ञात एवं (२) असम्प्रज्ञात।[6] सम्प्रज्ञात समाधि मे समस्त चित्तवृतियो का निरोध नही होता है और असम्प्रज्ञात समाधि मे चित्तवृतियो का निरोध हो जाता है। ध्यातव्य है कि असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए सम्प्रज्ञात समाधि का निरन्तर अभ्यास करना होता है। अतः असम्प्रज्ञात समाधि का कारण सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है[7]—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनन्दानुगत एवं (४) अस्मितानुगत। प्रथम प्रकार मे वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता की उपस्थिति के कारण उसे सवितर्क भी कहा जाता है। चित्त को स्थिर करने के लिए इस समाधि मे स्थूल वस्तु का आलम्बन लिया जाता है। द्वितीय प्रकार में वितर्करहित शेष तीनो विचार होने के कारण उसे सविचार समाधि भी कहा जाता है। इसमें भी साधक स्थूल का आलम्बन लेता है। तृतीय प्रकार की समाधि आनद और अस्मिता की समाधि है। चतुर्थ प्रकार मे केवल अस्मिता होने के कारण उसे सास्मिता समाधि कहा गया है। इस तरह चारो प्रकारो में चित्त स्थिर करने के लिए साधक को वस्तु का आलम्बन लेना ही पड़ता

---

१ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —योगदर्शन, ३।१

२ तदेवार्थनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि। —वही, ३।२

३. हठयोगसहिता, १०९

४. घेरण्डसहिता, ६।१-२०

५. योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।१

६ वही, १।४१

७ वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञात।—योगदर्शन, १।१७

है, जिसमे चित्त-संस्कार सम्पूर्णतः नष्ट नही होते। इस दृष्टि से इनको सबीजसमाधि भी कहते हैं।[1] बताया गया है कि इन चारो का अभ्यास करते-करते चित्तवृत्तियों के सिर्फ संस्कार ही शेष रहते हैं और अभ्यास-पूर्वक वैराग्य से उन शेष संस्कारों का भी अभाव हो जाता है।[2] ऐसी स्थिति मे उसे निर्बीज समाधि कहा जाता है।[3]

इन चारो सम्प्रज्ञात समाधियों को पार करके साधक अथवा योगी विवेकख्याति प्राप्त करता है। विवेकख्याति से उसके समस्त क्लेश तथा कर्म नष्ट होते हैं और चित्त मे निरन्तर विवेकख्याति का प्रवाह बहने लगता है। इसी परिपक्व स्थिति को धर्ममेघ समाधि कहा है। बताया गया है कि इससे ऋतम्भरा प्रज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं और उनके द्वारा योगी असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर कैवल्य प्राप्त करता हैं।[4]

बौद्ध-योग में ध्यान

वैदिक-परम्परा की ही भाँति बौद्ध-योग मे भी चित्त कुशलो को स्थिर करने के लिए ध्यान की महत्ता स्वीकार की गयी है। बौद्ध दर्शनानुसार चित्त के कारण ही साधक को संसार-भ्रमण करना पड़ता है। जिसमे ध्यान के साथ प्रज्ञा है, वही निर्वाण के समीप है।[5] अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति ही ध्यान का उद्देश्य है।[6] हीनयान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है और अर्हत्पद की प्राप्ति करना प्रधान उद्देश्य। इस प्रकार अर्हत्पद की प्राप्ति के लिए चार आयतनो का विधान है,[7] जो निर्वाण-प्राप्ति के साधन हैं। वे आयतन इस प्रकार हैं—(१) आकाशान-

---

१. ता एव सबीजः समाधिः। —वही, १।४६
२. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वं संस्कारशेषोऽन्यः। —वही, १।१८
३. तदभ्यासपूर्वकंहि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञात.। —योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।५१
४ योगसूत्र, ४।२९-३४
५. यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके। —धम्मपद, २५।१३
६. ते झायिनो साततिका निच्च दळ्ह—परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेम अनुत्तरं॥ —धम्मपद, २।३
७ अभिधर्मकोश, पृ० ५०

न्त्यायतन, (२) विज्ञानानन्त्यायतन, (३) अकिंचनायतन एव (४) नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। साधक जब इन आयतनो को पार करता हुआ अन्तिम अवस्था के पार पहुँचता है, तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस अन्तिम अवस्था को 'भवाग्र' कहा गया है।[1]

महायान के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति करना चरम उद्देश्य है और कहा गया है कि जब तक प्रज्ञापारमिताओ का उदय नही होता, तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नही होती। प्रज्ञापारमिताओ के उदय के लिए समाधि आवश्यक है[2] तथा समाधि के चार प्रकार[3] भी वर्णित हैं, जो योगी को क्रमश. स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं। समाधि के चार प्रकार ये हैं—

१ **वितर्कविचार प्रीतिसुख एकाग्रसहित**—यह विषयभोगो और अकुशल प्रवृत्तियो से अलग होकर वितर्क एवं विचार से उत्पन्न प्रीति और सुख संवाहक ध्यान है। इसमे चित्त हमेशा चचल रहता है।

२ **प्रीतिसुख एकाग्रसहित**—इस ध्यान मे वितर्क-विचार न रहने के कारण चित्त शात रहता है और प्रीति, सुख, एकाग्र इन तीन अंगो के शेष होने के कारण यह ध्यान आन्तरिक चित्त की एकाग्रता सहित प्रीति सुखवाला होता है।

३ **सुख एकाग्रसहित**—इस ध्यान मे प्रीति और विराग के प्रति उपेक्षाभाव रखकर योगी स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर सुख का अनुभव करता है, जिसे उपेक्षा, स्मृति, मान, सुखविहारी कहते हैं।

४ **एकाग्रतासहित**—इस ध्यान मे सुखदु ख का प्रश्न ही नही उठता, सभी वृत्तियाँ शात होती हैं, क्योकि सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने पर सुख एव दु ख भी विनष्ट हो जाते हैं और उपेक्षाभाव से केवल स्मृति ही परिशुद्ध होती है। इस प्रकार योगी चित्तशुद्ध स्वरूप को पाकर उसमें लीन हो जाता है अर्थात् समदर्शी अवस्था प्राप्त कर लेता है। अत. बौद्धयोग मे भी अपनी अकुशल प्रवृत्तियो को हटाकर,

---

१ भवाग्रासंज्ञिसत्वाश्च सत्यावासानव स्मृताः। —वही, ३।६

२. बौद्धदर्शन, पृ० ३९७

३. दीघनिकाय, १।२; मज्झिमनिकाय, ३।२।१, विशुद्धिमार्ग, परि० ४ पृथ्वीकसिणनिर्देश।

एकाग्रता से चित्तस्वरूप को जानने के लिए समाधि को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन-योग में ध्यान

ध्यान के भेद-प्रभेद का विस्तृत विवेचन जैन-योग मे वर्णित है। वस्तुत ध्यान-साधना ही जैन-योग मे साधना का पर्याय बन गयी है, क्योकि ससार-भ्रमण का कारण, जैन दर्शनानुसार, इद्रियों एवं मन की चञ्चलता है और इन पर नियन्त्रण करना ही चारित्र की पहली शर्त है। जैन योगानुसार सयम अथवा चारित्र की वृद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम साधन माना गया है।

ध्यान की परिभाषा एवं उसके पर्याय—चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान कहा गया है,[1] तथा उसे निर्जरा एव सवर का कारण भी बताया है।[2] वस्तुत चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केंद्रित करना कठिन है, क्योकि यह किसी भी विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा टिक नही पाता[3] तथा एक मुहूर्त ध्यान मे व्यतीत हो जाने के पश्चात् यह स्थिर नही रहता और यदि हो भी जाय तो वह चिन्तन कहलायेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा।[4] प्रकारान्तर से ध्यान अथवा समाधि वह है, जिसमे ससार-बंधनों को तोड़नेवाले वाक्यो के अर्थ का चिन्तन किया जाता है अर्थात् समस्त कर्म-मल नष्ट होने पर सिर्फ वाक्यो का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाने का प्रयत्न किया जाता है।[5] ध्यान को साम्यभाव बताते हुए कहा है कि योगी जब ध्यान मे तन्मय हो जाता है, तब उसे द्वैत ज्ञान रहता ही नही और वह समस्त रागद्वेषादि सांसारिकता से ऊपर उठकर चित्

---

१ चित्तसेगग्गया हवइ झाणं। —आवश्यकनिर्युक्त, १४५९; ध्यानशतक, २; नवपदार्थ, पृ० ६६८

२. तद्ध्यानं निर्जराहेतु सवरस्य च कारणम्। —तत्त्वानुशासन, ५६

३ आमुहूर्तात्। —तत्वार्थसूत्र, ९।२८, ध्यानशतक, ३; योगप्रदीप, १५।३३

४ मुहूर्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
वह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्तति ॥ —योगशास्त्र, ४।११६

५. योगप्रदीप, १३८

स्वरूप आत्मा के ही ध्यान मे निमग्न हो जाता है।[१] इसी परिभाषा की पुष्टि करते हुए ध्यान के सन्दर्भ में समरसीभाव[२] तथा सवीर्यध्यान[३] का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों मे उत्तम संहननवाले के एकाग्र चिन्ता-निरोध[४] को ध्यान कहा गया है तथा वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच एवं नाराच इन तीन प्रकार के संहनन[५] का भी उल्लेख है। यद्यपि तीनों संहननों को ध्यान के कारण के रूप मे स्वीकार किया गया है, तथापि मोक्ष का कारण वज्रवृषभनाराचसहनन ही है, क्योकि योगी नाना आलम्बनो मे स्थित अपनी चिन्ता को जब किसी एक आलम्बन मे स्थिर करता है, तब उसे एकाग्रनिरोध नामक योग की प्राप्ति होती है। इसी योग को बौद्ध-परम्परा मे समाधि तथा प्रसंख्यान कहा है।[६]

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि आलम्बन के दो प्रकार माने गये हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी आलम्बन मुक्त आत्मा को माना गया है तथा इसे अतीद्रिय होने के कारण अनालम्बन योग भी कहा गया है।[७] रूपी आलम्बन इन्द्रियगम्य माना गया है और बताया है कि दोनो ही ध्यान छद्मस्थो के होते हैं। यद्यपि रूपी अथवा सालम्बन के ध्यान के अधिकारी योगी छठे गुणस्थान तक अपने चारित्र का विकास करने में सक्षम होते हैं तथा अनालम्बन के अधिकारी सातवे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक। जब सालम्बन ध्यान ही सासारिक वस्तुओं से हटकर आत्मा के वास्तविक स्वरूपदर्शन मे तीव्र अभिलषित हो जाता है, तब निरालम्ब ध्यान की निष्पत्ति होती है। आत्मसाक्षात्कार होने पर ध्यान रह ही नही जाता, क्योकि ध्यान एक विशिष्ट प्रयत्न का नाम है, जो केवलज्ञान के पहले या योग-निरोध करते समय किया जाता है। इस

---

१. देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय २२, साम्यवैभवम्।

२. तत्त्वानुशासन, १३७

३. देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय २८, सवीर्य ध्यानम्।

४ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थसूत्र, ९।२७

५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ६२५

६ तत्त्वानुशासन, ६०-६१

७. आलंबण पि एय रूवमरूवी य इत्थ परमुत्ति।
तग्गुणपरिणइरूवी, सुहुमोऽणालबणो नाम॥ —योगविंशिका, १९

प्रकार निरालम्व ध्यान की सिद्धि हो जाने पर संसारावस्था बंद हो जाती है और इसके वाद केवलज्ञान और केवलज्ञान से 'अयोग' नामक स्थिति प्रकट होती है, जो परमनिर्वाण का ही अपरनाम है।[१]

ध्यान के पर्याय के रूप मे तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अंत-संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्य-ध्यान आदि का प्रयोग किया गया है।[२]

ध्यान के अंग—ध्यान के लिए प्रमुखत. तीन वातें अपेक्षित हैं—(१) ध्याता, (२) ध्येय और (३) ध्यान।[३] ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् आलम्वन तथा ध्यान अर्थात् एकाग्रचिन्तन। यानी इन तीनो की एकात्मकता ही ध्यान है। दूसरे शब्दों मे जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्याता है; अथवा जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है, अथवा ध्याता का ध्येय मे स्थिर होना ही ध्यान है।[४] निश्चय-नय से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को षट्कारमयी आत्मा कहा गया है और इनको ही ध्यान कहा है।[५] अत. आत्मा, अपनी आत्मा को अपनी आत्मा मे, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए अपनी आत्मा के हेतु से और अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है।

ध्यान की सामग्री—ध्यान की सामग्रियो को स्पष्ट करते हुए वतलाया गया है कि ध्यान मे परिग्रहत्याग, कषायो का निग्रह, व्रतधारणा, मन

---

१. एवम्मि मोहसागरतरण सेढी य केवलं येप।
तत्तो अजोगजोगो, कम्मेण परमं च निव्वाण ॥ —वही, २०

२. योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोधः स्वान्तनिग्रह।
अन्त.संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता वुधै ॥
—आर्ष २१।१२, तत्त्वानुशासन, पृ० ६१

३ ध्यान विधित्सता ज्ञेय ध्याता ध्येय तथा फलम्। —योगशास्त्र, ७।१

४ ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ —तत्त्वानुशासन, ६७

५ स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मैस्वतो यतः।
षट्कारकामयस्तस्माद ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ —वही, ७४

तथा इन्द्रिय-विजय आवश्यक है,[१] क्योकि ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असयम एव काया की चपलता का निरोध करना चाहिए[२] और अपने समस्त दोषो से रहित होकर चित्त स्थिर करना चाहिए।[३] सद्गुरु, सम्यक् श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास तथा मन स्थिरता[४] का भी ध्यान की सिद्धि के कारण के रूप मे उल्लेख है। वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रंथता, समचित्तता, परीषहजय,[५] असंगता, स्थिरचित्तता, ऊर्मिस्मय, सहनता[६] आदि का उल्लेख भी उसी सदर्भ में मिलता है। इनके अतिरिक्त पूरण, कुम्भक, रेचन, दहन, प्लवन, मुद्रा, मंत्र, मण्डल, धारणा, कर्माधिष्ठाता, देवों का संस्थान, लिंग, आसन, प्रमाण, वाहन आदि—जो कुछ भी शान्त तथा क्रूर कर्म के लिए मत्र-वाद आदि के कथन हैं, वे भी सभी ध्यान की सामग्रियों के अन्तर्गत ही है।[७] सक्षेप मे, आचारमीमासा की ही सारी बाते ध्यान की सामग्रियों के अन्तर्गत स्वीकृत हैं।

वस्तुत ध्यान, व्रत, जप, आदि सभी आचार बिना निर्मल चित्त के करने से कोई लाभ नही है,[८] क्योकि मन की शुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है।

---

१ सगत्याग: कषायाणा निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने॥ —वही, ७५

२ निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यान निरुन्ध्यादयत वच।
निरुन्ध्यात् कायचापल्य, तत्त्वतल्लीनमानस.॥ —योगसार, १६३

३ मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ —बृहद्द्रव्यसग्रह, ४८

४ ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेश श्रद्धान सदाभ्यास. स्थिर मन॥ —तत्त्वानुशासन, २१८

५ वैराग्य तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति पचैते ध्यानहेतवः॥
—बृहद्द्रव्यसग्रह, पृ० २०७ पर उद्धृत

६. उपासकाध्ययन, ३९।६३४

७ तत्त्वानुशासन, २१३-२१६

८. कि व्रतै कि व्रताचारै कि तपोभिर्जपैश्च किम्।
कि ध्यानै कि तथा ध्येयैर्न चित्त यदि भास्वरम्॥ —योगसार, ६८

मन की शुद्धि के बिना व्रतों का अनुष्ठान करना वृथा कायक्लेश है।[१] इसके लिए इन्द्रियो के विषयों का निरोध आवश्यक है और जब तक इन्द्रियो पर जय नही होती, तब तक कषायों पर जय नही होती।[२] अत. ध्यान की शुद्धता या सिद्धि ही कर्मसमूह को नष्ट करती है[३] और आत्मा का ध्यान शरीर-स्थित आत्मा के स्वरूप को जानने मे समर्थ होता है[४], क्योंकि ध्यान ही जहाँ सब अतिचारो का प्रतिक्रमण है,[५] वहाँ आत्मज्ञान की प्राप्ति से कर्मक्षय तथा कर्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६] ध्यातव्य है कि ध्यान द्वारा शुभ-अशुभ दोनो की प्राप्ति सभव है। अर्थात् इससे चिंतामणि की भी प्राप्ति होती है और खली के टुकड़े भी प्राप्त होते है।[७] इस प्रकार ध्यानसिद्धि की दृष्टि से बाह्य साधनो के निरोध के साथ स्ववृत्ति[८] तथा साम्यभाव का होना अनिवार्य है, जबकि साधक को आत्मा के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नही देता।[९] अगर साधक को सासारिक चिन्ताओं का ही ध्यान अनायास हो जाय तो भी

---

१ मन शुद्ध्यैव शुद्धि स्याद्देहिना नात्र सशय ।
वृथा तदव्यतिरेकेण कायस्यैयं कदर्थना ॥ —ज्ञानार्णव, २०।१३

२. अदान्तैरिन्द्रिय-ह्यैश्चलैरपयगामिभि । —योगशास्त्र, ४।२५

३. ज्ञानार्णव, २०।१४

४. एवमभ्यासयोगेन ध्यानेनानेन योगिभि ।
शरीरात स्थित. स्वात्मा यथावस्योऽवलोक्यते ॥ —योगप्रदीप, १६

५. झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमण ॥ —नियमसार, ९३

६ मोक्ष:कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्य मत तच्च तद्ध्यान हितमात्मनः ॥ —योगशास्त्र, ४।११३

७. इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इत: पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्ता विवेकिन ॥
—पूज्यपादकृत इष्टोपदेश, २०

८ तत स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तितामवति ।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ६२६

९. तदा च परमैकाग्रयाद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यत. ॥ —तत्त्वानुशासन, १७२

उन व्यापारो को अन्तर्मुख करके गुरु अथवा भगवान् का स्मरण करते हुए निर्जन स्थान मे सर्व प्रकार की कायचेष्टाओ से रहित होकर सुखासन से बैठना चाहिए,[१] क्योकि इससे भी ध्यान मे शुद्धता आती है। अगर पूर्वसस्कारवश बार-बार किसी रमणी का ही ध्यान आता हो, तो उस समय उसी का ध्यान करना चाहिए और उसके शरीर की क्षणभगुरता, सदोषता आदि का चिन्तन करना चाहिए। इससे अपने आप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि साधक के मन मे उस स्त्री के प्रति उदासीनता का भाव पैदा होगा और ध्यान शुभ-प्रवृत्तियो मे केन्द्रित होने लगेगा। अत. रागजनित वस्तु का चिन्तन करते-करते भी, एकान्त स्थान मे बिना प्रत्याघात से ध्यान करने से क्रमश योग पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तथा इस प्रकार के अभ्यास से परिणाम या भाव शुद्ध एवं स्थिर रहने से परममोक्ष निकट आता है।

ध्यान के प्रकार

जैन आगमो[२] एवं योग संबंधी अन्य जैन वाड्मय[३] मे ध्यान के प्रमुख चार प्रकारो का उल्लेख मिलता है—(अ) आर्त्त, (आ) रौद्र, (इ) धर्म और (ई) शुक्ल। इनमे पहले दो ध्यानो (आर्त, रौद्र) को अप्रशस्त अथवा अशुभ तथा अंतिम दो (धर्म, शुक्ल) को प्रशस्त अथवा शुभ कहा गया है, क्योकि अप्रशस्त ध्यान दु ख देनेवाले तथा प्रशस्त ध्यान मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं।[४] ज्ञानार्णव के अनुसार ध्यान के तीन भेद भी देखने को मिलते हैं—(१) प्रशस्त, (२) अप्रशस्त और (३) शुद्ध।[५] यह प्रकारान्तर से चार भेदो का ही समर्थन है। हेमचंद्राचार्य ने ध्यान का ध्याता, ध्यान और ध्येय के रूप मे वर्गीकरण किया है, तथा ध्येय के चार प्रकार बताये

---

१. योगशतक, ५९-६०

२. स्थानाग, ४।२४७; समवायाग, ४, भगवतीसूत्र, श० २५, उद्दे० ७; आवश्यकनिर्युक्ति, १४५८, दशवैकालिक, अध्ययन १

३. ध्यानशतक, ५; ज्ञानार्णव, २३।१९, तत्त्वानुशासन, ३४

४. आर्त्तरौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिद सदा।
धर्मं शुक्ल च सद्ध्यानमुपादेय मुमुक्षुभि ॥ —तत्त्वानुशासन, ३४

५. ज्ञानार्णव, ३।२७

हैं[1]—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और रूपातीत। ध्येय के इन चार भेदो का उल्लेख ज्ञानार्णव मे भी है।[2] रामसेनाचाय ने भी ध्येय के चार भेद गिनाये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[3] फिर भी इनके वर्गीकरण की अपनी विशेषता है। इनके अनुसार द्रव्य ध्येय ही पिण्डस्थ ध्यान रूप में उपस्थित हुआ है,[4] क्योकि ध्येय पदार्थ ध्याता के शरीर मे स्थित आत्मा ही ध्यान-विषय माना गया है और पिण्डस्थ ध्यान का काम भी वही है। इन सबके अतिरिक्त ध्यान के चौबीस[5] भेदो का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें बारह ध्यान क्रमश. ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, नाद, तारा, लय, मात्रा, पद और सिद्धि है तथा इन ध्यानो के साथ 'परम' पद लगाने से ध्यान के और अन्य भेद बनते है।

उक्त भेद-प्रभेदो से अलग हटकर आगमो तथा योगग्रथो मे विवेचित ध्यान के सर्वसम्मत चार प्रकारो का विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट है।

(अ) आर्त-ध्यान

दु.ख के निमित्त से या दु.ख में होनेवाला[6] अथवा मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि के कारण[7] अथवा आवश्यक मोह के कारण सांसारिक वस्तुओ मे रागभाव करना[8] आर्तध्यान है अर्थात् राग-भाव से जो उन्मत्तता होती है, वह अज्ञान के कारण होती

---

१ पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बन बुधैः॥ —योगशास्त्र, ७।८,

२. ज्ञानार्णव, ३६।१

३ नाम च स्थापन द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्। —तत्त्वानुशासन, ९९

४ धातु पिण्डे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यत.।
ध्येय पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केवल॥ —वही, १३४

५ सुन्न-कुल-जोइ-बिंदु-नादो-तारो-लओ-लवो मत्ता।
पय-सिद्धि परमजुया झाणाइ हुति चउवीस॥
—नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत), पृ० २२५

६ स्थानांग, ४।२४७

७. समवायांग, ४

८. दशवैकालिक अध्ययन १

है और फलतः अवाछनीय वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति होने पर जीव दुःखी होता है। यही आर्तध्यान है।[1] आर्तध्यान के चार भेद हैं[2]—

(१) अनिष्टसंयोग—चर अर्थात् अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि तथा स्थिर अर्थात् दुष्ट, राजा, शत्रु आदि द्वारा शरीर, स्वजन, धन आदि के निमित्त मन को जो क्लेश होता है, वह अनिष्टसयोग नामक आर्तध्यान है।[3]

(२) इष्टवियोग—अपने मन की प्यारी वस्तुओ अर्थात् ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, परिवारादि के नष्ट या वियुक्त होने पर अथवा इद्रिय-विषयो की क्षति होने पर मोह के कारण जो पीडा होती है, वह इष्ट-वियोग नामक आर्तध्यान है।[4]

(३) रोगचिंता या रोगार्त—शूल, सिरदर्द आदि रोगो की वेदना के कारण उत्पन्न चिन्तापूर्ण चिन्तन रोगचिन्ता नामक आर्तध्यान है।[5]

(४) भोगार्त—भोगों की इच्छा से लौकिक एव पारलौकिक भोग्य वस्तुओ का चिन्तन करना भोगार्त नामक आर्तध्यान है। यह ध्यान जन्म-परम्परा—ससार-परिभ्रमण—का कारण है। इसे निदानजन्य आर्तध्यान भी कहा है।[6]

इस प्रकार इस ध्यान के कारण जीव सर्वदा भयभीत, शोकाकुल, सशयी, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्राशील, शिथिल, खेदखिन्न तथा मूर्च्छा-ग्रस्त रहता है।[7] उसकी बुद्धि स्थिर नही रहती, विवेकशून्य

---

१ ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यान शरीरिणाम्।
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥ —ज्ञानार्णव, २३।२१

२. स्थानाग, ४।२४७; आवश्यकअध्ययन, ४

३ ज्ञानार्णव, २३।२३

४ मनोज्ञवस्तुविध्वसे पुनस्तत्संगमार्थिभिः।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम्॥ —ज्ञानार्णव, २३।२९

५ (क) तह सूलसीसरोगाइ वेयणाए विजोगपणिहाण।
तदसपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स॥ —ध्यानशतक, ७
(ख) ज्ञानार्णव, २३।३०-३१

६. ज्ञानार्णव, २३।३२-३३-३४ ७. वही, २३।४१

होता है और वह रागद्वेष के कारण संसार-भ्रमण करता है। ऐसे कुटिल चिन्तन के कारण वह तिर्यंचगति प्राप्त करता है[1] और ऐसे स्वभाव के कारण उसकी लेश्याएँ कृष्ण, नील एव कापोत होती हैं।[2] ऐसे ध्यानी का मन आत्मा से हटकर सामारिक वस्तुओ पर केंद्रित रहता है और इच्छित या प्रिय वस्तुओ के प्रति अतिशय मोह के कारण, उनके वियोग में या प्राप्त न होने पर दुखित होता है। इसलिए इस ध्यान को अशुभ कहा गया है और इसकी स्थिति छठे गुणस्थान तक होती है।[3]

(आ) रौद्रध्यान

यह ध्यान भी अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान है, जिनमे कुटिल भावो की चिन्तना होती है। जीव स्वभाववश सभी प्रकार के पापाचार करने मे उद्यत होता है तथा वह निर्दयी एव क्रूर कार्यों का कर्ता वनता है। इसलिए रुद्र अथवा कठोर जीव के भाव को रौद्र माना गया है। इस ध्यान मे हिंसा, झूठ, चोरी, धनरक्षा में लीन होना,[5] छेदन-भेदन[6] आदि प्रवृत्तियो मे राग आदि आते हैं। इसके चार भेद प्ररूपित हैं।[7]

(१) हिंसानन्द—अन्य प्राणियो को अपने से या अन्य के द्वारा मारने, काटने, छेदने अथवा वध-वधन द्वारा पीडित करने पर जो हर्ष प्रकट

---

१ रागो दोसो मोहो य जेण ससारहेयवो भणिया।
अट्टमि य ते तिण्णिवि तो त ससार तरुबीयं। —ध्यानशतक, १३

२ कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइमकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ —वही, १४

३ अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥ —ज्ञानार्णव, २३।३६

४ रुद्र. क्रूराशय. प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ —वही, २४।२

५ स्थानाग, ४।२४७, समवायाग, ४

६. दशवैकालिकसूत्रटीका, अध्ययन १

७ हिंसाऽनृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रम् ··· ···।
—तत्त्वार्थसूत्र, ९।३६, तथा ज्ञानार्णव, २४।३

किया जाता है, वह इस ध्यान का विषय है।[१] ऐसा ध्यान करनेवाला निर्घृण, निर्दय, कृतघ्न और नरक का भागी होता है। वह सदा कुटिलता, मायाचारिता, वैर, बदला लेने, ईर्ष्या करने आदि दुष्प्रवृत्तियो मे फँसा रहता है तथा इन्ही प्रवृत्तियो का चिन्तन करता रहता है।

(२) **मृषानन्द**—असत्य, झूठी कल्पनाओ से ग्रस्त होकर दूसरो को धोखा देने अथवा ठगने का चिन्तन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है।[२] मृषानन्दी व्यक्ति सत्य वचनो से रहित मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिए सत्य को झूठ अथवा झूठ को सत्य बनाकर लोगो को ठगता है और अपने को चतुर सिद्ध करता है।

(३) **चौर्यानन्द**—चोरी संबंधी कार्यो, उपदेशों अथवा चौर-प्रवृत्तियों मे कुशलता दिखाना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।[३] इस ध्यान के अन्तर्गत चौर्य कर्म के लिए निरन्तर व्याकुल रहना, चिन्तित होना अथवा दूसरो की सम्पत्ति के हरण से हर्षित होना अथवा दूसरो की सम्पत्ति को हरण करने का उपाय बताना आदि दुष्प्रवृत्तियाँ आती हैं। यह अतिशय निन्दा का कारण है।[४]

(४) **संरक्षणानन्द**—क्रूर परिणामो से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रो से शत्रुओ को नष्ट करके उनके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना अथवा शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र राज्यादि के सरक्षणार्थ तरह-तरह की चिन्ता करना सरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।[५]

इस प्रकार रौद्रध्यानी सर्वदा अपध्यान में लीन रहता है और दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने के उपाय सोचता रहता है। फलतः वह भी

---

१. सत्तवह-वेह-बंधण-डहणऽकणमारणाइपणिहाण।
अइकोहग्गहघत्थ निग्घिणमणसोऽहमविवाग॥—ध्यानशतक, १९

२. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानस।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्॥—ज्ञानार्णव, २४।१४ तथा आगे

३. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यकरत चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते॥ —ज्ञानार्णव, २४।२२

४. ज्ञानार्णव, २४।२३-२६

५. वही, २४।२८-२९ तथा आगे; ध्यानशतक, २२

दूसरों के दुःख से पीड़ित होता है, ऐहिक-पारलौकिक भय से आतंकित होता है, अनुकम्पा से रहित, नीच कर्मों मे निर्लज्ज एव पाप में आनन्द मनानेवाला होता है।[1] इस ध्यान को लेश्याएँ कृष्ण, नील एवं कापोत होती हैं और यह पंचम गुणस्थान पर्यन्त होता है।[2]

(इ) धर्मध्यान

यह ध्यान सद्ध्यान माना गया है, क्योकि इस ध्यान से जीव का रागभाव मंद होता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से यह ध्यान आत्मविकास का प्रथम चरण है। स्थानाग में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एव धर्म से युक्त कहा है।[3] धर्मध्यान उसके होता है, जो दस धर्मो का पालन करता है, इद्रिय-विषयों से निवृत्त होता है तथा प्राणियों की दया मे रत्त होता हैं।[4] ज्ञानसार में कहा गया है कि शास्त्र-वाक्यों के अर्थो, धर्ममार्गणाओं, व्रतो, गुप्तियो, समितियो, भावनाओ आदि का चिन्तन करना धर्मध्यान है।[5] इस प्रकार इसे मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का निज परिणामी[6] माना गया है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप धर्म-चिन्तन का पर्याय कहा गया है।[7]

धर्मध्यान के स्वरूप को जानने के लिए योगी को ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल, ध्यान का स्वामी, जहाँ (ध्यान योग्य क्षेत्र) जब (ध्यान योग्य काल) तथा जैसे (ध्यान योग्य अवस्था) मुद्राओं को ठीक तरह से समझना

---

१. आवश्यक अध्ययन, ४
२. ध्यानशतक, २५; ज्ञानार्णव, २४।३४
३. स्थानाग, ४।२४७
४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, स्वोपज्ञभाष्य, ९।२९
५. सुतत्थ धम्म मग्गणवय गुत्ती समिदि भावणाईणं।
   ज कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाण च इह भणियं॥ —ज्ञानसार, १६
६. चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
   मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
   —प्रवचनसार, १।७, तथा तत्त्वानुशासन, ५२
७. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
   तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधु.॥ —तत्त्वानुशासन, ५१

चाहिए।[१] अर्थात् योगी को इंद्रियो एवं मनोनिग्रह करनेवाली यथा-वस्थित वस्तु का आलम्बन लेते हुए एकाग्रचित होकर ध्यान करना चाहिए। निर्विघ्न ध्यान देश, काल एव परिस्थिति के अनुसार सम्पादित होता है[२] और इसके लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वैराग्य[३] अपेक्षित है, जिनसे सहजतया मन को स्थिर किया जाता है, कर्मों को रोका जाता है तथा वीतरागता आदि गुणों को प्राप्त किया जाता है। आचार्य शुभचद्र ने धर्म-ध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओ के चिन्तन पर जोर दिया है।[४]

ध्यान के विविध परिकर्मो[५] के वर्णन मे कहा गया है कि ध्याता ऐसी जगह कभी ध्यान न करे जहाँ स्त्री, पशु, शूद्र, प्राणी आदि हो। वह ऐसे निर्जन वन मे चला जाय, जहाँ किसी भी प्रकार की बाधा की सभावना न हो और वह किसी भी जगह दिन अथवा रात्रि के[६] समय ध्यान के लिए बैठ जाय। यह भी निर्देशित है कि ध्यान का आसन सुखदायक हो, जिससे कि ध्यान की मर्यादा टिक सके। उस आसन से बैठकर, खडे रहकर अथवा लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है।[७] वैसी स्थिति मे दृष्टि स्थिर होनी चाहिए, श्वास-प्रश्वास की गति मंद हो, इन्द्रियविषयक बाह्य पदार्थो से अलगाव हो और साधक निद्रा, भय एव आलस से रहित होकर आत्मा का ध्यान करे। साधक सभी प्रकार की चिन्ताओ से मुक्त होकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाय। यह वही सभव है जहाँ शोर,

---

१. ध्याता ध्यान फल ध्येय यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना॥ —वही ३७

२. वही, ३८–३९

३ ध्यानशतक, ३०–३४

४ चतस्रो भावना धन्या. पुराणपुरुषाश्रिता।
मैत्र्यादयश्चिर चित्ते विधेया धर्मसिद्धये॥ —ज्ञानार्णव, २५।४

५. तत्त्वानुशासन, ९०–९५

६ कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न उ दिवस निसावेलाइनियमणं झाइणो भणिय॥ —ध्यानशतक, ३८

७ जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोपरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो च॥ —वही, ३९

झगड़ा, दूषित वातावरण न हो और ऐसा स्थान निर्जन, पहाड़, गुफा आदि ही हो सकता है।[1]

इस ध्यान के सदर्भ मे आज्ञारुचि, निसर्ग-रुचि, सूत्ररुचि एवं अवगाढरुचि इन चार लिंगो[2] के साथ ही साथ वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, सामायिक, सद्धर्म-विषयक आलम्बनो[3] का भी विधान है। इस ध्यान के अधिकारी वे ही हैं, जो सम्यक्दृष्टि, अविरति, प्रमत्त और अप्रमत्त गुण-स्थानवर्ती हैं।[4] इस ध्यान की लेश्याएँ[5] पीत, पद्म और शुक्ल कही गयी हैं। क्योंकि पहले दो ध्यानो की अपेक्षा इस ध्यान में जीव का स्वभाव सरल और उसके परिणाम मन्दकषायी और मन्दतर-कषायी होते हैं। धर्मध्यान मे लीन जीव आत्मविकास में द्रुतगति से अग्रसर होते हैं।

मानसिक चंचलता के कारण साधक का मन एकाएक स्थिर नही हो पाता, अत. साधक को चाहिए कि वह स्थूल वस्तु का आलम्बन लेकर ही सूक्ष्म वस्तु की ओर बढ़े। ध्यान मे आसक्तिवश वार-वार उन्ही वातो की याद आती रहती है जो जीवन मे घटित हुई हो।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आलम्बन के आधार पर धर्मध्यान चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय तथा (४) सस्थानविचय। 'विचय' शब्द का अर्थ चिन्तन करना है।[6]

---

१ रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रम.।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्त ध्यानसिद्धये ॥ —ज्ञानार्णव, २५।२०

२ स्थानाग, ४।२४७; अभिधानराजेन्द्रकोश, भा० ४, पृ० १६६३

३ स्थानाग, ४।२४७, ध्यानशतक, ४२

४. अप्रमत्त प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसयतः।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिन· स्मृता· ॥
—तत्त्वानुशासन, ४६; ज्ञानार्णव, २६।२८

५. होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मदाइभेयाओ ॥ —ध्यानशतक, ६६

६ आज्ञापायविपाकाना सस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थ वा ध्येय-भेदेन धर्म-ध्यान चतुर्विधम् ॥ —योगशास्त्र, १०।७,
—ज्ञानार्णव, ३०।५; तत्त्वानुशासन, ९८

(१) आज्ञाविचय—इस ध्यान मे तीर्थंकरकथित उपदेशो का चिंतन किया जाता है, अतः सर्वज्ञ होने के कारण तीर्थंकर के तत्त्वोपदेश मे किसी भी प्रकार की त्रुटि नही होती, तर्क से बाधित नही होता, असत्य नही होता।[१] इस प्रकार इस ध्यान में मुख्यतः आप्त-वचनो का आलम्बन लिया जाता है और मन को क्रमश सूक्ष्म की ओर ले जाया जाता है।

(२) अपायविचय—इस ध्यान मे कर्म-नाश का तथा आत्मसिद्धि की प्राप्ति के उपाय का चिन्तन किया जाता है।[२] दूसरे शब्दो मे रागद्वेषादि कषाय तथा प्रमाद द्वारा उत्पन्न होनेवाले कष्टों, दुर्गतियो आदि का मनन करना अपायविचय धर्म-ध्यान है।[३]

(३) विपाकविचय—'विपाक' शब्द कर्मो के शुभ-अशुभ फल के उदय का द्योतक है। अतः कर्मो की विचित्रता का चिन्तन करना अथवा कर्म-फल के क्षण-क्षण मे उदित होने की प्रक्रियाओं के बारे मे विचार करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।[४] इस ध्यान मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है कि उदय, उदीरणा कैसे और किस कारण से होती है तथा उनको कैसे नष्ट किया जा सकता है।

(४) संस्थान-विचय—अनादि-अनंत काल से, अव्याहत रूप से जो

---

१. (क) आज्ञायत्रपुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधितम्।
तत्त्वतश्चिन्तयदर्थांस्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते॥
सर्वज्ञवचन सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभि।
तदाज्ञारूपमादेयं न मृषाभाषिणो जिनाः॥ —योगशास्त्र, १०।८-९
(ख) देखें ज्ञानार्णव, अध्याय ३०।

१. इत्युपायैर्विनिश्चेयो मार्गाच्च्यवनलक्षण।
कर्मणा च तथापाय उपाय स्वात्मसिद्धये॥ —ज्ञानार्णव, ३१।१६

२. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत्।
यत्रपायास्तदपाय-विचय-ध्यानमिष्यते॥ —योगशास्त्र, १०।१०

३. (क) स विपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूप शरीरिणाम्॥ —ज्ञानार्णव, ३२।१; तथा
(ख) देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय ३२। —योगशास्त्र, १०।१४

अस्तित्व मे है उस जगत् का ध्यान करना संस्थान-विचय धर्मध्यान है।[1] वस्तुत. यह जगत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। पर्याय की दृष्टि से पदार्थों का उत्पाद और व्यय होता रहता है, लेकिन द्रव्य की दृष्टि से पदार्थ नित्य ही रहता है। अतः इस ध्यान से संसार की नित्य-अनित्य पर्यायो का चिन्तन होने से वैराग्य की भावना दृढ होती है और साधक शुभ आत्मस्वरूप का अनुभव करने की कोशिश करता है।

किसी भी साधक का ध्यान एकाएक निरालम्ब मे नही लग पाता, इसलिए स्थूल इंद्रियगोचर पदार्थों से सूक्ष्म, इंद्रियों के अगोचर पदार्थों का चिन्तन करना आवश्यक माना गया है।[2] आलम्बन का ही दूसरा नाम 'ध्येय' है। ध्येय के चार भेद हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) और रूपातीत।[3]

(१) **पिण्डस्थ ध्यान**—पिण्ड अर्थात् शरीर। इसका तात्पर्य है शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केंद्रित करना। योगशास्त्र तथा ज्ञानार्णव के अनुसार इसके पाँच भेद हैं—(क) पार्थिवी, (ख) आग्नेय, (ग) मारुती, (घ) वारुणी और (च) तत्त्ववती।[4] इन पाच धारणाओ के माध्यम से उत्तरोत्तर आत्म-केन्द्र पर ध्यानस्थ होना।

---

१ (क) अनाद्यनंतस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृति चिन्तयेद्यत्र संस्थानविचयः स-तु ॥ —योगशास्त्र, १०।१४
(ख) देखें ज्ञानार्णव, अध्याय ३३

२ (क) स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते।
ध्यानं ध्यायेत स्थिर चित्त एक प्रत्यय संगते ॥ —योगप्रदीप, १३९;
(ख) अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालवाच्च निरालम्वं तत्त्ववित्तत्त्वमजसा ॥ —ज्ञानार्णव, ३०।४

३. पिण्डस्थ च पदस्थ रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्वा ध्येयमाम्नात ध्यानस्यालम्बनं बुधै ॥ —योगशास्त्र, ७।८;
योगसार, ९८; ज्ञानार्णव, ३४।१

४ (क) पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा।
तत्त्वभू पंचमी चेति पिण्डस्थे पच धारणा ॥ —योगशास्त्र, ७।९
(ख) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनाख्याथ वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति. विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३४।३

(क) पार्थिवी[१]—सर्वप्रथम साधक पार्थिवी धारणा के द्वारा चिन्तन करता है कि मध्यलोक के बराबर नि:शब्द, कल्लोलरहित एव सफेद क्षीर-समुद्र है, उसमे जम्बू-द्वीप के बराबर एक लाख योजनवाला तथा हजार पखुड़ी से युक्त कमल है, उस कमल के मध्य में अनेक केसर है। उन केसरो मे देदीप्यमान प्रभा से युक्त मेरुपर्वत के बराबर एक ऊँची कर्णिका है, उस पर एक सिंहासन है तथा उसमें बैठकर कर्मो का उन्मूलन करने मे आत्मा का चिन्तवन इस प्रकार करे कि यह रागद्वेपादि समस्त कर्मों का क्षय करने मे समर्थ है। इस प्रकार इस ध्यान मे प्रथमतः बड़ी चीजो को लाने के बाद सूक्ष्म वस्तु की ओर ध्यान केंद्रित किया जाता है, जिससे समस्त चिन्ताओ पर एक जगह रोक लग जाती है।

(ख) आग्नेयी धारणा[२]—इस धारणा के विषय में कहा गया है कि योगी अपने नाभि-मण्डल में सोलह पंखुड़ीवाले कमल का ध्यान करे और उसके बाद उस कमल की कर्णिका पर अर्हं महामत्र की स्थापना करके उस पर क्रमशः सोलह स्वरों को स्थापित करे। फिर ऐसा चिन्तन करे कि उस महामंत्र से धुंआँ निकल रहा है तथा अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठ रही हैं। इसके बाद हृदय मे आठ पंखुडी से युक्त अधोमुख कमल की अर्थात् अष्टकर्मों की कल्पना करे। नाभिष्ट कमल से उठी हुई प्रबल अग्नि से वह कर्म नष्ट हो रहे है तथा 'र' से व्याप्त हासिया चिह्न से युक्त धूम-रहित अग्नि का चिन्तन करे। तत्पश्चात् चिन्तन करे कि देह एव कर्मों को दग्ध करके अग्निदाह्य का अभाव होने के कारण धीरे-धीरे वह शान्त हो रहा है।

(ग) वायवी धारणा[३]—इस धारणा के अन्तर्गत साधक चिन्तन करता है कि लोक मे महाबलवान् वायुमण्डल चल रहा है और वह आग्नेयी धारणा मे देह एवं कमल को जलाने के बाद बची हुई राख को उड़ा रहा है। इस प्रकार प्रचण्ड वायु के चिन्तनपूर्वक उसे शान्त करना वायवी धारणा है।

---

१. योगशास्त्र, ७।१०-१२, योगप्रदीप, २०, ४०५-८, ज्ञानार्णव, ३४।४-९

२. ज्ञानार्णव, ३४।१०-१९, योगशास्त्र, ७।१३-१८

३. ज्ञानार्णव ३४।२०-२३; योगशास्त्र, ७।१९-२०

(घ) वारुणी धारणा[1]—इस धारणा के अन्तर्गत साधक चिन्तन करता है कि मेघ-समूह से अमृत की वर्षा हो रही है तथा चन्द्राकार कला-बिन्दु से युक्त एक वरुण-बीज है तथा वायवी धारणा के द्वारा जिस पवन वेग से राख उडा दी गयी थी, वह इस अमृत-जल से साफ धुल गयी है। इस प्रकार अमृत-वर्षा का चिन्तन करना वारुणी धारणा है।

(च) तत्त्ववती अथवा तत्त्वभू धारणा[2]—इसके अन्तर्गत सप्त धातुओं से रहित, चद्रमा के समान उज्ज्वल तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। इसके बाद सिंहासनस्थ आरूढ अष्ट कर्मो का उन्मूलन करनेवाला, महिमा से मडित निराकार आत्मा का चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार चतुर्विध धारणाओ से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने से ध्याता को मत्र, माया, शक्ति, जादू, स्तम्भन आदि से नुकसान नहीं होता है और न दुष्ट एव हिंस्र प्राणियो से ही उसका कोई बिगाड़ होता है।[3] प्रथम धारणा से मन को स्थिर किया जाता है, दूसरी से शरीर-कर्म को नष्ट करके मन को रोका जाता है, तृतीय से शरीर-कर्म के सबध को भिन्न देखा जाता है और चतुर्थ से शेप कर्म का नष्ट होना देखा जाता है और पंचम से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा का चिन्तन किया जाता है। इस प्रकार इस ध्यान मे योगी क्रमशः मन को स्थिर करता हुआ शुक्लध्यान मे प्रवेश करने की स्थिति मे पहुँचता है और चित् स्वरूप की प्राप्ति मे समर्थ होता है।

(२) पदस्थ ध्यान—इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को बार-बार एक ही केन्द्र पर स्थिर करता है और मन को अन्य विपयो से परावृत्त करके केवल सूक्ष्म वस्तु को ध्यान का विपय बनाता है। अपनी रुचि तथा अभ्यास के अनुसार पवित्र मंत्राक्षर-पदों का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान है, क्योकि पदस्थ ध्यान का अर्थ ही है—पदो (अक्षरो) पर ध्यान केन्द्रित करना। इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द हैं, क्योकि अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यजन से ही

---

१. ज्ञानार्णव, ३४।२४-२७, योगशास्त्र, ७।२१-२२

२. वही, ३४।२८-३०; वही, ७।२३-२५

३. योगशास्त्र, ७।२६-२८, ज्ञानार्णव, ३४।३३

शब्दों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस ध्यान को वर्ण-मातृका का ध्यान भी कहते है,[1] जो पाँच प्रकार से निष्पन्न होते हैं—

अक्षर-ध्यान के द्वारा शरीर के तीन केन्द्रो अर्थात् नाभि-कमल, हृदय-कमल तथा मुख-कमल की कल्पना की जाती है और नाभि-कमल मे सोलह पत्रोवाले कमल की स्थापना करके उसमे अ, आ आदि सोलह स्वरों का ध्यान करने का विधान है; हृदयकमल में कर्णिका एवं पत्रो सहित चौबीस दलवाले कमल की कल्पना करके उस पर इन क, ख, ग, घ, आदि २५ वर्णो का ध्यान करने का विधान है तथा अष्ट पत्रो से सुशोभित मुख-कमल के ऊपर प्रदक्षिण क्रम से विचार करते हुए प्रत्येक य, र, ल, व, श, ष, स, ह, इन आठ वर्णों का ध्यान करने का विधान है।[2] इस प्रकार निरंतर ध्यान करनेवाला योगी सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है—विगतभ्रम हो जाता है।[3] श्रुतज्ञानी होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है।

मंत्र व वर्णों के ध्यान मे समस्त पदो का स्वामी 'अर्हं' माना गया है, जो रेफ से युक्त, कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित मंत्रराज है।[4] इस ध्यान के विषय मे बताया गया है कि साधक को एक सुवर्णमय

---

१. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।
तत्पदस्थ मतं ध्यानं विचित्रनयपारगै ॥
ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धा वर्णमातृकाम् ।
नि.शेषशब्द-विन्यास-जन्मभूमि जगन्नताम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।१-२

२. द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि ।
भ्रमन्ती चिन्तयेद् ध्यानी प्रतिपत्रम् स्वरावलीम् ॥
चतुर्विशति-पत्राढ्य हृदि कंजं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत् संयमी पचविंशतिम् ॥
ततो वदनराजीवे पत्राष्टक विभूषिते ।
परं वर्णाष्टक ध्यायेत्संचरन्त प्रदक्षिणम् ॥ —वही, ३५।३-५

३ ज्ञानार्णव, ३५।६

४. अथ मन्त्रपदाधीश सर्वतत्त्वैकनायकम् ।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यंजनसम्भवम् ॥

कमल की कल्पना करके उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलक, निर्मल चंद्र की किरणो जैसे, आकाशगामी एवं सपूर्ण दिशाओ में व्याप्त 'अर्हँ' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयो मे भ्रमण करते हुए नेत्रपलको पर स्फुरित होते हुए भाल-मण्डल में स्थिर होते हुए तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चद्रमा के साथ स्पर्वा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल मे भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए सम्पूर्ण अवयवो मे व्याप्त कुम्भक के द्वारा इस मंत्रराज का चिन्तन करना चाहिए।[1]

इस प्रकार इस मंत्रराज की स्थापना द्वारा मन को क्रमशः सूक्ष्मता की ओर 'अर्हँ' मत्र पर केंद्रित किया जाता है अर्थात् अलक्ष्य मे अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तरंग मे एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय तथा इद्रिय के अगोचर होती है।[2] इसी ज्योति का नाम आत्मज्योति हैं तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव नामक ध्यान में 'ॐ' पद का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का साधक योगी सर्वप्रथम हृदय-कमल मे स्थित कर्णिका मे इस पद की स्थापना करता है तथा वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पचपरमेष्टी के वाचक, मूर्वा मे स्थित चद्रकला से झरनेवाले अमृत के रस से सरावोर महामत्र प्रणव 'ॐ' कुम्भक करके ध्यान किया जाता है।[3] इसकी विशेषता यह है कि

ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं विन्दुलाञ्छितम्।
अनाहतयुत तत्त्व मत्रराजं प्रचक्षते ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।७-८

१. योगशास्त्र, ८।१८-२२, ज्ञानार्णव, ३५।१० व १६-१९

२. ततः प्रच्याव्य लक्ष्येभ्य अलक्ष्ये निश्चल मनः।
दधतो ऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।३०

३ (क) तथाहृत्पद्ममध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वर व्यंजन-सवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥
मूर्ध-सस्थित-शीतांशु कलामृतरस-प्लुतम्।
कुम्भकेन महामंत्रं प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥—योगशास्त्र, ८।२९-३०,
(ख) देखें, ज्ञानार्णव, ३५।३३-३५

यह स्तम्भन कार्य मे पीत, वशीकरण में लाल, शोभित अवस्था में मू गे के समान, द्वेष मे कृष्ण, कर्मनाशक अवस्था मे चंद्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है।[1] इस प्रकार यह प्रणव-ध्यान पद से बने 'ॐ' शब्द का होता है, जिसको लक्ष्य करके साधक आत्मविकास की ओर बढता है। इस ध्यान से अनेक प्रकार की शक्तियो एव आत्मबल की वृद्धि होती है और साथ ही कर्मक्षय भी होता है।

पचमरमेष्ठी नामक ध्यान में प्रथम हृदय मे आठ पंखुडीवाले कमल की स्थापना करके कणिका के मध्य मे 'सप्ताक्षर अरहताण' पद का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् चारो दिशाओं में चार पत्रो पर क्रमश 'णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाण तथा णमो लोए सव्वसाहूण' का ध्यान किया जाता है तथा चार विदिशाओ के पत्रो पर क्रमशः 'एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो, मगलाण च सव्वेसि पढमं हवइ मंगल' का ध्यान किया जाता है।[2] शुभचद्र के मतानुसार पूर्वादि चार दिशाओ मे तो णमो अरहंताणं आदि का तथा चार विदिशाओ क्रमश. 'सम्यग्दर्शनाय नम', सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक्चारित्राय नमः तथा सम्यक् तपसे नमः' का स्मरण किया जाता हैं।[3] साधक इन्ही पर अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को एकाग्र करके आत्म सिद्धि मे सलग्न होता है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मत्र हैं, जिनका नित्य जप करने से मनोव्याधियो की शान्ति होती है, कष्टो का परिहार होता है तथा कर्मो का आस्रव रुक जाता है। सोलह अक्षरो से युक्त मत्र को षोडशाक्षर-

---

१ पीतंस्तम्भेऽरुण वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ —योगशास्त्र, ८।३१

२ अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकाया कृतस्थितिम् ।
आद्य सप्ताक्षर मन्त्रं पवित्र चिन्तयेत्तत. ॥
सिद्धादिक-चतुष्क च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम् ।
चूलापाद-चतुष्क च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥ —वही, ८।३३-३४

३. दिग्दलेषु ततो न्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकचतुष्क च दृष्टिबोधादिक तथा ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।४२

विद्या कहा है, क्योंकि यह पंचपदों तथा पंचपरमेष्ठी के नाम से बना है। षोडशाक्षर मंत्र है—'अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः'। छः अक्षर का जप है—'अरिहंत सिद्ध'। चार अक्षरवाला है—'अरिहंत'। दो अक्षरों का है 'सिद्ध' एवं एक अक्षर का है 'अ'।[1] इन मंत्रों का जप पवित्र मन से करना चाहिए, क्योंकि समस्त कर्मों को दग्ध करने की शक्ति प्राप्त होती है। इसी तरह 'ॐ, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः' 'असिआउसा नमः' इस पंचाक्षरमयी विद्या का जप करने से साधक संसार के बंधन अर्थात् कर्मग्रंथियों को तोड़ देता है[2] और एकाग्रचित्त से मंगल, उत्तम और शरण पदों का जप करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।[3] 'क्ष्वीं' विद्या का जप करने का भी विधान है, जिसे भाल-प्रदेश पर स्थिर करके एकाग्र मन से चिन्तन-मनन करने से कल्याण होता है।[4] इस प्रकार साधक को कभी ललाट पर 'क्ष्वीं' विद्या का, तो नासाग्र पर प्रणव ॐ का तथा कभी शून्य अथवा अनाहत[5] का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के ध्यान से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्मल ज्ञान का उदय होता है।[6]

इस प्रकार पदस्थ ध्यान मे चित्त को स्थिर करने के लिए पदों (बीजाक्षरों, मंत्राक्षरों) का आलम्बन लिया जाता है, और आत्मसमीप

---

१ वही, ३५।५०-५४

२ पंचवर्णमयी पंचतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात्।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥ —योगशास्त्र, ८।४१

३ मंगलोत्तम-शरण-पदान्यव्यग्र-मानसः।
चतुश्रमाश्रमाण्येव स्मरन् मोक्षम् प्रपद्यते ॥ —वही, ८।४२

४. विद्यां क्ष्वीं इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारकम्। —वही, ८।५७

५ अनाहत शब्द ९ अक्षरों से मिलकर बना हुआ है—यथा (१) ॐकार, (२) अनुस्वार, (३) ईकार, (४) ऊर्ध्वरेफ, (५) हकार, (६) हकार, (७) निम्न रेफ, (८) अनुस्वार और (९) ईकार।
ॐबिन्द्वाकारहरोर्ध्वा रेफबिन्द्वानवाक्षरम्।
भालाधः स्यन्दि पीयूषबिन्दु विदुरनाहतम् ॥ —ज्ञानार्णव, पृ० २

६. नासाग्रे प्रणवः शून्यमनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टकं लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ॥ —योगशास्त्र, ८।६०

ले जानेवाली जपविधियो का अभ्यास किया जाता है। जपविधियो से विभिन्न लब्धियां भी प्राप्त होती हैं, जिनसे साधक को दूर रहना चाहिए, क्योकि उनका लक्ष्य चित्त को शुद्ध और एकाग्र करना है, न कि जादू-टोना करना। वस्तुत. योगी सांसारिक प्रपंचो से रहित होता है, इसलिए उसके ध्यान की शुद्धि अवश्य होती है। लेकिन जो रागद्वेपादि से मोहित होकर उसे दूर करने के विचार से ध्यान करता है, उसको सिद्धियाँ प्राप्त नही होती।[1] इस ध्यान के द्वारा योगी इन्द्रियलोलुपता से रहित स्थिर-मन, निरोग, उदारअन्त करण, शरीर से गधयुक्त मलमूत्रादि कम करने वाला तथा मितभाषी होता है।[2]

(३) **रूपस्थ ध्यान**—इस ध्यान मे साधक अपने मन को तीर्थंकर अथवा सर्वज्ञदेव पर केन्द्रित करता है अर्थात् तीर्थंकर के गुणो एव आदर्शो को अपने समक्ष लाता है अथवा उन्हे अपने मे आरोपित करके मन को स्थिर करता है। अरहत भगवान् के स्वरूप का अवलम्वन करके किया जानेवाला ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है।[3]

रूपस्थ ध्यान का साधक रागद्वेषादि विकारो से रहित, शान्त-कान्तादि समस्त गुणों से युक्त, तथा योगमुद्रा बहाने वाला, अतिशय गुणो से युक्त जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का निर्मल चित्त-से ध्यान करनेवाला होता है।[4] ऐसा योगी वीतराग होकर कर्मों से मुक्त होता है, अन्यथा रागी का ध्यान करने से वह स्वयं रागी बन जाता है,[5] क्योकि आत्मा

---

१. वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुव मुने.।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्तस्येह देहिन.॥ —ज्ञानार्णव, ३५।११५

२. अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३८।१३ (१)

३. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। —योगशास्त्र, ९।७

४. योगशास्त्र, ९।८-१०; ज्ञानार्णव, अध्याय ३६

५. वीतरागो विमुच्येत वीतराग विचिन्तयन्।
रागिण तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत्। —योगशास्त्र, ९।१३

के परिणाम जिन-जिन भावो से युक्त होते हैं, उन्ही के अनुरूप वे परिणत हो जाते हैं।[1]

(४) रूपातीत ध्यान—रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप-रंग से अतीत निरंजन, निराकार, ज्ञानशरीरी आनन्दस्वरूप स्मरण करना।[2] इस अवस्था मे ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं। अतः इस अवस्था को समरसीभाव भी कहा गया है।[3]

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमश: शरीर, अक्षर, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है; क्योकि स्थूल ध्येयो के बाद क्रमश: सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन मे स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय मे कोई अन्तर नही रह जाता।

धर्मध्यान के इन भेद-प्रभेदो के माध्यम से योगी ध्यान की स्थिरता को प्राप्त करने मे समर्थ होता है और उसका चित्त किसी एक ही ध्येय मे केन्द्रित हो जाता है। वैसी स्थिति मे योगी शरीरादिक परिग्रहो एवं इन्द्रियादिक विषयो से सर्वथा निवृत्त हो जाता है और एकाग्र होकर आत्मा में अवस्थित हो जाता है।[4] अर्थात् धर्मध्यान मे योगी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके बाह्य वस्तु का आलम्बन लेकर आत्म-समीपस्थ होने के लिए प्रयत्नशील होता है। लेकिन यह ध्यान सभी मनुष्य नही कर सकते, अपितु वे ही (योगी) कर सकते हैं जो भले ही प्राणों का त्याग करना पडे, लेकिन सयम से च्युत न हो, अन्य जीवो के सुख-दु:ख को अपने सुख-दु:ख जैसा समझें, परीषह-जयी हो, मुमुक्षु हो, राग-द्वेषादि कषायो-दुष्प्रवृत्तियो एव कामवासनाओ से मुक्त हो, शत्रु-मित्र,

---

१. येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः। —वही, ९।१४

२ (क) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते॥ —ज्ञानार्णव, ३७।१६

(ख) योगशास्त्र, १०।१

३ योगशास्त्र, १०।३–४

४ अतिक्रम्य शरीरादिसगानात्मन्यवस्थित।
नैवाक्षमनसोर्योग करोत्यैकाग्रता श्रित॥ —ज्ञानार्णव, ३८।९

निन्दा-स्तुति आदि मे समताभाव धारण करनेवाले हो, परोपकारी हों और प्रशस्तवुद्धि हो।[१]

शुक्लध्यान धर्मध्यानपूर्वक ही होता है। इसलिए धर्मध्यान को योगसाधना का प्रथम सोपान माना गया है, क्योकि आत्मा के शुद्ध, ज्ञानस्वरूप को तभी जाना जा सकता है जव योगी कषायो, इन्द्रियादि वासनाओ तथा कर्मों का सर्वथा उपशमन धर्मध्यान द्वारा कर लेता है। अतः धर्मध्यान के अन्तर्गत योगी ध्यान के विभिन्न साधनो जैसे जप, मन्त्र, विद्याओ का सहारा लेकर, व्रतो के सम्यक् आचरण से स्थूल वस्तुओ को ध्यान मे रखते हुए सूक्ष्म तत्व की ओर गति करता है। इस प्रकार धर्मध्यान से मन की स्थिरता, पवित्रता एवं निर्मलता प्राप्त होती है और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि से योगी आत्मा मे तदाकार हो जाता है, जहाँ शुक्लध्यान की स्थिति है। इस दृष्टि से धर्मध्यान आत्मप्राप्ति की भूमिका उपस्थित करता है।

(इ) शुक्लध्यान

'आत्मा की अत्यन्त विशुद्धावस्था को शुक्लध्यान कहा गया है। वस्तुतः इस ध्यान से मन की एकाग्रता के कारण आत्मा मे परम विशुद्धता आती है और कषायो, रागभावो अथवा कर्मो का सर्वथा परिहार हो जाता है। समवायाग के अनुसार श्रुत के आधार से मन की आत्यन्तिक स्थिरता एव योग का निरोध शुक्लध्यान है।[२] स्थानांगसूत्र मे शुक्लध्यान के प्रकार, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षाओ का निरूपण है।[३] शुक्लध्यान कषायो के सर्वथा उपशांत होने पर होता है तथा चित्त, क्रिया और इन्द्रियो से रहित होकर ध्यान-धारणा के विकल्प से भी मुक्त होता है।[४] यह ध्यान धर्मध्यान की भूमिका के बाद प्रारम्भ

१. योगशास्त्र, ७।२–७ २. समवायाग, ४।

३. स्थानाग, अध्ययन ४, सूत्र ६९-७२ (जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित)

४. कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यत पुसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्त निरुक्तिकम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३९।५
निष्क्रियं करणातीत ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुख च यच्चित्त तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।४ (१)

होता है। इस ध्यान की प्रक्रिया के लिए किसी बाह्य ध्येय की अपेक्षा नही होती, क्योकि इस अवस्था तक पहुँचने पर मन इतना स्थिर हो गया होता है कि उसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कुछ भी दिखाई नही देता।

इस ध्यान के चार आलम्बन हैं— क्षमा, मार्दव, आर्जव एव मुक्ति।[1]

शुक्लध्यान मुक्ति-प्राप्ति का सेतु है, इसलिए योगी को रूपातीत एव निराकार आत्मा का ध्यान करने के लिए कहा गया है।[2] यह ध्यान करने मे वे ही समर्थ हैं, जिन्होने समताभाव[3] की वृद्धि कर ली है और जो वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले अर्थात् स्वस्थ शरीरवाले एव श्रुतधारी योगी हैं।[4]

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं[5]—(अ) पृथकत्वश्रुत सविचार, (आ) एकत्व श्रुतअविचार, (इ) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और (ई) उत्सन्न-क्रिया-प्रतिपति। इन चार प्रकारो मे योग की अपेक्षा से जीव की तरतमता दर्शित है, क्योकि जीव सम्पूर्ण योग का निरोध एकसाथ नही कर सकता, धीरे-धीरे क्रमश करता है। अत प्रथम दो प्रकार छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियो के लिए विहित हैं, क्योकि उनमे श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थो का अवलम्बन होता है तथा शेष दो प्रकार कषायो से पूर्णत रहित होने के कारण केवलज्ञानी के लिए निर्देशित हैं, क्योकि यह ध्यान पूर्णत. सर्वज्ञ

---

१ (क) अहखंति-मद्दव-ऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ।
आलवणाइं जेहिं सुक्कज्झाण समारुहइ ॥
—ध्यानशतक, ६९, भगवतीशतक, २५।७

(ख) खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे। —स्थानाग, अध्ययन ४

२ मुक्ति श्रीपरमानदध्यानेनानेन योगिना।
रूपातीत निराकारं ध्यानं ध्येयं ततोऽनिश ॥ —योगप्रदीप, १०७

३ एएया पगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति।
तत्तो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चैव ॥ —योगशतक, ९०

४. इदमादि-महनना एवाल्ं पूर्ववेदिनः कर्तुम्।
स्थिरता न याति चित्त कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ॥ —योगशास्त्र, ११।२

५ ज्ञेय नानात्वश्रुतविचारमैक्य-श्रुताविचारं च।
सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियामिति भेदैश्चतुर्धा-तत्। —योगशास्त्र, ११।५

के ही निरालम्बपूर्वक होता है।[१] इस सन्दर्भ मे अनेकपन अर्थात् विभिन्नता को पृथकत्व कहा गया है तथा शास्त्रविहित ज्ञान को वितर्क, अर्थ-व्यञ्जन एव योग के संक्रमण को विचार कहा है।[२] प्रथम दो ध्यानो में श्रुत का अवलम्बन होने के कारण साधक का मन एक ही आलम्बन में स्थिर होते हुए भी, अर्थ-व्यञ्जनादि से संक्रमित होता रहता है। यहाँ एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ मे स्थिर होना अर्थसङ्क्रान्ति और एक व्यञ्जन से दूसरे व्यजन मे स्थिर होना व्यंजनसक्राति तथा उसी प्रकार एक योग से दूसरे योग मे गमन करना योग-सक्रांति है।[३] इस प्रकार प्रथम दो ध्यानो मे एक अर्थ से दूसरे अर्थ मे, एक शब्द से दूसरे शब्द में और एक योग से दूसरे योग मे आश्रय लेकर चिन्तन किया जाता है, यद्यपि तीनो के चिन्तन करने का विषय एक ही होता है।

(अ) पृथकत्व-श्रुत-सविचार (पृथकत्व-वितर्कसविचार)—इस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप से श्रुत का विचार होता है अर्थात् किसी एक द्रव्य में उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य आदि पर्यायो का चिन्तन श्रुत का आधार लेकर करना पृथकत्व-वितर्क सविचार ध्यान है।[४] इस ध्यान मे अर्थ-व्यञ्जन (शब्द) तथा योग का संक्रमण होता रहता है।[५] उस समय ध्याता कभी तो अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का चिन्तन करने लगता है और कभी शब्द का चितन करते-करते अर्थ का। इस प्रकार मन, वचन एव काय रूप योग मे भी कभी मनोयोग से काययोग या वचनयोग मे, वचनयोग से

---

१ छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे शुक्ले परिकीर्तिते।
द्वे चान्ते क्षीणदोपाणा केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥
श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य नि शेषालम्बनच्युते ॥—ज्ञानार्णव, ३९।६-७

२. पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कं श्रुतमुच्यते।
अर्थव्यञ्जनयोगाना वीचारः सक्रम. स्मृत ॥—वही, ३९।१४

३. ज्ञानार्णव, ४२।१५-१६

४ एकत्रपर्यायाणा विविधनयानुसरणं श्रुताद्द्रव्ये।
अर्थव्यञ्जन-योगान्तरेषु सक्रमण-युक्तमाद्य तत् ॥ —योगशास्त्र, ११।६,
तथा ध्यानशतक, ७७-७८

५. अध्यात्मसार, ५।७४-६७

काययोग अथवा मनोयोग में, काययोग से मनोयोग या वचनयोग मे सक्रमण होता रहता है। अत अर्थ-शब्द-योग की दृष्टि से, संक्रमण होने पर भी, ध्येय एक ही रहता है और मन की स्थिरता भी बनी रहती है। कहा है कि जब तक इन तीनो योगो को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक यह जीव ससार मे ही रहता है[1], श्रुतपूर्वक मन-वचन-कायादि मे विचारो के सक्रमण के कारण जीव ससारी ही रहता है, फिर भी पूर्ववर्ती ध्यानों की अपेक्षा मन की स्थिरता तथा समताभाव की वृद्धि इस ध्यान मे अधिक होती है। यही कारण है कि योगी मुक्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर जाने के कारण ही इस ध्यान को सविचार-सवितर्क कहा गया है।[2]

(आ) एकत्व-श्रुत अवीचार—इस ध्यान मे श्रुत के आधार पर ही अर्थ-व्यञ्जन-योग के संक्रमण से रहित एक पर्यायविषयक ध्यान किया जाता है।[3] अर्थात् इसमे वितर्क का संक्रमण नही होता और इसके विपरीत एकरूप मे स्थिर होकर चिन्तन किया जाता है। जहाँ पहले प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत योगी का मन अर्थ-व्यञ्जन-योग मे चिन्तन करते हुए एक ही आलम्बन मे उलट-फेर करता रहता है, वहाँ इस ध्यान मे योगी की मन-स्थिरता सबल हो जाती है, आलम्बन का उलट-फेर बन्द हो जाता है तथा एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायो के विपरीत एक ही पर्याय को ध्येय बना लिया जाता है। अत जिसने प्रथम ध्यान द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, जिसके समस्त कषाय शात हो गये हैं तथा जो कर्मरज को सर्वथा नष्ट करने के लिए तत्पर है—ऐसा साधक ही इस

---

१ स्वबुद्ध्या यावद्गृण्हीयात् कायवाक्चेतसा त्रयम्।
ससारस्तावदेतेपा भेदाभ्यासे तु निर्वृति ॥ —समाधितंत्र, ६२

२ शब्दाच्छब्दान्तर यायाद्योग योगान्तरादपि।
सवीचारमिद तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥

—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।१९(२)

३. (क) एव श्रुतानुसारादेवक्त्व-वितर्कमेक-पर्याये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसक्रमणमन्यत्तु ॥ —योगशास्त्र, ११।७

(ख) ध्यानशतक, ७९-८०

द्वितीय ध्यान के योग्य होता है।[१] फलत. इस ध्यान की सिद्धि होने के बाद सदा के लिए घातिया कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) विनष्ट हो जाते हैं।[२] अर्थात् इस द्वितीय ध्यान का योगी आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था अर्थात् केवलदर्शन एवं केवलज्ञान प्राप्त करता है।[३] अत उस योगी को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत दीखने लगता है,[४] क्योंकि केवलज्ञान मे इतनी शक्ति होती है कि समस्त ससार की भूत, भविष्यत् एव वर्तमान तीनो कालो की घटनाओं का युगपत ज्ञान होता है। उसे अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि की भी प्राप्ति सहज हो जाती है।[५] पृथ्वीतल के समस्त जीव केवलज्ञानी को नमस्कार करते हैं, उनके धर्म-प्रवचनो को सभी प्राणी अपनी भाषा मे समझते हैं, वे जहाँ भी घूमते हैं वहाँ किसी भी प्रकार की महामारी अथवा दुर्भिक्ष वगैरह नही होते। ऐसे केवललब्धि-प्राप्त तीर्थङ्कर से सहज स्व-पर कल्याण होता है। तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय के कारण उन्हे अनेक देव-देवाङ्गनाएँ आकर बन्दना करने लगते हैं, उनके उपदेश श्रवण के लिए देवो द्वारा वृहद् समवसरण (सभा मण्डप) की रचना की जाती है, पशु-पक्षी अर्थात् सभी प्राणी अपने वैर-भाव को भूलकर एकत्र बैठने लगते है, तथा सभा-मण्डप के मध्य मे स्थित तीर्थंकर भगवान् चार शरीर के रूप मे दिखाई देने लगते है।[६] यद्यपि इन्हे अन्य प्रकार की

---

१. एव शांतकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः।
एकत्वध्यानयोग्य' स्यात्पृथकत्वेन जिताशयः। —ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।१९ (४)

२. ज्ञानावरणीय दृष्ट्यावरणीयं च मोहनीय च।
विलय प्रयान्ति सहसा सहान्तरायेण कर्माणि ॥ —योगशास्त्र, ११।२२

३. आत्मलाभमथासाद्य शुद्धि चात्यन्तिकी पराम्।
प्राप्नोति केवलज्ञान तथा केवलदर्शनम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३९।२६

४. सम्प्राप्य केवलज्ञानदर्शने दुर्लभे ततो योगी।
जानाति पश्यति तथा लोकालोक यथावस्थम् ॥ —योगशास्त्र, ११।२३

५. अनन्तसुखवीर्यादिभूते स्यादग्रिम पदम्। —ज्ञानार्णव, ३९।२८

६ योगशास्त्र, ११।२४-४४

अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती है, तथापि उन्हे भोगने की इच्छा वे नही करते हैं।

जिन जीवो के तीर्थंकर नामकर्म का उदय नही है; वे भी अपने इस ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं तथा आयुकर्म के नि:शेष होने तक साधारण जीवो को धर्मोपदेश देते हैं और अन्त मे निर्वाण प्राप्त करते हैं।[1] इस प्रकार चाहे तीर्थंकर हो या सामान्यकेवली, जिन्होने योग (मन-वचन-काय) की शुद्धि की है, वे विशुद्ध आत्मा के ध्यान एव चिन्तन द्वारा अनन्त कर्मपुद्गलो को क्षणमात्र मे नष्ट कर देते हैं।[2]

(ई) सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति—अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था मे जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त तक ही अवशिष्ट रहता है और अघातिया कर्मों में अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीनो की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो जाती है तब उन्हे समरूप देने के लिए अथवा समान करने के लिए तीर्थंकर एवं सामान्यकेवली—इन दोनो को समुद्घात की अपेक्षा होती है।[3] यह समुद्घात आठ दण्ड मे होता है। ऐसा करते समय केवली भगवान् तीन समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्ड, कपाट एवं प्रस्तर के रूप में फैला देते हैं तथा चौथे समय मे सम्पूर्ण लोक को व्यापते हैं। लोक मे अपने आत्मप्रदेशो को व्याप्त करके योगी तीनो अघातिया कर्मों (वेदनीय, नाम एव गोत्र) की स्थिति घटाकर आयुकर्म के समान करते हैं। तत्पश्चात् उसी क्रम मे वे आत्मप्रदेश पूर्ववत् शरीर में प्रविष्ट होकर अवस्थित हो जाते हैं। इसी प्रकार समुद्घात की क्रिया पूर्ण होती है।[4]

---

१. तीर्थंकरनामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात्।
उत्पन्न केवल सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम्॥
—योगशास्त्र, ११।४८

२. यतो योग विशुद्धानामनन्त-कर्म-पुद्गला।
प्रणश्यन्ति क्षणार्धेन स्वात्म-ध्यानादि-भावनैं॥
—समाधिमरणात्साहदीपक, १६९

३ यदायुरधिकानि स्यु. कर्माणि परमेष्ठिनः।
समुद्घातविधिं साक्षात् प्रागेवारभते तदा॥—ज्ञानार्णव, ३९-३८

४ वही, ३९।३९-४२; योगशास्त्र, ११।४९-५२

समुद्घात की इस क्रिया के पश्चात् योगी बादर (स्थूल) काययोग का अवलम्बन लेकर बादर मनोयोग एव वचनयोग का निरोध करते हैं। वे सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर बादरकाययोग का निरोध करते हैं। इसके पश्चात् वे सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग तथा वचनयोग का भी निरोध कर डालते हैं। ऐसी अवस्थाओ में जो ध्यान किया जाता है उसे ही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान कहते हैं।[1]

इस ध्यान मे योगी के मोक्षप्राप्ति का समय निकट आ जाने पर तीन योगो मे मनोयोग एवं वचनयोग का पूर्णतः निरोध हो जाता है, लेकिन काययोग मे स्थूल काययोग का निरोध होकर भी केवल सूक्ष्मकाययोग की क्रिया अर्थात् श्वासोच्छ्वास ही शेष रहता है[2]। अतः इस ध्यान मे क्रमश मन, वचन एव काय का निरोध होता है और काययोग के अन्तर्गत केवल श्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशिष्ट रहती है। इस ध्यान की प्राप्ति के बाद योगी अन्य ध्यानो मे नही लौटता और वह अन्तिम समय मे सूक्ष्म क्रिया का भी त्याग करके मुक्ति प्राप्त करता है।[3]

(ई) उत्पन्न क्रियाप्रतिपाति (व्युपरतक्रियानिवृत्ति)—इस ध्यान में उपर्युक्त ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्म क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है तथा अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरो का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है उतने समय मे केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं, जहाँ वे पर्वत की भाँति निश्चल रहते हैं।[4] यह ध्यान

---

१. योगशास्त्र, ११।५३-५५

२. (क) निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति तृतीय कीर्तित शुक्लम् ॥—योगशास्त्र, ११।८

(ख) सूक्ष्मक्रियानिवृत्याख्य, तृतीयं तु जिनस्यतत्।
अर्धरुद्धाङ्गयोगस्य, रुद्धयोगद्वयस्य च ॥
—अध्यात्मसार, ५।७८

३. ध्यानशतक, ८१

४ (क) लघुवर्ण-पंचकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम्।
—योगशास्त्र, ११।५७

चौदहवें अयोगी नामक गुणस्थान मे होता है जिसमे केवली भगवान् उपान्त्य मे ७२ कर्मप्रकृतियों तथा इसी गुणस्थान के अन्त समय की अवशिष्ट १३ कर्मप्रकृतियो को भी नष्ट कर देते हैं।[1] इस प्रकार शेष अघातिया कर्मो का नाश करके केवलीभगवान् इस संसार से पूर्णत· सम्बन्ध तोड लेते हैं और सीधे ऊर्ध्वगमन करके लोक के शिखर पर विराजमान होते हैं, क्योंकि उसके आगे लोकाकाश नही है और न धर्मास्तिकाय ही है, अतः उसके आगे गति नही है।[2] वह सिद्ध परमात्मा लोक के शिखर पर अवस्थित होकर स्वाभाविक अनन्तगुणो के वैभव से परिपूर्ण अनन्तकाल तक रहता है।[3]

(ख) तुरीयतु समुच्छिन्न-क्रियमप्रतिपाति तत् ।
शैलवन्निष्प्रकम्पस्य, शैलेस्या विश्ववेदिनः ॥—अध्यात्मसार, ५।७९.

१. द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा ।
अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जया· ॥
विलयं वीतरागस्य तत्रयान्ति त्रयोदश ।
कर्मप्रकृतय सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥—ज्ञानार्णव, ३९।४७ व ४९

२. ज्ञानार्णव, ३९-५५

३ ज्ञानार्णव, ३९।५८

योग-सिद्धि के लिए आध्यात्मिक विकास अतीव आवश्यक है। व्यावहारिक परिभाषा मे आध्यात्मिक विकास ही चारित्र-विकास है और इस आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास-क्रम मे ही वैराग्य तथा समताभाव का उदय होता है, जो योग का प्रमुख अंग है।[1] यद्यपि आत्मा स्वभावतः शुद्ध है, परन्तु जब वह अविद्या, कर्म अथवा माया के बन्धन मे होती है तब विकृत होकर नाना प्रपंचो अथवा विभिन्न अच्छे-बुरे कर्मों का कारण बन जाती है। अत. आत्मा की परिशुद्धि के लिए आचारसम्बन्धी व्रत-नियमो का पालन आवश्यक होता है, ताकि समस्त कर्ममल का नाश हो सके और नये कर्मो का बधन भी रुक सके। इन्ही अविद्याओ, कर्मों अथवा माया-प्रपंचो को दूर करने और आत्मा को विशुद्ध अवस्था मे लाने का प्रयत्न विभिन्न योग-परम्पराओ का अभीष्ट है; क्योकि विशुद्ध आत्मा ही मोक्ष की अधिकारी है। इस दृष्टि से योग के सन्दर्भ मे आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनो परम्पराओं मे हुआ है।

वैदिक योग और आध्यात्मिक विकास

वैदिक परम्परा के योगविषयक विभिन्न ग्रन्थो में आत्मिक विकास की कई प्रकार की चर्चा मिलती है। इन ग्रन्थो में से योगदर्शन और योगवासिष्ठ मे जीव के आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन सर्वांगीण और समुचित ढग से हुआ है, क्योकि इन ग्रन्थो मे अध्यात्म के साथ-साथ योगविषय का भी समाहार हुआ है। इस दृष्टि से योगदर्शन तथा योगवासिष्ठ मे वर्णित आध्यात्मिक विकासक्रम का दिग्दर्शन कर लेना प्रासगिक होगा।

योगदर्शनानुसार आध्यात्मिक विकास-क्रम मे चित्त की पाँच भूमिकाओ का उल्लेख हुआ है, जिनमें एक के बाद दूसरी अवस्था अथवा

---

१. योगस्य पन्था. परमस्तितिक्षा ततो महत्यात्म-बलस्य पुष्टि'।

—अध्यात्मतत्त्वलोक, ४।११

भूमिका क्रमशः चित्त-शुद्धि की परिधि को बढ़ाती जाती है। वे पाँच भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।[1] इनमे प्रथम तीन भूमिकाएँ अज्ञान अर्थात् अविकास की होने के कारण योगश्रेणी मे परिगणित नही होती, क्योकि क्षिप्तावस्था मे रजोगुण के कारण साधक में चित्त की चंचलता अत्यधिक होती है। मूढावस्था में तमोगुण के कारण कर्तव्याकर्तव्य का विचार नही रहता तथा क्रोध कषाय का प्रावल्य होता है और सत्वगुण के आविर्भाव से किसी-किसी समय स्थिरता को प्राप्त होनेवाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है, जिसमे योग-विघ्नो के कारण चित्त को चंचलता अत्यधिक होती है। अन्तिम दो भूमिकाएँ ही योग-श्रेणी मे योग्य मानी जाती हैं, क्योकि एकाग्र अवस्था मे जहाँ अविद्यादि क्लेश तथा कर्म-बधनो को क्षीण किया जाता है और चित्त को बाह्य वृत्तियो से हटाकर एक ही ध्येय-वस्तु मे एकाग्र किया जाता है, वहाँ निरुद्ध अवस्था में असम्प्रज्ञात समाधि की ओर अभिमुख हुआ जाता है, जहाँ केवल सस्कार ही शेष रह जाते हैं और वृत्तियों का पूर्णत शमन हो जाता है।

अत. प्रथम तीन भूमिकाओ मे साधक केवल चारित्र अथवा आचारादि का पालन करने मे लगा रह जाता है, क्योकि इन अवस्थाओ मे चित्त की अस्थिरता सबसे बडी बाधक होती है। इन भूमिकाओं को अविकसित भूमिकाएँ इसी दृष्टि से कहा गया है। परन्तु एकाग्र और निरुद्ध अवस्था मे योगी अथवा साधक के सस्कार भी नष्ट हो जाते हैं; चित्त-वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और मन एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार इस भूमिका को असम्प्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है और यह कैवल्य के लिए प्रमुख भी मानी जाती है।

योगवासिष्ठ के अनुसार आत्म-विकास को दो श्रेणियाँ हैं—अविकासावस्था एव विकासावस्था।

अविकासावस्था के अन्तर्गत जीव की सात अवस्थाओ का वर्णन हुआ है, जो इस प्रकार हैं—(१) बीजजाग्रत, (२) जाग्रत, (३) महा-

---

१ क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।

—योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।१

जाग्रत, (४) जाग्रत-स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न-जाग्रत और (७) सुषुप्ति।[१]

(१) **बीजजाग्रत**—सृष्टि के आदि में चिति का नामरहित और निर्मल चिंतन, क्योकि इसमे जाग्रत अवस्था का अनुभव बीजरूप से रहता है।

(२) **जाग्रत**—परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न जीव का ज्ञान, जिसमे पूर्व-काल की कोई स्मृति नही होती।

(३) **महाजाग्रत**—पहले जन्मो मे उदित और दृढता को प्राप्त ज्ञान।

(४) **जाग्रत-स्वप्न**—यह ज्ञान भ्रम की कोटि में आता है, क्योकि इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत दशा में होता है और इस ज्ञान के द्वारा जीव कल्पना को भी सत्य मान बैठता है।

(५) **स्वप्न**—महाजाग्रत अवस्था के भीतर निद्रावस्था में अनुभूत विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का ज्ञान हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिए ही हुआ था।

(६) **स्वप्न-जाग्रत**—इस अवस्था मे अधिक समय तक जाग्रत अवस्था के स्थूल विषयो का और स्थूल देह का अनुभव नही होता और स्वप्न ही जाग्रत के समान होकर महाजाग्रत-सा प्रतीत होता है।

(७) **सुषुप्ति**—पूर्वोक्त अवस्थाओ से रहित, भविष्य मे दु:ख देनेवाली वासनाओ से युक्त जीव की अचेतन स्थिति।[२]

इनमे प्रथम दो अवस्थाओ अथवा भूमिकाओ मे रागद्वेषादि कषाय का अल्प अश होने के कारण वनस्पति एवं पशु-पक्षी मे होती हैं, लेकिन

---

१. तत्रारोपितमज्ञान तस्य भूमीरिमाः शृणु ।
बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च ॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्न स्वप्नजाग्रतसुषुप्तकम् ।
इति सप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम् ॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११७।११-१२

२. वही, ३।११७, १४-२४, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० २३४-३६

आगे की ओर सभी भूमिकाओ में कषायों की अत्यधिकता होती है, अतः वे भूमिकाएँ मनुष्य की ही हैं; क्योंकि क्रोध, मान, माया आदि की तीव्रता मनुष्य में ही पायी जाती है। इस प्रकार प्रथम भूमिका मे जितनी अज्ञानता होती है, उसकी परवर्ती अवस्थाओ मे उतनी अज्ञानता नही रहती। फिर भी ये सात भूमिकाएँ अज्ञानावस्था की ही कही जाती हैं, क्योकि भले-बुरे का ज्ञान उनमे नही हो पाता।

विकसित अवस्था—इस अवस्था मे पहले की अपेक्षा विवेक-शक्ति की उपस्थिति के कारण साधक का मन आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानने के लिए उत्सुक रहता है, जिससे कि वह बुरे विचारो को त्याग कर आत्मा के समीप ले जानेवाले प्रशस्त विचारों को लगन के साथ ग्रहण कर सके। इस संदर्भ मे आत्मा को बोध देनेवाली ज्ञान की सात भूमिकाओ का उल्लेख हुआ है, जो क्रमशः स्थूल आलम्बन से हटाकर साधक को सूक्ष्म की ओर ले जाती है, जहाँ मोक्ष की स्थिति है। यद्यपि मोक्ष और सत्य का ज्ञान दोनो पर्यायवाची है, क्योकि जिसको सत्य का ज्ञान हो जाता है, वह जीव फिर जन्म नही लेता।

योगस्थित ज्ञान की सात भूमिकाएँ[१] इस प्रकार हैं—

(१) **शुभेच्छा**—वैराग्य उत्पन्न होने पर साधक के मन मे अज्ञान को दूर करने और शास्त्र एवं सज्जनो की सहायता से सत्य को प्राप्त करने की इच्छा का उत्पन्न होना।

(२) **विचारणा**—शास्त्राध्ययन, सत्सग, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की प्रवृत्ति पैदा होना।

(३) **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इद्रिय-विषयो के प्रति असक्तता होने से मन की स्थूलता का ह्रास होना।

(४) **सत्वापत्ति**—पूर्वोक्त तीनो भूमिकाओ के अभ्यास और विषयो की विरक्ति से आत्मा मे चित्त की स्थिरता प्राप्त होना।

---

१. ज्ञानभूमि: शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽससक्ति नामिका।
पदार्थ-भावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११८।५-६

(५) असंसक्ति—इस भूमिका मे पूर्वोक्त अवस्थाओ के अभ्यास तथा सासारिक विषयो मे असंसक्ति होने से, सत्ता के प्रकाश मे मन स्थिर हो जाता है और साधक आत्मा मे ध्यानस्थ होने को उत्सुक हो जाता है।

(६) पदार्थभावनी—इस भूमिका में साधक पूर्वोक्त भूमिकाओ के अभ्यास से आत्मा मे मन को दृढ कर लेता है और समस्त वाह्य पदार्थों की ओर से विमुख हो जाता है। ऐसी अवस्था मे साधक को वाहरी सभी पदार्थ असत्य प्रतीत होने लगते हैं।

(७) तुर्यगा—पूर्वोक्त छह भूमिकाओ के सतत अभ्यास के कारण साधक को जब भेद मे भी अभेद की प्रतीति होने लगती है और जब वह आत्मभाव मे अविचलित रूप से स्थिर हो जाता है तो ऐसी स्थिति को तुर्यगा कहते हैं।[१] इसे जीवनमुक्ति अवस्था भी कहते हैं। ध्यातव्य है कि विदेहमुक्ति तुर्यगा अवस्था से भिन्न है, एक नही। जैन योग में इसी अवस्था से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धयोग और अध्यात्म-विकास

वैदिक-योग की ही भाँति बौद्ध-योग मे भी आध्यात्मिक विकास की भूमिका को चित्तशुद्धि की साधना के लिए अनिवार्य माना गया है, क्योंकि इस विकास की भूमिका नैतिक आचार-विचार के द्वारा चारित्र को विकसित और सशक्त बनाती है और चारित्र ही आध्यात्मिक विकास की रीढ है। वताया गया है कि साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा[२] इन पाँच साधनो के सम्यक्-परिपालन द्वारा अपने चारित्रिक गठन और विकास के माध्यम से विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, जो निर्वाण की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे निर्वाण अथवा विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति की क्रमशः छह अथवा सात स्थितियो का विधान किया गया है, जिनसे आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ये आध्यात्मिक विकास की स्थितियाँ हैं—(१) अन्धपुथुजन, (२) कल्याण पुथुजन, (३) सोतापन्न, (४) सकदागामी, (५) औपपातिक

१. योगवासिष्ठ, ३।११८।७-१६; योगवासिष्ठ एव उसके सिद्धान्त, पृ. ४५२
२. मिलिन्दप्रश्न, २।१।८

तथा (६) अरहा।[1] इनको पार करता हुआ साधक अपने चारित्रबल से सयम, करुणा एवं वैराग्य प्राप्त करता है। इन स्थितियो अथवा अवस्थाओं को और अधिक स्पष्ट करते हुए मिलिन्दप्रश्न मे चित्त की सात अवस्थाओ का वर्णन है[2] जो इस प्रकार है—

(१) **संक्लेशचित्त**—यह स्थिति अज्ञान अथवा मूढ़ता की है, क्योंकि इस अवस्था मे योगी का चित्त राग-द्वेष, मोह एवं क्लेश से युक्त होता है तथा वह शरीर, शील एवं प्रज्ञा की भावना अर्थात् चिन्तन भी नहीं करता।

(२) **स्रोतआपन्नचित्त**—यह भी अविकास की ही अवस्था है। इस स्थिति में साधक बुद्धकथित मार्ग को भलीभांति जानकर, शास्त्र का अच्छी तरह मनन और चिन्तन करके भी चित्त के तीन भ्रममूलक विषयो अर्थात् संयोजनाओ[3] को ही नष्ट कर पाता है, सम्पूर्ण सयोजनाओ को नही।

(३) **सकृदागामीचित्त**—इस अवस्था मे साधक पाँच संयोजनाओ से मुक्त होता है और उसमें रागद्वेष नाममात्र का रह जाता है।

(४) **अनागामी चित्त**—इस अवस्था मे शेष पाँच संयोजनाओ को साधक काटता है और चित्त दस स्थानों में हलका और तेज हो जाता है। फिर भी ऊपर की पांच सयोजनाओ मे उसका चित्त भारी और मन्द बना ही रहता है।

(५) **अर्हत्चित्त**—इस अवस्था मे योगी के सभी आस्रव, क्लेश सर्वथा क्षीण हो जाते हैं और वह ब्रह्मचर्यावास को पूरा करके सभी प्रकार के भवपाशो का व्युच्छेद कर डालता है। फलस्वरूप उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल बन जाता है। ध्यातव्य है कि इस अवस्था मे चित्त की

---

१. मज्झिमनिकाय, १।१

२. मिलिन्दप्रश्न, ४।१।३

३. ये दस सयोजनाएँ अर्थात् बन्धन के कारण इस तरह हैं—

(१) सक्कायदिट्ठि, (२) विचिकिच्छा, (३) सीलब्बत्त पराभास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्धव (१०) अविज्जा। —विशुद्धिमार्ग, भा० २, परिच्छेद २२, पृ० २७१

शुद्धि हो जाती है, लेकिन प्रत्येकबुद्ध की भूमियो में भारी एवं मन्द होता है। अर्थात् सम्पूर्ण चित्तशुद्धि नही होती।

(६) **प्रत्येकबुद्ध का चित्त**–इस अवस्था मे साधक स्वय अपना स्वामी होता है और उसे किसी भी आचार्य अथवा गुरु की अपेक्षा नही रहती है तथा उसका चित्त अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध होता है।

(७) **सम्यक्सम्बुद्ध का चित्त**—यह अवस्था सर्वज्ञ की है, जो दस व्रतो की धारणा करनेवाले, चार प्रकार के वैशारद्यो से युक्त तथा अठारह बुद्ध धर्मो से युक्त होते हैं और जिन्होने इन्द्रियों को सर्वथा जीत लिया है। यह अवस्था पूर्णतः अचल और शांत होती है।

इस सन्दर्भ मे महायान विचारधारा के अनुसार क्रमश. दस भूमिकाओ अथवा अवस्थाओ का उल्लेख किया गया है। वे भूमिकाये इस प्रकार हैं[1]–(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मती (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुखी, (७) दूरगमा, (८) अचला, (९) साधुमती एवं (१०) धर्ममेघा।

(१) **प्रमुदिता**—इस स्थिति में साधक जगत् के उद्धार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होने पर चित्त मे वैसी वोधि के लिए सकल्प करता है और उससे प्रमुदित होता है।

(२) **विमला**—इस स्थिति मे दूसरे प्राणियो को उन्मार्ग से निवृत्त करने के लिए स्वय शाधक को ही हिंसाविरमणशील का आचरण करके दृष्टान्त उपस्थित करना होता है।

(३) **प्रभाकरी**—इसके अन्तर्गत आठ ध्यान और मैत्री आदि चार ब्रह्म-विहार की भावनाएँ करने का विधान है और साथ ही पहले के किये हुए संकल्प के अनुसार अन्य प्राणियो को दुःखमुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

(४) **अर्चिष्मती**—प्राप्त गुणो को स्थिर करने, नये गुण प्राप्त करने और किसी भी प्रकार के दोष का सेवन न करने मे जितनी वीर्य पारमिता सिद्ध हो उतनी अर्चिष्मती भूमिका प्राप्त होती है।

(५) **सुदुर्जया**—ऐसी ध्यान पारमिता की प्राप्ति को कहते हैं, जिसमे

---

१. प्रज्ञापारमिता, पृ० ९५-१००

करुणावृत्ति विशेष का अभिवर्द्धन और चार आर्यसत्यों का स्पष्ट भान हो।

(६) अभिमुखी—इसमे महाकरुणा द्वारा बोधिसत्व से आगे बढ़कर अर्हत्व प्राप्त किया जाता है और दस पारमिताओ मे से विशेष रूप से प्रज्ञा-पारमिता साधनी पडती है।

(७) दूरंगमा—दसों पारमिताओं को पूर्ण रूप से साधने पर उत्पन्न होनेवाली स्थिति।

(८) अचला—इस स्थिति मे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक चिन्ताओ से मुक्त होना पड़ता है, सांसारिक प्रश्नो का स्पष्ट एवं क्रमबद्ध ज्ञान रखना पडता है और उनसे किसी भी प्रकार विचलित न होने की संभावना रहती है।

(९) साधुमती—प्रत्येक जीव के मार्गदर्शन के लिए (योगी को) उस जीव का अधिकार जानने की सम्पूर्ण शक्ति जब प्राप्त होती है तब वह भूमिका साधुमती कहलाती है।

(१०) धर्ममेघा—सर्वज्ञत्व प्राप्त होने पर धर्ममेघा की भूमिका प्राप्त होती है। महायान की दृष्टि से इसी भूमिका पर पहुँचे साधक को तथागत कहा जाता है।

इस प्रकार बौद्ध-योग के अन्तर्गत आध्यात्मिक विकास को अज्ञानावस्था के क्रमिक ह्रास के सन्दर्भ में देखा जा सकता है, क्योकि अज्ञानावस्था को त्यागकर ही ज्ञान प्राप्ति सम्भव है, जो निर्वाण-प्राप्ति का अभीष्ट है।

जैन-योग और अध्यात्म-विकास

जैन योग की आधारशिला आत्मवाद है और आत्म-विकास की पूर्णता मोक्ष है। आत्मशक्ति का विकास ही जैन-साधना-पद्धति का फलित है। इस विकासावस्था मे जीव का उत्थान-पतन होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की इस विकसित तथा अविकसित अवस्था को ही जैनयोग मे गुणस्थान कहा गया है और क्रमशः गुणस्थानो पर चढना ही आत्मविकास की ओर बढ़ना है। संसार मे ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो सर्वथा अविकसित हो। विकास की कुछ न कुछ किरण हर आत्मा में विद्यमान रहती है, भले ही वह एकेन्द्रिय हो अथवा अभव्य। इस प्रकार

संसारी जीवो मे इन्द्रिय-सत्ता की विद्यमानता के कारण गुणस्थान का प्रारम्भ-विन्दु वही है। शरीरधारी जीवो में ऐसा कोई वर्ग नहीं है जो गुणस्थान से वाहर हो। क्षयोपशमता के कारण विकासावस्था मे उत्थान-पतन के क्रमों को पार कर अत मे जीव कर्मो का सपूर्ण क्षय करके निर्मल स्थिति को प्राप्त करता है। इन क्रम-प्राप्त अवस्थाओ को ही गुण-स्थान कहते हैं। दूसरे शब्दो मे इसी क्रमिक विकास का पारिभाषिक नाम 'गुणस्थान' है। गुणस्थान का अर्थ ही गुणों के स्थान अर्थात् आत्मशक्ति के स्थान अथवा आत्मविकास की अवस्थाएँ हैं।[1]

कर्म

आत्मविकास की इस भूमिका मे कर्म का स्थान प्रमुख है, क्योंकि संसार-बन्धन या परिभ्रमण का मुख्य कारण कर्म है। जो जीव इस संसार मे हैं, उनके परिणाम रागद्वेषरूप होते हैं, परिणामो से कर्म बँधते है, कर्मो से अनेक गतियो मे जन्म-मरण होता है। फलस्वरूप शरीर प्राप्त होता है। शरीर मे इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियो से विषय ग्रहण और विषयो के कारण रागद्वेष रूपी कर्मो की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार जीव संसार मे अपने ही कर्मों द्वारा शुभ-अशुभ कर्मो को उत्पन्न करता और उन्हे खुद ही भोगता है।[3]

कर्म के वीज राग और द्वेष हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है।[4] यह जीव द्वारा किये जाने के कारण कर्म कहलाता है।[5] संक्षेप मे कर्म के आठ भेद हैं–

---

१. स्थानाग-समवायाग, पृ० ९८

२. जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा॥
—पचास्तिकाय, १२८-१२९

३. (क) अशुभं वा शुभ वापि स्वस्वकर्मफलोदयम्।
भुजानां हि जीवाना हर्ता कर्ता न कश्चन्॥ —योगशास्त्र, १६०

४. उत्तराध्ययन, ३२।७

५ कीरह जिएण हेऊहिं-जेण तो भण्णए कम्म। —प्रथम कर्मग्रथ, १

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1] इनमे प्रथम चार कर्मों को घातिया कर्म कहते हैं, क्योकि ये आत्मा के गुणों का घात करते हैं। शेष चार कर्म अघातिया है, क्योकि ये आत्मस्वरूप का घात नहीं करते।[2] इन आठ कर्मों का प्रभाव आत्मा के ऊपर रहता है। इस का कारण मोह की प्रधानता है। जब तक मोहनीय कर्म बलवान और तीव्र रहता है, तब तक अन्य सभी कर्मों का बन्धन बलवान और तीव्र रहता है। अतः आत्मा के विकास की भूमिका मे प्रमुख बाधक मोहनीय कर्म की प्रबलता है। इस प्रकार गुणस्थानो की विकास-क्रमगत अवस्थाओ की कल्पना, मोहशक्ति की उत्कटता, मदता तथा अभाव पर अवलम्बित है।[3]

आत्मा और कर्म का सबध अनादिकालीन है, फिर भी दोनो के स्वभाव एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।[4] कर्म कर्ता के अर्थात् जीव के पीछे-पीछे चलते हैं[5] और कर्म-पुद्गलों का स्वभाव है आत्मा के साथ चिपकना एवं अलग होना।[6] आत्मा को कर्म से विमुक्ति के लिए मन, वचन तथा काय की चंचलता रूपी योगास्त्र का पूर्णत निरोध करने की अपेक्षा होती है[7] और तीनो योगो का आस्त्रव रुकने पर स्वभावत कर्म का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। कर्म आत्मा से एक बार वियुक्त होने के बाद पुन. आत्मा से नही बंधते हैं,[8] जिस प्रकार पके हुए फल गिर

---

१. (क) ज्ञानादृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदु.।
नामगोत्रान्तरायो च कर्माण्यष्टेति सूरय।—योगसारप्राभृत, २।२४
(ख) उत्तराध्ययन, ३३।२-३

२ पंचाध्यायी, २९८—२९९

३ चौथा कर्मग्रंथ, प्रस्तावना, पृ० ११

४ कम्मं च चित्तपोग्गलरुवं जीवस्सऽणाइसावन्ध। —योगशतक, ५४

५. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। —उत्तराध्ययन, १३।२३

६ तपोग्गलाण तग्गज्झसहावावगमओ य एय ति। —योगशतक, ११

७ यदा निरुद्ध योमास्रवो भवति, तदा जीवकर्मणो पृथक्त्व भवति।
—उत्तराध्ययनचूर्णि, अ० १

८ पक्के फलम्हि पडिए जह ण फल बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई॥ —समयसार, १६८

जानें के बाद पुनः वृक्ष से नहीं जुड़ते। नये कर्मों का आगमन हो सकता है।

कर्मबन्ध की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। कुछ कर्म तीव्र बन्ध वाले होते हैं, कुछ कर्म मध्यम वन्धवाले होते हैं और कुछ कर्म कम बन्ध वाले। कर्मों की ये स्थितियाँ राग एवं मोह की तीव्रता एव मंदता पर निर्भर करती हैं। इस दृष्टि से जीव के भाव विविध परिणामी होते हैं। उनमे कभी राग-द्वेष की मात्रा की न्यूनता होती है तो कभी अधिकता। जीव मे राग-द्वेष की इसी तरतमता को जैन योग में 'लेश्या' कहा गया है। दूसरे शब्दो मे जीव जिसके द्वारा पुण्य तथा पाप में लिप्त होता है अथवा कषायो से अनुरक्त मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति होती है, वह लेश्या कहलाती है।[1] यह दो प्रकार की होती है—द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक होती है और भावलेश्या आत्मगत विशेष परिणामी, जो सक्लेश और योग से अनुगत होती है। यद्यपि संक्लेश की विभिन्न स्थितियो के अनुसार भावलेश्या तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम, मंद, मंदतर, मंदतम आदि अनेक भेदो के अनुसार असंख्य प्रकार की होती है,[2] परन्तु साधारणतः भावलेश्या के छह[3] प्रकार प्रमुख हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म और (६) शुक्ल। इन लेश्याओ के अलग-अलग गुण-स्वभाव होते हैं। कृष्ण लेश्यावाला जीव तीव्रतम कषायी एवं मूढ होता है और उसके क्रोध-मान-मायादि भयकर होते हैं। ऐसे जीव के कर्म-बधन भी तीव्रतम और सघनतम होते हैं। इस लेश्या के बादवाली अन्य लेश्याओ मे क्रमश कषायो की मंदता होती जाती है और अन्तिम शुक्ललेश्या मे कषायो का सर्वथा परिहार हो जाता है। अत ज्यो ज्यो जीव इन लेश्याओं को क्रम क्रम से कम करता हुआ आगे बढता जाता है, त्यो त्यो उसकी आत्मशुद्धि की परिधि बढती जाती है और शुक्ललेश्या मे वह अत्यंत निर्मल होकर

---

१ लिपइ अप्पीकीरइ एदीए णिय अपुण्णपुण्णं च।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड, ४८८

२. दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ० २९७

३. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ, नामाइं तु जहक्कमं ॥ —उत्तराध्ययन, ३४।३

मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मों की न्यूनता अथवा अधिकता का कारण लेश्या है। कर्मों की विविधता का उत्तरदायी भी यही है और लेश्या तथा कर्मों का संबंध बड़ा ही घनिष्ठ है।

इस सदर्भ में सक्षिप्त रूप में यह बता देना समुचित होगा कि महाभारत[1] में वर्णित प्राणिमात्र के वर्णानुसार छह भेद (कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र तथा शुक्ल) तथा योगदर्शनानुसार[2] त्रिविध कर्म (कृष्ण, अशुक्ल-अकृष्ण तथा शुक्ल) प्रकारान्तर से लेश्या का ही विवरण है। यहां भी एक के बाद दूसरी अवस्था श्रेष्ठ एवं सुखकारक मानी गयी है। बौद्धधर्म मे छह प्रकार की अभिजातियों—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल तया परमशुक्ल का निर्देश भी इसी अर्थ में हुआ है।[3]

गुणस्थानों का वर्गीकरण

जैनधर्म के अनुसार आत्मिक विकास की सीढ़ियाँ या गुणस्थान चौदह हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन, (३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत-विरताविरत, (६) प्रमत्तसंयत, (७) अप्रमत्तसयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसांपराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली और (१४) अयोगकेवली।[4] इन चौदह गुणस्थानों मे प्रथम तीन का अन्तर्भाव बहि-

---

१ षड जीववर्णा. परम प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्यमृध्म्।
रक्त पुनः सह्यतरं सुख तु हारिद्रवर्णं सुसुख च शुक्लम्।
—महाभारत, शान्तिपर्व, २८०।३३

२ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। —योगदर्शन, ४।७

३. दीघनिकाय, ३।२५०, लेश्याकोश, पृ० २५४-५७

४. गुणस्थानो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) मिथ्यादृष्टि—इस अवस्था मे दर्शन मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण सम्यक्त्व गुण आवृत होने से तत्त्वरुचि प्रकट नही होती, यह मिथ्यात्व तीन प्रकार का है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

(२) सास्वादन—सम्यक्त्व का क्षणिक आस्वादन होने से ही इस गुणस्थान को सास्वादन अथवा सासादन कहा जाता है। जो जीव सम्यक्त्व-रत्न रूपी

पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्वभाव की ओर मुड़ गया है, परन्तु (सम्यक्त्व के) नष्ट हो जाने पर भी जिसने अभी साक्षात् रूप मे मिथ्यात्व मे प्रवेश नही किया है, वह मध्यवर्ती अवस्था सासादन गुणस्थान है।

(३) सम्यक् मिथ्यादृष्टि—दही और गुड के मेल के स्वाद की तरह सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का मिश्रित भाव। इस गुणस्थान मे आत्मा न तो सत्य का दर्शन करने मे समर्थ होती है, न मिथ्यात्व का ही।

(४) अविरतसम्यक्दृष्टि—इस गुणस्थानवर्ती पुरुष को आत्मचेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योकि कषायो की अनंतानुबंधी का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है। ऐसा व्यक्ति न तो इंद्रिय-विषयो से विरत होता है और न त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा से विरत होता है। केवल तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है।

(५) देशविरत—इस गुणस्थान मे पूर्णत: तो नही, आंशिक रूप से चारित्र का पालन होता है। इसी गुणस्थानवर्ती व्यक्ति को श्रावक कहा जाता है।

(६) प्रमत्तसंयत—इस गुणस्थान मे स्थित साधक महाव्रती हो जाता है, लेकिन प्रमाद आदि दोषो का थोडा-बहुत अश उसमे शेष रह जाता है, इस कारण उसे प्रमत्त संयत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तसंयत—इस अवस्था मे साधक का व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद नि शेष हो गया होता है, फिर भी वह न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है, मात्र आत्मध्यान मे लीन रहता है। यह साधक ग्यारहवें गुणस्थान तक चढकर गिर भी सकता है।

(८) अपूर्वकरण—यह अवस्था आत्मगुण-शुद्धि अथवा लाभ की अवस्था है, क्योकि इस अवस्था मे ही साधक प्रमाद पर विजय प्राप्त चारित्रबल की विशिष्टता प्राप्त करता है। उसकी साधना मे नये नये अपूर्व भाव प्रकट होते हैं।

(९) अनिवृत्तिकरण (निवृत्तिबादर)—इस अवस्था मे साधक चारित्र-मोहनीय कर्म के शेप अशो का उपशमन करता है। इस गुणस्थानवर्ती के निरंतर एक ही परिणाम होता है।

(१०) सूक्ष्म सापराय—साम्पराय का अर्थ कपाय है। इस गुणस्थानवर्ती साधक

रात्मा[1] मे होता है, क्योकि इन अवस्थाओ में जीव विविध कषायो से रंजित रहता है। चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान का अन्तर्भाव अन्तरात्मा मे होता है, क्योकि इन अवस्थाओं में आत्मा का उत्थान-पतन-

---

मे कुसुम्भ के रंग की भाँति सूक्ष्म राग रह जाता है। इन्हें सूक्ष्म कषाय भी कहते हैं।

(११) उपशान्त मोह—इस गुणस्थान मे सम्पूर्ण मोह का उपशम या क्षय हो जाता है, इसलिए इस गुणस्थानवर्ती साधक को उपशातकपाय कहते हैं। लेकिन कभी मोह के उदय से यह साधक सूक्ष्म-सराग दशा मे चला जाता है।

(१२) क्षीणमोह—इस गुणस्थान मे सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है, जिससे नीचे गिरने का कोई भय नहीं रहता। इस गुणस्थानवर्ती को क्षीण-कपाय निर्ग्रन्थ कहते हैं।

(१३) सयोगकेवली—इस गुणस्थान मे सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है, लेकिन इसमे काया की सूक्ष्म क्रिया विद्यमान रहती है। इसे जीवन-मुक्त अवस्था भी कहते हैं।

(१४) अयोगकेवली—इस अन्तिम चौदहवें गुणस्थान मे आत्मा विकास की चरम अवस्था पर पहुँच जाती है, क्योकि इस अवस्था मे शारीरिक, मानसिक एव वाचिक प्रवृत्तियो का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऊर्ध्वस्वभाव वाला यह अयोगी केवली या परम शुद्ध आत्मा अशरीरी रूप मे लोक के अग्रभाग पर जाकर अवस्थित हो जाता है।

—स्थानाग, १४; कर्मग्रन्थ, भा० २, २

१ (क) बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरातर.।
चित्तदोपात्मविभ्रान्ति परमात्माऽतिनिर्मल ॥

—समाधितंत्र, ५

(ख) योगसार, ६

अर्थात् आत्मा के तीन प्रकार हैं—शरीरादिक जड वस्तुओ मे भ्रम से आत्मा समझनेवाला बहिरात्मा है जबकि चित्त को चितरूप से, दोषो को दोष रूप से और आत्मा को आत्मारूप से अनुभव करनेवाला साधक अन्तरात्मा है और सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

उत्थान होता रहता है। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान का अन्तर्भाव परमात्मा मे किया गया है, क्योकि इन अवस्थाओ में जीव परमात्म अर्थात् चरम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[1]

आठ दृष्टियाँ—आत्मा के क्रमिक विकास—चौदह गुणस्थानो —को ध्यान मे रखकर आचार्य हरिभद्र ने योग की आठ दृष्टियो का वर्णन किया है। उनके अनुसार दृष्टि उसको कहते हैं, जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और इससे असत् प्रवृत्तियो का क्षय करके सत् प्रवृत्तियाँ प्राप्त हों।[2] ये दृष्टियाँ आठ हैं—(१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कान्ता, (७) प्रभा और (८) परा।[3] इन दृष्टियो मे प्रथम चार ओघदृष्टि में अन्तर्भुक्त हैं, क्योकि इनमे वृत्ति ससाराभिमुख रहती है। अर्थात् जीव का उत्थान-पतन होता रहता है। शेष चार दृष्टियाँ योगदृष्टि मे समाहित हैं, क्योकि इनमे आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर अग्रसर होती है। पाँचवी दृष्टि के बाद जीव सर्वथा उन्नतिशील बना रहता है, उसके गिरने की संभावना नही रहती। इस प्रकार ओघदृष्टि असत्दृष्टि और योगदृष्टि सत्दृष्टि अर्थात् मोक्षोन्मुख मानी गयी है। दूसरे शब्दो में प्रथम चार दृष्टियो को अवेद्य-सवेद्य पद[4] अथवा प्रतिपाति[5] तथा अंतिम चार दृष्टियो

---

१ (क) अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्य गुण स्यानेत्र बाह्यात्मा, तत, पर क्षीणमोहगुणस्थान यावदन्तरात्मा। ततः परन्तु परमात्मेति। —अध्यात्म-परीक्षा, १२५;
(ख) आध्यात्मिक विकासक्रम, पृ० ४०

२. सच्छ्रद्धासगतोबोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः॥। —योगदृष्टिसमुच्चय, १७

३. मित्रा-तारा-बला-दीप्रा स्थिरा-कान्ता-प्रभा-परा।
नामानि योगदृष्टीना लक्षण च निबोधत॥ —वही, १३

४. वही, ७०

५. प्रतिपातयुताश्चाऽऽद्याश्चतस्रोनोत्तरास्तथाः।
सापायऽपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः॥ —वही, १९

को सवेद्यापद[1] अथवा अप्रतिपाति कहा गया है। इन आठ दृष्टियो में जीव को किस प्रकार का ज्ञान अथवा सविशेष तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उसको आठ दृष्टान्तो के द्वारा समझाया गया है—(१) तृणाग्नि, (२) कण्डाग्नि, (३) काष्ठाग्नि, (४) दीपकाग्नि, (५) रत्न की प्रभा, (६) नक्षत्र की प्रभा, (७) सूर्य की प्रभा एवं (८) चद्र की प्रभा। जिस प्रकार इन अग्नियो की प्रभा उत्तरोत्तर तीव्र और स्पष्ट होती जाती है, उसी प्रकार इन आठ दृष्टियो में भी सविशेष-बोध की प्राप्ति स्पष्ट होती जाती है।

इन आठ दृष्टियो के संदर्भ में योगदर्शन मे प्रतिपादित यमनियमादि तथा खेद, उद्वेगादि आठ दोपो के परिहार[3] का वर्णन भी किया जाता है। यहाँ आठ दृष्टियो का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(१) **मित्रा दृष्टि** —इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देव-पूजादि धार्मिक अनुष्ठानो में अखेदता होती है।[4] यद्यपि इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है, तथापि उस ज्ञान से स्पष्ट तत्त्वबोध नही होता, क्योकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह दर्शन, ज्ञान पर आवरण डाल देता है। फिर भी साधक सर्वज्ञ को अन्त.करणपूर्वक नमस्कार करता है, आचार्य एवं तपस्वी की यथोचित सेवा करता है तथा औषधदान, शास्त्रदान, वैराग्य, पूजा, श्रवण-पठन, स्वाध्याय आदि क्रियाओ-भावनाओ का पालन-चिन्तन करता है। माध्यस्थादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्रियो को जुटाते रहने

---

१ जिसमे वेद्य विपयों का यथार्थस्वरूप जाना जा सके और उसमें अप्रवृत्ति वुद्धि पैदा हो वह वेद्य-सवेद्यपद है और जिसमे वाह्य वेद्य विपयो का यथार्थस्वरूप मे सवेदन और ज्ञान न किया जा सके वह अवेद्यसवेद्यपद है।

२ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचंद्राभा क्रमेणेक्ष्वादि सन्निमा॥ —योगावतारद्वात्रिंशिका, २६

३ यमादियोगयुक्ताना खेदादिपरिहारतः।
अद्वेषादिगुणस्थान क्रमेणैपा-सता-मता॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, १६

४ मित्राद्वात्रिंशिका, १

के कारण इसे योगबीज भी कहा गया है।[1] इस दृष्टि को तृणाग्नि की उपमा दी गयी है। इस दृष्टि मे साधक अपनी आत्मा के विकास की इच्छा तो करता है, परन्तु पूर्वजन्म के सस्कारो अर्थात् कर्मो के कारण वैसा कर नही पाता।

(२) तारा दृष्टि—इस दृष्टि मे साधक मोक्ष की कारणभूत सामग्रियो अर्थात् योगबीज की पूर्णतः तैयारी करके सम्यक्बोध प्राप्त करने में समर्थ होता है। साथ ही, इस दृष्टि मे साधक को शौचादि नियमो का पालन करते हुए आत्महित का कार्य करने में उद्वेग नही होता और उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जाग्रत होती है।[2] इस अवस्था मे मिथ्यात्व के कारण साधक अथवा योगी को कण्डाग्नि की तरह क्षणिक सत्य का बोध होता है। इस अवस्था मे गुरुसत्सग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं और ससारसम्बन्धी किसी भी प्रकार का भय नही रहता। फलतः वह धर्म-कार्यादि मे अनजाने भी अनुचित वर्तन नही करता।[3] वह इतना सावधान रहता है कि अपने द्वारा किये गये व्रत, पूजनादि क्रियाकलापो से दूसरो को तनिक भी दुःख न हो।[4] इस प्रकार साधक वैराग्य की तथा ससार की असारता सम्बन्धी योग-कथाओ को सुनने की इच्छा रखते हुए बड़े लोगो के प्रति समताभाव रखता है और उनका आदर-सत्कार करता है।[5] अगर पहले से उसके मन मे योगी, सन्यासी, साधु आदि के प्रति अनादर का भाव हो तो भी वह इस अवस्था मे अनादर के बदले प्रेम और सद्भावना का व्यवहार

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय, २२–२३, २६–२८

२. तारायां तु मनाक् स्पष्ट, नियमश्च तथाविधः।
अनुद्वेगो-हितारम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ वही, ४१

३ भय नाऽतीव भवज कृत्यहानिर्न चोचिते।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥ —वही, ४५

४. वही, ४६

५ (क) भवत्यस्यामविच्छिन्नाप्रीतियोगकथासु च।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु ॥ —ताराद्वात्रिंशिका, ६
(ख) अध्यात्मतत्त्वलोक, ४६

करता है। वह संसार की विविधता तथा मुक्ति के सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन करने मे असमर्थ होकर भी सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा रखता है।[१] हां, इस अवस्था में साधक को सम्यग्ज्ञान न होने से अच्छी-बुरी चीजों में अन्तर करने का ज्ञान नही होता। फलतः जो स्वभाव आत्मा का नही है, उसीको भूल से आत्मस्वरूप मान बैठता है। इसी अज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ के कथित तत्त्वो पर श्रद्धा रखता है। इस प्रकार इस दृष्टि मे साधक योगलाभ प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा रखते हुए भी अज्ञान के कारण अनुचित कार्यों मे लगा रहता है। मतलब यह कि सत्कार्य में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियाँ रहती हैं।

(३) बला दृष्टि—इस दृष्टि मे योगी सुखासन-युक्त होकर काष्ठाग्नि जैसा तेज एवं स्पष्ट दर्शन प्राप्त करता है। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योगसाधना में किसी प्रकार का उद्वेग नही होता।[२] दूसरे शब्दो में, जिस प्रकार सुन्दर युवक सुन्दर युवती के साथ नाच, गाना सुनने मे दत्तचित्त होकर अतीव आनन्द की प्राप्ति करता है, उसी प्रकार शान्त स्थिर परिणामी योगी भी शास्त्र-श्रवण देवगुरु-पूजादि मे उत्साह अथवा आनन्द की प्राप्ति करता है।[३] प्रथम दो दृष्टियो मे साधक की मनोस्थिरता उतनी सुदृढ नही हो पाती है जितनी इस दृष्टि में। इसका कारण यह है कि चारित्रपालन का अभ्यास करते-करते साधक की वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं और तत्त्वचर्चा मे भी वह स्थिर हो जाता है। यहां तक कि साधक विविध आसनो का सहारा लेकर चारित्र-विकास की सारी क्रियाओ को आलसरहित होकर सम्पादित करता है, जिनसे बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा अथवा आसक्ति कम हो जाती है और वह धर्म-क्रिया मे निरत हो जाता है।[४] भले ही तत्त्व-

---

१. योगदृष्टिसमुच्चय, ४७–४८

२. सुखासनसमायुक्तं बलाया-दर्शनं दृढ।
परा च तत्त्व-शुश्रूषा न क्षेपो योगगोचर ॥ —वही, ४९

३. कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्या तत्त्वगोचरा ॥ —वही, ५२

४. असाधु तृष्णात्वरयोरभावात् स्थिर सुखं चासनमाविरस्ति।
—अध्यात्मतत्त्वलोक, ९८

चर्चा सुनने को मिले अथवा न मिले; परन्तु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छा मात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है।[1] शुभ परिणाम के कारण समताभाव का विकास होता है, फलस्वरूप वह अपनी प्रिय वस्तुओं का भी आग्रह नहीं रखता।[2] उसे जैसी भी वस्तु जीवन-यापन के लिए मिल जाती है, उसीमें वह सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार इस दृष्टि मे साधक की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, सुखासनो द्वारा मन स्थिर हो जाता है, समताभाव का उदय हो जाता है और आत्मशुद्धि बढती जाती है।

(४) दीप्रा दृष्टि—यह दृष्टि प्राणायाम एव तत्त्वश्रवण से संयुक्त होती है और सूक्ष्मभावबोध से रहित। इसमे उत्थान नामक दोष अर्थात् चित्त की अशान्ति भी नही रहती है।[3] बताया जाता है कि दीपक के प्रकाश की भाँति इस दृष्टि का दर्शन स्पष्ट और स्थिर होता है। फिर भी हवा के झोके से जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यावरण के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो जाता है। प्राणायाम नामक यौगिक क्रिया के संयोग से इस दृष्टि मे शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता आती है। जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही सुदृढ बनाता है, बल्कि आन्तरिक नाडियो के साथ-साथ मन के मैल को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि मे रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयो मे ममत्व-बुद्धि तो रहती है, लेकिन पूरक प्राणायाम की तरह विवेकशक्ति की वृद्धि भी होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञान केंद्रित होता है। इसे भावप्राणायाम भी कहा गया है।[4] इस पर जिस साधक ने अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह बिना संशय

---

१. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्या. शुभभावप्रवृत्तित. ।
फल कर्मक्षयाख्य स्यात् परबोध निबंधनम् ॥—योगदृष्टिसमुच्चय, ५४

२. परिष्कारगत. प्रायो विघातोऽपि न विद्यते ।
अविघातश्च सावद्य परिहारान्महोदय. ॥—वही, ५६

३. प्राणायामवती दीप्रा, न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवण-सयुक्ता, सूक्ष्मबोध-विवर्जिता ॥—वही, ५७

४ रेचनाद्बाह्य भावनामन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुम्भनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावत. ॥—ताराद्वात्रिंशिका, १९

के प्राणो से भी ज्यादा धर्म पर श्रद्धा रखने लगता है। वह धर्म के लिए प्राण त्याग सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नही।[1] अर्थात् इस दृष्टि से सम्पन्न साधक चारित्र मे यम-नियमो का पालन सम्यक्‌रूप से करता है और वाधा या संकट उपस्थित होने पर व्रतो के पालन से मुँह नही मोडता।

इस दृष्टि में साधक अपने चारित्र्य का विकास तो करता है लेकिन पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति करने लायक नही। वह वाह्य पदार्थों की क्षणिकता और सांसारिक सुखशान्ति के मर्म को भी पहचान लेता है। इसलिए वह जगत्, आत्मा तथा पुण्य-अपुण्य के सवध मे जानने के लिए गुरु, मुनि आदि के पास जाने को उत्सुक रहता है। फिर भी तीव्र मिथ्यात्व के कारण वह कर्मक्षय करने मे समर्थ नही होता और न सम्यग्दर्शन प्राप्त करने मे ही समर्थ होता है। इस प्रकार यह दृष्टि भी मिथ्यात्वमय[2] ही होती है।

उपर्युक्त चार दृष्टियो को ओघदृष्टि अथवा मिथ्यात्व की कारणभूत कहा गया है, क्योकि इन दृष्टियो मे पूर्वसचित कर्मो के कारण, धार्मिक व्रत नियमो का यथाविधि पालन करने से भी सम्यग्ज्ञान नही होता और न वोध ही हो पाता है। यदि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो भी वह स्पष्ट नही हो सकती।[3] मिथ्यात्व की इसी सघनता के कारण इन दृष्टियो के जीवो को अवेद्य-संवेद्य पद[4] कहा गया है, क्योकि अज्ञानवश जीव अपना आचरण मूढवत् करता है, जिसके कारण अनेक दु:ख उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दो में इस अवेद्य-सवेद्य पद को भवाभिनन्दि भी कहा गया है और वताया गया है कि इस अवस्था मे जीव अपरोपकारी, मत्सरी,

---

१ प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्म. सत्यामस्यामसशयम्।
प्राणास्त्यजतिधर्मार्थं न धर्मं प्राणसकटे॥—योगदृष्टिसमुच्चय, ५८

२. मिथ्यात्वमस्मिंश्च दृशां चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्यविदारणेन।
—अध्यात्मतत्वलोक, १०८

३ नैतद्वतोऽयं तत्त्वत्त्वे कदाचिदुपजायते। —योगदृष्टिसमुच्चय, ६८

४. अवेद्यसवेद्यपदाभिधेयो मिथ्यात्वदोपाशय उच्यते स्म।
उग्रोदये तत्र विवेकहीना अघोगर्ति मूढधियो व्रजन्ति।
—अध्यात्मतत्वलोक, १०९

भयभीत, मायावी, सासारिक प्रपचो मे रत और प्रारम्भिक कार्यों मे निष्फल होता है।[१] वह ससार के भोगो मे उत्कट इच्छा रखने के कारण जन्म, जरा, मरण, व्याधि, रोग, वियोग अनर्थ आदि अनेक प्रकार के कष्टो को भी भोगता है।[२] इद्रियो की तृप्ति एव घोर भोगविलास मे लीन रहने के कारण तृष्णा, वासना आदि भावनाए और वढती जाती हैं तथा उनके परिहार की प्रवृत्ति नही होती है।[३] इस प्रकार सासारिक पदार्थों के अनेक रूपो को समझना तथा सचित एव संचयमाण कर्मो को नष्ट करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि इन कर्मों का छेद करने तथा सांसारिक कारणो को जानने पर ही सूक्ष्मतत्त्व की प्राप्ति होती है।[४] इन अवस्थाओ मे सद्गुरु के निकट श्रुतज्ञान सुनना, सत्सग के परिणाम एवं योग द्वारा आत्म विकास की वृद्धि करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि इससे जहा ससाराभिमुखता का विच्छेद होता है वहां अवेद्य-संवेद्य पद भी नष्ट होता है[५] तथा दु.ख या कषायो पर क्रमश. विजय प्राप्त करता हुआ जीव मोक्षाभिमुख वनता है।

संक्षेप मे, ये चार दृष्टियां मिथ्यात्व-अवस्था की हैं और इन अवस्थाओ के जीव यम, नियमो तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने से शान्त, भद्र, विनीत, मृदु एवं चारित्र सपन्न बनते हैं तथा मिथ्यात्व को क्रमशः विनष्ट करके अध्यात्मसाधना मे विकसित होते हैं।[६]

(५) स्थिरा दृष्टि इस दृष्टि मे से मुक्त जीव दर्शन प्रत्याहार से युक्त

---

१. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ ।
अज्ञो भवाभिनन्दि स्यान्निष्फलारभसगत । —योगदृष्टिसमुच्चय, ७६

२. वही, ७८-७९

३. भोगागेषु तथैतेषां, न तदिच्छा परिक्षये। —वही, ८१

४. भवाम्भोधि समुत्तारात् कर्मवज्रविभेदत. ।
ज्ञेय व्याप्तेश्चकात्स्न्येंन सूक्ष्मत्व नायमत्र तु । —वही, ६६

५. अवेद्यसंवेद्यपद सत्सगागमयोगत. ।
तद्वुर्गतिप्रद जैयं परमानन्द मिच्छता । —ताराद्वात्रिंशिका, ३२

६. शान्तो विनीतश्च मृदुः प्रकृत्या भद्रस्तथा योग्यचरित्रशाली ।
मिथ्यादृगप्युच्यते एवं सूत्रे विमुक्तिपात्रं स्तुतधार्मिकत्व ।
—अध्यात्मतत्त्वलोक, १२०

कृत्य, अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोधवाला होता है,[1] क्योकि प्रत्याहार के कारण इस दृष्टि में साधक की मानसिक स्थिति संतुलित रहती है अर्थात् वह बाह्य भोग-विलास की ओर से अथवा अपनी इंद्रियो के विषयो से मुक्त होकर मात्र चारित्र-विकास पर ही अपने को केंद्रित करता है। फलतः उसकी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं, सूक्ष्मबोध अथवा भेद-ज्ञान हो जाता है, इद्रियाँ सयमित हो जाती हैं, धर्म-क्रियाओं में आनेवाली बाधाओ का परिहार हो जाता है और परमात्म स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करने लगता है।[2] इस दृष्टि की उपमा रत्न की कान्ति से दी गयी है जो स्थिर, सौम्य, शान्त और दीप्त होती है। ३

(६) कान्तादृष्टि · इस दृष्टि का स्वरूप तारो के आलोक के समान स्थिर, शान्त और चिर प्रकाशवान् होता है इस दृष्टि मे धारणा नामक योग के सयोग से योगी को सुस्थिर अवस्था प्राप्त होती है, परोपकार एवं सद्विचारों से उसका हृदय प्लावित होता है तथा उसके दोष अर्थात् चित्त की विकलता नष्ट हो जाती है।[3] पूर्व की दृष्टियो मे जहा साधक अपने चारित्रिक सयम के द्वारा केवल कर्मग्रंथियो को छेदने में प्रयत्नशील था, वहा इस दृष्टि मे साधक चारित्र-विकास की अपूर्वता प्राप्त कर लेता है, चित्त की सारी मलिनताओ को दूर कर देता है और उसकी प्रत्येक क्रिया अहिंसा-वृत्ति की परिचायिका बन जाती है। फलत. इद्रियों के चचल विषयो के शान्त हो जाने तथा धार्मिक सदाचारो के सम्यक् परिपालन से उसका स्वभाव क्षमाशील बन जाता है वह जहां भी जाता है, वहा सभी प्राणियों का प्रियपात्र बन जाता है।[4]

---

१ स्थिराया दर्शन नित्यं प्रत्याहारवदेव च।
कृत्यमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम्। —योगदृष्टिसमुच्चय, १५२

२ एव विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा।
धर्मबाधापरित्याग-यत्नवन्तश्च तत्त्वत। वही, १५६

३. कान्तायामेतदन्येषा प्रीतये धारणा परा।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमासाऽस्ति हितोदया।
—योगदृष्टिसमुच्चय, १६०

४. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा। —वही, १६१

इस प्रकार पूर्ववर्ती दृष्टियों की प्राप्ति के अतिरिक्त इस दृष्टि मे साधक को शान्त, धीर एवं परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व-पर वस्तु का बोध हो जाता है तथा ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर आदि दोषो का सर्वथा परिहार हो जाता है। अतः यह दृष्टि साधक के शान्त एव निर्मल चित्त की प्राप्ति मे सहायक होती है और आगे की दृष्टियों की पूर्णता मे प्रमुख भूमिका निभाती है।

(७) **प्रभादृष्टि :** इस दृष्टि में यौगिक ध्यान को अग के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके फलस्वरूप यह दृष्टि योगी को आत्मस्वरूप के चिन्तन में प्रेरित करती है। इस दृष्टि मे सूर्य के प्रकाश की तरह अत्यत सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार का रोग नही होता तथा प्रतिपाति नामक गुण का आविर्भाव होता है,[१] जो साधक-योगी के पतन की ओर न जाने का स्पष्ट संकेत है इस अवस्था मे साधक को इतना आत्मविश्वास हो जाता है कि वह कषायो मे लिप्त होते हुए भी अलिप्त-सा रहता है, रोगादि क्लेशो से पीड़ित होने पर भी विचलित नही होता। अर्थात् भोग सामग्रियो की प्रचुरता रहने पर भी वह उनको अगीकार नही करता है अथवा उनको क्षुद्र समझता है। ध्यान के कारण योगी के मानसिक अन्तर्द्वंद्व मे कमी आ जाती है, उसकी समत्वबुद्धि विकसित होने लगती है तथा वह दृढता से आत्मचिन्तन मे लीन हो जाता है, जहाँ वह पहले अज्ञानतावश किसी भी दु ख को दूसरो के अधीन तथा किसी भी सुख को अपने अधीन समझता था;[२] वहा अब शान्त एवं क्षमाभाव से शत्रु, मित्र, अन्य धर्मों के शास्त्रो आदि को समभाव एवं आदर की दृष्टि से देखने लगता है, क्योकि इस दृष्टि मे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है और वह सुख-दु:ख, अच्छा-बुरा आदि भावनाओ से ऊपर उठकर आत्मसुख की प्राप्ति मे लग जाता है। ऐसी स्थिति मे उसकी विषम वृत्ति के बदले प्राणियो में समता अर्थात् असगानुष्ठान उदित होता है, इच्छाओ का नाश हो जाता है और वह सदाचार का पालन करते

---

१. ध्यान-प्रियाप्रभा येन नास्यां रुगत एव हि।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता।
—योगदृष्टिसमुच्चय, १६८

१. सर्वं परवश दु खं सर्वमात्मवश सुखम्।
एतदुक्तसमासेन लक्षण सुखदु खयो। —सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका, १९

हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है अर्थात् यही से उसके मोक्षमार्ग का प्रारभ हो जाता है।[1]

इस सदर्भ में असगानुष्ठान के चार प्रकारो का उल्लेख कर देना उचित होगा। असंगानुष्ठान के चार प्रकार ये हैं—(१) प्रीति, (२) भक्ति, (३) वचन और (४) असगानुष्ठान।[2] स्त्री का पालन-पोषण करने मे जैसे रागभाव होते हैं, वैसे ही राग अर्थात् कषायो से युक्त व्यापारो को प्रीति-अनुष्ठान कहा गया है। जैसी भक्ति अथवा स्नेह मां-बाप और गुरु की सेवा करने मे होता है, वैसी ही भक्ति आचारादि क्रियाओ मे होना भक्ति-अनुष्ठान है। शास्त्रयुक्त आचार-विचारादि वचनानुष्ठान हैं, तथा इसी वचनानुष्ठान मे स्वाभाविक प्रवृत्ति को असंगानुष्ठान कहा गया है।[3] अतः इन अनुष्ठानो के संयोग से योगी स्वभावतः बाह्य वस्तुओ के प्रति ममतारहित होकर आत्मकल्याण की ओर मुडता है और सिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार वह क्रमश केवलज्ञान प्राप्त करता है। अन्ययोग मे इस अवस्था को प्रशांतवाहिता, विसभाग-परिक्षय, शैववर्त्म और ध्रुवाध्वा[4] भी कहा गया है और बतलाया गया है कि यह आत्मा की उत्कृष्ट दशा है, जहां जीव को सच्चे सुखानंद की प्राप्ति होती है।

(८) परादृष्टि : यह दृष्टि समाधिनिष्ठ, सगादि दोषो से रहित, आत्म-प्रवृत्तियो की कारिका, जागरूक तथा उत्तोर्णाशयवाली होती है।[5] वस्तुतः यह सर्वोत्तम तथा अन्तिम अवस्था है। इसमें परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसलिए इसे चंद्रप्रभा की तरह शान्त एवं सौम्य माना गया है। यह दृष्टि समाधि की अवस्था मानी गई है, जिसमे मन के सभी व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रूप को

---

१. सत्प्रवृत्तिपद चेहाऽसगानुष्ठान सज्ञितम्।
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम्। —योगदृष्टिसमुच्च, १७३

२. तत्प्रीतिभक्तिवचनासंगोपदद चतुर्विधं गीतम्।
तत्त्वाभिज्ञैः परमपदसाधन सर्वमेवैतत्। —षोडशक, १०।२

३. वही, ११।२-७

४. प्रशांतवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यद। —योगदृष्टिसमुच्चय, १७४

५. समाधिनिष्ठा तु परा, तदा संगविवर्जिता।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च। —वही, १७६

ही देखती है, क्योकि ध्यान मे जहाँ ध्येय का आलम्बन होता है, वहा समाधि मे ध्येय, ध्याता तथा ध्यान इस त्रिपुटी का अंश भी नही रहता। यह अवस्था आसक्तिहीन और दोषरहित होती है। इस अवस्था वाले योगी को सासारिक वस्तुओ के प्रति न मोह होता है, न आसक्ति और न उसमे किसी प्रकार के दोष ही रह जाते हैं। वह मोक्ष की इच्छा भी नही करता है, क्योंकि इच्छा का होना परिग्रह है और इस दृष्टि से इच्छा कषाय-मूलक भी है। इस प्रकार अनाचार तथा अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक योगी क्षपकश्रेणी[१] अथवा उपशमश्रेणी[२] द्वारा आत्मविकास करता है।[3] आठवें गुणस्थान के द्वितीय चरण से योगी प्रगति करते हुए क्षपकश्रेणी द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके पूर्ण कर्म-संन्यासयोग प्राप्त करता है और बिना किसी बाधा के केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[४]

इस प्रकार समस्त कषायो के क्षीण होने के कारण योगी को अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और वह मुमुक्षु जीवो के कल्याणार्थ उपदेश देता है। इस क्रम मे योगी निर्वाण पाने की स्थिति मे योग-सन्यास नामक योग प्राप्त करता है,[५] जिसके अन्तिम समय में शेष चार अघातियाकर्मों को नष्ट करके वह पांच अक्षरों के उच्चारण मात्र समय मे शैलेशी अवस्था

---

१ जो साधक तीव्र सवेग आदि प्रयत्नो द्वारा राग, द्वेष एव मोह को क्रमश निर्मूल करते करते उत्तरोत्तर समता की शुद्धि साधता है, वह क्षपकश्रेणी है। इस श्रेणी मे साधक एक ही प्रयत्न मे मुक्ति पा जाता है।

२ जो साधक अपने संक्लेशों को अर्थात् कर्मों का मूलत क्षय न करके उनका केवल उपशम ही करता है अर्थात् सर्वथा निर्मूल नही कर पाता वह उपशमश्रेणी है। कर्ममल शेष रहने से मोक्ष की प्राप्ति उसी जन्म मे नही होती, वल्कि उसे जन्मान्तर लेना पड़ता है।

३ निराचारपदोह्यस्यामतिचारविवर्जित ।
आरुह्यारोहणा भाव गति वत्त्वस्य चेष्टितम् । —योगदृष्टिसमुच्चय, १७७

४. द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते ।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया । —वही, १८०

५. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञ- सर्वलब्धिफलान्वितः ।
पर परार्थं सपाद्य ततो योगान्तमश्नुते । —योगदृष्टिसमुच्चय, १८६

को प्राप्त करता है अर्थात् मुक्ति पाता है। मुक्त हो जाने पर वह पुनः न उस अवस्था में आता है और न ससार मे। अर्थात् मुक्त अवस्था मे वह अनन्तशक्ति एव अनन्तवीर्य धारण करके आत्मसुख में लीन हो जाता है। उस अवस्था मे मन के कोई व्यापार नही होते, न इच्छाएँ होती है, न व्याधियाँ होती हैं और न किसी प्रकार का कर्म-कषाय रह जाता है। अत. शरीर नष्ट होने पर मोक्षावस्था मे जीव का अभाव नही होता परन्तु वहा भी वह शुद्ध ज्ञानमय तथा चेतनामय होकर रहता है।[1]

इस सदर्भ मे यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि आगमिक गुणस्थानो और हारिभद्रीय उपर्युक्त वर्गीकरण मे कोई अन्तर नही है, क्योकि पहली चार मे पहला गुणस्थान, पाचवी और छठी मे चौथा, पाचवा और छठा गुणस्थान, सातवी मे सातवा और आठवा गुणस्थान तथा अन्तिम में आठ से चौदह गुणस्थान अन्तर्भूत हैं।

योगबिन्दु के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पाँच सीढियाँ भी इन्ही गुणस्थानो अथवा आठ दृष्टियों का ही सक्षिप्त रूप हैं। ये क्रम या सीढ़ियाँ इस प्रकार है[2]—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसक्षय। ये पाँच सीढियाँ मोक्ष प्राप्ति मे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समझी गयी हैं। इन क्रमो द्वारा चारित्र का क्रमश विकास होता है, जिनमे विविध प्रकार के आचार अथवा अष्टाग योग की प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं। अर्थात् आत्मविकास के क्रम मे योगी किन-किन साधनो एवं परिस्थितियो से गुजरता है, उनका सक्षिप्त वर्णन इनमे हुआ है। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) अध्यात्म—अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री आदि चार भावनाओ का भली भाँति चिन्तन-मनन करना ही अध्यात्म है[3]। अर्थात् अध्यात्म शब्द को यहाँ यौगिक एव रुढ दोनो अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है। यौगिक अर्थ मे आत्मा का उद्देश्य

---

१ वही, १८४-८५

२. अध्यात्मंभावनाध्यान समतावृत्तिसंक्षय.।
मोक्षेणयोजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्। —योगबिन्दु, ३१

३. औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त, मध्यात्म तद्विदो विदु। —योगभेदद्वात्रिंशिका,

पंचाचार अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य में होता है और रूढार्थ मे आत्मा का उद्देश्य बाह्य व्यवहार से प्राप्त हुए मन का मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ और कारुण्य भावनाओ मे अभ्यर्थित होता है।[1]

(२) **भावना**—इसके अन्तर्गत योगी को उपर्युक्त भावनाओ का मन, वचन एव काय से चिन्तन करना होता है, जिससे अशुभ कर्मो की निवृत्ति होती है तथा सद्भावनाओ अथवा समताभाव की वृद्धि होती है।[2] (विशेष जानकारी के लिए देखें पूर्व अध्याय)।

(३) **ध्यान**—चित्त को बाह्य द्रव्यो से हटाकर किसी एक सूक्ष्म पदार्थ मे एकाग्र करना ध्यान है।[3] (विशेष विवरण के लिए पाचवां अध्याय देखें)।

(४) **समता**—व्यवहार मे इष्ट एवं अनिष्ट अथवा शुभाशुभ परिणामो के प्रति तटस्थ वृत्ति रखना ही समता है,[4] क्योकि इसके द्वारा सभी प्राणियों के प्रति समान रूप से प्रेम होता है तथा साधक निर्भय होता है। इससे कर्मबन्ध ढीले पड़ जाते हैं। इस प्रकार यह आध्यात्मिक विकास क्रम मे साधक की चरम सीमा मानी गई है।

(५) **वृत्तिसंक्षय**—मन एवं शरीर से उत्पन्न चित्तवृत्तियों को जड़ मूल से नष्ट करना वृत्ति-संक्षय है।[5] अर्थात् समस्त कर्मो का अवरोध

---

१. अध्यात्मोपनिषद्, १।२

२ अभ्यासोवृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगत ।
निवृत्तिरशुभाभ्यासं-भूदाववृद्धिश्च तत्फलम् । —योगभेदद्वात्रिंशिका, ९;
योगबिन्दु, ३५९

३. उपयोगे विजातीय, प्रत्ययाव्यवधानयाम् ।
शुभेककप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ।
—योगभेदद्वात्रिंशिका, ११;
योगबिन्दु, ३६१

४. व्यवहारकुदृष्ठयोच्चै, रिष्टानिष्टेपु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधी समतोच्यते । —योगभेदद्वात्रिंशिका, २२

५. विकल्पस्पन्दरूपाणा वृत्तीनामजन्यजन्मनाम् ।
अपुमभोवतोरोधः प्रोच्यते वृत्तिसंक्षय ।
—वही, २५, योगबिन्दु, ३६५

करता हुआ योगी केवलज्ञान प्राप्त कर शैलेशी अवस्था मे पहुँचता है, जहां वह सभी प्रकार की वाधाओ से अतीत सदानन्दमयी मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।[1]

इस प्रकार जैनयोग मे योग का प्रारम्भ, पूर्वसेवा से माना गया है क्योकि पूर्वसेवा से लेकर समता तक जो धार्मिक अनुष्ठान साधक करते है, वे धर्म-व्यापार होने के कारण योग के उपाय[2] मात्र हैं। परन्तु वृत्तिसंक्षय मोक्षावस्था होने के कारण मुख्य योग कहा जाता है। फिर अपुनर्वंधक, जो मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व की ओर अभिमुख होता है, वह व्यवहार से तात्त्विक है और सकृदवन्धक (जो एक बार मिथ्यात्व को प्राप्त करके फिर से मुक्त होता है) द्विवंधक (जो दो बार मिथ्यात्व मे पडकर मुक्त होता है) अतात्त्विक है। अर्थात् अध्यात्म; भावना, अपुनर्वन्धक एव सम्यग्दृष्टि व्यवहारनय से तात्त्विक है और देशविरत एव सर्वविरत निश्चयनय से तात्त्विक हैं। अप्रमत्त, सर्वविरत आदि गुणस्थानो मे ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विक रूप से होती है। वृत्तिसक्षय तेरहवें एव चौदहवें गुणस्थान मे होता है।[3]

इस तरह इन पाचो को अर्थात् अध्यात्म से लेकर ध्यानपर्यन्त के चारो स्वरूपो को सम्प्रज्ञातयोग मे और वृत्तिसक्षय की असम्प्रज्ञातयोग मे दर्शाया गया है। इसलिए चौथे से वारहवे गुणस्थान तक सम्प्रज्ञात योग को और तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान मे असम्प्रज्ञात समाधि को समझना चाहिए।

---

१. अतोऽपि केवलज्ञान शैलेशीसपरिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनावाधा सदानन्दविधायिनी । —योगविन्दु, ३६६

२ उपायत्वेऽत्र पूर्वपामन्त्य एवात्रशिष्यते ।
तत्पचमगुणस्थानादुपायोऽर्वोगति । —योगभेदद्वात्रिंशिका, ३१

३. योगभेदद्वात्रिंशका, १६; आध्यात्मिकविकासक्रम, पृ० ४८

: ७ : योग का लक्ष्य : लब्धियाँ एवं मोक्ष

जैसा कि पहले बताया गया है, योगी तप, आसन, प्राणायाम, समाधि, ध्यान आदि द्वारा योग-सिद्धि करता है अथवा मोक्षाभिमुख होता है। साधना के क्रम में योग साधक चिरकाल से उपार्जित पापो को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे इकट्ठी की हुई बहुत-सी लकड़ियो को अग्नि क्षण भर मे भस्म कर देती है[1]। योगसाधना के ही क्रम में अनेक चमत्कारिक शक्तियो का भी उदय होता है, जिन्हे लब्धियाँ कहते हैं। ये लब्धियाँ अलौलिक शक्तियों से सम्पन्न होती हैं, तथा सामान्य मानव को आश्चर्य मे डालने वाली भी। वस्तुत जिस साधक का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही होता है, वह भौतिक या चमत्कारिक लब्धियो के व्यामोह मे नही फँसता। जैसे-जैसे योगी का मन निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे उसमे समता, वैराग्य, सहनशीलता, परोपकार आदि सद्भावनाएँ जाग्रत होती जाती हैं। लेकिन जो साधक रागद्वेषादि भावनाओ के वश होकर रौद्र ध्यान द्वारा लब्धियाँ (शक्तियाँ) पाने की अभीप्सा रखते हैं वे आत्मसिद्धि के मार्ग से च्युत होकर संसार मे भ्रमण करने लगते हैं। अत. लब्धियाँ मोक्षाभिमुख योगी के लिए बाधक ही सिद्ध होती हैं। इसलिए योगियो को आदेश है कि वे तप का अनुष्ठान किसी लाभ, यश, कीर्ति अथवा परलोक मे इन्द्रादि देवो जैसे सुख अथवा अन्य ऋद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा से न करें।[2] इस प्रकार योग-साधना का ध्येय शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना है और लब्धियाँ उस योगमार्ग के बीच आई हुई फलसिद्धि हैं, जो आत्मतत्त्व की प्राप्ति करने मे बाधक भी बन सकती हैं।

---

१. क्षिणोति योग पापानि, चिरकालार्जितान्यपि।
प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणि.।—योगशास्त्र, १।७

२. णो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, णो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए, तवमहिट्ठिज्जा नण्णत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक सूत्र, ९।४

योगसाधना के दौरान प्राप्त होने वाली लब्धियो का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैनयोग मे क्रमश' विभूति, अभिज्ञा तथा लब्धियो के रूप मे मिलता है और कहा है कि लब्धियो का उपयोग लौकिक कार्यो मे करना वाछित नही है।

वैदिक योग में लब्धियाँ :

उपनिषद् मे स्पष्ट उल्लेख है कि लब्धियो से निरोगता, जरा-मरण का न होना, शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषय-निवृत्ति, शरीर-कान्ति, स्वर-माधुर्य, मलमूत्र की अल्पता, आदि प्राप्त होती है।[1] इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की लब्धियो का वर्णन उपनिषदो, गीता, पुराण एवं हठयोगादि ग्रंथो मे है, जिनका विवेचन-विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट नही है। यहाँ केवल योगदर्शन मे वर्णित लब्धियो का परिचय ही अभिप्रेत है।

योगदर्शन में यम, नियम आदि जो योग के आठ अंग कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक अग की साधना से आभ्यन्तर एव वाह्य दोनो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यम से प्राप्त लब्धियो अर्थात् विभूतियो के विषय मे वताया गया है कि अहिंसाव्रत को पालन करने वाले साधक के सान्निध्य मे हिंस्र पशु भी अपना क्रूर स्वभाव छोड देते है, सत्यव्रती का वचन कभी मिथ्या नही होता, अस्तेयव्रत से रत्नसमृद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य से वीर्यसंग्रह का लाभ होता है तथा अपरिग्रह से जन्म के स्वरूप का वोध हो जाता है।[2]

नियम से प्राप्त लब्धियो के विषय मे कहा है कि अन्तर्बाह्य शौच के पालन से अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा तथा अलिप्तता का भाव उदित होता है और चित्त की शुद्धि, आनन्द, एकाग्रता एव इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती हैं। सन्तोष से उत्कृष्ट सुख, तप से शरीर एव इन्द्रियों की शुद्धि, स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता का साक्षा-

---

१ न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम्।
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठव च।
गन्ध शुभोमूत्रपुरीषमल्प, योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति।
—श्वेताश्वतर, २।१२-१३

२. योगदर्शन, २।३५, ३६; ३७; ३८, ३९।

स्कार और ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। आसन द्वारा सर्दी एवं गर्मी की बाधा उत्पन्न नहीं होती।[1] प्राणायाम से विवेक-ज्ञानावरण का क्षय एवं विविध प्रकार की धारणा के लिए मन की तैयारी होती है। प्रत्याहार से समस्त इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होती है।[2] इसी प्रकार अतीत-अनागत का ज्ञान, विभिन्न प्राणियो की बोलियों की पहचान दूसरो की चित्तवृत्ति का ज्ञान, शरीर की दीप्ति एव हल्कापन, आकाश-गमन आदि की प्राप्ति के साथ-साथ सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है।[3]

इस प्रकार योगदर्शन में अनेक विभूतियो या लब्धियो का विस्तृत वर्णन प्राप्त है, जिनकी सिद्धियाँ जन्म, औषध, मन्त्र, तप, समाधि[4] आदि से प्राप्त होती हैं।

बौद्ध-योग में लब्धियाँ :

बौद्ध परम्परा मे लब्धियो का वर्णन अभिज्ञा नाम से मिलता है। बौद्ध योग के अनुसार अभिज्ञाएँ अर्थात् लब्धियाँ दो प्रकार की होती है–लौकिक और लोकोत्तर।[5] लौकिक अभिज्ञाओ के अन्तर्गत ऋद्धिविध, दिव्यस्रोत, चेतीपर्येज्ञान-पूर्वनिवासानुस्मृति एव चित्योत्पाद अभिज्ञाएँ हैं जिनसे क्रमशः आकाशगमन, पशु पक्षी की बोलियो का ज्ञान, परचित-विज्ञानता, पूर्वजन्मो का ज्ञान तथा दूरस्थ वस्तुओं का दर्शन होता है। लोकोत्तर अभिज्ञा की प्राप्ति तब होती है, जब साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके पुन. जनसाधारण के समक्ष निर्वाण-मार्ग को बतलाने के लिए उपस्थित होता है।

जैन योग में लब्धियां :

वैदिक एवं बौद्ध योग की ही भाति जैन योग मे भी तप समाधि, ध्यानादि द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त करने का वर्णन मिलता

---

१. वही, २।४०-४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६।
२. वही, २।४९, ५३, ५४।
३. वही, ३।५, १६, १७, १८, २६, ४०, ४१' ४२, ४५, ४८, ५०।
४. जन्मोपधिमंत्रतप. समाधिजा. सिद्धयः। योगदर्शन, ४।१
५. विशुद्धिमार्ग, मार्ग १, पृ० ३४।

है। अन्य जैन योग ग्रन्थों की अपेक्षा ज्ञानार्णव[1] एवं योगशास्त्र[2] में लब्धियो का विवेचन स्पष्ट एव विस्तृत रूप मे हुआ है। इन दोनो ग्रंथों में विस्तार पूर्वक विभिन्न प्रकार की लब्धियो और चमत्कारिक शक्तियों का वर्णन है जेसे जन्म-मरण का ज्ञान, शुभ-अशुभ शकुनो का ज्ञान, परकायाप्रवेश, कालज्ञान आदि। ध्यातव्य है कि इन लब्धियों की प्राप्ति जैनयोग साधना का वाह्य अग है, आन्तरिक नही, क्योकि योग–साधना का मूल उद्देश्य कर्म एव कषायादि का क्षय करके सम्यक् दर्शन ज्ञान तथा सिद्धि रूप मे मोक्ष प्राप्त करना है। जैनदर्शन के अनुसार लब्धि-प्राप्ति के लिए कुछ करने की आवश्यकता नही, वे तो प्रासगिक फल के रूप में स्वतः निष्पन्न या प्रकट होती है। अतः साधक अथवा योगी इन लब्धियों से युक्त होकर भी कर्मों के क्षय का ही उपाय करते हैं[3] तथा मोक्षपथिक बनते हैं। वे लब्धियो मे अनासक्त रहकर आत्म साधना मे लगे रहते हैं।

लब्धियों के प्रकार :

जैन योग ग्रथो में लब्धियो के प्रकारो के विषय मे विभिन्न प्रतिपादन हैं। भगवतीसूत्र मे जहां दस प्रकार की लब्धियो का उल्लेख

---

१. देखें ज्ञानार्णव, प्रकरण २६

२. योगशास्त्र, प्रकाश ५; ६

३. जोगाणुभावओ चिय पाय न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि सम्पत्ती इमस्स जं वन्निया समए ॥
रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवृद्धीए ॥
एईय एस जुत्तो सम्मं असुहस्स खवगमो नेओ।
इयरस्स बन्धगो तह सुहेणमियं मोक्खगामित्ति ॥ —योगशतक, ८३-८५
वैक्रियध्व्योदयो ज्ञानतपश्चरणसंपदः।
शुभाशुभोदयध्वंस फलमस्या रसस्मृतः। कथाद्वात्रिंशिका, १४

है,[१] वहां तिलोयपण्णती[२] में ६४, आवश्यक[३] नियुक्ति मे २८, पटखण्डागम[४] मे ४४, विद्यानुशासन में ४८, मंत्रराजरहस्य[५] मे ५० एव प्रवचनसारोद्धार[६] मे २८ लब्धियो का वर्णन है। प्रवचन सारोद्धार प्ररूपित २८ लब्धियो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) आमोसहि—(आमर्ष औषधि) इस लब्धि के प्रभाव से साधक के शरीर स्पर्श मात्र से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

(२) विप्पोसहि—(वियुपौषधि) इस लब्धि के प्रभाव से योगी का मलमूत्र औषधि का काम करता है।

(३) खेलोषधि—इस लब्धि के प्रभाव से योगी की श्लेष्मा से सुगंध आती है और उससे रोग-निवृत्ति होती है।

(४) जलोषधि—इस लब्धि के प्रभाव से योगी के कान, मुख, नाक आदि के मैल से रोग शान्त होते हैं।

(५) सर्वोषधि—इसके द्वारा मलमूत्रादि, नख, केश आदि में सुगन्ध आती है और उनसे रोग दूर होते है।

(६) संभिन्नस्रोती—इस लब्धि के प्रभाव से योगी शरीर के प्रत्येक अङ्ग द्वारा सुनने मे समर्थ होता हैं और सभी इन्द्रियाँ एक दूसरे का कार्य करने लगती हैं।

(७) अवधिलब्धि-यह अवधिज्ञानी मुनि को प्राप्त होती हैं और वह भूत-भविष्य का कथन कर सकता है।

(८) ऋजुमति—यह लब्धि मन.पर्यायज्ञानी योगी को प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को सामान्य रूप से जानने में समर्थ होता है।

---

१ दसविधा लद्धी पणत्ता, तंजहा-नाण लद्धी, दसणलद्धी, चरितलद्धी, चरिताचरितलद्धी, दाणलद्धी, लाभलद्धी, भोगलद्धी उवभोगलद्धी, वीरियलद्धी, इंदियलद्धी। —भगवतीसूत्र, ८।२

२. तिलोयपण्णती, भाग १।४।१०६७-९१

३ आवश्यनियुक्ति ६९-७०

४. षट्खण्डागम, खण्ड ४, ११९

५. श्रमण, वर्ष १९६५, अक १–२, पृ० ७३

६ प्रवचनसारोद्धार, २७०, १४९२–१५०८

(९) **विपुलमति**— यह लब्धि मन:पर्यायज्ञानी योगी को ही प्राप्त होती है और इसके द्वारा भी संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को सहजतया जाना जाता है।

(१०) **चारणलब्धि**—इस लब्धि को आकाशगामिनी भी कहते हैं। इस लब्धि से आकाश मे आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है। इसके दो भेद हैं—जघाचारण एव विद्याचारण।

(११) **आशीविशलब्धि**—इससे शाप देने की शक्ति प्राप्त होती है।

(१२) **केवललब्धि**—चार घातियकर्मों अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्मो के क्षय होने से केवलज्ञानरूपी लब्धि प्राप्त होती है, जिससे तीनो लोको को स्पष्ट देखा जाता है।

(१३) **गणधरलब्धि**—इस लब्धि से गणधरपद की प्राप्ति होती है जिससे साधक तीर्थंकरो के प्रधान शिष्य एवं गण के नायक बनते हैं।

(१४) **पूर्वधरलब्धि**—इस लब्धि से अन्तर्मुहूर्त मे चौदहपूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(१५) **अर्हत्लब्धि**—इसके द्वारा अर्हत्पदकी प्राप्ति होती है।

(१६) **चक्रवर्तीलब्धि**—इस लब्धि से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चौदह रत्नो के धारक तथा छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं।

(१७) **बलदेवलब्धि**—इस लब्धि से द्वारा बलदेवपद की प्राप्ति होती हैं।

(१८) **वासुदेवलब्धि**—इस लब्धि के वासुदेवपद की प्राप्ति होती है।

(१९) **क्षीरमधुसर्पिरास्रवलब्धि**—इस लब्धि के द्वारा योगी के वचन मे दूध, मधु, तथा घी की मधुरता, मिठास तथा स्निग्धता आती है।

(२०) **कोष्ठकबुद्धिलब्धि**—इस लब्धि के द्वारा योगी गुरुमुख से एक ही बार स्मृत, श्रवित एव पठित ज्ञान को अक्षरश ग्रहण कर लेता है तथा चिरकाल तक भूल नही पाता है।

(२१) **पदानुसारिणी**—इस लब्धि के प्राप्त होने पर योगी श्लोक का एक पद सुनकर ही उसके आगे या पीछे के पदो को जान लेता है।

(२२) **बीजबुद्धिलब्धि**—सुने हुए ग्रन्थ का एक बीजाक्षर जानने से ही अश्रुत पद एव अर्थों को जानलेना ही बीजबुद्धिलब्धि है।

(२३) **तेजोलेश्या**—मुख से निकली हुई ज्वाला के प्रभाव से दूरस्थ, सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थों को भस्म करने की शक्ति तेजोलेश्या है।

(२४) आहारकलब्धि—वाद अथवा चर्चा मे निरुत्तर अथवा पराजित होने पर, उसका सशय निवारण करने के लिए अथवा तीर्थंकरों का दर्शन करने के लिए योगी अपने शरीर से एक हाथ का पुतला निकालते है जो तीर्थंकर के पास जाता है और लौटकर योगी के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। इस लब्धि को आहारकलब्धि कहते हैं।

(२५) शीतललेश्यालब्धि—अत्यन्त करुणाभाव से प्रेरित होकर तेजोलेश्या से रक्षार्थ शीतललेश्या को छोडने की शक्ति प्राप्त होना शीतललेश्यालब्धि है।

(२६) वैक्रियलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से शरीर को छोटा-बड़ा, भारी-हल्का किया जाता है।

(२७) अक्षीणमहानसलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से भिक्षा या भोजन सामग्री तब तक समाप्त नही होती जब तक लब्धिधारी योगी स्वयं आहार न कर ले।

(२८) पुलाकलब्धि—इस लब्धि के द्वारा योगी को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है कि वह अपने दण्ड से पुतले को निकाल कर शत्रु सेना को पराजित कर सकने मे समर्थ होता है। यह शक्ति अदृश्य रहती है।

प्रवचनसारोद्धार में वर्णित केवलीलब्धि के स्थल पर आवश्यक नियुक्ति मे दो स्वतन्त्र लब्धियो का उल्लेख है—केवलज्ञानलब्धि और केवलीलब्धि : प्रवचनसारोद्धार मे मनःपर्याय के दो भेद के आधार पर विपुलमति एवं ऋजुमति इन दो लब्धियो का वर्णन हुआ है, जब कि आवश्यकनियुक्ति के अनुसार इन दोनो के बदले मन पर्याय नामक एक ही लब्धि का उल्लेख है। प्रवचनसारोद्धार मे उल्लिखित क्षीरमधुर सर्पिरास्रव नामक एक लब्धि के बदले आवश्यकनियुक्ति मे मध्वास्रव, सर्पिरास्रव तथा क्षीरास्रव इन तीन लब्धियो का उल्लेख है। प्रवचनसारोद्धार की चारणलब्धि आवश्यकनियुक्ति में 'आकाशगमित्व' की संज्ञा से अभिहित है। प्रवचनसारोद्धार मे वर्णित गणधर तथा शीतललेश्या नाम की लब्धियाँ आवश्यकनियुक्ति मे नही पाई जाती।

वस्तुत. लब्धियाँ यौगिक साधना से ही उत्पन्न होती हैं, फिर भी इन लब्धियो के व्यामोह से योगी को अलग ही रहने का आदेश है, क्योंकि योगी का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार करना अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति होता है, न कि लब्धियो के द्वारा चमत्कार प्रदर्शित करना। हाँ, इन लब्धियों का

उपयोग योगी अपने आत्मगुणो के विकास के लिए अनासक्तभाव से कर सकता है।

वैदिक योग में कैवल्य अथवा मोक्ष

उपनिषद्, गीता, पुराण, योगदर्शन, योगवासिष्ठ आदि वैदिक ग्रन्थों मे वताया गया है कि जव योगी चित् को पूर्णतः विशुद्ध वना लेता है, तव केवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष-प्राप्ति के अनेक उपाय भी निर्देशित हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान (चौथे, पाँचवें अध्याय में) किया गया है। फिर भी यहाँ मोक्ष की स्थिति एवं प्राप्ति के सम्बन्ध में सक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा। अमृतविन्दूपनिषद्[1] में मनावरोध को मोक्ष का उपाय वतलाते हुए योग के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त करने[2] तथा मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है। ध्यानविन्दूपनिषद्[3] एवं योगचूडामण्युपनिषद्[4] के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर मोक्षद्वार का भेदन होता है। योगदर्शनानुसार जीवात्मा का सृष्टि के साथ कर्ता व भोक्तापन का सम्बन्ध अथवा पुरुष व प्रकृति का संयोग ही दु ख का कारण है।[5] आगे कहा है कि द्रष्टा या पुरुष और मन के सयोग का कारण अविद्या है,[6] और उस अविद्या के वन्धन को तोडने के लिए योग के अनेक उपाय हैं। वासना, क्लेश और कर्म ही ससार है अथवा ससार के कारण हैं। अत. इन वासनाओ को पूर्णतः नष्ट करके स्व-स्वरूप मे अवस्थित हो जाना ही मोक्ष अथवा कैवल्य है।[7] दूसरे शब्दों मे वासना का क्षय ही मोक्ष अथवा जीवन्मुक्ति है,[8] अथवा मन और पुरुष की

---

१. अमृतविन्दूपनिषद् १।५

२ योगात्सजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योग. प्रवर्तते।

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, १९

३. ध्यानविन्दूपनिषद्, ६५-६९

४. योगचूडामण्युपनिषद्, ३६-४४

५ योगदर्शन, २।१७

६. तस्य हेतुरविद्या।—वही, २।२४

७. तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्। वही, १।३

८ वासना प्रक्षयो मोक्ष सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। —विवेकचूडामणि, ३१८

समान शुद्धि ही कैवल्य है।[१] मोक्ष, वाणी तथा मन से अर्थात् तर्क-वितर्क से परे अथवा अगोचर है।[२]

मोक्ष के प्रसग में जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त का भी उल्लेख हुआ है।[३] जीवन्मुक्त वह अवस्था है, जिसमे शरीर नाश के पूर्व केवल प्रारब्ध कर्मो का भोग ही शेष रहता है। पुन. शरीर नष्ट होने पर, जब जन्म की सम्भावना ही नही रहती, उस स्थिति को विदेहमुक्त कहा गया है। सांख्यदर्शनानुसार[४] योगी जब संचित तथा क्रियमाण कर्मो को नष्ट कर देता है तथा प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त हो जाता है अर्थात् सत्व, रज एवं तम के कार्य बन्द हो जाते हे, तब उस योगी को विदेहमुक्त कहते हैं। ऐसी ही स्थिति मे पुरुष दु खो से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृति के द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है।

बौद्ध-योग में निर्वाण

बौद्ध-योग मे कर्म को संसार की जड बताते हुए कहा है कि वह कभी पीछा न छोड़ने वाली मनुष्य की छाया के समान है[५] अर्थात् कर्मो से विपाक प्रवर्तित होता है और स्वयंविपाक कर्म सम्भव है तथा कर्म से ही पुनर्जन्म अथवा संसारचक्र प्रारम्भ होता है।[६] इसलिए कर्म अथवा संसार से विमुक्त होने के लिए बौद्धयोग मे आचारतत्व, अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत शील एव समाधि का सतत अभ्यास करने का निर्देश है,[७] जिनके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१ सत्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। —योगदर्शन, ३।५५

२ यतो वाचो निवर्त्तन्ते आप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चेनेति। —तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४।१

३. योगकुण्डल्युपनिषद्, ३।३३-३५, ध्यानविन्दूपनिषद्, ८६-९०,
योगशिखोपनिषद्, १५७-६०, योगवासिष्ठ, ३।९।१४-२५

४. साख्यकारिका, ६६-६८

५. मिलिन्दप्रश्न, ३।२।१६

६. कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एव लोको पवत्ततीति। —विसुद्धिमग्ग

७. विसुद्धिमग्ग, १६।६८

बौद्ध-योग के अनुसार निर्वाण एक आध्यामिक अनुभव है, जिसकी प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकास अर्थात् चित्तशुद्धि अपेक्षित है, क्योकि चित्तशुद्धि अथवा जीवन की विशुद्धि ही निर्वाण है।[1] निर्वाण की अवस्था मे, कोई चित्तमल नही रहता अर्थात् यह सम्पूर्ण कर्मक्षयो के कारण होने वाली अन्तिम भूमिका है। यही कारण है कि जो साधक अथवा योगी इस अवस्था मे पहुँचता है, उसे किसी भी प्रकार की आकांक्षा नही रहती, संसार में पुन लौटने का भय नही होता तथा वह परमसुख या आनन्द प्राप्त करता है।[2]

निर्वाण की स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं बुद्ध ने कोई निर्णयिक उत्तर न देकर उसे अव्याकृत कहा है। लेकिन उनके बाद आचार्यो ने दीप-निर्वाण का आधार लेकर निर्वाण विषयक अनेक प्रश्नो का समाधान किया है। मिलिन्दप्रश्न के अनुसार निर्वाण का स्वरूप इस प्रकार है—तृष्णा के निरोध से उपादान का, उपादान के निरोध से भव का, भव के निरोध से जन्म का और पुनर्जन्म रुक जाने से बूढा होना, मरना, शोक, दु ख, बेचैनी, परेशानी आदि सभी प्रकार के दु ख समाप्त हो जाते हैं।[3] तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि ससार की जड तथा साधक (योगी) के मन को चञ्चल बनाने के कारण हैं, जिनसे विविध प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है। अतः राग-द्वेष, मोह आदि का क्षय कर देना ही निर्वाण है।[4] दूसरे शब्दो मे जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने पर दीपक जलता है और उनके अभाव मे वह बुझ जाता है, उसी प्रकार शरीर छूटने पर अर्थात् मरने के बाद अनासक्ति के कारण अनुभव की गई ये वेदनायें शान्त पड़ जाती हैं।[5] निर्वाण की स्थिति मे दु ख का लेश भी नही रहता,[6] बल्कि वह स्थिति आनन्द की अत्यधिक पराकाष्ठ

---

१ विसुद्धीति सब्बमलविरहित अच्चन्तपरिसुद्ध निब्बाण वेदितव्य।
—विसुद्धिमग्ग, १।

२. निब्बानं परम सुखं। —धम्मपद, १५।८

३. मिलिन्दप्रश्न, पृ० ८९

४. छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानामेहिसि। —धम्मपद, २५।१०

५ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५०१

६. मिलिन्दप्रश्न; पृ० ३८६

है। वह स्थिति इन्द्रियो, काल आदि से परे है और केवल मन द्वारा जानी जा सकती है।[1]

वैदिक योग की ही भाँति बौद्धयोग मे भी निर्वाण के दो प्रकार वर्णित हैं—(१) सोपाधिशेष अर्थात् जीवन्मुक्ति तथा (२) अनुपाधिशेष अर्थात् विदेहमुक्ति। उपाधि का अर्थ यहाँ स्कन्ध है। पाँच स्कन्धो के शेष हो जाने पर सोपाधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है और इन स्कन्धो का निरोध हो जाने पर अनुपाधिशेष निर्वाण प्राप्त किया जाता है।[2]

जैन योग में मोक्ष :

जैन योग में मोक्ष का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मानव आत्मविकास की क्रमशः सीढ़ियो को पार करता हुआ शुद्ध आत्म स्वरूप की स्थिति तक पहुँचता है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मविकास की वह परम स्थिति ही मोक्ष है। इसे पाने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की एकरूप परिपूर्णता अपेक्षित है, जो योग का ही आनुषंगिक रूप है। क्योकि रागादिभावो से युक्त होने पर आत्मा चतुर्गतियो मे भ्रमण करता है और जब यह भ्रमण यानी मन का व्यापार रुक जाता है तब समस्त कर्मो का आवागमन रुक जाता है और आत्मा स्वभावत निजस्वरूप मे स्थित हो जाता है।[3] तेरहवें गुणस्थान अथवा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान मे योग (क्रिया) की प्रवृत्ति रहने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति होते हुए भी मुक्ति नही होती। अतः जब सम्पूर्ण योग (क्रिया) निरोध रूप चारित्रपूर्ण होता है, तभी मुक्ति होती है।[4] इस प्रकार ससार-बन्धन एवं उसके कारणो का सर्वथा अभाव तथा आत्मविकास की पूर्णता ही मोक्ष है अर्थात् सवर एव निर्जरा द्वारा कर्मो का सम्पूर्ण उच्छेद ही मोक्ष है[5] क्योकि संवर द्वारा जहाँ आत्मा में नये

१ वही, पृ० ३३२

२. विसुद्धिमग्ग, १६।७३

३. भणिदे मणुवावारे भमंति भूयाइ तेसु रायादी।
ताण विरामे विरमदि सुचिरं अप्पा सरुवम्मि। —ज्ञानसार, ४६

४. स्थानाग-समवायाग, पृ० १५९

५. (क) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसक्लेश वर्जित.। —पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका, २२
(ख) बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्।
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष.। —तत्वार्थसूत्र, १०।२-३,
(ग) आप्तपरीक्षा, ११६

कर्मों का प्रवेश सर्वथा रुक जाता है वहाँ निर्जरा से संचितकर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाता है और तभी जीव (आत्मा) अनन्त सुख का अनुभव करता है।

ससार बन्धन का कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (प्रवृत्ति) है और इन्ही कारणो से जीव अपनी विवेकशक्ति को खोकर भ्रान्ति की अवस्था मे ससार की सभी वस्तुओ को अपनी समझने लगता है, जो ससार भ्रमण का हेतु है। मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से जीव को केवलज्ञान प्राप्त होता है।[1] केवलज्ञान की यह अवस्था ही जीव की अरिहन्त अवस्था है और इस अवस्था में मन, वचन और काय के योग मे से सूक्ष्मकाय-योग का व्यापार चलता रहता है। अतः अरिहन्त ससारावस्था को पार करके भी संसार मे रहते हैं और इसीलिए उन्हे जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। इस अवस्था को पार करने के लिए चार अघातिया कर्मो का पूर्णत क्षय करना होता है और जब आत्मा अर्थात् जीव अन्तिम शुक्लध्यान में सूक्ष्मकाययोग अर्थात् अल्प शारीरिक प्रवृत्ति का भी सर्वथा त्याग कर देता है तब वह अचल, निरापद, शान्त, सुख स्थान को पा जाता है जिसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। यह सुमेरु-पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग-निरोध अवस्था है। इस शैलेशी अवस्था मे आत्मा अत्यन्त विशुद्ध रहती है और वहाँ किसी भी प्रकार की इच्छा-अनिच्छा का सम्बन्ध ही नही होता।

इस सन्दर्भ मे, यह ध्यातव्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्ता-धर्ता, गुरु[2] अर्थात् अपने प्रति स्वयं उत्तरदायी है। सम्पूर्ण कर्मो का नाश होने पर आत्मा स्वय ही सिद्धावस्था को प्राप्त होती है तथा एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग मे स्थित हो जाती है[3] जहाँ किसी प्रकार का रागभाव[4] न होने के कारण सर्वदा समता-

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्वार्थसूत्र, १०।१

२ नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत.। —समाधितन्त्र, ७५

३ (क) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। —तत्त्वार्थसूत्र, १०।५
(ख) कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या स्वभावत।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति। —तत्त्वानुशासन, २३१

४ द्वेषस्याभावरूपत्वाद् द्वेषश्चैक एवहि।
रागात् क्षिप्र क्रमाच्चात परमानन्दसभवः। —पूर्वसेवाद्वात्रिंशिक, ३२

भाव से परमानन्द का अनुभव करती हुई अचल रहती है।[1] ऐसी स्थिति मे, मुक्त होने के कारण, आत्मा का कर्म द्वारा शरीर निर्माण नही होता,[2] लेकिन उसका आकार प्राय. उस शरीर जितना ही रह जाता है, जिसे त्याग कर वह मुक्त हुआ है।[3]

इसी सिलसिले मे यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि आत्मा जब तक ससार-बन्धन में रहती है तब तक वह नामकर्म के उदय के कारण सकोच-विस्तार शरीर धारण करती है और मुक्त होने पर, अशरीरी बन जाती है। लेकिन आत्मा जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त करती है, उसका १।३ भाग (मुख, नाक, पेट आदि खाली अगो मे) पोला होता है, बाकी २।३ भाग मे उस जीवात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्ध स्थान मे व्याप्त हो जाते हैं, जिसे अवगाहना कहते हैं।[4] इस तरह अनन्त जीव उस लोकाकाश के प्रदेशो मे विराजमान होने पर भी परस्पर अव्याघात रहने से, एक दूसरे से, मिलकर अभिन्न नही हो जाते। प्रत्येक जीव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है। ऐसी ही आत्मा ससार मे पुनरागमन नही करती क्योकि वह वीतराग, वीत-मोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश मे जैसे अनेक दीपो का प्रकाश समा जाता है, उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र मे अनन्त सिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धो मे अगुरुलघु का गुण भी होता है, जिसके कारण न वह लोहे के समान गुरुता के कारण नीचे आने को विवश होता है और न रूई की तरह हलका होने से वायु का अनु-सरण ही करता है।[5]

इस प्रकार सिद्धात्मा शरीर, इन्द्रिय, मनविकल्प एवं कर्मरहित होकर अनन्तवीर्य को प्राप्त होता है और नित्य आनन्द स्वरूप मे लीन

---

१. मुक्त्युपायेषु नो चेष्टामलनायैव यतत. । —मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिशिका. १

२ शरीर न स गृह्णाति भूय. कर्म-व्यपायत. ।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति । —योगसारप्राभृत, ७।१९

३ तत्त्वानुशासन, २३२-३३

४ उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।६४

५. बृहद्द्रव्यस ग्रह, १४

हो जाता है।[१] आत्मा की यह सिद्धावस्था कर्ममुक्त, निराबाध, संक्लेश रहित एवं सर्वशुद्ध होती है,[२] जहाँ निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, संशय, शोक-मोह, जरा, जन्म-मरण, क्षुधा, तृष्णा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर आदि दोष नही रहते हैं। इस अवस्था मे आत्मा मे न संकोच का भाव होता है न विस्तार का। आत्मा सदा एक अवस्था में रहती है।[३] वह अनन्तवीर्य एवं लब्धियो की प्राप्ति करके एक अनिर्वचनीय सुखानुभूति का अनुभव करती है। यह सुखानुभूति पार्थिव सुखानुभूति से सर्वथा भिन्न है, जो मुक्त आत्मा को ही प्राप्त होती है।

सभी प्रकार के ससार बन्धनो से मुक्त सिद्ध आत्मा के विभिन्न योग-परम्पराओ में अनेक नाम हैं। ब्राह्मणो ने जहाँ उस सिद्धात्मा को ब्रह्म कहा है, वहाँ वैष्णव, तापस, जैन, बौद्ध, कौलिक आदि ने क्रमश. उसे विष्णु, रुद्र, जिनेन्द्र, बुद्ध, कौल कहा है।[४] वस्तुत. सिद्धावस्था अथवा निर्वाण अनेक नामो से अभिहित होकर भी एक ही तत्त्व का बोधक है।[५]

जैन दर्शनानुसार ईश्वर वह है, जो न इस सृष्टि की रचना करता है और न कृपालु ही है, बल्कि वह अपने ही आत्मस्वरूप मे लीन रहने वाली एक स्वतन्त्र सत्ता है, जो सर्वथा मुक्त होती है। अतः जितने भी जीव मुक्त हो जाते हैं वे सभी ईश्वर अथवा परम-आत्मा हैं। ये सख्या में अनन्त हैं।

---

१ निष्कल. करणातीतो निर्विकल्पो निरजनः।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः। —ज्ञानार्णव ३९।६८

२ एकान्तक्षीणसक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः।
निराबाध सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते। —योगबिन्दु, ५०४

३ ज्ञानार्णव, ३९।६६-६७

४ (क) ब्राह्मणैर्लक्ष्यते ब्रह्मा विष्णु पीताम्बरैस्तथा।
रुद्रस्तपस्विभिर्दृष्ट एष एव निरजन।
जिनेन्द्रो जल्पयते जैनै बुद्ध कृत्वा च सौगतै।
कौलिकै कौल आख्यात स एवाय सनातन।—योगप्रदीप, ३३।३४
(ख) योगदृष्टिसमुच्चय, १३०

५ स सारातीततत्त्व तु पर निर्वाणसंज्ञितम्।
तद्धयेकमेव नियमात् शब्दभेदेऽपि तत्त्वात.। —योगदृष्टिसमुच्चय, १२८

इस प्रकार निर्वाण-प्राप्त अथवा सिद्धावस्था-प्राप्त आत्मा अपने आप मे लीन रहने वाला चिदात्मा है, जो न सृष्टिकर्ता है न विनाशकर्ता है और न ससार का रक्षक ही है। सिद्ध जीव पन्द्रह प्रकार के होते हैं।[1]

१. **जिनसिद्ध अथवा तीर्थंकरसिद्ध**—तीर्थंकर पद प्राप्ति के बाद जो जीव मोक्ष प्राप्त करता है उसे जिनसिद्ध अथवा तीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

२. **अजिनसिद्ध अथवा अतीर्थंकरसिद्ध**—विना तीर्थंकर हुए मोक्ष प्राप्त करनेवाले को अजिनसिद्ध अथवा अतीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

३. **तीर्थसिद्ध**—तीर्थंकर की मुक्ति के वाद उनके तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव को तीर्थसिद्ध कहते हैं।

४. **अतीर्थसिद्ध**—तीर्थङ्कर होने के पूर्व सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीव को अतीर्थसिद्ध कहते हैं।

५. **गृहस्थलिंगसिद्ध**—गृहस्थ-अवस्था में मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव को गृहस्थसिद्ध कहते हैं।

६. **अन्यलिंगसिद्ध**—तापस अथवा परिव्राजक अवस्था में मुक्ति पाने वाले जीव को अन्यलिंगसिद्ध कहते हैं। अर्थात् निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त तापस, परिव्राजक, संन्यासी भी मोक्ष के अधिकारी हैं।

७. **स्वलिंगसिद्ध**—सर्वज्ञ भगवान् के कथित जैनमुनि के वेश में जो जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, उन्हे स्वलिंगसिद्ध कहते हैं।

८ **स्त्रीलिंगसिद्ध**—स्त्री शरीर से मुक्ति पाने वाले जीव को स्त्रीलिंगसिद्ध कहते हैं।

९. **पुरुषलिंगसिद्ध**—पुरुष शरीर से जा जीव मोक्ष प्राप्त करे उसे वह पुरुषलिंगसिद्ध कहते हैं।

१० **नपुंसकलिंगसिद्ध**—नपुसक शरीर से जो जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं उन्हे नपुंसकलिंगसिद्ध कहते हैं।

---

१ (क) जिणअजिणतित्थतित्था गिहिअन्नसलिंगथीनरनपुंसा।
पत्तेयसयबुद्धा बुद्धबोहिक्कणिक्काय। —नवतत्त्वप्रकरण, ५२,
(ख) प्रज्ञापनासूत्र १।९

११. प्रत्येकबुद्धसिद्ध—जो जीव निसर्गत. पौद्गलिक वस्तुओ की क्षणभंगुरता देखकर वैराग्य को प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करता है उसे प्रत्येकबुद्धसिद्ध कहते हैं।

१२. स्वयंबुद्धसिद्ध—जो जीव विना गुरूपदेश के अथवा विना किसी वाह्य निमित्त के पूर्वभव के श्रुतादि के अभ्यास के कारण केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है, उसे स्वयवुद्धसिद्ध कहते हैं।

१३. बुद्धबोधित्वसिद्ध—गुरु के उपदेश से ससार की असारता की तीव्र भावना से वैराग्य एवं कैवल्यज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष पाने वाले जीव को वुद्धबोधित्वसिद्ध कहते हैं।

१४. एकसिद्ध—एक समय मे एक ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है तथा उस समय कोई दूसरा जीव सिद्ध नही होता, वैसे जीव को एकसिद्ध कहते हैं।

१५ अनेकसिद्ध—एक समय में अनेक जीव भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, ऐसे जीवो को अनेकसिद्ध कहते हैं।

उपसंहार

भारतीय चिन्तन की समस्त धाराएँ मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में विश्वास रखती हैं और मोक्ष को स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर समस्त भारतीय दार्शनिको के लिए 'योग' अनिवार्य तत्त्व बन गया है, इसीलिए सब ने मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप मे इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि योग-पद्धति की अक्षुण्ण धारा भारतीय परम्परा और संस्कृति के साथ गतिशील रही है। हाँ, समय-समय पर इसके बाह्य क्रिया-कलापो मे परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी होते रहे हैं, फिर भी मूलतत्त्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नही आ पाया है।

वेद मे जहाँ समाधि के अर्थ मे प्रयुक्त 'योग' शब्द के अस्तित्व का दर्शन होता है तथा ईश्वर से अभय, अमरज्योति तथा विवेक प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है, वहाँ पातञ्जल योगदर्शन में इसे चित्तवृत्ति के निरोध का कारण माना गया है, क्योंकि चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ उन्हे सभी मनोविकारो से हटाकर मोक्षमार्ग की साधना मे लगाना ही है अर्थात् यहाँ योग का सम्बन्ध मोक्ष-प्रापक धर्म-व्यापार के रूप मे स्वीकृत है। जैन योग परम्परा के प्रारम्भ मे योग शब्द पातञ्जलि द्वारा प्रयुक्त योगार्थ से साम्य नही रखता, क्योंकि जैन परम्परा मे मूलतः मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग माना गया है अर्थात् वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन एवं काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का चञ्चल होना ही योग है। आगे चलकर योग शब्द पातञ्जल योगदर्शनसम्मत अर्थ के निकट आता गया। यम-नियमादि का पालन परिणामो की शुद्धि के लिए ही किया जाता है तथा इनका उद्देश्य मन, वचन एवं काय द्वारा अर्जित कर्मो की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि मे समिति, गुप्ति आदि चारित्र का पालन करना उत्तम योग है, क्योंकि इनसे संयम मे वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की विशुद्धावस्था का ही मार्ग है। इसके द्वारा जीव को सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त समाधि, तप, ध्यान, संवर आदि शब्द भी 'योग' के अर्थ मे व्यवहृत होते हैं और योगसाधना के समर्थ अंग भी हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (प्रवृति) ही आस्रव हैं और इन प्रवृतियों का निरोध ही संवर है। इस प्रकार संवर शब्द भी योग-दर्शन के 'योग' शब्द का ही पर्याय माना जा सकता है। जैन योगानुसार तप उस विधि को कहते हैं जिससे बद्ध कर्मों का नाश होता है अथवा वह क्रिया है जिससे आत्मा का परिशोधन होता है। तप शारीरिक एवं मानसिक विकारो को नष्ट करता है, अतः विकारो को नष्ट करने की प्रक्रिया से स्वतः चित्तवृतियों का निरोध हो जाता है। इस दृष्टि से जैनो का 'तप' शब्द भी 'योग' के ही अर्थ को व्यंजित करता है। किसी एक विषय पर चित्त को स्थिर करने को ध्यान कहते हैं तथा उससे निर्जरा एव संवर दोनो ही सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से ध्यान भी योग का ही पर्यायवाची ठहरता है। समाधि की अवस्था मे साधक आत्मस्वरूप मे लीन होता है और यह क्रिया प्रवृत्तियो के निरोध के बिना सम्भव नही। इसलिए 'समाधि' शब्द भी योग के अर्थ मे ही आता है।

जैन योग की आधारगत विशेषताएँ—योग का आधार आचार है, क्योंकि आचार से ही योगी के संयम मे वृद्धि होती है, समता का विकास होता है और अन्ततः इसी से साधक आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचता है। इसीलिए जैनयोग में चारित्र अथवा आचार को विशेष स्थान प्राप्त है। जैन योगानुसार श्रमण के साथ ही साथ श्रावक भी व्रती होते हैं। इसीलिए आचार की दो कोटियाँ निर्धारित हैं—एक साधु अथवा श्रमण-विषयक और दूसरी गृहस्थ अथवा श्रावक-विषयक। श्रमण का आचार पूर्णत. त्यागमय होता है, श्रावक का आचार आंशिक; श्रमण का ध्येय सम्पूर्णभावेन आध्यात्मिक विकास होता है, जबकि श्रावक व्यावहारिक जीवन यापन मे आध्यात्मिक समाधान चाहता है। वैदिक परम्परा मे भी गृहस्थ-जीवन के साथ सन्यास आश्रम को महत्त्व प्राप्त है और उनकी अलग-अलग आचारसंहिताएँ निर्धारित हैं। बौद्ध परपरा मे भी भिक्षु और उपासक की अलग-अलग आचार संहिताओ का विधान है। जैन आचार में विशेषतः श्रमण के नियमो-उपनियमो का सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। योग-साधना के लिए किसी न किसी रूप मे सम्यक् आचारपालन की अपेक्षा होती ही है।

पञ्च महाव्रत—पातंजल योगदर्शनानुसार अष्टांगमार्ग का उद्देश्य मन, इन्द्रियो तथा शरीर की शुद्धि करना है और यम के अन्तर्गत

उसके भेदो का निरूपण भी आचार के अणुव्रत आदि जैसे ही हैं। नियम के भेदो के अन्तर्गत ईश्वरप्रणिधान को छोड़कर शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय जैन एवं बौद्ध योग मे कथित आचार के समान ही हैं। पातञ्जल योगदर्शन मे वर्णित व्रत जाति, देश, काल से परे सार्वभौमिक तथा अविच्छिन्न हैं और जैनयोग मे प्रयुक्त महाव्रत आदि भी इसी व्रत के समान देश, काल और जाति से परे सार्वभौम हैं। पातञ्जल योगदर्शन मे यम के पाँच भेद, बौद्ध दर्शन मे व्यवहृत पञ्चशील और जैनधर्म में प्ररूपित पञ्चमहाव्रत प्रकारान्तर से एक ही सिक्के के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। तीनो परम्पराओ के वे पद एक ही अर्थ के द्योतक है।

अहिंसा की प्रमुखता—जैन आचार के अन्तर्गत अणुव्रत, महाव्रत आदि के द्वारा अनेक प्रकार की हिंसा, परिग्रह आदि का त्याग प्रतिपादित है, क्योकि हिंसा से हिंसा बढती है तथा योगधारणा की प्रक्रिया मे वैराग्य, समता-भाव आदि का विकास नही हो पाता। जैन योगानुसार हिंसा के प्रकारो का प्रतिपादन अत्यन्त सूक्ष्म एव विशदरूप मे हुआ है। वह हिंसा भले ही प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष; स्वयंकृत हो अथवा अन्यकृत अथवा अनुमोदित, मानसिक हो अथवा वाचिक अथवा शारीरिक। हिंसा के कारण किसी न किसी प्रकार रागद्वेषादि दुर्भावनाएं बढ़ती ही हैं तथा उनका चिन्तन योगसाधना को विचलित कर देता है। अतः अहिंसा का प्रतिपालन अनिवार्य माना गया है। इसी प्रकार जैन आचार मे सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन है, जिनसे योग साधना उन्नत होती है। वैदिक परम्परा मे भी अहिंसा आदि व्रतो की अनिवार्यता मानी गई है, लेकिन उसी परम्परा के अन्तर्गत तन्त्रसाधना में मद्य, मांस, मधु आदि का सेवन विहित माना गया है! बौद्ध परम्परा मे हिंसा वर्जित है लेकिन कालान्तर मे तन्त्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। अतः वैदिक और बौद्ध दोनो परम्पराओ की अपेक्षा जैन-योग मे हिंसा का सर्वथा त्याग एक अपनी विशिष्टता है।

ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता—जब तक मन वासनाओ से निवृत्त नहीं हो जाता है तब तक न चित्त की स्थिरता प्राप्त हो सकती है, न धर्म-ध्यान हो सकता है और न योग ही सध सकता है। इसीलिये वासनाओ से विमुक्ति अथवा ब्रह्मचर्य आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्य के सन्दर्भ मे भी अहिंसा की ही भाँति जैन आचार मे तीन योग तथा तीन करण

का विधान है, जिनसे किसी भी प्रकार साधक का मन वासनाओं के प्रति आसक्त न हो। यद्यपि वैदिक परम्परा मे भी अनिवार्य रूप से ब्रह्मचर्य का महत्त्व है, लेकिन तन्त्रयोग में भोग को ही योग का साधन माना गया है। तन्त्रवादियों की दृष्टि मे तर्क दिया जाता है कि इंद्रियों की प्रवृत्तियो का हठात् एवं कृत्रिम निरोध अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक है। योग के साथ भोग का सामंजस्य होना चाहिए। इन वासनामयी इन्द्रियो की तृप्ति होनी ही चाहिए, ताकि योगी का मन साधना में रमे। इसके साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि मैथुन-क्रिया में कामुकता नही होनी चाहिए और न आसक्ति हो। अत तन्त्रवादियों के अतिरिक्त वैदिक परम्परा मे ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता विहित है। बौद्ध परम्परा मे ब्रह्मचर्य का प्रमुख स्थान है। इस सन्दर्भ मे यह स्वीकार किया गया है कि मन की स्थिरता बिना इन्द्रियों के निरोध के नही हो सकती। इसीलिए ब्रह्मचर्य का स्थान पञ्चशील के अन्तर्गत है। जैन परम्परा ब्रह्मचर्य का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करती है और उसमें सम्पूर्ण रूप मे ब्रह्मचर्य पालन की अनिवार्यता है।

तप का महत्व—जैन योग-आचार के अन्तर्गत इन्द्रियो को नियन्त्रित करने के क्रम मे देहदमन अर्थात् तप-मार्ग का निर्देश है, क्योकि विषयों के मूल का उच्छेदन तप से होता है। जैन मतानुसार तप के दो भेद हैं—(१) बाह्य एवं (२) आभ्यंतर। इन दोनो में बताया गया है कि शारीरिक अर्थात् इन्द्रिय दमन के साथ-साथ मानसिक अथवा भावात्मक दमन भी हो।

इन्द्रिय दमन के लिए अनेकविध तप का वर्णन वैदिक योग परम्परा मे हुआ है। गीता में तप के अन्तर्गत सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, अपरिग्रह आदि का विधान है। जैन परम्परा मे सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का विधान अणुव्रत तथा महाव्रत के अन्तर्गत हुआ है। गीता एवं जैन परम्परा में निर्देशित है कि किसी इच्छा अथवा लोभ अथवा कीर्ति के निमित्त तप करना उचित नही है। जैन तप के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, ध्यान तथा कायोत्सर्ग आदि प्रकारान्तर से गीता मे वर्णित शरणागति, गुण, लोकसग्रह, योग आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक परम्परा के चान्द्रायण आदि अनेक तप जैनतप के कायोत्सर्ग से साम्य रखते हैं जिनमें कायक्लेशपूर्वक शक्तिअर्जित करने का विधान है। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे

तप का निषेध है, लेकिन दूसरे शब्दो में तप के अनेक आवश्यक अंगो का विधान भी है, जिनका उद्देश्य अकुशल अर्थात् पाप कर्मो को नष्ट करना है। बौद्ध तप मे विहित अतिभोजन का त्याग तथा एक समय भोजन का विधान जैन तप मे उल्लिखित ऊनोदरी तप ही है। बौद्ध तप के अन्तर्गत रस-शक्ति का निषेध जैन तप का रस-परित्याग ही है। भिक्षाचर्या तथा विविक्तशय्यासन तो दोनो परम्पराओ मे समान ही है। इतना ही नही, प्रायश्चित, सेवाभाव, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओ का निरूपण जैन एवं बौद्ध तप मे समान रूप से हुआ है। इस प्रकार प्रवृत्तियो को संयमित करने एवं शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए तीनो परम्पराओ मे तप का विधान है और कहा गया है कि तप के लिए शून्यागार, जंगल, नदी का किनारा, निर्जन या एकांत स्थान उपयुक्त हो सकते है। तंत्रयोग मे तप अथवा ध्यान का स्थान श्मशान है अथवा वह शव के ऊपर किया जाना विहित है।

गुरु की महत्ता—योगसाधना एकाकी रूप से कभी नही हो सकती, यद्यपि आध्यात्मिक मार्ग स्वानुभव की चीज है, परन्तु जब तक आत्मसिद्धि के अनेक उपायो का परिचय किसी के द्वारा नही होता, तब तक साधक योगी को आध्यात्मिक मार्ग पर चलना सुलभ प्रतीत नहीं होता। इसीलिए योग-मार्ग मे आरूढ होने के पहले दीक्षा-संस्कार का विधान करीब-करीब सभी योग परम्पराओ मे है तथा गुरु का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गुरु जहा नवशिक्षितो का मार्ग दर्शन करता है, यौगिक विधि-विधानों का निर्देशक होता है वहां लब्धियो के प्रति अभिमुख योगियो को चेतावनी देकर सही मार्ग पर लाने का उपक्रम भी करता है।

प्राणायाम की अनावश्यकता—पातंजल योगदर्शन प्राणायाम का उल्लेख करता है, लेकिन योगसाधना के लिए उसे उपयुक्त नही मानता है। हठयोग, नाथयोग आदि प्राणायाम को महत्त्व देते हैं। हठयोग में तो इसके अन्तर्गत नाडियो के द्वारा शरीर शुद्धि की क्रिया को महत्त्वपूर्ण माना गया है। नाथयोग यद्यपि शरीर-शुद्धि के निमित्त प्राणायाम को महत्त्व देता है, तथापि उसे अन्तिम साध्य के रूप मे स्वीकार नही करता। बौद्ध परम्परा में तंत्रयान प्राणायाम को प्रमुख मानता है, इसीलिए तंत्रयान के ग्रन्थो मे उसकी विस्तृत चर्चा हुई है। जैनयोग के अन्तर्गत प्राणायाम का विशेष अर्थ भावशुद्धि के निमित्त हुआ है, लेकिन

योग-साधना की दृष्टि से उसे अनावश्यक माना गया है, क्योंकि इसके क्रम मे श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबंध करना पडता है तथा उसकी प्रक्रिया पूरी करने मे शक्ति एव समय खर्च होता है अर्थात् प्राणायाम करते समय योगी तप-ध्यान मे अपने स्वरूप का चिन्तन-मनन नही कर पाता, तथा बलात् मन को शान्त करने के कारण योगी आन्तरिक पीड़ा का अनुभव करता है तथा चंचल बना रहता है।

ध्यान का वैशिष्ट्य—ध्यान योग का प्रमुख साधन है, जिससे मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। इसका विधान तीनो योग-परम्पराओ मे हुआ है। योगदर्शनानुसार समाधि ही साधना की अन्तिम अवस्था है, जिसके द्वारा योगी चरम लक्ष्य पर पहुँचने में सफल होता है। उपनिषद् एवं गीता में कर्मयोग, भक्तियोग आदि के साथ-साथ ध्यान-योग के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। बौद्ध योग में ध्यान की अनेक प्रक्रियाओ का उल्लेख है, जिनका सम्यक् सम्पादन अपेक्षित माना गया है। जैनयोग मे तो ध्यान का अपना एक विशिष्ट स्थान है। वस्तुत. जैनयोगानुसार ध्यान जहाँ मन की चंचल वृत्तियो को नियत्रित करके मन को स्थिर करता है वहाँ कर्मों की निर्जरा करके साधना को पूर्णता प्रदान करता है। ध्यान के चार प्रकारों मे आर्त्त और रौद्र ये दोनों अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान शुभ है। ध्यान के ये प्रकार एक तरह से मनोवैज्ञानिक हैं, जिनसे मन की कुटिल तथा जटिल समस्याएं सहजतया शान्त होती हैं तथा शुभ विचारो में तारतम्य आ जाता है। ध्यान के अन्तर्गत जप का विधान भी है, जिसके द्वारा मत्रों पदों, शब्दों के माध्यम से ध्यान सिद्ध किया जाता है।

इस प्रकार तीनो परम्पराओं मे ध्यान का उद्देश्य आत्मा की पहचान या साक्षात्कार करना है। जैनयोग मे निर्दिष्ट शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की योगदर्शन और बौद्धयोग के ध्यान से समानता है, साथ ही वैदिक योग परम्परा मे प्रयुक्त अध्यात्म प्रसाद और ऋतंभरा तथा जैन परम्परा के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति मे प्राय. अर्थसाम्यता मालूम पडती है। जैन परम्परा सम्मत शुक्लध्यान मे अरिहत अवस्था अर्थात् केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और योगदर्शनानुसार असम्प्रज्ञात समाधि में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। जैन योग के समुच्छिन्न-क्रिया प्रतिपत्ति भी योगदर्शनसम्मत असम्प्रज्ञात समाधि जैसी है जहाँ सम्पूर्ण सस्कार विनष्ट हो जाते है और जीव विमुक्त हो जाता है।

कर्म-निर्जरा—जैन योग मानता है कि मुक्ति के लिए सम्पूर्ण कर्मो का नाश अनिवार्य है। विना सम्पूर्ण कर्म नाश के आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मा की प्राप्ति सम्भव नही है, क्योकि कर्म और आत्मा का सवध वहुत ही गाढ़ा है, कर्म के ही कारण आत्मा संसार में अनादिकाल से भटकती है। कर्मो का क्षय मोक्ष के लिए आवश्यक है। जैन योगानुसार कर्मो का कर्ता एव भोक्ता आत्मा ही है, इसीलिए आत्मा की मुक्ति की अवस्था मे कर्म से निर्लिप्त रहने का विधान है। कर्मफल भोगने में ईश्वर की कोई आवश्यकता नही है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा में कर्मफल देनेवाला ईश्वर है। साख्य कर्मफल अथवा कर्म-निष्पत्ति में जैन-योग की ही भाँति ईश्वर-जैसे किसी कारण को नही मानता। ससार का कारण जैन मान्यतानुसार कर्म ही है, अनन्त आत्माओ के कर्म अलग-अलग हैं और उन कर्म के फलो को भोगनेवाली वे आत्माएँ भी अलग-अलग हैं। मुक्ति के लिए इन कर्मो का सम्पूर्ण क्षय करना आवश्यक है। सांख्यमत मे प्रकृति-पुरुष का संयोग ही वन्ध है और वह अनादि है। इसके अनुसार मोक्ष प्रकृति का होता है, पुरुष का नही। पातंजल योग-दर्शनानुसार बंध और मोक्ष पुरुष का ही होता है। बौद्धयोग के अनुसार नाम और रूप का अनादि सवध ही संसार है और उसका वियोग ही मोक्ष है। इस प्रकार कषाय अथवा अविद्या, माया, मिथ्यात्व आदि का नाश और आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मस्वरूप की पहचान ही मोक्ष है।

क्रमिक आध्यात्मिक विकास की विलक्षणता—आत्मा मोक्ष अथवा मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति एकाएक नही करती है, बल्कि क्रमक्रम से अपने को विकसित करते हुए पूर्णता प्राप्त करती है। अत. योगी अथवा साधक का चारित्रिक अथवा आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास क्रमश: होता है। आत्मविकास के इस क्रम का समर्थन तीनो परम्पराएँ करती हैं। उपनिषद् में क्रम-मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। पातजल योगदर्शन एव योगवासिष्ठ में इस आध्यात्मिक विकास को भूमिका की संज्ञा से अभिहित किया गया है, बौद्ध योग-परम्परा मे इसे अवस्था कहा गया है तथा जैन-योग मे इसे गुणस्थान अथवा दृष्टि कहा है। जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास का वर्णन अति स्पष्टता एवं सूक्ष्मता से हुआ है। आत्मविकास की क्रमिक अवस्था में अज्ञान अथवा मिथ्यात्व ही बाधक है और इसी के कारण आत्मा कर्मों से जकड़ी रहती है। ज्यों-ज्यों कर्मो

का व्युच्छेद होता है, त्यो-त्यो आत्मा अपने गुणों से अवगत होती जाती है और उसे सत्य एव असत्य वस्तु की पहचान भी होती जाती है। आठ कर्मों में से चार घातिया कर्मों का व्युच्छेद करके आत्मा सर्वज्ञ की स्थिति को प्राप्त करती है, इसे अरिहंत अवस्था कहते हैं। यह अरिहत आत्मा अन्य मुमुक्षु जीवो को आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश करती है तथा सम्पूर्ण लोक के वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् काल को युगपत देखती-जानती है। इस अवस्था को पातजल योग-दर्शन मे सर्वज्ञ अवस्था कहा गया है, जो सम्प्रज्ञात समाधि के बाद प्रारम्भ होती है। लेकिन बौद्ध योग मे इस सर्वज्ञवाद का प्रतिवाद किया गया है और तर्क दिया गया है कि कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ होने का दावा नही कर सकता, क्योकि सर्व वस्तुओ का युगपत् ज्ञान कोई भी नही रख सकता।

मोक्ष—सर्वज्ञ अथवा अरिहत अवस्था के बाद आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त होती है, जहाँ शेष चार अघातिया कर्मो का भी क्षय हो जाता है। इस अवस्था मे शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी रुक जाती है और आत्मा लोक के अग्रभाग मे पहुँच जाती है, जहा उसका अपना स्वतंत्र और शाश्वत अस्तित्व रहता है। वह जन्म-मरण से छूट जाती है।

मनुष्य की पूर्ण प्रतिष्ठा—वैदिक योग ईश्वर की स्वतंत्र सत्ता मे विश्वास रखता है। जैनयोग वैसा नही मानता है, क्योकि उसकी मान्यता है कि प्रत्येक जीव या आत्मा ही ईश्वर या परमात्मा बन सकता है। अज्ञान अथवा मिथ्यात्व के कारण ही जीव अपनी शक्ति को पहचान नही पाता। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से जब वह आत्म-साक्षात्कार कर पाने मे समर्थ होता है, तब ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार योग द्वारा साधक आत्म-शक्ति की पहचान करता है और किसी बाहरी शक्ति को आत्मसात् नही करता। योग साधना के क्रम मे योगी को अनेक लब्धियो की प्राप्ति होती है, लेकिन वह उनका प्रयोग अपनी लोभवृत्ति की पुष्टि के लिए नही करता। योग के क्रम मे परचित-मनोविज्ञान की भी प्राप्ति होती है जिसके द्वारा योगी दूसरो के मन की बात समझ सकने मे समर्थ होता है। इस परज्ञान को ही जैनयोग मे मन पर्यायज्ञान कहा गया है।

योग की विभिन्न परम्पराओ मे विभिन्न मार्गो का अवलम्बन किया जाता है। कोई ज्ञानयोग की प्रमुखता मानता है तो कोई क्रियायोग

की, तो कोई भक्तियोग की। गीता मे विभिन्न योग-मार्गों का वर्णन है। वेदान्तदर्शन ज्ञानयोग पर जोर देता है। बौद्ध-परम्परा मे ज्ञान के साथ क्रियायोग का समन्वय किया गया है, परन्तु जैन योग मे क्रिया-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, समतायोग, ध्यानयोग आदि सभी को अपेक्षा भेद से स्वीकार किया गया है।

पारिभाषिक शब्दों की विशिष्टता—जैन-योग मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो का भी अपना विशेष महत्व है, क्योकि इनका प्रयोग जैन परम्परा के वाङ्मय मे ही उपलब्ध है। जैसे 'पुद्गल' शब्द को लें। जैनयोग के अनुसार इस शब्द का अर्थ जड वस्तु है, लेकिन बौद्ध योग में इसका प्रयोग आत्मा एव चेतन के अर्थ मे है। परीषह, आस्रव एव कायोत्सर्ग शब्द जैन परम्परा के अपने शब्द हैं, जिनका उपयोग अन्यत्र नही मिलता।

इस प्रकार जैन योग अन्य योग परम्पराओ से साम्य रखते हुए भी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताओं का प्रतिपादन करता है, जिनका सम्बन्ध उसकी अपनी आधार-भूमि से है। चूँकि जैनयोग का मूल आधार श्रमण संस्कृति है, इसीलिए स्वभावत: इसकी योगविषयक प्रक्रिया मे चारित्रिक और आध्यात्मिक गठन एव उन्नयन की पृष्ठभूमि अन्य परम्पराओ से अधिक स्थिर और सुविस्तृत है।

●

सहायक ग्रन्थ-सूची

(अ)

अंगुत्तरनिकाय, प्रथम भाग, अनु० भदन्त आनंद कौसल्यायन, प्रका० महाबोधि सभा, कलकत्ता, ई० स० १९५७

अथर्ववेद-सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग ४२, मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड प्रेस, लंदन, १८९७

अध्यात्मकमलमार्तण्ड, राजमल्ल, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सन् १९४४

अध्यात्मतत्त्वलोक, न्यायविजय, हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन, ई० स० १९४३

अध्यात्मोपनिषद्, यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर, वि० सं० १९९४

अध्यात्मसार, यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर, वि०सं० १९९४

अध्यात्मरहस्य, पं० आशाधर, वीरसेवामंदिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९५७

अध्यात्म विचारणा, प० सुखलाल संघवी, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, ई०स० १९५८

अभिधर्मकोश, वसुबन्धु, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, वि०सं० १९८८

अभिधान चिन्तामणि, हेमचंद्र, देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, १९४६

अभिधान राजेन्द्रकोश, भा० १-७, विजयराजेन्द्र सूरि, अभिधान राजेंद्र प्रचारक सभा, रतलाम, १९३४

(आ)

आचारांगसूत्रम्, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, सन् १९५७

आत्मसाक्षात्कार (मराठी), अनु० चंद्रकला हाटे, पाप्युलर प्रकाशन, बम्बई, १९६६ ई०

आत्मरहस्य, रतनलाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९४८ ई०

आत्मानुशासन, गुणभद्र, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि०सं० १९८६

आदिपुराण, (महापुराण) भा०१, जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५१

आध्यात्मिक विकास क्रम, पं० सुखलाल संघवी, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, सन् १९२८

आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्ति, मुनि विद्यानन्द, प्रकाशक जैन साहित्य प्रसारक, बम्बई, वी० नि० सं० २४५७

आरोग्य, वर्ष २२, अंक २, अगस्त, १९६८, गोरखपुर

आरुणिकोपनिषद् (एक सौ आठ उपनिषद्), सपा० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, चतुर्थ सस्करण सन् १९३२

आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका, भा० १, भाष्यकार माणिक्यशेखर सूरि, जैन ग्रथमाला, सूरत, सन् १९३९

आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६

आर्हत्दर्शनदीपिका, मगलविजयजी, यशोविजय जैन ग्रथमाला, वी०सं० २४५८

(इ)

इष्टोपदेश, पूज्यपाद स्वामी, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९५४

(उ)

उतराध्ययनसूत्रम्, भा० २-३, अनु० आत्माराम जी महाराज, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथमावृत्ति, १९४२

उपासकाध्ययन, सोमदेवसूरि, संपा-कैलाशचंद्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, ई० सन् १९६४

उपासकदशागसूत्रम्, अनु० आत्मारामजी महाराज, संपा० इन्द्रचद्र शास्त्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् १९६४

(ए)

ऐतरेय उपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रकाशक पाडुरंग जावजी, बम्बई

(ओ)

ओघनिर्युक्ति, द्रोणाचार्यवृत्तिसहित, आगमोदय समिति, मेहसाना

(ऋ)

ऋग्वेद सहिता, सपा० श्री० दा० सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा, सन् १९४०

(क)

कठोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रकाशक-पाडुरग जावजी, बम्बई, सन् १९२२

कर्तव्यकौमुदी भा० २, रचयिता मुनि श्रीरत्नस्वामी, प्रकाशक भैरोदान जेठमल सेठिया, बीकानेर, सन् १९२५

कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन् १९५०
कबीर की विचारधारा, गो० त्रिगुणायत, साहित्यनिकेतन, कानपुर, स० २००९
कर्मग्रन्थ भा० १-५ देवेंद्रसूरि आत्मानन्द जैन मण्डल, आगरा, १९२२

(ग)

गीता का व्यवहार दर्शन, रामगोपाल मोहता, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५१
गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), नेमिचद्र, अनु० मनोहर शास्त्री, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, द्वितीय आवृत्ति, १९२८
गोम्मटसार (जीवकाण्ड), नेमिचद्र, अनु० खूबचंद्र शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई, १९२७
गोस्वामी, (खण्ड १, वर्ष २४, अक १२), गोस्वामी कार्यालय, प्रयाग, १९६०

(च)

चरित्तसार, चामुण्डरायविरचित, प्रकाशक माणिकचद्र दिगम्बर जैन ग्रंथ-माला, बम्बई, वी० स० २४४३

(छ)

छान्दोग्य उपनिषद्, (१०८ उपनिषद्), सपा० वा०ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
छहढाला, प० दौलतराम, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मदिर, सोनगढ, वी० नि० सं० २४८७

(ज)

जिनसहस्रनामस्तोत्र, प० आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०स० २०१०
जीतकल्पसूत्रम्, जिनभद्रगणि, प्रकाशक बबलचंद्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद, वी० नि० स० २४६६
जैन आचार, मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, १९६६
जैन दृष्टिसे योग, मो०गि० कापडिया, महावीर, जैन विद्यालय बम्बई, १९५४
जैनदर्शन, न्यायविजयजी हेमचद्राचार्य जैन सभा, पाटन, सन् १९५६
जैनदर्शन, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला, वाराणसी, सन् १९५५
जैनदर्शन, मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९

जैन-धर्म, पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, भा०दि० जैन संघ, मथुरा, वी०नि०सं० २४७४
जैन-धर्म का प्राण, पं० सुखलाल संघवी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९६५
जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीटिका), कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वी० नि० स० २४८६
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा० १), पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६६
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा०३), मोहनलाल मेहता, प्रका० वही, सन् १९६७
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा० ४), मोहनलाल मेहता एवं ही० रा० कापडिया, प्रका० वही, सन् १९६८

(त)

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य); तत्त्वानुशासन, सिद्धसेन गणी, भा० २, प्रकाशक जीवनचंद साकरचंद झवेरी, सूरत, ई० स० १९३०
तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलंकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, सन् १९४४
तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक प० सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल वर्धा सन् १९५२ (द्वि०आ० पार्श्वनाथ विद्यालय शोधसंस्थान, वाराणसी, सन् १९७६)
तत्त्वार्थसूत्रम्, टीका हरिभद्र, श्रेष्ठी ऋषभदेवजी, केसरीमलजी, जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३६
तैत्तिरीयउपनिषद् (१०८ उपनिषद्), सपा० वा०ल० शास्त्री, प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, १९३२
तन्त्रसार, अभिनव गुप्त, महाराजा जम्मू एण्ड काश्मीर स्टेट श्रीनगर, सन् १९१८
तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त, महाराजा जम्मू एण्ड काश्मीर स्टेट श्रीनगर, सन् १९१८
तपोरत्न महोदधि, संपादक भक्ति विजयजी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, संवत् २००२

(द)

दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलाल संघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९५७
दशवैकालिकसूत्र, श्री शय्यंभवसूरि, अगरचंद भैरोदान सेठिया जैन संस्था, बीकानेर, वी० नि० सं० २४७२

दशाश्रुतस्कन्ध (टीका सहित आत्माराम जी०म०), जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, यशोविजय, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
दीघनिकाय, संपा० जगदीश काश्यप एवं राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम संस्करण, १९३६

(ध)

धम्मपद, धर्मरक्षित, मास्टर खेलाडी लाल ऐण्ड सन्स, बनारस, १९५३
धर्मबिन्दु, हरिभद्र सूरि, आगमोदय समिति, बम्बई, ई०स० १९२४
ध्यानबिन्दूपनिषद्, (१०८ उपनिषद्), संपा० वा०ल० शास्त्री, प्रकाशक पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२
ध्यानशतक, जिनभद्र क्षमाश्रमण, विनयसुन्दर चरणग्रन्थमाला, जामनगर, वि०स० १९९७
ध्यानशास्त्र, रामसेनाचार्य, संपादक जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९६३

(न)

नमस्कारस्वाध्याय (संस्कृत), जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, सन् १९६२
नवतत्त्वप्रकरण, विवेचक भगवानदास हरखचंद, श्री हेमचंद्राचार्य जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद, सन् १९२८
नवपदप्रकरण, यशोपाध्यायरचित, प्रकाशक जीवनचंद साकरचंद झवेरी, बम्बई, सन् १९२७
नवपदार्थ, आ० भिक्षु, हिन्दी अनुवाद श्रीचंद्र रामपुरिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६१
नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी सन् १९६६
न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य), अनु० द्वारिकादास शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६
नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य, सेण्ट्रल जैन पब्लिकेशन हाउस, लखनौ, सन् १९३१

(प)

पंचसंग्रह चन्द्रर्षिमहत्तर, भा० २, संपादक, विजयप्रेमसूरि, प्रका० मुक्ताबाई ज्ञान-मन्दिर, डभोई, गुजरात, सन् १९३७
पंचास्तिकाय, कुन्दकुन्द; रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, वी० स० २४३१

पंचाध्यायी, राजमल्ल, संपा० पं० देवकीनन्दन शास्त्री, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वनारस, वी० नि० सं० २४७६

पद्मनन्दि पर्चविंशति, अनु॰ वालचंद्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९६२

परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मंडल, वम्बई, १९२७

परमार्थसार, अभिनवगुप्त, रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू ऐण्ड काश्मीर, सं० १९७२

प्रमेयरत्नमाला, अनु० जयचन्द्र, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, वम्बई

प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वम्बई, सन् १९३५

प्रवचनसारोद्धार (भा० १-२), नेमिचन्द्रसूरि, देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, वम्बई, सन् १९२२

प्रशमरति-प्रकरण, उमास्वाति, सं० राजकुमार जैन, परमश्रुत प्रभावक मंडल; वम्बई, सन् १९५०

प्रश्नोपनिषद् (१०८ उपनिषद्, वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरग जावजी वम्बई, १९३२

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, आँर्किओलाजिकल ऐण्ड रिसर्च डिपार्टमेंट, श्रीनगर, सन् १९११

प्रज्ञापनासूत्र, मलयगिरि, अनु० भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा भवन, जैन सोसाइटी, अहमदाबाद, सम्वत् १९९१

प्रज्ञापारमिता (भा० १) हरिभद्र, सम्पा० बी० भट्टाचार्य, ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, सन् १९३२

प्राभृतसग्रह, कुन्दकुन्दाचार्य, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१६

पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वम्बई, वी० नि० सं० २४३१

पाहुडदोहा, रामसिंहमुनि, सम्पा० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, वि० स० १९९०

(ब)

वोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, बुद्धविहार, लखनौ, ई० स० १९५५

बौद्धदर्शन और वेदान्त, चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेण्ट्स फ्रेण्डस्, इलाहाबाद, सन् १९४९

बौद्धदर्शन, बलदेव उपाध्याय, प्रथम संस्करण, शारदा मन्दिर प्रकाशन, काशी, सन् १९४६
बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (भा० १-२) भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, स० २०११
बौद्धधर्मदर्शन, आ० नरेन्द्रदेव, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५६ स० २४४६
बृहद्कल्प, अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वी०नि०स० २४४६
बृहदारण्यक (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, १९३२
ब्रह्मविन्दूपनिषद्, वही

(भ)

भगवद्गीता, सुरेशचन्द्र मुखोपाध्याय, कन्ट्रोलर आफ चैरिटीज, अवागढ, सन् १९२३
भगवतीसूत्र, घासीलाल जी महाराज, प्रका० अ० भा० श्वे० स्थान० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१
भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् २०१३
भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, १९५७
भारतीय दर्शन (भा० १), राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९६६
भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, डा० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२
भारतीय संस्कृति और साधना (भा० २), गोपीनाथ कविराज, विहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६३

(म)

मज्झिमनिकाय, राहुल साकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३
मनोनुशासन, आ० तुलसी, जैन भारती, वर्ष २, अक २, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता प्रकाशन, सन् १९६९
महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सवत् २०२१
मिलिन्दप्रश्न, नागसेन, बर्मी धर्मशाला, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९३७
मुण्डकोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), सम्पा० वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरग जावजी, बम्बई, सन् १९३२
मूलाचार, वट्टकेर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी० नि० स० २४४९
मूलाराधना, शिवाचार्य (बलात्कारगण), जैन पब्लिकेशन, कारजा, १९३५

(य)

यशस्तिलकचम्पू, सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०१

योगकुण्डल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, ई० १९३२

योगचूडामणि उपनिषद् वही

योगांक (विशेषांक), कल्याण, भा० १०, अंक १-३, गीताप्रेस, गोरखपुर, सन् १९३५

योगतत्त्वोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पांडुरग जावजी बम्बई, सन् १९२२

योगदर्शन, पतजलि, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०११

योगदर्शन (व्यासभाष्य), ब्रह्मलीन मुनि, सूरत, सन् १९५८

योगदर्शन, सम्पूर्णानन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनौ, ई९ १९६५

योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र विजयकमल केशर ग्रन्थमाला, खम्भात, वि० सं० १९९२

योगप्रदीप, मंगलविजय, हेमचन्द्र सावचन्दशाह, कलकत्ता, वी० स० २४६६

योगप्रदीप, अज्ञात, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, ई० १९६०

योगविन्दु, हरिभद्र, जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, सन् १९११

योगबिन्दु, हरिभद्र,जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा, अहमदाबाद, सन् १९४०

योगमनोविज्ञान, शान्तिप्रकाश आत्रेय, दी इण्टरनेशनल स्टैण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी, सन् १९६५

योगवासिष्ठ, सम्पादक वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका० तुकाराम जावजी, द्वितीय आवृत्ति, बम्बई, सन् १९१८

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, भीखनलाल आत्रेय, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, सन् १९६५

योगविंशिका तथा पातजल योगदर्शनवृत्ति, यशोविजय, संपा० पं० सुखलाल संघवी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२

योगसार, अज्ञात, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, सन् १९६०

योगसार, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९३७

योगसार प्राभृत, अमितगति, सपा० जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६८

योगशतक, हरिभद्र, संपा० इन्दुकला झवेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदावाद, सन् १९५६
योगशास्त्र : एक परिशीलन, अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६३
योगशास्त्र, हेमचन्द्र, ऋषभचन्द जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् १९६३
योगशास्त्र, हेमचन्द्र, अनु० केशरविजय जी, विजय केशर ग्रंथमाला, बम्बई, वि० स० २४५०
योगशास्त्र, हेमचंद्र, संपा० गो० जी० पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद, १९३८
योगी सम्प्रदाय विकृति, अनु० चद्रनाथ योगी, प्रका० शिवनाथ योगी, शाहीबाग, अहमदाबाद, सन् १९२४
योग समन्वय, सच्चिदानन्द सरस्वति महाराज, विश्व शान्ति सघ, दिल्ली, सन् १९५१
योगशिखोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(र)

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समतभद्र, प्रका० माणिकचंद दि० जैन ग्रंथमाला बम्बई, वी० सं० २४५१

(ल)

लाटीसहिता, राजमल्ल, संपा० दरबारीलाल, माणिकचद दि० जैन ग्रथमाला, बम्बई, वि० सं० १९८४
लेश्याकोश, मोहनलाल बाठिया—चोरडिया, डोवरलेन, कलकत्ता, सन् १९६६

(व)

वसुनन्दि श्रावकाचार, सम्पा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२
विंशतिविंशिका, हरिभद्र, सपा० डा० अभ्यकर, आर्यभूषण मुद्रणालय, पूना, सन् १९३२
विशुद्धिमार्ग (भा० १-२), बुद्धघोष, महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् १९५६
विसुद्धिमग्ग, बुद्धघोष, भारतीय विद्या भवन, सन् १९४० ई०
विशेषावश्यक (भा० १-२), जिनभद्र, संपा० दलसुखभाई मालवणिया, ला० द० भारतीय स० विद्यामदिर, अहमदाबाद, सन् १९६६ तथा ६८
विशेषावश्यकभाष्य (भा० ६), जिनभद्र, यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वीर-नि० सं० २४३९

वैदिक योगसूत्र, हरिशंकर जोशी, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस, १९६७
वैशेषिकदर्शन, कणाद, संपा० शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद, सन् १९२४

(श)

शाण्डिल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), संशो० वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२
शान्तसुधारस, अनु० मनसुखभाई की० मेहता, प्रका० भगवानदास म० मेहता, भावनगर, वी० सं० २४६२
श्वेताश्वतरोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पांडुरंग जावजी, बम्बई, ई० १९३२
शैवमत, डा० यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५५

(ष)

षट्खण्डागम (खण्ड ४, पुस्तक ९), संपा० डा० हीरालाल जैन, शि० ल० जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, ई० १९४९
षोडशक प्रकरण, हरिभद्र, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, वी० सं० २४६२

(स)

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, उमास्वाति, मणिलाल रेवाशंकर झवेरी, बम्बई, १९३२
समवायांग, स्थानांगसूत्र, संपा० पं० दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९५५
समवायांग, संपा० मुनि कन्हैयालाल, आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६६
समयसार, कुन्दकुन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५०
समाधितंत्र, पूज्यपाद, संपा० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट सरसावा, सन् १९३९
समाधिमरणोत्साहदीपक, सकलकीर्ति, अनु० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६४
सरमत का सरभंग सम्प्रदाय, धर्मेन्द्र शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, सन् १९५९
स्कन्दपुराण (भा० १), राजा विनेंद्र स्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९६०

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सपा० पं० फूलचंद्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५५

सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६४

स्मृतियाँ (भा० १–२), संपा० रामशर्मा, सस्कृति संस्थान, वरेली, सन् १९६६

संयुक्तनिकाय, जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् १९५४

सागारधर्मामृत (भाग १–२), पं० आशाधर, सरल जैन ग्रंथ भण्डार, जबलपुर, वि० सं० २४८२

सांख्यकारिका, कृष्णमुनि, स्वामी नारायण ग्रथमाला, वडताल, गुजरात, सन् १९३७

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, सपा० डा० ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द्र आश्रम अगास, सन् १९६०

स्थानागसूत्र, सपा० घासीलाल जी महाराज, अ० भा० श्वे० स्थान जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६४–६५

सावयधम्मदोहा

सुत्तनिपात, अनु० भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१

सूत्रकृताग (प्रथम खण्ड), संपा० डा० पी० एल० वैद्य, मोतीलाल प्रकाशन, पूना, १९२८

सेकोद्देशटीका (नाद पाद), ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, १९४१

(ह)

हठयोगप्रदीपिका, थिऑसॉफिकल् पब्लिकेशन हाउस, अड्यार, सन् १९४९

हरिवंशपुराण, जिनसेनाचार्य, सपा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२

हिन्दी विश्वकोश (भाग ९), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सन् १९६७

हेमधातुमाला, गुणविजय, जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, द्वितीयावृत्ति, अहमदाबाद, सन् १९३०

(क्ष)

क्षरिकोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(त्र)

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (१०८ उपनिषद्)—प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(ज्ञ)

ज्ञानसार, पद्मसिंह, टीका० त्रिलोकचन्द, मू० कि० कापड़िया, दिगंबर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० स० २४७०

ज्ञानार्णव शुभचन्द्र, संपा० प० बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति सघ, सोलापुर सन् १९७७ तथा सपा०पन्नालाल बाकलीवाल, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७

ज्ञानेश्वरी (मराठी), संपा० श० वा० दाण्डेकर, प्रसाद प्रकाशन, पूना, सन् १९५३

०

REFERENCES

Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study, K. C. Panday, Chwakhamba Bhavan, Varanasi, 1963

Ethical Doctrines in Jainism, K. C. Sogani, Jain Samskriti Sanrakshaka Sangha, Sholapur, 1967.

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12, Edited J Hastings, New-York, 1921.

Gorakhnath and the Kanafata Yogis, G. W. Briggs, Y. M. C. A. Publishing House, Calcutta, 1938.

History of Ancient India, R. S. Tripathi, Motilal Banarasidass Varanasi, 1960.

Indian Philosophy, Vol. I, Radhakrishan, Gorge Allen and Unwin Ltd (Revised), London, 1929

Jain Yoga, R Williams, Oxford University Press, London, 1963.

Jain Ethics, Dayanand Bhargava, Motilal Banarasidass, Delhi, 1968.

Jain Psychology, Mohanlal Mehata, Sohanlal Jain Dharm Pracharak Samiti, Amritsar, 1955.

Modern Review, August, Calcutta, 1932.

Mohen-Jodaro And the Indus Civilization, Vol I, Sir J. Marshall, London, 1931.

Mysticism in World Religion, Sidney Spencer, Penguina Books Ltd, England, 1963.

Siddha Siddhant Paddhati and other works of Nath Yogis, K Mallik, Poona Oriental Book House, 1954.

Studies in Jain Philosophy, N. Tatia, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951.

The Heart of Jainism, Mrs. S. Stevenson, Oxford University Press, London, 1915.

The Key of Knowledge, C. R. Jain, Allahabad, 1928.

The Brahma Sutra, Radhakrishnan, Gorge Allen and Unwin Ltd., London, 1960.

Tibetan Yoga and Secret Doctrines, Edited, W. Y. Evans Wentz 2nd ed , Oxford University Press, London, 1958.

Viveka Chudamani, Samkaracharya, Advaita Ashram, Almora, 1932.

Yoga System of Patanjali, J. H. Woods, Motilal Banarasidass, Banaras, 1966.

Yoga Philosophy, S. N. Dasgupta, Calcutta University, 1930.

Yoga Philosophy V R. Gandhi, Agamoday Samiti, Bombay, 2nd, ed , 1924.

Yoga Immortality and Freedom, Translated from French by Willard R. Trask, Pantheon Books, New York, 1951.

Yoga, Ernest Wood, Penguin Book Ltd., (Reprint), England, 1965.

Yoga-sastra (Shiva Samhita and Gherand Samihita) ed. B D. Basu, Sacred Book of the Hindus, 2nd ed., Allahabad 1925.

Yogic Poweres And God Realisation, V. M. Bhatt, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1964.

शब्दानुक्रमणिका

तान्त्रिक
मुद्राविज्ञान

वृहद् तान्त्रिक मुद्रा महाविज्ञान

आचार्य पं. राजेश दीक्षित

विद्या वारिधि दैवज्ञ वृहस्पति तन्त्र शिरोमणि

आचार्य पं. राजेश दीक्षित

द्वारा लिखित एवं सम्पादित

तन्त्र-साहित्य

१. हिन्दू तन्त्र शास्त्र

२. मुस्लिम तन्त्र शास्त्र

३. जैन तन्त्र शास्त्र

४. बौद्ध तन्त्र शास्त्र

५. शाबर तन्त्र शास्त्र

६. काली तन्त्र शास्त्र

७. तारा तन्त्र शास्त्र

८. षोड्षी तन्त्र शास्त्र

९. छिन्नमस्ता एवम् भुवनेश्वरी तन्त्र शास्त्र

१०. भैरवी एवम् धूमावती तन्त्र शास्त्र

११. मातंगी एवम् बगलामुखी तन्त्र शास्त्र

१२. कमलात्मिका तन्त्र शास्त्र

१३. सम्पूर्ण दस महाविद्या तन्त्र महाशास्त्र

१४. वृहद् तान्त्रिक मुद्रा महाविज्ञान

वृहद् तान्त्रिक मुद्रा महाविज्ञान

[विभिन्न देवी-देवता की उपासना, आवाहन, नित्य-पूजा, उपचार, जीवन्यास, कर-न्यास, मातृकान्यास, सन्ध्योपासना, बलिदान, होम, ध्यानावेश, शान्ति रक्षण, पंचतत्त्व, योग-साधना तथा अन्य कर्मों में प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न मुद्राओं का सचित्र एवं सर्वाधिक संकलन-कोष]

विद्या वारिधि दैवज्ञ बृहस्पति तन्त्र शिरोमणि

आचार्य पं. राजेश दीक्षित

(विश्व में सर्वाधिक प्रकाशित पुस्तकों के लेखक)

(गिनीज बुक ऑफ वर्ल्डरिकार्ड में नामांकित)

प्रकाशक

दीप पब्लिकेशन

कंचन मार्केट, हॉस्पीटल रोड, आगरा-३

प्रकाशक :

दीप पब्लिकेशन

कंचन मार्केट
अस्पताल रोड, आगरा-3
Ph : 2261220, 2111145

लेखक :

आचार्य पं. राजेश दीक्षित

तृतीय संस्करण :

I S B N—81-87250-23-2

मूल्य : 105/-

लेजर टाइपसेटिंग : *सुमित कम्प्यूटर्स*, आगरा

मुद्रक : *रामकृष्णा प्रेस*, आगरा

VRIHAD TANTRIK MUDRA MAHAVIGYAN

By: Acharya Pt. Rajesh Dixit

दो शब्द

❋ देव-देवी पूजन, न्यास, होम, बलि, संध्या-वन्दन तथा योग आदि की क्रियाऐं करते समय विभिन्न प्रकार की मुद्राओं के प्रदर्शन का विधान भी पाया जाता है। ये मुद्राऐं न केवल देवताओं को प्रसन्न करती हैं, अपितु उनकी कृपा दिलाने, वाह्याभ्यन्तर-शुद्धि, पाप-विनाश तथा मोक्ष-साधन में भी सहायक सिद्ध होती हैं। मुद्राओं के बिना किये गये उपचारों को देवता ग्रहण नहीं करते- अतः मुद्रा-प्रदर्शन का विशेष महात्म्य है।

❋ मुद्राओं का निर्माण हथेली तथा उसकी अंगुलियों द्वारा किया जाता है। विभिन्न ग्रंथों में उनके निर्माण की विधियाँ भी पाई जाती हैं, परन्तु सम्पूर्ण अथवा अधिकाधिक मुद्राओं का एकही स्थान पर सचित्र ध्यान कराने वाली कोई पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं थी। प्रस्तुत संकलन उसी अभाव की पूर्ति हेतु किया गया एक प्रयास है। इसमें लगभग २५० मुद्राओं के विवरणों को विभिन्न ग्रंथों से संकलित कर, उनके चित्र भी तैयार कराये गये हैं। इस प्रकार हिन्दी में मुद्रा विज्ञान विषयक यह सबसे पहली और बड़ी पुस्तक है। आशा है, मुद्रा-विज्ञानियों के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगी।

❋ मुद्राओं के विवरण के आधार पर उनके चित्र तैयार कराने में यद्यपि सावधानी बरती गई है, तथापि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञजन उसकी सूचना देने की कृपा अवश्य करें ताकि पुस्तक के अगले संस्करण में उसका निराकरण किया जा सके।

❋ अन्त में, जिन ग्रंथों तथा अन्य सूत्रों से प्रस्तुत ग्रंथ के लिए सामग्री-संचय में सहायता प्राप्त हुई है, उन सभी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं

--राजेश दीक्षित

समर्पण

सुख संचारक कम्पनी, मथुरा के संचालक,

धर्मनिष्ठ, साहित्यानुरागी, अनुज-तुल्य, आत्मीय,

पं. कीर्तिपाल शर्मा

को

सस्नेह

विषय-सूची

क्रमांक		पृष्ठांक

क्रमांक | पृष्ठांक

११

वृहद्
तान्त्रिक मुद्रा महाविज्ञान

मुद्रा-प्रशंसा

मोदनात् सर्वदेवानां द्रावणात् पापसन्ततेः।
तस्मान्मुद्रेयमाख्याता सवकामार्थ साधिनीम्।।
मुदं एतीति मुद्रास्यात् येनैका मुष्टिरेव तु।
स्वल्प भेदात् कोप हर्षो प्राणिनां जनयत्यतः।
तेनैव सर्वदेवानां मुद्रा हर्षप्रदा मता।।

-यामल तन्त्र

X X X X

मुद्राभिरेव तृप्यन्ति न पुष्पादिक पूजनैः।
महापूजा कृतातेन येन मुद्राष्टकं कृते।।

-मेरू तन्त्र

X X X X

मुद्रा विना तु यज्जाप्यं प्राणायाम सुरार्चनं।
योगोध्यानासनं चापि निष्फलांनि तु भैरव।।

- कालिका पुराण

X X X X

नादीक्षितस्तु रचयेत् क्षुभ्यन्ति हि देवताः यस्मात्।
मुद्राः भवन्ति विफलाः सोऽपिरोगीदरिद्रःस्यात्।।

-मन्त्र दर्पणम्

X X X X

मुदं राति वदातीति मुद्रा।
अतएव तद्दर्शनेन देवता हर्षोत्पत्तिः।।

-राघव भट्ट

१. मुद्राओं के विषय में

मुद्राएँ– 'मुद्रा' शब्द का सामान्य अर्थ है– आकृति अर्थात् विभिन्न प्रकार की आकृतियों को मुद्रा कहा जाता है। ये आकृतियां धातु, प्रस्तर, काष्ठ, मृत्तिका अथवा अन्य किसी भी पदार्थ से निर्मित हो सकती हैं तथा मानव द्वारा स्व-अङ्गों से निर्मित स्थायी और अस्थायी भी। धातुओं के सिक्के अथवा कागज पर छपे हुए नोटों को भी मुद्रा कहा जाता है किसी प्रकार का चिन्ह अंकित करने वाली वस्तु को भी मुद्रा कहते हैं। चित्र मूर्ति आदि में अंकित विभिन्न प्रकार की भाव-भंगिमायें भी मुद्रा कहलाती हैं। परन्तु हमारा प्रतिपाद्य विषय इन मुद्राओं से भिन्न है अर्थात् इस पुस्तक में जिन मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, वे धार्मिक-कर्मकाण्ड अथवा तान्त्रिक-अनुष्ठान आदि करते समय हाथ और उसकी अंगुलियों द्वारा बनाई जाती है। कार्य-कारण तथा कामना के उद्देश्य से इन आकृतियों के अनेक स्वरूप निर्धारित किए गये हैं तथा उन्हें विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है।

आप्त-वचन– हाथ की अँगुलियों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली मुद्राओं के विषय में शास्त्रों में जो आप्त-वचन पाये जाते हैं उनका सारांश निम्नानुसार है–

मुद्रा-प्रदर्शन से देवता प्रसन्न होते हैं तथा इनके माध्यम से साधक को देवता का सामीप्य-लाभ मिलता है। केवल देवता ही क्यों, मुद्राएँ राक्षसों को भी अनुकूल बना देती हैं। मुद्राओं में मूर्छित व्यक्ति को चेतन्य तथा रोगी को स्वस्थ बनाने की सामर्थ्य पाई जाती है। इनके कारण 'पूजा' 'महापूजा' बन जाती है। इन्हें मोक्ष-प्राप्ति का एक सोपान भी माना गया है।

मुद्रा-रहित पूजन-अर्जन, जप, ध्यान, योग, प्राणायाम आदि की सभी क्रियाएँ निष्फल भी मानी जाती हैं।

पंचतत्त्व की प्रतीक– हाथ की पाँचों अँगुलियों को पंचतत्त्वात्मक माना जाता है। पहली अँगुली को तर्जनी, प्रवेशिका, प्रदर्शिनी तथा पितृ-पूजक कहा जाता है। दूसरी अँगुली को मध्या, मध्यमा तथा जप-करणी कहते हैं। तीसरी अँगुली को अनामा, अनामिका अथवा प्रान्तवासिनी नामों से संबोधित किया जाता है। चौथी अर्थात् अन्तिम सबसे छोटी अँगुली को कनिष्ठा-कनिष्ठिका, अन्तगा, अन्त्यजा, स्वल्पा, साध्वी एवं रत्नी कहते हैं। अँगूठे को ज्येष्ठा, वृद्धा, अङ्गुष्ठ तथा भू-पूजक नाम दिए गए हैं।

मणिबन्ध अर्थात् कलाई से कनिष्ठा तक के भाग को 'हाथ' कहा जाता है। इसके अग्रभाग को पाणि, शय, हथेली अथवा पंचशास्त्र कहते हैं। हाथ की अँगुलियों को सम्मिलित रूप में कर-शाखा अथवा कर-पल्लव की संज्ञा दी गई है।

हाथ की पाँचों अँगुलियों (चार अँगुली तथा एक अँगूठा) को पंचतत्त्व का प्रतीक कहा गया है। तर्जनी अँगुली वायुतत्त्व का, मध्यमा अग्नि तत्त्व का, अनामिका जल तत्त्व का तथा कनिष्ठा पृथ्वी (भू) तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। अँगूठे को आकाश तत्त्व का प्रतिनिधि माना जाता है।

उक्त पंचतत्त्वात्मक अँगुलियों द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली मुद्राओं द्वारा जब विभिन्न तत्त्वों का परस्पर संयोग होता है, तब उनसे सन्तुष्ट होकर देवतागण मुद्रा-प्रदर्शित करने वाले साधक को अपनी कृपा प्रदान करते हैं अतः मुद्राओं को देवता की प्रसन्नता का साधन कहना ही अधिक समीचीन है।

मुद्राओं से पाप-समूह नष्ट होते हैं, देवताओं का सान्निध्य प्राप्त होता है तथा आध्यात्मिक-उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है।
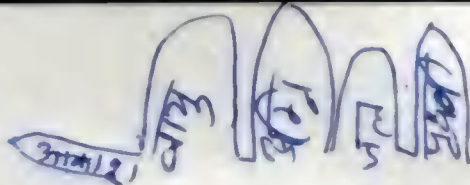
मुट्ठी और तीर्थ– जब सभी अँगुलियों को समेट कर हथेली में बन्द कर लिया जाता है, तब उसे 'मुष्टिका' अथवा 'मुट्ठी' कहा जाता है। जिस अँगुली में कनिष्ठा सहित सभी अँगुलियाँ हथेली में बन्द करली जाती हैं, उसे 'रत्नी' कहते हैं, परन्तु जिसमें कनिष्ठा अँगुली को बाहर रखते हुए अन्य सब अँगुलियों को बन्द किया जाता है उसे 'अरत्नी' कहते हैं।

हथेली को 'कर-तल' तथा हथेली के पृष्ठभाग को 'कर-पृष्ठ' कहा जाता है।

हथेली के प्रारम्भ में, अँगूठे के कुछ नीचे भाग में 'आत्मतीर्थ', हथेली के अन्त में अँगुलियों के ऊपर 'परमात्म-तीर्थ, हथेली के उत्तरी भाग में कनिष्ठा से थोड़ा नीचे 'देव-तीर्थ' तथा दक्षिणी भाग में तर्जनी एवं अँगूठे के मध्यम में 'पितृ-तीर्थ' की अवस्थिति मानी गई है।

सावधानी– मुद्राओं का प्रयोग यथाविधि करना आवश्यक है। गलत-मुद्राओं का प्रयोग लाभ के स्थान पर हानिकर सिद्ध होता है। उससे देवता प्रसन्न होने की बजाय रुष्ट भी हो सकते हैं। अतः इस संबंध में सावधानी बरतनी चाहिए।

अगले पृष्ठों पर विभिन्न मुद्राओं के वर्णन के साथ ही उनके चित्र भी दिए गए हैं। इनके माध्यम से मुद्राओं के उचित प्रयोग की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। मुद्राओं के विषय में क्रियात्मक-जानकारी किसी ऐसे अनुभवी व्यक्ति से प्राप्त करना भी आवश्यक है, जो मुद्राओं के प्रयोग में निष्णांत है। 'गुरू-निर्देश के बिना किसी भी विषय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं होता'– यह वाक्य सदैव स्मरण रखने योग्य है।

अगले पृष्ठों में क्रमशः विभिन्न देवी-देवताओं के पूजन-उपचार में प्रदर्शित

की जाने वाली तथा आवहनादि कर्म, न्यास, पूजा, उपासना, शान्ति–रक्षण, बलिदान, होम, सन्ध्या, योग, भोजन आदि के समय प्रयोग में आने वाली विभिन्न मुद्राओं का क्रमशः सचित्र उल्लेख किया गया है। कुछ मुद्राएँ ऐसी भी हैं जो एक से अधिक कर्मों में प्रयुक्त होती हैं। पाठकों की सुविधा के लिए उनकी प्रतिलिपियों को भी यथास्थान प्रदर्शित कर दिया गया है। अन्त में, कुछ ऐसी मुद्राओं का भी उल्लेख किया गया है जिन्हें यथा समय विभिन्न कर्मों में प्रयुक्त किया जाता है। कुछ मुद्राएँ ऐसी भी हैं जो नाम–रूप में एक जैसी अथवा मिलती–जुलती प्रतीत होती हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से उनका उल्लेख भी यथा स्थान किया गया है।

इस ग्रंथ में अधिकाधिक मुद्राओं के विवरण तथा चित्र वर्गीकृत रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विषयों से सम्बन्धित कुछ मुद्राएँ और भी हो सकती हैं। यदि कभी संभव हुआ तो उनका उल्लेख भी अगले संस्करण में किया जा सकेगा।

पद्म मुद्रा

गरुड़ मुद्रा

वनमाला मुद्रा

कौस्तुभ मुद्रा

उन्मादिनी मुद्रा

सर्व विद्राविणी मुद्रा

सर्वमहांकुशा मुद्रा
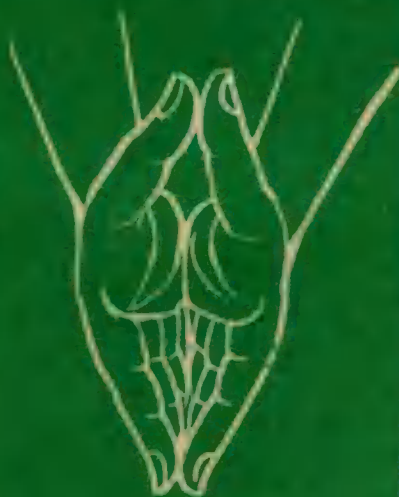
सर्वाकर्षिणी मुद्रा

त्रिखण्डा मुद्रा

व्याख्यान मुद्रा

लक्ष्मी मुद्रा

खड्ग मुद्रा

डमरू मुद्रा

चर्म मुद्रा

पाश मुद्रा

अंकुश मुद्रा

बीजपूर मुद्रा

लड्डूक (मोदक) मुद्रा

चक्र मुद्रा

नारसिंही मुद्रा

संरक्षिणी (मुश्कल) मुद्रा

दन्त मुद्रा

परशु मुद्रा

विघ्न मुद्रा
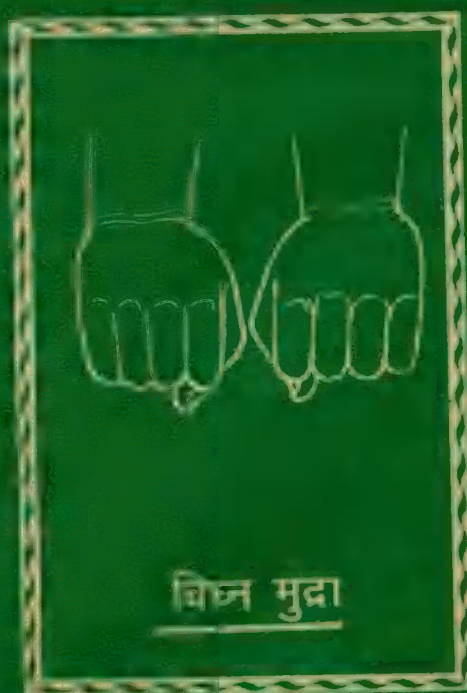
१. श्री विष्णु की मुद्राएँ

19 एकोनविंशतिर्मुद्रा विष्णोरुक्ता मनीषिभिः।
शंख चक्र गदा पद्म वेणु श्रीवत्स कौस्तुभाः।
वनमाला तथा ज्ञानमुद्रा बिल्वाह्वया तथा।
गरुणर्ख्या परा मुद्रा विष्णो सन्तोष दायकाः।
नारसिंही च वाराही हयाग्रैवी धनुस्तथा।
वाण मुद्रा' ततः पर्शुजगन्मोहिनिका च सा।

टीका-विष्णु की १९ मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-
१. शंख, २. चक्र, ३. गदा, ४. पद्म, ५. वेणु, ६. श्रीवत्स, ७. कौस्तुभ, ८. वनमाला, ९. ज्ञान, १०. बिल्व, ११. गरुड़, १२. नारसिंही, १३. वाराही, १४. हयग्रैवी, १५. धनु, १६. वाण, १७. परशु, १८. जगन्मोहिनी अथवा त्रैलोक्य मोहिनी तथा १९.काम।
इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है।

(टिप्पणी-इनमें से कुछ मुद्राएँ एक से अधिक प्रकार से बनाई जाती हैं। उनका उल्लेख भी साथ ही कर दिया गया है।

विशेष-किन्ही ग्रंथों में 'काम मुद्रा' के स्थान पर 'परा मुद्रा' का उल्लेख पाया जाता है तथा किन्ही में 'घण्टा' मुद्रा को भी विष्णु-मुद्राओं के अन्तर्गत ही गिना गया है।

१. शंख मुद्रा

वामांगुष्ठं तु संग्रह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना।
कृत्वोत्तानां ततोमुष्टि मंगुष्ठं तु प्रसारयेत्।।
वामांगुल्य स्तथाश्लिष्टाः संयुक्ताः स्युः प्रसारिताः।
दक्षिणांगुष्ठ संपृष्टा मुद्रेया शङ्ख मुद्रिका।।

टीका-बाँये हाथ के अँगूठे को दाँई मुट्ठी में रखें, फिर दाँई मुट्ठी को ऊर्ध्वमुख रखते हुए उसके अँगूठे को फैलादें। अब बाँये हाथ की सभी अँगुलियों को एक दूसरी के साथ सटाते हुए फैलादें। तत्पश्चात् बाँये हाथ की फैली अँगुलियों को दाँई ओर घुमाकर दाँये हाथ के अँगूठे का स्पर्श करें। इस प्रकार बनने वाली मुद्रा को 'शंख मुद्रा' कहा जाता है।

२. चक्र मुद्रा

हस्तौ च सम्मुखी कृत्वा सन्नत प्रोथितांगुली।
तलान्तर्मिलितांगुष्ठौ सुभुग्नौ सुप्रसारितौ।।
कनिष्ठांगुष्ठकौ लग्नौ मुद्रैषा चक्र संज्ञिका।।

टीका-दोनों हाथों को सामने की ओर इस प्रकार रखें कि हथेलियाँ ऊपर रहें। फिर दोनों हाथों की अँगुलियों को मोड़कर मुट्ठियाँ बनालें। तदुपरान्त दोनों अँगूठों को झुका कर परस्पर स्पर्श करायें तथा दोनों हाथों की अँगुलियों को फैलादें। अँगूठे की भाँति दोनों कनिष्ठिकाएँ भी एक दूसरी का स्पर्श करती रहें। इसे 'चक्र मुद्रा' कहा जाता है।

३. गदा मुद्रा

अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथितांगुली:।
अंगुष्ठमध्यमे भूय: संलग्ने संप्रसारिते।।
गदामुद्रेय मुदिता विष्णो: सन्तोष वर्द्धिनी।।
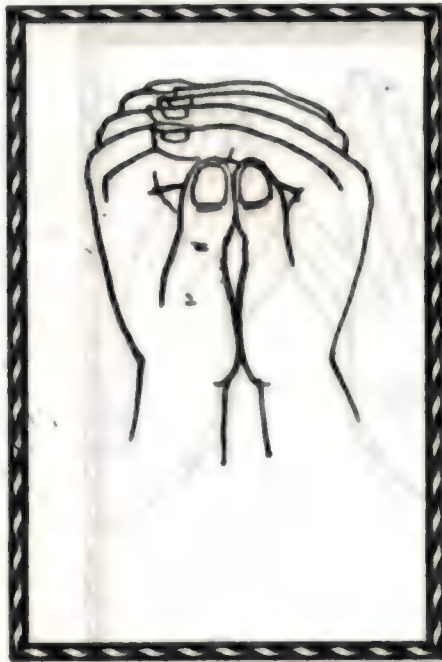
टीका-पहले दोनों हाथों की हथेलियों को मिलायें, फिर दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर ग्रथित करें। इस स्थिति में दोनों अँगूठों को बीच में उनके सामने की ओर लगादें। इसे 'गदा मुद्रा' कहते हैं।

४. पद्म मुद्रा

हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संहत प्रोन्नतांगुली:।
तलान्तर्मिलितांगुष्ठौ कृत्वैष्ण पद्म मुद्रिका।।

टीका-दोनों हाथों को सामने करके, अँगुलियों को ऊपर करें। इसके बाद दोनों अँगूठों को अँगुलियों के तल भाग से स्पर्श करायें। इसे 'पद्म मुद्रा' कहते हैं।

५. वेणु मुद्रा

ओष्ठे वामकरांगुष्ठे लग्नस्तस्य कनिष्ठिके।
दक्षिणांगुष्ठसंगर्गात्तत्कनिष्ठा प्रसारिता।।
तर्जनी मध्यमानामाः किञ्चित्संकोच्य चालिताः।
वेणुमुद्रा भवेदेषा सुगुप्ता प्रेयसी हरेः।।

टीका–बाँये हाथ के अँगूठे को होठ का तथा कनिष्ठा का दाँयें हाथ के अँगूठे का स्पर्श करायें। दाँये हाथ की कनिष्ठा को फैला रहने दें। दाँयें हाथ की शेष तीनों अँगुलियों (तर्जनी, मध्यमा तथा अनामा) को थोड़ा झुका कर, आगे–पीछे की ओर चलायमान करें। यह श्री कृष्ण को अत्यधिक प्रिय 'वेणु मुद्रा' है। यह मुद्रा गोपनीय है। इसी को 'वंशी मुद्रा' भी कहते हैं।

६. श्रीवत्स मुद्रा

अन्योन्य स्पृष्टकरयो र्मध्यमानामिकांगुली: ।
अंगुष्ठेन तु बध्नीयात् कनिष्ठामूल संस्थिते ।
तर्जन्यौ कारयेदशा मुद्रा श्रीवत्ससंज्ञका ।

टीका-दोनों हाथों की हथेलियों को आमने-सामने रखते हुए दोनों की मध्यमा तथा अनामिकाओं को थोड़ा झुका कर अँगूठों से दबालें। फिर दोनों हाथों की तर्जनियों को अपने-अपने हाथ की कनिष्ठिकाओं के मूल में लगायें। इसे 'श्रीवत्स मुद्रा' कहते हैं।

७. कौस्तुभ मुद्रा

अनामां पृष्ठ संलग्नां दक्षिणस्य कनिष्ठिकाम्।
कनिष्ठयान्ययाबध्य तर्जन्या दक्षया तथा।।
वामानामां च बध्नीयाद् दक्षिणां गुष्ठमूलके।
अंगुष्ठ मध्यमे वामे संयोज्य सरला पराः।।
चतस्रोप्यग्र संलग्ना मुद्रा कौस्तुभ संज्ञिका।।

टीका-दाँये अँगूठे का स्पर्श करते हुए दाँई अनामिका तथा कनिष्ठिका को बाँई कनिष्ठिका से तथा दाँई तर्जनी को बाँई अनामिका से बाँधें। बाँये अँगूठे तथा मध्यमा से दाँये अँगूठे कें मूल का स्पर्श करें। शेष अँगुलियों को सीधा रखें। दोनों हाथों की चारों अँगुलियाँ परस्पर स्पर्श करती रहनी चाहिए। इसे 'कौस्तुभ मुद्रा' कहते हैं।

८. वनमाला मुद्रा

स्पृशेत्कष्ठादिपादान्तं तर्जन्यांगुष्ठया तथा।
करदयेन मालावन् मुद्रेयं वन मालिका।।
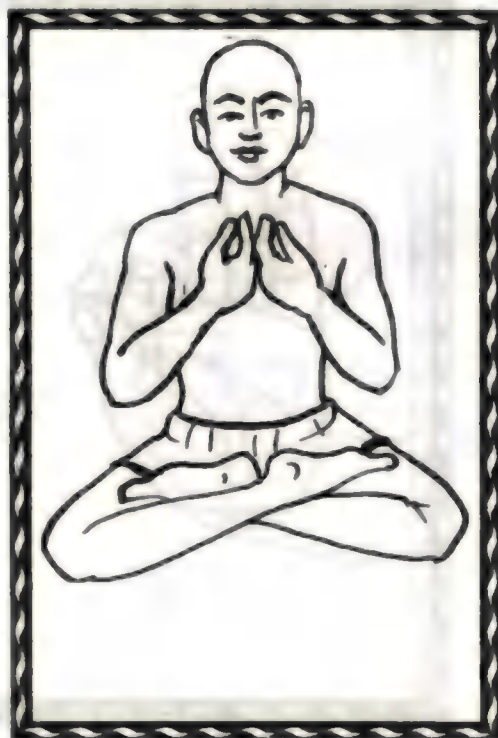
टीका-दोनों हाथों को आपस में मिलाये हुए तर्जनी तथा अँगूठे द्वारा ग्रीवा से पाद पर्यन्त शरीर का स्पर्श करें। इसे 'वनमाला मुद्रा' कहते हैं।

६. ज्ञान मुद्रा

तर्जन्यंगुष्ठकौ सक्तावग्रतो हृदि विन्यसेत्।
वाम हस्ताम्बुजं वाभे जानुमूर्द्धनि विन्यऐत्।।
ज्ञानमुद्रा भवे देषा रामचन्द्रस्य प्रेयसी।।
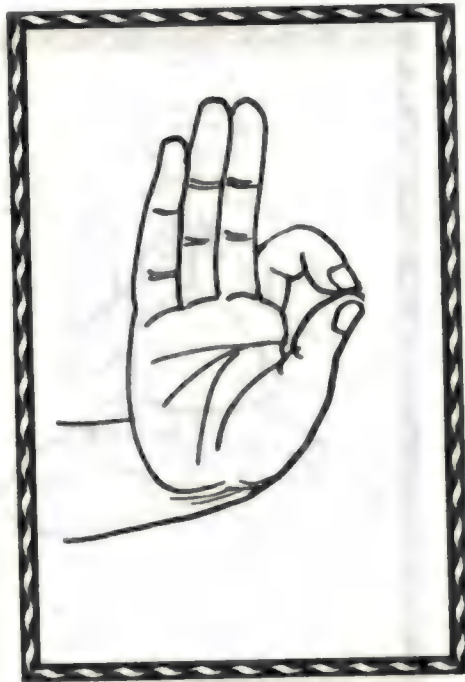
टीका-दाँये हाथ के अँगूठे तथा तर्जनी को एक दूसरे से मिलायें। शेष अँगुलियों को थोड़ा झुकाये रखें। इस भाँति अँगुलियों को संयोजित करके हाथ को हृदय [illegible] रखें। बाँये हाथ को बाँई जाँघ पर इस प्रकार रखें कि हथेली ऊपर की ओर रहे। यह रामचन्द्रजी की अत्यन्त प्रिय 'ज्ञान मुद्रा' है।

१०. बिल्व मुद्रा

अंगुष्ठं वाममुद्धाटित मितरकरांगुष्ठकेनाय बध्वा।
तस्याग्रं पीडयित्वांगुलिभि रपि च ता वाम हस्तांगुलीभिः।।
बध्वा गाढं हृदि स्थापयतु विमलधीर्व्याहरन्मारबीजं।
बिल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह कथिता गोपनीया विधिज्ञैः।।

टीका-बाँये हाथ के अँगूठे को सीधा खड़ा करके उसे दाँये हाथ के अँगूठे से पकड़ें, फिर बाँये अँगूठे को पकड़े हुए दाँये अँगूठे से दाँये हाथ की सभी अँगुलियों को (जो पहले से ही अँगूठे को पकड़े हुए हैं) पकड़ें। साथ ही साथ काम बीज 'क्लीं' का उच्चारण भी करें। ज्ञानियों द्वारा अत्यन्त गोपनीय कही गई यह 'बिल्व मुद्रा' है।

११. गरुड़ मुद्रा

हस्तौ तु विमुखौ कृत्वाग्रन्थयित्वा कनिष्ठिके।
मिथस्तर्जनिकेश्लिष्ठे श्लिष्टावंगुष्ठको तथा।।
मध्यमानामिका द्वै तु द्वौ पक्षाविव चालयेत्।
एषा गरुड़मुद्राख्या विष्णोः सन्तोषवर्द्धिनी।।
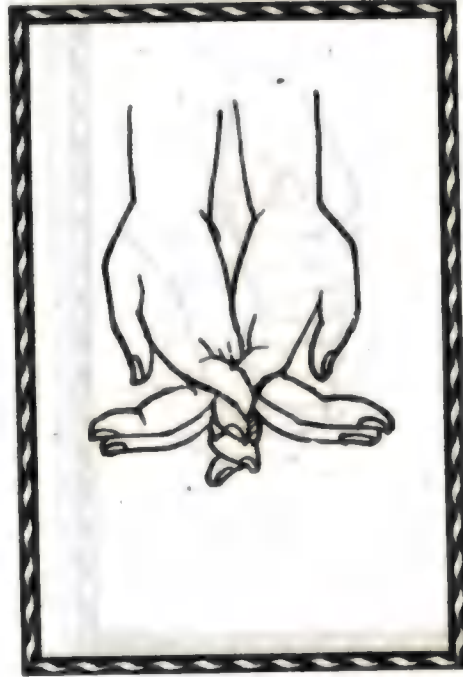
टीका-दोनों हाथों के पृष्ठभाग को एक दूसरे से मिलायें, तत्पश्चात् नीचे लटके हुए दोनों हाथों की तर्जनी तथा कनिष्ठिका को एक दूसरी के साथ ग्रथित करें। इसी स्थिति में दोनों हाथों की अनामा तथा मध्यमाओं को उल्टी दिशा में, किसी पक्षी के पंखों की भाँति ऊपर नीचे करें। श्री विष्णु का सन्तोष-वर्द्धन करने वाली इस मुद्रा को 'गरुड़ मुद्रा' कहते हैं।

१२. नारसिंही मुद्रा (१)

जानुमध्ये करौदत्त्वा चिबुकोष्ठौ समाकृतौ।
हस्तौ च भूमि संलग्नौ कम्पमानः पुनः पुनः।।
मुखं च विवृतं कुर्याल्लेलिहानां च जिह्विकाम्।
नारसिंही भवेदेषा मुद्रा तत्प्रीतिवर्द्धिनी।।

टीका–दोनों जाँघों के मध्य में हाथ रखते हुए उन्हें भूमि पर स्थापित करें। चिबुक तथा होठों को परस्पर स्पर्श कराना चाहिए। फिर पृथ्वी पर रखे हुए हाथों को बारम्बार कम्पायमान करते हुए, मुख को सामान्य स्थिति में लायें तथा जीभ को 'लेलिहाना मुद्रा' की भाँति बाहर निकालें। यह विष्णु की प्रीतिवर्द्धक 'नारसिंही मुद्रा' है।

(टिप्पणी–दूसरे प्रकार की नृसिंह (नारसिंही) मुद्रा का वर्णन अगले पृष्ठ पर किया गया है।)

१२. नारसिंही मुद्रा (२)

अंगुष्ठाभ्यां तु करयोरथाक्रम्य कनिष्ठिके ।
अधोमुखीभिः सूर्याभिः मुद्रेयं नृहरेः स्मृताः ।।
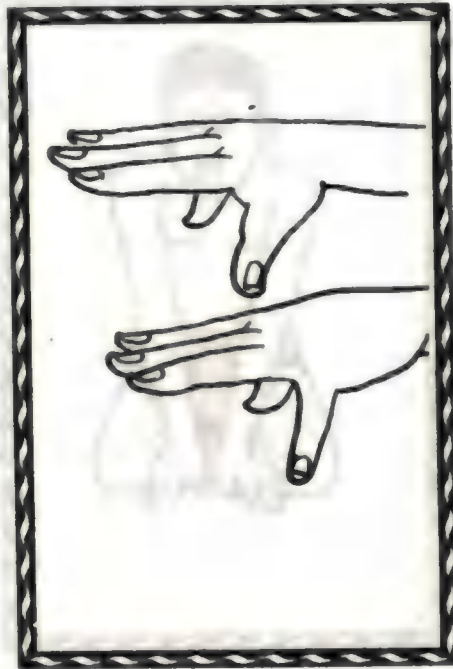
टीका-हथेलियों को अधोमुख करके, दोनों हाथ के अँगूठों तथा कनिष्ठिकाओं को नीचे की ओर फैलादें । यह 'नृसिंह मुद्रा' का दूसरा प्रकार है ।

१३. वाराह मुद्रा (१)

दक्षोपरि करं वामं कृत्वोत्तानमधः सुधीः।
भ्रामयेदिति संप्रोक्ता मुद्रा वाराह संज्ञिका।।

टीका-दाँये हाथ के पृष्ठभाग पर बाँई हथेली को रखें। बाँये हाथ की अँगुलियों को इस तरह मोड़ें कि वे अधोमुख दाँये हाथ की हथेली का स्पर्श करने लगें। अब इस तरह घूमी हुई बाँये हाथ की अँगुलियों को दाँये हाथ की अँगुलियों से पकड़लें। इसे 'वाराह मुद्रा' कहते हैं।

(टिप्पणी-दूसरे प्रकार की 'वाराह मुद्रा' का वर्णन अगले पृष्ठ पर किया गया है।)

१३. वाराह मुद्रा (२)

दक्षहस्तं चोर्ध्वमुखं वाम हस्त मधोमुखम्।
अंगुल्यग्रं तु संयुक्तं मुद्रा वाराह संज्ञिका।।

टीका-बाँई हथेली को दाँये हाथ की हथेली पर इस प्रकार रखें कि दोनों हाथों की अँगुलियों का अग्रभाग आपस में स्पर्श करता रहे। यह दूसरे प्रकार की 'वाराह मुद्रा' है।

१४. हयग्रीव मुद्रा

वामहस्ततले स्थित्वा दक्षांगुलि मधोमुखीम् ।
संरोप्य मध्यमा नामेमुखस्याधो विकुञ्चयेत् ।।
हयग्रीवप्रिया मुद्रा तन्मूर्तेरनुकारिणी ।।
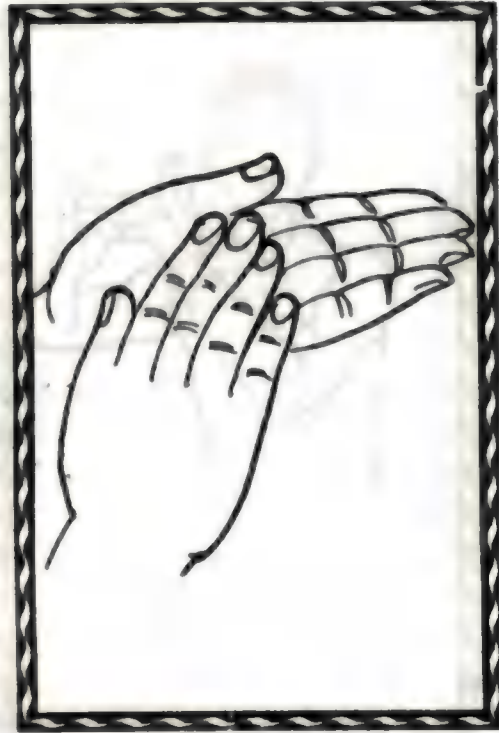
टीका-दाँयें हाथ की अँगुलियों को बाँयें हाथ की हथेली के नीचे रखें। दाँये हाथ की अँगुलियाँ अधोमुख होनी चाहिये। तदुपरान्त अँगुलियों को उठा कर बाँये हाथ की मध्यमा तथा अनामिका से दाँये हाथ की अँगुलियों को उठाते हुए मुँह के समीप लाकर खोल दें।

हयग्रीवा के स्वरूप को व्यक्त करने वाली यह मुद्रा को 'हयग्रीव मुद्रा' अथवा 'हयग्रैवी मुद्रा' कहा जाता है।

१५. धनु मुद्रा

वामस्य मध्यभाग्रं तु तर्जन्यग्रेण योजयेत्।
अनामिकां कनिष्ठां च तस्यांगुष्ठेन पीडयेत्।।
स्पर्शये द्वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रियमीरिता।।

टीका-बाँये हाथ की मध्यमा को दाँये हाथ की तर्जनी से तथा बाँये हाथ की अनामिका को दाँये हाथ की कनिष्ठिका से मिलायें। इस भांति मिली हुई अनामिका तथा कनिष्ठा को अँगूठे से दबाकर, उनसे बाँये कंधे का स्पर्श करें।

इसे 'धनु अथवा 'धनुष मुद्रा' कहते हैं।

१६. वाण मुद्रा

दक्षमुष्टेस्तु तर्जन्या दीर्घया बाण मुद्रिका।।
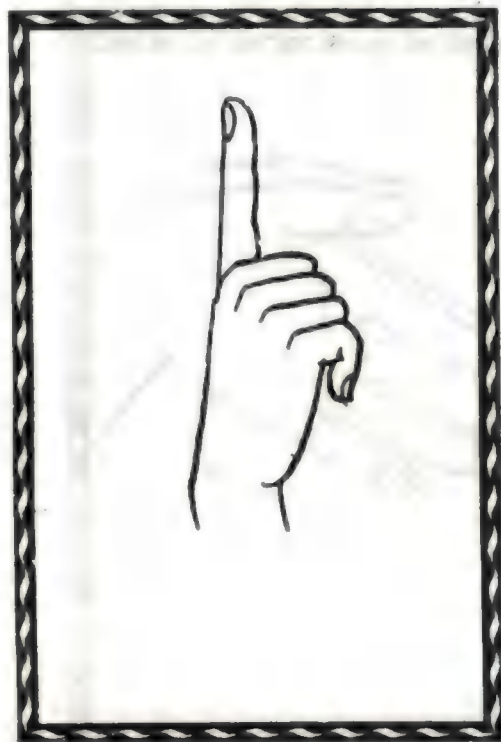
टीका-दाँये हाथ की मुट्ठी बाँधकर उसकी तर्जनी को सीधी खड़ी करदें। इसे 'वाण मुद्रा' कहा जाता है।

१७. परशु मुद्रा

तते तलं तु करयोस्तिर्यक्संयोज्य चांगुलीम्।
-संहतां प्रसृतां कुर्यान् मुखद्रेयं पर्शु संज्ञिका।।

टीका-दोनों हथेलियों को मिलाकर, हाथ को ऊपर नीचे इस प्रकार करें,
जैसे कुल्हाड़ी चला रहे हों।
इसे 'परशु मुद्रा' कहते हैं।

१८. त्रैलोक्य मोहिनी मुद्रा

ऊर्ध्वस्यांगुष्ठमुष्टी द्वे मुद्रा त्रैलोक्य मोहिनी।
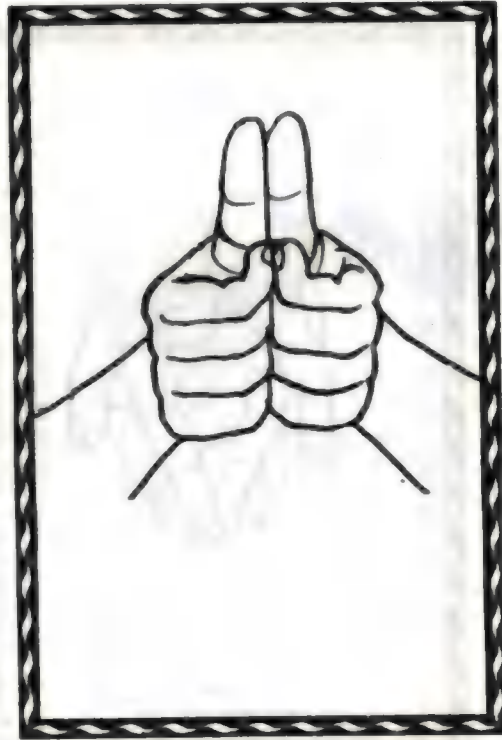
टीका-पहले दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर, मुट्ठियों को परस्पर मिलायें, तत्पश्चात् दोनों अँगूठों का परस्पर स्पर्श कराते हुए उन्हें ऊपर उठायें।

इसे 'त्रैलोक्य मोहिनी मुद्रा' कहते हैं। इसी मुद्रा का दूसरा नाम 'जगमोहिनी' भी है।

१६. काम मुद्रा

हस्तौ तु सम्पुटौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ तथा।
तर्जन्यौ मध्यमा पृष्ठे ह्यंगुष्ठौ मध्यमाश्रितौ।।
काममुद्रेय मुदिता सर्वदेव प्रियङ्करी।।

टीका-दोनों हाथों को मिलाकर सम्पुट बनायें तथा अंगुलियों को फैली हुई रखें। तत्पश्चात् दोनों तर्जनियों को अपनी-अपनी मध्यमाओं के पीछे रखें तथा दोनों अँगूठों को भी अपनी-अपनी मध्यमाओं पर रखें।

यह 'काम मुद्रा' सभी देवताओं को प्रिय तथा आनन्द दायक है।

(टिप्पणी-इसे 'परा मुद्रा' भी कहा जाता है।

इति श्री विष्णु मुद्रा समाप्ताः

२. श्री शिव की मुद्राएँ

कासमुद्रा पराख्याता शिवस्य दश मुद्रिका।
लिङ्गयोनि त्रिशूलाक्ष मालेष्टाभिर्मृगाह्वया।।
खट्वाङ्ग च कपालाख्या डमरू: शिव तोषिका।
महादेव प्रियाणां च कथ्यन्ते लक्षणान्यय।।

टीका-शिव की १० मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. लिंग मुद्रा, २. योनि मुद्रा, ३. त्रिशूल मुद्रा, ४. अक्षमाला मुद्रा, ५. वर मुद्रा, ६. अभय मुद्रा, ७. मृगी मुद्रा, ८. खट्वांग मुद्रा, ९. कपाल या कापालिकी मुद्रा तथा १०. डमरूक मुद्रा।

इन्हें सम्मिलित रूप में 'काम मुद्रा' भी कहा जाता है।

इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है।

१. लिङ्ग मुद्रा

उच्छितं दक्षिणां गुष्ठं वामांगुष्ठेन बन्धयेत्।
वामांगुली दक्षिणाभिरंगुलीभिश्च बन्धयेत्।।
लिङ्ग मुद्रायमाख्याता शिव सान्निध्य कारिणी।।

टीका-दाँये हाथ के अँगूठे को ऊपर उठाकर उसे बाँये अँगूठे से बाँधें। तदुपरान्त दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँधलें। यह शिवसान्निध्यकारक 'लिङ्ग मुद्रा' है।

२. योनि मुद्रा

मिथः कनिष्ठिके बध्वा तर्जनीभ्यामनामिके।
अनामिकोर्ध्व संश्लिष्टे दीर्घमध्यमयोरथ।।
अँगुष्ठागुद्वयं न्यस्येद्योनिमुद्रेय मीरिता।।
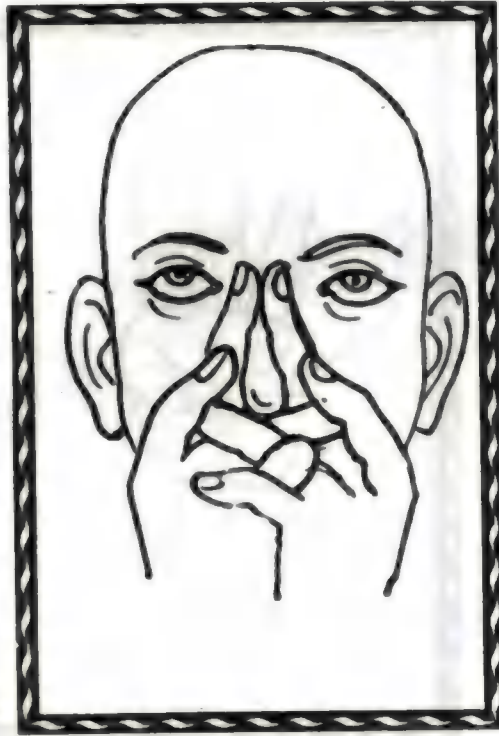
टीका-दोनों कनिष्ठिकाओं को बाँध कर तर्जनी तथा अनामिकाओं को बाँधें। अनामिका को मध्यमा से पहले थोड़ा सा मिला कर फिर उन्हें सीधा करदें। तत्पश्चात् दोनों अँगूठों को एक दूसरे पर रखें। इसे 'योनि मुद्रा' कहते हैं।

(टिप्पणी-'योनि मुद्रा' का एक अन्य प्रकार भी है, जिसे 'महायोनि मुद्रा' भी कहा जाता है। उसका उल्लेख आगे किया जायेगा।)

३. त्रिशूल मुद्रा

अँगुष्ठेन कनिष्ठां तु बद्ध्वा शिष्टांगुलि त्रयम्।
प्रसारयेत्त्रिशूलाख्या मुद्रैषा परिकीर्तिता।।
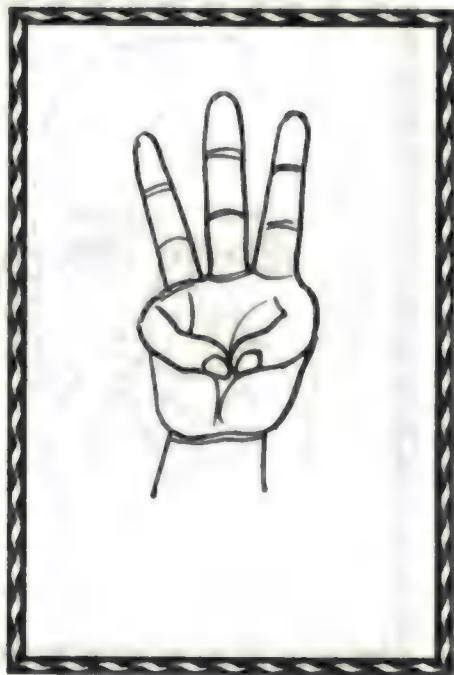
टीका-दोनों कनिष्ठिकाओं को दोनों अँगूठों से बाँध (दबा) कर शेष सभी अँगुलियों को सीधा करदें।
इसे 'त्रिशूल मुद्रा' कहते हैं।

४. अक्षमाला मुद्रा

अंगुष्ठ तर्जन्यग्रे तु ग्रंथयित्वांगुलि त्रयम्।
प्रसारयेदक्षमाला मुद्रेयं परिकीर्तिता।।

टीका-दोनों अँगूठों तथा तर्जनियों के अग्रभाग को मिलायें। फिर दोनों हाथों की शेष तीनों अँगुलियों को परस्पर ग्रथित करके सीधा करें अर्थात् फैलादें।

इसे 'अक्षमाला मुद्रा' कहते हैं।

५. वर मुद्रा

अध:स्थितो दक्षहस्त: प्रसृतो वरमुद्रिका।

टीका-दाँई हथेली को अघोमुख करके, हाथ को फैलादें। इसे 'वर मुद्रा' कहते हैं।

६. अभय मुद्रा

ऊदर्ध्वीकृतो वामहस्त: प्रसृतोभयमुद्रिका । ।

टीका-बाँये हाथ को ऊपर की ओर उठायें तथा हथेली को खुली रखें । इसे 'अभय मुद्रा' कहते हैं ।

७. मृगी मुद्रा

मिलितानामि कांगुष्ठं मध्यमाग्रे नियोजयेत्।
शिष्टांगुल्युच्छ्रिते कुर्यान्मृग मुद्रेयमीरिता।।

टीका-अनामिका तथा अँगूठे को मिला कर उन्हें मध्यमा के अग्रभाग पर रखें तथा शेष दो अँगुलियों को ऊपर की ओर सीधी खड़ी करदें। इसे 'मृग मुद्रा' अथवा 'मृगी मुद्रा' कहते हैं।

८. खट्वाङ्ग मुद्रा

पञ्चांगुल्यो दक्षिणास्तु मिलिता ह्यूदर्ध्वमूर्द्धता।
खट्वाङ्ग मुद्रा विख्याता शिवस्यातिप्रिया मता।।

टीका-दाँये हाथ की पाँचों अँगुलियों को मिलाकर ऊपर की ओर उठायें। यह शिवजी को अत्यन्त प्रिय 'खट्वाङ्ग मुद्रा' कहलाती है।

६. कापालिकी मुद्रा

पात्रवद्वामहस्तं च कृत्वाङ्के वामके तथा।
निधायोच्छ्रितवतत्कुर्यान् मुद्रा कापालिकी मता।।
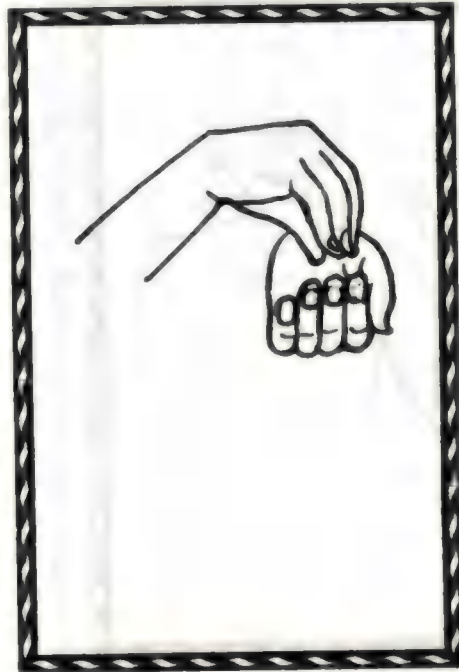
टीका-बाँये हाथ को पात्र जैसा बनाकर, उसमें अपनी बाँई ओर से कुछ उठाकर रखा जाता है- ऐसा प्रदर्शित करने को 'कपाल मुद्रा' अथवा 'कापालिकी मुद्रा' कहा जाता है।

१०. डमरू मुद्रा

मुष्टिं च शिथिलां बद्ध्वा ईषदुच्छ्रितमध्यमाम्।
दक्षिणात्तुद्‌र्ध्वमुत्तोल्य कर्णदेशे प्रचालयेत्।।
एषा मुद्रा डमरूका सर्वविघ्नविनाशिनी।।
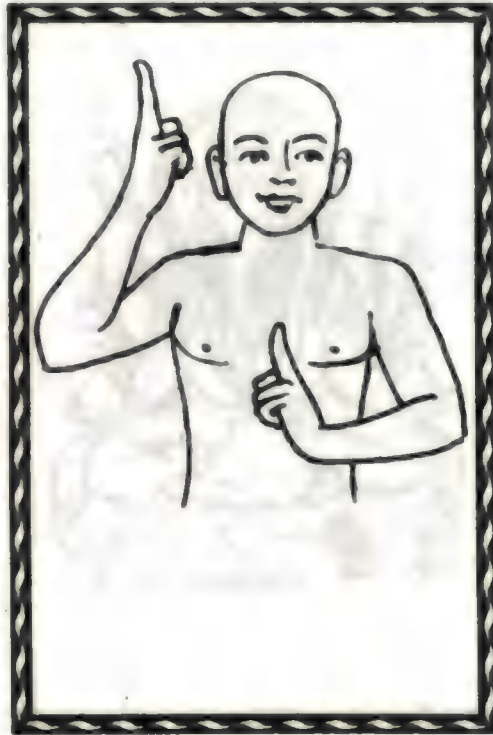
टीका-दाँये हाथ की कुछ हल्की मुट्ठी बाँध कर मध्यमा को थोड़ा सा ऊपर उठाकर दाँये कान तक ले जाकर थोड़ा सा हिलायें (प्रचालित करें) तो 'डमरू मुद्रा' बनती है।

इसे 'डमरूक मुद्रा' भी कहा जाता है।

इति श्री शिव मुद्रा समाप्ताः

३. श्री गणेश की मुद्राएँ

दन्तपाशांकुशाविघ्न पर्शु लड्डूक संज्ञकाः।
बीजपूरोह्वया मुद्रा विज्ञेया विघ्नपूजने।।
ततो गणेशमुद्राणामुच्यन्ते लक्षणानि तु।।

टीका-गणेश की सात मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. दन्त, २. पाश, ३. अंकुश, ४. विघ्न, ५. परशु, ६. लड्डूक और ७. बीजपूर।

इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है।

१. दन्त मुद्रा

उत्तानोर्ध्वमुखी मध्या सरला बद्धमुष्टिका।
दन्तमुद्रा समाख्याता सर्वांगम विशरदैः।।
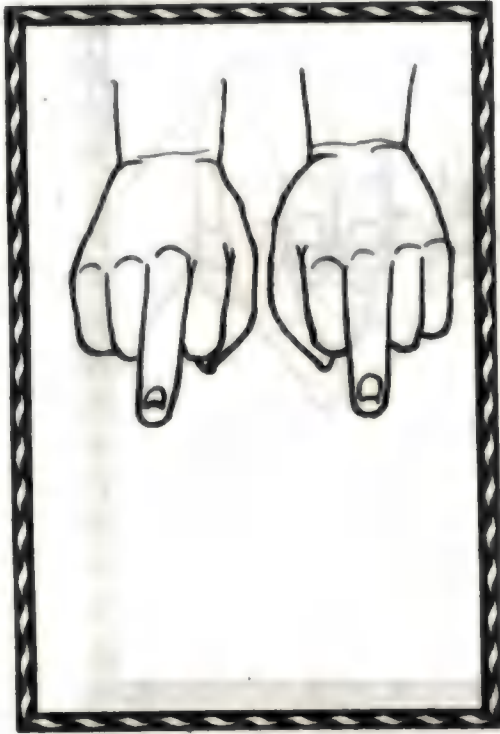
टीका-दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध कर, उनकी मध्यमा अँगुलियों को सीधा करदें। सभी शास्त्रज्ञों ने इसे 'दन्तमुद्रा' कहा है।

टिप्पणी-यदि एक ही हाथ से यह मुद्रा प्रदर्शित करनी हो तो केवल दाँये हाथ की ढीली मुट्ठी बाँध कर, उसकी मध्यमा अँगुली को ऊपर की ओर सीधी कर देना चाहिए।

२. पाश मुद्रा

वाममुष्टेस्तु तर्जन्या दक्षमुष्टेस्तु तर्जनीम् ।
संयोज्यांगुष्ठकाग्राभ्यां तर्जन्यग्रे समुत्क्षिपेत् ।।
एषा पाशाह्वया मुद्रा विद्वद्भिः परिकीर्तिता ।।

टीका-दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध कर बाँई तर्जनी को दाँई तर्जनी से बाँधें । तदुपरान्त दोनों तर्जनियों को अपने-अपने अँगूठे से दबायें । फिर दाँई तर्जनी के अग्रभाग को थोड़ा अलग करदें ।

विद्वानों ने इसे 'पाश मुद्रा' कहा है ।

३. अंकुश मुद्रा

ऋज्वीं च मध्यमाकृत्वा तर्जनीं मध्यपर्वणि।
संयोज्या कुञ्चयेत्किञ्चित् मुद्रैषांकुश संज्ञिका।।
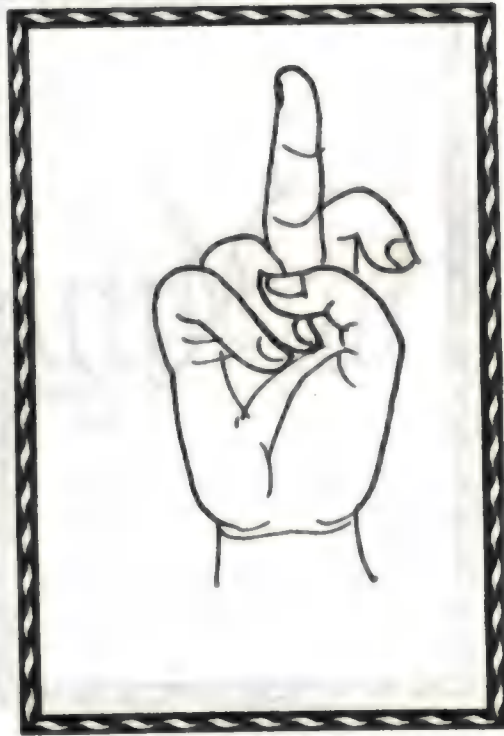
टीका-दोनों मध्यमा अंगुलियों को सीधा रखते हुए, दोनों तर्जनियों को मध्यपर्व के समीप परस्पर बाँधें। फिर दोनों तर्जनियों को थोड़ा झुकाकर एक दूसरी को खींचें।

इसे 'अंकुश मुद्रा' कहते हैं।

४. विघ्न मुद्रा

तर्जनी मध्यमा सन्धि निःसृतांगुष्ठ मुष्टिका।
अधोमुखी दीर्घरूपा मध्यमा विघ्ननामिका।।
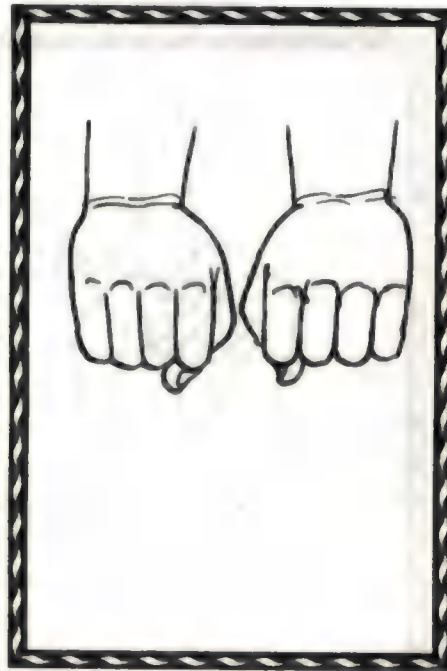
टीका–दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध कर अँगूठों को तर्जनी तथा मध्यमाओं के बीच इस प्रकार से रखें कि अंगूठे का अग्रभाग थोड़ा सा बाहर निकला दिखाई दे।

इसे 'विघ्न मुद्रा' कहते हैं।

५. परशु मुद्रा

तते तलं तु करयोस्तिर्यक् संयोज्य चांगुलीम्।
संहतां प्रसृतां कुर्यात् मुखद्रेयं पर्शु संज्ञिका।।
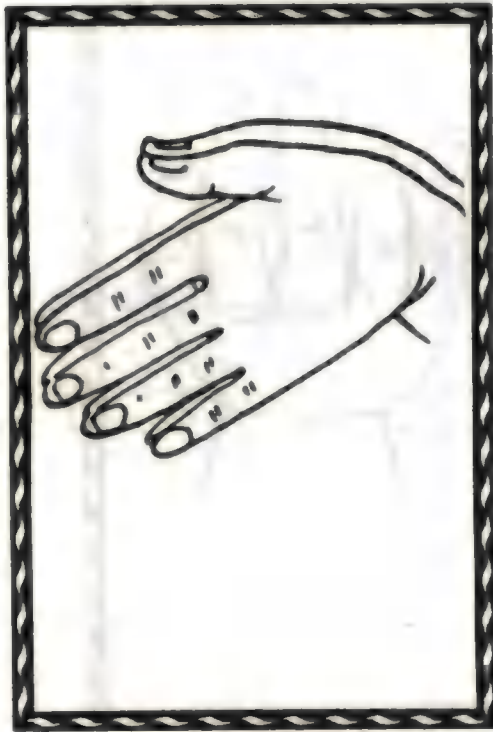
टीका-दोनों हथेलियों को मिलाकर, हाथ को इस प्रकार ऊपर-नीचे करें, जैसे कि कुल्हाड़ी चला रहे हों।

इसे 'परशु मुद्रा' कहा जाता है।

टिप्पणी-इस मुद्रा का सचित्र वर्णन विष्णु की मुद्राओं के अन्तर्गत संख्या १७ में पहले भी किया जा चुका है।

६. लड्डूक (मोदक) मुद्रा

पर्शुमुद्रा निगदिता प्रसिद्धा लड्डुमुद्रिका।।
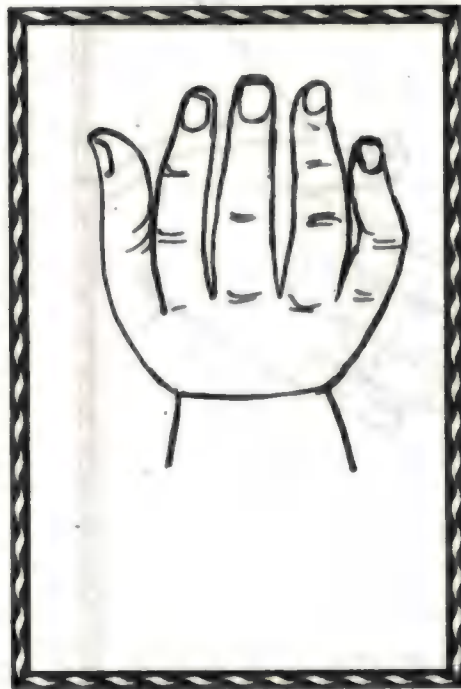
टीका-पूर्वकथित 'परशु मुद्रा' ही 'लड्डूक मुद्रा' के रूप में भी प्रसिद्ध है।

विशेष-हाथ की सभी अंगुलियों को ऊपर की ओर उठाकर लड्डू जैसा आकार देने को 'लड्डूक मुद्रा' अथवा 'मोदक मुद्रा' कहा जाता है। इस मुद्रा का स्वरूप ऊपर के चित्र में प्रदर्शित है।

७. बीजपूर मुद्रा

बीजपूराह्वया मुद्रा प्रसिद्धत्वा दुपेक्षिता।।
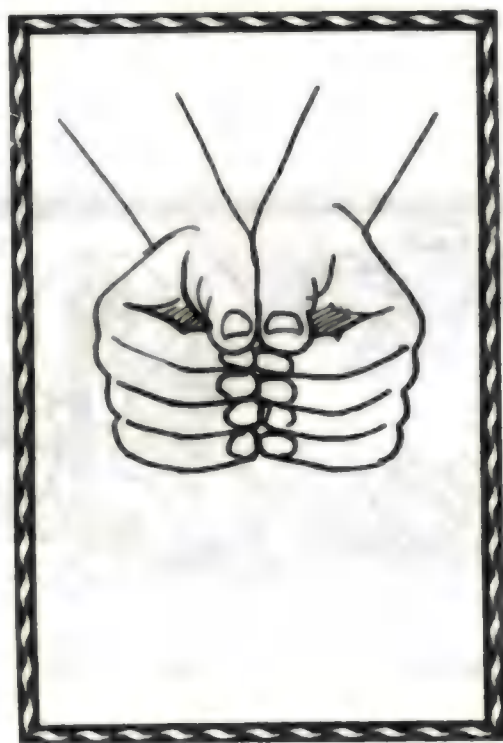
टीका-बीजपूर मुद्रा अप्रसिद्ध होने के कारण उपेक्षित रही है।

विशेष-दोनों हाथों की अँगुलियों को अग्रभाग में मिला कर, उनके ऊपर अँगूठों को रखें। इस प्रकार बिजौरा नीबू की आकृति तैयार होगी। इसी को 'बीजपूर मुद्रा' कहा जाता है। इस मुद्रा के स्वरूप को ऊपर के चित्र में प्रदर्शित किया गया है।

इति श्री गणेश मुद्राः समाप्ताः

४. श्री सूर्य की मुद्राएँ

सूर्यस्यैकेव पद्माख्या।।

टीका- सूर्य की केवल एक 'पदम मुद्रा' है।

टिप्पणी- 'पद्म मुद्रा' का सचित्र वर्णन श्री विष्णु की मुद्राओं के अन्तर्गत संख्या ४ में किया जा चुका है। पृष्ठ संख्या २१ पर देखलें।

५. श्री शक्ति (दुर्गा) की मुद्राएँ

पाशांकुश वराभीति खड्गचर्मधनु:शरा: ।
मौशली मुद्रिका दौर्गी मुद्रा शक्ते: प्रियंकरा ।।
शाक्तेयीनां च मुद्राणां कथ्यन्ते लक्षणानितु ।।

टीका-शक्ति (दुर्गा) की दश मुद्राएँ हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. पाश, २. अंकुश, ३. वर, ४. अभय, ५. खड्ग, ६. चर्म, ७. धनु, ८. शर, ९. संरक्षिणी अर्थात् मुशली और दुर्गा अथवा दौर्गी।

पाश मुद्रा का पृष्ठ ५२ पर, अंकुश मुद्रा का पृष्ठ ५३ पर वर मुद्रा का पृष्ठ ४४ पर, अभय मुद्रा का पृष्ठ ४५ पर धनु मुद्रा का पृष्ठ ३४ पर तथा शर (वाण) मुद्रा का वर्णन पृष्ठ संख्या ३५ पर किया जा चुका है। अन्य मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है।

१. खड्ग मुद्रा

कनिष्ठानामिका बद्ध्वा स्वांगुष्ठेनैव दक्षतः ।
मितांगुली च प्रसृते संस्पृष्टे खड्ग मुद्रिका ।।
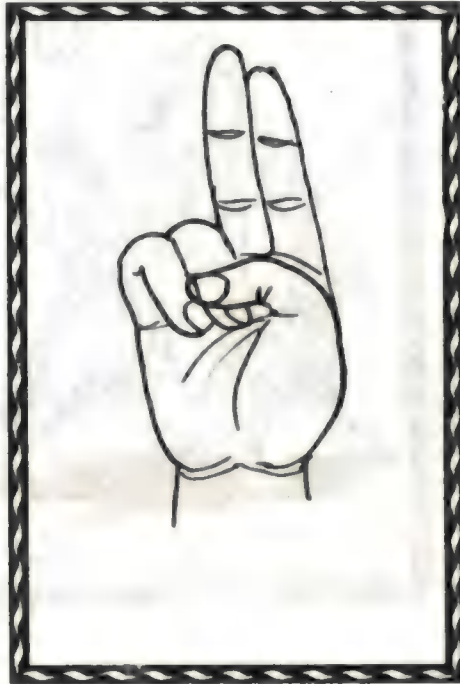
टीका- कनिष्ठिका तथा अनामिका अँगुलियों को एक दूसरी के साथ बाँधकर अँगूठों को उनसे मिलायें। शेष अँगुलियों को एक साथ मिला कर फैला दें।

उक्त प्रकार से 'खड्ग मुद्रा' बनती है।

२. चर्म मुद्रा

वामहस्तं तथा तिर्यक् कृत्वा चैव प्रसार्य च।
आकुंचितांगुलिं कुर्याच्चर्ममुद्रेयमीरिता।।
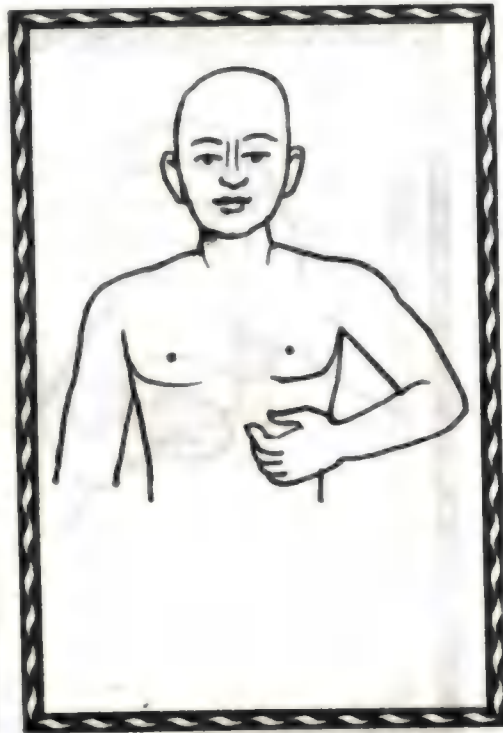
टीका-फैले हुए बाँये हाथ को थोड़ा मोड़कर अँगुलियों को भी थोड़ा सा मोड़ लेने से 'चर्म मुद्रा' बनती है।

३. संरक्षिणी (मुशल) मुद्रा

मुष्टिं कृत्वा कराभ्यां च वामस्योपरि दक्षिणम्।
कुर्यान्मुशल मुद्रेयं सर्वविघ्न विनाशिनी।।

टीका-दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधें। फिर दाँई मुट्ठी को बाँई के ऊपर रखें। यह समस्त विघ्नों को नष्ट करने वाली 'मुशल मुद्रा' है। इसी को 'मुशली मुद्रा' तथा संरक्षिणी मुद्रा' भी कहते हैं।

४. दुर्गा (दौर्गी) मुद्रा

मुष्टिं कृत्वा कराभ्यां च वामस्योपरि दक्षिणम्।
कृत्वा शिरसि संयोगाद् दुर्गामुद्रेयमीरिता।।

टीका-दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध कर दाँई मुट्ठी को बाँई पर रखें। फिर उन्हें शिर से मिलायें।

इसे दुर्गा अथवा 'दौर्गी मुद्रा' कहते हैं।

टिप्पणी-कुछ विद्वान् इसे 'दुर्ग मुद्रा' भी कहते हैं।

इति शक्ति (दुर्गा) मुद्रा समाप्ताः

५. विभिन्न देवियों की मुद्रायें

प्रमुख पंच देवों- १. विष्णु, २. शिव, ३. गणेश, ४. सूर्य तथा ५. शक्ति (दुर्गा) की मुद्राओं का सचित्र उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अगले पृष्ठों में भगवती, लक्ष्मी, सरस्वती, श्यामा, त्रिपुरा आदि देवियों की पूजा में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न मुद्राओं का सचित्र उल्लेख किया जाएगा।

स्मरणीय है कि कुछ मुद्राएँ कई-कई देवी-देवताओं की पूजा में प्रयुक्त होती हैं, अतः उन सबका उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है।

६. भगवती लक्ष्मी की मुद्राएँ

१. लक्ष्मी मुद्रा

लक्ष्मीमुद्रार्चने लक्ष्म्याचक्रमुद्रां तथा
बद्ध्वा मध्यमेद्वे प्रसार्य च।
कनिष्ठिके तथानीय तदग्रे मुष्टिके क्षिपेत्।।
लक्ष्मीमुद्रा परा ह्येषा सर्वसम्पत्प्रदायिनी।।

टीका-लक्ष्मीकी अर्चना में केवल एक लक्ष्मी मुद्रा का ही प्रयोग किया जाता है।

पहले 'चक्र मुद्रा' बनायें (दिखें- विष्णु मुद्रा संख्या २, पृष्ठ १९) फिर मध्यमाओं को फैलादें। तत्पश्चात् अनामिका और कनिष्ठिकाओं के बीच से अँगूठों को बाहर निकालें।

यह 'लक्ष्मी मुद्रा' सभी सम्पत्तियों को देने वाली है।

टिप्पणी-कुछ साधक 'चक्र मुद्रा' को भी लक्ष्मी की अर्चना मुद्रा मानते हैं।

७. महा सरस्वती की मुद्राएँ

अक्षमाला तथा वीणा
व्याख्या पुस्तक मुद्रिका।
वाग्वादिन्यास्तु पूजते।।

टीका-भगवती वाग्वादिनी (सरस्वती) की पूजा में १. अक्षमाला, २. वीणा, ३. व्याख्यान, ४. पुस्तक तथा ५. वर मुद्रा का प्रयोग किया जाता है।

इन मुद्राओं में जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं किया गया है उनका सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है। अक्ष (अक्षमाला) मुद्रा का वर्णन पृष्ठ ४३ पर तथा वर मुद्रा का वर्णन पृष्ठ ४४ पर किया गया है।

१. वीणा मुद्रा

वीणावादनं वद्धस्तौ कृत्वा सञ्चालयेच्छिरः।
वीणामुद्रेय माख्याता सरस्वत्थाः प्रियङ्करी।।

टीका-जिस स्थिति में दोनों हाथों के माध्यम से वीणा बजाई जाती है, उसी स्थिति में दोनों हाथों को लाकर (जैसे-दोनों हाथ वीणा को लिए हुए हों) शिर का संचालन करें।

यह सरस्वती की प्रिय 'वीणा मुद्रा' है।

७. महा सरस्वती की मुद्राएँ

अक्षमाला तथा वीणा
व्याख्या पुस्तक मुद्रिका।
वाग्वादिन्यास्तु पूजते।।

टीका-भगवती वाग्वादिनी (सरस्वती) की पूजा में १. अक्षमाला, २. वीणा, ३. व्याख्यान, ४. पुस्तक तथा ५. वर मुद्रा का प्रयोग किया जाता है।

इन मुद्राओं में जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं किया गया है उनका सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया गया है। अक्ष (अक्षमाला) मुद्रा का वर्णन पृष्ठ ४३ पर तथा वर मुद्रा का वर्णन पृष्ठ ४४ पर किया गया है।

१. वीणा मुद्रा

वीणावादनं वद्धस्तौ कृत्वा सञ्चालयेच्छिरः।
वीणामुद्रेय माख्याता सरस्वत्याः प्रियङ्करी।।

टीका-जिस स्थिति में दोनों हाथों के माध्यम से वीणा बजाई जाती है, उसी स्थिति में दोनों हाथों को लाकर (जैसे-दोनों हाथ वीणा को लिए हुए हों) शिर का संचालन करें।

यह सरस्वती की प्रिय 'वीणा मुद्रा' है।

२. व्याख्यान मुद्रा

दक्षिणांगुष्ठतर्जन्या बग्रलग्ने पराङ्मुखे।
प्रसार्य संहितोत्ताना ह्येषा व्याख्यान मुद्रिका।।
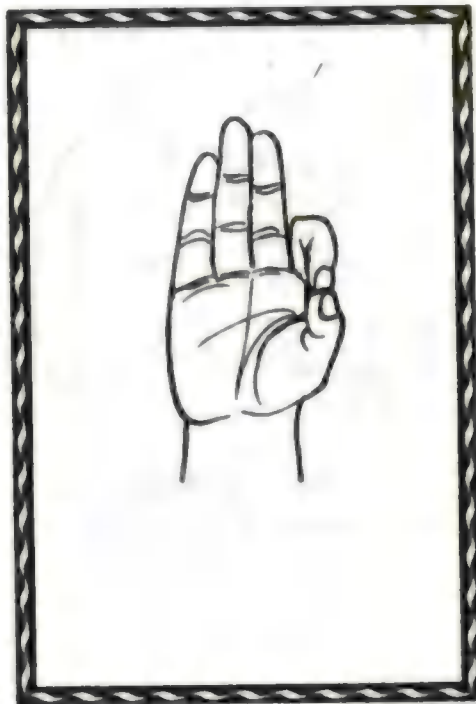
टीका-दाँये हाथ की तर्जनी अँगुली तथा अँगूठे के अनुभाग को मिलायें। शेष अँगुलियों को आपस में मिलाते हुए ऊपर की ओर उठायें। यह 'व्याख्यान मुद्रा' है।

३. पुस्तक मुद्रा

वाममुष्टिं स्वाभिमुखीं कृत्वा पुस्तक मुद्रिका।।

टीका-बाँये हाथ की मुट्ठी बनाकर अपने सामने की ओर करने से 'पुस्तक मुद्रा' होती है।

८. भगवती त्रिपुरा की मुद्राएँ

दश मुद्राश्च समाख्याता स्त्रिपुराया प्रपूजने।
संक्षोभप्राविणाकर्षवश्योन्माद महांकुशा।
खेचरी बीजयो न्याख्या त्रिखण्डा परिकीर्तिता।।

टीका-भगवती त्रिपुरा के पूजन की दस मुद्राएँ हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं-

१. सर्व संक्षोभिणी, २. सर्व विद्राविणी, ३. सर्व आकर्णिनी, ४. सर्व वश्यकरी, ५. उन्मादिनी, ६. सर्व महांकुशा, ७. खेचरी, ८. बीज, ९. योनि और १०. त्रिखण्डा।

इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

टिप्पणी-कुछ विद्वान् 'त्रिखण्डा' को छोड़कर, शेष ९ मुद्राओं को ही भगवती त्रिपुरा की मुद्राएँ मानते हैं।

१. सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा

मध्यमां मध्यमे कृत्वा कनिष्ठांगुष्ठरोधिते।
तर्जन्यौ दण्डवत्कृत्वा मध्यमोपर्यनामिके।।
क्षोभाभिधाना मुद्रेयं सर्वसंक्षोभकारिणी।।

टीका–मध्यमा को मध्य में रखते हुए अँगूठों और कनिष्ठिकाओं को मिलायें। तर्जनी को सीधा तथा अनामिका को मध्यमा के ऊपर रखें। यह 'क्षोभ मुद्रा' अथवा 'सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा' है। इसकी को 'सर्व संक्षोभकारिणी मुद्रा' भी कहते हैं।

२. सर्व विद्राविणी मुद्रा'

एतस्या एव मुद्राया मध्यमे सरले यदा।
क्रियेते परमेशानि तथा विद्रावणी यता।।
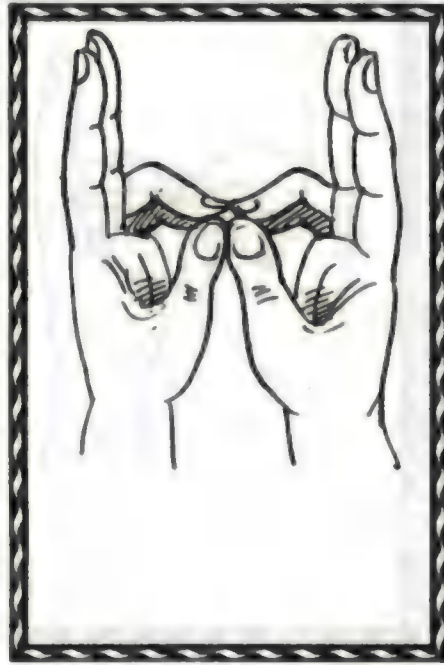
टीका-पूर्वोक्त 'सर्वसंक्षोभकारिणी मुद्रा' में जब मध्यमा अँगुली को ढीला (सरल) कर दिया जाता है तो वह परमेशानि वह 'सर्व विद्राविणी मुद्रा' बन जाती है।

इसी को 'विद्राविणी मुद्रा' भी कहते हैं।

३. सर्वाकर्षिणी मुद्रा

मध्यमा तर्जनीभ्यां च कनिष्ठानामिके समे।
अंकुशाकार रूपाभ्यां मध्यमे परमेश्वरिं।।
अंगुष्ठं तु नियुञ्जीत कनिष्ठानामिको परि।
इयमाकर्षिणी मुद्रा त्रैलोक्याकर्षणे क्षमा।।

टीका-कनिष्ठा, अनामिका, मध्यमा तथा तर्जनी को बराबर करके, मध्यमा को अंकुशाकार बनायें और उसे कनिष्ठा तथा अनामिका पर रखें। फिर उससे अँगूठे को मिलायें।

यह तीनों लोकों को आकर्षित करने वाली 'आकर्षिणी मुद्रा' है। इसी को 'सर्वाकर्षिणी मुद्रा' भी कहते हैं।

४. सर्ववशांकरी मुद्रा

पुटाकारौ करौ कृत्वा तर्जन्यावंकुशाकृती।
परिवर्तक्रमेणैव मध्यमे तदधोगते।।
क्रमेण देवि तेनैव कनिष्ठा नामिकादय:।
संयोज्या निविद्रा: सर्वा अंगुष्ठा वग्रदेशत:।।
मुद्रेयं परमेशानि सर्ववश्यकरी मता।।
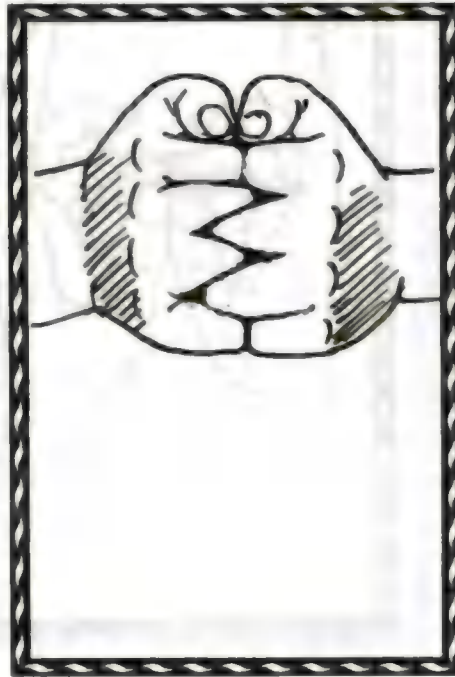
टीका-दोनों हाथों को मिला कर सम्पुट बनायें। फिर तर्जनियों को अंकुशाकार करें और मध्यमा, कनिष्ठा तथा अनामिकाओं को भी क्रमश: मोड़कर, सभी को अंगूठे के अग्रभाग से कस कर मिलादें। हे परमेश्वरी! यह 'सर्ववशंकरी' अथवा 'सर्व वश्यकरी मुद्रा' है।

५. उन्मादिनी मुद्रा

सम्मुखौ तु करौ कृत्वा मध्यमा मध्यगेंत्यजे।
अनामिकेतु सरले तद्वहिस्तर्जनीद्वयम्।।
दण्डाकारौ ततोंगुष्ठौ मध्यमा नख देशिकौ।
मुद्रैवोन्मादिनी नाम्ना क्लेदिनी सर्वयोषिताम्।।
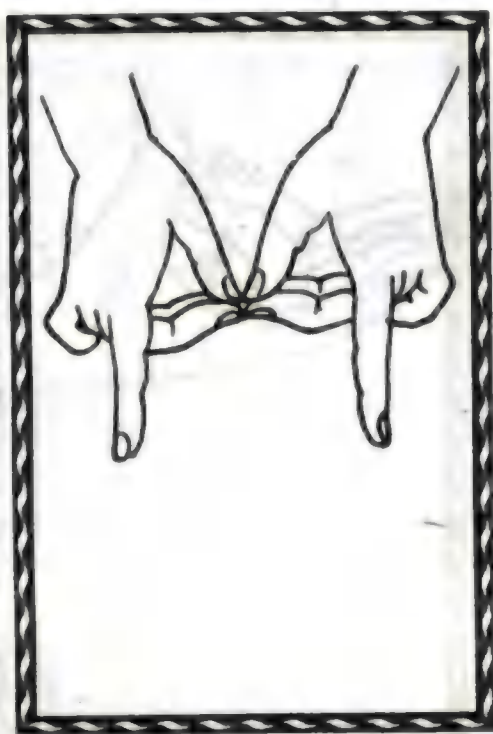
टीका-दोनों हाथों को सामने करके मध्यमा को मध्यमा से तथा कनिष्ठिका को कनिष्ठिका से मिलायें। अनामिकाओं को सीधी रखकर आपस में मिलादें तथा दोनों तर्जनियों को बाहर रखें, ताकि अँगूठों को सीधे मध्यमाओं के नख पर रखा जा सके।

यह सभी स्त्रियों को क्लेदित करने वाली 'उन्मादिनी मुद्रा' है।

६. सर्वमहांकुशा मुद्रा

अस्यां त्वनामिका युग्ममधः कृत्वांकुशाकृति।
तर्जन्यावणि तेनैव क्रमेण विनियोजयेत्।
इत्यं महांकुशा मुद्रा सर्वकामार्थ साधनी।।
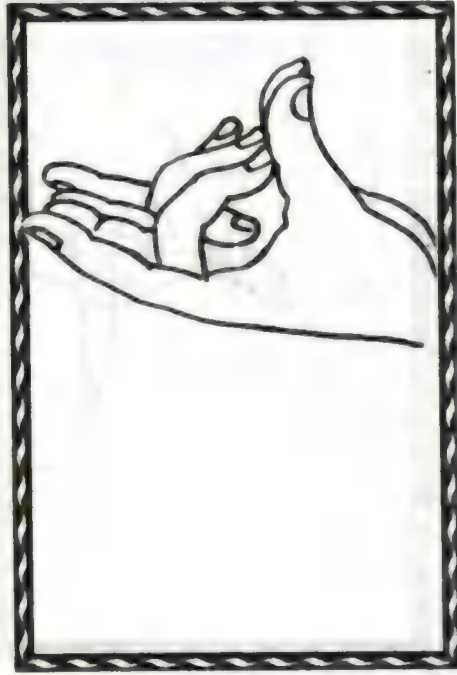
टीका-दोनों अनामिकाओं को अंकुशाकार अधोमुख करके मिलायें। फिर दोनों तर्जनियों को भी उसी प्रकार अंकुशाकार करके मिलादें। यह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली 'महांकुशा मुद्रा' है। इसी को 'सर्वमहांकुशा मुद्रा' भी कहते हैं।

७. खेचरी मुद्रा

सव्यं दक्षिण हस्ते तु सव्य हस्ते तु दक्षिणम्।
बाहुं कृत्वा महादेवि हस्तौ संपरिवर्तयेत्।।
कनिष्ठानामिके देवि युक्ता तेन क्रमेण च।
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वोर्ध्वमणि मध्यमे।।
अंगुष्ठौ च महादेवि सरलावपि कारयेत्।
इयं सा खेचरी मुद्रा मुद्रा सर्वोत्तमोत्तमा।।

टीका-हे महादेवि! बाँये हाथ को दाँई ओर तथा दाँये हाथ को बाँई ओर रखलें। फिर इसी क्रम से कनिष्ठा तथा अनामिकाओं को मिलायें। दोनों तर्जनियों को एकं दूसरी के ऊपर रखें तथा दोनों मध्यमाओं को सबके ऊपर उठायें।

यह मुद्राओं में सर्वोत्तम 'खेचरी मुद्रा' है।

८. बीज मुद्रा

परिवृत्यकरौ स्पृष्टा वर्द्धचन्द्राकृती प्रिये।
तर्जन्यंगुष्ठ युगलं युगपत्कारयेत्ततः।।
अधः कनिष्ठावष्टब्धे मध्यमे विनियोजयेत्।
तथैव कुटिले योज्ये सर्वाधस्तद नामिके।।
बीजमुद्रेयमचिरात् सर्वसिद्धि प्रदायिनी।।
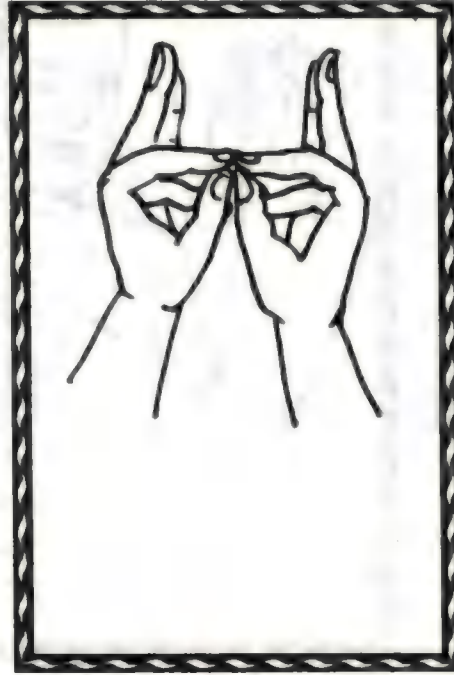
टीका–दोनों हाथों को एक दूसरे से काटते हुए चन्द्राकार करें। फिर दोनों अँगूठों को अपनी–अपनी तर्जनियों से मिलालें, तत्पश्चात् नीचे से दोनों कनिष्ठिकाओं को मध्यमाओं से मिलायें। इसी भाँति अनामिकाओं को कुछ मोड़कर सबसे नीचे मिलादें।

यह समस्त सिद्धियों को देने वाली 'बीज मुद्रा' है।

६. प्रथम योनि मुद्रा

मध्यमे कुटिले कृत्वा तर्जन्युपरि संस्थिते।
अनामिका मध्यगते तथैव हि कनिष्ठिके।।
सर्वा एकत्र संयोज्य अंगुष्ठ परिपीडिता।
एषातु प्रथमा मुद्रा योनि मुद्रेति संज्ञिता।।
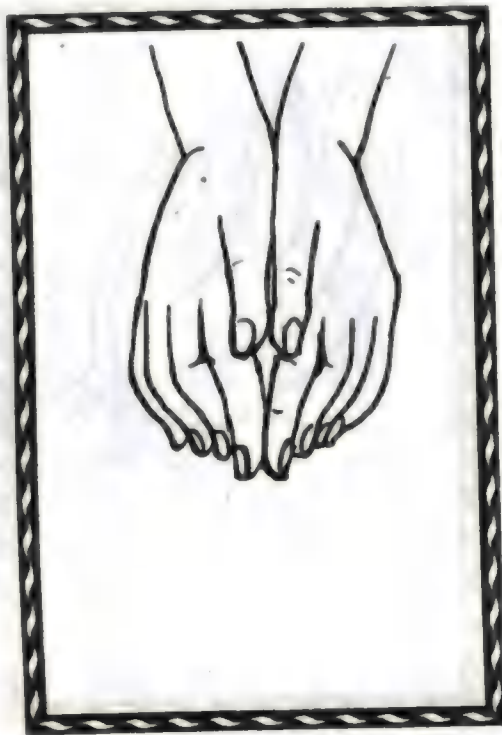
टीका-बीच से मुड़ी हुई मध्यमाओं को तर्जनियों के ऊपर रखें। फिर अनामिका तथा कनिष्ठिकाओं को भी मोड़कर, सबको जोड़ते हुए एक साथ अँगूठों से दबायें।

इसे 'प्रथमयोनि मुद्रा' कहते हैं।

१०. त्रिखण्डा मुद्रा

परिवृत्त करौ स्पृष्टा वंगुष्ठौ कारयेत्समौ।
अनामान्तर्गते कृत्वा तर्जन्यौ कुटिलाकृती।।
कनिष्ठिके नियुञ्जीत निजस्थाने महेश्वरि।
त्रिखण्डेयं समाख्याता त्रिपुराध्यान कर्मणि।।

टीका-दोनों हाथों को एक दूसरे से काटते हुए (दाँये को बाँई ओर तथा बाँये को दाँई ओर रखकर) पीठ पर रखें तथा अँगूठों को बराबर करके मिलायें। अनामिकाओं को भीतर की ओर फैला कर तर्जनियों को थोड़ा मोड़ें तथा कनिष्ठिकाओं को यथास्थान मिलायें।

त्रिपुर देवी के ध्यान में प्रयुक्त होने वाली यह 'त्रिखण्डा मुद्रा' है।

इति श्री त्रिपुरा मुद्रा समाप्ताः

६. अन्य देवियों की मुद्राएँ

भगवती महाकाली, श्यामा, तारा एवं भुवनेश्वरी आदि देवियों की पूजा में जिन मुद्राओं को प्रदर्शित किया जाता है। उनके विषय में निम्नानुसार समझना चाहिए।

महायोनिरिति ख्याता सर्वसिद्धि समृद्धिदा:।
शक्त्यर्चने महायोनि: श्यामादौ मुण्ड मुद्रिका।।

टीका- 'महायोनि मुद्रा' समस्त सिद्धियों तथा समृद्धि को देने वाली है। शक्ति की अर्चना में 'महायोनि मुद्रा' तथा श्यामा आदि के लिए 'मुण्ड मुद्रा' का प्रयोग किया जाता है।

भगवती महाकाली की अर्चना में १. महायोनि, २. मुण्ड तथा ३. भूतिनी का; भगवती तारा की पूजा में १. योनि, २. भूतिनी, ३. बीज, ४. धूमिनी तथा ५. लेलिहा का एवं भुवनेश्वरी की पूजा में १. पाश, २. अंकुश, ३. वर, ४. अभय, ५. पुस्तक, ६. ज्ञान, ७. बीज तथा ८. योनि मुद्रा का प्रयोग होता है।

इनमें से जिन मुद्राओं का वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त अन्य मुद्राओं का सचित्र उल्लेख आगे किया जा रहा है।

१. महायोनि मुद्रा

तर्जन्यामिकामध्ये कनिष्ठाक्रम योगतः।
करयोर्योजयत्वेव कनिष्ठा मूल देशतः।।
अंगुष्ठाग्रे तु निःक्षिप्य महायोनि प्रकीर्तिता।।

टीका-दोनों हाथों की तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिकाओं को एक दूसरी से मिलाकर, दोनों हथेलियों को इस प्रकार मिलायें कि उनका निचला भाग एक दूसरी को भली भाँति स्पर्श करता रहे। इसके बाद दोनों अँगूठों को अपनी-अपनीं कनिष्ठकाओं के मूल पर्वों पर रखें।

इसे 'महायोनि मुद्रा' कहते हैं। यह भगवती महाकाली की पूजा में प्रदर्शित की जाती है।

२. मुण्ड मुद्रा

पृष्ठे क्रोडान्तरें गुष्ठ मुष्टिं कृत्वा करस्य च।
मध्यमाग्रं तु दक्षस्य तथालम्ब्य प्रयत्नतः।।
मध्यमेनाय तर्जन्यामंगुष्ठाग्रे तु योजयेत्।
दर्शयेद्दक्षिणे भागे मुण्डमुद्रेय मुच्यते।।
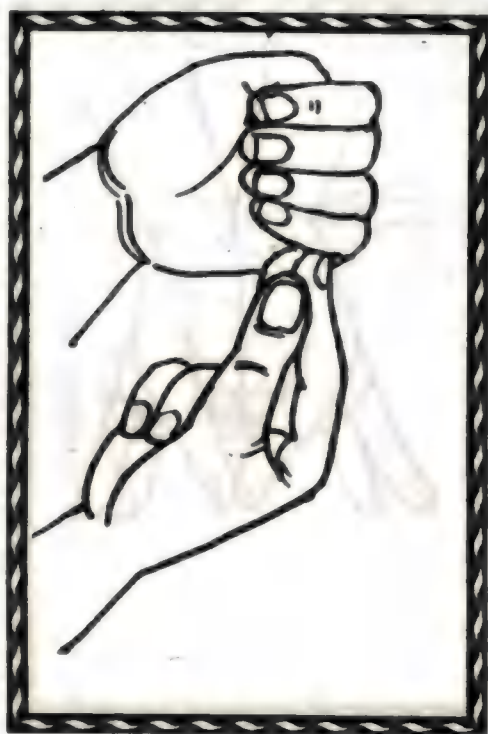
टीका-अँगूठे को भीतर करते हुए बाँये हाथ की मुट्ठी बाँधें। फिर, दाँये हाथ की मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठा को थोड़ा मोड़ें। दाँये अँगूठे को दाँई तर्जनी के मध्यपर्व पर लगायें। इस प्रकार संयोजित दाँये हाथ पर बाँई मुट्ठी को रखें। इस भाँति रखे हुए हाथों की दाँई ओर साधक अपनी दृष्टि को केन्द्रित करे।

इसे 'मुण्ड मुद्रा' कहते हैं। यह भी भगवती काली की पूजा में प्रदर्शित की जाती है।

३. भूतिनी मुद्रा

बध्वा तु योनि मुद्रां वै मध्यमे कुटिले कुरु।
अंगुष्ठेन तदग्रे तु मुद्रेयं भूतिनी मता।।

टीका-योनि मुद्रा बाँधकर, मध्यमाओं को मोड़ दें तथा अँगूठों के अग्रभाग को मध्यमाओं के अग्रभाग पर रखें।

इसे 'भूतिनी मुद्रा' कहते हैं। इसे भी भगवती काली की पूजा में प्रदर्शित किया जाता है।

४. धूमिनी मुद्रा

भगवती तारा की पूजा में १. योनि, २. भूतिनी, ३. बीज, ४. धूमिनी तथा ५. लेलिहा– इन पाँच मुद्राओं को प्रदर्शित किया जाता है।

योनि, भूतिनी तथा बीज मुद्राओं का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ 'धूमिनी' तथा 'लेलिहा' के विषय में लिखा जा रहा है।
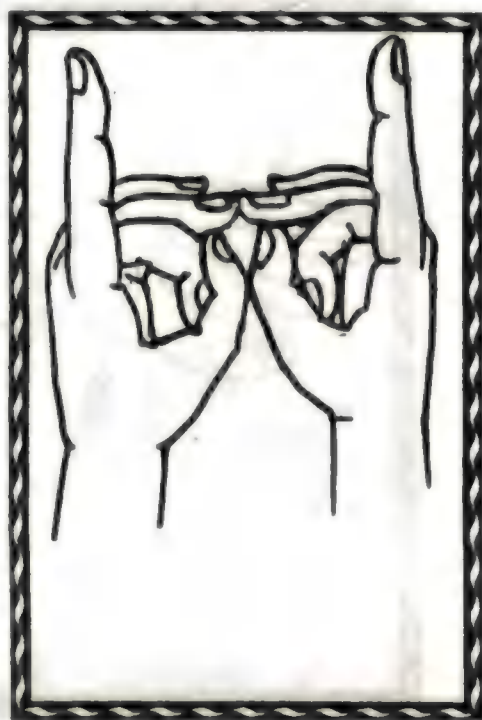
विधि–अनामिका की पीठ पर कनिष्ठा को लगायें, अँगूठों द्वारा मध्यमाओं को बाँधें, अनामिकाओं को तिरछा करके अँगूठों के मूल से जोड़दें तथा तर्जनी को सीधी करके मिलादें।

इसे 'धूमिनी मुद्रा' कहते हैं। यह 'भगवती तारा' की पूजा में प्रयुक्त होती है।

५. लेलिहा मुद्रा

तर्जनी मध्यमानामाः समाः कुर्यादधोमुखीः।
अनामायां क्षिपेद्वृद्धामूर्ध्वं कृत्वा कनिष्ठिकाम्।।
लेलिहा नाम मुद्रेयं जीवन्यासे प्रकीर्तिता।।

टीका–तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका को बराबर करके अधोमुख करें एवं कनिष्ठा को सीधा रखें।

यह 'लेलिहा' अथवा 'लेलिहान' नामक मुद्रा है। इसका प्रयोग 'भगवती तारा' की पूजा के अतिरिक्त 'जीवन्यास' में भी होता है।

१०. अग्नि की मुद्राएँ

सप्तजिह्वाह्वया मुद्रा विज्ञेया वह्नि पूजने।
मत्स्य मुद्रा च कूर्माख्या लेलिहा मुण्ड संज्ञिका।।
मत्स्य कूर्म लेलिहाख्या सर्वसाधारणी मता।।

टीका-अग्नि, पूजन के लिऐ 'सप्तजिह्वा मुद्रा' का प्रयोग होता है। १. मत्स्य, २. कूर्म, ३. लेलिहा तथा ४. मुण्ड भी इनकी मुद्राएँ मानी जाती हैं। मत्स्य, कूर्म तथा लेलिहा-इन्हें साधारण मुद्रा कहा गया है।

टिप्पणी-उक्त मुद्राओं में लेलिहा तथा मुण्ड मुद्राओं का सचित्र वर्णन पिछले पृष्ठों में (क्रमश: पृष्ठ संख्या ८६ तथा पृष्ठ संख्या ८३) पर किया जा चुका है। अन्य मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

१. सप्तजिह्वा मुद्रा

मणिबन्धस्थितौ कृत्वा प्रसृतांगुलिकौ करौ।
कनिष्ठांगुष्ठ युगले मिलितां तां प्रसारयेत्।।
सप्तजिह्वाख्य मुद्रेयं वैश्वानर प्रियङ्करी।।

टीका-दोनों कलाइयों से हाथों को सीधा करके सभी अँगुलियों को ऊपर उठायें। तत्पश्चात् अँगूठे तथा कनिष्ठिकाओं के अग्रभाग को मिलाकर सामने की ओर फैलादें।

यह वैश्वानर (वह्नि अथवा अग्नि) को अत्यंन्त प्रिय 'सप्तजिह्वा' नामक मुद्रा है।

२. मत्स्य मुद्रा

दक्षपाणिपृष्ठदेशे वामपाणितलं न्यसेत्।
अंगुष्ठौ चालयेत्सम्यङ् मुद्रेयं मत्स्य रूपिणी।।

टीका-बाँई हथेली को दाँये हाथ के पृष्ठभाग पर रखें, तदुपरान्त दोनों अँगूठों को, हथेली को पार करते हुए मिलायें।
इसे 'मत्स्य मुद्रा' कहते हैं।

३. कूर्म (कच्छप) मुद्रा

वामहस्तस्य तर्जन्यां दक्षिणस्य करस्य च।
वामस्य पितृतीर्थेन मध्यमानामिके तथा।।
अधोमुखैश्च तैः कुर्याद् दक्षिणस्य करस्य च।
कूर्म पृष्ठ समं कुर्याद् दक्षं पाणिं च सर्वतः।
कूर्ममुद्रेय माख्याता देवता ध्यान कर्मणि।।

टीका-बाँई तर्जनी को दाँई कनिष्ठिका से मिलायें, फिर दाँई तर्जनी को बाँये अँगूठे से मिलायें तथा दाँये अँगूठे को ऊपर उठादें। इसके पश्चात् बाँये हाथ की मध्यमा तथा अनामिका को दाँये हाथ की हथेली से लगायें तथा दाँये हाथ को कछुए (कच्छप) की पीठ जैसा बनायें।

यह देवता के ध्यान-कर्म में प्रयुक्त होने वाली 'कूर्म मुद्रा' है।

११. अन्य देवताओं की मुद्राएँ

श्री गोपालार्चने वेणुर्नृहरे नरिसिंहिका।
वराहस्य च पूजाया वराहाख्यां प्रदर्शयेत्।।
रामार्चने धनुर्बाणमुद्रे पर्शुस्तयार्चने।
परशुरामस्य विज्ञेया तथा परशु मुद्रिका।।
वासुदेवाह्वया ध्याने कुम्भ मुद्रा तु रक्षणे।
सर्वत्र प्रार्थनेचैव प्रार्थनाख्यां नियोजयेत्।।

टीका-श्री गोपाल जी के अर्चन में 'वेणु मुद्रा' का, नृसिंह की पूजा में 'नारसिंही मुद्रा' का, वराह की पूजा में 'वाराही मुद्रा' का, श्रीराम की पूजा में 'धनुष' और बाण का तथा परशुराम की पूजा में 'परशु मुद्रा' का प्रदर्शन करना चाहिए। वासुदेव के आवाहन तथा ध्यान में 'वासुदेव मुद्रा' का रक्षण-कर्म में तथा इन सब की प्रार्थना में 'प्रार्थना मुद्रा' का प्रयोग करना चाहिए।

टिप्पणी-उक्त मुद्राओं में से जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं हुआ है, उनका सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

१. ज्ञातव्य

अर्चने जयकाले च ध्याने काम्ये च कर्मणि।
स्नाने चावाह्ने शङ्खे प्रतिष्ठायां च रक्षणे।।
नैवेद्य च तथान्यत्र तत्तत्कल्प प्रकाशिते।
स्थाने मुद्राः प्रद्रष्टव्याः स्वस्वलक्षण संयुताः।।
कुम्भ मुद्राभिषेके स्यात् पद्म मुद्रासने तथा।
कालकर्णी प्रयोक्तव्या विघ्न प्रशम कर्मणि।
गालिनी च प्रयोक्तव्या जल शोधन कर्मणि।।

टीका-तत्तत्कल्पों में प्रकाशित अर्चन, जप, ध्यान, काम्य-कर्म, स्नान, आवाहन, शंख-वादन, देव-प्रतिष्ठा, सुरक्षा, नैवेद्य प्रदान करने में तथा अन्यत्र अपने-अपने लक्षणों से युक्त मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिए।

अभिषेक में 'कुंभ मुद्रा', आसन के लिए 'पद्म मुद्रा' विघ्न-शमन हेतु 'कालकर्णी मुद्रा' तथा जल-शोधन-कर्म में 'गालिनी मुद्रा' का प्रयोग करना चाहिए।

उक्त मुद्राओं का सचित्र वर्णन आगे किया जाएगा।

१. कुम्भ मुद्रा (प्रथम)

दक्षांगुष्ठे परांगुष्ठे क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु।
सावकाशामेक मुष्टिं कुर्यात्सा कुम्भ मुद्रिका।।

टीका-दाँये अँगूठे को बाँये के ऊपर रखें तथा इसी स्थिति में दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे परन्तु दोनों मुट्ठियों के बीच थोड़ी जगह बनी रहे। इसे 'कुम्भ मुद्रा' कहते हैं।

कुम्भ मुद्रा का एक अन्य प्रकार अगले पृष्ठ पर वर्णित है।

२. कुम्भ मुद्रा (द्वितीय)

मुष्ट्योरूद्र्ध्वकृतांगुष्ठौ तर्जन्यग्रे तु विन्यसेत्।
सर्वरक्षाकरी ह्येषा कुम्भमुद्रेयमीरिता।।

टीका-दोनों हाथों को आपस में मिला कर एक ही मुट्ठी बनायें तथा दोनों अँगूठों को मिलाकर तर्जनी के अग्रभाग पर रखें।

यह 'द्वितीय कुम्भ मुद्रा' है, जो साधक की सब प्रकार से रक्षा करती है।

३. प्रार्थना मुद्रा

प्रसृतांगुलिकौ हस्तौ मिथः क्लिष्टौ च सम्मुखौ।
कुर्यात्स्व हृदये सेयं मुद्रा प्रार्थन संज्ञिका।।

टीका-दोनों हाथों को फैलाते हुए हृदय पर रखें। इसे 'प्रार्थना मुद्रा' कहते हैं।

टिप्पणी-इस मुद्रा का प्रयोग अन्य देवताओं की प्रार्थना में भी किया जा सकता है।

४. वासुदेव मुद्रा

अञ्जल्यञ्जलिमुद्रा स्याद्वासुदेवाभिधा न सा।।

टीका-दोनों हाथों को मिलाकर अंजलि बाँधने से 'वासुदेव मुद्रा' बनती है। यह मुद्रा भगवान् वासुदेव को प्रिय है। अतः इसे 'वासुदेव मुद्रा' कहा जाता है।

५. कालकर्णी मुद्रा

अंगुष्ठावुन्नतौ कृत्वा मुष्ट्योः संलग्नयोर्द्वयोः।
तावेवाभिमुखौ कुर्यान् मुद्रैषा कालकर्णिका।।

टीका-दोनों हाथों की बँधी मुट्ठियों को एक दूसरी से मिलाकर, दोनों अँगूठों को ऊपर उठायें। इस प्रकार हाथों को अपने सामने रखें। इसे 'कालकर्णी मुद्रा' कहा जाता है।

६. गालिनी मुद्रा

कनिष्ठांगुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम्।
तर्जनी मध्यमानामा संहता भुग्नवर्जिताः।।
मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता शङ्ख कस्योपचालिता।।

टीका-दोनों हथेलियों को एक दूसरी पर रखें तथा कनिष्ठिकाओं को इस प्रकार मोड़ें कि वे अपनी-अपनी हथेलियों का स्पर्श करती रहें। तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका अँगुलियाँ सीधी एवं परस्पर मिली रहनी चाहिए।

यह शंख बजाने की 'गालिनी मुद्रा' है।

७. विस्मय मुद्रा

दक्षिणा निविडा मुष्टिरनामार्पित तर्जनी।
मुद्रा विस्मय संज्ञा स्याद् विस्मया वेशकारिणी।।

टीका-दाँये हाथ को कस कर मुट्ठी बाँधें तथा उसकी तर्जनी अँगुली द्वारा अपनी नाक को हल्के से दबायें।

यह विस्मयावेश को व्यक्त करने वाली 'विस्मय मुद्रा' है।

८. नाद मुद्रा

मुष्टिंरूदूर्ध्वकृतांगुष्ठा दक्षिणा नाद मुद्रिका।।
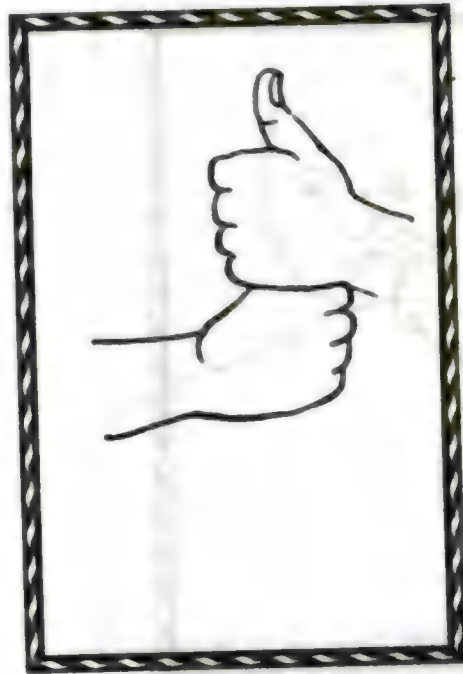
टीका-दाँये अँगूठे को बाँई मुट्ठी में बन्द करें।
यह 'नाद मुद्रा' है।

६. विन्दु मुद्रा

तर्जन्यंगुष्ठसंयोगाद् अग्रतो विन्दु मुद्रिका।।
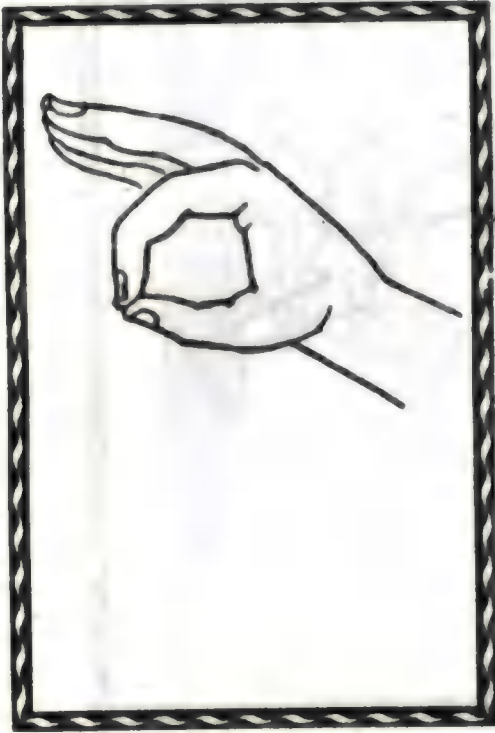
टीका-तर्जनी और अँगूठे के अग्रभाग को मिलायें।
इसे 'विन्दु मुद्रा' कहते हैं।

१०. संहार मुद्रा

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वस्यादद्क्ष हस्तकम् ।
क्षिप्त्वाङ्गलीरङ्गुलीभिः संग्रथ्य परिवर्तयेत् ।।
एषा संहार मुद्रा स्याद् विसर्जन विधो स्मृता ।।
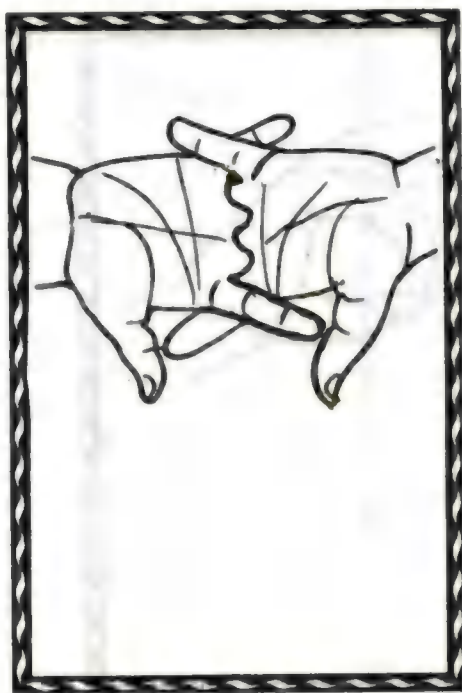
टीका-अधोमुख बॉयें हाथ को ऊर्ध्वमुख दॉयें हाथ पर रखें । फिर दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस में गूँथ दें । तत्पश्चात् उक्त प्रकार से संयोजित हाथों को घुमाकर एकदम उलट दें ।

यह देवता के विसर्जन के समय प्रयुक्त होने वाली 'संहार मुद्रा' है ।

इति देवोपासना मुद्रा समाप्ताः

१२. आवाहनादि की मुद्राएँ

आवाहनादिका मुद्रा नव साधारणी मताः।
प्रयोजयेदिमा मुद्रा देवताह्वान कर्मणि।।

टीका-सामान्यतः देवताओं के आवाहन आदि कर्म में ९ मुद्राओं का प्रयोग होता है। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. आवाहनी मुद्रा, २. स्थापनी मुद्रा, ३. सन्निधापनी मुद्रा, ४. संबोधिनी मुद्रा, ५. सम्मुखीकरण मुद्रा, ६. सकलीकरण मुद्रा, ७. अवगुण्ठनी मुद्रा, ८. अमृतीकरण (धेनु) मुद्रा तथा ९. परमीकरण महामुद्रा।

टिप्पणी-उक्त मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया जा रहा है।

१. आवाहनी मुद्रा

हस्ताभ्यामञ्जलिं बध्वानामिका मूलपर्वभिः।
अंङ्गष्ठो निःक्षिपेत्सेयं मुद्रात्वावाहिनी मता।।
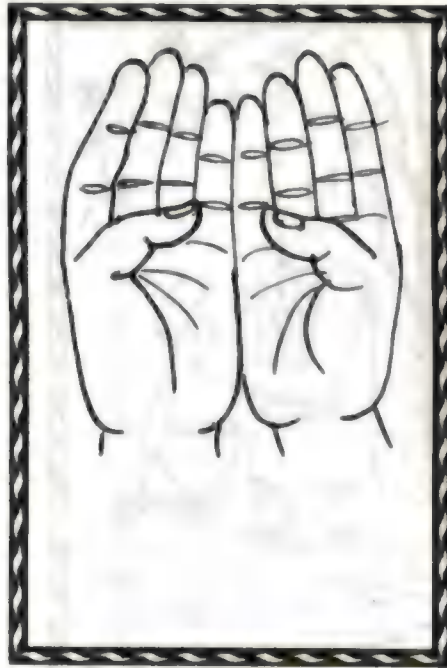
टीका-दोनों हाथों से अँजलि बाँधकर दोनों अँगूठों को अपनी-अपनी अनामिकाओं के मूल-पर्वों पर लगायें।
इसे 'आवाहनी मुद्रा' कहते हैं।

२. संस्थापिनी मुद्रा

अधोमुखी त्वियं चेत्स्यात्स्थापनी मुद्रिका स्मृता।।
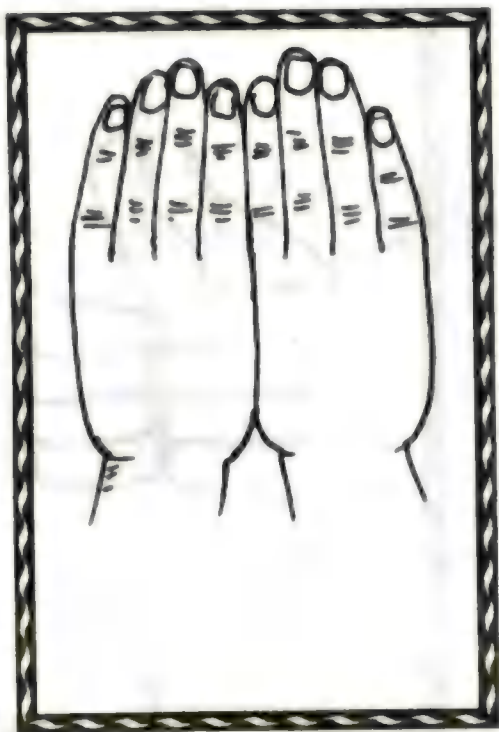
टीका-पूर्वोक्त प्रकार से 'आवाहनी मुद्रा' बनाकर उसे अधोमुख कर देने से 'स्थापनी मुद्रा' बनती है।

इसी को 'संस्थापिनी मुद्रा' भी कहते हैं।

३. सन्निधापिनी मुद्रा

उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात्सन्निधापनी ।।

टीका-दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर दोनों अँगूठों को ऊपर की ओर खड़ा करदें।

इसे 'सन्निधापिनी मुद्रा' कहते हैं।

४. सम्बोधिनी मुद्रा

अन्तः प्रवेशिताङ्गुष्ठा सैव सम्बोधिनी मता।।
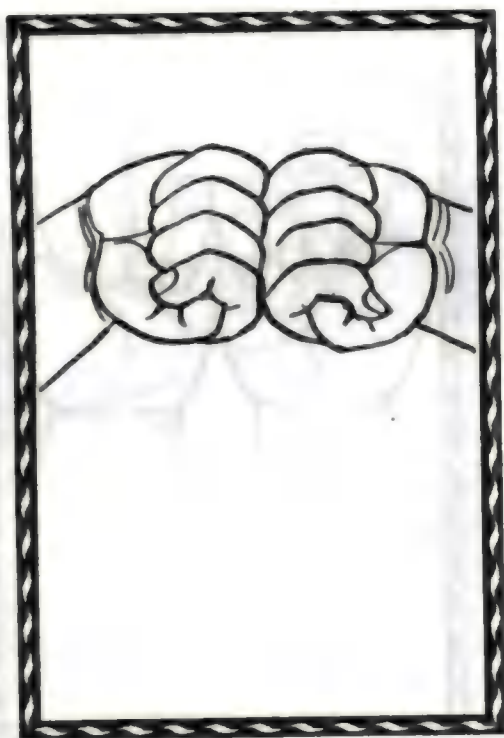
टीका-दोनों अँगूठों को दोनों मुट्ठियों के भीतर रखते हुए मुट्ठियों को उलट दें।

इसे 'सम्बोधिनी मुद्रा' कहते हैं।

५. सम्मुखीकरणी मुद्रा

उत्तानमुष्टि युगला सम्मुखीकरणी मता।।

टीका-पूर्वोक्त 'सम्बोधिनी मुद्रा' की मुट्ठियों को ऊपर की ओर घुमादें। इसे सम्मुखीकरण अथवा सम्मुखीकरणी मुद्रा कहते हैं।

६. सकलीकरण मुद्रा

देवतोङ्गषडङ्गानां न्यासः स्यात् सकलीकृति।।

टीका-देवताओं के षड न्यास में 'सकलीकरण मुद्रा' को प्रदर्शित किया जाता है। इसे चित्र में दिखाये अनुसार करना चाहिए।

७. अवगुण्ठनी मुद्रा

सव्यहस्तकृता मुष्टिर्दीर्घाधोमुख तर्जनी।
अवगुण्ठन मुद्रेयमभितो भ्रामिता मता।।
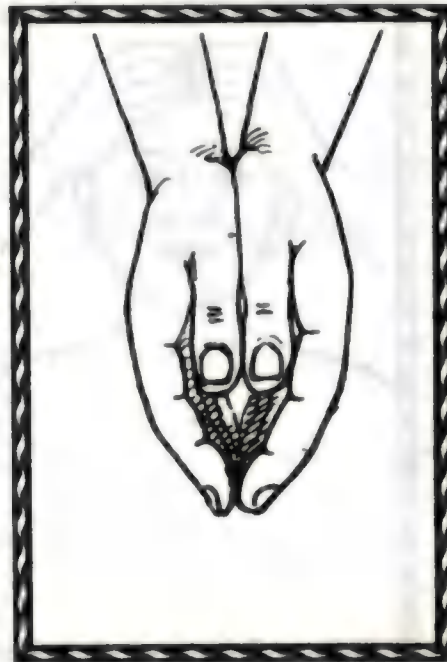
टीका–बॉयें हाथ की मुट्ठी बाँधकर, तर्जनी को अधोमुख करें, फिर उसे नियमित रूप से आगे–पीछे की ओर चलायें।

इसे 'अवगुण्ठन' अथवा 'अवगुण्ठनी मुद्रा' कहते हैं।

८. अमृतीकरण (धेनु) मुद्रा

अन्योन्याभिमुखौश्लिष्टौ कनिष्ठानामिका पुनः।
तथैव तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा समीरिता।।
अमृतीकरणं कुर्यात् तया साधक सत्तम।।

टीका-दाँये हाथ की अँगुलियों को बाँये हाथ की अँगुलियों पर रखें तथा दाँई तर्जनी को मध्यमा के मध्य में लगायें। फिर बाँये हाथ की अनामिका को दाँये हाथ की कनिष्ठिका से तथा दाँये हाथ की अनामिका को बाँये हाथ की कनिष्ठिका से लगायें। इस भाँति सभी अँगुलियों को संयोजित करके हाथों को उलट देने से 'धेनु मुद्रा' बनती है।

श्रेष्ठ साधक उक्त विधि से 'धेनु मुद्रा' प्रदर्शित कर अमृत बीज 'वं' का उच्चारण करते हुए 'अमृतीकरण' करते हैं, अतः इसे 'अमृतीकरण मुद्रा' भी कहा जाता है।

६. परमीकरण महामुद्रा

अन्योन्यग्रथितांगुष्ठौ प्रसारित कराङ्गुलिः ।
महामुद्रेय मुदिता परमीकरणे बुधैः ।।
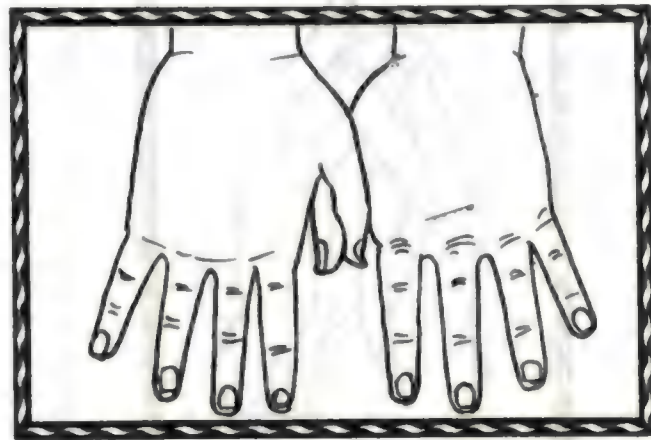
टीका-दोनों अँगूठों को एक दूसरे के साथ गूँथ कर, दोनों हाथों की अँगुलियों को फैलादें ।

इसे 'परमीकरण' की महामुद्रा कहा जाता है ।

इति श्री आवाहनादि मुद्रा समाप्ताः

१३. षडङ्गन्यास की मुद्राएँ

तथा षडङ्गमुद्राश्च सर्वमन्त्रेषु योजयेत्।।
अङ्गन्यास क्षमा मुद्रा स्तासां लक्षण मुच्यते।।

टीका-साधक को चाहिए कि वह सभी मन्त्रों में 'षडङ्गन्यास' की मुद्राओं की योजना करें। अब अङ्गन्यास की मुद्राओं के लक्षण बताते हैं।

षडङ्गन्यास की मुद्राओं के नाम निम्नलिखित हैं-

१. हृदय मुद्रा, २. शिरोमुद्रा, ३. शिखामुद्रा, ४. कवच मुद्रा, ५. अस्त्र मुद्रा और ६. नेत्र मुद्रा।

विशेष-नेत्र त्रय में न्यास करना हो तो 'नेत्रत्रय मुद्रा' का प्रयोग किया जाता है। उक्त मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. हृदय मुद्रा

अंगुष्ठा ऋजवो हस्तशाखा भवेन्मुद्रा हृदये।

टीका-अनामिका अँगुली तथा अँगूठे के अतिरिक्त शेष अँगुलियों को सीधा रखने से 'हृदय मुद्रा' बनती है।

२. शिरोमुद्रा

शीर्षके च।

टीका-'शिरोमुद्रा' भी पूर्वोक्त 'हृदय मुद्रा' की भाँति ही बनती है।

३. शिखा मुद्रा

अधोऽङ्गुष्ठा खलु मुष्टि: शिखाय।
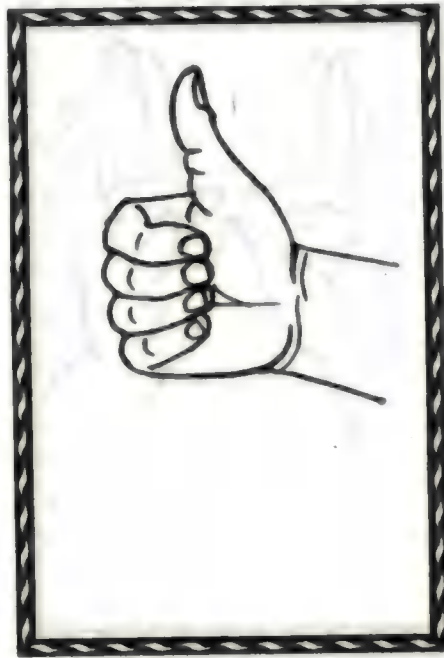
टीका-दाँये हाथ की मुट्ठी बाँध कर अँगूठे को अधोमुख कर देने से 'शिखा मुद्रा' बनती है।

४. कवच मुद्रा

करद्वन्द्वांगुलयो वर्मणि स्युः।।

टीका-दोनों हाथों की अँगुलियों को फैला देने से 'कवच' अथवा 'वर्म मुद्रा' बनती है।

५. अस्त्र मुद्रा

नारामुष्टयुद्घृत बाहुयुग्मकांगुंष्ठ तर्जन्युदितोध्वनिस्तु ।
विष्वक् विशक्तः कथिताऽस्त्रमुद्रा ।।
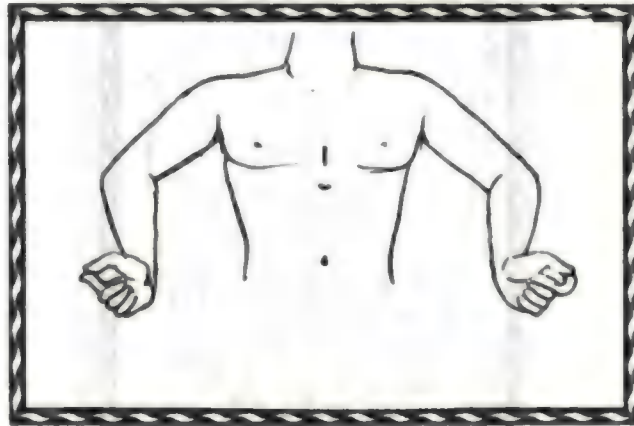
टीका-दोनों हाथों को वाण की भाँति फैलाकर, तर्जनी तथा अँगूठे के घर्षण द्वारा चुटकी बजायें।

इसे 'अस्त्र मुद्रा' कहते हैं।

६. नेत्र मुद्रा

यत्राक्षिणी तर्जनि मध्यमे स्तः।
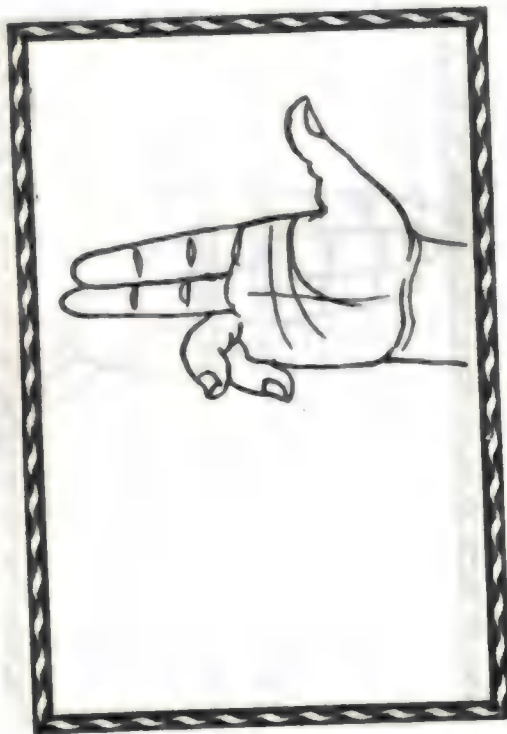
टीका-तर्जनी तथा मध्यमा-इन दो अँगुलियों से 'नेत्र मुद्रा' बनती है। इसमें तर्जनी तथा मध्यमा को सामने की ओर फैलादें तथा अनामिका एवं कनिष्ठा को नीचे की ओर मोड़दें। अँगूठे को उठा हुआ रखें।

७. नेत्रत्रय मुद्रा

नेत्रत्रयं मन्त्र भवेदनामा।।

टीका-नेत्रत्रय में न्यास करते समय तर्जनी तथा मध्यमा के साथ अनामिका को भी सम्मिलित कर लिया जाता है।

इसे नेत्रत्रय मुद्रा कहते हैं।

इति षडङ्गन्यास मुद्राः समाप्ताः

१४. कर-न्यास की मुद्राएँ

'करन्यास' की ६ मुद्राएँ हैं। इनका सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

प्रथम मुद्रा

अँगूठे को अँगूठे से लगाएँ

द्वितीय मुद्रा
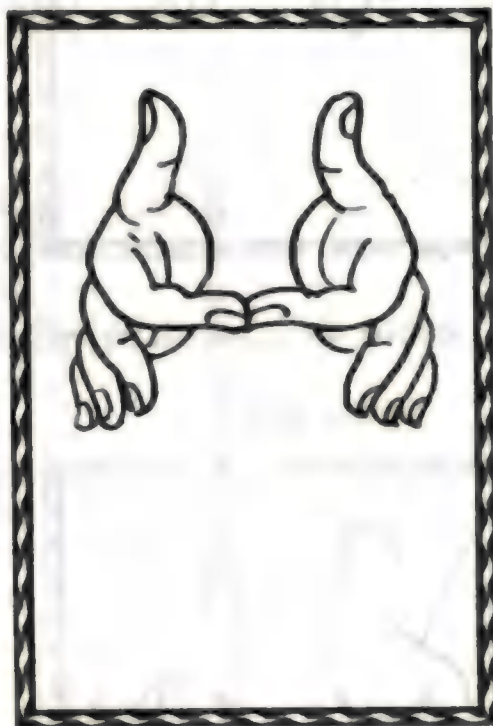
तर्जनी को तर्जनी से लगायें

तृतीय मुद्रा

मध्यमा को मध्यमा से मिलायें
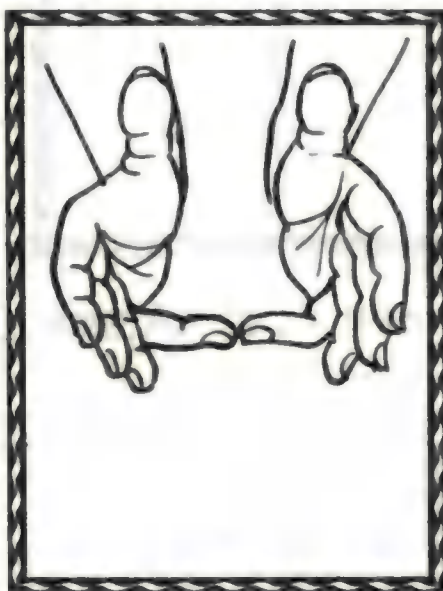
चतुर्थ मुद्रां

अनामिका को अनामिका से मिलायें

पंचम मुद्रा
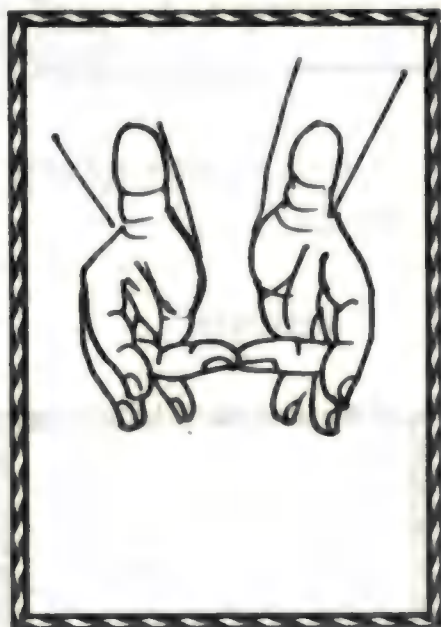
कनिष्ठा को कनिष्ठा से मिलायें

सम्पूर्ण करन्यास मुद्रा

हथेली को हथेली से मिलायें

इति करन्यास मुद्राः

१५. जीव-न्यास की मुद्राएँ

जीव-न्यास की ६ मुद्राएँ हैं-

१. बीज, २. लेलिहा, ३. त्रिखण्डा, ४. नाद, ५. विन्दु और ६. सौभाग्यदायिनी।

इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

१. बीज मुद्रा
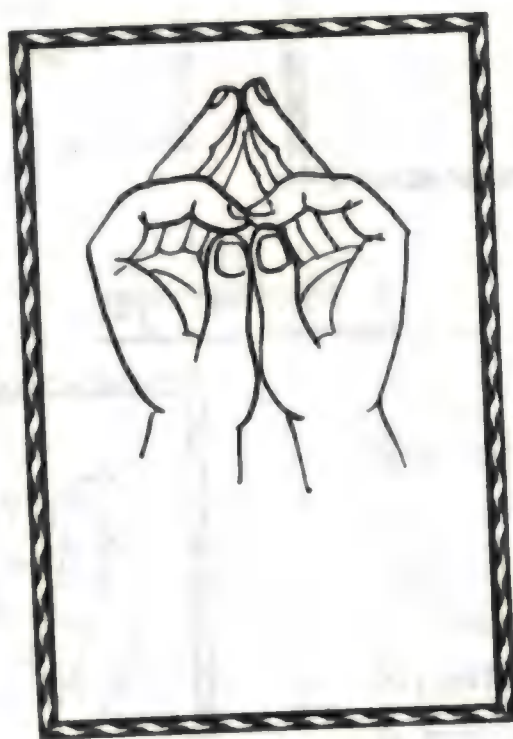
विधि-दोनों हाथों को अर्द्धचन्द्र के आकार में बदलें। फिर दोनों तर्जनियों तथा दोनों अँगूठों को परस्पर मिलादें। उनके नीचे मध्यमा तथा कनिष्ठिका को जोड़ें तथा सबके नीचे अनामिका को लगायें। इसे 'बीज मुद्रा' कहते हैं।

यह मुद्रा सम्पूर्ण सिद्धियों की वृद्धि करने वाली है।

२. लेलिहा मुद्रा

विधि-तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका को समानरूप से अधो-मुखी करके, अँगूठे को अनामिका में जोड़ दें तथा सीधी करें।

यह जीवन्यास की 'लेलिहा मुद्रा' कही जाती है।

३. त्रिखण्डा मुद्रा

विधि-दोनों हाथों को उलट-पुलट कर मिलायें। अँगूठों को सीधा करें। दोनों तर्जनियों को तिरछी करके अनामिकाओं को पकड़ें तथा कनिष्ठा से लगायें।

यह न्यास तथा ध्यान में सुखदायक 'त्रिखण्डा मुद्रा' है।
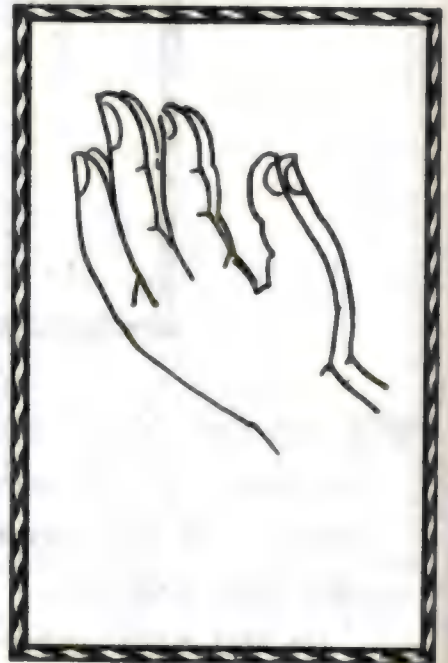
४. नाद मुद्रा
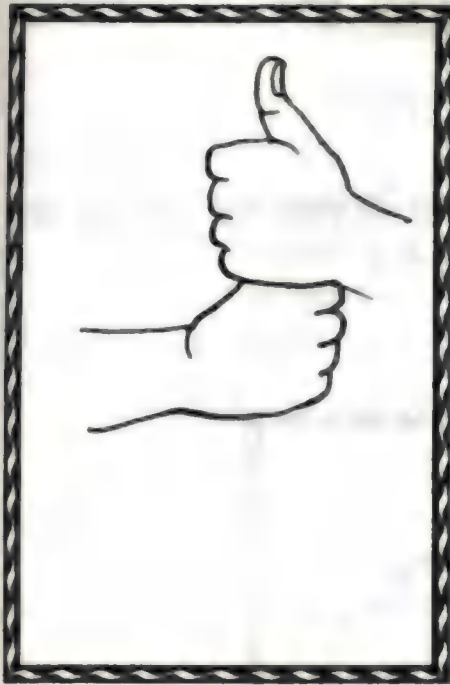
विधि-दाँये हाथ की मुट्ठी को ऊँचा करके उसके अँगूठे को खड़ा करदें तथा उस मुट्ठी को बाँये हाथ की मुट्ठी के ऊपर रखें।

यह 'नाद मुद्रा' है।

५. विन्दु मुद्रा

विधि-तर्जनी तथा अँगूठे को मिलाने से 'विन्दु मुद्रा' बनती है।
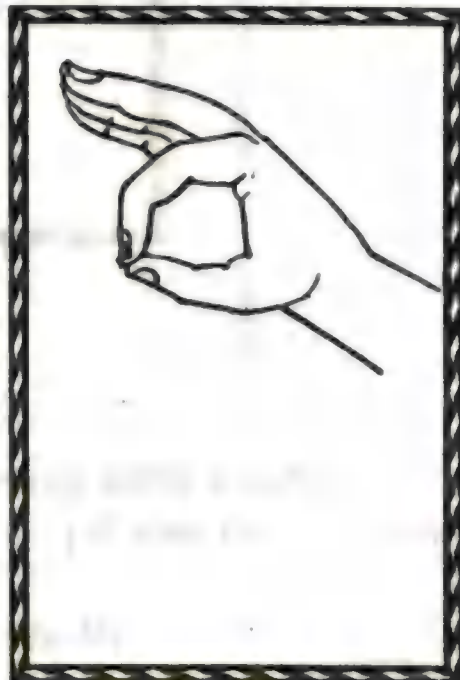
२. लेलिहा मुद्रा
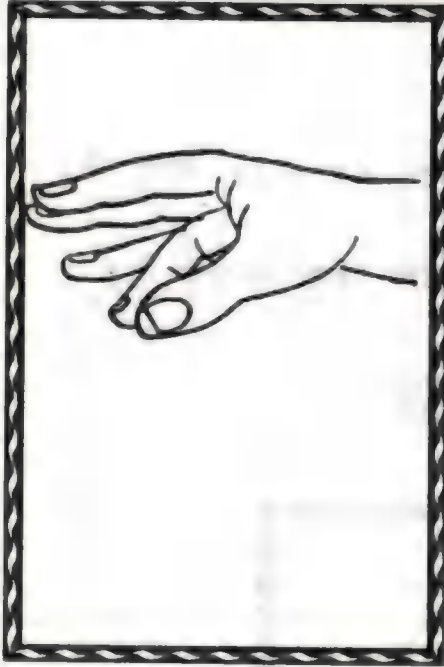
विधि-तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका को समानरूप से अधो-मुखी करके, अँगूठे को अनामिका में जोड़ दें तथा सीधी करें।

यह जीवन्यास की 'लेलिहा मुद्रा' कही जाती है।

३. त्रिखण्डा मुद्रा

विधि-दोनों हाथों को उलट-पुलट कर मिलायें। अँगूठों को सीधा करें। दोनों तर्जनियों को तिरछी करके अनामिकाओं को पकड़ें तथा कनिष्ठा से लगायें।

यह न्यास तथा ध्यान में सुखदायक 'त्रिखण्डा मुद्रा' है।
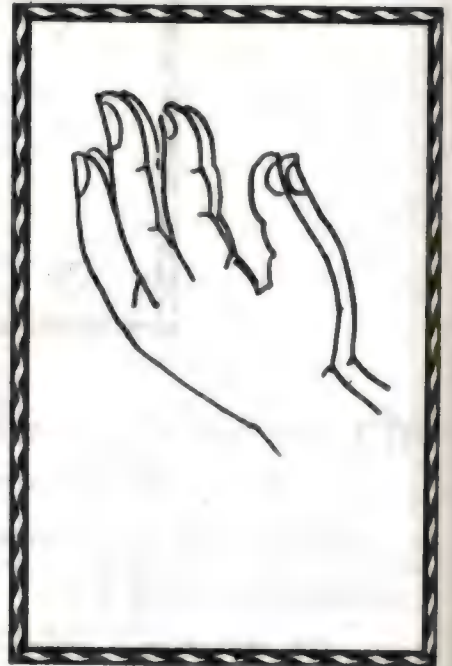
६. सौभाग्य दण्डिनी मुद्रा

विधि–बाँये हाथ की मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को सीधा करें तथा उसे कान के समीप ले जाकर गोलाकार घुमायें।
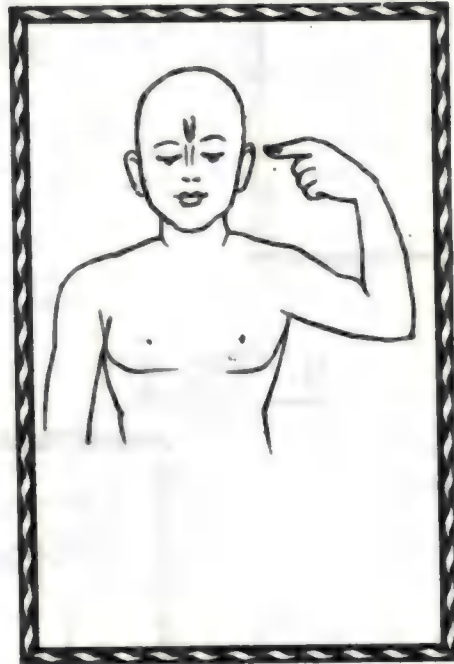
यह 'सौभाग्य दण्डिनी मुद्रा' कहलाती है। कुछ विद्वान इसे 'सौभाग्य दायिनी मुद्रा' भी कहते हैं।

इति जीवन्यास मुद्रा समाप्ताः

१६. मातृकान्यास की मुद्राएँ

मात्रकान्यास की १५ मुद्राएँ होती हैं, जिनका सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

टिप्पणी–'मातृकान्यास' प्राय: कर–स्पर्श से कियां जाता है, परन्तु गौतम के मतानुसार हाथ से स्पर्श करने की अपेक्षा वैसी क्रिया करने का मन ही मन ध्यान करलेना ही उचित है। इसके अतिरिक्त अँगूठे अथवा अनामिका अँगुली द्वारा भी अंगों का स्पर्श करके न्यास किया जा सकता है। पुष्प आदि के स्पर्श द्वारा भी न्यास करना उचित माना गया है। इससे भिन्न स्थिति में न्यास निष्फल कहा जाता है।

१. मातृका-न्यास मुद्रा
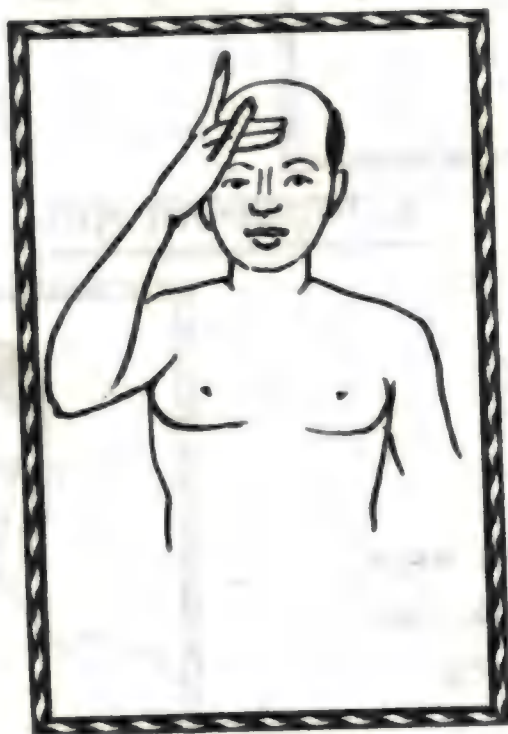
विधि–मध्यमा तथा अनामिका द्वारा भाल (ललाट) का स्पर्श करें।

२. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-अँगूठे और अनामिका अंगुली से नेत्र का स्पर्श करें।

३. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-हाथ की सम्पूर्ण संधियों से मस्तक तथा होठ का स्पर्श करें।

४. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-मध्यमा अँगुली से पार्श्व का स्पर्श करें।

५. मातृकान्यास मुद्रा
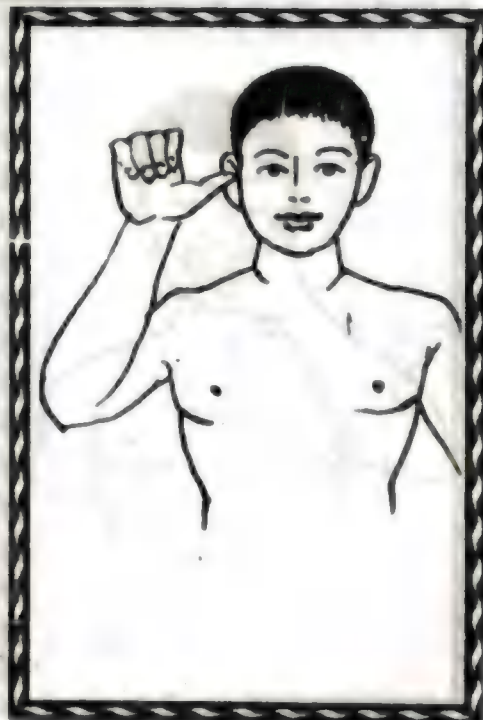
विधि-अँगूठे द्वारा कान का स्पर्श करें।

६. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-कनिष्ठिका अँगुली तथा अँगूठे द्वारा नासा-छिद्र का स्पर्श करें।

७. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका द्वारा मुख तथा कपोल का स्पर्श करें।

८. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-अनामिका अँगुली द्वारा दाँत तथा जीभ का स्पर्श करें।

९. मातृकान्यास मुद्रा
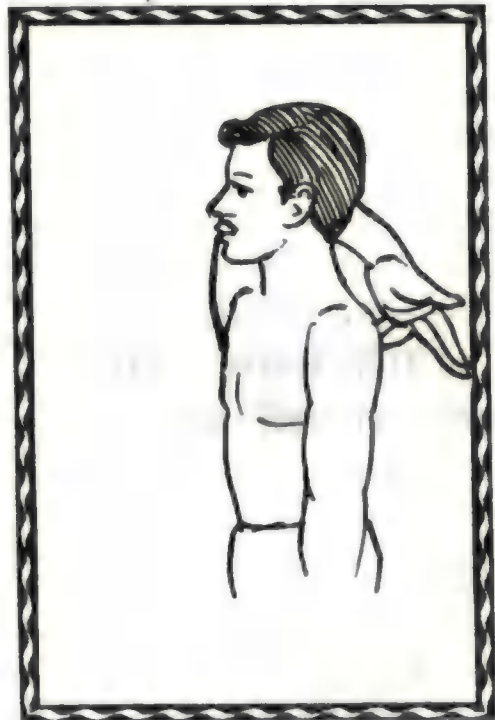
विधि-कनिष्ठिका तथा अनामिका द्वारा पीठ का स्पर्श करें।

१०. मातृकान्यास मुद्रा
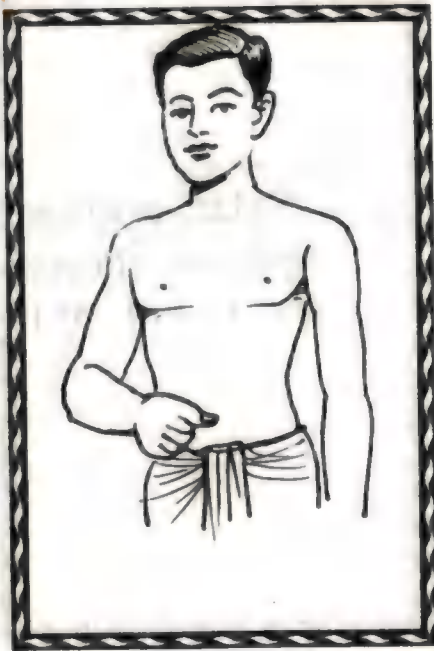
विधि-अँगूठे द्वारा नाभि का स्पर्श करें।

११. मातृकान्यास मुद्रा
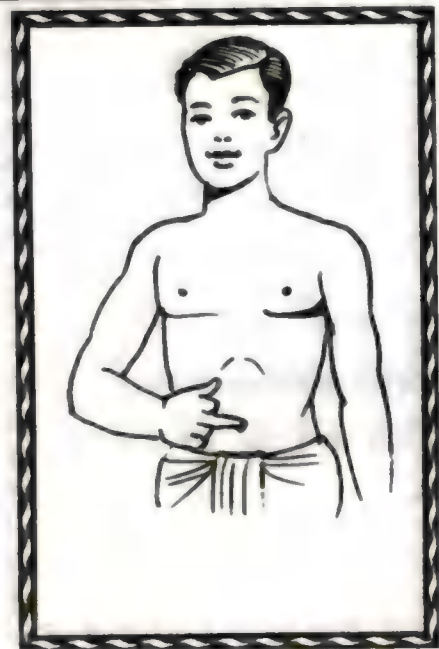
विधि-मध्यमा द्वारा नाभि का स्पर्श करें।

१२. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-अनामिका द्वारा नाभि का स्पर्श करें।

१३. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-कनिष्ठिका द्वारा नाभि का स्पर्श करें।

१४. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-चारों अँगुलियों द्वारा जठर (पेट) का स्पर्श करें।

१५. मातृकान्यास मुद्रा

विधि-हथेली द्वारा हृदय का स्पर्श करें।

इति मातृकान्यास मुद्राः समाप्ताः

१७. देवोपासना की मुद्राएँ

देवोपासना की ९ मुद्राएँ कही गई हैं। यथा-

१. आवाहनी, २. स्थापनी, ३. सन्निधापनी, ४. सन्निरोधिनी, ५. सम्मुखीकरण, ६. अवगुण्ठनी, ७. अमृतीकरण अथवा धेनु, ८. सकलीकरण तथा ९. परमीकरण।

इनका सचित्र विवरण आगे लिखे अनुसार है-

१. आवाहनी मुद्रा
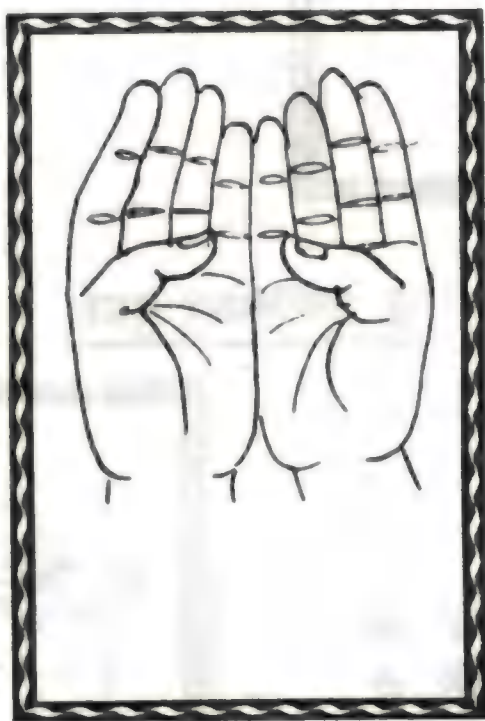
दोनों हाथों की अनामिकाओं के मूल में अँगूठा मिली हुई अंजनी को दो बार ऊँची करके नीचे लाने से 'आवाहनी' मुद्रा होती है।

२. स्थापनी मुद्रा
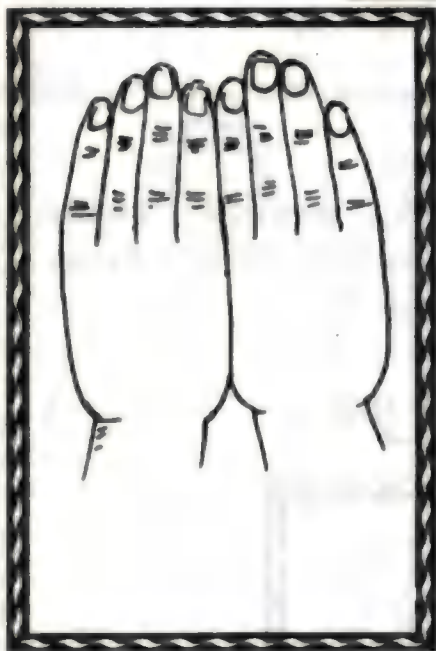
विधि-पूर्वोक्त 'आवाहनी मुद्रा' की अंजली को उलटा कर देने से 'स्थापनी' मुद्रा होती है।

३. सन्निधान मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की मुट्ठी मिलाकर अँगूठे को सीधा करने से 'सन्निधान' मुद्रा होती है।

इसी को 'सन्निध ापनी मुद्रा' भी कहते हैं।

४. सन्निरोधिनी मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की मुट्ठियों में अँगूठा दबाने से 'सन्निरोधिनी मुद्रा' होती है।
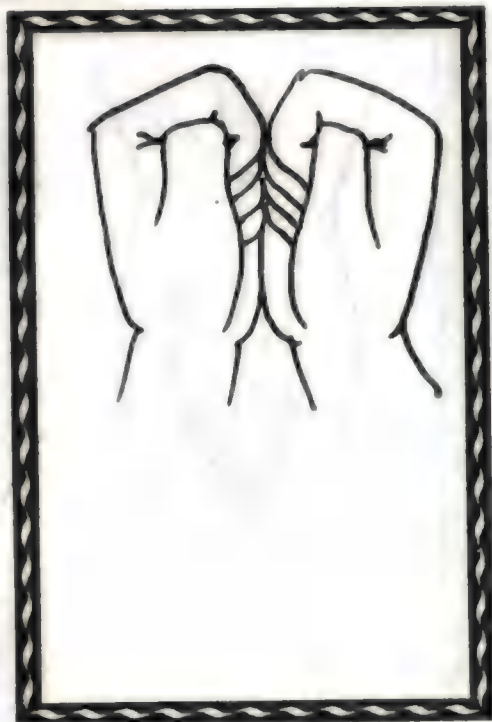
५. सम्मुखीकरण मुद्रा
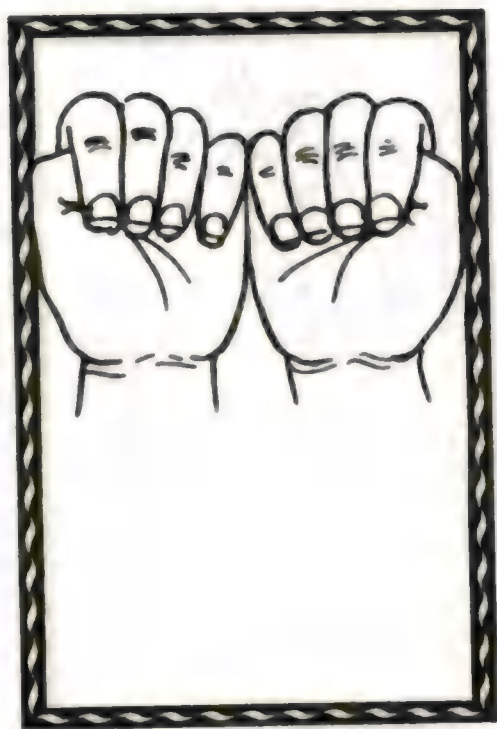
विधि-दोनों मुट्ठियाँ ऊँची करने से 'सम्मुखीकरण मुद्रा' होती है।

६. अवगुण्ठनी मुद्रा
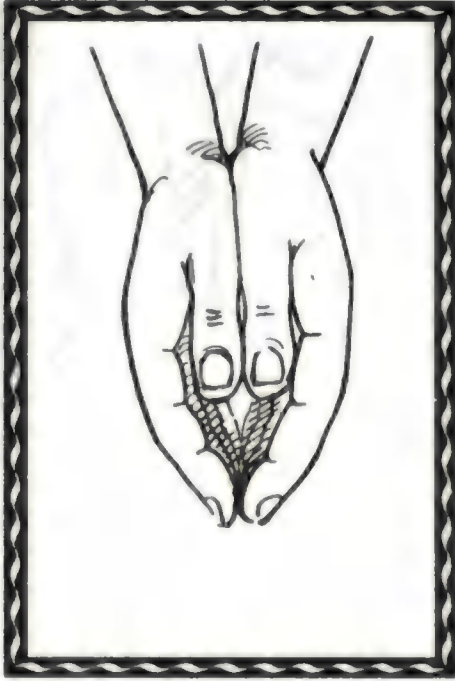
विधि-बाँये हाथ की तर्जनी को उलटी तथा दाँये हाथ की तर्जनी को सीधी (सुलटी) रखकर अधोमुख फिराने से 'अवगुण्ठनी मुद्रा' होती है।

दोनों अँगुलियों को मिलाकर अधोमुखी करना चाहिए।

७. अमृतीकरण (धेनु) मुद्रा

विधि-दोनों हथेलियों को मिला कर दाँई अनामिका को बाँई कनिष्ठिका से, बाँई अनामिका को दाँई कनिष्ठिका से, दाँई मध्यमा को बाँई तर्जनी से और बाँई मध्यमा को दाँई तर्जनी से आक्रान्त करें अर्थात् उक्त अंगुलियों को उलटी-सीधी मिलायें। इस प्रकार 'धेनु मुद्रा' बनती है। इसी का दूसरा नाम 'अमृतीकरण मुद्रा' है।

८. सकलीकरण मुद्रा

विधि-पूर्वोक्त मुद्रा की विधि से न्यास किया जाय तो वह 'सकलीकरण मुद्रा' होती है।

९. परमीकरण मुद्रा
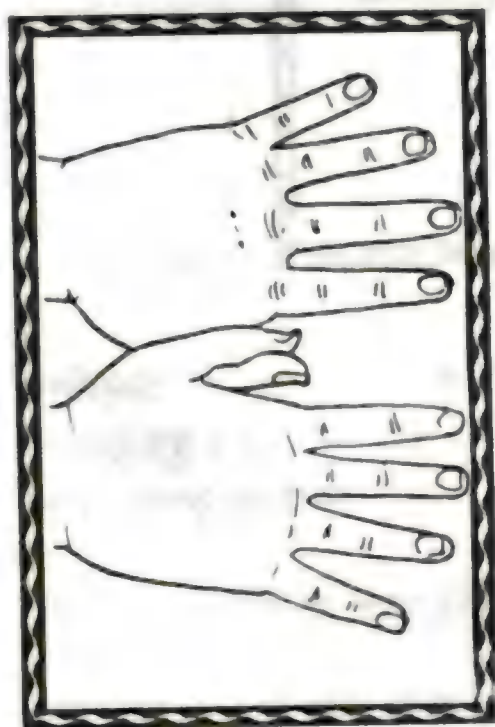
विधि-दोनों हाथों को आपस में मिलाकर त्रिकोणरूप देने से 'परमीकरण मुद्रा' बनती है।

इति देवोयासना मुद्राः समाप्ता :

१८. उपचार की मुद्राएँ

उपचार की १३ मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

१. गन्ध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप, ५. नैवेद्य, ६. आचमन, ७. ताम्बूल, ८. प्राण, ९. अपान, १०. व्यान, ११. उदान, १२. समान, तथा १३. ग्रास।

इन मुद्राओं का सचित्र उल्लेख आगे किया जा रहा है।

१. गन्ध मुद्रा

विधि-मध्यमा, अनामिका तथा अंगुष्ठ-इन तीनों के सम्मिलित अग्रभाग से 'गन्ध' अर्पित करने को 'गन्ध मुद्रा' कहते हैं। इस मुद्रा के प्रयोग के साथ गंध लगाते समय देवता के मूल-मन्त्र का उच्चारण भी करना चाहिए।

टिप्पणी-लोकाचार में पहले अँगूठे अथवा अनामिका से बिन्दु लगाकर बाद में अँगूठे से तिलक किया जाता है।

२. पुष्प मुद्रा

विधि-अँगूठे तथा तर्जनी के संयोग से पुष्पादि ग्रहण कर देवतादि को निवेदित करने से 'पुष्प मुद्रा' होती है।
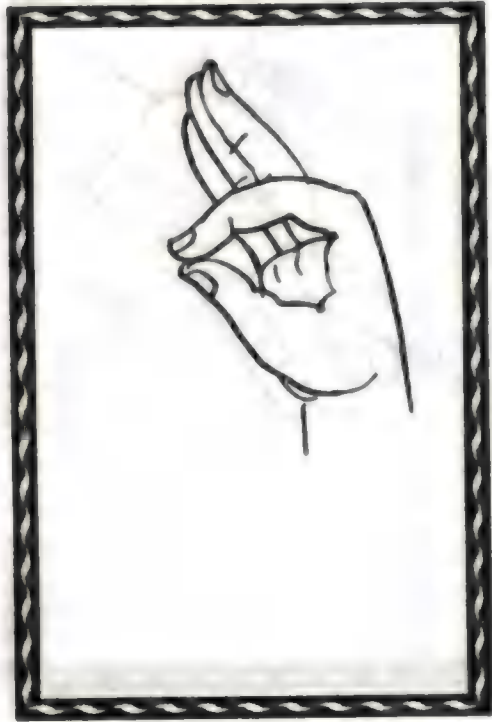
३. धूप मुद्रा

विधि-मध्यमा तथा अनामिका से मध्य पर्वों में धूप रखकर अँगूठे के अग्रभाग से निवेदित करने को 'धूप' मुद्रा कहा जाता है।

४. दीप मुद्रा
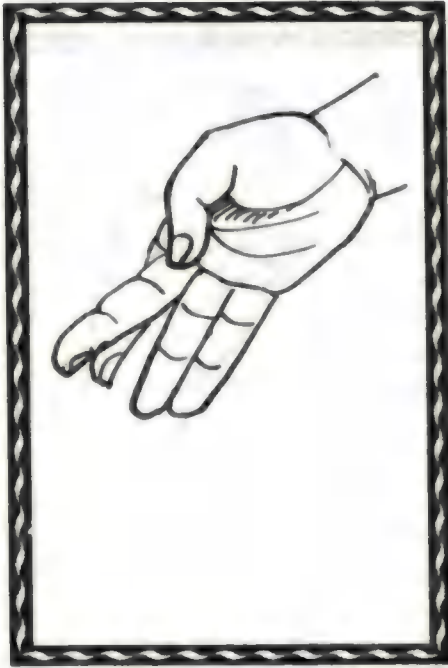
विधि-मध्यमा अँगुली के मूल में अँगूठे का मूलभाग लगाकर 'दीप दर्शयामि' कहते हुए दीपक दिखाने को 'दीपमुद्रा' कहते हैं।

५. नैवेद्य मुद्रा

विधि-प्रसाद को तीन भागों में बाँट कर, मूल-मन्त्र का उच्चारण करते हुए 'तत्त्वमुद्रा' द्वारा नैवेद्य निवेदित करने से 'नैवेद्य मुद्रा' होती है।

टिप्पणी- 'तत्त्वमुद्रा' का वर्णन आगे नित्यपूजा की मुद्राओं के अन्तर्गत संख्या ५ पर किया गया है। देखें पृष्ठ संख्या १४९.

६. आचमन मुद्रा

विधि-मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए आचमनीय-जल देने को 'आचमन मुद्रा' कहते हैं।

७. ताम्बूल मुद्रा
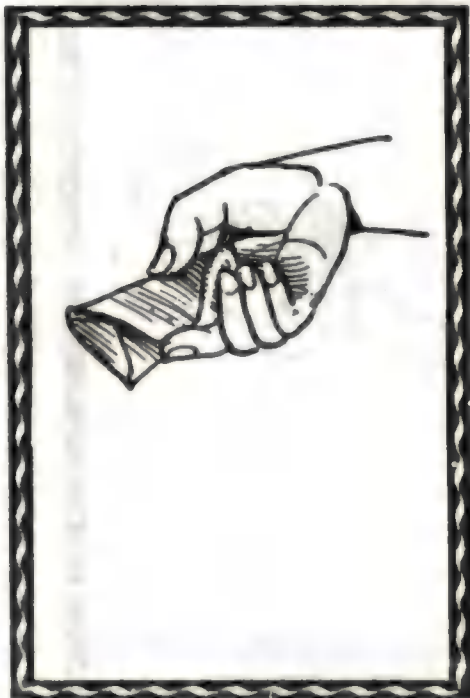
विधि-पूर्वोक्त 'तत्त्व-मुद्रा' द्वारा ताम्बूल समर्पित करने को 'ताम्बूल मुद्रा' कहा जाता है।

८. प्राण मुद्रा
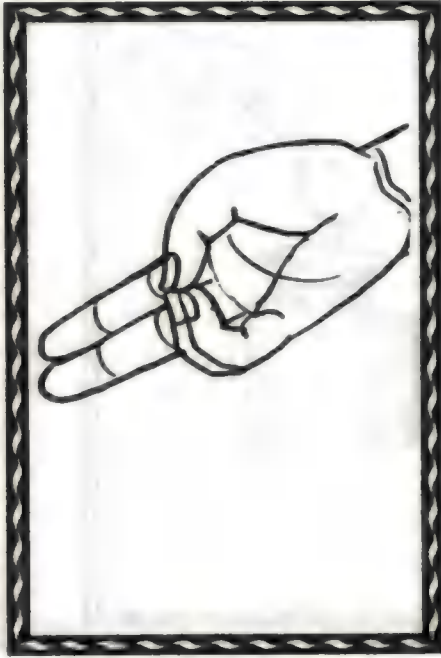
विधि-अँगूठे को अनामिका तथा कनिष्ठिका के अग्रभाग में लगाने से 'प्राण मुद्रा' होती है।

९. अपान मुद्रा

विधि-अनामिका तथा मध्यमा से अँगूठा लगाने पर 'अपान मुद्रा' बनती है।

१०. व्यान मुद्रा

विधि-मध्यमा और तर्जनी से अँगूठा लगाने पर 'व्यान मुद्रा' बनती है।

११. उदान मुद्रा

विधि-तर्जनी तथा मध्यमा से अँगूठा लगाने पर 'उदान मुद्रा' बनती है।

१२. समान मुद्रा

विधि-तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका इन चारों अँगुलियों को एकत्र कर अँगूठा लगाने से 'समान मुद्रा' बनती है।

१३. ग्रास मुद्रा

विधि-दाँयि हाथ की पाँचों अँगुलियों को परस्पर मिलाकर कुछ मुड़ी हुई रखने से 'ग्रास मुद्रा' बनती है।

इति उपचार मुद्राः समाप्ताः

१६. नित्य-पूजा की मुद्रायें

नित्य-पूजा की पाँच मुद्राएँ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-
१. प्रार्थना, २. अंकुश, ३. कुन्त, ४. कुम्भ तथा ५. तत्त्व।
इन मुद्राओं का सचित्र उल्लेख आगे किया जा रहा है।

१. प्रार्थना मुद्रा
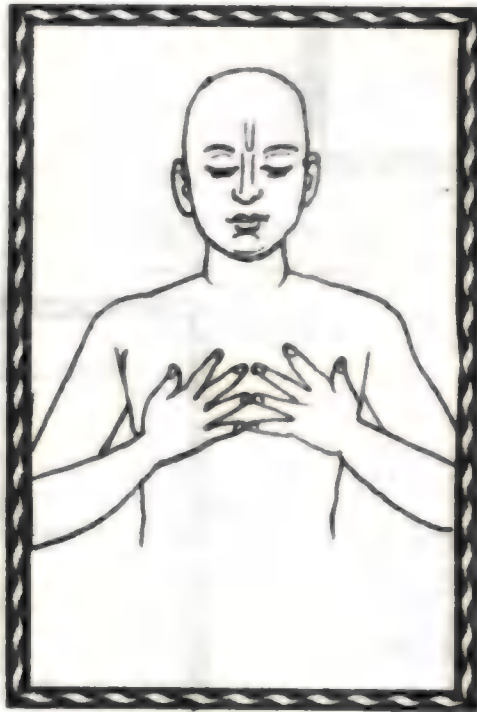
विधि-दोनों हाथों की दसों अँगुलियों को फैलाकर आपात में आमने-सामने मिलादें फिर उन्हें अपने हृदय के समीप रखें।

यह 'प्रार्थना म्रुदा' है।

२. अंकुश मुद्रा

विधि-दाँये हाथ की मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को अंकुश के समान मोड़ दें।

यह त्रैलोक्य का आकर्षण करने वाली 'अंकुश मुद्रा' है।

३. कुन्त मुद्रा

विधि-दाँये हाथ की मुट्ठी को खड़ी करके, तर्जनी को सीधा करें तथा उसके अग्रभाग में अँगूठा लगादें।

यह सब प्रकार से रक्षा करने वाली 'कुन्त मुद्रा' अर्थात् 'भाला मुद्रा' है।

४. कुम्भ मुद्रा

विधि-दाँये अँगूठे को बाँये अँगूठे से लगा कर शेष अँगुलियों को मुट्ठी की भाँति नीचे-ऊपर लगादें तथा मुट्ठी को पोला रखें।

यह स्नान के समय की जाने वाली 'कुंभ मुद्रा' है। पूजन की मुद्राओं में वर्णित कलश मुद्रा भी ऐसी ही होती है।

५. तत्त्व मुद्रा

विधि-अँगूठे तथा अनामिकाओं के अग्रभागों को मिलाने से 'तत्त्व मुद्रा' बनती है।

इस मुद्रा का उपयोग स्नान करते समय, स्नान से पहले किया जाता है।

इति नित्य पूजा मुद्रा! समाप्ताः

२०. ध्यानावेश प्रार्थना की मुद्राएँ

ध्यानावेश प्रार्थना की ५ मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- १. विघ्नघ्नी, २. विस्मय, ३. प्रार्थना, ४. अर्घ्य तथा ५. सूर्य प्रदर्शनी। इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

१. विघ्नघ्नी मुद्रा
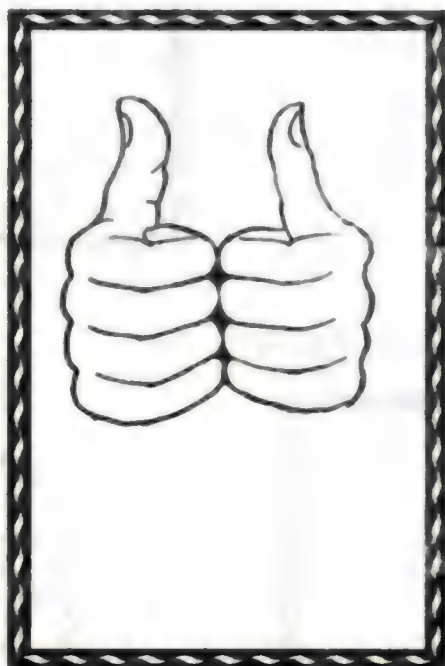
विधि-दोनों मुट्ठियों को अभिमुख (आमने-सामने) मिला कर, अँगूठों को खड़ा करें।

यह ध्यान की 'विघ्नघ्नी मुद्रा' है।

२. विस्मय मुद्रा

विधि-दाँये हाथ की मुट्ठी को कस कर बाँधें, फिर उसी की तर्जनी को नाक के अग्रभाग में लगायें।

यह 'विस्मय मुद्रा' विस्मय तथा आवेश करने वाली है।

३. प्रार्थना मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की अँगुलियों को फैलाकर, परस्पर मिलादें, फिर उन्हें अपने हृदय के समीप सामने रखें।

यह 'प्रार्थना मुद्रा' है।

४. अर्घ्य मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की अँजलि में गंघ-पुष्पादि से युक्त जल लेकर उसे सूर्य आदि देवता के सम्मुख छोड़ें।

यह 'अर्घ्य मुद्रा' है।

५. सूर्य प्रदर्शनी मुद्रा

विधि-दाँये हाथ को उल्टा तथा बाँये हाथ को सीधा रखते हुए दोनों की अँगुलियों को आमने-सामने करें। तत्पश्चात् बाँई तर्जनी को दाँई कनिष्ठा से तथा दाँई तर्जनी को बाँई कनिष्ठा से पकड़लें।

इसी भाँति बाँई मध्यमा तथा अनामिका को दाँये अँगूठे से तथा दाँई मध्यमा और अनामिका को बाँये अँगूठे से बाँध कर सूर्य को देखें।

यह 'सूर्य प्रदर्शनी मुद्रा' है। इस मुद्रा को बाँध कर नित्य प्रति प्रातः काल सूर्य को देखने से आँखों की ज्योति में वृद्धि होती है।

इति ध्यानावेश प्रार्थना मुद्राः समाप्ताः

२१. तत्त्वों की मुद्राएँ

पंचतत्त्व–१. पृथ्वी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु एवं ५. आकाश तथा इनसे सम्बन्धित विषयों की मुद्राओं की संख्या १५ है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

१. पृथ्वी, २. आम्भसी (जल) ३. वेश्वानरी (तेज), ४. वायु, ५. आकाश, ६. अश्विनी, ७. पाशिनी, ८. काकी, ९. मातङ्गिनी, १०. भुजाङ्गिनी, ११. रिपुजिह्वाग्रहा, १२. गालिनी, १३. सर्व संक्षोभकारिणी, १४. तर्जनी और १५. क्रोध।
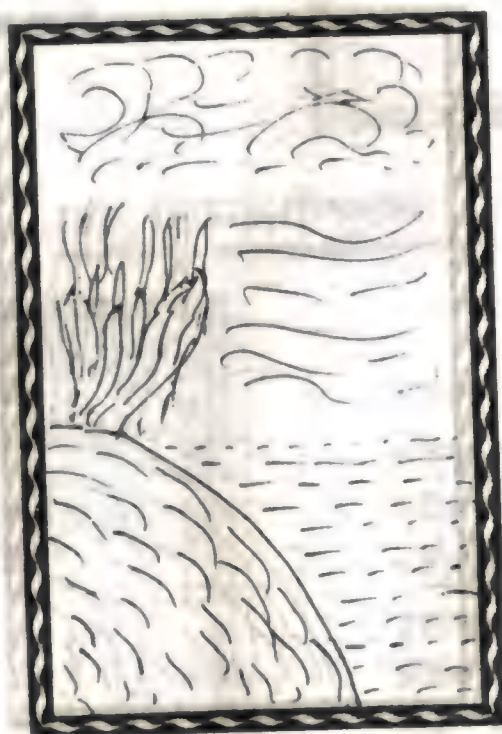
इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया जाएगा।

१. पृथ्वी मुद्रा
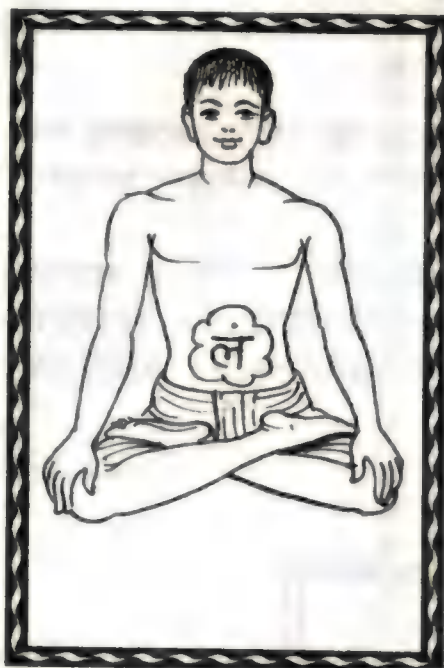
विधि–पीतवर्ण 'लं' बीज, चतुष्कोण तथा ब्रह्मदेव को अपने हृदय कमल में विराजमान मानकर, ध्यान करते हुए, बहुत देर तक 'कुंभक' प्राणायाम करने से 'पृथ्वी मुद्रा' सम्पन्न होती है।

२. आम्भसी (जल) मुद्रा

विधि–शंख के समान श्वेत वर्ण चन्द्रमा के समान निर्मल, कुन्द पुष्प की भाँति श्वेत 'वं' बीज, विष्णुदेव तथा अमृत-तुल्य सुस्वादु जल-तत्त्व का ध्यान करते हुए, बहुत देर तक 'कुंभक' प्राणायाम करने से 'आम्भसी' अर्थात् 'जल मुद्रा' सम्पन्न होती है।

३. वैश्वानरी (तेज) मुद्रा

विधि-इन्द्रगोप (वीर बहूरी) के समान रक्तवर्ण, नाभिस्थान में 'रं' बीज, रुद्रदेव तथा तेज समूह का ध्यान करते हुए बहुत देर तक 'कुंभक' प्राणायाम करने से 'वैश्वानरी' अर्थात् 'तेज मुद्रा' सम्पन्न होती है।

४. वायु मुद्रा
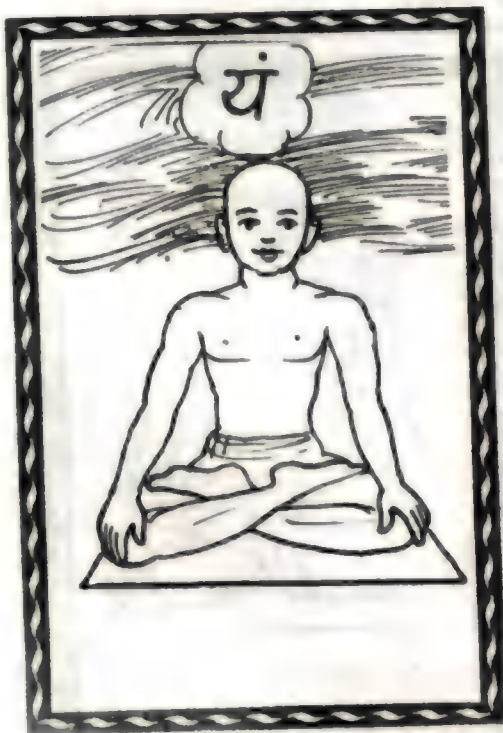
विधि-धूम्रवर्ण, 'यं' बीज, ईश्वर देव तथा सत्वगुण युक्त वायु का ध्यान करते हुए बहुत देर तक 'कुंभक' प्राणायाम करने से 'वायु मुद्रा' सम्पन्न होती है।

५. आकाश मुद्रा

विधि-समुद्र के शुद्ध जल जैसे वर्ण, 'हं' बीज सदाशिव देव सहित आकाश का ध्यान करते हुए बहुत देर तक 'कुंभक' प्राणायाम करने से 'आकाश मुद्रा' सम्पन्न होती है।

६. अश्विनी मुद्रा

विधि-गुदा को बारम्बार भींचने तथा खोलने की क्रिया करते रहने से शक्ति-वर्द्धक 'अश्विनी मुद्रा' सम्पन्न होती है।
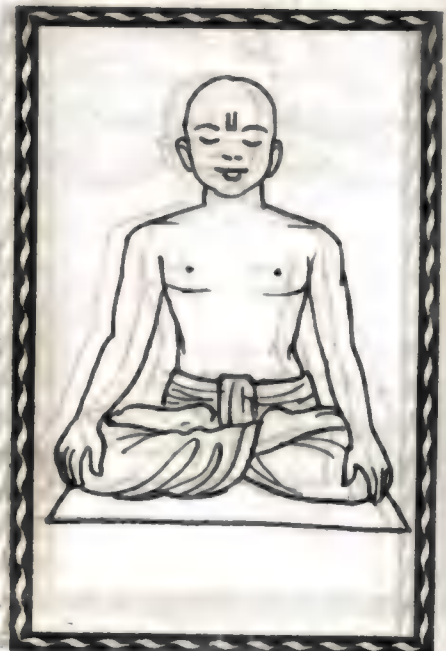
७. पाशिवनी मुद्रा

विधि-अपने दोनों पावों को गले के दोनों ओर ले जाकर पीठ पर रखने से 'पाश्विनी मुद्रा' सम्पन्न होती है।

८. काकी मुद्रा
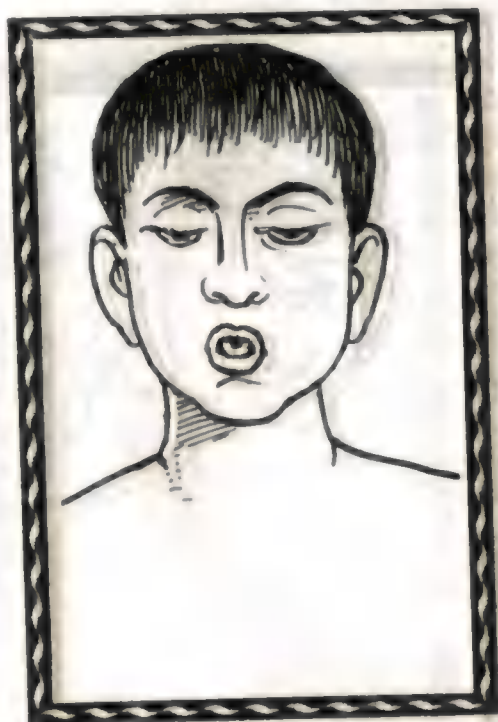
विधि-होठों को कौए की चौंच जैसा बनाकर उनके द्वारा बाहरी -वायु को धीरे- धीरे जितना खींच सकें भीतर की ओर खींचें। इस विधि से श्वांस लेते हुए वायु-सेवन करने से सर्व रोग-नाशक 'काकी मुद्रा' सम्पन्न होती है।

६. मातङ्गिनी मुद्रा

विधि-कण्ठ तक डूब जाने की स्थिति में पानी में खड़े रहकर नाक से जल पियें तथा मुँह से उसे बाहर निकालते रहें। इस भाँति कई बार करने से 'मातङ्गिनी मुद्रा' सम्पन्न होती है।

१०. भुजङ्गिनी मुद्रा

विधि-मुँह को फैला कर वायु पीने से 'भुजङ्गिनी मुद्रा' सम्पन्न होती है।

११. रिपुजिह्वाग्रहा मुद्रा

विधि-अँगूठे को भीतर रखते हुए मुट्ठी बाँधने एवं अँगूठे के अग्रभाग को तर्जनी के समीप लाकर मुट्ठी से बाँधने अथवा मुट्ठी बाँधकर उसके ऊपर अँगूठा लगाने से 'रिपुजिह्वा' अथवा 'रिपुजिह्वा ग्रहा' मुद्रा सम्पन्न होती है।
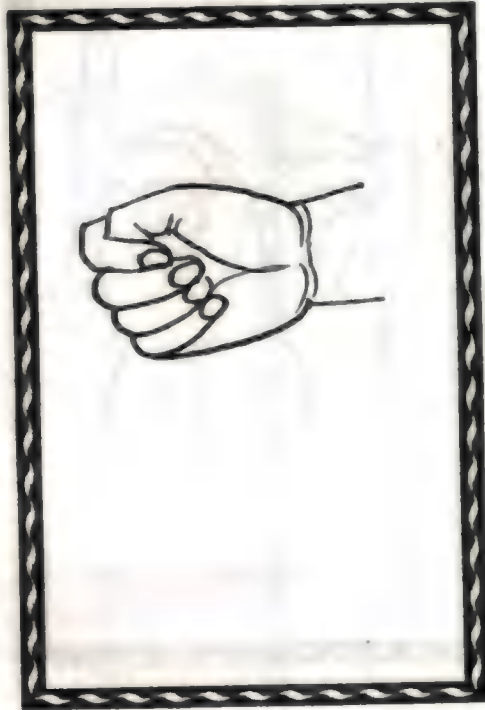
१२. गालिनी मुद्रा

विधि-दाँये हाथ की कनिष्ठिका को बाँये हाथ के अँगूठे से तथा बाँये हाथ के अँगूठे को दाँये हाथ की कनिष्ठा से मिलाकर तर्जनी, मध्यमा और अनामिका का सहयोग करने से शंखोदकादि को शुद्ध करने वाली 'गालिनी मुद्रा' बनती है।

१३. क्षोभ (सर्वसंक्षोभ कारिणी) मुद्रा

विधि–मध्यमा अँगुली को दूसरी मध्यमा में लगायें, कनिष्ठिा को अँगूठे से पकड़ें तथा दोनों तर्जनियों को सीधी करके अनामिका और मध्यमा पर रखें, तो यह क्षोभ अथवा 'सर्वसंक्षोभकारिणी' प्रथमा मुद्रा होती है।

१४. तर्जनी मुद्रा

विधि–बाँये हाथ की मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को सीधा करें। इस 'तर्जनी मुद्रा' का उपयोग तर्जन अथवा निषेध-कार्य में किया जाता है।

१५. क्रोध मुद्रा
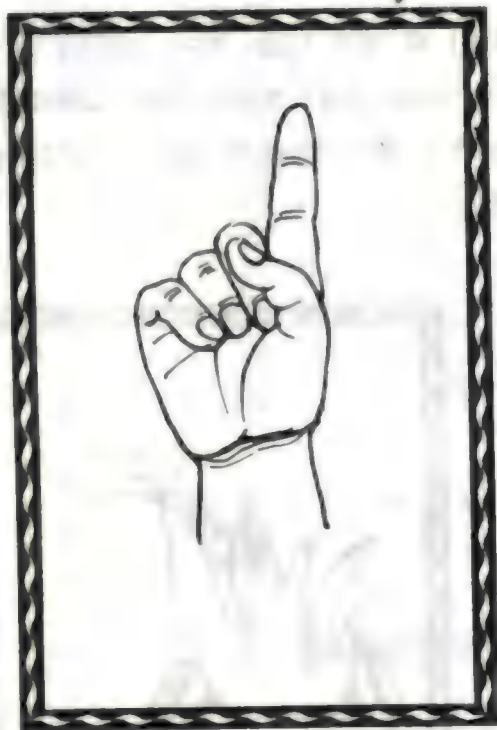
विधि-मुट्ठी बाँध कर तर्जनी को अलग करदें तथा हाथ को सीधा रखें। यह 'क्रोध मुद्रा' भी तर्जनी मुद्रा जैसी ही है।

इति तत्त्व मुद्रा समाप्ताः

२२. होम की मुद्राएँ

होम (हवन) में यदि मुद्रा-हीन आहुति दी जाय तो देवता उसे ठीक उसी प्रकार से ग्रहण नहीं करते, जिस प्रकार कि मन्त्रहीन आहुति ग्रहण नहीं की जाती। अत: होम के समय विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग करना आवश्यक है।

होम की ८ मुद्राएँ मुख्य हैं-

१. अवगुण्ठिनी, २. सप्तजिह्वा, ३. ज्वालिनी, ४. मृगी, ५. हंसी, ६. शूकरी, ७. आहुति तथा ८. अवशिष्टिका मुद्रा।

इनमें आहुति मुद्रा के अनेक भेद हैं। इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों पर किया जा रहा है।

१. अवगुण्ठिनी मुद्रा

विधि–बाँये हाथ की मुट्ठी बाँध कर उसमें से तर्जनी को अलग करदें अथवा दोनों हाथों की तर्जनियों को 'आपस में मिलाकर अग्नि के समीप घुमायें।

इसे 'अवगुण्ठिनी मुद्रा' कहते हैं
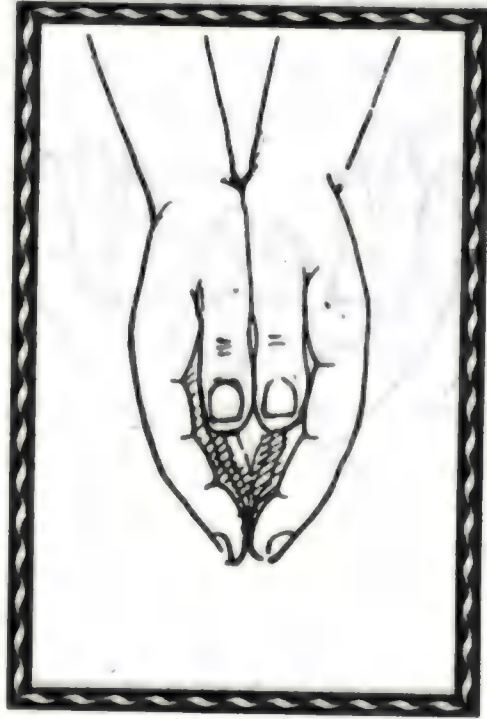
२. सप्तजिह्वा मुद्रा

विधि–दोनोंमणिबंधों को मिलाकर अँगुलियों को फैलादें तथा दोनों कनिष्ठिकाओं से अँगूठे लगाकर हाथों को सीधा करदें।

दोनों हाथों की मध्यमा अँगुलियों तथा मूल में अँगूठे से लगी सम्मिलित कनिष्ठिकाओं को एक मानने से 'सप्तजिह्वा मुद्रा' बनती है।
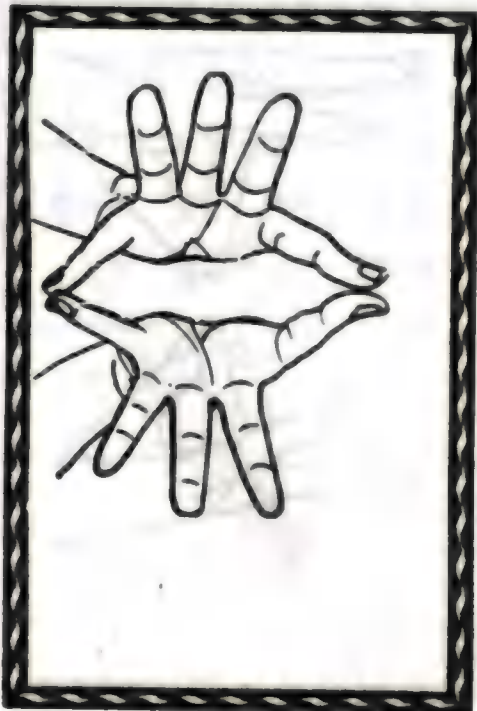
३. ज्वालिनी (प्रज्ज्वालिनी) मुद्रा

विधि-पूर्वोक्त मुद्रा में अँगूठे से लगी हुई कनिष्ठिकाओं को अलग रखने से 'ज्वालिनी मुद्रा' बनती है।

इसी को 'प्रज्ज्वालिनी मुद्रा' भी कहते हैं।

४. मृग मुद्रा

विधि-कनिष्ठा और तर्जनी के संयोग से 'मृग मुद्रा' बनती है। यह होम की मुख्य मुद्रा है।

शक्ति तथा पुष्टि कर्म के लिए किए जाने वाले होम में इस मुद्रा का प्रयोग श्रेष्ठ फल देता है।

इसी को 'मृगी मुद्रा' भी कहा जाता है।
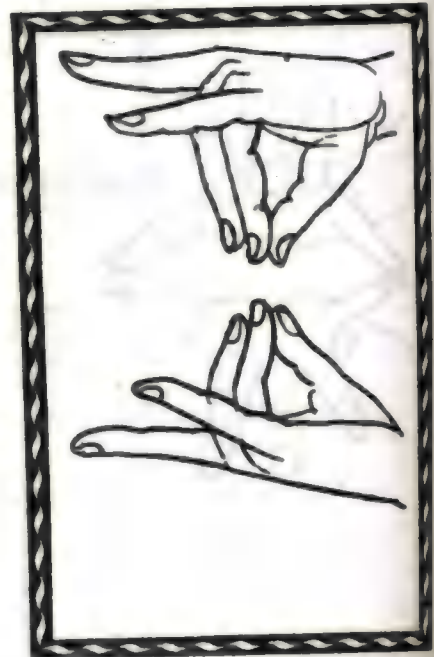
५. हंसी मुद्रा
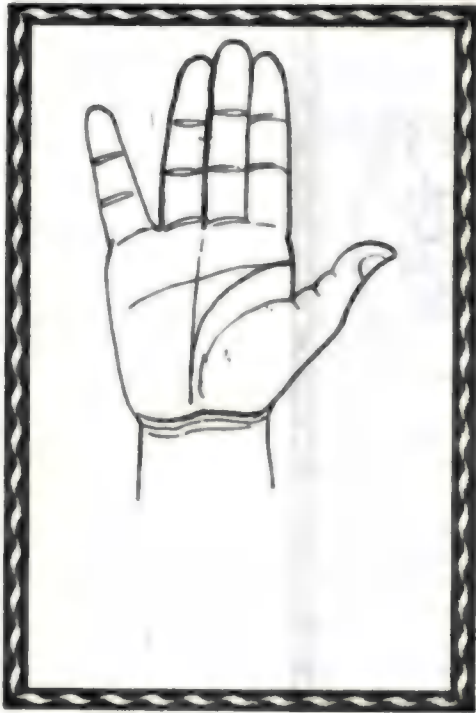
विधि-कनिष्ठा को सब अँगुलियों से अलग रखने पर 'हंसी मुद्रा' बनती है।

शान्ति तथा पुष्टि कर्म में इस मुद्रा का प्रयोग भी उत्तम फलदायक माना गया है।

६. शूकरी मुद्रा

विधि-सभी अँगुलियों को एकत्र कर लेने से 'शूकरी मुद्रा' बनती है।

इस मुद्रा का प्रयोग अभिचार कर्म में किया जाता है।
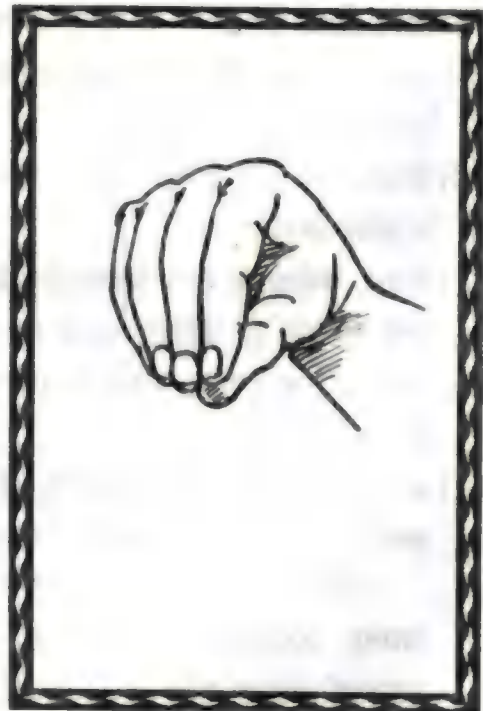
७. आहुति मुद्रा

(१) दाह, ज्वर तथा अभिघात आदि कर्मों के लिए अनामिका तथा अँगूठे की मुद्रा बनाकर आहुति दें। विद्वेष, उच्चाटन तथा मारण कर्म के होम में भी इसी मुद्रा द्वारा आहुति देनी चाहिए।

(२) विघ्न-वाधा दूर करने के लिए तर्जनी तथा मध्यमा को मिला कर आहुति दें।

(३) भूतादि के भय की शान्ति हेतु तर्जनी, मध्यमा तथा अँगूठे के योग से आहुति देना उचित है।

(४) मोहन, उच्चाटन, क्षोभण तथा आकर्षण आदि कार्यों में कनिष्ठा, मध्यमा तथा अँगूठे के योग आहुति दें।

(५) मोहन, वशीकरण तथा प्रीतिवर्द्धन हेतु कनिष्ठा तथा प्रदेशिनी के योग से आहुति देनी चाहिए।

(६) आकर्षण तथा दूर देश वासी को बुलाने हेतु तर्जनी तथा अनामिका के योग से आहुति दें।

(७) आरोग्य-लाभ, नीति, स्नेह, मैत्री, पुष्टि, प्रभा आदि की प्राप्ति के लिए तर्जनी तथा अनामिका के योग से आहुति देने पर सफलता मिलती है।

शान्तिकरण में 'सुप्रभा', वशीकरण में रक्ता, स्तम्भन में 'सुवर्णा' विद्वेषण में 'गगना', उच्चाटन में 'अतिरिक्ता' मारण में 'कृष्णा' तथा अन्य सभी कर्मों में 'बहुरूपा' नामक अग्नि की जिह्वाओं का पूजन करना चाहिए।

८. आवशिष्टिका मुद्रा

विधि-सब प्रकार के होम में बची हुई सामग्री को पहले किसी शुद्ध पात्र में इकट्ठा करें, फिर उसे दोनों हाथों में लेकर अग्नि में छोड़ें। इस प्रकार की मुद्रा को 'आवशिष्टिका' तथा ऐसी आहुति को 'स्विष्टकृत्' होम कहा जाता है।

मुद्रा तथा मन्त्रों के योग से शास्त्रोक्त विधि से किया हुआ होम ही सब प्रकार के मनोरथों को सिद्ध करता है। मन्त्र हीन होम की भाँति ही मुद्रा-हीन होम की आहुति को भी देवता ग्रहण नहीं करते। मुद्राहीन होम अभीष्ट सिद्धि की हानि करता है।

इति होम मुद्रा समाप्ताः

२३. शान्ति-रक्षण की मुद्राएँ

शास्त्रास्त्र, निवारक, शान्ति लाभ तथा रक्षण सम्बन्धी मुद्राएँ १३ हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं-

१. पद्म, २. पाश, ३. गदा, ४. खड्ग, ५. मुशल, ६. अशनि अथवा कुलिश, ७. स्फोट, ८. शुभङ्करी, ९. मुष्टि, १०. शक्ति, ११. पञ्चमुखी, १२. प्रार्थना और १३. संहार।

इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

१ पद्म मुद्रा

विधि-दोनों हाथों को आपस में मिलाकर सभी अँगुलियों को पुष्प की कली की भाँति ऊपर की ओर खड़ी करदें तथा दोनों अँगूठों को उनके तलभाग में लगादें।

यह 'पद्म मुद्रा' है।

२. पाश मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर, बाँयें हाथ की तर्जनी को दाँयें हाथ की तर्जनी में जोड़दें तथा अँगूठे के अग्रभाग को उनमें लगादें।

यह 'पाश मुद्रा' है।

३. गदा मुद्रा
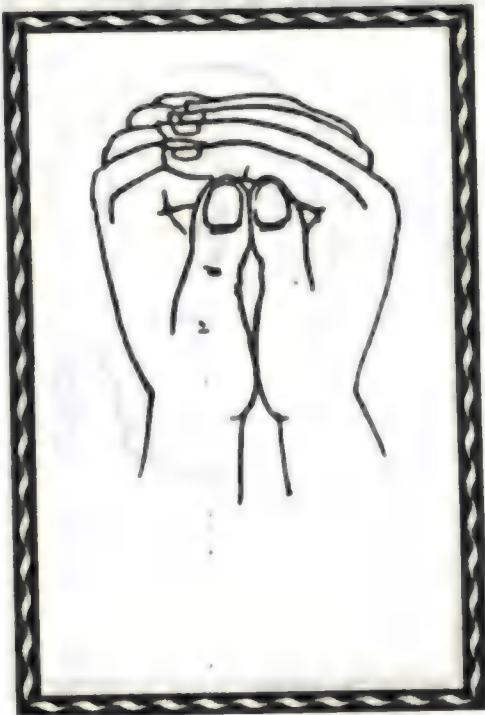
विधि–दोनों हाथों को परस्पर सामने करके उनकी अँगुलियों को गूँथ दें तथा बीच में फैले हुए अँगूठे को उनमें लगादें।

यह 'गदा मुद्रा' है।

४. खड्ग मुद्रा
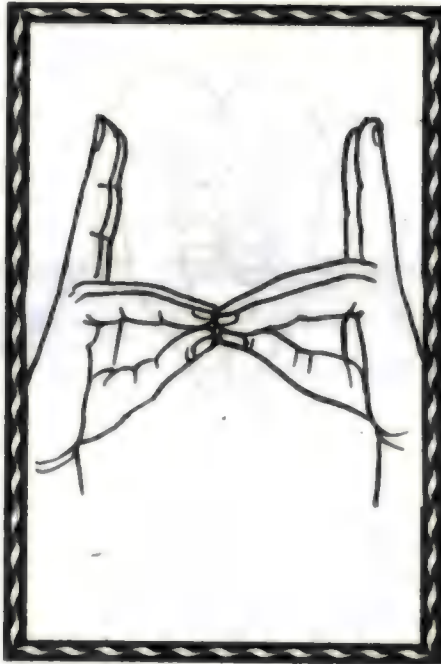
विधि–दाँयें हाथ की कनिष्ठिका एवं अनामिका को अँगूठे से दबाकर शेष अँगुलियों, मध्यमा तथा तर्जनी को सीधी फैला दें।

यह 'खड्ग मुद्रा' है।

५. मुशल मुद्रा

विधि–बाँयें हाथ की मुट्ठी को दाँयें हाथ की मुट्ठी पर रखें।

यह सभी विघ्नों को नष्ट करने वाली 'मुशल मुद्रा' अथवा 'मुशली मुद्रा' कही जाती है।

६. अशनि (कुलिश) मुद्रा

विधि–कनिष्ठा को अँगूठे के अग्रभाग से युक्त कर, अन्य तीनों अँगुलियों को सीधी रखें।

इसे 'कुलिश' अथवा 'अशान्ति मुद्रा' कहते हैं।

७. स्फोट मुद्रा

विधि–अँगूठे तथा तर्जनी को मिलाने से 'स्फोट मुद्रा' बनती है।

इसे 'छेटिका मुद्रा' भी कहते हैं।

८. शुभङ्करी मुद्रा

विधि–अँगूठे तथा मध्यमा अँगुली के योग से बनने वाली मुद्रा को 'शुभङ्करी' कहा जाता है।

९. मुष्टि मुद्रा

विधि–दाँये हाथ की मुट्ठी बाँधकर ऊँची उठायें।

यह विघ्न समूहों को तोड़ने वाली 'मुष्टि मुद्रा' है।

१०. शक्ति मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधकर बाँयी मुट्ठी के ऊपर दाँई मुट्ठी को रखकर मस्तक से लगायें।

इसे 'शक्ति मुद्रा' कहते हैं।

११. पञ्चमुखी मुद्रा
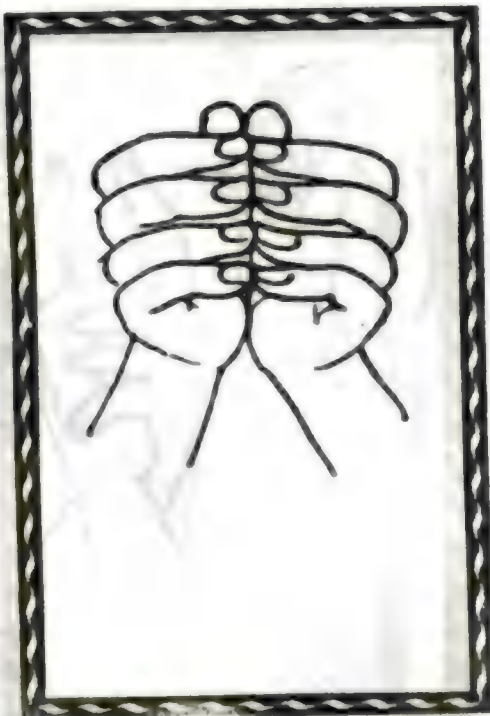
विधि–दोनों हाथों के मणिबंध (कलाई) को मिलाकर, अँगुलियों के अग्रभाग को मिलायें तथा मिली हुई दो-दो अँगुलियों को कुछ दूरी पर (अगल) रखें।

इसे शिव-सान्निध्य-दायक 'पंचमुखी मुद्रा' कहाजाता है।

१२. प्रार्थना मुद्रा

प्रार्थना मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की अंजलि बनाकर हृदय के समीप रखें तथा विनम्र भाव से मस्तक को झुकालें।

इसे 'प्रार्थना मुद्रा' कहते हैं।

१३. संहार मुद्रा

विधि–बाँये हाथ को ओंधा (उल्टा) करें तथा दाँये हाथ को सीधा कर के दोनों की अँगुलियों को परस्पर गूँथें तथा अदल-बदल करदें।

इसे 'संहार मुद्रा' कहते हैं।

इति शान्ति रक्षण मुद्रा समाप्ताः

२४. बलिदान की मुद्राएँ

बलिदान की ४ मुद्राएँ निम्नानुसार कही गई हैं-

१. गणेश बलि मुद्रा, २. बटुक भैरव बलि मुद्रा, ३. क्षेत्रपाल बलि मुद्रा एवं ४. चौंसठ योगिनी बलि मुद्रा।

१. गणेश बलि मुद्रा

विधि–मध्यमा अँगुली को कुछ टेढ़ी करके गणेशजी को बलि देनी चाहिए।
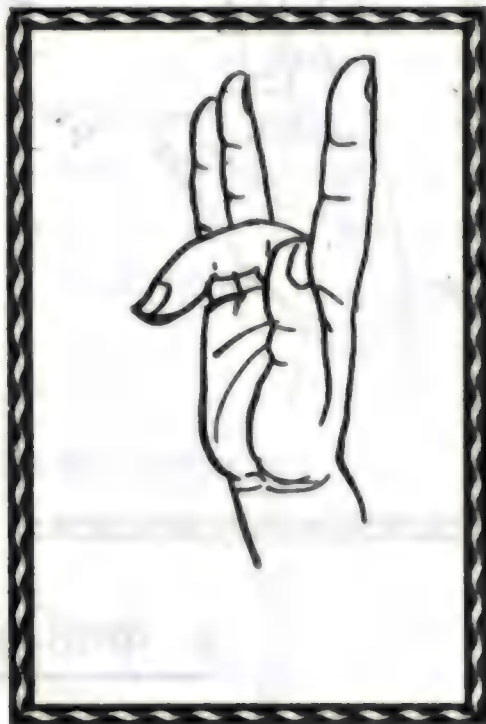
२. बटुक भैरव बलि मुद्रा

विधि–अँगूठे तथा तर्जनी को मिला कर बटुक भैरव को बलि देनी चाहिए।
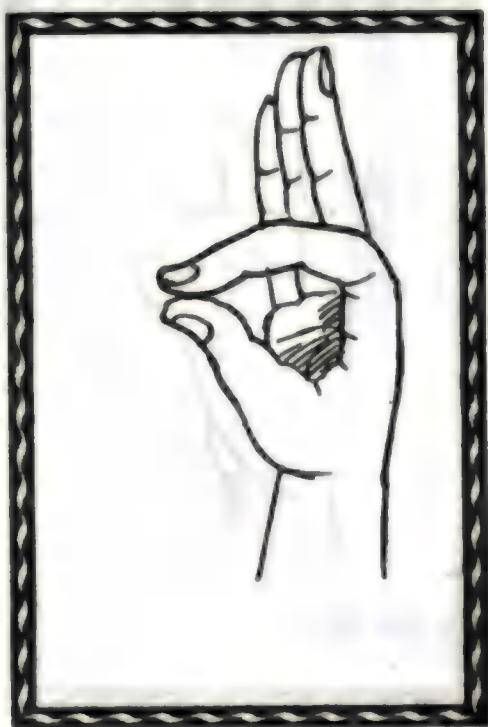
३. क्षेत्रपाल बलि मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की अनामिका तथा अँगूठे द्वारा क्षेत्रपाल को बलि देनी चाहिए।

४. चौंसठ योगिनी बलि मुद्रा

विधि-मध्यमा तथा अँगूठे को मिलाकर चौंसठ योगिनियों को बलि देनी चाहिए।
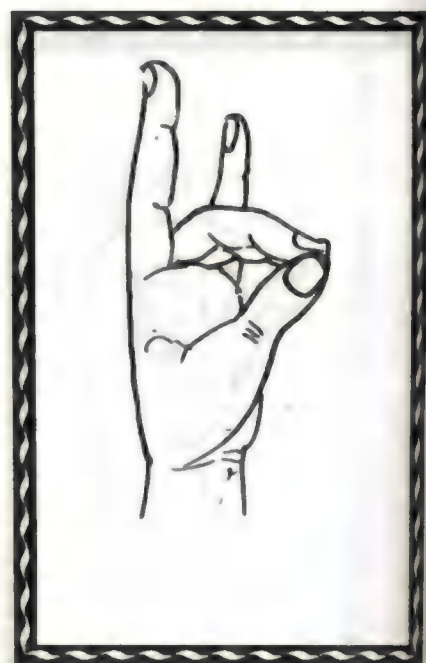
२५. सन्ध्याकालीन मुद्राएँ

सन्ध्या करते समय निम्नलिखित २४ मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है-

१. सम्मुखी, २. सम्पुटी, ३. वितत, ४. विस्तृत, ५. द्विमुखी, ६. त्रिमुखी, ७. चतुर्मुखी, ८. पञ्चमुखी, ९. षठमुखी, १०. अधोमुखी, ११. व्यापक, १२. आञ्जलिक, १३. शकट, १४. यमपाश, १५. ग्रथित, १६. सम्मुखोन्मुख, १७. प्रलय, १८. मुष्टिक, १९. मत्स्य, २०. कूर्म, २१. वाराह, २२. सिंहाक्रान्त, २३. महाक्रान्त तथा २४. मुद्गर।
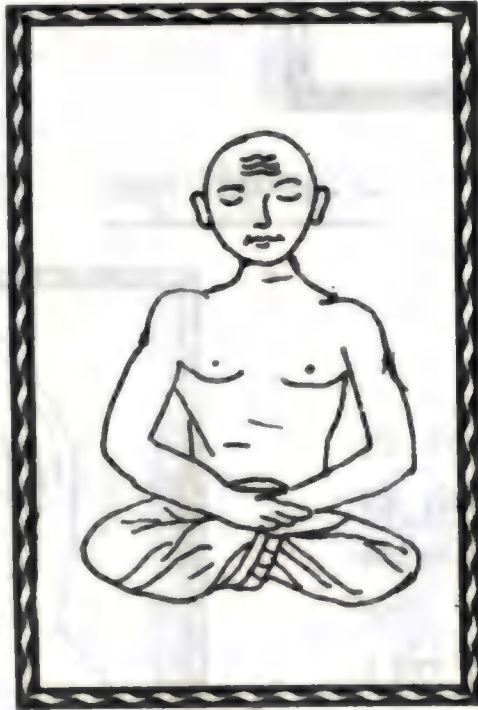
इन मुद्राओं का सचित्र वर्णन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है।

१. सम्मुखी मुद्रा
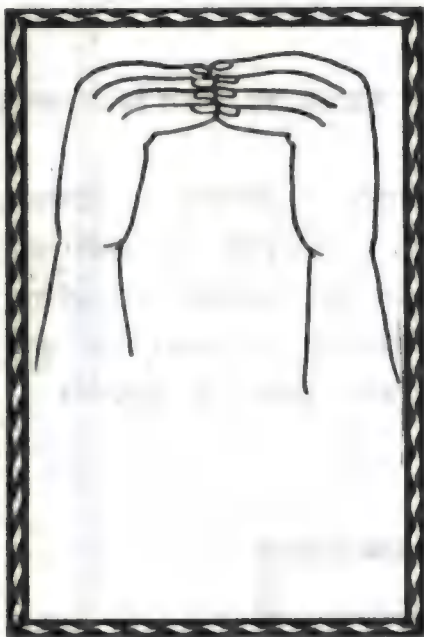
विधि–दोनों हाथों को ऊपर उठाकर, दोनों की सभी अँगुलियों के अग्रभाग को परस्पर मिलादें।

इसे 'सम्मुखी मुद्रा' कहते हैं।

२. सम्पुटी मुद्रा

विधि–दोनों हाथों को ऊपर उठाकर हथेलियों को एक दूसरी के आमने-सामने करके मिलायें तथा बीच में कुछ स्थान खाली रखें।

यह 'सम्पुटी मुद्रा' है।
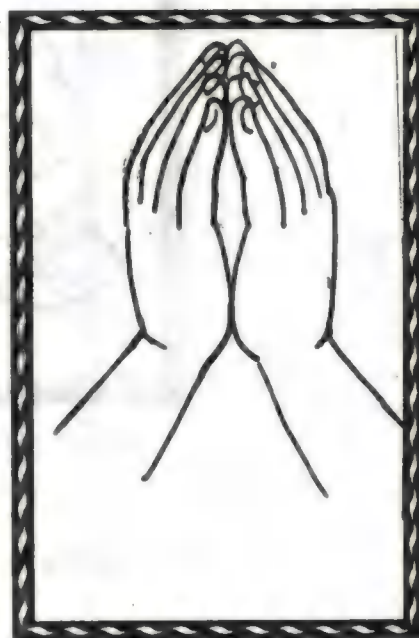
३. वितत मुद्रा

विधि–दोनों हाथों को ऊपर उठाकर चित्र में प्रदर्शित स्थिति में लायें।

इसे 'वितत मुद्रा' कहते हैं।
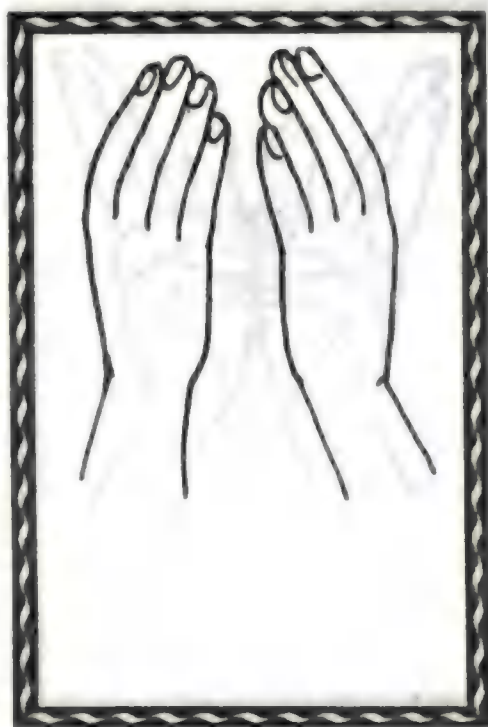
४. विस्तृत मुद्रा
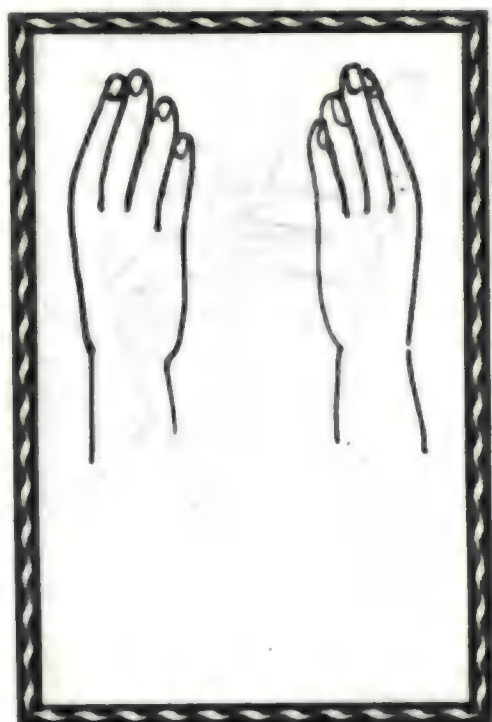
विधि–दोनों हाथों को ऊपर उठा कर दोनों को पूर्वोक्त 'वितत मुद्रा' की अपेक्षा, कुछ अधिक दूरी पर रखें (चित्र में दिखाए अनुसार)

इसे 'विस्तृत मुद्रा' कहते हैं।

५. द्विमुखी मुद्रा
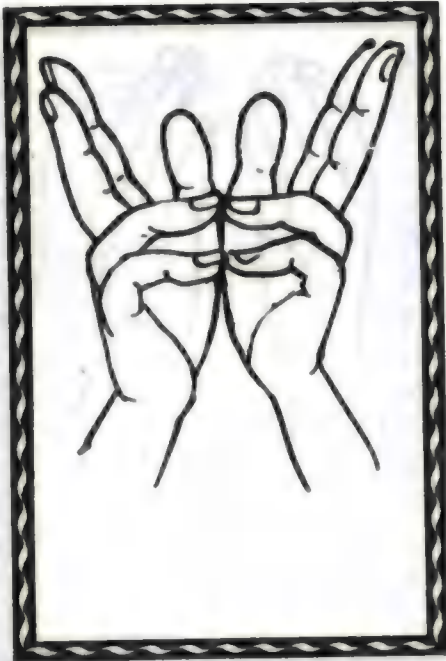
विधि–दोनों हाथों को ऊपर उठाकर उनकी कनिष्ठा तथा अनामिकाओं के अग्रभाग को एक दूसरी से मिलायें तथा अँगूठा, तर्जनी एवं मध्यमा को ऊपर की ओर उठादें।

इसे 'द्विमुखी मुद्रा' कहते हैं।

६. त्रिमुखी मुद्रा

विधि–दोनों हथेलियों को आमने-सामने रखते हुए, उनकी कनिष्ठा, अनामिका एवं मध्यमा अँगुलियों के अग्रभाग को परस्पर मिलादें तथा तर्जनी एवं अँगूठों को ऊपर की ओर सीधा रखें।

इसे 'त्रिमुखी मुद्रा' कहते हैं।
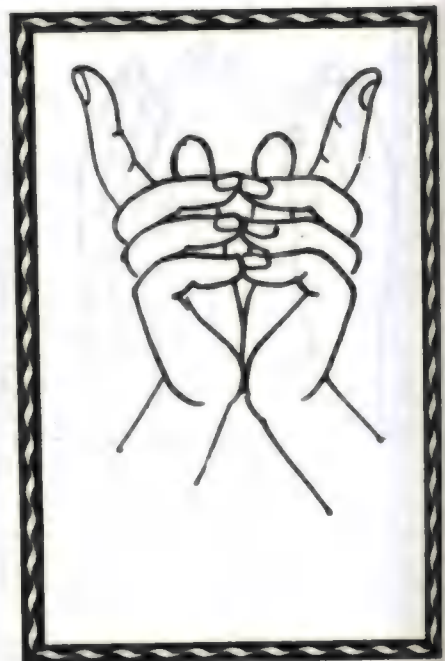
७. चतुर्मुखी मुद्रा

विधि–दोनों हथेलियों को आमने-सामने रखते हुए उनकी चारों अँगुलियों के अग्रभाग को परस्पर मिलादें तथा अँगूठों को ऊपर की ओर खड़ा रखें।

इसे 'चतुर्मुखी मुद्रा' कहते हैं।
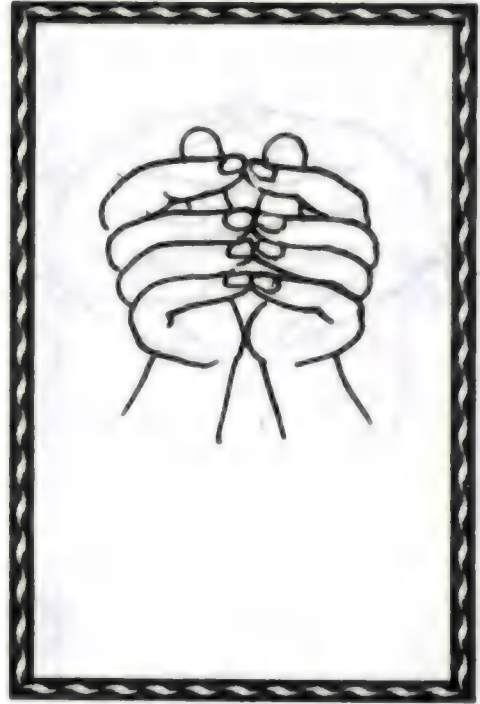
८. पञ्चमुखी मुद्रा
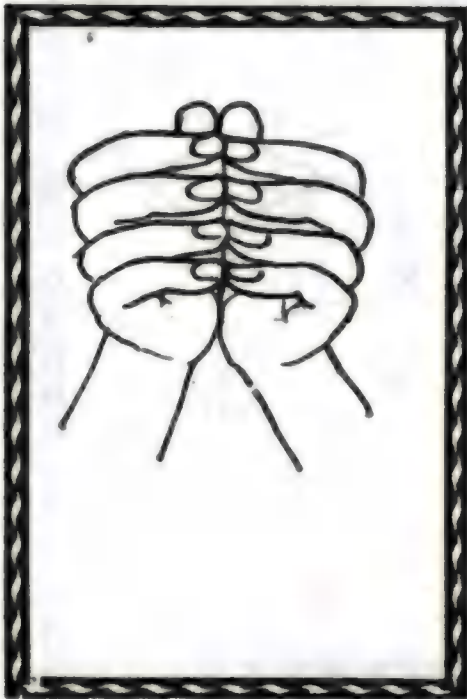
विधि–दोनों हथेलियों को आमने-सामने रखते हुए सभी अँगुलियों तथा अँगूठों के अग्रभाग को (चित्र में दिखाये अनुसार) परस्पर मिलाने से 'पंचमुखी मुद्रा' बनती है।

६. षष्मुखी मुद्रा
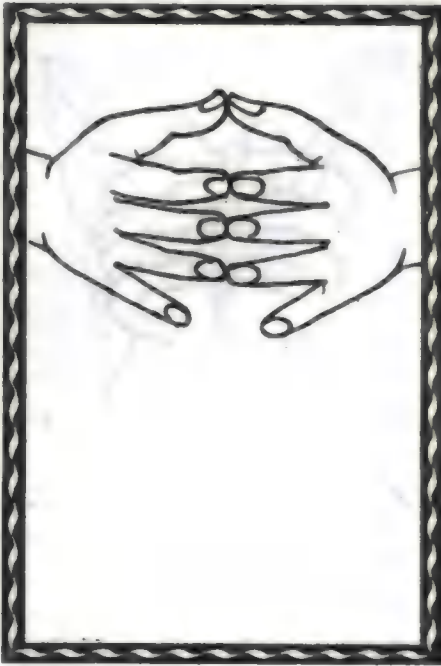
विधि–दोनों हथेलियों को आमने–सामने रखकर उनके अँगूठे, तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिकाओं के अग्रभाग को परस्पर मिलायें तथा कनिष्ठिकाओं को अलग रखें।

इसे 'षठमुखी मुद्रा' कहते हैं।

१०. अधोमुखी मुद्रा

विधि–दोनों हथेलियों को उलटकर एक दूसरी के साथ सभी अँगुलियों को मिलायें तथा अँगूठों को अलग रखें।

इसे 'अधोमुखी मुद्रा' कहते हैं।

११. व्यापक (व्यापकांजलि) मुद्रा

विधि—चित्र में दिखाए अनुसार दोनों हथेलियों को परस्पर मिलाकर सभी अँगुलियों को आगे की ओर फैलादें।

इसे 'व्यापक' अथवा 'व्यापकांजलि मुद्रा' कहते हैं।
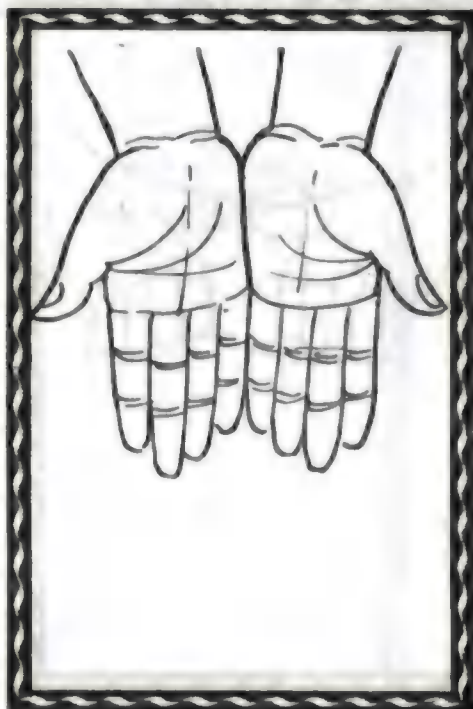
१२. अंजलि (आञ्जलिक) मुद्रा
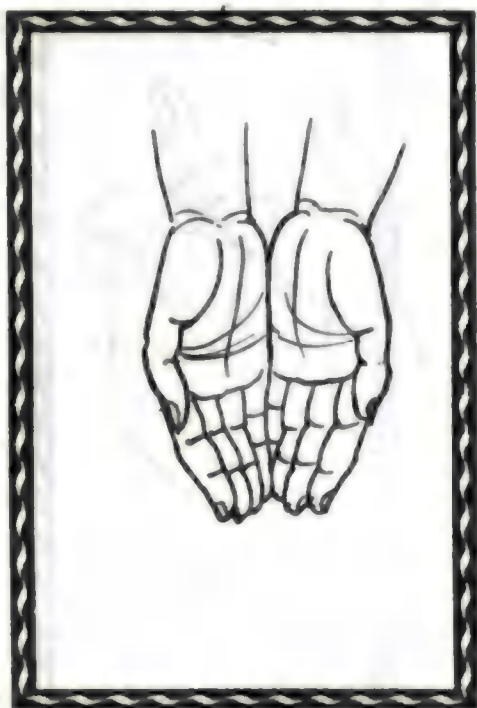
विधि—दोनों हाथों की अंजलि बनाकर, परस्पर एक दूसरे से सटादें (चित्र में दिखाये अनुसार)।

इसे 'अंजलि' अथवा 'आञ्जलिक मुद्रा' कहते हैं।

१३. शकट मुद्रा
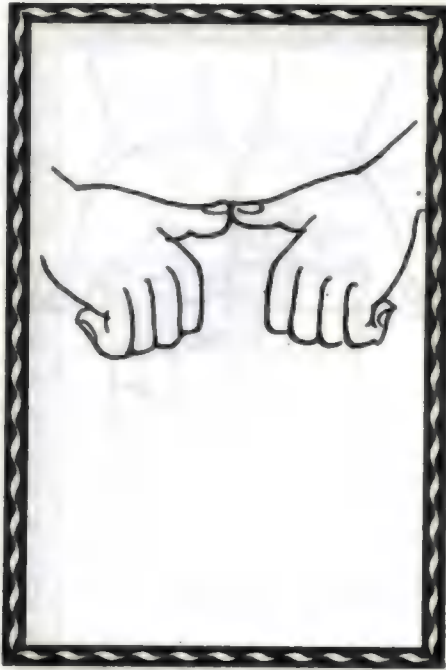
विधि-चित्र में दिखाये अनुसार दोनों हाथों के अँगूठों को एक दूसरे से मिलायें तथा अन्य सभी अँगुलियों को मोड़कर नीचे रखें।

इसे 'शकट मुद्रा' कहते हैं।

१४. यमपाश मुद्रा

विधि-दाँये हाथ की तर्जनी को खड़ा रखें तथा उस पर बाँये हाथ की तर्जनी को जमादें। अन्य सभी अँगुलियों को चित्र में प्रदर्शित स्थिति में रखें।

इसे 'यमपाश मुद्रा' कहते हैं।
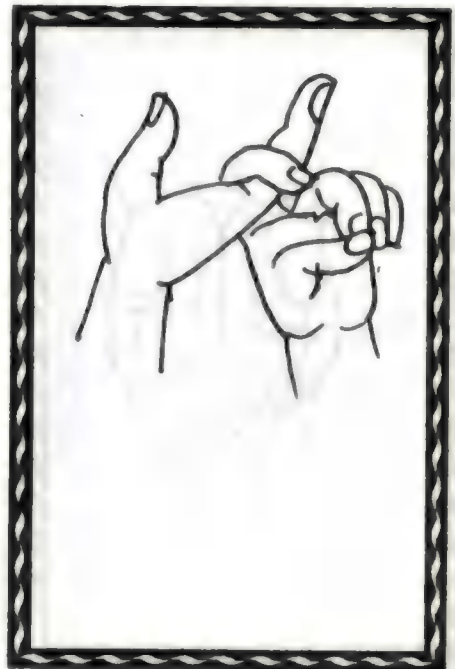
१५. ग्रथित मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की अँगुलियों को चित्र में दिखाये अनुसार एक दूसरी में गूँथ दें।

इसे 'ग्रथित मुद्रा' कहते हैं।
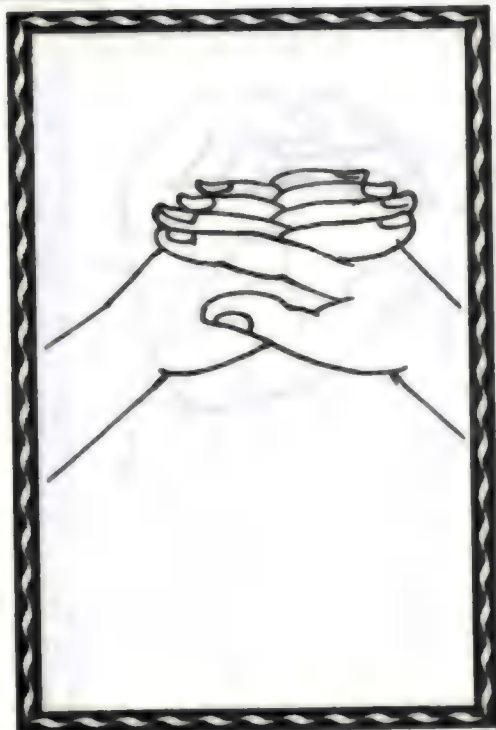
१६. सम्मुखोन्मुख मुद्रा
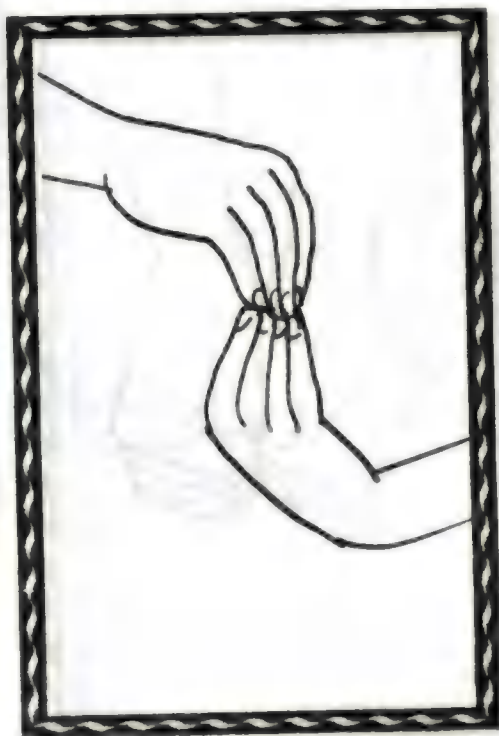
विधि–दोनों हाथों को एक दूसरे के ऊपर-नीचे रखते हुए उनकी अँगुलियों को सटालें तथा उनके अग्रभाग को चित्र में दिखाये अनुसार एक दूसरे से स्पर्श करायें।

इसे 'सम्मुखोन्मुख मुद्रा' कहते हैं।

१७. प्रलय मुद्रा

विधि–दाँये हाथ की अँगुलियों तथा अँगूठे को चित्र में प्रदर्शित स्थिति में लाने से 'प्रलय मुद्रा' बनती है।

१८. मुष्टिक मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की अँगुलियों को मुट्ठियों की भाँति मोड़कर दोनों अँगूठे को उनके ऊपर चित्र में दिखाये अनुसार रखें।

इसे 'मुष्टिक मुद्रा' कहते हैं।

१९. मत्स्य मुद्रा

विधि-चित्र में दिखाये अनुसार दाँई हथेली को बाँई हथेली की पीठ पर रखें। अँगुलियाँ एक दूसरी से मिली रहे तथा अँगूठे इधर-उधर फैले रहें।

इसे 'मत्स्य मुद्रा' कहते हैं।

२० कूर्म (कच्छप) मुद्रा

विधि-चित्र में दिखाये अनुसार दोनों हाथों की अँगुलियों को रखें।

इसे 'कूर्म अथवा 'कच्छप मुद्रा' कहते हैं।

२१. वाराह मुद्रा

विधि-चित्र में दिखाये अनुसार दोनों हाथों की अँगुलियों को एक दूसरी के भीतर रखते हुए दोनों अँगूठों को ऊपर उठाकर एक दूसरे के आमने-सामने मिलादें।

इसे 'वाराह मुद्रा' कहते हैं।

२२. सिंहाक्रान्त मुद्रा

विधि-दोनों हाथों की हथेलियों को चित्र में दिखाये अनुसार ऊपर उठायें। अँगुलियां परस्पर मिली रहें।

इसे 'सिंहाक्रान्त मुद्रा' कहते हैं।

२३. महाक्रान्त मुद्रा

विधि–दोनों हथेलियों को ऊपर उठाकर उनकी अँगुलियों को कानों की ओर कुछ झुकी हुई स्थिति में (चित्र में दिखाये अनुसार) रखें।

इसे 'महाक्रान्त मुद्रा' कहते हैं।

२४. मुद्गर मुद्रा

विधि–बाँये हाथ की हथेली पर दाँये हाथ की कुहनी रखें तथा अँगुलियों की मुट्ठी बाँध कर उसे ऊपर की ओर उठादें।

इसे 'मुद्गर मुद्रा' कहते हैं।

इति सन्ध्योपासन मुद्राः समाप्ताः

२६. सन्ध्या के अन्त की मुद्राएँ

संध्या के अन्त में की जाने वाली मुद्राएँ ८ हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. सुरभि (धेनु), २. ज्ञान, ३. वैराग्य, ४. योनि, ५. शंख, ६. पंकज (कमल), ७. लिंग तथा ८. निर्वाण।

इनका सचित्र विवरण निम्नानुसार है-

१. सुरभि (धेनु) मुद्रा

विधि-दोनों हथेलियों को मिलाकर दाँई अनामिका को बाँई कनिष्ठिका से, बाँई अनामिका को दाँई कनिष्ठिका से, दाँई मध्यमा को बाँई तर्जनी से तथा बाँई मध्यमा को दाँई तर्जनी से आक्रान्त करें अर्थात् इन सभी अँगुलियों को उल्टी-सीधी मिलाने से 'सुरभि (धेनु) मुद्रा' बनती है।

(दिखें देवोपासना की मुद्राएँ, पृष्ठ-१४६)

२. ज्ञान मुद्रा

तान्त्रिाक चित्र में दिखाये अनुसार पद्मासन से बैठें। बाँये हाथ को खुला हुआ बाँये घुटने पर रखें तथा दाँये हाथ की तर्जनी को अँगूठे से मिलाकर हृदय पर रखें।

यह 'ज्ञान मुद्रा' है।

३. वैराग्य मुद्रा

विधि–दोनों तर्जनियों से अँगूठों को मिलाकर पाँवों पर सीधा रखें तथा पद्मासन से बैठें।

इसे 'वैराग्य मुद्रा' कहते हैं।

४. योनि मुद्रा
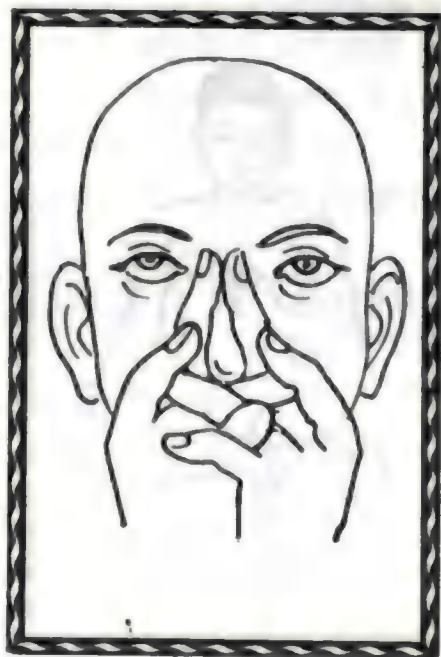
विधि–दोनों कनिष्ठिकाओं को बाँधकर, तर्जनी तथा अनामिकाओं को बाँधें। अनामिका को मध्यमा से पहले थोड़ा सा मिलाकर, फिर उन्हें सीधा करदें। तदुपरान्त दोनों अँगूठों को एक दूसरे पर रखें। इसे 'योनि मुद्रा' कहते हैं।

५. शंख मुद्रा

विधि–बाँये हाथ के अँगूठे को दाँई मुट्ठी में रखें, फिर दाँई मुट्ठी को ऊर्ध्वमुख रखते हुए, उसके अँगूठे को फैलादें। अब बाँये हाथ की सभी अँगुलियों को एक दूसरी के साथ सटाते हुए फैलादें। तदुपरान्त बाँये हाथ की फैली अँगुलियों को दाँई ओर घुमाकर दाँये हाथ के अँगूठे का स्पर्श करें।

इसे 'शंख मुद्रा' कहाजाता है

६. पङ्कज (कमल) मुद्रा

विधि—दोनों हथेलियों को आमने-सामने खड़ी रखकर उनकी अँगुलियों को चित्र में दिखाये अनुसार ऊपर की ओर, कमल की पंखुड़ियों की भाँति फैलादें।

इसे 'पंकज' अथवा 'कमल मुद्रा' कहते हैं।

७. लिङ्ग मुद्रा

विधि—दाँये हाथ के अँगूठे को ऊपर उठाकर, उसे बाँये अँगूठे से बाँधें। तदुपरान्त दोनों हाथों की अँगुलियों को परस्पर बाँधलें।

इसे 'लिङ्ग मुद्रा' कहते हैं।

८. निर्वाण मुद्रा

विधि-उल्टे बाँये हाथ पर दाँया हाथ सीधा रखें। फिर अँगुलियों को परस्पर गूँथ कर दोनों हाथों को अपनी ओर से घुमादें तथा दोनों तर्जनियों को सीधी कान के समीप करें।

यह 'निर्वाण मुद्रा' है।

इति सन्ध्योपासनान्त मुद्राः समाप्ताः

२७. योग-साधना की मुद्राएँ

योग साधना में मुख्यत: १५ मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. मुकुल, २. पंकज, ३. व्याक्रोशी, ४. निष्ठुर, ५. योग, ६. महामुद्रा, ७. उड्डीयान, ८. महाखग, ९. जालन्धर, १०. मूलबन्ध, ११. महावेध, १२. विपरीत करणी, १३. वज्रोली, १४. माण्डूकी तथा १५. शाम्भवी।

इन मुद्राओं का सचित्र विवरण अगले पृष्ठों पर दिया जा रहा है।

१. मुकुल मुद्रा
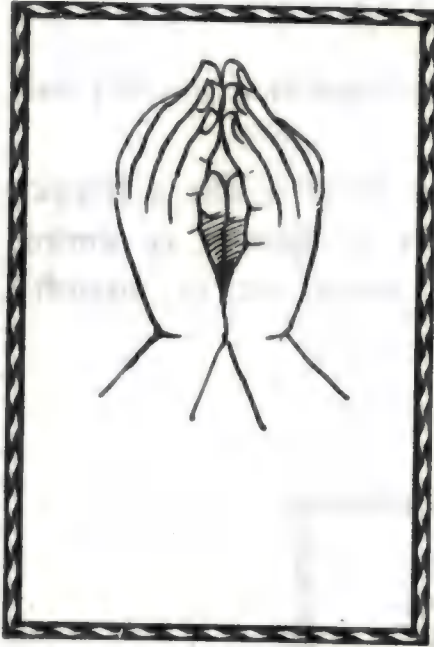
विधि–दोनों हाथों को आमने-सामने करके अँगुलियों को थोड़ा मोड़ दें।

इसे 'मुकुल (काली) मुद्रा' कहते हैं।

२. पंकज मुद्रा

विधि–पूर्वोक्त 'मुकुल मुद्रा' की अंगुलियों को थोड़ा फैला देने से 'पंकज' या 'कमल मुद्रा' बनती है।
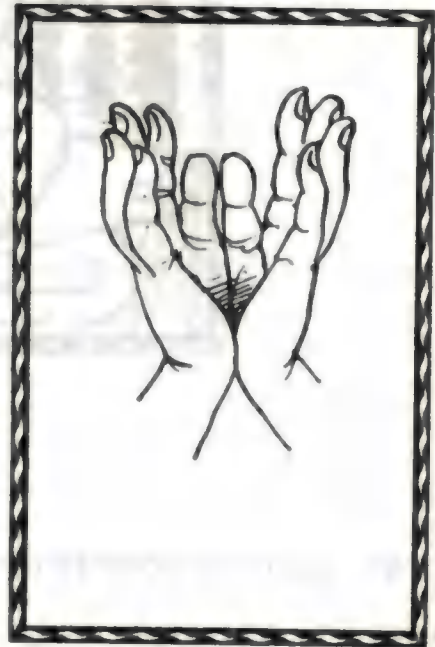
३. व्याक्रोशी मुद्रा

विधि-पूर्वोक्त 'मुकुल मुद्रा' में से दोनों तर्जनियों को बाहर निकाल देने से 'व्याक्रोशी' मुद्रा बनती है।

४. निष्ठुर मुदा

विधि-'मुकुल मुद्रा' के दोनों अँगूठों को मोड़कर अपनी अँगुलियों में दवालें तथा उन्हें ऊँचा करके दोनों हाथों को आपस में मिलादें।

इसे 'निष्ठुर मुद्रा' कहते हैं।

५. योग मुद्रा

विधि–तर्जनी तथा कनिष्ठा अँगुलियों को थोड़ा मोड़ कर हथेली के मध्य में इस प्रकार रखें कि अधोमुख अँगुलियों के नख दिखाई देते रहें। शेष चारों मध्यमाओं तथा अनामिकाओं को पीठ में खड़ी करें तथा अँगूठों को एक करके खड़ा करें।

इस प्रकार 'योग मुद्रा' बनती है।

६. महा मुद्रा

विधि–मूल-द्वार (गुदा) को एड़ी से दबाकर दायें हाथ से पाँव की अँगुली पर रखदें तथा कण्ठ को मोड़ कर भौहों के मध्यभाग में देखें।

इसे 'महामुद्रा' कहते हैं।

७. उड्डीयान मुद्रा

विधि–पेट को भीतर की ओर धँसाने से 'उड्डीयान मुद्रा' बनती है।
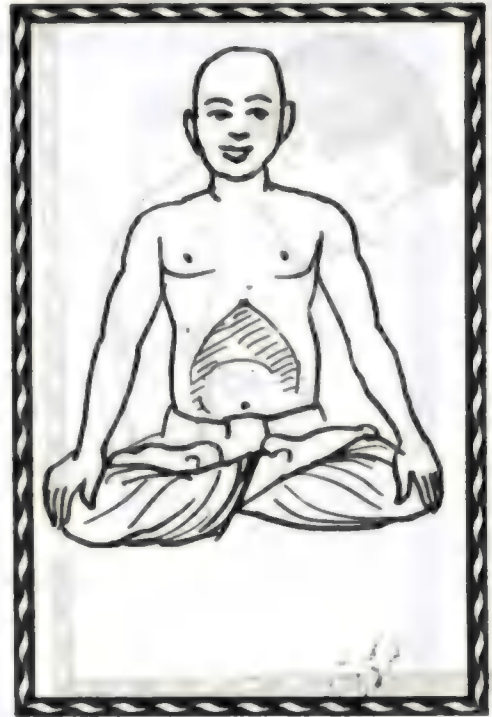
८. महाखग मुद्रा
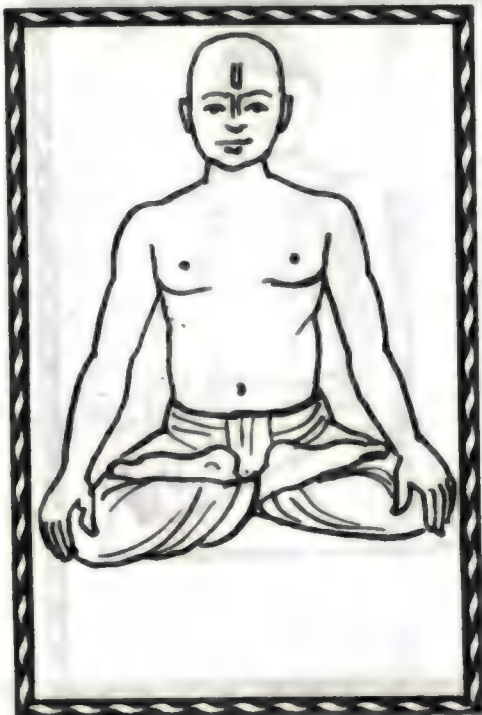
विधि–'उड्डीयान मुद्रा' की स्थिति में जब पेट भीतर को धँसा हो, तब उसे नाभि के ऊपर विश्राम देने से 'महाखग मुद्रा' होती है।

९. जालन्धर मुद्रा

विधि–कण्ठ को सिकोड़ते हुए ठोड़ी को हृदय से लगाने पर 'जालन्धर मुद्रा' बनती है।

१०. मूलबन्ध मुद्रा

विधि–बाँई एड़ी से गुदा को दबाकर मेरुदण्ड की गाँठ को दबायें तथा मूत्रेन्द्रिय को एड़ी से दबायें।

इसे 'मूल बन्ध मुद्रा' कहते हैं।
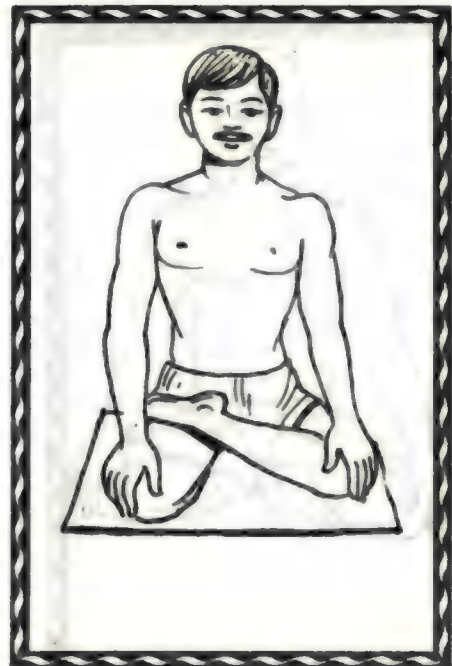
११. महावेध मुद्रा

विधि–उड्डीयान मुद्रा में 'कुंभक प्राणायाम' करने से 'महावेध मुद्रा' होती है।

यह मुद्रा योग सिद्धि देने वाली कही गई है।
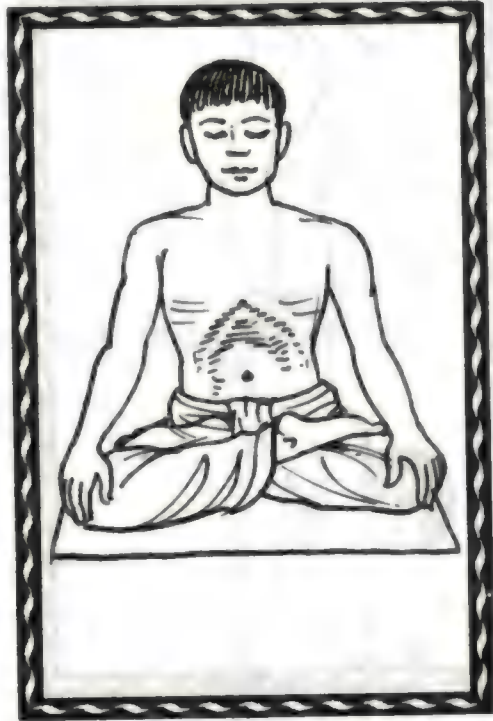
१२. विपरीतकरणी मुद्रा
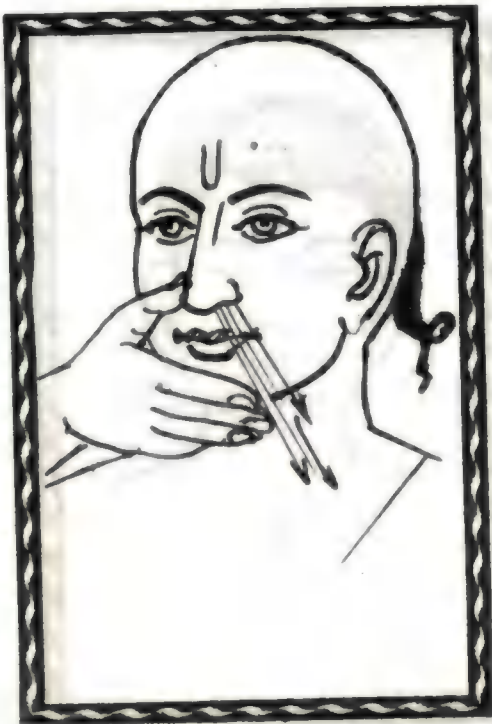
विधि–'सूर्य नाड़ी' अर्थात् दाँये नासा छिद्र से आने वाले श्वांस को ऊपर चढ़ावें (खींचें) तथा चन्द्रनाड़ी अर्थात् बाँये नासा-छिद्र से श्वांस को नीचे लायें अर्थात् बाहर निकालें।

इसे 'विपरीतकरणी मुद्रा' कहते हैं।

१३. वज्रोली मुद्रा
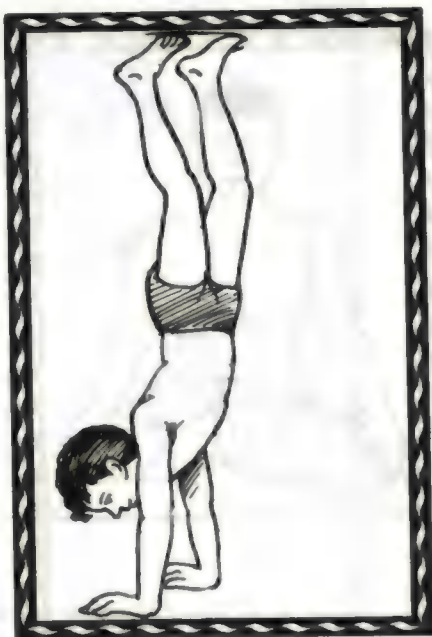
विधि–दोनों हाथों की हथेलियों को पृथ्वी पर जमाकर दोनों पाँवों को ऊँचा करके आधे शरीर को ऊपर उठायें।

इसे 'वज्रोली मुद्रा' कहते हैं।

१४. माण्डूकी मुद्रा

विधि–मुँह को बन्द करके जीभ को तालु से लगायें तथा क्रमानुसार सहस्रार से निकलने वाले अमृत का पान करें।

इसे 'माण्डूकी मुद्रा' कहते हैं।
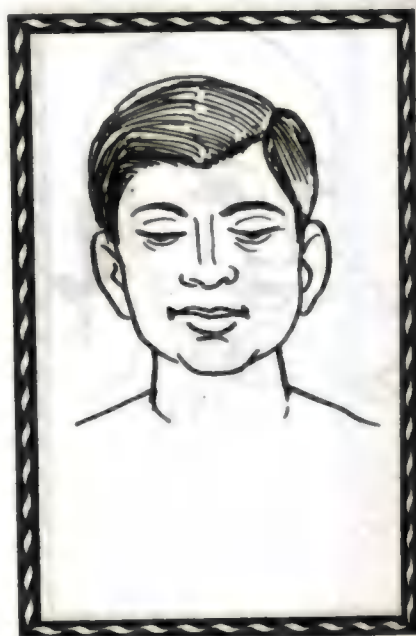
१५. शाम्भवी मुद्रा
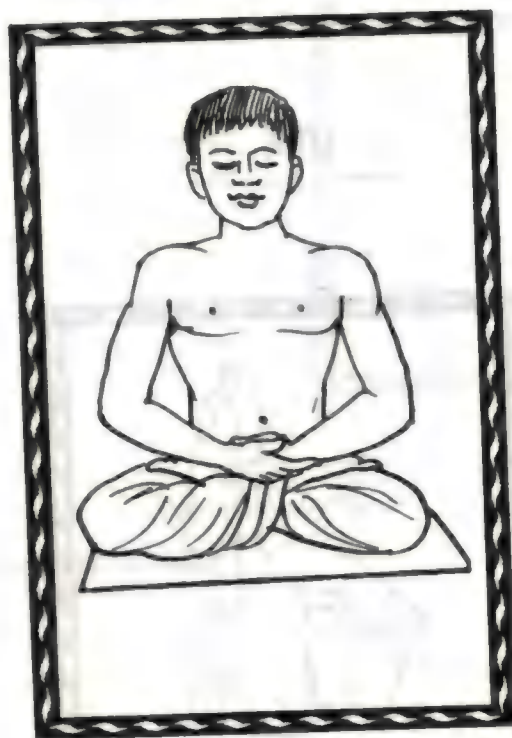
विधि—दोनों भौंहों के मध्य भाग में दृष्टि को स्थिर करके आत्माराम को देखते हुए ध्यान करना ही 'शाम्भवी मुद्रा' है।

इति योग-साधन मुद्राः समाप्ताः

२८. भोजन की मुद्राएँ

भोजन की ५ मुद्राएँ कही गई हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं-

१. प्राण अथवा प्राणाहुति, २. अपान अथवा अपानाहुति, ३. व्यान अथवा व्यानाहुति, ४. उदान अथवा उदानाहुति तथा ५. समान अथवा समानाहुति।

इनका सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है।

१. प्राण मुद्रा

विधि-कनिष्ठिका एवं अनामिका अँगुलियों से अँगूठे को मिलाने पर 'प्राण' अथवा 'प्राणाहुति मुद्रा' बनती है।

२. अपान मुद्रा

विधि-तर्जनी, मध्यमा तथा अँगूठे को मिलाने पर 'अपान' अथवा 'अपानाहुति मुद्रा' बनती है।
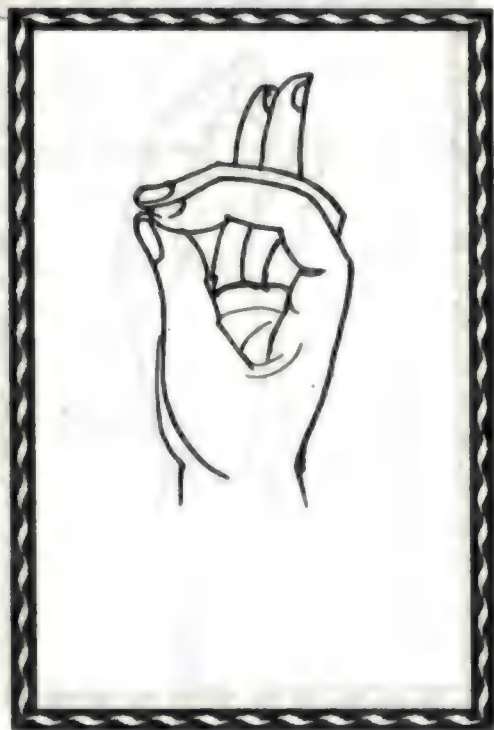
३. व्यान मुद्रा
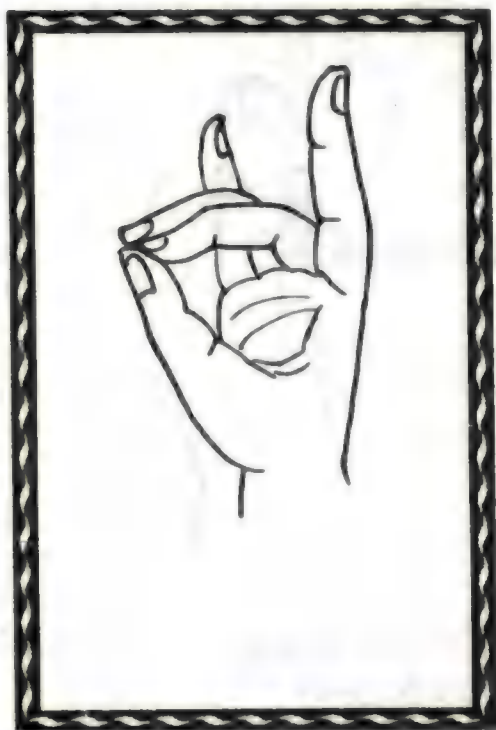
विधि-अनामिका तथा मध्यमा से अँगूठा युक्त करने पर 'व्यान' अर्थात् 'व्यानाहुति मुद्रा' बनती है।

४. उदान मुद्रा
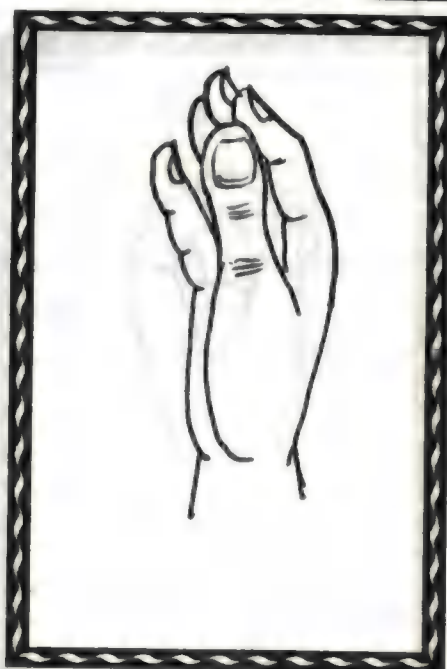
विधि–बाहर निकाली हुई कनिष्ठिका अँगुली के अतिरिक्त अनामिका, मध्यमा, तर्जनी तथा अँगूठे के सहयोग से 'उदान' अथवा 'उदानाहुति मुद्रा' बनती है।

५. समान मुद्रा

विधि–किंचित् मुड़ी हुई तथा आपस में मिली हुई पाँचों अँगुलियों द्वारा 'समान' अथवा 'समानाहुति मुद्रा' बनती है।

विशेष–भोजन करते समय पहले से लेकर पाँचवें ग्रास तक को क्रमशः उक्त उक्त मुद्राओं द्वारा मुँह में रखने वाला मनुष्य भाग्यशाली तथा दीर्घजीवी होता है।

इति भोजन मुद्राः समाप्ताः
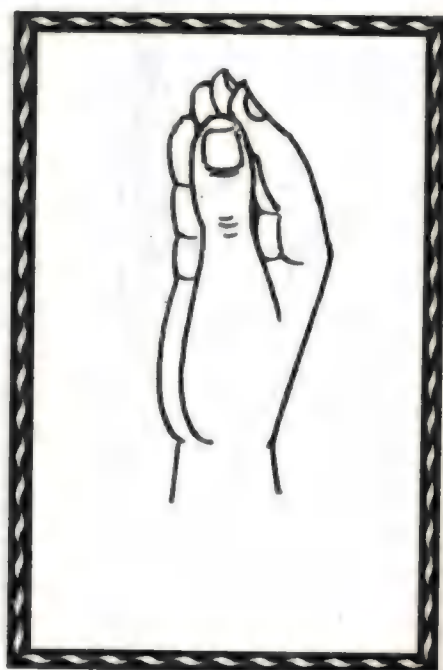
२६. विविध मुद्राएँ

पूर्व प्रकरणों में वर्णित मुद्राओं के अतिरिक्त कुछ अन्य मुद्राओं का सचित्र वर्णन आगे किया जा रहा है। ये मुद्राएँ विभिन्न कर्मों में प्रयुक्त होती हैं।

आगे वर्णित मुद्राओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं-
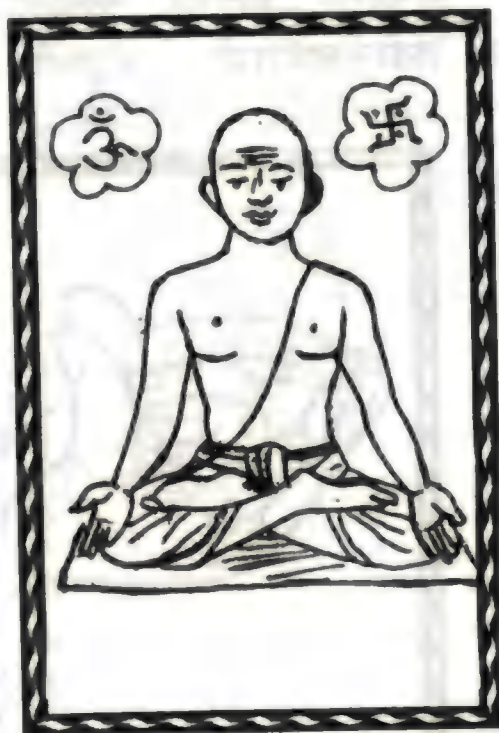
१. सर्वोन्मादिनी, २. महांकुशा, ३. विद्राविणी, ४. सर्वविक्षोभ, ५. सर्वाकर्षिणी, ६. छोटिका, ७. प्रबोध, ८. खेचरी, ९. घण्टा, १०. मुण्ड, ११. जप, १२. पंचक, १३. पल्लव, १४. प्रलम्ब, १५. दन्त, १६. वज्र।

टिप्पणी-इनमें से कुछ मुद्राओं का उल्लेख प्रकारान्तर से अन्य प्रकरणों में भी हो चुका है तो कुछ मुद्राओं के स्वरूप में भिन्नता भी पाई जाती है।

१. सर्वोन्मादिनी मुद्रा

सम्मुखौ तु करौ कृत्वा मध्यमा मध्यमेनुजे।
अनामिकेतु सरले तदधस्तर्जनीद्वयं।।
दण्डकारी ततोङ्गुष्ठौ मध्यमान स्वदेश गौ।
मुद्रैषोन्मादिनी नाम क्लेदिनी सर्वयोषिताम्।।
दक्षिण हस्त कनिष्ठां वामहस्त मध्यमया।
बध्वा वामहस्त कनिष्ठां दक्षहस्त मध्यमया।।
बध्वा तयोर्नखदेशयोः अंगुष्ठौ निक्षिपेत्।।

टीका–दोनों हाथों को सामने करके मध्यमाओं द्वारा मध्यगत कनिष्ठाओं को पकड़ें, अनामिकाओं को सीधी रखें। उनके बाहरी ओर दोनों तर्जनियों को लगायें तथा अँगूठों को दण्डाकार ऐसा सीधा करें कि वे मध्यमा के अग्रभाग में रहें।

यह सभी युवतियों को क्लेदित करने वाली उन्मादिनी मुद्रा है।

२. महांकुशा मुद्रा

अस्यास्त्वनामिका युग्ममधः कृत्वां कुशाकृतिः।
तर्जन्या वपितेनैव क्रमेण विनियोजयेत्।।
इयं महांकुशा मुद्रा सर्वकामार्थ साधिनी।।
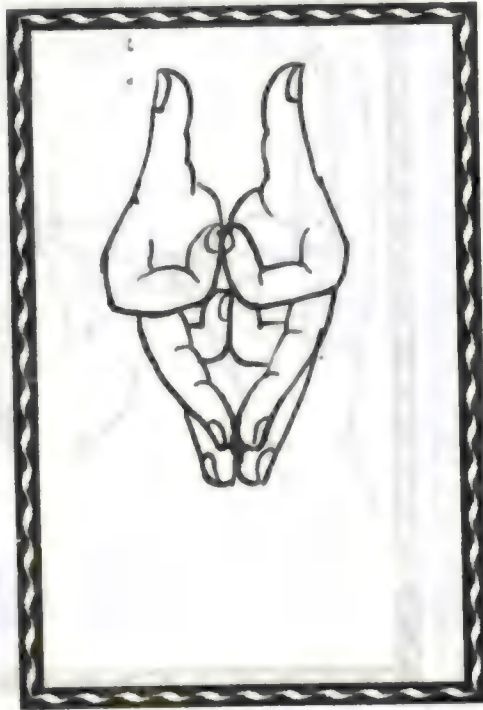
टीका–दोनों अनामिकाओं को नीचे झुकाकर थोड़ी टेढ़ी (कुशाकृति) करदें तथा तर्जनियों को क्रमशः उनके ऊपर लगादें।

३. विद्राविणी मुद्रा

क्षोभ मुद्रा लक्षणमुक्त्वोक्तम् ।
एतस्या एव मुद्राया मध्यमे सरलायदा ।
क्रियते परमेशानि तदा विद्राविणीमता ।।
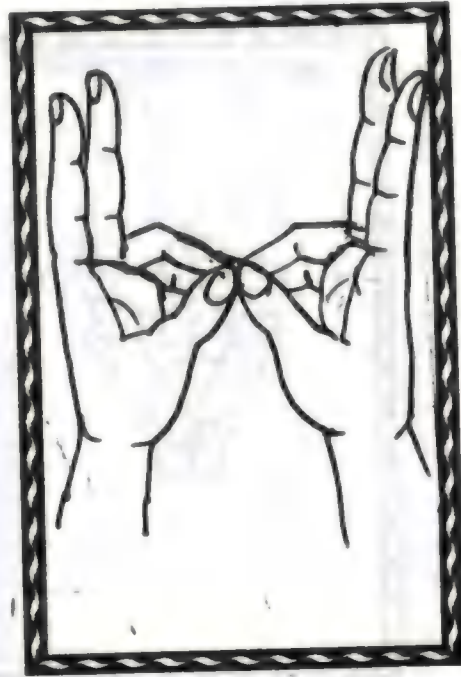
टीका—'क्षोभमुद्रा' (अगले पृष्ठ पर वर्णित 'क्षोभिणी मुद्रा) की क्रिया में केवल मध्यमा को भी सीधी करदेने से यह 'विद्राविणी मुद्रा' बनती है ।

४. सर्वविक्षोभ मुद्रा

मध्यमां मध्यमे कृत्वा कनिष्ठाँगुष्ठ रोधिते।
तर्जन्यौ दण्डवत् कृत्वा मध्यमोपर्यनामिके।।
क्षोभाभिधानामुद्रेयं सर्वसंक्षोभकारिणी।।

टीका—एक मध्यमा को दूसरी मध्यमा से लगायें, कनिष्ठा को अँगूठे से दबायें, तर्जनी को सीधा करें तथा मध्यमा पर अनामिका को लगायें। यह सब का संक्षोभ करने वाली 'सर्व विक्षोभ' मुद्रा है।

५. सर्वाकर्षिणी मुद्रा

मध्यमातर्जनीभ्यांतु कनिष्ठा नामिके समे।
अंकुशाकार रूपाभ्यां मध्यमे परमेश्वरी।।
इय माकर्षिणी मुद्रा त्रैलोघ्याकर्षणेक्षमा।।
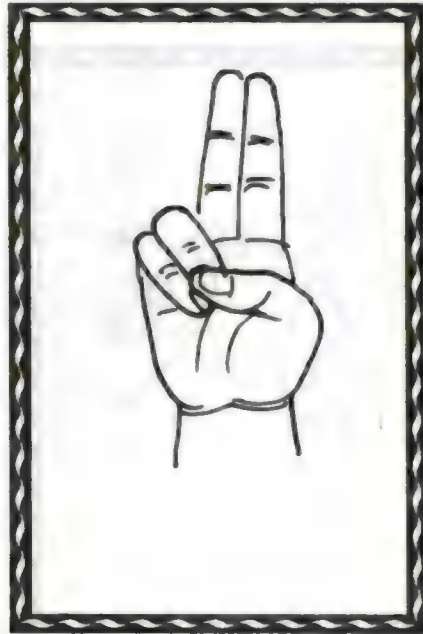
टीका–मध्यमा तथा तर्जनी को ऊपर रखें तथा कनिष्ठा एवं अनामिका को नीचे रखते हुए अंगूठे से दबादें।

यह 'आकर्षणी' अथवा 'सर्वाकर्षिणी मुद्रा' कही जाती है।

६. छोटिका मुद्रा

अंगुष्ठ तर्जनी स्फोटं छोटिका मुद्रिका मता।।
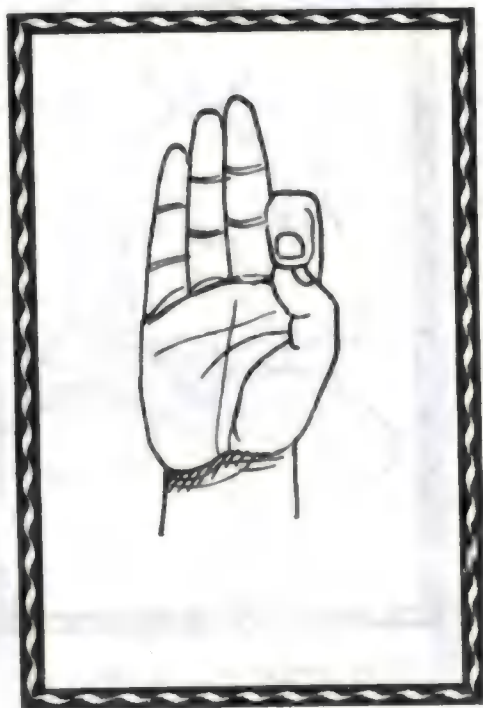
टीका-अँगूठा और तर्जनी को चित्र में दिखाए अनुसार मिलायें। शेष सभी अंगुलियों को सीधा रखें।

यह 'छोटिका मुद्रा' है।

७. प्रबोध मुद्रा

ज्ञानमुद्रा संचालने प्रबोध मुद्रा।।
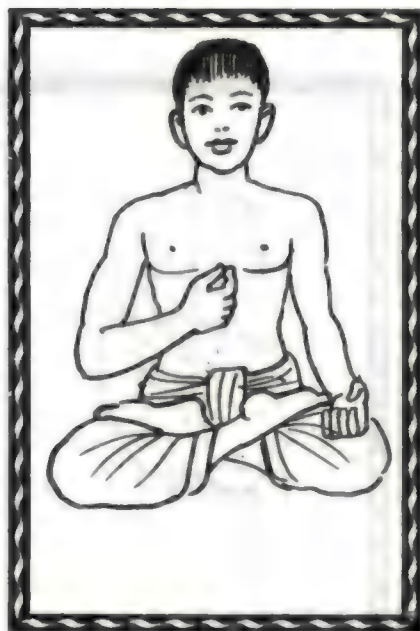
टीका–'ज्ञान मुद्रा' के संचालन को प्रबोध मुद्रा कहते हैं।

इस मुद्रा में पद्मासन से बैठकर, बाँये हाथ को बाँये घुटने पर रखा जाता है तथा दाँये हाथ को चित्र में दिखाए अनुसार हृदय के समीप रखा जाता है।

८. खेचरी मुद्रा

सव्यं दिक्षणहस्ते तु सव्यहस्ते तु दक्षिणं।
बाहूकृत्वा महादेवि हस्तौ सम्परिवर्त्य च।।
कनिष्ठानामिका देवि युक्ता तेन क्रमेण तु।
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सवोर्ध्वमणि मध्यमे।
अँगुष्ठौ तु महादेवि सरलावपि कारयेत्।
इयं सा खेचरी नाम मुद्रा सर्वोत्तमोत्तमा।।

विधि–बाँये हाथ को दाँये हाथ में उल्टा रख कर कनिष्ठिकाओं तथा अनामिकाओं को तर्जनी द्वारा पकड़ें। मध्यमा के पूर्वार्ध को मिलायें तथा अँगूठे को सीधा करके ललाट से स्पर्श करायें।

यह सर्वोत्तम खेचरी मुद्रा है।

टिप्पणी- खेचरी मुद्रा के एक अन्यरूप का उल्लेख त्रिपुरा- मुद्राओं के अन्तर्गत भी किया जा चुका है।

९. घण्टा मुद्रा
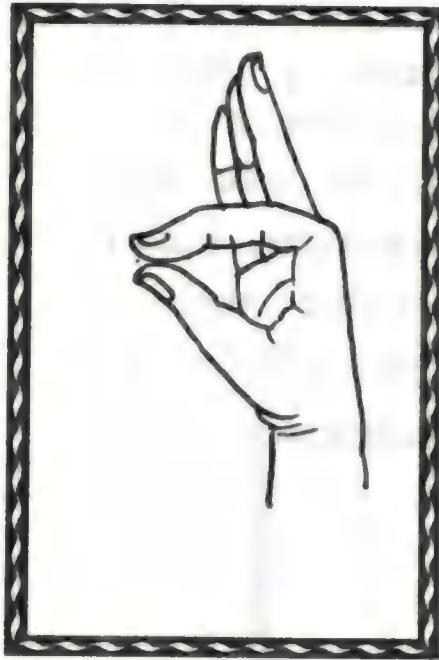
विधि–यह मुद्रा तर्जनी तथा अँगूठे के संयोग से बनती है।

इसका प्रयोग देव-पूजन में होता है।

१०. मुण्ड मुद्रा

विधि-बाँयें हाथ के अँगूठे को मुट्ठी में दबाकर दाँयि हाथ की मध्यमा तथा तर्जनी को अँगूठे के अग्रभाग में लगायें तथा दूसरी मुट्ठी को लम्बित करके स्पर्श किये रहें।

यह 'मुण्ड मुद्रा' है।
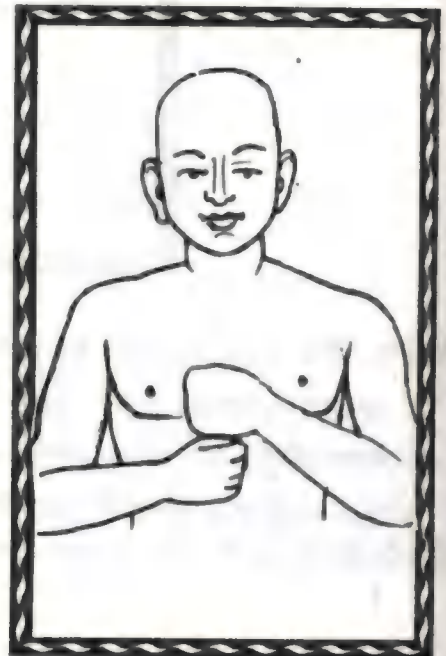
११. जप मुद्रा

विधि-अँगूठे तथा मध्यमा के मध्यपर्वों से मणियों को चलाते हुए माला फेरने से 'जप मुद्रा' बनती है।

१२. पंचक मुद्रा
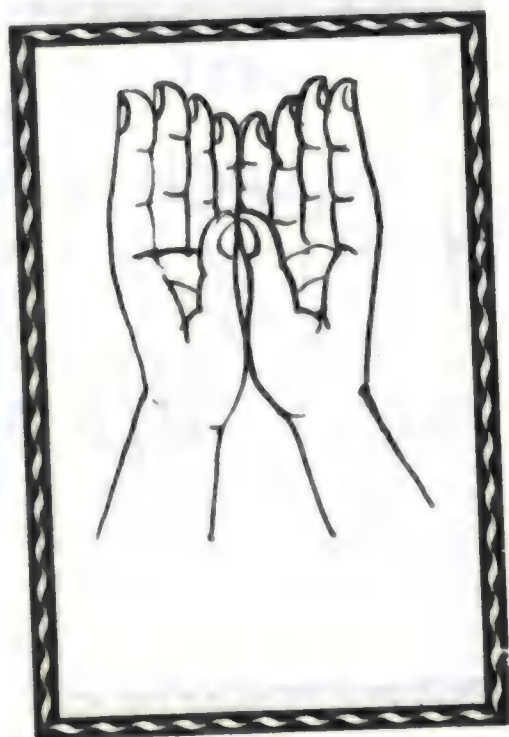
विधि-दोनों हाथों के अँगूठे तथा अँगुलियों को मिला कर ऊपर की ओर करें।

इसे 'पंचक मुद्रा' कहते हैं।

१३. पल्लव मुद्रा

विधि–हथेली को ऊँचा उठाकर सभी अँगुलियों को फैलादेने से यह 'पल्लव मुद्रा' बनती है।

१४. प्रलम्ब मुद्रा

विधि–दोनों हाथों की सभी अँगुलियों को आपस में मिलाकर चित्र में दिखायें अनुसार आगे की ओर फैलादेने से 'प्रलम्ब मुद्रा' बनती है।
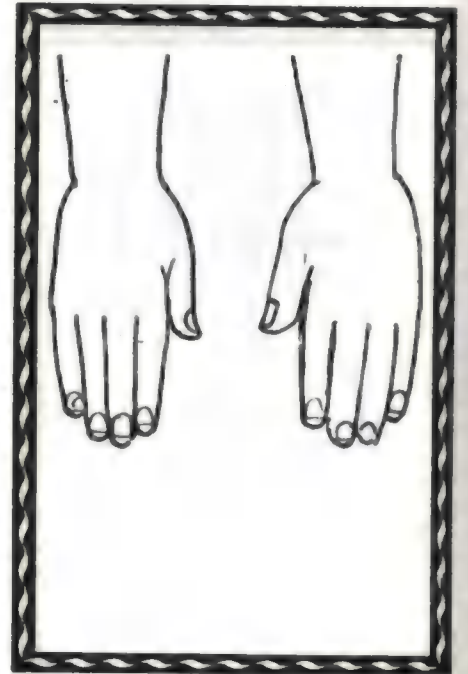
१५. दन्त मुद्रा

विधि-हाथ की मुट्ठी बाँध लें तथा केवल तर्जनी-अँगुली को बाहर निकालकर ऊँचा उठादें।

इसे 'दन्त मुद्रा' कहते हैं।
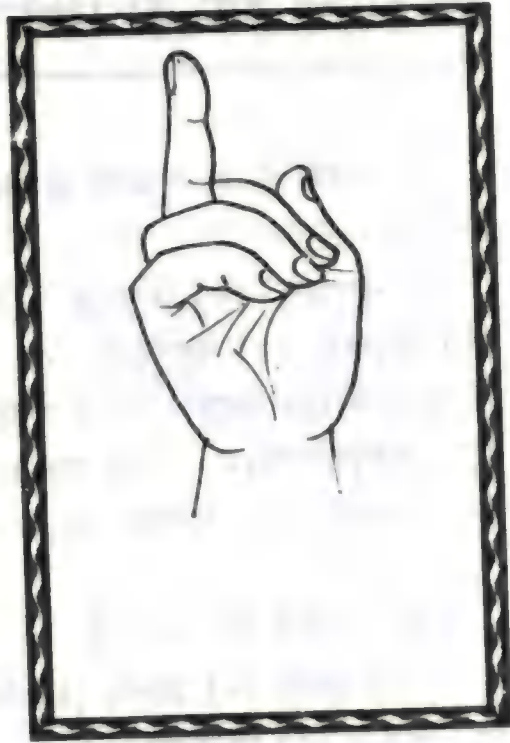
१६. वज्र मुद्रा
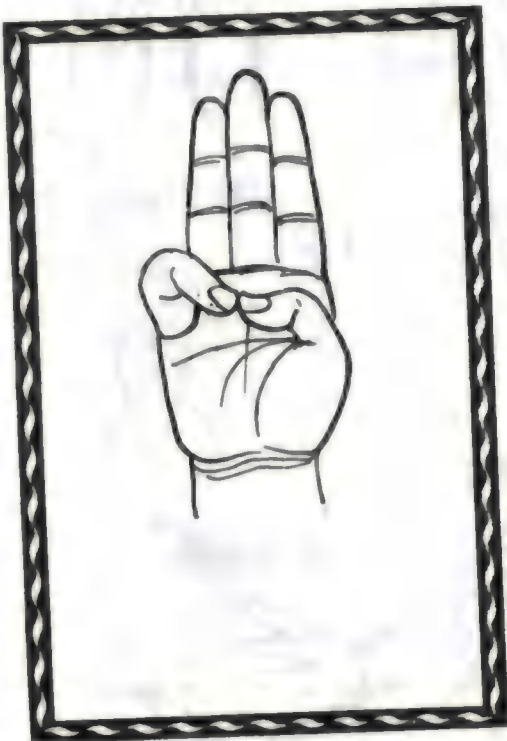
विधि-अँगूठे तथा कनिष्ठिका के अग्रभाग को एक दूसरे से स्पर्श करायें तथा शेष तीनों अँगुलियों तर्जनी, मध्यमा और अनामा को ऊपर उठादें।

यह 'वज्र मुद्रा' है।

इति विविध मुद्राः समाप्ताः

३० गायत्री देवी की विभिन्न मुद्रायें

देवी गायत्री की ३२ मुद्राओं का चित्रण किया जा रहा है। ये मुद्रायें इस प्रकार हैं-

(१) सुमुखम् (२) सम्पुटम् (३) विततम् (४) विस्तृतम् (५) द्विमुखम् (६) त्रिमुखम् (७) चतुर्मुखम् (८) पञ्चमुखम् (९) षष्मुखम् (१०) अधोमुखम् (११) व्यापकाञ्जलिकम् (१२) शकटम् (१३) यमपाशम् (१४) ग्रथितम् (१५) सम्मुखोन्मुखम् (१६) प्रलम्बः (१७) मुष्टिकः (१८) मत्स्य (१९) कूर्म (२०) वराहकः (२१) सिंहाक्रान्तम् (२२) महाक्रान्तम् (२३) मुद्गर (२४) पल्लव
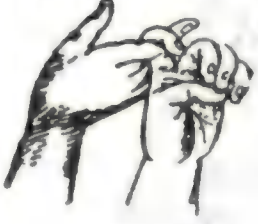
अन्य ८ मुद्रायें इस प्रकार हैं -

(१) सुरभि (२) ज्ञानम् (३) वैराग्य (४) योनि (५) शङ्ख (६) पंङ्कजम् (७) लिङ्गम् (८) निर्वाणम्

(१) सुमुखम्

(२) सम्पुटम्

(३) विततम्

(४) विस्तृतम्

(५) द्विमुखम्

(६) त्रिमुखम्

(७) चतुर्मुखम्

(८) पञ्चमुखम्

(९) षष्मुखम्

(१) सुरभि

(२) ज्ञानम्

(३) वैराग्य

(४) योनि

(५) शङ्ख
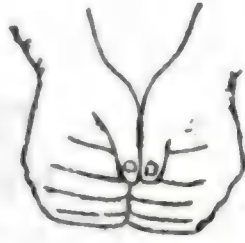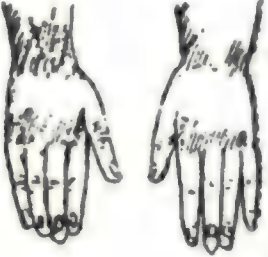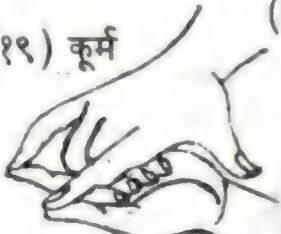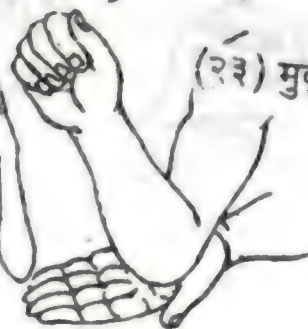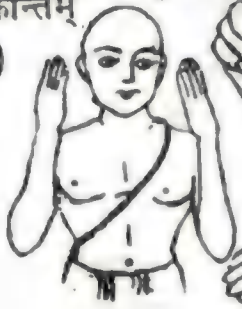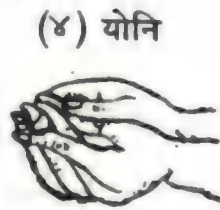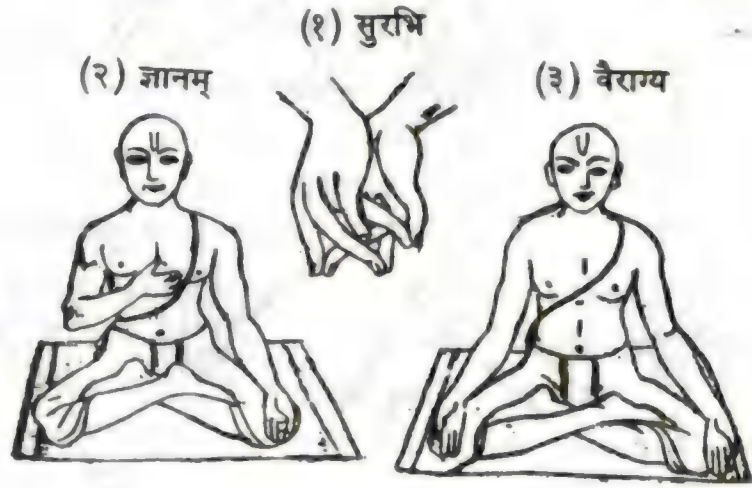
(६) पंङ्कजम्

(७) लिङ्गम्

(८) निर्वाणम्

'मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।

टीका- मुद्राएँ देवताओं को प्रसन्न करती हैं जिससे वे साधकों पर द्रवित होते हैं।

मुदं कुर्वन्ति देवानां राक्षसान् द्रावयन्ति च।

टीका- मुद्रायें देवताओं को प्रसन्न और राक्षसों को द्रवित करती हैं।

मुद्रा बन्धाद् विष प्रसुप्तस्योत्थाने कीदृशी युक्ति।

टीका- मुद्रा-बन्ध से विष द्वारा मूर्च्छित व्यक्ति भी स्वस्थ्य हो जाता है।

जैन साधना पद्धति में ध्यान योग

पुणे विश्वविद्यालय की 'विद्यावाचस्पति' (पीएच. डी.)
की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोधार्थी

जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी

पूर्व पीठिका (प्रस्तावना)

डॉ. सागरमल जैन

निदेशक, भारतीय विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

शोधनिर्देशक

डॉ. अ. दा. बतरा

एम. ए., पीएच. डी.
मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग,
अण्णासाहेब मगर महाविद्यालय,
हडपसर, पुणे ४११ ०२८.

१९८६

समर्पण...

जिनेश्वरी सहज साधना के प्रतीक

श्रुत - सहस्रांशु

परम श्रद्धेय आचार्य भगवंत

पू. आनंदऋषिजी महाराज

के श्रीचरणों में

श्रुतांजलि सहित

- साध्वी प्रियदर्शना

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आनंदऋषिजी म. का

शुभ - सन्देश

जैन तत्त्वज्ञान में शोध की दशा, दिशा और सम्भावना पर
दृष्टिपात करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगा है कि
भारतीय मनीषा के प्राच्य मूल्यों का युगीन सन्दर्भ में
यदि आकलन न हो सका तो
हमारी बहुत बड़ी धरोहर उपेक्षा और अवमूल्यन का शिकार बन जायेगी।
विज्ञान और तकनीकी विकास के परिप्रेक्ष्य में
सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक अवधारणाओं का
समीचीन सन्दर्भ केवल शोध द्वारा सम्भव है
और वह भी अनेकान्त दृष्टिकोण को लक्ष्य रखकर।

योग का विवेचन प्रस्तुत कर
श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ की विदुषी आर्या
साध्वी प्रियदर्शनाजी ने बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।
श्रमण संघ के इतिहास में यह उल्लेखनीय प्रयास है।
जैविक चेतना के क्रमिक विकास एवं आधारभूत सिद्धांतों के प्रतिपादन में
साध्वीजी ने जिस मेधा का परिचय दिया है,
उसके सम्मानार्थ पुणे विश्व विद्यालय के
दर्शन विभाग, मार्गदर्शक, परीक्षक आदि ने जिस किस प्रकार का
योगदान दिया है, उसके प्रति मंगल भावना प्रस्तुत है।

विश्वास है, विद्यावारिधि / पीएच. डी. उपाधि से विभूषित
साध्वी प्रियदर्शनाजी संयम मार्ग में अबाध गति से चलती हुई
ज्ञान - दर्शन - चारित्र की प्रभावना में
तीन करण - तीन योग से दत्तचित्त रहेगी
और वर्तमान तथा भविष्यत् के लिये ऐसे मानदण्ड प्रस्तुत करेंगी
जिससे विशाल स्तर पर लोग लाभान्वित होंगे।

– आचार्य आनन्दऋषि

गुरु भगिनी एवं
सांसारिक अग्रजा
साध्वी प्रमोदसुधाजी

इस शोध प्रबन्ध की लेखिका
साध्वी प्रियदर्शना

ाध्वी प्रियदर्शनाजी के जन्मदाता पिता

व. श्री चांदमलजी चोपडा

सथारा ग्रहण
बुधवार दि १७-१०-१९७९

स्वर्गवास
सोमवार दि २२-१०-१९७९

साध्वी प्रियदर्शनाजी की जन्मदात्री माता

स्व. श्रीमती प्यारीबाई

संथारा ग्रहण
रविवार दि १३-१-१९९१

स्वर्गवास
मंगलवार दि २२-१-१९९१

इस ग्रंथ के अर्थ सहयोगी दंपती

श्री. संपतभाऊ एवं सौ. कुसुमबाई

योग्य पिता की सुयोग्य कन्या
कु. विनोदिनी

अर्थ सहयोगी परिवार का परिचय

'जं सेय त समायरे।' जो श्रेयस्कर हो उसीका समाचरण किया जाए। यह है प्रभु महावीर का दिव्य सन्देश। प्राणिमात्र के लिए श्रेय है - मोक्ष-पथ की साधना। मुक्ती की इस साधना के श्रमण-सस्कृति में व्यक्ति-क्षमता के अनुरूप दो मार्ग हैं - एक है श्रमण / अनगार और दूसरा है श्रावक / सागार। वह परिवार, वह कुल, वह कुटुंब निश्चित ही धन्य है, जिसके सदस्य इन श्रेयस्कर पथों की साधना के लिए समर्पित हों। ऐसा ही एक है - चोपडा परिवार, जिसमें से दो साधक आत्माएँ श्रमण पथ पर अग्रसर हैं - परमविदुषी महासतीजी श्री प्रमोदसुधाजी एवं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की लेखिका महासतीजी या ब्र डॉ प्रियदर्शनाजी।

इस चोपडा परिवार के एक सदस्य - उपरोक्त साध्वीद्वय के सासारिक बन्धु हैं पूना निवासी उदार - हृदयी श्री सपतलाल चोपडा, जो अपने नामानुसार स्नेह, सेवा, सौजन्यरूपी संपदा के धनी अपने प्रियजनों में सपतभाऊ इस नाम से विख्यात हैं। पूना के श्री वर्धमान श्वे स्थानकवासी जैन श्रावक [illegible] (साधना सदन) के आप वर्षों से मन्त्री हैं। सन्त-सतियों एव अभ्यागत दर्शनार्थियों की सेवा में सदासर्वदा तत्पर रह कर मन्त्री पद की गरिमा बढा रहे हैं। श्रमण संघ के आचार्य सम्राट् प. पू आनन्दऋषिजी महाराज के आप विशेष स्नेह-कृपापात्र हैं। अपनी सेवा-भक्ति द्वारा हर सन्त-सतीवृन्द का मन सहज रूप से आप जीत लेते हैं। सेवाभावी संस्थाओं- आनन्द प्रतिष्ठान, तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अ भा श्वे स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। आपने धार्मिक एव आध्यात्मिक सेवाओं के साथ व्यापार के क्षेत्र में भी सफलता हासिल की है। हर व्यक्ति के सुख-दु ख में सहभागी बनने में भी आपकी तत्परता प्रशंसनीय है।

पिता स्व. चान्दमलजी चोपडा

घोडनदी के निवासी व्यापार के लिए पूना आये हुए श्री. चांदमलजी चोपडा एक धर्मनिष्ठ, श्रद्धाशील सुश्रावक रहे हैं। प्रभुदर्शन, प्रभुस्मरण, प्रभुशरण - यह त्रिसूत्री आपके सपूर्ण जीवन का नित्यक्रम रही है। व्यवसाय में आपने कभी अनीति का आश्रय नहीं लिया। वे अनीति - असत्य की घृणा करते रहे। जीवन की संध्या को पहचानते हुए अपनी दृढ धर्मनिष्ठा - भक्ति की अन्तिम परिणति स्वरूप अपनी सुपुत्री साध्वी प्रमोदसुधाजी के मुखारविंद से संथारा व्रत धारण कर समाधि-मरण प्राप्त किया।

माता स्व. प्यारीबाई चोपडा

अपने धर्मवीर पति की अनुगामिनी श्रीमती प्यारीबाई भी धर्म-साधना में सदा अग्रसर रही हैं। त्यागभावना, व्रत प्रत्याख्यान, सन्त-सती सेवा आदि में ही अपना सपूर्ण जीवन व्यतीत किया। अपने पतिदेव से सहमत हो अपनी दो प्रिय पुत्रियाँ जिनशासन की अभ्यर्थना एव प्रचार के लिए समर्पित की, जो अपने वक्तृत्व एव कर्तृत्व के बल पर श्रमण सघ की गरिमा को चार चाँद लगा रही हैं। स्व प्यारीबाई सत-सतियों की सेवा में सदा आनन्दानुभूति करती रही। उन्ही के पवित्र सस्कारों की सपदा उनके सुपुत्र सपतलालजी विनम्रता एव लगन के साथ वहन कर रहे हैं।

श्रीमती प्यारीबाई ने भी अपने पतिराज का अनुकरण जीवन की सध्या में किया, एव अपनी धर्मनिष्ठा-भक्ति का परिचय दिया। उन्होंने अपनी पुत्री साध्वी प्रियदर्शनाजी के मुखारविंद से सथारा व्रत धारण कर समाधिमरण प्राप्त किया। इन दोनों के जीवन की एक विशेषता यह रही कि, इन दोनों ने एक ही तारीख को याने २२ तारीख को इहलोक की यात्रा पूर्ण की।

ज्येष्ठ भगिनी सौ. ताराबाई पीतलिया

चोपडा दपती की ज्येष्ठ सुपुत्री सौ ताराबाई अपने माता-पिता के पवित्र सस्कारों की देन अपने जीवन में निभा रही हैं। उनका शुभ विवाह कोल्हापूर निवासी श्री मोतीलालजी पीतलिया के साथ सपन्न हुवा। अत्यन्त सरल स्वभावी सौ. ताराबाई का जीवन आचार-विचारों की माधुरी से ओतप्रोत है। उनकी स्वभाव - माधुरी के कारण हर व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित होता है। वज्र (सम) सेवाव्रत धारिणी सौ ताराबाई ने अपनी पूजनीय माता के जीवन की अन्तिम घडी तक निरलस सेवाव्रत का आदर्श निर्माण किया। धार्मिक कार्यों में भी वह सदा अग्रसर रहती हैं।

धर्मपत्नी सौ. कुसुमबाई

भारतीय सस्कृति में पत्नी को पति की अर्धांगिनी का स्थान दिया जाता है। सौ कुसुमबाई ने हर कार्य में अपने पतिराज को पूरा सहयोग समर्पित कर अर्धांगिनी पद यथार्थ बनाया है। मिलनसार स्वभाव की एव प्रसिद्धीविन्मुख होने के कारण गृहकार्यदक्ष एव सेवा की प्रतिमूर्ति बनी हुई हैं। अपनी पूजनीया सास की अन्तिम क्षण तक निरलसता से उन्होंने सेवा की। प्रस्तुत ग्रथ के प्रकाशन का आर्थिक दायित्व उठाने की प्रेरणा अपने पति को सौ कुसुमबाई ने ही दी है।

सुकन्या विनोदिनी B Com

अपने श्रद्धाशील सेवाभावी माता-पिता की सुपुत्री होने का सद्भाग्य कु विनोदिनी को प्राप्त हुवा है। विलक्षण बुद्धि-प्रतिभा की स्वामिनी विनोदिनी शालेय जीवन से ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त करती आयी है। बी कॉम् की परीक्षा में भी अच्छे गुण प्राप्त कर चोपडा कुल का नाम रोशन किया है। स्वाभाविक दृढता के कारण जो भी निर्णय करती है, उसका आचरण करने में वह कभी हिचकिचाती नही है। सेवाव्रत उसके जीवन का प्रमुख अलकार है। अध्ययन एव परीक्षा की निकटता का बोझ सर पर होते हुए भी पू दादी की अन्तिम घडी में खूब सेवा की। परिस्थिति की प्रतिकूलता में भी वह अपने मन का सन्तुलन दृढता से टिकाए रहती है। अपने कुल की सन्तसेवा की परपरा स्नेहल विनोदिनी ने सपूर्णतया अगीकृत कर ली है। आज के युग में प्रचलित विकृतियों के प्रभाव से वह कोसों दूर है। यही कारण है कि जीवन में विशेष कार्य करके अपनी त्याग वृत्ति का आदर्श निर्माण करने की उसकी महत्त्वाकाक्षा है। सादा जीवन उच्च विचार की प्रतिमूर्ति विनोदिनी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक दायित्व उठाने में अपनी माता के प्रस्ताव का दर्यादिली से समर्थन किया।

अपने सभी कुटुबियों की प्रेरणा से जागृत होकर त्याग वृत्ति का उदाहरण इस ग्रंथ के प्रकाशन की आर्थिक जिम्मेवारी सपतभाऊ ने अपने सर पर उठाकर आदर्श निर्माण किया है। उनकी यही उदारता, दातृत्व शक्ति, सेवावृत्ति सदा वृद्धिगत होती रहे तथा दिव्य गुणों के पुष्प उनका जीवन सदा सुरभित करते रहें यही मगल कामना है।

परीक्षक - प्रतिवेदन

पुणे विश्व विद्यालय की पीएच डी (विद्या वाचस्पति) पदवी के लिए "जैन साधना पद्धति में ध्यान योग" नामक शोध प्रवध जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी ने मेरे मार्गदर्शन में लिखा है। जैन साधना पद्धति में ध्यान का अपना विशिष्ट महत्व माना गया है। यही कारण है कि, प्राचीन जैन साधकों और विचारकों ने ध्यान पर विपुल मात्रा में साहित्य निर्माण किया है। जैन आगम साहित्य इस सकल्पना के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। किंतु इस विपुल आगम साहित्य में से ध्यान की सकल्पना का समग्र रूप से एव व्यवस्थित ढग से आकलन करते हुए विवेचन करने का कार्य अभी तक नही हुआ था। साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी ध्यान योग की व्यवहारिक साधिका हैं। उन्होंने प्रदीर्घ परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के वाद जैन साहित्य में प्राप्त ध्यान सकल्पना की सारी दृष्टियों का आकलन तथा विवेचन किया है। इस प्रवध के लेखन में साध्वी ने शोधकार्य के अनुकूल धैर्य, परिश्रम और बौद्धिक क्षमताओं का परिचय दिया है। उनकी विवेचन क्षमता सराहनीय है। मैं उनकी कार्यमौलिकता और शोध पटुता से सतुष्ट हूँ। तथा यह अनुज्ञा व्यक्त करता हूँ कि, श्री प्रियदर्शनाजी को इस प्रवध पर पीएच डी की पदवी प्रदान की जाए।

१९-५-८६
पुणे

डॉ. ए. डी. बतरा
एम ए , पीएच डी ,
डी. वाय पी
शोध निर्देशक

परीक्षक - प्रतिवेदन

पुणे विश्व विद्यालय की पीएच डी (विद्या वाचस्पति) पदवी के लिए ''जैन साधना पद्धति में ध्यान योग'' नामक शोध प्रवध जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी ने मेरे मार्गदर्शन में लिखा है। जैन साधना पद्धति में ध्यान का अपना विशिष्ट महत्व माना गया है। यही कारण है कि, प्राचीन जैन साधकों और विचारकों ने ध्यान पर विपुल मात्रा में साहित्य निर्माण किया है। जैन आगम साहित्य इस सकल्पना के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। किंतु इस विपुल आगम साहित्य में से ध्यान की सकल्पना का समग्र रूप से एव व्यवस्थित ढग से आकलन करते हुए विवेचन करने का कार्य अभी तक नही हुआ था। साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी ध्यान योग की व्यवहारिक साधिका हैं। उन्होंने प्रदीर्घ परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के वाद जैन साहित्य में प्राप्त ध्यान सकल्पना की सारी दृष्टियों का आकलन तथा विवेचन किया है। इस प्रवध के लेखन में साध्वी ने शोधकार्य के अनुकूल धैर्य, परिश्रम और बौद्धिक क्षमताओं का परिचय दिया है। उनकी विवेचन क्षमता सराहनीय है। मैं उनकी कार्यमौलिकता और शोध पटुता से सतुष्ट हूँ। तथा यह अनुज्ञा व्यक्त करता हूँ कि, श्री प्रियदर्शनाजी को इस प्रवध पर पीएच डी की पदवी प्रदान की जाए।

१९-५-८६
पुणे

डॉ. ए. डी. बतरा
एम ए , पीएच डी ,
डी वाय पी
शोध निर्देशक

Dr. Kamal Chand Sogani
PROFESSOR AND HEAD
Department of Philosophy
Sukhadia University
UDAIPUR - 313001 (Raj)

Phone Resi 26088
TH-4, Staff Colony
University New Campus
UDAIPUR - 313001 (Raj)
13-5 86

Report on the thesis 'जैन साधना पद्धति में ध्यान योग' submitted by Jain Sadhvi Priyadarshanaji for the degree of Ph. D of the University of Poona, Pune -

—— 0 ——

Sadhvi Priyadarshanaji has submitted the thesis जैन साधना पद्धति में ध्यान योग At the outset I wish to say that the thesis is an authentic document on Dhyana The candidate deals with the topic of dhyana in an exhaustive manner All the aspects of Dhyana have been duly covered. In the beginning the candidate has surveyed the literature on Dhyana. The survey shows her knowledge of sources from where the material can be drawn In the first chapter some non - Jain concepts of Dhyana have been delineated. The importance of Dhyana in Jain Sadhana, the nature of Dhyana, the types of Dhyana, the effects of Dhyana have been discussed at length.

The whole thesis has been systematically presented Candidate's expression in Hindi is lucid In the end the candidate has explained the technical terms. the explanation is very useful and shows her understanding of the matter

I, there fore, recommend that the candidate may be awarded the degree of Ph. D The theme is very much suitable for publication

(sd) **K. C. Sogani**

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई टी. आई रोड, वाराणसी-५

साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी का विशालकाय शोधप्रवन्ध "जैन साधना पद्धति में ध्यान योग" रुचिपूर्वक पढा। प्रस्तुत महाकाय ग्रन्थ अपने में लगभग एक हजार पृष्ठों की सामग्री सजोये हुए हैं। इस विशालकाय शोधप्रवन्ध को तैयार करने में लेखिका ने जो श्रम किया है, वह निश्चित ही सराहनीय है। मेरी दृष्टि में तो इसे जैन साधना में ध्यान योग की अपेक्षा समग्र जैन साधना पद्धति पर लिखा गया शोधप्रवन्ध ही मानना चाहिए। शोध-विपय की दृष्टि से तो इसके केवल चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्याय ही पर्याप्त थे। फिर भी लेखिका ने जो श्रम किया, वह सराहनीय है। यद्यपि शोध-विपय से असम्वन्धित अनेक विवरणों का अनावश्यक विस्तार खटकता है। उदाहरण के रूप में जैन साहित्य का विवरण देते हुए सक्षेप में जैन साहित्य का इतिहास ही लिख दिया गया है। अच्छा होता कि इसमें केवल उन्ही ग्रथों को समाहित किया जाता जो ध्यान पद्धति से संवधित हैं और केवल इतना ही दिखाना पर्याप्त होता कि उनमें ध्यान - सवंधी क्या क्या उल्लेख हैं। जहा तक विषय के प्रस्तुतीकरण का प्रश्न है निश्चय ही वह सन्तोषजनक है और लेखिका ने विषय को उसकी गहराई तक छूने का प्रयत्न किया है। यदि ध्यान की इस चर्चा में प्राचीन और अर्वाचीन अन्य ध्यान पद्धतियों की तुलना को अधिक महत्त्व दिया जाता तो शायद शोधप्रबन्ध की गरिमा और अधिक बढ़ जाती, किन्तु लेखिका के श्रम, अध्ययन सुविधाएँ आदि की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि निश्चय ही यह शोध प्रबन्ध अपने विषय का सन्तोषजनक और गम्भीर प्रस्तुतीकरण है। अन्त में पारिभाषिक शब्दावली आदि परिशिष्टों ने शोधप्रबन्ध की उपयोगिता में वृद्धि ही की है।

सामान्यतया ग्रन्थ के भाषायी स्वरूप को सन्तोषजनक कहा जा सकता है किन्तु मेरी दृष्टि में प्रकाशन के पूर्व इसका भाषायी परिष्कार आवश्यक है। स्वय लेखिका ने भी अपनी इस कमी को स्वीकार किया है। शोधप्रबन्ध के टङ्कण में प्राकृत और सस्कृत सन्दर्भों में तो अनेक अशुद्धियाँ हैं, प्रकाशन के पूर्व उनका परिमार्जन भी आवश्यक है। कही-कही सन्दर्भ छूट भी गये हैं। उदाहरण के रूप में पृष्ठ ३७७ पर सन्दर्भ क्रमाक १८१ छूटा हुआ है। फिर भी अपने प्रस्तुतीकरण एव समीक्षात्मक विवरण तथा यथासम्भव अन्य परम्पराओं से तुलना आदि के आधार पर निश्चय ही यह शोधप्रबन्ध पीएच डी की उपाधि हेतु स्वीकृत करने योग्य है। अत मैं विश्व विद्यालय से यह अनुशंसा करूँगा कि इस शोधप्रबन्ध पर लेखिका को अवश्य ही 'विद्या-वाचस्पति' (पी-एच डी) की उपाधि प्रदान की जाये।

१२-५-८६ (प्रो. सागरमल जैन)

प्रकाशक की कलम से

परम पूजनीय आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज का संपूर्ण जीवन अध्ययन, अध्यापन, चिंतन-मनन से सराबोर रहा है। ज्ञान-साधना यही आपके जीवन का प्रधान अंग रहा है। 'नाणस्स सव्वस्स पगासणाए' यह भगवान महावीर का आदेश आचार्य प्रवर के जीवन का आदर्श कार्य रहा है। धार्मिक परीक्षा बोर्ड, रत्न जैन पुस्तकालय, शिक्षा संस्थाएँ, आध्यात्मिक प्रवचनों एवं ग्रंथों का प्रकाशन आदि की प्रस्थापना आपका आन्दोलन रहा है। यह आपकी अध्ययनशीलता का दूरगामी सुन्दर परिपाक है।

स्वय चिंतन-मनन, अध्ययन रूप महोदधि में डुबकी लगाकर ज्ञान-मुक्ती का लाभ उठाने से आपका समाधान नही हुवा। अपने शिष्य-शिष्याएँ, सपर्क में आनेवाले भी इस ज्ञान-साधना में सदा आगे बढते रहें यह भी आपकी उत्कंठा रही है। यही कारण है कि इस उम्र में भी आप प्रतिदिन मुमुक्षुओं को ज्ञान की सुधा देते रहते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। आपके साधु-साध्वियाँ ज्ञानार्जन के लिए सतत लालायित रहते हैं। इस क्षेत्र में अपनी विशेषताएँ प्रस्थापित करने में उनके प्रयास जारी रहते हैं।

आचार्यश्री की प्रेरणा से अनेकों साधु-साध्वियाँ धार्मिक एवं विद्यापीठीय परीक्षाओं में प्राविण्य प्राप्त कर रहे हैं। साध्वी प्रियदर्शनाजी भी इन्ही जिज्ञासुओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आपकी गुरुजी जैन शासन-चद्रिका स्व पू उज्ज्वलकुमारीजी भी एक अध्ययनरत विदुषी थी। उनकी विद्वत्ता की प्रसादी का लाभ स्वयं महात्मा गाधीजी ने भी उठाया था। महासतीजी की अनेक शिष्याएँ पीएच डी भी कर चुकी हैं। आचार्य भगवन् की प्रेरणा, महासतीजी का आदर्श तथा गुरु-भगिनी एव अग्रजा साध्वी प्रमोदसुधाजी के उत्साह का संबल साध्वी प्रियदर्शना को प्रगति करने में बल देते रहे। इन्ही का सुपरिणाम है पीएच डी. के लिए प्रस्तुत यह शोध प्रबन्ध।

'जैन साधना-पद्धति में ध्यान योग' पर संशोधन करने की उत्कटता साध्वीजी के मानस में जागृत हुई और डॉ अ. दा बतरा जैसे विद्वान पंडित के मार्गदर्शन की सुसधि का उत्साहवर्धन लेकर विभिन्न दर्शनों, आगमों, टीकाओं, ग्रंथों आदि का मन्थन शुरू हुवा। जो भी सन्दर्भ स्थान दृष्टिगत हुए उनका अनुशीलन करके टिप्पणियाँ तैयार होती गयीं।

केवल तान्त्रिक एवं तात्त्विक ज्ञान-प्राप्ति से उनको सन्तोष नही हुआ। पठित साहित्य में से उपलब्ध ज्ञान अनुभवसिद्ध होने पर अधिक निखरता है, यह धारणा होने से साध्वीजीने स्वय ध्यान के प्रयोग किए, मन-शान्ति प्राप्त की और शास्त्रीय जानकारी तथा

प्रत्यक्ष अनुभव का शब्दाकन एव सफल विवेचन इस प्रबन्ध में ग्रथित करने का सुयश उन्हें प्राप्त हुवा।

आज के भौतिक जीवन में मानव-मन अस्थिर हो गया है, आन्तरिक शान्ति नष्ट हो गयी है, जीवन में समाधान दुर्लभ हुवा है। मन शान्ति के शोध में मानव भटक रहा है। मानसिक सुख एव शान्ति के लिए अन्तर्मन की शुद्धि की आवश्यकता उसे महसूस हुई है। इसी के लिए ध्यान एव योग की उपयुक्तता का महत्त्व उसके मन में प्रस्थापित हो गया है। यही कारण है कि आज ध्यान एव योग पर उपयुक्त साहित्य की माग देश-विदेश में दिन-ब-दिन बढती जा रही है।

डॉ प्रियदर्शनाजी का यह शोधनिबन्ध जिज्ञासुओं की पिपासा का शमन करने में सफल हो सकेगा। रत्न जैन ग्रथालय ने इस प्रबन्ध को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला ' के अनुसार आर्थिक समस्या दृष्टिगोचर हुई। मार्ग निकल गया। साध्वी प्रियदर्शनाजी के सासारिक अग्रज पूना निवासी श्री सपतलाल चोपडा की भावना जागी। अपने जन्मदाता माता-पिता के ऋण से उऋण होने का यह सुन्दर मौका हाथ लेने की उनकी धारणा बनी। उनकी प्रशिक्षित सुकन्या कु. विनोदिनी ने अपने पिताश्री का होसला बढाया। और भाई सपतलाल ने अपनी भगिनी के इस शोध-प्रबन्ध के सपूर्ण मुद्रण-व्यय का भार उठा लिया।

महासतीजी के बन्धुतुल्य भाई कनकमल मुनोत ने ग्रथनिर्मिति की व्यवस्था अपने माथे ले ली। ग्रथ का पठन, आवश्यक सुधार, प्रुफ सशोधन एव सलाहमशविरा आदि में उनका दीर्घकालीन अनुभव इस प्रबन्ध को उपयुक्त बनाने में महामोला सिद्ध हुए। भाईसाहब के कार्यकुशल सुपुत्र श्री प्रदीप मुनोत ने अपने कुशल कर्मचारियों के सहयोग से ग्रथ सुन्दर एवं आकर्षक बनाने में काफी कष्ट उठाये।

उसी प्रकार आवश्यक चित्र चितारने में राजगुरुनगर के सिद्धहस्त चित्रकार पिता-पुत्रों ने अपनी कला का परिचय दिया। और भी अनेक व्यक्ति एव कार्यकर्ता सहयोग देते रहें।

उपरोक्त सभी स्नेहिल सहयोगियों के हमारी सस्था की ओर से हम आभार प्रदर्शित करते हैं।

प पू आचार्य आनन्दऋषि दीक्षा जयन्ति
१५ दिसंबर १९९१

मानद मत्री,
श्री रत्न जैन ग्रंथालय

- विषयानुक्रम -

प्रत्यक्ष अनुभव का शब्दाकन एव सफल विवेचन इस प्रवन्ध में ग्रथित करने का सुयश उन्हें प्राप्त हुवा।

आज के भौतिक जीवन में मानव-मन अस्थिर हो गया है, आन्तरिक शान्ति नष्ट हो गयी है, जीवन में समाधान दुर्लभ हुवा है। मन शान्ति के शोध में मानव भटक रहा है। मानसिक सुख एव शान्ति के लिए अन्तर्मन की शुद्धि की आवश्यकता उसे महसूस हुई है। इसी के लिए ध्यान एव योग की उपयुक्तता का महत्त्व उसके मन में प्रस्थापित हो गया है। यही कारण है कि आज ध्यान एव योग पर उपयुक्त साहित्य की मांग देश-विदेश में दिन-ब-दिन बढती जा रही है।

डॉ प्रियदर्शनाजी का यह शोधनिवन्ध जिज्ञासुओं की पिपासा का शमन करने में सफल हो सकेगा। रत्न जैन ग्रथालय ने इस प्रबन्ध को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला ' के अनुसार आर्थिक समस्या दृष्टिगोचर हुई। मार्ग निकल गया। साध्वी प्रियदर्शनाजी के सासारिक अग्रज पूना निवासी श्री सपतलाल चोपडा की भावना जागी। अपने जन्मदाता माता-पिता के ऋण से उऋण होने का यह सुन्दर मौका हाथ लेने की उनकी धारणा वनी। उनकी प्रशिक्षित सुकन्या कु विनोदिनी ने अपने पिताश्री का होसला बढाया। और भाई सपतलाल ने अपनी भगिनी के इस शोध-प्रबन्ध के सपूर्ण मुद्रण-व्यय का भार उठा लिया।

महासतीजी के बन्धुतुल्य भाई कनकमल मुनोत ने ग्रथनिर्मिति की व्यवस्था अपने माथे ले ली। ग्रथ का पठन, आवश्यक सुधार, प्रुफ सशोधन एव सलाहमशविरा आदि में उनका दीर्घकालीन अनुभव इस प्रबन्ध को उपयुक्त बनाने में महामोला सिद्ध हुए। भाईसाहब के कार्यकुशल सुपुत्र श्री प्रदीप मुनोत ने अपने कुशल कर्मचारियों के सहयोग से ग्रथ सुन्दर एव आकर्षक बनाने में काफी कष्ट उठाये।

उसी प्रकार आवश्यक चित्र चितारने में राजगुरुनगर के सिद्धहस्त चित्रकार पिता-पुत्रों ने अपनी कला का परिचय दिया। और भी अनेक व्यक्ति एव कार्यकर्ता सहयोग देते रहें।

उपरोक्त सभी स्नेहिल सहयोगियों के हमारी सस्था की ओर से हम आभार प्रदर्शित करते हैं।

प पू आचार्य आनन्दऋषि दीक्षा जयन्ति
१५ दिसंबर १९९१

मानद मन्त्री,
श्री रत्न जैन ग्रंथालय

भूमिका

जैन - शास्त्रीय पठन एव चिन्तन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि ध्यान की विचारधारा अति प्राचीन एव व्यापक है। वेद, उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम, तथा अन्य दर्शनों, वैचारिक सम्प्रदायों परवर्ती चिन्तकों और परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों में भी यह विचारधारा देखने को मिलती हैं। शोधप्रबध में प्रसगानुसार ध्यान सबधी इन विचार धाराओं का भी उल्लेख किया गया है।

ध्यान की विचारधारा चाहे जितनी प्राचीन या व्यापक हो, जैन धर्म के विशिष्ट विचार के रूप में स्थापित होने के बाद, ध्यान को दर्शन -क्षेत्र में या इसके बाहर के - क्षेत्रों में, विभिन्न आयामों में देखा गया है। इससे इस विचारधारा की उपादेयता स्पष्ट है। इस उपादेयता को विस्तृत एव स्पष्ट रूप से लोगों के सामने प्रकाश में लाना अत्यावश्यक है। क्योंकि वर्तमान काल में ध्यान की परपरा प्राय लुप्त-सी होती प्रतीत हो रही है। उसे अपने निजस्वरूप में लाने के उद्देश्य से ही ''ध्यानयोग'' विषय पर शोध कार्य करना उपयुक्त प्रतीत हुआ।

सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर तथा वर्तमान कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करने से ध्यानयोग में शोध कार्य करने की उपयोगिता प्रतीत हुई। यत्र-तत्र और सर्वत्र ही मानव आधि-व्याधि-उपाधि से [illegible] है। इन त्रिविध दु खों से शाति पाने का एकमात्र उपाय है - 'ध्यानयोग'। इस माध्यम से ही मानव शाति से जी सकता है। इसलिए भी इस शोध कार्य का विषय 'ध्यानयोग' रखा गया है।

इस पर प्राचीन और आधुनिक जैन विद्वानों ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है। किंतु यत्र-तत्र बिखरा होने के कारण, उसे सुव्यवस्थित रूप से एक स्थान पर एकत्रित करने की जरूरत महसूस हुई। अत इस कार्य में भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक, आचार्य कुद्कुद से आचार्य हरिभद्र तक, आचार्य हरिभद्र से उपाध्याय यशोविजय तक और उपाध्याय यशोविजय से आज तक की ध्यान परपरा का विशेष सदर्भ लिया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबध में छह अध्याय हैं और एक उपसहार है।

प्रथम अध्याय में भारतीय परंपरा में प्रसिद्ध त्रिविध धाराओं की ध्यान परपरा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इस विषय से सबधित आगम तथा आगमेतर साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में विभिन्न जैन साधना पद्धतियों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है और उन सब में ध्यान का महत्त्व स्पष्ट किया है।

चतुर्थ अध्याय में जैनागमानुसार कथित ध्यान के स्वरूप का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

पाँचवें अध्याय में आगमानुसार भेद-प्रभेदों का एव आचार्यों के कथनानुसार ध्यान के भेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

छठें अध्याय में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यान का मूल्याकन किया गया है।

अत में उपसहार के रूप में प्रस्तुत शोध प्रवध की सपूर्ण सामग्री का पुन एक सक्षिप्त आकलन किया गया है।

अध्ययन की परिसीमाः

'ध्यानयोग' पर प्राचीन एव अर्वाचीन जैन आचार्यों ने पर्याप्त मात्रा में लिखकर ध्यान परपरा को पूर्णत विकसित किया है। ऐसी स्थिति में उसमें कुछ मौलिक स्थापना की सभावना अत्यल्प है। हम जैन साधु - साध्वियों को अपनी दिनचर्या, अनेक विधि - निषेधों की परिसीमा में सचालित करनी पड़ती है। शोध कार्य के लिए अन्य शोधार्थी जो सुविधा अपने लिए प्राप्त कर सकते हैं, उनमें से बहुत सी सुविधाएँ हमें सहज उपलब्ध नही हो सकती। पैदल विहार, चतुर्मास में अविहार और विद्युत् प्रकाश का निषेध, जैसी अनेक कठिनाइयों के कारण, दूर दूर उपलब्ध शोध - साधन - स्रोतों का हम सहज ही उपयोग नही कर सकते हैं। फिर भी अपनी अल्पज्ञ बुद्धि के अनुसार सपूर्ण जैन दर्शन में से ध्यानयोग को संकलित करते हुए उसे स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसे चित्रावली के रूप में भी समझाने का प्रयास किया गया है।

समस्त भारत - भूमि में भ्रमण करते हुए जनकल्याणार्थ, सदुपदेश करना साधु - जीवन का एक नैतिक कर्तव्य है - साथ ही - हजारों वर्षों से चली आ रही भारतीय सास्कृतिक एकता की परपराओं को टिकाए रखने में साधु समाज का भी योगदान रहा है। इसी दृष्टिकोण के कारण हम लोग राष्ट्रभाषा में अपने प्रवचन संभाषण करते हैं। उक्त भावनाओं के कारण ही प्रबध को राष्ट्रभाषा हिंदी में लिखने का प्रयास किया गया है। हम साधुओं की राष्ट्रभाषा का अपना एक अलग रूप होता है। विश्व विद्यालयीन स्तर की परिष्कृत भाषा की तुलना हमारी सधुक्कड़ी भाषा से नही हो सकती। मराठी तथा विभिन्न प्रातीय जनभाषाओं के नित्य संपर्क में आने के कारण, हमारी भाषा की शब्दावली, वाक्यसारिणी और शैली में परिष्कृत हिंदी से कुछ अलगाव आ जाना स्वाभाविक है। आशा है सुधीजन हमारी भाषा की सीमाओं को समझेंगे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत प्रबंध को हिंदी में प्रस्तुत करने के लिए पुणे विश्वविद्यालय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर अनुमति प्रदान की। इसके लिए पुणे विश्वविद्यालय और उसके दर्शनविभाग के पदाधिकारियों के प्रति हम हार्दिक रूप से कृतज्ञ हैं।

इस कार्य में पुणे के भंडारकर ग्रंथालय एवं जैन साधना - सदन पुस्तकालय; अहमदनगर के श्री तिलोकरत्न स्था. पाथर्डी बोर्ड का ग्रथालय तथा कुछ अन्य - अनेक

ग्रंथालयों-पुस्तकालयों से प्राचीन ग्रथों, शास्त्रों, चूर्णियों, भाष्य एव टीकाओं आदि के पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है। इन ग्रथालयों के व्यवस्थापकों के प्रति भी हम अत्यत कृतज्ञ हैं। जिन ग्रथों को पढ़कर, हमने उपयोग किया है - उनके सम्माननीय लेखकों के भी हम आभारी हैं।

आचार्यप्रवर श्री आनद ऋषिजी महाराज, गुरुणी मैया स्व. श्री उज्वलकुँवरजी महाराज, गुरुमाता श्री विनय कुँवरजी महाराज आदि सभी पूज्यवरों की प्रेरणा और आशीर्वाद के प्रति हृदय से नतमस्तक कृतकृत्य हूँ।

मेरे शोध - निदेशक डॉ अ दा वत्तराजी (एम ए, पीएच डी) का, मैं हृदय से कृतज्ञता का अनुभव करती हूँ, जिनके सुलझे हुए, परिष्कृत दृष्टिकोण तथा स्नेहपूर्ण एव निस्पृह मार्गदर्शन में ही यह कार्य सम्पन्नता को प्राप्त हुआ।

इसी तरह पुणे के डॉ केशव प्रथमवीर (एम ए पीएच डी) के बहुमूल्य सुझावों से तथा डॉ किशोर वासवानी (एम ए, पीएच् डी) के सद्प्रयासों से इस कार्य को सम्पन्न करने में पर्याप्त सहायता मिली है। उनकी सहायता का उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

सद्कार्यों की सहायता के लिए सदैव अग्रसर रहने वाले पुणे के श्री नवलभाऊ फिरोदिया की हार्दिक प्रेरणा और प्रयत्नों के बिना यह कार्य पूरा नही हो सकता था। उनकी हार्दिकता के प्रति शब्दों में आभार [illegible] नही किया जा सकता है। उन्हें सुस्वास्थ्यपूर्वक दीर्घायु प्राप्त होवे यही हमारी हार्दिक भावना है। पुणे विश्व विद्यालय - जैन चेअर के कार्यकर डॉ मोहनलाल मेहता (एम ए, पीएच् डी) तथा बनारस पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान के निदेशक डॉ सागरमल जैन (एम ए, पीएच् डी) इन्होंने इस कार्य को सम्पन्न करने में सहृदय सहयोग दिया अत उनका भी उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

इसी प्रकार विभिन्न स्थानों के जैन श्रावक सघों ने भी इस कार्य में विभिन्न प्रकार की सहायता पहुँचाई है - वे सभी श्रावकगण हमारे हार्दिक स्नेह एव शुभ कामनाओं के पात्र हैं।

मेरे हस्तलेखन की अव्यवस्था के बावजूद भी श्रीमती लता वासवानी (राष्ट्रभाषा प्रवीण) ने बड़े मनोयोग से इस प्रबध का टकण कार्य सपन्न किया है। वे निश्चय ही साधुवाद की पात्र हैं।

बहुत सावधानी रखने पर भी सस्कृत, प्राकृत और पाली उद्धरणों के कारण एवं मेरी अस्पष्ट लिखावट के कारण टकण में त्रुटियाँ रह गई हैं। उन्हें सतर्कता से शुद्ध करने का प्रयास भी किया है - फिर भी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहने की पूर्ण सभावना है। इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

विनीत शोधार्थी
साध्वी प्रियदर्शना

पूर्वपीठिका

श्रमणधारा और ध्यान

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां तक कि अति प्राचीन नगर मोहन-जोदरो और हरप्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अकन पाये जाते हैं।[१] इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के, जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में यज्ञ-मार्ग की अपेक्षा ध्यान मार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

औपनिषदिक परम्परा और उसकी सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान रहा था। औपनिषदिक ऋषि-गण और श्रमण-साधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यान-साधना को स्थान देते रहे हैं - यह एक निर्विवाद तथ्य है। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान-साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थी ऐसे सकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यान-साधक श्रमण आचार्य रामपुत्त के पास स्वयं ध्यान-साधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्त के सबध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[२] इन्ही रामपुत्त का उल्लेख जैन आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग[३] में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृत्दशा[४], ऋषिभाषित[५]ादि में तो उनसे संबधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृत्दशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित[६] में उनके उपदेशों का सकलन आज भी उपलब्ध है।

---

१) Mohenjodaro and Indus Civilization, John Marshall Vol I Page 52

२) Dictionary of Pali Proper Names, By J P Malal Sekhar (1937) Vol I P 382-83

३) सूत्रकृताग १ । ३ । ४ । २-३

४) स्थानाग १ ० । १ ३ ३ (इसमें अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है)

५) इसिभासियाइ - अध्याय २ ३

६) वही, अध्याय २ ३

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नही है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नही हैं, मात्र यत्र-तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान-साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग परम्परा के साथ-साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा - जो आज जैन परम्परा के नाम से जानी जाती है - अपने अस्तित्व काल से ध्यान साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रथों आचाराग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि में ध्यान का महत्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाइ) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[१] उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरे प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।[२] आज भी जैन श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एव पदयात्रा से लौटने पर गमनागमन एव मलमूत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रात कालीन और सायकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।[३] उसके आचार और उपासना के साथ कदम-कदम पर ध्यान प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्व है - इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हों या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नही हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकाश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं - यथा अभयमुद्रा, वरद-मुद्रा और उपदेश-मुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यान मुद्रा में मिलती हैं - किन्तु नृत्यु मुद्रा आदि में भी शिव प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहा अन्य परम्पराओं में

---

१) इसिभासियाइ (ऋषिभाषित), २२।१४

२) उत्तराध्ययन सूत्र २६।१८

३) श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रथम सस्करण पृ १३३-१३४

अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रहीं, वहां तीर्थंकर या जिन प्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में ही निर्मित हुई, किसी भी अन्य मुद्रा में नहीं बनी। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन-प्रतिमा/तीर्थंकर प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है - यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नही रह जाता है उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन साधना का कोई अर्थ नही रह जाता है।

ध्यान - साधना की आवश्यकता

मानव मन स्वभावत चचल माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मन को दुष्ट अश्व की सज्ञा दी गई, जो कुमार्ग में भागता है।[१] गीता में मन को चचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निग्रहीत करना वायु को रोकने के समान अति कठिन है।[२] चचल मन में विकल्प उठते रहते हैं - इन्ही विकल्पों के कारण चैत्तसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दु.ख है। इसी चैत्तसिक पीड़ा या दु ख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दु ख-विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नही है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नही चाहता है। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना यही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनाओं से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समता युक्त चित्त की उपलब्धि ही है। इसे ही समाधि/सामायिक (प्राकृतसमाहि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना पद्धतियाँ जो चित्त को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्व-युक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

---

१) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५५-५६

२) भगवद्गीता ६।३४

ध्यान का स्वरूप एव प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।[1] चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चचलता को समाप्त करने का अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चचलता स्वत ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही 'योग' है। स्पष्ट है कि चित्त की चचलता की समाप्ति या चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव हे। अत ध्यान को साधना का आवश्यक अग माना गया है।

गीता में मन की चचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।[2] उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं - १ अभ्यास, २ वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निग्रहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।[3] चचल चित्त की सकल्प-विकल्पात्मक तरगें या वासनाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नही हो जाते हैं। पहले उनकी भाग-दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय-मन या विक्षोभित चित्त निरोध के सकल्प मात्र से नियन्त्रित नही हो पाता है। पुन यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मनुष्य को पागलपन के कगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चचलता का यकायक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है। प्रथमत मानव मन की गतिशीलता को नियन्त्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता यकायक समाप्त तो नही होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है। ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्व प्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है - फिर क्रमश इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल या क्षीण किया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णत निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैत्तसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त-दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना आवश्यक है।

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७

२) गीता ६।३४

३) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५६

उसके द्वारा सकल्प-विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है। विविध वासनाओं, आकाक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना-शक्ति अनेक रूपों में विखण्डित होकर स्वत में ही सघर्षशील हो जाती है।[1] उस शक्ति का यह बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैत्तसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूकि वह विघटित चेतना को सगठित करता है। इसीलिए वह योग (Unification) है। ध्यान चेतना के सगठन की कला है। सगठित चेतना ही शक्तिस्रोत है, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धिया या सिद्धिया प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं एव आकाक्षाओं के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकाक्षाओं, इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इन विभक्त एव निर्बल चित्तधाराओं को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बाध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान भी हमारी चेतनाधारा को सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बाध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ती का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ती का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

सक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एव उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। वह चित्त वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्षोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामत॰ वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्पारिक एव व्यावहारिक लाभ

ध्यानशतक (झाणज्झयन) में ध्यान से होनेवाले पारम्परिक एव व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया है कि धर्मध्यान से शुभास्रव, सवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एव अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। यहा यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकाक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हो, तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा ही।

---

१) पुढो छदा इह माणवा, पुढो दुक्ख पवेदिता। – आचाराग १।५।२।२५

अणेगचिते खलु अय पुरिसे, से केयण अरिहए पूरइत्तए – आचाराग ५।३।२

फिर भी यह शुभास्रव अन्ततोगत्वा मुक्ति का निमित्त होने से उपादेय ही माना गया है। ऐसा आस्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण ससार की अभिवृद्धि का कारण नही बनता है।[1]

पुन ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,[2] जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से सचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के सचित कर्म संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।[3] जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।[4] सक्षेप में ध्यान साधना से आत्मा कर्मरूपी मल एव आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाताद्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान के इन चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है। वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में सलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पनन होनेवाले ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दु खों से पीडित नही होता है।[5] ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिती में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व सस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणत नही होता है। अत• काषायिक भावों की परिणति नही होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (झाणज्झयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीडायें भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दु खों से भी विचलित नही होता है। वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।[6] यह हमारा

---

१) ध्यान शतक (झाणज्झयण) ९३-९६
२) वही ९७-१००
३) वही १०१
४) वही १०२
५) ध्यानशतक (वीरसेवामदिर) १०३
६) वही १०४

व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीडाओं को भूल जाते हैं, जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख-प्यास आदि को भूल जाता है। अत ध्यान में दैहिक पीडाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पाच लाभ हैं[1] १) देह जाड्य शुद्धि -श्लेष्म एव चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अत उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २) मति जाड्य शुद्धि - कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३) सुख-दु ख तितिक्षा, (समताभाव) ४) कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५) ध्यान, कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुत ध्यान साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियन्त्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियन्त्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैत्तसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके न केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वय अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्म बोध से महत्त्वपूर्ण एव श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नही। आत्म साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह कोऽहं से सोऽहं तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है ध्यान के द्वारा। ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है। यह अपने आप के सम्मुख होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुत अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी सभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अत ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

---

१) आवश्यकनिर्युक्ति १४६२

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्व प्रथम तो हम अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है - दूसरे शब्दों में हमें अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जागते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हम उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं - विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाव से रहित शुद्ध आत्म दशा की अनुभूति करता है - यही परमात्म दर्शन है। स्वभावदशा में रमण है। यहा यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्म-दर्शन में कैसे सहायक होता है?

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आख बन्द करनी होती है। जैसे ही आख बन्द होती है-व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत से टूटकर अन्तर्जगत से जुडता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुए न होकर मनोसृजनाए होती है। जब व्यक्ति इन मनोसृजनाओं (सकल्प-विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर-निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्मअनात्म का विवेक या स्व-पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म-दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग-दौड समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाए या सकल्प-विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताए समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज-समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, सकल्प-विकल्पों एव तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अत वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुण-स्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुण-स्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग-आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर ही वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अत ध्यानमोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन परम्परा में ध्यान में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है वे निम्न हैं-

ठाणेण मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि[१] -

अर्थात "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहा हमें स्मरण रखना चाहिए कि अप्पाण वोसिरामि का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नही है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नहीं, अपनेपन के भाव अर्थात ममत्व बुद्धि का होता है। जब कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्म-विशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।[२] सम्यक् ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ बोध होता है। सम्यक् दर्शन से तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक् चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अत ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अत हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना विधि में ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जब आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थित होता है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अत· ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन-दर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधना विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में निर्विकल्प समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

---

१) आवश्यकसूत्र - आगारसूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि) प्र स पृ ३७६

२) उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५

ध्यान और समाधि-

सर्वार्थ सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनि-जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकाक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।[१] धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।[२] वस्तुत चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है और उनकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है। उदाहरण के रूप में जब वायु के सयोग से जल तरगायित होता है तो उस तरगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नही होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नही होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनाव युक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुत चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अत ध्यान और समाधि समानार्थक है, फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टाग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुत दोनों एक ही है।[३] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों मे ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकपता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहा ध्यान का योग से क्या सबध है? यह भी विचारणीय है। जैन परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।[४] उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान-साधना का प्रयोजन योग-निरोध ही है। वस्तुत मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिक-योग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है। अत मन की सक्रियता के निरोध से ही योग-निरोध संभव है। योग-दर्शन भी जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[५] वस्तुत जहा चित्त की चचलता समाप्त होती है, वही साधना की पूर्णता है और

---

१) तत्त्वार्थ वार्तिक ६।२४।८

२) धवला पुस्तक ८, पृ ८८ (दसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाण समाही)

३) योग समाधि ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६।१।१२

४) कायवाङ्मन कर्म योग । तत्त्वार्थसूत्र ६।१

५) योगश्चित्त वृत्ति निरोध । योगसूत्र १।२ (पतञ्जलि)

वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन-साधना और योग- साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृपिट से देखें तो जैन दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

योग शब्द का एक अर्थ जोड़ना भी है।[१] इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोडता है। वस्तुत जब चित्तवृत्तियों की चचलता समाप्त हो जाती है चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य-कारण भाव अथवा साध्यसाधन की दृष्टि से विचार करते हैं तो ध्यान साधन होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग -

जैन साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छह प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।[२] इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहा काया (शरीर) व्यापक अर्थ में ग्रहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात देह-त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो सभव नही है। अत कायोत्सर्ग का मतलब है देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधिया भी दो प्रकार की होती हैं- एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें श्वसन-प्रक्रिया, छीक, जम्भाई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों का निरोध नही करने का ही स्पष्ट उल्लेख है।[३] अत कायोत्सर्ग

---

१) 'युजपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७

२) उत्तराध्ययन सूत्र ३०।३० (झाण च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो)

३) आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र

ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐचिछक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अत. कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पडता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन मे मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अत चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) विक्षिप्त मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।[१]

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें सकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अत इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोडे बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुन बाह्य विषयों के सकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एव आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथचित् अन्तर्मुखी और कथचित बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/२

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें सकल्प-विकल्प एव मानसिक वृत्तियाँ का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है-१. कामावचर, २. रूपावचर, ३ अरूपावचर और ४ लोकोत्तर।[१]

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सासारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नही है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नही होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-सस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एव निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन मे चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार है - १. क्षिप्त, २. मूढ, ३. विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५. निरुद्ध।[२]

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नही रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नही है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर सयम नही रहता।

२) मूढ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

---

१) अभिधम्मत्थसंगहो, पृ १
२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ १९०

ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐचिछक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अत॰ कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पडता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन मे मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अत चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) विक्षिप्त मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।[१]

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें सकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अत इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोडे बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुन॰ बाह्य विषयों के सकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथचित् अन्तर्मुखी और कथचित बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/२

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें सकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियों का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है-१ कामावचर, २ रूपावचर, ३ अरूपावचर और ४ लोकोत्तर।[१]

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एव विचारों की अधिकता होती है। मन सासारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नही है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नही होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-संस्कार, राग-द्वेष एव मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं - १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३ विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[२]

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नही रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नही रहता।

२) मूढ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

---

१) अभिधम्मत्थसगहो, पृ

२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ १९०

लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नही है। क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नही होता है।

३) विक्षिप्त चित्त - विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आशिक स्थिरता की अवस्था है।

४) एकाग्र चित्त - यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नही होता, तथापि यह योग की पहली सीढी है।

५) निरुद्ध चित्त- इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	योगदर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एव मूढ
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रुपावचर चित्त और योगदर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोडी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैनदर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्रचित्त भी समान ही हैं। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन दर्शन में सुलीनमन, बौद्धदर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है भी समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एव संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना सस्कार एव संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए

अर्थात विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[१]

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य ध्यानपरम्पराओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन-क्षोभित होता है, जिससे चेतना के समत्व का भग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

ध्यान का सामान्य अर्थ -

ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या विन्दु पर केन्द्रित होना है।[२] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए- १) प्रशस्त और २) अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुन दो रूप माने गये- १) आर्त और २) रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये- १) धर्म और २) शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्त ध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकाक्षा या प्राप्तवस्तु के वियोग की सभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त ध्यान है।[३] आर्तध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।[४] इस प्रकार आर्त ध्यान रागमूलक होता है और रौद्र ध्यान द्वेष मूलक होता है। राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान ससार के जनक हैं, अत· अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व-पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोकमगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता है। चूकि धर्मध्यान में भोक्ताभाव होता है, अत यह शुभ आस्रव का कारण होता है। जब आत्मा या चित्त की वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती है, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुडता है और न भोक्ताभाव से जुडता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/५-६

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७, ३) वही ९।३१, ४) वही ९।३६.

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[1] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[2] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[4] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्गं" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[5] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएं एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र. वीर सेवा मंदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका - देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

जाता है और अन्तरग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहा का वातावरण अशान्त हो, जहा सेना का सचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूज रहे हों, जहां जन्तुओं तथा नपुसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नही है। इसी प्रकार काटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नही होते।[१]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पडता है। धर्म स्थलों एव नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती हे तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती हे। अत ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। सयमी साधक को समुद्र तट, नदी तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एव खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के सबध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नही पडता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नही होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।[२] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[३] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

---

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहिआए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[१] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[३] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के ससर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्ग" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[५] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाए एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र वीर सेवा मदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका – देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पंचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहा का वातावरण अशान्त हो, जहा सेना का सचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूज रहे हों, जहा जन्तुओं तथा नपुसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नही है। इसी प्रकार काटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नही होते।[१]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पडता है। धर्म स्थलों एव नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अत ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। सयमी साधक को समुद्र तट, नदी तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एव खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के सबध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पडता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नही होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।[२] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[३] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

---

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[1] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[2] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के ससर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[4] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्ग" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[5] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाए एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र वीर सेवा मदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका – देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अत हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नही हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[१] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नही है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नही कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व सस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नही करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पांचवें गुणस्थान अर्थात देशव्रती को ही संभव है। अत स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहा तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अत व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

---

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-४१

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नही होता है। वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जगेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त-विक्षोभों को दूर करके समाधि-लाभ या समता-भाव को प्राप्त करना है तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[१] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत, ध्येय तो परमात्मा ही है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नही हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[२] इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। [illegible] आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।[३] जिस परमात्म-स्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[४] पुन॰ ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नही, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। अत॰ ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे [illegible] ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी-

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी

---

१) ज्ञानार्णव - ३२।९५, ३९।१-८, मोक्खपाहुड ७

२) अप्पा सो परमप्पा

३) तत्त्वानुशासन [illegible]

४) मोक्खपाहुड ५

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अत: हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नही हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[१] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नही है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नही कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व सस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नही करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पाचवें गुणस्थान अर्थात देशव्रती को ही सभव है। अत स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहा तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अत व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

---

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-४१

का क्रम अन्योन्याश्रित है। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रशस्त ध्यानों की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की ओर अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण ?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अत उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नही आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नही किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है अत. वे ध्यान साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नही है।[१] इस सबध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नही होता, इसलिए वह अपने चचल मन को वश में नही रख पाता। फलत· वह ध्यान का अधिकारी नही हो सकता। ज्ञानार्णव कार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैंकड़ों झझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नही कर सकता है। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े-बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं तो फिर स्त्री-पुत्र आदि के बीच रहनेवाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल हैं क्यों नही भ्रष्ट किया जा सकता हैं।[२] इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहां तक कहता है कि कदाचित आकाश कुसुम और गधे के सीग (शृग) सभव भी हों, लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान सभव नही होता।[३] इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्या दृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वालों में भी ध्यान की सभावना को स्वीकार नही करता है।[४]

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ जीवन में ध्यान सभव ही नही है।

---

१) ज्ञानार्णव ४।१०-१५

२) वही - ४।१६

३) वही - ४।१७

४) वही ४।१८-१९

यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्र ध्यान से अधिकाश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अत गृहस्थ में भी धर्म ध्यान की सभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के प्रपचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहनेवाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नही कहा जा सकता। अनेक सम्यक्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। स्वय ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है वह साधु भी ध्यान के योग्य नही है।[१] अत व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नही आती है। प्रश्न यह नही कि ध्यान गृहस्थ को सभव होगा या साधु को? वस्तुत निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दभी और साकाक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नही करती। उसकी सभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे कोई अन्तर नही पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकाक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकाक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अत ध्यान का सबंध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुन जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उनके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का आरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्म ध्यान का अपितु शुक्ल ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार –

सामान्यतया जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अत जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और

---

१) ज्ञानार्णव – ४।३३

अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को ग्रहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।[१] ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अर्थात ससार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात मोक्ष का हेतु कहा गया है।[२] इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्र ध्यान राग-द्वेष जनित होने से बन्धन के कारण हैं। इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमश तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का सम्बन्ध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्र ध्यान को बन्धन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नही किया गया। अत दिगम्बर परम्परा की धवला टीका[३] में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र[४] में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए-धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद-प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमश विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा-स्थानाग, समवायाग, भगवतीसूत्र में तथा झाणज्झयण (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमश उनके चार-चार विभाग किये गए हैं किन्तु उनमें कही भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार की चर्चा नही है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसग्रह में मिलता है।[५] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के सन्दर्भ में धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नही किया है।[६] इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ ओर रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नही दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्य सग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पच परमेष्टी के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।[५] इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मन्त्र वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में स्वआत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना स्वरूप या विद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है

---

१) तत्त्वार्थसूत्र ९।२९
२) वही ९।३०, ध्यान शतक ५
३) धवला पुस्तक १३ पृ ७०
४) योगशास्त्र ४।११५
५) योगसार, ९८
६) ज्ञानसार १८-२८
५) द्रव्यसग्रह (नेमीचन्द्र) ४८-५४ टीका ब्रह्मदेव गाथा ४८ की टीका

तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[1] अमितगति[2] ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। यहां पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र[3] ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुन पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पाच धारणाए कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कही उल्लेख नही मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठी ७ वी शती तक इनका अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन परम्परा में हुई है, वह क्रमश विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानाग में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :-

१) आर्तध्यान- आर्तध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानाग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।[4] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है। दु ख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्त ध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुन प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नही है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार यह आर्तध्यान, अविरत, देशविरत और प्रमत्त सयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्या दृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्या दृष्टि, अविरत सम्यक्दृष्टि तथा देशविरत सम्यक्दृष्टि में आर्तध्यान के उपरोक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं, किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकाक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही विकल्प होते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है।[5]

१) क्रन्दनता - उच्च स्वर से रोना।
२) शोचनता - दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

---

१) पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थ - वही गाथा ४८ की टीका -
२) श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
३) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) सर्ग ३२-४०
४) स्थानागसूत्र ४।६०-७२
५) स्थानागसूत्र ४।६२

३) तेपनता - आसू बहाना।

४) परिदेवनता - करुणा-जनक विलाप करना।

रौद्र ध्यान -

रौद्रध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्रध्यान के भी चार भेद किये गये हैं[१]

१) हिंसानुबधी - निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।

२) मृषानुबधी - असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

३) स्तेनानुबन्धी - निरन्तर चोरी करने कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

४) सरक्षणानुबन्धी - परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

कुछ आचार्यों ने विषयसरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का सकल्प किया है, जब कि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के सरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसरक्षण कहा है। स्थानाग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।[२]

१) उत्सन्नदोष - हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

२) बहुदोष - हिंसादि सभी पापों के करने में सलग्न रहना।

३) अज्ञानदोष - कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।

४) आमरणान्त दोष - मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

धर्मध्यान -

जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।[३]

१) आज्ञाविचय - वीतराग सर्वज्ञ - प्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय - दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

---

१) स्थानांग सूत्र ४।६३

२) वही ४।६४

३) वही ४।६५

३) विपाक विचय - पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदु:खात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना। दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यान के निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है -

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दु खद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अत यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्मध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दु खद परिणाम का चिन्तन करना एव प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

४) सस्थान विचय - लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थान विचय धर्मध्यान कहा जाता है। किन्तु लोक एव सस्थान का अर्थ आगमों में शरीर भी है। अत शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में सस्थान विचय धर्मध्यान शरीर-विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्मध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं।[१]

१) आज्ञारुचि - जिन आज्ञा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) निसर्गरुचि - धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप रुचि होना।

३) सूत्ररुचि - आगम शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में रुचि होना।

४) अवगाढ़रुचि - आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का रुचि गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थानांग में धर्मध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए, उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं[२] - १) वाचना-अर्थात आगमसाहित्य का अध्ययन करना, २) प्रतिपृच्छना-अध्ययन करते समय उत्पन्न शका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३) परिवर्तना - अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४) अनुप्रेक्षा - आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

---

१) स्थानाग ४।६६

२) वही ४।६७

स्थानागसूत्र के अनुसार धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कही गई हैं[1]- १) एकस्थानुप्रेक्षा, २) अनित्यानुप्रेक्षा, ३) अशरणानुप्रेक्षा और ४) ससारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन परपरा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत है। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाती के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र[2] के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यक्ज्ञान (ज्ञान), २ दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३ सम्यक् आचरण (चारित्र) और ४ वैराग्यभाव। हेमचन्द्र[3]ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्मध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २ अनासक्ति, ३ आत्मसयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोडा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर पाठ के अनुसार धर्मध्यान अप्रमत्तसयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें, ग्यारहवें और बारहवें में ही धर्मध्यान सभव है। यदि इसे निरतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त सयत से लेकर क्षीणकषाय तक अर्थात सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की सभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर मान्य मूलपाठ में धर्मध्यान के अधिकारी भी विवेचना करनेवाला सूत्र है ही नही। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में पूज्यपाद अक्लक और विद्यानन्दि सभी ने धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मतव्य श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की सभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्मध्यान संभव नही है।

इस प्रकार धर्मध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यें में मतभेद रहे हैं।

शुक्ल ध्यान -

यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है[4]- १ पृथक्त्व-वितर्क-सविचार-इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क

---

१) स्थानाग ४।६८ २)ध्यान शतक ६३ ३) योगशास्त्र ७।२-६
४) स्थानाग ४।६९

अविचारी-योग संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति-जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नही रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमश. आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानागसूत्र में शुक्लध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं:-

१) अव्यथ-परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नही होना।

२) असम्मोह - किसी भी प्रकार से मोहित नही होना।

३) विवेक - स्व और पर अथवा आत्म और अनात्म के भेद को समझना। भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) व्युत्सर्ग - शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग। दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्लध्यान सभव होगा या नही।

स्थानाग में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं- १ क्षान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निर्लोभता, ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुत शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्यागरूप ही हैं। क्षान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है तो मार्दव मनन कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएं सामान्यरूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित रूप में भिन्न ही प्रतीत होती है। स्थानांग में शुक्लध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाए उल्लेखित हैं:-

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा - संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा - वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

---

१) स्थानाग ४।७० २) वही ४।७१ ३) वही ४।७२

३) अशुभानुप्रेक्षा - संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा - राग द्वेष से होनेवाले दोषों का विचार करना।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्क - सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२) वितर्क विचार - रहित - समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३) प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४) सुख-दु ख एव सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदु खात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्ल ध्यान बौद्ध परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं - १ सवितर्का, २ निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नही है किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानों में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो केवली (सयोगी केवली और अयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चोदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान सम्भव है। पूर्व के दो शुक्लध्यान सम्भव आठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों के होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली के।[१]

जैनधर्म में ध्यान साधना का इतिहास-

जैन धर्म में ध्यान साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आचाराग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान साधना में ही लीन रहते थे।[२] आचाराग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।३९-४०, २) आचाराग १।९।१।६, १।९।२।४, १।९।२।१२

चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था। अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि पर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आखें लाल हो जाती थी। और बाहर की ओर निकल आती थी जिन्हें देखकर दूसरे लोग भयभीत भी होते थे।[1] आचाराग के ये उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर ने ध्यान साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य प्रशिष्यों में भी यह ध्यान साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करें।[2] महावीर कालीन साधकों को ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात का सूचक है कि उस युग में ध्यान साधना मुनि जीवन का एक आवश्क अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।[3] इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में है[4] यद्यपि आगमों में ध्यान सबधी निर्देश तो हैं किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नही।

महावीर के युग में श्रमण परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे जिनकी अपनी अपनी ध्यान साधना की विशिष्ट पद्धतियां थी। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्त का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचाराग में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी[5] और पासग[6] जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी ज्ञात-दृष्टा भाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान साधना की पद्धती रही होगी। यद्यपि विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा तो नहीं कर सकते, परतु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान साधना की जैन परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान साधना की एकाधिक पद्धतिया भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों के रचनाकाल तक वे विलुप्त होने लगी थी। जिस रामपुत्त का निर्देश भगवान बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है उनका उल्लेख जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिक दशा, ऋषिभाषित आदि में होना[7] इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रंथ परम्परा रामपुत्त की ध्यान साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रंथ परम्परा की आचारांग की ध्यान

---

१) आचारांग १।९।१।५, २) उत्तराध्ययन २६।१८,
३) आवश्यक चूर्णि भाग [illegible] पृ १८७, ४) वही, भाग १ पृ ४१०
५) आचारांग १।२।५।१२५ (आचार्य तुलसी), ६) वही १।२।३।७३, १।२।६।१८५
७) देखें - Prakrut Proper Names Vol II Page [illegible]

साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवत: दोनों का मूल स्रोत रामपुत्त की ध्यान-पद्धति रही होगी। इस सबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट्आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान साधना पूर्वक ही होता है, इसमें कोई सदेह नही है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमान काल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में तत्सबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पचपरमेष्टी अथवा तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। मात्र हुआ यह है कि ध्यान की इस समग्र क्रिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गई है और ये सब ध्यान सबधी प्रक्रियाए रूढि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं में चेतना को सतत रूप से जाग्रत या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चरित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्ययुग में जब भारत में तत्र और हठयोग सबधी साधनाएं प्रमुख बनी तो ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को दृष्टा भाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताए शान्त हो जाती थी। दूसरे शब्दों में वह चैत्तसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज में तत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैसे-वैसे जैन साधना पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान पद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिव, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाए सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ।

यदि हम जैन परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एव योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारभ हो गया था। हरिभद्र ने उनकी ध्यान विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। मध्ययुग की जैन ध्यान साधना विधि उस युग की योग-साधना विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी। मध्ययुग में ध्यान साधना का प्रयोजन भी बदला। जहा प्राचीन काल में ध्यान साधना का प्रयोजन मात्र आत्म-विशुद्धि या चैत्तसिक समत्व था, वहां मध्य युग में उसके ~

और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान साधना से विधि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान साधना सभव ही नही है। ध्यान साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही सभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान सभव नही है। मध्ययुग में ध्यान प्रक्रिया में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों और तत्त्वार्थ के उल्लेखों की तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराए साथ-साथ चली। कुछ आचार्यों ने कहा कि पचमकाल में चाहे शुक्लध्यान की साधना संभव न हो, किन्तु धर्म-ध्यान की साधना तो सभव है। मात्र यह ही नही मध्ययुग में धर्म ध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाए सम्मिलित हो गयी। इस युग में ध्यान सबधी स्वतत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। झाणज्झयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग हठयोग और ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता है। इस काल में जैन ध्यान पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान साधना की पद्धति में पुन एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका के द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना पद्धति को बर्मा से लेकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान् बुद्ध की ध्यान साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से वर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुन· भारत में अपने जीवंत रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवत परम्परा के आधार पर भगवान् महावीर की ध्यान साधना की पद्धति क्या रही होगी इसका आभास हुआ। जैन समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन मुनि एवं साध्वियां उनकी विपश्यना साधना-पद्धति से जुडे। सयोग से मुनि श्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना साधना से जुड़े और उन्होंने विपश्यना ध्यान पद्धति और हठयोग की प्राचीन ध्यान पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एव शरीर-विज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैन धारा को पुनर्जीवित

किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया जैन ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिन्ह नही लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना ध्यान की साधना पद्धति के योगदान को विस्मृत नही किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। इसके गोयनकाजी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नही कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में युवाचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नही भुलाया जा सकता है। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। इस आलेख में विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना समव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन में जीने के लिए आज विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम युवाचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी है कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है, अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबधि लगभग ४८ लघुपुस्तिकाए लिखकर जैन ध्यान साहित्य को महत्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान विधि को प्रस्तुत किया है। इस संबध में एक-दो प्रारभिक पुस्तिकाएं भी निकली हैं, किन्तु प्रेक्षाध्यान विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण ही। क्रोध समीक्षण आदि एक-दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहा एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षण बढ़ता है, वही दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा भी पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष

आकर्षण देखा जाता है। क्योंकि वे भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैत्तसिक शान्ति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इन साधना पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एव अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग साधना का पश्चिम में पहुचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एव प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नही है। आज पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एव योग साधना के प्रति लोकप्रियता बढी, वही रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्रभुनिजी, आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि ने जैन ध्यान और साधनाविधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापथ की कुछ जैन समणियों ने भी विदेशों में जाकर प्रेक्षाध्यान विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहा तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न है। क्योंकि सभी के अपने अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अत आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तत्रसाधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जावेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी शोध कार्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान सबधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहां भारतीय योग साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैनयोग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग सबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुन. हरिभद्र के योग सबधी ग्रंथों का स्वतत्र रूप से तथा चतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अगला चरण है। प. सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र', अर्हतदास बडबोध

दिगे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान से प्रकाशित 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला साड का भारतीय योग आदि गवेषणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन योग', टाटिया की 'स्टडीज इन जैन फिलासफी', पद्मनाभ जैनी का 'जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन' आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतिया हैं। जैन ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि कृतियां इस दृष्टि से अत्यत ही महत्वपूर्ण है। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग आदि की पद्धतियों का एक सुव्यवस्थित समन्वय हुआ है। उन्होंने हठयोग की षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतिया जैन योग और ध्यान साधना के लिए मील के पत्थर के समान है।

प्रस्तुत कृति

इस प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और योग के अध्ययन एव तत्संबधी ग्रंथों के प्रकाशन का जो क्रम चल रहा है उसी श्रृखला की एक कड़ी साध्वीश्री प्रियदर्शनाजी का यह ग्रथ - ''जैन साधना पद्धति में ध्यान योग'' है। साध्वीश्रीजी ने इस ग्रथ में अत्यत परिश्रम पूर्वक न केवल जैन ध्यानयोग की परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया है अपितु एक दृष्टि से सपूर्ण जैन धर्म और साधना पद्धति को ही प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि यह ग्रथ आकार में बहुत बड़ा हो गया है। उनके इस अध्ययन की व्यापकता और सर्वांगीणता सराहनीय है, फिर भी इसके बृहद् आकार में आनुषगिक विषयों के विस्तृत विवरण के कारण कही-कही प्रतिपाद्य विषय गौण होता सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत कृति [illegible] अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में योग एवं ध्यान की वैदिक, बौद्ध और जैन साधना पद्धतियों के विवरण के साथ ही साथ भारतीयेतर धर्मों की ध्यान एवं योग की साधना पद्धतियों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय ध्यान-साधना सबधी जैन साहित्य का विवरण प्रस्तुत करता है, उसमें पूर्व साहित्य तथा अग और अंगबाह्य साहित्य के विवरण के साथ-साथ आगमिक व्याख्या साहित्य के रूप में निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम, भगवती आराधना आदि तथा कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार, पंचस्तिकाय एव प्रवचनसार की भी चर्चा की गयी है। साथ ही तत्त्वार्थ की टीकाओं यथा - तत्त्वार्थ भाष्य, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि को इसमें समाहित किया गया है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों, आगमिक-

व्याख्या-साहित्य, तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओं में ध्यान सबधी विवरण अल्प ही है। यदि साध्वी श्री तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयास करती कि ध्यान के विभिन्न पक्षों को लेकर इनमें किस-किस प्रकार से परिवर्तन और विकास हुआ है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव कैसे आया है, तो इस कृति का महत्त्व अधिक बढ़ जाता। साध्वीश्री ने उमास्वाति के प्रशमरति प्रकरण, जिनभद्र के झाणज्झयण (ध्यानशतक), अज्ञातकृत ध्यानविचार, पूज्यपाद के समाधिशतक, योगीन्दु के परमार्थप्रकाश और योगसार, हरिभद्र के योगबिन्दु, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका एवं षोडषक, शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र के योगशास्त्र, मुनि सुन्दरसूरि के अध्यात्मकल्पद्रुम, यशोविजय के अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद एवं ज्ञानसार, देवचन्द्र की ध्यानदीपिका, न्यायविजय के अध्यात्म-तत्त्वालोक आदि ध्यान तथा योग सबधी स्वतत्र ग्रथों का भी निर्देश किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने योग और ध्यान सबधित विस्तृत साहित्य का परिशीलन किया है। निश्चय ही यह साहित्य जैन साधना की अमूल्य निधि है।

तृतीय अध्याय 'जैन साधना और उसमें ध्यान का स्थान' से सबधित है। इस संपूर्ण अध्याय में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आधार बनाकर सपूर्ण जैनाचार को सक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें तप के भेद-प्रभेदों की चर्चा के प्रसग में ध्यान का उल्लेख हुआ है। इस अध्याय की विशेषता यह है कि इसमें समाधि मरण के साथ-साथ प्रतिमावहन और विभिन्न प्रतिमाओं की भी विस्तृत चर्चा की गई है। प्रतिमा-वहन जैन साधना और ध्यान-पद्धति का एक समन्वित रूप है। जैन परम्परा में साधना की दृष्टि से अनेक प्रतिमाओं (तप एव ध्यान की विशिष्ट विधियों) का विवरण उपलब्ध होता है। इस अध्याय के अन्त में जैन धर्म में ध्यान साधना का क्या महत्व है? इसकी भी चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय विशेष रूप से जैन धर्म में ध्यान के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। शताधिक पृष्ठों के इस अध्याय में ध्यान के विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन हुआ है। ग्रंथ का पचम अध्याय ध्यान के प्रकारों से संबधित है। इसमें आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप लक्षण और भेद आदि की शताधिक पृष्ठों में चर्चा की गई है। षष्टम अध्याय में मुख्य रूप से ध्यान की उपलब्धियों की चर्चा की गई है। ध्यान के शारीरिक मानसिक लाभों की चर्चा के साथ-साथ इसमें परम्परागत दृष्टि से ध्यान-साधना से उपलब्ध लब्धियों (सिद्धियों) का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि यहा वैज्ञानिक दृष्टि से इनकी समीक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती है। परिशिष्ट में तप साधना संबधी विभिन्न चित्र और पारिभाषिक शब्दों को दिये जाने के कारण ग्रंथ की

उपयोगिता में अभिवृद्धि हुई है। साध्वीजी का यह प्रयास सराहनीय है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी वे इस दिशा में अपना अवदान प्रस्तुत करेंगी। अंत में मैं साध्वीश्री के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ कि इस भूमिका लिखने के बहाने मुझे जैन ध्यान पद्धति सबंधी साहित्य के आलोडन का एक अवसर दिया। साथ ही भूमिका लिखने में हुए विलम्ब के लिए क्षमाप्रार्थी भी हूँ।

दीपावली
वीर परिनिर्वाण
५-११-९१

सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान,
आई टी. आई. रोड, वाराणसी-५

अध्याय १

ध्यान परंपरा में साधना का स्वरूप

प्राचीनकाल से ही भारत धर्म प्रधान देश रहा है। यहाँ जीवन के उद्देश्य के रूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की संकल्पना की गई है। इन पुरुषार्थों में भी धर्म को ही प्रथम स्थान पर रखा गया है। शेष तीनों के मूल में धर्म की ही स्थापना है।

'धर्म' शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में 'धारयति इति धर्म ' बताया गया है। अर्थात जो धारण करे वह धर्म है। एक दूसरे स्थान पर भी यह कहा गया है कि "जो दुर्गति में पड़े हुए आत्मा को धारण करके रखता है, या जो धारण किया जा सकता है वह धर्म है।" विभिन्न धार्मिक शास्त्रों में, धर्म शब्द की विभिन्न अर्थों में व्याख्या की है। इसीलिए सामान्य भाषा में धर्म शब्द गुण, स्वभाव, कर्तव्य, आस्था, विश्वास, जप, तप, दान, यज्ञ आदि अनेकानेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। भारत में धर्म का सबध जीवन के प्रत्येक आचार-विचार से जुड़ा हुआ है।

भारतीय चिंतन धारा में धर्माचार का आधार 'दर्शन' है। दर्शन की व्याख्या भी अनेकानेक विधियों से की गई है। 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति दृश् धातु से की गई है। हमारे यहाँ धार्मिक जीवन के मार्गदर्शन के लिए दार्शनिक विवेचन हुआ है। धर्म के क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् आदि से सबधित जिज्ञासाओं के समाधान के रूप में किये गए चित्तन को दर्शन कहा जा सकता है। इसलिए भारतीय चिंतनधारा में धर्म तथा दर्शन इतने सयुक्त हैं, कि उन्हें नितात रूप से अलग-अलग करके नही देखा जा सकता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शन के लिए, अंग्रेजी का 'फिलासफी' शब्द ठीक-ठीक पर्याय नही कहा जा सकता। पाश्चात्य विचारधारा में फिलासफी (दर्शन) का स्वरूप भारतीय दर्शन से नितात भिन्न माना जाता है।

भारतीय दर्शनों में प्रमुख रूप से वैदिक (न्याय, योग, वैशेषिक, साख्य, मीमांसा, वेदात आदि आस्तिक दर्शन) और अवैदिक (चार्वाक,जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन)* समाहित किये जाते हैं। पुनर्जन्म की सकल्पना की दृष्टि से इन दर्शनों को दो भागों में

---

* चिंतन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जैन बौद्ध आदि दर्शनों को कैसे नास्तिक मानें?

विभाजित किया गया है- एक आत्मवादी दर्शन है जिनमें वैदिक दर्शनों तथा जैन और बौद्ध दर्शनों का समावेशन है। दूसरे अनात्मवादी दर्शन हैं- जिनके अतर्गत चार्वाक दर्शन है।

सामान्यत आत्मवादी दर्शन जीवात्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। पुनर्जन्म के आधार रूप में 'कर्मफल' की सकल्पनाएँ मानी गई हैं। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार कर्म के अनेक सूक्ष्म-स्थूल-शुभाशुभ आदि भेद-प्रभेद किए गए हैं, जिनके अनुसार कर्मफल की असख्य कोटियाँ कल्पित की गई हैं। कर्मफल के परिणामस्वरूप ही जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता है और नाना प्रकार के शरीर धारण कर, सुख-दु खात्मक फलों का भोग करता है। किन्तु सामान्यत यह माना जाता है कि जन्म-मरण के परिभ्रमण में जीवात्मा आधि, व्याधि, उपाधि आदि नाना प्रकार के दु.ख उठाता है। इन दु खों से मुक्ति पाने के लिए ही नाना प्रकार की धार्मिक साधना पद्धतियों का आविष्कार किया गया है। यहाँ हम प्रमुख भारतीय साधना पद्धतियों का एक समुचित आकलन करके यह देखना चाहते हैं।

साधना 'सिद्ध' धातु अर्थात् शोधन या जीतना अर्थ में प्रयुक्त हुई है, और उसमें 'णिच्' और 'युज्'[१] से सस्कारित होकर साधना शब्द विकसित हुआ है। इसमें सिद्धि, आराधना, उपासना और तुष्टिकरण का भाव होता है।[२] मानव कर्म क्षय और पुरुषार्थ के लिए साधना मार्ग का अवलम्बन करता है। साधना प्रक्रिया में दृष्टि अन्तर्मुखी बनती है। यह अतर्मुखी दृष्टि ही ध्यान अर्थात् मानसिक एकाग्रता की ओर सप्रेषित करती है।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में जिज्ञासा वृत्ति का बोध होता है। इसके फलस्वरूप मानव के मन में आत्म तत्त्व और परमात्म तत्त्व को जानने की जिज्ञासा खड़ी हुई।[३] ऋग्वेद और यजुर्वेद में अनेक तत्त्वों की उपासना का भी उल्लेख मिलता है।[४] भगवत् गीता में इस उपासना पद्धति का स्वरूप यज्ञ के रूप में दिखता है जैसा कि हमने ऊपर निर्देश किया है। सभी वैदिक साहित्य में साधना-कर्म यज्ञ के स्वरूप द्वारा समझे जाते हैं।[५]

वैदिक काल में कर्म को भी साधना का मार्ग मान लिया गया और उसे कर्मयोग के स्वरूप में साधना पद्धति का आकार मिल गया। अत प्रत्येक कर्म यज्ञ कर्म होने लगा। और इसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश कर लिया गया।[६] इसी प्रकार जीवन को एक निश्चित दिशा देने के लिए अहिंसा इत्यादि संकल्पनाएँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान पर आ गई। यजुर्वेद में अहिंसा की परिभाषा बहुत ही व्यापक स्वरूप में उपलब्ध है।[७] इसी प्रकार अथर्ववेद और ऋग्वेद में भी बड़े व्यापक स्वरूप में अहिंसा तत्त्व की मीमासा की गई है।[८] अहिंसा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य का भी महत्त्व प्राचीन आचार्यों ने बड़े स्पष्ट रूप से प्रस्थापित किया है।[९] अहिंसा ब्रह्मचर्य के साथ-साथ कर्मयोग का भी बड़ा महत्त्व रहा है और इसमें साधना का स्वरूप धारण कर लिया है।[१०] इसी प्रकार ज्ञानयोग

भी साधना मार्ग के लिए एक अत्यन्त उपयोगी और प्रभावी तत्त्व माना गया है।[११] कर्म, ज्ञान के साथ-साथ भक्तियोग भी साधना का ही एक अग है। वास्तव में कर्म, ज्ञान और भक्ति का अलग-अलग अध्ययन करना कठिन है। ये तीनों प्राय एक साथ ही रहते हैं।[१२] भागवत में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है।[१३] मानवीय जीवन की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आस्था और श्रद्धा इस वर्गीकरण में बड़े स्पष्ट रूप से अनुलक्षित होती हैं। इसी प्रकार वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित प्रणाली योग की मानी जाती है। वैदिक साहित्य के बाद दर्शन युग में पतजलि ने क्रमबद्ध योगशास्त्र का विवेचन किया। योग की सभी सकल्पनाएँ उपनिषदों में अनेक रूपों में दिखती हैं। कालान्तर में पतजलि के योग के साथ-साथ मत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि का विवेचन उपलब्ध है।[१४] योग के सर्वश्रेष्ठ विचारक पतजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग का ध्येय है। इसके लिए योगशास्त्र में क्रियायोग और अष्टागयोग का मार्ग प्रस्तुत किया है। अष्टागयोग के बहिरग और अन्तरग ऐसे दो भेद माने जाते हैं। अन्तरग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन है। योगशास्त्र क्रमिक गति से साधक का विकास करने में सहायक साधन है। और ध्यान उसमें एक महत्त्वपूर्ण अग है। बिना ध्यान के योग साधना की चरम सिद्धि सभव नही है। पतजलि के बाद योग के व्यवहार और प्रायोगिक स्वरूप के कारण योग के अनेक रूप विकसित हुए। कुछ प्रणालियों का उल्लेख हमने ऊपर किया है। प्रस्तुत अध्ययन में साधना पद्धति की दृष्टि से यह विवेचन उपयोगी है। इन अलग-अलग सम्प्रदायों के विकसित होने का कारण मानवीय स्वभाव की विभिन्नता है। और साधकों में अपनी अभिरुचि और आवश्यकतानुसार विशिष्ट प्रणाली विकसित हुई। कुछ प्रणालियों का वर्णन निम्न प्रकार से है-

(१) मंत्रयोग :- मत्र योग में शास्त्रोक्त उक्ति के अनुसार जप अनुसधान और आत्मानुसंधान से नाममत्र के जप से भगवान् के रूप का ध्यान करते हुए चित्तवृत्ति का निरोध करके मुक्ति की ओर अग्रसर होने वाले मार्ग को मत्रयोग कहते हैं।[१५] मत्रयोग का आधार साधक अपनी अभिरुचि के अनुसार अपने इष्ट देव का निरतर स्मरण करने के लिए आधार के रूप में लेता है। ससार की सभी साधना पद्धतियों में मत्रयोग का उपयोग बडे विस्तृत स्वरूप से किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधक स्वय को अपने इष्ट देव से सबधित रखने के लिए एक आलम्बन का आधार लेता है और निरतर उसका ध्यान करता रहता है। इसे ही जप योग का नाम दिया गया है। और मत्रयोग के महत्त्वपूर्ण अगों में भक्ति का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है। विचारों की पवित्रता और आत्मनिरीक्षण भी मत्रयोग का एक अपरिहार्य अग है,[१६] जप के अनेक प्रकार माने जाते हैं। सामान्यत सभी का ध्येय

मन की एकाग्रता और तल्लीनता प्रस्थापित करना है। इसकी चरम सीमा अजपा जप अथवा सोऽहं के स्वरूप में मानी जाती है।[१७]

(२) लययोग :- मत्रयोग की ही श्रेणी में योग की एक साधना पद्धति का नाम लययोग है। लययोग की सभी क्रियाएँ कुण्डलिनी योग में पायी जाती हैं। इस योग में स्थूल एव सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी उत्थान, षट्चक्र भेदन, आकाश इत्यादि व्योमपचक, बिन्दु ध्यान सिद्धि आदि का आत्मसाक्षात्कार होता है।[१८] यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि लययोग के नौ अग हैं।[१९] स्थूल क्रिया और वायु प्रधान क्रिया को सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को बिन्दु ध्यान कहते हैं। यह ध्यान लययोग का परम सहायक तत्त्व है। लययोग अनुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन मुक्त योगियों के उपदेश से प्राप्त होती है, लय क्रिया कही जाती है। पतजलि के अष्टागमार्ग को लययोग में समाविष्ट कर लिया गया है। सक्षेप में प्रकृति-पुरुष के सयोग से निर्मित ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनो एक ही हैं। पिण्डज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है। गुरुकृपा की प्रबल शक्ति द्वारा पिण्ड का ज्ञान करने के बाद कौशल्यपूर्ण क्रिया द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करने को लययोग कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस उपाय के द्वारा विषय-वासना-कामना - आसक्ति-सकल्प-विकल्प आदि की विस्मृति होती है, उस क्रिया को लययोग कहते हैं, लययोग सिद्धि के लिये खेचरी इत्यादि मुद्राओं का भी आलम्बन मान्य किया गया है। इसलिये चक्रों की जागृति के बाद जो ध्यान प्रक्रिया शुरू होती है, वह बिन्दु ध्यान के नाम से प्रचलित है और इसकी चरमसीमा समाधि महालय अथवा लयसिद्धियोग समाधि कहलाती है।[२०] लययोगसहिता में विस्तार के साथ इन सब क्रियाओं का विवेचन किया गया है।

(३) हठयोग :- मत्र और लययोग की भाँति ही हठयोग साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय माना जाता है। हठयोग का तात्त्विक विवेचन न करते हुए प्राय आसन प्राणायाम तक ही लोगों ने अपने को सीमित कर लिया है। और विपुल मात्रा में हठयोग के नाम से भ्रामक साहित्य और गुरु उपलब्ध होने लगे हैं। हठ शब्द का भी लौकिक भाषा में जिस अर्थ में प्रयोग होता है उसी स्वरूप में योग में, योग के साथ भी उसका अर्थ लोगों ने समझना शुरू कर दिया है। वास्तव में पतजलि के योगसूत्र के भाँति ही हठयोग का सुसगत और सुसगठित साहित्य उपलब्ध है। (हठयोगप्रदीपिका, घेरण्ड सहिता, शिव सहिता, सिद्ध सिद्धान्तपद्धति, भक्ति साधक)। हठ शब्द 'ह' और 'ठ'- हकार को सूर्य कहते हैं और ठकार को चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के सयोग से जो जोग, वह हठयोग कहलाता है। कारण यह है कि इडा में सचार करने वाले प्राण को चन्द्र कहते हैं

और पिंगला में बहने वाले प्राण को सूर्य कहते हैं। प्राणायाम और मुद्रादि के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान होकर सूर्य चद्र का प्रभाव शिथिल बनकर अभ्यासु के प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। इस प्रकार की सूर्य चद्र को एकत्र करने की कला को हठयोग कहते हैं। हठयोग की दूसरी मृदु, प्रक्रिया इस प्रकार है। 'हृदय में सूर्य का निवास स्थान है और नासिका के बाहर द्वादश अगुल पर चन्द्रमा का स्थान है। इनके आवागमन की प्रक्रिया को जो पुरुष योग कला के द्वारा देखता है वही यथार्थ देखता है'।[२१]

हठयोग के सप्ताग बताये गये हैं- १) षट्कर्म, २) आसन, ३) मुद्रा, ४) प्रत्याहार, ५) प्राणायाम, ६) ध्यान और ७) समाधि। योग शास्त्र में बताया गया है कि 'षट्कर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन द्वारा दृढ़ता, मुद्रा द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार द्वारा धीरता, प्राणायाम द्वारा लाघवता, ध्यान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्ति का लाभ होता है।[२२] मानसिक और आध्यात्मिक लाभ के साथ ही साथ हठयोग के सप्ताग के साधन के साथ शारीरिक स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त होता है। हठयोग के अभ्यास में क्रियात्मक स्वरूप होने के कारण शास्त्रकारों ने गुरु के सान्निध्य का महत्त्व बताया है। उसी प्रकार साधना और साधना की प्रगति को गुप्त रखने का भी निर्देश है। इसलिए प्राय साधक समाज से परे रहा करते थे। आधुनिक युग में भी इन तथ्यों का महत्त्व किसी भी मात्रा में कम नही हुआ है। हठयोग की प्रायोगिक क्रियाओं में केवल साहित्य का अवलबन घातक सिद्ध हुआ है और साधना की प्रगति का विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहकार की पुष्टि करता है। और भ्रष्ट होने का मार्ग प्रस्तर हो जाता है। आचार्यों ने बड़े ही स्पष्ट और विस्तृत रूप से सभी क्रियाओं का उल्लेख किया है। ध्यान प्रक्रिया में इन सभी क्रियाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। क्रियात्मक स्वरूप होने के कारण यह अधिक प्रचलित भी हो रहा है।

(४) राजयोग :- पतजलि के योग शास्त्र कालान्तर में मत्रयोग, लययोग, हठयोग का ही एक स्वरूप राजयोग के नाम से भी उपनिषदों में उपलब्ध होता है। योगतत्त्व उपनिषद् में मत्र, लय, हठ और राजयोग इस प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध है।[२३] स्मृति ग्रन्थों में भी सभी प्रकार के योग-विधियों में राजयोग श्रेष्ठ माना है। योगशास्त्र में राजयोग का वर्णन इस प्रकार है- सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्त करण ही है। उसके माध्यम से जिसका साधन किया जाता है उसे राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार - ये चार अन्त करण है। अन्त करण रूपी कारण और जगत् रूपी कार्य दृश्य का कार्य-कारण सबध है। दृश्य से द्रष्टा का सबध होने पर सृष्टि होती है। चित्तवृत्ति का चाचल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्वरूप का प्रकाश प्राप्त करना राजयोग है। इसमें विचारशुद्धि की प्रधानता है। विचारशुद्धि की पूर्णता ही

राजयोग का कारण है। इसकी ध्यान-प्रक्रिया को 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। इससे सिद्धि प्राप्त महात्मा का नाम 'जीवन्मुक्ति' है। महाभाव (मन्त्रयोग की समाधि) प्राप्त योगी महाबोध (हठयोग की समाधि) प्राप्त योगी और महालय (लययोग की समाधि) प्राप्त योगी तत्त्वज्ञान की सहायता से राजयोग-भूमि में अग्रसर होते हैं। यह समस्त योग साधनों में श्रेष्ठ एवं साधन की चरमसीमा होने से राजयोग है।[२४]

शास्त्रों में इसके सोलह अग प्रतिपादन किये हैं[२५] षोडश कला से परिपूर्ण राजयोग षोडश अग वाला है। सप्त ज्ञान-भूमिकाओं के अनुसार सात अग हैं। ये विचार प्रधान हैं। उनके साधन अनेक हैं। धारणा के दो अग हैं- १) प्रकृति-धारणा और २) ब्रह्म-धारणा। ध्यान के तीन अग हैं- १) विराट् ध्यान, २) ईश-ध्यान और ३) ब्रह्म-ध्यान। ब्रह्मध्यान में ही सबकी परिसमाप्ति है। समाधि के चार अग हैं- दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकार राजयोग के षोडश अग हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग इन तीनों में सिद्धि हस्तगत करने के लिए अनन्तर अथवा किसी एक में सिद्धिलाभ करने के पश्चात साधक को राजयोग का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।

प्रथमत राजयोग का साधन धारणा और ध्यानभूमि से प्रारभ होता है और राजयोग की साधनाभूमि प्रधानत समाधिभूमि है। समाधिभूमि में क्रमश वितर्क, विचार, आनन्दागत अवस्था एव अस्मितानुगत अवस्था प्राप्त होती है। विशेष लिंग, अविशेष लिंग, लिंग और अलिंग-ये चार दृश्य के भेद हैं। प्रथम के दो त्याज्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ यह भाव भी निर्विकल्प समाधि में नही रहता। द्वैत भाव अथवा विकल्पभाव का अभाव ही तुरीयावस्था है। समाधिभूमि का साधन-क्रम शास्त्र से नही हो सकता। उसके लिये तो जीवन्मुक्त गुरु ही मार्गदर्शक है।[२६]

योग की अभ्यास पद्धति शरीर और मन दोनों को प्रभावित करती है। इसलिए ये सभी प्रणालियाँ एक दूसरे के लिए पूरक सिद्ध होती हैं। चर्चात्मक भेद व्यवहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो परन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नही माना जाता है। हम यह कह सकते हैं कि ये सभी साधना-पद्धतियाँ साधकों की अभिरुचि और मनोवृत्ति का स्वरूप प्रदर्शित करती हैं। योग में कुछ अन्य पद्धतियों का भी विवेचन हमारे इस अध्ययन में पोषक सिद्ध होगा। कुछ मतभेद के साथ हम तत्रयोग का भी विश्लेषण आवश्यक समझते हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन साधना प्रणाली में योग के समान ही तत्रशास्त्र का विकास हुआ। और जिस प्रकार योग में विकृतियाँ आईं उसी प्रकार तत्रशास्त्र में भी विकृतियों ने आश्रय लिया। इस विकृति का कारण मानवीय स्वभाव की विभिन्न वृत्तियाँ और शास्त्रीय परपराओं का ऐतिहासिक क्रम का लोप होना है। उपलब्ध ग्रथों के सूत्रमय होने के कारण भाष्यकारों ने भी इनके विकार में योगदान दिया है। अब तो स्थिति

ऐसी आ चुकी है कि तत्र साधना निकृष्ट मानी जाने लगी है। वास्तव में यह सब साधनाएँ बड़ी सूक्ष्म और तत्काल प्रभाव दिखाने वाली है। अत इसकी सक्षिप्त चर्चा अपने अध्ययन की सर्वांगीण पुष्टि के हेतु हम आवश्यक समझते हैं।

तत्र शब्द को सिद्धान्त, मार्ग, शास्त्र, शासन, व्यवहार, नियम, शिवशक्ति की पूजा, आगम, कर्मकाण्ड, इत्यादि के रूप में लिया गया है। तत्र शब्द 'तन्' और 'त्रय' इन दो धातुओं के सयोग से बना है, जिसके अनुसार प्रकृति और परमात्मा को स्वाधीन करना है। परमात्म पद की प्राप्ति ही तत्र साधना है। और सभी अनुष्ठान इसमें समाविष्ट हैं।[२७] कौलमार्ग और वाममार्ग तत्रशास्त्र के दो प्रमुख भाग हैं।[२८] तात्रिक उपासना का भेद अद्वैत सिद्धि है। इसके लिये उपासना के अनेक मार्ग बताये गये हैं।[२९] साधना में मुद्रा महत्त्वपूर्ण अग है। इसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं का समावेश होता है। ये क्रियाएँ शारीरिक और मानसिक बल प्रदान करती हैं। बौद्ध मत के अनुसार वज्रयान अथवा मत्रयान प्रणाली का सदर्भ मिलता है। इसमें अनेक सम्प्रदाय हुए हैं।[३०] जैन आचार्य भी यति तात्रिक साधना का माध्यम स्वीकार करते हैं।[३१] जैन दर्शन में तो योग को ही तत्र कहा है। और तीर्थ, मार्ग प्रवचन, सूत्र, ग्रथ, पाठ आदि भी तत्र के पर्यायवाची शब्द माने गये हैं।[३२]

सक्षेप में तत्र साधना शक्ति उपासना का स्वरूप धारण करती है और विष्णु उपासना, शिवोपासना, गणपति उपासना, सूर्य उपासना और शक्ति उपासना नामक पाँच भेद हैं। शक्ति उपासना ही प्राय बौद्ध उपासना में 'दण्डनी' अथवा 'तारा' और हीनयान सम्प्रदाय में 'मणिमेखला देवी' है। इसी प्रकार जैन विचार धारा में 'पद्मावती देवी' का स्वरूप ही शक्ति देवी का स्वरूप माना जाता है।

सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि तत्र साधना भारतीय साधना प्रणाली में बहु आयामी है और इसके कारण समाज को पर्याप्त दुष्परिणाम भी भोगने पड़े हैं। परतु विविध स्वरूप और आकार में इस पद्धति का निरूपण चिन्तन और परिष्कृत साहित्य निर्माण करना बहुत आवश्यक है। प्रणालियाँ साधकों की अपरिपक्व बुद्धि के कारण विकृत हो जाती हैं और भ्रम अथवा भययुक्त वातावरण निर्मित हो जाता है।

प्राचीन भारतीय साधना प्रणालियों के साथ-साथ आधुनिक समय में भी उत्कृष्ट कोटि के साधक भारतीय वातावरण में पनप रहे हैं। अति सक्षेप में हम यह आवश्यक समझते हैं कि इन साधकों का विवेचन किया जाये। इसका हेतु यह सिद्ध करना है कि ये साधना प्रणालियाँ आधुनिक प्रगति और विज्ञानमय जीवन में भी सभव हैं और इनकी आवश्यकता भी है। वैसे तो वर्तमानकालीन युग में अनेक हिंदु साधकों ने साधना मार्ग में

कीर्तिमान स्थापित किये हैं। किन्तु यहाँ उनमें से नमूने के तौर पर रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानद, महात्मा गाधी और रवीद्रनाथ टैगोर तथा योगी अरविद के सबंध में ही सक्षिप्त टिप्पणियाँ करेंगे -

१) रामकृष्ण की साधना पद्धति :- रामकृष्ण परमहस एक बडे साधक थे। उन्होंने भक्ति के अन्तर्गत ही प्रेमयोग का समावेश किया था। भक्तियोग को ही जीवन का माध्यम बनाया। भक्ति के तीन पहलू[३३] सात्त्विक, राजसिक और तामसिक के अन्तर्गत साधक के गुणों-अवगुणों का वर्णन करते हुए बताया है कि सात्त्विक भक्ति के द्वारा ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है।

रामकृष्ण परमहस ने साधना के सात सोपानों का वर्णन किया है - १) साधु सग, २) श्रद्धा, ३) निष्ठा, ४) भक्ति, ५) भाव, ६) महाभाव और ७) प्रेम। ये सातों ही भक्ति के अग हैं। इन्हें दो विभागों में विभाजित किया गया है। १) विधि भक्ति और २) राग भक्ति, इसे परमभक्ति भी कहते हैं।

इनका दूसरा साधना मार्ग था - कर्मयोग। निष्काम भाव से साधक (गृहस्थ) द्वारा किये गये कर्म ही कर्मयोग हैं। ईश्वर को समर्पित होना ही कर्मयोग है। साधक और ईश्वर में साधन-साध्य भाव प्रस्फुटित होता है। अत· रामकृष्ण ने भक्तियोग और कर्मयोग की साधना ही जीवन में श्रेष्ठ मानी।

२) स्वामी विवेकानंद की साधना पद्धति :- स्वामी विवेकानद रामकृष्ण परमहस के शिष्य थे। गुरुमिलन से इनका अभिमान विगलित हो गया और वे बड़े योगी बन गये।

इनकी आध्यात्मिक साधना का मूलस्रोत मानव सेवा थी। ईश्वर दर्शन का परम साधन मनुष्य सेवा को ही माना था क्योंकि उन्होंने ज्ञान-योग, भक्तियोग, कर्मयोग, प्रेमयोग और वैराग्य अर्थात् राजयोग का अपूर्व समन्वय मानव सेवा द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति का अपूर्व साधन माना। ये ही इनके पच साधनासूत्र हैं, जिनका उत्तरोत्तर एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सबध है।

विवेकानद ने धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को ही योग माना है। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावों के अनुरूप योग के विभिन्न प्रकार हैं। विज्ञान और धर्म में केवल पद्धति का भेद है। अत इनके मन्तव्यानुसार योग का भावार्थ है पूर्णत्व प्राप्त करके आत्मा की मुक्ति पाना (साधना) उसका उपाय योग है।[३४]

३) महात्मा गाधी की साधना पद्धति (१८६९-१९४८) :- गाधी साधक, योगी और भक्त थे। उन्होंने परम शुभ सत्यान्वेषण में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि को ही

माना था। क्योंकि गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में अपने कार्य करने की अदम्य शक्ति का स्रोत आध्यात्मिक शक्ति को बताया है। उनकी आध्यात्मिक साधना का मूल स्रोत आत्मशुद्धि है। इसीलिये उन्होंने आध्यात्मिक साधना के मूल स्तभ सत्यादि पच महाव्रतों को रखा। इसके अतिरिक्त अन्य भी उनके साधना सूत्र हैं।

गाधीजी की साधना पद्धति के एकादश व्रत हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - १) सत्य, २) अहिंसा, ३) ब्रह्मचर्य, ४) इद्रिय निग्रह, ५) अस्तेय, ६) अपरिग्रह, ७) स्वदेशी, ८) अभयव्रत, ९) अस्पृश्यता, १०) देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा, ११) शरीर श्रम। उन्होंने सत्याग्रह के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का स्तर कई शब्दावली में समझाने का प्रयत्न किया। राजनीतिक चेतना की दृष्टि से गाधी की साधना पद्धति 'सत्याग्रह' विश्व में एक नई क्राति की जन्मदाता बनी।

गाधीजी की दृष्टि से सत्य की साधना ही ध्यान साधना है। समग्र सत्य की साधना ही मन को एकाग्र करती है। सत्यशील साधक ही प्रार्थना के माध्यम से ध्यान की अवस्था में पहुचता है। मन को एकाग्र करने की यह परम प्रक्रिया है। गाधी की दृष्टि से यही ध्यानयोग है।

४) रवीन्द्रनाथ टैगोर (ठाकुर) की साधना पद्धति :- रवीन्द्र युगचेतना के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने काव्य कला के माध्यम से अनेक नवीन दिशाओं का उद्‌घाटन किया। वे उच्चकोटि के साधक, कवि और योगी थे। इसीलिए तो उन्हें आधुनिक भारतीय साहित्य-बोध के जनक और नवीनयुग के आदि कवि माना है। क्योंकि उनकी साधना पद्धति का माध्यम कविता और कला थी। काव्य कला को ही वे ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। गीताजलि में विभिन्न साधना पद्धतियों का दिग्दर्शन किया है। और काव्य सौष्ठव से ध्यानयोग की पद्धति स्पष्ट की है। उनका कथन है, कि वैराग्य ही मेरी मुक्ति का साधन नही है, बल्कि अनुराग के पाश से ही मुझे मुक्ति के आनंद का अनुभव होता है। प्रेम ही भक्तियोग का अग है। भगवान के निकट पहुचने में अनुराग ही परम साधन है।[३५] आत्मा अनन्त में विचरण करती है। उसका साक्षात्कार करना ही परम मुक्ति पाना है।

अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्ति करना अर्थात् अपूर्णता से उन्मुख बनकर पूर्णता के सन्मुख होना ही जीवन का सही आनद है। यह कविता के माध्यम से मिल सकता है। कविता की तान में तल्लीन होना ही ध्यानयोग है। इसी प्रक्रिया से ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। अत रवीन्द्र की मुख्य साधना पद्धति काव्य कला का आनद है।

५) **अरविन्द की साधना पद्धति :-** अरविन्द आधुनिक युग के महायोगी हैं, जिनकी साधना भूमि पाडुचेरी रही है। इग्लैंड से लौटने के बाद १६ वर्ष तक यानी १८९३ से १९०९ तक का समय, गायकवाड नरेश के साथ बडौदा में अग्रेजी प्रोफेसर के रूप में व्यतीत किया। यही १६ वर्ष का काल उनकी सुप्त चेतना के बहुपक्षीय विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा। क्रातिकारी और आध्यात्मिक, दोनों ही जीवन का विकास यही से हुआ। १९०९ के सूरत अधिवेशन में 'नेशलिस्ट दल' के रूप में कॉंग्रेस से इनका दल पृथक् हो गया। स्वदेशी आदोलन में सहयोग देने के कारण वे १९०९ में गिरफ्तार कर दिये गये। कारावास में ही उनके आध्यात्मिक जीवन का प्रारभ हुआ। तब से पाडुचेरी के एकान्तवास में निरतर योग साधना में लीन रहे।

आत्मा के साथ एकाकार होने की क्रिया को ही उन्होंने योग कहा था। क्योंकि उनके मन्तव्यानुसार योग विज्ञान और कला दोनों ही है। विज्ञान के द्वारा चिंतन, मनन व अनुभूति तथा एषणा के मानवीय उपकरणों की प्रकृति और चेतना के अन्य क्रियाकलापों की खोजबीन की जाती है और कला मस्तिष्क को पूर्णरूपेण नियत्रित करने के व्यवहारिक तरीकों का, उसे 'अह' और 'स्व' से निरासक्त कर, सच्चिदानद से सम्मिलन कराता है।

दिव्य अति मानव योग (पूर्ण योग) :- अरविन्द के पूर्वयोग की पीठिका अलीपुर कारागार, गीतोक्त योग साधना, वासुदेव दर्शन, विवेकानदवाणी का श्रवण, चन्द्रनगर में वेदोक्त देवियों का दर्शन है। उनकी दृष्टि से सपूर्ण जीवन ही योग है। क्योंकि जीवन के तीन स्तर हैं - अधिमानस, मानस और अतिमानस। अति प्राज्ञ समन्वय को अरविन्द 'तेजोमय समन्वय' की सज्ञा देते हैं। उनका मन्तव्य रहा है कि अतिप्राज्ञ की दिशा में बढते हुए चरण से सपूर्ण सत्य का अन्वेषन होगा ही। अधिमानस, मनस् और अतिमानस के बीच की कड़ी है। एक से अनेक की ओर, अनेक से एक की ओर गमन करने की यह सीढी है। क्योंकि मानव का स्वभाव है स्वय अपने को अतिक्रम कर जाना। आत्मा का शुद्ध स्वरूप पाना। वह शुद्ध स्वरूप आत्मा, मन, प्राण और जडतत्त्व के परदे के पीछे है। वह आध्यात्मिक दिव्य, अतिमानव, वास्तविक पुरुष बनता है। जो मनोमय पुरुष से ऊपर है। अति मानव बनने का अर्थ है अपने मन, प्राण और शरीर का स्वामी बनना। अत स्वय 'तुम' बन जाने का अर्थ है दिव्य अति मानव बनना।

आत्मा में अमरत्व प्राप्त करना ही अतिमानव बनना है। इस योग का यही उद्देश्य रहा है कि उस सर्वोच्च सत्य चेतना में रूपांतरित होना अतिमानस चेतना नही, बल्कि उच्चतर चेतना है। उसमें प्रवेश किये बिना वास्तविक आनद लोक में आरोहन करना असभव है, क्योंकि *अतिमानसिक रूपातर सिद्धि की अतिम अवस्था है।*[३६]

अति मानस के तीन स्तर हैं जो सबुद्ध मन की तीन क्रियाओ के अनुरूप हैं :-

१) व्याख्यामूलक अतिमानस, २) सादृश्यमूलक अतिमानस और ३) प्रभुत्व-मूलक अतिमानस।

अरविन्द के योग का रहस्य रहा है कि जीवन के अन्दर दिव्य शक्ति की ज्योति, शक्ति, आनद और सक्रिय निश्चलता को उतारकर मानव जीवन को सर्वांशत. रूपान्तरित कर उसमें अतिमानसिक ज्योति की प्रतिष्ठा करना है। इसे ही उन्होंने अध्यात्मयोग अथवा पूर्णयोग कहा है। सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष अर्पित करना ही पूर्णयोग है। इस योग में अशुभ को कोई स्थान नही है।[३७]

ध्यान साधना :- प्रार्थना, आकांक्षा, भक्ति, प्रेम और समर्पण आदि साधना के प्रथम चरण हैं और ध्यान प्रक्रिया से मस्तिष्क में एकाग्रता पाना ही केन्द्र का पूर्ण खुलना है जो इसे दिव्य से सीधा जोड़ता है। हमारे भीतर दिव्यत्व से चेतना को जन्म दिया जाता है। इसे नवजन्म अथवा आध्यात्मिक जन्म कहा जा सकता है। जितना अधिक समर्पण उतनी ही अधिक पूर्ण साधना। यही ध्यान साधना का मौलिक विचार तत्त्व है।

बौद्ध साधना पद्धति :- बोधिसत्व की प्राप्ति के बाद गौतम बुद्ध ने चार आर्य-सत्य प्रस्थापित किये। ये चार आर्य-सत्य दु ख, दु ख समुदाय, दु ख निरोध, दु ख निरोधगामिनी प्रतिपदा के स्वरूप में शास्त्रों में उपलब्ध हैं। इस मार्ग का अवलबन करने से दुखों से छुटकारा मिल सकता है। बुद्ध धर्म की लोकप्रियता के साथ-साथ उसमें अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ विकसित हुईं। प्रमुख शाखाएँ विज्ञानवाद अथवा योगाचार माध्यमिक अथवा शून्यवाद, वैभाषिक और सौत्रातिक के नाम से जानी जाती हैं। इनकी साधना पद्धतियाँ अष्टागिक नाम से जानी जाती हैं। बौद्ध शास्त्रों ने साधकों के विषय में भी बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है, और सासारिक दु.खों से छूटने का अष्टागयोग ही एकमेव मार्ग बताया है।[३८] अष्टाग मार्ग में सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।[३९] इस मार्ग को गौतम बुद्ध के शब्दों में धर्मयान के नाम से भी माना जाता है।[४०] इसका आधार शील, समाधि और प्रज्ञा है।[४१] अहिंसा, विवेक, तितिक्षा आदि का भी विवेचन किया गया है। अष्टाग साधना मार्ग का मूल सम्यग्दर्शन माना जाता है। इस प्रकार चार आर्य-सत्य और अष्टाग मार्ग की सम्यग्दृष्टि साधना मार्ग का मूल मानी जाती है। इसी प्रकार शील अथवा सदाचार का भी बौद्ध साधना में एक विशेष स्थान है।[४२] बौद्ध ग्रंथों में शील का बहुत ही विस्तृत विवेचन उपलब्ध है और प्राय सभी सभाव्य प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। शील के साथ-समाधि और प्रज्ञा का भी उल्लेख मिलता है जैसा

कि हमने पीछे निर्देश किया है। बौद्ध धर्म का विकास और प्रभाव भारत और भारत के बाहर बड़े विस्तृत स्वरूप में फैला। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न बौद्ध विचार शाखाओं में भी अनेक साधना पद्धतियों का विकास होना शुरू हुआ। कुछ विवेचन हमने किया है। इसके अतिरिक्त महायान साधना पद्धति में बोधिचित्त द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दस भूमियाँ और त्रिकायवाद का उल्लेख मिलता है।[४३] यह विस्तृत विश्लेषण बौद्ध साधकों की साधना के परिणामस्वरूप शास्त्रीय आकार में हमें उपलब्ध है। इसी प्रकार स्थविरवादी साधना पद्धतियाँ भी विकसित हुईं। ये पद्धतियाँ आधुनिक युग में प्रयोग में लायी जाती हैं। इसमें शपथ भावना, विपश्यना भावना और आनापानसति[४४] ये तीनों साधना-पद्धतियाँ चित्त की एकाग्रता के लिये अत्यन्त सहायक हैं। साधना मार्ग के विघ्नों का नाश करना, शुभ, अशुभ की विवेचना, अष्टाग मार्ग का आलम्बन, इत्यादि विपश्यना भावना की ओर ले जाते हैं।

विपश्यना भावना :- बौद्ध साधना पद्धति में समाधि भावना (शपथ भावना) का और विपश्यना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपश्यना आध्यात्मिक विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य अनुकूल, प्रतिकूल सवेदनाओं का निरीक्षण करना है, और परमविशुद्धि की ओर अग्रसर होना है। विपश्यना का शाब्दिक अर्थ-यथार्थ अथवा सम्यक् अथवा विशेष प्रकार से देखना है। यह देखना केवल चरमचक्षु तक मर्यादित नही है। इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है। इसके अनुसार शरीर, चित्त और कर्म ग्रंथियों का अनुभव लेना है।[४५] साधक कर्म और उनके विपाक को जानकर शुद्ध चेतना को देखने का प्रयास करता है। विपश्यना की प्रक्रिया ध्यान साधना कही जाती है। दूसरे शब्दों में विपश्यना अन्तर्प्रवेश की क्रिया है। विशुद्धिमग्ग में इसका विस्तृत विश्लेषण मिलता है।

इस प्रक्रिया के चार अंग निम्नलिखित हैं :- १) काय विपश्यना, २) वेदना विपश्यना, ३) चित्त विपश्यना और ४) धर्म विपश्यना। कायविपश्यना में शरीर के एक-एक भाग को देखा जाता है, साथ ही शरीर से जुड़े हुए रोग, जरा, मृत्यु आदि का भी दर्शन किया जाता है। वेदना विपश्यना में शरीर के ऊपरी और आंतरिक सवेदनाओं का अनुभव किया जाता है। चित्त विपश्यना से मन के भीतरी पटल खुलते हैं अर्थात् शरीर और मन की भीतरी तल पर स्थित सूक्ष्म ग्रंथियाँ खुलती हैं तथा समभाव के कारण नवीन ग्रंथियों का निर्माण भी रुक जाता है। ग्रंथियों के खुलने से शरीर और मन में विद्यमान विकार दूर होते (हो) जाते हैं। तन, मन व आत्मा स्वस्थ होने लगते हैं। धर्मानुपश्यना से सभी ग्रंथियाँ विमूल हो जाती हैं और अतीन्द्रिय अवस्था की अनुभूति होने लगती है। अत विपश्यना ध्यान पद्धति सब पद्धतियों में श्रेष्ठ मानी गई है।[४६]

आनापानसति भावना :- आनापानसति अथवा स्मृति भावना पारपारिक योग साधना पद्धति के प्राणायाम से मिलती जुलती है। स्मृतिपूर्वक श्वासप्रश्वास की प्रक्रिया पर ध्यान रखना स्मृति भावना कहलाती है।[४७] इस पद्धति का विस्तृत विश्लेषण सयुक्त-निकाय में उपलब्ध है।[४८]

ध्यान योग :- बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान और साधना का परस्पर घनिष्ट सबध है। इन दोनों को पृथक् नही किया जा सकता है। क्योंकि ध्यान का शाब्दिक अर्थ है- चिन्तन करना। परतु यहाँ पर ध्यान से तात्पर्य है कि अकुशल कर्मों का दहन करना। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान के अन्तर्गत ही समाधि, विमुक्ति, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण और लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुत ध्यान समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है। इसलिए ध्यान का क्षेत्र विस्तृत है। यदि साधना को ध्यान से अलग कर दें तो ध्यान का स्वरूप समझ ही नही पा सकेंगे। क्योंकि अकुशल धर्मों का मूल लोभ, दोष और मोह है। इन्ही का दहन साधना और ध्यान से ही किया जाता है। परतु यहाँ पर अकुशल धर्मों से पाच नीवरणों को लिया गया है।[४९]

बौद्ध साहित्य में ध्यान के दो प्रमुख भेद हैं- १) आरम्भन उपनिज्झान (आलबन पर चिंतन करने वाला) और २) लक्खण उपनिज्झान (लक्षण पर ध्यान करने वाला)। आरम्भण उपज्झान आठ प्रकार का माना जाता है। उसके दो भाग हैं- रूपावचर और अरूपावचर। इन्हें समापत्ति के नाम से भी सबोधित किया जाता है। लक्खण उपज्झान के तीन भेद माने जाते हैं।[५०]

लोकोत्तर ध्यान :- बौद्ध आचार्यों ने मानवीय मन की चचलता और बहु आयामी स्वरूप को भलीभाँति समझने का प्रयत्न किया। और भिक्षु सम्प्रदाय साधना पद्धति पर पूर्ण विश्वास करता था। साधना के प्रायोगिक अनुभवों का, कठिनाइयों का विस्तृत विश्लेषण ऊपर लिखी हुई पद्धतियों में दृष्टिगोचर होता है। हमने अति सक्षेप में इन अनुभवों का शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण किया है। वास्तव में यह विषय शास्त्रीय विवेचन का नही है। परंतु अध्ययन की तात्रिक भूमिका के स्वरूप में पठन-पाठन के महत्त्व को भी दुर्लक्षित नही किया जा सकता। अत यह विश्लेषण दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने विस्तृत साधना पद्धति विकसित की, और चचल चित्त को नियत्रण में करने के लिए कोई भी उपाय नही छोड़ा। ध्यान साधना की अनेक पद्धतियों का हमने उल्लेख किया है। उसमें लोकोत्तर ध्यान पद्धति चरम सीमा का द्योतक है।

साधक रूपावचर और अरूपावचर ध्यान के माध्यम से परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहरण किया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकितत्र,

शीलव्रत परामर्श, काम छंद, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एव अविद्या ये दस सयोजन हैं। यद्यपि इन सबका नीवरण के रूप में प्रहरण हो ही जाता है फिर भी बीजरूप में शेष रहे सभी सयोजन का लोकोत्तर ध्यान में नाश किया जाता है। जिसके फलस्वरूप साधक में क्रमश निम्न अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं- स्रोतापन्न, (स्रोतायन्ति), सकदागामी, अनागामी और अर्हन्। लोकोत्तर भूमि में चिन्ता की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में पांच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार लोकोत्तर ध्यान में चित्त के चालीस भेद किये गये हैं। सभी ध्यानों में लोकोत्तर ध्यान ही श्रेष्ठ है तथा वही परिशुद्ध ध्यान है।[५१]

ध्यान सम्प्रदाय :- बौद्ध धर्म का साधनात्मक और सैद्धातिक स्वरूप भारतीय सीमा तक ही मर्यादित नही रहा। छट्ठी शताब्दी में बोधिधर्म ने चीन में बौद्धधर्म की स्थापना की। सस्कृत ध्यान शब्द प्राकृत में झान बनता है। चीनी अनुलिपि में यह शब्द 'च. ा' बन गया। जापानी अनुलिपि में यह शब्द 'जेन' बन गया। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी अनेक आचार्यों ने इस परम्परा को विकसित किया। 'चान' और 'जेन' को ही ध्यान-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया गया है।[५२] ये दोनों ताओ मत और कन्फ्युशियल धर्म के साथ सबध रखते हैं।

जैन साधना पद्धति :- आने वाले अध्यायों में जैन साधना पद्धति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा। अत यहाँ पर उल्लेख मात्र से ही हम अपनी चर्चा समाप्त करते हैं। मुक्ति मार्ग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र का विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र में विस्तृत स्वरूप में किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साधना पद्धति का विकास चार मार्गों में उपलब्ध है -

१) भगवान महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द तक

२) आचार्य कुन्दकुन्द से आचार्य हरिभद्र तक

३) आचार्य हरिभद्र से उपाध्याय यशोविजय तक और

४) उपाध्याय यशोविजय से आधुनिक युग तक।

जैन दर्शन का हेतु मोक्ष है। सवर और निर्जरा उसके दो मार्ग हैं। उसके लिये तप की आवश्यकता है। ध्यान तप का प्रधान अग है। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।[५३]

भारतीयेतर धर्मों की कुछ साधना पद्धतियाँ :- ऊपर हमने योग की अनेक भारतीय साधना पद्धतियों का उल्लेख किया है। परतु मानवी मन की साधना पद्धतियों की ओर आकर्षण के स्वरूप विश्व के सभी भागों में अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों का

उल्लेख मिलता है। विषय और स्वय की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए यद्यपि हम सभी पद्धतियों का उल्लेख नही कर सके हैं। तथापि कुछ प्रमुख साधना पद्धतियों का निर्देश करना इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य कही भी रहे, किसी भी धर्म का पालन करे, और किसी भी काल में उसका जन्म हो, किसी न किसी स्वरूप में साधना की ओर उसका लक्ष्य खीच ही जाता है। इस प्रकार ससार में अनेक पद्धतियों के स्वरूप देखने को मिलते हैं। जैसा कि हमने पीछे निवेदन किया है कि साधना पद्धतियाँ मानवी मन को नियत्रण में रखने का उपयोगी और सफल प्रयास है। और शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी धर्म के अनेक रूप विकसित होकर भी साधना पद्धतियाँ किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं और साधना करने वाले साधक भी मौजूद हैं।

इस विवेचन में हम सक्षेप में भारतीयेतर धर्मों की साधना पद्धतियों का कुछ उल्लेख करना चाहते हैं -

ताओ धर्म की साधना :- इस सम्प्रदाय के सस्थापक लाओत्से ने 'ताओ ते किंग' नामक ग्रथ में अपने सिद्धात प्रस्थापित किये हैं। यह दर्शन ताओ और तेह इन दो शब्दों पर आधारित है। 'ताओ' का अर्थ चरम तत्त्व का मार्ग, विश्व का मार्ग और स्वदर्शन है। इसी प्रकार 'तेह' का अर्थ जीवन प्रेम, प्रकाश, सकल्प, आत्मसिद्धि और सद्‌गुण है। इसके आचरण से आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। लाओत्से ने विनयशीलता, नम्रता, मार्दव और पच ज्ञानेन्द्रिय पर सयम करने का निर्देश किया है।[५४] इस धर्म की साधना पद्धति का मूलाधार प्रेम और नम्रता ही है।

कन्फ्युशियस धर्म की साधना :- चीन में ही लाओत्से के समान कन्फ्युशियस ने भी मानवीय जीवन की वृत्तियों को नियत्रण के लिए अपने धर्म की स्थापना की। उन्होंने सद्‌गुणों को अपना आधार माना है। निंदा, दोष, बुराई का त्याग, विवेक, न्याय की स्थापना, सदाचारी जीवन और सद्‌गुणों का विकास करना साधना पद्धति का भाग बताया है। उन्होंने साधना के पाच सूत्र दिये हैं - जेन, चुन-जु, ली, ते और वेन उसके अनुसार वैचारिक स्पष्टता, कर्तव्यशीलता, दया, विवेक, नैतिकता और अपने सिद्धान्तों के लिये दृढ विश्वास। सक्षेप में सद्‌गुणों को ही उन्होंने व्यक्ति और समाज के विकास के लिये आधारभूत साधन माना है।[५५]

पारसी धर्म की साधना :- पारसी साधना पद्धति सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने का स्वरूप है। धार्मिक आचरण कर्मकाण्ड से बधा हुआ नही है। अग्नि देव की ज्योत को आधार लेकर दया, दान, न्याय, नीति इत्यादि की प्रस्थापना और मनुष्य के दस कर्तव्य बताए हैं - निंदा, क्रोध, चिन्ता, ईर्ष्या, आलस्य इत्यादि का त्याग। सक्षेप में असत् का

त्याग और सत् का आचरण ही इनका उद्देश्य है। इसी को पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कार्य भी कहते हैं।[५६]

यहुदी धर्म की साधना :- इस धर्म का मूल ग्रथ 'पुरानी वाइबिल है'। उसके तीन विभाग हैं - १) तोरा, जिसमें दस आज्ञा का प्रतिपादन किया गया है, २) नवी, जिसमें साधना, प्रेम और अहिसा का स्वरूप प्रतिपादन किया है, जो कि साधना का अग है। और ३) नविश्ते, जिसमें जीवन का आदर्श स्पष्ट किया है। अत यहुदी धर्म में बाइबिल के बाद 'तालभुद' का नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

यहुदी धर्म की साधना पद्धति प्रेमयोग पर आधारित है। मन, वचन और काय की शुद्धता पर ही प्रेमयोग की नीव खडी है। क्योंकि मनोविजेता ही प्रेमयोग की साधना द्वारा यहोवा को प्राप्त कर सकता है। सत्य, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, श्रमनिष्ठा, भूमि की सेवा, दुखियों की सेवा, अनाथ दीन दु खी की सेवा, विधवाओं की सेवा, सदाचार एव पवित्रता प्रेम की साधना से ही प्राप्त हो सकता है।[५७] मन, वचन और काय की शुद्धि ही इस धर्म की साधना पद्धति है। वह शुद्धिकरण प्रेम के माध्यम से होता है।

ईसाई धर्म की साधना :- ईसाई धर्म का उद्गम स्थान यहुदी धर्म है। ईसाइयों का धर्म ग्रथ भी बाइबिल ही है। उसके दो विभाग हैं- १) पुरातन सुसमाचार (Old Testament) और २) नूतन सुसमाचार (New Testament)। पुरातन सुसमाचार सम्पूर्ण बाइबिल का तीन चौथाई भाग है और नूतन सुसमाचार ईसाई धर्म का मूल ग्रथ है। इसमें ईसा के जीवन और उपदेशों का सकलन है।

ईसाई धर्म की साधना का मूल नैतिकता है। प्रेम की साधना से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईसाई धर्म की साधना पद्धति प्रेमयोग ही है। क्योंकि ईसा मसीह का कथन है कि बुराई का सामना बुराई से न करके प्रेम से करें। यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड मारे तो उसके सामने बाया गाल खडा कर दो, मारने वाले के सामने प्रेम बरसाओ, प्रेम से शत्रु को मित्र बनाओ।[५८]

ईसाई धर्म की साधना पद्धति निम्नलिखित है -

१) सदाचारी जीवन विताना।
२) क्षमा को जीवन का अलकार बनाना।
३) प्रेम और अहिंसा का पालन करना।
४) सेवा और त्याग ही जीवन का आदर्श वनाना।
५) ईसा का पवित्र जीवन ही उसका प्रकाश स्तम्भ है।
६) सत्यमय जीवन वनाना।

७) शत्रु-मित्र पर समभाव रखना।

८) मन, प्राण और बुद्धि से परमेश्वर पर प्रेम करना तथा पड़ोसी का सम्मान करना।

ईसाई धर्म की साधना ही जीवन विकास की साधना है।

इस्लाम धर्म की साधना पद्धति :- इसके संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब थे। इस धर्म का विकास अरब में हुआ।

इस्लाम धर्म की साधना का आधार 'कुरान' है। इसे 'कुरान शरीफ' भी कहते हैं। इस ग्रथ में बताये हुए सैद्धान्तिक और व्यवहारिक खण्डों के अनुसार पाच मौलिक साधना सूत्र हैं- १) अल्लाह में ही विश्वास करना, २) फरिश्ते (ईश्वराज्ञा पालक) में विश्वास करना, ३) कुरान में विश्वास करना, ४) देवदूतों में विश्वास करना और ५) निर्णय दिन, स्वर्ग, नरक में विश्वास करना। इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म को नही मानते परन्तु 'मुकर' और 'नकीर' नामक फरिश्ता मृतक व्यक्ति के कर्मानुसार परीक्षा करके आत्मा को 'बरजख' में रखते हैं। 'बरजख' 'मृत्यु' और 'कयामत' के बीच की अवस्था है।

साधना पद्धति के सूत्राधार निम्नलिखित हैं-५१

१) मत का उच्चारण - अल्लाह के सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नही है तथा मुहम्मद उसके देवदूत हैं।

२) नमाज पढ़ना - जिसमें 'वजू' की विधि बताई गयी है। वजू का अर्थ है शरीर शुद्धिकरण। 'शुक्रवार' को पवित्र मानते हैं। सामूहिक नमाज का विशेष महत्त्व।

३) जकात (खैरात) - यह तीसरी साधना पद्धति है जिसमें प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है कि वह अपनी आय का एक अश दान में व्यय करे।

४) रमजान के महिने में उपवास करना - रमजान के दिनों में रोजा रखना। रोजा से तात्पर्य है इन्द्रियों को वश में करना।

५) हज करना - पापों का प्रायश्चित्त, दान, दानी की सगति, मक्का यात्रा, रात्रियात्रा, यात्रा के समय गाड़ी के आगे रहना, शरीर शुद्धि आदि पद्धतियों के द्वारा अल्लाह की प्राप्ति करना।

इस्लाम धर्म की यही साधना पद्धति है। इस धर्म के चार संप्रदाय हैं। उनमें एक सूफी सप्रदाय है, जो प्रेमयोग की साधना पद्धति से अल्लाह याने परमात्मा को प्राप्त करते हैं। मुहम्मद साहब को दो प्रकार से ज्ञान मिला था- १) 'इल्मे सफीना' = किताबी ज्ञान

और २) 'इल्मे सीना' = हार्दिक ज्ञान। 'इल्मे सीना ही तसव्वूफ की अर्थात् सूफी सम्प्रदाय की बुनियाद है।[६०]

सूफियों की साधना पद्धति :- मुख्यत साधक (शिष्य) गुरु के माध्यम से निम्नलिखित चार अवस्थाओं को पार करके अल्लाह को प्राप्त करता है। इन मजिलों को पार करने के प्रयासकाल को 'सूफी' 'मार्ग' या 'साधना-पथ' कहते हैं। ये मंजिलें चार हैं।[६१]

१) शरीअत :- इसके अन्तर्गत मुरीद (साधक) मुरशिद (गुरु) के मार्गदर्शक से तिलवत (कुरान पाठ), जिक्र (स्मरण), फिक्र (चिन्तन), समा (कीर्तन), अवराद (नित्य-प्रार्थना) से परमात्मा (परमसत्ता) को प्राप्त करने के लिये बैचेन रहता है। इसमें (शरीअत) सलात (प्रार्थना), जकात (दान), सौम (उपवास) और हज्ज का समावेश होता है। हृदय शुद्धि पर विशेष जोर है।

२) तरीकत :- शरीअत अवस्था को पार करने पर तरीकत साधना पथ पर आरूढ होता है। इसमें साधक बाह्य क्रियाकलापों से ऊपर उठकर परमसत्ता का ध्यान करता है। इसमें विद्यमान साधक की अवस्था को 'मलकूत' कहते हैं। नफ्स (अह भावना) को परास्त करके हृदय में 'म्वारिफ'=परमज्ञान को प्राप्त करता है। इसमें गुरु ही मार्गदर्शक होता है। गुरु कृपा से कुछ सोपानों को क्रमश पार करके परमज्ञान का अधिकारी बनता है। सोपान का क्रम इस प्रकार है - तोबा (पश्चाताप-अनुताप), जहर (स्वेच्छा-दारिद्र्य), सब्र (सतोष), शुक्र (कृतज्ञता, धैर्य), रिआज (दमन), तव्वकुल (गुरुकृपा पर पूर्ण विश्वास), रजा (वैराग्य या तटस्थता) और मुहब्बत या इश्क।

३) मारिफत :- तीसरी साधना पद्धति का प्रारभ हृदयानुभूति से होता है। उसी को 'इश्क' 'वज्द' या 'वस्ल' कहते हैं। साधक इस अवस्था में अपने आपको भूल जाता है। यह साधना की उच्चतम अवस्था है। इसे 'जबरुक' कहते हैं।

४) हकीकत :- तीनों साधना हृदयगम होने पर हकीकत की अवस्था प्राप्त होती है। यह सूफी साधना की पराकाष्ठा है। इसमें साधक सुख-दु ख से परे एकमात्र अल्लाह में ही मस्त रहता है। उसी का ध्यान करता है।

ये चार साधना पद्धतियाँ सूफियों की मुख्य साधना पद्धति हैं। इसके अलावा और भी साधना पद्धतियाँ हैं-[६२]

तवज्जह :- इसमें गुरु शिष्य को अपने सन्मुख बिठाकर एक सास में १०१ बार अल्लाह का ध्यान कराता है।

जिक्र जेहर :- यह साधना गोपनीय है। साधक को आसन में बिठाकर (वज्रासन) 'बिसमिल्ला' या 'ला इलाहइल्लिल्लाह' को तीन बार पढ़ाता है।

जिक्रे पासे अनफास :- इस साधना पद्धति में अनफास अर्थात् भीतर के सास के साथ 'ला इलाह' और बाहरी सांस के साथ 'इल्लिल्लाह' का स्मरण करता है।

हब्जे दम :- यह साधना पद्धति सूफियों को अधिक मान्य हैं। इसमें प्राणायाम की प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया है।

शगले नसीर :- प्रात· और शाम के समय जानुओं पर बैठकर आंखों की दृष्टि नासिकाग्र भाग पर लगाते हैं। ध्यान को अधिक महत्त्व दिया है।

शगले महमूदा :- भौहों के बीच दृष्टि लगाये ध्यान करना।

यों तो सूफी मत में अनेक साधना पद्धतियाँ हैं पर पहले बताये हुए चार साधना मार्ग को ही अधिक महत्त्व देते हैं। सूफी साधना का अग्रण्य 'गुरु' है। गुरुकृपा से चार मंजिल पार की जा सकती हैं। यही मुख्य साधना पद्धतियाँ हैं।

संसार में स्थान और व्यक्तिआस्था भेद के अनुसार अनेकानेक साधना पद्धतियाँ हैं। ऊपर हमने नमूने के तौर पर ही कुछ साधनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। अगले अध्याय में हम ध्यान संबधी जैन साधना साहित्य का आकलन प्रस्तुत करेंगे।

संदर्भ सूचि

१ ण्यासश्रन्थो युच । अष्टाध्यायी, ३/३/१७

२ सस्कृत शब्दार्थ - कौस्तुभ, पृ १२४८

३ इय विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् त्सो अंगवेद यदि वा न वेद ।।

ऋग्वेद, १०/१२९/७

४ क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु - रथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ।।

ऋग्वेद, १/१६४/४६

ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्मताऽआप स प्रजापति ।।

यजुर्वेद, ३२/१

५ (क) ऋग्वेद, १०/९०/१६

(ख) वैदिक साहित्य और संस्कृति (आ बलदेव उपा) पृ ४९३

(ग) योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ।।

गीता, २/४८

(घ) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमान- सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ।।

ऋग्वेद, १/१६४/५०

६ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीना योगमिन्वति ।। ऋग्वेद, १/१३/७

७ (क) पशून् पाहि, गा मा हिंसी , अजा मा हिंसी ।
आवि (भेड) मा हिंसी , इमं मा हिंसी , द्विपादं पशुम्।
मा हिंसी एक शफ पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वभूतानि ।।

यजुर्वेद, १३/४७-४८

(ख) मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।।

यजुर्वेद, ३६/१८

८ (क) योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्त वो जम्भे दध्म ।

अथर्ववेद, ३/२७/१

(ख) संगच्छध्वं सवदध्व सं वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ।।
समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।।

ऋग्वेद, १०/१९१/२,४

(ग) सज्ञानं न स्वेभि सज्ञान मरणेभि ।
सज्ञानमश्वि ना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ।।
स जानामहै मनसा स चिकित्वा मा युत्स्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्थुर्बहुले विनिर्हते मेषु पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ।।

अथर्ववेद, ७/५२/१-२

(घ) यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य याया पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ।।

ऋग्वेद, ५/६४/३

९ (क) सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशय ।
अमात्सर्व क्षमा चैव – ही स्तितिक्षाऽनसूयता ।।
त्यागो ध्यानमथार्थत्वं धृतिश्च सतत स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदशं ।।

महाभारत, शान्तिपर्व, १६२/८-९

(ख) वर्जयेन्मधु मांस च गन्ध माल्य रसान् स्त्रिय. ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।

मनुस्मृति, २/१७८

१०. (क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ,।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यजुर्वेद ४०/२

(ख) इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यान्ति प्रमादमतन्द्रा ।। ऋग्वेद, ८/२/१८

(ग) न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।। ऋग्वेद, ४/३३/११

(घ) गीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र (बाल गंगाधर तिलक) पृ ५३

(च) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ।। गीता, २/४७

११ (क) ' ज्ञानयोग कर्मयोग इति योगो द्विधा मत ।

१० योगोपनिषद (विशिखिवाह्मणोपनिषद २ ३) पृ १२७

(ख) विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं स ह ।
अविद्याया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

१०८ उपनिषद, (ज्ञानखड) 'इशावास्योपनिषद्' पृ. १७

(ग) आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्।।

बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/५

(घ) तस्यै तपो दम कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा
सर्वांगानि सत्यमायतनम् ।

१०८ उपनिषद् (ज्ञानखंड) 'केनोपनिषद्' पृ २६

१२ (क) भजन भक्ति ।
(ख) भजन्ति अनया इति भक्ति ।
(ग) भज्यते अनया इति भक्ति ।

कल्याण-भक्ति अंक, (गोरखपूर), पृ ४१

(घ) पा सू ३/३/९४

१३ श्रवण कीर्तनं विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

श्रीमद्भागवत, ७/५/२३-२४

१४ योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक ।।

१०३ उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या-खन्ड) 'योगतत्त्वोपनिषद्' पृ ३८

१५ शास्त्रोक्ताना नाममन्त्राणा जपेन भगवद्रूपाना च ध्यानेन चित्तवृत्तिं निरुध्य मुक्तिपथाग्रेसरणप्रकारो मन्त्रयोग-। तथा च भगवतो दिव्याना नाम्ना रूपाना चावलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निरोधाय यावत्य क्रिया उपदिष्टा सन्ति, ता सर्वा एव मन्त्रयोगेऽन्तर्भवन्ति ।।

पुराणपर्यावलोचने (भा १) पृ ३२५-६

१६ (क) भावसशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते । गीता १७/१६

(ख) आत्म-परीक्षण हि नाम मनुष्यस्य प्रथम समुन्नतेर्मूलम् ।

प्रबन्ध प्रकाश, भा २, पृ ५९ (उद्धृत मन्त्रयोग) पृ ४१

१७ (क) एतत्सख्यान्वित मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिना मोक्षदा सदा ।।

१०८ उपनिषद् (सा ख) 'योग चूडामणि उप ' पृ ७०

(ख) ध्यान योग रहस्य (स्वामि शिवानन्द) पृ १२६-७

(ग) 'सोऽह मन्त्राध्याय पूर्ण' । आत्मा राम स्वयें होसी ।

आत्मप्रभा (द ल निरोखेकर) पृ १३७

(घ) सोऽहं ध्यानें विषय हनन । सोऽह ध्याने कर्म दहन ।
सोऽह खडी जन्म मरण । सोऽहं करी अजरामर ।।

आत्मप्रभा (द ल निरोखेकर) पृ १३८

१८ (क) कुण्डलिनी योग तत्त्व (दीवान गोकुलचंद कपूर) पृ २३

(ख) मूलकन्दाद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं विस्तृतायां सुषुम्णानाड्यां या षड् ग्रन्थय सन्ति, ता- षट् चक्राण्युच्यते । योगक्रियाभिर्मूलाधारे स्थितामनुबुद्धा कुण्डलिनीं समुद्बोध्य षट्चक्रद्वारा सुषुम्णापथे प्रवाहितां कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रोपरि सहस्रदले स्थिते परमशिवे लय एव लययोगस्योद्देश्यम् ।

पुराणपर्यालोचनम् भा १ पृ ३२७

१९ (क) कुण्डलिनी योग तत्त्व पृ २३

(ख) अगानि लययोगस्य नवैवेति पुराविद ।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा ।।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यान चापि लयक्रिया ।
समाधिश्च नवागानि लययोगस्य निश्चितम् ।।
स्थूल देहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमय भवेत्।।
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ।।
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ।।
प्रबुद्धय तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशय ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधक ।।
लयक्रियाया ससिद्धौ लयबोध प्रजायते ।
समाधिर्येन निरत कृतकृत्यो हि साधक ।।

योगशास्त्र, उद्धृत कल्याण – साधना अक, पृ १३३

२० (क) सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै ।
समाधिसिद्धो साहाय्य विदधाति निरन्तरम् ।।
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया ।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकै ।।
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने ।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभि ।।
षट्चक्र षोडशाधाराद्विलक्ष्य व्योमपंचकम् ।
पीठानि चोनपचाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते ।।
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत् ।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतसा योगविज्जन ।।

लययोग सहिता, उद्धृत, कल्याण साधना अंक पृ १३३

(ख) गोरक्ष सहिता (डॉ चमनलाल गौतम) २/६३-७४

(ग) सिद्ध-सिद्धांत पद्धति (गोरखनाथ) २/१०-२५

(घ) योगोपनिषद (मण्डलब्राह्मणोपनिषदि प्रथम ब्राह्मणे द्वितीय खण्ड.) पृ २७७

(ङ) सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति (गोरखनाथ) २/२६-२९
" " " " २/३०
" " " " २/३१

२१ (क) हकार कीर्तित· सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्यचद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते ।।

सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति (गोरखनाथ)

(ख) द्वादशांगुलपर्यंतं नासाग्रे सस्थितं विधुम्।
हृदये भास्करं देवं य· पश्यति स पश्यति ।।

योग वासिष्ट 'निर्वाणप्रकरण' (उद्धृत श्रीयोगस्कौतुभ पृ ६८)

२२ (क) षट्कर्मणा शोधन च आसनेन भवेत् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।
प्राणायामालाघव च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मन ।
समाधिना त्वलिप्तत्व मुक्तिश्चैव न सशय ।।

योगशास्त्र, उद्धृत, साधना कल्याण अक, पृ १३२

(ख) तत्र धौति-बस्ति-नेति-त्राटक-नौलि-कपालभातिनामिकै· षट्कर्म-भिर्देहशुद्धि, आसनेन दृढता, मुद्रया स्थिरता, प्रत्याहारेण धीरता, प्राणायामैर्लघुता ध्यानेनात्मन प्रत्यक्षम्, समाधिना च निर्लेपता, ततो मुक्ति सम्पद्यते।

पुराण पर्यालोचन (प परि.) पृ. ३२७

२३ राजत्वात् सर्वयोगाना राजयोग इति स्मृत ।

कल्याण साधना अक, पृ १३४

२४ (क) सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृत ।।
अन्त करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहकृति ।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगै ।।
तदन्त करणं दृश्यन्नात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयो कार्यकारणत्व सनातनम्।।
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चांचल्य चित्तवृत्तीना हेतुमत्र विदुर्बुधा ।।
वृत्तीर्जित्वा राजयोग स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
विचारबुद्ध प्राधान्य राजयोगस्य साधने ।।
बह्मध्यान हि तद् ध्यानं समाधिनिर्विकल्पक ।

तेनोपलब्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्त प्रकथ्यते ।।

योगशास्त्र, कल्याण साधना अंक पृ १३४

(ख) विवेक चुडामणि । - गा १५-१६

(ग) ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थिति- ।

\- - - - - - - - -

निर्विकारतया वृत्या ब्रह्माकारतया पुन- ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ।।

योगोपनिषद 'तेजोविन्दूपनिषदि प्रथमोध्याय
गा ३५-३६' पृ ५३

२५. (क) कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश ।
सप्त चांगानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारत ।।
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।
धारणांगे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृति भेदत ।।
ध्यानस्य त्रीणि चांगानि विदु पूर्वे महर्षय ।
ब्रह्मध्यान विराट्ध्यान चेशध्यानं यथाक्रमम् ।।
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।
चत्वार्य्यगानि जायन्ते समाधेरिति योगिन ।।
सविचारं द्विधाभूत निर्विचारं तथा पुन ।
इत्थ संसाधन राजयोगस्यागानि षोडश ।।
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नर- ।
मन्त्र हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नत ।।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नर- ।

योगशास्त्र, उद्धृत, कल्याण साधना अक, पृ १३४

२६. साधन राजयोगस्य धारणाध्यानभूमित- ।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यत ।।
समाधिभूमौ प्रथम वितर्क- किल जायते ।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता ।।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते ।
विशेषलिंगं त्वविशेषलिंगं लिंगं तथालिंगमिति प्रभेदान् ।।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमिविवेचनायां पटवो मुनीन्द्रा ।
हेया अलिंगपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मति- ।।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम् ।
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुन ।

क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधै ।।
समाधिसाधन शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते ।
गुरोर्विज्ञाततत्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम् ।।

राजयोग सहिता, उद्धृत कल्याण साधना अक पृ १३५

२७ (क) श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खड १, पृ १००

(पं रूद्रदेव त्रिपाठी)

(ख) आगत शिववक्त्रेभ्यो, गतं च गिरिजामुखे ।
मत च वासुदेवस्य, तत् आगम उच्यते ।।

ऊद्धृत, श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खड १, पृ १०१

२८ (क) अस्य वामस्य सूक्त तु जपेश्चान्यत्र वा जले ।
ब्रह्म इत्यादिक दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति ।। ऋग्विधान

उद्धृत, कल्याण, शक्ति अक, पृ १४९

(ख) अस्त्रेमा अनेमा अनेद्या अनवद्या अनभ्यासास्ता ,
उक्थ्य सुनीथ पाक वाम वयनमिति दश प्रशस्य नामानि ।।

उद्धृत, कल्याण, शक्ति अक, (गोरखपूर) पृ १४९

(ग) वामो मार्ग परम गहनो योगिनामप्यगम्य ।

उद्धृत, कल्याण शक्ति अंक, पृ १४९

(घ) कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्याभिधीयते ।।

योग दर्शन (प श्रीराम शर्मा) पृ ७८

२९ (क) मुख्यत पूजा के दो प्रकार बताये हैं - बाह्य और परम। साधारण पूजा में बाह्य उपकरणों का प्रयोग होता है। तन्त्र में ६४ उपचार, १८ उपचार, १६ उपचार, १० उपचार एव ५ उपचारों से पूजा का विधान है।

मन्त्रयोग (चमन गौ) पृ २८४-२८६

(ख) पूजा के अनेक प्रकार होते हैं - आवाहन, आसन, स्नान, नैवेद्य, आचमन, प्रदक्षिणा, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, बलि, पान, अर्घ्य, प्रसाद ।

मन्त्रयोग , पृ २८९-२९४

(ग) तीन प्रकार की भी पूजा है - उत्तम, मध्यम और अधम जिसे 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' भी कहा जाता है । (वर्तमान में इसे सात्विक, राजसिक और तामसिक पूजा कहते हैं।)

मन्त्रयोग, (चमन गौ) पृ २९४

३० कल्याण शक्ति अंक, पृ ५४५

३१ दीयते ज्ञानसद्भाव क्षीयते पशुबन्धनम् ।
दानक्षपणसयुक्ता, दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।।

दृष्टव्य पुष्कर अभिनन्दन ग्रन्थ,
ख ९, पृ १०७, तन्त्रालोक

३२ सुयधम्मतित्थमग्गो पावयणं पवयण च एगट्ठा ।
सुत्त तंतं गथो पाठो (प्र पाढो) सत्थ च एगट्ठा ।।

विशेषावश्यक भाष्य प्रथम भाग २ और
'हेमचद्रसूरि' - गा १३७८

३३ श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु पृ २३७) (स. भा द पृ ५४)

३४ (क) समकालीन भारतीय दर्शन, (डॉ श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, पृ ७७)
(ख) ज्ञानयोग, (प्रका नागपुर) पृ ३८५, ३२५-३४७
(ग) राजयोग (प्र नागपुर) भूमिका पृ ५

३५ वैराग्य साधन में ही मेरी मुक्ति नही है,
अनुराग के हजारों बधनों में ही मुझे मुक्ति का, आनद अनुभव होता है। मेरे [illegible] प्रम आनन्दयज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और मेरी सब वासनाएँ प्रेमफल [illegible] रूप में परिपक्व होंगी।

दृष्टव्य, समकालीन भारतीय दर्शन पृ ११४

३६ योग साधना के कुछ प्रमुख तत्त्व, 'अरविन्द' पृ २१

३७ समकालीन भारतीय दर्शन पृ २५४

३८ ------ अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथा गतेन अभिसम्बुद्धाचक्खुकरणी ञाणकरणी, उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय सवत्तति ९ अयमेव अरियो अट्ठगिको मग्गो, सेय्यथीद - सम्मादिट्ठि ---- मे ---- सम्मासमाधि अय खो सा गामणि, मज्झिमा पटिपदा--------।

संयुक्त निकाय, सळायतनवग्ग, ४२/१२/१२

३९ 'कतमा च, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि? य खो भिक्खवे, दुक्खेञाण, दुक्खसमुदयेञाणं, दुक्खनिरोधञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदायञाण अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि ।

'कतमो च, भिक्खवे, सम्मासकप्पो ? यो खो भिक्खवे, नेक्खम्मसंकप्पो, अव्यापादसंकप्पो अविहिंसासंकप्पो --- अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मासंकप्पो ।

'कतमा च भिक्खवे, सम्मावाचा ? या खो भिक्खवे, मुसावादा वेरमणी, पिसुणायवाचाय वेरमणी, फरुसाय वाचाय वेरमणी, सम्फप्पलापा वेरमणी - अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मावाचा। 'कतमो च भिक्खवे, सम्मा कम्मन्तो ? या खो भिक्खवे,पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी, अब्रह्मचरिया वेरमणी - अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मा कम्मन्तो।

'कतमो च, भिक्खवे, सम्माआजीवो? इध, भिक्खवे, अरियसावको, मिच्छाआजीव पहाय सम्माआजीवेन जीवित कप्पेति — अय वुच्चति, भिक्खवे, सम्मा आजीवो।

'कतमो च भिक्खवे, सम्माआयामो? इध, भिक्खवे, भिक्खु अनुप्पन्नान पापकान अकुसलान धम्मानं अनुप्पादाय छन्द जनेति वायमति विरिय आरभति चित्त पग्गण्हाति, पदहति, उप्पन्नान, पापकान अकुसलान धम्मान पहानाय छन्द जनेति-- पे - अनुप्पन्नान कुसलान धम्मान उप्पादाय छन्द जनेति --पे--उप्पन्नान कुसलान धम्मान ठितिया असम्मोसाय भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया छन्द जनेति वायमति विरिय आरभति चित्त पग्गव्हाति पदहति -- अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मावायामो।

'कतमो च भिक्खवे, सम्मासति? इध, भिक्खवे, भिक्खुकाये कायानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स, वेदनासु वेदना-नुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स, चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स - अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मासति।

'कतमो च भिक्खवे, सम्मासमाधि? इध, भिक्खवे, भिक्खु विविच्चेव कामेहि विविच्च, अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्क सविचार विवेकज पीति सुख पठम झान (पठम-ज्झान) उपसम्पज्ज विहरति वितक्कविचारान वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादन चेतसो एकोदिभाव अवितक्क अविचार समाधिज पीतिसुख दुतिय झान उपसम्पज्ज विहरति। पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च सम्पजानो, सुख च कायेन पटिसवेदेति, य त अरिया आचिक्खन्ति - 'उपेक्खको सतिमा सुखविहारी' ति ततिय झानं उपसम्पज्ज विहरति। सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्स-दोमनस्सान अत्थगमा अदुक्खमसुख उपेक्खासातिपारिसुद्धि चतुत्थ झान उपसम्पज्ज विहरति - अय वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासमाधी ति।।

सयुक्त निकाय, महावग्ग, ४५/१/१

४० (क) 'इमस्सेव खो एत, आनन्द परियायन वेदि यथा इमस्से

अरियस्स अट्ठंगिकस्स मग्गस्स अधिवचनं -
'ब्रह्मयान' इति पि 'धम्मयान' इति पि,
'अनुत्तरो संगामविजयो' इति पीति ।।
सयुक्त निकाय, महावग्ग, जाणुस्सोणिब्राह्मण सुत्त, ४५/४/४

(ख) इमिना अरियेन अट्ठगिकेन मग्गेन समन्नागतो अयं वुच्चति सोतापन्नो
सयुत्तनिकाय, महावग्गपालि, ५५/५/६

४१ (क) 'अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा ।
तं त गोतम पुच्छामि, को इम विजटये जट ।।
सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्जो, चित्त पञ्ञ च भावय ।
आतापी निपको भिक्खु, सो इम विजटये जट ।।
संयुत्तनिकाय १ - २३-२९

४२ विशुद्धिमग्ग सीलनिद्देसो - १७-----१९, १४/२/३

४३, (क) बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ गोविन्द चद पाण्डेय, पृ ३६२/३

(ख) जातक, खण्ड - १, पृ ७९-८५ (भदन्त आनन्द कौशल्यायन)

(ग) पश्यता बोधिमासन्ना सत्वार्थस्य च साधन ।
तीव्र उत्पधते मोदो मुदिता तेन कथ्यते ।।
दौ शील्याभोग वैमल्याद्विमला भूमिरुच्यते ।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी ।।
अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षा प्रदाहका ।
अचिष्मतीति तद्योगात्सा भूमिर्द्वयदाहत ।।
सत्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा ।
धीमभ्दिर्जीयते दु ख दुर्जया तेन कथ्यते।।
अभिमुख्याद् द्वयस्येह ससारस्यापि निर्वृते ।
उक्ताह्यभिमुखी भूमि प्रज्ञापारनिताश्रयात्।।
एकायनपथश्लेषाद् भूमिर्दुरंगमा मता ।
द्वय सज्ञा विचलनादचला च निरुच्यते ।।
प्रतिसविन्मति साधुत्वाद् भूमि साधुमती मता ।
धर्ममेघाद्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत् ।।
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,
डॉ गोविन्दचंद्र पाण्डेय, पृ ३६२-३

(घ) तिट्ठ चर निसिन्नो वा, सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो ।

एवं सति अदिट्ठेय्य, ब्रह्ममेतं विहारं इधमाहु ।।

सुत्तनिपात, ८/९

(ङ) चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा, पचिन्द्रियानि, पच बलानि, सत्त बोज्झंग, आरियो अट्ठगिको मग्गो – ति हि इमे सत्ततिस धम्मा बुज्झनट्ठेन बोधो ति लद्धनामस्स आरियमग्गस्स पक्खे भवता बोधिपक्खिया नाम । विशुद्धिमग्ग, ३/२२/१८

(च) सद्धाय तरती ओघं, अप्पमादेन अण्णवं ।
विरियेन दुक्ख अच्चेति, पंञाय परिसुज्झति । सुत्तनिपात, १०/४

(छ) यत्थ च सव्वसो दुक्ख, असेसं उपरूज्झति ।
ये च दुक्ख पजानन्ति, अथो दुक्खस्स सम्भवं । तंच मग्गं पजानन्ति दुक्खुपसमगामिनं ।
चेतोविमुक्तिसम्पन्ना, अथो पञाविमुत्तिया ।
भब्बा ते अन्तकिरियाय, न ते जातिजरूपगा ति ।

सुत्तनिपात, ३८/१-३

(ज) सर्वं जहाति यै सर्वैरपि दु खसमुदयनिरोधमार्ग क्षान्तिज्ञानैर्विरज्यते, यै क्लेशान् प्रजहाति । अभिधम्म कोश तृ [illegible]

(झ) प्रतिसम्भिदायें चार हैं-अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान

विशुध्दिमग्ग (हिन्दी -भा १) पृ ६

(ञ) ये केचि पाणभूतत्थि, [illegible] वा थावरा वा अनवसेसा ।
दीवा वा ये महन्ता वा, मज्झिमा रस्सकाणुकथूला ।।
दिट्ठा वा येव अद्दिट्ठा, ये च दूरे वसन्ति अविदूरे ।
भूता वा संभवेसी वा, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ।।

सुत्तनिपात्त, ८/४-५

४४. कतमं च, भिक्खवे, असखतं? यो, भिक्खवे, रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इद वुच्चति, भिक्खवे असगत । कतमो च असखतगामि मग्गो? समथो च विपस्सना च । अय वुच्चति, भिक्खवे, असंखतगामिमग्गो --।

सयुक्तनिकाय, सलायतन वग्ग, ४३/२/२

४५. विशुद्धिमग्ग (आचार्य बुद्ध घोष) पृ ९९

४६ 'कतमे चत्तारो ?' इध, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति आतापी

सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं वेदनासु वेदनानुपस्सीविहरति, आतापी सम्पजानो, सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झा-दोमनस्स, चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति, आतापी सम्पजानो, सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं, धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स।

मज्झिम निकाय (मूल वण्णासक, मज्झिम पण्णासक)
ले भिक्खु ज काश्यप १०/९/१-२पृ ७६

४७ इधानंद, भिक्खुं अरूञ्ञतो वा रुक्खमूलमतो वा सुञाञ्ञतो वा। निसीदति पल्लुकं आभुजित्वा उजु काय पणिधाय परिमुखं सति उपट्ठपेत्वा। सो सतो व अस्ससति, सतो व पस्ससति .. पे ''पटि निस्सग्गानुपस्सी अस्ससिमामी' ति सिक्खति 'पटिनिसग्गानुपस्सी अस्ससिमामी' ति सिक्खति। एवं भावितो खो, आनन्द आनापानस्सति समाधि एवं बहुली कतो महफ्फलो होति महानिससो'' 'यस्मि समये, आनन्द भिक्खु दीघं वा अस्ससन्तो' दीघं अस्ससामी 'ति पजानामि दीघ वा पस्ससन्तो दीघ पस्ससामि' ति पजानातिरस्स वा अस्सअस्ससन्तो' रस्स अस्ससामि' ति पजानाति रस्स वा पस्ससन्तो' रस्स पस्ससामि ति पजानाति; सव्वकायप्पटिसवेदी अस्ससिसामि, 'ति सिक्खति' सव्वकायपटिसवेदि पस्ससिसामि, ति सिक्खति, 'परसम्भय काय सखार अस्ससिसामि ति सिक्खति पस्सम्भय काय सखार पस्ससिसामि ति सिक्खति-कायेकायानुपस्सी आनन्द भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजनो सतिमा, विनेय्यलोके अभिज्झादोमनस्सत किस्स हेतु ? कार्यजतराह, आनन्द एत्त वदामि यदि इ - अस्सासपस्सास। तस्मातिहानन्द, काये कायानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्यलोके अभिज्झादोमनस्स।

सयुत्तनिकाय 'महावग्ग' ५४/१०/१०

४८ यस्मि समये आनन्द भिक्खु 'पितिप्पहि संवेदि अस्ससिस्सामी' ति सिक्खति 'पीतिप्पटिसंवेदि पस्ससिसामी' ति सिक्खति 'सुखप्पटिसवेदी अस्ससिस्सामी ति सिक्खति' 'चित्तसखारप्पटि सवेदि अस्ससिस्सामी' ति सिक्खति 'परसम्भ चित्तसखारप्पटि सवेदि पस्ससिस्सामि' ति सिक्खति ' परसम्भय चित्तसखार पस्ससिसामि ति सिक्खति वेदनासु वेदनानुपस्सी आनद भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो-सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स। त किस्स हेतु ? वेदनाञतराह , आनद एतं वदामि, यदि दं अस्सासपस्सासान साधुक मनसिकारं। तस्मातिहानद वेदनानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स। 'यस्मि समये आनद भिक्खु' चित्तप्पटिसंवेदी अस्ससिसामी, ति सिक्खति। 'चित्तप्पटिसवेदी पस्ससिस्सामी' ति

सिक्खति। अभिषमोदय चित्तं पे समादहं चित्तं 'विमोचय' चित्तं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति', विमोचय चित्तं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति', विमोचय चित्त पस्ससिस्सामी' ति सिक्खति चित्ते चित्तानुपस्सी आनद भिक्खु, तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजनो सतिमा, विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्स। त किस्स हेतुं ? नाह, आनद मुट्ठसतिस्स असम्पजानस्स आनापानस्ससति समाधि भावनं वदामि । तस्मातिहानद, चित्ते चित्तानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्सं 'यस्मि समये आनद भिक्खु' अनिच्चानुपस्सी अस्ससिस्सामी 'ति सिक्खति' ---पे--- विरागानुपस्सी--निरोधानुपस्सी -- पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्ससिसामी 'ति सिक्खति' पटिनिस्सग्गानुपस्सी पस्ससिस्सामी 'ति सिक्खति' धम्मेसु धम्मानुपस्सी आनद भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्स । सो य त होति अभिज्झादोमनस्सानपहानं त पञाय दित्त्वा साधुकं अज्झुपेक्खिता होति । तस्मातिहानंद धम्मेसु धम्मानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी, सम्पजानो सतिमा, विनेयूय लोके अभिज्झा-दोमनस्स।

सयुक्त निकाय, वर्ग ५ वां - महावग्ग, ५४/१०/१०

४९ (क) तीणिमानि, भिक्खवे, अकुसलमूलानि । कतमानि तीणि ?
लोभो अकुसलमूल, दोसो अकुसलमूलं, मोहो अकुसलमूलं ।

सुत्तपिटके, अगुत्तरनिकाय, ३/७/९, पृ १८६-

(ख) कतमे धम्मा नीवरणा? नीवरणाकामच्छद नीवरण, व्यापादनीवरण, थिनमिद्धनीवरण, उद्धच्चकुक्कुचनीवरण, विचिकिच्छानीवरण, अविज्झानीवरण ।

अभिधम्मपिटके, धम्मसगिणिपालि, ४/२/४८

५० (क) विसुद्धि मग्ग, खन्धनिद्देसो, पृ ३८०

(ख) रूपावचर पन झानग योग भेदतो पंचविध होति । सेयूयथीदवितक्क - विचारपीति सुख समाधियुत्त पठम, ततो अतिक्कन्तवितक्क दुतिय, ततो अतिक्कन्तविचार ततियं, ततो विरत्तपीतिक चतुत्थ अत्यंगतसुख उपेक्खा-समाधियुत्त पचम ति ।
अरूपावचर चतुन्नं आरूप्पान योगवसेन चतुब्बिधं ।
वुत्तप्पकारेन हि आकासानचायतनज्झानेन सम्पयुत्त पठम, विञाणचायतनादीहि दुतिय-ततिय-चतुत्थानि ।

विसुद्धि मग्ग 'खग्गनिद्देसो' पृ ३८२

(ग) सयुक्त निकाय महावग्ग ५३/९/१२/१-१२
-"--" - षळायतनवग्ग ४०/२/२, ४०/३/३, ४०/४/४,
४०/५/५, ४०/६/६, ४०/७/७, ४०/८/८

५१ लोकुत्तर चतुमग्गसम्पयोगतो चतुब्बिध ति।
विसुद्धिमग्गा, खग्घनिद्देसो, पृ ३८२

५२. ध्यान सम्प्रदाय (डॉ भरतसिंह उपाध्याय) पृ. १५

५३ सवर - विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासि।
झाणं च पहाणग तवस्स, तो मोक्खहेऊयं ॥
ध्यान शतक, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, हरिभद्र टीका, गा ९६

५४ (क) धर्म-दर्शन की रूप रेखा 'ताओ धर्म' पृ १६६ खण्ड २
(ख) ताओ और कन्फ्यूशियस धर्म क्या कहता है ? पृ १९-२३

५५ -"--"---"---"--" पृ ४८, ५७ (श्री कृष्णदत्त भट्ट)

५६ (क) हुमतनॉम् हूक्खनॉम् हूवर्श्तनॉम अवेस्ता यस्न हा, ३५/२
दृष्टव्य, पारसी धर्म क्या कहता है ? पृ ४६
(ख) हुमत हूख्त हूर्श्त। दृष्टव्य, पारसी धर्म क्या कहता है?
'श्रीकृष्णदत्त भट्ट' पृ ११

५७ यहुदी धर्म क्या कहता है ? पृ १३,१४,२२,२३

५८ धर्म दर्शन की रूपरेखा (डॉ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा) 'ईसाई धर्म' पृ ८३, ८६

५९. (क) 'ला इलाह इल्लऽल्लाह' इस्लाम धर्म क्या कहता है ? पृ. ९
(ख) धर्म दर्शन की रूपरेखा, खण्ड - २, 'डॉ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा'
पृ ६३-६४

६०. इस्लाम धर्म क्या कहता है? (श्रीकृष्णदत्त भट्ट) पृ ५९-६०

६१ (क) कल्याण साधना अक (गोरखपुर) पृ ६१०
(ख) इस्लाम धर्म क्या कहता है? पृ ६०
(ग) जिनवाणी का साधना अक पृ १७८-१७९

६२ (क) कल्याण साधना अक (गोरखपुर) पृ ६१०
(ख) इस्लाम धर्म क्या कहता है? पृ ६०
(ग) जिनवाणी का साधना अक पृ १७८

अध्याय २

ध्यान साधना संबंधी जैन साहित्य

जैन साधना के स्वरूप का आकलन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस साधना के आधारभूत साहित्य का एक परिचयात्मक आकलन करें। जैन धर्म के आधार-भूत साहित्य को हम अपनी दृष्टि से दो भागों में विभाजित करके देख सकते हैं -

१) मूलभूत आगम साहित्य और

२) व्याख्यात्मक आगम साहित्य

जिसके अन्तर्गत निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ और टीकाएँ हैं। आगमेतर साहित्य के अन्तर्गत हम उन जैनाचार्यों के साहित्य का समावेशन कर सकते हैं जिन्होंने भले ही प्राचीन आगम साहित्य का आधार तो लिया है लेकिन उन्होंने अपने अनुभवों को भी, साहित्य में समाहित किया है। आगे के पृष्ठों में हम इसी क्रम से सबधित जैन साहित्य का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

भारत के दार्शनिक साहित्य में जैन आगम साहित्य का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य जैन साहित्य का प्राचीन विश्लेषण माना जाता है। इसमें साधना साहित्य भी समाविष्ट है। जैन मान्यताओं के अनुसार भगवान् महावीर की वाणी आगम कहलाती है। दूसरे शब्दों में भगवान् महावीर की वाणी ही आगम है। आचार्य समन्तभद्र ने आगम शास्त्र के छह गुण बतलाये हैं। प्राचीन काल में श्रुत अथवा सम्यक् श्रुत, श्रुत-केवली, आगम केवली, सूत्र केवली, श्रुतस्थविर इत्यादि शब्दों का प्रयोग और सूत्र, ग्रथ, सिद्धात, उपदेश, प्रवचन, जिनवचन इत्यादि शब्द आगम के लिए प्रयुक्त हुये हैं।[१] पदार्थों के यथार्थ बोध का ज्ञान आचार सहिता से युक्त और आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ ज्ञान आगम कहलाता है। विशेष ज्ञान भी आगम का विषय है। आगम में गणिपिटक अथवा द्वादशागी का प्रमुख स्थान है। यह स्वत प्रमाण है। शेष आगम परत प्रमाण है।[२] 'पूर्व' और 'अग' के रूप में आगम साहित्य का वर्गीकरण किया गया है। पूर्व में चौदह ही सख्या हैं। इनमें श्रुत अथवा शब्द ज्ञान के विषयों का विवेचन है। इनकी रचना के विषय में दो विचार धाराएँ हैं। यह साहित्य द्वादशागी से प्रथम (पूर्व) निर्मित हुआ, इसलिये

उत्तरवर्ती साहित्य रचना के लिए इसे 'पूर्व' कहा गया है। दूसरे मत के अनुसार पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परपरा की श्रुतराशि है। भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह श्रुत राशि पूर्व कहलाती है। सामान्य अथवा साधारण बुद्धि वाले इसे नही समझ सकते, उनके लिए द्वादशागी की रचना की गई।[३] आगे चलकर द्वादशागी को ही व्याख्याक्रम और विषयक्रम के अनुसार चार अनुयोगों में विभाजित किया गया। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगम का विश्लेषण दो भागों में किया गया-[४] अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग। आर्यरक्षित के पूर्व अपृथक्त्वानुयोग का ही प्रचलन था। उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। इस व्याख्याक्रम की प्रणाली अत्यन्त जटिल थी। मेधावी शिष्यगण भी इसे समझने में असफल होने लगे। इसलिये आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। और उसे विषय सादृश्य की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया। चरण-करणानुयोग (कालिक श्रुत, छेद श्रुत आदि), धर्मकथानुयोग (ज्ञाताधर्म कथा, उत्तराध्ययन आदि), गणितानुयोग (सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि) और द्रव्यानुयोग[५] यह तो स्थूल वर्गीकरण है। इन चार अनुयोगों का दिगम्बर साहित्य में भी कुछ रूपान्तर से नाम मिलते हैं-[६] प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग (पुराण, महापुराण) (त्रिलोक प्रज्ञप्ति व तिलोक सार) (मूलाचार और द्रव्यानुयोग) प्रवचनसार, गोम्मट सार आदि।

अग प्रविष्ट और अग बाह्य रूप में भी आगम साहित्य का वर्गीकरण मिलता है। किन्तु नन्दीसूत्र में अग बाह्य के स्थान पर अनंग प्रविष्ट शब्द उपलब्ध होता है। तथा अग बाह्य ग्रथों की सामान्य सज्ञा 'प्रकीर्णक' भी प्रतीत होती है।[७] निरयावलियासूत्र के प्रारम्भिक उल्लेख में अग बाह्य के लिये 'उपाग' शब्द का प्रयोग मिलता है।[८] ठाणाग, समवायाग, अनुयोगद्वार तथा अवचूरि (पाक्षिक) तक तो अग और अग बाह्य रूप में ही आगमों का विभाजन मिलता है। उत्तरोत्तर आचार्यों के ग्रथ में भी यही क्रम मिलता है।[९] किन्तु स्मरण रहे कि सभी तीर्थंकरों के समक्ष द्वादशागी का ही स्वरूप नियत रहता है, अग बाह्य (अनग प्रविष्ट) का नही।[१०] अग बाह्य रचना दो प्रकार की है - कृत (स्वतत्र) और निर्यूहण। जो आगम पूर्वों या द्वादशागी से उद्धृत किये जाते हैं, वे निर्यूहण कहलाते हैं।[११] और भी विशेष तौर से अग बाह्य आगम साहित्य को आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में विभाजित किया गया है।[१२]

आगम साहित्य का चतुर्थ वर्गीकरण अग, उपाग, मूल और छेद के रूप में हमारे सामने आता है। तत्त्वार्थ भाष्य में अग बाह्य के रूप में ही 'उपाग' शब्द का प्रयोग किया है।[१३] तदनन्तर आचार्य श्री चन्द्र, जिनप्रभ एव चूर्णि साहित्य में उपांग शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१४] इस शब्द का प्रयोग पहले किसने किया, यह अन्वेषण का विषय

है। उपाग की तरह ही मूल और छेद का भी विषय अन्वेषण का ही है। 'छेद सूत्र' का सर्वप्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है, तदनन्तर विशेषावश्यक भाष्य और निशीथ भाष्य में।[१५] कही-कही छेद सूत्रों की सख्या छह, पाँच और चार मिलती हैं। किन्तु चार ही सख्या योग्य है। क्योंकि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का होने से आगम की कोटि में नही आ सकता। वैसे ही हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया गया महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आ सकता। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को ही आगम कहा जाता है।[१६] अत 'छेद' चार ही है और वह उत्तम श्रुत माना जाता है। क्योंकि उसमें प्रायश्चित्त विधि का विधान है। प्रायश्चित्त विधि से चारित्र की विशुद्धि होती है और चारित्र की विशुद्धि से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। एतदर्थ यह उत्तम श्रुत है।[१७] इस प्रकार हमें विक्रम स १३३४ में निर्मित प्रभावक चरित्र में सर्वप्रथम अग, उपाग, मूल, और छेद का विभाजन मिलता है, तदनन्तर उपाध्याय समयसुन्दरगणि के समाचारी शतक में[१८] प्राप्त होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध जो अग साहित्य है, वह सुधर्मा की वाचना का है। इसलिये वह सुधर्मा द्वारा रचित माना जाता है। द्वादशागी को श्वेताम्बर और दिगम्बर समान सख्या में ही मानते हैं।[१९] किंतु अग बाह्य आगमों की सख्या में एक मतैक्य नही है। उनमें विभिन्नता नजर आती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मूल आगमों में निर्युक्तियों को मिलाकर४५ आगम मानते हैं, जब कि दिगम्बर ८४ आगम मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापथी परपरानुसार ३२ ही आगम माने जाते हैं। उन आगमों की तालिका इस प्रकार है-[२०]

१२ अग	१२ उपाग
१) आयार (आचार)	१) उववाइय (औपपातिक)
२) सूयगड (सूत्रकृत)	२) रायपसेणइज्जं (राजप्रसेनजितक) अथवा रायपसेणिय, राजप्रश्नीय
३) ठाण (स्थान)	३) जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम)
४) समवाय	४) पण्णवणा (प्रज्ञापना)
५) विवाह पण्णत्ति (भगवती, व्याख्याप्रज्ञप्ति)	५) सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)
६) नायाधम्मकहाओ	६) जबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)
७) उवासगदसाओ	७) चदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)
८) अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)	८) निरयावलियाओ
९) अनुत्तरोववाइयदसाओ	९) कप्पवडिसियाओ

१०) पण्हावागरणाइ	१०) पुप्फियाओ (पुष्पिका)
११) विवागसुत्तं	११) पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला)
१२) दृष्टिवाद (विच्छेद हो गया)	१२) वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)

४ मूल- १) दशवैकालिक, २) उत्तराध्ययन, ३) अनुयोगद्वार और ४) नन्दीसूत्र।

४ छेद- १) निशीथ, २) व्यवहार, ३) बृहत्कल्प और ४) दशाश्रुतस्कन्ध।

११ + १२ + ४ + ४ = ३१ और ३२ वाँ आवश्यक सूत्र है।

जैन दर्शन के अनुसार चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। उनमें प्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी हैं। भगवान महावीर की वाणी प्रत्यक्ष श्रवण करके त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। किन्तु वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इन विचारों को श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा भिन्न-भिन्न रूप से मानती है। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि समय-समय पर द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुश्रुत मुनि एव आगमधर मुनि दिवंगत हो गये। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण अध्ययन, अध्यापन, धारण तथा प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गये। द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गये। किन्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नही हुए। समस्त श्रमण सघ ने आचार्यों के नेतृत्व में पाँच वाचनाएँ ली।[२१] उनमें मुख्यत तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। आगम संकलन हेतु प्रथम वाचना वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में ली गई, जिसका नामकरण ही पाटलीपुत्रवाचना है। आगम सकलन का द्वितीय प्रयास वीर निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच स्कदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुआ। इसलिये इसे माथुरी-वाचना और 'स्कन्दिली वाचना' भी कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में भी आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जो-जो स्मृति में था, उसे संकलित किया गया। अत उसे 'वल्लभी वाचना' अथवा 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहा गया। अन्तिम वाचना वीर-निर्वाण की दशवी शताब्दी (९८०-९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुन वल्लभी में हुई। स्मृति दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकाश भाग नष्ट सा हो गया। विस्मृत श्रुत को संकलित एव सग्रहित करने का, पुन. प्रयत्न किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि प्रतिभा से उसकी संयोजना करके उसे पुस्तकारूढ़ किया। उन्होंने माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्रित करके उन्हें एकरूपता देने का प्रयास किया। जहाँ अत्यन्त मतभेद था वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। फलत. यही कारण है कि आगम के व्याख्याग्रंथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। हम देखते हैं कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में

है। उपाग की तरह ही मूल और छेद का भी विषय अन्वेषण का ही है। 'छेद सूत्र' का सर्वप्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है, तदनन्तर विशेषावश्यक भाष्य और निशीथ भाष्य में।[१५] कही-कही छेद सूत्रों की सख्या छह, पाँच और चार मिलती हैं। किन्तु चार ही सख्या योग्य है। क्योंकि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का होने से आगम की कोटि में नही आ सकता। वैसे ही हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया गया महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आ सकता। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को ही आगम कहा जाता है।[१६] अत 'छेद' चार ही है और वह उत्तम श्रुत माना जाता है। क्योंकि उसमें प्रायश्चित्त विधि का विधान है। प्रायश्चित्त विधि से चारित्र की विशुद्धि होती है और चारित्र की विशुद्धि से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। एतदर्थ यह उत्तम श्रुत है।[१७] इस प्रकार हमें विक्रम स १३३४ में निर्मित प्रभावक चरित्र में सर्वप्रथम अग, उपाग, मूल, और छेद का विभाजन मिलता है, तदनन्तर उपाध्याय समयसुन्दरगणि के समाचारी शतक में[१८] प्राप्त होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध जो अग साहित्य है, वह सुधर्मा की वाचना का है। इसलिये वह सुधर्मा द्वारा रचित माना जाता है। द्वादशागी को श्वेताम्बर और दिगम्बर समान सख्या में ही मानते हैं।[१९] किंतु अग बाह्य आगमों की सख्या में एक मतैक्य नही है। उनमें विभिन्नता नजर आती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मूल आगमों में निर्युक्तियों को मिलाकर४५ आगम मानते हैं, जब कि दिगम्बर ८४ आगम मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापथी परपरानुसार ३२ ही आगम माने जाते हैं। उन आगमों की तालिका इस प्रकार है-[२०]

१२ अंग	१२ उपाग
१) आयार (आचार)	१) उववाइय (औपपातिक)
२) सूयगड (सूत्रकृत)	२) रायपसेणइज्ज (राजप्रसेनजितक) अथवा रायपसेणिय, राजप्रश्नीय
३) ठाण (स्थान)	३) जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम)
४) समवाय	४) पण्णवणा (प्रज्ञापना)
५) विवाह पण्णत्ति (भगवती, व्याख्याप्रज्ञप्ति)	५) सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)
६) नायाधम्मकहाओ	६) जबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)
७) उवासगदसाओ	७) चदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)
८) अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)	८) निरयावलियाओ
९) अनुत्तरोववाइयदसाओ	९) कप्पवडिसियाओ

१०) पण्हावागरणाइं　　　　　　१०) पुप्फियाओ (पुष्पिका)
११) विवागसुत्त　　　　　　　　११) पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला)
१२) दृष्टिवाद (विच्छेद हो गया)　　१२) वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा.)

४ मूल- १) दशवैकालिक, २) उत्तराध्ययन, ३) अनुयोगद्वार और ४) नन्दीसूत्र।

४ छेद- १) निशीथ, २) व्यवहार, ३) बृहत्कल्प और ४) दशाश्रुतस्कन्ध।

११ + १२ + ४ + ४ = ३१ और ३२ वाँ आवश्यक सूत्र है।

जैन दर्शन के अनुसार चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। उनमें प्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी हैं। भगवान महावीर की वाणी प्रत्यक्ष श्रवण करके त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। किन्तु वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इन विचारों को श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा भिन्न-भिन्न रूप से मानती है। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि समय-समय पर द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुश्रुत मुनि एवं आगमधर मुनि दिवंगत हो गये। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण अध्ययन, अध्यापन, धारण तथा प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गये। द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गये। किन्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुए। समस्त श्रमण संघ ने आचार्यों के नेतृत्व में पाँच वाचनाएँ ली।[११] उनमें मुख्यत तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। आगम सकलन हेतु प्रथम वाचना वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में ली गई, जिसका नामकरण ही पाटलीपुत्रवाचना है। आगम सकलन का द्वितीय प्रयास वीर निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुआ। इसलिये इसे माथुरी-वाचना और 'स्कन्दिली वाचना' भी कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में भी आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जो-जो स्मृति में था, उसे सकलित किया गया। अत. उसे 'वल्लभी वाचना' अथवा 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहा गया। अन्तिम वाचना वीर-निर्वाण की दशवी शताब्दी (९८०-९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुन वल्लभी में हुई। स्मृति दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकाश भाग नष्ट सा हो गया। विस्मृत श्रुत को सकलित एव सग्रहित करने का, पुन. प्रयत्न किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि प्रतिभा से उसकी सयोजना करके उसे पुस्तकारूढ़ किया। उन्होंने माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के कठगत आगमों को एकत्रित करके उन्हें एकरूपता देने का प्रयास किया। जहाँ अत्यन्त मतभेद था वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। फलत. यही कारण है कि आगम के व्याख्याग्रथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। हम देखते हैं कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में

लुप्त-सा हो गया किन्तु पूर्ण नही, अब भी वह शेष है। अंगों और उपागों की मुख्यत जो तीन बार आगम वाचनाएँ हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य बदला है। उसमें उत्तरवर्ती घटनाओं तथा विचारणाओं का समावेश भी जरूर हुआ है। स्थानाग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख इस बात को स्पष्ट करता है।[२२] फिर भी अगों का अधिकाश भाग मौलिक है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी प्राचीन है। 'आयार' रचना शैली की दृष्टि से शेष सब अगों से भिन्न है। अत आगम का मौलिक रूप आज भी विद्यमान है। परन्तु दिगम्बर परम्परा वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद आगम का मौलिक स्वरूप नष्ट सा मानती है।

इन आचार्यों ने आगम-सकलना का महत्त्वपूर्ण कार्य करके आगमों की सुरक्षा की।

आचार्य जम्बू के वीर निर्वाण ६४ (वि पूर्व ४०६) से श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की नाम परपरा विभक्त हो गई। श्वेताम्बर परम्परा में प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, सभूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र श्रुतकेवली माने जाते हैं, जब कि दिगम्बर परम्परानुसार विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु श्रुतकेवली हैं। इन दोनों परम्पराओं में भद्रबाहु को मुख्य माना गया है।[२३] इन आचार्यों का कालमान १६२ वर्ष का है और श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जम्बू के बाद प्रभव से भद्रबाहु तक का कालमान १७० वर्ष का है। इन दोनों में आठ वर्ष का अतर है किन्तु भद्रबाहु के पास सम्पूर्ण द्वादशागी सुरक्षित थी, ऐसे दोनों सम्प्रदायें एक स्वर से स्वीकार करती है। वीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ। आचार्य जम्बू के बाद दस बातों का विच्छेद हो गया[२४] और आचार्य भद्रबाहु के बाद श्रुत धारा क्षीण होने लगी। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय दुष्काल था। अतएव भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने पर उसी समय अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो गया और शब्द की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के बाद (वी नि २१६) विच्छिन्न हुये।[२५] इसके बाद दस पूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। दसपूर्वधरों की दस ही सख्या है-[२६] १) महागिरि, २) सुहस्ती, ३) गुणसुन्दर, ४) कालकाचार्य, ५) स्कन्दिलाचार्य, ६) रेवतिमित्र, ७) मगू, ८) धर्म, ९) चन्द्रगुप्त और १०) आर्य-वज्र। अन्तिम दस पूर्वधर आर्यवज्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण के ५७१ माना जाता है और कही-कही ५८४ भी।[२७] उसी समय दसवा पूर्व विच्छिन्न हो गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान सम्पदा वी नि १८३ वर्ष तक सुरक्षित रही। धर्मसेन उनके अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य रक्षित नौपूर्व पूर्ण और दशम पूर्व के आधे भाग के ज्ञाता थे। उनका शिष्य दुर्बलिकापुष्यमित्र नौ पूर्व का ज्ञाता था। उन दोनों की मृत्यु के (क्रमश वीर नि ५९२, वीर नि ६०४ अथवा ६१७) पश्चात् साढे नौ पूर्व और नौ

पूर्व के कोई भी ज्ञाता नही रहे। देवर्द्धिगणी एक पूर्व के ज्ञाता माने जाते हैं। इस प्रकार वीर निर्वाण के १००० वर्ष तक पूर्व ज्ञान की परपरा सुरक्षित रही। वीर निर्वाण के १००० वर्ष के बाद पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया।[२८] दिगम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उसके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। भद्रबाहु के पश्चात् १८३ वर्ष तक दसपूर्वधर रहे। उनके पश्चात् ग्यारह अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग (आयार) का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इनके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर निर्वाण ६८२ के पश्चात् आगम साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया।[२९] किन्तु धवला टीका और तिलोयपण्णत्ति को देखने से स्पष्ट होता है कि वे भी अगों का पूर्णत विच्छेद नही मानते, बल्कि 'अग पूर्व के एकदेशधर' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[३०] अत· श्रीधरसेनाचार्य ने जिनवाणी का सर्वथा अभाव न हो जाय इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध कराया।[३१]

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, वे सब देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण की वाचना के हैं। अगों के कर्ता गणधर, अंग बाह्य श्रुत के कर्ता स्थविर और उन सबका सकलन एवं सम्पादन कर्ता देवर्द्धिगणी हैं। अत· वर्तमान आगमों के कर्ता वे ही माने जाते हैं।[३२] उनके पश्चात् वर्तमान स्थित आगमों में संशोधन, परिवर्धन एव परिवर्तन नही हुआ।

अगले पृष्ठों पर आगम साहित्य का वर्णन ऊपर बताये हुए बत्तीस आगम अनुसार ही होगा।

ध्यान संबंधी मूलभूत आगम साहित्य

१२ अंग

१) आयार :- यह द्वादशागी का प्रथम अंग है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्वप्रथम आचाराग का उपदेश दिया है। वर्तमान काल में जो तीर्थंकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान हैं, वे भी अपने शासन काल में सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। और गणधर भी इसी क्रम से अग सूत्रों को ग्रथित करते हैं।

निर्युक्तिकार का कथन है कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है। उन्होंने प्रश्नोत्तर के रूप में स्पष्ट किया है कि अंग सूत्रों का सार क्या है? आचार। आचार का सार क्या है? अनुयोग-अर्थ। अनुयोग का सार क्या है? प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है? सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है? निर्वाण पद की प्राप्ति। निर्वाण पद की प्राप्ति का सार क्या है? अक्षय सुख को प्राप्त करना। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना ही मोक्ष है। अत· मुक्ति के लिए सबसे प्रथम

आवश्यकता चारित्र की है। इसी कारण सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ की स्थापना करते समय सर्व प्रथम आचाराग का उपदेश दिया है। इसलिए द्वादशागी में इसे प्रथम स्थान दिया है।

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्याय और द्वितीय के १६ अध्ययन हैं, तथा पाँच चूलिकाएँ हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सम्यक् वर्णन है। इसके नौवे अध्याय में ध्यानयोगी भगवान महावीर की साधना का दिग्दर्शन किया है। उनकी सम्पूर्ण साधना पद्धति ध्यानयोगमय ही थी। इसमें ध्यानयोग की प्रक्रिया स्पष्ट नही बताई गई है किन्तु इसका निरीक्षण परीक्षण करने के बाद हमारी अल्पज्ञ बुद्धि इस धारणा पर पहुँचती है कि पहले निरीक्षणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। बाद में परीक्षणात्मक और अन्त में प्रयोगात्मक पद्धति द्वारा ध्यान के पर्यायवाची शब्द समाधि और अप्रमाद शब्द द्वारा ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चारित्राचार का वर्णन विस्तृत रूप से स्पष्ट किया है। चतुर्थ चूलिका में ध्यान साधना में पोषक पाँच महाव्रत एवं उनकी भावनाओं का उल्लेख है। तथा ध्यान में बाधक तत्त्वों (ममत्व, आरम, परिग्रह व प्रमाद) का भी उल्लेख है।

दोनों श्रुतस्कन्धों में २५ अध्ययन और ८५ उद्देश्यक हैं। किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्ध के 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन लुप्त होने से २५ अध्ययन और ७८ उद्देश्यक ही हैं।

ध्यान का मूल केन्द्रबिन्दु 'रत्नत्रय' की साधना है। अत प्रथम अग में सयमी साधक जीवन के लिये आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि का साधन आचार है। आचार शुद्धि द्वारा ही ध्यान सिद्ध किया जा सकता है।

यह ग्रंथ लुधियाना, उज्जैन आदि स्थानों से प्रकाशित है।

२) सूयगड :- द्वादशांगी में यह दूसरा अग सूत्र है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्याय हैं। इसमें स्वमत परमत, जीवादि नौ तत्त्वों के विश्लेषण के साथ ३६३ पाखण्डियों के मत का विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के दशम अध्याय में समाधि का वर्णन है। समाधि के चार प्रकार हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें भाव समाधि पर अधिक जोर दिया गया है। एकादश अध्याय में भाव समाधि के लिए चार मार्ग- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, बताये हैं। इन्ही के द्वारा ही साधक धर्मध्यान की साधना कर सकता है। धर्मध्यान की साधना में 'परिग्रह' को बाधक बताया है। वह द्रव्य - (बाह्य) (क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, ज्ञातिजन, मित्र, वाहन, शयन, आसन, दास, दासी इन पर मूर्च्छा भाव रखना ये दस हैं) और भाव -

(आभ्यन्तर) (यह चौदह प्रकार का है - क्रोध, मान, माया, लोभ, स्नेह, द्वेष, मिथ्यात्व, कामाचार, संयम में अरुचि, असयम में रुचि, विकारी भाव, हास्य, शोक, भय और घृणा) रूप से दो प्रकार का है। इसमें ध्यान विषयक सहागक तत्त्वों (गुरु आज्ञा-सेवा का पालन, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि) का भी विवेचन है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ध्यान साधक के मूलगुण एव उत्तरगुण में आने वाले हिंसादि विघ्नों का विवेचन है। अशुभ ध्यान से ससार वृद्धि होती है। इसलिए षट्जीवनिकाय जीवों की हिंसा का निषेध किया है।

प्रस्तुत अग में ध्यानयोग, समाधियोग और भावनायोग शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके पर्यायवाची सवर, तप, समाधि और धर्म आदि शब्द है। इस प्रकार इस अंग सूत्र में ध्यान का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रथम अग सूत्र में मैं कौन था? इस स्वरूप का चिन्तन है तो द्वितीय अग सूत्र में बन्ध और मोक्ष की चर्चा है। अशुभ ध्यान से बन्ध होता है और शुभ ध्यान से मोक्ष मिलता है। यही स्वरूप इसमें स्पष्ट किया है।

यह ग्रथ सैलाना से प्रकाशित है।

३) **ठाण :-** यह द्वादशागी का तीसरा अंग है। इसमें एक अध्याय से लेकर दस अध्याय तक विभिन्न दृष्टियों से पदार्थों का विवेचन है। सामान्यगणना से इसमें कम-से-कम १२०० विषयों का वर्गीकरण है और भेद प्रभेद की दृष्टि से लाखों विषयों का स्पष्टीकरण हैं, इसके चतुर्थ अध्ययन में ध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा के रूप में विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रथम दो अगों की अपेक्षा इस तीसरे अंग में ही ध्यान का विशेष वर्णन मिलता है। चार प्रकार के ध्यान में से कौन-सा ध्यान साधक के लिए सहायक हो सकता है? यह भी विस्तृत रूप से वर्णित है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

४) **समवाय :-** स्थानाग सूत्र की तरह इसमें भी संख्या की दृष्टि से वस्तु का निरूपण किया गया है। संख्या क्रम से पाताल, पृथ्वी, आकाश - तीनों लोक में विद्यमान जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से लेकर कोटानुकोटिसख्या तक के विषयों का सकलन है। इसमें स्थानांगसूत्र में वर्णित आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान का नाम निर्देश किया है और धर्मध्यान के चार भेद में से सस्थान विचय धर्मध्यान का विस्तृत वर्णन है।

५) **विवाहपण्णत्ती :-** इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति और भगवती भी कहते हैं। अन्य ग्रथों

की अपेक्षा इसका कलेवर विशाल है, यह १५००० श्लोक प्रमाण माना जाता है, इसमें ३६००० हजार प्रश्नोत्तरी है। विभिन्न विषयों का विस्तृत वर्णन है। साथ में तप के अन्तर्गत ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है। स्थानांग सूत्र की तरह ही इसमें ध्यान का वर्णन है। विशेषता इतनी ही है कि ध्यान यह तप का अग है।

इस सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग अथवा अंग बाह्य सूत्रों के प्रारभ में मंगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नही होता, जो इसमें है। जिससे पदस्थ ध्यान का सकेत मिलता है। प्रस्तुत आगम में धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप का विशेष विवेचन मिलता है।

प्रस्तुत आगम सात भागों में सैलाना से प्रकाशित हुआ है।

६) नायाधम्मकहाओ :- इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पूर्व कथित आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल - इन चार ध्यानों को विभिन्न कथायोग के द्वारा स्पष्ट किया है तथा उन चारों ध्यान का फल भी स्पष्ट कर दिया है। मेघकुमार (अ १) और तेतलीपुत्र (अ ४) की कथा द्वारा पहले आर्तध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया और बाद में उन दोनों को क्रमश भगवान् महावीर एव पोट्टिला के बोध से धर्मध्यान एव शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया। विजय चोर की कथा (अ २) द्वारा रौद्रध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल नरक गति बताया। मल्ली भगवती की कथा द्वारा (अ ८) शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल मोक्ष बताया। नन्दमणियार श्रावक की कथा (अ १३) द्वारा आर्तध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल तिर्यंच गति बताया। नागेश्री की कथा द्वारा रौद्रध्यान का परिणाम नरकगति है, यह स्पष्ट किया गया और यह भी बताया गया कि भविष्य में साध्वी के सुयोग से परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर करके यही नागेश्री का जीव द्रौपदी के रूप में जन्म लेकर धर्म-शुक्लध्यान की साधना से स्वर्ग की प्राप्ति करता है। कुण्डरीक और पुण्डरीक राजा की कथा द्वारा क्रमश रौद्र और धर्मध्यान का स्वरूप विवेचन किया है।

प्रस्तुत आगम में धर्म कथानुयोग द्वारा चार ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ ध्यान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। चारों ध्यान का फल भी तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति, मनुष्यगति एवं मोक्ष का स्वरूप वर्णित किया है।

यह आगम पाथर्डी से प्रकाशित हुआ है।

७) उवासगदसाओ :- यह द्वादशागी का सातवा अग है। इसमें भगवान् महावीर कालीन दस साधकों का वर्णन है। उन दस श्रावकों ने श्रावक धर्म को अगीकार करके

उपासक की ग्यारह पडिमाओं की आराधना की। उन ग्यारह पडिमाओं में कायोत्सर्ग पडिमा का वर्णन है, जो ध्यान का प्रारभ काल है। इसमें कायोत्सर्ग के माध्यम से ध्यान का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना आदि स्थानों से प्रकाशित है।

८) **अंतगडदसाओ :-** यह द्वादशांगी का आठवा अग है। इसमें आठ वर्ग और ९० अध्ययन हैं। ९० अध्ययन में अरिष्टनेमि और महावीरकालीन ९० महापुरुषों का वर्णन हैं। आठ वर्गों में क्रमश. १० + ८ + १३ + १० + १० + १६ + १३ + १० अध्ययन गुम्फित है। पाँच वर्गतक भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रवर्जित होने वाले ५१ साधकों का उल्लेख है। बाद के तीन वर्ग में महावीर कालीन ३९ साधकों की साधना का उल्लेख है।

प्रस्तुत आगम में तप साधना का विशिष्ट उल्लेख है। इस अग के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि तप ही ध्यान है। ९० साधकों में से मुख्य मुख्य साधकों ने गुणरत्नसवत्सर, बारह भिक्षु-पडिमा, गजसुखमालमुनि ने सिर्फ बारहवी भिक्षु पडिमा तथा सातवें आठवें वर्ग में श्रेणिक राजा की नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दश्रेणिका, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा, महासेनकृष्णा आदि महाराणियों ने श्रमण धर्म अगीकार करके ग्यारह अंगों का अध्ययन करके 'रत्नावली, कनकावली, क्षुल्लकसिंह निष्क्रीडित, महानिष्क्रीडित, लघु सर्वतोभद्र, महासर्वतो भद्र, भिक्षु-पडिमा, मुक्तावली एव आयबिल वर्धमान' आदि उग्र तपाराधना करके अन्त में सलेखना व्रत से कर्मेंधन को जलाकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं। यहाँ पर 'तप' यह ध्यान का प्रतीक है। ध्यान प्रक्रिया से कर्म को समूल नष्ट कर दिया जाता है। इसीलिये तो नौवें अग में भी तप का ही वर्णन किया है।

९) **अणुत्तरोववाइय दसाओ :-** इस आगम के तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में १० अध्ययन, द्वितीय वर्ग में १३ अध्ययन और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। प्रत्येक वर्ग में मुख्यत एकेक महापुरुष का वर्णन है। प्रथम वर्ग में गुणरत्न सवत्सर, चउत्थ, छट्ठ, अट्ठम, दसम, दुवालसेहिं, अधमासखमण आदि उग्र तप का वर्णन है। द्वितीय वर्ग में भी इसी प्रकार है। तीसरे वर्ग में भगवान् महावीर कालीन चौदह हजार श्रमणों में धन्ना अणगार को उग्र तपस्वी माना गया है। अत्यन्त कठोर तपाराधना में छह मास तक छट्ठ - छट्ठ (बेले-बेले) के पारणे में आयबिल (लुखा सूखा आहार) व्रत की आराधना से कर्मों की महानिर्जरा करने वाले धन्ना अनगार ही है।

प्रस्तुत आगम में ध्यान का पर्यायवाची 'तप' है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि ध्यानाग्नि द्वारा समस्त कर्म-इधन को जलाकर आत्मा का निज-स्वरूप प्राप्त किया जाता है।

यह आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

१०) पण्हावागरणाइं :- समवायाग एव नन्दीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत आगम का एक ही श्रुतस्कन्ध है, किन्तु अभयदेव वृत्ति[३३] में इसे दो श्रुतस्कन्ध में विभाजित किया गया है- १) आस्रवद्धार और २) सवरद्वार। आगे चलकर वे भी पुन इसी धारणा पर आ जाते हैं कि दो श्रुत न मान कर एक ही मान लिया जाय।[३४] परन्तु हमारी धारणानुसार प्रस्तुत आगम आस्रव और सवर इन दोनों का भिन्न-भिन्न विषय होने से दो श्रुतस्कन्ध मानना ही तर्क सगत है। आस्रव (हिंसा, असत्य, स्तेय-चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) के द्वारा मन का रोग भवभवान्तर तक बढ़ता रहता है। उन रोगों की सही चिकित्सा संवर (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह) द्वारा ही हो सकती है। सवर की साधना ही ध्यान का फल है। धर्म ध्यान की साधना ही सवर की साधना है। अत इसमें ध्यान साधना में आने वाले बाधक और साधक तत्त्व का वर्णन किया है।

११) विवागसुय :- यह द्वादशागी का ग्यारहवाँ अग है। इसके दो श्रुतस्कन्ध और २० अध्ययन हैं। दुष्कृत सुकृत कर्मों के विपाक का विस्तृत वर्णन होने से इसका नाम विवाग सुय रखा गया है।

जैन दर्शन का प्रधान अग कर्म सिद्धान्त है। और ध्यान का फल कर्म निर्जरा है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययन मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्न सेन, शकट, बृहस्पति, नन्दिवर्धन, उम्बरदत्त, शौरिकदत्त, देवदत्ता व अजु द्वारा रौद्र ध्यान के दुष्परिणाम का फल बताया है और स्पष्ट किया है कि आद्य दो ध्यान (आर्त व रौद्र) त्याज्य हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भी दस अध्याय सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार, धणपतिकुमार, महाबलकुमार, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्द्रकुमार व वरदत्तकुमार द्वारा अन्तिम शुभ धर्म और शुक्लध्यान की आराधना का सुफल स्वर्ग और मोक्ष बताया है।

प्रस्तुत आगम में धर्मकथानुयोग द्वारा आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप, लक्षण एवं फल स्पष्ट कर दिया है। तथा शुभ और अशुभ ध्यान की व्याख्या भी स्पष्ट दी है। शुभ ध्यान ही करने योग्य बताया है अशुभ नही।

१२) दृष्टिवाद :- यह आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

१२ उपाग :-

सभी उपाग साहित्य में ध्यान सबधी विषय नहीं है। १२ अग के ही १२ उपाग हैं। जिन-जिन उपागों में ध्यान सबधी सामग्री है, उन्हीं उपागों का नाम नीचे उल्लेख किया जा रहा है-

१) उववाइय :- यह आचारांगसूत्र का उपांग है। इसमें ४३ सूत्र हैं। भगवान् महावीर कालीन इन्द्रभूति गौतम प्रमुख १४ हजार साधु, चन्दनबाला प्रमुख ३६ हजार साध्वियाँ, आनद प्रमुख १ लाख ५९ हजार उपासक तथा जयंतीप्रमुख ३ लाख १८ हजार उपासिकाएँ थी। यह व्रतधारी चतुर्विध सघ की संख्या थी। उनमें से १४ हजार श्रमण और ३६ हजार श्रमणियों में से कुछ उग्र तपस्वी थे, कुछ अभिनिबोधि ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी थे, कुछ मनबलिया, वयबलिया, काय बलिया, कुछ खेलोसहि, (श्लेष्म), जल्लोसहि (पसीना), विप्पोसहि (पेशाब-लघुनिति), आमोसहि, सव्वोसहि, कुछ कोट्ठबुद्धि, बीज बुद्धि, पडबुद्धि, पयाणुसारी, सभिन्नसोयाखीरासवा, महुआसवा, सप्पि आसवा, अक्खीण महाणसिया एवं कुछ उज्जुमई, विउलमई, वैक्रयविक्रीडिता (विउव्वणिड्ढिपत्ता), चारण, विद्याधर एव आकाशगामिनी विद्याधारी आदि २८ प्रकार के लब्धिधारी थे। इसके अतिरिक्त कुछ कणकावलि, एकावलि, क्षुद्रसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित, भद्र पडिमा, महाभद्रपडिमा, सर्वतो भद्र पडिमा, आयंबिल वर्धमान, मासिक, द्विमासिक जाव दस दस भिक्षुपडिमाधारी, क्षुद्रमोयपडिमाधारी, महद् मोयपडिमाधारी, जवमज्झ चंदपडिमा, वज्रमज्झपडिमा आदि तपाराधक तथा पडिमाधारी श्रमण श्रमणियाँ थी।

उग्र तपस्वी एव लब्धि धारियों के अतिरिक्त अन्य अंबड आदि तपस्वियों के आतापना एव पचाग्नि तप का भी वर्णन है।

योगनिरोध और केवलीसमुद्घात एव सलेखना के वर्णन से प्रस्तुत आगम में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। योग निरोध और केवली समुद्घात की प्रक्रिया दूसरे व तीसरे शुक्लध्यान की है। इस प्रकार इस आगम में ध्यान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत आगम में प्रयोगात्मक ध्यानयोग की प्रक्रिया के साथ ही साथ ध्यान साधना के मौलिक तत्त्व 'उपशम' 'विवेक' और 'धर्म' का भी उल्लेख है।

यह अमदाबाद से प्रकाशित है।

२) रायपसेणइय :- यह सुयगडांग का उपांग है। उसी में वर्णित विषयों का विस्तृत वर्णन है। श्रद्धा ध्यान का मूल है। सूर्याभदेव के द्वारा इस कथन की पुष्टि की है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया है कि क्रूर प्रदेशी (पएसी) राजा केशीश्रमणमुनि के समागम से आत्मचिन्तक साधक बन जाता है। और श्रमणोपासक श्रावक बन कर पोषधव्रत की आराधना से आत्म चिन्तन में लीन रहता है। पत्नी सूर्यकान्ता के विष देने पर भी वे स्वचिन्तन में लीन रहे और सर्व प्राणातिपात आदि दोषों का त्याग करके अपने

समस्त कर्मों की आलोचना कर सलेखना तप द्वारा कर्ममल का क्षय करके सौधर्म देव लोक में सूर्याभदेव बने।

ध्यान की योग्यता सन्त शरण से ही प्राप्त होती है। यह इस आगम में खास बताया गया है। सन्त शरण से समता का बीजारोपण होता है। समत्वयोग ही ध्यान है। यह पएसी राजा की कथा से स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद एव अन्य स्थानों से प्रकाशित किया गया है।

३) जीवाजीवाभिगम :- प्रस्तुत आगम ठाणाग का उपांग है। उपांग साहित्य में इसका तीसरा नबर है। इसमें जीव अजीव तत्त्व का विस्तृत वर्णन है। जीव द्रव्य से समस्त ससारी जीवों का विवेचन है और अजीव द्रव्य द्वारा अधो लोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक का भी व्यापक दृष्टि से वर्णन है। मध्यलोक से संबधित जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप, अर्द्धपुष्करार्ध द्वीप आदि का विस्तृत वर्णन है।

इस आगम में धर्मध्यान का चतुर्थ भेद लोक सस्थान विचय का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद से प्रकाशित है।

४) पन्नवणा (प्रज्ञापना) :- यह समवायांग का चौथा उपाग है। इसमें ३४९ सूत्रों द्वारा विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। उसमें छह जीवनिकाय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय), लेश्या एवं केवलीसमुद्घात के विस्तृत वर्णन से धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। केवलीसमुद्घात शुक्लध्यान के द्वितीय भेद की प्रक्रिया है। इसमें विशेषत धर्मध्यान का चतुर्थ भेद सस्थान विचय धर्मध्यान और शुक्लध्यान का तीसरा भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती का विशेष स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद से प्रकाशित किया गया है।

५) जम्बुद्दीघपण्णत्ती :- इसकी क्रम सख्या में मतभेद है। कही-कही इसे पाचवाँ या छट्ठा उपाग माना गया है। इसमें विशेषत काल चक्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त जम्बूद्वीप् का विस्तृत वर्णन करके, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, एवं प्रथम चक्रवर्ती ऋषभदेव के चरित्र द्वारा पाँच महाव्रत, छह जीवनिकाय एवं अष्ट प्रवचन माता का स्वरूप स्पष्ट किया है। ये सभी धर्मध्यान में सहायक अग हैं। धर्मध्यान की साधना के बाद ही शुक्लध्यान की साधना से ऋषभदेव भगवान् को

न्यग्रोधवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर वे सिद्ध बुद्ध मुक्त बने। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही साधना के श्रेष्ठ मार्ग है।

यह अहमदाबाद से प्रकाशित है।

४ मूलसूत्र

१) उत्तराध्ययन :- यह जैनागमों का प्रथम मूलसूत्र है। कही-कही दशवैकालिक को प्रथम मूलसूत्र भी मानते हैं। उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का संग्रह है (सकलन है) इसमें ३६ अध्ययन है और उन सबके भिन्न-भिन्न नाम हैं। प्रथम 'विनय' का अध्ययन और अन्तिम में जीव अजीव का स्वरूप स्पष्ट किया है। इसमें चार अनुयोगों (चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग) द्वारा परीषह, लेश्या, कर्म, समाचारी, लोकालोक, आदि विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है। परन्तु मुख्यत. चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा क्रमश अष्टप्रवचनमाता (पाँच समिति, तीन गुप्ति), दस साधु समाचारी, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार एवं तपाचार तथा सम्यक्त्व पराक्रम के सवेग, निर्वेद, धर्म-श्रद्धा, गुरु और साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा, आलोचना, निन्दा, गर्हा, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, स्तवस्तुतिमगल, काल प्रतिलेखना, प्रायश्चित्करण, क्षमापना, स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म-कथा, श्रुत की आराधना, एकाग्र मन की सन्निवेशना, सयम, तप, व्यवदान, सुखशाय, अप्रतिबद्धता, विविक्त शयनासन का सेवन, विनिवर्तना, सभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, सद् भाव प्रत्याख्यान, प्रतिरूपता, वैयावृत्य, सर्वगुण सम्पूर्णता, वीतरागता, शाति, मुक्ति, मार्दव,आर्जव, भाव सत्य, करण-सत्य, योग सत्य, मनोगुप्तता, वाग्गुप्तता, कायगुप्तता, मन समाधारण, वाक् समाधारण, काय समाधारण, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, श्रोत्र इन्द्रिय-निग्रह, चक्षु इन्द्रिय-निग्रह, घ्राणइन्द्रिय-निग्रह, जिह्वा इन्द्रिय-निग्रह, स्पर्शइन्द्रिय-निग्रह, क्रोध-विजय, मान-विजय, माया-विजय, लोभ-विजय, राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन-विजय, शैलेशी और अकर्मता इन ७३ बोल द्वारा धर्म ध्यान शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। धर्मध्यान का मूल सवेग है और शुक्लध्यान का फल अकर्मता है। चरणकरणानुयोग की भाँति ही धर्मकथानुयोग द्वारा भी जैसे कपिल केवली, नमिराजर्षि, इक्षुकार राजा, सयति राजा, मृगापुत्र, अनाथीमुनि, समुद्रपालित राजा, विजयघोष राजा आदि संयमी साधकों के माध्यम से धर्म और शुक्लध्यान का स्वरूप वर्णित किया है।

पूर्व आगमों में बताया गया है कि संयम मार्ग में नारी का ससर्ग त्याज्य है। परन्तु इसमें कमलावती राणी, व राजीमती कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है कि धर्म भ्रष्ट राजा और सयम भ्रष्ट साधु को सही मार्ग दिखाने वाली नारी ही है। उसके दो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर होते हैं ज्योति और ज्वाला के रूप में।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा धर्मध्यान व शुक्लध्यान का स्वरूप एव फल विवेचन किया है।

प्रस्तुत मूल आगम लुधियाना से तीन भागों में प्रकाशित है।

२) दशवैकालिक :- यह जैनागम साहित्य का द्वितीय मूल सूत्र है। इसके कर्ता शय्यभवाचार्य हैं। उन्होंने अपने पुत्र 'मणग' की छह मास ही आयु शेष रहने के कारण, उसे संपूर्ण श्रमणाचार का ज्ञान कराने हेतु इस आगम का निर्माण किया। इसके दस अध्याय और दो चूलिकाएँ हैं। चूलिकाएँ शय्यभवाचार्य की नही है ऐसा माना जाता है।

ध्यान करने की योग्यता किसमें हो सकती है? इसका प्रतिपादन प्रस्तुत आगम में है। जो साधक अहिंसा, संयम और तप की आराधना (साधना) से भ्रमर भिक्षा ग्रहण करके, ५२ अनाचार को टालकर, छह जीवनिकाय जीवों का रक्षक बनकर श्रमणाचार का पालन करता है वही ध्यानयोग का सच्चा साधक है। सयमी साधक को कैसे भिक्षा ग्रहण करना? किससे करना? कब करना? कैसे चलना? कैसे बोलना? आदि बातों का सूक्ष्म रूप से इसमें वर्णन किया गया है। ध्यानयोगी के लिए वाक् शुद्धि आवश्यक है। शरीर में बल हो तब तक ही साधना का प्रारभ करना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सबका विनाश करता है। अत ध्यान साधक को क्रोध के उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये। कषाय और स्त्री संसर्ग ही भवभ्रमण का कारण है। अत इनसे दूर रहे।

विनीत शिष्य सर्व सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। अविनीत के लिये कोई सिद्धि नही। 'गुरुकृपा' से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। गुरुकृपा 'विनय' से प्राप्त की जाती है। यदि मानो कि आसीविष सर्प के डंख मारने से, गिरिकन्दरा से गिरने से, अग्नि में गिरने से, जल में डूबने से उसी भव में मृत्यु हो जाती है। परन्तु आचार्य अथवा गुरु के अप्रसन्न होने से बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति ही नही होती। समाधि में लीन होने के लिये साधक को विनय समाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार समाधि से युक्त होना चाहिए। जो मन, वचन और काय का सयत है वही सच्चा साधक (भिक्षु) है। आठ मदों का त्यागी और धर्म ध्यान का आराधक ही सच्चा साधक (भिक्षु) है।

मन को वश में कैसे किया जाय? तो कहते हैं कि जैसे चचल घोड़े को लगाम से वश किया जाता है, मदोन्मत्त हाथी को अकुश से वश किया जाता है, समुद्र में डूबती हुई नाव को ध्वजा से वश किया जाता है वैसे ही अठारह स्थानों का दुषम काल में दु खपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है। १) गृहस्थ लोगों के कामभोग अल्पकालीन हैं, २) दुषमकालीन मनुष्य विशेष छल-कपट करनेवाले हैं, ३) दु:ख मुझे चिरकाल स्थायी नही होंगे, ४) सयम त्यागने से नीच पुरुषों का सन्मान करना होगा, ५) वमन किये हुए विषयभोगों को पुन पीना होगा, ६) नीच गति योग्य कर्म बांधने होंगे, ७) गृहपाश में स्थित गृहस्थों को धर्म दुर्लभ है, ८) विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिए होते हैं, ९) सकल्प विकल्प भी उसको नष्ट करनेवाले हैं, १०) गृहस्थावास क्लेश से सहित और चारित्र से रहित है, ११) गृहवास बंधनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है, १२) गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है, १३) गृहस्थों के कामभोग बहुत से जीवों को साधारण रूप है, १४) प्रत्येक आत्मा के पुण्य-पाप पृथक-पृथक हैं, १५) मनुष्य जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिंदु के समान चचल है, अनित्य है, १६) प्रबल पापों का उदय है जिससे मुझे ऐसे निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं, १७) दुष्ट विचारों एव मिथ्यात्वादि से बाधे हुए पूर्वकृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही, अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय करने से मोक्ष हो सकता है, १८) चिन्तन करने से मन को वश में किया जा सकता है।

ध्यान का काल स्वाध्याय के रूप में दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर तथा वैसे ही रात्रि के भी जानना चाहिए। प्रस्तुत आगम में स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय के बाद ध्यान करें। स्व अध्ययन के बाद ही ध्यान होगा। अत ध्यान ही तप है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

(३-४) नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार - ये आगम में चूलिका सूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ है- अध्ययन एव ग्रन्थ विषयक स्पष्टीकरण।

तीसरा मूलसूत्र नदी में पाँच ज्ञान का भेद प्रभेदों के साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्ज्ञान के बिना ध्यान की योग्यता प्राप्त नही होती। यह इसमें स्पष्ट किया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हीं पाँच ज्ञानों को नय, प्रमाण और निक्षेपों के द्वारा विशेष वर्णित किया है। इन्हीं के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विस्तृत विचार किया गया है। ध्यान की पात्रता सम्यग्ज्ञान से ही है। यह आगम से स्पष्ट किया गया है।

नन्दी सूत्र का प्रकाशन पाथर्डी से हुआ है और अनुयोग द्वार सूत्र का अजमेर से।

इन दोनों सूत्रों के क्रम मे कही-कही अतर है।

पूर्व आगमों में बताया गया है कि सयम मार्ग में नारी का ससर्ग त्याज्य है। परन्तु इसमें कमलावती राणी, व राजीमती कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है कि धर्म भ्रष्ट राजा और सयम भ्रष्ट साधु को सही मार्ग दिखाने वाली नारी ही है। उसके दो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर होते हैं ज्योति और ज्वाला के रूप में।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा धर्मध्यान व शुक्लध्यान का स्वरूप एव फल विवेचन किया है।

प्रस्तुत मूल आगम लुधियाना से तीन भागों में प्रकाशित है।

२) दशवैकालिक :- यह जैनागम साहित्य का द्वितीय मूल सूत्र है। इसके कर्ता शय्यंभवाचार्य हैं। उन्होंने अपने पुत्र 'मणग' की छह मास ही आयु शेष रहने के कारण, उसे सपूर्ण श्रमणाचार का ज्ञान कराने हेतु इस आगम का निर्माण किया। इसके दस अध्याय और दो चूलिकाएँ हैं। चूलिकाएँ शय्यभवाचार्य की नही है ऐसा माना जाता है।

ध्यान करने की योग्यता किसमें हो सकती है? इसका प्रतिपादन प्रस्तुत आगम में है। जो साधक अहिंसा, सयम और तप की आराधना (साधना) से भ्रमर भिक्षा ग्रहण करके, ५२ अनाचार को टालकर, छह जीवनिकाय जीवों का रक्षक बनकर श्रमणाचार का पालन करता है वही ध्यानयोग का सच्चा साधक है। सयमी साधक को कैसे भिक्षा ग्रहण करना? किससे करना? कब करना? कैसे चलना? कैसे बोलना? आदि बातों का सूक्ष्म रूप से इसमें वर्णन किया गया है। ध्यानयोगी के लिए वाक् शुद्धि आवश्यक है। शरीर में बल हो तब तक ही साधना का प्रारभ करना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सबका विनाश करता है। अत ध्यान साधक को क्रोध के उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये। कषाय और स्त्री संसर्ग ही भवभ्रमण का कारण है। अत इनसे दूर रहे।

विनीत शिष्य सर्व सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। अविनीत के लिये कोई सिद्धि नही। 'गुरुकृपा' से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। गुरुकृपा 'विनय' से प्राप्त की जाती है। यदि मानो कि आसीविष सर्प के डख मारने से, गिरिकन्दरा से गिरने से, अग्नि में गिरने से, जल में डूबने से उसी भव में मृत्यु हो जाती है। परन्तु आचार्य अथवा गुरु के अप्रसन्न होने से बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति ही नही होती। समाधि में लीन होने के लिये साधक को विनय समाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार समाधि से युक्त होना चाहिए। जो मन, वचन और काय का सयत है वही सच्चा साधक (भिक्षु) है। आठ मदों का त्यागी और धर्म ध्यान का आराधक ही सच्चा साधक (भिक्षु) है।

मन को वश में कैसे किया जाय? तो कहते हैं कि जैसे चंचल घोड़े को लगाम से वश किया जाता है, मदोन्मत्त हाथी को अंकुश से वश किया जाता है, समुद्र में डूबती हुई नाव को ध्वजा से वश किया जाता है वैसे ही अठारह स्थानों का दुषम काल में दु खपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है। १) गृहस्थ लोगों के कामभोग अल्पकालीन हैं, २) दुषमकालीन मनुष्य विशेष छल-कपट करनेवाले हैं, ३) दु ख मुझे चिरकाल स्थायी नही होंगे, ४) सयम त्यागने से नीच पुरुषों का सन्मान करना होगा, ५) वमन किये हुए विषयभोगों को पुन पीना होगा, ६) नीच गति योग्य कर्म बाधने होंगे, ७) गृहपाश में स्थित गृहस्थों को धर्म दुर्लभ है, ८) विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिए होते हैं, ९) सकल्प विकल्प भी उसको नष्ट करनेवाले हैं, १०) गृहस्थावास क्लेश से सहित और चारित्र से रहित है, ११) गृहवास बधनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है, १२) गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है, १३) गृहस्थों के कामभोग बहुत से जीवों को साधारण रूप है, १४) प्रत्येक आत्मा के पुण्य-पाप पृथक-पृथक हैं, १५) मनुष्य जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिंदु के समान चचल है, अनित्य है, १६) प्रबल पापों का उदय है जिससे मुझे ऐसे निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं, १७) दुष्ट विचारों एवं मिथ्यात्वादि से बाधे हुए पूर्वकृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही, अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय करने से मोक्ष हो सकता है, १८) चिन्तन करने से मन को वश में किया जा सकता है।

ध्यान का काल स्वाध्याय के रूप में दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर तथा वैसे ही रात्रि के भी जानना चाहिए। प्रस्तुत आगम में स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय के बाद ध्यान करें। स्व अध्ययन के बाद ही ध्यान होगा। [illegible] ध्यान ही [illegible] है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

(३-४) नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार - ये आगम में चूलिका सूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ है- अध्ययन एवं ग्रन्थ विषयक स्पष्टीकरण।

तीसरा मूलसूत्र नदी में पाँच ज्ञान का भेद प्रभेदों के साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्ज्ञान के बिना ध्यान की योग्यता [illegible] नही होती। [illegible] इसमें स्पष्ट किया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हीं पाँच ज्ञानों को नय, प्रमाण और निक्षेपों के द्वारा विशेष वर्णित किया है। इन्हीं के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विस्तृत विचार किया गया है। ध्यान की पात्रता सम्यग्ज्ञान से ही है। यह आगम से स्पष्ट किया गया है।

नन्दी सूत्र का प्रकाशन पाथर्डी से हुआ है और अनुयोग द्वार सूत्र का अजमेर से।

इन दोनों सूत्रों के [illegible] मे कहीं-कही अतर है।

४ छेद सूत्र

अप्रमादी साधक ही ध्यानयोग की साधना निर्विघ्न रूप से कर सकता है। साधना-कालीन जीवन में लगनेवाले दोषों का परिमार्जन करने से आत्मा निर्मल बनती है। इसलिए जैनागम साहित्य में छेदसूत्र को महत्त्व का स्थान दिया है। जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि आचार धर्म की साधना से है। ध्यान योग की साधना में आचार धर्म नीव रूप है। आचार धर्म के उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त इनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलाप को विशुद्ध रूप से समझने के लिए छेत्रसूत्रों का ज्ञान-ध्यान साधक के लिए आवश्यक है। छेद सूत्र की संख्या चार है।

(१) आचार दशा अथवा दशाश्रुतस्कन्ध - इस प्रथम छेदसूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनके अन्तर्गत साधक कालीन जीवन में आनेवाले विघ्नों का तथा साधना में सहायक तत्त्वों का विवेचन है। उपासक की ग्यारह पडिमा में से कार्योत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप अल्प मात्रा में स्पष्ट किया है। किन्तु भिक्षु की बारह पडिमा में से अन्तिम पडिमाओं में ध्यान का स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट किया है। प्रस्तुत आगम में पडिमा के रूप में ध्यान का विश्लेषण किया गया है।

यह आगम लाहोर से प्रकाशित है।

(२) बृहत्कल्प - सभी छेद सूत्रों में इसका स्थान महत्त्व का है। इसके अन्तर्गत श्रमण-श्रमणियों के आचारविषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। विशेषत श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धतियों (स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, यथालन्द एव परिहारविशुद्ध कल्प) का वर्णन है। इसके [illegible] उद्देश्यक हैं, जो सभी गद्य में हैं। इसका ग्रन्थप्रमाण १८५ श्लोक प्रमाण है। क्रमश ५०+२५+३१+३७+४२ = १८५

साधना पद्धतियों में से ध्यान को निकाल दिया जाय तो साधना सिद्ध हो ही नही सकती। अत. ध्यान साधना का अनिवार्य अंग है।

(३) व्यवहार सूत्र - यह कल्पसूत्र का ही पूरक तथा गद्यमय छेदसूत्र है। इसके दस अध्ययन और ३००सूत्र हैं। इसमें विशेष तौर से प्रायश्चित्त पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान योग के विशिष्ट साधक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि का भी वर्णन है। गीतार्थ, अगीतार्थ, साधक की योग्यता, अयोग्यता का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। दीक्षा का स्वरूप, श्रमण-श्रमणियों की आचार भिन्नता, श्रमण-श्रमणियों का परस्पर व्यवहार कैसे हो? दीक्षा कब दी जाय? योग्य को दी जाय या अयोग्य को? शय्या सस्तारक आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। खास तौर से भिक्षु

पडिमा, यवमध्यपडिमा, वज्रमध्यपडिमा, पच व्यवहार एव बाल दीक्षा की विधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है जो ध्यान के पोषक तत्त्व हैं। इन साधनाओं के द्वारा ध्यान विकसित होता है।

(४) निशीथ सूत्र – प्रस्तुत छेदसूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। ये प्रायश्चित श्रमण-श्रमणियों के लिए ही हैं। इसके २० उद्देश्य हैं। १९ वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त का विधान है और २० वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया है।

प्रथम उद्देश्यक में 'गुरुमासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। द्वितीय उद्देश्यक से पंचम उद्देश्यक तक 'लघुमासिक' प्रायश्चित्त का विधान है। छट्ठे उद्देश्यक से लेकर ग्यारहवें उद्देश्यक तक 'गुरु चातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। बारहवें उद्देशक को लेकर उन्नीसवें उद्देश्यक तक 'लघुचातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया गया है। बीसवें उद्देश्यक में आलोचना एव प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले दोषों का सम्यक् विचार करके विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। ये सब ध्यान के पोषक हैं।

इस ग्रन्थ में करीबन १५०० सूत्र है।

३२ वाँ आगम 'आवश्यक सूत्र'

प्रस्तुत आगम जैन साधना का प्राण माना जाता है। जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का हेतु होने से इसे आवश्यक सज्ञा दी है।

जैन साधना पद्धति में चिन्तन की दृष्टि से द्रव्य भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है। हर पदार्थ को इन दो के द्वारा मापा जाता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया द्रव्य और भाव के द्वारा ही की जाती है। अत आवश्यक क्रिया भी दो प्रकार की है- द्रव्य और भाव।

यों तो आवश्यक छह प्रकार के हैं।

(१) सामायिक (२) चर्तुविंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान

यहाँ आवश्यक शब्द आध्यात्मिक शुद्धि का प्रतीक है। आत्मशुद्धि के बिना मनोनिग्रह नही हो सकता और मनोनिग्रह के बिना ध्यान सभव ही नही। अत ध्यान साधना में आवश्यक क्रिया सहायभूत है।

व्याख्यात्मक आगम साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के प्रत्येक शब्दों का गूढार्थ प्रकट करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। यह प्राचीनतम परंपरा है। इसे हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) निर्युक्तियाँ (२) भाष्य (३) चूर्णियाँ (४) सस्कृत टीका।

४ छेद सूत्र

अप्रमादी साधक ही ध्यानयोग की साधना निर्विघ्न रूप से कर सकता है। साधना-कालीन जीवन में लगनेवाले दोषों का परिमार्जन करने से आत्मा निर्मल बनती है। इसलिए जैनागम साहित्य में छेदसूत्र को महत्त्व का स्थान दिया है। जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि आचार धर्म की साधना से है। ध्यान योग की साधना में आचार धर्म नींव रूप है। आचार धर्म के उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त इनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलाप को विशुद्ध रूप से समझने के लिए छेत्रसूत्रों का ज्ञान-ध्यान साधक के लिए आवश्यक है। छेद सूत्र की सख्या चार है।

(१) आचार दशा अथवा दशाश्रुतस्कन्ध - इस प्रथम छेदसूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनके अन्तर्गत साधक कालीन जीवन में आनेवाले विघ्नों का तथा साधना में सहायक तत्त्वों का विवेचन है। उपासक की ग्यारह पडिमा में से कार्योत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप अल्प मात्रा में स्पष्ट किया है। किन्तु भिक्षु की बारह पडिमा में से अन्तिम पडिमाओं में ध्यान का स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट किया है। प्रस्तुत आगम में पडिमा के रूप में ध्यान का विश्लेषण किया गया है।

यह आगम लाहोर से प्रकाशित है।

(२) बृहत्कल्प - सभी छेद सूत्रों में इसका स्थान महत्त्व का है। इसके अन्तर्गत श्रमण-श्रमणियों के आचारविषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। विशेषत श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धतियों (स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, यथालन्द एव परिहारविशुद्ध कल्प) का वर्णन है। इसके छह उद्देश्यक हैं, जो सभी गद्य में हैं। इसका ग्रन्थप्रमाण १८५ श्लोक प्रमाण है। क्रमश ५०+२५+३१+३७+४२ = १८५

साधना पद्धतियों में से ध्यान को निकाल दिया जाय तो साधना सिद्ध हो ही नही सकती। अत ध्यान साधना का अनिवार्य अंग है।

(३) व्यवहार सूत्र - यह कल्पसूत्र का ही पूरक तथा गद्यमय छेदसूत्र है। इसके दस अध्ययन और ३०० सूत्र हैं। इसमें विशेष तौर से प्रायश्चित्त पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान योग के विशिष्ट साधक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि का भी वर्णन है। गीतार्थ, अगीतार्थ, साधक की योग्यता, अयोग्यता का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। दीक्षा का स्वरूप, श्रमण-श्रमणियों की आचार भिन्नता, श्रमण-श्रमणियों का परस्पर व्यवहार कैसे हो? दीक्षा कब दी जाय? योग्य को दी जाय या अयोग्य को? शय्या सस्तारक आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। खास तौर से भिक्षु

पडिमा, यवमध्यपडिमा, वज्रमध्यपडिमा, पच व्यवहार एव बाल दीक्षा की विधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है जो ध्यान के पोषक तत्त्व हैं। इन साधनाओं के द्वारा ध्यान विकसित होता है।

(४) निशीथ सूत्र - प्रस्तुत छेदसूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। ये प्रायश्चित श्रमण-श्रमणियों के लिए ही हैं। इसके २० उद्देश्य हैं। १९ वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त का विधान है और २० वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया है।

प्रथम उद्देश्यक में 'गुरुमासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। द्वितीय उद्देश्यक से पचम उद्देश्यक तक 'लघुमासिक' प्रायश्चित्त का विधान है। छट्ठे उद्देश्यक से लेकर ग्यारहवें उद्देश्यक तक 'गुरु चातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। बारहवें उद्देशक को लेकर उन्नीसवें उद्देश्यक तक 'लघुचातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया गया है। बीसवें उद्देश्यक में आलोचना एव प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले दोषों का सम्यक् विचार करके विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। ये सब ध्यान के पोषक हैं।

इस ग्रन्थ में करीबन १५०० सूत्र है।

३२ वाँ आगम 'आवश्यक सूत्र'

प्रस्तुत आगम जैन साधना का प्राण माना जाता है। जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का हेतु होने से इसे आवश्यक सज्ञा दी है।

जैन साधना पद्धति में चिन्तन की दृष्टि से द्रव्य भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है। हर पदार्थ को इन दो के द्वारा मापा जाता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया द्रव्य और भाव के द्वारा ही की जाती है। अत आवश्यक क्रिया भी दो प्रकार की है- द्रव्य और भाव।

यों तो आवश्यक छह प्रकार के हैं।

(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान

यहाँ आवश्यक शब्द आध्यात्मिक शुद्धि का प्रतीक है। आत्मशुद्धि के बिना मनोनिग्रह नही हो सकता और मनोनिग्रह के बिना ध्यान सभव ही नही। अत ध्यान साधना में आवश्यक क्रिया सहायभूत है।

व्याख्यात्मक आगम साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के प्रत्येक शब्दों का गूढार्थ प्रकट करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। यह प्राचीनतम परंपरा है। इसे हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) निर्युक्तियाँ (२) भाष्य (३) चूर्णियाँ (४) सस्कृत टीका।

(१) निर्युक्तियाँ : जैसे वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने हेतु यास्क महर्षि ने निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा वैसे ही जैनागमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। इसकी व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति की है। निक्षेप पद्धति में किसी एक पद के सभवित अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन शास्त्र में अति लोकप्रिय रही है। इसीलिए भद्रबाहु ने प्रस्तुत पद्धति को निर्युक्ति के लिए उपयुक्त मानी। उनका कथन है कि भगवान महावीर की देशना (उपदेश) के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सबधित है, इस बात को लक्ष्य में रखते हुए, सही दृष्टि से अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सबध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।[३३] दूसरे शब्दों में कहे तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सबध बतलाने वाली व्याख्या को निर्युक्ति कहते हैं।[३४] अथवा निश्चयार्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।[३५] अनुयोग द्वार सूत्र में तीन प्रकार की निर्युक्तियों का दिग्दर्शन है[३६] (१) निक्षेप निर्युक्ति (२) उपोद्घात - निर्युक्ति और (३) सूत्रस्पर्शिका - निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु ने आगम ग्रन्थों पर दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं। वे निम्नलिखित हैं।

(१) आवश्यक निर्युक्ति, (२) दशवैकालिक निर्युक्ति, (३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति (४) आचाराग - निर्युक्ति (५) सूत्रकृताग निर्युक्ति (६) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (७) बृहत्कल्प - निर्युक्ति (८) व्यवहार - निर्युक्ति (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित निर्युक्ति। इनमें से अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नही हैं। शेष आठ उपलब्ध हैं।

भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु हैं जो नेपाल में महाप्राण साधनार्थ गये थे, जब कि दिगम्बर- परम्परानुसार ये ही भद्रबाहु नेपाल में न जाकर दक्षिण में गये थे। यह तो अन्वेषण का विषय रहा है।

(१) आवश्यक निर्युक्ति : यह व्याख्या साहित्य की प्रथम रचना है। इसमें सभी आगमकालीन महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत एव सुव्यवस्थित व्याख्यान है। अन्य निर्युक्तियों में इसी की ओर संकेत किया जाता है। इसके छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में उपोद्घात है। इसे इस ग्रन्थ की भूमिका रूप में समझना चाहिये। यह भूमिका रूप होते हुए भी इसमें ८८० गाथाएँ हैं।

उपोद्घात अध्याय में ज्ञानाधिकार, ऋषभदेव व महावीर चरित्र हैं। क्षेत्र-कालादि

द्वार आदि का विस्तृत वर्णन करने के बाद मगल पाठ, नमस्कार रूप में सामायिक निर्युक्ति की सूत्रस्पर्शिक व्याख्या का प्रारम करते हैं।

द्वितीय अध्याय में 'चर्तुविंशतिस्तव' का वर्णन है। 'चतुर्विंशति' शब्द का छह प्रकार से और 'स्तव' शब्द का चार प्रकार से निक्षेप पद्धति द्वारा वर्णन किया है।

तृतीय अध्याय 'वन्दना' का है। वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये पाँच सामान्यत. वन्दना के पर्यायवाची शब्द हैं।

चतुर्थ अध्याय में 'प्रतिक्रमण' का उल्लेख है। प्रतिक्रमण-पर तीन प्रकार से विचार किया गया है। (१) प्रतिक्रमण रूप क्रिया (२) प्रतिक्रमण का कर्ता (प्रतिक्रामक) और (३) प्रतिक्रन्तव्य - प्रतिक्रमितव्य अशुभयोग रूप कर्म। जीव पापकर्मयोगों का प्रतिक्रामक है। अत जो ध्यान, प्रशस्त योग है, उसका साधु को प्रतिक्रमण नही करना चाहिये। प्रतिक्रमण, प्रतिचरण, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ये सभी प्रतिक्रमण शब्द के पर्यायवाची हैं।

पाँचवाँ अध्याय 'कायोत्सर्ग का है। इसी में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये हैं। बाद में कायोत्सर्ग की व्याख्या की है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग एक ही पयार्यवाची शब्द है। कायोत्सर्ग का अर्थ व्रण चिकित्सा किया गया है। व्रण दो प्रकार का है। (१) तदुद्‌भव (कायोत्थ) और (२) आगन्तुक (परोत्थ)। इनमें से यहाँ पर आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया गया है। शल्योद्धरण की विधि शल्य की प्रकृति के अनुरूप होती है। जैसा व्रण होता है वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। यह तो बाह्य चिकित्सा की बात हुई। आभ्यन्तर व्रण चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ है। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ है। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण आलोचना से ठीक हो सकता है। व्रतों के अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। किसी अतिचार की शुद्धि कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) से होती है। कोई कोई अतिचार तपस्या से शुद्ध होते हैं। इस प्रकार आभ्यन्तर व्रण चिकित्सा के अनेक उपाय है।

कायोत्सर्ग की व्याख्या करते समय निर्युक्तिकार ने निम्नलिखित ग्यारह द्वारों का आधार लिया है। (१) निक्षेप (२) एकार्थक (३) शब्द (४) विधान मार्गणा (५) काल प्रमाण (६) भेदपरिमाण (७) अशठ (८) शठ (९) विधि (१०) दोष (११) अधिकारी और (१२) फल। इनमें भेदपरिमाण की चर्चा के अन्तर्गत नौ भेदों की गणना करते है। (१) उच्छितोच्छित (२) उच्छित (३) उच्छितनिष्पण्ण (४) निषण्णोच्छित (५) निषण्ण (६) निषण्णनिषण्ण (७) निर्विण्णोच्छ्ति (८) निर्विण्ण और

(९) निर्विण्णनिर्विण्ण। इनमें से उच्छित का अर्थ है 'ऊर्ध्वस्थ' (खड़ा हुआ), निषण्ण का अर्थ है 'उपविष्ट' (बैठा हुआ) और निर्विण्ण का अर्थ है 'सुप्त' (सोया हुआ)।

भेदपरिमाण की चर्चा के साथ ही निर्युक्तिकार कायोत्सर्ग के फल की चर्चा प्रारभ करते हैं। उनका कथन है कि कायोत्सर्ग से देह और मति (जड़ता) की शुद्धि होती है, सुख-दु ख सहने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा (अनित्यादि भावना) का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभ ध्यान का आधार लेकर निर्युक्तिकार 'ध्यान' की चर्चा करते हैं।

ध्यान का आगमिक दृष्टि से स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिये जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। आगम के अनुसार ही ध्यान के चार भेद बताये हैं। उनमें से प्रथम दो ससार वर्धक और अन्तिम दो मोक्ष के हेतु बताये हैं। इन चार ध्यानों को शुभ और अशुभ भेदों में विभाजित किया है। प्रस्तुत अधिकार शुभ ध्यान के विषय में है। निर्युक्तिकार ध्यान से विशिष्ट सबध रखनेवाली अन्य बातों का भी इसमें वर्णन करते हैं। ध्यान की दृष्टि से ५वाँ अध्याय विशेष महत्त्व का है।

छट्ठे अध्याय में 'प्रत्याख्यान' का वर्णन है। प्रत्याख्यान दस प्रकार के हैं। निर्युक्तिकार इस पर छह प्रकार से विचार करते हैं।

प्रस्तुत निर्युक्ति में ध्यान का सविस्तृत वर्णन कायोत्सर्ग अध्याय में ही है।

यह निर्युक्ति भावनगर और राजनगर से प्रकाशित है।

(२) दशवैकालिक - निर्युक्ति - इसमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति द्वारा 'धर्म' पद का व्याख्यान 'नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म और भाव धर्म' से चार प्रकार का किया है। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद भी किये हैं। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का है - गम्यधर्म, पशु धर्म, देश धर्म, राज्य धर्म, पुखर धर्म, ग्राम धर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि। लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है। श्रृतधर्म और चारित्र धर्म। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्र धर्म श्रावक और श्रमणरूप है - श्रुतधर्म के अन्तर्गत ही बाह्य और आभ्यन्तर 'तप' का वर्णन है। आभ्यन्तर तप में ही ध्यान का वर्णन है। ध्यान का अधिकारी आगार और अनगार है। आगारधर्म बारह प्रकार का है और अनगार धर्म शान्ति आदि दस धर्म मूलक तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतरूप हैं। विनयवान साधक ही ध्यान की साधना कर सकता है। नौवें अध्याय में विशेषत भावविनय के पाँच भेद बताये हैं। (१) लोकोपचार (२) अर्थनिमित्त (३) कामहेतु (४) भयनिमित्त और (५) मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक

विनय पाँच प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। इनमें तप के अन्तर्गत ही ध्यान का विशेष वर्णन है।

(३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति । दशवैकालिक निर्युक्ति की ही भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप दृष्टि से चिंतन किया है तथा अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये गये हैं। यथा, गधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूल भद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकडु, प्रत्येक बुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि आवश्यक निर्युक्ति में कथित ध्यान का वर्णन यहाँ पर अदृष्य रूप से सयम शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया है। द्रव्य प्रव्रज्या की अपेक्षा भाव प्रव्रज्या को अधिक महत्त्व दिया गया है। भाव प्रव्रज्या ही ध्यान है।

भावाग का दो प्रकार से वर्णन किया गया है (१) श्रुतांग और (२) नो श्रुताग। श्रुताग आचारागादि बारह अग है और नोश्रुताग चतुरगीय के रूप में प्रसिद्ध है जैसे कि मानुष्य, धर्म श्रुति, श्रद्धा और वीर्य (तप और संयम से पराक्रम)

(४) आचारांग-निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दोनों श्रुतस्कन्धों पर हैं। इसमें ३४८ गाथाएँ हैं। जिसके अन्तर्गत आचार, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, सज्ञा, दिशा, पृथ्वी, विमोक्ष, ईर्या, निक्षेप, पर्याय आदि शब्दों पर चिंतन किया गया है। विशेषत अग शब्द पर विस्तृत चर्चा की गई है। बारह अगों में आचाराग को ही प्रथम क्यों रखा गया? इसका तार्किक दृष्टि से सुविस्तृत वर्णन किया गया है कि अगों का सार आचार है और आचार का सार क्रमश अनुयोग—प्ररूपणा—चरण—निर्वाण—अव्याबाध सुख। अव्याबाध सुख की प्राप्ति तप कर्म से ही होती है। सयम और तप से ही सिद्धि मिलती है। इस निर्युक्ति में सयम और तप के अन्तर्गत ध्यान का समावेश किया है। संयमी एव तपोमय जीवन ही ध्यान है। इस निर्युक्ति का यही सार तत्त्व है।

(५) सूत्रकृतागनिर्युक्ति : इस निर्युक्ति में २०५ गाथाएँ हैं। गा १८ और २० में 'सूत्रकृताग' शब्द पर विचार किया गया है। गा ६६ और ६७ में नारकी के १५ परमाधामी देवों का वर्णन है। अम्ब, अम्बरीष, शाम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष्य, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष इन पन्द्रह प्रकार के देवताओं का कार्य अपने-अपने नामानुसार ही है। गा. ६८ से लेकर ११८ तक की गाथाओं में निर्युक्तिकार ने नारकीय जीवों के दु खों का (वेदनाओं का) हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। गा ११९ में १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवाद एवं ३२ वैनयिक आदि ३६३ पाखण्डियों का सुदर वर्णन किया है। इन विषयों के अतिरिक्त षोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक,

(९) निर्विण्णनिर्विण्ण। इनमें से उच्छित का अर्थ है 'ऊर्ध्वस्थ' (खड़ा हुआ), निषण्ण का अर्थ है 'उपविष्ट' (बैठा हुआ) और निर्विण्ण का अर्थ है 'सुप्त' (सोया हुआ)।

भेदपरिमाण की चर्चा के साथ ही निर्युक्तिकार कायोत्सर्ग के फल की चर्चा प्रारम करते हैं। उनका कथन है कि कायोत्सर्ग से देह और मति (जड़ता) की शुद्धि होती है, सुख-दु:ख सहने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा (अनित्यादि भावना) का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभ ध्यान का आधार लेकर निर्युक्तिकार 'ध्यान' की चर्चा करते हैं।

ध्यान का आगमिक दृष्टि से स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिये जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। आगम के अनुसार ही ध्यान के चार भेद बताये हैं। उनमें से प्रथम दो संसार वर्धक और अन्तिम दो मोक्ष के हेतु बताये हैं। इन चार ध्यानों को शुभ और अशुभ भेदों में विभाजित किया है। प्रस्तुत अधिकार शुभ ध्यान के विषय में है। निर्युक्तिकार ध्यान से विशिष्ट सबध रखनेवाली अन्य बातों का भी इसमें वर्णन करते हैं। ध्यान की दृष्टि से ५वाँ अध्याय विशेष महत्त्व का है।

छट्ठे अध्याय में 'प्रत्याख्यान' का वर्णन है। प्रत्याख्यान दस प्रकार के हैं। निर्युक्तिकार इस पर छह प्रकार से विचार करते हैं।

प्रस्तुत निर्युक्ति में ध्यान का सविस्तृत वर्णन कायोत्सर्ग अध्याय में ही है।

यह निर्युक्ति भावनगर और राजनगर से प्रकाशित है।

(२) दशवैकालिक - निर्युक्ति - इसमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति द्वारा 'धर्म' पद का व्याख्यान 'नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म और भाव धर्म' से चार प्रकार का किया है। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद भी किये हैं। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का है - गम्यधर्म, पशु धर्म, देश धर्म, राज्य धर्म, पुखर धर्म, ग्राम धर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि। लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है। श्रृतधर्म और चारित्र धर्म। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्र धर्म श्रावक और श्रमणरूप है - श्रुतधर्म के अन्तर्गत ही बाह्य और आभ्यन्तर 'तप' का वर्णन है। आभ्यन्तर तप में ही ध्यान का वर्णन है। ध्यान का अधिकारी आगार और अनगार है। आगारधर्म बारह प्रकार का है और अनगार धर्म शान्ति आदि दस धर्म मूलक तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतरूप हैं। विनयवान साधक ही ध्यान की साधना कर सकता है। नौवें अध्याय में विशेषत भावविनय के पाँच भेद बताये हैं। (१) लोकोपचार (२) अर्थनिमित्त (३) कामहेतु (४) भयनिमित्त और (५) मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक

विनय पाँच प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। इनमें तप के अन्तर्गत ही ध्यान का विशेष वर्णन है।

(३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति। दशवैकालिक निर्युक्ति की ही भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप दृष्टि से चिंतन किया है तथा अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये गये हैं। यथा, गधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूल भद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकडु, प्रत्येक बुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि आवश्यक निर्युक्ति में कथित ध्यान का वर्णन यहाँ पर अदृष्य रूप से सयम शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया है। द्रव्य प्रव्रज्या की अपेक्षा भाव प्रव्रज्या को अधिक महत्त्व दिया गया है। भाव प्रव्रज्या ही ध्यान है।

भावाग का दो प्रकार से वर्णन किया गया है (१) श्रुताग और (२) नो श्रुताग। श्रृतांग आचारांगादि बारह अंग है और नोश्रुतांग चतुरगीय के रूप में प्रसिद्ध है जैसे कि मानुष्य, धर्म श्रुति, श्रद्धा और बीर्य (तप और सयम से पराक्रम)

(४) आचारांग-निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दोनों श्रृतस्कन्धों पर हैं। इसमें ३४८ गाथाएँ हैं। जिसके अन्तर्गत आचार, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, संज्ञा, दिशा, पृथ्वी, विमोक्ष, ईर्या, निक्षेप, पर्याय आदि शब्दों पर चिंतन किया गया है। विशेषत अग शब्द पर विस्तृत चर्चा की गई है। बारह अगों में आचारांग को ही प्रथम क्यों रखा गया? इसका तार्किक दृष्टि से सुविस्तृत वर्णन किया गया है कि अंगों का सार आचार है और आचार का सार क्रमश अनुयोग—प्ररूपणा—चरण—निर्वाण—अव्याबाध सुख। अव्याबाध सुख की प्राप्ति तप कर्म से ही होती है। सयम और तप से ही सिद्धि मिलती है। इस निर्युक्ति में सयम और तप के अन्तर्गत ध्यान का समावेश किया है। संयमी एवं तपोमय जीवन ही ध्यान है। इस निर्युक्ति का यही सार तत्त्व है।

(५) सूत्रकृतागनिर्युक्ति : इस निर्युक्ति में २०५ गाथाएँ हैं। गा १८ और २० में 'सूत्रकृतांग' शब्द पर विचार किया गया है। गा. ६६ और ६७ में नारकी के १५ परमाधामी देवों का वर्णन है। अम्ब, अम्बरीष, शाम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष्य, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष इन पन्द्रह प्रकार के देवताओं का कार्य अपने-अपने नामानुसार ही है। गा. ६८ से लेकर ११८ तक की गाथाओं में निर्युक्तिकार ने नारकीय जीवों के दु खों का (वेदनाओं का) हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। गा ११९ में १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवाद एवं ३२ वैनयिक आदि ३६३ पाखण्डियों का सुदर वर्णन किया है। इन विषयों के अतिरिक्त षोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक,

आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। 'आर्द्र'पद की व्याख्या के साथ ही साथ आर्द्र की जीवन कथा भी दी गई है। अन्त में नालंदा की निर्युक्ति करते समय 'अलम्' शब्द से नाम, स्थापना, द्रव्य भाव निक्षेप से व्याख्या की है और यह भी स्पष्ट किया है कि राजगृह के बाहर नालन्दा है।

विशेष रूप से इस निर्युक्ति में 'समाधि' और 'मार्ग' के निक्षेप पद्धति से ध्यानयोग का विश्लेषण किया है। प्राचीन काल में भी ध्यान, समाधि और भावना इन तीन शब्दों के साथ 'योग' शब्द को जोड़ा गया है। अत॰ प्राचीनकालीन शब्दों का भी दिग्दर्शन इस निर्युक्ति में विशेष रूप से मिलता है।

(६) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रथमत॰ दशा, कल्प एव भद्रबाहु को नमस्कार करने के बाद 'एक' और 'दश' का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है। तदनन्तर दस अध्ययनों के अधिकारों का निर्देश है।

प्रथम अध्याय असमाधि स्थान की निर्युक्ति में द्रव्य और भाव समाधि का स्वरूप बताकर स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, सयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, सधान और भाव इन पन्द्रह प्रकार से निक्षेपों का उल्लेख किया है। द्वितीय अध्याय में शबल दोष की व्याख्या करते हुए आचार से भिन्न व्यक्ति भाव शबल बताया है। तृतीय अध्याय में आशातना की व्याख्या दो प्रकार से की है। मिथ्याप्रतिपादन सबधी और लाभ सबधी। चतुर्थ अध्याय में 'गणि' और 'सपदा' इन दो पदों का निक्षेप पद्धति से विवेचन किया है। पचम अध्याय में 'चित्त' और 'समाधि' पर निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है। इन दोनों के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से चार -चार प्रकार हैं। भाव चित्त की समाधि ही ध्यानावस्था की स्थिति है। छट्ठे अध्याय में 'उपासक' और 'प्रतिमा' का निक्षेप-दृष्टि से व्याख्यान किया गया है। उपासक चार प्रकार के बताये हैं- द्रव्योपासक, तदूर्थोपासक, मोहोपासक तथा भावोपासक। सम्यग्दृष्टि ही भावोपासक हो सकता है। उपासक को श्रावक भी कहते हैं। 'प्रतिमा' भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चार प्रकार से हैं। सद्‌गुण धारणा का नाम भाव प्रतिमा है। वह दो प्रकार की है। भिक्षु प्रतिमा और उपासक प्रतिमा। भिक्षु प्रतिमा बारह प्रकार की है और उपासक प्रतिमा ग्यारह प्रकार की। सप्तम अध्याय में ही बारह भिक्षु प्रतिमा का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत ही ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। भिक्षु प्रतिमा चार प्रकार की है- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। भाव भिक्षु प्रतिमा पाँच प्रकार की है। समाधि प्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसलीनताप्रतिमा और एकविहारप्रतिमा। अष्टम अध्याय में पर्युषणकल्प का व्याख्यान

किया गया है और नौवें दशवें में क्रमश मोहनीय स्थान का तथा 'आजाति' जन्म-मरण का क्या कारण है और 'अनाजाति' मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो? आदि का वर्णन है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में समाधि शब्द के अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

(७) बृहत्कल्पनिर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति में 'मगल' और 'अनुयोग' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। श्रमण धर्म से सबधित साधना में आवश्यक विधि-विधान, उत्सर्ग-अपवाद, दोष-प्रायश्चित्त आदि का व्याख्यानात्मक वर्णन के साथ ही साथ श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धति (जिनकल्प व स्थविरकल्प) का भी वर्णन किया है। इसी के अंतर्गत ध्यान का विश्लेषण किया है।

अनार्य क्षेत्र में विचरण करने से लगनेवाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टात द्वारा तथा आर्य क्षेत्र में विचरण करने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रक्षा एवं वृद्धि के लिए संप्रतिराजा के दृष्टान्त से समर्थन किया है।

ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना आर्यक्षेत्र में ही सुलभ है। स्थान की दृष्टि से भी ध्यान का स्थान आर्य क्षेत्र ही है।

(८) व्यवहार -निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति में बृहत्कल्प निर्युक्ति में कथित विषयों का ही अधिकतर विवेचन है। इसमें ध्यान संबधी भिक्षु पडिमा और अन्य पडिमाओं का व्याख्यात्मक वर्णन है।

अन्य निर्युक्तियाँ

उपरोक्त आठ निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पचकल्पनिर्युक्ति, निशीथ निर्युक्ति और ससक्त निर्युक्ति भी मिलती हैं। अन्तिम निर्युक्ति तो बहुत बाद के आचार्य की रचना है। प्रथम की तीन निर्युक्तियाँ स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर क्रमश. दशवैकालिक निर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पनिर्युक्ति के ही पूरक अग है। निशीथनिर्युक्ति भी आचारांग का ही पूरक है। फिर भी भद्रबाहु द्वारा रचित पिण्ड निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का कलेवर विशालकाय होने से उसपर भी अलग सा विचार किया जा रहा है।

पिण्डनिर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति भद्रबाहु द्वारा रचित है। इसमें आठ अधिकार और ६७१ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक का पंचम अध्याय पिंडेषणा का है। उस पर लिखित निर्युक्ति विस्तृत होने से इसका नाम अलग सा रखा गया है। इसके आठ अध्याय में ध्यान साधना में आनेवाले विघ्नों का वर्णन है। जैसे १) उद्गमदोष, २) उत्पादन-दोष, ३) एषणा दोष, ४) सयोजना, ५) प्रमाण, ६) अंगार, ७) धूम और (८) कारण

पिण्ड के नौ प्रकार बताये हैं - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इन सबके सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन-तीन भेद है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में श्रमण-श्रमणियों को ४२ दोषों (१६ उद्गम के, १६ उत्पादन के और १० एषणा के) को टालकर भिक्षा लेने का वर्णन किया है। शुद्ध आहार से ही ध्यान सिद्ध किया जा सकता है।

ओघनिर्युक्ति : यह भी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इसमें श्रमणाचार का विस्तृत वर्णन है और बीच-बीच में अनेक कथाएँ भी हैं। प्रस्तृतकृति में प्रतिलेखनद्वार, पिण्डद्वार, उपाधिनिरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवनद्वार, आलोचनाद्वार और विशुद्धिद्वार आदि द्वारों का निरूपण किया गया है।

विशुद्धि द्वार के अन्तर्गत ही ध्यान का विश्लेषण (किया गया) है। जीवन से भ्रष्ट हो जाने पर तप के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है। परिणामों की शुद्धि ही मोक्ष का कारण है। सयम के लिए ही देह धारण किया जाता है। देह के अभाव में सयम की साधना कैसे हो सकती है? अत सयम साधनार्थ ही देह की रक्षा होनी चाहिये।

अयत्नाशील साधु की ईर्या पथ आदि क्रिया कर्म बध का कारण बनती है और यत्नाशील साधु के लिए निर्वाण का कारण होती है। अत योगी के लिए तीन प्रकार की एषणा का वर्णन है। गवैषणा, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणा। ग्रहणैषणा में आत्मविराधना, सयम-विराधना और प्रवचन विराधना नामक दोषों का वर्णन है। ग्रासैषणा में साधु के आहार का विधान है। इसके अतिरिक्त जिनकल्पियों के बारह उपकरण और स्थविरकल्पियों के चौदह उपकरणों का वर्णन है और आर्यिकाओं के लिए पच्चीस उपकरणों का।

ध्यान संबंधी साहित्य

(२) भाष्य : आगमों की प्राचीनतम पद्मात्मक टीकाएँ निर्युक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका उद्देश्य केवल पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। इसके कारण निर्युक्तियों की व्याख्यान-शैली गूढ़ एव जटिल हो गई । अन्य व्याख्याओं की सहायता के बिना निर्युक्तियों की अनेक बातें समझ में नही आने लगी। इसीलिए निर्युक्तियों के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने के लिए ही आचार्यों ने उन पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखी। निर्युक्ति के आधारपर अथवा स्वतत्र रूप से लिखी गई पद्मात्मक व्याख्याएँ भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुई हैं। निर्युक्तियों की भाँति ही भाष्य भी प्राकृत में ही है।

भाष्य एवं भाष्यकार : जैसे सभी आगम पर निर्युक्तियाँ नही लिखी गई वैसे ही

सभी निर्युक्तियों पर भाष्य भी नही लिखे गये। निम्नलिखित आगमनिर्युक्ति पर ही भाष्य लिखे गये हैं - (१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन (४) वृहत्कल्प (५) पंचकल्प (६) व्यवहार (७) निशीथ (८) जीतकल्प (९) ओघनिर्युक्ति और (१०) पिण्डनिर्युक्ति।

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं (१) मूलभाष्य (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम के दो भाष्य अति संक्षिप्त हैं। उन्हें विशेषावश्यक भाष्य में ही सम्मिलित कर लिया गया है। यह भाष्य पूरे आवश्यक पर न होकर केवल उसके अध्याय 'सामायिक' पर ही है। एक अध्ययन होते हुए भी इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक भाष्य में ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन बहुत ही छोटा है, उसके सिर्फ ४५ ही गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं - बृहद् और लघु। बृहद् भाष्य पूरा उपलब्ध नही है। लघुभाष्य में ६४९० गाथाएँ हैं। पचकल्प महा भाष्य की गाथा संख्या २५७४ है। व्यवहार भाष्य में ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथ भाष्य में करीबन ६७०२ गाथाएँ हैं। जीतकल्प भाष्य की गाथा सख्या २६०६ है। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य है जिनकी क्रमश गाथा सख्या ३२२ और २५१७ है। पिण्डनिर्युक्ति भाष्य में ४६ गाथाएँ हैं। इनमें कुछ भाष्य हमारे पास उपलब्ध है और कुछ अनुपलब्ध। अनुपलब्ध भाष्य की गाथा सख्या में कही-कही अन्तर भी हो सकता है।

उपलब्ध भाष्यों की प्रतियों के आधार पर सिर्फ दो ही भाष्यकारों के नाम मिलते हैं (१) आचार्य जिन भद्र और (२) सघदास-गणि। आचार्य जिनभद्र गणि के दो भाष्य हैं विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य। सघदास गणि के भी दो ही भाष्य हैं। बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पचकल्प महाभाष्य।

इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त पुण्यविजयजी के कथनानुसार व्यवहार भाष्य और बृहत्कल्प-बृहद् भाष्य आदि के प्रणेता दूसरे हैं, इनके नाम ज्ञात नही हैं। यह भी अन्वेषण का ही विषय रहा है।

(१) विशेषावश्यक भाष्य : प्रस्तुत भाष्य जैनागमों में कथित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का विशालकाय ग्रन्थ है। इसको देखने के बाद अन्य ग्रन्थों को देखने की आवश्यकता ही नही होती। इसमें मुख्यत जैन धर्म में कथनानुसार ज्ञानवाद, प्रमाणशास्त्र, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त, गणधरवाद, जमालि आदि आठ निह्नवों आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की व्याख्या रूप है। इसमें प्रथम अध्ययन 'सामायिक' से सबधित निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन है। उपोद्घात में आवश्यकादि अनुयोग के

विश्लेषण के साथ ही साथ फल, योग, मंगल, समुदायार्थ, दारोपन्यास, तद्भव, निरुक्त, क्रम प्रयोजन आदि दृष्टियों से विचार किया गया है। फलद्वार के अन्तर्गत ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष बताया है। उसके लिए सर्वप्रथम सामायिक आवश्यकता जरूरी है। सामायिक का लक्षण समभाव है। समभाव की साधना ही ध्यान है। ध्यान की योग्यता के लिए श्रुत का ज्ञान, श्रमणों की विशिष्ट साधना-क्रम का ज्ञान आवश्यक बताया है।

'आवश्यक' का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार से निक्षेप किया गया है। प्रस्तुत भाष्य में द्रव्यावश्यक की आगम और नोआगम आगम रूप से व्याख्या की गई है। आगम, नो आगम के भेद से भावावश्यक की व्याख्या की गई है। नो आगम रूप भावावश्यक तीन प्रकार का है। लौकिक, लोकोत्तर और कुप्रावचनिक। इन तीनों में लोकोत्तर भावावश्यक ही प्रशस्त है। उसी का इसमें अधिकार है।

आवश्यक श्रुतस्कन्ध के छह अध्याय है-

१) सामायिकाधिकार - का अर्थाधिकार सावद्ययोगविरति है।

२) चतुर्विंशतिस्तव - का अर्थाधिकार गुणोत्कीर्तन है।

३) वन्दनाध्ययन - का अर्थाधिकार गुणी गुरु की प्रतिपत्ति है।

४) प्रतिक्रमणाध्ययन - का अर्थाधिकार श्रुतशील स्खलन की निंदा है।

५) कार्योत्सर्गाध्ययन - का अर्थाधिकार अपराध व्रण चिकित्सा है।

६) प्रत्याख्यानाधिकार - का अर्थाधिकार गुण धारणा है।

सामायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप से तीन प्रकार की है। सामायिक के लाभ विवेचन में कर्मों की स्थिति का वर्णन है। आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के विद्यमान होने पर जीव को चार प्रकार की सामायिक (सम्यक्त्व, श्रुत, देश विरति और सर्वविरति) में से एक का भी लाभ नही हो सकता। सम्यक्त्व प्राप्ति के क्रम में तीन करणों पर प्रकाश डाला गया है और ग्रन्थिभेदन का विशेष वर्णन किया है।

उपरोक्त चार सामायिक की प्राप्ति भाष्यकार के कथनानुसार आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति कुछ न्यून कोडाकोडी सागरोपम के रहते सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमें से पल्योपम-पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति श्रावक की, उसमें से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर चारित्र की, उसमें से सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशम श्रेणी की और उसमें भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपक श्रेणी की प्राप्ति होती है। क्षपक श्रेणी के बाद ही जीव को शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। यही ध्यान की चरमसीमा है।

कषायादि के उदय से दर्शनादि सामायिक की प्राप्ति नहीं हो सकती अथवा होकर भी नष्ट हो जाती है। मुख्यत. कषाय चार ही है- क्रोध, मान, माया और लोभ। अनतानुबंधी चतुष्क, अप्रत्याख्यानी चतुष्क और प्रत्याख्यानी चतुष्क इन बारह प्रकार की कषायों का क्षय, उपशम और क्षयोपशम होने पर ही मनोवाक्काय रूप प्रशस्त हेतुओं से चारित्र लाभ होता है। चारित्र पाँच प्रकार का है - सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म सपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इनमें परिहार विशुद्ध चारित्र पर विशेष वर्णन किया गया है जो कि श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धति है।

प्रस्तृत भाष्य में ध्यान से संबधित अनेक विषयों पर विचार किया गया है। कर्मक्षय का मुख्य साधन ध्यान ही है।

(२) जीतकल्प भाष्य : यह जिनभद्र की द्वितीय कृति है। इसमें १०३ प्राकृत गाथाएँ हैं। इसमें 'जीत व्यवहार' के आधार पर दिये जानेवाले प्रायश्चित्तों का वर्णन है। 'प्रायच्छित्त' और 'पच्छित्त' इन दो शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो पाप का छेद करता है वह "प्रायच्छित्त" है, तथा जिससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है। यही ध्यान की प्रक्रिया है।

प्रस्तृत भाष्य में 'जीतव्यवहार' का व्याख्यान करने के हेतु भाष्यकार ने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और व्यवहार रूप पचक व्यवहार का विवेचन किया है।

प्राचीनकाल में प्रायश्चित्तदाता केवली और चतुर्दशपूर्वधर माने जाते थे, किन्तु वर्तमान में वे नही हैं। तथापि प्रायश्चित्त-विधि का विधान प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आधार से विद्यमान कल्प, प्रकल्प तथा व्यवहार ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वे ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। अत इन्ही ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान किया जा रहा है। प्रायश्चित्त से चारित्र की शुद्धि होती है। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र स्थिर नही रह सकता, चारित्र के अभाव में तीर्थंकर नही बन सकता, तीर्थंकर के बिना निर्वाण नही, निर्वाण लाभ के अभाव में कोई दीक्षित नही हो सकता, दीक्षित साधु के अभाव में तीर्थ भी नही रहेगा। अत तीर्थ को टिकाये रखने के लिए प्रायश्चित्त का होना आवश्यक है। प्रायश्चित्त के दस भेदों का इसमें विस्तृत वर्णन है।

विशिष्ट श्रमणों की साधना छह कल्पस्थिति में विभाजित है- सामायिक, छेद निर्विशमान, निर्विष्ट, जिनकल्प, स्थविरकल्प, परिहार कल्प। इनमें से जिन कल्प और स्थविर कल्प का विस्तृत वर्णन है। ये सभी ध्यान साधना के पोषक हैं। इनके बिना ध्यान साधना विकसित नहीं हो सकती।

(३) बृहत्कल्प-लघु भाष्य : प्रस्तुत कृति संघदास गणि क्षमाश्रमण की है। यह

लघुभाष्य होते हुये भी इसमें ६४९० गाथाएँ हैं। छह उद्देश्यों में विभक्त हैं। भाष्य के प्रारभ में पीठिका है जिसकी गाथा सख्या ८०५ है।

पीठिका में मगलाचरण रूप में पाँच ज्ञान का वर्णन किया है। उनमें श्रुतज्ञान के वर्णन के अन्तर्भाव सम्यक्त्व प्राप्ति के क्रम में औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक एव क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्ट किया है। पीठिका के बाद भाष्यकार प्रत्येक मूल सूत्र का व्याख्यान प्रारंभ में करते हैं। प्रथम उद्देश्य में ताल, तल और प्रलम्ब शद्व का अर्थ स्पष्ट किया है। तलवृक्ष सबधी फल को ताल, तदाधार भूत वृक्ष का नाम तल और उसके मूल को प्रलम्ब कहा है। तत् सबधी लगनेवाले दोषों को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। विशेषत ध्यान सबधी श्रमणों की विशिष्ट साधना जिनकल्प, स्थविरकल्प, यथालन्द तथा परिहार विशुद्ध कल्प आदि पर अति विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस वर्णन के साथ ही साथ प्राचीन भारत की सास्कृतिक सामग्री का भी वर्णन है। इन पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन हो सकता है। एव तत्कालीन भारतीय सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों की विपुल सामग्री उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत भाष्य में श्रमणाचार के अन्तर्गत ही ध्यान का वर्णन किया है। सभी साधना का मूल ध्यान ही है। यह इसमें स्पष्ट किया गया है।

यह मुनि चतुरविजय और पुण्यविजयजी द्वारा भावनगर से प्रकाशित है।[३७]

(४) **व्यवहार भाष्य** : प्रस्तुत कृति भी बृहत्कल्प-लघुभाष्य की भाँति ही श्रमणाचार से सबधित है। इसमें दस उद्देश हैं।

इसके प्रारभ में पीठिका है। जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम व्यवहार, व्यवहारी तथा व्यवहर्तव्य की निक्षेप-पद्धती से व्याख्या की है। उसके साथ ही साथ गीतार्थ और अगीतार्थ के स्वरूप का भी दिग्दर्शन किया है।

व्यवहार आदि में दोषों की सभावना होती है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। प्रायश्चित्त का अर्थ, निमित्त, अध्ययनविशेष, तदर्हपर्षद आदि दृष्टियों से विवेचन किया है। तथा प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपण और परिकुंचना इन चारों के लिए चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार प्रकार के आधाकर्मादि के लिए क्रमश मासगुरु, मासगुरु और कालगुरु, तपोगुरु और कालगुरु तथा चतुर्गुरु

प्रायश्चित्त बताया है। ये सब प्रायश्चित्त स्थविरकल्पियों की दृष्टि से हैं। जिनकल्पियों के लिए भी इनका वर्णन है किंतु वे इन अतिचारों का सेवन नही करते।

मूलगुण और उत्तर गुणों में लगनेवाले दोषों से मुक्ति पाने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान है। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह - इन सबको भाष्यकार ने उत्तरगुणान्तर्गत लिया है। इनके क्रमश बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह और चार भेद किये हैं। प्रायश्चित्त करनेवाले चार प्रकार के पुरुष बताये हैं - उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। इस भाष्य में दस प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है।

परिहार तप में लगनेवाले दोषों का विस्तृत वर्णन है। गीतार्थ दो प्रकार के हैं- गच्छगत और गच्छनिर्गत। गच्छनिर्गत जिनकल्पिक गीतार्थ है। परिहार विशुद्धक, यथालन्दककल्पिकप्रतिमापन्न एव स्थविर कल्प गीतार्थ के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है। वैसे ही अगीतार्थ के लिए भी प्रायश्चित्त का वर्णन है।

नवम उद्देश में साधु की विविध प्रतिमाओं का विधान है। मोक प्रतिमा का शब्दार्थ, मोक का स्वरूप तथा महती, मोक का लक्षण आदि विविध प्रतिमा पर विस्तृत वर्णन है।

पाँच चरित्र के व्याख्यान में प्रथम सामायिक चारित्र सम्पन्न स्थविरकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर शेष आठ प्रायश्चित्तों का (आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, अनवस्थाप्य और पारंचित) विधान है। जिनकल्पिकों के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप इन छह प्रायश्चित्तों का वर्णन है। छेदोपस्थापनीय सयम में स्थित स्थविरों के लिए सभी प्रकार के प्रायश्चित्त हैं और जिनकल्पिकों के लिए आठ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। परिहारविशुद्धिक सयम में स्थित सयमी के लिए भी आठ ही प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। जिनकल्पिकों के लिए मूल और छेद को छोड़कर छह प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र में विद्यमान सयमी के लिए आलोचना और विवेक ये ही दो प्रायश्चित्त हैं।

प्रायश्चित्त, प्रतिमा और पंच चारित्र की साधना ही ध्यान की साधना है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप इन सब में से प्राप्त होता है।

यह मलयगिरिविवरण सहित अहमदाबाद से प्रकाशित है।

(५) ओघनिर्युक्ति - लघु भाष्य -- प्रस्तुत भाष्य में व्रत, श्रमण धर्म, सयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्य-गुप्ति, ज्ञानावरणादि, तप, क्रोधनिग्रहादि, चरण, पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिग्रह, प्रतिलेखना, गुप्ति, अभिग्रह, करण एव चार अनुयोग (चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग व द्रव्यानुयोग), ग्लानादि साधु की चर्या, शकुनापशकुन का विचार एव कायोत्सर्ग विधि इत्यादि इन सब विषयों का

स्पष्टीकरण है। ये सभी विषय ध्यान से सबधित हैं। धर्मरुचि अनगार के दृष्टान्त द्वारा ध्यानयोगी साधक के लिए निर्दोष आहार विधि का वर्णन किया है।

प्रस्तुत भाष्य द्रोणाचार्य वृत्ति सहित सैलाना से प्रकाशित है।[३९]

(६) पच कल्प-महाभाष्य :- प्रस्तुत भाष्य ४० पचकल्प निर्युक्ति के विवेचन रूप में है। इसमें करीबन २६६५ गाथाएँ हैं जिनमें भाष्य की ही २५७४ गाथाएँ हैं।

कल्प व्याख्यान में दो प्रकार के कल्प का विधान किया है - जिन कल्प और स्थविरकल्प। इन दोनों कल्पों पर द्रव्य और भाव से विचार किया गया है। ज्ञान दर्शन-चारित्र-त्रिविध सपदा के वर्णन के साथ ही पाँच प्रकार के चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। चारित्र को क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप तीन प्रकार का बताया है। ज्ञान भी क्षायिक और क्षायोपशमिक नामक दो प्रकार का है। केवलज्ञान क्षायिक ही और शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। दर्शन भी -क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का है। ये सभी ध्यान के ही अग (साधना) हैं। सभी साधना पद्धति में ध्यान अनिवार्य ही है।

चूर्णियाँ

आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्युक्तियों एव भाष्यों के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे सब प्राकृत में हैं। गद्यात्मक व्याख्याओं की आवश्यकता प्रतीत होने से उन पर (पद्यात्मक व्याख्याओं पर) सस्कृत-प्राकृत मिश्रित व्याख्याएँ लिखी गईं, जो चूर्णियों के नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।

चूर्णियाँ और चूर्णिकार

आगम व्याख्या ग्रन्थों पर निम्नलिखित चूर्णियाँ लिखी गई है - १) आचाराग, २) सूत्रकृताग, ३) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४) जीवाभिगम, ५) निशीथ, ६) महानिशीथ, ७) व्यवहार, ८) दशाश्रुतस्कन्ध, ९) बृहत्कल्प, १०) पंचकल्प, ११) ओघनिर्युक्ति, १२) जीतकल्प, १३) उत्तराध्ययन, १४) आवश्यक, १५) दशवैकालिक, १६) नन्दी, १७) अनुयोगद्वार, १८) जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति । निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गई हैं, किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध हैं। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एव दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ हैं।

चूर्णिकारों में मुख्यत जिनदासगणि महत्तर नाम अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने कितनी चूर्णियाँ लिखी यह तो कह नही सकते, परन्तु निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि और सूत्रकृतागचूर्णि-इतनी चूर्णियाँ तो उन्ही की मानी जाती हैं। जीतकल्प चूर्णि

सिद्धसेनसूरि की मानी जाती है। बृहत्कल्पचूर्णि प्रलम्बसूरि की है। अनुयोगद्वार के 'अगुल' पद पर लिखी गई चूर्णि जिनभद्र की है और दशवैकालिक पर अगस्त्यसिंह की।

नन्दी चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि मूल सुत्रानुसारी है तथा प्राकृत में है। कचित् ही यत्र-तत्र सस्कृत का प्रयोग मिलता है । इसमें सर्वप्रथम जिन और वीर स्तुति की गई है, तदनन्तर सघस्तुति। मूल गाथाओं का अनुसरण करके आचार्य ने तीर्थंकरों, गणधरों और स्थविरावली की नामावली दी है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद का सकेत करके पच ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके सक्षिप्त दो भेद करते हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष। केवलज्ञान की चर्चा में चूर्णिकार ने पन्द्रह प्रकार के सिद्धों का वर्णन किया है - १) तीर्थसिद्ध, २) अतीर्थ सिद्ध, ३) तीर्थंकर सिद्ध, ४) अतीर्थंकर सिद्ध, ५) स्वयबुद्धसिद्ध, ६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७) बुद्धबोधितसिद्ध, ८) स्त्रीलिंगसिद्ध, ९) पुरुषलिंगसिद्ध, १०) नपुसक लिंग सिद्ध, ११) स्वलिंगसिद्ध, १२) अन्यलिंगसिद्ध, १३) गृहलिंगसिद्ध, १४) एक सिद्ध और १५) अनेक सिद्ध - ये सब अनन्तर केवलज्ञान के भेद हैं। परम्पर सिद्ध केवलज्ञान के अनेक भेद हैं। केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति के क्रम में तीन मत हैं - १) केवलज्ञान व केवल दर्शनयुगपत् (यौगपद्य), २) दोनों का क्रमिकत्व और ३) दोनों का क्रमभावित्व।

श्रुतनिश्रित अश्रुतनिश्रित आदि के भेदों से आभिनिबोधिक ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। वैसे ही श्रुतज्ञान का भी।

यह रतलाम और वाराणसी से प्रकाशित है।[४१]

अनुयोगद्वार चूर्णि :- नन्दीचूर्णि के समान ही इसमें भी प्रथम मगलरूप में पच ज्ञान का वर्णन है। प्रस्तुत चूर्णि में आवश्यक तदुल वैचारिक आदि का निर्देश करके दस आनुपूर्वी के विवेचन में कालानुपूर्वी के स्वरूप में पूर्वांगों का परिचय दिया है। सप्त स्वर और नौ रसों का भी सुन्दर वर्णन किया है। आत्मागुल, उत्सेधागुल, प्रमाणागुल, कालप्रमाण, औदारिकादि शरीर, मनुष्यादि प्राणियों का प्रमाण, गर्भज, आदि मनुष्यों की सख्या, ज्ञान, प्रमाण, सख्यात, असंख्यात और अनन्त आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी विषय ध्यान से सबधित हैं।

प्रस्तुत कृति वाराणसी से प्रकाशित है।[४२]

आवश्यक चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि में निर्युक्ति का अनुकरण किया गया है। यह मुख्यत प्राकृत है किन्तु यत्र-तत्र सस्कृतमय गद्याश व पद्याश भी हैं। उपोद्घात में भाव मगल रूप में ज्ञान की विस्तृत चर्चा की गई है। श्रुतज्ञान के अधिकार में आवश्यक पर निक्षेप पद्धति से विचार करते हुये द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक का वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त इसमें भगवान् महावीर के भावों का, ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवन चरित्र, वज्रस्वामी और आर्यरक्षित का चरित्र, आठ निह्नव आदि विभिन्न विषयों पर वर्णन मिलता है।

ध्यान साधना में बाधक राग, स्नेह, कषाय को क्रमश अरहन्नक, धर्मरुचि और जमदग्न्यादि के दृष्टात द्वारा स्पष्ट किया है। इन्हें कर्म क्षय की प्रक्रिया से ही दूर किया जा सकता है। उसके लिये समुद्घात, योगनिरोध, अयोगी केवली गुणस्थान एव तीर्थंकर आदि पदों का विधान है। ये सब ध्यान से सबधित हैं।

द्वितीय अध्याय चतुर्विंशतिस्तव में लोक, धर्म और तीर्थंकर आदि पदों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया है। तृतीय 'वन्दना' अध्याय में चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म, विनय कर्म आदि दृष्टान्त द्वारा विश्लेषण किया है। चतुर्थ प्रतिक्रमण अध्याय में प्रतिक्रमण का शद्बार्थ एव प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रातव्य का व्याख्यान किया है, साथ ही साथ प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना आदि का वर्णन कथानक द्वारा किया है। प्रतिक्रमण में कायिक, वाचिक और मानसिक में लगनेवाले अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगनेवाले दोषों का भी वर्णन है।

ध्यान के चार भेद, पाँच समिति, पच महाव्रत, उपासक ग्यारह पडिमा एव भिक्षु की बारह पडिमा के साथ पन्द्रह परमाधामी देव, बीस असमाधि दोष, इक्कीस शबल दोष, बाईस परीषह, तीस मोहनीय स्थान का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। ये सभी ध्यान सबधित हैं।

पचम अध्याय कायोत्सर्ग में व्रण चिकित्सा के दो प्रकार किये हैं - द्रव्यव्रण और भाव व्रण। द्रव्यव्रण में औषधादि से चिकित्सा है और भावव्रण में प्राचश्चित्त से। कायोत्सर्ग भी प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का है। उच्छितादि नौ प्रकार भी स्पष्ट किए हैं। अन्तिम प्रत्याख्यान अध्याय में प्रत्याख्यान के भेद तथा श्रावक धर्म का वर्णन है।

प्रस्तुत चूर्णि पूर्व भाग और उत्तर भाग रतलाम से प्रकाशित है।[४३]

दशवैकालिक चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि में निर्युक्ति का ही अनुकरण किया गया है। द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्याय और दो चूलिकायें - कुल बारह अध्याय में क्रमश द्रुम, धर्म, शीलाग सहस्र, आचार-पचाचार, जीव, अजीव, चारित्र धर्म, यतना, उपदेश, धर्मफल, साधु के उत्तर गुण-पिण्ड स्वरूप, भक्तपानैषणा, गमन विधि, गोचर विधि, पानक विधि, परिष्ठापनविधि, भोजन विधि, आलोचना विधि, धर्म, अर्थ, काम, व्रत-

षट्क, कायषट्क, वाक् शुद्धि, इन्द्रियादि प्रणिधियों का, लोकोपचार विनय, अर्थविनय, काम विनय, भयविनय, मोक्ष विनय आदि दस अध्यायों में इन विभिन्न विषयों पर एक-एक पद की व्याख्या निक्षेप पद्धति से की है। इन सभी विषयों का ध्यान से विशेष सबध रहा है। अतिम दो चूलिकाओं में क्रमश भिक्षु के गुण एव रति अरति आदि अठारह दोषों का विवरण है, जो ध्यान कालीन अवस्था में बाधक है।

प्रस्तुत चूर्णि रतलाम से प्रकाशित है।[४४]

उत्तराध्ययन चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि निर्युक्त्यनुसारी एव सस्कृत मिश्रित प्राकृतमय है। इसमें सयोग, पुद्‌गलबध, सस्थान, विनय, अनुशासन, परीषह, समाधि, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थपचक, भय सप्तक, ज्ञानक्रियैकान्त आदि विभिन्न विषयों पर उदाहरणसहित विवेचन है। स्त्री परीषह पर विशेष वर्णन है। शेष सब दशवैकालिक चूर्णि के समान वर्णन है।

यह भी १९३३ में रतलाम से प्रकाशित है।[४५]

आचारागचूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि आचाराग निर्युक्ति का ही विवेचन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में अग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, सज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्व्यादि छकाय, लोक शब्द, विजय शब्द, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, जातिस्मरण ज्ञान, एषणा, देशना, बध-मोक्ष, अचेलत्व, मरण, सलेखना आदि विभिन्न विषयों का वर्णन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार से सबधित ईर्या, भाषा आदि एव भावना का वर्णन है। ये सब विषय ध्यान से सबधित ही हैं।

प्रस्तुत चूर्णि १९४१ में रतलाम से प्रकाशित है।[४६]

सूत्रकृताग चूर्णि :- इसमें ध्यान योग से सबधित आलोचना, परिग्रह, ममता, लोकविचार, वीर्य निरूपण, समाधि, आहारचर्या, वनस्पति के भेद, पृथ्वीकायादि के भेद आदि विषयों का वर्णन है।

१९४१ में यह चूर्णि रतलाम से प्रकाशित है।[४७]

जीतकल्प भाष्य-बृहचूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि सिद्धसेनसूरि की कृति है, जो कि अहमदाबाद से प्रकाशित है। और भी एक अन्य आचार्य की कृति मानी जाती है।[४८] यह सम्पूर्ण प्राकृत में है। इसमें आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार तथा मूलगुण और उत्तरगुण आदि विषयों का वर्णन है जिसका ध्यान से सीधा सबध है।

दशवैकालिक चूर्णि :- पहले बताई गई दशवैकालिक चूर्णि जिनदासगणि की है

और अगस्त्यसिंह की है। यह उनसे भिन्न है। इसमें आदि, मध्य और अन्त्य मंगल की उपयोगिता सिद्ध की है और दसकालिक, दशवैतालिक अथवा दशवैकालिक की व्युत्पत्ति भी दी है। इसमें मगल शद्ब से ध्यान का संबध जोड़ा है।[४९] जो कि पदस्थ ध्यान से सबधित है।

निशीथ-विशेष चूर्णि :- जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि मूलसूत्र, निर्युक्ति, भाष्य गाथाओं के विवेचन रूप में है। प्रारभ में पीठिका के अन्तर्गत निशीथ की भूमिका के रूप में तत्सम्बद्ध आवश्यक विषयों का व्याख्यान किया गया है। निशीथ शब्द का अर्थ है - अप्रकाश। इसमें आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका एव निशीथ का वर्णन है। विधि - निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, दोष-प्रायश्चित्त आदि का विस्तृत वर्णन बीस उद्देश्यों के अन्तर्गत किया गया है। इन सब बातों का ज्ञान सयमी साधक को होना ही चाहिये, जिससे वह ध्यानावस्था में स्थिर रह सकता है। ध्यान जीवन विकास क्रम की श्रेष्ठ प्रक्रिया है।

चूर्णिकार ने इसमें सर्व प्रथम छह प्रकार की चूला का वर्णन किया है। [५०]

प्रस्तुत चूर्णि के सम्पादक उपाध्याय अमर मुनि और मुनि कन्हैयालालजी 'कमल' द्वारा सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित है।[५१]

दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि और बृहत्कल्पचूर्णि :- ये दोनों चूर्णियाँ मूलसूत्र, निर्युक्ति एव लघुभाष्य के आधार पर लिखी गई हैं। दोनों पाठों में समानता है। ज्ञानविषयक चर्चा के अन्तर्गत अवधिज्ञान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया है। ज्ञान के अन्तर्गत ही ध्यानयोगी का स्वरूप वर्णित है। ध्यान साधक के जीवन में आने वाले विघ्नों का भी वर्णन है और साथ ही साथ ध्यान में स्थिरता लाने वाले सहायक तत्त्वों का भी उल्लेख है।

टीकाएँ

निर्युक्तियाँ, भाष्य एव चूर्णियों के बाद जैनाचार्यों ने विषयों को अधिक स्पष्ट करने के लिए करीबन सभी आगम ग्रन्थों पर एक-एक टीका लिखी। वे सभी सस्कृत में हैं। भाष्य आदि का विस्तृत विवेचन नये-नये हेतुओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

टीकाकारों में मुख्यत जिनभद्र गणि, हरिभद्र सूरि, शीलाकाचार्य, वादिवेताल-शान्तिसूरि, अभयदेव सूरि, मलयगिरि और मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रमुख है। इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक टीकाकारों के नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ की टीकाएँ उपलब्ध हैं और कुछ की अनुपलब्ध हैं।

विशेषावश्यक भाष्य- स्वोपज्ञवृत्ति :-

प्रस्तुत स्वोपज्ञवृत्ति प्रारंभ में जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की है और अन्तिम भाग कोट्याचार्यगणि ने पूर्ण किया। षष्ठ गणधर वक्तव्य तक ही उनकी टीका है बाद में वे दिवगत हो गये।

प्रस्तुत कृति में जैनागमों के प्रसिद्ध सभी विषयों का विस्तृत वर्णन है। स्थविरकल्प, जिन कल्प, यथालन्द, पाँच चारित्र, उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा है। स्वतत्र रूप में इसमें ध्यान का वर्णन नहीं है। इसके लिए स्वतत्र अलग ही 'ध्यान-शतक' लिखा गया है जिस पर आगे विचार करेंगे। यहाँ तो अप्रत्यक्ष रूप से उपरोक्त विषयों में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

हरिभद्रकृत वृत्तियाँ :- हरिभद्र सूरि प्राचीन टीकाकार माने जाते हैं। इनकी आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार एव पिण्डनिर्युक्ति पर टीका है। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका को वीराचार्य ने पूर्ण की है।

आवश्यकवृत्ति निर्युक्ति पर लिखी गई है। कही-कही भाष्य गाथा भी मिलती हैं। हरिभद्रसूरि ने इसमें स्वतंत्र रूप से निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन किया। पच ज्ञान के विवरण में अभिनिबोधि -ज्ञान की [illegible] दृष्टियों से व्याख्या की। वैसे ही अन्य श्रुत, अवधि, मन· पर्यव एवं केवलज्ञान का भेद-प्रभेद से व्याख्यान किया है। इसमें छह आवश्यक का वर्णन है। चतुर्थ आवश्यक 'प्रतिक्रमण' में ध्यान का विस्तृत वर्णन है और पचम 'कायोत्सर्ग' आवश्यक में ध्यान का संक्षिप्त विवेचन है। अन्तिम 'प्रत्याख्यान' आवश्यक में श्रावक धर्म पर विस्तार से विवेचन है। इस प्रकार इस वृत्ति में ध्यान विषयक अधिक सामग्री है।

दशवैकालिक पर शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद् वृत्ति भी कहते हैं। इसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार पर वर्णन है। उनमें से तपाचार के अन्तर्गत आभ्यन्तर तप में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

प्रज्ञापना पर प्रदेश व्याख्या के अन्तर्गत 'मगल' का विशेष विवेचन के साथ भव्य अभव्य जीव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। विशेषत· जीव अजीव तत्त्व पर विस्तृत वर्णन है। ज्ञान-दर्शन के वर्णन में ओघ संज्ञा और लोकसज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है। ओघ सज्ञा को दर्शनोपयोग और लोकसंज्ञा को ज्ञानोपयोग कहा है। संज्ञा का अर्थ - आभोग (मनोविज्ञान) है। इसके अतिरिक्त योनियों, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, उपयोग, सयम, समुद्घात का भी विशेष वर्णन है। ये सब ध्यान से विशेष संबंध रखते हैं।

नन्दीवृत्ति में नन्दीचूर्णि का ही सारा वर्णन है। ज्ञान के अन्तर्गत ही ध्यान का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया गया है।

अनुयोगद्वार वृत्ति :- इसमें अनुयोगद्वार चूर्णि का ही विशेष वर्णन है। 'आवश्यक' शद्व की व्याख्या नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से की गई है। दस आनुपूर्वी का वर्णन करते हुए शरीर पचक एव विविध अगुलों के वर्णन के साथ भाव प्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और सख्या आदि का वर्णन किया है। ज्ञान नय और क्रिया नय के स्वरूप द्वारा ज्ञान और क्रिया की उपयोगिता सिद्ध की है। इसी में ध्यान का स्वरूप अप्रत्यक्ष रूप से बताया गया है।

विशेषावश्यक भाष्य-विवरण :- प्रस्तुत टीका कोट्याचार्य की है। इसमें जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य का ही व्याख्यान किया गया है। इसकी विशेषता इतनी ही है कि कथानक के द्वारा ध्यान का सक्षिप्त वर्णन है।

शीलाकाचार्यकृत विवरण :- ये शीलाक, शीलाचार्य एव तत्वादित्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।[५२] इन्होंने नौ अगों पर टीकाएँ लिखी थी, किन्तु वर्तमान में आचाराग और सूत्रकृताग ये दो ही टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनका कालमान विक्रम की नौवी दशवी शताद्वी माना जाता है।

आचाराग विवरण मूल सूत्र और निर्युक्ति पर ही लिखी गई है। विवरणकार ने विषय को शद्वार्थ तक ही सीमित न रखकर प्रत्येक विषय पर विस्तार से वर्णन किया है। श्रमणाचार का विस्तृत वर्णन करके तपाचार के अन्तर्गत ध्यान की विधि स्पष्ट की है। इस विवरण की यह विशेषता रही है कि सर्वप्रथम सूत्रों का मूलच्छेद करते हुए पदों का अर्थ स्पष्ट किया है। भगवान महावीर की सम्पूर्ण साधना ध्यानमय ही थी। इसका वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौवें अध्याय में है। इस टीका का ग्रन्थमान १२००० श्लोकप्रमाण है।

इनकी दूसरी टीका सूत्रकृताग भी मूल और निर्युक्ति पर ही आधारित है। इसमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है और ध्यान योग का विशेष स्वरूप स्पष्ट किया है।

उत्तराध्ययन टीका :- प्रस्तुत टीका वादिवेतालशान्तिसूरि की है। ये विक्रम की ग्यारहवी शताद्वी के हैं। इन्होंने 'तिलकमंजरी' पर भी टीका लिखी है जो पाटन के भंडारों में आज भी विद्यमान है। जीवविचार प्रकरण और चैत्यवन्दन-महाभाष्य भी इन्ही का ही है।

प्रस्तुत टीका का नाम शिष्यहितवृत्ति है। यह 'पाइअ-टीका' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मूल सूत्र और निर्युक्ति दोनों का व्याख्यान है। प्रस्तुत टीका में तीर्थंकर के वचनों का

विचार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से किया गया है।[५३] प्रसंगानुसार स्थान-स्थान पर ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। प्रत्यक्षत ध्यान का वर्णन न होकर अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान का स्वरूप वर्णित किया है।

ओघनिर्युक्ति-वृत्ति :- प्रस्तुत टीका द्रोणसूरि (वि ११-१२ शता) की है। यह वृत्ति ओघनिर्युक्ति और उसके लघुभाष्य पर है। मूल पदों के शब्दार्थ के साथ ही साथ तद् तद् विषय का भी 'शंका-समाधान' पूर्वक संक्षिप्त विवरण दिया है। सामायिक अध्ययन में उसके चार अनुयोगद्वार (उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय) बताये हैं। इनमें अनुगम के दो भेद किये गये हैं - निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम। निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकार का है - निक्षेप, उपोद्घात और सूत्रस्पर्शी। इनमें से उपोद्घात - निर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश आदि २६ भेद हैं।उनमें से काल के नाम, स्थापना, द्रव्य, अद्धा, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण, भाव आदि भेद हैं। इनमें से उपक्रम काल के दो प्रकार हैं - सामाचारी और यथायुष्क। सामाचारी उपक्रम काल तीन प्रकार का है - ओघ, दशधा और पदविभाग। इनमें ओघ सामाचारी वही है जो ओघ निर्युक्ति है। ध्यान कब करना? कैसे करना? आदि गूढ़ विषयों के वर्णन के साथ ही साथ ध्यान साधक जिनकल्पी और स्थविर कल्पी का भी वर्णन किया है।

अभयदेव विहित वृत्तियाँ :- (वि १२-१३ शताब्दी)

'स्थानाग वृत्ति' मूल सूत्रों पर है। यह वृत्ति शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं, अपितु इसमें प्रत्येक विषय का विवेचन और विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ स्थान में ध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि का विशेष वर्णन है। इसके अतिरिक्त आत्मा, सयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि ध्यान सबधी विषयों पर विवेचन किया गया है।

'समवायागवृत्ति' समवाय के मूल सूत्रों पर ही लिखी गई है। समवाय शब्द का विश्लेषणात्मक वर्णन करके जीवाजीवादि विविध विषयों पर वर्णन किया गया है। ध्यान की योग्यता किसमें है। (कौन ध्यान कर सकता है।) इसका विस्तृत वर्णन समवायांग वृत्ति में है। जीव ही ध्यान की योग्यता पा सकता है अजीव नही।

'व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति' में ३६ हजार प्रश्नों का सम्यक् प्रकार से वर्णन है। विषय भिन्न-भिन्न हैं। तप वर्णन के अन्तर्गत ही ध्यान का स्वरूप विस्तृत रूप से वर्णित किया है और ज्ञान प्रधान क्रिया ही मोक्ष प्रदाता है यह भी स्पष्ट किया है। प्रस्तुत वृत्ति का श्लोकप्रमाण १८६१६ हैं।

'ज्ञाताधर्मकथाविवरण' (वृत्ति) में शब्दार्थ की प्रधानता है। चारों प्रकार के ध्यानों का स्वरूप कथानक के माध्यम से स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ का श्लोक प्रमाण ३८०० है।

'उपासकदशांगवृत्ति' में सूत्रगत विशेष शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। वैसे ही 'उपासक दशा' शब्द का भी शब्दार्थ स्पष्ट किया है। श्रावक की ग्यारह पडिमा के अन्तर्गत कायोत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप सक्षिप्त रूप से वर्णित किया है।

'अन्तकृत्दशावृत्ति' एव 'अनुत्तरौपातिकदशा वृत्ति'- ये दोनों वृत्तियाँ सूत्रस्पर्शिक और शब्दार्थ ग्राही हैं। दोनों में 'तप' को ही ध्यान कहा है। तपाराधना से ध्यान अलग नही है। तप का अग ध्यान है यह इन दोनों वृत्तियों से स्पष्ट किया है।

'प्रश्नव्याकरण वृत्ति' में आस्त्रवपचक और सवर पचक का वर्णन करके इनके अन्तर्गत ही क्रमश अशुभ और शुभ ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है और शुभ ध्यान को प्रधानता दी है।

'विपाक वृत्ति' में विपाक शब्द का अर्थ पुण्यपाप रूप कर्म फल के रूप में बताया है। ध्यान योगी को पुण्य पाप का स्वरूप जानना आवश्यक है। दोनों ही त्याज्य हैं किन्तु पुण्य अन्त तक साथ रहता है।

'औपपातिक वृत्ति' में शब्दार्थ प्रधान है। इनमें तप वर्णन के अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप विस्तृत रूप से वर्णित किया है। तपोधनी लब्धी धारी होता है किन्तु सच्चे साधक उसका उपयोग नही करते। अत में उन्हें भी छोडना ही होता है। सिर्फ ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप लब्धियाँ ही ग्राह्य है, शेष नही।

मलयगिरिविहित वृत्तियाँ : -

आचार्य मलयगिरि आगम -ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्होंने बहुत सी टीकाएँ लिखी हैं जिनमें से निम्नलिखित उपलब्ध हैं - १) भगवतीसूत्र - द्वितीय शतक वृत्ति, २) राजप्रश्नीयोपांग टीका, ३) जीवाभिगमोपाग टीका, ४) प्रज्ञापनोपाग टीका, ५) चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाग टीका, ६) सूर्यप्रज्ञप्त्युपांग टीका, ७) नन्दीसूत्र टीका, ८) व्यवहारसूत्रवृत्ति, ९) बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण), १०) आवश्यक वृत्ति (अपूर्ण), ११) पिण्डनिर्युक्ति टीका, १२) ज्योतिष्करण्डक टीका, १३) धर्म सग्रहणी वृत्ति, १४) कर्मप्रकृति वृत्ति, १५) पच सग्रह वृत्ति, १६) षडषशीति वृत्ति, १७) सप्ततिका वृत्ति, १८) बृहत्सग्रहणी वृत्ति, १९) बृहत्क्षेत्र समास वृत्ति और २०) मलयगिरि शब्दानुशासन। इनमें कुछ ही टीकाओं में ध्यान विषयक जानकारी मिलती है। उन्हें जहाँ, जहाँ विशेष आवश्यक लगा वहाँ वहाँ विषय का स्पष्टीकरण करते गये।

उन टीकाओ में से "नन्दीसूत्र वृत्ति" में यत्र-तत्र सस्कृत कथानक के द्वारा ज्ञानदर्शनादि का विश्लेषण करके ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'प्रज्ञापना वृत्ति' में जीवाजीवादि पदार्थों का स्पष्टीकरण करके यह सिद्ध किया कि जीवादि पदार्थों के ज्ञान

बिना साधक ध्यान नही कर सकता। ज्ञानी आत्मा ही ध्यान कर सकता है। 'जीवाभिगम विवरण' में मूलसूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या के साथ ही साथ अशुभ (अप्रशस्त) ध्यान का वर्णन करते हुए नरक वासों का विस्तार से वर्णन किया है। उसमें शीतोष्णवेदना के विवेचन में शरदादि ऋतुओं का भी वर्णन किया है। ऋतुएँ छह हैं - प्रावृट्, वर्षारात्र, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म। इन सभी ऋतुओं में ध्यान किया जा सकता है। 'व्यवहारविवरण' मूल सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर आधारित है। इसमें कल्प, व्यवहार, दोष और प्रायश्चित्त आदि विषयों पर विवेचन किया गया है। ये सभी ध्यान से सबधित विषय हैं। प्राचश्चित्त के विशेष रूप से चार प्रकार बताये हैं - प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकुचना। इन्ही चार का विस्तृत वर्णन है। प्रतिसेवना प्रायश्चित्त दो प्रकार का है - मूल प्रतिसेवना और उत्तर प्रतिसेवना। मूल प्रतिसेवना पाँच प्रकार की है और उत्तर प्रतिसेवना दस प्रकार की है। इन में से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं - दर्पिका और कल्पिका। प्रतिसेवना प्रायश्चित्त से ही ध्यान का विशेष सबध है। 'राजप्रश्नीय विवरण' में राजा परदेशी और केशीकुमार श्रमण के प्रश्नोत्तर से जीव और अजीव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और ज्ञानी आत्मा ही ध्यान का अधिकारी है - यह स्पष्ट किया है।

मलधारि हेमचंन्द्रकृत टीकाएँ :- जैन साहित्य के ये प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं - १) आवश्यक टिप्पण, २) शतक विवरण, ३) अनुयोगवृत्ति, ४) उपदेशमालासूत्र, ५) उपदेशमालावृत्ति, ६) जीवसमासविवरण, ७) भव भावना सूत्र, ८) भव भावना विवरण, ९) नन्दी टिप्पण, १०) विशेषावश्यक भाष्य - बृहद्वृत्ति। ये सभी ग्रन्थ विषयों की दृष्टि से प्राय स्वतत्र ही हैं। इनमें ध्यान सबधी निम्नलिखित ग्रन्थ हैं -

'आवश्यकवृतिप्रदेश व्याख्या' यह हरिभद्र कृत वृत्ति है। इसे हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणक भी कहते हैं। इसी वृत्ति के कठिन स्थलों का हेमचन्द्र ने सरल भाषा में व्याख्यान करके आवश्यक क्रिया को ध्यानयोग में अनिवार्य बताया है। इस ग्रन्थ का परिमाण ४६०० श्लोक प्रमाण है। 'अनुयोग द्वारवृत्ति' में ध्यान को ज्ञानादि का आवश्यक अग माना है। विशेषत इस वृत्ति में ध्यान का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वर्णित है। इसका ग्रन्थमान ५९०० श्लोक प्रमाण है। इनकी ध्यान सबधी तीसरी वृत्ति 'विशेषावश्यक भाष्य-बृहद्वृत्ति' है। इसे 'शिष्यहितवृत्ति' भी कहते हैं। मलधारि हेमचन्द्रसूरि की यह बृहत्तम कृति है। इसमें विशेषावश्यक भाष्य में कथित (प्रतिपादित) प्रत्येक विषय को सरल भाषा में समझाया गया है। दार्शनिक विषयों को भी शका समाधान के द्वारा प्रश्नोत्तर पद्धती से सरल करके समझाया है। यत्र-तत्र सस्कृत कथानक द्वारा स्थविर कल्प और जिनकल्प साधना का स्वरूप स्पष्ट किया है। इन्ही के अन्तर्गत तथा चारित्र के

अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। विशेषत आयोज्य करण, केवली समुद्घात और योगनिरोध प्रक्रिया में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस प्रकार प्रस्तुत टीका में ध्यान सबधी बहुत सामग्री है।

आगमेतर – साहित्य

षट् खण्डागम :- यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। इसलिए यह 'षट् खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध है। वे छह खण्ड निम्नलिखित हैं - १) जीवस्थान २) क्षुद्रक बध, ३) बन्ध स्वामित्वविचय, ४) वेदना, ५) वर्गणा और ६) महाबन्ध।

१) जीवस्थान - यह षट्खण्डागम का प्रथम खड है। कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आश्रय से जीव की जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है। मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान हैं, और चौदह ही मार्गणा हैं। (गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार)। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण (अन्वेषण) किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। गुणस्थान के द्वारा ही ध्यानावस्था का विकास होता है।

२) क्षुद्रक बध - इसमें वधक जीवों की ही चर्चा की गई है।

३) बन्ध स्वामित्वविचय -मिथ्यात्व, असयम और कषाय आदि के द्वारा जो जीव और कर्म पुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है, वह बन्ध कहलाता है। कर्म बन्ध का स्वामी कौन हो सकता है? इस पर गुणस्थान और मार्गणा द्वारा विवेचन किया गया है।

४) वेदना खण्ड - इस खण्ड का कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों के द्वारा निरूपण किया गया है। प्रारभ में मगलाचरण रूप से ४४ सूत्रों द्वारा ध्यान का फल स्पष्ट किया है।

५) वर्गणा खण्ड - प्रस्तुत खण्ड में नाम स्थापनादि तेरह प्रकार से स्पर्श की प्ररूपणा एव स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ प्रकार के अनुयोग द्वार एव नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रयोग, समवदान, अधकर्म, ईर्यापथ कर्म, तप कर्म, क्रिया कर्म और भाव कर्म इन दस कर्मों का विवेचन है। इनमें से तप कर्म के अन्तर्गत शुभ ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका वर्णन आगम शैली से है।

६) महाबध - यह षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार बध के भेदों की विस्तृत चर्चा है।

षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्ड पर धवला टीका वीरसेनाचार्य के द्वारा लिखी गई है और अन्तिम महाबंध पर जय धवला टीका लिखी गई है।

आचार्य कुंदकुदविरचित ग्रन्थ :- ये दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं । इनका काल अनुमानत विक्रम की प्रथम शताद्वी माना जाता है। उनके ध्यान सबंधी निम्नलिखित ग्रन्थ माने जाते हैं - प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, समयसार, अष्टपाहुड और द्वादशानुप्रेक्षा।

'प्रवचनसार' में तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्ष मार्ग के साधन रूप में उल्लेख किया है। ध्यान की यही मुख्य प्रक्रिया है। ध्यान में चारित्र की प्रधानता है। शुद्ध चारित्र का पालक ही ध्यान करने योग्य है। जीव के अशुभ, शुभ और शुद्ध ये तीन परिणाम हैं। शुभाशुभ परिणामों की परिणति से स्वर्ग और नर्क की प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग के परिणामों से निर्वाण की। शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना है। यह साध्य है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में द्रव्य, गुण, पर्याय का विश्लेषणात्मक वर्णन के साथ ही साथ पंचास्तिकाय और काल का स्वरूप स्पष्ट किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। ध्यान का लक्ष्य शुद्धात्मस्वरूप ही है। तृतीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान से ही संबंधित है। इसका ग्रन्थमान क्रमश ९२+१०८+७५ = २७५ है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन की पृथक् पृथक् टीका है।

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम स्कन्ध में षट् द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल) का विस्तृत वर्णन है। इससे धर्मध्यान के लोक सस्थान भेद का स्वरूप स्पष्ट होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जीवादि नौ तत्त्व और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है। स्वसमय और परसमय के वर्णन से संसारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप बताया है। इसमें ध्यान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारी के रूप में स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अमृतचन्द्रसूरि की 'तत्त्वदीपिका' और जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक दो टीकाएं प्रकाशित हैं। इसकी गाथा सख्या १०४+६९=१७३ है।

'नियमसार' ग्रन्थ में ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मशोधन में उपयोगी साधन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादि), पच समिति, तीन गुप्ति और आवश्यक आदि को माना है। ये ही सब ध्यान में सहाय्यक अग (तत्त्व) हैं। इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भी निश्चय और व्यवहार नय से स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित सस्कृत टीका है।

अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। विशेषत आयोज्य करण, केवली समुद्घात और योगनिरोध प्रक्रिया में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस प्रकार प्रस्तुत टीका में ध्यान सबधी बहुत सामग्री है।

आगमेतर - साहित्य

षट् खण्डागम :- यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। इसलिए यह 'षट् खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध है। वे छह खण्ड निम्नलिखित हैं - १) जीवस्थान २) क्षुद्रक बध, ३) बन्ध स्वामित्वविचय, ४) वेदना, ५) वर्गणा और ६) महाबन्ध।

१) जीवस्थान - यह षट्खण्डागम का प्रथम खड है। कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आश्रय से जीव की जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है। मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान हैं, और चौदह ही मार्गणा हैं। (गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार)। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण (अन्वेषण) किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। गुणस्थान के द्वारा ही ध्यानावस्था का विकास होता है।

२) क्षुद्रक बध - इसमें [illegible] जीवों की ही चर्चा की गई है।

३) बन्ध स्वामित्वविचय :-मिथ्यात्व, असंयम और कषाय आदि के द्वारा जो जीव और कर्म पुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है, वह बन्ध कहलाता है। कर्म बन्ध का स्वामी कौन हो सकता है? इस पर गुणस्थान और मार्गणा द्वारा विवेचन किया गया है।

४) वेदना खण्ड :- इस खण्ड का कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों के द्वारा निरूपण किया गया है। प्रारभ में मंगलाचरण रूप से ४४ सूत्रों द्वारा ध्यान का फल स्पष्ट किया है।

५) वर्गणा खण्ड - प्रस्तुत खण्ड में नाम स्थापनादि तेरह प्रकार से स्पर्श की प्ररूपणा एव स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ प्रकार के अनुयोग द्वार एव नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रयोग, समवदान, अधकर्म, ईर्यापथ कर्म, तप कर्म, क्रिया कर्म और भाव कर्म इन दस कर्मों का विवेचन है। इनमें से तप कर्म के अन्तर्गत शुभ ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका वर्णन आगम शैली से है।

६) महावध - यह षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार बध के भेदों की विस्तृत चर्चा है।

षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्ड पर धवला टीका वीरसेनाचार्य के द्वारा लिखी गई है और अन्तिम महाबंध पर जय धवला टीका लिखी गई है।

आचार्य कुंदकुंदविरचित ग्रन्थ :- ये दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं। इनका काल अनुमानत विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उनके ध्यान सबंधी निम्नलिखित ग्रन्थ माने जाते हैं - प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, समयसार, अष्टपाहुड और द्वादशानुप्रेक्षा।

'प्रवचनसार' में तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्ष मार्ग के साधन रूप में उल्लेख किया है। ध्यान की यही मुख्य प्रक्रिया है। ध्यान में चारित्र की प्रधानता है। शुद्ध चारित्र का पालक ही ध्यान करने योग्य है। जीव के अशुभ, शुभ और शुद्ध ये तीन परिणाम हैं। शुभाशुभ परिणामों की परिणति से स्वर्ग और नर्क की प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग के परिणामों से निर्वाण की। शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना है। यह साध्य है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में द्रव्य, गुण, पर्याय का विश्लेषणात्मक वर्णन के साथ ही [illegible] पचास्तिकाय और काल का स्वरूप स्पष्ट किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। ध्यान का लक्ष्य शुद्धात्मस्वरूप ही है। तृतीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार [illegible] वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान से ही सबंधित है। [illegible] ग्रन्थमान क्रमश ९२+१०८+७५ = २७५ है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन की पृथक् पृथक् टीका है।

'पचास्तिकाय' ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम स्कन्ध में षट् द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल) का विस्तृत वर्णन है। इससे धर्मध्यान के लोक सस्थान भेद का स्वरूप स्पष्ट होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जीवादि नौ तत्त्व और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है। स्वसमय और परसमय के वर्णन से ससारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप बताया है। इसमें ध्यान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारी के रूप में [illegible] किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अमृतचन्द्रसूरि की 'तत्त्वदीपिका' और जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक दो टीकाएं प्रकाशित हैं। इसकी गाथा संख्या १०४+६९=१७३ है।

'नियमसार' ग्रन्थ में ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मशोधन में उपयोगी साधन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादि), पच समिति, तीन गुप्ति और आवश्यक आदि को माना है। ये ही सब ध्यान में सहायक अग (तत्त्व) हैं। इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भी निश्चय और व्यवहार नय से स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित सस्कृत टीका है।

'समय सार' ग्रन्थ में जीवादि नौ तत्त्वों पर शुद्ध निश्चय नय से विचार किया गया है। जीव के स्व समय और परसमय की विचारणा में भूतार्थ (शुद्धनय) और अभूतार्थ (अशुद्धनय) का निश्चय और व्यवहार नय के माध्यम से ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्यान का लक्ष्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थपर 'आत्मख्याति', 'तात्पर्यवृत्ति', 'आत्मख्यातिभाषावचनिका' ये तीन टीकाएँ हैं।

'अष्टपाहुड' ग्रन्थ में दसण पाहुड चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ष पाहुड, लिंग पाहुड और सील पाहुड क्रमश• इनके नामानुसार ही विषयों का दिग्दर्शन किया गया है। चारित्रसम्पन्न आत्मा को ही ध्यान का अधिकारी माना गया है। कही-कही विद्वानों का कथन है कि कुद्कुदाचार्य ने ८४ पाहुड लिखे थे। परतु वर्तमान में उपरोक्त आठ ही पाहुड उपलब्ध हैं। इसमें आगमकालीन साधना पद्धति का मौलिक चिन्तन करके मनोवैज्ञानिक ढग से विचार किया है।

'द्वादशानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में अनित्यादि बारह भावनाओं का विचार किया गया है। भावना ध्यानयोग की प्रथम सीढ़ी है। अन्तिम चार गाथाओं में अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य प्रकट किया गया है। इसमें ९१ गाथाएँ हैं। भावना के बिना ध्यानावस्था जीवन में आ नही सकती। अत कुंदकुदाचार्य ने ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करने में भावना पर अधिक जोर दिया है। अन्तिम दो ग्रन्थ कुद्कुद भारती में मिलते हैं।

कुंद्कुदाचार्य ने अपने मौलिक चिन्तन के रूप में ध्यानयोग की प्रक्रिया को शास्त्रीय और आध्यात्मिक पद्धती से प्रस्तुत की है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के द्वारा शास्त्रीय पद्धति और निश्चय और व्यवहार के द्वारा आध्यात्मिक पद्धति को स्पष्ट किया है। यही ध्यान सबंधी इनका मौलिक चिन्तन है।

◆ ◆ ◆

भगवती आराधना :- प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। इनका काल निश्चित नहीं है फिर भी ग्रन्थ का विषय और उसकी विवेचन पद्धती से प्रतीत होता है कि इसका रचनाकाल दूसरी-तीसरी शताद्बी होना चाहिए। इसके दो भाग हैं। इन दोनों भागों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप का विवेचन है। तप के अन्तर्गत ही आगम कथित ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। रत्नत्रय का आराधक ही ध्यान कर सकता है। इसीलिए चतुर्थ अग 'तप' में ध्यान का स्वरूप बताया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अपराजितसूरि (अनुमानत वि ९ वीं शताद्बी के पूर्व) के द्वारा 'विजयोदया' नामक टीका और प आशाधर (वि १३ वी शताद्बी) द्वारा 'मूलारा-

घनादर्पण' नामक टीका रची गई है। इसके अतिरिक्त आचार्य अमितगति (वि. ११ वीं शताब्दी) द्वारा पद्यानुवाद भी किया गया है। टीकाओं में ध्यान का स्वरूप आगम के अनुसार ही वर्णित है।

आचार्य उमास्वातिकृत ग्रन्थ :- उमास्वाति दोनों ही सम्प्रदाय (श्वेताम्बर व दिगम्बर) के प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं और सूत्रशैली के प्रथम प्रणेता हैं। इनका कालमान विक्रम की दुसरी-तीसरी या चौथी शताब्दी के बीच माना जाता है। इनके ध्यान संबधी निम्नलिखित ग्रन्थ हैं -

तत्त्वार्थ सूत्र :- प्रस्तुत ग्रन्थ दोनों सम्प्रदाय में माननीय है। श्वेताम्बर परम्परा में यह तत्त्वार्थधिगमसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह दश अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका रूप है जिसमें ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। साथ ही साथ सम्यग्दर्शन का भी स्वरूप [illegible] कर दिया है। प्रथम अध्याय में तत्त्वों का दिग्दर्शन करके दूसरे से लेकर चौथे अध्याय तक जीव तत्त्व का विश्लेषणात्मक दृष्टि से सक्षिप्त वर्णन किया है। पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन है। छठे अध्याय व सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का, आठवें में बध तत्त्व का, नौवें में सवर तत्त्व का और दसवें में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। इन सभी अध्यायों में ध्यान को इस प्रकार जड़ दिया है कि उनसे पृथक् करके बताना कठिन है। नौवें अध्याय में ध्यान का विस्तृत वर्णन है। ध्यान का फल सवर और निर्जरा है और निर्जरा का फल मोक्ष है। जीव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना से मोक्ष प्राप्त करता है। ये ही तीनों मोक्ष मार्ग हैं। ध्यान संबधी यह उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद) और तत्त्वार्थवार्तिक (आ. अकलक देव) नामक दो टीकाएँ हैं। इनमें भी ध्यान [illegible] स्वरूप आगम शैली से ही विस्तृत रूप से स्पष्ट किया है।

तत्त्वार्थाधिगम- भाष्य :- प्रस्तुत स्वोपज्ञ भाष्य तत्त्वार्थ सूत्र पर ही रचा गया है। मोक्ष में साधनभूत ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र [illegible] (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) विस्तृत वर्णन करके ध्यानयोग का सवर अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है।

प्रशमरति -प्रकरण :- प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यानसंबधी कषाय, रागादि भाव, आठ कर्म, पचेन्द्रियविषय, आठ मद, आचार, भावना, नौ तत्त्व, उपयोग, पाँच भाव, छह द्रव्य, चारित्र, शीलाग, ध्यान, [illegible] श्रेणी, समुद्घात, योगनिरोध, मोक्षगमन क्रिया और फल आदि २२ अधिकारों से विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है।

इस पर हरिभद्रीय टीका है, जिसका श्लोकप्रमाण १८०० है।

प्रवचनसारोद्धार :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता नेमिचन्द्रसूरि हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में जैन

प्रवचन के सार भूत सारे पदार्थों का बोध कराया है। विभिन्न विषयों के उपर २७६ द्वार हैं, जिसमें ध्यानयोग सबधी विषयों का वर्णन निम्नलिखित द्वार के अन्दर हैं -

जिनकल्पी, स्थविरकल्पी एव साध्वी के उपकरणों का वर्णन (द्वार, ६०-६२) विनय के ५२ भेद (६५ द्वार में), जघावरण और विद्याचरण लब्धीधारी के गमन की शक्ति का प्रमाण (६८ द्वार में),परिहारविशुद्धि का स्वरूप, यथालन्दिक साधना का स्वरूप (६९ और ७०द्वार में), क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी का विस्तृत वर्णन (८९,९० द्वार में), प्रायश्चित्त, ओघ सामाचारी, पदविभाग सामाचारी (क्रमश ९८, ९९, १०० द्वार में) सलेखना, सम्यक्त्व के सड़सठ और दस भेद, चौदह गुणस्थान, २८ लब्धियाँ तथा विविध तप का वर्णन (क्रमश १३४, १४८-९, २२४, २७०, २७१ द्वार में) इन सभी द्वारों में ध्यान विषयक वर्णन है। उसे उस विषय से अलग नही कर सकते। अत प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान विषयक विभिन्न सामग्री उपलब्ध होती है। तप द्वार में तो ध्यान का आगमिक शैली द्वारा वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसेन सूरिकृत 'तत्त्वप्रकाशिनी वृत्ति' दो भागों में विभाजित है। यह ग्रन्थ देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सख्या के अनुक्रम से सन् १९२२ और १९२६ में प्रकाशित किया गया है। प्रथम भाग में १०३ द्वार और ७७१ गाथाएँ हैं और दुसरे में १०४ से २७६ द्वार तक है तथा ७७२ से १५९९ तक गाथाएँ हैं। इस टीका का श्लोक प्रमाण १६५०० हैं।

समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक :- प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद (वि ६ शती) द्वारा विरचित है। इसमें १०५ श्लोक हैं। सिद्धात्मा और सकलात्मा (अरिहत) को नमस्कार करने के बाद इसमें आगम, युक्ति और स्वानुभव के अनुसार शुद्ध आत्मस्वरूप का कथन किया है। बहिरात्मदशा को छोड़कर अन्तरात्म (उपाय) स्वरूप द्वारा परमात्मावस्था को प्राप्त करना ही ध्यान है। वास्तविक में ध्यान का यही केन्द्रबिन्दु है। अत प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्मा की तीन अवस्था बताई हैं। सबसे श्रेष्ठ अवस्था परमात्मस्वरूप है और यही ध्यान है।

इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र (वि, १३ वी शती) द्वारा सक्षिप्त सस्कृत टीका लिखी गयी है।

इष्टोपदेश :- इसके रचयिता भी पूज्यपाद ही हैं। यह भी आध्यात्मिक ही कृति है। इसमें ५१ श्लोक हैं। योग्य उपादान की प्राप्ती से पत्थर सोना बन सकता है, वैसे ही योग्य द्रव्य क्षेत्रादि उत्तम सामग्री के प्राप्त होने से जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। कुदकुदाचार्य के उपादान और निमित्तकारण इन दोनों का अनुकरण ही पूज्यपाद ने किया

है। पूज्यपादाचार्य के कथनानुसार दर्शनमोहनीय कर्म के प्रबल उदयावलि के कारण जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का बोध नही होता। यथार्थ स्वरूप का बोध रागादि के दूर हटे बिना नहीं हो सकता। इसके लिए शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन ही श्रेष्ठ उपाय है और यही ध्यान का स्वरूप है।

इस पर पं आशाधर (वि १३ वी शती) की टीका है।

परमात्म प्रकाश :- प्रस्तुत ग्रन्थ योगीन्दु (जोइन्दु वि ६-७ वी शती) का है। इसमें ३४५ दोहे हैं। यह दो अधिकार में विभक्त है, जिनकी पद्य सख्या क्रमश १२३+२१४ = ३३७ है। इसमें शुद्ध आत्मस्वरूप का ही विश्लेषण है। कुदकुदाचार्य और आचार्य पूज्यपाद इन दोनों के विषयों को ही लेकर इसमें विशेष स्पष्टीकरण किया है। आत्मा के बहिरात्मा-अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद किये गये हैं। अन्तरात्मा दशा धर्मध्यान की अवस्था है। धर्मध्यान की साधना से ही शुक्लध्यान पर आरोहण किया जा सकता है तभी परमात्मदशा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यही ध्यान का सच्चा स्वरूप है।

इस पर प्रभाचन्द्र एव अन्य आचार्यों की टीकाएं हैं किन्तु पहले आचार्य की टीका प्रकाशित है। पद्मनन्दी ने भी 'समान नामक कृति' इस ग्रन्थ पर संस्कृत में लिखी है जिसका श्लोकप्रमाण १३०० है।

योगसार :- यह भी योगीन्दु की कृति है। इसमें १०८ दोहे हैं, जो सभी अध्यात्मविषयक ही हैं। इसमें परमात्म प्रकाश के विषय [illegible] ही प्रतिपादन है। इसमें इतनी विशेषता है कि आत्मा के निज स्वरूप को प्राप्त करने का उपाय ध्यान ही बताया है। आत्मस्वरूप का सतत चिन्तन ही ध्यान है।

इस पर संस्कृत में दो टीकाएं लिखी गई हैं। प्रथम टीका के कर्ता अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी है और दूसरी टीका का कर्ता अज्ञात है।

झाणज्झयण (झाणसय) :- प्रस्तुत कृति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की है। इसका सस्कृत नाम ध्यानाध्ययन और ध्यानशत है। इस पर हरिभद्र की टीका है। उन्होंने इसे ध्यान शतक की सज्ञा दी है। इसमें आगमनकालीन ध्यान का ही स्वरूप विस्तार से स्पष्ट किया है। आर्तध्यान-रौद्रध्यान का स्वरूप, लक्षण, लेश्या, स्वामी, भेद, लिंग और गति आदि द्वारा विशेष रूप से इन दो अशुभ ध्यानों का वर्णन किया है। शुभध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के बारह द्वार - (भावना, उचित देश या स्थान, उचित काल, उचित आसन, आलम्बन, ध्यान का क्रम, ध्यान का विषय, ध्याता अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल) बताये हैं। इन्ही के द्वारा ध्यान का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट किया है। यह ध्यानमूलक ही ग्रन्थ है।

इस पर हरिभद्रीय टीका के अतिरिक्त टिप्पण भी है। इस पर एक अज्ञाकर्तृक टीका भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आगम में कथित ध्यान विषयक विभिन्न सामग्री को एक स्थान पर रखा है। यह ध्यान का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

ध्यान -विचार :- इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति, पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य - ज्ञानमन्दिर के भडार में डा न. ५० प्र न ९९३ में 'ध्यान - विचार' नामक यह लघु ग्रन्थ प्राप्त होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नमस्कार स्वाध्याय' (प्राकृतविभाग) नामक ग्रन्थ में से लिया गया है। यह स्वतंत्र रूप से प्रकाशित नही है। इसमें ध्यान के ४, ४२, ३६८ भेद बताये गये हैं। यथा ध्यान मार्ग के चौबीस प्रकारों को दो भागों में विभाजित किया है -

१) ध्यान, २) शून्य, ३) कला, ४) ज्योति, ५) बिन्दु, ६) नाद, ७) तारा, ८) लय, ९) लव, १०) मात्रा, ११) पद और १२) सिद्धी । इन्ही बारह नामों के पहले 'परम' शद्ध लगाने से दूसरे बारह भेद हो जाते हैं। दोनों नामों का जोड़ लगाने पर कुल ध्यान के २४ भेद होते हैं। इन चौबीस प्रकारों के स्वरूप को समझाते हुए शून्य के द्रव्य शून्य और भाव शून्य ऐसे दो भेद करके [illegible] शून्य के बारह प्रभेद अवतरण द्वारा गिनाये हैं। यथा क्षिप्त, चित्त, दीप्त इत्यादि । शेष 'कला' से लेकर 'सिद्धी' तक - सभी के द्रव्य और भाव से दो-दो प्रकार किये हैं। भाव कला में पुष्पमित्र का दृष्टान्त दिया है। परम बिन्दु के स्पष्टीकरण में ११ गुणश्रेणी गिनाई है। द्रव्य लय अर्थात वज्रलेप इत्यादि द्रव्य वस्तुओं का सश्लेष होता है यह भी बताया है।

ध्यान के चौबीस प्रकारों को करण के ९६ प्रकारों से गुणन करने पर २३०४ होते हैं। इसे ९६ करण योग से गिनने पर २, २१, १८४ भेद होते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त २३०४ को भवनयोग के ९६ प्रकारों से गुणन करने पर २, २१, १८४ प्रकार होते हैं। करणयोग और भवनयोग इन दोनों की जोड़ करने से ध्यान के ४,४२,३६८ भेद होते हैं।

परम लव से याने उपशम श्रेणी और श्रेणी का बोध कराया है। परम मात्रा में चौबीस वलयों द्वारा वेष्टित आत्मा का ध्यान करने को कहा है। भवनयोगादि के योग, वीर्य, आदि आठ प्रकार, उन सबके तीन-तीन प्रकार और उनके प्रणिधान आदि चार-चार कुल ९६ भेद हुये। चार प्रणिधान को क्रमश प्रसन्नचंद्र, भरतेश्वर, दमदन्त और पुष्पभूति के दृष्टान्तों द्वारा भवन और करणयोग का स्पष्टीकरण किया है। इसके अतिरिक्त इसमें छद्मस्थ के ४, ४२, ३६८ प्रकार और २९० आलम्बनों का भी निर्देश किया है।

मरूदेवी की भाँति सहज भाव से होने वाला ध्यान भवनयोग है और उपयोगपूर्वक किया जाने वाला योग (ध्यान) करणयोग है।

प्रस्तुत कृति में सम्पूर्ण ध्यान का ही वर्णन है।

पद्म पुराण :- प्रस्तुत कृति के कर्ता रविषेण (वि. सं ७३३ शती) है। इसमें प्रमुखत. पुरुषोत्तम रामचन्द्र का वर्णन है। १२३ पर्वों में वर्णन करके ध्यान का भी स्वरूप स्पष्ट किया है। परन्तु वह संक्षिप्त है।

हरिवंश पुराण :- (यह हरिभद्र के बाद लिखना है किन्तु पहले लिखा गया)

इसके कर्ता जिनसेनाचार्य हैं, परन्तु महापुराण के कर्ता से भिन्न हैं। इसमें जैन वाङ्मय के विविध विषयों का षट्षष्टितम (६६) सर्गों में विभाजन किया है। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान का चरित्र मुख्य रूप से स्पष्ट किया है और बीच में प्रसंगानुरूप अन्य कथानक भी दिये हैं। श्रीकृष्ण और राम के चरित्र के साथ पाण्डवों, कौरवों एव कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न का भी चरित्र वर्णित है।

भगवान महावीर के वर्णन के साथ तीनों लोक का वर्णन विस्तार के साथ वर्णित किया है। यह धर्मध्यान का अन्तिम भेद है। इसके अतिरिक्त अपध्यान, अपायविचय आदि शब्द के प्रयोग से शुभाशुभ ध्यान का वर्णन किया है।

महापुराण :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता पुष्पदन्त माने जाते हैं। इसे दो भागों में (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध) विभाजित किया गया है। यों तो यह तीन भागों में विभाजित है। तीसरे भाग में अजितनाथ आदि का वर्णन है। इसमें त्रेसठ शलाका महापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलदेव) का वर्णन है। इसे त्रेसठ-शलाका पुरुष पुराण भी कहते हैं। इसके प्रथम भाग में ऋषभदेव का चरित्र है, इसे आदि पुराण कहा जाता है और शेष भाग को उत्तर पुराण कहा जाता है। आदि पुराण में सैंतालीस पर्व हैं, जिनमें से आदि तैंतालीस पर्व जिनसेन रचित है और पुष्पदन्त के आदि पुराण में सैंतीस सन्धियाँ हैं। सभी सन्धियों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। उनमें से ध्यान सबधी निम्नलिखित सन्धियाँ हैं- द्वितीय सन्धि में काल द्रव्य का विस्तृत वर्णन है। सातवीं सन्धि में अनुप्रेक्षाओं का कथन है। आठवी सन्धि में ऋषभदेव का कथन है। नौंवी सन्धि में कायोत्सर्ग का उल्लेख है। अठारहवी सन्धि में बाहुबलि और भरत का कथन है। बाहुबलि के आत्म चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्यान का उल्लेख किया है। स्पष्टत ध्यान का उल्लेख नही है फिर भी अप्रत्यक्षत ध्यान का ही स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। पूर्वार्ध में १८ सन्धियाँ हैं। ऋषभदेव ने 'बाह्मण' वर्ण की स्थापना के अनुसार तीन वर्ण की स्थापना की - क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

१९ वी सन्धि से उत्तरार्ध प्रारभ होता है। २० वी सन्धि लोक का विस्तृत वर्णन है। २१वी सन्धि में चारणमुनियों के कथन से लब्धि का कथन किया है और २८वी सन्धि में भरत के आत्मचिन्तन का वर्णन है। इन सभी में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। लोक के स्वरूप में लोक सस्थान धर्मध्यान का स्वरूप निखर आता है।

महापुराण :- प्रस्तुत ग्रन्थ जिनसेनाचार्य द्वारा रचित है। इसमें २४ पर्व हैं। इसमें मराठी अनुवाद है। विशेषत. २१ वें पर्व में आगम शैली से ही ध्यान का विस्तृत वर्णन है। शुक्लध्यान के चारों भेदों का विस्तार से वर्णन है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही है।

हारिभद्रीय कृतियाँ :- आचार्य हरिभद्र का कालमान विक्रम सवत् ७५७ से ८२७ माना जाता है। उन्होंने आगमकालीन ध्यानयोग पद्धती को ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को रखकर तत्कालीन परिस्थिति का निरीक्षण परीक्षण करके समस्त ध्यानयोग की प्रक्रिया को 'योग' शद्ब के अन्तर्गत रख दिया। उन्होंने १४४४ ग्रन्थ लिखे परन्तु उनमें से ध्यान सबधी निम्नलिखित ही ग्रन्थ हैं -

१) योगबिन्दु, २) योगशतक, ३) योगदृष्टि समुच्चय, ४) योगविंशिका, ५) षोडषक प्रकरण, ६) ब्रह्मसिद्धी समुच्चय, ७) धर्म बिन्दु, ८)शास्त्रवार्ता समुचय और ९) पचसूत्र की वृत्ति।

'योगबिन्दु' ५२७ पद्यों में रचित यह अध्यात्मप्रधान कृति है। इसमें विविध विषयों के वर्णन के साथ, योग का माहात्म्य, योग की पूर्वभूमिका 'पूर्व सेवा' शद्ब के रूप में पाँच अनुष्ठान (विष, गय, अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृत) के वर्णन के साथ ही साथ सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधनभूत यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का वर्णन किया है। जैन योग का विस्तृत वर्णन अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति सक्षेप इन पाँच आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं में किया है। पतजलि के द्वारा कथित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप हरिभद्रसूरि ने प्रथम के चार आध्यात्मिक योग को सम्प्रज्ञात और अतिम वृत्तिसक्षेप असम्प्रज्ञात समाधि के समान माना है।

योग के अधिकारी और अनाधिकारी के वर्णन में मोहान्धकार में विद्यमान ससारी जीवों के लिये अचरमावर्त शद्ब का प्रयोग किया है। उन्हें ही 'भवाभिनन्दी' की भी सज्ञा दी है। ये जीव ध्यान के अधिकारी नही है। चरमावर्त में विद्यमान शुक्लपाक्षिक, भिन्न ग्रन्थि और चरित्री जीवों को ही ध्यान का अधिकारी माना है। इस अधिकार की प्राप्ति 'पूर्व सेवा' से ही हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर 'सद्‌योगचिन्तामणि' नामक स्वोपज्ञवृत्ति है। इसका श्लोकप्रमाण ३६२० है।

'योगशतक' यह कृति प्राकृत में है। इसमें १०१ गाथाएँ हैं। इसमें भी विभिन्न विषयों का वर्णन है। प्रारभ में ही योग के दो भेद किये हैं - निश्चय और व्यवहार। इन दोनों का स्वरूप, निश्चल योग से फल सिद्धि, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, योग के अधिकारी- अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि और चारित्री इन तीनों का स्वरूप, मैत्री आदि चार भावनाएँ, आहार विषयक स्पष्टीकरण में भिक्षा, योग जन्य लब्धियाँ, कायिक प्रवृत्ति की अपेक्षा मानसिक भावना की श्रेष्ठता में मण्डुकचूर्ण और उसकी भस्म का दृष्टान्त तथा मिट्टी का घड़ा और सुवर्ण कलश का भी उदाहरण देकर समझाया है। काल ज्ञान का उपाय भी वर्णित है। ये सभी विषय ध्यान से संबधित हैं। इनमें से ध्यान को अलग नही निकाल सकते। यहाँ ध्यान शद्ब के लिये 'योग' शद्ब का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ व्याख्या है। जिसका परिमाण ७५० श्लोक हैं।

'योग दृष्टिसमुच्चय' यह २२६ पद्यों में रचित हैं। इसमें योग का विभिन्न दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है।

प्रथम वर्गीकरण ओघदृष्टि और योग दृष्टि से किया गया है। द्वितीय इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग इन तीन भेदों से हैं। इनमें सामर्थ्ययोग के धर्म सन्यास और योगसन्यास ऐसे दो भेद किये हैं। इसके अनन्तर मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ दृष्टियों को पतजलि के अष्टागयोग के साथ तुलना की है। इन आठ दृष्टियों को स्पष्ट करने के लिए तृणादि के उदाहरण दियें हैं। इसमें १४ गुणस्थानों का भी वर्णन है। अन्त में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी तथा निष्पन्न योगी के रूप में वर्गीकरण किया है।

ससारी जीव की अचरमावर्तमानकालीन अवस्था को 'ओघदृष्टि' और चरमवर्तमानकालीन अवस्था को 'योगदृष्टि' कहा है। आठ दृष्टियों में से प्रथम की चार दृष्टियों में मिथ्यात्व का अश होने से उसे अवेद्यसवेद्यपद वाली और अस्थिर एवं सदोष कहा है और शेष चार को वेद्यसवेद्यपदवाली कहा है। प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम के चार गुणस्थान, पाचवी छठी दृष्टि में पाच से सात तक गुणस्थानत, सातवी दृष्टि में आठ और नौवा गुणस्थान तथा अन्तिम दृष्टि में शेष सभी गुणस्थान हैं।

इस पर भी हरिभद्र की स्वोपज्ञ वृत्ति है, जिसका श्लोक प्रमाण ११७५ है।

'योगविंशिका' ग्रन्थ में योग के ८० भेद बताए हैं। इसमें गाथा २० ही हैं किन्तु पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। प्रारंभ में ही योग शद्ब की व्याख्या की गई है। समस्त धर्म व्यापार, जो मोक्ष से जोड़ता है, उसे योग कहा है। इसमें स्थान, ऊर्ण, अर्थ, सालम्बन और निरालम्बन इन पाँच को कर्मयोग (स्थान व ऊर्ण) और ज्ञानयोग (अर्थ, सालम्बन,

निरालम्बन) में विभाजित किया है। इनमें स्थान शद्ब से अभिप्राय कायोत्सर्ग और पद्मासन आदि से है। २० गाथा में योग का विस्तृत वर्णन है।

इस पर यशोविजय उपाध्याय की विस्तृत टीका है, जो आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा से प्रकाशित है।

'षोडशक प्रकरण' में ग्रन्थ के नामानुसार ही १६-१६ पद्यों के १६ प्रकरण हैं। प्रस्तुत कृति में बाल, मध्यम बुद्धि एव बुध आदि के वर्गीकरण द्वारा विविध विषयों का प्रतिपादन किया है। योग साधना में बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुग्र, और आसग इन आठ चित्त दोषों का १४ वे प्रकरण में वर्णन मिलता है। वैसे ही सोलहवें प्रकरण में इन दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेश, जिज्ञासा, शुश्रुषा, श्रवण, बोध, मीमासा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति का वर्णन है। पन्द्रहवें प्रकरण में जिनेन्द्रध्यान का वर्णन है। ध्यान दो ही प्रकार का है। सालबन और निरालबन। इन्ही दोनों ध्यानों का फल केवल ज्ञान की प्राप्ति होने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। इस प्रकार इसमें ध्यान का अर्थात् योग का विस्तृत वर्णन है।

इस पर यशोविजयसूरि विरचित न्यायाचार्यवृत्तिगतटिप्पन है। यह सूरत से प्रकाशित है।

'ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय' प्रस्तुत कृति हरिभद्र की है ऐसा मुनि पुण्यविजयजी का मन्तव्य है। इसमें करीबन ४२३ पद्य हैं। महावीर को नमस्कार करके ब्रह्मादि की प्रक्रिया, सिद्धान्तानुसार आत्म तत्त्व का निरूपण, सम्यक्त्व का लक्षण, अद्वेषादि आठ अगों का विस्तार, इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का विस्तृत वर्णन करके उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी का उल्लेख किया है। ये श्रेणियाँ ध्यान साधक ही चढ़ सकता है। ब्रह्मादि की प्राप्ति योग द्वारा ही हो सकती है ऐसा हरिभद्र का कथन है।

'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म और यति धर्म का विस्तृत वर्णन है। इसके आठ अध्याय हैं। सातवें अध्याय में धर्मफल के अन्तर्गत ध्यान का विशेष वर्णन किया है।

'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में आठ स्तव (प्रकरण) हैं। उनकी पद सख्या क्रमश ११२+८१+४४+१३७+३९+६३+६६+१५९ = ७०१ है। उनमें सभी दर्शनों का प्रतिपादन करके ज्ञानयोग का स्वरूप और फल बताकर ध्यानात्मक तप को ही परमयोग (मुक्ती का मार्ग) कहा है। इस पर यशोविजय उपाध्याय (वि, १७-१८ वी शती) की टीका है।

'पंच सूत्र' प्रस्तुत ग्रन्थ पर हरिभद्र की वृत्ति है। यह पाप-प्रतिघात-गुणबीजाधान, साधु धर्म की परिभावना, प्रव्रज्या ग्रहणविधि, प्रव्रज्या परिपालन और प्रव्रज्या - फल इन

पाँच सूत्रों में विभाजित किया गया। नामानुसार ही प्रत्येक सूत्र में वर्णन किया गया है। उसके अन्दर योग को ऐसा समाविष्ट कर दिया है कि उसे उन सूत्रों से अलग नहीं कर सकते।

शुद्ध धर्म की प्राप्ति पाप नाश से ही होती है। पाप कर्म का नाश तथा भव्यतादि भाव से है। उसके (तथा भव्यतादि) परिपाक के साधन १) चहु शरणा, २) दुष्कृतगर्हा और सुकृत का सेवन, (अनुमोदन) है। इन साधनों के द्वारा ही साधक आत्मशुद्धी करके धर्म का पालन करता है। धर्म के अन्तर्गत श्रावक और यति के मूलगुण और उत्तरगुणों का वर्णन करके सम्यग्दर्शनादि की आराधना द्वारा ध्यान का वर्णन पच सूत्रों में दुग्धजल की तरह समाविष्ट कर दिया है।

प्रस्तुत कृति चिरन्तनाचार्य की है।

इस प्रकार हरिभद्रसूरि ने अपने योगप्रधान ग्रन्थों द्वारा मौलिक चिन्तन से नये वर्गीकरण, अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली (अचरमावर्त-चरमावर्त, भवानन्दी, आत्मानन्दी, कृष्णपाक्षिक-शुक्ल पाक्षिक, अपुनर्बन्धकादि) का तथा जैन परम्परागत योगात्मक विचारों का नये पद्धति से प्रतिपादन किया है। इनके ग्रन्थों में योग का विस्तृत स्वरूप सर्वांगों द्वारा स्पष्ट होता है।

◆ ◆ ◆

उपमितिभवप्रपंचा कथा :- प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धर्षिगणि (वि. स. ९६२) रचित आठ प्रस्तावों में (भागों में) विभाजित है। इसके पूर्वार्ध (प्रथम भाग) और उत्तरार्ध (दूसरा भाग) ऐसे दो विभाग हैं। इसमें द्रमक (भिखारी) के रूपक द्वारा समस्त ससारी जीवों का स्वरूप बताया है। दूसरे में कर्म के स्वरूप और उससे छूटने के लिये सदागमगुरु की शरण को श्रेष्ठ बताया है। निगोद से लेकर तिर्यंचपचेन्द्रिय तक के परिभ्रमण की कथा को रूपक द्वारा तीसरे प्रस्ताव में स्पष्ट किया है। और चतुर्थ प्रस्ताव में मोहराजा का अस्तित्व और ससार परिभ्रमणा का कारण मोह का रूपकों द्वारा वर्णन किया है। पाँचवे प्रस्ताव से उत्तरार्ध शुरू होता है। शेष प्रस्तावों में रूपकों द्वारा आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन मिलता है। सद्‌गुरु वैद्य की शरण से ही कर्म रोग दूर हो सकता है। उसके लिये ध्यानयोग की औषधि महा रामबाण दवा है। समस्त द्वादशांगी का सार ध्यानयोग को ही बताया है। संसार से मुक्ति ध्यान द्वारा ही हो सकती है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपकों द्वारा ही निर्मित है। इसकी यही विशेषता है कि नानाविध रूपकों द्वारा ससार का स्वरूप समझाकर अन्त ध्यानयोग का ही द्वादशांगी (आगम वाणी) का सार कहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ शाह नगीनभाई छेलाभाई जव्हेरी ४२६ जव्हेरी बाजार तथा दूसरा मुनि चद्रशेखरविजय (सम्पादक) द्वारा 'कमल प्रकाशन' अहमदाबाद से प्रकाशित है।

आत्मानुशासन : प्रस्तुत ग्रन्थ गुणभद्राचार्य (वि ९-१० वीं शती) द्वारा रचित है। इसका श्लोक प्रमाण २६९ है। इसमें मुक्ति की साधना का विशेष वर्णन है। ध्यान का अति सक्षिप्त वर्णन है।

इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र (वि १३ वी शती) द्वारा रचित सक्षिप्त सस्कृत टीका है, जो सोलापूर से प्रकाशित है।

तत्त्वसार : प्रस्तुत कृति देवसेनाचार्य (वि १० वी शती) द्वारा रचित है। तत्त्व का विविध प्रकार से वर्णन करके स्वगत और परगत रूप से क्रमश निजात्मा और पचपरमेष्टी का स्वरूप स्पष्ट किया है। पदस्थ ध्यान का विस्तृत वर्णन करके पुण्यात्माओं को पुण्य का बन्धन बताया है। स्वगत दो प्रकार के हैं- सविकल्प और अविकल्प। सविकल्प स्वगत आस्रवयुक्त है जब कि अविकल्प स्वगत आस्रवरहित है। इन्द्रियविषयों से विमुख होने पर मन की चचलता का विच्छेद हो जाता है तब अपने स्वभाव में (स्वरूप में) निर्विकल्प अवस्था आती है। यह शुद्धावस्था ही ध्यान है। इसमें शुद्ध आत्म तत्त्व का ही ध्यान करने की प्रेरणा है। स्वद्रव्य और परद्रव्य के विवेचन में ज्ञानी अज्ञानी का स्वरूप स्पष्ट किया है।

भावसंग्रह : यह भी देवसेनाचार्य की कृति है। यह प्राकृत में है। इसमें ध्यान संबधी निम्नलिखित विषयों का वर्णन है। मुक्त और ससारी जीवों का स्वरूप, औदायिकादि पाँच भावों का स्वरूप, चौदह गुणस्थान एव जिनकल्पक और स्थविरकल्पक की साधना पद्धति। इन विषयों के अतर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

गोम्मटसार : इसके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (वि ११ वी शती) ये चामुण्डराय के समकालीन रहे हैं। इन्होंने षट्खंडागम का ही आधार लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड । इसका गाथा प्रमाण १७०५ हैं।

जीवकाण्ड : इसमें गुणस्थान, जीव समास, १४ मार्गणा, उपयोग आदि का विस्तृत वर्णन हैं। मार्गणा के अन्तर्गत लेश्या का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस विभाग में ७३३ गाथाएँ है। ध्यान कौन कर सकता है? जीवों के भेद एव स्वरूप का विशेष वर्णन करके यही स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ध्यान के अधिकारी हैं।

कर्मकाण्ड : इसमें कर्म का विस्तृत वर्णन है। नौ अधिकारों में ९७२ गाथाएँ हैं। ध्यान द्वारा ही कर्मक्षय किया जा सकता है। अत इसमें कर्म का अति विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानार्णव : प्रस्तुत कृति को योगार्णव अथवा योगप्रदीप भी कहते हैं। यह शुभचन्द्राचार्य की रचना है। इसमें ४२ वर्ग और २०७७ श्लोक हैं। हेमचन्द्राचार्यकृत

योगशास्त्र से यह कुछ भिन्नता रखता है। इनका कथन है कि गृहस्थ को योग का अधिकार नही है। संयमी साधु ही इसका अधिकारी है। इसलिए इसमें पाँच महाव्रत और उनकी २५ भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। सर्ग २१ और २७ में आत्मा को ही ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप माना है। कषायरहित आत्मा को ही मोक्ष है। इसका उपाय इन्द्रियविजेता बनना है। इस विजय प्राप्ति के लिए क्रमश चित्तशुद्धि, रागद्वेषविजेता, समत्व की प्राप्ति है। समत्व की प्राप्ति ही ध्यान की योग्यता है।

इसमें प्राणायाम का वर्णन करीबन १०० श्लोकों में हैं। हेमचद्र की तरह ये भी प्राणायाम को ध्यान साधना में निरुपयोगी और अनर्थकारी मानते हैं। अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करीबन २०० श्लोकों में किया है। ध्यान का वर्णन भी आगम की दृष्टि से ही किया गया है, परतु धर्मध्यान के अन्तर्गत ध्येयरूप में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में ध्यान का विस्तृत वर्णन हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ हैं - (१) तत्त्वत्रयप्रकाशिनी (२) नयविलास की टीका और (३) टीका - इसके कर्ता अज्ञात हैं।

योग शास्त्र (अध्यात्मोपनिषद्) यह कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य की कृति है। बारह प्रकाशनों में प्रकाशित है। इनकी पदसख्या क्रमश ५६+११५+१५६+१३६+२७३+८+२८+८१+१६+२४+६१+५५ = १०१९ श्लोक है।

प्रथम प्रकाश में चार पुरुषार्थ में से मोक्ष का कारण ज्ञान-दर्शन चारित्ररूप 'योग' माना है। योगशास्त्र का मुख्य विषय यही है। प्रकाश १ से ४ (चार) तक गृहस्थ धर्म का विस्तृत वर्णन है। प्रकाश ५ से १२ तक प्राणायाम, आसन, ध्यान पर विस्तृत वर्णन है। आठवें से ग्यारह प्रकाशों तक क्रमश पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन है। रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत ही शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। तथा योग के माहात्म्य को, अभयकुमार, आदिनाथ, ऋषभदेव, आनंद, कुचिकर्म, कौशिक, कामदेव, कालसौरिकपुत्र, चुलिनीपिता, तिलक, दृढ़प्रहारी चोर, परशुराम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, भरत चक्रवर्ती, मरूदेवी माता, मण्डिक, महावीर स्वामी, रावण, रौहिण्येय, वसू (नृपति), सगर चक्रवर्ती, संगमक, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुदर्शन श्रेष्ठी, सुभूम चक्रवर्ती और स्थूलभद्र आदि के दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया है। ये सब योग के बल से सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञवृत्ति है। इसके अतिरिक्त इस पर 'योगिरमा' 'वृत्ति' 'टीका टिप्पण' 'अवचूरि', 'बालावबोध' 'वार्तिक' आदि अनेक टीकाएँ हैं।

धर्मामृत :- प्रस्तुत कृति प आशाधर (वि. १२-१३ वी शती) द्वारा दो भागों विभक्त हैं। इन दोनो भागों को क्रमश 'अनगार धर्मामृत' और 'सागार धर्मामृत' कहते पहले भाग में नौ अध्याय हैं जिनमें सम्पूर्ण श्रमणाचार का वर्णन है। दूसरे भाग में आ अध्याय हैं। उसमें सम्पूर्ण श्रावकाचार का वर्णन है। दोनों भाग में ध्यान का उल्लेख किर गया है क्षीर -नीर न्याय की तरह।

दोनों भागों पर प आशाधर ने 'ज्ञान दीपिका' नामक 'पजिका टीका' लिखी है इसके अतिरिक्त उनकी 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' नामक दूसरी भी टीका है। अनगार धर्मामृ की स्वोपज्ञ टीका वि सं १३०० की रचना है और सागार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका वि स १२९६ में लिखी गई हैं।

गुणस्थान क्रमारोह :-यह कृति रत्नशेखरसूरि (वि सं १४४७) की है। इसमें आत्मा का आध्यात्मिक विकास क्रम चौदह गुणस्थान के द्वारा बताया है। साधक में ध्यान की योग्यता चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम होती है। आगे के गुणस्थानों में क्रमश ध्यान प्रक्रिया में विशेषत विकास होता जाता है। अन्तिम अयोगीकेवली गुणस्थान में सम्पूर्ण कर्मों को ध्यान द्वारा क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

प्रस्तुत कृति पर भी 'स्वोपज्ञ वृत्ति' 'अवचूरि' एव 'बालावबोध' आदि टीकाएँ हैं। अवचूरि टीका का कर्ता अज्ञात है और बालावबोध का कर्ता श्रीसार है।

यह कृति शान्तिसूरिकृत 'धर्म रत्न प्रकरण' में से ली हैं।

अध्यात्मककल्पद्रुम :- इसके प्रणेता 'सहस्रावधानी' मुनिसुन्दरसूरि हैं। यह पद्यात्मक है। इसमें सोलह अधिकार हैं। उनमें से समता, स्त्रीममत्वमोचन, अपत्यममत्वमोचन, धन ममत्वमोचन, देहममत्वमोचन, विषयप्रमाद त्याग, कषाय त्याग, मनोनिग्रह, धर्मशुद्धि, गुरुशुद्धि, यतिशिक्षा, मिथ्यात्वादिनिरोध, शुभवृत्ति, साम्यस्वरूप आदि विषय ध्यान से सबधित हैं।

प्रस्तुत कृति पर तीन विवरण हैं - १) 'अधिरोहिणी' (धनविजयगणी), २) 'अध्यात्म कल्पकता' (रत्नसूरि) और ३) उपाध्याय विद्यासागर कृत टीका।

उपाध्याय यशोविजयगणीकृत ग्रन्थ :- न्यायाचार्य महामहोपाध्याय यशोविजयगणी (वि सं.) १७-१८ शती) की अनेक कृतियाँ हैं। उनमें अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, ज्ञानसार आदि ग्रन्थों में ध्यान सबंधी विशेष सामग्री है। ग्रन्थ के नाम से ही अध्यात्मिकता स्पष्ट होती है।

अध्यात्मसार सात अध्यायों में विभक्त है। इन सात प्रबंधों में क्रमश ४+३+४+३+३+२+२=२१ अधिकार हैं। इसका श्लोक प्रमाण १३०० है तथा पद्य ९४९ हैं। इन २१ अधिकारों में से अध्यात्ममहात्म्याधिकार, अध्यात्मस्वरूपाधिकार,

दम्भत्यागाधिकार, भवस्वरूपचिन्ताअधिकार, वैराग्यसमवाधिकार, ममतात्यागाधिकार, समताधिकार, सदनुष्ठानाधिकार, मन शुद्धयधिकार, सम्यक्त्वाधिकार, मिथ्यात्वत्यागाधिकार, योगाधिकार, ध्यानाधिकार, आत्मानुभवाधिकार ये अधिकार ध्यान से संबधित हैं। स्वतत्र ध्यानाधिकार वर्णन में आगम शैली के साथ ही साथ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण और हरिभद्र के ग्रन्थों का आधार लिया है। इस छोटे से अधिकार में ध्यान की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी है।

गम्भीरविजयगणी ने (वि. स. १९५२) इस पर टीका लिखी है, जो प्रकाशित है। इस पर 'टब्बा' भी लिखा गया है। इसके कर्ता वीर विजय हैं।

'आध्यात्मोपनिषद्' चार अधिकारों में विभक्त हैं। उनकी पदसंख्या क्रमश ७७+६५+४४+२३ हैं। शास्त्रयोगशुद्धि, ज्ञानयोगशुद्धि, क्रियायोगशुद्धि साम्ययोग शुद्धि इन चार अधिकारों में ध्यान संबंधी विशेष वर्णन है। साम्ययोग ही श्रेष्ठ ध्यान है।

'ज्ञानसार' में विभिन्न विषयों को लेकर भिन्न-भिन्न रूप से २० अष्टकों में विचार किया है। उनमें से मोहाष्टक, शमाष्टक, इन्द्रियजयाष्टक, मौनाष्टक, विवेकाष्टक, कर्मविपाकाष्टक, भवोद्वेगाष्टक, परिग्रहाष्टक, योगाष्टक, ध्यानाष्टक, तपाष्टक आदि में ध्यान सबंधी विवेचन है। इनमें भी योगाष्टक और ध्यानाष्टक में क्रमश· कर्मयोग व ज्ञानयोग तथा ध्याता ध्येय ध्यान की एकता का विस्तृत विवरण है।

इस पर गभीरविजयजीगणीकृत 'विवरण' है।

◆ ◆ ◆

ध्यान दीपिका :- प्रस्तुत कृति देवचन्द्र (वि. सं. १७६६) की तत्कालीन गुजराती भाषा में है। इसमें छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में अनित्यादि १२ भावनाओं का विवरण है और दूसरे में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का, तीसरे में पाँच समिति, तीन गुप्ति का, चौथे में ध्यान और ध्येय का, पाँचवें में धर्मध्यान, शुक्लध्यान और पिण्डस्थादि चार ध्यानों एव यंत्रों का तथा छठे खण्ड में स्याद्वाद का विस्तृत वर्णन दिया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यानमूलक ही है।

योगप्रदीप :- प्रस्तुत कृति १४३ पद्यों में रचित है। इसमें मुख्यत· आत्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। पतजलि के अष्टांगयोगों का जैन दृष्टि से विवेचन किया है। इसके मूल ग्रन्थ कर्ता का नाम अज्ञात है। इस पर गुजराती में किसी की 'बालावबोध' टीका है।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा :- प्रस्तुत ग्रन्थ कार्तिककुमार का है। इसमें बारह भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। लोकानुप्रेक्षा में धर्मध्यान के लोक संस्थान ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है और धर्मानुप्रेक्ष में आगमकथित ध्यानयोग एवं पदस्थ पिण्डस्थादि चार ध्यान का विस्तृत वर्णन है। वर्तमान परिस्थिति को लक्षित करके नये ढग से ध्यानयोग की प्रक्रिया प्रस्तुत की है।

इस पर शुभचन्द्र की टीका है।

अध्यात्मतत्त्वावलोक :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता न्यायविजयजी (वि स १८ शती) हैं। इसमें आध्यात्मिक विषय वैराग्यप्रधान है। ससार की असारता, विषयों की निर्गुणता, भोगों की भयंकरता, काम की कुटिलता, शरीर की नश्वरता,इन्द्रियों की मादकता और चित्त की चपलता आदि विषयों को आठ प्रकरणों- आत्मजागृति, पूर्व सेवा, अष्टागयोग, कषायजय, ध्यान सामग्री, ध्यान सिद्धि, योग श्रेणी और अन्तिम उद्धार, को स्पष्ट किया है। त्याग ही आध्यात्मिक चिकित्सा है। त्यागी ही ध्यान साधना से आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अत सब साधनाओं में ध्यान को ही श्रेष्ठ बताया है।

सिद्धांतसार संग्रह :- प्रस्तुत ग्रन्थ नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित है। इसमें बारह अध्याय हैं। उनमें से प्रथम तीन अध्याय में सम्यग्दर्शनादि का, चौथे में माया, मिथ्यात्व और निदान का, पाँचवें में जीव, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का, छठे से आठवे तक क्रमश· अघोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का, नौवें में आस्रव तथा बध तत्त्व का, दसवें में निर्जरा का, ग्यारहवें में आगम कथित चारों ध्यानों का और बारहवें में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान की प्रधानता लिये हुये है।

श्रावकाचार संग्रह :- प्रस्तुत श्रावकाचार सग्रह पाँच भागों में विभाजित है। सभी का यही नाम है। विभिन्न लेखकों के नामानुसार श्रावकाचार बनाया गया है। उनमें मुख्यत श्रावक का आचार, आगम कथित ध्यान और पदस्थादि चार ध्यान का विशेष वर्णन है।

इन्ही आगम और आगमेतर ग्रन्थों के आधार पर ही आगे के सभी अध्यायों पर विचार किया जायेगा।

जैन परम्परा में २० वी शताद्वी में अनेक सन्त हुए। उनमें से पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज एक हैं। उन्होंने नौ वर्ष की उम्र में ही ससार माया छोड़कर सयम अगीकार किया। प्रव्रजित होते ही आत्म साधना में जुड़ गये।

उस समय ध्यान परपरा प्राय लुप्त सी हो रही थी। आगमकालीन ध्यान परपरा को पुन· जागृत करने के लिए उन्होंने सरल मार्ग स्वीकारा। तत्कालीन सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थिति का ज्ञान करके ध्यान पद्धति को काव्यरचना, चित्रकला एव चरित्र के माध्यम से लोगों के सामने रखा। चित्र को सामने रखने से ध्यान सहज हो सकता है। अत· इसी पद्धती को अपनाकर उन्होंने हस्त और पाद से कुछ आध्यात्मिक चित्र निकाले। उनमें से कुछ की झाँकी नीचे दे रहे हैं –

'ज्ञानकुंजर' चित्र में हाथी के चित्र से जैन धर्म की मुख्य साधना पद्धति- सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान–सम्यक चारित्र और तप – इन चारों की साधना पद्धति को अंकित

किया है। मन की एकाग्रता में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सोपान रूप है। मन की तल्लीनता (एकाग्रता) ही ध्यान है। इसीलिए शास्त्र का चिन्तन मनन करने के बाद ही ध्यान हो सकता है। स्वाध्याय = स्व का चिन्तन करने वाला ही ध्यान का अधिकारी है। युद्ध में हाथी शौर्य और वीरत्व का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए पूज्यपादजी ने आत्मयुद्ध में भी हाथी का चित्र लिया । इसमें श्रुतज्ञान की सम्पूर्ण निधि 'अ' कार से लेकर 'ह' कार तक भर दी है। चित्र को सामने रखकर ध्यान करने से आत्मबल बढ़ता है और आत्मबल बढ़ने से कषाय की मंदता होती है। जैसे जैसे कषाय मंद होती है वैसे-वैसे ध्यान में वृद्धि होती है। यही इस चित्र का रहस्य है।

'शीलरथ'[१] इस चित्र में १८००० शील का वर्णन है। साधु सयम रथ पर आरूढ़ होकर कर्मशत्रु को ध्यान से पराजित कर सकता है। धर्मध्यान में प्रगति करने पर ही साधक शुक्लध्यान की साधना कर सकता है। यही भाव इस चित्र में स्पष्ट किया है। मन वचन काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति रोकना और शुद्ध परिणाम में आना ही ध्यान है। शुद्धात्मा का ध्यान ही वास्तविक ध्यान है।

'विचित्रालकार'[२] काव्य में चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति के साथ नमस्कार मंत्र को छत्रबन्ध और दुर्गबन्ध छन्द में वर्णित किया है। इस चित्र में अरिहंत, सिद्ध और साधु का ध्यान ही श्रेष्ठ बताया है। इनका स्मरण करने से ध्यान की योग्यता आती है। अतः इन्हीं का ध्यान करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद तिलोकऋषिजी म. ने भारत के प्रसिद्ध शहरों के नामों पर, मनुष्यों पर एव दक्षिण देश के गावों पर आध्यात्मिक पदावली बनाकर जैन धर्म में प्रसिद्ध साधना पद्धति को स्पष्ट किया और उनमें ध्यान पद्धति को श्रेष्ठ बताया है।

इस प्रकार इन्होंने ध्यान के स्वरूप को सरल पद्धति द्वारा स्पष्ट किया है।

---

१ श्री सत्य बोध, पृ १४-१५

२ तिलोक काव्य सग्रह, पृ ६९-७०

संदर्भ सूची

१ से किं त सम्मसुय ? सम्मसुय जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं
उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं
तीयपडुप्पण्णमणायगय – जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीय
दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा आयारो, सूयगडो जाव

इस पर शुभचन्द्र की टीका है।

अध्यात्मतत्त्वावलोक :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता न्यायविजयजी (वि सं १८ शती) हैं। इसमें आध्यात्मिक विषय वैराग्यप्रधान है। संसार की असारता, विषयों की निर्गुणता, भोगों की भयंकरता, काम की कुटिलता, शरीर की नश्वरता,इन्द्रियों की मादकता और चित्त की चपलता आदि विषयों को आठ प्रकरणों- आत्मजागृति, पूर्व सेवा, अष्टागयोग, कषायजय, ध्यान सामग्री, ध्यान सिद्धि, योग श्रेणी और अन्तिम उद्धार, को स्पष्ट किया है। त्याग ही आध्यात्मिक चिकित्सा है। त्यागी ही ध्यान साधना से आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अत सब साधनाओं में ध्यान को ही श्रेष्ठ बताया है।

सिद्धांतसार संग्रह :- प्रस्तुत ग्रन्थ नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित है। इसमें बारह अध्याय हैं। उनमें से प्रथम तीन अध्याय में सम्यग्दर्शनादि का, चौथे में माया, मिथ्यात्व और निदान का, पाँचवें में जीव, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का, छठे से आठवे तक क्रमश अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का, नौवें में आस्त्रव तथा बध तत्त्व का, दसवें में निर्जरा का, ग्यारहवें में आगम कथित चारों ध्यानों का और बारहवें में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान की प्रधानता लिये हुये है।

श्रावकाचार संग्रह :- प्रस्तुत श्रावकाचार संग्रह पाँच भागों में विभाजित है। सभी का यही नाम है। विभिन्न लेखकों के नामानुसार श्रावकाचार बनाया गया है। उनमें मुख्यतः श्रावक का आचार, आगम कथित ध्यान और पदस्थादि चार ध्यान का विशेष वर्णन है।

इन्हीं आगम और आगमेतर ग्रन्थों के आधार पर ही आगे के सभी अध्यायों पर विचार किया जायेगा।

जैन परम्परा में २० वीं शताद्वी में अनेक सन्त हुए। उनमें से पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज एक हैं। उन्होंने नौ वर्ष की उम्र में ही संसार माया छोड़कर सयम अगीकार किया। प्रव्रजित होते ही आत्म साधना में जुड़ गये।

उस समय ध्यान परपरा प्राय लुप्त सी हो रही थी। आगमकालीन ध्यान परपरा को पुन. जागृत करने के लिए उन्होंने सरल मार्ग स्वीकारा। तत्कालीन सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थिति का ज्ञान करके ध्यान पद्धति को काव्यरचना, चित्रकला एवं चरित्र के माध्यम से लोगों के सामने रखा। चित्र को सामने रखने से ध्यान सहज हो सकता है। अतः इसी पद्धती को अपनाकर उन्होंने हस्त और पाद से कुछ आध्यात्मिक चित्र निकाले। उनमें से कुछ की झाँकी नीचे दे रहे हैं -

'ज्ञानकुंजर' चित्र में हाथी के चित्र से जैन धर्म की मुख्य साधना पद्धति-सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक चारित्र और तप - इन चारों की साधना पद्धति को अंकित

किया है। मन की एकाग्रता में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सोपान रूप है। मन की तल्लीनता (एकाग्रता) ही ध्यान है। इसीलिए शास्त्र का चिन्तन मनन करने के बाद ही ध्यान हो सकता है। स्वाध्याय = स्व का चिन्तन करने वाला ही ध्यान का अधिकारी है। युद्ध में हाथी शौर्य और वीरत्व का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए पूज्यपादजी ने आत्मयुद्ध में भी हाथी का चित्र लिया। इसमें श्रुतज्ञान की सम्पूर्ण निधि 'अ' कार से लेकर 'ह' कार तक भर दी है। चित्र को सामने रखकर ध्यान करने से आत्मबल बढ़ता है और आत्मबल बढ़ने से कषाय की मंदता होती है। जैसे जैसे कषाय मंद होती है वैसे-वैसे ध्यान में वृद्धि होती है। यही इस चित्र का रहस्य है।

'शीलरथ'[१] इस चित्र में १८००० शील का वर्णन है। साधु सयम रथ पर आरूढ होकर कर्मशत्रु को ध्यान से पराजित कर सकता है। धर्मध्यान में प्रगति करने पर ही साधक शुक्लध्यान की साधना कर सकता है। यही भाव इस चित्र में स्पष्ट किया है। मन वचन काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति रोकना और शुद्ध परिणाम में आना ही ध्यान है। शुद्धात्मा का ध्यान ही वास्तविक ध्यान है।

'विचित्रालकार'[२] काव्य में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के साथ नवकार मंत्र को छत्रबन्ध और दुर्गबन्ध छन्द में वर्णित किया है। इस चित्र से अरिहत, सिद्ध और साधु का ध्यान ही श्रेष्ठ बताया है। इनका स्मरण करने से ध्यान की योग्यता आती है। अत. इन्हीं का ध्यान करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद तिलोकऋषिजी म. ने भारत के प्रसिद्ध शहरों के नामों पर, मनुष्यों पर एव दक्षिण देश के गावों पर आध्यात्मिक पदावली बनाकर जैन धर्म में प्रसिद्ध साधना पद्धति को स्पष्ट किया और उनमें ध्यान पद्धति को श्रेष्ठ बताया है।

इस प्रकार इन्होंने ध्यान के स्वरूप को सरल पद्धति द्वारा स्पष्ट किया है।

---

१ श्री सत्य बोध, पृ १४-१५

२ तिलोक काव्य सग्रह, पृ ६९-७०

संदर्भ सूची

१. से किं तं सम्मसुयं ? सम्मसुयं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं
उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं
तीयपडुप्पण्णमणागय - जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं
दुवालसगं गणिपिडगं तं जहा आयारो, सूयगडो जाव

दिट्ठिवाओ १२, इच्चेय दुवालसगं गणिपिडगं ।।

नन्दीसूत्र, ४१

२ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गंथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामि) गा ९२

३ दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते त जहा -
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपण्णत्ति, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हा-वागरणाइ विवागसुए, दिट्ठिवाए।

सुत्रागमे (समवाए, १२ वा समवाय, गा २११)

४ इह चार्यतोऽनुयोगो द्विधा - अपृथक्त्वानुयोग पृथक्त्वानुयोगश्च -----।

दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रीय वृत्ति) पृ ३

५ अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ।
देविंदवदिएहि महाणुभागेहि रक्खियअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ।।

आवश्यकनिर्युक्ति गा ७७३-७७४

६ श्रावकाचार भाग १ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा ४३ से ४६) पृ ५

७ सुयमाणे दुविहे अगपविट्ठे चेव अगबाहिरे चेव ।

सूत्रागमे (ठाणे २१७०३)

त समासाओ दुविहं पण्णत्त त जहा -
अगपविट्ठ, अगबाहिर च नन्दी सूत्र (आत्मा म) ४ पृ २७९
अगपविट्ठ अणगविट्ठ । नदीसूत्र, सूत्र ३८
एवमाइयाइं चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं -------
तस्स तत्तिआइ पइण्णगसहस्साइ । -------- नदीसूत्र, सू ४४

८ उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता ।।

सूत्रागमे भा २ (निरयावलियाओ) पृ ७५५

९ तद्विविविधमगबाह्यमङ्गप्रविष्टच ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१० गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
धुव- चल विसेसओ वा अंगा-णगेसु नाणत्त ।।

विशेषावश्यकभाष्यम् (प्रथमो भाग· - अश - १)
जिणभद्रगणिक्षमाश्रमण एव हेमचंद्रबृहद्वृत्या) गा ५५०

११ आगम- युग का जैन दर्शन (पं दलसुख मालवणिया) पृ २२
(क) दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रवृत्ति) पृ १
(ममपि इमं कारणं समुप्पन्न, तो अहमवि णिज्जूहामि ।।)
(ख) एअ किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए।
दशवैकालिक (आ तुलसी) भूमिका, पृ १७
दृष्टव्य . जैनदर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १०९

१२ (क) सुयणाणे दुविहे प अंगपविट्ठे चेव, अंग बाहिरे चेव,
अगबाहिरे दुविहे भावस्सए चेव आवस्सयवइस्से चेव,
आवस्सयवइस्से दुविहे, कालिए चेव, उक्कालिए चेव।
स्थानागसूत्र (आत्मा म) २/३१

(ख) नन्दीसूत्र (आत्मा. म) सू ४४

१३. अन्यथा ह्यनिबद्धमगोपागश समुद्रप्रतरण बहुरध्ययवसेय स्यात्।
सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, १/२०

१४ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ १८
दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १
(प बेचरदासस दोशी) प्रस्तावना पृ ३९

दृष्टव्य · जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १ जैन श्रुत पृ ३०

१५ ज च महाकप्पसुय जाणि व सेसाणि छेयसुत्तणि।
आवश्यक निर्युक्ति गा ७७७
"सेसाणि छेअ सुत्ताणि" विशेषावश्यक भाष्य (हेमचद्रवृत्ति) गा २२९५
छेदसुत्तणिसिहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
सभाष्य निशीथसूत्रम् (जिनदासकृत विशेष चूर्ण्या)
भा ४, भाष्य गा ४९४७

१६ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा
(देवेंद्रमुनि) पृ २५
कालिय अणेगविह पण्णत्त, तं जहा -
दसाओकप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह।

नन्दीसूत्र (आत्मा म) सूत्र ४४

दिट्ठिवाओ १२, इच्चेय दुवालसंगं गणिपिडग ।।

नन्दीसूत्र, ४१

२ अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ ।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामि) गा १२

३ दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते त जहा -
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपण्णत्ति, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हा-वागरणाइ विवागसुए, दिट्ठिवाए।

सुत्रागमे (समवाए, १२ वा समवाय, गा २११)

४ इह चार्यतोऽनुयोगो द्विधा - अपृथक्त्वानुयोग पृथक्त्वानुयोगश्च -----।

दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रीय वृत्ति) पृ ३

५ अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ।
देविंदवदिएहि महाणुभागेहि रक्खियअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ।।

आवश्यकनिर्युक्ति गा ७७३-७७४

६ श्रावकाचार भाग १ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा ४३ से ४६) पृ ५

७ सुयमाणे दुविहे अगपविट्ठे चेव अगबाहिरे चेव ।

सूत्रागमे (ठाणे २१७०३)

त समासाओ दुविह पण्णत्त त जहा -
अगपविट्ठं, अगबाहिर च — नन्दी सूत्र (आत्मा म) ४ पृ २७९
अगपविट्ठ अणगविट्ठ । — नदीसूत्र, सूत्र ३८
एवमाइयाइं चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं -------
तस्स तत्तिआइ पइण्णगसहस्साइं । -------- — नदीसूत्र, सू ४४

८ उवंगाणं पच वग्गा पण्णत्ता ।।

सूत्रागमे भा २ (निरयावलियाओ) पृ ७५५

९ तद्विविविधमंगबाह्यमङ्गाप्रविष्टच ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१० गणहर थेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
धुव- चल विसेसओ वा अगा-णंगेसु नाणत्त ।।

विशेषावश्यकभाष्यम् (प्रथमो भाग - अंश - १)
जिणभद्रगणिक्षमाश्रमण एव हेमचंद्रवृहद्वृत्या) गा ५५०

११. आगम- युग का जैन दर्शन (पं दलसुख मालवणिया) पृ २२
(क) दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रवृत्ति) पृ १
(ममपि इमं कारणं समुप्पन्न, तो अहमवि णिज्जूहामि ।।)
(ख) एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए।
दशवैकालिक (आ तुलसी) भूमिका, पृ १७
दृष्टव्य जैनदर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १०९

१२ (क) सुयणाणे दुविहे प अंगपविट्ठे चेव, अंग बाहिरे चेव,
अगबाहिरे दुविहे मावस्सए चेव आवस्सयवइस्से चेव,
आवस्सयवइस्से दुविहे, कालिए चेव, उक्कालिए चेव।
स्थानांगसूत्र (आत्मा म) २/३१

(ख) नन्दीसूत्र (आत्मा म) सू ४४

१३ अन्यथा हवृनिबद्धमंगोपागश समुद्रप्रतरण बहुरघ्ययवसेयं स्यात्।
सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१४ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ १८
दृष्टव्य . जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १
(प बेचरदासस दोशी) प्रस्तावना पृ ३९

दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १ जैन श्रुत पृ ३०

१५ जं च महाकप्पसुय जाणि व सेसाणि छेयसुत्तणि।
आवश्यक निर्युक्ति गा ७७७
"सेसाणि छेअ सुत्ताणि" विशेषावश्यक भाष्य (हेमचद्रवृत्ति) गा २२९५
छेदसुत्तणिसिहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
सभाष्य निशीथसूत्रम् (जिनदासकृत विशेष चूर्णा)
भा ४, भाष्य गा ४९४७

१६ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा
(देवेंद्रमुनि) पृ २५
कालियं अणेगविह पण्णत्तं, त जहा -
दसाओकप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह।

नन्दीसूत्र (आत्मा म) सूत्र ४४

१७ छेयसुयमुत्तमं सुयं।

सभाष्य निशीथसूत्रम , गा ६१८४

छेयसूय कम्हा उत्तमसुत्तं ? भण्णति – जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा य तेण चरणविसुद्धि करेति, तम्हा तं उत्तमसुत्त।

सभाष्य निशीथसूत्रम् गा ६१८४ की चूर्णि (भा ४)

१८ ततश्चतुर्विध कार्योऽनुयोगत पर मया।
ततो ऽङ्गोपागमूलाख्यग्रन्थच्छेद कृतागम ॥

दृष्टव्य .– जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा (देवेंद्रमुनि) पृ २०

१९ (क) तत्त्वार्थसूत्र १/२० श्रुतसागरीय वृत्ति
(ख) षट्खडागमम (धवला टी) पृ १, खड १, पृ ६ "बारह अगगिज्झा"

२० दृष्टव्य - जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा (देवेंद्रमुनि) पृ ३३

२१ दृष्टव्य - जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ ३६
(क) नन्दी गा ३३, मलयगिरि वृत्ति, पृ ५१
(ख) नन्दी चूर्णि पृ ८

दृष्टव्य - जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ ३७

आवश्यक चूर्णि

जिन वचन च दुष्षमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा
भगवद्भिर्नागार्जुन स्कन्दिलाचार्य प्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम् ॥

योगशास्त्र(हेमचद्र स्वोपज्ञम्) ३१ पृ ४०९

वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ नवसय असीआओ वीराओ।

दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा १, प्रकरण ३, पृ ८१

२२ समणस्स ण भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयण णिण्हगा पण्णत्ता त जहा-बहुरया, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया। एएसि णं सत्तण्हं पवयण णिण्हगाण सत्त धम्मायरिया हुत्था, तं जहा-जमालि, तीसगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले। एएसि णं पवयण-णिण्हगाण सत्तुप्पात्तिनगरा होत्था त जहा – सावत्थी, उसभपुर, सेयविया, मिहिल्लमुल्लूगातीरं, पुरमतरजि दसपुर, णिण्हग – उप्पत्तिनयराई ॥

स्थानागसूत्र ७/४७

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णव गण हुत्था त जहा गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्दहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामाड्ढिगणे, माणवगणे, कोड्यिगणे। स्थानागसूत्र ९/२०

२३ नन्दी स्थविरावली

२४. जम्बू के बाद दस बोल बिच्छेद हुए (कल्पसूत्र स्थविरावली)

(जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति)

जम्बुस्वामी के बाद - १ परम अवधिज्ञान २ मन पर्यवज्ञान ३ केवलज्ञान ४ परिहार विशुद्ध चारित्र, ५, सुक्ष्म सपराय चारित्र, ६ यथाख्यात चारित्र, ७. पुलाकलब्धि, ८ क्षपक-उपशम श्रेणी ९ आहारक शरीर और १० जिनकल्पी साधु।

२५ (क) परिशिष्ट पर्व सर्ग ९ (आ. हेमचंद्र) (द्रष्टव्य पृ ३६)

२६ (१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कंदिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मंगू (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त और (१०) आर्यवज्र

नन्दी स्थविरावली

२७ (क) आगम युग का जैन दर्शन (पं दलमुख मालवणिया) पृ १६

(ख) जैन दर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १११

२८ भगवती सूत्र २०/७०

२९ (क) आगम युग का जैन दर्शन (पं दलमुख मालवणिया) से उद्धृत पृ २३

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भाग १ प्रस्तावना पृ ६३

३० (क) "सव्वेसिमग - पुव्वाणमेग देसो'

धवला टी पृ ६८भा. १

(ख) कमेण वि आइरिया आयारंग - धरा

सेसग - पुव्वाणमेग देस - धरा य ।।

धवला टी पृ ६८

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा १ से उद्धृत "प्रस्तावना" पृ ६२

३१. (क) धवला टीका भाग १ भूमिका पृ १३

(ख) धवला टी भाग १ पृ ६८

३२ श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्री वीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुत - विच्छित्तौ च जाताया भव्यलोकोपकाराय श्रुतव्यक्तये च श्रीसंगाग्रहात् मृतावशिष्ट तदाकालीन सर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलयूय पुस्तकारूढा कृता । ततो मुलतो गणधरभाषितानामपि तत्सकलनानन्तर सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात ।

समाचारी शतक

उद्धृत - जैन दर्शन मनन और मीमासा -(मुनि नथमल) पृ ११९

३३ निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती।
तहवि य इच्छावेइ, विभासिउं सुत्तपरिवाडी ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, गा ८८

३४ सूत्रार्थयो परस्पर निर्योजन – सम्बद्धन निर्युक्ति ।

आवश्यक निर्युक्ति, गा ८३

३५ निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्ति ।

आचारांगनिर्युक्ति १/२/१

(उद्धृत, जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा – देवेन्द्रमुनि, पृ ४३६)

३६ आ श्यक निर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें से निम्नलिखित टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं –

(क) मलयगिरिकृत वृत्ति आगमोदय समिति बम्बई १९२८,१९३२, सूरत १९३६

(ख) हरिभद्रकृतवृत्ति आगमोदय समिती बम्बई १९१६-१७

(ग) मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेश व्याख्या
(देवचन्द, लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई १९२०)

(ब) जिनभद्रकृत विशेषावश्यक [illegible] तथा उसकी मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका
(यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस वी स २४२७-२४४१)

(ट) माणिक्यशेखर कृत आवश्यकनिर्युक्ति –दीपिका
(विजयदेवसूरीश्वर, सुरत, सन् १९३९-१९४९)

(ठ) कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यक भाष्य – विवरण
(ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था,रतलाम,स १९३६-३७)

(ड) जिनदासगणिमहत्तरकृत चूर्णि – (श्र के श्वे सस्था रतलाम १९२८)

(ढ) विशेषावश्यक भाष्य की जिनभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति
(ला द विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९६६)
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३ द्वितीय प्रकरण पृ ७१

३७ निर्युक्ति – लघुभाष्य – वृत्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (६ भाग)
सम्पादक – मुनि चतुरविजय एव पुण्यविजय,
प्रकाशक – श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर,
सन् १९३३, १९३६, १९३८,१९३८, १९४२

३८ निर्युक्ति भाष्य – मलयगिरि विवरण सहित
सशोधक – मुनि माणेक, प्रकाशक – केशवलाल प्रेमचद मोदी व

त्रिकमलाल उगरचंद, अहमदाबाद, वि सं १९८२-५
(उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा

३९ निर्युक्ति - भाष्य - द्रोणाचार्य सुत्रितवृत्तिभूषित
प्रकाशक - शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, आगमोदय समिति
सैलाना, सन् १९१९

४० इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजय से प्राप्त हुई। यह वि सं १९८३ में लिखकर तैयार की है।
(उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ २७६)

४१ श्री विशेषावश्यकसत्का अमुद्रितगाथा। श्री नन्दीसूत्रस्य चूर्णि- हरिभद्रीया वृत्तिश्च - श्री वृषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन १९२८
नन्दीसूत्रम् चूर्णिसहितम् - प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन १९६६

४२ हरिभद्रकृत वृत्तिसहित, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम सन् १९२८

४३ उपरोक्त सस्था, पूर्वभाग सन् १९२८, उत्तरभाग, सन १९२९

४४ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९३३

४५ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९३३

४६ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९४१

४७ वही सस्था, रतलाम, सन १९४१

४८ विषमपद व्याख्यालंकृत सिद्धसेनगणि सन्दृब्ध बृहच्चूर्णि समन्वित जीतकल्पसूत्र,
सपादक - मुनि जिनविजय
प्रकाशक - जैन साहित्य सशोधक समिति, अहमदाबाद -२, सन् १९२६

४९ अहवा वितियचुन्निकाराभिपाएण चत्तारि - जीतकल्पचूर्णि पृ २३
उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३१४

५० सा य छव्विहा - जहा दसवेयालिए भणिया तहा भणियव्वा।
प्रथम भा पृ २ (उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३) पृ ३२१

५१ सम्पादक -- उपा अमरमुनिजी व मुनि कन्हैयालालजी
प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा,

५२ निर्वृतिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति ।

आयारांग - टीका प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्त

(उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३८२)

५३ तित्थयरवयण सगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।

दव्वट्ठिओ वि पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ।

(उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३९०)

अध्याय ३

जैन साधना का स्वरूप और उसमें ध्यान का महत्त्व

भारतीय परपरा में जैन दर्शन को साधना प्रधान माना गया है। जैन दर्शन अथवा जैन साधना के स्वरूप को समझने की कुन्जी है - 'कर्म सिद्धात'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा। आत्मा सर्व-तत्र स्वतत्र शक्ति है। अपने सुख-दु ख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोगनेवाला भी वही है। आत्मा स्वय में अमूर्त है, - परम विशुद्ध है। किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में ससार में परिभ्रमण कर रहा है ।और स्वय ही उससे मुक्त होता है।[१] आत्मा को ससार में भटकाने वाला कौन है? जीवों की भिन्नता और ससार की विचित्रता किसके कारण है? आत्मा की विविध दशाओं एवं स्वरूपों का विवेचन एव उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्म सिद्धात'। क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण को ही दु ख कहते हैं।[२] अत भगवान महावीर का कथन अक्षरश सत्य एव तथ्य है कि कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दु ख का कारण ईश्वर को माना है, जब कि जैन दर्शन ने समस्त सुख-दु ख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसके मुख्य सहायक कर्म को माना है। जैन दर्शन में सचेतन पदार्थों के लिए जीव, आत्मा या चेतन और अचेतन पदार्थों के लिए अजीव कहा है। वास्तव में कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय में पुद्गल है - जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किए जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसपन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बंधन में बाध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गभीर विषय है। जैन दर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसलिए जैन दर्शन अथवा जैन साधना के स्वरूप को समझने के लिए 'कर्म सिद्धांद' को समझना अनिवार्य है।

कर्म की परिभाषा

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के माध्यम से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्‌गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से सश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[३]

कर्म पौद्‌गलिक है। जिसमें रूप. रस, गध और स्पर्श हो, उसे पुद्‌गल कहते हैं।[४] पृथ्वी, पानी, हवा आदि पुद्‌गल से बने हैं, जो पुद्‌गल कर्म बनते हैं। अर्थात् कर्म-रूप में परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज (धूलि) हैं, जिसको इन्द्रियाँ अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म यत्र भी नही जान सकते हैं। किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम अवधिज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्‌गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उन्हें कर्म कहते हैं।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्म शास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इनका सबंध कर्म के बंध, उदय, उदीरणा, परिवर्तन, सत्ता, क्षय आदि से हैं, जिनको मोटे तौर पर निम्नलिखित ग्यारह भेदों में वर्गीकृत कर सकते हैं -[५] १) बन्धन, २) सत्ता, ३) उदय, ४) उदीरणा, ५) उद्‌वर्तना (उत्कर्षण), ६) अपवर्तना (अपकर्षणा), ७) सक्रमण, ८) उपशमन , ९) निधत्ति, १०) निकाचन और ११) अबाधा (अबाधा काल)।

अन्य - अन्य दार्शनिक परम्पराओं में उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए सचित, बधन के लिए आगामी या क्रियमाण, निकाचन के लिए नियत विपाकी, सक्रमण के लिए आवागमन, उपशमन के लिए तनु आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

कर्म शब्द के वाचक विभिन्न शब्द

कर्म शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में व्यवहृत हुआ है। जन साधारण अपने लौकिक व्यवहार में काम (कार्य), व्यापार, क्रिया आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। खाना, पीना, चलना, आदि किसी भी हल-चल के लिए, चाहे वह जीव की हो या अजीव की हो- कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। कर्मकाडी मीमासक यज्ञयागादिक क्रियाओं के अर्थ में स्मार्त, विद्वान् ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्तव्य (कर्म) के रूप में, पौराणिक व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, वैयाकरण कर्ता के व्यापार के फल अर्थ में, वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पाच साकेतिक कर्मों के अर्थ में तथा गीता में क्रिया, कर्तव्य, पुनर्भव कारणरूप अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ के लिए अथवा उस अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द मिलते हैं।

कर्म-बन्ध के प्रकार

जैन दर्शन में कर्म बन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। उसकी मान्यतानुसार संसार में दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं - १) चेतन और २) अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाँच प्रकार के हैं - धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल। इनमें से प्रथम चार के द्रव्य अमूर्तिक एव अरूपी हैं। अत· वे इन्द्रियों के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है और पकड़ा तथा छोड़ा भी जाता है। 'पूरणाद् गलनाद् पुद्गल·' इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और बिछुड़ना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्य रूप वर्गणाएँ होती हैं। इनमें से एक कर्म वर्गणा भी है। लोक में कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ ये कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ -पुद्गल परमाणु विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन तथा काया से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है और जितने क्षेत्र अर्थात प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान वे पुद्गल-परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किए जाते हैं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में अधिकता होने पर परमाणुओं की सख्या में भी अधिकता होती है और प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर परमाणुओं की सख्या में न्यूनता होती है और इन गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्म-रूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्य कर्म कहलाता है।

इन द्रव्यकर्मों का क्रमश प्रकृतिबंध, स्थितिबध, रसबंध और प्रदेशबध इन चारों भेदों में वर्गीकरण कर लिया जाता है। इनमें से रसबंध को अनुभाग बन्ध अथवा अनुभावबन्ध भी कहते हैं।[६]

उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबध का बंध योग से एव स्थितिबंध और अनुभागबध का बध कषाय से होता है।[७]

कर्म के भेद

यद्यपि सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें से ज्ञानावरण आदि रूप पौद्गलिक परमाणुओं के

पिण्ड को द्रव्य-कर्म और उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को भावकर्म कहते हैं।[८] पुन द्रव्यकर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अट्ठावन अथवा एक सौ अड़तालीस हैं।[९]

कर्म की मूल प्रकृतियाँ

१) ज्ञानावरण, २) दर्शनावरण, ३) वेदनीय, ४) मोहनीय, ५) आयु, ६) नाम, ७) गोत्र, और ८) अतराय।[१०]

अष्ट कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १५८

१) ज्ञानावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - ५

१) मतिज्ञानावरण, २) श्रुतज्ञानावरण, ३) अवधिज्ञानावरण, ४) मन· पर्याय ज्ञानावरण, ५) केवल ज्ञानावरण।

२) दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियाँ - ९

१) चक्षुदर्शनावरण, २) अचक्षुदर्शनावरण, ३) अवधिदर्शनावरण, ४) केवल-दर्शनावरण, ५) निद्रा, ६) निद्रा-निद्रा, ७) प्रचला, ८) प्रचला-प्रचला, ९) स्त्या-नर्द्धि।

३) वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - २

१) साता वेदनीय, २) असाता वेदनीय

४) मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - २८

मुख्य भेद - २ (१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के प्रभेद - ३

१) सम्यक्त्व मोहनीय, २) मिश्र मोहनीय तथा ३) मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय के प्रभेद - २५ (कषाय १६, नो कषाय - ९)

कषाय ·- अनन्तानुबधी चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानावरण चतुष्क -क्रोध, मान, माया, लोभ।

सज्वलन चतुष्क -क्रोध, मान, माया, लोभ।

४ + ४ + ४ + ४ = १६

नो कषाय - १) हास्य, २) रति,) अरति, ४) शोक, ५) भय, ६) जुगुप्सा, ७) पुरुषवेद ८) स्त्रीवेद और ९) नपुसक वेद।

५) आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - ४

१) देवायु, २) मनुष्यायु, ३) तिर्यंच आयु, ४) नरकायु।

६) नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - १०३

गति ४ - १) नरक गति, २) तिर्यंच गति, ३) मनुष्यगति, ४) देव गति।

जाति ५-१) एकेन्द्रिय, २) द्वीन्द्रिय, ३) त्रीन्द्रिय, ४) चतुरिन्द्रिय, ५) पंचेन्द्रिय।

तनु शरीर ५ - १) औदारिक शरीर, २) वैक्रिय शरीर, ३) आहारक शरीर, ४) तैजस शरीर ५) कार्मण शरीर।

अंगोपाग ३ - १) औदारिक अंगोपांग, २) वैक्रिय अगोपांग, ३) आहारक अगोपांग।

बंधन १५ - १) औदारिक-औदारिक बधन, २) औदारिक-तैजस बंधन, ३) औदारिक-कार्मण बधन, ४) औदारिक-तैजस कार्मण बधन, ५) वैक्रिय-वैक्रिय बधन, ६) वैक्रिय तैजस बंधन, ७) वैक्रिय कार्मण बंधन, ८) वैक्रिय-तैजस कार्मण बधन, ९) आहारक-आहारक बंधन, १०) आहारक -तैजस बंधन, ११) आहारक-कार्मण बंधन, १२) आहारक-तैजस कार्मण बंधन, १३) तैजस-तैजस बंधन, १४) तैजस-कार्मण बधन, १५) कार्मण-कार्मण बंधन।

संघातन ५ - १) औदारिक संघातन, २) वैक्रिय संघातन ३) आहारक संघातन ४) तैजस सघातन ५) कार्मण सघातन।

सहनन ६ - १) वज्रऋषभनाराच सहनन, २) ऋषभनाराच सहनन, ३) नाराच संहनन, ४) अर्धनाराच सहनन, ५) कीलिका सहनन , ६) सेवार्त संहनन।

सस्थान ६ - १) समचतुरस्र सस्थान, २) न्यग्रोध सस्थान, ३) सादि सस्थान, ४) वामन सस्था, ५) कुब्ज संस्थान, ६) हुण्ड सस्थान

वर्ण ५ - १) कृष्णवर्ण, २) नील वर्ण, ३) लोहित वर्ण, ४) हारिद्रवर्ण, ५) श्वेत वर्ण।

गध -२ - १) सुरभि गंध, २) दुरभि गध।
रस ५ - १) तिक्त रस, २) कटु रस, ३) कषाय रस, ४) आम्लरस, ५) मधु रस।
स्पर्श ८ - १) कर्कश स्पर्श, २) मृदु स्पर्श, ३) गुरु स्पर्श, ४) लघु स्पर्श, ५) शीत स्पर्श, ६) उष्ण स्पर्श, ७) स्निग्ध स्पर्श, ८) रुक्ष स्पर्श।

आनुपूर्वी ४ - १) नरकानुपूर्वी, २) तिर्यंचानुपूर्वी, ३) मनुष्यानुपूर्वी, ४) देवा-नुपूर्वी।

विहायोगति २ - १) शुभ विहायोगति, २) अशुभ विहायोगति।

ये १४ पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेद हैं। अब प्रत्येक प्रकृतियों के भेद कहते हैं-

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ - १) पराघात, २) उच्छवास, ३) आतप, ४) उद्योत, ५) अगुरुलघु, ६) तीर्थंकर, ७) निर्माण, ८) उपघात।

जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद होते हैं - उन्हें पिण्ड प्रकृति और जिनके अवान्तर भेद नहीं होते हैं उन्हें प्रत्येक प्रकृति कहते हैं।

त्रस दशक प्रकृतियाँ १० - १) त्रस, २) बादर, ३) पर्याप्त, ४) प्रत्येक, ५) स्थिर, ६) शुभ, ७) सुभग, ८) सुस्वर, ९) आदेय, १०) यश कीर्ति।

स्थावरदशक प्रकृतियाँ १० - १) स्थावर, २) सूक्ष्म, ३) अपर्याप्त, ४) साधारण, ५) अस्थिर, ६) अशुभ, ७) दुर्भग, ८) दु स्वर, ९) अनादेय, १०) अयश कीर्ति।

४+५+५+३+१५+५+६+६+५ +२+५+८+४+२=७५ ८+१०+१० = १०३

७) गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ २

१) उच्च गोत्र, २) नीच गोत्र

८) अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ५

१) दानान्तराय, २) लाभान्तराय, ३) भोगान्तराय, ४) उपभोगान्तराय, ५) वीर्यान्तराय।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की गणना में नाम कर्म छोड़कर जिनकी जितनी सख्या बतलाई गई है उतने ही उन-उन के उत्तर भेदों के नाम निर्दिष्ट हैं। लेकिन नाम कर्म के ४२, ६७, ९३ और १०३ उत्तर भेदों की सख्या ग्रथों में बताई गई है। इनमें अधिक मध्यम और अल्प दृष्टिकोण से यह सख्या भिन्न है। उनकी गणना में क्रम इस प्रकार समझना चाहिए।

४२ = १४ पिण्ड प्रकृतियाँ, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ , १० त्रसदशक और १० स्थावर दशक

६७ = १० त्रसदशक, १० स्थावर दशक, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ = २८
१४ पिण्ड प्रकृतियों में से बधन और सघातन नामकर्म के भेदों को शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया है। शेष रही १२ पिण्ड प्रकृतियों के ४ + ५ + ५ + ३ + ६ + ६ + १+१+१+१+२=३९ + २७=६७

९३ = १०३ नामकर्म की प्रकृतियों में से बंधन की दस कम करने से ९३ नामकर्म की प्रकृतियाँ होती हैं।

इस प्रकार अष्ट कर्मों की १५८ प्रकृतियाँ हैं।[११]

इन आठ कर्मों के[१२] भी घाति और अघातिरूप में दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय - यह चार 'घाति' कर्म हैं। शेष अर्थात वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म 'अघाति' हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनंदमय है, लेकिन जब तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नही देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते हैं वैसे-वैसे असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जब आवरणों की तीव्रतम स्थिति होती है तब आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के आत्मा में निश्चय ठहरना नही होता और अन्तरग में शरीर आत्मा को भिन्न-भिन्न करने या समझने में मोह को प्राप्त कर भूल जाता है कि इस देह में द्रव्य इन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन, दर्शन, ज्ञान, सुख-दु ख, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, अज्ञान आदि, जो भाव है, इनमें से आत्मा कौनसा है? अत भ्रम का निवारण पहले होना चाहिए और आत्मा का निश्चय करना चाहिये। देह और आत्मा के भेदविज्ञान के बिना आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्पष्ट नही हो सकता। इसलिए प्रथमत आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए।[१३]

वह आत्मा समस्त देहधारियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में परिणत होती है। अर्थात् तीन अवस्था रूप हैं। परमात्मा के दो भेद हैं -अरिहत और सिद्ध। बाह्य द्रव्य शरीर, धन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि को आत्मबुद्धि। (ममता की बुद्धि) से ग्रहण करने वाला तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय के कारण जिसकी चेतना मोहनिद्रा से अस्त हो गई है वह बहिरात्मा कहलाता है। तीव्र कषायोदय के कारण वह देह और आत्मा को एक मानता है, अत. वह बहिरात्मा है। जो जीव जिनवचन में कुशल है, जीव और देह के भेद को जानते हैं तथा जिन्होंने आठ मदों को जीत लिया है, वे अन्तरात्मा है अर्थात् पुद्गल-स्वरूप सुख -दु.ख के सयोग-वियोग में हर्ष-शोक करने वाला सिर्फ विभ्रमरूप अधकार को दूर करके सूर्य-समान आत्मा का ही चिन्तन करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है। जो जीव सत्ता से चिदानन्दमय (केवलज्ञानस्वरूप आनन्दमय) समग्र बाह्य उपाधि से रहित स्फटिक-सदृश निर्मल, इन्द्रियादि से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, जिन, विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि आत्माओं को ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है। यह आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इन तीन भेदों में से अन्तरात्मा के तीन प्रकार किये

गये हैं, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रचरणों के भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं तथा गुणग्राही होते हैं वे जघन्य बहिरात्मा कहलाते हैं। श्रावक के व्रतों को (बारह व्रत, ग्यारह पडिमा) पालन करनेवाले गृहस्थ और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये जिन वचन में अनुरक्त होते हैं और महापराक्रमी होते हैं। तथा पच महाव्रतों से युक्त, धर्मध्यान एव शुक्लध्यान में सदा स्थित तथा जिन्होंने समस्त प्रमाद को जीत लिया है वे अन्तरात्मा है। शुद्धात्मा को ही परमात्मा कहा गया है।[१४] किन्तु यह स्मरण रहे कि जब आवरण बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

जैन दर्शन में आत्मा, जीव और चेतन ये तीनों ही एकार्थवाची शब्द हैं। इसीलिए कही-कही जीव, आत्मा अथवा चेतना शब्द का प्रयोग मिलता है। निम्चयनय की अपेक्षा आत्मा या जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि गुण वाला है। शुद्ध जीव न दीर्घ है, न ऱ्हस्व है, न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न सस्थान है, न सहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय है, न कर्म है, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न कोई अध्यवसाय स्थान है, न कोई अनुराग स्थान है, न कोई योग स्थान है, न बध स्थान है, न उदय स्थान है, न मार्गणा स्थान है, न स्थिति बधस्थान है, न सक्लेशस्थान है, न सयमलब्धि है, न जीवसमास है और न गुणस्थान है। ये तो सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।[१५] ये दीर्घादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहार नय से जीव में देखे जाते हैं, निम्चयनय से जीव के कोई भाव नही होते। अत जीव की व्याख्या विधिनिषेध से ही की जाती है। वह शब्द रूपादि से परे है।

जीव का लक्षण

जैन दर्शन में जीव का लक्षण उपयोग है।[१६] इसे आत्मा और चेतन भी कहते हैं। वह अनादि सिद्ध स्वतत्र द्रव्य है। चेतना और उपयोग में क्या अन्तर है? चेतना गुण रूप है और उपयोग उस चेतना को जानने रूप पर्याय है अर्थात् बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। जानने की शक्ति - चेतना समान होने पर भी जानने की क्रिया - बोध व्यापार (उपयोग) समस्त आत्माओं में समान नही हो सकता। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप होता है।[१७] सुख-दु ख का सवेदन एवं चारित्र और तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है। सुख-दु ख का सवेदन वेदनीय कर्म जन्य साता असाता या शुभ-अशुभ संवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवों में सदाकाल पाया जाता है। यह सवेदना कर्म जन्य है। कर्म से आबद्ध संसारी जीवों में ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी ससारावस्था तक ही रहती है। इसी तरह

चारित्र और तप भी सभी जीवों में सदा सर्वदा विद्यमान नही रहता। चारित्र का अर्थ है - आत्मा में प्रविष्ट कर्म समूह को निकालने वाला (आत्म भवन में निवसित कर्मसमूह को खाली करनेवाला)। अत: स्पष्ट है कि चारित्र तब तक ही है जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान है। कर्म का सर्वथा नाश होने पर चारित्र की आवश्यकता नही होती। चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था तक ही है न कि सिद्ध अवस्था में। इसीलिए सुख-दु:ख और चारित्र व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण है। तप चारित्र का ही अग है। वह भी जीव में सदा काल पाया नही जाता। ज्ञान, दर्शन और वीर्य आत्मा में सदासर्वदा पाये जाते हैं। इसीलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चयनय से लक्षण कहा गया है। उपयोग दो प्रकार का है[१८] साकारोपयोग और निराकारोपयोग। साकारोपयोग के आठ भेद हैं। (पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान) तथा निराकारोपयोग के चार भेद हैं। (चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन)। जो बोध ग्राह्य वस्तू को विशेष रूप से जाननेवाला हो वह साकारोपयोग है और जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्य रूप से जाननेवाला हो वह अनाकारोपयोग है। अनाकारोपयोग को दर्शन या निर्विकल्प बोध भी कहते हैं। यहाँ वस्तु में विद्यमान सामान्य धर्म के ग्रहण को दर्शन कहा गया है।

गौतम गणधर ने श्रमण भगवान से पूछा कि प्रभो! आत्मभाव से जीवभाव में जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम दिखाई देता है वह किस कारण से है? तब उन्होंने कहा कि जीव के पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन रूप उपयोग लक्षण होने से उत्थान आदि जीव में कहे गये हैं।[१९] और भी औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव भी जीव के ही लक्षण कहे गये है।[२०] ससारी अथवा मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय इन पाँचो भावों में से किसी न किसी भाववाले अवश्य होते हैं। अजीव में ये पाँचो भाव वाले संभव नही। इसीलिए ये अजीव के स्वरूप हो नही सकते। ये पाँचों भाव सभी जीवों में एक ही साथ पाये जाय यह भी कोई नियम नही है। समस्त मुक्त जीवों में दो ही भाव-क्षायिक और पारिणामिक होते है जब कि ससारी आत्मा में तीन,चार या पाँच भाव होते हैं। किन्तु दो कभी भी होते नही। इसीलिए व्यवहारिक और निश्चयनय से इन पाँचो भावों को जीव का लक्षण कहा है।

शुभाशुभ कर्म के उदय से होने वाले जीव के भाव को औदयिक भाव कहते हैं। जो भाव सर्व प्रकार के कर्म-क्षय से उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक भाव है। कर्मों के उदय-अनुदय अर्थात क्षयोपशम से प्रकट होने वाला भाव क्षायोपशमिक भाव है। मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला भाव औपशमिक भाव है। जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। ये पाँचों भाव जीव के होते हैं।[२१] इनमें से चार भाव कर्मोपाधि के निमित्त से होते हैं। एक

पारिणामिक भाव ही कर्मोपाधिरहित स्वाभाविक भाव है। कर्मोपाधि के भेद से तथा स्वरूप के भेद से ही पाँचों भाव नाना प्रकार के हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव ये तीनों ही कर्मजनित हैं। ये तीनों कर्म के उदय, उपशम और क्षयोपशम से होते हैं। यद्यपि क्षायिक भाव शुद्ध है, अविनाशी है, तथापि कर्म क्षय होने से होते हैं इसलिये इसको भी कर्मजनित ही कहा है। सिर्फ पारिणामिक भाव ही कर्मजनित नही है। शुद्ध पारिणामिक भाव जीव के स्वभाव हैं। इसके भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे दो भाव हैं। ये भी कर्मजनित नही हैं। फिर भी कर्म की अपेक्षा से भव्य-अभव्य स्वभाव वाले जाने जाते हैं। भव्य-अभव्य स्वभाव भव स्थिति पर आधारित है, कर्मजनित नहीं है। अत जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों ही पारिणामिक भाव स्वभावजनित हैं। इसके अतिरिक्त अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, प्रदेशत्व, असंख्यातप्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक पारिणामिक भाव हैं।[२२] किंतु यहाँ पर जीव का लक्षण (स्वरूप) बतलाना है और वह उसके असाधारण भावों के द्वारा ही बताया जा सकता है। इसलिए औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाए हैं, जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं सही, पर वे जीव की तरह अजीव में भी हैं। इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नही हैं।

यह उपयोग की विविधता बाह्य आभ्यन्तर कारण कलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रियादि साधन भेद तथा देश कालादि भेद ही विविध बाह्य सामग्री है, एवं आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। जब तक मोह कर्म की दर्शन और चारित्र ये दोनों शक्तियाँ प्रबल रहती हैं तब तक कर्मों का आवरण सघन होता है। उस स्थिति में आत्मा का यथार्थ रूप प्रगट नही होता है, किन्तु आवरणों के क्षीण निर्जीर्ण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्त होता है। जब कर्मावरण की तीव्रता या अत्यन्त सघनता हो तब आत्मा के अविकास की अतिम स्थिति रहती है और जैसे-जैसे आवरण क्रमश· क्षीण होते हुए पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध रूप में स्थित हो जाती है। इन दोनों स्थितियों के अन्तराल में आत्मा अनेक प्रकार की नीची, ऊँची, सघन-विरल अवस्थाओं का अनुभव करती है। ये मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ अपेक्षा दृष्टि से ऊँच और नीच कहलाती हैं। अर्थात् उपर वाली स्थिति की अपेक्षा नीची और नीची अवस्था की अपेक्षा की दृष्टि से ऊँची कहलाती हैं। इन ऊँच और नीच अवस्थाओं के बनने और कहलाने का मुख्य कारण कर्मों की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक स्थितियाँ हैं। इन बाह्य और आन्तरिक सामग्री वैचित्य की बदौलत एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोध क्रिया करता है। यह बोध की विविधता अनुभव-गम्य है।

आत्मा में अनेक गुण होते हुए भी उपयोग को ही मुख्य लक्षण क्यों माना गया है? नि संदेह आत्मा में अनंतगुण-पर्याय हैं। किंतु उन सब में उपयोग ही मुख्य है। क्योंकि वह स्व-पर प्रकाशक है। जो स्व-पर प्रकाशक होता है वह अपना और पराया का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार उपयोग भी अपना तथा इतर पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। इसलिए उपयोग सब पर्यायों में प्रधान है। उपयोग जीव का लक्षण है फिर पाँचों भावों को भी जीव का लक्षण क्यों कहा? दोनों में से किसी एक को ही लक्षण बनाते दूसरा लक्षण देने की क्या आवश्यकता है? असाधारण धर्म सब एक से नही हो सकते। वे लक्ष्य कभी होते हैं कभी नही भी होते हैं। समग्र लक्ष्य में तीनों काल में पाया जाने वाला एकमात्र उपयोग ही है। औपशमिक आदि जीव के स्वरूप हैं तो सही पर वे न तो सब आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्ती ही हैं। त्रिकालवर्ती और सर्व आत्माओं में पाया जानेवाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही है जिसका फलित अर्थ उपयोग ही है। इसलिए जीव का लक्षण उपयोग है और औदयिक आदि भाव जीव के उपलक्षण हैं। जड़ और चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय उपयोग द्वारा ही हो सकता है। उपयोग तरतम भाव से सभी जीवों में पाया जाता है। जिसमें उपयोग नहीं वह जड़ है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्यों में नही होते इसलिए ये आत्मा के लक्षण जानने चाहिए। ये तीनों भाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं। जीवत्व का अर्थ चैतन्य है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इसका उलटा है। ये तीनों ही जीव के परिणामिक भाव हैं।[२३] यही पारिणामिक भाव (उपयोग) जीव का लक्षण है।

जीव शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ

जो जीता है, जीता था और जीवेगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं। जीव के जीवित रहने के आधार हैं - द्रव्यप्राण और भावप्राण। स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु- द्रव्यप्राण के यह दस भेद हैं तथा ज्ञान-दर्शन-चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते हैं। इसलिए जीव का लक्षण इस प्रकार किया जाता है कि जो द्रव्य और भाव प्राणों से जिवित है, जीवित था और जीवित रहेगा वह जीव है। अर्थात् जो प्राणों को धारण करता है, जिसके आयु का सद्भाव है, आयु का अभाव नही है, वह जीव है।[२४] जो विविध पर्यायों को प्राप्त करती है, वह आत्मा है।[२५] कर्मावरणों से आच्छादित जीव कहलाता है और कर्मों से मुक्त जीव को ही शुद्धात्मा कहते हैं। अत जैनदर्शन में जीव और आत्मा एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जीव के भेद

जीवों के दो प्रकार हैं -[२६] ससारी और मुक्त। इन दोनों प्रकार के जीवों में चैतन्यरूप भावप्राण तो रहते ही हैं लेकिन संसारी जीव ज्ञान-दर्शन आदि भाव प्राणों के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्य प्राणों सहित है तथा मुक्त जीवों में सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते हैं। इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण है और जब तक जीव कर्मबद्ध है तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियों आदि से युक्त रहते हैं। लेकिन कर्ममुक्त हो जाने पर सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि रूप चैतन्य परिणाम रहते हैं।

जीव की उक्त व्याख्या व्यवहार और निम्चय नय की दृष्टि से की गई है। अर्थात् ससारी जीव की इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों और ज्ञानादि भावप्राणों सहित जीवित रहने की व्याख्या व्यवहारनय सापेक्ष है तथा मुक्त जीवों के सिर्फ ज्ञान आदि भावप्राणों द्वारा जीवित रहने की व्याख्या निम्चयनय सापेक्ष है।[२७]

मुक्त और ससारी ये दोनों जीव हैं। लेकिन जीवस्थान में संसारी जीवों को ग्रहण किया गया है। इसका कारण यही है कि मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नही है। सभी चैतन्य गुण एक जैसा है। लेकिन संसारी जीवों में चैतन्य गुण के साथ-साथ शरीर आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार की विभिन्नता पायी जाती है। जिनका बोध आगे कराया जायेगा। ससारी जीवों के विभिन्न भेद भी आगे बताये जायेंगे।

जीव और कर्म का संबंध

कर्मशास्त्रों में जीव और कर्म का संबध चार प्रकार से माना गया है -[२८] (१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३)सादि-अनन्त और (४) सादि-सान्त। पच सग्रह में तीन ही प्रकार के बध बताये हैं-[२९] अनादि-अनत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। अभव्यों में अनादि-अनन्त, भव्यों में अनादि सान्त और उपशान्त मोह गुण-स्थान से च्युत हुए जीवों में सादि-सान्त बध होता है। सादि-अनंत बध जो बध या उदय आदि सहित होगा वह कभी भी अनन्त नहीं हो सकता। इसलिए इसे ग्राह्य नही माना गया है।

जीव और कर्म का सबध अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाण रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सबंध अनादिकालिक है। ससारी जीव का वैभाविक स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और बद्धकर्म का स्वभाव जीव को रागादिरूप से परिमाणित करना है। इस प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव जीव और कर्म का सबध अनादिकाल से समझना चाहिए।[३०]

कर्म-संतति (प्रवाह) की अपेक्षा जीव और कर्म का संबध अनादिकालीन है। किन्तु अनादिकालीन होने पर सान्त (अन्तसहित) भी है और अनन्त (अन्तरहित) भी है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेंगे, उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सबध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा, उनका कर्म के साथ अनादि-अनन्त सबंध है।

प्रवाह सतति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का अनादि सबध और व्यक्ति की अपेक्षा सही सबंध है। जीव के साथ कर्म का सबंध अनादिकालीन है। ऐसा नही है कि जीव अनादिकाल से सर्वथा शुद्ध चैतन्यरूप था और बाद में किसी समय उस कर्म के साथ सबध हो गया हो। इसको इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, बीज और वृक्ष का अनादिकालीन सबंध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह सतति की अपेक्षा अनादिकालीन सबंध स्वय सिद्ध जानना चाहिये। अर्थात् ससारी जीवों के मन, वचन, काय में परिस्पन्दन होता है और उससे कर्मों का आस्रव होने से गतिजाति आदि होती है। गति होने पर देह और देह में इन्द्रियाँ बनती हैं। उनसे विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण से राग, द्वेष, उत्पन्न होता है। फिर इन राग-द्वेष रूप भावों से संसार का चक्र चलता रहता है। परिणाम जीव के बंध का कारण है। क्योंकि जीव का कर्म के कारण (निमित्त से) ही परिभ्रमण है। ३१

अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त संभव है।

कर्म और आत्मा का अनादि सबंध है और जो अनादि होता है, उसका कभी नाश नही हो सकता, ऐसा सामान्य नियम है। लेकिन कर्म के बारे में यह नियम सार्वकालिक नही है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सबध है, तथापि वे प्रयत्न-विशेष से पृथक् -पृथक् होते देखे जाते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सबंध का भी भाव-विशेष अथवा अध्यवसाय-विशेष से अन्त होता है। यह स्मरणीय है कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है, किसी एक कर्म विशेष का आत्मा के साथ अनादि सबध नही है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है और नवीन कर्म का बध होता रहता है। इस प्रकार से, प्रवाह रूप के कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिश अनादि नही है और तप, सयम, ध्यान के अनुष्ठानद्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा प्रयत्न -विशेषों से नष्ट हो जाती है और पुन नवीन कर्मों का बध नही होता है।

आत्मा के प्रदेशों से कर्मपुद्गल कैसे चिपकते हैं?

जिस प्रकार किसी के शरीर पर तेल की मालिश की जाए, तो उसके शरीर पर धूलि के कण आकर चिपक जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेष से भीगी हुई आत्मा से कर्म बन्ध होता है।३२

आत्मा और कर्म मे बलवान कौन?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अत कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं क्योंकि आत्मा के दो प्रकार के भाव हैं - विकारी और अविकारी। शास्त्रीय भाषा में इसे ही विभावदशा और स्वभावदशा कहा जाता है। विभावदशा के कारण अर्थात् कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है। परंतु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणती से कर्मो का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने ही शक्तीशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ती-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है। किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नही होता, तब तक कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन -सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्न कर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसके लिए साधक को विशेष साधना की आवश्यकता होती है और विशेष साधना के बिना साध्य की सिद्धी हो नही सकती।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

साधना के दो प्रकार हैं, आध्यात्मिक और भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके साध्य करने से अशाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसके कारण भव भ्रमण बढता है अपितु घटता नही। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही हो सकती है। अत साधनाशील जीवन में किसी भी एक ध्येय या लक्ष्य का होना बडा महत्त्व रखता है। ध्येय एव लक्ष्यहीन जीवन का कोई महत्त्व नही।

आध्यात्मिक धर्म साधना का केन्द्रस्थान आत्मा है। आत्मा को अनावृत करना या उसकी अनन्त ज्योति को प्रकट करना ही साधना का लक्ष्य है। जैन धर्म में साधना का लक्ष्य आत्मा के स्वरूप का बोध कराना है। आत्मा-स्वरूप बोध के होते ही साधक को 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ' और 'कहाँ जानेवाला हूँ' आदि का बोध हो जाता है।[३३] इसका बोध होते ही आत्मा अध्यात्म साधना द्वारा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और वह है चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ। ज्ञानीजन मोक्षपुरुषार्थ में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।[३४] सभी प्राणी बन्धन मुक्ति चाहते हैं। अत बद्धकर्म से आत्मा की मुक्ति कैसे हो? उसके लिए जैनागम में दो मुख्य तत्त्व बताये गये हैं -[३५] १) सवर और २) निर्जरा। मोक्ष के लिए ये ही दो मुख्य साधन हैं।

रत्नत्रयादि साधनों के साथ भी ये दो तो क्षीरनीरवत् होते ही हैं। इन दोनों के ऊपर ही आध्यात्मिक साधना की नीव खड़ी है। इसलिए ध्यानयोग का फल सवर और निर्जरा ही बतलाया है। सवर का अर्थ है - आत्मा में नवीन कर्मों के आगमन को रोकना और निर्जरा का अर्थ है - उदयावली में आए हुए पूर्व सचित कर्मों का नाश करना। इसके सविपाक और अविपाक ऐसे दो भेद हैं। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म ही अधिक बलवान है। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सवर और निर्जरा की साधना ही श्रेयस्कर है। इन दोनों का विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

साधना मे विघ्न

साधनाशील जीवन में साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पडता है। जो साधक विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है वह तो अपने ध्येय को सिद्ध कर लेता है और जो विघ्नों पर विजय नही कर पाता है, वह ध्येय से विचलित हो जाता है और पुन चतुर्गति में परिभ्रमण करने लगता है। साधना मार्ग में आने वाले विघ्न निम्नलिखित हैं -

साधना मार्ग में सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। प्रमाद के कारण ही 'मोह' अपना वर्चस्व जमा लेता है। मोहनीय कर्म का आवरण जब तक दूर नही होता है, तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो पाती है। प्रमाद के कारण ही मोह पर विजय नही पायी जाती हैं। मोहविजेता, मनोविजेता एव कषायविजेता बनने के लिए सबसे पहले प्रमाद का त्याग करना होगा। जो त्यागी बनकर भी निद्रा-तद्रा, आलस्य एव प्रमाद में सतत व्यस्त रहता है वह पाप श्रमण है।[३६] पाप श्रमण २० असमाधि दोष, २१ शबल दोष, आशातना के ३३ एव महामोहनीय कर्म उपार्जन के तीस स्थानों से बच नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा का भ्रष्ट होना ही असमाधि दोष है। चारित्र की निर्मलता को [illegible] करनेवाले शबल दोष हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि का ह्रास होना ही आशातना है। महामोहनीय कर्म के उपार्जन से ससारवृद्धि होती है। अत ये सभी साधना मार्ग में विघ्नरूप हैं।[३७] इन सब में 'मोह' सबसे बड़ा शत्रु है। इसके अहंकार और ममकार सैनिक हैं तथा रागादि भाव इसका परिवार है। इसीलिए मोह को राजा की उपमा दी गई है।[३८] मोह राजा के वशीभूत होते ही सात कर्मों का परिवार अपने आप वश में हो जाता है। इसलिए साधना मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को जीतना आवश्यक ही है। उसके बिना साधना मार्ग प्रशस्त नही बन सकता। इनके अतिरिक्त परिग्रह कषाय प्रबलता, इन्द्रियासक्ति एव स्त्री ससर्ग भी साधना पथ में विघ्न रूप ही है।[३९] इन सभी विघ्नों के कारण साधना का शुद्ध स्वरूप निखर नही पाता। अत साधक प्रमाद का त्याग करके मोह पर विजय करते हुए इन सभी विघ्नों को दूर करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

आत्मा और कर्म मे बलवान कौन?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अत कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं क्योंकि आत्मा के दो प्रकार के भाव हैं - विकारी और अविकारी। शास्त्रीय भाषा में इसे ही विभावदशा और स्वभावदशा कहा जाता है। विभावदशा के कारण अर्थात् कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है। परतु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणती से कर्मों का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने ही शक्तीशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ती-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है। किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नही होता, तब तक कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन -सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्न कर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसके लिए साधक को विशेष साधना की आवश्यकता होती है और विशेष साधना के बिना साध्य की सिद्धी हो नही सकती।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

साधना के दो प्रकार हैं, आध्यात्मिक और भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके साध्य करने से अशाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसके कारण भव भ्रमण बढता है अपितु घटता नही। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही हो सकती है। अत साधनाशील जीवन में किसी भी एक ध्येय या लक्ष्य का होना बड़ा महत्त्व रखता है। ध्येय एव लक्ष्यहीन जीवन का कोई महत्त्व नही।

आध्यात्मिक धर्म साधना का केन्द्रस्थान आत्मा है। आत्मा को अनावृत करना या उसकी अनन्त ज्योति को प्रकट करना ही साधना का लक्ष्य है। जैन धर्म में साधना का लक्ष्य आत्मा के स्वरूप का बोध कराना है। आत्मा-स्वरूप बोध के होते ही साधक को 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ' और 'कहाँ जानेवाला हूँ' आदि का बोध हो जाता है।[३३] इसका बोध होते ही आत्मा अध्यात्म साधना द्वारा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और वह है चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ। ज्ञानीजन मोक्षपुरुषार्थ में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।[३४] सभी प्राणी बन्धन मुक्ति चाहते हैं। अत बद्धकर्म से आत्मा की मुक्ति कैसे हो? उसके लिए जैनागम में दो मुख्य तत्त्व बताये गये हैं -[३५] १) सवर और २) निर्जरा। मोक्ष के लिए ये ही दो मुख्य साधन हैं।

रत्नत्रयादि साधनों के साथ भी ये दो तो क्षीरनीरवत् होते ही हैं। इन दोनों के ऊपर ही आध्यात्मिक साधना की नीव खड़ी है। इसलिए ध्यानयोग का फल संवर और निर्जरा ही बतलाया है। संवर का अर्थ है - आत्मा में नवीन कर्मों के आगमन को रोकना और निर्जरा का अर्थ है - उदयावली में आए हुए पूर्व संचित कर्मों का नाश करना। इसके सविपाक और अविपाक ऐसे दो भेद हैं। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म ही अधिक बलवान है। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सवर और निर्जरा की साधना ही श्रेयस्कर है। इन दोनों का विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

साधना मे विघ्न

साधनाशील जीवन में साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। जो साधक विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है वह तो अपने ध्येय को सिद्ध कर लेता है और जो विघ्नों पर विजय नही कर पाता है, वह ध्येय से विचलित हो जाता है और पुन॰ चतुर्गति में परिभ्रमण करने लगता है। साधना मार्ग में आने वाले विघ्न निम्नलिखित हैं -

साधना मार्ग में सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। प्रमाद के कारण ही 'मोह' अपना वर्चस्व जमा लेता है। मोहनीय कर्म का आवरण जब तक दूर नही होता है, तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो पाती है। प्रमाद के कारण ही मोह पर विजय नही पायी जाती हैं। मोहविजेता, मनोविजेता एव कषायविजेता बनने के लिए सबसे पहले प्रमाद का त्याग करना होगा। जो त्यागी बनकर भी निद्रा-तंद्रा, आलस्य एव प्रमाद में सतत व्यस्त रहता है वह पाप श्रमण है।[१६] पाप श्रमण २० असमाधि दोष, २१ शबल दोष, आशातना के ३३ एव महामोहनीय कर्म उपार्जन के तीस स्थानों से बच नही सकता। ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा का भ्रष्ट होना ही असमाधि दोष है। चारित्र की निर्मलता को भ्रष्ट करनेवाले शबल दोष हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि का ह्रास होना ही आशातना है। महामोहनीय कर्म के उपार्जन से ससारवृद्धि होती है। अत ये सभी साधना मार्ग में विघ्नरूप हैं।[१७] इन सब में 'मोह' सबसे बड़ा शत्रु है। इसके अहकार और ममकार सैनिक हैं तथा रागादि भाव इसका परिवार है। इसीलिए मोह को राजा की उपमा दी गई है।[१८] मोह राजा के वशीभूत होते ही सात कर्मों का परिवार अपने आप वश में हो जाता है। इसलिए साधना मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को जीतना आवश्यक ही है। उसके बिना साधना मार्ग प्रशस्त नही बन सकता। इनके अतिरिक्त परिग्रह कषाय प्रबलता, इन्द्रियासक्ति एव स्त्री ससर्ग भी साधना पथ में विघ्न रूप ही है।[१९] इन सभी विघ्नों के कारण साधना का शुद्ध स्वरूप निखर नही पाता। अत साधक प्रमाद का त्याग करके मोह पर विजय करते हुए इन सभी विघ्नों को दूर करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

साधना में सहायक तत्त्व

जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण धर्म की सिद्धि के लिए आचार सहिता श्रेष्ठ मानी गई है। आचार सहिता का पालक साधक के जीवन में द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावानुसार विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परीषह-उपसर्ग आते रहते हैं। ऐसी विषम परिस्थिती के समय 'गुरु' ही उसके लिए सम्बल रूप होते हैं। भूले भटके राही के लिए गुरु मार्गदर्शक हैं। साधना में सुदृढता लाने के लिए गुरु कृपा, दृढ़ श्रद्धा, आत्मविश्वास एव दृढमनोबल अत्यावश्यक हैं। 'गुरुपद' साधना मार्ग में सर्वोत्कृष्ट सहायक तत्त्व है।[४०] गुरु को जैनागम में छह पद से घोषित किया गया है।[४१] १) आचार्य, २) उपाध्याय, ३) प्रवर्तिनी (साध्वीप्रमुखा), ४) स्थविर, ५) गणी (सूत्रार्थदाता) और ६) गणावच्छेद। इनकी आज्ञानुसार साधना करने वाला साधक सिद्धी को प्राप्त कर सकता है। साधक के दो प्रकार माने गये हैं - विनीत और अविनीत। विनीत शिष्य ही साधना मार्ग से ध्येय सिद्ध कर सकता है, अविनीत नही। उसके पन्द्रह स्थान है -[४२] गुरुजनों के समीप बैठना, चचलता का त्याग करना, मायारहित होना, कुतूहलता का त्याग करना, किसी का भी तिरस्कार न करना, दीर्घकाल तक रोष न करना, मित्रों पर उपकार करना, विद्या का मद न करना, आचार्यादि के मर्म को प्रगट न करना, मित्रोंपर क्रोध न करना, अपराधी मित्रों के दोषों को न कहना एव अमित्र के भी परोक्ष में गुणों का वर्णन करना, कलह एव हिंसादि का त्याग करना, गुरुकुल में वास करना, लज्जाशील होना तथा जितेन्द्रिय होना। इसके विपरीत अविनीत के लक्षण हैं। उसके भी चौदह स्थान हैं। वह कभी भी निर्वाण प्राप्त नही कर सकता [४३]। सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त गुरु ही धर्मशास्त्रार्थ उपदेशक माना जाता है।[४४] इसीलिए भगवती सूत्र के प्रारभ में प्रथम गुरुपद को रखा है। तदनन्तर सिद्धपद को। गुरु ही साधक की योग्यता देखकर उसे मार्गदर्शन करते हैं। इसलिए साधना पथ में गुरु को मुख्य सहायक तत्त्व माना गया है। जब तक गुरु कृपा प्राप्त नही होती, तब तक देह और आत्मा का भेदज्ञान नही होता। सतत ससार में परिभ्रमण चालू रहता है।[४५] ससार परिभ्रमण घटाने में गुरुकृपा आधारस्तम्भ है। कर्मक्षय के बिना मुक्ति (मोक्ष) नही। उसके लिए सम्यक् साधना मोक्षमहल को पाने में सोपान रूप है। आगम में कर्मक्षय के साधन तीन अथवा चार बताएँ हैं। इन्हें ही मार्ग या सोपान कहते हैं।

कर्मक्षय करने के साधन

कर्म-आवृत जीव अपने परमात्म भाव को प्रगट करना चाहते हैं, उनके लिए किन साधनों की अपेक्षा है? जैन दर्शन में परम पुरुषार्थ - मोक्ष मार्ग को पाने के तीन साधन बतलाये हैं -[४६]

१) सम्यग्दर्शन, २) सम्यग्ज्ञान, और ३) सम्यक् चारित्र। कही-कही मोक्ष मार्ग के

चार साधन बतलाए हैं -४७ - सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र और तप। जहाँ तीन साधन माने गये हैं वहाँ चारित्र के अन्तर्गत ही तप को समाहित कर लिया गया है। कही-कही तो ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा गया है, तो ऐसे स्थलों पर दर्शन को ज्ञान स्वरूप ही समझा है। उससे भिन्न नही है। ज्ञानयोग और कर्मयोग की समन्वित साधना ही मोक्ष की सची साधना है। अकेले ज्ञान या अकेले क्रिया के साधन से मोक्ष नही मिलता। अधपगुन्याय की तरह ज्ञान-क्रिया के समन्वित रूप से ही मोक्ष है।४८

त्रिविध साधना का स्वरूप

साधक विशिष्ट साधन द्वारा साधना करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। इन्द्रियविजेता (जितेन्द्रिय) ही मन की शुद्धि करता है, मन शुद्धि से ही समता का आविर्भाव होता है, समता से ही निर्ममत्व की अवस्था प्राप्त होती है, निर्ममत्व अवस्था के शुभ परिणामों से ही साधक की चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होती है। जीव के शुभ-अशुभ-शुद्ध ऐसे तीन भाव हैं। धर्म से परिणत आत्मा शुद्धोपयोग के माध्यम से निर्वाण सुख को प्राप्त करता है और शुभाशुभ भावों में परिणत आत्मा स्वर्ग एवं नरक के सुख दु ख को प्राप्त करता है।४९ अत अशुभ भावों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही, सम्यक् साधना की जाती है। इसी दृष्टि से ज्ञानियों ने त्रिविध साधना को ही प्रधानता दी है। अन्य दर्शनों में भी त्रिविध साधना की ही प्रधानता है। आगमों का कथन है कि दर्शनरहित व्यक्ति को ज्ञान नही हो सकता और ज्ञान के बिना चारित्र की प्राप्ती नही हो सकती और चारित्र के बिना मोक्ष नही तथा मोक्ष के बिना निर्वाण नही।५० इसलिए साधना के तीन मार्ग बताये हैं। - चतुर्थ मार्ग को चारित्र के अतर्गत ही समाविष्ट किया गया है।

१) साधना क्रम

त्रिविध साधना क्रम में कही-कही पहले ज्ञान और बाद में दर्शन एवं चारित्र रखा है, और कही-कही दर्शन को पहले तदनन्तर ज्ञान और चारित्र का क्रम रखा है।५१ इसका मौलिक अन्तर ज्ञानी और छद्मस्थ की दृष्टि से आगमों में स्पष्ट होता है। आगम में दो शद्व मिलते हैं ५२ 'सर्वज्ञ' और 'सर्वदर्शी'। वैसे ही 'जानना' और 'देखना' इन शद्वों का रहस्य यही है कि सर्वज्ञ (ज्ञानी) को प्रथम समय में ज्ञान होता है और द्वितीय समय में दर्शन, जब कि छद्मस्थ को प्रथम समय मे दर्शन होता है और तदनन्तर ज्ञान।५३ मन में संदेह निर्माण होगा कि ज्ञान के बिना दर्शन कैसे होगा? दर्शन के पहले ज्ञान होना आवश्यक है और होता भी है, किन्तु यह सामान्य ज्ञान होता है, विशिष्ट नहीं। दर्शन के पहले का ज्ञान अज्ञान रूप होता है। सम्यग्दर्शन के होते ही अज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। आत्मशुद्धि के लिए प्रथम दर्शन की आवश्यकता है। तदनन्तर ज्ञान और ज्ञान की प्राप्ति के बाद सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।५४ यहाँ 'दर्शन शुद्धि' से तात्पर्य सम्यक्त्व की प्राप्ति है।

इसलिए साधनाक्रम में पहले 'दर्शन' शब्द को रखा गया है, बाद में ज्ञान और अन्त में चारित्र। मतिज्ञान पदार्थ को जानता है। किन्तु सम्यक्त्व के बिना ज्ञान का नाम कुमति और कुश्रुतज्ञान था। वही ज्ञान जिस समय में सम्यक्त्व में परिवर्तित हो जाता है, तो मतिज्ञान से श्रुतज्ञान की सज्ञा पा लेता है। वह भी ज्ञान तो था ही, किन्तु सम्यक्त्व के बिना कुज्ञान था। जैसे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई कि वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो गया। इन दोनों में कार्य-कारण का सबध है। सम्यक्त्व कारण है और ज्ञान कार्य है। इसलिए सम्यक्त्व के बाद ज्ञान का क्रम रखा। अज्ञान सहित चारित्र सम्यक् सज्ञा नही पा सकता। इसलिए ज्ञान के बाद चारित्र का क्रम रखा गया है।[५५] अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र यही त्रिविध क्रम यथार्थ है।[५६]

सम्यग् दर्शन का स्वरूप

१) सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व जीव का भ्रमण - जीव शुभाशुभ कर्म फलों के कारण अनादिकाल से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तनरूप ससार में परिभ्रमण कर रहा है। क्योंकि ससारी जीव के साथ अनादिकाल से कर्मों का सबंध रहा है। इन कर्मों का निमित्त पाकर जीव के विकाररूप परिणाम होते रहते हैं। ससारी जीवों का प्रथम निवास स्थान निगोद है। निगोद के दो भेद हैं [५७] सूक्ष्म निगोद और बादर निगोद। आगम एव अन्य ग्रथों में स्थूल और सूक्ष्म आदि भेद से जीवों के विभाग किये गये हैं। पर्याप्तक और अपर्याप्तक, दोनों ही प्रकार के बादर (स्थूल) जीव आधार के सहारे रहते हैं और छह प्रकार के सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में रहते हैं। बादर नाम कर्म के उदय से बादर पर्याय में उत्पन्न जीवों को बादर कहते हैं और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से उत्पन्न जीवों को सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म जीवों के छह प्रकार - पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद वनस्पतिकायिक और इतर निगोद वनस्पति-कायिक। ये सभी जीव कभी पर्याप्त तो कभी अपर्याप्त होते हैं। पृथ्वी कायिक से लेकर वायुकायिक तक के जीव बादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के होते हैं। किन्तु वनस्पतिकाय के जो दो भेद किये हैं - साधारण और प्रत्येक। उनमें भी साधारण वनस्पतिकाय के दो भेद हैं। अनादि साधारण वनस्पतिकाय और सादि साधारण वनस्पतिकाय। ये दोनों प्रकार के जीव भी बादर और सूक्ष्म होते हैं। शेष सब जीव बादर ही होते हैं। साधारण (समान) नाम कर्म के उदय से साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहलाते हैं, जिन्हें निगोदिया जीव भी कहते हैं। अर्थात जिन अनन्तानन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है उन जीवों को साधारणकायिक जीव कहते हैं। साधारणवनस्पति के जो ऊपर दो भेद किये गए हैं, उनमें से अनादिकालीन साधारण वनस्पतिकाय को ही नित्य निगोद कहते हैं और सादिकालीन (आदिकालीन) वनस्पतिकाय को चतुर्गति निगोद अथवा इतर निगोद कहते हैं। जो जीव अनादिकाल से निगोद में ही पड़े हुए हैं, जिन्होंने

कभी त्रस पर्याय पायी ही नही है, उन्हें नित्य निगोदिया कहते हैं। जो जीव त्रस पर्याय को धारण करके पुन निगोद पर्याय में चले जाते हैं, उन्हें चतुर्गति निगोदिया (इतर निगोदिया अथवा बादर निगोद) कहते हैं। जिन जीवों का पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से प्रतिघात नही होता। उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव माना जाता है और जिनका इनसे प्रतिघात होता है उन्हें स्थूल - (बादर) कायिक जीव कहा जाता है।

साधारण वनस्पति की भाति ही प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं[५८] १) निगोद सहित और २) निगोद रहित। अथवा (१) सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर और (२) अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर। जिसके आश्रित अनेक निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे प्रत्येक वनस्पति को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और जिन प्रत्येक वनस्पति के शरीरों में निगोदिया जीवों का आवास नहीं है उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। अथवा (१) जिस प्रत्येक वनस्पति की धारियाँ, फाकें और गाठें दिखाई न देती हों, जिसे तोड़ने पर खट से दो टुकडे सम हो जाय, और बीच में कोई तार वगैरेह न लगा रहे तथा जो काट देने पर भी पुन उग आये, वह साधारण - सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। यहाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पति को साधारण जीवों का आश्रय होने से साधारण कहा गया है। तथा जिस वनस्पति में उक्त बातें न हों अर्थात जिसमें धारियाँ वगैरेह स्पष्ट दिखाई देते हों, तोड़ने पर समान टुकड़े न हों, टूटने पर तार लगा रह जाये आदि, उस वनस्पति को अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। (२) जिस वनस्पति की जड़, कन्द, छाल, कोंपल, टहनी, पत्ते, फूल, फल और बीज को तोड़ने पर खट् से बराबर-बराबर दो टुकड़े हो जायें, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिसका समभग न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। (३) जिस वनस्पति के कद की, जड़ की, टहनी की अथवा तने की छाल मोटी हो वह अनन्तकाय यानी सप्रतिष्ठित प्रत्येक है और जिस वनस्पति के कदादि की छाल पतली हो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। इन दोनों प्रकार की वनस्पति को गोम्मट - सार में सात प्रकार की बताई है।[५९] (१) मूलबीज (अदरक, हल्दी, आदि), (२) अग्रबीज (नेत्रबाला आदि), (३) पर्वबीज (ईख, बेंत आदि), (४) कदबीज (रतालु, सूरण आदि), (५) स्कन्धबीज (सलई, पलास आदि), (६) बीजरूह (धान, गेहूँ आदि) और (७) सम्मूर्छन (स्वय ही उगती है)। पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के सभी जीव स्थावर कहलाते हैं (स्थिर रहे वे एकेन्द्रिय जीव)। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है, उसे त्रस (स्वेच्छा से हलन-चलन कर सके) जीव कहते हैं। उनके भी दो भेद होते हैं।[६०] १) विकलेन्द्रिय और २) सकलेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय (शखादि, स्पर्शन रसनेन्द्रिय), त्रीन्द्रिय, (पिपीलिकादि, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिय), चतुरिन्द्रिय (भ्रमरादि, स्पर्शनरसनघ्राण-चक्षुरिन्द्रिय) जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और मनुष्य देव, नारकी, पशु (तिर्यंच) आदि

जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि उनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। आगम में त्रस के तीन भेद किये हैं[६१] तेउकाइया वाउकाइया औदारिक (ओराला) त्रस प्राणी। ओराला त्रस जीवों के चार भेद किये हैं[६२] बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पचेंदिया। स्थावर और त्रस जीवों के भेदों का वर्णन आगे करेंगे।

चार गति के (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) जीवों [illegible] चौरासी लाख जीव योनि[६३] ७ लाख पृथ्वीकाय, ७ लाख अप्काय, [illegible] लाख तेउकाय, ७ लाख वाउकाय, १० लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, १४ लाख साधारण वनस्पतिकाय, २ लाख बेइन्द्रिय, २ लाख तेइदिय, २ लाख चउरिंदिय, ४ लाख देवता, ४ लाख नारकी, ४ लाख तीर्यंच पचिंदिय और १४ [illegible] मनुष्य, के जीव का अनन्तानन्त कालचक्र में तब तक ही परिभ्रमण है, जब तक जीवात्मा को कालादिलब्धि का निमित्त प्राप्त न हो। जीव स्वय ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है इसीलिये वह स्वय ही ससार का कर्ता है और कालादिलब्धि के मिलने पर स्वय ही मोक्ष का कर्ता है।[६४] कर्मों से बद्ध जीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तन - ससार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है। अर्धपुद्गल परावर्तन काल का प्रमाण स्पष्ट करने के लिये प्रथमत पुद्गल परावर्तन का लक्षण जानना अत्यावश्यक है। पुद्गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है।[६५]

पुद्गलपरावर्तन और [illegible] चक्र

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं (समान जातीय पुद्गलों के समूह) से भरा हुआ है। ये वर्गणाए ग्रहण योग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहण योग्य) भी हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती हैं। लेकिन ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहण योग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं[६६] (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तेजस् शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा, (७) मनो वर्गणा और (८) कार्मण वर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्य भागों में प्रमाणित होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर (आहार शरीर एक भव में अधिक से अधिक दो बार और भव चक्र में चार बार होता है, इसलिये सभी

आहारक वर्गणा नही ली जा सकती, शेष औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्‌गलों का स्पर्श करना पुद्‌गल परावर्तन कहलाता है।

पुद्‌गल परावर्तन के मुख्य चार भेद हैं -

(१) द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन, (२) क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन, (३) काल पुद्‌गल परावर्तन और (४) भाव पुद्‌गल परावर्तन। इन चारों के भी बादर और सूक्ष्म यह दो-दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार से पुद्‌गल परावर्तन के निम्नलिखित आठ भेद हैं।

(१) बादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन, (२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन,
(३) बादर क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन, (४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन,
(५) बादर काल पुद्‌गल परावर्तन, (६) सूक्ष्म काल पुद्‌गल परावर्तन,
(७) बादर भाव पुद्‌गल परावर्तन, (८) सूक्ष्म भाव पुद्‌गल परावर्तन।

इन आठों का स्वरूप

जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन कहते है और जितने काल में समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्‌गल परावर्तन कहते हैं।

कोई एक जीव भ्रमण करता हुआ अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन कहते हैं। कोई जीव भ्रमण करता करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है। पुन उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर - अनन्तर - प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्त कहलाता है। बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्तन में इतना अन्तर है कि बादर में तो क्षेत्र के प्रदेशों में क्रम का विचार नही किया जाता है और सूक्ष्म में क्षेत्र-प्रदेश के क्रम का विचार होता है। सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण ग्रहण करना चाहिए। अक्रम से जिन प्रदेशों में मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती है।

जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप बीस कोटाकोटी सागरोपम के एक काल चक्र के प्रत्येक समय को क्रम या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है, उतने काल को बादर काल पुद्‌गल परावर्त कहते हैं और एक जीव किसी

जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि उनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। आगम में त्रस के तीन भेद किये हैं[६१] तेउकाइया वाउकाइया औदारिक (ओराला) त्रस प्राणी। ओराला त्रस जीवों के चार भेद किये हैं[६२] वेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पचेंदिया। स्थावर और त्रस जीवों के भेदों का वर्णन आगे करेंगे।

चार गति के (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) जीवों का चौरासी लाख जीव योनि[६३] ७ लाख पृथ्वीकाय, ७ लाख अप्काय, ७ लाख तेउकाय, ७ लाख वाउकाय, १० लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, १४ लाख साधारण वनस्पतिकाय, २ लाख बेइन्द्रिय, २ लाख तेइंदिय, २ लाख चउरिंदिय, ४ लाख देवता, ४ लाख नारकी, ४ लाख तीर्यंच पचिंदिय और १४ लाख मनुष्य, के जीव का अनन्तानन्त कालचक्र में तब तक ही परिभ्रमण है, जब तक जीवात्मा को कालादिलब्धि का निमित्त प्राप्त न हो। जीव स्वय ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है इसीलिये वह स्वय ही ससार का कर्ता है और कालादिलब्धि के मिलने पर स्वय ही मोक्ष का कर्ता है।[६४] कर्मों से बद्ध जीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तन - ससार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है। अर्धपुद्गल परावर्तन काल का प्रमाण स्पष्ट करने के लिये प्रथमत पुद्गल परावर्तन का लक्षण जानना अत्यावश्यक है। पुद्गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है।[६५]

पुद्गलपरावर्तन और काल चक्र

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं (समान जातीय पुद्गलों के समूह) से भरा हुआ है। ये वर्गणाए ग्रहण योग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहण योग्य) भी हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती हैं। लेकिन ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहण योग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं[६६] (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तेजस् शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा, (७) मनो वर्गणा और (८) कार्मण वर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्य भागों में प्रमाणित होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर (आहार शरीर एक भव में अधिक से अधिक दो बार और भव चक्र में चार बार होता है, इसलिये सभी

निश्वास, स्तोक, (सात श्वासोच्छवास,) लव (सात स्तोक,) नाली या घटिका (३७$^{1}/_{2}$ लव), दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[६९] उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और वर्षों की अमुक अमुक सख्या को लेकर युग, शताब्दि आदि संज्ञायें प्रसिद्ध हैं। प्राचीन कालीन सज्ञायें अनुयोग द्वार के अनुसार निम्नलिखित हैं। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटिताग, ८४ लाख त्रुटिताग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडाग, ८४ लाख अडडाग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश अववाग, अवव, हुहुअग, हुहु, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्धनिपूराग, अर्धनिपूर, अयुताग, अयुत, प्रयुताग, प्रयुत, नयुताग, नयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं।[७०] शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वही तक है। ज्योतिष्यकरण्ड के[७१] अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है - ८४ लाख पूर्व का एक लताग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लता का एक महालताग, ८४ लाख महालताग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनाग, नलिन, महानलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदाग, महा कुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडाग, महाअडड, ऊहाग, ऊह, महाऊहाग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकाग और शीर्षप्रहेलिका। इतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुयोग सूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता का कारण काललोकप्रमाण में इस प्रकार स्पष्ट किया है - "अनुयोग द्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत हैं और ज्योतिष्करड आदि वल्लभी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अतर है।

गणित सख्यात की सीमा समाप्त हो जाने पर उसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि[७२] उपमाओं के द्वारा समझाया जाता हैं। उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण को आधार बनाया है। अत उपमप्रमाण के दो भेद है - पल्योपम और सागरोपम।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य (अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं) की उपमा दी जाती है, उसे पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं - उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम्। इसी प्रकार सागरोपम काल के

विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुन उसके निकटवर्ती दूसरे समय में मरा, पुन तीसरे समय में मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समय में जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त कहते हैं। क्षेत्र की तरह यहाँ भी समयों की गणना क्रमवार करनी चाहिये।

अनुभागबधस्थान - कषायस्थान तरतम भेद के लिये असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या के समान हैं। उन अनुभागबधस्थानों में से एक-एक अनुभाग - बध स्थान में क्रम या अक्रम से मरण करते करते जीव जितने समय में समस्त अनुभाग बध स्थानों में मरण कर लेता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते हैं। सबसे जघन्य अनुभाग बध स्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बंध स्थान में भी मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे आदि अनुभाग बध स्थानों में मरा इसी क्रम में । इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबध - स्थानों में मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है।

इस प्रकार बादर और सूक्ष्म पुद्गल परावर्तों का स्वरूप है। यद्यपि द्रव्य पुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त में पुद्गल का परावर्तन नही होता है। क्योंकि क्षेत्र पुद्गल परावर्त में क्षेत्र का, काल पुद्गल परावर्त में काल का और भाव पुद्गल परावर्त में भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्त का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी अनन्त अवसर्पिणी होता है। अत इन परावर्तों की संज्ञा पुद्गल परावर्त रखी गई है।[६८]

जब जीव - मरण कर - करके पुद्गल के एक - एक परमाणु के द्वारा समस्त परमाणुओं को भोग लेता है, तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त और आकाश के एक-एक प्रदेश में मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को स्पर्श कर चुकता है, तब वह क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहलाता है। इसी तरह काल और भाव के विषय में भी जानना चाहिये। इसी को दृष्टि में रखकर द्रव्य पुद्गल परावर्त आदि नामों से काल का विभाग कर दिया है और जो पुद्गल परावर्त जितने काल में होता है, उतने काल के प्रमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल का एक पुद्गल परावर्त होता है।

काल चक्र का स्वरूप : व्यवहार काल का सबसे सूक्ष्पतम अंश है समय, जिसका खण्ड नही किया जा सकता। वह अविभाज्य अश है। 'इस' 'समय' के पश्चात् ही अन्य उत्तरवर्ती काल की गणना होती है। प्राचीन काल गणना का संक्षेप में निर्देश करते हुए समय, आवलिका (असख्यात समय की एक आवली), उच्छ्वास (सख्यात आवली),

निश्वास, स्तोक, (सात श्वासोच्छवास,) लव (सात स्तोक,) नाली या घटिका (३७$^{1}/_{2}$ लव), दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[६९] उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और वर्षों की अमुक अमुक सख्या को लेकर युग, शताब्दि आदि सज्ञायें प्रसिद्ध हैं। प्राचीन कालीन सज्ञायें अनुयोग द्वार के अनुसार निम्नलिखित हैं। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटिताग, ८४ लाख त्रुटिताग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडाग, ८४ लाख अडडाग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश अववाग, अवव, हुहुअग, हुहु, उत्पलाग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्थनिपूराग, अर्थनिपूर, अयुताग, अयुत, प्रयुताग, प्रयुत, नयुताग, नयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं।[७०] शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अंक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वही तक है। ज्योतिष्यकरण्ड के[७१] अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है – ८४ लाख पूर्व का एक लताग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लता का एक महालतांग, ८४ लाख महालतांग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनांग, नलिन, महानलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदाग, कुमुद, महाकुमुदाग, महा कुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडाग, महाअडड, ऊहाग, ऊह, महाऊहाग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। इतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुयोग सूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता का कारण काललोकप्रमाण में इस प्रकार स्पष्ट किया है – "अनुयोग द्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत हैं और ज्योतिष्करड आदि वल्लभी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अतर है।

गणित सख्यात की सीमा समाप्त हो जाने पर उसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि[७२] उपमाओं के द्वारा समझाया जाता हैं। उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण को आधार बनाया है। अत. उपमप्रमाण के दो भेद हैं – पल्योपम और सागरोपम।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य (अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं) की उपमा दी जाती है, उसे पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं – उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम्। इसी प्रकार सागरोपम काल के

भी तीन भेद हैं - उद्धार सागरोपम, अद्धा सागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमें से प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो-दो प्रकार का होता है - १) बादर और २) सूक्ष्म। अनुयोग द्वार सूत्र में सूक्ष्म और व्यावहारिक भेद किये हैं। पल्योपम और सागरोपम के तीन -तीन भेद द्वारा क्रमश दीप समुद्रों, आयु और त्रसादि जीवों की गणना की जाती है।

पल्योपम सागरोपम का काल प्रमाण -७३ उत्सेधागुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन (चार कोस) प्रमाण लबा, एक योजन प्रमाण चौड़ा और एक योजन प्रमाण गहरा एक गोल पल्य (गढ़ा, कुँआ) बनाना चाहिये, जिसकी परिधि कुछ कम ३ १/६ योजन होती है। एक दो-तीन यावत् सात दिन वाले देवकुरू उत्तरकुरू युगलिकों के बालों के असंख्य खण्ड करके उन्हें उस पल्य में इतना ठसाठस भर देना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही उसमें प्रवेश हो सके। उद्धार पल्य से प्रति सौ-सौ वर्ष के बाद एक - एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जब वह कुँआ खाली हो जाय, तब वह एक बादर अद्धापल्योपम काल होता है (इसमें असख्य वर्ष लग जाते हैं) बालाग्रों के अग्र भागों से पूर्व की तरह कुआँ ठसाठस भर दो। वे अग्र भाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते - करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। तथा दस कोड़ा - कोड़ (१० करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल और दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल में छह आरे होते हैं - सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दु षम, दु षम-सुषम, दु षम और दु षम-दु षम। इनमें क्रमश पसलियाँ, आयु बल, शरीर - प्रमाण, आहार आदि में न्हास होता रहता है जब कि उत्सर्पिणी काल में इन सभी में क्रमश वृद्धि होती रहती है। उत्सर्पिणी काल के भी छ ही आरे हैं। दु षम- दु षम, दु षम, दु षम-सुषम, सुषम - दु षम, सुषम और सुषम - सुषम । अवसर्पिणी का कालमान दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम और उत्सर्पिणी का भी कालमान दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम ही है। दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है।७४ जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है । ऐसे अनन्त कालचक्रों का एक पुद्‌गल परावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में इसे अनन्तकाल कह सकते हैं।

इस जीवात्मा ने अनन्त पुद्‌गल - परावर्त काल-मान सूक्ष्म निगोद में
किया। उसमें से निकलने के बाद भी बादर निगोद में अनन्त पुद्‌गल परावर्त -
परिभ्रमण में व्यतीत किया। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सतत चारों गति में
करता ही रहा। अकाम निर्जरा करते - करते द्रव्य साधु बनकर नवग्रैवेयक तक भी

गया। किन्तु कषाय की मन्दता के बिना पुन॰ पुन संसार में भटकता ही रहा। परन्तु जब एक पुद्गल परावर्त काल जीव का संसार में भ्रमण शेष रहता है, तब उसमें भव्यत्व का प्रकाश प्राप्त होता है। बीज रूप अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त करने पर जीव प्रगति पथ पर चढ़ सकता है। इसका वर्णन आगे करेंगे।

कालादिलब्धि

काललब्धि : कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा के ससार परिभ्रमण का काल अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन (परिवर्तन) प्रमाण शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है। इनसे अधिक काल के शेष रहने पर नही होता - यही एक काललब्धि है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ एवं कालादिलब्धियाँ भव्यात्माओं को सहायक होती हैं। इन दोनों के अभाव में भव्यत्व होने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती। दूसरी काललब्धि का सबंध कर्म स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नही होता। सम्यक्त्व का लाभ तो, जिस जीव में बध्यमान कर्म समूह विशुद्ध परिणामों से अत कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणवाला होता है। पूर्व बद्ध कर्म जिसमें से संख्यात हजार कम अन्त कोटाकोटी की स्थिति में आता है, उसको उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त होती है। इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियों का होना आवश्यक होता है। पाँच लब्धियाँ इस प्रकार है · १) क्षयोपशमलब्धि २) विशुद्धि लब्धि ३) देशनालब्धि, ४) प्रायोग्यलब्धि और ५) करणलब्धि। इनमें से प्रथम की चार लब्धियाँ ससारी जीवों को अनेक बार होती हैं और यह भव्य और अभव्य दोनों को भी होती हैं। किन्तु अतिम करणलब्धि भव्य को ही होती है। प्रथम की चार लब्धियों मे सम्यक्त्व की प्राप्ति नियम से ही होती हो, ऐसा कोई नियम नही है। किन्तु करणलब्धि के प्राप्त होने पर ही भव्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अध॰ प्रवृत्तिकरण (यथाप्रवृत्तिकरण), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को जो भव्य जीवक्रम से करता है, उस प्रक्रिया का नाम करणलब्धि है। करणलब्धि के प्राप्त होने पर सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती ही है। जो भव्य है, सज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है। वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता ही है। यह तीसरी काललब्धि है।[७५] करणलब्धि का विशेष वर्णन आगे करेंगे।

भव्य संज्ञी पर्याप्तकादि का स्वरूप :- जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा जिनमें सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होने की योग्यता है - वे भव्य हैं। भव्य जीवों में से कुछ ऐसे होते हैं, जो निकट काल में अति शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले है। कुछ बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मोक्ष की

योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नही कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है, परन्तु अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यों के उक्त तीनों प्रकारों को क्रमश आसन्न भव्य, दूर भव्य और जाति भव्य कहते हैं। जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते, उन्हें अभव्य कहते हैं। ससार में खान से दो प्रकार के पाषाण निकलते हैं - कनक पाषाण और अधपाषाण। विशिष्ट प्रक्रिया से पाषाण से सोना अलग किया जाता है, उसे कनक पाषाण कहते हैं और जिस पाषाण में सोना अलग करने की योग्यता नही वह अधपाषाण कहलाता है। वैसे ही खेत में उत्पन्न हुए उड़द-मूँग में पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति दोनों विद्यमान हैं। किन्तु किसी में पाचन शक्ति की योग्यता साधन सामग्री से आ जाती है और किसी में सामग्री की उपलब्धि होने पर भी नही आती। भव्याभव्य का यही स्वरूप है।[७६]

जो भी पचेंद्रिय जीव हैं, वे सभी सज्ञी और असज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। उनके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद होते हैं। जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप के द्वारा कार्य के हिताहित, योग्यायोग्य का निर्णय करके कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, वे संज्ञी हैं और उसके विपरीत को असज्ञी कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट मन शक्ति, दीर्घकालिक सज्ञा का होना सज्ञित्व है और उक्त का न होना असज्ञित्व है। इसलिये सज्ञायुक्त जीव सज्ञी और सज्ञित्व विहीन जीव असज्ञी कहलाते हैं।[७७]

पर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नाम कर्म के उदयवाले जीवो का अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है। पर्याप्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहित पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। इन गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत इस कार्य भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं - १) आहारपर्याप्ति, २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति, ४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५) भाषा पर्याप्ति और ६) मन पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों का प्रारभ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। उक्त छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार और विकलेन्द्रिय- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के सभी छहो पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्‌गलों को आहारादि रूप में परिणत करने की शक्ति है और अपर्याप्त जीवों में इस प्रकार की शक्ति नही होती हैं।[७८]

सम्यक्त्व प्राप्ति में आतरिक व वाह्य कारण

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्योंकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जैसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सब में समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिए सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है। उसके नियत हेतु निमित्त कारण दो प्रकार के है -बाह्य और अतरग। इनमें से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जब इस अनादि पारिणामिक भावभव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण बन जाते हैं। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायता मिलती है। लेकिन सिर्फ प्रवचन-श्रवण, अध्ययन आदि बाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते हैं। क्योंकि बाह्य निमित्तों के रहने पर भी अनेक भव्यों को अभव्यों की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ती नही होती है। अत. भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन-श्रवण, अध्ययनादि बाह्य कारण सहकारी मात्र होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आंतरिक कारण :- भव्यत्व भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता में सम्त्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबधी कषाय- चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक- कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्म परिणाम को औप-शमिक सम्यक्त्व कहते हैं।[७९] इसके दो भेद हैं - १) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी (श्रेणिभावी)। ग्रथिभेद जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणि भावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें इन चार गुण स्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है। परन्तु आठवें गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।[८०] ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।[८१] उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है - करणोपशम और अकरणो-पशम। कर्मों का अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है, वह करणोपशम कहला-ता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है। इसलिए उपशम भाव के दो ही भेद बतलाये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबधी कषाय-चतुष्क का अन्तरकरण उपशम नही होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशम का विधान किया गया है, वहाँ इसका अकरणोपशम ही लेना चाहिए। और भी औपशमिक सम्यक्त्व

योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है, परन्तू अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यों के उक्त तीनों प्रकारों को क्रमश आसन्न भव्य, दूर भव्य और जाति भव्य कहते हैं। जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते, उन्हें अभव्य कहते हैं। ससार में खान से दो प्रकार के पाषाण निकलते हैं - कनक पाषाण और अधपाषाण। विशिष्ट प्रक्रिया से पाषाण से सोना अलग किया जाता है, उसे कनक पाषाण कहते हैं और जिस पाषाण में सोना अलग करने की योग्यता नही वह अंधपाषाण कहलाता है। वैसे ही खेत में उत्पन्न हुए उड़द-मूँग में पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति दोनों विद्यमान हैं। किन्तु किसी में पाचन शक्ति की योग्यता साधन सामग्री से आ जाती है और किसी में सामग्री की उपलब्धि होने पर भी नही आती। भव्याभव्य का यही स्वरूप है।[७६]

जो भी पचेंद्रिय जीव हैं, वे सभी संज्ञी और असज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। उनके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद होते हैं। जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप के द्वारा कार्य के हिताहित, योग्यायोग्य का निर्णय करके कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, वे सज्ञी हैं और उसके विपरीत को असज्ञी कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट मन शक्ति, दीर्घकालिक सज्ञा का होना सज्ञित्व है और उक्त का न होना असज्ञित्व है। इसलिये सज्ञायुक्त जीव सज्ञी और सज्ञित्व विहीन जीव असंज्ञी कहलाते हैं।[७७]

पर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नाम कर्म के उदयवाले जीवो का अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है। पर्याप्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है और गृहित पुद्‌गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्‌गलों के उपचय से बनती है। इन गृहीत पुद्‌गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत इस कार्य भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं - १) आहारपर्याप्ति, २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति, ४) श्वासोच्छ्‌वासपर्याप्ति, ५) भाषा पर्याप्ति और ६) मन पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों का प्रारभ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। उक्त छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार और विकलेन्द्रिय- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के सभी छहो पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्‌गलों को आहारादि रूप में परिणत करने की शक्ति है और अपर्याप्त जीवों में इस प्रकार की शक्ति नही होती है।[७८]

सम्यक्त्व प्राप्ति में आतरिक व वाह्य कारण

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्योंकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जैसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सब में समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिए सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है। उसके नियत हेतु निमित्त कारण दो प्रकार के हैं -बाह्य और अंतरग। इनमें से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जब इस अनादि पारिणामिक भावभव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण बन जाते हैं। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायता मिलती है। लेकिन सिर्फ प्रवचन-श्रवण, अध्ययन आदि बाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते हैं। क्योंकि बाह्य निमित्तों के रहने पर भी अनेक भव्यों को अभव्यों की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ती नही होती है। अत भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन-श्रवण, अध्ययनादि बाह्य कारण सहकारी मात्र होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आंतरिक कारण :- भव्यत्व [illegible] होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता में सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषाय- चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक- कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्म परिणाम को औप- शमिक सम्यक्त्व कहते हैं।[७९] इसके दो भेद हैं - १) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी (श्रेणिभावी)। ग्रथिभेद जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणि भावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें इन चार गुण स्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है। परन्तु आठवें गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।[८०] ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।[८१] उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है - करणोपशम और अकरणो-पशम। कर्मों का अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है, वह करणोपशम कहला- ता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है। इसलिए उपशम भाव के दो ही भेद बतलाये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबधी कषाय- चतुष्क का अन्तरकरण उपशम नही होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशम का विधान किया गया है, वहाँ इसका अकरणोपशम ही लेना चाहिए। और भी औपशमिक सम्यक्त्व

के समय आयुबध, मरण, अनतानुबघी कषाय का बध व उदय ये चार बातें नही होती हैं। किन्तु उससे च्युत होने के बाद सासादन भाव के समय ये चार बातें हो सकती हैं। औपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यदि गिर गया तो अर्धपुद्गल परावर्त काल में सिद्धि कर लेता है।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एव असदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नही होता। इसलिए जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे किसी पुराने एव भयकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ श्रद्ध हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। उपशान्ताद्धा के पूर्व अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आनेवाले) मिथ्यात्व के तीन पुज करता है। जिस प्रकार कोद्रवधान्य (कोदों नामक धान्य) का एक भाग औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिल्कुल नशा नही आता। दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है। उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुजों में से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्व घातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ती) नही रहता। दूसरा पूज आधा शुद्ध और तीसरा पुज अशुद्ध ही रह जाता है।[८२]

औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुजों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुज उदय में आता है। उससे सम्यक्त्व का घात नही होता । उस समय प्रगट होते वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान कहे गये हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषाय-चतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयभावी क्षय और इन्ही सदवस्थारूप उपशम से तथा देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[८३] इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्‌गल होते हैं। इसीलिए उसे वेदक कहा जाता है। वेदक सम्यक्त्व (क्षायोपशिमक सम्यक्त्व) चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। इसके बाद श्रेणि प्रारंभ हो जाती है और श्रेणि दो प्रकार की है - उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि। अत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व श्रेणि आरोहण के पूर्व तक ही रहता है और तभी होता है जब सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय सातवें गुणस्थान तकही रहता है। इसीलिए इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक चार गुणस्थान ही समझना चाहिये। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है।[८४]

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अंतर

उपशमजन्य पर्याय को औपशमिक और क्षायोपशमजन्य पर्याय को क्षायोपशमिक कहते हैं।

क्षयोपशम शब्द में दो पद हैं - क्षय और उपशम। क्षयोपशम शब्द का मतलब कर्म के क्षय और उपशम दोनों से है। क्षय यानी आत्मा से कर्म का संबंध टूट जाना और उपशम यानी कर्म अपने स्वरूप में आत्मा के साथ सलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना। इस शाब्दिक अर्थ की अपेक्षा क्षयोपशम के पारिभाषिक अर्थ में यह विशेषता है कि बंधावलि के पूर्ण हो जाने पर जब किसी विविक्षित कर्म का क्षयोपशम प्रारंभ होता है तब विविक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यंत के कर्मदलिकों (उदयावलिका प्राप्त या उदीर्णदलिक) का तो प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय होता रहता है, जो दलिक विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यंत में उदय आने योग्य नहीं है। उदयावलिका बहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक (उनका उपशम) (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मंद रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक अपनी उदयावलि को प्राप्त होने पर प्रदेशोदय या मंद विपाकोदय क्षीण हो जाते हैं यानी आत्मा पर अपना फल प्रगट नहीं कर सकते या कम प्रगट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यंत के उदयप्राप्त कर्म दलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदय सम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या रस का मंद रस परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहते हैं।

लेकिन औपशामिक के उपशम शद्ब का अर्थ क्षयोपशम के उपशम शद्ब की व्याख्या से कुछ भिन्न है। अर्थात क्षयोपशम के उपशम शद्ब का अर्थ सिर्फ विपाकोदय सबधी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मद में परिणमन होना है। किन्तु औपशमिक के उपशम शद्ब का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है। क्षयोपशम में कर्म का क्षय भी चालू रहता है। यह क्षय प्रदेशोदय रूप होता है किन्तु उपशम में यह बात नही है, क्योंकि जब कर्म का उपशम होता है तभी से उसका क्षय रुक जाता है, अतएव इसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता नही रहती है। इसीलिए उपशम अवस्था तभी मानी जाती है जब कि अतरकरण (अन्तरकरण के अतर्मुहूर्त में उदय पानेवाले योग्य दलिकों में से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं। कुछ दलिक बाद में उदय पाने योग्य बना दिये जाते हैं) होता है और अन्तरकरण में वेद्य दलिकों का अभाव होता है। साराश यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व में दलिकों का विपाक और प्रदेश से भी वेदन नही होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेश की अपेक्षा वेदन होता है।

क्षयोपशम के समय प्रदेशोदय या मद विपाकोदय होता है किन्तु उपशम के समय वह भी नही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय दर्शन-मोहनीय के किसी प्रकार का उदय नही होता किन्तु क्षयोपशपम सम्यक्त्व के समय सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होता है। इसीलिए औपशमिक सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व भी कहते हैं।

औपशमिक और क्षायोशमिक सम्यक्त्व की उक्त व्याख्यागत विशेषता के अतिरिक्त दोनों में यह विशेषता है कि उपशम और क्षयोपशम होने योग्य घाति -कर्म (१-४ मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय ज्ञानावरण, ५-७ चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शना-वरण, ८-११ सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, १२-२० हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, २१-२५ दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय। यह २५ प्रकृतियाँ देशघाती हैं) हैं, लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व में तो घाति कर्मों में से सिर्फ मोहनीय कर्म का उपशम होता है। लेकिन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में क्षायोपशम सभी घातकर्मों का होता है। घाति कर्म के देशघाति (जो ऊपर २५ प्रकृतियों के नाम बतायें हैं) और सर्व घाति (१) केवलज्ञानावरण, २) केवलदर्शणावरण, ३-७) निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, ८-१९) अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क (क्रोध-मान-माया-लोभ), अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, २० मिथ्यात्व। यह २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं) यह दो भेद हैं। सिद्धातानुसार विपाकोदयवृत्ति प्रकृतियों का क्षयोपशम यदि होता है तो देशघातिनी का ही, सर्वघातिनी का नही।

क्षायिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है।[८५] क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्त्व को प्राप्त नही करता है तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मित या शकित नही होता है। आयुबध करने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव तो तीन-चार भव में मोक्ष जाते हैं और अवद्धायुष्क (अगले भव की आयु बध से पहले क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले) वर्तमान भव में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व आने पर कभी जाता नही। अत. यह सादि अनन्त है। [८६]

उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में कोई अंतर नही है। क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों में नही है फिर भी विशेषता यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों की सत्ता रहती है।

सासादन :- औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका [illegible] है। इसके समय में अनन्तानुबधी कषायों [illegible] उदय होने से जीव के परिणाम निर्मल नही होते हैं, जिससे सम्यक्त्व की विराधना होती है।

आन्तरिक कारण मुख्यत· सासादन को छोड़कर उपरोक्त तीन ही हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादि पदार्थों में परमार्थ से, न कि दूसरों के आग्रह से, सत्यता की जो प्रतीति होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा देव गुरु आदि विषय [illegible] तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, आठ मल तथा छह अनायतन - इन पचीस दोषों से रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[८७] वास्तव में सम्यग्दर्शन एक प्रकार का अनुभव या सवेदन है जिसे केवलज्ञानी ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। फिर भी सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व के लक्षणानुसार हम उनके स्वरूप को जान सकते हैं। शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य अथवा प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति करनेवाला सरागसम्यग्दर्शन और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।[८८] पदार्थों के निम्चय करने की रुचि से मतलब है कि उपादेय से पदार्थों को यथार्थ देखकर जानकर असत्यदार्थों का त्याग करना और सत्पदार्थों का ग्रहण करना ही (जानना ही) सम्यग्दर्शन है।[८९] उस सम्यग्दर्शन के दो हेतु हैं-[९०] १) निसर्ग और २) अधिगम। निसर्ग स्वभाव को कहते हैं। शुभ परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन करके अनिवृत्ति-करण नामक परिणामों को प्राप्त करता है। तब उसके स्वभाव से ही तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप

उत्पन्न होता है। प्रतिमा के दर्शन अथवा साधुओं के दर्शन से पूर्वोक्त रीति से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है और ग्रन्थि भेदन एव गुरुपदेश के सुनने से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व अधिगम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद

आगम एव अन्य ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के स्वरूप, उत्पत्ति, पात्र की अपेक्षा, श्रेणि, रुचि एव विशुद्धि की दृष्टि से विभिन्न भेद किये गये हैं।[११] जैसे कि बाह्य-आभ्यतर, व्यवहार-निश्चय, साध्य-साधना, निसर्गज-अभिगमज, द्रव्य-भाव, पौद्गलिक-अपौद्गलिक , सराग-वीतराग सम्यक्त्व, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सासादान सम्यक्त्व, कारक सम्यक्त्व, रोचक सम्यक्त्व, दीपक सम्यक्त्व, निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, सक्षेप रुचि, धर्म रुचि, दिगम्बरपरम्परानुसार - आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, सक्षेप सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, अगाढ-सम्यक्त्व एव अवगाढ या परमावगाढ-सम्यक्त्व, तथा विशुद्ध सम्यक्त्व के ६७ भेद - चार प्रकार की श्रद्धा (परमार्थ सस्तव, परमार्थ-दर्शन, कुदर्शज का परिहार और सम्यक्त्व श्रद्धा), तीन प्रकार के लिंग (शुश्रूषा, धर्मराग एव वैयावृत्य - पचाचार पालक गुरु सेवा), दस प्रकार का विनय (अरिहन्त, सिद्ध, चेइय,(चैत्य, ज्ञान), श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन, गण, सघ आदि), तीन प्रकार की शुद्धि (मन-वचन-कायशुद्धि), पाँच प्रकार के दूषण का त्याग (शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशसा, मिथ्यादृष्टि सस्तव), आठ प्रकार की सम्यक्त्व प्रभावना (प्रावचनी, धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यासपन्न (विद्यावान्), सिद्ध व कवि), पाँच प्रकार के सम्यक्त्व भूषण (जिनशासनकुशलता, प्रभावना, तीर्थसेवणा, स्थिरता और भक्ति), पाँच लक्षण (शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्तिक्य), छह प्रकार की यतना (देव-गुरु धर्म को वन्दन, नमस्कार, दान, अनुप्रदान, आलाप तथा सलाप करते हुए विवेक-यतना रखना), छह प्रकार के आगार (राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, देवाभियोग, गुरुनिग्रह एव वृत्तिकान्तार), छह प्रकार की भावना (मूल, द्वार, नीव, अधार, एव पात्र), छह प्रकार के स्थानक (आत्मा है, वह नित्य है, वह स्वकर्म का कर्ता है, वह कृतकर्मो का भोक्ता है, वह मोक्षगामी है, एव मुक्ति का उपाय है), इस प्रकार विशुद्धि सम्यक्त्व के ४+३+१०+३+५+८+५+५+६+६+६+६=६७ भेद हैं।

सम्यग्दर्शन में ध्यान

आध्यात्मिक साधना में दर्शन विशुद्धि अत्यावश्यक है। दर्शन विशुद्धि के विना ज्ञान, चारित्र, तप, जपादि की समस्त साधनायें निरर्थक हैं। क्योंकि दर्शन शुद्धि के अभाव

में ज्ञान मिथ्याज्ञान, चारित्र कुचारित्र एवं ध्यान कुध्यान में परिणत हो जाता है। जिसके फलस्वरूप अनन्त ससार बढ़ता है। सम्यग्दर्शन से विकारों का शोधन होता है। चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान करना ही दर्शन विशुद्धि है। सम्यग्दर्शन ध्यान के लिए मूल, द्वार, आधार एव दीपस्तम्भ के समान है। सम्यग्दृष्टि साधक ध्यान के बल से नारक, तिर्यंच गति, नपुसक-वेद, स्त्रीपर्याय, विकल अंगोपाग, अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नही कर सकता। ध्यान में सम्यग्दर्शन सूदृढ़ नीव का कार्य करता है। जितनी सुदृढ़ नीव उतना महल मजबूत बनता है। सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव यदि मनुष्य भव में जन्म लेता है तो ज्ञानसम्पन्न, गुणसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न दृढ़धर्मी, ओजस्वी, तेजस्वी, प्रतापी बनता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग में उत्पन्न होता है, तो अणिमा-महिमा आदि अष्ट ऋद्धियों को प्राप्त करके सबका स्वामी बनता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन गुण से सम्पन्न ध्यानी साधक अजर अमर अविनाशी अव्याबाध अक्षय सुख को प्राप्त करता है।[१२]

२) सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान आत्मा का निज गुण है तथा स्व पर प्रकाशक है। व्यवहारनय से आत्मा समस्त द्रव्यों को जानता है और निश्चयनय की दृष्टि से 'स्व'को ही जानता है। ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान के अभाव में जड़त्व की [illegible] प्राप्त हो जाती है। लब्ध अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद तथा असंज्ञी जीवों में भी ज्ञान की अल्प मात्रा विद्यमान है ही। किन्तु उनका ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्मों के गाढ़ आवरणों से आच्छादित होने के कारण, निजस्वरूप को नही जान पाते हैं। सवर्ण पाषाण एव बादलों के हटते ही सोना एव सूर्य का तेज निखर आता है। वैसे ही कर्मों के आवरण उपशम, क्षय, क्षयोपशम एव बाह्य कारण धर्म श्रवण, एकाग्रता, शुद्ध आहार, शुद्धि एव धर्म जागरण से मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है। मिथ्याज्ञान के कारण ही अनादि काल से ससार परिभ्रमण हो रहा है। उससे मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन से प्राप्त सम्यग्ज्ञान ही मुख्य साधन है। इन दोनों के बीच में कार्य-कारण का सबध है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

जो ज्ञान सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भावों से रहित यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता एवं स्व पर प्रकाशक है, वही सम्यग्ज्ञान है।[१३] यथार्थ ज्ञान ही बोधिज्ञान का जनक है। बोधिज्ञान से ही बधन कटते हैं। जिससे संसारवृद्धि और आध्यात्मिक पतन हो वह मिथ्याज्ञान है।

मतिज्ञान आदि का लक्षण :-

मतिज्ञान :- मन और इन्द्रिय की सहायता द्वारा होनेवाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।[१४] अधिकतर यह वर्तमान कालिक विषयों को जानता है।

श्रुतज्ञान :- जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिसमें शद्व और अर्थ का सबध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शद्व व अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[९५] यह ज्ञान त्रैकालिक (अतीत, वर्तमान, भावी) विषयों में प्रवृत्त होता है।

अवधिज्ञान - मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को मर्यादापूर्वक पदार्थ ग्रहण करना अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा रुपी पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[९६] अवधि, मर्यादा, सीमा ये सभी एकार्थवाची शद्व हैं।[९७]

मन.पर्यायज्ञान •- सज्ञी जीवों के मनोगत भावों को (मन के पर्यायों को) जानने वाले ज्ञान को मन पर्यायज्ञान कहते हैं।[९८] इस ज्ञान के होने में इन्द्रिय और मन की सहायता की नही किन्तु आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

केवलज्ञान :- ज्ञानावरण कर्म का नि.शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ (समस्त पर्यायों सहित) युगपत् (एक साथ) जानी जाती हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं।[९९] यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाती, असाधारण, अनन्त, स्वतत्र और अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय छाद्मस्थिक ज्ञानों के क्षय होने पर होती है। प्रथम के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और अतिम केवलज्ञान क्षायिक कहलाता है। इसलिए इस ज्ञान को केवल, एक, असहायी ज्ञान कहते हैं।[१००]

मति अज्ञान •- मिथ्यादर्शन के उदय होने से होने वाले विपरीत मति उपयोग को मति अज्ञान कहते हैं।

श्रुत अज्ञान :- मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को श्रुत -अज्ञान कहते हैं। चौर शास्त्र, हिंसाशास्त्र आदि हिंसादी पाप कर्मों के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रथ कुश्रुत और उनका ज्ञान श्रुत अज्ञान कहलाता है।

अवधि-अज्ञान :- इसको विभग ज्ञान भी कहते हैं। मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों के विपरीत अवधिज्ञान को अवधि अज्ञान (विभग ज्ञान) कहते हैं। [१०१]

मति, श्रुत और अवधि इन तीन के मिथ्यारूप होने का कारण यह है कि जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है तब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध नही हो पाता है। तथा वस्तु स्वरूप का विपरीत या निरपेक्ष ज्ञान होता है और अवस्तु में वस्तु तथा वस्तु में अवस्तु रूप बुद्धि होती है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से देखता है और उसका ज्ञान-हेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है। लेकिन मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान व्यवहार में समीचीन होने पर भी प्रत्येक वस्तु को एकात दृष्टि से जानने वाला होता है। उसके ज्ञान में हेय-उपादेय का विवेक नहीं होता है।

मन पर्याय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होते हैं। इसलिए यह दोनों अज्ञान रूप नहीं है।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार इसलिए कहलाते हैं कि ये वस्तु के प्रति नियत आकार को ग्रहण करने वाले हैं। यानी ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभय रूप हैं। उनमें ज्ञान के द्वारा विशेष रूप (विशेष आकार) जाना जाता है।

मतिज्ञान आदि का क्रम :- प्रथम के दो ज्ञान मति और श्रुत समस्त ससारी जीवों को होते हैं। अविकास की चरमसीमा में विद्यमान सूक्ष्म निगोद आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी इन दोनों की सत्ता विद्यमान है। इसलिए इन दोनों को प्रथम रखा है। इन दोनों में भी प्रथम मति और बाद में श्रुतज्ञान है। अवग्रहादि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति नही हो सकती। श्रुतज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रिय रूप होने के कारण मतिज्ञान का विशिष्ट भेद है। इसलिए मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान का क्रम आया। इन दोनों ज्ञानों में, स्वामी-काल-कारण एव परोक्ष इन सबकी समानता है।[१०२] काल-विपर्यय-स्वामी-लाभ इन चारों[१०३] की समानता होने के कारण इन दो ज्ञान के बाद अवधिज्ञान का क्रम रखा। छद्मस्थ-विषय-भाव इन तीनों की[१०४] साम्यता के कारण अवधिज्ञान के बाद मन पर्याय ज्ञान का क्रम आया। मन पर्याय के बाद केवलज्ञान रखने का कारण यही है कि मन पर्ययज्ञान अप्रमत्त संयमी को ही होता है और केवलज्ञान भी उन्हीं को ही होता है।[१०५]

ज्ञान के भेद

सामान्यत. स्व पर प्रकाशक की दृष्टि से ज्ञान एक ही प्रकार का है। ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान कभी एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान करता है तो कभी विलम्ब से। कभी पदार्थ को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देखता है। क्षयोपशम की तारतम्यता के कारण ही ज्ञान के पाँच भेद किए गये हैं - मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय व केवलज्ञान। इन्ही पांच को संक्षेप में दो प्रकार का कहा है - प्रत्यक्ष और परोक्ष। पांच ज्ञानों में से आदि के ज्ञान-मतिज्ञान और श्रुत निश्चयनय की अपेक्षा परोक्ष हैं। किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान भी कहे जाते हैं। इसलिए इन दोनो ज्ञानों को व्यावहारिक प्रत्यक्ष और शेष रहे अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।[१०६] मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान भी कहते हैं।

केवलज्ञान का अन्य कोई अवान्तर भेद नही होता है। किन्तु मतिज्ञानादि शेष रहे चारों ज्ञानों के क्षायोपशमिक होने से अवान्तर भेद होते हैं।

मतिज्ञान के चार भेद हैं और क्रमश अट्ठाईस, तीन सौ छत्तीस अथवा तीनसौ चालीस भेद होते हैं, जैसे कि१०६ अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं। इनमें से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद नही होते हैं। किन्तु अवग्रह के दो भेद हैं - व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होता है। मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनों प्राप्यकारी नही हैं, अपितु अप्राप्यकारी हैं। इसी कारण व्यजनावग्रह के १) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, २) रसनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, ३) घ्राणेन्द्रिय-व्यजनावग्रह और ४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यजनावग्रह - ये चार भेद होते हैं। व्यजनावग्रह का जघन्य काल आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण होता है और उत्कृष्ट श्वासोछ्वास-पृथक्त्व, अर्थात् दो श्वासोछ्वास से लेकर नौ श्वासोछ्वास जितना है। अर्थावग्रह आदि चारों मतिज्ञान रूप होने के कारण पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करते हैं। इसलिए उनका पाँच इन्द्रियों और मन के साथ गुणा करने से छह-छह भेद हो जाते हैं। इन चारों के (अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा) छह-छह भेदों को मिलाने से कुल २४ भेद होते हैं तथा इन भेदों में व्यजनावग्रह के चार भेदों को और मिलाने से मतिज्ञान के कुल २८ हो जाते हैं। वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह (बहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र (चर), अनिश्रित, निश्रित, असदिग्ध, सदिग्ध, ध्रुव, अध्रुव) प्रकार के होते हैं। उपरोक्त २८ भेदों को बहु आदि बारह भेदों से गुणा करने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद हो जाते हैं। इन ३३६ भेदों में अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के औत्पात्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कर्मजाबुद्धि और पारिणामिकी बुद्धि - इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद होते हैं। इसकी कालमर्यादा अन्तर्मुहूर्त की है।

मतिज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - अक्षरात्मक और अन-क्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है, उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय जन्य मतिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है, - उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। क्षयोपशम की अपेक्षा उनके चौदह और बीस भेद हैं -

श्रुतज्ञान के चौदह भेद :- अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत, सज्ञीश्रुत, असज्ञीश्रुत, सम्यक् श्रुत, मिथ्या श्रुत, सादि श्रुत, अनादि श्रुत, सपर्यवसित श्रुत, अपर्यवसित श्रुत, गमिक श्रुत, अगमिक श्रुत, अगप्रविष्ट श्रुत, अगबाह्य श्रुत।

श्रुतज्ञान के बीस भेद :- पर्यायश्रुत, पर्यायसमासश्रुत, अक्षरश्रुत, अक्षरसमास-श्रुत, पदश्रुत, पदसमासश्रुत, सघातश्रुत, सघातसमासश्रुत, प्रतिपत्तिश्रुत, प्रतिपत्तिसमास

श्रुत, अनुयोग श्रुत, अनुयोग समास श्रुत, प्राभृत-प्राभृत श्रुत, प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुत,प्राभृत श्रुत, प्राभृत समास श्रुत, वस्तु श्रुत, वस्तुसमास श्रुत,पूर्व श्रुत, पूर्व समास श्रुत।

ग्रन्थ की अपेक्षा श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगबाह्य के चौदह भेद हैं -सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कप्प, व्यवहार, कप्पियाकप्पिय, महाकप्प, पुडरीक, महा-पुंडरीक और निषिद्धिका। और भी इसके अनेक प्रकार हैं। अगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के बारह भेद हैं- आचार (आयार), सूयगड़ (सूत्रकृत), ठाण, समवाय, व्याख्याप्रज्ञाप्ति, भगवती, नायाधम्मकहा, उपासकदशाग, अन्तकृत्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विवागसूत्र और दृष्टिवाद। वर्तमान में अंतिम अंग विद्यमान नही है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के अनेक दृष्टि से भेद किए गये है।[१०८]

अवधिज्ञान के दो भेद है - भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय। दोनों ही अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक जीवों को होता है। गुण प्रत्यय मनुष्य और तिर्यंच जीवों को होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में वृद्धि - न्हासजन्य तरतमता होने से अल्पाधिकता होती है। इसके निम्नलिखित छह भेद हैं- अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। कही-कही प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अवस्थित नाम मिलते हैं। विषयादि की दृष्टि से अवधिज्ञान के तीन भेद मिलते हैं - देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि।[१०९]

मन पर्ययज्ञान के दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति। इन दोनों के ऋजुमनोगत, ऋजुवचनगत, ऋजुकायगत तथा विपुलमनोगत, विपुलवचनगत और विपुलकायगत ऐसे तीन -तीन भेद हैं। ऋजुमति ज्ञान प्रतिपाती (नष्ट होना) है और विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है। अप्रतिपाती विपुलमति ज्ञान के बाद अवश्य ही केवल ज्ञान होता ही है।[११०]

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।[१११] ज्ञान के आठ अग हैं।[११२] (व्यजनाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिन्हवाचार) जिसके द्वारा सम्यग्ज्ञान उपलब्ध होता है।

ध्यान

मिथ्याज्ञान संसारवर्द्धक है और सम्यग्ज्ञान विकारों का विनाशक है। मिथ्याज्ञान का तिमिर अधकार ध्यान के द्वारा ही नष्ट होता है। ध्यानयोग की प्राप्ति सम्यग्ज्ञान के बाद

होती है। क्योंकि मिथ्याज्ञानांधकार को दूर करने में सूर्य चन्द्र का प्रकाश समर्थ नही है। एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही तीक्ष्ण खड्‌ग और तीसरा नेत्र है। मोक्ष की प्राप्ति कर्मों के क्षय से होती है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। ध्यान से ही ज्ञान की एकाग्रता होती है। इसी कारण ध्यान में ही आत्मा का हित है।[११३]

सम्यक् चारित्र का स्वरूप

अध्यात्म साधना पद्धती में त्रिविध साधना को अधिक महत्त्व दिया गया है। तीनों का समन्वय रूप ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों भी मोक्ष के कारण हैं फिर भी चारित्र साक्षात् कारण है। मोक्ष का सर्व श्रेष्ठ अंग चारित्र है। चारित्र जैन साधना का प्राण है। जैन पारिभाषिक शद्बावलि में चारित्र शद्ब का अर्थ आचरण किया है।पहले देखना फिर जानना तदनन्तर इन्द्रियों के विषय तथा कषायों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है।

चारित्र का लक्षण

चारित्र का मूल समता है। समता के बिना सम्यक् आचरण नहीं हो सकता। ज्ञानियों का कथन है कि 'समस्त पापकारी (सावद्यक्रिया) क्रिया से निवृत्त होना (विरत होना), कषायों से विरत होना, निर्मलता, उदासीनता (परपदार्थों से विरक्त) एव आत्म भावों में लीन होना ही चारित्र है।[११४]

चारित्र के भेद

आगम ग्रंथों में चारित्र के पाँच एव सात प्रकार बताये हैं -[११५] १) सामायिक, २) छेदोपस्थापनीय, ३) परिहार-विशुद्धि, ४) सूक्ष्म-सपराय, ५) यथाख्यात, ६) देशविरति, ७) सर्वविरति।

१) सामायिक चारित्र

रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस संयम से समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक संयम कहलाता है। अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ-प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को सामायिक कहते हैं।[११६] सामायिक को चौदह पूर्व का सार तथा समस्त द्वादशागी का रहस्य कहा है।[११७] प्राणी मात्र पर समभाव रखना, पाँचों इन्द्रियों पर सयम रखना, हृदय में शुभ भावना, आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग एवं धर्म-शुक्ल ध्यान का सतत चिंतन करना ही सामायिक है।[११८] तृण, सोना, मिट्टी, शत्रु, मित्र आदि में रागद्वेषरहित समभाव की साधना में निरतर रत रहना - आत्मा की स्वभाव परिणति ही सामायिक है।[११९] सामायिक के छह प्रकार हैं -[१२०] नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन सब में भाव सामायिक को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। स्व स्वरूप में रमण करना ही भाव सामायिक है।[१२१]

सामायिक के दो भेद हैं - इत्वर और यावत्कथित। इत्वर सामायिक अभ्यासार्थी शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिए पहले पहल दिया जाता है और जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त बड़ी दीक्षा लेने तक-मानी जाती है। यह संयम भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालों को प्रतिक्रमण सहित अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत अगीकार करने पड़ते हैं तथा इसके स्वामी स्थिरकल्पी होते हैं।

यावत्कथित सामायिक संयम ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। यह संयम भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में मध्यवर्ती दो से लेकर तेईस तीर्थंकर पर्यन्त - बाईस तीर्थंकरों के शासन में ग्रहण किया जाता हैं। इस सयम को धारण करनेवालों के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।[१२२]

२) छेदोपस्थापनीय चारित्र

पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना छेदोपस्थापनीय संयम कहलाता है।[१२३] इसके सातिचार और निरतिचार नामक दो भेद होते हैं। जो किसी कारण से मूलगुणों-महाव्रतों का भंग हो जाने पर फिर से ग्रहण किये जाते हैं, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं और छेदोपस्थापनीय चारित्र-इत्वर सामायिक सयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं, उसे निरतिचार कहते हैं। यह चारित्र (संयम) भरत, ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधुओं को होता है। और एक तीर्थ के साधु जब दूसरे तीर्थ में सम्मिलित होते है तब ग्रहण करते हैं।

३) परिहारविशुद्ध चारित्र

इसका वर्णन आगे करेंगे।

४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र

जिन क्रोधादि कषायों द्वारा ससार में परिभ्रमण होता है, उनको संपराय कहते हैं। जिस चारित्र में सपराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति स्वल्प) रहता है, वह सूक्ष्म सपराय चारित्र है।[१२४] इसमें लोभ कषाय का उदयमात्र होता है और यह सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसंपराय के दो भेद होते हैं-[१२५] संक्लिश्यमानक और विशुद्धयमानक। उपशम श्रेणि से गिरने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय होते वाला चारित्र 'सक्लिश्यमानक सूक्ष्मसंपराय चारित्र' है। क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम सक्लेश प्रधान ही होते जाते हैं। लेकिन 'विशुद्धयमानक सूक्ष्मसंपराय चारित्र' उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वालों को दसवें गुणस्थान में होता है। क्योंकि श्रेणी आरोहण के समय परिणाम विशुद्धि प्रधान ही होते हैं।

५) यथाख्यात चारित्र

जिस चारित्र में कषाय का उदय लेशमात्र भी नहीं है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से वीतराग चारित्र होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।[१२६] इसके छाद्मस्थिक और अछाद्मस्थिक (केवली) यह दो भेद हैं।[१२७] यथाख्यात चारित्र के इन दोनों भेदों का कारण मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय तथा चारों घाति कर्मों का क्षय होकर आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होने रूप दशा की प्राप्ति होना है। छाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वालों को होता है। ग्यारहवें गुणस्थानों में तो मोहनीय कर्म (कषायों) का उपशम हो जाने से उदय नहीं रहता है। उसकी सत्ता मात्र रहती है। किन्तु बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से कषायों की सत्ता भी नहीं रहती है। ग्यारहवें गुणस्थान में यद्यपि मोहनीय कर्म नही है। किन्तु अन्य छद्मों (घाति कर्मों) के रहने से इन दोनों गुणस्थानवर्ती जीवों के चारित्र को छाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

अछाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र केवलियों को होता है। क्योंकि केवली को छद्मों (चार घातिकर्मों) का सर्वथा क्षय हो जाने से अछाद्मस्थिक दशा की प्राप्ति हो जाती है। केवली के दो भेद हैं - सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। अत इस अछाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र के भी सयोगिकेवली यथाख्यात और अयोगिकेवली यथाख्यात यह दो भेद हो जाते हैं। सयोगिकेवली के चारित्र को सयोगि-केवली यथाख्यात और अयोगि-केवली के संयम को अयोगि केवली यथाख्यात कहते हैं।

६) देशविरति चारित्र (श्रावक धर्म)

कर्मबंधजनक आरम-समारंभ से आंशिक निवृत्त होना, निरापराध त्रस जीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा न करना देशविरति चारित्र कहलाता है।[१२८] इसका अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) है, जो मूल गुण और उत्तरगुण में निष्ठा रखता है, अर्हन्तादि पच परमेष्टि (पच गुरुओं को) को ही अपना शरण मानता है, दानादि जिसके प्रधान कार्य हैं तथा सतत ज्ञानामृत का इच्छुक होता है। वही श्रावक कहलाता है।[१२९] पूर्वाचार्यों ने उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया है - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। कालान्तर में इन्हें ही पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इन तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया। जैन धर्म को स्वीकार करने वाला पाक्षिक श्रावक, १२ व्रतधारी नैष्ठिक श्रावक और ग्यारह पडिमा धारक समाधिपूर्वक मरण करने वाला साधक श्रावक कहलाता है।[१३०] पुन श्रावक धर्म को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है -[१३१] सामान्य और विशेष। सामान्य श्रावक धर्म में मार्गानुसारी के पैंतीस गुण-[१३२] १) न्यायार्जित वैभव, २) शिष्टाचार प्रशंसक, ३) समान कुल एवं शील गुण सम्पन्न अन्यगोत्रिय के साथ विवाह संबंध, ४) पाप भीरू,

५) प्रसिद्ध देशाचार-पालक, ६) अवर्णवादी न हो, (निन्दक न हो), ७)यथार्थ स्थान हो, ८) सत्संगति, ९) मातृ-पितृ भक्त, १०) उपद्रव स्थान त्यागी, ११) निन्दक कार्य त्यागी, १२) आयानुसार व्यय करने वाला, १३) वैभव के अनुसार वेषभूषा, १४) बुद्धि के आठ गुणों (शुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान, तत्त्वज्ञान), से धनी, १५) प्रतिदिन धर्म-श्रवण-कर्ता, १६) अजीर्ण होने पर भोजन का त्यागी, १७) समयानुसार पथ्य भोजन कर्ता, १८) त्रिवर्गों (धर्म, अर्थ, काम) का परस्पर, अबाधक रूप से साधक, १९) शक्ति अनुसार अतिथि सेवा, २०) अभिनिवेश (मिथ्या -आग्रह) से दूर, २१) गुणों का पक्षपाती, २२) निषिद्ध देश-काल-चर्या का त्याग, २३) बलाबल-सम्यक् ज्ञाता, २४) व्रत नियम में स्थिर ज्ञानवृद्धों का पूजक, २५) आश्रितों का पोषक, २६) दीर्घदर्शी, २७) विशेषज्ञ, २८) कृतज्ञ, (दुसरे का उपकारक), २९) लोकप्रिय, ३०) लज्जावान, ३१) दयालु (दयावान), ३२) सौम्य स्वभावी, ३३) परोपकारी कर्मठ, ३४) षट् अतरग शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, मत्सर) के त्याग में उद्यत और ३५) इन्द्रियों का विजेता, हैं। इन पैंतीस गुणों से सम्पन्न सामान्य श्रावक भी सद् गृहस्थ ही है। विशेष वर्ग के अन्तर्गत बारह व्रतधारी श्रावक का वर्णन है।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (कहीं-कहीं शिक्षाव्रत के अन्तर्गत ही गुणव्रत का समावेश कर लिया गया है) ये बारह व्रत है।[१३३] इनमें पाँच अणुव्रत को मूलगुण और गुणव्रत-शिक्षाव्रत को उत्तरगुण माना गया है। दिगम्बर परम्परा में मूलगुण और उत्तरगुण तो ये ही माने है, परन्तु मूलगुण में अंतर है-[१३४] मद्य, मास, मधु और पाँच उदुम्बर फल (पीपल, उदुम्बर, पिलखन, बड, कदुम्र) इन आठ को मूलगुण माना है। कही-कही पाँच अणुव्रत और तीन मकार को अष्टमूल माना गया है। इस प्रकार द्वादशव्रत - श्रावक धर्म सम्यक्त्वमूलक होता है।

द्वादशव्रतों का स्वरूप

सावद्य योगों से पूर्णतया निवृत होना अथवा पापरूप व्यापार-आरंभ-समारंभ से आत्मा को नियन्त्रित करना पच महाव्रतों का पालन करना चारित्र कहलाता है। मुनि तो सावद्य योगों से पूर्णतया निवृत्त और अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले होने से सब प्रकार की हिंसा आदि से मुक्त हैं। किंतु श्रावक मर्यादा सहित चारित्र (संयम) का पालन करने वाले, अहिंसा, अणुव्रत आदि श्रावक के बारह व्रतों के धारक होने से आंशिक त्यागी, देशविरति सयमी क... ते हैं।

पाँच अणुव्रत

स्थूल हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन और परिग्रह का त्याग अणुव्रत कहा जाता है। ये

पाँच अणुव्रत द्विविध (करूँ नहीं, कराऊँ नही-करण), त्रिविध (मन, वचन, काय-योग) रूप में पाला जाता है।[१३५] क्योंकि श्रावक को अनुमोदना का दोष लगता ही है। इसलिए वह दो करण और तीन योग से हिंसादि सबकी सावद्य क्रिया करता है। उन सावद्य क्रिया से बचने के लिए सर्वप्रथम जीवन में मूलगुण को स्वीकार करता है। मूलगुण (अणुव्रत) पाँच हैं -[१३६] १) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत, २) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत, ३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत, ४) स्वदार सतोष-परदार विवर्जन व्रत और ५) स्थूल परिग्रह-परिणाम व्रत (इच्छा परिमाण व्रत)। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग तो करता है, किन्तु पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, बनस्पतिकाय इन पाँच स्थावरों के सूक्ष्म जीवों की रक्षा नही कर सकता। इसलिए श्रावक की हिंसा दो प्रकार की मानी जाती है-[१३७] १) सकल्पी और २) आरभी। श्रावक सकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है। किन्तु आरभी हिंसा का नही। क्योंकि आरभ किये बिना जीवन में कोई भी कार्य श्रावक कर नही सकता। हिंसा अणुव्रत के ऊपर ही शेष चार अणुव्रत आधारित है। स्थूल झूठ का त्याग ही दूसरा अणुव्रत है। श्रावक कन्यासबधी, गो आदि पशु सबधी, भूमि संबधी, जमा, रकम, धरोहर आदि के हड़प जाने सबधी एवं झूठी साक्षी लेखनादि सबधी इन पाँच प्रकार के बड़े झूठ नही बोलते।[१३८] सत्य जीवन का अमृत है। आशिक सत्य का पालक ही चोरी की वस्तू का स्थूल रूप से त्याग करता है।[१३९] चौथे व्रत में दो प्रकार के व्रती माने जाते हैं - १) स्वदार सतोष और २) परदार निवृत्ति। स्वदारसतोषव्रती परस्त्रीसेवन और वेश्यागमन का स्थूल त्याग करता है। परंतु परदारनिवृत्ति-पालक, परस्त्रीसेवन का तो त्याग करता है, परतु वेश्यागमन का त्याग नहीं करता, क्योंकि वेश्या किसी की परिगृहीत स्त्री नही है। इस व्रत की आराधना एक करण और तीन योग से की जाती है।[१४०] पाँचवें अणुव्रत में स्थूल परिग्रह का त्याग किया जाता है। इस व्रत को इच्छा परिमाण व्रत भी कहा है। इच्छा का निरोध नौ प्रकार से बताया है - क्षेत्र (श्वेत), वस्तु, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य और कुप्य या गोप्य (ताबा, पीतलादि)। इसके अतिरिक्त मकानादि का परिमाण करना भी इच्छा परिमाण व्रत है। यह व्रत एक करण (करू नहीं) और तीन योग (मन, वचन, काय) से स्वीकार किया जाता है।[१४१]

तीन गुणव्रत

अणुव्रतों के पालन में उपकारक एव सहायक होने के कारण दिशा-परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थदण्ड- परिमाण-व्रत इन तीन को गुणव्रत कहते हैं।[१४२] दिशा-परिणाम व्रत में दिशा (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर), विदिशा (ईशान्य, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य कोन), ऊपर एवं नीचे इन दशों दिशाओं की मर्यादा की जाती है। इन दिशाओं में गमनागमन करने की सीमा का निश्चित करना ही पहला गुणव्रत है।[१४३] यह उत्तरगुण होने के कारण इसे गुणव्रत की संज्ञा दी गयी है। इस व्रत का पालन

एक करण तीन योग अथवा दो करण और तीन योग से किया जाता है। जिस व्रत में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के अनुसार भोग्य (एक बार उपभोग करना) और उपभोग्य (परिभोग = बार -बार वस्तु का उपयोग करना) वस्तुओं की २६ संख्याओं के रूप में तथा १५ कर्मादान के रूप में सीमा निर्धारित करने को भोगोपभोग परिमाण व्रत नामक दूसरा गुणव्रत कहलाता है।[१४४] यह व्रत दो प्रकार का है -[१४५] भोग और कर्म। भोग में छब्बीस वस्तुओं की मर्यादा की जाती है और कर्म में १५ प्रकार के वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। इस व्रत की आराधना दो करण और तीन योग से की जाती है। तीसरे गुणव्रत में आर्त, रौद्र ध्यान-अपध्यान करना, पापजनक कार्य का उपदेश या प्रेरणा देना, हिंसक साधन दूसरों को देना, प्रमाद करना इन चार की बिना प्रयोजन मन वचन काय से समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होने को अनर्थदण्ड कहते हैं। शरीर आदि के लिए जो कुछ भी आरभजनक या सावद्य-प्रवृत्ति की जाती है, वह तो अर्थदण्ड है किन्तु अपने या पराये किसी का भी स्वार्थवश या अकारण ही आत्मा को दण्डित करना अनर्थदण्ड है। अनर्थ-दण्ड का त्याग करना ही तीसरा गुणव्रत है।[१४६] श्रावक चारों प्रकार के अनर्थदण्ड में आठ आगार (आत्म रक्षा हेतु, राजाज्ञा, जाति, परिवार के लिए, नाग, भूत, यक्ष, देव आदि) रखकर दो करण और तीन योग से जीवनभर के लिए अनर्थदण्डित वस्तुओं का त्याग करता है।

चार शिक्षा व्रत

शिक्षाव्रत में आन्तरिक अनुशासन की विधि स्पष्ट की जाती है। शिक्षाव्रत चार हैं - सामायिकव्रत, देशावकाशिकव्रत, पौषधोपवास और अतिथि- सविभाग व्रत। आर्त-रौद्र ध्यान एव सर्व पाप-व्यापारों का (सावद्य-व्यापार) त्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव की साधना को महापुरुषों ने सामायिक व्रत कहा है।[१४७] इसमें सिर्फ निरवद्य व्यापार की क्रिया होती है। प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत में दशों दिशाओं के गमन की मर्यादा निश्चित की गई, उनमें भी पूरे दिन या प्रहर आदि के लिए विशेष रूप से क्षेत्र मर्यादा की कुछ सीमा निर्धारित करना ही देशावकाशिक व्रत कहलाता है।[१४८]. देश का अर्थ स्थान है और अवकाश का अर्थ काल या समय है। श्रावक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है। प्रतिदिन के चौदह नियमों का विधान भी इसी व्रत के अतर्गत आता है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या इन चतुर्पर्व दिनों में सावद्य व्यापारों का त्याग करके आत्मा को पोषण देनेवाली प्रवृत्ति को अगीकार करके स्वाध्याय ध्यानादि में रमण करना ही पौषधोपवास व्रत हैं। इसमें चारों आहार (असण, पाण, खाइम, साइम) का त्याग किया जाता है।[१४९] अतिथी-सविभाग शिक्षाव्रत में वस्त्र, पात्र, मकान आदि कल्पनीय वस्तुएँ साधु-साध्वियों को दान में दी जाती हैं।[१५०] सुपात्रदान और अनुकम्पादान का जैनागम में विशेष महत्त्व है।

प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार कहे गये हैं। अतिचार का अर्थ है व्रत में आने वाले विकार। अत उन सबका त्याग करना अत्यावश्यक है। बारह व्रत के ६० अतिचार हैं-[१५१] इन सभी का उल्लेख करना समीचीन नही हैं।

बारह व्रत के समस्त अतिचारों का श्रावक त्याग करता है। श्रावक की ग्यारह पडिमा, षडावश्यक एवं सलेखना का वर्णन आगे करेंगे।

७) सर्व विरति चारित्र-श्रमण धर्म

श्रमण, समन और शमन इन तीन शद्वों का प्रयोग मुनि के लिए होता है।

श्रमण शद्व 'श्रम' धातु से बना है जिसका अर्थ है श्रम करना। समण शद्व का अर्थ है समभाव रखना तथा शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शात करना।[१५२] इन तीनों शद्वों का सार एक ही है कि समभाव की साधना करना। श्रमण शिरोमणी महावीर का कथन है कि 'ममता-रहित, निरहकार, नि सग, प्राणीमात्र पर समभाव रखने वाला, लाभ-हानि, सुख-दु ख, जन्म मरण, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान आदि में समभाव रखने वाला ही साधु है।' उन्हें भगवान ने धर्म देव कहा है।[१५३] अथवा 'जो साधक शरीरादि में आसक्ति नही रखता, किसी प्रकार की सासारिक कामना नही करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नही करता, झूठ नही बोलता तथा मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, भय, मत्सर आदि कर्मादान एव आत्मा के पतन हेतुओं से निवृत्त, इन्द्रियविजेता, मोक्षमार्ग का योग्य साधक ही श्रमण कहलाता है।[१५४]

पाँच महाव्रत

श्रमण की साधना आशिक नही पूर्ण होती है। श्रावक अशत हिंसादि का त्याग करता है और श्रमण पूर्णत हिंसादि का त्याग करता है। इसलिए श्रमण के अहिंसादि व्रत महाव्रत कहलाते हें। जिन व्रतों की आराधना महान् है, जिसके अपनाने से आत्मा महान् बनती है उसे महाव्रत कहते हैं।[१५५] इस आराधना से साधक अनुत्तरविमानवासी देव, अरिहन्त और सिद्ध बन सकता है। इसीलिए इसे 'चारित्र धर्म' अथवा 'यतना' के नाम से सबोधित करते हैं।[१५६] इसके दो भेद हैं -[१५७] मूलगुण और उत्तरगुण। मूलगुण में पाँच महाव्रत और उत्तरगुण में पाँच समिति और तीन गुप्ति का विभाजन किया गया है। महाव्रत पाँच हैं -[१५८] अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

मूलगुण १) सर्व प्राणातिपात विरमण व्रत

श्रमण अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप अहिंसा का त्रिकरण त्रियोग से पालक है। हिंसा और अहिंसा की आधार भूमि भावना है। भावना पर ही जैन धर्म आधारित है। अत मन, वाणी और शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा

मयादि दूषित मनोवृत्तियों के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी को शारीरिक एव मानसिक पीड़ा पहुँचाना अथवा अनुमति देना हिंसा है। हिंसा के दो प्रकार हैं -[१५९] द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। इन दोनों से बचना ही अहिंसा है।

प्रमादवश त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन त्रिकरण (न स्वय करना, न दूसरों से करवाना और न ही हिंसा करने वाले को अनुमोदना देना), त्रियोग (मन, वचन, काय) से न करना ही प्रथम अहिंसा महाव्रत है।[१६०] अहिंसा को प्रश्न व्याकरण सूत्र में साठ नामों से घोषित किया है। इसे भगवती अहिंसा कहते हैं। यह शरणागतरक्षक, प्रतिष्ठा, निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, शांति, कान्ति, दया, क्षमा, करुणा, सम्यक्त्वाराधिका, रिद्धि-सिद्धि समुद्धिप्रदायिका, केवलीस्थान, शिवसुखप्रदाता आदि साठ नामों से युक्त है।[१६१] इसलिए श्रमण ही सूक्ष्म, स्थूल, त्रस, स्थावर आदि छकायिक जीवों की रक्षा करता हुआ अष्टादश दोषों से रहित होकर प्रथम अहिंसा महाव्रत की साधना करता है। क्योंकि वही तप, जप, श्रुत, यम, ज्ञान, स्वाध्याय, ध्यान एवं दानादि तथा अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की जननी है।[१६२]

२) सर्व मृषावाद विरमण व्रत

मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना ही सत्य है। सत्य ही अहिंसा का विराट् रूपान्तर है। सत्य ही साधना का प्राण है। सत्य का त्रिकरण और त्रियोग से पालन करना ही सत्य महाव्रत है।[१६३] सत्य को ही भगवान् कहा है। वही लोक में सार भूत है। महासमुद्र के समान गभीर, मेरू के समान स्थिर, चन्द्र के समान सौम्य और सूर्य के समान तेजस्वी-सत्य महाव्रत है।[१६४] इसलिए श्रमण द्वितीय महाव्रत की आराधना करते हुए हित, मित, पथ्य, तथ्य एवं सत्य भाषा का ही प्रयोग करता है।[१६५] कभी सावद्य वचन नही बोलता। मिथ्यावचन स्व पर अहितकर्ता है। अत सत्यव्रत की सर्वथा आराधना करना ही 'मृषावाद विरमण' नामक दूसरा महाव्रत है।

३) अदत्तादान विरमण व्रत

चोरी नरक का प्रवेशद्वार है। उससे बचने के लिए श्रमण त्रिकरण और त्रियोग से वस्त्र, पात्र, मकान एव अन्य वस्तुओं को मालिक की आज्ञा बिना स्वीकार नही करता, अपितु अचौर्य व्रत का सर्वथा पालन करता है, यही अदत्तादान महाव्रत है।[१६६] चोरी के चार प्रकार बताये हैं -[१६७] द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चोरी। साधक सूक्ष्म, स्थूल, द्रव्य और भाव रूप से त्रिकरण त्रियोग से 'अदत्तादान विरमण व्रत' की प्रतिज्ञा करते हुए विचरण करता है।

४) सर्व मैथुन विरमण व्रत-ब्रह्मचर्य महाव्रत

देव, मनुष्य, तिर्यंच सबधी कामभोगों से निवृत्त होना, कामोत्तेजक साधनों से निवृत्त, वासनोत्तेजक दृश्यों से मुक्त साधक त्रिकरण और त्रियोग से मैथुन सेवन का त्याग करता है और वही ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[१६८] ब्रह्मचारी साधक के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि दैवी शक्तियाँ भी नतमस्तक हो जाती हैं।[१६९] काम भोग तो किंपाक फल की तरह विनाशक है।[१७०] इसलिए ब्रह्मचारी साधक औदारिक सबधी काम भोगों का त्रिविध-त्रिविध (मन, वचन, काया एव कृत, कारित, अनुमोदन) ३×३=९ प्रकार से त्याग करता है ऐसे ही देवता सबंधी ३×३=९ कुल १८ प्रकार का त्याग करते हैं।[१७१]

५) परिग्रिहविरमण व्रत-अपरिग्रह महाव्रत

समस्त पापों का मूल परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापाचरण किये जाते हैं। आशा, तृष्णा, ममत्व, आसक्ति और परिग्रह ये सब एक ही पर्यायवाची शद्व हैं। यह बाह्य और आभ्यतर भेद से दो प्रकार का है।[१७२] बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है - वास्तु (घर), क्षेत्र, धन, धान्य, द्विपद (मानव), चतुष्पद (पशु आदि), शयनासन, यान, कुप्य और भाड। इसके अतिरिक्त स्वजन, परिजन, परिवार, नौकरादि, आभूषणादि भी बाह्य परिग्रह ही हैं, और आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है- मिथ्यात्व, वेदराग, हास्यादि (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) षष्ठक, कषायचतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ)। द्रव्य और भाव से वस्तुओं का ममत्वमूलक सग्रह करना परिग्रह है। इन परिग्रह का त्रिकरण त्रियोग से सर्वथा त्याग करना ही अपरिग्रह महाव्रत है। समस्त मूर्च्छाभाव का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से त्याग करना ही परिग्रह विरमण व्रत है।[१७३]

पाँच महाव्रत की २५ भावना

भावना भवनाशिनी एव व्रतों की रक्षक है। भावना भी दो प्रकार की होती है।[१७४] - प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ)। अप्रशस्त भावना के प्राणातिपात आदि १८ प्रकार हैं और प्रशस्त भावना के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नामक चार प्रकार हैं। महाव्रतों की पचीस भावना इस प्रकार हैं –[१७५]

प्रथम महाव्रत की पाँच भावना :- ईर्यासमिति, मन समिति, वय (वचन) समिति, आयाण (आदान) भडपत्तनिक्षेपणा समिति, आलोइ-इय पाण भोयण समिति। कही- कही नामों में भिन्नता मिलती है -यथा मनोगुप्ति, एषणा समिति, आदान भाडनिक्षपण समिति, ईर्यासमिति, प्रेक्षित।

द्वितीय महाव्रत की पांच भावना : वाणी विवेक, क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय और हास्य त्याग।

तृतीय महाव्रत की पांच भावना : अवग्रह (स्थान) की मर्यादित याचना करना, गुरु आज्ञा से जल ग्रहण करना, क्षेत्र कालादि के अनुसार अवग्रह की याचना करना, बार-बार मर्यादित पदार्थों की याचना करना, साधर्मिक से परिमित वस्तुओं को लेना अथवा अवग्रह की याचना करना।

चौथे महाव्रत की पाच भावना : स्त्री कथा का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगोपाग का त्याग, पूर्व काम भोगों के चिन्तन का त्याग, स्निग्ध भोजनादि का त्याग, विविक्त शयनासन (स्त्री, नपुसक, पशु के स्थानादि) का त्याग। कही-कही इन भावना क्रम में एवं नामकरण में भी भिन्नता दिखाई देती है।

पाचवें महाव्रत की पांच भावना : श्रोतेन्द्रिय - चक्षुरिन्द्रिय - घ्राणेन्द्रिय - रसेन्द्रिय - स्पर्शेन्द्रिय सयम। इन पाचों इन्द्रियों का सयम ही पाच भावना है।

रात्रि भोजन विरमण व्रत

रात्रि भोजन करने से छ जीवनिकाय जीवों का वध होता है। रात्रि में भोजन बनाने से छ जीवनिकाय जीव का वध होता है। भोजन में अगर चीटी खाई जाय तो वह बुद्धि का नाश करती है। जू खाने में आ जाय तो जलोदर रोग हो जाता है। मक्खी भोजन में गिर जाय तो वमन हो जाता है। कनखजुरा खाने से कुष्ट रोग हो जाता है। काटा या तिनका गले मे फस जाय तो पीड़ा उत्पन्न होती है। साग में बिच्छु गिर जाय तो वह तालु को फाड़ देता है, गले में बाल चिपक जाय तो आवाज खराब हो जाती है। रात्रि भोजन करने में तो ये प्रत्यक्ष दोष हैं। रात्रि में सूक्ष्म जीवों की फोज सी निकलती हैं। वे भौतिक साधनों के प्रकाश में नजर नही आते। सूर्य तेज में सूक्ष्म जीव भोजन में नही पडते। परम ज्ञानियों की दृष्टि से अहिंसा व्रत के भग होने की संभावना होने के कारण उसे स्वीकार नही किया है। रात्रि में आखों से दिखाई न देनेवाले सूक्ष्म जन्तु भोजन में अधिक होते हैं इसलिये चारों प्रकार से रात्रि भोजन का त्याग करना रात्रि भोजन विरमण व्रत है।[१७६]

उत्तरगुण चारित्र-पाँच समिति तीन गुप्ति

पाच समिति और तीन गुप्ति रत्नत्रय की संरक्षक और पोषक हैं। इन्हें "अष्ट प्रवचन माता" भी कहते हैं।[१७७] अष्ट प्रवचन माता साधक जीवन में आने वाले परीषह उपसर्गों में धैर्य बधाकर रक्षा करती हैं।

समिति-गुप्ति का अर्थ

समिति शब्द "सम्" और "इति" के मेल से बनता है। "सम्" = सम्यक्,

"इति" = गति या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। आगम में कहे अनुसार गमन करने की सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है।[१७८]

गुप्ति शब्द "गोपृ" धातु से बना है जिसका अर्थ रक्षण है। आत्मा का सरक्षण या रक्षा जिन कारणों से होती है। उसे गुप्ति कहते हैं। सम्यक् प्रकार से मन-वचन-काय का निग्रह करना ही गुप्ति है।[१७९]

दोनो में अन्तर

गुप्ति की आराधना करनेवाले को समिति का पालन करना ही चाहिये। क्योंकि समिति गुप्ति की सखी है। अत समिति गुप्ति के स्वभाव का अनुसरण करती है। अत समितियों में गुप्तियाँ पायी जाती हैं। किन्तु गुप्तियों में समितियाँ नहीं पायी जाती। गुप्तियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्तिप्रधान। इसलिए समितियों को गुप्तियों की सखी कहा है तथा गुप्तियों को मोक्षमार्ग की देवी बताया है।[१८०]

कर्मों के आने के द्वार को बन्द करने में लीन साधु के तीन गुप्तियाँ कही गई हैं और शारीरिक चेष्टा करनेवाले मुनि के पाँच समितियाँ बताई गई हैं। तीर्थंकरोंने इसे ही सम्यग् चारित्र कहा है।[१८१]

तीन गुप्ति का स्वरूप

लोकैषणा से रहित साधु के लिए सम्यग्दर्शनादि आत्मा को मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र से रक्षा हेतु पापयोगों का निग्रह करना चाहिये।[१८२] आगम में तीन प्रकार की गुप्ति हैं[१८३]- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

मनोगुप्ति

आर्त-रौद्र ध्यान विषयक मन से सरभ, समारभ, आरभ, सबधी सकल्प-विकल्प से रहित, इहलोक परलोक हितकारी धर्म और शुक्लध्यान का चिंतन, मध्यस्थ भावना एव समभाव में स्थिरता तथा आत्मस्वरूप रमणता में रक्षा करनेवाले को ज्ञानियों ने मनोगुप्ति कहा है। मन से रागादि का न होना ही मनोगुप्ति है।[१८४]

वचन गुप्ति

वचन के सरभ-समारभ-आरभ-सबधी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, झूठ न बोलना, निन्दा चुगली आदि का न करना, मौन रखना वचनगुप्ति है।

कायगुप्ति

शारीरिक क्रिया सबधी संरभ-समारंभ-आरंभ में प्रवृत्ति न करना, चलने, फिरने, उठने, बैठने आदि क्रिया में सयम रखना, अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करके यतनापूर्वक

सत्प्रवृत्ति करना एव मनुष्य, देव, तीर्यंचों द्वारा दिए गए उपसर्ग परीषहों में स्थिर रहना कायगुप्ति है।

तीनों गुप्ति के अतिचार

मनोगुप्ति के अतिचार[१८७] - आत्मा की राग-द्वेष-मोहरूप परिणति शब्द-विपरीतता, अर्थ विपरीतता, ज्ञान विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान-आर्त रौद्र ध्यान में मन न लगाना।

वचनगुप्ति के अतिचार[१८८] - कर्कशकारी, छेदकारी, भेदकारी, मर्मकारी, क्रोध-मान-माया-लोभकारी आदि सतापजनक भाषा बोलना, विकथाओं में आदर भाव, हुकारादि क्रिया, खेकारना, हाथ-पैर भौयें आदि से इशारा करना आदि।

कायगुप्ति के अतिचार[१८९] - कायोत्सर्ग संबधी बत्तीस दोष, जीवजन्तु, काष्ठ, पाषाण आदि से निर्मित स्त्री प्रतिमाएं, पर धन की प्रचुर मात्रा, हिंसक देश में अयत्नाचारपूर्वक निवास, अपध्यान सहित शरीर के व्यापार की निवृत्ति अचेष्टारूप कायगुप्ति के अतिचार हैं।

पाँच समितियों का स्वरूप

ईर्यासमिति :- युग-परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए, जीवों की रक्षा हेतु यत्नपूर्वक सूर्यालोक में गमनागमन करने की सत्प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं।[१९०] ईर्या का अर्थ गमन है। मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन इन चार शुद्धियों के साथ गमन करनेवाले मुनि की सम्यक् क्रिया को ईर्या समिति कहते हैं।[१९१] यत्नपूर्वक चलनेवाले मुनि के जीव विराधना होनेपर भी पाप बध नही होता। क्योंकि उनके मन में जीवों के प्रति करुणा भाव है। इससे विपरीत अयतना या अवद्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधक को जीवों की विराधना (मृत्यु) न होनेपर भी हिंसा का पाप लगता ही है।[१९२]

भाषा समिति :- आवश्यकता होनेपर भाषा के सोलह दोषों को त्याग कर यत्नपूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना तथा हित, मित, सत्य, तथ्यकारी वचन बोलना ही भाषा समिति कहलाती है।[१९३]

एषणा समिति :- गवैषणा (गोचरी) के बयालीस दोषों से रहित शुद्ध अन्नजल, वस्त्र, पात्र आदि उपधि का सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणा समिति है।[१९४] भिक्षा में लगनेवाले बयालीस दोषों को तीन भागोंमें विभाजित किया गया है।[१९५] १. उद्गम के १६ दोष - आधाकर्म, उद्देशिक, पुइकम्म, मीसजात,ठवणा, पाहुडिया, पाओयर (प्रादुष्करण), कीय, पामिच्च (प्रामित्य), परियट्टिअ (परिवर्तित), अभ्मिहड, उब्भिन्न

(उद्भिन्न), मालोहड, अच्छिन्न (आच्छेद्य), आणिसिट्ठ (अनि सृत) और अज्झोयरय (अघ्यवपूरक) ये उद्गम के १६ दोष श्रावक की और से लगते हैं।

२) १६ उत्पादन के दोष :- धात्री (धात्रीपिण्ड), दूती (दूतिपिण्ड), निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्व-पश्चात् सस्तव, विद्या, मत्र, चूर्ण, योग, मूलकर्म। ये उत्पादन के सोलह दोष साधु की ओर से लगते हैं।

३) एषणा के १० दोष :- शक्ति, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सवृत, दायक, उन्मिश्रित, अपरिणत, लिप्त छर्दित।

इस प्रकार १६+१६+१० = ४२ दोष भिक्षा के हैं। इन दोषों से अदूषित, अशन, पान (पानी), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, चोलपट्ट आदि स्थविरकल्पियों के चौदह प्रकार की औधिक उपधि (उपकरण) तथा जिनकल्पियों के बारह प्रकार की उपधि तथा साध्वियों की पच्चीस प्रकार की उपधि और औपग्रहिक संथारा (आसन) पाट, पाटला, बाजोट, चर्मदण्ड, दण्डासन आदि दोषों से अदूषित हों, उन्हें ग्रहण करना एषणा समिति है।

गवैषणा और ग्रासैषणा की दृष्टि से एषणा के दो प्रकार हैं। ग्रासैषणा (मडली में बैठकर ग्रास लेते समय लगने) के पाँच दोष हैं-[१९६] सयोजना, अप्रमाण, अंगार, धूम्र, कारणाभाव। इन पाँच दोषों को टालकर आहार करना चाहिये। श्रमण छह कारण से आहार ग्रहण करें। वे कारण इस प्रकार हैं। १) क्षुधानिवृत्ति, २) वैयावृत्य, ३) ईर्यार्थ, ४) सयमार्थ, ५) प्राण धारणार्थ (सयम जीवन रक्षा हेतु) और ६) धर्म चिन्तनार्थ।

इस प्रकार ''उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजन, अप्रमाण, अगार, धूम्र और कारणाभाव आदि दोषों को टालकर पिण्ड (आहार) का शोधन, अन्वेषण, विश्लेषण करके आहारादि में प्रवृत्ति करने हेतु मुनियों के लिए एषणा समिति कही है।[१९८]

आदान-भाण्डपात्र निक्षेपणा समिति

आदान = वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्डमात्र उपकरणों को ग्रहण करना एव जीवरहित भूमि का प्रमार्जन करके भाण्ड मात्रादि को रखना ही आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति है। सम्यक् प्रकार से पहले देखी हुई जगह पर रजोहरण से प्रमार्जित करके यतना से वस्तु लें और रखें उसे आदानभाण्डमात्र -निक्षेपणा समिति कहते हैं।

उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिठावणिया समिति (उत्सर्ग समिति)

ऊसर भूमि में मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल, बाल, वमन एव भग्नपात्रादि त्याज्य वस्तु को जीवरहित एकात (स्थण्डिल भूमि में) में फैंकना, जीवादि की उत्पत्ति न हो

एतदर्थ उचित यत्न करना तथा त्रस स्थावर जन्तु से रहित अचित्त पृथ्वीतल धूल या रेत में यत्नपूर्वक उत्सर्ग (त्यागने को) करने को उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिठावणिया समिति कहते हैं।[२००]

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति यह श्रमणों की साधना पद्धति है। प्राचीन काल से आज तक यह पद्धति चल रही है।किन्तु देश काल के अनुसार इन साधना पद्धति में वर्तमान काल में कुछ अतर दिखाई देता है।

चारित्र के विभिन्न आयाम अथवा पोषक अग

सामान्यत आध्यात्मिक साधना के चार अग माने जाते हैं, परतु चतुर्थ अग 'तप' को चारित्र के अतर्गत ही मान लिया गया है। इसलिए मुख्यत त्रिविध साधना पद्धतियाँ ही हैं। अन्य पद्धतियाँ तो चारित्र के पोषक अग हैं। चारित्र के पोषक अग निम्न प्रकार के हैं - तप, उत्सर्ग-अपवाद मार्ग, समाचारी एवं षडावश्यक।

तप : भारतीय त्रिविध साधना पद्धति में तप को साधना का प्राण माना है। सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए जीवन में तप आवश्यक है। क्योंकि आत्मदशा से परमात्मदशा तक पहुँचानेवाला सशक्त माध्यम तप ही है। इसलिए श्रमण सस्कृति में तप का विशेष विधान है। तप को ही ध्यान कहा है। तप से आत्मा की शुद्धि होती है। पर याद रखना है कि अविवेकमय तप की प्रधानता नही है। विवेकहीन तप से आत्मशोधन नही होता। भगवान महावीर ने इसे बाल तप की सज्ञा दी है। तामली तापस ६० हजार वर्ष तक तप करता रहा, पर उसका तप ज्ञानयुक्त नही था। आत्मदर्शन तथा आत्मशोधन की दृष्टि से वह तप नही कर रहा था। इसलिए उसे "बाल तपस्वी" कहते हैं।[२०१] बाल तप से शरीर को तपाया जाता है, कर्मो को नही। वास्तव में कर्मक्षयार्थ तप ही सच्चा तप है। जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, वही तप है। अथवा जिसके द्वारा शरीर के रस, रुधिर, मास, मेद, हड्डियों, मज्जा एव शुक्र आदि तपे जाते हैं, अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है। आगम में ज्ञानपूर्वक तप को ही प्रधानता दी है- अज्ञान तप को नही।[२०२] सम्यग्ज्ञान के अभाव में किया गया तप आत्मशोधन का साधन नही बनता। औपपातिक सूत्र में नाना प्रकार के वानप्रस्थ तापसों का वर्णन है कि उन्होंने विविध प्रकार के तप किये, कडकडाती धूप में आतापना ली, वृक्ष-शाखा से औंधे लटके, छाती तक भूमि में गढे रहे, काइ एव अन्न कण खाकर रहे, नासाग्र तक जल में खड़े रहे, वायु भक्षण से जीते रहे आदि आदि।

तप का मुख्य ध्येय जीवन शोधन है। वह तप अहिंसा सयममय होना चाहिये। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी, अन्तरात्मावस्था से परमात्मावस्था तक, तथा जन से शिव बनने के लिए ही साधक घोर तपस्या करता है। भगवान महावीर के चौदह हजार श्रमण वर्गों में

धन्ना अणगार को उग्र तपस्वियों में महादुष्करकारक तथा महानिर्जरा के उत्कृष्ट तप . . बताया।[२०४] उस काल में आत्मलक्ष्यी साधक को उग्रतपस्वी, घोर तपस्वी और महातपस्वी कहते थे और आज भी कहते हैं।[२०५] प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने छद्मस्थावस्था में १००० वर्ष तक तप किया बीचके २२ तिर्थंकरोंने भी छद्मस्थावस्था में तप किया और अतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीव ने नन्दराजा के भव में एक लाख वर्ष तक तप किया, तथा महावीर के भव में दीक्षा लेने के बाद साढ़े बारह वर्ष की साधना काल में बारह वर्ष, तेरह पक्ष तक तप की उत्कृष्ट साधना करते रहे। इस दीर्घ अवधिकाल में उन्होंने सिर्फ तीन सौ उनपचास दिन तक ही अन्न ग्रहण किया।[२०६] महावीर के शिष्य सपदाओं ने भी विभिन्न प्रकार के उग्र तप किये[२०७], जैसे कि गुणरत्न सवत्सर तप, रयनावली तप, कनकावली तप, महासिंह निष्क्रीडित, लघुसिंह (खुड्डाग-सिंह) तप, बारह भिक्खु पडिमा को एक से लेकर बारह तक आगम कथनानुसार तप किया, सत्तसत्त भिक्खुपडिमा, अट्ठ-अट्ठ भिक्खुपडिमा, नवनवभिक्खुपडिमा, दस दस भिक्खुपडिमा, भद्दत्तरापडिमा, खुड्डया सव्वतोभद्दपडिमा, महालिया, सव्वतो भद्द पडिमा, मुक्तावली तप, एकावली तप, यवमध्य चन्द्रपडिमा, वज्र मध्य चन्द्र पडिमा, एकलविहार पडिमा, वस्त्र पडिमा, पात्र पडिमा, क्षुद्रिका प्रस्रवण पडिमा, महतीप्रस्रवण (मोय) पडिमा, अहोरात्रि पडिमा, एक रात्रि पडिमा एव आयबिल वर्धमान तप।

तप आध्यात्मिक साधना में आलबन रूप है। जब मनोयोग के परमाणु, वचनयोग के परमाणु, काययोग के परमाणु तथा तैजस और कार्मण के अति सूक्ष्म परमाणु उत्तप्त होते हैं, तब तप के द्वारा उन्हें (अशुभ परमाणुओं) निर्मल बनाया जाता है। निर्मल परमाणुओं के स्कन्धों से ही साधना में स्थिरता आती है। विषय कषाय, रागद्वेषादि का शमन होता है। सवर निर्जरा की सिद्धि होती है। सवर निर्जरा का फल ही मोक्ष है। अत तप आत्मशोधन का मुख्य साधन है।

तप के भेद प्रभेद

आगम एव अन्य ग्रथों में तप के दो प्रकार बताये हैं - बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह प्रकार हैं- १) अणशण, २) ऊणोदरी (ओमोयरिया), ३) भिक्षाचरी, ४) रस परित्याग, ५) कायक्लेश और, ६) पडिसलीनता। वैसे ही आभ्यन्तर तप के भी छह प्रकार हैं - १) प्रायश्चित्त, २) विनय, ३) वैयावृत्य, ४) स्वाध्याय, ५) ध्यान और, ६) व्युत्सर्ग।[२०८]

बारह प्रकार के तप का स्वरूप

१) अनशन । इसके दो भेद हैं - इत्वरिक (निश्चित समय तक ही आहारादि का ग्रहण करना) और यावत्काथित (जीवनपर्यंत) इत्वरिक तप के अनेक भेद हैं - नवकारसी

से लेकर सभी प्रकार की तपावली इसके अन्तर्गत आ जाती है। इत्वरिक तप की उत्कृष्ट कायमर्यादा छह मास तक की मानी गई है। प्रथम, मध्यम व चरम तीर्थंकर के शासनकाल में तप की उत्कृष्ट कालमर्यादा क्रमश बारह मास, आठ मास और छह मास की रही है। इस अन्तर का मुख्य कारण उन-उन समय की स्थिति और शरीर की अनुकूलता है। शरीर बल, मनोबल (मन की दृढता), श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र, कालादि का विचार करके इत्वरिक तप करें, ताकि मन में समाधि भाव रह सके। समाधिभाव ही तप है। यावत्कथित तप के यों तो तीन भेद हैं- इगितमरण, भक्त प्रत्याख्यान और पादोपगमन, किन्तु कही कही इगितमरण को भक्त प्रत्याख्यान तप के अतर्गत ही मान लिया है। इसलिए यावत्कथित तप के दो भेद मानते हैं। भक्त प्रत्याख्यान और पादोपगमन। इन्हें निर्हारिम, अनिर्हारिम, वाघाइम, निर्वाघाइम तथा सविचार अविचार ऐसे दो-दो भेदों में विभाजित किया गया है। यावत्कथित तप को सलेखना-सथारा अथवा समाधि मरण कहते हैं। [२०९] इसका वर्णन आगे करेंगे।

२) ऊणोदरी : आगम में इसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, जैसे कि 'ऊनोदरी' 'अवमौदर्य' और 'अवमोदरिका'। इन सबका एक हो अर्थ है (ऊन + कम, उदरी-पेट, अवम=कम, ओदरिका या ओदर्य=पेट) भूख से कम खाना, परिमित आहार करना। इसे द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊणोदरी कहते हैं। कही-कही तो ऊणोदरी के पाँच भेद भी मिलते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय। द्रव्य ऊणोदरी दो प्रकार की है - उपकरण ऊनोदरी और भक्तपान ऊनोदरी। उपकरण ऊनोदरी में शीत, ताप, भूख, प्यास, दो वस्त्र, पात्र, कम्बलादि एव अन्न जल मर्यादित हों। भक्त ऊनोदरी में भोजन की मात्रा का वर्णन है। साधारण स्वस्थ मनुष्य का आहार बत्तीस कवल होता है। कवल शब्द के दो अर्थ हैं- १) मुर्गी के अडे के बराबर आहार [illegible] एक ग्रास (एक कवल) और २) जिसका जितना आहार हो उसके बत्तीस भाग करें, उसका बत्तीसवाँ भाग एक कवल हैं। सुखपूर्वक मुह में जितना ग्रास आ सके उतना एक कवल है। स्वस्थ मनुष्य का बत्तीस कवल का आहार, स्त्री का अठाइस कवल का आहार तथा नपुसक का चौबीस कवल का आहार सम्पूर्ण माना गया है। किन्तु इनमें चौथाई (आठ कवल) भाग आहार करनेवाला अल्पाहारी, नौ से बारह कवल भोजन करनेवाला अपार्द्ध, तेरह से सोलह कवल तक का आहार लेनेवाला दो भाग ऊनोदर, चौबीस कवल [illegible] भोगी पादोन ऊनोदर तथा इक्कीस कवल का ग्रहण करनेवाला किंचित ऊनोदर तप करनेवाला है। क्षेत्र ऊनोदरी में ग्राम, नगर आदि से भिक्षा चरण [illegible] विधान है। काल ऊनोदरी में चारों प्रहर में भिन्न-भिन्न अभिग्रह करके भिक्षार्थ का विधान है। भाव ऊनोदरी में दाता के भाव एव क्रोधादि भाव का विधान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अभिग्रहों के साथ भिक्षा ग्रहण करने को पर्यवचर (पर्याय) ऊनोदरी कहते हैं।[२१०]

३) **भिक्षाचरी :** विविध प्रकार के अभिग्रह से आहार की गवेषणा करने को भिक्षाचरी कहते हैं। इसका दूसरा नाम "वृत्ति सक्षेप" भी है। श्रमण की भिक्षाचरी के लिए आगम में "गोचरी" "गोयरग्ग" "मधुकरीवृत्ति" एव "सक्षेपवृत्ति" इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है- १) दीनवृत्ति, २) पौरुषघ्नी और ३) सर्वसम्पत्करी । मधुकरीवृत्ति ही आदर्शवृत्ति मानी गई है। क्योंकि श्रमण परपरा में श्रमण के लिए नवकोटिशुद्ध आहार (भिक्षु स्वय भोजनार्थ हिंसा करे नही, कराये नही, करनेवाले को अनुमोदन न दे, न स्वय अन्न पकाये, न पकवाये और न पकाने वाले का अनुमोदन करे, न स्वय मोल ले, न दूसरों को लिवाए तथा न लेनेवाले का अनुमोदन करे) और बयालीस दोषवर्जित भिक्षा ग्रहण करने का विधान है। एषणा, गवैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा इन सबमें एषणा (दोषरहित आहार) की शुद्धि का विवेक रखकर आहार ग्रहण करना ही भिक्षाचरी तप है।

४) **रसपरित्याग :** आगम में पाँच रसों का वर्णन आता है- मधुर, आम्ल (खट्टा), तिक्त (तीखा), काषाय (कसैला) और लवण (नमकीन)। इन रसों के कारण आहार विकारोत्तेजक बनता है। रस प्रीति को उत्पन्न करनेवाला है, जिससे रसों में विकृति आ जाती है। विकृति आते ही भक्ष्याभक्ष्यविगय का सेवन किया जाता है। भक्ष्य-विगय- दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और अवगाहिम (पकवान) तथा अभक्ष्यविगय-मद्य, मास, मधु और नवनीत हैं। पूर्व दो त्याज्य ही हैं। किन्तु अतिम दो विशेष स्थिति में ग्राह्य हैं। जिनके सेवन करने से विकार उत्पन्न होता है। विकार से कामासक्ति जागृत होती है, इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं और साधक को पतन के रास्ते ले जाती हैं। इसलिए प्रणीत रस भोजन आत्मशोधक के लिए विषतुल्य है। इनका त्याग करना ही रसत्याग तप है। स्वादविजेता बनना ही रसत्याग है। स्वादविजेता के लिए आगम में नौ क्रम बताये हैं। १) निर्वितिक (विगय त्याग), २) प्रणीत आहार का त्याग (बलवर्धक भोजन का त्याग), ३) आयबिल (सब विगय त्याग), ४) आयामसित्थभोई (धान्यादि धोने पर उन में से कुछ अश लेना), ५) अरसाहार, ६) विरसाहार (स्वादरहित भोजन), ७) अताहार, ८) पंताहार (सबके खानेपर शेष रहा हुआ लेना) और ९) रुक्षाहार (लूखा सूखा आहार लेना)। इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए , निद्रा पर विजय पाने के लिए, स्वाध्यायादि में सिद्धि पाने के लिए गरिष्ट घृतादि भोजन का त्याग करना ही रसपरित्याग तप है।[२१२]

५) **कायक्लेश :** बाह्य तप के प्रथम चार भेद आहार से सबधित हैं और पाँचवा भेद शरीर से। कायक्लेश शब्द का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। कष्ट दो प्रकार के हैं - प्राकृतिक (देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि द्वारा प्राप्त) और २) आमन्त्रित (तप, जप, ध्यानादि द्वारा सत्ता में स्थित कर्मों की उदीरणा करके भोगना)। आगम में कष्ट के लिए परीषह-

उपसर्ग और कायक्लेश आदि शब्द प्रचलित हैं। कायक्लेश तप में दोनों प्रकार के कष्ट आते हैं। कायक्लेश तप के अनेक रूप हैं। आगम में कही सात या चौदह रूप में कायक्लेश तप का विवेचन किया है। इनमें साम्यता है, जैसे कि कार्योत्सर्ग करना, उत्कटुकासन, प्रतिमा धारण, वीरासन, निषद्या (स्वाध्यायार्थ पालथी माडकर बैठना), दडासन, लगडासन ये सात प्रकार हैं। कार्योत्सर्ग करना, एक स्थान पर खड़े रहे, उत्कटुकासन, प्रतिमा, वीरासन, सुखासन, सुप्तदडासन, स्थिर दडासन, सप्त लगडासन, आतापना, वस्त्रत्याग (दिगम्बरावस्था), खुजली न करे, थूक भी न थूके और विभूषा भी न करे ये चौदह प्रकार हैं। काय को कष्ट देना ही कायक्लेश तप है।[२१३]

६) **प्रतिसंलीनता (पडिसंलीनता) :** परभाव में लीन आत्मा को स्व स्वरूप का भान कराना ही प्रतिसलीनता तप है। शास्त्र में इसके लिए "सयम" और "गुप्ति" शब्द का प्रयोग मिलता है। कछुवे का उदाहरण देकर समझाया गया है कि साधक पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, तीन योग और विविक्त शयनासनों का कछुवे की तरह गोपन करे। ये ही चार भेद प्रतिसलीनता के हैं।[२१४]

अब आभ्यन्तर तप के छह प्रकारों का विवेचन करते हैं-

१) **प्रायश्चित्त :** साधनाकालीन जीवन में लगे हुए दोषों से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। आगमिक भाषा में दोष सेवन को प्रतिसेवना कहते हैं। दस प्रकार की प्रतिसेवना १) दर्प, २) प्रमाद, ३) अनाभोग, ४) आतुर, ५) आपत्ति (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से), ६) शकित, ७) सहसाकार, ८) भय, ९) प्रदेष और १०) विमर्श, से साधक अपनी साधना को दूषित करता है। आगम में कथित निषिद्ध क्रियाओं के करने से ही व्रत दूषित हो जाते हैं, जिससे साधक आत्मोन्नति नही कर सकता। आत्मोन्नति के लिए दोषों की शुद्धि आवश्यक है। दस प्रकार के दोषों को आचार्यों ने दर्पिका, प्रतिसेवना (प्रमाद प्रतिसेवना) और कल्पिका प्रतिसेवना (अप्रमाद प्रतिसेवना) के अंतर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। प्रमाद के कारण ही अनाभोग (अत्यत विस्मृति) और सहसाकार प्रतिसेवना का दोष लगता है। भाष्यकार ने दर्प का अर्थ प्रमाद किया है। दर्प से होनेवाली प्रतिसेवना दर्पिका प्रतिसेवना है। इससे मूलगुण और उत्तरगुण दोनों में दोष लगते हैं। दर्पिका प्रतिसेवना निष्कारण की जाने वाली प्रतिसेवना है। जब कि कल्पिका प्रतिसेवना किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर की जाती है। भाष्यकार की दृष्टि से आतुर प्रतिसेवना तीन प्रकार की है- क्षुधातुर, पिपासातुर, रोगातुर। इन सभी दोषों के लगने के कारण मन, वचन और काय ही हैं। इनके कारण ही पुण्य और पापास्रव का बध होता है। दोनों प्रकार के आस्रव व नाश सवर प्रक्रिया से ही हो सकता है। दोषों की शुद्धि चारित्र की निर्मलता पर आधारित है। चारित्र के बिना कर्मों का नाश नही और कर्मों

के नाश के बिना मोक्ष नही, मोक्ष की प्राप्ती व्रतों की शुद्धि से है। इसलिये असावधानी से लगने वाले दोषों का प्रमार्जन प्रायश्चित्त से ही सभव है। आभ्यन्तर शुद्धि के बिना बाह्य क्रियाकाड व्यर्थ है। इसीलिये आभ्यतर तप में प्रायश्चित्त का विधान है। प्राचश्चित्त आत्मशोधन एव आध्यात्मिक चिकित्सा है। राग, द्वेष, मोहादि भाव शुद्धात्मा के दूषण हैं। इन दूषणों को प्रायश्चित्त से ही दूर किया जा सकता है। व्रत, समिति, शील, सयम एव इन्द्रियनिग्रह का भाव ही प्रायश्चित्त है, जो जीवन में करणीय है। 'प्रायश्चित्त' शब्द 'प्राय.' और 'चित्त' के योग से बना है। जिसका अर्थ है लोगों का चित्त (मन)। लोगों के मन में लगने वाले दोषों को दूर करने की प्रक्रिया ही प्रायश्चित्त है। अथवा पापजन्य सभी दोषों का परिहार करना ही प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त का ज्ञाता पंच व्यवहारज्ञ (आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जित व्यवहार) होता है। बहुश्रुत ज्ञानी ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगमानुसार कथित प्रायश्चित्त इन सब बातों को ध्यान में रखकर व्रतों से दूषित साधक को प्रायश्चित्त देता है।[२१५]

आगम ग्रथों में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये हैं- १)[२१६] आलोचनार्ह, २) प्रतिक्रमणार्ह, ३) तदुभयार्ह, ४) विवेकार्ह, ५) व्युत्सर्गार्ह, ६) तपार्ह, ७) छेदार्ह, ८) मूलार्ह, ९) अनवस्थाप्यार्ह और १०) पाराचिकार्ह। दिगम्बर परपरा में मूलार्ह के स्थान पर 'उपस्थापना' शब्द मिलता है। शेष सब प्रायश्चित्त के भेद श्वेताम्बर परम्परानुसार ही हैं। सरल स्वभावी साधक माया से लगने वाले दोषों की आलोचना गुरु समक्ष अति धीमे स्वर में करता है, जिसे वह स्वय ही सुन सके। आलोचना स्व की निंदा है। आलोचना के दस दोषों को आकपइत्ता, अणुमाणइत्ता, जदिट्ठ, बायर (स्थूल), सूक्ष्म, छन्न (गुप्त), सद्दाडलग (शद्बाकुल),बहुजण, अव्यक्त और तद्सेवी, टालकर दस गुणों से सपन्न, (जाति सपन्न, कुल सपन्न, विनयसपन्न, ज्ञानसपन्न, दर्शन सपन्न, चारित्र सपन्न, शात, दात, अमायावी, पश्चात्तापी) व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है। आलोचना प्रदाता भी दस गुणों से (आचारवान्, अवधारणावान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक (साहसी), प्रकुर्वक-विशुद्धि कर्ता, अपरिस्त्रावी- (आलोचक के दोष न कहने वाला), निर्यापक, अपायदर्शी, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी) सपन्न होता है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त में साधक आत्मनिरीक्षण-परीक्षण से पापों का (दोषों का) प्रक्षालन करता है। एकेन्द्रिय आदि जीवों की विराधना होने से तदुभय (आलोचना, प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त करते हैं। आधाकर्मी भोजन में लगने वाले दोषों का परिमार्जन विवेकार्ह से करते हैं। नदी, सरोवर, नाला आदि के पार करने से एव असावधानी से लगने वाले दोषों का व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त से मुक्ति पाते हैं। तप प्रायश्चित्त में आगमोक्त कथनानुसार आयबिल आदि षण्मासिक तप का विधान है। छेद प्रायश्चित्त में दीक्षा पर्याय का दोषों की लघुता एव गुरुता के अनुसार 'मासिक', 'चतुर्मासिक', 'षण्मासिक' का छेद (काटना)

दिया जाता है। मूल प्रायश्चित्त में छद्मावस्था के कारण गुरुतर दोष लगने पर पुन दीक्षा दी जाती है। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में तप की कुछ कालमर्यादा होती है, वह पूर्ण न हो तब तक पुन दीक्षा नही देते। किन्तु तप पूर्ण होते ही दोषी साधु को पुन गृहस्थ का वेश पहनाकर, बाद में पुन दीक्षा देते हैं। अतिम पाराचिक प्रायश्चित्त का विधान उसके लिये लागू होता है, जिसे गच्छ से बाहर किया हो, जिसने साध्वी या अन्य प्रतिष्ठित स्त्री का शील भग किया हो, सघ में फूट डाली हो या प्रयत्न किया हो। इसमें साधुवेश एव स्वक्षेत्र का त्याग करके जिनकल्पी साधक की तरह बारह वर्ष तक गच्छ छोड़कर तप कराया जाता है। दसवा प्रायश्चित्त सामर्थ्यवान् आचार्य ही कर सकते हैं। उपाध्याय के लिये नौ प्रायश्चित्त का विधान है और शेष सामान्य साधु के लिए आठ प्रायश्चित्तों का विधान है। चौदह पूर्वधारी और वज्रऋषभनाराचसहनन वाले दस प्रकार के प्रायश्चित्त करते हैं। इन दोनों का विच्छेद होने से वर्तमान काल में प्रथम [illegible] प्रकार के प्रायश्चित्त का ही विधान है। प्रायश्चित्त करने से प्रमादजनित दोषों का नाश, भावों की प्रसन्नता, जीवन की शुद्धि, शल्यरहित, मर्यादापालन, सयम में दृढ़ता एव सिद्धि-मोक्ष की प्राप्ति होती है।[२१७]

२) विनय : साधना [illegible] मूल विनय है। जैन धर्म साधना प्रधान होने से आध्यात्मिक साधना का स्रोत आभ्यन्तर तप ही है। आत्मसयम, अनुशासन और सद् व्यवहार विनय द्वारा ही विकसित होता है। [illegible] - सदाचारी जीवन के द्वारा ही आत्मनियन्त्रण किया जाय वरना दूसरे लोगों के द्वारा वध-बन्धनादि में आना पड़ेगा। इसलिए आभ्यन्तर तप में विनय को रखा गया है। तप में तन और मन को तपाया जाता है। उसके लिये भगवती आदि सूत्रों में विनय के प्रमुख सात भेद और प्रभेदों का उल्लेख किया है - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काय विनय, और लोकोपचार विनय।[२१८]

३) वैयावृत्य (सेवा) · रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की नि स्वार्थ भाव से सेवा करने वाले को परम पद की प्राप्ति होती है तथा तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति भी। महामुनि नदिसेन ने अग्लान की सेवा करके परम पद पाया। ऋषभ देव भगवान् के दो पुत्रों ने सेवा के फलस्वरूप अपार रिद्धि सम्पदा प्राप्त की थी। भौतिक रिद्धि चक्रवर्ती की और आध्यात्मिक सम्पदा तीर्थंकर पद की वैयावृत्य तप द्वारा ही प्राप्त होती है। इसीलिए वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप में रखा है। शास्त्र में सेवा के दस प्रकार बताये हैं - आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, कुल (शिष्य समुदाय), गण, सघ और साधर्मिक। इन सबकी सेवा करने से मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है।[२१९]

४) स्वाध्याय : स्वाध्याय से मन को शुद्ध किया जाता है और ध्यान से मन को स्थिर किया जाता है। 'स्व' का अध्ययन किये बिना ध्यान हो नही सकता। इसलिए

आभ्यन्तर तप क्रमाक में ध्यान के पहले स्वाध्याय को लिया है। आत्मा का चिंतन मनन और निदिध्यासन ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय से चिरसचित कर्मों का क्षय किया जाता है और ज्ञानावरणीय कर्म का गाढा आवरण नष्ट किया जाता है। स्वाध्याय में प्रमाद को स्थान ही नही है। इसमें तो सतत मन को माजने की प्रक्रिया की जाती है। शास्त्र में स्वाध्याय के पाच प्रकार बताये हैं - वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। इन पाच प्रक्रियाओं को सतत करने से मन शुद्ध बनता है और यही प्रक्रिया स्वाध्याय है।[२२०]

५) ध्यान : शोध प्रबध का शीर्षक ही ध्यानयोग है। इसलिए यहा ध्यान के विषय में विस्तृत वर्णन न करके आगे करेंगे। चित्त को किसी एक विषय पर स्थिर करना ही ध्यान है। आगम में ध्यान के चार भेद हैं - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें प्रथम के दो ध्यान वर्ज्य हैं और अतिम दो ध्यान के प्रकार उपादेय हैं।

६) व्युत्सर्ग : इसका दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। विशिष्ट प्रकार के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उठना, बैठना, सोना आदि कायिक क्रियाओं का त्याग करके शरीर को स्थिर करना ही कायोत्सर्ग तप है। कायोत्सर्ग का ही पर्यायवाची शब्द व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं- द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं- गणव्युत्सर्ग, शरीर व्युत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग और भक्तपान व्युत्सर्ग तथा भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं- कषाय व्युत्सर्ग, ससार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इन सब प्रकारों में शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तप को ही आभ्यन्तर तप में प्रधानता दी है।[२२१]

वासनाओं को क्षीण करने के लिये शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन उपायों से एकाग्र किया जाता है उन्हें तप कहते हैं। तप से आत्मा निर्मल बनती है। इसीलिए तप के बारह भेदों में 'ध्यान' को अधिक महत्त्व दिया गया है। ध्यान ही चित्तशुद्धि की विशिष्ट प्रक्रिया है और आराधना का प्रवेश द्वार है कायोत्सर्ग। इस पर आगे विचार करेंगे।

२) जैन सस्कृति की मूलभूत साधना उत्सर्ग-अपवाद मार्ग

साधना पद्धति में विधि-निषेध को परमावश्यक माना जाता है, क्योंकि उसके बिना साधना का कोई मूल्य नही। फिर भी गौण है। मुख्यत समाधिभाव, समभाव, कषायशमन, इन्द्रियदमन एव आत्मशुद्धि के द्वारा साधक विधि-निषेध अथवा उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की साधना से रागादि भावों को नष्ट करके मोक्ष-सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिये साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाने वाला साधक 'उत्सर्ग और अपवाद' इन दो अगों पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है। ये दोनों अग साधना के प्राण हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाय तो साधना अधूरी रह जाती है। एकागी साधना विकासगामी न होकर पत-नगामी बनती है।

विभिन्न आचार्यों के कथनानुसार उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा इस प्रकार है[२२२]- 'जो उद्यत विहार चर्या है, वह उत्सर्ग है। उत्सर्ग का प्रतिपक्ष अपवाद है। अपवाद का सेवन तो उस समय किया जाता है जब कि उत्सर्ग में रहे हुए साधक यदि ज्ञानादि गुणों का सरक्षण नही कर पाता हो। तब अपवाद सेवन के द्वारा उनका सरक्षण कर सकते हैं।' द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि की अनुकूलतानुसार साधक द्वारा किया जाने वाला कल्पनीय (शुद्ध) अन्नपान गवेषणादि उचित अनुष्ठान है और द्रव्यादि की अनुकूलता से रहित का यतनापूर्वक तथाविध अकल्प्यसेवन का उचित अनुष्ठान अपवाद है। सामान्यत प्रतिपादित विधि उत्सर्ग और विशेषत प्रतिपादित विधि अपवाद है।' मुनिचन्द्रसूरि का कथन है कि समर्थ साधक के द्वारा सरक्षणार्थ जो अनुष्ठान किया जाता है वह उत्सर्ग मार्ग है और असमर्थ साधक द्वारा किया जानेवाला सयम रक्षार्थ उत्सर्ग से विपरीत अनुष्ठान अपवाद है। दोनों पक्षों के विपर्यासरूप अनुष्ठान करना, न तो उत्सर्ग है और न अपवाद है, अपितु ससाराभिनंदी प्राणियों की कुचेष्टामात्र है। सामान्यत संयम विशुद्धि के लिये नवकोटी शुद्ध आहार ग्रहण करना उत्सर्ग है। किन्तु यदि कोई मुनि तथाविध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि विषयक आपत्तियों से ग्रसित होकर अथवा उस समय अन्य कुछ भी गत्यन्तर न हो तो उसे उचित यतना के साथ अनेषणीय आहारादि ग्रहण करना ही अपवाद है। पर स्मरण रहे कि अपवाद भी उत्सर्ग के समान संयम रक्षा के हेतु होता है। समर्थ साधक के लिये उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्य निषेध किये जाते हैं वे ही द्रव्य असमर्थ साधक के लिये अपवाद मार्ग में ग्राह्य बन जाते हैं। किन्तु दोष नही हैं। देश, काल और रोगादि के कारण मानव जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था आ जाती है कि जिसमें अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाता है। उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का एक ही लक्ष्य है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के सुमेल से ही साधना प्रशस्त होती है।

'उत्सर्ग' साधना पथ की सामान्य विधि है। इसे छोड़ा भी जा सकता है। किन्तु अकारण और सदा के लिये नही। अकारण में उत्सर्ग मार्ग का त्याग करने वाला भगवदाज्ञा का विराधक होता है आराधक नही। यों ही अपवाद मार्ग का सेवन करनेवाला स्वय तो पथ भ्रष्ट होता ही है, किन्तु समाज को भी गलत रास्ते लगाता हैं। उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही सयम मार्ग हैं। अपवाद का सेवन मनमाना नही किया जा सकता। इसके सेवन करते समय बहुत सजग रहना पड़ता है। आवश्यकतानुसार ही अपवाद मार्ग का सेवन किया जाता है। इसमें क्षण भर का भी विलब आत्मघातक बनता है। जब कभी भी साधक के सामने ऐसी कोई विकट परिस्थिति खड़ी हो जाय, अन्य कोई सुभग मार्ग न हो, फलस्वरूप अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो उस समय यतनापूर्वक अपवाद मार्ग का सेवन करें, अपवाद मार्ग की कालमर्यादा पूर्ण होते ही उसी क्षण उत्सर्ग मार्ग अपना लें ताकि आत्मविराधना (आत्मघात) न हो। अपवाद मार्ग का अधिकारी

एकमात्र गीतार्थ मुनि ही हो सकता है। गीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता होता है। उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा अपवाद मार्ग अधिक सजग रहता है। इसलिये अपवाद सेवन का निर्णय गीतार्थमुनि पर रहता है। 'जो आयव्यय, कारण-अकारण, अगाढ़ (ग्लान) - अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, योग्य-अयोग्य, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है तथा साथ ही साथ कर्तव्य कर्म का फल भी जानता है, वही गीतार्थ कहलाता है।[२२३] यदि गीतार्थ न हो तो गुरु, मूल आगम, भाष्य, चूर्णि, टीका एव अन्य निर्देशक बनते हैं। परतु ये भी न हो तो स्वयं ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार अपवाद मार्ग का निर्णय ले सकता है। सही निर्णय होना चाहिये, गलत नही। इस दशा में साधक पतित नही माना जाता है। क्योंकि अपवाद कालीन समय में यदि बाह्य दृष्टि से स्वीकृत पाच महाव्रत आदि व्रतों में यत्किंचित् दोष लग जाय तो वह मूल व्रतों की रक्षा के लिये ही है। साधक को सयम की रक्षा करनी है। अपवाद सेवन करने वाले के परिणाम विशुद्ध होने चाहिए। शुद्ध परिणाम ही मोक्ष का कारण है, ससार का नही। साधक का देह संयम हेतु होता है। इसलिये सयम हेतु देह का परिपालन हो।[२२४] जैन धर्म अन्तरग शुद्धि पर अधिक बल देता है।

अहिंसा का उत्सर्ग और अपवाद मार्ग : भिक्षु के लिये हरी वनस्पति, का परिभोग और स्पर्श त्याज्य है तथा सचित्त वस्तु एव जलादि का सेवन तथा स्पर्श वर्जित है। मन, वचन, काय से स्थूल या सूक्ष्म जीवों की किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं करना ही प्रथम महाव्रत का (अहिंसाव्रत) उत्सर्ग मार्ग है, परतु कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में इसका भी अपवाद मार्ग है। एक भिक्षु, अन्य कोई सरल मार्ग न होने पर किसी विषम पर्वतादि विकट मार्ग से जाता है। यदि उस मार्ग से पैर फिसल जाय उस समय तरु, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृणादि का सहारा लेना अपवाद मार्ग है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर यह हिंसा, हिंसा के लिये नही है, अपितु अहिंसा के लिये है। गिरने से आर्तध्यान रौद्रध्यान में वृद्धि होती है। ये दोनों ध्यान ससारवर्धक हैं। समाधिभाव को टिकाये रखने के लिए अपवाद मार्ग का सेवन किया जाता है। ऐसे ही वर्षाकाल में भिक्षु अपने निजस्थान से बाहर किसी भी काम के लिए नही जाता, यह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु इसका भी अपवाद है - भिक्षु उच्चार (शौच) और प्रस्रवण (मूत्र) के लिए वर्षा में बाहर जा सकता है। इसके अतिरिक्त बाल, वृद्ध एव ग्लानादि के लिए भिक्षा के हेतु जाना अत्यावश्यक हो तो उचित यतना के साथ वर्षा में गमन कर सकता है। मार्ग में गमन करते समय किसी विशिष्ट कारणवश नदी-सतरण, दुर्भिक्षादि में प्रलम्ब ग्रहण का अपवाद मार्ग है। ये सब अपवाद अहिंसा महाव्रत के हैं।[२२५] उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में समाधिभाव की प्रधानता है।

सत्यव्रत का उत्सर्ग और अपवाद मार्ग : भिक्षु को किसी प्रसग पर झूठ नही

बोलना उत्सर्ग मार्ग है। परंतु इसका भी अपवाद मार्ग है। रास्ते में चलते किसी व्याधादि के पूछने पर मौन रहे। यदि मौन भी स्वीकृति में परिणत होता दिखाई दे तो 'जानता हुआ भी नही जानता हूँ, किसी भी पशु आदि को देखा नही' ऐसा कहना अपवाद मार्ग है। सयम रक्षा हेतु असत्यवचन पापरूप नहीं होता। यह द्वितीय महाव्रत का अपवादमार्ग है।[२२६]

अस्तेयव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : बिना मालिक की आज्ञा से मुनि घास का तिनका भी नही उठा सकता। यह उत्सर्ग मार्ग है। पर इसका भी अपवाद मार्ग है। परिस्थिति विकट हो, लबा सफर हो, अज्ञात गाव में पहुँच गया हो, शीत अधिक हो जिससे वृक्ष के नीचे ठहर नही सकता, उचित स्थान न हो, पशुओं का उपद्रव हो, ऐसी स्थिति में बिना आज्ञा लिये ही योग्य स्थान पर ठहर सकता है। बाद में स्थान की आज्ञा ले। यह तृतीयव्रत का अपवाद मार्ग है।[२२७]

ब्रह्मचर्यव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : एक दिन के नवजात शिशु का स्पर्श न करना यह उत्सर्ग मार्ग है। किंतु इसका भी अपवाद मार्ग है कि नदी में डूबती हुई अथवा क्षिप्तचित्त भिक्षुणी को श्रमण बचा सकता है। वैसे ही रात्रि में सर्प दश हुआ हो तो श्रमण श्रमणी से और श्रमणी श्रमण से चिकित्सा करा सकती है (अन्य कोई चिकित्सक न हो तो)। पैर में कांटा गया हो तो भी उनके लिये भी यही अपवाद मार्ग है।[२२८] जितना उत्सर्ग का महत्त्व है उतना ही अपवाद मार्ग का भी। पर स्मरण रहे कि अपवाद मार्ग का सेवन सयम रक्षार्थ ही हो, मनचाहे ढग से न हो, वरना आत्मघातक बन जायेगा।

अपरिग्रहव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : शास्त्र में बताये हुए साधु साध्वी के लिये पात्रादि धर्मोपकरण की १४ सख्यानुसार उपयोग में लाना ही उत्सर्ग मार्ग है। इसके लिये भी अपवाद मार्ग है। स्थविर के लिये छत्रक, चर्मछेदनक आदि का आवश्यकतानुसार उपधि रखने का अपवाद मार्ग है। ग्लानादि के कारण ऋतुबद्ध और वर्षाकाल के बाद एक स्थान पर रहना भी परिग्रह का कालकृत अपवाद ही है। दूसरों की सेवा हेतु पात्र रखना अपवाद है। विषग्रस्त मुनि को विष निवारणार्थ सुवर्ण घिस कर देना भी अपरिग्रह का अपवाद ही है। ये सब अपरिग्रहव्रत के अपवाद हैं।[२२९]

गृह निषद्या का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : बिना प्रयोजन के गृहस्थ के घर बैठना नही यह उत्सर्ग मार्ग है। पर इसका भी अपवाद है। वृद्ध, रोगी, तपस्वी किसी विशिष्ट कारणवश गृहस्थ के घर बैठ सकता है। यह अपवाद मार्ग है।[२३०]

आधा कर्म आहार का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मी आहार दोष युक्त बताया है। परतु इसका भी अपवाद है कि दुर्भिक्षादि काल में विशिष्ट कारणवश आधाकर्मी आहार ग्राह्य बताया है।[२३१] जैन धर्म में अनेकान्त का महत्त्व है।

संथारे में आहार का अपवाद : 'समाधि मरण में यदि तीव्र क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय हो जाय, समाधिभाव न रहे, उस समय प्राण की रक्षा हेतु आहार कवच रूप है। इसलिये अपवाद रूप में आहार-कवच का सेवन कराना चाहिये'। ऐसे साधक की निंदा करने वाले को चातुर्मास गुरु प्रायश्चित्त आता है।[२३२] यतनापूर्वक गीतार्थ मुनि ही अपवाद मार्ग का सेवन करा सकता है अन्य नही। इसमें सावधानी अत्यावश्यक है।

पशुओं का बंधन-मोचन का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : सामान्यत भिक्षु आत्म चिंतन में सलग्न रहता है। यदि विहार करते गृहस्थ के घर रुकने का मौका आये तो मुनि कमलवत् निर्लिप्त रहते हैं। बछड़े गाय आदि को बाधने अथवा खोलने का काम वह गृहस्थ के घर नहीं करे - यह उत्सर्ग मार्ग है। किंतु 'आग लगने पर, बाढ़ आने पर, वृकादि हिंसक पशु के आक्रमण होने पर अथवा अन्य किसी विषम स्थिति में पशुओं को बचा सकता है। यह अपवाद मार्ग है।[२३३] जो अनुकम्पाभाव से विशिष्ट परिस्थिति में अपनाया जाता है।

अतिचार और अपवाद में अन्तर

बाह्य व्यवहार में अपवाद को अतिचार मानते हैं। पर यह गलत है। दोनों की कार्यप्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है। अतिचार का मार्ग कुमार्ग है, वह अधर्म है तथा ससारवर्धक है जब कि अपवाद का मार्ग सुमार्ग है, वह धर्म है और मोक्षप्रदाता है। अतिचार में दर्प एव मोहोदय का भाव है। जीवन में विपरीत आचरण को अतिचार कहते हैं। अत यह त्याज्य है और अपवाद मार्ग ग्राह्य है, क्योंकि वह कर्मक्षय का कारण है।[२३४]

साधु जीवन में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की साधना संयमरक्षार्थ है।

३) श्रमण समाचारी

साधनाकालीन जीवनचर्या में साधक जीवन की आचार सहिता को मर्यादित करने के लिये आगम ग्रन्थों एव अन्य ग्रथों में समाचारी (सामाचारी) का विधान है। सम्यक् आचार ही समाचार या समाचारी है। समाचारी शब्द का प्रयोग चार अर्थों में मिलता है- १) समता का आचार, २) सम्यक् आचार, ३) सम आचार, ४) समान (परिमाणयुक्त) आचार। मुनि जीवन का आचार, व्यवहार एव कर्तव्यता ही समाचारी है। श्रमण जीवन की सारी प्रवृत्तियों का इसमें समावेश है, जो वह अहर्निश करता है।[२३५]

चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु ने समाचारी तीन प्रकार की बताई है[२३६]- १) ओघ समाचारी, २) दसविध समाचारी और ३) विभाग समाचारी। इनमें ओघ समाचारी का विश्लेषण सात द्वार द्वारा किया गया है[२३७]- १) प्रतिलेखन, २) पिण्ड, ३) उपधि-प्रमाण, ४) अनायतन (अस्थान) वर्जन, ५) प्रति सेवणा-दोषाचरण, ६) आलोचना

और ७) विशोधि। इन सभी द्वारों का स्पष्टीकरण उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में मिलता है। दसविध समाचारी के नामों में भिन्नता मिलती है। दसविध समाचारी इस प्रकार है -२३८ १) आवश्यकी (किसी प्रयोजन से बाहर जाते समय 'आवस्सही' शब्द कहे), २) नैषेधिकी (प्रयोजन पूर्ण करके पुन· अपने स्थान पर लौटता है तब 'निसही' शब्द कहे), ३) आपृच्छना (आहार-विहारादि क्रिया गुरु को पूछकर करें), ४) प्रतिपृच्छना (पुन पूछते समय ऐसा पूछे कि यदि आपकी आज्ञा हो तो यह काम करूँ क्या?), ५) छन्दना (गवेषित अपने हिस्से में आये आहारादि के लिए दूसरों को निमत्रित करे 'यदि आपके उपयोग में आये तो लीजिये'), ६) इच्छाकार (दुसरों से कोई काम करवाना हो तब विनम्रता से ऐसा कहे कि 'कृपया आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करिये'), ७) मिथ्याकार (सयमाराधना में दोष लगने पर दूषित आत्मा की निंदा करे), ८) तथाकार (दोषों की आलोचना करने पर गुरु प्रायश्चित दे तो उसे प्रसन्नतापूर्वक 'तहत्ति' कहकर ग्रहण करे), ९) अभ्युत्थान (गुरु आने पर खड़ा रहे), १०) उपसपदा (अपने गण में श्रुतज्ञान सम्पन्न न हो तो आचार्य की आज्ञा से दूसरे गण के बहुश्रुत आचार्य के सानिध्य में विनयपूर्वक श्रुत साहित्य का अध्ययन करना) इस प्रकार इस दस प्रकार की समाचारी द्वारा श्रमण आचार साधना पद्धति का विकास करता है। अन्तिम पदविभाग समाचारी का स्पष्टीकरण छेदसूत्र और कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है।

४) षडावश्यक

(भारतीय विभिन्न दर्शनों में दोषों की शुद्धि तथा गुणों की अभिवृद्धि हेतू 'सध्या' (हिन्दु), 'उपासना' (बौद्ध), 'खीरदेह अवस्ता' (पारसी), 'प्रार्थना' (यहुदी-ईसाई), 'नमाज' (इस्लाम) आदि को जीवन का आवश्यक अग माना गया है वैसे ही जैन धर्म में 'षडावश्यक' को माना है।)

आवश्यक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

श्रमण और श्रावक के लिए नित्यप्रति सबेरे और श्याम को जो अवश्य किया जाता है उसे आवश्यक कहते हैं। प्राकृत भाषा में आपाश्रय शब्द को आवश्यक कहा गया है, क्योंकि जो गुणों की आधारभूमि है वह आवस्सय या आपाश्रय है। इन्द्रिय और कषाय आदि शत्रुओं को ज्ञानादि साधना द्वारा वश किया जाता है वह आवश्यक है। आवश्यक शब्द का अर्थ अनुरजन भी है। । जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आच्छादित (अनुरजित) करे, वह आवश्यक है।२३९

आवश्यक के अनेक पर्यायवाची शब्द

आगम एव भाष्य में इसके लिये 'आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग ऐसे पर्यायवाची नाम मिलते हैं।२४०

आवश्यक क्रिया प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिये नियमत सवेरे और सन्ध्याकाल में करने के लिये अवश्य ही कहा है। क्योंकि इन दोनों तिर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म की प्ररूपणा की गई है।[२४१] आवश्यक क्रिया आत्मा को कर्मबधन से मुक्त करती है।

आवश्यक के भेद

आगम में मुख्यत आवश्यक के दो भेद हैं-[२४२]- द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। द्रव्यावश्यक में बाह्य क्रिया पर ही बल दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप साधना में तेज प्रगट नही हो सकता। भावावश्यक से ही साधना चमकती है। चित्तशुद्धि साधना में आवश्यक है। अन्तदर्शन से ही चित्तशुद्धि होती है। इसलिये निजात्मा को कर्म मल से शुद्ध बनाने के लिये सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यक का विधान किया गया है।[२४३] प्रकारान्तर से इसके छह भेद मिलते हैं-[२४४] सावद्ययोगविरति, उत्कीर्तन, गुणवत्प्रतिपत्ति, स्थलित निन्दना, व्रणचिकित्सा और गुणधारणा।

१) सामायिक आवश्यक :- बारह व्रतों में सामायिक मोक्ष का प्रधान अंग माना गया है। आत्मभाव में समता भाव से रमण करना ही सामायिक आवश्यक है। षडावश्यक में यह मगलरूप है। इसलिए प्रथम सामायिक को रखा है। इस पर विस्तृत रूप से पीछे लिखा गया है, वहाँ देखें।

२) चतुर्विंशतिस्तव-आवश्यक :- सावद्ययोग से निवृत्ति पाने के लिये निरवद्य-योगी की शरण ली जाती है। वे निरवद्ययोगी जैनागम के अनुसार ऋषभ, अजित, संभव, अभिनदन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शाति, कुथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ऐसे चौबीस तीर्थंकर हैं। वर्तमानकालीन ये चौबीस तीर्थंकर हैं। इनकी स्तुति से प्रशस्त भाव एव शुद्ध परिणामों की प्राप्ति होती है। शुद्ध परिणाम चिरसचित कर्मों को तृणाग्नि की तरह भस्म कर देती है। चतुर्विंशति के छ· भेद हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन छह भेदों से चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना द्वितीय आवश्यक है।[२४५]

३. वन्दना-आवश्यक :- तीर्थंकर देव रूप होते हैं। देव की स्तुति करने के बाद गुरु को वंदन किया जाता है। गुरु जीवन के घडवैया होते हैं। दर्जी, सुतार, सुनार, कुभार, किसान, माता, पिता आदि सभी का कार्य गुरु करता है। अरिहंत और सिद्ध का दर्शन कराने वाला गुरु है। वेदना से मुक्ति पाने का राजमार्ग है-वन्दना। वन्दना के अनेक पर्यायवाची शद्ब हैं - चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजा कर्म आदि। योग्य वन्दनीय को वन्दन

करने से आत्मशुद्धि होती है और अवन्दनीय को वन्दन करने से कर्मों की निर्जरा नही होती। वन्दन के दो प्रकार है - द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन। द्रव्य वन्दन कर्ता मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु भाववन्दन कर्ता सम्यग्दृष्टि ही होता है। आवश्यक-चूर्णि में श्रीकृष्ण और वीरक कौलिक तथा कृष्ण के पुत्र शाम्ब और पालक के उदाहरण से द्रव्य और भाव वन्दन का स्वरूप स्पष्ट किया है। भाव वन्दन ही आत्मशुद्धि का प्रशस्त मार्ग है। द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। द्रव्य की अपेक्षा भाव का अधिक महत्त्व होता है। अह का नाश होने पर अर्ह को वन्दन होता है। वन्दना से नम्रता और नम्रता से नीच गोत्र का बध नही होता है। इस 'वन्दना' आवश्यक पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विचार किया जाता है।[२४६]

४) प्रतिक्रमण आवश्यक :- त्रिकरण और त्रिविधयोग से किये गये पापों की आलोचना एव निंदा करना प्रतिक्रमण है। शुभयोगों से अशुभयोगों में गये हुये अपने आपको पुन शुभयोग में प्रवृत्त करना प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय इन दोषों से हटकर सम्यक्त्व, विरति, प्रमाद, क्षमादि गुण एव शुभ भावों में रमण करना ही प्रतिक्रमण है। साधक प्रमाद के कारण ही अशुभ योग में रमण (फँस) करता है, उनसे अपने आपको हटाकर स्वभाव में रमण करना ही प्रतिक्रमण है।औदयिक भाव ससार का कारण और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का कारण है। इसलिए क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ मुनि (साधक) को पुन क्षायोपशमिक भाव में लौटाना प्रतिक्रमण है। संसारवर्धक नरक तिर्यंच गति के कारणों की निंदा-गर्हा करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से डरना। पापप्रवृत्तियों से पीछे हटना ही प्रतिक्रमण है।[२४७]

प्रतिक्रमण के भेद

आवश्यक निर्युक्ति में काल के निमित्त से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण बताया है[२४८]- भूतकालिक प्रतिक्रमण, वर्तमानकालिक (संवर, साधना) प्रतिक्रमण और भविष्यकालिक (प्रत्याख्यान द्वारा दोषों से बचना) प्रतिक्रमण। विशेष काल की अपेक्षा से पाँच प्रकार का प्रतिक्रमण है-[२४९] १) दैवसिक, २) रात्रिक, ३) पाक्षिक, ४) चातुर्मासिक और ५) सावत्सरिक।

आवश्यक निर्युक्ति में चार प्रकार के प्रतिक्रमण का विवेचन है-[२५०] १) हिंसक प्रवृत्ति से लगे दोषों का प्रतिक्रमण, २) शास्त्रकथनानुसार पालन न करने से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण, ३) जिनवचन में अश्रद्धा उत्पन्न होने से दूषित दोषों का प्रतिक्रमण, ४) आगम विरुद्ध वचन प्रतिपादन करने से प्रतिक्रमण करना। स्थानागसूत्र में छह प्रकार का प्रतिक्रमण वर्णित है -[२५१] १) उच्चार (बड़ीनीत, मल विसर्जन) प्रतिक्रमण, २) प्रस्रवण (लघुनीत, मूत्र विसर्जन) प्रतिक्रमण, ३) इत्वर (दैवसिक, पाक्षिक)

प्रतिक्रमण, ४) यावत्कथित (महाव्रतादि रूप में) प्रतिक्रमण, ५) यत्किंचिन्मिथ्या (प्रमादवश लगे पापों का 'मिच्छामि दुक्कड') प्रतिक्रमण और ६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण।

सामान्यत प्रतिक्रमण दो प्रकार का ही है।[२५२] द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षु साधक के लिये भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नही। उपयोग शून्य एव कीर्ति आदि के लिये किया गया प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है और सम्यग्दर्शन गुणों से सपन्न किया हुआ प्रतिक्रमण ही भाव प्रतिक्रमण है। भावप्रतिक्रमण से ही आत्मशुद्धि होती है। भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम दिये हैं-[२५३] प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धी। भाव की दृष्टि से सभी का एक ही अर्थ है।

प्रथम और अतिम तीर्थंकर कालीन साधक के लिए उभयकालीन (दैवसिक, रात्रिक-रायसी) प्रतिक्रमण का विधान नियमत है जब कि शेष मध्य २२ तीर्थंकरों के साधकों को पाप लगने पर प्रतिक्रमण करने का विधान है।[२५४]

५) कायोत्सर्ग-आवश्यक: कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार सूत्र में व्रणचिकित्सा कहा है।[२५५] व्रण का अर्थ घाव है। कायोत्सर्ग ध्यान का अग है तथा तप का भेद है। इस पर आगे वर्णन करेंगे।

६) प्रत्याख्यान आवश्यक : जीवन में त्याग आवश्यक है। त्याग से ही जीवन चमकता है और स्फटिक सा निर्मल होता है। इसके लिए आगम प्रत्याख्यान शब्द का प्रयोग किया है। अशुभ योग से निवृत्ति पाकर शुभ प्रवृत्ति करने की क्रिया ही प्रत्याख्यान है। ''प्रत्याख्यान करने से संयम की आराधना होती है। सयम से सवर की साधना होती है, सवर से तृष्णा का नाश होता है और तृष्णा के नाश से अनुपम उपशम भाव (माध्यस्थ परिणाम) की प्राप्ति होती है और अनुपम उपशम भाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है तथा चारित्र धर्म प्रगट होता है। चारित्र धर्म की आराधना से कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा से अपूर्व करण की प्राप्ति होती है और उस अपूर्वकरण से केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होकर शाश्वतसुखरूप सिद्धि मिलती है।''[२५६] प्रत्याखान को 'गुणधारण' भी कहा गया है।

प्रत्याख्यान के भेद

मुलत- प्रत्याख्यान के दो भेद हैं -[२५७] मूलगुण प्रत्योख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। इसमें मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं-सर्वगुण प्रत्याख्यान (साधु के पाँच महाव्रत) और देशगुण प्रत्याख्यान (श्रावक के पाँच अणुव्रत)। उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं-देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान (श्रावक के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत)

और सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान (साधु के पाँच समिति और तीन गुप्ति)। और भी प्रत्याख्यान के दस भेद हैं -[२५८] १) अनागत (पर्युषणादि में किया जानेवाला विशिष्ट तप), २) अतिक्रान्त (वैयावृत्य में लगे दोषों का प्रायश्चित, उपवास को अपर्व दिन में करना), ३) कोटिसहित (उपवासादि जिस दिन पूर्ण हो उस दिन पारणा न करके दूसरे दिन करना), ४) नियन्त्रित (प्राय. चौदहपूर्वधर, दस पूर्वधर एवं जिनकल्पी मुनि ही करता है, आज यह परपरा नही है), ५) साकार (अपवाद की छूट), ६) निराकार, ७) परिमाणकृत (दत्ति, ग्रास, भोज्य, द्रव्य एव गृहादि सख्या का परिमाण), ८) निरवशेष (चारों आहार का त्याग, ९) साकेतिक और, १०) अद्धा प्रत्याख्यान (समय विशेष की मर्यादा)। इन दस प्रत्याख्यानों में अद्धा प्रत्याख्यान के नवकारसी, पौरुषी, पुरिमड्ढ (पूर्वार्ध), एकासन, एक स्थान, आयबिल, उपवास, दिवसचरिय, अभिग्रह और निर्विकृतक (नीवी) ऐसे दस प्रत्याख्यान हैं।[२५९] 'अद्धा' काल को कहते हैं। इन दस अद्धा प्रत्याख्यान के क्रमशः दो, छह, सात, आठ, पाँच, चार, पाँच अथवा चार, नौ ऐसे आगार रखे गये हैं।[२६०]

प्रत्याख्यान से अन्तर्शुद्धि होती है। शास्त्र में पाँच अथवा छह प्रकार की शुद्धियाँ बताई हैं-[२६१] १) श्रद्धान शुद्धि, २) ज्ञान शुद्धि, ३) विनय शुद्धि, ४) अनुभाषणाशुद्धि, ५) अनुपालनाशुद्धी और ६) भाव शुद्धि।

षडावश्यक की साधना श्रमण श्रमणी श्रावक श्राविका सबके लिए समान बताई गई है। किन्तु श्रमण श्रमणी के लिए अनिवार्य ही है।

चारित्र एवं उसके पोषक अगों में ध्यान का महत्त्व

श्रावक के बारह व्रत और पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति साधना मार्ग में चन्द्रमा के समान निर्मल हैं। इन सबके मूल में अहिंसा और समता को प्रधानता दी गई है। साम्यभाव पर आरूढ हुआ मुनि निर्निमेष मात्र (पलभर) में कर्मों को जीतता है किन्तु समभावरहित मुनि कोटि भव तक तप करने पर भी उतने कर्मों को क्षय नही करता जितना समभावी मुनि कर्मो को क्षय करता है।[२६२] वह साधना काल में अपनी चर्या सर्वज्ञकथित आज्ञानुसार प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षार्थगमन और चौथे प्रहर में पुन स्वाध्याय करता है। स्व का अध्ययन करने पर ही ध्यानावस्था आती है। ध्यान से सवर निर्जरा की स्थिति प्राप्त होती है क्योंकि मोक्ष का मार्ग सवर निर्जरा है। इन दोनों का उपाय तप है। तप का प्रधान अंग ध्यान है। इसलिए ध्यान मोक्ष का हेतु है, सकल गुणों का स्थान है, समस्त साधनाओं का साधन है, दृष्ट अदृष्ट सुखों का कारण है, अत्यत प्रशस्त है। अत वह चारित्र साधना एव उसके सहाय्यक अंगों में सर्वकाल में श्रद्धेय है, ज्ञातव्य है और ध्यातव्य है।[२६३]

विशिष्ट साधना पद्धतियाँ

अब तक सामान्य जैन साधना पद्धति पर विचार किया, अब विशिष्ट श्रमणों की साधना पद्धति पर विचार कर रहे हैं।

सामान्य साधना पद्धतियाँ श्रमण के लिए मूल भूमिका रूप हैं। विशिष्ट आगमकालीन साधना पद्धतियाँ अनेक प्रकार की हैं, किन्तु विशेषत श्रमणों के लिए मुख्य दो ही प्रकार बताये हैं - जिनकल्प और स्थविरकल्प।

पूर्ण समाधि एव शाति का इच्छुक साधक ही सयम का परिपालन कर सकता है। राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग एव आठ कर्मों को जीतने वाला मुनि जिनकल्प कहलाता है। जिनकल्प स्थविर कल्प से ही निकला हुआ है। अत पहले स्थविरकल्पी साधना पद्धती पर विचार करेंगे।

स्थविरकल्प साधना पद्धति

जो संघ में रहकर साधना करता है। उसकी आचार सहिता को स्थविर कल्प स्थिति कहते हैं।[२६४] वे सर्व प्रथम अपने आपको तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पाँच तुलाओं से तोलते हैं।[२६५] स्थविर कल्प मुनि के आचार सहिता का क्रम निम्नलिखित है।[२६६] १) प्रवज्या, २) शिक्षापद, ३) अर्थग्रहण, ४) अनियतवास, ५) निष्पत्ति, ६) विहार और, ७) समाचारी।

आचार गुणसम्पन्न गीतार्थ गुरु सर्वप्रथम शिष्य को विधिपूर्वक आलोचना कर के तदनन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, एव भावानुसार प्रव्रज्या (दीक्षा) मत्र देते हैं। दीक्षा मत्र देने के बाद शिक्षा का दान देते हैं। शिक्षा के दो प्रकार होते हैं- १)ग्रहण शिक्षा और २) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्राध्ययन कराया जाता है और आसेवन शिक्षा पद्धति में पडिलेखना आदि क्रिया का बोध कराया जाता है। सूत्रार्थ का ज्ञाता हो जाने पर ही मुनि को योग्यतानुसार आचार्य पद दिया जाता है। आचार्य पद देने के पहले बारह वर्ष तक अनियतवास-ग्रामानुग्राम विचरण कराया जाता है। अयोग्य शिष्य के लिए यह नियम नही है। देशाटन से तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि एव निर्वाणभूमि को देखने से साधना में स्थिरता आती है। विभिन्न भाषा एव आचार का ज्ञान होता है। देशाटन से वह आचार्य पदयोग्य शिष्य सपदा से सपन्न होता है तथा विभिन्न श्रुतज्ञानी आचार्यों के दर्शन से सूत्रार्थ विषयक एव समाचारी का विशेष ज्ञाता होता है। इस प्रकार बारह वर्ष तक देशदर्शन 'अनियतवास' कराया जाता है। बहुशिष्य सपदा प्राप्त होनेपर आचार्य पद दिया जाता है। तदनन्तर वह स्व पर कल्याणार्थ प्रवचनप्रभावना करता है।

स्थविरकल्पिक मुनियों की चर्या आदि का ज्ञान "क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुण्डपना,

प्रायश्चित्त, कारण प्रतिकर्मणि और भक्तपन्थाश्च भजनया'' इन १९ दृष्टिकोण से कराया जाता है[२६७]''- स्थविरकल्पिक मुनि का जन्म एव कल्प ग्रहण कर्मभूमि में होता है। पर देवादि द्वारा संहरण करने पर वे अकर्मभूमि में भी प्राप्त हो सकते हैं। अवसर्पिणी काल में उत्पन्न होनेवाले का तीसरे, चौथे और पाँचवें आरे में जन्म होता है और स्थविरकल्प इन्ही आरों में स्वीकार किया जाता है। यदि उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए हों तो दूसरे, तीसरे तथा चौथे आरे में जन्म लेते हैं और स्थविरकल्प तीसरे चौथे आरे में स्वीकार करते हैं। सामायिक और छेदोपस्थापनीय इन दो चारित्र में ही वर्तमान मुनि स्थविरकल्प स्वीकार करते हैं, यथाख्यात चारित्र (संयम) तक भी जा सकते हैं। वे नियमत तीर्थ में ही रहते हैं। जघन्य आठ वर्ष की अवस्था में और उत्कृष्ट गृहस्थ अथवा साधु पर्याय की कुछ न्यून करोडपूर्व में इस कल्प को ग्रहण करते हैं। प्रवज्या पर्याय जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। परन्तु मरण पर्यंत की उत्कृष्ट पर्याय देशो न्यून पूर्व कोटि भी है। अपूर्व श्रुताध्ययन स्थविरकल्प स्वीकारने पर मरते भी हैं और नही भी मरते हैं। तीनों वेदों में (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक वेद) इसे स्वीकार किया जाता है। बाद में अवेदी भी हो सकते हैं। ये स्थितास्थितकल्प वाले होते हैं। कल्प स्वीकारते समय द्रव्य और भाव लिंग दोनों ही होते हैं। आगे भावलिंग निश्चय ही होता है। कल्प स्वीकारते समय प्रशस्त तीन लेश्याएँ (तेज, पद्म, शुक्ल) होती हैं। बाद में छहों लेश्याएँ होती हैं। किन्तु अप्रशस्त लेश्या में अधिक समय तक नही रहते तथा वे लेश्याएँ अति सक्लिष्ट भी नही होती। धर्मध्यान में ही कल्प स्वीकार किया जाता है। बाद में आर्त-रौद्रध्यान भी हो सकता है किन्तु वे निरनुबधक तथा कुशल परिणामों की प्रधानता वाले होते हैं, लेश्यानुसार ध्यान में तरतमभाव पैदा होता है। भाव लेश्यानुसार ही प्रशस्ताप्रशस्त ध्यान की उपलब्धि होती है। स्थविरकल्पकों की जघन्य सख्या एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (९०००) होती है तथा पूर्व स्वीकृत के अनुसार यह सख्या जघन्य और उत्कृष्ट कोटिसहस्रपृथक्त्व भी होती है। पन्द्रह कर्मभूमि में उत्कृष्ट इतने ही स्थविर कल्पी प्राप्त हो सकते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावानुसार अभिग्रह धारण करते हैं। द्रव्य से भिक्षादि के लिए गमन का अभिग्रह करना, क्षेत्र से आठ (ऋज्वी, गत्वाप्रत्यागतिका, गोमूत्रिका, पतगवीथिका, पेडा, अर्द्धपेडा, अभ्यन्तर शम्बूका, बहि शम्बूका) प्रकार के गोचर भूमि का अभिग्रह करना, काल से सबेरे, दोपहर एव शाम को जाने का अभिग्रह करना। भाव से गोभिक्षा लेने का (निक्षिप्तचरका, सख्यादत्तिका, दृष्टलाभिका, पृष्टलाभिका आदि का) अभिग्रह करना है। प्रव्रज्या अथवा मुण्डपना स्वीकार करनेवाले स्थविरकल्पी को छह प्रकार के सचित्त द्रव्य कल्पनीय हैं। यथा शिष्यों को दीक्षा देना, उपदेश देना, अन्य स्थान पर गये को पुन दीक्षा देना या अन्य संप्रदाय के गीतार्थ आचार्य से दीक्षा देने की प्रार्थना करना। स्थविरकल्पियों को प्रमाद के कारण लगनेवाले पापों का प्रायश्चित्त 'आलोचना और प्रतिक्रमण' दिया जाता है। स्थविरकल्पी किसी विशिष्ट कारण में अपवाद मार्ग का सेवन करते हैं। ग्लान, रोगी, आचार्यादि की सेवा के लिए अथवा धर्म की कथा के लिए जाने पर पादधावन-

मुखमार्जन-शरीरसम्बाधनादि कारणों से सप्रतिकर्मणि का स्वीकार करते हैं। स्थविरकल्पी उत्सर्ग मार्ग से तीसरे प्रहर में गोचरी जाते हैं। किन्तु अपवाद मार्ग में अकाल में जा सकते है।

दुषम काल में सहनन एव गुणों की क्षीणता के कारण मुनि नगर और ग्राम में रहने लगे हैं। वे समुदाय में रहकर विचरण करते हैं। शक्ति के अनुसार धर्मप्रभावना करते हैं। भव्यात्माओं को दीक्षा देते हैं। स्थविरकल्प स्वीकार करने के पहले जिन कर्मों को हजार वर्षों में क्षीण किया जाता या उन्हें कल्प स्वीकार करने पर एक वर्ष में क्षीण कर सकते हैं। वे सत्रह प्रकार के सयम पालक होते हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र परपरा का विच्छेद नही होने देते। वृद्धावस्था में स्थिरवास करते हैं। इस प्रकार स्थविरकल्पक मुनि ज्ञान, ध्यान और तप की प्रभावना करते हैं।[२६८]

श्वेताबरानुसार स्थविरकल्पकों को दो भागों में विभाजित किया गया है-[२६९] सूत्रकालीन और भाष्यकालीन। सूत्रकालीन स्थविरकल्पी दो प्रकार के हैं-[२७०] सचेल और अचेल। जो वस्त्रधारी श्रमण होता है उन्हें 'सचेल' कहते हैं। सचेल परपरानुसार श्रमण के लिए बहत्तर हाथ वस्त्र एव श्रमणियों के लिये छियानवे हाथ वस्त्र का विधान है। आचारागसूत्र में एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, त्रिवस्त्रधारी, चार वस्त्रधारी श्रमणों का वर्णन है। तीन वस्त्रधारी के लिए तीन सघाटिका, चोलपट्टक, आसन, झोली, जल छानने का वस्त्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण के दण्डी पर लगने वाला वस्त्र, माडलिक वस्त्र, स्थडिल भूमि की झोली, इन सब के लिए श्रमण को बहत्तर हाथ वस्त्र का विधान है। भिक्षुणी के लिये चार सघाटिका का विधान इस प्रकार है - एक सघाटिका दो हाथ की, जो उपाश्रय में ही पहनी जाती है, दो सघाटिकाएँ तीन-तीन हाथ की, उनमें से एक भिक्षा के लिए जाते समय और एक शौच को जाते समय पहनी जाती है। चार हाथ की सघाटिका धर्म सभा में जाते समय धारण की जाती है। 'संघाटिका' या 'सघाटी' का अर्थ साड़ी और श्रमण-श्रमणी की भाषा में 'चद्दर' कहते हैं। टीकाकारों ने शरीर पर धारण करनेवाले वस्त्र को सघाटिका कहा है। इन वस्त्रों का उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। आचाराग में वस्त्रों की सूची हैं - जगिय या जाधिक (सन से निर्मित कम्बलादि), भगिय (वृक्ष के ततु से निर्मित), साणिय (सन से बने), पोत्तग (ताडादि वृक्षों के पत्तों से बने), खोमिय (कपाल से निर्मित), तूलकड़ (आकादि की रुई से निर्मित)। स्थानाग और बृहकल्प सूत्र में तूलकड़ के स्थान पर 'तिरीडपट्ट' नाम मिलता है। बृहत्कल्प भाष्य में 'कचुक' (अढ़ाई हाथ लबा व एक हाथ चौड़ा), उकच्छिय (डेढ़ हाथ का वस्त्र जिससे छाती, दक्षिण पार्श्व व कमर ढँकी जाती है, वाम पार्श्व की ओर इसकी गाठ लगती है), खण्डकर्णी (चार हाथ लबा और चौकोर वस्त्र होता है) तथा दीक्षित साधक के लिए रजोहरण, गोच्छक और परिग्रह (पात्र) एव तीन वस्त्र का विधान है। रजोहरण के लिए पाच प्रकार के धागों का

विधान है। जैसे कि औरणिक (ऊन), औण्ट्रिक (ऊंट के), सानक (सन के) वच्चक-चिप्पक (तृण विशेष) और मुंजचिप्पक (मुज की कुट्टी से)। सादा और निर्दोष वस्त्र ही ग्रहण किया जाता है।

'अचेल' शब्द में रहे हुए 'अ' का अर्थ है अभाव और अल्प। अचेलक मुनि सर्व वस्त्रादि का त्यागी एव अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारक होता है। वह द्रव्य और भाव परिग्रह का त्यागी होता है। अनुकूल प्रतिकूल परिषहों को समभाव से सहन करने वाला होता है। यदि अचेलक को लज्जा का अनुभव हो तो वह कटिबधन धारण कर सकता है।

इस प्रकार सूत्रकालीन स्थविरकल्पकों के सचेल अचेल साधकों के (मुनियों के) वर्णन के बाद भाष्यकालीन स्थविरों के उपकरणों का वर्णन करते हैं। उनके उपकरणों में कुछ वृद्धि पायी जाती है, जिसका मुख्य कारण देशकाल की परिस्थिति है। पहले तीन या चार वस्त्र, कटिबध तथा एक पात्र रखने की परपरा थी। कटिबध नामक छोटा कपड़ा कमर पर लपेटा जाता था। उसे 'अग्रावतार' भी कहते थे। वर्तमानकाल में 'चोलपट्टा' के नाम से प्रसिद्ध है। आर्यरक्षित आचार्य ने देश कालादि परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर वर्षाकाल में और एक 'पात्रक' रखने की आज्ञा प्रदान की। झोली में भिक्षा लाने की पद्धति उसी समय से प्रारभ हुई। इसलिए भाष्यकालीन स्थविरों के उपकरणों की सख्या चौदह बताई गई है-जो निम्नलिखित हैं-[२७१] १) पात्र, २) पात्रबध, ३) पात्र स्थापन, ४) पात्र केसरिका (पात्रप्रमार्जनिका), ५) पटल, ६) रजस्त्राण, ७) गोच्छक, (गुच्छक) ये सात प्रकार 'पात्रनिर्योग' पात्रपरिकरभूतपात्ररक्षक उपकरण हैं। ८-९) प्रच्छादक = दो सोत्रवस्त्र (चद्दरें), १०) ऊनीवस्त्र (कम्बल), ११) रजोहरण, १२) मुखवस्त्रिका, १३) मात्रक और १४) चोलपट्टक। यह उपधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार की है। आगे चलकर जो कुछ उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधि में सस्तारक, उत्तरपट्टक, दडासन और दडक ये खास उल्लेखनीय हैं। ये उपकरण श्वेताबर मुर्तिपूजक मुनियों के पास ही होते हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार स्थविरकल्पी मुनि के लिए पचवस्त्र त्याग, अकिंचनता, प्रतिलेखन क्रिया, पच महाव्रतधारी, खड़े-खड़े भोजन लेना, एकाशन करना, हाथ में ही खाना (कर पात्र) , भिक्षा की याचना नही करना, बाह्य अभ्यतर दोनों प्रकार के तप करना, षडावश्यक, भूमिशयन, केशलुंचन आदि बातों का विधान है।

स्थविरकल्प स्थिति की सम्यक आराधना करने पर साधक अतिम समय समीप आया जानकर योग्य शिष्य को अपना पद प्रदान करके भगवान महावीर के द्वारा कथित विशिष्ट मार्ग का अनुष्ठान करने के लिये तत्पर होते हैं। वह अनुष्ठान दो प्रकार का है -

१) सलेखना (भक्त परिज्ञा, इगिणी और पादोपगमन) और २) जिनकल्प साधना, परिहार विशुद्ध कल्प साधना अथवा यथालन्दिक कल्प साधना। इन दोनों प्रकार की विशिष्ट साधनाओं से कर्मदलिकों को क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है।

सलेखना साधना पद्धति

यह जैन साधना विधि की एक प्रक्रिया है। 'संलेखना' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। ससारी जीव में ही जन्म-मरण का चक्रव्यूह सतत चलता है। उससे मुक्ति पाने के लिये मुमुक्षु साधक अतिम समय निकट आया जानकर सलेखना करता है। 'सत्' का अर्थ -सम्यक् और लेखना का अर्थ कृश करना है। जो शरीर (तनु) और कषाय को पतला करता है, वह सलेखना है-[२७२] काय को कृश करने का अर्थ है शरीर का ममत्व भाव कम करना। ममकार और अहकार अन्तर्निरीक्षण में बाधक है। सलेखना दो प्रकार की है- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सलेखना का सबध क्रोधादि कषायों से और बाह्य सल ‍ना का सबध शरीर से है। इन दोनों प्रकार में वृद्धि करने वाले कारणों को कृश करना ही सलेखना है।[२७३] कषाय के कृश हुए बिना परिणाम शुद्ध नही हो सकते और परिणाम शुद्ध हुए बिना ध्यान नही हो सकता। ध्यानावस्था में कषाय और शरीर के ममत्व का अभाव होना चाहिये। इसे समाधिमरण, पण्डितमरण, सथारा और सस्तार भी कहते हैं। इहलौकिक पारलौकिक समस्त कामनाओं (इच्छाओं) का त्याग करके प्रशात चित्त से आत्मचिंतन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना ही संलेखना या समाधिमरण है।[२७४] मरण का बोध कराने के लिए 'मारणातिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अत क्षण समाधि भाव में व्यतीत होता है वह 'मारणातिक' कहलाता है।[२७५] सलेखना सभी व्रतों और चारित्र की सरक्षिका होने के कारण 'व्रतराज' के नाम से प्रसिद्ध है।[२७६]

मरण के भेद प्रभेद

आगम एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार मरण के दो, पाँच, बारह, सत्तरह भेद बताये हैं। उनके भेद प्रभेद भी अनेक किये गये हैं। किन्तु सत्तरह प्रकार के मरण में अन्य सभी भेद समाविष्ट हो जाते हैं। संसार में मरण मुख्यत दो ही प्रकार का होता है - अज्ञान मरण (बाल मरण), और ज्ञान मरण (पडित मरण)। इन्हें ही आगम भाषा में अकाम (बालमृत्यू) और सकाम (ज्ञानर्भितमृत्यु, पडितमृत्यु) मरण कहते हैं। मृत्यू, मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। भगवती सूत्र में बाल मरण के बारह प्रकार बताये हैं-१) बलन्मरण, २) वसट्टमरण-वसार्तमरण, ३) अन्तशल्यमरण, ४) तद्भव मरण, ५) गिरी-पतन मरण, ६) तरु-पतन-मरण, ७) जल-प्रवेश मरण, ८) ज्वलन प्रवेश मरण, ९) विष भक्षण मरण, १०) सत्थोवाडण (शस्त्रोद्पाटन) मरण, ११) वेहानस मरण और १२) गिद्धपिट्ठ मरण (गृध्रपृष्ठ) मरण। इन बारह प्रकार के

मरण से जीव चारों गति के अनन्त भव बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में और भी पाँच प्रकार के मरण बताये हैं - १) आवीचिमरण (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव से ५ प्रकार हैं) २) अवधिमरण (देश और सर्व से दो भेद हैं), ३) आत्यन्तिक मरण, ४) बाल मरण और ५) पडित मरण। पंडित मरण तीन प्रकार का माना गया है - भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगित मरण और पादोपगमन मरण। ये तीनों ही प्रकार के मरण 'निर्हारिम' और 'अनिर्हारिम' से दो-दो प्रकार के हैं। पंडित मरण का स्वरूप आगे स्पष्ट करेंगे। इन सभी प्रकार के भेदों को एकत्रित करके प्रवचनसारोद्धार में सत्तरह प्रकार के मरण बताये हैं। कहीं कही नामों में थोड़ी सी भिन्नता नजर आती है। भगवती आराधना में १) पडित-पडित मरण, २) पडित मरण, ३) बाल पडित मरण, ४) बाल मरण और ५) बाल-बाल मरण ऐसे पाँच भेद मिलते हैं। इस प्रकार आगम एव अन्य ग्रथों में मरण के अनेक प्रकार बताये हैं।[२७७] इन सभी मरण के भेदों में पडित मरण ही श्रेष्ठ माना गया है।

पंडित मरण का क्रम

क्रमपूर्वक की गई साधना ही जीवन विकासगामी बनाती है। क्रमविहीन साधना असफल बनती है जब कि क्रमसहित साधना चिरस्थायी और सफल बनती है। साधना का क्रम है प्रथम प्रव्रज्या ग्रहण करना, शिक्षा ग्रहण करना, सूत्रार्थ करना, विविध तप एव प्रतिमाओं को ग्रहण करना, तदनन्तर शरीर की क्षीणता को देखकर गुरु समीप क्रमश भक्त प्रतिज्ञा, इगित एव पादोगमन मरण को स्वीकार करें। इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार है-

१) भक्त परिज्ञा - (भक्त प्रत्याख्यान) मरण का [२७८] स्वरूप साधक आत्मा शरीर की ममता और कषाय की क्षीणता होने पर अतिम समय समीप आया जानकर गुरु आज्ञा से सर्वप्रथम निर्दोष भूमि का निरीक्षण-परीक्षण करता है। चाहे वह भूमि वन में हो, बस्ती में हो या अन्य कही भी हो। भूमि परीक्षण के बाद उस स्थान पर शय्या बिछाये। समस्त जीवों एवं अपने साथियों से क्षमापना करे। तदनन्तर गुरु साक्षी अथवा वे न हों तो अर्हन्त भगवन्त की साक्षी से पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पूर्व कृत, कारित, अनुमोदित सर्व पापों की निश्चल भावों से आलोचना करे। बाद में मरणपर्यंत स्थिर रहनेवाले व्रत की आराधना करे। इस व्रत में तीन या चार प्रकार के आहार का यावज्जीवन तक त्याग किया जाता है। इसे ही 'भक्त प्रत्याख्यान' मरण कहते हैं। इस अवस्था में साधक 'मध्यस्थ भावना', 'केवल निर्जरा की भावना', 'समाधि भावना', 'बाह्य-आभ्यन्तर उपाधि का त्याग', 'अत करण विशुद्धि' इन गुणों से शोभित होता है और अतिम श्वासोच्छ्वास तक आत्मध्यान में लीन रहता है। कर्म क्षय करके सिद्ध गति प्राप्त करता है और यदि कर्म शेष रह जाये तो स्वर्ग में जाता है। इस मरण को सप्रतिकर्म कहते हैं।

२) इंगित मरण का स्वरूप : [२७९] इसकी विधि भी भक्त परिज्ञा मरण के समान ही है। इस मरण को विशिष्ट सहनन वाला एव गीतार्थ मुनि (साधक) ही ग्रहण कर सकता है।पहले मरण की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि नियमत चारों आहार का त्याग करना होता है और नियमित प्रदेश में सस्तारक पर हलन-चलन की छूट रखकर, भूमि को देखकर आलोचना प्रतिक्रमण करके महाव्रतों को पुन स्वीकार करके शयन करना होता है। यह साधक त्रिकरण और त्रियोग से स्वावलबी होता है। दूसरों की सेवा नही लेता है। सब क्रिया अपने आप ही करता है जैसे कि करवट बदलना, नीहार भूमि जाना आदि। सस्तारक पर सोया हुआ मुनि मेरू के समान निश्चल और दृढपरिणामी होने के कारण आत्मचिन्तन में लीन रहता है। यदि पूर्व कर्मों के फलस्वरूप शरीर में वेदना अथवा परीषह उपसर्ग आने पर स्वकृत कर्मों का फल समझकर सतत स्वचिन्तन (आत्मस्वरूप) में लीन रहने के कारण शीघ्र सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है।

३) पादपोपगमन मरण का स्वरूप : [२८०] दोनों प्रकार के पडित मरण की अपेक्षा यह मरण विशेष प्रयत्न साध्य है। इसमें प्रबलतर पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है। इस मरण को अगीकार करने वाला साधक अपने आप को देखे हुए अचित्त भूमि या अचित्त काष्ठ पर स्थापित करता है। चारों प्रकार के आहार का त्याग करके पाँच महाव्रतों का पुन आरोपन करके आलोचना, प्रतिक्रमण, क्षमापना आदि करने के बाद गुरु समक्ष जिस स्थिति में है उसी स्थिति में निश्चल मेरु की भाँति स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करता है। इस मरण की यह विशेषता है कि इसमें हलन-चलन क्रिया का भी निषेध है। वृक्ष की भाँति स्थिर रहना ही इस मरण की विशेषता है। इस मरण का नाम ही पादपोपगमन मरण है।

पडित मरण की साधना करने वाले साधक इहलोक, परलोक, जीवन, मरण अथवा कामभोगों की इच्छा न करें। यदि देवता या देवागना दिव्य रूप बनाकर क्रमश परीक्षा अथवा कामभोग की याचना करें तो विचलित न हों, बल्कि अपनी अतिम साधना में स्थिर रहें। पडित मरण उपसर्गों और कर्मशत्रुओं को नाश करने का साधन है।[२८१] इसलिए तो इसे 'अपश्चिममारणान्तिकी सल्लेखना' के नाम से घोषित किया जाता है। मरणान्त के समय अपने भूतकालीन समस्त कृत्यों की सम्यक् आलोचना करके शरीर और कषाय को क्षीण करने के निमित्त की जानेवाली सबसे अतिम तपस्या है।[२८२]

पडित मरण के तीनों प्रकारों में अंतर

भक्त परिज्ञा मरण में तीन या चार प्रकार का आहार का त्याग कहा है। यह सप्रतिकर्म है - दूसरे का सहारा लिया जाता है।

इगित मरण में चारों ही प्रकार के आहार का त्याग कहा है। नियमित प्रदेश में ही हलन-चलन की क्रिया की जाती है। दूसरों की सेवा नही ली जाती।

पादपोपगमन मरण में हलन-चलन की भी छूट नही हैं। वृक्ष की भाँति आसन में स्थिर रहा जाता है।

संलेखना के प्रकार

आगम एव ग्रन्थों में सलेखना के तीन प्रकार बताये हैं-[२८३] जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य सलेखना षट् मासिक होती है। मध्यम सलेखना वार्षिक और उत्कृष्ट सलेखना द्वादश वार्षिक होती है। जघन्य और मध्यम सलेखना में विगय का त्याग, आयबिल और बीच-बीच में एकान्तर तप का विधान है। उत्कृष्ट सलेखना करने वाला तपाराधक साधक प्रथम के चार वर्षों में विविध प्रकार (उपवास, छट्ठ, अट्ठम, चार-पाँच आदि) की तपस्यायें करता है। पारणे में शुद्ध आहार लेता है। दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार की खुली-खुली तपस्यायें करता है और पारने में विगय का त्याग करता है। नौवें और दशवें वर्ष में एकान्तरित तप करता है और पारने में आयबिल करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह मास में बेले-बेले की तपस्या करता है और दूसरे छह मास में तेला (तीन), चोला (चार), पचोला (पाँच) की तपस्या करता है। पारने में आयबिल करता है। अतिम वर्ष में कोटिसहित निरतर आयबिल करके शरीर और आयु बल दोनों को क्षीण करता है।

भक्त प्रत्याख्यान सलेखना का उत्कृष्ट कालमान बारह वर्ष का है।[२८४]

संलेखना में पच शुद्धियाँ

समाधि मरण करनेवाले साधक के लिये पाँच शुद्धियाँ आवश्यक होती हैं। वे इस प्रकार हैं-[२८५] १) आलोचना शुद्धि, २) शय्या शुद्धि, ३) सस्तारक शुद्धि, ४) उपधि शुद्धि और ५) भक्तपान शुद्धि।

सलेखना के पाँच अतिचार

सलेखना विधि में पाँच दोष पाये जाते हैं-[२८६] इहलोकाशसा-प्रयोग (इहलोक की इच्छा), परलोकाशसा प्रयोग (परलोक की इच्छा), जीविताशसा प्रयोग (जीने की इच्छा), मरणाशसा प्रयोग (मरने की इच्छा) और कामभोगाशसा प्रयोग (विगत सौख्य स्मृति और भावी सुख की कामना) इन पाँच दोषों (अतिचारों) से रहित मृत्यु ही सलेखना की आराधना है।

संलेखना स्वतंत्र साधना है - आत्महत्या नहीं

सलेखना अतिम समय की सर्वोत्कृष्ट स्वतत्र साधना है। कतिपय विद्वान श्रमण एव श्रावक की इस साधना पद्धति को आत्महत्या मानते हैं। आत्महत्या क्रोधवश की जाती

है, अथवा राग-द्वेष, मोहादि कषायों की प्रबलता और विषादि का प्रयोग होने पर होती है। जैन धर्मानुसार कथित सलेखना व्रत में समाधिमरण से मरनेवाले साधक में रागादि परिणाम और मोहादि भाव होते ही नही, वे तो मृत्यु का महोत्सव करते हैं। फिर बताइए, आत्महत्या कैसे हो सकती है? समाधिमरण में सारी चिंताएँ नष्ट हो जाती हैं, विभावदशा से हटकर स्वभावदशा में रमण करते हुए स्वेच्छा से मरण को स्वीकार करते हैं, मोक्ष की भी अभिलाषा इसमें नही की जाती है। ऐसी यह सलेखना स्वतत्र साधना है, आत्महत्या नहीं।[२८७]

जिनकल्प साधना पद्धति

विशेष साधना के लिए जो सघ से अलग होकर रहते हैं, उसकी आचार संहिता को जिनकल्प स्थिति कहते हैं।[२८८] आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक इन पाँचों में से कोई भी जिनकल्प साधना स्वीकार करते हैं। साधना स्वीकार करने के बाद वे अपने आपको पाँच तुलाओं में तोलते हैं और भावनायोग का आलम्बन लेकर आगे बढ़ते हैं। कन्दर्पा, दैवकिल्विषी, अभियोगी, आसुरी और आभियोगिक इन पाँच प्रकार की अप्रशस्त भावना का त्याग करके शुभ (प्रशस्त) भावनाओं में रमण करते हुए सर्व प्रथम तप तुला से स्व का निरीक्षण करते हैं। छह मास तक देवादि के उपसर्ग से आहारादि के न मिलने पर भी पीड़ा का अनुभव नही करते। सत्त्व तुला से भय निवारण करते हैं। रात्रि में कायोत्सर्ग करना, उपाश्रय के बाहर कायोत्सर्ग करना, चौक में कायोत्सर्ग करना, शून्य गृह में कायोत्सर्ग करना और श्मशान में कायोत्सर्ग करना। इन पाँच स्थान पर कायोत्सर्ग करके सत्त्व भावना से स्व की परीक्षा करते हैं। सूत्रतुला (भावना) से रात्रि अथवा दिन के उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि को अच्छी तरह जानते हैं। एकत्व तुला (एकत्व भावना) से अभेदज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न मानते हैं। अत में बल भावना से शारीरिक, मानसिक बल की जानकारी लेकर जिनकल्प साधना में आगे बढ़ते हैं। इसमें शारीरिक बल की प्रबलता होती है, जिसके कारण उपसर्गों को जीत सकते हैं। इस प्रकार जिनकल्पी मुनि पंचतुलाओं (पच भावनाओं) से अपने आपको तोलते हैं।[२८९]

जिनकल्प विधि : इस कल्प को स्वीकार करने वाले के लिए पाँच तुलायें अनिवार्य नही हैं। जिनकल्प स्वीकार करने के पहले सघ को एकत्रित करते हैं। यदि सघ न हो तो अपने गण को एकत्रित करके गणधर को स्थापित करने पर क्षमापना आदि करते हैं।

बाद में क्रमशः तीर्थंकर, गणधर, चतुर्दशपूर्वधर, दसपूर्वधर के पास जिनकल्प स्वीकार करते हैं। यदि इन में से कोई भी न हो तो वट, अश्वत्थ, अशोकवृक्ष इन वृक्षों के समीप जाकर स्वय ही जिनकल्प स्वीकार करते हैं। जिनकल्प स्वीकार करने के पहले वे अपने उत्तराधिकारी को हितशिक्षा देते हैं कि "गण में बाल वृद्ध आदि सबकी अच्छी सेवा करना, समय आने पर तुम भी कल्प स्वीकार करना, ज्येष्ठ मुनि से विनयादि करना, स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन आदि में लीन रहना, अल्प श्रुत और बहुश्रुत मुनि का तिरस्कार नही करना, गण के अधिकारी की आज्ञानुसार चलना।" मुनिगण को हितशिक्षा एव क्षमापना आदि करने के बाद जिनकल्प स्वीकार करके वे अकेले ही आगे बढ़ जाते हैं।[२९०]

क्षेत्र काल आदि द्वारों का विचार : स्थविरकल्पिकों की भाँति ही जिनकल्प मुनियों के भी क्षेत्रादि द्वारों द्वारा उनके चर्यादि का विचार किया जाता है, जैसे कि[२९१] क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थं, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुडापन, कारण, निष्प्रतिकर्म, भक्त, पथ, स्थिति, सामाचारी एव श्रुत, सहनन, उपसर्ग, आतक, वेदना, कतिजन, स्थडिल, वसति, कियच्चिर, उच्चारश्चैव, प्रश्रवण, अवकाश, तृणफलक, सरक्षणता, सस्थापनता, प्राभृतिका, अग्नि, दीप, अवधान, वस्त्ययकतिजना, भिक्षाचर्या, पानक, लेपालेप, अलेप, आचाम्ल (आयबिल), प्रतिमा और जिनकल्प। इनमें से कई द्वारों का स्थविरकल्प साधना पद्धति में वर्णन कर चुके हैं। जहाँ कही नवीनता महसूस होगी तो उल्लेख करेंगे, वरना नही।

काल द्वार के अनुसार अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हो तो उनका जन्म तीसरे चौथे आरे में होता है और जिनकल्प का स्वीकार तीसरे चौथे और पाँचवें आरे में हो सकता है।यदि उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए हों तो उनका जन्म दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में होता है ओर जिनकल्प का स्वीकार तीसरे चौथे आरे में किया जाता है। सहरण करने पर देवकुरु आदि सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। चारित्र द्वारानुसार सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र (सयम) में ही वर्तमान मुनि जिनकल्प स्वीकार कर सकते हैं। तदनन्तर वे सूक्ष्मसंपरायादि चारित्र में भी जा सकते हैं। पर्यायद्वार के अनुसार जघन्यत उनतीस वर्ष की अवस्था में (९ वर्ष गृहस्थावास के और २० वर्ष सयम पर्याय के) और उत्कृष्टत गृहस्थ व साधुपर्याय की कुछ न्यून करोड पूर्व में इसे स्वीकार कर सकते हैं। जिनकल्प स्वीकार करने पर वे नये श्रुत का अध्ययन नहीं करते किन्तु पहले पढ़े हुए श्रुत का स्वाध्याय करते हैं। वेद द्वारानुसार स्त्रीवेद को छोड़कर पुरुषवेद और असक्लिष्ट नपुसक वेद वाले व्यक्ति ही इस कल्प को स्वीकार करते हैं। स्वीकार की प्रक्रिया होने के बाद वे सवेद ओर अवेद भी हो सकते हैं। यहाँ अवेद का अर्थ उपशान्त वेद से है। गणनाद्वार के

अनुसार एक समय में कल्प स्वीकार करने वालों की उत्कृष्ट सख्या शतपृथक्त्व (१००) और पूर्व स्वीकृत के अनुसार यह सख्या सहस्रपृथक्त्व (१०००) ही होती है। पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्कृष्टत इतने ही, जिनकल्पी प्राप्त हो सकते हैं। अभिग्रह द्वार के अनुसार वे अल्पकालिक कोई भी अभिग्रह स्वीकार नही कर सकते। उनके जिनकल्प अभिग्रह ही जीवनपर्यन्त रहता है। उसमें गोचर आदि प्रतिनियत और निरपवाद होते हैं। उनके लिये जिनकल्प का पालन ही परम विशुद्धि का स्थान है। प्रव्रज्या और मुडापना द्वार के अनुसार वे किसी को दीक्षित नही कर सकते, मुडित नही कर सकते। यदि कोई दीक्षा लेना चाहे तो उपदेश दे सकते हैं और बाद में उसे सविग्न गीतार्थ साधु के पास भेज देते हैं। प्रायश्चित्त द्वारानुसार जिनकल्पिक मुनि को मानसिक सूक्ष्म अतिचार के लिए भी जघन्यत चतुर्गुरक मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। कारण द्वार के अनुसार वे किसी भी प्रकार का अपवाद सेवन नही करते। निष्प्रतिकर्म द्वार के अनुसार शरीर पर किसी भी प्रकार का प्रतिकर्म नही करते। आँख कानादि का मैल भी नही निकालते, न ही पैर का काटा निकालते हैं। वे किसी भी प्रकार की चिकित्सा भी नही करते। भक्त और पथद्वार के अनुसार वे तीसरे प्रहर में ही गोचरी और विहार करते हैं। स्थितिद्वार के अनुसार जघाबल के क्षीण होने पर वे एक ही स्थान पर रहते हैं, किन्तु किसी प्रकार का दोष सेवन नही करते। सामाचारीद्वार के अनुसार दस समाचारी में से आवश्यिकी, नैषेधिकी, मिथ्याकार, आपृच्छा और उपसपद् इन पाँच का ही सेवन करते हैं।[२१२]

श्रुतादि द्वार के अनुसार जिनकल्पी जघन्यत प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के ज्ञाता तथा उत्कृष्टत अपूर्ण दशपूर्वधर हैं। सपूर्ण दशपूर्वधर जिनकल्प अवस्था प्राप्त नही कर सकते। दिगम्बर परम्परा में कुछ भिन्नता है। उनके कथनानुसार वे ग्यारह अगों के धारक होते हैं। जिनकल्पी मुनि वज्रऋषभनाराच सहनन वाले ही होते हैं। उन्हें उपसर्ग हो ही ऐसा कोई नियम नही। यदि उपसर्ग आये तो समभाव से सहन करते हैं। रोगादि के उत्पन्न होने पर समभाव से सहन करते हैं। उन्हें दो प्रकार की वेदनाएँ होती हैं-१) आभ्युपगमिकी (लूचन आतापनादि से उत्पन्न) और २) औपक्रमिकी (अवस्था एव कर्मोदय से उत्पन्न)। वे अकेले ही होते हैं। उनके लिये स्थडिल भूमि की विशेष विधि होती है। वे उच्चार पासवण (प्रश्रवण) का उत्सर्ग विजन अथवा शून्य स्थान में करते हैं। जैसा स्थान मिले उसी में वे रहते हैं। साधु निमित्त लीपी पुती वसति में नही रहते। बिलों को धूलादि से नही ढकते, पशुओं के द्वारा तोड़े मोड़े जाने पर भी वसति की रक्षा नही करते, द्वार बद नही करते, अर्गला नही लगाते। वसति की यातना करने पर गृहस्वामी के अनेक प्रश्न पूछे जाने पर वहाँ न रहें (निमन्त्रित प्रश्न) जिस वसति में बलि दी जाती हो, किसी भी प्रकार की अग्नि जलती हो, मकान की रक्षा करने के

लिये कहें, ऐसे स्थानों में न रहें। भिक्षा के लिये तीसरे प्रहर में जाते हैं। भिक्षा चर्या जाने वाले मुनि सात पिण्डैषणाओं में से प्रथम दो को छोड़कर शेष पाँच एषणाओं से तीसरे प्रहर में अलेप कृत भक्त-पान लेते हैं। मलादि के दोष उत्पन्न होने की सभावना से आचाम्ल नहीं करते। वे मासिकी आदि भिक्षु पडिमा तथा भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा पडिमा स्वीकार नही करते। मास कल्प की साधना में जहाँ रहते है, वहाँ उस गांव या नगर को छह भागों में विभक्त करके प्रतिदिन एक-एक विभाग में भिक्षार्थ जाते हैं। वे एक ही वसति में सात (जिनकल्पिक) से अधिक नही रहते। वे एक साथ रहने पर परस्पर सभाषण नहीं करते तथा भिक्षा के लिये एक वीथि में भी नही जाते।[२१३]

जिनकल्पिक मुनि के दो प्रकार की उपधि होती है। जो उपकरण को साधारणतया सब ऋतुओं में उपयोग में लेते हैं उन्हें ओघ उपधि कहते हैं और जो कभी-कभी विशेष रूप से उपयोग में लेते हैं उन्हें उपग्रह उपधि कहते हैं। रजोहरण और मुखवस्त्रिका सहित स्थविरकल्पी मुनि की भाँति जिनकल्पिक मुनि के द्वादशविध उपधि होती है। उपधि के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार होते हैं।[२१४]

दिगम्बर देवसेनाचार्य के[२१५] कथनानुसार "जिन कल्प में स्थित श्रमण बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थियों से रहित, निस्पृह और वाग्गुप्त होते हैं। वे जिन भगवान की तरह घूमते रहते हैं। आँख या पैरों में गये हुए काँटे को स्वय नही निकालते, दूसरा निकालता है, तो मौन रहते हैं। ग्यारह अग के ज्ञाता होते हैं। अकेले घूमते हैं। सदा धर्म ध्यान शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। कषायों के त्यागी, मौनी और कन्दरा में रहते हैं। वामदेव के कथनानुसार[२१६] जिनकल्पी शुद्ध सम्यक्त्वयुक्त इन्द्रिय विजेता, कषायविजेता, एकादश [illegible] को एक अक्षर की तरह जानने वाले पर्वत, गुफा, जंगल, नदी के तट आदि स्थानों में रहने वाले होते हैं। वर्षाकाल में जीवाकुल होने के कारण छ. मास तक निस्पृह और निराहार कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रहते हैं। सतत धर्मध्यान में लीन रहते हैं। निरन्तर अनियतवास करते हैं। तप के कारण उन्हें विक्रिया, आहारक, चारण, क्षीरास्त्रव आदि लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु विरागी होने के कारण उनका सेवन नही करते।

जिन कल्पी श्रमण की साधना पद्धति अत्यन्त कठोर है। वे अपनी साधना के बल से सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात चारित्र प्राप्त [illegible] लेते हैं। किन्तु यह सारी भूमिका उपशम श्रेणी द्वारा प्राप्त करते हैं। क्षपक श्रेणी वे करते ही नही, जिसके कारण उन्हें केवल ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं होती। उन्हें [illegible] श्रेणी क्यों नही होती यह चिन्तनीय प्रश्न है।

परिहार विशुद्ध साधना पद्धति

परिहार विशुद्ध साधना और सयम (चारित्र) दोनों भी हैं। परिहार शब्द का अर्थ 'तप' है। परिहार विशुद्धिक संयम तपस्या की विशेष साधना पद्धति है। तप के द्वारा जिस चारित्र में विशेष शुद्धि होती है, उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं।[२९७] इस साधना का प्रारंभ भी 'प्रव्रज्या सिक्खावय' आदि स्थविरकल्पिक साधना पद्धति के अनुसार ही होता है। इसके तीन अग होते हैं।[२९८] - परिहारक, अनुपरिहारक और कल्पस्थित। इस साधना पद्धति में विशिष्ट प्रकार के तप करने वाले को परिहारक कहा जाता है। परिहारक की सेवा करने वाले को अनुपरिहारक कहते हैं और वाचनाचार्य की जिम्मेदारी निभाने वाले को कल्पस्थित कहते हैं। आगम में परिहारक को निर्विष्ट मानक और अनुपरिहारक को निर्विष्टकायिक (निर्विशमानक) कहते हैं।

परिहार विशुद्धक साधना का स्वरूप

इस साधना पद्धति में नौ जनों का समूह होता है। उनमें से सर्वप्रथम चार जन विशिष्ट प्रकार की तपस्या करते हैं। ग्रीष्म, शीत और वर्षा ऋतु में वे क्रमश जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तपस्या करते हैं। विधि क्रमांक इस प्रकार है। ग्रीष्मऋतु में जघन्य एक उपवास (चतुर्थ भक्त), मध्यम दो उपवास और उत्कृष्ट तीन उपवास की आराधना करते हैं। शीतऋतु में जघन्य दो उपवास, मध्यम तीन उपवास और उत्कृष्ट चार उपवास की साधना करते हैं। अंतिम वर्षाऋतु में जघन्य तीन उपवास, मध्यम चार उपवास और उत्कृष्ट पाँच उपवास की आराधना करते हैं। इस क्रम से साधना करने वाले को अर्घ अपक्रान्ति साधना पद्धति का आराधक माना जाता है।[२९९] परिहारक के बाद अनुपरिहारक भी इसी क्रम से तपाराधना करता है। तदनन्तर कल्पस्थित का नबर आता है। इन सबके तपाराधना का कालमान छ -छ मास का है। कल्पस्थित मुनि अकेले ही परिहार विशुद्ध साधना स्वीकार करते हैं। परिहारक और अनुपरिहारक इन दोनों की आठ सख्या में से किसी एक को वाचनाचार्य बनाते हैं और शेष सात अनुपरिहारकत्व स्वीकार करते हैं। परिहारक की अनुपरिहारिक सेवा करते हैं। जब अनुपरिहारिक परिहार विशुद्ध साधना स्वीकार करते हैं तब परिहारक उनकी सेवा करते हैं। इन सब साधक के लिये यह छ -छ मास की साधना पद्धति है। कुल अठारह मास में यह साधना पूर्ण होती है। ये तीनों प्रकार के साधक पारणे में आयंबिल ही करते हैं। जब विशिष्ट साधना की जाती है तब ऊपर बताये हुए क्रम से साधना करते हैं और जो अनुपरिहारिक तथा कल्पस्थित होते हैं, वे नित्य भोजी होते हैं। नित्य भोजन में एव पारणे में आयबिल की ही आराधना करते हैं। इस प्रकार परिहार विशुद्ध साधना का स्वरूप है।[३००]

अठारह मास की साधना पूर्ण हो जाने पर वे पुन परिहारक साधना प्रारंभ करते हैं,

नही तो जिनकल्प अथवा स्थविरकल्प साधना पद्धति स्वीकार करते हैं। जो जिनकल्प साधना को स्वीकार करता है उसे यावत्कथित परिहारविशुद्ध साधना कहते हैं। जो स्थविरकल्प साधना की आराधना करता है वह इत्वर परिहारविशुद्ध साधक कहलाता है।[३०१]

परिहारविशुद्धक मुनियों के चर्यादि का वर्णन "क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुडावण" आदि द्वारों के द्वार जिनकल्पिक साधकों के क्षेत्रादि के समान ही हैं।[३०२] जहाँ-जहाँ विशेष महसूस हुआ है उसे नीचे दिया जा रहा है-[३०२] क्षेत्र की दृष्टि से परिहार विशुद्धक मुनि का जन्म कल्प ग्रहण कर्मभूमि के भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होता है, अन्यत्र विदेहक्षेत्र में नही। देवादि द्वारा सहरण को छोड़कर वे अन्यत्र कही भी प्राप्त नही होते। काल द्वार की दृष्टि से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में ही होते हैं, नो अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी सुषम-सुषमादि में नही होते। कल्प द्वार के अनुसार वे स्थितकल्प में ही होते हैं। प्रथम अथवा अतिम तीर्थंकर के तीर्थ में ही होते हैं। लिंग द्वार की दृष्टि से वे द्रव्य और भाव दोनों ही लिंगों से स्वीकार करते हैं। चारित्र द्वार की दृष्टि से सामायिक और छेदोपस्थापनीय अवस्था में स्वीकार करते हैं। प्रायश्चित्त की दृष्टि से परिहारविशुद्धक एक क्षण के लिये भी मानसिक व्यग्रता का सेवन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। गणना की दृष्टि से दो प्रकार से वर्णन किया जाता है - गणप्रमाणत और पुरुष प्रमाणत। गणप्रमाण के जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे दो भेद किये गये हैं। जघन्य में तीन गण, विशेषत भाष्यकार की दृष्टि से जघन्य सत्तावीस माने गये [illegible] और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व तथा भाष्यकार के अनुसार सहस्रपृथक्त्व है। श्रुतानुसार वे नौ पूर्व एव उत्कृष्ट दस पूर्व के पाठी होते हैं। व्यवहारानुसार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-व्यवहारज्ञ होते हैं।

यथालन्द साधना पद्धति

यह भी श्रमणों की विशिष्ट प्रकार की साधना है। यथालन्द शब्द दो शब्दों के योग से बना है। यथा का अर्थ है - यथा विधि अथवा सूत्रोक्त विधि के अनुसार, और लन्द का अर्थ है - काल। जल से भीगी हुई हस्तरेखा के सूखने में जितना समय लगता है उतने समय से लेकर पाँच रात्रिदिन के काल को सिद्धान्त की परिभाषा में लन्द कहते हैं।[३०४] यथालन्दक मुनि साधना काल में इतना अल्प भी प्रमाद नहीं करते सतत अप्रमत्तावस्था में जागृत रहते हैं। लन्द शब्द के तीन भेद हैं-[३०५] जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गीली हस्तरेखा के सूखने में जितना समय लगता है वह जघन्य काल है। उत्कृष्ट पाँच अहोरात्र। शेष मध्यम काल है।

यथालन्दक मुनि भी जिनकल्पक मुनि की तरह "तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल" इन पाँच तुलाओं से सम्पन्न होते हैं। यह साधना गच्छ में रहकर या गच्छ के बाहर की जाती है। इसीलिये इनके दो प्रकार हैं-गच्छप्रतिबद्ध और गच्छ अप्रतिबद्ध। पुनश्च इनके दो भेद हैं। जिनकल्पिक यथालन्दिक और स्थविरकल्पिक यथालन्दिक। ये पाँच-पाँच के समूह में होते हैं। जिनकल्पिक की भाँति ही इनकी सारी क्रियायें होती हैं। किन्तु ये उत्कृष्टत एकेक गलियों में पाँच-पाँच दिन तक पर्यटन करते हैं। इनकी सख्या कम से कम पन्द्रह और अधिक दो हजार से नौ हजार तक होती है। पूर्व जिन्होंने इस कल्प को स्वीकार किया है उनकी भी कम से कम और अधिक से अधिक दो क्रोड से नौ करोड़ की सख्या होती है। पाँच साधु के समूह से इस कल्प को स्वीकार किया जाता है।[३०६]

यथालन्द विधि : परिणाम, सामर्थ्य, प्रमाण, स्थापना, आचार, मार्गणा एव यथालन्दक मासकल्प - इन्हें पाँच के समूह में स्वीकार करते हुए शरीर के लिये आहार और वसति का स्वीकार करते हैं। किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखते, शरीर का सस्कार नही करते, उपसर्ग परीषहों को समभाव से सहन करते एव धैर्यबल से हीन नही होते, रोगादि से उत्पन्न वेदनाओं का प्रतिकार नही करते। तपाराधना से थकने पर दूसरों का सहारा लेते, किन्तु वाचनादि नही देते। आठों प्रहर निद्रा नही लेते, एकाग्र चित्त से ध्यान मग्न रहते, श्मशान में ध्यान करते, आवश्यकादि क्रिया में सतत प्रयत्नशील रहते, दोनों समय उपकरणों की प्रतिलेखना करते, स्थानादि की आज्ञा लेकर निवास करते, दस प्रकार की समाचारी का पालन करते, अतिचार लगते ही 'मेरे दुष्कृत मिथ्या' हों, ऐसा बोल कर निवृत्त होते, सघ के साथ किसी भी प्रकार का लेन, देन, अनुपालना, विनयादि सह भोजन एव वार्तालाप नही करते, सतत मौन की आराधना करते, आवश्यकता लगने पर एक व्यक्ति से बात करते। गोचरी के लिये दो गव्यूति से अधिक नही जाते, व्याघादि, सर्प, मृग आदि के सामने आने पर उन्हें दूर नही करते, आँख एव पैर का काटा नही निकालते, इस प्रकार दोनों प्रकार के यथालन्दक मुनि अपनी अपनी चर्या के अनुसार आचार सहिता का पालन करते हुए वस्त्रादिरहित एव वस्त्रादिसहित होकर यथालन्दक साधना का पालन करते हैं।[३०७]

यथालन्दक मुनियों का क्षेत्रादि के अनुसार वर्णन करते हैं।[३०८] क्षेत्र की अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि में यथालन्दक मुनि होते हैं। काल की अपेक्षा सर्वत्र होते हैं। चारित्र की दृष्टि से प्रथम दो प्रकार के चारित्र के धारक होते हैं। तीर्थ की दृष्टि से सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं। तीस वर्ष गृहस्थावास और उन्नीस वर्ष का मुनि धर्म का पालन करते हैं। श्रुत से नौ या दस पूर्व के धारी होते हैं। शुभ लेश्या वाले होते हैं। कुछ कम सात हाथ से लेकर पाँच सौ धनुष ऊचे होते हैं। काल की दृष्टि से एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर कुछ कम पूर्व

कोटि की स्थिति वाले होते हैं। यथालन्दक साधना स्वीकार करने के काल से लेकर जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते वर्षों से हीन पूर्व कोटि प्रमाण होती है। वे विक्रिया, चारण और क्षीरास्ववित्व आदि लब्धियों के धारक होते हैं। किन्तु रागाभाव के कारण उनका सेवन नहीं करते हैं। गच्छ प्रतिबद्ध यथालन्दक मुनि एक योजन में विहार करते हैं। पराक्रमी आचार्य क्षेत्र से बाहर जाकर उपदेश भी देते हैं। परिज्ञान या धारणा गुणसंपन्न एक, दो या तीन यथालन्दक मुनि गच्छ बाहर जाकर प्रश्नादि भी करते हैं और पुन अपने क्षेत्र में आकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। शक्तिहीन आचार्य उपाश्रय में ही सूत्रार्थ पौरुषी करके भिक्षा ग्रहण करते हैं। शेष सब क्रियायें जिनकल्पिक मुनियों की तरह हैं।

पडिमा साधना पद्धति

आगम युग की यह भी एक विशिष्ट साधना पद्धति है। श्रमण और उपासक (श्रावक) के लिये आगम में भिक्खु पडिमा और उपासक पडिमा का उल्लेख है। पडिमा शब्द अनेक अर्थों में प्रतिपादित किया गया है-[३०९] १) तपस्या का विशेष मापदड, २) साधना का विशेष नियम, ३) कायोत्सर्ग, ४) मूर्ति और ५) प्रतिबिम्ब। वृत्तिकार ने पडिमा का अर्थ प्रतिपत्ति, प्रतिज्ञा ओर अभिग्रह किया है। यहाँ पडिमा शब्द का अर्थ साधना का मापदड और अभिग्रह ही लिया गया है। साधना की भिन्न-भिन्न पद्धतियों को स्पष्ट करने के लिये अनेक रूप में पडिमाओं का उल्लेख किया जा रहा है-समवायांगसूत्र में वैयावृत्यकर्म की ९१ या ९२ पडिमायें वर्णित हैं। स्थानांगसूत्र में दो-दो के रूप में अनेक पडिमाओं का उल्लेख है। समवायाग एवं अन्य आगम में श्रमण की बारह पडिमा और उपासक की ग्यारह पडिमा का वर्णन है। इन सब पडिमाओं का स्वरूप निम्नलिखित है।

बारह भिक्खु पडिमा :[३१०] **मासिया भिक्खु पडिमा :** प्रथम पडिमाधारी भिक्खु एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न जल की धारा जब तक अखड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खण्डित होते ही दत्ति की समाप्ति हो जाती है, इसका कालमान एक मास का होता है।

दोमासिया जाव सत्तमासिया भिक्खु पडिमा : दो से लेकर सातवीं पडिमा तक का वर्णन किया जा रहा है। इनमें क्रमश एकेक दत्ति अन्न की और एकेक दत्ति पानी की वृद्धि होती जाती है। इन सब भिक्षु पडिमा का कालमान एक-एक मास का है। दत्तियों की वृद्धि के कारण द्विमासिकी त्रिमासिकी यावत् सप्तमासिकी भिक्खु पडिमा कहते हैं।

प्रथम सत्तरात्रिन्दियाभिक्खुपडिमा : यह आठवी भिक्खु पडिमा है। यह सात दिन की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है अथवा सात दिन

चौविहार उपवास करते हैं। दिन में सूर्य की आतापना लेते और रात्रि में नग्नावस्था में एक ही करवट पर सोते अथवा सामर्थ्य होने पर कायोत्सर्ग करते। गाव के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन और निषद्यासन (पैरों को बराबर करके) में ध्यान करते हैं। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन करते।

द्वितीय सत्तरात्रिन्दिया भिक्खु पडिमा : यह नौवीं भिक्खु पडिमा सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले (दो-दो उपवास) से पारणा किया जाता है। शेष सब आठवी भिक्खुपडिमा के समान ही है किन्तु विशेषता इतनी है कि इसमें रात्रि को शयन नही किया जाता किन्तु ग्राम के बाहर दण्डासन, लगुडासन एव उत्कटुकासन से रात्रि में ध्यान किया जाता है।

तृतीय सत्तरात्रिन्दिया भिक्खु पडिमा : यह दसवी भिक्खु पडिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले (तीन-तीन उपवास) से पारणा किया जाता है। विशेष पूरी रात गोदोहनासन, वीरासन, अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान करते हैं।

अहोरात्रि भिक्खु पडिमा : इस ग्यारहवी पडिमा में एक रात और एक दिन तक (अहोरात्र) साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना की जाती है और नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डासन में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

एकरात्रिभिक्खुपडिमा : यह बारहवी भिक्खु पडिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना चौविहार तेले से की जाती है। गांव के बाहर निर्निमेष नेत्र से किसी एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर करके कायोत्सर्ग किया जाता है। मारणातिक उपसर्ग आने पर भी समभाव से सहन किया जाता है।

इन बारह भिक्खु पडिमाओं के विषय में कुछ मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम से लेकर सातवीं पडिमा तक का कालमान क्रमश एक-एक मास बढ़ाते हुए सात मास तक जाते हैं। उनकी मान्यता आगम के आधार पर ही है। आठवी, नौवीं, दसवीं पडिमा में कुछ आचार्य के कथनानुसार चौविहार उपवास एकान्तर रूप से माना जाता है। किन्तु दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अभयदेवकृत समवायाग टीका, हरिभद्रकृत आवश्यक टीका में आठवी से दसवी पडिमा तक चौविहार उपवास का ही उल्लेख है। और भी कुछ अतर है किन्तु यह शोधप्रबन्ध का विषय नहीं है।

बारह भिक्खु पडिमाओं का यथाशक्ति पालन न करना, उन पर श्रद्धा न रखना एव विपरीत प्ररूपणा करना, अतिचार है। वर्तमान में भिक्खु पडिमा का विच्छेद हो गया है।

ग्यारह उपासक पडिमा

श्रावक की साधना को तीन रूप में प्रतिपादित किया जाता है। - दर्शन श्रावक की साधना, व्रती श्रावक की साधना और पडिमाधारी श्रावक की साधना। अतिम साधना श्रावक के लिये उत्कृष्ट मानी जाती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परानुसार ग्यारह उपासक पडिमा के नामों में कहीं-कही अंतर दृष्टिगोचर होता है। उपासकों की ग्यारह पडिमा इस प्रकार हैं-[३११]

दर्शन पडिमा : देव गुरु धर्म का सम्यक् चिन्तन करना, शंकादि दोषों से रहित होकर क्रियावादी अक्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों की सम्यक् जानकारी एव विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन ही दर्शन पडिमा है। इसका कालमान आचार्यादि के कथनानुसार एक मास का माना जाता है।

व्रत पडिमा : सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों की सम्यक् आराधना ही व्रत पडिमा है। इसका कालमान दो मास का है।

सामायिक पडिमा : सम्यग्दर्शन ओर अणुव्रत को स्वीकार करने के बाद ही गुणव्रत में सामायिक-समभाव की साधना की जाती है। इसका कालमान तीन मास का है।

पौषध पडिमा : अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावास्या इन चतुर्पर्वी में आहार का त्याग, शरीर के ममता का त्याग, अब्रह्मचर्य अथवा व्यापार का त्याग करके पूर्ण पौषध व्रत का पालन करना ही पौषध पडिमा है। इसकी कालमर्यादा चार मास की है।

नियम पडिमा (कायोत्सर्ग पडिमा) : इस पडिमा में साधक पाँच नियमों का पालन करता है। १) स्नान नही करना। २) रात्रि भोजन नही करना, ३) धोती की लाग नही लगाना, ४) रात्रि में मैथुन की मर्यादा करना, दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना और ५) दिन में ही भोजन करना। इसका कालमान पाँच मास का है। दिगम्बर परम्परा में इस पडिमा को 'सचित्तत्यागपडिमा' कहते हैं।

ब्रह्मचर्य पडिमा : इसमें पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान है। इसकी कालमर्यादा दो प्रकार की है-जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट छह मास। दिगम्बर परम्परा में इसे ''रात्रि भोजन त्याग पडिमा अथवा दिवामैथुन त्याग पडिमा'' कहते हैं।

सचित्त त्याग पडिमा : इसमें सचित्त का सर्वथा त्याग किया जाता है किंतु आरंभ का त्याग नहीं किया जाता। इसका जघन्य काल एक रात्रि और उत्कृष्ट काल सात मास का है। दिगम्बर परम्परा में इसे 'ब्रह्मचर्य पडिमा' कहते हैं।

आरभ त्याग पडिमा : आगम कथित सभी नियमों का पालन करते हुए स्वय आरभ क्रिया न करें, किन्तु छहजीवनिकाय की दया पाले। इसका जघन्य काल एक, दो या तीन दिन का है और उत्कृष्ट आठ मास का है।

प्रेष्य त्याग पडिमा : इसमें सभी नियमों के पालन के आरंभ का त्याग किया जाता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का त्याग नही किया जाता। वह स्वयं को बनाये हुए भोजन का सेवन करता है। वह अनुमोदना का भी त्याग नही कर सकता। इसमें आरभ कार्य के लिये किसी को भेजना अथवा भिजवाने का काम नही किया जाता है। आरभवर्धक परिग्रह का त्याग होने के कारण इसे 'परिग्रहत्यागपडिमा' भी कहते हैं। इसका जघन्य कालमान एक, दो अथवा तीन दिन का होता है और उत्कृष्ट नौ मास का है।

उद्दिष्ट भक्त त्याग पडिमा : इसमें अपने निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग किया जाता है। सासारिक प्रश्नों के पूछने पर जवाब नही देते किन्तु इतना ही कहते हैं "जानता हूँ या नही जानता हूँ।" कोई कोई पूरा सिर मुडन करते हैं तो कोई-कोई शिखा रखते हैं। इसकी जघन्य कालमर्यादा एक, दो या तीन दिन की है और उत्कृष्ट दस मास की है।

श्रमण भूत पडिमा : इस पडिमा का धारक श्रमण तो नही होता किन्तु श्रमण सदृश रहता है। साधु-सा वेश और भण्डोपकरण धारण करता है। शक्ति हो तो केशलुचन भी करता है। साधु सी भिक्षाचर्या से जीवनयापन करता है। इसका काल जघन्य इक दिन का और उत्कृष्ट ग्यारह मास का है।

वर्तमान में श्रावक पडिमा का पालन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पडिमाओं का स्वरूप .[११२]

समाधिपडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं - श्रुतसमाधि पडिमा और चरित्र समाधि पडिमा।

उपधान पडिमा : उपधान शब्द का अर्थ तपस्या किया जाता है। इसलिये भिक्षु की बारह पडिमा और श्रावक की ग्यारह पडिमा उपधान पडिमा कही जाती है।

विवेक पडिमा : इस पडिमा में भेदविज्ञान की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है। आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान करते हुए कषायों की भिन्नता का अनुचिन्तन (ध्यान) करता है। बाह्य ओर आभ्यन्तर सयोगों की भिन्नता का प्रेक्षण करता है। बाह्य सयोग के तीन अंग होते हैं - गण (सगठन), शरीर और भक्तपान। इनका भेदज्ञान होते ही साधक व्युत्सर्ग पडिमा में चला जाता है।

व्युत्सर्ग पडिमा : विवेक पडिमा द्वारा हेय वस्तुओं का भेदज्ञान स्पष्ट होते ही उनका विसर्जन किया जाता है। औपपातिक सूत्र में सात प्रकार के व्युत्सर्ग बताये हैं - शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपाधि व्युत्सर्ग, भक्तपान व्युत्सर्ग, कषाय व्युत्सर्ग, ससारव्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इस पडिमा में विसर्जन की क्रिया ही मुख्य है।

भद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग किया जाता है। षष्ठ भक्त (दो उपवास) तपाराधना से दो दिन तक निरन्तर कायोत्सर्ग से भद्रा पडिमा सम्पन्न की जाती है।

सुभद्रा पडिमा : इस पडिमा की साधना पद्धति वृत्तिकार के पहले ही विच्छिन्न हो गई थी।

महाभद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इसकी कालमर्यादा चार अहोरात्र (दिन-रात) की होती है ओर दशम भक्त (चार उपवास) से पडिमा पूर्ण की जाती है।

सर्वतोभद्रा पडिमा : पूर्व, दक्षिण,पश्चिम और उत्तर ये चार दिशायें आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान कोण ये चार विदिशायें तथा ऊर्ध्व और अहो (अध) इन दसों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। ऊर्ध्व दिशा के काल में ऊर्ध्वलोक में अवस्थित द्रव्यों का ध्यान किया जाता है और अधोदिशा के कायोत्सर्ग काल में अधोलोक में स्थित द्रव्य का ध्यान किया जाता है। इसका कालमान दस-दिन रात का है। यह पडिमा बावीस भक्त (दस दिन के उपवास) से पूर्ण होती है। भद्रा पडिमा से लेकर सर्वतोभद्रपडिमा तक की आराधना स्वय भगवान महावीर ने भी की थी।

शूद्रिका सर्वतोभद्र पडिमा : इस पडिमा की पद्धति भिन्न है। इसमें एक उपवास से लेकर पाँच उपवास तक चढ़ा जाता है। इसकी प्रक्रिया पूर्ण होने में ७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणा के कुल १०० दिन लगते हैं। इसकी विधि आदि में एक अंक और अत में पाँच अक स्थापित किये जाते हैं। शेष सख्या बीच में भर दी जाती है। दूसरी पक्ति में प्रथम पक्ति के मध्य अक को आदि में रखकर आगे क्रमश भरते रहते हैं। इसी क्रम से पाँच पंक्तियाँ भरी जाती हैं।

महतीसर्वतोभद्रा पडिमा : इसकी प्रक्रिया में एक अक से लेकर सात अंक होते हैं। इसे पूर्ण होने में १९६ दिन तप के और ४९ दिन पारणे के, कुल २४५ दिन लगते हैं। इसकी विधि क्षुद्रिकाभद्र पडिमा के समान ही है।

आरंभ त्याग पडिमा : आगम कथित सभी नियमों का पालन करते हुए स्वय आरभ क्रिया न करें, किन्तु छहजीवनिकाय की दया पाले। इसका जघन्य काल एक, दो या तीन दिन का है और उत्कृष्ट आठ मास का है।

प्रेष्य त्याग पडिमा : इसमें सभी नियमों के पालन के आरंभ का त्याग किया जाता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का त्याग नहीं किया जाता। वह स्वय को बनाये हुए भोजन का सेवन करता है। वह अनुमोदना का भी त्याग नही कर सकता। इसमें आरभ कार्य के लिये किसी को भेजना अथवा भिजवाने का काम नही किया जाता है। आरभवर्धक परिग्रह का त्याग होने के कारण इसे 'परिग्रहत्यागपडिमा' भी कहते हैं। इसका जघन्य कालमान एक, दो अथवा तीन दिन का होता है और उत्कृष्ट नौ मास का है।

उद्दिष्ट भक्त त्याग पडिमा : इसमें अपने निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग किया जाता है। सासारिक प्रश्नों के पूछने पर जवाब नही देते किन्तु इतना ही कहते हैं "जानता हूँ या नही जानता हूँ।" कोई कोई पूरा सिर मुंडन करते हैं तो कोई-कोई शिखा रखते हैं। इसकी जघन्य कालमर्यादा एक, दो या तीन दिन की है और उत्कृष्ट दस मास की है।

श्रमण भूत पडिमा : इस पडिमा का धारक श्रमण तो नही होता किन्तु श्रमण सदृश रहता है। साधु-सा वेश और भण्डोपकरण धारण करता है। शक्ति हो तो केशलुचन भी करता है। साधु सी भिक्षाचर्या से जीवनयापन करता है। इसका काल जघन्य इक दिन का और उत्कृष्ट ग्यारह मास का है।

वर्तमान में श्रावक पडिमा का पालन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पडिमाओं का स्वरूप [११२]

समाधिपडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं - श्रुतसमाधि पडिमा और चरित्र समाधि पडिमा।

उपधान पडिमा : उपधान शब्द का अर्थ तपस्या किया जाता है। इसलिये भिक्षु की बारह पडिमा और श्रावक की ग्यारह पडिमा उपधान पडिमा कही जाती है।

विवेक पडिमा : इस पडिमा में भेदविज्ञान की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है। आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान करते हुए कषायों की भिन्नता का अनुचिन्तन (ध्यान) करता है। बाह्य ओर आभ्यन्तर सयोगों की भिन्नता का प्रेक्षण करता है। बाह्य सयोग के तीन अग होते हैं - गण (सगठन), शरीर और भक्तपान। इनका भेदज्ञान होते ही साधक व्युत्सर्ग पडिमा में चला जाता है।

व्युत्सर्ग पडिमा : विवेक पडिमा द्वारा हेय वस्तुओं का भेदज्ञान स्पष्ट होते ही उनका विसर्जन किया जाता है। औपपातिक सूत्र में सात प्रकार के व्युत्सर्ग बताये हैं - शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपाधि व्युत्सर्ग, भक्तपान व्युत्सर्ग, कषाय व्युत्सर्ग, ससारव्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इस पडिमा में विसर्जन की क्रिया ही मुख्य है।

भद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग किया जाता है। षष्ठ भक्त (दो उपवास) तपाराधना से दो दिन तक निरन्तर कायोत्सर्ग से भद्रा पडिमा सम्पन्न की जाती है।

सुभद्रा पडिमा : इस पडिमा की साधना पद्धति वृत्तिकार के पहले ही विच्छिन्न हो गई थी।

महाभद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इसकी कालमर्यादा चार अहोरात्र (दिन-रात) की होती है ओर दशम भक्त (चार उपवास) से पडिमा पूर्ण की जाती है।

सर्वतोभद्रा पडिमा : पूर्व, दक्षिण,पश्चिम और उत्तर ये चार दिशायें आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान कोण ये चार विदिशायें तथा ऊर्ध्व और अहो (अध) इन दसों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। ऊर्ध्व दिशा के काल में ऊर्ध्वलोक में अवस्थित द्रव्यों का ध्यान किया जाता है और अधोदिशा के कायोत्सर्ग काल में अधोलोक में स्थित द्रव्य का ध्यान किया जाता है। इसका कालमान दस-दिन रात का है। यह पडिमा बावीस भक्त (दस दिन के उपवास) से पूर्ण होती है। भद्रा पडिमा से लेकर सर्वतोभद्रपडिमा तक की आराधना स्वय भगवान महावीर ने भी की थी।

शुद्रिका सर्वतोभद्र पडिमा : इस पडिमा की पद्धति भिन्न है। इसमें एक उपवास से लेकर पाँच उपवास तक चढ़ा जाता है। इसकी प्रक्रिया पूर्ण होने में ७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणा के कुल १०० दिन लगते हैं। इसकी विधि आदि में एक अक और अंत में पाँच अक स्थापित किये जाते हैं। शेष सख्या बीच में भर दी जाती है। दूसरी पक्ति में प्रथम पक्ति के मध्य अक को आदि में रखकर आगे क्रमश भरते रहते हैं। इसी क्रम से पाँच पंक्तियाँ भरी जाती हैं।

महतीसर्वतोभद्रा पडिमा : इसकी प्रक्रिया में एक अक से लेकर सात अंक होते हैं। इसे पूर्ण होने में १९६ दिन तप के और ४९ दिन पारणे के, कुल २४५ दिन लगते हैं। इसकी विधि क्षुद्रिकाभद्र पडिमा के समान ही है।

क्षुद्रिकाप्रस्रवन पडिमा और महती प्रस्रवन पडिमा : इन दोनों पडिमाओं का स्थानाग सूत्र में उल्लेख मात्र मिलता है। व्यवहार सूत्र के नौवें उद्देशक में इनकी पद्धति निर्दिष्ट की गई है। किन्तु व्यवहार भाष्य में तो इनका विस्तृत विवेचन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार किया है कि द्रव्य से पीना, क्षेत्र से गाँव के बाहर रहना, काल से दिन में अथवा रात्रि में, प्रथम निदाघ काल में अथवा अतिम निदाघ काल में। स्थानाग वृत्तिकार के कथनानुसार शरद और निदाघ दोनों समयों का उल्लेख है। जब कि व्यवहार भाष्य में शरद का उल्लेख मिलता है। भावत स्वाभाविक और इतर प्रस्रवण। पडिमाप्रतिपन्न मुनि स्वाभाविक को पीता है और इतर को त्यागता है (छोड़ता है)। कृमि तथा शुक्रयुक्त प्रस्रवण इतर प्रस्रवण है। स्थानाग वृत्तिकार के कथनानुसार भाव की व्याख्या में देवादि का उपसर्ग सहन किया जाता है। यदि यह पडिमा खाकर की जाती है तो छह दिन के उपवास से की जाती है और यदि खाकर नही की जाती है तो सात दिन के उपवास से पूर्ण की जाती है।

इस पडिमा के सेवन करने से तीन लाभ होते हैं - १) सिद्ध होना, २) महर्द्धिक देव होना और ३) रोगमुक्त होना।

पडिमा पालन करने के बाद आहार प्रक्रिया - प्रथम सप्ताह में उष्णजल के साथ चावल लेना। दूसरे सप्ताह में यूष-माड (मूँगादि का जूस)। (भात पकाने पर निकलने वाला पानी)। तीसरे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और थोड़े से मधुर दधि के साथ चावल ग्रहण। चतुर्थ सप्ताह में दो भाग उष्णोदक और तीन भाग मधुर दधि के साथ चावल। पाँचवें सप्ताह में अर्द्ध उष्णोदक और अर्द्ध मधुर दधि के साथ चावल। छठ्ठे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और दो भाग मधुर दधि के साथ चावल। सातवें सप्ताह में मधुरदधि में थोड़ा सा उष्णोदक मिलाकर उसके साथ चावल। आठवें सप्ताह में मधुरदधि अन्य रसों के साथ चावल। सात सप्ताह तक रोग के प्रतिकूल न हो वैसा भोजन दधि के साथ किया जाता है। बाद में भोजन का प्रतिबध समाप्त हो जाता है। महती प्रस्रवण पडिमा की विधि भी क्षुद्रिकाप्रस्रवणपडिमा के समान ही है। किन्तु केवल इतना ही अतर है कि जब वह खा पीकर की जाती है तब सात दिन के उपवास से पूर्ण होती है और बिना खाये आठ दिन के उपवास से।

यवमध्यचन्द्रपडिमा : चन्द्र पडिमा में मध्य भाग यव की तरह स्थूल होता है। इसलिए इसे यवमध्यचन्द्रपडिमा कहते हैं। जिसका आदि और अंत कृश और मध्य स्थूल होता है। इस पडिमा में स्थित मुनि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक कवल आहार ग्रहण करता हुआ क्रमश एक-एक बढ़ाता हुआ शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को पन्द्रह कवल आहार लेता है। पुन कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से चौदह कवल आहार ग्रहण करके क्रमश एकेक

कवल कम करते हुए अमावास्या को उपवास करता है। इस पडिमा की प्रक्रिया का स्वरूप व्यवहार भाष्य में ही मिलता है; स्थानाग सूत्र में तो इस पडिमा का सिर्फ उल्लेख ही है।

वज्रमध्यचन्द्रपडिमा : इस पडिमा में मध्य भाग वज्र की तरह कृश होता है। इसलिए इसे वज्रमध्यचन्द्रपडिमा कहते हैं। इसका आदि-अंत स्थूल और मध्य कृश होता है। इसका स्वरूप व्यवहार भाष्य के अनुसार इस प्रकार है - इस पडिमा में स्थित मुनि कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चौदह कवल आहार ग्रहण करके क्रमश. एक-एक कवल कम करते हुए अमावस्या के दिन उपवास करता है। पुन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक कवल ग्रहण करके क्रमश. एक-एक कवल बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन १५ कवल आहार ग्रहण करता है।

इर्न पडिमाओं को ग्रहण करने वाला मुनि व्युत्सृष्टकाय (रोगांतक उत्पन्न होने पर शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता) और त्यक्तदेह (बंधन, रोधन, हनन, मारन का निवारण नहीं करता) होता है। परीषह उपसर्ग को समभाव से सहन करते हुए इस पडिमा की आराधना करते हैं।

भद्रोत्तर पडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं- १) क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा और २) महतीभद्रोत्तर पडिमा। क्षुद्रिकाभद्रोत्तर द्वादश भक्त (पाच दिन के उपवास) से प्रारभ की जाती है और अधिकतम विंशतिभक्त (नौ दिन के उपवास) का होता है। इस पडिमा को पूर्ण होने में दो सौ दिन लगते हैं। जिनमें १७५ दिन तप के और २५ दिन पारणा के होते हैं। इसकी स्थापना विधि प्रथम पक्ति के आदि में ५ अक और अत में नौ का अक होता है। कुल पाँच पंक्तियाँ होती हैं। शेष विधि क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा के समान जानना। महती भद्रोत्तर पडिमा का प्रारंभ भी द्वादश भक्त से ही होता है। किन्तु अधिकतम तप चतुर्विंशतिभक्त (११ दिन के उपवास) तक होता है। इसकी स्थापना विधि प्रथम पक्ति के आदि में पाँच का अंक और अत में ग्यारह का अक होता है। बीच की सख्या क्रमश. भर दी जाती है। शेष विधि क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा के समान ही है। इसमें सात पक्तियाँ होती हैं।

शय्या, वस्त्र और पात्र पड़िमा : इन तीनों पड़िमा में एक सी प्रतिज्ञा की जाती है। सिर्फ पड़िमा के अनुसार नामों का उल्लेख होता है। इन पड़िमाओं का धारक चार प्रकार की प्रतिज्ञा (अभिग्रह) करता है- १) मैं उद्दिष्ट (नामोल्लेखपूर्वक संकल्पित) संस्तारक वस्त्र-पात्र मिला तो ग्रहण करूगा, दूसरा नही। २) मैं उद्दिष्ट सस्तारक वस्त्र-पात्र में दृष्ट को ग्रहण करूगा, अदृष्ट को नही। ३) मैं उद्दिष्ट संस्तारक वस्त्र-पात्र शय्यातर के घर में हो तो ग्रहण करूंगा दूसरे का नही। ४) मैं उद्दिष्ट सस्तारक वस्त्र-पात्र यथासंसृत (सहज बिछा हो, ...हो तो ग्रहण करूंगा, दूसरा नहीं।

एकलविहारपड़िमा : अकेले रहकर साधना करने का सकल्प करना। तीन स्थितियों में अकेले रह सकते हैं- १) एकलविहारपड़िमा धारक, २) जिनकल्प पड़िमा धारक और ३) मासिक आदि बारह भिक्खु पड़िमाधारक। आठ गुण सम्पन्न साधक ही एकाकी विहार पड़िमा स्वीकार कर सकते हैं। वे आठ गुण इस प्रकार हैं- १) श्रद्धावान, २) सत्य पुरुष, ३) मेधावी, ४) बहुश्रुत, ५) शक्तिमान, ६) अल्पाधिकरण, ७) धृतिमान और ८) वीर्यसम्पन्न।

आगमकालीन विशिष्ट साधना पद्धतियों में स्थित साधक की साधना ध्यानयोग से सम्पन्न होती है। प्रत्येक साधना पद्धति में ध्यान को स्वतत्र स्थान दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त साधना के मूल में ध्यानावस्था है। ध्यान के बिना साधना सिद्ध हो ही नही सकती। जिससे साधा जाता है उसे साधना कहते हैं। साधक विभिन्न साधनों द्वारा साध्य को सिद्ध करता है। विशिष्ट साधना पद्धति साध्य को सिद्ध करने के लिए ही की जाती है। साध्य मोक्ष है और मोक्ष का श्रेष्ठ कारण ध्यान है। इसलिए समस्त साधना पद्धतियों में ध्यान को द्वादशागी का सार माना गया है।

साधनाओं में ध्यान का महत्त्व

द्वादशांगी का सार ध्यान योग

चार पुरुषार्थ में मोक्ष पुरुषार्थ को मुख्य माना गया है। द्वादशाग श्रुत महासागर का सार तत्त्व ध्यानयोग है, क्योंकि मोक्ष का साधन ध्यान है और वह ध्यान सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र गर्भित है। सर्वज्ञ कथित तत्त्वों को यथार्थ जानना, बाद में उसमें यथार्थ श्रद्धा होना, श्रद्धाशील साधक ही समस्त योगों (सावद्यक्रिया-पापों) का नाश करने में समर्थ बनता है। यही चारित्र है। जैन धर्म की समस्त साधनायें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप के अतर्गत ही निहित हैं। उनमें अहिंसा आदि अनुष्ठानों का प्रतिपादन मूलगुण और उत्तरगुण की रक्षार्थ किया गया है। श्रमण और श्रावक की समस्त क्रियाएँ ध्यानयोग से सबधित हैं। साधना का सार कर्मक्षय है। कर्मक्षय की प्रक्रिया ध्यान से ही शीघ्र क्षय होती है। इसलिए ज्ञानियों का कथन है कि शान्तिप्रदाता ससार दु ख विनाशक ज्ञानसुधारस का पान करके ससार तारक ध्यान जहाज का अवलम्बन लेने से मन की प्रसन्नता बढ़ती है। मन को खुश करने की दवा ध्यान को बताया है। एकता का होना ही ध्यान है। पहले ज्ञान प्राप्त करेगा तब ही एकाग्रता में वृद्धि होगी, एकाग्रता की वृद्धि होने से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों का क्षय होते ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परंतु कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है और सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता बढ़ती है इसलिए श्रमण और श्रावक के मूलगुण उत्तरगुण पोषक सभी साधनायें ध्यान जन्य ही हैं। अत ध्यानयोग द्वादशागी का सार है।[११३]

कपड़े के मैल को शोधन करने के लिए जलादि आवश्यक है, खान से निकले हुए मिश्रित वस्तुओं को लोहे से अलग करने के लिए अग्नि जरूरी है, पृथ्वीतल पर जमे हुये कीचड़ को सूखाने के लिये सूर्यताप आवश्यक है, वैसे ही ध्यानरूप जल, अग्नि और सूर्य कर्ममल का नाश करने के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार ध्यान से मन, वचन, काय के योगों का अवश्य तपन, शोधन और भेदन होता है, उसी तरह ध्यानी भी कर्म का अवश्यमेव तपन, शोधन और भेदन करता है।[३१४]

रोग के असल कारण का निवारण लघन, विरेचन और औषधी सेवन से होता है, वैसे ही कर्मरोग का शमन ध्यानादि से होता है। ध्यान कर्म बादलों को उड़ाने में हवा का कार्य करता है तथा कर्मेन्धन दाहक दावानल है। दावानल चिरसंचित काष्ठ घासादि को शीघ्र जला देती है वैसे ही ध्यानाग्नि कर्मेन्धन को जलाकर भस्म कर देती है।[३१५] क्योंकि ध्यान आध्यात्मिक, भौतिक, दैविक, सर्व-विपत्तीरूपी लतासमूह का छेदन करने के लिए तीक्ष्ण परशु के समान है। जगत् में कार्मण (जादू) करने के लिए जड़ी-बूटी, मंत्र-तन्त्रादि की विधि करनी पड़ती है, परतु ध्यान जड़ी-बूटी, मन्त्र और [illegible] के बिना ही मोक्ष लक्ष्मी को वश कराने में अमोघ कारण है।[३१६] इसीलिए ध्यान का सभी साधना पद्धतियों में महत्त्व बताया गया है और उसे द्वादशागी का सार कहा है।

सभी साधना के मूल में चित्तशुद्धि को प्रधानता दी गई है। मन शुद्धि के बिना साधना हो ही नही सकती। साधना के लिए मनशुद्धि और मन शुद्धि ध्यान से प्राप्त होती है। शुभ विचारों के अनुष्ठानों से अशुभ विचार (आर्त रौद्र ध्यान) जैसे-जैसे कम होते जाते हैं वैसे-वैसे साधना का बल बढ़ता जाता है। समभाव की साधना ही ध्यान की साधना है। समभाव का आधार ध्यान और ध्यान का आधार समभाव ही है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्यभाव ही स्थिर नही होता किंतु कर्म निर्जरा भी होती है। कर्म निर्जरा के कारण नरक और तिर्यंच गति के परिभ्रमण से मुक्त बनकर साधक स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है। अत. मोक्ष साधक के लिए ध्यान योग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जीव के द्वारा ही सर्व उपाधियों को साधा जाता है।[३१७]

ध्यान का महत्त्व अपरंपार है। ध्यानयोगी अपने ध्यान बल से तीनों लोक की समस्त वस्तुओं को हिला सकता है। देवताओं के आसन को चलायमान कर सकता है और अगोचर वस्तुओं का दर्शन भी करा सकता है। किन्तु ध्यानविहीन व्यक्ति अपनी देह में स्थित सच्चिदानंद स्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर सकता है, जैसे अन्धे को सूर्य दर्शन नही होता। आत्मा से परमात्मा बनने के लिए ध्यानयोग ही श्रेष्ठ है। ध्यान बल के विना आत्मदर्शन हो नही सकता। इसके लिए द्वादशागी का सार ध्यानयोग ही पर्याप्त है। वह परमात्म तत्त्व का शीघ्र दर्शन करा के क्षणमात्र में मोक्ष पहुँचा देता है।[३१८] इस आत्मा

के गुणों का समस्त समूह ध्यान से ही प्रगट होता है।[११९] इसीलिए ध्यान का महत्त्व समस्त साधना पद्धतियों में प्रधान माना गया है।

आगम युग, मध्य युग तथा वर्तमान युग में बताई गई विभिन्न साधना पद्धतियों में ध्यान को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि सभी साधनाओं का अग ध्यान ही है। साधना पद्धतियों में से यदि ध्यान शब्द को निकाल दिया जाय तो वह मोक्षपथगामिनी साधना नहीं बन सकती किन्तु नरकगामी बन जायेगी। इसीलिए लौकिक व आध्यात्मिक तीर्थों में ध्यान तीर्थ को ही श्रेष्ठ माना है। तीर्थ के दो प्रकार हैं- द्रव्य और भाव। द्रव्य तीर्थ का अर्थ = वह पवित्र या पुण्य स्थान जहाँ धर्मभाव से श्रद्धासहित लोग, यात्रा, पूजा या स्नान के लिये जाते हैं जैसे कि गिरनार, पालीताना, हस्तिनापुर, सम्मेतशिखर, द्वारिका, प्रयाग, काशी, मथुरा, पढरपुर, हरिद्वार, तिरुपति, बद्रीनाथ, अवरनाथ आदि। शास्त्र में तीन प्रकार के तीर्थ माने गये हैं - १) जगम = साधु, श्रमण, ब्राह्मणादि। २) मानस = सत्य, क्षमा, दया, दान, सतोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, मधुर-भाषण, जप, तप, संयम, ध्यान आदि। ३) स्थावर = ऊपर बताये गये तीर्थ स्थान के नाम।

जिस स्थान से पापादि क्रिया का [illegible] होता है वह तीर्थ कहलाता है। रत्नत्रयादि वर्णित सभी साधना पद्धतियाँ आध्यात्मिक तीर्थ हैं। इस तीर्थ से पापादि सभी शुभाशुभ क्रियाओं का नाश हो करके परमात्म स्वरूप [illegible] आत्मा का दर्शन होता है। इसलिए द्वादशागी का सार ध्यानयोग को आध्यात्मिक सभी तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ माना है।[१२०]

संदर्भ सूचि

१ (क) स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते।

कर्मग्रंथ भा ४

(ख) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

२ रागो य दोसो वि य कम्मबीय कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं, दुक्ख च जाइ-मरणं वयन्ति।

उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/७

३. (क) कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं। कर्मग्रंथ, १/१

(ख) विसय कसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गति।
जीव-पएसहं मोहियह ते जिण कम्म भणति।

परमात्म प्रकाश, १/६२

४ (क) स्पर्श रस गध वर्णवन्त पुद्गला । तत्त्वार्थ सूत्र, ५/२३

(ख) पोग्गले पंच वण्णे पचरसे दुग्गछे अट्ठफासे पण्णत्ते।

व्याख्याप्रज्ञप्ति, १२/५/४५०

५ कर्म ग्रथ भा ■ व्याख्याकार मुनि श्री मिश्रीमलजी, प्रस्तावना पृ ६२

६ (क) पगइ ठिइ रस पएसा। कर्मग्रथ (देवेन्द्रसूरि) १/२

(ख) चउव्विहे बन्धे पण्णत्ते, तं जहा-पगइबंधे,
ठिइ बंधे, अणुभाव बन्धे, पएस बन्धे।

समवायाग, समवाय ४

(ग) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय ।

तत्वार्थ सूत्र (उमास्वाति) ८/४

७ (क) जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभाग कसायाउ।

कर्मग्रथ ५/९६

८ (क) कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गल पिंडो दव्व तस्सत्ती भावकम्मं तु।

गोम्मटसार (जीव काण्ड) - गा ६

(ख) गोम्मटसार - जीव काण्ड गा ६ की टीका

९ (क) मूल पगइ ■ इ उत्तर पगइ अडवन्नसय भेय। कर्मग्रथ १/२

(ख) तं पुण अट्ठविह वा अडदालसयं असखलोग वा।

गोम्मटसार - जीव काण्ड - गा ■

१०. (क) इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि। विग्घं च .

कर्मग्रंथ १/३

(ख) णाणस्स दसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।
आउग णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ।

गोम्मटसार, जीव काण्ड गा ८

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/२-३

(घ) प्रज्ञापना २१/१/२२८

(ङ) तत्वार्थ सूत्र ८/५

११ (क) पण नव दु अट्ठवीस चउ तिसय दुपणविह।

कर्मग्रथ १/३

(ख) कर्मग्रथ १/४ - ४३ तक

(ग) गोम्मटसार - कर्मकाण्ड - गा २२

(घ) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/४ - १५

१२ ताण पुड घादिति अघादितिय होति सण्णाओ।

।

गोम्मटसार (कर्म का) गा ७

आवरण मोहविग्घ घादी जीवगुणवादणत्तादो।
आऊणणामगोद वेयणिय तह अघादित्ति।।

गोम्मटसार (कर्म-काण्ड) गा ९

१३ आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य य स्यादात्मन्यवस्थिति ।
मुह्यत्यन्त पृथक् कर्तुं स्वरूप देहदेहिनो ।
तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभ प्रजायते।
तदभावात्स्वविज्ञानसूति स्वप्नेऽपि दुर्घटा।।

ज्ञानार्णव (शुभाचन्द्राचार्य) ३२/२-३

१४ (क) जीवा हवति तिविहा बहिरप्पा तह य अतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा अरहता तह य सिद्धा य।।
मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीव देह एक्क मण्णतो होदि बहिरप्पा।।
जे जिण-वयणे कुसला भेय जाणति-जीव-देहाण।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अतरप्पा य ते तिविहा।।
पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि सठिदा णिच्चं।
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अतरा होंति।।
सावय-गुणेहि जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति।
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम-सीला-महासत्ता।।
अविरय-सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंद पय-भत्ता।
अप्पाण णिंदता गुण-गहणे सुट्ठु अणुरत्ता।।
स-सरीरा अरहता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम - सुक्ख - सपत्ता।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१९२-१९८

(ख) योगसार (योगीन्दु) गा ५-९

(ग) ज्ञानार्णव, ३२/५-८

(घ) योग शास्त्र, १२/७-८

१५. (क) आचारांगसूत्र (सुत्तागमे) ५/६/३३१ - ३३३

(ख) समयसार १/४९ - ५५

१६ (क) उपयोगो लक्षणम्। तत्वार्थ सूत्र २/८

(ख) उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मन् ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) १/६

१७. (क) . .जीवो उवओग-लक्खण।

नाणेणं च दसणेणं च, सुहेण य दुहेण य।।

नाणं च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।

वीरियं उवओगो य, एय जीवस्स लक्खणं।।

उत्तराध्ययन सूत्र, १८/१० - ११

१८. (क) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद । तत्त्वार्थ सूत्र, (उमास्वाति) २/९

(ख) द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रभेदेन जिनाधिपै ।।

चतुर्धा दर्शन तत्र चक्षुषो ऽ चक्षुषो ■ वधे ।

केवलस्य च विज्ञेय - वस्तु-सामान्य - वेदकम्।।

मति· श्रुतावधी ज्ञाने मन पर्यय - केवले।

सज्ज्ञान पचधावाचि विशेषाकारवेदनम्।।

मत्याज्ञान-श्रुताज्ञान - विभगज्ञान - भेदत ।

मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञान मुच्यते।।

योगसार प्राभृत, १/६ - ९

१९ भगवती सूत्र २/१० (सैलाना, भा १, पृ. ५२१)

२० (क) उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।

जुत्ता ते जीव गुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।।

पचास्तिकाय, गा ५६

(ख) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-

मौदयिकपारिणामिकौ च। तत्त्वार्थ सूत्र, २/१

२१ तत्रोदयेन युक्त औदयिक। उपशमेन युक्त औपशमिक।

क्षयोपशमेन युक्त क्षायोपशमिक· क्षयेण युक्त क्षायिक ।

परिणामेन युक्त पारिणामिक· सएते पंच जीवगुणा ।

पचास्तिकाय गा ५६ की टीका, पृ १०६

२२ (क) जीव भव्याभव्यत्वादीनि च। तत्वार्थ सूत्र, २/७

(ख) स्वोपज्ञ तत्वार्थ भाष्य २/७

२३ जीवत्वं भव्यत्वाभव्यत्वमिति त्रयो भावा पारिणामिका अन्यद्रव्या साधारणा आत्मनो वेदितव्या। कर्मोदयोपशम-क्षय-क्षयोपशममानयेक्षित्वात्। जीवत्व चैतन्यमित्यर्थ। सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्य। तद्विपरीतोऽभव्य। त एते त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिका।

सर्वार्थ सिद्धि २/७ की टीका

२४. (क) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो।

पंचास्तिकाय १/३०

(ख) जीवनाज्जीव प्राणधारणादायु संबन्धान्नायुर्विरहादिति।

सर्वार्थ सिद्धि ८/२

(ग) यद्यपि जीवति तथाप्यशुद्धनयेनानादि कर्म बन्धवशादशुद्धद्रव्यभाव-प्राणैर्जीवति इति जीव।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१८८ की टीका पृ १२५

२५. अतति विविध पर्यायान् गच्छति इति आत्मा।

स्याद्वाद मजरी

२६ (क) ससारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव।

स्थानाग सूत्र २/८० (सुत्तागमे)

(ख) संसारिणो मुक्ताश्च। तत्वार्थ सूत्र, २/१०

२७. (क) तिक्काले चदु पाणा इदिय बल माउआणपाणो य।
ववहारो सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।

द्रव्य सग्रह गा ३

(ख) शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जित स्व पर प्रकाशकाविनश्वर निरुपाधि शुद्ध चैतन्य लक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादि-कर्मबन्धवशादशुद्ध द्रव्य भावप्राणैर्जीवतीति जीव।

द्रव्य सग्रह टीका २/७

उद्धृत, कर्म ग्रंथ भा ४ (मिश्री म) पृ १०

२८ कर्म ग्रंथ भा ५ (देवेन्द्र सूरि) व्याख्या मिश्रीम पृ २१

२९. होई अणाइ अणंतो अणाइ-संतो य साइसंतो य।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इह तिविहो।

पंचसग्रह

उद्धृत, कर्म ग्रथ भा ५ (मिश्री म) पृ ११

३०　(क)　पयडी सील सहाओ जीवांगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सय सिद्धं।
गोम्मटसार – कर्मकाण्ड – गा २

(ख)　गोम्मटसार – कर्मकाण्ड – गा २ की टीका

३१　(क)　जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदी।।
गदिमधिगदस्स देहो – देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते।
तेहि दुवि रायग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेव भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।
पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा १२८-१३०

(ख)　परिणामे बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहु तह भाव हु परियाणि।।
योगसार (योगीन्दु) गा १४

३२　(क)　स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं।
प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा ५५

(ख)　तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः श्लिष्यन्ति
नास्तिसूक्ष्मस्थूला , तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञानावरणादि
वर्गणायोग्या कर्म पुद्गलाः प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थ ।।
प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा ५५ की टीका
सं पं राजकुमारजी साहित्याचार्य

३३　के अहं आसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।
आचारांग सूत्र, १/१/२ (सुत्तागमे)

३४　ज्ञानार्णव ३/४-५

३५　(क)　स्थानांगसूत्र १/८० (सुत्तागमे)
(ख)　सवरनिर्जरातत्त्वे मोक्षकारणरूपके।
योगप्रदीप (उपा मंगलविजयजी म) फलनिरुपण-परिशिष्ट गा. १९

३६　(क)　उत्तराध्ययन सूत्र ३२/२

३७　(ख)　जे केइ पव्वइए निद्दासीले पगामसो।
भोच्चो पेच्चा सुहं सुवइ, पाव-समणेत्ति वुच्चइ।।
उत्तराध्ययन सूत्र, १७/३

३८ (क) तत्वानुशासन (नागसेनाचार्य) १/१२ - १३

(ख) रागद्वेष विषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम्।
अत स एव नि शेष दोष सेनानरेश्वर ।।

ज्ञानार्णव २३/३०

३९ (क) मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। दशवैकालिक सूत्र ६/२१

(ख) दशवैकालिक ८/३७ - ३८

(ग) हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं, कण्ण-नास-विगप्पियं।
अवि वाससय नारिं, बंभयारि विवज्जए।

दशवैकालिक सूत्र ८/५६

(घ) तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा।

सूयगडांगसूत्र, शीलांक वृत्ति १/४/१/११

जे एय . सह ण नित्थीसु। १/४/१/१२

४० (क) तत्त्वेषु सर्वेषु गुरु- प्रधानम्। अध्यात्मकल्पद्रुम १२/१

(ख) कल्लाणमित्त गुरु भगवंतवयणाओ।

पंचसूत्र (चिरन्तनाचार्य) हरिभद्रा टीका पृ ५

(ग) अओ परमगुरु संजोगो। तओ सिद्धि असंसयं। पंचसूत्र पृ २१

(घ) अरहताणं भगवंताणं गुरूणं कल्लाणमित्ताणति।। पचसूत्र पृ ६

(ङ) भगवती सूत्र १/१

४१ (क) ठाणं (सुत्तागमे) ७/६६१-

(ख) १) आयरियं वा, २) उवज्झायं वा, ३) थेरं वा, ४) पवत्तय वा,
५) गणिं वा, ६) गणहरं वा, ७) गणावच्छेअयं वा।

आयारदशा (मुनि कनैयालालजी म) गा ५९

४२ उत्तराध्ययन सूत्र ११/१० - १३, १/२

४३ उत्तराध्ययन सूत्र ११/६ - ९, १/३

४४ अभिधान राजेन्द्रकोश भा ३ पृ ९३४

४५ योगसार (योगीन्दुदेव) गा ४१

४६ (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । तत्त्वार्थ सूत्र १/१

(ख) एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्र त्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति।।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (कुन्दकुन्दाचार्य-टी शुभाचन्द्राचार्य) गा २०

४७. नाणं च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं।।
नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं।।

उत्तराध्ययन सूत्र, २८/२ - ३

४८ (क) योगविंशिका (हरिभद्र) गा. २
(ख) अध्यात्मसार. . . प्रकरणरत्नत्रयी (उपा यशोवि)
योगाधिकार, गा ८३
(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. ३
(घ) आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रीय टीका) गा १०१-१०२

४९ जीवो परिणमदि जहा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो।।
धम्मेण परिणदप्पा-अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाण सुहं सुहावजुत्तो व सग्गसुहं।।

प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य) 'ज्ञानाधिकार' १/९, ११

५०. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २८/३०

५१ (क) सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र सम्पद. साधनानि मोक्षस्य।
तास्वेकतरा ऽ भावे ऽ पि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकर.।।
प्रशमरतिप्रकरणम् गा २३०
(ख) तत्वार्थ सूत्र, १/१
(ग) आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं। सूत्रकृतांगसूत्र १/१२/११
(घ) सद्दृष्ट ज्ञान चारित्रत्रयं यः सेवते कृती।
रसायणमिवातर्क्यं सोऽमृतं पदमश्नुते।। महापुराण, ११/५९
(च) सम्मदंसणं पढमं सम्मं नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्तं एगभूयमिमं तिगं।। महानिशीथ

५२. (क) सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं। नन्दीसूत्र गा ४१ (सुत्तागमे)
(ख) जाणइ पासइ। नन्दीसूत्र गा १० (सुत्तागमे)
(ग) सव्वन्नू सव्वभावदरिसी। आचारांग सूत्र २/१५

५३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वृत्ति, द्वितीय वक्षस्कार

५४. तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।

पुरुषार्थसिद्धि उपाय (कुन्दकुन्दाचार्य, टी टोडरमल) गा २१

५५ सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिना ।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।
कारणकार्य विधानं सम कालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्।।

पुरुषार्थसिद्धि - उपाय गा. ३३ - ३४

५६. विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थे ।
नित्यमपि नि.प्रकम्पै. सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम्।।
न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।।

पुरुषार्थसिद्धि - उपाय गा ३७ - ३८

५७ (क) णिओया णं भंते। कइविहा पण्णत्ता?
गोयमा। दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सुहुमणिओया य
बायरणिओया य। भगवती सूत्र २५/५

(ख) पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह-सुहुमा जीवा लोयाकासे वि सव्वत्था।।
पुढवी-जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी पंचमा दुविहा।।
साधारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइ-काला य।
ते वि य बादर-सुहुमा सेसा पुण बायरा सव्वे।।
साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि।
ते साहारण-जीवा णंताणंत - प्पमाणाणं।।
ण य जेसिं पडिलक्खणं पुढवी-तोएहिं अग्गि-वाएहिं।
ते जाण सुहुम काया इयरा पुण थूल-काया य।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२३ - १२७

(ग) अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव कलंक सुपउरा णिगोदवास ण मुंचंति।

गोम्मटसार - जीवकाण्ड - गा १९७

(घ) गोम्मटसार - जीवकाण्ड, गा १९७ की टीका पृ ३३०

(ङ) जीवाजीवाभिगम (सुत्तागमे) पृ २४६

५८. (क) पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८ की टीका पृ ६५-६६

५९. (क) मुलग्ग पोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य।।

गोम्मटसार (जी का.) गा

(ख) मूलं बीजं येषां ते मूल बीजा॰, आर्द्रकहरिद्रादय॰ ।।१।।
अग्रं बीजं येषां ते अग्र बीजा॰, आर्यकोदीच्यादय ।।२।।
पर्व बीजा इक्षुवेत्रादय॰ ।।३।।
कन्दबीजा॰ पिण्डालुसूरणादय ।।४।।
स्कन्धबीजा॰ सल्लकीकण्टकीपलाशादय ।।५।।
बीजा रोहन्तीति बीजरुहा॰ शालिगोधूमादय ।।६।।
(संमूर्छे समन्तात् प्रसृतपुद्गल स्कन्धे भवा) संमूर्छिमा॰ ।।७।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ६६

६० (क) दुविहा होति तसा वि य।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८

(ख) अपि च त्रसा॰ त्रसनामकर्मोदयात्। त्रसजीवा द्विविधा॰ द्वि प्रकारा ,
विकलेन्द्रिया॰, सकलेन्द्रियाश्चेति। तत्र विकलेन्द्रिया
बितिचउरक्खा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया जीवा ।
शंखादयो द्वीन्द्रिया स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्ता॰।
पिपीलिकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रिया स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिययुक्ता॰।
भ्रमरमक्षिकादंशमशकादयश्चतुरिन्द्रिया स्पर्शनरसनघ्राणलोचने-
न्द्रिययुक्ता । तथैव, पचेन्द्रिया सकलेन्द्रिया मनुष्यदेवनारक-
पश्वादय स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रेन्द्रिययुक्ता॰ सकलेन्द्रिया
कथ्यन्ते।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८ की टीका पृ ६७

६१. से किं तं तसा? तिविहा पण्णत्ता, तंजहा-तेउक्काइया वाउकाइया ओराला
तसा पाणा।

जीवाजीवाभिगम सूत्र गा २२ (सुत्तागमे)

६२. से किं तं ओराला तसा पाणा? चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहावेइंदिया तेइंदिया
चउरिंदिया, पंचेंदिया।

जीवाजीवाभिगम सूत्र गा २७ (सुत्तागमे)

६३ ते चामी चतुरशीतिर्लक्षा – 'पुढवी जल जलण मारुय एक्केक्के सत्त सत्त

लक्खाओ। वण पत्तेय अणंते दस चउद्दस जोणिलक्खाओ। विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य णारयसुरेसु। तिरिएसु हुति चउरो चोद्दस लक्खा य मणएसु।।

आचारांग सूत्र सूत्रकृतागसूत्र च (मुनि जम्बूविजय)

आचारांगवृत्ति (शीलाकाचार्य) पृ १६

६४ जीवो हवेइ कत्ता सव्व कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो ससारं कुणइ मोक्खं च।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१८८

६५. होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गल परट्टो।

कर्मग्रन्थ ५/८६

६६. (क) ओराल विउव्वाहारतेअ भासाण पाणमणकम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्जासओ खित्ते।।

आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ३९

(ख) औदारिक ग्रहणादौदारिकशरीर ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा परिगृहीता.। इह वर्गणा सामान्यतश्चतुर्धा द्रव्यादिभेदात्, तत्र द्रव्यत एकपरमाण्वादीनां यावदनन्तपरमाणूना क्षेत्रत एक प्रदेशावगाढानां यावदसंख्यप्रदेशानां। कालत एक समयस्थितीनां सर्वेषां परमाणूना स्कन्धाना चैका वर्गणा द्विसमयस्थितीनां सर्वेषां द्वितीया वर्गणा त्रिसमय स्थितीनां तृतीया एवमेकैक समयवृद्ध्या संखेयसमय स्थितीनां परमाण्वादीनां संखेया वर्गणा असख्येयसमय स्थितीनामसंख्येयवर्गणा , भावत एक गुणकृष्णवर्णानां परमाणूनां स्कन्धानां च सर्वेषां एका वर्गणा द्विगुणकृष्णानां द्वितीया एकमेकैकगुणवृद्ध्या संख्येया असंखेयगुणकृष्णवर्णानामसंख्येया अनन्तगुण कृष्णानामनन्ता वर्गणा , एवं नीललोहितहारिद्रशुक्लवर्णेषु सुरभीतरयोर्गन्धयो. तिक्त कटुकषायाम्ल मधुरेषु रसेषु कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्ण स्निग्धरुक्षेषु स्पर्शेष्वष्टेसु सर्वसंख्येया २० स्थानेषु प्रत्येक-मेकादिसंख्येयगुणानां संख्येया असंख्येयगुणानां असंख्येया अनन्तगुणानामनन्ता वर्गणा वाच्या-, तथा लघु गुरु-पर्यायाणां बादर परिणामान्वितवस्तूनामेका वर्गणा, अगुरुलघु-पर्यायाणां तु सूक्ष्मपरिणामपरिणतवस्तूनामेकावर्गणा, एते द्वे भवत ।

आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र टीका) गा ३९ की टीका

(ग) कइविहे णं भंते। पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते?
गोयमा। सत्तविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते, तं जहा-

१) ओरालिय पोग्गलपरियट्टे, २) वेउव्विय पोग्गलपरियट्टे,
३) तेयोपोग्गलपरियट्टे, ४) कम्मापोग्गलपरियट्टे,
५) मणपोग्गलपरियट्टे, ६) वइपोग्गलपरियट्टे, ७) आणापाणु
पोग्गलपरियट्टे।

भगवती सूत्र १२/४ (सैलाना पृ २०३१)

६७ (क) दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पोग्गलपरट्टो।।
उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्व अणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा।।
लोगपएसोसप्पिणिसमयाऽनुभागबंधठाणा य।
जह तह कम मरणेण पुट्ठा खित्ताइ थुलियरा।।

कर्मग्रन्थ (देवेन्द्रसूरि) ५/८६-८८

(ख) पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्त भेएण।।
संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
[illegible] जीवु मुयइ [illegible] अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो।।
लोगस्स पएसेसु अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
खेत्तंमि बायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स।।
उस्सप्पिणिसमएसु अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स।।
अणुभागट्ठाणेसुं अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुकमसो।।

पच संग्रह २/३७-४१

(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार १६२, गा ५३-६६

६८. पुद्गलानाम् - परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैक शरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त = परिणमनं यावति काले स तावान् काल पुद्गलपरावर्त.। इदं च शद्बस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्य समवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते। तेन क्षेत्र पुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तना भावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्त - स्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तशद्ब-प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते।।

प्रवचन टी पृ ३०८
उद्धृत कर्म ग्रन्थ भा ५ (मिश्रीमलजी म) पृ. ३२७

६९ कालो परमनिरुद्धो अविभज्जो तं तु जाण समय तु।
समया य असखेज्ञा हवइ हु उस्सासिनिस्सासो।।
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा ■ सत्त थोवा थोवा वि य सत्त लवमाहु।।
अट्ठतीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।

ज्योतिष्करण्डक ८/९/१०

उद्धृत कर्म ग्रन्थ भा ५ हिन्दी टी (मिश्री म) पृ १५८

७० से किं तं पुव्वाणुपुव्वी? पुव्वाणुपुव्वी समए १. आवलिया, २. आणापाणू, ३ थोवे, ४ लवे, ५. मुहुत्ते, ६ अहोरत्ते, ७ पक्खे, ८ मासे, ९. उऊ, १० अयणे, ११ सवच्छरे, १२ जुगे, १३ वाससए, १४ वास सहस्से, १५ वाससय सहस्से, १६ पुव्वंगे, १७ पुव्वे, १८ तुडियगे, १९. तुडिए, २० अड्डगे, २१ अड्डे, २२ अववंगे, २३ अववे, २४. हुहुयगे, २५ हुहुए, २६ उप्पलंगे, २७ उप्पले, २८. पउमगे, २९. पउमे, ३०. णलिणगे, ३१ णलिणे, ३२. अत्यनिउरगे, ३३. अत्यनिउरे, ३४ अउयगे, ३५ अउए, ३६ नउयंगे, ३७ नउए, ३८ पउयगे, ३९ पउए, ४०. चूलियगे, ४१. चूलिया, ४२. सीसपहेलियगे, ४३ सीसपहेलिया

अणुओगदारसुत्त (सुत्तागमे) गा. ११५

७१ ज्योतिष्करण्डक गा ६४-७१ उद्धृत, कर्मग्रन्थ भा ५ पृ. ३१४ (मिश्री म)

७२. (क) पलिओवमे ४५। सागरओवमे ४६। ओसप्पिणी ४७।
उस्सप्पिणी ४८। पोग्गलपरियट्टे ४९।

अणुओगदार (सुत्तागमे) गा ११५

(ख) जम्बूदीपपण्णत्ती (सुत्तागमे) पृ ५४३

७३ (क) भगवती सूत्र, १/१, ६/७

(ख) उद्धार अद्ध खित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवो दहि आउ तसाइ परिमाण।

कर्मगन्थ ५/८५

(ग) सर्वार्थ सिद्धि ३/३९ की टीका

७४ (क) दो समाओ पण्णत्ताओ, तं जहा--
उस्सप्पिणिसमा चेव ओसप्पिणिसमा चेव।।

ठाण (सुत्तागमे) २/९९

(ख) दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो पुस्सप्पिणीए
दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणीए।

(ग) कइविहे काले पण्णत्ते? गोयमा, दुविहे काले पण्णत्ते। तं जहा--

ओसप्पिणिकाले य उस्सप्पिणिकाले य। ओसप्पिणिकाले णं भंते,
कइविहे पण्णत्ते? गोयमा, छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-सुसम सुसमकाले १.
सुसमकाले २. सुसमदुस्समकाले ३. दुस्समसुसमकाले ४.
दुस्समकाले ५. दुस्समदुस्समकाले ६। उस्सप्पिणीकाले णं भंते,
कइविहे पण्णत्ते? गोयमा, छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा - दुस्समदुस्सम-
काले जाव सुसमसुसमकाले ६।. . तेण परं ओवमिए

जंबुद्दीवपण्णत्ती (सुत्तागमे) पृ ५४२ (गा १८)

७५. (क) काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत् – कर्माविष्ट
आत्मा भव्य कालेऽर्द्धपुद्गल परिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथम
सम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धि'।
अपरा कर्मस्थितिका काललब्धि. उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु
जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि
भवति? अन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु
बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च तत' संख्येय
सागरोपमसहस्रोनायामन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु
प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया।
भव्य पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक. सर्वविशुद्ध प्रथम सम्यक्त्व-
मुत्पादयति। 'आदि' शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।

सर्वार्थ सिद्धि २/३ की टीका पृ १०७-८

(ख) लब्धपचेन्द्रियो जीवस्तथा कालादिलब्धिक.।
भव्यश्च लभते साक्षाद्दर्शनं न तथा परः।।

सिद्धांतसार संग्रह १/५७

(ग) काललब्ध्यादिकारणादिति ब्रूम । कासौ काललब्धि । कर्मवेष्टितो
भव्यजीव अर्धपुद्गलपरवर्तनकाले उद्धरिते सति औपशमिक
सम्यक्त्वग्रहणयोग्यो भवति। अर्धपुद्गलपरिवर्तनादधिके काले
सति प्रथमसम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थ । एका
काललब्धिरियमुच्यते। द्वितियाकाललब्धि यदा कर्मणामुत्कृष्टा
स्थितिरात्मनि भवति, जघन्या वा कर्मणां स्थितिरात्मनि भवति।
तदा औपशमिकसम्यक्त्वं नोत्पद्यते। तर्हि
औपशमिक कदा उत्पद्यते। यदा अन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकानि
कर्माणि बन्ध प्राप्नुवन्ति, भवन्ति निर्मलपरिणामकारणात् सत्कर्माणि,
तेभ्य कर्मभ्य संख्येयसागरोपमसहस्रहीनानि अन्त. कोटाकोटी
सागरोपमस्थितिकानि भवन्ति। तदा औपशमिक सम्यक्त्वग्रहणयोग्य
आत्मा भवति। इय द्वितीयकाललब्धि । अथ करणम् अपूर्वकरणं

च विधाय अनिवृत्तिकरणस्य चरणसमये भव्यश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टि संज्ञीपचेन्द्रियपर्याप्तो गर्भजो विशुद्धिवर्धमान· शुभलेश्यो जाग्रदवस्थित ज्ञानोपयोगवान् जीव· अनन्तानुबन्धि क्रोधमानमाया-लोभान् मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतीश्चोपशमस्य प्रथमोपशमसम्यक्त्व गृह्णातीत्यर्थ ।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०८ की टीका पृ २१७-२१८

(घ) भाव विशुद्धिपरिणाम लब्धय क्षायोपशमिक विशुद्धि देशनाप्रायोग्याध करणापूर्वकरणानिवृत्तकरणलक्षणा·--।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा १८९ की टीका पृ १२६

(ङ) खय उवसमिय विसोही देसणा पाओग्ग करण लद्धी-य।
चत्तारि वि सामण्णाकरण पुण होदि सम्पत्ते।।
क्षायोपशमिक विशुद्धि देशना प्रायोग्यताकरणानाम्न्य· पंचलब्धय उपशम सम्यक्त्वे भवति। तत्र आद्या चतस्रोऽपि सामान्या भव्याभव्ययोः सभवात्।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा २ एव उसकी वृत्ति

७६ (क) संखेज्ज असखेज्जा अणंत कालेण चावि ते णियमा।
सिज्झंति भव्व जीवा अभव्व जीवा न सिज्झति।।
भविया सिद्धी जेसिं जीवाण ते भवति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाभव्वा संसाराओ ण सिज्झति।।

पच सग्रह गा १५५-१५६ (जी. समास)

(ख) भव्य मुक्तिगमनार्ह अभव्य· कदाचनापि सिद्धिगमनानर्ह ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३८

(ग) भव्याभव्य विभेदेन जीवराशिर्द्विधा भवेत्।
पारिणामिक भावौ हि तावेतावस्य सम्मतौ।।

सिद्धांतसार सग्रह ५/११

(घ) बहुशोऽप्युपदेश· स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे।
भवति ह्यन्ध पाषाण केयोपायेन कांचनम्।।
अन्धपाषाणकल्प स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम्।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्व पृथग् भवेत्।।

धर्मामृत (अणगार) पं आशाधर, १/१३

७७. (क) विशिष्ट स्मरणादिरूप मनोविज्ञान भाक् संज्ञी,
इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादि·।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ १४२

(ख) येऽपि पंचेन्द्रिया जीवास्तेऽपि द्वेधा भवत्यमी।
संज्ञ्यसंज्ञिविभेदेन पूर्णापूर्णतयाथवा।।

सिद्धांतसार संग्रह ५/९३

७८ विति चउ पणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्ज़त्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं।।

कर्मग्रन्थ १/४९

७९ (क) दंसणमोहस्सुदए उवसते सच्च [illegible] सद्दहण।
उवसमसम्मत्तमिण पसण्णकलुसं जहा तोयं।।

पच संग्रह १६५

(ख) शमान्मिथ्यात्व सम्यक्त्व मिश्रानन्तावन्धिनाम्।
शुद्धेऽम्भसीव पकस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५४

(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ २१८

८० कर्मग्रन्थ [illegible] २ (मिश्रीमलजी म) हिंदी टीका, पृ १६

८१ सर्वार्थ सिद्धि (सम्पा फुलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ १०८

८२ दसणमोह तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्ध अद्धविसुद्धं अविसुद्धं त [illegible] कमसो।।

कर्मग्रन्थ १/१४

८३ (क) अनन्तानुबंधिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ् मिथ्यात्वयोरचो-
दयक्षयात्सदुपशमाच्च [illegible] देशघातिस्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थ-
श्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्।।

सर्वार्थसिद्धि २/५

(ख) मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुदियं च उवसंतं।
मीसी भाव परिणयं वेइज्जंतं खओवसमं।।

विशेषावश्यक भाष्य, ५३२

(ग) तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अणुदीर्णस्य चोपशमेन
विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्तं तत् क्षायोपशमिकम्।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १३८

(घ) पाकाद्देशघ्न सम्यक्त्व प्रकृतेरुदयक्षये।
शमे च वेदक षण्णाममगाढं मलिनं चलम्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५६

(ङ) अण उदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्त-कम्म-उदये, खयउवसमियं हवे सम्मं।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ३०९

"दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ ज पयत्थसद्दहणं।
चल मलिणमगाढं तं वेदक सम्मत्तमिदि जाणे।।"

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ २२०

८४ तस्य जघन्योत्कृष्टस्थिति कियतीति चेत्, उक्तं च अन्तर्मुहूर्तकालं जघन्यत-स्तत्प्रायोग्यगुणयुक्त षट्षष्टिसागरोपमकाल चोत्कर्षतो विधिना। उक्तं च-
"लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा।
उवरिम एक्कतीसं एवं सव्वाणि छासट्ठी।।"

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०९ की टीका पृ २२०

८५ तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पंकवत्स्फटिकेऽम्बुवत्।
शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५५

८६ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०८ की टीका पृ २१८-२१९

८७ (क) तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र १/२

(ख) एतेष्वध्यवसायायो योऽर्थेषु, विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २२२

(ग) श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिंगनाम्।
मौढ्यादिदोष निर्मुक्तं दृष्टि दृष्टिविदो विदु ।।

सिद्धातसार संग्रह १/३४

(घ) षोढानायतनं मूढत्रयं शंकादिकाष्टकम्।
मदाष्टकममी दुष्टा दोषा सद्दर्शनोज्झिता ।।
मिथ्यात्वदर्शनविज्ञान चारित्रतयं तथा।
तद्वन्त- पुरुषा- प्राज्ञैरनायतनमीरितम्।।
कामक्रोध महालोभमान मायाविनोदनान्।
देवान्दैत्यादिदुर्वृत्तान्मन्यतेमूढदृष्टिक-।।
वीतरागं सरागं च निर्ग्रन्थ ग्रन्थसंयुक्तम्।
सगुणं निर्गुणं चापि समं पश्यन्ति दुर्धिय ।।
मूढात्मानो न जानन्ति को वन्द्यो वन्दकश्च क ।
गुथथूथाशनां नो चेद्वन्दन्ते गां कथं नरा ।।

पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकम्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता ।।
पाखण्डिन प्रपंचाढ्यान्मिथ्याचार विहारिण ।
रण्डाश्चण्डाश्च मन्यन्ते गुरुश्च गुरुमोहिन-।।
हिंसाद्यारम्भकत्वेन सर्वसत्त्वदयाभयावहान्।
समयान्मन्यते मूढ सत्यं स समयेष्विह।।
यं य दृष्टमदृष्ट वा पुरं पश्यति मानवम्।
तं तं नमति मूढात्मा मद्यपायीव निस्त्रप ।।
एकेनैव हि मौढ्येन जीवोऽनन्तभवी भवेत्।
अपरस्य द्वयस्येह फलं किमिति सशय ।।
ज्ञानं कुल बल पूजां जातिमैश्वर्यमेव च।
तपो वपु समाश्रित्याहंकारो मद इष्यते।।
शंकाकांक्षान्य दृष्टीना प्रशंसा संस्तवस्तथा।
विचिकित्सेति ये दोषास्तेऽपि वर्ज्या सुदृष्टिभि ।।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं श्रद्धान तत्त्वगोचरम्।
दर्शनं दार्शनीयाश्च कथयन्ति यतीश्वरा ।।

सिद्धान्तसार संग्रह १/३८-५०

८८ (क) तद् द्विविधं सरागवीतराग विषयभेदात्-प्रशमसवेगानुकम्पा-
स्तिकयाद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।।

सर्वार्थसिद्धि १/२

(ख) शम – सवेग – निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽ स्तिक्यलक्षणै-।
लक्षणै- पंचभि सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते।।

योगशास्त्र २/१५

(ग) रागादीनामनुद्रेक प्रशम । संसाराद्भीरुता सवेग ।
सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। जीवादयोऽर्था यथास्वं
भावै सन्तीतिमतिरास्तिक्यम्। एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं
सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। सप्ताना कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे
सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।।

राजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव) १/२

(घ) अमितगति श्रावकाचार २/६६ (श्रावकाचार सग्रह)

८९. पश्यति दृश्यते नेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्।

सर्वार्थ सिद्धि १/२

९० तन्निसर्गादधिगमाद्वा।। तत्त्वार्थसूत्र १/३

११ (क) साध्य-साधन भेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिक साध्यं, साधन द्वितयं परम्।।

श्रावकाचार संग्रह भाग ।

(ख) सराग - वीतरागात्मविषयत्वाद् द्विधा स्मृतम्।।

श्रावकाचार सग्रह भा २ (अमितगति) गा ६५

(ग) कारग-रोयग-दीवगमहवा।

विशेषावश्यक भाष्य गा २६७५

(घ) दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा-
निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्तवीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया सखेव धम्मरुइ।।

स्थानांग सूत्र १०/३/७५१

उत्तराध्ययन सूत्र २८/१६

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४९

(ङ) योगसार प्राभृत १/१६-१८

१२ (क) दर्शनविशुद्धि तीर्थकृत्वस्य।।

तत्वार्थसूत्र ६/२३

(ख) दर्शनमूलमित्याहुर्जिना सर्वव्रतात्मनाम्।
अधिष्ठान यथा धाम्नस्तन्नूनं मूलमेव च।।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, २/२

(ग) न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोखि।

रत्नकरकण्ड श्रावकाचार, गा ३२

(घ) श्रावकाचार संग्रह भा १ गा ३४-४०

(ङ) दर्शन परमो धर्मो दर्शन शर्म निर्मलम्।
दर्शन भव्यजीवानां निर्वृते कारण परम्।

सिद्धांतसार सग्रह १/६७

१३ प्रमाणनयतत्त्वालोक (वादिदेव) १/२

१४ मन्यते-इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छद्यतेऽनयेति मति
योग्यदेशावस्थित वस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ - स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१५ श्रवण श्रुतम्-शद्बार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१६ (क) अवधानमवधि - इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा

अवधि - मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि , अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२९

(ख) तेणाव हीयए तम्मि वा वहाणं तओवही सो य मज्जाया।
ज तीए दव्वाए परोप्परं मुणइ तओवहित्ति।।
विशेषावश्यक भाष्य गा. ८२

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, हेमचंद्र टीका, पृ ४६-४७

९७ अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थ.।
कषायपाहुड भा १, जयधवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ १४

९८. (क) परि-सर्वतोभावे अवनमव., अवनं गमनं वेदनमिति पर्याया ।
मनसि मनसो वा पर्यवो मन.पर्यव. सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः,
मन पर्यवश्च तद् ज्ञानं च मन.पर्यवज्ञानम्।
यद्वा मन पर्याज्ञानम् . .. . तेषां (संज्ञी जीवानाम्)
मनसा पर्यायाः - चिन्तनानुता. परिणामा - मन.पर्यायाः तेषु तेषां च
संबन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम्।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

(ख) पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जाययादिन्नाणं मणपज्जव नाणं।।
विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) ८३
(ग) विशेषावश्यक भाष्य, बृहद्वृत्या (हेमचद्र) [illegible] ४७

९९. केवलं - एक मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'
आवश्यक निर्युक्ति, गा ५३९

१०० (क) शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंक पंकापगमात् .....
यथावस्थित समस्त भूतभवद्भावि भावावभासि ज्ञानमिति।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ भाष्य, टीका, पृ. १२९

(ख) प्रमाणनय तत्त्वालोक २/२२

(ग) प्रमाणतनयतत्त्वालोक २/२३

१०१. वि-विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंग- विपर्यय इति विभंग ।
कर्मग्रन्थ चतुर्थ (मरुधर मिश्रीमलजी म) पृ १११

११ (क) साध्य-साधन भेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिक साध्य, साधन द्वितयं परम्।।

श्रावकाचार संग्रह भाग १

(ख) सराग – वीतरागात्मविषयत्वाद् द्विधा स्मृतम्।।

श्रावकाचार सग्रह भा २ (अमितगति) गा ६५

(ग) कारग-रोयग-दीवगमहवा।

विशेषावश्यक भाष्य गा. २६७५

(घ) दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा-
निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया संखेव धम्मरुइ।।

स्थानाग सूत्र १०/३/७५१
उत्तराध्ययन सूत्र २८/१६

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४९
(ड) योगसार प्राभृत १/१६-१८

१२ (क) दर्शनविशुद्धि . . .. तीर्थकृत्वस्य।।

तत्वार्थसूत्र ६/२३

(ख) दर्शनमूलमित्याहुर्जिना सर्वव्रतात्मनाम्।
अधिष्ठानं यथा धाम्नस्तन्नूनं मूलमेव च।।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, २/२

(ग) न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोखि।

रत्नकरकण्ड श्रावकाचार, गा ३२

(घ) श्रावकाचार सग्रह भा १ गा ३४-४०
(ङ) दर्शन परमो धर्मो दर्शनं शर्म निर्मलम्।
दर्शनं भव्यजीवानां निर्वृति कारण परम्।

सिद्धांतसार सग्रह १/६७

१३ प्रमाणनयतत्त्वालोक (वादिदेव) १/२

१४. मन्यते-इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति
योग्यदेशावस्थित वस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ – स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१५. श्रवणं श्रुतम्-शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१६ (क) अवधानमवधि – इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा

अवधि- – मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि , अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १२९

(ख) तेणाव हीयए तम्मि वा वहाणं तओवही सो य मज्जाया।
जं तीए दव्वाए परोप्परं मुणइ तओवहित्ति।।

विशेषावश्यक भाष्य गा. ८२

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, हेमचंद्र टीका, पृ ४६-४७

९७. अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थ-।
कषायपाहुड भा. १, जयधवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ १४

९८. (क) परि-सर्वतोभावे अवनमव-, अवनं गमनं वेदनमिति पर्याया ।
मनसि मनसो वा पर्यवो मन पर्यव- सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ ,
मन पर्यवश्च तद् ज्ञानं च मन पर्यवज्ञानम्।
यद्वा मन- पर्याज्ञानम् . ... तेषां (संज्ञी जीवानाम्)
मनसा पर्याया – चिन्तनानुता परिणामा – मन-पर्याया तेषु तेषां च
संवन्धि ज्ञानं मन पर्यायज्ञानम्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

(ख) पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा।
[illegible] व पज्जाययादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं।।
विशेषावश्यक [illegible] (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) ८३

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, [illegible] (हेमचंद्र) पृ. ४७

९९. केवलं – एकं मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'

आवश्यक निर्युक्ति, गा. ५३९

१०० (क) शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंक पंकापगमात् . ...
यथावस्थित समस्त भूतभवद्भावि भावावभासि ज्ञानमिति।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ भाष्य, टीका, पृ. १२९

(ख) प्रमाणनय तत्वालोक २/२२

(ग) प्रमाणतनयतत्त्वालोक २/२३

१०१. वि-विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंग विपर्यय इति विभंग ।

कर्मग्रन्थ चतुर्थ (मरुधर मिश्रीमलजी म) पृ ११९

१०२. जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं।

तब्भावे सेसाणि य तेणाईए मइ सुयाइं।।
मइपुव्वं जेण सुयं तेणाईए मइ, विसिट्ठो वा।
मइ भेओ चेव सुय तो मइसमणंतर भणिय।

विशेषावश्यक भाष्य, ८५-८६

१०३ काल-विवज्जय-सामित्ति-लामसाहम्मओ।

विशेषावश्यक भाष्य, गा ८७

१०४ माणसमित्तो छउमत्थ-विसय-भावादिसामण्णा।

विशेषावश्यक भाष्य, गा. ८७

१०५ अन्ते केवलमुत्तम- जइसामित्तावसाणलाभाओ।

विशेषावश्यक भाष्य, गा ८८

१०६ (क) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।

तत्त्वार्थ सूत्र १/११-१२

(ख) पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षाम्।

प्रमाणनय तत्त्वालोक (वादिदेवसूरि) २/१८

(ग) दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव। पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, ■ जहा- केवलनाणे णोकेवलणाणे चेव। णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते त जहा- ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव। परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- अभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

स्थानागसूत्र २/१/१०३ (सुत्तागमे)

(घ) पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा-अभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

स्थानागसूत्र ५/३/५४१

(ङ) स्पष्टं प्रत्यक्षम्। तद् द्विप्रकारं, साव्यवहारिकं पारमार्थिकं च।

प्रमाणनय तत्त्वालोक २/३-४

१०७ (क) कसाय पाहुड (गुणधराचार्य, वीरसेनाचार्य) धवला टीका

भा १, पृ १२-१३

(ख) स्थानांगसूत्र, ४/४/३६४
(ग) नन्दीसूत्र, २८-४०, ६१
(घ) बहुबहुविधक्षिप्रानि सृतानुक्तध्रुवानां सेतराणाम्।

तत्त्वार्थसूत्र, १/१६

(ङ) अवग्रहेहावायधारणा।

तत्त्वार्थ सूत्र, १/१५

(च) चउव्विहा मइ पण्णत्ता, त जहा-उग्गहमई, ईहामई, अवायमई, धारणामई। स्थानाग सूत्र ४/४१

(छ) स्थानांग सूत्र ६/

(क) कसायपाहुड, जयधवला टीका, पृ २२-२३, भा. १

(ख) नन्दीसूत्र गा. ४४

(ग) अक्खर सन्नी सम्मं साइयं खलु सपज्ञवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं च सत्त वि एए सपडिवक्खा।
पज्ञय अक्खर पयरा संघाय पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य स-समासा।। कर्मग्रन्थ १/६-७

(घ) नन्दीसूत्र, ३७

१०९ (क) द्विविधोऽवधिः। तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
यथोक्तनिमित्त षड् विकल्प शेषाणाम्।
तत्त्वार्थ सूत्रम् १/२१-२३

(ख) ओहिनाण-पच्चख दुविहं पण्णत्त, त जहा-भवपच्चइय च, खाओवसमियं च। नन्दीसूत्र ६

(ग) छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, त जहा-अणुगामिए, अणाणुगामिते, वड्ढमाणते हीयमाणते, पडिवाती, अपडिवाती।
स्थानाग सूत्र ६/

(घ) तमोहिणाणं तिविहं-दंसोही-परमोही सव्वोही चेदि।
कसायपाहुड, जयधवला टीका (वीर सेनाचार्य) पृ १५ भा १

(ङ) नन्दीसूत्र १०

११० ऋजुविपुलमति मन पर्याय । तत्त्वार्थ सूत्र १/२४

१११ तद् विकलं सकल च। तत्र विकलमवधिमन पर्यायज्ञानरूप-तया द्वेधा। प्रमाणनय तत्त्वालोक २/१९-२०

११२. (क)

(ख) ग्रन्थार्थोभय पूर्ण काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानाराध्यम्।।
पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय गा ३६

११३ दु ख ज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले।
विज्ञानमेव जन्तूना सुधाम्बुप्रीणनक्षम ।।

तृतियमथवा नेत्रं विश्व तत्त्व प्रकाशने।।
ज्ञानार्णव ७/१२-१५

मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृत ।
ध्यान साध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन ।।

ज्ञानार्णव ३/१३

११४ चारित्रं भवति यत समस्त सावद्ययोग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, गा. ३९

११५. (क) पच विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोयट्ठावणियसजमे परिहारविसुद्धि संजमे सुहुमसंपरायसजमे अहक्खायचरित्त संजमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/२/५२४

(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा १२६०-१२६१

(ग) हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत. परिग्रहत ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।
निरत कात्स्न्यंनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।
पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, गा ४०-४१

(घ) अनुयोगदार सुत्त (चरित्तगुणप्पमाण भेया) पृ ११४९ (सुत्तागमे)

११६. (क) सम रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति,
आयो लाभ प्राप्तिरिति पर्याया , समस्य आय
समाय समाय एव सामायिक।
समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय लाभ. समाय
समाय एव सामायिकं।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३०

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ७/२१ की वृत्ति,
(ग) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति गा ८५४
(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गा ३४७७, ३४७९, ३४८०-३४८२
(ङ) सामायिक सूत्र (उपा अमरमुनि) पृ २७

११७ (क) सामाइयं संखेवो चौद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।

विशेषावश्यक भाष्य, गा. २७९६

(ख) सकलद्वादशांगोपनिषद्भूत सामायिक सूत्रवत्।

तत्त्वार्थ टीका, उद्धृत, सामाइक सूत्र (अमरमुनि) पृ २६

११८. (क) जस्य सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं।।
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासियं।।
अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

(ख) समता सर्वभूतेषु, संयम· शुभ भावना।
आर्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक वृत्तम।
सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ. २९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि (हरिभद्र कृत) गा. ७९७-७९८

(घ) नियमसार गा. १२६-१२७

११९. (क) सामाइय भाव परिणइ भावाओ जीव एव सामाइयं।
आवश्यक निर्युक्ति २३३६

(ख) समभावो सामाइयं तण-कचण-सड-मित्र विसओ पि।
पंचाशक (हरिभद्र कृत) ११/५, उद्धृत सामाइक सूत्र ३२

१२०. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. ९६२

(ख) षट् प्रकार · नाम १, स्थापना २, द्रव्य ३, क्षेत्र ४, काल ५, भाव ६.
आवश्यक निर्युक्ति भा १ पृ. १०६

१२१.(क) आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे।
भगवइ सुत्त १/९

(ख) सावज्ज जोग विरओ.........आया सामाइय होइ।
आवश्यक निर्युक्ति गा. १४९

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. ९५५

(घ) गोम्मटसार (जी.का.) गा. ३६८

१२२. (क) एतच्च द्विधा-इत्वरम्, यावत्कथिकं च। तत्र स्वकल्पकालभावीत्वरम्।
इदं च भरतैरावतक्षेत्रेषु प्रथम-पश्चिम-तीर्थंकरतीर्थेऽनारोपित
महाव्रतस्य शिक्षकस्य विज्ञेयम्।
अत्र जन्मनि यावज्जीवितकथाऽस्त्यात्मन·, तावत्काल भावि
यावत्कथं तदेव यावत्कथिकम्। एतच्च भरतैरावतमध्यद्वाविंशति-
तीर्थंकर साधूनां, महाविदेहार्हत्सयतानां चावसेयम्।।

(ख) सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-इत्तरिए य
आवकहिए य।। अनुयोगदार सुत्त, १४५ (पृ ११५०)

१२३. (क) तत्र पूर्व पर्यायस्य छेदोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपण यत्र चारित्रे तत्

मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानत स्मृत ।
ध्यान साध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन ।।

ज्ञानार्णव ३/१३

११४. चारित्रं भवति यत समस्त सावद्ययोग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, गा ३९

११५ (क) पंच विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोयट्ठावणियसजमे परिहारविसुद्धि सजमे सुहुमसंपरायसंजमे अहक्खायचरित्त संजमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/२/५२४

(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा १२६०-१२६१

(ग) हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत. परिग्रहत ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।
निरत कात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।

पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, गा ४०-४१

(घ) अनुयोगदार सुत्त (चरित्तगुणप्पमाण भेया) पृ ११४९ (सुत्तागमे)

११६ (क) सम रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति,
आयो लाभ प्राप्तिरिति पर्याया., समस्य आय
समाय समाय एव सामायिक।
समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय. लाभ समायः
समाय एव सामायिकं।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३०

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ७/२१ की वृत्ति,
(ग) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति गा ८५४
(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गा ३४७७, ३४७९, ३४८०-३४८२
(ङ) सामायिक सूत्र (उपा अमरमुनि) पृ २७

११७. (क) सामाइयं संखेवो चौद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।

विशेषावश्यक भाष्य, गा २७९६

(ख) सकलद्वादशागोपनिषद्भूत सामायिक सूत्रवत्।

तत्त्वार्थ टीका, उद्धृत, सामाइक सूत्र (अमरमुनि) पृ २६

११८. (क) जस्य सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं।।
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइय होइ, इह केवलि भासियं।।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

(ख) समता सर्वभूतेषु, संयम· शुभ भावना।
आर्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक वृत्तम।

सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ. २९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि (हरिभद्र कृत) गा. ७९७-७९८

(घ) नियमसार गा. १२६-१२७

११९. (क) सामाइय भाव परिणइ भावाओ जीव एव सामाइयं।

आवश्यक निर्युक्ति २३३६

(ख) सममावो सामाइयं तण-कचण-सड-मित्र विसओ पि।

पंचाशक (हरिभद्र कृत) ११/५, उद्धृत सामाइक सूत्र ३२

१२०. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. ९६२

(ख) षट् प्रकार : नाम १, स्थापना २, द्रव्य ३, क्षेत्र ४, काल ५, भाव ६.

आवश्यक निर्युक्ति भा. १ पृ. १०६

१२१.(क) आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे।

भगवइ सुत्त १/९

(ख) सावज्ज जोग विरओ.........आया सामाइयं होइ।

आवश्यक निर्युक्ति गा. १४९

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा ९५५

(घ) गोम्मटसार (जी.का.) गा. ३६८

१२२. (क) एतच्च द्विधा-इत्वरम्, यावत्कथिकं च। तत्र स्वकल्पकालभावीत्वरम्।
इद च भरतैरावतक्षेत्रेषु प्रथम-पश्चिम-तीर्थंकरतीर्थेऽनारोपित
महाव्रतस्य शिक्षकस्य विज्ञेयम्।
अत्र जन्मनि यावज्जीवितकथाऽस्त्यात्मन·, तावत्काल भावि
यावत्कथं तदेव यावत्कथिकम्। एतच्च भरतैरावतमध्यद्वाविंशति-
तीर्थंकर साधूनां, महाविदेहार्हत्संयतानां चावसेयम्।।

(ख) सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-इत्तरिए य
आवकहिए य।। अनुयोगदार सुत्त, १४५ (पृ ११५०)

१२३. (क) तत्र पूर्व पर्यायस्य छेदोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तत्

छेदोपस्थापनम्। चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३०

(ख) छेओवट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-साइयारे य, निरइयारे य।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११५०

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, वृत्ति गा. १२६० की

१२४ सपरैति-पर्यटति संसारमनेनेति सपराय क्रोधादि कषाय , सूक्ष्मो लोभाशमात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसंपरायम्।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३७

१२५. (क) सुहुम सपराय चरित्तगुप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा सकिलिस्समाणए य विसुज्झमाणए य २। अहवा सुहुमसपरायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पडिवाई य १ अपडिवाई य २। अनुयोगदारसुत्त (सुत्तागमे) १४५

(ख) इदमपि सक्लिश्यमानक विशुद्ध्यमानक भेद द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यवमानस्य सक्लिश्यमानकम् श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकमिति। चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १३७

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. १२६० की वृत्ति.

१२६ उवसते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छद्मस्थो व जिणो वा अहक्खाओ संजओ साहू।।

पंचसंग्रह १/१३३

१२७. अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-पडिवाई य १ अपडिवाई य २। अहवा अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-छउमत्थिए य १ केवलिए य २।

अणुयोगदारसुत्त, १४५

१२८. देशे-संकल्प निरपराध त्रसवधविषये यत-यमनं संयमो यस्य स देशयत , सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतधारी अनुमतिमात्र श्रावक इत्यर्थ ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३७

१२९. मूलोत्तरगुण निष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधा श्रावक- पिपासु स्यात्।

धर्मामृत (सागार) १/१५

१३०. पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक-।

तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिक साधक. स्वयुक्।।

धर्मामृत (सागार) १/२०

१३१. तत्र गुहस्थधर्मोऽपि द्विविध. – सामान्यतो विशेषश्चेति।

धर्मबिन्दु (हरिभद्रसूरि) गा २

१३२. (क) धर्म बिन्दु श्लोक ३-३३

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य (हेमचन्द्राचार्य) १/४७-५६

१३३. (क) पंचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। उवासगदसाओ गा. ४ (सुत्तागमे)

(ख) पंचधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणा. स्युर्द्वादशोत्तरे। धर्मामृत (आगार) ४/४

१३४. मद्यमासमधुन्युज्झेत्पचक्षीरिफलानि च। धर्मामृत (आगार) २/२
पिप्पलोदुम्बर प्लक्ष-वट-फल्गु-फलान्यदन्।
हन्त्याद्र्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्व रागयोगतः।।

धर्मामृत (आगार) २/१३

१३५. विरति· स्थूल हिंसादेर्द्विविध-त्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः।।

योगशास्त्र २/१८

१३६. पचाणुव्वया पण्णत्तं तं जहा – थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, थूलाओ मेहुणाओ वेरमण (सदारसतोसे), इच्छापरिमाणे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८४

१३७ संकल्पजः स्थूलस्तस्माद्विरति । संकल्पं हृदि व्यवस्थाप्य व्यापादयामीति स्थूलप्राणातिपातस्माद्विरति. प्रथममणुव्रतम्। न पुनरारं भजाद्विरतिरिति।..... ।

प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति) ३०३ की वृत्ति

१३८. (क) योगशास्त्र २/५३-५४

(ख) धर्मामृत (आगार) पं आशाधर ४/३९

१३९. (क) योग शास्त्र २/६५

(ख) धर्मामृत (आगार) ४/४६

१४०. (क) सदासंतोसिए परिमाणं करेइ।

उपासकदशांगसूत्र (आत्मा म.) १/१६

(ख) योग शास्त्र २/७६

१४१ (क) योग शास्त्र २/१०६

(ख) धर्मामृत (आगार) ४/५९

१४२. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः।।

श्रावकाचार संग्रह (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) गा. ६७

१४३. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद् गुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/१

१४४ भोगोपभोगयो संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयीकगुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/४

१४५. (क) उवभोगपभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा - भोयणओ य, कम्मओ य।

उपासकदशांग सूत्र (आत्मारामजी म.) १/४७

(ख) उल्लणियाविहि, दंतवणविहि, फलविहि, अब्भंगणविहि,
उव्वट्टणविहि, मज्जणविहि, वत्थविहि, विलेवणविहि, पुप्फविहि,
आभरणविहि, धुवणविहि, भोयणविहि, भक्खविहि, ओयणविहि,
सूवविहि, घयविहि, सागविहि, माहुरयविहि, जेमणविहि,
पाणियविहि, मुहवासविहि, वाहणविहि, उवाणहविहि, सयणविहि,
सचित्तविहि, दव्वविहि।

उपासकदशांगसूत्र (आ म.) १/२२-३८

(ग) कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न
समायरियव्वाइ। तं जहा-इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे,
भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दतवाणिज्जे, लक्खा-वाणिज्जे, रसवाणिज्जे,
विस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, जंत पीलण कम्मे, निल्लछन-कम्मे,
दवग्गि-दावणया, सर-दह-तलायसोसणया, असइ-जण
पोसणया। उपयासकदशांगसूत्र (आ. म.) १/४७

१४६. आर्तरौद्रमयध्यानं पापकर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारि दानं च, प्रमादाचरणं तथा।।

शरीराद्यर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थित ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/७३-७४

१४७. त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त-सावद्यकर्मण ।
मुहूर्त समता या तां विदु सामायिक-व्रतम्।। योगशास्त्र ३/८२

१४८. दिग्व्रते परिमाण यत्, तस्य सक्षेपण पुनः।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते।। योगशास्त्र ३/८५

१४९ (क) चउव्विहे आहारे पण्णत्ते तजहा - असणे पाणे खाइमे साइमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/२/३७०

(ख) चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापार निषेधनम्।
ब्रह्मचर्यक्रिया स्नानादि त्याग पौषधव्रतम्।।

योग शास्त्र ३/८५

१५० दान चतुर्विधाऽऽहार पात्राऽच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथि सविभाग व्रत मुदीरितम्।। योगशास्त्र ३/८७

१५१ उवासगदसाओ (सुत्तागमे) १/६

१५२ (क) श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थ ।

दशवैकालिकसूत्र (हरिभद्र टीका) १/३

(ख) जह मम न पियं दु क्ख, जाणिय एमेव सव्व जीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो।।
णत्थि य रे कोइ वेसो, पिओ य सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ।।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

१५३. (क) "गोयमा। जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया ....
जाव गुत्तबभयारी, से तेणट्ठेणं एत वुच्चइ धम्म देवा।।"

भगवतीसूत्र १२/९

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र १९/९०-९२

१५४. एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाण च, अतिवायंन्च मुसावाय च बहिद्ध च कोह च माय च माणं च लोह च, पिज्ज च, दोस च, इच्चेव जओ जओ आदाण अप्पणो पदोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्व

पडिविरते पाणाइवाया सिया दते दविए वोसट्ठकाए 'समणे' ति वच्चे।

सूत्रकृताग १/१६/१

१५५ (क) महत्त्वहेतोर्गुणिभि श्रितानि महान्तिमत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानिति सता मतानि।

ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य) १८/१

(ख) साधेति ज महत्थ आयरिइदा च ज महल्लेहिं।
ज च महल्लाइ सय महव्वदाइ हवे ताइ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा ३ पृ ६३६

(ग) महान्ति-बृहन्ति च तानि व्रतानि च नियमा महाव्रतानि।

स्थानागसूत्र (आत्मा म) भा २, ५/१

१५६ दशवैकालिक सूत्र (मच्छय्याम्भवसूरि)

हारिभद्रीय वृत्ति पृ १२०

१५७ पचमहाव्रत मूल समितिप्रसर नितान्तमनवद्यम्।
गुप्ति फल भार नम्र सन्मतिना कीर्त्तित वृत्तम्।।

ज्ञानार्णव ८/३

१५८ (क) पचमहव्वया पण्णत त जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण,
सव्वाओ मुसवायाओ वेरमण, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं,
सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/१

१५९ (क) हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ।
दव्वे भावे य तहा अहिंसाऽजीमाइवाउ त्ति।।
अभिदान राजेन्द्र कोश भाग १, पृ ८७२

(ख) पुरुषार्थ सिद्धि उपाय (अमृतचन्द्राचार्य) गा ४३

१६० (क) न यत् प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोणम्।
त्रसाना स्थावराणा च तदहिंसाव्रत मतम् ।।

योगशास्त्र १/२०

(ख) दशवैकालिक सूत्र ४/५

१६१. पण्हावागरणं (प्रश्नव्याकरण) सुत्तागमे, पृ १२२४

१६२ तप श्रुतयमज्ञानध्यान दानादिकर्मणाम्।

सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता।। ज्ञानार्णव ८/४२

१६३. (क) प्रिय पथ्य वचस्तथ्यं सुनृतव्रतमुच्यते।
तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहित च यत्।।
योगशास्त्र १/२०

(ख) दशवैकालिक ४/६
(ग) दशवैकालिक ६/१३

१६४. लोकम्मि सारभूय गभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरग मेरुपव्वयाओ
सोमतरगं चदमंडलाओ दित्ततर सूरमडलाओ विमलयरं
सरयनहलयलाओ ......
पण्हावागरण (सुत्तागमे) पृ १२२७

१६५ पण्हावागरण (सुत्तागमे) पृ १२२८

१६६. (क) योगशास्त्र १/२२
(ख) ज्ञानार्णव १०/१५
(ग) आचारागसूत्र (शीलांकायार्च टीका) २/३/१५
(घ) दशवैकालिक ४/७

१६७. द्रव्यादि चार प्रकार की चोरी

१६८ (क) आचारागसूत्र (शीलाकाचार्य टीका) २/३/१५
(ख) स्थानाग सूत्र (आत्मा म.) ४/१०
(ग) दशवैकालिक ४/८

१६९ देव दानव गन्धव्वा जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं।।
उत्तराध्ययनसूत्र १६/१६

१७० जहा किम्पाग फलाण, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो।।
उत्तराध्ययनसूत्र १९/१७

१७१. दिव्योदारिक कामानां कृतानुमतिकारितै ।
मनो वाक् कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।
योगशास्त्र १/२३

१७२. (क) ज्ञानार्णव १६/४-६, १३ एवं पृ. १६५

१७३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र
(ख) योगशास्त्र १/२४
(ग) दशवैकालिक सूत्र ४/९

१७४. प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेन द्विरूपा भावनेति। अप्रशस्त भावनापरित्यागेन प्रशस्ता भावना भवितव्या। भावमि होइ दुविहा पसत्था तह अपसत्था य। पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहचेव। कोहे माणे माया लोहे य हवंति अपसत्था। दंसण नाण चरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।

आचारांग सूत्र (शीलांकाचार्य टीका) पृ. २७९

१७५. (क) आचारागसूत्र २/१५/१०२७-१०७४
(ख) योगशास्त्र १/२६-३३
(ग) सर्वार्थ सिद्धि ७/३-८

१७६. (क) अहावरे छट्ठे मते। वए राइभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते। राइभोयणं पच्चक्खामि। ....।

दशवैकालिक (सुत्तागमे) ४/१०

(ख) योगशास्त्र (हेमचद्र) ३/५०-५३

१७७. (क) पच समिइओ पण्णत्तं तं जहा – इरियासमिइ भासा जाव पारिठावणियासमिइ। ठाणे (सुत्तागमे) ५/३/५३६

१७८. (ख) ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा समितय.।

तत्त्वार्थ सूत्र ९/५

(ग) तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ तं जहा-मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती,

ठाणे (सुत्तागमे) ३/१/१७१

अट्ठ पवयणमायाओ समिइ गुत्ती तहेव।
पचेव य समिइओ, तओ गुत्तीउ आहि आ।

उत्तराध्ययनसूत्र २४/१

१७८. (क) समितय. – सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेणेतिर्गतिवृत्ति समिति

धर्मामृत (अनगार) पं. आशाधर ४/१६३ क्रमेणेतिर्गतिवृत्ति

(ख) सम् = एकी भावेन इति = प्रवृत्ति समिति·।

शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः।

उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमरमुनि) पृ. २६६

१७९. (क) गोप्तुं - रक्षितुम्। प्रतिपक्षितः - मिथ्यादर्शनादित्तयात्कर्मवन्धाद्वा।
पाप योगान् - व्यवहारेण पापाः पापार्या निश्चयेन च शुभाशुभ
कर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्काय व्यापारास्तान्।

धर्मामृत (अणगार) पं. आशाधर सं. टीका पृ. ३४४

(ख) गोपनं गुप्ति। उद्धृत, श्रमण सूत्र, (अमरमुनि) पृ २४०

१८०. (क) समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइयव्वो।
कुसल-वइमुदीरिंतो जं य गुत्तो वि समिओ वि।

आवश्यक सूत्र की टीका (हरिभद्र) उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ २४१

(ख) - ......तथा मुमुक्षोर्गुप्त्याराधनपस्य समितीनां सखीत्वं, चासा
नायिकाया इव गुप्ते स्वभावाश्रयणात्। समितिषु हि गुप्तयो
लभ्यन्ते न तु गुप्तिषु समितय ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६२ की टीका

(ग) गुप्ते शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपरः श्रयेत्तत्सखीः शमी समिति ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६२

१८१. सर्वात्मना यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम्
यतिधर्मानुरक्तानां देशत स्यादगारिणाम्।।
एताश्चरित्रस्य जननात् परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोष्टौ प्रकीर्तिताः।।

योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) १/४५-४६

१८२ गोप्तुरत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः।
पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१५४

१८३ तओगुत्ती पण्णत्ताओ तं जहा - मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती।

समवाय ३/९ (सुत्तागमे)

१८४. (क) योग शास्त्र १/४१
(ख) ज्ञानार्णव १८/१५-१६

१८५ (क) योग शास्त्र १/४२

(ख) ज्ञानार्णव १८/१७

१८६ (क) योग शास्त्र १/४३-४४

(ख) ज्ञानार्णव १८/१८

(ग) प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्नावेश· संरंभ·
साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भ।
प्रक्रम आरम्भ। सर्वार्थ सिद्धि ६/८ की वृत्ति

१८७. रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञान वैपरीत्य वा।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्ते ।।

धर्मामृत (अणगार) ४/१५९

१८८ कार्कश्यादिगरोद्गारो गिर· सविकथादर·।
हुकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्ते स्तद्वदत्यय·।।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६०

१८९. कायोत्सर्गमला शरीरममतावृत्ति· शिवादिव्यथा
भक्तुं तत्प्रतिमोन्मुख स्थितिरथाकीर्णेङ्घ्रिणैकेन सा।
जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्व बहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुतागवृत्युपरति स्यु कायगुप्तेर्मला·।।

धर्मामृत (अनगार) ४/१६१

१९०.(क) योग शास्त्र १/३६

(ख) ज्ञानार्णव १८/५-६

(ग) धर्मामृत (अनगार) ४/१६४

१९१. (क) ईर्यायां समिति· इर्या-समितिस्तया। इर्याविषये एकी भावेन
चेष्टनमित्यर्थ·।

श्रमणसूत्र (हरिभद्र) उद्धृत, श्रमणसूत्र (अमरमुनि) पृ २४१

(ख) भगवती आराधना (शीवार्य) गा ११९१

१९२. (क) लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिनेभास्वदंशुभि·।
जन्तुरक्षणार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्।।

योगशास्त्र (हेमचंद्राचार्य) १/३६

(ख) उच्चालियम्मि पाए इरियासमितस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज वा तं जोगमासज्ज।।

न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समये।
अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा।।

उद्धृत, योगशास्त्र (हरिभद्र) पृ. ६९-७०

(ग) ज्ञानार्णव १८/५, ६

१९३. (क) योग शास्त्र १/३७
(ख) ज्ञानार्णव पृ. १७७
(ग) धर्मामृत (अनगार) ४/१६५-१६६

१९४. विघ्नांगारादिशंकाप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषैः,
प्रस्मार्यं वीरचर्यार्जितममल मधः कर्मभुग् भावशुद्धम्।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या
कालेन्न मात्रयाऽश्नन् समिति मनुषजत्येषणास्तपोभृत्।।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६७

१९५ (क) आहाकम्मुदेसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे।।
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे।

पिण्डनिर्युक्ति (भद्रबाहुस्वामी) ९२-९३

(ख) धाई दुई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवति दस एए।
पुव्विं पच्छा सथविज्जा भते चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य।।

पिण्ड निर्युक्ति, ४०८-९

(ग) सकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छिड्डय (छिड्डय) एषण दोसा दस हवति।।

पिण्ड निर्युक्ति ५२०

(घ) ओघनिर्युक्ति गा ४०११

१९६ भगवती सूत्र १/१

१९७. छण्हमण्णयरे ठाणे कारणमि उ आगए।
आहारेज्जा (उ) मेहावी सजए सुसमाहिए।।
वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।

तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिंताए।।

ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, टीका ज्ञानसागरसूरि) गा. ८८०-८८२

१९८. पाए उग्गम उप्पायणेसणा संयोयणा पमाणे य।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पातणिज्जुत्ति।।

पचकल्पभासं (संघदासगणि) ७८१

१९९. (क) आसनादीनि सवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यत्नतः।
ग्रहणीयान् निक्षिपेद्वा यत् साऽदानसमिति स्मृता।। योगशास्त्र-१/३९

(ख) सुदुष्टमुष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि।
कालेन भूय. कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्ष ।।

धर्मामृत (अनगार) ४/१६८

२००. (क) कफ-मूत्र-मल प्रायं निर्जन्तु – जगतीतले।
यत्नाद् उत्सृजेत् साधु. सोत्सर्गसमिति र्भवेत्।। योगशास्त्र १/४०

(ख) ज्ञानार्णव १८/१४

२०१ (क) बाल तवो कम्मेण। भगवइ (सुत्तागमे) ३/१/१३४

(ख) बालजणो पगब्भति। सूयगडांगसूत्र (पुण्यविजयजी) २/२/१३०

(ग) बाले पावेहि मिज्झति। सूयगडागसूत्र (पुण्यविजयजी) २/२/१३०

(घ) तामलिस्स बाल तवस्सिस्स। भगवई (सुत्तागमे) ३/१/१३४

(ङ) तएणं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुन्नाइं।
सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता।। भगवइ ३/१/१३५

२०२. (क) तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो। निशीथ चूर्णि भा १ गा ४६

(ख) तापयति अष्ट प्रकार कर्म इति तप.।

आवश्यक सूत्र (मलयगिरि) २/१

(ग) रसरुधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते।
कर्माणि वाऽऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्त ।

स्थानांग वृत्ति ५/१ पत्र २८३

२०३ (क) ओववाइयसुत्तं। सुत्तागमे, पृ २६-२७

(ख) व्यवहार भाष्य। तृतीय भाग, पृ. ९८

२०४ इमासि चउदसण्हं (समण) साहस्सीण धण्णे अणगारे
महादुक्करकारए महानिनिज्जरयराए चेव..... .. —

अणुत्तरोववाइयदसाओ, सुत्तागमे, पृ ११९७

२०५. (क) उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे घोर तवे महा तवे...।

उवासगदसाओ, १३ सुत्तागमे

(ख) चउव्विहे तवे पण्णत्तं तं जहा-उग्गतवे घोरतवे.. ।

ठाणे, सुत्तागमे, ४/३/३८४

(ग) उग्गतवे घोरतवे तत्ततवे महातवे। भगवइ सूत्र ३/१

२०६. (क) वाससहस्सं। आवश्यक निर्युक्ति गा २३८

अथछदमुस्थतप-कर्मद्वारमाह ऋषभस्य

च्छद्मस्य कालो वर्ष सहस्त्रम्।

आवश्यक निर्युक्ति (भा १) पृ. २०५

(ख) पवज्ज पुर्दिटले सयसहस्स। आवश्यक निर्युक्ति गा ४५०

(ग) जो य तवो अणुचिण्णो वीरवरेणं महानुभावेणं।

छउमत्थकालिकाए अहकम्म कित्तइस्सामि।।

.... ..वीरवरस्स भगवओ एसो छउमत्थपरियाओ।।

आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ५२७-५३७

२०७ (क) भगवती सूत्र २/१

(ख) अन्तकृतदशागसूत्र अध्याय ८

(ग) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ७

२०८ दुविहे तवे पण्णते त जहा-बाहि(रि)रए य अब्भितरए य, से किं त बाहिरए तवे? बाहिरए तवे छव्विहे पण्णत्ते, त जहा-अणसण, ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ। कायकिलेसो पडिसंलीणया (बज्झो तवो होइ)। से किं तं अब्भितरए तवे? अब्भितरए तवे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा-पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ। झाणं विउसग्गो।

भगवइ २५/७/८०१

(ख) छव्विहे बाहिरए तवे पण्णत्तं त जहा-अणसण ओमेयरिया भिक्खायरिया रसपरिच्चाए कायकिलेसो पडिसलीणया।।५९५। छव्विहे अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते तं जहा-पायच्छित्तं जाव विउस्सग्गो।

ठाणे (सुत्तागमे) ६/५९५-५९६

२०९ (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा कायचिट्ठ पइ भवे।

उत्तराध्ययन सूत्र ३०/१२

२१०. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र ३०/८, १४, १५, १६, १९, २०, २१, २२, २३, २४

(घ) स्थानागसूत्र (सुत्तागमे) ३/३/२३८

(ङ) तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी) (सुत्तागमे) ९/१९

(च) कुत्सिता कुटी कुक्कुटी शरीरमित्यर्थ.। तस्या शरीर-
रूपाया कुक्कुटया अण्डकमिवाण्डक मुख।

अभिधान राजेन्द्र कोश भा. २ पृ. ११८२

(छ) जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो तस्साहारस्स बत्तीसइमो भागो
तप्पुरिस वेक्खाए कवले — भगवइ सूत्र ७११ वृत्ति

२११ (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) दशवैकालिक १/५, ५/१/२

(घ) दशवैकालिक (हरिभद्रीयवृत्ति पत्र) १६३

(ङ) णव कोडिपडिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते। — ठाणे ९१

(च) णवकोडिपडिसुद्धे — भगवइ ७/१

(छ) दशवैकालिक ५/१/१००

(ज) णव कोडिपडिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते ....। — स्थानागसूत्र ९३

२१२. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त गा १८

(ग) ठाणे ५/१/४८५

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१०

(ङ) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतय

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ३ की वृत्ति

(च) अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा-णिव्वियतिए पणीयरसपरिचाए

आयबिलए आयाम सित्थभोइ अरसाहारे विरसाहारे
अताहारे पताहारे लूहाहारे से तं रसपरिच्चाए।

ओववाइयसुत्त गा १८

(छ) सर्वार्थ सिद्धि (पूज्यपाद) ९/१९ की वृत्ति

२१३. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१
(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८
(ग) स्थानागसूत्र ७/१४
(घ) ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ९

२१४. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१
(ख) ओववाइयसुत्तं (सुत्तागमे) १८

२१५ (क) दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता, तं जहा-
दप्प पमायऽणाभोगे आउरे आवइसु य।
संकिए सहसक्कारे, भयप्पओसा य विमसा।।

स्थानागसूत्र (आत्मारामजी म) १०/३१

(ख) दप्पे सकारणमि य, दुविधा पडिसेवणा समासेण।
एक्केक्का वि य दुविधा मूलगुणे उत्तरगुणे य।।
सकारणमि य त्ति णाणदंसणाणि अहिकिच्च
सजमादिजोगेसु य, असरमाणेसु पडिसेव त्ति, सा कप्पे।

निशीथ सूत्रे, भाग-१, भाष्य गा ८८ एवं चूर्णि

(ग) दप्पो तु जो पमादो। निशीथसूत्रे, भाष्य गाथा ९१

(घ) दप्पे कप्प पमत्ताणभोग आहच्चतो य चरिमा तु।
पडिलोम-परूवणता, अत्थेण होति अणुलोमा।।

निशीथ सूत्र, भाष्य गा १०

जा सा अपमत्त-पडिसेवा सा दुविहा अणाभोगा आहच्चओ य।

निशीथ सूत्रे, भाष्य गाथा १० एवं चूर्णि

अणाभोगो णाम अत्यतविस्मृति ।

निशीथ सूत्र, भाष्य गा. ९५ की चूर्णि

(ङ) प्राय प्राणी करोत्येव यत्र चित्तं सुनिर्मलम्
तदाहु शब्द सूत्रज्ञा प्रायश्चित्त यतीश्वरा ।।

- सिद्धातसार १०/१९

(च) वदसामिदिसील सजम परिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं अणवरय चेव कायव्वो।।

नियमसार (कुंदकुदाचार्य) ८/११३

(छ) मनोनियमनार्यत्वात्। सर्वार्थ सिद्धि ९/२२ की वृत्ति

(ज) धर्मामृत (अनगार) ७/३४-३५

(झ) प्रायोलोको जिनैरुक्तश्चित्तं तस्स मनो मतम्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्त निगद्यते।

धर्मरत्नाकर (जयसेन) १२/१७

(ञ) प्राय उत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत्।
एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्त प्रचक्षते।।

उपासकाध्ययन (पं. आशाधर) गा ३५०

(ट) अपराधो वा प्राय चित्त शुद्धि· प्रायस्य चित्त-
प्रायश्चित्त, अपराध विशुद्धिरित्यर्थ ।

राजवार्तिक (भटाकलंकदेव) ९/२२

(ठ) पचविहे ववहारे पण्णत्ते तं जहा - १ आगमे २ सुए
३ आणा ४ धारणा ५ जीए।

व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) १०/५

(ड) दव्व खेत्तं कालं भावं करण परिणाम मुच्छाइ।
सघदणं परिमाण आगमपुरिस च विण्णायम्।।

भगवती आराधना भा -१, गा ४५२

(ढ) तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकाल शक्ति संयमाद्यविरोधे-
नापराधानुरूप दोष प्रशमन चिकित्सितवद्विधेयम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ९/२२

२१६ (क) दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते त जहा-आलोयणारिहे
पडिक्कमणारिहे तदुभयारिहे विवेगारिहे विउसग्गारिहे
तवारिहे छेयारिहे मुलारिहे अणवट्टप्पारिहे पारचियारिहे।

स्थानांगसूत्र (आत्म म) १०/३१

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

(ग) दस आलोयणा दोसा पण्णत्ता, त जहा-
आकपइत्ता अणुमाणइत्ता जदिट्ठे बायरं च सुहुमं च
छण्णं सद्दाउभग बहुजण अव्वत्त तत्सेवी।।

स्थानागसूत्र १०/३१

(घ) प्रच्छन्नमालोचयति यथात्मनेव श्रृणोति नाचार्यः।

स्थानांगवृत्ति पत्र ४६०, उद्धृत, ठाण - मुनि नथमल पृ ९७७

(ङ) 'छण्णं' ति-तहा अवराहे अप्पसद्देण उच्चरइ
जहा अप्पणा चेव सुणेति, णो गुरु।

निशीथसूत्रे, भाष्य, भा ४ पृ ३६३

(च) दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोससमालोएत्तए त
जहा- जाइ संपण्णे कुलसंपण्णे विनयसपण्णे णाणसपण्णे
दसणसंपण्णे चरित्त संपण्णे, खंते दंते अमायी अपच्छाणुतावी।

स्थानागसूत्र १०/३१

(छ) दसहिं ठाणेहिं अणगारे अरिहइ आलोयण पडिच्छित्तए, त
जहा- आयारव अवहारव ववहारव ओवीलए पकुव्वए
अपरिस्साइ णिज्ञावए अवायदंसी पियघम्मे दढघम्मे।

स्थानागसूत्र १०/३१

२१७. प्रमाद दोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्ति मर्यादा त्याग संयमादार्दयमाराधनमित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते।

तत्त्वार्थवार्तिक ९/२२

२१८. (क) धम्मस्स विणओ मूलं। दशवैकालिक सूत्र ९/२२

(ख) विणओ जिणसासणे मूलं विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो।।

आवश्यक। हरिभद्रीय। १२/१६

(ग) अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।
वरं मे अप्पा दतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मतो, बधणेहि वहेहि य।

उत्तराध्ययन सूत्र १/१५-१६

(घ) सत्तविहे विणए पण्णत्ते तं जहा-णाणविणए दसणविणए
चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयार-विणए।

भगवतीसूत्र २५/७

(ड) औपपातिक सूत्र पृ. १८

२१९ (क) असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।
गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।

स्थानांग सूत्र ८/६०

(ख) दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा- आयरिय वेयावच्चे
उवज्झाय वेयावच्चे थेरवेयावच्चे तवस्सि वेयावच्चे
गिलाणवेयावच्चे सेह वेयावच्चे कुल वेयावच्चे गणवेयावच्चे
सघवेयावच्चे साहम्मिय वेयावच्चे।

स्थानांगसूत्र (आ म.) १०/९

(ग) वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोयं कम्म निबधेइ।

उत्तराध्ययन सूत्र २९/३

(घ) पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे
भवइ त जहा-अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे एवं
उवज्झाय वेयावच्च. .अगिलाए साहम्मिय वेयावच्चं करेमाणे।

स्थानांग सूत्र (सुत्तागमे) ५/१/४१६

२२०. (क) सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय ।

स्थानाग टीका (आ. अभयदेव) ५/३/४६५

(ख) स्व स्व स्वस्मिन् अध्याय· - अध्ययनं - स्वाध्याय ।

जैन धर्म में तप (मिश्रीमलजी म) पृ ४५६

(ग) सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो।
सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ।

उत्तराध्ययन सूत्र २९/१८

(घ) बहुभवे संचिय खलु सज्झाएण खणे खवइ।

चन्द्रप्रज्ञप्ति, ९१

(ङ) न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय सम तवोकम्मं।

बृहत्कल्प भाष्य गा ११६९

चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८९

२२१. (क) सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ।।

उत्तराध्ययन सूत्र ३०/३६

(ख) विउसग्गे दुविहे पण्णत्ते त जहा - दव्वविउसग्गे य भाव विउसग्गे य। दव्वविउसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते त जहा- गणविउसग्गे सरीरविउसग्गे उवहिविउसग्गे भत्तपाण- विउसग्गे, से त दव्वविउसग्गे। भावविउसग्गे तिविहे पण्णत्ते तं जहा - कसायविउसग्गे ससारविउसग्गे कम्मविउसग्गे।

भगवती सूत्र २५/७

(ग) उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे।।

दशवैकालिक ८,'३९

(घ) चउव्विहे ससारे पण्णत्ते, तं जहा - दव्व ससारे खेत्त ससारे काल संसारे भाव ससारे। स्थानाग सूत्र ४/१/२६१

(ङ) आद्य ज्ञानदर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुष्कनाम-गोत्रान्तराया

तत्त्वार्थ सूत्र ८/५

२२२ (क) उज्जय सग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।
उस्सग्गा विनिवत्तिय, धरेइ सालबमववाओ।।

बृहत्कल्प भाष्य पीठिका १/३११

(ख) उद्यत. सर्ग. - विहार उत्सर्ग । तस्य च उत्सर्गस्य प्रतिपक्षोऽपवादः। कथम् ? इति चेद् अत आह-उत्सर्गाद् अध्वाऽवमौदर्यादिषु 'विनिपतितं' प्रच्युत ज्ञानादि- सालम्बमपवाद धारयति।

आचार्य मलयगिरि बृहत्भाष्य वृत्ति पृ ९७

(ग) दव्वादिएहिं जुत्तस्सुस्सग्गो जदुचियं अणुट्ठाणं।
रहियस्स तमववाओ, उचिय चियरस्स न उ तस्स।

उपदेश पद गा. ७८४, उद्धृत, सभाष्य निशीथ सूत्रे भूमिका पृ. ३ (भा. ३)

(घ) सामान्योक्तो विधिरुत्सर्ग । विशेषोक्तस्त्वपवाद.। द्रव्यादियुक्तस्य यत्तदौचित्येन अनुष्ठानं स उत्सर्ग तदरहितस्य पुनस्तदौचित्येनैव चं यदनुष्ठानं सोऽपवाद । यच्चैतयो पक्षयोर्विपयासेन अनुष्ठान प्रवर्तते न स उत्सर्गोऽपवादो वा, किन्तु संसाराभिनन्दिसत्त्वचेष्टितमिति।

उपदेश पद, सुख सम्बोधिनी गा ७८१-७८४, उद्धृत निशीथ सूत्रे, पृ ३ (भा ३)

(ड) यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहार-
ग्रहणमुत्सर्ग । तथाविध द्रव्य क्षेत्र काल भावापत्सु च
निपतितस्य गत्यन्तराभावे पचकादियतनया
अनेषणीयादिग्रहणमपवाद । सोऽपि च सयमपरिपालनार्थमेव।
स्याद्वाद मजरी, कारिका।। टीका पृ. १३८ (मल्लिसेनाचार्य)

(च) उवसग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि सथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पति।
जाणि उस्सग्गो पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे
सव्वाणि वि ताणि कप्पति ण दोसो।
सभाष्य निशीथसूत्रे (भा. ४) गा. ५२४५ एवं उसी की चूर्णि

(छ) उत्पद्यते ही साऽवस्था, देशकालमयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत्।
अष्टम प्रकरण - २७-५ टीका, उद्धृत
सभाष्यनिशीथसूत्रे पृ. ७

(ज) यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थ-
माश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत्
परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्।
स्याद्वादमंजरी कारिका।. टीका पृ १३८

२२३ (क) सुंकादीपरिसुद्धे सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठु समायरइ।।
एकमेव गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकम् 'आयं लाभ
दृष्ट्वा प्रलम्बाद्य कल्प्यप्रतिसेवा समाचरति नान्यथा।
बृहत्कल्प भाष्य गा. १५२ एवं उसकी वृत्ति

(ख) आय कारणं गाढं, वत्थु जुत्त ससत्ति जयण च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फल च विधिवं वियाणाइ।।
बृहत्कल्पनिर्युक्ति भाष्य (भा. २) गा १५१

(ग) जयणा उ धम्म जणणी, जयणा धम्मस्स पालिणी चेव।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा।।
जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्त-णाण-चरणाण।
सद्धा-बोहाऽऽ सेवण भावेणाऽऽ राहओ भणिओ।।
उपदेश पद, गा ७६९-७७०, उद्धृत निशीथ सूत्रे पृ १२

२२४ (क) किं वा रोगिणिस्तीक्ष्णा क्रियामसहमानस्य मृद्वी
क्रिया न क्रियते। क्रियत एवेत्यर्थ ।

बृहत्कल्प भाष्य पीठिका गा ३२० का भाष्यनिर्युक्ति

(ख) सव्वत्थ सयम सजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोहि ण याविरइ।।

ओघनिर्युक्ति (सूर्योदय सागर) गा ८१

(ग) न या विरइ किं कारणं ? तस्याशय शुद्धतया, विशुद्ध
परिमानस्य च मोक्षहेतुत्वात्।

ओघनिर्युक्ति (टीका द्रोणाचार्य गा ४६)

(घ) कज्जं णाणादीय, उस्सग्गवायओ भवे सच्च।
तं तह समायरंतो, त सफलं होइ सव्व पि।।

निशीथभाष्य गा ५२४९

२२५ (क) से त्तथ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि वा
गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा
गहणाणि वा अवलबिय २ उत्तरिज्जा. . .।

आचारागसूत्र (शीलांकाचार्य टीका – जम्बू-
विजय) २/३/२/१२५

(ख) इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्।

सूयगडांगसूत्र (शीलाकाचार्य) २/१/१/३/३०

(ग) उच्चार प्रस्रवणादिपीडिताना कम्बलावृत्तदेहाना
गच्छतामपि न तथाविधा विराधना।

योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति ३/८७२

(घ) बाल-वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जल धरे भिक्षायै नि सरता।
कम्बलावृत्तदेहानां न तथाविधापकाय विराधना।

योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति ३/८७

(ङ) तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा।

आचारांगसूत्र सूत्रकृताग च
(मुनि जम्बूविजय) २/१/३/१/१२२

(च) एवं अद्धाणादिसु पलंबगहण कयावि होज्जाहि।।

निशीथ भाष्य गा ४८७९ (भा ३)

२२६ (क) मुसायाओ उ लोगम्मि सव्वं साहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो अ भूयाणं, तम्हा मोस विवज्जए।।
दशवैकालिक सूत्र ६/१३

(ख) 'तुसिणीए उवेहेज्जा, जाण वा नो जाणंति वएज्जा।
भिक्षार्थंगच्छत प्रातिपथिक· .. नाह जानामीत्येव वदेत्'
आचारागसूत्र (शीलांकाचार्य) २/१/३/३/१२९ एवं वृत्ति.

(ग) 'सजमहेउ त्ति' . . . .ण वि 'पासे' त्ति दिट्ठ त्ति
वृत्त भवति। निशीथ चूर्णि भाष्यगाथा ३२२

(घ) यो हि पखयनार्थं समायो मृषावाद· स परिहियते।
यस्तु सयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिक
स न दोषायेति। सूत्रकृतांग, शीलाकवृत्ति १/८/१९

२२७ (क) दशवैकाकिक सूत्र ६/१४-१५

(ख) व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) ८/११-१२

२२८ (क) बृहत्कल्प सूत्र (विभाग ६) सूत्र १ से १२ तक
पृ १६३३-१६५१

(ख) व्यवहार सूत्र (कनैयालालजी म.) ५/२१

(ग) बृहत्कल्प सूत्र (विभाग ६) गा. ३

२२९ (क) व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) ८/५

(ख) प्रश्न व्याकरणसूत्र सवर द्वार (सैलाना) पृ ३९२

(ग) गिलाणो सो विहरिउमसमत्थो, उउबद्ध वासिय वा
अइरित्त वसेज्जा। गिलाणपडियरगा वा ग्लानप्रति-
बद्धत्वात् अतिरिक्त वसेज्जा। निशीथ चूर्णि भाष्य गाथा ४०४

(घ) विषग्रस्तस्य सुवर्ण कनक त घेत्तु घसिऊण विषणिग्घायणट्ठा
तस्स पाण दिज्जति, अतो गिलाणट्ठा ओरालिय ग्रहण भवेज्ज।
निशीथ चूर्णि भाष्यगाथा ३९४

(ङ) कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अइरेगपडिग्गह
अन्नमन्नस्स अट्ठाए धारेत्तए, परिग्गहित्तए वा।
ववहार सुत्तं (सुत्तागमे) ८/२१९

२३० दसवैकालिक सूत्र ६/६०

२३१ आधा कर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुजान
कर्मणा नोपलिप्यते। तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यकर्मबन्धो
भवति, इत्येव नो वदेत्।

निशीथसूत्रे (भा ३) भूमिका पृ २५

२३२ (क) अशने पानके च याचिते, तस्य भक्तपानात्मक
कवचभूत आहारो दातव्य । हदि परीसहचमु, जोहेयव्वा
मणेण काएण तो मरण देसकाले कवयभूओ उ आहारो।

व्यवहार भाष्य १०/५३३-५३४

(ख) परीषह सेना मनसा कायेण योधेन जेतव्या। तस्या
पराजयनिमित्तं मरणदेशकाले योधस्य कवचभूत आहारो
दीयते। व्यवहार भाष्य १०/५३४ की वृत्ति

(ग) यस्तु तं भक्तपरिज्ञा व्याघातवन्त खिंसति (भक्त प्रत्याख्यान प्रति
भग्न एष इति) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुका ।

व्यवहार भाष्य १०/५५१ (मलयगिरि वृत्ति)

२३३ बिइयपदमणप्पज्झे, बधे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणप्फगादीसु जाणमवि।
बितियपयमणप्पज्झे मुचे भविकोविते वि अप्पज्झे।
जाणते वा वि पुणो, बलिपासग अगणिमादीसु।

बलिपासगो त्ति बंधणो। तेण अईव गाढ बद्धो
मूढो वा तडप्फडेइ मरइ वा जया, तया मुचइ। अगणि
त्ति पलीवणगे बद्धं मुचेइ, मा डज्झिहिति।

निशीथ माष्य सूत्रे १२/३९८३-३९८४ एवं चूर्णि

२३४ अन्ना वि हु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएण जा जयतो।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजय कम्मजननी उ।।

व्यवहार भाष्य (मलयगिरि वृत्ति) १/४२

२३५ समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो।।

मूलाचार ( ) गा १२३

२३६ सामाचारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ६६५

२३७ पडिलेहणं च पिण्डं, उवहिपमाणं अणाययण वज्जं।
पडिसेवनमालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं।
ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु) २

२३८ (क) स्थानांगसूत्र १०/४७

(ख) दसविहा सामाचारी पण्णत्ता तं जहा-इच्छा, मिच्छा,
तहक्कारे, आवस्सिया, य णिसीहिया, आपुच्छणा य
पडिपुच्छा, छंदणा य णिमंतणा, उवसंपया य काले
सामाचारी भवे दसहा। भगवतीसूत्र २५/७/१०१

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र २६/२-४,

(घ) आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दना,
इच्छाकार, मिच्छाकार, तथाकार, अभ्युत्थान, उपसंपदा
आवश्यक निर्युक्ति गा. ६६६

२३९ (क) अवश्यं करणाद् आवश्यकम्।
उद्धृत, श्रमण सूत्र (उपा. अमर मुनि) पृ. ६१

(ख) समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वय हवइ जम्हा।
अन्ता अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सय नाम।।
अनुयोगदार सुत्त (सुत्तागमे) पृ. १०८८

(ग) विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र) गा ८७५

(घ) अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभय -
काल क्रियत इति भाव ।
अनुयोगद्वार (आ मलयगिरि टीका)
उद्धृत, श्रमणसूत्र (अमर मुनि) पृ ६१

(ङ) आपाश्रयो वा इदं गुणानाम् प्राकृतशैल्या आवस्सय
उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ ६१

(च) ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय-कषा-
यादिर्भाव शत्रवो यस्माद् तद् आवश्यकम्।. ज्ञानादि-
गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन
इत्यावश्यकम्। आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति उद्धृत,
श्रमण सूत्र, पृ. ६२

(छ) यथा वस्त्र वास-धूपादिभि, तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रजयतीत्यावासकम्।।

विशेषावश्यक भाष्य (मलयगिरि टीका) गा ८७४-८७५

२४०. (क) आवस्सयं अवस्स-करणिज्ज धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो।।

अनुयोगदार सूत्र (सुत्तागमे) पृ १०८८, गाथा १

(ख) विशेषावश्यक गा. ८७२

२४१ सपडिक्कमणो धम्मो,पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२५८ (भा २)

२४२. जे इमे समणगुण मुक्कजोगी, छक्कायनिरणुकपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा, जिणाणमणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभयो काल आवस्सयस्स उवट्ठति। से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।. . .जे ण इमे समणे वा, समणी वा, सावओवा, साविया वा, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अण्णत्थ कत्थइ मण अकरेमाणे उभओ-कालं आवस्सयं करे (न्ति) इ। से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।

अनुयोगदारसुत्त (सुत्तागमे) पृ. १०८७-१०८८

२४३- से किं तं आवस्सय ? आवस्सयं छव्विहे पण्णत्ते तं जहा-सामाइय, १ चउवीसत्थओ २ वदणय ३ पडिक्कमणं ४ काउस्सग्गो ५ पच्चक्खाण ६।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ १०९१

२४४- सावज्ज जोगविरइ, उक्कित्तण, गुणवओ, य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव।।

अनुयोगदार सुत्तं (सुत्तागमे) पृ. १०९०-१०९१

२४५- (क) चउव्वीस देवाहिदेवा पण्णत्तं तं जहा – उसभ अजित

सभव अभिनदन सुमइ पउमप्पह सुपास चदप्पह
सुविधि सीअल सिज्जस वासुपुज्ज विमल अणंत धम्म
सति कुथु अर मल्ली मुणिसुव्वय नमि नेमी पास वद्धमाणा।

समवाए, २४ वा समवाय

(ख) चउव्विसव्वएण दसण विसोही जणयइ।

उत्तराध्ययन सूत्र २९/९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति गा. १०८१

(घ) नाम ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य।
चउवीसइस्स एसो निक्खेवो छव्विहो होइ।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १९०

२४६ - (क) वदण चिश्किश्कम्म पुयाकम्म च विणयकम्म च।

आवश्यक निर्युक्ति गा. १११६

(ख) सामाइय सुत्त (प्रका पाथर्डी) पृ ९४

(ग) भगवइ सुत्त २/५/११२

(घ) आवश्यक वृत्ति (मलयगिरि)

उद्धृत, श्रावक सूत्र पृ. ८४

(ङ) आवश्यक निर्युक्ति गा. १२३४

२४७ - (क) प्रतीप क्रमणं प्रतिक्रमणम् अयमर्थ - शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तर
क्रान्तस्सस्य शुभेष्वेव क्रमणात्प्रतीप क्रमणम्।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ टीका ३/११ की वृत्ति

(ख) स्वस्थानाद यत्परस्थान प्रमादस्य वशाद् गत ।
तत्रैव क्रमणं शुभ प्रतिक्रमणमुच्यते।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ (हेमचन्द्र) भाष्य पृ ४८९

(ग) क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्यवशं गत ।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ४८९

(घ) मिच्छत्त - पडिक्कमण तहेव असजमे य पडिक्कमण
कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाण।।
ससारपडिक्कमण . -- —

आवश्यक निर्युक्ति गा १२६४-१२६५

२४८ - पडिक्कमण पडिकमओ पडिकमियव्व त्र आणुपुव्वीए।
तीए पच्चुप्पन्ने अणागए चेव कालमि।।

आवश्यक निर्युक्ति गा. १२४५

२४९ - आवश्यक चूर्णि गा १२६१ की

२५० - पडिसिद्धाण करणे किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए य।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२८५

२५१ - छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा - उच्चारपडिक्कमणे, पासवणपडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, जकिंचिमिच्छा, सोमणंत्तिए (स्वप्न)।

स्थानागसूत्र (आत्मा म.) ६/१-६

२५२) (क) भावपडिक्कमणं पुण तिविहं तिविहेण नेयव्व।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२६५

(ख) भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति।

उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमर मुनि) पृ. ८९

२५३ - पडिक्कमणं पडियरणा परिहरणा वारणा निमत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही पडिक्कमणं अट्ठहा होइ।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२३३

२५४ - (क) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२५८

(ख) देवसिय राइय पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पुण पडिक्कमणा मज्झिमगाण तु पढमा।

उद्धृत, मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म अभिनदन ग्रन्थ, खण्ड २, पृ २७९

२५५ - वण-तिगिच्छ। अनुयोगदार सुत्त (सुत्तागमे) पृ ११५६

२५६ - (क) आवश्यक निर्युक्ति गा १५९४-१५९६

(ख) गुण धारणा चेव। अनुयोगदार सुत्तं (सुत्ता) पृ ११५६

२५७ - आवश्यक निर्युक्ति गा. १६२८

२५८- उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमर मुनि) पृ. १०६

२५९ - (क) भगवती सूत्र ७/२

(ख) दशवैकालिक उत्तरज्झयणाइ आवस्सयसुत्तं

(पुण्य विजयजी) पृ २५८

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार ४ गा २०१-२०६

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा १६१३-१६१५

२६०- दो छच्च सत्त अट्ठ सत्तट्ठ य पच छच्च पाणमि।
चउ पच अट्ठ नव य पत्तेय पिंडए नवए।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १६१२

२६१- उद्धृत, श्रमण सूत्र (उपा अमर मुनि) पृ. १०७

२६२ - (क) पच व्रत समित्पच गुप्तित्रयपवित्रितम्।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम्।।
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धति ।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती।।
अहिंसैव शिव सूते दत्ते च त्रिदिवश्रिय ।
अहिंसैव हित कुर्याद् वसनानि निरस्यति।।
तप श्रुत यम ज्ञान ध्यानदानादिकर्मणाम् ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता।।

ज्ञानार्णव, ८/५,३२-३३, ४२

(ख) साम्यमेव पर ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभि ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽय शास्त्रविस्तर ।

ज्ञानार्णव २४/१३

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतर ।

ज्ञानार्णव २४/१२

२६३ - (क) पढम पोरिसि सज्झायं, बीय झाण झियायइ।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्झाय।।

उत्तराध्ययनसूत्र २६/१२

(ख) संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणंगं तवस्स, तो मोक्खहेउय।।
इयसव्वगुणाधाण दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं।
सुपसत्थ सद्धेय नेय ज्ञेय च निच्चपि।।

ध्यान शतक गा ९६,१०५

२६४- स्थविराणां गच्छवासिना साधूनां योऽसौ 'कल्प.'।।

विशेषावश्यक भाष्य गा ६ की वृत्ति पृ ८

२६५- तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तण बलेण य।
तुलणा पचहा वुत्ता स्थविरकप्प पडिवज्जओ।।

(जिणकप्प) विशेषावश्यक भाष्य गा ७ (भा १)

२६६ - (क) पव्वज्जा सिक्खावयमत्थग्गहण च अनियओ वासो।
निप्फत्ती य विहारो सामायारी ठिइ चेव।।

विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणि...) गा. [illegible]

(ख) विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र वृत्ति) पृ. ८-९

२६७ - (क) खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य।।
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं।
कारण पडिक्कम्मिउ, भत्त पथो न भयणाए।।

बृहत्कल्पसूत्र (भा २) गा १६३४-१६३५

(ख) बृहत्कल्पसूत्र, भाष्य वृत्ति पृ ४७९-४-८७

(संघदासगणि श्रमाश्रमण)

२६८ - (क) संहणणस्स य, दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरनयरगामवासी, थविरे कप्पे ठिया जाया।
समुदायेण विहारो, धम्मस्स पहावण ससत्तीए।
भवियाण धम्म सवण्ण, सिस्साण च पालणं गहण।।
वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण।
तं सपइ वरिसइ [illegible] णिज्जरयइ हीणसहणणे।।

भाव सग्रह गा १२७, १२९, १३१
उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. ७०६-७०७

२६९ - उद्धृत श्रमण भगवान महावीर (गणिकल्याणविजयजी)

पृ. २८५ (परिच्छेद षष्ठ)

२७० - (क) जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए....... ..
तस्स णं नो एव भवइ विइय. वत्थं जाइस्सामि।।

आचारागसूत्र (आत्मा म.) १/८/६/२१५

(ख) जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं .. .तइय वत्थं जाइस्सामि।।

आचारागसूत्र १/८/५/२१३

(ग) जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं
तस्स ण नो एव भवइ चउत्थ वत्थं जाइस्सामि।

आचारांगसूत्र १/८/४/२०८

(घ) जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भा १) पृ ६६

(ड) जे अचेले परिवुसिए। आचारागसूत्र ६/२/१८०

(च) "अचेल" अल्पचेलो जिनकल्पिको वा। १/८/७/२२०
आचारागसूत्र (आ.म. हिन्दी) पृ ५०३

(छ) एयं खु मुणी आयाण सया - विरुवरुवे फासे।
अहियासेइ अचेले लाघव आगममाणे।

आचाराग सूत्र १/६/३/१८२

कप्पेइ कडिबधण धारित्तए।

आचाराग सूत्र १/८/७/२२०

(ज) उत्तराध्ययनसूत्र - २३/२९

२७१- (क) पत्त पत्ता बधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च गुच्छओ पाय निज्जोगो।।
तिन्नेय य पच्छागा रयहरण चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाण तु।।
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि।।

ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी, द्रोणाचार्य वृत्ति) गा ६६८-६७०

(ख) एसो चउदसरूवो उवही पुण थेरकप्पमि।

प्रवचनसारोद्धार द्वार, ६१ गा ५००

(ग) पच कप्प भासं (खमासमणसिरिसघदासगणि) गा ८१७-७२३

२७२ - (क) सम्यक्काय कषायलेखना सल्लेखना।

सर्वार्थ सिद्धि ७/२२

(ख) सत् सम्यग्लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरण तनूकरणं तुच्छ करणं सल्लेखना। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ. २७०

(ग) लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनुकरणमिति यावत्।।

तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(घ) कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।

आचारांगसूत्र (आत्मा म) १/८/८/३

२७३ - (क) कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारण-हापनयाक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(ख) कायस्य सल्लेखना बाह्यसल्लेखना, कषायाणा सल्लेखना आभ्यन्तरा सल्लेखना क्रमेण कायकारणान्नपानत्यजनं कषायाणां च त्यजनम्

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ २७०

(ग) भगवती आराधना (शिवार्य) भा १ गा २०८, २१८-२१९

२७४ - (क) अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति। अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहना भणिदा।।

भगवती आराधना भा १ गा. २६१

(ख) स्मृति समाधिबहुलो ... ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम (उमास्वाति) ७/१७ भाष्य पृ ३३८

(ग) कुर्यात्सल्लेखनामन्ते समाधिमरणेच्छया।

श्रावकाचार सग्रह भा ३ पृ. ५३१

(घ) तस्माद्यावद्विभव समाधिमरण प्रयतिव्यम्।

श्रावकाचार सग्रह भा १ (रत्नकरण्डक श्रा गा. १२३)

२७५ - (क) मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता। तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(ख) स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाना बलाना च कारणवशात्संक्षयोमरणम्। 'अन्त' ग्रहण तद् भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्त । स प्रयोजन-स्येति मारणान्तिकी। सर्वार्थ सिद्धि ७/२२

२७६ - मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ ४५५

२७७- (क) सन्ति मे य दुवे ठाणा अक्खाया मरणन्तिया।
अकाम-मरणं चेव, सकाम-मरण तहा।

उत्तराध्ययनसूत्र ५/२

(ख) बाल मरणे दुवालसविहे पण्णत्ते, त जहा -
बलयमरणे जाव गिद्धपट्ठे।

भगवतीसूत्र २/१ 'स्कन्दक वर्णन'

पचविहे मरणे पण्णत्ते तं जहा - आवीचियमरणे, ओहि मरणे
आईतियमरणे, बालमरणे, पडियमरणे। णवर णियम सपडिक्कम्मे।

भगवतीसूत्र १३/७ (भा ५ सैलाना)

(ग) आ वीइ, ओही, अतिय। बलायमरण वसट्ठमरण च।
अंतोसल्ल, तब्भव। बाल तह पडिय मीस।।
छउमत्थमरण, केवलि। वेहायस गिद्धपिट्ठमरण च।
मरण भत्तपरिण्णा, इगिणि, पाओवगमन च।।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार १५७ वचनसारोद्धार
द्वार १५७ की वृत्ति पृ ४४०-४४४

(घ) पडिदपडिदमरण पडिदय बाल पडिद चेव।
बालमरण चउत्थ पचमय बालबाल च।।

भगवती आराधना भा १ गा २६
भगवती आराधना भा १ टीका पृ ४९-५९

(ङ) भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते त जहा - निराहारिमे य
अनिहारिमे य। पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-
णीहारिमे य अणीहारिमे चेव।

भगवइसुत्त २/१, ठानागसूत्र २/४/६९

(च) पुणो एक्केक्कं 'दुविह' सपरिक्कम अपरिक्कम च।
सपरिक्कमो जो भिक्खू वियार अण्णगाम वा गतु
समत्थो, इतरो अपरिक्कमो। पुणो एक्केक्क दुविह -
णिव्वाघाइम वाघाइम च। णिरुअस्स अक्खयदेहस्स
णिव्वाघाइम, इतरस्स वाघाइमं। वाघाओ दुविहो -
चिरघाइ आसुघाइ य।

सभाष्य चूर्णि निशीथसूत्रे भाष्य चूर्णि
(भा ३) गा ३८११ चूर्णि पृ २९३

२७८ - (क) मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए।।

(ख) भगवती सूत्र (प्र सैलाना) २५/७

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७

२७९ - (क) आचारांगसूत्र १/८/८/१७-१८ (आत्मा म)

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७, पृ. ५४४

(ग) भगवती आराधना (भा. २) पृ २०२५-२०३०

२८० - (क) अय चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए:
सव्वगाय निरोहेवि ठाणाओ न विउब्भमे।।
अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठे माहणे।।

आचारांगसूत्र १/८/८/२०-२२

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७ पृ ५४४

२८१ - (क) जीवियं नाभिकंखिज्जा मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा।

आचारांगसूत्र १/८/८/४

(ख) भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया।।
सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमाय न सद्दहे।
त परिबुज्झ माहणे, सव्व नूम विहूणिया।।

आचारागसूत्र १/८/८/२३-२४

२८२ - (क) अपच्छिम मारणतिय सलेहना......।

उपासकदशागसूत्र (आत्मा म) १/७०

(ख) तथाऽपश्चिमा मारणान्तिकी सलेखना-तपोविशेषण-
लक्षणा तस्या जोषण सेवनं तस्याराधना -
अखण्ड कालस्य करणम्।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भा. २) पृ. २६५

२८३- चत्तारि विचित्ताइं ४। विगई निज्जूहियाइं चत्तारि ४।
सवच्छरे य दोन्नि। एगंतरियं च आयाम।

नाइविगिट्ठो य तवो। छम्मासे परिमियं च आयामं।
अवरेवि य छम्मासे। होइ विगिट्ठ तवो कम्म।।
वास कोटिसहिय आयामं कट्टु आणुपुब्वीए।
गिरिकदरं व गतु। पाओवगम पवज्जेइ।।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार १३४, पृ ३७८

२८४- भगवती आराधना भा १ गा. २५५-२५६

२८५ - मूलाराधना। उद्धृत, प्राचीन जैन साधना पद्धति

(साध्वी राजेमती) पृ १२८

२८६ - (क) अपच्छिममारणतिय सलेहणाझूसणाराहणाए पच
अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा -
इहलोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीविया-
ससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे।

उपासकदशांग सूत्र १/५४

(ख) धर्मामृत (आगार - प. आशाधर) ८/४६

(ग) श्रावकाचार संग्रह (भा १) पृ १५

२८७ - (क) रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युप करणप्रयोगवशा-
दात्मान घ्वत॰ स्वघातो भवति, न सल्लेखना प्रति-
पन्नस्य रागादय सति ततो नात्मवधदोष ।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२२

(ख) मोक्खु य चिंतहि जोइया, मोक्खु ण चिंतिउ होइ।
जेण णिबद्धउ जीवउ मोक्खु करेसइ सोइ।।

परमात्म प्रकाश (योगेन्दुदेव) गा ३१९

२८८- गच्छम्मि म णिम्माया, धीरा जाहे य मुणियपरमत्था।
अग्गह जोग अभिग्गहे, उ बिंति जिणकप्पियचरित्त।

बृहत्कल्प भाष्य (भा ६) भाष्य गा ६४८३

२८९- (क) बृहत्कल्प भाष्य (भा २) भाष्य गा १२९१-१२९३

(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ. १०-११

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार ६०, गा. ४९९ (सिद्धसेन)

२९० - (क) बृहत्कल्प भाष्य (भा. २) गा १३६६-१३७३

(ख) वृहत्कल्प भाष्य वृत्ति (भा २) गा १३६६-१३७३ की।

२९१- खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य।।
पव्वायण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मे, भत्त पथो य तइयाए।।

वृहत्कल्प भाष्य गा. १४१३-१४१४

सुय संघयणुवसग्गे आतंके वेदणा कइ जणा य।
थंडिल्ल वसहि केच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे।।
ओवासे तणफलए सारक्खणया य संठवणया य।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य।।
भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य।
आयबिल पडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य।।

वृहत्कल्पसूत्र - भाष्य चूर्णि
(भा. २) गा १३८२-१३८४

२९२ - बृहत्कल्प भाष्य गा. १४१६-१४३७ एवं उनकी वृत्ति

२९३ - (क) बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३८५-१४२४, १३७८-१९७९

(ख) बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति पृ ४१८-४२७

२९४ - (क) पत्तं पत्ता बंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताण, च गोच्छओ पायनिज्जोगो।।
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरण चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु।।

बृहत्कल्पभाष्य (भा ४) गा. ३९६२-३९६३

(ख) उत्कर्षतो द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानाम्।

प्रवचनसारोद्धार द्वार ६० गा. ४९९

(ग) ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, टीका ज्ञानसागर) गा. ९९७

२९५- बहिरं तरंगथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।
जत्थ य कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सय मुणिणा परावहारे य तुण्हिक्का।।

एगारसगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्ता सेसकषाया मोणवइ कदरावासी।।

भावसंग्रह (देवसेन) गा १२३, १२०, १२२
उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ. ७०६

२९६ - भावसग्रह (नामदेव)

उद्धृत, श्रमण भगवान महावीर
(गणी कल्याण-विनयजी) पृ. २८५ 'षष्ठ परिच्छेद'

२९७ - (क) परिहारेण विसुद्धं सुद्धो वा तओ जहिं विसेसेण।
तं परिहार विसुद्धं परिहार विसुद्धिय नाम।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७०

(ख) परिहारस्तपोविशेष , तेन विशुद्ध परिहारविशुद्धम्।

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (हेमचन्द्र) पृ ४७८

(ग) परिहरण 'परिहार' स्तपोविशेष 'स्तेन विशुद्धम्'
विसुद्धो वा सो तवो विसेसेण जत्थ तप्परिहारविसुद्ध,
तदेव परिहारविशुद्धिकम्।।

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (कोट्याचार्य) पृ ३१७

२९८ - त दुविगप्प निव्विस्समाण - निव्विट्ठकाइयवसेण।
परिहारियां-णुपरिहारियस्स कप्पट्ठियस्स वि य।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७१

२९९ - (क) परिहारो पुण परिहारियाण सो गिम्ह-सिसिर वासासु।
पत्तेयं तिविगप्पो चउत्थयाई तवो नेओ।।
गिम्ह-सिसिर-वासासु चउत्थयाईणि वारसताइ।
अड्ढोपक्कतीए जहण्ण-मज्झिमु-क्कोसयतवाण।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७२-१२७३

(ख) परिहारकाश्चत्वार ४ अनुपरिहारिकाश्चत्वार ४
कल्पस्थितश्चैक , इति नवधा गण ।

३०० - (क) करति आयबिलेण परिकम्म।

बृहत्कल्प भाष्य (पुण्यविजयनी) गा १४२६

(ख) परिहारियाऽणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्स वि य भत्त।
छ छम्मासा उ तवो अट्ठारसमासिओ कप्पो।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७५

३०१ - इत्तिरिय थेयकप्पे, जिणकप्पे आवकहियाओ।

बृहत्कल्पभाष्य गा. १४२६

३०२ खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेस्सा, झाणे गणणा अभिग्गहा य।।
पव्वावण मुडावण मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मा, भत्त पंथो य तइयाए।।

बृहत्कल्प भाष्य गा. १४२९-१४३०

३०३ - विशेषावश्यक भाष्य गा. १४३१-१४३८,
६४५४-५, १२७६, ६४६१

३०४ - (क) यस्तु विशेष स लेशत प्रोच्यते-तत्रोदकार्द्र करो
यावता शुष्यति, तत आरभ्योत्कृष्टत· पच रात्रिन्दिवानि
यावत्कालोऽत्र समय परिभाषया लन्दमित्युच्यते।

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ १३

(ख) अत्र समयपरिभाषया लन्दमित्युच्यते।

विशेषावश्यक भाष्य गा ७ की वृत्ति

(ग) "लदो उ होइ कालो"

बृहत्कल्प भाष्य १४३८

(घ) लन्दस्तु भवति काल , लन्दशब्देन काल उच्यते इत्यर्थ ।

बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति पृ ४२९

३०५ - (क) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ. १३

(ख) स पुनस्त्रिधा - जघन्य उत्कृष्टो मध्यमश्च। यावता
कालेनोदकार्द्र कर· शुष्यति तावान् जघन्य·, उत्कृष्ट
पंचरात्रिन्दिवानि, जघन्यादूर्ध्वमुत्कृष्टादर्वाक् सर्वोऽपि मध्यम ।

बृहत्कल्प भाष्य गा १४३८ एव उसकी वृत्ति

३०६ - (क) 'उत्कृष्ट लन्दचारिण ' उत्कृष्ट लन्दं पंचरात्ररूप-
मेकस्यां वीथ्यां चरणशीला यस्मात्।।

(ख) यथा लन्दिकानां तु 'तवेण सत्तेण सुत्तेण' इत्यादिका भावनादि वक्तव्यता यथा जिनकल्पिकानाम्।.... । पचको हि गणोऽमुं कल्प प्रतिपद्यते, ग्राम च गृहपंक्ति-रुपाभि षड्भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत् परिकल्पयन्ति, किन्त्वेकैकस्या वीथ्या पच पच दिनानि पर्यटन्तीत्युत्कृष्टलन्दचारिणो यथालन्दिका उच्यते। एते च प्रतिपद्यमानका जघन्यत पचदश भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वम्, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यत कोटिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्व भवन्ति। एते च यथालन्दिका द्विविधा भवन्ति – गच्छे प्रतिबद्धा॰ अप्रतिबद्धाश्च, गच्छे च प्रतिबन्धोऽमीषा कारणत किंश्चिचदश्रुतस्याऽर्थस्य श्रवणार्थमिति मन्तव्यमिति। पुनरेकैकशो द्विविधा॰ – जिनकल्पिका स्थविरकल्पिकाश्च।

विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र) वृत्ति पृ. १३

(ग) बृहत्कल्प भाष्य गा १४४०, १४४३ – १४४५

३०७- (क) बृहत्कल्प भाष्य गा १४४१-१४४२

(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ १४

(ग) भगवती आराधना भा १ (शिवार्य) टीका पृ १९७

३०८ - भगवती आराधना भा १ टीका पृ २००-२०१

३०९ - (क) प्रतिमा प्रतिपत्ति प्रतिज्ञेतियावत्। स्थानागवृत्ति, पत्र ६१

(ख) प्रतिमा प्रतिज्ञा अभिग्रह। स्थानागवृत्ति, पत्र १८४

उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. १३१

३१० - (क) बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ, त जहा–मासिया भिक्खुपडिमा, दोमासिया भिक्खु पडिमा, तिमासिया भिक्खुपडिमा, चउमासिया भिक्खुपडिमा, पंचमासिया भिक्खुपडिमा, छमासिया भिक्खुपडिमा, सत्तमासिया भिक्खुपडिमा, पढमा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा, दोच्चा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा, तच्चा सत्त राइंदिया भिक्खुपडिमा, अहोराइया भिक्खुपडिमा, एगराइआ भिक्खुपडिमा। समवाय सूत्र (सुत्तागमे) १२/४२

(ख) ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ७

(ग) दसासुयक्खंधो (सुत्तागमे) ७/१५४-१८६

३११ - (क) एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-
दसणसावए,कयव्वयकम्मे, सामाइअकडे, पोसहोववास-
निरए, दिया बंभयारी रत्ति परिमाणकडे, दिआ वि राओ
वि बभयारी असिणाई विअडभोई मोलिकडे, सचित्त-
परिण्णाए, आरभपरिण्णाए, पेसपरिण्णाए, उद्दिट्ठ
भत्तपरिण्णाए, समणभूए, आवि भवइ समणाउसो।।

समवाय (सुत्तागमे) ११/३९

(ख) दसासुयक्खंधो (सुत्तागमे) ६/१२६-१४०-१५०

(ग) श्रावकाचार संग्रह, भा १ पृ २३५-२३६

३१२ (क) दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा -
समाहिपडिमा चेव उवहाणपडिमा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा-विवेगपडिमा चेव
विउस्सग पडिमा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-
भद्दा चेव सुभद्दा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-महाभद्दा चेव,
सव्वतो भद्दा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-खुड्डिया चेव मोय
(मूत्र) पडिमा। महल्लिया चेव मोय पडिमा।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा -जवमज्झे चेव
चंदपडिमा वइरमज्झे चेव चंदपडिमा।

ठाणं (सुत्तागमे) २/१२१

(ख) समाधान समाधि प्रशस्त भाव लक्षण. तस्य प्रतिमा
समाधि प्रतिमा। दशाश्रुतस्कन्धोक्त द्विभेदा - श्रुत-
समाधिप्रतिमा सामायिकादिचारित्र समाधि प्रतिमा च।

स्थानांग वृत्ति, पत्र ६१
उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. १३२

(ग) दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा खुड्डिया वा (चेव)
मोयपडिम महल्लिया वा मोयपडिमा, खुड्डियण्णं
मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ पढ (मे

सरद) म णिदाहकाल समयंसि वा
चरिमणिदाहकालसमयसि वा बहिया गामस्स वा जाव
रायहाणीए (सणिवेससि) वा वणसि वा, वणदुग्गसि वा
पव्वयसि वा पव्वयदुग्गसि वा, भोच्चा आरुभइ
चौद्दसमेण पारेइ अभोच्चा आरुभइ सोलसमेण पारेइ,
एव खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्त जाव
अणुपालिता भवइ। महल्लियण मोयपडिम
पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ से पढम
णिदाहकालसमयसि वा चरिमणिदाह काल समयंसि वा
बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणसि वा
वणदुग्गसि वा पव्वयसि वा पव्वयदुग्गसि वा, भोच्चा
आरुभइ सोलसमेण पारेइ, अभोच्चा आरुभइ,
अट्ठारसमेण पारेइ एवं खलु एसा महल्लिया
मोयपडिमा अहासुत्तं जाव अणुपालिता भवइ।

ववहारो (सुत्तागमे) ९/२६५-२६६

(घ) अर्ध मागधी कोष (भा ४) (रत्नचदजी म) पृ. २०६

(ङ) सखा दत्तियस्स ण (भिक्खुस्स पडिग्गह धारिस्स
गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स)
जावइय केइ अतो पडिग्गहसि उ (वित्ता) वइत्तु
दलएज्जा तावइयाओ (ताओ) दत्तीओ वत्तव्व सिया।

ववहारो (सुत्तागमे) [illegible]/२६७

(च) बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गा ५९५३-५९५६ एव वृत्ति सहित

(छ) विवेक - त्याग स चान्तराणा कषायादीना बाह्याना
गणशरीरभक्तपानादीनामनुचिताना तत्प्रतिपत्तिविवेकप्रतिमा।

स्थानाग वृत्ति, पत्र ६१, उद्धृत ठाण -
मुनि नथमल पृ १३२

(ज) से किं त विउस्सग्गे पण्णत्ते? दुविहे पण्णत्ते त जहा
(१) दव्वविउस्सग्गे (२) भावविउस्सग्गे य। से किं त
दव्वविउस्सग्गे? चउव्विहे पण्णत्ते (१) सरीर विउस्सग्गे
(२) गणविउस्सग्गे (३) उवहिविउस्सग्गे
(४) भत्तपाण विउस्सग्गे से त दव्वविउस्सग्गे। से किं त भाव
विउस्सग्गे ? तिविहे पण्णत्ते, त जहा-कसाय-

विउस्सग्गे, संसार विउस्सग्गे, कम्मविउस्सग्गे। कसाय-
विउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा-कोह कसाय जाव
लोहकसायविउस्सग्गे। संसार विउस्सग्गे चउव्विहे
पण्णत्ते, त जहा - णेरइयससार विउस्सग्गे जाव
देवसंसार-विउस्सग्गे। कम्म विउस्सग्गे अट्ठविहे
पण्णत्ते, तं जहा - णाणावरणिज्ज कम्म विउस्सग्गे जाव
अतरायकम्म विउस्सग्गे।

ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ १२

(झ) सावत्थी वासं चित्त तवो साणुलट्ठि बहिं।
पडिमा भद्द महाभद्द सव्वओभद्द पढमिआ चउरो।।

आवश्यक निर्युक्ति गा ४९५

(ञ) तत्र प्रथमायां भद्राख्याया चत्वार श्चतुष्कका यामाना
स्यु चतुर्दिक्षु प्रत्येक चतुर्यामकायोत्सर्ग करणात्।
महाभद्राया पूर्वदिश्येकमहोरात्र, एवं शेषदिशिस्वपि, एषा
दशमेन पूर्यते। आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि पृ २८६

सर्वतो भद्राया दशस्वपि दिक्ष्वेकैकमहोरात्र, तत्रोर्द्धदिश-
मधिकृत्य यदा कायोत्सर्गं कुरुते तदोर्द्धलोक व्यस्थिता-
न्येव कानिचिद्द्रव्याणि ध्यायति अधोदिशि त्वधो-
व्यवस्थितानि, एवमेषा द्वाविंशतिभक्तेन समाप्यते।

आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि पृ. २८४, गा ४२६

(ट) सर्वतो भद्रा [illegible] प्रकारान्तरेणाप्युच्यते, द्विधेय-क्षुद्रिका
महती च, तत्राद्या चतुर्थादिना द्वादशावसानेन पच-
सप्ततिदिन प्रमाणेन तपसा भवति।

एगाई पचते ठविउ, मज्झ तु आइमणुपंति।
उचियकमेण य, सेसे, जाण लहु सव्वओभद्द।।

महती तु चतुर्थादिना षोडषावसानेन षण्णवत्यधिक्दिन-
शतमानेन भवति।

एगाई सत्तते, ठविउ मज्झ च आदि मणुपतिं।
उचियकमेण य, सेसे जाण मह सव्वओ भद्दं।।

स्थानाग वृत्ति, पत्र, २७८-२७९
उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ १३३-१३४

(ठ) भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति।

स्थानांग वृत्ति पत्र ६१

उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ १३५, २३९

(ड) वातिय पित्तिय सिंभिय रोगायंके हि तत्थ पुट्ठोवि।
न कुणइ परिकम्मंसो किंचिवि वोसट्ठदेहो उ।
बधेज्ज व रुभेज्ज व, कोइ व हणेज्ज अहव मारेज्ज।
वारेइ न सो भयवं, चियत्तदेहो अपडिबुद्धो।

व्यवहार भाष्य १०/९/१०/३.

उद्धृत ठाण पृ २७९

(ढ) भद्रोत्तरप्रतिमा द्विधा-क्षुल्लिका महती च।
तत्र आद्या द्वादशादिना विंशान्तेन पचसप्तत्यधिक-
दिनशतप्रमाणेन तपसा भवति। .. .पारणक दिनानि
पचविंशतिरिति।
पचाई य नवते, ठविउ मज्झा तु आदिमणुपतिं।
उचियकमेण य, सेसे जाणह मद्दोत्तर खुड्डु।।
महती तु द्वादशादिना चतुर्विंशतितमान्तेन द्विनवत्य-
धिकदिनशतत्रयमानेन तपसा भवति।. . . पारणक-
दिनान्येकोनपचाशदिति।
पचादिगार सते, ठविउ मज्झं तु आइमणुपतिं।
उचिय कमेण य, सेसे महइ भद्रोत्तर जाण।

स्थानाग वृत्ति, पत्र २७९, उद्धृत, ठाण
(मुनि नथमल) पृ १३७

(ण) एकाकिनी विहारो-ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाभिग्रह
एकाकि विहार प्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका
वा भिक्षुप्रतिमा।

स्थानाग वृत्ति, पत्र ३९५, उद्धृत, 'ठाण' पृ ८२३

अट्ठहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरहति एगल्लविहार
पडिम उवसपिज्जित्ता ण विहरित्तए, तं जहा सड्ढी
पुरिसजाते सच्चेपुरिसजाते मेहावी पुरिसजाते,
बहुस्सुते पुरिसजाते, सत्तिमं, अप्पाधिगरणे, धितिम,
वीरियसपण्णे। स्थानाग सूत्र (आत्मा म) ८/१

३१३ - (क) चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप रत्नत्रय च स·।।
यथावस्थिततत्त्वानां . . .. सर्व सावद्ययोगानां
त्यागश्चारित्रमिष्यते।।

योगशास्त्र १/१५-१८

(ख) सम्यग्ज्ञानादिक प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभि स्फुटम्।।
भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम्।।
मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानत· स्मृत ।
ध्यानसाध्य मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन ।।
अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि·।
प्रशमैकपरैर्नित्य ध्यानमेवावलम्बितम्।।

ज्ञानार्णव ३/११-१४

(ग) मूलोत्तरगुणा सर्वे, सर्वा चेव बहिष्क्रियाः।
मुनीनां श्रावकाना च, ध्यानयोगार्थमीरिता ।।
तथाहि -मन प्रसाद साध्योऽत्र मुक्त्यर्थं ज्ञानसिद्धये।
अहिंसाविशुद्धेन, सोऽनुष्ठानेन साध्यते।
अत सर्वमनुष्ठान चेत शुद्ध्यर्थमिष्यते।
विशुद्धं च यदेकाग्र, चित्त तद् ध्यानमुत्तमम्।।
तस्मात् सर्वस्य सारोऽस्य, द्वादशागस्य सुन्दर ।
ध्यानयोग· परं शुद्ध , [illegible] हि साध्यो मुमुक्षुणा।।
शेषानुष्ठानमप्येव, यत्तदंगतया स्थितम्।
मूलोत्तरगुणाढ्यं तत्, सर्व सारमुदाहृतम्।।

उपमिति भवप्रपच कथा (सिद्धर्षिगणि,
उत्तरार्द्ध) ८/७२४-७३०

३१४ - अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलक-पकाण।
तह ताप सोसमेया कम्मस्स बि झाइणो नियमा।

ध्यान शतक गा ९७-९९

३१५- जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणो सह विहीहिं।
तह कम्मामयसमण झाणाणसणाइ जोगेहिं।।

जह चिरसंचियनिघणमनलो पवन सहिओ दुय दहइ।
तह कम्मेंधणमियं खणेण झाणानलो डहइ।।
जह वा घणसघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।

ध्यान शतक गा १००-१०२

३१६ - योग सर्व विपद्वल्ली- विताने परशु शित ।
अमूलमन्त्रतन्त्रं च, कार्म्मण निर्वृतिप्रिय ।।

योगशास्त्र १/५

३१७ - (क) कर्मक्लेशविनिर्मुक्ता ध्यानयोगेऽपि मानवा ।
धर्मध्यानेन तिर्यश्चः स्वर्गं गच्छन्ति नान्यथा।

श्रावकाचार सग्रह भा. ३ पृ ३९३

(ख) न निश्चित किंचन कर्मकाण्ड, न निश्चित कचन सम्प्रदाय ।
मोक्षस्य लाभाय वदन्ति सन्तस्तत्प्राप्तिमूल तु समत्व एव।

अध्यात्म तत्त्वालोक (न्याय विजयजी) ८/२१

(ग) सर्वोपाधिविशुद्धेन ततो जीवेन साध्यते।
ध्यान योग पर श्रेष्ठो, य स्यान्मोक्षस्य साधक ।।

उपमिति भवप्रपचभव कथा ८/८१२

(घ) ध्यान शुद्धि मन शुद्धि करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्यपि नि शक कर्मजालानि देहिनाम्।।

ज्ञानार्णव २२/१५

३१८- (क) अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशक ।
त्रैलोक्य चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावत ।।
अस्य वीर्यमह मन्ये योगिनामप्यगोचरम्।
यत्समाधिप्रयोगेन स्फुरत्यव्याहत क्षणे।।
जयमात्मा स्वय साक्षात्परमात्मेति निश्चय ।
विशुद्ध ध्याननिर्धूत -कर्मेन्धनमुत्कर ।।

ज्ञानार्णव २१/५-७

(ख) परमानन्दसयुक्त निर्विकार निरामयम्।
ध्यान हीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम्।।
आनद ब्रह्मणो रूप, निजदेहे व्यवस्थितम्।

ध्यान हीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्।।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्व,
व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव।।

उद्धृत, तीर्थंकर विचार मासिक पृ. ३३,३४,३६

३१९ - ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेष स्फुटीभवेत्।

ज्ञानार्णव २१/८

३२० - (क) तरति पापादिक यस्मात्।

सस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ५००

(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ ४२५

(ग) यथानार्थैर्ममाख्यातो द्वादशागस्य सारक ।।
ध्यानयोगस्तया तीर्थ्यै , स एव प्रतिपातित ।।
तत्कि सर्वेऽपि ते तीर्थ्या, भवेयुर्मोक्षसाधिका ।
ध्यानयोगेन बलेनैव, सारो यद्येष वर्तते।।

उपमिति भवप्रपचकथा (उत्तरार्द्ध) ८/७५७-७५८

❖ ❖ ❖

अध्याय ४

जैन धर्म में ध्यान का स्वरूप

(१) ध्यान का सामान्य और विशिष्ट अर्थ

तीसरे और चौथे अध्याय का एक दूसरे के साथ परस्पर अन्योन्याश्रित सबध है। साधना ध्यान के बिना पगु है और ध्यान साधना के बिना अधा है। अंधपगुन्याय की तरह इन दोनों अध्यायों का एक दूसरे से सबंध है। साधना में ध्यान का महत्त्व जानने के बाद उसके स्वरूप को जानना अत्यावश्यक है। इसीलिये इस अध्याय में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

ध्यान का सामान्य अर्थ

सामान्यत ध्यान सबधी अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। ध्यान का व्यवहार में सामान्य अर्थ निम्न प्रकार से है[१] सोचना। विचारना। ध्यान रखना। किसी बात या कार्य में मन के लीन होने की क्रिया, दशा या भाव। चित्त की ग्रहण या विचार करने की वृत्ति या शक्ति का ख्याल। समझ। बुद्धि। स्मृति। याद। ध्यान आना-विचार पैदा होना। ध्यान छूटना-एकाग्रता नष्ट होना। ध्यान जमना।

ध्यान का विशिष्ट अर्थ

ध्यान का विशिष्ट अर्थ है[२] - मानसिक प्रत्यक्ष। मन। बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना केवल मन में लाने की क्रिया या भाव। अन्त करण में उपस्थित करने की क्रिया या भाव। केवल ध्यान द्वारा प्राप्तव्य। ध्यान में मग्न। चेतना की वृत्ति चेत। बोध या ज्ञान कराने वाली वृत्ति या शक्ति।चित्त एकाग्र होना। विचार स्थिर होना। प्रशस्त ध्यान।

(२) ध्यान + योग इन दोनों शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

अनादि काल से मिथ्यादृष्टि जीव चार गति चौबीस दण्डक चौरासी लाख जीवायोनि में परिभ्रमण कर रहा है। परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। गाढ मिथ्यात्व के अधकार को ध्यान योग की साधना से मंद किया जाता है। ध्यान योग शब्द का विशिष्ट अर्थ आगे स्पष्ट करेंगे।

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार है[३] - जिसके द्वारा किसी के स्वरूप

का चिन्तन, अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिरतापूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन; अथवा ध्येय पदार्थ के विषय में अक्षुण्ण रूप से तैलधारा की भाँति चित्तवृत्ति के प्रवाह का चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है।

योग शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'योग' धातु की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से मानी गई है। 'युज्' धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से 'जोड़ना' या 'समाधि' मुख्य हैं[४]। बौद्ध परम्परा में युज् धातु का प्रयोग 'समाधि' अर्थ में लिया है और वैदिक परम्परा में दोनों ही अर्थ प्रचलित हैं, जैसे कि 'चित्तवृत्ति निरोध ही योग है' अथवा समत्व और उदासीन भाव से कर्म करने में कुशलता को योग कहा है या जीवात्मा परमात्मा का सुमेल ही योग है।[५] जैन धर्म में योग शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है[६] - १. आस्रव (क्रिया) २ जोड़ना, ३. ध्यान। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से कर्मों का आस्रव होता है। इन त्रिविध क्रिया द्वारा आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद हलन चलन की क्रिया (व्यापार) ही योग है। जिसके द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे आगम भाषा में 'आस्रव' कहते हैं। इसलिये युज् धातु का अर्थ 'आस्रव' या 'क्रिया' किया है[७]। जैन साहित्य ग्रन्थों में 'युज्' धातु का 'जोड़ना' अर्थ भी उपलब्ध होता है। कुंदकुदाचार्य के कथनानुसार आत्मा को तीन विषयों के साथ जोड़ने को कहा है[८]।

(१) रागादि के परिहार में आत्मा को लगाना - आत्मा को आत्मा से जोड़कर रागादि भाव का त्याग करना।

(२) सम्पूर्ण सकल्प -विकल्पों के अभाव में आत्मा को जोड़ना।

(३) विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैनागमों में कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ना। हरिभद्र सूरि ने[९] मोक्ष से जोड़ने वाले समस्त विशुद्ध धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) को योग कहा है। यहाँ पर स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलबन और अनालम्बन से सबद्ध धर्म व्यापार को योग कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने[१०] समस्त धर्म व्यापार से पाँच समिति और तीन गुप्ति -अष्ट प्रवचन माता की प्रवृत्ति को योग कहा है। 'युज्' - 'योग' शब्द का तीसरा अर्थ है[११] - 'ध्यान'। जिस योगबल से आत्मा को अपने स्वभावस्थित असली स्वरूप में जाना जाता है उसे योग कहते हैं[१२]। यहाँ 'योग' शब्द ध्यान का पर्यायवाची है। 'ध्यान' शब्द के लिये तप, समाधि, निरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, योग, सवीर्यध्यान आदि शब्दों का प्रयोग होता है।[१३] प्रकारान्तर में इनमें से 'ध्यान' 'समाधि' और 'योग' शब्द का प्रचलन अधिक हुआ है।

ध्यानयोग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ध्यान के बिना प्राप्त हो नही सकता। समस्त विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को एकाग्र करना ही उत्तम ध्यान या शुभ ध्यान है[१४]। ध्यान के साथ योग शब्द को जोड़कर यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रशस्त ध्यान का चिन्तन करो। जिस स्वरूप या वस्तु का चिन्तन किया जाता है, वैसा ही स्वरूप मन प्रदेश में प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये ज्ञानियों का कथन है कि मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर हो जाना ही ध्यान है। वह ध्यान दो प्रकार का है[१५] - शुभ (प्रशस्त) और अशुभ (अप्रशस्त)। ध्यानयोग शब्द का अर्थ प्रशस्त ध्यान है। मन वचन काय की विशिष्ट प्रवृत्ति (व्यापार) ही ध्यानयोग है। उस प्रवृत्ति का निरोध चाहे 'समाधि', 'भावना' या 'संवर' अथवा अन्य किसी भी मार्ग से हो। इन तीनों शब्दों के साथ 'योग' को जोड़ने से 'समाधियोग' 'भावना योग' 'सवरयोग' जिनका अर्थ है प्रशस्त ध्यान अथवा शुभध्यान। शुभ ध्यान से ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। अशुभ ध्यान से नही। अशुभ ध्यान (आर्त रौद्र) से तीर्यंच और नरक गति की प्राप्ति होती है। शुभ ध्यान आत्म स्वरूप का भान कराता है। आत्म स्वरूप का भान होना ही सवर है। सवर की क्रिया प्रारभ होने पर ही धर्मध्यान की प्रक्रिया शुरू होती है। धर्मध्यान से आत्मध्यान होता है। आत्मध्यान ही श्रेष्ठ ध्यान है। इसलिये ध्यानयोग शब्द का अर्थ है[१६] प्रशस्त ध्यान। टीका में 'समाधि' शब्द का अर्थ धर्मध्यान किया गया है। धर्मध्यान का प्रवेशद्वार भावना है। भावना नाव की तरह है। नाव किनारे ले जाती है वैसे भावनायोग से शुद्ध बनी आत्मा समाधियोग से मन को एकाग्र करके शुद्धात्मा या परमात्मा का ध्यान करना ही ध्यानयोग है।[१७] ध्यान योग के बल से काय के समस्त व्यापार को रोक कर, उपसर्ग और परीषहों को समता भाव से सहन कर मोक्ष हेतु सयम का अनुष्ठान करना मन वचन काय के विशिष्ट व्यापार को ध्यानयोग कहते हैं।[१८]

ध्यानयोग में भगवान का या उनके गुणों का चिन्तन किया जाता है। इसके अतिरिक्त षट् द्रव्य, उनके गुण, पर्याय, नौ तत्त्व, पचास्तिकाय का स्वरूप, कर्म का स्वरूप तथा अन्य विषयों का भी चिन्तन किया जाता है। किन्तु यह चिन्तन की धारा प्रारम्भिक है। सर्व श्रेष्ठ चिन्तन आत्म स्वरूप का ही है ओर वह संवर और निर्जरा से ही प्राप्त हो सकता है।[१९] ये दो ही मोक्ष के मुख्य साधन हैं। इन दोनों पर आगे विचार करेंगे।

(३) ध्यान का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मानव का विकास भौतिक या शारीरिक क्षेत्र में ही न होकर मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हो रहा है। जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तो उस पर नियत्रण करने के लिये ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का

अग्रगण्य स्थान है। शरीर के विषय में आगे विचार करेंगे। आधुनिक मनोविज्ञान शरीर और मन के अनुसंधान में लगा हुआ है। मनोवैज्ञानिक केरिंग्टन का कथन है[२०] कि ध्यान साधना एक मानसिक साधना है। मानसिक प्रक्रियाओं के कुछ महत्त्वपूर्ण रहस्य योगियों को ही ज्ञात हैं, जिसे हम अभी तक भी जान नही पाये हैं। मानसिक क्षेत्र का स्वरूप केवल मात्र 'मन' तक ही सीमित नहीं है, अपितु मन से भी अधिक सूक्ष्म 'प्रत्ययों' का आविष्कार भारतीय मनोविज्ञान की देन है, जो आधुनिक परा-मनोविज्ञान का ही एक क्षेत्र है। इसीलिये योगी अरविन्द ने अपनी ध्यान प्रक्रिया में 'अति मानस' की कल्पना की है जो मन की अतिसूक्ष्म स्थिति है अथवा 'वह' मानसिक आरोहण का महत्त्वपूर्ण कदम है।[२१] मानसिक चेतना के विकास क्रम में 'मन' का प्रथम चरण है। उसके माध्यम से चेतना का ऊर्ध्वारोहण सम्भव है।

हिन्दू आधुनिक मनोविज्ञान में मन से भी अतिसूक्ष्म 'प्रत्ययों' की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। इन प्रत्ययों का स्वरूप सापेक्ष है, निरपेक्ष नही। आधुनिक विज्ञान में सापेक्षवाद ही सत्य है, क्योंकि मन के आगे का आरोहन निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। इन्द्रियाँ सबसे अधिक स्थूल हैं और इनका सयोजन अनुशासन 'मन' के द्वारा होता है। अत इन्द्रियों से 'मन' सूक्ष्म है। मन से सूक्ष्म 'प्राण' है, प्राण से सूक्ष्म 'बुद्धि' है और बुद्धि से सूक्ष्म 'आत्मा' है।[२२] मन को केन्द्रित करने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियों पर संयम आवश्यक है। इसे ही इन्द्रिय निग्रह की संज्ञा दी जाती है। मनोविज्ञान की शब्दावली में इसे प्रवृत्तियाँ, उन्नयन अथवा उदात्तीकरण कहते हैं। यह उन्नयन की प्रक्रिया कल्पना, विचार, धारणा, चिन्तन आदि के क्षेत्रों में क्रियाशील होती है। जब 'मन' किसी भी एक 'वस्तु' के प्रति केन्द्रित होने की अवस्था में आता है, तब मन का केन्द्रीकरण ही वह आरभबिंदु है, जहाँ से 'ध्यान' के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

मानसिक प्रक्रिया में 'ध्यान' की स्थिति तक पहुचने के लिये तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना होता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं[२३] - १. चेतन मन, २. चेतनोन्मुख मन और ३. अचेतन मन। इन मन के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। नाट्याशाला की रगभूमि के समान 'चेतन मन' है। नाट्यशाला की सजावट के समान अचेतन मन है और रग शाला में प्रवेश करने की भाँति चेतनोन्मुख है। इस मन को बर्फ के समान भी बताया गया है।

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार बताई है[२४] - १. ज्ञानात्मक, २ वेदनात्मक और ३ क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एव वह चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है - जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिये ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में हर

किसी न किसी वस्तु पर ध्यान दिया जाता है। जागृत अवस्था विभिन्न प्रकार के ज्ञान को कराती है। सुप्त अवस्था में हम ध्यान विहीन रहते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित होता है, वह ध्यान का विषय कहा जाता है। चेतना के प्रकाश का किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत होना ध्यान कहा जाता है।[२५] ध्यान का विषय क्षण-क्षण में बदलता रहता है। जब हमारी चेतना एक पदार्थ पर केन्द्रीभूत होती है तो उससे सम्बन्धित दूसरे पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान हमें होता रहता है। किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान अत्यधिक फीका होता है। इसीलिये मनोवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया गया है।

जैन, हिन्दू एवं मनोविज्ञान ने ध्यानावस्था में मन को विचारशून्य निष्क्रिय स्थिति वाला न मानकर शुभ वृत्ति वाला माना है। शुभ वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान में स्थान है। जैनागमानुसार मन के विकारों पर विजय पाना है। इन्द्रिय और मन को नाश नही करना है। मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। आत्मा के शुभाशुभ भावों को क्रियात्मक रूप देने में ये माध्यम हैं। ध्यान साधना का मार्ग विकारों को दूर करने का राजमार्ग है। इसलिये इन्द्रियाँ और मन ध्यान प्रक्रिया में सहायक और बाधक दोनों भी है। विशेषत ध्यान साधना में मन का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। इसीलिये मनोविज्ञान में 'मन' की तीन दशाए वर्णित हैं[२६] - १ अवधान, २. सकेंद्रीकरण और ३ ध्यान। अवधान की प्रक्रिया में 'मन' को किसी वस्तु की ओर चेतनायुक्त किया जाता है। 'अवधान' और 'चेतनायुक्त' इन दोनों शब्दों को एकार्थ माना गया है। पिल्सबरी और मैकडोनल आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'अवधान' को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है, जो मन की ऐंद्रिय अभिज्ञान प्रक्रिया से सीधे सम्बन्धित है। 'अवधान' में मन अपने अभिज्ञानात्मक पदार्थ से पूर्णत सतुष्ट रहता है, जिसकी वजह से 'अवधान' में 'मन' बाह्य अनुभवों के प्रति अधिक क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में मानसिक -ऊर्जा 'वस्तु' के प्रति गतिशील रहती है। बाह्य वस्तुओं के प्रति 'मन' की यह गतिशीलता 'मन' का केवल एक मात्र क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त 'मन' का दूसरा भी क्षेत्र है - स्वरूप में मन को केन्द्रित करना। इस स्थिति में 'प्रज्ञा' का उद्गम होता है, जो ऐन्द्रिय जगत से सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष प्रतीत होती है। यह मानसिक प्रक्रिया एकात्म अवस्था का प्रथम चरण है। इस अवस्था में ही ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ अतिरिक्त रूप से 'एकता' की दशा तक पहुँचाती हैं। इसीलिये ज्ञान प्रक्रिया के अन्तर्गत फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है - ईड, ईगो और सुपरईगो । भारतीय विचार धारा में ये ही मनस, अहकार और बुद्धि के रूप में मिलते हैं। मन से बुद्धि तक का विस्तार ही मानसिक क्रिया का विकासशील स्वरूप है। यही मन का जो सूक्ष्म स्तर सुपरईगो द्वारा ग्रहण किया जाता है।

वस्तुत. जब मन क्रमश. संकेंद्रण की ओर अग्रसर होता है तब ही 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। इस दशा में विचार सीमित क्षेत्र में केन्द्रित नही होते, किन्तु अधिक गहराई में जाकर 'तल्लीनता' का अनुभव करते हैं। किसी कार्य या अध्ययन में एकाग्रता आना ही 'सर्केंद्रण' अवस्था है।[२७]

विचारणा और सर्केद्रण के क्षेत्र में 'मन' अनेक प्रकार के विचारों से अनुप्रेरित होता है। इसे ही 'धारणा' कहते हैं जो पतंजलि के योगाष्ट में पारिभाषिक शब्द है। इस अवस्था में 'मन' की दशा मानसिक प्रक्रिया से भिन्न होती है। क्योंकि उसमें विचारों का समूह अनियत्रित होता है और 'ध्यान' की अवस्था में आते ही विचारों का समूह सीमित हो जाता है। इसीलिये विचार प्रक्रिया में विचारों का क्रम ज्ञानेन्द्रियों के साथ चलता है[२८] और सकेन्द्रित मानसिक क्रिया (ध्यान) में ज्ञानेन्द्रियों का अस्तित्व पृष्ट भूमि में चला जाता है। इसीलिये 'ध्यान' यह एक मानसिक प्रक्रिया का विशिष्टीकृत एवं केन्द्रित रूप है। साधारण विचार-प्रक्रिया में अनुभव अनेक मुखी होता है जब कि 'ध्यान' में इसका स्वरूप अधिक तीव्र और केन्द्रित होता है। जहाँ अन्य अनुभव या विचार व्यवधान नही डाल सकते हैं। सामान्य विचार -प्रणाली में मानसिक क्रिया के भिन्न-भिन्न क्षण होते हैं जो अनुभव और प्रतीति के रूप में समानान्तर रूप से चलते हैं। किन्तु 'ध्यान' में ये दोनों प्रक्रियाएँ केवल मात्र एक 'पदार्थ' या 'पक्ष' पर केन्द्रित होती हैं। इसलिये 'ध्यान' यह मन की एक विशिष्टकृत केन्द्रित क्रिया है।

ध्यान चित्त शुद्धि का एक मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप है। चित्त शुद्धि के लिए मनोविज्ञान में विविध प्रणालियों (विधिया) का प्रयोग किया गया है, जैसे कि[२९] १ अन्तर्दर्शन, २ निरीक्षण, ३. प्रयोग, ४ तुलना और ५. मनोविश्लेषण। इसे आज कलकी भाषा में चित्त-विश्लेषण की विधि भी कहते हैं[३०] इन विधियों के अतिरिक्त अन्य भी प्रणालियाँ मिलती हैं। - १. विश्लेषात्मक प्रणाली, २. विकलनात्मक प्रणाली, ३. उदात्तीकरण और ४ निर्देशनात्मक प्रणाली।

'ध्यान' चित्त शुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिससे चित्त में स्थित वासना, कामना, सशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, अशाति आदि विकार दूर होकर मन की स्वस्थता प्राप्त होती है। ध्यान साधना जीवन में आनन्दपूर्वक जीने की कला सीखाता है। जीवन जीने की कला हस्तगत होते ही ध्यान बल से मन के असीम शक्ति का आविर्भाव होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक ध्यान का स्वरूप यही है कि मन की असीम शक्ति को ध्यान द्वारा विकसित करें।

(४) ध्यान योग का जैन दृष्टि से स्वरूप - लक्षण

ध्यान का स्वरूप

काकतालीय न्याय की भाँति मनुष्यत्व को प्राप्त मनुष्य ही अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञाता हो सकता है। इसीलिये ज्ञानियों का कथन है कि मनुष्य ही अपने स्वरूप का निश्चय मनुष्य भव में कर सकता है अन्य भव में नही।[३१] स्व स्वरूप का बोध ध्यान के आलबन से ही हो सकता है। क्योंकि मन अनेक पदार्थों में परिभ्रमण करता रहता है और उसका बोध आत्मा को होता है, उस बोध को ज्ञान कहते हैं। परतु वह ज्ञान जब अग्नि की स्थिर ज्वाला के समान एक ही विषय पर स्थिर होता है तब उसे ध्यान कहते हैं।[३२] मन की दो अवस्थाएँ हैं - ध्यान और चित्त। एक ही शुभाध्यवसाय में मन को दीपशिखा की तरह स्थिर करना ध्यान कहलाता है - जो स्थिर मन है वह ध्यान है और जो चचल मन है वह चित्त है। मन का स्वभाव चचल है। चचल चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं - भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता। भावना का अर्थ - ध्यान के लिये अभ्यास की क्रिया, जिससे मन भावित हो। अनुप्रेक्षा का अर्थ = पीछे की ओर दृष्टि करना, जिन तत्त्वों के अध्ययन का पुन पुन चिंतन मनन करना। चिन्ता का अर्थ = मन की अस्थिर अवस्था है। ऐसे तीन प्रकार के चित्त से भिन्न मन की स्थिर अवस्था 'ध्यान' कहलाती है।[३३]

किसी वस्तु में उत्तम सहननवाले को अन्तर्मुहूर्त के लिये चित्त वृत्ति का रोकना - मानस ज्ञान में लीन होने को ध्यान कहा गया है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर होना - चिंता का निरोध होना ही ध्यान कहलाता है। वह संवर और निर्जरा का कारण होता है। नाना अर्थों = पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिंता परिस्पन्दवती होती है, स्थिर नही हो पाती है, उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखों से हटाकर एक मुखी करने वाले का नाम ही एकाग्र चिन्तानिरोध है। यही ध्यान है। ज्ञान का उपयोग एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एकाग्र रह सकता है। इसीलिये ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त बताया है।[३४]

एकाग्र चिन्ता निरोध शब्द का अर्थ

एक का अर्थ = प्रधान, श्रेष्ठ, अग्र का अर्थ = आलबन, मुख, चिंता का अर्थ स्मृति और निरोध का अर्थ - अभाव स्वरूप, उस चिंता का उसी एकाग्र विषय में वर्तन का नाम है। द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ता का निरोध ही सर्वज्ञ भगवन्तों की दृष्टि से ध्यान है।[३५] यह तो ध्यान का सामान्य लक्षण है।

इस ध्यान लक्षण में 'एकाग्र' का जो अर्थ ग्रहण किया गया है, वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है। ज्ञान ही वस्तुत व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।[३६] यहाँ स्थूल रूप से ज्ञान और ध्यान के अतर को व्यक्त किया गया है। ज्ञान

व्यग्र इसलिये है कि वह विविध अग्रों-मुखों अथवा आलंबनों को लिये हुए है, जब कि ध्यान व्यग्र नहीं होने का कारण वह एकमुख तथा आलम्बन को लिये हुए एकाग्र ही होता है। यों तो ज्ञान से भिन्न ध्यान कोई अलग वस्तु नहीं है। वस्तुत निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है। इससे फलित होता है कि ज्ञान की उस अवस्था विशेष का नाम ध्यान है, जिसमें वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। योगी के 'चिन्ता-एकाग्र-निरोधन' नामक योग के लिये 'प्रसख्यान' 'समाधि' और 'ध्यान' भी कहते हैं और वह अपने इष्ट फल को प्रदान करनेवाला होता है।[३७]

प्रस्तुत वाच्यार्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग भाव साधन में न कर कर्म साधन में किया गया है- जो रोका जाता है वह निरोध है और चिन्ता का जो निरोध करता है वह चिन्तानिरोधक है। इसमें जो 'एकाग्र' पद दिया गया है, उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है क्योंकि द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य में सक्रम का विधान है। ध्यान अनेक मुखी न होकर एक मुखी होता है और उस मुख में ही सक्रम होता रहता है। 'अग्र' आत्मा को भी कहते हैं। इसलिये ध्यान लक्षण में प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना अथवा द्रव्य रूप से एक ही आत्मा को लक्ष्य बनाना स्वीकृत है। ध्यान स्ववृत्ति होता है। इसलिये इसमें बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। इसीलिये ध्यान शब्द की व्याख्या में 'एकाग्रचितानिरोध' ही यथार्थ है।[३८]

श्रुतज्ञान और नय की दृष्टि से ध्यान संज्ञा का विशेष लक्षण

स्थिर मन का नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञान का नाम भी ध्यान है।[३९] ज्ञान और आत्मा ये एक ही पदार्थ के दो नाम हैं। इसलिये इनमें से जो जब विवक्षित होता है उसका परिचय तब दूसरे नाम के द्वारा कराया जाता है। जब आत्मा का नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिये कहा जाता है कि वह ज्ञान स्वरूप है, और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिये कहा जाता है कि वह आत्मस्वरूप है।[४०] इसलिये आत्मज्ञान और ज्ञान आत्मा ही ध्यान है। रागद्वेषरहित तात्त्विक श्रुतध्यान (ध्यान) अन्तर्मुहूर्त में स्वर्ग या मोक्ष प्रदाता है। यह ध्यान छद्मस्थों को होता है। वीतराग सर्वज्ञ के लिये 'योग निरोध' ही ध्यान है। जिस श्रुतज्ञान को ध्यान कहा गया है उसके तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण है - उदासीन, यथार्थ और अति निश्चल। इन विशेषणों से रहित श्रुतज्ञान ध्यान की कोटि में नहीं आता, वह व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नहीं होता। 'अन्तर्मुहूर्त' पद द्वारा एक विषय में ध्यान के उत्कृष्ट काल का निर्देश किया गया है और यह काल मर्यादा भी उत्तम सहननवालों की दृष्टि से है। हीन सहन-नवालों का एक ही विषय में लगातार ध्यान इतने समय तक न रहने के कारण इससे भी कम काल की मर्यादा को लिये हुए होता है। और भी अन्तर्मुहूर्त काल की मर्यादा का

विधान एक वस्तु में छद्मस्थों के चित्त के अवस्थान - काल की दृष्टि है, न कि केवलज्ञानियों की दृष्टि से है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेकर ध्यानान्तर के रूप में बदल जाती है। इन बहुत वस्तुओं का संक्रमण होने पर ध्यान की सतान (ध्यानों का सतान काल) चिर काल तक भी चलती रहती है। यह छद्मस्थ ध्यान का लक्षण है। छद्मस्थ का श्रुतज्ञान (ध्यान) ही स्वर्ग और मोक्ष प्रदाता है।[४१] करण साधन-निरुक्ति की दृष्टि से [४२] स्थिर मन और स्थिर तात्त्विक श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है।

द्रव्यार्थिक और निश्चयनय द्वारा ध्यान का लक्षण बताया जा रहा है - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा 'एक' शब्द केवल अथवा तथोदित (शुद्ध) का वाचक है। 'चिन्ता' अन्त करण की वृत्ति का और 'रोध' अथवा 'निरोध' नियत्रण का वाचक है। निश्चयनय की दृष्टि से 'एक' शब्द का अर्थ 'शुद्धात्मा' उसमें चित्तवृत्ति के नियन्त्रण का नाम ध्यान होता है। अथवा अभाव का नाम 'निरोध' है और वह दूसरी चिन्ता के विनाशरूप एक चिन्तात्मक है - चिन्ता से रहित स्वसवित्तिरूप है।[४३] 'रोध' और 'निरोध' एक ही अर्थ के वाचक हैं। शुद्धात्मा के विषय में स्वसवेदन ही ध्यान है।[४४] निश्चयनय की दृष्टि से ध्याता को ध्यान कहा गया है, क्योंकि ध्यान ध्याता से अलग नही रह सकता। ध्यान, ध्याता, ध्येय के साधनों में कोई विकल्प नही हो सकता। इन तीनों का एकीकरण ही ध्यान है। ध्येय को ध्याता में ध्याया जाता है इसलिये वह कर्म और अधिकरण दोनों ही रूप में ध्यान ही है। कर्म साधन और अधिकरण साधन निरुक्ति की दृष्टि से ध्येय और ध्येय के आधार को भी ध्यान ही कहा गया है। क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से ये दोनों ध्यान से भिन्न नही हैं।[४५] अपने इष्ट ध्येय में स्थिर हुई बुद्धि दूसरे ज्ञान का स्पर्श नही करती इसलिये 'ध्याति' को भी ध्यान कहा है। भाव साधन की दृष्टि से 'ध्याति' को ध्यान कहा गया है और निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा ही ध्येय है।[४६] जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है, जो ध्यान करता है वह ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्येय वस्तु में परम स्थिर - बुद्धि का नाम भी ध्यान ही है। आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिये अपने आत्महेतु से ध्याता है। इसलिये निश्चयनय की दृष्टि से यह कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट् कारक में परिणत आत्मा ही ध्यान स्वरूप है।[४७] षट् कारक रूप आत्मा कैसे ध्यान स्वरूप हो सकती है? जो ध्याता है वह आत्मा (कर्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यानपरिणत आत्मा (करण), जिसके लिये ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप के विकास - प्रयोजनरूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतु से ध्याता है, वह सम्यग्दर्शनादिहेतु आत्मा (अपादान) और जिसमें

स्थित होकर अपने अविकसित शुद्धस्वरूप को ध्याता है, वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्ध नय की दृष्टि, जिसमें कर्ताकर्मादि भिन्न नहीं होते, सिर्फ अपना एक आत्मा ही ध्यान के समय षट्कारकमय परिणत होता है[४८] वही ध्यान का विशिष्ट लक्षण है।

(५) जैन धर्म में ध्यान योग की व्यापक रूप रेखा

(१) ध्यान योग को जानने के द्वार एवं अंग

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और रामसेनाचार्य ने आगम का सिंहावलोकन करके ध्यानयोग (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) को यथार्थ रूप से जानने के लिये क्रमशः बारह द्वार और आठ अंगों का प्रतिपादन किया है। बारह द्वार इस प्रकार हैं-[४९] १. ध्यान की भावना, २. ध्यान के लिये उचित देश या स्थान, ३. ध्यान के लिये उचित काल, ४. ध्यान के लिये उचित आसन, ५. ध्यान के लिये आलम्बन, ६. ध्यान का क्रम (मनोनिरोध आदि), ७. ध्यान का विषय-ध्येय, ८. ध्याता कौन ? ९. अनुप्रेक्षा, १०. शुद्ध लेश्या, ११. लिंग और १२. ध्यान का फल। आठ अंगों के नाम बारह द्वारों से कुछ मिलते जुलते हैं[५०]। १. ध्याता, २. ध्येय, ३. ध्यान, ४. ध्यान फल, ५. ध्यान स्वामी, ६. ध्यान क्षेत्र, ७. ध्यान काल और ८. ध्यानावस्था।

इसमें 'भावना' और अनुप्रेक्षा ऐसे दो शब्द आये हैं। इन दोनों में खास कोई अन्तर नहीं है, सिर्फ अभ्यास की भिन्नता है। ज्ञान दर्शनादि भावना ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिये है और अनित्यादि अनुप्रेक्षा वीतराग भाव की पुष्टि के लिये है। यह ध्यान के मध्यवर्ती काल में की जाती है। ध्यान निरन्तर नहीं कर सकते। एक विषय पर मन सतत प्रवाहित नहीं हो सकता। मन चंचल है। भटकना उसका स्वभाव है। ध्यानावस्था में बीच-बीच में ध्यानान्तर हो जाता है। उस समय अनित्यादि भावना-अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाता है। यह मध्यकालीन भावना है और ज्ञानादि प्रारंभिक भावना है।

अज्ञानी मनुष्य ध्यान नहीं कर सकता। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक ये सम्यग्दर्शन के लक्षण होने पर ही जीव में ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। चारित्र और वैराग्यहीन व्यक्ति ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन स्थिर नहीं रहता।

जिस विषय या प्रवृत्ति का बार बार अनुचिंतन किया जाता है उसे भावना कहते हैं। ध्यान की योग्यता के लिये[५१] ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना, और वैराग्य भावना और भी मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का सतत अभ्यास करना चाहिये।

ज्ञानादि भावनाओं का स्वरूप

ज्ञान भावना : राग-द्वेष-मोह से रहित होकर तटस्थ भाव से जानने की क्रिया (अभ्यास) का नाम ज्ञान भावना है। इस भावना में पाँच कार्य किये जाते हैं - १ श्रुतज्ञान में सतत प्रवृत्ति करना, २ मन को अशुभ भाव से रोकना, ३ सूत्रार्थ की विशुद्धि, ४ भवनिर्वेद और ५ परमार्थ की समझ।[५२]

दर्शन भावना : रागादि भावों से रहित होकर तटस्थ भाव से पदार्थ को देखना दर्शन भावना है। इसके शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक ये पाँच गुण हैं और शका, काक्षा, विचिकित्सा, प्रशसा और प्रस्तव ये पाँच दोष हैं।[५३]

चारित्र भावना : रागादि भावों से रहित होकर समभाव की आराधना-अभ्यास का नाम चारित्र भावना है। इस भावना में चार कार्य होते हैं। १ आस्रवों का रोकना, २. पूर्वसचित कर्मों की निर्जरा, ३ समिति गुप्ति में शुभ प्रवृत्ति और ४ ध्यान की सहजता से प्राप्ति।[५४]

वैराग्य भावना : अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय प्रवृत्ति का सतत अभ्यास करना वैराग्य भावना है। इस भावना के पाँच कार्य है - १ सुविदित जगत् स्वभाव, २ निस्सगता, ३ निर्भयता, ४ निराशसता और ५ तथाविध क्रोधादिरहितता।[५५]

मैत्री भावना : ससार के समस्त जीव सुखी रहें, उन्हें दु खों की अनुभूति न हो, वे किसी भी पाप प्रवृत्ति में प्रवृत्त न हो, जगत के सभी प्राणी समान हैं, उनमें ऊच नीच की भावना न हो, मेरे समान ही सबकी आत्मा है। इस प्रकार का सतत चिन्तन करना मैत्री भावना है।[५६]

प्रमोद भावना : दोषों के त्यागी, गुणों के ग्राही, सज्जन पुरुषों के गुणों का सतत आदर करना, गुणग्राही बनना, अच्छे गुणों को ग्रहण करने में सतत प्रसन्न रहना प्रमोद भावना है।[५७]

कारुण्य भावना : दीन, दु खी, पीड़ित, कष्टित, भयभीत एव प्राणों की भिक्षा मागने वाले जीवों के प्रति सतत करुणा भाव रखना, उनके दु खों को दूर करने की बुद्धि रखना, कारुण्य भावना है।[५८]

माध्यस्थ भावना : नि शकता से क्रूर कर्म करने वाले, देव, गुरु, धर्म की निन्दा करने वाले, आत्म प्रशसालीन व्यक्ति, नीच प्रवृत्ति करने वाले जीवों के प्रति समभाव (उपेक्षा) रखना, 'माध्यस्थ' भावना है।[५९]

ज्ञानादि और मैत्र्यादि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला आत्मलक्ष्यी साधक बिखरी हुई, विशुद्ध ध्यान -श्रेणी को पुन जोड़ देता है।[६०]

उचित देश या स्थान का स्वरूप

ध्यान साधक के लिये स्त्री, पशु, नपुंसक, एव कुशील व्यक्ति से रहित एकान्त स्थान, कोलाहलरहित, विघ्नरहित, बाधारहित निर्जन वन, गुफा, निर्जीव प्रदेश, भूमि, शिला, तीर्थंकर की जन्मभूमि, निर्वाण भूमि, केवलज्ञान प्राप्य भूमि आदि पवित्र स्थानों में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर रहकर ध्यान करने के लिये उचित बताया है।[६१] किन्तु किसी का कहना है कि निश्चल स्थिर मन वाले साधक के लिये ग्राम, नगर, स्मशान, वन, गुफा, शून्य महल सब समान है।[६२]

उचित काल का स्वरूप

स्थिर मन वाले साधक के लिये दिन या रात्रि के नियत समय की आवश्यकता नही है। जिस समय मन वचन काय का व्यापार स्थिर (स्वस्थ) हो उस समय ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने वाले के लिये दिन, रात्रि या अन्य किसी समय का निश्चित निर्णय करने का कोई नियम नही है। जब मन स्वस्थ हो, उसी समय ध्यान करें।[६३] मन की स्वस्थता यही काल की उचित मर्यादा है।

आसनों का स्वरूप

जैनागम और अन्य ग्रन्थों में ध्यान के लिये कुछ आसन निहित किये गये हैं। किन्तु कोई निश्चित आसन नही कि इसी में ध्यान करना चाहिये। देह को पीडा एव कष्ट न हो ऐसे सहज साध्य आसन में ध्यान करने का जिनेश्वर का फरमान है। बैठे-बैठे, सोये-सोये या खड़े-खड़े किसी भी स्थिति में कायोत्सर्ग मुद्रा में या वीरासनादि आसनों में ध्यान करने का कोई नियम नही है। मुनियों ने किसी भी देश-काल-आसन में कर्म क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। किन्तु भगवान महावीर के विषय में मिलता है कि उन्होंने गोदुहिका आसन में केवलज्ञान प्राप्त किया था। पर ऐसा कोई नियम नही है कि अमुक ही आसन में कर्म क्षय होना चाहिये। जिस योग से स्वस्थता रहे उस स्थिति या मुद्रा अथवा आसन से ध्यान करना चाहिये।[६४]

आलम्बनों का स्वरूप

एक पुद्गल पर स्थित मन के विचलित हो जाने पर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का साधक क्रमश वाचना, पृच्छना, परियट्टना, धर्म कहा (अनुप्रेक्षा) और क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव का सहारा लेकर पुन मन को स्थिर करता है। इन दोनों ध्यान के चार -चार आलवन हैं। इन आलवनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

ध्यान के क्रम का स्वरूप

ध्यान प्राप्ति का क्रम दो प्रकार का बताया गया है-[६५] १. केवलज्ञानी आत्मा जब

मोक्ष पाने के अति निकट काल में-अतिम शैलेशी अवस्था के समय योगनिरोध (मनोयोग का निग्रह - वचनयोगनिग्रह - काय योगनिग्रह) करता है और २ अन्यों को स्वस्थानुसार होता है - अन्य सब महात्माओं को धर्मध्यान की प्राप्ति का क्रम योग और काल के आश्रय से उनकी समाधि के अनुसार होता है। इनका स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान का विषय ध्येय

ध्यान करने योग्य वस्तु को ध्येय कहते हैं। ध्येय वस्तु चेतन अचेतन दोनों प्रकार की होती है। चेतन जीव द्रव्य है और अचेतन धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ओर पुद्गल आदि पाँच द्रव्य हैं। अरिहत और सिद्ध भी ध्येय वस्तु ही हैं। बारह गुण सम्पन्न अरिहत और सिद्ध का ही ध्यान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम और क्षपक श्रेणी की आरोहण विधि, सभी प्रकार की वर्गणाएँ, पाँच प्रकार का ससार, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, ये सब ध्यान करने योग्य (ध्येय) होते हैं।[६६]

ध्याता का स्वरूप

ध्याता - मुमुक्षु हो (मोक्ष का इच्छुक हो), ससार से विरक्त हो, क्षोभरहित शात चित्त हो, वशी हो, (मन वश में हो), स्थिर हो, जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो, सवृत (सवरयुक्त) हो धीर, गभीर हो, गुणग्राही हो, आसन्न भव्य हो, कामभोग एव विषय विकारों से विरक्त हो, समस्त द्रव्य एव [illegible] परिग्रह का त्यागी हो, जीवादि पदार्थों का ज्ञाता हो, प्रवज्या धारी हो, तप सयम से सम्पन्न हो, प्रमादरहित हो, आर्तरौद्रध्यान का त्यागी हो, इहलोक परलोक दोनों की अपेक्षा से रहित हो, आनदी हो, परीषह विजेता हो, क्रियायोग सम्पन्न हो, ध्यानयोग में सतत उद्यमी हो, अशुभ लेश्या एव अशुभ भावनाओं से रहित हो, उत्तम सहननवाला हो, धैर्य एव बलशाली हो, चौदह, दस और नौ पूर्व का ज्ञाता हो, सम्यग्दृष्टि हो, इन सभी गुणों से सम्पन्न ध्याता ही ध्यान करने योग्य होता है।[६७]

अनुप्रेक्षा का स्वरूप

ध्यान योग में स्थिर रहने के लिये साधक को ध्यानान्तरावस्था में धर्मध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाओं का आधार लिया जाता है। वे अनुप्रेक्षाएँ क्रमश इस प्रकार हैं - धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ - अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, ससारानुप्रेक्षा ओर एकत्वानुप्रेक्षा। इन चारों के क्रम में कही - कही भिन्नता नजर आती है। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षायें - अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा। इन अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप आगे बताया जायेगा।

शुद्ध लेश्या का स्वरूप

ध्यान योग में प्रशस्त तीन लेश्याएँ होती हैं - तेजो, पद्म ओर शुक्ल लेश्या। यों

तो आगम मे छह लेश्याएं हैं। उन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है। - प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रथम की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं। ध्यानावस्था में उनका स्थान नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की लेश्याओं का स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान के लिंग का स्वरूप

आगम में लिंग के लिये लक्षण शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिये चार-चार लक्षण दिये गये हैं। उनके नाम क्रमश निम्नलिखित हैं - धर्मध्यान के चार लक्षण (लिंग) - आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ रुचि। शुक्लध्यान के चार लक्षण (लिंग) - अव्यथा, असमोह, विवेक और व्युत्सर्ग। इन सभी लिंगों का स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान का फल

धर्मध्यान का फल विपुल शुभ आस्त्रव, सवर, निर्जरा और दिव्य सुख है।[६८] यह शुभानुबन्धी होने के कारण शुभ परम्परा तक पहुँचाने वाले पुण्य बन्ध आदि फल को उत्पन्न करते हैं। अपाय विचय धर्म ध्यान का फल रागादि दोषों से उत्पन्न होने वाले चार गति के भ्रमण से मुक्ति एव समस्त कर्मों से निवृत्ति है।[६९] सस्थान विचय धर्मध्यान के चिन्तन से रागादि भाव नष्ट होते हैं और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।[७०] शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद - 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' 'एकत्व वितर्क अविचार' से शुभास्त्रव, सवर, निर्जरा एव देवलोक के दिव्य सुख का फल है परन्तु वे विशिष्ट स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। अद्भुत उच्च कोटि के पुण्य बन्ध, कर्म -निर्जरा आदि होते हैं। सबसे ऊचे अनुत्तर विमानवासी देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। उपशम श्रेणी में चढ़े हुए मुनि शुक्लध्यान से ऐसी फलोत्पत्ति के अनुसार, श्रेणी से गिरते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर, अनुत्तर विमान में जन्म लेते हैं। प्रथम शुक्लध्यान में साधक, अतीक्ष्ण कुल्हाडी वृक्ष को शनै शनै काटती रहती है वैसे मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को काटता रहता है। तीन घातिकर्मों को निर्मूल विनाश करना शुक्लध्यान का फल है और मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है। दूसरे शुक्लध्यान में भी मोह का नाश होता है। जब योगी श्रुतज्ञानोपयोग से ज्ञानावरण कर्म को रोकता है तब उसमें अर्थ सक्रान्ति, व्यजनसंक्रान्ति और योगसक्रान्ति का अभाव होता है। द्वितीय शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है। प्रथम शुक्लध्यान में उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियाँ होती हैं। परन्तु द्वितीय शुक्लध्यान में केवल क्षपक श्रेणी ही होती है।[७१] इसमें आये हुए अर्थ व्यंजन और योगसक्रान्ति का अर्थ क्रमश. इस प्रकार है - अर्थ = ध्येय वस्तु, व्यजन = वचन, शब्द, वाक्य आदि, योग = मन वचन काय और सक्रान्ति = परिवर्तन। इस ध्यान के फलस्वरूप सवर, निर्जरा और अमर सुख की प्राप्ति होती है।[७२]

संवर निर्जरा का स्वरूप : सवर का अर्थ है आत्मा में आने वाले आस्रव द्वार को रोकना, वह सवर है।[७३] वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है।[७४] नये कर्मों को आते हुए रोकना द्रव्य सवर है और मन वचन काय की चेष्टाओं से आत्मा में आने वाले कर्मों को, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्रसम्पन्न ध्यानयोगी आदि इन कारणों के द्वारा निवारण करने पर आत्मा का निर्मल परिणाम ही भाव सवर है। भाव सवर के अनेक नाम हैं[७५] - सम्यक्त्व, देशव्रत, सर्वव्रत, कषायविजेता एवं केवली भगवान-योगनिरोधक।

आत्मा से कर्मों के एक देश से झरने को निर्जरा कहते हैं। सब कर्मों की शक्ति के उदय होने को अनुभाग कहते हैं। परतु उसके पश्चात् पूर्व सचित कर्मों को बारह प्रकार के तप से क्षीण एव नीरस कर दिये जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं।[७६] निर्जरा के दो भेद हैं[७७] १ सविपाक निर्जरा (साधारण निर्जरा, पाकजानिर्जरा, स्वकालप्राप्त निर्जरा, अकाम निर्जरा) और २ अविपाक निर्जरा (औपक्रमिकी निर्जरा, अपाकजानिर्जरा, सकाम निर्जरा)। इन दोनों प्रकार की निर्जरा को अनेक नामों से सबोधित किया जाता है। इनमें सविपाक निर्जरा चारों गति के जीव सतत करते रहते हैं। जीव जिन कर्मों को भोगता है, किन्तु उससे कई गुणा अधिक नवीन कर्मों को बाधता है। इसमें कर्मों का अत होता ही नही है। क्योंकि कर्मबध के हेतुओं की प्रबलता रहती है। सामान्यत सविपाक निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रति समय होती रहती है, इसीलिये इसे साधारण, अकाम, स्वकालप्राप्त, पाकजा निर्जरा कहते हैं। बधे हुए कर्म अपने आबाधाकाल तक सत्ता में रहकर उदय प्राप्त काल के आने पर अपना फल देकर झरते रहते हैं। इसलिये उसे स्वप्राप्त काल निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा कर्मबध का कारण है। एक मात्र अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है क्योंकि वह बिना भोगे ही कर्म समाप्त कर देती है। अविपाक निर्जरा बारह प्रकार के तप द्वारा प्राप्त होती है। साधुओं के जैसे-जैसे उपशम भाव और तपाराधना में वृद्धि होती है वैसे वैसे अविपाक निर्जरा की वृद्धि होती है। ज्ञानी पुरुष का तप ही निर्जरा का कारण बनता है। अज्ञानी का तप कर्मबधन का कारण है। इसलिये अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का अचूक साधन है और धर्मध्यान शुक्लध्यान ही विशेष रूप से निर्जरा का कारण हैं। क्योंकि ग्यारह स्थानों में ऊपर ऊपर असख्यात गुणी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है जैसे कि[७८] मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि से अणुव्रतधारी की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। अणुव्रतधारी से सर्व व्रती ज्ञानी की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। महाव्रती से अनन्तानुबन्धी कषाय का विसयोजन करनेवाले की असख्यात गुणी निर्जरा होती है। उससे दर्शनमोहनीय का क्षण -विनाश करने वाले की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे उपशमश्रेणि के आठवें, नौवें

तथा दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का उपशम करनेवाले की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशय के असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे क्षपक श्रेणि के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में चरित्रमोहनीय का क्षय करने वाले की असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान वाले की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे सयोगी केवली भगवान की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे अयोगी केवली भगवान की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। इस प्रकार ग्यारह स्थानों में उत्तरोत्तर निर्जरा असख्यात गुणी असख्यात गुणी अधिक होती जाती है।

शुभलेश्या वाला, निसर्ग से बलशाली, निसर्ग से शूर, वज्रऋषभ संहननवाला, किसी एक सस्थानवाला, चौदह पूर्वधारी, दस पूर्वधारी, नौ पूर्वधारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव, नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इसी प्रकार किसी एक शब्द या योग के आलम्बन से द्रव्य गुण पर्याय में मेरू पर्वत के समान निश्चल चित्तवाला जीव असख्यात गुण श्रेणी क्रम से कर्मस्कन्धों को गलाते हुए, अनन्त गुणहीनश्रेणिक्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करते हुए तथा कर्मों की स्थितियों का घात करते हुए अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत करते हैं। यह द्वितीय शुक्लध्यान की अवस्था है। इस अन्तर्मुहूर्त काल के बाद शेष रहे क्षीण कषाय के काल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदयादि गुणश्रेणिरूप से रचना करके, पुन. स्थितिकाण्डक घात के बिना अध स्थिति गलना द्वारा ही असख्यात गुणा श्रेणिक्रम से अविपाक निर्जरा द्वारा कर्मस्कन्धों का घात करता हुआ क्षीण कषाय के अतिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मों का युगपत् नाश करता है। केवलज्ञान को प्राप्त करना द्वितीय शुक्लध्यान का फल है।[७९]

तीसरे शुक्लध्यान का फल योग का निरोध और यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति है। कर्मबन्ध के आस्रव का निरोध हो जाने से शेष समस्त कर्मों का निर्जरा के कारण क्षय हो जाता है। क्योंकि तीसरे शुक्लध्यान में योगों का निरोध होकर मोक्ष का साक्षात्कारण यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके चतुर्थ शुक्लध्यान (समुच्छिन्न-क्रिया - अप्रतिपाती) का प्रारंभ हो जाता है। ये दोनों ही ध्यान मोक्ष प्रदाता हैं। क्योंकि इन दोनों का फल मोक्षगमन है। अयोगिकेवली भगवान जब ध्यानातिशयाग्नि द्वारा समस्त मलकलंक बंधन को जलाकर, किट्ट धातु एव पाषाण का नाश कर शुद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं। तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं। कुछ ह्रस्व पाँच लघु अक्षरों के - 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतना ही काल शैलेशी अवस्था का है। शैलेशी अवस्था पूर्ण होने पर आत्मा में अपूर्व स्थिरता आ जाती है और सिद्धि को प्राप्त कर लेती है।[८०] शैलेशी अवस्था प्राप्त करना चौथे शुक्लध्यान का फल है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही मोक्ष निश्चित है। अत अंतिम दोनों ध्यान मोक्ष के मुख्य कारण हैं।

ध्यान का प्रत्यक्ष फल । ध्यान में स्थित आत्मा को कषायों से उत्पन्न होने वाले मानसिक दु खों, ईर्ष्या, खेद, शोक आदि पीड़ित नही करते तथा ध्यान से भावित आत्मा को शीत, ताप आदि अनेकानेक शारीरिक दु ख भी चलित नही करते, क्योंकि वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा वाला है।[८१]

आगम कथित चारों ही ध्यान का फल निम्नलिखित है-[८२] आर्तध्यान से तिर्यंचगति, रौद्रध्यान से नरक गति, धर्मध्यान से स्वर्ग एव मोक्ष तथा शुक्लध्यान से मोक्ष (सिद्धगति) मिलता है।

ध्यान के स्वामी

आगमकथित चारों ध्यान के स्वामी गुणस्थानवर्ती जीव हैं। इनका वर्णन आगे करेंगे।

(२) ध्यान का लक्ष्य 'मन की एकाग्रता'

आत्मा के अस्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण, आत्म व्यापारों का समर्थ वाहन और जगत् के साथ आत्मा का अनुसन्धानक मन ही है। सोचना, समझना, चिन्तन करना, तर्कना करना ये सब क्रियायें मन की शक्ति द्वारा ही की जाती है। जिसके द्वारा विचार किया जाता है ऐसी आत्मिक शक्ति मन है तथा इस शक्ति के विचार करने में सहायक होने वाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन ही कहलाते हैं। पहले को भाव मन और दूसरे को द्रव्यमन से अभिहित करते हैं।

मन का स्वरूप ।

मन का स्वभाव चचल है। विविध प्रकार के पुद्गल वर्गणाओं के स्कन्धों का अनुभव करके रागद्वेष मोहादि भावों में सतत रमण करना ही मन का स्वभाव है। तरगित जल में स्थित वस्तु का यथार्थ प्रतिभास नही हो सकता वैसे ही रागद्वेषादि कल्लोलों से आकुलित हुए मन द्वारा आत्मदर्शन नही हो सकता। आत्म दर्शन कराने में मन अधिक सहयोगी है। मन के दो प्रकार हैं - सविकल्प और निर्विकल्प। वस्तुत निर्विकल्प मन ही आत्म तत्त्व है, सविकल्प मन तो 'आत्मभ्रान्ति' रूप है। मन की अस्थिरता ही रागादि परिणति का कारण है और मन की स्थिरता ही आत्मा का वास्तविक रूप है। मन ही कर्म बन्धन और मुक्ति का कारण है। ध्यानस्थयोगी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान से विचलित करने वाला और पुन ध्यान में स्थिर करनेवाला मन ही है। निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धात्मा की तरह सबकी आत्मा है। आत्मस्वरूप का भान स्थिर मन ही करा सकता है, चचल मन नहीं। क्योंकि रागद्वेषात्मक जीवों के अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति का कारण मन है और रागद्वेषात्मक वृत्ति के निरोध होते ही मोक्ष का कारण भी मन ही है। अत स्थिर मन 'आत्म तत्त्व' है और अस्थिर मन 'आत्मभ्रान्ति' है।[८३] मन मर्कट चारित्र घडे में भरे

हुए समतारस को धरती पर रसलोलुप वणिक की तरह उडेल देता है। वेगवान घोड़े की भाँति मन घोड़े पर चढ़ा हुआ साधक गुणों की लगाम को वश नही कर सकता है। मन पवन अति बलवान है जो सुमतिवृक्षों को तोड़ फोड़ कर छिन्नभिन्न कर देता है। मनोनिग्रह न करने के कारण भव भ्रमण बढ़ाने में तन्दुलमत्स्य की तरह कारण बनता है। वचन और काया की अपेक्षा चंचल मन से ही अधिक कर्म बंध होता है।[८४] मोक्षाभिलाषी साधक के लिये मनबंदर को वश करना ही चाहिये। आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। उसके एक-एक प्रदेश पर अनन्त ज्ञानदर्शनचारित्रादि गुण विद्यमान है। उन गुणों को विकसित करने के लिये मन की स्थिरता आवश्यक है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने से मन स्थिर होता है जिससे समभाव की दशा प्रगट होती है। इसके लिये चित्तशोधन की क्रिया आवश्यक है। मलशुद्धि के बिना रोगी को रसायन हितकारी बन सकेगा क्या? आध्यात्मिक रोगी के लिये, मन शोधन शिवरमणी को पाने के लिये बिना औषधि का वशीकरण मंत्र है। जैसे अंधे के लिये दर्पण व्यर्थ है, वैसे ही मनशोधन (मनशुद्धि) के बिना तप, जप, ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय व्रतादि सब व्यर्थ हैं।[८५] इसलिये मन शुद्धि के उपायों का सतत चिन्तन करते रहना चाहिये।

मनोनिग्रह के उपाय

मन को वश में करने के लिये आगम एवं ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार बताये गये हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य उपायों का यहाँ दिग्दर्शन किया जा रहा है -

इन्द्रियविजय : आगम में पाँच प्रकार के इन्द्रियों का वर्णन है[८६]-श्रोतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। इन पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और दो सौ चालीस विकार हैं।[८७]

श्रोतेन्द्रिय के तीन विषय और बारह विकार हैं - तीन विषय = जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द । ये तीनों प्रकार के विषय शुभ और अशुभ ऐसे दो-दो प्रकार के होते हैं। कुल छह भेद हुए। इन छह पर राग और छह पर द्वेष भाव होना ही बारह प्रकार के विकार हैं।

चक्षुरिन्द्रिय के पाँच विषय और साठ विकार हैं - विषय-काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये पाँच सचित्त, अचित और मिश्र से पन्द्रह प्रकार के हैं। ये पन्द्रह शुभ और अशुभ ऐसे दो-दो प्रकार के हैं। कुल तीस हुए। तीस पर राग और तीस पर द्वेष ऐसे चक्षुरिन्द्रिय के साठ विकार हैं।

घ्राणेन्द्रिय के दो विषय और बारह विकार है - सुरभिगंध और दुरभिगंध ये दो विषय हैं। ये दोनों सचित अचित और मिश्र के भेद से तीन भेद हुए। तीन शुभ और तीन अशुभ कुल छह विकार हुये। इन छह पर राग और छह पर द्वेष कुल बारह विकार हुये।

रसेन्द्रिय के पाँच विषय और साठ विकार हैं - तिक्त, कटु, कषायला, अंबिला और मधुर ये पाँच विषय हैं। ये पाँच सचित, अचित और मिश्र = कुल पन्द्रह विकार हैं। पन्द्रह शुभ और पन्द्रह अशुभ = ३० विकार हुए। तीस पर राग और तीस पर द्वेष भाव होना ही साठ विकार हैं।

स्पर्शेन्द्रिय के आठ विषय और छियानव्वें (९६) विकार हैं - गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत-उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष। ये आठ विषय सचित, अचित और मिश्र रूप चौबीस विकार हैं। चौबीस शुभ और चौबीस अशुभ दोनों मिलकर अड़तालीस विकार हैं। अड़तालीस पर राग और अड़तालीस पर द्वेष होना ही छियानव्वें विकार हैं।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और दो सौ चालीस विकार हैं। इन विषयविकारों से प्राप्त सुख अनन्त ससार बढ़ाता है। इन्द्रिय जनित सुख मोहदावानल की वृद्धि में इधन रूप है। यह विघ्नों का बीज, विपत्ति का मूल, पराधीन एव भय का स्थान है। कालकूट विष सरसों जैसा है और विषयविकार का विष सुमेरूपर्वत जैसा है।[८८] एकेक इन्द्रियों के वश बने हुए जीवों की कैसी दुर्दशा होती है? पतग चक्षुरिन्द्रिय के वश में पड़कर दीपज्योति में प्राण त्याग देता है। भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के वश हो कर सध्या वेला में कमल में सकुचित (बद) होकर मर जाता है। मत्स्य रसेन्द्रिय के वश जाने से गलफास से मृत्यु प्राप्त करता है। हाथी स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर गड्ढे में गिरकर मौत के शरण जाता है। हरिण श्रोतेन्द्रिय के वश होने से मधुर स्वर श्रवण करते हुए शिकारी के तीक्ष्ण बाणों का शिकार बनता है। एकेक इन्द्रिय के वश बने हुए प्राणी की यह स्थिति तो पाँचों ही इन्द्रियों के वश बने हुए प्राणियों की क्या स्थिति होगी?[८९] सयमी साधक इन्द्रियों के विषयविकार और मन की चचलता को ब्रह्मचर्यादि प्रक्रिया द्वारा वश करता है। ब्रह्म का अर्थ - शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दमय परमात्मा में लीन होना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मानुभूति का आस्वादन करना ही ब्रह्मचर्य है। विषयविकारों के वशीभूत होकर जीवात्मा ससार के नाना विषयों में और स्त्री के मोह में पड़कर दु ख उठाता है। जो साधक स्त्रियों के सग से बचता है उनके रूप को नही देखता है तथा उनकी कथा आदि भी नही करना, मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना के भेद से नवधा प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है। जिनशासन में शील के अठारह हजार भेदों का कथन है। स्त्री के दो प्रकार माने गये हैं - अचेतन और चेतन। अचेतन स्त्री के तीन भेद हैं -लकड़ी, पत्थर एव रगादि से बनाई हुई।इन तीनों भेदों को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन छह से गुणा करने पर अठारह भेद होते हैं। उनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर १८×५= नब्बे भेद होते हैं। इन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर ९०×२=एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उनको क्रोधादि चार कषायों से गुणा करने पर १८०×४=सात सो बीस भेद होते हैं। ये अचेतन स्त्री के ७२० भेद हैं। चेतन

स्त्री के भी तीन प्रकार है - देवागना, मानुषी और तिर्यचनी। इनको कृत, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर ३×३=नौ भेद होते हैं। इन्हें मन वचन काय से गुणा करने पर ९×३=सताइस भेद होते हैं। उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर २७×५= एक सौ पैंतीस भेद होते हैं। इन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर १३५×२= दो सौ सत्तर भेद होते हैं। इनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओं से गुणा करने पर एक हजार अस्सी भेद होते हैं। इनको अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर १०८०×१६= सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस भेद जोड़ने पर अट्ठारह हजार भेद होते हैं। ये सब विकार के भेद हैं। इन विकारों को त्यागने से शील के अट्ठारह हजार भेद होते हैं। इन भेदों को दूसरे प्रकारों से भी गिनाया जाता है, जैसे कि पृथ्वीकायादि आरभ त्याग आदि १८००० हैं - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावरकाय [illegible] तीन विकलेन्द्रिय - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव और अजीव इन दस भेदों का आरभ, समारभ, हिंसा न करना [illegible] शीलाग कहलाता है। इन दस प्रकार के आरभ त्याग, क्षमा, मुत्ती (निर्लोभिता), आर्जव (ऋजुता), मार्दव (मृदुता), लाघव, सत्य, संयम, तप, अकिंचनता (अपरिग्रह), और ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के यति धर्म को सभालते हुए करना है। १०×१०=सौ शीलाग हुए। इन्हें पाँच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर १००×५= पाँच सौ भेद होते हैं। इन्हें आहारादि चार सज्ञाओं से गुणा करने पर ५००×४ = दो हजार शीलांग होते हैं। इनको मन, वचन काय से गुणा करने पर २०००×३= छह हजार शीलाग होते हैं। इन्हें कृत कारित अनुमोदना इन तीन भेदों से गुणा करने पर ६०००×३=अट्ठारह हजार शीलाग होते हैं।[१०] इसके लिये सक्षिप्त सूत्र है - 'आय [illegible] सयोग' = (आरभ १० [illegible] यति धर्म १ [illegible] करण [illegible] इन्द्रिय ५ × संज्ञा ४× योग ३)

इस प्रकार संयमी साधक अट्ठारह हजार शीलाग रत्नों से भरे हुये चारित्र जहाज पर आरूढ होकर इन्द्रियविजेता बनता है। क्योंकि इन्द्रियों के जीते बिना कषायविजेता नहीं बन सकता है। मन को वश करने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना आवश्यक है।[११] एक मन को जीतने वाला समस्त कर्म शत्रुओं को आसानी से जीत सकता है।[१२] मन शुद्धि दीपिका तुल्य है।

कषायविजय

इन्द्रियजन्य रागद्वेषमोहादि भव भ्रमण के कारण हैं। ये रागादि भाव मन को कभी मूढ़ करते हैं, कभी [illegible] रूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी आसक्त करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते हैं,[१३] मन में स्थिरता नहीं आने देते। मन में स्थिरता

लाने के लिये क्रोधादि कषायों से रहित एव मन को सक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करने वाला ही जिनकथित पंच परमेष्टि के नामस्मरण से कषायविजेता बन सकता है। कषाय, विषय मन को जीतने का मुख्य उपाय है। सम्यग्दर्शनादि की साधना एवं ध्यान की लीनता से साधक मोक्ष में रमण कर सकता है।[९४] इसलिये कषायविजय मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

भावना

आगम एव अन्य ग्रन्थों में शुभ भावना (प्रशस्त भावना) को ध्यातव्य और अशुभ भावना (अप्रशस्त भावना) को हातव्य माना गया है। आगम में मोक्ष मार्ग के चार मोपान बतायें हैं - दान, शील, तप और भावना। जैन धर्म की सभी साधना भावना पर आधारित है। भव और भाव ऐसे दो शब्द हैं। कन्दर्प कैल्विषी, आभियोगिक, आसुरी एव समोही इन अशुभ भावनाओं का आधार लेकर मन को एकाग्र नही किया जा सकता। अशुभ भावना के आलम्बन से भव वृद्धि होती है और शुभ के आलम्बन से भव घटते हैं। ध्यानयोग की साधना भव घटाने की साधना है व मनोनिग्रह की साधना है। इन दोनों भावनाओं के प्रभेद अनेक होते हैं।[९५]

आगम में भावना को कही-कही अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।[९६] वहाँ 'अणुप्पेहा' शब्द आध्यात्मिक चिन्तन के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं[९७] आत्म चिन्तन, पुन पुन चिन्तन, मनोनिग्रह के लिये किसी एक विषय पर केन्द्रित होना यही ध्यान की स्थिति है। आत्मा का आत्मा में रमण करना ही भावना है। भव्यात्माओं को इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये भावना को आनद की जननी कहा है।[९८] मनोनिग्रह से शाश्वत आनद की प्राप्ति होती है। इसीलिये भावना को मन वश करने का एकमात्र साधक बताया है। शुभ भावना ही नौका का काम करती है। नौका सागर को पार कराती है। और भावना भवसागर को पार कराती है। भावना के अनेक रूप हैं[९९] चारित्र भावना, ध्यान भावना (ज्ञान दर्शन चारित्र वैराग्य), योग भावना (मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ) और वैराग्य भावना। यहाँ वैराग्यभावना को लेकर ही विचार किया जा रहा है। जीव को ध्यान सन्मुख करने के लिये मनोनिग्रह आवश्यक है। ससार भय निर्माण होते ही मन में वैराग्य भावना जाग जाती है। इसीलिये ज्ञानियों ने साधक को सावधान करते हुए कहा कि 'हे आत्मन्। तू समस्त जीवों पर मैत्री भाव रख। ममत्व का त्याग कर। निर्ममत्व का चिन्तन कर। मन का शल्य दूर करके अपनी भावों की शुद्धि के लिये अनित्य - अशरण - ससार एकत्व - अन्यत्व - अशौच - आस्रव - सवर - निर्जरा - धर्म - लोक भावना इन बारह भावनाओं का शरण ले जिससे तेरी चित्त शुद्धि होगी।[१००] इन बारह भावनाओं

में से प्रथम की चार भावनाओं का धर्मध्यान के अन्तर्गत विचार करेंगे। अन्यत्व भावना में आत्मा से शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, आदि सभी भिन्न वस्तुओं का चिन्तन ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।[१०१] अशुचि भावना से शरीर को अपवित्र द्रव्यों से बना हुआ अत्यन्त दुर्गन्धमय मलमूत्रादि का घर माना जाता है। शरीर की उत्पत्ति शुक्ररुधिर के बीज से मानी जाती है। क्योंकि 'गर्भ में दस दिन तक वीर्य कलल अवस्था में रहता है। गले हुए ताम्बे और चादी के परस्पर मिलने पर उन दोनों की जो अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था माता के रज और पिता के वीर्य के मिलन से होती है। उसे ही कलल अवस्था कहते हैं। उसके पश्चात् दस दिन तक वह काला रहता है। उसके पश्चात् दस दिन तक वह स्थिर रहता है। इस प्रकार प्रथम मास में रज और वीर्य के मिलने से ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। दूसरे मास में बुलबुले की तरह रहता है। तीसरे मास में कड़ा हो जाता है। चतुर्थ मास में मास का पिण्ड बन जाता है। पाँचवें मास में हाथ, पैर और सिर के स्थान में पाँच अकुर फूटते हैं। छठे मास में अग और उपांग बनते हैं। सातवें मास में चमड़ा, रोम और नाखून बन जाते हैं। आठवें मास में बच्चा पेट में घूमने लगता है। नौवें और दसवें मास में बाहर आ जाता है।' शरीर रस, रक्त , मांस, मेद - चर्बी, मज्जा, वीर्य, आत इन सप्त धातुओं से बना हुआ है। इस शरीर के अवयव इस प्रकार है - 'इस शरीर में तीन सौ हड्डियाँ हैं। वे सभी मज्जा नामक धातु से बनी हुई हैं। तीन सौ सन्धियाँ हैं। नौ सौ स्नायु हैं। सात सौ सिराएँ हैं। पाँच सौ मासपेशियाँ हैं। सिराओं के चार समूह हैं। रक्त से भरी १६ महासिराएँ हैं। सिराओं के छह मूल हैं। पीठ और उदर की ओर दो मासरज्जु हैं। चर्म के सात परत हैं। सात कालेयकमास खण्ड हैं। अस्सी लाख करोड़ रोम हैं। आमाशय में सोलह आतें हैं। सात दुर्गन्ध के आश्रय हैं। तीन स्थूणा हैं - वात, पित्त, और कफ। एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ मल द्वार हैं, जिनके द्वारा सर्वदा मल बहता रहता है। एक अंजलिप्रमाण मस्तक है। एक अजलिप्रमाण मेद है। एक अजलिप्रमाण ओज है। एक अजलिप्रमाण वीर्य है। ये अजलियाँ अपनी अपनी ही लेनी चाहिये। तीन अजलिप्रमाण वसा है। तीन अजलिप्रमाण पित्त है। (भगवती आराधना में पित्त और कफ को ६-६ अंजलि प्रमाण बतलाया गया है) ८ सेर रुधिर है। १६ सेर मूत्र है। २४ सेर विष्ठा है। २० नख हैं। ३२ दात हैं। यह शरीर कृमि, लट तथा निगोदिया जीवों से भरा हुआ गन्दगी का घर है।' जो दूसरों के शरीर से विरक्त है, अपने शरीर पर ममत्व नहीं है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन रहता है, उसी की अशुचित्व में भावना है। अत अशुचिभावना से मन की एकाग्रता बढ़ती है।[१०२] आस्रव भावना में पापों में प्रवेश करने के द्वारों का विचार किया जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव द्वार हैं। इन पाँच आस्रव द्वारों को गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से रोका जाता है। इनका बार-बार चिन्तन करना ही सवर भावना है। पूर्वसचित कर्मों को बारह प्रकार के तप से (छह बाह्य

और छह आभ्यन्तर) क्षय किया जाता है। इस प्रकार पुन॰ पुन चिन्तन करना निर्जरा भावना है। लोक भावना में, १४ राजू लोक, जो षड् द्रव्यात्मक हैं, उनमें मुख्य दो द्रव्य जीव और अजीव हैं, जीव और अजीव का सयोग ससार है और इन दोनों का वियोग मोक्ष है इन सबका चिन्तन किया जाता है। निगोदावस्था से लेकर नौ ग्रैवेयक तक जीवात्मा का परिभ्रमण सतत चलता रहता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही जीव चारों गति के परिभ्रमण से मुक्त बन सकता है। षड् द्रव्यात्मक लोक में अनन्तानन्त कालचक्र तक इस जीवात्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार का बार बार चिन्तन करना लोक भावना है। धर्म भावना में श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के दस धर्म पर बार बार मनन किया जाता है।[१०३] दस धर्म का पालक ही ध्यानयोग की साधना करने में समर्थ बन सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही श्रावक और श्रमण ध्यानयोग की साधना का श्रीगणेश कर सकता है। अंतिम भावना 'बोधिदुर्लभ भावना' है। इसमें साधक अनादिकाल से ससार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद दस बोलों की दुर्लभता का चिन्तन करता है। दस बोल इस प्रकार हैं[१०४] १. मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है, २. आर्य क्षेत्र मिलना दुर्लभ है, ३. उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है, ४ लम्बा आयुष्य मिलना दुर्लभ है, ५. सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मिलना दुर्लभ है, ६. रोग रहित काया मिलना दुर्लभ है, ७ सन्तसमागम मिलना दुर्लभ है, ८. सूत्र सिद्धान्त का सुनना दुर्लभ है, ९ सूत्र सुनकर उस पर श्रद्धा करना दुर्लभ है और १० सयम में पराक्रम फोड़ना दुर्लभ है।

इन बारह प्रकार की भावनाओं का चिन्तन करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है, शरीर का ममत्व घटता है और समता का प्रकाश प्राप्त होता है।[१०५] क्योंकि ज्ञानियों का कथन है कि कषायरोध के लिये इन्द्रिय जय, इन्द्रियजय से मनशुद्धि और मन शुद्धि से समता और समता के प्रादुर्भाव से निर्ममत्व अवस्था तथा निर्ममत्व अवस्था से ध्यान की प्राप्ति होती है।[१०६] अत मन को एकाग्र करने के लिये सतत अनित्यादि भावना का चिन्तन करना चाहिये।

समता

ममता को छोड़ने के लिये समता की नौका को पकड़ना जरूरी है। समता के हौज में डूबकी लगाते ही काम विष (दृष्टिविष) धोया जाता है, कषाय का ताप नष्ट हो जाता है, ममकार-अहकार का मेल उतर जाता है, परस्पर प्रेमामृत की धारा बहने लगती है, रागद्वेष मोहादि भाव दूर होने लगते हैं, समस्त जीवों पर मैत्री भावना प्रकट होती है। भेदज्ञान की प्रक्रिया विकसित होती है, और सामर्थ्ययोग की प्राप्ति होती है।[१०७] समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्णा, प्रशम, शांति, मध्यस्थता ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[१०८] मन शुद्धि के लिये समता का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि समता जन्ममरणरूप

दावानल में जलते हुए प्राणियों के लिये अमृतवर्षा तुल्य है, नरकद्वार की अर्गला है, मुक्ति मार्ग की दीपिका है, गुणरत्नों की खान मेरू पर्वत तुल्य है, मोक्ष मार्ग प्रदाता है, कर्म विनाशक है, सर्व सिद्धिप्रदायक है। इसलिये समता सर्वोत्कृष्ट ध्यान है।[१०९] समभाव से मन को सस्कारित किया जाता है। सस्कारी मन की अवस्था ही आत्मज्ञान (स्वाध्याय) को प्राप्त कर सकती है। अत समभाव को मन शुद्धि का उपाय बताया है।

स्वाध्याय (आत्म ज्ञान)

मन की चचलता को दूर करने के लिये आत्मज्ञान परमावश्यक है। उसके विना व्यवहार चारित्र - तप -जप - सयमादि क्रिया व्यर्थ है। पुण्य पाप दोनों ससारवर्धक हैं। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नर्कावास मिलता है। दोनों को छोड़ने के लिये आत्मज्ञान जरूरी है, क्योंकि वह शिववास दिलाता है। तप, जप, सयमादि क्रिया व्यवहार से कही जाती है। निश्चय से आत्मज्ञान ही मोक्ष का प्रदाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। पच परमेष्टी पद का चित्त की एकाग्रता के साथ जपना और सर्वज्ञ कथित शास्त्र को एकाग्रता एकलीनता के साथ पढ़ना ही स्वाध्याय हैं। जो अर्हन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है। स्वाध्याय से ध्यानावस्था में जाया जाता है। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है - स्वानुभव में लाया जाता है। अत एकाग्र चित्त से पचपरमेष्टियों के स्वरूप को स्वानुभूति में लाकर जो पच परमेष्टी नवकार मन्त्र का जप करता है, वह परम स्वाध्याय है।[११०] मन को एकाग्र करने के लिये सतत आत्मा से आत्मा का ही चिन्तन मनन निदिध्यासन करना चाहिये जिससे कर्म नो कर्म क्षणमात्र में नष्ट होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के ध्यान से मन की स्थिरता अपने आप हो जाती है। धर्मध्यान शुक्लध्यान से अशुभ लेश्याओं का नाश होकर शुभ लेश्या का प्रादुर्भाव होता है। शुभ विचारों में (अध्यवसायों) में अनन्त शक्ति रही हुई है कि वह निर्वाण पद को प्राप्त करा देती है।[१११] आत्मज्ञान के बिना किया हुआ शास्त्राध्ययन बधन का कारण बनता है। शास्त्र तो जड़ है। जड़ क्रिया मन को एकाग्र नही करा सकती है। मन की एकाग्रता तो भेदज्ञान से है। सवर का मूल भेद विज्ञान है। पुद्गल और जीव इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझने की प्रक्रिया ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान ही सच्चा आत्मज्ञान है। जो साधक अपने को परभाव से छोड़कर स्वभाव में रमण कराता है वही केवलज्ञान को प्राप्त करके परम पद को पा लेता है।[११२] इसलिये आत्मज्ञान ही मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

योगाष्टाग एव दृष्टियाँ

कर्म क्षय करने में भावों की शुद्धि होना प्रधान कारण है। भावशुद्धि मन शुद्धि में सहायक है। क्योंकि मन शुद्धि मोक्षमार्गप्रकाशक दीपिका है। इसलिये मन शुद्धि

और छह आभ्यन्तर) क्षय किया जाता है। इस प्रकार पुन॰ पुन चिन्तन करना निर्जरा भावना है। लोक भावना में, १४ राजू लोक, जो षड् द्रव्यात्मक है, उनमें मुख्य दो द्रव्य जीव और अजीव हैं, जीव और अजीव का सयोग संसार है और इन दोनों का वियोग मोक्ष है इन सबका चिन्तन किया जाता है। निगोदावस्था से लेकर नौ ग्रेवेयक तक जीवात्मा का परिभ्रमण सतत चलता रहता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही जीव चारों गति के परिभ्रमण से मुक्त बन सकता है। षड् द्रव्यात्मक लोक में अनन्तानन्त कालचक्र तक इस जीवात्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार का बार बार चिन्तन करना लोक भावना है। धर्म भावना में श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के दस धर्म पर बार बार मनन किया जाता है।[१०३] दस धर्म का पालक ही ध्यानयोग की साधना करने में समर्थ बन सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही श्रावक और श्रमण ध्यानयोग की साधना का श्रीगणेश कर सकता है। अतिम भावना 'बोधिदुर्लभ भावना' है। इसमें साधक अनादिकाल से ससार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद दस बोलों की दुर्लभता का चिन्तन करता है। दस बोल इस प्रकार हैं[१०४] १ मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है, २ आर्य क्षेत्र मिलना दुर्लभ है, ३. उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है, ४. लम्बा आयुष्य मिलना दुर्लभ है, ५ सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मिलना दुर्लभ है, ६ रोग रहित काया मिलना दुर्लभ है, ७ सन्तसमागम मिलना दुर्लभ है, ८. सूत्र सिद्धान्त का सुनना दुर्लभ है, ९. सूत्र सुनकर उस पर श्रद्धा करना दुर्लभ है और १०. सयम में पराक्रम फोड़ना दुर्लभ है।

इन बारह प्रकार की भावनाओं का चिन्तन करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है, शरीर का ममत्व घटता है और समता का प्रकाश प्राप्त होता है।[१०५] क्योंकि ज्ञानियों का कथन है कि कषायरोध के लिये इन्द्रिय जय, इन्द्रियजय से मनशुद्धि और मन शुद्धि से समता और समता के प्रादुर्भाव से निर्ममत्व अवस्था तथा निर्ममत्व अवस्था से ध्यान की प्राप्ति होती है।[१०६] अत॰ मन को एकाग्र करने के लिये सतत अनित्यादि भावना का चिन्तन करना चाहिये।

समता

ममता को छोड़ने के लिये समता की नौका को पकड़ना जरूरी है। समता के हौज में डूबकी लगाते ही काम विष (दृष्टिविष) धोया जाता है, कषाय का ताप नष्ट हो जाता है, ममकार-अहकार का मेल उतर जाता है, परस्पर प्रेमामृत की धारा बहने लगती है, रागद्वेष मोहादि भाव दूर होने लगते हैं, समस्त जीवों पर मैत्री भावना प्रकट होती है। भेदज्ञान की प्रक्रिया विकसित होती है, और सामर्थ्ययोग की प्राप्ति होती है।[१०७] समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्णा, प्रशम, शाति, मध्यस्थता ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[१०८] मन शुद्धि के लिये समता का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि समता जन्ममरणरूप

दावानल में जलते हुए प्राणियों के लिये अमृतवर्षा तुल्य है, नरकद्वार की अर्गला है, मुक्ति मार्ग की दीपिका है, गुणरत्नों की खान मेरू पर्वत तुल्य है, मोक्ष मार्ग प्रदाता है, कर्म विनाशक है, सर्व सिद्धिप्रदायक है। इसलिये समता सर्वोत्कृष्ट ध्यान है।[१०९] समभाव से मन को संस्कारित किया जाता है। संस्कारी मन की अवस्था ही आत्मज्ञान (स्वाध्याय) को प्राप्त कर सकती है। अत समभाव को मन शुद्धि का उपाय बताया है।

स्वाध्याय (आत्म ज्ञान)

मन की चचलता को दूर करने के लिये आत्मज्ञान परमावश्यक है। उसके विना व्यवहार चारित्र - तप -जप - सयमादि क्रिया व्यर्थ है। पुण्य पाप दोनों संसारवर्धक हैं। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नर्कावास मिलता है। दोनों को छोड़ने के लिये आत्मज्ञान जरूरी है, क्योंकि वह शिववास दिलाता है। तप, जप, सयमादि क्रिया व्यवहार से कही जाती है। निश्चय से आत्मज्ञान ही मोक्ष का प्रदाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। पच परमेष्टी पद का चित्त की एकाग्रता के साथ जपना और सर्वज्ञ कथित शास्त्र को एकाग्रता एकलीनता के साथ पढ़ना ही स्वाध्याय है। जो अर्हन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है। स्वाध्याय से ध्यानावस्था में जाया जाता है। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है - स्वानुभव में लाया जाता है। अत एकाग्र चित्त से पचपरमेष्ठियों के स्वरूप को स्वानुभूति में लाकर जो पच परमेष्टी नवकार मंत्र का जप करता है, वह परम स्वाध्याय है।[११०] मन को एकाग्र करने के लिये सतत आत्मा से आत्मा का ही चिन्तन मनन निदिध्यासन करना चाहिये जिससे कर्म नो कर्म क्षणमात्र में नष्ट होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के ध्यान से मन की स्थिरता अपने आप हो जाती है। धर्मध्यान शुक्लध्यान से अशुभ लेश्याओं का नाश होकर शुभ लेश्या का प्रादुर्भाव होता है। शुभ विचारों में (अध्यवसायों) में अनन्त शक्ति रही हुई है कि वह निर्वाण पद को प्राप्त करा देती है।[१११] आत्मज्ञान के बिना किया हुआ शास्त्राध्ययन बधन का कारण बनता है। शास्त्र तो जड़ है। जड़ क्रिया मन को एकाग्र नहीं करा सकती है। मन की एकाग्रता तो भेदज्ञान से है। सवर का मूल भेद विज्ञान है। पुद्‌गल और जीव इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझने की प्रक्रिया ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान ही सच्चा आत्मज्ञान है। जो साधक अपने को परभाव से छोड़कर स्वभाव में रमण कराता है वही केवलज्ञान को प्राप्त करके परम पद को पा लेता है।[११२] इसलिये आत्मज्ञान ही मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

योगाध्यात्म एवं दृष्टियाँ

कर्म क्षय करने में भावों की शुद्धि होना प्रधान कारण है। भावशुद्धि मन-शुद्धि में सहायक है। क्योंकि मन शुद्धि मोक्षमार्गप्रकाशक दीपिका है। इसलिये मन शुद्धि

(मनोनिग्रह) के आठ अग बताये हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[११३] पतजलि आदि आचार्यों ने भी ये ही आठ अग स्वीकार किये हैं। उन्होंने इन्हें मोक्ष के मुख्य अग माने हैं। जैनाचार्यों ने प्राणायाम को मुक्ति में साधन नही माना है। अध्ययन के बिना वह असमाधि निर्माण कर सकता है। अत जैनाचार्यों ने हठयोग के प्राणायाम का निषेध किया है। सूक्ष्म उच्छ्वास को शास्त्र कथनानुसार यतनापूर्वक करने के लिये विधान है। इसलिये यहाँ पर प्राणायाम का कथन किया जायेगा। प्राणायाम से शरीर स्वस्थता और कालज्ञान की प्राप्ति होती है।

योग के आठ अग के अनुसार हरिभद्राचार्य ने[११४] आठ दृष्टियाँ मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, काता, प्रभा, और परा। आठ बोध की प्रभा (दृष्टान्त) - तृण अग्नि कण, गोमय अग्नि कण, काष्ठ अग्निकण, दीपप्रभा, रत्नप्रभा, ताराप्रभा, सूर्यप्रभा, और चन्द्रप्रभा। आठ दोष त्याग - खेद, उद्वेग,क्षेप, उत्थान, भ्राति, अन्यमुद, रुग् (रोग) और आसग। तथा आठ गुणस्थान - अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है। इनमें प्रथम की चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व प्रधान हैं और शेष चार सम्यक्त्वप्रधान है। ये आठों ही दृष्टियाँ अष्टागों से समन्वित हैं।

यम

मित्रादृष्टिवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पाँच यमों का पालन करते हैं। किन्तु उनका 'दर्शन' 'तृणाग्नि' की तरह मंद होता है। सेवा, भक्ति, प्रभु वन्दन, भगवत्स्मरणादि क्रिया के कारण दूसरों पर द्वेष भावना नही जागती। प्रथम दृष्टि बीज रूप होती है। यह अवस्था 'पुद्गलपरावर्त' स्थिति में आने के बाद आती है। इसलिये प्रथम दृष्टि में आन्तरिक गाढ मल का ह्रास हो जाता है और जीव को 'यथाप्रवृत्तिकरण' की स्थिति प्राप्त होती है। यह यथाप्रवृत्तिकरण 'अपूर्व करण' के समीप होने से आगे का मार्ग सरल बना देता है। इसलिये यम की साधना मनोनिग्रह में सहायक बनती है। सत्रह (५ महाव्रत, ५ इन्द्रियविजेता, ४ कषाय, और ३ योगों की गुप्ति) प्रकार के सयम पालक यमी कहलाते हैं।[११५]

नियम

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। इसमें तारा दृष्टि होने के कारण कषाय की मन्दता गोमयअग्नि कण की तरह होती है। उद्वेग का नाश होकर जिज्ञासावृत्ति जागती है।[११६]

यम नियम को पहले क्यों लिया?

अहिंसा आदि पाँच यमों का सामान्यत सभी धर्म वाले पालन करते हैं। इसलिये

इसे महाव्रत की सज्ञा दी गई है। 'वितर्क' (हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रह) जनित बाधाओं का प्रभाव यम के चिन्तन से हल्का पड़ जाता है और विघ्नों का नाश कराता है। 'वितर्क' नाम से घोषित हिंसा आदि के सत्ताइस-सत्ताइस भेद होते हैं। क्रोध, लोभ, मोह से हिंसा करना कराना और अनुमोदना ऐसे नौ भेद हुए। प्रत्येक के मृदु, मध्य और तीव्र ऐसे तीन भेद होने के कारण सत्ताइस भेद होते हैं। उन प्रत्येक सत्ताइस भेदों के पुन मृदु, मध्य और तीव्र ऐसे तीन भेद होने के कारण इक्कासी (८१) भेद हो जाते हैं। हिंसादी 'वितर्क' का फल अनन्त अज्ञान और अनन्त दु ख है। इनसे मुक्ति पाने के लिये जैसे जैसे यम का चिन्तन बढ़ता जाता है। वैसे वैसे अज्ञानता का गाढ़ अधकार दूर होता जाता है। अहिंसा की साधना से जन्मजात वैरी भी मित्र बन जाते हैं। हिंसक प्राणी भी नतमस्तक हो जाते हैं। सत्यव्रत की आराधना से वचनसिद्धि प्राप्त होती है। अस्तेयव्रत की साधना से सर्व दिशाओं के रत्ननिधान उपस्थित होते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना से वीर्य बल प्राप्त होता है। अपरिग्रह की आराधना के उत्कर्ष से पूर्व जन्म का स्मरण होता है। इसलिये अष्टागयोग में यम को प्रथम स्थान दिया है।[११७]

शौचादि नियम की आराधना से साधक को वैराग्य भावना, ममत्व त्याग, सत्त्वबल, मानसिक उल्लास, एकाग्रता, इन्द्रियजय, तथा आत्मस्वरूप को देखने की योग्यता प्राप्त होती है। सतोष से उत्तम सुख, स्वाध्याय से इष्टदेव दर्शन, तप से भिन्न-भिन्न प्रकार की सिद्धियाँ तथा ईश्वर प्रणिधान से समाधि (धर्मध्यान) की अवस्था प्राप्त होती है।[११८] इसलिये योगागों में यम-नियम को प्रथम स्थान दिया गया है। जीवन विकास में ये दोनों भूमिका रूप हैं। ये दो न हो तो जीवन विकास सभव नही है। इन दोनों की स्थिरता के बाद ही साधक आसनादि में स्थिरता ला सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही जीवन में स्थिरता आती है।

आसन

आत्मजिज्ञासु साधक समाधि सिद्धि के लिये गोदोहिकासन, उत्कटासन, वीरासन, पर्यंकासन, सुखासन, आदि आसनों से कायोत्सर्ग करते हैं। इसमें 'बला' दृष्टि होने से क्षेप दोष का नाश होकर शुश्रूषा प्रवृत्ति निर्माण होती है। कषाय की मन्दता 'काष्ठाग्नि' कण के समान होती है। आसन में आने वाले व्यवधानों का बल क्षीण होता जाता है और तत्त्व शुश्रुषा की प्राप्ति से कर्मक्षय नाशक अन्य साधन भी सुलभ बन जाते हैं।[११९]

प्राणायाम

प्राणायाम के मुख्यत दो प्रकार हैं - द्रव्य और भाव। द्रव्य प्राणायाम में पवन की साधना की जाती है। पवन पाँच प्रकार का है - प्राण अपान, समान उदान, और व्यान। श्वास - निश्वास का व्यापार प्राणवायु है। मलमूत्रादि एव गर्भादि को बाहर लाने वाला

सुख ही वास्तव में सच्चा सुख है। धारणा के विषय में चित्त की एक समान परिणाम धारा को ध्यान कहा जाता है।[१३१] इस स्थिति में आत्मविकास अधिक होता है। ध्यानावस्था का परिणाम प्रवाह सतत चलता रहता है। इस अवस्था को 'असगानुष्ठान' कहते हैं।[१३२]

समाधि

ध्यान जब स्वरूपमात्रनिर्भास की स्थिति में पहुँचता है तब उसे समाधि कहा जाता है। ध्यान में ध्यानाकार - वृत्ति होती है, उस ध्यानाकार वृत्ति के नष्ट होते ही वह ध्यान विशेषदर्शक 'समाधि' नाम से पहचाना जाता है। परम समाधि अवस्था शुक्लध्यान के तीसरे चौथे भेद में प्राप्त होती है।[१३३] आठवी 'परा' दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है। 'चन्द्रप्रभा' की तरह 'प्रवृत्ति' गुण के विकास 'आसग' दोष का नाश करके अध्यात्म जीवन की उत्कृष्ट दशा को प्राप्त करता हुआ 'धर्म सन्यास' के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करता है। इसके बाद अयोगात्मक अवस्था को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है।[१३४]

आठ दृष्टियों के लक्षण - मित्रा का मैत्री, तारा का मानसिक विकास, बला का साधन बल, दीप्रा का अन्त करण दीप्ति, स्थिरा में स्थिर तत्त्व भूमि, कान्ता में उज्वल साम्य, प्रभा में ध्यान ज्योति, परा में परम समाधि भाव होता है।[१३५]

इस प्रकार अष्टाग योग और दृष्टियाँ मनोनिग्रह के सर्वोच्च साधन हैं।

मन के भेद

हेमचन्द्राचार्य एव आचार्य तुलसी ने क्रमश मन के चार और छह भेद बताये हैं[१३६] विक्षिप्तमन, यातायात मन, श्लिष्ट मन, सुलीन मन एव मूढ़ तथा निरूद्ध मन। विक्षिप्त मन चचल रहता है जिसके कारण यत्र -तत्र भटकता रहता है। परन्तु यातायात मन कुछ आनन्ददायक होता है। इस मन की स्थिति झूले की तरह होती है। श्लिष्ट मन स्थिर एव आनदप्रधान होता है। इस अवस्था की स्थिति जब अधिक स्थिर हो जाती है तो वह सुलीन मन कहलाता है। मिथ्यादृष्टि और मिथ्याचार में रमण करने वाला मन मूढ़ कहलाता है। मूढ़ मन वाले साधक ध्यान के अधिकारी नहीं बन सकते। विक्षिप्त और यातायात मन योग का प्रारभ करने वाले साधक में होता है। श्लिष्ट और सुलीन मन अपने-अपने योग्य विषय को ग्रहण करते हैं। बाह्यालम्बन से रहित होकर केवल आत्मपरिणत में रमण करनेवाला मन निरुद्ध कहलाता है। यह अवस्था वीतरागी को ही प्राप्त है।

(३) ध्यान का अधिकारी कौन?

आकाश अनन्त है। उसे दो भागों में विभाजित किया गया है-लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्तगुणा बड़ा है। किन्तु लोकाकाश

में ही चेतन और अचेतन तत्त्व का अस्तित्व है। इसी में चारों गति के जीव समाविष्ट हैं। एक सूई के अग्र जितनी भी जगह शेष नही रही कि जहाँ हमने अथवा अन्य सभी योनियों के जीवों ने जन्म न लिया हो। समस्त लोकाकाश में सूक्ष्म और बादर जीव विद्यमान हैं। जीवों का प्रथम निवासस्थान निगोद है। अनन्तानन्त काल उसमें व्यतीत करने के बाद जब जीव की विकास हेतु आगे प्रगति होती है तो सूक्ष्म निगोदावस्था से निकलकर बादर में प्रवेश करते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पतिकाय को प्राप्त करते हुए उसमें भी अनन्तानन्त काल व्यतीत करके विकलेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को प्राप्त करते हैं। बाद में पुण्यवानी के बल से पचेन्द्रिय में प्रवेश पाते हैं। उसमें नरक तिर्यंच देव और मनुष्य बनकर जीवन का अनन्तानन्त काल व्यतीत करते हैं। उनमें जीवों की दो अवस्थायें होती हैं - भव्य और अभव्य। जिस जीव में मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे भव्य कहते हैं और इससे भिन्न अभव्य हैं। जीव दो पर्यायों में सतत रमण करता रहता है।[१३७] स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। चारों की गति में परिभ्रमण करना विभावपर्याय है और कर्मोपाधिरहित पर्याय स्वभाव पर्याय है। विभाव पर्याय के कारण ही जीव अनादिकाल से अचरमावर्तकाल में अनन्तानन्त भव व्यतीत करता है। इस स्थिति में स्थित जीवात्मा के अन्दर मैत्र्यादि गुण नही होते तथा मोक्ष के प्रति राग भाव भी नही होता। इस अवस्था का दूसरा नाम कृष्णपाक्षिक भी है।[१३८] इस अवस्था में जीव को मोक्ष प्राप्त होता ही नही। भव्यात्मा में ही मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है।

'अचरमावर्त' और 'चरमावर्त' ये दोनों ही शब्द जैन परपरा के पारिभाषिक शब्द हैं। जब तक आत्मा अन्तिम पुद्गलपरावर्तन काल में प्रविष्ट नही होता तब तक गाढ़ कर्मावरण के कारण जीव धर्म बोध प्राप्त नही कर सकता। चाहे फिर वह मदिर में जाये, गुरु वन्दन करे, दानादि क्रिया करे, भक्ति करे किन्तु ये सारी क्रियायें ज्ञानदर्शनचारित्र लक्ष्मी न होने के कारण भव तारक नही बनती हैं। अचरमावर्तावस्था में ही भटकानेवाली होती हैं। अत अचरमावर्त काल ससारवर्धक है तथा धर्म का हरण करने वाला है।[१३९]

चरम+आवर्त=चरम का अर्थ अन्तिम और आवर्त का अर्थ घुमाव है। प्रत्येक जीवात्मा ने इस चरमावर्तकाल में भी अनन्तानन्त पुद्गलपरावर्त पसार किये। 'तथाभव्यत्व' का उदय होते ही जीव में धर्म सन्मुख होने की योग्यता प्राप्त होती है।[१४०] इस अवस्था को जैन परिभाषिक शब्दावली में 'अपुनर्बंधक' कहते हैं।

ज्ञानियों के कथनानुसार ध्यान के अधिकारी १. अपुनर्बंधक, २ सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) ३ चारित्र आत्मा हैं।[१४१] इस विभाग में देशविरति और सर्वविरति दोनों ही प्रकार के साधक आते हैं।

अपुनर्बन्धक

ध्यान के अधिकारी की प्रथम अवस्था अपुनर्बन्धक की है। इस अवस्था में जीवात्मा चरमावर्तावस्था में विद्यमान रहता है। चरमावर्तावस्था ही शुक्लपाक्षिक अवस्था कहलाती है।[१४२] चरमावर्त में विद्यमान जीव के लक्षण निम्नलिखित हैं[१४३] १ दु खियों के प्रति अत्यन्त दया, २ गुणी लोगों के प्रति अद्वेष भावना और ३ सर्वत्र औचित्य सेवन (अभेद रूप) से उचित सेवा। यह स्थिति बीज रूप है। यही से आत्मा विकासगामी बनता है। ग्रन्थि भेद एव चारित्र पालन की योग्यता इसी अवस्था में होती है। जमीन में बीज बोने पर एव हवा, जल, प्रकाश का योग मिलने पर वह विकसित होता है वैसे ही सत्तरकोड़ाकोडी सागरोपम स्थिति वाले मोहनीय कर्म का पुन बन्ध न करने वाला अपुनर्बन्धक जीव मार्गाभिमुख मार्गपतित मार्गानुसारी गुणों के सहयोग से आगे विकास करता है।[१४४] इस विकास भूमि पर आरोहन होने वाले साधक के लिये कुछ सोपान होते हैं जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्द में 'पूर्व सेवा' संज्ञा से उद्घोषित करते हैं। गुरुओं की सेवा, परमात्म भक्ति, आचार विचार शुद्धि, देवपूजा, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष वृत्ति। इन सबके समन्वित रूप को 'पूर्व सेवा' की सज्ञा दी है।[१४५]

माता पिता, विद्यागुरु, धर्मगुरु, कलाचार्य आदि को 'गुरु' पद के अन्तर्गत माना गया है। प्रथम माता पिता को स्थान देने का कारण वे अधिक उपकारी होते हैं। इसलिये उनका आदर सत्कार करना, आज्ञा पालन करना, उनकी निंदा नही करना, उन्हें पूजनीय मानना। इनके अतिरिक्त वृद्ध, ग्लान, दीन, दु खी, रोगी, पीड़ित जन की सेवा करना, उन्हें पूजनीय मानना। सेवा कल्याणपदगामिनी है। 'सेवा' को ही जीवन मत्र बनाना चाहिये। वह गुरुभक्ति, जिनभक्ति, और श्रुतभक्ति का आराधक बन सकता है। अपुनर्बंधक आत्मा गुरु को वस्त्र, पात्र, आसनादि से सम्मानित करता है, उनकी निंदा नही करता, सदा सर्वदा उनका गुणानुवाद ही गाता रहता है। गुरु के सम्मुख जाना, उन्हें सम्मान से आसन देना, देव, गुरु, धर्म का पूजन करना, दानादि क्रिया, वन्दनादि क्रिया, लेखन, पूजन, वाचन, स्वाध्याय आदि करना ये सभी योगारूढ होने के साधन हैं। परमात्मगुणों द्वारा स्व का चिन्तन करना ही पूजा है। आन्तरिक बुराइयों को क्रियाकाड, पूजाविधि द्वारा निर्मल बनाना योगारूढ के लिये बीज रूप हैं। ये सब बातें गुरु वर्ग में आती है।[१४६]

लोकापवाद भीरू, सरल स्वभावी, सुदाक्षिण्य, कृतज्ञता, गुणग्राही, उदारवृत्ति, समवृत्ति, व्यवहार कुशल, दोषगुणों से रहित, आलस्य का त्यागी, विवेकज्ञ, विशेषज्ञ,

विनय नम्रता गुण सम्पन्न, सत्पथगामी, कष्ट सहिष्णु, समभाव गुण सम्पन्न, निंदक कार्यवर्जित आदि गुणों से युक्त आचरण ही सदाचरण है।[१४७]

आगम में तप के अनेक प्रकार बताये हैं। शरीरशुद्धि , चित्तशुद्धि के लिये कषाय, विषय रहित होकर तप करना ही वास्तविक तप है। उपवास का अर्थ आत्मा में वास करना है। 'अनाहार' (विदेह) पद की प्राप्ति के लिये विवेक एव स्वशक्ति अनुसार तपाराधना करना ही श्रेयस्कर है। जिससे दुर्ध्यान उपस्थित न हो, योगों को हानि न पहुँचे, इन्द्रियाँ क्षीण न हों ऐसे सद् विचारपूर्वक तप करना चाहिये। कम खाना, गम खाना और नम जाना तप ही है। रसविजेता बनकर इच्छा निरोध करना तप है। जिससे स्वस्वरूप की प्राप्ति होकर शीघ्र सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।[१४८] इस प्रकार 'पूर्व सेवा' के रूप में योगारोहन के सोपान बताये हैं। 'पूर्व सेवा' के उपाय से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जीव दो बार ही बांधता है। ऐसी अवस्था को जैन पारिभाषिक शब्द में 'द्विबन्धक' कहते हैं और जो एक ही बार बाधता है, वह 'सकृत् बन्धक' कहलाता है। यथाप्रवृत्ति करण के विशेष प्रभाव से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक बार भी बाधी नही जाती उस जीवात्मा की अवस्था 'अपुनर्बन्धक' कहलाती है। इस अवस्था में सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है। किन्तु अपुनर्बन्धक अवस्था बीज रूप होने के कारण कालान्तर में मोक्ष वृक्ष निर्माण होता ही है।[१४९] क्योंकि तथाभव्यता के परिपाक से जब जीव चरम पुद्गल परावर्त में होता है तब उसे सशुद्ध चित्त की प्राप्ति होती है तथा [१५०] सशुद्धि चित्त वाले को ही योगबीज रूप अपुनर्बन्धक अवस्था की प्राप्ति होती है। अपुनर्बन्धक जीव तीव्र पाप भावों का बध नही करता, अनासक्त भाव से व्यवहारिक और धार्मिक कार्यों में न्याय सम्पन्न रहता है।[१५१] इस मार्ग पर चलने वाला ध्यान साधना का प्रथम अधिकारी आगे चलकर 'ग्रन्थि भेद' से 'सम्यग्दर्शन' को प्राप्त कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि

ध्यान साधना का द्वितीय अधिकारी सम्यग्दृष्टि जीव है। भव्यात्मा सकृत्बन्धक से अपुनर्बन्धक भाव के मार्गाभिमुख मार्गपतित मार्गानुसारी गुणों द्वारा जीवन विकास के पथ पर आरूढ होकर मन्द मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करके कालादिलब्धि द्वारा क्रमश विकासोन्मुख बनता जाता है। कालादिलब्धि में करणलब्धि मुख्य है जिसका स्वरूप निम्न प्रकार का है -

ग्रन्थि भेद -जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण - ऐसे तीन करण (प्रयत्न विशेष) किये जाते हैं। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है।[१५२]

यथाप्रवृत्ति करण

जीव अनादि काल से ससार में घूम रहा है और तरह-तरह से दु ख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पडा हुआ पत्थर लुढ़कते -लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दु ख सहते सहते कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम -शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव रागद्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है। किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसको ग्रथिदेश प्राप्ति कहते हैं। कर्म और रागद्वेष की यह गाठ क्रमश दृढ और गूढ रेशमी गाठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ा -कोड़ी सागरोपम के अन्दर करके वे जीव भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे भेद नही सकते।

अपूर्व करण

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रन्थि आती है। तीव्र रागद्वेष परिणामस्वरूप यह ग्रन्थि होती है। उस ग्रन्थि का सर्जन अनादि कर्म परिणाम द्वारा होता है। अभव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणादि सात कर्मों की दीर्घ स्थिति को क्षय करके अनन्त बार इस "ग्रन्थि" के द्वार पर आते हैं। किन्तु ग्रन्थि की भयकरता देखकर ग्रन्थि को भेदने की कल्पना भी नही कर सकते तो भेदने का पुरुषार्थ दूर रहा, वह तो वहाँ से ही पुन लौट जाता है और सक्लेश भावों में फस जाता है। सक्लेश भावों के कारण पुन कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट बाध लेता है। भव्य जीव भी अनन्त बार ग्रन्थि प्रदेश के द्वार पर आकर उसकी भयकरता को देखकर वापिस लौट जाता है। किन्तु जब भव्य जीव जिस परिणाम से रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़कर लाघ जाता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण भव्यात्मा के जीवन में दो बार होता है। पहले अपूर्वकरण का फल ग्रन्थि भेद और भी अपूर्वकरण का फल सम्यग्दर्शन है तथा दूसरा अपूर्वकरण श्रेणी रोहण के समय है। अत अपूर्वकरण दो हैं - ग्रन्थिभेद जन्य और उपशम क्षपक श्रेणी भावी।

इसे 'अपूर्वकरण' कहने का कारण इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुण सक्रमण और अपूर्व स्थिति बध ऐसे पाँच कार्य अपूर्व होते हैं, जो पूर्व कभी हुये नहीं थे। इन पाँच "अपूर्व" अध्यवसायों का आगे वर्णन करेंगे। अपूर्वकरण का परिणाम जीव को बार बार नही आता, कदाचित ही आता है, इसलिये इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है। किन्तु अपूर्वकरण भव्य जीवों को भी अधिक बार नही आता।

अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की दुर्भेद्य गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नही लौटता है। इसीलिये इसका नाम अनिवृत्ति करण है। तीनों ही करण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास -सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है।

अन्तरकरण

अनिवृत्तिकरण की जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बतलाई गई है, उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर 'अन्तर करण' की क्रिया शुरू होती है - अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आनेवाले कर्म-दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नही रहता। अतएव जिसका आबाधाकाल पूरा हो चुका है - ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है, जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नही रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की संभावना है, वे सब दलिक अन्तकरण की क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार तीन पुज होते हैं - शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्ध शुद्ध। इनमें से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नही होता। उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। औपशमिक

सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नही होता। इसलिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है।

दृष्टि की निर्मल स्थिति को 'सम्यक्त्व' कहते हैं। 'सम्यक्त्व' की मुद्रा प्राप्त किये बिना मोक्ष नही मिलता। मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है। 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति के बाद ही ध्यान की योग्यता प्रारभ होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव का स्वरूप - धर्म श्रवण करने की श्रद्धा, धर्म के प्रति प्रीति, गुरु आदि की नियमित परिचर्या करना है।[१५३]

चारित्र (चारित्री)

चारित्र का अर्थ समता है। सम्यग्दर्शन के बाद ही श्रावक और श्रमण क्रमश बारह व्रतों की आराधना और पाँच महाव्रत पाँच समिति तीन गुप्ति की सम्यक् साधना से विकासोन्मुखी बनते हैं। देशविरति श्रावक ध्यान का तीसरा अधिकारी है और सर्वविरति श्रमण चतुर्थ अधिकारी है।[१५४] अप्रमत्त अवस्था ही ध्यान की अवस्था है। प्रमादी साधक कभी भी ध्यान नही कर सकता। अप्रमत्त साधक ही श्रेणी – उपशम और क्षपक श्रेणी द्वारा ध्यान में विकास करते हुए कर्मक्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं।

ध्यान के सोपान

आगमानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं – छद्मस्थ का ध्यान और जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है।[१५५] इसलिये योगनिरोध जिन का ध्यान है। जिन्होंने स्वरूपोपलब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, आदि भावकर्मों को एव ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों को जीत लिया है, उन्हें जिन छद्मस्थ के सुस्थिर मन को ध्यान कहते हैं वैसे ही केवलज्ञानी की काया का सुस्थिर होना ध्यान कहलाता है।[१५६] यहाँ 'ध्यान' शब्द का अर्थ निश्चलता है फिर चाहे वह मन की निश्चलता हो या काया की निश्चलता हो, दोनों ही ध्यान स्वरूप हैं।

तीसरे शुक्लध्यान के समय सूक्ष्म काययोग होने से 'काय निश्चलता' स्वरूप ध्यान होगा, किन्तु चौथे शुक्लध्यान के समय सर्व योगों का सर्वथा निरोध होने से (अयोगी अवस्था होने से) काय स्थिर करने का कार्य ही नही तो फिर ऐसी अवस्था में ध्यानरूपता कैसे? अनुमान प्रयोग से इसमें ध्यानरूपता सिद्ध होती है, क्योंकि अनुमान में पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त होते हैं वैसे ही चार हेतुओं द्वारा अनुयोग प्रयोग से ध्यानरूपता सिद्ध की जाती है। 'भवस्थ केवली' की सूक्ष्म क्रिया एव व्युपरत - समुच्छिन्न - व्यवच्छिन्न क्रिया ये दोनों ही क्रिया ध्यान स्वरूप ही है।

काययोग का निरोध करने वाले सयोगी केवली को अथवा शैलेशी अवस्था वाले अयोगी केवली को चित्त (मनोयोग) नही होता फिर भी ऊपर बतायी हुई सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती और व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती अवस्था निम्न कारणों से ध्यान कहलाती है - १. पूर्व प्रयोग होने से, २ कर्मनिर्जरा का हेतु होने से, ३. शब्द के अनेक अर्थ होने से और ४. जिनेन्द्र का आगम वचन होने से। इनका स्वरूप इस प्रकार है - 'पूर्व प्रयोग' में कुम्हार के चक्र का भ्रमण है। चक्र घुमानेवाले दण्ड की क्रिया बद होने पर भी पूर्व प्रयोग के कारण बाद में दण्ड के बिना भी चक्र चालू ही रहता है, इसी प्रकार मनोयोग आदि का निरोध होने पर भी आत्मा का ज्ञानोपयोग चालू ही रहता है और उसमें भाव मन होने के कारण वह ध्यान रूप है। 'कर्म निर्जरा' सूक्ष्म क्रिया और समुच्छिन्न क्रिया को ध्यान कहने का कारण क्षपक श्रेणी है। क्षपक श्रेणी में घातिकर्मों का क्षय करने वाला 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान है। 'शब्द के कई अर्थ' एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ ध्यान शब्द का अर्थ 'उपयोग' है। 'ध्यै' धातु से बने ध्यान शब्द के 'स्थिर चिन्तन', 'कायनिरोध', और 'अयोगी अवस्था' आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसलिये सूक्ष्म क्रिया और समुच्छिन्न क्रिया की अवस्था ध्यान स्वरूप ही है। 'जिनेन्द्र कथित आगम वचन' जिनागम वचन के अनुसार जिन का ध्यान ध्यान रूप ही है। आत्मा, कर्म, ध्यान एव अतीन्द्रिय पदार्थ सर्वज्ञ वचन से ही जाने जा सकते हैं, तर्क से नही।[१५७]

तुलनात्मक विवरण

ध्यान और लेश्या

आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप स्फटिक मणि के समान निर्मल है। लेकिन कषायोदय से अनुरजित योग की प्रवृत्ति के [illegible] होने वाले उसके भिन्न-भिन्न परिणामों को - जो कृष्ण-नील-कापोत आदि अनेक रगवाले पुद्गल - विशेष के प्रभाव से होते हैं - लेश्या कहते हैं। कषाय और योग ही मुख्य कर्म बन्धन के कारण हैं। प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध का सबध योग से है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कषाय से है। कषाय के कारण ही आत्मा में लेश्या द्वारा चारों प्रकार के बध होते हैं। जब कषायजन्य बध होता है, तब लेश्याएं कर्मस्थिति वाली होती हैं। किन्तु अकेले योग में स्थिति और अनुभाग नही होता जैसे कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ईर्यापथिक क्रिया होने पर भी उनमें स्थिति, काल, और अनुभाग नही होता। कषायों के तरतम भावों के कारण ही अशुद्धतम, अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम, जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, मन्दतम, मंदतर, मन्द, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, आदि विविध प्रकार से भाव लेश्या का वर्गीकरण किया गया है। शास्त्र में लेश्या के दो प्रकार हैं - द्रव्य - लेश्या और भावलेश्या। नाम और स्थापना को जोड़कर लेश्या के चार प्रकार भी वर्णित है। 'लेश्या' यह नामलेश्या है।

सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना से स्थापना लेश्या निक्षेप है। द्रव्य लेश्या दो प्रकार की मानी गई है - आगम द्रव्यलेश्या व नो आगम द्रव्यलेश्या। इनमें नो आगमद्रव्य लेश्या ज्ञायक शरीर, भावी और तद् व्यतिरिक्त रूप से तीन प्रकार की है। इनमें चक्षुइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल स्कधों के वर्णन को तद् व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य लेश्या कहते हैं। वह कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या छह प्रकार की है। आगम और नो आगम के भेद से भाव लेश्या भी दो प्रकार की है। इनमें कर्म -पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय से अनुरजित योगप्रवृत्ति होती है। अत कषाय से उत्पन्न संस्कार का नाम नो आगम भाव लेश्या है।[१५८]

द्रव्य लेश्या पुद्गल-विशेषात्मक है और वह शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। इसीलिये वर्ण नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्य लेश्या कहते हैं। उसके स्वरूप के बारे में मुख्यतया तीन मत हैं[१५९] १ कर्म-वर्गणा-निष्पन्न, २. कर्म-निष्यन्द (बध्यमान कर्म प्रवाह रूप) और ३ योगपरिणाम। लेश्या - द्रव्यकर्मवर्गणा से बने हुए होने पर भी वे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से भिन्न नही हैं, जैसे कि कार्मण शरीर। लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्म प्रवाह रूप होने से चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने के कारण लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान तक भावलेश्या का सद्भाव समझना चाहिये। इसलिये योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है और यह परिणाम सक्लेश एव योग से अनुगत है। सक्लेश का कारण कषायोदय है। इसीलिये कषायोदयानुरजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं[१६०] द्रव्य और भाव लेश्या के साथ ध्यान का गहरा सबंध है। इसलिये चार ध्यानों में से प्रथम आर्तध्यानवर्ती के प्रथम तीन अशुभ लेश्याए होती हैं। किन्तु उनमें कषायोदय के अतिसंक्लिष्ट भाव नहीं होते। परन्तु रौद्रध्यान के ये ही तीन अशुभ लेश्याए (कृष्ण, नील, कापोत) होने पर भी तीव्र सक्लेश वाली होती हैं। धर्म ध्यान में स्थित आत्मा के पीत, पद्म और शुक्ललेश्या शुभ परिणामवाली होती हैं। वे क्रमश अधिकाधिक विशुद्धिवाली होती हैं क्योंकि उनमें कषायों का उदय मन्द मन्दतर मन्दतम होता है जिससे धर्मध्यान की प्राप्ति सभव ही है। शुक्लध्यान के प्रथम दो ध्यान के प्रकार शुक्ललेश्या वाले होते हैं, तीसरा भेद परमशुक्ललेश्या में होने से स्थिरता गुण के कारण मेरू को जीतने वाला होता है और अंतिम शुक्ल ध्यान का भेद लेश्यारहित होता है।[१६१]

इन छह लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति निम्नप्रकार की है-[१६२]

कृष्ण लेश्या - कृष्णलेश्या वाले के परिणामों में कषायों की तीव्रतम स्थिति

होती है। इसीलिये वह तीव्र क्रोधादि कषाय को करने वाला होता है। धार्मिक आचार - विचारों से सर्वथा शून्य होता है एव सदैव कलह, परनिन्दा, ईर्ष्या, क्लेश, राग, द्वेष, शोकग्रस्त आदि में रत रहता है। स्वेच्छाचारी, इन्द्रिय विषयों में रत रहनेवाला, मायावी, लोभी, दंभी, मन वचन काय में सयम न रखनेवाला होता है। काजलादि के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्‌गलों के सबध से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना स्वाभाविक है।

नीललेश्या : अशोक वृक्ष के समान नीले रग के लेश्या पुद्‌गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे द्वेष, ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल कपट आदि होने लगते हैं। निर्लज्जता, कामुकता, कृत्याकृत्य की विवेकहीनता आ जाती है। विषयों के प्रति उत्कट लालसा होती है। इन परिणामों को नील लेश्या कहते हैं। इस लेश्या के परिणाम वाला दूसरों को ठगने में चतुर, धनधान्यादि के सग्रह में तीव्र लालसा रखनेवाले लोभी, कृपण आदि वृत्ति से युक्त होता है। इसके काषायिक परिणाम मन्दतर होते हैं।

कापोत लेश्या : कापोत लेश्या वाले के परिणाम कबुतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्‌गलों जैसे होते हैं। कापोत लेश्या वाले के परिणाम तीव्र तो होते हैं लेकिन कृष्ण और नील लेश्या वालों की अपेक्षा कुछ सुधरे हुए होते हैं । फिर भी दूसरों की निन्दा, चुगली आदि करने की ओर उन्मुख रहता है, स्वप्रशसा और परनिंदा करने में चतुर होता है। अहकार ममकार में डूबे रहने के कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में वक्रता ही वक्रता रहती है। किसी भी विषय में सरलता नही होती है और नास्तिकता रहती है।

ये तीनों ही अशुभ लेश्याए आर्त ध्यानी और रौद्रध्यानी के होती हैं। अत ये वर्जित हैं। कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में काषायिक तीव्रतम तीव्रतर तीव्र परिणामों के होने के कारण कर्मों की स्थिति अति दीर्घ और दु खदायी होती है।

तेजो लेश्या : तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्‌गलों से आत्मा में ऐसे परिणाम होते हैं जिससे कि विनय, विवेक, नम्रता आ जाती है, शठता और चपलता नही रहती है, धर्म रुचि दृढ होती है, दूसरों का हित करने की इच्छा होती है। तेजोलेश्या विकासोन्मुखी आत्मपरिणामों एव मदकषाय परिणामों का सकेत करती है। इस लेश्या के परिणाम वाला अपने कर्तव्य -अकर्तव्य का विवेक करने वाला होता है। दया-दान आदि कार्य करने में तत्पर रहता है।

पद्मलेश्या : हल्दी के समान पीले रग के लेश्या पुद्‌गलों से आत्मा में तेजोलेश्या वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ परिणाम होते हैं जिससे काषायिक प्रवृत्ति काफी अंशों में कम हो जाती है। कषायों की स्थिति मदतर हो जाती है। वह तत्त्वजिज्ञासु होता है। व्रत-

शील आदि के पालन में तत्पर रहता है। सासारिक विषयों में उदासीन एवं साधु-जनों का प्रशसक होता है जिससे उसका चित्त प्रशान्त रहता है। आत्म संयम और जितेन्द्रिय की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्मलेश्या का है।

शुक्ललेश्या : इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता है। कषाय उपशात रहती है। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन , वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते हैं।

तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों ही शुभ लेश्याएं ध्यान में सहायक हैं। अत सतत इन्ही का आचरण करना चाहिये।

कृष्णादि छहों लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति, सरेस के डालने से रग पक्का और स्थायी होता है, वैसे (कर्मबन्ध की स्थिति) ही दृढ़ होती है। परिणाम विशेष का नाम ही लेश्या है। इसलिये जामुन खाने के इच्छुक पुरुषों के दृष्टान्त द्वारा उन उन पुरुषों के अपने अपने तीव्र, मन्द, मध्यम या परिणाम वाले के समान उनकी लेश्या जाननी चाहिये।[१६३] इन छहों लेश्याओं में से अन्तिम शुभ लेश्याए ही ध्यान के लिये योग्य मानी गई हैं। इसलिये ध्यान और लेश्या का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्यान और गुणस्थान मार्गणास्थान

जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'गुणस्थान' और 'मार्गणास्थान' शब्द का उल्लेख है। आगमों में 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने में नही आया है लेकिन 'जीवस्थान' अथवा 'भूतग्राम' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीव स्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[१६४] अभयदेव सूरि ने भी जीव स्थानों (गुणस्थानों) को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से सम्पन्न कहा है।[१६५] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवों को गुण कहा है। इसलिये आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों एव कर्मग्रन्थों में किया गया है। उनका कथन है कि दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को सर्वज्ञ सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस सज्ञा से निर्दिष्ट किया है।[१६६] सक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास, ये चारों शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं।[१६७]

जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनों जीव की अवस्थायें हैं, फिर भी इनमें यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति -नाम-कर्म, पर्याप्त नाम कर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव हैं। मार्गणा का अर्थ है अनुसधान, खोज, विचारणा आदि। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, सयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्य,

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार इन चौदह अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान जीवस्थान आदि की मार्गणा - विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[१६८]

मार्गणा और गुणस्थान में अंतर

मार्गणा में किया जाने वाला विचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जब कि गुणस्थान कर्मपटलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान कराता है। मार्गणाए जीव के विकास क्रम को नही बताती हैं, किन्तु इनके स्वाभाविक वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। जब कि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएं सहभावी हैं और गुणस्थान क्रमभावी हैं।

मार्गणाओं में जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेषणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों जीवस्थानों आदि का भी विचार किया जाता है।[१६९] विचारणा की धारा ही ध्यान की अवस्था है। ध्यान बल से जीव चौदह मार्गणाओं द्वारा अपने स्वरूप की गवेषणा करता है।

आगम में चौदह गुणस्थानों (जीवस्थानों) का वर्णन है। उनके नाम निम्नलिखित हैं।[१७०] मिथ्यादृष्टि, सासादण सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, पमत्तसंयत्त, अपमत्तसयत्त, नियट्टिबादर, अनियट्टिबादर, सूक्ष्म सपराय, उपशान्त मोहनीय, क्षीण मोहनीय, सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान। आगमेतर ग्रन्थों में गुणस्थानों के नाम कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नही।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है, किन्तु दूसरा, गुणस्थान विकास की भूमिका नहीं है। वह तो ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है। विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो ही

शील आदि के पालन में तत्पर रहता है। सासारिक विषयों में उदासीन एव साधु-जनों का प्रशसक होता है जिससे उसका चित्त प्रशान्त रहता है। आत्म संयम और जितेन्द्रिय की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्मलेश्या का है।

शुक्ललेश्या : इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता है। कषाय उपशांत रहती है। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन , वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शंख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते हैं।

तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों ही शुभ लेश्याए ध्यान में सहायक हैं। अत सतत इन्ही का आचरण करना चाहिये।

कृष्णादि छहों लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति, सरेस के डालने से रग पक्का और स्थायी होता है, वैसे (कर्मबन्ध की स्थिति) ही दृढ़ होती है। परिणाम विशेष का नाम ही लेश्या है। इसलिये जामुन खाने के इच्छुक पुरुषों के दृष्टान्त द्वारा उन उन पुरुषों के अपने अपने तीव्र, मन्द, मध्यम या परिणाम वाले के समान उनकी लेश्या जाननी चाहिये।[१६३] इन छहों लेश्याओं में से अन्तिम शुभ लेश्याएं ही ध्यान के लिये योग्य मानी गई हैं। इसलिये ध्यान और लेश्या का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्यान और गुणस्थान मार्गणास्थान

जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'गुणस्थान' और 'मार्गणास्थान' शब्द का उल्लेख है। आगमों में 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने में नही आया है लेकिन 'जीवस्थान' अथवा 'भूतग्राम' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीव स्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[१६४] अभयदेव सूरि ने भी जीव स्थानों (गुणस्थानों) को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से सम्पन्न कहा है।[१६५] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवों को गुण कहा है। इसलिये आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों एवं कर्मग्रन्थों में किया गया है। उनका कथन है कि दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को सर्वज्ञ सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस सज्ञा से निर्दिष्ट किया है।[१६६] संक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास, ये चारों शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं।[१६७]

जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनों जीव की अवस्थायें हैं, फिर भी इनमें यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति –नाम-कर्म, पर्याप्त नाम कर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव हैं। मार्गणा का अर्थ है अनुसंधान, खोज, विचारणा आदि। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्य,

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार इन चौदह अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान जीवस्थान आदि की मार्गणा - विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[१६८]

मार्गणा और गुणस्थान में अंतर

मार्गणा में किया जाने वाला विचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जब कि गुणस्थान कर्मपटलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान कराता है। मार्गणाएं जीव के विकास क्रम को नही बताती हैं, किन्तु इनके स्वाभाविक वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। जब कि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएं सहभावी हैं और गुणस्थान क्रमभावी हैं।

मार्गणाओं में जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेषणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों जीवस्थानों आदि का भी विचार किया जाता है।[१६९] विचारणा की धारा ही ध्यान की अवस्था है। ध्यान बल से जीव चौदह मार्गणाओं द्वारा अपने स्वरूप की गवेषणा करता है।

आगम में चौदह गुणस्थानों (जीवस्थानों) का वर्णन है। उनके नाम निम्नलिखित हैं।[१७०] मिथ्यादृष्टि, सासादण सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, पमत्तसयत्त, अपमत्तसयत्त, नियट्टिबादर, अनियट्टिबादर, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त मोहनीय, क्षीण मोहनीय, सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान। आगमेतर ग्रन्थों में गुणस्थानों के नाम कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नही।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है, किन्तु दूसरा, गुणस्थान विकास की भूमिका नही है। वह तो ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है। विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो ही

हैं - दर्शन मोह और चारित्र मोह। इनमें से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन - स्वरूप - पररूप का निर्णय, विवेक नही होने देती है। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नही करने देती है। इसीलिये पहले, दूसरे, और तीसरे गुणस्थान में आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास नही हो पाता है क्योंकि उनमें उनके प्रतिबधक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में से प्रतिबधक सस्कार मद होते जाते हैं जिससे उन-उन गुणस्थानों में शक्तियों के विकास का क्रम प्रारभ हो जाता है। इन प्रतिबधक सस्कारों को कषाय कहते हैं।

इन कषायों के मुख्यत चार विभाग किये गये हैं। ये विभाग काषायिक संस्कारों की फल देने की तरतम शक्ति पर आधारित हैं। इनमें से प्रथम विभाग दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का है। यह विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिबधक है। शेष तीन विभाग जिन्हें क्रमश अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कहते हैं, चारित्रशक्ति के प्रतिबधक हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शनशक्ति का आविर्भाव नही होता है, किन्तु जैसे-जैसे मन्दता या अभाव की स्थिति बनती है, वैसे दर्शनशक्ति व्यक्त होती है। दर्शन शक्ति के व्यक्त होने पर दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का वेग शात या क्षय हो जाने से चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का सस्कार नही रहता है। जिससे पाचवें गुणस्थान में चारित्रशक्ति का प्राथमिक विकास होता है। इसके अनन्तर पाचवें गुणस्थान के अत में प्रत्याख्यानावरण कषाय का वेग न रहने से चारित्र शक्ति का विकास और बढ़ता है जिससे इन्द्रिय विषयों से विरक्त होने पर जीव साधु बन जाता है। यह विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में चारित्र की विपक्षी सज्वलन कषाय के विद्यमान रहने से चारित्र पालन में विक्षेप तो आता ही है, किन्तु चारित्रशक्ति का विकास दबता नही है। शुद्धि और स्थिरता में अतराय आते रहते हैं और आत्मा उन विघातक कारणों से सघर्ष भी करती रहती है। इस सघर्ष में सफलता प्राप्त कर जब सज्वलन कषायों (सस्कारों) को दबाती हुई आत्मा विकास की ओर गतिशील रहती है, तब सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। बारहवें गुणस्थान में तो दर्शन शक्ति और चारित्र शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। उस स्थिति में शरीर, आयु आदि का सबध रहने से जीवन्मुक्त अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाती है और बाद में शरीर आदि का भी वियोग हो जाने पर शुद्ध, ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न आत्मावस्था प्राप्त हो जाती है।

ध्यान और गुणस्थानों का स्वरूप

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान : दर्शन मोहनीय के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व गुणस्थान रखा है। यह चेतन की अधस्तम अवस्था है। दर्शन मोहनीय

के प्रभाव से विपर्यासमति (मिथ्यामति) द्वारा शुद्ध को अशुद्ध, सत्य को असत्य, निर्मल को मलिन एव कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के रूप में प्रतिभासित करने वाली अवस्था मिथ्यात्व की मानी जाती है। मिथ्यात्व दो प्रकार का माना जाता है - व्यक्त मिथ्यात्व और अव्यक्त मिथ्यात्व। अनादिकाल से सबध रखने वाला अव्यक्त मिथ्यात्व है। इसे गुणस्थान की कोटि में नहीं रखा जाता। मिथ्यात्व मदिरा के समान जीव को हिताहित का भान नही करने देता। व्यक्त मिथ्यात्व को ही प्रथम गुणस्थान में लिया गया है। इसमें दृष्टि अशुद्ध होती है फिर भी जीवों के भद्र परिणामों एव सरल प्रवृत्ति के कारण मिथ्यादृष्टि की भूमिका को भी प्रथम गुणस्थान में निर्धारित किया गया है। इसमें सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, आहारक द्विक (आहारक शरीर, आहारक अगोपाग) और तीर्थंकर नाम कर्म इन पाच प्रकृतियों का बध नही होता।[१७१]

(२) सासादन (सास्वादन) गुणस्थान : जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही किया है, तब तक - जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूप विशेष को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नही। इस गुण स्थान की समय स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका तक की है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के निमित्त बधने वाली सोलह - नरकत्रिक - नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, जाति चतुष्क - एकेन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय, स्थावरचतु - स्थावर नाम कर्म, सूक्ष्म नाम कर्म, अपर्याप्त नाम कर्म, साधारण नाम कर्म, हुण्डक सस्थान, आतप नाम कर्म, सेवार्त संहनन नामकर्म, नपुसक वेद और मिथ्यात्व इन प्रकृतियों का बध नही होता।[१७२]

(३) सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान : मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध इन तीनों पुजों में से अनन्तानुबंधी कषाय का उदय न होने से शुद्धता और मिथ्यात्व के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों के उदय होने से अशुद्धता रूप जब अर्द्ध शुद्ध पुज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्यात्व (अशुद्ध) मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यग्मिथ्या दृष्टि (मिश्र दृष्टि) तथा उसका स्वरूप विशेष सम्यग्मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की स्थिति नारियेलकेर द्वीप के मनुष्य की तरह होती है। इसमें जीव की विशेष अवस्था यह है कि वह इस गुण स्थान में आयुबध अथवा मरण नही करता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है, जिसके परिणामस्वरूप सद्गति अथवा दुर्गति को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में स्थित जीव निम्नलिखित सत्ताईस प्रकृतियों का बध नही करता, जैसे

कि तिर्यंचत्रिक- तिर्यंचगति तिर्यंचायु तिर्यंचानुपूर्वी, स्त्यानर्द्धित्रिक- निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, दुर्भगत्रिक - दुर्भग नाम, दु स्वर नाम व अनादेय नाम कर्म, अनन्तानुबन्धीचतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ, मध्यमसंस्थान चतुष्क - न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, सादि सस्थान, वामन सस्थान व कुब्ज सस्थान, मध्यम संहनन चतुष्क - वृषभनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन और कीलिका सहनन।[१७३] पहले की २१ प्रकृति और आगे ६ प्रकृति - १) नीच गोत्र २) उद्योत नाम ३) अशुभ विहायोगति ४) स्त्रीवेद ५) मनुष्यायु ६) देवायु

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव एकान्तमिथ्यावादी होते हैं, दूसरे गुण स्थानवर्ती जीव अपक्रान्तिवाले होते हैं और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव अपक्रान्ति और उत्क्रान्ति दोनों ही प्रकार वाले होते हैं। इन तीन गुणस्थानों में ध्यान तो है ही किन्तु आर्त - रौद्र ध्यान है, जो ससारवर्धक है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि (असंयतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान : सर्वज्ञ कथित तत्त्वों के विषय में स्वाभाविक (निसर्ग) और उपदेशादि से जीव को रुचि तो जागृत होती है किन्तु द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय होने से व्रत प्रत्याख्यान रहित अकेले सम्यक्त्व मात्र रहता है, उस जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसके स्वरूप विशेष को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते है। यह अवस्था अर्धपुद्गल परावर्त जितना संसार भ्रमण शेष रहे तब ही प्राप्त होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति भव्य जीवों को होती है अभव्य जीवों को नही। इस गुणस्थानवर्ती जीव में व्रतादि न होने पर भी देव, गुरु, धर्म, सघ भक्ति, शासन सेवा की भावना दृढ होती है। इसमें जीव तीर्थंकर नामकर्म का बध करता है। जीव को ध्यान करने की योग्यता भी यहाँ से प्रारभ होती है। अत यह ध्यान को जन्म देने वाला उद्गम स्थान है।[१७४]

(५) देशविरति (विरताविरति - संयतासंयत) गुणस्थान : प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा तो नही किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण देश (अश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं। देशविरत को श्रावक भी कहते हैं। एक ही समय में जीव त्रसहिंसा से विरत होता है, वही स्थावर हिंसा से अविरत होता है, इस कारण से विरताविरति भी कहते हैं। षट् खण्डागम में इसे संयतासयत कहा है। इनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के निम्नलिखित दस प्रकृतियों का बंध नहीं होता - वज्रऋषभ संहनन, मनुष्यगति, मनुष्यायु, मनुष्यानुपूर्वी, अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग। इसमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान मद होता है। श्रावक षट् कर्म (षड् आवश्यक क्रिया) ११

उपासक पडिमा, एव बारह व्रत धारक होने से पचम गुणस्थान में धर्म ध्यान मध्यम कोटि का होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट कुछ न्यून करोड़ वर्ष की होती है।[१७५] इससे आगे के सभी गुणस्थानों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान : जो जीव पापजनक व्यापारों से विधि पूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे सयत (मुनि) हैं। लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक वे प्रमत्तसयत कहलाते हैं। यद्यपि सकल संयम को रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से इस गुणस्थानवर्ती जीव को पूर्ण सयम तो होता है, किन्तु सज्वलन आदि कषायों के उदय से सयम में मल उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे प्रमत्त संयत कहते हैं। इस गुणस्थान में देशविरति की अपेक्षा गुणों - विशुद्धि का प्रकर्ष अप्रमत्तसयत की अपेक्षा विशुद्धि - गुण का अपकर्ष होता है। इसमें ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारक लब्धि का प्रयोग करते हैं। प्रमत्त संयतगुणस्थानक की स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ प्रमाण है और यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते हैं। इसमें प्रत्याख्यानी कषायचतुष्क का बंध नही होता। इस गुणस्थानवर्ती जीव की स्थिति का वर्णन तो कर चुके हैं। किन्तु कही कही इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त बताई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रमत्तसयमी एक बार अप्रमत्तगुणस्थान में पहुँचता है और पुन वहाँ से अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रमत्तसयतगुणस्थान में आ जाता है। यह उतार चढ़ाव देशोनकोटिपूर्व तक होता रहता है। इसमें धर्मध्यान की मात्रा बढ़ जाती है।[१७६]

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान : जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों का सेवन नही करते हैं, वे अप्रमत्त सयत हैं और उनका स्वरूप विशेष जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से होता है, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहलाता है। इसमें सज्वलन कषाय चतुष्क तथा हास्यादि नो कषायों का मन्द उदय होने से व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो जाता है और ज्ञान, ध्यान, तप, में लीन मुनि को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसके आगे के सभी गुणस्थानों में मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं। छठे और सातवें गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि सातवें गुणस्थान में थोड़ासा भी प्रमाद नही होता है, इसलिये व्रतों में अतिचारादिक सम्भव नहीं है, किन्तु छठा गुणस्थान प्रमाद युक्त होने से व्रतों में अतिचार लगने की संभावना है। ये दोनों गुणस्थान प्रत्येक समय नही होते हैं। किन्तु गति सूचक यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते हैं। कभी सातवें से छठा और छठे से सातवां गुणस्थान क्रमश होते रहते हैं। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य से एक

समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्तमुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुँचकर उपशम और क्षपक श्रेणी ले लेते हैं, या पुन छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। इस गुणस्थान के दो प्रकार है – स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। जब तक जीव दोनों श्रेणी के सन्मुख नही होता तब तक उसे स्वस्थानाप्रमत्त कहते हैं। इस गुणस्थान में सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्मध्यान होता है और रूपातीत ध्यान की प्रधानता के कारण अश रूप से शुक्लध्यान भी होता है। मोहनीय कर्म का उपशम और क्षय करने में तत्पर बना हुआ मुनि दर्शन सप्तक के सिवाय शेष इक्कीस मोहनीय कर्म की प्रकृति का उपशम और क्षय करने वाले श्रेष्ठ ध्यान साधने की प्रक्रिया शुरू करता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव में छह आवश्यकादि क्रिया न होने पर भी उत्तम ध्यान के योग से स्वाभाविक आत्मशुद्धि करता रहता है।[१७७]

(८) नियट्टिबादर (निवृत्तिबादर) गुणस्थान : इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति – ये तीनों समानार्थवाचक शब्द हैं, जिसमें अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषाय चतुष्क रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।

दोनों श्रेणियों का प्रारभ यद्यपि नौवें गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवा गुणस्थान दोनों प्रकार की श्रेणियों की आधार शिला बनाने के लिए है- उपशमन और क्षपण की योग्यता मात्र होती है और नौवें गुणस्थान में श्रेणिया प्रारभ होती हैं। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये हैं – १) स्थितिघात, २) रसघात, ३) गुणश्रेणि, ४) गुणसक्रमण और ५) अपूर्व स्थितिबध।

स्थितिघात :- कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना-जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

रसघात :- बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रस घात कहलाता है।

गुणश्रेणि :- जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है अथवा जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुण श्रेणि कहलाता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है – उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त के जितने समय होते हैं उनमें से उदयावलि के

समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यात गुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असख्यात गुणे ही अधिक समझना चाहिये।

गुणसंक्रमण :- पहले बधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानातरित कर देना - परिणत कर देना गुण सक्रमण कहलाता है। गुण संक्रमण का क्रम इस प्रकार है - प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का सक्रमण होता है, तीसरे में दूसरे की अपेक्षा असंख्यात गुण। इस प्रकार जब तक गुण सक्रमण होता रहता है तब तक पहले-पहले समय में सक्रमण किये गये दलिकों से आगे-आगे के समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का ही सक्रमण होता है।

अपूर्व स्थितिबंध :- पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बाँधना अपूर्व स्थितिबध कहलाता है। षट् खण्डागम और प्रवचनसारोद्धार में स्थितिघातादि के नाम क्रमश निम्नलिखित हैं - गुण श्रेणि निर्जरा, गुण सक्रमण, स्थितिखंडन और अनुभाग खण्डन तथा स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और अपूर्व स्थिति। इन दोनों ग्रन्थों में चार ही प्रकार बताये हैं।

यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं। क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है। परतु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है। इसी प्रकार के पहले के गुणस्थानों में गुण श्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है, तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं, और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, किन्तु गुणश्रेणि का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुण-सक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प स्थिति के कर्म बांधे जाते हैं कि जितनी अल्प स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नही बँधते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थान में स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते हैं।

आठवें गुणस्थान में ध्यानयोगी आत्मा की विशिष्ट अवस्था शुरू होती है। औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करना पड़ता है और वह करने के लिए भी तीन करण करने पड़ते हैं - यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उनमें क्रमश यथाप्रवृत्तिकरण-सातवा गुणस्थान, अपूर्वकरण आठवां गुणस्थान और अनिवृत्तिकरण रूप नौवां गुणस्थान है।

जो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं, और आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम भेदों) की सख्या असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है।

इस गुण स्थान का कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें सात भाग होते हैं - प्रथम भाग में देवायु को छोड़ ५८ प्रकृतियों का बध होता है। दूसरे से लेकर छठे भाग तक निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों को छोड़कर ५६ प्रकृतियों का बध होता है। अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में इन दो प्रकृतियों के (निद्रा, प्रचला) बध की व्युच्छित्ति मनुष्य आयु के विद्यमान में होती है। उपशम श्रेणी पर आरोहन करनेवाले जीव नियम से चारित्र मोहनीय का उपशमन करते हैं। उपशम श्रेणि पर आरोहन करनेवाला जीव आठवें गुणस्थान के प्रथम समय में मरण नही करता, किन्तु द्वितीयादि समय में मरण सभव है। इसलिये निद्रा और प्रचला प्रकृति का बध नही होता। क्षपक श्रेणी पर आरोहन करने वाले क्षपक नियम से चारित्र मोहनीय का क्षपण करते हैं किन्तु क्षपक श्रेणी में मरण होता ही नही। सातवें भाग में ५६ प्रकृतियों में से देवगति, देवानुपूर्वी, पचेंद्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय नामकर्म, वैक्रियशरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र सस्थान, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग, निर्वाण नाम, तीर्थंकर नाम, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरु-लघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास इन तीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष २६ प्रकृतियों का बध होता है। इस प्रकार आठवा गुणस्थान ध्यान साधक के लिये विशिष्ट प्रकार की ध्यान साधना में आरोहन कराने वाला होता है।[१७८]

उपशम श्रेणि का स्वरूप :-

जिन परिणामों के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामों की धारा को उपशम श्रेणि कहते हैं। इस उपशम श्रेणी का प्रारम्भक पूर्व का ज्ञाता, विशुद्ध चारित्र सम्पन्न, प्रथम तीन सहनन में से किसी भी एक संहनन नाम कर्म के उदय वाला अप्रमत्त संयत (उपशमक जीव) शुक्लध्यान के प्रथम भेद का ध्याता ही होता है और उपशम श्रेणि से गिरनेवाला अप्रमत्त सयत, प्रमत्त सयत, देशविरति या अविरति में से कोई भी हो सकता है। उपशम श्रेणि से गिरनेवाला (चारित्र

मोहनीय के उदय को प्राप्त करके जैसे कि जल में नीचे रहे हुए मलिन पानी की तरह. ...) अनुक्रम से चौथे गुणस्थान तक आता है और वहाँ से गिरे तो दूसरे और उससे पहले गुणस्थान को भी प्राप्त करता है।

उपशम श्रेणि के दो भाग हैं - १. उपशम भाव का सम्यक्त्व और २) उपशम भाव का चारित्र। इनमें से चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के पहले उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में ही प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों को सातवें में ही उपशमित किया जाता है, जिससे उपशमश्रेणि का प्रस्थापक अप्रमत्त संयत ही है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मंतव्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती कोई भी अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करता है और दर्शनत्रिक आदि को तो संयम में वर्तने वाला अप्रमत्त ही उपशमित करता है। उसमें सबसे पहले अनंतानुबंधी कषाय को उपशान्त किया जाता है और दर्शनत्रिक का उपशमन तो संयमी ही करता है। इस अभिप्राय के अनुसार चौथे गुणस्थान में उपशम श्रेणि का प्रारंभ माना जा सकता है।

अनंतानुबंधी कषाय के उपशमन का वर्णन इस प्रकार है कि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। यथा-प्रवृत्तकरण में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है, जिसके कारण शुभ प्रकृतियों में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग की हानि होती है। किंतु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रमण नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

उक्त अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इस करण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थिति बंध, ये पाचों कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय में कर्मों की जो स्थिति होती है, स्थितिघात के द्वारा उसके अंतिम समय में वह संख्यातगुणी कम कर दी जाती है। रसघात के द्वारा अशुभ प्रकृतियों का रस क्रमश: क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणी रचना में प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रति समय कुछ दलिक ले-लेकर उदयावली के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में उनका निक्षेप कर दिया जाता है। दलिकों का निक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि पहले समय में जो दलिक लिये जाते हैं, उनमें से सबसे कम दलिक प्रथम समय में स्थापित किये जाते हैं, उससे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समय में, उससे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस

प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अंतिम समय पर्यंत असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयों में भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। गुणश्रेणि की रचना क्रम में पहले समय में ग्रहण किये जानेवाले दलिक थोड़े होते हैं और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण किया जाता है तथा दलिकों का निक्षेप अवशिष्ट समयों में ही होता है। इसी दृष्टि और क्रम को यहाँ भी समझना चाहिये कि पहले समय में ग्रहीत दलिक अल्प है, अनन्तर दूसरे आदि समयों में वे असख्यातगुणे हैं और उन सबकी रचना अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण समयों में होती है। काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त से आगे नहीं बढ़ता है।

गुण सक्रम के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनतानुबंधी आदि अशुभ प्रकृतियों के थोड़े दलिकों का अन्य प्रकृतियों में सक्रमण होता है और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियों में सक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थितिबध भी अपूर्व-बहुत थोड़ा होता है।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समय से ही स्थितिघात आदि अपूर्व स्थिति बन्धपर्यंत पूर्वोक्त पाँचों कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें से सख्यात भाग बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनतानुबंधी कषाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषकों को छोड़कर शेष निषकों का भी पूर्व बताये मिथ्यात्व के अन्तरकरण की तरह इनका भी अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्तर्मूहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँ से उठाकर बधनेवाली अन्य प्रकृतियों में स्थापित किया जाता है। अन्तरकरण के प्रारभ होने पर दूसरे समय में अनंतानुवधी कषाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है। यह उपशम पहले समय में थोड़े दलिकों का होता है, दूसरे समय में उससे असख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक क्रमश असख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इतने समयों में सपूर्ण अनतानुवधी कषाय का उपशम हो जाता है और यह उपशम इतना सुदृढ़ होता है कि उदय, उदीरणा, निधत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाता है। यही अनतानुवधी कषाय का उपशम है।

किन्हीं-किन्हीं आयाचों का मन्तव्य है कि अनतानुबंधी कषाय का उपशम नहीं होता है। किन्तु विसंयोजन होता है। चौथे, पाँचवें, तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनतानुबंधी कषाय का विसयोजन करते हैं। किन्तु यहाँ न तो अन्तरकरण होता है और न अनतानुवंधी का उपशम ही होता है।

अनतानुबंधी का उपशम करने के बाद दर्शनमोहनीयत्रिक-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है। इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि से करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। किंतु उपशम श्रेणि में यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता लेकिन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है। क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का सपूर्णतया उपशम होता है। इसीलिए यहाँ दर्शनत्रिक का उपशमक वेदक सम्यग्दृष्टि को माना है।

इस प्रकार से अनन्तानुबधी कषाय और दर्शनत्रिक का उपशमन करने के बाद चारित्र मोहनीय के उपशम का क्रम प्रारभ होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशम करने के लिये पुन: यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण करता है। लेकिन इतना अतर है कि सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में होता है। यहाँ भी स्थितिघात आदि कार्य होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृति का गुण सक्रमण होता है जिसके सबंध में वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान में सपूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुण सक्रमण होता है।

अपूर्वकरण के काल में से संख्यातवा भाग बीत जाने पर निद्रा, द्विक -निद्रा और प्रचला - का बंधविच्छेद होता है। उसके बाद और काल बीतने पर सुरद्विक, पचेन्द्रिय जाति आदि तीस प्रकृतियों का तथा अतिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बधविच्छेद होता है।

इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात भाग बीत जाने पर चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। जिन कर्म प्रकृतियों का उस समय बंध और उदय होता है उसके अतरकरण सबधी दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है। जैसे कि पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेद का। जिन कर्मों का उस समय केवल उदय ही होता है और बध नही होता है, उनके अन्तरकरण संबधी दलिकों को, प्रथम स्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति में नही। जिन कर्मों का उदय नही होता है किन्तु उस समय केवल बध ही होता है, उनके अतरकरण सबधी दलिकों का द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नही। जिन कर्मों का न तो

बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण सबधी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है और जब सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में सज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

उपशम करना प्रारंभ करता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में 'समय कम तीन' आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नही करता। किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और 'समय कम दो' आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद 'समय कम दो' आवलिका में सज्वलन माया का उपशम करता है।

जब सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके - १) अश्वकरणाद्धा, २) किट्टीकरणाद्धा और ३) किट्टीवेदनाद्धा, उनमें से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग में पूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है - पहले के स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उन्हे अत्यंत रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है - उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अंत समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में सज्वलन लोभ के बध का विच्छेद होता है। उसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अंत हो जाता है।

इसके बाद दसवा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और 'एक समय कम दो' आवलिका में बधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्म सपराय के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अतराय की पाँच, यश, कीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बंध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय में ग्यारहवां गुण स्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।१७१

यद्यपि उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परतु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गदे पानी में फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले में बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गदगी ज्यों कि त्यों बनी रहती है। वैसे ही

बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण सबधी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारभ करता है और जब सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में सज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय में सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारभ करता है। संज्वलन मान की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन मान में प्रक्षेप नहीं किया जाता, किंतु सज्वलन माया आदि में किया जाता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन मान के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्याना-वरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय में सज्वलन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिकों को छोड़कर शेष दलिकों का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में सज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय में सज्वलन मान के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनों माया का एक साथ

उपशम करना प्रारंभ करता है। सज्वलन माया की प्रथम स्थिति में 'समय कम तीन' आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नहीं करता। किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में सज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और 'समय कम दो' आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद 'समय कम दो' आवलिका में सज्वलन माया का उपशम करता है।

जब सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके - १) अश्वकरणाद्धा, २) किट्टीकरणाद्धा और ३) किट्टीवेदनाद्धा, उनमें से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग में पूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है - पहले के स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उन्हे अत्यत रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है - उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अत समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में सज्वलन लोभ के बंध का विच्छेद होता है। उसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अत हो जाता है।

इसके बाद दसवा सूक्ष्मसपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और 'एक समय कम दो' आवलिका में बधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्म संपराय के अतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाँच, यश, कीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बंध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय में ग्यारहवां गुण स्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।१७९

यद्यपि उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परंतु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गंदे पानी में फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले में बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गदगी ज्यों कि त्यों बनी रहती है। वैसे ही

उपशम श्रेणि में जीव के भावों को कलुषित करने वाला प्रधान कर्म मोहनीय शांत कर दिया जाता है। अपूर्वकरण आदि परिणाम जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे मोहनीय कर्म की धूलिरूपी उत्तर प्रकृतियों के कण एक के बाद एक उत्तरोत्तर शात हो जाते हैं। इस प्रकार से उपशम की गई प्रकृतियों में न तो स्थिति और अनुभाग को कम किया जा सकता है और न बढाया जा सकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृति रूप ही किया जा सकता है।[१८०] किन्तु यह उपशम तो अन्तर्मुहूर्त काल के लिए किया जाता है। अत दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशम हुई कषायें अपना उद्रेक कर बैठती हैं। जिसका फल यह होता है कि उपशम श्रेणि का आरोहक जीव जिस क्रम से ऊपर चढा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है और उसका पतन प्रारम हो जाता है। उपशात कषायवाले जीव का पतन अवश्यभावी है। उपशम श्रेणि आरोहक जीव यदि काल (मरण) कर लेता है तो अहमिन्द्रों में उत्पन्न होता है और यदि दीर्घायु वाला होता है तो उपशान्त मोह गुणस्थान में मोहनीय कर्म को उपशात करता है।[१८१]

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशम श्रेणि आरोहक उतरते-उतरते सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है और यदि वहाँ से भी अपने को सभाल नही पाता है तो पाँचवें और चौथे गुणस्थान में पहुँचता है। यदि अनतानुबधी का उदय आ जाता है तो सासादन सम्यग्दृष्टि होकर पुन्हा मिथ्यात्व में पहुँच जाता है।[१८२]

लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यदि पतनोन्मुखी उपशम श्रेणि का आरोहक छठे गुणस्थान में आकर संभल जाता है तो पुन उपशम श्रेणि चढ़ सकता है। क्योंकि एक भव में दो बार उपशम श्रेणि चढ़ने का उल्लेख पाया जाता है। परंतु जो जीव दो बार उपशम श्रेणि चढ़ जाता है, वह जीव उसी भव में क्षपक श्रेणि का आरोहक नहीं बन सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह कार्मग्रंथिक मतानुसार दूसरी बार क्षपक श्रेणि भी चढ़ सकता है, किन्तु सैद्धांतिक मतानुसार तो एक भव में एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ सकता है, और भी ऐसा कहा जाता है कि संपूर्ण ससारचक्र में एक जीव को चार बार ही उपशम श्रेणि होती है।[१८३]

उपशम श्रेणि में भी अनन्तानुबधी आदि का उपशम किया जाता है। वेदक सम्यक्त्व, देश चारित्र और सकल चारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियों के क्षयोपशम से होती है। अत उपशम श्रेणि का प्रारंभ करने से पहले उक्त प्रकृतियों का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम। इसीलिए उपशम श्रेणि में अनंतानुबंधी आदि के उपशम को बतलाया है।

उपशम और क्षयोपशम में अन्तर :- क्षयोपशम उदय में आये हुए कर्मदलिकों के क्षय और सत्ता में विद्यमान कर्मों के उपशम से होता है। क्षयोपशम में घातक कर्मों का प्रदेशोदय रहता है और उपशम में किसी भी तरह का उदय नही – न तो प्रदेशोदय और न रसोदय। क्षयोपशम में प्रदेशोदय होने पर भी सम्यक्त्व आदि का घात न होने का कारण यह है कि उदय दो प्रकार का है – फलोदय और प्रदेशोदय। लेकिन फलोदय होने से गुण का घात होता है और प्रदेशोदय के अत्यन्त मद होने से गुण का घात नही होता है। इसीलिए उपशम श्रेणि में अनन्तानुबधी आदि का फलोदय और प्रदेशोदय रूप दोनों प्रकार का उपशम माना जाता है।[१८४]

क्षपक श्रेणि

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में अतर :- उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में यह अतर है कि इन दोनों श्रेणियों के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते हैं। लेकिन उपशम श्रेणि में तो प्रकृतियों के उदय को शांत किया जाता है, प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिए अपना फल दे सकती है किन्तु क्षपक श्रेणि में उनकी सत्ताही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उसके पुन उदय होने का भय नहीं रहता है। इसी कारण क्षपक श्रेणि में पतन नही होता है। इन दोनों श्रेणियों में दूसरा अंतर यह है कि उपशम श्रेणि में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही शमन होता है लेकिन क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के साथ नाम कर्म की कुछ प्रकृतियों और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय कर्म की प्रकृतियों का भी क्षय होता है।

क्षपक आरोहक जीव अनतानुबधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योत नाम, तिर्यचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुसक वेद, स्त्री वेद तथा हास्यादि षट्क, पुरुषवेद, सज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पाँच अतराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण इन प्रकृतियों का क्षय करके केवलज्ञानी होता है। क्षपक श्रेणि में प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है –

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारभ करता है। सबसे पहले वह अनतानुबधी कषाय चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनंतवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ नाश करता है। उसके बाद इस प्रकार क्रमश सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है, तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण

खड कर- करके खपाता है। जब उसके अतिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।

यदि क्षपक श्रेणि का प्रारंभ बद्धायु जीव करता है और अनतानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण हो तो उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुन· अनंतानुबधी का बध करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबधी नियम से बंधती है। किंतु मिथ्यात्व का क्षय हो जानेपर पुन अनंतानुबंधी का बध नही होता। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नही करता है तो अनतानुबधी कषाय और दर्शन मोह का क्षपण करने के बाद वह वही ठहर जाता है। चारित्र मोहनीय के क्षपण करने का प्रयत्न नहीं करता है। यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। अत अबद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त करने वाले मनुष्य के तीन आयु देवायु, नरकायु और तीर्यंचायु का अभाव तो स्वत ही हो जाता है। तथा पूर्वोक्त क्रम से अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानों में कर देता है।

इस प्रकार दर्शन मोह सप्तक का क्षय करने के पश्चात् चारित्रमोहनीय का क्षय करने के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है। अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग बीत जाने पर -स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय त्रिक ये चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति उद्वलना संक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है और उसके बाद गुणसक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। क्योंकि क्षपक मुनि अनिवृत्तिगुणस्थान के नौ विभाग में से प्रथम विभाग में उपरोक्त सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। द्वितीय विभाग में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन दोनों के आठ कषायों का अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है। ऊसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार सज्वलन कषायों में अन्तरकरण करता है। फिर क्रमश तीसरे विभाग में नपुसकवेद, चौथे विभाग में स्त्रीवेद और पाँचवें विभाग में हास्यादि छह नोकषायों का क्षपण करता है और उसके बाद शेष चार विभागों में क्रमश आत्मा की अत्यधिक विशुद्धि होने के कारण प्रथम पुरुषवेद, तदनतर संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षपण करता है, अर्थात् पुरुषवेद के तीन खण्ड करके दो खण्डों का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को सज्वलन क्रोध में मिला देता है।

उक्त क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़नेवाले के लिए बताया है। यदि स्त्री श्रेणि पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है, उसके बाद क्रमश पुरुषवेद, छह नो कषाय और स्त्रीवेद का क्षपण करती है। यदि नपुंसक श्रेणि आरोहण करता है, तो वह पहले स्त्रीवेद का क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नो कषाय, और नपुंसकवेद का क्षपण करता है।

वेद के क्षपण के बाद सञ्ज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। यानी संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खड को संज्वलन मान में मिला देता है। इसी प्रकार मान के तीसरे खण्ड को माया में मिलाता है और माया के तीसरे खंड को लोभ में मिलाता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और श्रेणि काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है।

सञ्ज्वलन लोभ के तीन खंड करके दो खडों का तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खंड के संख्यात खड करके चरम खंड के सिवाय शेष खंडों को भिन्न-भिन्न समय में खपाता है और फिर उस चरम खंड के भी असंख्यात खंड करके उन्हें दसवें गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में खपाता है। इस प्रकार लोभ कषाय का पूरी तरह क्षय होने पर अनन्तर समय में क्षीण कषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान में क्षपक श्रेणी आरोहक जीव को एकत्व-वितर्क-अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। इस ध्यानावस्था में जीव को स्वस्वरूप का अनुभव होने से समरसी भाव उत्पन्न होता है। क्षीण कषाय गुणस्थान के काल के संख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय के सिवाय शेष कर्मों के स्थितिघात आदि पूर्ववत् होते हैं। तथा दूसरे शुक्लध्यान के योग से कर्मसमूह का नाश करते हुए ध्यानयोगी पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अंतराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला) इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीण कषाय के काल के बराबर करता है किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि कार्य बन्द हो जाते हैं और शेष प्रकृतियों के होते रहते हैं। -क्षीण कषाय के उपान्त समय में निद्राद्विक का क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियों का अंतिम समय में क्षय करता है और उसके अनन्तर समय में वह सयोगीकेवली (केवलज्ञानी) हो जाता है।

यह सयोगीकेवली अवस्था जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना, विहार आदि करते हैं। इस अवस्था में शुद्ध क्षायिक भाव, उत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व तथा निश्चय क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के यदि वेदनीय आदि कर्मों

की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है, तो उनके समीकरण के लिए यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीय आदि तीन अघातियाँ कर्मों की स्थिति को करने के लिए समुद्घात करते हैं, जिसे केवलीसमुद्घात कहते हैं। केवलीसमुद्घात से निवृत्त होने के बाद मन, वचन और कायवाला होने से, उनके योगनिरोध करने के लिए तीसरे शुक्लध्यान का उपक्रम करते हैं। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नही करते हैं। केवलीसमुद्घात की प्रक्रिया का स्वरूप आगे वर्णन करेंगे।

योग के निरोध का उपक्रम यानी तीसरे शुक्लध्यान की प्रक्रिया ही है सो इस प्रकार है कि सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते हैं, उनके पश्चात् बादर वचनयोग को रोकते हैं और उसके पश्चात् सूक्ष्म काय के द्वारा बादर काययोग को रोकते हैं, उसके बाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिए शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं। उस ध्यान में स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगी अवस्था के अतिम समयपर्यंत आयुकर्म के सिवाय शेष कर्मों का अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगी अवस्था के काल के बराबर हो जाती है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि अयोगी अवस्था में जिन कर्मों का उदय नही होता है, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। योग निरोध का विशेष वर्णन आगे करेंगे।

सयोगकेवली गुणस्थान के अतिम समय में साता वा असाता वेदनीय में से कोई वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह सस्थान, प्रथम सहनन, औदारिक अगोपाग, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक,स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु स्वर और निर्माण इन तीस प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगकेवली हो जाते हैं। इसमें शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

इस अयोगिकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते हैं। यहा स्थितिघात आदि नही होता है, अत जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते हैं, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नही होता, उनका स्तिबुक सक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियों में सक्रम करके अयोगी अवस्था के उपान्त समय तक वेदन करते हैं और उपान्त समय में ७२ प्रकृतियों (५ शरीर, ५ बधन, ५ सघातन, ३ अगोपाग, ६ सस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, [illegible] संघयण, ८ स्पर्श, २ गध, नीचगोत्र, अनादेय नाम, दुभग नाम, अगुरुलघुनाम, उपघात, पराघात, निर्माण, अपर्याप्त,

उच्छ्वास, अयश नाम, । विहायोगति, शुभ नाम, अशुभ नाम, स्थिर नाम, अस्थिर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, प्रत्येक नाम, सुस्वर नाम और दु स्वर नामकर्म तथा दो वेदनीय में से एक वेदनीय) का और अंत समय में १३ प्रकृतियों (वेदनीय, आदेयनाम, पर्याप्त नाम, त्रस नाम, बादर नाम, मनुष्यायु, सुयशनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सुभगनाम, उच्च गोत्र, पचेन्द्रियजाति और तीर्थंकर नाम कर्म) का क्षय करके निराकार, निरजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सिद्ध परमात्मा की पूर्वप्रयोग से, असग भाव से, बध के विमोक्ष से और स्वभाव के परिणाम से ऊर्ध्वगति होती है। क्रमश इन सबके लिये कुम्हार का चक्र, झूला एवं बाण की गति, तुम्बे का मल हटते ही, एरण्ड का बीज आदि के उदाहरण से सिद्ध परमात्मा के स्वाभाविक ऊर्ध्वगति का बोध कराया गया है।

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि[१८५] का स्वरूप समझना चाहिये। उपशम श्रेणि में नौवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान और क्षपक श्रेणी में नौवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक गुणस्थान होते हैं इस प्रकार ध्यान और गुणस्थान का विवेचन समाप्त हुआ। (इस प्रकार ध्यान का गुणस्थान के साथ संबध है)

(३) ध्यान और कायोत्सर्ग

मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन प्रकार के ध्यान माने जाते हैं। उनमें कायिक ध्यान को कायोत्सर्ग कहा जाता है। काय+उत्सर्ग इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द बना है। काय शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं जैसे कि काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, सघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय कलेवर, भस्त्रा, तनु और पाणु तथा उत्सर्ग के व्युत्सर्जन, उज्झन, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिशातना और शातता अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। कायिक ध्यान के बाद ही मानसिक व वाचिक ध्यान हो सकता है। मानसिक एकाग्रता के लिये कायिक ध्यान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि कायिक ध्यान की सफलता के मूल तत्त्व श्वास की मदता और शरीर की शिथिलता है। शरीर की शिथिलता और श्वास की मदता जितनी अधिक होती है उतना ही कायिक ध्यान सफल होता है। शारीरिक और मानसिक तनावों का विसर्जन करके शिथिलीकरण की प्रक्रिया करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग दो प्रकार का होता है - १ चेष्टा और २ अभिभव। भय मोहनीय कर्म की प्रकृति है। उसका अभिभव (जीतना) करने के लिये ही कायोत्सर्ग किया जाता है, बाह्य कारणों का पराभव करने के लिये नही। भय उत्पन्न होने के तीन मूल बताये गये हैं - देव, मनुष्य और तिर्यच संबंधी। उनका अभिभव करने के लिये कायोत्सर्ग नही किया जाता है। किन्तु देवसिक आदि क्रियाओं में लगने वाले अतिचारों को (दोष) जानने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग से देहजाड्यशुद्धि, मतिजाड्यशुद्धि, सुख-दु ख तितिक्षा, अनुप्रेक्षा एवं एकाग्रता की प्राप्ति

होती है। इसलिये अभिभव कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट कालमान एक वर्ष और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का माना गया है।[१८६]

कायोत्सर्ग के अनेक प्रकार माने गये हैं -[१८७] उच्छ्रित-उच्छ्रित, उच्छ्रित-उच्छ्रित-निषण्ण, निषण्ण-उच्छ्रित, निषण्ण, निषण्ण-निषण्ण, निषण्ण-उच्छ्रित, निपन्न (सुप्त), निपन्न-निपन्न। इनमें मुख्य तीन ही शब्द हैं-उच्छ्रित, निषण्ण और निपन्न। इन तीनों के द्रव्य और भाव से चार-चार विकल्प किये जाते हैं। यथा द्रव्य से उच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित, द्रव्य से उच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित, द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित। ऐसे ही निषण्ण और निप्पन्न के भी चार चार विकल्प समझना।

खड़े-खड़े, बैठे-बैठे अथवा सोये-सोये भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है। जैसे कि खड़े-खड़े धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्रवृत्ति करना उच्छ्रित-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। खड़े होकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत उच्छ्रित और धर्म-शुक्लध्यान करना भावत उच्छ्रित है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारों में किसी भी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना, यह द्रव्यत· उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत उच्छ्रित और ध्यान का अभाव भावत शून्य है। खड़े होकर आर्त-रौद्र ये दो ध्यान करना द्रव्यत और भावत निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना निषण्ण उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत· निषण्ण। धर्म-शुक्ल ध्यान करना भावत· उच्छ्रित। धर्म, शुक्ल अथवा आर्त-रौद्र इन चारों ध्यानों में से किसी भी ध्यान में सलग्न नहीं होना निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत निषण्ण और ध्यान का अभाव भावत शून्य है। बैठकर आर्त रौद्र ध्यान में सलग्न होना निषण्ण-निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत· निषण्ण व आर्त रौद्र ध्यान करना भावत निषण्ण। सोते-सोते धर्म और शुक्लध्यान में संलग्न होना निपन्न-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना-द्रव्यतः निपन्न और धर्म-शुक्लध्यान करना-भावत उच्छ्रित। धर्म, शुक्ल अथवा आर्त, रौद्र इन चार में से किसी भी ध्यान में संलग्न नहीं होना निपन्न कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना द्रव्यत· निपन्न और ध्यान का अभाव-भावत· शून्य। सोये हुए आर्त रौद्र ध्यान में संलग्न होना निपन्न-निपन्न कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना द्रव्यत निपन्न और आर्त रौद्र ध्यान करना - भावत निपन्न।

इस प्रकार कायोत्सर्ग वाचिक और मानसिक ध्यान का प्रवेश द्वार है।

ध्यान और गति

ससार परिभ्रमण का नाम गति है। आगम एवं अन्य ग्रन्थों में चार प्रकार की

गति का वर्णन है - तिर्यंचगति, नरक गति, देवगति और मनुष्यगति इन चारों गति में मनुष्य गति ही श्रेष्ठ है जिसके द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जाता है। चार गति के अनुसार ही चार ध्यान का वर्णन है। ससार के सभी प्राणी आर्त-रौद्र ध्यान तो सतत करते ही रहते हैं जिसके फलस्वरूप तिर्यंचगति और नरकगति में सतत परिभ्रमण करना पड़ता है। परन्तु ध्यानयोग धर्म शुक्लध्यान की साधना से साधक देवगति और मनुष्यगति में परिभ्रमण करता है और शुक्लध्यान से मोक्ष प्राप्त करता है।[१८८]

जैन धर्मानुसार ध्यान साधना की परम्परा

जैन धर्म की ध्यान साधना परम्परा को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं- १. आगम युग (प्राचीन युग) २. योग युग (मध्य युग) और ३. वर्तमान युग।

आगम युग

आगम युग में ध्यान की मौलिक पद्धति क्या थी? इसका उत्तर हम अपने क्षयोपशम के अनुसार करेंगे।

भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक के काल में ध्यान की मौलिक पद्धति उपलब्ध होती है। भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में अधिकाश भाग ध्यान साधना में ही बिताया। उनकी शिष्यसपदाओं में कितनेक शिष्यों को 'ध्यानकोष्ठोपगत' विशेषण लगाया हुआ है।[१८९] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी ध्यान परपरा थी। आगमकालीन ध्यान पद्धति का अनुसन्धान करने से स्पष्ट होता है कि उस समय 'कायोत्सर्ग', 'भावना', 'अप्रमत्त' और 'समत्व' शब्द मिलते हैं। कायोत्सर्ग जड़ चेतन के भेदज्ञान का प्रथम बिन्दु है। महावीर ने साधना कालीन जीवन में अनेक उपसर्ग परीषह सहन किये, किन्तु घबराये नही। स्थान स्थान पर कायोत्सर्ग ध्यान[१९०] में खड़े रहकर भेदविज्ञान का चिंतन करते रहे, जिससे वेदना का अनुभव नहीं हुआ। आगम में एकत्व भावना[१९१] के फलस्वरूप रागद्वेषरहित एकमात्र आत्मा के चिन्तन द्वारा शरीर के ममत्व का त्याग और चित्तवृत्तियों (मन की चचलता) का निरोध करना ही ध्यान है। अप्रमत्त अवस्था ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति है। भगवान महावीर ने घरों में, सभाओं में, वनों में, दुकानों में, लुहार शाला में, चौक में, ग्राम के बाहर, श्मशान भूमि एव वृक्ष के नीचे एव अन्य बस्तियों के स्थान में निरतर अप्रमत्त स्थिति में लीन रहकर समाधिपूर्वक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहे।[१९२] भगवान महावीर ने अपने साधनाकालीन जीवन में देव, मनुष्य, तिर्यंच संबंधी अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग-परीषहों को समभाव से सहन किया।[१९३] इन चार शब्दों के अन्तर्गत ही प्राचीन ध्यान की मौलिक पद्धति स्पष्ट होती है। ध्यानकोष्ठोपगत विशेषण से सम्पन्न महावीर कालीन साधक कोठे

में भरे हुए अनाज की तरह तप सयम की साधना से आत्मा को ध्याते हुये विचरण करते थे।[१९४]

आगमकालीन ध्यान पद्धति को हम निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं - १ निरीक्षणात्मक पद्धति, २ समीक्षणात्मक पद्धति, ३ विश्लेषणात्मक पद्धति और ४ प्रयोगात्मक पद्धति। इन चारों पद्धतियों का स्वरूप भगवान महावीर की शिष्य सपदाओं में उपलब्ध होता है। क्योंकि उनमें कितनेक केवलज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी एव कितनेक विभिन्न २८ प्रकार की लब्धियों के धारक थे। ध्यान साधना के बिना ये लब्धियाँ सभव नही।[१९५] आगमकालीन मौलिक ध्यान साधना पद्धति का क्रम भगवान महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

चतुर्दशपूर्वधरों में अन्तिम पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को माना जाता है। उन्होंने नेपाल में बारह वर्ष तक 'महाप्राण'[१९६] ध्यान की साधना की। तदनन्तर आचार्यों की ध्यान पद्धति को 'ध्यान सवर योग' अथवा 'सर्वसवरयोगध्यान' कहा गया है।[१९७]

दूसरी शताब्दी के बाद केवलज्ञान, मन पर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसपराय चारित्र आदि विच्छिन्न हो गये और आचार्य भद्रबाहु के बाद चतुर्दशपूर्वों का ज्ञान भी विच्छिन्न हो गया। साथ ही साथ आगमकालीन ध्यान पद्धति के विच्छेद की चर्चा भी शुरू हो गई। आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने 'मोक्षपाहुड' में लिखा है कि 'कुछ मुनि का कथन है कि पाचवें आरे में ध्यान नही हो सकता। यह काल ध्यान के लिये उचित नही है''।[१९८] तभी से ध्यान के विषय में दो धारायें प्रचलित हो गईं - १ निषेधक और २ समर्थक। निषेधक का कथन था कि वर्तमान में ध्यान नही हो सकता और समर्थक का कथन था कि उत्तम सहनन के अभाव में शुक्लध्यान नही हो सकता किन्तु धर्मध्यान हो सकता है। उमास्वाती, पुष्पदन्त, भूतबलि, वीरसेनाचार्य, जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण आदि द्वितीय धारा के समर्थक थे। यह निषेध और समर्थन ध्यान परम्परा आचार्य रामसेन (वि सं ९-१० शताब्दी) तक चलती रही। उन्होंने ''तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र'' ग्रन्थ में[१९९] कुदकुदाचार्य के शब्दों को दोहराया है।

आचार्य कुदकुदाचार्य (वि १ शताब्दी) ने अपने ग्रन्थों में आगमकालीन ध्यान साधना का नया क्षेत्र खोला, उनके कथनानुसार शुद्ध प्रतिक्रमण ही ध्यान है। जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की भावना से प्रतिक्रमण करता है वह ध्यान है। व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा निश्चय प्रतिक्रमण ही ध्यान है। राग द्वेष मोह एव योगों से रहित शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली सवरयोग की साधना से ध्यानाग्नि उत्पन्न होती है। यही सच्चा भावप्रतिक्रमण है, जो ध्यानावस्था को प्राप्त होता है।[२००]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना ही ध्यानयोग की सच्ची साधना है। इन तीनों का एक ही ग्रन्थ में प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि. २-३ श) को ही है। यह आगम साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। जिसमें ध्यान परंपरा का 'आगमानुसार ही वर्णन है। किन्तु उसमें आगमिक विधितंत्र का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। तदनन्तर ध्यान साधना की प्रक्रिया का स्वरूप निर्युक्ति में मिलता है। उसके बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के 'ध्यान शतक' में आगमिक परंपरानुसार आर्त-रौद्र-धर्म शुक्ल इन चारों ध्यानों का विस्तृत विवेचन है। धर्म और शुक्लध्यान की साधना के लिये बारह द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। निर्युक्ति और ध्यानशतक में जैन परंपरा के ध्यान का स्वतंत्र चिंतन परिलक्षित होता है। बाद में पूज्यवाद देवनंदि (४-५ शताब्दी) के 'समाधि-तंत्र' और 'इष्टोपदेश' में आध्यात्मिक ज्ञान को ध्यान कहा है। उसमें आत्मा की तीन अवस्थाओं का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, का वर्णन है। ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप आत्मा का ज्ञान ही केवलज्ञानमय परम सुख को प्राप्त कराता है। उसके लिये सुद्रव्य -क्षेत्र-काल-भाव (स्वभाव) की सामग्री ही निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपलब्धि कराने में सहायक है। इन द्रव्यादि सुयोग्य साधनों की उपलब्धि से अनशनादि बाह्य और आभ्यन्तर तप, दश लक्षण धर्म, अनित्यादि द्वादश भावना, परीषह जय और चारित्र आदि के सम्यग् अनुष्ठानों से ध्यानाग्नि द्वारा कर्मेंधन को जलाकर स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति करते हैं।[२०१]

इस प्रकार भद्रबाहु के बाद अन्य आचार्यों ने ध्यान संवर योग के द्वारा ध्यान की परम्परा चालू की।

आगमकालीन ध्यान परंपरा की प्रक्रिया कुंदकुंदाचार्य, आचार्य उमास्वाती, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों तक चलती रही। किंतु उसके बाद उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गई। यों तो कुन्दकुंदाचार्य के पहले से ही परिवर्तन का प्रारम्भ हो गया था।

ध्यान की पद्धति का अवरोध वीर निर्वाण की कुछ शताब्दियों के बाद ही शुरू हो गया था। बाद में संघ-शक्ति के विकास की भावना ने बल पकड़ा, जिसके फलस्वरूप व्यवहार धर्म या तीर्थ धर्म की प्रमुखता बढ़ी और आध्यात्मिक शक्ति के विकास की प्रक्रिया मंद हो गई तथा ध्यान की पद्धति गौण हो गई। ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय का मार्ग सरल बन गया। निश्चय धर्म के स्थान पर व्यवहार धर्म का प्रभुत्व बढ़ा। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की अपेक्षा लोक संग्रह को अधिक महत्व मिला, तब से जैन शासन में ध्यान की धारा अवरुद्ध होकर बहने लगी। श्रुतसागर के पारगामी मुनियों ने ध्यान के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन किया था, वही परम्परा अपनी मौलिक सम्पदा से वंचित होने लगी।

योग युग (मध्य युग)

विक्रम की आठवीं शताब्दि से, आगमकथित ध्यानयोग, समाधियोग, भावनायोग, तपोयोग, इन सब प्रक्रियाओं का स्वरूप ध्यान, समाधि और समत्व के रूप में प्रचलित था, यह जैन परम्परा में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। शब्द परिवर्तन क्रम से मूल ध्येय में कोई परिवर्तन नही आया किन्तु मध्ययुग में तप, ध्यान, समाधि भावना इन सभी शब्दों का एकार्थवाचक 'योग' शब्द रखा गया। 'योग' शब्द को जितना उत्कर्ष महर्षि पतजलि के योगदर्शन के बाद मिला उतना पहले कभी भी नही मिला था। उनके समकालीन जैनाचार्यों में हरिभद्रसूरि का नाम अधिक प्रचलित है।[२०२] उन्होंने मोक्ष प्राप्ति में सहायक सभी धार्मिक कार्य को 'योग' सज्ञा दी। जैन परपम्परा के योग के समन्वय कर्ता में हरिभद्र का नाम अग्रण्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में[२०३] इच्छा योग, शास्त्र योग, सामर्थ्ययोग, अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग, वृत्तिसक्षययोग, मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियाँ एव ज्ञानयोग और क्रियायोग में प्राचीन कालीन (आगमयुगीन) समस्त ध्यान की मौलिक पद्धति का 'योग' शब्द में समावेश कर दिया है। किन्तु हमारी धारणा के अनुसार 'योग' शब्द में ध्यान साधना पद्धति को अभिहृत नही किया जा सकता, क्योंकि ध्यान शब्द को किसी भी दृष्टि से जैन परम्परा से अलग नही किया जा सकता, वह तो अपने आप में मौलिक तत्त्व है। सभी प्रक्रिया में ध्यान मुख्य है। किन्तु काल प्रभाव के कारण मौलिक चिन्तन धारा में परिवर्तन आने लगा। जिसके फलस्वरूप नवी शताब्दी के आचार्य जिनसेन के 'महापुराण' में यत्र-तत्र योग-साधना पद्धति का निरूपण स्पष्ट हो रहा है। ग्यारहवी शताब्दी के आचार्य रामसेन के 'तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र' में एव शुभाचन्द्राचार्य के 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में अष्टाग योग का विवेचन मिलता है। इस शताब्दी में जैन परम्परा (धर्म) अष्टागयोग, हठयोग और तन्त्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलती है। आगमिक युग में जो धर्मध्यान था वही इस युग में (काल में) पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत इन चार प्रकार के रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतन्त्र में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत के ज्ञाता को गुरु कहा है। गुरु गीता में पिण्ड का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति, पद का अर्थ हस, रूप का अर्थ बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरजन किया गया है।[२०४]

जैनाचार्यों ने पिण्ड -पद - रूप- रूपातीत-इस वर्गीकरण को स्वीकार तो किया किन्तु उनकी अपनी मौलिक परिभाषा भिन्न ही है। चैत्यवदन भाष्य[२०५] में पिण्डस्थ, पदस्थ, और रूपातीत ये तीन प्रकार माने गये हैं। इनका अर्थ शेष ग्रन्थों से भिन्न है। भाष्यकारों के कथनानुसार छद्मस्थ, केवली और सिद्ध परमात्मा ये तीन ही ध्येय रूप हैं। इसलिये एतद् विषयक ध्यान को क्रमश पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत सज्ञा दी।

मध्ययुग में इस ध्यान परम्परा से जन मानस बहुत प्रभावित हो गया जिसके फलस्वरूप जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में पिण्डस्थादि ध्यान को स्वीकार किया।

ग्यारहवी शताब्दी के सोमदेवसूरि ने 'योगसार' ग्रन्थ में योग संबधी चर्चा की है। ग्यारहवीं शताब्दि के ग्रन्थों में[२०६] पार्थिवी, वारुणी, तेजसी, वायवी, और तत्त्व रूपवती (तत्त्व भू) इन पांच प्रकार की धारणाओं का उल्लेख मिलता है। तत्त्वानुशासन में सिर्फ तीन ही धारणाओं का उल्लेख मिलता है। बारहवी शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' ग्रन्थ में अष्टांगयोग, रत्नत्रय एव पाँच धारणाओं का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अपने मौलिक चिन्तन धारा से मन के चार प्रकार वर्णित किए हैं - विक्षिप्तमन, यातायात मन, श्लिष्ट मन और सुलीन मन।

तेरहवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के ग्रन्थों में[२०७] आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्यों का व्यवस्थित रूप से वर्णन किया गया है। उनका कथन है कि जप, तप, सयम, मौन आदि नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाओं से मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। किन्तु सम्यक् प्रक्रिया से वश किये मन द्वारा ही मोक्ष मिल सकता है। इस काल में मन को एकाग्र करने पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि मन के साथ ही पुण्यपाप का सबध रहा है। मनोनिग्रह के बिना की हुई क्रिया नरकगामी बनती है। इसलिये मनोनिग्रह - मन की समाधि ही योग का कारण है। योग तप का उत्कृष्ट साधन है। शिवसुखलता का मूल है। मनोनिग्रह के लिये स्वाध्याय, योगवहन, चारित्रक्रियाप्रवृत्ति, बारह भावना, तीन योग के शुभाशुभ कार्य के फल का चिंतन आदि अनेक उपाय हैं। मनोगुप्ति ही इस युग का ध्यान है। मनोगुप्ति के बाद ही वचनगुप्ति एव कायगुप्ति की साधना हो सकती है। निरवद्य वचन बोलें। सावद्यवचन बोलने से वसुराजा की तरह नरक में जाना पड़ता है। सतत निरवद्य वचन बोलना ही वचनगुप्ति है। कछुवे की तरह काय सवर करनेवाला ही ध्येय को प्राप्त कर सकता है। मन वचन काय की प्रशस्त प्रवृत्ति ही मोक्ष का कारण है। इस प्रकार तेरहवीं से पन्द्रहवी शताब्दी तक का काल मन वचन काय गुप्ति एवं कषाय गुप्ति के आध्यात्मिक रहस्यों की पद्धति का काल है। इन शताब्दियों में मुख्यत: मनोनिग्रह की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया गया है।

वर्तमानयुग

सोलहवी शताब्दी से लेकर आगे की बीसवीं सदी तक यमादि अष्टांग योग और ज्ञान और क्रियायोग के रूप में आगमकालीन एव मध्यकालीन ध्यानपरम्परा का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।[२०८] विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' एवं 'अध्यात्मोपनिषद', 'अध्यात्मसार', 'ज्ञानसार', 'योगावतार द्वात्रिंशिका' इन ग्रन्थों में उपाध्याय यशोविजयजी ने, भावनायोग एव अध्यात्मयोग की विभिन्न प्रक्रिया तथा ज्ञान-

क्रियायोग की प्रक्रिया ही बताई है। 'ध्यान दीपिका' में विजयकेशरसूरि ने, 'अध्यात्म तत्त्वालोक' में पुण्यविजयजी ने, 'योग-प्रदीप' में मगलविजयजी ने, 'ध्यान-दीपिका' में सकलचदजी ने तथा 'योग-दीपक' में बुद्धि सागरसूरि ने यमादि अष्टागयोग का जैन धर्मानुसार विवेचन किया है। अष्टागयोग के अतिरिक्त भावनायोग, ध्यानयोग आदि विभिन्न योगों की प्रक्रिया का विवेचन मिलता है। इन ग्रन्थों में मुख्यत यम नियम आदि का पालन और ज्ञानज्ञक्रियायोग का आचरण ही ध्यान की प्रक्रिया है। इन प्रक्रिया से ध्यान कोई अलग चीज नही है। ध्यान तो आत्मा की एक अवस्था है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिये नाना प्रकार के उपाय बताये गये हैं। उन उपायों को ग्रन्थों में सकलित करके रखने से आत्मा की यह उच्च कोटि की ध्यानावस्था प्राप्त नही हो सकती है। उसके लिये तो आचरण की आवश्यकता है।

वर्तमान में 'योगासन' 'विपश्यना' और 'प्रेक्षा' इन पद्धतियों द्वारा ध्यान-प्रक्रिया का प्रयोगात्मक दृष्टि से प्रतिपादन किया जा रहा है। बाह्य निरीक्षण की अपेक्षा आध्यात्मिक अन्तर्निरीक्षण को अधिक महत्व दिया जाता है। प्राचीन एवं मध्ययुगीन ध्यान प्रक्रिया का स्वरूप वर्तमान में प्रयोगात्मक दृष्टि से कम प्रतीत होता है। सभी का लक्ष्य भौतिक साधन सामग्री जुटाने में लगा हुआ है, आध्यात्मिकता से दूर हट रहा है। आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के लिये गुरु चरण से अरिहत और सिद्ध को ही अपना ध्येय बनायें। यही सच्चा ध्यानयोग है।

संदर्भ - सूची

१ नालदा विशाल शब्द सागर (सं श्री नवलजी) पृ ६५५

२ (क) सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ
(सं स्व चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा) पृ ५७५

(ख) नालदा विशाल शब्द सागर, पृ ६५५

३ (क) (ध्यै + ल्यूट्) "ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते"।
संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ पृ ५७५

(ख) "ध्यै-ध्यायते चिन्त्यतेऽ नेन तत्त्वमिति ध्यानम्,
एकाग्र चित्त निरोध इत्यर्थ ।
"ध्यै चिन्तायाम्"
अभिधान राजेन्द्रकोश भाग ४ पृ १६६२

(ग) ध्यायते वस्तु अनेनेति ध्यानम्।
ध्यान योग रूप और दर्शन (सं डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ ३०

४ (क) युजृपी योग (गण७) हेमचंद्र धातु पाठ

(ख) युचि च समाधि (गण ४) हेमचद्र धातु पाठ

५ (क) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पातंजल योग सूत्र १/२

(ख) समत्वं योग उच्यते। गीता २/४८

योग कर्मसु कौशलम्। गीता २/५०

(ग) संयोगो योगयत्युक्ता जीवात्मा परमात्मा।

उद्धृत, जिनवाणी ध्यानपरिशिष्टाक, नवम्बर १९७२

६ ७ (क) काय वाड्मन कर्म योग । तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) ६/१

(ख) कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/१

(ग) स आस्रव । तत्त्वार्थ सूत्र ६/२

(घ) योगशब्दोऽनेकार्थ । "योग निमित्तं ग्रहणं" इत्यात्मप्रदेश परिस्पदं त्रिविधवर्गना सहायमाचष्टे। क्वचित्सबंध मात्र वचन "अस्यानेन योग" इति। क्वचिद्ध्यानवचन- [illegible] "योगस्थित" इति। इहाय परिगृहीत ततो ध्यान परिकर करोतीति यावत्। रागद्वेष मिथ्यात्वासश्लिष्ट अर्थयार्थात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्त विषयातरसचारं ज्ञान ध्यानमित्युच्यते।

भगवती आराधना (शिवार्य) भा १

अपराजित टीका पृ ४४

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वति।

भुज्जतो दुब्भत्त वणम्मि जह आसव कुणइ।।

भगवती आराधना, भा २ गा १८२७

(ड) यथा सरस्सलिला वाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मन कर्म आस्रवतीति योग ।

सर्वार्थ सिद्धि (तत्त्वार्थ सूत्र टीका) ६/२

८ रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।

सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुजदे साहू।

सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो।।

विवरीयाभिणिवेस परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।

जो जुजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।

नियमसार (कुदकुंदाचार्य) गा १३७-१३९

(पद्मप्रभमलधारी टीका) (हिन्दी अनु मगनलाल जैन) १९६०

९ मोक्खेण (मुक्खेण) योजणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं।।

योगविंशति (हरिभद्रसूरि) गा १

१० समितिगुप्ति साधारणं धर्मव्यापारत्व योगत्व।

उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डॉ भगवानदास मनुभाई मेहता) पृ २१

११ युजे समाधिवचनस्य योग समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ६/१/१२

१२ विविक्तात्मा परिज्ञान योगात्सजायते यत ।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत - पातकै ।।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ९/१०

१३ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोध· स्वान्तनिग्रह ।
अन्त संलीनता चेति तत्पर्याया स्मृता बुधै । आर्ष २१/१२

उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना पृ १७

१४ सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-सकप्प-वज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो ज चिंतइ त [illegible] सुइ-झाण।।
स-सरूव-समब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ।
अप्पाण चिंततो सुइ-झाण-रओ हवे साहु।।
वज्जिअ-सयल-वियप्पो अप्प सरूवे मण णिरुंधंतो।
ज चिंतदि साणद त धम्म उत्तम झाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ४८०-४८२

१५ (क) मानसज्ञानमेव मनसि भव मानसोत्पन्न ज्ञान ध्यानमेव।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३५६

वत्थुम्मि माणसं णाण।
झाणं भण्णदि समए असुह च सुह च त दुविह।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४७०

(ख) तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते । प्रशस्ताप्रशस्त भेदात्।
अप्रशस्तपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्
प्रशस्तम्।। सर्वार्थ सिद्धि ९/२८

१६ (क) सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ५७५
(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर पृ ६५५

१७ "समाधियोगेभ्य ' समाधि - धर्मध्यान तदर्थ तत्प्रधानावा योगा
मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्य प्रच्युता शीतल विहारिण इति।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांकाचार्य टीका एवं सं बविका दत्तजी)
भा. २, पृ १२९ (प्र राजकोट)

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांक टीका) भा ३
(जवाहरमलजी म) १५/५

झाणाजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।

सूत्रकृतांगम् (शी टी) भा २, ८/२६

१८ अपि च "झाणजोगम्" इत्यादि ध्यान चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिक। तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं।

सूत्रकृतांगम् शीलांक टीका पृ १६८ (भा २)

१९ संवर जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।

पंचास्तिकाय (कुंदकुंदाचार्य) गा. १४४

संवरयोगाभ्यां युक्त निर्मलात्मानुभूतिबलेन शुभाशुभपरिणाम-
निरोध संवर , निर्विकल्पलक्षणध्यान शब्दवाच्य शुद्धोपयोगो योगस्ताभ्यां युक्त ।
पंचास्तिकाय टीकात्रयोपेत, पृ. २०९

२० दि सिक वर्ल्ड, हेरीवार्ड कैरिंगटन पृ १८१
उद्धृत, ध्यान योग (डॉ. नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२१ दि लाइफ डिवाइन, महर्षि अरविन्द पृ. २१३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ. नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२२ हिन्दु साइकोलॉजी, स्वामी अखिलानंद, पृ ६३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ. नरेन्द्र भा) पृ. ६३

२३ (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ४
(ख) योग मनोविज्ञान (डॉ. शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ ३२७

२४ सरल मनोविज्ञान पृ १३

२५ सरल मनोविज्ञान पृ १३६

२६ मैनुयल ऑफ साइकोलॉजी, स्टाउट, पृ १२५
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा.) पृ १६१

९ मोक्खेण (मुक्खेण) जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं॥

योगविंशति (हरिभद्रसूरि) गा. १

१० समितिगुप्ति साधारणं धर्मव्यापारत्वं योगत्वं।

उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डॉ. भगवानदास मनसुखभाई मेहता) पृ. २१

११ युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ६/१/१२

१२ विविक्तात्म परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत - पातकैः॥

योगसार प्राभृत (अमितगति) ९/१०

१३ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः। आर्ष २१/१२

उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना पृ. १७

१४ सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-संकप्प वज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-झाणं॥
स-सरूव-समब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ।
अप्पाणं चिंततो सुह-झाण-रओ हवे साहू॥
वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प सरूवे मणं णिरुंधंतो।
जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४८०-४८२

१५ (क) मानसज्ञानमेव मनसि भवं मानसोत्पन्न ज्ञानं ध्यानमेव।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचंद्र टीका पृ. ३५५

..........मत्तुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७०

(ख) तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते....। प्रशस्ताप्रशस्त भेदात्।
अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्
प्रशस्तम्॥ सर्वार्थ सिद्धि ९/२८

१६ (क) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ५७५
(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर पृ. ५५५

१७ ''समाधियोगेभ्यः' समाधिः - धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगाः
''योगाः मनोव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति॥

सूत्रकृतांगम् (शीलांकाचार्य टीका एवं सं अंबिका दत्तजी)
भा २, पृ १२९ (प्र राजकोट)

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांक टीका) भा ३
(जवाहरमलजी म) १५/५

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परम णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।

सूत्रकृतागम् (शी टी.) भा २, ८/२६

१८ अपि च "झाणजोगम्" इत्यादि ध्यान चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं। तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं।

सूत्रकृतांगम् शीलाक टीका पृ १६८ (भा. २)

१९ सवर जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरण बहुगाणं कुणदि सो णियद।

पचास्तिकाय (कुदकुंदाचार्य) गा १४४

सवरयोगाभ्या युक्त निर्मलात्मानुभूतिबलेन शुभाशुभपरिणाम-निरोध सवर, निर्विकल्पलक्षणध्यान शब्दवाच्य शुद्धोपयोगो योगस्ताभ्यां युक्त.।
पचास्तिकाय टीकात्रयोपेत, पृ २०९

२० दि सिक वर्ल्ड, हेरीवार्ड कैरिंगटन पृ १८१
उद्धृत, ध्यान योग (डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२१ दि लाइफ डिवाइन, महर्षि अरविन्द पृ २१३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२२ हिन्दु साइकोलॉजी, स्वामी अखिलानंद, पृ ६३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा) पृ ६३

२३ (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ४
(ख) योग मनोविज्ञान (डॉ शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ. ३२७

२४ सरल मनोविज्ञान पृ १३

२५ सरल मनोविज्ञान पृ १३६

२६ मैनुयल ऑफ साइकोलॉजी, स्टाउट, पृ १२५
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा) पृ १६१

२७ योगा एण्ड पर्सिनाल्टी, पृ १४४ (के एस जोशी)

उद्धृत, ध्यानयोग (अंक) पृ १६३

२८ दि सिक वर्ल्ड पृ १८८

उद्धृत, ध्यानयोग, पृ १६३

२९ सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ९

३० उद्धृत, ध्यानयोग रूप और दर्शन (डॉ नरेन्द्र भा) पृ २२३

३१ काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।।

ज्ञानार्णव ३/२ (पृ ५७)

३२ (क) साधु संहननस्येह यदेकाग्रनिरोधनम्।
चित्तस्यान्तर्मुहूर्तं स्याद्ध्यानमाहुर्मनस्विन ।।

सिद्धान्तसार संग्रह ११/३३

(ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा ४, पृ १६६१

३३ (क) जं थिरमज्झवसाणं त झाणं, ज चल तयं चित्तं।
त होज्ज भावणा वा, अणुप्पेहा वा, अहव चिंता।।

ध्यान शतक (जिनभद्रगणि) गा २

(ख) भावना-भाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थ ।
अनुप्रेक्षा - अनु पश्चाद्भावे, प्रेक्षणं प्रेक्षा,
चिन्ता - सा च स्मृति॰ ध्यानाभ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थ ।

अभिधान राजेन्द्रकोश, भा ४, पृ १६६२

(ग) आवश्यक निर्युक्ति, पृ ७० (भा २)

३४ (क) एकाग्र-चिन्ता-रोधो य परिस्पन्देन वर्जित ।
तद् ध्यानं निर्जरा हेतु संवरस्य च कारणम्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ५६

(ख) एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

तत्वार्थ सूत्रम ९/२७

(ग) अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४७०

(घ) नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याऽ
शेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्ता-
निरोध इत्युच्चते। सर्वार्थ सिद्धि (पूज्यपाद) ९/२७

३५ (क) एकं प्रधानमित्याहुअमालम्बनं मुखम्।

चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु तस्यास्तत्रैव वर्तनम्।।
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद् ध्यान बभणुर्जिना.।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (राम सेनाचार्य) गा ५७-५८

(ख) अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्र.।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ग) अंग्यते तदंगमिति तस्मिन्निति वाऽग्र मुखम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक (अकलक देव) ९/२७

(घ) अर्थ पर्यायवाची वा अग्र शब्द । तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ङ) एक शब्द सख्यापदम्। तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

३६ (क) एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्रय-विनिवृत्तये।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते।।

तत्त्वानुशासन (राम सेनाचार्य) गा. ५९

(ख) व्यग्र [illegible] ज्ञानं न ध्यानमिति।

तत्वार्थ वार्तिके ९/२७

३७ (क) एतदुक्तं भवति - ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यान-मिति। सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ख) यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते ।

तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ग) तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसख्यान समाधि स्याद् ध्यानं स्वेष्ट-फल-प्रदम्।।

तत्वानुशासन - (रामसेनाचार्य) गा ६१

३८ (क) अथवा नायं भावसाधन निरोधनं निरोध इति किं
तर्हि कर्म साधन 'निरुध्यत इति निरोध' चिन्ता
चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ख) अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निवर्तित एकमुखे
तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्ति ।

तत्त्वार्थ वार्तिके २/२७

(ग) अथवागति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तित ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृत ।।

तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३०

(घ) अथवा अंगतीत्यग्रमात्मेत्यर्थ । द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोघो ध्यानम्, तत स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति। तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

३९ श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिन•।
तत स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्।।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से.) गा. ६८

४० (क) ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा ज्ञानं न चान्यत ।
एक पूर्वापरोभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम्।
तत्त्वानुशासन --। (रामसेनाचार्य) गा ६८

(ख) णाण अप्पा सव्व जम्हा सुयकेवली तम्हा।
समयसार (कुंदकुंदाचार्य) गा १०

४१ (क) श्रुतज्ञानमुदासीन यथार्थमतिनिश्चलम्।
स्वर्गाऽपवर्गऽफलद ध्यानमाऽन्तर्मुहूर्तत ।।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ६६

(ख) अतो मुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेघवत्थुंमि।
छउमत्थाण झाण जोगनिरोघो जिणाण तु।।
अतो मुहुत्त परओ चिंता झाणतर व होज्जाहि।
सुचिर ■ पि होज्ज बहुवत्थु सकमे झाण सताणो।
ध्यान शतक, गा ३ - ४

(ग) आ मुहूर्तात्। तत्त्वार्थ सूत्र ९/२८

(घ) उत्तमसहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसाय घारणा ऽसामर्थ्यात्।
तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

४२. ध्यायत्यर्थाननेति ध्यान करणसाधनम्। आर्ष २१-१३
उद्धृत, तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र, पृ ६६

४३-४४ (क) द्रव्यार्थिकनयादेक केवलो वा तथोदित ।
अन्त करण वृत्तिस्तु चिन्ता रोघो नियत्रणा।।
तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३१

(ख) चिन्ता अन्त करणवृत्ति । तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

(ग) अभावो वा निरोघ स्यात् स च चिन्तान्तरव्यय ।।
एक चिन्तात्मको यद्वा स्वसंविच्चिन्तयोज्झित ।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रामसेनाचार्य) गा ६४

(घ) केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात्। अन्यचिन्ता ऽ भावविक्षायामसदेव ध्यानम्,
विवक्षितार्थविषयावगमस्वभाव सामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते।

तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

(ङ) तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्ताया· स्यान्निरोधनम्।
तद् ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च स·।।

तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३३

४५ ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितै ।
यस्मादिदमपि ध्यानं कर्माऽधिकरण - द्वयम्।।

तत्त्वानुशासन गा ७१

४६ (क) इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रामसेनाचार्य) गा ७२

(ख) ध्येय प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने।
ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यान - शब्द ।।

तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ग) भावमात्राभिधित्सायां ध्याति र्वा ध्यानमिष्यते।

आर्ष - २१/२४, उद्धृत, तत्वानुशासन, (रा से) पृ ६९

(घ) उद्धृत, तत्वानुशासन, (रा से) पृ ७०

४७ ध्यायते येन तद् ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्याति र्वा ध्यानमिष्यते।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ६७

एव च कर्ता करण कर्माऽधिकरणं फलम्।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात्।।
स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत ।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ७३-७४

४८ (क) अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि - विषयो निश्चयो नय ।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा. २९

(ख) अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि - गोचरो निश्चयो ऽ थवा।

ध्यान स्तव (भास्करानन्दि) गा. ७१

४९ झाणस्स भावणाओ देसं कालं तदासनविसेसं।
आलंबणं कमं झाइयव्व यं जे य झायारो।।

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फलं य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्का।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातॄ ध्यानं फलं ध्येय यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्य धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ संकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४ नवकम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् को [illegible] पि पापानि, [illegible] च भूत् को ऽ पि दु खित ।
मुच्यता जगदप्येषां मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणा, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित ।।

योग शास्त्र ४/११९

५८. (क) दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि सघत्ते विशुद्धा ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्चं चिय जुवइ – पसु – नपुसग कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाण वियणं भणिय सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा ३५, ३६-३७

(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) गा. ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाण।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ घवला टीका पृ ६७

६३ कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमण झाइणो भणियं।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाप पत्ता बहुसो समिय पाव।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो [illegible] नत्थि समयंमि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा जइयव्व।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक – वीर – वज्राब्ज – भद्र – दण्डासनानि च।
उत्कटिका – गोदोहिका – कायोत्सर्गस्तथा ऽऽ सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फल य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातां ध्यान फल ध्येयं यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ सकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दसणसुद्धीए झाणंमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४ नवकम्माणाथाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् को पि दु खित ।
मुच्यता जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित ।।

योग शास्त्र ४/११९

५८ (क) दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति।
त्रुटितामपि सधत्ते विशुद्धा ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्च चिय जुवइ - पसु - नपुसग कुसीलवज्जिय जइणो।
ठाणं वियण भणिय सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा ३५, ३६-३७

(ख) तत्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) गा ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ६७

६३. कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमणं झाइणो भणियं।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाभं पत्ता बहुसो समिय पावा।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोगाणं समाहाणं ज[illegible] होइ तहा जइयव्वं।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक - वीर - वज्राब्ज - [illegible] - दण्डासनानि च।
उत्कटिका - गोदोहिका - कायोत्सर्गस्तथा [illegible] सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फल य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्का।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातॉं ध्यान फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्य धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदंसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धिं च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ सकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणो दसणसुद्धीए झाणमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४. नवकम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् को ऽ पि पापानि, मा च भूत् को ऽ पि दु खित ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित ।।

योग शास्त्र ४/११९

५८. (क) दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धां ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्च चिय जुवइ - पसु - नपुंसग कुसीलवज्जिय जइणो।
ठाणं वियण भणियं – सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा. ३५, ३६-३७

(ख) तत्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से.) गा ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ६७

६३ कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमण झाइणो भणिय।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाभ पत्ता बहुसो समिय पाव।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयमि।
जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा जइयव्वं।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक - वीर - वज्राब्ज - भद्र - दण्डासनानि च।
उत्कटिका - गोदोहिका - कायोत्सर्गस्तथा ऽऽ सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

६६ (क) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) ४/३१-३९

(ख) षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६९-७०

(ग) ज्ञानार्णव ३१/१७

६७ (क) तत्थ उत्तमसघडणो ओघबलो ओघसूरो, चोद्दसपुव्वहरो
वा दस पुव्वहरो वा णवपुव्वहरो वा णाणेण विणा
अणवगयणवठावपयत्थस्स झाणाणुववत्तीदो।

षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६४

(ख) मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्ण शान्तिचित्तो वशी स्थिर ।
जिताक्ष संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।

ज्ञानार्णव ४/६ (पृ ६५)

(ग) तत्रा ऽऽ सन्नीभवन्मुक्ति किंचिदासाद्यकारणम्।
विरक्त काम- भोगेभ्यस्त्यक्त- सर्वपरिग्रह ।।
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षा जैनेश्वरीं श्रित ।
तप संयम - सम्पन्न प्रमादरहिता ऽऽ शय ।।
सम्यग्निर्णीत - जीवादि - ध्येयवस्तु - व्यवस्थिति ।
आर्त्त - रौद्र - परित्यागाल्लब्ध - चित्त - प्रसत्तिक।।
मुक्त - लोकद्वया ऽ पेक्ष सोढा ऽ शेष-परीषह ।
अनुष्ठित - क्रियायोगो ध्यान - योगे - कृतोद्यम ।।
महासत्त्व परित्यक्त - दुर्लेश्या ऽ शुभभावन।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्य - ध्यानस्य सम्मत ।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ४१-४५

(घ) सम्माइट्ठी - ण च णवपयत्थविसयरुइ - पच्चय सद्धाहि विणा झाणं
संभवादि, तप्पवुत्तिकारण सवेग - णिव्वेयाणं अण्णत्थ असमवादो।
चत्ता सेस बज्झतरगगंयो-खेत्त-वत्थु-धण-धण्णदुवयचउप्पयजाण
सयणासण सिस्स - कुल-गण-सघेहि जणिदमिच्छत्त कोह-माण-माया
लोह - हस्स-रइ-अरइ-सोग-भय-दुगुछा-त्थी-पुरिस णपुसय वेदादि
अतरंगगंथ करंवापरिवेढियस्स सुहज्झाणाणुववत्तीदो।

षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६५

६८ होंति सुहासव संवर विणिज्जराऽमरऽसुहाइं विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइ सुहाणुबधीणि धम्मस्स।।

ध्यान शतक गा ९३

६९ ऐहिकामुष्मिकापाय - परिहारपरायण ।
तत प्रतिनिवर्तेत, समन्तात् पापकर्मण ।।

योग शास्त्र १०/११

७०. नानाद्रव्यगतानन्त - पर्यायपरिवर्तनात्।
सदा सक्तं मनो नैव, रागाद्याकुलता व्रजेत्।।

योग शास्त्र १०/१५

७१ (क) सपहि दोण्ण सुक्कज्झाणाणं फलपरूवणं कस्सामो - अट्ठावीसभेय भिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफल पुधत्त-विदक्कवीचार सुक्कज्झाणफलं, सव्वसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसापराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसममुवलं भादो। तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणास-फलमयत्तविदक्कअवीचारज्झाण। मोहणीयविणासो पुण धम्मज्झाणफलं, सुहुमसापरायचरिमसमए तस्स विणाणुइलभादो।

षट् खण्डागम, (धवला टीका भा ५) पृ ८०-८१

(ख) पृथक्त्वादिति वीचार सामर्थ्यप्रगत मन ।
यस्यापर्याप्तबालस्योत्साहवच्चाव्यवस्थितम्।।
तत्पृथक्त्वसुवीतर्कवीचार ध्यानमुत्तमम्।
जायते जितकर्मौघमणविध्वसकारिण ।।
दुरन्तमोह जालं तन्निर्मल निकषन्निह।
स एवातिविशुद्धात्मा ज्ञानावृत्तिर्निरुन्धनात्।।
स्थितिहासक्षयौ कुर्वंश्रुतज्ञानोपयोगवान्।
अर्थव्यंजनयोगानां सत्संक्रान्तिविवर्जनात्।।
अथावसरसप्राप्त मोक्षतत्त्व निगद्यते।
साक्षाच्च केवलं तस्य हेतुस्तद् घातिना क्षयात्।।

सिद्धान्तासार संग्रह, ११/७१-७५, ८५

(ग) महापुराण २१/१८६

(घ) ज्वलति ततश्च ध्यानं - ज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्स।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घाति कर्माणि।।
ज्ञानावरणीयं दृष्ट्यावरणीय च मोहनीय च।
विलय प्रयाणि सहसा सहान्तरायेण कर्माणि।।
संप्राप्य केवलज्ञान - दर्शने दुर्लभे ततो योगी।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थ।।

योग शास्त्र ११/२१-२३

(ङ) परिवारद्धिसामग्या सुखं स्यात्कल्पवासिनाम्।
तदभावे ऽ हमिंद्राणां कृतस्त्यमिति चेत्सुखम्।।

परिवारर्द्धिसतैव किं सुखं किमु तद्वताम्।
तत्सेवा सुखमित्येवमात् स्याद् द्वितयी गति ।।

महापुराण ११/१८७-१८८

(च) ते य विसेसेण सुभासवादओगुत्तरामरसुहाइ।
दोण्ह सुक्काण फल .

ध्यान शतक गा ९४

७२ भाव सवर णिज्जरामरसुह फलं . ।

षट् खण्डागम, धवला टीका, (भा ५) पृ ७९

७३ (क) आस्रव निरोध सवर । तत्त्वार्थ सूत्र ९/१

(ख) या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्ति ।
सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५८ एव उसकी टीका

(ग) कल्मषागमनद्वार – निरोध सवरो मत ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७४ (क) भाव – द्रव्यविभेदेन द्विविध कृत संवरै ।
रोधस्तत्र कषायाना कथ्यते भाव सवर ।
दुरितास्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्य सवर ।।

योगसार प्राभृत ५/१-२

(ख) द्रव्य भावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह।
ससारैकनिमित्ताना क्रियाणां विनिवर्तनम्।।
भावसवर माख्यान्ति मुनीन्द्रा कृतसवरा ।
तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युति ।।
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसंवरा ।
समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य च।।
सच्चारित्रवत पुस संवरो जायते क्षणात्।
परीषह जयेनासौ दशधा धर्म कारण ।।

सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ९/२१५-२१८

(ग) गुत्ती समिदी - सज्झाणम्मि णिलीण तं
जाणसु उत्तम चरणं।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९६-९९

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७५ सम्मत्तं देस - वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९५

७६ (क) पूर्वोपार्जित - कर्मैकदेश सक्षय - लक्षणा।

योगसार प्राभृत ६/१

(ख) निर्जीयते यथा कर्म प्राणिना भववर्तिना।

सिद्धान्तसारप्रकरणम् १०/१

(ग) निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणा शटनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ४९

(घ) सव्वेसिं कम्माण सत्ति - विवाओ हवेइ अणुमाओ।
तदणतर तु सडण कम्माण णिज्जरा जाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०३

(ङ) यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोष।
तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति संवृतस्तपसा।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५९ एव उसकी टीका

७७ (क) निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च।।
या च कालकृता सेय मता साधारणा जिनै।
सर्वेषा प्राणिना शस्वदन्यकर्मविधायिनी।।
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते।
उपक्रमभवा सेय सर्वेषा नोपजायते।।

सिद्धान्तसार सग्रह १०/१-३

(ख) पचास्तिकाय (कुदकुदाचार्य) गा ४४-४६

(ग) ससार बीज भूताना कर्मणा जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा काम - वर्जिता।।

योग शास्त्र ४/८६

(घ) निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वत।

योगसार प्राभृत ६/१

(ङ) सा पुण दुविहा णेया सकाल - पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीण पढमा वय - जुत्ताण हवे बिदिया।।
उवसम - भाव - तवाण जह जह वड्ढी हवेइ साहूण।
तह तह णिज्जर - वड्ढी विसेसदो धम्म - सुक्कादो।।
जो विसहदि दुव्वयण साहम्मिय - हीलण च उवसग्ग।
जिणिऊण कसाय - रिउ तस्स हवे णिज्जरा विउला।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०४-१०५, १०९

परिवारर्द्धिसतैव किं सुखं किमु तद्गताम्।
तत्सेवा सुखमित्येवमात् स्याद् द्वितयी गति ।।

महापुराण ११/१८७-१८८

(च) ते य विसेसेण सुभासवादओगुत्तरामरसुहाइ।
दोण्ह सुक्काण फलं

ध्यान शतक गा ९४

७२ भाव सवर णिज्जरामरसुह फल ।

षट् खण्डागम, धवला टीका, (भा ५) पृ ७९

७३ (क) आस्रव निरोध सवर । तत्त्वार्थ सूत्र ९/१

(ख) या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्ति ।
सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५८ एव उसकी टीका

(ग) कल्मषागमनद्वार - निरोध सवरो मत ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७४ (क) भाव - द्रव्यविभेदेन द्विविध कृत सवरै ।
रोधस्तत्र कषायाना कथ्यते भाव सवर ।
दुरितएत्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्य सवर ।।

योगसार प्राभृत ५/१-२

(ख) द्रव्य भावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह।
ससारैकनिमित्ताना क्रियाणा विनिवर्तनम्।।
भावसवर माख्यान्ति मुनीन्द्रा कृतसवरा ।
तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युति ।।
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसवरा ।
समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य च।।
सच्चारित्रवत पुस सवरो जायते क्षणात्।
परीषह जयेनासौ दशधा धर्म कारण ।।

सिद्धान्तसार सग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ९/२१५-२१८

(ग) गुत्ती समिदी सज्झाणम्मि णिलीण तं
जाणसु उत्तम चरणं।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९६-९९

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७५ सम्मत्तं देस - वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९५

७६ (क) पूर्वोपार्जित - कर्मैकदश सक्षय - लक्षणा।

योगसार प्राभृत ६/१

(ख) निर्जीयते यथा कर्म प्राणिना भववर्तिना।

सिद्धान्तसारप्रकरणम् १०/१

(ग) निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणां शडनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ४९

(घ) सव्वेसिं कम्माणं सत्ति - विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडण कम्माण णिज्जरा जाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०३

(ङ) यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोष ।
तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति सवृतस्तपसा।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५९ एवं उसकी टीका

७७ (क) निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च।।
या च कालकृता सेय मता साधारणा जिनै ।
सर्वेषा प्राणिनां शश्वदन्यकर्मविधायिनी।।
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते।
उपक्रमभवा सेय सर्वेषां नोपजायते।।

सिद्धान्तसार संग्रह १०/१-३

(ख) पचास्तिकाय (कुदकुंदाचार्य) गा ४४-४६

(ग) ससार बीज भूताना कर्मणा जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा काम - वर्जिता।।

योग शास्त्र ४/८६

(घ) निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वत ।

योगसार प्राभृत ६/१

(ङ) सा पुण दुविहा णेया सकाल - पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीण पढमा वय - जुत्ताण हवे बिदिया।।
उवसम - भाव - तवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूण।
तह तह णिज्जर - वड्ढी विसेसदो धम्म - सुक्कादो।।
जो विसहदि दुव्वयण साहम्मिय - हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसाय - रिउं तस्स हवे णिज्जरा विडला।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०४-१०५, १०९

७८ मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख - गुण - कम्म - णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय - धारी तत्तो य महव्वई णाणी।।
पढम - कसाय - चउण्ह विजोजओ तह य खवय - सीलो य।
दसण - मोह - तियस्स य तत्तो उवसमग - चत्तारि।।
खवगो य खीण - मोहो सजोइ - णाहो तहा अजोइया।
एदे उवरिं उवरिं असख - गुण - कम्म - णिज्जरया।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०६-१०८

७९ षट् खण्डागम धवला टीका, (भाग ५) पृ ७९-८०

८० (क) अघाइचउक्कविणासफल। तदियसुक्कज्झाण जोगणिरोह फल। सेलेसिय अद्धाए 'ज्झाण' सव्वकम्मविप्पमुक्को एकसमएण सिद्धि गच्छदि।।

षट् खण्डागम, धवला टीका (भाग ५) पृ ८८

(ख) परिनिव्वाण परिल्लाण।

ध्यान शतक गा ९४

(ग) सिद्धान्तसार सग्रह ११/८०-८४

(घ) सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्त।
अपरिमितनिर्जरात्मा ससारमहार्णवोत्तीर्ण।।
ईषद्ध्रस्वाक्षरपचकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम्।
सयमवीर्याप्तबल शैलेशीमेति गतलेश्य।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २८२-२८३

(ङ) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

८१ न कसाय समुत्थेहि य वाहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि।
ईसा - विसाय - सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो।।
सीयायवाइएहिं य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं।
झाण सुनिच्चलचित्तो न वहिज्जइ निज्जरापेही।।

ध्यान शतक गा १०३-१०४

८२ अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरया।
धम्मेण देवलोय सिद्धिगई सुक्कज्झाणेण।।

ध्यान शतक गा ६

८३ (क) रागस्य हेतवो ये ये, भजन्ते द्वेषहेतुताम्।
सानुकूल प्रतिकूल मनोवृत्तिप्रसगत।।
रागरूपामनोवृत्ति द्वेषरूपा तथैव च।

रागद्वेषविनिर्मुक्तं मनो मोक्षस्य कारणम्।।

योग - दीपक (बुद्धि सागर) गा ३०-३१

(ख) रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं मन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत् तत्त्वं नेतसे जन ।।
अविक्षिप्तं मनस्तत्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मन ।
धारयेत्तदविक्षिप्त विक्षिप्तं नाश्रयेत्तत ।।
अविद्या भ्यास सस्कारैख्श न क्षेपो तस्य चेतस ।

समाधि तत्र (देवनंद) गा ३५-३६, ३७-३८

(ग) अध्यात्मतत्त्वालोक ६/५, ९-१०

(घ) तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र, गा ७८

८४. चरणयोगघटान्प्रविलोठयन् समरसं सकलं विकिरत्यध ।
चपल एव मन कपिरुच्चकै रसवणिक् विदधातु मुनिस्तु।।
सततकुट्टिटसंयम भूतलो, त्थितरजोनिकरै प्रथयन्नस्तम।
अतिदृढैश्च मनस्तुरगो गुणै रपि नियत्रित एव न तिष्ठति।।
जिनवचोधनसार मलिम्लुच- कुसुमसायकपावनदीपक।
अहह कोऽपि मन पवनो बली शुभमतिद्रुमसन्ततिभगकृत्।।
अनिगृहीतमना विदधत्परा न वपुषां वचसा च शुभक्रियाम्।
गुणमुपैति विराधनयाऽनया दुरन्त मप भ्रममंचति।।
अनिगृहीतमना कुविकल्पतो नरकमृच्छति तन्दुलमत्स्यवत्।
इयमभक्षणजा तदजीर्णताऽनुपनतार्थविकल्पकदर्थना।।

अध्यात्मसार (यशोविजयजी) पृ १६८-

८५ (क) मनोरोधे निरुध्यन्ते कर्माण्यपि समन्तत ।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि।।
मन कपिरय विश्वपरिभ्रमणलम्पट ।
नियंत्रणीयो यत्नेन मुक्ति मिच्छुभिरात्मन-।।

योग शास्त्र ४/३८-३९

(ख) उचितमाचरणं शुभमिच्छता प्रथमतो मनस खलु शोधनम्।
गदवता ह्यकृते मलशोधने, कमुपयोगमुपैतु रसायनम्।।
मनस एव तत- परिशोधनं नियमतो विदधीत महामति ।
इदमभेषजसवनन मुने परमुमर्थरतस्य शिवश्रिय ।।

अध्यात्मसार (यशोविजयजी) पृ १६७

(ग) मन शुद्धिमबिभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नाव भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम्।।

तपस्विनो मन शुद्धि विनापूतस्य सर्वथा।
ध्यानं खलु मुधा चक्षुर्विकलस्येव दर्पण ।।
तदवश्य मन शुद्धि कर्तव्या सिद्धिमिच्छता।
तप श्रुत - यमप्रायै किमन्यै कायदण्डनै ?।।

योग शास्त्र ४/४२-४४

८६ (क) पंच इदियत्था पण्णत्तं, त जहा - सोइदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।

ठाणं (सुत्तागमे) ५/३/५३१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/२०

८७ (क) स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्था । तत्त्वार्थसूत्र २/२१

(ख) कर्मग्रन्थ १/४०-४१

(ग) पच्चीस बोल का थोकडा, पृ ५८ (गौतम मुनि)

८८ ज्ञानार्णव २०/५, १०, १३-१५, १८-१९

८९ (क) पतगभृगमीनेभ - सारगा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद्, दुष्टस्तै किं न पचभि ।।

ज्ञान सार (उपा यशो विजय) ७/७

(ख) मीना मृत्यु प्रयाता रसनवशमिता दन्तिन स्पर्शरुद्धा
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृगा गन्धोद्धताशा प्रलयमुपगता गीतलोला कुरगा
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु राग ।।

ज्ञानार्णव २०/३५

९० (क) जो परिहरेदि सगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
काम-कहादि-णिरीहो णव-विह-बंमं हवे तस्स।।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा -४०३

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र संस्कृत टीका पृ ३०५-३०६

(ग) शीलार्णवस्य पार गत्वा सविग्नसुगमपारस्य।
धर्मध्यान मुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम्।।

प्रशमरति प्रकरणम् गा २४६

(घ) ध्यान शतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्र टीका)
हिन्दी विवेचक श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म , पृ २१०

११. अजिताक्ष कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवते।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते।।

ज्ञानार्णव २०/१

१२ (क) एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/२६

(ख) मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः।।

ज्ञानार्णव २२/६

१३ क्वचिन्मूढं क्वचिद् भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शंकितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः।।

ज्ञानार्णव ३२/७

१४ (क) त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः।

ज्ञानार्णव ६/३

(ख) योगसार (योगीन्दुदेव) गा. ४६,४८

१५ (क) दुविहाओ भावणाओ, असंकिलिट्ठाय य संकिलिट्ठाय।
मुत्तूण संकिलिट्ठा, असंकिलिट्ठाहि भावंति।।

बृहत्कल्प भाष्य (भा २) गा १२९१

(ख) कंदप्प देवकिब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
एसा य संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया।।

बृहत्कल्पभाष्य गा १२९३

१६ (क) स्थानांग सूत्र (आत्मा म) ४/१/१२
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ९/७
(ग) कुन्दकुन्द भारती 'बारसणुपेक्खा'

१७ उत्तराध्ययन सूत्र २९/२२

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ १

१८ अनुप्रेक्षा भव्यजनानन्द जननी।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ १

१९ (क) आयारे (सुत्तागमे) २/१५/१०२७-१०७४
(ख) ध्यान शतक गा ३०
(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ७/६

(घ) योगशास्त्र ४/५५-५६

१०० (क) प्रशमरति प्रकरण १४९-१५०
(ख) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २-३
(ग) ज्ञानार्णव २/७
(घ) अध्यात्म तत्वालोक ५/२५

१०१ (क) अण्ण देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्ण होदि कलत्त अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।
एव बाहिर-दव्व जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्ण।
जाणतो वि [illegible] जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो।।
जो जाणिऊण देह जीव-सरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाण पि य सेवदि कज्ज कर तस्स अण्णत्तं।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८०-८२

(ख) ध्यान - दीपिका (सकलचंद) २४-२६
(ग) शान्त सुधारस (विनय विजयजी) पृ १५९

१०२ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८३-८४, ८७
(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा शुभचन्द्र टीका पृ ४१-४२
(ग) योग शास्त्र ४/७२-७३
(घ) ज्ञानार्णव २/१, ३, ४ (पृ ३७-३८)
(ङ) शान्तसुधा रस, पृ १६९-

१०३ तेणुवइट्ठो धम्मो सगासत्ताण [illegible] असगाण।
पढमो बारह भेओ दह - भेओ भासिओ बिदिओ।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३०४

१०४ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २९०-२९६

१०५ अनित्य भावादिक भावना स्मृता महर्षिभिर्द्वादश तासु सन्ततम्।
विभाव्यमानासु ममत्वलक्षणान्धकारनाशे समताप्रभा स्फुरते।।

अध्यात्म तत्वालोक (न्याय विजय) ५/२५

१०६ कषायरोधाय जितेन्द्रियत्व, जितेन्द्रियत्वाय मनोविशुद्धि ।
मनोविशुद्ध्यै समता पुन. साऽममत्वतस्तत् खलु भावनाभि ।

अध्यात्म तत्वालोक ५/२

१०७ (क) साम्यमेव पर ध्यानं प्रणीत विश्वदर्शिभि ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽयं शास्त्रविस्तर ।।

ज्ञानार्णव २४/१३

(ख) अध्यात्मसार (चन्द्रशेखर)९/१, ७, ८, १२, १४, १५-१७, २७

(ग) कर्म जीव च सश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चय ।
विभिन्नी कुरुते साधु॰ सामायिक शलाकया।।
रागादिध्वान्तविध्वसे . . साम्यभाजः साधो॰ प्रभावत॰।।

योग शास्त्र ४/५२-५४

(घ) राय रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ।।

योगसार (योगीन्द्रदेव) गा १००

(ङ) मनोविशुद्धयै समतां श्रयेत, निमज्जनात् साम्य सरोवरे यत्।
रागादिकम्लानिपरिक्षय॰ स्याद् अमन्द आनन्द उपेयते॰॰।।

अध्यात्मतत्वालोक ५/१७

१०८. अध्यात्म तत्वालोक ५/४२-४३

१०९ (क) समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यान योगी समाश्रयेत्।

योग शास्त्र ४/११२

(ख) ज्ञानार्णव २५/३-४

(ग) अध्यात्मतत्वालोक ५/१३, १७, २०, ३/११५

११० स्वाध्याय परमस्तावज्जप पचनमस्कृते ।
पठन वा जिनेन्द्रोक्त – शास्त्रस्येकाग्र – चेतसा।।
स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता ध्यानात्स्वाध्याय माऽऽमनेत्।
ध्यान – स्वाध्याय – सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

तत्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा. ८०-८१

१११ (क) जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु जिणु झायहु सुमणेण।
सो झाय तहं परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण।।
अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरि – गमणु जिणवरु एम भणेइ।।

योगसार (योगीन्दु देव) गा १९, ३४

(ख) अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपाव जोएसु।
दंसणणाणहि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ (चिंतेदि) एयत्तं।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।

समय सार ५/१८७-१८९

११२. (क) अन्नो जीवो अन्न सरीर. .. ।

रायपसेणइय (सुत्तागमे) ६१

(ख) जीवाजीवह भेउ जो जाणइ ति जाणियउ।
मोक्खह कारण एउ भणइ जोइ जोइहिं भणिउ।।
पुग्गल अण्णु जि अण्णु जिउ अण्णु वि सहु ववहारू।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारू।।

योगसार गा ३८, ५५

११३ (क) अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा।
भावशुद्धि प्रपन्नस्य मुने• प्रक्षीयते क्षणात्।।

ज्ञानार्णव २२/२६

(ख) एतान्येवाहु केचिच्च मन स्थैर्याय शुद्धये।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धि ध्रुवं भवेत्।।
यमादिषु कृताभ्यासो नि सगो निर्ममो मुनि ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववश मन ।।
अष्टावगानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभि ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीज स्युस्तानि मुक्तये।।

ज्ञानार्णव २२/२-४

(ग) मोक्षाप्तये योगविद पुराणा योगस्य पन्थान
इत्यष्टागानि योगस्य।

अध्यात्म तत्त्वालोक (न्यायविजयजी) ३/४-५,

११४ (क) मित्ता तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं [illegible] निबोधत।।
तृणगोमयकाष्ठाग्नि-कण दीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचन्द्राभा, सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा।।
यमादियोगयुक्ताना, खेदादिपरिहारत ।
अद्वेषादिगुणस्थानं, क्रमेणैषा सता मता।।

योग दृष्टि समुच्चय गा १३-१६

(ख) हरिभद्रीय योग भारती (प्रका मुबई) टीका पृ ७४-७७

११५ (क) तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मापरिग्रहाश्च यमा ।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/६

(ख) योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र सूरि) गा २१-२४
(ग) अध्यात्म तत्वालोक ३/७९-८१, ८३, ८५-८८
(घ) सप्तदशभेदसयम धरो यमी ।

ध्यानदीपिका (सकल चदजी) गा. ९९

११६. (क) शौचं संतोषस्च तप स्वाध्याय प्रभुविचिन्तन नियमा।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/६

(ख) शौचतादियुत नियमी। ध्यान दीपिका गा. ९९

(ग) योगदृष्टि समुच्चय, गा ४१-४२, ४५-४६

(घ) अध्यात्म तत्वालोक ३/८२

११७. अध्यात्म तत्त्वालोक ३/७१-७८

११८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/८९-९१

(ख) योग - प्रदीप (मगलविजयजी) गा. ७, २६, ३६-४३

११९ (क) ठाणं (सुत्तागमे) ५/१/४९४

(ख) आयारे (सुत्तागमे) १/९/४/५१२, २/३/१/७००-७०२

(ग) योग दृष्टि समुच्चय, गा ४९, ५२, ५४, ५५

(घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/९४-९७

(ङ) योग शास्त्र ४/१२४

(च) ज्ञानार्णव २८/९, १०

१२०-१२१ (क) योग शास्त्र ५/४-१४

(ख) ज्ञानार्णव २९/३-६, ९, ११, १२

(ग) अध्यात्मतत्त्वालोक ३/१००-१०४

(घ) योगदृष्टि समुच्चय गा ५७-६४

१२२ मिथ्यात्व मस्मिश्च दृशा चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्य विदारणेन।
ग्रन्थेर्विभेदो भवति स्थिरायां तद् दृक्चतुष्केऽत्र न सूक्ष्मबोधः।।
अवेद्यसंवेद्यपदाभिधेयो मिथ्यात्वदोषश्च उच्यते स्म।
उग्रोदये तत्र विवेकहीना अधोगतिं मूढधियो व्रजन्ति।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१०५-१०६

१२३. मिथ्यात्व दोषस्य पराजयेन ससार दु खौघ निबन्धनस्य।
सत्संगतो दुर्गतिकारणस्य कुतर्क राहो : प्रपलायनं स्यात्।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१०७

१२४ अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११२-११५

१२५ अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११६-

१२६. शान्तो विनीतश्च मृदु प्रकृत्या भद्रस्तथा चारु चरित्रशाली।
मिथ्यादृगप्युच्यत एव सूत्रे निर्वाण भाक् धर्मितया प्रशस्त ।।
अर्धपरावर्तननामकालेऽवशिष्ट उत्कृष्टतया भवन्ति।

सम्यग्दृशो मोक्ष पदस्य लाभे विलम्ब उत्कृष्टतयाऽयमर्थात्॥

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११७-११८

१२७ (क) योग प्रदीप पृ ४४५-४४६
(ख) ध्यान – दीपिका गा १०२

१२८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२१-१२२
(ख) योग प्रदीप पृ ४५६

१२९ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२०
(ख) योग प्रदीप पृ ४५९

१३० (क) योग प्रदीप पृ ४५९-४६०
(ख) ध्यान दीपिका गा १०३-४

१३१ (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७०-१७४
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२७-१२८

१३२ (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७५-१७६
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३०

१३३ (क) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तृतीयं सर्ववेदिनाम्।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्ये प्रवेदितम्॥

ध्यान दीपिका गा १९८

(ख) या धारणाया विषये च प्रत्ययैकतानताऽन्त करणस्य तन्मयम्।
ध्यानं, समाधि पुनरेतदेव हि स्वरूपमात्रप्रतिभासन मत ॥

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२८

१३४ दृष्टि परा नाम समाधिनिष्ठाऽष्टमी तदा सग विवर्जिता च।
सात्मीकृताऽस्यां भवति प्रवृत्ति बोध पुनश्चन्द्रिकया समान
अध्यात्मकोटि परमामिहाऽऽ गत श्रीधर्मसंन्यास बलेन
लब्ध्वोत्तमं योगमयोगमन्तत प्राप्यापवर्गं लभते

अध्य... /१३१-१३२

१३५ [illegible] मैत्री तादृशो मानसिको
[illegible]
कान्तादृश
[illegible]

१३६ (क) योग शास्त्र १२/२-४
(ख) मनोनुशासन् (आ तुलसी) पृ २४

१३७. णर णारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५

१३८ पंचास्तिकाय गा १९-२०

१३९ असावचरमावर्त्ते, धर्मंहरति पश्यत ।
ज्ञानसार (उपा यशोविजयजी) २१/७

१४०. योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया।
आत्मन सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यत ।।
योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८

१४१ (क) अहिगारी पुण एत्थं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह णियत्तपगइअहिगारो णेगभेओ त्ति।।
योग शतक (हरिभद्र) गा ९

(ख) हरिभद्र योग भारती पृ २६

१४२ चरमे पुद्गलावर्ते, यतो य शुक्लपाक्षिक।
योग बिन्दु गा ७२

१४३ चरमे पुद्गलावर्ते, क्षयश्चास्योपपद्यते।
जीवानां लक्षणं तत्र, यत एतदुदाहृतम्।।
दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्यात्सेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषत ।।
योगदृष्टि समुच्चय, गा ३१-३२

१४४ (क) भिन्नग्रन्थिस्त्वरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्।।
योग बिन्दु गा. ७२

(ख) बीजं रूपं फलं चायमूहते भवगोचरम्।
द्वात्रिंशद् – द्वात्रिंशिका । यशोविजयजी।१४/९

(ग) प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम्।।
योगदृष्टिसमुच्चय गा २३

(घ) मार्गपतित मार्गाभिमुखादय परिगृह्यन्ते।
पंच सूत्र (हरिभद्र वृत्ति, चिरन्तनाचार्य) पृ २९

१४५ (क) पूर्वसेवाक्रमश्चैव, प्रवृत्यगतया सताम् ।।
योग बिन्दु गा ३६

सम्यग्दृशो मोक्ष पदस्य लाभे विलम्ब उत्कृष्टतयाऽयमर्थात्।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११७-११८

१२७ (क) योग प्रदीप पृ ४४५-४४६
(ख) ध्यान - दीपिका गा १०२

१२८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२१-१२२
(ख) योग प्रदीप पृ ४५६

१२९ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२०
(ख) योग प्रदीप पृ ४५९

१३० (क) योग प्रदीप पृ ४५९-४६०
(ख) ध्यान दीपिका गा १०३-४

१३१. (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७०-१७४
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२७-१२८

१३२. (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७५-१७६
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३०

१३३ (क) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तृतीयं सर्ववेदिनाम्।
समुच्छिन्नक्रिय ध्यान तुर्यमार्ये प्रवेदितम्।।

ध्यान दीपिका गा ११८

(ख) या धारणाया विषये च प्रत्ययैकतानताऽन्त करणस्य तन्मयम्।
ध्यानं, समाधि पुनरेतदेव हि स्वरूपमात्रप्रतिभासन मत ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२८

१३४ दृष्टि॰ परा नाम समाधिनिष्ठाऽष्टमी तदा सग विवर्जिता च।
सात्मीकृताऽस्यां भवति प्रवृत्ति बोध॰ पुनश्चन्द्रिकया समान ।।
अध्यात्मकोटि परमामिहाऽऽ गत श्रीधर्मसन्यास बलेन केवलम्।
लब्ध्वोत्तमं योगमयोगमन्तत प्राप्यापवर्गं लमते ऽ स्तकर्मकः।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३१-१३२

१३५ मित्रादृशो लक्षण मस्ति मैत्री तारादृशो मानसिको विकास ।
बलादृश साधनशक्तिमत्त्वं दीप्रादृशोऽन्त करणस्य दीप्ति ।।
स्थिरा स्थिरताया॰ खलु तत्त्वभूमि कान्तादृश॰ साम्यसमुज्ज्वलत्वम्।
ध्यानप्रभा भासुरता प्रभाया समाधियोगश्च पर॰ पराया ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३३-१३४

१३६ (क) योग शास्त्र १२/२-४
(ख) मनोनुशासन् (आ तुलसी) पृ २४

१३७ णर णारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५

१३८. पंचास्तिकाय गा १९-२०

१३९ असावचरमावर्त्ते, धर्मंहरति पश्यत।
ज्ञानसार (उपा यशोविजयजी) २१/७

१४० योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्धयाद्यपेक्षया।
आत्मन सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यत।।
योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८

१४१ (क) अहिगारी पुण एत्थं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह णियत्तपगइअहिगारो णेगभेओ त्ति।।
योग शतक (हरिभद्र) गा ९
(ख) हरिभद्र योग भारती पृ २६

१४२ चरमे पुद्गलावर्ते, यतो य· शुक्लपाक्षिकः।
योग बिन्दु गा ७२

१४३ चरमे पुद्गलावर्ते, क्षयश्चास्योपपद्यते।
जीवाना लक्षणं तत्र, यत एतदुदाहृतम्।।
दु खितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्यात्सेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषत।।
योगदृष्टि समुच्चय, गा ३१-३२

१४४ (क) भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्।।
योग बिन्दु गा. ७२
(ख) बीजं रूपं फलं चायमूहते भवगोचरम्।
द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका। यशोविजयजी।१४/९
(ग) प्रणामादि च संशुद्ध योगबीजमनुत्तमम्।।
योगदृष्टिसमुच्चय गा २३
(घ) मार्गपतित मार्गाभिमुखादय परिगृह्यन्ते।
पंच सूत्र (हरिभद्र वृत्ति, चिरन्तनाचार्य) पृ २९

१४५ (क) पूर्वसेवाक्रमस्त्वैव, प्रवृत्यंगतया सताम्।।
योग बिन्दु गा ३६

(ख) योगाधिरोहो न हि दुष्करश्चेत् किं दुष्कर तर्हि जगत्त्रयेऽपि।
योगस्य भूमावधिरोहणार्थ मादावुपाय परिदर्शयतिऽयम्।।
भक्तिर्गुरूणा परमात्मनश्चाऽऽचारस्य शुद्धिस्तपसि प्रवृत्ति ।।
नि श्रेयसे द्वेषविवर्जितत्त्वमिय सताऽदर्श्यत 'पूर्व सेवा' ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक २/-१२

१४६ (क) योगबिन्दु गा ११०-१२५
(ख) योगदृष्टि समुच्चय गा २६-२८
(ग) अध्यात्म तत्त्वालोक २/३-८,१५

१४७ (क) योगबिन्दु गा १२६-१३०
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक २/१८-२१

१४८ (क) इच्छा- रहियाउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि।
तो लहु पावहि परम-गइ फुड्डु संसारु ण एहि।।

योगसार। (योगीन्दु) गा १३

(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक २/२३-२८, ३४,३५

१४९ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक २/४१-४२
(ख) योगप्रदीप। उपा मंगल उदयजी। पृ ४६७
(ग) योगदृष्टि समुच्चय गा २२-२३
चरमे पुद्गलावर्त, तथा भव्यत्वपाकत ।
सशुद्ध मेतन्निय-मान्नान्यदापीति तद्विद ।।

१५० उपादेयधियात्यन्त, सज्ञाविष्कम्भणान्वितम्।
फलाभिसन्धिरहितं, सशुद्धं ह्येतदीदृशम्।।

योग दृष्टि समुच्चय गा २४-२५

१५१ पावं न तिव्व भावा कुणइ, ण बहुमण्णइ भव घोरं।
उचियट्ठिइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ।।

योग शतक (हरिभद्र) गा १३

१५२ (क) करण अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टियमेव भव्वाण।
इयरेसिं पढमं चिय भन्नइ करणं ति परिणामो।। १२०२

इह भव्यानां त्रीणि करणानि भवन्ति, तद्यथा-यथाप्रवृत्त करणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवर्तिकरणं चेति। तत्र येनाऽनादिसंसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते, यथाप्रवृत्तं, च तत्करण च यथाप्रवृत्तकरणम्, एवमुत्तरत्राणि करणशब्देन कर्मधारय , अनादिकालात् कर्मक्षपण

प्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थ । अप्राप्तपूर्वमपूर्वम् स्थितिघात-रसघातेद्यपूर्वार्थनिर्वर्तक वाऽपूर्वम्। निवर्तनशील निवर्ति, न निवर्ति-अनिवर्तिआ सम्यग्दर्शनलाभाद् न निवर्तत इत्यर्थ । एतानि त्रीण्यपि यथोत्तर विशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतमाध्यवसायरूपाणि भव्याना करणानि भवन्ति । इतरेषां त्वभव्यानां प्रथममेव यथाप्रवृत्तकरणं भवति, नेतरे द्वे इति।

जा गंठी ता पठमं गंठि समइच्छओ अपुव्व तु।

अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्त पुरक्खडे जीवे।। १२०३

अनादिकालादारभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावत् प्रथमं यथाप्रवृत्तकरण भवति, कर्मक्षपणनिबन्धनस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात, अष्टाना कर्म-प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति। ग्रन्थि तु समतिकामतो भिन्दानस्याऽपूर्वकरणं भवति, प्राक्तनाद् विशुद्धतरा-ध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थिर्भेदादिति। अनिवर्तिकरणं पुन सम्यक्त्व पुरस्कृतमभिमुख यस्याऽ सौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुख सम्यक्त्व इत्यर्थ , तत्रैवं भूते जीवे भवति। तत एव विशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभात्।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२०२-१२०३ एवं टीका सहित।

(ख) खवगसेढी। (विजयप्रेमसूरि) पृ ६७-७०

१५३ (क) विमला स्थिति रुच्यते दृश. किल सम्यक्त्वपदार्थ आर्हतै.।
अपवर्गपुरप्रवेशन नहि मुद्रामनवापुषामिमाम् ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक २/४४

(ख) अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग्वीक्ष्य महाशय ।
तथाभव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ।।

योगबिन्दु गा २८४

(ग) सुस्सूस धम्मराओ गुरु- देवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे णियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ।।

योग शतक गा १४

१५४ मग्गणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो कियापरो चेव ।
गुणरागी सक्कारम्भसंगओ तह य चारित्ती ।। योग शतक गा १५

१५५ (क) अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि
यत्तद् छद्मस्थानां ध्यान।

आवश्यकनिर्युक्ति (भा २) पृ ७१

(ख) योगणिरोहो जिणाणं तु। ध्यान शतक गा ३

१५६ जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो सतो ।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भण्णइ झाणं। ध्यान शतक गा ८४

१५७ पुव्वप्पओगओ चिय, कम्मविणिज्जरण - हेडतो वावि ।
सद्दत्थ - बहुत्ताओ, तह जिणचदागमाओ य ।।
चित्तामावे वि सया, सुहुमोवरय - किरियाइ भण्णति ।
जीवोपयोग - सब्भावओ भवत्थस्स झाणाइ ।। ध्यान शतक गा ८५-८६

१५८ षट् खण्डागम भा १४, पृ ४८४-४८५

१५९ 'कार्मण शरीरवत्पृथगेवकर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति'। कर्म-निस्यन्दो लेश्या, यत कर्मस्थिति हेतवो लेश्या, यथोक्तम् - कृष्ण-नीलकापोततेजसीपद्म शुक्ल नामान । श्लेष इव वर्ण बन्धस्य कर्मबन्धस्थिति विधाव्य ।

उत्तराध्ययन सूत्र अ ३४ की टीका,
उद्धृत, कर्मग्रन्थ भा ४ (मिश्रीमलजी म) पृ १८

१६० (क) भावलेश्याकषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा
औदयिकीत्युच्यते । सर्वार्थ सिद्धि२/६

(ख) कषायानुरजिता कायवाड्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या ।
धवला टीका १/१/१,४/१४९/८

(ग) जोगपउत्ति लेस्सा कसायउदयाणुरजिया होई ।
तत्तो दोण्ण कज्जं बंध चउक्कं समुद्दिट्ठं ।।
गोम्मटसार - जीवकाण्ड, ५३६

१६१ (क) कावोय नील कालालेस्साओ नाइसकिलिट्ठाओ ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।।
कावोय- नील काला लेस्साओ तिव्वसकिलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।।
होति कमविसुद्धाओ पीय- पम्ह - सुक्काओ ।
धम्म ज्झाणोवगयस्स तिव्व- मंदाइ- भेयाओ ।।
सुक्काए लेसाए दो, ततियं पुण परम सुक्क लेसाए ।
थिरयाजियसेलेस लेसाइयं परम सुक्कं ।।
ध्यान शतक गा १४,२५,६६,८९

१६२ (क) छ लेसाओ पण्णत्तं, तं जहा- कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा ।
ठाणं । सुत्तागमे । ६/५८५

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र ३४/१-३२
(ग) धर्मामृत (आशाधर) । पृ १२१-१२२
(घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा ४८९-५५६

१६३. (क) प्रशमरतिप्रकरणम्, गा ३८

(ख) षट् लेश्या' मनस परिणाम भेदा । स च परिणामस्तीव्रोऽध्यव सायोऽशुभो जम्बूफलबुभुक्षुषट्पुरुषदृष्टान्तादिसाध्य - ।

प्रशमरति प्रकरण, टीका पृ ३०, गा ३८ की

१६४ (क) चउद्दस भूयग्गामा पन्नत्ता, ।

समवाय १४ वा, १४/४८

(ख) कम्मविसोहिमग्गण पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पन्नत्ता ।

समवाय १४वा, १४/४८

१६५ कर्मविशोधि मार्गणां प्रतीत्य ज्ञानावरणादि कर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य ।

समवायाग वृत्ति पत्र २६, उद्धृत कर्म ग्रन्थ ।

(मिश्री म) पृ १४

१६६ (क) जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ।

गोम्मट सार, जीव काण्ड (नेमिचन्द्र) गा ८

(ख) गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।

समयसार । कुदकुदाचार्य । गा ५५

(ग) नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाण । कर्मग्रथ ४/१

(घ) चोद्दस गुणट्ठाणाणि । पंच संग्रह । जीवसमास । गा ५

१६७ (क) सखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा ।

गोम्मटसार जीव काण्ड गा ३

(ख) चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गा १०

१६८ (क) गुण सण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ।।

गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा [illegible]

(ख) गइ इन्दिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजम दसण लेसा भव सम्म सन्नि आहारे ।

कर्मग्रन्थ ४/९

(ग) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा १४१

१६९ जाहि व जासु न जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा।

उद्धृत कर्म ग्रन्थ ३ (मिश्रीमलजी म) पृ २

१७० (क) चउदस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, त जहा – मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी, अविरयसम्म-

द्दिदट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, नियट्टिबायरे, अनियट्टिबायरे, सुहुमसपराए, उवसामए, वा खवए वा उवसत मोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अजोगीकेवली ।

समवाए, सुत्तागमे । १४/४८

(ख) मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ।।

कर्मग्रन्थ २/२

(ग) चतुर्दशगुणश्रेणी चतुर्दशम् ।

गुणस्थानक्रमारोह (रत्नशेखरमुनि) गा २-५

१७१ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ६-८
(ख) तित्थयराहारग १ कर्मग्रन्थ २/३

१७२ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ९-१० टीका सहित
(ख) नरयतिग जाइथावर चउ, हुडायव छिवट्टनपुमिच्छ ।

कर्मग्रन्थ २/४

१७३ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा १६-१७ टीका सहित
(ख) कर्मग्रन्थ २/४-५

१७४ (क) गुणस्थान क्रमारोह, गा १८-२०, २३
(ख) षट् खण्डागम, १/१/१२
(ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा २९

१७५ (क) गुणस्थान क्रमारोह, गा २४-२६ टीका सहित
(ख) गोम्मटसार (भा १) गा ३०

१७६ (क) गुणस्थानक्रमारोह, गा २७-२८-३१
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा ३२
(ग) कर्मग्रन्थ २/६-७

१७७ (क) चतुर्थानां कषायाणां .सद्ध्यानसाधनारम्भं,
कुरुते मुनिपुगव धर्म ध्यान भवत्यत्र, मुख्यवृत्या जिनोदितम्।
रूपातीततया शुक्लमपि स्यादशमात्रत ।।
इत्येतस्मिन् - संतत ध्यानसद्योगाच्छुद्धि स्वाभाविकी यत ।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ३२-३६

१७८ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ३७,३९
(ख) गोम्मटसार, जीव काण्ड गा ५०-५३

(ग) अडवन्न अपुव्वाइमि निद्ददुगंतो छपन्न पण भागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा।।
समचउर निमिण जिण वण्ण अगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबधो . .। कर्मग्रन्थ २/९-१०

१७९ (क) अण-दंस-नपुसि-त्थी वेय-च्छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ।।
उवसामगसेढीए पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ उ।

एकेक्कक्केणंतरिए संजलणेण उवसमेइ।।

विशेषावश्यक भाष्य, गा १२८४-१२८९

(ख) विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्त्या (हेमचंद्र) अ.२ पृ ४८२-४८४
(ग) प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९०, गा ७००-७०८
(घ) पूर्वज्ञ शुद्धिमात् युक्तो, ह्याद्यै संहननैस्त्रिभि
संध्यायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वा श्रेणिं शमक श्रयेत्।।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ४०

(ङ) कर्मग्रन्थ ५/९८

१८० (क) उवसत कम्मं ज न तओ कढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइ न चेव उक्कड्ढए त तु।।

पचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३१

(ख) वृत्तमोहोदयं प्राप्योपशमी च्यवते तत ।
अध कृतमल तोयं, पुनर्मालिन्यमश्नुते।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४४

१८१ श्रेण्यारुढ . कृते कालेऽहमिन्द्रेष्वैव गच्छति।
पुष्टायुस्तूपशान्तान्तं, नयेच्चारित्रमोहनम्।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४१

१८२ अपूर्वाद्यास्त्रयोऽप्यूर्ध्वमेक यान्ति शमोद्यता ।
चत्वारोऽपि च्युतावाद्यं, सप्तम वाऽन्त्यदेहिन ।।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ४५ वृत्ति सहित

१८३ (क) एक भवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।। कर्म प्रकृति गा ६४
(ख) पच सग्रह गा ९३ (उपशम)
(ग) उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ – जो दुवे वारे उवसमसेढिं
पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि।
जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जत्ति।

पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका

(घ) आ संसार चतुर्वारमेव स्याच्छमनावली।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४६

१८४ (क) विशेषावश्यक भाष्य, गा १२९२-१२९६
(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ ४८५-४८६

१८५ (क) विशेषावश्यक भाष्य गा १३१३-१३१४
(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ ४९०-४९१ (अश-२)
(ग) अणमिच्छमीससम्म ति आठ इगविगल थीणतिगुज्जीव।
तिरिनियरथावरदुग साहारायवअडनपुत्थीए।।
छग पुसजलणादोनिद्दविग्घवरणक्कए नाणी

कर्मग्रन्थ ५/९९-१००

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार ८९, गा ६९४-६९९

टीका पृ १९६-२००

(ङ) गुणस्थान क्रमारोह, गा ४८-५३, ६७-११९

१८६ आवश्यक निर्युक्ति, गा १४८१, १४८४,१४६०,१४६५-१४६६
१४६८, १४७२, १५११, १४७६

१८७ आवश्यक निर्युक्ति, गा १४९३-१४९४, १४९७,
१५०३-१५०९, १४७५,१५१०

१८८ अट्टेण तिरिक्ख गइ, रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं।
धम्मेण देवलोय सिद्धिगइ सुक्क झाणेण।। ध्यान शतक गा ६

१८९ (क) अहोसिरे झाण कोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाण
भावेमाणे विहरइ।। भगवइ (सुत्तागमे) १/६/५३
(ख) उड्ढ जाणु अहोसिरस्स धम्मज्झाणकोट्ठोवगयस्स
सुक्कज्झाणतरियाए वट्टमाणस्स निव्वाणे ।

आयारे २/१५/१०२०

(ग) ओववाइय सुत्त (सुत्तागमे) पृ २४

१९० बहि प्रतिमया स्थित ।	आवश्यक निर्युक्ति गा ४७९
कायोत्सर्गस्थ।	आवश्यक निर्युक्ति गा ४६१
प्रतिमयास्थित ।	आवश्यक निर्युक्ति गा ४८०
भगवओ पडिमा।	आवश्यक निर्युक्ति गा ४८३

१९१ इह आणाकंखी पडिए अणिहे।
एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं।।

आयारे (सुत्तागमे) १/४/३/२४६

१९२ (क) आयारे (सुत्तागमे) १/९/२/४८४-४८६
(ख) राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।

आयारे, १/९/२/-४८७

१९३ इहलोइयाइं परलोगयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं।

अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं।।

आयारे (सुत्तागमे) १/९/२/४९२-४९७

१९४ झाणकोट्ठोवगय – ध्यानकोष्ठोपगत। ध्यानं धर्मध्यानं शुक्लध्यान च। तदेव कोष्ठ कुशूलो ध्यानकोष्ठ. तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगत । यथा हि कोष्टके धान्यं प्रक्षिप्तं विप्रसृतं भवति . ।

अभिधान राजेन्द्र कोश (भा ४) पृ १६७३

१९५ ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ६-७

१९६ चतुर्दशपूर्विणा महाप्राणध्याने।।

ध्यान विचार
उद्धृत, नवकार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग)
जम्बुविजयजी पृ २२५

१९७ (क) ध्यान संवरजोगे।

समवाए, ३२/१०५

(ख) ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसवरयोग ।

अभिधान राजेन्द्रकोश (भा ४) पृ १६७३

१९८ मोक्ख पाहुड, गा ७३-७६ उद्धृत, कुन्दकुन्द भारती

१९९ येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्थं ध्यायतामिति।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मन स्वयम्।।
अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमा ।
धर्म्यध्यानं पुन प्राहु श्रेणिभ्या प्राग्विवर्तिनाम्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र, गा ८२-८३ (रामसेन)

२०० (क) मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्म सुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु।।
मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।

मिच्छादंसणणाणचरित्त चइउण णिखसेसेण।
सम्मत्तणाणचरण जो भावइ सो पडिक्कमण।।
उत्तमअट्ठ आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिक्कमण।।

नियमसार (कुदकुदाचार्य) ५/८९-९२

(ख) पचास्तिकाय (कुंदकुदाचार्य) गा १४२-१४५

२०१ (क) मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहर्धियं च
ससार दु खजननीं जननाद्विमुक्त ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम्।।

समाधि तत्र (पूज्यपाद) गा १०५

(ख) योग्योपादानयोगेन हषद स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।।

इष्टोपदेश (पूज्यपाद) गा २

२०२ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो। योगविंशिका (हरिभद्र) गा १

२०३ (क) इहैवेच्छादियोगाना, स्वरूपमभिधीयते।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति, सर्वज्ञत्वादि साधनम्।।

योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) गा २-८

(ख) अध्यात्म भावना ध्यान समता वृत्तिसक्षय ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्।।

योगबिन्दु (हरिभद्र) गा ३१

२०४ ''पिंड पदं तथा रूप रूपातीत चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति सुगुरु परिकीर्तित ।।
''पिंड कुडलिनी शक्ति पद हस प्रकीर्तित ।
रूप बिंदुरिति ज्ञेय रूपातीत निरंजनम्''।।

नवचक्रेश्वरतत्र
उद्धृत, जैन योग (मुनि नथमल) पृ प्रस्तुति

२०५ ''भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ पयत्थ रूवरहियत्तं।
छउमत्थ केवलित्तं सिद्धत्थं चेव तस्सत्थो।।

चैत्यवन्दन भाष्य, उद्धृत, जैन योग (मुनि नथमल) पृ प्रस्तुति

२०६ (क) तत्राऽऽदौ पिण्डसिध्यर्थं निर्मलीकरणाय च।
मारुतीं तैजसीमाप्या विदध्याद्धारणा क्रमात्।।

तत्त्वानुशासन (राम सेनाचार्य) गा १८३

(ख) योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ७/९,१/१५,१२/२
(ग) ज्ञाणार्णव (शुभचन्द्राचार्य) ३७/३

२०७ (क) अध्यात्म कल्पद्रुम (मुनिसुदर विजय) ९/४, ८-९, १३-१६
१३/४२, १४/७,८, १०,१२-१६

२०८ (क) योगप्रदीप (उपा मंगलविजयजी) २-
(ख) अध्यात्मतत्त्वालोक (न्यायविजयजी) ३/४-५
(ग) ध्यान दीपिका (सकलचद)
(घ) कर्मज्ञानविभेदेन, स द्विधा तत्र चादिम।
आवश्यकादिविहित-क्रियारूप प्रकीर्त्तित ।।

इन्द्रियार्थोन्मनी भावात्स मोक्षसुखसाधक ।।

अध्यात्मसार-अध्यात्मोपनिष्द ज्ञानसार
प्रकरणरत्नत्रयी (उपा यशोविजयजी) "योगाधिकार" १५-२-५

अध्याय ५

ध्यान के विविध प्रकार

चतुर्थ अध्याय का पचम अध्याय से घनिष्ठ सबध है। ध्यान का यथार्थ स्वरूप उसके भेद-प्रभेदों को जाने बिना स्पष्ट नही हो सकता। अत इसी बात को लक्ष्य में लेकर प्रस्तुत अध्याय में ध्यान के भेद प्रभेदों का आगमिक ग्रन्थ, आगमिक टीका एव आगमेतर ग्रन्थों के आधार से वर्णन किया जा रहा है।

जगत में जीवों की सख्या अनन्त है और सभी सुख की इच्छा करते हैं। यद्यपि सुख की इच्छा सबकी एक-सी नही है। तथापि विकास की न्यूनाधिकता या कमीवेशी के अनुसार सक्षेप में जीवों के और उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं-१ अल्प विकासवाले प्राणी, जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही सीमित है। वे प्रेय मार्ग में ही आनद मानते हैं जब कि- २ अधिक विकासवाले प्राणी, जो बाह्य (भौतिक साधनों) सपत्ति में सुख न मानकर सिर्फ आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं। वे श्रेय मार्ग के पुजारी होते हैं। इन दोनों वर्ग के माने हुए सुख में अन्तर इतना ही है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा सुख स्वाधीन है। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म और अर्थ तो उसके साधन हैं। साधन के बिना साध्य सिद्ध नही हो सकता। इन दोनों में कार्य-कारणभाव समाविष्ट है। इन दो साधनों के द्वारा ही प्राणी असख्य प्रकार की विचारधारा में परिणमन करता रहता है। चाहे विचारधारा शुभ हो या अशुभ हो। किन्तु आत्मा का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असख्य विचार धाराओं को समझना अत्यधिक कठिन होने के कारण ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया हैं। वे चार भाग ही ध्यान की संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

ध्यान का आगमिक वर्गीकरण : आगम में मुख्यत- ध्यान के चार ही भेद बताये हैं।[१] (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

आगम के अनुसार इन चार ध्यानों के क्रमश ८+८+१६+१६ = ४८ भेद माने गये हैं।

आर्तध्यान के चार भेद : जैनागम में आर्तध्यान के चार भेद किये गये हैं[२] (१) अमनोज्ञवियोगचिन्ता, और (२) मनोज्ञ अवियोग चिन्ता, (३) आतक (रोग) और (४) भोगेच्छा अथवा निदान।

(१) अमनोज्ञवियोगचिन्ता : अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर- अग्नि, जल, धतुरा, अफीम आदि का विष, जलचर प्राणी, स्थलचर प्राणी, वनजन्य क्रूर प्राणी सिंह व्याघ्रादि, सर्प, बिच्छु, खटमल, जू आदि, गिरि कन्दरा आदि, तीर, भाला, बर्छी, तलवार आदि शस्त्र, दुष्ट राजा, शत्रु, वैरी, दुर्जन, मद्य, मांस, मंत्र, तत्र, मारण, मूठ, उच्चाटन आदि दुष्ट प्रयोग, चोर, डाकू आदि का मिलन, भूत, प्रेत, व्यंतरादि देवों के श्रवण मात्र से एवं अन्य विविध प्रकार के वस्तुओं के तथा व्यक्तियों के सुनने देखने, जानने मात्र से ही मन में क्लेश होना एव इन सबका सयोग होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना ही प्रथम अमनोज्ञवियोगचिन्ता नामक आर्तध्यान है[३]।

(२) मनोज्ञअवियोगचिन्ता : पांचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषय एवं माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी, पुत्र, मित्र, स्वजन, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माडलिक राजा आदि का राज्य वैभव प्राप्त हो, सामान्य राज्य वैभव प्राप्त हो, भोग भूमि के अखड सुख सौभाग्य की प्राप्ति हो, प्रधान मत्री, मुख्य सेनापति आदि की पदवियाँ प्राप्त हो, मनुष्य देव सबधी कामभोगों की प्राप्ति हो, नवयुवतियों का संयोग हो, पर्यंक पलंग आदि शय्या, अश्व, गज, रथ, कार आदि विविध वाहनों का योग हो, चन्दन, अत्तर, सुगंधित तेल आदि मोहक पदार्थों की प्राप्ति हो, रत्न एव सुवर्ण जड़ित अनेक प्रकार के आभूषण तथा गहने प्राप्त हो, धन धान्यादि की विपुल प्राप्ति हो - इन सभी पदार्थों एवं वस्तुओं का सयोग होने पर सातावेदनीय कर्म के उदय से उनके वियोग न होने का अध्यवसाय करना तथा भविष्य में भी उनका वियोग न हो ऐसा, निरन्तर चिन्तन करना द्वितीय आर्तध्यान है। इसके अतिरिक्त भोगों का नाश, मनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों का प्रध्वस, व्यापारादि में हानि, काल ज्ञानविषयक ग्रन्थ, स्वरादि लक्षणों, ज्योतिष आदि विद्या से अल्प आयु का ज्ञान होने पर चिन्तित होना, स्वजन के छोड जाने से मूर्च्छित होना, मित्रादि के वियोग से दु खी होना, मृत्यु का चिन्तन करना, धन, सपत्ति का अपहरण होने पर खिन्न होना, यश, कीर्ति, मान, सन्मान के लिए प्रयत्नशील रहना। प्रतिष्ठा के लिए धनादि का अधिक व्यय करना, दुर्बलता एव दरिद्रता के कारण पश्चाताप करना, मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना और उनकी प्राप्ति के बाद उनके वियोग की निरन्तर चिन्ता करना ही मनोज्ञ अवियोग चिन्ता नामक द्वितीय आर्तध्यान है[४]।

(३) आतंक (रोग) (रोग वियोग चिन्ता) : वात, पित्त, कफ, के प्रकोप से होने-वाले भयकर कठमाला, कोढ, राजयक्ष्मा-क्षय, अपस्मार-मूर्छा-मृगी, नेत्ररोग, शरीर की जड़ता, लूला लगडा होना, कुब्जकुबडा होना, उदररोग-जलोदरादि, मूक, सोजनशोथ, भस्मक रोग, कम्पन, पीठ का झुकना, श्लीपद (पैर का कठन होना), मधु-मेह-प्रमेह-इन सोलह महारोगों से उत्पन्न पीड़ा और कष्ट अति दु खदायक होती है। ये ही पाप बन्ध का कारण है। मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड़ रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम में पौने दो रोग कहे जाते हैं। जब तक मनुष्य के सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक रोगों की अनुभूति नही होती। परतु जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि इन सोलह रोगों में से किसी भी एक रोग का विपाक होता है। रोग के विपाक होते ही उसके भयकर वेदना से मन व्याकुल हो जाता है। उसे दूर करने के लिए प्रयत्न शुरू किये जाते हैं। नाना प्रकार के आरम्भ, समारम्भ, छेदन, भेदन, पचन, पाचन आदि क्रियायें की जाती है। इस प्रकार रोग के विपाक होने पर उसके वियोग का सतत चिन्तन करना ही आतक नामक तीसरा आर्तध्यान है[६]।

(४) भोगैच्छा अथवा निदान : पाचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ (आँख, कान) कामी हैं तथा शेष तीन इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन इन्द्रियों द्वारा अर्थात् श्रोतेन्द्रिय द्वारा राग-रागिनी का श्रवण, किन्नरियों का गायन, वाद्यादि के मनोहर राग सुनने के भाव उत्पन्न होना एव उसमें आनन्द मानना, चक्षुरिन्द्रिय से नृत्य, सोलह श्रृगारों से सुसज्जित स्त्री, विभिन्न मनोहर रमणीय दृश्यों एवं चित्रों को देखना, घ्राणेन्द्रिय से इत्र पुष्पादि सुगधित पदार्थों को सूघना, रसेन्द्रिय से षट् रस भोजन एवं अभक्ष्य सेवन की भावना होना तथा भक्षण करना, स्पर्शेन्द्रिय से शयनासन, वस्त्र एव आभूषण आदि विलासमय भोगों को भोगने की भावना होना ही भोगैच्छा अथवा भोगार्त्त नामक चतुर्थ आर्तध्यान है।

इसका दूसरा नाम निदान भी है। तप-जप के फल रूप में देवेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि ऋद्धि, राज्य की प्राप्ति , इन्द्र पदवी की इच्छा, विद्याधरों का आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोगने योग्य भोग, स्वर्ग सम्पदा, स्वर्ग लक्ष्मी, संसार का विपुल वैभव, देवागना का सुख विलास, पूजा, मान-सन्मान, यश कीर्ति की कामना, क्रोधाग्नि से दूसरे का अहित करने की भावना, कुलविनाशक भावना की कामना करना ही निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है[८]।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान ससारवर्धक राग-द्वेष-मोहादि से कलुषित जीव को होता है। यह ससारवर्धक, तिर्यंचगति का कारण एव रागद्वेषमोहादि भाव का जनक होने से ससारवृक्ष का बीज है[९]।

लक्षण शब्द के विभिन्न अर्थ : कोशों में[१०] लक्षण शब्द अनेक अर्थों में मिलता है। यथा, किसी वस्तु की विशेषता, जिससे वह पहचाना जाय/रोग की पहचान/नाम/ परिभाषा/दर्शन/सारसपक्षी/शरीरपर का कोई शुभ या अशुभ चिह्न/सामुद्रिक/लच्छन/ उपाधि/विशिष्टता/उत्तमता/लक्ष्य, उद्देश्य/आकार, प्रकार, किस्म/कार्य, क्रिया / कारण/विषय, प्रसग/बहाना आदि।

आर्तध्यान के चार लक्षण - आर्तध्यान के चारों भेदों में से किसी भी एक की प्रबलता होने से सकर्मी (भारी-कर्मी) जीवों में कर्मों की प्रबलता के कारण अथवा अपने स्वभाव के कारण चार अवस्थाए (लक्षण) उत्पन्न होती हैं जो निम्नलिखित हैं-[११] (१) कदणया (क्रन्दनता) (२) सोयणया (शोचनता) (३) तिप्पणया (तेपनता) (४) परिदेवणया (परिदेवनता)

(१) कदणया : ऊचे स्वर से रोना, चिल्लाना या आक्रन्दन करना।

(२) सोयणया : शोच = चिन्ता करना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, चिन्तामग्नावस्था में बैठे रहना, पागलवत् कार्य करना, मूर्च्छित होना, दीनता भाव से आँख में आसू लाना आदि।

(३) तिप्पणया : वस्तु विशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष [illegible] करना, क्रोध करना, व्यर्थ की बातें बनाना, अप्रियकारी शब्दोच्चार करना आदि।

(४) परिदेवणया : माता, पिता, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्नेही आदि की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को तोड़ना, अगों को पछाड़ना, महान अनर्थकारी शब्दों का उच्चारण करना तथा क्लेश एव दयाजनक भाषा बोलना आदि।

इस प्रकार आगमकथित आर्तध्यान के ४ भेद + ४ लक्षण = ८ भेद होते हैं।

इन आगमिक चार लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्तध्यान के और भी लक्षण प्राप्त होते हैं[१२] -बातों बातों (बात-बात) में शका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य कार्य, ईर्ष्या वृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रान्ति, विषय सेवन की उत्कठा, निरन्तर रोना, (निद्रा लेना) अग में जड़ता का होना, शिथिलता, कायरता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा, निन्दक प्रवृत्ति, दूसरे की संपत्ति को देखकर विस्मित होकर प्रशसा करना, उसे पाने की अभिलाषा करना, मन में जलना, कुढना, धन में आसक्ति रखना, इन्द्रियविषयों में आसक्त होना, शुद्ध धर्म से परागमुख होना, जिन वचन का अनादर करना, देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा न होना आदि।

(३) आतंक (रोग) (रोग वियोग चिन्ता) : वात, पित्त, कफ, के प्रकोप से होने-वाले भयकर कठमाला, कोढ, राजयक्ष्मा-क्षय, अपस्मार-मूर्छा-मृगी, नेत्ररोग, शरीर की जड़ता, लूला लगडा होना, कुब्जकुबडा होना, उदररोग-जलोदरादि, मूक, सोजनशोथ, भस्मक रोग, कम्पन, पीठ का झुकना, श्लीपद (पैर का कठन होना), मधु-मेह-प्रमेह-इन सोलह महारोगों से उत्पन्न पीड़ा और कष्ट अति दु खदायक होती है। ये ही पाप बन्ध का कारण है। मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड़ रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम में पौने दो रोग कहे जाते हैं। जब तक मनुष्य के सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक रोगों की अनुभूति नहीं होती। परतु जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि इन सोलह रोगों में से किसी भी एक रोग का विपाक होता है। रोग के विपाक होते ही उसके भयकर वेदना से मन व्याकुल हो जाता है। उसे दूर करने के लिए प्रयत्न शुरू किये जाते हैं। नाना प्रकार के आरम्भ, समारम्भ, छेदन, भेदन, पचन, पाचन आदि क्रियायें की जाती है। इस प्रकार रोग के विपाक होने पर उसके वियोग का सतत चिन्तन करना ही आतक नामक तीसरा आर्तध्यान है[६]।

(४) भोगैच्छा अथवा निदान : पाचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ (आँख, कान) कामी हैं तथा शेष तीन इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन इन्द्रियों द्वारा अर्थात् श्रोतेन्द्रिय द्वारा राग-रागिनी का श्रवण, किन्नरियों का गायन, वाद्यादि के मनोहर राग सुनने के भाव उत्पन्न होना एव उसमें आनन्द मानना, चक्षुरिन्द्रिय से नृत्य, सोलह श्रृगारों से सुसज्जित स्त्री, विभिन्न मनोहर रमणीय दृश्यों एव चित्रों को देखना, घ्राणेन्द्रिय से इत्र पुष्पादि सुगधित पदार्थों को सूघना, रसेन्द्रिय से षट् रस भोजन एवं अभक्ष्य सेवन की भावना होना तथा भक्षण करना, स्पर्शेन्द्रिय से शयनासन, वस्त्र एव आभूषण आदि विलासमय भोगों को भोगने की भावना होना ही भोगैच्छा अथवा भोगार्त्त नामक चतुर्थ आर्तध्यान है।

इसका दूसरा नाम निदान भी है। तप-जप के फल रूप में देवेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि ऋद्धि, राज्य की प्राप्ति , इन्द्र पदवी की इच्छा, विद्याधरों का आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोगने योग्य भोग, स्वर्ग सम्पदा, स्वर्ग लक्ष्मी, ससार का विपुल वैभव, देवागना का सुख विलास, पूजा, मान-सन्मान, यश कीर्ति की कामना, क्रोधाग्नि से दूसरे का अहित करने की भावना, कुलविनाशक भावना की कामना करना ही निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है[८]।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान ससारवर्धक राग-द्वेष-मोहादि से कलुषित जीव को होता है। यह ससारवर्धक, तिर्यंचगति का कारण एव रागद्वेषमोहादि भाव का जनक होने से ससारवृक्ष का बीज है[९]।

लक्षण शब्द के विभिन्न अर्थ : कोशों में[१०] लक्षण शब्द अनेक अर्थों में मिलता है। यथा, किसी वस्तु की विशेषता, जिससे वह पहचाना जाय/रोग की पहचान/नाम/ परि-भाषा/दर्शन/सारसपक्षी/शरीरपर का कोई शुभ या अशुभ चिह्न/सामुद्रिक/लच्छन/ उपाधि/विशिष्टता/उत्तमता/लक्ष्य, उद्देश्य/आकार, प्रकार, किस्म/कार्य, क्रिया / कारण/विषय, प्रसग/बहाना आदि।

आर्तध्यान के चार लक्षण - आर्तध्यान के चारों भेदों में से किसी भी एक की प्रबलता होने से सकर्मी (भारी-कर्मी) जीवों में कर्मों की प्रबलता के कारण अथवा अपने स्वभाव के कारण चार अवस्थाएं (लक्षण) उत्पन्न होती हैं जो निम्नलिखित हैं-[११] (१) कदणया (क्रन्दनता) (२) सोयणया (शोचनता) (३) तिप्पणया (तेपनता) (४) परिदेवणया (परिदेवनता)

(१) कंदणया : ऊंचे स्वर से रोना, चिल्लाना या आक्रन्दन करना।

(२) सोयणया : शोच = चिन्ता करना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, चिन्तामग्नावस्था में बैठे रहना, पागलवत् कार्य करना, मूर्च्छित होना, दीनता भाव से आँख में आंसू लाना आदि।

(३) तिप्पणया : वस्तु विशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष [illegible] करना, क्रोध करना, व्यर्थ की बातें बनाना, अप्रियकारी शब्दोच्चार करना आदि।

(४) परिदेवणया : माता, पिता, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्नेही आदि की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को तोड़ना, अगों को पछाड़ना, महान अनर्थकारी शब्दों का उच्चारण करना तथा क्लेश एव दयाजनक भाषा बोलना आदि।

इस प्रकार आगमकथित आर्तध्यान के ४ भेद + ४ लक्षण = ८ भेद होते हैं।

इन आगमिक चार लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्तध्यान के और भी लक्षण प्राप्त होते हैं[१२] -बातो बातों (बात-बात) में शंका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य कार्य, ईर्ष्या वृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रान्ति, विषय सेवन की उत्कठा, निरन्तर रोना, (निद्रा लेना) अग में जड़ता का होना, शिथिलता, कायरता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा, निन्दक प्रवृत्ति, दूसरे की सपत्ति को देखकर विस्मित होकर प्रशसा करना, उसे पाने की अभिलाषा करना, मन में जलना, कुढना, धन में आसक्ति रखना, इन्द्रियविषयों में आसक्त होना, शुद्ध धर्म से परागमुख होना, जिन वचन का अनादर करना, देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा न होना आदि।

रौद्रध्यान के चार भेद : आगमकथित रौद्रध्यान के चार प्रकार इस प्रकार हैं[१३] (१) हिंसानुबधी (२) मृषानुबधी (३) स्तेयानुबधी और (४) सरक्षणानुबधी। आगमेतर ग्रन्थों में इन्ही विषयों के अनुसार थोड़े से नामों की भिन्नता को लिए हुए नाम मिलते हैं। यथा (१) हिंसानद (हिंसानन्दि, हिंसानुबन्धी) (२) मृषानद (मृषानन्दि, अनृतानुबन्धी) (३) चौर्यानन्द (चौर्यानन्दि, स्तेयानुबन्धी) और (४) सरक्षणानद (विषयानन्दि, विषय-सरक्षणानुबधी) इन चार भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान : एकेन्द्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्व तथा पर से छेदन, भेदन, ताड़न, मारन, तापन, बन्धन, प्रहार, दमन आदि की प्रवृत्ति करना, नभचर-कौवा, तोता, कबूतर आदि पक्षी, जलचर-मगरमच्छ, मत्स्य आदि जन्तु, स्थलचर-गाय, भैस, सिंह, वाघ, हाथी, घोडा, बैल आदि पशुओं के कान, नाक आदि बीधना, जजीर आदि से बाधना, तलवार आदि शस्त्रों से प्राणरहित करने में आनद मनाना, हिंसक प्रवृत्ति में सतत कुशल रहना, पापकारी कार्य में प्रवीण, क्रूर, निष्ठूर, निर्दय लोगों से मैत्री करना अर्थात् सतत उनके साथ रहना, प्राणियों को कैसे मारा जाय? उसके लिए कौन से उपाय किये जाए? इसमें कौन चतुर है? इस प्रकार का सकल्प-विकल्प करना, अश्वमेघ यज्ञ, गोमेघयज्ञ, अजमेघयज्ञ, नरमेघयज्ञ आदि यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करके आनद मनाना, उन्हें जलते हुए देखकर प्रसन्न होना, खुशी मनाना, निरापराध जन्तुओं को पीड़ित करके खुश होना, शान्ति स्थापित करने के लिए ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि की स्वार्थ बुद्धि से पूजा एव स्मरण करने का सकल्प करना, जीवों को बन्धन में बाधकर, शत्रु को शक्तिहीन कर, युद्ध में जय विजय पराजय की भावना कर आनन्दित होना, कत्लखाने में प्राणियों के करुण क्रन्दन को सुनकर देखकर अत्यधिक आनन्दित होना, शूली पर चढ़ते हुए जीव की वेदना को देखकर विचार करे, कि अच्छा हुआ, इसे ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये था, बड़ा जुल्मी था, पापी था, क्रूर था, निर्दयी था, हिंसक था, अच्छा हुआ मर गया। शिल्पकारों की कलाओं से प्रसन्न होकर हिंसक प्रवृत्ति में रस लेना। डास-मच्छर, सर्प, बिच्छु आदि विषैले प्राणियों को दवा आदि से खत्म करके आनन्दित होना तथा चक्की, हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, उखल, मूसल, सरोता, हासिया, हथौड़ा, कैंची, बन्दूक, तलवार, चाकू आदि अनावश्यक वस्तुओं का सग्रह करके जीवों की हिंसा करने में खुशी मनाना। ये सभी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान हैं। ये सभी बातें रौद्रध्यान के प्रथम भेद में आती हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यावृत्ति, मायावृत्ति, हिंसक शस्त्र, वस्त्र, ग्रन्थ, होम आदि का निर्माण करना एव हमेशा हिंसाजनक वस्तुओं को उपयोग में लाने की भावना रखना हिंसानुबधी रौद्रध्यान है[१४]।

मृषानुबंधी रौद्रध्यान : यह दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिन्तन से होता है। व्यावहारिक कार्य के प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे को ठगने की भावना रखना, पाप करनेवाले

रौद्रध्यान के चार भेद : आगमकथित रौद्रध्यान के चार प्रकार इस प्रकार हैं[११] (१) हिंसानुबधी (२) मृषानुबधी (३) स्तेयानुबधी और (४) सरक्षणानुबधी। आगमेतर ग्रन्थों में इन्ही विषयों के अनुसार थोड़े से नामों की भिन्नता को लिए हुए नाम मिलते हैं। यथा (१) हिंसानद (हिंसानन्दि, हिंसानुबन्धी) (२) मृषानद (मृषानन्दि, अनृतानुबन्धी) (३) चौर्यानन्द (चौर्यानन्दि, स्तेयानुबन्धी) और (४) सरक्षणानद (विषयानन्दि, विषय-सरक्षणानुबधी) इन चार भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान : एकेन्द्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्व तथा पर से छेदन, भेदन, ताड़न, मारन, तापन, बन्धन, प्रहार, दमन आदि की प्रवृत्ति करना, नभचर-कौवा, तोता, कबूतर आदि पक्षी, जलचर-मगरमच्छ, मत्स्य आदि जन्तु, स्थलचर-गाय, भैंस, सिंह, बाघ, हाथी, घोडा, बैल आदि पशुओं के कान, नाक आदि बींधना, जजीर आदि से बाधना, तलवार आदि शस्त्रों से प्राणरहित करने में आनद मनाना, हिंसक प्रवृत्ति में सतत कुशल रहना, पापकारी कार्य में प्रवीण, क्रूर, निष्ठूर, निर्दय लोगों से मैत्री करना अर्थात् सतत उनके साथ रहना, प्राणियों को कैसे मारा जाय? उसके लिए कौन से उपाय किये जाए? इसमें कौन चतुर है? इस प्रकार का सकल्प-विकल्प करना, अश्वमेघ यज्ञ, गोमेघयज्ञ, अजमेघयज्ञ, नरमेघयज्ञ आदि यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करके आनद मनाना, उन्हें जलते हुए देखकर प्रसन्न होना, खुशी मनाना, निरापराध जन्तुओं को पीड़ित करके खुश होना, शान्ति स्थापित करने के लिए ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि की स्वार्थ बुद्धि से पूजा एव स्मरण करने का सकल्प करना, जीवों को बन्धन में बाधकर, शत्रु को शक्तिहीन कर, युद्ध में जय विजय पताका की भावना कर आनन्दित होना, कत्लखाने में प्राणियों के करुण क्रन्दन को सुनकर देखकर अत्यधिक आनन्दित होना, शूली पर चढ़ते हुए जीव की वेदना को देखकर विचार करे, कि अच्छा हुआ, इसे ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये था, बड़ा जुल्मी था, पापी था, क्रूर था, निर्दयी था, हिंसक था, अच्छा हुआ मर गया। शिल्पकारों की कलाओं से प्रसन्न होकर हिंसक प्रवृत्ति में रस लेना। डास-मच्छर, सर्प, बिच्छु आदि विषैले प्राणियों को दवा आदि से खत्म करके आनन्दित होना तथा चक्की, हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, उखल, मूसल, सरोता, हासिया, हथौड़ा, कैंची, बन्दूक, तलवार, चाकू आदि अनावश्यक वस्तुओं का सग्रह करके जीवों की हिंसा करने में खुशी मनाना। ये सभी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान हैं। ये सभी बातें रौद्रध्यान के प्रथम भेद में आती हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यावृत्ति, मायावृत्ति, हिंसक शस्त्र, वस्त्र, ग्रन्थ, होम आदि का निर्माण करना एवं हमेशा हिंसाजनक वस्तुओं को उपयोग में लाने की भावना रखना हिंसानुबधी रौद्रध्यान है[१४]।

मृषानुबंधी रौद्रध्यान : यह दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिन्तन से होता है। व्यावहारिक कार्य के प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे को ठगने की भावना रखना, पाप करनेवाले

को सहयोग देना, अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन तथा असत् अर्थ का सतत प्रकाशन करना, सत् अर्थ का अपलाप करना, निर्दोष व्यक्तियों को दोषी ठहराने का प्रयत्न करना, सत्यमार्ग से उन्मुख होना, ठग विद्या के शास्त्रों का संग्रह करना एवं निर्माण करना, व्यसनी होना, चतुराई से दुसरों को ठगना तथा असत्य बल से राजा, प्रजा, सेठ, साहुकार, भोले जीवों को परेशान करना, असत्य वचन का सतत प्रयोग करना, शत्रुओं का दूसरों के द्वारा घात करने की भावना करना, वाक् कुशलता से वांछित प्रयोजन हेतु मूढजनों को संकट में फसाना, बूढ़े, रोगी, नपुंसक आदि का विवाह करवाना, दूसरों के साथ विश्वासघात करना, गाय, घोड़ा आदि पशुओं की, तोता मैना आदि पक्षियों की एवं खेत, बाग, कुवा आदि की झूठी प्रशंसा करके प्रपंच फैलाकर, बुरे को अच्छा बताकर, अच्छे को बुरा बताकर इन सबका क्रय विक्रय करना, करवाना, झूठी गवाही देना, झूठे लेख लिखाना, धन, मकान आदि का अपहरण करना, करवाना, व्यापार एवं अन्य कार्य में दगल बाजी से दूसरे को ठगने का प्रयत्न करना, उसमें प्रसन्न होना, अपना मनमाना मिथ्यापंथ चलाना, वीतराग प्ररूपित शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य कल्पित ग्रन्थों की रचना करना, करवाना, इन ग्रन्थों द्वारा भोली जनता को भ्रम में डालना, दया में पाप बताना, हिंसा मार्ग का समर्थन करना, दूसरे की चुगली खाने का सोचना, दूसरे की नापसंद बात को किसी के सामने नमक मिर्च लगाकर कह देने की उग्र व क्रूर इच्छा करना, तिरस्कार वचन, गाली, अपशब्द या अधम असभ्य शब्द सुना देने का सोचना, दूसरों के पास से येनकेन प्रकार से स्वार्थ साधने के लिए संकल्प करना, असत्य को सत्य करके लोगों के गले बात उतारना, सतत मायामृषावचन मन में घड़ता रखना, बहिरे, अन्धे, लूले, अपंग, कोढ़ी आदि लोगों की हंसी मजाक करना, करवाना, निर्दोषियों में दोष समूह को सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्य के प्रभाव से अपने दुश्मनों का राजा के द्वारा अथवा अन्य किसी के द्वारा घात कराने का संकल्प करना, मूर्ख प्राणी को चतुराई के वचनों द्वारा ठगने में मैं चतुर हूं - ऐसा सोचना, विचार करना तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणता से बड़े अकार्यों में प्रवर्तेंगे ही, इसमें कोई संदेह नहीं, ऐसे विचार करना, अनेक प्रकार के असत्य संकल्पों से प्रमोद भाव पैदा करना, यह दुष्टात्मा हमेशा असत्य बोलकर मेरा नाश करता है, इसलिए असत्य भाषण से यह दुष्टात्मा वध बंधादि को प्राप्त होगा ऐसा सतत चिन्तन करना, ज्ञानी, ध्यानी शीलवान व्यक्तियों से सतत ईर्ष्या करना, पागल आदि को देखकर उन्हें सताना, चिढ़ाना, उन्हें चिढ़ते हुए देखकर अत्यधिक आनंदित होना, जुआ, ताश, शतरंज आदि खेलों में स्वभावतः झूठ बोलना, व्यर्थ की बकवाद करना, हस्तकौशलादि कार्यों में मंत्र तंत्र यंत्रादि के आडम्बर द्वारा अपनी प्रतिष्ठा सुनने में आनन्दित होना आदि इन सभी प्रवृत्तियों को करते हुए आनन्दित होना मृषानुबंधी रौद्रध्यान अथवा मृषानंद रौद्रध्यान है[२५]।

(३) स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान : तीसरे प्रकार का रौद्रध्यान चोरी के क्रूर चिन्तन में

से उत्पन्न होता है। "दूसरे के पैसे, दूसरे का माल, दूसरे की पत्नी पुत्रादि, दूसरे की जायदाद, धन धान्य, मकान, गाय, भैंस आदि पशुओं को कैसे हजम करू, कैसे प्राप्त करू, किस तरह हड़प कर लू, रत्न, सोना, चादी, हीरा, माणेक, मोती, आभूषणों को किस उपाय से प्राप्त करू, एव परकीयों का धन किस उपाय से ग्रहण किया जा सकता है," ऐसे क्रूर चिन्तन में सतत तन्मय होना स्तेयानुबधी रौद्रध्यान है। उसके उपायों का विचार, दावपेच लगाने का विचार करना, सामने वाले की नजर बचाने, आँखों में धूल डालने आदि की तन्मय विचारधाराओं में चढ़ना एव चोरी के कार्यों के उपदेश की अधिकता तथा चौर्य कर्म में चतुरता, चोरी के प्रत्येक कार्यों में तत्परता (तन्मयता) होना, जीवों के चौर्यकर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न होना तथा चोरी करके भी निरतर आनन्दित एव हर्षित होना, दूसरा कोई चोरी का कार्य करता हो तो हर्ष मानना, स्वय एव दूसरे के चौर्य कला, कौशलता की प्रशसा करना, दूसरों की बहुमूल्य वस्तुओं को ठगाई (बल) से प्राप्त करना, सारभूत द्विपद, चतुष्पद जीवों को सामर्थ्यबल से अपना बनाकर भोगना एव सतत चौर्य कृत्य का चिन्तन, परधन हरण की चिन्ता मन, वचन, काय से स्वय करना, कराना, अनुमोदना देना इन सबको करते हुए आनन्दित होना ही स्तेयानुबधी अथवा चौर्यानदि एव तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है[१६]।

(४) संरक्षणानुबधी रौद्रध्यान : इसमें धन सरक्षण में मशगूल होकर उसका उग्र चिन्तन होता है। जीव को अच्छे-अच्छे शब्दादि (शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श) विषयों की प्राप्ति तथा भोग बहुत पसंद है। इससे उसके साधन रूप, धन, वैभव की प्राप्ति व रक्षा में वह तत्पर रहता है, आरभ परिग्रह की रक्षा हेतु एव अपने कुटुम्ब परिवार की रक्षा हेतु, दास दासी, धन धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण, गाय, भैंस, बैल आदि पशु, तोता, मैना आदि पक्षी एव आधुनिककालीन विभिन्न भोग सामग्री को पाकर उनकी रक्षा हेतु निरन्तर चिन्तित रहना सरक्षणानुबधी रौद्रध्यान है। इसके अतिरिक्त क्रूर आशय से शत्रुओं का सहार करने की तीव्र भावना, ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि को दग्ध करने की तीव्र इच्छा होना, निष्कटक राज्य को प्राप्त करने की अभिलाषा होना, राजा बनने की भोगेच्छा होना, स्वय को प्रबल प्रतापी घोषित करना, धनादि को तिजोरी आदि में रखूं ताकि कोई न ले, एव अग्नि चोरादि का उपद्रव न हो, मैला कुचैला पागल सा रहने से कोई मेरा पीछा न करे, किसी से भी मैत्री न रखू ताकि उनकी बात न सुननी पड़े, मितव्ययता से जीवन चलाऊ, कम मूल्य की वस्तु खरीदू आदि विविध उपायों से द्रव्य की रक्षा करने की भावना रखना, कुटुम्ब परिवार को हमेशा खुश रखूं ताकि वे हर समय काम में आये, मकान आदि की सफाई रखूं जिससे गिरे नही, प्राण हानि न हो इस प्रकार विविध प्रकार से सम्पत्ति और सतति के रक्षणार्थ विचार करना यह भी विषयसंरक्षण रौद्रध्यान ही है। और भी शरीर रक्षा

की दृष्टि से शीत, उष्ण, वर्षाऋतु में उपयोगी वस्त्र, अन्न, मकानादि की रक्षा की भावना रखना, शत्रुरक्षार्थ शस्त्रों एव सुभटों की रक्षा का उपाय सोचना, उसमें सतत चिन्तित रहना, वातपित्तकफ आदि रोगों से उत्पन्न आधि व्याधि को दूर करने के लिए सतत औषधोपचार, व्यन्तरादि देवों के उपद्रवों से मन्त्रादि द्वारा शरीर को सुरक्षित रखने की चिन्ता करना, स्वय सुखी रहने की सतत भावना रखना, हृष्ट पुष्ट काय को देखकर हर्षित होना, अभक्ष्यादि पदार्थों द्वारा शरीर को पुष्ट करने की भावना रखना, स्वजन एवं सम्पत्ति, राजा, मित्रादि को नाश करने की क्रूर भावना रखना, उन्हें कष्ट में डालने के लिए विविध उपाय खोजना इस प्रकार शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि पदार्थों के संग्रह-रक्षण के लिए अतिशय संक्लेश परिणाम से मन को उपरोक्त सभी क्रियाओं में सलग्न (एकाग्र) करना ही संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है[१७]।

हिंसा, झूठ, चोरी और धन सरक्षण ये चारों प्रकार के रौद्र-ध्यान स्वय करे, दूसरों से कराये तथा करवाने को अनुमोदना दे इन तीनों के निमित्तादि का चिन्तन करना ही रौद्रध्यान है। रागद्वेषमोहादि से व्याकुल जीव को ही ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान होते हैं। ये चारों ही प्रकार रागद्वेषमोहजनित हैं, संसारवर्धक हैं तथा नरकगति की जड़ हैं[१८]।

रौद्रध्यान के चार लक्षण (चिह्न) रौद्रध्यान के आगम कथित चार प्रकार निम्न-लिखित हैं[१९]।

(१) ओसन्नदोष (२) बहुल दोष (३) अज्ञानदोष और (४) आमरणान्त दोष

(१) ओसन्नदोष : हिंसादि चारों भेदों में से किसी भी एक भेद में सतत प्रवृत्ति करना, बार-बार नाना भाति एव विभिन्न साधनों द्वारा पृथ्व्यादि के छेदन, भेदन क्रियाओं में सतत क्रियाशील रहना, हिंसक प्रवृत्ति अधिक रखना, स्थावर एव त्रस जीवों की हिंसा के लिए विभिन्न उपाय करना, झूठ पोषणार्थ अनेक पापजनक शस्त्र बनाना इस प्रकार पाँचों इंद्रियों के पोषण के लिए विविध उपायों को करना, करवाना ओसन्न दोष संबंधी रौद्रध्यान है।

(२) बहुल दोष : हिंसादि सभी साधनों की तथा रौद्र ध्यानों के चारों प्रकारों की अधिकाधिक इच्छा एव वैसी प्रवृति करना उसमें तृप्ति न होना बहुलदोष रौद्रध्यान है।

(३) अज्ञानदोष : रौद्रध्यान का स्वभाव ही सद्ज्ञान का नाश करना है। इससे मूढ़ता, अज्ञानता की वृद्धि होती है। सत्कार्य की प्रीति नष्ट होकर दुष्कार्य में संलग्नता उत्पन्न होती है। सत् शास्त्र श्रवण, सत्सगति में अप्रीति होती है तथा अरुचि जागती है। और भी २९ प्रकार के पापसूत्रों के अभ्यास में अज्ञानतावश प्रीति होती है। २९ प्रकार के पापसूत्र ये हैं[२०]- (१) भूमि कंपन (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) अंग स्फुरण

विचारणा एकार्थवाची नाम हैं[२४]। इसलिए विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करने का है, तथा इन चारों प्रकारों के नामकरण इस प्रकार हैं-[२५] १ आज्ञा विचय, २ अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४. सस्थान विचय।

(१) आज्ञा विचय धर्मध्यान। आज्ञा शब्द से आगम, सिद्धांत और जिनवचन को लिया गया है। ये तीनों ही एकार्थवाची नाम हैं।[२६] इसलिये सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखकर, उसमें प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सात भग, नौ तत्त्व, पाँच अस्तिकाय अथवा षट् द्रव्य, छह जीवनिकाय एवं अन्य आज्ञाग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप द्वारा निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२७]। वीतराग प्ररूपित तत्त्वों एव अन्य पदार्थों में से कोई समझ में न आये तो चिन्तवन करें कि "वीतराग प्ररूपित वचन सत्य एव तथ्य है। उन्होंने राग-द्वेष-मोह पर पूर्णत विजय मिलाई है। अत उनके वचन कदापि अन्यथा नही हो सकते।" फिर भी मति की दुर्बलता, ज्ञेय की गहनता, ज्ञानावरणादि कर्मों की तीव्रता होने से एव हेतु तथा उदाहरण सभव न होने पर भी नदी और सुखोद्यान आदि रमणीय स्थान में बैठकर ध्याता चिन्तवन करे कि "जिनवचन ही सत्य है। वह सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है (अमृत सा है), अजित है, अर्थगर्भित है, महान विषयवाला है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है तथा नय, भंगों एवं प्रमाण से ग्रहण जगप्रदीपस्वरूप जिनवचन का पालन सतत करना चाहिए।" इस प्रकार जिनवचनों का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन सतत करते रहना, उनके वचनों में सन्देह न करना तथा उसमें मन को सदा एकाग्र बनाये रखना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२८]। आगम को दो भागों में विभाजित किया गया है - अर्थसमूह रूप में और शब्दसमूह रूप में। शब्दसमूह रूप आगम गणधरप्रणीत हैं, जब कि अर्थसमूह रूप आगम सर्वज्ञप्रणीत (तीर्थंकर प्रणीत) हैं।[२९]

नय-प्रमाण का स्वरूप। प्रमाण से परिच्छिन्न अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाले (दूसरे अशों का प्रतिक्षेप किये बिना) अध्यवसाय
कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस
धर्मात्मक सिद्ध करता है, जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनत धर्मों में से
ग्रहण करता है। किन्तु अन्य धर्मों का खण्डन नही करता[३०]। इन दोनों
नय वस्तु के एक अश का बोध करता है और प्रमाण अनेक
अश समुद्र नहीं कहलाता, वैसे ही नयों को प्रमाण या
वीतरागाज्ञा में सुनय को ग्रहण किया गया है।

(५) उल्कापात (६) पक्षी स्वर (७) व्यजन, तिलमस सबधी (८) लक्षण एव सामुद्रिक-इन आठों के अर्थ, पाठ और भेद ८×३ = २४ रूप हुए (२५) कामकथा (२६) विद्यारोहिणी (२७) तत्र (२८) मत्र और (२९) अन्य मतवादियों के आचार विधान। कामविकारजन्य काव्य, ग्रन्थ, उपन्यास आदि पढ़ना, शृगारिक वस्तुओं का सग्रह करना एव उसमें अधिकाधिक रुचि रखना, हिंसक प्रवृत्ति में प्रीति रखना, देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप को न मानना, इन्द्रियों के पोषण में, कषायों के सेवन में ही धर्म मानना इत्यादि प्रकार के अनेक विचारों का होना 'अज्ञानदोष' नामक रौद्रध्यान है।

(४) आमरणान्तदोष : मृत्यु पर्यंत सतत क्रूर हिंसादि कार्यों में एव अठारह प्रकार के[२१] पाप कार्यों में (१ प्राणातिपात, २ मृषावाद, ३ अदत्तादान, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० राग, ११ द्वेष, १२ कलह, १३ अभ्याख्यान, १४ पैशुन्य, १५ परपरिवाद, १६ रति अरति, १७ माया-मृषावाद और १८ मिथ्यादर्शन शल्य) अनुरक्त रहना, पूर्वकृत पाप कार्यों का मृत्युशय्या पर रोते हुए भी पश्चात्ताप न होना, किन्तु निरतर मन, वचन, काय से हिंसक, घृणित एव निकृष्ट पापपूर्ण प्रवृत्ति में कार्यशील रहना ही 'आमरणान्त दोष' नामक रौद्रध्यान है।

इसके अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में बाह्य और आभ्यन्तर रूप से रौद्र ध्यान के लक्षण बताये हैं-

बाह्य रौद्रध्यान के लक्षण : हिंसादि उपकरणों का सग्रह करना, क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना-दुष्ट जीवों को प्रोत्साहन देना, निर्दयतादिक भाव, व्यवहार की क्रूरता, मन वचन काय प्रवृत्ति की निष्ठुरता एव ठगाई, ईर्ष्यावृत्ति, मायाप्रवृत्ति, क्रोध करना उसके कारण नेत्रों से अगार बरसना, भृकुटियों का टेढ़ा होना, भीषण रूप बनाना, पसीना आना, अग प्रत्यग कापना अनेक प्रकार के रौद्रध्यान के बाह्य लक्षण हैं[२२]।

आभ्यन्तर रौद्रध्यान के लक्षण : मन वचन काय से दूसरे का हमेशा बुरा सोचना, दुसरे की बढ़ती एवं प्रगति को देखकर सतत मन में जलना, दु:खी को देखकर आनन्दी होना, गुणीजनों को देखकर ईर्षा करना, इहलोक परलोक के भय से बेपरवाह रहना, पश्चात्तापरहित प्रवृत्ति होना, पापकार्य से खुश रहना, धर्म से विमुख होना, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म में श्रद्धा रखना आदि रौद्रध्यान के आभ्यन्तर लक्षण हैं[२३]।

इस प्रकार आगम कथित रौद्रध्यान के ४ + ४ = ८ भेद हुये।

धर्मध्यान : आगम कथित भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षानुसार धर्मध्यान के १६ भेद बताये हैं सो निम्नलिखित हैं-

धर्मध्यान के चार भेद : आज्ञा, अपाय, विपाक तथा सस्थान इनका भिन्नभिन्न विचय (विचार) अनुक्रम से करना ही धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। यहाँ विचय, विवेक,

विचारणा एकार्थवाची नाम हैं[२४]। इसलिए विचय नाम विचार करने अर्थात् चितवन करने का है, तथा इन चारों प्रकारों के नामकरण इस प्रकार हैं-[२५] १ आज्ञा विचय, २ अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४ सस्थान विचय।

(१) आज्ञा विचय धर्मध्यान । आज्ञा शद्व से आगम, सिद्धात और जिनवचन को लिया गया है। ये तीनों ही एकार्थवाची नाम हैं।[२६] इसलिये सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखकर, उसमें प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सात भग, नौ तत्त्व, पाँच अस्तिकाय अथवा षट् द्रव्य, छह जीवनिकाय एवं अन्य आज्ञाग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप द्वारा निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२७]। वीतराग प्ररूपित तत्त्वों एव अन्य पदार्थों में से कोई समझ में न आये तो चिन्तवन करें कि ''वीतराग प्ररूपित वचन सत्य एव तथ्य है। उन्होंने राग-द्वेष-मोह पर पूर्णत विजय मिलाई है। अत. उनके वचन कदापि अन्यथा नही हो सकते।'' फिर भी मति की दुर्बलता, ज्ञेय की गहनता, ज्ञानावरणादि कर्मों की तीव्रता होने से एव हेतु तथा उदाहरण सभव न होने पर भी नदी और सुखोद्यान आदि रमणीय स्थान में बैठकर ध्याता चिन्तवन करे कि ''जिनवचन ही सत्य है। वह सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है (अमृत सा है), अजित है, अर्थगर्भित है, महान विषयवाला है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है तथा नय, भगों एव प्रमाण से ग्रहण जगप्रदीपस्वरूप जिनवचन का पालन सतत करना चाहिए।'' इस प्रकार जिनवचनों का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन सतत करते रहना, उनके वचनों में सन्देह न करना तथा उसमें मन को सदा एकाग्र बनाये रखना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२८]। आगम को दो भागों में विभाजित किया गया है - अर्थसमूह रूप में और शब्दसमूह रूप में। शब्दसमूह रूप आगम गणधरप्रणीत हैं, जब कि अर्थसमूह रूप आगम सर्वज्ञप्रणीत (तीर्थंकर प्रणीत) हैं।[२९]

नय-प्रमाण का स्वरूप : प्रमाण से परिच्छिन्न अनतधर्मात्मक वस्तु के एक अश को ग्रहण करनेवाले (दूसरे अशों का प्रतिक्षेप किये बिना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस पदार्थ को अनत धर्मात्मक सिद्ध करता है, जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनंत धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। किन्तु अन्य धर्मों का खण्डन नही करता[३०]। इन दोनों में यही अन्तर है कि नय वस्तु के एक अश का बोध करता है और प्रमाण अनेक अशों का। समुद्र का एक देश अश समुद्र नही कहलाता, वैसे ही नयों को प्रमाण या अप्रमाण भी नही कह सकते।[३१] वीतरागाज्ञा में सुनय को ग्रहण किया गया है।

प्रत्येक वस्तु के मुख्यत दो अश होते हैं। (१) द्रव्य और (२) पर्याय। वस्तु को जो द्रव्यरूप से जाने वह द्रव्यार्थिकनय और जो वस्तु (पदार्थ) को पर्याय रूप से जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। मुख्य ये दो ही नय हैं- पर्यायार्थिक नय प्रतिक्षण उत्पाद-विनाश स्वभाव वाले हैं जब कि द्रव्यार्थिकनय स्थिर स्वभाव वाला है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद-नैगम, सग्रह और व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवभूत ऐसे चार भेद हैं। नैगमनय सामान्य - विशेषादि अनेक धर्मो को स्वीकारता है। सग्रहनय सामान्य को ही तात्त्विक मानता है, विशेष को नही। व्यवहारनय विशेष का ही प्रतिपादन करता है, सामान्य का नही। ऋजुसूत्र नय वर्तमानकालीन पर्याय को ही मानता है, फिर चाहे वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों। शब्द नय भी ऋजुसूत्रनय की भाति ही वर्तमानकालीन वस्तु को मानता है। यह अभिन्न लिंग एव वचन वाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है। इसका दूसरा नाम'साम्प्रत नय' भी है। समभिरूढ नय पर्याय भेद से अर्थ भेद को मानता है। इन्द्र, शुक्र, पुरदर आदि शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न करता है। शब्द नय अभिन्न लिंग एव वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है और समभिरूढ नय भिन्नार्थकता को मानता है। यही इन दोनों में अन्तर है। एवभूत नय उस-उस शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार उसे मानता है। इस प्रकार सातों नयों का[३२] स्वरूप सर्वज्ञ कथित है। इन सातों नयों को आगम में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय रूप में प्रतिपादित किया है। द्रव्यार्थिक नय के लिए ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, यथा व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परालबी, पराश्रित, परतत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वसी, भेद एव परलक्षी आदि। ऐसे ही द्रव्यार्थिकनय के लिए भी ग्रन्थों में अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, यथा निश्चय, शुद्ध , सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलबी, स्वाश्रित, स्वतत्र, स्वाभाविक, त्रिकालवर्ती, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी आदि । इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य आदि नयों का निरूपण करने वालों ने नयों का शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद करके उनके अन्तर्गत सात भेदों का विवेचन किया है और आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय और व्यवहारनय का प्रतिपादन किया है।[३३]

स्व और पर को निश्चित रूप से जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यहाँ 'स्व' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। जो ज्ञान अपने स्वरूप को और दूसरे घट-पट आदि पदार्थों को सम्यक् प्रकार से निश्चित रूप से जानता है, वही प्रमाण कहलाता है।[३४]

निक्षेप : प्रमाण और नय के अनुसार निक्षेप भी उतना ही प्रचलित है। ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है, किन्तु उन्हें जानते हुए ज्ञेयपदार्थ का जो भेद (अश खण्ड) करने में आता है उसे निक्षेप कहते हैं। उस अश को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। तथा उसके सम्पूर्ण पर्याय को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। निक्षेप नय का विषय है और नय निक्षेप

का विषय करने वाला (विषयी) है। जिनकथित निक्षेप चार हैं[३५]-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप। नामनिक्षेप में वस्तु या पदार्थ का नामकरण किया जाता है। स्थापना निक्षेप में असली वस्तु का स्थापन अर्थात् आरोप किया जाता है। स्थापना निक्षेप के दो प्रकार हैं- तदाकार और अतदाकार। इनमें मनोभावना की ही प्रबलता रहती है। द्रव्यनिक्षेप- जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्व रूप या उत्तर रूप हो वह । स्थापना निक्षेप में वस्तु का आरोपण किया जाता है (मूल वस्तु नहीं) और द्रव्यनिक्षेप में मूल वस्तु का ही आरोपण किया जाता है। यही इन दोनों में अन्तर है। जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति का निमित्त ठीक घटित हो वह भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों के द्वारा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय एवं जीवादि नौ तत्त्वों का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है। नाम और स्थापना ये द्रव्यार्थिकनय के निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिकनय की प्ररूपणा है।[३६] इस प्रकार जिनकथित निक्षेपों का सतत चिन्तन करना ही आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

अनेकान्त या स्याद्वाद या श्रुतज्ञान : श्रुतज्ञान का वास्तविक रूप ही अनेकान्त है। किसी भी वस्तु को उसके अनेक भागों से देखने की वृत्ति रखना ही अनेकान्त दृष्टि है। अनेकान्तदृष्टि एक प्रकार से प्रमाणनय निक्षेप पद्धति ही है। यह तत्त्वप्ररूपणा की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पद्धति है। पदार्थों की प्ररूपणा का मार्ग द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, देश, संजोग, पर्याय और भेद के आश्रित ही है। इन्हीं प्रकारों के द्वारा पदार्थों की प्ररूपणा की अनेकान्तदृष्टि योग्य मानी जाती है। श्रुतज्ञान द्रव्य और भाव से आचारांगादि ग्यारह अंगों का, रायपसेणीय आदि बारह उपांगों का तथा आग्रायणी आदि चौदह पूर्वों का। यही दृष्टिवाद है जो बारहवां अंग है। इसी प्रकार सामायिकादि प्रकीर्णकों का विस्तृत रूप ही श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञान बत्तीस आगम को द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार योगों में प्रतिपादित करता है अर्थात् यही सब श्रुतज्ञान हैं। श्रुतज्ञान "स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य , स्यात् अस्ति अव्यक्तव्य", स्यात् नास्ति-अवक्तव्य , स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य " इन सात भंग द्वारा वस्तु का स्वरूप सिद्ध करता है। यही अनेकान्त का स्वरूप है। अनेकान्त का लक्षण वस्तु 'स्व' रूप है और 'पर' रूप से नहीं है। इसको स्वतंत्र सिद्ध करना ही श्रुतज्ञान है। यहाँ अस्तित्व धर्म को लेकर ही कहीं विधि, कहीं निषेध और कहीं विधिनिषेध दोनों क्रम से और कहीं दोनों एक साथ वस्तु के साथ बताये गये हैं। 'स्याद्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा से। वस्तु किसी अपेक्षा से 'स्व'रूप है और किसी अपेक्षा से पर रूप है अर्थात नहीं है, ऐसा परस्पर विरुद्ध एव दो शक्तियों को अलग-अलग अथवा भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रकाशित करके वस्तु को पर से भिन्न स्वरूप में

दिखाना ही श्रुतज्ञान है। आत्मा सर्व द्रव्यों से अलग वस्तु है इसका प्रथमत श्रुतज्ञान से निर्णय करना ही जिनकथित अनेकान्त एव स्याद्वाद रूप ही है।[३७] इन सबका जिनाज्ञानुसार चिन्तवन करना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

नौ तत्त्व : जिनागम में वीतराग प्रभु ने नौ तत्त्वों का प्रतिपादन किया है [३८]- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष। जीव तत्त्व का लक्षण चेतना (उपयोग) है और अजीव तत्त्व चेतनारहित जड़ पदार्थ है। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल ये सब अजीव हैं। इनमें से पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष सब अरूपी हैं। जीव और अजीव ये दोनों ही पदार्थ अपने भिन्न स्वरूप के अस्तित्व से मूल पदार्थ है। इनके अतिरिक्त जो सात पदार्थ हैं वे जीव और अजीव पुद्गलों के सयोग से उत्पन्न हुये हैं। जब जीव के शुभ परिणाम होते हैं। तब उस शुभ परिणाम के निमित्त से पुद्गल में शुभ कर्मरूप शक्ति होती है अर्थात् जिसके उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य के दो भेद हैं। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य। जीव के अशुभ परिणामों के निमित्त से पुद्गल वर्गणाओं में अशुभ कर्म में परिणत होनेवाली शक्ति को अर्थात् जिसके उदय से दु ख की प्राप्ती हो, आत्मा को शुभ कार्यों से पृथक् रखे, उसे पाप कहते हैं। इसके दो भेद हैं - द्रव्यपाप और भावपाप। मोहरागद्वेष रूप जीव के परिणामों के निमित्त से मन वचन काय-योगों द्वारा पुद्गल कर्मवर्गणाओं का आगमन होना अर्थात शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं - द्रव्यास्रव और भावास्रव। जीव के मोहरागद्वेष परिणामों को रोकनेवाले भावों का निमित्त पाकर योगों द्वारा पुद्गल वर्गणाओं के आगमन का निरोध होना सवर है। इसके दो भेद हैं-द्रव्यसवर और भावसवर। आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्मपुद्गलों के बहिरग और अतरग तपों द्वारा एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं। द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। जीव के मोह-राग-द्वेष रूप स्निग्ध परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणा रूप पुद्गलों का जीव के प्रदेशों से (आत्मप्रदेशों से) परस्पर एकक्षेत्रावगाह करके सबध होना बंध है। बध के दो भेद हैं। द्रव्यबध और भावबध। सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। कही-कहीं पुण्य और पाप को आस्रव या बध तत्त्व में समाविष्ट करके सात तत्त्व कहे हैं।[३९] ससार में नौ ही तत्त्व हैं। सर्वज्ञकथित नौ तत्त्वों का सतत चिन्तन करना ही आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

छह जीवनिकाय : आगम में छह जीवनिकाय का इस प्रकार विभाजन किया गया है[४०] - पृथ्वीकाय, अप्काय (जल), तेजस्काय (अग्नि), वायुकाय (हवा), वनस्पतिकाय और त्रसकाय। ससारी जीव अनन्त हैं। इन अनन्त जीवों को छह जीवनिकाय में विभाजित किया गया है। और इन छह जीवनिकाय को सक्षेप से दो भागों में [४१] विभाजित किया है -

वह भी दो तरह से। पहला विभाग मन के संबंध और असंबंध पर निर्भर है अर्थात् मनवाले और मनरहित इस तरह दो विभाग किये हैं। जिनमें सकल संसारी का समावेश हो जाता है। दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर किया है - एक त्रस और दूसरे स्थावर। इस विभाग में भी सकल ससारी जीवों का समावेश हो जाता है। आगम में त्रस के दो प्रकार कहे हैं[४२]- लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नाम-कर्म के उदयवाले लब्धि त्रस हैं। ये ही मुख्य त्रस हैं, जैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव । स्थावर नाम-कर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस। ये उपचार मात्र से त्रस हैं, जैसे तेज कायिक और वायुकायिक। ये तो पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक सभी स्थावर कहलाते हैं। इस प्रकार छह जीवनिकाय का जिनाज्ञानुसार निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

षड् द्रव्य : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गला-स्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षट् द्रव्यों का जिनाज्ञानुसार चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इन सभी द्रव्यों का आगे विवेचन करेंगे।

इस प्रकार आज्ञाविचय धर्मध्यान में सिद्धान्तानुसार विभिन्न पहलुओं को लेकर चिन्तन किया जाता है। साराश यही है कि द्वादशाग वाणी के अर्थ के अभ्यास करने को आज्ञाविचय कहते हैं।

(२) अपायविचय धर्मध्यान : धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय है। इसमें रागादि क्रिया, कषाय क्रिया, मिथ्यात्वादि आस्रव क्रिया, हिंसादि क्रिया एव विकथा, परीषह आदि से इस लोक व परलोक में उत्पन्न अनर्थ कैसे हैं? इन क्रियाओं के करने से जीव दीर्घकालीन आधि, व्याधि, उपाधि को प्राप्त करके ससार वृद्धि करता है। इसका इसमें विचार किया जाता है कि मैं कौन हूं? कर्मों का आस्रव क्यों होता है? कर्मों का बध क्यों होता है? किन कारणों से निर्जरा होती है? संसारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है? मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्म क्षय कैसे हो सकता है? मिथ्यात्वत्वादि हेतु के कारण उत्पन्न कर्म कैसे निवारण होंगे? मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र से च्युत जीव कैसे मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होगा? सर्वज्ञ कथित सम्यग्दर्शनादि का पालन न करने से बद्धकर्मों के कारण जीव, जन्म, मरण, वेदना आदि का दुःख कैसे दूर करेगा? राग, द्वेष, मोह, कषाय एवं विषय विकारों से उत्पन्न अठारह पापस्थानों एवं तज्जनित दु ख, क्लेश, दुर्गति आदि अपाय के उपाय का चिन्तन करना ही अपाय विचय धर्मध्यान है। ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म समूह को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध करने का संकल्प ही अपायविचय धर्मध्यान है। क्योंकि जिनकथित मोक्ष मार्ग के अनुसार आचरण करने से सिद्धि निश्चय ही है। इस प्रकार अपाय और उपाय दोनों का आत्मा की सिद्धि के लिये निश्चय करना ही अपायविचय धर्मध्यान का लक्ष्य है।[४३]

आस्रव :- मन, वचन और काय के व्यापार को आस्रव कहते हैं। इसे ही योग कहते हैं अर्थात त्रिविध (मन, वचन, काय) क्रिया द्वारा आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द-हलन-चलन की क्रिया ही योग कहलाती है। जैसे सरोवर में जल आने के मार्ग अनेक होते हैं, वैसे ही कर्मबध के अनेक मार्ग हैं। योग को ही आस्रव कहा है। वह दो प्रकार का है, शुभास्रव और पापास्रव। अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्म के आस्रव हैं और इनके विपरित परिणाम पापकर्म के आस्रव हैं। अनुकम्पा आस्रव के तीन प्रकार हैं - १) धर्मानुकम्पा, २) मिश्रानुकम्पा, और ३) सर्वानुकम्पा। शुद्धोपयोग के भी दो प्रकार हैं - यति (श्रमण) शुद्ध सप्रयोग और २) गृहस्थ (श्रावक) शुद्ध सप्रयोग। यह क्रमश महाव्रत और अणुव्रत के पालन से पुण्यास्रव है। यह अशुभास्रव से बचने का उपाय है। हिंसादि आस्रव को दृढ़ व्रतों की अर्गलाओं से रोका जाता है। आस्रव के अपाय का चिन्तन करके सवर के उपाय में प्रवेश करना ही अपाय विचय धर्मध्यान है।[४४]

विकथा :- स्त्री, भक्त (भोजन), देश एव राज (चोरादि) की बातें करना विकथा है। स्त्रीकी विकथा करने से ब्रह्मचर्य में दोष लगता है। मानसिक विकृति के कारण साधक सयम मार्ग से पथभ्रष्ट हो जाता है, स्मृति विकृत हो जाती है और अन्ततोगत्वा शारीरिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लगती हैं। इसलिए शास्त्रकार ने स्त्री विकथा के चार प्रकार बताये हैं - १) स्त्री जाति कथा, २) स्त्री कुल कथा, ३) स्त्री रूप कथा और ४) स्त्री नेपथ्य कथा। इन चारों प्रकार की चर्चाओं से जो साधक बचने का प्रयत्न करता है, वह भद्र स्वभावी होता है। भक्त कथा में खाने-पिने के विषय में लम्बी-चौड़ी बातें करने का वर्णन है। सयमियों के लिये यह वर्ज्य है। भक्त कथा के भी चार प्रकार हैं - १ अवाय भक्त कथा (शाक घृतादि वस्तू का प्रमाण), २) निर्वाप भक्त कथा (अनेक प्रकार के रस, मेवे आदि), ३) आरभ भक्त कथा और ४) निष्ठान भक्त कथा (सामग्री के परिणाम से चीजें बनाना)। स्वाद विजेता के लिए भक्तकथा अपायजन्य है। इगालादि दोषों को उत्पन्न करने वाली है। आहार सज्ञा की जनक है। अत भोग लालसा से उत्पन्न दोषों का उपाय करना ही ध्यान है। तीसरी देशकथा के अतर्गत देशविदेश से सबधित चर्चा की जाती है। इसके भी चार भेद हैं - १) देश विधि कथा, २) देश विकल्प कथा, ३) देश छद कथा, और ४) देश नेपथ्य कथा। इस विकथा से रागद्वेषादि की उत्पत्ति होती है। अत साधक के लिये इन कथाओं का निषेध है। चौथी राज कथा के अन्तर्गत राजनीति, राजशोभा एव राजनिन्दा आदि की चर्चाएँ की जाती हैं। राजकथा भी चार प्रकार की है। १) अतियान कथा, २) निर्याण कथा, ३) बलवाहन कथा, और ४) कोष-कोठार कथा। राजकथा के करने से अनेक दोष लगते हैं। अत अपायविच्चय धर्मध्यान में इनका चिन्तन करके सुकथा का ध्यान करें। ये चारों ही प्रकार की विकथा अनर्थ को निर्माण करनेवाली हैं। इसलिए इनका चिन्तन करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।[४५]

गौरव :- ऐश्वर्य, सुख और रस को गौरव कहते हैं। अशुभ भावों से लोभ आदि कषायों से एवं अभिमान के कारण अपने को जिस भारीपन का अनुभव होता है उसे शास्त्रीय भाषा में गौरव कहा जाता है। जब किसी राजा, मत्री, सेठ, सेनापति आदि लौकिक पद एवं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेद आदि पदवियाँ मिलने पर अभिमान आना ऋद्धिगौरव है। रसानुभूति करने वाली सभी इद्रियों के विषय ही रस (सुख) गौरव हैं। जीवन में जितनी सुख भोगों की सामग्री है वह मुझे ही प्राप्त हो अन्य को नही यह साता (सुख) गौरव है। इन तीन प्रकार के गौरव (अभिमान) से नीच गोत्र का बध होता है। और भी साधक ऋद्धि गौरव से लोकैषणा, रस गौरव से निरणुकपी और सातागौरव से साधनाहीन बन जाता है। अत इनसे बचने का उपाय सोचना ही अपाय विचय धर्मध्यान है।[४६]

परीषह :- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मेल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन आदि की बाधा को परीषह कहते हैं। परिषह २२ हैं।[४७] इनके आगमन से बहुत दुःख भोगना पड़ता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में प्राय अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार आस्त्रव आदि की बुराइयों का चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

शल्य :- आगम में तीन शल्य बताये हैं-[४८] १) माया शल्य, २) निदान शल्य, और ३) मिच्छा दर्शन (मिथ्या दर्शन) शल्य। शल्य का अर्थ है पीड़ा देना। आँख या पैर में रजकण या काटा जाने से चैन नही पड़ता, वैसे ही ये तीन शल्य हैं, जो आत्मा के निजस्वरूप का भान नही होने देती। क्योंकि शारीरिक और मानसिक पीड़ा देने वाला कर्मों का उदय, क्षयोपशमादिरूप जो माया, मिथ्यात्व और निदान यह तीन प्रकार का शल्य जीवों को पीड़ा देता है।

हेतु :- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये पाँचों बध हेतुओं के रूप में प्रसिद्ध हैं।[४९] इन हेतुओं के अनर्थ भी भयंकर हैं। यथा -

मिथ्यात्व :- इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के उल्टे अर्थ वाला होता है।पदार्थों के अ-यथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। मूढ़ जीव प्रबल मिथ्यात्व के प्रभाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्ष को शरण मानता है। किन्तु अनादिकाल से जीव इसी कारण संसार में अनतानत बार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। मिथ्यात्व के कारण जीव का जो अनेक शरीरों में ससरण (परि-भ्रमण) होता है, उसे ही तो संसार कहते हैं। मिथ्यादर्शन मोहनीय कर्म के उदय के कारण

हिताहित का भान भी जीव को नही हो पाता है। वह तो मूढ़ावस्था के कारण अस्वर्ण को स्वर्ण मान बैठता है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को सुगुरु, सुदेव, सुधर्म मान लेता है।[५०]

मिथ्यात्व के अनेक भेद माने गये हैं -[५१] गृहीत, अगृहीत, सदेश, (अभिगृहीत, अनभिग्रहीत, सशयीत) अभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, अभिनिवेशिक, अनाभोगिक, अधर्म में धर्म सज्ञा, धर्म में अधर्म सज्ञा, उन्मार्ग में मार्ग सज्ञा, मार्ग में उन्मार्ग सज्ञा, अजीव में जीव सज्ञा, जीव में अजीव सज्ञा, असाधु में साधु सज्ञा, साधु में असाधु सज्ञा, अमुक्त में मुक्त सज्ञा और मुक्त में अमुक्त सज्ञा। ये सभी प्रकार के मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सदेह के अन्तर्गत आ जाते हैं। तीन सौ त्रेसठ पाखण्डी मत गृहीत मिथ्यात्व हैं, क्योंकि दूसरों को उपदेश आदि से लोग उसे ग्रहण करते हैं। किसी पाखडी देवता को उपदेशपूर्वक ग्रहण न करना अर्थात् जन्म से ही उसमें अभिरुचि होना अगृहीत मिथ्यात्व है। श्रुतज्ञान के एक भी अक्षर अथवा पद में रुचि न होने से सन्दिग्ध मिथ्यात्व होता है। जिसके मिथ्यात्व होता है, उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, और बुद्धि के मलिन हो जाने से वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाता है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों को करता है। इससे उसके कर्मों का आस्रव होता है, और कर्मों के आस्रव होने से उनकी आत्मा में कर्म-मल की राशि इकट्ठी हो जाती है। यह सारा मिथ्यात्व के कारण होता है। मिथ्यात्व से ग्रसित बुद्धि वाला जीव प्रशम सवेगादि गुणों से रहित होने के कारण इस जीवन में ही नरक जैसे दु ख प्राप्त करता है। नारक जीव को बाह्य तीव्र वेदना के कारण अन्तर्मन में भारी सताप एव दु ख होता है। इस सब मिथ्यात्व के कारण नरक तिर्यंच आदि गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है।[५२] इनका अनर्थ का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

अविरति :- विरति का अर्थ है त्याग और त्याग नही करना अविरति है, अर्थात् दोषों-पापों से विरत न होना। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच मूलभूत पाप हैं। इनका पूर्ण रूप से या आशिक रूप से भी त्याग न करना अविरति है।[५३] मिथ्यादृष्टि जीव में पाप से निवृत्त होने की भावना नही जागती जिसके कारण वह ससार में परिभ्रमण करता रहता है। छ काय जीवों की दया न करने से और छ इन्द्रियों के विषयभेद से अविरति बारह प्रकार की होती है।[५४]

प्रमाद :- प्रमाद का स्वरूप है आत्मविस्मरण होना, अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना। आगम एव अन्य ग्रन्थों में प्रमाद के पाँच छ, पन्द्रह, अस्सी एव ३७५०० भेद मिलते हैं।[५५] प्रमाद के कारण ही सरम्भ ,समारभ और आरभ की क्रियायें होती हैं। प्रमाद ससार बढ़ाने वाला है। अत यह सब पापों का मूल है।

कषाय :- 'कषाय' आत्मा का प्रबल शत्रु है अथवा विकार है। कषाय से बढ़कर आत्मगुणों का घातक अन्य कोई विकार नही है। कषाय का स्वरूप - जो आत्मा के गुणों को कषे (नष्ट करे)। अथवा कष का अर्थ है, जन्म-मरण-रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं।[५६] सोलह कषाय और नौ नोकषाय से पच्चीस कषाय हैं।[५७] यद्यपि कषायों से नोकषायों में थोडा सा भेद है, - जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में (उत्तेजित करने में) सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद- ये कषायों के सहवर्ती होने से और कषायों के सहयोग से पैदा होने से एवं कषायों को उत्पन्न करने में प्रेरक होने से हास्यादि को कषाय के अन्तर्गत लिया है। इसलिए कषाय के पच्चीस भेद किये हैं।नौ नोकषाय यहाँ विवक्षित नही है।

जिस विकार के कारण आत्मा कर्मजाल में आबद्ध होती है, जिसके कारण उसे भव भ्रमण करना पड़ता है वह विकार ही कषाय है। आत्मा के उत्थान और पतन में कारणीभूत एकमात्र कषायभाव ही है। गुणस्थानों का क्रम भी कषाय के तारतम्य पर ही आधारित है। यों तो कषाय-अध्यवसाय की तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, मंदता, मदतरता, मंदतमता आदि के आधार पर अनेक प्रकार की मानी जाती है, उनकी गणना हो ही नही सकती, तथापि उसके पार्थक्य का आभास बताने की दृष्टि से उसके चार स्थूल विभाग किये गये हैं, जिसके सोलह भेद होते हैं-[५८]

१) अनन्तानुबधी चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।
२) अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क .- क्रोध, मान, माया, लोभ।
३) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।
४) संज्वलन चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का घात होता है, माया (मायाचार) से विश्वास जाता रहता है और लोभ से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।[५९]

जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबधी कहते हैं। अनंतानुबधी कषाय की कालमर्यादा जीवनपर्यंत है। यह नरक गति का बंधक है और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक है। अनन्तानुवंधी चतुष्क को दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है -

अनन्तानुबधी क्रोध पर्वत में आई दरार के समान होता है।
अनन्तानुवंधी मान पत्थर के स्तम्भ (खम्बे) के समान होता है।

अनन्तानुबंधी माया घनवशी (बास की जड़ में रहनेवाली वक्रता - टेढ़ेपन का सीधा होना सभव नही) के समान होती है।

अनन्तानुबंधी लोभ किरमिची रग के समान होता है।

जो कषाय आत्मा के देशविरति गुण-चारित्र (श्रावकपन) का घात करे,अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इसकी कालमर्यादा एक वर्ष की है, गति तिर्यंच की, घात देशविरति का अर्थात् इस कषाय के प्रभाव से श्रावक धर्म की प्राप्ती नही है। इस कषाय के चार भेद को दृष्टात द्वारा समझाया गया है -

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी में खीची गई रेखा के समान है।
अप्रत्याख्यानावरण मान अस्थि (हड्डी को नमाने) के समान है।

अप्रत्याख्यानावरण माया भेड के सीग (भेड़ के सीगों में रहने वाली वक्रता कठिन परिश्रम से) के समान होती है।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ कीचड़ के समान होता है।

जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो - श्रमण धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय की कालमर्यादा चार मास, गति मनुष्य की और घात सर्वविरति का होता है। इस कषाय के चार भेद को भी दृष्टात द्वारा समझाया है -

प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि में खीची गई रेखा के सदृश है।
प्रत्याख्यानावरण मान सूखे काष्ठ में तेलादि की मालिश से नरमाई के समान है।
प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्रिका के समान है। (कुटिल स्वभाव वाला)
प्रत्याख्यानावरण लोभ काजल के रंग समान है।

जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यातचारित्र की प्राप्ती न हो, अर्थात् जो कषाय परीषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म का पालन करने को प्रभावित करे, उसे सज्वलन कहते हैं। इसका कालमान पन्द्रह दिन का है,गति देव की है तथा यथाख्यात चारित्र का घात करती है। इसको भी चार भेदों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है -

सज्वलन क्रोध जल में खीची गई रेखा सदृश है।
सज्वलन मान वेत्रलता के समान क्षण मात्र में नमने वाला है।
सज्वलन माया अवलेखिका (बास के छिलके) के समान है।
सज्वलन लोभ हल्दी के रग के समान है।

इन सोलह[६०] प्रकार के कषायों में संज्वलन कषाय अल्प माना जाता है। फिर भी आध्यात्मिक विकास क्रम की सीढ़ियों पर चढ़ा हुआ ग्यारहवी भूमिका का साधक इस कषाय के कारण पतनोन्मुख बन जाता है।[६१] इसलिए विशेषावश्यक में जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण ने प्रतिपादन किया है कि ऋण, व्रण, अग्निकण और कषाय इनका कभी विश्वास नही करना चाहिये।[६२] क्योंकि कषाय के मूल दो ही भेद हैं - १) ममकार और २) अहकार। राग द्वेष भी उन्ही के नामान्तर (पर्याय) हैं। सक्षेप में माया और लोभ कषाय के युगल का नाम राग है और क्रोध तथा मान कषाय के युगल का नाम द्वेष है।[६३]

राग :- द्रव्यादि चार पर रति, प्रीति, मोह अथवा आसक्ति का होना अर्थात् इष्ट-प्रिय वस्तु में प्रीत्यादि होना राग है। इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष आदि अनेक राग के पर्यायवाची नाम हैं। जैसे पेड़ के दीर्घ मूल उसके शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि के लिए कारण हैं, वैसे ही रागभाव सर्व मोह का मूल है।[६४] दृष्टिराग, कामराग और स्नेहराग का फल दीर्घ ससार भ्रमण है।[६५]

द्वेष :- अनिष्ट वस्तुओं में जो प्रीति का अभाव हैं, उसे द्वेष कहते हैं। यह द्वेष सम्पूर्ण ससार का मूल कारण है। ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर और प्रचण्डन इत्यादि अनेक द्वेष के पर्यायवाची नाम हैं।[६६]

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये राग और द्वेष की सेना है। उसकी सहायता से वे दोनों आठ प्रकार के कर्म-बंध के कारण होते हैं। इसीलिए मिथ्यात्वादि हेतु एवं रागादि अपाय का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

मुख्यत मिथ्यात्व और कषाय से युक्त ससारी जीव प्रतिपल प्रतिक्षण अनेक प्रकार के कर्मपुद्गलों एव नो कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये दु खों के कारण होने से चतुर्गतिरूप ससार के वर्धक हैं।[६७] इन सबके अनर्थों का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

(३) विपाक विचय धर्मध्यान :- 'विपाक -विचय' नामक तीसरे धर्मध्यान के प्रकार में आत्मा पर बधे जाने वाले कर्मों की प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश के विपाक का चिन्तन करना होता है।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्म प्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब पक कर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियाँ भी जब अपना फल देने के अभिमुख होती हैं तब उनका विपाककाल कहलाता है।

यह विपाक दो प्रकार का है- हेतुविपाक और रसविपाक। पुद्‌गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक फलानुभव होता है, वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है। तथा रस के आश्रय अर्थात् रस की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति रसविपाकी कहलाती है। इन दोनों प्रकार के विपाकों में से भी प्रत्येक के पुन चार-चार भेद हैं। पुद्‌गल, क्षेत्र, [illegible] और जीव रूप हेतु के भेद से हेतुविपाकी के चार भेद हैं यानी पुद्‌गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भावविपाकी, और जीवविपाकी। इसी प्रकार से रसविपाक के भी एक स्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चार स्थानक ये भेद हैं।

पुद्‌गल विपाकी प्रकृतियाँ जीव में ऐसी शक्ति पैदा करती हैं कि जिससे जीव अमुक प्रकार के पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। जीव द्वारा कर्मपुद्‌गलों के ग्रहण किये जाने पर यानी बध होने पर उनमें चार अशों का निर्माण होता है, जो बध के प्रकार कहलाते हैं। इसीलिए आत्मा के साथ कर्म बध की प्रक्रिया चार प्रकार की है- १) प्रकृतिबध, २) स्थितिबध, ३) रसबध (अनुभागबध अथवा अनुभावबध) और ४) प्रदेशबध। ग्रहण के समय कर्मपुद्‌गल एकरूप होते हैं। किन्तु बधकाल में उनमें आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को रोकने का स्वभाव हो जाता है। इसे प्रकृतिबध कहते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है।[६९] दूसरी परिभाषा के अनुसार स्थितिबध, रसबध और प्रदेशबध के समुदाय को प्रकृतिबध कहते हैं।[७०] अर्थात् प्रकृतिबध कोई स्वतत्र बंध नही है किन्तु शेष तीन बधों के समुदाय का ही नाम है। प्रकृति यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों के मूल तथा प्रत्येक के उत्तर भेद और उनके स्वभाव क्रमश आँख की पट्टी समान, द्वारपाल-समान, शहद-लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान, मद्य (शराब) के समान, हड़ि (बेड़ी) के समान, चित्रकार के समान, कुम्हार के समान तथा भण्डारी के समान इन उदाहरणार्थ विपाक के समय ज्ञान का रोकना, दर्शन का रोकना, सुख-दु ख का अनुभव होना, स्व-पर विवेक में तथा स्वरूप रमण में अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात होना, आदि का चिन्तन करें।[७१] उनमें (बद्धकर्म) समय की मर्यादा का निर्धारण होना स्थितिबध है। स्थिति याने कर्मों का आत्मा पर चिपके रहने का काल, जघन्य से समय अथवा अन्तर्मुहूर्त-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का जघन्य कालमान अन्तर्मुहूर्त का है एवं वेदनीय का १२ मुहूर्त और नाम और गोत्र का ८ मुहूर्त हैं तथा उत्कृष्ट कालमान ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और वेदनीय, का ३० कोटाकोटी सागरोपम, मोहनीय का ७० कोटाकोटी सागरोपम, आयु का ३३ सागरोपम, नाम और गोत्र का २० कोटाकोटी सागरोपम और अन्तराय का ३ ३ कोटाकोटी सागरोपम स्थिति है।[७२] आत्मपरिणामों की तीव्रता और मंदता के अनुरूप कर्मबधन में तीव्र रस और मंद रस का होना, अनुभाग बंध कहलाता है, अनुभाग याने विपाक, रसोदय और

कर्मपुद्‌गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकीभाव या कर्मप्रदेशों की संख्या का निर्धारण होना प्रदेशबंध है। इस प्रकार प्रकृति आदि का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।[७२]

कर्मभोग के प्रकार :- जीव द्वारा कर्म फल के भोग को कर्म की उदयावस्था कहते हैं। उदयावस्था में कर्म के शुभ या अशुभ फल का जीव द्वारा वेदन किया जाता है। यह कर्मोदय दो प्रकार का है - १) प्रदेशोदय और २) विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग सिर्फ प्रदेशों में होता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं, इसका अपर नाम 'स्तिबुक संक्रमण' भी हो सकता है और जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट हो जाते हैं वह विपाकोदय हैं। कर्मों का विपाकोदय ही आत्मा के गुणों को रोकता है और नवीन कर्मबंध में योग देता है। जब कि प्रदेशोदय में नवीन कर्मों के बंध करने की क्षमता नही है और न वह आत्मगुणों को आवृत करता है। कर्मों के द्वारा आत्मगुण प्रकट रूप से आवृत्त होने पर भी कुछ अंशों में सदा अनावृत ही रहते हैं, जिससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता रहता है। कर्मावरणों के सघन होने पर भी उन आवरणों में ऐसी क्षमता नही है जो आत्मा को अनात्मा, चेतन को जड़ बना दें।

लोक में कार्मण वर्गणायें व्याप्त हैं। इन कर्म परमाणुओं में जीव के साथ बंधने से पहले किसी प्रकार का रस-फल-जनन शक्ति नही रहती है। किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तब ग्रहण के समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनंतगुणा रस पड़ जाता है, जो अपने विपाकोदय में उस उस रूप में अपना-अपना फल देकर जीव के गुणों का घात करते हैं। इसलिए बंध को प्राप्त कर्म पुद्‌गलों में शुभाशुभ फल देने की जो शक्ति होती है, उसे ही रसबंध की संज्ञा प्राप्त होती है। जैसे सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊँटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुँचकर वह दूध के रूप में परिणत होता है तथा उसके रस में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। सूखे घास को खाकर ऊँटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई भी बहुत अधिक होती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन व चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई है तथा बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढ़ापन व चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न जीवों के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रस वाले हो जाते हैं। शुभाशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का अनुभाग तीव्र भी होता है और मंद भी।

अशुभ और शुभ (८२ पाप प्रकृतियाँ, ४२ पुण्य प्रकृ) प्रकृतियों के तीव्र और मंद रस की चार-चार अवस्थाए होती हैं - १) तीव्र, २) तीव्रतर, ३) तीव्रतम, ४) अत्यन्त

तीव्र और १) मद, २) मंदतर, ३) मदतम, और अत्यन्त मद। यद्यपि इसके असख्य प्रकार हैं तथापि उन सबका समावेश इन चार स्थानों में हो जाता है। इन चार प्रकारों को क्रमश एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक कहा जाता है।अर्थात् एक स्थानक से तीव्र या मद, द्विस्थानक से तीव्रतर या मदतर, त्रिस्थानक से तीव्रतम या मदतम और चतु स्थानक से अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मद का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार इन शुभाशुभ कर्मों के रस का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

जीवों के एक भव या अनेक भव सबधी पुण्यपाप कर्म के फल का एव उदय, उदीरणा, सक्रमण, बध और मोक्ष का विचार करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से कर्मफल का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशानुसार शुभाशुभ कर्मों के विपाक (उदय-फल) का चिन्तवन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।[७५]

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्मफलों की जो चर्चा की गई है उसका आशय यही है कि यद्यपि कर्मों के उदय या उदीरणा से जीव के औदयिकादि भाव एव विविध प्रकार के शरीर की प्राप्ति इन कर्मों का उदय और उदीरणा बिना अन्य निमित्त के नही होती, परन्तु द्रव्य, क्षेत्रादि का निमित्त पाकर ही चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों में कर्मों का उदय-उदीरणा होती है।[७६]

(४) संस्थानविचय धर्मध्यान :- धर्मध्यान के चौथे प्रकार 'सस्थान विचय' में वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर कथित सिद्धात के पदार्थों का विचार करना होता है। यहाँ 'सस्थान' यानी 'सस्थिति, अवस्थिति, स्वरूप, पदार्थों का स्वरूप' अर्थ होता है। विचय याने चिन्तन अथवा अभ्यास करना। सर्वज्ञ कथित सिद्धात शास्त्र के पदार्थ ही यथार्थ होने से उनका ही चिन्तन करना होता है। ये पदार्थ इस प्रकार हैं-

निम्न पदार्थों के स्वरूप का एकाग्र चिन्तन करना है। इनमें मुख्यत. ६ द्रव्य, पचास्तिकायमय अष्टविध लोक, क्षेत्रलोक, जीव, ससार, चारित्र और मोक्ष।

(चौथे संस्थान विचय में) सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार प्रकार, स्वभाव, प्रमाण और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन करें। जिनोक्त अनादि अनत पंचास्तिकायमय लोक को नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव और पर्यायलोक भेद से ८ प्रकार से तथा अधो, मध्य, ऊर्ध्व तीन प्रकार से चिन्तन करें। धम्मा आदि (रत्नप्रभादि) सात भूमियों, घनोदधि, आदिवलयों, जंबुद्वीप आदि असख्य द्वीप समुद्रों, नदियाँ, सरोवरों, नरक, विमान, देवभवन तथा व्यतरनगरों आदि की आकृत्ति, आकाशवायु आदि में प्रतिष्ठित शाश्वत्

लोक व्यवस्था के प्रकार आदि का चिन्तन करें। साकार-निराकार उपयोग स्वरूप अनादि अनन्त तथा शरीर से भिन्न, अरूपी, स्वकर्म का कर्ता भोक्ता आदि रूप जीव का चिन्तन करें। जीव का संसार स्वकर्म से निर्मित, जन्मादि जलवाला, कषायरूपपाताल सहित, सैकड़ों व्यसनरूपी जलचर जीवों वाला, मोहावर्तवाला अति भयानक अज्ञान पर्वत से प्रेरित इष्टानिष्ट सयोग वियोग रूप तरगवाला-अनादि अनत अशुभ ससार का चिन्तन करें। पुनश्च उसे तैरने के लिए समर्थ, सम्यग्दर्शन का शुभ बंधवाला, निष्पाप व ज्ञानमय कप्तान वाले चारित्र जहाज का चिन्तन करें। अर्थात् रत्नत्रय का चिन्तन करें। आस्रवनिरोधात्मक संवर से छिद्ररहित किया हुआ, तप-पवन से प्रेरित, अति शीघ्र वेगवाला, वैराग्यमार्ग पर चढ़ा हुआ, बहुमूल्यवान् शीलांग-रत्नों से भरा हुआ वह जहाज है, उस पर आरूढ़ हुए मुनि-व्यापारी शीघ्र निर्विघ्नता से मोक्ष नगर में कैसे पहुँच जाते हैं, उसका चिन्तन करें। पुनश्च उस निर्वाणनगर में ज्ञानादि तीन रत्नों के विनियोगमय एकांतिक, बाधारहित, स्वाभाविक, अनुपम और अक्षय सुख को जिस तरह प्राप्त करते हैं, उसका चिन्तन करें। अधिक विस्तृत न कहते हुए सिर्फ जीवादि पदार्थों का विस्तार से संपन्न और सर्व नय समूहमय सिद्धात अर्थ का चिन्तन करें।[७७]

१) लोक :- 'लोक' शब्द 'लुच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है।[७८] अत जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं।[७९] इसका दूसरा नाम लोकाकाश है। इसके विपरीत जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य दिखाई न दे, जहाँ सिर्फ शुद्ध आकाश ही आकाश है, उसे अलोक अथवा अलोकाकाश कहते हैं। लोक के मस्तक पर तनुवातवलय में कर्म और नोकर्म से रहित तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सपन्न सिद्ध भगवान विराजमान हैं।[८०] जैसे विशाल स्थान के मध्य छीका लटका रहता है वैसे ही अलोक के मध्य में लोक है, उसे किसी ने भी बनाया नहीं और न उसे किसी ने (हरि हर आदि) धारण भी किया है। वह अकृत्रिम है, अनादि अनंत है, स्वभाव से निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। समस्त आकाश का अग है और नित्य है। द्रव्यों की परस्पर में एकक्षेत्रा-वगाहरूप स्थिति को लोक कहते हैं। द्रव्य नित्य है इसलिए लोक को भी नित्य जानें।[८१] जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते है या पर्यायों को प्राप्त करते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है। अत द्रव्य प्रतिसमय परिणमन करते हैं। उनके परिणमन से लोक का भी परिणमन जानना चाहिये। क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमय छहों द्रव्यों की पूर्व पूर्व पर्याय नष्ट होती है, उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है और द्रव्यता ध्रुव रहती है। इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में

अनन्त पर्यायरूप से परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। जो इस तरह परिणमनशील नही है, वह सत् भी नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, द्रव्यरूप से नित्य है, क्योंकि द्रव्य का नाश कभी नही होता। किन्तु प्रतिसमय उसमें परिणमन होता रहता है, जो पर्याय एक समय में होती है वही दूसरे समय में नही होती, जो दूसरे समय में होती है, वह तीसरे समय में नहीं होती। अत पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। पर्याय दो प्रकार की होती हैं - १) व्यजनपर्याय और २) अर्थपर्याय। इन दोनों प्रकारों के भी दो दो भेद होते हैं- १) स्वभाव और २) विभाव। जीवद्रव्य की नर, नारक आदि पर्याय विभाव व्यजन पर्याय है और पुद्गलद्रव्य की शद्ब, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, धूप, चादनी आदि की पर्याय विभाव व्यजनपर्याय हैं। प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यजनपर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं। तथा जो पर्याय पर सबध के निमित्त से होती है, उसे विभाव तथा जो परसबध के निमित्त बिना स्वभाव से ही होती है उसे स्वभाव पर्याय कहते हैं। हम चर्म चक्षुओं से जो कुछ देखते हैं, वह सब विभावव्यजन पर्याय है। इस प्रकार छहों द्रव्य नित्य होने पर भी जीव, पुद्गल आदि द्रव्य अनेक स्वभाव तथा विभावपर्यायरूप से प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। परिणमन करना उनका स्वभाव है।[८२] स्वभाव के बिना कोई वस्तु स्थिर नही रह सकती। उन्ही परिणामी द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं।

२) द्रव्यों के लक्षण :- जगत में [illegible] द्रव्य कैसे -कैसे एक दूसरे से बिल्कुल स्वतत्र लक्षण वाले हैं, इससे कभी भी यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य का लक्षण 'जीव और पुद्गल को गति में सहायक' होना है, इसलिए ये दो द्रव्य लोकाकाश के अन्त तक जा सकते हैं, आगे अलोक में नही। क्योंकि धर्मास्तिकाय लोकाकाश व्यापी है। मछली गमन तो अपनी शक्ती से ही करती है किन्तु उसमें पानी सहायक होने से पानी के किनारे तक ही जा सकती है, आगे नही। धर्मास्तिकाय की सहायता से जीव तथा पुद्गल के लिये ऐसी ही गति है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'इन दो द्रव्यों की स्थिति में सहायक' होना है। अशक्त वृद्ध पुरुष को चलते हुए बीच में खड़े रहने के लिए लकड़ी सहायक होती है, इसी तरह जीव व पुद्गल को स्थिति (स्थिरता) करने में यह अधर्मास्तिकाय सहायक है। आकाश का लक्षण अवगाहना (समावेश) है। वह शेष सभी द्रव्यों को अपने में अवकाशदान करता है। पुद्गल का लक्षण पूर्ति करना व गलना है। यही एक द्रव्य ही ऐसा है कि जिसके अदर अपने सजातीय द्रव्य मिलते हैं और अलग भी हो जाते हैं। अन्य सब द्रव्य जीवसहित, अखण्ड रहते हैं। उनमें न कुछ बढ़ता है और न कुछ घटता ही है। मेरू जैसे में भी पुद्गलों का सड़ना, गलना व विध्वस होना और पूर्ति होना चालू ही है। जीव का लक्षण चैतन्य है, ज्ञानादि का

उपयोग है। वह इसी में होता है, अन्य में नहीं। इसीलिए यही एक चेतन द्रव्य है, अन्य सब जड़ द्रव्य है। काल का लक्षण वर्तना है। जो वस्तु में नया पुराना भावी अतीत आदि रूपों का परिवर्तन करता है। इस तरह लक्षणों के[८३] विचार से स्पष्ट होता है कि छहों द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य का लक्षण कार्य स्वय ही कर सकता है, दूसरा द्रव्य नही। छ द्रव्य अपने आपमें भिन्न-भिन्न हैं और एक दूसरे से स्वतत्र हैं।

३) लोक स्थिति का आधार :- सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित लोक स्थिति आठ प्रकार की है -

१) वात-तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, २) उदधि-घनोदधिवात प्रतिष्ठित है, ३) पृथ्वी-उदधि प्रतिष्ठित है, ४) त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी प्रतिस्थित है, ५) अजीव जीव प्रतिष्ठित है, ६) जीव कर्म प्रतिष्ठित है, ७) अजीव जीव से सगृहीत है, ८) जीव कर्म से गृहीत है। ठाणांग सूत्र में दस प्रकार की लोक स्थिति का वर्णन है।[८४]

त्रस, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यानी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं और पृथ्वी वायु के आधार पर तथा वायु आकाश के आधार पर टिकी हुई है, जैसे मशक में पवन के आधार पर पानी ऊपर रहता है।[८५]

पृथ्वी को वाताधारित कहने का स्पष्टीकरण यह है कि पृथ्वी की नीव घनोदधि पर आधारित है। घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान इसका रूप है। इसकी मोटाई नीचे मध्य में बीस हजार योजन की है।घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है, यानी घनोदधि घनवात से आवृत है और इसका रूप कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौड़ाई और परिधि असख्यात योजन की है। यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असख्यात योजन की है। इसका रूप तपे हुए घी के समान समझना चाहिये।[८६]

तनुवात के नीचे असख्यात योजन प्रमाण आकाश है। इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए लकड़ी के पात्र हो, उसी प्रकार ये तीनों वातवलय भी एक दूसरे में अवस्थित हैं। यानी घनोदधि छोटे पात्र जैसा, घनवात मध्यम पात्र जैसा और तनुवात बड़े पात्र-जैसा है और उसके बाद आकाश है।

४) १४ राजू लोक का आकार एवं क्षेत्रफल ३४३ - घनाकार :- शास्त्र में लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठित सस्थान' वाला कहा है। सुप्रतिष्ठित संस्थान के आकार का रूप इस प्रकार होता है -

जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह सुप्रतिष्ठित सस्थान कहलाता है और यही आकार लोक का है।[८७]

अनेक आचार्यों ने[८८] लोक का आकार विभिन्न रूपकों द्वारा भी समझाया है। जैसे कि लोक आकार कटिप्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसारकर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसलिए लोक को पुरुषाकार की उपमा दी है। कही-कही वेत्रासन पर रखे हुए मृदंग के समान लोक का आकार बतलाया है, इसी प्रकार की और दूसरी वस्तुयें जो जमीन में चौड़ी, मध्य में सकरी तथा ऊपर में चौड़ी और फिर सकरी हो और एक दूसरे पर रखा जाने पर जैसा आकार बने, वह लोक का आकार है।

लोक के अध , मध्य और उर्ध्व यह तीन विभाग हैं और इन विभागों के होने का मध्यबिन्दु मेरू पर्वत ये मूल में है। चौदह राजू ऊँचाई प्रमाण इस लोक के विभाजन का कारण मेरू पर्वत की अवस्थिति है। 'मेरू' शद्व का अर्थ है -[८९] 'माप करने वाला'। जो तीनों लोक का माप करता है उसे मेरू कहते हैं। इस मध्य लोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊंचा मेरू पर्वत स्थित है, जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ९९००० योजन है। उसके ऊपर ४० योजन की चूलिका है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है। मेरू पर्वत के पाये के एक हजार में से नौ सौ योजन के नीचे जाने पर अधोलोक प्रारम होता है और अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्यलोक है। अर्थात् नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर, कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के बाद ऊपर का सभी क्षेत्र ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इन तीनों लोकों में अधोलोक और उर्ध्वलोक की ऊँचाई-चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊँचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण है। इसके बीच में ही मेरूपर्वत है यानी मेरू प्रमाण मध्यलोक है।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लम्बाई-चौड़ाई भी एक सी नही है। अधोलोक की लबाई-चौड़ाई सातवें नरक में सात राजू से कुछ कम है और पहला नरक एक राजू लबा-चौड़ा है, जो मध्यलोक की लबाई-चौड़ाई के बराबर है। ऊर्ध्वलोक की लबाई-चौड़ाई पाँचवें देवलोक में पाँच राजू और उसके बाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू लबाई-चौड़ाई रहती है। यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के बराबर लंबा-चौड़ा है।

लोक की उक्त लंबाई-चौड़ाई आदि का सारांश यह है कि नीचे जहाँ सातवा नरक है, वहाँ सात राजू चौड़ा है और वहाँ से घटता-घटता सात राजू ऊपर आने पर जहाँ पहला नरक है, वहाँ एक राजू चौड़ाई है। उसके बाद क्रमश बढ़ते बढ़ते पाँचवे देवलोक के पास चौड़ाई पाँच राजू और उसके बाद क्रमशः घटते-घटते अंतिम भाग में एक राजू चौड़ाई है। सपूर्ण लोक की[१०] लंबाई-चौड़ाई चौदह राजू और अधिकतम चौड़ाई सात राजू तथा जघन्य चौड़ाई एक राजू है।

यह लोक त्रस और स्थावर जीवों से खचाखच भरा हुआ है। त्रस जीव तो त्रसनाड़ी में ही रहते हैं, लेकिन स्थावर जीव त्रस और स्थावर दोनों ही नाड़ियों में रहते हैं।[११] लोक के ऊपर से नीचे तक चौदह राजू लबे और एक राजू चौड़े ठीक बीज के आकाश प्रदेशों को त्रसनाडी कहते हैं और शेष लोक स्थावर नाड़ी कहलाता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार में त्रसनाली की उपमा वृक्ष के सार (छाल वगैरह) के मध्य में रहनेवाली लकड़ी से दे दी है।[१२] उद्खल (कोशार्थ-ओखली, जुगुलवृक्ष) के बीच में छेद करके उसमें रखी हुई बास की नली के समान लोक के मध्य में चौकोर त्रसनाड़ी है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति[१३] में इसका विशेष कथन किया गया है - 'वृक्ष में उसके सार की तरह, लोक के ठीक मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है।'

लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। उतनी ही ऊँचाई त्रसनाली की होनी चाहिये। किन्तु उसमें से सातवें नरक के नीचे एक राजू में निगोदिया जीव रहते हैं। अत एक राजू कम होने से १३ राजू रहते हैं। उनमें भी सातवी पृथ्वी के मध्य में ही नारकी रहते हैं, नीचे के ३९९९$^{१}/_{३}$ योजन प्रमाण पृथ्वी में कोई त्रस नही रहता है। तथा ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि विमान तक ही त्रस जीव रहते हैं। सर्वार्थसिद्धि से ऊपर के क्षेत्र में कोई त्रस जीव नही रहता है। अत सर्वार्थसिद्धि से लेकर आठवी पृथ्वीतल का अन्तराल १२ योजन, आठवी पृथ्वी की मोटाई ८ योजन और आठवी पृथ्वी के ऊपर ७५७५ धनुष प्रमाण क्षेत्र त्रस जीवों से शून्य है। अतः नीचे और ऊपर के उक्त धनुषों से कम १३ राजू प्रमाण त्रसनाड़ी में ही त्रसजीव जानने चाहिये।[१४] परतु कही कारणों से त्रसजीव त्रसनाड़ी के बाहर भी पाये जाते हैं।[१५]

इस चौदह राजू ऊचे तथा अधिकतम सात राजू और न्यूनतम एक राजू लबे-चौड़े लोक को घनाकार कल्पना की जाय तो सात राजू ऊंचाई, सात राजू लंबाई तथा सात राजू चौड़ाई होगी। क्योंकि लोक के एक-एक राजू प्रमाण टुकड़े किये जायँ तो ३४३ होते हैं। उनमें से अधोलोक के १९६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू हैं और इनका घनमूल ७ होता है। अत घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है और घनराजू ३४३ होते हैं।

(५) विधानप्रकार : इसमें छ द्रव्यों के अवातर भेदों का चिन्तन किया जाता है। सर्वज्ञ भगवान महावीर ने दो प्रकार की राशि का वर्णन किया है।[१६] जीव राशि और अजीव राशि। उनमें जीवराशि के आगमानुसार ५६३ भेद और अजीवराशि के ५६० हैं।

जीव के सक्षेप में चौदह भेद और विस्तार से ५६३ हैं। जिनका कथन निम्नलिखित है-

इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय ये सातों अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होने से जीव (भूत स्थान, जीवस्थान) के चौदह भेद हैं।[१७] ये चौदह भेद ससारी जीवों के हैं। जीवत्व-चैतन्यरूप सामान्य धर्म की समानता होने के कारण अनन्त जीव समान एक जैसे हैं। सभी के गुण, धर्म समान होने से उनमें किसी प्रकार का भेद नही है। कर्मबद्ध ससारी जीवों में ही पाँच जातियों के रूप में विभिन्न भेद किये गये हैं। ससारी जीवों की पाँच जातियाँ हैं।[१८] १ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय, ५ पचेन्द्रिय। जाति का अर्थ सामान्य-जिस शब्द के बोलने या सुनने से सभी समान गुण - धर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये। एकेन्द्रिय वाले जीव स्थावर तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव त्रस कहलाते हैं।

जीव के ५६३ भेद : एकेन्द्रिय जीवों के पाच प्रकार हैं तथा उन पाच के २२ भेद हैं-[१९]

१ पृथ्वीकाय पृथ्वी ही काया है जिनकी ऐसे जीव यथा नाना प्रकार के रत्नों, विभिन्न धातुएँ, मिट्टी, पाषाण, नमक, खार, फिटकड़ी, हिंगलोक, पखाला, हड़ताल, पारा, मणसिल, सुरमा, ककड़ आदि विभिन्न प्रकार हैं। सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं। ये दोनों पर्याप्ता और अपर्याप्ता नाम से दो-दो प्रकार के हैं। कुल पृथ्वीकाय के चार भेद हैं।

२ अप्काय जल ही है काया जिनकी ऐसे जीव -जैसे, नदी, कुआ, सरोवर, समुद्र आदि का जल, घनोदधि, पाचों रग का पानी। इसके सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं। इन दोनों भेदों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे कुल चार भेद हैं।

३ तेजस्काय · (अग्नि) अग्नि ही है काया जिसकी ऐसे जीव, जैसे अगारे, ज्वाला, तृणाग्नि, काष्ठाग्नि, उल्कापाताग्नि, दीपक, बिजली आदि की अग्नि। इसके दो भेद हैं। सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। कुल चार भेद हैं।

४. वायुकाय पवन ही है काया जिसकी ऐसे जीव - यथा उद्भ्रामक वायु,

उत्कलिक वायु, मंडलिक्वायु, ओस का जल, महावायु, शुद्धवायु, गुंजवायु, घनवात, तनवात, आदि। इसके दो भेद हैं – सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद हैं। कुल चार भेद हैं।

५. वनस्पतिकाय : इसके दो प्रकार हैं – १. साधारण वनस्पतिकाय (एक शरीर में अनन्त) और २. प्रत्येक वनस्पतिकाय (एक शरीर में एक जीव) इन दोनों भेदों का विशेष वर्णन पीछे कर चुके हैं। साधारण वनस्पतिकाय सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार की है और प्रत्येक वनस्पतिकाय बादर ही हैं। इन तीनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता भेद से ६ भेद होते हैं।

इस प्रकार पांच स्थावर के कुल ४+४+४+४+६=२२ भेद हुये। इन्हें सिर्फ एक स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। इन्द्रियाँ पाच हैं।

विकलेन्द्रिय के ६ भेद –[१०१] द्वीन्द्रिय जीवों के (त्वचा, शरीर) और रसन (जीभ) ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे, शंख, सीप, कृमि, लट, अलसिया, काष्ठ के घुण, पोरा आदि अनेक द्वीन्द्रिय जीव हैं। इनके पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसन, और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। यथा, जूँ, खटमल, चीटी, वृश्चिक, कानखजूरा, उदइ, इयल (इयल), धीमेल, गीगोंडा, विष्ठा के कीड़े, कीड़ा, इन्द्रगोप आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। इसके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त तीन और नेत्र यह चार इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे, भ्रमर, मक्खी, डास, मच्छर, मधुमक्खी, भँवरा, पतंग, बिच्छू, तीड, कसारी, करोळीया, खडमाकडी, आदि की गणना चतुरिन्द्रिय जीवों में होती है। इसके पर्याप्ता-अपर्याप्ता दो भेद हैं। इस प्रकार २+२+२=६ भेद विकलेन्द्रिय जीवों के हैं।

पचेन्द्रिय जीवों के ५३५ भेद – स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) यह पाचों इन्द्रियाँ जिन जीवों को होती हैं, उन्हें पचेन्द्रिय कहते हैं। जैसे, नारक, गाय, बैल, मनुष्य, देव=१४ नारक,, २० तिर्यंच, ३०३ मनुष्य और १९८ देव।

नारकी के १४ भेद : जिसे नरक गति नाम कर्म का उदय हो, उसे नारकी कहते हैं। इसके सात भेद हैं। १ रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४ पकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमप्रभा, और ७. तम तमप्रभा। इन सात के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे १४ भेद हैं। नारक का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम का है।[१०२]

तिर्यंच के २० भेद : तिर्यंच नामकर्म का उदय जिन प्राणियों के हो, उन्हें तिर्यंच कहते हैं। तिर्यंच गति के जीवों में स्पर्शन आदि श्रोत्रपर्यन्त पाचो इन्द्रियाँ होती हैं। किन्तु

तिर्यंच जीवों में से किन्ही को एक, दो, तीन, चार, या पाच इन्द्रियाँ होती हैं। इन एक से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय वाले जीव तो अपने हिताहित की प्रवृत्ति -निवृत्ति के निमित्त हलन-चलन करने में समर्थ हैं, लेकिन एकेन्द्रिय वाले असमर्थ हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में मन नहीं होने से असंज्ञी तथा पंचेन्द्रिय वाले तिर्यंच जीवों में भी कोई मन सहित और मनरहित होता है, अत पचेन्द्रिय तिर्यंचों के सज्ञी और असज्ञी की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं।

संज्ञा शब्द के तीन अर्थ है - १. नामनिक्षेप, २. आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की इच्छा और ३ धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञान विशेष। जीवों के सज्ञित्व और असज्ञित्व के विचार करने के प्रसंग में सज्ञा का आशय नामनिक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रिया विशेष लिया जाता है। नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को सज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है।

तिर्यंचगति के जीवों की सख्या आगमानुसार ४८ है। ५ स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय के भेद ऊपर कह दिये हैं। तिर्यंचपचेन्द्रिय के २० भेदों का वर्णन कर रहे हैं।[१०३] तिर्यंच पचेन्द्रिय दो प्रकार के हैं - १ सम्मूच्छिम और २ गर्भजतिर्यंचपंचेन्द्रिय। इन दोनों प्रकार के जीवों के तीन-तीन भेद हैं - १. जलचर (मस्त्य, मगरमस्त्य, वगैरह) २ स्थलचर - १) चतुष्पद (गाय भैंस बैल हाथी घोड़ा) और २) परिसर्प- i) उरपरिसर्प (सर्प, अजगर आदि) और ii) भुजपरिसर्प (बदर, नोलिया, खिसकोली, गिरोली आदि) और ३. नभचर। अर्थात् जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प इन पाच भेद के सज्ञी असज्ञी से दस भेद होते हैं। इन दस के पर्याप्त अपर्याप्त भेद से तिर्यंचपचेन्द्रिय के २० भेद होते हैं। तिर्यच के ४८ भेद इस प्रकार हैं - २२+६+२०=४८ (ए.) (वि.) (प.)

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में तिर्यंचों के ८५ भेदों का वर्णन है-[१०४] मुख्यत तिर्यंच जीवों के तीन भेद हैं - जलचर, थलचर, और नभचर। ये तीनों ही सज्ञी-असज्ञी के भेद से ६ प्रकार के हैं। ये छ भेद कर्मभूमि के गर्भज तिर्यंच के हैं। भोगभूमि के तिर्यंच गर्भज जन्मवाले ही होते हैं तथा थलचर और नभचर ही होते हैं, जलचर नही। इस प्रकार आठों ही कर्मभूमियाँ और भोग भूमियाँ गर्भज तिर्यंच पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त होते हैं। अत गर्भज तिर्यंचों के सोलह भेद होते हैं। तथा सम्पूर्च्छिम तिर्यंचों के तेईस भेद होते हैं - सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, बादर पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, बादर जलकायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, बादर तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, बादर वायुकायिक, सूक्ष्म नित्यनिगोद साधारण वनस्पतिकायिक, बादर नित्यनिगोद साधारण वनस्पति कायिक, सूक्ष्म चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, बादर चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, तथा प्रत्येक सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक और अप्रतिष्ठित

प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव बादर ही होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के चौदह भेद हुए। तीन विकलेन्द्रिय के तीन भेद और कर्म भूमियाँ जलचर, थलचर और नभचर ये तीनों तिर्यंच पंचेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी के भेद से छह प्रकार के हैं। १४+३+६=२३ भेद सम्मूर्च्छिम तिर्यंचों के होते हैं। ये २३ प्रकार के सम्मूर्च्छिम तिर्यंच भी तीन प्रकार के होते हैं - पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। २३ को तीन से गुणा करने पर सब सम्मूर्च्छिम तिर्यंच के ६९ भेद होते हैं। इनमें गर्भज तिर्यंचों के १६ भेद मिलाने से सब तिर्यंचों के ६९+१६=८५ भेद होते हैं।

मनुष्य के ३०३ भेद : मनुष्य दो प्रकार के हैं[१०५] १. सम्मूर्च्छिम और २ गर्भज। उनमें गर्भज मनुष्य के तीन प्रकार हैं -[१०६] १. कर्मभूमि, २. अकर्मभूमि और ३ अन्तर्द्वीप।

१५ कर्मभूमि : जिस भूमि के मनुष्य असि (शस्त्रों), मसि (श्याई), कसि (कृषिखेत) से जीवन व्यवहार चलाते हैं, विशेषत. उस भूमि के जीव मोक्ष मार्ग का रहस्य समझकर सयमादि दस धर्मों में प्रवृत्ति करते हैं। उसे कर्म भूमि कहते हैं। तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेव, बलदेव, आदि ६३ शलाका महापुरुषों की जन्मभूमि एवं साधक आत्माओं को मोक्ष भी इसी भूमि से प्राप्त होता है। १५ कर्मभूमियाँ हैं -[१०७] जम्बूद्वीप में १ भरत, १ ऐरावत और १ महाविदेह, घातकीखण्ड द्वीप में भरत, ऐरावत, महाविदेह, दुगुने हैं और अर्धपुष्करवरद्वीप में भरतादि दुगुने हैं = इस प्रकार ढाई द्वीप के कुल ३+६+६=१५ कर्मभूमि हैं। इन्ही ढाई द्वीप में मनुष्य पैदा होते हैं। इसलिये इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं।

३० अकर्म भूमि : (क) जिस भूमि के मनुष्य असि, मसि, कसि आदि कर्मों की प्रवृत्ति न करके सिर्फ दस कल्पवृक्षों से अपना निर्वाह चलाते हैं, उन्हें अकर्मभूमि (भोगभूमि) कहते हैं। अकर्मभूमि तीस हैं - जम्बूद्वीप में १ देवकुरु, १ उत्तरकुरु, १ हरिवास, १ रम्यकवास, १ हेमवय और १ हिरण्यवय ऐसी छह भूमियाँ हैं। इससे दुगुने घातकी खड द्वीप में और उतने ही अर्धपुष्करवरद्वीप में है। कुल ढाई द्वीप में ६+१२+१२=३० अकर्मभूमि है।

(ख) ५६ अंतर्द्वीप और (ग) १९८ देवता के भेद।

(ख) अन्तर्द्वीप के ५६ भेद इस प्रकार है -

जंबूद्वीप में भरतक्षेत्र की मर्यादा करनेवाला चूल हेमवत पर्वत और ऐरवत क्षेत्र की मर्यादा करनेवाला शिखरी पर्वत, इन दोनों पवर्तों में से ४-४ दाढाएं (शाखाएँ) पूर्व पश्चिम के लवण समुद्र में गईं। एक एक दाढा पर ७-७ अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार ७ अन्तर्द्वीप x ८ शाखा = ५६ अन्तर्द्वीप हैं।

अत १५+३०+५६=१०१ सज्ञी मनुष्य। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त याने २०२ भेद हुए।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्य के १०१ क्षेत्र में निम्न १४ स्थानों में उत्पन्न होते हैं-

१) उच्चार-विष्ठा में, २ पासवण-मूत्र में, ३) खेल-खेंकार में, ४) सघाण-श्लेष्म, नाक के मेल में, ५) वत-वमन (उल्टी) में, ६) पित्त, ७) पुश्य-रस्सी, पीप में, ८) सोणिय-रुधिर (रक्त) में, ९) सुक्क-वीर्य में, १०) सुक्क पोग्गल परिसाहित्य-वीर्य के सूखे पुद्गल पुन गीले हों उसमें, ११) विगयजीव कलेवर-मनुष्य के मृतक शरीर में, १२) इत्थीपुरिस सजोग-स्त्री-पुरुष के सयोग में, १३) नगर णिद्ध मणिया-नगर के गटर आदि में, १४) सव्व असुइ ठाणाइ-सभी मनुष्य सबधी अशुचि स्थानों में।

इस प्रकार १५+३०+५६= १०१ × २ (पर्याप्त, अपर्याप्त) = २०२ सम्मूर्च्छिम मनुष्य के अपर्याप्त १०१ कुल ३०३ भेद मनुष्य के हुए।

(ग) देवता के १९८ भेद - देवता के मुख्यत चार भेद हैं - १ भवन पति, २ वाणव्यतर, ३ ज्योतिषि, ४ वैज्ञानिक

१) भवन पति के पचीस भेद- (अ) १० अपुरकुमार और (आ) १५ परमाधामी

अ) १० असुरकुमार- १) असुरकुमार, २) नामकुमार, ३) सुवर्णकुमार, ४) विद्युतकुमार, ५) अग्निकुमार, ६) द्वीपकुमार, ७) दधिकुमार, ८) दिशाकुमार, ९) पवनकुमार, १०) स्तनितकुमार

आ) १५ परमाधामी- १) आम्र (अम्ब), २) अबरीष, ३) श्याम, ४) सबल, ५) रौद्र, ६) महारुद्र, ७) काल, ८) महाकाल, ९) असिपत्र, १०) धनुष, ११) कुभ, १२) बालुका, १३) वैतरणी, १४) खरस्वर, १५) महाघोष

२) वाणव्यतर के २६ भेद - अ) १६ व्यतर, आ) १० त्रिजृम्भक

अ) १६ व्यतर- १) पिशाच, २) भूत, ३) यक्ष, ४) राक्षस, ५) किन्नर, ६) किंपुरुष, ७) महोरग, ८) गधर्व, ९) आणपन्ने, १०) पाणपन्ने, ११) इसिवाई, १२) भूयवाई, १३) कदिय, १४) महाकदिय, १५) कोहड, १६) पयगदेव

आ) १० त्रिजृम्भक - १) अन्नजृम्भक, २) पानजृम्भक, ३) लयनजृम्भक, ४) शयनजृम्भक, ५) वस्त्रजृम्भक, ६) फलजृम्भक, ७) पुष्पजृम्भक, ८) फल-पुष्पजृम्भक, ९) विद्याजृम्भक, १०) अग्निजृम्भक

३) ज्योतिषि के १० भेद - १) चन्द्र, २) सूर्य, ३) ग्रह, ४) नक्षत्र, ५) तारा ये ५ चर और ये ५ अचर - कुल दस भेद हुए।

४) वैमानिक के ३८ भेद - अ) ३ किल्बिषी, आ) १२ देवलोक, इ) ९ लोकान्तिक, ई) ९ ग्रैवेयक, उ) ५ अनुत्तर विमान।

अ) किल्बिषी ३ - १) तीन पालिया (त्रिपल्योपमिक), २) तीन सागरिया (त्रैसागरिक), ३) तेरा सागरिया (त्रयोदश सागरिक)

आ) देवलोक १२ - १) सौधर्म, २) ईशान, ३) सनत्कुमार, ४) माहेन्द्र, ५) ब्रह्मलोक, ६) मातक, ७) शुक्र, ८) सहस्रार, ९) आनत, १०) प्राणत, ११) आरण, १२) अच्युत

इ) लोकान्तिक ९ - १) सारस्वत, २) आदित्य, ३) वह्नि, ४) वरुण, ५) गर्दतोयक, ६) तुषित, ७) अव्याबाध, ८) आग्नेय, ९) अरिष्ट

ई) ग्रैवेयक ९ - १) भद्र, २) सुभद्र, ३) सुजय, ४) सुमानस, ५) सुदर्शन, ६) प्रियदर्शन, ७) अमोघ, ८) सुप्रतिबद्ध, ९) यशोधर

उ) अनुत्तर विमान ५ - १) विजय, २) विजयंत, ३) जयत, ४) अपराजित, ५) सर्वार्थसिद्ध

इस प्रकार २५+२६+१०+३८ = ९९ देवता के भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त याने ९९ × २ = १९८ भेद हुए।

अन्तत. १४ नारकी + ४८ तिर्यंच + ३०३ मनुष्य + १९८ देवता = कुल ५६३ जीव के भेद हुए।

अजीव राशि के ५६० भेद -

१) अजीव अरूपी के ३० भेद तथा २) अजीवरूपी के ५३० भेद हैं।

१) अजीव अरूपी के ३० भेद -

अ) धर्मास्तिकाय के ३, आ) अधर्मास्तिकाय के ३, इ) आकाशास्तिकाय के ३, ई) कालद्रव्य १

अ) धर्मास्तिकाय के ३ भेद - १) स्कन्ध (संपूर्ण वस्तु), २) देश (दो, तीन आदि भाग), ३ प्रदेश (जिसका दूसरा भाग न हो सके)

आ) अधर्मास्तिकाय के ३ भेद - १ स्कन्ध, २) देश, ३) प्रदेश

इ) आकाशास्तिकाय के ३ भेद - १) स्कन्ध, २) देश, ३) प्रदेश

३+३+३+१= १० भेद

अन्य प्रकार से इन चारों के - १) द्रव्य, २) क्षेत्र, ३) काल, ४) भाव और ५) गुण

इस प्रकार ४ × ५ = २० भेद होते हैं।

इस प्रकार अरूपी के १०+२०=३० भेद हुए।

२) अजीव रूपी के ५३० भेद -

अ) सठाण ५ - १) परिमडल, २) वट्ट, ३) तंस, ४) चउरंस, ५) आयत। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

आ) वर्ण ५ - १) काला, २) नील, ३) लाल, ४) पीत, ५) श्वेत। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

इ) रस ५ - १) तीखा, २) कडुआ, ३) कषायला, ४) खट्टा, ५) मीठा। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

ई) गध २ - १) सुगन्ध, २) दुर्गन्ध। एक एक के २३ भेद - २×२३=४६

उ) स्पर्श ८ - १) खुरदरा, २) सुशला, ३) भारी, ४) हलका, ५) शीत, ६) उष्ण, ७) चिकना, ८) लूखा। एक एक के २३ भेद - ८×२३=१८४

इस प्रकार १०० + १०० + १०० + ४६ + १८४ = ५३० भेद रूपी अजीव के हुए।

धर्मध्यान के चार लक्षण : आगम ग्रन्थों में धर्मध्यान के चार लक्षण कहे हैं।[१०९] १ आज्ञारुचि = जिनकथित जीवादिपदार्थों के अर्थ जानने की रुचि रखना। २ निसर्गरुचि = स्वाभाविक क्षयोपशम से तत्त्व में रुचि जागना। ३. सूत्ररुचि = जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थों को जानने की रुचि जागना। ४ अवगाढरुचि = जिनागमानुसार देशना श्रवण करने से उत्पन्न होने वाली रुचि। इनके अतिरिक्त अन्य भी लक्षण मिलते हैं[११०] देव, गुरु, धर्म की स्तुति करना, गुणियों के गुणों का कथन करना, विनय, नम्रता, तप, जप, सयमादि, गुणों से विभूषित, सुपात्रदान की भावना जागना, ये सभी धर्मध्यान के लक्षण हैं। इन सबके मूल में श्रद्धा है। श्रद्धा ही धर्मध्यान का मूल है।

धर्मध्यान के चार आलंबन : आगम में चार प्रकार के आलबन बताये गए हैं-[१११]

१. वाचना - गणधर रचित सूत्रों की योग्य शिष्य को वाचना देना, सूत्र दान देना या पढ़ाना। इसके आलम्बन से एकाग्रता बढ़ती है।

२. पृच्छना - सूत्र पाठ में कही शका हो तो गुरु समीप जाकर विनयपूर्वक प्रश्न पूछना।

३. परियट्टना (परिवर्तन) - पढ़े हुये सूत्रार्थ ज्ञान में भूल न हो, इस लिये पुन पुन परावर्तन (पुनरावृत्ति) करना, जिससे एकाग्रता में वृद्धि होती है।

४. अनुप्रेक्षा (धर्म कथा) - आगम में अनुप्रेक्षा और धर्मकथा दोनों ही शब्द मिलते हैं। पढ़े हुए ज्ञान का विस्मरण न हो, इसलिये उसका बार बार चिन्तन करना अथवा दूसरों को धर्मोपदेशना देना। धर्मकथा के चार प्रकार हैं -

१ आक्षेपिनी कथा = रागादि भावों से विमुख करके सत्य तत्त्वों के सन्मुख लाने वाली कथा।

२ विक्षेपणी कथा = कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने वाली कथा।

३. सवेगनी कथा = वैराग्य भावना बढ़ाने वाली कथा।

४ निर्वेदनी कथा = ससार में उदासीन बनाने वाली कथा।

इन चारों के आलम्बन से मन एकाग्र होने पर वह धर्म ध्यान पर चढ़ सकता है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा : भावना और अनुप्रेक्षा में अन्तर है। अनुप्रेक्षा में पुन: पुन तत्त्वों का गहराई से चिन्तन किया जाता है, जब कि भावना में इतनी गहराई नही होती।

आगमकथित आज्ञा अपाय आदि ध्यान के प्रकारों से मन विचलित होने पर अनित्यादि वैराग्यजनक अनुप्रेक्षाओं का शरण लिया जाता है। आगम कथित चार अनुप्रेक्षा हैं-[११२] अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा।

अनित्यानुप्रेक्षा - संसार में दृश्यमान दु.ख, क्लेश, भय, चिन्ता, शोक आदि की जनिता 'मोह' है। मोह एव मतिभ्रम के चक्रव्यूह को तोड़ने का उपक्रम भावना ही है। संसार में जितने भी मनमोहक पौद्‌गलिक पदार्थ हैं वे सब अनित्य एवं नश्वर हैं। माता, पिता, परिवार, शरीर, धन, धान्य, वैभव, ज्ञातिजन, बन्धुजन, मित्रगण एवं सुर, असुर, देव, दानव, मानव, चक्रवर्ती आदि सब का धन, ऐश्वर्य, आयु, बल, इन्द्रधनुष, बिजली, नदी की लहरें, इन्द्रजाल वत् क्षणिक एवं नाशवान हैं। पक्षीगण की भाँति ही प्राणी आयु पूर्ण होने पर कर्मानुसार ससार में परिभ्रमण करता है। भौतिक सुख, शरीर सुख, इन्द्रिय सुख क्षण-क्षण में अनित्यता में परिणत होने वाले हैं। रागद्वेषादि विकल्पों से निर्मित अशुभ पदार्थ शुभ में और शुभ पदार्थ अशुभ में सतत परिणमन स्वभाव वाले होते हैं। इसलिये अनित्यादि वस्तुओं में आसक्त न बनें। वैषयिक सुख इन्द्रियजनिक विषय भोग किंपाक की तरह मधुर भाषित होते हैं। किन्तु वे सब मेघपटल की तरह अनित्य हैं, कच्चे घड़े की तरह क्षणिक हैं और मार्गपथिक की तरह क्षण विनाशक हैं। मन को इन सब से विमुख बनाना ही उत्तम सुख पाना है। संसार में उत्पन्न सभी वस्तुएँ पर्यायरूप से नाशवान हैं, अनित्य हैं। भरत चक्रवर्ती ने अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन किया तो केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। अत संसार के प्रत्येक वस्तु एवं पदार्थ की अनित्यता का चिंतन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है। एकमात्र आत्मा ही सत् चिदानंदमय स्वरूप वाली है।[११३] इस प्रकार का चिन्तन करना ही 'अनित्यानुप्रेक्षा' है।

अशरणानुप्रेक्षा : संसार में जो वस्तु अनित्य, क्षणिक और नाशवान हैं वे सभी अशरणरूप हैं। जन्म, जरा, मरण, व्याधि, उपाधि से पीड़ित जीवों का इस संसार में कोई शरणरूप नही है। धन, परिवार, कुटुम्ब, इन्द्र, उपेन्द्र, देव, वासुदेव, माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पत्नी आदि कोई भी मृत्यु से बचा नही सकते। सिंह के मुख से मृग को कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही काल के मुख से ये कोई भी वस्तुएं बचा नही सकतीं। इतना तो क्या? प्रबल मिथ्यात्व के वशीभूत मानव प्राणी, यक्ष, भूत, राक्षस, ग्रह, नक्षत्र, पिशाच, योगिनी, शाकिनी, यत्र, मत्र, तत्र, को शरण रूप मानने पर भी वे भी उसे शरणभूत नही हैं। बलशाली हाथी, घोड़े, रथ, पायदल, सेना आदि भी रक्षक नही हैं। चन्द्रमा जब ग्रह से पीड़ित होता है, तो उसकी कौन रक्षा करता है? आत्मा का यदि कोई रक्षक है तो जिनेन्द्र का प्रवचन ही शरणभूत है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही शरणरूप है। धर्म का शरण लेना, ममता का त्यागना और शिवसुख पाना ही जीवन में सच्चा शरण है। शेष अशरणरूप हैं। इस प्रकार आत्मा के त्राण के अभाव का चिन्तन करना ही 'अशरणानुप्रेक्षा' है।[११४]

संसारानुप्रेक्षा - चतुर्विध गति में परिभ्रमण करानेवाले जन्म मरण रूप चक्र को ससार कहते हैं। जीव ससार दुर्गम वन में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से ग्रसित पच ससार में मिथ्यात्व के तीव्रोदय से दु खित होकर परिभ्रमण करता रहता है। सुई की नोंक जितनी भी जगह लोकाकाश की शेष नही रही जहाँ जीवात्मा ने जन्म न लिया हो। जो चार गतिरूप संसार में परवशतावश परिभ्रमण करता है, वह ससार है, उसका चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। निगोद के जीवों की वेदना अपरम्पार है। एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। इस योनि में अनन्तानन्त काल व्यतीत करते हैं। जन्म मरण की भयंकर वेदना पृथ्व्यादि योनि में भी नही है। एक शरीर में अनन्त जीव किन्तु वे अपनी-अपनी वेदना का अनुभव भिन्न-भिन्न करते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में निश्चित रूप से कुछ अधिक सत्रह क्षुद्र भव और एक मुहूर्त में सैंतीस सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं। तथा एक मुहूर्त में पैंसठ हजार पाच सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते हैं। और एक क्षुद्रभव में दो सौ छप्पन आवली होती है। अर्थात् एक मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास की संख्या मालूम करने के लिये एक मुहूर्त ■ २ घटिका ■ ३७।। लव; ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करने पर ३७७३ सख्या आती है, तथा एक मुहूर्त में एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है, जिससे ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर $१७\frac{१३९५}{३७७३}$ लब्ध आता है, अत एक श्वासोच्छ्वास काल में सत्रह से कुछ अधिक क्षुद्र भवों का प्रमाण जानना चाहिये।[११५] एक क्षुद्र भव में दो सौ छप्पन आवली होती है। दिगम्बर साहित्य में[११६] एक श्वासोच्छ्वास काल में १८ क्षुल्लक भव माने हैं। एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यंत लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में निरन्तर जन्म मरण का कालमान 'लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अर्न्मुहूर्त में ६६३३६ बार मरण कर उतने ही भवों-जन्मों को भी धारण करता है। अत एक अन्तमुहूर्त में ६६३३६ क्षुद्र भव होते हैं। इन भवों को क्षुद्र भव इसीलिये कहते हैं कि इनसे अल्पस्थिति वाला अन्य कोई भी भव नही पाया जाता है। इन भवों में से प्रत्येक का कालप्रमाण श्वास का अठारहवा भाग है। फलत त्रैराशिक के अनुसार ६६३३६ भवों के श्वासों का प्रमाण $३६८५^{१}/_{३}$ होता है। इतने उच्छ्वासों के समूह प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में पृथ्वीकायिक से लेकर पचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के [illegible] भव ६६३३६ हो जाते हैं। ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है तथा इन ६६३३६ भवों में से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६०, चतुरिन्द्रिय के ४०, पचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्र भव होते हैं। कोई एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के प्रथम समय से लेकर उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अपनी आयु पूरी करके पुन एकेन्द्रिय पर्याय में ही उत्पन्न हुआ और उच्छ्वास के अठारहवें भाग काल तक जीकर मर गया और पुन एकेन्द्रियपर्याय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यदि निरन्तर वह एकेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्त में ही बार-बार जन्म लेता है तो

६६१३२ बार से अधिक जन्म नही ले सकता। इसी तरह द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक उपर बताये हुये अंकों के अनुसार समझना। पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के जो २४ बार जन्म बताये हैं, उसमें भी मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त में आठ बार, असज्ञी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में आठ बार और सज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में आठ बार इस तरह कुल मिलाकर पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में २४ बार निरन्तर जन्म लेता है। इससे अधिक नही ले सकता।

एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के निरन्तर क्षुद्र भवों की संख्या जो ६६१३२ वतलाई है उसका विभाग स्वामीकुमार के अनुसार इस प्रकार है-[११७] पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, और साधारण वनस्पतिकाय ये पाँचों बादर और सूक्ष्म के भेद से १० भेद होते हैं। उनमें प्रत्येक वनस्पति को मिलाने से ग्यारह होते हैं। इन ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से एक-एक भेद में ६०१२ निरन्तर क्षुद्र भव होते हैं और मरते भी उतने ही बार हैं। इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तकाल में लब्ध्यपर्याप्तक जीव ६६३३६ बार जन्म-मरण करता है। जो जीव श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है और एक भी पर्याप्ति को समाप्त नही कर पाता, उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं।[११८] यह तो बात लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की हुई। किन्तु एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सज्ञी असज्ञी भवों में भी जीवात्मा ने असख्यात एव अनन्तानन्त बार जन्म मरण का दु ख भोगा है। पंचेन्द्रिय में भी नरक गति का दु ख भयकर है। नारकों में तीन प्रकार की वेदनाए होती हैं- १. क्षेत्र स्वभावजन्य, २. परस्परजन्य तथा ३. उत्कटअधर्मजनित। सातों नारकों की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र होती है। प्रथम के तीन नारकों में परमाधामी देव हैं। वे नारकी के जीवों को उत्कट अधर्मजनित वेदनाएं देते हैं। परमाधामी असुरजाति के देव हैं। उनका स्वभाव क्रूर होता है। वे अब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रौद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुषपत्र, कुम्भी, बालुका, वैतरणी, खरस्वर, तथा महाघोष नामवाले पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव हैं। वे कुतुहल प्रिय होने के कारण अपने अपने नामानुसार अनेक प्रकार के प्रहारों से, तीर, बर्छी, तलवार, हथोड़ा, अस्त्र, शस्त्र, द्वारा छेदन, भेदन, छीलन, काटना, मारना, एव परस्पर कुत्तों, भैसों, मल्लों की तरह लड़ाने में आनंद मनाते हैं। नारकी जीवों को परस्पर लड़ाना, तप्त लोहे का रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लोहस्तम्भ का आलिंगन कराना, कूट और सेमर के वृक्ष पर चढ़ाना, तेल की कढ़ाई में पकाना, भांड की भाती कढ़ई में भूंजना, वैतरणी नदी में डुबाना, यंत्र से पिलना, असिवन की छाया में बिठाना, असिपत्र से शरीर को छिन्नभिन्न करना आदि अनेक प्रकार की भयंकर वेदनाएं नारकी जीवों को परमाधामी देव देते रहते हैं। शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी नारकीय जीवों की अकाल में मृत्यु नहीं होती, उनकी आयु नही घटती, क्योंकि वे अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। क्षेत्रस्वभाव जन्य और परस्पर जन्य वेदनाए तो सातों ही नरकभूमि में

हैं। प्रथम ही तीन भूमियों में उष्णवेदना, चौथी में उष्ण-शीत वेदना, पाचवी में शीतोष्ण, छठी में शीत तथा सातवी में शीततर वेदनाए हैं। ये सब वेदनाए अति मात्रा में होती हैं। मुख्यत नारकी जीव प्रति समय दस प्रकार की वेदनाए भोग रहा है - सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, जरा और ज्वर। इस तरह नरक की वेदनाए तीव्रतम हैं। इन सबका चिन्तन करना ही ससारानुप्रेक्षा है।[११९]

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तक पाँचों में नाना प्रकार की छेदन, भेदन, काटन, मारन की वेदनाए जीव को सहन करनी पड़ती हैं। पचेन्द्रिय में जलचर भव में मत्स्यगलागल न्याय की भाति एक दूसरे को निगलते रहते हैं। स्थलचर भव में गाय, भैंस, हाथी, ऊट, बैल, कुत्ता, आदि के भव में परवशतावश भूख-प्यास आदि अनेक प्रकार की वेदनाए सहनी पड़ती हैं। नभचर के भव में तोता, कबूतर, पक्षी, चील, चिड़िया, तीतर आदि रूप में जन्म पाकर शिकारी, राजा आदि द्वारा अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं, मरण के दु ख को सहन करते हैं। तिर्यंचगति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है।[१२०]

मनुष्य भव में आर्य-अनार्य क्षेत्र में जन्म लेकर पूर्वकृत कर्मानुसार नानाविध कष्टों को सहन करना पड़ता है। अज्ञानतावश नानाविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। जन्म, जरा, मरण, रोग का दु ख सहना पड़ता है। मनुष्य भव श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु जब तक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नही होता है तब तक तो ससार में भटकना ही पड़ता है। इस प्रकार का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। देव भव में भी बलशाली देवों की समृद्धि देखकर शोक, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या आदि के कारण दु खी होते हैं। देव गति से च्युत होने का चिह्न देखकर विलाप करना, दु खी होना, तथा कान्दर्पिक आदि देवों के क्रोधादि से पीड़ित होते रहते हैं। इस प्रकार चारों गति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करके आत्मस्वरूप में रमण करना ही 'ससारानुप्रेक्षा' है।[१२१]

एकत्वानुप्रेक्षा : अनित्य, अशरण और ससारानुप्रेक्षा में बताये हुए माता पिता कुटुब परिवार आदि कोई भी सुख दु ख में सहभागी नही होते। जन्म-मरण में भी साथी नही बनते। अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अपने पूर्वकृतकर्मानुसार अगले भव को प्राप्त करता है। जब तक जीवात्मा को सच्ची दृष्टि प्राप्त नही होती तब तक के सयोग-वियोग, जन्म-मरण में कोई भी सहायक नही बनते। यह जीवात्‌ परिवार, मित्रगण या अन्य के लिये कुछ कार्य करता है उसका नरकादि में स्वय भोगता है। अत यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेले गर्भ में आता है, अकेला ही बाल यौवन वृद्धावस्था को [illegible] ही [illegible]

दु खों को भोगता है, अकेला ही शोकग्रस्त होता है और अकेला ही चतुर्विधगति में परिभ्रमण करता है। लोक के सुखों का भोक्ता और सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता अकेला जीवात्मा ही है। वास्तव में आत्मा को उत्तम क्षमादि दस धर्म ही चार गतियों के दु:ख से बचा सकते हैं। इस प्रकार का चिन्तन ही एकत्वानुप्रेक्षा है। नमिराजर्षि ने एकत्व भावना का चिंतन किया था।[१२२]

इस प्रकार आगम कथित धर्मध्यान के ४+४+४+४=१६ भेद हैं।

शुक्लध्यान के भेद : जैनागमानुसार शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा इन सबके चार चार भेद हैं। कुल शुक्लध्यान के १६ भेद हैं।

आगम में शुक्लध्यान के चार भेद किये हैं।-[१२३]

१ पृथक्त्त्व वितर्क सविचार, २. एकत्व वितर्क अविचार, ३. सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती। इनमें से दो प्रथम ध्यान छद्मस्थ को और अतिम दो ध्यान केवली को होते हैं। क्योंकि प्रथम के दो ध्यान श्रुतज्ञान के आश्रित होते हैं तथा वे दोनों ही सवितर्क हैं, उनमें से प्रथम सविचार और दूसरा अविचार-विचाररहित है। फिर भी इन दोनों में श्रुतज्ञान का आलम्बन ही है, शेष दो में नही है।[१२४]

१. पृथक्त्त्व वितर्क सविचार : शुक्लध्यान के प्रथम भेद में विविध विषयों पर विचार किया जाता है। इनमें आये हुए शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है।

पृथक्त्त्व = भेद, वितर्क = विशेष तर्कणा (द्वादशागश्रुत), विचार = विशेष रूप से चार -चलना, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गति करना तथा परमाणु द्व्यणुक आदि पदार्थ (अर्थ) व्यजन, शब्द, योग, (मन, वचन, काय) में सक्राति करना विचार है। भेद रूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे 'पृथक्त्त्व-वितर्क-सविचार' कहते हैं। यदि ध्याता पूर्वधर हो तो पूर्वगत श्रुत के आधारपर और पूर्वधर न हो तो स्वयं के संभवित श्रुत के आधार पर परमाणु आदि जड़ या चेतन, एक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अनुसार पूर्वगतश्रुतानुसार, अपूर्वगत श्रुतानुसार तथा अर्थ-व्यंजन-योग संक्रान्ति के अनुसार एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक व्यजन से दूसरे व्यजन पर तथा मन-वचन-काय इन तीनों में से एक को छोड़ अन्य का आलबन लेना ही पृथक्त्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहलाता है।[१२५]

इसमें आये हुये अर्थ, व्यंजन, योग और संक्रान्ति का अर्थ निम्न प्रकार से हैं।

अर्थ : ध्यान करने योग्य पदार्थ -ध्येय। ध्येय वस्तु को ही अर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और पर्याय रूप होता है।

हैं। प्रथम ही तीन भूमियों में उष्णवेदना, चौथी में उष्ण-शीत वेदना, पाचवी में शीतोष्ण, छठी में शीत तथा सातवी में शीततर वेदनाए हैं। ये सब वेदनाए अति मात्रा में होती हैं। मुख्यत नारकी जीव प्रति समय दस प्रकार की वेदनाएं भोग रहा है - सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, जरा और ज्वर। इस तरह नरक की वेदनाए तीव्रतम हैं। इन सबका चिन्तन करना ही ससारानुप्रेक्षा है।[११९]

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तक पाँचों में नाना प्रकार की छेदन, भेदन, काटन, मारन की वेदनाए जीव को सहन करनी पड़ती हैं। पचेन्द्रिय में जलचर भव में मत्स्यगलागल न्याय की भाति एक दूसरे को निगलते रहते हैं। स्थलचर भव में गाय, भैंस, हाथी, ऊट, बैल, कुत्ता, आदि के भव में परवशतावश भूख-प्यास आदि अनेक प्रकार की वेदनाए सहनी पड़ती हैं। नभचर के भव में तोता, कबूतर, पक्षी, चील, चिड़िया, तीतर आदि रूप में जन्म पाकर शिकारी, राजा आदि द्वारा अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं, मरण के दु ख को सहन करते हैं। तिर्यंचगति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है।[१२०]

मनुष्य भव में आर्य-अनार्य क्षेत्र में जन्म लेकर पूर्वकृत कर्मानुसार नानाविध कष्टों को सहन करना पड़ता है। अज्ञानतावश नानाविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। जन्म, जरा, मरण, रोग का दु ख सहना पड़ता है। मनुष्य भव श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु जब तक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नही होता है तब तक तो संसार में भटकना ही पड़ता है। इस प्रकार का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। देव भव में भी बलशाली देवों की समृद्धि देखकर शोक, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या आदि के कारण दु खी होते हैं। देव गति से च्युत होने का चिह्न देखकर विलाप करना, दु खी होना, तथा कान्दर्पिक आदि देवों के क्रोधादि से पीड़ित होते रहते हैं। इस प्रकार चारों गति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करके आत्मस्वरूप में रमण करना ही 'ससारानुप्रेक्षा' है।[१२१]

एकत्वानुप्रेक्षा : अनित्य, अशरण और ससारानुप्रेक्षा में बताये हुए माता पिता कुटुब परिवार आदि कोई भी सुख दु ख में सहभागी नही होते। जन्म-मरण में भी साथी नही बनते। अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अपने पूर्वकृतकर्मानुसार अगले भव को प्राप्त करता है। जब तक जीवात्मा को सच्ची दृष्टि प्राप्त नही होती तब तक प्राणी के संयोग-वियोग, जन्म-मरण में कोई भी सहायक नहीं बनते। यह जीवात्मा अपने परिवार, मित्रगण या अन्य के लिये कुछ कार्य करता है उसका नरकादि में स्वय ही फल भोगता है। अत यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेले ही माँ के गर्भ में आता है, अकेला ही बाल यौवन वृद्धावस्था को पाता है, अकेला ही रोगादिग्रस्त

दु खों को भोगता है, अकेला ही शोकग्रस्त होता है और अकेला ही चतुर्विधगति में परिभ्रमण करता है। लोक के सुखों का भोक्ता और सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता अकेला जीवात्मा ही है। वास्तव में आत्मा को उत्तम क्षमादि दस धर्म ही चार गतियों के दु:ख से बचा सकते हैं। इस प्रकार का चिन्तन ही एकत्वानुप्रेक्षा है। नमिराजर्षि ने एकत्व भावना का चिंतन किया था।[१२२]

इस प्रकार आगम कथित धर्मध्यान के ४+४+४+४=१६ भेद हैं।

शुक्लध्यान के भेद : जैनागमानुसार शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा इन सबके चार चार भेद हैं। कुल शुक्लध्यान के १६ भेद हैं।

आगम में शुक्लध्यान के चार भेद किये हैं।-[१२३]

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार, २. एकत्व वितर्क अविचार, ३. सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती। इनमें से दो प्रथम ध्यान छद्मस्थ को और अंतिम दो ध्यान केवली को होते हैं। क्योंकि प्रथम के दो ध्यान श्रुतज्ञान के आश्रित होते हैं तथा वे दोनों ही सवितर्क हैं, उनमें से प्रथम सविचार और दूसरा अविचार-विचाररहित है। फिर भी इन दोनों में श्रुतज्ञान का आलम्बन ही है, शेष दो में नही है।[१२४]

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार : शुक्लध्यान के प्रथम भेद में विविध विषयों पर विचार किया जाता है। इनमें आये हुए शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है।

पृथक्त्व = भेद, वितर्क = विशेष तर्कणा (द्वादशांगश्रुत), विचार = विशेष रूप से चार -चलना, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गति करना तथा परमाणु द्व्यणुक आदि पदार्थ (अर्थ) व्यजन, शब्द, योग, (मन, वचन, काय) में सक्रांति करना विचार है। भेद रूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' कहते हैं। यदि ध्याता पूर्वधर हो तो पूर्वगत श्रुत के आधारपर और पूर्वधर न हो तो स्वयं के संभवित श्रुत के आधार पर परमाणु आदि जड़ या चेतन, एक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अनुसार पूर्वगतश्रुतानुसार, अपूर्वगत श्रुतानुसार तथा अर्थ-व्यंजन-योग संक्रान्ति के अनुसार एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक व्यंजन से दूसरे व्यजन पर तथा मन-वचन-काय इन तीनों में से एक को छोड़ अन्य का आलबन लेना ही पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहलाता है।[१२५]

इसमें आये हुये अर्थ, व्यजन, योग और संक्रान्ति का अर्थ निम्न प्रकार से हैं।

अर्थ : ध्यान करने योग्य पदार्थ -ध्येय। ध्येय वस्तु को ही अर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और पर्याय रूप होता है।

व्यंजन : वचन, शब्द, वाक्य आदि को व्यजन कहते हैं।

योग : मन, वचन और काय प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली चचलता को योग कहा जाता है। उसके परिवर्तन को विचार कहते हैं। विचार का अर्थ-अर्थ व्यजन और योग सक्रान्ति है।

संक्रान्ति : बदलना, परिवर्तन होना ही सक्रान्ति है। यह तीन प्रकार की है - अर्थ सक्रान्ति, व्यजन सक्रान्ति और योग सक्रान्ति। इसे ही प्रविचार कहते हैं। विशुद्ध ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, उन्हें ही त्रिविध सक्रान्ति प्राप्त होती है।[१२६]

चौदह-दस-नौपूर्व का धारी, प्रशस्त तीन उत्तम संहननवाला, कषायों का नाश करने वाला, तीन योगों में से किसी एक योग में विद्यमान उपशान्तकषाय - वीतराग-छद्मस्थ जीव ही श्रुतस्कन्ध- महासागर में लीन रहकर द्रव्य-गुण-पर्याय रूप श्रुत किरणों के प्रकाशबल से ध्यान करता है। ध्यान से अनेक नय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सात भग, रत्नत्रय आदि श्रुतस्कन्धमहासागर में प्रवेश करके अर्थ से अर्थान्तर, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर के बाद योगों की पक्ति में स्थापित करके द्विसंयोग, त्रिसयोग की अपेक्षा पृथक्त्ववितर्क-सविचार ध्यान के ४२ भंग उत्पन्न करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक षट् द्रव्य व नौ पदार्थ का चिन्तन करता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण होने पर भी ध्यान का विनाश नही होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नही होता। इस ध्यान का फल सवर -निर्जरा ही है, जिससे अमर सुख की प्राप्ति होती है।[१२७]

(२) एकत्व वितर्क अविचार : इसमें चित्त की स्थिति हवारहित दीपक की तरह होती है। पूर्वश्रुतानुसार किसी भी परमाणु, जीव, ज्ञानादिगुण, उत्पादादि कोई एक पर्याय, शब्द, अर्थ, तीन योग में से कोई भी एक योग ध्येय रूप में होता है, अलग-अलग नही होता। एक ही ध्येय होने से इसमें अर्थ, व्यजन और योगों का सक्रमण नही होता। चित्त एक ही पुद्गल पर स्थिर रहता है। इसलिये इसे 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहते हैं।[१२८] सिर्फ अभेद से चिन्तन होने के कारण अर्थ, व्यजन और योग की एकरूपता रहती है। द्रव्य, गुण, पर्याय में मेरूपर्वत के समान निश्चल भाव से अवस्थित चित्तवाले, असख्यात गुण श्रेणिक्रम से कर्म स्कन्धों को गलानेवाले, अनन्तगुणहीन, श्रेणिक्रम से कर्मो के अनुभाग को शोषित करने वाले तथा कर्मों की स्थितियों को एक योग अथवा एक शब्द के आलबन से ध्यान बल द्वारा घात करके वज्रऋषभनाराच सहनन वाला, शूर, वीर, चौदह, दस अथवा नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषायकाल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदय आदि गुण श्रेणिरूप से रचना करके पुन स्थिति घात के बिना अध· स्थिति गलना

द्वारा ही असंख्यातगुण श्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुये क्षीणकषाय के अंतिम समय को प्राप्त होने पर वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाति कर्मों को युगपद नाश करते हैं।[१२९]

(३) सूक्ष्म क्रिया अनियट्टी (प्रतिपाती, अनियट्टी) 'एकत्ववितर्क-अविचार' शुक्लध्यान से समस्त घातिकर्मइन्धन को जलाने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्याय को युगपद जानते हैं, उन केवली के चरणों में देव, देवी आदि सब वन्दन करते हैं।

चारों घाति कर्मों का नाश करके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र का अनुभव करता हुआ केवलज्ञानी एक मुहूर्त तक अथवा कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करता है। कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष की होती है और वह कम से कम आठ वर्ष की अवस्था होने पर दीक्षा लेता है और दीक्षा लेते ही उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह (केवलज्ञानी) जघन्य में दो घड़ी तक और उत्कृष्ट से आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटिकाल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश करता हुआ विहार करता है।[१३०]

जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम, तथा गोत्र की भी स्थिति उतनी ही रहती है तब सब वचनयोग, मनोयोग तथा बादर काययोग को छोड़कर सूक्ष्मयोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान प्रारभ करते हैं। यहाँ क्रिया का अर्थ 'योग' किया गया है। वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया (योग) सूक्ष्म होती है, उसे सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। और सूक्ष्मक्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है, वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसमें केवलज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञान का अभाव होने से यह अवितर्क कहलाता है और अर्थान्तर की सक्राति का अभाव होने से अविचार भी है। अत. यह ध्यान अवितर्क, अविचार और सूक्ष्म क्रिया से सबध रखनेवाला होता है। इसमें काययोग सूक्ष्म होता है।[१३१]

केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त ही शेष रहे और अघातिकर्म (वेदनीय, नाम, गोत्र) की स्थिति अधिक रहने पर केवली भगवान उनको बराबर करने के लिये समुद्घात करते हैं।[१३२] किन्तु केवली समुद्घात करने के पहले आउज्जीकरण (आयोज्यकरण) की प्रक्रिया अवश्य करनी पड़ती है।

आउज्जीकरण (आयोज्यकरण) : सभी सयोगी केवली मोक्ष गमन के एक मुहूर्त पहले केवली-समुद्घात करने के पहले किये जाने वाला शुभ-व्यापार-योग

आउज्जीकरण कहलाता है।[१३३] अथवा केवलिसमुद्घात के पहले की जाने वाली मन, वचन, काया की शुभक्रिया, एक अन्तर्मुहूर्त तक कर्म पुद्गल को उदयावलिका में डालने रूप उदीरणा विशेष को आउज्जियाकरण कहते हैं।[१३४] मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति (व्यापार), मोक्ष के अनुकूल कर्तव्य ही आउज्ज या आउज्जीकरण है।[१३५] इसे आयोजिकाकरण, आवश्यककरण, अवश्यकरण, आवर्जितकरण के नाम से संबोधित करते हैं।[१३६] यह क्रिया सब केवली भगवन् को अवश्य करणीय होती है। इसलिये आवश्यक करण या अवश्यकरण कहा है। योग निरोध का कार्य एक समय का नही होता है उसमें असख्य समय का कार्य होता है। आवर्जितकरण और केवली समुद्घात किये विना सीधे ही योग निरोध की प्रक्रिया करने लग जाय तो योग निरोध के सिद्ध होने पर भोगने योग्य अवशिष्ट भवोपग्राही (अघातिकर्म) कर्म के भोगने में योग का अभाव होने से वहाँ सिर्फ अकेले कर्मों का शुभ वेदन ही होगा। इन कर्मों को क्षय करने के लिये केवलज्ञान और क्षायिक सम्यक्त्व के बल से उन उन कर्मदलिकों को ऐसी स्थिति में लाकर रखा जाय कि उन्हें सहजरूप से भोगा जा सके। मोक्ष के सन्मुख होने की क्रिया ही आवर्जितकरण है। केवली समुद्घात के पूर्व की यह विशिष्ट प्रक्रिया है जो तेरहवें गुणस्थान के अतिम समय में होती है।

केवलीसमुद्घात : आयोज्यकरण के बाद केवली समुद्घात किया जाता है। समुद्घात की क्रिया अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर ही की जाती है। सभी केवली को समुद्घात की क्रिया करनी ही पड़ती है ऐसा कोई नियम नही है। किन्तु छह मास आयु शेष रहने पर जिन्हें केवल ज्ञान होता है वे नियम से समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों में समुद्घात भजनीय है।

समुद्घात शब्द = सम्= सम्यक्, उत् =प्रबलता से, घात= कर्म का हनन (क्षय) इन तीन शब्दों के योग से बना है। जिसका अर्थ है एक साथ प्रबलता से जीवप्रदेशों से कर्म पुद्गल को उदीरणादिक से आकर्षित करके भोगना समुद्घात है अर्थात मूल शरीर को छोड़े बिना, उत्तर देहरूप जीवपिण्ड का - आत्मप्रदेशों के समूह को देह से बाहर निकालना ही समुद्घात है।[१३७] आयुकर्म थोड़े रहे और वेदनादि शेष कर्म अधिक रह जाय तो उन सबको (कर्मों को) प्रदेश और स्थिति द्वारा समान करने के लिये केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं। जिनके वेदनादि कर्म आयु जितने ही स्थिति वाले हों तो वे समुद्घात नही करते। वेदना आदि निमित्तों से जीवन के प्रदेशों का शरीर के भीतर रहते हुए भी बाहर निकालना वेदनादि सात समुद्घात है।[१३८]

समुद्घात की विधि और समय : केवलज्ञान, केवलदर्शन के प्राप्त होने पर केवली त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानते एव देखते हुए, करण, क्रम

तथा व्यवधान से रहित होकर असख्यात गुणश्रेणि से कर्मों की निर्जरा करके कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक धर्मोपदेश देते विचरण करते रहते हैं। जब आयु का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब वे शीघ्र ही सूक्ष्मक्रिया -प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारंभ कर सकते हैं। उसी समय यदि आयुष्य-कर्म की अपेक्षा अन्य नाम, गोत्र, और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है, तो उसे बराबर करने के लिये योगी (केवलज्ञानी) केवली-समुद्घात करते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर (मंथानी) और लोक पूरण (लोक व्यापी) समुद्घात करते हैं। केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। ध्यानस्थ केवली भगवान् ध्यान के बल से अपने आत्मप्रदेशों को शरीर के बाहर निकालते हैं। प्रथम समय में दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, तीसरे समय में मथानी और चौथे समय में लोकव्यापी होता है। प्रथम समय में कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप और अपने निष्कभप्रमाण गोल परिवेदरूप आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर ऊपर-नीचे लोकान्त तक , स्थिति के असंख्यात बहुभाग का और अनुभाग के अनन्त बहुभाग का घात करके उन्हें लोकप्रमाण दण्डाकार कर लेते हैं। (लोक के अन्त तक आत्मा के प्रदेशों को विस्तारता है)। दूसरे समय में उस दण्डाकार में से कपाट का आकार करता है और दक्षिण उत्तर दिशा में लोक के अन्त तक वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने देह के विस्तार द्वारा व्याप्त करके शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात करते हुए कपाटाकार समुद्घात करते हैं। आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण चारों दिशा में कपाटाकार बना देते हैं। तीसरे समय में उस कपाट को मथानी का आकार देकर वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा व्याप्त करके शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात करते हुए कपाट को मथानी के आकार का बनाकर फैलाते हैं, इससे अधिकतर लोक परिपूरित हो जाता है। यह प्रतर (मथानी) समुद्घात है। चौथे समय में योगी मथानी के जो अन्तराल खाली रह जाता है, उन्हें पूर कर लोक व्यापी हो जाता है। चौदह राजूलोक में व्याप्त हो जाता है। इस तरह लोक को परिपूरित करते हुए अनुश्रेणि तक गमन होने से लोक के कोणों में भी आत्मप्रदेश पूरित हो जाते हैं। चौथे समय में सब लोकाकाश को व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है, यह लोकपूरण समुद्घात है। चार समयों में समग्र लोकाकाश को अपने आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। जितने आत्मप्रदेश हैं उतने ही लोकाकाश के प्रदेश हैं। अत प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक एक आत्मप्रदेश का व्याप्त होना ही 'लोकपूरण' समुद्घात है। इस प्रकार अपने निरावरण अनन्तवीर्य के द्वारा आत्मा के प्रदेशों को फैलाने पर वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों को आयुकर्म के बराबर करता है किन्तु आयुकर्म का अपवर्तन नही करता। क्योंकि चरमशरीरी की आयु का घात नही हो

सकता। अत आत्मा के प्रदेशों को फैलाने से अतिरिक्त कर्मों का क्षय होकर, वेदनीय, नाम, और गोत्र कर्म भी आयु कर्म के बराबर ही हो जाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को इकट्ठा करके यदि एक जगह रख दिया जाय तो उसे सूखने में बहुत समय लगता है, किंतु यदि उसे फैला दिया जाय तो वह जल्दी सूख जाता है, उसी प्रकार संकुचित दशा में जो कर्मरज आत्मा से पृथक् होने में अधिक समय लेती है, वही समुद्घात दशा में आत्मा के प्रदेशों के फैलाये जाने पर कम समय में पृथक् होने के योग्य हो जाती है।[१३९]

इस प्रकार चार समय में आयुष्य को अन्य कर्मों की स्थिति के समान बनाकर पाँचवें समय में लोक में फैले हुए कर्म वाले आत्मप्रदेशों का उपसहार (सहरण कर सिकोड़ते हैं) करता है। छठे समय में पूर्व-पश्चिम के प्रदेशों का सहार करके मथानी से पुन कपाट के आकार करता है और आठवें समय में दण्डाकार को समेटकर पूर्ववत् अपने मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार चार समय में दण्ड, कपाट, मथानी और लोक व्यापी तथा चार समय में मथानी, कपाट, दण्ड और अपने शरीर में स्थित होता है। इस प्रकार केवलीसमुद्घात में आठ समय लगते हैं।[१४०]

समुद्घात मे किस समय कौन योग होता है? समुद्घात के समय मन और वचन के योग का व्यापार नही होता। उस समय दोनों योगों का कोई प्रयोजन नही होता है, केवल एक काय-योग का ही व्यापार होता है। इसलिये 'समुद्घात काल में पहले और आठवें समय में औदारिक काया की प्रधानता होने से औदारिक काययोग होता है। उस समय केवली अपने शरीर में ही स्थिर होते हैं। दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिक शरीर से बाहर आत्मा का गमन होने से कार्मण-वीर्य के परिस्पन्द-अत्यधिक कम्पन होने से औदारिक मिश्र काय होता है। कपाट का आकार द्वितीय समय में होता है। कपाट का उपसहार (समेटना) सातवें समय में होता है और मथानी का उपसहार छट्ठे समय में होता है। तीसरे, चौथे और पाचवें समय में आत्मप्रदेश औदारिक शरीर के व्यापाररहित और उस शरीर से रहित होने से उस शरीर की सहायता के बिना अकेला कार्मणकाययोग होता है। चौथे समय में मथानी के अन्तरालों को भरा जाता है - लोक व्यापी होता है। पाचवें समय में मथानी के अतरालों का उपसहार करता है और तीसरे समय में मथानी के आकार का होता है। इसलिये इन तीनों समयों में कार्मण काय-योग होता है और उसमें जीव नियम से अनाहारक होता है। इन तीनों समयों में जीव की अनाहारक अवस्था है।[१४१] समुद्घात का त्याग करने के बाद यदि आवश्यकता हो तो वे तीनों योगों का व्यापार करते हैं। जैसे कि कोई अनुत्तरदेव मन से प्रश्न पूछे तो सत्य या असत्यामृषा मनोयोग की प्रवृत्ति करें, इसी प्रकार किसी को सम्बोधन आदि करने में वचन योग का व्यापार करते हैं। अन्य दो प्रकार के योग से व्यापार नही करते। दोनों भी औदारिक

काययोग फलक वापिस अर्पण करने आदि में व्यापार करते हैं।[१४२] उसके बाद अतर्मुहूर्तमात्र समय में योग-निरोध प्रारभ करते हैं।

योग-निरोध :- जो केवली समुद्घात को प्राप्त होते हैं वे समुद्घात के पश्चात् और जो समुद्घात को प्राप्त नही होते हैं वे योग-निरोध के योग्य काल के शेष रहने पर योग-निरोध का प्रारंभ करते हैं।

जो परिस्पन्दन शरीर, भाषा, मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, उसे योग कहते हैं। अथवा पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काययुक्त जीवों की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।[१४३] उन योगों के विनाश को योग निरोध की सज्ञा है।[१४४] क्योंकि योगसहित जीव की कदापि मुक्ति नही। इसलिये योगनिरोध[१४५] होना ही चाहिये। इन तीनों योगों के दो भेद हैं- सूक्ष्म व बादर। केवली भगवान केवली समुद्घात के अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने के बाद बादर काययोग से तीनों योगों में से सर्वप्रथम बादर मनोयोग को रोकते हैं। सर्व प्रथम मन को रोकने का कारण यही है कि मन पर्याप्ति नामक एक करण शरीर से सबद्ध है, जिसके द्वारा जीव मनोद्रव्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है। जिन पुद्गल वर्गणाओं से मन बनता है उन्हें मनोद्रव्य वर्गणा कहते हैं और मनोद्रव्यवर्गणा के ग्रहण करने से योग्य शक्ति के व्यापार को मनोयोग कहते हैं। [illegible] मन पर्याप्ति के वियोग करने के लिए ही अनन्तशक्ति के धारक जीव मन के विषय को रोकते हैं। उसे रोकने के लिये वह पहले मन पर्याप्ति करण से युक्त पचेन्द्रिय सज्ञी जीव के पर्याप्तक होने के प्रथम समय में जघन्य मनोयोग उतने मनोद्रव्यवर्गणा के स्थानों को अपनी आत्मा में रोकता है। उसके बाद प्रति समय उसके असख्यात गुणे हीन स्थानों को रोकता है। [illegible] स्थान के रुकने पर वह अमनस्क-मन - पर्याप्तिरहित होता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद बादर काययोग से बादर वचनयोग का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा बादर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। द्वीन्द्रिय जीव के जो वचनयोग होता है और साधारण वनस्पति जीव के जो श्वासोच्छ्वास होता है, मनोयोग की तरह ही उससे सख्यातगुणे हीन वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हुए समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। उसके बाद जघन्य पर्याप्तक मनक जीव के जो काययोग होता है उससे असख्यातगुणे हीन अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा निरोध करते-करते समस्त बादर काययोग का निरोध करता है। विशेषत: उल्लेखनीय यह है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के प्रथम समय में जो जघन्य वचनयोग होता है और पर्याप्तक साधारण जीव के प्रथम समय में जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे असख्यातगुणे हीन असंख्यातगुणे वचनयोग और श्वासोच्छ्वास को प्रति समय तब तक रोकता है, जब तक समस्त वचनयोग और

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति करण का निरोध नही हो जाता है। मनोयोग और वचनयोग के निरोध होने के बाद ही काययोग का निरोध करता है। क्योंकि पर्याप्त पनक इल्लि जीव के प्रथम समय में जो जघन्य काययोग होता है, उससे भी असख्यातगुणे हीन काययोग का प्रति समय निरोध करता है। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त बादर काययोग का निरोध करता है। बाद में अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है[१४६] प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धक करता हे। इस क्रिया को करते हुए प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धक करता है। ये अपूर्व स्पर्धक प्रति समय पहले समय में जितने किये गये उनसे अगले द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणे हीन श्रेणिरूप से किये जाते हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं, उनसे अगले समयों में असख्यातगुणे श्रेणि रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं। इस प्रकार किये गये सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणि के असख्यातवें भागप्रमाण, जगश्रेणि के प्रथम वर्ग मूल के असख्यातवें भागप्रमाण और पूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। यह अपूर्व स्पर्धक की प्रक्रिया है।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है। कृष्टियों को करते हुए अपूर्व स्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यहा अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करता है। ये कृष्टियाँ प्रति समय पहले समय में जितनी की गई उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणी हीन श्रेणिरूप से की जाती है और पहले समय में जितने जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की गई उनसे अगले समयों में असख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती है। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टिया जगश्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और अपूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण है। कृष्टिकरण क्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर से उसके अनन्तर समय में पूर्व स्पर्धकों का और अपूर्व स्पर्धकों का नाश करता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग वाला होता है और सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान का ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के असख्यात बहुभाग का नाश करता है। इन प्रक्रिया में (योगनिरोध) पहले बादर काययोग को रोका जाता है। यदि बादर काययोग हो तो सूक्ष्म काययोग का निरोध अशक्य है। दौड़ने वाला मनुष्य

अकस्मात् अपने गति को रोक नही सकता, परन्तु धीरे-धीरे रोकता है। वैसे ही सर्व बादर योग का निरोध करने के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं- औदारिकादि शरीर द्वारा प्राप्त केवलज्ञानादि लक्ष्मी एवं अचिन्तनीय शक्ति सपन्न योगी ही बादर काययोग का अवलम्बन लेकर औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर व्यापारगत वचनयोग और मनोयोग को शीघ्र ही रोक लेता है। बाद में सूक्ष्म काययोग को एव बादर काययोग को रोकता है क्योंकि बादर काययोग का निरोध किये बिना सूक्ष्म काययोग का निरोध नही कर सकता। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। बाद में सूक्ष्म काययोग से रहित सूक्ष्म क्रियानिवर्ती नामक तीसरा शुक्लध्यान करते हैं। इसका दूसरा नाम 'समुच्छिन्न क्रिया' अथवा 'सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती' है। इसमें सूक्ष्म क्रिया कभी भी स्थूल नही हो सकती। अत काययोग का निरोध करने पर ही शुक्लध्यान का तीसरा भेद 'सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती' की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण आत्मस्थिरता की ओर जाने वाले अत्यत प्रवर्धमान परिणाम से निवृत्त नही होने वाली (सूक्ष्म से बादर में परिणत नही होने वाली) सूक्ष्म क्रिया को ही 'सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती' कहते हैं। यह अवस्था ही ध्यान है।[१४७] और योग निरोध की भी यही प्रक्रिया है।

४) समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती (निवर्ती) :- तीसरे ध्यान के बाद चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया-निवर्ती (अप्रतिपाती) ध्यान का प्रारभ होता है। इसमें प्राणापान क्रिया का तथा सब प्रकार के मन, वचन काय योग के द्वारा अथवा काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने पर समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती अथवा सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है। जिसमें योग का सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो गया है उसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहते हैं।[१४८] यह श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है। जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अविचार है अथवा अर्थ, व्यंजन और योगसक्रान्ति का अभाव होने से भी अविचार है।[१४९] चतुर्थ ध्यान के प्रारभ में सूक्ष्म काययोग की क्रिया भी नही होती, कोई भी योग नही होता, तब वे केवलज्ञानी अयोगिकेवली बन जाते हैं। तब कही चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाती ध्यान प्रारभ होता है- इसके अनेक नाम है- 'व्यवच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाती', 'व्युच्छिन्न-व्युपरत क्रिया-अप्रतिपाती'। अप्रतिपाती का अर्थ है- अटल स्वभाव वाली अथवा शाश्वत काल तक अयोग अवस्था कायम रहेगी। योग निरोध क्रिया के पूर्ण होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अन्तर्मुहूर्त वत् होती है। तदनतर समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त होकर चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है। यह ध्यान वितर्क रहित, विचार

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति करण का निरोध नही हो जाता है। मनोयोग और वचनयोग के निरोध होने के बाद ही काययोग का निरोध करता है। क्योंकि पर्याप्त पनक इल्लि जीव के प्रथम समय में जो जघन्य काययोग होता है, उससे भी असख्यातगुणे हीन काययोग का प्रति समय निरोध करता है। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त वादर काययोग का निरोध करता है। बाद में अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है[१४६] प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धक करता है। इस क्रिया को करते हुए प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धक करता है। ये अपूर्व स्पर्धक प्रति समय पहले समय में जितने किये गये उनसे अगले द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणे हीन श्रेणिरूप से किये जाते हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं, उनसे अगले समयों में असख्यातगुणे श्रेणि रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं। इस प्रकार किये गये सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणि के असख्यातवें भागप्रमाण, जगश्रेणि के प्रथम वर्ग मूल के असख्यातवें भागप्रमाण और पूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। यह अपूर्व स्पर्धक की प्रक्रिया है।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है। कृष्टियों को करते हुए अपूर्व स्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यहा अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करता है। ये कृष्टियाँ प्रति समय पहले समय में जितनी की गई उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणी हीन श्रेणिरूप से की जाती है और पहले समय में जितने जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की गई उनसे अगले समयों में असख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती है। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टिया जगश्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और अपूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण है। कृष्टिकरण क्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर से उसके अनन्तर समय में पूर्व स्पर्धकों का और अपूर्व स्पर्धकों का नाश करता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग वाला होता है और सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान का ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करता है। इन प्रक्रिया में (योगनिरोध) पहले बादर काययोग को रोका जाता है। यदि बादर काययोग हो तो सूक्ष्म काययोग का निरोध अशक्य है। दौड़ने वाला मनुष्य

हैं-१५५ क्षमा, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। कहीं-कही क्रम भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है- क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति।

क्षमा :- साधना मार्ग में यदि क्रोध प्रवेश कर जाय तो उसे दूर करने के लिये क्षमा का आलंबन लिया जाय। क्षमा से सारे शत्रु नामूल हो जाते हैं।

मुक्ति :- 'निर्लोभता'। लोभ कषाय पतन का कारण है। उसके उदयावली में आते ही संतोष का आलंबन लिया जाय।

आर्जव :- 'सरलता'। साधक जीवन का आभूषण सरलता है। कषाय संसार परिभ्रमण का कारण है। इसलिये माया कषाय का उदय होते ही सरलता का आलबन लेना चाहिये।

मार्दव :- 'मृदुता-नम्रता'। मान कषाय के उदयावलि में आते ही मृदुता का आलबन लेकर उसे दूर करें। मृदुता, नम्रता और कोमलता ये सभी एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

इन चारों का आलंबन लेने से आत्मविशुद्धि की अवस्था प्राप्त होती है और शुक्लध्यान की योग्यता (शक्ति) प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :- आगम में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई हैं-१५६

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, २) विपरिणामानुप्रेक्षा, ३) अशुभानुप्रेक्षा और ४) अपायानुप्रेक्षा। आगमेतर ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा के नाम निम्नलिखित हैं-१५७

१) आस्रवद्वार, २) ससार स्वभाव, ३) भवों की अनन्तता तथा ४) वस्तु का परिणमन।

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा :- अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कषाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है और मिथ्यात्व व कषाय उसके भेद हैं। यों कर्म बंध के पांच प्रकार हैं मिथ्यात्वादि, परन्तु इन दोनों को ही अधिक प्रधानता दी है, क्योंकि इन दोनों के अधीन हुआ ससारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं; उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नही बंधता, इसलिये सात ही कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और अबाधाकाल पूर्ण हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ देता है। वैसे ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रतिसमय

रहित, अनिवृत्ति एवं क्रियारहित शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। यह अवस्था शैलेश की तरह स्थिर होने से शैलेशी अवस्था कहलाती है। तेरहवां गुणस्थान पूर्ण होकर चौदहवें गुणस्थान के प्रारभ में यह अवस्था प्राप्त होती है। मेरू की तरह स्थिर अवस्था होने से परम शुक्लध्यान 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' नामक चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति होती है।[१५०]

यहा ध्यान का अर्थ है- एकान्त रूप से जीव के चिन्ता का निरोध - परिस्पन्द का अभाव होना है। इस दृष्टि से यहा ध्यान सज्ञा दी गई है।[१५१] शुक्लध्यान के चारों ध्यान में से अन्तिम के दो ध्यान सवर और निर्जरा का कारण हैं।[१५२]

शुक्लध्यान के चार प्रकारो में योग :- प्रथम 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' ध्यान में एक योग या तीनों ही योग होते हैं। योग के अर्थ में सक्रमण नही किन्तु योगान्तर में सक्रमण हो तो अनेक योग होते हैं, नही तो एक ही योग होता है। तीनों में से कोई एक योग अथवा अनेक योगों की सभावना है। द्वितीय 'एकत्व-वितर्क-अविचार' ध्यान सक्रमणरहित होने से तीनों योग में से किसी एक योग में ही तल्लीनता आती है। तृतीय 'सूक्ष्म-क्रिया-अनिवर्ती' ध्यान केवल सूक्ष्म काययोग में ही होता है। इसमें अन्य सभी योगों का निरोध हो जाता है। चौथे 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' ध्यान में अयोग अवस्था होती है। समस्त योगों का निरोध हो जाने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये यह ध्यान अयोगीकेवली को शैलेशी अवस्था प्राप्त होने पर होता है।[१५३]

शुक्लध्यान के चार लक्षण :- आगम ग्रन्थों में शुक्लध्यान के चार लक्षण बताये हैं।-[१५४]

१) अव्यथा :- इसे अवध भी कहते हैं। अवध का अर्थ है अचलता। स्थिर शुक्लध्यानी मुनि क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि परीषह और देव, मानव, तिर्यंच सबधी मारणान्तिक उपसर्ग आने पर भी विचलित नही होते, अपितु स्थिर और सावधानता से समता में लीन रहते हैं।

२) असमोह :- व्यामोह में न पड़ना। ध्यानावस्था में चाहे जितने अनुकूल, प्रतिकूल उपद्रव आने पर भी विचलित नही होते।

३) विवेक :- सदसद्विवेक बुद्धि से भेदविज्ञान का ज्ञान होता है। देह और आत्मा की भिन्नता स्पष्ट होती है।

४) व्युत्सर्ग :- 'त्याग'। शुक्लध्यानी द्रव्य (कुटुब परिवार आदि) और भाव (कषाय, ससार, कर्म) से सर्वथा मुक्त होता है। इन चार लक्षणों के प्राप्त होने पर ही ध्यान की शक्ति प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन :- आगम में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये

हैं-१५५ क्षमा, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। कहीं-कहीं क्रम भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है- क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति।

क्षमा :- साधना मार्ग में यदि क्रोध प्रवेश कर जाय तो उसे दूर करने के लिये क्षमा का आलंबन लिया जाय। क्षमा से सारे शत्रु नामूल हो जाते हैं।

मुक्ति :- 'निर्लोभता'। लोभ कषाय पतन का कारण है। उसके उदयावली में आते ही संतोष का आलंबन लिया जाय।

आर्जव :- 'सरलता'। साधक जीवन का आभूषण सरलता है। कषाय संसार परिभ्रमण का कारण है। इसलिये माया कषाय का उदय होते ही सरलता का आलंबन लेना चाहिये।

मार्दव :- 'मृदुता-नम्रता'। मान कषाय के उदयावलि में आते ही मृदुता का आलंबन लेकर उसे दूर करें। मृदुता, नम्रता और कोमलता ये सभी एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

इन चारों का आलंबन लेने से आत्मविशुद्धि की अवस्था प्राप्त होती है और शुक्लध्यान की योग्यता (शक्ति) प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :- आगम में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई हैं-१५६

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, २) विपरिणामानुप्रेक्षा, ३) अशुभानुप्रेक्षा और ४) अपायानुप्रेक्षा। आगमेतर ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा के नाम निम्नलिखित हैं-१५७

१) आस्रवद्वार, २) संसार स्वभाव, ३) भवों की अनन्तता तथा ४) वस्तु का परिणमन।

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा :- अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कषाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है और मिथ्यात्व व कषाय उसके भेद हैं। यों कर्म बंध के पांच प्रकार हैं मिथ्यात्वादि, परन्तु इन दोनों को ही अधिक प्रधानता दी है, क्योंकि इन दोनों के अधीन हुआ संसारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मणवर्गणाएं भरी हुई हैं, उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नही बंधता, इसलिये सात ही कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और अबाधाकाल पूर्ण हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ देता है। वैसे ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रतिसमय

कर्मपुद्गलों और नोकर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। कर्म द्रव्य परिवर्तन और नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन को ही द्रव्य परिवर्तन (द्रव्य ससार) कहते हैं। समस्त लोकाकाश का कोई भी प्रदेश खाली न रहा हो कि जहा सभी जीवों ने जन्म न लिया हो- आकाश प्रदेश के एक-एक प्रदेश में अनेक वार जन्मे और मरे हैं। यही क्षेत्रपरिवर्तन (क्षेत्र ससार) है। इसके दो भेद हैं- स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन। कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव, सूक्ष्मनिगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण कर मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इसे स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उस ही रूप से उस ही स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनागुल के असख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्रपरिवर्तन है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी [illegible] के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समयपर्यंत यह जीव क्रमश जन्म लेता है और मरता है। यही कालपरिवर्तन (काल ससार) है। ससारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थितिपर्यंत सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है और मरता है, यह भवपरिवर्तन (भव ससार) है। नरक गति की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। तिर्यंच और मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है। देवगति की जघन्य आयु और उत्कृष्ट आयु तो तेतीस सागरोपम की है। किन्तु यहा पर ग्रैवेयक तक इकतीस सागरोपम की है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है, आगे नही। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भवपरिवर्तन कहते हैं। सज्ञी जीव जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बध के कारण तथा अनुभाग बध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से तथा श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानों से वर्धमान भाव संसार में परिणमन करता है। योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थिति स्थान, इन चार निमित्त से भावपरिवर्तन होता है। प्रकृतिबध और प्रदेश बंध के कारण आत्मा के प्रदेशपरिस्पन्दरूप योग के तरतमरूप स्थानों को योग स्थान कहते हैं। अनुभागबध के कारण कषाय के तरतमस्थानों को अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबध के कारण कषाय के तरतमस्थानों को कषायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं।

बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थितिस्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण है एवं कषायाध्यवसायस्थान भी असख्यातलोकप्रमाण हैं। मिथ्यादृष्टि, पंचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्तक कोई जीव ज्ञानावरण कर्म की अंत कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाधता है। उस जीव के उस स्थिति के अनुसार (योग्य) जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान, उसी अनुभाग स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योगस्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। इसी प्रकार कषाय एवं स्थितिस्थान को समझना चाहिये। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों को भोगने को भावपरिवर्तन (भाव ससार) कहते हैं। इस तरह पाच प्रकार के ससार में जीव ने अनन्तानन्त भव व्यतीत किये। इस प्रकार का चिन्तन करना ही 'अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा' है।[१५८]

२) विपरिणामानुप्रेक्षा :- ससार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जड़ अथवा चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तन करना कि सर्व स्थान अशाश्वत है, सर्व द्रव्य परिणामी, सर्व पर्याय परिवर्तनशील है, शाश्वत माने जाने वाले मेरू जैसे अणु भी गमनशील है तो दूसरे पदार्थों का क्या कहें? जीवों का भी एक पर्याय में रहना नियत नहीं है। जब भी पुत्र का भाई होता है। भाई का देवर होता है। माता सौत होती है। पिता पति बन जाता है। जब जीव के एक ही भव में ये नाते हो जाते हैं तो धर्मरहित जीवों के दूसरे भव में कितने नाते होंगे?[१५९] पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील है। इस प्रकार का सतत चिंतन करना 'विपरिणामानुप्रेक्षा' है।

३) अशुभानुप्रेक्षा :- ससार चक्र में जन्म, जरा, मरण, रोग, आधि, व्याधि, उपाधि, सयोग, वियोग आदि का चक्र सतत चला करता है। नरक निगोद स्थान दु खमय है। निगोदावस्था में अनन्तानन्त काल व्यतीत करना पड़ता है। नरक में सभी वस्तुए दु ख देने वाली और अशुभ हैं। क्योंकि वहां के क्षेत्र का स्वभाव ही है।[१६०] नारकी जीव सदा ही क्रोधाग्नि में जलते रहते हैं। तिर्यंच और मनुष्य भव में अशुचिस्थान में जन्म लेना भी अशुभ ही है। अत ससार के अशुभ स्वभाव का चिंतन करना ही 'अशुभानुप्रेक्षा' है।

४) अपायानुप्रेक्षा :- ससार में बध के पाच कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन्हें अपाय माना गया है। इसके अतिरिक्त आर्त रौद्र ध्यान, तीन शल्य, तीन गारव (गौरव), अज्ञानता तथा राग-द्वेष-मोह भी अपाय हैं। मोहनीय कर्म के उदय से ही जीव के अनेक प्रकार के मिथ्यात्व आदि होते हैं। बंध के पाच प्रकारों में योग को छोड़कर शेष चार प्रकार मोहनीय कर्म का ही उदय है। मोहनीय कर्म का उदय दसवें

गुणस्थान तक रहता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म की बधव्युच्छित्ति हो जाने से ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग के द्वारा एक सातावेदनीय का ही बध होता है। शेष११९ प्रकृतियाँ मोहनीयकर्मजन्य भावों के कारण ही बधती हैं।[१६१] यही आस्रव का कारण है। इस प्रकार इन अपायों (आस्रव) का सतत चिन्तन करना ही 'अपायानुप्रेक्षा' है।

शुक्लध्यान के चार भेद, चार लक्षण, चार आलबन और चार अनुप्रेक्षा कुल १६ भेद हैं।

आर्तध्यान के आठ भेद, रौद्रध्यान के आठ भेद, धर्मध्यान के सोलह भेद और शुक्लध्यान के सोलह भेद कुल आगमकालीन ध्यान के ४८ भेद हैं।

आगमिक टीका में ध्यान के भेद :- आगमिक ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। इनमें प्राचीनतम निर्युक्ति है। निर्युक्तिया अनेक हैं। उनमें *आवश्यक निर्युक्ति* ही सबसे प्राचीनतम है। *आवश्यक निर्युक्ति* के *'कायोत्सर्ग'* प्रकरण में ध्यान का वर्णन है। वहा पर ध्यान के शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद मिलते हैं।[१६२] आर्त रौद्र ध्यान अशुभ हैं और धर्म शुक्लध्यान शुभ हैं। कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान ही ध्याया जाता है। और भी उसमें ध्यान के तीन भेद मिलते हैं- कायिक, वाचिक और मानसिक। अन्य टीका साहित्य में ध्यान के दो भेद प्रशस्त और अप्रशस्त रूप में मिलते हैं।

आगमेतर साहित्य में ध्यान के भेद :-

ध्यान का एक भेद :- पच परमेष्टी का लौकिक ध्यान है।[१६३]

ध्यान के दो भेद :- विभिन्न ग्रन्थों में[१६४] आगमकालीन चार ध्यान को शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त, ध्यान-दुर्ध्यान, ध्यान-अपध्यान, स्थूल और सूक्ष्म, इन दो-दो भागों में रखा है। धर्म-शुक्लध्यान शुभ, प्रशस्त, एव ध्यान रूप हैं और आर्त-रौद्रध्यान अशुभ, अप्रशस्त, अपध्यान तथा दुर्ध्यान रूप हैं। धर्मध्यान के और भी दो भेद किये हैं- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर में पिण्डस्थादि चार ध्यान हैं और बाह्य में परमेष्टी नमस्कार आदि का कथन है। इसके अतिरिक्त भी ध्यान के दो-दो भेद किये गये हैं- मुख्य-उपचार, द्रव्य-भाव, निश्चय-व्यवहार, स्वरूपालम्बन और परालम्बन।

ध्यान के तीन भेद :- परिणाम, विचार और अध्यवसाय के अनुसार ध्यान के तीन-तीन भेद किये गये हैं-[१६५] कायिक, वाचिक और मानसिक, तीव्र, मृदु और मध्य तथा उत्तम, मध्यम और जघन्य।

ध्यान के चार भेद :- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के अनुसार ध्यान के चार भेद किये गये हैं। नाम ध्यान में अ-सि-आ-उ-सा, पंच परमेष्टी के पांचों पदों का भिन्न-भिन्न रूप से एवं उनके अक्षरों का, एव 'अर्हं' और 'ॐ' का स्मरण करना नाम ध्यान है।

जिनेन्द्र प्रतिमा का ध्यान करना स्थापना ध्यान है। चेतन-अचेतन, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का चिन्तन करना द्रव्य ध्यान है और सिद्ध भगवान् और अरिहत भगवान् का ध्यान करना भाव ध्यान है।[१६६]

ध्येय के अनुसार ध्यान (धर्म ध्यान) के और चार भेद हैं-[१६७] पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थध्यान, रूपस्थ ध्यान और रूपातीत ध्यान। कही-कही पदस्थ ध्यान को प्रथम रखा गया है। पवित्रपदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। पिण्ड का अर्थ यहां पर शरीर है। शरीर का आलबन लेकर किया जाने वाला ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है। सर्वचिद्रूप का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है और निरजन निराकार सिद्ध भगवान् का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है।[१६८]

(१) पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप :- शुद्ध स्फटिक सदृश निर्मल शरीर, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य से अलंकृत, आठ महाप्रातिहार्यों से युक्त, मनुष्य एव देवों से पूजित, घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान-केवलदर्शन के स्वामी, चौतीस अतिशय और पैंतीस वाणी से युक्त अरिहन्तदेव का जिसमें ध्यान किया जाता है, उसे पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं। और भी शरीर के अधोभाग को अधोलोक, मध्यभाग को मध्यलोक, नाभि के स्थान पर मेरू पर्वत, नाभि से ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक मानकर कधे तक के भाग में स्वर्गों की, ग्रीवा भाग में ग्रैवेयक की, ठोडी के स्थान पर अनुदिश की, मुख स्थान पर विजयादिक पाच अनुत्तरविमान की, ललाट पर सिद्धस्थान की और मस्तक पर लोक के अग्र भाग की कल्पना करें। इस प्रकार अपने शरीर में तीन लोक सदृश आकार का चिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है।[१६९] इस ध्यान में पाच धारणाओं का चिन्तन किया जाता है,[१७०] जिनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है-

१) पार्थिवी धारणा :- एक राजूप्रमाण मध्यलोक की कल्पना करें। उसे क्षीरसागर के समान निर्मल जल से युक्त, नि:शब्द, निस्तरग, कर्पूरबर्फ-दुग्ध के समान श्वेत क्षीर सागर का चिन्तन करें। उसमें एक लाख योजन जम्बूद्वीप सदृश पद्मरागमणि की स्वर्णप्रभा से युक्त एक हजार पंखुडियोंवाले कमल का चिन्तन करें। उस कमल के मध्य भाग में केसराए है, उसके अन्दर देदीप्यमान पीलीप्रभा से युक्त और सुमेरू पर्वत के समान एक लाख योजन ऊची कर्णिका (पीठिका) का चिंतन करें। उस कर्णिका में शरद्-चन्द्र सा श्वेत वर्ण का एक सिंहासन का चिंतन करें। उस पर अपने को बैठा हुआ शान्त, जितेन्द्रिय, रागद्वेषरहित चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी धारणा' कहते हैं।[१७१]

२) आग्नेयी धारणा :- पार्थिवी धारणा के बाद ध्यानी पुरुष अपने नाभिमण्डल में सोलहपत्रवाले कमल का चिंतन करें। उस कमल के सोलह पत्तों पर 'अ-आ-इ-ई-उ-

ऊ-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-बिन्दु-कला' सहित हकार 'ह' अथवा 'अर्हं' इस महामंत्र का चिंतन करें। तदनतर उस महामंत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनतर क्रम से बढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अधोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मन्त्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वय कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के बाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एव समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एव अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एव कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मद-मद गति से शात हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एव गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'व' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराए आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एव शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलबन लेकर किया जानेवाला

ध्यान ही पदस्थ ध्यान है ऐसा सिद्धान्तपारगामियों का मतव्य है।[१७६] परमेष्ठी पद वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर के मंत्रों का ध्यान करना एवं अन्य गुरुकथित मंत्रों का या पदों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'णमो अरहताणं (अरिहताण), णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूण' यह पैंतीस अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु' अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम ' यह सोलह अक्षरों का मंत्र है। 'अरहत सिद्ध' यह छह अक्षरों का मत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पाँच अक्षरों का मंत्र है। 'अरहंत' यह चार अक्षरों का मत्र है। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' यह दो अक्षरों का मंत्र है। 'अ' यह एक अक्षर का मंत्र है, जो अर्हन्त का वाचक है। 'ओम्' यह पच परमेष्ठी का वाचक (अ+अ+आ+उ+म्) पच परमेष्ठी का ध्यान सर्व सिद्धिदायक है।[१७७]

सिद्धचक्र ध्यान की विधि इस प्रकार है[१७८]- साधक नाभिकन्दपद्म में सोलह पत्र वाले कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रमश· 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अ अ·' इन सोलह स्वरों का स्मरण करें। तदनतर हृदयपद्म में कर्णिका सहित कमल की चौवीस पखुडियों में क्रमश 'क, ख, ग, घ, ङ', 'च, छ, ज, झ, ञ', 'ट, ठ, ड, ढ, ण', 'त, थ, द, ध, न', 'प, फ, ब, भ, म', इन ककार से लेकर मकार तक पच्चीस व्यजनों का चिंतन करें। तत्पश्चात् मुखपद्म में अष्टपंखुडियों वाले कमल में 'य, र, ल, व', 'श, ष, स, ह, इन आठ अक्षरों का चिंतन करें। इस प्रकार मातृका (वर्णमाला) का ध्यान करने वाला श्रुतज्ञान का पारगामी बनता है।

नाभिकन्द के नीचे अष्टपत्र कमल का चिन्तन करें। इन कमल की आठ पंखुडियों में क्रमश सोलह स्वरावली, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य र ल व, और अन्तिम श ष स ह व्यजनों का चिंतन करें। इन आठ पखुडियों की सधियों में 'ह्रीं' कार रूप सिद्ध स्तुति की स्थापना करें तथा सभी पंखुडियों के अग्र भाग में 'ओम् ह्रीं' स्थापित करें। उस कमल के मध्य भाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ '-', कला '-', बिन्दु '-', सहित हिमवत् उज्ज्वल 'अर्हं' की स्थापना करें। इस अर्हं शब्द का उच्चारण पहले मन में ह्रस्व नाद से करें, बाद में दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करें। वह नाद नाभि, हृदय, कण्ठ की घटिकादि गाठों को भेदता हुआ उन सबके बीच में से होकर आगे बढ़ा जा रहा है ऐसा चिन्तन करें। नादबिन्दु से अतरात्मा प्लावित हो रही है ऐसा चिंतन करें।[१७९] यह पदमयी देवता का स्वरूप है।

एक अमृत के सरोवर की कल्पना करें। उस सरोवर से उत्पन्न सोलह पंखुडियों वाले कमल का चिंतन करें। कमल के सोलह पखुडियों पर सोलह विद्यादेवियों का चिंतन करें। तदनतर देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी से झरते हुए दुग्ध सदृश अमृत से अपने को

ऊ-ऋ-ॠ-लृ-लॄ-ए-ऐ-ओ-औ-अ-अ ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-बिन्दु-कला' सहित हकार 'ह' अथवा 'अर्हं' इस महामत्र का चिंतन करें। तदनतर उस महामत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनतर क्रम से वढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अधोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मत्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वय कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के बाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एव समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एव अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एव कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मद-मद गति से शात हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एव गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'व' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराए आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एव शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलबन लेकर किया जानेवाला

ध्यान ही पदस्थ ध्यान है ऐसा सिद्धान्तपारगामियों का मतव्य है।[१७६] परमेष्टी पद वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर के मंत्रों का ध्यान करना एवं अन्य गुरुकथित मत्रों का या पदों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'णमो अरहताण (अरिहताण), णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण' यह पैंतीस अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु' अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम ' यह सोलह अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध' यह छह अक्षरों का मत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पाँच अक्षरों का मत्र है। 'अरहत' यह चार अक्षरों का मत्र है। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' यह दो अक्षरों का मत्र है। 'अ' यह एक अक्षर का मत्र है, जो अर्हन्त का वाचक है। 'ओम्' यह पच परमेष्ठी का वाचक (अ+अ+आ+उ+म्) पच परमेष्ठी का ध्यान सर्व सिद्धिदायक है।[१७७]

सिद्धचक्र ध्यान की विधि इस प्रकार है[१७८]- साधक नाभिकन्दपद्म में सोलह पत्र वाले कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रमश 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अ अ ' इन सोलह स्वरों का स्मरण करें। तदनंतर हृदयपद्म में कर्णिका सहित कमल की चौबीस पखुडियों में क्रमश 'क, ख, ग, घ, ङ', 'च, छ, ज, झ, ञ', 'ट, ठ, ड, ढ, ण', 'त, थ, द, ध, न', 'प, फ, ब, भ, म', इन ककार से लेकर मकार तक पच्चीस व्यजनों का चिंतन करें। तत्पश्चात् मुखपद्म में अष्टपखुडियों वाले कमल में 'य, र, ल, व', 'श, ष, स, ह, इन आठ अक्षरों का चिंतन करें। इस प्रकार मातृका (वर्णमाला) का ध्यान करने वाला श्रुतज्ञान का पारगामी बनता है।

नाभिकन्द के नीचे अष्टपत्र कमल का चिन्तन करें। इन कमल की आठ पंखुडियों में क्रमश सोलह स्वरावली, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य र ल व, और अन्तिम श ष स ह व्यजनों का चिंतन करें। इन आठ पखुडियों की संधियों में 'ह्रीं' कार रूप सिद्ध स्तुति की स्थापना करें तथा सभी पखुडियों के अग्र भाग में 'ओम् ह्रीं' स्थापित करें। उस कमल के मध्य भाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ '-', कला '-', बिन्दु '-', सहित हिमवत् उज्ज्वल 'अर्हं' की स्थापना करें। इस अर्हं शब्द का उच्चारण पहले मन में हृस्व नाद से करें, बाद में दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करें। वह नाद नाभि, हृदय, कण्ठ की घटिकादि गाठों को भेदता हुआ उन सबके बीच में से होकर आगे बढ़ा जा रहा है ऐसा चिन्तन करें। नादबिन्दु से अतरात्मा प्लावित हो रही है ऐसा चिंतन करें।[१७९] यह पदमयी देवता का स्वरूप है।

एक अमृत के सरोवर की कल्पना करें। उस सरोवर से उत्पन्न सोलह पंखुडियों वाले कमल का चिंतन करें। कमल के सोलह पखुडियों पर सोलह विद्यादेवियों का चिंतन करें। तदनतर देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी से झरते हुए दुग्ध सदृश अमृत से अपने को

ऊ-ऋ-ॠ-लृ-लॄ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-बिन्दु-कला' सहित हकार 'हं' अथवा 'अर्हं' इस महामंत्र का चिंतन करें। तदनतर उस महायंत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पंक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनतर क्रम से बढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अधोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मंडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मंत्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मंडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वयं कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के बाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एवं समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एवं अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एवं कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मंद-मंद गति से शांत हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एवं गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'वं' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराएं आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एवं शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमंडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलंबन लेकर किया जानेवाला

उग्गतवाण' से लेकर 'णमो महादिमहावीरवड्ढमाणाण' ४८ नंबर तक मत्र पद रहते हैं।[१८६] गणधर वलय यंत्र की विधि - पहले षट्कोण यत्र का चिंतन करें। उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्र फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखें। इस यंत्र के वाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोने के पास लिखें। बाद में '१. ॐ नमो जिणाणं, २. ॐ नमो ओहिजिणाण, ३.ॐ नमो परोहिजिणाण, ४. ॐ नमो सव्वोसहि जिणाण, ५ ॐ नमो अणतोहिजिणाण, ६. ॐ नमो कोट्ठबुद्धीण, ७ ॐ नमो बीयबुद्धीण, ८. ॐ नमो पयाणुसारिण, ९ ॐ नमो सभिन्नसोदारण, १०. ॐ नमो पत्तेयवुद्धीणं, ११. ॐ नमो सय बुद्धीण, १२ ॐ नमो बोहिय बुद्धीण, १३. ॐ नमो उजमदीण, १४ ॐ नमो विउलमदीण, १५ ॐ नमो दसपुव्वीण, १६ ॐ नमो चउद्दसपुव्वीण, १७ ॐ नमो अठ्ठगमहाणिमित्तकुसलाण, १८ ॐ नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताण, १९. ॐ नमो विज्जाहराणं, २०. ॐ नमो चारणाणं, २१. ॐ नमो पण्णसमणाण, २२ ॐ नमो आगासगामिणं, २३. ॐ नमो आसीविसाण, २४ ॐ नमो दिट्ठिविसाण, २५ ॐ नमो उग्गतवाणं, २६ ॐ नमो दित्ततवाणं, २७ ॐ नमो तत्ततवाणं, २८. ॐ नमो महातवाण, २९. ॐ नमो घोरतवाणं, ३०. ॐ नमो घोरपरक्कमाण, ३१ ॐ नमो घोरगुणाण, ३२ ॐ नमो घोरगुणवभचारिणं, ३३. ॐ नमो आमोसहिपत्ताण, ३४ ॐ नमो खेलोसहिपत्ताण, ३५. ॐ नमो जल्लोसहि पत्ताण, ३६ ॐ नमो दिट्ठोसहिपत्ताण, ३७. ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं, ३८ ॐ नमो मणबलीण, ३९. ॐ नमो वचिबलीण, ४०. ॐ नमो कायबलीण, ४१. ॐ नमो अभियसवीण, ४२ ॐ नमो महुसवीण, ४३ ॐ नमो सप्पिसवीणं; ४४. ॐ नमो खीरसवीणं, ४५. ॐ नमो अक्खीणमहाणसाण, ४६ ॐ नमो सिद्धादयाणं, ४७ ॐ नमो वड्ढमाणाण, ४८ ॐ नमो महादिमहावीर-वड्ढमाणाणं।[१८७] गणधर वलय को गणेश यत्र भी कहते हैं। इसके तृतीय वलय की ऊपरी वृत्त रेखा पर पूर्व की ओर मध्य में 'ह्रीं' बीज पद है। इसकी ईकार मात्रा से वलय को त्रिगुणवेष्टित करके अन्त में उसे 'क्रौं' बीज से निरुद्ध किया जाता है।[१८८] "ॐ ज्सौं ज्सौं श्री ह्री धृति -कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करते हैं। तदनन्तर पच परमेष्टि महामंत्र के पाच पदों का पाच अगुलियों में, जैसे कि 'ॐ नमो अरिहताण ह्रां स्वाहा' अगुठे में, 'ॐ नमो सिद्धाण ह्री स्वाहा' तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाण ह्रू स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाण ह्रौं स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्व साहूण ह्रीं स्वाहा' कनिष्ठा अंगुली में स्थापना करके सक्लीकरण किया जाता है और वाद में यत्र के मध्य विन्दु सहित 'ॐ' कार की स्थापना करें। इस प्रकार तीन वार अंगुलियों में विन्यास करके यंत्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अतर भाग में स्थापित करके जाप (ध्यान) करें।[१८९]

दीर्घकाल तक सिंचित होते हुए मन में चिंतन करें। उसके बाद शुद्ध स्फटिकरत्न सदृश निर्मल मन्त्रराज 'अर्हं' 'अर्हन्त' परमेष्टी का मस्तक में ध्यान करें। इसके चिंतन से आत्मा परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करें। वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी देवों से पूजित समवसरण में धर्मोपदेशना देने वाले परमात्मा के साथ अपना अभिन्न रूप मानकर ध्यान करें। इस ध्यान से परमात्मत्व पद की प्राप्ति होती है।[१८०] साधक को विशेषत पच परमेष्टी पद का ही ध्यान करना चाहिये।[१८१] मत्र तो अनेक प्रकार के हैं किन्तु योगी के लिये यही श्रेयस्कर है।

आठ पखुडियों वाले श्वेत कमल का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले 'णमो अरहताण' मत्र का चिंतन करें। तदनतर सिद्ध आदि चार मंत्र पदों का अनुक्रम से चार दिशाओं की पखुडियों में तथा चूलिकाओं के चार पदों का विदिशा की पखुडियों में चिंतन करें। और भी मगल, उत्तम और शरण इन तीन पदों को अरिहतसिद्धसाहु धर्म के साथ जोड़कर ध्यान करें।[१८२]

विद्या प्रवाद नामक पूर्व से उद्धृत 'ह्वा', 'ह्वी', 'ह्वू', 'ह्वौं', 'ह्व', अथवा 'अ सि आ उ सा नम इन विद्या का निरतर अभ्यास (ध्यान) करने से ससार के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं।[१८३]

आठ पत्र वाले कमल में 'ॐ ह्वी अर्हं' इस मत्र का ध्यान करने से पापों का क्षय किया जाता है।[१८४]

अष्ट पत्र वाले कमल की कल्पना करें। विदिशावाले पत्रों पर 'ॐ ह्वी' पद तथा अन्त में 'स्वाहा' पद सहित 'णमो अरहताण' इन सात अक्षरवाले मत्र को स्थापित करें। दिशावाले पत्रों पर आदि में 'ॐ' पद तथा अन्त में 'स्वाहा' पद के साथ क्रमश 'ह्वी, ह्वूं, ह्वौं, ह्व' इन पदों से युक्त 'णमो अरहताण' इस मंत्र को स्थापित करें। कर्णिका में 'ॐ ह्वी अर्हं स्वाहा' यह मत्र लिखें। इस कमल को 'ह्वी' इस मायाबीज से तीन बार वेष्टित करें। इस यंत्र को कमल पर लिखकर 'ॐ ह्वी णमो अरहंताण ह्वू नम' मत्र का ध्यान करें। जिससे इष्ट कार्य सिद्धि एव हेय उपादेय की प्राप्ति होती है।[१८५] सब प्रकार की ध्यान प्रक्रिया आत्मकल्याण हेतु ही करें। स्वार्थ भाव से न करें।

गणधरवलय का प्रारंभ षट्कोण यंत्र से (चक्र) विहित है। जिसके ऊपर क्रमश तीन वलय रहते हैं। प्रथम वलय में आठ, दूसरे में सोलह और तीसरे में चौबीस कोष्ठक होते हैं, जिनमें ऋद्धि संपन्न जिनों के नमस्कार रूप से युक्त प्रथम वलय में 'णमो जिणाण से णमो पदाणुसारिण' तक आठ पद रहते हैं, दूसरे वलय में 'णमो सभिन्नसोदारणं से दिट्ठिविसाण' तक (२४ पद) मत्रपद रहते हैं। तीसरे वलय में २५ से - 'णमो

उग्गतवाणं' से लेकर 'णमो महादिमहावीरवड्ढमाणाणं' ४८ नवर तक मंत्र पद रहते हैं।[१८६] गणधर वलय यंत्र की विधि – पहले षट्कोण यंत्र का चिंतन करें। उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्र फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखें। इस यन्त्र के बाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोने के पास लिखें। बाद में '१. ॐ नमो जिणाणं, २. ॐ नमो ओहिजिणाणं, ३. ॐ नमो परोहिजिणाणं, ४ ॐ नमो सव्वोसहि जिणाणं, ५. ॐ नमो अणंतोहिजिणाणं, ६. ॐ नमो कोट्ठबुद्धीणं, ७ ॐ नमो बीयबुद्धीणं, ८. ॐ नमो पयाणुसारिणं, ९. ॐ नमो संभिन्नसोदारणं, १० ॐ नमो पत्तेयबुद्धीणं, ११ ॐ नमो सय बुद्धीणं, १२. ॐ नमो बोहिय बुद्धीणं, १३. ॐ नमो उजमदीणं, १४. ॐ नमो विउलमदीणं, १५ ॐ नमो दसपुव्वीणं, १६ ॐ नमो चउद्दसपुव्वीणं, १७ ॐ नमो अट्ठगमहाणिमित्तकुसलाणं, १८. ॐ नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं, १९ ॐ नमो विज्जाहराणं, २०. ॐ नमो चारणाणं, २१. ॐ नमो पण्णसमणाणं, २२. ॐ नमो आगासगामिणं, २३. ॐ नमो आसीविसाणं, २४ ॐ नमो दिट्ठिविसाणं, २५ ॐ नमो उग्गतवाणं, २६ ॐ नमो दित्ततवाणं, २७ ॐ नमो तत्ततवाणं, २८. ॐ नमो महातवाणं, २९ ॐ नमो घोरतवाणं, ३०. ॐ नमो घोरपरक्कमाणं, ३१. ॐ नमो घोरगुणाणं, ३२ ॐ नमो घोरगुणबम्भचारिणं, ३३ ॐ नमो आमोसहिपत्ताणं, ३४. ॐ नमो खेलोसहिपत्ताणं, ३५ ॐ नमो जल्लोसहि पत्ताणं, ३६ ॐ नमो दिट्ठोसहिपत्ताणं, ३७ ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं, ३८. ॐ नमो मणबलीणं, ३९ ॐ नमो वचिबलीणं, ४०. ॐ नमो कायबलीणं, ४१. ॐ नमो अमियसवीणं, ४२. ॐ नमो महुसवीणं, ४३ ॐ नमो सप्पिसवीणं, ४४ ॐ नमो खीरसवीणं, ४५ ॐ नमो अक्खीणमहाणसाणं, ४६ ॐ नमो सिद्धादयाणं, ४७. ॐ नमो वड्ढमाणाणं, ४८. ॐ नमो महादिमहावीर-वड्ढमाणाणं।[१८७] गणधर वलय को गणेश यत्र भी कहते हैं। इसके तृतीय वलय की ऊपरी वृत्त रेखा पर पूर्व की ओर मध्य में 'ह्रीं' बीज पद है। इसकी ईकार मात्रा से वलय को त्रिगुणवेष्टित करके अन्त में उसे 'क्रौं' बीज से निरुद्ध किया जाता है।[१८८] "ॐ ज्सौं ज्सौं श्रीं ह्रीं धृति -कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करते हैं। तदनन्तर पच परमेष्ठि महामत्र के पाच पदों का पाच अंगुलियों में, जैसे कि 'ॐ नमो अरिहताणं ह्रां स्वाहा' अगुठे में, 'ॐ नमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा' तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाणं ह्रू स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्व साहूणं ह्रीं स्वाहा' कनिष्ठा अगुली में स्थापना करके सकलीकरण किया जाता है और बाद में यत्र के मध्य बिन्दु सहित 'ॐ' कार की स्थापना करें। इस प्रकार तीन बार अगुलियों में विन्यास करके यंत्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अतर भाग में स्थापित करके जाप (ध्यान) करें।[१८९]

अष्टाक्षरी विद्या का ध्यान योगी को सतत करना चाहिये, जिससे उपद्रव शात होता है। अष्ट पत्र वाले कमल में आत्मा के स्वरूप का ध्यान करें। 'ॐ नमो अरिहताण' इस मत्र को आठ पत्र पर स्थापित करें। प्रथम पखुडी की गणना पूर्व दिशा से प्रारभ करें। उसमें ॐ स्थापित करें। बाद में यथाक्रम से शेष सात अक्षर स्थापित करें। इस अनुक्रम से शेष दिशाविदिशाओं में स्थापना करके समस्त उपद्रव शाति हेतु योगी इस अष्टाक्षरी विद्या का आठ दिन तक ध्यान करें। आठ दिन के बाद कमल में स्थित अष्टाक्षरी विद्या के इन आठों वर्णों के क्रमश दर्शन होंगे। ध्यान में उपद्रव करने वाले भयानक सिंह, हाथी, राक्षस, भूत, प्रेत, व्यतर, आदि का उपद्रव शात हो जाता है। इहलौकिक फलाभिलाषियों को 'नमो अरिहताण' का ध्यान करना चाहिये। और मोक्षसुखाभिलाषी मुमुक्षुओं को 'ॐ नमो अरिहताण' का ध्यान करना चाहिये।[१९०]

चार पत्र वाले कमल में मध्यकर्णिका पर क्रमश 'अ सि आ उ सा' अक्षर मत्र का ध्यान करना चाहिये जिससे ध्याता के सर्व कर्मों का समूल नाश होता है। और भी चार पत्रक कमल में 'अ, इ, उ, ए' इन चार वर्णों का चिन्तन करना चाहिये, जिससे पाचों ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। नाभि, हृदय, मुख, ललाट एव मस्तक पर ध्यान करें, जैसे कि नाभिकमल में 'अ' कार का, मस्तक कमल में 'सि' वर्ण का, मुख कमल में 'आ' का, हृदयकमल में 'उ' कार का, और कंठ कमल में 'सा' का ध्यान करना चाहिये। इसी तरह अन्य बीजाक्षरों का भी ध्यान करें।[१९१,१९२] पदस्थ ध्यान पर विशालकाय ग्रन्थ निर्माण हो सकता है। यहाँ पर अति सक्षिप्त में पदस्थ ध्यान का दिग्दर्शन कराया गया है।

(३) रूपस्थ ध्यान का स्वरूप : समवसरण में स्थित अरिहंत भगवान का जिसमें ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं।[१९३]

समवसरण का स्वरूप : सर्वप्रथम चारों दिशाओं में चार मान स्तभ रोपे जाते हैं, मान स्तभों के चारों ओर सरोवर होता है, फिर निर्मल जल से युक्त खाई होती है, उसमें पुष्पवाटिका होती है और उसके आगे प्रथम कोट होता है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाए होती हैं, उसके आगे दूसरा उपवन होता है, उसके आगे वेदिका होती है, फिर ध्वजाओं की पक्तियाँ होती हैं, बाद में दूसरा कोट होता है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का उपवन होता है, तदनन्तर स्फटिकमणि का तीसरा कोट होता है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाए (भुवन पति, वाण व्यतर, ज्योतिषी, वैमानिक इन चारों देवों की देवियाँ और चतुर्विध सघ, श्रावक श्राविका साधु साध्वी) होती हैं। फिर पीठिका और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयभू भगवान विराजमान होते हैं। ऋषभदेव भगवान के समवसरण का प्रमाण बारह योजन था। अजित नाथ भगवान के समवसरण का प्रमाण साढ़े ग्यारह योजन था। सभवनाथ भगवान के समवसरण का प्रमाण एक योजन

था। विदेह क्षेत्र में स्थित श्री सीमंधर युगमघर आदि तीर्थंकरों के समवसरण का प्रमाण बारह योजन था। ऐसे देवों द्वारा निर्मित समोसरण (समवसरण) के मध्य में तीसरे सिंहासन के ऊपर चार अगुल के अन्तराल से विराजमान अर्हन्त का ध्यान करना चाहिये।[१९४] जो चार घातिकर्मों को क्षय करने वाले होते हैं। रूपस्थ ध्यान दो प्रकार का है - स्वगत और परगत। आत्मा का ध्यान करना स्वगत है और अर्हन्त का ध्यान करना परगत है।[१९५]

(४) रूपातीत ध्यान का स्वरूप : वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित, केवल ज्ञान-दर्शन -चारित्र गुण सम्पन्न, निराकार, चिदानन्द स्वरूप निरजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है।[१९६] इस ध्यानावस्था में पहले अपने गुणों का स्मरण करें, बाद में सिद्धों के गुणों का विचार करें। निरजन निराकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आलबन लेकर उनका सतत ध्यान करनेवाला योगी ग्राह्य ग्राहक भाव (ध्येय और ध्याता के भाव) रहित होकर तन्मयता (सिद्ध स्वरूपता) प्राप्त कर लेता है। सिद्ध परमात्मा की शरण से योगी जब तन्मय बन जाता है, तब ध्याता और ध्येय इन दोनों के अभाव में ध्येय रूप सिद्ध परमात्मा के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है।[१९७] रूपातीत योगी के मन का सिद्ध परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाना इसे ही समरसी भाव कहते हैं।[१९८] आत्मा अभेद रूप से परमात्या में लीन हो जाती है। यही समरसी समाधि रूप ध्यान है।

ध्यान के दस भेद : कतिपय ग्रन्थों में धर्मध्यान के दस भेद मिलते हैं-[१९९] १ अपायविचय, २. उपायविचय, ३. जीवविचय, ४ अजीवविचय, ५ विपाक-विचय ६. विरागविचय, ७. भवविचय, ८ सस्थानविचय, ९. आज्ञाविचय और १०. हेतुविचय। इनका स्वरूप[२००] - इस अनादि ससार में परिभ्रमण करने वाले जीवों ने नाना भाति दु खों को उठाया है, उनसे कैसे मुक्ति हो? मन, वचन, काय की विशिष्ट प्रवृत्ति से सचित पापों की शुद्धि कैसे हो? तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र में ग्रसित जीवों का उद्धार कैसे हो? इस प्रकार का विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति कैसे हो तथा दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव सम्यग्दर्शनादि गुणों से विमुख है तो उनका उद्धार कैसे हो? ऐसा चिन्तन करना उपायविचय धर्मध्यान है। जीव का लक्षण उपयोग है, द्रव्य दृष्टि से जीव अनादि और अनन्त है, असंख्यातप्रदेशी है, अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है, सूक्ष्म एवं अमूर्त है, देहप्रमाण वाला है, आत्मप्रदेशों के सकोच विस्तार करनेवाला है, व्याघातरहित है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, अनादि काल से बधा हुआ है, कर्मों के क्षय होने पर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव के स्वरूप का चिन्तन करना जीवविचय धर्मध्यान है। जीव से विलक्षण पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्यों की अनन्त पर्यायों के स्वरूप का चिन्तन करना अजीवविचय धर्मध्यान है। आठों कर्मों की बहुत सी उत्तर

प्रकृतिया हैं, उनमें से शुभ प्रकृतियों का उदय गुड़, खाड, शक्कर और अमृत की तरह मधुर होता है और अशुभ प्रकृतियों का विपाक लता, दारु, अस्थि और शैल की तरह कठोर होता है। कर्म बध के प्रकार चार हैं। किस-किस गति तथा किस-किस योनि में जीवों के भिन्नभिन्न प्रकृतियों का बध, उदय-उदीरणा और सत्ता होती है। इस प्रकार आठ कर्मों के शुभाशुभ अनुभाग का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। यह शरीर अशुचिमय है। कर्मबध का कारण है, अस्थिर है, अनित्य है, वात पित्त और कफ के आधार है, सप्त धातुमय है, मलमूत्रादि से युक्त है, इसमें रति करना नरक निगोद का कारण है। इस प्रकार वैराग्य का चिन्तन करना विरागविचय धर्मध्यान है। सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सकृत्त, विकृत, सकृतविकृत ये नौ योनियाँ हैं। इन योनियों में गर्भ, उपपात, और सम्मूर्छन जन्म द्वारा नाना योनियों में जरायुज, अण्डज, आदि नाना प्रकार के जन्मों को धारण करता हुआ एक भव से अन्य भव में चार प्रकार की गति - इषुगति, पाणिमुक्तागति, लागलिकागति, और गोमूत्रिका गति, इसके अतिरिक्त और भी दो गति हैं। ऋजुगति और वक्रगति - इन गतियों के द्वारा जीव ने ससार में परिभ्रमण करते हुए अनन्तानन्त भव परिवर्तन किये हैं, ऐसा चिन्तन करना भव विचय धर्मध्यान है। इसमें बताई गई इषुगति बाण की तरह सीधी होती है, इसमें एक समय लगता है। यह ससारी और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों को होती है। शेष तीन गतियाँ ससारी जीवों को ही होती हैं। पाणिमुक्ता गति एक मोड़वाली होती है, इसमें दो समय लगते हैं। लागलिका गति भी दो मोड़वाली है, इसमें तीन समय लगते हैं। गोमूत्रिका गति तीन मोड़वाली है, जिसमें चार समय लगते हैं। ऋजुगति में सीधे ही अपने गन्तव्य स्थान को पाते हैं और वक्रगति में घुमाव होता है जिसमें अधिक से अधिक चार समय लगते हैं। इस प्रकार ससार में भटकनेवाले जीवों में गुणों का विकास नही होता, भटकना निरर्थक है। ऐसा विचार करना भव विचय धर्मध्यान है। अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार की वैराग्य भावनाओं का चिन्तन तथा लोक के आकार का चिन्तन ही सस्थान विचय धर्मध्यान है। अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नही हो सकता है। अत सर्वज्ञ कथित तत्त्वों पर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। आगम के किसी विवादास्पद विषय को तर्क की कसौटी पर कसकर स्याद्वाद नयादि द्वारा उसका निर्धारण करना हेतुविचय धर्मध्यान है। इन सभी प्रकार के धर्मध्यान पर पीछे विस्तृत से वर्णन किया गया है। अत वहाँ देखें।

ध्यान के ८० भेद : आचार्य हरिभद्रसूरि आदि ग्रन्थकारों ने धर्म ध्यान के अस्सी भेद बताये हैं[२०]। 'स्थान, वर्ण, अर्थ, आलबन, और अनालंबन' इन पाच योगों को 'इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि' इन चार के साथ गुणा करने से ध्यान के बीस भेद होते हैं। 'अनुकपा, निर्वेद, सवेग, और प्रशम' ये चार इच्छानुयोग के कार्य हैं। पूर्व कथित बीस भेदों का इन चार के साथ गुणा करने से धर्मध्यान के अस्सी भेद होते हैं। ५×४×४=८०

छद्मस्थ ध्यान के ४४२३६८ भेद हैं। मूलत. ध्यान के चौबीस भेद हैं[२०२]
१ ध्यान, २. परम ध्यान, ३ शून्य, ४. परमशून्य, ५. कला, ६. परमकला, ७ ज्योति, ८ परम ज्योति, ९. बिन्दु, १०. परमबिन्दु, ११. नाद, १२ परमनाद, १३. तारा, १४. परमतारा, १५ लय, १६. परमलय, १७ लव, १८. परम लव, १९ मात्रा, २०. परममात्रा, २१. पद, २२. परमपद, २३ सिद्धि, २४ परमसिद्धि। इनका स्वरूप[२०३]- 'स्थिर' अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं। इसके दो भेद है - द्रव्य और भाव। द्रव्य ध्यान में आर्त रौद्र ध्यान और भाव में धर्मध्यान का वर्णन है। 'परम ध्यान' में शुक्लध्यान का प्रथम भेद 'पृथकत्व वितर्क सविचार' ध्यान का कथन है। 'शून्य ध्यान' में चिन्तन का अभाव होता है। इसके दो भेद हैं- द्रव्य और भाव। द्रव्य ध्यान में क्षिप्त, दीप्त, उन्मत्त, राग, स्नेह, अतिभय, अव्यक्त, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि ये बारह भेद आते हैं और भाव शून्य ध्यान में चित्त व्यापार का सर्वथा अभाव है। 'परम शून्य' ध्यान में प्रथम चित्त को तीन लोक के विषय में व्याप्त करके, तदनन्तर उसमें से किसी एक वस्तु में मन को लगाया जाता है। 'कला ध्यान' के दो भेद हैं। द्रव्य और भाव। नाड़ी दबाकर मल्लादि को रोकना द्रव्य कला है। अत्यत अभ्यास द्वारा देश, काल, एव करण आदि की अपेक्षा बिना प्रयत्न स्वय ही शरीर को क्रियारहित करता है और दूसरों के द्वारा उठाता है, उसे भाव कला कहते हैं, यथा आचार्य पुष्पभूति की कला (समाधि) को मुनि पुष्पमित्र ने जागृत की थी। तीव्र अभ्यास के द्वारा अपने आप समाधि उतर जाय वह परम ध्यान है। यथा चौदह पूर्वधरों को 'महाप्राण' ध्यान में होता है। 'ज्योतिध्यान' भी दो प्रकार का है। द्रव्य और भाव। चन्द्र, सूर्य, मणि, प्रदीप, बिजली आदि द्रव्य ज्योति हैं और अभ्यास द्वारा जिनका मन लीन बन गया है ऐसे मनुष्य को भूत, वर्तमान, भविष्य काल के बाह्य वस्तुओं को सूचित करनेवाला विषयक प्रकाश जिससे उत्पन्न हो उसे भाव ज्योति कहते हैं। 'परम ज्योति' ध्यान में चिरकाल तक स्थिर रहनेवाला बिना प्रयत्न से उत्पन्न समाधि अवस्था में जो ध्यान उत्पन्न होता है वह। जलादि बिन्दु 'द्रव्य से बिंदु' है और जिस परिणाम विशेष से आत्मा पर चढ़े हुए कर्मदलिक खिर जाय ऐसे अध्यवसाय विशेष 'भाव बिन्दुध्यान' है। सम्यक्त्व, देश विरति, सर्वविरति, अनंतानुबंधी चतुष्क, का विसंयोजन, सप्तक का क्षय, उपशामक अवस्था, उपशांतमोहावस्था, मोहक्षपकावस्था और क्षीणमोहावस्था प्राप्त होते समय जो गुणश्रेणियाँ होती हैं उन्हें 'परम बिन्दु' ध्यान समझना। इन गुणश्रेणियों में अंतिम की दो गुणश्रेणी केवलज्ञानी को होती है और शेष सभी छद्मस्थ को। क्षुधा से पीड़ित मनुष्य कान में अंगुली डालकर जो ध्वनि करता है वह द्रव्य नाद है और अपने ही शरीर में उत्पन्न वाजित्र जैसे नाद का श्रवण करता है वह 'भावनाद ध्यान' है। भिन्न-भिन्न वाजित्रों के नाद भिन्न-भिन्न ध्वनि द्वारा सुनाई देते हैं वैसे ही विभिन्न शब्दों का नाद 'परमनाद' है। विवाहादि प्रसग में आँखकीकी न्याय से वर वधू का परस्पर तारा मैत्रक-तारा मेलक होना 'द्रव्य तारा ध्यान' है और कायोत्सर्ग में निश्चल दृष्टि

प्राप्त होना 'भावतारा ध्यान' है। बारहवीं पडिमा जैसे शुष्क पुद्‌गल पर अनिमेष दृष्टि रखना 'परम तारा ध्यान' है। वज्रलेप आदि द्रव्य से वस्तुओं का जो परस्पर गाढ़ संयोग होता है वह 'द्रव्य लय' है और 'अरिहंत, सिद्ध, साधु, तथा केवलीप्ररूपित धर्म - इन चार का शरण अंगीकार करने से जो चित्त का निवेश होता है, वह 'भावलय' है। आत्मा से आत्मा में लीन होना ही 'परमलय ध्यान' है। जिनसे घासादि को कापा जाता है वह 'द्रव्य लव' है और शुक्लध्यान एव अनुष्ठान द्वारा कर्मों को छेदा जाना वह 'भाव लव' है। उपशमश्रेणि और क्षपक श्रेणि 'परमलव ध्यान' है। उपकरणादि की मर्यादा 'द्रव्यमात्रा' है और समवसरण में स्थित सिंहासन पर विराजमान धर्मोपदेशना देते हुए तीर्थंकर समान स्वय की आत्मा को देखना 'भावमात्रा' ध्यान है। चौबीस वलयों से वेष्टित स्वयं की आत्मा का ध्यान, वह 'परममात्रा' ध्यान है। चौबीस वलय इस प्रकार हैं -

१. 'शुभाक्षर वलय' है, जिसमें धर्मध्यान के चार भेदों के २३ अक्षर और शुक्लध्यान के प्रथम भेद के १० अक्षर, कुल ३३ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

२. 'अनक्षरवलय' है। आगम ग्रन्थों में अनक्षर श्रुतज्ञान 'ऊससिय' आदि गाथाओं के अक्षरों को वलय में स्थापित किया जाता है।

३ 'परमाक्षर वलय' है। 'ॐ, अ र्हं, अॅ रिं ह तॅ सिं द्धॅं, आॅ यॅ रिं यॅ, उॅ वॅ ज्झॉ यॅ, सॉ हूँ नम·' इन अक्षरों का न्यास करने में आता है।

४. 'अनक्षर वलय' में 'अ' से लेकर 'ह' [illegible] ४९ अक्षर, वैसे ही ईषत्स्पृष्टतर 'य, ल, व,' इन अक्षरों को मिलाने से ५२ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

५ 'ध्यान, परमध्यान' आदि चौबीस भेद में से प्रथम दो भेद प्रथम शुभाक्षरवलय में आते हैं और शेष २२ भेदों को इसमें न्यास किया जाता है।

६. 'सकलीकरणवलय' में पृथ्वीमडल, अप्मंडल, तेजोमंडल, वायुमडल और आकाशमंडल का स्वरूप है।

७. '२४ तीर्थंकरों की माताओं का वलय' इसमें वे अपने-अपने गोद में तीर्थंकर को बिठाकर परस्पर एक दूसरों को देखने में व्यग्र हैं।

८. २४ तीर्थंकरों के पिताओं का वलय।

९ इस वलय में भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन चौबीस तीर्थंकरों के नाम अक्षरों की स्थापना की जाती है।

१०. इस वलय में रोहिणी आदि [illegible]६ विद्यादेवियों का न्यास किया जाता है।

११. इस वलय में २८ नक्षत्रों के नामाक्षरों की स्थापना की जाती है।

१२. इस वलय में ८८ ग्रहों की स्थापना की जाती है।

१३. तेरहवें वलय में ५६ दिक्कुमारिकाओं की स्थापना करने में आती है।

१४. चौदहवें वलय में ६४ इन्द्रों की स्थापना की जाती है।

१५ पन्दरहवें वलय में २४ यक्षिणियों की स्थापना करने में आती है।

१६. सोलहवें वलय में २४ यक्षों की स्थापना करने में आती है।

१७. सत्तरहवें वलय में असंख्यात शाश्वत अशाश्वत अरिहंतों की जिनप्रतिमाओं के चैत्य का स्थापन किया जाता है।

१८ अठारहवें वलय में ऋषभदेव आदि वर्तमानकालीन २४ तीर्थंकरों के परिवार, गणधर एव साधुओं की संख्या का न्यास किया जाता है।

१९. उन्नीसवें वलय में महत्तरा आदि साध्वियों की संख्या है।

२० बीसवें वलय में श्रावकों की सख्याओं को स्थापित किया गया है।

२१. इक्कीसवें वलय में श्राविकाओं की संख्या का न्यास है।

२२ बाईसवें वलय में ९६ भवन योग की स्थापना करने में आयी है।

२३. तेईसवें वलय में ९६ करण योग की स्थापना करने में आयी है।

२४. चौबीसवें वलय में ९६ करण की स्थापना करने में आयी है।

'पदध्यान' के दो भेद हैं - द्रव्य और भाव। राजा, मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, आदि लौकिक पदवियाँ 'द्रव्य पद' हैं और आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेद आदि पदवियाँ 'भावपद' हैं। पंच परमेष्टि पदों का आत्मा में चिन्तन करना 'परम पद' ध्यान है। 'सिद्धि ध्यान' के दो भेद हैं - द्रव्य और भाव। लघिमा, वशिता, ईशित्व, प्राकाम्य, महिमा, अणिमा, आदि आठ लब्धियाँ 'द्रव्य सिद्धि' हैं और राग द्वेष माध्यस्थ भाव रूप परमानंद लोकोत्तर' सिद्धि है। मुक्ति प्राप्त जीवों के ६२ गुणों का ध्यान 'भाव सिद्धि' है। सिद्धों के गुणों को अपने आत्मा में अध्यारोप करना 'परमसिद्धि' ध्यान है।

इन चौबीस भेदों में आये हुए भवनयोग, करणयोग और करण का स्वरूप निम्नलिखित है[२०४]- भवनयोग और करणयोग के ९६-९६ भेद हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में मरुदेवी माता की तरह सहज क्रिया की जाती है उसे भवनयोग कहते हैं । और जानकर की जानेवाली क्रिया 'करणयोग' कहलाती है। भवनयोग के ८ भेद इस प्रकार हैं- योग, वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य, इन आठ भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं-'योग', 'महायोग' और 'परमयोग'। दूसरे शब्दों में योग को जघन्य, महायोग

को मध्यम और परमयोग को उत्कृष्ट कहते हैं। आठ भेदों को इन भेदों के साथ गुणा करने से (८×३) चौबीस भेद होते हैं। इन चौबीस भेदों को 'प्रणिधान' (अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति), 'समाधान' (शुभ कार्यों में प्रवृत्ति), 'समाधि' (रागद्वेष में मध्यस्थ भाव) और 'काष्ठा' (मन की एकाग्रता से उच्छ्वास आदि का निरोध) इन चार भेदों के साथ गुणा करने से (२४×४=९६) ९६ भेद भवनयोग के होते हैं। प्रणिधानादि के लिये क्रमश प्रसन्न चद्र राजर्षि, भरतचक्रवर्ती, दमदतमुनि व पुष्पभूति आचार्य के दृष्टान्त हैं।

ये ही ९६ भेद 'करणयोग' के भी हैं। अव करण के ९६ भेद कहते हैं- १ मन, २ चित्त, ३ चेतना, ४ सज्ञा, ५ विज्ञान, ६ धारणा, ७ स्मृति, ८ बुद्धि, ९ ईहा, १० मति, ११ वितर्क और १२ उपयोग।

चिन्तन यह मन का खुराक है। चिन्तन का अभाव वह मन का अनशन है। चिन्ता (चिन्तन) के अभाव से जिसका मन (चचलता) नाश हुआ, ऐसी अवस्था को 'उन्मनी करण' कहते हैं। यह उन्मनीकरण जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार का है। यदि तीनों का मिश्रण हो तो चौथा प्रकार भी समझना चाहिए। जैसे 'करण' के चार भेद हैं वैसे ही 'भवन' के भी चार भेद हैं। यथा - उन्मनीकरण, महोन्मनीकरण परमोन्मनीकरण, सर्वोन्मनीकरण, उन्मनीभवन, महोन्मनीभवन, परमोन्मनीभवन और सर्वोन्मनीभवन ये आठ भेद मन के हैं। चित्तादि प्रत्येक के आठ-आठ भेद हैं, जैसे कि निश्चितीकरण, महानिश्चित्तीकरण, परम निश्चित्तीकरण, सर्वनिश्चित्तीकरण, निश्चित्तीभवन, महा-निश्चित्तीभवन, परमनिश्चित्तीभवन और सर्व निश्चित्ती भवन। ऐसे ही 'चेतना' निश्चेत्तीकरणादि के आठ भेद, 'सज्ञा' - नि सज्ञी करणादि के आठ भेद, 'विज्ञान' - निर्विज्ञानीकरणादि के आठ भेद, 'धारणा' - निर्धारणीकरणादि के आठ भेद, 'स्मृति' विस्मृतिकरणादि के आठ भेद, 'बुद्धि' निर्बुद्धीकरणादि के आठ भेद, 'ईहा' निरीहीकरणादि के आठ भेद, 'मति' निर्मतिकरणादि के आठ भेद, 'वितर्क'-निर्वितकरणादि के आठ भेद, 'उपयोग'-निरूपयोगी करण के आठ भेद-इस प्रकार इन बारह वस्तुओं के चार करण और चार भवन के साथ गुणा करने से (१२×४×४=९६) ९६ भेद करण के होते हैं। यहाँ पर जघन्य के लिये उन्मनीकरण, मध्यम के लिये महोन्मनीकरण, उत्कृष्ट के लिये परमोन्मनी करण और चौथे प्रकार के लिये सर्वोन्मनीकरण है।

४४२३६८ ध्यान के भेद : करण के ९६ भेदों का 'ध्यान
प्रकारों के साथ गुणाकार करने से २३०४ भेद होते हैं। २३०४
साथ गुणा करने से २२११८४ भेद होते हैं। ऐसे ही २३०४

साथ गुणाकार करने से २२११८४ भेद होते हैं। करणयोग और भवनयोग दोनों के भेद मिलाने से ध्यान के ४४२३६८ भेद होते हैं।[२०५]

इस प्रकार पंचम अध्याय में आगमकालीन, निर्युक्तिकालीन एव आगमेतर कालीन ध्यान के सभी भेदों का हमने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

१ (क) चत्तारि झाणा पण्णत्तं, तं जहा – अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे। ठानांगसूत्र (आत्मारामजी म) ४।१।१२

(ख) आर्तरौद्र धर्म शुक्लानि। तत्त्वार्थसूत्र, (उमास्वाति) ९/२९

(ग) अट्टं रूद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइं –। ध्यानशतक (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) गा ५

२ (क) अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा –अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते, तस्स विप्पओगसति समण्णागए यावि भवइ।
मणुन्नसपओग संपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।
आयक संपओग संपउत्ते, तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।
परिजुसियकामभोगसंपओग संपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ। ठानांग सूत्र (आ म) ४/१/१२

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/३१-३४

(ग) ज्ञानार्णव २५/२४

(घ) ध्यान प्रदीप (विजयकेसर सूरि) ५/७०

३ (क) ध्यान शतक (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) गा ७

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ९/३० की टीका

(ग) ज्ञानर्णव २५/२५-२८

(घ) ध्यान दीपिका गा ७१-७२

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह (नरेंद्र सेनाचार्य) ११/३७

(च) श्रावकाचार संग्रह भा ५, पृ ३५१ (गा ६)

(ख) ज्ञानार्णव २५/२९-३१

(ग) ध्यान दीपिका गा ७३-७४

(घ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/३८

(ङ) श्रावकाचार सग्रह भा ५ पृ ३५१

५ (क) आचारांगसूत्र

(ख) ज्ञानार्णव २५/३२

६ (क) ध्यान शतक गा ५

(ख) ध्यान दीपिका (गुजराती-विजयकेशरसुरिजी) गा ७६

(ग) तत्त्वार्थसूत्र ९/३२

७ (क) ज्ञानार्णव २५/३४

(ख) ध्यान दीपिका गा ७७

८ (क) तत्त्वार्थसूत्र ९/३४

(ख) ध्यान शतक गा ९

(ग) ज्ञानार्णव २५/३५-३६

९ एवं चउव्विहं रागद्दोस मोह कियस्स जीवस्स।
अट्टज्झाण ससारवद्धणं तिरियगइमूल।।
रागो दोसो मोहो य जेण ससार हेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णि वि, तो त ससार तरुबीय।।

ध्यान शतक गा १०, १३

१० (क) सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ (स्व चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा) पृ ९८६

(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर (स नवलजी) पृ ११९५

११ (क) अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्तं, तं जहा-कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया। ठानांगसूत्र (आ म) ४/१/१२

(ख) ध्यानशतक गा १५

१२. ध्यान शतक गा १६-१७

१३. रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा -हिंसाणुबंधी, मोसाणुबंधी, तेणाणुबधी, सरक्खणाणुबंधी। स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

१४ (क) ध्यान शतक (जिनभद्र) गा १९

(ख) ज्ञानार्णव २६/४/१२

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामी कुमार) गा ४७५

(घ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/४२

(ङ) ध्यान कल्प तरू (पूज्य श्री अमोलकऋषि म.) पृ. १२

(च) ध्यान दीपिका (गुज) गा ८५-८६

१५. (क) ध्यान शतक गा २०

(ख) ज्ञानार्णव २६/१६-२३

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७५

(घ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/४३

१६ (क) ध्यान शतक गा २१

(ख) ज्ञानार्णव २६/२४-२८

(ग) सिद्धान्तसार संग्रह, ११/४४

(घ) ध्यानदीपिका (गुज.) गा. ८९-९१

(ङ) श्रावकाचार संग्रह भा ५, पृ ३५१

१७ (क) ध्यान शतक गा २२

(ख) ज्ञानार्णव २६/२९

(ग) सिद्धान्तसार संग्रह, ११/४५

(घ) ध्यान दीपिका (गुज) गा ९२

१८. एयं चउव्विहं राग-दोस -मोहाउलस्स जीवस्स।
रोद्दज्झाणं संसार वद्धणं नरयगइमूले। ध्यान शतक गा २४

१९ रोद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्तं, तं जहा-ओसन्नदोसे, बहुलदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे।
स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

२० ध्यान कल्प तरू (पू अमोलक ऋषिजी म) पृ २१

२१ प्रवचन सारोद्धार, द्वार ४४, गा ४५१-४५२

२२ ज्ञानार्णव २६/३७-३८

२३ (क) ध्यान शतक गा २६

(ख) ध्यानदीपिका (गुज विजयकेशरसूरि) १२१

२४. (क) विचितिर्विवेको विचारणा विचय। विचितिर्विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थवार्तिक (भट्टकलंकदेव) ९/३६ की टीका

(ख) विचयनं विचयो विवेको विचारणेन्यर्थ।
सर्वार्थ सिद्धि ९/३६ की टीका

२५ (क) धम्मे झाणे चउव्विहे चउपडोयारे पण्णत्तं, तं जहा – आणा-विजए, अवायविजए, विवाग विजए, सठाण विजए।

स्थानागसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

(ख) तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी – सम्पादक) ९/३७

(ग) ज्ञानार्णव ३३/५

(घ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५, पृ २५२

२६ तत्थ आणा णाम आगमो सिद्धतो जिणवयणमिदि एयट्ठो।

षट्खण्डागम भा ५ धवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ ७०

२७ (क) षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका गा ३८

(ख) योग शास्त्र (हेमचद्राचार्य) १०/९

(ग) ध्यान दीपिका (गुज) गा १२१-१२२

२८ (क) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका (गा ३५-३७) पृ ७१

(ख) ध्यान शतक गा ४५-४६

(ग) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य) ३२/१

२९ अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गथति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ। आवश्यक निर्युक्ति गा १९२

३० (क) प्रमाणनयैरधिगम तत्त्वार्थसूत्र १/६

(ख) प्रमाण परिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन
एकदेश ग्राहिणस्तदितराशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषानया ।

जैन तर्क भाषा (उपा यशोविजयजीगणि) नय परिच्छेद पृ २१

३१. यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाण न वाऽप्रमाणमिति।

तर्क भाषा (उपा यशोविजयजी) नयपरिच्छेद (पृ २१)

३२ (क) सम्मति तर्क (सिद्ध सेन दिवाकर) १/३,४,५,११
एवं सम्मति तर्क (" " ") पृ २१ एवं २१४ (गा. १९)

(ख) ज्ञान-सार, भाग १, (यशोविजयजी) पृ २८३-

(ग) जैन तर्क भाषा (यशोविजयजी) पृ २२,२४,२५

(घ) से किं तं नए? सत्त मूलणया पण्णत्ता, तं जहा-णेगमे १ संगहे २ ववहारे ३ उज्जुसुए ४ सद्दे ५ समभिरूढे ६ एवंभूए ७ ।

अणुओगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ ११६२

(ङ) नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नया । तत्त्वार्थसूत्र १/३४

३३. (क) कुन्दकुन्द भारती, प्रस्तावना पृ १०

(ख) निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित ।
तत्राद्य साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि या ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्ग स निश्चय ।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुन स्यु परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत ।।

उद्धृत कुन्दकुन्द भारती, प्रस्तावना पृ १६

३४ (क) स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्।।

प्रमाण-नय-तत्वालोक (वादिदेवसूरि) १/२

(ख) स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थ ,
पर तस्मादन्योऽर्थ इति यावत्, तौ व्यवस्यति यथास्थिततत्वेन निश्चिनोतीत्येवशीलं स्वपरव्यवसायि।

जैन तर्क भाषा (उपा. यशोविजयगणि) १/प्रमाणपरिच्छेद पृ [illegible]

३५ (क) ठाणे (सुत्तागमे) ४/३/३८३, ७/६७८

(ख) नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यास । तत्त्वार्थसूत्र १/५

३६ नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स [illegible] एस परमत्थो।।

सन्मति तर्क (सिद्धसेन दिवाकर) १/६

३७ (क) सन्मति तर्क (सिद्धसेनदिवाकर) १/२८, ३/६०

(ख) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य) ३३/१०, १२, १५-१७

३८ (क) नव सब्भावपयत्था पण्णत्तं, तं जहा - जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो सवरो मिज्जरा बंधो मोक्खो।

स्थानांग सूत्र ९/८६७ (सुत्तागमे)

(ख) जियअजिय पुण्णपावासव संवरबंधमुक्ख निज्जरणा।।

कर्मग्रन्थ (देवेन्द्रसूरि) १/१५

(ग) जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्ण पावाऽसवो तहा।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव।। उत्तराध्ययनसू. २८/१४

(घ) पंचास्तिकाय गा.

३९ (क) जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। तत्त्वार्थसूत्र १/४

४० इमा खलु सा छज्जीवनीकाया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं

घम्मपण्णत्ती। त जहा- पुढविकाइया १, आउकाइया २, तेउकाइया ३, वाउकाइया ४, वनस्सइकाइया ५, तसकाइया ६।

दसवैकालिक सूत्र ४/३ (सुत्तागमे)

४१. (क) सण्णी असण्णी। पण्णवण्णसुत्त। गा ६६४ (सुत्तागमे)

तसे चेव थावरे चेव। स्थानांगसूत्र २/८० (सुत्तागमे)

(ख) समनस्काऽमनस्का।

संसारिणस्त्रसस्थावरा। तत्वार्थसूत्र २/११, १२

४२ (क) जीवाजीवाभिगमे पृ ११० (सुत्तागमे)

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र हिन्दी टीका (पं सुखलालजी) पृ ८०

४३ (क) षट्खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ७२

(ख) ध्यान शतक गा ५०

(ग) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) १०/१०

(घ) ज्ञानार्णव ३४/२-३, ६, ११-१२, ९, १, १५-१६

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५१-५२

(च) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ ३६७

४४. (क) कायवाड्मन कर्म योग। स आस्रव।

शुभ पुण्यस्य। अशुभ पापस्य। तत्वार्थसूत्र ६/१-४

(ख) आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग।

यथा सरस्सलिलावाहिद्वार तदास्रवकारणत्वाद्

आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मन कर्म आस्रवतीति योग । सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/१ की वृत्ति

(ग) पावपओगा मणवचिकाया कम्मासव पकुव्वति।

भुञ्जतो दुब्मत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ।।

भगवति आराधना (शिवार्य) गा १८२७

(घ) अनुकम्पा त्रिप्रकारा। धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति।

स च द्वि प्रकार यतिगृहिगोचरभेदेन।

भगवति आराधना भा २ टी पृ ८१४, ११६ (अपराजितसूरि)

(ङ) आस्रव अपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति) गा २४८

४५. (क) चत्तारि विकहाओ पण्णत्तं तं जहा -

इत्थिकहा भत्त कहा देस कहा राय कहा।

इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा- इत्थीणं जाइ कहा, इत्थीणं

कुलकहा, इत्थीणं रूव कहा, इत्थीणं नेवत्थ कहा।

भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा-भत्तस्स आवावकहा,

भत्तस्स निव्वावकहा, भत्तस्स आरंभकहा, भत्तस्स णिट्ठाणकहा।

देस कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा- देसविहिकहा,

देसविकप्पकहा, देसनेवत्थकहा।

रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा रण्णो अइयाणकहा,

रण्णो निज्जाण कहा, रण्णो बलवाहणकहा, रण्णो कोसकोट्ठागार कहा।

स्थानांग सूत्र (आत्मा म) ४/२/४८

(ख) --- विकथा --- अपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरणम् गा. २४८

४६ (क) तओ गारवा पण्णत्तं, त जहा - इड्ढीगारवे, रस गारवे, सायागारवे।

स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ३/४/९७

(ख) -- गौरव--अपायस्तु। प्रशमरति प्रकरणम् गा २४८

४७ (क) बावीसं परीसहा पण्णत्तं, तं जहा- दिगिंछापरीसहे, पिवासापरीसहे, सीतपरीसहे, उसिणपरीसहे, दंसमसगपरीसहे, अचेलपरीसहे, अरइ-परीसहे, इत्थी परीसहे, चरिआपरीसहे, निसीहिआपरीसहे, सिज्जा-परीसहे, अक्कोसपरीसहे, वहपरीसहे, जयणापरीसहे, अलाभपरीसहे, रोगपरीसहे, तणफासपरीसहे, जल्लपरीसहे, सक्कारपुरक्कारपरीसहे, पण्णा परीसहे, अण्णाणपरीसहे, दसणपरीसहे ।

समवायांग सूत्र, समवाय २२

(ख) --- परीषहाद्येष्वपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरणम् गा २४८

४८. (क) तओ सल्ला पण्णत्तं. तं जहा - मायासल्ले, णियाणसल्ले, मिच्छादसणसल्ले। ठाणे (सुत्तागमे) ३/२४०

(ख) सिद्धान्तसार संग्रह ४/४-११, २४५-२५६

४९ (क) पच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा -मिच्छत्तं अविरइ पमाए कसाया जोगा। स्थानाग ५/२/४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायायोगा बंधहेतव । तत्वार्थ सूत्र ८/१

५०. (क) मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। प्रशमरति प्रकरणम् गा २३ की टीका

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २७, ३२, ३३

(ग) बंधदि मुंचदि जीवो पडि समयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ६७

(घ) कालु अनादि अणाइ जिउ भव-सायरू जि अणंतु।

मिच्छा-दसण-मोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु।।

योगसार (योगीन्दु) गा, ४

(ङ) वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यत ।
तन्मिथ्यात्व मत सद्भि कर्मारामोदयोदकम्।।
उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम्।
जात साशयिक चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदु ।।
अतत्व मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्व भावित ।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनक मोहित ।।

योगसारप्राभृत (अमितगति) १/१३-१५

(च) अदेवागुर्वधर्मेषु, या देवगुरुधर्मधी ।
तन्मिथ्यात्व भवेद्व्यक्त-अव्यक्तं मोह लक्षणम्।।

गुणस्थान क्रमारोह (रत्नशेखरसूरि) उद्धृत धर्म रत्नप्रकरण

५१ (क) सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम् सूत्र ८/१
(ख) आवश्यक चूर्णि गा १६५८
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् गा २३ की टीका
(घ) कर्म ग्रन्थ ४/५१
(ङ) गुणस्थान क्रमारोह गा ६ की टीका
(च) स्थानाग सूत्र १०/९९४ (सुत्तागमे)

५२ ध्यान शतक (जिनभद्रगणि) टी हरिभद्रसूरि

हिन्दी विवेचक विजयभुवनभानु सूरिश्वरजी पृ १६६

५३ अविरमणमविरति अनिवृत्ति पापाशयात् ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा ३३ की टीका

५४ अविरतिर्द्वादशविधा, षट्काय षट्करणविषयभेदात्।।

सर्वार्थसिद्धि ८/१ की टीका

५५ (क) छव्विहे पमाए पण्णत्ते, त जहा-
मज्जपमाए, णिद्दपमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए।

ठानाग सूत्र ६/५८३ (सुत्तागमे)

(ख) मज्ज विसय कसाया, निद्दा विकहा पंचमी भणिया।
एए पच पमाया जीवा पाडति संसारे।।

ध्यान कल्प तरू (अमोलक ऋषि जी म) पृ

(ग) विषयेन्द्रिय निद्रा विकथाख्य चतुर्विध प्रमाद ।

प्रशमरति प्रकरणम् गा ३३ की टीका

(घ) विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो च।
चदु चदु पण भेगेण होंदि पमादा हु पण्णरसा।।

गोम्मटसार (जी का) गा ३४

(ङ) पंचदश प्रमादा १५, अशीति प्रमादा वा ८०
सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्त्रप्रमित प्रमादा वा ३७५००।
यैस्ते तथोक्ता ।
१५ = विकथा ४, कषाय ४, इन्द्रिय ५, निद्रा, मोह
८० = ४ × ४ × ५ = ८०
३७५०० = विकथा २५, कषाय २५, इन्द्रिय ५, मन=१, निद्रा ५, स्नेह और मोह = २५ × २५ × ६ × ५ × २ = ३७५००

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१९५ गा की टीका

५६ कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययति व जतो गमयंति कसं कसाययत्ति ।।

विशेषावश्यक भाष्यम् (जिनभद्रगणिक्षमा श्रमण)
(टी हेमचंद्राचार्य) गा १२२८

५७ षोड़श कषाया नव नोकषायास्तेषामीषद् भेदो न भेद इति पचविंशति कषाया ।। सर्वार्थ सिद्धि ८/१की टीका

५८ सोलह कषाय ---- । कर्मग्रन्थ १/१७
अण अपच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा।

५९ कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व-विणासणो।।

दशवैकालिकसूत्र, ८/३८

६० जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरइ अहक्खाय चरित्त घायकरा।।
जल रेणु पुढवी पव्वयराई सरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठसेलत्थभोवमो माणो।।
मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंग घणवसिमूल समा।
लोहो हलिद्दखजणकद्दमकिमिरागसामाणो।। कर्म ग्रन्थ १/१८-२०

६१ उवसानं उवणीया गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि।
पडिवायति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे? ।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १३०६

६२ अण थोवं वण थोव अग्गीथोव कसायथोव च।
न हु भे वीससियव्व थेवं पि हु तं बहु होइ।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १३१०

६३ ममकारा हकारावेषां मूलं पदद्वयं भवति।
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्याय· ।।
माया लोभ कषाय श्चेत्येतद् राग संज्ञित द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्ट ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा ३१-३२

६४ (क) इष्ट वस्तुनि या प्रीति स रागो रागवर्जितै ।
कथित सर्वमोहस्य मूल मूलमिवायतम्।। सिद्धान्तसारसंग्रह ३/१०२

(ख) इच्छा मूर्च्छा काम स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्द-।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि।। प्रशमरतिप्रकरणम् गा १८

६५ ध्यानशतक (हिन्दी - भुवनभानुसूरिश्वरजी) पृ १६४ टीका

६६ (क) सर्व संसारमूलाना वैराणा कारण परम्।
अनिष्टे वस्तुनि प्रीतेरभावो द्वेष इष्यते।। सिद्धान्तसार सग्रह ३/१०३

(ख) ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेष परिवादमत्सरासूया ।
वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्याया ।। प्रशमरति प्रकरणम् गा १९

६७ एव क्रोधो मानो माया लोभश्च दु खहेतुत्वात्।
सत्त्वाना भवससार दुर्ग मार्गप्रणेतार ।। प्रशमरति प्रकरणम् गा ३०.

६८. दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाओ रसविवागाओ।
एक्केक्का वि य चउहा जओ च सद्दो विगप्पेणं।। पंचसंग्रह ३/४४

६९ (क) प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।
तत्त्वार्थ सूत्र ८/३ (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक टीका)

(ख) पयडी सील सहावो । गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा ३

७०. ठिइ बंधो दलस्स ठिइ पएसबंधो पएसग्रहण च।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबधो।। पंच संग्रह ४३२

७१ (क) पड पडिहार सिमज्जाहलि चित्त कुलाल भंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा।।

गोम्मटसार (कर्म काण्ड) गा २१

(ख) पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।। ९
वित्तिसम दंसणावरण।९
महुलित्तखग्गधारालिहणं। १२
मज्ज व मोहनीय। १३
आऊ हडिसरिसं। २३

नाम कम्म चित्तिसमं। २३
गोयं दुहुचनीयं कुलाल इव। ५२
सिरिहरियसमं। ५३ कर्मग्रन्थ १/९,९,१२,१३,२३,२३,५२,५३

७२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३४/१९-२३
(ख) तत्त्वार्थसूत्र (उमा स्वाति, विवे पं सुखलालजी) ८/१५-२१

७३ (क) स्वभाव प्रकृति प्रोक्त स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय- प्रदेशो दलसंचय ।।
कर्म ग्रन्थ भा ५ हिन्दी टीका (मिश्री म) पृ ८५
(ख) योगशास्त्र, १०/१२-१३
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् १७/२४९
(घ) ध्यान शतक गा ५१
(ड) ज्ञानार्णव ३५/१-२, ५-८
(च) महापुराण (जिनसेन) २१/१४३-१४५
(छ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५६९
(ज) श्रावकाचार संग्रह भा ५ पृ ३५३

७४ तिव्वो असुहसुहाणं-----। कर्मग्रन्थ ५/६३

७५-७६ (क) कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाक विचय । तत्त्वार्थ वार्तिक (भट्टाकलंकदेव) ९/३६
(ख) भगवती आराधना भा २, गा १७०८-१७०९

७७ (क) ध्यानशतक गा ५२-६२
(ख) षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ७२
(ग) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ९/३६
(घ) तत्त्वार्थ वार्तिक ९/३६
(ड) महापुराण (जिनसेन) २१/१४८-१५१
(च) सिद्धान्तसार संग्रह, (नरेन्द्रसेनाचार्य) ११/५७-५८
(छ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५, पृ ३५३ - (गा ४०-४२)

७८-७९ दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णते लोओ।।
स लोक भण्यते, यत्र जीवादिका अर्था जीवपुद्गल धर्माधर्माकाश-कालरूपपदार्था द्रव्याणि षट् दृश्यन्ते लोक्यन्ते इति स लोक कथ्यते सर्वज्ञै ।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १२१ एवं उसकी टीका पृ ६०

८०   तस्स सिहरम्मि सिद्धा अत- विहीणा विरायते।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १ ■ /१२१

८१   अण्णोण्ण-पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।
दव्वाण णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्त।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १ ■ /११६

८२ (क) परिणाम - सहावादो पडिसमय परिणमति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणाम।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११७

(ख) परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।

प्रवचन सार (कुन्दकुन्दाचार्य) २/३१

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११७ की टीका।

(घ) दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयदधुवत्तसजुत्त।
गुण पज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू।।   पचास्तिकाय १/१०

८३ (क) गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाण लक्खणो।
भायण सव्व दव्वाण, नहं ओगाह लक्खण।।
वत्तणा -लक्खणो कालो, जीवो उवओग-लक्खण।
सद्दन्धयार - उज्जोओ, पभा छाया तवो इ-वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खण।।
एगत्त च पुहत्त च, सखा सठाण मेव य।
सजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खण।।

उत्तराध्ययन सूत्र २८/९-१०, १२-१३

(ख) उदयं जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि।।
जह हवदि धम्मदव्व तह त जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारण भुद तु पुढवीव।।

पचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा ८५-८६

८४ (क) स्थानागसूत्र (आत्मा ■) १०/१
(ख) भगवती सूत्र १/६

८५   भगवती सूत्र १/६   (सैलाना पृ २७६)

८६ (क) भगवती सूत्र २०/६/६७२ (सुत्तागमे)
(ख) स्थानागसूत्र, ३/४/२८६ (सुत्तागमे)

(ग) पन्नवण्णा सुत्त २, पृ २९२-२९३ (सुत्तागमे)

८७-८८ (क) सुपइट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, हेट्ठा विच्छिन्नो जाव
उप्पिं उड्ढमुइंगागारसंठिए, तेसिं च ण सासयति. .।

भगवती सूत्र (भगवइ सुत्तागमे)७/१/२६०

८९. लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति। राजवार्तिक पृ १२७

९० (क) लोक - चतुर्दशरज्ज्वात्मक।

आचारांगवृत्ति (शीला, पुण्यविजयजी) पृ १५

(ख) दक्खिण - उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ।
उड्ढ चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ।।
मेरुस्स हिट्ठ - भाए सत्त वि रज्जू हवइ अह लोओ।
उड्ढम्मि उड्ढ - लोओ मेरु - समो मज्झिमो लोओ।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११९-१२०

९१ (क) प्रवचनसारोद्धार ( )९१३

(ख) एइंदिएहिं भरिदो पच-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२

(ग) जैन तत्त्वप्रकाश (अमोलकऋषिजी म) पृ ४६

९२ तस्यैव लोकस्य मध्ये पुनरुदूखलस्य मध्याधो भागे
छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनलिकेव चतु कोणा त्रसनाडी भवति

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२ की टीका

९३ लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सार व रज्जुपदरजुदा।
तेरसरज्जुस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली।।

तिलोकप्रज्ञप्ति २/६ उद्धृत, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ६१

९४ (क) किंचूणा होदि तसणाली इत्यत्र ऊनदण्डप्रमाणं कथमिति, सप्तम-पृथिव्या श्रेणिबद्धादधोयोजनानां ३९९९ $^{१}/_{३}$, दण्डा- ३१९९४-६६६ $^{२}/_{३}$। सर्वार्थसिद्धेरुपरियोजनानां १२, (दण्डा ९६०००) अष्टमपृथ्व्यां योजनानां ८, दण्डा ६४०००। तस्या उपरि वायुत्रयदण्डा ७५७५। एते सर्वे दण्डा ३२१६२२४१ $^{२}/_{३}$। किंचिन्न्यूनत्रयोदशरज्जुप्रमाण त्रसनाड्यां त्रसास्तिष्ठन्तीत्यर्थ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२ गाथा की टीका पृ ६२

(ख) त्रिलोक सार (सिद्धान्तचक्रवर्ति) गा ५५६, १२६
(ग) त्रिलोक प्रज्ञप्ति २/७

९५ (क) उववाद मारणंतिय परिणद तस मुज्झिऊण सेस तसा।
गोम्मटसार (जी का) गा १९२
(ख) जैन तत्त्व प्रकाश (अमो म) पृ ४६

९६ (क) दुवे रासी पण्णत्ता, त जहा - जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव।
समवाय २
(ख) जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य। पण्णवणासुत्त (सुत्तागमे) १

९७ (क) चउदस भूअग्गामा पण्णत्ता त जहा - सुहुम अपज्जत्तया,
सुहुम पज्जत्तया, बादर अपज्जत्तया, बादर पज्जत्तया, बेइन्दिया अपज्जत्तया, बेइन्दिया पज्जत्तया, तेइदिया अपज्जत्तया, तेइदिया पज्जत्तया, चउरिंदिया अपज्जत्तया, चउरिंदिया पज्जत्तया, पचिंदिया असन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया असन्नि पज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि पज्जत्तया।
समवायाग १४/१
(ख) भगवती सूत्र २५/१
(ग) [illegible] सुहुम बायरेगिंदिवितिचउअसन्निसन्निपचिंदि।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा। कर्मग्रन्थ ४/२

९८ (क) पच पचेन्द्रिया - एगिंदिया जाव पचिंदिया।
स्थानागसूत्र (सुत्तागमे) ५/५३२
(ख) इग बिय तिय चउपणिंदि जाइओ। कर्मग्रन्थ, १/३३

९९ (क) पच थावरकाया पण्णत्ता, [illegible] जहा-
इन्दे थावरकाए, बम्भे थावरकाए, सिप्पे थावरकाये,
समती थावरकाए, पाजावच्चे थावरकाए। स्थानागसूत्र ५/४८८
(ख) जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा १०-२६
(ग) एगेन्दिय संसारसमावण्णजीवपण्णवणा पचविहा पण्णत्ता,
त जहा - पुढविक्काइया, आउक्काइया, तेउक्काइया, वाउक्काइया, वणस्सइकाइया। पण्णवणा १/१२

१०० (क) कति ण भते इदिया पण्णत्ता? गोयमा! पंचेंदिया पण्णत्ता।
प्रज्ञापना १५/१/१९१
(ख) पंच इदियत्था पण्णत्तं तं जहा - सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।
स्थानागसूत्र ५/५३१

१०१ जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा २८-३०

१०२. (क) सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा -रयणपमापुढविनेरइया जाव अहेसत्तमपुढविनेरइया, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - पज्ञत्ता य अपज्ञत्ता य।

जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा ३२

(ख) पण्णवणासुत्तं, गा ७९

(ग) जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीस सागरोवमाइं।

पण्णवणासुत्तं, गा २१३

१०३ से किं तं पंचेंदियतिरिक्ख जोणिया? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य गब्भवक्कतियपचिंदियतिरिक्ख-जोणिया य।। समुच्छिमपंचेंदिय तिरिक्ख जोणिया तिविहा पण्णत्ता, त जहा- जलयरा थलयरा खहयरा । गब्भवक्कंतिय-पंचेंदियतिरिक्ख-जोणिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा - जलयरा थलयरा खहयरा ।। से किं तं थलयरा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - चउप्पया य परिसप्पा य। । से किं तं परिसप्पा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - उरपरिसप्पा य भुयपरिसप्पा य ।।

जीवाजीवाभिगमसुत्त (सुत्तागमे) गा ३३-४०

१०४ (क) अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा संमुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होति तिरियाणं।।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३१

(ख) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १३१ की टीका पृ ६२

१०५-१०६ से किं त मणुस्सा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- समुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कतियमणुस्सा य। से किं तं गब्भवक्कतियमणुस्सा? तिविहा पण्णत्ता, त जहा- कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवगा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता ,त जहा - पज्ञत्ता य अपज्ञत्ता य।

जीवाजीवाभिगमसुत्त गा ४१

१०७ से किं तं कम्मभूमगा? कम्मभूमगा पन्नरसविहा पन्नत्ता, तं जहा - पचहिं भरहेहिं, पंचहिं एरवएहिं, पचहिं महाविदेहेहिं।

पण्णवणासुत्त गा १/६३

१०८ पन्नरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्म भूमीसु, छप्पन्नाए अतरदीवेसु।

पण्णवणासुत्तं, गा १०५

१०९. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा- आणारुइ, णिसग्गरुइ, सुत्तारुइ, ओगाढरुइ। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

११० ध्यान शतक (जिनभद्रगणिक्षमा श्रमण) गा ६७-६८

१११ (क) धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि आलवणा पण्णत्ता तं जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

(ख) झाणस्स चत्तारि आलंवणा पण्णत्ता, तं जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा धम्मकहा। भगवती सूत्र २५/७

(ग) ध्यान शतक गा ४२

११२ (क) धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा- एगाणुप्पेहा, अणिव्वाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

(ख) भगवती सूत्र २५/७

११३ (क) ज्ञानार्णव २/३१, ३६, ३८, ३९, ४०, ४५-४६

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४, ७, ८-९, २१-२२

(ग) अध्यात्मतत्वालोक ५/२६-२७

(घ) शात सुधारस ( )पृ ३५

(ङ) ध्यान दीपिका गा १४-१६

(च) तिलोक काव्य संग्रह पृ ८३

(छ) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५१

११४ (क) उत्तराध्ययनसूत्र १३/२२

(ख) योगशास्त्र ४/६२,६३

(ग) सूत्रकृतागसूत्र २/१/१३

(घ) ज्ञानार्णव २/१

(ङ) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५२

(च) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २४-२५, २७, २९, ३०

(छ) शांत सुधारस पृ ६६

११५ सत्तरसमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तमि।।
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहुत्तखुड्डभवा।
आवलियाण दो सय छप्पन्ना इग खुड्डभवे। कर्मग्रन्थ ५/४०-४१

११६ (क) तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अतो मुहुत्त काले तावदिया चेव खुद्दभवा।।
गोम्मटसार - जीवकाण्ड १२३

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १३७ की टीका पृ ७५-७६

११७. पृथिव्याप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतय पंचापि प्रत्येकं वादर सूक्ष्मभेदेन दश। तथा प्रत्येक वनस्पतिश्चेत्येष्वेकादशसु लब्ध्यपर्याप्तकभेदेष्वेकैकस्मिन् भेदे प्रत्येकं द्वादशोत्तरषट्सहस्रनिरन्तरक्षुद्रभवा भवन्ति ६०१२। लब्ध्यपर्याप्तानां मरणानि भवा ६६३३६।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३७ की टीका, पृ ७५

११८ उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि- अपुण्णो हवे सो दु।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३७

११९ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३२, ६६, ६८, ६९
(ख) योग शास्त्र ४/६५-६७
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५६
(घ) शातसुधा रस पृ ९५-९६ (गा ३,५)
(ङ) ज्ञानार्णव २/९-११
(च) आचारांगवृत्ति (शीलांकाचार्य) २/१/१८५-६
(छ) सूयगडागसूत्र (शीलांकाचार्य, जवाहरमलजी म भा) ५/१/६८-६९
(ज) ध्यान दीपिका गा २०-२१
(झ) उत्तराध्ययनसूत्र १९/१५, ३१-७२
(ञ) स्थानागसूत्र (आत्मा म) १०/५२
(ट) तत्वार्थ सूत्र ३/२,४
(ठ) तत्वार्थाधिगमभाष्य ३/३-४
(ड) सर्वार्थ सिद्धि ३/५

१२० योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ४/६७ की टीका

१२१ (क) योग शास्त्र ४/६७ की टीका
(ख) ध्यान दीपिका (गुजराती) गा २०-२१

१२२ (क) ज्ञानार्णव २/२
(ख) योगशास्त्र ४/६८-६९
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३८, ७४-७९
(घ) शातसुधा रस पृ १३१-२

१२३. (क) सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा- पुहुत्त-वियक्के-सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुम किरिए अणियट्टी, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई। ठानांग सूत्र (आत्मा म) ४/१/१२
(ख) षट्खण्डागम भाग ५ पृ ७७
(ग) तत्वार्थ सूत्र ९/४१

(घ) योगशास्त्र ११/५

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५९

१२४ छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे [illegible] शुक्ले प्रकीर्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणा केवलज्ञानचक्षुषाम् ।।
श्रुतज्ञानार्थसम्वन्धाच्छ्रुतालम्वनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य नि शेषालम्वनच्युते।। ज्ञानार्णव ४२/७-८

१२५ (क) ध्यान शतक गा ७७-७८
(ख) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७८ (गा. ५८-६०)
(ग) ज्ञानार्णव ४२/९, १३, १५
(घ) महापुराण (आ जिनसेन) २१/१७०-१७१, १७५, १७८-१८३
(ड) योगशास्त्र ११/६
(च) सिद्धान्तसार सग्रह ११/७१-७२

१२६ (क) ज्ञानार्णव ४२/१६-१७
(ख) सिद्धान्तसार सग्रह ११/६६-७०

१२७. (क) भाव सवर - णिज्जरामरसुहफलं ।
षट्खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७९
(ख) महापुराण २१/१५४

१२८ (क) ध्यान शतक गा ८२
(ख) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७९
(ग) योगशास्त्र ११/७
(घ) महापुराण (जिनसेन) ११/१८४-१८५
(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/७६
(च) ज्ञानार्णव ४२/२३-२७
(छ) श्रावकाचार संग्रह भा ५ पृ ३५५

१२९ (क) षट् खण्डागम, भा ५, धवला टीका पृ ७९-८०
(ख) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

१३० (क) क्षीण चतु कर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता ।
विहरति मुहूर्तकालं देशोनां पूर्व कोटिं वा।।
प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७१
(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् टीका गा २७१ की।

१३१ (क) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका (वीरसेनाचार्य)
पृ ८३ (गा ७२)

(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक ९/४४ की वृत्ति

(ग) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४ की वृत्ति

(घ) योग शास्त्र ११/८

१३२. यस्य पुन केवलिन॰ कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्त्तुम्।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा. २७३

१३३ (क) कइ समए णं भंते। आउज्जीकरणे पण्णत्ते, तं जहा - गोयमा असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते।

ओववाइयसुत्तं (सुत्तागमे) पृ ३६

(ख) कइ समएणं भते। आउज्जीकरणे पण्णत्ते, तं जहा - गोयमा असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पण्णत्ते।

पण्णवणासुयं (सुत्तागमे) ३६/७११

(ग) सचित्र अर्ध मागधी कोष (सं शतावधानी रत्नचंद्र मुनि)

भा २ पृ ११

१३४ सचित्र अर्ध मागधी कोष भा २ पृ ११

१३५. सचित्र अर्ध मागधी कोष भा २ पृ १०-११

१३६. (क) आवज्जणमुवओगो वावारो वा तदत्थमाईए।
तं च गन्तुमना प्रारिप्सु पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति विदधाति । उच्यते - तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो 'मयाऽधुनेदं कर्तव्यम्' इत्येवं रूप, उदयावलिकायां कर्मप्रेक्षरूपो व्यापारो वाऽऽवर्जनमुच्यते। तथा भूतस्य करणमावर्जीकरणम्।

विशेषावश्यक भाष्य गा ३०५१ एव हेमचंद्र टीका पृ २४३

(ख) १ आवर्जनमावर्ज आत्मानं प्रतिमोक्षस्याभिमुखीकरणम् , आत्मनो मोक्षं प्रत्युपयोजनमित्यर्थ । २. आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति, आवर्ज- शुभमनोवाक्काय व्यापारविशेष । ३. अपरे - आवर्जितो नाम अभिमुखीकृत- तथाभव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं - क्रिया शुभयोग व्यापारणमावर्जितकरणम्। ४ आयोजिकाकरणम् - आमर्यादया केवलिदृष्ट्या योजनं शुभानां योगानां व्यापारणमिति। ५. आउस्सियकरणं सर्वकेवलिनामावश्यककरणम्।'. .हारिभद्रीय वृत्तौ 'आवर्जीकरण' वेद्यायुष- समत्वनप्रयत्नकरणम्।

प्रज्ञापनासूत्रे समुद्घातपदे मलयगिरि वृत्तौ
उद्धृत, विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्रसूरि टीका) भा २ पृ २४३

(ग) तत्राऽन्तर्मुहूर्तशेष आयुष्यायोजिका करणं करोति, अयम्भाव सर्वोऽपि केवलि भगवन् जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तकालमुत्कृष्टतश्च देशोनपूर्वकोटिवर्ष प्रमाण कालं विहृत्य स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तमात्रे शेष अन्तर्मौहूर्तिकमायोजिकाकरणमुदयावलिकायां कर्मपुद्गल निक्षेपव्यापाररूपमुदीरणा-विशेषात्मकमारभते। इयमत्र व्युत्पत्ति आमर्यादया योजनं केवलिदृष्ट्या शुभानां योगाना व्यापार इत्यायोजिका 'भावे' (सिद्ध हेम ५-३-१२२) सूत्रेण भावे णक प्रत्यय , आयोजिकाया करणमित्या- योजिकाकरणम्।

अथवाऽन्ये प्राहु - स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तशेषे केवली भगवन् आवश्यक-करणं करोतीति। .। उच्यते - अवश्य भाव - आवश्यकम्,। 'चोरादे ' (सिद्ध हेम ७-१-७३ (इति सूत्रेण भावे अकप्रत्यय , आवश्यकेन = अवश्यं भावेन करणमित्यावश्यककरणम्, यथा लोके साटकेन कक्षा वद्ध्वा तत परं कृतावश्यक कक्षाबन्धकरणो योद्धमुपक्रमते तथा अन्तर्मुहूर्तायु शेषेण सर्व केवलिना सिध्यता प्रथममेवेदं करणमवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यककरणम्।

'अवश्य करणं वा' वा शब्दो मतान्तरद्योतक एवमग्रेऽपि, अथवैके भणन्ति - सयोगीकेवली भगवानन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुषि शेषेऽवश्यकरणं करोतीति, सर्वकेवलिभि· सिद्धयद्भिरवश्यंक्रियमाणत्वादवश्यकरणमिति व्यपदिश्यते, अवश्यं क्रियत इत्यवश्यकरणमिति व्युत्पत्ते ।

'आवर्जितकरण' तत्र 'वा' अथवा परे भणन्ति 'आवर्जितकरण' करोतीति। नन्वावर्जितकरण कुतो व्यपदिश्यते? इति चेत् उच्यते -आवर्जितस्य = तथा भव्यत्वेन मोक्ष गमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करण = शुभ योग व्यापारणमित्यावर्जितकरणम्।

'आवर्जीकरणम्' काकाक्षिगोलकन्यायेन वा शब्दोऽत्राऽऽपि सम्बध्यते, वा = अथवा विशेषावश्यकभाष्यकारादयो हरिभद्रसूरि-पादादयश्च भणन्ति - केवली भगवानन्तर्मुहूर्तमात्रआयुविशेषे आवर्जी-करणं करोतीति।

खवगसेढी, स्वोपज्ञवृत्ति (श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर) पृ ४४८-४४९

१३७ ननु समुद्घात इति क शब्दार्थ ? इति चेत्, उच्यते-सम्यक् = अपुनर्भावेन उत् = प्राबल्येन घातो = वेदनीयादीनां कर्मणां हनन = विनाशो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे, स समुद्घात इत्युच्यते, अथ व्युत्पत्यन्तरं दर्श्यते - सं = सामस्त्येन उत् = प्राबल्येन घातो = हननं = शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशानां निस्सारणमिति समुद्घात .

खवगसेढी पृ ४५२

१३८ (क) यस्य पुन केवलिन कर्म भवत्यायुषो तिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम्।।

प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा. २७३

(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् की वृत्ति गा २७३ की

(ग) कइ ण भते। समुग्घाया पन्नत्ता? गोयमा। सत्त समुग्घाया पन्नत्ता, त जहा - वेयणासमुग्घाए १, कसायसमुग्घाए २, मारणतियसमुग्घाए ३, वेउव्विय-समुग्घाए ४, तेयासमुग्घाए ५, आहारगसमुग्घाए ६, केवलि-समुग्घाए ७।

पण्णवणासुत्त (सुत्तागमे) ३६/६८६

१३९-१४० (क) केवलिसमुग्घाए णं भते। कइ समइए पण्णत्ते? गोयमा। अट्ठ समइए पण्णत्ते, त जहा-पढमे समए दडं करेइ, विइए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथ करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरेइ, पंचमे समए लोय पडिसाहरई, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरई, सत्तमसमए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ, तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।

ओववाइय सुत्त (सुत्तागमे) पृ ३६

पण्णवणासुत्तं (सुत्तागमे) पृ ३६/७११

(ख) प्रशमरति प्रकरणम् गा २७४-२७५ एवं इन गाथाओं की टीका

(ग) ज्ञानार्णव ४२/४३,-५१

(घ) निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, तृतीयं कीर्तितं शुक्लम्।।

योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ११/८, ११/५१-५२

(ङ) तत्त्वार्थवार्तिक [illegible]/४४

१४१ औदारिक प्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमष्टद्वितीयेषु।।
प्रथमेऽष्टमे च समये औदारिक एव योगो भवति शरीरस्थत्वात्। कपाटोपसंहरणे सप्तम मन्थसंहरणे षष्ठ कपाटकरणे द्वितीय । एतेषु त्रिष्वपि समयेषु कार्मणव्यतिमिश्रऔदारिक योगो भवति। 'कार्मण शरीरयोगी चतुर्थके पचमे तृतीये च'। 'समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्। मन्थान्तरपूरणसमयश्चतुर्थ मन्थान्तरसंहरण-समय पंचम । मन्थानकरणसमयस्तृतीय । समयत्रयेऽप्यस्मिन् कार्मणशरीर योग । तत्र च नियमेनैव जीवो भवत्यनाहारक'।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७६ एवं टीका

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ११/५२ की वृत्ति

१४२ योगशास्त्र स्वोपज्ञभाष्य ११/ ५२ की वृत्ति

१४३ (क) जीवपदेसाण परिफन्दो सकोचविकोचब्भमणसरूवओ।।

धवला टीका १०/४,२, १७५/४, ३७/७

उद्धृत, कर्मग्रन्थ ४, मिश्रीमलजी म पृ १६

(ख) पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड गा २१६

(ग) युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति योग ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२७

१४४ को जोगणिरोहो? जोगविनासो।

षट् खण्डागम धवला टीका, भा ५ पृ ८४

१४५ (क) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ३७

(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७८-२७९ एवं टीका सहित

(ग) षट् खण्डागम, धवला टीका (भा ५) पृ ८४

१४६ षट् खण्डागम, धवला टीका, भा ५ पृ ८४-८५

१४७ (क) सूक्ष्म क्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा विगतक्रियम-मनिवर्तिन्वमुत्तर' ध्यायति परेण। प्रशमरतिप्रकरणम् गा २८०

(ख) श्रीमानचिन्त्यवीर्य शरीरयोगऽथ बादरे स्थित्वा।
अचिरादेव हि निरुणद्धि, बादरो वाङ्मन सयोगी।
सूक्ष्मेण काययोगेन, काय योगं स बादरं रुन्ध्यात्।
तस्मिन् अनिरुद्धे सति, शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोग ।।
वचन-मनोयोग-युगसूक्ष्म निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात्।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनु-योगम्।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञभाष्य ११/५३-५५

(ग) अभिधान राजेन्द्र कोश भा ४ पृ १६६२

१४८ (क) समुच्छिन्ना क्रिया योगो यस्मिन्तत्समुच्छिन्नक्रियम्।
समुछिन्न क्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्।

षट् खण्डागम, धवला टीका, भा ५, पृ ८७

(ख) सवार्थ सिद्धि ९/४४

१४९ श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम् जीवप्रदेशपरिस्पंदाभावाद वीचारं अर्थ-व्यंजनयोगसंक्रात्यभावाद्वा। षट् खण्डागम भा ५ पृ ८७

१५० (क) अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तम सुक्कं।

उद्धृत, षट् खण्डागम, भा ५ गा ७७ (पृ ८७)

(ख) तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमाविर्भवेद्योगस्य।
अस्यान्ते क्षीयते त्वघातिकर्माणि चत्वारि।।
लघुवर्णपंचकोद्‌गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम्।
क्षपयति युगपत् परितो, वेद्यायुर्नामगोत्राणि।।

योगशास्त्र ११/५६-५७

१५१ एयग्गेण चिंताए जीवस्स णिरोहो परिप्फंदा भावो ज्झाणं णाम।

षट् खण्डागम, भा ५, पृ ८७

१५२ तदेतद् द्विविध तपोऽभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं प्राक्तकर्मरजोविधुननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति।।

सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

१५३ (क) पढमं जोगे जोगेसु वा, मयं बितियमेक्कजोगमि।
तइयं च कायजोगे सुक्कजोगमि य चउत्थं।। ध्यान शतक गा ८३

(ख) यत्पृथक्त्ववितर्क तत्रियोगेषु प्रजायते।
एकयोगस्यचैकत्ववितर्क चारुतान्वितम्।।
केवलकाययोगस्य ध्यानं सूक्ष्मक्रियं मतम्।
समुच्छिन्नक्रिय तावदयोगस्य महात्मन ।।

सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्र सेनाचार्य) ११/६२-६३

१५४ (क) सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता,
त जहा - अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे।

स्थानांग सूत्र (आ म) ४/१/१२

(ख) ध्यान शतक गा ९०-९२

१५५ (क) सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलबणा पण्णत्ता, तं जहा-खती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। स्थानांगसूत्र ४/१/१२

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

१५६ (क) सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहा पण्णत्ता, तं जहा-अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्पपरिणामाणुप्पेहा असुहाणुप्पेहा अवायाणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र

(आत्मारामजी म) ४/१/१२

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

१५७ आसवदाराए तह संसारासुहाणुभावं च।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च।।

ध्यान शतक गा ८८

१५८ संसारो पच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव भमणो य चउत्था पंचमओ भाव-ससारो।।
बंधदि मुचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णो कम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-सजुत्तो।।
सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिखसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं।।
उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयत।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।।
णेरइयादि-गदीण अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जत।।
परिणमदि सण्णि-जीवो विविह-कसाएहिं ठिदि-णिमित्तेहिं।
अणुभग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव-ससारे।।
एव अणाइ काले पच-पयारे भमेइ ससारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत्त-दोसेण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६६-७२

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६६-७२ की संस्कृत टीका पृ ३७-३९

१५९ पुत्तो वि [illegible] जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।
माया होदि सवत्ती जणणो वि [illegible] होदि भत्तारो।।
एयम्मि भवे एदे सबंधा होंति एय जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्मरहिदाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६४-६५

१६० सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खद असुहं।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होदि णेरइया।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३८

१६१ (क) मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८९

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८९ की टीका

१६२ पयलायत सुसुत्तो नेव सुहं झाइ [illegible] झाणमसुहं वा।

आवश्यक निर्युक्ति गा १४९५

कायिकादि त्रिविध ध्यानं। आवश्यक चूर्णि पृ २१५ (भा २)

१६३ उपासकाध्ययन ३९/७०९-७१०

१६४ (क) तत्त्वार्थवार्तिके ९/२८

(ख) आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पत ।।
प्रशस्तेतर संकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूत शरीरिणाम्।।

ज्ञानार्णव गा १७,२०

(ग) तत्प्रशस्तं मत ध्यानं रौद्राद्यं चाप्रशस्तकम्।

ध्यान दीपिका गा ६७ (गुजराती)

(घ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५ पृ ३५१

(ङ) तत्पुन धर्मध्यानमाभ्यन्तरं बाह्यं च।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८२ की टीका पृ ३६९

(च) मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा।

तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) ४७

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम्।। तत्त्वानुशासन गा ९६

(छ) उपासकाध्ययन ३९/७११

१६५ (क) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा ४ पृ १६६३

(ख) ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषा ध्यानान्यपि त्रिधा। तत्त्वानुशासन गा ४८

१६६ तत्त्वानुशासन गा १०१-१३०

१६७ पिण्डस्थ च पदस्थ च, रूपस्थ, रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नात ध्यानस्यालम्बनं बुधै ।। योगशास्त्र ७/८

१६८ 'पदस्थ मन्त्रवाक्यस्य पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।'
रूपस्थ सर्वचिद्रूप रूपातीत निरंजनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ ३७०

१६९ (क) शुद्धस्फटिकसकाश प्रातिहार्याष्टकान्वितम्।
यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद ध्यानं पिण्ड संज्ञकम्।।

श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५७

(ख) श्रावकाचार संग्रह, भा १ पृ ४१३

(ग) अधो भागमधोलोक मध्यांश मध्यमं जगत्।
. . . .चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम्।

श्रावकाचार संग्रह, भा २, पृ ४५७ (गा १२१-१२३)

१७० (क) पार्थिवी स्यादथाग्नेयी, मारुती वारुणी तथा।
तत्त्वभू पंचमी चेति, पिण्डस्थे पंच धारणा।। योगशास्त्र ७/९

(ख) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाय वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ।। ज्ञानार्णव ३७/३

१७१ (क) योगशास्त्र ७/१०-१२
(ख) ज्ञानार्णव ३७/४-९
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ ३७५
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३ पृ ५१९

१७२ (क) योगशास्त्र ७/१३-१८
(ख) ज्ञानार्णव ३७/१०-१९
(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१९

१७३ (क) योगशास्त्र ७/१९-२०
(ख) ज्ञानार्णव ३७/२०-२३
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१९

१७४ (क) योगशास्त्र, ७/२१-२२
(ख) ज्ञानार्णव, ३७/२४-२७
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१६

१७५ (क) योगशास्त्र ७/२३-२५
(ख) ज्ञानार्णव ३७/२८-३०
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ५ पृ ५१९

१७६ (क) 'पदस्थ मन्त्रवाक्यस्य' ।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र टीका पृ ३७०
(ख) ज झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेष्टिमत पयममल।
एयक्खरादि विविध पयत्थ ज्झाण मुणेयव्व।।
श्रावकाचार सग्रह भा । पृ ४७३

१७७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७०

१७८ (क) योगशास्त्र ८/२-४
(ख) ज्ञानार्णव ३८/२-६
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ३७०-३७१

१७९ (क) योगशास्त्र ८/७-११
(ख) ज्ञानार्णव ३८/७-८
(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका, पृ ३७१

१८० तत सुधासर सूत षोडशाब्जदलोदरे।
आत्मानं न्यस्त पत्रेषु, विद्यादेवीश्च षोडश।।
स्फुरत्स्फटिकभृगार-क्षरत् क्षीरसितामृतै ।
आभिराप्लाव्यमान स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत्।।
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्टिनम्।
अर्हन्त मूर्धनि ध्यायेत्, शुद्धस्फटिकनिर्मलम्।।
तद्ध्यानावेशत 'सोऽह' 'सोऽहम्' इत्यालपन् मुहु ।
नि शकमेकतां विद्याद् आत्मन परमात्मना।।
ततो नीरागमद्वेषम् अमोहं सर्व दर्शिनम्।
सुरार्च्य समवसृतौ, कुर्वाणं धर्मदेशनाम्।।
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थम् अभिन्नं परमात्मना। योगशास्त्र ८/१२-१७

१८१ योगी पंचपरमेष्टि नमस्कार विचिन्तयेत्। योगशास्त्र ८/३२

१८२ (क) योगशास्त्र ८/३३-३४, ४२
(ख) ज्ञानार्णव ३८/५७

१८३ योगशास्त्र ८/४१

१८४ श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४११

१८५ श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४११

१८६ उद्धृत, तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) पृ १०६

१८७ (क) योगशास्त्र ८/६४-५५ एवं स्वोपज्ञभाष्य टीका
(ख) षट् खण्डागम (चउत्थखण्डे वेयणाए) पृ १-१२ (गा. १-४४)
(ग) श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४१२

१८८ उद्धृत, तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) पृ १०६

१८९ योगशास्त्र स्वोज्ञ भाष्य ८/६४-६५ की वृत्ति

१९० योगशास्त्र ८/६६-७१

१९१ स्थितोऽसि आ उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे कुशेशये।
ध्यायमान प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम्।।
श्रावकाचार संग्रह, भा १, पृ ४०९ (गा ३३)

१९२ (क) तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम्।
गुरुप्रसादतो बुध्वा चिन्तनीयं कुशेशयम्।।
अशुम वित्यमी वर्णा स्थिता पद्मे चतुर्दले।
विश्राणयन्ति पचापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिता ।।

श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४०९

(ख) योग शास्त्र ८/७७

१९३ (क) योग शास्त्र ९/१-७

(ख) प्रवचनसारोद्धार गा ४४१-४५० (पृ १०७)

(ग) ज्ञानार्णव ३९/१-३

(घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३७७

(ङ) श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५९

१९४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३७७

१९५ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७७

१९६ (क) अमूर्त्तस्य चिदानन्द-रूपस्य-परमात्मन ।
निरजनस्य सिद्धस्य, ध्यान स्याद् रूपवर्जितम्।। योगशास्त्र १०/१

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७८

(ग) श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५९

१९७ (क) इत्यजस्र स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बन ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहक-वर्जितम्।। योगशास्त्र १०/२

(ख) आकर्षण वशीकार स्तम्भन मोहन द्रुति ।
निर्विषीकरणं शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहा ।
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
तत समरसीभाव – सफलत्वान्न विभ्रम ।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा २११-२१२

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ३७८

१९८ (क) अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते तथा।
ध्यातृ-ध्यानोभयाभावे, ध्येयेवैक्य यथा व्रजेत्।।
सोऽय समरसी भाव तदेकीकरण मतम्।
आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि।। योगशास्त्र १०/३-४

(ख) तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) गा १३७

१९९ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ ३६७

(ख) श्रावकाचार संग्रह, भा १, पृ ४०६

२०० स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३६७-३६९

२०१ (क) योग विंशिका (हरिभद्र) गा २,४,८

उद्धृत, हारिभद्र, योग भारती

(ख) तथा च स्थानादावेकैकस्मिन्निच्छादि भेदचतुष्टय समावेशादेतद्विषया अशीतिर्भेदा संपन्ना।
हारिभद्र योग भारती (मु जयसुदर विजय) टीका पृ ८

२०२ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार, स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) पृ २२५

२०३ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २२५-२३४

२०४ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २४०-२४६

२०५ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २४६

अध्याय ६

ध्यान का मूल्यांकन

ध्यान का आध्यात्मिक मूल्याकन अतत शाश्वत सुख है। किंतु साथ ही साथ ध्यान से शारीरिक और मानसिक विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। क्योंकि शुद्धोपयोग की प्राप्ति चित्त-समाधि से प्राप्त होती है। चित्त समाधि - मन शान्ति चित्त शुद्धि से होती है। चित्त शुद्धि शरीर और मन के स्वस्थ होने पर होती है। तन के स्वस्थ रहने से मन स्वस्थ रहता ही है और मन स्वस्थ रहा तो आत्मोपलब्धि की सिद्धि मिलती ही है। आत्मोपलब्धि = शुद्ध आत्मा का स्वरूप। आत्मा का निज स्वरूप ध्यान के विना निखर नही सकता। कर्मरज को जीव से सर्वथा पृथक् करने की शक्ति ध्यान में ही है। कर्मसयोग से ससार वृद्धि और कर्मवियोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे मैले कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से और कीचड़ का शोधन सूर्य से किया जाता है, वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्म मलादि का शोधन किया जाता है।[१] ध्यानाग्नि ही कर्म इन्धन को जलाने में समर्थ है।[२] यह सारी प्रक्रिया आध्यात्मिक है। इसके अतिरिक्त मानसिक निर्मलता और शारीरिक स्वस्थता में भी ध्यान की प्रक्रिया का विशेष योगदान है। अत ध्यान की प्रक्रिया से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है।

१) ध्यान से शारीरिक लाभ

शरीर की स्थिरता :- शरीर की स्थिरता से चित्त की निर्मलता बढ़ती है। चित्त शुद्धि का सबसे बड़ा मत्र है - शरीर की स्थिरता, और चित्त की अशुद्धि का कारण है शरीर की चंचलता। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने से वैद्य की शरण ली जाती है। वैद्य उसके शरीर की जाच मलमूत्र, नाखून के रग, नाड़ी की गति, श्वास की गति, मुह का स्वाद, जिह्वा एव रक्त परीक्षण आदि से करके रोग का निर्णय लेता है। वैसे ही ध्यानयोगी साधक ध्यान के विविध प्रयोगों से आत्मस्वरूप का ज्ञान करते हैं। इसलिए ध्यान साधक को शरीर-सरचना एव उसकी क्रियाविधि का ज्ञाता होना चाहिए।

साधना का माध्यम 'शरीर' :- जन्म होना ही शरीर का प्रारभ है। जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं। जैनागम में शरीर के पाच प्रकार बताये हैं[३]-औदारिक,

वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें से तैजस और कार्मण शरीर सब ससारी जीवों के होते हैं और आत्मा के साथ उनका अनादि संबध है। ये दोनों शरीर लोक में कही भी प्रतिघात नहीं पाते हैं, वज्र - जैसी कठोर वस्तु भी इन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती है। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश पा सकती है, लोहपिण्डाग्नि की तरह। जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर गलते हैं, वे शरीर हैं। इन पांचों शरीरों का स्वरूप इस प्रकार है - जिस शरीर में हाड, मांस, रुधिर, त्वचा है एवं जिनका सड़न-गलन-पड़न का स्वभाव है, वह औदारिक शरीर है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यंच गति के जीव को होता है। उदार और स्थूल ये दोनों एक ही पर्यायवाची शब्द हैं। प्रधान पुद्गलों से तीर्थंकरादि के शरीर बनते हैं। इस शरीर से ही साधना की जाती है। अत उदार और स्थूल प्रयोजन वाला शरीर ही औदारिक शरीर है। जिस शरीर में हाड़, मास, रुधिर, त्वचा एव सड़न-गलन-पड़न नही होता है, सिर्फ अणिमादि आठ सिद्धिओं के बल से छोटे बड़े आकार करना ही (विक्रिया करना) जिसका प्रयोजन है, वह वैक्रिय शरीर है। यह शरीर देवता और नरक के जीवों को होता है। वैक्रियशरीर उपपात जन्म से पैदा होता है और लब्धि से भी पैदा होता है, किन्तु औदारिक शरीर सम्मूर्च्छन जन्म और गर्भ जन्म से पैदा होता है। जो शरीर सिर्फ चतुर्दशपूर्वधर मुनि के द्वारा सूक्ष्म तत्त्वज्ञान और असयम परिहार के लिये जिसकी रचना की जाती है वह आहारक शरीर है। जो शरीर तेजोमय होने से खाद्य आहार के परिपाक का हेतु तथा दीप्ति का कारण होता है, वह तैजस शरीर है। कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। यद्यपि सब शरीर कर्म के निमित्त से ही होते हैं, फिर भी रूढ़िगत विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। मिट्टी के पिण्ड से उत्पन्न घट, घटी, सकोरा आदि में संज्ञा, लक्षण, आकार आदि की दृष्टि से भेद हैं; वैसे ही औदारिकादि शरीर कर्मकृत होने पर भी लक्षण, आकार और निमित्तादि के कारण परस्पर भिन्न हैं। कार्मण शरीर से ही औदारिकादि शरीर उत्पन्न होते हैं। इनमें कार्य कारण की अपेक्षा होने से कार्मण और औदारिकादि शरीर भिन्न हैं। गीले गुड पर धूलि जम जाती है, वैसे ही कार्मण शरीर पर औदारिकादि शरीरों के योग्य परमाणु, जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं,- आकार जम जाते हैं। इस दृष्टि से भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं। दीपक की भाति कार्मण शरीर औदारिकादि का निमित्त है और अपने उत्तर कार्मण का भी। इस प्रकार कार्मण शरीर निर्निमित्त होने से असत् नही हो सकता। उसमें प्रति समय उपचय-अपचय होता रहता है। उसका अंशत विशरण सिद्ध है, इसलिये वह शरीर है। कार्मण सबका आधार और निमित्त होने से उसका प्रथम ग्रहण होना चाहिए था, किन्तु वह सूक्ष्म है और औदारिकादि स्थूल हैं। पाच शरीर में सबसे अधिक स्थूल औदारिक शरीर है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से सूक्ष्म है और आहारक से तैजस सूक्ष्म है तथा तैजस से कार्मण सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम है। अत्यन्त स्थूल और इन्द्रिय ग्राह्य होने से

औदारिक शरीर को प्रथम ग्रहण किया है। आगे-आगे सूक्ष्मता दिखाने के हेतु से वैक्रियादि शरीर का क्रम है।

स्थूल और सूक्ष्म भाव की व्याख्यानुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है। उन सबका परिमाण एक सा नही होता। परमाणुओं से बने हुए जिन स्कन्धों से शरीर का निर्माण होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं। जब तक परमाणु अलग-अलग रहते हैं, तब तक शरीर नही बन सकता। परमाणुपुज के स्कन्ध से ही शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हुए होते हैं। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धों से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असख्यात गुणा होते हैं। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या में समझना चाहिये । आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या अनतगुण होती है। इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक है। इससे सिद्ध है कि पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर के आरम्भक द्रव्य अधिक-अधिक होते हैं। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण उत्तर-उत्तर शरीर निविड, निबिडतर और निबिडतम बनते जाते हैं तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहलाते हैं।[४] सूक्ष्म शरीर के सहारे ही स्थूल शरीर बनते हैं।

एक साथ एक ससारी जीव में कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर होते हैं। पाच कभी नही होते हैं। जब दो होते हैं तब तैजस और कार्मण कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों सभी ससारी जीवों के होते हैं। यह स्थिति विग्रहगति में पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरी गति के शरीर को प्राप्त करने के लिये होने वाली गति के अतराल में पायी जाती है। क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नही होता है। जब तीन होते हैं, तब तैजस कार्मण और औदारिक या तैजस कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य तिर्यंचों में और दूसरा प्रकार देव नारकों में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक।[५] पहला विकल्प वैक्रिय लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनियों में होना सभव है। किन्तु वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव न होने से पाचों शरीर एक साथ किसी के भी नही होते हैं। प्रथम तीन शरीरों में ही अगादि होते हैं। शेष तैजस कार्मण शरीरों का कोई सस्थान-आकार नही होता है।

बधन नामकर्म के द्वारा लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों की भांति बधने वाले औदारिकादि शरीरों के पुद्गलों का [illegible] में सबध कराया जाता है।[६] जैसे दतालीद्वारा

तृण समूह को एकत्रित किया जाता है, वैसे ही संघातन नामकर्म के द्वारा औदारिकादि शरीर पुद्‌गलों को एकत्रित किया जाता है।[७] शरीर योग्य पुद्‌गलों को सघातन नामकर्म समीप लाता है और उसके बाद बंधन नामकर्म उन्हें उन-उन शरीरों से सबद्ध कराता है। शरीर नामकर्म के उदय से ही पांचों शरीरों का निर्माण होता है।

जैनागम में छह पर्याप्तियों का वर्णन है। उनमें से द्वितीय पर्याप्ति का नाम शरीर पर्याप्ति है। प्रथम आहार लिया जाता है, बाद में शरीर बांधा जाता है। शरीर के बिना इन्द्रियाँ और श्वासोश्वास की क्रिया नही हो सकती। इसलिये ध्यान साधना करने वाले साधक को शरीर तत्र का ज्ञान होना चाहिये। शरीर भी एक बड़ा भारी यत्र है। उसमें हड्डियों की रचना कैसे होती है तथा मनुष्यादि में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियों में विविधता दिखाई देती है, उसका क्या कारण है? भगवान महावीर मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान के बड़े भारी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने केवलज्ञान के आलोक में देखकर शरीर विज्ञान को स्पष्ट किया कि "जिस नाम कर्म के उदय से हड्डियों का आपस में जुड़ जाना अथवा हड्डियों की रचना विशेष को सहनन नाम कर्म कहते हैं।" औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियां नही होती हैं। अत संहनन नाम कर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। संहनन नाम कर्म के छह भेद हैं[८]- १) वज्र ऋषभ नाराच, २) ऋषभ नाराच, ३) नाराच, ४) अर्द्धनाराच, ५) कीलिका और ६) छेवट्ट। प्रत्येक के साथ संहनन नाम कर्म जोड़ लेना चाहिये। इन छह सहननों में प्रथम के तीन सहनन ध्यान के लिये योग्य हैं। अधिकत वज्र ऋषभ नाराच सहनन वाले ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की साधना कर सकते हैं। वज्र, ऋषभ और नाराच - इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न वज्र ऋषभ नाराच पद है। इनमें वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ - वेष्टन-पट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबध है। जिस संहनन में दोनों तरफ से मर्कट बंध से बधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेष्टन (पट्ट) हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की ऐसी रचना -विशेष हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच - संहनन नामकर्म कहते हैं। शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति होती हो, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। उनके छह प्रकार हैं[९]- १) समचतुरस्र-सस्थान नाम कर्म, २) न्यग्रोध-परिमंडल-सस्थान नामकर्म, ३) सादि-संस्थान नाम कर्म, ४) कुब्ज-सस्थान नामकर्म, ५) वामन-संस्थान नामकर्म और ६) हुंड-सस्थान नामकर्म। इनमें सम, चतु, अस्र, इन तीन शब्दों से निष्पन्न समचतुरस्र पद में सम का अर्थ समान, चतु का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हो, यानी आसन और कपाल का अन्तर,

दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कधे और बाये जानु का अन्तर, बाये कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हों, उसे समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, वह समचतुरस्र सस्थान नामकर्म कहलाता है। ऐसी आकृति में ही साधक ध्यान कर सकता है। अत ध्यान प्रक्रिया में शरीर तज्ञ होना जरूरी है। शरीर का ज्ञाता ही उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुया, पलियका, अद्धपलियका आदि विभिन्न आसनों[१०] द्वारा शरीर की चचलता को स्थिर करके मन को एक वस्तु पर स्थिर करता है। जैनेतर ग्रन्थों में भी शरीर के तीन प्रकार मिलते हैं[११]- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इससे सिद्ध हुआ कि साधना का माध्यम शरीर ही है। क्योंकि इसी औदारिक शरीर से केवलज्ञान की प्राप्ति एवं अरिहत सिद्ध बना जा सकता है।

विज्ञान की दृष्टि से शरीर का महत्व :- शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी औदारिक शरीर में ही नाड़ी तत्र, ग्रथि-तत्र, विद्युत् तत्र, श्वसन तत्र, पाचन तत्र, रक्त सचार तत्र आदि अनेक तत्रों का भिन्न-भिन्न कार्य प्रणालियों से सचालन होता रहता है। शरीर में सभी तत्रों का महत्व है। किन्तु नाड़ी तत्र और ग्रथि तत्र का अधिक महत्व है। ये शरीर के सचालक और सदेशवाहक हैं। इसलिए ध्यान साधक को शरीर ज्ञाता होना चाहिये। जैसे तार यत्र शहर के विभिन्न भागों को एक दूसरे से मिलाने का कार्य करता है, वैसे ही नाड़ी तत्र भी शरीर के विभिन्न भागों से लेन देन का कार्य करता है। नाड़ी तत्र के तीन विभाग हैं[१२]- १) त्वक् नाड़ी-मण्डल, २) केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल, और ३) स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल। त्वक् नाड़ी-मण्डल दो प्रकार का कार्य सचालन करता है, जिनके नाम हैं- १) अन्तर्गामी (ज्ञानवाही) और २) निर्गामी (गतिवाही अथवा क्रियावाही)। इन दोनों का कार्य बाह्य उत्तेजना को ग्रहण करना और शरीर में कार्य करने वाली पेशियों का नियत्रण करना है। त्वक् नाड़ी-मण्डल लेन-देन की क्रिया में सतत कार्यशील रहता है।

सपूर्ण नाड़ी-तत्र नाड़ियों का बना होता है। इनमें कुछ नाड़िया छोटी और कुछ बड़ी होती हैं। ज्ञानवाही और क्रियावाही कार्यप्रणाली से वे अपना कार्य करती रहती हैं। नाड़ी के तीन विभाग किये गये हैं[१३]- १) मध्य भाग, जिसे नाड़ी-कोषाणु कहते हैं। २) नाड़ी का छोर, जिसे अक्षतन्तु कहते हैं। ३) नाड़ी का दूसरा छोर, जिसे ग्राहीतन्तु (डेड्राइट्स) कहते हैं। किसी भी प्रकार की उत्तेजना को ग्राहीतन्तु पहले पहल ग्रहण करके नाड़ी-कोषाणु पर पहुंचती है और अक्षतन्तु द्वारा बाहर प्रवाहित होती है। इस प्रकार प्रत्येक नाड़ी में हर समय उत्तेजना का ग्रहण ग्राहीतन्तु द्वारा होता है और उसका प्रवाह बाहर की ओर अक्षतन्तु द्वारा होता है। ग्राहीतन्तु अक्षतन्तु से छोटे होते हैं तथा देखने में वृक्ष के ऊपरी भाग की तरह दिखाई देते हैं। अक्षतन्तु बड़े होते हैं। इसमें इतने फुक्से नहीं होते जितने कि ग्राहीतन्तु में होते हैं। जहां दो नाड़ियां एक दूसरे से (अक्षतन्तु और ग्राहीतन्तु) मिलती हैं,

उस स्थान को साइनाप्स कहते हैं। साइनाप्स की तुलना प्राय. रेल के जंक्शन से की जाती है। साइनाप्स सदा मस्तिष्क और सुषुम्ना में ही होते हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना में एक भूरा पदार्थ होता है। यह नाड़ियों का सूक्ष्म भाग है इसी के अन्तर्गत साइनाप्स रहते हैं। साइनाप्स अन्तर्गामी (ज्ञानवाही) और निर्गामी (क्रियावाही) नाड़ियों के बीच सुषुम्ना और मस्तिष्क के भीतर रहती है। यही साइनाप्स हमारी साधारण और जटिल दोनों प्रकार के क्रियाओं में कार्य करती है। इस प्रकार हमारे शरीर में होने वाली सहज क्रिया (छीकना, खुजलाना, आसू आना आदि) में एव उत्तेजक पदार्थ, इन्द्रिय आदि में ज्ञानवाही नाड़ी, साइनाप्स, गतिवाही नाड़ी और पेशियां काम करती हैं।

नाड़ी तंत्र का दूसरा विभाग है - केन्द्रीय नाड़ी तंत्र। उसके दो विभाग हैं- १) मस्तिष्क-सुषुम्ना नाड़ी तत्र (ऊपरी भाग जहा उसका दिमाग से संबध होता है), २) मस्तिष्क। इसके तीन विभाग किये गये हैं - बृहत् मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और सेतु। अन्तर्गामी नाड़ी किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत उत्तेजना को केन्द्रीय नाड़ी तत्र की ओर ले जाती है। अन्तर्गामी नाड़ियों की इकतीस जोड़ी होती हैं, जो सुषुम्ना में आकर मिलती हैं। प्रत्येक जोड़ी की एक नाड़ी शरीर के दाहिने अंग से और दूसरी नाड़ी शरीर की बांयी ओर से आती है। जब अन्तर्गामी नाड़िया सुषुम्ना से मिलती हैं तो निर्गामी नाड़ियों के साथ एक गट्ठर में बध जाती हैं। गतिवाही नाड़िया किसी भी उत्तेजना का प्रवाह पेशियों और शरीर में स्थित चक्रों की ओर करती हैं। अन्तर्गामी नाड़ियां सुषुम्ना के माध्यम से किसी भी ज्ञान उत्तेजना को मस्तिष्क की ओर ले जाती हैं। सुषुम्ना में प्रवेश होने पर अन्तर्गामी नाड़ी के कई भाग हो जाते हैं। एक छोटे भाग का सुषुम्ना में अन्त होता है और बड़ा भाग मस्तिष्क की ओर चला जाता है। मस्तिष्क तक पहुंचने में देर लगती है, उससे पहले ही सुषुम्ना निर्गामी नाड़ी द्वारा उचित आज्ञा प्रदान कर देती है, जिससे पेशियां अपना कार्य करने लग जाती हैं। सुषुम्ना को शीर्षक कहा गया है। सुषुम्ना शीर्षक सुषुम्ना का सबसे ऊपरी भाग है। इस प्रकार केन्द्रिय नाड़ी तत्र का एक भाग सुषुम्ना नाड़ी है, जो मस्तिष्क में संदेश पहुचाने का तथा वहां से आज्ञा लेकर पेशियों तक पहुंचाने का काम करती है। सुषुम्ना नाड़ी के दो कार्य है सदेश पहुचाना और लाना।

केन्द्रीय नाड़ी तत्र का दूसरा विभाग मस्तिष्क है। इसके तीन विभाग हैं। इन तीनों का ही भिन्न-भिन्न कार्य है। बृहत् मस्तिष्क ज्ञान क्रिया का उत्पादन स्थल है। लघु मस्तिष्क का प्रधान कार्य है विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से संबंध जोड़ना और शरीर में समतोलपना रखना। बृहत् मस्तिष्क दो भागों में बंटा हुआ है। एक दाहिनी ओर है जिसे दक्षिण गोलार्द्ध कहते हैं और दूसरा बांई ओर रहता है, जिसे वाम गोलार्द्ध कहते हैं। लघुमस्तिष्क बृहत् मस्तिष्क के नीचे स्थित है। इसके भी बृहत् मस्तिष्क की तरह दो

विभाग है, जो बहुत से नाड़ी-तन्तुओं के गुच्छों से एक दूसरे से बधे हैं। इन गुच्छों को सेतु कहते हैं। लघुमस्तिष्क एक ओर सुषुम्ना शीर्षक से अनेक नाड़ी तन्तुओं के द्वारा जुड़ा रहता है। इसका मुख्य कार्य विभिन्न उत्तेजनाओं से संबध स्थापित करना और शरीर की क्रिया में समता स्थापित करना। ध्यान का मूल समता है। समता के विना ध्यान हो नही सकता। सेतु लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाये रखता है। बड़े मस्तिष्क से स्नायु-सूत्र सेतु से होकर जाते हैं और यही बड़े मस्तिष्क के दाहिने और बाये गोलार्द्ध से आये सूत्र एक दूसरे को पार करते हैं। जो स्नायु-सूत्र दक्षिण गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के वाम भाग से होते हुए शरीर के वाम भाग की पेशियों तक जाते हैं और यदि कही दक्षिण गोलार्द्ध में कुछ गड़बड़ी हुई तो शरीर के वाम भाग की ऐच्छिक क्रियाए अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी तरह जो स्नायु-सूत्र वाम गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के दक्षिण भाग से होते हुए शरीर के दक्षिण भाग की पेशियों तक जाते हैं। यदि कही गोलार्द्ध में गड़बड़ी हो गई तो शरीर के दक्षिण भाग की गतिया अवरुद्ध हो जाती हैं। ये दोनों ही सम रहें इसलिये उपनिषदों में इडा-पिंगला नाड़ी को ध्यान पद्धति में महत्व दिया है। उपनिषद् में कथन है[१३] कि मेढ्र से ऊपर और नाभि के नीचे वाले केन्द्र में पक्षी के अण्डे की आकार वाली योनि है। उस स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली (उत्पन्न) हैं, उनमें से मुख्यत बहत्तर ही प्रधान हैं। उनमें भी दस प्राण वाहिनी नाड़ियां मुख्य मानी गई हैं, जैसे कि इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शखनी। नाड़ियों का यह महाचक्र योगियों के लिये सदैव ज्ञातव्य है। इनमें इडा बायी तरफ और पिंगला दाहिनी तरफ रहती है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना का स्थान है। गाधारी बाये नेत्र में, हस्तिजिव्हा दाये नेत्र में, पूषा दायें कान में, यशस्विनी बांयें कान में, अलम्बुसा मुख में, कुहु लिंगेद्री में और शखनी मूल स्थान में रहती है। इस प्रकार ये नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न भागों में स्थित हैं। इडा, पिंगला प्राणवाहिनी (मार्ग) में स्थित हैं। इन सभी नाड़ियों में सुषुम्ना ही मुख्य है, क्योंकि वह मन को एकाग्र करने में अग्रन्य है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार किये गये हैं[१४]- इच्छित और अनिच्छित। इन दोनों के क्रमश दो-दो भेद हैं - प्रयत्नात्मक, निष्प्रयत्नात्मक, सहज और बाध्य। इन सबमें सुषुम्ना नाड़ी द्वारा मन को एकाग्र करना है। मन की एकाग्रता, तल्लीनता और तन्मयता ही ध्यान है। मन के स्वस्थ होने पर ही ध्यान लग सकता है। मन की स्वस्थता मस्तिष्क की स्वस्थता पर आधारित है। मस्तिष्क का समतोलपणा ही शरीर के प्रत्येक कार्य प्रवृत्ति में सम्यक् प्रकार से सदेशवाहक का कार्य करता है। इसलिये नाड़ी तंत्र का द्वितीय विभाग मन की स्थिरता में अधिक सहायक है।

नाड़ी तंत्र का तीसरा विभाग है[१५]- स्वतंत्र नाड़ी मण्डल। यह केन्द्रीय नाड़ी मण्डल की ही एक शाखा है। बहुत से नाड़ी-तन्तु सुषुम्ना से मिलकर स्वतंत्र नाड़ी मण्डल में

मिलते हैं। स्वतंत्र नाड़ी मण्डल में बहुत से चक्र अथवा गंड रहते हैं। ये चक्र सुषुम्ना और शीर्षणी नाड़ी से नाड़ीतन्तुओं के द्वारा जुड़े रहते हैं। ये नाड़ी तन्तु गले, सिर और निचले भाग से निकलते हैं। इन चक्रों से दूसरे नाड़ी तन्तु भी निकलते हैं जो शरीर के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। हमारे शरीर में जो ग्रन्थियां हैं, उन्हें योगाचार्यों ने चक्र (सहस्रार, आज्ञा, विशुद्धि, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, मूलाधार चक्र) कहा है। शरीर शास्त्रज्ञ उसे ग्लैण्डस् (गिल्टियाँ) कहते हैं। वे दो प्रकार की हैं - प्रणालीयुक्त गिल्टियां और प्रणालीविहीन गिल्टियां। इनमें प्रणालीयुक्त गिल्टियां रसों को उत्पन्न करके शरीर की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और प्रणालीविहीन गिल्टिया मानसिक उद्वेगों को घटाने-बढ़ाने में सहायक होती हैं जिनके निम्नलिखित नाम हैं- १) कण्ठमणि (चुल्लिका) इससे 'थायराक्सिन रस' निकलता है। २) उपचुल्लिका, ३) पीनियल, ४) पिट्युटरी और ५) एड्रिनल्स, इससे 'एड्रिनलीन रस' निकलता है। ये ग्रन्थियाँ बहि स्रावी और अन्त स्रावी नाम से प्रचलित है। अन्त स्रावी ग्रन्थियों (प्रणालीहीन ग्रन्थियाँ) का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व है। ये ग्रन्थियाँ सीधे अपने स्राव को रक्त में मिश्रित कर देती हैं। ये सवेगात्मक अथवा व्यक्तित्व ग्रन्थियों के नाम से प्रचलित हैं।

ग्रन्थियों का शरीर पर प्रभाव :- ग्रन्थियों के विशेषत: तीन कार्य है -
१) अंत स्रावी रस (हारमोन्स) उत्पन्न करना, २) उत्पन्न रसों को रक्त में मिश्रित करना और ३) समस्त शरीर संस्थान पर नियंत्रण करना। हमारे शरीर में दो ग्रन्थियाँ, पिच्युटरी और एड्रिनल ऐसी हैं कि जिनके द्वारा शरीर पर तनाव पड़ता है। मानसिक आवेगों का प्रभाव इन दोनोंपर पड़ता है। मानसिक तनाव से प्रभावित होकर ये ग्रन्थियाँ दूषित हारमोन्स को रक्त में छोड़ती हैं जिसके फलस्वरूप शरीर में भाँति-भाँति के रोग उत्पन्न होते हैं । जिसके कारण सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक पर कोई नियंत्रण नही रह पाता।[१६] इसलिये ये नाडियाँ अपनी उत्तेजित दशा में क्रोध, भय, घृणा आदि को प्रेरित करती हैं। इस मानसिक तनाव का प्रभाव मस्तिष्क के 'हाईपोथेलेमस 'विभाग पर सर्वप्रथम पड़ता है, जिसके फलस्वरूप पिच्युटरी उत्तेजित होती है। मानसिक तनाव बढता है। इन तनावों को योगप्रक्रिया से ही शान्त किया जा सकता है। योगप्रक्रिया में शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ होने चाहिये । इसीलिये शरीरतन्त्र में स्वतंत्र नाडी-मण्डल का महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वतंत्र नाडी - मण्डल के तीन विभाग हैं[१७]- १) शीर्षणी, २) मध्यम और ३) अनुत्रिका। शीर्षणी भाग अपने आप होने वाली क्रिया आँख के ताल-लेन्स ,पुतली का अंधेरे एव प्रकाश में छोटी बड़ी होना आदि पर नियत्रण करती है। अनुत्रिका सुषुम्ना के निचले छोर के समीप स्थित है। मलमूत्र त्याग में यह कार्यशील रहती है। कामभाव की उत्तेजना में भी यह काम करती है। मध्यम भाग इन दोनों भागों से विपरीत कार्य करता है।

शरीर में स्थित नाड़ी तन्त्र और ग्रन्थितत्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ही ध्यान साधक ध्यान प्रक्रिया द्वारा उन सबको प्रभावित करता है। यहाँ ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति को एकाग्र करना है। आग्ल भाषा में चित्त को माइन्ड (मन) कहा है। शरीर शास्त्र में 'चित्त' को मस्तिष्क का एक विशेष भाग बताया है।

शरीर में आत्मा का निवास होता है। कर्मों के तरतम भाव के कारण आत्मशक्ति पर गाढ़, गाढतर, गाढ़तम आवरण आ जाते हैं। उन आवरणों को दूर करने के लिये ध्यान साधन है और मोक्ष साध्य है। साधन का माध्यम शरीर है। इसलिये आत्मा की अनन्तशक्ति को प्रगट करने के लिये साधना का माध्यम शरीर को माना है। औदारिक शरीर द्वारा ही कर्मों की निरावरण अवस्था होती है। इस अवस्था में ज्ञान के सारे आवरण दूर होते ही केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति करके साधक सिद्धत्व को पाता है।

शरीर पर ध्यान का प्रभाव :- ध्यान साधना का प्रयोजन स्थूल शरीर को भेदकर सूक्ष्म तक पहुचना है। शरीर में प्रतिक्षण प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है, एक पर्याय का उद्‌गम हुआ कि दूसरा पर्याय नष्ट होता है। यह उत्पाद व्यय का चक्र सतत चालू ही रहता है। इस चक्राकार पर्याय के स्त्रोतों का परीक्षण करना ही पर्याप्त नही है, इससे भी आगे बढ़ने के लिये यत्र की सहायता उपयोगी नही होती। अतीन्द्रिय शक्ति को विकसित करने के लिये मानसिक शक्ति का विकास होना जरूरी है। आध्यात्मिक साधना के बल से सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण का निरीक्षण करना है। इनका निरीक्षण करते-करते देव, मनुष्य और तिर्यंच सबधी कितने भी उपसर्ग आये तो भी समभाव की साधना में लीन रहना है। भगवान महावीर की सपूर्ण साधना पद्धति समभाव की ही साधना थी। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक साधना की। उन साधनाकालीन जीवन में भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग - परीषह सहने पड़े। साधना के प्रारभ काल में और साधना के अन्तकाल में ग्वाले का ही उपसर्ग आया। कुर्मारगाम और छम्माणिगाम के बाहर ध्यानस्थ अवस्था में खड़े महावीर पर ग्वालों ने क्रमश रस्सी-से मारा और कानों में खीले डाले, कही-कहीं कास नामक घास की शलाका का भी वर्णन आता है। इन हृदयद्रावक उपसर्ग के कारण शरीर में भयकर वेदना हुई, परतु भगवान महावीर स्वचिंतन में लीन थे। पूर्व कृत कर्मों का फल समभाव की साधना में लीन होकर भोगते रहे।[१८] भगवान महावीर ने जब प्रव्रज्या अगीकार की उस समय शरीर पर सुगन्धित गोशीर्ष चन्दन आदि द्रव्यों के लगाने से मच्छर, कीट, पतग आदि जहरीले जीव जन्तु शरीर को दश देने लगे फिर भी महावीर का ध्यान शरीर की ओर नही था। वे शरीर की साधना नही कर रहे थे, मन को साध रहे थे, जिसके फलस्वरूप वे आत्म ध्यान में लीन थे।[१९] उन्हें सर्दी-गर्मी का भी ध्यान नहीं था। 'हलिद्‌दुग' नामक ग्राम के बाहर 'हलिद्‌दुग वृक्ष' के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े रहे।

कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। यात्रियों ने उसी वृक्ष के नीचे रात्रि में विश्राम लिया और सबेरे सर्दी से बचने के लिये अग्नि जलायी। वे तो सूर्योदय के पहले वहां से चले गये। अग्नि की लपटें महावीर के पैरों तक गई, गोशाला तो आग की लपटों से घबराकर भाग गया पर महावीर ध्यान में ही लीन रहे।[२०] सर्दी गर्मी के अतिरिक्त दंश-मशक, सर्पादि विषैले जन्तु, काक, गीध, तीक्ष्ण चंचुवाले पक्षियों का प्रहार, दुष्ट लोगों का चोर समझकर शस्त्रों का प्रहार, कामातुर स्त्रियों के विविध उपसर्गों को भगवान महावीर ने समभाव से सहन किये। वे जानते थे कि कामभोग विषय वासना किंपाक की तरह विनाशक हैं। इसलिये वे सतत आत्मभाव में लीन रहते थे।[२१]

जब अनार्य देश में महावीर ने विहार किया तो वहा के अज्ञानी व्यक्तियों ने, उन्हें डंडों से मारा-पीटा व अनेक कष्ट दिये। कोई उनका तिरस्कार करते और कोई प्रशसा भी करते, फिर भी वे तो अपने आप में मस्त रहते थे। अनार्य लोगों के असह्य प्रहारों से पीड़ित न होकर समभाव में लीन रहते थे। गीत, नृत्य, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध को देखकर भी वे विस्मित नही होते थे। सदा ध्यानस्थ अवस्था में ही तल्लीन रहते थे।[२२] लाढ देश के अनार्य लोगों ने महावीर के शरीर को तथा नखों और दातों को क्षत विक्षत किया। जंगली कुत्तों द्वारा मास निकाला, लाठियों का प्रहार किया, पत्थरों से मारा, दातों से काटा, कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़ते, फिर भी लाढनिवासियों के ऊपर भगवान महावीर ने तनिक भी क्रोध नहीं किया।[२३] उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे क्षण भर में उनको नष्ट कर सकते थे, और शरीर वेदना को शान्त कर सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग शरीर सुखों के लिये न करके आत्मसुखों की प्राप्ति में किया। शारीरिक कष्टों को कर्म निर्जरार्थ सहन करना ही उनका ध्येय था। उनका ध्यान शरीर पर नही था, आत्मा पर था। जिसका ध्यान आत्मा पर होता है, उसे शरीर से सबधित कष्टों का भान नही होता। वह तो भेदविज्ञान की साधना में मस्त रहता है। महावीर की साधना देह की साधना नही थी, बल्कि आत्मध्यान की साधना थी, जिसके कारण उन्हें 'शूलपाणियक्ष' ने विभिन्न हाथी, पिशाच, सर्प आदि के रूप बनाकर आख, कान, नासिका, सिर, दांत, नख, पीठ इन सप्त स्थानों में दिये गये भयकर उपसर्गों से निर्मित वेदनाएं कुछ न कर सकीं। लोमहर्षक उपद्रवों की लम्बी श्रृखलाओं को, सुमेरू की भाति ध्यान साधना में अडिग रहकर समभाव की साधना से सहते रहे। शूलपाणियक्ष की राक्षसी प्रवृत्ति अन्त में ध्यानयोगी महावीर के सामने झुक गई।[२४] चण्डकौशिक सर्प ने[२५] भगवान महावीर पर विषैली फुंकार फेंकी, पैरों पर दंश पर दश देता रहा, किन्तु वे तो ध्यान में स्थिर थे। पैरों की वेदनाओं की ओर महावीर का ध्यान नहीं था, ध्यान तो आत्मा की ओर था। प्रेमामृत से चण्डकौशिक के विष को शान्त कर दिया। रुधिर के स्थान पर दूध की धार बहने लगी। महावीर की ध्वनि

चण्डकौशिक के कानों में गूजने लगी कि 'चण्डकौशिक शान्त हो, जागृत हो।' ध्यान के प्रभाव से चण्डकौशिक को आत्मज्ञान (जातिस्मरण) हो गया और झुक गया महावीर के चरणों में। दृढ़ प्रतिज्ञा की कि 'आज से किसी भी जीव को सताऊंगा नही, मारूगा नहीं, कष्ट दूगा नही।' महावीर से क्षमादान लेकर वह उसी समय अनशन व्रत (सलेखना) अगीकार करके देह को बाहर और मुह को बांबी में डालकर स्वचिंतन में लीन हो गया। देह का भान भूल गया। लोगों ने गालिया दी, पत्थर मारे, ककड़ फेंके, शक्कर दूध से पूजा की गई फिर भी चण्डकौशिक को कुछ भी नही था। समभाव की साधना में लीन बन गया। शक्कर की मिठास के कारण हजारों चीटियाँ शरीर से चिपक गईं। देह में असीम पीड़ा हुई फिर भी चण्डकौशिक का ध्यान शरीर पर नही था। समभाव की साधना से भयकर शारीरिक वेदना को सहकर, शुभ ध्यान के परिणाम से तिर्यंच मिटकर देव बन गया।[२६] रागादिकल्मष को धोने के लिये ध्यान-जल की ही आवश्यकता है। आत्मज्ञानी तप-संयम के योग से समस्त कल्मषों को धो डालते हैं।[२७] यह सब ध्यान का ही प्रभाव है। देह में उत्पन्न वेदनाओं को सहने की ताकद ध्यान से ही प्राप्त होती है। कटपूतना का शीत परीषह भगवान महावीर ने समभाव की साधना से सहन किया तो परमअवधि ज्ञान को प्राप्त कर गये।[२८]

दृढ़भूमि के पेढाल उद्यान के 'पोलास' चैत्य में अष्टम तप की आराधना से एक पुद्‌गल पर दृष्टि केन्द्रित करके भगवान महावीर ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय स्वर्ग में शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से उपयोग लगा कर देखा। अपने सभामण्डप में स्थित देव देवियों के सामने महावीर की साधना की प्रशसा की। इस प्रशसा को सुनकर सगम नामक देव उनकी कसौटी (परीक्षा) करने निकल पडा। जहा महावीर ध्यानस्थ थे वहा आया। एक से एक बढ़कर उपसर्गों का जाल बिछाने लगा। शरीर के रोम-रोम में भयकर वेदनाए उत्पन्न कर दी, फिर भी महावीर चलाययमान नही हुए। किंचित् भी प्रतिकूल उपसर्गों से चलायमान नही हुए देखकर सगम उन्हें अनुकूल उपसर्ग देने लगा। सौन्दर्यसम्राज्ञी नारियों के हाव भाव से भी वे विचलित नही हुए। बल्कि सुमेरू की तरह महावीर ध्यान में स्थिर थे। संगम के मन में शाति नही थी। इसलिए एक रात्रि में महाभयंकर बीस उपसर्ग दिये, जो निम्नलिखित हैं-

१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की जिसके कारण महावीर के कान, नेत्र, नाक आदि में भयंकर वेदनाएं हुईं।

२) वज्रमुखी चींटियां उत्पन्न की। उन्होंने महावीर के शरीर को काटकाट कर खोखला बना दिया।

३) मच्छरों का झुण्ड महावीर पर छोड़ा। वे खून पीने लगे।

४) तीक्ष्णमुखी दीमकें उत्पन्न की। वे महावीर के शरीर को कांटने लगी।

५) जहरीले बिच्छुओं की सेना महावीर पर छोड़ी। वे डंख देने लगी।

६) नेवले उत्पन्न करके शरीर पर छोड़े। वे शरीर में स्थित मांसखण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

७) भीमकाय विषधर सर्प उत्पन्न किये। वे महावीर को पुन: पुन: कांटने लगे।

८) चूहे उत्पन्न करके महावीर के शरीर पर छोड़े। वे तीक्ष्ण दातों से उन्हें कांटने लगे। कटे घाव पर मूत्र करते थे।

९) लम्बी सूड वाले हाथी बनाकर, आकाश में पुन पुन उछाला, नीचे गिराया, पैरों से रोंदा और उनकी छाती में तीक्ष्ण दातों से प्रहार किया।

१०) हाथी की भाति हथिनी बनाई, उसने भी महावीर को अनेक कष्ट दिये।

११) बीभत्स पिशाच का रूप बनाया। पैनी बर्छी से मारा।

१२) विकराल व्याघ्र का रूप बनाकर महावीर के दांतों और नखों को बिदारा।

१३) माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ का रूप बनाकर करुण क्रन्दन करने लगा।

१४) दोनों पैरों के बीच अग्नि जलाकर भोजन पकाने की चेष्टा की।

१५) चाण्डाल का रूप बनाकर महावीर के शरीर पर पक्षियों के पिंजरे लटकाये। उन्होंने अपने पंजों और चोंच से महावीर पर प्रहार किये।

१६) आधी का रूप बनाया। उसमें महावीर को कई बार गगन में उड़ाया और नीचे गिराया।

१७) कलकलिका (चक्राकार) वायु उत्पन्न की। उसमें महावीर को चक्र की भांति घुमाया।

१८) कालचक्र बनाया। महावीर जमीन में घुटनों तक धंस गये।

१९) देव बनकर महावीर के पास आकर बोलने लगा कि "स्वर्ग चाहिये या मोक्ष"।

२०) अप्सरा का रूप बनाया। विभिन्न हाव भाव और विभ्रम-विलास से महावीर को विचलित करने का प्रयत्न किया।

एक रात्री के बीस उपसर्ग से भी महावीर विचलित नही हुए। इस प्रकार सगम[२१] लगातार छह मास तक महावीर को कष्ट देता रहा। महावीर परीषह – उपसर्ग को समभाव

से सहते रहे। शरीर में मारणातिक वेदना होनेपर भी सहन करने की ताकद ध्यानवल से ही प्राप्त हुई। ध्यान बल का प्रभाव यह हुआ कि शरीर पर दारुण कष्ट आने पर भी सहने की दिव्य शक्ति प्राप्त हुई। महावीर को ध्यानस्थ अवस्था में अड़िग देखकर मिथ्यादृष्टि देव सगम भी महावीर के चरणों में झुक गया। क्षमा मागी और अपने स्वस्थान को चला गया। दिव्यशक्ति की ही अत में विजय होती है। शारीरिक वेदनाओं और कष्टों को सहन करने की शक्ति भी ध्यानवल से ही प्राप्त होती है।

उपसर्ग तीन प्रकार के माने जाते हैं। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। दीर्घकालीन तपोयोग की साधना में महावीर को अनेक उपसर्ग और परिषह सहने पड़े। उनमें अनुकूल, प्रतिकूल उपसर्ग आये। किन्तु उन सवमें कानों से कील निकालने का उपसर्ग सवसे अधिक कष्टप्रद था। महावीर के जीवन में यह उत्कृष्ट उपसर्ग था। शेष सव जघन्य और मध्यम थे। इन तीनों प्रकार के उपसर्गों में महावीर ने समभाव रखकर वहुत सी कर्म निर्जरा कर दी।

ध्यान से यही लाभ है कि शरीर का ममत्व हटकर समत्व की प्राप्ति होती है। महावीर ने अपने साधनाकालीन जीवन में देह का निरीक्षण न करके आत्मा का निरीक्षण किया था। आत्मा को देखने की प्रक्रिया लोकभाषा में अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। अन्तर्मुखी प्रक्रिया शरीर के द्वारा ही हो सकती है और वह भी औदारिक शरीर द्वारा।

ध्यान के प्रभाव से योगी पुरुष की विष्ठा भी रोग नाशक बनती है। सभी देहधारियों का मल दो प्रकार का होता है। १) कान, नेत्रादि से निकलने वाला और २) शरीर से निकलनेवाला मलमूत्र, पसीना आदि। ध्यान के बल से यह दोनों प्रकार का मल रोगियों के समस्त रोगों का नाशक होता है। वैसे ही योगियों के शरीर के नाखून, बाल, दात आदि विभिन्न अवयव भी औषधिमय बन जाते हैं। इसके लिए आगम में 'सर्वौषधिलब्धि' शब्द का प्रयोग मिलता है। मानव जीवन में स्थित पाँचों इन्द्रियों में से किसी भी एक इन्द्रिय के द्वारा समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना भी योगजनित (ध्यानजनित) अभ्यास का ही सुफल है। इसके लिए आगम में 'सभिन्न स्रोतलब्धि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ध्यान के बल से शरीर में अनेक लब्धिया उत्पन्न होती हैं, किन्तु ध्यानयोगी उसका प्रयोग नही करते हैं।[१] सनत्कुमार चक्रवर्ती[२] के शरीर में सोलह-सोलह महारोग उत्पन्न हुए। खुजली, सूजन, बुखार, श्वास, अरुचि, पेट में दर्द, आँखों में भयकर वेदना आदि व्याधियाँ, सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में सात सौ वर्ष तक रही। मारणातिक वेदनाओं को समभाव से सहन करने के कारण उन्हें लब्धियाँ प्राप्त हो गई। इन्द्र द्वारा की गई प्रशसा को सुनकर 'विजय' और 'वैजयन्त' देव वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार चक्रवर्ती के पास आये और बोले कि हम दोनों वैद्य हैं। आप रोग से क्यों दु खी होते हो? तब चक्रवर्ती ने कहा कि

जीव को दो प्रकार के रोग होते हैं। द्रव्यरोग और भावरोग। क्रोधादि भाव रोग हैं, जो शरीरधारी आत्माओं में होते हैं। अनन्तानन्त जन्मों तक ये दु ख देने वाले होते हैं। यदि आपके पास भाव रोग को मिटाने की दवा हो तो दीजिए। द्रव्य रोग मिटाने की दवा तो मेरे पास भी है। मवाद से भरी अगुली पर कफ का लेप करते ही वह कचन सी चमकने लगी। भावरोग को मिटाने की दवा देव के पास नही है। वह है ध्यानयोगी साधक के पास ही। धर्मध्यान की प्रक्रिया से अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती है। जिनका वर्णन आगे करेंगे।

पिण्डस्थ ध्यान की साधना करनेवाले योगी को दुष्ट विद्याएँ, उच्चाटन, मारण, स्तभन, विद्वेषण, मन्त्रमण्डल, शक्तियाँ आदि कुछ भी हानि नही कर सकती। शाकिनिया, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मास भक्षी दुष्ट व्यक्ति उसके तेज को सहन नही कर सकते। वे स्वय तत्काल ही त्रस्त हो जाते हैं। हिंसक प्राणी जैसे कि दुष्ट हाथी, सिंह, शरभ, सर्प आदि जीव भी दूर से ही स्तंभित होकर खड़े हो जाते हैं। उसके शरीर को तनिक भी कष्ट नही दे सकते हैं।[३३]

मातृका ध्यान करने से क्षय रोग, भोजन में अरुचि, अग्नि-मंदता, कुष्टरोग, पेट के रोग, खासी, दम आदि पर साधक विजय प्राप्त कर सकता है और मृदुभाषी बनता है। तथा ज्ञानियों द्वारा पूजा, सत्कार, परलोक में उत्तम गति और श्रेष्ठपद को प्राप्त कर सकता है।[३४]

ध्यान से शरीर की काति, मुख की प्रसन्नता, स्वर में सौम्यता तथा ग्रैवेयक आदि वैमानिक देवों की शरीर सम्पदा प्राप्त करते हैं। वहाँ पर विघ्न बाधा-रहित अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते रहते हैं। अनुपम शरीर सम्पदा ध्यान बल से ही प्राप्त होती है। देवलोक से च्युत होनेपर भूतल पर भी उन्हें उत्तम शरीर प्राप्त होता है। ध्यानयोगी साधक गृहस्थवास में रहकर भी विविध प्रकार के भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगते हुए[३५] शाश्वत पद (निर्वाण पद) को प्राप्त करते हैं।

रक्ताभिसरण चिकित्सा के अनुसार शरीर के चार विभाग किये जाते हैं। १) मेरुदण्डविभाग, २) श्वसन विभाग, ३) अस्थि सस्थान विभाग और ४) पाचन विभाग। इन सब पर ध्यान प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। आमाशय, अन्ननली, हृदय, फेफड़े, धमनियाँ, शिराएँ इन सबका सबध श्वसन तत्र से है। नाक, श्वासनली तथा फुप्फुस का सीधा सबध मस्तिष्क से है। आमाशय का मस्तिक में स्थित 'ओटोनोमिक केन्द्र' से सीधा सबध है। इस केन्द्र के दो विभाग हैं - सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक। ये दोनों विभाग (भाग) उदर का सचालन करके पाचन रस उत्पन्न करते हैं। ध्यान प्रक्रिया भी मस्तिष्क को समतोल रखकर शरीर के सभी कार्यों का सचालन करके उन्हें प्रभावित

करती है। शरीर में कार्बनडाइऑक्साइड की मात्रा अधिक बढ़ जाने पर ध्यानप्रक्रिया ऑक्सीजन को बढ़ा देती है। ध्यान बल से ही शरीर में ओजस्विता, तेजस्विता आती है।

शरीर के लिए आहार की मात्रा : ध्यान साधना में शरीर स्वस्थता आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध आहार जरूरी है। अल्प आहार करनेवाला ही ध्यान कर सकता है। अनासक्त भाव से सब दोषों को टालकर रूखा-सूखा आहार करनेवाला योगी आत्मज्ञानी हो सकता है। आधाकर्मी आहार कर्मबधन का कारण है। इसीलिए महावीर ने उसे ग्रहण न करके शरीर को टिकाये रखने के लिए दीर्घ साधनाकालीन जीवन में थोड़े दिन ही शुद्ध आहार किया। आत्म बल को बढ़ाने के लिए तपाहार अधिक किया। ध्यान तप का अग है। उच्चकोटि का साधक ही ध्यान का सतत आहार कर सकता है। अन्य साधक के लिए भगवान महावीर ने निर्दोष आहार की प्ररूपणा की। हितकारी, मितकारी और अल्पाहारी साधक ध्यान आसानी से कर सकता है। ध्यान साधक के लिए छह कारणों से आहार करने को कहा है। १) क्षुधावेदनीय के उपशमनार्थ, २) वैयावृत्यर्थ, ३) ईर्याशोधनार्थ, ४) सयमपालनार्थ, ५) प्राणसधारणार्थ और ६) धर्मचिन्तार्थ।[३६] जैनेतर ग्रन्थों में पथ्याहार और मिताहार का वर्णन है।[३७] जितेन्द्रिय और स्वादविजेता साधक का शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थ शरीरवाला ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कर सकता है।

शुद्ध आहार के प्रभाव से कण्ठमणि "थायरॉक्सिन' रस का उत्पादन करती है, जिससे सारा शरीर प्रभावित होता है। यह रस शरीर वृद्धि में लाभदायक है। यह अमृत का काम करता है। एड्रिनल ग्रन्थि से 'एड्रिनलिन' रस निकलता है जिससे शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है। थायरॉक्सिन और एड्रिनलिन रस की भाति ही ध्यान भी शारीरिक स्फूर्ति में अमृत का काम करता है।

ध्यान से मानसिक और आध्यात्मिक लाभ : ध्यान कराया नही जाता वह अनुभूति का विषय है। महावीर ने अपने सम्पूर्ण साधना विधि (प्रक्रिया) का परिचय ध्यान शद्ब से न देकर 'समता' (सामायिक) शद्ब से दिया है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। प्रशस्त ध्यान से केवल सम्य्य ही स्थिर नही होता, किन्तु कर्मसमूह से मलिन बना जीव भी शुद्ध होता है।[३९] इसलिए ध्यान किया नही जाता वह फलित होता है तथा हमारे शारीरिक, मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है। इसके लिए चित्तशुद्धि परमावश्यक है। जो चित्तशुद्धि के बिना ही ध्यानावस्था लाना चाहते हैं, वे ध्यान की विडम्बना करते हैं। आसन जमाकर सीधे बैठना, रीढ़ की हड्डी को सीधे रखना, एकाग्रता की दशा में यह सब प्रयत्न आवश्यक (जरूरी) हैं। किन्तु इन अभ्यास के साथ चित्तशुद्धि, व्यवहारशुद्धि, विचारशुद्धि, आचारशुद्धि, व्यापार (योग)

शुद्धि, दैनिकचर्याशुद्धि और आहारशुद्धि मानसिक आध्यात्मिक लाभ के लिए परमावश्यक हैं। ध्यान प्रक्रिया तब ही विकसित होगी जब इन प्रक्रिया की सिद्धि होगी। जानना, देखना और प्रवृत्ति करना - इन तीन शब्दों को जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र कहा है। मानसिक और आध्यात्मिक साधना का स्वर यही रहा है कि मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को जानो, देखो और अनुभव करो। मानसिक तनावों के विसर्जन के लिए भावना अनुप्रेक्षा का आलंबन लिया जाता है। मन की मलिनता जैसे-जैसे दूर होती जाती है वैसे-वैसे ध्यान का क्रमिक विकास होता जाता है। मानसिक मनोविकारों का मूलहेतु मन की मलिनता ही है।

पहले बताया गया है कि 'थायरॉक्सिन रस और एड्रिनलिन रस' शरीर वृद्धि एवं स्फूर्ति में लाभदायक है वेसे ही मानसिक और आध्यात्मिक विकासक्रम में ज्ञान और क्रिया मोक्षदायक है। इन दोनों क्रिया के बिना ध्यान साधा नहीं जाता। ध्यान प्रक्रिया से कषायों का शमन होता है। कषायों का सर्वथा शमन (क्षय) ही मोक्ष है[४०]।

ज्ञानियों का कथन है कि कर्मों का शमन मन की स्थिरता पर आधारित है। जितनी मन की स्थिरता बढती है, उतनी ही ध्यानावस्था दृढ होती है। ध्यान अन्तर्निरीक्षण की प्रक्रिया है। कषायों की ग्रन्थि को तोड़ने की विशिष्ट प्रक्रिया है। उसके लिए मानसिक शक्ति आवश्यक है। शारीरिक शक्ति की सबलता ही मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कराती है। वज्रऋषभनाराच संहननवाला ही उत्कृष्ट कोटि का शुक्लध्यान कर सकता है। यह योग्यता जीवात्मा में ग्रन्थिभेद के बाद ही होती है, चाहे फिर वह चोर हो, डाकू हो, राजकुमार हो, पल्लीपति हो या अन्य कोई भी नीच आत्मा हो, उन सबको मोक्ष का पासपोर्ट मिल ही जाता है।

जैनागमों के बत्तीस आगम को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है। इन चारों ही अनुयोगों के माध्यम से एवं ध्यान बल से साधक मानसिक और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करता है। कौशाम्बीनगरी के राजा प्रभूत धन सचय के पुत्र के देह में दाहजन्यवेदनाएं उत्पन्न हुईं। पूरे शरीर में वेदनायें थी। वेदना को शात करने के लिए मंत्र तंत्रवादियों को बुलाया गया, किन्तु कोई इलाज नही हुआ। वैद्याचार्य आये। दाह शात करने का प्रयत्न किया पर सब व्यर्थ। जब राजकुमार ने सोचा कि माता-पिता, परिवार, मत्र, तंत्र, वैद्य कोई भी इस दाह रोग को शान्त करने में समर्थ नही बने, तब मानसिक चिन्तन बढ़ गया। दाहजन्य रोग को दूर करने के लिए रामबाण औषधि मिल गई - संयमवृत्ति अंगीकार करना। राजपुत्र अनगार बनकर अनाथीमुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये। ध्यान का बल इतना तीव्र बढ़ा कि दाहजन्य रोग तो मिटा ही, साथ ही साथ कर्मजन्य रोग को भी मिटा दिया[४१]। ध्यान का फल आत्मा को आत्मा से जीतना है। नमिराजर्षि ने आत्मा से आत्मा

के साथ युद्ध किया था। कर्मवैरी से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए श्रद्धानगर, तपसंवर-अर्गल, क्षमा-प्राकार (कोट), मनोगुप्ति-खाई, वचनगुप्ति-अट्टालक, कायगुप्ति-शतघ्नी इन सबको सर्वप्रथम तैयार करके पराक्रम-धनुष में ईर्यासमिति-जीवा-प्रत्यचा को स्थापित करके धृति-केतन (धनुष का मध्य) द्वारा सत्य से धनुष को बाधकर तप बाण से कर्मों को भेदन कर ससार से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। दुर्जय सग्राम में दस लाख सुभट को जीतने की अपेक्षा एक आत्मा को जीतनेवाला बलशाली योद्धा है। उसकी विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है।[४२] आगम का कथन है कि "तू आत्मा से ही युद्ध कर। तेरे लिए बाहर के युद्ध क्या काम के? आत्मा को आत्मा से जीतना ही सच्चा सुख है। एक मन को जीतनेवाला पाँच (इन्द्रियाँ) को जीत सकता है। पाँच को जीतनेवाला दस (पाँच इन्द्रियाँ, मन,चार कषाय) को आसानी से जीत सकता है"।[४३] मन का निग्रह करना ही अत्यत कठिन है। मन का निग्रह ही आत्म विजय है। "जिसने एक को जीता, उसने सबको जीता और जिसने सबको जीता उसने एक को भी जीत लिया"।[४४] विषय विकार और कषाय को जीतना दुर्जय न बताकर एक मात्र मन (आत्मा) को जीतना ही दुर्जय कहा है। ध्यान प्रक्रिया में मन को जीतना ही मुख्य है। भरतचक्रवर्तीने मन को जीत लिया था जिसके कारण अरिसा भवन में देह का निरीक्षण करते-करते आत्मा का निरीक्षण करने लग गये। परिणामस्वरूप मानसिक विचारधारा तीव्र बढ गई। आध्यात्मिक श्रेणी क्षपक श्रेणी पर चढ़कर उसी भवन में केवलज्ञान की प्राप्ती कर ली।[४५] मरुदेवी माता ने ध्यान बल से हाथी के हौदे पर ही पूर्वसचित कर्मइन्धन को जलाकर भस्म कर दिया और केवलज्ञान पा लिया।[४६] दृढ़ प्रहारी, हिंसक, चोर का हृदय, गर्भवती स्त्री के गर्भस्थ बालक के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर देने पर उन्हें तड़फते हुए देखकर, काप उठा। करुण क्रन्दन से दृढप्रहारी का हृदय परिवर्तन हो गया। मानसिक चिन्तनधारा बदल गई, पश्चात्ताप के नीर से स्व को निर्मल बनाने लगे और दुष्कृत कर्मों की गर्हा करने लगे। जिसके फलस्वरूप समस्त कर्मराशि को ध्यानाग्नि से जलाकर केवलज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।[४७] यह सब ध्यान का ही फल है। चिलातीपुत्र[४८] धन्नासार्थवाह की कन्या सुषुमा के सिर को लेकर आगे बढ़ा। वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में मुनि को देखा। मुनि ने उसकी योग्यता जानकर बोध में तीन पद दिये-"उपशम, विवेक और सवर"। इन त्रिपदी से चिलाती चोर से मुनि बन गया। मानसिक चिन्तन बढ गया कि "आज से मैं कषाय उपशम के लिए क्षमादि गुणों में वृद्धि करूगा, समता की आराधना करूगा, धन धान्य सुषुमा के सिर आदि का त्याग करके ज्ञान-विवेक का दीपक प्रज्वलित करूगा, विषय विकारों से इन्द्रिय और मन को निवृत्त करके संवर की साधना करूगा"। यह उनकी दृढ प्रतिज्ञा थी। देह भान भूलकर चिलाती अनगार आत्मा के साथ युद्ध करने लग गये। चिन्तन की गहराई बढ

गई। मन आत्म-चिन्तन में एकाग्र बन गया। समाधिभाव और निश्चलता प्राप्त हो जाने के कारण चिलातीमुनि के शरीर पर चीटियों ने सैंकड़ों केन्द्र कर डाले फिर भी उन्हें भान नहीं रहा। चीटियों का असह्य उपसर्ग शरीरपर आने पर भी वे सुमेरू की भांति ध्यान में स्थिर रहे। ढाई दिन तक इस घोर उपसर्ग को समभाव से सहन किया तो देवपद पा गये।

ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति चिलातीमुनि को हुई। ध्यान का माहात्म्य अपरम्पार है। उसके बल से अनेकों को नही, करोड़ों का कल्याण हुआ है।

ध्यान का मानसिक और आध्यात्मिक फल संवर और निर्जरा है। जीव में संवर निर्जरा की अवस्था भावों को निर्मल (शुद्ध) बनाने से प्राप्त होती है। भावों की निर्मलता रगों के ध्यान से प्राप्त होती है।

रंगों का ध्यान : आगमग्रन्थ में पाँच रंग का वर्णन है।[४९] कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और श्वेत इन पाँच रगों का समायोजन पंच परमेष्टि पद के साथ किया गया है। "णमो अरहंताण" के साथ श्वेत वर्ण का "णमो सिद्धाण" के साथ लोहित (लाल) वर्ण का, "णमो आयरियाण" के साथ हारिद्र (पीले) वर्ण का, "णमो उवज्झायाणं" के साथ नीले वर्ण का और "णमो लोए सव्व साहूण" के साथ कृष्ण (काला) वर्ण का समावेश किया गया है।[५०] प्रत्येक वर्ण (रग) के दो-दो भेद हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त। पच परमेष्टि पदों के साथ जिन वर्णों की कल्पना की गई है, वहाँ प्रशस्त वर्ण से संबध है। ध्यान साधना में प्रशस्त वर्ण को ही लिया गया है। मुख्यत ध्यान प्रक्रिया में तीन रग को लिया गया है। लाल, पीला और श्वेत। तीन प्रशस्त लेश्या के रग भी ये ही हैं। यथा तेजो लेश्य का रग लाल है, पद्मम लेश्या का रंग पीला है और शुक्ल लेश्या का रग श्वेत है। लेश्या का अर्थ वृत्ति में आणविक आभा, काति, प्रभा और छाया किया गया है।[५१]

भारतीय परपरा के त्रिधारा के सन्यासियों के वस्त्रों का रंग भी साधनानुसार ही रखा गया है। वैदिक (हिन्दू) परम्परा के सन्यासियों को गैरिक (लाल) वस्त्र धारण करने का विधान है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए पीले वस्त्र का विधान है और जैन मुनियों के लिए श्वेत वर्ण का विधान है। पीला रंग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है और श्वेत रंग समाधि का प्रतीक है। श्वेत वर्ण विचारों की पवित्रता का भी प्रतीक है। रगो के साथ मनुष्य के मन का और उसके शरीर का घनिष्ट सबध है। मानव शरीर इन्द्रिया, मन के पुद्गलों से निर्मित है। शरीर में स्थित आत्मा मन को आदेश देता है और उन आदेशों को मस्तिष्क में पहुँचाता है। मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सारे शरीर में सन्देश पहुँचा देता है। पुद्गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से निर्मित है। इससे सिद्ध है कि मन के अध्यवसाय (लेश्या) के अनुसार ध्यानावस्था स्थिर होती है।

वर्ण के साथ हमारे शरीर का गहरा सबध रहा है। शारीरिक स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य, मन की स्थिरता, अस्थिरता, आवेगों की कमी या वृद्धि इन रहस्यों पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के रगों का चुनाव करते हैं? नीले रग की कमी के कारण गुस्सा अधिक बढ़ता है। उसकी पूर्ति होते ही क्रोध शान्त हो जाता है। पीले रग की कमी से ज्ञानतन्तु निष्क्रिय बन जाते हैं। इसलिए तो "णमो आयरियाण" पद का ध्यान मस्तिष्क में पीले रग में करने के लिए कहा है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि शरीर में क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है, तो उसकी आकृति बदल जाती है। स्थिर मन से पीले रग का मस्तिष्क में ध्यान करते ही ज्ञानतन्तु शान्त हो जाते हैं और मन स्वस्थ बन जाता है। श्वेत वर्ण की कमी से शरीर में अस्वस्थता बढ़ जाती है और लाल वर्ण की कमी के कारण आलस्य और जड़ता बढ़ती है। काले वर्ण की कमी होने पर प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है। शरीर से सबधित इन सारी कमियों को पच परमेष्टि पद के रगानुसार ध्यान करने से दूर किया जा सकता है। इसलिए भगवान महावीर ने महामत्र नमस्कार मत्र के साथ पाचों ही रग को जोड़ दिया है।

"णमो अरहताण" का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ करें, क्योंकि मस्तिष्क में धूसर (ग्रे कलर) रग का एक द्रव पदार्थ है। जो समूचे ज्ञान का संवाहक है। पृष्ठरज्जु में भी वह पदार्थ है। मस्तिष्क में "अर्हत्' का श्वेत वर्ण से ध्यान करने पर ज्ञानशक्ति जागृत होती है और स्वास्थ्य लाभ होता है।

"णमो सिद्धाण" पद का ध्यान लाल रग से भृकुटी में करने से आन्तरिक शक्ति जागृत होती है। पिच्युटरी ग्लैण्ड और उसके स्रावों को नियत्रित करने के लिए लाल वर्ण अधिक महत्वपूर्ण है।

"णमो आयरियाण" पद का पीले वर्ण से हृदय में ध्यान करने पर मन की सक्रियता बढ़ती है। मन स्थिर होता है। मन की स्थिरता ही ध्यान की अवस्था है।

"णमो उवज्झायाण" पद का ध्यान 'नाभि' में नीले वर्ण से करें। नीला रग शान्तिप्रदाता है। इस रग का 'नाभि' में ध्यान करने से समाधि प्राप्त होती है। समाधिभाव के कारण कषायों का शमन होता है। अत यह रंग आत्म साक्षात्कार कराने में सहायक है।

"णमो लोए सव्वसाहूणं" पद का ध्यान काले रंग से 'चरणों' में करें। काला रंग अवशोषक होता है। 'साहू' पद का काले रग में ध्यान करने से कषायों का शमन और इन्द्रियों का दमन होता है। ध्यान प्रक्रिया में इन दोनों का शमन, दमन करना ही मुख्य है। साधु ससार तारक होते हैं। उनके चरणों की शरण लेने से भव सागर आसानी से पार किया जा सकता है। इसलिए आगम कथित पाचों रगों के साथ पच्च परमेष्टि पदों का ध्यान करने से मानसिक शक्ति बढ़ जाती है।[५२]

वैज्ञानिकों ने भी परीक्षण करके सिद्ध किया है कि रंगों का प्रकृति, शरीर और मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। लाल, नारगी, गुलाबी एवं बादामी रंगों से मानव प्रकृति में उष्मा बढती है। पीले रंग से भी उष्मा बढ़ती है। किन्तु उनकी अपेक्षा कम। नीले और आसमानी रंग से मानव प्रकृति में शीतलता का सचार होता है। हरे रग से शीतोष्ण सम रहता है और श्वेत रंग से प्रकृति सदा सम रहती है। प्राकृतिक दृश्यों में भी ये रंग दृष्टिगोचर होते हैं।[५३] रगों की आभा से मन प्रसन्न हो जाता है। जैनागम के कथनानुसार रगों का (वर्णों का) सबध लेश्या के साथ लिया गया है। शुभ लेश्या में ध्यान करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत- रंगों का प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर गहरा पड़ता है।

यह स्मरण रहे कि शुद्धि-अशुद्धि का आधार एकमात्र निमित्त ही नही, बल्कि निमित्त और उपादान दोनों ही हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के अशुभ पुद्‌गल हैं। शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत, श्वेत वर्ण के लेश्या के पुद्‌गल हैं। जैसे-जैसे कषाय की मन्दता होती है वैसे-वैसे भावों की शुद्धि होती जाती है और सवर निर्जरा में वृद्धि होती जाती है।

आज के विज्ञान ने शरीर और मन की चिकित्सा के लिये अनेक पद्धतिया प्रचलित की हैं, जैसे कि नैचरोपैथी, होम्योपैथी, एलोपैथी, हाइड्रोपैथी, इलेक्ट्रोपैथी, एवं मेन्टल हीलिंग, डिवाइन हीलिंग, फीलिंग चिकित्सा, सेल्फ हिप्नोसिस, आटो सजेशन, मंत्र-तंत्र चिकित्सा, फास्टिंग थेरेपी आदि अनेक चिकित्सा पद्धतियां हैं जो सिर्फ शरीर और मन की बीमारियों को चिकित्सा द्वारा दूर करते हैं। ये सारी चिकित्सा पद्धतिया आत्मा के रोग को दूर नही कर सकती हैं। उसके लिये तीर्थंकरों ने आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति प्रचलित की है- जिसका नाम है 'ध्यानयोग'। यह पद्धति शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को रोगों से दूर करती है। तन की स्वस्थता, मन की स्थिरता और आत्मा की निर्मलता ध्यानयोग चिकित्सापद्धति से प्राप्त होती है।

ध्यान और लब्धियाँ

आगम ग्रन्थों में आत्मशोधन की प्रक्रिया के लिये दो ही साधन बताये हैं - ज्ञान और ध्यान, उपशमन और क्षपन। जैसे-जैसे ज्ञानावरण के आवरण एवं कषाय उपशम होती है वैसे-वैसे ध्यान में स्थिरता आती है। उपशमश्रेणी और क्षपक श्रेणी ध्यान के लिये मुख्य बताई गयी हैं। ये दोनों ही श्रेणियां आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर आगे के गुणस्थानों में विकास पाती हैं। उपशम श्रेणी ग्यारहवें गुणस्थान तक ही रहती है। परन्तु क्षपक श्रेणी आगे बढ़कर साधक को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति कराके मोक्षप्रदान कराके

ही रहती हैं। आत्मनियत्रण और आत्मशोधन पद्धति से ध्यान योगावस्था विकसित होती है। सिद्धि की प्राप्ति होती है।

सिद्धि क्या है? :- ससार में दो प्रकार की शक्तिया मानी जाती हैं- १) भौतिक और २) आध्यात्मिक। यत्र तत्रादि प्रयोग, तात्रिक प्रयोग एव पद्मावती, भैरवी, भवानी, काली आदि देवियों की उपासना से प्राप्त भौतिक शक्ति सिद्धि नही कहला सकती। वास्तव में भौतिक शक्ति 'जादू' है। आध्यात्मिक शक्ति ही सिद्धि कहलाती है, इसे ही लब्धि भी कहते हैं, जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान के महा प्रभाव से ज्ञानजन्य, चारित्रजन्य, तपजन्य लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यानयोग को चौदह पूर्व का सार कहा गया है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षय, क्षयोपशम से ज्ञानसवधी लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति आदि संवरयोग की आराधना से चारित्र सबधी लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और पूर्वसचित कर्मों का क्षय और नये कर्मों का अभाव तपाराधना से होता है, इसे आगम भाषा में निर्जरा कहते हैं। तप से निर्जरा होती है।[५४] इसलिये तपोयोग से (सवरनिर्जरा) सबधी कुछ लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान ने आश्चर्यकारी अनुसन्धान बहुत किये है, किन्तु वे सब भौतिक जगत में ही हुये हैं। वस्तुपदार्थ और अणु विश्लेषण में विज्ञान ने आश्चर्यजन्य खूब प्रगति की है परन्तु आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में वह आज भी गतिहीन है। आत्मा की अनन्तानन्त शक्ति का मापदण्ड विज्ञान नही कर सकता है। वैज्ञानिक योगियों के मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के चमत्कार को देखकर दांतों तले अगुली डाल देता है। विज्ञान की भाषा में जिसे 'विल पावर' कहा जाता है, वह एक प्रकार की मानसिक शक्ति ही है। मेस्मेरिज्झ के प्रयोग से हजारों मनुष्यों को सम्मोहित किया जा रहा है, असाध्य रोगों का इलाज किया जा रहा है। क्या यह भौतिक शक्ति है? नही, यह तो मानसिक शक्ति का एक छोटा-सा रूप है।

आज का संसार 'अणु' शक्ति से चकित है, किन्तु जब आत्मशक्ति का अनुभव हो जायेगा तो वह अलौकिक आनंद को प्राप्त कर जायेगा। आत्मा अनन्तानन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इस आत्मशक्ति का विकास ध्यान से होता है और ध्यान 'लब्धि' या 'सिद्धि' को प्रदान करता है।

लब्धि क्या है? :- जिससे आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र, वीर्य आदि गुणों से कर्मावरणों का क्षय होने पर तत् तत् संबधित कर्मों के क्षय व क्षयोपशम से स्वत आत्मा में जो शक्ति प्रगट होती है उसे लब्धि कहते हैं। यहा लब्धि का अर्थ लाभ है।[५५] जैन धर्म में लब्धि शब्द का प्रयोग प्राय इसी अर्थ में सर्वत्र किया गया है। लब्धि की प्राप्ति परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की निर्मलता (अतिशयता) और उत्कृष्ट शुद्ध तपाचरण से प्राप्त

होती हैं।[५६] इसी कारण लब्धियाँ शुद्ध आत्म शक्ति हैं। इसमें देव शक्ति या मत्र शक्ति का सहारा नही लिया जाता। बौद्ध और वैदिक दर्शन में इसे क्रमश 'अभिज्ञा' और 'विभूति' कहते हैं।

लब्धियों के भेद :- जितनी आत्मा की शक्तियाँ हैं उतनी ही लब्धियाँ हो सकती हैं। किन्तु आगमों में एव अन्य ग्रन्थों में दस, अठ्ठाइस या अन्य भी कुछ लब्धियों का दिग्दर्शन किया गया है, जैसे कि[५७] नाणलब्धि, दसण लब्धि, चरित्त लब्धि, चरित्ताचरित्त लब्धि, दान लब्धि, भोग लब्धि, लाभलब्धि, उपयोग लब्धि, वीरिय लब्धि, इदिय लब्धि, आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लोसहि, सव्वोसहि, सभिन्ने, अवधि, ऋजु मई, विपुल मई लब्धि, चारण लब्धि, आसीविष लब्धि, केवली लब्धि, गणधर लब्धि, अर्हल्लब्धि, चक्रवर्ती लब्धि, बलदेव लब्धि, पूर्वधर लब्धि, वासुदेव लब्धि, क्षीरमधुसर्पिरास्नवलब्धि, कोष्टकबुद्धि लब्धि, शीतललेश्या लब्धि, पदानुसारिणी लब्धि, बीजबुद्धि लब्धि, तेजोलेश्या लब्धि, आहारक लब्धि, वैक्रिय देह लब्धि, अक्षीणमहानस लब्धि और पुलाक लब्धि। इनमें नाणादि लब्धियों के अनेक भेद किये गये हैं।

शुद्ध ध्यान के प्रभाव से ध्याता की आत्मा निर्मल हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसमें आठ ऋद्धियाँ (आत्मशक्तियाँ) [illegible] हो जाती हैं[५८]-

१) ज्ञानऋद्धि :- इसके अठारह भेद हैं - केवल ज्ञान, मन पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चतुर्दशपूर्वज्ञान, दशपूर्वज्ञान, अष्टांगनिमित्त ज्ञान, बीज बुद्धि, कोष्ठ बुद्धि, पदानुसारिणी, सभिन्न श्रोता, पांचों इन्द्रियों की तीव्र शक्ति = दुरास्वाद, प्रत्येक बुद्धता और वाद शक्ति।

२) क्रियाऋद्धि :- इसके नौ भेद हैं - जलचर, अग्निचारण, पुष्पचरण, पत्र चरण, बीज चरण, तंतु चरण, श्रेणी चरण, जंघाचरण और विद्या चरण।

३) वैक्रियऋद्धि :- इसके ग्यारह भेद हैं- अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति (मेरू की चोटी का स्पर्श करें), प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप।

४) तपऋद्धि :- इसके सात भेद हैं- उग्रतप (उग्रोग्रतप), अवस्थितोग्रतप, दीप्त तप, तप्ततप, महातपऋद्धि, घोर तप, घोरपराक्रम, घोरगुण ब्रह्मचारी।

५) बलऋद्धि :- इसके तीन भेद हैं- मनोबली, वचनबली और कायबली।

६) औषधऋद्धि :- इसके आठ भेद हैं- आमर्शौषध, खेलौषध, जल्लौषध, कान, नाक, आख आदि शरीर के मैल से स्पर्श, विषुडौषध, सर्वौषध, आशीविषौषध, दृष्टिविषौषध।

७) रसऋद्धि :- इसके छह भेद हैं- आशीविष, दृष्टि विष, क्षीरास्रवी, मधु आस्रवी, सर्पिरास्रवी, अमृतास्रवी।

८) क्षेत्रऋद्धि :- इसके दो भेद हैं- अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय।

ज्ञानजन्य लब्धियो का स्वरूप

कोष्ठकबुद्धि लब्धि :- जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य बहुत काल तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार जिसे कोष्ठक बुद्धि लब्धि प्राप्त होती है वह आचार्यादि के मुख से सुना हुआ सूत्र, अर्थ, तथा अन्य जो भी कुछ तत्त्व सुनता है उसे ज्यों का त्यों अविकलरूप से धारण करने में समर्थ होता है। इस लब्धि के प्रभाव से बुद्धि स्थिर धारणा वाली बन जाती है।

बीजबुद्धि लब्धि :- जैसे बीज विकसित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है, उसी प्रकार बीज बुद्धि लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र, अर्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। यह लब्धि गणधरों में विशिष्ट रूप से होती है। वे तीर्थंकर के मुख से त्रिपदी (उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवे इ वा) का श्रवण करके सम्पूर्ण द्वादशागी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और बारह अगों की रचना भी।

पदानुसारिणी लब्धि :- सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का ज्ञान बिना सुने ही अपनी बुद्धि से कर लिया जाता है। एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धिधारी में होती है।

संभिन्नसोदारण (सभिन्न श्रोता) :- इस लब्धि के प्रभाव से साधक शरीर के किसी भी (कान, जीभ, आख, नाक आदि) भाग से शब्दों को सुन सकता है अथवा किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम कर सकता है। इस लब्धि के प्रभाव से सभिन्न श्रोता लब्धि के धारक योगी की श्रोत्रेन्द्रिय शक्ति बहुत ही प्रचड हो जाती है। सूक्ष्म और दूरस्थ विषय को ग्रहण करने की शक्ति सभिन्न श्रोतोलब्धि कहलाती है।

अवधि लब्धि :- इस लब्धि के बल से साधक को अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋजुमति-विपुलमति लब्धि :- मन पर्यव ज्ञान के ये दो भेद हैं- ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति मन पर्यव ज्ञान का धारक अढ़ाई द्वीप में कुछ कम (अढ़ाई अगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी (समनस्क) प्राणियों के मनो भावों को जानता है और सम्पूर्ण अढ़ाई द्वीप में रहे हुए सज्ञी प्राणियों के मनोभावों को स्पष्ट रूप से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को जान लेना विपुलमति मन-पर्यव ज्ञान है। यह मनोज्ञान ऋजुमति लब्धि तथा विपुलमति लब्धि से प्राप्त होता है।

पूर्वधर लब्धि :- 'पूर्व' शब्द का अर्थ 'पहले' है। जैन परपरा में पूर्व का अर्थ किया गया है - भगवान ने जो सबसे पहले गणधरों के सामने प्रवचन दिये - जिनमें समस्त वाङ्मय का ज्ञान छिपा था - वे 'पूर्व' कहलाये। बारह अंग में दृष्टिवाद की रचना 'पूर्व' कहलाया। पूर्व चौदह हैं। जिस मुनि को नौ, दस से लेकर चौदह पूर्व तक का ज्ञान होता है वह पूर्वधर कहलाता है। जिस शक्ति के प्रभाव से उक्त पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता हो, वह पूर्वधरलब्धि कहलाती है। वर्तमान परम्परा में चौदह पूर्व के अतिम ज्ञाता श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए।

अष्टांगनिमित्तज्ञान लब्धि :- अग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष ये आठ महानिमित्तों के अग हैं। इन सभी में पारंगत होना अष्टांगनिमित्त-लब्धि है।

इस प्रकार ये सभी ज्ञानजन्य लब्धियाँ हैं।[५१]

चारित्र एवं तपोजन्य लब्धियों का स्वरूप

वैक्रियदेह लब्धि :- जैन धर्म में विक्रिया का अर्थ विविध क्रिया, अनेक प्रकार के रूप, आकार आदि रचना है। वैक्रिय देह लब्धि से शरीर के छोटे-बड़े, विचित्र-सुन्दर, हल्का, भारी, वज्र जैसा आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं। उनके लिये अणिमा, महिमा, लघिमा (हवा सा हल्का), गरिमा (वज्र सा भारी), प्राप्ति (मेरू स्पर्श), प्राकाम्य (जल पर चलना), ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये सारी वैक्रियदेहलब्धियाँ हैं।

विद्याधर लब्धि :- जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्या ये तीन प्रकार की विद्याएँ हैं। इनमें जाति और कुल विद्या विद्याधरों में होती हैं और तपविद्या साधुओं में होती है।

चारण लब्धि :- जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी इन आठ का आलम्बन लेकर चारणगण सुखपूर्वक विहार करते हैं। चारणों के दो सौ पचपन भेद माने जाते हैं, जिनका समावेश इन आठ में ही हो जाता है। जिस लब्धि के कारण आकाश में जाने आने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे चारण लब्धि कहा जाता है। चारण शब्द एक प्रकार का रूढ़ शब्द है, जिसका आकाशगामिनी शक्ति के रूप में जैन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। भगवती सूत्र में चारणलब्धि के दो भेद बताये हैं- जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण लब्धि का धारक पद्मासन लगाकर जंघा पर हाथ लगाता है और तीव्रगति से आकाश में उड़ जाता है। टीकाकार अभयदेव सूरि के कथनानुसार जंघाचारणवाला मुनि आकाश में उड़ान भरने के पहले मकड़ी के जाल जैसा तंतु, बटी हुई बाती अथवा सूर्य की किरणों का अवलंबन लेकर बाद में आकाश में उड़ता

है। जघाचारण लब्धि चारित्र और तप के विशेष प्रभाव से प्राप्त होती है। भगवती में इसकी साधना विधि का वर्णन करते हुए बताया गया है, निरतर बेले-बेले तप करने वाले को विद्याचारण एवं निरतर तेले-तेले का उग्र तप करने वाले योगी को जघाचारण लब्धि प्राप्त होती है। जघाचारण लब्धि वाला एक ही उड़ान में (उत्पात में) तेरहवें रुचकवर द्वीप तक जा सकता है। यह द्वीप भरतक्षेत्र से असख्यात योजन दूर है। इस लब्धि धारक की पहली उड़ान शक्तिशाली होती है। किन्तु उड़ान करने में प्रमाद और कुतुहल होने के कारण लब्धि की शक्ति क्रमश हीन व क्षीण होने लग जाती है, इस कारण एक उड़ान में रुचकवर द्वीप जाने वाला जब वहा से लौटता है तो वह बीच में थक जाता है, जिसके कारण बीच में नदीश्वर द्वीप में उसे एक विश्राम लेना पड़ता है और वह दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर लौट कर आ सकता है।

जघाचारण वाला यदि ऊपर ऊर्ध्व लोक में उड़ान भरता है तो वह सीधा सुमेरू पर्वत के शिखर पर पाण्डुकवन में पहुच जाता है। यह सब वनों में सुदर और सबसे अधिक ऊंचाई पर है। जब योगी वहा से वापिस लौटता है तो जाने की अपेक्षा आने में उसे अधिक शक्ति और समय लगता है। शक्ति की क्षीणता के कारण उसे नदनवन में एक विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान भरके अपने स्थान पर पहुच जाता है।

विद्याचारण लब्धि तप के साथ विद्या के विशेष अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जघाचारण से इसका तपक्रम सरल है, उसमें तेले-तेले की तपस्या की जाती है और इसमें बेले-बेले की। उसमें चारित्र की अतिशयता रहती है और इसमें ज्ञान की। विद्याधरों के आकाशगामिनी शक्ति में और विद्याचारणलब्धि में अंतर है। विद्याधरों को भी अभ्यास करना ही पड़ता है। परन्तु वह जन्मगत एव जातिगत संस्काररूप में भी प्राप्त होती है। कुछ योगी मत्र शक्ति से आकाश में उड़ान भर सकता है। किन्तु विद्याचारण लब्धि वाला मंत्र-तत्र व जन्मगत कारण से नही किन्तु तप के साथ विद्याभ्यास के कारण ही आकशगमन कर सकता है।

विद्याचारण वाला तिरछे लोक में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक उड़कर जा सकता है। विद्याचारण की शक्ति प्रारभ में कम और बाद में अधिक होती है। विद्याचारण वाला नदीश्वर द्वीप में उड़ान भरते समय बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर एक विश्राम लेता है और दूसरी उड़ान भरकर वह नंदीश्वरद्वीप पहुंचता है किन्तु लौटते समय परिशीलन से उसकी विद्या शक्ति प्रखर हो जाती है अत एक ही उड़ान में सीधा अपने स्थान पर आ जाता है। इसी प्रकार ऊंची उड़ान भरते समय भी पहले नन्दनवन में विश्राम लेकर फिर दूसरी उड़ान में पाण्डुकवन में पहुचता है, किन्तु लौटते समय में सीधे ही एक उड़ान में अपने स्थान पर आ जाता है।

जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति ___ होती है। जघाचारणवाला तीन बार आंख की पलक झपकने जितने समय में एक लाख योजन वाले जम्बूद्वीप को २१ बार चक्कर लगा सकता है, किन्तु विद्याचारण लब्धि वाले इतने समय में सिर्फ ३ बार ही चक्कर लगा सकते हैं। गति की तीव्रता जघाचारण में अधिक है।

आशीविष लब्धि :- जिनकी दाढों में तीव्र विष होता है, उन्हें आशीविष कहा जाता है। आशीविष के दो भेद हैं- कर्म आशीविष और जाति आशीविष। कर्म आशीविष - तप अनुष्ठान, सयम आदि क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है इसलिये इसे लब्धि माना गया है। इस लब्धि वाला, शाप आदि देकर दूसरों को मार सकता है। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यंच दोनों में हो सकती है। जातिआशीविष कोई लब्धि नही है। वह जन्मजात (जातिगत स्वभाव के कारण) प्राप्त हो जाती है। बिच्छू आदि में जो विष होता है वह जातिगत होता है। जाति आशीविष के चार भेद हैं- बिच्छू, मेंढक, साप और मनुष्य। बिच्छू से मेंढक का विष अधिक प्रबल होता है, मेंढक से साप का और साप से मनुष्य का।

दृष्टिविष :- दृष्टि शब्द से चक्षु और मन को ग्रहण किया गया है। दोनों में दृष्टि की प्रबलता है। शुभ अशुभ लब्धि से रहित, हर्ष, क्रोधादि से रहित छह प्रकार के दृष्टि विष हैं।

उग्रतप लब्धि :- उग्र तप लब्धि के ___ दो प्रकार के होते हैं- १) उग्रोग्र तप लब्धि धारक और २) अवस्थित उग्रतप लब्धि ___ एक उपवास करके पारणा करें, दो उपवास करके पारणा करें, तीन उपवास करके पारणा करें। क्रमश: जीवन पर्यंत एकेक बढ़ाते हुए तप करें, पारणा करें उसे उग्रोग्रतप लब्धि के धारक कहते हैं। एक उपवास करके पारणा करें फिर एकान्तर से किसी निमित्त वश षष्ठोपवास हो गया। षष्ठोपवास से विहार करने वाले के अष्टमोपवास हो गये। इस प्रकार दशम ___ आदि के क्रम से नीचे न गिरते हुए जो जीवनपर्यंत विहार करता रहता है, वह अवस्थित उग्रतप लब्धि का धारक कहा जाता है। यह तप का अनुष्ठान वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है। इन दोनों तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है।

दित्तप लब्धि :- चतुर्थ और छट्ठम आदि उपवासों के करने से शरीर को तेज जनित लब्धि प्राप्त होती है। शरीर दीप्ति की लब्धि तपाराधना से प्राप्त होती है।

तत्तप लब्धि :- इस लब्धि के प्रभाव से मलमूत्र शुक्रादि तप्त-दग्ध कर दिये जाते हैं।

महातप लब्धि :- अणिमादि गुण, जल जंघादि के ___ चारण गुण, शरीरप्रभा से युक्त, दोनों प्रकार के अक्षीण ऋद्धि से युक्त, सर्वौषधि स्वरूप, आशीविष, दृष्टिविष

सम्पन्न, तप्त तपोधारक, समस्त विद्याओं का धारक, मति श्रुत अवधि मन - पर्यव ज्ञान धारक महातप लब्धि वाला होता है।

घोर तप लब्धि :- उपवासों में छह मास का तपस्वी, अवमोदर्य तप में एक ग्रास का धारक, वृत्तिपरिसख्याओं में चौराहे पर भिक्षा की प्रतिज्ञा धारक, रसपरित्याग में उष्णजलयुक्त ओदन का सेवन, विविक्तशय्यासन में वृक, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों से सेवित अटवियों में निवास, कायक्लेश तप के अन्तर्गत हिमालय, वृक्ष अथवा खुले आकाश में आतापना - ध्यान करें। इसी प्रकार आभ्यन्तर तपों में भी निरन्तर आराधक घोर तप लब्धि धारक है।

घोर पराक्रम लब्धि :- यह तपोजन्य है। तीनों लोक का उपसहार, समुद्र का निगलना, समुद्र के जल को सुखाना, पृथ्वी का निगलना, जल, अग्नि, पर्वत आदि बरसाने की शक्ति प्राप्त करना घोर पराक्रम लब्धि है। यह आध्यात्मिक क्षेत्र में त्याज्य है।

घोर गुणबभचारी लब्धि :- यह चारित्र के शुद्ध पालन से प्राप्त होती है। पाच समिति, तीन गुप्ति का धारक अघोर-शान्त गुण सम्पन्न होता है। राष्ट्रीय उपद्रव, रोग, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, बन्धन आदि को निवारण करने की शक्ति जिसे प्राप्त होती है वह अघोरगुणबभचारी लब्धि है।

आमोसहि :- 'आमर्शौषधि' इस लब्धि के धारक तपस्वी किसी रोगी ग्लान आदि को स्वस्थ करना चाहे तो प्रथम मन में सकल्प करके, उसे स्पर्श करे, उनके स्पर्श मात्र से रोग शान्त हो जाता है।

खेलोसहि :- खेल यानी श्लेष्म, खंखार, थूक। जिस योग शक्ति के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म में सुगध आती हो, और उसके प्रयोग-लेपन-स्पर्शन आदि से औषधि की भाति रोग शात हो जाता हो, वह खेलोसहि लब्धि है। मल मूत्र की भाति खेल-खखार से भी घृणा की जाती है, किंतु इनमें तपस्या के प्रभाव से दुर्गंध के स्थान पर सुगध आने लग जाती है फिर जहा कही भी उसका स्पर्श-लेपन-प्रयोग करने पर रोग शांत हो जाता है।

. जल्लोसहि :- जल्ल नाम मल का है। शरीर के विभिन्न अवयव, जैसे, कान, मुख, नाक, जीभ, आख आदि का जो मल = पसीना अथवा मैल होता है उसे 'जल्ल' कहा जाता है। तपस्वियों में लब्धि के प्रभाव से ये मल भी सुगध देने लगते हैं तथा इनका स्पर्श भी औषधि की भांति रोग मिटाने की अद्‌भुत शक्ति रखता है।

विप्पोसहि :- 'विप्रुडौषधि' 'वि' शब्द का अर्थ है शरीर द्वारा त्यक्त मल, और 'प्र' का अर्थ है - प्रस्रवण। पूरे शब्द विप्रुड का अर्थ है - मल-मूत्र। जिस लब्धि के

प्रभाव से तपस्वी साधक के मल-मूत्र में सुगध आती हो, जिसका स्पर्श होने पर रोगी का रोग शांत हो जाता हो - जिनका मल-मूत्र औषधि की भांति रोगोपशमन में समर्थ हो, ऐसी योग शक्ति का नाम- विप्पोसहि लब्धि है।

सव्वोसहि :- सर्वौषधि। प्रथम चार लब्धियों से शरीर के अलग-अलग अवयव एवं वस्तुओं के स्पर्श से रोग शात हो जाता है। किन्तु सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वों के तो शरीर के समस्त अवयव, मल-मूत्र, केश, नख, थूक आदि में सुगंध आती है तथा उनके स्पर्श से रोग शात हो जाते हैं।

मनोबलि लब्धि :- बारह अंगों में निर्दिष्ट त्रिकालविषयक अनन्त अर्थ-व्यंजन पर्यायों से व्याप्त षड् द्रव्य एव नौ तत्त्वों के निरन्तर चिंतन में खेद न होना मनोबलि लब्धि है। यह लब्धि विशिष्ट तप के प्रभाव से प्राप्त होती है।

वचिबलि लब्धि :- यह भी विशिष्ट तप के प्रभाव से प्राप्त होती है। बारह अगों का बार-बार चिंतन करने में खेद न होना ही वचनलब्धि है। वचनलब्धि धारक की वाणी अमृत सी मीठी होती है।

कायबली लब्धि :- यह शक्ति विशेष चारित्र से उत्पन्न होती है। तीनों लोक को अगुली से उठाकर अन्यत्र रखने में जो समर्थ होता है, वह कायबली है।

क्षीर मधु-सर्पिरास्रव लब्धि :- क्षीर का अर्थ 'दूध' है। इस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन सुनने वालों को बड़े ही मधुर (दूध-मधु एवं घृत के समान) प्रिय एव सुखकारी होते हैं। भिक्षा पात्र में लूखा-सूखा-नीरस आहार आ जाने पर भी इस लब्धि के प्रभाव से वह स्वत ही क्षीर, मधु एव घृत के समान स्वादिष्ट बन जाता है।

कही-कही लोग मात्रिक प्रयोग से वस्तु का स्वाद बदल देते हैं, किन्तु लब्धिधारी का तो यह सहज प्रभाव होता है, और वह शुद्ध आध्यात्मिक ही होता है, उसमें मत्र-तत्र का कोई पुट नही होता है।

मधु शब्द से गुड़,शक्कर, खाड आदि लिया गया है । सर्पिषु शब्द का अर्थ घृत है। यह लब्धि तप के प्रभाव से प्राप्त होती है ।

अमडास्रवलब्धि :- भिक्षापात्र में आया हुआ रूखा-सूखा आहार इस लब्धि के प्रभाव से अमृत स्वरूप परिणत हो जाता है ।

तेजोलेश्यालब्धि :- यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति है । यह लब्धि छह महीने तक निरतर बेले-बेले तप करके सूर्यमण्डल के सामने आतापना लेना और पारणे में मुट्ठीभर उड़द के बाकुले और चुल्लूभर पानी लेने पर प्राप्त होती है । इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है कि क्रोध के आने पर विरोधी को

जलाकर भस्म कर देते है। उत्कृष्ट शक्ति प्रयोग में १६११ महाजनपदों को एक साथ भस्म कर डालने की शक्ति भी इस लब्धिधारक में होती है। बायें पैर के अगूठे को घिसकर यह तेज निकाला जाता है।

शीतललेश्या लब्धि :- यह तेजोलेश्या की प्रतिरोधी शक्ति है। यह भी एक आध्यात्मिक तेज है।

अक्षीणमहानस लब्धि :- इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी भिक्षा में लाये हुए थोडे से आहार से लाखों व्यक्तियों को भरपेट भोजन करा सकता है। शर्त यह है कि जब तक लब्धिधारी स्वय भोजन न करें तब तक ही वह अखूट रहता है। लब्धिधारी उसमें से एक ग्रास भी खा ले तो वह अन्न समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन लब्धियों का स्वरूप सक्षेप में बताया गया है, जो चारित्र और तप की विशिष्ट साधना द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।[६०] दृष्टिवाद अग में इन लब्धियों की प्राप्ति की तपस्या विधि का बहुत विस्तार से वर्णन है ऐसा कथन है, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है। भगवती सूत्र, षट् खडागम, आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, प्रवचन- सारोद्धार एव तिलोयपण्णत्ती (यतिवृषभाचार्य) आदि ग्रन्थों में लब्धियों का स्वरूप मिलता है।

इन लब्धियों में तप की जो विधि बताई गई है वह लब्धि प्राप्त करने के लिये नही है, किन्तु वह तप का एक मार्ग है, जिस पर चलने से बीच में अमुक सिद्धियाँ मिल जाती हैं।

गरिष्ठ भोजन करने का महत्व नही है, महत्व है उसे पचाने का। वैसे ही शक्ति को प्राप्त करना उतना महत्त्वपूर्ण नही है, किन्तु शक्ति को प्राप्त करके उसे पचा लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिये शास्त्रों में जहा लब्धियों का वर्णन किया गया है, वहा लब्धियों के प्रदर्शन व प्रयोग का निषेध भी किया गया है। स्थूलि भद्र को लब्धियाँ मिलीं, किन्तु उन्हें वे पचा नही सके।[६१] लब्धि का प्रकटीकरण प्रमाद है। जितने भी लब्धि प्रयोग किये जाते हैं- सब प्रमत्त दशा में ही होते हैं। छठे गुणस्थान तक ही लब्धि प्रयोग है। सप्तम गुणस्थानवर्ती कभी भी लब्धि का प्रयोग नही करता, क्योंकि वहा अप्रमत्त भाव है, और लब्धि-विस्फोट प्रमत्त भाव है, प्रमाद-सेवना है। प्रमाद कर्म बन्धन का कारण है।[६२] इसीलिये भगवती सूत्र में बताया गया है - जो साधक (गृहस्थ या मुनि) लब्धि का प्रयोग कर, प्रमाद सेवन करके यदि पुन उसकी आलोचना नही करता है, और अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है - विराधक हो जाता है।[६३]

लब्धि फोड़ना - एक प्रकार की उत्सुकता, कुतुहल और प्रदर्शन, यश एवं प्रतिष्ठा की भावना का परिणाम है। इसलिये लब्धि का प्रयोग साधक के लिये विहित नही है। शुद्ध रत्नत्रय की साधना करना ही साधक का लक्ष्य है। महावीर की साधना पद्धतियों में चमत्कार को नही, सदाचार एव आत्मशुद्धि को महत्व है।

ध्यानी को कफ, श्लेष्म, विष्ठा, स्पर्श आदि सभी औषधिमय महासम्पदाए तथा सभिन्नस्रोतलब्धि आदि का प्राप्त होना योगजनित अभ्यास का ही चमत्कार है। चारण विद्या, आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान आदि उपरोक्त बताई हुई ज्ञान-चारित्र-तपोजन्य सभी लब्धिसम्पदाएं योगकल्पवृक्ष, ध्यानचिन्तामणिरत्न की ही विकसित पुष्पप्रभायें हैं।[६४] रत्नत्रय से गर्भित ध्यानयोग के द्वारा प्राप्त की गई ये लब्धियाँ मोक्षप्रदाता बनती हैं।

संदर्भ सूचि

१ (क) अबर-लोह-महीण कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं।
सोज्झा-वणयण- सोसे साहेंति जलाणलाइच्चा।।
तह सो न्झाइ समत्था जीवबर-लोह मेहणिगयाण।
झाण जलाऽणल-सूरा-कम्ममल-कलक-पकाणं।।
ध्यान शतक (जिनभद्रागणिक्षमाश्रमण) गा १७-१८

(ख) अनादिविभ्रमोद्भुत रागादितिमिर घनम्।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्क प्रविजृम्भित ।
ज्ञानार्णव २५/५

२. (क) ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम्।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनम्।। ज्ञानार्णव २५/७

(ख) वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊण। ध्यान शतक गा १

३ (क) पंच सरीरगा पण्णत्तं, तं जहा-ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए।
ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४९२

(ख) कइ णं भते। सरीरा पण्णत्ता? गोयमा। पंच सरीरा पण्णत्ता। तंजहाओरालिए जाव कम्मए।
पण्णवणा सुत्तं (सुत्तागमे) १२/४०५

(ग) विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि।
सर्वार्थ सिद्धि, तत्त्वार्थ सूत्र टीका, २/३

(घ) तत्त्वार्थ सूत्र २/३७-४९, २६, (प सुखलालजं

(ड) उदार स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठत्रि औदारिकमिति भवेत्।
तत्त्वार्थ वार्तिके २/

अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीर-विधकरण विक्रिया,
प्रयोजनस्येति वैक्रियम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३

आह्रियते तदित्याहारकम्। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३

यत्तेजो निमित्त तत्तैजसमिदम्, तेजसि भव वा, तैजसमित्याख्यायते।
तत्त्वार्थ वार्तिके २/३६

कर्मणामिद कर्मणा समूह इति वा कार्मणम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके, २/३६

(च) सूक्ष्म पदार्थनिर्ज्ञानार्थमसयमपरिजिहीर्षया वा
प्रमत्त सयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्।। सर्वार्थ सिद्धि २/३६
तत्तेजो निमित्त तेजसि वा भव तत्तैजसम्। कर्मणा कार्यं कार्मणम्।
सर्वेषा कर्म निमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरसेवया।
सर्वार्थ सिद्धि २/३६

(छ) सर्वेषा कार्मणत्वप्रसग इति चेत न, प्रतिनियतौ दारिकादि-
निमित्तत्वात्। नानात्व सिद्धिम्। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३६

४ (क) पर पर सूक्ष्मम्। तत्त्वार्थ सूत्र २/३८

(ख) सज्ञा लक्षण प्रयोजनादि त्रि पृथग् भूताना शरीराणा
सूक्ष्मगुणे न वीप्सानिर्देश क्रियते परपरम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३७

(ग) औदारिक स्थूलम्, तत सूक्ष्म वैक्रियिकम्, तत सूक्ष्म आहारकम्,
तत सूक्ष्म तैजसम्, तैजसात्कार्मण सूक्ष्ममिति। सर्वार्थ सिद्धि २/३७

५ (क) पण्णवणा पद २१

(ख) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽ चतुर्भ्य। तत्त्वार्थ सूत्र २/४३

६ उरलाइपुग्गलाण निवद्ध बज्झतयाण सबन्ध।
ज कुणइ जउ समं त उरलाइ बधण नेय।। कर्मग्रन्थ १/३५

७ जं सघायइ उरलाइ पुग्गले तणगण व दताली।
त सघाय बधणमिव तणुनामेण पंचविह।। कर्मग्रन्थ १/३६

८. (क) छव्विहे सघयणे पण्णत, त जहा - वइरोसभणारायसघयणे, उसभ-
णारायसघयणे, नारायसघयणे, अद्धणाराय सघयणे, कीलियासघयणे, छेवट्ठ
सघयणे। ठाणे (सुत्तागमे) ६/५७२

(ख) सघयणमट्ठिनिचओ त छद्धा वज्जरिसहनाराय।
तहय रिसहनारायं नाराय अद्धनारायं।।
कीलिअ छेवट्ठ इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्ज।
उभओ मक्कडबधो नारायं इममुरालगे।। कर्मग्रन्थ १/३८-३९

९ (क) छव्विहे सठाणे पण्णत्तं, तं जहा - समचउरसे, णग्गोहपरिमडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुडे। ठाणे (सुत्तागमे) ६/५७३

(ख) कर्मग्रन्थ १/४०

१० (क) पच निसिज्जाओ पण्णत्तं, तजहा- उक्कुडुया गोदोहिया समपायपुया पलियका अद्धपलियका। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४९८

(ख) आयारे (सुत्तागमे) २/१५/१०२०

११ (क) सर्वेषामेव त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते।
१०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) पृ ७८

(ख) विवेक चूडामणि (आ शंकर) गा ७४, ८९, ९८, १२२

१२ सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ३३-४०

१३ १०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) श्री राम शर्मा, पृ ६७-६८

१४ सरल मनोविज्ञान पृ १४०

१५ सरल मनोविज्ञान पृ १४४

१६ उद्धृत, प्राचीन जैन साधना पद्धति, (साध्वी राजेमति) पृ ४०

१७ सरल मनोविज्ञान पृ ४४

१८ (क) कर्मारग्राममनुप्राप्त तत्र प्रतिमया स्थित ।
आवश्यक निर्युक्ति (भा १) गा ४६१

(ख) महावीरचरियं (श्रीगुणचन्द्रगणि) पृ १४४

(ग) छम्माणि गोव कडसल पवेसण मज्झिमाए पावाए।
खर ओ विज्ज सिद्धत्थ वाणियओ नीहरावेइ।।
आवश्यक निर्युक्ति गा ५२५

(घ) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, १०/३/१७-२६, १०/४/६१६-६४६

१९ तसि भगव अपडिन्ने अहे विगडे अहियासए।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए।।
आचारांगसूत्र १/९/२/५

चत्तारि साहिए मासे बहवे पाणजाइया अभिगम्म।
अभिरुज्झ काय विहिरिंसु आरूसियाणं तत्थ हिंसिसु।।
आचारांग सूत्र, १/९/१/३

२० (क) तत्थ सामी वाहिं पडिम ठितो।

आवश्यक निर्युक्ति (मलयगिरि) २७९

(ख) वहि प्रतिमया स्थित । आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र) ४७९

(ग) तत स्वामी वहिर्हरिद्रसन्निवेशात् हरिद्रवृक्षस्याधोऽवतस्थे प्रतिमया, पथिक-प्रज्वालिताग्निना प्रभोरनपसरणात् पादौ दग्धौ, गोशालो नष्टस्तत्र।

आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र टीका) गा ४७९ की चूर्णि

२१ आचाराग सूत्र १/९/२/२-३, १/९/१/६

२२ णो सुकरमेयमेगेसिं नाभित्रासे य अभिवायमाणे।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अपुण्णेहिं।।
फरुसाइ दुतितिक्खाइ, अइअच्चमुणी परक्कममाणे।
अघायनट्टगीयाइ, दडजुद्धाइ मुट्ठिजुद्धाइ।।

आचाराग सूत्र १/९/१/८-९

२३ लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा वहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइसु।।
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए डसमाणे।
[illegible] कारति आहु [illegible] कुक्कुरा डसतु त्ति।।

आचारागसूत्र, १/९/३/-५

२४ (क) शूलपाणीनामा यक्षोऽभूत् ।
रोद्दा य सत्त वेयण, । रौद्राश्च सप्त वेदना यक्षेण कृता

आवश्यक निर्युक्ति गा ४६४ एव उसकी चूर्णि

(ख) महावीर चरियं पृ १५३

२५ (क) महावीर चरियं (नेमिचद) पृ १८४

(ख) महावीर चरियं (गुणचद्र) पृ १५९

(ग) त्रिशष्टिशलाकापुरुष १०/३/२३६

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा ४६७

२६ त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १०/३/२७१-२७९

२७ रागद्वेषाग्निनोत्तप्ता समुतिष्ठन्ति जन्तव ।
तप सयमयोगेन क्षालिताखिलकल्मषा ।।

उपमिति भवप्रपचा (सिद्धर्षिगणि) उत्तरार्द्ध, ५/१३६, ७/७७

२८ आवश्यक निर्युक्ति गा ४८९ एव उसकी चूर्णि

२९ (क) ढढभूमीए बहिआ पेढाल नाम होइ उज्जाण।

पोलास चेइयमि ठिएगराई महापडिमं।।
सोहम्मकप्पवासी देवो सक्कस्स सो अमरिसेण।
सामाणिअ सगमओ बेइ सुरिंद पडिनिविट्ठो।।
तेलोक्कं असमत्थति बेह एतस्स चालण काउं।
अज्ञेव पासह इम ममवसग भट्ट जोगतवं।।
अह आगओ तुरतो देवो सक्कस्स सो अमरिसेण।
कासी य ह्डवसग्ग मिच्छद्दिट्ठी पडिनिविट्ठो।।
धूली पिवीलिआओ उद्दसा चेव तहय उण्होला।
विंछुय नउला सप्पा य मूसगा चेव अट्ठमगा।।
हत्थी हत्थिणिआओ पिसायए घोररूव वग्घो य।
थेरो थेरी सूओ आगच्छइ पक्कणो य तहा।।
खरवाय कलकलिया कालचक्क तहेव य।
पाभाइय उवसग्गे वीसइमो होइ अणुलोमो।।

आवश्यक निर्युक्ति गा ४९७-५०४

(ख) आवश्यक चूर्णि, निर्युक्ति गा ५०६ की

३० जघन्येषु कटपूतनाव्यन्तरी शीत, मध्यमेषु काल चक्र, उत्कृष्टेषु शल्योद्धरण कर्णयो । आवश्यक चूर्णि गा ५२५ की पृ २९३

३१ (क) अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता एव जल्लोसहि पत्ता, विप्पोसहिता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता अप्पेगइया सभिन्नसोया।।

ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ७

(ख) कफविपुष्मलामर्श – सर्वौषधि – महर्द्धय ।
सभिन्नस्रोतालब्धिश्च यौग ताण्डवडम्बरम्।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य १/८

एष सर्वोऽपि सर्वौषधिप्रकार ।
मल किल समाम्नातो द्विविध सर्व- दहिनाम्।।

योगशास्त्रस्वोपज्ञभाष्य पृ २३-२४

३२ (क) शरीरमन्तरुत्पन्नैर्व्याधिभिर्विविधैरिदम्।
दीर्यते दारूणैर्दारु दारुकीटगणैरिव।।
कच्छूशोषज्वरश्वासारुचिकुक्ष्यक्षिवेदना ।।
सप्ताधिसेहे पुण्यात्मा सप्तवर्षशतानि स ।
सिद्धलब्धिरपि व्याधि बाधा सोढा तपस्यति।
सनत्कुमारो भगवानितीन्द्रस्त्वामवर्णयत्।।
योगिना योगमाहात्म्ययात्पुरीषमपिकल्पते।

रोगिणां रोगनाशाय कुमुदामोदशालि च।।

योग शास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ३३,४५,५९

(ख) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंत करेइ,
जहा से सणकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ग) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २०-२४

३३ अश्रान्तमिति पिण्डस्थे, कृताभ्यासस्य योगिन ।
प्रभवन्ति न दुर्विधा मन्त्र मण्डलशक्तय ।।
शाकिन्य क्षुद्रयोगिन्य पिशाचा पिशिताशना ।
त्रस्यानि तत्क्षणादेव, तस्य तेजोऽसहिष्णव ।।
दुष्टा करटिन सिंहा , शरभा पन्नगा अपि।
जिघासवोऽपि तिष्ठन्ति, स्तम्भिता इव दूरत ।।

योग शास्त्र ७/२६-२८

३४ 'जापरज्ञ येत्क्षयमरोचकमग्निमान्द्य,
कुष्ठोदराभस्मकसनश्वसनादिरोगान्।
प्राप्नोति चाप्रतिमवाग्महती महद्भ्य ,
पूजा परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम्।।

योग शास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ८/५

३५ त्यक्त सगास्तनु त्यक्त्वा, धर्मध्यानेन योगिन ।
ग्रैवेयकादि स्वर्गेषु भवन्ति त्रिदशोत्तमा ।।
महामहिमसौभाग्य शरच्चन्द्रनिभप्रभम्।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र स्त्रग्भूषाम्बर-भूषितम्।।
विशिष्ट-वीर्य-बोधाढ्यं, कामार्तिज्वरवर्जितम्।
निरन्तराय सेवन्ते सुख चानुपम चिरम्।।
इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि -सुखामृतम्।
निर्विघ्नमुपभुञ्जाना गत जन्म न जानते।।
दिव्या भोगावसाने च, च्युत्वा त्रिदिवतस्तत ।
उत्तमेन शरीरेणावतरन्ति महीतले।।
दिव्यवंशे समुत्पना नित्योत्सवमनोरमात्।
भुंजते विविधान् भोगानखण्डित मनोरथा ।।
ततो विवेकमाश्रित्य, विरज्या शेष भोगत-।
ध्यानेन ध्वस्तकर्माण प्रयान्ति पदमव्ययम्।।

योग शास्त्र ८/१८-२४

३६. (क) अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्मुणा बंधं अदक्खू।
जं किं- चि पावगं, भगवतं अकुव्वं वियड भुजित्था।।
मायन्ने असण-पाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे।
अच्छिपि णो पमज्जिज्जा, णो वि य कडूयये मुणि गाय ।
आयारे (सुत्तागमे) १/९/१/४७८, ४८०

(ख) हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे णरा।
ण ते विज्जा तिगिच्छति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।
छण्हमण्णरे ठाणे, कारणंमि आगमा।
आहारेज्जा मेहावी, संजमा सुसमाहिए।।
षण्णा स्थानानामन्यतस्मिन् कारणे स्थाने आमते आहारयेत्।
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिताए।।
ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, ज्ञानसागरसूरि टीका) गा ८८०-८८२

३७ (क) घेरण्ड संहिता गा १६-३१

(ख) हठयोगप्रदीपिका (चमनलाल) १/६४-६५

३८. सरल मनोविज्ञान पृ ४७-४९

३९ (क) समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते।। योगशास्त्र ४/११२

(ख) यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम्।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्य स्याद्विभेदत ।।
साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलकी यन्त्रवाहक।
यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदेव परं ध्यान तस्य कर्मौघघातकम्।।
ज्ञानार्णवे (शुभचन्द्र) २५/२-४

४० (क) कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्ष । तत्त्वार्थ सूत्र १०/३

(ख) प्रक्षीणोभ्यकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम्।
लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिण ।।
उपासकाध्ययन (सोमदेव) ३९/६६१

(ग) रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं।
उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२

(घ) अत्यक्ष विषयातीत निरोपल्य स्वभावजम्।
अविच्छिन्न सुख यत्र स मोक्ष परिपठ्यते ।।
निर्मलो निष्कल शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृत ।
कृतार्थ साधुबोधात्मा तत्पदं शिवम् माख्यते।।

ज्ञानार्णव ३/८-९ (पृ ५८)

४१ उत्तराध्ययनसूत्र २०/१८-३४, ६०

४२ सद्ध नगर किच्चा, तव-सवर-मग्गल।
खन्ति निउण-पागार, तिगुत्त दुप्पधसयं।।
धणु परक्कम किच्चा, जीव च इरिय सया।
धिइ च केयण किच्चा, सच्चेण पलिमन्थए।।
तव-नारायजुत्तेण, भित्तुण कम्म-कचुय।
मुणी विगय-सगामो, भवाओ परिमुच्चए।।
जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।

उत्तराध्ययनसूत्र ९/२०-२२, ३४

४३ (क) अप्पणा मेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणा-मेव-मप्पाण, जइत्ता सुह मेहए।।
पचिन्दियाणि कोह, माण माय तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिए जिय।।

उत्तराध्ययन सुत्त ९/३५-३६

(ख) एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामहं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/३६

४४ जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

आयारे १/३//४/२० (सुत्तागमे)

४५ (क) अहो योगस्य माहात्म्य प्राज्य साम्राज्यमुद्वहन्।
अवाप केवलज्ञान भरतो भरताधिप ।। योगशास्त्र १/१०

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २८-५८

(ग) जहा स भरहे राया चाउरतचक्कवट्टी अतकिरिया।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

४६ (क) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमतं करेइ
जहा सा मरुदेवी भगवई। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ख) पूर्वमप्राप्तधर्मापि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावत प्राप मरुदेवी परं पदम्।। योग शास्त्र (हेम) १/११

(ग) मरुदेवी हि स्वामिनी आससारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती
किं पुनर्मानुषत्व तथापि योगबलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना
सचितानि कर्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५८

४७ (क) ब्रह्म स्त्री भ्रूणगोघातपातकान्नरकातिथे ।
दृढप्रहारि प्रभृते योंगो हस्तावलम्बनम्।। योग शास्त्र १/१२

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५९-६३ (गा १-५३)

४८ (क) तत्कालकृतदुष्कर्मकर्मठस्य दुरात्मन ।
गोप्त्रे चिलातीपुत्रस्य योगाय स्पृहयेन्न क । योग शास्त्र १/१३

(ख) स एव चिन्तयन्नेव प्राप राजगृह पुरम्।
सशोक सुसुमापुत्र्या विदधे चौर्ध्वदेहिकम्।। ५५।।
वैराग्याद्व्रतमादाय श्री वीर स्वामिनोऽन्तिके।
दुस्तप स तपस्तेपे पूर्णायुश्च दिव ययौ ।।५६।।
चैलातेयोऽप्यनुरागात्सुसुमाया मुहुर्मुहु ।
मुख पश्यन्नविज्ञातश्रमो याम्या दिश ययौ ।।५७।।
सर्वसन्तापहरणं छायावृक्षमिवाध्वनि।
साधुमेक ददर्शासौ कायोत्सर्गजुष पुर ।।५८।।
स ज्ञानान्मुनिरज्ञासीद्बोधिबीजमिहाहितम्।
अवश्यं यास्यति स्फाति पल्वले शालिबीजवत् ।।६१।।
कार्यं सम्यग्गुणशमो विवेक सवरोऽपि च। ।।६२।।
क्रोधादीनां कषायाणा कुर्यादुपशम सुधी ।

पिपीलिकोपसर्गेऽपि स स्तम्भ इव निश्चल ।
सार्द्धाहोरात्रयुग्मेन जगाम त्रिदशालयम्।।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ५५-५८, ६१-६२, ६५-७१

४९ (क) पच वण्णा पण्णत्ता, तजहा – किण्हा नीला लोहिया
हालिद्दा सुक्किला। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८५

(ख) वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया। कर्मग्रन्थ ▮/४०

५०. णमो अरहताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाण णमो लोएसव्व साहूणं।। भगवइ (सुत्तागमे) १/१

(घ) अत्यक्ष विपयातीत निरोपत्य स्वभावजम्।
अविच्छिन्न सुखं यत्र स मोक्ष परिपठ्यते ।।
निर्मलो निष्कल शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृत ।
कृतार्थ साधुवोधात्मा तत्पद शिवम् माख्यते।।

ज्ञानार्णव ३/८-९ (पृ ५८)

४१ उत्तराध्ययनसूत्र २०/१८-३४, ६०

४२ सद्ध नगर किच्चा, तव-सवर-मग्गल।
खन्ति निउण-पागार, तिगुत्त दुप्पधंसयं।।
धणु परक्कम किच्चा, जीव च इरिय सया।
धिइ च केयण किच्चा, सच्चेण पलिमन्थए।।
तव-नारायजुत्तेण, भित्तुण कम्म-कचुय।
मुणी विगय-सगामो, भवाओ परिमुच्चए।।
जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।

उत्तराध्ययनसूत्र ९/२०-२२, ३४

४३ (क) अप्पणा मेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणा-मेव-मप्पाण, जइत्ता सुह मेहए।।
पचिन्दियाणि कोह, माण माय तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिए जिय।।

उत्तराध्ययन सुत्त ९/३५-३६

(ख) एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/३६

४४ जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

आयारे १/३//४/२०९ (सुत्तागमे)

४५ (क) अहो योगस्य माहात्म्य प्राज्य साम्राज्यमुद्वहन्।
अवाप केवलज्ञान भरतो भरताधिप ।। योगशास्त्र १/१०

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २८-५८

(ग) जहा स भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी अतकिरिया।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

४६ (क) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमत करेइ
जहा सा मरुदेवी भगवई। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ख) पूर्वमप्राप्तधर्मापि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावत प्राप मरुदेवी पर पदम्।। योग शास्त्र (हेम) १/११

(ग) मरुदेवी हि स्वामिनी आससारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती
किं पुनर्मानुषत्व तथापि योगवलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना
सचितानि कर्म्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५८

४७ (क) ब्रह्म स्त्री भ्रूणगोघातपातकान्नरकातिथे ।
दृढप्रहारि प्रभृते र्योगो हस्तावलम्बनम्।। योग शास्त्र १/१२

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५९-६३ (गा १-५३)

४८ (क) तत्कालकृतदुष्कर्मकर्मठस्य दुरात्मन ।
गोप्त्रे चिलातीपुत्रस्य योगाय स्पृहयेन्न क । योग शास्त्र १/१३

(ख) स एव चिन्तयन्नेव प्राप राजगृह पुरम्।
सशोक सुसुमापुत्र्या विदधे चौर्ध्वदेहिकम्।। ५५।।
वैराग्यादव्रतमादाय श्री वीर स्वामिनोऽन्तिके।
दुस्तपं स तपस्तेपे पूर्णायुश्च दिव ययौ ।।५६।।
चैलातेयोऽप्यनुरागात्सुसुमाया मुहुर्मुहु ।
मुखं पश्यन्नविज्ञातश्रमो याम्या दिश ययौ ।।५७।।
सर्वसन्तापहरण छायावृक्षमिवाध्वनि।
साधुमेकं ददर्शासौ कायोत्सर्गजुषं पुर ।।५८।।
स ज्ञानान्मुनिरज्ञासीदूबोधिबीजमिहाहितम्।
अवश्यं यास्यति स्फाति पल्वले शालिबीजवत् ।।६१।।
कार्यं सम्यग्गुणशमो विवेक संवरोऽपि च। ।।६२।।
क्रोधादीनां कषायाणा कुर्यादुपशम सुधी-।

पिपीलिकोपसर्गेऽपि स स्तम्भ इव निश्चल ।
सार्द्धाहोरात्रयुग्मेन जगाम त्रिदशालयम्।।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ५५-५८, ६१-६२, ६५-७१

४९ (क) पंच वण्णा पण्णत्ता, तंजहा – किण्हा नीला लोहिया
हालिद्दा सुक्किला। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८५

(ख) वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया। कर्मग्रन्थ १/४०

५०. णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोएसव्व साहूणं।। भगवइ (सुत्तागमे) १/१

५१ लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्ध दीप्त रूपा छाया। उत्तराध्ययन वृहत्वृत्ति पत्र ६५०

उद्धृत श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ (प खण्ड) ४७१

५२ एसो पच नमस्कार (मुनि नथमल) पृ ७६-७७

५३ श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ (खण्ड ५) पृ ४६५-४६६

५४ तपसा निर्जरा च। तत्त्वार्थ सूत्र ९/३

५५ आत्मनो ज्ञानादि गुणाना तत्कर्म क्षयादितो लाभ ।

भगवतीसूत्र वृत्ति ८/२,

उद्धृत जैन धर्म में तप (मिश्रीमलजी म) पृ ६८

५६ परिणाम तववसेण इमाइ हुति लद्धीओ।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७०, गा १४९५

५७ (क) कइविहा ण भते। लद्धी पण्णत्ता? गोयमा। दसविहा लद्धी पण्णत्ता, तजहा- १ णाण लद्धी, २ दसण लद्धी, ३ चरित्त लद्धी, ४ चरित्ता-चरित्त लद्धी, ५ दाण लद्धी, ६ लाभ लद्धी, ७ भोग लद्धी, ८ उवभोग लद्धी, ९ वीरियलद्धी, १० इदिय लद्धी।

णाणलद्धी पच विहा पण्णत्ता, तजहा- अभिणिबोहियणाणलद्धी, जाव केवलणाण लद्धी। अण्णाणलद्धी - तिविहा पण्णत्ता, तजहा-मइ-अण्णाण लद्धी सुयअण्णाणलद्धी विभगणाणलद्धी।

दसण लद्धी तिविहा पण्णत्ता, तजहा-सम्मदंसणलद्धी, मिच्छा-दसणलद्धी, सम्ममिच्छादसणलद्धी।

चरित्त लद्धी पचविहा पण्णत्ता, तजहा-सामाइयचरित्त लद्धी जाव अहक्खायचरित्तलद्धी।

चरित्ताचरित्तलद्धी एगागारा पण्णत्ता एवं जाव उवभोग लद्धी एगागारा पण्णत्ता।

वीरिय लद्धी तिविहा पण्णत्ता, तजहा -बालवीरियलद्धी, पडियवीरियलद्धी बालपडियवीरिय लद्धी।

इदिय लद्धी पचविहा पण्णत्ता, तजहा-सोइदिय लद्धी जाव फासिंदिय लद्धी।

भगवइ (सुत्तागमे) ८/२

(ख) तेणं कालेण तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अतेवासी बहवे निग्गथा भगवतो अप्पेगइया आभिणिमोहियणाणी जाव केवलणाणी अप्पेगइया मणबलिया वयबलिया कायबलिया अप्पेगइया मणेण सावाणुग्गह-समत्था ३ अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता एव जल्लोसहि,

विप्पोसहि, आमोसहि, सव्वोसहि, अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीय बुद्धी पडबुद्धी, अप्पेगइया पयाणुसारी अप्पेगइया सभिन्नसोया अप्पेगइया खीरासवा अप्पेगइया महुआसवा अप्पेगइया सप्पिआसवा अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिया एवं उज्जुमइ, अप्पेगइया विउलमइ विउव्वणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासाइवाइणो।

ओववाइसुत्त (सुत्तागमे) पृ

(ग) आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि सभिन्ने ओहीरिउ विउलमइ लद्धी।।
चारण आसीविस केवलीय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य।।
खीरमहुसप्पि आसव कोट्ठय बुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धि तेयग आहारक सीय लेसा य।।
वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणाम तव वसेण एमाइं हुति लद्धीओ।।

प्रवचन सारोद्धार, द्वार २७०, गा २४९२-२४९५

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा ६९-७७

(ङ) विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९-८०८

५८. ध्यान कल्प तरू, अमोलक ऋषिजी म पृ १४५

५९ (क) आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी) ज्ञानसागर चूर्ण्या समेत सभाष्य निर्युक्ति पृ ९३

(ख) षट् खण्डागम (खड ४) पृ २७-३८ (गा ६-१५)

(ग) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् भाष्यकार पृ ४५९

(घ) विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९, भाष्यवृत्ति पृ ३२३
७९९-८००, भाष्य पृ ३२७

६० (क) भगवती सूत्र २०/९
लूतातन्तुनिवतित पुटकतन्तून् रविकरान् वा निश्रां कृत्वा जघाभ्यामाकाशेन चरतीति जघाचारण।

भगवती सूत्र वृत्ति (अभयदेवसूरि) २०/९
उद्धृत जैन धर्म में तप (मुनि मिश्रीमलजी म) पृ ७६

(ख) चत्तारि जाइ आसीविसा – विच्छुयजाई .। स्थानाग ४/४

(ग) आवश्यक निर्युक्ति गा ६९-७०
आवश्यक चूर्णि पृ ८९-९१

(घ) आमोसहि वलदेवा वासुदेवा य।

आसी दाढा तग्गयमहाविसासीविसा दुविह भेया।
ते कम्म जाइभेएणणेगहा -चउविहविगप्पा।।

विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९-७९१

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (हेमचन्द्र) पृ ३२२-३२५

(ड) प्रवचनसारोद्धार द्वार २७० गा १४९२-१४९५ की वृत्ति

(च) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्यकार पृ ४५९-४६३

६१ आवश्यक वृत्ति, पृ ६९८, उद्धृत, जैन धर्म में तप (मिश्री म) पृ ८१

६२ पमाय कम्ममाहसु। सूत्रकृताग १/८/३

६३ नत्थि तस्स आराहणा। भगवती सूत्र २०/९

६४ (क) योग कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि पर ।
योगप्रधान कर्माणा योगसिद्धे स्वय ग्रह ।।

योगविन्दु (हरिभद्रसूरि) गा ३७

(ख) कफ विपुण्मलामर्श - सर्वोषधि महर्द्धय ।
सम्भिन्नस्रोतालब्धिश्च, यौग ताण्डवडम्बरम्।।
चारणाशीविषावधि- मन पर्यायसम्पद ।
योगकल्पद्रुमस्यैता विकसितकुसुमश्रिय । योगशास्त्र १/८-९

(ग) योगाणुभावओ चिय पाय न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि सपत्ती इमस्स ज वन्निया समए।।
रयणाई लद्धीओ अणिमाइयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्डीए ।।
एईय एस जुत्तो सम्म असुहस्स खवगओ नेओ।
इयरस्स बधगो तह सुहणमिय मोक्खगामि त्ति।।

योग शतक (हरिभद्र) गा ८३-८५

सारांश

जैन साधना पद्धति मे ध्यान योग

ससार के सभी प्राणी नाना प्रकार के दु खों से संतप्त बने हुए हैं। वे आधि-व्याधि-उपाधि आदि सभी दु खों से छूटना चाहते हैं। परतु छूट नही पाते। उन्हें दु ख के कारणों एव सुख प्राप्ति के साधनों का ठीक सा परिज्ञान नही है। जिन्हें कुछ परिज्ञान है तो उनकी उस पर श्रद्धा नही है। श्रद्धा के अभाव में ससार-वृद्धि होती है। ससार वृद्धि ही दु ख का मूल कारण है।

ससार में दो प्रकार के तत्त्व हैं - हेय और उपादेय। हेय तत्त्व ससारवृद्धि के कारण हैं और उपादेय तत्त्व ससार विनाशक। ससार वृद्धि के कारण अज्ञानता प्रसार व षड्रिपु हैं। वे हेय हैं। इन्हें दूर करने के लिये उपादेय तत्त्व को ग्रहण करना होगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ में 'मोक्ष' पुरुषार्थ ही उपादेय है। ऋषिमुनियों, तत्त्व-चिंतकों, विचारकों तथा दार्शनिकों ने एक अवाज से मोक्ष तत्त्व को स्वीकार किया है। मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करने के लिये भारतीय दर्शन के सभी तत्त्वचिंतकों ने एव ज्ञानियों ने स्वानुभूति के अनुसार भिन्न-भिन्न मोक्ष हेतुओं का प्रतिपादन किया है।

भारतीय सस्कृति में आध्यात्मिक चिंतनधाराओं को मुख्यत तीन भागों में विभाजित किया गया है वैदिक (हिंदू), बौद्ध और जैन। इन तीन धाराओं ने हेय तत्त्व का नाश करने हेतु उपादेय तत्त्व का अपने अपने चिंतन मथन से निकाली हुई मक्खन रूपी विभिन्न साधनाओं का प्रतिपादन किया है।

वैदिक धर्म में चित्त की एकलीनता के लिये नामस्मरण की प्रक्रिया से 'स्थूलध्यान' और 'महाभाव' समाधि, प्रकृति के सूक्ष्म रूप के चिंतनार्थ 'बिन्दुध्यान' एवं 'महालय' अथवा लयसिद्धियोग समाधि, प्राणायाम के माध्यम से समाधि अवस्था का नाम 'महाबोध' समाधि और 'ज्योतिध्यान', यम नियमादि अष्टांग योग के माध्यम से ब्रह्मध्यान आदि की प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मन की एकलीनता ही ध्यानयोग है।

बौद्धधर्म में भी समाधि के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का विवेचन किया है। ध्यान के साथ ही समाधि, विमुत्ति, शमथ, भावना, विसुद्धि, विपस्यना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्मण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। अकुशल कर्मों के दहन के लिये शील, समाधि, प्रज्ञा, चार आर्य सत्य, (१) दु ख (२) दु:ख समुदय (३) दु ख निरोध व (४) दु ख निरोध गामिनी के रूप में अष्टागिक साधना मार्ग का प्रतिपादन किया है।

जैन धर्म में कर्मसिद्धात पर अधिक जोर दिया गया है। उसमें सर्वज्ञ के कथनानुसार बधों को दु ख का कारण बताया गया है। बध चार प्रकार के हैं - (१) प्रकृतिबध, (२) स्थिति बध, (३) रस बध (अनुभाव, अनुभाग) और (४) प्रदेशबध। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्तों से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों में परिणत होकर अनतानत प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् एक क्षेत्रावगाढ़ होकर मिल जाना बध कहलाता है। ससार में चार ही प्रकार का बध होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रज का मिथ्यात्वादि हेतुओं के निमित्तों से जीव के साथ मिल जाने पर कर्म संज्ञा को प्राप्त होते हैं। क्योंकि जैन धर्म में कर्म की व्याख्या स्पष्ट करते हुये कहा गया है, कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनतानत कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुबक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से सक्लिष्ट हो जाते हैं। उसे कर्म कहते हैं।

बध के मुख्यत तीन हेतु बतलाये हैं - मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र, जो कि हेय तत्त्व हैं। ये ही दु ख के कारण हैं। मिथ्यादर्शन के कारण ही जीवात्मा अनादिकाल से ससार में चक्कर लगा रहा है। इसमें अनतानत पुद्गल परावर्तकाल व्यतीत कर चुका है। क्योंकि लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से भरा हुआ है। उसमें ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य ऐसी दो प्रकार की वर्गणाए हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती हैं, किंतु ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण योग्य वर्गणाए हैं। ग्रहणयोग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं- (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तैजस शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा, (७) मनोवर्गणा और (८) कार्मणवर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और उनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण होती हैं।

अनंत उत्सर्पिणी और अनंत अवसर्पिणी काल का एक पुद्गल परावर्त होता है। ऐसे जीवात्मा ने अनतानत पुद्गल परावर्तकाल 'निगोद' अवस्था में व्यतीत किये हैं। उसने द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में भी अनतानत पुद्गल परावर्त काल व्यतीत किये हैं। पंचेन्द्रिय में नारक, तिर्यंच, मनुष्य व देव रूप में जन्ममरण करके किया है। किंतु सम्यग्दर्शन के अभाव में वह ससार में भटकता ही रहा है। मोहनीय कर्म सब कर्मों मे राजा के समान है। मिथ्याज्ञान उसके मत्री का कार्य करता है और अहकार- ममकार, उसके अनुज (पुत्र) ही हैं। इन दोनों के कारण ही 'मोह' की सेना का चक्रव्यूह जीतना दुर्भेद्य बना हुआ है। इसके कारण ही अहकार-ममकार से रागद्वेषादि, रागद्वेषादि से क्रोधादि, सोलह

नो कषाय और हास्यादि नौ कषाय की उत्पत्ति होती है। इन्ही के कारण कर्म बध होते रहते हैं और जीव अचरमावर्त पुद्गल परावर्त ससार चक्र में सतत चक्कर लगा रहा है। परभाव (विभाव दशा) की प्रवृत्ति में से जब तक जीव का बाहर निकलना नही होता तब तक जीव का मोक्ष नही है। सविपाक निर्जरा तो जीव चारों ही गति में सतत करता रहता है। जब तक वह अविपाक निर्जरा का अधिकारी नही बनता, तब तक ससार में भटकता ही रहता है। जीव और अजीव तत्त्व का मिलन ही ससार है और इन दोनों का अलग होना ही मोक्ष है। प्रत्येक क्रिया के साथ ही उसके समान् अथवा उससे विपरीत प्रतिक्रिया होती रहती है। प्रवृत्ति- निवृत्ति की भाति ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक, बुभुक्षा-मुमुक्षा आदि द्वद्वों की अविरल धारायें जीवन में उदयमान होती ही रहती हैं। द्वन्द्वों के चक्र के कारण ही ससार का रथ नियत चल रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यही ससार का विचित्र रूप है। यह विचित्रता विविध कर्म बध के कारण है। कर्मबध के हेतुओं का विनाश तभी सभव है जब कि मोक्ष के हेतुओं को अपनाया जाये।

साधना के दो अग हैं - आध्यात्मिक व भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके द्वारा साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। परतु उससे वह शाश्वत सुख को प्राप्त नही कर सकता। भौतिक साधना का फल ही अशाश्वत सुख की उपलब्धि है। आत्मलक्षी साधक इन साधनों से दूर रहता है। वह तो आध्यात्मिक साधना द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही हैं। इन्ही के द्वारा वह अपने आपको जान सकता है।

साधना का मूल जानना है। आगमवाणी का भी यही कथन है कि 'जाणइ-पासइ' पहले जानो और बाद में देखो। आत्मा के निज स्वरूप को जानने के लिये कषायों की मदता आवश्यक है। बीजरूप अपुनर्बंधक अवस्था में साधक बाह्य साधनों के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्ति के सन्मुख बढने की तैयारी में रहता है। खेत में बीज बोने पर जमीन, हवा, प्रकाश, जल आदि का सहयोग मिलने पर बीज फल (फसल) के रूप में सामने आता है। इस स्थिति में जीव मार्गाभिमुख, मार्गपतित, मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की 'पूर्व सेवा' सज्ञा को प्राप्त करके उनके सहयोग से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति का पुन बध नहीं करता है। जो दो बार मोहनीय कर्म की स्थिति का बध करता है, उसे आगमवाणी में 'द्विबधक' कहते हैं और जो एक बार ही बाधता है, उसे 'सकृत्बधक' कहते हैं। परतु जो मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बाधता ही नहीं है वह 'अपुनर्बंधक' कहलाता है।

ससार में जीव की अवस्था दो प्रकार की है - भव्य और अभव्य। जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होने की जिनमें योग्यता हो वह भव्य है। जो अनादि काल तक तथाविध पारिणामिक भाव के कारण

किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते है, वे अभव्य कहलाते है। यथा-प्रवृत्तिकरण की अवस्था दोनों प्रकार के जीवों की होती है। इनमें भव्य जीवों को वाह्य और आभ्यन्तर योग्य साधन सामग्री के मिलने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है। कषाय की मदतम स्थिति को प्राप्त करने पर जीव में अपूर्वकरण की अवस्था प्राप्त होती है। इसमें ग्रथिभेदन किया जाता है। 'अपूर्वकरण' में पाच प्रकार के कार्य अपूर्व ही होते हैं, जैसे कि स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रमण और अपूर्व स्थितिवध। स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यह अपूर्वकरण की अवस्था जीव को दो बार प्राप्त होती है, पहले सम्यक्त्व प्राप्ति के समय और दूसरी श्रेणी आरोहण के समय । दुर्भेद्य रागद्वेष की ग्रथि तोड़ देने के बाद जीव अनिवृत्तिकरण की अवस्था प्राप्त करता है। इसमें भी स्थितिघातादि पाच कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के बाद जीव 'अतकरण' द्वारा निश्चित ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के आभ्यतर तीन कारण हैं- औपशमिक सम्यक्त्व, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व।

सम्यक्त्व का सामान्य लक्षण पदार्थों में यथार्थ श्रद्धा होता है। तीन मूढताए, आठ मद, आठ मल एव छह अनायतन, इन पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। वह उत्पत्ति, पात्र, श्रेणि, रुचि और विशुद्धि आदि इन सबकी अपेक्षा से अनेक प्रकार का है। उनमें सराग सराग सम्यग्दर्शन, शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य गुणों से शोभित होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्धिमात्र से प्राप्त होता है।सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ही जीव में ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

ज्ञान आत्मा का निज गुण है जो स्व पर प्रकाशक है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान अज्ञान रूप होता है, जो ससार परिवर्धक होता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्राप्त होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही जीव ध्यान की साधना कर सकता है। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जीव ध्यान के बल से सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करता हैं।

पाच प्रकार के पापों का (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) त्याग सम्यक् चारित्र है। चारित्र का मूल समता है। समता की आराधना ही चारित्र की साधना है। चारित्र के दो भेद माने जाते हैं - सकल चारित्र (सर्वविरति चारित्र - श्रमण धर्म) और विकल चारित्र (देश विरति - श्रावक धर्म) और भी चारित्र (सयम) के पाच प्रकार हैं - सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म सपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इनमें देश विरति चारित्र के आराधक श्रावक कहलाते हैं। व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व का धारक श्रावक श्रद्धावान, विवेकवान व क्रियावान होता है। उसके दो भेद होते हैं - सामान्य और विशेष।

सर्वविरति चारित्र श्रमण धर्म है। इसमें साधना आंशिक रूप से न होकर पूर्ण रूप से होती है।

अपुनर्बंधक, सम्यग्दृष्टि, देश-विरति, सर्वविरति ये चार प्रकार के साधक ही ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

चारित्र के विभिन्न आयामों में (उत्सर्ग-अपवाद मार्ग, श्रमण समाचारी, षडावश्यक) ध्यान ताने बाने की तरह गुथा हुआ है। ध्यान के बिना आध्यात्मिक साधना हो नही सकती। सभी साधनाओं में ध्यान तो है ही । इसीलिये ध्यान-योग को द्वादशांगी का सार कहा है। सभी तीर्थों में ध्यानयोग ही श्रेष्ठ है।

ध्यान का स्वरूप : ध्यान शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। व्यावहारिक रूप में ध्यान का सामान्य अर्थ सोचना, विचारणा, ध्यान रखना, दशा, समझ, स्मृति, बुद्धि, याद, स्मरण आना, ध्यान आना आदि है और विशेषार्थ मानसिक प्रत्यक्ष, प्रशस्त ध्यान, विशिष्ट प्रकार की एकाग्रता है।

मन की दो अवस्थाए हैं - ध्यान और चित्त। समस्त विकल्पों से रहित मन-वचन-काय की विशिष्ट प्रवृत्ति से आतमस्वरूप में अग्नि की स्थिर ज्वाला की तरह एक ही विषय में मन का स्थिर होना ध्यान है। यही प्रशस्त ध्यान है। इसके लिये आगम में ध्यानयोग, समाधियोग, भावनायोग और संवरयोग शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्व' स्वरूप का बोध ध्यानयोग के बिना हो नही सकता है। 'स्व' को जानने के लिये ध्यान की प्रक्रिया ही श्रेष्ठ है। क्योंकि किसी वस्तु में उत्तम संहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त के लिये चित्तवृत्ति का रोकना यानी मानसज्ञान में लीन होने को ध्यान कहा जाता है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य या पर्याय में स्थिर होना-चिंता का निरोध करना ही ध्यान है। एकाग्र चिंतानिरोध ध्यान ही संवर निर्जरा का कारण होता है। एक ही वस्तु का आलंबन लेकर मन को एकाग्र करना ध्यानयोग है। ध्यान योग के दो सोपान हैं। छद्मस्थ का ध्यान और जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है और काया की स्थिरता जिन का ध्यान है। जो स्थिर मन है वह ध्यान है और जो चंचल मन है वह चित्त है। चंचल चित्त की तीन अवस्थाए हैं - भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता। भावना का अर्थ ध्यान के लिये अभ्यास की क्रिया है, जिससे मन भावित हो। अनुप्रेक्षा का अर्थ पीछे की ओर दृष्टि करना, तत्त्वों के अर्थ (अध्ययन) का पुन पुन चिंतन करना है। चिंता का अर्थ मन की अस्थिर अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं से भिन्न चित्त की स्थिर अवस्था ही ध्यान है।

आगम में ध्यान के भेद प्रभेदों का वर्णन किया गया है और निर्युक्ति में उन्हीं ध्यान को दो भागों में विभाजित किया है - शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान।

ससारी जीव अनत हैं। अत किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सबकी बधादि सबधी योग्यता का दिग्दर्शन नही कराया जा सकता और न यह सभव भी है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति को कर्मबधादि सबधी योग्यता भी सदा एक समान नही रहती है। इसीलिये आध्यात्मज्ञानियों ने ससारी जीवों के उनकी आभ्यतर, शुद्धिजन्य उत्क्राति, अशुद्धिजन्य अपक्राति के आधार पर अनेक वर्ग किये हैं। इस वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं। आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

इन गुणस्थानों का क्रम ससारी जीवों की आतरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। गुणस्थानों की सख्या चौदह है।

मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय करने में उद्यत बने हुए श्रेष्ठ मुनि दर्शन सप्तक की सात प्रकृतियों को छोड़कर शेष इक्कीस मोहनीय कर्म की प्रकृति का उपशम अथवा क्षय करने के लिये श्रेष्ठ ध्यान की प्रक्रिया प्रारभ करते हैं। इसमें सपूर्ण रूप से धर्मध्यान के चारों ही भेदों की प्रधानता होती है। रूपातीत ध्यान के कारण अश मात्रा में शुक्लध्यान का प्रथम भेद 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' की प्रधानता होती है। इसमें उत्तम ध्यान की प्रक्रिया प्रारभ होने के कारण स्वाभाविक आत्मशुद्धि होने लगती है।

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर जीव बारहवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त करते ही द्वितीय 'एकत्व-वितर्क-अविचार' शुक्लध्यान को ध्याता है। मोहनीय कर्म का क्षय क्षपक श्रेणी से ही किया जाता है। इसमें साधक घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। बाद में आउज्जीकरण 'केवलीसमुद्घात' तथा 'योग निरोध' की प्रक्रिया करके शुक्लध्यान का तीसरा भेद 'सूक्ष्मक्रियानिवर्ती' नामक शुक्लध्यान करते हैं या होता है।

जब सयोगीकेवली मन, वचन, और काया के योगों का निरोध कर योगरहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगीकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूप विशेष को अयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारभ होती है। इसमें चौथे शुक्लध्यान 'समुच्छिन्न क्रिया' नामक ध्यान को ध्याते हैं। यह ध्यान ही मोक्ष का प्रवेश द्वार है।

साधक ध्यान के द्वारा सवरनिर्जरा करके समस्त कर्मों का क्षय करता है। समस्त कर्मों को क्षय करने वाला सिद्धत्व को प्राप्त करता है। सिद्ध परमात्मा की अवस्था ध्यान से ही प्राप्त होती है।

सभी दर्शनों में चित्तवृत्तिनिरोध को ध्यान कहा है, जब कि जैन दर्शन में योगनिरोध को ध्यान कहा है। योग का निरोध होने पर जीव मोक्षावस्था को प्राप्त कर सकता है।

ध्यान के बल से जीव को ज्ञान जन्य, चारित्रजन्य तथा तपोजन्य अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। सभी दर्शनों में लब्धियों का प्रयोग करने के लिये इन्कार किया गया है। ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। ध्यान ही एक ऐसा रसायन है, जो समस्त कर्मों को जलाकर सिद्धत्व को प्राप्त करा सकता है। इसलिये आत्मलक्ष्यी साधक के लिये 'अरिहत और सिद्ध' का ही ध्यान करना चाहिए। ध्येय के अनुसार साधन अपनाये जाते हैं। हमारा ध्येय मोक्ष को प्राप्त करना है। उसके लिये अरिहत और सिद्ध ध्यान ही श्रेयस्कर है। और यही स्वय को जानने की कुजी है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ध्यानयोग का विचार किया गया है। ध्यानसाधना में मन का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक माना जाता है। मन को केन्द्रित करने के लिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में ध्यान की स्थिति तक पहुँचने में तीन मानसिक स्तरों से गुजरने का दिग्दर्शन किया है। मानसिक स्तर निम्नलिखित हैं - चेतनमन, चेतनोन्मुख मन और अचेतन मन।

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केंद्रित होता है वही ध्यान का विषय है। ध्यानावस्था में मन को ही क्रमश स्थिर किया जाता है। उसके लिये मन की तीन दशाएँ वर्णित की गई है- १. अवधान, २ सकेंद्रीकरण और ३ ध्यान। ध्यान में विचारों का स्वरूप अधिक तीव्र और केंद्रित होता है। इसीलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ध्यान, मन की एक विशिष्ट कृत-केन्द्रित क्रिया है।

ध्यान के विषय में सभी विचारकों एव तत्त्वचिंतकों का एक ही मतव्य है कि मन की चचलता को स्थिर करना। यह स्थिर अवस्था ही ध्यान है। ध्यान में मन की प्रक्रिया विशिष्ट है।

ध्यान की प्रक्रिया से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इसके लिये शुद्ध आचरण की आवश्यकता है। जितना आचरण पवित्र व शुद्ध होगा, उतनी ध्यानावस्था सुलभ होगी। यही मेरा निश्चय मत है।

वर्तमानकालीन परिस्थितियों में ध्यान प्रक्रिया को जीवन में उतारना अत्यावश्यक है। क्योंकि ध्यान एक ऐसी मौलिक प्रक्रिया है, जो चैतन्य की अनत क्षमताओं का उद्घाटन करती है और जीवन की विकीर्ण शक्तियों को केंद्रित करती है।

ध्यान एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा आत्मा में छिपी परमात्मा की आभा मुखरित होती है। ध्यान ही एक चावी है, जिससे अन्त करण का ताला खुलता है। साधना के मार्ग में ध्यान वैसा ही है, जैसा आकाश में सूर्य। ध्यान ही साधुता की जड़ है।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूल दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाण विधीयते।।

ध्यान का सबंध भीतर से है। बाहर से नही। ध्यान भीतर भीतर ले जानेवाला है। भीतर इतना जाता है कि कुण्डलिनी जग जाती है, षट्चक्र भेदन हो जाते हैं, सहस्रकमल रस से भीग जाता है, अन्दर में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता है, एक ब्रह्मनाद होता है और व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। उसे केवलज्ञान का प्रकाश मिल जाता है, जिससे जन्म मरण का चक्र कट जाता है और मोक्ष पा लेता है।

मुख पद्म अन्तस्थः एवं उष्मा व्यञ्जन ध्यान

T. Vallabh

परिशिष्ट 'ख'
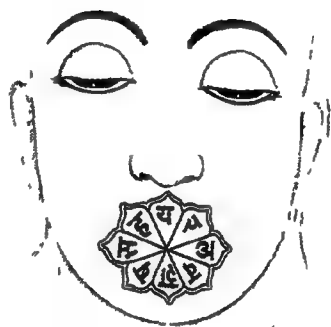
पारिभाषिक शब्दावली

अंतःकरण - गुण दोष के विचार एवं स्मरणादि व्यापारों में जो बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, जो चक्षु आदि इंद्रियों के समान बाह्य में दृष्टिगोचर भी नही होता, ऐसे अभ्यतर करण (मन) को अत करण कहते हैं।

अंतकृत् - जो अष्ट कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध पद प्राप्त करते हैं, वे अंतकृत् कहलाते हैं।

अतकृत् दशांग - प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले १०-१० अतकृत् केवलियों का वर्णन जिसमें किया गया है, वह अतकृतदशांग है।

अग - तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट और गणधर द्वारा ग्रथित सूत्र (श्रुत)

अगप्रविष्ट - भगवान के द्वारा कथित अर्थ की गणधरों के द्वारा जो आचारादि रूप से अंगरचना की जाती है। अथवा जिन शास्त्रों की रचना तीर्थंकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वय करते हैं।

अंगबाह्य - गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ की गई संक्षिप्त अंगार्थ रचना। अथवा -गणधरों के अतिरिक्त अगों का आधार लेकर स्थविरों द्वारा प्रणीत शास्त्र।

अंगोपाग नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव के अंग और उपाग आदि रूप में गृहित पुद्गलों का परिणमन होता है।

अतरग क्रिया - स्वसमय और परसमय के जानने रूप ज्ञान क्रिया को अतरग क्रिया कहते हैं।

अतरात्मा - जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं, वे अंतरात्मा हैं। अथवा-सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोग स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में, जिन्हें आत्मबुद्धि प्रादुर्भूत हुइ है, वे अतरात्मा कहलाते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक के गुण इनमें होते हैं।

अत शल्य - जिसके अत करण में अपराध रूपी काँटा चुभ रहा है, किंतु लज्जा व अभिमान आदि के कारण जो दोष की आलोचना नही करता है, वह साधु अत.शल्य है।

अकर्म भूमि - जहाँ असि, मसि, कृषि आदि न हो, किन्तु कल्पवृक्षों से निर्वाह होता हो, उन्हें 'अकर्म भूमि' कहते हैं। अकर्मभूमि तीस हैं। उनमें से एक हैमवत, एक हैरण्यवत, एक हरिवर्ष, एक रम्यकवर्ष, एक देवकुरू और उत्तरकुरू - ये छह जम्बूद्वीप में हैं और इससे द्विगुण-बारह धातकी खण्ड द्वीप में और बारह अर्द्धपुष्कर द्वीप में हैं।

अक्रियावादी - जो अवस्थान के अभाव का प्रसग प्राप्त होने की सभावना के अवस्थान से रहित किसी भी अनवस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नही कर सकते, वे अक्रियावादी हैं।

अकेवली - छद्मस्थ- केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व की अवस्था।

अकरणोपशमना - जैसे पर्वत पर प्रवाहित होने वाली सरिता के पाषाण में बिना किसी प्रकार के प्रयोग के स्वयमेव गोलाई आदि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ससारी जीवों की अध प्रवृत्तिकरण प्रभृति परिणाम स्वरूप क्रिया विशेष के बिना ही केवल वेदना के अनुभव आदि से कर्मों से जो उपशमन- उदय परिणाम के बिना अवस्थान होता है वह अकरणोपशमना है।

अकाल मृत्यु - असमय में, बद्ध आयुस्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही, जीवन का नाश होता है।

अकषाय - जिस जीव के सपूर्ण कषायों का अभाव हो चुका है, वह अकषाय अथवा अकषायी है।

अगति - गति नाम कर्म का अभाव हो जाने से सिद्ध गति अगति कही जाती है।

आगारी - आगार का अर्थ घर है। आरभ और परिग्रह रूप घर से जो सहित है, वह गृहस्थ अथवा आगारी है।

अगीतार्थ - जिसमें छेद सूत्र का अध्ययन नही किया है, या अध्ययन करके भी जिसे विस्मृत हो गया है, ऐसा श्रमण अगीतार्थ है।

अगुरुलघु - गुरु या लघुता के न होने का नाम। न बड़प्पन और न छोटापन।

अगुरुलघु गुण - जीवादिक दृष्यों की स्वरुप प्रतिष्ठा का कारण जो अगुरुलघु नामक स्वभाव है और उसके प्रति जो समय है।

अघाति कर्म - आत्मा के अनुजीवी गुणों का या वास्तविक स्वरूप (ज्ञान दर्शन चरित्रादि) का घात करने वाले कर्म को अघाति कर्म कहते हैं। वे चार हैं - (१) वेदनीय (२) आयुष्य (३) नाम और (४) गोत्र अथवा जीव के प्रतिजीवी गुणों के घात करने वाले कर्म। उनके कारण आत्मा को शरीर की कैद में रहना पड़ता है।

अघातिनी प्रकृति - जो प्रकृति आत्मिक गुणों का घात नही करती है।

अचक्षुदर्शन - चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन से होने वाला सामान्य प्रतिभास या अवलोकन।

अचक्षु दर्शनावरण - अचक्षु दर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अचौर्य महाव्रत - ग्राम, नगर या अरण्य आदि किसी भी स्थान पर किसी के रखे, भूले या गिरे हुए द्रव्य के ग्रहण की भी इच्छा नही करना।

अजघन्य बंध - एक समय अधिक जघन्य बंध से लेकर उत्कृष्ट बंध से पूर्व तक के सभी बंध।

अजीव - जिस में "चेतना" न हो, अर्थात् जड़ हो, उसे अजीव कहते हैं।

अजीव क्रिया - अचेतन पुद्गलों के कर्म रूप में परिणत होने को अजीव क्रिया कहते हैं।

अट्ठम तप - तीन दिन का उपवास, तेला।

अणु - पुद्गल का ऐसा अविभागी अंश, जिसका आदि, मध्य, अन्त एक-दूसरे से भिन्न नहीं है, और जो अतीन्द्रिय है।

अणु - जो प्रदेश मात्र में होने वाले स्पर्शादि पर्यायों को उत्पन्न करने में समर्थ है, ऐसे पुद्गल के अविभागी अंश को अणु कहा जाता है।

अणुव्रत - हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का यथाशक्ति एकदेशीय त्याग। यह शील गृहस्थ श्रावकों का है।

अतिक्रम - मानसिक शुद्धि के अभाव को अतिक्रम कहते हैं, अथवा दिग्व्रत में जो दिशाओं का प्रमाण स्वीकार किया गया है, उसका उल्लंघन करना, यह दिग्व्रत का अतिक्रम है।

अतिचार - व्रतभंग के लिए सामग्री एकत्रित करना या एक देश से व्रत का खंडन करना।

अतीन्द्रिय सुख - इंद्रिय और मन की अपेक्षा न रखकर आत्म मात्र की अपेक्षा से जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है, वह अतीन्द्रिय सुख है।

अतिशय - सामान्यतया मनुष्य में होने वाली असाधारण विशेषताओं से भी अत्यधिक विशिष्टता।

अर्थावग्रह - विषय और इंद्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर "यह कुछ है" ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। अथवा - पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं।

अधःप्रवृत्तिकरण - अधःप्रवृत्तिकरण परिणाम वे हैं, जो अधस्तन समयवर्ती परिणाम उपरितन समयवर्ती परिणामों के साथ कदाचित समानता रखते हैं उसका दूसरा नाम यथाप्रवृत्तकरण भी है। ये परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाये जाते हैं।

अधःप्रवृत्तिकरण विशुद्धि - प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनंत गुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनंत गुणे विशुद्ध होते हैं। इस तरह अंतर्मुहूर्त के समयों के प्रमाण है। उन परिणामों में समयोत्तर क्रम से अनंत गुणी विशुद्धि समझनी चाहिए।

अधर्मद्रव्य - जो स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय - जो स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अधिगम - जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते है, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं।

अधिगम सम्यग्दर्शन - परोपदेश से, जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

अद्धाकाल - चद्र, सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समयादि रूप काल अढ़ाई द्वीप में प्रवर्तमान है, वह अद्धाकाल है।

अद्धापल्योपम - उद्धारपल्य के रोमखडों में से प्रत्येक रोमखड के कल्पना के द्वारा उतने खड करें जितने सौ वर्ष के समय होते हैं और उनको पल्य में भरने को अद्धापल्य कहते हैं। अद्धापल्य में से प्रति समय रोमखडों को निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धापल्योपम कहते हैं।

अध्यवसाय - स्थितिबध के कारणभूत कषायजन्य आत्मपरिणाम।

अद्धासमय - काल के अविभागी अश को अद्धासमय कहते हैं।

अद्धासागर - दस कोटाकोटी अद्धापल्योपमों का एक अद्धासागर होता है।

अध्ययन - जो शुभ अध्यात्म (चित्त) को उत्पन्न करता है, वह अध्ययन हैं। अथवा जो निर्मल चित्त वृत्ति को लाता है, उसका नाम अध्ययन है, अथवा जिसके द्वारा बोध, सयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अध्ययन है।

अध्रुवसत्ता प्रकृति - मिथ्यात्व आदि दशा में जिस प्रकृति का सत्ता का नियम न हो यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय सत्ता में न हो।

अन्त: कोडाकोडी - कुछ कम एक कोडाकोडी।

अनत - आय रहित और निरतर व्यय-सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो अथवा जो राशि एक मात्र केवलज्ञान का ही विषय हो, वह अनत कहलाती है।

अनतकाय - जिन अनंत जीवों का एक साधारण शरीर हो और जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होकर पुन उग जाते हैं।

अनंतवीर्य - वीर्यांतराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वह अनतवीर्य है।

अनन्तानुबधी - जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्त काल तक ससार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबधी कहते हैं।

अनगार - अपवाद रहित ग्रहण की हुई व्रतचर्या। गृह रहित साधु।

अनर्थदंड विरति - जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, केवल पाप का ही सचय हो, ऐसे पापोपदेश को छोड़ना या त्याग करना अनर्थदड विरति कहलाता है।

अनपवर्तनीय आयु - जो आयु किसी भी कारण से कम न हो। जितने काल तक के लिए बाधी गई है, उतने काल तक भोगी जाए, वह आयु अनपवर्तनीय या अनपवर्त्त्य आयु कहलाती है।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्व - सत्यासत्य की परीक्षा किए बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना।

अनशन - यावज्जीवन या परिमित काल के लिये तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करना।

अनाचार - विषयों में आसक्ति रखने को अनाचार कहते हैं।

अनादि अनन्त - जिस बध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादि काल से निराबाध गति से चला आ रहा है, मध्य में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे कभी होगा, ऐसे बंध या उदय को अनादि अनंत कहते हैं।

अनादि-सान्त - जिस बध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादिकाल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है लेकिन आगे व्युच्छिन्न हो जाएगा वह अनादि-सान्त है।

अनाभोग-मिथ्यात्व - अज्ञानजन्य अतत्त्वरुचि।

अनाहारक - ओज, रोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को न करने वाले जीव अनाहारक होते हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान - जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के अंदर वर्तमान सर्वजीवों के परिणाम परस्पर भिन्न न होकर समान हो, वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है।

अनिर्हारिम - जो साधु अरण्य में ही पादोपगमनपूर्वक देह त्याग करते हैं, उनका शव संस्कार के लिये कही बाहर नही ले जाया जाता, अत वह देह त्याग अनिर्हारिम कहलाता है।

अनुकपा - तृषित, बुभुक्षित प्राणी को देखकर उसके दु ख से स्वय दु खी होना और मन में उसके उद्धार का चिंतन करना, अनुकपा है।

अनुप्रेक्षा - शरीर आदि के स्वभाव का चिंतन करना अथवा पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

अनुभाग - कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभाशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, वह अनुभाग है।

अनुभाग बध - जैसे मोदक में स्निग्ध, मधुर आदि रस एक गुणे दुगुणे आदि रूप से रहता है, उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ या अशुभ, तीव्र या मदादि रस होता है, वह अनुभाग बध है। अथवा - कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं की फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मदता का निश्चय करना अनुभाग बध कहलाता है।

अनुमान - साध्य के साथ अविनाभाव सबध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है।

अनुयोग - अर्थ के साधु सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है, अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।

अनुत्कृष्ट बध - एक समय में कम उत्कृष्ट स्थिति बध से लेकर जघन्य स्थिति बध तक के सभी बध।

अनुश्रेणी - लोक के मध्यभाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाश प्रदेशों की पक्ति अनुक्रम से अवस्थित है, वह अनुश्रेणी है।

अनुसारी - गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रथ आदि, मध्य या अत के एक बीज पद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रथ को जान लेना, अनुसारी कहलाता है

अनेकात - एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अन्नपान निरोध - मानव व पशु आदि प्राणियों को भोजन के समय पर उन्हें भोजन-पान न देना अन्न-पान निरोध नामक अतिचार है।

अन्यत्व भावना - जीव के शरीर से पृथक् होने पर उस शरीर से सबद्ध पुत्र-मित्र-कलत्रादि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सबध नही है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अन्यथानुपपत्ति - साध्य के अभाव में हेतु घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहा है।

अन्तरकरण - एकआवली या अन्तरमुहूर्त प्रमाण नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनको बधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण के लिए जो क्रिया की जाती है और उसमें जो काल लगता है उसे भी उपचार से अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त - मुहूर्त से एक समय कम और आवली से एक समय अधिक अर्थात् सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है। ऐसे असख्य समय का ए[illegible] काल होता है। हृष्टपुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चित पुख्त वय के मनवाले [illegible] हृदय की एक धडकन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं।

९ स्तोक (४९ प्राण) = १ लव। और ७७ लव (७७३ प्राण) = १ मुहूर्त अथवा दो घड़ी (४८ मिनिट) इससे कम काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। उसे भिन्न मुहूर्त भी कहते हैं।

अन्तरात्मा - आठ मद रहित होकर देह और जीव के पार्थक्य को जानने वाला।

अन्तराय - ज्ञानाभ्यास के साधनों में विघ्न डालना विद्यार्थियों के लिये प्राप्त होने वाले अभ्यास के साधनों की प्राप्ति न होने देना आदि अन्तराय कहलाता है।

अन्तराय कर्म - जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तिओं का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्यलिंग सिद्ध - परिव्राजक आदि अन्य लिंगों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिंग सिद्ध कहा जाता है।

अपकर्षण - कर्म प्रदेशों की स्थितियों को हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अप्कायिक जीव -जल ही जिनका शरीर हो, वह अप्कायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधि ज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थित रहता है और अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

अपध्यान - राग, द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बधन, छेदन एवं पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपर्याप्ति - अपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तक - जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हुई हों अर्थात् जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा न बाध लिया हो और जो स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी होने से पहले ही मरने वाला हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्था में मरने वाले जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके चौथी (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्ति अधूरी रहने पर ही मरते हैं, पहले नही। क्योंकि आगामी भव की आयु बाध कर ही जीव मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्ही जीवों के होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हों।

अपवर्ग - जहाँ जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यत विनाश हो जाता है, वह मोक्ष।

अपवर्तन - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग फलनिमित्तक शक्ति में हानि।

अपवर्त्तना - बद्ध कर्मो की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय क्षेत्र से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण - जिस वीर्य विशेष से पहले बधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अनुभाग बध - जैसे मोदक में स्निग्ध, मधुर आदि रस एक गुणे दुगुणे आदि रूप से रहता है, उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ या अशुभ, तीव्र या मदादि रस होता है, वह अनुभाग बध है। अथवा - कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं की फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मदता का निश्चय करना अनुभाग बध कहलाता है।

अनुमान - साध्य के साथ अविनाभाव सबध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है।

अनुयोग - अर्थ के साधु सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है, अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।

अनुत्कृष्ट बध - एक समय में कम उत्कृष्ट स्थिति बध से लेकर जघन्य स्थिति बध तक के सभी बध।

अनुश्रेणी - लोक के मध्यभाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाश प्रदेशों की पक्ति अनुक्रम से अवस्थित है, वह अनुश्रेणी है।

अनुसारी - गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रथ आदि, मध्य या अत के एक बीज पद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रथ को जान लेना, अनुसारी कहलाता है

अनेकात - एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अन्नपान निरोध - मानव व पशु आदि प्राणियों को भोजन के समय पर उन्हें भोजन-पान न देना अन्न-पान निरोध नामक अतिचार है।

अन्यत्व भावना - जीव के शरीर से पृथक् होने पर उस शरीर से सबद्ध पुत्र-मित्र-कलत्रादि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सबध नही है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अन्यथानुपपत्ति - साध्य के अभाव में हेतु घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहा है।

अन्तरकरण - एकआवली या अन्तरमुहूर्त प्रमाण नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनको बधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण के लिए जो क्रिया की जाती है और उसमें जो काल लगता है उसे भी उपचार से अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त - मुहूर्त से एक समय कम और आवली से एक समय अधिक अर्थात् सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है। ऐसे असंख्य समय का एक श्वासोच्छ्वास काल होता है। हृष्टपुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चित पुख्त वय के मनवाले उमर लायक मनुष्य के हृदय की एक धडकन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं। ऐसे ७ प्राण = [illegible] स्तोक

९ स्तोक (४९ प्राण) = १ लव। और ७७ लव (७७३ प्राण) = १ मुहूर्त अथवा दो घड़ी (४८ मिनिट) इससे कम काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। उसे भिन्न मुहूर्त भी कहते हैं।

अन्तरात्मा - आठ मद रहित होकर देह और जीव के पार्थक्य को जानने वाला।

अन्तराय - ज्ञानाभ्यास के साधनों में विघ्न डालना विद्यार्थियों के लिये प्राप्त होने वाले अभ्यास के साधनों की प्राप्ति न होने देना आदि अन्तराय कहलाता है।

अन्तराय कर्म - जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तिओं का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्यलिंग सिद्ध - परिव्राजक आदि अन्य लिंगों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिंग सिद्ध कहा जाता है।

अपकर्षण - कर्म प्रदेशों की स्थितियों को हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अप्कायिक जीव -जल ही जिनका शरीर हो, वह अप्कायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधि ज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थित रहता है और अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

अपध्यान - राग, द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बधन, छेदन एवं पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपर्याप्ति - अपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तक - जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हुई हों अर्थात् जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा न बाध लिया हो और जो स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी होने से पहले ही मरने वाला हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्था में मरने वाले जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके चौथी (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्ति अधूरी रहने पर ही मरते हैं, पहले नही। क्योंकि आगामी भव की आयु बाध कर ही जीव मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्ही जीवों के होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हों।

अपवर्ग - जहाँ जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यत विनाश हो जाता है, वह मोक्ष।

अपवर्तन - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग फलनिमित्तक शक्ति में हानि।

अपवर्तना - बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय क्षेत्र से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण - जिस वीर्य विशेष से पहले बधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अपवर्तनीय आयु - बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्तनीय आयु या अपवर्त्य आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि, जल में डूबने, शस्त्रघात, विषपानादि बाह्य कारणों से १००-५० आदि वर्षो के लिए बाधी गई आयु को अतर्मुहूर्त में भोग लेना आयु का अपवर्त्तन है। इस आयु को जनसाधारण अकालमृत्यु भी कहते हैं।

अपरविदेह - मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर जो विदेह क्षेत्र का आधा भाग अवस्थित है, वह अपरविदेह है।

अपरावर्तमाना प्रकृति - किसी दूसरी प्रकृति के बध, उदय अथवा दोनों के बिना जिस प्रकृति के बध, उदय अथवा दोनों होते हैं।

अपरिग्रह - मोह के उदय से "यह मेरा है" इस प्रकार की ममत्व बुद्धि परिग्रह है, और परिग्रह से निवर्त होना अपरिग्रह है।

अपरिग्रह महाव्रत - धनधान्यादि सर्व प्रकार का यावज्जीवन मन-वचन-काया से त्याग करना।

अपूर्वकरण - वह परिणाम, जिसके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रथी को तोड़कर लाघ जाता है।

अपूर्व स्थिति बन्ध - पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बाधना अपूर्व स्थिति बध कहलाता है।

अप्रत्याख्यान - जिन कर्म के उदय से अल्प प्रत्याख्यान भी न हो सके।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय - जो [illegible] आत्मा के देशविरति गुण-चरित्र (श्रावकपन) का घात करे, अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से श्रावक धर्म की प्राप्ति नही होती।

अप्राप्यकारी - पदार्थों के साथ बिना सयोग किए ही पदार्थ का ज्ञान करना।

अप्रमत्तसंयत - सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित और व्रत, गुण, शील से युक्त, सद्ध्यान में लीन, ऐसे श्रमण अप्रमत्तसयत हैं।

अप्रशस्त विहायोगति - जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ, शृगाल आदि के सदृश निंद्य विचार पैदा हो, वह अप्रशस्त विहायोगति है।

अबंधकाल - पर-भव सम्बन्धी आयुकर्म के बधनकाल से पहले की अवस्था।

अबंध प्रकृति - विवक्षित गुणस्थान में वह कर्म प्रकृति न बधे किन्तु आगे के स्थान में उस कर्म का बध हो, उसे अबध प्रकृति कहते हैं।

अबाधाकाल - बधन के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नही पहुँचाता उदय में नहीं आता है - उतना समय अबाधाकाल कहलाता है।

अभव्य - वे जीव जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता ही नही रखते।

अभयदान - मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना।

अभिगम - श्रमण के स्थान में प्रविष्ट होते ही श्रावक द्वारा आचरण करने योग्य पाँच विषय इस प्रकार हैं - (१) सचित्त द्रव्यों का त्याग (२) अचित्त द्रव्यों की मर्यादा करना। (३) उत्तरासग करना।(४) साधु दृष्टिगोचर होते ही करबद्ध होना। (५) मन को एकाग्र करना।

अभिग्रहिक मिथ्यात्व - तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही किसी एक सिद्धात का पक्ष लेकर अन्य पक्ष का खडन करना।

अभिग्रहीत मिथ्यात्व - कारणवश, एकान्तिक कदाग्रह से होने वाले पदार्थ के अयथार्थ श्रद्धान को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अभिनिवेशिक मिथ्यात्व - अपने पक्ष को असत्य जानकर भी स्थापना करने के लिए दुर्निवेशक (दुराग्रह) करना।

अभीक्ष्ण - सतत, निरन्तर, सम्यग्ज्ञान में नित्य लीन, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सतत निमग्न।

अमनस्क - द्रव्य-भाव स्वरूप मन से रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं।

अमूर्त - जीव-जिन विषयों को इन्द्रियों से ग्रहण कर सकता है, वे मूर्त होते हैं, उनसे भिन्न शेष सभी अमूर्त हैं।

अयोगीकेवली - जो शुक्ल ध्यान रूप अग्नि या घातिया कर्मों को नष्ट करके योग से रहित हो जाते हैं, वे अयोगी केवली या अयोगकेवली कहलाते हैं।

अवग्रह - पदार्थ और उसे विषय करने वाली इद्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनंतर उसका जो सामान्य प्रतिभास या दर्शन होता है, उसके अनतर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है, वह अवग्रह है।

अवधिज्ञान - मन और इन्द्रिय की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त-द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अवसर्पिणीकाल - कालचक्र का वह विभाग जिसमें प्राणियों के संहनन और संस्थान क्रमश हीन होते हैं, आयु और अवगाहना घटती जाती है तथा उत्थान, कर्म बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का ह्रास होता जाता है। इस समय में पुद्गलों के वर्ण, गध, रस और स्पर्श भी हीन होते जाते हैं। शुभ भाव घटते हैं ओर अशुभ भाव बढ़ते हैं। इसके छ विभाग हैं - (१) सुषम-सुषम (२) सुषम (३) सुषम-दु षम (४) दु षम-सुषम

(५) दु षम और (६) दु पम-दु पम। अवसर्पिणीकाल १० कोडाकोडी सागरोपम का होता है।

अवाय - ईहा के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थ के विषय में कुछ अधिक जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे यह रस्सी ही है, सर्प नही। इसका समय अन्तर्मुहूर्त है।

अविग्रह गति - विग्रह का अर्थ रुकावट या वक्रता है। जिससे जीव की गति वक्र या मोड़ रहित होती है, वह अविग्रह गति है। एक समय वाली गति अविग्रह गति है।

अविपाक निर्जरा- जिस कर्म का उदय सप्रति प्राप्त नही हुआ है, उसे तपश्चरण आदि रूप औपक्रमिक क्रिया विशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावलि में प्रवेश कराके आम्र आदि फलों के पाक के सदृश वेदन करना अविपाक निर्जरा है।अथवा -उदयावलि के बाहर स्थित कर्म को तप आदि क्रियाविशेष के सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाना।

अविभाग प्रतिच्छेद - वीर्य शक्ति के अविभागी अश या भाग। वीर्य परमाणु, भाव परमाणु इसके दूसरे नाम हैं।

अविरति - हिंसादि पापों से निवृत्त होने का नाम विरति है और इस प्रकार की विरति का अभाव अविरति है। अथवा दोषों से विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम है जो चारित्र ग्रहण करने में विघ्न डालता है।

अविचार - व्यजन, अर्थ, योग, से रहित ध्यान (व्यजन=प्रदेश परिणति से प्राप्त अवस्था, अर्थ = प्रदेशत्व को छोड़ अन्य समस्त गुणों की परिणति, योग = मन, वचन, काय)

अव्यवहार राशि - जो जीव अनतकाल से निगोद में ही पड़े हों, जिन्होंने कभी निगोद को नही छोड़ा हो, उन्हें अव्यवहार राशि कहते हैं।

अव्याबाध - जो अनुपम, अपरिमित, अविनश्वर, कर्ममल से रहित, जन्म, जरा, रोग, भय आदि की बाधा से रहित सुख है, वह अव्याबाधा सुख है।

अरिहत - राग द्वेष रूप शत्रुओं को पराजित करने वाले सशरीर परमात्मा व विशिष्ट महिमा - सपन्न पुरूष।

अरूपी - जो शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श रहित हैं, वे अरूपी हैं।

अलोक - लोक के बाहर जितना भी अनत प्रकाश है, वह सब अलोकाकाश अथवा अलोक कहलाता है।

अल्पतर बध - अधिक कर्म प्रकृतियों का बध करके कम प्रकृतियों के बध करने को अल्पतर बध कहते हैं।

अल्पबहुत्व – पदार्थों का परस्पर न्यूनाधिक-अल्पाधिक भाव।

अश्वकर्णकरण काल – घोड़े के कान को अश्वकर्ण कहते हैं। यह मूल में बड़ा और ऊपर की ओर क्रम से घटता हुआ होता है। इसी प्रकार जिस करण में क्रोध से लेकर लोभ तक चारों सज्वलनों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनत-गुणहीन हो जाता है, उस करण को अश्वकर्ण कहते हैं। इसके आदोलकरण और उद्वर्तनापवर्तनकरण ये दो नाम और देखने को मिलते हैं।

अश्रुत निश्रित – बिना शास्त्राभ्यास के स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के वश, जो औत्पातिकी, वैनयिकी आदि चार बुद्धि से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अश्रुतनिश्रित अभिनिबोधिक मतिज्ञान है।

असंख्य प्रदेशी – वस्तु के अविभाज्य अश को प्रदेश कहते हैं। जिस में ऐसे प्रदेशों की सख्या असख्य हो, वह असख्य प्रदेशी कहलाता है। प्रत्येक जीव असख्य प्रदेशी होता है।

असख्याताणु वर्गणा – असख्यात प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा।

असयम – षट्काय के जीवों का घात करने एव इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित न रखने का नाम असयम है।

असंज्ञी – जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि ग्रहण न कर सके। अथवा जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नही है अथवा जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति निवृत्ति नही होती है, वे असज्ञी हैं।

असत् – उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप से विपरीत सत्-असत् है।

असाता वेदनीय – जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति में दु ख का अनुभव होता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

अस्ति काय – 'अस्ति' शब्द का अर्थ है – 'प्रदेश' और 'काय' शब्द का अर्थ है 'राशि' – प्रदेशों की राशी।प्रदेशों की राशी वाले द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं। यथा – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुदुगलास्तिकाय। यह लोक पाँच अस्तिकाय रूप हैं। धर्मास्तिकाय 'गति' में सहायक है। अधर्मास्तिकाय 'स्थिति' में सहायक है। आकाशास्तिकाय 'अवकाश' या 'स्थान' में और जीवास्तिकाय 'उपयोग' में सहायक है। पुद्गलास्तिकाय सडन-गभन-पूरण-विध्वसन में सहायक है।

प्रत्येक 'अस्तिकाय' के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पाँच-पाँच भेद हैं।

असुर - जिनका स्वभाव अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखनेवाले सुरों से विपरीत होता है, वे असुर हैं।

अहिंसा अणुव्रत - मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से त्रस जीवों की सकल्पिक हिंसा का परित्याग करना।

अहोरात्र - तीस मुहूर्त प्रमाण काल।

अज्ञान - मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान ही अज्ञान है।

अज्ञान मिथ्यात्व - जीवादि पदार्थों को "यही है" "इसी प्रकार है" इस तरह विशेष रूप से न समझना।

अज्ञान व्यवहार - देशातर-स्थिर गुरु को अपने दोषों की आलोचना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगम भाषा में पत्र लिखकर भेजने एव गुरु के द्वारा उसे भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही निश्चित अर्थ के भेजने को अज्ञान व्यवहार कहा जाता है।

अक्षर - ज्ञान का नाम अक्षर है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुतज्ञान स्वय अक्षर कहलाता है।

अक्षीण महानस - तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। लाभातराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशमन युक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी प्राप्त अन्न को जब तक स्वय न खा ले, तब तक उस अन्न से शतश व सहस्रश व्यक्तियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

अकाम निर्जरा - अनिच्छापूर्वक दु ख के सहने से जो कर्म निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है।

आकाश - जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और सभी जीवों को स्थान देता है, वह आकाश है।

आगम - पूर्वपरविरोधादि दोषों से रहित, शुद्ध, आप्त के वचन को आगम कहते हैं।

आऊज्जीकरण - केवली-समुद्घात के पहले किए जाने वाला शुभ-व्यापार-योग अथवा मन वचन काय की शुभ क्रिया, एक अन्तर्मुहूर्त तक कर्म पुद्गल को उदयावलिका में डालने रूप उदीरणा विशेष।

आगाल - द्वितीय स्थिति के दलिकों को अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थिति के दलिकों में पहुँचाना।

आचार - जिस में श्रमणों के आचार, भिक्षा-विधि, विनयफल, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण, सयमयात्रा आदि का कथन किया गया है, उसका नाम आचार है।

आर्जव धर्म - माया का परित्याग कर निर्मल अत करण से प्रवृत्ति करना आर्जव धर्म है।

आतप - सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है।

आतापना - ग्रीष्म, शीत आदि से शरीर को तापित करना।

आत्म-तत्त्व - मन की विक्षेप रहित अवस्था का नाम आत्मतत्त्व है।

आत्म-प्रवाद - आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म एव षट्जीवनिकायों के प्रतिपादित करने वाले पूर्व का नाम आत्म प्रवाद है।

आत्मांगुल - भरत, ऐरावत क्षेत्रों में समुत्पन्न विभिन्न काल वर्ती मानवों के अगुल को उस समय के अगुल प्रमाण को आत्मागुल कहा जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना अगुल होता है।

आनुपूर्वी - जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी कहते हैं।

आयंबिल - जिसमें विगय-घृत, दही, दूध, तेल, और मिष्टान त्यागकर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाए और गरम पानी पिया जाए वह आयबिल है।

आर्य - जो गुणों से युक्त हो, अथवा गुणीजन जिन की सेवा शुश्रुषा करते हैं, वे आर्य।

आयु कर्म - जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है और क्षय होने से मरता है, उसे आयु-कर्म कहते हैं।

आवली - असख्यात समय की एक आवली होती है।

आवश्यक - जो अवश्य ही करने योग्य है, वह आवश्यक है।

आवीचि मरण - 'वीचि' नाम तरंग का है। तरग के समान जो निरंतर आयुकर्म के निषकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है, उसके अनुभव को आवीचि मरण कहते हैं।

आराधक - जो पाँच इद्रियों को अपने अधीन रखता है, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में पूर्ण सावधान है, तप, नियम व सयम में जो सतत सलग्न है, वह आराधक कहलाता हैं।

आरभ - जीवों को कष्ट पहुँचाने वाली जो प्रवृत्ति है, वह आरभ है।

आरभिकी क्रिया - पृथ्वीकाय आदि जीवों के संहार रूप आरभ ही जिस क्रिया का रूप हो, वह आरंभिकी क्रिया है।

आलबन - सपूर्ण लोक ध्यान के आलबनों से भरा है। ध्याता श्रमण जिस किसी भी वस्तु को आधार बनाकर मन से चिंतन करता है, वही वस्तु उसके ध्यान का आलबन बन जाती है।

आलोचना - गुरु के सम्मुख दस दोषों से रहित अपने प्रमाद जनित दोषों का निवेदन करना।

आशातना - ज्ञानियों की निंदा करना, उनके बारे में झूठी बातें कहना, मर्मच्छेदी बातें लोक में फैलाना, उन्हें मार्मिक पीडा हो ऐसा कपट-जाल फैलाना आशातना है।

आसन्न भव्य - निकट काल में ही मोक्ष को प्राप्त करने वाला जीव।

आसेवना कुशील - सयम के विपरीत आराधना या असयम का सेवन करने वाले श्रमण को आसेवना कुशील कहते हैं।

आस्त्रव - शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्त्रव कहते हैं। शुभाशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्त्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभाशुभ परिणामों को भावास्त्रव कहते हैं।

आहार - शरीर नाम कर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन बनने योग्य नो कर्म वर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं। दूसरे शब्दों में ३ शरीर और ६ पर्याप्तियों की जीव की शक्ति विशेष की परिपूर्णता।

आहारक - ओज, रोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण करने वाले जीव को आहारक कहते हैं।अथवा समय-समय जो आहार करे उसे आहारक कहते हैं।

आहारक-शरीर - चतुदर्श पूर्वधर मुनि विशिष्ट कार्य हेतु, जैसे किसी भी वस्तु में सदेह समुत्पन्न हो जाए या तीर्थंकर के ऋद्धि दर्शन की इच्छा हो जाए तब आहारक वर्गणा द्वारा जो स्व-हस्त प्रमाण पुतला (शरीर) बनाते हैं वह आहारक शरीर है।

इभ्य - जिसके पास सचित सुवर्ण-रत्नादि राशि है।

इत्वर-अनशन - परिमित समय तक के लिए जो त्याग किया जाता है, वह इत्वर अनशन है। भ ऋषभदेव के समय में उत्कृष्ट १२ महिने से अधिक (सवत्सर) अनशन तप था। भ अजीत से लेकर भ पार्श्व तक उत्कृष्ट ८ मास का अनशन था। भ महावीर के समय ६ मास का अनशन था।

ईर्यापथ क्रिया - ईर्या का अर्थ योग है। एकमात्र उस योग के द्वारा जो कर्म आता है, वह ईर्यापथ-कर्म है। ईर्यापथ-कर्म की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ है।

ईर्यासमिति - ज्ञान, दर्शन एव चरित्र की अभिवृद्धि के निमित्त युग परिमाण भूमि को दिन में सम्यक् प्रकार से निहारते हुए विवेकपूर्वक चलना तथा स्वाध्याय व इद्रियों के विषयों का वर्जन करते हुए चलना।

ईहा - अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए सामान्य विषय को, विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहा जाता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। जैसे-यह रस्सी है या सर्प है।

इंगिनी अनशन – आगम विहित एक क्रिया विशेष का नाम इगिनी है। उसे स्वीकार करने वाला साधक आयु की हानि को जानकर जीवजतु रहित एकात स्थान में रहता हुआ चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है। वह छाया से उष्ण प्रदेश में व उष्ण से छाया प्रदेश में सक्रमण करता हुआ सावधान रहकर एव ध्यान में रत रहकर प्राणों का परित्याग करता है।

इद्र – अन्य देवों में नही पाई जानेवाली असाधारण महिमादि ऋद्धियों के धारक ऐसे देवाधिपति।

इंद्रिय – परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाली आत्मा को इद्र के लिंग या चिह्न को इद्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ उपलब्धि में निमित्त होती है। अथवा आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर स्वय पदार्थ का ज्ञान करने में असमर्थ-स्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ का ज्ञान कराने में निमित्त-भूत कारण, अथवा जिसके द्वारा आत्मा को जाना जाए अथवा अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर इन्द्र के समान जो समर्थ एव स्वतत्र हों उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

इद्रिय सयम – पाँचों इंद्रियों के विषयों में आसक्ति का अभाव इद्रिय-सयम है।

उच्च गोत्र – जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है, वह उच्च गोत्र कर्म है।

उच्छ्वास निश्वास – सख्यात आवली प्रमाण काल को उच्छ्वास निश्वास कहते हैं।

उत्तर प्रकृति – कर्मों के मुख्य भेदों के अवान्तर भेद ।

उत्तर गुण – मूलगुण की रक्षा के लिए की जानेवाली प्रवृत्तियाँ मूलगुणों से भिन्न पिंड-विशुद्धि, समिति, भावना, तप प्रतिमा, अभिग्रह आदि साधुओं के उत्तरगुण हैं। और श्रावक के लिए दिशाव्रतादि।

उत्कटासन – दोनों घुटनों के मध्य में मस्तक झुकाकर ठहरना उत्कट आसन है।

उदय – उदयकाल आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् बाधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना, उद्वर्तना आदि करणों से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावली में प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है अथवा काल प्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभव करने को उदय कहते हैं।

उदयकाल – अबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते हैं। अथवा कर्म के फलभोग के नियतकाल को उदयकाल कहा जाता है।

उदीरणा – उदयकाल प्राप्त हुए बिना ही आत्मा के सामर्थ्य विशेष से कर्मों को उदय में लाना उदीरणा है। अर्थात आबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक

पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्न - विशेष से उदयावली में लाकर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा कहलाता है। अथवा उदयकाल को प्राप्त नहीं हुए कर्मों का आत्मा के अध्यवसाय विशेष-प्रयत्नविशेष से नियत समय से पूर्व उदय-हेतु उदयावली में प्रविष्ट करना, अवस्थित करना या नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना अथवा अनुदयकाल को प्राप्त कर्मों को फलोदय की स्थिति में ला देना।

उद्वर्तना - बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में स्थिति विशेष, भावविशेष और अध्यवसाय विशेष के कारण वृद्धि हो जाना।

उद्वलन - यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमना।

उद्धार पल्य - व्यवहार पल्य के एक-एक रोमखड के कल्पना के द्वारा असख्यात कोटि वर्ष के समय जितने खड करके उन सब खडों को पल्य में भरना उद्धारपल्य कहलाता है।

उर्ध्वलोक - मध्यलोक के ऊपर जो खड़े किए हुए मृदग के समान लोक है, वह उर्ध्वलोक है।

उपचय - गृहित कर्म पुद्गलों के अबाधाकाल को छोड़कर आगे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का स्वरूप से सिंचन करना, क्षेपन करना उपचय है।

उपपात - देव और नारकों का जन्म उपपात कहलाता है।

उपपात जन्म - उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिपात करना उपपात जन्म कहा जाता है।

उपभोग परिभोग व्रत-अन्न,पान,खाद्य,स्वाद व गध माला आदि (उपभोग) तथा वस्त्र, अलकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि (परिभोग) बहुत पापजनक वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करना तथा अल्प सावद्य वस्तुओं का प्रमाण करना।

उपभोगातराय - उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे उपभोगातराय कर्म कहते हैं, जो पदार्थ बार-बार भोगे जाए उन्हें उपभोग कहते हैं, जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

उपयोग - चेतना का व्यापार-विशेष ज्ञान और दर्शन। अथवा-जीव का बोध रूप व्यापार अथवा जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य और विशेष स्वरूप जाना जाता है, अथवा आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उपवास - अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुओं का त्याग करना।

उपशम - आत्मा में कारणवश कर्म का फल देने की शान्ति के प्रकट न होने को

उपशम कहते हैं। अथवा-आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना अथवा प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है।

उपशमन - कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सभव नही होती है।

उपशम श्रेणी - जिस श्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उपशम किया जाता है।

उपशांत कषाय - सपूर्ण मोह कर्म का उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को उपशांत कषाय कहते हैं।

उत्सर्ग मार्ग - बाल, वृद्ध आदि श्रमण के द्वारा भी मूलभूत सयम का विनाश न हो, प्रस्तुत दृष्टि से जो शुद्ध आत्म-तत्त्व को साधन भूत अपने योग्य कठोर सयम का आचरण करता है, वह उत्सर्ग मार्ग है।

उत्सर्पिणी काल - जिस काल में जीवों के सहनन और सस्थान क्रमश अधिकाधिक शुभ होते जाएँ, आयु और अवगाहना बढते जाएँ तथा उत्थाण-कर्म-वल-वीर्य-पुरुषाकार पराक्रम की वृद्धि होती जाए, वह 'उत्सर्पिणी' काल है। इस काल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमश शुभ होते जाते हैं। अशुभतम, अशुभतर और अशुभ भाव क्रमश· शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते हैं। यह काल १० कोडाकोडी सागरोपम का होता है।

उत्सेधांगुल - आठ यव मध्यों का एक उत्सेधागुल होता है।

उपासकदशा - जिस अग में श्रमणोपासकों के अणुव्रत, गुणव्रत, पौषध, उपवास आदि की विधि, प्रतिमा की चर्चा है।

उपांग - अगों के विषय को स्पष्ट करने वाले श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम। इनकी सख्या १२ है।

१) औपपातिक, २) राजप्रश्नीय, ३) जीवाभिगम, ४) प्रज्ञापना, ५)सूर्यप्रज्ञप्ति, ६) जबूद्वीप प्रज्ञप्ति, ७) चद्रप्रज्ञप्ति ८) निरयावलिका, ९) कल्पावतसिका, १०) पुष्पिका, ११) पुष्पचूलिका और १२) वृष्णिदशा।

उपोद्घात - जिसका प्रयोजन उपक्रम से उद्दिष्ट वस्तु का प्रबोध करना होता है, वह उपोद्घात है।

एकरात्रि प्रतिमा - मुनि द्वारा एक चौविहार अष्टम भक्त में जिनमुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अगुल का अतर रखते हुए सम अवस्था में खडे रहना), प्रलम्ब बाहू, अनिमिष नयन, एक पुद्गल-निरुद्ध दृष्टि और झुके हुए बदन से एक रात तक गाँव आदि के बाहर कायोत्सर्ग करना।

विशिष्ट सहनन, धृति, महासत्त्व से युक्त भवितात्मा गुरु द्वारा अनुज्ञात होकर इस प्रतिमा को अंगीकार कर सकता है।

एकत्व वितर्क विचार - शुक्ल ध्यान का भेद, अर्थ, व्यजन, योग की सक्रान्ति से रहित केवल एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चिन्तवन।

एकावली तप - विशेष आकार की कल्पना से किया जानेवाला तप। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है - एक परिपाटी (क्रम) में १ वर्ष २ महिने और २ दिन का समय लगता है। इसकी ४ परिपाटी होती हैं। कुल ४ वर्ष ८ महिने और ८ दिन का समय लगता है। प्रथम परिपाटी के पारणे में विकृति का वर्जन आवश्यक नही होता है। दूसरी में विकृति-वर्जन, तीसरी में लेप त्याग और चौथी में आयविल आवश्यक होता है।

एकाशन- जिस नियम विशेष में एक आसन में स्थिर होकर जो भोजन किया जाता है वह एकाशन है, अथवा दिन में एक बार आहार ग्रहण करना एकाशन कहलाता है।

एकेद्रिय - वे जीव, जिनके एकेंद्रिय जाति नाम कर्म का उदय होता है, और जिन में एक स्पर्शन इद्रिय (त्वचा) ही पाई जाती है।

एषणा समिति - कृत, कारित एव अनुमोदना दोषों से रहित दूसरों के द्वारा दिए गए प्रासुक व प्रशस्त भोजन को ग्रहण करना एषणा समिति है।

एवभूत नय - जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो, उसका उसी प्रकार से निश्चय कराने वाले नय को एवभूत नय कहते हैं।

ओज आहार - जन्म के समय जो सर्वप्रथम आहार ग्रहण किया जाता है, वह ओज आहार है।

औदारिक शरीर - जिस शरीर को तीर्थंकर आदि महापुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो औदारिक वर्गणाओं से निष्पन्न मास, हड्डी आदि अवयवों से बना होता है, स्थूल है आदि, वह औदारिक शरीर कहलाता है।

औदारिक मिश्र - प्रारभ किया हुआ औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नही होता, तब तक वह कार्मण शरीर के साथ औदारिक मिश्र कहलाता है।

औद्देशिक - परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रंथ आदि को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्त्र अथवा मकान।

औत्पातिक बुद्धि - अदृष्ट, अश्रुत व अनालोचित ही पदार्थों को सहसा ग्रहण कर कार्यरूप में परिणत करनेवाली बुद्धि।

औपशमिक भाव - मोहनीय कर्म के उपशम से होनेवाला भाव।

औपशमिक सम्यक्त्व - दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा - अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक कुल सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व रुचि व्यजक आत्म परिणाम प्रगट होता है। वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

औपशमिक चारित्र - चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से व्यक्त होने वाला स्थिरात्मक आत्म परिणाम।

औदयिक भाव - कर्म के उदय से उत्पन्न भाव औदयिक भाव है।

कंदर्प - राग के आधिक्य से हास्य-मिश्रित अशिष्ट वचनों को बोलना।

कथा - तप व सयम गुणों के धारक जो समस्त प्राणियों के हितार्थ जिन पवित्र अख्यानों का निरूपण करते हैं, वह कथा है।

कनकावली तप - स्वर्णमणिओं के भूषण विशेष आकार की कल्पना से किया जानेवाला तप। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है। एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच महिने और १२ दिन लगते हैं। पहली परिपाटी के पारणे में विकृति-वर्जन आवश्यक नही है। दूसरी में विकृति का त्याग, तीसरी में लेप का त्याग और चौथी में आयबिल किया जाता है। (चित्र न २) सब मिलाकर चार परिपाटी में ५ वर्ष नव मास अठारह दिन लगते हैं।

कन्दमूल - एक सूई के अग्रभाग पर [illegible] जाए इतने निगोद में असख्यात प्रतर हैं, एक २ प्रतर में असख्यात श्रेणियाँ हैं, एक श्रेणी में असख्यात गोले हैं, एक एक गोले में असख्यात शरीर हैं और एक शरीर में अनत जीव हैं।

कर्म - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों से सश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। इनके ८ भेद हैं - १) ज्ञाना-वरणीय २) दर्शनावरणीय ३) वेदनीय ४) मोहनीय ५) आयु ६) नाम ७) गोत्र ८) अन्तराय।

कर्म उदीरणा - जो कर्म सामान्यत भविष्य में फल देने वाले हैं, उन्हें तपादि द्वारा उसी समय उदय में फलोन्मुख कर झाड़ देना।

कर्म भूमि - जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्ध विद्या), मसि (लेखन और पठन पाठन) और कृषि तथा आजीविका के दूसरे साधन रूप कर्म (व्यवसाय) हों, उन्हें 'कर्मभूमि' कहते हैं। कर्मभूमि पन्द्रह हैं। उनमें से जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरवत और एक महाविदेह हैं। धातकी खण्ड द्वीप में दो भरत, दो ऐरवत, और दो महाविदेह हैं। अर्द्ध पुष्कर द्वीप में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह हैं, इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमि हैं। इन्हें भोगभूमि कहते हैं।

कर्मवर्गणा - कर्म स्कन्धों का समूह।

कर्मरूप परिणमन - कर्म पुद्गलों में जीव के ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ती का हो जाना।

करण - जीव की विशिष्ट शक्ति कर्म बधादि के परिणमन करने में समर्थ होती है, अथवा जीव का परिणाम विशेष करण है।

करण अपर्याप्त - पर्याप्त या अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर भी जब तक करणों-(शरीर, इद्रिय आदि पर्याप्तियों) की पूर्णता न हो तब तक वे जीव करण अपर्याप्त कहलाते हैं।

करणानुयोग - लोक-आलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चार गतियों के स्वरूप को स्पष्ट दिखलाने वाले ज्ञान को करणानुयोग कहा जाता है।

करण पर्याप्त - करण पर्याप्त के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवों ने इद्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करण पर्याप्त हैं। चूकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किए विना इद्रिय पर्याप्ति पूर्ण नही हो सकती है, इसलिए तीनों पर्याप्तियाँ ली गई हैं अथवा जिन जीवों ने अपनी योय पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं वे करण पर्याप्त कहलाते हैं।

करण लब्धि - अनादिकालीन मिथ्यात्व-ग्रथि को भेदने में समर्थ परिणामों या शक्ति का प्राप्त होना।

कषाय - जो आत्मा के गुणों को कषे (नष्ट करें) अथवा जो जन्म-मरण रूपी ससार को वढावें। कष का अर्थ है जन्म-मरणरूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं। अथवा - जो सम्यक्त्व, देश चरित्र, सकलचरित्र और यथाख्यात चरित्र को न होने दे वह कषाय कहलाता है।

कषायकुशील - अन्य कषायों के उदय पर विजय पाकर भी जो केवल सज्वलन कषाय के वशीभूत हैं, वे कषाय-कुशील कहलाते हैं।

कषाय समुद्घात - कषाय की तीव्रता से जीव के प्रदेश शरीर से तिगुना फैलाए जाते हैं, वह कषाय समुद्घात है।

कषाय सलेखना - परिणामों की विशुद्धि का नाम कषाय सलेखना है, जिसमें क्रोधादि कषायों को कृश किया जाता है।

कापोतलेश्या - कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लेश्याजातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना कि जिससे मन, वचन, काया की प्रवृत्ति मे वक्रता ही वक्रता रहे, सरलता न रहे। दूसरों को कष्ट पहुँचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति, नास्तिकता रहे। इन परिणामों को कापोतलेश्या कहा जाता है।

कार्मण शरीर - जो सभी शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है - उनका कारण है - वह कार्मण शरीर है। अथवा ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर।

कार्मण काययोग - कार्मण काय के द्वारा होने वाला योग अर्थात् अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य-शक्ति के निमित्त से आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दन रूप प्रयत्न होना कार्मण काय योग कहलाता है। कार्मण शरीर की सहायता से होने वाली आत्मशक्ति की प्रवृत्ति को कार्मणयोग कहते हैं।

काय- जिसकी रचना एवं वृद्धि औदारिक, वैक्रेय आदि पुद्गलों के स्कध से होती है, अथवा जो नाम कर्म के उदय से निष्पन्न होता है अथवा जाति नाम कर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर कर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय विशेष।

कायक्लेश - कायोत्सर्ग, विविध प्रकार के आसन आदि से शरीर को कष्ट पहुँचाना।

काय-गुप्ति - शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं को करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना, सावधानीपूर्वक उन कार्यों को करना, कायगुप्ति है।

काय योग - शरीरधारी आत्मा की शक्ति के व्यापार विशेष को काययोग कहते हैं, अथवा जिसमें आत्म प्रदेशों का सकोच-विकोच हो, उसे काय कहते हैं और उनके द्वारा होने वाला योग काययोग कहलाता है। अथवा औदारिक आदि सात प्रकार के कायों में जो अन्वय रूप से रहता है, उसे सामान्यत काय कहते हैं और उस काय से उत्पन्न आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह काययोग है।

कायोत्सर्ग - शरीर के ममत्व का परित्याग कर आत्मस्थ होना अथवा जिनेश्वर देवों के गुणों का मन में उत्कीर्तन करना।

काय-स्थिति - एक काय को अर्थात् औदारिक आदि शरीर को न छोड़कर उसके रहने तक विविध भवों को ग्रहण करते हुए जितना काल व्यतीत होता है, वह कायस्थिति है।

कारक-सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं-सामायिक प्रतिक्रमणादि को करना कारक सम्यक्त्व है।

काल - जो पच वर्ण, पच रस, दो गध, अष्ट स्पर्श से रहित, छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप, अगुरु-लघु गुण से सयुक्त होकर वर्तना-स्वय परिणमते हुए द्रव्यों के परिणमन में सहकारिता-लक्षण वाला है, वह काल है।

कीलिका संहनन - हड्डियों की रचना में मर्कटबध और वेष्टन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुडी हो, उसे कीलिका सहनन कहते हैं।

कांक्षा - इस लोक संबधी और परलोक सबधी विषयों की आकाक्षा कांक्षा है, यह सम्यग्दर्शन का अतिचार है।

किट्टीकरण - किट्टी का अर्थ कृश करना है। अत जिस करण में पूर्व स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उनके अनुभाग को अनन्त गुणहीन करके अतराल से स्थापित किया जाता है, उसको किट्टीकरण कहते हैं।

किट्टीवेदन काल - किट्टियों के वेदन करने, अनुभव करने के काल को किट्टीवेदन काल कहते हैं।

किल्विष - जो देव अत्यवासियों के समान होते हैं, वे किल्विष हैं। किल्विष नाम पाप का है। पाप से युक्त देव किल्विषिक कहलाते हैं।

क्रिया - क्रिया नाम गति का है। जो प्रयोग गति, विस्रसा गति और मिश्र गति के भेद से ३ प्रकार की है। (मनुष्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ तीन हैं - कायिक, वाचिक और मानसिक)। क्रिया के तीन वर्गीकरण मिलते हैं - १) सूत्रकृतागानुसार तेरह क्रियाएँ हैं (२८२) २) स्थानाग के अनुसार मुख्य और गौण क्रियाओं के भेद से बहत्तर हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार २५ क्रियाएँ हैं। तत्त्वार्थ सू ६ अ ६ सूत्र)

क्रियावादी - कर्ता के बिना क्रिया सभव नही है। एतद्र्थ उसका समवाय आत्मा में है, ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं। इसी उपाय से वे आत्मा आदि के अस्तित्व को जानते हैं।

कुधर्म - मिथ्यादृष्टियों से प्ररूपित जिसमें हिंसादि पापों की मलिनता होती है, वह धर्म नही, कुधर्म है।

कुब्ज सस्थान - जिस सस्थान वाले का शरीर कुबड़ा हो, वह कुब्ज सस्थान कहा जाता है।

कुल - दीक्षा प्रदान करने वाले आचार्य की शिष्य परपरा अथवा पिता की वश वृद्धि को कुल कहा जाता है।

कुलकर - कर्मभूमि के प्रारभ में जो कुलों की व्यवस्था करने में दक्ष होते हैं, वे कुलकर हैं। भ ऋषभदेव के पिता नाभिराय कुलकर थे।

केवल दर्शन - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अतराय इन ४ घनघाती कर्मों का क्षय होने पर समस्त पदार्थों के भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकाल के पर्यायों को हस्तामलकवत् देखने की शक्ति का प्रकट होना केवल दर्शन है। केवल का अर्थ है अद्वितीय। जो अद्वितीय केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक होते हैं, वे केवली, जिन, अरिहत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहलाते हैं।

केवली समुद्घात - आयुकर्म की स्थिति अल्प और वेदनीय की स्थिति अधिक होने पर उसे अनाभोगपूर्वक अर्थात् बिना उपयोग से आयु को समाप्त करने के लिए केवली भगवान के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं, वह केवली समुद्घात है।

केवलज्ञान - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अतराय इन चार घनघाती कर्मों का क्षय होने पर समस्त पदार्थों के भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकाल के पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना, केवल ज्ञान है। अथवा - ज्ञानावरण कर्म का नि शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब द्रव्य और पर्यायें जानी जाती हैं, उसे केवलज्ञान कहते हैं। किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का विषय करने वाला केवलज्ञान है।

केशाग्र - आठ रथरेणु का देवकुरू और उत्तरकुरू क्षेत्र के मनुष्य का केशाग्र होता है। उनके आठ केशाग्रों का हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष के मनुष्य का एक केशाग्र होता है तथा उनके आठ केशाग्रों का हेमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है, उनके आठ केशाग्रों का पूर्वापर विदेह के मनुष्य का एक केशाग्र होता है और उनके आठ केशाग्रों का भरत, ऐरवत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है।

कोडाकोडी - एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त राशी।

क्रोध - समभाव को भूलकर आक्रोश में भर जाना, दूसरों पर रोष करना क्रोध है। अंतरंग में परम उपशम रूप अनन्त गुण वाली आत्मा में क्षोभ तथा बाह्य विषयों में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आवेश रूप विचार उत्पन्न होने को क्रोध कहते हैं। अथवा अपना और पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला क्रूर परिणाम क्रोध कहलाता है।

कृतकरण - सम्यक्त्व मोहनीय के अंतिम स्थिति खण्ड को खपाने वाले क्षपक को कृतकरण कहते हैं।

कृष्ण लेश्या - काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे हिंसा आदि पाँचों आस्रवों में प्रवृत्ति हो, मन, वचन, काया का सयम न रहना, गुण-दोष की परीक्षा किए बिना ही कार्य करने की आदत बन जाना, क्रूरता आ जाना आदि।

ग्रंथ - जिस के द्वारा अथवा जिसमें अर्थ को गूंथा जाता है, वह ग्रंथ है।

ग्रंथि - जैसे किसी वृक्ष विशेष की कठोर गाठ अतिशय दुर्भेद्य होती है, उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग द्वेष परिणाम उस गांठ के सदृश्य दुर्भेद्य होते हैं, अत उन्हें ग्रंथि कहते हैं।

गन्ध - जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ-अच्छी या अशुभ-बुरी गन्ध हो, उसे गन्ध कहते है।

गति - जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की पर्याय प्राप्त करता है, उसे गति नाम कर्म कहते हैं। अथवा - चारों गतियों - नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में गमन करने के कारण को गति कहते हैं।

गतित्रस - गतित्रस उन जीवों को कहते हैं जिनका उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, किन्तु गतिक्रिया पाई जाती है।

गणधर - लोकोत्तर ज्ञान दर्शनादि गुणों को धारण करने वाले तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य, जो उनकी वाणी को सूत्र रूप में संकलित करते हैं।

गणि - ११ अगों के ज्ञाता को गणि कहते हैं, अथवा जो गच्छ का स्वामी हो वह गणि कहलाता है।

गर्भजन्मा - गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीवों को गर्भजन्मा कहते हैं।

गव्यूत - दो हजार धनुष्यों को गण्यूत (कोश) कहते हैं।

गर्हा - दूसरों के समक्ष जो आत्मनिंदा की जाती है, वह गर्हा है।

गुण - जो द्रव्य के आश्रय से रहा करते हैं तथा स्वय अन्य गुणों से रहित होते हैं, वे गुण हैं।

गुणव्रत - श्रावक के द्वादश (बारह) व्रतों में से छठा, सातवाँ और आठवाँ गुणव्रत कहलाता है। (श्रावक के बारह व्रत)

गुणरत्न-सवत्सर तप - जिस तप में विशेष निर्जरा होती है अथवा जिस तप में निर्जरा रूप विशेष रत्नों से वार्षिक समय बीतता है। इस क्रम में तप के दिन एक वर्ष से कुछ अधिक होते हैं, अत सवत्सर कहलाता है। इसके क्रम में प्रथम मास में एकातर उपवास, द्वितीय मास में षष्ठ भक्त, इस प्रकार बढते हुए सोलहवें महिने में १६-१६ का तप किया जाता है। तप काल में दिन में उत्कटुकासन से सूर्याभिमूख होकर आतापना ली जाती है और रात में वीरासन से वस्त्र रहित रहा जाता है। तप में १३ मास ७ दिन लगते हैं और इस अवधि में ७३ दिन पारणे के होते हैं।

गुण संक्रमण - पहले बधी हुआी अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बधनेवाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना। इसका क्रम इस प्रकार है - प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में सक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असख्यात गुणा अधिक दलिकों का सक्रमण होता है। इस प्रकार आगे-आगे के समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

गुणस्थान - ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि एव अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के विशेष स्वरूप को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि जीव के स्वभाव को गुणस्थान कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान क्रम - आत्मिक गुणों के न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था।

गुणश्रेणी - परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्तनाकरण के द्वारा उपरितन स्थिति से हीन करके अतर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असख्यात गुणी वृद्धि के क्रम से कर्म प्रदेशों की निर्जरा के लिए जो रचना होती है, वह गुणश्रेणी है। अथवा जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित

कर देना गुणश्रेणी है। अथवा ऊपर की स्थिति में उदय क्षण से लेकर प्रतिसमय असंख्यात गुणे- असखयात गुणे कर्मदलिकों की रचना को गुणश्रेणी कहते हैं।

गुणश्रेणी निर्जरा - अल्प-अल्प समय में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक कर्म परमाणुओं का क्षय करना।

गुण हानि - प्रथम निषेक अवस्थित हानि से जितना दूर जाकर आधा होता है उस अन्तराल को गुण हानि कहते हैं। अथवा अपनी-अपनी प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद अनुक्रम से बंधता है, ऐसे स्पर्धकों के समय का नाम गुण हानि है।

गुप्ति - सम्यगृदर्शन पूर्वक मन वचन एव काय योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

गोचरी - जैन श्रमणों का विधिवत् आहार-याचन। दूसरे शद्वों में इसे भिक्षाटन या माधुकरी भी कह सकते हैं।

गोत्र कर्म - जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल में जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव में पूज्यता, अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च-नीच कहलाए, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं -१) उच्च गोत्र २) नीच गोत्र

ग्रैवेयेक - लोकरूप पुरुष के ग्रीवा के स्थान पर अवस्थित विमानों को ग्रैवेयक कहते हैं।

गृहस्थ - श्रावकोचित नित्य एवं नैमित्तिक अनुष्ठानों को करने वाले मानवों को गृहस्थ कहा है।

घातिकर्म - आत्मा के अनुजीवी गुणों का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने वाले कर्म।

चक्रवर्ती - चक्ररत्न का धारक व अपने युग का सर्वोत्तम श्लाघ्य पुरुष। चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छ खण्ड का एक मात्र अधिपति प्रशासक होता है। ३२ हजार मुकुटबध राजाओं का स्वामी होता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न होते हैं - १) चक्र २) छत्र ३) दड ४) असि ५) मणि ६) काकिणी ७) चर्म ८) सेनापति ९) गाथापति १०) वर्धकी ११) पुरोहित १२) स्त्री १३) अश्व १४) गज। नवनिधियाँ भी होती हैं।

चतुर्दश पूर्व - उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्ति प्रवाद, ज्ञान प्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान प्रवाद, विद्या प्रवाद, अवन्ध्य, प्राणावाय, क्रिया विशाल और लोक बिंदुसार यह चौदह पूर्व दृष्टिवाद नामक बारहवें अग के अतर्गत हैं। विम्वविद्या का ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसका वर्णन पूर्व में नहीं किया गया हो। यत्र, मंत्र, तंत्र, शद्व शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, रसायन, रिद्धि-सिद्धि आदि समस्त विषयों की चर्चा पूर्व में होती हैं।

चतुर्थ भक्त - उपवास। चार प्रकार के आहार का त्याग।

चतुर्गति - नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आदि भवों में आत्मा की ससृति।

चरणानुयोग - गृहस्थ एव श्रमणों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एव रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं।

चक्षुदर्शन - चक्षु के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य धर्म के बोध को चक्षुदर्शन कहते हैं।

चतु स्थानिक - कर्म प्रकृतियों में स्वाभाविक अनुभाग से चौगुने अनुभाग-फलजनक शक्ति का पाया जाना।

चारण लब्धि - जिस लब्धि से आकाश में उड़ने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, वह चारण लब्धि है। इस लब्धि के दो भेद हैं- १) जघाचरण और २) विद्याचरण

चारित्र मोहनीय - आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चरित्र है। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चरित्र गुण को घात करने वाले कर्म को चरित्र मोहनीय कहते हैं।

चूलिका - चोरासी लग्न चूलिकाग की एक चूलिका होती है।

चूलिकाग - चोरासी लाख नयुत का एक चूलिकाग होता है।

चौवीसी - अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में होने वाले २४ तीर्थंकर।

चद्रप्रज्ञप्ति - चद्रमा के, आयु प्रमाण, परिवार, चद्र का गमन विशेष, उससे उत्पन्न होने वाले दिन-रात्रि का प्रमाण आदि की जिनमें प्ररूपणा है, वह।

च्यवन - ऊपर से गिरकर नीचे आना। ज्योतिष्क और वैमानिक देव आयुष्य पूर्ण कर ऊपर से नीचे आकर उत्पन्न होते हैं इसलिए इनका मरण च्यवन कहलाता है। वैमानिक ओर ज्योतिषी देवों के मरण को च्यवन या च्युति कहते हैं।

छट्ठ तप - दो दिन का उपवास, बेला।

छद्मस्थ - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय को छद्म कहते हैं। इसमें जो रहते हैं, वह छद्मस्थ कहलाते हैं। जब तक आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति नही होती तब तक वह छद्मस्थ ही कहलाती है।

छेद - जिन बाह्य क्रियाओं से धर्म में बाधा न आती हो तथा निर्मलता में वृद्धि होती हो, व्रत, समिति, गुप्ति, विभाग, खंड, विनाश, प्रायश्चित, अथवा - सयम की विशुद्धि हेतु दोष लगने पर उसका परिष्कार करने का नाम छेद है।

छेदोपस्थापनीय संयम - जिस चरित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर, उसे खण्डित कर महाव्रतों में स्थापित किया जाता है, वह छेदोपस्थापन चरित्र है। अथवा - पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना।

छेवट्ट संहनन – जिस हड्डियों की रचना में मर्कटबंध, वेष्टन और कील न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हों, उसे छेवट्ट संहनन कहते हैं। छेवट्ट को सेवार्त अथवा छेदवृत्त भी कहते हैं।

जघन्य बंध – सबसे कम स्थिति वाला [illegible]।

जंघाचारण स्थिति – अष्टम (तेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है। इस लब्धि का धारक पद्मासन लगाकर जघा पर हाथ लगाता है, और तीव्र गति से आकाश में उड़ जाता है। तिर्यक् दिशा की एक ही उड़ान में वह तेरहवें रुचकवर द्वीप तक पहुँच सकता है। यह द्वीप भरत क्षेत्र से असंख्यात योजन दूर है पुन लौटता हुआ रास्ते में नदीश्वर द्वीप में एक बार विश्राम लेता है। यह प्रथम उड़ान शक्तिशाली होती है। यदि वह उड़ान ऊर्ध्व दिशा की ओर हो तो वह एक ही छलाग में मेरुपर्वत के पाण्डुक उद्यान में पहुँच सकता है और पुन लौटते समय नदनवन में एक बार विश्राम लेता है। इस लब्धि वाला तीन बार आँख की पलक झपके जितने समय में एक लाख योजन वाले जबूद्वीप में २१ बार चक्कर लगा सकता है।

जबूद्वीप प्रज्ञप्ति – जिसमें जबूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के मनुष्य तिर्यंच जीवों का तथा पर्वत, ग्रह, नदी, वेदिका, वर्ष आवास आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप – इस विराट विश्व में असख्य द्वीप और असख्य समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप घेरे हुए हैं। जबूद्वीप उन सब के बीच में है। यह पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण एक-एक लाख योजन है। इसमें सात वर्ष-क्षेत्र हैं - (१) भरत (२) हेमवत (३) हरि (४) विदेह (५) रम्यक् (६) हैरण्यवत् (७) ऐरवत। भरत दक्षिण में, ऐरवत उत्तर में और विदेह (महा-विदेह) पूर्व व पश्चिम में हैं।

जरायु – गर्भ में प्राणी के शरीर को आच्छादित करने वाला विस्तृत जो रुधिर, मास रहता है, वह जरायु है। जो जरायु में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं।

जाति भव्य – जो भव्य मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नही कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है जिससे मोक्ष प्राप्त कर सकें।

जातिस्मरणज्ञान – पूर्व जन्म की स्मृति करानेवाला ज्ञान। यह मतिज्ञान का ही एक भेद है। इस ज्ञान के बल पर व्यकित एक से नौ पूर्व जन्मों को जान सकता है। एक मान्यता यह भी है कि, जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ९०० पूर्व भवों का स्मरण हो सकता है।

जिन – जयतीति जिन। स्वरूपीय लब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव कर्मों को एवं ज्ञानावरणादि रूप घाति द्रव्य कर्मों को जीतकर अपने अनन्तज्ञान दर्शन आदि आत्म-गुणों को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिन कहलाते हैं।

जिनकल्पिक - गच्छ से पृथक् होकर उत्कृष्ट चरित्र साधन के लिए प्रयत्नशील होना। यह आचार जिन-तीर्थंकरों के आचार के सदृश कठोर होता है, अत जिनकल्प कहा जाता है। इसमें साधक जगल आदि एकात स्थान में एकाकी रहता है। रोग आदि के उपशमन के लिए प्रयत्न नही करता। सर्दी, गर्मी आदि प्राकृतिक कष्टों से विचलित नही होता। देव, मानव, तिर्यंच आदि के उपसर्गों से भयभीत होकर अपना मार्ग नही बदलता। अभिग्रह पूर्व भिक्षा ग्रहण करता है और रात दिन ध्यान तथा कायोत्सर्ग में लीन रहता है। यह साधना विशेप सहनन युक्त साधक के द्वारा विशिष्ट ज्ञान सपन्न होने के पश्चात् ही हो सकती है।

जिनमार्ग - वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म।

जीव - जो प्राणों को धारण करे, उसे जीव कहते हैं। प्राण के दो भेद हैं - द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्यप्राण के १० भेद स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये५ इद्रियों, तीन बल (काय, वचन, मन) तथा आयु और श्वासोच्छ्वास, ज्ञान, दर्शनादि स्वाभाविक गुणों को भावप्राण कहते हैं। इन दोनों प्राणों से जीता था, जीता है और जीएगा उसे जीव कहते हैं।

जीवविपाकी प्रकृति - जो प्रकृति जीव में ही उसके ज्ञानादि स्वरूप का घात करने रूप फल देती है।

जीवसमास (जीवस्थान) - जिन समान पर्याय रूप धर्मों के द्वारा अनत जीवों का सग्रह किया जाता है, उन्हें जीवसमास या जीवस्थान कहते हैं।

जुगुप्सा - जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का सवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है, वह जुगुप्सा नो-कषाय है।

नयुत - चौरासी लाख नयुताग का एक नयुत होता है।

नयुताग - चौरासी लाख प्रयुत के समय को नयुताग कहते हैं।

नरक - अधोलोक के वे स्थान जहाँ घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं। नरक सात हैं - (१) रत्नप्रभा - कृष्णवर्ण भयकर रत्नों से पूर्ण (२) शर्कराप्रभा - भाले, बरछी आदि से भी तीक्ष्ण ककरों से परिपूर्ण (३) बालुकाप्रभा - भड़भूजे की भाड़ की उष्ण बालू से भी अधिक उष्ण बालू (४) पकप्रभा - रक्त, मास और पीब जैसे कीचड़ से व्याप्त। (५) धूमप्रभा - राई, मिर्च के धूएँ से भी अधिक खारे धूएँ से परिपूर्ण (६) तम प्रभा-घोर अधकार से परिपूर्ण (७) महातम प्रभा - घोराति-घोर अधकार से परिपूर्ण।

नलिन - चौरासी लाख नलिनाग का एक नलिन होता है।

नलिनाग - चौरासी लाख पद्म का एक नलिनाग होता है।

नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि कहलाए, उसे नाम कर्म कहते हैं।

नाम-निक्षेप - नाम के अनुसार वस्तु में गुण न होने पर भी व्यवहार के लिए जो पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है, वह नाम-निक्षेप है।

नारक - जिसको नरक गति नामकर्म का उदय हो अथवा जो जीवों को क्लेश पहुचाए वह नारक है। दूसरे शब्दों में द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव से जो स्वय तथा परस्पर में प्रीति को न प्राप्त करते हों।

नाराच संहनन - जिस हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कट बध हो, लेकिन वेष्टन और कील न हो, उसे नाराच सहनन कहते हैं।

नाली - साड़े अड़तीस लव के समय को नाली कहते हैं।

निकाचन - उद्वर्तना, अपवर्तना, सक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है।

निकाचित कर्म - जिन कर्मों का फल बध के अनुसार निश्चित रूप से भोगा जाता है।

निकाचित प्रकृति - जिस प्रकृति में कोई भी करण नही लगता उसे निकाचित प्रकृति कहते हैं।

निद्रा - जिस शयन में सुखपूर्वक जागरण होता है, उसे निद्रा कहते हैं।

निदान - भोगाभिलाषा में फसकर तपस्या को बेच देने की क्रिया निदान है। किसी देवता अथवा राजा आदि मनुष्य की ऋद्धि व सुखों को देखकर या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए अभिलाषा करना कि, मेरे ब्रह्मचर्य व तप आदि के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि व वैभव प्राप्त हो, और अपने तप अनुष्ठान को उसके लिए बद्ध कर देना निदान है। निदान शब्द का अर्थ - निश्चित अथवा बाध देना। उच्च तप को निम्न फल की अभिलाषा के साथ बाध लेना। महान ध्येय को तुच्छ सकल्प-विकल्प रूप भोग प्रार्थना के लिए जोड़ देना।

निधत्ति - कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति।

निर्जरा - आत्मा के साथ क्षीर, नीर की तरह आपस में मिले हुए कर्म पुद्गलों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। आत्म-प्रदेशों से कर्मों का एक देश पृथक् होना द्रव्य-निर्जरा और द्रव्य निर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते हैं।

निर्हारिम - जो साधु उपाश्रय में पादोपगमन अनशन करते हैं, मृत्यूपरांत उनके शव को अग्नि सस्कार के लिए उपाश्रय से बाहर लाया जाता है, अत वह देह त्याग निर्हारिम कहलाता है। निर्हार का अर्थ है - बाहर निकालना।

निक्षेप - लक्षण और विधान (भेद) पूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों के जानने के लिए न्यास से विरचना करना निक्षेप है।

निर्विश्यमान - परिहार विशुद्धि सयम को धारण करने वालों को कहते हैं।

निर्विष्टकायिक - परिहार विशुद्धि सयम धारकों की सेवा करने वाले।

निश्चय सम्यक्त्व - जीवादि तत्त्वों का यथारूप से श्रद्धान करना, निश्चय सम्यक्त्व है। यह आत्मा का वह परिणाम है, जिसके होने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

निह्नव - मा । वश ज्ञानदाता गुरू का नाम छिपाना, अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नही जानता, उत्सूत्र प्ररूपणा करना आदि निह्नव कहलाता है।

नीच गोत्र - जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

नील लेश्या - अशोक वृक्ष के समान नीले रग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होना कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल, कपट आदि होने लगें।

नोकषाय - जो कषाय तो न हो, किंतु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं।

नौ योजन - ३६ कोस। चार कोस का १ योजन होता है।

न्यग्रोध परिमडल सस्थान - शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो, अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण - मोटे हो और नाभि से नीचे के अवयव हीन-पतले हो, उसे न्यग्रोध-परिमडल सस्थान कहते हैं।

तर्क - जिस ज्ञान के द्वारा व्याप्ति के साध्य-साधन रूप अर्थों के सबध का निश्चय करके अनुमान में प्रवृत्ति होती है, वह तर्क है।

तत्त्व - प्रयोजन भूत वस्तु के स्वभाव को तत्त्व कहते हैं।

तत्त्वार्थ - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये तत्त्वार्थ कहे हैं जोकि विविध गुण पर्यायों से सयुक्त हैं।

तापस - जटाधारी वनवासी पचाग्नि तप करने वाले साधुओं को तापस कहा है।

तिर्यगायु - जिस कर्म के उदय से जीव का तिर्यंच पर्याय में अवस्थान होता है, वह तिर्यगायु कर्म है।

तिर्यंच - जो मन, वचन, काया की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहार आदि सज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, निकृष्ट अज्ञानी हैं, तिरछे गमन करते हैं और जिनमें अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है, उन्हें तिर्यंच कहते हैं।

तीर्थ - जिससे ससार समुद्र तैरा जा सके। तीर्थंकरों का उपदेश, उसको धारण करनेवाले गणधर व ज्ञान, दर्शन, चरित्र को धारण करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थंकर केवल ज्ञान प्राप्त करने के

नतर ही उपदेश करते हैं और उससे प्रेरित होकर भव्य जन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका बनते हैं।

तीर्थंकर- ससार सागर को स्वय पार करने तथा दूसरों को पार करानेवाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में तीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले आप्त पुरुष।

तीर्थंकर नाम गोत्र - जिस नाम कर्म के उदय से जीव तीर्थंकर रूप में उत्पन्न होता है।

तिर्यग्लोक - एक लाख योजन के सातवें भाग मात्र सूची अगूल के बाहुल्य रूप जग प्रतर को तिर्यग् लोक कहते हैं।

तेजस् समुद्घात - जीवों के अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ ऐसे तेजस् शरीर के कारण भूत समुद्घात को तेजस् समुद्घात कहते हैं।

तेजोलेश्या - तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में होनेवाले वे परिणाम जिनसे नम्रता आती है, धर्मरुचि दृढ होती है, दूसरे का हित करने की इच्छा होती है आदि।

तेजसवर्णगा - जिन वर्गणाओं से तेजस शरीर बनता है।

तेजोलब्धि - उष्णता प्रधान एक सहारक शक्ति विशेष। यह शक्ति विशेष तप से ही प्राप्त की जा सकती है। यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति है। इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि, कभी क्रोध आ गया तो वे बायें पैर के अगूठे को घिसकर एक तेज निकालते हैं, जो अग्नि के समान प्रचड होता है। विरोधी को वही जलाकर भस्म कर देते हैं। इसमें कई योजनों तक में रही हुई वस्तु को जलाकर भस्म कर सकते हैं। उत्कृष्ट शक्ति प्रयोग में १६।। महाजन पदों को एक साथ भस्म करने की शक्ति भी इस लब्धिधारक में होती है। इसकी शक्ति अणुबम से भी अधिक विस्फोटक है।

तैजस शरीर - तैजस पुद्गलों से बने हुए आहार को पचाने वाले और तेजोलेश्या से युक्त साधक के शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

त्रसकाय - जो शरीर चल फिर सकता है और जो त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है।

त्रस नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति होती है।

त्रस रेणु - आठ उर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु होता है।

त्रिदंडी तापस - मन, वचन और कायरूप तीनों दडों से दडित होनेवाला तापस।

त्रिस्थानिक - कर्म प्रकृति के स्वाभाविक अनुभाग से तिगुना अनुभाग।

त्रुटिताग - ८४ लाख पूर्व वर्षों को एक त्रुटिताग कहते हैं। अथवा चौरासी लाख पूर्व के समय को त्रुटिताग कहते हैं।

तृतीय सप्तअहोरात्र प्रतिमा - साधु द्वारा सात दिन तक चौविहार एकातर उपवास, गोदुहासन, वीरासन या आम्र कुब्जासन (आम्रफल की तरह वक्राकार स्थिति में वैठना) से ग्रामादि के वाहर कायोत्सर्ग करना।

दड समुद्घात - सयोगी केवली गुणस्थान वर्ती जीव के द्वारा पहले समय में अपने शरीर के वाहुल्य प्रमाण आत्म प्रदेशों को ऊपर से नीचे तक लोक पर्यंत रचने को दड समुद्घात कहते हैं।

दर्शन - सामान्य धर्म की अपेक्षा जो पदार्थ की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। सामान्य विशेषात्मक वस्तुस्वरूप में से वस्तु के सामान्य अश के बोधरूप चेतना के व्यापार को दर्शन कहते हैं। अथवा - सामान्य की मुख्यता पूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते हैं।

दर्शनोपयोग - प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष इस प्रकार के दो धर्म पाये जाते हैं। उनमें से सामान्य धर्म को ग्रहण करनेवाले उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं।

दर्शन मोहनीय - जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसको घात करनेवाले -आवृत करनेवाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं।

दया - प्राणियों के प्रति अनुकपा करने को - उनके दु ख को देखकर स्वय दु ख का अनुभव करना और उनकी रक्षा करने की भावना हृदय में आना दया है।

दत्ति - हाथ से अखड धारा पूर्वक दी गई भिक्षा दत्ति कहलाती है। भिक्षा का विच्छेद होनेपर पात्र में एक कण गिरजाए तो भी दत्ति मानी जाती है। इस प्रकार दत्तियों की सख्या के अनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिए।

दर्शनाचार - नि शकितादि आठ अगोयुक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना दर्शनाचार है।

दर्शनावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इसके नौ भेद हैं (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवल दर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रा-निद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला (९) स्त्यानर्द्धि

दशवैकालिक - मनक नामक पुत्र के हितार्थ आचार्य शय्यभव के द्वारा अकाल में रचे हुए १० अध्ययन स्वरूप श्रुत को दशवैकालिक कहा जाता है।

दान - अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धनादि का त्याग किया जाता है, वह दान है।

दानांतराय - दान की सामग्री पास में हो, गुणवान पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान फल भी ज्ञात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नही होता, उसे दानातराय कहते हैं।

दिग् विरति व्रत - यह जैन श्रावक का छट्ठा व्रत है। इसमें श्रावक दस दिशाओं में मर्यादा से अधिक गमनागमन का त्याग करता है।

दीपक सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं से होनेवाले लाभों का समर्थन करना, दीपक सम्यक्त्व है।

दीक्षा - समस्त आरंभ परिग्रह के परित्याग को और व्रत ग्रहण को दीक्षा कहा है।

दुःख - अंतरग में असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर तथा बाह्य द्रव्यादि के परिपाक का निमित्त मिलने से जो चित्त में परिताप परिणाम होता है, उसे दु ख कहते हैं।

दु·खविपाक - जिनमें दु ख के विपाक से युक्त जीवों के नगर, उद्यान, वनखड, चैत्य, समवसरण, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक और परलौकिक ऋद्धि विशेष नरक गतिगमन का वर्णन है, वह दु ख विपाक है।

दूर भव्य - जो भव्य जीव बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करनेवाला है।

देव - देवगति नामकर्म के उदय होनेपर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप समुद्र आदि अनेक स्थानों पर इच्छानुसार क्रीडा करते हैं। विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्यवस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा अपने शरीर की साहजिक काति से जो द्वीप्तिमान रहते हैं वे देव कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं - भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक।

देशचरित्र - हिंसादि पापों से की जानेवाली एकदेश विरति का नाम देशचरित्र है।

देशविरति - ग्राम-नगर आदि के जितने देश का प्रमाण निश्चित किया गया है, उसका नाम देश है। उसके बाहर गमन का परित्याग करना देशविरति है। अथवा - अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण जो जीव देश (अश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं वे देशविरति कहलाते हैं।

देशना - छह द्रव्य, सात तत्त्व, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं।

देशावगासिक व्रत -दिग्व्रत में जो दिशा का प्रमाण किया गया है, उसमें प्रतिदिन सक्षेप करना, देशावगासिक व्रत है।

द्रव्य - जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सबद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है, वह द्रव्य है। जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है।

द्रव्य कर्म - ज्ञानावरणादि रूप से परिणत पुद्गल पिण्ड को द्रव्य कर्म कहा जाता है। अथवा ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गल।

द्रव्य प्राण - इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

द्रव्यलेश्या - पुद्गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो लेश्या-शरीरगत वर्ण होता है, वह द्रव्यलेश्या है। कृष्ण, नील व पीतादि द्रव्यों को ही द्रव्यलेश्या कहा जाता है। अथवा वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप - जो भावी परिणाम विशेष की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो- उसकी योग्यता को धारण करता हो, वह द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्यमन - पुद्गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो पुद्गल मन रूप में परिणत होते हैं, उन्हें द्रव्यमन कहा जाता है।

द्रव्यार्थिक नय - जो विविध पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है, भविष्य में प्राप्त करेगा और भूतकाल में प्राप्त किया है, उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है।

द्रव्यास्रव - ज्ञानावरणादि के योग्य पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं।

द्रव्येंद्रिय - निवृत्ति और उपकरण को द्रव्येंद्रिय कहते हैं। पुद्गलों के द्वारा जो बाहरी आकार की रचना होती है, उसे तथा कदम्ब पुष्प आदि के आकार से युक्त उपकरण -ज्ञान के साधन को द्रव्येंद्रिय कहते हैं।

द्वादशागी - तीर्थंकरों की वाणी का गणधरों के द्वारा ग्रथ रूप में होनेवाला सकलन अग कहलाता है। वे बारह हैं। पुरुष के शरीर में मुख्य रूप से दो पैर, दो जघाएँ, दो ऊरू, दो गात्रार्द्ध (पार्श्व), दो बाहु, एक गर्दन और एक मस्तक होते हैं, उसी प्रकार श्रुत रूप पुरुष के बारह अग हैं। उनके नाम (१) आचाराग (२) सूत्रकृताग (३) स्थानाग (४) समवायाग (५) विवाह-प्रज्ञप्ति (भगवती) (६) ज्ञाताधर्म कथाग (७) उपासक दशाग (८) अन्तकृतदशाग (९) अनुत्तरौपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकश्रुत और (१२) दृष्टिवाद।

द्वितीय स्थिति - अन्तर स्थान से ऊपर की स्थिति को कहते हैं।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व - जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबधी कषाय और दर्शन-मोहनीय का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

द्विस्थानिक - कर्म प्रकृतियों के स्वाभाविक अनुभाग से दुगुना अनुभाग।

दृष्टिवाद - जिस श्रुत में सभी पदार्थों की प्ररूपणा की जाती है, वह दृष्टिवाद है।

पद्म - चोरासी लाख पद्माग का एक पद्म होता है।

पद्म लेश्या - हल्दी के समान पीले रग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे काषायिक प्रवृत्ति काफी अशों में कम हो, चित्त प्रशान्त रहता हो, आत्म-सयम और जितेन्द्रियता की वृत्ति आती हो।

पद्माग - चौरासी लाख उत्पल का एक पद्माग होता है।

पदानुसारिणी - तपस्या विशेष से प्राप्त होनेवाली एक दिव्यशक्ति। इस लब्धि के प्रभाव से सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का बिना सुने ही अपनी बुद्धि से ज्ञान कर लेता है। जैसे, एक चाँवल के दाने से पूरे चाँवलों के पकने का पता चलता है। उसी प्रकार एक बात सुनते ही पूरी बात का ज्ञान होता है और एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धिधारी में होती है।

परमाणु - पुद्गल द्रव्य का चरम सूक्ष्म भाग परमाणु कहलाता है। इसे विभक्त नही किया जा सकता। परमाणु के दो प्रकार हैं - (१) निश्चय परमाणु और (२) व्यवहार परमाणु।

परमात्मा - सर्वदोष रहित, कैवल्य सम्पन्न शुद्धात्मा।

परिहार विशुद्धि सयम - परिहार का अर्थ है तपोविशेष और उस तपोविशेष से जिस चरित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है, उसे परिहार विशुद्धि सयम कहते हैं। अथवा जिसमें परिहार विशुद्धि नामक तपस्या की जाती है, वह परिहार विशुद्धि सयम है।

परीषह - साधु या श्रमण जीवन में विविध प्रकार से होनेवाले शारीरिक कष्ट।

पर्याप्तक - जिस जीवन में जितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं वह जब उतनी पर्याप्तियाँ पूरी कर लेता है, या करने की योग्यता हो, उसे 'पर्याप्तक' कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव, आहार, शरीर, इद्रिय और श्वासोच्छ्वास - इन चार पर्याप्तियों को पूरी करने पर, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय, उपर्युक्त चार पर्याप्तियों और पाँचवी भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा सज्ञी पचेन्द्रिय उपर्युक्त पाँच और छठी मन पर्याप्ति पूरी करने पर 'पर्याप्तक' कहे जाते है।

पर्याप्ति - जीव की वह शक्ति जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है।

पल्य - अनाज वगैरे (वगैरह) भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम - काल की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसको पल्योपम कहते हैं। एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाता है उसे पल्योपम कहते हैं।

परोक्ष - मन और इद्रिय आदि बाह्य निमित्तों की सहायता से होनेवाला पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान।

पश्चादानुपूर्वी - अत से आरभ कर आदि तक की गणना करना।

पाद - छह उत्सेधागुल का एक पाद होता है।

पादोपगमन - अनशन का वह प्रकार, जिसमें श्रमणों द्वारा दूसरों की सेवा का और स्वय की चेष्टाओं का त्याग कर पादप-वृक्ष की तरह निश्चेष्ट होकर रहना। इसमें चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है। यह निर्हारिम और अनिर्हारिम रूप से दो प्रकार का है।

पाप - जिसके उदय से जीव को दु ख की प्राप्ति हो और आत्मा को शुभ कार्यों से पृथक रखे उसे पाप कहते हैं। पाप अशुभ प्रकृति रूप है और अशुभ योगों से बधता है।

पारिणामिक भाव - जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। अथवा कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखनेवाले द्रव्य की स्वाभाविक अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।

पाँच दिव्य - तीर्थंकर, विशिष्ट महापुरुष या केवलियों के आहार ग्रहण करने के समय प्रकट होनेवाली पाँच विभूतियाँ (१) विविध रत्न (२) वस्त्र (३) फूलों की वर्षा (४) गधोदक और (५) देवताओं के द्वारा दिव्य घोष।

पिंड प्रकृति - अपने में अन्य प्रकृतियों को गर्भित करनेवाली प्रकृति।

पुण्य - जिसके उदय से, जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे द्रव्यपुण्य और जिस कर्म के उदय से जीव में दया, करुणा, दान, भावनादि शुभ परिणाम आते हैं, उसे भाव पुण्य कहते हैं। पुण्य शुभ प्रकृति रूप है और शुभयोग से बधता है, अथवा जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है।

पुण्यकर्म - जो कर्म सुख का वेदन कराता है।

पुण्य प्रकृति - जिस प्रकृति का विपाक -फल शुभ होता है।

पुद्गल परावर्त - ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजसशरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, कार्मण वर्गणा) में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक आदि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीवद्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना।

पुद्गलविपाकी प्रकृति - जो कर्म प्रकृति पुद्गल में फल प्रदान करने के सन्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करे। औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किए गए पुद्गलों में जो कर्म प्रकृति अपनी शक्ति को दिखाए, वह पुद्गलविपाकी प्रकृति है।

पूर्व - चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है।

पूर्वांग - चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है।

पूर्वानुपूर्वी - जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो या जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, उसकी उसी क्रम से गणना करना।

प्रकृति - कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति-बंध - जीव के द्वारा ग्रहण किये गए कर्म-पुद्‌गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों-स्वभावों का पैदा होना, प्रकृति बंध कहलाता है। अथवा कर्म परमाणुओं का ज्ञानावरण आदि के रूप में परिणत होना।

प्रत्तर - श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतिशलाकापल्य - प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दानों से भरा जाने वाला पल्य।

प्रत्यक्ष - मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि पद निमित्तों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वरूप से ही समस्त द्रव्यों और उनके पर्यायों को जानना।

प्रत्याख्यानावरणीय - जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चरित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं। इस कषाय के उदय होने पर एक देश त्याग रूप श्रावकाचार के पालन करने में तो बाधा नही आती है, किंतु सर्वत्याग साधु का पालन नही हो सकता है।

प्रत्येक वनस्पति - जिसके एक शरीर में एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जैसे पत्ते, केले, सेव, आम आदि।

प्रथमस्थिति - अन्तर स्थान के नीचे की स्थिति।

प्रदेश - कर्म दलिकों को प्रदेश कहते हैं। पुद्‌गल के एक परमाणु के अवगाह स्थान की सज्ञा भी प्रदेश है।

प्रदेश बंध - जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कधों का सबध होना, प्रदेश बध कहलाता है।

प्रदेशोदय - जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नही होता है, वह प्रदेशोदय है। अथवा बधे हुए कर्मों का अन्य रूप से अनुभव होना। अर्थात् जिन कर्मों के दलिक बाधे हैं उनका रस दूसरे भोगे जानेवाले सजातीय प्रकृतियों के निषेकों के साथ भोगा जाए, बद्ध प्रकृति स्वय अपना विपाक न बता सके।

प्रमाणांगुल - उत्सेधागुल से अढ़ाई गुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणागुल होता है।

प्रमाद - आत्मविस्मरण होना, कुशल कर्मों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

प्रयुत - चौरासी लाख प्रयुताग का एक प्रयुत होता है।

प्रयुताग - चौरासी लाख अयुत के समय को एक प्रयुताग कहते हैं।

प्रायश्चित - साधना में लगे दोष एव पाप की विशुद्धि के लिए हृदय से पश्चात्ताप करना, प्रायश्चित है। इसके दस प्रकार है- (१) आलोचना - लगे दोष को गुरु या रत्नाधिक के समक्ष यथावत् निवेदन करना (२) प्रतिक्रमण - सहसा लगे दोषों के लिए साधक द्वारा स्वत प्रायश्चित करते हुए कहना कि, "मेरा पाप मिथ्या हो" (३) तदुभय -

आलोचना और प्रतिक्रमण (४) विवेक - अनजान में आधाकर्म दोष से युक्त आहारादि आ जाए तो ज्ञात होते ही उसे उपयोग में न लेकर उसका त्याग करना (५) कायोत्सर्ग - एकाग्र होकर शरीर की ममता का त्याग करना। (६) तप -अनशन आदि बाह्य तप। (७) छेद - दीक्षा पर्याय को कम करना। इस प्रायश्चित के अनुसार जितना समय कम किया जाता है, उस अवधि में दीक्षित छोटे साधु दीक्षा पर्याय में उस दोषी साधु से बड़े हो जाते हैं। (८) मूल - पुनर्दीक्षा (९) अनवस्थाप्य - तप विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा (१०) पाराञ्चिक - सघ बहिष्कृत साधु द्वारा एक अवधि विशेष तक साधुवेष परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्मनिंदा करना।

पिण्डस्थ ध्यान - शरीर में अवस्थित आत्मा का ध्यान, प्रमेय की प्रधानता को सन्मुख रखकर किया हुआ ध्यान, इसमें वस्तु का आलम्बन होता है। (पिंड =शरीर) इसके अतर्गत ५ धारणाएँ हैं- (१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना (वायवी) (मारुती) (४) वारुणी और (५) तत्त्ववती।

पौषध - एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार और पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करना।

बन्ध - मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भाति एक दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सबध होने को बध कहते हैं। अथवा -आत्मा और कर्म परमाणुओं के सबध विशेष को बध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

बधकाल - परभव सबधी आयु के बधकाल की अवस्था।

बधस्थान - एक जीव के एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बध एक साथ (युगपत्) हो उनका समुदाय।

बध हेतु - मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों (कर्मोदय जन्य आत्मा के परिणाम क्रोध आदि) से कर्म योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाता है।

बधन करण - आत्मा की जिस शक्ति-वीर्य विशेष से कर्म का बध होता है।

बादर - जो जीव बादर नामकर्म के उदय से बादर शरीर में रहते हैं अर्थात् जो काटने से कट जाए, छेदने से छिद जाए, भेदने से भिद जाए, अग्नि में जल जाए, छद्मस्थ के भी दृष्टिगोचर हो, उसे बादर कहते हैं। इसके भी पाँच भेद हैं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

बादर अद्धा पल्योपम - बादर उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली हो, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम कहते हैं।

बादर अद्धा सागरोपम - दस कोटा-कोटी बादर अद्धा पल्योपम के काल को बादर अद्धा सागरोपम कहा जाता है।

बादर उद्धार पल्योपम - उत्सेधागुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बे, एक योजन प्रमाण चौड़े और एक योजन प्रमाण गहरे, एक गोल पल्य गड्ढे को एक दिन तक के उगे बालाग्रों से ठसाठस भरकर कि जिसको न आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके, प्रति समय एक-एक बालाग्र के निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो जाए, उस काल को बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं।

बादर उद्धार सागरोपम - दस कोटा-कोटी बादर उद्धार पल्योपम के काल को बादर उद्धार सागरोपम कहा जाता है।

बादर काल पुद्गल परावर्त - जिसमें बीस कोटा-कोटी सागरोपम के एक कालचक्र के प्रत्येक समय को क्रम या अक्रम से जीव अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है।

बादर भाव पुद्गल परावर्त - एक जीव अपने मरण के द्वारा क्रम से या विना क्रम के अनुभाग बध के कारण भूत समस्त कषाय स्थानों को जितने समय में स्पर्श कर लेता है।

बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त - जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहनेवाले सब परमाणुओं को आहारक शरीर वर्गणा के सिवाय शेष औदारिक शरीर आदि सातों वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त - एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या विना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते हैं।

बाल मरण - अज्ञान दशा-अविरत दशा में मृत्यु।

बाल तपस्वी - अज्ञान पूर्वक तप का अनुष्ठान करनेवाला। अथवा आत्मस्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक काय क्लेश आदि तप करनेवाला।

बीजाष्टक - हं ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रूं ह्रें ह्रैं ह्रौं अष्टराष्टक, इनमें से ह्रीको माया बीज कहते हैं।

भव विपाकी प्रकृति - भव की प्रधानता से अपने फल देनेवाली प्रकृति

भद्र प्रतिमा - ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की ओर मुख कर क्रमश प्रत्येक दिशा में ४-४ प्रहर तक ध्यान करना। यह प्रतिमा दो दिन की होती है।

भद्र ध्यान - जो जीव भोगों को त्यागकर धर्म का चिन्तवन करता है और चिन्तवन करते हुए भी इच्छानुरूप भोगों का सेवन करता है, उसका भद्रध्यान मानना चाहिए मर्यादित भोग-सेवन करते हुए भी धर्म ध्यान।

भव्य - जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। जो मोक्ष प्राप्त करते हैं, अथवा जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है।

भाव - जीव और अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होना।

भावकर्म - जीव के मिथ्यात्व आदि वे वैभाविक स्वरूप जिनके निमित्त से कर्मपुद्गल कर्म रूप हो जाते हैं।

भावप्राण - ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण।

भावलेश्या - भोग और सक्लेश से गत आत्मा का परिणाम विशेष। सक्लेश का कारण कषायोदय है। अत कषायोदय से अनुरजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। मोहकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से होनेवाली जीव के प्रदेशों में चचलता को भावलेश्या कहते हैं।

भेद विज्ञान - शरीर और आत्मा दो अलग अस्तित्व हैं, इनका आमूलेप मात्र भ्रम है, जो विज्ञान इसे युक्ति युक्त प्रतिपादित करता है वह स्व-पट-विज्ञान।

भोग-उपभोग - एक बार भोगे जानेवाले पदार्थों को भोग और बार-बार भोगे जानेवाले पदार्थों को उपभोग कहते हैं।

भोगातराय - भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नही कर सकता, उसे भोगातराय कहते हैं। जो पदार्थ एक बार भोगे जाए उन्हें भोग कहते हैं। जैसे भोजनादि।

मतिअज्ञान - मिथ्यादर्शन के उदय से होनेवाला विपरीत मति उपयोग रूप ज्ञान।

मतिज्ञान - मन और इन्द्रियों की सहायता द्वारा होनेवाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। अथवा इद्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य स्थान में अवस्थित वस्तु का होनेवाला ज्ञान।

मन - विचार करने का साधन।

मनः पर्याप्ति - जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े उसकी पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते हैं।

मन.पर्याय ज्ञान - मन के चिंतनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मन पर्याय ज्ञान कहते हैं।

मनुष्य - जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करते हैं, कर्म करने में निपुण हैं, उत्कृष्ट मन के धारक हैं, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करनेवाले हैं, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्टा वर्गणा- मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा - श्वासोच्छ्वास योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के बाद की अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कधों से एक प्रदेश अधिक स्कधों को मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा होती है।

मनोयोग - जीव का वह व्यापार जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किए हुए मनप्रायोग्य वर्गणा की सहायता से होता है अथवा काययोग के द्वारा मनप्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग रूप परिणत हुए वस्तु विचारात्मक द्रव्य को मन कहते हैं और उस मन के सहचारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते हैं अथवा जिस योग का विषय मन है अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलबन से जीव का जो सकोच विकोच होता है वह मनोयोग है।

मरण - आयुष्य पूर्ण (पुरा) होने पर आत्मा का शरीर से पृथक् होना, अथवा शरीर से प्राणों का निकलना तथा बधे हुए आयुष्य में से प्रति समय आयु-दलिकों का क्षय होना 'मरण' कहलाता है।

महाकमल - चौरासी लाख महाकमलाग का एक महाकमल होता है।

महाकमलाग - चौरासी लाख कमल के समय को एक महाकमलाग कहते हैं।

महाकुमुद - चौरासी लाख महाकुमुदाग का एक महाकुमुद होता है।

महाकुमुदाग - चौरासी लाख कुमुद का एक महाकुमुदाग होता है।

महाभद्र प्रतिमा - ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। चारों ही दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग करना।

महालता - चौरासी लाख महालताग के समय को एक महालता कहते हैं।

महालताग - चौरासी लाख लता का एक महालताग कहलाता है।

महाशलाका पल्य - महासाक्षी भूत सरसों के दानों द्वारा भरे जानेवाले पल्य को महाशलाकापल्य कहते हैं।

महाव्रत - हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का मन, वचन और काया से जीवन पर्यंत परित्याग। हिंसा आदि को पूर्णरूपेण त्याग किए जाने से इन्हें महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थवास का त्याग कर साधना में प्रवृत्त होनेवालों का यह शील है।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा - इस तप का आरभ उपवास से होता है और क्रमश सात उपवास (षोडश भक्त) तक पहुँच जाता है। बढ़ने का इसका क्रम लघु की भांति ही है। अतर केवल इतना ही है कि लघु में उत्कृष्ट तप द्वादशभक्त और इसमें षोडश भक्त है। एक परिपाटी का कालमान १ वर्ष १ महिना और १० दिन है। इसकी चार परिपाटियाँ हैं, इसकी आराधना वीर कृष्ण ने की थी। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

महासिंह निष्क्रीडित तप- तप करने का एक विशेष प्रकार। सिंह गमन करता हुआ जिस प्रकार पीछे मुड़कर देखता है, उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही

पीछे किया हुआ तप भी करना। यह महा और लघु दो प्रकार का होता है। प्रस्तृत क्रम में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महिने और ९८ दिन लगते हैं। इस तप की भी ४ परिपाटी होती है। इस का क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

मान - गर्व, अभिमान। झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं। अथवा जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति कुल, तप आदि के अहकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते हैं।

माया - कपट भाव, अर्थात विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं। आत्मा का कुटिल भाव। दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किए जाते हैं, अपने हृदय के विकारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती, वह माया है। अथवा विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

मार्गणा - मार्गणा उन अवस्थाओं को कहते हैं जिनमें गति आदि से जीवों को देखा जाता है, उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाती है।

मिथ्यात्व - तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। अथवा पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

मिथ्यात्व-मोहनीय - जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। समार्ग से विमुख रहता है, जीवाजीवादि तत्वों पर श्रद्धा नही रखता है और अपने हिताहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिश्र मोहनीय - इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खट्टीमीठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए। मिथ्यात्व के अर्धशुद्ध दलिकों को भी मिश्र मोहनीय कहते हैं।

मुक्त - सपूर्ण कर्म क्षय कर जन्म-मरण से रहित होना।

मुक्त जीव - सपूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों से युक्त होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, वे मुक्तजीव कहलाते हैं।

मुहूर्त - दो घटिका या ४८ मिनिट का समय।

मूल प्रकृति - कर्मों के मुख्य भेदों को मूल प्रकृति कहते हैं।

मोक्ष - सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। सपूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है।

मोहनीय कर्म - जो कर्म जीव को स्व-पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में वाधा पहुचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चरित्रगुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके २८ भेद हैं।

यथाख्यात सयम - समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव बताया है, उस अवस्था रूप वीतराग संयम।

यथाप्रवृत्त करण - जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोडा-कोडी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था (स्थिति) बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।

यवमध्य भाग - आठ युका का एक यवमध्य भाग होता है।

युग - पाच वर्ष का समय।

यूका - आठ लीख की एक यूका (जू) होती है।

योग - मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्‌गलों का आलम्बन लेकर आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द-कम्पन या हलन-चलन को भी 'योग' कहते हैं। इसी योग को 'प्रयोग' भी कहते हैं। अथवा - साध्वाचार का पालन करना सयम योग है। आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। आत्मप्रदेशों में अथवा आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काया के द्वारा होता है, अत मन, वचन, काया के कर्म व्यापार को अथवा पुद्‌गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव का कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहा जाता है।

योग निरोध - योगों के विनाश की योग निरोध सज्ञा है।

योजन - चार गव्युत या आठ हजार धनुष्य का एक योजन होता है।

योनि - योनि शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'युवन्ति अस्यामिति योनि ' अर्थात् जिसमें तैजस कार्मण शरीर वाले जीव, औदारिकादि शरीर योग्य पुद्‌गल स्कान्ध के समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, उसे 'योनि' कहते हैं। अर्थात् जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। वह योनि प्रत्येक जीवनिकाय के वर्ण, गध, रस, स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार की है।

यौगालिक - मानव सभ्यता के पूर्व की सभ्यता, जिसमें मनुष्य युगल रूप में जन्म लेता है, वे यौगालिक कहलाते हैं। उनकी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है।

वर्ग - समान दो सख्याओं का आपस में गुणा करने पर प्राप्त राशि। सजातीय प्रकृतियों के समुदाय। अविभागी प्रतिच्छेदों का समूह।

पीछे किया हुआ तप भी करना। यह महा और लघु दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महिने और ९८ दिन लगते हैं। इस तप की भी ४ परिपाटी होती है। इस का क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

मान - गर्व, अभिमान। झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं। अथवा जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति कुल, तप आदि के अहकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते हैं।

माया - कपट भाव, अर्थात विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं। आत्मा का कुटिल भाव। दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किए जाते हैं, अपने हृदय के विकारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती, वह माया है। अथवा विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

मार्गणा - मार्गणा उन अवस्थाओं को कहते हैं जिनमें गति आदि से जीवों को देखा जाता है, उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाती है।

मिथ्यात्व - तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। अथवा पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

मिथ्यात्व-मोहनीय - जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। समार्ग से विमुख रहता है, जीवाजीवादि तत्वों पर श्रद्धा नही रखता है और अपने हिताहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिश्र मोहनीय - इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खट्टीमीठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए। मिथ्यात्व के अर्धशुद्ध दलिकों को भी मिश्र मोहनीय कहते हैं।

मुक्त - सपूर्ण कर्म क्षय कर जन्म-मरण से रहित होना।

मुक्त जीव - सपूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों से युक्त होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, वे मुक्तजीव कहलाते हैं।

मुहूर्त - दो घटिका या ४८ मिनिट का समय।

मूल प्रकृति - कर्मों के मुख्य भेदों को मूल प्रकृति कहते हैं।

मोक्ष - सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। सपूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है।

मोहनीय कर्म - जो कर्म जीव को स्व-पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चरित्रगुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके २८ भेद हैं।

यथाख्यात सयम - समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव वताया है, उस अवस्था रूप वीतराग सयम।

यथाप्रवृत्त करण - जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोडा-कोडी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था (स्थिति) बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।

यवमध्य भाग - आठ युका का एक यवमध्य भाग होता है।

युग - पाच वर्ष का समय।

यूका - आठ लीख की एक यूका (जू) होती है।

योग - मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्गलों का आलम्बन लेकर आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द-कम्पन या हलन-चलन को भी 'योग' कहते हैं। इसी योग को 'प्रयोग' भी कहते हैं। अथवा - साध्वाचार का पालन करना सयम योग है। आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। आत्मप्रदेशों में अथवा आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काया के द्वारा होता है, अत मन, वचन, काया के कर्म व्यापार को अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव का कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहा जाता है।

योग निरोध - योगों के विनाश की योग निरोध सज्ञा है।

योजन - चार गव्युत या आठ हजार धनुष्य का एक योजन होता है।

योनि - योनि शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'युवन्ति अस्यामिति योनि ' अर्थात् जिसमें तैजस कार्मण शरीर वाले जीव, औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गल स्कान्ध के समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, उसे 'योनि' कहते हैं। अर्थात् जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। वह योनि प्रत्येक जीवनिकाय के वर्ण, गध, रस, स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार की है।

यौगालिक - मानव सभ्यता के पूर्व की सभ्यता, जिसमें मनुष्य युगल रूप में जन्म लेता है, वे यौगालिक कहलाते हैं। उनकी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है।

वर्ग - समान दो सख्याओं का आपस में गुणा करने पर प्राप्त राशि। सजातीय प्रकृतियों के समुदाय। अविभागी प्रतिच्छेदों का समूह।

वर्गणा - समान जातीय पुद्गलों का समूह।

वचनयोग - जीव के उस व्यापार को कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा सचय किए हुए भाषा द्रव्य की सहायता से होता है। अथवा भाषा परिणामरूपता को प्राप्त हुए पुद्गल को वचन कहते हैं और उस सहकारी कारणभूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचनयोग कहते हैं। अथवा - वचन पर विजय करने वाले योग को या भाषा-वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कधों के अवलबन से जो जीव प्रदेशों में सकोच - विकोच होता है, उसे वचनयोग कहते हैं।

वज्रऋषभ नाराच - वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ वेष्टनपट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबध है। जिस सहनन में दोनों तरफ से मर्कटबध से बधी हुई दो हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच कहते हैं।

वर्ण - जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रग होते हैं, उसे वर्ण कहते हैं।

वनस्पति काय - जिन जीवों का शरीर वनस्पतिमय होता है।

वामन सस्थान - इस सस्थान वाले का शरीर वामन (बौना) होता है।

विकल प्रत्यक्ष - चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण जो ज्ञान मूर्त पदार्थों के समग्र पर्यायों, भावों को जानने में असमर्थ हो।

विग्रह गति - जीव की एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय बीच में होने वाली गति दो प्रकार की होती है- ऋजु और विग्रह (वक्र)। ऋजु गति एक समय की होती है। मृत जीव की उत्पत्ति-स्थान विश्रेणि में होता है तब उसकी गति विग्रह (वक्र) होती है। इसीलिए वह दो से लेकर चार समय तक की होती है। जिस विग्रहगति में एक घुमाव होता है उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हो उसका कालमान चार समय का होता है। (स्थानाग वृत्ति, पत्र ५२ विग्रह गति वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्ति स्थान गन्तव्य भवति तदा या स्यात्)

विपाक - कर्म प्रकृति की विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं।

विपाक काल - कर्म प्रकृतियों का अपने फल देने के अभिमुख होने का समय।

विपुलमति मनःपर्यायज्ञान - चिंतनीय वस्तु के पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना।

विभंग ज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना अवधिज्ञान है। मिथ्यात्वी का यही ज्ञान विभग कहलाता है।

विरति - हिंसादि सावद्य व्यापारों अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाना।

विराधक - जो व्रत ग्रहण किए हैं, उनका सम्यक् रूप से पालन नही करने वाला तथा दुष्कृत्यों की आलोचना कर प्रायश्चित करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाला।

विशेषबन्ध - किसी खास गुण स्थान या किसी खास गति आदि को लेकर जो बध कहा जाता है उसे विशेषबन्ध कहते हैं।

विसयोजना - प्रकृति के क्षय होने पर भी पुन बघ की सभावना वनी रहे।

विद्याचारण - षष्ठ (बेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है। इसकी शक्ति प्रारभ में कम, बाद में अधिक होती है। वह यदि तिरछे लोक में उड़ान भरे तो आठवें नदीश्वर द्वीप तक जा सकता है। नदीश्वर द्वीप जाते समय उसे बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान में वह नदीश्वर द्वीप पहुचता है। परतु लौटते समय उसे विश्राम की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार ऊर्ध्व दिशा की ओर उड़ान भरते समय पहले नदनवन में विश्राम लेकर दूसरी उड़ान में पाडुक वन पहुचता है। उसे लौटते समय विश्राम की आवश्यकता नही होती। इस लब्धि वाला तीन बार आख की पलक झपके जितने समय में एक लाख योजनवाले जवूद्वीप में ३ बार चक्कर लगा सकता है।

विहायोगति - जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति कहते हैं।

वीर्यांतराय - वीर्य याने पराक्रम। जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और निरोग होते हुए भी कार्य विशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति सामर्थ्य का उपयोग न करे, उसे वीर्यांतराय कहते हैं।

वीरासन - पाटे पर बैठकर दोनों पैर जमीन से लगा लिए जाए और पाटा हटा लेने पर उसी प्रकार अधर बैठा रहना वीरासन है।

वेद - जिसके द्वारा इद्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाए, अथवा मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। अथवा वेद मोहनीय कर्म के उदय, उदीरणा से होने वाले जीव के परिणामों का सम्मोह (चंचलता) जिससे गुण-दोष का विवेक नही रहता।

वेदक सम्यक्त्व - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब सम्यक्त्व मोहनीय के अतिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके बाद जीव को क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

वेदनीय कर्म - जिस कर्म के द्वारा जीव को सासारिक इद्रिय जन्य सुख-दु.ख का अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म कहलाता है। इसके दो भेद हैं - १) सातावेदनीय, २) असातावेदनीय।

वैक्रिय वर्गणा - वे वर्गणाए जिनसे वैक्रिय शरीर वनता है।

वैक्रिय शरीर - जिस शरीर के द्वारा छोटे-वड़े, एक-अनेक, विविध-विचित्र रूप वनाने की शक्ति प्राप्त हो तथा जो शरीर वैक्रिय शरीर वर्गणाओं से निष्पन्न हो।

वैयावृत्य - आचार्य, उपाध्याय, शैक्ष, ग्लान, तपस्वी, स्थविर, साधर्मिक, कुल, गण और सघ की आहार आदि से सेवा करना।

व्यजनावग्रह - अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान।

व्यवहार राशि - जिस जीव ने एक वार भी निगोद को छोड़कर त्रस आदि की गति पाई हो, उसे व्यवहार राशि कहते हैं।

व्यवहार सम्यक्त्व - कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना, व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

रजोहरण - जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है।

रस - जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभाशुभ रसों की उत्पत्ति हो, उसे रस कहते हैं।

रस गारव - मिष्ट भोजन करने का गर्व करना।

रस घात - बधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मद कर देना ।

रस बध - जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्‌गलों में फल देने के तरतमभाव का होना रस-बध कहलाता है।

रसविपाकी - रस के आश्रय अर्थात् रस (अनुभाग) की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, उस प्रकृति को रस विपाकी कहते हैं।

रसाणु - पुद्‌गल द्रव्य की शक्ति का सबसे छोटा अश।

रसोदय - बधे हुए कर्मों का साक्षात् अनुभव करना।

राजू - प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटा-कोटी योजन का एक राजू होता है। अथवा - श्रेणी के सातवें भाग को राजू कहते हैं।

ऋजुमति - पर के मन में स्थित मन, वचन, काय से किए गए अर्थ के ज्ञान से निर्वर्तित सरल बुद्धि ऋजुमति मन पर्यवज्ञान है।

ऋजुता - कपट से रहित मन, वचन, काय की सरल प्रवृत्ति ऋजुता कहलाती है।

ऋजुसूत्र - तीनों कालों के पूर्वापार विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमान-कालभावी विषय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

ऋषभ नाराच - इस हड्डियों की रचना-विशेष में दोनों तरफ हड्डी का मर्कटवध हो, तीसरी हड्डी का वेष्टन भी हो, लेकिन तीनों को भेदनेवाली हड्डी की कीली न हो, उसे ऋषभ नाराच सहनन कहते हैं।

ऋद्धि गारव - धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य को ऋद्धि कहते हैं और उससे अपने को महत्त्वशाली समझना ऋद्धि गारव है।

रूपातीत ध्यान - अपने चित्त को अन्य समस्त चिंतवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ से बद्धमूल करना, बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान, जिसमें शुद्ध, कर्ममल रहित, अमृत और ज्ञानमय शरीर से सयुक्त चेतन और आनद स्वरूप आत्मा का स्मरण होता है।

रूपस्थ ध्यान - वस्तुविरक्त ध्यान, स्वसवेद्य ध्यान, जिन लोकातिशायी आत्मस्वरूप में जिनेन्द्र अवस्थित हैं उसका ध्यान, इसमें वस्तु का आलम्बन सर्वथा छूट जाता है, यह दो प्रकार का है :- १) परगत = परमेष्टि का ध्यान, २) स्वगत = निजात्मा का ध्यान।

रोचक सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं में रुचि को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

लगुडासन - पैर की एड़ी और मस्तक का शिखास्थान पृथ्वी पर लगाकर समस्त शरीर धनुष की भाति अधर रखना लगुडासन है।

लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा - अकों की स्थापना का वह प्रकार जिसमें सब ओर से समान योग आता है, उसे सर्वतोभद्र कहा जाता है। इस तप का उपवास से प्रारभ होता है और क्रमश बढते हुए द्वादश भक्त (५ उपवास) तक पहुच जाता है। दूसरे क्रम में मध्य के अक को आदि अक मानकर चला जाता है और पाच खडों में उसे पूरा किया जाता है। आगे यही क्रम चलता है। एक परिपाटी का कालमान ३ महिने १० दिन है। इसकी ४ परिपाटिया होती हैं। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप - तप करने का एक प्रकार। सिंह गमन करते हुए जैसे पीछे मुड़कर देखता है, उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही पीछे किया हुआ तप भी करना। यह लघु और महा दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक नौ दिन तपस्या होती है और फिर उसी क्रम से तप का उतार होता है। समग्र तप में ६ महिने और ७ दिन का समय लगता है। इस तप की भी चार परिपाटी हैं। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है।

लता - चौरासी लाख लताग के समय को एक लता कहते हैं।

लतांग - चौरासी लाख पूर्व का एक लताग होता है।

लब्धि - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

लब्धि त्रस - वे जीव जिन्हें त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी हैं।

लब्धि पर्याप्त - जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नही, वे लब्धि पर्याप्त है।

लब्ध्य पर्याप्त - वे जीव जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किए विना ही मर जाते हैं।

लव - सात स्तोक का समय।

लवण समुद्र - जैन भूगोल के अनुसार मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीपों तक फैला हुआ है। मध्य में जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौड़ा वृत्ताकार है। उसके चारों ओर लवण समुद्र है।

लाभातराय - दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभातराय कहते हैं।

लीख - भरत और ऐरवत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ केशाग्रों की लीख होती है।

लेश्या - एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं, उनके एक वर्ग का नाम लेश्या है। लेश्या शब्द का अर्थ आभा, काति, प्रभा, छाया है। छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणामों को भी लेश्या कहा जाता है। शरीर के वर्ण और आभा को लेश्या और विचार को भावलेश्या कहा है। अथवा - जीव के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरजित योग प्रवृत्ति।

लोक - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव की अवस्थिति।

लोभ - ममता- परिणामों को लोभ कहते हैं। धन आदि की तीव्र आकाक्षा या गृद्धता बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुराग बुद्धि, ममता आदि रूप परिणाम।

शय्यातर - साधु जिस व्यक्ति के मकान में सोते हैं, वह शय्यातर कहलाता है।

शल्य - जिससे पीड़ा हो। वह तीन प्रकार का है। १) मायाशल्य-कपटभाव रखना। २) निदान शल्य - राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर या सुनकर मन में इस प्रकार दृढ़ निश्चय करना कि, मुझे भी मेरे तप, जप का फल हो तो, इस प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त हों। ३) मिथ्यादर्शन शल्य - विपरीत श्रद्धा का होना।

शलाकापल्य - जिस पल्य को एक-एक साक्षीभूत सरसों के दाने से भरा जाता है, उसे शलाकापल्य कहते हैं।

शिक्षा व्रत - पुन -पुन सेवन करने योग्य अभ्यास प्रधान व्रतों को शिक्षा व्रत कहते हैं। वे चार हैं - १) सामयिक व्रत, २) देशावकासिक व्रत, ३) पौषधोपवास व्रत और ४) अतिथि सविभाग व्रत।

शीर्ष प्रहेलिका - चौरासी लाख शीर्ष प्रहेलिकाग की एक शीर्ष प्रहेलिका होती है।

शीर्ष प्रहेलिकाग - चौरासी लाख चूलिका का एक शीर्ष प्रहेलिकाग कहलाता है।

शुक्ल ध्यान - ध्यान की परम उज्ज्वल, निर्मल दशा। जिस ध्यान में बाह्य विषयों का संबध होने पर भी मन उनकी ओर नही जाता, एव पूर्ण वैराग्य दशा में रमता है। इस ध्यान की स्थिति में यदि कोई साधक के शरीर पर प्रहार करें, छेदन-भेदन करें, तब भी उसके मन में सक्लेश पैदा नही होता। शरीर को पीड़ा होने पर भी उस पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। देह होने पर भी विदेह-मुक्त-सा अनुभव करे। स्वरूप की दृष्टि से उसके ४ भेद हैं। १) पृथक्त्व वितर्क सविचार, २) एकत्व वितर्क सविचार, ३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, ४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

शुक्ल लेश्या - शख के समान श्वेतवर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना जिनसे कषाय उपशान्त रहती है, वीतराग-भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है।

श्रुतज्ञान - जो ज्ञान श्रुतानुसारी है जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इद्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतअज्ञान - मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान।

श्रुतज्ञानावरण कर्म - श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

श्रेणि - सात राजू लबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पक्ति।

शैलेशी अवस्था - चौदहवें गुणस्थान में जब मन, वचन और काय योग का निरोध हो जाता है, तब उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। इसमें ध्यान की पूर्णता होने से मेरू सदृश्य निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है। अथवा - मेरू पर्वत के समान निश्चल अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध की अवस्था।

शैलेशीकरण - वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मो की असख्यात गुणश्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना।

श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका - आठ उत्श्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है।

श्वासोच्छ्वास - शरीर से बाहर की वायु को नाक के द्वारा अदर खीचना और अन्दर की हवा बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है।

श्वासोच्छ्वास काल - रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुष के एक बार श्वास लेने और त्यागने का काल।

क्षपक श्रेणि - मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणि -अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सपराय और क्षीणमोह इन ४ गुण रूप सोपान पर आरूढ होता है, वह क्षपक श्रेणि है।

क्षमा - क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी किंचित् मात्र भी क्रोध न करना क्षमा है।

क्षय - कर्मों की आत्यतिक निवृत्ति अर्थात पूर्ण रूप से नष्ट हो जाना क्षय है। अथवा -विच्छंद होने पर पुन बध की सभावना न होना।

क्षयोपशम - वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल की दृष्टि से उन्ही का सद्अवस्थी रूप उपशम व देशघाती स्पर्धकों का उदय क्षयोपशम है। अर्थात् कर्म के उदयावली में प्रविष्ट मन्दरस स्पर्धक का क्षय और अनुदयमान रस स्पर्धक की सर्वघातिनी विपाकशक्ति का निरोध।

क्षायिक भाव - कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव।

क्षायिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में तत्त्व रुचि रूप प्रगट होने वाला परिणाम।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि - वेदक सम्यग्दृष्टि होकर प्रशम सवेद आदि से सहित होते हुए जिनेंद्र भगवान की भक्ति भाव के प्रभाव से जिस की भावनाएँ वृध्दिगत हुई हैं, ऐसा मानव जहाँ केवलि भगवान विराजमान हैं, वहाँ मोह की क्षपणा को प्रारभ करता है, पर निष्ठापक वह चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकता है, अर्थात् सातों प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव।

क्षायोपशमिक ज्ञान - मतिज्ञानावरणादि और वीर्यातराय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा अनुदय प्राप्त उन्ही के सदवस्था रूप उपशम से होने वाले मतिज्ञान आदि ज्ञानों को क्षायोपशमिक ज्ञान कहा जाता है। अथवा - अपने -अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

क्षायोपशमिक भाव - कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला भाव।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि - मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से क्षय योग्य प्रकृतियों के क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों के उपशम करने से सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव को कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षीण कषाय - जिसके सभी कषाय नष्ट हो चुके हैं, वह स्फटिक मणिमय पात्र में स्थित जल के समान निर्मल मन की परिणति से सहित हुआ है, वह क्षीण कषायी है।

संक्रमण - एक कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप में बदल जाना अथवा वीर्य विशेष से कर्म का अपना हो दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना।

सख्या - भेदों की गणना को सख्या कहते हैं।

सघ - गण का समुदाय-दो से अधिक आचार्यों का शिष्य समूह सघ कहलाता है। श्रावकों के समूह को भी सघ कहते हैं।

संज्वलन कषाय - जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात चरित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परिषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म के पालन करने को प्रभावित करे, असर डाले, उसे सज्वलन कहते हैं। यह कषाय सर्वविरति चरित्र पालन करने में बाधा डालती है।

सज्ञा - नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को अथवा अभिलाषा को सज्ञा कहते हैं।

संज्ञी - बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले जीव। अथवा सम्यग्ज्ञान रूपी सज्ञा जिनको हो, उन्हें संज्ञी कहते हैं। जिनके लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाए उन जीवों को सज्ञी कहते हैं।

सथारा - अतिम समय में आहारादि का परित्याग करना।

सभव सत्ता - किसी कर्म प्रकृति की अमुक समय में सत्ता न होने पर भी भविष्य में सत्ता की सभावना मानना।

सयम - सावद्य योगों-पापजनक प्रवृत्तियों से उपरत हो जाना, अथवा पापजनक व्यापार - आरभ - समारभ से आत्मा को जिसके द्वारा सयमित-नियमित किया जाता है उसे सयम कहते हैं अथवा पाच महाव्रतों रूप यमों के पालन करने या पाच इद्रियों के जय को सयम कहते हैं।

सवर - आस्रव के निरोध को सवर कहते हैं। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भाव सवर और कर्मपुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्य सवर कहते हैं।

सवेध - परस्पर एक समय में अविरोध रूप से मिलना।

संलेखना - शारीरिक तथा मानसिक एकाग्रता से कषायादि का शमन करते हुए तपस्या करना।

संस्थान - जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार बने, उसे सस्थान कहते हैं। इसके छ भेद हैं - १) समचतुरस्र सस्थान, २) न्यग्रोध-परिमडल सस्थान, ३) सादि संस्थान, ४) कुब्ज संस्थान, ५) वामन सस्थान, ६) हुड सस्थान।

ससारी जीव - जो अपने यथायोग्य द्रव्य प्राणों और ज्ञानादि भाव प्राणों से युक्त होकर नरकादि चतुर्गति रूप ससार में परिभ्रमण करते रहते हैं। उन्हें ससारी जीव कहते हैं।

सहनन - जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की सधिया दृढ़ होती हैं उसे सहनन कहते हैं। हड्डियों की रचना-विशेष को सहनन कहते हैं। इसके छह भेद हैं- १) वज्र ऋषभ नाराच, २) ऋषभ नाराच, ३) नाराच, ४) अर्द्ध नाराच, ५) कीलिका, ६) छेवट्ट।

सकल प्रत्यक्ष - सपूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जाननेवाला ज्ञान।

सत्ता - बधे हुए कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाती है। अथवा - बध समय का सक्रमण समय से लेकर जब तक उन कर्म परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप से सक्रमण नही होता या उनकी निर्जरा नही होती तब तक उनका आत्मा से लगे रहना।

सप्रतिकर्म - अनशन की अवस्था में उठना, बैठना, सोना, चलना आदि शारीरिक क्रियाए करना। ये क्रियाए भक्त-प्रत्याख्यान अनशन की अवस्था में ही होती है, शेष में नही।

समचतुरस्र सस्थान - सम का अर्थ समान, चतु का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। अर्थात् पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अर्थात् आसन और कपाल का अतर, दोनों घुटनों का अतर, दाहिने कधे और बाये जानु का अतर, बाये कधे और दाहिने जानु का अतर, समान हो, उसे समचतुरस्र कहते हैं।

समाचारी - साधुओं के लिए आवश्यक करणीय क्रियाए व व्यवहार।

समिति - सयम के अनुकूल प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। वे पाच हैं। १) ईर्या-ज्ञान, दर्शन व चरित्र की अभिवृद्धि के निमित्त युग परिणाम भूमि को देखते हुए एव स्वाध्याय व इद्रियों के विषयों का वर्णन करते हुए चलना। २) भाषा-भाषा दोषों का परिहार करते हुए पाप रहित एव सत्य, हित, मित और असदिग्ध बोलना। ३) एषणा-गवेषणा, ग्रहण और ग्रास सबधी एषणा के दोषों का वर्जन करते हुए आहार-पानी आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट आदि औपग्रहिक उपधि का अन्वेषण। ४) आदान-निक्षेप-वस्त्र, पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक लेना व रखना। ५) उत्सर्ग-मल, मूत्र, खेल, थूक, कफ आदि का विधिपूर्वक, पूर्वदृष्ट एव प्रमार्जित निर्जीव भूमि पर विसर्जन करना।

समुद्घात - मूल शरीर को छोड़े बिना ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना।

समाधि-मरण - मृत्यु के सन्निकट आ जाने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग करके आत्मध्यान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक प्राणों का त्याग करना। पडित मरण और

सकाम मरण भी इसे कहते हैं। इसकी प्राप्ति विषयादि से विरक्त समाधिस्थ विज्ञों को इच्छापूर्वक होती है। तथा मृत्यु समय में भी अन्य समयों की तरह प्रसन्न ही रहते हैं। २ श्रुत चरित्र-धर्म में स्थित रहते हुए निर्मोह भाव में मृत्यु।

समय - काल का वह अविभाज्य अश जिसका कभी भी विभाग न किया जा सके। (काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अश।)

समवसरण - तीर्थंकर परिषद अथवा वह स्थान जहा तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सम्यक्त्व - जीवादि नवतत्त्वों के श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व मोहनीय - जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक और क्षायिक भाववाली तत्त्वरुचि का प्रतिबध करता है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नही पहुचाता, परतु आत्मस्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नही हो पाता है और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व में मलीनता आ जाती है।

सविपाक निर्जरा - यथाक्रम से परिपाक काल को प्राप्त और अनुभव के लिए उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए शुभाशुभ कर्मों का फल देकर निवृत होना।

सर्वतोभद्र प्रतिमा - सर्वतोभद्र प्रतिमा की दो विधियों का वर्णन उपलब्ध होता है। एक विधि के अनुसार क्रमश दशो दिशाओं की ओर अभिमुख होकर एक-एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। भ महावीर ने इसे किया था। दूसरी विधि के अनुसार इसके लघु और महा ये दो भेद हैं।

सर्वौषधि - तपस्या विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वी के शरीर के समस्त अवयव, मल, मूत्र, नख, केश, दात, थूक आदि से सुगध आती है तथा उसके स्पर्श से रोग शात हो जाते हैं। इस लब्धिधारी का समूचा शरीर ही जैसे पारस होता है, अमृतमय होता है। जहा से भी, जो भी वस्तु लो तो वह तुरत चमत्कार दिखलाती है। वर्षा का बरसता हुआ व नदी का बहता हुआ पानी और पवन तपस्वी के शरीर से सस्पृष्ट होकर रोग नाशक व विष सहारक हो जाते हैं। विष-मिश्रित पदार्थ यदि उनके पात्र या मुह में आता है तो वह भी निर्विष हो जाता है। उनकी वाणी की स्मृति भी महाविष के शमन की हेतु बनती है। उनके नख, केश, दात आदि शारीरिक वस्तुएं भी दिव्य औषधि का काम करती है।

सागरोपम - दस कोड़ा कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

साता वेदनीय - जिस कर्म के उदय से आत्मा को इद्रिय विषय संबधी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं।

सादि अनंत - जो आदि सहित होकर भी अनत है।

सादिबध - वह बध जो रुककर पुन होने लगता है।

सादि सान्त - जिस बध का उदय बीच में रुककर पुन प्रारंभ होता है और कालान्तर में पुन व्युच्छिन्न हो जाता है।

सादि सस्थान - शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव हीन-पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण मोटे हों उसे सादि-सस्थान कहते हैं। न्यग्रोध-परिमडल-सस्थान से विपरीत शरीर अवयवों की आकृति इस सस्थान वालों की होती है।

साधारण वनस्पति (निगोद) - साधारण वनस्पति को ही निगोद कहते हैं। एक शरीर का आश्रय करके अनत जीव जिसमें रहे अर्थात् एक ही शरीर को आश्रित करके जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि समान हो, उन्हें निगोद कहते हैं। जैसे जमीकद, कदमूल, आलू, रतालू, पिंडालू, मूली, गाजर, लहसून, प्याज (कांदा), कोमल फल, अकुरे के वाला धान्य, (सेवार) (काइ) इत्यादि। निगोद के दो प्रकार हैं - १) व्यवहार राशि, २) अव्यवहार राशि।

सान्निपातिक भाव - दो या दो से अधिक मिले हुए भाव।

सान्तर स्थिति - प्रथम और द्वितीय स्थिति के बीच में कर्म दलिकों से शून्य अवस्था।

सामायिक - राग द्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस सयम से समभाव की प्राप्ति हो, अथवा ज्ञान-दर्शन-चरित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहा जाता है।

सास्वादान सम्यक्त्व - उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता, तब तक के उसके परिणाम विशेष को सास्वादान सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादान को सासादान भी कहते हैं।

सासादान सम्यग्दृष्टि - जो औपशामिक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख हो रहा है, किंतु अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही हुआ उतने समय के लिए वह जीव सासादान सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

सिद्ध - कर्मों को सर्वथा क्षय कर जन्म मरण से मुक्त होने वाली आत्मा।

सिद्धि - सपूर्ण कर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाली अवस्था।

सुषम - अवसर्पिणी काल का द्वितीय आरा जिसमें केवल सुख ही होता है, दु ख की मात्रा किंचित भी नही होती।

सुषम-दु षम - अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा, जिसमें सुख की मात्रा अधिक होती है, और दु ख की मात्रा कम होती है।

सुषम-सुषम - अवसर्पिणी काल का पहला आरा जिसमें सब प्रकार के सुख ही सुख अर्थात् अत्यधिक सुख होता है।

सूत्र - महावीर द्वारा कथित आगम साहित्य सूत्र कहलाता है।

सूक्ष्म - जो सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर में रहते है अर्थात् जो जीव काटने से कटे नही, छेदने से छिदे नही, भेदने से भिदे नही, अग्नि में जले नही, दूसरी वस्तु से रुके नही, दूसरी वस्तु को रोके नही, छद्मस्थ को नजर आये नही और केवली भगवान् के ज्ञानगम्य हों उसे सूक्ष्म कहते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे सूक्ष्म के पाच प्रकार हैं। वे सपूर्ण लोक में भरे हुए हैं।

सूक्ष्म अद्धापल्योपम - सूक्ष्म उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खड निकालने पर जितने समय में यह पल्य खाली हो जाता है उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म अद्धासागरोपम - दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम कहलाता है।

सूक्ष्म उद्धार पल्योपम - द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा असख्यात गुणी सूक्ष्म अवगाहनावाले केशाग्र खडों से पल्य को ठसाठस भरकर प्रति समय उन केशाग्र खडों में से एक-एक खड को निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो उतने समय को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म उद्धार सागरोपम - दस कोटा कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त - जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समयों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति - शुक्ल ध्यान का तृतीय चरण जिसमें सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय देकर दूसरे शेष योगों का निरोध होता है।

सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान - जिस शुक्लध्यान में सर्वज्ञ भगवान द्वारा योग निरोध के क्रम में अन्तत सूक्ष्म काययोग के आश्रय से अन्य योगों को रोक दिया जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त - कोई एक जीव ससार में भ्रमण करते हुए आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुन उनके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है तब उतने समय को सूक्ष्म पुद्गल परावर्त कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम - बादर क्षेत्र पल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असख्यात खड करके पल्य को ठसाठस भर दो। वे खंड उस पल्य में आकाश के जितने प्रदेशों को स्पर्श

करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें उनसे प्रति समय एक-एक प्रदेश का अवहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अवहरण किया जाता है, उतने समय को एक सूक्ष्म पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम - दस कोटा कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है।

सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त - जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सातों वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त - जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा अनुभाग बध के कारणभूत कषाय स्थानों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

स्तिवुकसक्रम - अनुदयवर्ती कर्म प्रकृतियों के दलिकों को सजातीय और तुल्य स्थिति वाली उदयवर्ती कर्म प्रकृतियों के रूप में बदलकर उनके दलिकों के साथ भोग लेना।

स्थविर - साधना से स्खलित होते हुए साधकों को पुन उसमें स्थिर करने वाले। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं।

(१) प्रवज्या स्थविर - जिन्हें प्रव्रजित हुए बीस वर्ष हो गए हों।

(२) जाति - स्थविर - जिनका वय ६० वर्ष का हो गया हो।

(३) श्रुत स्थविर - जिन्होंने स्थानाग, समवायाग आदि का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

स्थविर कल्पिक - गच्छ में रहकर साधना करना। तप और प्रवचन की प्रभावना करना। शिष्यों में ज्ञान, दर्शन और चरित्र आदि गुणों की वृद्धि करना। वृद्धावस्था में शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर आहार और उपधि के दोषों का परिहार करते हुए एक ही स्थान में रहना।

स्थावर - जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से स्थितिशील हैं अर्थात् जो सर्दी-गर्मी आदि दु खों से अपना बचाव करने के लिए चलने-फिरने की योग्यता न रक्खे, उनको स्थावर कहते हैं। इनको सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय होती है। इसके दो भेद हैं - (१) सूक्ष्म और (२) बादर।

स्थितकल्पी - जो अचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर पिंड, राजपिंड, कृतिकर्म व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्यूषण इन दस कल्पों में स्थित हैं।

स्थिति - विवक्षित कर्म के आत्मा के साथ लगे रहने का काल।

स्थिति घात - कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना (जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं उन्हें अपवर्तना द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना)।

स्थिति बध - जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्‌गलों में अमुक समय तक अपने अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल-मर्यादा का होना स्थिति बंध है।

स्थितिबध अध्यवसाय - कषाय के उदय होने वाले जीव के जिन परिणाम विशेषों से स्थितिबध होता है, उन परिणामों को स्थितिबध अध्यवसाय कहते हैं।

स्थितिस्थान - किसी कर्म प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के भेद।

स्पर्द्धक - वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

स्पर्श - जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श, कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रुक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्श कहते हैं।

हुहु - चौरासी लाख हुहु - अग का एक हुहु होता है।

हुहु अंग - चोरासी लाख अवव की सख्या।

हेतुविपाकी - पुद्‌गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक - फलानुभव होता है।

ज्ञान - जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत, वर्तमान और भविष्य सबधी समस्त द्रव्य और उनके गुण और पर्याय को जाने। अथवा सामान्य विशेषात्मक वस्तु में से उनके विशेष अश को जानने वाले आत्मा के व्यापार को ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के ज्ञान, गुण को आच्छादित करें, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं। (१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यायज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

ज्ञानोपयोग - प्रत्येक पदार्थ को उन-उनकी विशेषताओं की मुख्यता से विकल्प करके पृथक-पृथक ग्रहण करना।

ज्ञाताधर्म कथा - जिस अग श्रुत में उदाहरणभूत पुरुषों और उनके नगर, उद्यान एवं चैत्य आदि का कथन किया गया है, वह ज्ञाताधर्म कथा है।

संदर्भ ग्रंथ सूचि

अथर्ववेद श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय - मडल, औंध, १९

अणुयोग द्वार सूत्र सुधर्मास्वामी कृत 'टी' हेमचद्र, राय धनपति सिंह बहादुर का आगम सग्रह भाग ८८, १९३६

अनुत्तरौपपातिक दशासूत्रम् आ आत्मारामजी महाराज साहब (अनुवादक), जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथम, १९३६

अनुयोगद्वार सूत्र (टीका भाषातर) गणधर श्री सुधर्मास्वामी, १९३६

अभिधम्मपिटके धम्मसङ्गणिपालि भिक्खु ज काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (सिरिनवनालन्दा महाविहारस), विहार, १९६०

आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका (भाग - १) श्रीमन्माणेक्यसूरिश्वरजी, जैन ग्रथ माला, गोपीपुरा - सूरत, १९३९

आवश्यकसूत्रम् - (पूर्व भाग) भद्रबाहुस्वामी - निर्युक्ति जिनदास गणि चूर्णीकर, जैनबधू मुद्रणालय, रतलाम, इदौर, १९२८

अद्वैत वेदान्त डॉ राममूर्ति शर्मा, नैशनल पब्लिसिंग हाऊस, २३ दरियागज, दिल्ली - ६, १९७२

आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुत) आत्मारामजी महाराज, आ श्री. आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६३

आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कध) श्री सौभाग्यमलजी म सा (अनुवादक), श्री जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन, प्रथम, २००७ विक्रमाब्द

आचाराङ्गसूत्र सूत्रकृताङ्गसूत्र च श्री भद्रबाहुस्वामी (निर्युक्ति) श्री शीलाङ्काचार्य (टीका), मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम, १९७८

आप्त-परीक्षा श्रीमद्विद्यानदस्वामी, वीर सेवा-मदिर, सरसावा, जिला सहारन-पुर, प्रथम, १९४६

आयुर्वेदतत्त्वसदीपिका (सुश्रुतसहिता), महर्षिणा सुश्रुतेन, चौखम्बा, सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, तृतीय, १९६९

उत्तराध्ययनसूत्रम - (भाग १ से ३) आत्मारामजी महाराज, जैन शास्त्रमाला, कार्यालय, लाहौर, १९३९, ४१, ४२

१०८ उपनिषद ब्रह्मविद्याखड प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली, (उ प्र), १९६१ अक्टूबर

१०८ उपनिषद ज्ञानखड प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र), १९६१ अक्टूबर

१०८ उपनिषद् साधना खड· प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र),

उपासकदशाग सूत्र (टीका सहित) श्री आत्मारामजी म सा, आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६४

उपमिति भवप्रपचाकथा (विभाग ३) - सिद्धर्षिगणि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६

उपमिति भवप्रपचा कथा (भाग १, २, ३) सिद्धर्षिगणि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर,प्रथम, द्वितीय, १९२५, १९२४ (भाग-२)

ओघनिर्युक्ति - भद्रबाहु स्वामी (टी द्रोणाचार्य), आगमोदय समिति, नन्दीसूत्र, १९२२

ओघानिर्युक्ति भद्रबाहु स्वामी (टी. ज्ञानसागरसूरी), देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्डाख्या सस्था, सूरत, १९७४

औपपातिक सूत्र : टीकाकार घासीलालजी म सा, अ. भा श्वे स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शातिलाल मगलभाई, अमदाबाद, प्रथम, १९५९

अतगडदसासूत्र · अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृतिरक्षक सघ, सैलाना (मध्यप्रदेश), १९६३

अतकृतदशा सूत्र · श्री आत्मारामजी म सा., आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, २०२७

ऋग्वेद-सहिता श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, औंध (सातारा), १९९४

चार्वाक दर्शन आचार्य आनन्द झा, हिंदी समिति सूचन विभाग, लखनऊ (उ. प्र) प्रथम, १९६९

छादोग्योपनिषद् (सानुवाद शाकर भाष्यसहित) · गीता प्रेस, गोरखपुर, पचम, २०२३

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीकाकार घासीलालजी म सा, अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति, प्रमुख बलदेवभाई डोसाभाई पटेल, अहमदाबाद, प्रथम, १९८०

जीवाभिगमसूत्र (भा १, २, ३) टीकाकार घासीलालजी म अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख, अहमदाबाद, प्रथम, (भाग १) १९७१ (भाग ३) १९७४

जीवाजीवाभिगम सूत्र : चतुर्दश पूर्वधर श्रुतस्थविर- (टी.मलयगिर्याचार्य) नगीनभाई छेलाभाई जवेरी, जव्हेरी बाजार, (मुंबई), प्रथम, १९१९

ठाण मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) २०३३

नन्दीसूत्र देववाचक क्षमा श्रमण (टी मलयगिर्याचार्य) आगमोदय समिति, सूरत १९२३

नियमसार (हिंदी, गुजराती अनुवाद), श्री कुद्कुदाचार्य, श्री हिंमतलाल जैन, श्री मगनलाल जैन, श्री सेठी दिगवर जैन ग्रथमाला, ववई, प्रथम, १९६०

निशीथ सूत्रम (चूर्णि) (भा १, २, ३, ४), श्री जिनदास महत्तर, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, प्रथम, १९५७

नदीसूत्रम (सटीक) श्री आत्मारामजी म सा , आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६६

न्यायदर्शन गौतम, मिथिला विद्यापीठ प्रधानेन प्रकाशितम्, वाराणसी, १९६७

तत्त्वसार वीर राघवाचार्य, १९७७

तत्त्वार्थ सूत्र उमा स्वाती (सुखलालजी सघवी), जैन सस्कृति सशोधन मडल, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस, द्वितीय १९५२

तत्त्वार्थाधिगम्सूत्रम् उमास्वामी, कपूरचद ताराचद, जावाल (सौराष्ट्र) प्रथम, १९५५

तैत्तिरीयोपनिषद शाङ्करभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम २०१९

तैत्तिरियारण्यकम् (दि भा) कृष्णयजुर्वेदीय, आश्रन्दाश्रम मुद्रणालय, तृतीय, १९६९

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम् आ श्री आत्मारामजी महाराज साहेब (अनुवादक), जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहोर, प्रथम, १९३६

दसवैयालियसुत्त उत्तरज्झयणाइ आवस्सयसुत्त भदतविजय (स पुण्यविजयजी मुनि), श्री महावीर जैन विद्यालय, बबई (महाराष्ट्र), प्रथम १९७७

दसवेआलीयं (बीओ भाग) आचार्य तुलसी, जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता, स २०२०

दसवेयालियसुत्त, उत्तराज्झयणाइ आवस्सयसुत्त, सिरिसेज्जभवथेरभदंत एव अठोगयेरभदत, महावीर जैन विद्यालय, बबई, १९७७

दशवैकालिकसूत्रम् · आत्मारामजी म जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथम, १९४६

दशवैकालिक सूत्रम् टीकाकार हरिभद्रसूरि, नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, ४२६ जव्हेरी बाजार, बम्बई, १९१८

पंचास्तिकाय श्री कुद्कुंदाचार्य, श्रीमद्राजचद्र आश्रम, अगास, तृतीय, वि स २०२४

पचकल्पाभाष्य (पचकल्याण भाष्यम्) खमासमणसिरि सघदासगणि, आगमोद्धारक ग्रथमाला एव कार्यवाहक- शा रमणलाल जयचद्र, कपडवज, (जि. खेडा) वि. स. २०२८

प्रशस्तपाद भाष्यम् न्यायकदलीव्याख्या, श्रीधर भट्ट, निदेशक, अनुसधान सस्थानस्य सपूर्णानद सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय, शकाब्दे, १८९९

प्रज्ञापनासूत्र (भा १, २, ३, ४आदि) टीकाकार घासीलालजी म सा, अ. भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शातिलाल मगलदास भाई, अहमदाबाद, प्र १, १९७४, द्वि २ १९७५, तृ ३, १९७७, च ४, १९८८

ब्रह्मसूत्र स्वामी श्री हनुमानदासजी षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९

बृहद्सहिता वराहमिहिर, चोखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९७७

ब्रह्मसूत्रभाष्यम् ॰ श्री शकर भगवत्पादाचार्य, श्री कामकोटी कोशस्थानम्, ४, फ्रान्सिस जोसेफ स्ट्रीट, मद्रास-१, १९५४

ब्रह्मसूत्रशारीरभाष्यार्थ (आ १, २, ३, भा १, २, ३) विष्णु वामन बापटशास्त्री, पुणे १९२४

बृहद कल्पसूत्रम् (द्वितीयो भाग) ॰ आर्य भद्रबाहुस्वामी, श्री जैन आत्मानद सभा, भावनगर, १९३६

बृहद् कल्पसूत्र (१ से ६ भाग) : आ भद्रबाहुस्वामी, श्री आत्मानद जैन सभा, भावनगर, १९३३,३६,३६,३८,३६,३८

बृहदारण्योपनिषद् (सानुवाद शांकर भाष्यसहित) गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ, स २०२५

भगवती सूत्र (१ से [illegible] भाग) म. सुधर्मस्वामी (स घेवरचद बाठिया), अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म प्र), १९६६, ६७, ६८, ७०, ७२, ७२

भगवती आराधना (भा १, २) सेठ लालचद हीराचद, जैन संस्कृति - सरक्षक-सघ, सोलापूर (महाराष्ट्र)

भगवती सूत्र - अवचूरि ॰ जैन पुस्तकोद्धारककोशस्य कार्यवाहक सूरत, प्रथम, १९७४

भागवत महापुराणम् (१, २, खड) महर्षि वेद व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय, स २०१३

मज्जीवाजीवाभिगमोपा श्री मलयगिर्याचार्य, शा नगीनदास घेलाभाई जव्हेरी, इ स १९१९

मज्झिम-निकाय (हिंदी) राहुल-सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस) प्रथम, १९३३

मनुस्मृति श्री गुरुदेव प्रकाशन, पुणे (महा)

मन्महाभारतम् (भाग १, ३, ४) महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम, वि स २०१३

मनुस्मृति (मराठी) ध. ह सुरधकर, श्री गुरुदेव प्रकाशन, पुणे-२ (महा)

मन्महाभारतम् महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन, गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रमाब्द-२०१४, २०१५

मत्स्यपुराणम् श्रीमन्महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास, कलकत्ता, प्रथम, १९५४

महावीर चरित्रम् (प्राकृत) श्रेष्ठि देविचद लालभाई जैन-पुस्तकोद्धार सस्था

महापुराणम् श्री जिनसेनाचार्य, अयोध्याप्रसाद गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुड रोड, बनारस, १९५१

महापुराण (भा १, २) महाकवि पुष्पदत विरचित, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम, १९७९

मिलिन्दपण्हो आर डी वेडेकर, युनिव्हर्सिटी ऑफ बॉम्बे, बम्बई, प्रथम, १९४०

मीमासा दर्शन श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, द्वितीय, १९७६

मुण्डकोपनिषद् शकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, अष्टम, स २०१९

ववहार सुत्त मुनि 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम, १९८०

विनय-पिटक (हिंदी) राहुल सास्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम, १९३५

श्रीविपाक सूत्रम् (अनुवादक) श्री आत्मारामजी म जैन शास्त्रमाला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना, वि स २०१०

व्यवहार सूत्रम् (भाष्य मलयगिरी भाग १, २, ३) भद्र बाहु स्वामी, जैन श्वेताबर सघ सहाय्येन, वकील केशवलाल प्रेमचद, बी ए., एल एल बी , हाजा पटेलनी पोळ-अहमदाबाद, १९२६

विपाकसूत्रम् श्री ज्ञानमुनिजी म सा , जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना (पजाब) प्रथम, विक्र २०१०

विशेषावश्यकभाष्य (गुजराती) (भाग-१) आ हेमचन्द्राचार्य, आगमोदय समिति, मुबई, प्रथम, १९२४

विशेषावश्यक भाष्य (प्रथम) श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण रचित एव कोट्याचार्यकृत वृत्ति, डॉ नथमल टाटिया, रिसर्च इन्स्टिट्यूट ऑफ प्राकृत जैनालाजी और अहिंसा, वैशाली (बिहार) १९७२

विशेषावश्यक भाष्यम् (भाग १ अश १, २) दिव्यदर्शन कार्यालय, काहुशीनी पोल, अहमदाबाद, वि स २४८६

विशेषावश्यक भाष्यम् (भाग -२मूल) जिनभद्रगणि, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वि स २४८६

विशेषावश्यक भाष्य -१ श्री जिनभद्रगणि, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली(बिहार) १९७२

विसुद्धिमग्ग (मूल) आ बुद्धघोष, बौद्धभारती, वाराणसी, प्रथम, १९७७

विशुद्धि मार्ग (भाग - १, २ हिंदी), आचार्य बुद्धघोष (भिक्षु धर्मरहित), महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, ई स. १९५६-१९५७

वैशेषिक दर्शनम् श्री कणाद मुनि, मणिलाल इच्छाराम देसाई, दि गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, मुबई, वि स १९६९

वैदिक योगसूत्र प हरिशकर जोशी, चौखबा सस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, वि स २०२४

यजुर्वेद श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मडल, औंध, (सातारा) वि स १९८४

रायपसेणीय सूत्र · टी घासीलालजी म सा , अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शांतिलाल मगलदासभाई, अहमदाबाद, प्रथम, १९६५

शतपथ ब्राह्मणम् सायणाचार्य - भाष्यकार, चौखम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय, इ स १९६४

शिव सहिता डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली, (उ प्र) द्वितीय १९७५

श्वेताश्वतरोपनिषद शकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय, स २०००

षट्खडागम श्री भगवान पुष्पदत भूतबली प्रणीत, जैन श्राविकाश्रम, सोलापूर, १९६५

षट्खंडागम श्रीवीरसेनाचार्य - धवल टीका समन्वित ·, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचद जैन-साहित्योद्धारक फड कार्यालय, विदिशा (म प्र) १९५८

षट्खडागम (चतुर्थखड वेदनानामधेये) कृति अनुयोगोद्धारक श्री भगवत्पुष्पदत भूतबलि, श्रीमत सेठ शिताबराय लक्ष्मीचद, जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, अमरावती ई स १९४९

षट्खडागम (वोल्युम १३) (पचम खड) पुष्पदत भूतबलि, श्रीमत शेठ शितावराय लक्ष्मीचद जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, भेलसा (म भा) इ स १९५५

षट्खडागम ख १५, श्रीवीरसेनाचार्य धवलटीका समन्वित, श्रीमत सेठ शितावराय लक्ष्मीचद जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, भेलसा, (म प्र) १९५७

सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र आ श्रीविजयदर्शनसूरि, प्रथम, इ स १९५५

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, श्री उमास्वामी, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, इ स १९३२

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मणिलाल, रेवाशकर जगजीवन जौहरी, परमश्रुतप्रभावक जैन मडल, जौहरी बाजार खाराकुवा, बवई (महा) १९३२

सार्थ मनुस्मृति प रामचद्र शास्त्री अवादास जोशी, श्री गुरुदेव प्रकाशन, ७, रविवार पेठ, पुणे

साख्यसूत्रम् डॉ रामशकर भट्टाचार्य (सपादक), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, स २०२२

साख्यकारिका विद्यासुधाकर डॉ हर दत्त शर्मा, द ओरियनटल बुक एजन्सी, पूना, १९३३

साख्यदर्शनम् (सूत्रम), विज्ञान भिक्षु, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, स २०२२

साख्यसूत्रम् विज्ञानभिक्षुभाष्यान्वित, स डॉ श्री रामशकर भट्टाचार्य भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि स २०२२

साख्यदर्शन प्रवचन भाष्य भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६/ वि सं-२०२२

साख्यतत्त्व कौमुदी "तत्त्व प्रकाशिका" हिंदी व्याख्या, डॉ गजानन शास्त्री मुसळगावकर, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय, वि स २०३५

साख्यतत्त्व - कौमुदी श्री वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय, १९७९

सुत्तपिटक सयुक्त-निकाय (हिंदी) भिक्षु जगदीश काश्यप, त्रिपिटकाचार्य भिक्षु रक्षित, महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस, प्रथम, १९५४ ई स

सुत्तनिपात (हिंदी-पाली), भिक्षु धर्मरत्न, अनुवादक भिक्षु सघरत्न, महाबोधि, वाराणसी, द्वितीय, १९६०

सुत्तपिटके - अङ्गुत्तरनिकायपालि, भिक्खु जगदीसकस्सपो, बिहार राजकीयेन पालिपकासन मडलेन, १९६०

सूयगडागसुत्त (प्रथम भाग) श्री भद्रबाहुस्वामी (मुनि पुण्य विजयजी), प्राकृत ग्रंथ परिषद, अहमदाबाद ९, वाराणसी १९७५

संयुत्तनिकाय (महावग्ग-पालि) ५: भिक्खु ज काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट), १९५९

स्थानाङ्गसूत्र - दीपिका वृत्ति (भाग १) सुरतवास्तत्य-श्रेष्ठि देविचंद लालभाई पुस्तकोद्धार कोटी कार्यवाहक

सन्मति तर्क (प्रकरण) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (अनुवादक) सुखलाल सघवी, डॉ बेचरदास दोशी, गुजरातविद्यापीठ, अहमदाबाद ९, १९५२

स्थानाङ्गसूत्र - (भाग १, २) आ आत्मारामजी महाराज साहब, आ आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, वि. स २०३२

ज्ञाताकर्मकथागसूत्र प शोभाचद्र भारिल, श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), ई. स १९६४

अर्थागम (प्रथम खड, आ सूत्र, स्था, सम,) पुप्फ भिक्खु स फूलचदजी म प्यारेलाल ओमप्रकाश जैन, देहली-६, प्रथम, ई. स १९७१

अर्धमागधी कोष (भा १-४) स. शतावधानी जैनमुनि श्री रत्नचदजी म , श्री श्वेताम्बर स्था जैन कॉन्फरन्स, केसरीचंद भडारी, राजवाड़ा चौक, इदौर, ई. स १९२३

अनत तरफ दौड आ [illegible] ल. भागवत, श्री गजानन बुक डेपो प्रकाशन, प्रथम, दादर (मुबई) २८, १९७५

अध्यात्मकल्पद्रुम श्रीमुनि सुदर सूरि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, द्वितीय, ई स १९११

अध्यात्म गीता बुद्धिसागर सूरि, अध्यात्म ज्ञान प्रचारक मंडल, पादरा, (गुजरात) ई स १९२५

अध्यात्मबिंदु . मुनिश्री मित्रानंदविजयजी (सपादक) लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९७२

अध्यात्मबिंदु - स्वोप्रज्ञवृत्या श्री हर्षवर्धनोपाध्याय, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-९

अध्यात्मतत्त्वालोक श्री न्यायविजयमुनि महाराज साहब, श्री सुरेंद्र लीलाभाई झवेरी, बडोदरा, दूसरी १९३४

अध्यात्मसार उ. यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भडार-स्थापक, सघवी नगीनदास करमचद, वि स. १९९४

अध्यात्मसार भावानुवाद मुनि श्री चद्र शेखरविजयजी, कमल प्रकाशन ट्रस्ट, २७७७ सस्कृति भवन, निशापोळ, रिलीफ रोड, अहमदाबाद-१, १९७९

अध्यात्मसार - अध्यात्मोपनिषद ज्ञानसार प्रकरण रत्नत्रयी, श्रीमद्यशोविजयगणि प्रवर प्रणीता, केशरबाई ज्ञान भंडार, स्थापक संघवी-नगीनदास करमचद, प्रथम, वि. स १९९४

अध्यात्मयोग और चित्तविकलन वेंकट शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम, विक्रमाब्द २०१४

अभिधम्म कोश (भा ३, ४) आचार्य वसुबधु, बौद्धभारती, वाराणसी, १९७२

अभिधानचिंतामणि श्री हेमचद्राचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम,१९६४

अभिधान राजेंद्र कोश श्रीमद्विजयराजेंद्र सूरीश्वर, श्री जैन श्वेताम्बर समस्त - सङ्घेन महापरिश्रमत , रतलाम १९१३ (भा.४)

अभिज्ञान शाकुतल कालिदास, महाजन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, तृतीय, १९६० इ स

अष्टपाहुड श्री कुदकुदाचार्य श्री मदनलाल हीरालाल दिगबर जैन पारमार्थिक दृष्टातर्गत, मारोठ (राज) १९५९

अष्टागयोग साधना आणि सिद्धी (मराठी) स्वामी वीरानद, रघुवशी प्रकाशन, ३४७१/१२३ पंतनगर, घाटकोपर, (मुबई ७५)

आत्मयुग का जैन दर्शन प दलसुख मालवणिया, समति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६

आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन मुनि श्री नगराजजी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, प्रथम १९६९ ई स

आगम सारिणी ग्रथ श्री ज्ञानचदजी स्वामी, लखमशी केशवजी कच्छ, पत्रीवाला, द्वितीय, १९४०

आचार्य श्री तुलसी अभिनदन ग्रंथ, आ श्री तुलसी धवल समारोह समिति, वृद्धिचद जैन, दिल्ली

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रथ, जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता -१, १९६१

आत्म प्रकाश श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वरजी, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, मुंबई, तृतीय, सवत- २०१०

आत्मवाद मुनि फूलचद्र 'श्रमण' आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६५

आत्मानुशासन · गुणभद्र, कामेंट्री बाय-प्रभाचद्र, गुलाबचद्र, हीराचद्र दोशी, सोलापूर,, प्रथम, १९६१

इसिभासियाइ सुत्ताइ : अर्हतर्षि सुधर्मा ज्ञानमदिर, १७० कादावाडी ववई न ४, वि सं २०२०, १९६३

कबीर साहब का बीजक, ग्रथ - कबीर साहब, सत्यनाम प्रेस, स १९८३

कर्मग्रंथ (१) (हिंदी) : श्री देवेंद्रसूरि (टिका - मिश्रीमलजी म सा), श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर, (ब्यावर) १९७४

कर्म प्रकृति सामान्य परिचय मुनि जयंतविजय 'मधुकर', अ भा श्री राजेंद्र जैन नवयुवक परिषद केंद्र, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, १९७९

कर्मप्रकृति · अभयचद्र सिद्धात चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुड मार्ग, वाराणसी-५, १९६८

कल्पसूत्र · सपादक महोपाध्याय विनयसागर, देवेंद्रराज मेहता, प्राकृतभारती, जयपुर, प्रथम, ई स १९७७

कल्पसूत्र - श्रुतकेवली भद्रबाहु, श्री अमर जैन आगम शोध सस्थान, सिवाना

कल्पसूत्र · सपादक देवेंद्रमुनि शास्त्री, श्री अमर जैन आगम शोध सस्थान, सिवाना, प्रथम, ई स. १९६८

कर्मग्रथ (देवेंद्रसूरि - भाग २) व्याख्याकार-मुनि श्री मिश्रीमलजी म , श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर (ब्यावर), १९७५

कषाय-पाहुड (भा. १ से १३) (गुणधराचार्य चूर्णि यति-वृषभाचार्य, जयधवल टीकाकार-वीरसेनाचार्य-मत्री साहित्य विभाग, भा दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा, द्वितीय इ. स १९७४

कषाय पाहुड सूत्र श्री आचार्य गुणधरभट्टारक, श्री वालचद देवचद शहा, श्रुत भंडार व ग्रथ प्रकाशन, सन १९६८, फलटण (सतारा)

कामसूत्रम श्री वात्स्यायन मुनि, जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखंबा संस्कृत सिरीज ऑफिस विद्याविकास प्रेस, बनारस, द्वितीय, विक्रम सवत १९५६

कार्तिकेयानुप्रेक्षा · स्वामीकुमार, श्रीमद् राजचद्र आश्रम स्टे. अगास, गुजरात, प्रथम -द्वितीय, इ स १९७८

कुन्द-कुन्द भारती श्री कुदकुदाचार्य, श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फल्टन, ई स १९७०

उपमितिभवप्रपचा कथा (पूर्वार्द्धम् उत्तरार्द्धम्) सिद्धर्षि, शाह नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, ४२६ जव्हेरी बाजार, बम्बई, प्रथम, पू. १९१८ उ. १९२०

उपाध्याय श्री पुष्करमुनि अभिनंदन ग्रंथ - प्रधान सं. देवेंद्रमुनि शास्त्री, डॉ. ए. डी बत्रा, राजस्थान केसरी, अध्यात्मयोगी श्री पुष्करमुनि अभिनदन ग्रंथ प्रकाशन समिति, मुंबई, उदयपुर

उपासकाध्ययन श्री सोमदेव सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९६४

उच्च प्रकाशना पथे (पच सूत्र) श्री हरिभद्र (भानुविजयजी) दिव्यदर्शन कार्यालय, काळुशीनी पोळ, अहमदाबाद -१, तृतीय, वि स २०२७

उत्तरी भारत की सत-परपरा . आ परशुराम चतुर्वेदी, भारती भडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय, स २०२१

उत्तरपुराण (हिंदी) . आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय १९६८

एसो पच णमोक्कारो युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राज) द्वितीय, १९८०

ओम्कार ह भ प श्रीराम रामचद्र गणोरे (हरिदास) हरिराम आश्रम मठ, पुणे, प्रथम, १९७६ ई स

ओंकार एक अनुचिंतन श्री पुष्करमुनिजी महाराज साहब, सार्वभौम साहित्य सस्थान, शक्तिनगर, दिल्ली - ६, १९६४

ॐकार किमया (मराठी) स कृ देवघर, प्रसाद प्रकाशन, पुणे ३०

खवग-सेढी (सोपज्ञवृत्ति विभूषिता) आ. श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वर, श्री भारतीय - प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा (राज), प्रथम, वि स २०२२

गीता विज्ञान श्री अरविंद, दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पाडिचेरी - २, ई स १९६५, २४ नवम्बर

गुणस्थान क्रमारोह श्रीमद् रत्नशेखरसूरि (स्वोपज्ञकृति) दिव्यदर्शन ट्रस्ट कुमारपाल वि शाह, बम्बई, वि स २०३८

गोम्मटसार (जीवकाड या कर्मकाड) भाग-१-२ श्री नेमिचद्र सिद्धात चक्रवर्ति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम १९७८, ७९

गोम्मट सार (जीवकाड - भाग १-२) . श्रीमन्नेमिचंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४

गोरक्ष सहिता डॉ चमनलाल गौतम (अनुवादक), संस्कृति सस्थान

घेरड सहिता . सस्कृति सस्थान कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ प्र), १९७५

चौद गुणस्थान नगीनदास गिरधरलाल सेठ, सेठ नगीनदास गिरधरलाल, शातिसदन २५८, मुबई, प्रथम

छादोग्योपनिषद · गीता प्रेस, गोरखपुर, पचम, सं २०२३

जम्बु स्वामी चरिउ वीर कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम, १९४४

जीवन भाष्ये (भाग-२) जे.कृष्णमूर्ति, ओरिएंट लॉंगमन लिमिटेड,नई दिल्ली १

जीवनयोग सुश्री विमला ठकार, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, प्रथम १९७३

जे. कृष्णमूर्ति, प्रथम और अंतिम मुक्ति : डॉ दयाशरण शुक्ल (अनुवादक), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, प्रथम, १९७५

जैन आगम साहित्य : श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रथालय, उदयपुर (राज) प्रथम, १९७७

जैन आचार : डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, प्रथम, १९६६

जैन आचार, सिद्धात और स्वरूप · देवेंद्र मुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज), प्रथम, १९८२

जैन तर्क भाषा . उपाध्याय यशोविजयजी स.-प सुखलाल सघवी, द सचालाल साघी जैन, ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९३८

जैन तत्त्व प्रकाश श्री अमोलकऋषिजी म. सा , श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महा) नवम, १९६८

जैन दर्शन की रूपरेखा · एस गोपालन, वाईली ईस्टर्न लिमिटेड, दिल्ली

जैन दर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम् · डॉ मुक्ताप्रसाद पटरिया, प्राच्य विद्या-शोध अकादमी, दिल्ली, प्रथम १९७१

जैन धर्म दर्शन डॉ मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम, १९७३

जैन धर्म में तप, स्वरूप और विश्लेषण · मुनि श्री मिश्रीमलजी म., श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, १९७२

जैन धर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग-तीर्थंकर खड), आ हस्तिमलजी म सा , जैन इतिहास समिति, जयपुर (राज) प्रथम, १९७१

जैन योग · मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, लाडनू, प्रथम, १९७८

जैन योग ग्रंथ चतुष्य : आ. श्री हरिभद्रसूरि, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर, प्रथम, १९८२

जैन लक्षणावली - (भाग-१) जैन पारिभाषिक शब्दकोश : वीर सेवामदिर, दिल्ली-६, १९७२

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (१ से ६) डॉ मोहनलाल मेहता, प्रो. हिरालाल कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिंदू युनिव्हरसिटी, वाराणसी - ५, प्रथम, १९६८

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-२) : डॉ. जगदीशचद्र जैन व मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-१) प. बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-३) आगमिक व्याख्याए डॉ मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६७

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-४) - कर्म साहित्य व आगमिक प्रकरण डॉ मोहनलाल मेहता व हिरालाल र. कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६८

जैनेंद्र सिद्धात कोश (भाग-१ से ४) क्षु जिनेंद्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी - ५, १९७०, ७१, ७२, ७३

झाणज्झयण (ध्यान शतकम्) श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण, ओरियटल रिसर्च ट्रस्ट, १६ मॅन्‍नापन स्ट्रीट, मद्रास-१

तत्त्वार्थ सूत्र उमा स्वामी, विवेचक - सुखलालजी सघवी, जैन सस्कृति सशोधन मडल, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस-५, द्वितीय, १९५२

तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिक द्वितीय, प्रथम भाग) · भट्टाकलकदेव, भारतीय विद्यापीठ, काशी, वि स २०१४

तत्त्वानुशासन श्रीमन्नागसेनाचार्य, श्री नवीनचंद अबालाल शहा, जैन साहित्य विकास मडल, बबई-५७, ई स १९६१

तत्त्वानुशासन (ध्यान शास्त्र) श्री रामसेनाचार्य - प्रणीत, दरबारीलाल जैन, कोठिया, मत्री वीरसेवा मदिर ट्रस्ट, २१, दरियागंज, दिल्ली-६, प्रथम-१९६३

तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी भट्टारक ज्ञानभूषण, अमर ग्रंथमाला, उदासीन आश्रम, तुकोगज, इदोर, वि स २४८०

तत्र महासाधना डॉ. चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ. प्र) द्वितीय, १९७६

तत्र और सत डॉ राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद-३, १९७५

तप अने योग नगीनदास गिरधरलाल सेठ, श्री जैन सिद्धात सभा, प्रथम, १९६४

तिलोक काव्य सग्रह कविकुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म , श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदनगर), प्रथम, १९५६

तिलोक शताब्दी अभिनदन ग्रथ - श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी, ई स १९६१

द व्हरायटीज् ऑफ द मेडिटेटीव्ह एक्सपीरियन्स : डॅनियन गॉलमेन, रीडर ॲण्ड कंपनी, १९७७

दार्शनिक अध्यात्म तत्त्व स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, वेदानुसधान सदन, जि. अहमदनगर, १९५७

डिसक्रिप्टिव्ह कॅटलॉग ऑफ मॅन्युस्क्रिप्ट इन द जैन भंडारस् ऐट् पाटन, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बरोडा, १९३७

दीघनिकायो (भाग-२) : एन. के. भागवत

देवीवाणी स्वामी विवेकानद, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपूर, द्वितीय

द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका श्री यशोविजय विरचित, श्री दानप्रेम रामचद्र सूरीश्वर आराधना भवन, रतलाम (म प्र), १९८१

द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर, श्री विजय सुशील सूरि, बगडीय हसमुखलाल दिपचद, कार्यवाहक विजय लावण्यसूरि ग्रथमाला, ज्ञानोपासक समिति

धवल-गिरि : न्यायरत्न धुं. गो विनोद, सिद्धाश्रम शातिमदिर, विजयानगर कॉलोनी, पुणे, दूसरी, १९६४

धर्मबिंदु : आ श्री हरिभद्रसूरि, हिंदी जैन साहित्य प्रचारक मंडल, अहमदाबाद, १९५९

धर्म-दर्शन की रूपरेखा : डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-पटना-बिहार

धर्मरत्न प्रकरण श्री गुणस्थान - क्रमसिंह, चद्रकुलांबरनिशाकर श्री शातिसूरि सकलित स्वोपज्ञवृत्ति समेत, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, C/o कुमारपाल वि. शाह, मुबई ४०० ००४, वि. स. २०३८

धर्मरत्नाकर श्री जयसेन, लालचद हिराचंद जैन सस्कृति संरक्षक सघ, सोलापूर, ई स. १९७४

धर्मों की फुलवारी : श्री कृष्णदत्त भट्ट, सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९६३, ६४, ६५

धर्मामृत (अनगार) : पं. आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९७७

धर्मामृत (सागर) : प प्रवर आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९७८

धम्मपद : अ. धर्मानद कोसम्बी अ रामनारायण वि पाखु, गुजरात पुरातत्त्व मदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९२४

धम्मपद . त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, मेसर्स खेलाडीलाल सकटाप्रसाद, कचौडी गली, वाराणसी - १, १९६८

ध्यान अने जीवन (भाग-१-२) श्री विजय भुवन भानु सूरीश्वरजी म, दिव्यदर्शन कार्यालय काळुशीनी पोल, अहमदावाद-१, वि स २०३०

ध्यान कल्पतरू श्री अमोलक ऋषिजी म, श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, १९५७

ध्यान दीपिका तपागच्छीय श्रीमान सकलचद्रजी उपाध्याय, एस देवीदास, खडगपुर, ई स १९६१

ध्यान योग स्वामी अखडानद सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

ध्यान योग - प्रकाश रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ (हरियाना), १९७५

ध्यान योग रहस्य स्वामी शिवानद, श्री बाबूभाई लाखाणी, लाखाणी बुक डेपो, रामचद्र बिल्डिग, ४३७, राजा राममोहन राय रोड, गिरगाव, मुबई न ४

ध्यान विचार बुद्धि सागर सूरि, श्री अध्यात्मज्ञान प्रसारक मडल, द्वितीय, १९२४

ध्यान शतक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (भानुविजयजी-हि गु), दिव्यदर्शन कार्यालय, काळुशीनी पोल, अहमदावाद-१, वि स २०२८

ध्यानस्तव श्री भास्कर नदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम- १९७३

ध्यान-सम्प्रदाय डॉ भरतसिंह उ, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

नवकार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) . अनु श्री जम्बूविजयजी (स तत्त्वानंद विजयजी), जैन साहित्य विकास मडल, ११२ घोडबदर रोड, बम्बई-५७, प्रथम, १९६१

नवीन मनोविज्ञान लालजीराम शुक्ल, नदकिशोर एड ब्रदर्स, वाराणसी, तृतीय, १९६०

निर्ग्रंथ - प्रवचन चौथमलजी म सा, श्री दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर (राज), द्वितीय, १९६६

नियमसार श्रीमद्भगवत्कुद्कुदाचार्य देव, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, प्रथम, १९६०

पउमचरियम् - (भाग-१) विमलसूरि, प्राकृत ग्रथ परिषद, वाराणसी, १९६२

पद्मपुराणम् (पद्मचरितम्) श्रीमद्रविषेणाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, ई स. १९५८ जुलाई

परमात्म प्रकाश तथा योगसार (गुजराती) · योगीदुदेव, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

परमात्म प्रकाश · श्रीमद् योगीन्दुदेव, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुंबापुरी, वि स १९७२

पातञ्जल-योग-दर्शनम् तथा हारिभद्र योगविंशिका : आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मडल, आगरा, प्रथम, १९२२

पातजल योगदर्शनम् (व्यासदेव-भाष्य-भोज वृत्ति) महर्षि व्यासदेव, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर, प्रथम, १९३२

पातजल योगदर्शनम् (गुजराती) : गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, तृतीय, १८९३

पातजल योगसूत्रम् · भोजदेवकृत भारतीय विद्या प्रकाशन २२/३९ पचगगा घाट, वाराणसी

पाश्चात्य तत्वज्ञानाचा इतिहास (खड-१, २, ३) · डॉ ग. ना जोशी, महाराष्ट्र विद्यापीठ ग्रथ निर्मिति मंडल, नागपूर, प्रथम, १९७५ ई स.

पातजल योगप्रदीप · श्री स्वामी ओमानदतीर्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर

पातजल योग-दर्शनम् · श्री ब्रह्मलीन मुनि महाराज, चेतन प्रकाशन मंदिर, बडौदा

पारसी धर्म क्या कहता है? बौद्ध धर्म क्या कहता है? ताओ और कनफ्यूशस धर्म क्या कहता है? श्री कृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

पालि साहित्य का इतिहास · डॉ भरतसिंह उपाध्याय, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय, १९७२

पासणाह चरिउ · प्रा प्रफुल्ल कुमार मोदी, प्राकृत ग्रथ परिषद, वाराणसी, १९६५

पुराणपर्यालोचनम् – (१ गवेषणात्मक, २ समीक्षात्मक) : डॉ श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखभा सूरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७६

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (भव्य प्रबोधिनी टीका सहित) · श्री मन्महामुहिम अमृतचदसूरि, पन्नालाल बाकलीवाल, भारतीय जैन सिद्धात प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता, वि स २४५२

पुष्करमुनि अभिनदन ग्रंथ · श्री देवेंद्रमुनि म. सा (सपादक), राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्करमुनि अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशन समिति, बम्बई, उदयपुर, १९७६

पचसूत्र हरिभद्र सूरि (टी. चिरन्तनाचार्य) रामचंद्र येसु शेडगे द्वारा मुद्रयित्वा, वि स १९७०

पचसूत्र (गुजराती) चिरतनाचार्य, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदावाद, तृतीय, वि स २०२७

पचसग्रह प हिरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम, १९६०

पचाध्यायी पूर्वार्ध सोमचद्र अमथालाल शाह, कलोल, प्रथम

पचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) सोमनाथ अमथालाल शाह, कलोल, प्रथम

प्रतिक्रमण - प्रथत्रयी गौतमस्वामी (टीका प्रभाचद्र), स्वस्ति श्री जिनसेन भट्टारकपदाचार्य महास्वामी, कोल्हापुर, प्रथम, वि स २४७३

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक वादिदेवसूरि, तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), द्वितीय, १९७२

प्रवचनसार श्री कुदकुदाचार्य, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास, तृतीय, १९६४

प्रशमरतिप्रकरण श्री उमास्वामी, श्री परमश्रुतप्रभावक मडल, बम्बई १९५०

प्रवचनसारोद्धार (भाग-१-२) श्रीमन्नेमिचन्द्रसूरि, साराभाई नवाव (हरकोर चत्रभुज), पालीताणा

प्रश्नोपनिषद् शकराचार्य (शाकर भाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर, नवम, सं २०१९

प्रश्नव्याकरणसूत्र रतनलाल दोशी, अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म प्र), प्रथम, १९७५

प्राकृत साहित्य का इतिहास डॉ जगदीशचद्र जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम, १९६१

प्रेमयोग विवेकानद, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपूर, द्वितीय, १९७२

बहिरग-योग योगेश्वरानद सरस्वतीजी महाराज (व्यासदेवजी महाराज), योग निकेतन ट्रस्ट, शिवानद नगर (उ प्र)

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास डॉ गोविंदचद्र पाडेय, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र), द्वितीय, १९७६

भगवद्गीता सकलनकर्ता और अनुवादक केशवदेव झा, दिव्यजीवन साहित्य प्रकाशन, पाडिचेरी, प्रथम, १९६५

भगवती आराधना - (भाग १, २) आचार्य शिवार्य, सेठ लालचद हिराचंद जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापूर (महा), १९७८

भगवती सूत्र - अवचूरि चौकसी मोतीचद्र मगनभाई, सूरत, प्रथम, १९७४

भगवतीसूत्रम - (भाग-१) - अभयदेव सूरि (प बेचरदास-टीका), निर्णयसागर मुद्रणालय, मुबई (महा), वि स १९७४

भगवद्गीता - राधाकृष्णन्, राजपाल एड सज, काश्मीरी गेट, दिल्ली, तृतीय, १९६७ मार्च

भक्तियोग स्वामी विवेकानद, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, चतुर्थ, १९७३

भागवत मुहूर्त श्री अरविंद, अदिति कार्यालय, पाडिचेरी, १९६७

भारतीय दर्शन उमेश मिश्र, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र), तृतीय, १९६४

भारतीय दर्शन - वाचस्पति गैरोल, लोकभारती प्रकाशन, १५ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम, १९६२

भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, डॉ नरेंद्रदेव सिंह शास्त्री, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, साहित्य भडार, मेरठ (उ प्र), तृतीय, १९७७

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ हिरालाल जैन, मध्यप्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल, १९६२

भारताची आध्यात्मिक विचारधारा स्वामी विवेकानद, श्रीराम कृष्ण आश्रम, नागपूर

भारतीय मानसशास्त्र व पातजल योग दर्शनम् कृष्णाजी केशव कोल्हटकर, बा. ग ढवळे, चिराबाजार, मुबई, द्वितीय, शके १८८१

भारतीय तत्वज्ञान श्रीनिवास हरि दीक्षित, सुविचार प्रकाशन मडल, महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे - नागपुर, १९६९

मध्य एशिया और पजाब में जैन धर्म - हिरालाल दुग्गड, जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मदिर, शाहदरा, दिल्ली

मनोनुशासनम् आ तुलसी, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, तृतीय

मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता · सतोष गार्गी, परितोष गार्गी, प्रगति प्रकाशन, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४-डी, नई दिल्ली, १९५१

मनोविज्ञान के मूल सिद्धांत - चौधरी बलबीर सिंह, एस. नगीन एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स एंड प्रिंटर्स, जालन्धर, १९५६

मरुधर केसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म अभिनदन ग्रंथ, मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रंथ-प्रकाशन समिति, जोधपुर, वि सं. २४९५

महाबध (भाग-४, ५, ६, ७) महाधवल सिद्धांत शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४

महापुराण (भाग-१,२ पूर्वार्ध, उत्तरार्ध) : पुष्पदत (अनुवादक) डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, पू १९७९, उ १९७९

महापुराण (मराठी अनुवाद सहित) आचार्य जिनसेन, सेठ लालचद हिराचद श्री जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापूर (महा) प्रथम, १९७५

महावीर की साधना का रहस्य मुनि नथमल, आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, १९७५ ई स

श्री महावीर चरित्रम् श्रीमद गुणचद्र सूरिवर्य, देवचद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था, जव्हेरी बाजार-मुबई, १९२९

मुक्तिदूत श्री वीरेंद्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय, १९४७, १९५०

मुक्ति सोपान गुणस्थान - रोहण अटीशत द्वारी अमोलक ऋषिजी म सा , राजा बहादुर लालाजी, श्री सुखदेव सहायजी, ज्वालाप्रसादजी, द हैदराबाद, प्रथम, १९१५

मोक्ष शास्त्र अर्थात् तत्त्वार्थ सूत्र · कुदकुदाचार्य - गुजराती टा रामजी माणिकचद दोशी, श्री जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र), द्वितीय, वि स २४४५

मोक्ष शास्त्र अर्थात् तत्त्वार्थ सूत्र श्री उमास्वामी आचार्य, श्री दिगबर जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मत्र-योग डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र) १९७३

मत्र-शक्ति डॉ रुद्रदेव त्रिपाठी, गोयल एड कपनी, दरिबा, दिल्ली, द्वितीय, १९७९

मृत्यु और उस पर विजय श्री अरविंद, अदिती कार्यालय, पाडिचेरी-२, इ स १९६५

योगानुभव सुखसागर योगविंशिका श्री हरिभद्र सूरिकृत (टीकानुवाद), श्रीमद् बुद्धि सागर सूरि ज्ञानमदिर, विजापुर (उ गुजरात), वि स १९९७

योगशास्त्रम् हेमचद्राचार्य (सोपज्ञम्), श्री धर्मशक्ति प्रेमसुबोध ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९७२

योगसार · श्रीमद योगीन्दुदेव - विरचित, डॉ आ ने उपाध्ये, प्राध्यापक, राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर, १९६०

योगशास्त्रम् स्वोपज्ञविवरण सहितम हेमचद्राचार्य, श्री धर्म भक्ति प्रेम सुबोध ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९७२

योगप्रदीप : न्यायविशारद न्यायतीर्थ उपाध्याय श्री मगलविजयजी महाराज, हेमचंद सवचद शाह, कलकत्ता, प्रथम, वि स १९९६

योग एक चिंतन उपाध्याय श्री फुलचद्र 'श्रमण', आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

योगबिंदु   श्री हरिभद्रसूरि डॉ. कृष्णकुमार दीक्षित, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामदिर अहमदाबाद, १९६८

योगदर्शन · डॉ सपूर्णानद, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र) १९६५

योगदर्शन . प श्रीरामजी शर्मा, आचार्य, संस्कृति सस्थान, बरेली,(उ प्र)१९७८

योगप्रवेश . विश्वास मडलिक, योगप्रकाशनमाला, योग विद्या धाम, पुणे

योग - मनोविज्ञान . शाति आत्रेय, दि इटरनॅशनल स्टॅण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी-२, १९६५

योग रहस्य . श्री गुलाबराय महाराज, परमहस परिव्राजकाचार्य परमयोगी श्री जनार्दन स्वामी, अमरावती, १९७२

योगवाशिष्ठसार   डॉ क्षितीशचंद्र चक्रवर्ती, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, प्रथम, स. २०३४

योगवाशिष्ठ भाषा (हिंदी भाग-१, २)   निरजनजी, तेजकुमार बुक डेपो, प्रायव्हेट लिमिटेड, लखनऊ, तेरहवा, १९७५

योगवाशिष्ठ - श्रीमद्वाल्मिकी महर्षि, निर्णयसागर, मुबई, प्रथम, १९११

योगवाशिष्ठ   मॉडर्न थॉट, बी एल अत्रे, द इडियन बुक शॉप, बनारस, द्वितीय, ई स १९५४

योग-शतक   हरिभद्र सूरि, विद्यासभा गुजरात, अहमदाबाद, प्रथम, १९५६

योग शतक   हरिभद्र सूरि, मुनि पुण्यविजयजी, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद

योग -शतक तथा ब्रह्म सिद्धात समुच्चय   श्री हरिभद्र सूरि, लालभाई दलपतभाई, भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-१, १९६५

योग शास्त्र (हिंदी) : श्री हेमचद्राचार्य, श्री निर्ग्रंथ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-६, प्रथम, १९७९

योग शास्त्र (स्वोपज्ञभाष्य) · श्री हेमचद्राचार्य, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन सघ, दिल्ली-६

योग शास्त्र   श्री हेमचद्राचार्य (स्वोपज्ञम्), श्री धर्मभक्ति-प्रेमसुबोध ग्रंथमाला, अहमदाबाद

योगसार · श्रीमद् योगीन्दुदेव, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास, १९६०

योगसार - प्राभृत : अमितगति, जुगलकिशोर मुख्तार (सपादक), भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६८

योग स्वाध्याय - श्री किरणभाई (संपादक)

योगदृष्टि समुच्चय - योगविंशिका श्री हरिभद्रसूरि, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-९, १९७० ई स

योग दृष्टि समुच्चय (गुजराती) श्री हरिभद्राचार्य, विवेचक-डॉ भ म मेहता

योगा एड वेस्टर्न सायकॉलॉजी (अग्रेजी) जिरेल्डाइन कास्टर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना-वाराणसी, तृतीय, १९६८

योगा सायकॉलॉजी (अग्रेजी), स्वामी अभेदानद, रामकृष्ण वेदात पाथ, कलकत्ता, प्रथम, १९६०

योगानुभव सुखसागर तथा योगविंशिका आ श्री ऋद्धिसागरसूरि, श्रीमद्र बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमदिर, विजापुर (गुजरात)

योगोपनिषद् प ए महादेव शास्त्री, द अडयार लायब्रेरी और रिसर्च सेंटर, अडियार (मद्रास) १९६८

युक्त्यनुशासन श्रीमत्स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य, वीर सेवा मदिर, सहारनपुर, १९५१

वाल्मीकि रामायण तिलक शिरोमणि भूण्णेति टीका त्रयम्, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, सासुन बिल्डिग, एलफिस्टन सर्कल, कोट (मुबई)

विवेक चूड़ामणि आ शकर, गीता प्रेस, गोरखपुर, तेरहवा, स २०१८

विवेक आणि साधना प केदारनाथ, श्री केदारनाथजी स्मारक ट्रस्ट, विजयानगर पुणे-३०, तृतीय, १९७९

विश्वधर्म दर्शन श्री सावलिया विहारीलाल वर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७५

विश्वतत्त्व प्रकाश भावसेन त्रैविद्य, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, प्रथम, १९६४

वैदिक साहित्य और सस्कृति वाचस्पति गैरोला, सवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय, १९७०

वैदिक धर्म क्या कहता है? (भाग-१, २, ३) श्री कृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

वैदिक साहित्य और सस्कृति आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान ३७ बी रविंद्रपुरी, दुर्गाकुड, वाराणसी-५, चतुर्थ-१९७३

वैराग्य शतक बाबू हरिदास वैद्य, हरिदास एड कपनी प्रा लिमिटेड, मथुरा (उ प्र), १९७७

रजनीश ध्यान योग - सकलन स्वामी जगदीश आचार्य मा योग भारती, ओम् रजनीश ध्यान केन्द्र प्रकाशन, ३१ भगवान भुवन, इजरायल मोहल्ला, मस्जिद बदर रोड, बम्बई, प्रथम, १९७७

राजयोग स्वामी विवेकानद, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, तृतीय

राजेन्द्र ज्योति अ भा श्री राजेंद्र जैन नवयुवक परिषद्, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, (राजगढ़) (धार) - १९७७

ललित विस्तरा - हरिभद्रसूरीश्वरजी, शा चतुरदास चिमनलाल, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, १९६३

ललित विस्तरा - (परमतेज भाग-१, २) श्री हरिभद्रसूरीश्वर, 'दिव्यदर्शन' साहित्य, अहमदाबाद, प्रथम, ई स १८५८

ललित विस्तर डॉ पी एल वैद्य, मिथिला विद्यापीठ प्रधानेन प्रकाशित, दरभगा, १९५८

लोकविभाग श्री सिंहसूरर्षि, गुलाबचद हिराचद दोशी, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९३२

शब्दानुशासनम् - 'श्रेय पदस्थ सिद्धयर्थ येन कर्मादि गोचरा', आचार्य श्रीमलयगिरि, लालभाई दलपतभाई, भारतीय विद्यामदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९६७

शतकत्रयम् भर्तृहरि, लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणालय, मुबई, सं १८९२

श्री शात सुधारस महोपध्याय श्री विनयविजयजी विरचित, महावीर जैन विद्यालय, मुबई ३८, चतुर्थ १९७६

शाति पथ प्रदर्शन क्षुल्लक जिनेंद्र वर्णी, विश्व जैन मिशन, पानीपत्त, द्वितीय, वि स २०२०

शुद्धोपयोग दयाग्रथ श्रेणिक सुबोध कृष्णगीत, श्री बुद्धिसागरसूरि, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, पादरा (गुजरात), ई स. १९२४

शास्त्रवार्ता - समुच्चय - श्रीमद् हरिभद्रसूरि, चौखम्बा प्राच्यविद्या ग्रथमाला, वाराणसी, प्रथम, १९७७

षड्दर्शन - रहस्य - पं रंगनाथ पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना

षोडशकप्रकरणम् - (टी यशोभद्रसूरि) ले. हरिभद्रसूरि, चुनीलाल लक्ष्मीचद धारशीभाई, गोपीपुरा - सूरत, वि स १९९२

सत्यबोध कविवर्य पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म , श्री जैन धर्म प्रसारक सस्था, सदर बाजार, नागपुर, द्वितीय, १९३३

समकालीन भारतीय दर्शन डॉ लक्ष्मी सक्सेना, समाजीत मिश्र, शिवानद शर्मा (सपादक), उत्तरप्रदेश हिंदी ग्रथ जैन अकादमी, प्रथम, लखनऊ, १९७४

समयसार श्रीमद् भगवत् कुद्कुदाचार्य, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास, द्वितीय, १९७४

समाधितत्र और इष्टोपदेश श्री पूज्यपाद, वीर सेवा मदिर, दरियागज, दिल्ली, वि स २०११, ई स १९५४

समाधितत्र (गुजराती) श्री देवनदी पूज्यपादस्वामी, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

सर्वांग योगसार स्वामी रामकृष्णानद चैतन्य, श्री नारायण महादेव भिडे, अमळनेर, गीताजयती शके १८८५

सर्वार्थसिद्धि श्रीमदाचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, दरियागज (दिल्ली), द्वितीय, १९७१

द सायन्स ऑफ मेडिटेशन रोहित मेहता, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली-वाराणसी-पटना, प्रथम, १९७८

सर्व दर्शन सग्रह माधवाचार्य (डॉ उमाशकर शर्मा भाष्यकार), चौखबा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय, १९७८

सरल मनोविज्ञान (हिंदी) नदकिशोर अँड सन्स, वाराणसी, ग्यारहवा, १९६४

सामान्य मनोविज्ञान डॉ एस एस माथुर, विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, द्वितीय, १९६६

सामायिक सूत्र उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, तृतीय, १९६९

सलेखाना इज नॉट सुइसाइड नगीन जे शहा, द्वितीय, १९७६

सार्थ ज्ञानेश्वरी शकर वामन दाडेकर, स्वानद प्रकाशन, पुणे, षष्टम, १९७६

सिख धर्म क्या कहता है? यहूदी धर्म क्या कहता है? इस्लाम धर्म क्या कहता है? ईसाई धर्म क्या कहता है? श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन वाराणसी राजघाट, वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

सिरि पासनाह चरियं श्री देवभद्रसूरि, अहमदाबाद

सिद्ध सिद्धात पद्धति महादेव दामोदर भट, सखाराम रघुनाथ आघारकर, केशव वामन जोशी, पुणे (महा)

सिद्धातसार सग्रह नरेंद्र सेनाचार्य, लालचद हिराचंद दोशी जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा) द्वितीय, १९७२

सुभाषित रत्न सदोह आ अमितगति, लालचद हीराचद जैन सस्कृति सरक्षक सघ, १९७७

सूरिमित्रकल्प समुच्चय अनेक पूर्वाचार्य प्रणीत (मुनि जम्बू विजय), जैन साहित्य विकास मडलम्, मुबई ४०००५६, प्रथम, १९७७

स्थितप्रज्ञ दर्शन · आ विनोबा, सत्साहित्य प्रकाशन, चौथी, नई दिल्ली, ई स. १९५६

स्वयभू स्तोत्र : स्वामी समंतभद्र, वीर-सेवा-मदिर, सरसावा (सहारनपुर), प्रथम, १९५१

स्याद्वादमञ्जरी : श्री हेमचद्र, शेठ मणीलाल रेवाशकर जगजीवन जौहरी, बम्बई, ई स १९३५

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : स्व चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल बेबी प्रसाद, इलाहाबाद, तृतीय, १९६७

सस्कृत साहित्य का इतिहास (खं -१) : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा सस्थान, १९७३

हठयोग प्रदीपिका - डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली, द्वितीय, १९७८

हरिवंश पुराण · श्री मज्जिनसेनाचार्य (हिंदी अनु), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय, १९७८

हरिभद्र योगभारती : श्री हरिभद्रसूरि, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलालवाडी, मुंबई, प्रथम, वि सं २०३६

हितोपदेश श्री विष्णु शर्मा, गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास लक्ष्मीवेंकटेश्वर, कल्याण-मुबई, १९०५

हिंदी विश्वकोश · नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

हिंदू सायकॉलॉजी (अग्रेजी) स्वामी अखिलानंद, रूटलेज एंड केगन, पॉल लिमिटेड, लंदन, तृतीय, १९६०

ज्ञानयोग : विवेकानंद, [illegible] रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, तृतीय, ई. स. १९७३

ज्ञानसार : श्रीमद् यशोविजय उपाध्याय, भोगीलाल बुलाखीदास दलाल, मंत्री प्रकाशन विभाग, अहमदाबाद, द्वितीय, वि. सं २००७

ज्ञानसार (गुजराती) : उपा. यशोविजयजी (गुज. गंभीर विजयजी), शाह हरीचद छगनलाल, भावनगर, द्वितीय, १९०९

ज्ञानार्णव : श्री शुभचद्राचार्य, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास, चतुर्थ, इ. स. १९७५, वि. सं. २०३१

ज्ञानेश्वरी : वि. ना. जोशी, राजवैद्य-यशवंत चिंतामण पुणे, कोल्हापुर, १९४८

श्रमण भगवान महावीर : गणि कल्याण विजयजी, क. वि. शाखसंग्रह समिति, जालोर (मारवाड़), वि सं. १९९८

श्रमणसूत्र · उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, एज्युकेशन प्रेस, आगरा, द्वितीय, १९६६

श्रावक धर्म डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यक्ज्ञान प्रचारक मडल जयपुर, १९७०

श्रावकाचार सग्रह आचार्य शातिसागर, जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण, प्रथम, १९७६

श्रावकाचार श्रीवसुनंद्याचार्य, गाधी देवचद चतुरचद, कोल्हापुर, (जैनेंद्र छापखाना), १९०७

श्रावकाचार सग्रह -१ प पू चारित्र चक्रवर्ती आ १०८ शातिसागर दिगबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण (महा) प्रथम, १९७६

श्रावकाचार सग्रह (भाग-२) हिरालाल सिद्धातालकार न्यायतीर्थ, लालचद हिराचद, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९५६

श्रावकाचार सग्रह (भाग-३) स अनु प हिरालाल शास्त्री, सेठ लालचंद हिराचद, अध्यक्ष जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, प्रथम, १९७७

श्रावकाचार सग्रह - १, २, ३, ५ लालचद हिराचद, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९७४

श्री प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-१) भद्रकरविजयजी धुरधरविजयजी (स.), जैन साहित्य विकास मडल, मुबई (विलेपारले), वि स २००७

श्री पासनाह चरिय भद्रसूरि, लीच वास्तव्य नालचद्र ठाकरसी, अहमदाबाद, १९४५

तीर्थंकर मासिक स डॉ नेमीचद जैन, हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इंदौर (म प्र), अप्रैल १९८३, वर्ष १२, अक १२

जिनवाणी ध्यान विशेषाक स डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर,

जिनवाणी (ध्यान परिशिष्टाक) सम्पादक-डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर, नवम्बर १९७२, वर्ष २९, अक ११.

ॐ

तत्सत्

चिद्-विलासः

(श्री विद्या रहस्यम्)

ॐ

श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद

दतिया, म.प्र.

व्याख्याकार

श्री पीताम्बरा पीठस्य राष्ट्रगुरु, श्री १००८ श्री स्वामी जी महाराज

श्री जगदम्बा महात्रिपुर सुन्दरी

॥ श्री ॥

(ॐ तत्सत्)

चिद्-विलास

(श्री विद्या रहस्यम्)

— प्रकाशक —

श्री पीताम्बरा पीठ, दतिया (म.प्र.)

मुल्य :— २५ रूपये

मुद्रक :— शिवशक्ति प्रेस प्रा. लि.
नया गांव, ग्वालियर रोड, झांसी (उ.प्र.)
फोन :— ०५१०–२४४१०६२

प्रकाशकीय

शाक्त साधना में भगवती पराशक्ति त्रिपुर सुन्दरी की साधना का महत्व सर्वोपरि है। इस साधना से सम्बन्धित बहुत से ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें अपने अपने ढंग से साधना सम्बन्धी विशद विवेचन प्राप्त होता है। श्री भगवती त्रिपुर सुन्दरी की साधना में श्री चक्रराज के पूजन का विधान है। इसमें पूजा को दो प्रकार से वर्णित किया गया है—बाह्य पूजा तथा आन्तरिक पूजा। भूर्जपत्र, रजत, एवं स्फटिक आदि पर यन्त्रोल्लेख कर पूजा करना बाह्य पूजा है तथा हृदयाकाश में पूजन करना आन्तरिक पूजा है इसी को समयाचार भी कहते हैं। साधक को आन्तरिक पूजा की योग्यता उन्नत अवस्था में प्राप्त होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी पूजा का विधान वर्णित है।

चिद्—विलास नामक ग्रन्थ का यह तृतीय पुनर्मुद्रण है। ग्रन्थ दुरूह है तथा गुरूमुख गम्य है। हिन्दी में उल्लिखित भूमिका एवं हिन्दी भावार्थ से विषय को सरल एवं सुबोध बनाने का प्रयास किया गया है। विश्वास है कि इस तृतीय पुनर्मुद्रण से विद्वज्जन एवं शाक्तसाधना में तत्पर साधक लाभान्वित होंगे।

आश्विन—नवरात्रि
सम्वत् - २०६६

विनीत
श्रीमती रेणु शर्मा
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ दतिया (म.प्र.)

सम्मतिः

भगवन्! चि० सुरेशपाण्डेय द्वारा प्रेषितं भवत्कृतपुस्तकमदृष्टपूर्व प्राप्य, अतितरां मे प्रासीददन्तःकरणम्। यद्यपि लघुकायमिदं पुस्तकं सरलसुबोध कोमलकान्त पदावलीभिर्निबद्धं वर्तते तथापि परमगम्भीर परमार्थभावस्य अतिदुरूहतया विशेषतः सङ्केतितशब्दानां बाहुल्येन च मादृशाल्पबुद्धीनां कृते अतिदूरूहतरमेवाभविष्यत् यदि सङ्केतितशब्दैः गोपितमपि भावं प्रकाशयन्ती ग्रन्थस्य यथार्थाभिप्रायं स्फोटयन्ती श्रीचरणैः निर्मितेयं संक्षिप्त विवृतिः सहैव प्रकाशिता नाभविष्यत्।

भगवन्। विवृते रेवायंमहिमा यदयं चिद्विलासः मादृशाल्प बुद्धेरपि चेतसां विलासाय क्रीडनकमिवाभूत्।

भगवन्। क्षुरस्य धारावद् दुर्घटदुरूहपरमार्थमार्गे संतरणाय रथोद्धस्य (रथतत्वजस्यैव) अपेक्षा भवतीति मनसिनिधायैव मन्ये परमरोचकेन रथोद्धता छन्दसैवायं ग्रन्थो निबद्धो महात्मनेति। परमार्थमार्गानुसरणशीलानां साधकानां कृते विवृति भूषितोऽयं चिद्विलासः प्रशस्तरथस्य कार्यमवश्यं करिष्यतीति दृढं विश्वसिमि।

रङ्गनाथ पाठकः
विद्यावाचस्पतिः
संस्कृत संजीवन विद्यालय
चिड़ैयाँ टाँड, पटना–१ (बिहार)

भूमिका

अहमेवास पूर्वन्तु नान्यत्किंचिन्नगाधिप तदात्मरूपं चित्संवित् परब्रह्मके संज्ञकम् ७।३२।२।। दे० भा०।।

सच्चिदानन्दस्वरूपिणी राजराजेश्वरी भगवती श्री त्रिपुर सुन्दरी परतत्व हैं। चिद् संविद् परब्रह्म उन्हीं के पर्यायवाची हैं। तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि, आदि महावाक्यों में इन्हीं पराशक्ति के स्वरूप का निरूपण हैं। उपनिषदों में प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्म कोई दूसरा नहीं हैं। समस्त आध्यात्मिक दर्शनों की विचार धाराओं का पर्यवसान यहीं होता है। आगम शास्त्र में अनन्त तेजोराशिमयी अखिल ब्रह्माण्ड नायिका श्री विद्या ही प्रध ाान रूप से विराजमान हैं। निगमागम का समस्त वाङ्मय इसी परब्रह्म की आराधना में संलग्न है। दर्शनों में इस पर तत्व के अधिक समीप शांकर वेदान्त ही पहुंचा है जिसका स्वरूप विवर्त्तवाद पर अवलम्बित है उसमें अद्वैत सिद्धान्त की सर्वाङ्गपूर्ण विवेचना जगद्गुरु ने की है। शाक्त सिद्धान्त भी अद्वैत ही मानता है परन्तु उसमें विवर्त एवं परिणाम दोनों को ही समान रूप से अपनाया है। जैसा कि संवित्प्रकाश का कथन है।

इति निर्मल बोधैक रूपे देह परिग्रहः। विवर्त्त परिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युप पद्यते।। विवर्त्तेप्य तथा रूपः तथा भासित्वमच्युत। परिणामे स एवत्वं सुवर्णमिव कुण्डले।। इसके अनुसार विवर्त्त एवं परिणाम दोनों को ही मान्यता दी है यही सिद्धान्त देवी भागवत् में प्रतिपादित हैः– मन्माया शक्ति संक्लृप्तं जगत्सर्व चराचरम्। साविमत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः।। व्यवहार दृशा सैयं विद्या मायेति विश्रुता। तत्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्वमेवास्ति केवलम्।। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् मेरी माया शक्ति से निर्मित है और यह माया मुझ (भगवती) से पृथक् नहीं। यह सम्पूर्ण चराचर व्यावहारिक

दृष्टि से सत्य है तत्व दृष्टि से केवल तत्व मात्र है इस प्रकार विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वेदान्त केवल विचार मात्र से ही ब्रह्म का निरूपण कर सका है श्रवण मनन, निदिध्यासन का नाम भर लिया है परन्तु क्रियात्मक रूप प्रस्तुत नहीं कर सका।

तन्त्र शास्त्र ने पूर्णरूपेण उस परतत्व की व्याख्या की है एवं क्रियात्मक रूपरेखा निश्चित कर साधकों का समुचित मार्ग प्रदर्शन किया है। अद्वैत भावना द्वारा पराशक्ति में अपना अर्थात् जीव का विलीनीकरण कर अद्वैतावस्था का सच्चा रूप दिखाया है। आगमीय सिद्धान्त के अनुसार साधक को सर्वप्रथम सद्गुरु की कृपा प्राप्त करना आवश्यक है तत्पश्चात् गुरूपदिष्ट शास्त्रोक्त मार्ग से साधना का आचरण। प्रातः कृत्य से लेकर सभी क्रम यथावत् करता हुआ साधक अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है। उपासना में श्रीयन्त्रराज के अर्चन का अत्यधिक महत्व है श्रीचक्रार्चन बाह्य पूजा है, आन्तरिक पूजा साधनमात्र है। मुख्य साध्य आन्तरिक पूजा अर्थात् परतत्व में लय ही है। जब तक लय की स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक बाह्य पूजा करना अत्यन्त आवश्यक है जैसा कि देवी भागवत् में पार्वती जी ने हिमालय को उपदेश दिया है :–

यावदान्तर पूजायामधिकारोभवेन्नहि तावद् बाह्यामिमां पूजां श्रयेज्जाते तु तां त्यजेत्।।

आभ्यन्तरा तु या पूजा सा तु संविल्लयः स्मृतः। संविदेव परं रूपमुपाधि रहितं मम।। अतः संविदिमद्रूपे चेतः स्थाप्यं निरन्तरम्। संविद्रूपातिरिक्ततुं मिथ्यामायामयं जगत्।। अर्थात् हे पर्वतराज मेरी आन्तर पूजा यही है कि संविद्रूपिणीपरा शक्ति में अपना लय हो। अतएव मेरे इस चिद्रूप में ही अपने मन को स्थापित करना चाहिये यही परा पूजा है और

इस पराशक्ति के अतिरिक्त मायामय संसार मिथ्या है। इस प्रकार इस पूजा में विवर्तवाद को ही माना है इसके अधिकारी बिरले ही भाग्यवान् विरक्त परमहंस ही होते हैं। शुकदेव, वशिष्ठ, सनकादि इसी मत के अनुयायी थे। अस्तु बाह्य पूजन के ग्रन्थ एवं पद्धतियाँ तो अधिकाधिक उपलब्ध है किन्तु तान्त्रिक जगत् में आध्यात्मिक पूजन के ग्रन्थों का अभाव सा ही है। प्रस्तुत ग्रन्थ चिद्विलास में आन्तर पूजा का सर्वाङ्ग पूर्ण विशद विवेचन है। स्नान, भूतशुद्धि, न्यास, पूजोपचार, बलिदान होम आदि बाह्यपूजा के सभी अंङ्गों का क्रियात्मक रूप से आन्तरपूजा में किस प्रकार समन्वय होता है यही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, यही साधना का चरम लक्ष्य है इसे प्राप्त कर साधक को जीवन मुक्तावस्था प्राप्त होती है जिससे वह सर्वदा ब्रह्मानन्द में लीन रहता है, यही मानव जीवन की सर्वोच्च सफलता है। ग्रन्थ के आरम्भ में पराशक्ति का स्वरूप जैसा कि सूत्रकार ने माना है। चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्ध हेतुः, अर्थात् वह चिति परतत्व अपने आप में परिपूर्ण है एवं समस्त जगत् का मूल कारण है उसी महामहिम शालिनी भगवती के स्वरूप का निरूपण प्रथम श्लोक में किया गया है। तथा श्री गुरुदेव के साथ उनका तादात्म्य वर्णित है। द्वितीय में प्रातःकृत्य जैसा कि तन्त्र शास्त्रों में वर्णित हैः ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय, कुलवृक्षं प्रणम्य च शिरः पद्मे सहस्रारे चन्द्रमण्डल मध्यगे। अकथादि त्रिरेखीये हंसमंत्र सुपीठके, ध्यायेन्निज गुरुं बीरो रजताचल सन्निभम्।। इत्यादि इस पूजन में सहस्रार स्थित ऊर्ध्व त्रिकोण (चन्द्र, सूर्य अग्नि) के मध्य में महाबिन्दु का ध्यान ही गुरुपादुका जप है। तृतीय में शक्तितत्व रूपी तट ही अद्वैत सागर को चारों ओर से मर्यादित किये हुये है। जैसाकि प्रत्यभिज्ञा हृदय में कहा है नित्यं तस्य निरङ्कुश विभवंवेलेववारिधे रुन्धे। इसी सागर में मनोमलत्याग ही स्नान है क्योंकि नवारिणा

शुद्धयतिचान्तरात्मा। चौथे में शक्ति को विश्वमोहनी माया के रूप में रात्रिरूपी माना है, शिव को प्रकाशरूपी दिवस। इन दोनों का मिलन ही सामरस्य है यही पराशक्ति भगवती श्रीविद्या का स्वरूप है इसीलिए यहां इन्हें सान्ध्य देवता कहा है। पाँचवें में शिव को सूर्य एवं शक्ति को किरण का रूप बताया है तथा इसी शिव शक्तिमयी वेदिका पर अहंभाव द्वारा परतत्व का चिन्तन ही पूजन बताया है यही अहंभाव का लक्षण है। प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहंभावः प्रकीर्तितः। प्रत्यभिज्ञाः।। छठवें में इस क्षणभंगुर अस्थिचर्मादिमय शरीर को ही साधना का आश्रय माना है इसी शरीर में आत्मतत्त्व पूजागृह है वहीं परतत्त्व का अनुसंधान ही अर्चन है। सातवें में पर देवता का निवास स्थान ह्रदय माना गया है। इस ह्रदय शब्द के पूज्य महाराज ने दो स्थान माने हैं– अनाहत एवं सहस्रार इन दोनों स्थानों पर अर्चन करने वाले पाश मुक्त होकर शिव स्वरूप प्राप्त करते हैं जैसा कि कहा गया है– पाशबद्धोभवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः। आठवें में मानाभिमान रूप विकल्प बुद्धि का विषय वर्णित है। नवम में पर देवता का आसन ३६ तत्व के ऊपर बताया गया है। षट्चक्रों में प्रत्येक चक्र में छः–छः तत्व हैं इस प्रकार इन छः चक्रों के ऊपर ही वे विराजमान है जैसा कि सौन्दर्य लहरी में :– निषण्णाषण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम्। तथा श्री विद्या पञ्चदशी के भी ३६ अक्षरों का छः–छः अक्षरों के समूह में षट्चक्रों में विभाजन है इस प्रकार ३६ तत्व एवं षट्त्रिंशदक्षरी महाविद्या पर आत्मतत्व की स्थिति है यहीं सांसारिक विषय का पर्यवसान होता है।

दशवें में जब वह पराशक्ति बहिर्मुखी वृत्ति में रहती है तब जीव संसार हो जाता है और जब बहिरङ्गता को त्याग कर अन्तर्मुखी वृत्ति से अन्तरङ्गंता में स्थित होती है, यहीं यहाँ प्राणायाम के स्वरूप से निर्देशित है।

ग्यारहवें में भगवती के आसन का विषय है। यन्त्रार्चन में श्रीचक्रपर देवता को तीन आसन समर्पित करते हैं "श्रीचक्रासन सर्वमन्त्रासन, साध्य सिद्धासन" वे ही यहाँ त्रिगुणित होकर षट्चक्रों के ऊपर अर्द्धचन्द्रादि नव चक्र ही भगवती के आसन हैं।

बारहवें में ऊर्ध्व त्रिकोण में योनिस्वरुपी महाबिन्दु का चिन्तन ही काम कला है, इसी के अनुसार सौन्दर्य लहरी में कामकला का निरूपण है यथाः–

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्यतदधो, हरार्द्ध, ध्योयेद्यो हरमहिषिते मन्मथ कलाम्।

तेरहवें में कामकला स्वरूपी आत्मतत्व में पञ्चतत्वों में क्रमशः उदय एवं अस्त का ज्ञान ही मातृका न्यास है।

चौदहवें में महाशक्ति कुण्डलिनी का मेरुदण्ड सूक्ष्म मार्ग द्वारा संवित् तत्व में लय करना वशिन्यादि अष्टवाग्देवता न्यास है।

पन्द्रहवें में मन सहित एकादश इन्द्रियों का स्वयं प्रकाशस्वरूप परब्रह्म में लीन करना ही पीठन्यास है।

षोडशवें में तीन त्रिकों में विभाजित मातृका ही पाद्योपचार तथा मातृका का क्रमशः तुर्यावस्था में लय अर्घ्य वर्णित है।

सत्रहवें में सम्पूर्ण तत्वों एवं चक्रों के प्रकाशक भगवान् सदाशिव का वर्णन है पूजन में भगवती के मञ्च फलक के रूप में उनका चिन्तन है।

यथा :– सदाशिवमयैक मञ्च, फलकाय नमः।

अठारहवें में योग्य अधिकारी प्रमाता का प्रमेय अर्थात् परब्रह्म में

समर्पण ही आवाहन है। चक्रार्चन में पराशक्ति स्वरूपिणी कुण्डलिनी महाशक्ति के द्वारा षट्चक्रों का भेदन कर नासापुट से निकालकर श्री विद्या के तेज को श्रीचक्र पर आवाहित करते हैं। इस आवाहन में वहीं कुण्डलिनी अन्तर्मुखी होकर संविद् तत्त्व के साथ अभेद स्थापित करती है।

उन्नीसवें में ५ महाभूतों के अनुभव जो सूक्ष्म शरीर में होते हैं उन्हीं का नाम तत्त्वोदय है। इन तत्वों का क्रमशः लय करना ही मानसोपचार है।

बीसवें में काल के मानदण्डों में तिथियाँ ही प्रधान मानी जाती हैं। वे प्रतिपदासे लेकर पूर्णिमा अथवा अमा तक कुल पन्द्रह होती है, वहीं पन्द्रह स्वर है। उनके मध्य में (अः) स्वरूपिणी श्री सुन्दरी में अपना लय करना ही नित्यवासर कला का अर्चन है। नित्यवासर का अर्थ है कि जहां सर्वदा प्रकाश रहे। गीता में भी परंधाम को नित्य प्रकाश के ही रूप में माना है। यथाः—न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः, यद् गत्त्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।

इक्कीसवें में उस अनिर्वचनीय परतत्व में श्रीयन्त्र के सम्पूर्ण आवरण देवताओं का संहारक्रम से क्रमशः मूलबिन्दु में लय की भावना ही पूजन है।

बाईसवें में (तस्य भासासर्वमिदं विभाति) यह चार प्रकार का संसार उसी परतत्व में भासित हो रहा है और चार अवस्थाएें भी। इन सबका तुर्यातीत पद में लय करना ही बलिदान है।

तेईसवें में पञ्चप्राणमय संविद्तत्व जो कर्मेन्द्रियों द्वारा बाह्य संसार

का अनुभव कर रहा है, वहीं अन्तर्मुखी होकर सामरस्य रूप से तादात्म्य स्थापित करता है, यहीं इसका नीराजन है।

चौबीसवें में "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" के अनुसार मन वाणी से अगोचर निराकार तत्व में आत्मतत्त्व का विश्राम ही जप बताया है।

पच्चीसवें में बताया है कि यह सम्पूर्ण संसार उस पराशक्ति के द्वारा प्रतिविम्बित है और साधक सर्व देवीमयं जगत् देखता है यही दर्पण उपचार है।

छब्बीसवें में सहस्रार का वर्णन है कि वह सबका आच्छादक है, साधकों के त्रिबिध ताप को दूर करता है, उसी का नाम परमव्योम है, उसका चिन्तन ही छत्रार्पण है।

सत्ताईसवें में बताया है कि संविद् तत्त्व का स्पन्दन चार क्रम से होता है तथा वह परतत्त्व पांच रूप से परिणत होता है इस प्रकार इन तत्त्वों के संचालन से जो कम्प उत्पन्न होता है वही चामर डुलाना है।

अट्ठाईसवें में सांसारिक शरीर में स्त्री, धन, पुत्र की इच्छा वाला जीवात्मा जब सब एषणाओं का त्यागकर षट्त्रिंशत् तत्व से परे संविद् तत्त्व में सर्वात्मना समर्पण करता है यही पूजा का निवेदन है।

उन्तीसवें में सम्पूर्ण तत्त्वों से परे प्रसन्नावस्था में गुरुस्वरूपी भगवान् शिव का चिन्तन करना ही परब्रह्म के अभिव्यञ्जक पञ्च तत्वों का शोधन है।

तीस और इकतीसवें में होम का विधान इस प्रकार है कि गुरु कृपा से निर्मल ज्ञानाग्नि प्राप्त करो और उसमें समस्त कर्म बन्धनों का होम

कर उन्हें भस्मसात् करो। उक्त अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए चित्त की लगन ही धौंकनी है तथा तीव्र उत्कण्ठा ही अङ्गार हैं।

बत्तीसवें में साधना की सफलता श्री गुरुदेव पर ही निर्भर है। परतत्व तक पहुंचने के वे माध्यम है तथा इष्टदेव की अनुग्रहात्मक मूर्ति है। उनके द्वारा चाक्षुषी दीक्षा ग्रहण करना इस पूजा के लिए आवश्यक है। चाक्षुषी दीक्षा का लक्षण तन्त्रों में इस प्रकार हैं :– शिवोऽहमितिनिश्चित्य वीक्षणं करुणार्द्रया। दृशा सा चाक्षुषी दीक्षा सर्व पाप प्रणाशिनी।।

तेतीसवें में उन्मनी अवस्था का वर्णन है उस अवस्था में स्वाभाविक समाधिस्थिति में साधक पहुंच जाता है और उसे शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है वहां पर जीव और परमात्मा का ऐक्य चिन्तन ही पूजन है।

चौंतीसवें में मन सहित पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, यही षड्दर्शन है इनका परा में लय ही अर्चन है जैसा कि प्रत्यभिज्ञा हृदय में कहा है:– तद्भूमिका सर्वदर्शन स्थितयः। ६ वाँ सूत्र।

पैतीसवें में जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय यह चारों अवस्थायें जीव एवं ब्रह्म की व्यष्टि एवं समष्टि रूप से होती हैं इनसे भिन्न तुर्यातीत अवस्था है वहाँ दोनों एक ही यही ऐक्य बुद्धि ही परा पूजा है।

छत्तीसवें में खेचरी मुद्रा का वर्णन है। यह स्थिति विघ्नरहित है इसी में जीव जीवन्मुक्ति का अनुभव करता है। मन, प्राण, एवं दृष्टि, ब्रह्ममय हो जाती हैं यन्त्रार्चन में खेचरी मुद्रा द्वारा उदवासन कर श्री चक्र स्थित परतत्व को साधक आत्मसात् करता है।

सैंतीसवें में उपासना के सिद्धान्त का निरूपण करते हैं। उस परतत्व के जान लेने पर जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ ज्ञान होने पर उसमें से सर्पत्व के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार मिथ्या

मायामय संसार की निवृत्ति हो जाती है। तथा पराशक्ति के स्वरूप का अनुभव होता है। जैसा कि देवी भागवत में कहा है :– "यदज्ञानात् जगद्भाति रज्जु सर्पस्रगादिवत्। यज्ज्ञानाल्लयमाप्नोति नुमस्तां भुवनेश्वरीम्"।।

अड़तीसवें में ग्रन्थकर्ता दैशिक प्रवर ने गुरूपासक दीक्षित शिष्यों को इस परा पूजा की सिद्धि का आशीर्वाद दिया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल ३८ श्लोकों में सम्पूर्ण रहस्य आ गया है। इस ग्रन्थ के इसी अद्वैत तत्व का निरूपण आगमीय सिद्धान्त की अमूल्य निधि श्री विज्ञान भैरवाचार्य (श्री शिव) द्वारा निर्मित उन्हीं के नाम से विख्यात विज्ञानभैरव नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में उपलब्ध है, जिसे समस्त तान्त्रिक जगत् उसी प्रकार मानते हैं जैसे वैदिक वेद को। वैसे निगम से आगम भिन्न नहीं है, उसी का सहोदर भ्राता है, अस्तु। यह ग्रन्थ भी सनातन धर्मावलम्बियों के लिए वेद तुल्य ही आदरणीय है। यह ग्रन्थ सरल एवं सुबोध अनुष्टुप् छन्दों में वर्णित है। उसी प्रकार के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं परतत्व में आत्मा का विलय ही इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। चिद्विलास के समान इसमें भी संसार को मायामय मिथ्या माना गया है यथाः–

"तदसारतयादेवि! विज्ञेयं शक्रजालवत्।
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम्।।"

इस प्रकार संसार को इन्द्रजाल एवं स्वप्न तथागन्धर्व नगर आदि दृष्टान्त सब अद्वैत वेदान्त के ही हैं। इसी प्रकार वेदान्त सिद्धान्त के समान ही जीव को भी नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला बताया गया है एवं सांसारिक बन्धनों से रहित प्रतिपादित किया हैं यथा :–

"नमे बन्धो न मोक्षो में भीतस्यैताः विभीषिका।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेः जलेष्विव विवस्वतः।।

इस प्रकार विवर्त्तवाद ही तन्त्र के इस महान् ग्रन्थ में वर्णित है जिसमें संसार केवल अध्यास द्वारा ही भासित है। परा पूजा का सम्पूर्ण विषय जैसाकि प्रस्तुत ग्रन्थ चिद्विलास में है वही पूर्णरूपेण इसमें विद्यमान है। परा पूजा की परिभाषा एवं महिमा में विज्ञान भैरव में स्पष्ट लिखा है "पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्यामतिः क्रियते दृढ़ा। निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।।" इस प्रकार लय योग जो इस ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है प्रस्तुत ग्रन्थ ने उसी को माना है। यत्र तत्र स्थलों पर दोनों ग्रन्थों में इतना अधिक साम्य है कि ज्यों के त्यों शब्दों एंवं भावों का प्रयोग किया गया हैं जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा :–

"माया विमोहनी नाम कलायाः कलनं स्थितम्। वि० भै० ६५ श्लोक "सा निशा सकल लोक मोहिनी। चि० वि ४ श्लोक"

"देहान्तरे त्वग्विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत्। वि०भै० ४८ श्लोक"

"त्वक्पलास्थिमय भित्ति भावितं। चि०वि० ६ श्लोक।"

"खेचर्या दृष्टि काले च परावाप्तिः प्रकाशते। वि०भै०।"

"सा शिवत्व समवाप्तिकारिणी खेचरी भवति खेदहारिणी। चि० वि० ३६ श्लोक"

अस्तु विस्तार भय से अधिक न लिखकर केवल यही कह देना पर्याप्त है कि यह दोनों ग्रन्थ अधिक समीप हैं। तन्त्र जगत् के अद्वितीय आचार्य दैशिक प्रवर श्री भास्कर राय ने नित्या षोडशिकार्णव' ग्रन्थ में इन दोनों ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। आठवें उल्लास में :– "महापद्मवनान्तस्थे वाग्भवे गुरु पादुकाम्, आप्यायित जगद्रूपां परमामृत वर्षिणीम्।।" श्लोक की व्याख्या में गुरुपादुका का विशद विवेचन करते हुए शिव शक्ति

सामरस्य स्वरूपिणी उस पर तत्त्वमयी श्री पराम्बा एवं श्री नाथ का ऐक्य प्रतिपादित करते हुये प्रस्तुत ग्रन्थ चिद्विलास का प्रथम श्लोक जिसमें महागुरुपादुका का विषय वर्णित है तथा गुरु प्रसन्नता से ही साधक कृत कृत्य हो जाता है इसका प्रतिपादन करने वाला २६ वॉं श्लोक प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया हैं। तथा उसी नित्या 'षोडशिकार्णव' में विज्ञान भैरव का ३२ वां श्लोक जो इस प्रकार है किः–

"शिखिपक्ष चित्ररूपैः मण्डलैः शून्य पञ्चकै ध्यायतो उत्तरे शून्ये परं व्योम तनुर्भवेत्।" अस्तु विज्ञान भैरव एवं चिद् विलास इन दोनों ग्रन्थों का रचना काल भी भास्कर राय के पूर्व ही स्थिर होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है। नित्या षोडशिकार्णव में भी पूजा संकेतों में परा पूजा ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। यही इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। चिद्विलास के रचियता के विषय में इतना ही परिचय ग्रन्थ की महिमा को उद्घोषित करने में पर्याप्त है, अस्तु।

इसी प्रकार का एक ग्रन्थ कविकुल गुरु कालिदास का चिद्गगन चन्द्रिका नामक काव्य है इसमें भी इसी छन्द में ३०५ श्लोकों द्वारा भगवती आद्या का परतत्व के रूप में विशद वर्णन किया है। दोनों ग्रन्थ एक ही छन्द में एक ही सिद्धान्त का निरूपण करते हैं। दोनों के कतिपय श्लोकों से दोनों का साम्य स्पष्ट है।

चिद्गगन चन्द्रिका :–

देवि तद्वय कला विमिश्रया सामरस्यपदमेति या स्थितिः।

बिन्दु नाद समवेद्य वेदकान्तर्गता तव मूर्तिरत्र सा।।

चिद्विलास :–

सामरस्यमिह सन्धिरेतयोः श्री परैव ननु सन्ध्य देवता।

चिद्गगन ....

यत्प्रकृत्यवधि तत्वमण्डलं क्ष्मामुखं परिमिता ग्रहास्फुटम्।

चिद्विलास :–

तत्व जालकमिदं शिवावधि क्ष्मामुखं सकलमासनं मतम्।

चिद्गगन चन्द्रिका :–

यत्स्मृतौ स्फुरति वस्तु बिम्बितं स्वप्न सम्प्रथमकल्पयोश्चयत्। बिम्बवज्जयेमिह तन्निदर्शना त्वन्निमग्नमुदितं जगत्त्वया।

चिद्विलास :–

बिम्बितं स्फुरति यत्र संविदा रूपमान्तर मिदन्तया बहिः। विश्वमेतदखिलं चराचरं दर्पणं ह्वदय दर्पणं परम् इत्यादि।

इस प्रकार सम्पूर्ण सिद्धांत एवं रथोद्धता छन्द प्रस्तुत ग्रन्थ एवं चिद्गगन चन्द्रिका के समान हैं। कालिदास ने काली को परतत्व स्थानीय माना है, इस ग्रन्थ में "श्रीपरैवननु सन्ध्या देवता" कह कर श्री विद्या को
।

इस प्रकार दोनों एक है केवल एक सिद्धान्त में अन्तर है। कालिदास ने परिणामवाद प्रतिपादन किया है और इन्होंने विवर्त्तवाद का।

रज्जु सर्प का दृष्टान्त ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लिखित है, यथा :–

यत्स्वरूप महिमा विकल्पतः। शक्तिचक्रमिह रज्जुसर्पवत्।

कालिदास ने इस छन्द का प्रयोग सीता स्वयम्बर में एवं कुमार सम्भव के आठवें सर्ग में शंकर पार्वती के मिलन प्रसंग में प्रयुक्त किया है। अस्तु, परतत्व के वर्णन में इस छन्द ती उपादेयता सिद्ध है, अतएव

यहां भी शिव शक्ति के सामरस्य में यही छन्द ग्रहण किया गया है। इसी छन्द में गुरुपादुका पञ्चक स्तोत्र भी वर्णित है, उसमें केवल ५ ही श्लोक हैं परन्तु वे साधना जगत् के पञ्चप्राण माने जाते हैं। सहस्रार स्थित द्वादश दल कमल के अन्तर्गत ऊर्ध्व त्रिकोण में परतत्व स्वरूप श्री गुरुदेव का चिन्तन करना प्रातः कृत्य में प्राथमिक कार्य है।

इस स्तोत्र के कर्ता भगवान् पञ्चमुख शिव है जिनके प्रत्येक मुख से एक–एक श्लोक निकला है।

चिद्गगन चन्द्रिका की शैली दुरूह है, अर्थ गाम्भीर्य उससे भी अधिक हे, जबकि इस ग्रन्थ की शैली सरस एवं सुबोध है। प्रसाद गुण से ओत–प्रोत है इतने सीधे–सादे शब्दों मे अध्यात्म तत्व का निरूपण किसी भी ग्रन्थ में नहीं किया गया है। इसमें दो मत नहीं हो सकते यही शैली पादुका पञ्चक स्तोत्र की भी है।

इस ग्रन्थ में आन्तर पूजा का सर्वाङ्गीण विवेचन है जैसा कि शारदा तिलक टीका में निर्दिष्ट है :–

स्वात्मैव देवताभोक्ता मनोज्ञा विश्व विग्रहा न्यासस्तु देवतात्मत्वात्स्वात्मनो देहकल्पना।। जपस्तनमयतारुप भावनं सम्यगीरितम्। होमो विश्वविकल्पा नामात्मन्यस्त मयोमतः।। इत्यादि

यहाँ भगवान् शिव को प्रकाश रूप से निर्देशित किया है :– "वासरः सखलु सर्व बोधकः इसी प्रकार वरि वस्या रहस्य के तृतीय श्लोक में :–

स जयति महाप्रकाशो यस्मिन् दृष्टे न दृश्यते किमपि। कथमिव तस्मिन् ज्ञाते सर्व ज्ञातं किलोच्यते वेदे।

अर्थात् महाप्रकाश भगवान् शिव का साक्षात्कार ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है जिसके होने पर सभी कुछ ज्ञात हो जाता है। इन शिव के निरङ्कुश वैभव को व्यवस्थित करने वाली शक्ति है, जैसाकि ग्रन्थ में :–

तीर्थमद्वय सुधारसोदधेर्वारितं निज विमर्श वेलया।

अर्थात् वह सर्वव्यापी अद्वैत तत्व शक्ति के द्वारा मर्यादित है उसी के योग से शिव शक्तिमान् होते है जैसा कि सौन्दर्य लहरी में :–

शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं। अर्थात् शिव स्पन्दन विहीन शव हैं बिना शक्ति के उनका हिलना–डुलना भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार श्री स्वामी जी ने अपने केनोपनिषद् भाष्य में उमा शब्द की व्याख्या की है :– उं परशिवं भाति परिच्छिनत्तीति उमा। इसी अभिप्राय को बरिबस्या रहस्य में भी व्यक्त किया है :–"नैसर्गिकी स्फुरता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः। तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति च"।।

इन दोनों तत्वों के मिलन को ही सामरस्य कहा गया है, यही पराशक्ति भगवती का दिव्य रूप है, वह निष्कल निरञ्जन निराकार है अन्ततोगत्वा जीवात्मा का परतत्व में लय ही ब्रह्मात्मैक्य स्वरूपिणी श्री त्रिपुर सुन्दरी की उपासना है, यह जन्म जन्मार्जित पुण्यों का फल हैं, जैसा कि गीता में :– "अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" के अनुसार इसके साधक को संसार में पुनः नहीं आना पड़ता।

चरमे जन्मनि यथा श्री विद्योपासको भवेत्। ललिता सहस्रनाम।

इस प्रकार यह साधना निगमागम की सारभूत मूर्ति है उसका प्रतिपादक यह चिद्विलास ग्रन्थ अद्वितीय है। भाषा यद्यपि सरल है परन्तु विषय अत्यन्त कठिन। इसमें चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग, पराशक्ति प्रतिपादक आगम, शास्त्र ब्रह्म की व्याख्या करने वाला वेदान्त, ये तीनों एकाकार होकर क्रियात्मक ब्रह्मज्ञान द्वारा श्री त्रिपुरा तत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं। भगवती के आध्यामित्क विग्रह के यही तीन पुर हैं। इन्हीं तीन विषयों के पारंगत विद्वान् एवं अनुभव ही इस ग्रन्थ की गुत्थियां सुलझा सकते हैं। सौभाग्य से पूज्य आचार्य चरणों ने अस्वस्थ अवस्था में भी इस

ग्रन्थ पर प्रबोधिनी विवृत्ति की रचना की, जिसमें सांकेतिक एवं पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या द्वारा ग्रन्थ के विषय को सुगम एवं बोधगम्य बना दिया। पूज्यपाददेशिक शिरोमणि ने अपनी इस विवृत्ति द्वारा परा पूजन सम्पन्न कर नीराजन प्रारम्भ कर दिया है। जिसके आलोक से दिग्दिगन्त आलोकित हो रहे हैं। हम लोगों को केवल घण्टी बजाने का कार्य दिया गया हे, जिसे हम लोग प्रसाद के लोभ से प्रेरित होकर कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ रत्न की प्राप्ति श्री कुंबर बलबीर सिंह जी से हुई है कुंवर साहब प्रख्यात साहित्यकार एवं श्री महाराज जी के प्रमुख सेवक हैं। श्री मदन मोहन गौड़ जी ने प्रकाशनार्थ सम्पूर्ण व्यय वहन कर परिषद् को उपकृत किया है। संस्कृत परिषद् के मुख्य सदस्य श्री ओंनारायण द्विवेदः व्याकरणाचार्य ने ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने में प्रशंसनीय परिश्रम किया है श्री ललिता प्रसाद द्विवेदः शास्त्री का भी योगदान प्राप्त हुआ है। ये सब महानुभाव परिषद् के अभिन्न अङ्ग हैं, फिर भी शिष्टाचारानुरोधेन यह परिषद् आभार प्रदर्शन पूर्वक इन सबको अनेकशः धन्यवाद देती है। इस प्रकाशन द्वारा भगवती गीर्वाण भारती की श्री वृद्धि हो एवं साधकगण अपने अभीष्ट को प्राप्त करें यही हमारी कामना है।

अक्षय नवमी
सम्वत् २०२६
बुधवार

ब्रजनन्दन शास्त्री
साहित्याचार्य
मंत्री
श्री पीताम्बरा संस्कृत परिषद,
दतिया (म.प्र.)

श्री पीताम्बरा पीठाधीश्वराः परम पूज्य श्री १००८
श्री स्वामी जी महाराज वनखण्डेश्वर, दतिया

।। श्रीपराम्बायै नमः।।

अथ चिद् विलासः

स्वप्रकाश शिवमूर्तिरेकिका
तद् विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्य वपुरिष्यते परा
पादुका परशिवात्मनो गुरोः।।१।।

टीका :-

(मंगलाचरणम्)

नत्वा गुरुपदाम्भोजं शुद्धं ज्ञानप्रदं नृणाम्,
विवृतिं चिद्विलासस्य कुर्वेस्वात्मप्रबोधिनीम्।

अयं चिद्विलास नामा ग्रन्थः केनचिद् महात्मना श्री विद्यायाश्चरमलक्ष्य भूतानि तत्त्वानि प्रकटीकर्तु श्री विद्यातत्वं च बोधयितुमष्टत्रिंशच्छ्लोकैरुप निबद्धः। तदुक्त सांकेतिक शब्दानामर्थाव– बोधाय संक्षिप्तं विवरणं क्रियते।

स्वप्रकाशेति :- परतत्त्वस्य प्रकाशात्मिका एकिका–एकामूर्तिः शिवः तद्विमर्श रूपा तनुरपि एकिका एकैव सा शक्ति प्देनोच्यते प्रकाश विमर्शाभ्यां नाम रूपात्मकं सर्व प्रपञ्चजातमाविर्भूतम्। तयोः प्रकाशविमर्शयोः सामरस्य रूपं बपुः ब्रह्मस्वरूपिणी पराशक्तिरिष्यते इच्छाविषयी क्रियते सैव परशिवात्मनो गुरोः पादुकारूपेण स्मर्यते साधकैः। परगुरु पादुकामन्त्रो गुरुमुखादवगन्तव्यः।

(ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः हसखफ्रें ह स क्ष म ल व र यूँ श्री ह्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं क० १५ह० १५ सौः क्लीं ऐं ह्रीं श्रीं स ह ख फ्रें स ह क्ष म ल व र यीं हंसः शिवः सोहं हसौ. स्हौः श्रीं परशिव पादुकां

पूजयामि नमः) गुरुस्मरणादेव सर्वाः सिद्धयोभवन्ति तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् इति श्रुतेः'।।१।।

रथोद्धताछन्दस्तल्लक्षणं यथा–रान्नराविह रथोद्धता लगौ।

भाषार्थ - स्वप्रकाश रूप एक मूर्तिका नाम शिव है और उसकी विमर्श रूप दूसरी मूर्ति जिसे शक्ति कहते हैं, दोनों के सामरस्य रूप का नाम पराशक्ति है। पर शिवात्मक गुरु की पादुका रूप से जिसका स्मरण होता है ।।१।।

"एकोऽहं बहुस्याम्" इति श्रुतिवचनात् परम बिन्दुसकाशात् अग्निचन्द्र सूर्यनामकं बिन्दुत्रयमाविर्भूतम् तस्मादेव त्रय समुदायात् सर्ववस्तुजातं प्रकाश्यं नीतं तदेवाह चित्रभानुरिति :–

चित्रभानु शशिभानुपूर्वकं
त्रित्रिकेण नियतेषु वस्तुषु।
तत्तदात्मकतया विमर्शनं
तत्समष्टि गुरुपादुका जपः।।२।।

टीका :-

पूर्वस्मिन् पद्ये प्रकाशविमर्शात्मकं शिव शक्तिमयं तत्वं निर्दिष्टं तस्मादेव चित्रभानुः अग्निबिन्दुः शशीचन्द्रबिन्दुः भानुः सूर्यबिन्दुः इत्येतत्पूर्वकेण त्रिकेण समुदायेन सर्वमाविर्भूतम्। प्रकाशाद् वामा–ज्येष्ठा–रौद्री–शक्तयः आविर्भूताः। विमर्शात् इच्छाज्ञानक्रियास्तथा ब्रह्मविष्णुरूद्रा पुरुषशक्तयः सञ्जाता त्रित्रिक पदेनैतत्सर्वं गृह्यते।

गीतायाञ्चः-

यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धि मामकम्।। इत्यनेनोक्तं समन्वितं भवति। नियतेषु सर्ववस्तुष्विदं त्रिकं व्याप्तमस्ति।

त्रिकसंमुदायरूपेण सर्वेषां पदार्थानां विमर्शनं पृथक् पृथग्भवति। एतेषां सर्वेषां समष्टिः परारूपो गुरुपादुका जपो मनसावृत्तिरूपोऽभ्यासः साधकैः क्रियते।।२।।

भाषार्थ :- अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यही त्रिबिन्दु प्रत्येक तत्व एवं पदार्थो में विद्यमान है। इन तीनों का समष्टि रूप ही गुरु पादुका जप है।।२।।

गुरुतत्व शिवतत्व पराशक्ति तत्वात्मत्वेषु अभेदत्वात् अद्वैतमेवास्या श्री विद्यासाधनायाः मन्तव्यम्। अस्य साक्षात्कारेण सर्वक्लेशजातं निवर्तते। क्लेशानां कारणं मायीयं कार्मणमाणवं च त्रिविधं मलमेभ्य एवं पञ्चक्लेशाः समुद्भूताः। ते च संसारावस्थायां जीवात्मानमनवरतं क्लेशयन्ति। जीवात्मा अविद्यावस्थायां शिवतत्वात् पृथगेव स्वसत्तामनुभवति। तन्निवृत्तये अद्वैत भावना कर्त्तव्या। अद्वैत साक्षात्कारे सति सर्वक्लेशनिवृत्तिः' परमानन्दप्राप्तिश्च भवति तदेव तीर्थरूपेणोपदिश्यते तीर्थमितिः--

तीर्थमद्वय सुधारसोदधे-
वारितं निजविमर्श वेलया
आणवादि मलमोचनोचितं
स्नानमत्र विधिना निमज्जनम्।।३।।

टीका :-

सर्वखल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्येदं दृश्यमानं नाम रूपात्मकंसर्वं ब्रह्मैवाद्वैत--तत्वमेव तदेव सुधारसोदधिरमृतसमुद्रः, तस्य निजविमर्श वेलया वारितं स्वात्म विमर्शशक्तया मर्यादीकृतं तदेव तीर्थपद वाच्यम्। तरन्ति पापेभ्योजनाः येन तत्तीर्थमितिव्युत्पत्या तीर्थशब्द निष्पत्तिः, ब्रह्माद्वैत साक्षात्कारेण सर्वक्लेशानां निवृत्तिः। अत्र तीर्थे विधिना श्रीविद्योपासनोक्त प्रकारेण निमज्जनमेकान्तिक निमग्नता, तेनाणवादि मलत्रयस्य मोचनोचितं दूरीकरणरूपं स्नानं भवति। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः इति श्रुतेः'।

भाषार्थ :- अपनी विमर्श शक्ति रूपी तट के द्वारा मर्यादित हुआ अद्वैत तत्व ही अमृत का समुद्र है उसे ही तीर्थ कहते है इसी तीर्थ में शास्त्रोक्त विधान से श्री विद्या की उपासना ही निमज्जन अर्थात् स्नान है। इसी स्नान के द्वारा मायीय कार्मण, आणव, इन त्रिविध मलों का विनाश होता है।।३।।

सन्ध्य देवता रूपेण श्री परादेवतां स्तौति सेति :–

सा निशा सकललोकमोहिनी
वासरः सखलु सर्वबोधकः।
सामरस्यमिह सन्धिरेतयोः
श्री परैव ननु सन्ध्यदेवता ।।४।।

टीका :-

वैचित्य संपादन कर्त्री माया मोहिनी पद वाच्या (महामाया हरेश्चैषा तया संमोह्यते जगत्) सकल लोकानां सकल संज्ञकानां जीवानां राग–द्वेषमय विषयेषु प्रवर्त्तनकर्त्री सैव निशा रात्रिरज्ञानवस्वरूपा शिव एवं सर्व बोधको वासरः प्रकाशस्वरूपो दिवसरूपः प्रकाशसाम्यात्। एतयोर्द्वयोः सन्धिः, इह शास्त्रे सामरस्यं समरसस्यभावः सामरस्यं ननु निश्चयेन सन्ध्यदेवता अधिष्ठानरूपा श्री परैव श्री रूपा परा शक्तिरेव मन्तव्या।।४।।

भाषार्थ :- समस्त संसार को मोह के वशीभूत करने वाली मायारूपिणी शक्ति ही रात्रि है एवं चराचर विश्व को बोधन कराने वाला अर्थात् ज्ञान दाता भगवान् शिव ही दिवस हैं। जब इन दोनों की संधि होती है तभी सामरस्य प्राप्त श्रीविद्या ही सन्धि है।।४।।

अहन्तया पूजनमाह स्वप्रकाशेतिः–

स्वप्रकाशशिवएवभास्करः
सद्विमर्शविभवा मरीचयः
यैस्तथा स यदि वेदि मण्डलं
तस्य पूजनमहन्तया मतिः।।५।।

टीका :-

स्वप्रकाश स्वरूपः शिव एवं भास्करः सूर्यस्वरूपः सद्विमर्श विभवा विमर्श तत्वादाविर्भूता मरीचयः खेचरी दृक्चरी भूचर्यादिस्वरूपाः यैर्मरीचि मण्डलैस्तथा शास्त्रोक्त प्रकारेण स साधको वेदिमण्डलं कृत्वा निर्माय तस्य शिवस्य पूजनं। अहन्तया अद्वैतरूपेण मतिः नाम मतं करोति। वर्णाग्र्यः अकारः प्रकाशरूपः, हकारः शक्तिरूपः, उभयोरैक्यमद्वैतरूपम् अहम् अहमेवेति चिन्तनं पूजनं सर्वश्रेष्ठम्। अहं पदेन जीवस्यापि ग्रहणं कर्त्तव्यम्। शिवशक्तिसामरस्यात् तस्याप्यणु रूपेण प्रादुर्भावात् अतएव अहं पदेन तस्यापि बोधोजायते अतएव केचित् साधकाः शिवरूपेग केचिच्छक्तिरूपेण च जीवस्वरूप मन्यन्ते।।५।।

भाषार्थ :- स्वप्रकाशरूप भगवान् शिव ही सूर्य रूप है उनकी सत् शक्ति का वैभव ही किरण समूह है उसी किरण मण्डल की वेदी पर अहं (अकार अर्थात् प्रकाशरूप शिव तथा हकार का अर्थ है विमर्शरूपिणी शक्ति इन दोनों की एक रूपता ही सामरस्य रूप है इसी को अहं कहते हैं) रूप से पूजन एवं चिन्तन साधक को अभिमत है।।५।।

त्वक्पलास्थिमयभित्ति भावितं
ज्ञानदीप विगलत्तमोगुणम्।
आत्मतत्वमिह यागमण्डपं
तस्य पूजनविधानमर्चनम्।।६।।

टीका :-

सत्वरजस्तमोगुणानां परिणामतः शरीरमिदं जातं, स्थूलं तमसः, क्रियात्मकं रजसः, ज्ञानात्मकं सत्वगुणतः परिणतम्। त्वक्पलास्थिमयं मांसचर्मास्थिमय तद्भित्त्याभावितमाधाररूपेण ज्ञानदीपेन विगलत्तमोगुणं सत्वगुणात्मक ज्ञानदीपेन अन्धकार स्वरूपं बिगलत्तमोगुणं निवृत्ततमोऽन्ध कारमिह शरीरे आत्मतत्वमेव यागमण्डपं कृत्वा तस्य पूजनविधानं शास्त्रोक्त

रीत्या अर्चनं भवति।।६।।

भाषार्थ :- सत्व, रज, तमोगुण के परिणाम से ही यह शरीर उत्पन्न हुआ है तथा त्वचा, मांस, और अस्थिमय है यही साधना का आधार है इसमें सत्वगुणात्मक ज्ञानरूपी दीपक से तमोगुणात्मक अन्धकार को नष्ट करते हुये अपनी आत्मा को ही यज्ञ मण्डप बनाकर उसके पूजन का विधान ही अर्चन है।।६।।

पाशनिवर्त्तको भगवान्शिवइत्याह वेदिकेति :–

वेदिका ह्रदयपद्मकर्णिका
चिन्मयी वसति तत्र देवता।
यो हि तद्यजनकर्मकर्मठ
स्तस्य पाश भिदुरः सभैरवः।।७।।

टीका :-

ह्रदय पद्म कर्णिका वेदिकारूपेण चिन्तनीया। अनाहतचक्रस्थितं पद्मं सहस्रारस्थितं च ह्रदय पदेन गृह्यते तत्र चिन्मयी शक्तिः देवता रूपेण वसति तस्या एवायं विलासो जगद्रूपः यो हि साधकस्तद्यजन कर्मणि कर्मठः निपुणः तस्य पाशभिदुरः सर्वबन्धनिवर्तकः स भैरवः स भगवान् शिव एव। "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः" "पाश वद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः, सदाशिवः"। अष्टौ पाशाः तन्त्रेषूपदिष्टाः तद्यया "घृणा लज्जा भयं शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी। कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशा इमे स्मृताः।।७।।

भाषार्थ :- ह्रदयस्थित अनाहत चक्र एवं मस्तक स्थित सहस्रार चक्र इन दोनों पद्मों को ह्रदय कहते हैं। इन्हीं में श्री परा शक्ति का निवास है जिसकी कृपा से ही यह सम्पूर्ण संसार उद्भूत हुआ जो साधक इन चक्रों में उस परा शक्ति के पूजन में रत हैं उनके समस्त बंधनों को भगवान् भैरव काट देते हैं।।७।।

विश्वकारण विकल्प बुद्धि निवर्त्तकमोह विश्वेतिः–

विश्वभेद विभवो विकल्पधी
र्लक्षणो भवति विघ्नसन्ततिः।
निर्विकल्पनिजधामविश्रम
स्तन्निराकरणमत्र कीर्तिततम्।।८।

टीका :-

विश्वभेदस्यविभवः कारणं विकल्पधीलक्षणः, अहं ममाभिमानरूपो विघ्नानां सन्ततिः स एव भवति। क्लेशानां कारणं द्वैतबुद्धिरेव निर्विकल्पधाम्नि शैवे पदे विश्रमस्तन्निराकरणमत्र कीर्तितम्। शिवे पदेऽभेदेन स्थितिरेव क्लेश निवर्तिकेति भावः।।८।।

भाषार्थ :- अहं ममाभिमान रूप विकल्प बुद्धि ही विघ्नों का कारण है अतएव निर्विकल्पात्मक शिव पद में विश्राम ही एक मात्र विकल्प बुद्धि रूपी विघ्नों का निराकरण है ।।८।।

यत्र निर्विषय बोध लक्षणः
स्वात्म शम्भुरवतिष्ठतेऽनिशम्।
तत्वजालकमिदं शिवावधि
क्ष्मामुखं सकलमासनं मतम्।।९।।

टीका :-

यत्र परस्मिन् पदे निर्विषयं बोध लक्षणः निर्गुणो निराकारस्वरूपः स्वात्मरुपः शम्भुः शिवोऽनिशं सर्वदाऽवतिष्ठते विराजते। तस्य क्ष्मामुख पृथ्वी तत्वमारभ्य शिवावधि तत्वजालकं षट्त्रिंशत् तत्व जातं सकलमासनं मतं योगिनाम्। तत्वानामेषः क्रमः पृथ्वी, जलं, तेजः वायुः, आकाश, इति पञ्चभूतानि, शब्द–स्पर्श–रूप रस–गन्धाः इति पञ्चतन्मात्रणि वाक्पाणिपादयापूस्थनामानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, श्रोत्रत्वक् चक्षू रसनाघ्राणाख्यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, मनोबुद्धिरहङ्कार इति त्रिविधमन्तः करणं, प्रकृतिः पुरुषः कला, विद्या रागः कालः, नियतिः, माया शुद्धविद्या,

ईश्वरः, सदाशिवः, शक्तिः शिवः इत्येतत्सर्व श्लोके तत्वजालकपदेन प्रोक्तम्। पञ्चमश्लोके "अहमृरूपेण यत्तत्वमुपदिष्टं तत्प्रत्याहारन्यायेन सर्वेषां षट्त्रिंशत् तत्वानामपि वाचकं स्वीकृतम् तद्यथा पञ्चभूतानां वाचकः कवर्गः पञ्चतन्मात्राणां चवर्गः कर्मेन्द्रियाणां टवर्गः ज्ञानेन्द्रियाणां तवर्गः, मनः समारभ्य पुरुषपर्यन्तस्य पवर्गः, कलामारभ्य मायापर्यन्तस्य य र ल वाः, शकारमारभ्य क्षान्ताः शुद्ध विद्यादि शक्ति पर्यन्ताः तत्वानि, स्वराणां षोडश संख्यकानामकारे समावेशात्। अकारः शिवस्य वाचकः प्रोक्तञ्च अकारः सर्ववर्णाग्रयः प्रकाशः परमः शिवः हकारोऽन्त्यः कलारूपः विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः सर्वेषां तत्वानां शिवशक्ति पदार्थादावि भूतत्वात् तत्रैव च लयत्वाद् "अहम्" मात्र मेवावशिष्यते।।६।।

भाषार्थ :- जिस स्थान पर निर्गुण निराकार स्वरूप शिव भगवान् सर्वथा निवास करते हैं वही स्थान पृथ्वी तत्व से लेकर शिव पर्यन्त ३६ तत्व उनका सम्पूर्ण आसन है ।।६।।

वेद्य संविद इदं स्फुरन्मनो
वेत्तृसंविदि विलापनामयी
वृत्तिरद्वयविमर्शविग्रहा
प्राण संयति रुदीरितोत्तरा।।१०।।

टीका :-

वेतृ वेद्ययोः स्फुरण कारिणी परा संवित्। यदा वेद्य संविद इदं मनस्तत्वं स्फुरति तदाऽनेकाकारेण जगद्भासते तदैव क्लेशानामुत्पत्तिः। यदा वेतृ संविदि स्फुरति तदा सर्वद्वैतस्य विलापनामयी द्वैतर्निवर्तिका अद्वयविमर्शविग्रहा अद्वैत वृत्तिरुदेति प्राण संयति सति मूलाधारमारभ्य द्वादशान्तपर्यन्तासती उत्तरावृतिरुदीरिता कथिता योगिभिः। यया वृत्या पूर्णाद्वैतानुभवो भवति।।१०।।

भाषार्थ :- यह परा संविद जब विषय में स्फुरित होती हैं तब अनेक

रूप वाला यह संसार प्रतीत होता है। और जब वेत्ता अर्थात् ब्रह्म में स्फुरित होती है तब सम्पूर्ण संसारलय हो जाता है प्राणों के संयम होने पर ही उत्तरावृत्ति का उदय होता है। जिसके द्वारा ही पूर्ण अद्वैत का अनुभव होता है।।१०।।

आसनानि नव चक्र संविदा
मुद्भवस्थिति लयस्त्रयः क्रमात्
अङ्गषट्क रचना षडध्वना
मंशतावगतिरात्मसंविदा।।११।।

टीका :-

जगदुत्पत्ति स्थितिलयश्चैतत् संविद् तत्वतः क्रमेण भवति 'जन्माद्यस्य यतः इति व्यास सूत्रेण संमतञ्च। इदं शरीरमपि जगतः स्वरूपं तदंशमेव पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं कृत्वा कथयति नवचक्र संविदामासनानि 'अर्धचन्द्रः निरोधिका, नादः, नादान्तः, शक्तिः, व्यापिका, समना, उन्मना महाशून्यं, इति नवस्थानान्येवासनानि संवित्तत्वस्य, षड़ध्वनामङ्गषट्करचना "वर्णः कला पदं तत्वं मन्त्रो भुवनमेव च। इत्यध्वषट्कं देवेशि भाति त्वयि चिदात्मनि।। षट् चक्राणां स्थितिरत्राङ्गत्वेन गृह्यते। आत्म संविद् अंशतावगतिरेव ज्ञातव्या। षडध्वाङ्गभूतवर्णैरेव षट्चक्राणां स्थितिरिति। मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूरानाहत विशुद्धाज्ञा, ललना सोमचक्र सहस्रारा इति संविदः कार्यकरणेनवासनानि। एषु स्थानेषु संयमात् संवित्ततत्वस्य साक्षात्कारः षट् चक्रेषु भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यमिति समष्टि भूतानीमानि षडङ्गान्याहुः। अङ्गाङ्गिनोरैक्यात् स्थिरसुखमासनमिति योगशास्त्रे आसनात् स्थिर सुखप्राप्तिः प्रतिपादिता। इमानि नवासनान्यन्तरङ्गभूतानि तदर्थान्येव।।११।।

भाषार्थ :- इस संविद् तत्व अर्थात् परा शक्ति से ही संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है उस पराशक्ति का आसन ब्रह्माण्ड के

अनुसार इस पिण्ड में भी नव संख्यात्मक हैं तथा छै स्थानों से जाने के मार्ग है वहीं छै स्थान षट् चक्रों के नाम से व्यवहृत हैं।।११।।

काम ऊर्ध्वगतबिन्दुराननं
भानुरेष तदधो गतौ स्तनौ
चित्रभानुशशिनावुभौकला
योनिरत्र सहरार्धकुण्डली।।१२।।

टीका :-

कामकला स्वरूपमाह–कामेति ऊर्ध्वत्रिकोण स्वरूपे ऊर्ध्वबिन्दुराननं मुखरूपं भानुः सूर्यस्वरूपश्चिन्तनीयः तदधोगतौ चित्रभानुःऽग्निः शशीचन्द्रश्च स्तनद्वय रूपेण चिन्तनीयौ। हरार्ध कुण्डल्यत्रयोनिरूपेण चिन्तनीया पूर्वोक्तादहमित्यस्माद् हकारवर्णादाविर्भूता तत्स्वरूपा च हरार्धकुण्डलीति ऊर्ध्वकुण्डलीति वा कथ्यते सा योनि रूपेण चिन्तनीया। इमा एव चतुष्कला रूपेणाग्रिम पद्ये कथयिष्यते।।१२।।

भाषार्थ :- ऊर्ध्व त्रिकोण में ऊपर का बिन्दु सूर्य है जो मुख रूप से चिन्तनीय हैं और नीचे के दोनों बिन्दु अग्नि एवं चन्द्रमा हैं जिनका स्तनद्वय रूप से चिन्तन करना चाहिये। और अहं शब्द में योनि स्वरूपी हकार ही ऊर्ध्व कुण्डली के रूप में ध्यान करने योग्य है यही काम कला का स्वरूप है ।।१२।।

एवमात्मनि चतुष्कलामये
सर्वतत्वसमवायलक्षणे
न्यासमाहुरिह वैखरादि वाग्
वृत्तितः समविशेष भावनाम्।।१३।।

टीका :-

एवं द्वादश श्लोकोक्त प्रकारेण चतुष्कलात्मके सूर्यचन्द्राग्निह

रार्धकला—रूपे आत्मनिसंवित्तत्वे सर्वतत्वानां समवाय लक्षणः षट्त्रिंशत्तत्वानां समुदाय स्तस्मिन्निह वैखरादिवाग्वृत्तितः अकारमारभ्य क्षान्तपर्यन्तं न्यासं तथा समविशेष भावनाञ्च तत्वानामाविर्भावसतिरोभावरूपमाहुः ।।१३।।

भाषार्थ :- उपरोक्त प्रकार से सूर्य, चन्द्र, अग्नि, एवं ऊर्ध्व कुण्डलीगत संविद् तत्व ही ३६ तत्वों का आश्रय है इसी स्थान पर अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त मातृका का न्यास करना चाहिए। यहीं से तत्वों का आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है।।१३।।

पूरुषत्व समवाप्ति हेतुषु
यष्टिकाख्य निजसूक्ष्मवर्ष्मणः
चित्पदे लयविधानमष्टवा
ग्देवतान्यसनजुष्टमुत्तमम्।।१४।।

टीका :-

पुरुषत्व समवाप्तिः परतत्व प्राप्तिः तस्या हेतुषु साधनेषु यष्टिकाख्यं मेरुदण्डरूपेण प्रसिद्धं तस्य निजसूक्ष्म वर्ष्मणः निजसूक्ष्मशरीरस्य सम्बन्धिन्यः अष्टवाग्देवता वशिन्याद्याः तासां न्यसनं न्यासः जुष्टं युक्तं चित्पदे संवित्तत्त्वे लय विधानमुत्तमं सर्वश्रेष्ठं मन्यन्ते साधकैः।

अष्ट वाग्देवतानां मूलाधारमारभ्य सोमचक्र पर्यन्तं क्रमेण न्यासः वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी सर्वेश्वरी, कौलिनी इत्यष्ट वाग्देवताः क्रमेण लयभावनया सर्वासां लये सति चित्पदस्यानुभूतिर्जायते।।१४।।

भाषार्थ :- परतत्व की प्राप्ति हेतु मेरुदण्ड के सूक्ष्म शरीर में वशिन्यादि आठ वाग्देवताओं का मूलाधार से लेकर सोमचक्र पर्यन्त न्यास करना चाहिए तथा क्रमशः इन देवताओं की लय भावना से साधक को परतत्व का अनुभव होता है ।।१४।।

अन्तरङ्गकरणप्रभावतः
स्वप्रकाश नभसोऽत्र संक्रमात्
पीठभावमुपयान्ति तानि त
न्यास कर्म परधाम्नि हृल्लयः।।१५।।

टीका :-

अन्तरङ्गकरण प्रभावतः अन्तरङ्ग एकादशेन्द्रिय प्रभावेण सत्तया स्वप्रकाश नभसः स्वयं प्रकाश नभसो रूपस्य ब्रह्मणः संक्रमात् सम्बन्धात् तानि पीठभावमुपयान्ति। एकादश पीठ स्थानानि तेषांन्यास कर्म तेन परधाम्नि चित्पदे हृल्लयस्तेन एकाग्र्यं सम्पद्यते। कामरूपं, जालन्धर, पूर्णगिरिः उड्डियानं, वाराणसी अवन्ती, माया, द्वारावती, मधुपुरी, अयोध्या, काञ्ची इत्येकादश पीठ स्थानानि। तान्येवान्तरङ्ग`एकादशेन्द्रियाणि पीठभावमुपगतानि दश महाविद्यानामपि करणत्वेन ग्रहणम्। मनसोऽनिन्द्रियत्वेन दशानां पीठानामिन्द्रियाणाञ्चै तत्पक्षे स्वीकारः मायां परित्यक्तवान् क्रमज्ञः। "इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थो अर्थेभ्यश्च परंमनः" इति प्रमाणात् इन्द्रियेभ्यो मनसः पृथग्ग्रहणात्।।१५।।

भाषार्थ :- दश अथवा एकादश इन्द्रियां जो शरीर के अन्तर्भाग में स्थित है उनका सम्बंध स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म से है उनमें ही काम रूप आदि पीठों का न्यास करने से परतत्व में एकाग्रता उत्पन्न होती है।।१५।।

तत्वधाम युगमातृकात्मक,
त्रित्रिकेण नियतेषु वस्तुषु।
पादपात्र परमामृतत्रयं,
तुर्य विश्रमणमर्घ्यशोभनम्।।१६।।

टीका :-

तत्वानां धामतः संवित् तत्वतः युगमातृका स्वरव्यञ्जन भेदवती पुनश्च

त्रित्रिकेण यकारमारभ्य क्षान्तेन सहत्रिकेण सर्व वस्तुषु नियतेषु परमामृतत्रयं पादपात्रं पाद्यपात्रं तुर्य पदे विश्रमणं शोभनमर्घ्यं भवति। अकथादि संज्ञया च इदमेव व्यवहृतम्।।१६।।

भाषार्थ :- संविद्तत्व से ही उत्पन्न स्वर व्यञ्जन द्विविधि भेद वाली मातृ–का एवं यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त तीनों त्रिकों में विभक्त है। वह सम्पूर्ण वस्तुओं में नियत रूप से निवास करती है उसके तीनों त्रिक ही अमृतमय पाद्य पात्र है और उस मातृका का परतत्व में विश्राम ही अर्घ्य है। अकथादि संज्ञा से भी इसे ही कहा गया है ।।१६।।

मेदिनी प्रमुखमाशिवं मतं
तत्वचक्रमिहचक्रमुत्तमम्।
स्वस्वभाव समवाय भासिनी
देवता भवति सादिनी कला।।१७।।

टीका :-

इह शास्त्रे मेदिनी प्रमुखमारभ्य आशिवं शिव पर्यन्तं तत्वचक्रं षट् त्रिंशत्तत्व चक्रमुत्तमं चक्रं भवति। तत्वानां तत्वस्वभावानाञ्च समवायः समूहस्तस्य भासिनी प्रकाशिका सादिनी कला देवता भवति। सादाख्य तत्वाश्रिता सर्व तत्वचक्रं प्रकाशयतीत्यर्थः।।१७।।।

भाषार्थ :- पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त ३६ तत्व एवं उनके स्वभाव ही उत्तम चक्र हैं। जिनको प्रकाशित करने वाली सादिनी कला है जो सदाशिव तत्व के आश्रित है वही सम्पूर्ण तत्व चक्रों को प्रकाशित करती है।।१७।।

आन्तरस्य निज संविदात्मनो
मातुरक्ष करणाध्वनो बहिः।
मेय संविदि समर्पणं तदा
वाहनं समरसत्व लक्ष्मणम्।।१८।।

टीका :-

सर्वान्तर्भूतस्य निजसंविदात्मनो मातुः प्रमातृरूपस्य अक्षकरणाध्वना इन्द्रिय द्वारा मेय संविदि प्रमेय तत्वे विषय प्रकाशक संविदि यत्समर्पणं एकीभावमापन्ने संवट्टे समरसत्वलक्षणमद्वैतरूपं तदावाहनं भवति।।१८।।

भाषार्थ :- संविदात्मक प्रमाता अर्थात् साधक अपनी इन्द्रियों के द्वारा उस मेय तत्व अर्थात् संविद् तत्व में एकीभावत्व प्राप्त करता है वही अद्वैत स्थिति है उसी को पराशक्ति के पूजा का प्राथमिक उपचार आवाहन कहते हैं।।१८।।

पञ्चधैव यदिदं प्रपञ्चितं
पञ्चधानुभव शाश्वतोदयम्।
तत्सुसंहरण मौपचारिकं
कर्मनिर्मलनिजात्मसंविदि।।१६।।

टीका :-

इंद दृश्यमानं प्रपञ्चितं जगत् पञ्चधैव पञ्चभूतरूपेण विस्तारमाप्तम्। पञ्चधानुभवेन शब्द स्पर्शरूपरसगन्धरूपेण शाश्वतोदयं नियमपूर्वकमुदयमेतेभ्यस्तत्वेभ्यो जायते। अस्य पञ्चतत्वस्य संहरणमौपचारिकं कर्म निजात्मसंविदि पूजोपचार रूपं संहरणं लयकर्म भवति।।१६।।

भाषार्थ :- यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार पञ्चभूतात्मक है जिसका अनुभव शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध स्वरूप से पांच प्रकार का होता है। शरीर में इन तत्वों का नियमपूर्वक उदय होता है और क्रमानुसार इनका परतत्व में लय ही मानसोपचार पूजन है।।१६।।

यस्तु पञ्चदशधा प्रकल्प्यते
काल एष शशिभानु संक्रमात्।
तस्य शाश्वत्पदे लयक्रिया
नित्यवासर कलार्चनं मतम्।।२०।।

टीका :-

अथाद्यास्तिथयस्सर्वे स्वरा विन्द्वसानगाः तदन्तः काल योगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ। अकारमारम्य (अं) इति पञ्चदशस्वरपर्यन्ताः शशिभानु संक्रमात् सूर्यचन्द्रयोगात् पञ्चदशतिथयः अहोरात्र रूपाः जायन्ते। एतस्य सर्वस्यैषः काल एवं हेतुस्तस्य शाश्वत्पदे लयक्रिया (अः) इति षोडशी कला रूपं शाश्वत पदं तस्मिन् लये सति नित्यवासर कलार्चनं नित्यप्रकाश मय दिवस कलार्चनं मतम्।।२०।।

भाषार्थ - अकार से लेकर (अं) पर्यन्त पन्द्रह स्वर ही दिन और रात रूप में पन्द्रह तिथियां होती है। अस्तु इन पन्द्रह स्वरों का काल से योग है और सोलवाँ स्वर (अः) ही परतत्व है जहां कि सदैव प्रकाश रहता है। उसका अर्चन ही नित्य दिवस कला का अर्चन है।।२०।।

बाह्य चक्रमुपगामरीचय
स्तत्वजाल लसदात्मसंविदः।
तत्समर्चन मतीतचिन्मया
नारव्यधाम्नि विलयक्रमक्रिया।२१।।

टीका :-

बाह्य पूजनचक्रं श्रींचक्रं मूलबिन्दुमारभ्य त्रैलोक्य मोहनचक्रपर्यन्तं तत्स्थाः मरीचयः एकाधिक नवति संख्याका किरणरूपा देवतास्तत्वजालेन लसतोयुक्तस्यात्मसंविद आत्मतत्वस्य वाङ्.मनसयोरतीतमतिक्रान्तं चिन्मयमनाख्यं कथयितुमशक्यं धाम तस्मिन् विलयक्रमक्रिया क्रमेणलयचिन्तनं तत्सर्मचनं सम्यक्पूजनंभवति। मूलबिन्दुतत्वात् प्रसृतस्य तत्रैव लयभावनं तत्समर्चन पदेनात्र चिन्तनं सम्मतम्।।२१।।

भाषार्थ :- श्री चक्रमें बिन्दु से लेकर त्रैलोक्य मोहन चक्र पर्यन्त एकानवे (९१) संख्यात्मक किरण देवताओं का षट्त्रिंशत् तत्व युक्त

अनिर्वचनीय पराशक्ति में क्रमशः लय की भावना का चिन्तन ही श्रेष्ठ पूजन है।।२१।।

यच्चतुर्विधमिदं विभासते
तत्वरूपममृतान्तराकृतिः।
तस्य पञ्चमपदे लयक्रिया
सम्मतं बलि चतुष्टयं तथा।।२२।।

टीका :-

यः परमात्मा अमृतान्तराकृतिः अन्तःस्थितामृतकलावानिदं दृश्यमानं चतुर्विधं स्वदेजाण्डजोद्भिज्ज जरायुजरूपं विभासते अथवा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्याख्यं विभासते तस्य पञ्चमपदे तुर्यातीते लयक्रिया बलि चतुष्टयं सम्मतं समीचीनं मतम्।।२२।।

भाषार्थ :- जिस परा शक्ति में अमृत कला का निवास है उसी के द्वारा यह दृश्यमान चार प्रकार की सृष्टि (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज जरायुज) एवं चार अवस्थाएँ (जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तुरीय) स्फुरित होती हैं इन चारों का तुर्यातीत पद में लय करना ही चार प्रकार का बलिदान श्रेष्ठ कहा गया है।।२२।।

पञ्चधा प्रसरतश्चिदात्मनो
ह्यान्तरस्य बहिरिन्द्रियात्मना।
सामरस्यमिह संविदात्मना
रार्तिकं परमिदं समीरितम्।।२३।।

टीका :-

पञ्चधा प्राणपान समान व्यानोदानरूपेणान्तरस्य चिदात्मनः हि प्रसरतः विस्तारं प्राप्तस्य बहिः पञ्चेन्द्रियात्मना श्रोत्र–त्वक्, वाक्–चक्षू–रसना–घ्राणरूपेण इह चिदात्मनि संवित्स्वरूपे सर्वेषां लयेनेदं परं श्रेष्ठमारार्तिकं

समीहितं प्रोक्तं महात्मभिः।।२३।।

भाषार्थ :- पांच प्रकार (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान) से विस्तार प्राप्त अन्तरात्मा का पञ्चेन्द्रिय रूप से पराशक्ति में लय ही महात्माओं ने सर्वश्रेष्ठ आरती उपचार बताया हैं।।२३।।

वाक्सहैव मनसा निवर्तते
ऽप्राप्य निष्कलनिरञ्जनाद्यतः।
तत्र निर्मनसि शब्द वर्जिते
धाम्नि विश्रमणमुत्तमोजपः।।२४।।

टीका :-

यतो यस्मान् निष्कलनिरञ्जनात् संवित् तत्वात् मनसा सहवाक् शब्द शक्तिः तत्स्वरूपमप्राप्य स्वसामर्थ्याद्वहिर्ज्ञात्वा निवर्तते प्रकाशयितुमशक्यमिति मन्यते। तत्र निर्मनसि मनसाऽगम्ये शब्दवर्जिते शब्देन प्रकाशयितुमशक्ये धाम्नि प्रकाशस्वरूपे विश्रमणमुत्तमोजपो मनसा भाव श्रेष्ठो जपः इति भावः।।२४।।

भाषार्थ :- वह परतत्व निष्कल और निरञ्जन है अतएव मन और वाणी की पहुंच वहां नहीं है इसलिए उस शब्द शक्ति वर्जित एवं मन से अगम्य उस प्रकाश स्वरूप परतत्व में विश्राम ही श्रेष्ठ जप है।।२४।।

बिम्बितं स्फुरति यत्र संविदा
रूपमान्तर मिदन्तया बहिः
विश्वमेतदखिलं चराचरं
दर्पणं हृदय दर्पणं परम्।।२५।।

टीका :-

यत्र बिम्बितं बिम्बस्वरूपमिदन्तयां विषय रूपेणान्तरमिदं रूप संवित्तत्वेन

बहिः नामरूपात्मकरूपेण स्फुरति व्यनक्ति तदखिलं चराचरं ह्वदय दर्पणं विश्वमेतत् परं श्रेष्ठं दर्पणं सम्मतम्।।२५।।

भाषार्थ :- जिसमें बिम्ब रूप से प्रतिबिम्बित होकर वह परतत्व नाम रूपात्मक रूप से व्यक्त होता है। यह चराचर सम्पूर्ण विश्व ही ह्वदय दर्पण है यही श्रेष्ठ दर्पणोपचार है।।२५।।

छादयन्निखिलमात्म संविदा
त्रायते निखिलताप संकटात्।
यच्चिदम्बरगतं शिवात्मकं
छत्रमत्र कमलं सुधामलम्।।२६।।

टीका :-

निखिलं जगदात्मसंविदा पराशक्तया निखिलतापसंकटात् आध्यात्मिकाधि दैवताधि भौतिकताप संकटात् या त्रिविध दुःखात् त्रायते। यच्चिदम्बरगतं परव्योमस्थितं सुधावदमलं निर्मलं कमलं सहस्रारेस्थितं सर्व छादयन् अत्र संविद् विषये छत्रं सम्मतम्।।२६।।

भाषार्थ :- पराशक्ति के द्वारा आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक इन त्रिविध दुःखों से रक्षा होती है। परव्योम अर्थात् सहस्रार स्थित कमल अमृत के समान निर्मल है और सबको आच्छादित किये हुये है वही पराशक्ति का छत्र है।।२६।।

पञ्चधा स्फुरणमेव संविद
श्चामरं विविध चातुरक्रमम्
विश्वदृग्लय विचित्रनिर्मितं
स्वेक्षणं परमकम्पदं तपः।।२७।।

टीका :-

संविदः=चिदात्मनः पञ्चधा चिद् आनन्दः इच्छा ज्ञानं क्रिया

चैतदभिमानि देवताः सदाशिवः, ईश्वरः, रूद्रः, विष्णुः, ब्रह्मा च विविध चातुरक्रमं स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतमञ्च विश्वदृशोऽनेक प्रकारिकादृष्टयस्तासां लय विचित्रेण निर्मितं स्वेक्षणं संवित्तत्त्वस्य चलनक्रियया पुनः पुनर्दर्शनं परकम्पदं स्फुरणमाविर्भवनं तप एव चामरं पूजाङ्गं भवति।।२७।।

भाषार्थ :- संवित् तत्व का चार क्रम से (स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम) से एवं पांच प्रकार (चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) के चिन्तन द्वारा सम्पूर्ण प्रकार की दृष्टियों का लय करते हुये चलन क्रिया द्वारा स्फुरित होते हुए उस आत्म तत्व का साक्षात्कार ही चामरोपचार है।।२७।।

एषणात्रयमयस्य वर्ष्मण
स्तत्व संचयमयस्य संविदि।
धाम्नि तत्व समतीत सत्वके
स्वात्मनः खलुनिवेदनंमतम्।।२८।।

टीका :-

एषणात्रयमयस्य लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणेति एषणात्रयं तन्मयस्य वर्ष्मणोः जीवात्मतत्वस्य तत्वसंचयमयस्य पञ्चतत्ववैकत्रीभूतस्य षट्त्रिंशत् तत्वातिक्रान्तसत्वके स्वरूपे परत्तत्वे धाम्नि प्रकाशमये संविदि खलु निश्चयेन सर्वभावेन स्वात्मनः समर्पणं निवेदनंमतम्। 'यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषिददासियत्' इत्यादिना गीतायांयदुक्तम् तदेवात्रसुसङ्गतम्भवति।।२८।।

भाषार्थ :- तीन एषणाओं वाले पञ्चभौतिक शरीराभिमानी जीवात्मा को षट्त्रिंशत् तत्व से परे प्रकाशमय सात्विक परतत्व में सर्वभावेन जो समर्पण है वही पूजा का निवेदन है।।२८।।

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो

यः प्रसीदति पदार्थ मस्तके

तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं

प्राप्यमोदमुपयाति भावुकः।।२६।।

टीका :-

पदार्थ मस्तके सर्वतत्वमूर्धन्यभूते स्वप्रकाशवपुषा प्रकाशमय विग्रहेण यः स्थितः शिवः स एवं गुरुर्यदा प्रसीदति प्रसन्नोभवति। तत्प्रसादमिह शिष्ये तत्व शोधनं तत्त्वानां निर्मलीभावं प्राप्य भावुको गुरुभावनायुक्तः शिष्यो मोदं हर्षं परमानन्दरूपमुपयाति प्राप्नोति। भूतशुद्धयादिकन्तुतदन्तर्गतमेव।।२६।।

भाषार्थ :- सहस्रार में सम्पूर्ण तत्वों के ऊपर प्रकाशमय शरीर वाले भगवान् शिव ही गुरु हैं। वह जब प्रसन्न होते हैं तब शिष्य को तत्व शुद्धि प्राप्त होती है एवं गुरु भावना से युक्त शिष्य प्रसन्न होकर परमानन्द प्राप्त करता है।।।२६।।

पाशजालकमिदं परं पशो

र्नाशकारण मतो मतं हविः।

तत्त्वतो निजगुरोर्निरीक्षणा

त्प्राप्यते तदमलं पवित्रितम्।।३०।।

टीका :-

पशोर्जीवात्मनः इदं दृश्यमानं सर्व परमतीव क्लेशकारकं पाशजालकं बन्धजनकमध्यात्मशास्त्रे निर्णीतम्। अतस्तस्य नाशकारणं हविर्मतम्। होमकार्यस्य प्रकाशात्मकत्वात् तद्द्रव्यस्य च दाह्यत्वाच्च पाशजालोऽपितत्समः। तत्त्वतो निजगुरोर्निरीक्षणात् कारूणिक गुरुदृष्टया निरीक्षणादवलोकनादमलं निर्मलं पवित्रितं शुद्धं ज्ञानं प्राप्यते। "ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मी करोतीदमेवात्र हविर्मतम्। अपाने जुह्वति प्राणमित्यादि स्मरणात्।।३०।।

भाषार्थ :- पाशबद्ध जीव का दृश्यमान सम्पूर्ण संसार पाशजाल अर्थात् बन्धन है उसके विनाश हेतु इस प्रकार का होम आवश्यक है कि गुरुदेव की दया दृष्टि से शिष्य को निर्मल और पवित्र ज्ञान प्राप्त हो जिसकी अग्नि से वह पाशजाल भस्म हो जाय।।३०।।

वेद्यराशिधमनेन विश्वतो
निर्विकल्पमय वासनोल्बणम्।
चित्तमेव धमनं शिवे मुख
स्यार्पणं धमनिकार्पणं परम्।।३१।।

टीका :-

विश्वतः, सर्वतो वेद्यराशिधमनेन प्रमेयराशि निवर्तनेन तस्य सविकल्प–कत्तवान्निवर्तनमेव श्रेयः। निर्विकल्पमयवासनोल्बणं सामरस्यमयभावनया प्रवरतमं चित्तमेव शिवे परमतत्वे मुखस्यार्पणं परमश्रेष्ठं धमनं धमनिकार्पणं भवति मुखेनेयं धमनक्रिया होमकर्तृभिः क्रियते चित्तधमनं भस्त्राप्राणायामेन भवति।।३१।।

भाषार्थ :- निर्विकल्प समाधि की तीव्र भावना द्वारा सम्पूर्ण विषय राशि भस्म हो जाती है मन निर्मल हो जाता है और उसका शिव तत्व में समर्पण ही होम के लिए उक्त तीव्र भावना रूपी धौंकनी है यह भस्त्रा प्राणायाम का स्वरूप है।।३१।।

दीयते परशिवैक्य भावना
क्षीयते सकल पाप संचयः।
येन चिज्जलधि पारसेतुना
दीक्षणं गुरु कटाक्ष वीक्षणम्।।३२।।

टीका :-

साधक साफल्यस्य गुरुमूलकत्वाद् गुरुकटाक्षमुपदिशन्नाह :– दीयत

इति। यदा श्री गुरुणा परशिवैक्यभावना अद्वैताख्या शिष्यकल्याणायदीयते उपदिश्यते तदा तथा दृष्टि शक्तिपातदीक्षया सकलपापसंचयः समस्त पापराशिः नश्यति चिज्जलधि सेतुना चिदात्मसिन्धोःसेतुवत् तरणोपायभूतया गुरुकटाक्ष–वीक्षणमेव दीक्षणं भवति एतदनुभवात्मकेन रूपेणैव ज्ञातुं शक्यम्।।३२।।

भाषार्थ :- जब श्री गुरुदेव शिष्य कल्याण के लिये अद्वैत तत्त्व का उपदेश करते हैं तब उनके कृपा दृष्टि पूर्वक देखने से दीक्षा प्राप्त होती है यही शक्ति पात है इसके द्वारा समस्त पाप राशि नष्ट हो जाती है यहीं पर तत्व रूपी समुद्र के पार करने के लिए सेतु है इस प्रकार श्री गुरुदेव की कृपा पूर्वक निरीक्षण ही श्रेष्ठ दीक्षा है।।३२।।

अन्तरङ्ग करणात्मनाञ्चतुः
स्रोतसां विविध देवताजुषाम्
पूजनं परमिहोन्मनी शिखा
मध्यवर्ति हि शिवात्मयोजनम्।।३३।।

टीका :-

अन्तरङ्ग करणात्मनाञ्चतुः स्रोतसां चतुरन्तरङ्ग प्रवाहितानां मनोबुद्धि चित्ताहङ्कार रूपाणां विविध देवताजुषां ब्रह्मविष्णुरुद्रचन्द्रदेवैः सेवितानां करणरूपेण पञ्चज्ञानेन्द्रियाणाञ्चोन्मनीशिखामध्यवर्ति मध्येशिवात्मनो जीवात्म परमात्मनोर्योजनमिह परं प्रकृष्टं पूजनं भवति।।३३।।

भार्षाथ :-

अन्तरङ्ग से प्रवाहित चार स्तोत मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार एवं उनके अधिष्ठाता देवताओं के द्वारा उन्मनी अवस्था में जीव और परमात्मा का भोजन ही सर्वश्रेष्ठ पूजन है।।३३।।

पञ्चबोधकरणानि मानसं
दर्शनानि विषयप्रदर्शनात्
दर्शनानि षडमूनि तानि त्
त्पूजनं भवति तल्लयाच्चिदि।।३४।।

टीका :-

पञ्चबोधकरणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मानसं च पञ्चविषयाणां प्रदर्शनाद्दर्शनानि ज्ञानानि भवन्ति षडमूनितानि दर्शनानि तेषां सर्वेषां चिदि संवित्तत्त्वे क्रमेण लयात् तत्पूजनं भवति।।३४।।

भाषार्थ :- पांच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, घ्राण) तथा मन पांचों ज्ञानों का प्रदर्शक होने से इस प्रकार ज्ञान के छः प्रकार हैं इन सबका क्रमशः परतत्त्व में लय ही पराशक्ति का पूजन है।।३४।।

जाग्रदादि समयाश्चतुर्विधा
ह्यन्तरात्म परमात्मविग्रहाः।
पञ्चमेऽत्र तदतीत चिद्घने
धाम्नि तल्लय मतिस्तदर्चनम्।।३५।।

टीका :-

जाग्रदादि समयाः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्यादि चतुर्विधा संकेता अन्तरात्म परमात्मनो जीवात्म परमात्मनो विग्रहाः शरीराणि समष्टिव्यष्टि रूपाणि स्थूलसूक्ष्म भेदवन्ति तदतीत चिद्घने पञ्चमे तुर्यातीते धाम्नि परब्रह्मणि तल्लयमतिरूभयोरेकत्वमतिस्तदर्चनं पूजनं भ्वति।।३५।।

भाषार्थ :- जीवात्मा और परमात्मा की चार अवस्थायें (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य) ही व्यष्टि और समष्टि रूप से उनके शरीर है। इन सबसे परे तुर्यातीत अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा की एकत्व भावना बुद्धि ही उसका अर्चन है।।३५।।

खे निरस्त निखिलागमक्रियै

र्या च निश्चरति शाश्वतोदया।

सा शिवत्व समवाप्ति कारिणी

खेचरी भवति खेदहारिणी।।३६।।

टीका :-

उक्त दीक्षणे लब्धेसति खे व्योम्नि निरस्तनिखिलागमक्रियैः कर्मप्रतिपादकशास्त्र जालरहितैः पूर्णवैराग्यशीलैः सेविता शाश्वतोदया– विविध प्रत्यवायरहिता या अवस्था निश्चरति वर्तते सा शिवत्वसमवाप्तिकारिणी सर्वक्लेशनिवृत्तिपूर्वकं पूर्णानन्ददायिनी अतएव खेदहारिणी खेचरी मुद्रा भवति।

उक्तञ्च :- "मनः स्थिरं यस्य विनावलम्बनं वायुस्थिरो यस्य विनावरोधनम्। दृष्टिः स्थिरा यस्य विनावलोकनं स्यात् सैव मुद्रा विमला चखेचरी।। इयमेव भैरवी मुद्रा शाम्भवी नाम्ना च साधकैर्व्यवह्रियते।।३६।।

भाषार्थ :- उक्त दीक्षा प्राप्त कर साधक सम्पूर्ण कर्म जाल से मुक्त होकर परव्योम में जिसका सेवन करता है वह अवस्था सब प्रकार के विघ्नों से रहित है तथा सम्पूर्ण क्लेशों को निवृत कर पूर्णानन्द देती है। अतः समस्त दुखों को हरण करने वाली यही खेचरी मुद्रा है।।३६।।

यत्स्वरूप महिमा विकल्पतः

शक्ति चक्रमिह रज्जुसर्पवत्।

तत्स्वरूप परमार्थ बोधत

स्तत्र तस्य विलयो विसर्जनम्।।३७।।

टीका :- यत्स्वरूपस्य परमार्थरूप संवित्तत्त्वस्य महिम्ना आसमन्ताद्विकल्पतः =विकल्प विषयक समस्तकार्यतस्तत्स्वरूपस्य परमार्थबोधतः=अनिवर्त्य बोधादिह बोधे सति रज्जुसर्पवत् यथान्धकारे भ्रान्त्या रज्जौ सर्पबुद्धिर्जायते। अधिष्ठानभूतरज्जुज्ञाने जाते

सर्पबुद्धेर्लयः=निवृत्ति स्तद्वत्तत्राधिष्ठानभूते संवित् तत्वे साक्षात्कारे सति इदं दृश्यमानं शक्ति चक्रं मायामयं विलीयते एतादृशो विलयः पूजा विसर्जनं भवति।।३७।।

भाषार्थः- परमार्थस्वरूप संवित् तत्व की महिमा से ही सांसारिक समस्त मायिक कार्यों से मुक्ति मिल जाती है और उसके रूप का वास्तविक बोध हो जाता है जिससे यह दृश्यमान मायामय शक्ति चक्र विलुप्त हो जाता है। जैसे कि अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भ्रम, वह भी रस्सी के वास्तविक ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है इस भ्रम का विलय ही पूजा का विसर्जन है।।३७।।

या क्रिया समभिहार तस्त्रिधा
दीक्षितस्य गुरुभावनाधिका।
सा विभेद लय भावनादिका
लभ्यतां परशिवैक्य सिद्धये।।३८।।

टीका :- श्री गुरुभावनया अधिका श्रेष्ठत्वमाप्ता दीक्षितस्यदीक्षां प्राप्तस्य विभेदलय भाव नादिका भेद निवृत्तिपूर्विका अद्दैत ज्ञान समर्पिका सा क्रिया समभिहारतः त्रिधा परा, अपरा, परापरा इति त्रिधा कथनतो वास्तविक रूपेण तु एकैव सा पर शिवैक्य सिद्धये परशिवो निर्गुणः परमशिवः सगुणस्तदैक्यसिद्धये अद्वैत लब्धये हे शिष्य गण? लभ्यतां प्राप्यतामित्याशंसनं शिष्याणां कल्याणायेति।।३८।।

भाषार्थ :- श्री गुरु की भावना से जो अधिक श्रेष्ठ हो गयी है एवं दीक्षित साधक की भेदबुद्धि को नष्ट कर जो अद्वैत ज्ञान देती है तथा जो तीन प्रकार की होने पर भी वास्तव में एक वही अद्वैत ज्ञान है प्रदायिनी क्रिया शिष्यगण को सगुण निर्गुण दोनों में अद्वैतावस्था प्रदान करें।।३८।।

इति चिद्विलासस्य प्रबोधिनी वृत्तिः समाप्ता।।

इति चिद्विलास भाषार्थ सम्पूर्ण

श्री पीताम्बरा पीठ

ह्रीं

दतिया (म.प्र.)

॥ संख्या वर्गवारी ॥

.. Numbers and a list of Sanskrit categories ..

sanskritdocuments.org

May 10, 2017

.. Numbers and a list of Sanskrit categories ..

॥ संख्या वर्गवारी ॥

Sanskrit Document Information

Text title : sa.nkhyA vargavArI

File name : numinfo.itx

Category : sUchI

Location : doc_z_misc_general

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Description-comments : Different miscellaneous sources as a start. Found sa.nkhyA sa.nket kosha, by S. S. Hanamante in Marathi later. Too large to copy and has copyrights

Latest update : May 15, 2010

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

May 10, 2017

sanskritdocuments.org

॥ संख्या वर्गवारी ॥

०

शुन्यत्त्व।

पूर्णमदः पुर्णमिदँ पुर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

१

ब्रह्म, एकाक्षर, पुरुष, प्रकृति, परमात्मा, एकजाती(शूद्र)।

२

पक्ष- शुक्ल(शुद्ध), कृष्ण(वद्य)।
शिर- प्रवृत्ति, निवृत्ति।

३

त्रिभुवन्(त्रिलोक)- स्वर्ग, मृत्यु, पाताल्।
त्रिमूर्ति- ब्रह्मा, विष्णु, महेश।
त्रिवेणीसङ्गम- (Confluence of)गंगा, यमुना, सरस्वती।
त्रिस्थली- काशी, प्रयाग्, गया।
त्रिकाल- भूत, वर्तमान, भविष्य।
त्रिगुण- सत्त्व, रजस, तमस।
Acccording to sA Nkhya
सप्तक- मद्र, मध्य, तार।
ईषणा- लोकेषणा, वित्तेषणा, दारेषणा।
पदे(शुद्ध-वैदिक-मार्ग) कर्म, उपासना, ज्ञान।
ज्योतिषस्कन्ध- सिद्धान्त, संहिता, होरा।
त्रिदण्डिन्- वाचा, मन, काया।

वाक्दंडोऽथ मनोदंडः कायदंडस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदंडीति स उच्यते ॥

त्रिवर्गः- धर्म, अर्थ, काम।
प्रस्थानत्रयी- ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, वेदांत(उपनिषद्)।
त्रिदोष(आयुर्वेदिक्)- कफ, वात, पित्त।
द्विजातिः- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य।

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
त्रिपुरसुन्दरी- ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, इच्छाश्क्ति।

३ १/२ three and half

ॐकार-मात्रा- अ, उ, म, अर्धमात्रा अर्धचन्द्रबिन्दु।
मुहूर्त- वर्षप्रतिपदा(चैत्र शु. १),
विजयादशमी (अश्विन शु. १०),
बलीप्रतिपदा(कार्तिक शु. १),
अर्ध - अक्षय्यतृतीया(वैशाख शु. ३)
अथवा नागपंचमी (श्रावण शु. ५),

Alternative convention
वर्षप्रतिपदा(चैत्र शु. १),
विजयादशमी (अश्विन शु. १०),
अक्षय्यतृतीया(वैशाख शु. ३)
अर्ध - बलीप्रतिपदा(कार्तिक शु. १),

४

अवस्था- जागृती, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या।
देहावस्था- बाल्य, कौमारं, यौवनं, वार्धक्यं।
आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास।
पुरुषार्थ(शृन्गे)(वर्ग)(भद्रं)- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।
शरीर(पिण्डदेह)- स्थूल, सूक्ष्म(लिंग), कारण(पर), महाकारण।
युग- कृत(१७२८०००), त्रेता(१२९६०००), द्वापर(८६४०००), कलि(४३२०००)।
वर्ण- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ गीता १८-४१॥

वाणी(वाचा)- परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी।
उपाय- साम, दाम, दण्ड, भेद।
वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद।
महावाक्य- प्रज्ञानं-ब्रह्म(ऋग्वेद), अहं-ब्रह्मास्मि(यजुर्वेद),
तत्वमसि(सामवेद), अयमात्मा-ब्रह्म(अथर्वणवेद)।
मुखमुद्रा- खेचरी, भूचरी, चांचरी, अगोचरी।

उपाङ्गे- न्याय, मीमांसा, धर्म, पुराण।
भाग्य- उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, अदृष्ट(सूप्त)।
देवप्रकार- प्रतिमा, अवतारी, साक्षी-अंतरात्मा,
निर्विकार-आत्मस्वरूप।
भिक्षुक्(एकदंडिन्)- कुटीचक, बहूदक, हंस, परहंस।
कुटीचको बहूदको हंसश्चैव तृतीयकः ।
चतुर्थः परहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः ॥

चतुरङ्ग- गज, रथ, अश्व, पाद।
complete army including elephants, chariots, cavalry, infantry.
चतुष्पाणिः- शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म।
कर्मयोग-चतुःसूत्री- कर्माधिकार्, फलाधिकारविरोध,
असंगकर्म, अकर्मण-विरोध।
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता २-४७॥

चतुस्सार- काशिवास, सन्तसङ्ग, गंगाजल, शंकरसेवा।
असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां संगो गंगाभिः शंभुसेवनम् ॥ धर्मविवेक

५

पञ्चकन्या- अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारा, मन्दोदरी।
पञ्चगंध-
पञ्चगव्य- गोमुत्र, गोमय, दुग्ध, दधि, घृतं(आज्यं)।
पञ्चमहाभूतम्- पृथ्वी, आप, तेज, वायू, आकाश।
पञ्चामृत- दुग्ध, दधि, घृतं, मधु, शर्करा।
दुग्धं च शर्करा चैव घृतं दधि तथा मधु ।
पञ्चावयव- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।
पञ्चायतन(देवता)- शिव, देवी, गणेश, विष्णू, सूर्य।
पञ्चमाता- स्वमाता, पत्नीमाता, भ्रातुपत्नी, गुरुपत्नी, राजपत्नी।
पञ्चमहायज्ञ- देव, ब्रह्म, पितृ, भूत, नर।
A japa of Gayatri mantra is considered a substitution of these daily duties

पञ्चप्राण(प्राणपञ्चक)- प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।
पञ्चाङ्ग- तिथि(१५+१), वार(७), नक्षत्र(२७+१), योग(२७), करण(७) (see elsewhere)।
अंगुली- अङ्गुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कराङ्गुली।
ज्ञानेन्द्रिय(बुद्धिन्द्रिय)- श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिव्हा, घ्राण।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिव्हा नासिका चैव पंचमी ।

विषयपञ्चक(तन्मात्र)- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
कर्मेन्द्रीय- वाचा, पाणी, पाद, शिस्न, गुद।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता ।

अंतःकरणपञ्चक- अंतःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार।
कोष- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय।

koSha are related to sharIrai, the sUkShma having middle three

पञ्चतत्त्व(मकार)- मद्य(fire), मांस(air), मत्स्य(water), मुद्रा(earth), मैथुन(ether)।

These are tAntric principles elaborated in kulArNava tantra

पाण्डव- युधिष्ठिर्(धर्मराज्), अर्जुन, भीम, नकुल्, सहदेव।
पञ्चीकरण- उभारणी, संहारणी।??
पञ्चलक्षणं(पुराण)- सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर, चरित।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पञ्चलवणं- काचक, सैधवं, सामुद्र, बिड, सौवर्चल।
पञ्चाग्नि- दक्षिण, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य, आवसत्थ।
पञ्चबाण- अरविंदं, अशोकं, चूतं, नवमल्लिका, नीलोत्पलं।

अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलं च पंचैते पञ्चबाणस्य सयका ॥

पञ्चकर्म(आयुर्वेद)- वमन, रेचन, नस्य, अनुवासन, निरूह।
महापातकं- ब्रह्महत्या, सुरापानं, स्तेयं, गुर्वङ्गनागमः, संसर्ग।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महांति पातकान्याहुस्तत्संसर्गश्च पंचमम् ॥

पञ्चवटी- अश्वत्थ, बिल्व, वट, धात्री, अशोक।
पञ्चवल्कलं- न्यग्रोध, उदुंबर, अश्वत्थ, प्लक्ष, वेतस।
पञ्चसूनाः- चुल्ली, पेषणि, उपस्करः, कंडनी, उदुकुंभश्च।
पञ्चोपचार- गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य
पञ्चकारण- अधिष्ठानं, कर्ता, करणं, चेष्टा, दैवं।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ गीता १८-१४॥

६

षड्रिपु- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर।
षड्दर्शन- साङ्ख्य, योग, न्याय, वैशेषिक,
पूर्वमीमांसा, वेदान्त(उत्तरमीमांसा)।
पदार्थ- द्रव्य,

vaisheshikA refers to six predicables

रामायण-काण्ड-
बाल्य, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, युद्ध।
ऋतु- वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर।
वेदाङ्ग(षडांग)- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त,
छंद, ज्योतिष।
षट्कर्म- अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह।
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥

manusmiti

षट्कर्म(योग)- धौती, वस्ती, नेती, नौलिकी, त्राटक, कपालभाति।
षड्दुर्ग- धन्व, मही, गिरि, मनुष्य, मृत्, वन।
धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च ।
मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गमिति क्रमात् ॥

षट्प्रज्ञः- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, लोकार्थ, तत्त्वार्थ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि ।
षत्सु प्रज्ञा तु यस्यासौ षत्प्रज्ञः परिकीर्तितः ॥

ईश्वरगुणाः- समग्र, ऐश्वर्य(उत्पत्तिस्थितिलय), धर्म,
यश, श्री, ज्ञान, विज्ञान।

७

सप्ताहः(वासराः)- सोम(इन्दु), मङ्गल(भौम), बुध(सौम्य),
गुरु(बृहस्पति), शुक्र, शनि, रवि(भानु)।
स्वर- षड्ज, ऋषभ, गन्धार्, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद।
करण(पञ्चांग)- बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज, विष्टि।
चक्र(मुख्य)- मुलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत,
विशुद्ध, अज्ञा, सहस्रार।

There are said to be eighty-eight thousand chakra-s in the
human

body . About thirty chakra-s are mentioned in texts . See 30
भाव- दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त, कान्त, रति, द्वेश्य।
महाकाव्य- रघुवंश(कालिदस्), कुमारसंभव(कालिदस),
किराटार्जुनीय(भारवी), भट्टिकाव्य(भर्तृहरि),
शिशुपालवध(माघ), जानकीहरण(कुमारदास),
नैशधचरित(श्रीहर्ष)।
रसातल- अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल, तलातल, पाताल।
स्वर्ग- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं।
समुद्र(अर्णव)- लवणाब्धि(नमक्), इक्षुसागर(ईख), सुरार्णव(मद्य),
आज्यसागर(घृत), दधिसमुद्र(दधि), क्षीरसागर(दुग्ध),
स्वादुजल(शुद्ध)।
कुलाचल(mountains)- महेन्द्र, मलय, सह्यः, शुक्तिमान्,
ऋक्षवान्, विन्ध्य, पारियात्र।

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षवानपि ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वता ॥

सप्तर्षि- काश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम,
जमदग्नि, वसिष्ठ।

काश्यपोऽत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः ॥

Alternative is मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु,
वसिष्ठ are attributed to the saptarShI constellations,
which is known as ursa-major . A small star near vasiShTha
is
named after his wife arundhatI

सप्तद्वीप- जम्बु, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक, पुष्कर।

जम्बुप्लक्षाभिधानौ च शाल्मकश्च कुशस्तथा ।
क्रौञ्चशाकौ पुष्करश्च ते सर्वे देवभूमयः ॥

सप्तवन- दण्डकारण्य, खण्डारण्य, चम्पकारण्य, वेदारण्य,
नैमिषारण्य, ब्रह्मारण्य, धर्मारण्य।
mentioned in Ramayana

मोक्षपुरी- अयोध्या, मथुरा, माया(हरिद्वार्), काशी, काञ्चि,
अवन्तिका(उज्ञयिनी), द्वारावती(द्वारका)।

व्यसन- द्यूत, वेश्यागमन, चोरी, चहाडी, परदारारमण,
लघुपक्षीक्रीडा, किन्नरीगायन।

सप्तपदी(vedic marriage steps)

सप्तप्रकृतिः(राज्य)- स्वामि, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग,
बल।

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च ।
amarakoshasya

८

अष्टवसु- धरो(धव), धृव, सोम, अह(आप), अनिल,
अनल, प्रत्यूष, प्रव्हास।

धरो धृवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रव्हासश्च वसवोऽष्टाविनिःस्मृताः ॥

अष्टविवाह- ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, सुर,
गंधर्व, राक्षर, पिशाच्च।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथा सुरः ।
गांधर्वोराक्षरश्चैव पैशाचष्चाष्टमोऽधमः ॥

दिक्पाल- इंद्र(पूर्व), अग्नि(आग्नेय), यम(दक्षिण),

निऋति(नैऋत्य), वरुण(पश्चिम), वायु(वायव्य), सोम(उत्तर), ईश्वर(ईशान्य)।

The Amara-kosha (6-4 or verse 149) has:

इन्द्रो वन्हिः पितृपतिर्नैरृतो वरुंओ मरुत् ।
कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रम्मत् ॥

अष्टांगयोग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समधी।

अष्टांग(नमस्कार)- जानुभ्यां, पद्भ्यां, पणिभ्यां, उर, शिर।

जानुभ्यां च तथा पद्भ्यां पणिभ्यामुरसा धिया ।
शिरसा वचसा दृष्ट्या प्राणामोऽष्टांग ईरितः ॥

चिरंजीव- अश्वत्थामा, बलिः, व्यास, हनूमान, बिभीषण, कृपः, परशुरामः, मार्कण्डेय।

अष्टमहासिद्धि-

अष्टभोग(त्रिगुणासहितपञ्चभोग)- अन्न, उदक, तांबूल, पुष्प, चंदन, वसन, शय्या, अलङ्कार।

अष्टधाप्रकृति(त्रिगुणासहपञ्चभूते)- सत्त्व, रज, तम, पृथ्वी, आप, तेज, वायू, आकाश।

देहाष्टकतत्त्व- देह, अवस्था, अभिमान, स्थान, भोग, मात्रा, गुण, शक्ति।

अष्टमैथुनं- स्मरण, कीर्तन, केलिः, प्रेक्षणं, गुह्यभाषणम्, सङ्कल्प, अध्यवसाय, क्रियानिष्पत्ति।

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥

अष्टकर्मन्(गतिक)- आदाने, विसर्गे, प्रैषनिषेधयोः, अर्थवचने व्यवहारस्य इक्षणे, दंडशुद्ध्योः, रक्तः।

आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः ।
पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ।
दंडशुद्ध्योः सदा रक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः ॥

अष्टगुण(ब्राह्मणस्य-अपेक्षित)- दया(सर्वभूतेषु), क्षांति,

अनसूया, शौचं, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य, अस्पृहा।
अष्टगजाः- ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अजन,
पुष्पदन्त, सार्वभौम, सुप्रतीक।
ऐरावतः पुंडरीको वामनः कुमुदोऽजनः ।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥

अष्टधातु- स्वर्ण, रूप्य, ताम्रं, रंगं यशद,
शीस, लोह, रस।
स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च रंगं यशदमेवच ।
शीसं लोहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

अष्टमंगलं- मृगराज, वृष, नाग, कलश, व्यंजन,
वैजयंती, भेरी, दीप।
मृगराजो वृषो नागः कलशो व्यंजनं तथा ।
वैजयंती तथा भेरी दीप इत्यष्टमंगलम् ॥

अष्टमूर्ति(शिव)- जल, वन्हि, यष्टा, सूर्य, चंद्र,
आकाश, वायु, अवनी।
जलं वन्हिस्तथा यष्टा सूर्याचंद्रमसौ तथा ।
आकाशं वायुरवनी मूर्तयोऽष्टौ पिनाकिनः ॥

अष्टलक्ष्मि- आदि, सनातन, गज, ऐश्वर्य, धन,
धान्य, विजय, वीर।

९

नवग्रह- सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहू, केतू।
नमः सूर्याय चन्द्राय मङ्गलाय बुधाय च ।
गुरुशुक्रशनिभ्यश्च राहवे केतवे नमः ॥

ब्रह्मामुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शहीभूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुश्च शुक्रश्च शनिराहुकेतवाः
कुर्वंतु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥

नवविधाभक्ति- श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन,
वन्दन, दास्य, आत्मनिवेदन।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

नवद्वार- द्विचक्षुः, द्विकर्ण, द्वौघ्राणछिद्र, मुख, उपस्थ, गुद।
नवरस- शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक,
बीभत्स, अद्भुत, शांत।
शृंगारहास्यकरुणाः रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भूतशान्ताश्च रसाः पूर्वैरुदाहृताः ॥

स्थायीभावाः- रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा,
विस्मय, शमाः(निर्वेद)।
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायी भावा अमी क्रमात् ॥

नवनाग- अनंत, वासुकि, शेष, पद्मनाभ, कंबल,
शङ्खपाल, धृतराष्ट्र, कालिय, तक्षक।
नवखण्ड- इलावृत्त, भद्राश्व, हरिवर्ष, किंपुरुष, केतुमाल,
रम्यक, भरतवर्ष, हिरण्मय, उत्तरकुरु।
कालगणना- ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, सौर,
सावन, चंद्र, आर्क्ष(नाक्षत्र)।
ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं गुरोस्तथा ।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ।
चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचांद्रर्क्षसावनैः ॥

सौर, चान्द्र, नाक्षत्र, सावन(sunrise to sunrise)
are commonly followed.
नवरत्न(विक्रमादित्य)- धन्वंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु,
वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर,
वररुचि(कात्यायन)।
धन्वंतरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्थ ॥

नवनिधि(कुबेर)- महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छ,
मुकुंद, कुंद, नील, खर्व।
महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ ।
मुकुंदकुंदनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥

१०

दशावतार्- मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन,
परुशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्की।
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥

थाट- बिलावल्, खमाज, कल्याण, काफी, मारवा, पूर्वी,
आसावरी, भैरव, तोडी, भैरवी।
दशदिशा- पूर्वा(प्राची), पश्चिमा(प्रतीची), उत्तरा(उदीची),
दक्षिणा(अवाची),
आग्नेयी, नैऋता, वायव्या, ऐशानी, अध, ऊर्ध्व।

११

रुद्र- रैवत, अज, भीम, भव, वाम, वृषाकपि, अजैकपाद, उग्र,
अहिर्बुध्न्य, बहुरूप, महान।

१२

राशि- मेष, वृषभ, मिथून्, कर्क, सिंह, कन्या, तूळ,
वृश्चिक्, धनु, मकर, कुंभ, मीन।
मास- चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण, भाद्रपद,
आश्विन्, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन।
Months- January, February, March, April, May, June, July, August,
September, October, November, December।
आदित्य- धातु, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वत्,
पूषन्, सवितृ, त्वष्टा, विष्णु।
द्वादश-ज्योतिर्लिङ्ग-

१४

भुवन- सप्तरसातल, सप्तस्वर्ग (see above).

माया- चैतन्य, गुणसाम्य, अर्धनारीनटेश्वर, षड्गुणेश्वर,
प्रकृतिपुरुष, शिवशक्ति, शुद्धसत्त्व, गुणक्षोभिणी, सत्त्व,
रज, तम, मन, माया, अंतरात्मा।

विद्या- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वणवेद(वेद),
शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष(वेदाङ्ग),
न्याय, मीमांसा, धर्म, पुराण(उपाङ्ग)।

षडंगमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकं ।
मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश ॥

मनु- स्वायंभुव्व, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष,
वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि,
रुद्रसावर्णि, रुचि(देवसावर्णि), भूति(इंद्रसावर्णि)।

स्वयंभूः स्वरोर्चिर्मनुश्चोत्तमाख्यस्ततस्तामसो
रवतश्चाक्षुषश्च ।
सवैवस्वतः पञ्चसावर्णिरेवं रुचित्भूतिरुक्ता
इमे दैवविद्भिः ॥

रत्नानि- लक्ष्मी, कौस्तुभ, पारिजातक, सुरा, धन्वंतरि,
चंद्र, गावः(कामधेनु), गज(सुरेश्वर), रंभादिदेवाङ्गना,
अश्वः(सप्तमुखः), विषं, शङ्करधनुः, शङ्ख, अमृत।

लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वंतरिश्चंद्रमा ।
गावः कामदुधाः सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः ॥

अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शङ्खोऽमृतं चांबुधे ।
रत्नानीह चतुर्दशं प्रतिदिनं कुर्यात्सदा मङ्गलम् ॥

स्वर vowels- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

१५

तिथि- प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी,
सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी,
त्रयोदशी, चतुर्दशी, पौर्णिमा, (अमावस्या)।

१६

शोडषसंस्कार- गर्भाधान, पुंसवन, अनवलोभन,
सीमंतोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन,

चौल, उपनयन, महानाम्नीव्रत, महाव्रत, उपनिषद्व्रत,
गोदानव्रत(चतुर्वेदव्रत), समावर्तन, विवाह।

शोडष-प्रमेय(१६)-

nyAya philosophy mentions 16 topics of discussion

षोडशोपचार(देवार्थ)- आसन, स्वागत, पाद्यं, अर्घ्यं, आचमन,
मधुप, अर्काच, स्नानं, वसन, आभरण,
गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वंदनं।

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
मधुपर्काचमस्नानं वसनाभरणानि च ।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वंदनं तथा ।

षोडशोपचार्(२)- आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान,
वस्त्र, उपवीत, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य,
प्रदक्षिणा, नमस्कार, विसर्जनं।

आवाहनासनेपाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
स्नानंवस्त्रोपवीते च गंधं पुष्पेच धूपकम् ।
दीपरान्न नमस्कारः प्रदक्षिणा विसर्जने ॥

this is an alternative

षोडशकलाः(चंद्रस्य)- अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टिः,
पुष्टी, रतिः, धृतिः, शशिनी, चंद्रिका, कांति,
ज्योत्स्ना, श्रीः, प्रीतिः, अंगदा, पूर्णा, मृता।

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ।
शशिनी चंद्रिका कांतिज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरेव च ।
अंगदा च तथा पूर्णामृता षोडश वै कलाः ॥

षोडशमातृका(मातृदेवी)- गौरी, पद्मा, शची, मेधा,
सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, शांतिः,
पुष्टिः, धृतिः, तुष्टिः, कुलदेवता, आत्मदेवताः।

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ।
शांतिः पुष्टिर्धृतिस्तुष्टिः कुलदेवात्मदेवताः ॥

षोडषवर्ग-ज्योतिष(भाग)- राशि(१), होर(२),

द्रेष्काण(३), चतुर्थांश(४), त्रिंशांश(५), सप्तमांश(७),
नाडि-अंश(नवांश)(९), दशांश(१०), द्वादशांश(१२),
षोडशांश(१६), विंशांश(२०), सिद्धांश(२४),
भांश(२७), चत्वारिंशंश(४०),
अक्षवेदांश(४५), षष्ठ्यांश(६०)।

१८

भगवद्गीताऽध्यायाः(योग)- Available
in Devanagari and text, and meanings at
http://chandra.cis.brown.edu/isongs/sindextml, OR
http://rbhatnagar.csm.uc.edu:8080/hindu_universetml.
अर्जुनविषाद, साङ्ख्य, कर्म,
ज्ञानकर्मसंन्यास, संन्यास, आत्मसंयम, ज्ञानविज्ञान,
अक्षरब्रह्म, राजविद्याराजगुह्य, विभूति, विश्वरूपदर्शन,
भक्ति, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग, गुणत्रयविभाग, पुरुषोत्तम,
दैवासुरसम्पद्विभाग, श्रद्धात्रयविभाग, मोक्षसंन्यास।

महाभारत-पर्व-
Available in Devanagari and text at
http://rbhatnagar.csm.uc.edu:8080/hindu_universetml.
आदि, सभा, वन, विराट,
उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण,
शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शांति,
अनुशासन, अश्वमेधिक, आश्रमवासिक,
मौसल, महाप्रस्थानिक, स्वर्गारोहणपर्व।

पुराण- ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत,
नारद, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग,
वाराह, स्कांद, वामन, कुर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड।

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यनारदीयं च मार्कंडेयं च सप्तमम् ॥

आग्नेयमष्टकं प्रोक्तं भविष्यन्नवमं तथा ।
दशमं ब्रह्मवैवर्त लिंगमेकादशं तथा ॥

वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कांदं चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनं चैव कौर्मं पंचदशं तथा ॥

मात्स्यं च गारिडं चैव ब्राह्माण्डाष्टादशं तथा ॥

उपपुराण- सनत्कुमार, नरसिंह, नारद, शिवधर्म,
आश्चर्य, मन, कपिल, मानव, शनसेरित, ब्रह्माण्ड, वरुण,
कालिका, महेश्वर, शांब, सौर, प्रवर, भागवत, भागवत।

अष्टान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु ।
आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परं ।
तृतीय नारदं प्रोक्तं कुमारेण तु भाषितं ।
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नंदीशभाषितम् ।
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमनः परम् ।
कापिलं मानवं चैव तथैवोशनसेरितम् ।
ब्रह्मांडं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमेव च ।
माहेश्वरं तथा शांबं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।
पराशरोक्तं प्रवरं तथा भागवतद्वयम् ।
इदमष्टादशं प्रोक्तं पुराणं कौर्मसज्ञितम् ।
चतुर्धा संस्थितं पुण्यं संहितानां प्रभेदतः ॥

अष्टादशविद्या- चतुर्दशविद्या, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व,
अर्थशास्त्रं।

see above for fourteen(chaturdasha) vidyA

२१

स्वर्ग- ज्योति, सित, विमल, अभिआगत, प्रकाश, रम्य, सहज, सिद्ध,
नाद, दिव्य, अकांत, स्थिर, तृप्ति, निर्मल, प्रेमल, निज,
लय, अनंत, नित्य, अतीत, सच्चिदानन्द।

२४

चतुर्विंशतिगुण(२४)-

there are 24 according to vaisheshikA system

चतुर्विंशतिसिद्धि(२४)-

aShTamahAsiddhi are more known

२५

सूक्ष्मदेहतत्त्व- अंतःकरणपञ्चक, प्राणपञ्चक,
विषयपञ्चक, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय।
thatness specified in sA Nkhya philosophy

२७

नक्षत्र- अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृग, आर्द्रा,
पुनर्वसू, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वा-फाल्गुनी,
उत्तरा-फाल्गुनी, हस्त, चित्रा,
स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूळ, पूर्वाषाढा,
उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शततारका,
पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती।
Last 1/4th of uttarAShADhA and 1/15th of shravaNa is treated
अस् अभिजित् नक्षत्र अन्द् इस् उसेद् फ़ोर् मुहुर्त

योग(पञ्चांग)- विष्कम्भ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य,
शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि,
ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतिपात, वरीयान,
परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, यैंद्र,
वैधृति।

विष्कम्भः प्रीतिरायुष्मान् सौभाग्यः शोभनस्तथा ।
अतिगण्डः सुकर्मा च धृतिः शूलस्तथैव च ॥

गण्डो विद्धिर्ध्रुवश्चैव व्याघातो हर्षणस्तथा ।
वज्रं सिद्धिर्व्यतीपातो वरीयन् परिघः शिवः ।
सिद्धः साध्यः शुभः शुक्लो ब्रह्मैन्द्रो वैधृतिस्तथा ॥

२८

अष्टविंशति-आगमा-
according to shaivite tradition there
are 28 AgamA-s and 108 upAgamA-s

३३

त्रिदश-देवाः(३३)-
Rigveda refers thirty three symbolic gods, eleven deities

presiding over three spheres . Shatapatha brAhmaNa relates them to be eight vasus, eleven rudra, twelve Aditya, dyaus the the sky god and pRithvI the earth goddess

The mystic number 33 appears in relation to number of gods

संवत्सर- प्रभव, विभव, शुक्ल, प्रमोद, प्रजापति,
अङ्गिरा, श्रीमुख, भाव, युव, धातृ,
ईश्वर, बहुधान्य, प्रमाथी, विक्रम, वृष,
चित्रभानु, सुभानु, तारण, पार्थिव, व्यय,
सर्वजित्, सर्वधारी, विरोधी, विकृति, खर,
नन्दन, विजय, जय, मन्मथ, दुर्मुख,
हेमलंबी, विलंबी, विकारी, शार्वरी, प्लव,
शुभकृत्, शोभनः, क्रोधी, विश्वावसु, पराभव,
प्लवङ्ग, कीलक, सौम्य, साधारण, विरोधकृत्,
परिधावी, प्रमादी, आनन्द, राक्षस, अनल,
पिङ्गल, कालयुक्त, सिद्धार्थी, रौद्र, दुर्मती,
दुन्दुभि, रुधिरोद्गारी, रक्ताक्षी, क्रोधन, क्षय।

प्रभवो विभवः शुक्लः प्रमोदोऽथ प्रजापतिः ।
अङ्गिराः श्रीमुखो भावो युवा धाता तथैव च ॥

ईश्वरो बहुधान्यश्च प्रमाथी विक्रमो वृषः ।
चित्रभानुः सुभानुश्च तारणः पार्थिवो व्ययः ॥

सर्वजित्सर्वधारी च विरोधी विकृतिः खरः ।
नन्दनो विजयश्चैव जयो मन्मथदुर्मुखौ ॥

हेमलंबी विलंबी च विकारी शार्वरी प्लवः ।
शुभकृच्छोभनः क्रोधी विश्वावसुपराभवौ ॥

प्लवङ्गः कीलकः सौम्यः साधारणविरोधकृत् ।
परिधावी प्रमादी च आनन्दो राक्षसोऽनलः ॥

पिङ्गलः कालयुक्तश्च सिद्धार्थी रौद्रदुर्मती ।
दुन्दुभी रुधिरोद्गारी रक्ताक्षी क्रोधनः क्षयः ॥

३५

व्यञ्जन consonents- क, ख, ग, घ, ङ्, च, छ, ज, झ, ञ्,
 ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म,
 य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, ज्ञ (३६ मराठी ळ)।

६४

चतुषष्टि-कलाः(६४)-
 64 forms of arts

आकर-ज्ञानम्
आकर्षण-क्रीडा
आलेख्यम्
अभिधान-कोष-छन्दो-ज्ञानम्
अक्षर-मुष्टिका-कथनम्
बालक-क्रीडनकानि
भूषण-योजनम्
चलितकयोगाः
चित्रा योगाः
चित्रशाकापूप-भक्ष्य-विकार-क्रिया
दशन-वसनाङ्गरागाः
देश-भाषा-ज्ञानम्
धारण-मातृका
धातु-वादः
दुर्वचकयोगाः
द्यूत-विशेषः
गन्ध-युक्तिः
गीतम्
हस्त-लाघवम्
इन्द्रजालम्
काव्य-समस्या-पूरणम्
कर्ण-पत्त्र-भङ्गाः
कौचुमार-योगाः
केश-मार्जन-कौशलम्
केश-शेखरापीडयोजनम्

क्रिया-विकल्पाः
माल्य-ग्रन्थन-विकल्पाः
मानसी-काव्य-क्रिया
मणि-भूमिका-कर्म
मणि-राग-ज्ञानम्
मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधिः
म्लेछितक-विकल्पाः
नाटकाख्यायिका-दर्शनम्
नाट्यम्
नेपथ्य-योगाः
नृत्यम्
पानक-रसरागासव-योजनम्
पट्टिका-वेत्रबाण-विकल्पाः
प्रहेलिका
प्रतिमा
पुष्प-शकटिका-निमित्त-ज्ञानम्
पुष्पास्तरणम्
पुस्तक-वाचनम्
रूप्य-रत्न-परीक्षा
सम्पाट्यम्
शयन-रचनम्
शुक-सारिका-प्रलापनम्
सूचीवाप-कर्म
तक्षणम्
तण्डुल-कुसुम-बलिविकाराः
तर्कू-कर्माणि
उदक-घातः
उदक-वाद्यम्
उत्सादनम्
वाद्यम्
वास्तु-विद्या

वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानम्
वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम्
वस्त्र-गोपनानि
वीणा-डम-रुक-सूत्र-क्रीडा
विशेषक-छेद्यम्
वृक्षायुर्वेद-योगाः
यन्त्र-मातृका
[कलानिधि]
 १००
कौरव- दुर्योधन, दुःशासन, दुर्मुख, दुःशल, सुबाहु, युयुत्सु।
 १०८
उपनिषद्-
ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय,
छान्दोग्य, बृहदारण्यक (१०), ब्रह्म, कैवल्य, जाबाल(अथर्ववेद),
श्वेताश्वतर, हंस, आरुणेय, गर्भ, नारायण, परमहंस,
अमृत-बिन्दु (२०), अमृत-नाद, अथर्व-शिर, अथर्व-शिख,
मैत्रायणि, कौषीताकि, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनी,
कालाग्निरुद्र, मैत्रेयि, सुबाल (३०), क्षुरिक, मन्त्रिक, सर्व-सार,
निरालम्ब, शुक-रहस्य, वज्र-सूचिक, तेजो-बिन्दु, नाद-बिन्दु,
ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या (४०), योगतत्त्व, आत्मबोध, परिव्रात्
(नारदपरिव्राजक), त्रि-षिखि, सीतोपनिषद्(सीत अथवा सीता),
योगचूडामणि, निर्वाण, मण्डलब्राह्मण, दक्षिणामूर्ति, शरभ (५०),
स्कन्द, (त्रिपाड्विभूटि)-महानारायण, अद्वयतारक, रामरहस्य,
रामतापणि, वासुदेव, मुद्गल, शाण्डिल्य, पैंगल, भिक्षु (६०),
महत्-शारीरक, योगशिखा, तुरीयातीत, संन्यास,
परमहंस-परिव्राजक, अक्षमालिक, अव्यक्त, एकाक्षर,
अन्नपूर्ण (७०), सूर्य, अक्षि, अध्यात्मा, कुण्डिकोपनिषद्, सावित्रि,
आत्मा, पाशुपत, परब्रह्म, अवधूत, त्रिपुरातपनोपनिषद् (८०),
देवि, त्रिपुर, कर, भावन, रुद्र-हृदय, योग-कुण्डलिनि,
भस्मोपनिषद्, रुद्राक्ष, गणपति, दर्शन (९०), तारसार,
महावाक्य, पञ्च-ब्रह्म, प्राणाग्नि-होत्र, गोपाल-तपणि,

कृष्ण, याज्ञवल्क्य, वराह, शात्यायनि, हयग्रीव (१००),
दत्तात्रेय, गारुड, कलि-सण्टारण, जाबाल(सामवेद), सौभाग्य,
सरस्वती-रहस्य, बह्वृच, मुक्तिक।
शिवनाम-
गणेशनाम-
दुर्गानाम- Available as a separate file(Devanagari and text).
लक्ष्मीनाम- Work in progress . Will be available in nAmAvalI form.
रामनाम-
विष्णुनाम-

१०००

शिवसहस्रनाम- Available as a separate file(Devanagari and text).
गणेशसहस्रनाम- Work in progress . Will be available as a separate file(Devanagari and text).
ललितासहस्रनाम- Work in progress . Will be available as a separate file(Devanagari and text).
विष्णुसहस्रनाम-
Available as a separate file(Devanagari and text) both shloka-s and nAmAvalI.

infinity

पूर्णत्त्व, अनंत।

पूर्णमदः पुर्णमिदँ पुर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

Encoded and proofread by NA

.. Numbers and a list of Sanskrit categories ..
was typeset using XƎLATEX 0.99996

on May 10, 2017

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*
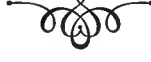
चतुर्थः परिच्छेदः

जगद्रहस्यम्

मेधा ऋषिः सुरथं प्रति चण्डीतत्त्वकथाप्रसङ्गेन जगद्रहस्यमिदमुवाच,—मूर्तिरहस्ये दशमश्लोके,—"अनया व्याप्तमखिलं जगत् स्थावर-जङ्गम" मिति। तथाहि,—चराचरमिदं सर्वं जगत् पराशक्त्या भगवत्या महालक्ष्म्या परिव्याप्तमासीत्। एतच्छ्लोकार्थमध्ये शाक्त-दर्शनस्य वैशिष्ट्यपूर्णः सिद्धान्त एकः सूचितः।

अद्वैत-वेदान्तमते जगत् चित्स्वरूपा परब्रह्मशक्तिर्माया;—एषा माया जड़ा मिथ्या च। अत एव तत्कार्यं जगदपि जड़ं मिथ्या च। शाक्तदर्शनमते तु जगत् स्वतःप्रकाश"श्चिति"शक्तेरुल्लासः। काश्मीरीयाद्वैतदर्शने चिति-शक्तेरपरं नाम "विमर्शः"। विमर्शस्य स्वातन्त्र्यशक्तिः स्वतःप्रकाश-ब्रह्म-स्वरूपा। अतस्तच्छक्तेः कार्यं जगदपि सत्यं, कदापि मिथ्या न भवति। तत्त्वमिदं क्रमशः सुस्पष्टं भविष्यति।

चितिशक्तिः शिवाद्वैतदर्शने शाक्ताद्वैतदर्शने च वस्तुत एकैव। यतः, शाक्तदर्शने शिव-शक्त्योरभिन्नत्वमखण्डत्वमद्वयत्वञ्च प्रतिपादितम्। न तु अद्वैतवेदान्तमतसिद्धाधिष्ठानवादोपरि तेषां निर्भरः। "प्रत्यभिज्ञाहृदयं" नाम शिवाद्वैतवादस्यान्यतमः प्रसिद्धो ग्रन्थः। राजानक-क्षेमराजेन प्रणीतोऽयं ग्रन्थः (११श शताब्द्याम्)। ग्रन्थप्रारम्भे चितिशक्तेः स्वरूपं, विश्वसृष्ट्यादिव्यापारे चितिशक्तेरेव केवलहेतुत्वञ्च प्रतिपादितम्। उक्तञ्च प्रथमसूत्रे,—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (१) विश्वसिद्धेः सृष्टिसंहारादिव्यापारस्य स्वतन्त्रा स्वयंप्रकाशशीला चितिशक्तिरेकमात्रहेतुः कारणम्।

अस्य टीकायामुक्तम्—"विश्वस्य सदाशिवादेर्भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ, प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा चितिरेव भगवती स्वतन्त्रा, अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारिकाऽभिन्ना हेतुः कारणम्।"

"विश्वस्य" सदाशिवात् स्थूलपृथिवीपर्यन्तसमस्ततत्त्वस्य सृष्टिप्रलये प्रकाशाऽप्रकाशविषये 'चिति'रेव मूलकारणम्। परा शक्तिरूपा भगवती स्वतन्त्रा चैतन्यमयी नाम 'चिति'रेषा परशिवतो वा परब्रह्मतो वा अभिन्नरूपा।

चितेर्विकाशे जगत उन्मेषोऽस्तित्वं, चितेः सङ्कोचे जगतो निमेषोऽप्रकाशत्वं च। सदा शुद्धा स्वतन्त्रा प्रकाशरूपा चितिशक्तिः। अस्याः प्रकाश एवास्यानन्तजगतो विकाशः। अत एव एकाधारे युगपद् विश्वस्य कार्यं कारणञ्चोभयं भवति। द्वितीयसूत्रम्––"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।" (२) चितिशक्तिः स्वेच्छया स्वकीयस्वरूपभित्तेरुपरि विश्वप्रकाशं साधयति।

अस्य विश्वस्य चित्शक्तितो भिन्नत्वे प्रतीयमानेऽपि वस्तुतश्चित्शक्त्या सहाभिन्नत्वम्। यथा दर्पणप्रतिविम्बितनगरस्य। "विश्वं दर्पणे नगरवदभिन्नमपि ततो भिन्नमिवोन्मीलयति।" उन्मीलनं सत्ताया अवस्थाविशेषस्य प्रकटीकरणम्। स्वप्रकाशचिज्ज्योतिष एव विश्वसत्तारूपेणोन्मीलनं, तस्या एवावस्थान्तरम्। परन्तु विश्वरूपेण यद् दृश्यते, तत्सर्वं चितिशक्तेरेवावस्थाविशेषः। अत एव जगत् सत्यम्।

"षट्त्रिंशत्तत्त्वम्"

शाक्त-शैवोभयागमे षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वीकृतानि। तदुक्तं परशुरामकल्पसूत्रे,—"षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्व" (१।४) मिति। विश्वमिदं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकम्। एतेषां नामानि यथा (१) शिवः, (२) शक्तिः, (३) सदाशिवः, (४) ईश्वरः, (५) शुद्धविद्या, (६) माया, (७) अविद्या, (८) कला, (९) रागः, (१०) कालः, (११) नियतिः, (१२) पुरुषो जीवो वा, (१३) प्रकृतिः, (१४) मनः, (१५) बुद्धिः, (१६) अहङ्कारः, (१७-२१) श्रोत्रादि-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, (२२-२६) वागादि-पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, (२७-३१) रूपादि-पञ्च विषयेन्द्रियाणि, (३२-३६) आकाशादि-पञ्च भूतानि च।

"तत्त्व"शब्दव्युत्पत्तिः

तन्-धातोरुत्तरं कर्तृवाच्ये क्विप्-प्रत्यये "तत्" इति सिद्धम्। तन्धातोरर्थः—विस्तारो विस्तृतिर्व्याप्तिरिति यावत्। यः सर्वदेशेषु सर्वकालेषु सर्वत्र सर्व्वं व्याप्य वर्तते, स एव "तत्"शब्दवाच्यः। ब्रह्म खलु सर्वदेशेषु सर्वकालेषु व्यापकत्वेन सर्वत्र वर्तते,––अत एव ब्रह्मैव तत्पदार्थः। "तत्" इत्यस्य भावो धर्मो वा "तत्त्वम्"। परमशिवतः क्षितिपर्यन्तं षट्त्रिंशत्पदार्थाः।

"आत्मतत्त्वं-विद्यातत्त्वं-शिवतत्त्वञ्च"

पूर्वोक्त-षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विभज्य प्रधानतो भागत्रयं कृतम्। पृथिवीतो मायातत्त्वपर्यन्तान्येकविंशतितत्त्वानि "आत्मतत्त्वमिति कथितम्। शुद्धविद्या, ईश्वरः, सदाशिवश्चेति तत्त्वत्रयं विद्यातत्त्वमिति कथितम्। शक्तिशिवौ नाम तत्त्वद्वयं शिवतत्त्वमित्यभिहितम्। तदुक्तं **सेतुबन्धग्रन्थे**,—

"मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्॥"इति।

श्रीमद्भास्कररायेण सेतुबन्धे (१।४५-४६) उक्तं—ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूपम्। पृथिवीतो मायातत्त्वान्तेष्वेकत्रिंशत्तत्त्वेषु "सत्"स्वरूपं प्रकटितम्; एवं चित्स्वरूपमानन्दस्वरूपञ्चेति द्वयमावृतत्वेनेति एकत्रिंशत्तत्त्वानि तावद् "आत्मतत्त्वम्"।

शुद्धविद्या, ईश्वरः, सदाशिवश्चेति-तत्त्वत्रये "सच्चित्"स्वरूपं प्रकटितम्, "आनन्द"-स्वरूपमावृतं तेनैतत्तत्त्वत्रयं विद्यातत्त्वम्।

शक्तिः शिवश्चेति तत्त्वद्वये न कस्यापि स्वरूपम् आवृतम्; अत एवोक्त-तत्त्वद्वयं शिवतत्त्वमिति नाम्नाऽभिहितम्। तान्त्रिकाचमने "आत्मतत्त्वाय स्वाहा" "विद्यातत्त्वाय स्वाहा", "शिवतत्त्वाय स्वाहे"ति मन्त्रत्रयस्योच्चारणपूर्वकं साधकः स्वीय-सच्चिदानन्दात्मकब्रह्मस्वरूपताभावनां करोति।

(१) शिवतत्त्वम्

त्रिपुरासिद्धान्तान्तर्गत-परशुरामकल्पसूत्रे १।४ टीकायां रामेश्वरेण सङ्क्षेपेण षट्त्रिंशत्तत्त्वविवरणं प्रदत्तम्। मृगेन्द्रसंहितायां विस्तृतविवरणमपि प्रदत्तम्। काश्मीरीय-शिवाद्वैतापरनामधेय-त्रिकसिद्धान्तान्तर्भुक्त-"षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह"-नामकग्रन्थेऽप्युक्तविषय आलोचितः।

प्रथमतत्त्व-"शिव"स्वरूपविषये (परशुरामकल्पसूत्रटीकायाम् १।४) रामेश्वरोऽवदत्—"सृष्टयादौ केवलं स्वकीयस्वरूपेणावस्थितस्य परमशिवस्य 'बहु स्यां प्रजायेय'—अर्थादहं बहु भवेयं प्रजायेयेत्याकाराया इच्छाशक्तेरुदयोऽभवत्। इच्छाशक्तितो ज्ञानशक्तिस्ततः क्रियाशक्तिरुत्पन्ना। अस्य शक्तित्रयस्य सहयोगादंकुरच्छायेव युगपदर्थसृष्टिः शब्दसृष्टिश्चारब्धा। तादृक्सिसृक्षा-(अर्थात् सृजनेच्छाशक्ति) रूपोपाधिविशिष्टः परमशिवः

"शिवतत्त्वम्"। परमशिवो निर्गुणः, किन्तु सिसृक्षाया उदये सगुणः शक्तियुक्तश्च भवती"ति।

श्रीमद्भास्कररायः "सौभाग्यभास्कर"ग्रन्थे प्रोक्तवान्--प्रलयकाले सूक्ष्मावस्थापन्नं जगद् गर्भीकृत्य शक्तिः शिवे विलीनाऽभवत्, तदा च शक्तिक्रियापि नातिष्ठत्। एतदवस्थाप्राप्तं निर्गुणं ब्रह्मैव परमशिवः। सृष्टेरुन्मुखावस्थायां परमशिवस्येक्षण-काम-तपोविचिकीर्षादिरूप-प्रथमस्पन्दने शक्तेर्विकाशोऽभवत्। एतच्छक्तियुक्तः परमशिव एव प्रथमतत्त्वं "शिवः"। **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह**-ग्रन्थे "शिवतत्त्व"स्य स्वरूपनिर्धारणे एतावदेवोक्तम्,—

> "यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
> स्पन्दते स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥१॥" इति।

अनुत्तरमूर्तिः परमशिवः स्वेच्छावशतो यदाऽखिलमिदं जगत् स्रष्टुं स्पन्दितोऽभवत्, तदा सृष्टेरुन्मुखावस्थायां यत्तस्य प्रथमस्पन्दनं तदेव "शिवतत्त्व"मिति तत्त्वज्ञा वदन्ति।

(२) शक्तितत्त्वम्

परमानन्दतन्त्रे,—

> प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते।
> निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिवतत्त्वं समीरितम् ॥

शिवस्य विश्वसिसृक्षाशक्तिः "शक्तितत्त्व"मिति नाम्ना ख्याता। रामेश्वरः **परशुरामकल्पसूत्रटीकायाम**वदत्,—निर्गुण एव शिवो यो "बहु स्यां प्रजायेय" इतीच्छाशक्त्या युक्तः सृष्ट्युन्मुखः स एव शिवः शक्तिपदवाच्योऽभवत्।

"प्रकाशो विमर्शः" त्रिकसिद्धान्तमते परमशिवस्य परमेश्वरस्य वा हृदये सिसृक्षाविर्भावमात्रं तस्य रूपद्वयमभवत्,—शिवरूपं शक्तिरूपञ्च, तत्र शिवः प्रकाशरूपी, शक्तिर्विमर्शरूपिणी। विमर्श-शब्दार्थः पूर्णोऽहं कृत्रिमोऽहमित्यस्य स्फूर्तिः। स्फूर्तिरियं सृष्टिकाले विश्वाकारा, स्थितिकाले विश्वप्रकाशा, प्रलयकाले च विश्वसंहरणरूपाऽभवत्। "विमर्शो" नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशेन, विश्वसंहारेण चाकृत्रिमाहमिति स्फूरणम् (परा-प्रवेशिका)। विमर्शशक्तेरपरनामानि,—चित्, चैतन्यम्, संवित्, स्वरमोदिना, परा वाक्, स्वातन्त्र्या, परमात्मनि मुख्यैश्वर्या, कर्तृत्वम् स्फुरत्ता, सारा, स्पन्द इत्यादीनि।

प्रमाया रूपद्वयम्—अहमंश इदमंशश्चेति। अहमंशग्राहकः शिवः प्रकाशो वा, इदमंशग्राहकः शक्तिर्वा विमर्शो वा। विमर्शेन प्रकाशानुभावो जायते, प्रकाशस्थितौ च विमर्शस्य कल्पना सम्भवति। यथा दर्पणं विना मुखमण्डलस्य रूपं प्रत्यक्षं न भवति, तथा विमर्शं विना प्रकाशस्य स्वरूपं न सम्भवति। मधुनि मिष्टत्वं नित्यं किन्तु मधु स्वमिष्टत्वग्रहणेऽसमर्थमेव। एवञ्च शक्तिं विना शिवस्य स्वीयप्रकाशरूपज्ञानं न भवति।

पुण्यानन्दस्तदीये "कामकलाविलास"-ग्रन्थे आद्यशक्तिं "शिवरूपविमर्श-निर्मलादर्शत्वेन" वर्णयंस्तस्याः स्वरूपस्य सुन्दरपरिचयमदात्। यथा कोऽपि राजा निर्मलदर्पणे स्वप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा निजमुखसौन्दर्यं सम्यग् जानाति, तथा शिवोऽपि स्वाधीनभूतामात्मशक्तिं दृष्ट्वा स्वीय-परिपूर्णाहन्ताप्रकाशमयस्वरूपं जानाति। अत एव "प्रकाशो" विमर्शात्मकः, "विमर्श"श्च प्रकाशात्मकः। अत एव शिवः शक्तिं विना स्थातुं न शक्नोति। शक्तिरपि शिवं विना स्थातुं न शक्नोति। उक्तञ्च,—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

तथाहि,—यद्वच्चन्द्रज्योत्स्नयोः पार्थक्यं नास्ति, तद्वच्छिवशक्त्योरपि किमपि पार्थक्यं नास्ति। उक्तञ्च सोमानन्दधृत **शिवदृष्टौ**,—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भगवानिच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥ (३।२।३)

श्रीशङ्कराचार्योऽप्याह—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
नो चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

(३) सदाशिवो वा सादाख्यतत्त्वं वा

उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**—

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समासाद्य।
निवसन् निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः॥ (३)

स्वेच्छाशक्त्या समुद्भूतं जगद् येनाहं-रूपेण समाच्छाद्यावस्थीयते तदेव निखिलजगतोऽनुग्रहनिरतं तत्त्वं "सदाशिव"तत्त्वमित्यभिहितम्।

रामेश्वरोऽवदत्,—पूर्वोक्ततादृशजगतोऽहन्तया यद् दर्शनं, तदहमितिताादृशस्पष्टवृत्तिमत् "सदाशिव"पदवाच्यं तृतीयं तत्त्वम्। अर्थाद् यो विश्वेश्वरोऽहमिति मन्यते, विश्वेन सह यस्याभिन्नभावः स "सदाशिवः"। सदाशिवस्य अहन्ता पराहन्ता पूर्णाहन्ता।

चितिशक्तेः प्रथमस्पन्दने अहं-भावस्य स्फूरणं भवति; तदा शक्तिः केन्द्रीभूता, चेतना च केन्द्रगता सती स्फुटोऽहंबोधो भवति। केन्द्रगतायां चेतनायां ज्ञानं निरुपाधिस्वरूपं विहायाहं-केन्द्रे स्फूर्तं भवति। प्राथमिकबोधोऽयं शुद्धाहं-रूपेण स्फुटो भवति। तस्याहम्भावस्य न किमप्यावरणं वा पार्थक्यं वा, व्यक्तित्वबोधोऽपि वा न वर्तते।

एतदवस्थायां ज्ञानं विषय-विषयिसम्बन्धतो मुक्तन्तिष्ठति, सर्वदाहंवृत्तियुक्तम् अथच विश्वदृश्यम् अत्र नास्ति, चितिस्पन्दनमप्यत्र शुद्धाहंरूपेण प्रवाहितं तिष्ठति। अस्यैव नाम "पूर्णाहन्ता", इदमेव "सदाशिवतत्त्वम्" इति कथ्यते। मन्त्रशास्त्रे सदाशिवतत्त्वं "नादशक्ति" रितिनाम्नाभिधीयते।

"सादाख्य"तत्त्वम्—सदाशिवतत्त्वादस्य सत्ता। अर्थाद्—विश्वसृष्टेः सूचनाजनितत्वेनेदं "सादाख्य"तत्त्वनाम्नाभिहितम्। सदाख्यायां भवं सादाख्यम्, यतः प्रभृति सदिति प्रख्या (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी**) (३।१।२)

(४) ईश्वरतत्त्वम्

इदं जगदिति केवलं भेदविषयिणी या वृत्तिः, तद्वद् "ईश्वर" पदवाच्यं तुरीयं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**—

"विश्वं पश्चात् पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः।"

(४) ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्रश्चेति मूर्त्तित्रयम् ईश्वरतत्त्वान्तर्गतम्। भेदकथाप्रकटने जाते, सृष्टेः पालनस्य संहारस्य च प्रयोजनं भवति, तदा ईश्वरः प्रोक्तरूपत्रयेण तत् क्रियात्रयं सम्पादयति। विकाशोन्मुखज्ञानस्य तृतीयावस्था "ईश्वरतत्त्वम्। अत एव सदाशिवस्य बाह्यरूपम्।

"ईश्वरो वहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।" (३।१।३)

शिवशक्तेर्बहिरुन्मेषः (चक्षुरुन्मीलनं) "ईश्वरः"। एवमन्तर्निमेषः (चक्षु-र्निमीलनं) "सदाशिवः" कथ्यते। सदा शिवावस्थायामचलरूपे परमेश्वरे किञ्चिच्चलनात्मकरूपस्य स्फूरणं भवति। प्रमाज्ञानस्याहमंश इदमंशमाच्छाद्य वर्तते, किन्तु ईश्वरावस्थायाम् "अहम्" "इदम्"-जगत् स्पष्टरूपमेकात्मनोऽंश-रूपेणात्मनोऽभिन्नत्वेनानुभूयते। सदाशिवतत्त्वे अहन्तायाः प्राधान्यम्, ईश्वरतत्त्वे इदन्तायाः स्फूर्तिरधिकतरा। मन्त्रशास्त्रे ईश्वरतत्त्वं "विन्दु"रिति नाम्ना-भिहितम्।

(५) शुद्धविद्यातत्त्वम्

जगदहमेवेत्याकारिका या सदाशिवसम्बन्धिनी वृत्तिः सा विद्यापदवाच्यं पञ्चमं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। अहन्ता, इदन्ता, इत्येतदुभयोरैक्यप्रतिपत्तिः,—अर्थाज् "जगद"हमेवेत्याकारा या सदाशिववृत्तिः सा "विद्या" नाम पञ्चम-तत्त्वम्। मलरहितत्त्वेन "शुद्धविद्या" सद्विद्या वा।

षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे प्रोक्तम्—

"सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः"॥(४)

इदन्ताहन्तयोर्यदभेदज्ञानं सा शुद्धविद्या कथिता।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्—

"सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियः।" (३।१।३)

ज्ञानस्य यादृगवस्थायाम् "अहम्" "इदम्" इत्यनयोः पूर्णसामानाधि-करण्यमक्षुण्णं विद्यते, अर्थादुभयोरेकत्र समानत्वेन स्थितिर्भवेत्, सैव "सद्विद्या"। इत्याकारावस्थायां सदाशिवः सर्वं जगत् स्वविभवत्वेनानुभवति। उक्तञ्च-**ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—**

"सर्वे ममेमं विभवं परिजानन्ति।" (४।१।१२) शिवतत्त्वे "अहं" विमर्शः (चितिशक्तिः)। सदाशिवतत्त्वे "अहम् इदं" विमर्शः। ईश्वरतत्त्वे च "इदम्-इदं" विमर्शो भवति। एतेषां मध्ये प्रतिस्थानं प्रथमपदस्य प्राधान्यं वर्तते। इदन्ताहन्ता च विभिन्नत्वेन स्थातुं न शक्नुतः। अहन्ताया इदन्ताभिन्नस्वरूप-प्रकाशस्य न कोऽप्युपायः। पारस्परिकभावेनायं सन्निविष्टतायाः पूर्णविकाशो भवति,—यद्येतयोः समन्वयो भवति। एतदवस्थायाम्—इदन्ता तस्याः स्वरूपम्

अहन्तामध्ये पश्यति। अहन्ता च तस्याः प्रकाशम् इदन्तामध्ये पश्यति। एषा **ज्ञान-भूमिकातन्त्रे** "सद्विद्या" इति कथ्यते।

(६) मायातत्त्वम्

इदं जगदित्याकारिका-ईश्वरनिष्टा भेदविषयिनी वृत्ति"र्माया"पदवाच्यं षष्ठं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। इदं जगन् मत्तो भिन्नेत्याकारिका ईश्वरवृत्तिः "माये"त्यभिहिता। विद्या जन्याभेदबुद्धेरुदयो मायाजन्यश्च भेदबुद्धेरुदयो भवति। उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**—

मायाविभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ॥५॥

यया वृत्त्या ईश्वरांशजातनिखिलजीवगणमध्ये भेदज्ञानमुत्पद्यते सैव "माया"। वेलाभूमिर्यथा समुद्रस्य तरङ्गरूपविभवमवरुणद्धि, तद्वदीश्वरस्य नित्यनिरंकुशविभवस्वरूपं मायया सीमाबद्धं भवति।

"मायायाः पञ्च उपाधयः कञ्चुका वा"

मायायाः पञ्चोपाधीनां साहाय्येन ईश्वरो निजं सीमाबद्धं कृत्वा जीव-रूपेण प्रकाशितो भवति। एतेषां पारिभाषिकं नाम कञ्चुक इति, अर्थादीश्वर-स्यानन्तशक्तिमाच्छादियतुमावरणम्। मायायाः पञ्चोपाधयो यथा— (१) अविद्या, (२) कला, (३) रागः, (४) कालः, (५) नियतिश्चेति।

(७) अविद्यातत्त्वम्

पूर्वोक्तविद्या-तिरोधान-शक्तिमत्, तद्विरोध्यविद्यापदवाच्यं सप्तमं तत्त्वम्। (रामेश्वरः)। पूर्वोक्त-विद्याया आच्छादनकारिणो विद्याविरोधिनस्तत्त्वस्य नाम"अविद्या"। ईश्वरस्य सर्वज्ञता—अविद्यायां संकुचिता भवति; तस्मात् कारणाज्जीवः किञ्चिज्ज्ञो भवति।

भास्करराय-क्षेमराज-भोजदेव-प्रभृतिभिरेषा विद्यातत्त्वत्त्वेन निर्देशिता। पञ्चमतत्त्वस्य नाम "शुद्धविद्यातत्त्वम्" इति, सप्तमतत्त्वस्य च नाम"अविद्या-तत्त्व" मिति। तेषामिदमेव मतम्,—शिवः सर्वज्ञः, अत एव सर्वज्ञताशक्तिस्तस्य विद्यते। शिवांशो जीवः, अर्थात् शिवस्य संकुचितावस्थैव जीवः। अत एव सर्वज्ञताशक्तिरपि संकुचिततया किञ्चिज्ज्ञतारूपेण जीवे वर्तते। अस्याः

किञ्चिज्ज्ञताशक्तेर्नाम "विद्ये"ति। अनया विद्यया सर्वज्ञता शिवभावश्चा-व्रियते अत एव सा "अविद्या"पि भवितुमर्हति। एतद्विषये—**षट्त्रिंशत्तत्त्व-सन्दोहे** उक्तम्,—

"सर्वज्ञताशक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥९॥

ईश्वरस्य सर्वज्ञताशक्तिः प्राप्तसङ्कोचतया किञ्चिज्ज्ञतारूपं लभते; तदेवं किञ्चिज्ज्ञानोत्पादकत्वेना"ऽविद्यातत्त्व"मित्यभिहितम्।

(८) कलातत्त्वम्

जीवनिष्ठं सर्वकर्तृत्वं यत्किञ्चित्कर्तृत्वेन संकुचितं, तदेव "कला" पदवाच्यमष्टमं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। ईश्वरस्य सर्वकर्तृत्वशक्तिः संकुचिततया किञ्चित्कर्तृत्वरूपेण जीवेऽवतिष्ठते। एतत्किञ्चित्कर्तृत्वशक्तेर्नाम "कला"-तत्त्वमिति। उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**--

तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थपरा।
किंचित्कर्तारममूं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥८॥

यया ईश्वरस्य सर्वकर्तृत्वशक्तिः संकुचिता, या च जीवाय किञ्चि-त्कर्तृत्वं प्रयच्छति, सैव "कला" तत्त्वमित्यभिहिता।

(९) रागतत्त्वम्

पूर्वोक्तरीत्या जीवनिष्ठा या नित्यतृप्तिः, सैव केषुचित् विषयेषुव-तृप्त्या संकुचिता "राग" पदवाच्या नवमं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। शिवो नित्यतृप्तः, सा शिवनिष्ठनित्यतृप्तता-शक्तिः संकुचिततया अपूर्णतृप्तिरूपेण जीवेऽवतिष्ठते। जीवस्यापूर्णतृप्तिहेतुत्वेन भोग्यविषयेऽनुरागो भवति। एत-त्संकुचितनित्यतृप्तताशक्तिरेव "राग"तत्त्वम्। उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे**—

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममूं रागतत्त्वतां याता ॥१०॥

परमेश्वरस्य नित्यपरिपूर्णतृप्तिर्नाम शक्तिर्येन संकुचिता सती जीवानाम-पूर्णतृप्तिहेतोर्भोग्यविषये सततमनुरागमुत्पादयति तस्यैव नाम रागतत्त्वमिति।

(१०) कालतत्त्वम्

जीवनिष्ठा या नित्यता, तस्या आच्छादने सति, सैव नित्यता, अस्ति, जायते, वर्धते, परिणमति, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावयोगात् संकुचिता "काल"पदवाच्यं दशमं तत्त्वम्।

शिवो नित्यो ध्वंसप्रागभावरहितः (रामेश्वरः)। शिवस्य नित्यताशक्तिः षड्भावविकारयोगेन संकुचितत्वेन "काल"नाम्ना ख्याता जायते। जागतिकाः सर्वे पदार्थाः षड्भावविकारयुक्ताः, यथा,—(१) अस्ति—स्वरूपेणावतिष्ठते; (२) जायते—उत्पन्नो भवति; (३) वर्धते—वृद्धिप्राप्तो भवति; (४) विपरिणमति—अवस्थान्तरं प्राप्नोति; (५) अपक्षीयते—क्षयप्राप्तो भवति; (६) विनश्यति—विनाशं प्राप्नोति।

उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे,**—

सा नित्यतास्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण॥११॥

परमेश्वरस्य नित्यताशक्तिः कालतत्त्वेन संकुचिता भूत्वा जन्ममृत्युप्रदानेन जीवं नियतसीमाबद्धं करोति। कालोऽयं लोकव्यवहारे सूर्यचन्द्रयोर्गत्यनुसारेण त्रुटि-लव-घटिका-दिन-मास-वत्सर-युग-कल्प-मन्वन्तर-रूपेण विभक्तो भवति।

(११) नियतितत्त्वम्

परशिवजीवयोरभेदाद् यथा परशिवे सर्वस्वातन्त्र्यं तथा जीवेऽप्यस्ति; तस्य सर्वस्वातन्त्र्यस्य पिधानं पूर्वोक्ताविद्यया कृतं, देव कारणान्तरापेक्षं यत्कारणम् अपेक्ष्यते, तन्नियतिपदवाच्यमेकादशं तत्त्वम् (रामेश्वरः)।

परशिवजीवयोः स्वरूपतोऽभिन्नत्वेन परशिवे यथा सर्वप्रकारा स्वाधीनता विद्यते, तथा जीवेऽपि स्वाधीनता विद्यते। परशिवस्य स्वतन्त्रताशक्तिरविद्यायोगेन जीवे संकुचिता भूत्वा 'नियति'नाम्नाऽभिहिता भवति। उक्तञ्च **षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोहे,**—

यास्य स्वतन्त्रताख्याशक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममूं नियमयन्त्यभून्नियतिः॥(१२)

परमेश्वरस्य स्वतन्त्रा नाम शक्तिर्या संकुचिता सती जीवं सर्वत्र कार्याकार्ये नियतं नियन्त्रयति, सैव "नियति"रिति कथ्यते।

(१२) जीव-तत्त्वम्

एतादृशनियति-काल-राग-कला-विद्याख्यतत्त्वपञ्चकाश्रयो जीवो द्वादशतत्त्वम् (रामेश्वरः)। मायाजनितपूर्वोक्तनियति-काल-राग-कलाऽविद्येति-पञ्चविधकञ्चुकस्याश्रयस्वरूपं तत्त्वं जीवः पुरुषो वेत्यभिहितः।

(१३) प्रकृतितत्त्वम्

सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यरूपा "प्रकृतिः" चित्तापरपर्यायं त्रयोदशं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयस्य साम्यावस्था "प्रकृतिः", तस्या नामान्तरं चित्तम्।

(१४) मनस्तत्त्वम्

यदा सत्त्वतमसी अभिभूते भवतो रजसश्च प्राधान्यं जायते, तदा तत्प्रधानभूतं रजो मनःपदवाच्यं संकल्पहेतुश्चतुर्दशं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। रजोगुणप्रधानान्तःकरणं "मनो" नाम। एतदवस्थायां सत्त्वतमोगुणेऽभिभूतत्त्वेनावतिष्ठेते। मनः संकल्पहेतुः।

(१५) बुद्धितत्त्वम्

यदा रजस्तमसी अभिभूते भवतः सत्त्वस्य च प्राधान्यं तदा सत्त्वप्रधानं तदन्तःकरणबुद्धिपदवाच्यं निश्चयहेतुः पञ्चदशं तत्त्वम् (रामेश्वरः)। सत्त्वगुणप्रधानान्तःकरणं नाम "बुद्धिः"। तदा हि रजस्तमोगुणावभिभूतावस्थायां तिष्ठतः। बुद्धिर्निश्चयज्ञानहेतुः।

(१६) अहंकारतत्त्वम्

सत्त्वरजसोरभिभूतावस्थायां यत्तमःप्रधानमन्तःकरणं तदहंकारपदवाच्यं विकल्पकारणं षोड्शतत्त्वम् (रामेश्वरः)। तमोगुणप्रधानान्तःकरणस्य नाम "अहंकार" इति। एतदवस्थायां सत्त्वरजोगुणावभिभूतौ तिष्ठतः। अहमित्यस्य क्रिया "अहंकारः"। अहंकारो विकल्पः, भेदज्ञभानस्य कारणम्।

(१७-२१) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि

(१७) श्रोत्रतत्त्वम्,—शब्दग्राहकमिन्द्रियं "श्रोत्रम्", सप्तदशं तत्त्वम्।

(१८) त्वक्तत्त्वम्—स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं "त्वक्", अष्टादशं तत्त्वम्।

(१९) चक्षुस्तत्त्वम्,—रूपग्राहकमिन्द्रियं "चक्षु"रेकोनविंशं तत्त्वम्।

(२०) जिह्वातत्त्वम्—रसग्राहकमिन्द्रियं "रसनं" विंशं तत्त्वम्।

(२१) घ्राणतत्त्वम्,—गन्धग्राहकमिन्द्रियं "घ्राण"मेकविंशं तत्त्वम्।

(२२-२६) पञ्च कर्मेन्द्रियाणि

(२२) वाक्तत्त्वम्,—व्यक्त"वागु"च्चारणानुकूलमिन्द्रियं द्वाविंशतत्त्वम्।

(२३) पाणितत्त्वम्—ग्रहणत्यागानुकूलमिन्द्रियं "पाणि"रित्यभिहितं त्रयोविंशं तत्त्वम्।

(२४) पादतत्त्वम्,—गमनानुकूलमिन्द्रियं "पाद" इत्यभिधेयं चतुर्विंशं तत्त्वम्।

(२५) पायुतत्त्वम्,—मलविसर्जकमिन्द्रियं "पायु"रित्यभिहितं पञ्चविंशं तत्त्वम्।

(२६) उपस्थतत्त्वम्,—मैथुनजनकमिन्द्रिय"मुपस्थ" इत्यभिहितं षड्-विंशं तत्त्वम्।

(२७-३१) पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च विषया वा

(२७) शब्दतत्त्वम्,—सूक्ष्माकाशरूपं श्रवणेन्द्रियग्राह्यं "शब्द" इत्य-भिहितं सप्तविंशं तत्त्वम्।

(२८) स्पर्शतत्त्वम्,—सूक्ष्मवायुरूपं त्वगिन्द्रियग्राह्यं "स्पर्श" इत्यभि-हितमष्टाविंशं तत्त्वम्।

(२९) रूपतत्त्वम्,—सूक्ष्मतेजोरूपं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यं "रूप"मित्यभिहित-मेकोनत्रिंशं तत्त्वम्।

(३०) रसतत्त्वम्,—सूक्ष्मजलरूपं "रस" इत्यभिहितं रसनेन्द्रियग्राह्यं त्रिंशं तत्त्वम्।

(३१) गन्धतत्त्वम्,—सूक्ष्मपृथ्वीरूपं "गन्ध" इत्यभिहितं घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्यमेकत्रिंशं तत्त्वम्।

(३२-३६) पञ्चभूतानि

(३२) आकाशतत्त्वम्,—अवकाशात्मक "माकाश" इत्यभिहितं स्थूलं द्वात्रिंशं तत्त्वम्।

(३३) वायुतत्त्वम्,—सदागतिमत्त्वात्मकगुणवद् "वायु"रित्यभिहितं स्थूलं त्रयस्त्रिंशं तत्त्वम्।

(३४) तेजस्तत्त्वम्,—उष्णताशक्त्यात्मकं "तेज" इत्यभिहितं स्थूलं चतुस्त्रिंशं तत्त्वम्।

(३५) जलतत्त्वम्,—द्रवत्ववत्त्वात्मकं "जल"मित्यभिहितं स्थूलं पञ्चत्रिंशं तत्त्वम्।

(३६) पृथिवीतत्त्वम्,—काठिन्यगुणवत्त्वात्मकं "पृथिवी" त्यभिहितं स्थूलं षट्त्रिंशं तत्त्वम्। (रामेश्वरः)।

तत्त्वातीतसत्ता शिवशक्ति-सामरस्यं वा

प्रागुक्त-षट्त्रिंशत्तत्त्वव्यतिरिक्तस्तत्त्वातीत एकः पदार्थो वर्तते यो हि विश्वव्यापकः सन्नपि विश्वतः पृथगेव विद्यते; अतएव स युगपद् विश्वात्मको विश्वोत्तीर्णश्चेति। सदाशिवतः पृथ्वीपर्यन्तं चतुस्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वम् यस्य तत्त्वस्येदं विश्वमुन्मेषमात्रं तदेव तत्त्वं "शक्ति" पदवाच्यम्। "सृष्टि"-शब्देन सदाशिवप्रभृति-तत्त्वसमूहस्य क्रमश आविर्भावो बोध्यः। या खलु तत्त्वाविर्भावबीजस्वरूपा, यस्याश्च क्रमविकाश एव विश्वं, सैव "शक्ति"रित्यभिहिता।

शिवः सदा शक्तियुक्तो वर्तते। शक्तेरन्तर्मुखित्वे "शिवः" (अन्तर्लीन-विमर्शः)। शिवस्य च वहिर्मुखत्वे "शक्ति" रभिहिता। अन्तर्मुखत्वं बहिर्मुखत्वं चेति भावद्वयं सनातनम्। शिवतत्त्वे शक्तिभावो गौणः, शिवभावः प्रधानः। शक्तितत्त्वेऽपि शिवभावो गौणः शक्तिभावः प्रधानः। परन्तु यत्र शिवशक्त्यो-रेकरसस्तत्र द्वयोरप्यप्राधान्यम्। सैव साम्यावस्था, "तत्त्वातीता" वस्था चेति, सैव हि "शिवशक्ति-सामरस्यम्"। केषांचिन्मते तत्त्वानि सप्तत्रिंशत्संख्यकानि। केचिद्वदन्ति, एतद्विषयेकिमपि वक्तुं चिन्तयितु वाऽपि न शक्यत, इति।

चरमतत्त्वमिदं शैवाः परमशिवं, शाक्ताश्च परमशक्तिमभिदधति। परमशिवोऽस्य विश्वस्योन्मीलनं स्वयमेव करोति। कस्याप्युपादानस्याधारस्यापि वाऽऽवश्यकता नास्ति। परमस्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्नः स्वेच्छया स्वभित्तौ स्वाधारे च जगदुन्मीलनं करोति। पूर्वमपि परमशिवे जगदासीत्। यथार्थमेवाचार्यो वसुगुप्तोऽवदत्,—

निरुपादानसंसारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥

चरमतत्त्वम्

साधका रुचेर्वैचित्र्यानुसारतः "चरमतत्त्वं" केचन "पुरुष"भावेन केचन वा "रमणी"भावेन व्याचक्षते। प्रत्यभिज्ञादर्शनस्य परमशिवः, त्रिपुरामतस्य षोड़शी देवी, ललिता देवी वा, वैष्णवमतस्य च श्रीकृष्ण एकोऽद्वितीयः सच्चिदानन्दस्वरूप इति। अतएव ते परतत्त्वस्य भिन्नं भिन्नं प्रतीकमात्रमेव। मूलतस्तद् वस्तु न पुरुषो नापि प्रकृतिः, परन्तु तयोरभेदात्मकं सामञ्जस्यमात्रम्। जगति यानि सौन्दर्याणि वर्तन्ते, तानि सर्वाण्येव तावदस्याखण्डपूर्णसौन्दर्यस्वरूपस्य कणामात्रं, छाया, विभूतिर्वा। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" तस्यैव ज्योतिःप्रकाशनेन सर्वं वस्तुजातमनुप्रकाशितम्। पूर्णसौन्दर्यस्वरूपपरतत्त्वम् एकाकि स्थातुमनिच्छयैव कालोपरि महाकालस्योर्ध्वे प्रस्फुटितम्भूत्वा स्वात्मानमेव खण्डसौन्दर्यमयजीवजगद्रूपेण प्रकटितं कृत्वा स्वयमेवास्वादयति, अथवा स्वात्मनि स्वप्रतिबिम्बं दृष्ट्वा स्वयमेवास्वादयति। एतत् प्रतिबिम्बमेव विश्वम्।

श्रीनटनानन्दनाथः "चिद्वल्ली" नाम्न्यां कामकलाविलासटीकायां दृष्टान्तेन तत्वमिदं प्रबोधयति; यथा कश्चिदतिसुन्दरमूर्ती राजा स्वसम्मुखावस्थिते स्वच्छे दर्पणतले स्वप्रतिबिम्बं सम्यक् प्रसमीक्ष्य तत्प्रतिबिम्ब'मह'मिति जानाति, तथैव परमेश्वरोऽपि स्वाधीनभूतां स्वशक्तिं सम्यगवलोक्य स्व-स्वरूपमवगच्छति। 'परिपूर्णोऽह'मितीयमेव नाम "पूर्णाहन्ता"। तथैव परमशिवसङ्गहेतुत्त्वात् परा शक्तिः स्वात्मन्यवस्थितं प्रपञ्चं निर्गमयति। अस्य प्रपञ्चस्यैव नाम "विश्व"मिति। गौडीयवैष्णवशास्त्रेऽप्युक्तम्—"भगवान् स्वरूपं दृष्ट्वा स्वयमेव मोहितोऽभव"दिति।

अमनस्क योग

गोरखनाथ विरचित नाथ सम्प्रदाय

महायोगी श्री गोरक्षनाथ विरचित

नाथसंप्रदाय का अप्रकाशित

अपूर्व ग्रन्थ

अमनस्क योग

सम्पादक एवं टीकाकार

श्री योगनाथ स्वामी

प्रस्तावना

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज

(एम० ए०, डी० लिट्०, पद्मभूषण, साहित्यवाचस्पति, सर्वतंत्र सार्वभौम)

सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मंडल, पूना

प्रकाशक :

श्री रवीन्द्र जनार्दन भेल्हे,
सिद्ध साहित्य संशोधन प्रकाशन मंडल,
'श्री' भवन, ४८४/३४ पर्वती,
पूना-६ (महाराष्ट्र)।

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ

मूल्य : 24/0

विक्रम संवत् २०२४ (१९६७ ई०)

प्राप्ति स्थान :

(१) विश्वविद्यालय प्रकाशन,
भैरवनाथ, वाराणसी ।

(२) श्री जी० एच० रावल, एडवोकेट,
कांगरा भवन, २३२, डा० एनी बेसेंट रोड,
वर्ली, बम्बई-१८ ।

(३) श्री सुशीलकुमार गांगुली, सॉलीसिटर,
१४/१, सुवर्बन पार्क रोड,
हवड़ा-१, कलकत्ता ।

(४) श्री राजनारायण, बैरिस्टर,
ए १०७, डिफेंस कालोनी,
नई दिल्ली ।

(५) श्री मधुकर निखल, एडवोकेट,
६५, महात्मा गांधी रोड,
पूना कैम्प, महाराष्ट्र ।

मुद्रक :

श्रीकृष्ण मुद्रणालय, दारानगर, वाराणसी-१ ।

समर्पण

सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति

के पोषक

धर्मनिष्ठ

कैलाशवासी

सेठ श्री आनंदराम जयपुरिया

(स्वदेशी कॉटन मिल्स, कानपुर)

को

स्मृति में

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते ।।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ।।

[ऋग्वेद–९/११३/७, ११]

हे पवित्र करनेवाले देव, मुझे उस लोक में, दिव्य भाव में स्थित कर, जहाँ सदा प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान है, जहाँ अंधकार से प्रकाश की ओर गति नहीं होती; अपितु एक प्रकाश से पूर्णतर प्रकाश की ओर गति होती है, जहाँ दुःख से सुख की ओर गति नहीं है, अपितु एक आनंद से पूर्णतर आनंद की ओर गति होती है, जहाँ मृत्यु से अमरत्व की ओर गति नहीं है, किन्तु सदा अमरत्व ही अमरत्व विद्यमान है, जहाँ उच्चतम लक्ष्य सदैव प्राप्त रहता है।

अनुक्रम

सम्पादकीय

सिद्ध साहित्य प्रकाशन द्वारा नाथ संप्रदाय का अभी तक अप्रकाशित "अमनस्क योग" नामक यह द्वितीय पुष्प[१] प्रकाशित हो रहा है। इससे मुझे एवं योगसाधन में अभिरुचि रखनेवाले लोगों को हर्ष होना स्वाभाविक है।

नाथ संप्रदाय के प्रवर्तक महायोगी श्री गोरक्षनाथ जी ने संस्कृत भाषा में कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—

अमनस्क, अमरौघशासनम्, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह, सिद्ध-सिद्धांत-संग्रह, महार्थमंजरी, विवेक मार्तण्ड, योगमार्तण्ड, गोरक्ष पद्धति, गोरक्ष संहिता, योगबीज इत्यादि।

इनके अतिरिक्त बृहद् एवं लघु ग्रन्थ भी हैं, जैसे—योगचिन्तामणि, हठयोग संहिता, श्री नाथसूत्र, योगशास्त्र, चतुरशीत्यासन, गोरक्ष चिकित्सा, गोरक्षपंचय, गोरक्ष गीता, गोरक्ष कौमुदी, गोरक्ष कल्प इत्यादि।

---

१. "ज्ञानदीपबोध" (गुरुदत्तात्रेय-गोरक्षनाथ संवाद) नामक प्रथम पुष्प दो वर्ष पूर्व ही वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। उसका प्राप्ति स्थान है—श्री मधुकर विखल (एडवोकेट), ६५ महात्मा गान्धी रोड, पूना—१।

कुछ विद्वानों ने अवधूत गीता, प्राणसंकली, योग तारावली या योग सारावली नामक ग्रन्थों को भी श्री गोरक्षनाथ की रचनाएँ माना है। वस्तुतः अवधूतगीता के रचयिता भगवान् श्री दत्तात्रेय हैं जिन्होंने उपदेश (स्वात्म-संवित उपदेश) रूप में उसे श्री कार्तिकस्वामी (सुब्रह्मण्यम् या षण्मुखम्) को सुनाया था। इसकी प्राचीन प्रतियों में प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक पुष्पिका है जिसमें लिखा है, "श्री दत्तात्रेय विरचितायाम् अवधूतगीतायाम् संवित्युपदेशोनाम...अध्यायः"। इस ग्रन्थ की चालीस-पचास पूर्व छपी हुई कुछ प्रतियों को देखने पर पता चला है कि प्रारम्भ के कुछ श्लोकों में श्री गोरक्ष-नाथ जी का नाम दिया गया है। किन्तु इन श्लोकों की एवं अवधूतगीता के अन्य श्लोकों की भाषा, छन्द, रचना इत्यादि में भेद प्रतीत होता है जिससे स्पष्ट पता लग जाता है कि प्रारम्भ के कुछ श्लोक किसी विद्वान् द्वारा जोड़े गये हैं और इस ग्रन्थ को नाथ सम्प्रदाय का ग्रन्थ प्रमाणित करने का वृथा प्रयास किया गया है।[१] प्राण संकली (प्राण शृंखला) नामक ग्रन्थ के रचयिता संतगुरु नानक हैं[२] जब कि "योगतारावली" श्रीमद् आद्य शंकराचार्य जी की रचना मानी गयी है। मैं यहाँ पर सम्प्रति इन सबके विषय में आलो-चना करना अप्रासंगिक समझता हूं।

उपर्युक्त संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में "अमनस्क" का महत्वपूर्ण स्थान है। नाथ संप्रदाय के विषय में अनुसंधान करनेवाले सज्जन मि० ब्रिग्ज, डा० मोहन सिंह, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री अक्षय-कुमार बनर्जी, डा० श्रीमती कल्याणी मल्लिक से लेकर वर्तमान समय के प्रायः सभी अनुसंधानकर्ताओं ने अपने-अपने शोध प्रबन्धों में "अमनस्क" ग्रन्थ का उल्लेख तो किया है किन्तु अप्राप्य होने पर उसका उद्धरण-विवेचन प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। फलस्वरूप महायोगी श्री गोरक्षनाथ जी की योग विषयक विचारधारा का जितना स्पष्ट एवं विस्तीर्ण रूप से अपने ग्रन्थों में आलेखन करना चाहिए था उतना वे नहीं कर पाये हैं। अब इस अद्भुत ग्रन्थ के प्रकाशन से भावी अनुसंधानकर्ता उक्त अपूर्णता को पूर्ण करने में समर्थ होंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

अमनस्क ग्रन्थ का नाम सर्वप्रथम जब मैंने श्रद्धेय महामहोपाध्याय डा०

१. अवधूतगीता के कुछ परिवर्तित श्लोक नाथ संप्रदाय के कुछ ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

२. और भी कई सिद्धों और सन्तों की भी ऐसी रचनायें मिलती हैं।

श्री गोपीनाथ कविराज, पद्मविभूषण, से सुना तब से ही उसे प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा हुई। तदनुसार राजस्थान, सौराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, नैपाल इत्यादि के नाथ संप्रदाय के प्रसिद्ध स्थानों में उसके विषय में पूछ-ताछ की, किन्तु सभी स्थानों से निराशा ही हासिल हुई। कुछ लोग तो अमनस्क नामक कोई ग्रन्थ है यह बात मानने को भी तैयार नहीं थे। आखिर प्रायः छः वर्षों के कठिन परिश्रम के उपरान्त मुझे मैसूर प्रान्त से कन्नड़ भाषा में इस ग्रन्थ की अपूर्ण एवं कई स्थानों में त्रुटिपूर्ण एक प्रति प्राप्त हुई। एक कन्नड़भाषी सज्जन से कन्नड़ लिपि के श्लोकों को संस्कृत में आबद्ध करवाया और जहाँ कहीं अपूर्णता एवं अशुद्धियां थीं उन्हें श्रीयुत डा० गोपीनाथ कविराज जी की सहायता से दूर किया। इस प्रकार कन्नड़ भाषा की प्रति में से ९८ श्लोक प्राप्त हुए किन्तु इस प्रति के आधार पर अमनस्क के विषय में जो कुछ ज्ञान था वह अपर्याप्त ही था। अब मैंने इस ग्रन्थ के शेष भाग की खोज शुरू कर दी। भारत के कितने ही प्राचीन हस्तलेख संग्रहस्थानों से पत्र-व्यवहार किया। कुछ अगम्य स्थानों में गया भी। इस प्रकार शोध करते-करते आखिर मैं शेष ११३ श्लोकों को प्राप्त कर सका। सब मिलाकर इन २११ श्लोकों को शुद्ध कर, दो खण्डों में व्यवस्थित रूप में रख कर, उनका सरल अनुवाद किया। जहाँ कहीं टिप्पणियों की आवश्यकता प्रतीत हुई वहीं संक्षेप में लिख कर ग्रन्थ रूप में यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह सब श्रीयुत गोपीनाथ कविराज जी के मार्गदर्शन से ही सम्पन्न हो सका है जिसके लिए मैं उनका चिरकृतज्ञ हूं।

अमनस्क ग्रन्थ के जो दो हस्तलेख मुझे अच्छी हालत में प्राप्त हुए हैं उनमें से ही यहाँ पर पाठभेद दिया जा रहा है। बाद में और जो कुछ जीर्ण अवस्था वाली पोथियों मुझे देखने को मिली उनमें उस ग्रन्थ के विभिन्न नाम पाये गये हैं, जैसे—अमनस्क, अमनस्कयोग, अमनस्क योग-शास्त्रम्, अमनस्कखंड, श्री ईश्वर-वामदेव संवाद, स्वयंबोध इत्यादि।

अमनस्क ग्रन्थ ईश्वर एवं वामदेव के संवाद रूप में है। मुनिश्रेष्ठ श्री वामदेव जी कैलासपर्वत के शिखर पर पहुँचते है और वहीं पर स्वस्वभाव में स्थित भगवान् श्री कैलासपति शिवजी को श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रणाम कर रलस हृदय एवं जिज्ञासु वृत्तिसे जीवन्मुक्ति के उपाय के विषय में प्रश्न करते हैं। मुनिवर की उत्कट ज्ञान-पिपासा एवं अहैतुकी भक्ति देखकर योग-योगीश्वर भगवान् शिव जी उनको तारक योग का रहस्य, योगी गुरु के लक्षण, योग

साधना के लिये उपयुक्त स्थान, योगासन, क्रियायोग, विभूतियों के लक्षण इत्यादि के विषय में प्रकाश देते हैं। "मन न रंगाये, रंगाये जोगी कपड़ा" की उक्ति के अनुसार प्रसंगानुसार वे वहिर्मुखी वृत्तिवाले साधुओं की वेषभूषा, व्यवहार इत्यादि की निंदा भी कर देते हैं जिससे योगमार्ग पर प्रस्थान करनेवाला साधक सावधान रहे। उदरपूर्ति के लिये मारण-उच्चाटनादि मलिन मंत्रों में अभिरुचि को प्रपंच, विभिन्न प्रकार के आसन, वंध, मुद्रादि के अभ्यास में ही सारा समय व्यतीत करने की प्रवृत्ति को अज्ञान, और यहाँ तक कि देहस्थ नाड़ी विशेषांतर्गत षट्चक्रों में ध्यान की क्रिया को चित्त का विभ्रम कहते हुए इन सबका परित्याग कर, जागतिक पदार्थों से दूर रहने का और अमनस्क सेवन का उपदेश देते हैं। तत्पश्चात् वे परमतत्व का निरूपण करते हैं और उसके बोध के विषय में साधना का रहस्य प्रशस्त करते हुए लयस्थयोगी, लय, लय के प्रकार, लययोग से प्राप्य सिद्धि इत्यादि के विषय में अद्भुत उपदेश देकर अन्त में चेतावनी देते हुए कहते हैं कि परब्रह्म में लीन होने के इच्छुक महापुरुष के लिये ये सिद्धियाँ सर्वनाशकारिणी होती हैं, इसलिये उन्हें उनकी ओर आकृष्ट नहीं होना चाहिये। लयसाधना द्वारा योगी को परमानन्द की प्राप्ति होने पर अजरत्व एवं अमरत्व दोनों की एक ही साथ में महासिद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे महाप्रलय होने पर भी उनका पात नहीं होता।

द्वितीय खण्ड या उत्तरार्द्ध में मुनिश्रेष्ठ श्री वामदेव जी भगवान् देवाधिदेव शिवजी से विनीत भाव से प्रार्थना करते हैं कि प्रथम की भाँति ही परमानंद प्रदायक दूसरा उपदेश करने की कृपा करें। इसके प्रत्युत्तर में भगवान् उन्हें तारकयोग एवं अमनस्क योग में भेद, शांभवी मुद्रा का रहस्य, शांभव योग, अमनस्क विद्या और उसकी महिमा गाते हुए वाह्याडंबर की निंदा और अमनस्क के उपाय, प्राप्ति और अमनस्क योगी के लक्षणादि के विषय में अतीव बोधप्रद उपदेश प्रदान करते हैं।

इस ग्रन्थ के विषय में मैं यहाँ पर एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना अनुचित नहीं समझता।

श्रीयुत कविराज जी से जब मैं इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड के १५ वें श्लोक को समझ रहा था तब इसमें एक भारी उलझन पैदा हो गयी। श्लोक बड़ा ही विचित्र होने पर भी उसका शाब्दिक अनुवाद सरल था, किन्तु उसमें से

कोई ठोस अर्थ नहीं निकलता था। यह देख श्रीयुत कविराज जी भी हैरान रह गये। कुछ समय तक इसके अर्थ के बारे में विचार करने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह श्लोक ही इस ग्रन्थ का हृदय है अर्थात् अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इसलिये योग की प्रक्रिया विचित्र शब्दजाल में गुप्त रखी गयी है। मैंने मन ही मन कहा कि इस श्लोक का रहस्य खुलने पर ही इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना उचित है, अन्यथा कदापि नहीं। अब इसको बोधगम्य करने के लिये मैंने कई विद्वान्, साधक, साधु-महात्माओं के द्वार खटखटाये, किन्तु निराशा ही हाथ लगी। इसे देख सबकी बुद्धि चकरा जाती थी। यह श्लोक इस प्रकार है—

"ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्तथः शिराः।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १५ ॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर कर "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवन्मुक्त होगा।"

इस प्रकार के सरल अर्थ से कुछ भी समझ में नहीं आता। मुष्टि क्या है? भेद एवं शिर किसे कहते हैं? धरायन्त्र कौन-सी वस्तु है? इन सबको यहाँ पर अत्यन्त गुप्त रक्खा गया है। यह श्लोक सचमुच ही ग्रन्थ का हृदय है। जीवन्मुक्ति की प्राप्ति की रहस्यमयी विधि अतीव गोपनीय रखी गयी है। इस श्लोक को यदि अमनस्क योग रूप महान् धनभंडार को खोलने की कुंजी कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसके रहस्य का पता लगाने में मुझे कमसे कम छः मास लग गये होंगे। जब मैं इसके विषय में कहीं से भी समाधान प्राप्त न कर सका तब एक दिन सहसा मुझे एक साधक का लिखा हुआ ग्रन्थ, "My Threeyears In Tibet" का स्मरण हो आया। उस साधक ने अपने ग्रन्थ में कुछ स्वानुभव भी दिये थे। उसमें एक स्थान पर वह लिखता है कि तिब्बत के दुर्गम मार्गों पर आगे बढ़ते समय कई बार एसा प्रसंग आया था कि मार्ग में तीन-चार विभिन्न दिशाओं के मार्ग आ मिलते थे। तब उनमें से सच्चे मार्ग का पता लगाने के लिये वह वहीं पर बैठ जाता था और हृदय-कमल में ज्योति का ध्यान किया करता था। अच्छी एकाग्रता का संपादन करने पर उसे हृदय में से ही सच्चा मार्गदर्शन मिल जाता था।

मैंने भी इसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया। प्रयत्न करते-करते प्रायः एक मास हो गया। फिर भी विराश न हुआ। एक शुभ नीरव रात्रि के समय में जब मैं ध्यान कर रहा था तब मैंने एक विचित्र-सा दृश्य देखा जो महाभारत की एक प्रसिद्ध कथा पर आधारित था। वह था "अर्जुन का मत्स्यवेध"। सहसा आंखे खुल गयीं। रहस्य का पता चल गया था इसलिये आनन्द होना स्वाभाविक था।

उक्त प्रसंग से सम्बन्धित महाभारत के आदि पर्व के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

"अर्जुनो धनुषो ऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः।
स तद्धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥

(महा० आदिपर्व १८७।१७)

इस प्रकार जब ब्राह्मण लोग भांति-भांति की बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुष के पास जाकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुष के चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की।

"प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम्।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनोधनुः ॥ १८ ॥

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकर को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन ही मन भगवान् श्री कृष्ण का चिन्तन करके अर्जुन ने वह धनुष उठा लिया।

"यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथ वक्रैः
राधेय दुर्योधन शाल्य शाल्वैः।
तदा धनुर्वेद परैर्नृ सिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपियत्नात् ॥ १९ ॥

तदर्जुनो वीर्यवतां तदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः।
सज्यं च सक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥ २० ॥

अर्थ—रुक्म, सुनीथ, वक्र कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेद के पारंगत विद्वान्, पुरुष सिंह राजा लोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुष पर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुष पर विष्णु के समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी, वीरों में श्रेठतम अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुन ने पलक मारते-मारते प्रत्यंचा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथ में ले लिये।

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः॥ २१॥

अर्थ—और उन्हें चला कर बात ही बात में लक्ष्य वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यंत छिन्न-भिन्न हो यन्त्र के छेद से सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा। उस समय आकाश में बड़े जोर का हर्षनाद हुआ और सभामण्डप में तो उससे भी महान आनन्द कोलाहल छा गया।

"पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः॥ २२॥

देवता लोग शत्रुहन्ता अर्जुन के मस्तक पर दिव्य पुष्पों की वर्षा करने लगे।

उपर्युक्त वर्णन द्रौपदी स्वयंवर के समय अर्जुन द्वारा किये हुए मत्स्यवेध का है। अर्जुन अर्थात् साधक, द्रौपदी अर्थात् शांभवी। धरायन्त्र अर्थात् भेद (लक्ष्य) को प्रतिबिंबित करनेवाला भूमि पर एक विशेष प्रकार से बनाया हुआ यन्त्र (जलकुण्ड) जिसमें, मत्स्यवेध (शांभवी मुद्रा) करते समय, बहिर्दृष्टि स्थिर की जाती है। स्वयंवर में विजय प्राप्त होना अर्थात् साधक को शांभवी सिद्ध होना। मत्स्यवेध के समय अर्जुन ने धनुष पर शर चढ़ा कर उसे स्तंभ पर फिरती धातु निर्मित मत्स्य की ओर रखा है। (अर्थात् धनुष को पकड़े हुए एक हाथ की मुट्ठी ऊपर की दिशा में है।) यह हुआ "ऊर्द्ध्व मुष्टि" शब्द का अर्थ। अर्जुन ने अपनी दृष्टि पृथिवी पर बने हुए पानी के कुण्ड (धरायन्त्र) में पड़ने वाले धातुनिर्मित मत्स्य के प्रतिबिंब की ओर अर्थात् नीचे की ओर रखी है। यह हुआ "अधोदृष्टि" का अर्थ। भेद अर्थात्

लक्ष्य (मत्स्य) तो स्तंभ के ऊपर के (उद्‌र्ध्व) मार्ग में है जब कि अर्जुन का शिर नीचे की ओर, कुण्ड में दिखाई पड़ने वाले मत्स्य के प्रतिबिंब की ओर है। इस प्रकार "उद्‌र्ध्व लक्ष्य अधोदृष्टि" अर्थात् "बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की धरायन्त्र की विधि से (शांभवी मुद्रा की क्रिया द्वारा) साधक जीवन्मुक्त होगा।

द्वितीय खण्ड के श्लोक १० में शांभवी मुद्रा की विधि स्पष्ट रूप में बतायी गयी है। यहाँ पर कठिन त्राटक साधना के विषय में संकेत मात्र है और कहा है कि यह मुद्रा सर्व शास्त्रों में गोपित है। किन्तु श्लोक १५ में इस मुद्रा की रहस्यपूर्ण विधि आसानी से रखी गयी है और वह बोधगम्य हो जाय इसीलिए मत्स्यवेध के दृष्टांत रूप में, विचित्र शब्दजाल में ग्रथित कर दिया गया है और उसका फल जीवन्मुक्ति बताया है।[१] यह श्लोक अमनस्क योग ग्रन्थ का हृदय है, यह बात निर्विवाद सत्य है। भगवत्कृपा से ध्यान की प्रक्रिया द्वारा इस श्लोक का जो रहस्य मुझे ज्ञात हुआ है उस सम्पूर्ण रहस्य को बिना कुछ अंश गुप्त रखते हुए मैंने यहाँ पर पाठकों एवं साधकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत कर दिया है। आशा है इस प्रज्वलित ग्रन्थ रत्न-दीप से अनेक लोगों को नया मार्ग, नयी दिशा मिलेगी और वे जीवन के सच्चे एवं उच्चत्तम लक्ष्य के प्रति अग्रसर होने में समर्थ होंगे।

---

१. श्लोक १० में शांभवीमुद्रा "अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की विधि से वर्णित है जब कि श्लोक १५ में वह "बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि" की गुप्त विधि से रखी गयी है।

शांभवी मुद्रा के निम्नलिखित प्रकार हैं—

(१) बहिर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि।

(२) अन्तर्लक्ष्य अन्तर्दृष्टि।

(३) बहिर्लक्ष्य अन्तर्दृष्टि।

(४) अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि।

(५) बहिर्लक्ष्य होने पर भी दृष्टि लक्ष्य पर (बाहर में) नहीं, अपितु लक्ष्य के (बाहरी) प्रतिबिंब पर स्थिर रहती है।

(६) अन्तर्लक्ष्य होने पर दृष्टि लक्ष्य पर (भीतर में) नहीं, अपितु लक्ष्य के बाहरी प्रतिबिंब पर रहती है।

(७) लक्ष्यातीत लक्ष्य।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में मुझे बहुत से विद्वानों की अप्रकाश्य सहायता मिली है। मैं ऐसे सभी महानुभावों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना विश्व के लब्धप्रतिष्ठ और विख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने लिख कर अपना अनुग्रह मुझ पर पुनः व्यक्त करने की कृपा की है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक और नाथसन्त साहित्य के प्रतिष्ठित अध्येता डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय ने योगिराज गोरक्षनाथ के जीवन, साधन और दर्शन पर एक विस्तृत लेख प्रकाशनार्थ देकर ग्रन्थ को अधिक उपयोगी बनाया है। उन्होंने ग्रन्थ के मुद्रण और प्रकाशन आदि की भी सारी व्यवस्था कर इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के लिए आर्थिक व्यवस्था करने में श्री मंगतू राम जयपुरिया (कानपुर), श्री कमल ठक्कर (कलकत्ता), श्री दीपककुमार माथुर (देहरादून), श्री जमनादास नेगांधी, श्री राजेन्द्र कक्कड़ (वाराणसी) ने स्मरणीय योग प्रदान किया है। ये सभी लोग परम धन्यवाद के पात्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ को इस रूप में प्रस्तुत करने में मैंने कुछ नहीं किया। वस्तुतः सब कुछ का कर्ता-धर्ता तो मूलतः वह परम सत्ता नाथ ही है—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयिसन्न्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥
नाहं कर्ता सर्वमेतद् नाथैव कुरुते यथा।

—:o:—
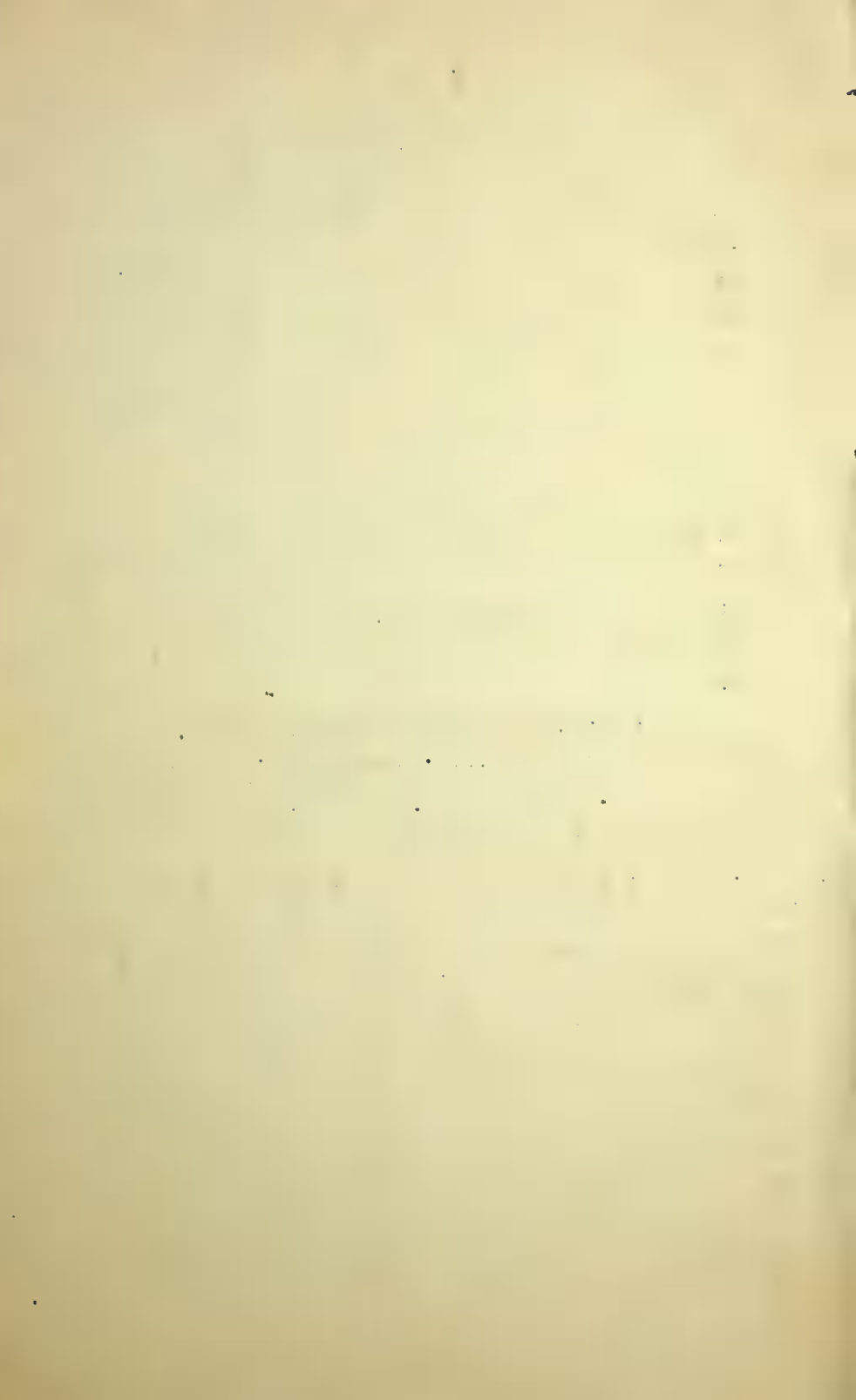
प्रस्तावना

अमनस्क नाम का क्षुद्र ग्रन्थ योगशास्त्र के अंतर्गत एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बहुत वर्षों पहले इस ग्रन्थ के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हुए थे। उनमें से बंगला लिपि में मुद्रित एक संस्करण मैंने देखा था। परंतु इस समय इस ग्रन्थ की उपलब्धि अत्यंत कठिन हो गयी है।

अधिकांश तंत्र ग्रन्थों के सदृश यह ग्रन्थ भी वक्ता और श्रोता के प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है। इस रचना में श्रोता हैं मुनि वामदेव और वक्ता हैं कैलासवासी शंकर महादेव। कई लोगों के मत से यह ग्रन्थ गोरक्षनाथ का बनाया हुआ है। परंतु यह कहाँ तक ठीक है, यह नहीं कहा जा सकता। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में ९८ श्लोक हैं और इसमें तारकयोग का विवरण दिया हुआ है। उत्तरार्द्ध में ११३ श्लोक हैं जिसमें अमनस्कयोग का सविशेष व्याख्यान किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार अमनस्कयोग ही जीवन्मुक्ति का सोपान है। योग के दो प्रकार हैं — पूर्व तथा उत्तर। पूर्वयोग अर्थात् तारकयोग में मन रहता है परन्तु उत्तरयोग अर्थात् अमनस्क योग में मन बिलकुल नहीं रहता। उत्तरयोग ही मुख्य ध्येय है। जैसे प्रचलित पातंजलयोग दर्शन में दो प्रकार के योग का विवरण मिलता है, यह भी ठीक उसी प्रकार का है।

भगवान् पतंजलि के अनुसार योग के संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात नाम के दो प्रकार हैं। असंप्रज्ञात योग ही मुख्य योग है, क्योंकि इसीमें चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। यह असंप्रज्ञातयोग भवप्रत्यय असंप्रज्ञात नहीं है जो कि प्रकृतिलय के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपायप्रत्यय है। उपाय शब्द से प्रज्ञा समझना चाहिए। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रज्ञा के निरोध से उपायप्रत्यय असंप्रज्ञातयोग समाधि होती है। यही योगपद वाच्य है। संप्रज्ञात समाधि में क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियों का निरोध होकर एकाग्र भूमि में स्थिति होती है। यह भी गौण दृष्टि से योगपद वाच्य है, क्योंकि इस भूमि में विशुद्ध ज्ञान का उदय होता है और अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। परंतु मुख्य दृष्टि से यह भी पूर्ण योग नहीं है। जब एकाग्र भूमि में उपलब्ध प्रज्ञा का निरोध हो जाता है तभी सर्वचित्त-वृत्तिनिरोधरूप योग का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि पतंजलि की प्रक्रिया और वर्तमान ग्रन्थ की प्रक्रिया सर्वथा अनुरूप है। जैसे संप्रज्ञात भूमि में मन रहता है उसी प्रकार पूर्वयोग या तारक योग में भी मन रहता है। पक्षांतर में जैसे असंप्रज्ञात योग में मन नहीं रहता, उसी प्रकार उत्तर योग अथवा अमनस्कयोग में भी मन नहीं रहता। केवल मन की निवृत्ति होने से योग नहीं होता क्योंकि प्रकृतिलय की अवस्था मे भी मन का लय होता है। अथच वह योग नहीं है। मन का लय तो होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं, परन्तु सत्यज्ञान का भी उदय होना चाहिए। अमनस्कयोग में भी यही बात है, क्योंकि अमनस्क में आत्मा का साक्षात्कार होता है।

लय के प्रसंग में प्राण तथा मन का सम्बन्ध विचारणीय है। हठयोगी लोग कहते हैं कि प्राण का लय हो जाने से मन का लय होता है। वे लोग यह भी मानते हैं कि मन का लय हो जाने से प्राण का लय होता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध है। हठयोगी संप्रदाय प्राण के लय से मन के लय तक पहुँचने का उद्यम करते थे। ये लोग समझते हैं कि प्राण का लय क्रियासापेक्ष है। देह, इंद्रिय, मन प्रभृत्ति की क्रियाएं परस्पर संबद्ध हैं। देह तथा प्राण का निरोध हो जाने पर मन का निरोध हो सकता है। इसलिए ये लोग अपने प्रयत्न से हठक्रिया के द्वारा इनका निरोध करने के लिए प्रयत्न करते हैं। यह निरोध लयात्मक है। तारकयोग में दिखाया गया है कि विभिन्न मात्राओं में लय के विभिन्न प्रकार के फल होते हैं। यह लय के कालगत तारतम्य का विवरण है। प्राण के अल्प समय के लिए निरुद्ध होने पर जिस प्रकार की सिद्धि उत्पन्न होती है, वहीं, उसी प्रकार, अधिक समय के लिए निरुद्ध होने

पर उससे उन्नत कोटि की सिद्धि का संपादन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का उदय प्राण के नियंत्रणकाल की अवधि के ऊपर निर्भर है। यहाँ तक कि २४ वर्ष तक प्राण का निरोध होने पर शक्ति तत्त्व तक आयत्त हो सकता है। इस प्राण के लय के समान ही मन का भी लय होता है। प्राण का जहाँ लय होता है, उसी स्थान पर मन का भी लय होता है। इसलिए सिद्धि के उदय के विषय में प्राण के लय के साथ मन का लय भी संबंधित है। परन्तु यह विचारणीय है कि प्राण तथा मन का लय साथ-साथ सम्भव होने पर भी अंतिम भूमि की प्राप्ति तक यह नहीं हो सकती। प्राण के लयस्थान में मन का भी लय हो जाता है, यह सत्य है। परन्तु यह अपरा सिद्धि है। यह किसी न किसी समय नष्ट हो जायगी, मन पुनर्वार लौट आयेगा। मन का लय तभी यथार्थ लय कहा जा सकता है, जब वह पुनरावर्तन न करे। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ १५.६॥

यह लयस्थान कोई खण्ड तत्त्व नहीं हो सकता। यही ब्रह्मतत्त्व वा आत्मतत्त्व है। यहीं मन का लय करना चाहिए। उसके प्रभाव से मन हमेशा के लिए शांत हो जायगा और उसकी पुनरावृत्ति नहीं होगी। अमनस्कयोग का यही लक्ष्य है। प्राण का लय केवल शक्ति तक है। यह प्रकृति लय के अनुरूप है और मन का लय ब्रह्म तक है। यही यथार्थ योग है। पूर्व योग में केवल शक्ति तक स्थिति होती है। उत्तरयोग में पूर्ण ब्रह्मरूपेण स्थिति होती है। मन की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह मन निवृत्ति का सहज तथा सरल उपाय है। सद्गुरु के बिना इस सहज अवस्था का उदय नहीं होता। मन का लय हो जाने से अनंत प्रकार के विकल्पजाल अपने आप शांत हो जाते हैं। प्राण भी शांत हो जाता है इंद्रियों का उपशम हो जाता है। अमनस्क के रचयिता के अनुसार यही राजयोग है जिसके पूर्व के योग को प्राणयोग या हठयोग कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न का उदय होता है। यह विचारणीय होने पर भी, यहाँ इस समय इसकी मीमांसा करना कठिन है। मालूम पड़ता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी दोनों में कुछ अंश में वैलक्षण्य था। मत्स्येन्द्रनाथ जो मछंद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और जिनका उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रालोक में किया है, कौलमत के प्रवर्तक थे, ऐसी प्रसिद्धि है। कौलमत के आदि प्रवर्तक ऋषि दुर्वासा थे, परन्तु

वर्तमान युग में इस मत का पुनरुत्थान मत्स्येंद्रनाथ ने ही किया था। हठयोग विषयक ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि मत्स्येंद्रनाथ ने स्वच्छंद भैरवी से आगम प्राप्त किया था। कौल साहित्य पर मत्स्येन्द्रनाथ का विशेष प्रभाव पड़ा हुआ है। इस मत में दूतीयाग की विशेष आवश्यकता समझी जाती है। यह शाक्त धर्म के अनुकूल मार्गविशेष है। परन्तु अमनस्क ग्रन्थ में गुरुतत्त्व के विचारप्रसंग में इसके ऊपर कटाक्षपात किया गया है। अर्थात् कौल मार्ग का गुरू यथार्थ गुरू नहीं हो सकता। यही उसका आशय है। प्राचीन हठमार्गः जो मार्कण्डेय ऋषि द्वारा प्रवर्तित था, अब लुप्त हो गया है परन्तु मत्स्येंद्र द्वारा प्रवर्तित हठयोग इस समय प्रचलित है। यह हठमार्ग प्राण के नियंत्रण का उपदेश देता है। इसका तत्काल का लक्ष्य है शक्ति को आयत्त करना। परंतु अमनस्कसम्मत राजमार्ग का उद्देश्य है मन का नियंत्रण। केवल नियंत्रण नहीं प्रत्युत मन का आत्यंतिक लय, जो कि ब्रह्मतत्त्व में ही सम्भव है, शक्ति तत्त्व में नहीं। गोरक्ष शिवभाव के अनुगामी हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए अमनस्कसम्मत गुरू अपने स्वातंत्र्य के बल से शिष्य की आत्मा की मनोलय के विषय में सहायता करते हैं। मन का लय हो जाने पर प्राण का लय अपने आप होता है। इसके लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती।

यह भी ख्याल रखना चाहिए कि यह तारक योग पतंजलिनिर्दिष्ट तारकज्ञान से विलक्षण है। पतंजलि ने कहा है 'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयं अक्रमं च इति विवेकजं ज्ञानम्'—यह तारकज्ञान अक्रमज्ञान है। विवेकजज्ञान का ही यह एकदेश है। अक्रम शब्दसे यह पता चलता है कि यह काल के अधीन नहीं रहता है, क्योंकि मन की क्रिया में क्रम की अपेक्षा रहती है।

यह अमनस्क प्रचलित उन्मनी से अभिन्न है इसमें संदेह नहीं है। परन्तु आगमोक्त उन्मनी में जो वैलक्षण्य दिखाया गया है इसमें उसका निर्देश नहीं है। इस पर भी दोनों का स्वरूप अभिन्न ही प्रतीत होता है, क्योंकि आगमवर्णित उन्मनी स्थिति प्रणव के पूर्ण विकास के अनंतर शब्दातीत परम स्थिति है। अ उ म, बिंदु, अर्द्धचन्द्र, निरोधिका नाद नादांत, व्यापिनी, समना, उन्मना—ये ही सब प्रणव की कलाएं हैं। इनमें से समना तक आवरण समझना चाहिए। बिंदु अर्द्ध मात्रा रूप से ग्राह्य है। उसके बाद प्रत्येक स्थिति में काल सम्बन्धरूप मात्रा क्षीण होती रहती है। इस प्रकार से समना भूमि में काल की परम अपकृष्ट मात्रा का सम्बन्ध रहता है। यह

मात्रा एक मात्रा का २५६ वाँ अंश अथवा किसी-किसी मत में एक मात्रा का ५१२ वाँ अंश माना जाता है। इसके बाद मन के अंश का अर्पण हो जाता है। तब समना भूमि समाप्त हो जाती है। परन्तु समना भूमि अतिक्रम करने से अर्थात् समना भूमि का अतिक्रम करने पर भी, अर्थात् मनोनिवृत्ति पूर्णरूपेण सिद्ध होने पर भी उन्मना का उदय नहीं होता। मन का न रहना अर्थात् मन का सम्यक् लय आत्मशुद्धि का चरम उत्कर्ष है। अमनस्ककार कहते हैं कि यहाँ ही पूर्णता है, परन्तु आगम के मत से यहाँ पूर्णता नहीं है क्योंकि आगम की दृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार के आवरण विद्यमान हैं—१–प्रकृति का गुणावरण, २–निर्गुण आवरण में माया का आवरण, ३–मायातीत अवस्था में भी शुद्ध माया या महामाया का आवरण जिसको बैन्दव आवरण नाम से भी कहीं-कहीं कहा गया है। समना भूमिभेद हो जाने पर ये सब आवरण नहीं रहते। आणव मल की निवृत्ति पूर्णतया जब तक न हो तब तक सर्वावरणों का मूल रह ही जाता है। यह परम कैवल्य रूप से प्रसिद्ध स्थान है। आत्मा परम शुद्ध केवली रूप में यहाँ प्रकाशमान होती है। यह निर्वाण-पद है, यह परिनिर्वाण पद है, यह भी सत्य है परन्तु यह भी पूर्णत्व नहीं है क्योंकि यहाँ सर्वावरण का मूल आणवमल अब भी आभासरूपेण रह जाता है। इसलिए यहाँ शिवत्व का उदय नहीं होता। अविद्यानिवृत्ति, दुःखनिवृत्ति (ऐकांतिक, आत्यंतिक) तथा क्लेशनिवृत्ति, सब कुछ हो गया, सिद्ध अवस्थाओं का भी अतिक्रम हो गया तथापि यह पूर्णत्व नहीं है, क्योंकि इसमें उन्मनी शक्ति का विकास नहीं है। मनोनिवृत्ति और उन्मनी शक्ति का विकास एक नहीं है। किसी-किसी की मनोनिवृत्ति पूर्णतया हो जाने पर भी उन्मनी शक्ति का विकास नहीं होता। जिसका ऐसा विकास नहीं होता, उसका परम शिवमय धाम में प्रवेश असम्भव है। उन्मनी शक्ति में प्रवेश ही श्री भगवान् के अनुग्रह का चरम निदर्शन है। परन्तु आगम के अनुसार उन्मनी में प्रवेश होने से ही चरम स्थिति नहीं होती क्योंकि उन्मनी कलाओं के अंतर्गत है। उन्मनीकला भी तो कला ही है। उन्मनी स्थिति को ही त्रिशूल पद से कहा जाता है जिसके ऊपर काशी नित्य प्रकाश रूप में विद्यमान रहती है। इसीलिए अंत में उन्मनी की भी निवृत्ति हो जाती है। यही निष्कल परमपद है। यहाँ कहा जा सकता है कि वर्तमान युग मे श्रीअरविंद के प्रयोगविज्ञान में 'सुपर-माइण्ड' का जो स्थान है उससे 'ओवरमाइण्ड' का भेद है, इस प्रकार, इसमें भी उन्मना का वैशिष्ट्य है। उन्मना-निवृत्ति हो जाने पर 'शांतं शिवम् अद्वयम्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अमनस्क का लक्ष्य यही होगा,

परन्तु ग्रमनस्ककार ने केवल मनोनिवृत्ति पर ही जोर दिया है। मनोनिवृत्ति हो जाने पर गुरुकृपा का चरम लक्ष्य स्फुरित हो जाता है।

यह ग्रन्थ अपूर्व है। इसमें शांभवी घरायंत्र प्रभृति प्रक्रियाओं के विषय में विलक्षण तथा विशिष्ट बातोंकी चर्चा की गयी है जो योगमार्ग के चलनशील पथिकों के लिए उपयोगी होगा। ग्रन्थ में अनुवाद तथा मुद्रण में स्थान-स्थान पर कुछ स्खलन लक्षित हुआ है। आशा है यह पुनः प्रकाशन के समय ठीक हो जायगा।

२। ए, सिगरा, वाराणसी।
६ दिसंबर १९६७। } —गोपीनाथ कविराज

—:o:—
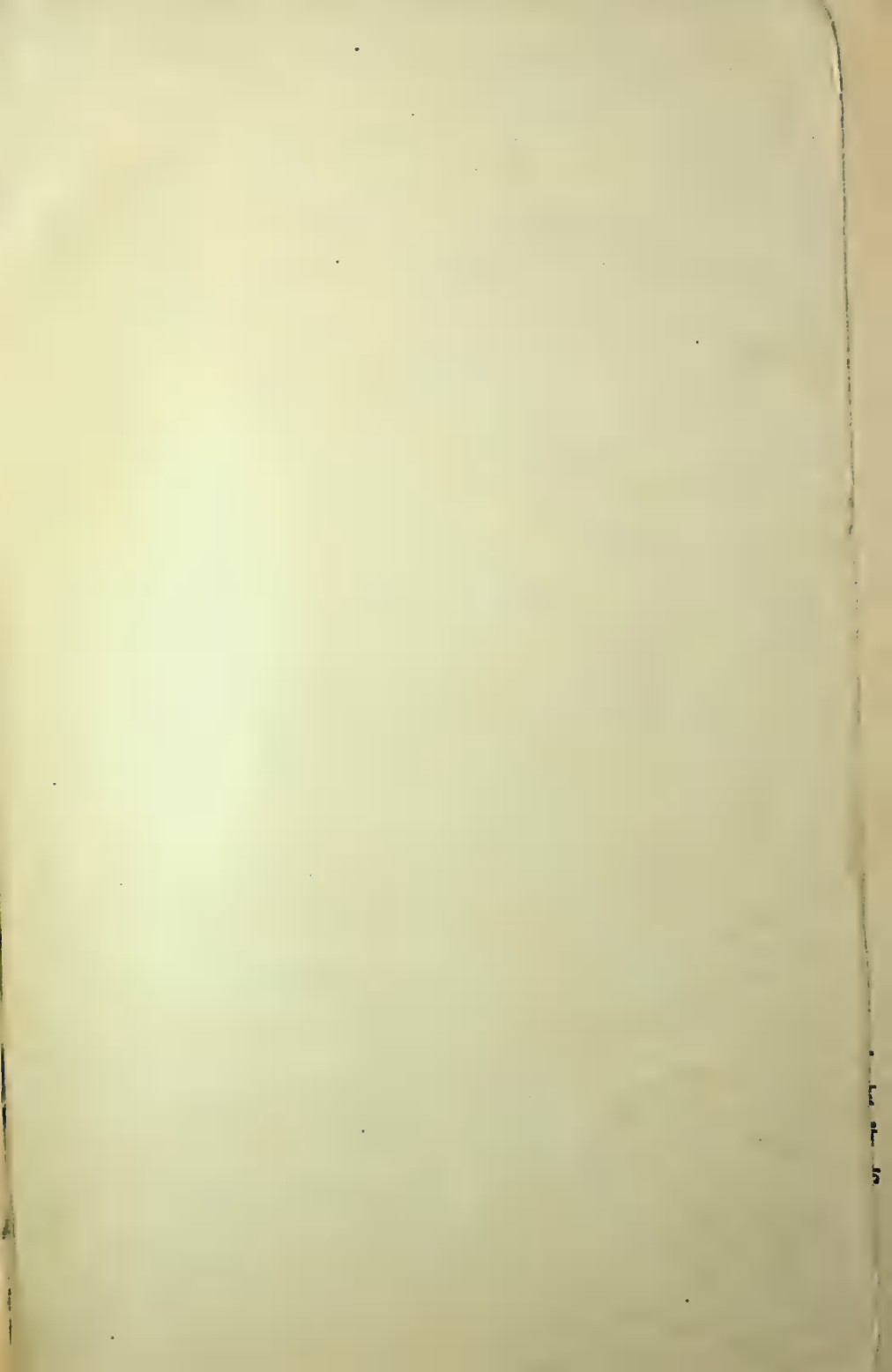
चन्द्रार्कद्रुहिणाच्युताम्बुजसल्लोकेशकंसारिभिः
कालीभैरवसिन्धुरास्यहनुमत्क्रोडैः परीवारितम् ।
वन्दे तं नवनाथसिद्धमहितं मेघाहिमालासनं
मालापुस्तकशूलडिण्डमधरं गोरक्षमृत्युञ्जयम् ॥

वन्दना

गोरक्षमालं गुरुशिष्यपालम्,
शेषाहिमालं शशिखण्डभालम् ।
कालस्य कालं जितजन्मजालम्,
वन्दे जटालं जगदब्जनालम् ॥

वाहनरूप गौ (महोक्ष) की रक्षा करनेवाले अर्थात् स्वयं भगवान् शंकर उनकी भा, महातेजोरूप विभूति, साधक भक्तों को प्रदान करनेवाले अथवा महान् योगी के रूप से विख्यात जो गोरक्ष (गोरक्षनाथ) हैं उनकी योगजनित महादीप्ति साधक योगियों को प्रदान करनेवाले अथवा गौ अर्थात् इन्द्रियों की उनके तत्-तत् विषय (रूप, रस आदि) से रक्षा करनेवाले योगिजनों को महातेजोरूपा विभूति प्रदान करनेवाले अथवा गौओं के रक्षकों को पुण्य-प्रभा से उद्भासित करनेवाले, गुरु और शिष्य दोनों को विघ्न-बाधाओं—आधिभौतिकादि उपद्रवों—से बचानेवाले या उनका पालन करनेवाले, गुरु-शिष्य-परम्परा को निरन्तर अक्षुण्ण रखनेवाले, शेषनाग की माला धारण करनेवाले, मस्तक पर चन्द्रलेखा धारण करनेवाले, काल के भी काल (महाकालस्वरूप), जन्म, जरा, मरण आदि की परम्परा पर विजय प्राप्त कर चुके अर्थात् अनादिनिधन एवं जैसे नाल (कमलनाल) कमल का अधार है वैसे इस जगत् के के अधारभूत जटाधारी भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ।

गोरक्षनाथ
का
जीवन, दर्शन और साधना

नवनाथों की जो विभिन्न सूचियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं, उनमें से अनेक में गोरक्षनाथ का नाम अन्तर्गणित है। चौरासी सिद्धों की भी जो सूचियां अभी तक मिली हैं, उनमें से गोरक्षनाथ का वर्ण-रत्नाकर की 'चौरासी सिद्ध वर्णना' में दूसरा और सस्क्य विहार की तिब्बती सूची में नौवां स्थान है। हठयोगप्रदीपिका में महासिद्धों के गणनाप्रसंग में आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबरानन्द, भैरव, चौरंगी, मीन के बाद गोरक्ष का ही स्मरण किया गया है।[1] सस्क्य विहार की सूची का अनुसरण करनेवाली बौद्ध सिद्धों की जो चित्रावली महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सबसे पहले गंगा पुरातत्त्वांक[2] में

---

१. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० २१०-२११, २१४।

२. पृ० २१६ से आगे, जनवरी १९३३, गंगा कार्यालय, कृष्णगढ़, सुलतानगंज, भागलपुर, बिहार।

प्रकाशित करायी थी, उसे उन्होंने अपनी पुस्तक पुरातत्त्व निबंधावली[3] में भी प्रकट किया। इन दोनों चित्रावलियों में उनका क्रमिक स्थान नौवां है। मत्स्येन्द्रनाथ का नाम भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ के गुरु रूप में प्रसिद्ध हैं। प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दोनों महापुरुषों के नाम साथ-साथ स्मरण किये गये हैं। महार्णवतन्त्र,[4] सुधाकरचंद्रिका,[5] कौलावलीतन्त्र,[6] श्यामारहस्य[7] में इन दोनों महासिद्धों का उल्लेख मिलता है। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ की गणना मानवगुरुओं में की गयी है। ये दोनों ही महासिद्ध योगिराज और नाथाचार्य माने गये हैं। विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में मत्स्येन्द्रनाथ के नाम के विभिन्न रूपान्तर मिलते हैं :—

मत्स्येन्द्रनाथ—(महार्णवतंत्र, योगिसंप्रदायाविष्कृति, सुधाकरचंद्रिका)

मीन, मीनो—(विभिन्न तंत्र ग्रन्थ, श्यामारहस्य, वर्णरत्नाकर।)

मीनपा, मीनपाद—(सक्य विहार की सूची, कौलज्ञाननिर्णय, अकुलवीर तन्त्र)

मत्स्येन्द्रनाथ—(योगविषय-सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स)।

मच्छघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येन्द्रपाद—(कौलज्ञाननिर्णय)।

मच्छेन्दपाद—(अकुलवीर तंत्र, बी.)।

मत्स्येन्द्र—(कुलानंद, हठयोगप्रदीपिका)।

मच्छिन्द्रनाथपाद—(ज्ञानकारिका)।

मच्छन्द—(तन्त्रालोक—अभिनवगुप्त रचित)।

इसी प्रकार गोरक्षनाथ के भी नाम के विविध रूपान्तर हैं—

गोरक्ष—(हठयोगप्रदीपिका, विभिन्न तन्त्र, श्यामारहस्य)।

गोरक्षनाथ—(महार्णवतंत्र, योगीसम्प्रदायाविष्कृति, सिद्धसिद्धांतपद्धति, अमरौघप्रबोध, योगमार्त्तण्ड)।

---

३. पृ० १४४—ग, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९३७।

४, ५, ६, ७—नाथ सम्प्रदाय—डा० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० २४, ७६, २४।

गोरक्षणाथ—(वर्णरत्नाकर)।

गोरक्षपा—(सस्क्य विहार की सूची)।

नामों के ये रूपान्तर देने के दो प्रयोजन हैं। पहला तो यह कि प्राचीन साधनात्मक और दार्शनिक ग्रन्थों में इन दोनों महासिद्धों का स्मरण यह बतलाता है कि ये दोनों ही अपने समय के बहुत प्रसिद्ध और अतिमान्य महासिद्ध थे और विभिन्न साधन संप्रदायों के ग्रंथ इन्हें आदर के साथ स्मरण करते थे। दूसरी बात यह है कि तन्त्र प्रभावापन्न सभी साधनसंप्रदायों ने इनका नाम अपनी सूची में सम्मिलित कर लिया है, जैसे ये उन्हीं के संप्रदाय के हों। इसीलिए इनके नामों के इतने रूप मिलते हैं। इनकी प्रसिद्धि काल और देश दोनों ही दृष्टियों से बहुत व्यापक थी। ऊपर के ग्रन्थों में योग, तन्त्र और शैव ग्रन्थ अधिक हैं। इनमें से अधिकांश (जैसे हठयोगप्रदीपिका १४ वीं शताब्दी के पूर्व, वर्णरत्नाकर १३ वीं-१४ वीं शताब्दी, कौलज्ञाननिर्णय के ग्रन्थ ११ वीं शताब्दी) १४ वीं शताब्दी के पूर्व के हैं। तन्त्रालोक का समय ११ वीं शताब्दी का पूर्व भाग है। अभिनवगुप्त के उल्लेख से इतना पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ १० वीं शताब्दी के अन्तिम दशक (९९१ ई०) के पूर्व तक पर्याप्त प्रसिद्ध और पूजित हो चुके थे। जालंधरनाथ राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन थे। इस प्रकार ये तीनों महासिद्ध ९ वीं-१० वीं शताब्दी के पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे। वैसे सिद्धकायावाले महासिद्धों का कालनिर्णय करना सांप्रदायिकों की दृष्टि में उपहासास्पद है। बहुत से आधुनिक दृष्टिवाले नाथपंथी गोरक्ष को वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का समकालीन मानते हैं। कुछ पौराणिक नाथपंथी गोरक्ष को यदुवंशी श्रीकृष्ण के एक विवाह का साक्षी मानते हैं और कुछ लोगों का विश्वास है कि उन्होंने चारो युगों में अलग-अलग स्थानों में अवतार भी लिये थे।

इतना विस्तृत उल्लेख मिलने पर भी गोरक्षनाथ का प्रामाणिक जीवनवृत्त आज भी उपलब्ध नहीं है। उनके जन्मादि के सम्बन्ध में नेपाल में प्रचलित एक कथा के अनुसार महादेव ने एक पुत्रकांक्षिणी नारी को विभूति दी। नारी ने अविश्वास कर उसे गोबर के ढेर में फेंक दिया। बारह वर्ष बाद महादेव के पुनः अनुसंधान के

फलस्वरूप उस स्थान से गोरक्ष का आविष्कार हुआ। इन्हीं गोरक्ष-नाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। बाद में गोरक्ष अपने गुरु के साथ नेपाल गये। वहां अनादृत होने पर उन्होंने मेघसमूहों को आबद्ध कर अनावृष्टि कर दी। अचानक उस मार्ग पर मत्स्येन्द्र के आने पर गोरक्षनाथ साष्टांग दण्डवत् करने के लिए उठे। मेघ मुक्त हो गये और वहाँ वृष्टि हुई।[८] उपर्युक्त जन्म सम्बन्धी कथांश में कहीं कहीं महादेव के स्थान पर मत्स्येन्द्रनाथ का नाम मिलता है और पुत्रकांक्षिणी नारी के ब्राह्मणी होने का भी कहीं कहीं उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त कथा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली तो यह कि गोरक्ष का जन्मवृत्तांत रहस्यमय है। दूसरी यह कि नेपाली परंपरा के अनुसार मत्स्येन्द्र गोरक्ष के गुरु थे। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह के अनुसार गोरक्ष ईश्वरसन्तान थे। उनका चरित्र अत्यन्त शुद्ध और निर्मल था। स्वयं देवी भगवती उनके चरित्र की परीक्षा लेने में पराजित हुई थीं।[९] उनके जन्मस्थान और जीवनवृत्त के विषय में विविध मत प्रचलित हैं। इनका संक्षेप इस प्रकार है।

१—नेपाल, पंजाब, गोरक्षपुर आदि को उनका जन्मस्थान माना जाता है।

२—निराकार निरंजन के धर्म से गोरक्ष की उत्पत्ति हुई। ये मत्स्यजात मत्स्येन्द्र के पिता थे। इन्होंने अपने पाप का प्रक्षालन करने के लिए गुरु का अन्वेषण किया और अन्त में अपने पुत्र का ही गुरु रूप में वरण किया।

३—गोदावरी के तट पर एक ब्राह्मणी के गर्भ से गोरक्ष का जन्म हुआ और बारहवें वर्ष के अन्त में मत्स्येन्द्र द्वारा आंतर्धानिक रीति से संप्रदान हुआ। गोरक्ष ने गोसेवा की और योगशक्ति प्राप्त की।

---

८. नाथ संप्रददायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० २८०; कौलज्ञाननिर्णय—डा० प्रबोधचन्द्र बागची, भूमिका पृ० १२।

९. नाथ संप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली—पृ० २९।

४—स्कंदपुराण में गोरक्षावतार की कथा मिलती है।

५—गोरक्षनाथ गोपीचन्द्र की माता (मयनामती) के गुरु रूप में स्वीकृत हैं।[१०]

६—योगिसंप्रदायाविष्कृति में उन्हें गोदावरी तीर के किसी चन्द्र-गिरि में उत्पन्न बताया गया है।

७ दरबार लाइब्रेरी, नेपाल के गोरक्षसहस्रनाम नामक एक लघु-काय हस्तलेख के एक श्लोक के अनुसार दक्षिण दिशा में स्थित किसी वड़व नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से महाबुद्धिशाली गोरक्षनाथ का अभ्युदय हुआ था।

८—क्रुक्स और ग्रियर्सन द्वारा उद्धृत एक परंपरा के अनुसार गोरक्ष-नाथ सत्ययुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरक्षपुर में, द्वापर में द्वारिका के भी आगे हुरमुज में और कलिकाल में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए थे।

९—बंगाल में प्रचलित एक विश्वास के अनुसार गोरक्षनाथ उसी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे।

१०—नेपाली परम्पराओं के अनुसार गोरक्षनाथ पंजाब से नेपाल गये थे।

११—गोरखपुर के महन्त के अनुसार गुरु गोरखनाथ टिला (झेलम, पंजाब) से गोरखपुर आये थे।

१२—नासिक के योगियों का विश्वास है कि वे पहले नेपाल से पंजाब आये और बाद में नासिक की ओर गये थे।[११]

१३—सम्प्रदाय में टिला के प्राधान्य को देखकर ब्रिग्स ने अनुमान किया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पंजाब के निवासी रहे होंगे।

१४—कच्छ में प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ के शिष्य धर्मनाथ पेशावर से कच्छ आये। ग्रियर्सन के अनुसार धर्मनाथ गोरक्षनाथ के सतीर्थ थे।

---

१०. वही, पृ० २९–३०।

११. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९६-९७।

१५-ग्रियर्सन का अनुमान है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमी हिमालय के रहने वाले थे।

१६-गोरक्षनाथ ने उड़ीसा की भी यात्रा की थी और मल्लिकानाथ को शिष्य बनाया था।[१२]

उपर्युक्त विभिन्न मतों की परीक्षा कर गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१—गोरक्षनाथ के जन्मस्थान के सम्बन्ध में अधिकांश मत और कथाएँ भारत के पश्चिमोत्तर भाग की ओर संकेत करती हैं।

२—उन्होंने अपने जीवन-काल में नेपाल, बंगाल, कच्छ, काठियावाड़, नासिक, उड़ीसा आदि की यात्राएं की थीं।

३—यात्राओं के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वासों और कथाओं से ऐसा अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ पंजाब से गोरक्षपुर गये। वहाँ से वे नेपाल गये। नेपाल से वे पुनः पंजाब लौटे और फिर नासिक के लिए प्रस्थान किया।

४—बंगाल की अपेक्षा पंजाब या भारत के पश्चिमोत्तर भाग से उनका अधिक संबन्ध रहा।

५—उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे।

६—जन्म किस वंश में हुआ, यह विवादास्पद है, तथापि प्रवाद उनके ब्राह्मण होने की ओर संकेत करते हैं।

७—माता-पिता के संबन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं।

केवल प्रवादों, किंवदन्तियों और विश्वासों के आधार पर निष्कर्ष निकालने के कई कारण हैं। उपर्युक्त विवरणों से यह प्रकट है कि गोरक्षनाथ ने अकालसंन्यास लिया था अथवा वे बहुत बाल्यावस्था में ही सन्यस्त हो गये थे। अकालसंन्यास लेनेवाले बहुत से आचार्यों, संन्यासियों की चर्चा बहुत पुरानी हो चुकी है। दूसरी बात यह है कि संन्यासी होना वस्तुतः जन्मान्तर माना जाता है। प्रायः संन्यासी होने के बाद नामादि का भी परिवर्तन होता है। दीक्षाओं के अनुसार भी नामों में परिवर्तन होते हैं और फिर नाथ-

१२. नाथ और संत साहित्य—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट २।

संप्रदाय में तो नादपरंपरा ही स्वीकार की जाती है, बिंदुपरंपरा का यहाँ कोई महत्व नहीं। ऐसी स्थिति में यदि गोरक्षनाथ का जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। संन्यासी होने के बाद लोग अपने पूर्ववृत्त, जन्मस्थान, वंश, कुल, माता-पिता आदि की चर्चा नहीं करते। अतः ऐसी स्थिति में केवल विश्वास, किंवदन्तियाँ, प्रवाद आदि ही आधार रह जाते हैं।

सांप्रदायिकों द्वारा गोरक्ष नाम की विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन व्याख्याओं का कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। इन व्याख्याओं का कुछ कथाओं से भी संबन्ध स्थापित किया जा सकता है। ये साधनापद्धति और दर्शन से भी संबन्ध रखती हैं और किसी क्रिया अथवा पक्ष की ओर संकेत करती हैं। उदाहरण के लिए गोरक्षनाथस्तोत्र में कहा गया है—" 'ग'-कार गुणसंयुक्त, 'र'-कार रूपलक्षण, 'क्ष'-कारेण अक्षय ब्रह्म श्री गोरक्ष नमोऽस्तु ते।" इसके द्वारा गोरक्षशब्द का माहात्म्यवर्णन किया गया है।[१३] गोरख उपनिषद् में दो स्थलों पर दो भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। प्रथम के अनुसार गोरक्षनाथ अन्तर्यामी होकर संसार के जीवों की इन्द्रियों (गो) की रक्षा करते हैं। दूसरे स्थल के अनुसार गो शब्द का अर्थ वाक् ब्रह्म है। 'र' का अर्थ है रक्षा करते हैं। 'क्ष' का अर्थ क्षयरहित अर्थात् अक्षय वाक् ब्रह्म की रक्षा करनेवाले हैं श्री गोरक्षनाथ।[१४] गोरक्षउपनिषद् की यह दूसरी व्याख्या गोरक्षस्तोत्र से मिलती-जुलती है। एक आधुनिक सांप्रदायिक रचना 'गोरक्षशब्द निरुक्तिः' में कहा गया है—'गां रक्षतीति गोरक्षः, रक्षतीति रक्षः, गवां रक्षः गोरक्ष—यावत्गोपदवाच्य की जो रक्षा करता हो, उसे गोरक्ष कहते हैं अर्थात् जितने भी गो शब्द के अर्थ हैं उन अर्थों की रक्षा करने वाले का नाम गोरक्ष है।[१५]

---

१३. नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली–पृ० २६; गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह–पृ० ४२।

१४. सिद्धसिद्धांतपद्धति ऐंड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज–डा० कल्याणी मल्लिक पृ० ७२.–७३।

१५. गोरक्ष ग्रंथमाला का ८२ वां पुष्प, पृ० ६, पांच पुस्तिकाओं का संग्रह, प्रकाशक—योगप्रचारिणी महासभा, गोरक्षटीला, काशी।

इस अन्तिम रचना 'गोरक्षशब्दनिरुक्तिः' में ऐसा दिखाया गया है कि गोरक्ष शब्द बहुत प्राचीन साहित्य में मिलता है और उद्धरण-कर्ता का अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि वह इस प्रयत्न से गोरक्ष की प्राचीनता सिद्ध करना चाहता है। प्रमाण के लिए अथर्ववेद, ब्रह्माण्डपुराण, स्कन्दपुराणान्तर्गत केदारखण्ड (अध्याय ४२, ४५, ४६, ७४), शिवपुराण, महाकाल योगशास्त्र कल्पद्रुम, गोरक्षगीता, मार्कण्डेयपुराण, शाक्तप्रमोद आदि के विभिन्न उद्धरणों को प्रस्तुत कर यह कहा गया है कि गोरक्षनाथ का निवासस्थान केदारखण्ड के दक्षिण भाग में है, जहाँ सर्वदा अत्यन्त उष्ण जल विद्यमान रहता है। अनुमानतः यह स्थान कांगड़ा अथवा हिंगलाज हो सकता है। शिवपुराण के अनुसार गोरक्षनाथ शिवावतार थे। गोरक्षगीता में बताया गया है कि इन्द्राणी के पातिव्रत की रक्षा में गोरक्षनाथ ने सुराचार्य बृहस्पति की सहायता की थी। मार्कण्डेयपुराण में मार्कण्डेय और मत्स्येन्द्रादि के द्विविध हठयोगी मतों की ओर संकेत है। स्कंदपुराण के केदारखण्ड में नवनाथों में गोरक्ष की भी गणना की गयी है। प्राणतोषिणी में नवनाथ वर्णनप्रसंग में विमलानन्दनाथ नाम से श्रीनाथ (गोरक्षनाथ) का ही स्मरण किया गया है। इसी प्रकार शाक्तप्रमोद में भी श्रीनाथ का वर्णन है। स्कंदपुराण के हिमवत्खण्ड में, विरूपाक्षतीर्थयात्रा के प्रकरण में भी गोरक्ष की सिद्धि-प्रदायकता का वर्णन है।[१६] गोरक्ष शब्द की जो व्याख्याएं दी गयी हैं और विभिन्न ग्रंथों में जिन-जिन प्रसंगों में उनके उल्लेख मिलते हैं, उनसे श्रीगोरक्षनाथ की साधनात्मक असाधारणता, चारित्रिक उच्चता, हठयोगाचार्यता की ओर संकेत होता है।

गोरक्षनाथ के जीवनवृत्त पर प्रामाणिक सामग्री के अभाव में उनके चरित्र और व्यक्तित्व पर भी प्रामाणिक रूप में कुछ कहना कठिन है। उनके नाम से प्राप्त रचनाओं, किंवदन्तियों, विश्वासों, कथाओं के आधार पर कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। कोई प्रामाणिक सामग्री न होने के कारण ही विद्वान् लोग गोरक्ष-नाथ के चरित और व्यक्तित्व पर अभी तक कुछ न लिख सके थे। लेकिन पूर्ण अभाव की स्थिति में यदि कुछ अनुमान के आधार पर

---

१६ वही, पृ० ८–१२।

ही कह लेने का अवसर मिल जाय तो उसे पूर्ण लाभ समझा जाय, इसलिए कुछ विद्वानों ने प्रयास किया। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गोरखनाथ को शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्व-वाला महापुरुष घोषित किया। बाद में विद्वानों ने तत्कालीन परि-स्थितियों का मूल्यांकन किया और यह स्थिर किया कि जिस समय भारतवर्षीय धर्मसम्प्रदायों में वामाचार, पंचमकार के परम परि-शुद्ध और साधनोन्नतिकारी रूप का दुरुपयोग और कुरूपोपस्थापन होने लगा था और उसे मनुष्य की विगर्हित वासनाओं की पूर्ति का साधन समझा जाने लगा था, उस समय साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता और आडं-बररहित जीवन की महिमा का उद्घोष गोरक्षनाथ ने ही किया। वस्तुतः प्राचीन तांत्रिक साधना-परम्परा और उसके अवस्थागत क्रमिक विकास के महत्व को गोरक्षनाथ अच्छी तरह जानते थे। इस-लिए उन्होंने तांत्रिक साधना-गत मूल सिद्धान्तों, जैसे गुरु शिष्यवाद, दीक्षा, परीक्षा, अधिकारभेदवाद की शैव संप्रदायों में पुनः पूर्ण प्रतिष्ठा की क्योंकि उस समय अशैव बौद्धादि सम्प्रदायों में इन नियमों और सिद्धान्तों के उल्लंघन से तांत्रिक साधना का विगर्हित रूप प्रकट हो रहा था। गोरक्षनाथ की संस्कृत और हिन्दी दोनों प्रकार की रचनाओं में उपर्युक्त नियमों के प्रमाण पुष्कल परिमाण में प्राप्त हो सकते हैं। गोरक्षनाथ ने दूसरा महत्वपूर्ण कार्य शैव सम्प्रदायों का संगठन करके सम्पन्न किया। बौद्धों की दार्शनिक क्षेत्र में पराजय तो कुमारिल और शंकराचार्य प्रमाणित कर चुके थे, लेकिन सांप्रदायिक और सामाजिक क्षेत्र में बौद्धों का अब भी बड़ा प्रभाव था। बौद्ध संन्यासियों का प्रभाव हर्षवर्धन के समय तक कितना था, यह इतिहास स्पष्ट बतलाता है। संन्यासियों में उनकी संख्या सबसे ज्यादा थी। लेकिन शंकराचार्य के बाद भी शैव संन्या-सियों का संगठन न हो पाया था और कालामुख, कापालिक, पाशु-पत, लिंगायत आदि अनेक सम्प्रदाय तत्कालीन बौद्धों की तरह जन-समाज में भय, शंका, घृणा आदि की दृष्टियों से देखे जाते थे। समाज की साधनागत और धर्मगत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने की शक्ति इनमें समाप्त हो चली थी। यों कहा जा सकता है कि इनकी सामाजिक उपयोगिता समाप्त हो गयी थी।

अतः ये भी शक्तिहीन होते जा रहे थे। उसी समय काश्मीर शैव दर्शन और साधना का विकास हो रहा था। उसमें कई आचार्यों का अभ्युदय हो चुका था। इन सारी आवश्यकताओं और परिस्थितियों को भली भाँति परख कर गोरक्षनाथ ने सदाचारपरायण, संयमपूर्ण परम्परागत शैव दर्शन और साधना पर आधारित और जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों से संगठित सिद्धमत अथवा नाथयोगी सम्प्रदाय का समारंभ किया। बहुत पहले से ही लकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कालामुख आदि वेदबाह्य घोषित हो चुके थे। शंकराचार्य की शैवता और वेदानुकूलता तो गोरक्षनाथ के पहले से ही घोषित थी। अतः इन तथाकथित वेदबाह्य, जीर्णप्राय शैव सम्प्रदायों का नये संगठित रूप में पुनरुज्जीवन आवश्यक था ही जो गोरक्षनाथ के हाथ से सम्पन्न हुआ।

ये महत्वपूर्ण कार्य सामान्य चरित्रवाले व्यक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकते थे। आदर्श के अनुकूल अपने चरित्र को खरा उतार कर धर्मप्राण जनता के सम्मुख प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति इस प्रकार का नेतृत्व सम्हाल सकता है। साधनागत पूर्णता के साथ चरित्रगत-पूर्णता भी आवश्यक थी। सामान्य जनता को आकर्षित कर लेनेवाले आकर्षक चरित्र और पूर्ण व्यक्ति से ही ये कार्य संभव थे। इसका पूरा प्रमाण हमें उपर्युक्त स्रोतों में मिलता है। उनके ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत के अच्छे संस्कारसम्पन्न ज्ञाता थे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति इसका प्रमाण है। इसी प्रकार मत्स्येन्द्रोद्धार के लिए जब गोरक्ष कदली देश गये थे, तो वहाँ की स्त्रियोंने गोरक्ष के रूपको देखकर उन्हें गोरक्ष से मिलने नहीं दिया। इस कथांश के आधार पर लोगोंने यह अनुमान लगाया है कि गोरखनाथ बहुत सुन्दर थे।[१७] मत्स्येन्द्रोद्धार के ही प्रसंग में लोककथाओं से पता चलता है कि गोरखनाथ बहुत चतुर, समय देखकर कार्य करनेवाले और विभिन्न प्रकार के वेष धारण करने में बहुत निपुण थे। विभिन्न प्रकार की विद्याओं में निष्णात होने के कारण उन्हें इसमें तनिक भी कठिनाई न होती थी। वे मृदंगवादन में निपुण थे। नृत्यकला का भी ज्ञान था। सूक्ष्म रूप धारण करने की सिद्धि भी थी। लोक-

---

१७. गोरखनाथ और उनका युग—डा० रांगेय राघव, पृ० ४५--४६।

कथाओं में इन सबके प्रमाण मिलते हैं। इसी निपुणता के आधार पर कहीं-कहीं उन्हें विद्याधर भी कहा गया है।[१८]

प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकार के नैपुण्य, सौन्दर्य, गुणवत्ता से सम्पन्न होने पर व्यक्ति चरित्र और नैतिकता की दृष्टि से क्षीण हो जाता है अथवा उन्हें सम्हाल नहीं पाता। गोरक्षचरित्र गुण और शक्ति दोनों का मणिकांचन योग है। ब्रह्मचर्यपरायण और हठयोगाचारनिष्ठ नैतिकता से सम्पन्न योगिसम्प्रदाय के विकास का मूल श्रेय गोरक्षनाथ को ही है। ऐसे व्यक्ति की रचनाओं में प्राप्त उपदेशों से यह बात स्पष्ट प्रकट होती है कि गोरक्ष ने इस प्रकार संयमपूर्ण ब्रह्मचर्यपरायण योग का उपदेश देकर यदि उसे जीवन में न उतारा होता तो नाथयोगिसंप्रदाय का यह रूप आज न रहा होता। उनकी कथनी और करनी में अभेद था, यह मानकर ही हम उनकी रचनाओं के आधार पर उनके जीवनचरित्र और गुणों का निष्कर्ष निकाल सकते हैं। चार महासिद्धों की पार्वती द्वारा जो परीक्षा ली गयी, उसमें गोरक्ष को छोड़कर और सभी विचलित होगये। गोरक्ष ने अविचल भाव से ऐसी अप्रतिम सुन्दरी के मातृरूप की ही आकांक्षा की और उसकी गोद में बैठकर स्नेहामृत प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। इस कथांश के आधार पर दो बातें अनुमित की जा सकती हैं। एक तो यह कि गोरक्ष नारी के केवल मातृरूप के पूजक और समर्थक थे और उन्होंने जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, संयम, उद्वेगरहित हृदयमार्ग को उचित माना था। यदि उन्होंने इसे आचरित न किया होता तो वे निश्चय ही मत्स्येन्द्र के उद्धार के लिए न जाकर स्वयं उसी में रम गये होते। उनकी रचनाओं में यह स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि वे कंचन और कामिनी दोनों को सहज रहनी और साधनात्मक जीवन के लिए विघातक मानते थे। उद्धार के बाद भी, कामिनी छूटने पर भी, कंचन के प्रति मोह मत्स्येन्द्र के मन में शेष रह गया था। वे एक झोली में स्वर्णमुद्राएं भर लाये थे और छिपा रखा था। गोरक्ष ने सामने के पहाड़ को ही योगबल से स्वर्णमय बना दिया। मत्स्येन्द्र ने झोली नदी में फेंक दी। इससे यह भी स्पष्ट है कि वे यौगिक सिद्धियों का प्रयोग परहितसाधन के

१८. वही, पृ० ४७-४८।

लिए ही करते थे। दूसरी कथाएं भी इस बात की पुष्टि करती हैं। गोरखपुर में उन्होंने योगबल से अन्न वितरण किया। उस समय यौगिक सिद्धियों का प्रयोग जनपीड़न के लिए करनेवाले लोग भी थे। गोरखनाथ की उनसे नहीं पटी। दयानाथ अपनी फूँक से पहाड़ी जंगलों में आग लगा देता था। चामत्कारिक रस्सी से बंधवाकर रहस्यमय डंडे से लोगों को पिटवाता था। पहाड़ों को आकाश में उड़ा देता था। अतः गोरक्षनाथ ने गोपीचन्द्र के आवाहन पर उससे कहा : 'लोगों को दुःख न दो, मैं तुम्हें और तुम्हारे अनुवर्तियों तथा परवर्तियों को वरदान देता हूँ कि स्वच्छ श्वेत वस्त्रों और अच्छे घोड़ों की कमी नहीं पड़ेगी।" फिर उन्होंने दयानाथ को अपना शिष्य बनाया। कान फाड़कर कुण्डल पहनाएँ, काले डोरों का साफा सिर पर रखा और दीनोधर वापस भेज दिया।[१९]

उनकी रचनाओं से और उनके सम्प्रदाय के संगठन से यह बात सिद्ध होती है कि वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के भेद-विभेदों को नहीं मानते थे। स्वयं उनका सम्प्रदाय अपने को अति वर्णाश्रमी मानता है। यवनों को भी उन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया था। मानवमात्र के प्रति समदृष्टि को वे आवश्यक मानते थे। एक कथा के अनुसार उन्होंने ज्वालादेवी के मंदिर में हिंसाविरहित मानसी पूजा का सूत्रपात किया था। उनकी कुछ पंक्तियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वे भांग, मद्य, मांसादि से बहुत दूर रहते थे। एक कथा से स्पष्ट होता है कि गोरक्ष धनको योगी के लिए आवश्यक नहीं मानते थे। गोरक्षने रांझा से कहा था—"मैं पृथ्वी पर सोता हूँ। मेरे पास बिस्तर नहीं, ओढ़ावन नहीं, कंकण पत्थरों पर सोता हूँ और वियावान में रहता हूँ। योगी तो निर्धन होते हैं। धन उनके पास नहीं होता।"[२०] उन्होंने अपने लिए कोई निवासस्थान नहीं बनाया था। वे सदैव भ्रमणशील रहे। चार युगों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उनके निवास अथवा अवतार की जो बात कही जाती है, वह वस्तुतः उन-उन प्रदेशों की उनकी यात्राओं का विवरण है। रांझा की कथा में गोरख को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि युवती स्त्रीको 'बहन' और वयस्काको 'माता' का सम्बोधन दो।

१९. गोरखनाथ और उनका युग—पृ० ५१–५२।

२०. वही—पृ० ५४ पर उद्धृत ब्रिग्स।

'वयस्का स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में अत्यन्त श्रद्धा थी। वे उनका माता के समान आदर करते थे। गोरखनाथने स्त्री को केवल माता के ही रूप में देखा, जो स्नेह से बालकको पालती है, जिसमें वासना नहीं रहती।' 'युवती स्त्रियोंको गार्हस्थ-धर्म में पतिव्रता के रूप में देखने के इच्छुक थे। उसके कामिनी रूप से उन्हें चिढ़ थी। वे उसकी वासना से घृणा करते थे। लड़कियों का शीलपूर्ण होना उन्हें भाता था। स्त्री के प्रति उनका विचार उनके सिद्धान्तों में बड़ा हाथ रखता है।'[२१] संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी मस्त रहना उनकी रहनी की विशेषता थी। ऐसी मस्ती में साधना भी निर्विघ्न भाव से चलती रहे, यही उनकी आकांक्षा थी।[२२]

उनके पाण्डित्य के सम्बन्ध में भी अब प्रायः संदेह नहीं रह गया है। 'अमरौघशासनम्' और 'महार्थमंजरी' यदि उन्हीं की रचनाएँ हैं तो निश्चय ही उन्होंने भारतीय दर्शनों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी हिन्दी रचनाओं से यह बात स्पष्ट होती है कि वे पाण्डित्य को महत्व नहीं देते थे।[२३] गोरक्ष का अपने समकालीन सिद्धों से बहुत संघर्ष था। कहा जाता है कि गोरक्षनाथ और कृष्णपाद या कान्हुपा की साधनापद्धति में भी संघर्ष था। संघर्ष का दूसरा कारण यह था कि गोरक्षनाथ अपने भक्तों, अनुयायियों और विपत्ति में पड़े लोगों की सहायता के लिए हमेशा दौड़ पड़ते थे।

---

२१. वही—पृ० ५६।

२२. 'हसिबा षेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग॥
हसिबा षेलिबा गाइबा गीत। दिढ करि राषि आपना चीत॥७॥
हसिबा षेलिबा धरिबा ध्यान। अहनिसि कथिबा ब्रह्म गियान॥
हसै षेलै न करै मन भंग। ते निहचल सदा नाथ के संग॥८॥
गोरखबानी, सबदी, पृ० ३–४।

२३. 'वेद कतेब न षांणी बांणी। सब ढंकी तलि आंणी॥
गगनि सिषर महि सबद प्रकास्या। तहं बूझै अलष बिनांणी॥४॥
वेदे न सास्त्रे कतेबे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जाना बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई॥६॥
—गो० बा०, पृ० २-३।

कानिफा, जालन्धर, दयानाथ आदि के साथ उनका संघर्ष कथाओं में प्रसिद्ध है। यह भी संभव है, जैसा कुछ कथाओं से मालूम पड़ता है कि भिन्न साधनमार्ग, जो लोगों को सही रास्ते नहीं ले जाते थे, भी इसके कारण रहे हों। तत्कालीन प्रचलित विभिन्न साधन-संप्रदायों का उनके विरूप से उद्धार और नाथमत में उनका संगठन, यह भी उनका एक लक्ष्य था। इसके लिये उन्हें विभिन्न प्रकार के पराक्रम दिखाने पड़े और उनसे सम्बद्ध अनेक कथाएँ, किंवदन्तियाँ तत्तत्प्रदेशों में प्रचलित हो गयीं। अपने संप्रदाय और उसके अनुयायियों की श्रेष्ठता के लिए उन्हें चिंता रहती थी। इसीलिए वे अपने अनुयायियों को चित्त की दृढ़ता का उपदेश देते थे। भारत में इतना भ्रमण करनेवाले और जनसमाज के संपर्क में आनेवाले, दुखियों के दुःख को देखकर तुरत दौड़ पड़नेवाले के लिए भी चित्त की दृढ़ता अत्यधिक आवश्यक थी। उनका कुछ हिंसक यवनों से भी पाला पड़ा था और उन्होंने उन्हें हिंसा से विरत करने के लिए उपदेश भी दिया था। प्रसिद्ध है कि बहुत से मुसलमान भी उनके शिष्य हो गये थे। हिन्दी की रचनाओं के अनुसार विभिन्न सांप्रदायिक संन्यासियों के आडंबर की ओर भी उनकी दृष्टि थी और वे नाथयोगियों को उनसे मुक्त रखने के भी अभिलाषी थे। कार्पटिक, नागा, मौनी, दूधाधारी आदि ऐसे ही संन्यासी थे।[२४]

गोरक्षनाथ का व्यक्तित्व और कृतित्व विभिन्न किंवदन्तियों और लोककथाओं से इतना आवृत है तथा साम्प्रदायिकों द्वारा इस प्रकार की अनैतिहासिक बातें इतनी अधिक मात्रा में प्रसारित की गयी हैं और वे परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि कुछ लोग गोरक्षनाथ को पौराणिक प्रसिद्धिवाला व्यक्ति मानने लगे हैं। अब तक उनकी ऐतिहासिकता और समय के सम्बन्ध में जितना काम हुआ है, ह संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है। इन सबके आधार पर, मोटे तौर पर, इतना तो निश्चय हो गया है कि गोरक्षनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और शंकराचार्य के पश्चात् और रामानुजाचार्य के पूर्व उनका आविर्भाव हुआ था। वस्तुतः गोरक्षनाथ के समय का विचार अन्य नाथसिद्धों अथवा समकालीन सिद्धों के कालविचार से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता।

---

२४. गोरखबानी—सबदी ३९-४०, पृ० १५, सबदी ७,६-१०, पृ० ३-४।

गोरक्षनाथ की ऐतिहासिकता और उनके काल का निर्णय करने में बहुत सी पौराणिक कथाएँ, किंवदन्तियाँ, साम्प्रदायिक विश्वास आदि बाधक हैं। कुछ विद्वान् इन सबका कालनिर्णयादि में उपयोग भी करते हैं। कनफटा लोगों का कहना है कि उनका सम्प्रदाय सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था। विष्णु जब कमल से प्रकट हुए तब उस समय गोरक्ष पाताल में थे। सृष्टि की समस्या खड़ी होने पर विष्णु पाताल गये और गोरक्षनाथ से सहायता की याचना की। गोरक्ष ने दयाकर अपनी धूनी से एक मुट्ठी विभूति दी और कहा कि यदि तुम इसे जल के ऊपर छिड़क दोगे तो तुम सृष्टि करने में समर्थ होगे। विष्णु ने वैसा ही किया और ब्रह्मा, विष्णु और शिव गोरक्ष के प्रथम शिष्य हुए।[२५] विभिन्न स्थानों पर विभिन्न युगों में गोरक्ष के अवतरित होने की कथा उनके अतिमानव होने की ओर संकेत करती है।[२६] यह भी कहा जाता है कि गोरक्षनाथ कलियुग में शेषनाग के रूप में प्रकट हुए।[२७] नेपाल से कुछ ऐसे चित्र भी मिले हैं जिनमें गोरक्ष नागों से आवृत हैं। उनके शीर्ष भाग पर शेषनाग की छाया है। एक परम्परा के अनुसार गोरखनाथ का बाबा फरीद से भी सम्पर्क था जिन्होंने १२४४ ई० में गिरनार की यात्रा की थी। उनका एक स्मारक भी गिरनार में है।[२८] गोरखनाथ के शिष्यों की सूची काफी लम्बी है। ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका के बहुत से सिद्धों को उनका शिष्य माना है। वह सूची इस प्रकार है—

विरूपाक्ष, विलेश्या, मन्थान, भैरव, सिद्धिबुद्ध, कंथड़ी, करण्टक, सुरानंद, सिद्धिपाद, चर्पटी, कार्णेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपालि, बिंदुनाथ, कंकचंडेश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक, तथा अन्य।[२९]

---

२५. गोरखनाथ ऐंड कनफटा योगीज–ब्रिग्स, पृ० २२८ (ब्रिग्स द्वारा कथित इस कथा में पौराणिक असंगति है)।

२६. वही–पृ० २२९।

२७. वही।

२८. वही–पृ० २३०।

२९. वही–पृ० २३४।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रिग्स ने हठयोगप्रदीपिका में दिये गये नामों को ठीक से पढ़ा नहीं है। खण्ड और कापालिक वस्तुतः दो सिद्ध नहीं हैं और वास्तविक नाम है चण्डकापालिक। उसी प्रकार घोड़ाचौली भी एक ही सिद्ध का नाम प्रतीत होता है। ऐसे ही और कितने दोष बताये जा सकते हैं। वस्तुतः गोरक्षनाथ के शिष्यों की संख्या और नाम का संधान अभीतक ठीक से हुआ नहीं है। उड़ीसा के उनके शिष्य मल्लिकानाथ का पता अभी अभी लगा है जिनका जीवनवृत्त मल्लिकामकरंद नाम के ताड़पत्र के हस्तलेख के इतिहास-खण्ड में मिलता है।[३०]

गोरक्षनाथ से सम्बद्ध जो कथाएं मिलती हैं, उनमें से अनेक गूगा चौहान, राजा रसालू, पूरण भगत आदि से संबंधित हैं जिनका उपयोग विद्वानों ने गोरक्षनाथ के कालनिर्णय में किया है। गूगा का समय १२ वीं शताब्दी के पूर्व बताया गया है। राजा रसालू का समय आठवीं शती माना गया है। भर्तृहरि, गोपीचन्द्र, भोज, रानी पिंगला आदि की कथाओं के आधार पर ब्रिग्स ने गोरक्षनाथ का समय ११वीं ई० शती के पूर्व बताया है।[३१] राजपूताने के मेवाड़ के बाप्पा से संबंधित गोरक्ष का समय ८वीं ई० शती से १२वीं ई० शती के बीच रहा होगा।[३२] नेपाली वंशावली पर्वतिया के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ का मिलन नेपाल में नरदेव (८वीं ई० शती का मध्यकाल) के समय में हुआ था।[३३] इस प्रकार की बहुत सी सामग्रियों की परीक्षा कर ब्रिग्स ने यह निश्चय किया कि जब तक और नयी सामग्री उद्घाटित नहीं होती तब तक तो यही निष्कर्ष है कि गोरक्षनाथ का आविर्भाव १२वीं ई० शताब्दी के पूर्व हुआ था। अधिक संभावना तो यह है कि ११वीं ई० शताब्दी के प्रारम्भ में ही

---

३०. नाथ और सन्त साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन—डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, परिशिष्ट २।

३१. गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज—ब्रिग्स—पृ० २३५–२३६, २३९, २४२, २४४, २५१।

३२. वही पृ०—२४५–२४७।

३३. वही, पृ० २४८।

उनका आविर्भाव हुआ और वे बंगाल के पूर्वी भाग से आये थे। इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् डा० मोहनसिंह ने संभावना व्यक्त की है कि वे ईसा की ६वीं शताब्दी में विद्यमान थे और पंजाब के निवासी थे।

नेपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, शैव धर्म और नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास से उपलब्ध तथ्यों तथा विभिन्न सम्प्रदायों की परम्पराओं के आधार पर प्रो० सिल्वा लेवी, डा० शहीदुल्ला जैसे विद्वानोंने निष्कर्ष निकाला है कि नाथयोगी सम्प्रदाय के संस्थापक सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के आधार पर लोग गोरक्षनाथ को छठीं शताब्दी का मानते हैं। एक साम्प्रदायिक परम्परा यह भी मानती है कि जेसस क्राइस्ट ने हिमालय के एक नाथयोगी (गोरखनाथ ?) से योगशिक्षा ग्रहण की थी।[३४]

डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न दंतकथाओं और ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनसे कई महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। (१) मत्स्येन्द्रनाथ और जालंधरनाथ समसामयिक थे तथा इन दोनों के शिष्य थे क्रमशः गोरक्षनाथ और कानुपा या कृष्णपाद। अतः इनमें से किसी एक का समय निश्चित हो जाने पर शेष का समय निश्चित हो सकता है। (२) कौलज्ञाननिर्णय के लेखक मत्स्येन्द्रनाथ ११वीं शताब्दी के पूर्व हुए थे। (३) अभिनवगुप्त द्वारा संस्तुत 'मच्छन्दविभु' मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। अभिनवगुप्त ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की बृहती वृत्ति सन् १०१५ में लिखी थी और क्रमस्तोत्र की रचना सन् ६६१ में की थी। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ इसके पूर्व आविर्भूत हुए होंगे। (४) मत्स्येन्द्रनाथ (मीनपा) राजा देवपाल के राज्यकाल (सन् ८०६-८४६ ई०) में हुए थे। अतः मत्स्येन्द्रनाथ नवीं शताब्दी के मध्यभाग और अधिकसे अधिक अन्त्य भाग तक वर्तमान थे। (५) गोविंदचन्द्र या गोपीचन्द्र जालंधर के शिष्य कानुपा के शिष्य थे। दक्षिण के राजा राजेन्द्र चोल ने माणिकचन्द्र के पुत्र गोविंदचन्द्र को पराजित किया था।

---

३४. नाथयोग (अंग्रेजी)—प्रो० अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० ५।

'गोविंदचन्द्रे र गान' के अनुसार गोविंदचन्द्र का किसी दाक्षिणात्य राजा से युद्ध १०६३-१११२ ई० में हुआ था। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जालंधर का समय इससे सौ वर्ष पूर्व (लगभग ६६३ई०) रहा होगा। मत्स्येन्द्रनाथ का समय इससे भी पूर्व होना चाहिए। (६) वज्रयानी सिद्ध कण्हपा, जिन्होंने अपने गानों में जालंधरनाथ का नाम लिया है, तिब्बती परंपरा के अनुसार राजा देवपाल (८०६-८४९ ई०) के समकालीन थे। अतः जालंधरपाद का समय इससे कुछ पूर्व ठहरता है। (७) चालुक्यराज मूलराज (९९३ ई०) ने अणहिल्लपुर के शिवमंदिर का प्रबंधक कन्थड़ी नामक सिद्ध को बड़े छल-बल-कौशल से बनाया था। इस सिद्ध के सारे लक्षण नाथपंथी योगी के हैं, ऐसा प्रबंधचिंतामणि से पता चलता है। ऊपर के प्रमाणों के आधार पर नाथमार्ग के आद्य प्रवर्तकों का समय नवीं शताब्दी का मध्यभाग ही उचित जान पड़ता है।[३५]

ऊपर के विवरण और विवेचन से यह निश्चत हो गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ का समय ९ वीं ई० शती के मध्य अथवा अन्त्य भाग में होना चाहिए। अभी तक जितने भी प्रमाणों का विचार लोगों ने किया है, उनमें उपर्युक्त विचार अपेक्षाकृत अधिक संगत और प्रामाणिक मालूम पड़ता है। डा० कल्याणी मल्लिक ने शताब्दी के अनुसार सामग्री का विभाजन कर यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि गोरक्षनाथ का समय १२ वीं ई० श० के पूर्व किसी समय माना जा सकता है। उन्होंने कुछ प्रमाण ऐसे भी दिये हैं, जिनसे डा० द्विवेदी के मत की पुष्टि होती है। मालवराजकन्या मयनामती के पति माणिकचन्द्र के गीत रंगपुर के पाशुपत शैव गाते थे। वे लोग गोरक्षनाथ की गुरुरूप में पूजा करते थे। पैग-साम-जान-ज्बैन के अनुसार शंकरदिग्विजय के परवर्ती काल में मगध के, श्रीहर्ष के ज्येष्ठ पुत्र के राजत्वकाल में, वंगदेश में माणिकचन्द्र के पिता राज्य करते थे। शंकर का जन्मकाल ७८८ ई० है। गोरक्षनाथ ने नाथ संप्रदाय के दर्शन के साथ उपनिषद्दर्शन का सामंजस्य किया है। अतएव वे शंकर के बहुत परवर्ती नहीं हो

---

३५. नाथसिद्धों की बानियाँ—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, भूमिका, पृ०-५-६।

सकते। उनका दूसरा प्रमाण यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में हिन्दू-मुसलमानों में जो संघर्ष हुआ, उसमें गोरक्ष के शिष्य राजा रसालू ने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया। रसालू और पूरन भगत दोनों ही गोरक्ष के शिष्य थे।[३६] अन्यत्र डा० कल्याणी मल्लिक ने यह स्वीकार किया है कि गोरक्षनाथ का समय दसवीं शताब्दी के बाद निश्चय होना चाहिए।[३७]

इस प्रकार गोरक्षनाथ के समय के सम्बन्ध में स्पष्टतः दो मत हैं। एक मत गोरक्षनाथ का जीवनकाल स्पष्टतः ईसा की नवीं शताब्दी का मध्यभाग मानता है और दूसरा मत उन्हें १० वीं से १२ वीं शताब्दी के मध्य किसी भी समय विद्यमान मानता है। दोनों मतों में पर्याप्त अन्तर है। डा० मल्लिक के कुछ प्रमाणों का उपयोग प्रथम मत की पुष्टि के लिए भी किया जा सकता है। सब देखने पर प्रथम मत (९ वीं ई० शताब्दी का मध्यभाग) ही अधिक मान्य प्रतीत होता है।

यद्यपि गोरक्षनाथ का समय अब प्रायः निश्चित हो गया है, लेकिन उनके नाम से मिलनेवाली सभी रचनाओं का कालनिर्णय अभी तक नहीं हो सका है। गोरक्षनाथ के नाम से संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तीनों भाषाओं में रचनाएँ मिलती हैं।

ब्रिग्स ने गोरक्षनाथ के गोरक्षशतक को उनकी सबसे प्रामाणिक रचना माना है। इसी गोरक्षशतक के बहुत से नाम मिलते हैं और इसी का संस्करण तथा परिवर्द्धन भी बहुत हुआ है। प्रथम शतक के गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, गोरक्षज्ञान, ज्ञानशतक, ज्ञानप्रकाशशतक आदि ऐसे ही नाम हैं। गोरक्षपद्धति की हिन्दी टीका में बहुत से ऐसे श्लोक भी मिलते हैं जो उसी रूप में हठयोगप्रदीपिका में भी मिलते हैं। गोरक्षशतक में दो शतक हैं। संपूर्ण ग्रंथ के गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प,

---

३६. नाथसंप्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधनाप्रणाली—डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० ३४-३६।

३७. सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स आव नाथयोगीज—डा० कल्याणी मल्लिक, इंट्रोडक्शन, पृ० १०।

गोरक्षपद्धति, योगसिद्धान्तपद्धति और सिद्धान्तपद्धति नामक अनेक नामान्तर और रूपान्तर हैं। गोरक्षपद्धति में इसे गोरक्षसंहिता भी कहा गया है। अतः ब्रिग्स ने अनुमान लगाया है कि गोरक्षशतक इस संप्रदाय का मूलग्रन्थ है। इसे प्रमाण और परम्पराएं गोरक्ष-नाथकृत मानती हैं तथा इसे १२ वीं शताब्दी की रचना स्वीकार करती हैं। लेकिन गोरक्षसंहिता, जो आजकल अनुपलब्ध है और गोरक्षपद्धति का तुलानात्मक अध्ययन करने से यह बात साफ हो जाती है कि गोरक्षसंहिता अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। गोरक्ष-पद्धति गोरक्षसंहिता के बहुत बाद का ग्रन्थ मालूम होता है। ऐसा मालूम होता है कि गोरक्षपद्धति का संग्राहक गोरक्षसंहिता और हठयोगप्रदीपिका दोनों को अपना आधार मानता है। गोरक्षपद्धति में गोरक्षसंहिता का उल्लेख कई बार हुआ है। अतः गोरक्षपद्धति एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

गोरक्षशतक के समान ही सिद्धसिद्धान्तपद्धति भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर सिद्धसिद्धान्तसंग्रह और गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह जैसे ग्रन्थ बने बताये जाते हैं। इन ग्रन्थों में सिद्धसिद्धान्तपद्धति के उद्धरण भी मिलते हैं। अमरौघशासनम् और महार्थमंजरी ग्रन्थ भी गोरक्षकृत ही माने जाते हैं और विभिन्न दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। शैवागमों से शैवनाथ मत का सम्बन्ध-निरूपण करने के लिए "अमरौघशासनम्" महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की रचनातिथि तथा लिपिकाल अज्ञात हैं। सांख्ययोग, काश्मीर शैवमत और तंत्रदर्शन के ३६ तत्वों के साथ सम्बन्ध-विचार के लिए महार्थमंजरी विचारणीय ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से भी इसका महत्व कम नहीं है। कुछ लोग इसकी भाषा काश्मीरी अपभ्रंश मानते हैं। इन आधारों पर दार्शनिक, साधनात्मक तथा सांप्रदायिक धारा के विवेचन की दृष्टि से गोरक्षनाथ की ये चार रचनाएँ बहुत महत्वपूर्ण और प्रामाणिक मानी जा सकती हैं—(१) सिद्धसिद्धान्त-पद्धति, (२) महार्थमंजरी, (३) गोरक्षसंहिता, (४) अमरौघ-शासनम्। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सूचित किया है कि अमनस्क नामक ग्रन्थ की एक प्रति बड़ौदा लाइब्रेरी में है और गोरक्षसिद्धांत-

संग्रह में वहुत से वचन उद्धृत हैं।[३८] लेकिन इसकी प्रति भी ढूंढ़े नहीं मिलती। अमनस्क ग्रन्थ तो अब प्रकाशित ही हो रहा है। द्विवेदी जी ने बताया है कि पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने गोरक्ष-संहिता को १८९७ में छपाया था। हमने एक दूसरा संस्करण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड़ ग्रन्थालय में देखा, जिसकी टंकित प्रति मेरे पास सुरक्षित है। यह संस्करण श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा संवत् १९५० में प्रकाशित कराया गया था। इसका प्रकाशन स्थान काठियावाड़ का प्रभासपाटण स्थान है और मुद्रण स्थान अहमदाबाद है। यह संस्करण भी वहुत जीर्ण अवस्था में मुझे मिला। द्विवेदी जी ने आगे और बताया है कि इसकी एक प्रति नेपाल दरबार लाइब्रेरी में भी है जिसका कुछ अंश डा० बागची ने कौलवलि-निर्णय की भूमिका में उद्धृत किया है। इसके वहुत से अंश मत्स्येन्द्र-नाथ के अकुलवीरतन्त्र में भी अविकल रूप में मिलते हैं।[३९] गोरक्ष संहिता भी वहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है और अब अप्राप्य है। अतः अमनस्क के बाद, उपर्युक्त सामग्री के आधार पर, इसका भी संपादन-प्रकाशन होना चाहिए।

गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाएं भी अब पर्याप्त मात्रा में प्रकाशित हो चुकी हैं। सबसे पहले डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने हस्तलिखित पोथियों के आधार पर 'गोरखबानी' का प्रकाशन कराया जिसमें प्रमुख तेरह रचनाओं में सबदी अंश को सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। इनके अतिरिक्त १४ रचनाएं और संपादित हैं। डा० बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत नाथसिद्धों की बानियों का दूसरा भाग बहुत बाद में पर्याप्त नयी सामग्री के साथ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रकाशित कराया। इसके पूर्व ही डा० कल्याणी मलिक ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति और अन्य नाथयोगियों की रचनाओं के साथ गोरक्षनाथ के नाम से प्रसिद्ध 'गोरख उपनिषद्' नाम की रचना प्रकाशित की। कुछ लोग गोरक्षनाथ को हिन्दी का प्रथम गद्यलेखक मानते हैं। भाषा की दृष्टि से भी गोरक्षनाथ की रचनाएं वहुत

---

३८. नाथ संप्रदाय—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९८।

३९. वही पृ० ९९–१००

महत्वपूर्ण मानी जाती हैं, यद्यपि उनकी भाषा बहुत बदल गयी है।[४०]

गोरक्षनाथ के दर्शन के मूल आधार ग्रंथ संस्कृत में हैं। ऊपर जिन संस्कृत रचनाओं की ओर संकेत किया गया है, उनमें गोरक्ष-दर्शन का तत्वविज्ञान बहुत ही पुष्ट रूप में प्रकाशित हुआ है। अन्य बहुत से भारतीय दर्शनों की तरह ही गोरक्ष-दर्शन के तत्व-विज्ञान का मूलाधार सांख्य का तत्वविज्ञान है। सिद्धसिद्धान्त-पद्धति में काश्मीर शैव दर्शन के ३६ तत्वों का पूरा समाहार प्रतीत होता है। वस्तुतः इस तत्वविज्ञान का मुख्य लक्ष्य नाथों का 'पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद' है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समतत्वता और सम-पदार्थता सिद्ध करने के लिए दार्शनिक आधार के रूप में इस तत्व-विज्ञान का विकास किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० कल्याणी मल्लिक आदि ने इस तत्व-विज्ञान का विस्तार से विवेचन किया है।

प्रलयावस्था में शिव कार्य-कारण के चक्र-संचालन से विरत, कुल अकुल-भेद से परे और अव्यक्त रहते हैं। इस अवस्था को सिद्धसिद्धांतपद्धति में 'स्वयं' कहा गया है।[४१] इस परम शिव में सिसृक्षा उत्पन्न होने पर उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। यह सिसृक्षा ही शक्ति है जिसके उत्पन्न होते ही शिव और शक्ति दो तत्व हो जाते हैं जो इस स्थिति में अभिन्न रहते हैं। इसके बाद इन दोनों तत्वों का पांच अवस्थाओं में विकास होता है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

शिव		शक्ति
१—अपर	:	१—निजा (स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रान्त)

४०. विस्तार के लिए देखिए, (१) नाथ संप्रदाय पृ० ९८-१०२, (२) नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली, पृ० १२१–१५०, (३) नाथ सिद्धों की बानियां डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, (४) सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐंड अदर वर्क्स–डा० कल्याणी मल्लिक, (५) नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन–डा० ना० उपाध्याय, पृ० २७–३४।

४१. कार्यकरणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम्। अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत्॥ । १–४। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, रचयिता : बलभद्र, पृ० १।

२—परम	: २—परा (स्फुरणोन्मुख)
३—शून्य	: ३—अपरा (स्पंदित होती है)
४—निरंजन	: ४—सूक्ष्मा अहंता। 'मैं'-पन का पृथक्ता का भाव।
५—परमात्म[४२]—इस अवस्था में शिव विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं।	: ५—कुण्डली।[४३]—(अपनी पृथक्ता में में पूर्ण सचेत, इसी शक्ति की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं)।

यह कुण्डली वेदान्तिक ब्रह्म की शक्ति 'माया' से भिन्न है। यह चिच्छक्ति चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनन्तरूपा और अनन्त शक्तिरूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत्-रूप में परिणत होती है। इसे वेदनशीला भी कहा गया है और इसके अन्य शक्तियों के समान ही पांच गुणपूर्णता, प्रतिविम्बता, प्रवलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता वताये गये हैं।[४४] इसके बाद यह शक्ति सृष्टि-क्रम को अग्रसर करने के लिए क्रमशः स्थूलता की ओर अग्रसर होती है। शिव और शक्ति के वाद तीन परवर्ती क्रमविकास हैं—३ सदाशिव, अहंप्रधान, ४. ईश्वर इदंप्रधान, ५. शुद्धविद्या-उभयप्रधान।[४५] शिव क्रमशः उपर्युक्त पांच अवस्थाओं (आनन्दों) से होते हुए 'जीव' रूप की ओर अग्रसर होते हैं। वे क्रमशः स्थूल से स्थूलतर

४२-४३. ततोऽस्मिता पूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम्। तत्स्वसंवेदनाभास शुत्पन्नं परमं पदम्। स्वेच्छोमात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम्। तस्मात्तातः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम्।' सि० सि० सं०, पृ० २, उप० १, श्लो० १४-१५।

४४ नाथ संप्रदाय—पृ० १०४, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—'चिच्छीला कुण्डलिभ्यतः'—१.६, सिद्धिसिद्धान्तपद्धति—'ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्रता।—१-७, पूर्णता, प्रतिविम्वता, प्रवलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता इति पंचगुणा कुण्डलिनी शक्तिः॥'—१-१२॥

४५. नाथ संप्रदाय—पृ० १०५ तथा पादटिप्पणी।

होते जाते हैं। इसी प्रकार गोरक्ष के तत्वविज्ञान के अनुसार तत्व-विकास (सृष्टिप्रक्रिया) में क्रमशः निम्नलिखित ३६ तत्व उत्पन्न होते हैं—उपर्युक्त ५ और ६—माया, ७-११ पंचकंचुक, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. महत्, १५. अहंकार, १६-२० पंचतन्मात्र, २१-३१ एकादश इन्द्रिय, ३२-३६ पंचभूत।[४६]

वस्तुतः यह सारा विकास सिद्धसिद्धान्तपद्धति में 'पिण्डोत्पत्ति' के प्रकरण में वर्णित है। अतः इस सारे विकास को पिण्डोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है। १. परपिण्ड (तत्त्व १-२), २. आद्यपिण्ड (तत्त्व ३-५), ३. साकार पिण्ड (तत्त्व ६-१३), ४. प्राकृत पिण्ड (तत्त्व १४-२०), ५. अवलोकन पिण्ड (तत्त्व २१-३१), ६. गर्भ पिण्ड (तत्त्व ३२-३६)। गर्भपिण्ड स्थूलतम पिण्ड है और सृष्टिप्रक्रिया में अंतिम स्थूलतम विकास है।[४७]

स्पष्ट है कि ऊपर की प्रक्रिया ब्रह्माण्ड और पिण्ड की समतुल्य विकास प्रक्रिया है। भेद केवल सत्व, रज, तम, काल और प्राणशक्ति की न्यूनता और अधिकता के कारण है। यहां तक कि प्रत्येक परमाणु तक में उन सभी तत्वों की सत्ता स्वीकृत है। पिण्ड मानो ब्रह्माड का संक्षिप्त संस्करण है।[४८] इस प्रकार परशिव (स्वयं) की अवस्था ही परम अवस्था है।

नाथमार्ग को कुछ विद्वान् अद्वैतवादी मानते हैं। लेकिन शांकर अद्वैतवाद से स्पष्ट भेद है। काश्मीर शैवाद्वैत दर्शन से इसका स्पष्ट नैकट्य है। सामरस्य, शक्तिकल्पना, परमशिव, सगुण शिव, जगत् का अमिथ्यात्व, परम शिव की इच्छाशक्ति और उसका विकास, पिण्डब्रह्माण्डवाद आदि विचार और सिद्धान्त ऐसे ही हैं। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि नाथ सिद्धाचार्य अपना भेद स्थिर करने के लिए सिद्धान्त की दृष्टि से अपने को द्वैताद्वैतविलक्षणवादी

---

४६. वही—पृ० १०६।

४७. वही—पृ० १०७-१०६।

४८. वही—पृ० ११०, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—पृ० १८ 'ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित्-पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।"

कहते हैं, क्योंकि नाथतत्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। वह निरुपाधि है और संख्या उपाधि है। वह अवाच्य पद है। जगत् का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद शुरु होता है। इसलिए शक्ति ही जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। इस संप्रदाय में ब्रह्म या शिव की शक्ति को चित्स्वभावा माना गया है और वेदान्तियों में जड़स्वभावा। इसीलिए नाथदर्शन में जगत् चिच्छक्ति का विकास है। धर्मी शिव और धर्म शक्ति को केवल व्यवहारानुरोध से भिन्न मान लिया गया है। चित् ब्रह्म की शक्ति भी चिद्रूपा ही होनी चाहिए। शिव का स्वरूपनिर्धारण अशक्य होने से अभिन्न-भिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। नाथयोगी साधक का लक्ष्य है, शिव और शक्ति का सामरस्यरूप सहज समाधि' इस प्रकार की शक्ति की उपासना अन्ततः शिवोपासना ही है। व्यवहारानुरोध से ही शक्ति की उपासना कही जाती है।

डा० कल्याणी मल्लिक ने बताया है कि गोरक्ष का दर्शन प्राचीन-काल के शैवमत के अद्वैतवाद पर आधृत है। किन्तु उनका नाथ तत्व द्वैत-अद्वैत, साकार-निराकार से अतीत है। शिव शुद्ध चिद्रूप हैं और शक्ति उसका ·परिवर्तन और विकास का पक्ष है। नाथ लोग जगत्प्रपंच के अद्वितीय परम कारण को शिव या आदिनाथ के नाम से अभिहित करते हैं। वे स्वरूपतः अनादि, अनन्त, स्वयंसिद्ध, स्वप्रकाश, नित्य तत्त्व, देशकालातीत, सर्व-अवच्छेदहीन और सकल भेद-बाधाशून्य है। वह सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। वे स्वयं निष्कारण और समस्त चराचर के एकमात्र कारण हैं। यह कारणता ही उनकी शक्ति है। इस शक्ति के साथ वे नित्य-युक्त रहते हैं। शिवशक्तिसम्बन्ध के विषय में नाथगण कहते हैं—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥[४९]

---

४९. सिद्धसिद्धातपद्धति ऐंड अदर वर्क्स—भूमिका, पृ० १६, नाथ संप्रदायेर इतिहास०—पृ० २२८; सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—पृ० २६-२७, ४.३७; सिद्ध-सिद्धांतपद्धति—४.२६।

एकही अद्वितीय परमतत्व दृष्टिभेद से शिव या शक्ति आख्या को प्राप्त करता है। शिव शक्तिरूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित होते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रयभूत हैं। धर्म के विना धर्मी अकल्पनीय है। इस प्रकार दोनों तत्वतः अभिन्न हैं—

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥[५०]

इस प्रसार और संकोच का जो आदि और अन्त है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भंग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की संकोचन क्रिया के अवसान-काल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्तिभाव और निराभास ही शिव-भाव है। शिव एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की साधना से शिवकी उपलब्धि होती है। शक्तिउपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिवकी शक्ति है। इस प्रकार नाथसिद्ध सगुण-सक्रिय, अर्थात् विचित्र ब्रह्माण्डरूपी शिव और निर्गुण,निष्क्रिय शिव नामक ये दो तत्व स्वीकार करते हैं। सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय की मिलनभूमि को ही वे नाथस्वरूप कहते है।[५१]

परब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में नाथसिद्धान्त यह है कि ईश्वर में क्रिया और अक्रिया, दोनों प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। पूर्णब्रह्म सक्रिय अथवा निष्क्रिय नहीं है। नाथ और निर्गुण ब्रह्म में भेद है। नाथस्वरूप निर्गुण-सगुण दोनों से अतीत है। नाथ लोग सभी देवताओं से शिवको उत्तम मानते हैं और शिव से भी उत्तम नाथ को। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह का कथन है कि गोरक्ष के अनुसार

५०. नाथ सम्प्रदायेर इतिहास०-पृ० २२८–२२९, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह—पृ० ३६–३७, ६.९।

५१. नाथ सम्प्रदायेर इतिहास० —पृ० २३०–२३१।

विश्वकर्तृत्व नाथ का नहीं है, शिव का है। शिव ही विश्वकर्ता हैं और नाथ निर्गुण निरुपाधिरूप हैं। अतः उनके लिए प्राकृतिक कार्य-कारण का कोई माहात्म्य नहीं है। विश्व के सृष्टिकर्ता सगुण सोपाधि शिव हैं।[५२] सिद्धमत में परमतत्व को द्वैताद्वैतविवर्जित कहा गया है। यही सिद्धमत का वैशिष्ट्य है। यह विवर्जितत्व ही पूर्ण सत्य है। निर्गुण ब्रह्म और सिद्धों के नाथ में भेद-प्रभेद यह है कि नाथ अद्वैतोपरि और निराकार-साकारातीत हैं। इसी नाथ से निराकार ज्योतिर्नाथ और साकार नाथ का जन्म होता है। साकार नाथ से सदाशिव, भैरव और उनकी शक्ति भैरवी का जन्म होता है। नाथ सर्वविलक्षण अर्थात् 'यादृश एव तादृश एव' हैं। उनकी कोई तुलना नहीं। वे ही महासिद्धों के लक्ष्य हैं।[५३]

नाथदर्शन के अनुसार जीवन्मुक्ति की ही अवस्था आदर्श अवस्था है। देहपात में जो मुक्ति होती है, उसे यथार्थ मुक्ति नहीं कहा गया है। कारण यह है कि यह मुक्ति देहपातरूप प्रतिबन्धक द्वारा बाधित है। नाथ गण कहते हैं कि जिस देह से परमपदप्राप्ति होती है, उसी देह की रक्षा, अजर-अमर करना कर्तव्य है। विदेह-मुक्ति में इस देह का ही त्याग हो जाता है। 'योगबीज' में कहा गया है—

"अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि।"

जीवन्मुक्तियोग में दैहिक परिवर्तन साधित होता है। इस सिद्ध-देह का लाभ होने पर योगी के लिए इच्छामृत्युवरण संभव हो जाता है। वेदान्त का आत्मसाक्षात्कार नाथमार्ग की परमपद प्राप्ति है, किन्तु साथ ही नाथ लोग उस देह को ही स्थायी करने के लिए सचेष्ट हैं। योग से सिद्धयोगी प्रारब्ध का क्षय करता है। तत्पश्चात् देह को रखे या न रखे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। सिद्धमत में देह ही आत्मा है। विक्षेप के दूर न होने पर शुद्ध देहलाभ नहीं होता। शक्तियुक्त चैतन्य को सिद्ध लोग स्वीकार करते हैं। उसको जीतकर विशेष रूप से अज्ञान को दूर कर मुक्तिलाभ होता है। योगी चैतन्यशक्ति का जय करके कालजयी होता है। योगी का शरीर ही योगदेह है। सिद्धमत है कि जो मृत्यु को प्राप्त करता है, वह मुक्त

५२. वही–पृ० २५४–२५६।

नहीं है। परामुक्त का देहपात नहीं होता।[५४] नाथमत में मोक्ष वह अवस्था मानी गयी है जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[५५] नाथयोगी का लक्ष्य होता है ऐसे शरीर की प्राप्ति जिसका पतन न हो, जिसके बाहर प्राण न जाता हो। इनका लक्ष्य वह अवस्था है जिसमें शरीर भी ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। शरीर चिन्मय हो जाता है और फिर अनन्यता की प्राप्ति होती है। यह पिंडसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। इस प्रकार संक्षेप में नाथों का लक्ष्य है जीवन्मुक्तियुक्त सिद्ध देह से नाथरूप में अवस्थान या पिंडपद का परमपद में समरसीकरण।[५६] महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज ने नाथों के जीवन्मुक्तिक्रम का इस प्रकार व्याख्यान किया है—"इस मत के अनुसार सद्गुरु की कृपा से चित्तविश्रांतिलाभ सबसे पहले होना चाहिए, क्योंकि बिना उसके सामरस्यप्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक चित्त देहात्मबोध मूलक क्षोभ से मुक्त न हो, तब तक इसमें शांति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारंभ नहीं होता। चित्त-विश्रांति से स्वभावतः भगवदानंद और अनंत ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव निवृत्त हो जाता है। इसके बाद चित् शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्णज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देह सिद्धि या पिण्डसिद्धि। इसका नामान्तर है देह का अमरत्व। इसे नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। परन्तु अभी भी जो यथार्थ अंतिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परमपद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्वसंपादन... सुदीर्घकाल तक आत्मा के स्वरूपानुसंधान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही

---

५३. नाथ संप्रदायेर इतिहास०—पृ० २६९,२७१।

५४. वही—पृ०२९२, २९३,२९६-२९७, ३०१, ३०३।

५५. अमरौघशासनम्—पृ० ९।

५६. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डा० ना० उपाध्याय, पृ० २७३।

सामरस्य है।···सामरस्य और निरुत्थान दशा, दोनों के अंतराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातन्त्र्य से समन्वित आत्मा का स्फुरण निरुत्थान दशा के नाम से प्रसिद्ध है।···नाथयोगियों का लक्ष्य यह है कि पहले पिंडसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय में कालवंचन सिद्ध होता है। अर्थात् काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर समरसीकरण के द्वारा परा मुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिंडसिद्धि या जीवन्मुक्ति के अनन्तर ओंकार साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।[५७]

ऊपर बताये गये नाथों के लक्ष्य से यह बात स्पष्ट हो गयी कि नाथों के दो लक्ष्य हैं—प्रथम गौण और द्वितीय मुख्य। गौण लक्ष्य है पिण्डसिद्धियुक्त जीवन्मुक्ति और मुख्य लक्ष्य है पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण। यदि पहले की दार्शनिक तत्वज्ञानात्मक विचारणा को ध्यान में रखा जाय तो यह दूसरा लक्ष्य पूर्णतया स्पष्ट हो जायगा। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नाथसंप्रदाय में विशेषकर गोरक्षनाथ के ग्रंथों में साधनाक्रम का पूर्ण प्रकाशित रूप मिलता है।

गोरक्ष के साधनमार्ग में 'गुरु' को बहुत महत्व दिया गया है। परमपद में समरसीकरण, जो नाथों का चरम लक्ष्य है, गुरु की कृपा से ही होता है। गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंवेद्य परमपद की सिद्धि सम्भव बतलायी गयी है। केवल इसी साधन से योगियों को पिण्ड के निरुत्थान का अनुभव होता है तथा उसके पश्चात् समरसीकरण की सिद्धि होती है।[५८] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा गया है कि सिद्धपुरुष अदैहिक साधनों का आश्रयण कर परमपद को प्राप्त करते हैं और इन साधनों में स्थिति गुरु के दृक्पात से होती है। इसलिए गुरु से बड़ा कोई नहीं है। वह अपनी करुणा के खड्गपात से पशु (साधक) के आठों प्रकार के पाशों का छेदन

५७. वही—प्राक्कथन—म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० ५-६।

५८. नाथ और सन्त-साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डा० ना० उपाध्याय, पृ० २६७; सि० सि० प० अ० ना० यो० : सम्पादक—डा० कल्याणी मल्लिक, सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ५.१-१२।

करता है। उसकी इस प्रकार की क्रिया से साधक सम्यक् आनन्द में मग्न हो जाता है। उसकी यह कृपा विश्रांतिकारक होती है। बिना स्वात्मगत विश्रांति के पिंडपद का परमपद में समरसीकरण नहीं हो सकता। शास्त्र, अनुमान, तर्क आदि से भ्रांत करनेवाला गुरु गुरु नहीं। उपर्युक्त गुण-धर्मों से समलंकृत गुरु को प्राप्त कर शिष्य जन्म और संसार-बंधन से मुक्त हो जाता तथा परानन्दमय होकर निष्कल शिवत्व की उपलब्धि करता है।[५९] प्रकृति के सभी विकारों का अवधूनन करनेवाला सिद्ध ही, अवधूत योगी ही सद्गुरु का पद प्राप्त कर सकता है। सिद्धिसिद्धांतपद्धति में सिद्ध योगी अवधूत को अत्याश्रमी, योगी, सिद्धयोगी, जितेन्द्रिय आदि कहा गया है।[६०] गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में षोडशनित्यातन्त्र का उद्धरण देकर गुरु रूप में शिव को नमस्कार किया गया है। गुरु की ही कृपा से स्वल्प कल्प मात्र से सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस गुरु को ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए। अधिक तत्वों से गुरु कहा जाता है। गुरु से शिष्य के ४ लक्षण कम होते हैं अर्थात् उसमें ३२ लक्षण आवश्यक माने गये हैं। इनसे कम लक्षणों से युक्त सिद्ध व्यक्ति को गुरु रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए। ३२ से कम लक्षणों से युक्त व्यक्ति को शिष्य भी नहीं बनाना चाहिए। इन ३२ लक्षणों के लिए आठ परीक्षाएँ स्वीकार की गयी हैं। गोरक्ष-सिद्धान्तसंग्रह में वर्णित ये लक्षण अवधूत-सम्प्रदाय के अनुसार बताये गये हैं।[६१] संक्षेप में हम इसे 'गोरक्षनाथ का गुरु-शिष्यवाद और अधिकार-भेदवाद' कह सकते हैं।

नाथ मार्ग का परमपद 'नाथ' है। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकार ने 'नाथस्वरूपेणावस्थानम्' को ही लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। नाथ के सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है कि प्रसार और संकोच का जो आदि अन्त है, वही साम्यावस्था है, वही निराभास है, वही शिवावस्था है। यह समरसावस्था ही अद्वयावस्था है और यही समाधि

---

५९. सि० सि० म० व० ना० यो० में सिद्धिसिद्धान्तपद्धति, ५.५४-८१।

६०. वही, सिद्धसिद्धान्तपद्धति : सम्पूर्ण षष्ठ उपदेश।

६१. गो० सि० सं०, पृ० ३१-३२, ४५, ४६, १४, ४०, ५६-५७। नाथ और सन्त साहित्य : पृ० २६८-७०।

की स्थिति है। इस प्रकार समरस और अद्वय रूप से अवस्थान ही नाथस्वरूप से अवस्थान है।[६२] इस समरसीकरण के लिए, गुरुकृपा से पिण्डसंवित्ति के लिए शुद्ध या दिव्यदेह की आवश्यकता है। बिना गुरु-कृपा और शुद्ध देह के इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए गोरक्ष के साधनमार्ग में यह कायसिद्धि आवश्यक मानी गयी है, जिसका लक्ष्य समरसीकरण है।[६३] नाथमतानुसार मोक्ष वह अवस्था है, जिसमें समाधि के क्रम से मन द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है। इसी को आगे जीवन्मुक्ति पद कहा गया है।[६४] इसी प्रकार इस जीवन्मुक्ति के लिए कायसिद्धि और कायसिद्धि के लिए पिण्डज्ञान आवश्यक है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार योगी को पिण्डगत नवचक्र, षोडशाधार, तीन लक्ष्य, पंचव्योम अवश्य जानना चाहिए। अन्यत्र गोरक्ष ने कहा है कि जो योगी पिण्डगत एक स्तम्भ, नव द्वार, पंचदेवता आदि को नहीं जानता, वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। तत्वविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्माण्ड का जो समतुल्य और विकासात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसका यही प्रयोजन है।

उपर्युक्त समरसीकरण के लिए 'योगबीज' योगरहित ज्ञान और ज्ञानरहित योग की निरर्थकता बतलाते हुए योगयुक्त ज्ञान को ही मोक्षोपाय के रूप में स्वीकार करता है।[६५] उपर्युक्त विवेचन से मिलान करने पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पिण्डसिद्धि परमपद की प्राप्ति का अनिवार्य सोपान है। अर्थात् नाथों का लक्ष्य जीवन्मुक्तियुक्त सिद्धदेह से नाथरूप से अवस्थान या पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण है।[६६]

---

६२. सि० सि० अ० व० ना० यो०—इंट्रो०, पृ० २१।

६३. नाथ और सन्त साहित्य—पृ० २७०-२७१।

६४. अमरौघशासनम् : पृ० ६।

६५. सि० सि० प०—२.३१। गोरक्ष संहिता—१.१३-१४। गोरक्षपद्धति—१.१३-१४।

६६. नाथ और संतसाहित्य (तु० अ०) पृ० २७२-२७३। योगबीजम्-श्लो० १८-१९।

परिपक्व देह या सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए योग ही उपाय है। नाथयोगी हठयोग को प्रधान मानते हैं। हठयोग से राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग प्राणायामप्रधान है। मन्त्रयोग, लययोग और राजयोग में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक है। प्राण अधिभूत तत्व है। अतः इस दृष्टि से प्राणायाम या हठयोग आधि-भौतिक साधन है। एक सफल ध्यानयोगी शरीर और स्वास्थ्य से क्षीण, दुर्बल अल्पायु और रोगी हो सकता है किंतु वह अपनी इच्छा से शरीर त्याग नहीं कर सकता। हठयोग की क्रियाओं से सिद्धदेह या परिपक्व देह की प्राप्ति होती है। मानस साधन के लिए ऐसा शरीर सर्वाधिक उपयुक्त और उचित माध्यम हो सकता है। ऐसे योगी की मृत्यु इच्छा-मृत्यु होती है। गोरक्षनाथादि ने हठयोग या उससे प्राप्त सिद्धियों को भी लक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया।[६७] हठयोगप्रदीपिका में स्पष्टतः कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिए हठयोगविद्या का अभ्यास करना चाहिए।[६८]

इस योगाभ्यास के आरम्भ के लिए नाथाचार्यों ने संयम का विधान किया है। घेरण्डसंहिता की तरह ही स्वात्मारामरचित हठयोगप्रदीपिका में भी हठयोग का अभ्यास आरम्भ करने के पूर्व आहार, अपथ्य, पथ्य, भोजन आदि से सम्बद्ध संयमों के पालन का उपदेश किया गया है। योगाभ्यास के प्रतिबंधकों के विवरण में अत्याहार, परिश्रम, प्रजल्पन (या बहुभाषण), यमग्रहण (स्नान, रात्रि में ही भोजनग्रहण, फलाहारादि का नियम ग्रहण) जनसंगम, चंचलता इन छः की गणना की गयी है। योगसाधकों में उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, जगत्संगपरित्याग इन छः की गणना की गयी है। बताया गया है कि यम में मिताहार मुख्य है तथा नियम में अहिंसा।[६९] हठयोगप्रदीपिका के यमनियमसम्बन्धी श्लोक मूल श्लोकों में अन्तर्गणित नहीं हैं। वे ही श्लोक थोड़े-से अन्तर से तांत्रिक ग्रन्थ 'शारदातिलक' में मिलते हैं।

---

६७. नाथयोग : अक्षयकुमार बनर्जी, पृ० १९।

६८. हठयोगप्रदीपिका १.१।

६९. हठयोगप्रदीपिका—१.५७-६३, १.१५,१६,१.३८, ४०। विस्तार के लिए द्रष्टव्य–नाथ और सन्त साहित्य, पृ० २७५-२७७।

हठयोग शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं :

ह + ठ + योग = सूर्य + चन्द्र + योग
ह + ठ + योग = प्राण + अपान + योग
ह + ठ + योग = दक्षिण + वाम + योग
ह + ठ + योग = यमुना + गंगा + योग
ह + ठ + योग = पिंगला + इड़ा + योग
ह + ठ + योग = रजस् + रेतस् + योग।[७०]

गोरक्षनाथ का योग षडंग है। अर्थात् इसमें आसन के बाद के पंतजलि के ६ अंग स्वीकृत हैं। यम-नियम को सामान्यतया अनिवार्य समझकर छोड़ दिया है। आसनस्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान है। इस प्राणायाम का नाड़ीशोधन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार प्राणायाम प्राण की स्थिरता है। रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टीकरण इसके चार लक्षण हैं।[७१] बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से यदि पवन को गगन में प्रेरित किया जाय तो घंटा वाद्यादिकों की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं तथा सिद्धि की प्राप्ति की सम्भावना होती है।[७२] इस प्रकार प्राणायामाभ्यास में अग्रसर होने पर उसका संबंध नादानुसंधान से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार आसन और प्राणायाम के पूर्णाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा का अभ्यास करने का विधान किया गया है।[७३] गोरक्षसंहिता, योगबीज आदि ग्रन्थों में प्राणायाम के साथ मुद्रा, बन्ध, वेध का भी वर्णन सम्बद्ध भाव से वर्णित है। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि प्राणायाम की तुलना में इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया गया है। प्राणायाम से ओंकारसाधन

---

७०. हठयोगप्रदीपिका—१.१ तथा उसकी टीका, वही ३.१५ तथा उसकी टीका, योगबीजम् १.८३-९०, नाथ सम्प्रदाय–पृ० १०३।

७१. सि० सि० प०–२.३५।

७२. गो० सं०–२.१८-२०; योगामार्तण्ड—१०८।

७३. गोरक्ष संहिता—२.२१,५२।

भी सम्बद्ध है। ओंकारसाधन और अजपाजप दोनों ही प्राणायाम में अन्तर्भूत हैं। 'ओंकार' की विस्तृत प्रतीकात्मक व्याख्या गोरक्ष-ग्रन्थों में उपलब्ध है। गोरक्षादि सिद्धाचार्य इस प्रणव को वेद का सार नहीं, वेद मानते हैं। इसी को शिवशक्ति-साधन भी कहा गया है। ओंकार को आदिनाद कहा गया है। यह अनाहत और अखण्ड है। इसका अनुसंधान ही नादानुसंधान है। अन्तस् में इसकी सत्ता ही ब्रह्म की अन्तस् में सत्ता है। उसे नाद-ब्रह्म कहते हैं। इसका अनुसंधान ब्रह्मानुसंधान है।[७४]

सिद्धसिद्धांतपद्धति के अनुसार चैतन्य-तरंगों का प्रत्याहरण, नाना प्रकार के विकारों से चित्त के ग्रस्त हो जाने के कारण उत्पन्न विकारों से भी निवृत्ति प्रत्याहार का लक्षण है। गोरक्षसंहिता में चक्षु आदि के अपने विषयों में विचरण से आहरण को प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से योगी अपने मानस-विकारों का मोचन करता है।[७५] धारणा में बाह्य और अन्तस् के एकमात्र निजतत्त्वस्वरूप का अन्तःकरण से साधन किया जाता है। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे निराकार में धारण—जीवात्मा का निर्वात दीप की तरह धारण—ये धारणा के लक्षण हैं। इससे मानसस्थैर्य की प्राप्ति बतायी गयी है। हृदय में पंचभूतों के पृथक् धारण तथा मानस के निश्चलत्व के धारण के कारण ही इसे धारणा कहते हैं। भूत-तत्त्वों के अनुसार ही यह धारणा भी पांच प्रकार की मानी जाती है। इन धारणाओं के बाद सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार चित्त का निराकार निजतत्त्व में एकत्व तथा आत्मा का निर्वातदीपत्व सिद्ध होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंडलिनी-योग की साधना धारणान्तर्गत है। इस कुंडलिनीयोग से ही लययोग, भूतजय, भूतलय, भूतशुद्धि, षट्चक्रभेद आदि संबद्ध हैं। कुंडलिनी की मूलाधार से से सहस्रार तक की यात्रा को पृथिवी से आकाश तक की यात्रा कहा गया है। यह आध्यात्मिक यात्रा है। यह साधन आध्यात्मिक साधन है। इस कुंडलिनी को षोडशी तथा उसकी साधना को षोडशीसाधना

---

७४. नाथ और संत साहित्य—पृ० २८३-२८८।

७५. सि० सि०प०—२.३६; गो० सं०—२.२३-३१; योग-मार्तण्ड ११३-११६।

कहा गया है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-एकत्व का सिद्धान्त इस साधन का ही सिद्धांत पक्ष है। गोरक्ष-मत के मान्य चक्रों की कुछ निश्चित संख्या नहीं बतायी जा सकती। फिर भी तांत्रिकों के कुल सात चक्र अधिकांशतः और सामान्यतः स्वीकृत हैं।[७६]

सिद्धसिद्धांतपद्धति में कहा गया है कि ध्यान परमाद्वैतभाव है। जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, आत्मा उनकी अपने ही स्वरूप के अनुसार भावना करती है। इस प्रकार ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है। इस ध्यान-साधन में चित्त पूर्णरूप से निश्चल रहता है। सगुण और निर्गुण नामक दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। सगुण ध्यान विभिन्न वर्णों (रंगों) वाला होता है तथा निर्गुण ध्यान केवल ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक। स्थूल और सूक्ष्म भेद से भी ध्यान दो प्रकार का होता है। स्थूल ध्यान के बाद तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान का वर्णन किया गया है।[७७] समाधि में सभी तत्वों की सम-अवस्था रहती है, निरूद्यमत्व और अनायास की स्थिति रहती है। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें शुभ-अशुभ कार्यों का त्याग हो जाता है, विश्वतोमुख अनन्त परम ज्योति का साक्षात्कार होता है। जब प्राण सम्यक् प्रकार से क्षीण हो जाते हैं तथा मानस भी लय को प्राप्त हो जाता है, जब समरसत्व की प्राप्ति हो जाती है, तब कहा जाता है कि समाधि की अवस्था प्राप्त हो गयी। इस समय अपना - पराया कुछ भी नहीं रहता। हठयोगप्रदीपिका में इस स्थिति के विभिन्न नाम बताये गये हैं : राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या। इन शब्दों की अलग-अलग विस्तृत व्याख्याएं मिलती हैं।[७८]

इस प्रकार गोरक्ष के षडंग-योग के दो उद्देश्य बताये गये हैं।

---

७६. नाथ और संत साहित्य—पृ० २८८-२९९

७७. सि० सि० प०—२.३८; योगमार्तण्ड—१०२, १५७; गो० प०—२.६५-७५; योगमार्तण्ड—१५६-१६६; घेरण्डसंहिता—६.२-२२।

७८. नाथ और संत साहित्य—पृ० २९७-२९८।

प्रथम गौण उद्देश्य है सिद्धदेह या दिव्यदेह की प्राप्ति या जीवन्मुक्ति। दूसरा मुख्य उद्देश्य है द्वैताद्वैत-विवर्जित नाथरूप में अवस्थान या पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण। संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर उपस्थित किये गये इस गोरक्ष-योग में दो प्रधान साधन हैं : हठयोग और लययोग। इसी प्रकार दो कार्य हैं :—विन्दुरक्षा और नादानुसंधान। गोरक्ष योगसाधना का मुख्य तत्व है प्राणायाम। दोनों कार्य इसी से साधित होते हैं। इसी आधार पर नाथ लोगों का यह भी कथन है कि यह स्थूल शरीर भी मुक्ति प्राप्त करता है। सिद्धदेह की प्राप्ति के लिए अमृतसाधन भी नाथों को स्वीकार्य है। रस (पारद + अभ्रक) से सिद्धदेह की प्राप्ति की निन्दा गोरक्ष ने अपनी हिन्दी रचनाओं में की है, क्योंकि उससे वास्तविक स्थिर सिद्धदेह की प्राप्ति नहीं होती। गोरक्ष साधन में लोग वज्रोली, सहजोली आदि की भी गणना करते हैं। किन्तु सारी सामग्री की छानवीन करने पर ऐसा संगत प्रतीत नहीं होता कि गोरक्ष ने उनको अपने साधन में स्थान दिया होगा अथवा उनका प्रचार किया होगा।

इस प्रकार गोरक्षनाथ की दर्शन और साधना की परम्परा भारतीय वैदिक परम्परा से भिन्न है। दार्शनिक और साधनात्मक दृष्टि से विचार कर डा० गोपीनाथ कविराज ने श्री अक्षयकुमार बनर्जी के 'फिलासफी आफ गोरक्षनाथ' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में कहा है कि नाथों की योगसाधना का आदर्श पातंजल योग से ही तत्त्वतः भिन्न नहीं है, प्रत्युत पूर्ववर्ती और परवर्ती बौद्ध मतवादों के साथ ही वह बहुत दूर तक शांकर वेदान्त से भी भिन्न है। प्राचीन और मध्यकालीन आगमानुयायी अद्वैतवादी मतवादों से इस नाथादर्श की पर्याप्त समानता है जिसे 'सामरस्य' कहा गया है। इसी प्रकार नाथसिद्धों की पिण्डसिद्धि और पातंजल कायसंपत् में भी पूर्ण साम्य नहीं है। नाथों का आदर्श है पिण्डसिद्धि से जीवन्मुक्ति प्राप्त करना। तत्पश्चात् समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति के आदर्श को वे स्वीकार करते हैं। अतः अब इस निर्देश के प्रकाश में नाथ-साधन और दर्शन के विचार की नई आवश्यकता स्पष्ट हो गयी है।

—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

स्वयंबोध अमनस्कयोग[1]

अमनस्कखण्ड[2]

प्रथमाध्याय[3]

कैलासशिखरासीनं सर्वज्ञं सर्वगं शिवम्[4] ।
वामदेवो मुनिश्रेष्ठः प्रणम्य परिपृच्छति ॥ १ ॥

मुनिश्रेष्ठ वामदेव जी ने कैलास पर्वत के शिखर पर बैठे हुए सर्वज्ञ सर्वव्यापी भगवान् शिवजी को प्रणाम कर पूछा ॥ १ ॥

वामदेव उवाच—

देवदेव महादेव सर्वानुग्रहकारक[5] ।
जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्व मम प्रभो ॥ २ ॥

वामदेव जी ने कहा—सब पर अनुग्रह करनेवाले देवाधिदेव हे महादेव जी ! हे प्रभो ! जीवन्मुक्ति प्रदान करनेवाला उपाय मुझसे कहने की कृपा कीजिये ॥ २ ॥

---

१. (ख) अमनस्क योगशास्त्र । २. (ख) नहीं है । ३. (ख) नहीं है । ४. (ख) नहीं है । ५. (ख) प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरुमापतिम् । जीवन्मुक्तिप्रदोपायं कथयस्वेति पृच्छति ।

श्रीमहादेव उवाच[१]—

शृणु वत्स महाप्राज्ञ संसारार्णवतारकम् ।
अगम्यं सर्ववेदानां गोपितं सकलागमे ॥ ३ ॥

तदहं संप्रवक्ष्यामि तव संवीक्ष्य वासनाम् ।
अद्वैतं परमं चापि तव भक्तिरहैतुकी ॥ ४ ॥

श्री महादेव जी ने कहा—हे वत्स, हे महामते, ससार सागर से पार करने-वाला जीवन्मुक्तिप्रद उपाय तुम सुनो, यह उपाय सब वेदों का अगम्य है, सब आगमों में छिपाकर रखा हुआ है। तुम्हारी उत्कट अभिलाषा एवं परम अद्वैत देखकर मैं तुमसे कहूंगा, क्योंकि तुम्हारी भक्ति अहैतुकी है ॥३॥४॥

अस्त्येकस्तारको योगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ।
स एव द्विविधः प्रोक्तः पूर्वापर विभागतः ॥ ५ ॥

सब योगों में परमोत्तम एक "तारक योग" है। वही "पूर्व" और "अपर" विभाग से दो प्रकार का कहा गया है ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तस्तारकस्तत्र अमनस्कस्तथापरः ।
प्रथमं तु प्रवक्ष्यामि पूर्वमङ्ग समासत : ॥ ६ ॥

उन योगों में 'पूर्व' जो कहा गया है उसका नाम "तारकयोग" है और "अपर" जो कहा गया है वह "अमनस्क योग" है। पहले मैं अंगभूत 'पूर्व' योग अर्थात् "तारक योग" को संक्षेप में कहूँगा ॥ ६ ॥

सर्वमूर्तिमयं रूपं गुणैरिन्द्रियमानदम् ।
द्विधा कृतं मनोयुक्तं तारकं सर्वसारकम् ॥ ७ ॥

सर्वमूर्तिमय, गुणों से इन्द्रियों को रुचिकर योग स्वरूप दो प्रकार का किया गया है। उनमें मन से युक्त जो योगस्वरूप है वह 'तारक' कहलाता है और मन से अतीत जो योगस्वरूप है वह सर्वसार 'अमनस्क' कहा जाता है ॥ ७ ॥

---

१. (ख) ईश्वर उवाच। परं ज्ञानमहं वच्मि येन तत्त्वं प्रकाशते। येन विच्छिद्यते सर्वमाशापाशादि बन्धनम् ॥ २२ ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ८ ॥[१]

तारों (आंख की पुतलियों) को ज्योति में लगा कर भौंहो को कुछ ऊंची करे (चढ़ा ले)। यह पूर्वयोग (तारकयोग) का मार्ग क्षणभर में उन्मनी-भाव को उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

एष योगो मया प्रोक्तः पूर्वापरविभागतः।
सर्वमंगल सिद्धार्थं न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥[२]

इस योग का पूर्वयोग और अपरयोग के विभाग से सब कल्याणों की सिद्धि के लिए मैंने प्रतिपादन किया है। इसे जिस किसीको योग्यता का विचार किये विना नहीं देना चाहिये ॥ ९ ॥

मन्त्रयोगरताः[३] केचित् केचिद् ध्यान विमोहिताः।
जपेन केचित् क्लिश्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ १० ॥

कोई लोग मन्त्रयोग की साधना में लगे हुए हैं, कोई ध्यान के मोह में पड़े हुए हैं, कोई जप योगसे क्लेश पा रहे हैं, ये सब तारक योग को नहीं ही जानते हैं ॥ १० ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ११ ॥

कोई आगम-समुदाय से, कोई निगमराशियों से और कोई तर्कों से मोहित हैं। ये सब तारक को नहीं ही जानते हैं ॥ ११ ॥

---

१. गंगायमुनयोर्मध्ये वालरण्डा तपस्विनी।
वलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ हठयोगप्रदीपिका ३ : १०९ के इस श्लोक में उपर्युक्त श्लोक के भावानुसार ही उन्मनी भाव अथवा विष्णु पद का व्याख्यान है।

२. (ख) श्लोक सं० ५ से ९ तक नहीं है।

३. (ख) 'तत्र योगरताः' पाठ है। इसके पूर्व (ख) में—
आधारादिषु चक्रेषु सुषुम्णादिषु नाडिषु।
प्राणादिषु शरीरेषु परं तत्वं न तिष्ठति ॥ —यह श्लोक है।

तारको यं भवाम्भोधौ तारणो गुरुशिष्ययोः[१] ।
तारकोन्मेषयुक्तत्वादपि तारक उच्यते ॥ १२ ॥

यह तारक योग भवसागर में गुरु और शिष्य दोनों का तारण करता है। तारिका के उन्मेष[२] से युक्त होने के कारण यह "तारक" कहा जाता है ॥१२॥

न मीमांसातर्कग्रह[३]गणितसिद्धान्तपठनै -
र्न वेदैर्वेदान्तैः स्मृतिभिरभिधानैरपि न च ।
न चापिच्छन्दोव्याकरणकवितालंकृतिगणै[४] -
र्मुनेस्तद्व्याप्ति[५]र्निजगुरुमुखादेव विहिता ॥ १३ ॥

मुनि को तारक योग की विशिष्टरूप से प्राप्ति न तो मीमांसा, तर्क (न्याय) तथा फलित, गणित और सिद्धान्तरूप त्रिस्कन्ध ज्योतिष पढ़ने से होती है, न वेद, वेदान्त, स्मृति और कोषों के अनुशीलन से होती है एवं न छन्दःशास्त्र, व्याकरण, काव्य और अलंकारों के अध्ययन से होती है। एकमात्र अपने गुरु के मुखारविन्द से उसकी विशिष्ट प्राप्ति शास्त्रों में कही गई है ॥ १३ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ १४ ॥

दृश्य के विना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, विना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसका वायु स्थिर हो जाय एवं विना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय, वही योगी, है वह गुरु होने योग्य है, उसी की सेवा करनी चाहिये ॥ १४ ॥

---

१. (ख) ११ और १२ वाँ श्लोक नहीं है ।

२. संसार सागर से उत्तीर्ण करनेवाली शक्ति का जागरण । इस शक्ति को चित्-शक्ति, वोध शक्ति या कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं ।

३. (ख) तर्कसंग्रह । ४. (ख) लंकृतिमयै–

५. (ख) तत्वं प्राप्ति ।

गोरक्षासन (आगेकी बाजू)

ऊर्ध्व पद्मासन

शीर्षासन

गोरक्षासन (पीछेकी बाजू)

अर्ध मत्स्येन्द्रासन (पीछेकी बाजू)

पद्मासन

पूर्ण मत्स्येन्द्रासन (आगेकी बाजू)

कर्णपीडासन

एवंविधगुरोः[१]शब्दात् सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार के गुरु के उपदेशानुसार सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर सुन्दर प्रदेश में बैठकर योग का ही सम्यक् अभ्यास करना चाहिये ॥१५॥

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किञ्चिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व ॥ १६ ॥

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित हो एकान्त स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर यानी तन कर स्थिर अंग हो सुख पूर्वक बैठ कर एक हाथ तक स्थिर दृष्टिकर योग का अभ्यास करो ॥ १६ ॥

एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥ १७ ॥

इस प्रकार योग का सम्यास करते करते मन सुस्थिर हो जाता है, क्रमशः वायु, वाणी, देह और दृष्टि में भी स्थिरता आ जाती है ॥ १७ ॥

जायमानामनस्कस्य उदासीनस्य सर्वतः ।
मृदुत्वं च लघुत्वं च शरीरस्योपजायते ॥ १८ ॥

जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो ऐसे योगी के शरीर में मृदुता (कोमलता) लघुत्व (हल्कापन) हो जाता है ॥ १८ ॥

---

१. ऐसे सद्गुरु के विषयमें हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि—
"दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥

काषायग्रहणं कपालधरणं केशावलीलुंचन[१]।
पाखण्डव्रतभस्मचीवरजटाधारित्वमुन्मत्तता ॥
नग्नत्वं निगमागमादिकवितागोष्ठीसभाभ्यन्तरे,
सर्वं चोदरपूरणाय[२] पठनं न श्रेयसः कारणम् ॥ १६ ॥

काषाय (गेरुवे) वस्त्र धारण करना, खप्पर धारण करना, केशों को नोचना, पाखण्डव्रत लेना, भस्म, कन्था और जटा धारण करना, उन्मत्तवत् रहना, नग्न रहना, सभाओं में निगम और आगमों पर व्याख्यान झाड़ना, काव्य गोष्ठी में भाग लेना यह उदरपूर्ति के लिए है। पढ़ना निःश्रेयस् का साधन नहीं है। अर्थात् पठन से निःश्रेयस् की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १६ ॥

[३]द्वेषोच्चाटनमारणादि कुहकैर्मन्त्रैः प्रपंचोद्गमः[४]
सर्वाभ्यास[५] विचित्रबन्धकरणाद्यज्ञानयोगः परः[६]।
ध्यानं देहपदेषु नाडिषु षडाधारे च चेतोभ्रम-
स्तस्मात् तत्सकलं मनोविरचितं त्यक्त्वाऽमनस्कं भज ॥२०॥

द्वेष (विद्वेषण), उच्चाटन, मारण आदि प्रवचनाओं से युक्त मन्त्रों से प्रपंच की उत्पत्ति होती है, पूर्ण अभ्यास, भाँति भाँति के आसनबन्धों का करना केवल अज्ञान ही है, देहस्थित नाड़ियों में तथा षडाधार चक्रों में ध्यान केवल चित्त का विभ्रम है, इसलिए मन से कल्पित इन सब का त्याग कर अमनस्क का सेवन करो ॥ २० ॥

---

१. (ख) मुंचनं। यही पाठ अच्छा प्रतीत होता है। उसका अर्थ होगा केशों का त्याग अर्थात् मुण्डित होना।

२. (ख) पूरणार्थंपठनम्।

३. (ख) रक्षोच्चाटन।

४. (ख) मन्त्रप्रपंचोद्गमैः।

५. (क) पूर्णाभ्यास।

६. (क) अज्ञानबोधिः परम् (ख) अज्ञानभोगः परः।

अन्ये च जगतो भावा ये च तिष्ठन्त्यनेकधाः ।
तेषां तु लक्षकेणापि परतत्त्वं न मीयते[१] ॥ २१ ॥

और भी जगत् के जो विविध प्रकार के पदार्थ हैं उनके लक्ष से भी परम तत्त्व की बराबरी नहीं की जा सकती। अर्थात् उनकी लाख लाख संख्या से भी पर तत्त्व की समता नहीं की जा सकती, क्योंकि जागतिक पदार्थों में और परतत्त्व में अत्यन्त विलक्षणता है। मूल में 'परतत्त्वं न गीयते' यह पाठ मानने पर 'लाखों जागतिक पदार्थों से परतत्त्व का निरूपण नहीं किया जा सकता' यह अर्थ होगा ॥ २१ ॥

अथाहं वच्मि मोक्षाय ज्ञानरागजितां[२] नृणाम् ।
निष्कलं निष्प्रपञ्चं च[३] परतत्त्वं तदुच्यते ॥ २२ ॥

अब मैं ज्ञान से राग पर विजय प्राप्त करनेवाले लोगों की मुक्ति के लिये परतत्त्व का निरूपण करता हूँ। निष्कल और निष्प्रपंच जो तत्व है वह परतत्त्व कहा जाता है ॥ २२ ॥

यस्मादुत्पद्यते सर्वं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यस्मिन् विलीयते सर्वं परतत्त्वं[४] तदुच्यते ॥ २३ ॥

जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है, जिसमें सब स्थित हैं और जिसमें सब लीन होते हैं वह "पर तत्त्व" कहा जाता है ॥ २३ ॥

भावाभावविनिर्मुक्तं विनाशोत्पत्तिवर्जितम् ।
सर्वसंकल्पनातीतं परतत्त्वं[५] तदुच्यते ॥ २४ ॥

सत् (अस्ति), असत् (नास्ति), सदसत् (अस्तिनास्ति) और असत्-असत् (नास्तिनास्ति) इस चतुष्कोटि से विनिर्मुक्त, विनाश और उत्पत्ति से रहित एवं सर्व कल्पनाओं से अतीत जो तत्व है वह "परतत्त्व" कहा जाता है ॥ २४ ॥

---

१. (ख) तेषां तु लक्षणेनापि परं तत्त्वं न गीयते। (क) परतत्त्वं न गीयते।
२. (ख) ज्ञानं रागजिताम् ।   ३. (ख) निष्प्रपंचं यत् परं तत्त्वं।
४. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते ।
५. (ख) परं तत्त्वं तदुच्यते ।

अनाकारमविच्छिन्नमग्राह्यमचलं ध्रुवम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सर्वकामविवर्जितम् ॥ २५ ॥

परम तत्त्व निराकार, अविच्छिन्न अर्थात् जन्म, मरण आदि से रहित अर्थात् शाश्वत, मन और वाणी का अगम्य, निश्चल, अविनश्वर, सब उपाधियों से रहित एवं सब कामनाओं से शून्य है ॥ २५ ॥

प्रथमं पृथिवीतत्त्वं जलतत्त्वं द्वितीयकम् ।
तेजस्तत्त्वं तृतीयं च[1] वायुतत्त्वं चतुर्थकम् ॥ २६ ॥
आकाशं पंचमं तत्त्वं मनः षष्ठमुदीरितम् ।
सप्तमं परमं तत्त्वं यो जानाति स मोक्षभाक् ॥ २७ ॥

पहला पृथिवी तत्त्व कहा गया है, दूसरा जलतत्त्व, तीसरा तेजस्तत्त्व, चौथा वायुतत्त्व, पाँचवाँ आकाश तत्त्व, एवं छठाँ मनस्तत्त्व कहा गया है। सातवाँ परम तत्त्व है उसे जो जानता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ २७ ॥

परं तत्त्वं समाख्यातं जन्मबन्धविनाशनम् ।
तस्याभ्यासं प्रवक्ष्यामि येन संजायते लयः ॥ २८ ॥

"परतत्त्व" जन्मरूप बन्धन का विनाशक कहा गया है। मैं उसके अभ्यास की विधि बतलाऊंगा जिससे लय होता है ॥ २८ ॥

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात् ।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिरांग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं[2] कुरुष्व ॥२९॥[3]

निर्जन और पवित्र स्थान में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर झुक कर अर्थात् तन कर सुख से बैठे हुए तुम एक हाथ दूर तक दृष्टि को स्थिर कर निश्चल शरीर और चिन्ताविहीन होकर उस परमतत्त्व का अभ्यास करो ॥ २९ ॥

---

१. (ख) स्यात् ।

२. (ख) स्थिरांगं । ३. श्लोक १६ की यहाँ पर जो पुनरावृत्ति हुई है इसका कारण आसन के पश्चात् ही ध्यान की प्रक्रिया द्वारा अमनस्क योग का निरूपण करना है ।

भुजंगासन

पश्चिमोत्तानासन
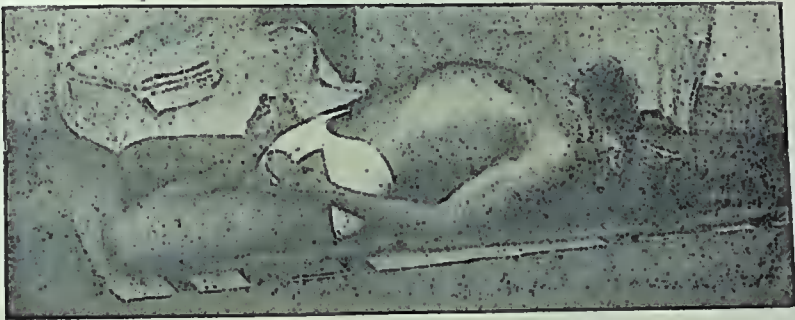
मत्स्यासन
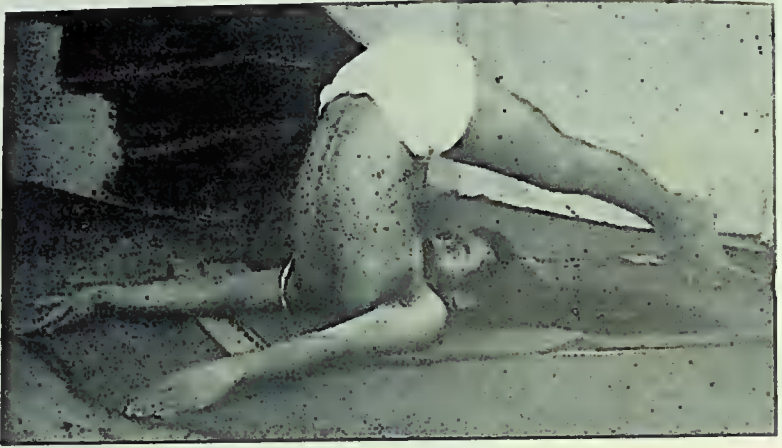
पूर्वोत्तानासन (हलासन)
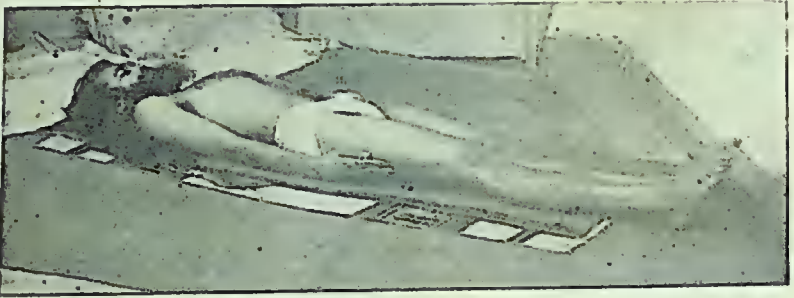
शवासन
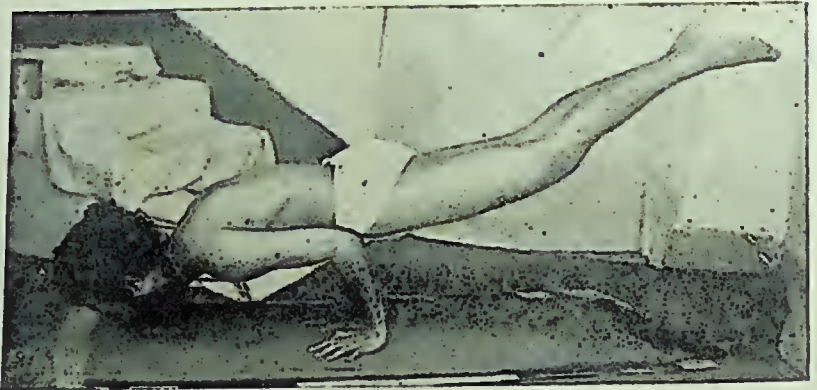
मयूरासन (सव्य)

सुखासने समासीनस्तत्त्वाभ्यासं समाचरेत् ।
सदाभ्यासेन तत्कुर्यात् परतत्त्वप्रकाशनम्[१] ॥ ३० ॥

सुखासन पर बैठकर परतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये । साधक को चाहिये कि सदा के अभ्यास द्वारा उस परतत्त्व को प्रकाश में लावे ॥ ३० ॥

ब्रह्माण्डं पंचभूतस्थं पंचभूतमयी तनुः ।
सर्वं भूतमयं चेति[२] त्यक्त्वा नास्तीति चिन्तय[३] ॥३१॥

सारा ब्रह्माण्ड पंचभूतों पर आधृत है, शरीर भी पंचभूतमय है, यही क्यों सब कुछ भूतमय है, इसलिए उन सबका परित्याग कर "ये है ही नहीं" ऐसी भावना करो ॥ ३१ ॥

न किंचिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ता विवर्जितः ।
सबाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसंमुखः ॥ ३२ ॥[४]

सब तरह की चिन्ताओं से रहित होकर मन से किसी का भी चिन्तन न करे ऐसे योगी के बाहर और भीतर तत्त्व सम्मुख हो जाता है अर्थात् उसे बाहर और भीतर तत्त्व का स्फुरण हो जाता है ॥ ३२ ॥

तत्त्वस्य संमुखे जाते अमनस्क[५] प्रजायते ।
अमनस्केऽपि संजाते चित्तादि[६]विलयो भवते ॥ ३३ ॥

तत्त्व के संमुख होने पर[७] अमनस्क योग हो जाता है । अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का भली भांति लय हो जाता है ॥ ३३ ॥

---

१. (ख) परं तत्त्वं प्रकाशते ।
२. (ख) वेति ।
३. (ख) भावयेत् ।
४. हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है कि :—
वाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्ता परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
५. (ख) त्वमनस्कं ।
६. (ख) चिन्तादिविलयो ।
७. आत्मा के संमुख होने पर ।

चित्तादिविलये जाते पवनस्य लयो भवेत्[१]।
मनःपवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थैं विमुञ्चति ॥ ३४ ॥

चित्त आदि का विलय हो जाने पर पवन (वायु) का लय हो जाता है। मन और पवन दोनों का विनाश (विलय) होने पर साधक इन्द्रियार्थों (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) का त्याग कर देता है। 'इन्द्रियार्थाद् विमुच्यते' ऐसा पाठ मानने पर इन्द्रियार्थों से मुक्त हो जाता है, यह अर्थ करना चाहिये ॥ ३४ ॥

इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो[२] वाह्यज्ञानं न जायते।
वाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत् ॥ ३५ ॥

जब साधक इन्द्रियार्थों से (रूप, शब्द, गन्ध आदि से) मुक्त हो जाता है तब उसे बाहरी ज्ञान नहीं होता है। बाहरी ज्ञान के विनष्ट होने पर वह "सर्वसम" यानी विषमता रहित हो जाता है ॥ ३५ ॥

यदा सर्वसमे जाते[३] भवेद् व्यापारवर्जितः।
परब्रह्मणि[४] सम्पन्नो[५] योगी प्राप्तलयस्तदा ॥ ३६ ॥

जब साधक सर्वसम होने पर व्यापाररहित होता है तब परब्रह्म में सम्पन्न योगी लय को प्राप्त कहा जाता है। ३६ ॥

सदाभ्यासरतानां च यः परो जायते लयः।
तस्याहं संप्रवक्ष्यामि लक्षणं मुक्तचेतसः ॥ ३७ ॥

सदा परतत्त्व के अभ्यास में निरत योगियों का जो उत्कृष्ट लय होता है उसका, जिसमें चित्त मुक्त हो जाता है, लक्षण मैं आगे कहूँगा ॥ ३७ ॥

---

१. (ख) यह पूरी पंक्ति नहीं है।

२. (ख) इन्द्रियार्थैं विनिर्मुक्ते।

३. (ख) यदासर्वसमो जातो।

४. (ख) परे ब्रह्मणि।

५. (ख) संवुद्धः।

सुखदुःखे न जानाति शीतोष्णं न च विन्दति ।
विचारं चेन्द्रियार्थानां न वेत्ति[1] विलयं गतः ॥ ३८ ॥

लय को प्राप्त हुआ योगी सुख और दुःख नहीं जानता है, शीत और उष्ण की प्रतीति भी उसे नहीं होती है एवं इन्द्रियार्थों—रूप, रस, गन्ध आदि विषयों—का विचार तक उसके मन में नहीं आता ॥ ३८ ॥

न जीवन्न मृतो[2] वापि न पश्यति न मीलति ।
निर्जीवः काष्ठवत्तिष्ठेत् लयस्थश्चाभिधीयते ॥ ३९ ॥

जो पुरुष न जीवित है, न मृत है, न पलक खोलता है और न पलक गिराता है, निर्जीव काष्ठ के तुल्य रहता है वह लयस्थ कहा जाता है ॥ ३९ ॥

निर्वातस्थापितो दीपो भासते निश्चलो यथा ।
जगद्व्यापार निर्मुक्तस्तथा योगी लयं गतः ॥ ४० ॥

वायु रहित स्थान पर रखा हुआ दीपक जैसा निश्चल दिखाई देता है वैसा ही लय को प्राप्त हुआ योगी जगत् के सब व्यापारों से निर्मुक्त (निश्चेष्ट) हो जाता है ॥४०॥

यथा वातैर्विनिर्मुक्तो निश्चलो निर्मलोऽर्णवः ।
शब्दादिविषयैस्त्यक्तो लयस्थो दृश्यते तथा[3] ॥ ४१ ॥

जैसे वायु से रहित (बिना ज्वारभाटे का) सागर निर्मल और निश्चल दिखाई देता है वैसे ही शब्दादि विषयों से परित्यक्त लयस्थित योगी भी निश्चल दिखाई देता है ॥ ४१ ॥

प्रक्षिप्तं लवणं तोये क्रमाद् यद्वद्विलीयते ।
मनोऽप्यभ्यासयोगेन तद्वद् ब्रह्मणि लीयते[4] ॥ ४२ ॥

जैसे जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे धीरे लीन हो जाता है वैसे ही अभ्यासयोग से मन भी परब्रह्म में लीन होता है ॥ ४२ ॥

---

१. (ख) चेष्टा विलयं गतः ।
२. (ख) न च जीवन्मृतो ।
३. (ख) तदा । ४. (ख) इस श्लोक के आदि दो पादों के बाद श्लोक सं० ३४ का पूर्वार्द्ध और जोड़ दिया गया है—'चित्तादि विलये जाते पवनस्य लयो भवेत्' ।

लवणं तोयसंस्पर्शाद् यथा[1] तोयमयं भवेत् ।
मनोऽपि ब्रह्म संस्पर्शात्तथा ब्रह्ममयं भवेत् ॥ ४३ ॥

जैसे नमक जल के सम्पर्क से जलमय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म के संस्पर्श से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है ॥ ४३ ॥

यथाक्षारमयत्वेन प्राप्नोति[2] लवणं स्वकम् ।
ब्रह्मज्ञानमयत्वेन निर्वाणं मनसस्तथा ॥ ४४ ॥

जैसे जल में लवण की सत्ता जल के क्षारमय होने से प्राप्त होती है वैसे ही मन का ब्रह्म में निर्वाण मन के ब्रह्मज्ञानमय होने से प्रतीत होता है ॥४४॥

घृतात् पृथक्कारहितं घृते लीनं घृतं यथा ।
तत्त्वे लीनस्तथा योगी पृथग्भावं न विन्दति ॥ ४५ ॥

जैसे घृत में डूबा हुआ घृत घृत से पृथकता (भेद) रहित अर्थात् भिन्न नहीं है वैसे ही तत्त्व (सत्ता) में लीन हुआ योगी पृथग्भाव अर्थात् तत्त्व से अपना भेद नहीं जानता है ॥ ४५ ॥

निमेषेण श्वासपलै[3]र्नाडीभिः प्रहरैर्दिनैः ।
मासैः संवत्सरैः कालैर्लयस्थस्तत्परं[4] व्रजेत् ॥ ४६ ॥

एक निमेष (पलक गिरने के समय तक), श्वास, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास और वर्ष तक लयस्थित हुआ योगी उस पर तत्त्व को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्वासोच्छ्वासात्मकः प्राणः षड्भिः प्राणैः पलं स्मृतम् ।
पलैः षष्टिभिरेव स्यात् घटिका कालसंमिता[5] ॥ ४७ ॥

श्वास और उच्छ्वास रूप काल 'प्राण' कहलाता है, छह प्राणों से एक पल कहा गया है और साठ पलों से एक घड़ी समय कहा गया है ॥ ४७ ॥

---

१. (ख) संस्पर्शात् ।
२. (क) प्राप्यते ।
३. (ख) निमेषश्वासपलकैः ।
४. (ख) लयस्थोऽथ परं ।
५. (क) कालसंमता ।

योगी निमेषमात्रेण लयेन लभते ध्रुवम् ।
स्पर्शनं परतत्त्वस्याप्युत्थानं च पुनः पुनः ॥ ४८ ॥

योगी एक निमेषमात्र के लय से निश्चय ही परतत्त्व के स्पर्श को प्राप्त होता है और उससे पुनः पुनः व्युत्थान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

घर्मशान्तिः प्रजायेत मुहुर्निद्रा च मूर्च्छना ।
निमेषषट्कमात्रेण लयेनान्तःस्थ योगिनः[१] ॥ ४९ ॥

छह निमेषों तक के लय से अन्तर्वृत्तिवाले योगी की तापशान्ति होती है, बार बार निद्रा और मूर्च्छा आती है ॥ ४९ ॥

श्वासमात्रलयेनापि तेन प्राणादिवायवः ।
श्वासप्रवाहसम्बन्धात् स्वे स्वे स्थाने वहन्ति ते ॥ ५० ॥

एक श्वास तक रहनेवाले लय से भी प्राण आदि वायु श्वास प्रवाह के साथ सम्बन्ध होने से अपने अपने स्थान में वहते हैं ॥ ५० ॥

श्वासद्वयलयेनापि कूर्मनागादिवायवः[२] ।
निवर्तन्ते च धातूनां बन्धं कुर्वन्ति धातुगाः[३] ॥ ५१ ॥

दो श्वास तक रहने वाले लय से भी कूर्म, नाग आदि वायु निवृत्त हो जाते हैं और धातुगत होकर धातुओं को पुष्ट करते हैं ॥ ५१ ॥

चतुःश्वासलयेनापि सप्तधातुगताः रसाः ।
रसपुष्टिं[४] प्रकुर्वन्ति धातूनां समवायवः ॥ ५२ ॥

चार श्वास तक के लय से भी सातों धातुओं (कफ, पित्त, रस, रक्त, वसा, मज्जा, शुक्र) के रस समवायु होकर धातुओं के रसों की पुष्टि करते हैं ॥ ५२ ॥

---

१. (ख) लयेनिष्ठा च योगिनः ।
२. (ख) कूर्मवातादिवायवः ।
३. (ख) धातवः ।
४. (ख) समं पुष्टिं ।

लयेन पलमात्रेण[1] चासनस्थो न खिद्यते[2]।
स्वल्पश्वासो भवेद् योगी स्वल्पोन्मेषयुतस्तदा[3] ॥ ५३ ॥

एक पल तक के लय से भी आसन पर चाहे कितनी ही देर तक क्यों न बैठे, योगी को थकान मालूम नहीं होती है। तब उसके श्वास-प्रश्वास कम हो जाते हैं और निमेष-उन्मेष भी बहुत कम होते हैं ॥ ५३ ॥

पलद्वयलयेनापि हृन्नाड्याश्चालनं[4] भवेत् ।
अनाहतः स विज्ञेयो मनस्तत्रैव विन्यसेत्[5] ॥ ५४ ॥

दो पल तक के लय से भी हृदय-नाड़ी का चालन (जागना) होता है[6], उसे अनाहत जानना चाहिये। योगी मन को उसी में लगावे ॥ ५४ ॥

चतुःपलप्रमाणेन लयेनानुभवो भवेत् ।
अकस्मान्निपतत्येव शब्दः कर्णे शुभावहः[7] ॥ ५५ ॥

चार पल तक के लय से अनुभव होता है। अकस्मात् कान में सुन्दर सुमधुर शब्द सुनाई पड़ता है ॥ ५५ ॥

पलाष्टकलयेनापि कामस्तस्य निवर्तते ।
कदापि[8] नैव जायेत कामिन्यालिंगितस्य च ॥ ५६ ॥

आठ पल तक के लय से उसकी कामवासना निवृत्त हो जाती है। कामिनी द्वारा आलिंगित होने पर उसे कभी भी कामोत्पत्ति नहीं होती है ॥ ५६ ॥

---

१. (ख) लयेन लयमात्रेण ।
२. (ख) विद्यते ।
३. (ख) स्वल्पो मेखलयस्तथा ।
४. (ख) हृन्नाड्याश्चलनं ।
५. (ख) तत्रैवमभ्यसेन्मनः ।
६. "हृदय-नाडी का चालन" का अर्थ है अनाहत का क्रियाशील होना ।
७. (ख) शब्दस्पातं शुभाशुभम् ।
८. (क) तथापि ।

कलापादलयेनापि सुपुम्णां यान्ति वायवः[१]।
सुपुम्णावदने गत्वा आशु शुद्ध्यन्ति वायवः[२] ॥ ५७ ॥

चौथाई कला (घड़ी) तक के लय से भी प्राणादि वायु सुषुम्णा में चले जाते हैं। सुपुम्णा के मुख में गमन से तत्काल सब वायु शुद्ध हो जाते हैं ॥५७॥

घटिकार्द्धलयेनापि शक्तिः कुण्डलिनी परा[३]।
मनोवातनिरोधेन जागर्त्याधारसंस्थिता[४] ॥ ५८ ॥

आधी घड़ी तक के लय से निश्चय ही मूलाधार में स्थित परा कुण्डलिनी शक्ति मन और वायु के निरोध से जाग जाती है ॥५८ ॥

कलामात्रलयेनापि[५] शक्तिः संचलते ध्रुवम्।
[६]ऊर्द्ध्वपश्चिममार्गेण वातरोधेन जाग्रती[७] ॥ ५९ ॥

एक घड़ी तक के लय से भी वायु का रोध होने पर जगी हुई कुण्डलिनी शक्ति पश्चिम मार्ग (सुपुम्णा मार्ग) द्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर चलने लगती है ॥ ५९ ॥

कलाद्वयलयेनापि शक्तेः संचलनेन वा[८]।
क्षणादुत्पद्यते तस्य मनसः कम्पनं सकृत् ॥ ६० ॥

दो घड़ी तक के लय से तथा शक्ति के संचलन से एक क्षण में एक बार योगी के मन कम्पन उत्पन्न होता है ॥ ६० ॥

---

१. (ख) सुषुम्णामार्गवाहिनी।
२. (ख) तदा पश्चिममार्गेण तस्य भोगेन गच्छति। (क) मील्या (शुचिवद्यान्ति) वायवः।
३. (क) शक्तिः संचलते ध्रुवम्। (ख) शक्ति कुण्डलिनी परा।
४. (क) ऊर्ध्वपश्चिमार्गेण वातरोधेन जाग्रति (जाग्रती ?)।
५. (क) घटिकैकलयेनापि सुषुम्णा मार्गवाहिनी।
६. कला।
७. गच्छति।
८. (क) शक्तिसंचालनेन वा। (ख) शक्ते संचलनेन च।

चतुः कलालयेनापि निद्राभावो निवर्तते ।
हृदि स्फुलिंगवद् योगी तेजोविन्दुं प्रपश्यति ॥ ६१ ॥

चार घड़ी तक के लय से योगी का निद्राभाव निवृत्त हो जाता है और वह हृदय में चिनगारी के सदृश तेजो विन्दु का दर्शन करता है ॥ ६१ ॥

दिनपादलयेनापि स्वल्पाहारो भवेन्नरः[१] ।
स्वल्पमूत्रपुरीषश्च लघुता स्निग्धता तनोः[२] ॥ ६२ ॥

चौथाई दिन तक के लय से भी योगी पुरुष का आहार बहुत घट जाता है, उसका मूत्र और पुरीष (मल) भी बहुत अल्प मात्रा में होता है एवं शरीर में हल्कापन और स्निग्धता आ जाती है ॥ ६२ ॥

वासरार्धलयेनापि स्वात्मज्योतिः प्रकाशते ।
सूर्यो गोभिरिवोद्दीप्तो[३] योगी विश्वं प्रकाशते ॥ ६३ ॥

आधे दिन तक के लय से आत्मज्योति प्रकट होती है । सूर्य जैसे किरणों से उद्दीप्त रहता है वैसे ही योगी उद्दीप्त होकर विश्व को प्रकाशित करता है ॥ ६३ ॥

दिनमात्रलयेनापि स्वात्मतत्त्वं प्रकाशते ।
इन्द्रियज्ञानविस्तारो ब्रह्माण्डेऽप्यनुवर्तते[४] ॥ ६४ ॥

दिन भर तक रहने वाले लय से आत्मतत्त्व प्रकाशित होता है और इन्द्रियों के ज्ञान का विस्तार सारे ब्रह्माण्ड तक हो जाता है ॥ ६४ ॥

---

१. (ख) भवेत्ततः ।

२. (ख) स्वल्पमूत्रपुरीषत्वं लघुता स्निग्धता तथा ।

३. (ख) स सुगोभिरिवोद्दीप्तो ।

४. (ख) ब्रह्माण्डेप्यस्य जायते ।

अहोरात्रलयेनापि योगी च स्वासने स्थितः[१] ।
चित्तवृत्तिनिरोधेन[२] गन्धं जानाति दूरतः ॥ ६५ ॥

एक दिनरात तक के लय से भी अपने आसन पर स्थित ही योगी चित्त-वृत्ति का निरोध होने से दूर से ही गन्ध जान जाता है ॥ ६५ ॥

अहोरात्रद्वयेनापि लयेनानन्दमूर्च्छितः ।[३]
दूरादपि रसं वेत्ति योगी संकल्पवर्जितः ॥ ६६ ॥

दो दिनरातों तक के लय से भी लयजनित आनन्द से मूर्छित हुआ संकल्परहित योगी दूर से ही रस को जान जाता है ॥ ६६ ॥

अहोरात्रत्रयेणापि लयेनान्तस्थयोगिनः[४] ।
दूरदर्शनविज्ञानं[५] स्वभावेनैव वर्तते ॥ ६७ ॥

तीन अहोरात्रव्यापी लय से अन्तर्मुख हुए योगी का स्वभावतः ही दूर-दर्शन विज्ञान हो जाता है ॥ ६७ ॥

अहोरात्रचतुष्केण लयभावप्रभावतः ।
स्पर्शं जानाति योगीन्द्रो दूरादपि न संशयः ॥ ६८ ॥

चार अहोरात्र व्यापी लयभाव के प्रभाव से योगिराज दूर से भी स्पर्श को जान जाता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६८ ॥

पंचरात्रलयेनापि तस्याप्युत्पद्यते ध्रुवम् ।
दूरश्रवणविज्ञानं मनसाश्चर्य कारणम् ॥ ६९ ॥

पांच अहोरात्रव्यापी लय से उस योगिराज का निश्चय ही आश्चर्यजनक मन से दूर के शब्द को सुनने का विज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥ ६९ ॥

---

१. (क) लयादानन्दमूर्छितः ।

२. (ख) स्थितिवृत्तिनिरोधेन ।

३. (ख) लयानन्दसमूर्छितः । (क) लयनादेषु मूर्छित ।

४. (ख) लयानन्दस्य योगिनः ।

५. (ख) दूराद् दर्शन विज्ञानं ।

२

एकत्वं चेन्द्रियज्ञानं महत्त्वानुभवात्मकम्[1] ।
जानात्यनेन योगीन्द्रः सकलं विश्ववर्तनम् ॥ ७ ॥

इससे योगिराज स्वानुभवात्मक एकत्व, विस्तृत ब्रह्माण्डव्यापी इन्द्रियज्ञान तथा सकल विश्व में स्थिति जान जाता है ॥ ७० ॥

रात्रिषट्कलयेनापि[2] महाबुद्धिः प्ररोहति ।
तावत्कार्यमतीतं[3] च विश्वज्ञानं प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

छह अहोरात्रव्यापी लय से महाबुद्धि उत्पन्न होती है जिससे सब कार्यों तथा अतीत और अनागत विश्व का ज्ञान होता है ॥ ७१ ॥

सप्तरात्रलयेनापि परे लीनस्य योगिनः ।
आब्रह्मविश्ववेतृत्वं श्रुतिज्ञानं च वर्तते[4] ॥ ७२ ॥

सात अहोरात्रव्यापी लय से भी परतत्त्व में लीन हुए योगी का ब्रह्म-पर्यन्त विश्वज्ञान तथा श्रुतिज्ञान हो जाता है ॥ ७२ ॥

अष्टरात्रलयेनापि भवेद् योगी निरामयः ।
क्षुत्पिपासादिभावैश्च सहजस्थो न पीड्यते[5] ॥ ७३ ॥

आठ अहोरात्रव्यापी लय से सहजस्थ (परतत्त्व में लीन) योगी, निरोग हो जाता है एवं क्षुधा, प्यास आदि से भी पीड़ित नहीं होता है ॥ ७३ ॥

नवरात्रलयेनापि निर्वेदस्यात्मवर्त्मनः[6] ।
वाचः सिद्धिर्भवत्येव[7] शापानुग्रहकारिणी ॥ ७४ ॥

नौ अहोरात्रव्यापी लय से अपरोक्ष आत्मज्ञान के मार्गरूप निर्वेद (वैराग्य) की सिद्धि तथा शाप और अनुग्रहकारिणी वाक्सिद्धि अवश्य ही होती है ॥ ७४ ॥

---

१. (ख) एवं पंचेन्द्रियज्ञानं महत्तत्वस्य कारणम् ।
२. (ख) षड्रात्रिविलयेनापि ।
३. (क) यावत्कर्ममतीतं च । (ख) यावत्कर्ममतीतं च ।
४. (ख) आब्रह्मविश्वेश्वरत्वं श्रुतिज्ञानं च जायते ।
५. (ख) सहजैरपि न पीड्यते ।
६. (ख) निर्भेदः स्वात्मवर्तिनः ।
७. (ख) वाचासिद्धि भवेत्तस्य ।

दशरात्रलयेनपि योगीन्द्रः स्वात्मनि स्थितः।
यानि कानि च गुप्तानि[१] महाचित्राणि पश्यति ॥ ७५ ॥

दस अहोरात्रव्यापी लय से स्वात्मनिष्ठ योगीन्द्र भाँति-भाँति के गुप्त महाश्चर्यों को देखता है ॥ ७५ ॥

[२]ततश्चैकादशाहेन[३] लयस्थस्य जवोदयात्।
मनसा सहितस्यापि गन्तुमिच्छति विग्रहः ॥ ७६ ॥

ग्यारह अहोरात्र तक लय में स्थित योगीन्द्र की मन के साथ-साथ काया की गति होती है ॥ ७६ ॥

द्वादशाहलयेनापि भूचरत्वं हि सिद्ध्यति।
निमेषार्धप्रमाणेन[४] पर्यटत्येव भूतले[५] (लम् ?) ॥ ७७ ॥

बारह अहोरात्रव्यापी लय से योगराज को भूचरत्व की सिद्धि होती है जिसके कारण केवल आधे निमेष (पलक मारने) में सारे भूतल में चारो ओर घूम लेता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७७ ॥

ततस्त्रयोदशाहेन लयेनापि महाद्भुताम्[६]।
योगीन्द्रः खेचरीसिद्धिं लभते चिन्तनादपि[७] ॥ ७८ ॥

तदनन्तर तेरह अहोरात्रव्यापी लय से योगिराज को केवल चिन्तनमात्र (खयाल करने) से अद्भुत खेचरी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ७८ ॥

---

१. (ख) सुगुप्तानि।
२. (क) तथा।
३. (क) तस्य चैकादशाहेन लयस्थस्य जयोदयात्।
४. (क) निमिषार्धप्रमाणेन।
५. (ख) भूतलम्।
६. (क) और (ख) महाद्भुतम्।
७. (ख) चेतनादपि।

चतुर्दशदिनान्तं तु[१] लयस्थो यदि तिष्ठति ।
अणिमाख्या च सिद्धिः[२] स्यादणुत्वं प्राप्यते यया ॥७६॥

यदि योगी चौदह दिन पर्यन्त लगातार लयस्थित रह जाता है तो अणिमा नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है जिससे अणुत्व प्राप्त किया जाता है ॥७६॥

आत्मन्येवात्मना लीनो योगी षोडशवासरान्[३]।
लभते महिमासिद्धिं महारूपस्य धृग् यया[४] ॥ ८० ॥

यदि योगी लगातार सोलह दिनों तक आत्मा में स्वयं लीन रहे तो 'महिमा' नाम की सिद्धि उसे प्राप्त होती है जिससे वह महान् रूप धारण करता है ॥ ८० ॥

अष्टादशदिनान्तं तु[५] लयस्थो यदि तिष्ठति ।
गरिमाख्या भवेत् सिद्धिर्यथाभूभारधृग्[६] भवेत् ॥ ८१ ॥

यदि योगी अठारह दिनों तक लगातार लयस्थ रहता है तो उसे 'गरिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह आवश्यकता पर भूमिका-सा भारीपन धारण कर लेता है ॥ ८१ ॥

अभिन्नार्थे लये वापि यश्च विंशतिवासरान्[७] ।
लघिमाख्या भवेत्सिद्धिर्ययाणुत्वस्य[८] भारधृक् ॥ ८२ ॥

जो योगी परतत्त्व में लगातार बीस अहोरात्र लीन रहता है उसे 'लघिमा' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिसमे वह अणु का भार धारण कर लेता है ॥ ८२ ॥

---

१. (ख) चतुर्दशदिनानां च ।
२. (ख) अणिमाद्यष्टसिद्धिः स्याद० ।
३. (ख) वासरात् ।
४. (ख) स महारूपधृक् यथा ।
५. (ख) अष्टादश दिनानां च ।
६. (ख) गरिमाख्यां लभते सिद्धिं यथा ।
७. (ख) पंचविंशतिवासन् ।
८. (ख) सिद्धिर्यथा ।

द्वाविंशतिदिनान्येवं स्वलक्ष्ये विलयं गतः[१] ।
प्राप्तिसिद्धिर्भवेत्तस्य प्रापयेद्धि जगत्स्थितिम् ॥ ८३ ॥

यदि योगी अपने लक्ष्यभूत परतत्त्व में इस प्रकार से लगातार बाईस दिनों तक विलय को प्राप्त होता है तो उसे 'प्राप्ति' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह सारे जगत् को स्थिति प्राप्त कराता है ॥ ८३ ॥

परे लयं गतो योगी चतुर्विंशतिवासरान् ।
तस्य प्राकाम्यसिद्धिः स्यादिच्छितं लभते ध्रुवम्[२] ॥ ८४ ॥

यदि योगी लगातार २४ दिनों तक परतत्त्व में लय को प्राप्त रहता है तो उसे 'प्राकाम्य' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे अवश्य ही उसे मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥

यस्यैवास्तगतं चित्तं षड्विंशतिदिनानि वै ।
लभते जगतीशित्वं[३] येन विश्वगुरुर्भवेत् ॥ ८५ ॥

जिसका चित्त लगातार छब्बीस दिनों तक परतत्त्व में अस्त (लीन) रहता है वह जगत् में 'ईशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त करता है जिससे वह विश्वगुरु होता है ॥ ८५ ॥

अष्टाविंशत्यहान्यस्य[४] लयस्तिष्ठेत् स्थिरात्मनः[५] ।
वशित्वसिद्धिप्राप्तिः स्याद्ययावै वशयेज्जगत्[६] ॥ ८६ ॥

जिस स्थिरात्मा योगिराज का लगातार अट्ठाईस दिनों तक पर तत्व में लय स्थायी रहता है उसे 'वशित्व' नाम की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में कर सकता है ॥ ८६ ॥

---

१. (ख) द्वाविंशतिदिनानि स्याल्लयक्षेपो लयंगतः ।

२. (ख) वशित्वं लभते तथा ।

३. (क) जगदीशित्वम्' और (ख) 'जगदीशत्वम्' ।

४. (क) और (ख) अष्टविंशत्यहर्यस्य ।

५. (ख) लयस्थस्यस्थिरासने ।

६. (ख) वश्यकृज्जगत्।

गन्तुमिच्छन्ति ये केचित् परे ब्रह्मपदे लयम् ।
भवन्ति सिद्धयस्तेषां [१]सर्वा विध्वंसकारिकाः ।। ८७ ।।

जो कोई महापुरुष परब्रह्म पद में लीन होना चाहते हैं उनके लिये ये पूर्वोक्त सब सिद्धियां सर्वनाशकारिणी होती हैं इसलिए उन्हें सिद्धियों की ओर आकृष्ट नहीं होना चाहिये ।। ८७ ।।

मासमेकं लयो यस्य लग्नस्तिष्ठत्यखण्डितः[२] ।
न जागर्ति स योगीन्द्रो यावन्मोक्षं न विन्दति[३] ।। ८८ ।।

जिस योगी का एक मास तक लगातार अखण्डित लय रहता है वह योगिराज जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक जागता नहीं है ।। ८ ।।

नवमासलयेनापि पृथ्वीतत्त्वं स विन्दति[४] ।
पृथ्वीतत्त्वे तु[५] संसिद्धे योगीन्द्रो वज्रसंनिभः ।। ८९ ।।

नौ महीने तक के लय से योगिराज को पृथिवी तत्त्व का लाभ हो जाता है । पृथिवी तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर योगिराज वज्र तुल्य देह हो जाता है अर्थात् उसकी काय-सिद्धि हो जाती है ।। ८९ ।।

सार्धसंवत्सरेणापि लयस्थस्यापि योगिनः ।
तोयतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् तोयतत्त्वमयो भवेत्[६] ।। ९० ।।

डेढ़ वर्ष तक लगातार परत्त्व में लीन योगी को जलतत्त्व की सिद्धि होती है जिससे योगी जलतत्त्वमय होता है ।। ९० ।।

---

१. (ख) सर्वास्तेषां ।

२. (ख) मासमेकं लये यस्य लयस्तिष्ठेदखण्डितः ।

३. (ख) यावन्मोक्षं स गच्छति ।

४. (ख) स गच्छति ।

५. (ख) पृथ्वीतत्त्वेति संसिद्धे ।

६. (ख) तोयतत्त्वमयो हि सः ।

संवत्सरत्रयेणापि लयस्थस्यापि योगिनः।
तेजस्तत्त्यस्य सिद्धिः स्यात्तेजस्तत्त्वमयो भवेत्[1] ॥ ६१ ॥

तीन वर्षो तक निरन्तर लयस्थ योगी को तेजस्तत्त्व की सिद्धि होती है, जिससे वह तेजस्तत्त्वमय हो जाता है ॥ ६१ ॥

षड्भिः संवत्सरैरेवमखण्डलयसंस्थितः[2]।
वायुतत्त्वस्य सिद्धिः स्यात् वायुतत्त्वमयो भवेत्[3] ॥ ६२ ॥

इसी प्रकार छह वर्षों तक यदि योगी अखण्ड परतत्वलय में स्थित हो तो उसे वायुतत्त्व की सिद्धि होती है। वायुतत्त्व की सिद्धि से वह वायुतत्त्वमय हो जाता है ॥ ६२ ॥

तथा द्वादशभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
व्योमतत्त्वस्य सिद्धिः स्याद् व्योमतत्त्वमयो भवेत्[4] ॥६३॥

इसी प्रकार बारह वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को आकाश तत्त्व की सिद्धि होती है जिससे वह आकाश तत्त्वमय (सर्वव्यापक) हो जाता है ॥६३॥

चतुर्विंशतिभिर्वर्षैर्लयस्थस्य निरन्तरम्।
शक्तितत्त्वस्य सिद्धिः स्याच्छक्तितत्त्वमयो भवेत्[5] ॥६४॥

चौबीस वर्षों तक निरन्तर लयस्थ योगी को शक्तितत्व की सिद्धि प्राप्त होती है जिससे वह शक्तितत्त्वमय हो जाता है ॥६४॥

ब्रह्माण्डंसकलं पश्येत् करस्थमिव मौक्तिकम्[6]।
आत्मकायस्वरूपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्[7] ॥ ६५ ॥

तदनन्तर वह (योगिराज) अपने शरीर का मनचाहा स्वरूप छांट कर अर्थात् अपना जैसी इच्छा हो वैसा स्वरूप बना कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को हथेली में रखे मोती के समान देखे ॥६५॥

---

१. (ख) तेजस्तत्त्वमयो हि सः।
२. (ख) षड्भिः संवत्सरैर्भूतैरखण्डलयसंस्थिते।
३. (ख) वायुतत्त्व मयो हि सः।
४. (ख) व्योमतत्त्वमयो हि सः।
५. (ख) शक्तितत्त्वमयो हि सः।
६. (ख) ब्रह्माण्डान् सकलान् पश्येत्पाणिस्थमिव मौक्तिकम्।
७. (ख) निर्धार्याथ यथास्थितम्।

कायस्थो दृश्यते लोके[1] तत्त्वचर्या समाचरेत् (चरन् ?)।
तत्त्वचर्यां करोत्येव शक्तितत्त्वक्षयाय च ॥ ९६ ॥

कायस्थ (शरीर स्थित) योगी लोक में तत्वचर्या का आचरण करता हुआ दिखाई देता है क्योंकि शक्तितत्त्व के विनाश के लिए उसे तत्वचर्या अवश्य ही करनी पड़ती है ॥९६॥

इत्थं क्रमविवृद्धेन लयाभ्यासेन योगिनः ।
भुंजते परमानन्दं भुशुण्ड्यादिमहात्मवत् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार क्रम से वृद्धि प्राप्त हुए लयाभ्यास से योगी भुशुण्डि आदि महात्माओं के तुल्य परमानन्द का भोग करते हैं ॥९७॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम् ।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्तिनाम् ॥ ९८ ॥

ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के प्रलय होने पर महातत्त्व में अधिष्ठित लयस्थ योगियों का पात (विनाश) नहीं होता है ॥९८॥

इत्यमनस्कखण्डे[2] ईश्वरपार्वतीसंवादे[3]

प्रथमोऽध्यायः ॥

---

१. (ख) लोको ।
२. (ख) पुस्तक पाठः, अमनस्केयोगशास्त्रे ।
३. (ख) पाठः—ईश्वरवामदेवसंवादे ।

उत्तरार्ध

श्रीवामदेव उवाच–

भगवन् देवदेवेश परमानन्दसुन्दरम् ।
अपरं किंचिदाख्याहि भवता यदुदीरितम् ॥ १ ॥

श्रीवामदेव जी ने कहा—भगवन्, हे देवाधिदेव, आपने जो पहले कहा था उसी तरह का परमानन्ददायक वृत्तान्त कहने की कृपा कीजिये ॥ १ ॥

श्री ईश्वर उवाच–

बहिर्मुद्रान्वितं पूर्वं बहिर्योगेन तन्मयम् ।
अन्तर्मुद्राख्यमपरं तयोर्योग (गः?) तदेव हि ॥ २ ॥

श्री महादेव जी ने कहा—हे मुने, पूर्वोक्त तारक और अमनस्क दो योगों में पूर्वयोग अर्थात् तारक योग बाहरी मुद्रा से युक्त होने के कारण बाह्ययोग अर्थात् बहिर्योगमय है दूसरा अर्थात् अमनस्क अन्तर्मुद्रा नामक है, अतएव वही यथार्थ योग है ॥ २ ॥

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुंगव ।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः ॥ ३ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, वही राजयोग कहा गया है, क्योंकि वह सब योगों का राजा है, इसलिए राजयोग कहलाता है ॥ ३ ॥

राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्माणमव्ययम् ।
देहिनः प्रापयेद् यस्तु राजयोगः स उच्यते ॥ ४ ॥

जो योग देहधारियों को राजा के तुल्य शोभायमान (देदीप्यमान) उस अव्यय परब्रह्म में पहुँचाता है, वह राजयोग कहलाता है ॥ ४ ॥

राजयोगस्य महात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानात् सिद्ध्यति मुक्तिर्हि गुरोर्ज्ञानं च लभ्यते ॥ ५ ॥

हे मुनिवर, राजयोग का वास्तविक महात्म्य कौन जान सकता है ? उसके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है और गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

अन्तर्योगं वहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।
मया त्वयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः ॥ ६ ॥

जो पूर्वोक्त अन्तर्योग और वहिर्योग को विशेषरूप से (तत्त्वतः) जानता है वह मेरा और तुम्हारा भी वन्दनीय है, औरों का वन्दनीय है इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ६ ॥

चित्तं बुद्धिरहंकार ऋत्विक् सोमश्च पंचमः ।
इन्द्रियाणि दश प्राणान् जुहोति ज्योतिर्मण्डले ॥ ७ ॥

चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक् और पांचवां सोम—ये दस इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं[1] ॥ ७ ॥

---

१. देह में पांच तत्त्व हैं—चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, (कर्म करनेवाली अस्मिता, एवं सोम (अमृत, मन) । ये पांचों होम करने वाले हैं । दश इन्द्रियां होम की सामग्रियां हैं (हव्य हैं) और ज्योतिर्मण्डल होम कुण्ड है ।

वद्धपद्मासन

सर्वांगासन

सिद्धासन

उत्थान पद्मासन (शक्ति–आसन)

योगमुद्रा

चौरंगीपीठ (दोलासन)
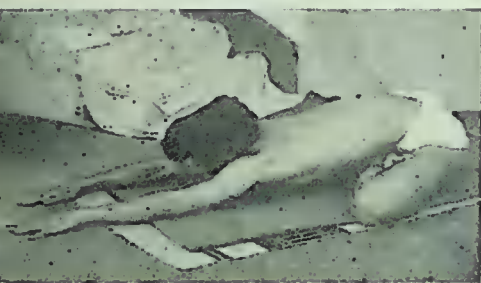
महायोगमुद्रा

त्राटक

तन्मूलान्नादिपर्यन्तं विभाति ज्योतिर्मण्डलम् ।
योगिभिः सततं ध्येयमणिमाद्यष्टसिद्धिदम् ॥ ८ ॥

उनके मूलभूत अन्नादि पर्यन्त ज्योतिर्मण्डल शोभित होता है। उसका योगियों को सदा ध्यान करना चाहिए। वह अणिमा आदि सिद्धियाँ देनेवाला है ॥ ८ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ९ ॥

वेद, शास्त्र और पुराण गणिका के तुल्य सर्वसाधारण हैं, सबकी उन तक पहुँच है, केवल एकमात्र शाम्भवी विद्या ही कुलवधू की तरह गुप्त है ॥९॥

अन्तर्लक्ष्यवहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा हि शाम्भवीमुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता ॥ १० ॥

यह शाम्भवी-मुद्रा अन्तर्लक्ष्यवाली, वहिर्दृष्टिवाली और निमेष और उन्मेष से शून्य है अर्थात् शाम्भवी मुद्रा में वहिर्दृष्टि होने पर भी अन्तर्लक्ष्य होता है और दृष्टि में निमेष और उन्मेष नहीं होते हैं। यह सब शास्त्रों में छिपाई गई है, गोपित है ॥ १० ॥

आदिशक्तिरुमाचैषा मत्तोजन्मवतीपुरा ।
अधुना जन्मसंस्कारात्त्वमेको लब्धवानसि ॥ ११ ॥

यह शाम्भवी—मुद्रा आदिशक्ति उमा रूप है, यह पहले मुझसे उत्पन्न हुई थी, इस समय जन्म संस्कार वश तुमने इसे प्राप्त किया है ॥ ११ ॥

गुह्याद् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित् ।
एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥ १२ ॥

यह विद्या गुह्य से भी गुह्यतर (अधिक गुह्य) है। इसे किसी को नहीं देना चाहिए। यह ज्ञान जहाँ रहता है वह प्रदेश (देह) पुण्यदेश है, वह जन पुण्यात्मा है[१] ॥ १२ ॥

१. 'देशः' के स्थान पर 'देहः' पाठ अच्छा मालूम होता है।

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः[1] ॥ १३ ॥

उसके दर्शन और स्पर्श से अपने २१ पुश्तों के साथ लोक मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। उस देश के निवासी या जन के सेवकों की तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

नोर्ध्वाधः कुण्डलीभेद उन्मन्याश्चैव न क्रमः ।
अनुसन्धानमात्रेण योगोऽयं सिद्धिदायकः ॥ १४ ॥

इस योगमें ऊर्ध्वकुण्डली या अधःकुण्डलिनी भेद नहीं है। उन्मनी, मनोन्मनी का भी क्रम नहीं है। यह योग केवल अनुसन्धान मात्र से[2] सिद्धि प्रदान करता है ॥ १४ ॥

ऊर्द्ध्वमुष्टिरधोदृष्टिरूर्द्ध्वभेदस्त्वधः शिराः ।
धरायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ १५ ॥

ऊपर की ओर मुष्टि, नीचे की ओर दृष्टि, ऊपर को भेद और नीचे की ओर सिर कर "धरायन्त्र" की विधि से साधक जीवन्मुक्त होगा ॥ १५ ॥

---

१. तुलनीय—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् ।
भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥ (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

२. शास्त्रों में तीन प्रकार के योग का वर्णन है—(१) आणवयोग (२) शाक्तयोग और (३) शांभवयोग ।
आणवयोग में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि को लेकर साधना होती है, जैसे कि आसन द्वारा देहजय, मुद्रा-बंध-प्राणायाम द्वारा प्राणजय, ध्यान द्वारा मनजय इत्यादि ।
जब कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है तब शाक्तयोग (शक्तिअनुसंधान) होता है। ऐसा होता है कि शक्ति सहस्रार में तो पहुँच गयी है किन्तु शिवत्वबोध नहीं है। इसलिये बोध करने का जो उपाय है वह शांभवयोग (स्वरूप अनुसंधान) है, जो अनुसंधानात्मक है ('शिवोऽहम्')।

कुलचाररता : सन्ति गुरवो बहवो मुने ।
कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः ॥ १६ ॥

हे मुने, कौलों के आचार में रत बहुत से गुरु हैं, किन्तु कौलाचार से विहीन एक ही गुरु है उसका प्राप्त होना सरल नहीं है ॥ १६ ॥

पुष्पात् प्रकाशते यद्वत् फलं पुष्पविघातकम् ।
देहात्प्रकाशते तत्त्वं तत्त्वं देहविनाशकम् ॥ १७ ॥

जैसे फूल से फल प्रकट होता है परन्तु फल फूल का विनाशक है वैसे ही देह से तत्त्व प्रकट होता है पर तत्त्व देह का विनाशक है ॥ १७ ॥

फलप्रकाशकं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकम् ।
तत्त्वप्रकाशको देहस्तत्त्वं देहविनाशकम् ॥ १८ ॥

फूल फल का प्रकाशक है, फल फूल का विनाशक है। देह तत्त्व की प्रकाशक है, तत्त्व देह का विनाशक है ॥ १८ ॥

तत्त्वमात्मस्थमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ।
गोपः कक्षगते छागे कूपे पश्यति दुर्मतिः ॥ १९ ॥[१]

जैसे मूर्ख ग्वाला बकरी के बच्चे के बगल में रहते भी मूर्खतावश उसे कुएँ में झांकता फिरता है वैसे ही मूढ़ पुरुष अपने में स्थित तत्त्व को न जानकर शास्त्रों में मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात् व्यर्थ शास्त्रों में भटकते हैं ॥ १९ ॥

नमोऽस्तु गुरवे तुभ्यं सहजानन्दरूपिणे ।
यस्य वाक्यामृतं हन्ति संसारमोहनामयम् ॥ २० ॥

सहजानन्द रूपी आप गुरु के लिए नमस्कार है जिनका वाक्य-रूपी अमृत संसार मोहरूपी व्याधि का विनाश करता है ॥ २१ ॥

---

१. अन्यत्र भी कहा है—शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद् बुधः ।
नहि दीपकवार्तयामन्धकारो विनश्यति ॥

अमृतोद्दीपिनी विद्या निरपाया निरंजना ।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी ॥ २१ ॥

यह अमनस्का विद्या अमरता को उद्दीप्त करनेवाली, कभी विनष्ट न होनेवाली और किसी भी प्रकार के कालुष्य से रहित है। यह आनन्दप्रदायिका लोकोत्तर कला सबसे उत्कृष्ट होने के कारण सर्ववन्दनीय है ॥ २१ ॥

प्राणाष्टोच्छ्वासनिः श्वासविध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्गतारम्भोह्यानन्द एव योगिनः ॥ २२ ॥

प्राण वायु के आठ उच्छ्वास और निःश्वासों से जिसमें रूप आदि विषयों का ग्रहण नहीं होता, जिसमें हस्त, पाद आदि अंगों की चेष्टाएँ नहीं होतीं अर्थात् निश्चलतायुक्त एवं किसी प्रकार का कार्यारम्भ जिसमें नहीं होता अर्थात् निष्क्रियता सम्पन्न आनन्द ही योगी का है ॥ २२ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निश्शेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जगतां वागगोचरः ॥ २३ ॥

जिसमें सब प्रकार के संकल्प छिन्न-भिन्न हो चुके हैं, सब चेष्टाएँ निश्शेष गई हैं, केवल अपने अनुभव से ज्ञेय कोई अद्भुत लय लोगों की वाणी अगोचर है, उसका वाणी द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता ॥२३॥

वदन्त्येव परं ब्रह्म बुद्धिमन्तो हि सूरयः ।
सर्वबोधकलालापकुशला दुर्लभा भुवि ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् विद्वान् पुरुष परम ब्रह्म को वाणी से कहते भर हैं सबको बोध (ज्ञान) कराने की कला के आलाप में कुशल पुरुष पृथ्वी में दुर्लभ हैं। या सब बोधकलाओं (ज्ञान कलाओं) के उपदेश में कुशल पुरुष पृथ्वी पर दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

विन्दन्त्यनात्मनोऽभावं वेदान्तोपनिषद्विदः ।
रहस्यमुपदिश्यापि स्वयं नानुभवन्ति ते ॥ २५ ॥

वेदान्त उपनिषदों के मर्मज्ञ अनात्मा के अभाव को तत्त्व जानते हैं। वे उसका उपदेश देते हैं पर स्वयं उसका अनुभव नहीं करते हैं ॥ २५ ॥

विज्ञाय योगशास्त्राणि नानागुरुमतानि च ।
निबद्धः स्वावबोधो यं सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ २६ ॥

विविध योगशास्त्रों का तत्त्व भलीभाँति जानकर तथा नाना गुरुजनों के मतों को भी भली प्रकार जानकर यह अमनस्क नामक स्वावबोध (आत्म-बोध) रचा गया है । यह सद्यः ज्ञानकारक है ॥ २६ ॥

सकलं समनस्कं च सापायं च सदा त्यज ।
निष्कलं निर्मनस्कं च निरायासं सदा भज ॥ २७ ॥

समनस्क जो सकल (प्राणादि नामान्त कलाओं से युक्त) और विनश्वर है, का सदा त्याग करो और निर्मनस्क (अमनस्क), जो कलारहित और आयासविहीन है[१], का सदा सेवन करो ॥ २७ ॥

दुग्धाम्बुवत् संमिलितौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ च ।
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुच्चापि मनः प्रवृत्तिः ॥२८॥[२]

मन और वायु दूध और जल की तरह परस्पर मिले हुए हैं उन दोनों की क्रिया भी एक सी ही है । उन दोनों में जब तक मन रहेगा तब तक वायु की प्रवृत्ति भी रहेगी और जबतक वायु रहेगा तब तक मन की भी प्रवृत्ति रहेगी ॥ २८ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ।
अभ्यस्तयोरिन्द्रिय[३]वर्गवृद्धिर्विध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२९॥

उन दोनों में एक के विनाश से दूसरे का विनाश हो जाता है और एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है । उन दोनों के प्रवृत्त होने पर इन्द्रियवर्ग की वृद्धि (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श आदि की ओर अधिक आकर्षण) होती है और उनके विध्वस्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

---

१. 'निरपायम्' ऐसा पाठ मानने पर 'अविनाशी है' । यह अर्थ होगा ।

२. चले वाते चले चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥(हठयोगप्रदीपिका२।२)

३. अभ्यस्तयोस्तत्र त्रिवर्गवृद्धिः इतिपाठः समीचीनः प्रतिभाति । अर्थात् मन और वायु के अभ्यस्त होने पर त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि होती है ।

तत्राप्य[1]साध्यः पवनस्य नाशः
षडंगयोगादिनिषेवरणेन ।
मनोविनाशस्तु गुरुप्रसादा-
न्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥३०॥

उन दोनों में वायु का विनाश षडंग-योग आदि के कौशलके साथ सेवन से साध्य है और मन का विनाश तो श्री गुरुदेव के अनुग्रह से एक पलभर में ही सुसाध्य होता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मनोनाशवतोऽमनस्कता
यन्नाशतो नश्यति वायुरग्रे ।
तस्मात्सुबुद्धीन्द्रियदेहनाशा-
दद्वैतबुद्धिः सहजस्थितस्य ॥३१॥

इसलिए जिसके मन का विनाश हो चुका उसे अमनस्कता (अमनस्क योग) प्राप्त है। मन के नाश के पहले वायु विनष्ट हो जाता है। वायु और मन के विनाश से बुद्धि, इन्द्रिय और देह का विनाश होने के कारण अमनस्क योगी को (सहजतत्त्व में स्थित योगी को) अद्वैतबुद्धि होती है ॥३१॥

जित्वा वायुं विविधकरणैः क्लेशमूलैः कथंचित्,
कृत्वा यत्नं निजतनुगताशेषनाडीप्रचारान् ।
अश्रद्धेयां परपुरगतिं साधयित्वापि नूनम् ,
विज्ञानेऽपि व्यसनसुखिनो नास्ति तत्त्वस्यसिद्धिः ॥३२॥

कष्टकारी विविध साधनों से किसी प्रकार कठिनाई से वायु पर विजय प्राप्त कर और उसका प्रयत्नपूर्वक अपने शरीर की सम्पूर्ण नाडियों से संचार कर, अश्रद्धेय (अविश्वसनीय) परकायप्रवेश को असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर विज्ञान में व्यसन से सुख माननेवाले भी अर्थात् विज्ञानार्जन में अत्यन्त परिश्रमशील साधक को तत्त्व की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३२ ॥

---

१. थ ।

केचिन्मूत्रं पिबन्ति स्वमलमथ तनौ केचिदुज्झन्ति लालां,
केचित्काष्ठां प्रविष्टा युवतिभगगतं विन्दुमूर्ध्वं नयन्ति।
केचित्खादन्ति धातून् अखिलतनुशिरावायुसंचारदक्षा-
नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनोराजयोगादृते स्यात् ॥ ३३ ॥

कुछ अघोरपंथी अपना मूत्र पीते हैं, कोई अपना मल ग्रहण करते हैं, कोई अपने शरीर पर राख पोतते हैं, दुराचरण की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए कोई युवती जनों के गुह्यांग की बूंदों को ऊपर खींचते हैं, कोई विविध प्रकार की धातुओं (रसों) का सेवन करते हैं और कोई शरीर की समस्त नाड़ियों में वायु का संचार करने में निपुण हैं परन्तु इन सबको कार्यसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कार्यसिद्धि का अमनस्क (जिससे अपना मन विलीन हो गया ऐसे) राजयोग के सिवा दूसरा साधन नहीं है ॥ ३३ ॥

केचित्तर्कवितर्ककर्कशधियोऽहंकारदर्पोद्धताः
केचिज्जातिगताभिमानभरिता ध्यानादिकर्माकुलाः।
प्रायः प्राणिगणा विमूढमनसो नानाविकारान्विता
दृश्यन्ते नहि निर्विकारसहजानन्दैकभोगाकुलाः ॥३४॥

नाना तर्कों के ऊहापोह से कर्कश बुद्धिवाले कोई लोग निविड़ अहंकार से उद्धत रहते हैं एवं कोई जातिगत अभिमानान्वित होकर ध्यान आदि कर्मों में व्यग्र रहते हैं। पृथ्वी पर प्रायः सभी प्राणी मूढमन (विकृत मस्तिष्क) हैं तथा नाना प्रकार की विकृतियों से युक्त हैं। एकमात्र निर्विकार सहजानन्द का उपभोग करनेवाले कोई नहीं दिखाई देते हैं ॥३४॥

एकदण्डत्रिदण्डादि जटाभस्मादिकं तथा।
केशमुंचननग्नत्वे रक्तचीवर धारणम् ॥३५॥

उन्मत्ततामभोज्यान्नपानं पाखण्डवृत्तिता।
इत्यादिलिंगग्रहणं नानादर्शनदर्शनम् ॥३६॥

कोई एक दण्डधारी हैं तो कोई त्रिदण्ड आदि धारण करनेवाले हैं, कोई जटाधारी हैं तो कोई सर्वाङ्ग में खूब भभूत रमाये हुए हैं, कोई मुण्डित-मस्तक

हैं तो कोई नग्न रहनेवाले हैं और कोई रक्तवस्त्र धारण करनेवाले हैं। कोई उन्मत्त से हैं तो कोई अभोज्य भक्षण, अपेय पान आदि पाखण्डवृत्ति धारण करते हैं। इत्यादि नाना लिंगों का ग्रहण केवल नाना रूपों का प्रदर्शन मात्र है[१] ॥ ३५, ३६ ॥

नोत्पन्नस्वावबोधस्य ह्युदासीनस्य सर्वतः।
सदाभ्यासरतस्यैतेष्वेकमप्युपयुज्यते ॥३७॥

जिनको आत्मज्ञान हो चुका, जो सर्वदा सब तरफ से उदासीन हैं और सदा अभ्यास में निरत हैं उनमें पूर्वोक्त एकदण्ड, त्रिदण्ड धारण आदि लिंगों में एक भी लिंग उपयोगी नहीं होता है ॥३७॥

सदा दृष्टिविशेषाश्च विविधान्यासनानि च।
अन्तःकरणभावश्च योगिनो नोपयोगिनः ॥३८॥

सदा दर्शनविशेष अर्थात् निरन्तर विविध प्रकार की दृष्टियों का अभ्यास (त्राटक आदि), नाना प्रकार के आसनों का अभ्यास तथा अन्तःकरण भाव (एकाग्रता का अभ्यास) ये सब योगी के उपयोगी नहीं हैं ॥ ३८ ॥

अहंकारावृत्ताः केचिद् ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम्।
उपदेशं न जानन्ति ते च ग्रन्थशतैरपि ॥३९॥

जो लोग विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर अहंकारवान् होते हैं, प्रचुर गर्वयुक्त होते हैं, वे सैकड़ों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपदेश देना नहीं जानते हैं ॥ ३९ ॥

१—श्रीमद् आद्यशंकराचार्य जी ने स्वरचित "चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्" में भी ऐसा ही लिखा है—

जटिलो मुण्डी लुंचितकेशः
काषायांबरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़
उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥

—भजगोविन्दम्...

संकल्पमूलध्यानादि चिन्ताशास्त्रे समाकुलाः ।
क्लेशेनापि न विन्दन्ति प्राप्तव्यस्थानमीप्सितम् ॥४०॥

संकल्पमूलक ध्यान आदि की विचार-चर्चा से भरे हुए शास्त्रों में आकुलमति लोग क्लेश से भी अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान को नहीं जान पाते हैं ॥ ४० ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च
नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च ।
ध्यानादिभिः सत्करणैर्नगम्यं
चिन्तामणिह्येकगुरुं विहाय ॥४१॥

चिन्तामणिस्वरूप एकमात्र गुरू के अनुग्रह के सिवा वेदान्त प्रतिपादित महावाक्यों के उपदेशों से, तर्कशास्त्र में प्रतिपादित युक्तियों के कथनों से, आगमों के अध्ययन से विविध प्रकार के अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञानार्जन से ध्यानादि उत्तम साधनों से अपने गन्तव्य स्थान की प्राप्ति संभव नहीं है ॥४१॥

तस्मान्नूनं सकलविषया निष्कलाध्यात्मयोगाद्
वायोर्नाशस्तदनु मनसस्तद्विनाशाच्च मोक्षः ।
स्याच्चेदेवं सहजममलं निर्विकारं निरीहं
ज्ञात्वा यत्नं कुरुत कुशलाः पूर्वमेवामनस्के ॥४२॥

इसलिए नह निश्चित है कि सब विषय निष्कल अध्यात्मयोग से विनष्ट होते हैं । आत्मयोग से ही वायु का विनाश होता है, वायु विनाश के उपरान्त मन का विनाश होता है और मनके विनाश से मोक्ष होता है । यदि सहज, निर्मल, निर्विकार और निरीह आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर ऐसा होता हो तो हे कुशल पुरुषो, पहले ही अमनस्क के सम्बन्ध में अर्थात् अमनस्क प्राप्ति के लिए यत्न करो ॥ ४२ ॥

अभ्यस्तैः किमुदीर्घकालममलैर्व्याधिप्रदैर्दुष्करैः
प्राणायामशतैरनेककरणैर्दुःखात्म कैर्दुर्जयैः।

यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत्क्षणात्
प्राप्त्यैतत्सहजं स्वभावमनिशं सेवध्वमेकं गुरुम् ॥ ४३ ॥

विविध व्याधियाँ उत्पन्न करनेवाले, बड़ी कठिनाई से करने योग्य, दुःखरूप, दुर्जय तथा अनेक साधनों से सम्पन्न होनेवाले सैंकड़ों प्राणायामों के सुदीर्घ काल तक अभ्यास करने से क्या लाभ ? जिसके उदित होने पर बलवान् वायु स्वयं तत्क्षण विनष्ट हो जाता है उसी सहज स्वभावभूत अमनस्क की प्राप्ति के लिए निरन्तर एकमात्र गुरु की सेवा करो ॥ ४३ ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुदेवात्परं नास्ति तस्मात्तं पूजयत्सदा ॥ ४४ ॥

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु ही देवाधिदेव महादेव हैं। गुरुदेव से बढ़कर दूसरा कोई नहीं है। इसलिए सदा गुरु की पूजा-अर्चा करनी चाहिये ॥ ४४ ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना निमेषाद्,
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ ४५ ॥[1]

जिसकी निमेष (पलक गिरने) के बिना ही दृष्टि स्थिर हो, निरोध के बिना ही जिसका वायु स्थिर हो, बिना किसी अवलम्ब के जिसका चित्त स्थिर हो वही योगी है वही गुरु है, उसीकी सेवा करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

अमनस्कं सुशिष्येषु संक्राम्येन्द्रियजं सुखम् ।
निवारयन्ते ते वन्द्या गुरवोऽन्ये प्रतारकाः ॥ ४६ ॥

जो सुशिष्यों में 'अमनस्क' को संक्रान्त कर इन्द्रियजन्य सुख को हटाते हैं, निवृत्त करते हैं वे गुरु वन्दनीय हैं उनसे अन्य गुरु-गुरु नहीं हैं वंचक हैं ॥४६॥

---

१. प्रथमखण्ड के १४ वें श्लोक में यही भाव व्यक्त है।

गुरुणा दर्शिते तत्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ।
विमुक्तं मन्येतात्मानं मुच्यते नात्र संशयः ॥४७॥

श्री गुरु द्वारा उसके अर्थात् अमनस्क योग के प्रदर्शित किये जाने पर शिष्य को तत्क्षण तन्मय हो जाना चाहिये और अपने को विमुक्त समझना चाहिये। इस प्रकार का शिष्य अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४७ ॥

यथा सिद्धरसस्पर्शात् ताम्रं भवति काञ्चनम् ।
गुरूपदेशश्रवणाच्छिष्यस्तत्त्वमयस्तथा ॥४८॥

जैसे सिद्ध (शोधे गये) पारे के स्पर्श से तांबा सोना हो जाता है, वैसे ही गुरु के उपदेश सुनने से शिष्य तत्त्वमय हो जाता है । ४८ ॥

तस्मादुपासनात् सम्यक् सहजं प्राप्यते गुरोः ।
अनायासेन सततमात्माभ्यासरतो भवेत् ॥४९॥

इसलिए गुरु की भलीभाँति उपासना करने से वह सहज तत्त्व (अमनस्क) अनायास गुरु से प्राप्त होता है। शिष्य को उसको प्राप्त कर निरन्तर आत्माभ्यास करना चाहिये ॥४९॥

विविक्ते विजने देशे पवित्रेऽतिमनोहरे ।
समासने सुखासीनः पश्चात् किंचित्समाश्रयेत् ॥५०॥

सुखस्थापितसर्वाङ्गः सुस्थिरात्मा सुनिश्चलः ।
बाहुदण्डप्रमाणेन कृतदृष्टिः समभ्यसेत् ॥५१॥

पवित्र निर्जन मनोहर प्रदेश में सम आसन पर कुछ पीछे की ओर तनकर सुखपूर्वक आसीन होकर[1] सुख से सब अंगों को यथास्थान स्थापित कर, सुस्थिर चित्त और निश्चल होकर एक हाथ तक आगे की ओर दृष्टि लगाकर अभ्यास करे ॥ ५०, ५१ ॥

१—देखिये श्री गीता—

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं एवं दिशश्चानवलोकयन् ॥६।१३।"

एवं श्री पातञ्जल योगसूत्र, 'स्थिरसुखमासनम्' ॥२।४६॥

शिथिलीकृतसर्वाङ्ग आनखाग्रशिखाग्रतः ।
सबाह्याभ्यन्तरे सर्वं चिन्ताचेष्टाविवर्जितः ॥ ५२ ॥

यदा भवेदुदासीनस्तदा तत्त्वं प्रकाशते ।
स्वयंप्रकाशिते तत्त्वे स्वानन्दस्तत्क्षणाद् भवेत् ॥ ५३ ॥

पैर के नख से लेकर शिखा के अग्रभाग तक सम्पूर्ण अंगों को शिथिल कर योगी बाहरी और भीतरी सब चिन्ता और चेष्टा का त्याग कर जब उदासीन होगा तब अमनस्क तत्त्व का प्रकाश होता है। उक्त तत्त्व के स्वयं प्रकाश में आने पर आत्मानन्द तत्क्षण प्राप्त होता है ॥ ५२,५३ ॥[1]

आनन्देन च सन्तुष्टः सदाभ्यासरतो भवेत् ।
सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः ॥ ५४ ॥

आनन्द से सन्तुष्ट होकर सदा अभ्यास में निरत रहना चाहिये। सदा अभ्यास के स्थिर होने पर फिर न कोई विधि है और न कोई क्रम है ॥५४॥[2]

न किंचिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत् ।
न किंचिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ५५ ॥

योगी कुछ भी चिन्तन न करे, औदासीन्यपरायण हो। कुछ चिन्तन न करने से ही तत्त्व स्वयं प्रकाश में आ जाता है ॥ ५५ ॥[3]

---

१. देखिये श्री गीता, अध्याय ६, श्लोक १४ एवं १५।

२. विधि = कर्तव्य निश्चय। क्रम = पूर्वापरभाव (प्रथम, द्वितीय, तृतीय) अर्थात् करणीय कर्म किस नियम से, किस समय में, किस प्रकार करना चाहिये, यह सब जानने की आवश्यकता नहीं है।

३. "चिंतन न करने का अभ्यास करना चाहिये" अर्थात् गीता के ६।२५ (शनैःशनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्) के अनुसार आत्मस्वरूप में मन को बैठाकर सर्वप्रकार के विषयों का चिंतन वर्जन करे और चित्त कर्तृत्वबोधशून्य रहे।

स्वयं प्रकाशिते तत्त्वे तत्क्षणात्तन्मयो भवेत् ।
इदं तदिति तद्वक्तुं गुरुणापि न शक्यते ॥ ५६ ॥

तत्त्व जब स्वयं प्रकाशित होता है तब तत्क्षण उपासक (योगी) तत्त्वमय हो जाता है। 'यह वह (तत्त्व) है' इस प्रकार उसका प्रतिपादन गुरु भी नहीं कर सकते ॥ ५६ ॥[१]

वाङ्मनःकाय-संक्षोभं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ।
शिलाचित्रमिवात्मानं सुस्थिरं धारयेत्तदा ॥ ५७ ॥

वाणी, मन तथा शरीर के क्षोभ का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिये अर्थात् साधक सदा ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे वाणी, मन और शरीर में क्षोभ न आवे । तब शिला की प्रतिमा के समान अपने शरीर को खूब सुस्थिर (निश्चल) रखना चाहिये ॥ ५७ ॥

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्संकल्पकामना ।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा ॥ ५८ ॥

जब तक थोड़ा सा भी प्रयत्न रहेगा, जब तक संकल्प-कामना होगी, अहं त्वम् (मैं तुम का ज्ञान है अर्थात् मैं और तुम इस प्रकार का द्वैत बोध रहेगा तब तक तत्त्व की बात कहां ? ॥ ५८ ॥

औदासीन्यामृतौघेन वर्धमानेन योगिनाम् ।
उन्मूलितमनोमूलो जगद्वृक्षः पतिष्यति ॥ ५९ ॥

योगियों के निरन्तर बढ़ रहे औदासीन्यरूपी अमृत के प्रवाह से मन रूपी मूल (जगत् की जड़) के उखड़ जाने पर, उन्मूलित हो जाने पर जगद्रूपी वृक्ष गिर जाएगा ॥ ५९ ॥

सदा जाग्रदवस्थायां स्वप्नवद् योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनस्तु निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ६० ॥

जो योगी सदा जाग्रत् अवस्था में स्वप्नवत्, निःश्वास और उच्छ्वास से विहीन रहता है वह निश्चय मुक्त ही है ॥ ६० ॥

१—"इदं तत्"=प्रत्यभिज्ञा होना ।

स्वप्नजागरणोपेता जन्तवो जगतीं गताः ।
योगिनस्तत्त्वसम्पन्ना न जाग्रति न शेरते ॥ ६१ ॥

संसार को प्राप्त जीव अर्थात् सांसारिक लोग स्वप्न और जागरणवाले हैं अर्थात् वे सोते भी हैं और जागते भी हैं। किन्तु तत्त्वसम्पन्न योगी जन न जागते हैं और न सोते हैं; वे स्वप्नजागरणविहीन हैं ॥ ६१ ॥

स्वप्ने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः ।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥ ६२ ॥

स्वप्न में चिदंश नहीं रहता और जागरण में विषयों का ग्रहण होता है, इसलिए विद्वान् पुरुष तत्त्व को स्वप्न और जागरण से अतीत कहते हैं। अथवा इसलिए स्वप्न और जागरण से अतीत को तत्त्व कहते हैं ॥ ६२ ॥

भावाभावद्वयातीतं स्वप्नजागरणातिगम् ।
मृत्युजीवननिर्मुक्तं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥[1] ६३ ॥

तत्त्व के जानकर विद्वान् तत्त्व को भाव और अभाव दोनों से अतीत, स्वप्न और जागरण से परे एवं मरण और जीवन से रहित जानते हैं ॥६३॥

निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपपद्यते ।
तं भावं भावयेद् योगी निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ६४ ॥

निद्रा के आदि में और जागरण के अन्त में जो भाव होता है उस भाव की जो योगी भावना करे वह निश्चय रूप से मुक्त ही है ॥ ६४ ॥[2]

---

१. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समतत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥ (अवधूत गीता १/३५)

२. जागृत अवस्था के अन्त में जब विषयज्ञान तिरोहित हो जाता है और निद्रा के आदि में जब जड़त्वज्ञान (अज्ञान) का उदय होता है, इन दो अवस्थाओं के बीच में (सन्धि में) क्षणभर के लिए जिस अवस्था का स्फुरण रहता है वही शुद्ध चैतन्य अवस्था है। इसे सायंसंध्या कहते हैं। निद्रा भंग होने के बाद और विषयज्ञान उदय होने से पूर्व ठीक इसी प्रकार की सन्धि अवस्था में शुद्ध चैतन्य का उदय होता है जिसे प्रातः-सन्ध्या कहते हैं।

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते ।
जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षये तथा ॥ ६५ ॥

जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरुष रूप, रसादि विषयों को प्राप्त करता है वैसे योगनिद्रा के समय में योगी जागता ही रहता है, इसलिए वह योगी है ॥ ६५ ॥[१]

सर्वतो भविता दृष्टिः प्रत्याभू (नी ?)ता शनैः शनैः ।
परतत्त्वमनादर्शी पश्यत्यात्मानमात्मना ॥ ६६ ॥

चारों ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे धीरे प्रत्याहृत होकर लौटती है तब साधक परतत्त्व को अपने में अपने आप देखताहै ॥ ६६ ॥[२]

प्रथमं निःसृताद्दष्टिः संगता यत्र कुत्रचित् ।
स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः ॥ ६७ ॥

पहले निकली हुई (निर्गत) दृष्टि जहाँ कहीं संलग्न होती है वहीं पर स्थिर होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है ॥ ६७ ॥[३]

त्रिपुरा रहस्य ज्ञानखण्ड में भी कहा है कि—

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा ।
मध्ये संविद्द्वयोश्च सूक्ष्मबुद्धयाऽभिलक्षय ॥ ६ । ६४ ॥
एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति ।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम् ॥ ६ । ६५ ॥

१. साधारण व्यक्ति निद्रा की अवस्था से जाग करके जैसे विषय का ग्रहण करते हैं वैसे योगी योगनिद्रा समय में भी विषय ग्रहण करते हुए जागता ही रहता है। अर्थात् लौकिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि वह साधारण मनुष्य के सदृश जागता है परन्तु वास्तव में यह योगी निद्रा में ही स्थित है।

२. दृष्टि प्रत्याहृत करना=अंतर्मुख करना ।

३. नष्ट हो जाती है=उसी में लीन हो जाती है ।

प्रसह्य संकल्पपरम्पराणामुच्छेदने संततसावधानाम् ।
आलम्बभावादपचीयमाना शनैः शनैः शान्तिमुपैतिदृष्टिः ॥ ६८ ॥

संकल्प–परम्पराओं के बलात् उच्छेद में (विनाश करने में) सदा साव-धान दृष्टि आलम्बन के अभाव से नष्ट (क्षीण) होती हुई धीरे-धीरे शान्त हो जाती है ॥ ६८ ॥

यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥ ६९ ॥

सदा के अभ्यास से जैसे जैसे मन में स्थिरता आती है वैसे वैसे वायु, वाणी और शरीर में स्थिरता आ जाती है ॥ ६९ ॥

दृश्यं पश्यति (!) येन सत्प्रियकरं श्राव्यं तथा शृण्वतः
घ्रातव्यं परिजिघ्रतोऽथवदतो ध्येयं सदा ध्यायतः ।
स्पर्शं च स्पृशतो निरन्धनशिखा प्रख्यं मनोऽत्र क्रमाद्
अद्वैताख्यपदस्य तत्त्वपदवीं प्राप्तस्य सद्योगिनः ॥ ७० ॥

सुन्दर दृश्य को देख रहे, मनोहारी श्रव्य को सुन रहे, सूंघने योग्य सुन्दर पदार्थों को सूंघ रहे, वक्तव्य वचनों को बोल रहे, ध्येय तत्त्व का हृदय में ध्यान कर रहे, स्पृश्य वस्तु का स्पर्श कर रहे, अद्वैत पद के तत्त्व को प्राप्त हुए सद्योगी का मन क्रम से निरन्धन अग्निशिखा के तुल्य शान्त हो जाता है ॥ ७० ॥

यदा यत्र यथा यत्र स्थिरं भवति मानसम् ।
तदा तत्र तथा तस्माद् न तु चाल्यं कदाचन ॥ ७१ ॥

अतः जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिये । वहाँ से उसे कदापि नहीं हटाना चाहिये ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र मनो याति न निवार्यं ततस्ततः ।
अवारितं क्षयं याति वार्यमाणं तु वर्द्धते ॥ ७२ ॥

जहाँ जहाँ मन जाय वहाँ वहाँ से उसे निवृत्त करना (हटाना) नहीं चाहिये । अवारित मन (न हटाया गया, न रोका गया मन) क्षय को प्राप्त हो जाता है । यदि उसे रोका जाय तो वह बढ़ता है ॥ ७२ ॥

यथा निरंकुशो हस्ती कामान् प्राप्य निवर्तते ।
अवारितं मनस्तद्वत् स्वयमेव विलीयते ॥ ७३ ॥

जैसे निरंकुश हाथी अपने अभिलषित पदार्थों को प्राप्त कर लौट जाता है वैसे ही अवारित (न रोका गया) मन भी अपनी इच्छा पूरी कर अपने आप शान्त हो जाता है ॥ ७३ ॥

निवार्यमाणं यत्नेन तत्कर्तुं नैव शक्यते ।
न तिष्ठति क्षणेनेव मारुतस्य वशोदयात् ॥ ७४ ॥

मन प्रयत्नपूर्वक निवारित करने पर भी निवारित नहीं किया जाता है। वह (मन) वायु के वशीभूत रहने के कारण एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रहता ॥ ७४ ॥[१]

दुर्निवार्यं मनस्तद्वद्यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे मनो नौस्तम्भकाकवत् ॥ ७५ ॥

वैसे ही जब तक तत्त्व प्राप्त नहीं होता तब तक इधर उधर भागता हुआ मन दुर्निवार्य है। पर-तत्त्व जब प्राप्त हो जाता है तब मन समुद्र में जहाज के (स्तम्भ) मस्तूल पर बैठे हुए कौए की तरह स्थिर हो जाता है ॥ ७५ ॥

यथा तुलां तुलाधारश्चंचलां कुरुते स्थिराम् ।
याने सौख्येसदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि ॥ ७६ ॥

जैसे तराजू से तोलनेवाला बनिया चंचल तराजू को स्थिर कर देता है उसी प्रकार सदा के अभ्यास से यान में तथा सुख में मनोवृत्ति सदा आत्मा में स्थिर रहती है ॥ ७६ ॥

निष्पन्नाखिलभावशून्यनिसृजः (मनसः ?) स्वान्तःस्थितिस्तत्क्षणा_त
निश्चेष्टश्लथपाणिपादकरणग्रामो विकारोज्झितः ।

---

१. चञ्चलं हि मनःकृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (श्री० गीता ६/३४)

निर्मूलप्रविनष्टमारुततया निर्जीवकाष्ठोपमो
निर्वातस्थितदीपवत्[१] सहजवान् यस्याः स्थितेर्लक्ष्यते[२]॥ ७७ ॥

जिस पुरुष का मन सब प्रकार के भावों से विहीन हो चुका उसकी तुरन्त आत्मनिष्ठा हो जाती है। जिसमें निष्ठा होने पर सहजवान् पुरुष के हाथ, पैर आदि इन्द्रिय-समूह निश्चेष्ट और शिथिल हो जाते हैं, विकार हट जाते हैं, वायु के निर्मूल (उखाड़ा हुआ) अतएव विनष्ट होने के कारण वह निर्जीव काठ के तुल्य तथा निर्वात स्थान पर स्थित दीपक की तरह निश्चल दिखाई देता है ॥ ७७ ॥

निक्षिप्तं कनकं विहाय कलुषं यद्वद् भवेन्निर्मलं
निर्वातस्थितनिस्तरंगमुदकं स्वच्छस्वभावं परम्।
तद्वत् सर्वमिदं विहाय सकलं देदीप्यते निष्कलं
तत्त्वं तत्सहजं स्वभावममलं जातेऽमनस्के ध्रुवम् ॥ ७८ ॥

अग्नि में डाला हुआ सोना जैसे कालिमा का त्याग कर निर्मल हो जाता है एवं जैसे निर्वात (वायु रहित) स्थान पर जल तरंगरहित तथा स्वच्छ स्वभाव रहता है वैसे ही अमनस्क हो जाने पर सकल (कला-सहित) तत्त्व निश्चय ही इस प्रपंच का त्याग कर निर्मल, निष्कल सहज स्वभाव हो जाता है ॥ ७८ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मुक्तये निर्विषयं मनः ॥ ७९ ॥

मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का हेतु है। विषयों में आसक्त मन बन्धन के लिए और निर्विषय मन मुक्ति के लिए कारण होता है[३] ॥ ७९ ॥

---

१. गीता ६।१९ देखिये।

२. स्थितिर्लक्ष्यते।

३. आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ गीता० ६ । ५ ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तिर्निर्विषयं स्मृतम् ॥ (पंचदशी)

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किंचित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते ॥ ८० ॥

जो कुछ चराचर जगत् है यह सब मन से दृश्य है। मन का उन्मनी भाव (अर्थात् विलय) होने पर अद्वैतभाव हो जाता है ॥ ८० ॥

जायमानामनस्कस्य ह्युदासीनस्य तिष्ठतः (सर्वतः ?)।
मृदुत्वं च परत्वं (लघुत्वं ?) च शरीरस्याथ जायते ॥ ८१ ॥

अमनस्कता जिसमें उत्पन्न हो रही है और जो चारों ओर से सर्व विषयों में उदासीन रहता है और जो स्थितिशील हो गया है ऐसे योगी का शरीर कोमल और श्रेष्ठ हो जाता है ॥ ८१ ॥

अमनस्के क्षणात्क्षीणं कामक्रोधादिबन्धनम्।
नश्यतिस्करणस्तम्भं देहगेहं श्लथं भवेत्[१] ॥ ८२ ॥

अमनस्क भाव का उदय होने पर क्षणभर में काम क्रोधादि बन्धन क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रिय-स्तम्भ (इन्द्रियसमूह) नष्ट हो जाते हैं, देहरूपी घर शिथिल हो जाता है ॥ ८२ ॥

सहजेनामनस्केन मनःशल्ये नियोजिते।
आतपत्रमिवास्तम्भं शरीरं शिथिलायते ॥ ८३ ॥

सहज अमनस्क के द्वारा मनरूपी कांटे को निकाल फेंकने पर शरीर बिना डंडे के छाते के सदृश शिथिल पड़ जाता है ॥ ८३ ॥

अमनस्कखनित्रेण समूलोन्मूलने कृते[२]।
अन्तःकरणशल्ये तु सुखी संजायते मुनिः ॥ ८४ ॥

अमनस्क रूपी कुदारी से अन्तःकरण (मन) रूपी शल्य (कांटे) के समूल (जड़ सहित) उन्मूलित होने (उखाड़ फेंकने) पर तो मुनि (योगी) सुखी हो जाता है ॥ ८४ ॥

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यते सर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (श्रुति)
इस श्लोक का अंतिम चरण श्रीमद्भागवत (११.२०. ३०) में इस प्रकार है—"मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।"

२. समूलोन्मूलिते सति (कृते)।

कदलीव महामाया समनस्केन्द्रिये सदा।
अमनस्क फलं दत्वा सर्वथैव विनश्यति ॥ ८५ ॥

कदली (केले के पेड़) के सदृश महामाया समनस्केन्द्रिय पुरुष को एक बार अमनस्करूप फल प्रदान कर सर्वदा के लिए विनष्ट हो जाती है ॥८५॥

इन्द्रियग्राहपदयोः निश्वासोच्छ्वासपक्षयोः।
संक्षीणयोर्मनः पक्षी स्थिरसत्तोऽवसीदति ॥ ८६ ॥

मनरूपी पक्षी, जिसके निःश्वास और उच्छ्वास रूप दो पंख हैं, जो इन्द्रिय तथा विषयालम्बन से युक्त है, के सम्यक् रूप से क्षीण होने पर उसकी सत्ता स्थिर हो जाती है और नाश को प्राप्त हो जाता है[१] ॥ ८६ ॥

श्वाससूत्रशतोपेतमिन्द्रियालय संकुलम्।
त्रोटयित्वा मनोजालं मीनवज्जायते सुखी ॥ ८७ ॥

जैसे मत्स्य शत सूत्रों से बने हुए और बहुत छिद्र सम्पन्न जाल को तोड़ने पर निश्चित हो जाता है उसी प्रकार योगी श्वास-प्रश्वास से युक्त और इन्द्रियों से प्रभावित मन का नाश कर सुखी हो जाता है ॥ ८७ ॥

प्रशान्तेन्द्रियपादातो बुद्धिशक्तिसमन्वितः।
वायुयानयुतश्छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत्[२] ॥ ८८ ॥

अत्यन्त शान्त इन्द्रियां ही जिसकी पैदल सेना हैं, बुद्धि ही जिसके पास शक्ति (शक्ति नामक शस्त्र) है एवं वायु ही जिसकी सवारी है ऐसा योगी मनरूपी शत्रु को नष्ट कर सुखी हो ॥ ८८ ॥

गुणत्रयमयीं रज्जुं सुदृढामात्मबन्धनीम्।
अमनस्कक्षुरेणैव छित्वा मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ८९ ॥

योगी सत्त्व, रज और तम रूपी तीन गुणों की बनी (माया) जो आत्मा को बांधनेवाली मजबूत रस्सी है, को अमनस्क योग रूपी छुरे से ही काटकर मोक्ष को प्राप्त हो ॥ ८९ ॥

---

१. अर्थात् श्वास के नष्ट होने पर मन का नाश हो जाता है।

२. "प्रशान्तेन्द्रियपादातं बुद्धिशक्तिसमन्वितम्।
वायुयानयुतं छित्वा मनः शत्रुं सुखी भवेत् ॥"
यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है।

यथा संह्रियते सर्वमस्तं गच्छति भास्करे।
कर जालं तथा सर्वममनस्के विलीयते ॥ ६० ॥

जैसे सूर्य के अस्त होने पर किरणजाल संहृत (छिन्न-भिन्न) हो जाते हैं वैसे ही योगी के अमनस्क होने पर सब (विश्व) लीन हो जाता है ॥ ६० ॥

इन्द्रियग्राहनिर्मुक्ते निर्वाते निर्मलामृते।
अमनस्कह्रदे स्नातः परामृतमुपाश्नुते ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार मगर आदि जल जन्तुओं से मुक्त, वायुशून्य निर्मल जलवाले सरोवर में स्नान करने पर तृप्ति-लाभ होता है उसी प्रकार इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त तथा प्राण, अपान आदि क्रिया से शून्य अमनस्क अवस्था में अवगाहन करने पर परा शान्ति (परमसुख) प्राप्त होती है ॥ ६१ ॥

इत्युक्तमेतत् सहजामनस्कं,
शिष्यप्रबोधाय शिवेन साक्षात्।
नित्यं हि नूनं विगतप्रपंचं,
वाचामवाच्यं स्वयमेव बोध्यम् ॥ ६२ ॥

साक्षात् भगवान् शिव जी ने शिष्यों के प्रबोध (ज्ञान) के लिए यह सहज अमनस्क योग इस प्रकार कहा। यह नित्य नूतन निष्कल, निष्प्रपंच, वाणी द्वारा कथनीय नहीं है। इसे स्वयं ही जानना चाहिये अर्थात् यह स्वानुभवैक-वेद्य है ॥ ६२ ॥

चित्ते चलति संसारोऽचले मोक्षः प्रजायते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यादौदासीन्यपरायणः ॥ ६३ ॥[1]

चित्त के चंचल होने पर संसार का भान होता है और निश्चल होने पर मोक्ष का उदय होता है। अतएव उदासीन (निष्क्रिय) होकर चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ ६३ ॥

चतुर्विधा मनोवस्था विज्ञातव्या मनीषिभिः।
विश्लिष्टं च गतायातं सुश्लिष्टं च सुलीनकम् ॥ ६४ ॥

विद्वान् पुरुषों को मनोवस्था चार प्रकार की जाननी चाहिये—१ विश्लिष्टा-वस्था, २ गतागतावस्था, ३ सुश्लिष्टावस्था और ४ सुलीनावस्था ॥ ६४ ॥

---

१. चित्तमेव हि संसार। (मैत्रेयी उपनिषद्)

विश्लिष्टं तामसं प्रोक्तं राजसं च गतागतम् ।
सुश्लिष्टं सात्विकं प्रोक्तं सुलीनं गुणवर्जितम् ॥ ९५ ॥

विश्लिष्टावस्था तामस कही गई है, गतागतावस्था राजस, सुश्लिष्टावस्था सात्त्विक और सुलीनावस्था निर्गुण कही गई है ॥ ९५ ॥

विश्लिष्टं च गतायातं विकल्पविषयग्रहम् ।
सुश्लिष्टं च सुलीनं च विकल्प विषनाशनम् ॥ ९६ ॥

विश्लिष्ट और गतागत अवस्था में विकल्प और विषयों का ग्रहण होता है। सुश्लिष्ट और सुलीन अवस्था में विकल्प रूपी विष का नाश हो जाता है ॥ ९६ ॥

ततोऽभ्यासनियोगेन निरालम्बो भवेद् यदि ।
तदा सरिसभूतानि (सहजभूतात्मा ?) परमानन्द एव सः ॥९७॥

तदुपरान्त निरन्तर अभ्यासयोग से यदि योगी निरालम्ब हो जाय तो उसका आत्मा सहजावस्था को प्राप्त करके परमानन्द ही बन जाता है ॥९७॥[1]

अभ्यस्यतो मनःपूर्वं विश्लिष्टं चलमुच्यते ।
ततश्च निश्चलं किंचित् सानन्दं च गतागतम् ॥ ९८ ॥

सानन्दं निश्चलं चेतः ततः सुश्लिष्टमुच्यते ।
अतीव निश्चलीभूतं सानन्दं च सुलीनकम् ॥ ९९ ॥

अभ्यास कर रहे योगी का मन पहले चल रहने के कारण विश्लिष्ट कहा जाता है। उसके बाद किंचित् निश्चल होने पर सानन्द कहा जाता है। और अत्यन्त निश्चल हो जाने पर उसे सुलीन कहा जाता है ॥ ९८, ९९ ॥

बभूव तस्य कर्माणि पापपुण्यस्य संक्षयः ।
प्रयान्ति नैव लिम्पन्ति क्रियमाणानि साधुना ॥१००॥

साधु द्वारा किये जा रहे कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसे लिप्त नहीं करते हैं, क्योंकि उसके पाप और पुण्य का संक्षय हो चुका रहता है ॥ १०० ॥

---

१. यहाँ पर "सरिसभूतानि" शब्द उचित प्रतीत नहीं हो रहा है अतः 'सहजभूतात्मा" शब्द ही योग्य है ।

उत्तुङ्ग सहजानन्दः सदाभ्यासरतः स्वयम् ।
सर्वसंकल्पसंत्यक्तः स विद्वान् कर्मसंत्यजेत् । १०१ ॥

स्वयं सदा अभ्यास में निरत अतएव बहुत उन्नत सहज आनन्दवाला तथा सब संकल्प और विकल्पों से मुक्त हुआ वह विद्वान् पुरुष कर्म का सम्यक् त्याग कर दे ॥ १०१ ॥

ये तु विद्यार्थविज्ञाना[1] विद्वांस इति कीर्तिताः ।
आत्मतत्त्वं न जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा ॥१०२॥

किन्तु जो लोग पुस्तकीय विद्या और धनार्थ अर्जित विज्ञानवाले विद्वान् कहे जाते हैं वे आत्मतत्त्व को वैसे ही नहीं जानते हैं जैसे कि दर्वी (करछुल) पाक (रसोई) के रस (स्वाद) को नहीं जानती ॥ १०२ ॥

सांसारिकक्रियायुक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम् ।
कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥१०३॥

जो सांसारिक क्रियाओं से युक्त हो और मैं 'ब्रह्मज्ञानी हूं' ऐसा दम भरता हो, कर्म और ब्रह्म दोनों से भ्रष्ट उस तथाकथित ब्रह्मज्ञानी का अन्त्यज के समान त्याग कर देना चाहिये ॥ १०३ ॥

वृथा देवान् परित्यज्य कर्मकाण्डविवर्जितान् ।
पाखण्डपण्डितान् मन्ये न ते किमपि जानते ॥ १०४ ॥

वृथा यजनीय देवताओं का परित्याग कर कर्मकाण्ड से रहित लोगों को मैं पाखण्डी पण्डित मानता हूं । वे कुछ भी नहीं जानते हैं ॥ १०४ ॥

न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यजते ह्यसौ ।
कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः ॥ १०५ ॥

योगी को कर्मों का त्याग नहीं करना पड़ता है, क्योंकि कर्मों के मूलभूत संकल्प का नाश होने से वह स्वयं कर्मों द्वारा त्यागा जाता है ॥ १०५ ॥

---

१. 'विदितविज्ञाना' इति पाठान्तरम् ।

यदा यदा सदाभ्यासात् संकल्पविलयो भवेत् ।
योगिनो भवति श्रेयान् कर्मत्यागस्तदा तदा ॥ १०६ ॥

जब जब सदा अभ्यास से संकल्प का विनाश होता है तब तब योगी का
-त श्रेयान् कर्मत्याग होता है ॥ १०६ ॥

दान्तानां कुशलानां च सततं मोक्षमिच्छताम् ।
श्रद्धावतां सुशिष्याणां शास्त्रमेतत्प्रकाशयेत् ॥ १०७ ॥

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके एवं सदा मोक्ष की इच्छा रखनेवाले दक्ष श्रद्धावान् सत् शिष्यों के लिए इस शास्त्र को प्रकट करना चाहिये ॥१०७॥

शास्त्रमेतत् प्रयत्नेन सदाभ्यस्यं मुमुक्षुभिः ।
यस्य धारणमात्रेण स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ १०८ ॥

मुमुक्षु पुरुषों को इस शास्त्र का जतन से सदा अभ्यास करना चाहिये, जिसके धारणमात्र से तत्त्व अपने आप प्रकाश में आता है ॥ १०८ ॥

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि ।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम् ॥ १०९ ॥

योगी को न तो दिन में जागरण करना चाहिये और न रात्रि में शयन । योगी को नित्य रात में और दिन में सहजतत्त्व में शयन करना चाहिये ॥१०९॥

निर्मनः सहजस्थिते पुरुषे न दिवारात्रिशब्दोऽस्ति ।
जागरणशयनवर्जित चिन्मात्रानन्दस्थानात् ॥११०॥[1]

अमनस्करूप सहजतत्त्व में स्थित पुरुष के विषय में दिन और रात्रि शब्द लागू नहीं होते हैं, क्योंकि वह जागरण और शयन से रहित चिन्मात्रानन्द में स्थित रहता है ॥ ११० ॥

ॐकारप्रमुखैर्विचित्रकरणैः प्रायस्य वा यो जपः[2],
तेजश्चिन्तनमन्तरालकमले शून्याम्बरालम्बनम् ।

---

१. स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित् ।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥
(अवधूतगीता ४—१७)

२. 'प्राणस्ययद्योजनम्' इतिपाठान्तरम् ।

त्यक्त्वा सर्वमिदं........[1]मत्वा मनो विभ्रमं,
देहान्ते तदवाच्यमेकममनस्कत्वं बुधैः सेव्यताम् ॥१११।

ओंकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन (१) हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन, (२) महाशून्य रूप आकाश का आलम्बन अर्थात् चित्त का निरालम्बन, (३) इन सबका, मन के विभ्रम हेतु, त्यागकर अन्तिम समय में ज्ञानियों को एकमात्र अवाच्य अमनस्क का सेवन करना चाहिये ॥ १११ ॥

अन्यजन्मकृताभ्यासात्स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।
सुप्तोत्थितः प्रत्यूषे ह्युपदेशाद् विना प्रबुद्धयते ॥ ११२ ॥

अन्य जन्मों में किये गये अभ्यास से तत्त्व स्वयं प्रकाशित होता है। सोकर जागा हुआ पुरुष प्रातःकाल उपदेश के बिना ही जैसे सब कुछ जान जाता है ॥ ११२ ॥

शुद्धाभ्यासस्य शान्तस्य सदैव गुरुसेवया।
गुरु प्रसादात्तत्रैव तत्त्वज्ञानं प्रकाशते ॥ ११३ ॥

सदैव गुरुसेवा से जिसका अभ्यास शुद्ध है ऐसे शान्त पुरुष को गुरु के साद से उसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्रकाशित हो जाता है ॥ ११३ ॥

इति श्री ईश्वरवामदेव संवादेऽमनस्के योगशास्त्रे द्वितीयो लयः

॥ समाप्त ॥

---

१. (ख) करो नरवरं।
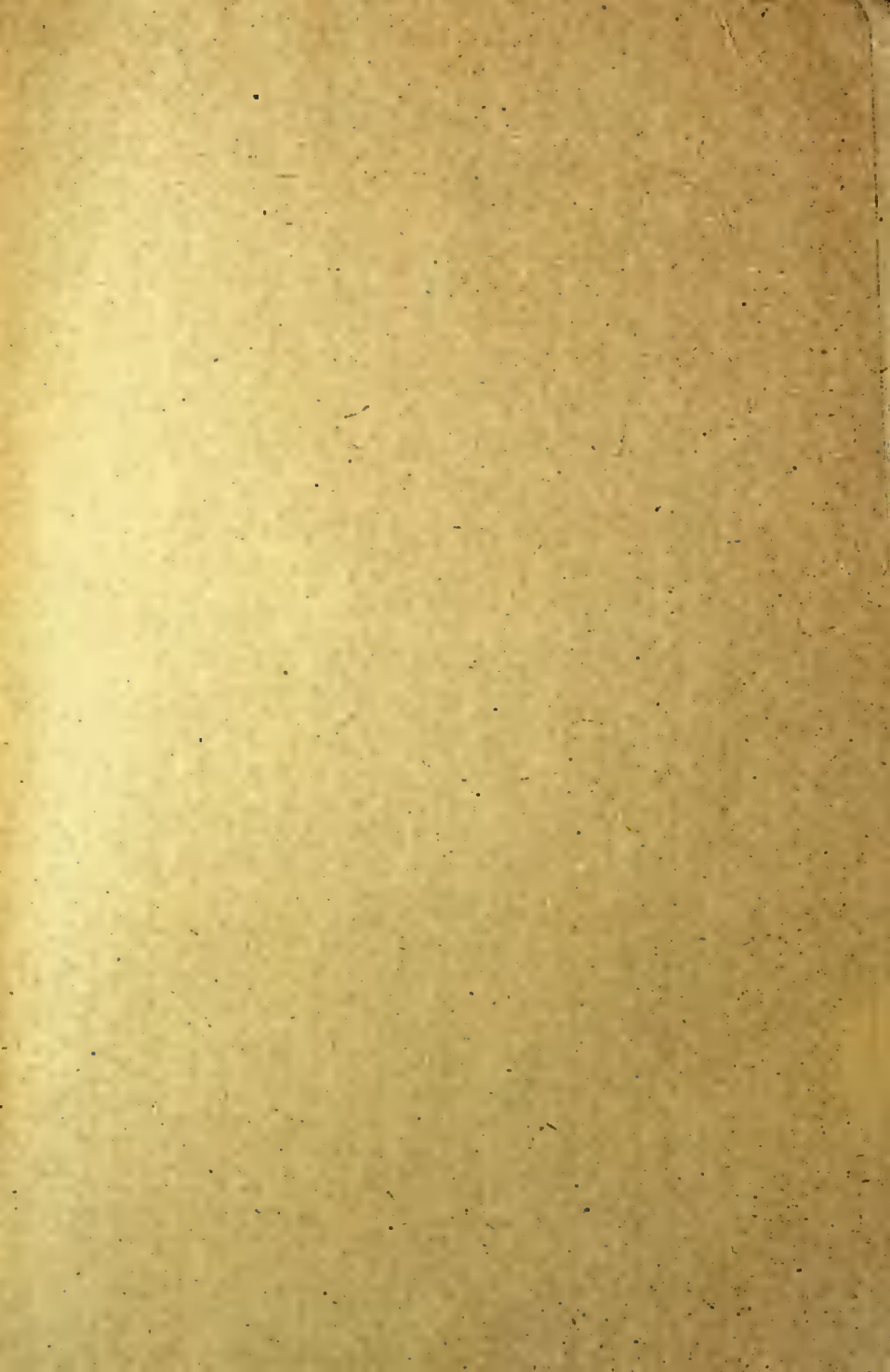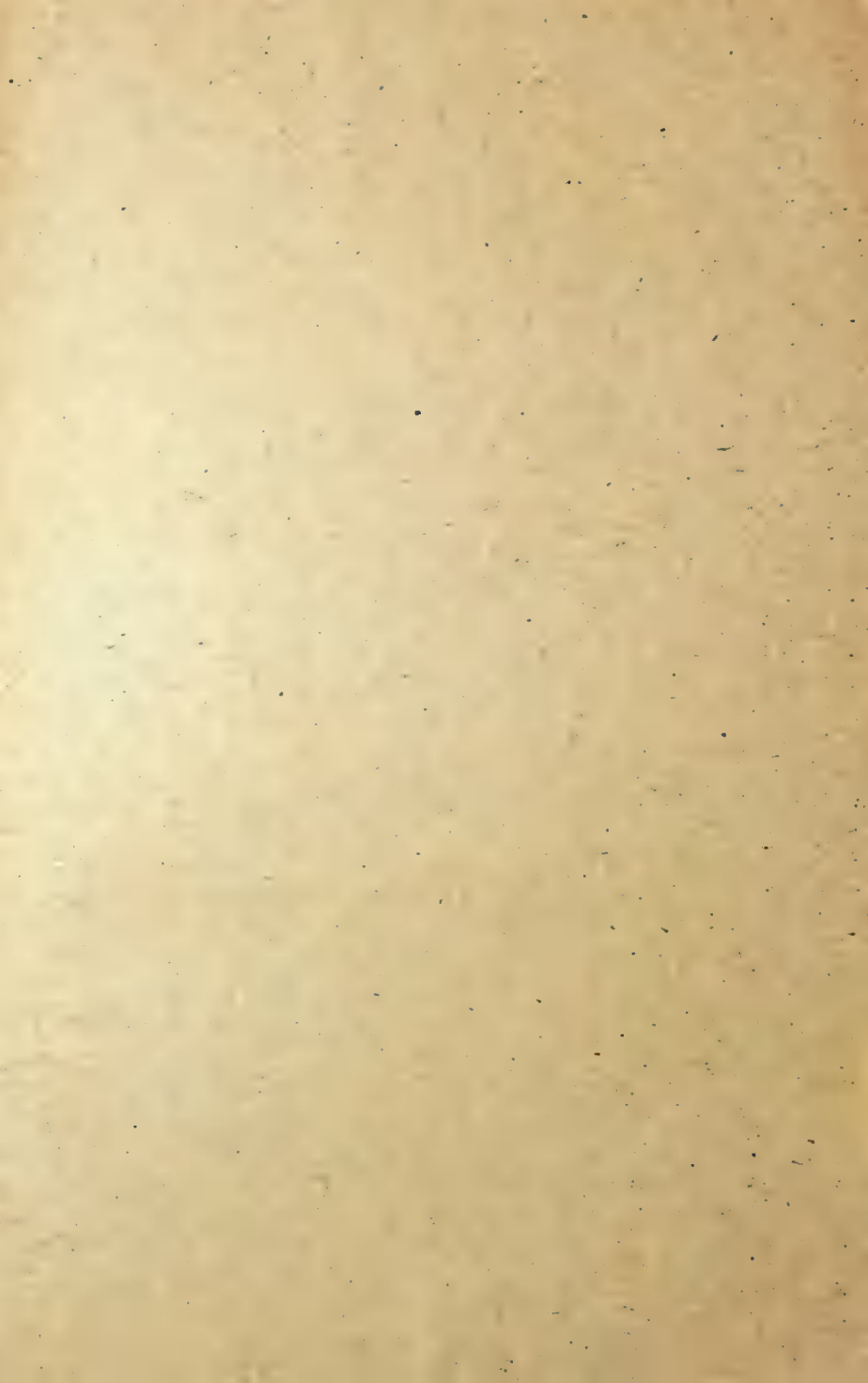
ॐ

योग-सूत्र-भाष्यम्

[श्रीगोविन्द-भगवत्पूज्यपाद-शिष्य-परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्री शङ्कर-भगवत्-कृत-विवरणानुसारि]

हिन्दी-विवृति-सहितः

द्वितीयः साधनपादः

व्याख्याता

श्री पूज्यपाद स्वामी सच्चिदानन्द योगी सरस्वती

सम्पादको

डॉ वेदव्रतः

सच्चिदानन्द योग मिशन

दिल्ली, हैद्राबाद

तिरुमला-तिरुपति-देवस्थानम्

तिरुपति, आ० प्र० के आंशिक अनुदान से प्रकाशित

प्रकाशक :

सच्चिदानन्द योग मिशन, [illegible] योग मठ, बोन्तापल्ली, नरसापुर, मेदक, आ० प्र०—५०२३१३

वितरक :

१. श्रीमती विश्ववारा, अदिति प्रकाशन, १५६५, हरध्यानसिंह मार्ग, नाई वाला, करौलबाग, नई दिल्ली-११०००५
२. आचार्य हरिदेव; गुरुकुल, ११६, गौतम नगर, नई दिल्ली-११००४६
३. स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, योगधाम, आर्यनगर; हरिद्वार, उ० प्र०-२४६४०७

मूल्य :	साधारण	विशेष
समाधिपाद	२०/-	३०/-
साधनपाद	२०/-	३०/-
विभूतिपाद	२०/-	३०/-
कैवल्यपाद	२०/-	३०/-
चारों एक जिल्द मे	६०/-	६०/-

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ

मुद्रक : अमर प्रिंटिंग प्रेस, ८/२५ डबल स्टोरी, दिल्ली-६

विषय-विवरणी

द्वितीयः साधनपादः

सूत्र-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या

संक्षेपीकरणम् : Abbreviations

व्यास-भाष्य-पाठ के पुनर्गठन में प्रयुक्त सांकेतिक शब्द और चिह्न

प्रभाष्यम्—प्रचलित पाठ के अनुसार व्यास-भाष्य

विभाष्यम्—'विवरणम्' से संकेतित व्यास-भाष्य

विव/विवरणम्—'पातञ्जल-योग-सूत्र-भाष्य-विवरणम्' of श्री शङ्कर-भगवत्पादः; Ed. Polakam Sri Rama Sastri, Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, 1952.

( )—'विवरण में न होने पर भी पाठ की पूर्त्यर्थ 'प्रभाष्य' से स्वीकृत अंश

[ ]—'प्रभाष्य' में नहीं है, किन्तु विवरणकार का है या व्यास का ?

दे०—देखिए । द्र०—द्रष्टव्य/द्रष्टव्यम् ।

पृ०—पृष्ठ संख्या । मिला०—मिलाइए, समानता है ।

तुल०—तुलना कीजिए: अन्तर है ।

व्यास सं०—व्यास-भाष्य की सन्दर्भ संख्या [केवल इसी ग्रन्थ में]

कुछ बहूद्धृत ग्रन्थकारों/ग्रन्थों के लिए सांकेतिक शब्द:—

आरण्य०—श्रीमत्स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, सम्पा०—डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, पातञ्जल-योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८० ।

कौस्तुभ०—संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, चतुर्वेदी एवं झा, इलाहाबाद, १९६७

ब्रह्मलीन (मुनि)—श्री स्वामी ब्रह्मलीन मुनि, पातञ्जल योगदर्शनम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफ़िस, वाराणसी १९७० ।

ब्रह्मसूत्र०—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्यम्, सं० महादेव शर्मा वाक्रे, निर्णय सागर प्रेस १९०९ ।

योग०—श्री पातञ्जल योगसूत्रम्, साङ्ख्ययोगदर्शनम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, बनारस सिटी, १९३४-३५ ।

सांख्य०—सांख्यदर्शनम्, उदयवीर शास्त्री, गाजियाबाद, १९६० ।

विज्ञानाश्रम—पातञ्जल योगदर्शनम्, भोजवृत्तिः, अनु० स्वामी विज्ञानाश्रम, अजमेर, १९६१ ।

Apte (V. S.)—The Students Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarasi Das, Delhi. 1976.

Monier—Sanskrit-English Dictionary, Sir Monier Wilialms, Munshi Ram Manohar Lal, 1976.

PREFACE

This is the second volume of '*Pātañjala-Yoga-Sūtra-Bhāṣyam*', i.e. '*Sādhana-Pāda*', ; the text of which has been reconstructed solely on the basis of 'VIVARAṆAM' by *Śrī Śaṅkarācārya*. This new text, which may shortly be named as 'VIBHĀṢYAM', in comparision to the prevelant text or 'PRABHĀṢYAM', exhibits more than a thousand text-variations, 390 of which occur in the present volume. As noted in the first volume, most of these variations are only on account of linguistic differences, expressing sometimes more lucidly or at the others with more brevity the same thought is available in the existing texts.

Important text-variations :

Some variations are remarkable as shown at the end of the chapter, e.g. *Pāṭhāntara* Nos. 41, 89, 180, 181, 229, 285, 286, 321, 323, 327 & 384.

Of these text-variations, a few suggest *Vibhāṣyam* to be more acceptable, as it reads better than '*Prabhāṣyam*'. The following may he quoted in this regard :—

No 321. Here, Vyāsa is classifying '*Hiṁsa*'. Knowing it it to be uncountable (*asaṅkhyeyā*), he has mentioned its 81 types. Before completing the list, he need not count the types to be 27, as shown in 'Prabhāṣyam'.

No. 327. Vyāsa is explaining here the word '*Pratipakṣa-bhāvanam*' in Yoga-Sūtra 2/34. Hence, in stead of twice repeating the word itself, as in *Prabhāṣyam*, it is more probable that he states—'इति प्रतिपक्षं भावयेत्', as in 'Vibhāṣyam'. Further,

it is not expected of a *bhāṣyakāra* to first use a compound word 'दुःखाज्ञानानन्तफलाः', and then give immediate clarification by bifurcating the compound. Such an unnecessary repetetion of same words, first in *Samāsa* and then in *Vigraha*, does not exist in *Vibhāṣyam*.

No. [illegible]. *Iti* (इति) is a word very commonly used in *Prabhāṣyam*, irrespective of its purposiveness, and had to be largely given up in reconstructing *Vibhāṣyam*. Besides other meanings, *iti* (इति) also conveys the sense of completion. It is with this *sūtra* that the second chapter or *Pāda*: comes to an end. It is naturally more probable that *Maharṣi Patañjali*, while dividing '*Yoga-Sūtra*' in four *pādās*, used *iti* (इति) with the last *sūtra* of each *pāda* to mark its completion, as preserved in *Vivaraṇam*, and explained as such by Śrī Śaṅkara at each place.

While reconstructing the text out of *Vivaraṇam*, the prevailing text i.e. *Prabhāṣyam*, has been fully consulted and accepted wherever so required. For example, text-variation No. 177 (para 183), where *Vivaraṇam* not fully quoting *Vyāṣa-bhāṣyam*, gives only the first words and states—'दृष्टान्ते व्याख्यातमर्थं निगमयति—यथा विजयः पराजयो [illegible] ।' Now this Dṛṣṭānta: in totality must have been contained in Vyāsa-bhāṣyam, which has therefore been accepted here as per the version of *Prabhāṣyam*.

At rare places both the texts, *Vibhaāṣyam* and *Prahbhāṣyam* combinedly provide for a better reading. Text variation No. 226 (para No 212), reads—

' 'प्रधानस्यात्म-प्रख्यापनार्था प्रवृत्तिः अदर्शनम्' इति श्रुतेः ।'

It means—" '*Adarśanam* is the tendency of self-expression in the basic nature, (*mūla-prakṛti*)', so goes the saying." This saying appeared incomplete in both the texts, as '*Pravṛtti*' is

missing in *Vivaraṇam* and *'Adarśanam'* is absent from all the other current texts. It is only a combintion of both the words that the saying renders a complete meaning.

Variations in Yoga-Sūtra :

Śrī-Śaṁkara gives a different reading in five *Yoga-Sūtras* in this *pāda*, viz, in Y. S. 2/7, 8, 19, 47 & 55. In 2/7 & 8 the word *'anuśayī* (अनुशयी) has been read as *'anujanmā'* (अनुजन्मा). Both the versions may be equally acceptable. However, अनुशयी can be taken as expressing *rāga* & *Dveṣa* (राग-द्वेष) in the form of *'Saṁskāras'* संस्काराः, as interpretted by *Śrī Āraṇya*; and it sounds quite befitting to their role under *Kleśās* (क्लेशाः). अनुजन्मा on the other hand tells only that *Sukha* and *Duḥkha* (सुख-दुःख) are as a corollary to राग & द्वेष. It is for the reader now to see which of the two versions conveys more appropriate sense, and belongs to the original text.

The fact that *Vivaraṇakāra*, Śrī Śaṅkara is conscious of providing the original text, is proved by his mention of different texts in Y. S. 2/19. He reads it as :—

"Viśeṣāviśeṣa-liṅga-mātrāliṅgā Guṇaparvāṇaḥ"

[विशेषाविशेष-लिङ्ग-मात्रालिङ्गा गुणपर्वाणः ॥]

Explaining the gender he states—'A word ending in *N*, and formed in noninative can he used in all the three genders, e.g. *Merudṛśvā* & *Merudṛśvanī*.' Further he adds, 'For some readers the text remains—*'Viśeṣāviśeṣa-liṅga-mātrāliṅgāni Guṇaparvāṇi iti'*.

[यत्तु नान्तं कर्तरि तत् सर्वलिङ्ग' भवति, यथा मेरुदृश्वा मेरुदृश्वनीति । ......केषांचिदयमेव पाठो—'विशेषाविशेष-लिङ्ग-मात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' इति । (विव० पृ० १८३)]

This confirms *Śri-Śaṅkara's* acceptance of the first version where masculine gender has been used, though others followed the second version with neutral gender.

In Y. S. 2/47 *ananta* (अनन्त) has been read as *ānantya*, thereby adding abstractness to the object of meditation Here the interpretation of *Śri-Śaṅkara* is quite practical—'The perfection of *Āsana* (posture) is consequent upon mind's becoming constant, and feeling its all pervasiveness.' (व्याप्य विश्वभावं स्थितं चित्तम् आसनं निर्वर्त्तयति ।) Śri-Āraṇya's explanation of this sūtra is also quite similar, which directs the Sādhaka (साधक) to feel like the all-pervading space.[1] In this context, such a feeling is required for immobility and ease in Āsana, (स्थिर-सुखम् आसनम्—Y.S. 2/46). Therefore, it should have something to do with the effortlessness (प्रयत्न-शैथिल्य—Y. S. 2/47) also. Thus, while easing the body out of the efforts for keeping it in the proper posture of the desired *Āsana*, it would be very helpful and hence appropriate to have a feeling of all-pervading and unending life-vibrations in every cell of the body as emitting from the main source, the '*Ananta*', the omnipresent, God or *Īśvara* (ईश्वर), who has been with the sādhaka all along in *Swādhyāya* and *Īśvara-praṇidhāna* (स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान). In arriving at this meaning, *Ānantya* is definitely a better reading than *Ananta*.

The last sūtra of this *Pāda* (i.e. Y.S. 2/55) as of the other three *Pādas*, according to *Śrī-Śankara*, ends with '*iti*' (इति), to mark the completion of *Sādhana-Pāda*. This variation sounds very reasonable, and cannot be set aside as unnecessary, because

१. 'मेरा शरीर शून्यवत् होकर अनन्त आकाश [illegible] मिल गया है, [illegible] व्यापी आकाश के समान हूँ,' इस प्रकार की भावना ही अनन्त-समापत्ति है।

—श्री आरण्य, श्री पा० योग दर्शन पृ० २६६

we find some method or the other adopted by other *sûtrakâras* also. Many have used the repetetion of a word (पदाभ्यास:) to mark the end of *adhyāya*, and a repetetion of a number of words or of the whole sūtra for completing the book itself, such as in *Brahma-Sūtra* and *Sāṅkhya-Sūtra*.

Authenticity of Vivaraṇam :—

As shown above in Y. S. 2/19 *Vivaraṇakāra* had before him more than one text of *Yoga-Sūtra*. An instance where *Vivaraṇam* clearly appears to be following an older and more authentic text, is the text-variation No 383 (para [276]), where he justifies an *apāṇinīya* usage of the word *madhukar-rājānam* (मधुकर-राजानम्), which should gramatically be madhu-kararājam मधुकरराजम्.[1] *ŚrīŚaṅkara* warns not to treat it as wrong and considers it to be a letter from *Śruti*—'मधुकर-राजानम्, श्रुत्यक्षरमेतत्, मधुकर-राजम् इत्यर्थ:'—विव० पृ० २४१). Those who could not understand this warning, tried perhaps to correct the *ārṣa-prayoga* to मधुकर-राजम्, thereby showing their ignorance of the earlier text, and thus their later period as well.

The text of *Vivaraṇam* as handed down to us, has undoubtedly a few broken links, such as in variations Nos. 206 & 307 (para [199] & [242]). These were noted by earlier editors as well.[2] Similarly, at variation No. 392 (para [280]), absence of iti (इति) at the end of this chapter only, also shows manuscript writer's mistake. But definitely, such slips are too megre to mar the continuity or the deep revelations in Vivaraṇam on the whole.

Importance of the topics dealt with in this Pāda :—

Vyāsa's introduction in the form of *Vyuthānikā* (व्युत्थानिका) to the first *Sūtra* of this chapter, i. e. to Y. S. 2/1, reads :—

१. 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' – पाणिनि ५।४।९१

२. विव० पृ० १६१ & २१६

'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादिति इदम् आरभ्यते।'—Yoga for a sādhaka whose citta stays in meditation, has been explained earlier in the *Samādhi-pāda*. This *sūtra* of *Sādhana-pāda* starts to say how a *sādhaka* with disturbed *citta* can concentrate in Yoga."

It is very clear, therefore, that this chapter, the second *pāda* of Y. S. is of special use to the beginners in Yoga, i.e. *Madhyama* and *Sādhāraṇa Sādhakas*. The higher category of *Uttam Sādhakas* is undoubtedly very rare to be found. And hence, the *Aṣṭāṅga Yoga*, and its outer form, the *bahiraṅga* elaborated in this chapter is of maximum utility for Yoga-seekers.

Present chapter of Yoga may be said to deal with two broad spheres. The first sphere suggests how a *sādhaka* should be a true dṛṣṭā; and with the help of *Kṛyā-Yoga*, i.e. *Tapas, Swādhyāya & Īśvara-praṇidhāna* can reduce the *Kleśa* and its result the *Karmāśaya* to zero; thus completely shatter the root cause of his union with the world, the *Dṛśya*; and gradually arrive at the higher state of bliss, the *Viveka-khyāti*. The technical terms, such as *Avidyā, Sukha, Duḥkha, Saṁyoga, Adarśanam* etcetra have also been explained very vividly in this connection.

Aṣṭāṅga-Yoga to be practised by an ordinary Yoga-practitioner, the *Sādhāraṇa Sādhaka* is the second sphere dealt with in this chapter. The outer aspects of this eightfold Yoga are the first five limbs, known as *Yamas, Niyamas, Āsana, Prāṇāyāma & Pratyāhāra*. The first two limbs are meant to purify and build the total personality of a *Sādhaka* in relation to the outer and inner existence, respectively the social behaviour and the individual attitude of mind towards life. Of these, the *Yamas* appear mainly to regularize the social

life of *sādhaka*, whereas, *Niyamas* try to emphasise more on the individual mental make up. This distinction has, however, been made simply to exhibit difference in seperate names of each five of the ten qualities desired to be acquired by a Yoga-seeker. Otherwise, each one of the ten *Yama-Niyamas* has a definite bearing on one's social as well as personal activities and actions.

Āsana, the third limb of eightfold yoga has been placed in a singular form, meaning thereby that of many postures, only a suitable one has to be adopted for regular practice. Similarly, Yogic *Prāṇāyāma*, the forth limb is also a single phenomena, where breathing has to stay motionless. Such a breath-immobility is achieved in two phases. Firstly by observation, *Paridarśana* of the space, time and volume (देश-काल-संख्या-परिदर्शनम्) of the breath coming in, going out, or retained. At the second phase, even this observation becomes unnecessary, and the breath comes to a standstill automatically through the regular practice; and that removes the veil shadowing the inner light. Then comes the final stage of *bahiraṅga-yoga*, the *Pratyāhāra*, where the senses turn back from the worldly objects to follow the form of *citta*, so that no disturbence may remain to the senses, at the time of meditation. Only thereafter can one enter the sphere of *Antaraṅga-yoga*, the subject discussed in the third chapter of yoga, the *Vibhūti-pāda*.

Presentation :

As in the first volume, so also here the reader would find following features for easy reference and good reading :—

(i) Division of *Yoga-Sūtra-Bhāṣyam* in suitable paragraphs, numbered in continuation with the previous volume.

(ii) *Sūtra*, *Bhāṣyam* and the *Hindi-Vivṛti* in different type-faces for a clear distinction, but alternately para-after-para for an easy insight into the *Vivaraṇakāra's* speciality.

(iii) The text-variations have been counted continuously in each Pāda, and marked by superiour figures in Devanāgarī. Notes on them have been appended at the end of each Pāda; and they are in Sanskrit alone.

(iv) Remarks on the translation, i.e. Vivṛti have been footnoted on each page, and to distinguish the same from text-variation-number, they have been marked in English-superior figures.

VEDA-VRATA
Senior Lecturer, S.S.N. College,
Delhi University, Delhi-36.

ॐ

श्री-पातञ्जल-योग-सूत्र-भाष्यम्

द्वितीयः साधनपादः

—उद्दिष्टः समाहित-चित्तस्य योगः। कथं व्युत्थित-चित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादिति इदम्[1] प्रारभ्यते।—

—प्रथम-पाद में समाहित-चित्त साधक[1] के लिए योग बताया गया। जिसका चित्त व्युत्थित (=चंचल) रहता है, समाधि में प्रवृत्त नहीं होता वह कैसे योग में लगे, इसके लिए यह द्वितीय पाद प्रारंभ किया जाता है:—

तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥२।१॥

तपस्, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों को
क्रियायोग कहते हैं ॥

[११७] [२]**तपः—कृच्छ्रचान्द्रायणादि, शीतोष्णादिद्वन्द्व-सहत्वम्।**[3] **स्वाध्यायः—प्रणवस्य मोक्षशास्त्राणां चोपनिषत्प्रभृतीनां पवित्राणां जपः।**[४] **ईश्वर-प्रणिधानम् (सर्व-)-क्रियाणां परम-गुरावीश्वरे समर्पणम्, तासां वा फल-सन्यासः**[५]**।**

---

1. इससे द्योतित होता है कि प्रथम पाद का योग उत्तम साधकों के लिए है। यहाँ से क्रियायोग का प्रारम्भ है जो मध्यम-साधकों के लिए है, और आगे का अष्टांग योग साधारण साधकों के लिए है। साधारण और मध्यम साधक भी अपनी साधना में प्रगति करते-करते समाहित-चित्त वाले उत्तम साधकों की प्रथम-पादोक्त 'निर्बीज' समाधि की 'असम्प्रज्ञात' योग-साधना करने में समर्थ हो सकते हैं। इसके विस्तृत स्पष्टीकरणार्थ देखिए, 'साधकों की श्रेणियाँ'—योगसार, प्रथमखण्ड। पृ० १ से १८।

तपस् (=तप) है—'कृच्छ्र-चान्द्रायण' आदि ▒▒ करना, तथा शीत और उष्णता आदि द्वन्द्वों को सहना[1]।

स्वाध्याय है—प्रणव-'ओं'कार का जप एवं पवित्र उपनिषद् आदि मोक्ष-शास्त्रों का जप=मनन[2] करना।

ईश्वर-प्रणिधान है—सभी क्रियाओं का परमगुरु परमात्मा[3] में समर्पण, अथवा क्रियाओं के फल को परमेश्वर पर[4] उसकी प्राप्ति के लिए[5] छोड़ना।

[११८] नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिवासना—[6] चित्रा प्रत्युपस्थित-विषय-जाला (च)। अशुद्धिः नान्तरेण तपः सम्भेद-मापद्यते, इति तपस उपादानम्। तच्च तपः चित्तप्रसादनम् अबाध-मानम् अनेन आसेव्यमिति योगा[7] मन्यन्ते॥

तप करना जिसका स्वभाव नहीं बना ऐसे तपस्यारहित साधक का योग सिद्ध नहीं होता। अनादि वासनाओं[6] से चित्रित, विषय-

---

1. मिलाइए—'तपो द्वन्द्वसहनम्'''कृच्छ्रचान्द्रायण-सान्तपनादीनि'—व्यास०, योग० २।३२।
2. जप का अर्थ हुआ शास्त्रों की वाणी को व्यक्त करना और मन में बैठाना। मिला०—'जप, जल्प, व्यक्तायां वाचि', 'जप मानसे च'—धातुपाठ, भ्वा० २८१, २८२।
3. मिला० (क)—'गुरुः पुनरस्तु सः'—ऋग्वेद १।१४७।४।
   (ख) 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—योग० १।२६।
4. (क) 'परमेश्वरे संन्यसनम्'—विव० पृ० १२३।
   (ख) भगवद्गीता में संन्यास के बारे में बताते हुए यही कहा गया है—
   'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
   लिप्यते न स पापेन, पद्मपत्रमिवाम्भसा॥'—गीता० ५।१०॥
5. इस अर्थ के लिए दे०—'निमित्तात् कर्मयोगे', वार्तिक, अष्टाध्यायी सूत्र २।३।३६, सिद्धान्त कौमुदी, सं० ६३५। मिलाइए उदाहरण—'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।'''
6. यहाँ विवरणकार के व्यासपाठ में कर्मक्लेश का अभाव यह द्योतित करने के लिए है कि जन्म-जन्मान्तरों में कर्म-क्लेश नहीं, उनकी वासनाएं ही जाती हैं, चाहे वे क्लिष्ट कर्मों से बनी हों, चाहे अक्लिष्ट कर्मों से।

भोगों को पुनः-पुनः उपस्थित करने वाली अशुद्धि, अविद्या आदि वाला मन का मैल बिना तप के नहीं कटता। इसलिए (मध्यम साधक के लिए भी) तप का ग्रहण किया गया है। इस तप को भी चित्त की प्रसन्नता को ठेस पहुंचाये बिना करना चाहिए, ऐसा योगी लोग मानते हैं ॥ १ ॥

—स हि क्रिया-योगः—

—वह क्रिया-योग—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२।२॥

समाधि की सिद्धि और क्लेशों को निर्बल करने के लिए है ॥

[११६] **स हि प्रासेव्यमानः समाधिं भावयति, क्लेशांश्च (प्र-)तनूकरोति। (प्र)-तनूकृतान् क्लेशान् प्रसंख्यानेन**[८] **दग्ध-बीज-कल्पान् अप्रसवधर्मिणः करिष्यति**[९] **। तेषां तनूकरणानुजन्मा**[१०] **पुनः क्लेशैर-परामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यता-[मात्र]-ख्यातिः समाप्ताधिकारा प्रज्ञा**[११] **प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यते** ॥ २ ॥

पहले सूत्र में बताये गये क्रिया-योग-त्रय का लगातार सेवन किया जाए तो वह समाधि को सिद्ध कर देता है, और अविद्या आदि क्लेशों को बहुत सूक्ष्म कर तनु अवस्था में[1] पहुंचा देता है। तनु बनाये हुए क्लेशों को अग्नि से जले हुए बीजों की तरह अङ्कुरित होने के गुण से रहित करेगा—विवेक ज्ञान का अभ्यास[2]। फिर क्लेशों

1. सूत्रकार का यहाँ 'तनूकरणार्थः' पाठ तो है ही, विवरण में भी व्यास-पाठ 'तनूकरोति' है। इससे आगे (योग० २।४ में) बताई गई क्लेशों की 'तनु' अवस्था का संकेत मानना अनुचित नहीं।

2. द्र०—'प्रसंख्याने विवेक-दर्शन-शीलिते'—विव० पृ० ३६३, योग० ४।२९। इस प्रकार 'प्रसंख्यान' का अर्थ है—'विवेक-दर्शन' या 'विवेक-ख्याति' को अभ्यास में लाने का यत्न'। और विवेक-दर्शन का अर्थ है—सत्त्व-गुण और चेतन पुरुष की पृथक्ता को जानना—'सत्त्व-पुरुषान्यता-प्रत्ययो विवेकख्यातिः।', व्यास सं० २२१, योग० २।२६।

के तनु होने के बाद 'प्रज्ञा'[1] का जन्म होता है। इस प्रज्ञा को अविद्या आदि क्लेश फिर से छू भी नहीं सकते। इसे बुद्धि और आत्मा की पृथक्ता भर का ज्ञान होता है। आत्मा पर इसका अधिकार समाप्त हो जाता है। यह साधक को संसार की ओर अभिमुख करने योग्य भी नहीं[2] रहती ॥ २ ॥

—**के ते क्लेशाः ? कियन्तो वा ?**[१२]

—वे क्लेश कौन-कौन से हैं, और कितने हैं ?—

अविद्या-ऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥२।३॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और मृत्युभय ये
पांच क्लेश हैं ॥

[१२०] [१३]**पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्पन्दमानाः**[१४] **गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकरण-**[१५]**स्रोत उन्नमयन्ति। परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा**[१६] **कर्म-विपाकाश्चाभिनिर्वर्तयन्ति**[१७] ॥

ये पांच मिथ्याज्ञान हैं। जब ये प्रकट होने लगते हैं तब सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों के क्रिया-कलाप को, अधिकारक्षेत्र को दृढ़ करते हैं, गुणों के परिणाम को सांसारिक रचना और मनोभावों को बनाये रखते हैं, शरीर की इन्द्रियों के प्रवृत्ति-स्रोतों को [illegible] कर देते हैं। एक दूसरे को निमित्त-नैमित्तिक भाव से सहायता करते हुए कर्मों के फलों का--जाति, आयु और भोग का[3] भुगतान करते [illegible] ॥ ३ ॥

---

1. यहाँ प्रसंख्यान और प्रज्ञा (=विवेक-ख्याति) का साथ-साथ संकेत आगे एक सूत्र में भी इन दोनों के एक-दूसरे के प्रति [illegible] को [illegible] [illegible] है —'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेक-ख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।'—योग० ४।२९।
2. यहां विवरणकार ने 'प्रति' उपसर्ग [illegible] अर्थ 'पुनर्न' करते हुए 'प्रतिप्रसव' का भाव 'फिर जन्म न लेना' माना है:—'प्रतिप्रसवाय संसाराभिमुखतायै पुनर्न कल्पिष्यते।'--विव० पृ० १२५.
3. द्र०—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।' –योग० २।१३।

[illegible] क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणाम् ॥२।४॥

अविद्या ही अन्य चारों क्लेशों का जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न
या उदार रूप में हो सकते हैं, उत्पत्तिस्थान है ॥

[१२१] **अविद्या [illegible] प्रसवभूमिः[१८] अस्मितादीनां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदारतया चतुर्विकल्पानाम् ।[१९]**

अस्मिता, राग, द्वेष और मृत्युभय इन पीछे वाले चार क्लेशों के लिए अविद्या ही खेत की तरह जन्मभूमि है, और ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार रूपों में हो सकते हैं।

[१२२] **तत्र का प्रसुप्तिः ? । चेतसि शक्तिमात्र-प्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोधः आलम्बने सम्मुखीभावः । प्रसंख्यानवतः दग्ध-क्लेश-बीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ बीजभावोपगमः ।[२०] दग्धस्य कुतः पुनः प्रबोधः ?[२१] तत्रैव सा दग्धा नान्यत्र ।[२२] अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेहः इत्युच्यते [योगी] । तत्रैव सा दग्ध-बीज-भावा पञ्चमी क्लेशावस्था[२३] । सतां क्लेशानां तदानीं दग्धं बीज-सामर्थ्यम् । [२४]विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि न भवत्येषां प्रबोधः । उक्ता प्रसुप्तिः दग्धबीजानां च क्लेशानामप्रबोधो[२५] [योगिनः] ।**

'**प्रसुप्त**'-इन चार दशाओं में से प्रसुप्ति क्या है ? उगने की सामर्थ्य होने पर भी (बिना अंकुरित हुए) बीज रूप से क्लेशों का चित्त में पड़े रहना, जिनका प्रबोध विषयों के सम्मुख आने पर हो सकता है। जिसके अविद्या आदि समस्त क्लेश दग्ध हो चुके होते हैं, उस विवेक-ज्ञानी के सम्मुख विषयों के आ जाने पर भी वे कभी बीज-भाव को प्राप्त नहीं होते। फिर उनका उगना[1] कहाँ ? यह प्रसुप्ति [illegible] विवेक-ज्ञानियों में ही दग्ध हुई होती है, अन्यत्र नहीं। क्लेशों के क्षीण हो जाने पर कुशल योगी (अन्तिम बार देह धारण करने वाला होने से[2]) 'चरम-देह' कहाता है। ऐसे विवेकज्ञानी में ही क्लेश की पांचवीं दग्ध-बीज-भावा अवस्था होती है, जिसमें कभी जो क्लेश

1. 'प्रबोधः उद्‌भव.' — विव० पृ० १२८ ।
2. द्र० —'भवप्रत्ययो विदेह-प्रकृतिलयानाम्' योग० १।१९।

रहे थे[1] उनके बीज में उगने की सामर्थ्य दग्ध हो चुकी होती है। विषयों के सामने आने पर भी उन क्लेशों का उदय नहीं होता। इस तरह यहां प्रसुप्ति और उसके साथ-साथ (पञ्चम अवस्था) योगी के दग्ध-बीज क्लेशों का प्रबोध न होना भी कह दिया गया है।

[१२३] **तनुत्वम् [इदानीम्] उच्यते—प्रतिपक्ष-भावनोपहताः क्लेशास्तनव उच्यन्ते**[२६]।

'तनु'—अब तनु अवस्था बताई जाती है। शरीरों आदि को घृणा से देखने वाली[2] विरोधी भावनाओं से[3] मारे हुए क्लेश तनु कहलाते हैं।

[१२४] **तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। यदि वा विच्छिद्य विच्छिद्य ते व्यक्तेनात्मना न समुदाचरन्ति**[२७]**। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु विरक्तः।**[२८] **किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्तिः, अन्यत्र भविष्यद्वृत्तिः। स हि तदा प्रसुप्तस्तनुर्वा भवति**[२९]।

'विच्छिन्न'—कुछ वैसी ही[4] विरोधी भावना के कारण जब कट-कट कर क्लेश फिर-फिर उसी रूप में प्रकट भी होने लगते हैं, तब विच्छिन्न कहलाते हैं। कैसे? जैसे प्रेम के समय क्रोध नहीं दिखाई देता, क्योंकि उस प्रेम-व्यवहार में क्रोध का उदय नहीं हो पाता।

---

1. 'सतां क्लेशानां' में शतृ प्रत्यय से भूतकालिक विद्यमानता ही अभिप्रेत है। यह अर्थ व्याकरणसम्मत भी है—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा' —सि० कौ० २७८६, अष्टा० ३. ३. १३१।
2. 'प्रतिपक्षस्य शरीराद्यवद्य-दर्शनादेः'—विव० पृ० १२८।
   मिला० – 'शौचात् स्वाङ्ग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः'—योग० २।४०।
3. 'क्लेश-तनूकरणार्थं' यह प्रतिपक्षभावना कुछ उसी प्रकार की है जैसी कि 'अहिंसा' को आयत्त करने के लिए आगे बताई गई है। दे०—योग० २।३४।
4. यहाँ 'तनु' से कुछ साम्य का भाव 'तथा' शब्द द्वारा ज्ञापित होता है।

ऐसा भी नहीं कि प्रेम किसी एक विषय में हो गया तो अन्यत्र नहीं है। यदि चैत्र नाम का व्यक्ति किसी एक स्त्री के प्रति अनुरक्त है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य स्त्रियों से वह विरक्त हो गया है। वस्तुतः, प्रेम की वृत्ति को वर्तमान में यदि एक स्थान मिल गया है, तो भविष्य में वह कहीं और भी हो सकती है; जिसके लिए इस समय वह वृत्ति या तो प्रसुप्त है, या 'तनु'।

[१२५] **विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः।**

'उदार'—जो क्लेश का विषय वर्तमान में व्यवहार में आ रहा है, वह उदार है।

[१२६] **सर्वे चैते क्लेशविषयत्वम् नातिक्रामन्ति। कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेशः ? (इति) सत्यमेवमेतद् उच्यते।**[30] **किन्तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्ष-भावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेन अभिव्यक्तः (इति)।**

ये चारों अवस्थाएं 'क्लेश' के विषय क्षेत्र को नहीं लांघ पातीं, क्लेश ही होती हैं। फिर कोई विच्छिन्न कोई प्रसुप्त, कोई तनु या कोई उदार क्लेश क्या रहा ? (अर्थात् यह भेद क्यों ?) है तो ऐसा ही कि भेद करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु बताया जाता है कि एकैकशः देखने पर ही, विशेष होने पर ही इन क्लेशों का विच्छिन्न आदि रूप है, (वर्ना सब हैं एक ही चीज़)। उल्लिखित कोई क्लेश जैसे प्रतिपक्ष-भावना से निवृत्त होता हुआ 'तनु' और फिर 'प्रसुप्त' हो जाता है, वैसे ही स्वयं को अभिव्यक्त करने वाले विषयों से प्रकट होता हुआ 'विच्छिन्न' और फिर 'उदार' हो जाता है।

[१२७] **सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात् ?। सर्वेषु अविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदनुशेरते क्लेशाः। विपर्यास-प्रत्यय-काले [एव] उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणाम् (च) विद्यामनु क्षीयन्ते इति॥**

ये सभी क्लेश 'अविद्या' के ही भेद हैं। कैसे ? क्योंकि सभी में अविद्या ही उछलती-कूदती दिखाई देती है। जो भी वस्तु (विषय

और व्यवहार) अविद्या द्वारा आमन्त्रित होती है, उसी के साथ अस्मिता आदि क्लेश आ जाते हैं। विपरीतार्थक मिथ्या-ज्ञान के समय ही ये क्लेश मिलते हैं, अविद्या के क्षीण होने के साथ ये क्षीण हो जाते हैं ॥ ४ ॥

—तत्र अविद्या स्वरूपमुच्यते—

— इन पांच क्लेशों में से अविद्या का स्वरूप बताया जा रहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु
नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या ॥२।५॥

अनित्य, अपवित्र, दुःखदायी और आत्मा से भिन्न
पदार्थों को नित्य, पवित्र, सुखकारी और आत्मा
समझ लेना 'अविद्या' है ॥

[१२८] **अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः, यथा[31] ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकसः इति।**

अनित्य पदार्थों को नित्य जानना और कहना, जैसे 'पृथिवी, और चांद-तारों के साथ द्युलोक ध्रुव हैं, स्थिर हैं, नित्य हैं, और देवता लोग अमर हैं' ऐसा मानना विपर्यय ज्ञान[1] है।

[१२९] **तथा अशुचौ परमबीभत्से काये (शुचिख्यातिः। उक्तं च-) 'स्थानाद् बीजाद् उपष्टम्भात्, निष्यन्दाद् निधनादपि। कायमाधेय-शौचत्वात्, पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥' (इति) अशुचौ शुचिख्याति-र्दृश्यते—नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या,[32] अमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वेव निस्सृता[33] ज्ञायते; नीलोत्पलपत्राक्षी[34] हावगर्भाभ्यां[35] लोचनाभ्यां जीवलोकं समाश्वासयन्ती—इति[36] कस्य केनाभिसम्बन्धो**

---

1. (क) 'नित्यख्यातिः नित्यमिति विपर्यय-बुद्धिः'—विव० पृ० १३३।
   (ख) मिला०—'सा विपर्यय-वृत्तिर् अविद्या'— विव० पृ० ३५।
   (ग) इसके आधार पर व्यास-भाष्य का अर्थ सं०[२८,२९], योग० १।८, प्रथमखण्ड, पृ १२।

[illegible] ? इति [illegible] शरीरादिषानात्म्यं ? [illegible] भवत्येवम् अशुची शुचिविपर्यास इति[३७] ?

ऐसे ही, अपवित्र बहुत घिनौनी देह में पवित्रता का विपरीत ज्ञान होता है। कहा भी है[1] – 'जन्म का स्थान (गर्भाशय), काया के बीज (वीर्य रक्त आदि), शरीर-रचना के तीनों आधार[2] (वात, पित्त, श्लेष्मा), शरीर से निकलने वाले पसीना, मल-मूत्र आदि, तथा मरणोपरान्त शरीर की उपायरहित अपवित्रता[3], तथा सदा सफाई रखने की आवश्यकता बनी रहने के कारण समझदार लोग शरीर को शुद्ध न हो सकने वाला, गन्दा मानते हैं।' इस प्रकार की अपवित्रता में पवित्रता की बुद्धि देखी जाती है, (जैसे) 'यह कन्या नये चांद की मनोरम कला सी बड़ी प्यारी कमनीया है। इसके अंग-अंग मानों मधु से बने हैं। यह तो सीधे चांद को ही चीर कर बाहर आई है। नीलकमल के पत्ते जैसी (तीखी व विशाल) आंखों वाली है। हाव-भाव भरे नयनों से जीवमात्र को सान्त्वना सी [illegible] रही है।' इस दृष्टि में किस उपमान से किस उपमेय का सम्बन्ध है? इसमें शरीर का यथार्थ वर्णन कहां है?

[१३०] **एतेनापुण्ये पुण्य-प्रत्ययः, तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः।**

और इस प्रकार अपवित्रता में सुरुचिता का मिथ्या-ज्ञान कहीं-कहीं हो ही जाता है। इससे पापभरे कामों को पुण्य और निरर्थक पदार्थों को सार्थक समझ बैठने वाली अविद्या की व्याख्या भी हो गई।

[१३१] **तथा दुःखे सुख-ख्यातिं वक्ष्यति—'परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखै-गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो. सू. २।१५) इति। तत्र [सर्वस्मिन् संसारे दुःखे] सुख-ख्यातिरविद्या।**

1. यह किसी 'वैयासिकी गाथा' [illegible] वचन है, ऐसा तत्त्व-वैशारदी में कहा गया है। द्र० नारायण मिश्र, पृ० १४८।
2. (क) उपष्टम्भ '...base,...support of life...' Monier p. 210
   (ख) 'वात-पित्त-श्लेष्मोपष्टम्भात्'—विव० पृ० १३३।
3. (क) 'मृतसम्बन्धिनां दशाहाद्याशौच-स्मरणम्' – विव०, पृ० १३३।
   (ख) मिला०—'प्रेतहारैः समं [illegible] दशरात्रेण शुध्यति॥' – मनु० ५।६५॥

दुःख में सुख मान-बैठने (के विपरीत दृष्टिकोण) को आगे कहेंगे कि —'विवेकी के लिए तो सब दुःख ही दुःख है'[1]। ऐसे दुःख भरे सारे संसार में सुख मान बैठना अविद्या है।

[१३२] तथा नात्मन्यात्मख्यातिर् बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु, भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्याति-रिति। तथैतदत्र उक्तं-'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीतः,[3] तस्य सम्पदमनुनन्दति, आत्मसम्पदं मन्वानः, तस्य व्यापदम् अनुशोचति (आत्मव्यापदं मन्वानः)।[38] स सर्व [एव] अप्रतिबुद्धः।' इति।

इसी प्रकार, जो आत्मा नहीं हैं उन पदार्थों को जीवन-यापन में सहायक बाहरी चेतन (पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धियों,) या अचेतन (रोटी, कपड़ा, मकान आदि) पदार्थों को; भोगों के आधारभूत अपने शरीर को; या पुरुष – आत्मा के साधनभूत मन को आत्मा न होने पर भी आत्मा मान लेना अविद्या है। इसी विषय में कहा गया है[2] —'शरीर, इन्द्रिय आदि अनुभवयोग्य व्यक्त पदार्थों को, अनुमान, आगम द्वारा ज्ञात सत्त्व गुण आदि अव्यक्त पदार्थों को[3] आत्मा समझकर उनके फलने-फूलने पर प्रसन्न होता है, उनको अपनी की सम्पदा मानकर उनके नाश पर (अपनी मुसीबत समझता हुआ) दुःखी होता है, वह मूर्ख है, ज्ञानी नहीं।'

[१३३] एषा चतुष्पदी[40] भवत्यविद्या। अविद्या[41] मूलम् अस्य क्लेश-

---

1. दे० —योग० २।१५।
2. यह वचन पञ्चशिखाचार्य का है ऐसा तत्त्ववैशारदीकार व योगवार्त्तिक-कार ने लिखा है। द्र० - नारायण मिश्र, पृ० १४८, १५०।
3. 'किञ्चिद् व्यक्तम् आनुभविकं, किञ्चिद् आनुमानिकम् आगमिकम् अव्यक्तं वा सत्त्वम्'—विव० पृ० १३५।
   मिला०—'व्यक्तं चेतनं पुत्र-दार-पश्वादि। अव्यक्तमचेतनं शय्यासनाश-नादि।'—तत्त्ववैशारदी। तथा – 'व्यक्ताव्यक्तं व्याकृताव्याकृतं स्थूलसूक्ष्म-रूपं बुद्धिसत्त्वम्'—योग-वार्त्तिक।
   इस तुलना से विवरणकार की गहराई स्वतः स्पष्ट है।

सन्तानस्य, कर्माशयस्य च विपाकत्रय-सहितस्य[४२] ।

(इस प्रकार) अविद्या के चार चरण हैं। यही अन्य सारे क्लेशों की परम्परा का मूल है। और इसी से जन्म, आयु और भोग इन तीन फलों से युक्त संस्कारों का समूह बनता है।

[१३४] तस्याश्चामित्रगोष्पदवद् वस्तुसतत्त्वम् विज्ञेयम् । यथा अमित्रो न मित्राभावः, न मित्रमात्रम्[४३] । यथा वा अगोष्पदं, न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं, किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवम् अविद्या न प्रमाणं, न प्रमाणाभावः किन्तु विपरीतं ज्ञानान्तरमिति[४४] ॥

यह अविद्या 'अमित्र' और 'अगोष्पद' शब्दों के समान एक सत्तावाली वस्तु है। 'अमित्र' का अर्थ (केवल) 'मित्र का अभाव' या 'मित्र-मात्र' नहीं है।[1] (वस्तुतः, वह एक 'शत्रु' के रूप में पृथक् सत्ता रखता है।) इसी भांति, 'अगोष्पद' न तो 'गौ के खुर जितने स्थान' का अभाव-मात्र है, न केवल उतने ही स्थान का वाचक है अपितु 'इन दोनों से भिन्न स्थान'-रूपी स्वतन्त्र वस्तु है।[2] इसी प्रकार 'अविद्या'

---

1. (क) महाभाष्य में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'अब्राह्मणमानय इत्युक्ते ब्राह्मणमात्रस्य अनयनं प्राप्नोति।' (महाभाष्य—२. २. ६.)।
(ख) यदि नञ् समास में 'अर्धपिप्पली' की तरह पूर्वपद-प्रधान मानें तो 'अभाव' की प्रधानता होने पर भी केवल वही अर्थ तो अभिप्रेत नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'अमित्र' और 'अविद्या' दोनों ही स्वतन्त्र सत्ता वाली वस्तु हैं। इसी तरह उत्तर-पद प्रधान मानने पर जब 'नञ्' गौण हो जाएगा तो भी उसे प्रधान का वशवर्ती होना चाहिए, न कि उसका विनाशी। अतः तब भी मित्र या विद्या से भिन्न प्रकार की वस्तु का ही द्योतक होगा। —द्र० विव० पृ० १३६।
(ग) वैयाकरणों ने नञ् के अनेक अर्थ बताए हैं। जैसे बालमनोरमा में —'प्राचीनास्तु—तत्सादृश्यमभावश्च, तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः ॥'—सिद्धान्त कौमुदी सूत्र ७५६ पर।
2. 'अगोष्पदं वृष्टो देवः' – इस प्रसिद्ध उदाहरण में—'वर्षा कितनी हुई? कि गऊ के खुर का स्थान भी न भरे।' वर्षा की स्वल्प मात्रा है, अभाव नहीं।

न तो विद्यायुक्त 'प्रमाण' है न उसका अभाव, अपितु दूसरे प्रकार का 'विपरीत-ज्ञान' है। (जिसे 'तमः' भी[1] कहते हैं) ॥ ५ ॥

दृग्-दर्शन-शक्त्योरेकात्मतेव अस्मिता ॥२।६॥

द्रष्टा और देखने की शक्ति (बुद्धि) को अभिन्न समझना 'अस्मिता' नामक क्लेश है ॥

[१३५] दृक् पुरुषः, स एव-शक्तिः। दर्शनं (बुद्धिः)[४५] सैव शक्तिः। तयोः[४६] [उपलब्धृव्यवसायस्वरूपयोः] एकस्वरूपापत्तिः इव अस्मिता क्लेश उच्यते।

देखने वाला या ज्ञाता पुरुष है, वह एक शक्ति है। जिसके द्वारा देखा जाए वह बुद्धि भी 'दर्शन-शक्ति' है। इन दोनों दर्शक और दर्शन-शक्तियों को एक स्वरूप समझ लेना 'अस्मिता' क्लेश कहाता है, (जिसे 'मोह' भी[2] कहा गया है)।

[१३६] भोक्तृ-भोग्य-शक्त्योः अत्यन्तविविक्तयोः[४७] [illegible]-सङ्कीर्णयोः अविभाग-प्राप्ताविव [illegible] भोगः कल्पते। स्वरूप-प्रति-[illegible] [illegible] तयोः कैवल्यम् एव। कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्— 'बुद्धितः परं पुरुषम् विभक्तम् आकार-शीलविद्याभिः[४८] अपश्यन् कुर्यात्तत्र आत्म-बुद्धि मोहेन।' इति ॥

भोक्तृ-शक्ति=आत्मा, और भोग्य-शक्ति=बुद्धि या महत्-तत्त्व सर्वथा भिन्न-भिन्न [illegible]। इन दोनों में जब विभाजन नहीं किया जा पाता, [illegible] भोग की कल्पना होती है। [illegible] आत्मा=चितिशक्ति[3] अपने और बुद्धि के स्वरूप को जान लेता है, तब दोनों का ही कैवल्य हो जाता है, दोनों अलग-अलग अकेले रह जाते हैं। फिर भोग कहां ? ऐसा ही कहा भी है[4]—'बुद्धि से परे, आकार-स्वभाव-ज्ञान आदि

1. द्र०—व्यास० सं० २६, योग० १।८ ॥
2. द्र०—व्यास० सं० २६, योग० १।८ ॥
3. द्र०'''कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा [illegible] चितिशक्तिरिति'—योग० ४।३४ ॥
4. यह पञ्चशिखाचार्य का वचन [illegible]।—द्र० तत्त्ववैशारदी, व योगवार्तिक।

के कारण सर्वथा भिन्न पृथक्कृत पुरुष को न देखते हुए उस बुद्धि को अज्ञान से आत्म रूप ही मान लेता है।' ॥ ६ ॥

सुखानुजन्मा रागः ॥२।७॥

सुख का अनुभव होने पर जिसकी उत्पत्ति होती है,
वह 'राग' है ॥

[१३७] **सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा योऽसौ गर्धः स [उच्यते] तृष्णा, लोभो, राग[40] इति ॥**

सुख से परिचित व्यक्ति का सुख को स्मरण कर-करके सुख या उसके साधनों के प्रति जो लालच है वही तृष्णा, लोभ या यहां 'राग' है। (इसी को 'महामोह' भी[1] कहा गया है।) ॥ ७ ॥

दुःखानुजन्मा द्वेषः ॥२।८॥

दुःख का अनुभव होने पर जो उत्पन्न होता है,
वह 'द्वेष' है ॥

[१३८] **दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यो मन्युरुज्जिघांसा[42] क्रोधः स द्वेषः ॥**

दुःख से परिचित व्यक्ति के मन में दुःख को याद कर-करके दुःख या उसके कारणों के प्रति जो मन्यु = रोष, उसे छोड़ने की इच्छा या क्रोध है वही 'द्वेष' होता है। (इसी को 'तामिस्र'[2] कहा गयाहै) ॥८॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥२।९॥

'मृत्युभय' वह है जो स्वभाव से ही विद्वान् को भी वैसे ही
लगा रहता है, जैसे किसी मूर्ख को ॥

[१३९] **सर्वस्य प्राणिन इयमाशीर्नित्या भवति—'मरणं मा प्रत्यभूवम्,[43] [illegible] [गुरुः शुभात्मभिः]' इति । न चाननुभूतमरण-**

1. द्र०—व्यास० सं० २९, योग० १।८।

2. द्र० वहीं।

धर्मकस्य भवत्येषा आत्माशीः।[४४] **एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः कृमेरपि जातमात्रस्य इति।**[४५] **प्रत्यक्षानुमानागमैरसम्भावितो मरणत्रासः उच्छेदवदृश्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।**

हर प्राणी की यह इच्छा सदा बनी रहती है कि 'मुझे मृत्यु का अनुभव न हो, अर्थात् मैं मरूं नहीं, (अपने शुभ गुणों के साथ) बना ही रहूं।' जिसने पहले कभी मरने के भय का अनुभव न किया हो उसकी ऐसी निजी इच्छा नहीं हो सकती। अतः इससे उसके द्वारा प्राप्त पूर्वजन्म का अनुभव प्रकट होता है। यह मृत्युभय-रूप क्लेश (जिसे 'अन्धतामिस्र'[1] भी कहा है) जन्मते ही कृमि को भी होने लगता है। 'मेरा विनाश हो जाएगा' इस दृष्टि से युक्त 'मरणत्रास' इस जीवन में (स्वानूभूत) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों द्वारा संभव नहीं है, वरन् पहले जन्म में अनुभूत मरण-दुःख का अनुमान कराता है।

[१४०] **यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस् तथा विदुषोऽपि विज्ञात-पूर्वापरान्तिकस्यापि**[४६] **रूढः। कस्मात्? समाना हि**[४७] **कुशलाकुशलयोः मरणानुभवादियं वासना**[४८] **॥**

यह त्रास जैसे अत्यन्त मूढों में दिखता है, वैसे ही पहले जन्मों के कर्म-बन्धनों और 'अपरान्तिक'=मुक्ति को जानने वाले विद्वानों में भी होता है। ऐसा क्यों है? क्योंकि, कुशल=पण्डित और अकुशल मूर्ख दोनों को ही पहले मरने का अनुभव हो चुकने से यह एक जैसी वासना है, एक सरीखा सूक्ष्म संस्कार है॥ ९॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१।१०॥

वे पांचों क्लेश सूक्ष्म करते-करते चित्त के प्रलय के
साथ समाप्त करने योग्य हैं॥

[१४१] **ते पञ्च क्लेशाः दग्धबीजकल्पाः योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेन (एव) अस्तं गच्छन्ति॥**

---

1. द्र०—व्यास० सं० २९, योग० १।८।

सम्यग्-दर्शन के अभ्यास (=प्रतिसंख्यान)[1] रूपी अग्नि द्वारा पांचों क्लेशों के दग्धबीज जैसा (भुने बीज के समान अंकुरित होने में असमर्थ) हो जाने पर चित्त का आत्मा को =पुरुष को बांधने का अधिकार समाप्त हो जाता है। तब चित्त का प्रलय हो जाने पर उसके साथ ही ये क्लेश और उनके संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं ॥१०॥

—स्थितानां तु बीजभावोपगतानां—

— बीज रूप में स्थित—

ध्यानहेयास् तद्वृत्तयः ॥२।११॥

क्लेशों की प्रसुप्त स्थिति (एवं वृत्तियां) ध्यान-
समाधि द्वारा हटायी जाती हैं ॥

[१४२] **क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः [पूर्वं]** ४६ **प्रसंख्यानेन ध्यानेन** [महता] **हातव्याः यावत्सूक्ष्मीकृताः, यावद् दग्धबीज-कल्पाः इति।**

क्लेशों के जो प्रत्यक्ष दिखने वाले स्थूल क्रिया-कलाप हैं, वे 'क्रिया-योग' अर्थात् तप, जप व भगवत्समर्पण[2] द्वारा क्षीण (न्यून-प्रभाव वाले) किये जाकर विवेक-ज्ञान से, तथा सतत और दृढभूमि[3] ध्यान-साधना द्वारा त्यागे जाते हैं। इतने सूक्ष्म कर दिये जाएं कि उन क्लेशों की अङ्कुरित होने की सामर्थ्य समाप्त हो जाए। फिर वे भुने अनाज के समान उगने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं।

---

1. द्र० (क) 'सम्यग्दर्शनाभ्यासानलदग्धबीजसामर्थ्यानां क्लेशानां'—विव० पृ० १४२।
   (ख) 'क्लेशतद्वासनयोर् वक्ष्यमाण-प्रसंख्यानेनैव नाशोऽस्तु'—योगवार्तिक
   (ग) 'क्लेशान् प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः' /व्यास०, सं० ११८, योग० २।२।
   (घ) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥'—गीता० ॥ ४।३७।
2. द्र०—योग० २।१।
3. द्र० – 'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-संस्कारासेवितो दृढभूमिः'—योग० १।१४।

[१४३] यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात् सूक्ष्मो [मलः] यत्नेन चोपायेन[६०] अपनीयते तथा स्वल्प-प्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानाम्। सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षाः इति॥

जैसे वस्त्रों का स्थूल मल, धूल-धक्कड़, उन्हें झाड़कर दूर किया जाता है, पीछे सूक्ष्म मल को यत्नपूर्वक क्षार या रसायन आदि साधनों द्वारा दूर किया जाता है; वैसे ही क्लेशों के स्थूल व्यवहारों को तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान यम-नियम आदि योगाङ्गों के अनुष्ठानरूपी[1] स्वल्प प्रतिकार से रोका जाता है। सूक्ष्म क्लेश तो प्रबल प्रतिकार की अपेक्षा रखते हैं, (जो अटूट विवेकज्ञान के अभ्यास से[2] हटाये जाते हैं।) ॥११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥२।१२॥

(अविद्या आदि ये पांच) क्लेश जिसके मूल में है ऐसा
कर्मों के संस्कार का कोश इस जन्म में और
जन्मान्तरों में फलों का अनुभव कराता है॥

[१४४] तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयो लोभ-क्रोध-मोह-प्रभवः[६१]। स दृष्टजन्मवेदनीयश्च अदृष्ट-जन्मवेदनीयश्च।

(चित्त में स्थित) पुण्य और पाप कर्मों का संस्कार-कोष लोभ-क्रोध-मोह से जन्म लेता है। वह वर्त्तमान जन्म में और अन्य जन्मों में भी भोगा जाता है।

[१४५] यथा तीव्र-संयोगेन[६२] मन्त्र-तपः-समाधिभिरनिर्वर्तितः, ईश्वर-देवता-महर्षि-महानुभावानामाराधनाद्वा तीव्रतराराधन-परिनिष्पन्नः सद्यः परिपच्यते (पुण्यकर्माशयः)[६३]। तथा तीव्रक्लेशेन भीत-व्याधित-कृपणेषु विश्वम्भोपगतेषु[६४] महानुभावेषु वा तपस्विषु पुनः पुनः कृतोऽपकारः[६५], स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं [स्वकं] हित्वा देवतात्वेन[६६]

---

1. द्र०—विव० पृ० १४३।
2. द्र० वहीं। तथा 'ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'— योग० २।२८॥

परिणतः तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति ।

—तीव्र उद्यम पूर्वक मन्त्र (जप), तप और समाधि से, अथवा ईश्वर-देवता-महर्षि महानुभावों की पूजा-सत्कार से अथवा भगवान् की तीव्रतर आराधना से उत्पन्न पुण्य-कर्माशय तत्काल फल देता है। इसी प्रकार, तीव्र क्लेश के प्रभाववश, किसी भयभीत, रोगी या कंजूस अथवा भरोसा करने वाले महानुभावों या बेचारे तपस्वियों के प्रति बार-बार किया हुआ अपकार और इससे बना हुआ पापकर्माशय भी तत्काल फल देता है। उदाहरण के लिए नन्दीश्वर कुमार अपने मनुष्य रूप को छोड़कर देवता के रूप में बदल गया था[1]। ऐसे ही देवराज इन्द्र की पदवी तक पहुंचा हुआ राजा नहुष अपने रूप को छोड़कर सर्प के पशुरूप को प्राप्त हो गया[2] ।

[१४६] **तत्र नारकाणां नास्ति दृष्ट-जन्मवेदनीयफलः[६७] कर्माशयः । क्षीण-क्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः[६८] ॥**

इस संसार में नारकीय घोर पाप करने वालों के कर्माशय का फल ऐसा नहीं होता कि उनके इसी मानव-जीवन में देखा जा सके। (दूसरी ओर,) अविद्या आदि क्लेशों का क्षय कर देने वाले योगी का तो कर्माशय ही नहीं रहता, अतः उसे भी अगले जन्म में उसे भोगने का अवकाश नहीं रहता[3] ॥१२॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

अविद्या आदि क्लेश रूपी जड़ के रहने पर ही जन्म,
आयु और भोग रूपी फल निष्पन्न होते हैं ॥

[१४७] **सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भीभवति नोच्छिन्न-क्लेश-मूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुलाः अदग्धबीजभावाः प्ररोह-**

1. इस कथा के लिए दे०—शिवपुराण, सनत्कुमार संहिता, अध्याय ४५ ।
2. इस कथा केलिए दे० – महाभारत, आनुशासनिक पर्व ११३, अध्याय १०
3. मिला०—'क्लेश-कर्म-निवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।' – न्याय० सं० ४६१, योग० ४।३० ।

समर्था भवन्ति, न [illegible] अपनीततुषा वा[69]। तथा क्लेशाव-[illegible]- कर्माशयो विपाक-प्ररोही-भवति, नापनीत-क्लेशो न प्रसंख्यान[70]-दग्ध-क्लेश-बीज-भावो वेति।

कर्माशय रूपी वृक्ष अपने फलों—जन्म, आयु और भोग—को देने वाला तभी बनता [illegible] उसकी जड़ों के रूप में अविद्या आदि पांच क्लेश हों; जिसकी ये जड़ें छिन्न-भिन्न हो गई हों वह नहीं। जैसे तुस वाले और बिना भुने धान ही उगने में समर्थ होते हैं, छिले हुए या जले हुए नहीं; वैसे ही अविद्या आदि क्लेशों से लिपटा हुआ कर्माशय ही [illegible] देने वाला होता है, उनके हटा देने पर, या सम्यग्-दर्शन द्वारा दग्धबीज हो जाने पर नहीं।

[१४८] **[illegible] विपाकस्त्रिविधो जातिर् आयुर् भोग इति।**

वह कर्मफल तीन प्रकार का है—जन्म, आयु और भोग।

[१४९] **तत्रेदं विचार्यते:—**

(क) [illegible] कर्म एकस्य जन्मनः [illegible]णम्?

[स्वर्गादि-प्राप्तिनिमित्तेषु बहुषु कर्मसु [illegible]।]

(ख) अथैकं [illegible] जन्माक्षिपति? इति प्रथमा विचारणा।[71]

(ग) द्वितीया विचारणा—किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तयति?

[विरुद्धफलमविरुद्धफलं वा?]

(घ) अथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयति[72]?

इस कर्मफल के विषय में विचार यह करना है कि—

(क) क्या [अनेक कर्म होने पर भी] एक कर्म किसी एक जन्म का कारण होता है?

(ख) अथवा क्या एक कर्म अनेक जन्मों को देता है?

(इन दोनों में एक ही विचारणा है।)

दूसरे प्रकार की विचारणा यह है कि—

(ग) क्या अनेक कर्म [अनुकूल या प्रतिकूल फल वाले] अनेक जन्मों को फलते हैं?

(घ) अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म देते हैं?

[१५०] **न [illegible] कर्मैकस्य जन्मनः [illegible]। कस्मात्? अनादि-**

काल-प्रचितस्य तत्रावशिष्टस्य असंख्येयस्य[७३] कर्मणः साम्प्रतस्य[७४] च फलक्रमानियमात् अनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्टः[७५] ।
(क) केवल एक ही कर्म तो किसी एक जन्म का कारण नहीं होता। क्यों ? कि अनादि काल से इकट्ठे हुए कर्मों में से असंख्य कर्म बचे रहते हैं। उनमें से, और वर्तमान जन्म के कर्मों में से किस कर्म का फल पहले और किस का बाद में हो, ऐसा कोई नियम न होने से लोगों को कर्मफल पर विश्वास न रहेगा, और यह अभीष्ट नहीं।

[१५१] **न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम्। कस्मात् ? एकैकस्मिन् तावज्जन्मनि अनेकं कर्मानुष्ठीयते, तत्रैकैकमेव चेत्कर्मानेकस्य जन्मविपाकस्य निमित्तं भवेत्, ततो[७६] ऽवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्टः[७७] ।**

(ख) एक कर्म अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक जन्म में बहुत से कर्म किये जाते हैं। उनमें से एक-एक कर्म यदि अनेक जन्मरूपी फलों का कारण हो तो शेष बचे कर्मों के फल भोगने का समय कब आयेगा ? अतः ऐसा मानना तो अवांछनीय होगा।

[१५२] **न चानेकं कर्मानेकस्य [illegible] कारणम्। कस्मात् ? तदेवाऽनेकं[७८] जन्म युगपन्न संभवति। क्रमेण वाच्यमाने च[७९] पूर्व-दोषानुषङ्गः।**

(ग) अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण भी नहीं हो सकते। क्यों ? वे अनेक जन्म एक साथ हो सकें यह तो संभव नहीं। यदि यह कहें कि [illegible] से होते हैं, तो वही पहली संभावना वाला दोष इसमें भी आ जाता है।

[१५३] तस्मात् **जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यपापकर्माशयः [प्रविरुद्ध-जन्मवेक्षनिमित्तः[८०]] प्रचय-विचित्रः[८१], प्रधानोपसर्जनभावेनाव-स्थितः। प्रायणाभिव्यक्तः, एक प्रघट्टकेन सम्मुच्छितः[८२] एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति। तस्मिन्नायुषि [illegible] कर्मणा भोगः सम्पद्यते[८३]। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोग-हेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते। [illegible] कर्माशयः उक्तः।[८४]**

(घ) किसी जीवन में जन्म और मृत्यु के बीच संचित 'कर्माशय', [जो अपने अनुरूप जन्म का निमित्त होता है,] पाप-पुण्य के कुछ प्रधान कुछ गौण कर्म-संस्कारों का रंग-बिरंगा समूह होता है। एक जैसे कर्मों द्वारा प्राप्त[1] मृत्यु के समय वे सारे कर्म एक झटके से इकट्ठे होकर[2] अगले एक ही जन्म को देने वाले बनते हैं। और अगले जन्म की आयु की अवधि भी उसी संगठित कर्म-समूह से प्राप्त होती है। और, उसी कर्म-समूह द्वारा उस आयु में भोगों का सम्पादन होता है। इस प्रकार जन्म, आयु, और भोग इन तीनों का हेतु होने से यह कर्माशय 'त्रिविपाक' अर्थात् तीन तरह से फलने वाला कहा जाता है। यह जो सिद्धान्त बताया गया, इसे 'एकभविक कर्माशय' भी कहते हैं। (क्योंकि इसमें पूरे कर्म-समूह से एक जन्म मिलने की मान्यता है। और यह 'अदृष्ट-जन्मवेदनीय' है, जन्मान्तर से जुड़ा होने के कारण।)

[१५४] दृष्ट-जन्मवेदनीयस् त्वेकविपाकारम्भी (भोगहेतुत्वात्) द्विविपाकारम्भो वा भोगायुर्हेतुत्वात्, त्रिविपाकारम्भी वा [जात्यायु-र्भोग-हेतुत्वात्][८५] नन्दीश्वरनहुषवत्[८६] ।

प्रत्यक्ष वर्त्तमान जीवन में जो कर्माशय फलता है वह 'दृष्ट-जन्म-वेदनीय' है। यह जब केवल भोगों का हेतु हो तो 'एक-विपाकारम्भी', जब भोग और आयु दोनों को प्रभावित करे[3] तो 'द्विविपाकारम्भी', और नन्दीश्वर या नहुष की तरह जन्म, आयु और भोग तीनों बदल दे तो 'त्रिविपाकारम्भी' होता है।

---

१. (क) 'प्रायणमपि अविरुद्धानां कर्मणामभिव्यक्ति-निमित्तम्'—विव० पृ० १५०।
(ख) 'मरणं प्रसाध्य' यह पाठाधिक्य इसी भाव का सूचक है। दे०—पाठ-टिप्पणी ७२।

२. (क) 'एकलोलीभावेन एकीभूत:'—विव० पृ० १५०।
(ख) 'युगपत्सम्मूर्च्छित:...एकलोलीभावापन्न:'—तत्त्ववैशारदी।
(ग) 'एकप्रयत्नेन मिलित्वा'—योगवार्तिक।

३. 'यथा पुत्रग्रामादिकामयाग:...यथा आयुरादिकामयाग: ।'—विव० पृ० १५१।

[१५५] **क्लेश-कर्म-विपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिः अनादि-काल-संमूर्छितमिदं चित्तं (वि)-चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजाल ग्रन्थिभिरिव आततम् । [अथैकैकस्मिन् जन्मनि][87] अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशयः एष एवैकभविकः उक्तः[88] । ये संस्काराः स्मृतिहेतवः ता वासनाः ताश्चानादिकालीनाः[89] । यस्त्व-सावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च ।**

अविद्या आदि क्लेशों के प्रभाव में किये कर्मों के फलों के अनुभव से प्राप्त वासनाओं से यह चित्त अनादिकाल से परिपूर्ण[1] है। यह चित्त सब ओर से ऐसे रंगा हुआ है, जैसे मछेरे का जाल गांठों से भरा होता है। [प्रत्येक जन्म में] ये वासनाएं अनेक जन्म-जन्मान्तरों की होती हैं। यह जो वर्तमान कर्माशय होता है, वह तो इसी जीवन का होने से 'एकभविक' ही कहाता है। (इसमें) जो संस्कार स्मृति के कारण हैं, सूक्ष्म हो गये हैं वे ही वासनाएं हैं जो अनादिकाल से बनती चली आई हैं। यह जो 'एकभविक' कर्माशय होता है वह 'नियतविपाक' (निश्चितफल वाला) भी हो सकता है, 'अनियत-विपाक' भी।

[१५६] **तत्र अदृष्ट-जन्मवेदनीयस्य[90] नियतविपाकस्यैवायं नियमो, न तु अदृष्ट-जन्म-वेदनीयस्य अनियत-विपाकस्य। कस्मात्? यस्तु अदृष्ट-जन्मवेदनीयः अनियत-विपाकस्तस्य त्रयी गतिः। कृतस्यावि-पक्वस्य विनाशः, प्रधान-कर्मण्यावाप-गमनम् (वा), नियत-विपाक-प्रधान-कर्माभिभूतस्य वापि[91] अवस्थानम्।**

ऊपर सन्दर्भ [१५३] में प्रतिपादित नियम 'अदृष्ट-जन्म-वेदनीय-नियत-विपाक' पर ही लागू होता है, 'अनियतविपाक' पर नहीं, क्योंकि इस 'अदृष्ट-जन्म-वेदनीय-अनियतपाक' की तीन गतियां होती हैं। (एक,) किये हुए अनपके कर्म-फल का विनाश; या (दो,) प्रधान कर्म में मिल जाना; या (तीन,) निश्चित फल वाले प्रधान कर्म से दबे हुए पड़े रहना।

[१५७] **तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव कृष्णस्य**

---

१. 'मूर्च्छ'—'to fill, pervade, penitrate,' Monier, p. 423.

नाशः।[६२] यत्रेदमुक्तं—'द्वे [illegible] [illegible] व कर्मणी शुक्लकृष्णे[६३]। एको राशिः पुण्य-कृतोऽपहन्ति। तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुम्। इहैव ते शर्म[६४] कवयो वेदयन्ते।'

(एक) इन तीन गतियों में से पहले अधपके कर्म के नाश का उदाहरण है—शुक्ल कर्मों के उदय होने से कृष्ण कर्मों का यहीं नाश हो जाना। इसी सम्बन्ध में कहा गया है— "निश्चय ही दो-दो प्रकार के कर्म हैं—शुक्ल और कृष्ण। यह एक शुक्ल ही [illegible] (पाप-) कर्मों के ढेर को नष्ट कर देता है। इसलिए श्रेष्ठकर्म करने की ही इच्छा रखो। मनीषि लोग बताते हैं कि इससे तुम्हें इसी जीवन में शान्ति प्राप्त होगी।"1

[१५८] प्रधान-कर्मण्यावापगमनम् 'स्वल्प-संकरः[६५]सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः, कुशलस्य नायमपकर्षाय पर्याप्तः[६६]। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायं सङ्करः आवापगतः[६७] स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति।' इति।

(दो) गौण कर्मों के प्रधान कर्म में मिल जाने का उदाहरण है (किसी पापकर्म के बारे में ऐसा सोच पाना कि)[२]—"यह तो थोड़ी ही विकृति करेगा, इसका परिहार और निरीक्षण हो पायेगा, और कुशल-पुण्य कर्मों को मिटाने में यह समर्थ न होगा; क्योंकि मैंने और बहुत से कुशल कर्म किये हुए हैं, जिनमें मिलकर यह संकीर्ण कर्म स्वर्ग में भी थोड़ा ही दुःख देगा।"

[१५९] नियत-विपाक-प्रधान-कर्माभिभूतस्य वापि[६८] प्रवस्थानम्। कथम् इति? तत्र[६९] प्रदृष्ट-जन्म-वेदनीयस्यैव नियत-विपाकस्य कर्मणः समानं मरणम् प्रभिव्यक्ति-कारणम् उक्तम्। न तु दृष्ट-जन्म-

---

१. यह कथन मूलतः गेय एवं छन्दोबद्ध प्रतीत होता है। कारण, इसके प्रथम दो चरणों में १६-१६ व बाद के दोनों चरणों में २०-२० मात्राएं हैं। छन्दःशास्त्र के विद्वान् इसका नाम बता सकेंगे।

२. आगे का विचार तत्त्ववैशारदी [illegible] योगवार्त्तिक में पञ्चशिख के नाम [illegible] बताया गया है।

वेद-नीयस्य, अनियत-विपाकस्य वा अदृष्ट-जन्मवेदनीयस्य।[100] यत्तु अदृष्ट-जन्मवेदनीयं कर्म अनियत-विपाकं तन्नश्येद्, आवापं वा गच्छे-दभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानमभिव्यञ्जकं निमित्तं कर्म विपच्यमानम् एतद् अभिमुखं[101] करोति।

(तीन) निश्चित फल वाले प्रधान कर्म से दबे हुए गौण कर्म कैसे पड़े रहेंगे ? अदृष्ट जन्मों में अनुभवयोग्य नियत फल वाले कर्म से ही अनुरूप मृत्यु होती है और उसी (अदृष्ट-जन्मवेदनीय-नियतविपाक कर्माशय) को अभिव्यक्त करती है; न कि 'दृष्ट-जन्मवेदनीय' कर्मों को, या 'अदृष्ट-जन्मवेदनीय-अनियतविपाक' को। अतः जो कर्म मृत्यु के समय अभिव्यक्त नहीं हुआ वह या तो नष्ट हो जाएगा (पहली गति), या प्रधान कर्म का अंग बन जाएगा (दूसरी गति), या फिर देर तक प्रतीक्षा करेगा जब तक उस जैसा कर्म (प्रधान रूप में) पके, (मृत्यु का) अभिव्यंजक बन सके और इसे भी सामने लाकर भुगता दे।

[१६०] **तद्विपाकस्यैव देशकालनिमित्तानवधारणात् इयं (कर्म-) गतिश्चित्रा दुर्ज्ञाना च भवति[102]। न तस्योत्सर्गस्य अनियमापवादा-न्निवृत्तिरिति। एकभविकः कर्माशयो दुर्ज्ञान एतावता न निवृत्तिः[103]॥**

इस प्रकार कर्म के पूर्णपरिपाक के स्थान, काल और निमित्त का निश्चय न किये जा सकने के कारण यह कर्म-गति बड़ी विचित्र और दुर्ज्ञेय है। पर यह भी नहीं है कि इस कर्म-विपाक का नियम और अपवाद न होने से (किसी कर्म की बिना भुगताए ही) निवृत्ति हो जाए। (इसी भांति) 'एकभविक' कर्माशय भी दुःख से जाना जाता है,[1] पर इतने से उससे छुटकारा तो नहीं॥ १३॥

---

१. व्यास-प्रतिपादित 'कर्माशय' को कुछ सुबोध बनाने के लिए यह विभाजन द्रष्टव्य है—

(एक) दृष्ट-जन्मवेदनीय—गतियाँ तीन, (इसलिए 'त्रिविपाक')—

१. एक-विपाकारम्भी, २. द्वि-विपाकारम्भी, ३. त्रि-विपाकारम्भी।

(दो) अदृष्ट-जन्म-वेदनीय=एकभविक—(१) नियतविपाक (२) अनियत-विपाक, जिसकी गतियाँ तीन—(क) अविपक्व-नाशः, (ख) प्रधानकर्मा-वापगमनम्, (ग) प्रधानकर्माभिभूतावस्थानम्।

ते ह्लाद-परिताप-फलाः पुण्यापुण्य-हेतुत्वात् ॥२।१४॥

उन तीनों जन्म, आयु और भोगों में पुण्य या पाप के
हेतु से क्रमशः सुख या दुःख फलता है ॥

[१६१] **ते जात्यायुर्भोगाः[१०४] पुण्यहेतुकाः सुखफलाः, अपुण्यहेतुकाः दुःखफलाः[१०५]। यथा[१०६] इदं दुःखं प्रतिकूलात्मकम् एवं विषय-सुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥**

ऊपर के सूत्र में बताये कर्माशय के ये तीन प्रकार के विपाक—'जन्म, आयु और भोग' जब पुण्य के कारण होते हैं, तब वे आह्लाद-सुख देने वाले हुआ करते हैं। और जब ये अपुण्य या पाप के फलस्वरूप मिले हों तब ये परिताप या दुःख रूप फल दिया करते हैं। (किन्तु), जिस प्रकार दुःख मन के प्रतिकूल होता है, उसी प्रकार योगी के लिए तो विषय-सुख-काल में भी (सुख न होकर) प्रतिकूल लगने वाला दुःख ही हुआ करता है ॥ १४ ॥

—कथं ? तदुपपाद्यते[१०७]—

—योगी का सुख भी दुःख कैसे हो जाता है, आगे यही दिखाया जा रहा है—

**परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखैर् गुण-वृत्ति-विरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥२।१५॥**

विवेकी पुरुष की दृष्टि में सब कुछ दुःखमय इसलिए है,
क्योंकि सुख का परिणाम, दुःख का परिताप और दोनों के
संस्कार तो दुःखद हैं ही; सत्त्व, रजस् और तमस् इन
तीनों गुणों की वृत्तियों का (योग-लक्ष्य से) विरोध भी है ॥

[१६२] **सर्वस्यायं रागानुविद्धः चेतनाचेतनाधीनः[१०८] सुखानुभवः इति। (तत्र) रागो मनोव्यापारः तत्पूर्वश्च कर्माशयः[१०९]। तथा दुःख-साधनानि द्वेष्टि[११०], मुह्यति चेति द्वेषमोहपूर्वजनितो[१११]ऽप्यस्ति कर्माशयः। तथा नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवतीति।**

सबको पुत्र, पशु आदि चेतन और सुवर्ण आदि अचेतन साधनों [illegible] सहारे अपने-अपने 'राग' से जुड़ा हुआ सुख का अनुभव हुआ करता है। यहां 'राग' मन का व्यापार है और 'कर्माशय' उसके बाद होता है। दूसरी ओर, हर कोई दुःख के कारणों से द्वेष करता है, और उनके कारण मूढ़ हो जाता है। इस प्रकार, द्वेष और मोह से भी कर्माशय बनता है। इसके अतिरिक्त, सुख का उपभोग प्राणियों की हिंसा किये बिना या उन्हें दुःख दिये बिना नहीं हो सकता।

[१६३] **हिंसाकृतोऽप्यस्ति [illegible] शारीरः[११२]। विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम्। या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेर्[११३] उपशान्तिः तत् सुखम्। या लौल्याद् अनुपशान्तिः तद् दुःखम्।**

अतः हिंसा से भी शरीर सम्बन्धी[1] कर्माशय बनता है। ये सब विषयों केसुख हैं और इन्हें 'अविद्या' कहा गया है। सुख क्या है? भोगों के सेवन से इन्द्रियों का तृप्त होना या उनका शान्त जैसा हो जाना। और दुःख क्या है? इन्द्रियों की चञ्चलतावश तृष्णा का शान्त न होना।

[१६४] **न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन [illegible] वैतृष्ण्यं कर्तुम्।[११४] कस्मात्? [illegible] भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते इन्द्रियाणां रागाः, [illegible] [illegible] इन्द्रियाणाम् (इति)। तस्माद् अनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिक[११५]-भीतः इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयान्ववसितः[११६] महति दुःखपङ्के निमग्न इति। एषा परिणाम-दुःखता, सुखस्य प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनः[११७]।**

और ध्यान रहे, इन्द्रियों को भोग का अभ्यास कराके भोगों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करना संभव नहीं। क्यों? क्योंकि भोगों के अभ्यास के पीछे इन्द्रियों का उस-उस भोग के प्रति लगाव बढ़ जाता है, और उस-उस इन्द्रिय का भोग-नैपुण्य भी। इसलिए सुखों को बार-बार

---

1. यहां कर्माशय को 'शरीर' इसलिए कहा है क्योंकि वह शरीर को बनाने वाला है, उसका [illegible] है। द्र०—'तदुपादान-व्यापारस्य शरीरनिर्वर्त्यत्वात्'—विव० पृ० १६०।

भोगना इन इन्द्रियों को शान्त करने का उपाय नहीं है। जो कोई सुख की इच्छा से विषयों के साथ जुड़ता है[1] या उनके पीछे पड़ा रहता है, वह तो ऐसा ही है जैसे बिच्छू से डर कर कोई सांप (की शरण में जाए और उस) के द्वारा काट लिया जाए । सुख के स्थान पर वह तो महान् दुःख के दलदल में ही धंस जाता है । यही है विषयों की 'परिणाम-दुःखता' जो वस्तुतः सुख के प्रतिकूल है, और इसलिए सुख की अवस्था में भी योगी को दुःख देती रहती है।

[१६५] अथ तापदुःखता[118]। सर्वस्य द्वेषानुविद्धः चेतनाचेतन-साधना-धीनः तापानुभवः[119], तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। तेन च दुःखेन सुख-साधनानि[120] प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परि-स्पन्दते, तच्च परिस्पन्दनं परानुग्रहाय परपीडनाय वा भवति[121]। [ततः] परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति। स च कर्माशयो लोभान्मोहाच्च प्रभवतीत्येषा तापदुःखता[122]।

अब 'ताप-दुःख' है, जिसके सन्ताप की साक्षात् अनुभूति द्वेष से जुड़ी हुई सभी को शत्रु आदि चेतन के, या कांटे आदि अचेतन पदार्थों के आधार से हुआ करती है। दुःख के इन आधारों के प्रति द्वेष से वैसा ही कर्माशय बनता है। इस दुःख के कारण किन्हीं सुख-साधनों की अभिलाषा करता हुआ शरीर, वाणी और मन से प्रयास करता है। उस चेष्टा में किसी पर अनुग्रह होता है, (जैसे शत्रुनाश के लिए शस्त्र-विक्रेता पर धन द्वारा,) अथवा (जैसे कांटों से बचने के लिए जूता बनाने के हेतु चमड़े के लिए पशु को) पीड़ा पहुंचाई जाती है। इस प्रकार दूसरों को कृपा या पीड़ा देकर धर्म-अधर्म का संचय करता है। यह कर्माशय लोभ से या मोह से बनता है, और यही 'ताप-दुःखता' है।

[१६६] का पुनः संस्कार-दुःखता ? सुखानुभवात् सुख-संस्काराशयः। दुःखानुभवादपि दुःख-संस्काराशयः। एवं कर्मणो[123] विपाकेऽनु-भूयमाने सुख-दुःखे भवतः। ततोऽपि सुखदुःखानुभव-संस्काराशयः।

तो फिर, 'संस्कार-दुःख' क्या है ?—सुखों के अनुभव से सुख-संस्कार वाला कर्माशय बनता है। ऐसे ही, दुःखों के अनुभव से भी दुःख-

1. 'अन्ववसितः अन्ववबद्धः अनुवृत्तोऽनुव्यवसितो वा'--दिव० पृ० १६२।

संस्कार-युक्त कर्माशय बनता है। इस प्रकार, कर्मों का फल भोगने पर सुख-दुःख होते हैं। और, उनसे वैसा ही सुखानुभूति का या दुःखानुभूति का संस्काराशय बनता है। (ये संस्कार भी रागद्वेष से बिंधे होते हैं और क्रिया व उपभोग का अंग बनते हैं, इसलिए संस्काराशय दुःख का कारण है।)[1]

[१६७] इत्यमेतः परिणाम-ताप-संस्कार-हेतुभिः सर्वमेव दुःखम् इति[१२४]। अनादि-दुःखस्रोतो (विप्रसृतं) योगिनमेव प्रतिकूलात्मक-त्वादुद्वेजयति। कस्मात्? अक्षिपात्रकल्पो हि स[१२५] विद्वान् इति। यथोर्णातन्तुर् [अतिमृदुस्पर्शोऽपि] अक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखय-ति। स एव अन्येषु गात्रेषु क्षिप्तः न दुःखयति[१२६]। एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिशनन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्।

इस प्रकार, इन परिणाम, ताप और संस्कारों के कारण सभी कुछ दुःख है। इसीलिए चारों ओर फैला हुआ सनातन दुःख का यह प्रवाह योगी को ही प्रतिकूल प्रतीत होने से उसी को उद्विग्न किया करता है, (सब को नहीं।) क्योंकि, वह आंख की पुतली के समान तीव्र अनुभूति-सम्पन्न ज्ञाता है। जैसे, (पश्मीना) ऊन का[2] अति कोमल रेशा भी आंख में पड़ जाए तो रड़कता हुआ बड़ा कष्ट देता है। वही जब दूसरे अंगों पर डाला जाए तो कोई कष्ट नहीं होता। इसी भांति ये दुःख आंख-सरीखे योगी को हो दुःखी करते हैं, साधारण अनुभव करने वाले भोगी को नहीं।

[१६८] इतरं तु स्वकारस्रोपहृतं कर्मतामापादितं[१२७] दुःखमुपात्तं त्यजन्तं, त्यक्तं पुनरन्यं दुःख-समुदायम्[१२८]उपाददानम् अनादिवासना-विचित्रया चित्तवृत्त्या सर्वतोऽनुविद्धमिव[१२९] हातव्याहङ्कार-[१३०]ममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्ताः त्रिप-र्वाणः तापा अनुप्लवन्ते।

---

1. '....रागद्वेषानुविद्धौ....तौ संस्काराशयौ क्रियाया उपभोगस्य चाङ्गी-भवतः। एवं संस्काराशयस्य दुःखहेतुत्वम्।'—विव० पृ० १६३।
2. 'मकड़ी का जाला' (—आरण्य० पृ० १७७) उचित प्रतीत नहीं होता। इसके स्थान पर 'रेशम' अर्थ करना अधिक उपयुक्त होगा।

साधारण मनुष्य तो दुःख के चेतन-अचेतन कारणों से[1] सामने आये हुए दुःख को भोगता है, छोड़ देता है, छोड़े हुए को (उसी जन्म में अथवा पुनर्जन्म में[2]) पुनः किसी अन्य दुःख-समुदाय को प्राप्त किया करता है। अनादिकालीन वासना से रंगी अविद्या द्वारा और अपनी चित्तवृत्ति द्वारा सब ओर से बिंधा हुआ सा रहता है। त्याज्य अहंकार और ममता के पीछे चलना उसका स्वभाव बन जाता है। उसे प्रत्येक जन्म में बाहरी (आधिभौतिक और आधिदैविक)[3] तथा भीतरी (आध्यात्मिक, अपने शरीर व मन के) कारणों से होने वाले तीन पोरियों में बंटे हुए ताप[4] ही घेरे रहते हैं।

[१६९] तदेवम् अनादि[131] -दुःख-स्रोतसोह्यमानमात्मानं [च] भूत-ग्रामञ्च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकर[132] सम्यग्दर्शनं [illegible] प्रपद्यते इति। [इतश्च [illegible] दुःखं विवेकिनः। [illegible] ? गुण-वृत्ति-विरोधाच्चापि][133]।

इस प्रकार, अनादि दुःख-प्रवाह में बहते विवेकहीन आत्मा को और अन्य सब प्राणियों को देखकर योगी 'सम्यग्-दर्शन=विवेकज्ञान' की शरण में पहुंच जाता है, जो सब दुःखों का नाश कर देता है। किन्तु इसी विवेक के कारण विवेकी पुरुष के लिए संसार का सब कुछ दुःखमय हुआ करता है। [इसके अतिरिक्त और किस कारण से योगी को यहां दुःख प्रतीत होता है? उत्तर है, तीनों गुणों की वृत्तियों का परस्पर विरोध होने से भी ऐसा होता है।]

[१७०] प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थिति-शीलाभिः वृत्तिभिर्गुणाः परस्परानुग्रह-तन्त्राः[134] शान्तं [illegible] (वा) प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। [यतः] [illegible] गुणवृत्तं क्षिप्रपरिणामं[135] चित्तमुक्तम्। [illegible] वृत्त्यतिश-[illegible][136] विरुध्यन्ते। [illegible] सह वर्तन्ते[137]।

---

1. 'दुःख-प्राप्ति-निमित्तैश्चेतनाऽचेतनादिभिरुपहृतमुपनीतं...'विव०पृ० १६५।
2. मिला०—'शरीरत्यागेन'—विव० पृ० १६५।
3. 'बाह्य [illegible] भूतानि च'—विव० पृ० १६५।
4. मिला०—'बाह्य और आध्यात्मिक कारणों से उत्पन्न त्रिविध दुःख'—आरण्य, पृ० १७७।

सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण प्रकाश (ज्ञान), प्रवृत्ति (गति), और स्थिति (स्थिरता), इन तीन भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली वृत्तियों द्वारा (परस्पर-विरोधी होने पर भी) एक दूसरे का उपकार करके या अन्योन्य से उपकृत होकर क्रमशः शान्त, घोर मूढ, इन तीन भिन्न गुणों वाले ज्ञान को ही जन्म देते हैं। तीनों गुणों का व्यवहार चूंकि चंचल है, इसलिए चित्त में जल्दी-जल्दी परिवर्तन आता रहता है। ये तीनों जब अपने रूप की पराकाष्ठा वाले हों या जब अपने व्यवहार की अतिशयता से युक्त हों, केवल तभी एक दूसरे के विरोधी होते हैं। अन्यथा, सामान्य स्थिति में तो किसी एक बढ़े-चढ़े गुण के व्यवहारों के साथ दूसरे दोनों गुणों के व्यवहारों का निर्वाह हो जाता है।

[१७१] एवमेते गुणाः इतरेतरोपाश्रयेण[138] उपार्जित-सुख-दुःख-मोह-प्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा[139] भवन्ति (इति)। गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेषः[140]। तस्मात् सर्वमेव दुःखं[141] विवेकिन इति।

इस प्रकार, ये तीनों 'सत्त्व, रजस्, तमस्' गुण एक दूसरे के सहारे से सुख, दुःख, मोह रूपी तीन प्रकार के प्रत्ययों (=ज्ञानों) का उपार्जन करके सभी तरह के कार्य करने वाले बनते हैं। (इसी कारण, प्रत्येक ज्ञान में सभी गुणों के धर्म मिले रहते हैं।[1]) इनकी पृथक्शः विशेषता यही हुआ करती है कि (किसी ज्ञान में) कोई गुण कितना गौण है, और कितना प्रधान। इसलिए (कोई भी ज्ञान या व्यवहार या विषय-सुख केवल सात्त्विक और केवल सुखात्मक न होने से[2]) विवेकी के लिए सब कुछ ही दुःखयुक्त है।

[१७२] तस्यैतस्य[142] महतो दुःख-समुदायस्य प्रभव-बीजमविद्या। तस्याश्च सम्यग्दर्शनम् अभावहेतुः [प्रतिपक्षत्वात्]।

इस [illegible] विशाल दुःख-समुदाय का [illegible] बीज 'अविद्या' है। और [उसका विरोधी होने से] 'सम्यग्-दर्शन' अर्थात् 'विवेक-ज्ञान' ही उसके अभाव का हेतु है।

---

1. मिला०—'गुणसमूह परस्पर के [illegible] (मिश्रण) से सुख, दुःख तथा मोहरूप प्रत्यय निष्पादित करते हैं।'—आरण्य, पृ० १७८।
2. मिला० '(चूंकि कोई भी केवल सत्त्व या केवल सुखात्मक नहीं हो सकता)'—वहीं।

[१७३] यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यम् इति; एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। यथा—संसारः, संसारहेतुः, मोक्षो, मोक्षहेतुः[१४३]। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधान-पुरुष-संयोगो[१४४] हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिक-निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्।

जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र के चार अंग या रचना-संस्थान[1] हैं—१. रोग, २. रोग का हेतु या कारण, ३. आरोग्य—रोग का अभाव, और ४. औषध-उपचार; इसी प्रकार इस योग-शास्त्र के भी चार विभाग ये हैं—१. संसार, २. संसार का कारण, ३, मोक्ष—संसार का अभाव, और ४. मोक्ष का उपाय—संसार से छूटने का तरीका। इन चारों में रोग-रूप दुःख-बहुल संसार हेय है, छोड़ने योग्य है। प्रधान पुरुष का अर्थात् प्रकृति व आत्मा का मिलना[2] इस हेय-संसार का कारण है। संसार और आत्मा के इस मेल को सर्वथा निवृत्त कर देना 'हान'[3] है। 'हान' का उपाय है—'सम्यग्-दर्शन'।

[१७४] तत्र हातुः स्वरूपम् उपादेयं वा हेयं वा न भवति[१४५]। हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः ? उपादाने च हेतुवादप्रसङ्गः[१४६]। उभय-प्रत्याख्याने शाश्वतवादप्रसङ्गः[१४७]। इत्येतदेव[१४८] सम्यग्-दर्शनम् ॥

संसार को छोड़ने वाले आत्मा के लिए उसका अपना स्वरूप न हेय है, न उपादेय। क्योंकि 'हेय' मानकर आत्मा का भी हान या त्याग होता हो तो उसके अपने उच्छेद का 'आत्म-विनाश' जैसा प्रसंग आपन्न हो जाएगा। दूसरी ओर, यदि आत्मा को उपादेय या प्राप्तव्य

1. 'व्यूहः···4 A part, subhead···6. Structure, formation'—V.S. Apte, p. 541.
2. यह मिलना क्लेशों व कर्म-भोगों के कारण होता है, जिससे आत्मा जन्म लेता है। द्र०—'सति मूले जात्यायुर्भोगाः'—योग०-२।१३ ॥
3. 'हान' शब्द से यह 'कैवल्य' या 'मोक्ष' की ही व्याख्या हुई। यूं ये तीनों समानार्थक हैं। आत्मा की दृष्टि से जो 'कैवल्य' है, संसार की दृष्टि से वही 'हान' है, और इस स्थिति को सामान्य शब्दावली में 'मोक्ष' या 'मुक्ति' कहना उचित ही है।

कहें तो उसे भी (किसी प्रापणीय प्रकृति-निर्मित पदार्थ के समान) 'किसी अन्य हेतु से निर्मित मानने'[1] का आत्मविरोधी[2] प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। आत्मा की हेयता या उपादेयता इन दोनों को अस्वीकारने से ही 'आत्मा शाश्वत है, नित्य है' यह मत उपस्थित होता है, और यही 'सम्यग्-दर्शन' या योगज 'विवेक-ज्ञान' है ॥१५॥

—तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहम्[१४९] अभिधीयते—

—तो यह योग-शास्त्र चार विभागवाला कहाता है (इनमें पहला)—

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

'हेय' है—वह दुःख जो अभी नहीं आया॥

[१७५] **दुःखमतीतम्-उपभोगेनातिवाहितम्, न हेयपक्षे वर्त्तते; वर्तमानं च स्वक्षणोपभोगारूढम्[१५०] तत् न[१५१] क्षणान्तरे हेयतामापद्यते। तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति। इति तदेव हेयम्[१५२] ॥ १६ ॥**

जो दुःख बीत चुका, वह तो भोग के द्वारा निबटा लिया गया है, वह 'हेय' की श्रेणी में नहीं आता। वर्त्तमानकालीन दुःख भी अपने उस क्षण में भोग में आया हुआ है। उसी वर्त्तमान क्षण में तो उसमें 'छोड़े जाने की योग्यता' आ नहीं सकती। इसलिए जो दुःख अभी नहीं आया, भविष्यत्-कालीन है, वही दुःख आंख की पुतली-सरीखे अनुभूति-सम्पन्न योगी को क्लेश पहुँचाता है। अतः भावी दुःख ही 'हेय' है॥ १६ ॥

—तस्य दुःखस्य[१५३] कारणं प्रति-निर्दिश्यते—

—उस त्याज्य दुःख का निमित्त-कारण (जो योग-शास्त्र का दूसरा विभाग है,) बताया जा रहा है—

1. 'हेतुवाद अर्थात् आत्मा की किसी कारण से उत्पत्ति की प्रसक्ति होगी।' ब्रह्मलीन, पृ० २१९।
2. हेतुवादः —"disputation, controversy,'—V. S. Apte, p. 643.

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो-हेयहेतुः ॥२।१७॥

द्रष्टा=आत्मा और दृश्य=प्रकृति (और उसके विकारों) का संयोग ही हेय दुःख का कारण [illegible] है ॥

[१७६] द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः । दृश्या बुद्धिः । सत्त्वोपारूढाः[१५४] सर्वे धर्माः । तदेतद्दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पम् पुरुषस्य [illegible] दृशिरूपस्य स्वामिनः[१५५] कर्मविषयत्वमापन्नम् । अन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकम्, स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम् ।

बुद्धि के द्वारा जानना द्रष्टा पुरुष=आत्मा का स्वभाव है । स्वयं बुद्धि भी दृश्या है[1], क्योंकि उस बुद्धि सत्त्व के सहारे दृश्यों के धर्म जाने जाते हैं । यह सारा दृश्य (पुरुष को आकृष्ट करने के कारण) लोह-चुम्बक जैसा है, जो द्रष्टा रूप वाले स्वामी पुरुष का 'स्व' है, और उससे अधिकृत होकर उसके कर्म का क्षेत्र बन जाता है । इस संसार को उस आत्मा द्वारा वास्तविकता से भिन्न स्वरूप में ही प्राप्त किया जाता है[2], और यह स्वतन्त्र होने पर भी द्रष्टा के लिए होने से परतन्त्र ही होता है ।

[१७७] तयोर्दृग्-दर्शनशक्त्योरनादिः संयोगोऽर्थकृतः[१५६] हेयहेतुः, दुःखस्य कारणम् इत्यर्थः । तथा चोक्तं [तन्त्रे]— 'तत्संयोग-हेतु-विवर्जनात्[१५७] आत्यन्तिको दुःखप्रतीकारः ।[१५८] तद्यथा-पादतलस्य भेद्यता । कण्टकस्य भेत्तृत्वम् । परिहारः कण्टके[१५९] पदानधिष्ठानम्, पादत्राण-व्यवहितेन वा पदाधिष्ठानम्[१६०] । एतद्द्वयं[१६१] यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो नैव दुःखं माप्नोति । कस्मात् ? त्रित्वोपलब्धि-सामर्थ्यात् ।' (इति) ।

---

१. (क) सांख्य के अनुसार यह बुद्धि या 'महत्' प्रकृति से पुरुष के सम्पर्क के बाद बनने वाला सर्वप्रथम तत्त्व है—'प्रकृतेर्महान्'...' । मिला०— 'The great principle, the intellect (distinguished from मनस्) the second of the twentyfive elements,—V.S. Apte, p. 429.
(ख) 'आत्मा=पुरुष और प्रकृति के बीच की योजक कड़ी [illegible] बुद्धि ही है,' [illegible] तथ्य इस प्रसंग में एकदम स्पष्ट हो जाता है ।

२. क्योंकि अविद्या के कारण इस दृश्य को ही आपा मान लिया जाता है ।

उन दोनों आत्मा और बुद्धि (या पुरुष और महत्) तत्त्वों का यह संयोग-सम्बन्ध अनादिकाल से[1] चला आता है। यह सम्बन्ध ही इस 'हेय' संसार का अर्थात् दुःख का कारण है। ऐसा ही (तन्त्र[2] में) कहा भी है—"बुद्धि और पुरुष के संयोग का जो कारण है उन अविद्या आदि पांच क्लेशों को छोड़ने से दुःख का अत्यन्त प्रतिकार हो जाता है। यह ऐसे है जैसे पांव का तलवा छेदा जा सकता है, और कांटे में छेदने की, चुभने की शक्ति है। इस चुभन के दो प्रतिकार हैं, या तो कांटों पर न चलना, या बीच में जूते की बाधा लाकर कांटों पर पैर रखना। जो इन दोनों (भेद्य-भेदक को या उपायद्वय) को जानता है, उसे तत्सम्बन्धी उपाय का आरम्भ करने पर कांटा चुभने का दुःख नहीं मिलता। ऐसा कैसे होता है? इन (उपाय, दुःखकारक, व दुःखग्राहक[3]) तीनों कोजानने की सामर्थ्य से।

---

1. पुरुष और महत् का सम्बन्ध शाश्वत कैसे हो सकता है, जबकि पहला (पुरुष) तो निर्विकारी और नित्य है; और दूसरा (महत्) प्रकृति का प्रथम विकार है, जो सृष्ट्युत्पत्ति के समय अस्तित्व में आता है? अतः दोनों के संयोग को अनादि कहने का अभिप्राय 'अज्ञात-आदि'= 'जिसका प्रारंभ अज्ञात है' ऐसा प्रतीत होता है। विवरणकार के स्पष्टीकरण में यहां केवल 'महत्' से सम्बन्ध अभिप्रेत न होकर नित्य-प्रकृति से नित्य-पुरुष का सम्बन्ध माना गया है—'धार्मिकं नित्यत्वात्...' विव० पृ० १७३

2. 'पञ्चशिख-तन्त्र' की ओर यह संकेत विवरणकार का है या भाष्यकार का, स्पष्ट नहीं होता।

3. ये तीन तत्त्व कौन से हैं जिन्हें जानकर हेय का परिहार होता है? प्रकृत उदाहरण के अनुसार ये दो तरह से निरूपित हो सकते हैं—(एक) भेद्य, भेदक, और उपाय (हानोपाय)। (दो) भेद्य, भेदक, और दोनों का संयोग। किन्तु चूंकि भेद्य-भेदक का संयोग बता कर भी दो का जानना ही कहा है, और उपाय बताकर ही 'त्रित्व' का ज्ञान कहा है, अतः प्रथम निरूपण उपयुक्ततर प्रतीत होता है। इसके विपरीत विवरणकार ने दूसरा निरूपण स्वीकारा है—'प्रधान-पुरुष-संयोग-त्रित्वोपलब्धि-सामर्थ्यात्'— विव० पृ० १७५

[१७८] **अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् । कस्मात् ? तपि-क्रियायाः कर्मस्थत्वात् । सत्त्वे[१६२] कर्मणि [हि] तपि-क्रिया, नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे । दर्शितविषयत्वात् । सत्त्वे तप्ये[१६३] तदाकारानुरोधी पुरुषोऽपि (अनुतप्यते)[१६४] ॥**

दुःख को देने वाला रजोगुण है, और उसके द्वारा यहां भी सत्त्वगुण को ही दुःखी किया जा सकता है, (आत्मा को नहीं) । कैसे ? क्योंकि दुःख देने के अर्थ वाली तपि धातु की स्थिति कर्म में होती है, (द्रष्टा में नहीं) । कर्मभूत सत्त्व में ही 'तपि' क्रिया होती है, परिणामरहित निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ आत्मा में नहीं, जिसे विषयों का दर्शन कराया जाता है । सत्त्वगुण के दुःखी होने पर उसके आकार (रूप) के पीछे बंधा हुआ ही आत्मा भी पछतावा किया करता है[1] ॥ १७ ॥

—दृश्य-स्वरूपमुच्यते—

—(अब तीसरे विभाग) दृश्य जगत् का स्वरूप बताया जा रहा है—

प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

'दृश्य' का स्वभाव तीन प्रकार का है—१. प्रकाशात्मक, २. क्रियात्मक, और ३. स्थित्यात्मक । यह दृश्य जगत् पांच भूतों और दस इन्द्रियों से रचा गया है । इसका प्रयोजन द्विविध है—भोग और अपवर्ग ॥

[१७९] **प्रकाशशीलं सत्त्वम्, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इत्येते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः,[१६५] संयोगवियोगधर्माणः, इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्त्तयः, [धर्मधर्मिलक्षणाः], परस्परतो भिन्नाः अपि[१६६] असम्भिन्नशक्तिप्रविभागाः, तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः, प्रधान-वेलायामुपदर्शितसन्निधानाः, गुणत्वे च व्यापारमात्रेण**

---

1. आत्मा के पीड़ित होने का प्रश्न ही नहीं होता, वह तो असंग है । सांख्य १।१५ के अनुसार—'असंगोऽयं पुरुष इति' ।

प्रधानान्तर्नीतेन अनुमितास्तित्वाः,[१६७] **पुरुषार्थेति-कर्तव्यता-प्रयुक्त सामर्थ्याः**[१६८] **सन्निधिमात्रोपकारिणः, अयस्कान्त-मणि-कल्पाः, प्रत्ययमन्तरेण एकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः, प्रधान-शब्दवाच्या भवन्ति ।**

सत्त्वगुण संसार को प्रकाशित करता है, अर्थात् उसका ज्ञान कराता है। रजोगुण संसार के क्रियाकलाप करवाता है। तमोगुण संसार में ठहराव लाता है। इन तीनों गुणों के विभाग एक दूसरे गुण द्वारा रंग दिये जाते है। परस्पर संयुक्त या विभक्त होना इन्हीं गुणों की विशेषता है। एक दूसरे के सहारे से ही ये मूर्त रूप धारण करते हैं। (इन धर्मी गुणों की विशेषताओं (धर्म) द्वारा ही इनकी पहचान होती है, वही इनका लक्षण है।) एक दूसरे से सर्वथा अलग-अलग होने पर भी इनकी शक्ति का विभाजन पृथक्-पृथक् नहीं होता। (अर्थात् कोई भी अकेला गुण स्वयं में काम करने की सामर्थ्य वाला नहीं है।) ये सभी गुण अपनी समान जाति की विविध शक्तियों और असमान जाति के अन्य दो गुणों की भिन्न प्रकार की शक्तियों में भी मिल जाने वाले हैं। जब कोई गुण प्रधान होकर कार्य करता है तब दूसरे उसके साथ मिलकर कार्य करने लगते हैं। गौण हो जाने पर प्रधान के अन्तर्भूत क्रिया-मात्र से ही उन गौण गुणों की सत्ता का अनुमान हुआ करता है। भोग और अपवर्ग इन दोनों पुरुषार्थों को साधने की सामर्थ्य भी इन्हीं गुणों में है[1]। केवल समीप रहने भर से ये समीपस्थ गुण का (गुणी का भी) कार्य करते हैं। (इसलिए) ये लोह-चुम्बक की तरह हैं। बिना किसी ज्ञान के भी ये किसी एक गुण के व्यवहार का अनुसरण करने लगते हैं। इन्हीं को 'प्रधान'[2] शब्द से पुकारा गया है।

[१८०] **एतद् दृश्यमित्युच्यते। तदेतद् भूतेन्द्रियात्मकं भूत-भावेन**

---

1. (क) इस अर्थ के लिए द्र० विव० पृ० १७९
   (ख) अगले वाक्यांश से मिलाकर अर्थ करने के कारण कतिपय विद्वानों द्वारा 'पुरुषार्थता' का अर्थ 'पुरुष-साक्षिता' किया गया है (द्र० आरण्य, पृ० १९७)। इसकी अपेक्षा विवरणकार की व्याख्या अधिक सटीक है।
2. मिला०—'सत्व-रजस्-तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।'—सांख्य०१।२६

पृथिव्याविना सूक्ष्म-स्थूलेन विपरिणमते[१६९]। इन्द्रिय-भावेन श्रोत्रा-दिना सूक्ष्मस्थूलेन विपरिणमते[१७०]।

इसी (गुण-समुदाय के विस्तार) को 'दृश्य' भी कहा जाता है। पञ्च-भूतों और ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से रचा यह दृश्य ही पृथिवी आदि पांच स्थूल भूतों एवं (पञ्चतन्मात्राओं के) सूक्ष्म भूतों में परि-णत होता है। यही इन्द्रियों के अस्तित्व में श्रोत्र आदि के रूप में सूक्ष्म और स्थूल आकार ग्रहण करता है।

[१८१] तत्तु नाप्रयोजनम्, अपि तु प्रयोजनमूरीकृत्य[१७१]प्रवर्त्तते। भोगापवर्गार्थं हि दृश्यं पुरुषस्य[१७२]। तत्रेष्टानिष्टगुण-स्वरूपाव-धारणमविभागापन्नं भोगः। दृशिरूपस्य[१७३] स्वरूपावधारणमपवर्ग इति। द्वयोरतिरिक्तमन्यद् दर्शनं नास्ति।

यह दृश्य संसार निष्प्रयोजन नहीं है, अपितु विशेष प्रयोजन को लक्ष्य बनाकर ही अस्तित्व में आता है। यह दृश्य है—पुरुष=आत्मा के लिए, या फिर उसके अपवर्ग=मोक्ष के लिए। इसमें वांछित और अवांछित गुणों के स्वरूप का निर्धारण जब (सत्त्व और पुरुष के, जड और चेतन के) पृथक्शः विभाग के अनुरूप नहीं हो पाता तब केवल द्रष्टा-रूप-वाला होने पर भी पुरुष का भोग होता है। द्रष्टा-रूप का (जड-सत्त्व से पृथक्) सही-सही स्वरूप निश्चित कर लेना[1] ही अपवर्ग है। इन दोनों [भोग और अपवर्ग[2], या जड और चेतन —प्रकृति और पुरुष] के अतिरिक्त और कोई दर्शन[3] नहीं है।

1. योग का अन्तिम प्राप्तव्य इसी को बताया गया है। द्र०—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' तथा 'पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां-प्रतिप्रसवः स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।'—योग० १।२, एवं ४।३४॥
   अतः व्यास के अनुसार योग का यह लक्ष्य मोक्ष ही है, कुछ और नहीं।
2. द्र०—विव० पृ० १८०। इसके स्थान पर ऊपर दिया कोष्ठगत दूसरा अर्थ अगले उद्धरण [संदर्भ सं. १८२] के अनुकूल बैठता है।
3. विवरणकार की व्याख्या के अनुसार यहां 'दर्शन' का अभिप्राय 'दार्शनिक दृष्टि' से प्रतीत होता है, जिसकी दो में ही सीमा बांध देना उपयुक्त न होगा। इसके स्थान पर व्यास का संकेत संभवतः यहां 'सम्यग्-दर्शन' से है, जिसमें जड को जड और चेतन को चेतन के रूप में पहचान लिया जाए, (ताकि अविद्या आदि क्लेश, जिनमें इनकी पृथक् पहचान नहीं होती, न रहें)। इस जड-चेतन के पृथक् ज्ञान और दर्शन के उपरान्त ही कैवल्य मिलता है—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि-साम्ये कैवल्यम्।'—योग० ३।५५॥

[१८२] **तथा चोक्तम्—'अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे[174] चतुर्थे तत्क्रिया-साक्षिणि उपनीयमानान् सर्वभावान् उपपन्नान् (अनु-)पश्यन् न दर्शनम् [इतो-] ऽन्यत् शङ्कते। (इति)।**

ऐसा ही कहा भी है—"यह सम्यग्-दर्शी विवेकी कार्य करने वाले तीनों गुणों में, (सत्त्व, रजस् और तमस् में अर्थात् जड़-प्रकृति में,) और चौथे उन गुणों की क्रियाओं के साक्षीमात्र क्रियारहित द्रष्टा—(चेतन) आत्मा में लाये जाते हुए सब भावों को सम्पन्न होता हुआ देखकर इस (सम्यग् दर्शन) से भिन्न किसी अन्य दर्शन की शंका नहीं करता।"

[१८३] **तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषेऽप-दिश्येते[175] ? [स हि तत्तत्फलस्य भोक्तेति][176]। यथा विजयः पराजयो वा (योद्‌धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स हि तत्फलस्य भोक्तेति। एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति।)[177] बुद्धेरेव[178] अर्थापरिसमाप्तिर् बन्धः। तदर्थावसायो मोक्षः[179]।**

बुद्धि द्वारा सम्पादित उपर्युक्त दोनों भोग और अपवर्ग जब बुद्धि में ही वर्त्तमान रहते हैं, तो फिर आत्मा में इनका आरोप कैसे होता है ? क्योंकि आत्मा ही भोग या अपवर्ग के 'फल' का भोगने वाला है। उदाहरण के लिए जय या पराजय होती तो योद्धाओं के बीच है, किन्तु उस हार-जीत को उनके स्वामी की कहा जाता है; क्योंकि उसका फल उसी को भोगना होता है। इसी प्रकार बन्धन या मोक्ष होते तो बुद्धि में ही हैं, पर उन्हें पुरुष या आत्मा का कहा जाता है क्योंकि वही (अविद्या से बन्ध का, और विवेक से मोक्ष का) भोक्ता है। बुद्धि द्वारा (पुरुष के बन्धन रूपी) प्रयोजन की समाप्ति न होना ही पुरुष का बन्ध है, और उस बुद्धि की कर्त्तव्य-समाप्ति ही मोक्ष है।

[१८४] **एतेन ग्रहण-धारण विज्ञानोहापोह-क्रियावचन-यथार्थ्याया-वधारणाभिनिवेशाः बुद्धिधर्माः[180] बुद्धौ [एव] वर्तमानाः पुरुषे अध्यारोपित-सद्भावाः। स हि तत्फलस्य भोक्तेति॥**

इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शब्द आदि को कानों से

सुनना—'ग्रहण', उनको न भूलना—'धारण', सामान्य और विशेष का निश्चय करना 'विज्ञान', जाने हुए की विशेषताओं को समझना 'ऊहा', और उससे विरुद्ध विशेषताओं का निराकरण 'अपोह', विषयों में प्रवृत्ति 'क्रिया', चित्त द्वारा अभिव्यक्ति करना 'वचन', न्यायानुसार पदार्थों का निर्धारण करना 'अवधारण', ज्ञान से विचलित न होना 'अभिनिवेश'; ये सब बुद्धि के कार्य हैं, तथा बुद्धि में ही होने पर भी इनका अध्यारोप पुरुष में किया जाता है। कारण, वही इन सब व्यवहारों के फल का भोक्ता है ॥ १८ ॥

—दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदम् [सूत्रम्] प्रारभ्यते—

—दृश्य रूप में परिणत=परिवर्तित होने वाले इन तीन गुणों के विविध स्वरूप-भेदों का निश्चय करने के लिए अगला सूत्र प्रारम्भ किया जाता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥२।१९॥

तीन गुणों से परिपूरित पदार्थ चार प्रकार के हैं—
१. विशेष, २. अविशेष, ३. लिङ्ग-मात्र, और ४. अलिङ्ग[1] ॥

[१८५] तत्र आकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्राणाम् अविशेषाणां विशेषाः ।

---

1. आगे (विशेषत: संदर्भ १९३ में) दिये भाष्य से समस्त दृश्य की इन चार अवस्थाओं में सांख्योक्त २४ अचेतन तत्त्वों सहित सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम यूं स्पष्ट होता है—

प्रथम—अलिङ्ग – प्रधान=मूल-प्रकृति (१) [अचेतन [illegible] यही तत्त्व नित्य-[illegible] है, किन्तु यह उसकी अज्ञेय अवस्था है।]

द्वितीय लिङ्ग—महत्तत्त्व=बुद्धि (२) [प्रकृति की ज्ञेय अवस्था]

तृतीय—अविशेष [६ तत्त्व]—अस्मिता=अहंकार (३), एवं पञ्चतन्मात्राएं (तत्त्व-क्रम-सं० ४ से ८)

चतुर्थ - विशेष [१६ तत्त्व]—मन (९), पांच ज्ञानेन्द्रियां (१० से १४), पांच कर्मेन्द्रियां (१५ से १९), तथा पञ्चमहाभूत (२० से २४)

इन (तीन सत्त्व, रजस्, तमस् के विकारों) में आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि ये पांच स्थूल भूत हैं। शब्द-तन्मात्रा से शब्द लक्षण वाला आकाश, शब्द और स्पर्श से पहचानी-जाने वाली स्पर्श-तन्मात्रा से वायु, शब्द-स्पर्श और रूप से लक्षणीय रूप-तन्मात्रा से अग्नि, शब्द-स्पर्श-रूप और रस इन चार लक्षणों वाली रस-तन्मात्रा से जल, तथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध इन पांचों लक्षणों से युक्त गन्ध-तन्मात्रा से भूमि का आरम्भ हुआ[1]।

[१८६] तथा श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्-पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्। (इति) एतान्यस्मिता-लक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण (क्रमशः सुनने, छूने, देखने, स्वाद लेने ओर सूंघने की शक्ति) ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। [इनकी सत्ता का अनुमान अपने-अपने विषयों का बोध कराने से होता है।] वाणी, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ (क्रमशः बोलने, विविध कर्म करने, चलने, मल विसर्जन करने और वंश चलाने की शक्ति) ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। इन दस के अतिरिक्त ग्यारहवां मन है, जो सबके लिए है, (चाहे ज्ञान हो, चाहे कर्म।) [तीनों काल इसी के विषय हैं, तथा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त भी यही करता है।][2] ये ग्यारह 'विशेष' तत्त्व अस्मिता या अहंकार नाम वाले अविशेष तत्त्व के ही विकसित रूप हैं, उसी को अभिव्यक्त करते हैं।

[१८७] गुणानामेव षोडशको विशेष-परिणामः।

इस प्रकार पांच स्थूल भूत, दस इन्द्रियां और मन ये सोलह तत्त्व

---

1. (क) पांचों तन्मात्राओं में एकरूपता होती है, अर्थात् कोई विशेषता-(विविधता) नहीं होती अतः वे अविशेष हैं, जबकि पांचों स्थूलभूतों में शान्त, घोर, मूढ आदि अनेक विशेषताएं (विविधताएं) मिली होती हैं। अतः ये विशेष हैं। द्र०—विव० पृ० १८३
   (ख) प्रत्येक स्थूलभूत में विविध तन्मात्राओं का मिश्रण होता है, जिसे पञ्चदशी में 'पञ्चीकरण' कहा जाता है।
2. द्र० 'अतीतानागतवर्तमानविषयार्थ...।'—विव० पृ० १८४

प्रकृतिगत गुणों का[1] विशेष परिणाम हुए।

[१८८] **षडविशेषाः। तद्यथा—शब्दमात्रं, स्पर्शमात्रं, रूपमात्रम्, रस-मात्रम्, गन्धमात्रम्।**[१८१] **एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-लक्षणा भेदाः**[१८२]**। षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्रः**[१८३]**।**

छह अविशेष ये हैं—१. शब्द-तन्मात्रा, २. स्पर्श-तन्मात्रा, ३ रूप-तन्मात्रा, ४. रस-तन्मात्रा, ५. गन्ध-तन्मात्रा। (जैसा कि ऊपर सन्दर्भ १८५ में दर्शाया है।) ये पांचों क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पांचों तन्मात्राओं के लक्षणों से युक्त हैं। ६, छठा अविशेष है—अस्मिता-मात्र, अर्थात् शुद्ध अहंकार, (मैं की अनुभूति)। (ये अविशेष इसलिए कहाते हैं कि इनमें शान्त, घोर, मूढ आदि विशेषताएँ नहीं हुआ करती हैं।[2])

[१८९] एते **सत्त्वमात्रस्य लिङ्ग-मात्रस्य**[१८४] **आत्मनो महतः षड् अविशेष-परिणामाः। यत्तत् परम् अविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्, तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महति**[१८५] **अवस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे [लिङ्गमात्रे] महत्यात्मन्य-वस्थाय**[१८६] **निस्सत्तासत्तं निस्सदसद्**[१८७] **अव्यक्तं प्रतियान्ति।**

ये छह अविशेष उस 'महत्' या बुद्धितत्त्व के परिणाम हैं जो 'सत्त्व' अर्थात् सत्ता या अस्तित्व-मात्र है, और अलिङ्ग (=लिङ्ग या चिह्न से रहित, प्रधान या मूल-प्रकृति) का प्रथम लिङ्ग (=चिह्न) या

1. गुणत्रय इन विशेष तत्त्वों में कैसे पहचाने जा सकते हैं, इस पर विवरण-कार ने प्रकाश डाला है। उनके अनुसार 'आकाश सत्त्व-बहुल है, वायु रजोबहुल है, जल और अग्नि सत्त्व-रजोबहुल हैं। पृथ्वी में सत्त्व और तम का आधिक्य है। मन और बोधेन्द्रियां सत्त्वबहुल तथा कर्मेन्द्रियां रजो-बहुल हैं।' द्र०—विव० पृ० १८४, १८५
(ख) यहीं उन्होंने प्रकाशधर्मी होने से 'करणों' को भी सत्त्वबहुल कहा है। उनका अभिप्राय यदि अन्तःकरण से है तो वह 'विशेष' तत्त्व नहीं जिसकी यहां चर्चा है। यदि इन्द्रियों की ओर संकेत है तो पुनरावृत्ति व परस्पर-विरोध प्रतीत होता है। अतः यह अंश अस्पष्ट और विचारणीय है।
2. द्र०—'शान्त-घोर-मूढाद्यनेक-विशेषवत्त्वाद् विशेषाः। [illegible]-विशेषाः तन्मात्राणि।'—विव० पृ० १८४

ज्ञेय अवस्था या मूर्त्त वस्तु रूप[1] है, (जैसे बीज का अंकुरित होना[2])। इन अविशेषों से भी सूक्ष्मतर [illegible] लिङ्ग-मात्र, सत्तामात्र, महान् 'महत्तत्त्व' में अवस्थित होकर इन्हीं छह अविशेषों को पृथिवी आदि विशेषों के रूप में विकसित होने की पराकाष्ठा का अनुभव होता है। और जब इनका 'प्रलय' (सृष्टि-विकास की प्रतिक्रिया='प्रतिसर्ग') होने लगता है, तब ये इसी सत्तामात्र, लिङ्गमात्र, 'महत्' वस्तु-रूप में पुनः अवस्थित होकर उसी 'अव्यक्त' में विलीन हो जाते हैं, जो न 'सत्' है न 'असत्', [अर्थात् अव्यक्त—लिङ्ग, विशेष और अविशेष—तीनों के धर्म से रहित है।[3]]

[१६०] अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः। नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणम्[१८८]**। यस्मान्नास्यां पुरुषार्थता कारणं [illegible]**[१८९]**। नासौ पुरुषार्थता ईश्वराणामपि, तस्मान्नित्या व्याख्या-[illegible]**[१९०]**।**

(इस समस्त दृश्य के) अलिङ्ग अवस्था में पहुंचने पर 'पुरुषार्थ' हेतु नहीं रह जाता। न सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति के अलिङ्ग-अवस्था में रहने का कारण ही पुरुष की शक्ति है। क्योंकि, इस अलिङ्ग अवस्था के प्रति पुरुष की शक्ति का होना कारण होता ही नहीं। ऐसा पौरुष तो महान्-ईश्वर का भी नहीं है। इसलिए इसे (प्रधान अवस्था को पुरुष की तरह ही) नित्य माना और कहा जाता है।

[१६१] त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता (कारणं भवति)। स चार्थः हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनित्या व्याख्यायन्ते [महदाद्यास्तिस्रोऽवस्थाः][१९१]**।**

1. द्र०—'आत्मनो वस्तुरूपस्य महतः'—विव० पृ० १८५
2. द्र०—'यथा बीजस्याङ्कुरीभावः'—विव० पृ० १८५।
3. 'महत्तत्त्व' तो 'सदसत्' है अर्थात् 'सत्' और 'असत्' दोनों रूपों वाला है, क्योंकि [illegible] [illegible] से कुछ विकृत होकर बनने के कारण 'सत्' है, किन्तु वही अविशेषों से सूक्ष्मतर होने से 'असत्' भी है। दूसरी ओर, 'प्रधान-प्रकृति' महत्तत्त्व का भी मूल है, इसलिए उसे 'निस्सदसत्' ही कहा जा [illegible] है। मिला०—(क)'अव्ययतादीषद्विकृतमिति सत्, अविशेषेभ्यः सूक्ष्मतरमिति चासत्...'—विव० पृ० १८६
(ख) 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्'—ऋग्० १०।१२६।१॥

(इस दृश्य की शेष) तीन विशिष्ट अवस्थाओं–विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र का[1] कारण तो प्रारम्भ में पुरुष का सामर्थ्य ही होता है। क्योंकि परमात्मा का वह पुरुषार्थ ही उन का हेतु, निमित्त और कारण है; इसलिए वे महत्तत्त्व आदि तीनों अवस्थाएं अनित्य मानी और कही जाती हैं।

[१६२] गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रलीयन्ते[१६२] नोपजायन्ते। व्यक्तिभिरेवातीतानागत-व्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिः उपजना-पाय-धर्मका इव प्रत्यवभासन्ते। यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्? येन[१६३]-ास्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्राणं, न स्वरूपहानादिति समः समाधिः।

(दृश्य के इस अवस्था-परिवर्तन के समय) सभी रूपों में बने रहने वाले सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण न तो विलीन होते हैं, और न उत्पन्न। दृश्य पदार्थ की भूतकाल में बीती हुई या भविष्य में आने वाली सभी अभिव्यक्तियां चूंकि गुणों से युक्त होती हैं, अतः उनके नाश और उत्पत्ति के साथ ये तीनों गुण भी जन्म और विनाश की विशेषताओं वाले प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए—'देवदत्त दरिद्र हो रहा है, क्योंकि उसकी गौवें मर रही हैं।' इस सम-प्रसंग में गौवों के अभाव से ही उसकी दरिद्रता है, किसी अपनी स्वरूप-क्षति से नहीं। [एसे ही पदार्थों के अभाव से गुणों का स्वरूप-नाश नहीं होता।[2]]

---

1. इनका स्पष्टार्थ दे० ऊपर इसी सूत्र के अर्थ पर टि० १।
2. देवदत्त और गुणों में यहां समानता दर्शायी गई है। अतः जैसे देवदत्त और गौवों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, वैसे ही गुणों का और दृश्य-पदार्थों का पार्थक्य समझना चाहिए। यहां यह विचारणीय है कि 'प्रधान-प्रकृति' से जिसमें ये तीनों साम्यावस्था में रहते हैं, इन गुणों का पार्थक्य किस रूप में समझा जाए? यदि ये पृथक् हैं तो फिर इनकी पृथक् गणना सांख्य में क्यों नहीं की गई? या यदि ये तीनों ही मूल-प्रकृति हैं तो उसे एक के स्थान पर संख्या में तीन क्यों नहीं माना जाता, क्योंकि ये तीनों तो परस्पर बहुत भिन्न हैं? संभवतः इसका कारण यह है कि 'प्रधान' अवस्था में ये तीनों इतने एकरूप हो जाते हैं कि इन्हें एक ही कहा जा सकता है, तीन नहीं। महद् आदि विकारों में ही इनकी भिन्नता प्रतीत होती है, साम्यावस्था में नहीं। दूसरे शब्दों में पुरुष से सम्पर्क होने पर ही प्रकृति त्रिगुणात्मिका बनती है, पहले नहीं।

[१९३] लिङ्गस्यालिङ्गं[१९४] प्रत्यासन्नं, तत्र [प्रधाने] तद् विविच्यते क्रमानतिपत्तेः[१९५]। तथा षडविशेषाः लिङ्गमात्रे संसृष्टत्वाद्[१९६] विविच्यन्ते, परिणाम-क्रमनियमात्। तथा तेषु अविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते। तथा चोक्तं पुरस्तात्।

अलिङ्ग-प्रकृति लिङ्ग-प्रकृति के बहुत समीप है, बल्कि उस प्रधान में वह घुली-मिली हुई है, और क्रम का उल्लंघन न करते हुए उसी से वह 'महत्' के रूप में पृथक् होती है। इसी प्रकार परिणाम का या विकासक्रम का यह नियम होने से, वे छह (अहंकार और पञ्च-तन्मात्रा) अविशेष इस लिङ्गमात्र महत्तत्त्व में घुले-मिले होने से, इसी से पृथक् होते हैं। इसी प्रकार उन अविशेषों में से पांच महाभूत दस इन्द्रियां (ओर मन ये १६ विशेष पदार्थ) पहले घुले-मिले रहकर धीरे-धीरे पृथक् हो जाते हैं। ऐसा ही पहले भी कहा है[1]।

[१९४] न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरम् अस्ति[१९७]। विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरम्। तेषां तु धर्म-लक्षणावस्थापरिणामाः व्याख्यायिष्यन्ते।

सोलह विशेष पदार्थों से आगे और कोई तत्त्व नहीं है। उनका किसी अन्य तत्त्व में परिणमन या परिवर्तन नहीं होता। हां, उनमें धर्म, लक्षण और अवस्था का परिणाम होता है जिसकी व्याख्या आगे[2] की जाएगी॥ १९॥

—व्याख्यातं दृश्यम्। इदानीं[१९८] द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थम् इदमारभ्यते—

—ऊपर के सूत्र में 'दृश्य' की व्याख्या हो गई। अब 'द्रष्टा' का स्वरूप निश्चित करने के लिए अगले सूत्र का प्रारम्भ होता है—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२।२०॥

द्रष्टा आत्मा केवल दर्शन ही करती है, तथा स्वयं में शुद्ध, निर्मल होने पर भी बुद्धि-प्रदत्त ज्ञान के अनुरूप ही देखती है॥

---

1. दे० ऊपर सन्दर्भ १८५ से १८९, तथा सूत्र १९ पर टि० १।
2. द्र०—व्यास-भाष्य योग० ३।१३॥

[१९५] दृशिमात्र इति दृक्-शक्तिरेव विशेषेण[९९]-अपरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः [illegible]।

यहां 'दृशिमात्र' का अर्थ है—'केवल दर्शन या [illegible] की शक्ति-मात्र, जिसे विशेष या विशेषण[1] नहीं छू सकते'। ऐसा पुरुष=आत्मा बुद्धि के ज्ञान का अपने अस्तित्वमात्र से[2] अनुभव कर लेता है।

[१९६] स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति।

वह पुरुष न तो बुद्धि का सरूप है न विरूप, अर्थात् न तो पूरी तरह बुद्धि जैसा है न पूरी तरह उससे भिन्न।

[१९७] न तावत्सरूपः। कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी[१००] बुद्धिः। तस्यास्तु विषयो गवादिर्घटादिश्च[१०१], ज्ञातश्चाज्ञातश्च। तस्मात् परिणामित्वं ख्यापयति[१०२]।

वह बुद्धि का सरूप तो इसलिए नहीं है, क्योंकि कुछ विषयों के ज्ञात और कुछ के अज्ञात होने से बुद्धि 'परिणाम-वाली' है, परिवर्तनशील

---

1. (क) यहां विवरणकार का पाठ विशेष है, जिससे प्रतीत होता है कि १६ अविशेष पदार्थ(पञ्चस्थूलभूत, दस इन्द्रियां और मन) आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। तो क्या छह अविशेष—अहंकार और पञ्चतन्मात्राएं, या लिङ्ग प्रकृति=महत्तत्त्व द्वारा उसका स्पर्श हो सकता है? ऐसा नहीं है। वे (विवरणकार) स्वयं विशेष का अर्थ करते हैं—'किसी इच्छा आदि से, गुणों से या गुण-धर्मों से अछूती'। द्र०—'विशेषेण केनचिदिच्छादिना गुणैर्गुणधर्मैश्चापरामृष्टः।'—विव० पृ० १८९।
(ख) प्रचलित पाठ में 'विशेषण' को भी 'धर्म' के ही अर्थ में लिया जाता है। अर्थात् आत्मतत्त्व किसी भी विशेषता, गुण या धर्म से शून्य पदार्थ है, जो समस्त दृश्य पदार्थों का चेतन [illegible] भर है। अतः उसे 'भोक्ता' भी नहीं कहा जाना चाहिए।
2. (क) 'प्रतिसंवेदी' शब्द में णिनि प्रत्यय का 'ताच्छील्य' अर्थ पुरुष के सन्दर्भ में उसकी निर्विशेष नित्यता को देखते हुए 'अस्तित्व' अर्थ का ही द्योतक हो सकता है।
(ख) 'आत्मा ही ज्ञाता है' यह [illegible] पहले भी प्रतिपादित किया गया है। दे०—व्यास० सं० २४, योग० १।७।

है, (अनित्य है)। उसके विषय तो चेतन गौ आदि या अचेतन घड़े आदि हैं, और इनमें से कुछ उसे (उपरञ्जित कर) ज्ञात होते हैं और कुछ नहीं, जिससे इस बुद्धि का परिणामी होना सिद्ध होता है[1]।

[१९८] **सदा ज्ञातविषयत्वं[२०३] पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्? नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषस्य विषयः[२०४] स्यादगृहीता गृहीता चेति। तस्मात् पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वम् ततश्चापरिणामित्वं सिद्धम्[२०५]।**

पुरुष को अपने विषय का सदा ज्ञान रहना उसके अपरिणामी होने पर प्रकाश डालता है। किस तरह? पुरुष का विषय बनने पर बुद्धि कभी उस द्वारा गृहीत हो, कभी न हो, ऐसा नहीं हो सकता[2]। इससे पुरुष का 'सदा-ज्ञात-विषय' (सर्वदा विषयों को जानने वाला) होना, और इसी से अपरिणामी=नित्य होना भी सिद्ध हुआ।

[१९९] (**किञ्च, परार्था बुद्धिः, स्वार्थः पुरुषः,**) [२०६]**इतश्चासरूपः।**
(इसके अतिरिक्त बुद्धि का प्रयोजन स्वयं के लिए न होकर किसी और के लिए, पुरुष=आत्मा के लिए है, जबकि पुरुष का प्रयोजन अन्य के लिए न होकर स्वयं के लिए ही होता है।)[3] इसलिए भी पुरुष बुद्धि का समरूप नहीं है।

[२००] **सर्वार्थाध्यवसायित्वात् त्रिगुणा बुद्धिः[२०७]। गुणानां तूपद्रष्टा अ-त्रिगुणः पुरुषः, अत्रिगुणत्वाच्च[२०८] असरूपः।**

सब प्रकार के पदार्थों का निश्चय करने के कारण बुद्धि त्रिगुणात्मिका

---

1. यह वाक्यांश पूर्व-वाक्यांश की ही आवृत्ति जैसा प्रतीत होता है।
2. अभिप्राय यह है कि बुद्धि जैसी भी हो पुरुष उसे उसी रूप में सदा जानता रहता है। और बुद्धि ही तो पुरुष का विषय है, गौ आदि पदार्थ नहीं। इसलिए पुरुष 'सदा-ज्ञात-विषय' सिद्ध हुआ, बुद्धि की तरह 'ज्ञाताज्ञातविषय' नहीं।
3. भाष्य का यह अंश विवरण में न मिलने पर भी स्पष्टतः प्रसंग की पूर्ति करता है। संभवतः, पाण्डुलिपि से खण्डित हो गया हो। मिला०—व्यास० ४८४, योग० ४।२४॥

है,[1] जबकि तीनों गुणों का साक्षी पुरुष त्रिगुणात्मक नहीं है। इस प्रकार 'अ-त्रिगुण' होने से भी पुरुष बुद्धि का सरूप नहीं है।

[२०१] अस्तु तर्हि विरूप इति ? नात्यन्तं विरूपः। कस्मात् ? यतः शुद्धोऽप्यसौ[२०९] बौद्धं प्रत्ययमनुपश्यति, तमनुपश्यन्नपि न तदात्मा[२१०]। तदात्मक इव प्रत्यवभासते।

अच्छा तो क्या पुरुष बुद्धि से 'विरूप' है ? नहीं, वह एकदम भिन्न रूप वाला भी नहीं है। क्योंकि[2], शुद्ध (=निर्गुण) होने पर भी बुद्धि द्वारा प्रस्तुत ज्ञान को यह पुरुष उसी के अनुरूप देखता है। ऐसा अनुदर्शन करने पर भी यह उसी बुद्धि के रूप वाला नहीं हो जाता, किन्तु उस जैसा प्रतीत अवश्य होता है।

[५०१] तथोक्तं तन्त्रे—"अपरिणामिनी (हि) भोक्तृशक्तिर् अप्रतिसङ्क्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिम् अनुपतन्तीव, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपायाः (बुद्धिवृत्तेर्) अनुकारमात्रतया बुद्धि-वृत्त्यविशिष्टा ज्ञवृत्तिरिति[२११] आख्यायते"॥ २०॥

तन्त्र में[3] ऐसा ही कहा है – "भोक्ता की सामर्थ्य वाली आत्मा परिणाम-रहित (अपरिवर्तनशील =अविकारी) है और (बुद्धि की तरह) विषयों में प्रतिसंक्रमण (संचार) नहीं किया करती। किन्तु बुद्धि द्वारा बताए ज्ञान में[4] जो स्वयं परिणामी विषय है, बुद्धि के ही व्यवहार का अनुसरण करती प्रतीत होती है। उधर बुद्धि भी आत्मा के सम्पर्क से पाए हुए चैतन्य रूप को धारण किए होती है। ऐसी

---

1. (क) त्रिगुणात्मक पदार्थों में शान्त, चंचल और घोर विशेषताएं होती हैं। द्र०—विव०पृ०१९२
   (ख) प्रभाष्य में त्रिगुणत्व से बुद्धि की अचेतनता का भी प्रतिपादन है। अतः बुद्धि में भी दृश्य पदार्थों की भांति प्रकाश के साथ क्रिया और स्थिति (या 'अप्रकाश'—द्र० आरण्य, पृ० २२०) इन तीनों गुणों का ही प्रभाव स्वीकारा जा सकता है।
2. 'कस्मात् ? यतः...' को यह एक शब्द ही पूर्णतः बताने में समर्थ है।
3. 'पञ्चशिखतन्त्र' को ही भाष्य में तन्त्र के नाम से बार-बार उद्धृत किया गया है।
4. 'बौद्धे प्रत्यये'—विव० पृ० १९३

बुद्धि की वृत्ति का केवल अनुकरण करने मात्र से आत्मा का ज्ञान बुद्धि-वृत्ति से अभिन्न होता है, और उसकी 'ज्ञ-वृत्ति' कहाता है।" ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२।२१॥

उस पुरुष=आत्मा के लिए ही इस 'दृश्य' का स्वरूप है ॥

[२०३] **दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्म-विषयतामापन्नं[२१२] दृश्यमिति । तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा भवति । स्वरूपं भवतीत्यर्थः । ततश्च पुरुष-रूपेण[२१३] प्रतिलब्धात्मकं [सद्] भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यते[२१४]** ॥ २१ ॥

द्रष्टा=साक्षी रूप उस पुरुष के लिए यह समस्त दृश्य (पदार्थ-समूह) कर्मक्षेत्र=भोग्य[1] बना हुआ है, इसलिए इस सूत्र में उसी के लिए इस दृश्य का अस्तित्व बताया गया है। (दृश्य की 'आत्मा' से यहाँ उसका 'स्वरूप' ही अभिप्रेत है।) और इस कारण यह उसके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। (दृश्य का स्वरूप क्या है, इसे पुरुष ही जानता है।) इस ज्ञान द्वारा भोग और अपवर्ग (=मोक्ष) का प्रयोजन पूरा हो जाने पर फिर पुरुष द्वारा यह दृश्य नहीं देखा जाता । (वह इससे उपराम हो जाता है।) ॥ २१ ॥

—**स्वरूपहानादस्य [वि-]नाशः प्राप्तः । न तु विनश्यति ।[२१५] कस्मात् ?**

—पुरुष द्वारा न देखे जाने पर दृश्य के स्वरूप का विनाश सिद्धान्ततः प्राप्त होता है। पर यह नष्ट तो नहीं होता। ऐसा क्यों ?—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२।२२॥

कृतकृत्य पुरुष के लिए नष्ट होने पर भी अन्य पुरुषों के लिए उसी साधारण स्थिति में रहने के कारण यह 'दृश्य' नष्ट नहीं होता ॥

1. यहां दो पाठ हैं—'कर्मविषय' और 'कर्मस्वरूप'। पर अर्थ में भेद नहीं है। मिला०—विव० पृ० १६३, तत्त्व० पृ० २२२।

[२०४] **कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति (दृश्यं) नष्टमपि नाशप्राप्तमपि**[२१६] **अनष्टं तदन्यपुरुष-साधारणत्वात्। कुशल-पुरुषान् प्रति नाशप्राप्तम् अकुशल-पुरुषान् प्रति अकृतार्थम्, तेषां दृशेः कर्मतामापन्नं लभत एव पुरुषरूपेण आत्मरूपम् इति।**[२१७]

यह दृश्य किसी एक, (अरबों में किसी एक पूर्ण योगी) के लिए ही तो चरितार्थ होकर नष्ट होता है। उसकी दृष्टि से नाश को पहुँचा हुआ भी अन्य सभी पुरुषों के लिए साधारण रूप में होने से नाश-प्राप्त नहीं है। कुशल योग-सिद्ध पुरुषों के प्रति ही यह दृश्य नष्ट होकर कृतार्थ होता है, किन्तु योगरहित अकुशलों के प्रति नहीं। उन साधारण जनों की दर्शन-शक्ति का कर्म बनता हुआ 'पुरुष-रूप' द्वारा[1] अपने स्वरूप को प्राप्त कर ही लेता है। (और दृश्य का अस्तित्व बना ही रहता है।)

[२०५] **अतश्च दृग्-दर्शन-शक्त्योः नित्यत्वाद् अनादिः संयोगो व्याख्यातः**[२१८]**। तथा चोक्तम् [तन्त्रे] 'धर्मिणामनादि-संयोगाद् धर्म-मात्राणामपि [पुरुषैर्] अनादिः संयोगः (इति)॥**

इस प्रकार 'दृश्य और द्रष्टा इन दोनों शक्तियों के नित्य होने से उन

1. (क) ऊपर सूत्र २।२७ के अनुसार दृश्य के स्वरूप की सार्थकता तो पुरुष के लिए है ही, साथ ही दृश्य का अस्तित्व भी पुरुष के स्वरूप पर निर्भर है, यह भी यहां स्थापित हुआ है। यदि समस्त पुरुषों की मुक्ति हो जाए तो क्या यह दृश्य भी नष्ट होकर उस [illegible] में पहुँच जाता है, जहां इसे दृश्य नहीं कहा जा सकता? [illegible] वह अवस्था प्रधान या अलिङ्ग अवस्था से भी कोई भिन्न अवस्था होगी? पर संभवतः ऐसी स्थिति की संभावना नहीं है।

(ख) 'पुरुष-रूप' में एकवचन 'जात्यर्थ' में ही है, 'परम पुरुष' के अर्थ में नहीं। क्योंकि इस प्रसंग में उसकी ओर संकेत न होकर दृश्यासक्त पुरुषों की चर्चा है। ऐसे अकुशल पुरुषों की बहुलता और कुशलों से उनकी भिन्नता के कारण पुरुषों की अनेकता यहां [illegible] है। विवरणकार का स्पष्टीकरण है—'अतश्च साधारणत्वाद् एकमेव प्रधानं पृथिव्यादिवत्। कार्य-करणानां च भिन्नत्वात् पुरुषाणां नानात्वं सिद्धम्। सुखदुःखनाना-त्वाच्च पुरुषभेद-सिद्धिः।'—विव० पृ० १६४। मिला० आरण्य० पृ० २२५, २२६।

का संयोग भी अनादि है'[1] इस तथ्य की व्याख्या हो गई। ऐसा ही [तन्त्र में] कहा भी है—'[पुरुषों के साथ] धर्मियों का (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का) संयोग अनादि होने से (महद् आदि)[2] धर्म-मात्राओं का संयोग अनादि है' ॥२२॥

—संयोगस्वरूपावधारणार्थम्[218] इदं सूत्र प्रववृते—

—इसी संयोग के स्वरूप का निश्चय करने के लिए अगला सूत्र प्रारंभ होता है—

स्व-स्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२।२३॥

स्वशक्ति (बुद्धि या दृश्य) और स्वामी-शक्ति (पुरुष) दोनों का संयोग दोनों के स्वरूप को पाने के लिए है ॥

[२०६] **पुरुषः स्वामी, दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः। तस्मात् संयोगात् दृश्यस्योपलब्धिर् या स भोगः। या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः [विविक्ता] सोऽपवर्गः। दर्शन-कार्यावसानः संयोगः। दर्शनं वियोगस्य कारणमित्युक्तम्[219]। दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वमित्यदर्शनं संयोग-निमित्तमित्युक्तम्[220]।**

पुरुष=आत्मा स्वामी है, वह अपने 'स्व'=दृश्य के दर्शनार्थ उसके साथ[3] संयुक्त होता है। इस संयोग से उसे दृश्य का जो ज्ञान[4] होता

---

१. मिला०—'तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिर् अर्थकृतः संयोगो हेयहेतुः...' व्यास० १७७, योग० २।१७

२. (क) इस अर्थ के लिए दे० विव० पृ० १९५।
(ख) यदि यह संयोग अनादि है तो यह अनन्त भी स्वतः सिद्ध होता है। इससे मुक्तावस्था में इस संयोग के अभाव का सावधि होना ही सिद्ध होता है। कारण मुक्ति सादि है, अतः वह सान्त भी ठहरती है।

३- चूंकि दृश्य में सूक्ष्मतम बुद्धि ही सर्वप्रथम आती है, अतः उसी से आत्मा का संयोग होता है। द्र० विव० पृ० १९५।

४. दृश्य का ज्ञान भी 'दर्शन' है और आत्मस्वरूप का ज्ञान भी। किन्तु आत्मा के स्वरूप-ज्ञान को 'सम्यग्दर्शन' या 'विवेक-ज्ञान' के नाम से पुकारा जाता है।

है, वही उसका भोग है। और, दूसरी ओर, उस द्रष्टा द्वारा अपने स्वरूप की पृथक्ता का जो विविक्त ज्ञान हो जाता है, वही मोक्ष है। इन दोनों प्रकार के दर्शन रूपी कार्यों के बाद संयोग का अवसान हो जाता है[1]। इस प्रकार दर्शन ही वियोग का कारण है, यह कह दिया गया। दर्शन का प्रतिद्वन्द्वी 'अदर्शन' है, अतः वह अदर्शन=अज्ञान (वियोग के विरोधी) संयोग का कारण है, यह भी प्रतिपादित हुआ।

[२०७] नात्र दर्शनं मोक्षकारणम्। अदर्शनाभावादेव बन्धस्य अभावः, स मोक्षः[२२१]। दर्शनस्य भावे[२२२]ऽदर्शनस्य नाशः। अतो दर्शनं (ज्ञानं) कैवल्य-कारणमुक्तम् [इति]।

यहाँ दर्शन मोक्ष का सीधा कारण नहीं है। वस्तुतः अदर्शन का अभाव होने से बन्धन का अभाव होता है और यही मोक्ष की स्थिति है। और यह अदर्शन का नाश दर्शन होने पर होता है। इसलिए दर्शन=ज्ञान को कैवल्य का कारण[2] कह दिया गया है।

[२०८] किञ्चेदमदर्शनं नाम ? किं गुणानामधिकारः ?

यह अदर्शन भला है क्या ? (१) क्या सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का आत्मा पर अधिकार[3] बने रहना 'अदर्शन' है ?

[२०९] आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य[२२३] चित्तस्यानुत्पादः, स्वस्मिन् दृश्ये [चित्ते] विद्यमाने यो दर्शनाभावः ?

(२) या फिर द्रष्टारूप स्वामी आत्मा को विषयों का दर्शन कराने वाले चित्त का उत्पत्तिरहित हो जाना, दृश्यों को न दिखाना, इस प्रकार, आत्मा के अपने 'दृश्य' अर्थात् चित्त के होने पर भी जो दर्शन का अभाव[4] हो जाता है, क्या वह 'अदर्शन' है ?

---

१. जैसा ऊपर पृ० ४९ टिप्पणी सं० २ (ख) में कहा गया है, यह संयोग का अवसान या 'मोक्ष' सादि होने से अनन्तकालीन नहीं हो सकता।

२. 'ज्ञानान् मुक्तिः'—सांख्य०... ३।२३।

३. अधिकार=कार्यारम्भण-सामर्थ्य। इस विकल्प में सारी सृष्टि की क्रियाशीलता संकेतित होती है, केवल द्रष्टा का ही 'अदर्शन' नहीं।

४. इस विकल्प में तो 'सम्यग्-दर्शन' के भी बाद की सी स्थिति का उल्लेख हो रहा है, जो संयोग का कारण न होने से यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

[२१०] **किमर्थवत्ता गुणानाम् ?**

(३) क्या गुणों का प्रयोजन वाला होना ही 'अदर्शन'[1] है ?

[२११] **अथाविद्या स्व-चित्तेन निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ? किं स्थिति-संस्कारक्षये गति-संस्काराभिव्यक्तिः ? यत्रेदमुक्तम्—"प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणात् अप्रधानं स्यात्। तथा गत्यैव वर्तमानं विकार-नित्यत्वाद् अप्रधानं स्यात्। तद् उभयथावृत्ति व्यवहारं प्रधानत्व-व्यवहारं[२२४] लभते, नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि परकल्पितेषु[२२५] समानश्चर्चः।"**

(४) क्या वह अविद्या जो अपने आश्रयभूत चित्त के साथ निरुद्ध होकर (अपने कारण में, अहंकार में प्रलीन हो जाती अतः दिखाई नहीं देती[2], और जो प्रलवावस्था के बाद सृष्टि के समय) अपने चित्त की उत्पत्ति का कारण बनती है, उसी का नाम 'अदर्शन' है[3] ? क्या इस (बीजभूत अविद्या) में भी ('प्रधान' के समान, प्रलयावस्था के)

---

१. (क) कहना चाहिए कि, "क्या...'अदर्शन' का कारण है ?"
(ख) 'भोग' और 'अपवर्ग' ये दो प्रयोजन गुणों के हैं। 'भोग' को पूरा करने में ही 'संयोग' की आवश्यकता होती है। तो क्या यूं हुआ कि 'संयोग' का कारण 'अदर्शन', और 'अदर्शन' का कारण 'भोग', और 'भोग' का आधार 'गुणों की अर्थवत्ता'। पर इस आधार पर 'गुणों की अर्थवत्ता' को 'अदर्शन' कहना गलत होगा, क्योंकि फिर तो वह 'दर्शन' भी हो जाएगा, कारण गुणों की कृतार्थता तो 'अपवर्ग' में भी है, जो 'दर्शन' द्वारा ही सम्पादित होती है।

२. मिला० (क) विव० पृ० १९८।
(ख)—'स्वकारणेऽस्मितायामहङ्कारे प्रविलीयते'—विव० पृ० ११९, योग० १।५१।

३. श्री आरण्य के अनुसार अगले सूत्र को देखते हुए यही सिद्धान्त-पक्ष है। द्र० आरण्य० पृ० २३०। संभवतः 'सम्यग् दर्शन' न होने की स्थिति है 'अदर्शन', और इस स्थिति का हेतु है 'मिथ्याज्ञान' या 'अविद्या'। इस प्रकार 'अदर्शन' शब्द पुरुष की स्थिति=अवस्था की ओर संकेत करता है, जबकि 'अविद्या' शब्द बुद्धि के ज्ञान के स्तर की ओर। इसलिए विवरणकार के अनुसार यहां 'अविद्या' और 'अदर्शन' में कुछ भेद मानकर ही इसे विकल्प में स्थान दिया गया है। —द्र० विव० पृ०१९८।

स्थिति-संस्कारों की समाप्ति के बाद (उत्पत्ति और रचना वाले) गति के संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है[1] ? इस विषय में यह उक्ति (ध्यान देने योग्य) है—

"प्रधान यदि केवल 'स्थिति'=सत्ता-दशा में ही विद्यमान रहे तो विकारों को उत्पन्न न करने के कारण 'प्रधान' नहीं रहेगी[2]। इसी तरह यदि केवल 'गति' में ही वर्तमान रहे तो विकारों के 'नित्य' हो जाने से भी यह 'प्रधान' नहीं 'अप्रधान' ही हो जाएगी। वस्तुतः दोनों तरह की 'गति' और 'स्थिति' अवस्था में होने वाले व्यवहार के कारण इसे 'प्रधान' (मूल कारण) नाम से व्यवहृत किया जाता है, अन्यथा नहीं। दूसरों द्वारा कल्पित (पुरुष, ईश्वर, परमाणु आदि)[3] अन्य कारणों में भी यही तर्क लगाना होगा।"[4]

[२१२] **दर्शन-शक्तिरेवादर्शनमित्येके। कुतः ? 'प्रधानस्यात्म-प्रख्यापनार्था'** [२२६]**(प्रवृत्तिः) [अदर्शनम्] इति श्रुतेः। सर्व-**[२२७]**बोध-समर्थः प्राक् प्रवृत्तेः न पश्यति पुरुषः।**

---

१. (क) अन्य सभी व्याख्याकारों ने इस ■■■ में ५वां विकल्प मान कर अर्थ किया है—द्र० आरण्य; पृ० २२८, २३०, ■■■ ब्रह्मलीन पृ० २५३। किन्तु विवरणकार इसको स्पष्ट अस्वीकार करते हैं 'किमेतददर्शनमिति न सम्बध्यते।...चित्तस्य कारणमपि स्थित्या गत्या च वर्तत इति। ततश्चैतद्विस्पष्टीकरणार्थं पृच्छति।'- विव० पृ० १६८। प्रस्तुत अर्थ इसी के अनुरूप किया गया है।

(ख) अविद्या में स्थिति और गति के संस्कार मानने में क्या दोष है ? इसका निदर्शन अगले उद्धरण में उदाहरण सहित किया जा रहा है, ऐसा विवरणकार मानते हैं। द्र० विव० पृ० १६८।

२. 'प्रधान' की सार्थकता इसी में है कि वह विकारों को 'प्रकर्षरूप में धारण करे, उनका धातृत्व करे'। द्र०—'यतः प्रधत्ते विकारान् इति प्रधानम्। तेन विकाराणाम् अप्रधातृत्वाद् अप्रधानं स्यात्।' विव० पृ० १६८।

३. द्र०—'पुरुषेश्वर-परमाण्वादिषु'—विव० पृ० १६८।

४. पञ्चशिख ■■ यह ■■■ 'प्रधान' में या उसके समकक्ष अन्य सभी कारणों में स्थिति और गति दो अवस्थाओं को अनिवार्य बताता है।

(५) कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि 'दर्शन-शक्ति' (=बीज की तरह दर्शन की अभिव्यक्तिरहित अवस्था) ही 'अदर्शन' भी है। कैसे? ऐसा श्रुति-वचन है कि—'प्रधान-प्रकृति की स्वयं को दिखाने की प्रवृत्ति ही अदर्शन है'। पुरुष सब कुछ जानने में समर्थ है, किन्तु प्रधान की इस प्रवृत्ति से पहले वह इसे नहीं देखता।[1]

[२१३] सर्व-कार्य-करण-[क्रिया]-समर्थं दृश्यं न तदा[२२८] दृश्यते इत्युभयस्य (अपि) अदर्शनं धर्म इत्येके [मन्यन्ते]।[२२९] दृश्यस्यात्म-भूतम्[२३०] अपि पुरुष-प्रत्ययापेक्षम् अदर्शनं पुरुषस्य धर्मत्वेन भवति[२३१]। [२३२]पुरुषस्य अनात्म-भूतमपि दृश्य-प्रत्ययापेक्षं पुरुष-धर्मत्वेनैव अदर्शनमाभासते[२३३]।

(६) सब कार्यों और ऐन्द्रिक क्रियाओं में समर्थ दृश्य भी तब (उसे) नहीं दिखता, इसलिए दोनों (पुरुष और प्रकृति, या आत्मा और दृश्य) का ही धर्म 'अदर्शन' है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।[2] यूं तो 'अदर्शन' दृश्य का एक स्वरूप है, किन्तु पुरुष के ज्ञान की अपेक्षा रखता है, इसलिए पुरुष का भी धर्म हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि वह 'अदर्शन' पुरुष का स्वरूप नहीं है, फिर भी दृश्य के साथ पुरुष-ज्ञान की अपेक्षा रखने से पुरुष के धर्म के समान ही प्रतीत होता है।

[२१४] दर्शनं ज्ञानं [तद्] एव अदर्शनमिति केचिन्मन्यन्ते[२३४]।

(७) प्रकृति का शब्द आदि द्वारा दर्शन एक प्रकार का ज्ञान है और वही यहाँ ('विवेक-ज्ञान' या सम्यग्दर्शन की तुलना में) 'अदर्शन' कहा गया है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।

---

१. इस विकल्प में 'अदर्शन' को मूल शक्ति तक और प्रलयकालीन स्थिति तक खींच दिया गया है, जबकि प्रस्तुत प्रसंग में चित्त का मिथ्या-ज्ञान [illegible] पुरुष द्वारा सम्यग्-दर्शन का अभाव-भर अभिप्रेत है, जो सृष्टि के क्रिया-शील रहते समय भी [illegible] रहता है।

२. यह छठा विकल्प ऊपर के ५वें विकल्प से सम्बद्ध है। उसमें केवल [illegible] की प्रदर्शन शक्ति से पुरुष के अदर्शन का जन्म बताया था, तो यहां अदर्शन को दोनों का ही (प्रकृति के साथ-साथ पुरुष का भी) धर्म बताने का प्रयास है। यह भी उसी के समान अनावश्यक खींच-तान है।

[२१५] (इति) एते शास्त्रगताः विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्व [मात्र]-मेतत् ॥

ये सब विकल्प शास्त्रों में आए हैं और वहाँ इस तरह के विकल्पों की बहुतायत है।[1] ॥ २३ ॥

—सर्वपुरुषाणां गुणसंयोगाविशेषः । असाधारण-विषयस्तु[२३५] प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धि-संयोगः—

—गुणों के साथ संयोग[2] तो सब पुरुषों के लिए एक सा है, साधारण है। असाधारणता तो वहाँ है जहाँ प्रत्यक्-चेतन पुरुष का अपनी बुद्धि से संयोग होता है। (और)—

तस्य हेतुरविद्या ॥२।२४॥

उस विशेष संयोग का हेतु अविद्या है ॥

[२१६] [अविद्या] विपर्यय-ज्ञानवासना इत्यर्थः । विपर्ययज्ञान-वासनावासिता[२३६] न कार्य-निष्ठां पुरुषख्याति बुद्धिः प्राप्नोति । साधिकारा पुनः पुनर्[२३७] आवर्त्तते । सा तु पुरुष-ख्याति-पर्यवसाना[२३८] कार्य-निष्ठां प्राप्नोति । चरिताधिकारा निवृत्तादर्शनबन्धना[२३९] बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते ।

अविद्या का अभिप्राय है—विपरीत या मिथ्या ज्ञान[3] का सूक्ष्म

१. विवरणकार के अनुसार यहां भाष्यकार विकल्पों के विस्तार में [illegible] निरर्थक मानते हैं। इनमें से जिसकी मान्यता है कि 'अदर्शन का हेतु बुद्धि और पुरुष का संयोग है', वही विकल्प युक्तियुक्त है। 'न बहुत्व-मात्रेणार्थसिद्धिरित्यभिप्रायः । यस्य तु बुद्धि-पुरुष-संयोग-हेतुत्वं तस्यादर्शनं युक्तं दर्शन-विरोधात् ।' विव० पृ० २०० ।

२. ऊपर के सूत्र की व्याख्या में अदर्शन को संयोग का निमित्त [illegible] चुके हैं। (द्र०—सं० २०६) यहां संयोग को साधारण और असाधारण दो भागों में विभाजित कर असाधारण का हेतु अविद्या को कहा जा रहा है। इस प्रकार इनके हेतु के रूप में 'अदर्शन' अविशेष, और 'अविद्या' विशेष सिद्ध हुई। यह भी इन दोनों [illegible] भेद कहा जा सकता है।

३. मिला०—योग० १।८ एवं २।५॥

संस्कार। मिथ्या ज्ञान की वासना से युक्त बुद्धि अपने कार्य की अन्तिम सीमा—'आत्म-ज्ञान' तक नहीं पहुंच पाती। अपना कार्य-क्षेत्र शेष रहने के कारण ऐसी बुद्धि बार-बार दृश्य जगत् में लौटती है। वह तो आत्म-ज्ञान पर ही समाप्त होती है, वहीं अपने कार्य की सीमा पर पहुंचती है। तब कृतकृत्य होकर उसका 'अदर्शन' के साथ बन्धन निबट जाता है, और 'बन्ध' के कारणों का अभाव होने से फिर दृश्य में नहीं लौटती।

[२१७] **अत्र कश्चित् पण्डकोपाख्यानेनोद्घट्टयति[२४०]। [स] मुग्धया भार्यया अभिधीयते[२४१]—'आर्यपुत्र! अपत्यवती मे भगिनी, किमर्थं नाम नाहम् [अपत्यवत्यस्मि]' इति। तामाह—'मृतस्तेऽहमपत्यम् उत्पादयिष्यामि' इति। तद्वद् विद्यमानं ज्ञानं चित्त-निवृत्ति न करोति, नष्टं[२४२] करिष्यतीति का प्रत्याशा?**

इस विषय को किसी विद्वान् ने नपुंसक के उपाख्यान से उखाड़ा[1] है। "नपुंसक से उसकी भोली पत्नी कहती है—'हे पतिदेव! मेरी बहिन तो सन्तान से युक्त है, मैं क्यों निस्सन्तान हूं?' वह उसको कहने लगा—'मैं मर जाऊं, तब तुझ से सन्तान उत्पन्न कराऊंगा।' इसी प्रकार यह उल्लिखित प्रतिपादन है, कि (बुद्धि का) विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति नहीं करता, तो नष्ट होने पर करेगा इसकी क्या आशा है!"

---

१. (क) प्रचलित पाठ 'उद्घाटयति' के स्थान पर विवरणकार-पठित 'उद्घट्टयति' अधिक सही प्रतीत होता है। कारण, घट् का अर्थ 'घड़ना' या बनाना है, जबकि √घट्ट का अर्थ 'रगड़ना या टकराना'। मिला०—'घट्...४ To form,...shape,...make'—तथा 'घट्ट...1 To shake stir about,...2 To touch; rub ..'—V. S. Apte p. 197
(ख) प्रसंगानुसार यहां इसका अर्थ होगा—'शंका की है, या विरोध किया है'। मिला०—'उपहास करते हैं।'—आरण्य०, पृ० २३२
(ग) 'उत्' अव्यय के 'शंका' और 'प्रश्न करना' अर्थ भी होते हैं। द्र०—'(a) doubt; (b) interrogation,'—V. S. Apte, p. 99
(घ) उत् उपसर्ग के अर्थों में 'आश्चर्य करना' भी एक है। द्र०—'६ wonder, anxiety;—V. S. Apte p. 103.

[२१८] **अत्राचार्य[२४३]-देशीयो वक्ति—'ननु बुद्धि-निवृत्तिरेव मोक्षः। [कथम्] अदर्शन-कारणाभावाद् बुद्धि-निवृत्तिः। तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते। तन्निवृत्तिरेव[२४४] मोक्षः, किमयमस्थाने विभ्रमः[२४५] ?'** ॥

इस पर आचार्य पद वाला विद्वान् उत्तर देता है—"निस्सन्देह[1] बुद्धि का निवृत्त (नष्ट) हो जाना ही मोक्ष है। क्योंकि बुद्धि तत्त्व की निवृत्ति तब होती है जब 'अदर्शन' (अर्थात् मिथ्या-दर्शन) रूपी कारण का अभाव हो जाता है। और वह 'अदर्शन' जो बन्धन का कारण है तब निवृत्त होता है जब (सम्यग्-) दर्शन हो जाता है, (अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है)। इस प्रकार बुद्धि की निवृत्ति मोक्ष का कारण होती है। इसमें संशय करने का अवकाश ही कैसे हो सकता है ?" ॥ २४ ॥

—**हेयं दुःखम्,[२४६] हेय-कारणञ्च सनिमित्तं संयोगाख्यम्[२४७] उक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम्—**

—(योग के प्रथम विभाग) हेय दुःख को, और 'संयोग' नामक दूसरे विभाग को अपने हेतु अविद्या के साथ बताया जा चुका है। अब तीसरा विभाग 'हान' बताने योग्य है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं, तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२।२५॥

उस (संयोग के हेतु) अविद्या के अभाव से (पुरुष और बुद्धि के) 'संयोग' का अभाव होना ही 'हान' है, यही पुरुष का कैवल्य है ॥

[२१९] **तस्यादर्शनस्याभावात् बुद्धि-पुरुष-संयोगस्य अभावः[२४८]। आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः। एतद् हानम्। तद् दृशेः कैवल्यम्। पुरुषस्यामिश्रीभावः, पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः।**

---

१. 'ननु' केवल प्रश्नवाचक ही नहीं होता, निश्चयार्थक भी होता है। विपरीत तर्क प्रस्तुति के लिए भी यहां यह शब्द है ही। मिला०—'ननु... 1 Enquiry...2 surely,... 7...a contrary proposition...—V. S. Apte. p. 279

उस 'अदर्शन'='अविद्या'[1] के अभाव से बुद्धि और पुरुष के 'संयोग' का अभाव हो जाता है। बन्धनों का नितान्त उपराम या पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। यही 'हान' है। वह दृशि-शक्ति का 'केवली' रह जाना है। अर्थात् फिर पुरुष किसी से घुलता-मिलता नहीं, गुणों से उसका संयोग नहीं होता।

[२२०] दुःख-कारण-निवृत्तौ दुःखोपरमो हानम्। तदा स्वरूप-प्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥

इस प्रकार, दुःखों के कारणों की निवृत्ति हो जाने पर दुःख का समाप्त हो जाना ही 'हान' है। उस स्थिति में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, यह भी यहाँ[2] कह दिया गया है ॥ २५ ॥

– **हानस्य कः प्राप्त्युपायः**[२४९] ?

—(अब योग का चौथा विभाग बताने के लिए प्रश्न करते हैं।) इस 'हान' की स्थिति को पाने का 'उपाय' क्या है?—

विवेकख्यातिर् अविप्लवा हानोपायः ॥२।२६॥

अखण्ड 'विवेकख्याति' ही 'हान' का 'उपाय' है ॥

[२२१] सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। सा तु अनिवृत्तमिथ्याज्ञाना विप्लवते[२५०]**। यदा [तु] मिथ्याज्ञानं दग्धबीज-भावं वन्ध्य-प्रसवं सम्पद्यते, तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य**[२५१] **परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेक-प्रत्यय-प्रवाहो निर्मलो भवति। सा विवेक-ख्यातिः अविप्लवा**[२५२] **[भवति]। ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीज-भावोपगमः, पुनश्चाप्रसवः। सा च**[२५३] **मोक्षस्य मार्गो हानस्योपायः ॥**

---

१. ऊपर के सूत्र में स्थित 'अविद्या' से ही प्रकृत सूत्र के 'तद्' का अभिप्राय होना चाहिए और उसे यहाँ भाष्यकार ने 'अदर्शन' नाम से पुकारा है। इस से दोनों एक ही जैसे प्रतीत होते हैं। जो थोड़ा अर्थभेद है, उस कारण उसको अदर्शन के चौथे विकल्प में भी इसे रखा है। द्र०—ऊपर सन्दर्भ [२११] तथा वहीं पृ० ५१ टि० ३।

२. अन्यत्र भी इसे बताया गया है। द्र० योग० १।३, ३।५५ एवं ४।३४ ॥

सत्त्व और पुरुष अर्थात् बुद्धि और आत्मा की पृथक्ता का ज्ञान विवेक-ख्याति है। यदि मिथ्या-ज्ञान या अविद्या निवृत्त न हुई हो तो विवेकख्याति खण्डित हो जाती है। किन्तु जब अविद्या के बीजों के भी जल जाने से फलोत्पत्ति के लिए वह असमर्थ हो जाती है, तब बुद्धि पर पड़ी क्लेशों की धूल पूरी तरह झड़ जाती है। ऐसी बुद्धि 'वशीकार' नामक पर-वैराग्य में रहती है, और उसमें विवेक-ज्ञान का निर्मल प्रवाह बना रहता है। यह अखण्ड विवेकख्याति बनती है। तब मिथ्या-ज्ञान दग्ध-बीज-भाव को प्राप्त होता है, और फिर उत्पन्न नहीं होता[1]। और वही विवेकख्याति मोक्ष का मार्ग है, 'हान' का उपाय है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्त-भूमिः प्रज्ञा ॥२।२७॥

उस विवेक-ख्याति-प्राप्त योगी की प्रज्ञा की चरम अवस्था
सात प्रकार की होती है ॥

[२२२] **तस्येति प्रत्युदित-ख्यातेः प्रत्याम्नायः। सप्तधेति अशुद्ध्यावरण-मलापगमात् चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे (सति) सप्त-प्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति।**

सूत्र में 'तस्य' शब्द द्वारा 'जिस योगी की विवेकख्याति जागृत है' उसका[2] संकेत है। चित्त के अशुद्धिरूपी ढक देने वाले मल के हट जाने

---

१. 'विवेकख्याति की अविप्लवता' और 'अविद्या का दग्धबीज-भाव' दोनों अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं, तभी यहाँ 'अविप्लवा विवेकख्याति' से पहले भी 'बन्ध्य-प्रसव मिथ्याज्ञान' की शर्त रखी है। और उसके प्राप्त होने पर, (परिणामस्वरूप भी) मिथ्याज्ञान का 'अप्रसव', 'उत्पादकता-सामर्थ्य का अभाव' कहा है।

२. यहाँ वार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु ने पूर्वसूत्रस्थ 'हानोपायः' का संकेत 'तस्य' से मानकर व्याकरणदृशा तो हल दे दिया, किन्तु अर्थदृशा भाष्यकार की मान्यता को ही स्वीकारना होगा। नहीं तो सूत्रकार 'ख्याति' को ही दूसरा नाम 'प्रज्ञा' क्यों देते? और वे सीधे 'स सप्तधः' या 'सा सप्तधा प्रान्तभूमिः' भी कह सकते थे।

से चित्त में अन्य अशुद्ध ज्ञान उत्पन्न नहीं होता; तब विवेकी को सात प्रकार की प्रज्ञा मिलती है।

[२२३] **यथा[२५४] परिज्ञातं हेयं, नास्य परिज्ञातव्यो दुःखप्रकारः[२५५] क्षीणा हेयहेतवः। न पुनरेषां[२५६] क्षेतव्यमस्ति। साक्षात् कृतं निरोध-समापत्तिर्[२५७] हानम्। भावितो विवेक-ख्यातिरूपो हानोपायः। इत्येषा चतुष्टयी कार्य-विमुक्तिः[२५८]।**

पहले चार प्रकार की प्रज्ञा 'कार्य-विमुक्ति' कहाती है, जो इस प्रकार है—(१) 'हेय' को भली भांति जान लिया है। अब इस हेय के दुःख का कोई प्रकार जानने योग्य नहीं है। (२) हेय दुःख के सभी हेतु क्षयप्राप्त हैं। अब इनमें से किसी को भी क्षीण करना बाकी नहीं है। (३) निरोध-समापत्ति[1]-रूप हान का साक्षात् अनुभव कर लिया है। (४) 'विवेकख्याति'-रूप हान के उपाय को प्रत्यक्ष कर लिया है।[2]

[२२४] **प्रज्ञा-चित्त-विमुक्तिः त्रयी[२५९]। चरिताधिकारा बुद्धिगुणा[२६०], गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे**

---

१. पाठभेद के कारण यहाँ दो प्रश्न आते हैं—

(१) समाधि या समापत्ति ? क्या दोनों में भेद है ?

(२) समाधि ही स्वयं हान है या कि एक साधन है, और दूसरा साध्य ?

उत्तर—(१) कम से कम यहाँ विवरणकार ने समाधि और समापत्ति को समानार्थक माना है।

(२) विवरणकार यहाँ असम्प्रज्ञात-समाधि और हान दोनों को एकरूप मानते हैं—'हान-प्रत्यासन्नत्वात् हानतुल्यरूपत्वाच्च निरोधसमाधिरेव हानमित्याख्यायते'—विव० पृ० २०६।

अन्य सभी व्याख्याओं में समाधि को साधन और 'हान' को जो साध्य कहा गया है, वहां 'हान' को मोक्ष के अर्थ में लिया गया है। समाधि के बाद व्युत्थान दशा में भी यदि जीवन्मुक्ति की स्थिति बन जाए तो 'हान' और 'समाधि' की एकरूपता कही जा सकती है।

२. ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इन चारों प्रकार की कार्य-विमुक्ति में योग के चारों विभागों का ही, क्रमशः 'हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय' का ही संकेत है। विवरणकार ने इसे 'पुरुषार्थ-शून्यत्व' कहा है—द्र० विव० पृ० १०६।

प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तंगच्छन्ति । न चैषां प्रतिप्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावात्[२६१] । एतस्यामवस्थायां गुण-सम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिः पुरुषः केवली शुद्ध इति[२६२] ।

बाद में तीन प्रकार की 'प्रज्ञा के द्वारा चित्त से विमुक्ति'[१] इस प्रकार है– (५) बुद्धि रूप में अवस्थित स्पन्दन, सुख-दुःख आदि गुण अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुके । शैल-शिखर की चोटी से गिरे पत्थर के समान स्थान-भ्रष्ट हो चुके हैं । अपने कारण अहंकार में[२] विलीन होने को तैयार हैं, और उस बुद्धि-संस्थान के साथ ही[३] अस्त हो रहे हैं । (६) और अब इस तरह विलीन होने वाले बुद्धि-गुणों की फिर उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा । (७) अब वह अवस्था है, जिसमें तीनों गुणों के सम्बन्ध से परे, स्वरूपमात्र से प्रकाशित पुरुष अकेला और निर्मल रह जाता है ।

[२२५] **एतां सप्तविधां प्रान्तभूमि प्रज्ञाम् अनुपश्यन् पुरुषः कुशल इत्याख्यायते । प्रति प्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वात् ॥**

सात तरह की चरम अवस्थाओं वाली इस प्रज्ञा का साक्षी पुरुष 'कुशल' कहाता है । चित्त का प्रति-प्रसव या प्रविलय[४] हो जाने पर भी मुक्त पुरुष गुणातीत हो जाने से 'कुशल' ही होता है ॥ २७ ॥

१. विवरणकार इसे 'बुद्धिगुणान्निवृत्तिः' भी कहते हैं । द्र० विव० पृ० २०६ । मिला०—योग० ४।३४ ।

२. द्र०—विव० पृ० २०७ । किन्तु सांख्य के अनुसार अहंकार न तो बुद्धि का कारण है न त्रिगुणों का, प्रत्युत बुद्धि ही अहंकार का कारण है । अतः यहाँ श्री आरण्य की व्याख्या ग्राह्य है, जो गुणों का अर्थ सत्त्व आदि मूल त्रिगुण न करके, 'बुद्धि का स्पन्दन...सुख दुःख, मोहरूप बुद्धि का गुण' अर्थ करते हैं । द्र० आरण्य, पृ० २३८ ।

३. द्र० विव० पृ० २०७ । तुलनीय—'उस कारण के साथ'—आरण्य, पृ० २३७ ।

४. (क) सूत्रकार ने कैवल्य दशा में गुणों का प्रतिप्रसव बताया है । (द्र०—४।३४) (ख) भाष्यकार ने यहाँ चित्त का प्रतिप्रसव कहा है, जब कि अन्यत्र इसका अहंकार में विलीन होना कहा है । द्र०—'स्वस्यां प्रकृतौ प्रविलीयते' व्यास०सं०११५, योग०१।५१ ॥ इससे योगशास्त्र में प्रतिप्रसव और प्रविलय समानार्थक माने जा सकते हैं ।

—सिद्धा विवेकख्यातिः हानस्योपायः[२६३] इति । न च सिद्धिः अन्तरेण साधनम् । इत्यतः इदम् आरभ्यते ।

– (सप्त-प्रज्ञा-फलदायी) विवेक-ख्याति जब सिद्ध हो जाती है, तब 'हान' का उपाय होती है। और, कोई सिद्धि बिना साधन के हुआ नहीं करती। इसीलिए यह (अष्टाङ्ग-योग-साधन का) प्रकरण[१] प्रारम्भ किया जा रहा है—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिर् आविवेकख्यातेः ॥२।२८॥

योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करने से अविद्या आदि
का मलिन अन्धकार नष्ट होने पर ज्ञान का प्रकाश
बढ़कर 'विवेक-ख्याति' तक पहुंचता है ॥

[२२६] **योगाङ्गानि[२६४] अभिधायिष्यमाणानि । तेषाम् अनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्य अशुद्धि-रूपस्य क्षयो नाशः । तत्क्षये सम्यग्-दर्शनस्य[२६५] अभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च अशुद्धिः[२६६] क्षीयते तथा तथा [तत्]-क्षय-क्रमानुरोधिनो ज्ञानस्य[२६७] दीप्तिर् विवर्धते । सा खल्वियं विशुद्धिः[२६८] प्रकर्षमनुभवति, आ।विवेकख्यातेः, आ-गुण-पुरुष-स्वरूप-विवेक-ज्ञानाद्[२६९] इत्यर्थः ।**

योग के (आठ) अंग आगे कहे जा रहे हैं। उनके अनुष्ठान से पांच पोरों वाली अशुद्धि-रूप अविद्या (मिथ्याज्ञान) का क्षय=नाश होता

१. अष्टांग-योग-साधन में समाधि का चरम स्थान है। यही समाधि पहले भी अन्य उपायों द्वारा बताई जा चुकी है। उत्तम साधकों में से 'विदेह और प्रकृतिलय' (देवों) की 'भव-प्रत्यय-सिद्ध [illegible] समाधि' है। (१।१९) उपाय-प्रत्यय-योगियों के लिए 'श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-पूर्वक' बताई है। (१।२०) व्युत्थित-चित्त [illegible] साधकों के लिए 'तपस्, [illegible] और ईश्वर-प्रणिधान' का क्रियायोग 'समधि-भावनार्थ' है। (२।२)। इससे यह अष्टांग योग सर्व-साधारण साधकों के लिए ही बताया गया निश्चित होता है।

है। इस अविद्या-नाश से सम्यग्-दर्शन=विवेकज्ञान प्रकट होता है। जैसे-जैसे साधनों पर नियमानुसार आचरण किया जाता है, वैसे-वैसे मलक्षय के क्रम का अनुसरण करने वाली ज्ञान की चमक बढ़ती जाती है। ज्ञान की यही निर्मलता प्रकृष्ट होती है, और विवेक-ख्याति तक पहुंच जाती है, अर्थात् गुणों और पुरुष के स्वरूप तक को पृथक्-पृथक् जान लेती है।[१]

[२२७] **योगाङ्गानुष्ठानम् अशुद्धेः क्षयकारणं[२७०] विवेकख्यातेश्च प्राप्ति-कारणम् इति, द्विधैव कारणम्, धर्म-परशु-द्वयस्थानीयम् एकमुभयकारणम्, नान्यथा भवतीति[२७१]।**

योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के तो क्षय का कारण है, और 'विवेक-ख्याति' की प्राप्ति का कारण है। इस प्रकार यह दोनों ही प्रकार का कारण है। 'धर्म' और 'परशु' दोनों के स्थान पर यह अकेला ही दोनों प्रकार का कारण है। (अर्थात् धर्म की तरह प्राप्ति भी कराता है और परशु (फरसे) की तरह छेदन भी।) यह किसी और तरह का कारण नहीं है।

[२२८] **कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति ? नवैवेत्याह। तद्यथा-**

उत्पत्ति-स्थित्य-भिव्यक्ति-विकार-प्रत्यय-ाप्तयः।
वियोगा-न्यत्व-धृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥ इति।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति (विज्ञानस्य)। स्थिति-कारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्य यथा[२७२]आहारः। अभिव्यक्तेः कारणं यथा-लोकः, तदा रूपज्ञानम्[२७३]। विकारस्य कारणं[२७४] मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाकस्य[२७५]। प्रत्यय-कारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्ति-कारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। तदेवाशुद्धेर् वियोग-कारणम् परशुरिव छेद्यस्य[२७६]। अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णकारः सुवर्णस्य[२७७]। एवमेकस्य 'स्त्री'-[इति] प्रत्ययस्यापि अविद्या कारणं मूढत्वे[२७८]। द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, माध्यस्थ्ये विवेक-युक्तं ज्ञानम्[२७९]। धृतेः कारणं[२८०] शरीरमिन्द्रियाणाम्। तानि च तस्य।

---

१. भाष्यकार द्वारा विवेकख्याति की व्याख्या पहले भी इसी प्रकार की गई है— 'सत्त्व-पुरुषान्यता-प्रत्ययो विवेकख्यातिः'—व्यास, सं० २२१, योग० २।२६॥

महाभूतानि शरीराणाम्, शरीराणि (च) परस्परम्[२८१]**। [तथा] सर्वेषां तैर्यग्-यौन-मानुष-दैवतानि (च) परस्परार्थत्वात्**[२८२] **।**

कितने प्रकार के कारण शास्त्र में होते हैं ? ऐसा कहा है कि नौ प्रकार के कारण होते हैं। इसे विशद करें—"उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व और धृति यह नौ प्रकार का कारण शास्त्रों में बताया गया है।" इनमें (प्रत्येक का उदाहरण देते हैं।) १. उत्पति-कारण, मन विज्ञान का होता है। २. स्थिति-कारण—मन का पुरुषार्थता, जैसे शरीर का आहार है। ३. अभिव्यक्ति-कारण—रूप का प्रकाश है, तभी तो (प्रकाश होने पर ही) रूप जाना जाता है। ४. विकार-कारण - भिन्न-भिन्न विषय मन के लिए, जैसे अग्नि पाक के लिए। ५, प्रत्यय-कारण—धूएं का ज्ञान अग्नि के ज्ञान का। ६. प्राप्ति-कारण – योगाङ्गों का अनुष्ठान विवेक-ख्याति का। ७. वियोग-कारण—वही योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि का। ८. अन्यत्व-कारण—जैसे स्वर्णकार सोने का (आकृति-भेद करने से)। इसी प्रकार 'स्त्री' के प्रति मोहभाव, दुःखत्व, सुखत्व या तटस्थता इन विविध अनुभूतियों के लिए क्रमशः अविद्या, द्वेष, राग या विवेकयुक्त ज्ञान, 'अन्यत्व-कारण' हैं। ९. धृति-कारण—धारण करने के कारण शरीर इन्द्रियों का, और इन्द्रियाँ शरीर का। पञ्च महाभूत शरीरों का और सभी शरीर परस्पर उपकृत होने से एक दूसरे का धृति कारण हैं। परस्पर एक दूसरे के लिए होने से ही तिर्यक्, योनिज, मनुष्य और देवताओं के शरीर या पदार्थ भी सबके धृतिकारण हैं।[1]

[२२९] एवं नवैव कारणानि। तानि च यथार्थसम्भवं[२८३] **पदार्थान्तरेष्वपि [अनुदाहृतेषु] योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभते**[२८४] **।**

इस प्रकार कुल नौ ही कारण होते हैं। और इन्हें यथार्थतः एवं यथासम्भव अन्य [यहां न दर्शाये गये] पदार्थों में भी जोड़ा जा सकता है। योग के अंगों का अनुष्ठान तो (छठा और सातवां) दो ही प्रकार का कारण बन पाता है, (अधिक प्रकार का नहीं) ॥ २८ ॥

---

1. यहाँ ब्रह्माण्ड-विज्ञान का यह सत्य भी उद्घाटित हुआ है कि अन्तरिक्ष में विद्यमान सभी पदार्थ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते—

—अब योग के अंगों का निर्धारण किया जाता है—

यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२।२६॥

योग के आठ अंग हैं:—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, और ८. समाधि ॥

[२३०] **यथाक्रमम् एषाम् अनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥**

अब क्रमशः इनका अनुष्ठान (-प्रकार) और स्वरूप बतायेंगे ॥ २६ ॥

—तत्र

—इन में से (प्रथम योगाङ्ग)—

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२।३०॥

'यम' पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ॥

[२३१] **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वभूतानाम् अनभिद्रोहः । उत्तरे च यमाः** [२८४] **तन्मूलाः, तत्सिद्धिपरतयैव** [२८६] **प्रतिपाद्यन्ते तदवदात-करणाय** [२८७] **उपादीयन्ते । तथा**[२८८] **उक्तम्—"स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा बहूनि व्रतानि**[२८९]**समादित्सते तथा तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपाम् अहिंसां करोति ।" इति ।**[२९०]

इनमें से 'अहिंसा' है—सभी स्थावर[1] और जङ्गम भूतों=प्राणियों को किसी भी प्रकार की पीड़ा[2] न पहुंचाना । यही अगले चारों

१. 'सर्वभूतानां' की व्याख्या में विवरणकार ने सर्व शब्द से स्थावर और जंगम दोनों का ग्रहण किया है । ये 'स्थावर' भूत या प्राणी कौन से हैं ? वृक्ष आदि वनस्पति; क्योंकि—'स्थावर ...Fixed to one spot, stable, stationary,'—V. S. Apte p. 623.

२. (क) 'अभिद्रोह: Injuring, plotting against,...'V. S. Apte, p. 39

(ख) मिला०—'अनभिद्रोहोऽपीडनम्'—विव० पृ० २१२ ।

यमों का मूल[1] है। अहिंसा की सिद्धि हो जाने से ही उनका पालन हो सकता है, तथा अहिंसा को ही पूर्ण निर्मल करने के लिए उनका अंगीकार होता है। ऐसा ही कहा भी है—"...ऐसा ब्रह्मजिज्ञासु=मुमुक्षु[2] यह योगी जैसे-जैसे बहुत से व्रतों को अपनाता है, वैसे-वैसे प्रमाद=लापरवाही में किये गये हिंसामूलक कर्मों से हटता हुआ [illegible] स्वच्छ उत्कृष्ट अहिंसा का आचरण करता है।"

[२३२] सत्यं[२६१] यथा दृष्टं यथा अनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मन-[illegible]। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा, प्रतिबन्ध्या वा,[२६२] एषा सर्व-भूतोपकारार्थः प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। [illegible] पुण्याभासेन पुण्यप्रतिबिम्बकेन[२६३] [illegible] तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वहितं[२६४] सत्यं ब्रूयात्।

'सत्य' है—जैसा देखा, जैसा अनुमान किया, या जैसा सुना; वैसा ही वाणी और मन का होना। दूसरे तक अपना ज्ञान पहुंचाने के लिए कही हुई वाणी जब वञ्चना[3] भ्रान्ति[4] या असमर्थता[5] वाली नहीं

---

1. इस प्रसंग में 'सर्वभूतानामनभिद्रोहः' से 'किसी भी भौतिक पदार्थ के विरुद्ध कार्य न करना' ऐसा भाव भी लिया जा सकता है। और तभी 'अहिंसा' इतनी सूक्ष्म और गहरी हो पाती है कि अगले यमों को भी अपने में समेट ले। [illegible] झूठ, चोरी और व्यभिचार द्वारा जीवधारी को पीड़ा पहुँचाना तो असम्भव हो ही जाता है, जड़ पदार्थों का अवांछित संग्रह या 'परिग्रह' करना भी हिंसा का पर्याय [illegible] है। वस्तुतः, इन पाँचों को 'यम' कहा भी इसलिए है कि ये व्यक्ति [illegible] समष्टिगत व्यवहार को संयत करते हैं।
2. मिला० ब्रह्मलीन पृ० २७५।
3. यहाँ विवरणकार ने 'यथा युधिष्ठिरस्य [illegible] हतः स कुञ्जर इति', इस महाभारत-प्रसिद्ध वञ्चक वाणी का उदाहरण दिया है।
   दे०—विव० पृ० २१३।
4. अर्थात् 'अनृत को ही सत्य मान कर कहना' दे०—वहीं पृ० २१३।
5. 'अर्थ बताने में अपर्याप्त, सन्दिग्ध [illegible] या प्रकरण को छोड़कर कही हुई बात' दे०—वही पृ० २१३।

होती, [illegible] यह [illegible] प्राणियों के उपकार के लिए प्रवृत्त होती है, न कि अपकार के लिए। और इस प्रकार (सावधानी-पूर्वक) कही जाने पर भी यदि प्राणी-पीड़ा-परक ही हो तो वह 'सत्य' नहीं होती, पाप ही होती है[1]। पुण्य प्रतीत होने वाली और पुण्य का प्रतिबिम्ब बनी हुई ऐसी (प्राणी-पीड़क) वाणी से दुःखदायी तमस् (=अन्धकार [illegible] तमोगुण) ही प्राप्त होता है। इसलिए खूब परख कर सब का हित करने वाला सत्य बोलना चाहिए।

[२३३] स्तेयम् अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां [illegible] स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः तु[२६५] अस्पृहारूपमस्तेयमुच्यते।[२६६]

'**अस्तेय**'—शास्त्र जिसे नहीं मानते उस ढंग से दूसरों से धन आदि का स्वीकार करना 'स्तेय' या चोरी है। ऐसा न करना लालच-रहित 'अस्तेय' कहाता है।

[२३४] ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।

'**ब्रह्मचर्य**' है— अपनी अन्य इन्द्रियों पर वश रखते हुए उपस्थ=जननेन्द्रिय पर संयम।

[२३५] विषयाणामर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दोष-दर्शनादस्वीकरणम् अपरिग्रहः। इत्येते यमाः॥

'**अपरिग्रह**' है—विषय-पदार्थों के कमाने, संभालने, क्षीण होने, इनके प्रति आसक्ति और इनके द्वारा हिंसा आदि दोषों को देखकर[2] इन्हें न स्वीकारना। ये सब यम हैं॥ ३०॥

---

1. इस [illegible] से तुलनीय है—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'— मनु० ४।१३८॥
2. इसका अभिप्रेतार्थ यह भी है कि 'असामर्थ्य के कारण छोड़ देना अपरिग्रह नहीं है।' द्र०—विव० पृ० २१४।

—एते तु[२९७]—

—ये तो (पांचों यम)—

जाति-देश-काल-समय-ानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥२।३१॥

जब जाति, देश, काल और समय=कर्त्तव्य-नियम[1] से अवच्छिन्न= सीमित नहीं होते तब सार्वभौम महाव्रत होते हैं ॥

[२३६] **तत्र अहिंसा जात्यवच्छिन्ना मत्स्यबन्धकस्य मत्स्येष्वेव, नान्यत्र [मत्स्यजातेर्] हिंसा। सैव कालावच्छिन्ना—न चतुर्दश्यां, न पुण्येऽहनि[२९८] इति। त्रिभिरुपरतस्य तस्यैव[२९९] समयावच्छिन्ना—देव-ब्राह्मणार्थं हनिष्यामि नान्यथेति[३००]। तथा च क्षत्रियस्य[३०१] युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति[३०२]।**

'अवच्छिन्नता' क्या है?[2] 'जात्यवच्छिन्न अहिंसा' का दृष्टान्त है मछेरे की हिंसा जो मछलियों में ही होती है, अन्यत्र नहीं। वही अहिंसा 'देशावच्छिन्न' होती है कि, 'तीर्थ स्थानों पर नहीं मारूँगा'। वही अहिंसा 'कालावच्छिन्न' होती है कि, 'चतुर्दशी को या किसी पुण्य दिवस पर हत्या नहीं करूँगा'। इन तीन जाति, देश और काल की सीमा से उबरने पर भी यही 'समयावच्छिन्न' हो सकती है कि, 'देवता और ब्राह्मण के लिए हत्या करूँगा, अन्यथा नहीं।' इसी तरह क्षत्रियों की हिंसा युद्ध में ही होती है अन्यत्र नहीं, (यह भी समयावच्छिन्न अहिंसा है)।

---

1. (क)—'समयः 1.Time in general, 2. Occasion, ···4 [illegible] agreement,···5 convention···6 an established rule of condut'—V. S. Apte p. 586.
   (ख) 'समयः कर्त्तव्यतानियमः'—विव० पृ० २१५।
   (ग)—'समय का अर्थ है कर्त्तव्य के लिए नियम'—आरण्य, पृ० २५०।
2. यहां 'तत्र' द्वारा सूत्रस्थ अनवच्छिन्नता का ही संकेत है, 'जिसके स्पष्टीकरणार्थ व्यतिरेक द्वारा अहिंसा का उदाहरण दिया है।' मिला०—विव० पृ० २१४।

[२३७] **जाति-देश-काल-समयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्व-भूमिषु सर्व-विषयेषु सर्वथैव अविदित-व्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतम् इत्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥**

अहिंसा आदि पाँचों यम इन जाति, देश, काल और समय से सीमित किए बिना हर अवस्था में ही पालने चाहियें। ये सार्वभौम महाव्रत तभी कहाते हैं, जब इनके विरुद्ध आचरण का अभाव सब भूमियों[1] में सब विषयों में[2], सदा और सब तरह से, पूर्णतया दिखाई दे ॥३१॥

शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥२।३२॥

शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान
ये पांच 'नियम' हैं ॥

[२३८] **तत्र शौचं मृदादि**[३०३]**-जनितम्, मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरम्—चित्त-मलानाम् आक्षालनम्।**

इनमें से '**शौच**'—(क) बाह्य—मिट्टी (और पानी) आदि द्वारा की हुई सफाई तथा मेधा बढ़ाने वाला (घी दूध आदि) भोजन करना। (ख) आभ्यन्तर—भीतर के चित्त के, काम-क्रोध-लाभ आदि मैलों की सफाई।

[२३९] **सन्तोषः सन्निहित-साधनादधिकस्यानुपादित्सा**[३०४]।

'**सन्तोष**'—मिले हुए साधनों पर ही तसल्ली होने से, और अधिक साधन जुटाने की अभिलाषा न होना।

[२४०] **तपो द्वन्द्व-सहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे,**

---

1. तुल०, 'भूमिः'''3 A territory...limit,'...V. S. Apte. p. 410.
2. (क) विवरणकार ने भी यहाँ भूमि का अर्थ 'जाति आदि' चारों सीमाओं से लिया है। किन्तु तब 'विषयेषु' का अर्थ 'प्राणिषु' करना 'जाति' द्वारा ही गतार्थ हो जाता है। द्र०—विव० पृ० २१५।
(ख) 'विषय' का अर्थ यहाँ 'धार्मिक अनुष्ठान' लिया जा सकता है। द्र० —'...16 A religious observance',—V. S. Apte, p. 524.

स्थानासने, काष्ठमौनाकाष्ठमौने[३०५]। **व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्र**, **चान्द्रायणं, सान्तपनम्**[३०६]।

'तपस्' - द्वन्द्वों को सहना। खाने-पीने की इच्छा, सर्दी-गर्मी, ठहरना-बैठना, काष्ठ-मौन अकाष्ठ-मौन[1] ये सब द्वन्द्व हैं। यथासम्भव इन (योगियों)[2] के लिए कृच्छ्र, चान्द्रायण और सान्तपन[3] व्रत हैं।

[२४१] **स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा।**

'स्वाध्याय'—मोक्ष-विषयक शास्त्रों का अध्ययन या 'ओंकार' का जप।

[२४२] **(ईश्वर-प्रणिधानम्-तस्मिन् परमगुरौ सर्व-कर्मार्पणम्। —'शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीण-वितर्कजालः। संसार-बीजक्षयमीक्षमाणः, स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभोगी॥'—यत्रेवमुक्तं—'ततः)**[३०७] **प्रत्यक्-चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' इति॥**

'ईश्वर-प्रणिधान'—उस परमगुरु परमेश्वर को (पाने के लिए) अपने सब कार्य अर्पित कर देना। (सूक्ति है—) "बिस्तर पर बैठा हो या आसन पर, चाहे राह में चलता हो, सदा अपनी आत्मा में, ='स्व' में स्थित रहते हुए तर्क-वितर्क के जाल को पूरी तरह तोड़कर, संसार के बीज=संयोग[4] या अविद्या के[5] विनाश को साक्षात् करते हुए,

---

1. काष्ठ-मौन=लकड़ी की तरह चुप साधना, संकेत भी न करना। अकाष्ठ-मौन में संकेत द्वारा काम चलाते हैं।
2. 'इन व्रतों का पालन द्वन्द्व-समूह के सहन के लिए है' केवल इतने अर्थ से सन्तुष्ट न होकर विवरणकार यहाँ 'योगिनां' का स्पष्ट स्वीकार करते हैं। इससे उनकी दृष्टि में योगी के लिए व्रत-पालन जरूरी हो जाता है।
3. विवरणकार के अनुसार 'कृच्छ्र' व्रत है प्राजापत्य (?) आदि। 'चान्द्रायण' हैं—यवमध्य और पिपीलिकामध्य। 'सान्तपन' में गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत आदि पर निर्भर किया जाता है। द्र० विव० पृ० २१६। 'कृच्छ्र'-व्रत में तीन दिन प्रातः, तीन दिन सायं परिमित भोजन और फिर तीन दिन का उपवास करना होता है। द्र०—वहीं। तथा ब्रह्मलीन पृ० २८३।
4. द्र०—'द्रष्टृ-दृश्ययोः संयोगो हेय-हेतुः।'—योग० २।१७।
5. द्र०—'तस्य हेतुरविद्या'—योग० २।२४॥

जीवन्मुक्त दशा में अमृत के (परमेश्वर के) अमर आनन्द का, भागी बने।" (इस ईश्वर-प्रणिधान का फल) पहले भी बताया जा चुका है-'तब प्रत्यक्-चेतना प्राप्त होती है और अन्तरायों का अभाव हो जाता है।'[1] ॥ ३२ ॥

—**तत्र**[309] **यम-नियमानां**—

—वहां इन यम-नियमों के—

वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष-भावनम् ॥२।३३॥

विरुद्ध तर्क-वितर्क की बाधा आये तो उन्हें मिटाने वाली भावनाएं लायी जाती हैं॥

[२४३] **यदास्य ब्राह्मणस्य वितर्का हिंसादयो जायेरन्—'हनिष्यामि**[310] **अपकारिणम्' इति। 'अनृतं वदिष्यामि'**[311] **इति। 'द्रव्यम् (अपि) अस्य स्वीकरिष्यामि' इति। 'दारेषु चास्य गमिष्यामि'**[312] **इति। 'परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामी'ति**[313]**।**

कभी-कभी इस ब्रह्म-जिज्ञासु के मन में यम-विरोधी हिंसा आदि के कुतर्क उत्पन्न हो सकते हैं। (प्रत्येक के उदाहरण के लिए १. हिंसा) 'बुरा करने वाले दुष्ट को मारूँगा'। (२. असत्य—'इस प्रसंग-विशेष में) झूठ बोलूंगा'; (३. स्तेय—) 'इसका धन छीन लूंगा'। (४. अब्रह्मचर्य—) 'इसकी स्त्रियों में रमण करूँगा'। (५. परिग्रह—) 'इसके संग्रह का स्वामी मैं ही बन जाऊँगा'।

[२४४] **इत्थमुन्मार्ग-हारिणा वितर्क-ज्वरेण दीप्तेन**[314] **बाध्यमानस् तत्प्रतिपक्षान् भावयेत्। 'घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमभ्युपगतः**[315] **सर्वभूताभय-प्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेन' इति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददानं कुर्वन्**[316]**।**

इस प्रकार कुमार्ग पर ले जाने वाले भड़के हुए विरुद्ध तर्क के ज्वर से पीड़ित होने पर इन तर्कों के प्रतिपक्ष की भावना करे।—'संसार के भयंकर दहकते अंगारों में जलते-भुनते मैंने सब प्राणियों को अभय

1. द्र०—योग० १।२९ ॥

देते हुए योग धर्म की शरण ली है। ऐसा मैं वितर्कों को छोड़कर फिर से उन्हीं को ग्रहण करता हुआ तो कुत्ते के से आचरण वाला हो जाऊँगा' इस भावना को अपनाए। छोड़े हुए को फिर लेने वाला वैसा ही है जैसे कुत्ता, जो अपने ही वमन को फिर से चाट लेता है।

[२४५] इत्येवमादि सूत्रान्तरे[३१०] अपि योज्यम् ॥ ३३ ॥
दूसरे सूत्र में (जिसमें शौच आदि नियमों की चर्चा है[1], उसके साथ) भी ऐसी ही प्रतिपक्षभावना को जोड़ लेना चाहिए ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृत-कारित-ानुमोदिता, लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वका, मृदुमध्याधिमात्रा, दुःख-ाज्ञान-ानन्तफलाः इति प्रतिपक्ष-भावनम् ॥२।३४॥

हिंसा आदि सभी वितर्क[2] कृत, कारित या अनुमोदित ; लोभ-पूर्वक, क्रोधपूर्वक या मोहपूर्वक; एवं मृदु, मध्य या अधिमात्र[3] हो सकते हैं। इनसे दुःख और अज्ञान का अनन्त फल मिलता है ऐसा समझना प्रतिपक्ष-भावना[4] है ॥

1. 'यम' २।३० में बताए हैं, और 'नियम' २।३२ में। प्रतिपक्षभावना की आवश्यकता दोनों के लिए है।
2. अर्थात् असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, अशौच, असन्तोष, अतपस्, अस्वाध्याय, अनीश्वर-प्रणिधान ये भी भाष्यकार के सं० [२४५] के अनुसार यहाँ संकेतित हैं, वितर्क में सम्मिलित हैं।
3. यह तीन तरह का विभाजन क्रमशः कर्तृत्व, कारणत्व और तीव्रत्व के आधार पर किया गया है। तीनों तीन-तीन प्रकार के होने से यह एक वितर्क को ३ × ३ × ३ = २७ प्रकारों में बाँटता है। किन्तु भाष्यकार तीव्रता को ३ के स्थान पर ९ भागों में बाँटकर ८१ भेद करते हैं। दे० आगे सं० २४६।
4. ऊपर के सूत्र की प्रतिपक्षभावना को सूत्रकार ने यहाँ स्वयं परिभाषित कर दिया है। फिर इससे भिन्न प्रकार की भावना का उल्लेख भाष्यकार ने वहाँ क्यों किया है ? द्र० सन्दर्भ [२४४]। सूत्रकार की दृष्टि जहाँ तात्त्विक और ज्ञान-प्रधान है, वहाँ भाष्यकार का प्रतिपक्ष भावना-प्रधान होने से अभ्यासी के हृदय को प्रभावित करता है। यम-नियम-पालनार्थ दोनों ही तरह से बुद्धि और मन को समझाना आवश्यक है, संभवतः इसी दृष्टि से भाष्यकार ने सूत्र का अर्थ-क्षेत्र विस्तृत किया है।

[२४६] तत्र हिंसा[३१८]—कृता, कारिता, अनुमोदितेति त्रिविधा[३१९]। एकैका पुनस्त्रिधा। लोभेन-मांसचर्मार्थी[३२०]। क्रोधेन-अपकृतमनेन इति। मोहेन—धर्मो मे भविष्यति इति। लोभ-क्रोध-मोहाः पुनस्त्रिधा—मृदु-मध्याधिमात्रा इति।[३२१] [एकैकं पुनः][३२२] त्रिधा भवति – १. मृदु-मृदुः २. मध्य-मृदुः ३. तीव्र-मृदुः इति। तथा—मृदु-मध्यो मध्य-मध्यः तीव्र-मध्यः। तथा मृदु-तीव्रः, मध्य-तीव्रः, तीव्र-तीव्रः[३२३] इति। एवमेकाशीति भेदा[३२४] हिंसा भवति।

इन वितर्कों में हिंसा १. कृता=की हुई, २. कारिता=कराई हुई, और ३. अनुमोदिता=समर्थन दी हुई; इस तरह तीन प्रकार की है। इनमें से प्रत्येक फिर तीन-तीन तरह की है। १. लोभ से – जैसे, मांस या चमड़े की अभिलाषा वाला करता है। २. क्रोध से—'इसने बुरा किया है' यह सोचकर की जाती है। ३. मोह से—'(बलि आदि चढ़ाने से) मेरा धर्म होगा' ऐसा मानकर की जाती है। लोभ, क्रोध और मोह भी फिर तीन-तीन तरह के हैं—१. मृदु=क्षीण, २. मध्य =बीच के, और ३. अधिमात्र=अत्यधिक। इनमें भी फिर प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार इस तरह हो जाते हैं—१. मृदु-मृदु, २. मध्य-मृदु, ३. तीव्र-मृदु। ऐसे ही—१. मृदु-मध्य, २. मध्य-मध्य, ३. तीव्र-मध्य। इसी तरह—१. मृदु-तीव्र, २. मध्य-तीव्र, तीव्र-तीव्र[1]। इस

1. (क) सूत्रस्थ 'अधिमात्र' शब्द के स्थान पर यहाँ भाष्य में 'तीव्र' शब्द अपना लिया गया है। क्या दोनों समानार्थक हैं? पहले भी समाधि लाभ के लिए अभ्यासी द्वारा प्रयुक्त उपाय का वर्गीकरण मृदु, मध्य और अधिमात्र में हुआ है; (योग० १।२२) जबकि अभ्यासी के 'संवेग' को मन्द, मध्य और तीव्र विभागों में बाँटा है। (योग० १।२१)। इसे देखते हुए संभवतः 'मृदु' और 'अधिमात्र' को मात्रावाची (quantitative) और 'मन्द' व 'तीव्र' को गुणवाची (qualitative) कह सकते हैं। पर फिर इस 'शब्द-भेद' को भाष्यकार ने यहाँ क्यों छोड़ दिया?

(ख) सूत्रकार ने तो 'वितर्क' की मात्रा और गुण दोनों ही आधारों को एक मानते हुए कुल तीन भेद किए थे। भाष्यकार ने उसी का विस्तार ९ भेदों में किया है। ऐसी स्थिति में मात्रा और गुण-वाची शब्दों का भेद रखना तो और भी आवश्यक हो जाता है। क्या योगसूत्र १।२१-२२ की भाँति यहाँ भी 'मृदु' के स्थान पर 'मन्द' का प्रयोग नहीं किया जा सकता? विभाजन का अतिरिक्त आधार देने पर भी 'मृदु' और 'तीव्र' का पुनः प्रयोग क्या 'मध्य' की ही तरह अपरिहार्य है?

प्रकार, हिंसा ३×३×३×३=८१ भेदों वाली हो जाती है।

[२४७] सा नियोग-[३२५] विकल्प-समुच्चय-भेदादसंख्येया। प्राणि[३२६]-भेदस्यासंख्येयत्वादिति। एवम् अनृतादिष्वपि योज्यम्।

हिंसा के भेदों को कार्य-नियोग के[1], विकल्प और समुच्चय के आधार पर बांटने से असंख्य भेद हो जाते हैं, क्योंकि प्राणियों के भेद भी तो नहीं गिने जा सकते। असत्य आदि के भेदों को भी ऐसे ही समझ लेना चाहिए।

[२४८] ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानानन्तफलाः, इति प्रतिपक्षं भावयेत्[३२७]।

इन सब वितर्कों का फल अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान है, इस प्रतिरोधक सत्य-पक्ष को अपनी भावना बना लेना चाहिए।

[२४९] तथा च हिंसको[३२८] वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति[३२९], शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति। ततो जीविताद् अपि मोचयति। तस्य[३३०] वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनम् उपकरणं क्षीण-वीर्यं भवति। दुःखोत्पादात् नरक-तिर्यक्-प्रेतादिषु दुःखम् अनुभवति। जीवित-व्यपरोपणात् प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियत[३३१]-वेदनीयत्वात् कथंचिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथंचित् [प्रभूत-] पुण्यावापगता[३३२] हिंसा भवेत्, तत्र [पुण्य-भूम्ना] सुखप्राप्तः सन्नपि भवेदल्पायुः[३३३]।

---

1. यहां एक महत्वपूर्ण पाठ-भेद और अर्थभेद है। प्रचलित पाठ में 'नियम' का अर्थ प्रायः वही किया जाता है जो जात्यवच्छिन्न अहिंसा में कहा जा चुका है। (मिला० ब्रह्मलीन पृ० २८८) किन्तु विवरणकार के द्वारा पाठभेद के साथ अर्थ का भी विशदीकरण किया गया है। 'नियम' के स्थान पर उनका पाठ है 'नियोग', और अर्थ है 'हिंसा के कार्य में नियुक्त या सम्मिलित व्यक्ति'। मान लीजिए एक राजा हिंसा करवाता है, वह किसी अधिकारी को कहता है, अधिकारी किसी राज-पुरुष को, और वह किसी हिंसक से मांस लाता है। ये सब व्यक्ति एकैकशः (विकल्प) और सम्मिलत (समुच्चय) रूप से भी हिंसा के प्रति अलग-अलग मात्रा में उत्तरदायी हैं। कितने ही प्राणी इस हिंसा को देखकर सह जाते हैं। उन सब हिंसा-रूपों की गणना सचमुच प्राणी-भेद के समान ही अगणनीय है। द्र० विव० पृ० २१९।

उदाहरण के लिए हिंसक पहल वध्य पशु की शक्ति निकाल देता है, शस्त्र आदि के आघात से दुःख देता है। फिर जीवन से भी मुक्त कर देता है। वध्य का शक्ति-नाश करने से हिंसक का चेतन और अचेतन साधन शक्तिहीन हो जाता है। वध्य को दुःख देने के कारण वह नरक में पशु और प्रेत आदि योनियों में दुःख का अनुभव करता है। वध्य की जान निकाल देने से हर पल जीवन की समाप्ति में ही रहता है, मरना चाहकर भी दुःख-फल के नियत-वेदनीय[1]='निश्चित रूप में अवश्य अनुभवनीय' होने से जैसे-तैसे सांस भर ले पाता है। और यदि किसी प्रकार बहुत से पुण्यों की अवापगता[2]='अंग बनी हुई' हिंसा हो तो पुण्यों की अधिकता से सुख पाता हुआ भी अल्पायु होता है।

[२५०] **इत्थमनृतादिष्वपि यथासंभवं योज्यम्**[३३४] **। एवं वितर्काणाम् छायामिव**[३३५] **अनुगतं विपाकमनिष्टं भावयेत्, न**[३३६] **वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥**

इसी तरह असत्य अदि के फलों को भी संभावनाओं के अनुसार असत्य आदि वितर्कों के फूल समझ लेना चाहिए। इस प्रकार, हिंसा, को छाया की तरह पीछाकरने वाला और अनिष्टकारी जाने। वितर्कों में मन को न लगाये ॥ ३४ ॥

—प्रतिपक्ष-भावना[३३७]**-हेया वितर्का यदा च स्युरप्रसव-धर्मिणः**[३३८] **तदा तत्कृतम् ऐश्वर्यं योगिनः सिद्धि-सूचकं (भवति) । तद् यथा—**

—और जब प्रतिपक्ष-भावना द्वारा त्याज्य हिंसा आदि वितर्क फल-दायी गुणों से रहित हो जाते हैं, तब उस यम-नियम के पालन द्वारा दिया हुआ ऐश्वर्य योगी की सिद्धि का सूचक होता है। आगे इसी का विशदीकरण है—

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः ॥२।३५॥

1. मिला०—कर्म विपाक का एक भेद 'दृष्ट-जन्मवेदनीय'—पीछे, पृ० ४६ टि० ३ योग २।१३।
2. मिला०—अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्मविपाक का भेद 'प्रधान-कर्मण्यवापगमनम्'—पीछे० पृ० ४६ `` टि० ३ योग २।१३॥

जब अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, तब उस अभ्यासी के पास वैर का त्याग हो जाता है ॥

[२५१] **सर्व-प्राणिनां भवति ॥**

यह वैर-त्याग सभी प्राणियों का, जन्म-वैरियों का भी हो जाता है ॥ ३५ ॥

सत्य-प्रतिष्ठायां क्रिया-फलाश्रयत्वम् ॥२।३६॥

जब सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है तब उसके वाक्य मात्र[1] पर क्रियाओं का फल निर्भर करता है ॥

[२५२] **'धार्मिको भूया' इति धार्मिको भवति**[३३६] **। 'स्वर्गं प्राप्नुहि' इति स्वर्गं प्राप्नोति । अमोघा अस्य वाग् भवति ॥**

'धार्मिक हो जाओ' ऐसा कहने से धार्मिक हो जाता है।[2] 'स्वर्ग पहुंचो' ऐसे आशीर्वचन से स्वर्ग मिल जाता है। इस सत्यसिद्ध की वाणी व्यर्थ नहीं होती ॥ ३६ ॥

अस्तेय-प्रतिष्ठायां रत्नोपस्थानम् ॥२।३७॥

चोरी का अभाव प्रतिष्ठित होने [स्पृहा भी न रहने][3] पर रत्न उपस्थित हो जाते हैं ॥

[२५३] **सर्वदिक्-स्थानि अस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥**

सारी दिशाओं में विद्यमान रत्न इस अस्तेय-सिद्ध के समीप स्थित रहते हैं ॥ ३७ ॥

---

1. (क) मिला० – 'सत्यवादि-वाक्यादिति शेषः'—विव० पृ० २२१ ।
   (ख) मिला० – 'वाक्य क्रिया-फल के आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है ।'
   —आरण्य, पृ० २५७ ।
2. यहाँ महाभारत के शान्तिपर्व २७१ अध्याय के कुण्डधारोपाख्यान से देवों की वाणी द्वारा एक दुष्ट ब्राह्मण के धार्मिक होने का उदाहरण दिया है । द्र० विव० पृ० २२१ ।
3. 'अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् अस्पृहायाम्'—विव० पृ० २२१ । 'अस्तेय' की यह सूक्ष्मता दर्शनीय है जिसमें अधिक पदार्थों की लालसा, स्पृहा भी 'स्तेय' का भागी बना देती है ।

ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥२।३८॥

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने पर शक्ति की प्राप्ति होती है ॥

[२५४] ब्रह्मचर्य[340]-लाभाद् अप्रतिघान् गुणान् उत्कर्षयति।[341] विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति[342] ॥

ब्रह्मचर्य (के फलस्वरूप समग्र-व्यक्वित्व-व्यापी शक्ति) पाकर प्रतिघात-शून्य (=लासानी, अद्वितीय) गुणों को उत्कृष्ट बना लेता है। अपने शिष्यों को भी ज्ञान देने में समर्थ हो जाता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रह-स्थैर्ये जन्म-कथन्ता-सम्बोधः ॥२।३९॥

अपरिग्रह की स्थिरता हो जाने पर यह सम्यक् ज्ञान हो जाता है कि जन्म कैसे और क्यों हुआ है ॥

[२५५] अस्य भवति। (कोऽहमासम् ? कथमहमासम् ?)[343] किं स्विदिदम् ? [किं भविष्यामः ?] के[344] भविष्यामः ? कथं (वा) भविष्यामः ? इत्येवमस्य पूर्वापरान्तमध्येषु आत्मजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्त्तते[345] ॥

यह ज्ञान अपरिग्रही को हो जाता है। (मैं कौन था ? मैं किस प्रकार से रहता था ?) यह जन्म (तत्त्वतः) क्या है ? यह जन्म हुआ किस प्रकार है ? [हम तत्त्वतः क्या बनेंगे ?] हम (स्वरूपतः) कौन बनेंगे ? या किस तरह बनेंगे ?' इस प्रकार, इस अपरिग्रही की भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानकालीन सम्यग् आत्मज्ञान की इच्छा[1] अपने

---

1. सूत्रकार के अनुसार इस परिग्रह-प्रतिष्ठा द्वारा 'आत्म-जन्म का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त' होता है। उसी को भाष्यकार ने 'आत्म-जिज्ञासा का स्वरूपतः उपावर्त्तन' कहा है। एक ज्ञान है और दूसरा जिज्ञासा। फिर भी क्या दोनों में एक ही बात है ? ठीक है कि परिग्रही को सांसारिक वैभव से हटकर पारलौकिक जिज्ञासा नहीं होती, अपरिग्रही को ही हो सकती है। किन्तु यह आत्मजिज्ञासा-मात्र न रहकर अपने जन्म की प्रयोजनवत्ता से परिचित करा देती है। संभवतः, इसीलिए भाष्यकार ने भी जिज्ञासा को स्वरूपधारिणी, मूर्त्तिमती कहा है। विवरणकार के अनुसार यह 'सम्यग्-दर्शन का पूर्वरूप' है। इस उपलब्धि की विशेषता है कि—'स्वात्मविषयालोचनमयत्नेन प्रवर्त्तते । नान्येषां***यत्नेनापि जायते ।'—विव० पृ० २२२।

वास्तविक रूप में उपस्थित हो जाती है ॥ ३९ ॥

– यमेषु सिद्धय उक्ताः इदानीं[346] नियमेषु वक्ष्यामः ।

'यम'-विषयक सिद्धियाँ बता दीं, अब नियमों की बतायेंगे—

शौचात् स्वाङ्ग-जुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥२।४०॥

'शौच' सिद्ध होने से अपने अंगों से भी घृणा और दूसरों के साथ सम्पर्क से भी बचने की इच्छा हो जाती है ॥

[२५६] **स्वाङ्ग-जुगुप्सया[347] शौचमारभमाणः कायावद्य-दर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किञ्च परैरसंसर्गः । काय-स्वभावाव-लोकी स्वमपि कायं जिहासुः, मृज्जलादिभिः प्रक्षालयन्नपि काय-शुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेव अप्रयतैः संसृज्यत इति[348] ॥ ४० ॥**

अपने अंगों के प्रति घृणा से 'शौच' प्रारम्भ करने वाले साधक को शरीर की गन्दगी दिखने लगती है। वह काया से आसक्त न होने वाला यति हो जाता है। इसके अतिरिक्त, दूसरों के साथ सम्पर्क नहीं करता। जो शरीर के (अपवित्र) स्वभाव को देख चुका और अपने भी शरीर को छोड़ना चाहता है, वह मिट्टी जल आदि से धोते-धोते भी शरीर को शुद्ध होता हुआ न देखकर, दूसरों के अत्यन्त ही अपवित्र शरीरों के साथ संसर्ग कैसे करेगा ? ॥ ४० ॥

—किञ्च—

इसके अतिरिक्त (शौच से)[1]—

सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्र्य्-ऐन्द्रियजय-आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च ॥२॥४१॥

सत्त्व गुण की शुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रिय-जय, और आत्म-दर्शन की योग्यता ॥

[२५७] **भवन्तीति वाक्यशेषः । शुचेः सत्त्वशुद्धिः । ततः सौमनस्यम्, तत ऐकाग्र्यम्, तत इन्द्रियजयः, ततश्च आत्मदर्शन-योग्यत्वम् बुद्धि-**

1. 'शौचात्' का ऊपर के सूत्र से अनुवर्तन होता है।

सत्त्वस्य [illegible] । इत्यतः शौच-स्थैर्याद् अधिगम्यते एतत् सर्वम्[२४६] ।।

'ये सब होते हैं' यह वाक्यांश बचता है[1] । (ये पहले के द्वारा अगले वाले होते जाते हैं ।) शौच से सत्त्वगुण की निर्मलता (रजोगुण-तमोगुण की न्यूनता), सत्त्वशुद्धि से सौमनस्य, मनःशुद्धि से एकाग्रता, एकाग्र-भाव से इन्द्रियों पर वश, इन्द्रिय-जय से (बुद्धि-सत्त्व द्वारा) आत्म-दर्शन की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। शौच की स्थिरता से यह सब मिलता है ।।४१।।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।।२।४२।।

सन्तोष से सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है ।।

[२५८] **तथा चोक्तम्—**

'यच्च काम-सुखं लोके, यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।।' इति ।।

ऐसा ही कहा भी है—'संसार में कामनाओं-अभिलाषाओं का जो सुख है, और जो कुछ अलौकिक महान् सुख है, वे सब तृष्णा-नाश के सुख का सोलहवां हिस्सा भी नहीं हैं ।' ।।४२।।

कायेन्द्रिय-सिद्धिर् अशुद्धिक्षयात् तपसः ।।२।४३।।

तपस् द्वारा अशुद्धि का[2] क्षय और उससे शरीर और इन्द्रिय की सिद्धियां[3] प्राप्त होती हैं ।।

---

1. यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि 'भवन्ति' इस क्रियापद को 'वाक्यशेष' कहा गया है । अतः भाष्यकार वाक्य को पूरा और स्पष्टार्थक तभी मानते हैं जब यथास्थान अस्तित्व-वाचक क्रियापद भी जोड़ा जाए । ऐसा ही सन्दर्भ २६३ में भी है । (योग० २।४७ ।।) अतः जहाँ भाष्य के पाठ-भेद में 'भवति' या 'भवन्ति' जैसा क्रिया-पद है, वह अधिक ग्राह्य होना चाहिए । इस प्रकाश में दे० पाठभेद सं०— ३५३ ।
2. यह अशुद्धि उस अशुद्धि से भिन्न है, जिसे शौच द्वारा शुद्ध किया जाता है । शौच तो स्पष्टतः सत्त्वगुण को निर्मल करता है । और तपस् अविद्या आदि मल का निवारक है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है । द्र० योग० २।२ ।
3. मिला०—अणिमादि अष्ट-सिद्धियां; योग० ३।४५ ।

[२५९] निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणम्[३५०]। तदावरणमलापगमात् कायसिद्धिरणिमाद्या। तथा इन्द्रियसिद्धि-र्दूराच्छ्रवणाद्या[३५१] ॥

ठीक से किया हुआ[1] तपस् अशुद्धि के आवरण को नष्ट कर देता है। आवरण-मल के हट जाने से अणिमा आदि काया की सिद्धियां मिलती हैं। इसी प्रकार 'दूर से सुन लेना' आदि इन्द्रियों की सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं ॥४३॥

स्वाध्यायाद् इष्ट-देवता-सम्प्रयोगः॥ २।४४॥

'स्वाध्याय' से इष्टदेव के साथ मिलन या सम्बन्ध[2] हो जाता है ॥

[२६०] देवा ऋषयः सिद्धाश्च ये इष्टास्ते[३५२] स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्येषु चास्य वर्तन्ते ॥

देवगण, ऋषि और सिद्ध लोग जो इष्ट हों, वे स्वाध्यायशील=प्रणव-जपी के दर्शन[3] में आते हैं, और उसके कामों में भी उपस्थित रहते हैं[4] ॥४४॥

---

1. 'निर्वर्त्यमान' विशेषण तपस् में संभाव्य आडम्बर और पाखण्ड की ओर भी संकेत करता है।
2. द्र०-'संप्रयोग : 1 Union...meeting...contact... Relation,'—V, S. Apte, p. 510
3. (क) 'स्वाध्याय' का अर्थ 'मोक्षशास्त्राणाम् अध्ययनम्' (द्र० व्यास सं० २४१, योग०, २।३२) करने पर, 'देव ऋषि सिद्धों के दर्शन' का अभिप्राय यही है कि उन शास्त्रों के रचयिता मनस्वी विद्वानों से हमारा सीधा सम्पर्क सध जाता है।

   (ख) 'देव' का अर्थ यहाँ 'परमेश्वर' मानना भी पूर्णतः संगत होगा, विशेषतः 'स्वाध्याय' के दूसरे अर्थ 'प्रणव-जप' (मिला०-पीछे व्यास सं० २४१, योग० २।३२ ॥) के आधार पर। जब 'प्रणव' ईश्वर का ही वाचक है, (मिला० योग० १।२७ ॥) तब प्रणव-जप द्वारा वही अभीष्ट होने से उसी का साक्षात् भी होना चाहिए, अन्य देवी-देवताओं का नहीं।
4. (क) [illegible]=अध्ययन एवं जप द्वारा जिस इष्टदेव का ध्यान किया जाता है, वह गहरा होने पर हर समय बना रहे तो [illegible] आश्चर्य !

समाधि-सिद्धिर् ईश्वर-प्रणिधानात् ॥२।४५॥

समाधि की सिद्धि 'ईश्वर-प्रणिधान' से होती है ॥

[२६१] **ईश्वरार्पित-सर्वभावस्य समाधिः सिध्यति:**[343] **। यया सर्वमीप्सितम् प्रवितथं जानाति । तथा देशान्तरे कालान्तरे चास्य प्रज्ञा यथाभूतं जानाति**[344] ॥

जो समग्रभाव से ईश्वर के प्रति समर्पित है, उस ईश्वर-प्रणिधानी की समाधि की सिद्धि हो जाती है । इस सिद्धि से जिसे चाहता है उसे सही-सही (बिना मिथ्या ज्ञान के) जान जाता है । साथ ही, इसकी प्रज्ञा, दूसरे स्थानों और दूसरे कालों में भी जैसा कोई पदार्थ हो, या जैसा हुआ हो, वैसा ही जान लेती है ॥४५॥

—उक्ताः **सह सिद्धिभिर्यम-नियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र**—

यम-नियमों को उनकी सिद्धियों के साथ बता दिया । अब आसन आदि बतायेंगे । उनमें से—

स्थिर-सुखम् आसनम् ॥२।४६॥

जिससे (शरीर और मन का) स्थैर्य और सुख मिले वह 'आसन' है ॥

[२६२] **तद् यथा पद्मासनम्, भद्रासनम्, वीरासनम्, स्वस्तिकम्, दण्डासनम्, सोपाश्रयम्, पर्यङ्कम्, क्रौञ्च-निषदनम्, हस्ति-निषदनम्, उष्ट्र-निषदनम्, सम-संस्थितम्, स्थित-प्रश्रब्धिः**[345], **यथासुखं च (इत्येवमादीनि)**[346] ॥

योग के आसन इस प्रकार हैं— १. पद्मासन, २. भद्रासन, ३. वीरासन, ४. स्वस्तिकासन, ५. दण्डासन, ६. सोपाश्रयासन, ७. पर्यङ्कासन, ८. क्रौञ्च-निषदन, ९. हस्ति-निषदन, १०. उष्ट्र-निषदन, ११. सम-

---

उससे अभ्यासी उनकी [illegible] उपस्थिति अनुभव करता हुआ कार्यों में उत्तमता और सफलता लाभ करता है, ऐसा संकेत यहाँ प्रतीत होता है ।
(ख) संभवतः, यह स्थिति 'धारणा' से बढ़कर 'ध्यान' तक की ही है, क्योंकि समाधि के लिए तो अगला सूत्र है —योग० २।४५ ॥

संस्थित, १२. स्थिर-प्रश्रब्धि:, और १३. यथासुखासन इत्यादि[1]॥४६॥

प्रयत्न-शैथिल्य-ानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥२।४७॥

(आसन के लिए किए) प्रयत्न[2] की शिथिलता हो जाए और अनन्त (=प्रभु) का[3] भाव चित्त में सम्पूर्णतया व्याप्त हो ॥

[२६३] **भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनम्, येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयति**[३५८] ॥

'तब (आसन स्थिर-सुख) होता है' यह वाक्यांश सूत्र में शेष है। कोई प्रयत्न न रहने पर आसन सिद्ध होता है, जिससे अंगोंमें कंपकंपी, शून्यता या झनझनाहट नहीं होती। और फिर[4] व्यापक ईश्वर में पूरी तरह डूबा हुआ चित्त भी आसन को ठीक से लगा देता है ॥४७ ॥

1. (क) इन आसनों की व्याख्या के लिए दे०-योगसार, चतुर्थ खण्ड, एवं विव० पृ० २२५-२२६।
   (ख) यहाँ 'आदि' शब्द से स्पष्ट है कि योग के लिए अन्य आसन भी हो सकते हैं, पर उनमें स्थिरता और सुख अनिवार्यतः बने रहने चाहियें।
2. पद्मासनादि लगाते हुए शरीर को निश्चित विशेष [illegible] में लाने के लिए प्रयत्न करना ही पड़ता है, पर [illegible] को सिद्ध करने के लिए उसी यत्न का परित्याग भी जरूरी है। द्र०—'पुनः पुनः शरीरावयव-शरीर-विन्यास-विशेष-परित्यक्त-प्रयत्नः सन्'-- विव० पृ० २२५।
3. 'आनन्त्य' के स्थान पर 'अनन्त' पाठ में भी 'शेषनाग' अर्थ करना अप्रासंगिक है। ईश्वर को छोड़कर और कौन अनन्त होगा ? और 'आनन्त्य' पाठ में तो ईश्वर के ऐश्वर्य [illegible] [illegible] और भी सार्थक हो जाता है। यहां विवरणकार द्वारा 'व्याप्य विश्वभावं स्थितं चित्तम्' (विव० पृ० २२७) से भी इसी ईश्वर-व्यापकता की ओर इंगित [illegible]।
4. (क) यहाँ पाठ 'वा' है। किन्तु इसे 'विकल्प' के अर्थ में लेना उचित न होगा, क्योंकि जैसा सूत्र से भी स्पष्ट है और व्यवहार से भी, [illegible] सिद्ध्यर्थ दोनों ही अनिवार्य हैं—प्रयत्नशैथिल्य भी और चित्त की एकाग्रता भी, जो 'आनन्त्य में समापन्न' हो। एकाग्रता को प्राण-संचार आदि पर भी केन्द्रित किया जा [illegible] है, किन्तु सूत्रकार जो ईश्वर-प्रणिधान को सर्वोपरि मानते हैं, यहाँ भी उसी को ग्राह्य कहते [illegible]।
   (ख) 'वा ...2...(a) and, as well as, also;'—V. S. Apte, p.498

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥२।४८॥

तब द्वन्द्वों से पीड़ा नहीं होती ॥२।४८॥

[२६४] **आसनस्थिरीभावात्**[३५८] **शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैर् नाभिभूयते ॥**

आसन स्थिर हो जाने पर सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों के[1] कष्ट से साधक दब नहीं पाता ॥४८॥

तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर् गति-विच्छेदः प्राणायामः ॥२।४९॥

आसन लग जाने पर सांस भरने और छोड़ने की चाल का रुक जाना '=श्वास-प्रश्वास-गति-विच्छेद'[2] ही प्राणायाम है ॥

[२६५] **सत्यासने दृढे**[३६०] **बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कौष्ठ्यस्य वायोर्निश्चारणं**[३६१] **प्रश्वासः । तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः ॥**

आसन का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर बाहर की वायु भीतर आने देना 'श्वास' है। फेफड़ों की वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। दोनों की गति का रुक जाना, दोनों का न रहना 'प्राणायाम' है ॥४९॥

—स तु [त्रिविधः]—

—वह प्राणायाम तो [पहले तीन तरह का] है –

बाह्याभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिर् देश-काल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ २।५०॥

१. बाह्य-वृत्ति २. आभ्यन्तर-वृत्ति ३. स्तम्भ-वृत्ति। ये तीनों जब

---

1. 'द्वन्द्व... A couple of any two things, a couple of opposite condition or qualities,... 4...dispute... 6 Doubt, uncertainity —V. S. Apte, p. 265.
इस सन्दर्भ में इन सभी अर्थों को लिया जा सकता है। इसका तात्पर्य हुआ कि आसन-जय से व्यक्ति को शारीरिक सहन-शक्ति के साथ मानसिक सन्तुलन भी प्राप्त होता है।

2. यह स्वाभाविक 'गति-विच्छेद' प्रयास-जन्य 'कुम्भक' से नितान्त भिन्न है।

देश, काल एवं संख्या का ध्यान रखते हुए किये जाएं तो
दीर्घ और सूक्ष्म हो जाते हैं ॥

[२६६] १. **यत्र श्वास[३६२]-पूर्वको गत्यभावः स [बाह्य-वृत्तिः,] बाह्यः। २. यत्र प्रश्वास[३६३]-पूर्वको गत्यभावः स [आभ्यन्तर-वृत्तिः,] आभ्यन्तरः। ३. तृतीयः [तु] स्तम्भवृत्तिः। तत्र[३६४] उभयाभावः सकृत् प्रयत्नात् [प्र-] भवति। यथा तप्ते न्यस्तम् उपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते, तथा द्वयोः युगपत् गत्यभावः इति।**

१. '**बाह्य-वृत्ति**'—जब सांस भरने के बाद गति का अभाव हो तो बाह्य[1] होता है। २. '**आभ्यन्तर-वृत्ति**'—जिसमें सांस निकालने के बाद गति का अभाव हो वह आभ्यन्तर हुआ। ३. '**स्तम्भ-वृत्ति**'—इस तीसरे प्राणायाम में तो श्वास और प्रश्वास दोनों का अभाव एक ही बार के प्रयत्न से सम्पन्न होता है। जैसे तपते हुए पत्थर पर पड़ा हुआ पानी सब तरफ से संकुचित होकर उड़ जाता है, वैसे ही दोनों गतियों का सांस भरने और छोड़ने का एक साथ अभाव हो जाता है।

[२६७] **त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः, इयानस्य[३६५] देश इति। कालेन परिदृष्टाः, क्षणानाम् इयत्तावधारणेन[३६६]। [तथा] संख्याभिः परिदृष्टाः, एतावद्भिः श्वास-प्रश्वासैः [प्रतीतैः परिदृष्टः] प्रथम उद्घातः। [स एव मृदुः।]**

ये तीनों प्राणायाम देश के द्वारा परिदृष्ट (पूरी तरह देखे-जाने) होते हैं कि इसने इतना स्थान घेरा है[2]। ये काल से भी परिदृष्ट होते हैं कि इतने निश्चित समय=क्षणों तक बने रहे। ऐसे ही ये संख्याओं से

---

1. यहाँ विवरणकार की व्याख्या सबसे भिन्न है। वे बाह्यवृत्ति को 'पूरक' और 'आभ्यन्तर-वृत्ति' को रेचक के समकक्ष बताते हैं। द्र० विव० पृ० २२७, २२८। जैसा कि पाठभेद से ही स्पष्ट है अन्य विद्वान् 'बाह्य वृत्ति' को रेचकान्तक बाह्य कुम्भक के, और 'आभ्यन्तर-वृत्ति' को पूरणान्तक आभ्यन्तर-कुम्भक के समकक्ष रखते हैं। मिला० आरण्य, पृ० २६६।
2. देश का अर्थ 'स्थान' से ही है। इसका तीनों प्राणायामों में उदाहरण विवरणकार ने दिया है, जिसमें स्थान को नासिका से पैर के अंगूठे तक या मस्तक से पाद-तल तक अथवा बालिश्त आदि से नापा जा सकता है। द्र० — विव० पृ० २२८। [इस प्रकार 'देश-परिदर्शन' में प्राण के विस्तार/व्यापकता/volume/dimensions पर ध्यान दिया जाता है।]

भी परिदृष्ट होते हैं कि संख्या में इतने श्वास-प्रश्वासों से अधिक मात्रा का[1] पहला 'उद्घात'[2] हुआ। [इसी को 'मृदु' कहते हैं।]

---

1. (क) क्षणों की गणना के स्थान पर श्वास-प्रश्वासों की गणना रखने से भी प्राणायाम की काल-दीर्घता ही नापी जाती है, क्योंकि प्राणायाम तो तभी होता है जब श्वास-प्रश्वास में गति नहीं रहती। निर्धारित क्षण को गणना का बिन्दु (unit) न बनाकर श्वास-प्रश्वास को बनाने से अन्तर यह होगा कि कालदीर्घता अभ्यासी के अपने [illegible] पर निर्भर करेगी। [illegible] का श्वास-प्रश्वास काल ३ क्षण का भी हो सकता है, या ४ क्षण का भी। नृविज्ञान के अनुसार एक व्यक्ति एक मिनट में १५ से १७ बार साँस लेता छोड़ता है। मिला०—'उद्घात क्रम में...श्वास-प्रश्वास की संख्या के द्वारा [illegible] निर्णीत होता है। ...' [आरण्य पृ० २७६।] इस प्रकार 'संख्या-परिदर्शन' भी 'काल-परिदर्शन' का ही पुनरावर्तन होजाता है।

   (ख) इस सन्दर्भ में लिङ्ग पुराण १।८।४७-४८ में उद्घातों के तीन भेदों [illegible] १२,२४,३६ मात्रा कही हैं। 'मात्रा' से 'श्वास-प्रश्वास का' 'परिमाण' भी अभिप्रेत हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यहां भाष्य [सं० २६७] में विवरणकार द्वारा प्रयुक्त 'अतीत' का अर्थ 'exceeding' (V. S. Apte, p. 11) करते हुए 'संख्या-परिदर्शन' में यह देखना-जाना उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'सामान्य [illegible] की मात्रा/परिमाण/भार/quantity/weight की तुलना में भीतर ली हुई, बाहर निकाली या रोकी हुई प्राण-वायु कितने गुणा अधिक है।'

2. (क) द्र०—'उद्घातः 1 Begining...2 Allusion,... 3 striking... 5...shaking'—V. S. Apte, p. 105

   (ख) यहाँ 'उद्घात' का भाव स्पष्ट नहीं है। विवरणकार के अनुसार 'निरोध (=गत्यभाव) से क्षुभित सारी वायु का एक साथ मूर्धा में चढ़ कर [illegible] मूर्धा से टकराकर लौटना' पहला उद्घात है। द्र० विव० पृ० २२८। ऐसी क्रिया का अन्य द्वितीय व तृतीय उद्घात में क्या [illegible] होता है, उन्होंने नहीं बताया। पर क्या इस आधार पर 'उद्घातः' को प्राणों की 'टक्कर' या ऊर्ध्वारोहण मान लेना उचित है? और यदि 'उद्घात' टक्कर या आरोहण ही हैं तो इसके मृदु, मध्य और तीव्र का अन्तर किस [illegible] पर किया जाए?

   (ग) मिला० –"प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृद् उद्गमनं मूर्धानमाहत्य निवृत्तिश्च उद्घातः।" 'देवल', उद्धृत कृत्यकल्पतरु मोक्ष, काण्ड, पृ० १७०।—(आरण्य पृ० २७६ टि० १)

[२६८] पुनश्च सकृदुद्धत-निगृहीतस्य वायोः तावद्भिः प्रश्वासैरतीतः परिदृष्टो द्वितीय उद्घातो मध्यमः । तथा एतावद्भिः श्वास-प्रश्वासैः परिदृष्टः तृतीय उद्घातः, तीव्रः[३१०] ।

और फिर, एक साथ ऊर्ध्व नाफ्त और अच्छी तरह रोकी हुई वायु का उतने (संख्यात=गिने हुए) प्रश्वासों से अधिक है, ऐसा परिदृष्ट दूसरा उद्घात 'मध्यम' है । इसी प्रकार गिने हुए इतने श्वास-प्रश्वासों द्वारा परिदृष्ट तीसरा उद्घात 'तीव्र' है ।

[२६९] स खल्वयमेवं संख्या-परिदृष्टोऽभ्यस्तो दीर्घः, वायूनां दीर्घत्व-मन्दत्वापत्तेः सूक्ष्मं च भवति[३१८] ॥

ऐसा यह (प्राणायाम या 'उद्घात') इस तरह संख्याओं से परिदृष्ट होकर अभ्यास में लाते-लाते दीर्घ[1] हो जाता है । जब प्राणायाम-काल के दीर्घत्व में भी वायु मन्दत्व पा लेती है तब सूक्ष्म[2] हो जाता है ॥ ५० ॥

(घ) द्र०—'स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का काल (या परिमाण ?) मात्रा कहलाता है । यदि एक मिनट में १५ बार श्वास-प्रश्वास मान लें तो एक मात्रा ४ सैकेण्ड की हुई । इस प्रकार बारह मात्राओं का नाम एक उद्घात (४८ सेकेण्ड) होता है । चौबीस मात्रा द्वि: उद्घात...छत्तीस मात्रा ($2\frac{3}{5}$ मिनट) का नाम तृतीय उद्घात है ।... प्रथम उद्घात का नाम मृदु, द्वितीय...का नाम मध्य, तृतीय...का नाम उत्तम प्राणायाम होता है ।' आरण्य पृ० २७६-७७ ।

1. क्या 'दीर्घ' हो जाता है ? और इसका अभिप्राय क्या है ? विवरणकार का कहना है कि "उद्घात=प्राणायाम...'दीर्घकाल-व्यापी' हो जाता है, 'भूमि-जय' के कारण । और यह अनेक ऋषियों का अनेक-वर्ष-व्यापी सुना जाता है ।" (विव० पृ० २२८-२२९ ।)
2. (क) मिला० – 'दीर्घ का अर्थ है—दीर्घकालव्यापी रेचन या विधारण । सूक्ष्म का अर्थ है—श्वास-प्रश्वास की क्षीणता तथा विधारण की निरायासता । नासाग्र में स्थित रूई जिससे स्पन्दित न हो ऐसा प्रश्वास सूक्ष्मता का सूचक होता है ।'—आरण्य पृ० २७७ ।

   (ख) अभिप्राय यह हुआ कि इन तीनों प्रकार के प्राणायामों के अभ्यास द्वारा अधिकतर समय तक, अधिकतर स्थान में, अधिकतर परिमाण में रोका हुआ वायु भी जब विसर्जित या गृहीत होता है तो सूक्ष्मतर होता

बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी चतुर्थः ॥२।५१॥

बाह्य-वृत्ति और आभ्यन्तर-वृत्ति प्राणायामों में [देश, काल संख्या द्वारा परिदृष्ट) विषयों का आक्षेप[1] करने वाला प्राणायाम चौथा होता है ॥

[१७०] **देश-काल-संख्याभिः बाह्य-[वस्तु]-विषयः[३६९] परिदृष्टः आक्षिप्तः । तथाभ्यन्तर-विषयः[३७०] परिदृष्टः आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घ-सूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात् उभयोः गत्यभावश्चतुर्थः[३७१] ।**

देश, काल और संख्या (=मात्रा-गणना/परिमाण) द्वारा बाह्य पदार्थों को विषय बनाने वाला प्रथम 'बाह्य-वृत्ति' प्राणायाम जो परिदृष्ट होता है, यहां उसका अतिक्रमण होता है । ऐसे ही परिदृष्ट द्वितीय प्राणायाम 'आभ्यन्तर-वृत्ति' भी इसके द्वारा अतिक्रान्त होता है, लांघा जाता है । उन दोनों ही रूपों में प्राण की दीर्घता और सूक्ष्मता प्राप्त होती है । ये दोनों जिस प्राणायाम से पहले सिद्ध कर लिए जाते हैं, और भूमि[2] के जय से जिसमें इन दोनों (की वृत्तियों) की गति का अभाव हो वह चौथा प्राणायाम है ।

जाता है । पहले यह परिदर्शन द्वारा संयमित होता है । धीरे-धीरे उसकी आवश्यकता न रहने पर चौथे प्राणायाम की स्थिति आती है ।

1. (क) विवरणकार के अनुसार 'आक्षेप' का अर्थ 'व्याप्त करना' है । बाह्य-वृत्ति द्वारा बाह्य वायु का आगमन अन्तःस्थित पादांगुष्ठ आदि देशों को व्याप्त करता है, यही उसका विषय है । आभ्यन्तर-वृत्ति में बहिर्निश्चार्यमाण वायु भूमि आदि विषयों को व्याप्त करता है । इस प्रकार, उनकी दृष्टि में यह प्राणायाम प्रथम व द्वितीय दोनों ही प्राणायामों की तरह दीर्घ-सूक्ष्मता पा लेता है । द्र० – 'बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपेण उभयथा दीर्घ-सूक्ष्मत्वमापन्नः ।,—विव० पृ० २२६ ।

   (ख) इसके विपरीत स्वामी हरिहरानन्द आरण्य 'आक्षेप' का अर्थ 'अतिक्रमण' करते हैं । उनके अनुसार पूर्वोक्त दोनों प्राणायामों को परिदृष्ट कर 'अभ्यास-पटुता से अतिक्रान्त' करना है । द्र०—आरण्य, पृ० २७८ ।

2. द्र०—(क) 'उभय-वृत्ति-वायु-भूमिजय-क्रमेण'—विव० पृ० २२६ ।

   (ख) 'भूमि=भूमिका'—ब्रह्मलीन, पृ० ३०५ ।

   (ग) 'भूमिः—"'A ... situation, 11 Degree, extent.' V.S. Apte, p. 410

[२७१] तृतीयस्तद्[३७२]-विषयानालोचितः सकृदारब्ध एव गत्य-भावो[३७३] देश-काल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः ।

तृतीय प्राणायाम 'स्तम्भ-वृत्ति' में इन दोनों बाह्य या आभ्यन्तर विषयों का आलोचन नहीं होता, प्राण-गति का अभाव एकदम ही (जहाँ का तहाँ) प्रारंभ कर दिया जाता है, और देश, काल व संख्या द्वारा परिदृष्ट होकर वह भी दीर्घ व सूक्ष्म होता है ।

[२७२] चतुर्थस्तु श्वास-प्रश्वासयोर् [आतमितो:] विषयावधारणात् भूमिजय-क्रमेण[३७४] । उभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणा-याम [illegible] विशेष:[३७५] ॥

(इस की तुलना में) चौथा प्राणायाम विषयाक्षेपी' तो [आतमित[1] =अपेक्षा के अनुसार विद्यमान] श्वास-प्रश्वास के विषयों का अवधारण करने से क्रमशः (चित्त की) भूमियों पर विजय पाते हुए होता है । दोनों (श्वास-प्रश्वास की, या बाह्य-वृत्ति व आभ्यन्तर-वृत्ति प्राणायामों की बहिर्मुखी व अन्तर्मुखी वृत्तियों) को अतिक्रान्त करके गति का (स्वाभाविक, ध्यान-जन्य) अभाव जिसमें हो वह चौथा प्राणायाम है, यही इसकी विशेषता है ॥ ५१ ॥

(ख) यहां चित्त की पांच भूमियों 'क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरोध' की ओर संकेत हो, यह भी संभव है । कारण, प्राणायाम में चित्त की अवस्था नियन्त्रण में होना, एकाग्र या निरुद्ध होना ही अपेक्षित है । प्रथम तीन चित्त-भूमियों पर वश पाने के लिए ही संभवतः आगे 'भूमिजयक्रमेण' कहा गया है । (द्र०—सं० २७२) । इस संकेत के लिए श्री आरण्य द्वारा 'आक्षेप' का 'अतिक्रमण' अर्थ भी सहायक है ।

1. आ + ∠तमु (कांक्षायाम्), 'तम् 4 P.... 1 To choke, be Suffocated 2 To be exhausted'—V. S. Apte p. 230.
—णिजन्त व क्विप्-प्रत्ययान्त यह 'आतमित्' रूप कुछ अप्रयुक्त सा है ।
—प्रतीत होता है कि इस चतुर्थ [illegible] से पूर्व रेचक, पूरक व [illegible] सभी विचारपूर्वक [illegible] जा चुके होते हैं । अब इसमें गत्यभाव की [illegible]-विक उपलब्धि होने के लिए शरीर के कोशों में उतना ही प्राण [illegible] रह जाता है, जितना समाधिकाल के लिए अपेक्षित है ।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥२।५२॥

प्राणायाम के बाद (विवेक-ज्ञान को ढकने वाला) अन्तः-प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है ॥२।५२॥

[२७३] **प्राणायामानभ्यस्यतो योगिनो[३०६] विवेकज्ञानावरणीयं कर्म, यत्[३०७] आचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये विनियुङ्क्ते' इति, तत् प्राणायामाभ्यासादस्य प्रकाशावरणं कर्म संसार-निबन्धनं[३०८] दुर्बलं भवति, प्रतिक्षणं च क्षीयते।**

उल्लिखित प्राणायामों का अभ्यास करने वाले योगी के विवेकज्ञान को ढकने वाला कर्म नहीं रहता। इसी के बारे में कहा है—'महा-मोह/तमोगुण रूपी इन्द्रजाल से प्रकाशमय सत्त्वगुण को ढककर उसी को दुष्कर्मों में लगा देता है'। यही कर्म जो प्रकाश का आवरण है और संसार में बांधे रखने वाला है, इन प्राणायामों के अभ्यास से दुर्बल होता है, और हर क्षण क्षीणतर होता जाता है।

[२७४] **तथा चोक्तम्—"न परं प्राणायामात् तपः" इति। ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य[३०९] इति॥**

ऐसा ही कहा भी है[1]—"प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है।" इस प्राणायाम से ही (शारीरिक व मानसिक रजोगुणी व तमोगुणी अविद्या आदि) मलों की विशुद्धि होती है, एवं ज्ञान प्रदीप्त होता है॥ ५२ ॥

—**किञ्च**—

— इसके अतिरिक्त—

धारणासु च योग्यता मनसः ।२।५३॥

धारणाओं में[2] भी मन की योग्यता हो जाती है॥२।५३॥

[२७५] **प्राणायामाभ्यासादेव। 'प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' इति वचनात्॥ ५३ ॥**

---

1. यहां भी ये दोनों उद्धरण श्री पञ्चशिखाचार्य के ही हैं।
2. धारणा के ध्येय-विषय अनेक हो सकते हैं, इसलिए यहां बहुवचन का प्रयोग है।

[illegible] भी प्राणायाम के अभ्यास से ही होता है। पहले भी ऐसा कह चुके हैं[1]— 'प्राण को नासिकाओं से बाहर फेंक कर वहीं रोकने, स्तम्भित करने से चित्त की स्थिति सम्पादित होती है' ॥५३॥

— [illegible] कः प्रत्याहारः ?

—अच्छा तो 'प्रत्याहार' क्या है ?—

स्व-विषयासम्प्रयोगे चित्तस्य[३८०] स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥२।५४॥

अपने विषयों के साथ असंयुक्त होने पर इन्द्रियों द्वारा चित्त के स्वरूप का जो अनुकरण सा होता है वही प्रत्याहार है ॥

[२७६] **स्वैः स्वैः शब्दादिभिः विषयैः संयोगाभावे चित्त-स्वरूपानुकारता[३८१] इव इति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानि (इन्द्रियाणि)[३८२] न उपायान्तरमपेक्षन्ते [प्रयाथंम्]। यथा मधुकरराजानम्[३८३] मक्षिका उत्पतन्तम् अनूत्पतन्ति, निविशमानमनु निविशन्ते, तथा [एव] इन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि। इत्येष प्रत्याहारः ॥**

इन्द्रियों का जब अपने-अपने शब्द आदि विषयों से संयोग नहीं रहता, तब वे चित्त के स्वरूप का अनुकरण और अनुसरण-सा ही

---

1. (क) द्र०—योग० १।३४॥ यह सूत्र चित्त-प्रसादन (१।३३)और चित्त या मनः-स्थिति-निबन्धन (१।३५) के मध्य स्थित है । स्वभावतः चित्त या मन को ही संयत करने [illegible] विशेष [illegible] बताता है। 'धारणा' में चित्त का ही एक देश में बन्धन होता है (द्र० योग० ३।१, तथा व्यास०)। [illegible] प्रकार, 'प्रच्छर्दन-विधारण' जहां विशेष रूप से चित्त को स्थिर करने का उपाय है, वहां प्राणायाम-मात्र इसमें सहायक हैं, ऐसा यहां अभिप्रेत है। (ख) 'प्रच्छर्दन-विधारण' में यहां बताये आभ्यन्तर-वृत्ति से (विवरण-कारानुसारि अर्थ) [illegible] बाह्यवृत्ति से (अन्य अर्थ) [illegible] द्रष्टव्य है। [illegible] प्रश्वास-पूर्वक [illegible] है । किन्तु, भेद यह है कि पहले [illegible] 'उद्वमन' की गति-तीव्रता है और देश, काल, [illegible] परिदर्शन नहीं है। दूसरे में परिदर्शन के साथ गति-मन्दता ही [illegible] में परिवर्तित हो जाती [illegible] । और वह पहले में अपेक्षित नहीं है।

करती हैं। इसलिए यदि चित्त निरुद्ध हो तो वे भी निरुद्ध हो जाती हैं, और उन्हें जीतने के लिए किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। उदाहरण के लिए उड़ती हुई रानी-मधुमक्खी के पीछे-पीछे शेष मक्खियाँ भी उड़ने लगती हैं, और उसके छत्ते पर बैठ जाने पर वे भी बैठ जाती हैं। इसी तरह इन्द्रियाँ चित्त के निरोध के पीछे स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं। प्रत्याहार ऐसा होता है ॥ ५४ ॥

ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम् इति[३८४] ॥२।५५॥

प्रत्याहार से इन्द्रियों पर सर्वाधिक वशित्व प्राप्त होता है ॥

[२७७] **शब्दादिषु इन्द्रियजयः अव्यसनम्[३८५] इति केचिद् [आहुः]। सक्तिर्व्यसनम्, व्यस्यत्येनं श्रेयस इति।**

कुछ विद्वान् ऐसा कहते हैं कि, 'शब्द आदि विषयों के प्रति इन्द्रियों के आकर्षण पर विजय ही व्यसन का अभाव है।' इन्द्रियों की आसक्ति ही व्यसन है, क्योंकि वह व्यसनी को श्रेयस् से दूर फेंक देती है।

[२७८] **अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्वा, न्याय्यः शब्दादिषु संयोगः स्वेच्छया इत्येवमन्ये मन्यते[३८६]।**

दूसरे ऐसा मानते हैं कि, 'शब्द आदि विषयों से आत्मेच्छा-पूर्वक (अर्थात् परतन्त्र न होकर) संयोग करना तो उचित है, किन्तु यह प्रतिपत्ति = विषय-सेवन[1] शास्त्रों के विरुद्ध नहीं होना चाहिए।'

[२७९] **रागद्वेषाभावे सुखदुःख-शून्यं शब्दादिविज्ञानं वश्यता इत्येके[३८७]। 'ऐकाग्र्यात्[३८८] अप्रतिपत्तिरेव' इति जैगीषव्यः।**

कुछ बताते हैं कि, 'राग-द्वेष के बिना, सुख-दुःख का अनुभव न करते हुए शब्द आदि विषयों का ज्ञान[2] प्राप्त करना इन्द्रियवशित्व है।'

---

1. (क) विषयों का ग्रहण न करना इन्द्रियवशित्व है, उसके विपरीत यह 'प्रतिपत्ति' है। द्र० 'शब्दादीनामप्रतिपत्तिर्वश्यतेति'—विव० पृ० २३२।
   (ख) मिला०—'शास्त्र के अविरुद्ध शब्दादि (विषय) का सेवन ही न्याय्य है।' आरण्य, पृ० २८५।
2. विषयों के प्रति आसक्ति और भोग के भाव के स्थान पर यह ज्ञान-प्राप्ति की स्थिति 'द्रष्टाभाव' या 'साक्षी-भाव' के निकट है।

जैगीषव्य भी ऐसा मानते हैं कि 'चित्त की एकाग्रता[1] तो अप्रतिपत्ति या भोग का अभाव ही है।'

[२८०] **परमा [illegible] वश्यता इन्द्रियाणां यद् चित्त-निरुद्धानि**[३५९] **इन्द्रियाणि न इतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतम् उपायान्तरमपेक्षन्ते योगिनः (इति)**[३६०] ॥ ५५ ॥

इन्द्रियों पर परम वशित्व तो यह है कि चित्त के साथ निरुद्ध की हुई योगी की समस्त इन्द्रियों को ऐसे किसी दूसरे उपाय की आवश्यकता नहीं होती, जैसी किसी साधारण व्यक्ति द्वारा इन्द्रियों को वश में लाने के लिए प्रयत्न पूर्वक करनी पड़ती है। (यहां तक वहिरंग योग है ॥ ५५ ॥

इति श्रीशङ्कर-भगवद्-विवरणानुसारि-योगसूत्रभाष्ये
द्वितीयः [illegible] ॥

श्री शङ्कर-भगवान् के 'विवरण' के अनुसार योग-सूत्र-भाष्य
का दूसरा साधनपाद समाप्त हुआ ॥

---

1. कारण, विषयों का अनुभव करते समय यदि चित्त एकाग्र है, क्षिप्त आदि नहीं है, तो वह [illegible] पदार्थ का वास्तविक ज्ञान देने में समर्थ होगा, और आसक्ति के स्थान पर इन्द्रियवश्यता आएगी।

श्री-पातञ्जल-योग-सूत्राणां व्यास-भाष्यस्य च पाठ-पुनर्गठने यथापेक्षितम् आधारोऽधुना विशदीक्रियते। प्रचलितेन च पाठेन भेद-प्रदर्शनार्थं '+' इति आधिक्ये, '—' इति न्यूनत्वे, '=' इति च पाठान्तरे संकेतचिह्नानि अत्राङ्गीकृतानि।

'विवरणम्' में से सूत्रों और भाष्य के पाठ का पुनर्गठन करते हुए जहाँ अपेक्षित है वहाँ उसका आधार आगे स्पष्ट किया जा रहा है। एवंच प्रचलित पाठ से सभी प्रकार की भिन्नताएं निम्न चिह्नों द्वारा इस प्रकार प्रकट की जा रही हैं—

'+' अर्थात् आगे दिया अंश प्रचलित पाठ में अधिक है।
'—' अर्थात् अगला अंश प्रचलित पाठ में नहीं है।
'=' अर्थात् अंकित अंश के स्थान पर यह पाठभेद है।

श्री-पातञ्जल-योग-सूत्र-भाष्ये साधनपादे

पाठ-टिप्पणानि

१. =एतत्

२. सन्दर्भोऽयं प्रभाष्ये [११८] सन्दर्भान्ते प्राप्यते । क्रमोऽयं विशदीकरणरूपो विवरणस्य श्रेष्ठतरः ।

३. नात्र प्रभाष्ये तपसो व्याख्यानम् । केवलमग्रे प्राप्यते तत् । द्र० व्यास० २४०, योग० २।३२

४. =स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः ।

५. =परमगुरावर्पणं तत्फल-संन्यासो वा ।

६. ='अनादि-कर्म-क्लेश-वासना'

७. —'योगाः'—। (योगोऽस्यास्तीति योगः, ते। 'योग'-शब्देन मत्वर्थीयो 'अ'-प्रत्ययः।)

८. ='प्रसंख्यानाग्निना'

९ +'इति।'

१०. =तनूकरणात्

११. =सूक्ष्मा [illegible] समाप्ताधिकारा'

१२. +'अथ...इति'

१३. +'क्लेशा इति'

१४. =स्यन्दमाना

१५. ='कारण-'

१६. ' –तन्त्रा भूत्वा'...

१७. ='कर्मविपाकं च अभिनिर्हरन्तीति'

१८. +'अत्र...उत्तरेषाम्'

१९ ='चतुर्विध-विकल्पानां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणाम्।'

२०. ='नासो पुनरस्ति'

२१. ='दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति ।'

२२. वाक्यमिदं नास्ति प्रभाष्ये, परं स्पष्टं 'तत आह' इति पदाभ्यां सूचितम् । द्र० विव० पृ० १।२८

२३. +'नान्यत्र'

२४. +'इति'

२५. ='इत्युक्ता प्रसुप्तिः दग्धबीजानामप्ररोहश्च'

२६. ='भवन्ति'

२७. वाक्यमेतत् प्रभाष्यादतिरिक्तं सदपि न निष्प्रयोजनमिति स्पष्टमेव ।

२८. ='स्त्रीषु विरक्त इति'

२९. ='प्रसुप्ततनु बिच्छिन्नो भवति'

३०. ='उच्यते, सत्यमेवैतत्'

३१. ='तद्यथा'

३२. ='मध्वमृतावयव०...'

३३. ='चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव'

३४. ='...पत्रायताक्षी'

३५. ='हावगर्भाभ्यां'

३६. ='आश्वसयन्तीवेति'

३७. ='भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यास-प्रत्यय इति ।'

३८. ='अभिप्रतीत्य'

३९. 'ममैषा व्यापदहमेव व्यापन्नः इति' विवरणांशेनानेन सूच्यते पाठस्यास्य भ्रंशोऽत्र । द्र० विव० पृ० १३५ ।

४०. ='चतुष्पदा'

४१. —'। अविद्या' । [विवरणमनु वाक्य-द्वयमेव साधीयान्, यतस्तथा अविद्यायाः चतुष्पदत्वं क्लेश-कर्माशय-मूलत्वं च सम्यक् प्रतिपादितं भवति :]

४२. ='स विपाकस्येति'

४३. +'किं तु तद्विरुद्धः सपत्नः'

४४. ='किं तु विद्या-विपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या इति'

४५. 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं सैव शक्तिः' इति विवरणेऽत्र (पृ० १३७) 'सा' इत्यनेन बुद्धिरेव सूच्यते । असत्यपि बुद्धिपदेऽत्र, अग्रेऽपि तदेवोक्तं भवति इति स्वीकृतम् । द्र०—'स्वरूप-प्रतिलम्भे तु तयोः...बुद्धि-पुरुषयोः कैवल्यमेव'—विव० पृ० १३

४६. ='पुरुषो दृक्शक्तिः, बुद्धिर्दर्शनशक्तिः इत्येतयोः'

४७. ='अत्यन्तविभक्तयोः'

४८. ='पुरुषम् आकारशील-विद्यादिभिः विभक्तम्'

४९. ='दुःखानुशयी'—इति प्रसिद्धोऽयं सूत्रांशः विवरणकारेण व्याख्या-रूपेण पश्चात् प्रदत्तः। द्र०-विव० पृ० १३९।

५०. ='यो गर्धः, तृष्णा, लोभः स राग इति'

५१. ='सुखानुशयी' —इति प्रसिद्धोऽयं सूत्रांशोऽत्रापि व्याख्यारूपेणैव स्थितः। द्र०-विव० पृ० १४०।

५२. ='यः प्रतिघो, मन्युः, जिघांसा'

५३. ='मा न भूवम्' । (पाठभेदाः सं० ४९, ५१, ५२, ५३, तमाः पूर्वसम्पादकैरपि टिप्पणीषु संकेतिताः—विव० पृ० १३९, १४०)

५४. ='धर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः'

५५. न त्वेवं पृथग्वाक्यता प्रभाष्ये।

५६. ='विज्ञात-पूर्वापरान्तस्य'

५७. +'तयोः'

५८. ='मरण-दुःखानुभवादियं वासना इति'।

५९. +'सत्यः'

६०. ='उपायेन च'

६१. ='काम-लोभ-मोह-क्रोध-प्रभवः'

६२. ='तत्र तीव्रसंवेगेन'

६३. ='वा यः परिनिष्पन्नः स [illegible] परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति'

६४. ='विश्वासोपगतेषु वा'

६५. ='तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः'

६६. ='देवत्वेन'

६७. ='दृष्ट-जन्मवेदनीयः'

६८. +'इति'

६९. वाक्यांशोऽयं व्याख्यायां संकेतितः न तु भाष्योद्धरणे। द्र०—विव० पृ० १४७। प्रभाष्ये 'नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा' इति क्रमभेदः।

७०. पूर्वसम्पादकैरपि संकेतितोऽयमंशः विभाष्ये नास्ति।

७१. —'प्रथमा विचारणा'

७२. +'इति'

७३. ='असंख्येयस्य अवशिष्टस्य'

७४. ='साम्प्रतिकस्य'

७५. +'इति'

७६. ='कस्मात् ? अनेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्म अनेकस्य जन्मनः कारणमिति'

७७. +'इति'

७८. −'एव'

७९ ='सम्भवतीति क्रमेणैव वाच्यम् । तथा च'

८०. द्र०—'इति वाक्यशेषः' विव० पृ० १५० ।

८१. −'पुण्यापुण्य-कर्माशय-प्रचयो विचित्रः'

८२. ='एक-प्रघट्टकेन मरणं [illegible] संमूर्छितः'

८३. +'इति'

८४. ='अभिधीयते इति । [illegible] एकभविकः कर्माशयः [illegible] इति' ।

८५. विवरणकारेण व्याख्यायां सूचितः पूर्वसम्पादकैरन्यपि टिप्पण्यां संकेतितः । द्र०-विव० पृ० १५१ ।

८६. +'वेति'

८७. ='इत्येताः'

८८. +'इति'

८९. 'तत्र दृष्टजन्म......' । कियान् अत्रार्थ-भेदः विवरण मनु ! अन्यथा तु 'दृष्ट-जन्म-वेदनीयस्य' इति व्यर्थमेव पुनरावृत्तः दृश्यते ।

९०. ='यो हि'

९१. ='...प्रधान-कर्मणाऽभिभूतस्य [illegible] चिरम्'

९२. ='नाशः कृष्णस्य'

९३. ='वेदितव्ये, पापकस्य'

९४. ='तव कर्म'

९५. ='गमनम् । यत्रेदमुक्तं—'स्यात् स्वल्पः संकरः...'

९६. ='नापकर्षाय अलम् ।'

९७. ='यत्रायं आवापं गतः'

९८. ='...प्रधान-कर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरम् ।'

९९. —'तत्र'

१००. ='न तु अदृष्ट-जन्म-वेदनीयस्य अनियत-विपाकस्य'

१०१. ='समानं कर्म अभिव्यंजकं निमित्तमस्य विपाकाभिमुखं'

१०२. ='दुर्विज्ञाना चेति'

१०३. ='न चोत्सर्गस्य अपवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायते इति ।'

१०४. ='ते जन्मायुर्भोगाः'

१०५. +'इति'

१०६. +'च'

१०७. =कथं तदुपपद्यते ?

१०८. ='चेतनाचेतनसाधनाधीनः'

१०९. ='सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः ।'
'सुखानुभवकाले' इति विवरण-पदेन भाष्ये 'तत्र'-पदस्य स्वीकृतिः, सूच्यते ।
—द्र० विव० पृ० १६० ।

११०. ='तथा च द्वेष्टि दुःख-साधनानि'

१११.='...मोहकृतः'

११२. ='शारीरः कर्माशय इति'

११३. 'या तृप्तिः ततः' इत्यनेन 'तृप्तेः' पदस्यैव व्याख्यानम्—द्र० विव० पृ० १६१ ।

११४. ='वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम्'

११५. +'...विष-'

११६. ='विषयानुवासितः'

११७. ='नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति'

११८. ='अथ का ताप-दुःखता ?'

११९. +'इति'

१२०. ='सुखसाधनानि च' (—तेन दुःखेन)

१२१. ='ततः परमनुगृह्णाति अपहन्ति चेति'

१२२. ='स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते ।'

१२३. ='कर्मभ्यो'

१२४. ='सुखे दुःखे [illegible] पुनः कर्माशय-प्रचय इति । एवमिदम्'

१२५. —'स'

१२६. ='न चान्येषु गात्रावयवेषु'

१२७. ='स्वकर्मोपहतं'

१२८. ='दुःखमुपात्तम् उपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तम्'

१२९. ='अनादि-वासना-विचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिव अविद्यया'

१३०. ='हातव्य एवाहङ्कार'

१३१. ='अनादिना'

१३२. ='...क्षयकारणं'

१३३. ='गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।'

१३४. ='स्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा'

१३५. ='चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि'

१३६. +'परस्परेण'

१३७. ='प्रवर्तन्ते'

१३८. ='इतरेतराश्रयेण'

१३९. ='सर्वरूपा'

१४०. +'इति'

१४१. ='दुःखमेव सर्वम्'

१४२. ='तदस्य'

१४३. ='तद्यथा...मोक्षोपाय इति'

१४४. ='प्रधानपुरुषयोः संयोगो'

१४५. ='भवितुम् अर्हति ।'

१४६. —'प्रसङ्गः'

१४७. —'प्रसङ्गः'

१४८. —'एव'

१४९. +'इति'

१५०. ='स्वक्षणे भोगारूढमिति'

१५१. ='न तत्'

१५२. ='क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयताम् आपद्यते ।' ('नेतरं प्रतिपत्तारम्' इत्यंशोऽत्र निरुद्देश्य इव प्रतीयते ।)

१५३. ='तस्माद्यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव' ।

१५४. ='दृश्याः बुद्धि-सत्त्वोपारूढाः' ।

१५५. ='मणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूप-स्वामिनः, अनुभवकर्मविषयताम् आपन्नं (यतः) ।' (आरण्ये पाठे 'यतः' नास्ति) ।

१५६. ='अर्थकृतः सयोगो'

१५७. +'स्यादयम्'

१५८. +'कस्मात् ? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकार-दर्शनात्'

१५९. ='कण्टकस्य'
१६०. ='अधिष्ठानम्'
१६१. ='त्रय'
१६२. पृथक् व्याख्यायाम् उक्तत्वात् स्वीकृतम्—द्र० विव० पृ० १७५
१६३. ='सत्त्वे तु तप्यमाने'—
१६४. +'इति'
१६५. +'परिणामिनः'
१६६. ='परस्पराङ्गित्वेऽपि'
१६७. ='गुणत्वेऽपि च'''प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिता:'
१६८. =पुरुषार्थ-कर्त्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः'
१६९. ='परिणमते । तथा'
१७०. ='परिणमते इति'
१७१. ='उररीकृत्य'
१७२. ='हि तद् दृश्यं पुरुषस्य इति'
१७३. ='भोक्तुः'
१७४. +'तुल्यातुल्य-जातीये'
१७५. -'व्यपदिश्येते इति'
१७६. वाक्यमेतत् प्रकृत-सूत्र-भाष्यावसानांशात् किंचित् भिन्नम्, नात्र प्रभाष्ये प्राप्यते । विवरणकारस्यैव व्याख्यानं वा, भाष्यकारस्यैव वा वचनमिति विचारणीयम् ।
१७७. सन्दर्भोऽयं विवरणकारेण इत्थं संकेतितः—'दृष्टान्तेन व्याख्यातमर्थं निगमयति—यथा विजयः पराजयो वेति'—विव० पृ० १८१
१७८. +'पुरुष-'
१७९. +'इति'
१८०. ='ग्रहण-धारणोहापोह-तत्त्वज्ञानाभि निवेशाः'— । भेदोऽत्र पूर्वं सम्पादकैरपि टिप्पण्यामंकितः । द्र० – विव० पृ० १८१

योग० २/१९ सूत्रस्य पाठभेदः—

(क) ='···ऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि'— (आरण्य पृ० २०३) सूत्रस्थ-पाठभेदोऽयं विवरणेऽपि सूचितः । द्र. पृ. १८३

(ख) पूरणार्थेऽत्र पॄ+वनि (कर्त्तरि) । द्र० 'यत्तु नान्तं कर्तरि तत्सर्वलिङ्गं भवति'—विव० पृ० १८३ ।

१८१. ='शब्द-तन्मात्रं, स्पर्श-तन्मात्रं, रूप-तन्मात्रं, रस-तन्मात्रं गन्धतन्मात्रम्' ।
(क) 'तन्मात्र'-स्थाने प्रयुक्तः विवरणकारमनु 'मात्र-शब्दः 'शान्त-घोरादि-विशेष-व्यावर्तनार्थः' ।

(ख) 'रसमात्रं गन्धमात्रं' इति अनुद्धृत्य संकेतयति, 'तथोत्तरयोरपि मात्र-शब्दः''' ''—विव० पृ० १८५

१८२. =' ' पञ्च-लक्षणाः' शब्दादयः पञ्च अविशेषाः

१८३. +इति ।

१८४. ='सत्तामात्रस्य'

१८५. +आत्मनि'

१८६. +'यत्तत्'—विवरणकारः अव्यक्तस्य व्याख्यायां ''किंविशिष्टमिति' वचनेन विशेषणे पश्चात्स्थापयति । परं नानेन वाक्य-क्रमः विकारणीयः । द्र० पृ० १८६।

१८७. +'निरसद् अलिङ्गं प्रधानं तत्'

१८८. +'भवतीति'

१८९. ='न [illegible] पुरुषार्थता कारणं भवतीति'

१९०. ='नासौ पुरुषार्थकृता इति नित्या आख्यायते ।'

१९१. ='कारणं भवतीति अनित्या आख्यायते ।' (स्पष्टमत्र विवरणे भाष्यम् विशदतरम् ।)

१९२. ='प्रत्यस्तमयन्ते'—

१९३. ='यतः'—विभाष्ये 'येन-पदं संस्कृत-वाक्यरचना-दृशा सुष्ठुतरम् ।

१९४. ='लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य'

१९५. ='क्रमानतिवृत्तेः'

१९६. ='संसृष्टा'

१९७. ='इति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तर-परिणामः'

१९८.='अथ'

१९९. ='विशेषणा'। पूर्वसम्पादकैरंकितोऽयमपि भेदः । परम् अत्रार्थदृशा प्रभाष्यमेव स्पष्टतरम् प्रतिभाति ।

२००. +'हि'

२०१. ='तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा'

२०२. ='इति परिणामित्वं दर्शयति'

२०३. +'तु'

२०४. ='पुरुषविषयश्च'

२०५. ='गृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य ''''''अपरिणामित्वम् इति'

२०६. +'किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति ।' पाठोऽयं विभाष्ये खण्डितः स्यात् ?

२०७. ='तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्''',+ त्रिगुणत्वादचेतना इति'

२०८. ='उपद्रष्टा पुरुष इत्यतो न सरूपः'
२०९. ='शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः ।'
२१०. ='प्रत्ययं बौद्धम् अनुपश्यति, तमनुपश्यन्न तदात्माऽपि' । इत्थं क्रमभेद-मात्रोऽत्र प्रभाष्ये ।

सन्दर्भं [२०१]-तः परस्तात् [५०१]-स्थाने [२०२] इति वाच्यम् ।

'तथोक्तं तन्त्रे' इति विभाष्य-पाठः प्रभाष्ये='तथा चोक्तम्'

२११. ='बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया······हि ज्ञानवृत्तिरिति'
२१२. ='कर्मरूपतामापन्नं'
२१३. ='तप्स्वरूपं तु पररूपेण'—
२१४. +'इति'—सूत्र-भाष्यावसान-सूचकमेतत् पदं स्यात् ।
२१५. नेदं प्रभाष्ये उत्थानिकायां, प्रत्युत पूर्वसूत्रभाष्यावसाने एव । तच्चासमी-चीनम् ।
२१६. ='नाशं प्राप्तमपि'
२१७. ='कुशलं पुरुषं प्रतिनाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मतामापन्नं लभत एव पररूपेण आत्मरूपमिति ।'—
२१८. +'इति'
२१८. =संयोग-स्वरूपा-भिधित्सया
२१९. ='''संयोग, इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम्
२२०. =प्रतिद्वन्द्वी इत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम्
२२१. =बन्धाभावः मोक्ष इति
२२२. +बन्धकारणम्
२२३. +प्रधान—
२२४. ='उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं' । द्र०-विव० पृ० १९८
२२५. +एष
२२६. 'प्रवृत्तिः' प्रभाष्यात् 'अदर्शनम्' च विभाष्याद् इति उभयमप्यत्र ग्राह्यम् ।
२२७. +बोध्य-
२२८. =-करण-समर्थं दृश्यं तदा न
२२९. प्रभाष्ये वाक्य-द्वयविभक्तोऽयं प्रसंगो न तथा सुसम्बद्धः यथा विभाष्ये ।
२३०. ='तत्रैवे दं स्वात्मभूतम्'
२३१. ='दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति'
२३२. +'तथा'
२३३. ='अवभासते'
२३४. ='अभिदधति'

२३५. ='सर्व-पुरुषाणां गुणानां संयोगो साधारण-विषयम् ॥ २३ ॥'
इत्यत्र पूर्व-सूत्र-भाष्यावसानम्, वाक्यं चैतत् पूर्ववाक्य-सम्बद्धम् । प्रभाष्ये-ऽवशिष्यते उत्थानिकारूपेण 'यस्तु' इति । द्र० विव० पृ० २००

२३६. +च

२३७. –'पुनर्'

२३८. ='-पर्यवसानां'

२३९. ='निवृत्तादर्शना'

२४०. ='उद्घाटयति'

२४१. +'षण्डक:' । पूर्वत्रापि षण्डक-स्थानेपण्डक इति स्वीकृत्य षण्ड इति विवरण-कारेण विवरणार्थं दत्तः । द्र० विव० पृ० २००

२४२. ='विनष्टं'

२४३. ='तत्राचार्य-'

२४४. ='तत्र चित्तनिवृत्तिरेव'

२४५. ='अस्थान एवास्य मति-विभ्रमः ।'

२४६. +उक्तम्

२४७. ='संयोगाख्यं सनिमित्तम्'

२४८. ='-संयोगाभाव'

२४९. +अथ•••••••इति

२५०. =प्लवते

२५१. +परे वैशारद्ये

२५२. +हानोपायः

२५३. =इत्येष

२५४. =तद्यथा

२५५. =नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति

२५६. ='एतेषां'

२५७. ...'निरोधसमाधिना'

२५८. +'प्रज्ञायाः'

२५९. ='चित्त-विमुक्तिस्तु त्रयी'

२६०. प्रभाष्ये 'चरिताधिकारा बुद्धिः ।' इत्येव पञ्चमी प्रान्तभूमिः । 'गुणाः••• प्रयोजनाभावात् ।' इति च षष्ठमी प्रान्तभूमिः ।

२६१. +'इति'

२६२. ='प्रान्तभूमि-प्रज्ञाम्'

२६३. =सिद्धा भवति विवेकख्यातिः हानोपायः

२६४. +अष्टौ

२६५. =-ज्ञानस्य

२६६. —अशुद्धिः

२६७. +अपि

२६८. =सा खल्वेषा विवृद्धिः

२६९. =स्वरूप-विज्ञानाद्

२७०. =वियोगकारणम्,+यथा परशुश्छेद्यस्य ।

२७१. =विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणम्, यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम् ।

२७२. =इव

२७३. =अभिव्यक्ति-कारणं यथा रूपस्यालोकः तथा रूपज्ञानम्

२७४. =विकारकारणम्

२७५. =पाक्यस्य

२७६. =वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः

अत्र कोष्ठान्तर्गतः पाठः प्रभाष्ये पूर्वमागतः—द्र०टि० सं० २७०

२७७. =सुवर्णस्य सुवर्णकारः

२७८. =स्त्री-प्रत्ययस्य अविद्या मूढत्वे

२७९. =तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये

२८०. =धृतिकारणम्

२८१. =तानि च परस्परं सर्वेषाम् ।

२८२. +इति

२८३. =यथासम्भवं

२८४. +इति

२८५. =यम-नियमाः; (न तु नियमानामपि मूलमहिंसेति वक्तव्यम्)

२८६. +तत्प्रतिपादनाय; (पुनरावृत्ति-रूपमिदं पदम्)

२८७. =अवदातरूपकरणाय एव

२८८. =च

२८९. =व्रतानि बहूनि

२९०. —इति ।

२९१. +यथार्थे वाङ्मनसे

२९२. +भवेदिति

२९३. =पुण्य-प्रतिरूपकेण

२९४. =सर्वभूतहितं

२९५. =पुनः

२९६. उच्यते= इति

२९७. =ते

२९८. +हनिष्यामि

२९९. =सैव त्रिभिरुपरतस्य

३००. =नान्यथा हनिष्यामीति

३०१. =क्षत्रियाणां

३०२.+एभिर्

३०३. =मृज्जलादि-

३०४. =सन्निहित-साधनादधिकस्य अनुपादित्सा

३०५. =काष्ठमौनाकारमौने च

३०६. =व्रतानि चैव्'''कृच्छ्र-चान्द्रायण-सान्तपनादीनि
विभाष्ये 'कृच्छ्रादीनि' इत्यपि स्यात्।

३०७. 'अत्र मध्ये किञ्चित् त्रुटितं कोशे' इति पूर्व-सम्पादकानां टिप्पणमनुसृत्य प्रभाष्यम् अङ्गीक्रियते। द्र० वि० पृ० २१६।

३०८. ='एतेषां'

३०९. ='हिंसादयो वितर्का'

३१०. +'अहम्'

३११. ='अपि वक्ष्यामि'

३१२. ='व्यवायी भविष्यामि'

३१३. उद्धरण-द्योतक इति शब्दः प्रभाष्ये अत्रावसाने एव, न सर्व-वाक्येषु।

३१४. ='एवमुन्मार्ग-प्रवण-वितर्क-ज्वरेणातिदीप्तेन'

३१५. ='उपागतः'

३१६. ='पुनराददानः'

३१७. ='सूत्रान्तरेषु'

३१८. +'तावत्'

३१९. ='त्रिधा।'

३२०. ='मांसचर्मार्थेन'

३२१. ='एवं सप्तविंशतिर्भेदा: [illegible] हिंसाया: । मृदुमध्याधिमात्रा: पुन:...' (अग्रे एकाशीति भेदा: कथ्यन्ते इति अत्र सप्तविंशति-भेद-कथनं किंचित् प्रक्षिप्तमिति सूचयति ।)

३२२. पूर्वसम्पादकै: प्रस्तावितोऽप्ययंशो, न विद्यते विवरण-कोशे- । द्र० विव० पृ० २१६ ।

३२३. ='अधिमात्र-तीव्र:'— (भाष्यमनु पुनरत्र अन्तिम-भेदत्रये 'मृद्वधिमात्रो, मध्याधिमात्रस्, तीव्राधिमात्र:' इति पाठोऽपेक्ष्य: ।)

३२४ त्रितयं चत्वारीकृत्य ३[४] = ३ × ३ × ३ × ३ = ८१ भेदा गण्यन्ते ।

३२५. ='सा पुनर्नियम-'

३२६. ='प्राणभृद्'

३२७. ='प्रतिपक्षभावनम्' + दु:खमज्ञानं चानन्त-फलं येषामिति प्रतिपक्ष-भावनम् ।'— (पूर्व-वाक्यस्य-समस्तपदस्य विग्रह-मात्रोऽयमंश: कथं भाष्यकारस्य भवितुमर्हति ? स समस्तं वा लिखतु विग्रह-पदमेव वा ।)

३२८. + 'तावत् प्रथमं'

३२९. + 'ततश्च'

३३०. = 'ततो'

३३१. + 'विपाक-'

३३२. = 'पुण्यादपगता'

३३३. + 'इति'

३३४. = 'योज्यम् यथासंभवम्'

३३५. = 'च अमुमेव'

३३६. = 'भावयन् न'

३३७. ÷ 'हेतोर्'

३३८. = 'यदास्य स्युरप्रसवधर्माण:'

३३९. = 'भवति धार्मिक:'

३४०. = 'यस्य'

३४१. + 'सिद्धश्च'

३४२. + 'इति'

३४३. (प्रकाशिताद्) विवरणात् त्रुटितमिति प्रतिभाति । द्र० विव० पृ० २२२ ।

३४४. + 'वा'

३४५. +'एता यम-स्थैर्ये सिद्धयः ।'

३४६. उपवाक्यमेतन्नास्ति प्रभाष्ये । प्रमादमस्य पूर्वसूत्रावसाने ३४५ टिप्पणे [illegible] ।

३४७. ='स्वाङ्गे जुगुप्सायाम्'

३४८. ='संसृज्येत'

३४९. ='इत्येतत् शौचस्थैर्याद् अधिगम्यत इति'

३५०. ='-आवरणमलम्'

३५१. ='दूराच्छ्रवण-दर्शनाद्या इति'

३५२. —'ये इष्टास्ते'

३५३. ='समाधि-सिद्धिः'

३५४. ='...जानाति देशान्तरे, देहान्तरे, कालान्तरे च । ततोऽस्य प्रज्ञा यथा-भूतं प्रजानातीति ।'

३५५. ='समसंस्थानम्, स्थिर-सुखम्'

३५६. द्र०—'आदि-शब्दादन्यदपि यथाचार्योपदिष्टमासनं द्रष्टव्यम्'-विव० पृ० २२६

३५७. ='-अनन्त-'

३५८. +'इति'

३५९. ='आसनजयात्'— तच्च पदद्वयानन्तरम् [illegible] वाक्यारम्भे ।

३६०. ='सत्यासनजये'

३६१. ='निस्सारणं'

३६२. ='प्रश्वास-'

३६३. ='श्वास-'

३६४. ='यत्र'

३६५. +'विषयो'

३६६. +'अवच्छिन्ना इत्यर्थः'

३६७. ='तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घातः, एवं तृतीयः, एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति ।'

३६८. ='संख्या-परिदृष्टः स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ।'

३६९. '-विषय-परिदृष्टः' इति उभयत्र समस्तं पदं प्रभाष्ये ।

३७१. ='प्राणायामः'

३७२. ='तु'

३७३. ='गत्यभावः सकृदारब्ध एव'

३७४. ='क्रमेण भूमिजयात्'

३७५. +'इति'

३७६. +'अस्य...क्षीयते'

३७७. ='यत्तद्'

३७८. ='तद् [illegible] प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासबलाद्'

३७९. वाक्यमिदं प्रभाष्ये उद्धरणस्यांशः, न [illegible] विभाष्ये ।

३८०. ='चित्त-'

३८१. ='स्वविषया-सम्प्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इव'

३८२. +'इतरेन्द्रिय जयवत्'
(विभाष्येऽत्र न दत्तमपि 'इन्द्रियाणि' इति पदं पूर्व-वाक्य -व्याख्यायां निहितम् ।)

३८३. ='मधुकरराजम्'— (विवरणकार-समक्षम् 'राजाहः-सखिभ्यष्टच्' पाणिनि ५।४।९१, इत्यनु अपाणिनीयं मधुकारराजानमेव आसीत्, न [illegible] संस्करण-स्खलितम् इति स्पष्टमुद्घोषितं—" 'मधुकरराजानम्' श्रुत्यक्षर-मेतत्, मधुकरराजमित्यर्थः ।"—विव० पृ० २३१ । पश्चतनैरत्र भाष्यस्य संस्कारो विहित इति दिक् ।)

३८४. —'इति'— द्र० 'इति शब्दः समाप्त्यर्थः'—विव० पृ० २३१ ।

३८५. ='अव्यसनम् इन्द्रियजयः'

३८६. ='अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादि-सम्प्रयोगः स्वेच्छया इत्यन्ये ।'

३८७. ='ज्ञानं इन्द्रियजय इति केचित्'

३८८. ='चित्तैकाग्र्यात्'

३८९. ='ततश्च परमा त्वियं वश्यता यत् चित्त-निरोधे निरुद्धानि'

३९०. =पाद-चतस्रे अत्रैव विभाष्ये पाद-समाप्ति-सूचकस्य 'इति' पदस्या-भावः कोशलेखने स्खलनं संकेतयति ॥

श्रीगौडपादाचार्य-विरचिता

सुभगोदयस्तुतिः

श्रीविद्या-सिद्धान्त-साधना तथा 'राजराजेश्वरी' हिन्दी टीका समन्विता

व्याख्याकार

डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज
१३९
***

श्रीगौडपादाचार्य-विरचिता

सुभगोदयस्तुतिः

श्रीविद्या-सिद्धान्त-साधना तथा 'राजराजेश्वरी' हिन्दी टीका समन्विता

व्याख्याकार
डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'
एम. ए., पी-एच्. डी., व्याकरणाचार्य
एम. एड., डी. लिट्.
(उ० प्र० संस्कृत एकेडमी द्वारा अनेकधा पुरस्कृत)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
वाराणसी

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि०सं० २०६७, सन् २०१०

ISBN : 978-81-7080-341-6

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)
फोन : (आफिस) (०५४२) २३३३४५८
(आवास) (०५४२) २३३५०२०, २३३४०३२
Fax : 0542 - 2333458
e-mail : cssoffice@satyam.net.in
web-site : www.chowkhambasanskritseries.com

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १११८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : (०५४२) २३३५०२०

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड
(मूल श्लोक एवं उनकी व्याख्या)

—०—

दो शब्द

वैदिककाल के ऋषियों के अन्तःकरण में एक उत्कण्ठा हुई कि **'कस्मै देवाय हविषा विधेम?'** इसी उत्कण्ठा का बीज अंकुरित-पुष्पित-फलित होकर अपने फलों में समाधानों का माधुर्य लेकर परिपक्व हुआ और उसे खाकर ऋषियों ने कहा—

१. **'अथातो धर्म-जिज्ञासा'** (जैमिनिः मीमांसा सूत्र) किन्तु इस 'जिज्ञासा' से बुद्धि और हृदय दोनों सन्तुष्ट नहीं हुए तब अन्य ऋषियों ने कहा—

२. **'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा'** (व्यासः ब्रह्मसूत्रः) किन्तु वेदान्त का यह निर्गुण, निराकार, हृदयहीन, शुष्क, अवाङ्मनसगोचर, निष्क्रिय एवं निष्करुण ब्रह्म भक्तों को सन्तुष्ट नहीं कर सका अतः पुनः—

'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अनुसंधित्सु एवं तत्त्वबुभुत्सु ऋषियों ने अपनी समाधि में इस समस्या का भी समाधान खोज निकाला और कहा—

३. **'अथातो शक्ति-जिज्ञासा'** ('शाक्तदर्शनम्' "शक्ति सूत्रम" आचार्य हयग्रीव, अगस्त्य) यह 'शक्ति-जिज्ञासा' ही यथार्थ समाधान सिद्ध हुई। यद्यपि यह भी 'ब्रह्मजिज्ञासा' ही थी, किन्तु यह 'शक्तिरूप ब्रह्म निर्गुण-निराकार-निस्पृह-निष्क्रिय-निष्करुण नहीं प्रत्युत सगुण, साकार, सस्पृह, सक्रिय एवं कारुण्यपरिपूरित भी था। इसकी विद्या भी वेदों की 'ब्रह्मविद्या' ही थी—

१. 'इयं ह्यग्रीवविद्या ब्रह्मैक्यदायिनी।।'[१]

२. 'एषा श्रीभुवनसुन्दरी ब्रह्मविद्या' (शा. द. १।२।७)

सृष्टि के आदि में मूल शक्ति के रूप में कौन स्थित था? इसके उत्तर में ऋषियों ने कहा—

१. 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। २. (१२।३।१) 'आत्मा वा इदमग्र आसीत्' (१२।३।२) और अन्त में कहा—'देवी ह्येकाग्रे आसीत्' (११।३।१) 'देवी ह्येकाग्र आसीत्।' (१२।३।२५)। 'शक्ति' ही ईश्वर है—

'शक्तिरीश्वर इति हयग्रीवः' (२।२।१७) जगत-कारण 'पराशक्ति' है।

'कारणं भुवनसुन्दरी पराशक्तिरिति।।' (२।४।१३)[२]

---

१. शाक्त दर्शनम् (१८।४।२४), २. शाक्तदर्शनम्।

वैदिक ऋषि जानते थे कि चाहे व्यक्ति हो और चाहे समाज, चाहे राष्ट्र हो और चाहे विश्व; यदि 'पूर्णत्व' और 'अमृतत्व' की प्राप्ति करनी हो या 'अभ्युदय' एवं 'नि:श्रेयायस' की संप्राप्ति करनी हो या 'प्रेय' एवं 'श्रेय' के दुरारोह, अभ्रंलिह शिखर पर पदार्पण करना हो, तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'शक्ति' की ही आपश्यकता होगी और उसी का आलम्बन ग्रहण करना होगा।

'शक्तिमान' (शिव) भी 'शक्ति के बिना पङ्गु हैं—

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चैदेवं देवो न खलु कुशलस्पन्दितुमपि ॥"

बिना 'शक्ति' की सहायता के परमशिव कुछ भी कर पाने में अशक्त है—

"परोऽपिशक्तिरहितः शक्त्या युक्तों भवेद्यदि,
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्तश्शक्त एव हि॥"

'शिव' शब्द के 'श' वर्ण में 'इकार' ही शक्ति है। इस 'इकार रूप शक्ति' को हटा लेने पर स्वयं शिव भी मात्र 'शव' रह जाता है।

वैदिककाल में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी, उनके **'श्रीचक्र'** उनकी **'श्रीविद्या'** एवं कुण्डलिनी शक्ति के रूप में 'शक्ति' की पूजा प्रचलित थी और आज भी दक्षिण भारत में यत्र-तत्र उनकी पूजा प्रचलित है किन्तु उत्तर भारत में यह लगभग पूर्णतः अज्ञात है। **वेदों की माता गायत्री की भी माता** पराशक्ति **भगवती महात्रिपुरसुन्दरी** की पूजा आज भी सबसे बड़ी आवश्यकता है। भगवती त्रिपुरा की साधना 'शक्ति' की साधना है। यह वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार है, यह—'अहं देवी न चान्योस्मि' अर्थात् मैं शक्ति का स्वरूप हूँ—मैं साक्षात् देवी हूँ—मैं शक्ति का अवतार हूँ"—की प्रत्यभिज्ञा है। यदि भारत को अपनी उन्नति करना है, अपना खोया हुआ गुरुत्व प्राप्त करना है और शक्तिशाली राष्ट्र बनना है, तो 'शक्ति' की उपासना करनी ही होगी। इसकी उपासना—'अहमस्मि', अहमिदम्' एवं 'इदमहम्' की उपासना हे—यह 'अहं' एवं 'इदम्' में सामानाधिकरण्य की साधना है—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की साधना है। यह 'शुद्धविद्या' की उपासना है—पूर्णत्व की साधना है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज के व्यवस्थापक महोदय ने इस दिशा में गौड़पादाचार्यप्रणीत् 'सुभगोदय-स्तुति' को प्रकाशित करने की जो सहमति व्यक्त की है वह उसी उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में अग्रपद होने की दिशा में एक श्लाघ्य प्रयास है। इसके लिए मैं उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

२९-२-२००८
शुक्रवार

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'
जमुआ. पो. वैढ़न, सीधी (मध्यप्रदेश)
मो. ०९८२६३०७०१७

प्रस्तावना

'श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि ! त्रिलोकीमहा,
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम् ।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः,
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम् ।'

—ऋषि दुर्वासा—'त्रिपुरा-महिम्नस्तोत्र'

शाक्त दर्शन के महान आचार्य, 'श्रीविद्या' के अन्यतम साधक, 'समयाचार' के प्रकाशस्तंभ एवं आचार्य शङ्कर के परम गुरु 'गौड़पादाचार्य' की 'श्रीविद्या' सम्बंधिनी कृति 'सुभगोदय-स्तुति' श्री विद्या का अन्यतम ग्रंथ है। यद्यपि आचार्य गौड़पाद ने 'श्रीविद्या' पर 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' नामक सूत्र-ग्रंथ भी लिखा है किन्तु वह भी 'सुभगोदय स्तुति' के समतुल्य नहीं है।

'परशुराम कल्पसूत्र', 'नित्योत्सव', 'योगिनी हृदय', 'नित्याषोडशिकार्णव', 'ज्ञानार्णव', 'कामकलाविलास', 'वरिवस्यारहस्यम्', 'सौन्दर्यलहरी', 'सुभगोदय (शिवानन्द), 'सुभगोदय वासना' (शिवानन्द), भावनोपनिषद् 'सोभाग्य हृदय स्तोत्र' (शिवानन्द) 'ललितासहस्रनाम' 'सौभाग्य सुधोदय' (अमृतानन्द), 'त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र' (क्रोधभट्टारक दुर्वासा) एवं 'लक्ष्मीधरा' (लक्ष्मीधर) आदि दर्जनों ग्रंथ हैं, जो भगवती महात्रिपुरसुन्दरी, 'श्रीचक्र' एवं श्री विद्या आदि विषयों पर प्रकाश डालते हैं किन्तु जो सामग्री 'सुभगोदयस्तुति' में प्रस्तुत की गई है वह अन्य ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है। 'कौलमत' एवं 'समयतम' की विभाजक रेखायें कौन-सी हैं? दोनों मतों की दार्शनिक दृष्टियों में क्या भेद है? वेदान्त की अद्वैत दृष्टि से 'समयाचार' की अद्वैत दृष्टि में क्या भेद है? 'कुण्डलिनी की 'कुमारी' 'योषित' एवं 'पतिव्रता' अवस्थायें क्या हैं? एक ही 'महाबिन्दु' से समस्त चक्रों की एवं विराट विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई?—इन समस्त विषयों पर आचार्य गौड़पाद ने जिस विस्तार से प्रकाश डाला है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

'श्रीविद्या' एवं 'श्रीविद्या-साधना' के मुख्यतम अवयव—१. भगवती महात्रिपुर सुन्दरी, (२) श्रीविद्या, ३. श्रीचक्र, ४. षोडशी-विज्ञान, ५. पञ्चदशाक्षरी विद्या और उसकी सर्वानुस्यूतता एवं ६. विश्वाहन्तात्मक विराट अद्वैतवाद आदि तत्त्व हैं। 'श्रीयन्त्र' भगवती का **आसन** है, उनका **शरीर** है, शिवशक्ति के रहने का **निलय**

है, समस्त नित्याओं—योगिनियों—कलाओं-वाग्वृत्तियों, शक्तियों, त्रिवेदों, यंत्रों, मंत्रों, लोक-लोकान्तरों, वर्णों एवं मातृकाओं आदि सभी का **मूल उत्स** है। इतना ही नहीं समस्त विश्व का एवं ३६ तत्त्वों का भी यही निलय है। यह विराट विश्व का ज्यामितिक चित्र है। **भावनोपनिषदकार** के अनुसार—'नवचक्ररूपं श्री चक्रम्' अर्थात् "स्वकीयो। देह एव त्रैलोक्यमोहनादिनव चक्रसमष्टिरूप श्रीचक्राभिन्न:।[१]

'तंत्रराजतंत्र' में कहा गया है—

"**श्रीचक्रे सिद्धयः** प्रोक्ता रसा नियतिसंयुताः।
ऊर्मयः पुण्य-पापे च ब्राह्मयाद्या मातरस्स्मृताः॥"

शिवानन्द मुनि 'सुभगोदयवासना' में कहते हैं कि मैं 'श्रीचक्र' का भजन तो करता हूँ किन्तु यह 'श्रीचक्र' भूर्जपत्र पर अङ्कित त्रिकोण, दशार, चतुर्दशार आदि की समष्टि मात्र नहीं है प्रत्युत् यह शिवशक्तिमय विश्वाकार रचना है तथा अहन्ता-इदन्ता का अविभागात्मक तथा रसातमक बीज है—

'अहन्तेदन्तयोर्बीजमविभागरसात्मकम् ।
शिवशक्तिमयं चक्रं विश्वाकारं भजाम्यहम्॥'

—सुभगोदय वासना (९)

भगवती अपने से पृथक, '**मणिद्वीप**' में निवास करने वाली कोई पृथक सत्ता नहीं हैं प्रत्युत् वह साधक की स्वात्मा हैं—

'सदानन्दपूर्णः स्वात्मैव परदेवता ललिता॥[२]

भगवती के हाथों में गृहीत अस्त्र, शस्त्र आदि भी भौतिक वस्तुओं से अधिक आध्यात्मिक हैं। इसीलिए 'रहस्यनामसाहस्र' में कहा गया है—

"रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्र सायका॥"

'तन्त्रराजतंत्र' भी इसकी पुष्टि करता है—

"................तन्मात्राः पुष्पसायकाः।
मनो भवेदिक्षुधनुः पाशो राग उदीरितः।
द्वेषस्स्यादङ्कुश प्रोक्तः क्रमेण वर वर्णिनि॥"

---

१. भावनोपनिषद-भाष्य (भास्करराय),
२. भावनोपनिषद,

वशिनी आदि शक्तियाँ भी Symbolic हैं—

"शीतोष्णसुखदुःखेच्छा गुणाः प्रोक्ताः क्रमेण वै।
वशिन्याद्याश्शक्तयस्स्युः........................॥"[१]

'शीतोष्णसुखदुःखेच्छास्सत्वं रजस्तमो वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ॥२०॥[२]

ब्राह्मी आदि शक्तियाँ क्या हैं? ये सभी Symbolic हैं—

'नियतिः शृङ्गारादयो रसा अणिमादयः।
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्मयाद्यष्ट शक्तयः॥११॥"[३]

क्या 'श्रीचक्र' विश्व का Model मात्र है? नहीं। यह त्रिपुरामय है—

'एवमेतन्महाचक्रं महाश्रीत्रिपुरामयम्॥[४]

'वामकेश्वर तंत्र' भी समस्त बाह्योपासना को अस्वीकार करता हुआ भगवती के सारे अस्त्र-शस्त्रों को प्रतीकात्मक मानता है और 'विश्वाहङ्कार' के पुष्प से भगवती की पूजा करने का परामर्श देता हुआ कहता है—

'पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्द स्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।
करणेन्द्रिय चक्रस्थां देवी संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक॥'

—वामकेश्वर तन्त्र

भगवती कौन हैं? आचार्य शङ्कर कहते हैं कि हे भगवती! तुम सूर्य-चन्द्र रूपी स्तन धारण करके स्थित शंभु का शरीर हो—

'शरीरं त्वं शम्भोश्शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं"

भगवती चिन्मयी आत्मा है—बैन्दवकला है—

आनन्द रूपा आत्मा है—

'सहस्रदलकमलान्तस्स्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम् तत्कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते। सैव त्रिपुरसुन्दरी॥"

—(लक्ष्मीधरा)

---

१. तंत्रराज तंत्र
२. भावनोपनिषद
३. भावनोपनिषद
४. वामकेश्वरी मनम् (१/४१)

'परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत्॥
शक्त्य बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।
ज्ञातेनापि महेशानि शर्म कर्म न किञ्चन॥

—नित्याषोडशिकार्णव।

भगवती महात्रिपुर सुन्दरी

(एक आख्यानात्मक परिचय)

देवी भागवत पुराण में एक कथा आती है कि प्रजापति दक्ष ने एक यज्ञ-महोत्सव किया, किन्तु उसमें शिव एवं सती को आमंत्रित नहीं किया। सती ने अनामंत्रित होकर और शिवाज्ञा का तिरस्कार करके उस यज्ञ में जाने की आकांक्षा व्यक्त की। शिव के विरोध करने पर वे क्रोध में कालाग्नि के समान भयानक रूप बनाकर शिव के समक्ष प्रकट हुईं। स्वयं शिव भी उस विकराल रूप को देखकर भयाक्रान्त हो गए और दौड़ने लगे। भगवती ने उन्हें रोकने के लिए दसों दिशाओं में दस रूप बनाकर उनका मार्ग रोक लिया।

भगवती सती द्वारा जो १० रूप धारण किए गए थे उनमें ही 'षोडशी' और 'त्रिपुरसुन्दरी' भी थे।

भगवती द्वारा धारण किये गए दस रूप

१	२	३	४	५
काली	तारा	लोकेशी कमला	भुवनेश्वरी	छिन्नमस्ता
६	७	८	९	१०
षोडशी	त्रिपुरसुन्दरी	बगलामुखी	धूमावती	मातङ्गी

भगवती सती शिव से कहती हैं—

'न पश्यसि महादेव! सती मां पुरतः स्थिताम्।
काली[१] तारा[२] च लोकेशी[३] कमला भुवनेश्वरी[४]॥
छिन्नमस्ता[५] षोडशी[६] च सुन्दरी[७] बगलामुखी[८]।
धूमावती[९] च मातङ्गी नामान्यासामिमानि वै॥''[१]

शिव के सामने 'काली', ऊर्ध्व में 'तारा', दाहिनी ओर 'छिन्नमस्ता'', बायीं ओर 'भुवनेश्वरी', पीछे 'बगलामुखी', अग्निकोण में 'धूमावती', नैऋत्यकोण में 'त्रिपुरसुन्दरी', वायव्य कोण में 'मातङ्गी', ईशानकोण में 'षोडशी' एवं सामने दक्षिणाभिमुख 'भैरवी' स्थित हो गईं।[२]

---

१. त्रिपुरा शक्तिराद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी।
महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलम्॥'' —त्रिपुर ता० उप०

२. देवी भागवत पुराण (अध्याय-८)

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के अवतार के सन्दर्भ में ब्रह्माण्ड पुराण में भण्डासुर की कथा आती है।

भण्डासुर का वध करने के उद्देश्य से ही भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का आविर्भाव हुआ था।

भगवती त्रिपुरा—श्रीचक्र त्रिपुरा की पुरी है—

"चन्द्रमण्डलगलत्पीयूष धारावृतां पुरीं श्रीचक्र रूपां त्रिपुरायाः पुरं।।"

आचार्य भास्कर कहते हैं कि—

"तिसृभ्यो मूर्तिभ्यः पुरातनत्वात् त्रिपुरा।।[१]

इसीलिए कहा गया है कि भगवती पुरातन एवं मूर्तित्रयात्मक हैं इसलिए उन्हें त्रिपुरा कहा जाता है—

"मूर्तित्रयस्यापि पुरातनत्वात्तदम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम।।"

गौडपादीय सूत्र में भी कहा गया है—

'तत्त्वत्रयेणभिदेति' अर्थात् 'एकमेव ब्रह्म तत्त्वत्रपेण भिद्यते।'

—(भास्कर रायः सौभाग्य भास्करः १७६)

त्रिपुरार्णवकार की दृष्टि—त्रिपुरार्णव में कहा गया है—

"नाडीत्रयं तु त्रिपुरा सुषुम्णा पिंगला इडा।
मनोबुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्रयमुदाहृतम्।
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा मता।।"

—त्रिपुरार्णव

'कालिकापुराण' में व्यक्त दृष्टि—

'कालिका पुराण' में कहा गया है कि—

१. 'त्रिकोणं मण्डलं चास्या'

२. 'सर्व त्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात्तु त्रिपुरामता।।'

३. 'देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा।
त्रैलोक्यं त्रिपुरी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः।
यत्किंचिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं।
तत्सर्वं **त्रिपुरेति** नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः।।

---

१. सौभाग्य भास्कर (ल. स. १७६) भगवती 'त्रिपुरा' क्यों कही जाती हैं? त्रिपुर क्या है? 'पुरत्रयं च चक्रस्यसोमसूर्यानलात्मकम्।'—रुद्रायामल

'लघुस्तव' में कहा गया है—

"त्रिपुरा परमा शक्तिः।"

भगवती वामादित्रितय, इच्छादित्रितय से युक्त हैं इस कारण भी वे **'त्रिपुरा'** कही जाती हैं।

अमृतानन्द की दृष्टि—

आचार्य अमृतानन्द कहते हैं—

'त्रिपुरा देव्या धामतत्त्व पीठ लिङ्ग मातृकादिभ्यस्त्रिभ्योऽपि पुरा या विद्यते सा **त्रिपुरादेवी**।।"[१]

महाकाल-विरचित 'त्रिपुरास्तोत्र' में भगवती त्रिपुरा के त्रित्व को स्तुति के बहाने इस प्रकार कहा गया है—

'त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्णवीशरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका त्रिये।।'
त्रिगुणात्मा त्रिविधा च **त्रिबिन्दु त्रित्वमानिनी**।
त्रिभूषा च **त्रिरूपा** च त्रिपुरायै नमो नमः।।[२]

'सर्वोल्लास तंत्र' में कहा गया है—

१. त्रिपुर सुन्दरी का योनिस्थान 'त्रिकोण' है। वहाँ तीन रेखायें हैं। वे ही 'त्रिपुरात्मिका' भी हैं। इस 'त्रिपुर' में त्रिपुरारि के साथ 'त्रिपुरादेवी' निवास किया करती हैं।

'त्रिपुर'—१. शून्य, २. चन्द्र एवं ३. वारुण ही **त्रिपुर** है।

'योनिस्थानं हि विज्ञेयं महात्रिपुरसुन्दरीम्
तस्यास्त्रिरेखाविज्ञेया त्रिपुरात्रिपुरात्मिका।
त्रिपुरे त्रिपुराद्देवी त्रिपुरारिसमन्विता।
शून्यं चन्द्र वारुणाश्च त्रिपुरं परिकल्पितम्।।[३]

पुरत्रय क्या है?

रुद्रयामलोक्त मत—

'पुरत्रयं च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।
महालक्ष्म्या पुरं चक्रं तत्रैवास्ते सदाशिवः।।

---

१. योगिनी हृदयदीपिका।
२. सर्वोल्लास तंत्र में उद्धृत (३/४०)
३. सर्वोल्लास तन्त्र (३/४५)

— × — × — × — × — × — × — × — × — × — ×—

त्रिखण्डं मात्टका चक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।
त्रिकोणं बैन्दवं सौम्यमष्टकोणं च मिश्रकम्॥
चक्रं चन्द्रमयं चैव दशारद्वितयं तथा।
चतुर्दशारं वह्नेस्तु चतुश्चक्रं च भानुमत।
एतत्त्रसादादिन्द्राद्या वसवोष्टौ मरुद्गणाः।
ये ये समृद्धाः लोकेऽस्मिन् त्रिपुरा चक्रसेवकाः॥[१]

(क) 'पुरि श्री चक्रमध्ये हिरण्मयः कोशः सहस्रदल कमल कोश इत्यर्थः।[२]

(ख) अमृतेन आवृतां चन्द्रमण्डलगलत्पीयूषधारावृतां
पुरीं श्री चक्ररूपां त्रिपुरायाः पुरं यो वेद।

(ग) यो वै तां ब्रह्मणो वेद। अमृतेनावृतां पुरीम्। (वेद)

(घ) 'सोमसूर्यानलात्मकत्वात् श्रीचक्रस्य'—वेद

(ङ) पूः श्री विद्यानगरम्

(च) इच्छा शक्तिः ज्ञान शक्तिः क्रियाशक्तिस्वरूपिणी।
सर्वाधारा सुप्रतिष्ठा सदसद्रूप धारिणी॥[३]

पुरत्रयं च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।
महालक्ष्म्याः पुरं चक्रं तत्रैवास्ते सदाशिवः॥[४]

आचार्य अमृतानन्द भगवती के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"देशकालानावच्छिन्ना, परममहद्रूपा, स्वभावसुन्दरी परप्रकाशात्मकपरमशिव सामरस्यपरिपूर्णपरानन्दशालिनी विमर्श शक्तिः श्री महात्रिपुरसुन्दरी॥[५]

विश्व और त्रिपुरा देवी—(परिणामवाद)

यह षट्त्रिंशदात्म निःशेषः जगत भगवती का अपना ही रूपान्तर है—परिणाम है। यथा दूध का परिणाम दही है, उसी प्रकार शक्ति का परिणाम है।

---

१. रुद्रायामल
२. लक्ष्मीधरा
३. ललिता सहस्रनाम (१८१)
४. रुद्रायामल
५. यो० ह० दी० (१/३५)

आचार्य भास्करराय एवं अमृतानन्द की दृष्टि—

अमृतानन्द कहते हैं—

अतएव शिवादिक्षित्यन्तरूपेण परिणामत इत्यर्थः यथा क्षीरं दध्याकारेण पिरणमते तथा चिच्छक्तिरेव सर्वाकारेण परिणमते। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—'चितिः स्वतन्त्रा विश्व-सिद्धि हेतुः।'

'विश्वाकारप्रथा षट्त्रिंशतत्त्वात्मना परिणता विमर्श शक्ति॥'[१]

विश्व के प्रति अन्य दृष्टियाँ—

(क) "स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम्।
चैतन्यमात्मनों रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम्॥"

(ख) 'जगच्चित्रं समालिख्यस्वेच्छातूलिकयात्मनि।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान शिवः॥"

(ग) 'निरुपादानसम्भारमभितावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

(घ) 'विश्वाकार प्रथाधार निजरूपशिवाश्रयम्।
कामेश्वराङ्क पर्यङ्कनिविष्टमतिसुन्दरम्॥'
चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा।
करोति स्वेच्छया पूर्ण, विचिकीर्षा समन्विता॥[४]

भगवती जिस 'सुधासिन्धु' में रहती हैं, वह कोई अन्य नहीं है वह सहस्रार ही है—

'बैन्दवस्थाने सहस्रारे सुधासिन्धुमध्ये मणिद्वीपे चिन्तामणिगृहे।'[५]

भगवती का स्वरूप कैसा है?

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी देवी बिन्दुत्रय चक्र (सर्वानन्दमय चक्र) में भगवान कामेश्वर की क्रोड में स्थित हैं। उन्होंने चन्द्रमा की एक कला को अपने मस्तक पर आभूषण के रूप में धारण कर रखा है। वे अपने हाथों में १. पाश, २. अंकुश,

---

१. (१/५२) योगिनी हृदय दीपिका
२. (१/५०) योगिनी हृदय
३. (१/५२) योगिनी हृदय
४. योगिनी हृदय (१।५६)
५. लक्ष्मीधरा

३. इक्षु-धनुष, ४. पञ्चबाण धारण किए हुए हैं। चन्द्रमा, सूर्य एवं अग्नि उनके नेत्रत्रय हैं।

'आसीनां बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा।
पाशाङ्कुशेक्षुचापप्रसून शरयञ्च काञ्चित् स्वकरा।
बालारुणाङ्गी शशिभानुकृशानुलोचनत्रितया ॥'[१]

चतुश्शती के अनुसार—

इच्दाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाण धनुषी दधदुज्जवला ॥

(पाश = 'इच्छाशक्ति।' अङ्कुश = 'ज्ञानशक्ति। धनुष बाण = 'क्रियाशक्ति।')

भगवती चक्रशरीरिणी हैं—

'एवं रूपं परं तेजः **श्रीचक्रवपुषा** स्थितम्।'[२]
'कला विद्या पराशक्ति श्रीचक्राकाररूपिणी।
'तन्मध्ये वैन्दवं स्थान तत्रास्ते परमेश्वरी।
सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्वातिगा सती ॥'
'विश्वाकारप्रभाधार निजरूपशिवात्मकम्।
कामेश्वराङ्कपर्यङ्कनिविष्टमतिसुन्दरम् ॥'
'बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशधरां चापं धारयन्तीं शिवां प्रिये ॥'

१. बिन्दु (सर्वानन्दमय चक्र) की 'चक्रेश्वरी' श्री ललिता महाचक्रेश्वरी हैं। योगिनी चक्र—परापर रहस्य योगिनियाँ हैं।

२. त्रिकोण (सर्वसिद्धिप्रदचक्र)— चक्रस्थ मूल शक्तियाँ हैं—

१. कामेश्वरी, २. वज्रेश्वरी, ३. भगमालिनी।। चक्रेश्वरी—त्रिपुराम्बा।

योगिनी चक्र—अति रहस्य योगिनी चक्र इसी प्रकार अन्य शक्तियाँ भी 'श्रीचक्र' में अवस्थित हैं।

भगवती का स्वरूप—

१. कर्णसंस्तुतावली में कहा गया है—

'भवानि ! श्री हस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमधो,
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक्शुकवरम्।

---

१. का० क० वि० (३७-३८)
२. (चतुश्शती)

अथ द्वाभ्यां मुद्राभयवरदानैकरसिके
क्वणद्वीणां द्वाभ्यामुरसि च कराभ्यां च विभृषे॥'

२. सुभगोदयकार कहते हैं—

'सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणंहस्तां ध्यायेत् सुसाधकः ॥'

३. भगवती के स्थूल शरीर का प्रतीकात्मक अर्थ—

(भगवती का रहस्यात्मक सूक्ष्म स्वरूप)

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्दस्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।
करणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत् सर्वसिद्धिभाक ॥[१]

१. भगवती के हाथों में गृहीत 'पाश' और 'अङ्कुश' ('पाश' एवं 'अंङ्कुश' नहीं प्रत्युत्) राग एवं द्वेष हैं। (अर्थात् भगवती रागद्वेष को अपने वशीभूत करने के कारण रागद्वेष के मनोविकारों से अतीत हैं।

२. भगवती के हाथों के 'बाण' लोहे के बाण नहीं है, प्रत्युत् वे यथार्थतः 'शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध' नामक (पञ्चभूतों के) 'गुण' एवं 'पञ्चतन्मात्रायें' एवं मन की वे संवेदनायें हैं, जो मानव-मन में भयानक मनोविकारों के रूप में आविर्भूत होती हैं। भगवती इनसे भी अतीत हैं।

३. भगवती संवितस्वरूपा हैं—'देवीं संवित्स्वरूपिणीम्'।

४. भगवती के स्तन मांस के स्तन नहीं है प्रत्युत् वे 'सूर्य' और 'चन्द्रमा' हैं। भगवती के नेत्र भी मांस के नेत्र नहीं अपितु वे भी 'सूर्य' और 'चन्द्र' ही हैं। वे ही भगवती ताटङ्कयुग्म भी हैं—

'सूर्य चन्द्रौस्तनौ देव्याः तावेव नयने स्मृतौ।
उभौ ताटङ्कयुगलमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥'

४. नित्याषोडशिकार्णवकार की दृष्टि—इस ग्रन्थ में भगवती का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'शक्तिबीजे पराशक्तिरिच्छैव शिवरूपिणी।
एवं देवी त्र्यक्षरा तु महात्रिपुरसुन्दरी॥'

५. बहवृचोपनिषद में प्रतिपादित दृष्टि—'बहवृचोपनिषद' में कहा गया है कि

---

१. वामकेश्वर तन्त्र

भगवती 'पराशक्ति हैं। वे शांभवी विद्या हैं। वे 'कादिविद्या' हैं। वे ही 'हादि' एवं 'सादि' विद्या हैं। वे ही पुरत्रयवासिनी, देशकालातीत एवं प्रत्यक् चिति हैं—वे ही बाहर, भीतर सर्वत्र व्याप्त हैं—

१. 'सैषा पराशक्तिः। सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादि विद्येति वा रहस्यमोमों वाचि प्रतिष्ठा।

२. 'सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकाल वस्त्वन्तरा-सङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक चितिः॥'

भगवती ही अद्वैत रूप में सारे द्वैत अस्तित्वों में स्थित हैं। सारा द्वैत प्रपञ्च उनके अद्वैत का प्रपञ्चीकरण (विस्तार) मात्र है, अतः सारी सृष्टि (जगत) में अकेली वे ही 'एक' रूप में विद्यमान हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं। यही बात इन शब्दों में इस प्रकार कही गई है—

'ॐ देवी ह्येकाग्र आसीत् ।'

वही 'कामकला' एवं 'शृङ्गारकला' भी हैं—

'कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते।'

वही सृष्टिकर्त्री हैं—'सैव जगदण्डमसृजत।'

उसी ने ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र को भी जन्म दिया—'तस्या एव ब्रह्माऽजीजनत्। विष्णुऽजीजनत रुद्रोऽजीजनत्।' उसी ने सारे मरुद्गणों को जन्म दिया—'सर्वे मरुद्गण अजीजनत्'।

उसी शक्ति ने सारे गन्धर्व, अप्सरायें, किन्नर, वादित्रवादी, सारे भोग्य, समस्त शाक्त, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज एवं जरायुजों को जन्म दिया। उसी ने मानव, स्थावर, जङ्गम एवं सारे प्राणियों को जन्म दिया। उसने सबको जन्म दिया—'सर्वभिजीजनत् ॥'[१]

भगवती सबकी अन्तरातमा हैं और उनसे अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु अनात्मक एवं अससत्य है—

'सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा।'' —(बह्वृचो०)

भगवती 'ब्रह्मसंवित्ति' एवं सच्चिदानन्दलहरी' आदि हैं।[२]

'अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याऽद्वितीया ब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी विभाति..... सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी त्वं चाहं च सर्वं विश्वं

१. बह्वृचोपनिषद ।
२. बह्वृचोपनिषद ।

सर्वदेवता। इतरत सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताऽख्यं वस्तु तदद्वितीयम खण्डार्थं परं ब्रह्म॥[१]

इस प्रकार भगवती महात्रिपुरसुन्दरी सर्वात्मक हैं। सारे देवता, सारा विश्व एवं सब कुछ भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही तो हैं। वे ही अद्वितीय एवं अखण्ड परब्रह्म हैं।

वे भगवती ही षोडशी, श्रीविद्या, पञ्चदशाक्षरी, महात्रिपुरसुन्दरी, बाला, अम्बिका, बगला, मातङ्गी, कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डी, वाराही, तिरस्करिणी राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यङ्गिरा धूमावती, सावित्री, सरस्वती गायत्री एवं ब्रह्मानन्दकला भी हैं।[२]

६. भावनोपनिषदकार की दृष्टि—

'भावनोपनिषद्' में कहा गया है कि—'कामेश्वरी सदाननन्दघमा पूर्णा स्वात्मैक्य-रूपा देवता।'' —(भावनोपनिषदः ८)

अर्थात् भगवती कामेश्वरी स्वात्मैक्यरूपा देवता हैं।

इच्छा शक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी हैं[३]—

'इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी।'

भगवती के 'श्रीचक्र' का पूजन ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का अभेदात्मक भावन (परामर्श) है—

'ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् ।'

भगवती के हाथों में गृहीत भौतिक वस्तुएँ अभौतिक हैं और उसका रहस्यार्थ इस प्रकार है—

'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्प बाणा मन इक्षुधनुः। वश्यो बाणो रागः पाशो द्वेषोऽङ्कुशः।'

भगवती की आवरण देवता भी प्रतीकात्मक हैं—

वशिन्यादि देवता क्या हैं? ये इस प्रकार हैं—

'शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादि शक्तयोऽष्टौ ।'

देवता क्या हैं?—'अव्यक्तमहत्तत्वाहंकारकामेश्वरी वज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रि-कोणाग्रगा देवताः।

१५ तिथियाँ क्या हैं?—ये अधिदेवता हैं, 'नित्या' नामक शक्तियाँ हैं और पञ्चदशी विद्या के १५ वर्ण हैं—

१. बह्वृचोपनिषद
२. बह्वृचोपनिषद
३. भावनोपनिषद।

'पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनं पञ्चदशनित्या श्रद्धाऽनुरूपाऽधिदेवता।'[१]

भगवती के श्रीचक्र के त्रिकोणाग्र देवता निम्नाङ्कित हैं—

'अव्यक्तमहत्तत्वाहंकारकामेश्वरी वज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवता:।'[२]

भगवती के 'श्रीचक्र' के 'चतुर्दशार' के देवता भी प्रतीकात्मक हैं—(नाड़ियाँ हैं)—

'अलम्बुसा कुहुर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः सर्वसंक्षोभिण्यादि चतुर्दशारदेवता:।'

भगवती के श्री चक्र के बहिर्दशार' के देवता इस प्रकार हैं—

'प्राणापान व्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्त धनञ्जया दश वायवः सर्वसिद्धिप्रदाऽऽदिबहिर्दशारदेवता:।[३]

'दशार' के देवता कौन हैं?—

'एता दश धनकला: सर्वज्ञत्वाद्यन्तर्दशारदेवता: ।'[४]

७. 'नित्याषोडशिकार्णव' में कहा गया है कि भगवती त्रिपुरा परमा एवं आद्या शक्ति हैं। वे ही समस्त त्रैलोक्योत्पादिका हैं—

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या जातादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ॥'

प्रलयकाल में वे भगवती ही सारे जगत, उसके उपादानों को तथा ३६ तत्त्वों को कवलीकृत करके स्थित रहती हैं—

'कवलीकृतनिश्शेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।
अस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते ॥'

भगवती शक्ति हैं।

शक्ति स्वतंत्र हैं—'शक्ति: स्वतंत्रेति हयग्रीव:॥ (२।४।१६) यही शाक्त दार्शनिकों की मान्यता है। शैव दार्शनिक शिव को 'स्वतंत्र' मानते हैं। शाक्त जगत का कारण 'शक्ति' को मानते हैं। 'अत: कारणं शक्तिरेवेति ह्यग्रीव:' (३।२।९) शक्ति शब्द वाच्या भुवनेश्वरी (३।२।३) एका शक्ति कारणम् (१।४।२१) विचित्रजगन्निर्माणादिसामर्थ्यरूपा शक्ति:॥ (१।१।७) शक्तिस्त्रिजननी। (१।४।१) शक्तिरेव सर्वकारणमिति हयग्रीव:। (३।४।२२) कारणं शक्ति: भुवनेश्वरी। (४।१।१-२) शक्तिरधिष्ठानम् (७।४।१६) ओं ह्रीं ब्रह्माभिन्न शक्ति: (८।३।१५) 'शक्तिरेवेति हयग्रीव:' (१२।२।१३) ब्रह्मरंध्रे

१. भावनोपनिषद
२. भावनोपनिषद
३. भावनोपनिषद
४. भावनोपनिषद

पराशक्ति। (१३।२।१३) (१३।२।१८) देवता पराशक्ति: (१४।३।२४) यत्कर्त्री (१।२ 'शक्तिसूत्र:' अगस्त्य) ऊर्णनाभि: इस (१।३६)।

'शक्ति ऊर्णनाभिवत है जिसे जाला बनाने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती। वह माता-पिता दोनों हैं :— यन्मातापितरौ (१।८९)

श्री चक्र शरीर है—'शरीरं श्री चक्रम्' (४।३८) 'विद्या' केवल 'पञ्चदशीविद्या' मात्र है—'विद्यापञ्चदशी' (१७।३।११)

अद्वैतवाद [illegible] साधना की चरम परिणति एवं सिद्धि है—अद्वैतं ब्रह्मविद्यामार्गमेव। (१७।३।१६) स वै ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मभूयाय कल्पत इति (शक्तिसूत्र १।१२६) यत्प्रसादाज्जीवन्मुक्तोजीवं परं ब्रह्मैव भवति। (२।३८) प्रथमं प्रकृतिं मनसा विभाव्य तामपि स्वात्मनि स्वात्मानं तस्यां मिथो विलाप्य तत एकोवशिष्यते (१३।५४ मुक्त: शुद्ध: पूर्ण: प्रत्यगात्मैव भवति॥' (३।५४)

भगवती सर्वयोनि है—

'सा योनि: सर्वदेवानां शक्तीनां चाप्यनेकधा।
अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्या: सर्वं प्रवर्तते ॥'[१]

जिस प्रकार समस्त वृक्ष बीज का ही विकास है और सूक्ष्म रूप में बीज या बीजाङ्कुर का स्वरूप है, उसी प्रकार 'भगवती' भी बीज एवं बीजाङ्कुरवत हैं—

'कवलीकृतनिश्शेषा बीजाङ्कुरतया स्थिता।'

वे तीन रूपों में व्यक्त होती हैं। उनके ये तीन रूप ये हैं—१. वामाशक्ति २. ज्येष्ठा शक्ति ३. रौद्री शक्ति।

'वामाशिखा ततो ज्येष्ठा शृङ्गाटाकारतां गता।
रौद्री तु परमेशानि जगद्ग्रसनरूपिणी ॥'
'वामा संसारिणामीशा प्रभुशक्तिर्विधायिनी।
ज्येष्ठा तु सुप्रबुद्धानां बुभुत्सूनां च रौद्रिका ॥'
वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमयी यत:।
द्रावयित्री रुजां रोद्धी चाखिलकर्मणाम् ॥'[२]

समस्त विश्व की जो 'परमाशक्ति' है, जो सम्पूर्ण जगत् की 'परमेश्वरी है और जो 'ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की स्वामिनी' है, वही भगवती त्रिपुरा है—

'एषा सा परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी।
त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्ण्वीशरूपिणी ॥'

१. (ने० त० ७।१०)
२. नित्याषोडशिकार्णव

चूँकि भगवती १. इच्छाशक्ति, २. ज्ञानशक्ति, एवं ३. क्रियाशक्ति के रूपों में त्रिविधाकाराकारित होकर प्रकट हुई हैं अतः उन्हे 'त्रिपुरा' कहा गया है—

'ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये।
त्रैलोक्यं संसृजत्येषा 'त्रिपुरा' परिकीर्त्यते॥'[१]

भगवती के इन तीन रूपों का स्वरूप क्या है? उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. ज्ञानशक्ति = वागीश्वरी ज्ञानशक्तिर्वाग्भवे मोक्षरूपिणी॥

२. क्रियाशक्ति = कामराजे कामकला कामरूपा क्रियात्मिका॥

३. इच्छाशक्ति = शक्तिबीजे पराशक्तिरिच्छैव शिवरूपिणी॥

'एवं देवी त्र्यक्षरा तु महात्रिपुरसुन्दरी।
पारम्पर्येण विज्ञाता भवबन्धविमोक्षिणी॥'[२]

जगत उसका स्वनिर्मित चित्र है—

'जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति जगदीश्वरी॥'

वह ग्रह, शशि, नक्षत्र, योगिनी आदि भी है और मंत्र भी है—

'गणेशग्रह नक्षत्र योगिनी राशिरूपिणीम्।
देवीं मंत्रमयी नौमि मातृका पीठरूपिणीम्॥'[३]

शिव में विमर्शरूपा सहजस्फुरणात्मिका शक्ति का निवास है। शिव उसी शक्ति के संयोग से—१. सृष्टि, २. स्थिति एवं संहार तीनों व्यापार निष्पादित करते हैं—

'नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य वर्तते शक्तिः।
तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति॥'[४]

उसी शक्ति का परिणाम यह समस्त सृष्टि है—

'सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च सृष्टिः॥'[५]

परिणामवाद—जगत् शक्ति का 'परिणाम' है।

शक्ति का यह परिणामन चार रूपों में व्यक्त हुआ—

१. नित्याषोडशिकार्णव
२. नित्याषोडशिकार्णव
३. नित्याषोडशिकार्णव
४. वरिवस्यारहस्यम्
५. वरिवस्यारहस्यम्

(क) अर्थमयी सृष्टि (ख) शब्दमयी सृष्टि
(ग) चक्रमयी सृष्टि (घ) देहमयी सृष्टि

(क) 'अर्थमयी सृष्टि' = शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्वरूपा।
(ख) 'शब्दमयी सृष्टि = परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूप सृष्टि।
(ग) 'चक्रमयी सृष्टि' = बिन्दु से भूगृहान्त श्रीचक्र।
(घ) 'देहमयी सृष्टि' = स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि सृष्टि।

यहाँ 'विमर्श शक्ति' जो जगत् का मूल कारण है—

१. यह 'आनन्द' रूपांश है। २. यही 'स्फुरण' है।
३. यही 'परा अहन्ता' है। ४. यही 'ललिता भट्टारिका है।
५. यही 'त्रिपुरसुन्दरी' है।
६. 'ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतंत्रता चित्स्वरूपता चेति।
एतेऽहंतायाः किल पर्यायाः सद्भिरूच्यन्ते॥'[१]

भास्करराय शक्ति के विषय में कहते हैं—

१. 'स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व-सर्वकृर्तत्व-पूर्णत्व-व्यापकत्वादि शक्तिसंवलितम्।

२. 'तस्य चानन्दरूपांश, एव स्फुरणं, परा अहंता, विमर्शः पराललिता महारिका, त्रिपुरसुन्दरीत्यादि पदैर्व्यवह्रियते।''

विवर्तवाद और परिणामवाद में से शाक्त तंत्र 'परिणामवाद' का ही समर्थन करता है। आचार्य शङ्कर स्वयं कहते हैं—

'त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।'

'शिव' प्रकाश स्वरूप हैं और विमर्शरूप अथवा स्फूर्तिरूप 'शक्ति' में प्रविष्ट होते हैं और फिर 'बिन्दु' का रूप धारण लेते हैं। (शिव द्वारा विमर्श शक्ति में प्रवेश एवं वहाँ बिन्दु का रूप धारण कर लेना।)

शिव की भाँति विमर्श शक्ति भी शिव में अनुप्रविष्ट होती है और तदनन्तर बिन्दु संवर्द्धित होता है।

(शिव में शक्ति के प्रवेश से बिन्दु का संवर्द्धन) तदनन्तर उस संवर्द्धित बिन्दु से नाद (स्त्रीतत्त्व) निर्गत होता है।

बिन्दु और नाद मिलकर 'मिश्रबिन्दु' हो जाते हैं। ये पुरुष एवं नारी के प्रतीक हैं।

१. विरूपाक्षापञ्चाशिका

ये तीनों मिलकर एक संयुक्त बिन्दु बन जाते हैं।

(१) श्वेत, (२) रक्त एवं (३) मिश्र बिन्दु—तीनों मिलकर एक हो जाते हैं और 'कामकला' कहे जाते हैं।

यहाँ चार शक्तियों का सामरस्य है।

(क) **मूल बिन्दु**—यह विश्व का उपादान है।

(ख) **नादतत्त्व**—इसके आधार पर बिन्दु-संवर्धन से जन्म लेने वाले तत्त्वों का नामकरण होता है। बिन्दु एवं नाद दोनों में उत्कट प्रेम रहता है, किन्तु इतने मात्र से सृष्टि प्रारम्भ नहीं हो जाती। वे केवल अर्थ एवं वाक् के उपादान हैं।

इनके साथ (३) श्वेत पुरुष बिन्दु एवं (४) रक्त स्त्री बिन्दु रूप में दो उत्पादक शक्तियों का योग होता है।

जब ये चारों तत्त्व मिलकर 'कामकला' का रूप धारण कर लेते हैं। अब 'वागर्थमय सृष्टि' आरम्भ हो जाती है।

जब स्त्री तत्त्व प्रथम बार बिन्दु में प्रविष्ट होता है, तब नाद के साथ 'हार्धकला' नामक एक अन्य तत्त्व भी विकसित होता है।

उच्चतमा देवी 'कामकला' हैं और सूर्य (संयुक्त बिन्दु) उसका मुख है। अग्नि और चन्द्र (रक्त एवं श्वेत बिन्दु) उसके स्तन एवं 'हार्धकला' उसकी 'योनि' है। इससे सृष्टि आरम्भ होती है। इस प्रकार देवी सृष्टि-विधायिका है। उसे परा, ललिता, भट्टारिका एवं त्रिपुरसुन्दरी कहते हैं।

शिव 'अ' अक्षर है और शक्ति 'ह' है। 'ह' 'अर्धकला' है। नारी तत्त्व या योनि 'ह' के आकार का अर्धभाग (हार्धकला) है। यह अर्धकला या 'ह' शिव के प्रतीक 'अ' अक्षर से मिलकर **'कामकला' या त्रिपुरसुन्दरी** का प्रतीकात्मक रूप है, जो शिव और शक्ति के संयोग का फल है। वह 'अहं' कहलाती है और 'अहं' से युक्त है। इसी कारण उसके सभी विकास (पूरी सृष्टि) अहङ्कार से युक्त है।

सभी आत्माएँ त्रिपुरसुन्दरी की रूप मात्र हैं और जब वे देवी चक्रों के साथ 'कामकला विद्या' और ज्ञान का अभ्यास कर लेती हैं, तो वे त्रिपुरसुन्दरी हो जाती हैं। 'अ' एवं 'ह' वर्णमाला के प्रथम एवं अन्तिम अक्षर हैं और सभी अक्षर इनके मध्य में स्थित हैं तथा उनके माध्यम से सभी शब्द (सम्पूर्णवाक्) उनके अन्तर्गत हैं।

यथा **त्रिपुरसुन्दरी से समस्त अर्थ आविर्भूत हुआ करते हैं।** तदवत अर्थ के व्यञ्जक **समस्त शब्द भी त्रिपुरसुन्दरी से ही उत्पन्न होते हैं।** इसलिए उसका नाम 'परा' है। शक्ति 'परावाक्' है और सृष्टि उसका परिणाम है न कि विवर्त। यह शांभवदर्शन है।

'अहं देवी न चान्योस्मि' की भावना एक आदर्शानुभूति है, जिसकी निरन्तर पुनरावृत्ति आवश्यक है।

पूर्णाहन्ता—शिवशक्ति-यामल का **पूर्ण अहं परामर्श** 'पूर्णाहन्ता' कहलाता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। 'स्वातन्त्र्य शक्ति' द्वारा ही इसमें विभाजन होता है और यह 'पूर्णाहन्ता' अपने विभाजन के रूप में (१) पश्यन्ती, (२) मध्यमा एवं (३) वैखरी वाक् के रूप में रूपान्तरित हो जाती है।

परमतत्त्व की तीन शक्तियाँ हैं—

(१) 'परा' या 'अनुत्तरा' शक्ति = इसका नामान्तर है—चित् शक्ति।

(२) 'परापरा शक्ति' = इसका नाम है—इच्छा शक्ति।

(३) 'अपरा शक्ति' = इसका नाम है—ज्ञान शक्ति।

परमेश्वर की मुख्य शक्तियाँ

१	२	३	४	५
चित् शक्ति	आनन्द शक्ति	इच्छा शक्ति	ज्ञान शक्ति	क्रिया शक्ति
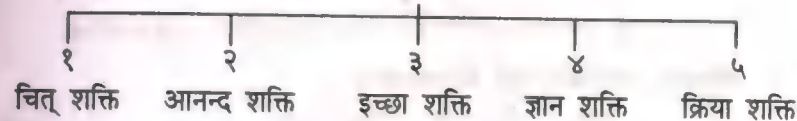
भगवती चन्द्रमा की 'षोडशी कला' हैं—

'सहस्रदल' में जो चन्द्रमा है, उसमें अमृत का निवास है। उसमें १६वीं कला को 'महात्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं। इसके नाम पर ही 'षोडशीविज्ञान' की नींव पड़ी।

देवी के शरीर, गुरु के देह एवं शिष्य में अभिन्नता—

देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सम्प्रकाशते ॥

'देवी' गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि, मंत्र, मातृका एवं पीठ से अभिन्न हैं—

'गणेशग्रहनक्षत्र योगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि तात्तृकां पीठरूपिणीम् ॥'

भगवती 'श्रीचक्र' से अभिन्न हैं—

'कामकलाविलास' में कहा गया है—

'सेयं परा महेशी चक्राकारेण परिणमेत् यदा।'

देवी का मुख्य निवास बिन्दुमय चक्र में है—

'आसीना बिन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया कलया चन्द्रस्य कल्पितोत्तंसा ॥'

देवी का स्थूल स्वरूप इस प्रकार है—

'पाशाङ्कुशेक्षुचापप्रसूनशर पञ्चकाञ्चितस्वकरा।
बालारुणारुणाङ्गी शशिभानुकृशानुलोचनत्रितया॥'

'देवी' पुरुष, नारी एवं निष्कल तीनों स्वरूप वाली हैं—
शास्त्रों में कहा गया है—

'पुंरुपं वा स्मरेद् देवीं स्त्री रूपं वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम्॥'

उपासना-विधि की दृष्टि से श्रीविद्या के तीन रूप

(१) स्थूलोपासना, (२) सूक्ष्मोपासना, (३) परोपासना (कायिकी। वाचिकी। मानसी)

(१) 'कायिकी उपासना'—स्थूलोपास्तिः
(२) 'वाचिकी उपासना'—सूक्ष्मोपास्ति, (चक्रार्चन)।
(३) 'मानसी उपासना—परोपास्ति, भावनोपनिषदभावनानुकुलोपास्ति।

भगवती सुधासिन्धु की निवासिनी हैं—

सुधा सिन्धुमध्ये मणिद्वीपरम्ये,
सुकल्पद्रुमाकल्पकादम्बसन्त्रे ।
स्फुरत्स्वर्ण सिंहासने रत्नपीठे,
भवाङ्के निषण्णां भजाम्यन्नपूर्णाम्॥

भगवती का दिव्य धाम—भगवती महात्रिपुरसुन्दरी जिस अमृतायित दिव्य धाम में रहती हैं वह अमृत-समुद्र के मध्य में स्थित है। उसका पूर्ण वर्णन 'भैरव यामल' में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।'
'अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृताकाश्च चतुष्पाद महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।
तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा॥'

—भैरवयामल, वाकमकेश्वर महातंत्र, बहुरूपाष्टक विद्या।

प्रश्न यह उठता है कि महात्रिपुरसुन्दरी को कुण्डलिनी एवं भैरवी से भी अभिन्न माना गया है और कुण्डलिनी तथा भैरवी का स्थान 'मूलाधार चक्र' माना गया है। भगवती मूलाधार का त्याग करके यदि ऊर्ध्वयात्रा करती हैं, तो वह 'सहस्रार चक्र' की यात्रा करती है, फिर उसका निवास 'सुधासिन्धु', 'मणिमण्टप', 'चिन्तामणिगृह', 'शिवात्मक महामञ्च', 'शिवार्क मण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्' आदि में कैसे सम्भव है?

आचार्य शङ्कर ने उन्हें सहस्रार-निवासिनी भी कहा है—
"सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।"

लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है कि यह 'सुधासिन्धु' बाह्यजगत का कोई अमृतसमुद्र नहीं है। उसकी खोज विश्व में करना व्यर्थ है। यह प्रत्येक मानव के शरीर के भीतर ही स्थित है।

भगवती षट्चक्रों में भी रहती हैं—

मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथिविभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथिविभेदिनी।
आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथिविभेदिनी॥[1]

भगवती का दिव्य धाम—भगवती ललिता (आनन्द भैरवी) कल्पवृक्ष से परिवृत अमृत-सिन्धु में नीप या कदम्ब वृक्षों से घिरे हुए मणिमण्डप में निवास करती हैं। उस मण्डप में चिन्तामणि गृह है। इसमें त्रिपुरसुन्दरी ईशानी अपनी आवरण देवताओं से सेवित तथा शिव, सदाशिव तथा महेशान के रूप में स्थित मञ्च, पर्यङ्क एवं उपबर्हण तथा ब्रह्मा, हरि, रुद्र एवं ईश्वर के रूप में अवस्थित पायों वाले पर्यङ्क पर समासीन रहती हैं।

भगवती का ध्यान—भगवान सदाशिव ने भगवती के ध्यान का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्टपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत्॥'

उस मण्डप में जिसमें भगवती रहती हैं 'चिन्तामणि' नामक गृह स्थित है। वे जिस मञ्च पर निवास रकती हैं, उसके पायों के रूप में ब्रह्मदेव, हरि, रुद्र एवं ईश्वर स्थित हैं।

१. (ल० स०)

'आनन्द भैवव' या महाभैरव ९ व्यूहों की आत्मा हैं। वे ९ व्यूहों से निर्मित हैं। **महाभैरव ही देवी की आत्मा हैं। देवी भी ९ व्यूहों की आत्मा हैं।** इस प्रकार आनन्द भैरव एवं आनन्द भैरवी में सामरस्य है और दोनों अभिन्न हैं। सृष्टि-क्रिया में महाभैरवी एवं संहार में महाभैरव प्रधान हैं।

शाक्तों का विधि-विधान शाम्भव दर्शन पर आधृत है, जो शिव को **'प्रकाश'** एवं शक्ति को **'विमर्श'** कहते हैं और दोनों को अभिन्न मानते हैं।

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि भगवती सुधासिन्धु में स्थित 'मणिगृह' में रहती हैं—

'सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो
रगम्ये रश्मीनां समय सहिते त्वं विहरसे।'[१]

कौलों एवं समयमार्गियों का मत : (गौड़पाद)

(१) त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे।
(२) चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति ॥

आचार्य शङ्कर ने भी उस 'चिदानन्दलहरी' रूपा भगवती महात्रिपुरसुन्दरी को सुधासिन्धु-निवासिनी कहा तो किन्तु उन्होंने उनके दो निवास स्थानों को उल्लिखित किया है।

(१) मूलाधार चक्र (कुलकुण्ड)—

'सुधाधारासारैश्चरण युगलान्तर्विगलितैः,
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसः।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं,
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥'

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि में कुलकुण्ड—

(१) 'कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्रतत्कुलं आधारचक्रम्। लक्षणया सुषुम्नामार्गः कुलमित्युच्यते॥ अतएव कौलाः कुलपूजकाः आधारसेवका इति कौलत्वं।'

(२) 'कुलमार्गस्य सुषुम्नाया मूले यत्कुण्डं कमल कन्दाकारं आधारकन्दं तस्मिन् कुहरिणि, कमलकन्दमध्यस्थितछिद्रतुल्यं छिद्रं यस्य कुण्डस्य तत्तथोक्तम्। आधारकन्द मध्य स्थित सुषिरमध्ये बिसतन्तुनिभा तत्र कुण्डलिनी शक्तिः वर्तत इति तात्पर्यम्॥'[२]

१. सुभगोदय स्तुति (७)
२. आचार्य लक्ष्मीधर (लक्ष्मीधरा १०)

वामकेश्वर महातन्त्र में प्रतिपादित दृष्टि—इस तन्त्र में एवं योग तथा तंत्र के प्रत्येक ग्रंथ में कुण्डलिनी का निवास स्थान 'मूलाधार चक्र' ही कहा गया है। उसमें कहा गया है—

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽऽशुभा।

उसके अवस्थान का स्वरूप इस प्रकार है—

मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः।
वाटवाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
रुद्रग्रंथिं ततो भित्वा विष्णुग्रथिं भिनत्यतः।
ब्रह्मग्रंथिं च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निवृतिकारणम्॥

भगवती के दोनों चरणों से ही अमृत धारायें प्रवाहित होती रहती हैं और वह उस अमृतधारा से प्रपञ्च को सींचती रहती हैं—

'सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः ।
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः॥'[१]

(२) सहस्रार—आचार्य शङ्कर ने भी भगवती का परस्थान सहस्रार को ही स्वीकार किया है और कहा है कि भगवती मूलाधार चक्र से चलकर पाँचों तत्त्वों का लय करते हुए एवं षट्चक्रों का भेदन करते हुए अपने परस्थान 'सहस्रार' में अपने पति परमशिव के साथ विहार करती हैं—

(क) भगवती की सहस्रारोन्मुख यात्रा—इस यात्रा का वर्णन करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥'[२]

१. सौन्दर्य लहरी
२. सौन्दर्यलहरी (९)

(ख) भगवती का 'सुधासिन्धु' में निवास—आचार्य शङ्कर कहते हैं कि भगवती 'सुधासिन्धु' के मध्य 'मणिद्वीप' के 'चिन्तामणिगृह' में निवास करती हैं—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते ।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां ।
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन् चिदानन्दलहरीम् ॥'

'भैरव यामल' में कहा गया है कि—

'तत्र चिन्मामणिकृतं देव्यामन्दिरमुत्तमम् ।'

भगवती कुण्डलिनीस्वरूप भी हैं—

अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि ।'[१]

कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप

'कुण्डलिनी' शिव की शक्ति है।

स्वच्छन्दसंग्रहकार की दृष्टि—'स्वच्छन्दसंग्रह' में कहा गया है कि, कुण्डलिनी, परमशिव की जो प्रमुख शक्तियाँ हैं, उनमें— (१) इच्छा शक्ति, (२) ज्ञान शक्ति एवं (३) क्रिया शक्ति है—

'इच्छाज्ञानक्रियारूपां कुण्डलीम् परमेश्वरीम् ।
प्रसुप्तभुजगाकारां मातृकारूपिणीं शिवाम् ॥'
'पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः ।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम् ॥'

वामकेश्वर तन्त्र में प्रतिपादित कुण्डलिनी का स्वरूप

'वामकेश्वर तन्त्र' में भगवती कुण्डलिनी का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह इस प्रकार है—

'भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिताः ।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽशुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत् ।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता ॥'

१. सौन्दर्य लहरी (१०)

कुण्डलिनी की तीन अवस्थायें

१. 'कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति'।
२. 'ततो योषिद् परा'।
३. कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकाल भुजगी ।
'ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाश कमले ॥'
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कार रसिका ।'[१]

(१) अधः कुण्डलिनी	:	वाग्भव कूट	:	अग्नि खण्ड
(२) मध्य कुण्डलिनी	:	कामराज कूट	:	सूर्य खण्ड
(३) ऊर्ध्व कुण्डलिनी	:	शक्ति कूट	:	सोम खण्ड
(४) परा कुण्डलिनी	:	तूर्य कूट	:	परा खण्ड
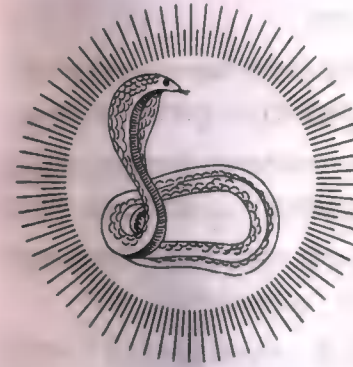
कुण्डलिनी

'शक्तिः कुण्डलिनीति विश्व जननव्यापार बद्धोद्यमां।
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननी गर्भऽर्भकत्वं नरा।[२]

वह्नि कुण्डलिनी
सूर्य कुण्डलिनी
सोम कुण्डलिनी
वर्ण कुण्डलिनी
महा कुण्डलिनी
कुमारी कुण्डलिनी
योषित कुण्डलिनी
पतिव्रता कुण्डलिनी

१. सुभगोदय स्तुति (६)
२. योगिनी हृदय

कूट और कुण्डलिनी—

'वाग्भव कूट' कुण्डलिनी

'कामराज कूट' कुण्डलिनी
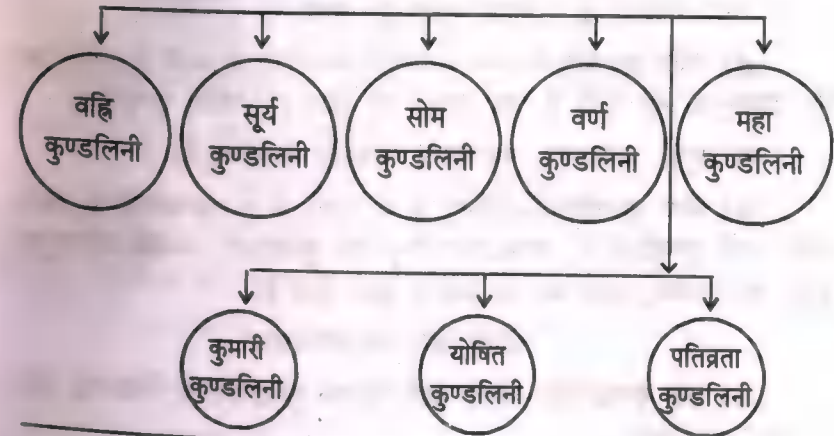
'शक्ति कूट' कुण्डलिनी

आचार्य अमृतानन्द की दृष्टि—

(१) 'कूटत्रये कूटानां वाग्भव-कामराज-शक्तिबीजाख्यानां त्रये कुण्डलीत्रितये।। कुण्डलीनां त्रितयम् ।

(२) 'वह्निसूर्यसोमकुण्डलिनीनां त्रये चक्राणाम् ।'

(३) '**त्रैलोक्यमोहनादि**चक्रत्रयस्याधारस्थवह्निकुण्डली स्थितवाग्भवशिखर वर्तिकामकलान्तर्गतमहार्धकलारूप **वह्निकुण्डलिनी।**'—(योगिनी हृदयदीपिका)

(ग) '**सर्वसौभाग्यदायकादि** चक्रस्य हृदयस्थसूर्यमण्डल स्थितकामराजशिखर वर्तिकामकलान्तर्गतहार्धकलारूप **सूर्यकुण्डलिनी।**'—(योगिनी हृदय दीपिका)

(५) '**सर्वरोगहरादिचक्र**त्रयस्य बिन्दुमण्डलान्तर्गत शक्तिबीजशिखर वर्तिहार्धकलारूप **सोमकुण्डलिनी।**' 'कूटत्रये महादेवि, कुण्डलीत्रितयेऽपि च।।'[१]

आचार्य भास्करराय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं—भगवती कुण्डलिनी के अनन्त रूप हैं। अन्य स्वरूपों में से प्रमुख स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) शक्ति कुण्डलिनी—जब अमाकला विसर्गहीन हो जाती है अर्थात् जब वह बहिरुन्मुख नहीं रहती है, तब उसका नाम होता है—'शक्ति कुण्डलिनी'।

यह प्रसुप्त, भुजंगाकार, स्वात्ममात्र, विश्रान्त, परसम्वित् है।

(२) प्राण कुण्डलिनी—विसर्ग के दो प्रान्तों में दो कुण्डलिनी हैं। आदि कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम है—'प्राण कुण्डलिनी'; क्योंकि बहिरुन्मुख कारण रूपा संवित् पहले प्राण के रूप में प्रकट होती है।

'संवित् प्राक् प्राणे परिणता।।'

(३) परा कुण्डलिनी—अन्त कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसी का नाम है—'परा कुण्डलिनी'।

---

१. (यो० हृ०)

यह स्वात्मविश्रान्त परा संवित है, जो कि अन्तरुन्मुख है।

(४) उर्ध्व कुण्डलिनी—'ऊर्ध्व कुण्डलिनी' देह में अवस्थित मध्य नाड़ी के ऊर्ध्व प्रान्त का नाम है। 'ऊर्ध्व कुण्डलिनी' में शक्ति का पूर्ण विकास होता है।

नासा पुट के ऊर्ध्व स्पन्दन से क्रमशः सूक्ष्म प्राण-शक्ति को जागतृ करके उसके द्वारा भ्रूमध्य का भेद करते हुए ऊर्ध्वकुण्डलिनी में प्रवेश करना पड़ता है।

ब्रह्मरंध्र के ऊपर की स्थिति ही 'ऊर्ध्वकुण्डलिनी' है, जो उन्मेष-अप्राप्त समस्त विश्व को गर्भ में धारण करके प्रसुप्त सर्पवत है। इसी की भित्ति पर सृष्टि का उल्लास होता है।

समस्त तत्वों एवं भुवनों का एक मात्र यही अधिष्ठान है। इसके ऊपर 'व्यापिनी' कला है।

(५) अधः कुण्डलिनी—शक्ति के पूर्णत्व की आख्या **'ऊर्ध्व कुण्डलिनी'** है, तो संकोच के पूर्णत्व का स्थान **'अधः कुण्डलिनी'** है।

शक्ति को प्रगुणित करके अधः कुण्डलिनी का स्थान प्राप्त किया जाता है।

कुण्डलिनी तत्त्व और कुण्डलिनी योग

(१) आचार्य लक्ष्मण देशिकेन्द्र की दृष्टि—

आचार्य लक्ष्मण देशिकेन्द्र कहते हैं—

१. भगवती कुण्डलिनी 'सर्वगा' हैं—अर्थात् सर्वव्याप्त हैं।

२. वे विश्वरूपिणी हैं—जगद्रूपिणी हैं।

३. वे शिव की सन्निधि (समीपता) प्राप्त करके नित्यानन्दा एवं गुणत्रयात्मिका (सत्व-रज-तम से युक्त) हो जाती हैं—

'ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्द गुणोदया ।।'[१]

४. दिशा और काल से अतीत 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' हैं।

५. संपूर्ण शरीर में व्याप्त—'सर्वदेहानुगा शुभा' हैं।

६. योगियों के हृदय में पङ्कज में नृत्य करती हुई स्थित हैं।

---

१. (शारदातिलकम् प्रथम पटल ५१)

७. सम्पूर्ण प्राणियों के मूलाधार चक्र में विद्युत के समान स्फुरित होने वाली एवं शंखावर्त के सभी वस्तुओं को आच्छादित (आवृत) करने वाली हैं—

'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥५३॥
शंखावर्तक्रमाद देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति।

८. कुण्डलीभूत सर्प के समान आकार वाली और सर्पिणी की अंगश्री वाली हैं—

'कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥'

९. समस्त देवसमूह से युक्त, कल्याणरूपा, समस्त मंत्रों से युक्त, समस्त ३६ तत्त्वों से युक्त, सर्वव्यापक एवं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं—

सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वतत्त्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतराविभुः ॥ (५५)

१०. धामत्रय (स्वर्ग, पृथ्वी एवं पाताल) की जननी, शब्दब्रह्मरूपा, ४२ वर्णों वाली, भूतलिपिमन्त्रमयी, पञ्चाशद्वर्णमातृकारूपा, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहने वाली, इस मन्त्रमय जगत की जननी एवं परदेवता हैं—

'त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद्वर्णरूपिणी ॥५६॥'
विश्वात्मना प्रबुदध्वा वा सा सूते मन्त्रमयं जगत् ॥५७॥[1]

भगवती कुण्डलिनी दो प्रकार की सृष्टि करती हैं—
(१) शब्द सृष्टि (२) अर्थ-सृष्टि।

भगवती कुण्डलिनी के विविध स्वरूप

भगवती एक गुणित, द्विगुणित, त्रिगुणित, चतुर्गुणित, पञ्चगुणित, षड्गुणित, सप्तगुणित, अष्टगुणित, नवगुणित, दशगुणित, एकादशगुणित, द्वादशगुणित, त्रयोदशगुणित, चतुर्दशगुणित,, द्वात्रिंशद्गुणित, षट्त्रिंशोद्गुणित, द्विचत्वारिशत्गुणित, आदि अनेक रूपों में प्रकट होकर सर्वाकार, सर्वरूप एवं सर्वात्मक बन जाती हैं।

१. (शारदातिलकम्)

समस्त देवता
समस्त मन्त्र
समस्त तत्त्व
समस्त शब्दसृष्टि
समस्त अर्थसृष्टि
वेद का आदि बीज (प्रणव)
श्रीं, ह्रीं, क्लीं, आदि एकाक्षर मंत्र
दिन-रात, शब्द-अर्थ, प्रकृति-पुरुष हं सः आदि समस्त युग्म
त्रिपुरा मंत्र, गुणत्रय, धामत्रय, वेद त्रयी, वर्णत्रयी, दवत्रयी आदि।
वाक्चतुष्टय, अवस्था चतुष्टय, अन्तः-करण चतुष्टय आदि ४ के समूह
पञ्चाक्षारमंत्र, पञ्चबाण, पञ्च देव, वृक्ष, ५ कलायें, महेश्वर की पञ्चमूर्तियाँ आदि ५ के समूह वाले समस्त पदार्थ
षड्क्षर मंत्र, षडूर्मि, षड् ऋतुएँ आदि (६ के समूह।)
सप्ताक्षर त्रिपुरामंत्र, सप्त लोक, सप्त स्वर आदि।
अष्टनाग, अष्ट देव, अष्टाक्षर मंत्र आदि।
नवात्मक मंत्र, नवशक्ति, नवपीठ, नवरस आदि के ९ के समूह
त्रिपुरादशाक्षर, पद्मावती मंत्र, १० शक्ति एवं १० के सारे समूह
एकादश रुद्र, रुद्रैकादशनी, आदि सभी ११ के समूह।
महेशानी के नित्या मंत्र, १२ राशियाँ, १२ सूर्य आदि १२ के सभी समूह
विष्णु एवं त्रिपुरा की गायत्री, दक्षिणामूर्तिगायत्री आदि १४ के सभी समूह
महामृत्युञ्जय-नारसिंह, वाराह-अघोर आदि ३२ वर्णों के मंत्र एव ३२ के समूह वाले सारे समूह।
३६ तत्त्व, ३६ वर्णों के सारे मंत्र एवं ३६ पदार्थों के समूहों के समस्त समूह

शक्ति के ४२ गुना रूप धारण करने पर (शब्द-ब्रह्ममयी) कुण्डलिनी
शक्ति
ध्वनि
नाद
निरोधिका
अर्द्धेन्दु
बिन्दु
परावाक्
पश्यन्ती वाक्
मध्यमा वाक्
वैखरी वाक्
रुद्र कलायें[1]

(षट्त्रिंशतश्चतत्त्वानां शैवानां रचयत्यसौ॥

—(शा. ति. १०६)

१. सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्तिरोधिका

भगवती कुण्डलिनी से 'शक्ति' आदि की उत्पत्ति

आचार्य लक्ष्मणदेशिकेन्द कहते हैं—

'सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः॥
इच्छाज्ञानक्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणात्मिका।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्॥
अकारादिसकारानां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम्।
पञ्चाशद्वारगुणिता पञ्चाशद्वर्णमालिकाम्।
सूते तद्वर्णतोऽभिन्ना कलारुद्रादिकान् क्रमात्॥'[१]

(२) अभिनवगुप्तपादाचार्य की दृष्टि—

(क) पराकुण्डलिनी का स्वरूप—आचार्य अभिवन गुप्त कहते हैं—

अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिः रवियुक्तो यया प्रभुः॥[२]

अकुलरूप इस द्योतमन, अनारव्य और अनुत्तर देव की कुलात्मकता को प्रथित करने वाली शक्ति ही कौलिकी 'पराशक्ति' है। यह अनुत्तर, प्रकाशात्मक 'अ' की विमर्शरूपिणी सर्जनाकांक्षा है। यही क्षोभवश बाह्योन्मुख होती है। उस अवस्था में वही विश्व विसर्ग का कारण बना जाती है—

'अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा।
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम्॥'
'कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।

वही 'कौलिकी', 'परा' या कुण्डलिनी कला है। यह 'ह' हकारार्धर्धरूपिणी **सत्रहवीं 'अमा कला'** है; 'कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी।'

'विसर्गप्रान्त देशे तु परा कुण्डलिनीति च'॥१४०॥[३]

(ख) शक्ति कुण्डलिनी—प्रकाश, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय आदि अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्तवत भासित वस्तुओं का प्रकाशन करता है। यही बहिरौन्मुख्य

---

१. शारदातिलकम् (प्रथम पटल)
२. तन्त्रालोक (३।६७)
३. तन्त्रालोक (१/१३९-१४०)

के विपरीत जब स्वात्ममात्र में ही विश्रान्त होता है तो सोये हुए सर्प की भाँति आकार वाली शक्ति—'शक्ति कुण्डलिनी' बन जाती है। उस समय वह परापरा नहीं वरन् केवल 'परा' होती है और संविद्रूपा ही रहती है—

'प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा।
'शक्तिकुण्डलिका' चैव 'प्राणकुण्डलिका' तथा॥१३९॥
'विसर्ग प्रान्तदेशे तु परा कुण्डलिनीति च।
शिवव्योतेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते॥१४०॥

(३) प्राण कुण्डलिनी—प्रथमतः संवित् प्राण रूप में परिणत होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार बहिरौन्मुख में 'प्राण कुण्डलिनी' कहलाती है।

प्रत्यावृत्ति क्रम से पुनः जब अन्तर्मुख हो जाती है और अन्तिम कोटि रूप अग्रिम स्वात्ममात्र में स्थित हो जाती है, उसे 'परा कुण्डलिनी' कहते हैं। यह **'सप्तदशी कला'** है। इसे ही **'शिवव्योम'** भी कहते हैं। इसे ही **'परब्रह्म'** एवं **'शुद्ध आत्मस्थान'** भी कहते हैं।

जयरथ की दृष्टि—आचार्य जयरथ कहते हैं—'वस्तूनां अनतिरेकेऽपि अतिरिक्तत्वेनेव प्रकाश्यं तत्तन्नियतप्रकाशात्मिकेत्यर्थः, सैव पुनर्विसर्गेण बहिर्भावौन्मुख्येन विरहिता सती, प्रसुप्त भुजगाकारत्वात् स्वात्ममात्रविश्रान्ता 'शक्ति कुण्डलिनी' परासंविन्मात्ररूपेति यावत्, अतएव विसर्गस्य बहिर्भावौन्मुख्यात्मकादिकोटिरूपे प्रान्तदेशे प्राण कुण्डलिका—

'प्राक् संवित्प्राणो परिणता॥'

इति नीत्या प्रथममेव प्राणरूपतामवभासयन्तीत्यर्थः, तथा प्रत्यावृतिक्रमेण अन्तर्भावौन्मुख्यरूपान्त कोट्यात्मनि प्रान्ते स्वरूपे 'परा कुण्डलिनी' स्वात्म परिश्रान्त परसंविन्मात्ररूपः॥"
—जयरथ 'विवेक'।

(३) आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'अप्य व्यक्तं प्रलपति यदा कुण्डलिनी तदा।
मूलाधारे विसरति सुषुम्ना वेष्टनी मुहुः॥'

आचार्य शङ्कर ने भी भगवती कुण्डलिनी को त्रिगुणित चतुर्गुणित, पञ्चगुणित, षड्गुणित, सप्तगुणित, अष्टगुणित, दशगुणित, द्वादशगुणित एवं पञ्चादशगुणित आदि भेदों से अनेक रूपात्मक बताया है।

(४) पूर्णानन्द यति की दृष्टि—प्रत्यावर्तित कुण्डलिनी—

'लाक्षाभं परमामृतं परशिवात् पीत्वा पुनः कुण्डली।
नित्यानन्दमहोदयात् कुलकथान्मूले विशेत् सुन्दरी।

तद् दिव्यामृतधारया स्थिरमतिः सन्तर्पयेद् दैवतं।
योगी योगपरम्पराविदितया ब्रह्माण्डभाण्ड स्थितम्।।'

कुण्डलिनी मूलाधार में **'स्वयंभूलिङ्ग'** के समीप 'वैखरीभाव' से, अनाहत में 'मध्यमाभाव' से **'बाण लिङ्ग'** को, भ्रूमध्यस्थ आज्ञा चक्र में **'इतर लिङ्ग'** को 'पश्यन्ती' भाव से एवं सहस्रार के **'परंबिन्दु'** के समीप पराभाव से मोहित करती है।

शाक्तानन्दतरङ्गिणीकार का कथन है—

'कला कुण्डलिनी सैव नाद शक्तिः शिवोदिता।
तस्योपरि मनोध्यायेच्चित्कलामी समाश्रिताम्।
प्रदीपकलिकाकारां कुण्डल्यभेदरूपिणीम्।।'

कुण्डलिनी वर्णरूपा है—

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति मद्यपद्यादिभेदतः ।।

कुण्डलिनी स्वयंभू लिङ्ग को वेष्टित करके स्थित है—

'ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्।
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्।
विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम्।।'

कुण्डलिनी की स्थिति—कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार में रहती है—

'ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्यतद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।'

कल्पसूत्रकार की दृष्टि—कल्पसूत्रकार कहते हैं—

'चित्रिणीशून्यविवरे संजाताम्भोरुहाणि षट्।
तत्पत्रेषु महादेवी भुजङ्गी विहरन्ति च।।'

कालीचरण कहते हैं—'भजङ्गी कुण्डलिनी महादेवी चित्रिणी शून्ये चित्रिणीनाड्या मध्यरन्ध्रे यद् विवरमिस्ततो बहिर्गमन पथस्तेन पथा चक्रभेद क्रमेण षडम्भोरुहाणि सञ्जाता सम्प्राप्ता सती ततु पत्रेषु विहरति दीप्यते।

—श्लोकार्थपरिष्कारिणी

'श्रीविद्या' एवं अनुबन्ध चतुष्टय—

यद्यपि अनुबन्ध चतुष्टय का सम्बन्ध किसी पुस्तक से होता है विद्या से नहीं

तथापि विशिष्ट विद्या-सम्बद्ध ग्रंथ का अनुबन्ध चतुष्टय तततसम्बद्ध विद्या का परिचय तो देता ही है। 'योगिनी हृदय' त्रिपुरा सम्प्रदाय का ग्रंथ है और श्री सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। इस ग्रंथ का अनुबन्ध चतुष्टय श्रीविद्या का भी परिचायक है।

अनुबन्ध चतुष्टय

(१)	(२)	(३)	(४)
'अधिकारी'	'विषय'	'प्रयोजन'	'सम्बन्धः'
'मुमुक्षुरधिकारी'	'स्वसंविद्देवता विषयः'	मोक्षः प्रयोजनम्'	प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बंधः'[१]
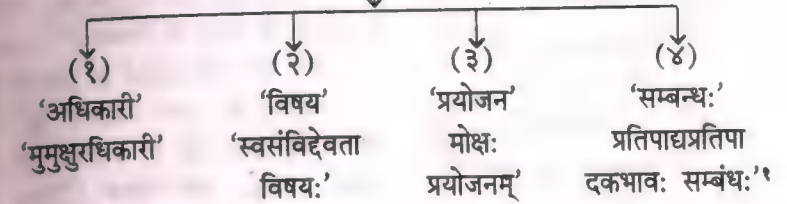
भगवती की पूजा के तीन मुख्य स्तम्भ

'योगिनी हृदय' में इन्हें तीन 'संकेत' कहा गया है—

'चक्र सङ्केतको मन्त्र पूजासङ्केतकौ तथा।
त्रिविधस्त्रिपुरादेव्याः सङ्केतः परमेश्वरि ।।'[२]

आचार्य भास्करराय कहते हैं कि सङ्केतत्रय के ज्ञान से साधक ब्रह्म हो जाता है—

'सङ्केतत्रय ज्ञाने ब्रह्मभवति ।।'

'प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणी परा शक्ति' के तीन सङ्केत हैं।[३]

'विद्या' क्या है?

'सा विद्या या विमुक्तये।।'

विद्या वही है जिसके द्वारा प्राणी की मुक्ति हो जाय। हय मुक्तिदायिनी विद्या कौन है? शिवसूत्रकार कहते हैं कि उस विद्या का स्वरूप 'अहं' और 'इदं' में सामानाधिकरण्य है।

(१) उत्पलदेवाचार्य की दृष्टि—आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि—'अहं' एवं 'इदम्' में सामानाधिकरण्य की बुद्धि (अनुभूत्यात्मक दृष्टि, निष्ठा) रखना ही 'सद्विद्या' है—

'सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः।।'[४]

संसारिणामैश्वर्यस्य आत्मनः प्रत्यभिज्ञाने 'विद्या' पशुभावे माया।'[५]

---

१. योगी अमृतानन्द 'योगिनीहृदय दीपिका'
२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (३/३)
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (३/७)
४. प्रत्यभिज्ञाकारिका (३/३)
५. प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति (३/७)

(१) 'अहमस्मि'

(२) 'अहमिदम्'

(३) 'इदमहम्'

'सद्विद्या' का स्वरूप—'अहं' और 'इदम्' में सामानाधिकरण्य 'वेद्यवेदकयोरेक-चिन्मात्रविश्रान्तेरभेदात्सामानाधिकरण्येनेदं विश्वमद्वमिति विश्वात्मनो मतिः 'शुद्ध' विद्या'।[१]

'विश्वाहन्ता' की अनुभूति ही 'सद्विद्या' है। वेदान्त में जगत को मिथ्या एवं परमात्मा तथा जीव को सत्य मानने के कारण जीव या परमात्मा के साथ विश्वैक्य की बात सोचना भी संभव नहीं है; क्योंकि 'क्षर' एवं 'अक्षर', 'जड़' और 'चेतन', 'नित्य एवं अनित्य', में अभेद कैसा? किन्तु शैव-शाक्त दार्शनिकों की दृष्टि तो यह है कि 'अहं' और 'इदम्' (वेदक + वेद्य; जीव एवं जगत्) में जब तक अभेद की अनुभूति नहीं होती या 'शुद्धविद्या' (सद्विद्या) का उदय नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं होती।

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्रकार ने इसी कारण कहा कि 'विश्व' (आत्मा जीवात्मा एवं परमात्मा से पृथक) कोई असत् वस्तु नहीं है।

श्रीविद्या का महत्त्व—यह कहा गया है कि करोड़ों जिह्वाओं से, करोड़ों सहस्र वाक्यों द्वारा भी यदि षोडशाक्षरी विद्या की महिमा का वर्णन किया तब भी उसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता—

'वाक्य कोटि सहस्रैस्तु जिह्वा कोटिशतैरपि।
वर्णितुं नैव शक्येऽहं श्रीविद्या षोडशाक्षरीम्॥'

चूँकि 'श्रीविद्या' स्वयमेव 'श्रीचक्र' में स्थित है और 'श्रीविद्या' से ही ३६ तत्त्व एवं यह निखिल 'षट्त्रिंशदात्मजगत' उत्पन्न हुआ है। अतः शिवसूत्रकार का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्॥' (३/३०)

('शिवस्य विश्वं स्वशक्तिमयं, तथा अयपि स्वस्याः संविदात्मनः शक्तेः प्रचयः क्रिया शक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम्॥'[२]

सारांश यह कि जगत को अपना ही विभव मानना और अनन्त विकल्पों को भी अपने से पृथक न मानकर अपनी आत्मा का ही स्वरूप मानना यही 'महेश्वरत्व' है—

१. 'सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥'[३]

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका वृत्ति (३/३)
२. शिवसूत्रविमर्शिनी। —आचार्य क्षेमराज
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका (३/१२)

२. विश्वरूपोऽहमिदमिव्यखण्डामर्शबृंहितः।
स्वात्मैव सर्वजन्तूनांमेक एव महेश्वरः॥

३. 'विश्व' पशुपति का शरीराङ्ग है—
'स्वाङ्गरूपेषुभावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या॥'[१]

महात्रिपुरसुन्दरी ही विश्व का कारण है।

'पूर्णाहन्ता की दृष्टि ही 'शुद्धविद्या' की मूल दृष्टि है। यह दृष्टि द्विविधात्मक है। यथा—

'अहं' और 'इदं' में अभेद—

(१) 'अहमिदम्' ('सदाशिव')	(२) 'इदमहम्' ('ईश्वर')	विश्व के साथ एकात्म्य

एक में 'अहं' प्रधान है और 'इदम्' गौण है तो दूसरे में 'इदम्' प्रधान है और 'अहं' गौण है। दोनों में इदम् की एकता है।

'श्रीविद्या' की औपनिषदिक भूमिका—'श्रीविद्या' का वेदों में भी उल्लेख है, जो इस प्रकार है—

'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहासकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादि विद्या॥'

मन्त्र, विद्या एंव श्रीविद्या

'मन्त्र' वर्ण-समष्टि नहीं है; क्योंकि वर्ण-समष्टि तो पशुभावस्थ ध्वनि मात्र है—

'पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवलः पूर्णरूपिणः।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चारिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते॥'

'मन्त्र' शिवधर्मा हैं—

'तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपाः निरञ्जनाः।
सह साधक चित्तेन यथार्थ तनैते शिवधर्मिणः॥'[२]

'मंत्र' अपने यथार्थ स्वरूप में दो 'सर्वबलशाली' होते हैं—वे शिवधर्मा हैं—

तदाक्रम्य बलंमन्त्रासर्वज्ञवबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणनीव देहिनः॥ —स्पन्दकारिका

मन्त्रार्थ तो देवता का स्वस्वरूप है; क्योंकि वाच्यवाचक-नाम-नामी-मंत्र-देवता में अभेद है—

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (४/४) (४/१२)
२. स्पन्दकारिका

'मन्त्रार्थं देवतारूपं चिन्तनं परमेश्वरि।
वाच्यवाचकभावेन अभेदो मंत्रदेवयोः ॥'

मन्त्र की अवस्थायें

(१)		(२)
पशु अवस्था (सुषुप्त) (अचेतन = मूर्च्छित)	('मंत्राश्चैतन्यसहिताः सर्वसिद्धकरा स्मृताः')	पशुपति-अवस्था (जाग्रत) (चैतन्यान्वित)
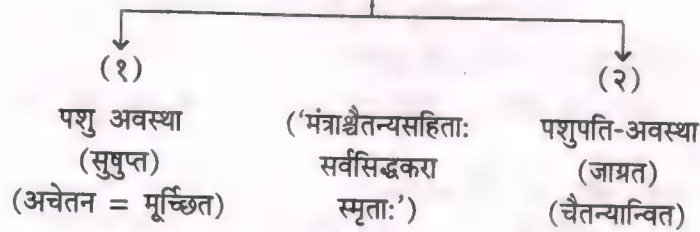
चैतन्य की रश्मियाँ ही 'मन्त्र हैं।

'मन्त्राश्चिन्मरीचयः।'

'नाद' का आविर्भाव ही मंत्र को मंत्र एवं जप को जप बनाता है अन्यथा जड़ वर्ण तो जड़ मात्र हैं वे मंत्र कैसे बन सकते हैं? फिर जड़ वर्णों का उच्चारण 'जप' कैसे कहला सकता है?

नादोत्थान या नादविर्भाव ही मंत्रत्व एवं जपत्व है।

जप— 'संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोचरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्य जपो जपः।
'तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावदच्युतः।
'कथा जपः' (शिवसूत्र ३/१७)

जप— भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥[१]

इसीलिए कहा गया है—

'नैतन्यरहितं मंत्रं यो जपेत् स च पापकृत ॥'

श्रीविद्या के उपासकों के तीन मत हैं—

(१) 'समयमत' (२) 'कौलमत' (३) 'मिश्रमत'

'यद्वा समयमतं कौलमतं मिश्रमतं चेति विद्योपास्तौ मतत्रयम्।'
—(भास्कर राय ल० स० १४४)

(क) ब्रह्माण्डपुराणकार का मत—ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि—

'...तेभ्योऽपि ललितामन्त्रादशभेदविभेदिताः।
तेषु द्वौ मनुराजौ तु वरिष्ठौ विन्ध्यमर्दन।

१. विज्ञान भैरव

लोपामुद्रा कामराज इति ख्यातिमुपागतौ।
हादिस्तु लोपामुद्रा स्यात् कामराजस्तु कादिका ॥'[१]

(ख) ज्ञानार्णवतन्त्रकार का मत—ज्ञानार्णवतन्त्र में कहा गया है कि—'श्री सम्प्रदाय' से सम्बद्ध १२ विद्यायें हैं।[२]

ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार 'श्रीसम्प्रदाय' में प्रतिपादित ललिता-मन्त्र १० भेदों में विभाजित है।

'सुन्दरी महोदय' (शङ्करानन्दनाथ-रचित) में भी ज्ञानार्णव का मत स्वीकार करके १२ विद्यायें स्वीकार की गई हैं। इनमें प्रथिततम विद्यायें दो हैं—

(१) 'लोपामुद्रा' : 'हादिविद्या' :
(२) कामराजोपासिता : 'कादिविद्या' :

हादिविद्या—पुण्यानन्द, अमृतानन्द आदि आचार्य हादिविद्यानुयायी हैं।

कादिविद्या—भास्करराय 'कादि विद्या सम्प्रदाय' के अनुयायी हैं।

सौभाग्य विद्या सम्प्रदाय परम्परा की अनेक शाखायें हैं और चिरकाल से प्रचलित हैं। 'श्रीविद्या' ही वह विद्या है, जो मोक्षैकस्वरूपा है—

'मोक्षैकहेतुविद्या च श्रीविद्या नात्र संशयः।'

'श्रीविद्या' एवं 'श्रीचक्र' का इतिहास : वैदिक पृष्ठभूमि

'श्रीविद्या' एवं 'श्रीचक्र' उतने ही प्रचलित हैं जितने की वेद। वेदकाल से ही श्रीविद्या एवं श्रीचक्र की उपासना (अद्यपर्यन्त) प्रचलित है।

वेद और श्रीविद्या—श्रुतियों में कहा गया है—

'अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदं अमृतेनावृतां पुरीम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः ॥
विभ्राजमानाँ हरिणीम्। यशसा संपरीवृताम्।
पुरँ हिरण्मयीं ब्रह्मा। विवेशाप राजिता।
पराङेत्यज्यामयी। पराङेत्यनाशकी।
इह चामुत्र चान्वेति। विद्वान् देवासुरानुभयान्।
यत्कुमारी मन्द्रयते। यद्योषिद्यत्पतिव्रता।
अरिष्टं यत्किंच क्रियते। अग्निस्तदनुवेधति ॥'

१. ब्रह्माण्डपुराण (४/३८/३-१०)
२. ज्ञानार्णव तंत्र (द्वादश पटल)

(१) श्री चक्र का स्वरूप—'अष्टाचक्रा'—

(१) अष्टकोण (२) दशकोणद्वितय (३) चतुर्दशकोण
(४) अष्टपत्र (५) षोडशपत्र (६) त्रिक्लय त्रिरेखा

नवद्वारा—९ संख्यक त्रिकोणात्मक द्वार ।[१]

'देवानांपूरयोध्या'—

(१) देवताओं का 'पूः' (श्रीविद्यानगर)।

(२) 'दीव्यन्तीति देवाः' = २५ तत्त्व। इन २५ तत्त्वों का 'पूः' = अधिष्ठान। (३) सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि का 'पूः' अर्थात् सोमसूर्यानलात्मक 'श्रीचक्र' पुरत्रय की समष्टि = 'पूः'।

(३) 'अयोध्या' = मन्दभाग्य वालों के लिए असाध्य।

(४) 'तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः ॥'

उस 'पुर' (श्रीचक्र) के मध्य 'हिरण्मयकोश' (सहस्त्रदलकमलकोश)। बैन्दवस्थान में सहस्त्र दलकमल स्थित है।)

'स्वर्गोलोको ज्योतिषाऽऽवृतः'—उस सहस्त्रदलकमल कोश की ज्योति से स्वर्गलोक आवृत्त (आच्छादित) है।[२]

श्रीविद्या की उपासना का फल—

'यो वै तां ब्रह्मणो वेद। अमृतेनावृतां पुरीम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः ॥'

'ब्रह्मणः' = ब्रह्मस्वरूपा भगवती के अमृत धारा से आवृत) (अर्थात् चन्द्र मण्डल से स्त्रवित अमृत धारा से आवृत) पुरी (श्री चक्र रूप पुरी अर्थात् जो कि भगवती त्रिपुरा की पुरी है।) को जो जानता है (अर्थात् जो उसका ज्ञानपूर्वक अर्चन करता है) उस विद्वान अर्चक को 'ब्रह्म च ब्रह्मा च' (ब्रह्मस्वरूपाभगवती एवं ब्रह्म रूप भगवान दोनों) 'च' + 'च' = (चकार द्वय) सम्मिलित रूप में, बैन्दव स्थान में (सहस्रार में, सुधासिन्धु के मध्य स्थित 'मणिद्वीप' के 'चिन्तामणिगृह' में) अर्थात् श्रीपुर में सामरस्यात्मक स्थिति में समासीन भगवती एवं भगवान दोनों अपने श्रीयंत्र के उपासकों को या प्रजा को जीवन (आयु) एवं कीर्ति (यश) दोनों प्रदान करते हैं।

श्रीपुर में शिवशक्ति दोनों का निवास—

'पराङेत्यज्यामयी। पराङेत्यनाशकी।'

---

१. लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा

अर्थात् अधोमुखी (पराङ) चक्ररूपिणी शिवशक्ति के मध्य शक्ति 'अज्यामयी (अविनश्वरा, ज्यानिरहिता, नित्या) एवं अनाशी (दुःखरहिता एवं आनन्दमयी) रूप में अवस्थित है। या— (अज्या = अ + ज्या)— वह ज्या (भूमि अर्थात् पञ्चभूत समष्टि) से युक्त नहीं है। वह मनस्त्वादिमयी है। वह शिव चक्रात्मकचतुर्योन्योत्मिका है; क्योंकि शिवयोनियाँ अवाङ्मुख होने के कारण **'बैन्दव स्थान'** से नीचे अवस्थित है।

अनाशकी = अर्थात् नाशरहिता। शक्तिचक्रात्मकपञ्चयोन्यात्मिका है।

पराङ् —अधोमुखी गति है। शिवयोनियों की अपेक्षा शक्तियोनियाँ अवाङ्मुख हैं। शिवयोनि + शक्तियोनि परस्पर अवाङ्मुख हैं।

चक्रवेत्ता को प्राप्य फल—

'इह चामुत्र चान्वेति। विद्वान् देवासुरानुभयान्।'

'देव' = 'दीव्यन्तीति देवाः एकादशेन्द्रियाणि।'' = ११ इन्द्रियाँ। **'असुरा'** = असवः प्राणाः प्राणदिपञ्चवायवः तान् रान्ति आददत् इति पञ्च तन्मात्रा उच्यन्ते। **'असुर'** = ५ तन्मात्रायें। **'उभयान्'** = उभयत्र। देवता और असुर दोनों से **अन्वित** माया—शुद्धविद्या-महेश्वर-एवं सदाशिवको।

जो 'विद्वान् २५ तत्त्वों के समूह को जानकर, शिवशक्ति सम्पुटात्मक, पञ्चविंशतितत्त्वलक्षणात्मक षड्विंशतत्त्व को जानता है वह 'इह चामुत्र' अर्थात् इह लोक एवं परलोक दोनों में सार्ष्टि—सालोक्य—सामीप्य—सारुप्य एवं सायुजय रूप पञ्चविधात्मक मुक्ति से समलंकृत हो जाता है।

देवता एवं असुर दोनों के ज्ञान का उपाय—

'यत्कुमारी मन्द्रयते। यद्योषिद्यत्पतिव्रता।
अरिष्टं यत्किंच क्रियते। अग्निस्तदनुवेधति ॥'

अर्थात् (१) जिस चक्र में 'कुमारी' अर्थात् कौमारावस्थापन्न अर्थात् सुप्तोत्थिता कुण्डलिनी मन्द स्वर करती है (मन्द्रयते)। कुमारी कुण्डलिनी सुप्तोत्थित सर्पवत मन्द्रस्वर करती है। 'यद्योषित' अर्थात् जिस चक्र में कुलयोषित् विष्णुग्रंथि पर्यन्त जाकर आनन्दमग्न होती है। कहा भी गया है—

'कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा राति विष्णोः प्रभेदने ॥'[१]

जिस चक्र में 'पतिव्रता' कुण्डलिनी देवी अपने पति सदाशिव के साथ सहस्त्रदलकमल में विहार किया करती है।

---

१. सनत्कुमार

'अरिष्टं यत्किञ्चित क्रियते'—रिष्ट = शुभाभावः रिष्टं क्षेमे शुभाभावे' **'अरिष्ट'** = शुभा अमृतास्वादमय। **यत्किंच क्रियते** = अर्थात् जो करती है उसकी **'अग्निस्तदनुवेधति'**—स्वाधिष्ठानगत अग्नि सहायता करती है।

इस प्रकार अभ्यास के द्वारा वायु से अग्नि को जलाकर अग्निशिखानुविद्धविलीन चन्द्रमण्डल से स्रवित पीयूष-प्रवाह के अनुभव में पञ्चविंशतितत्वातीता परमेश्वरी को जानना सुकर होता है।

श्रीचक्रविद्योपासना का फल—

'अशृतासश्शृतासश्च यज्वानो येऽप्ययज्वनः। स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते'

'अशृतासः' = अपक्व। अक्षपित अन्तःकरण कालुष्य वाला। 'यज्वानो' = यजनशील त्रैवर्णिक। 'अयज्वनः' = यागरहित शूद्रः—

'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लप्तः ।।'' (श्रुति)

''चक्रविद्योपासने शूद्राणामपि अधिकार चोदनात् ।।''

चक्रविद्योपासनागत साधक स्वर्ग की अपेक्षा नहीं रखते।

श्रीचक्रविद्या के अतिरिक्त अन्यदेवोपासना की अनिष्टता—

'इन्द्रमग्निं च ये विदुः । सिकता इव संयन्ति।

रश्मिभिः समुदीरिताः । अस्माल्लोकादमुष्माच्च ।।'

अर्थात् जो इन्द्र एवं अग्नि आदि देवताओं की उपासना करते हैं, वे बालुका-कण की भाँति 'संयन्ति'—भ्रष्ट होते हैं। **रश्मिभिः** = रश्मियों के द्वारा (यम पाशों के द्वारा) **समुदीरिताः** = परिबद्ध हो जाते हैं। **अस्माल्लोकादमुष्माच्च** = इस लोक से सभी भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रुतियों में कहा गया है—

'अन्धः तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।।'

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—यह **'पञ्चदशाक्षरी विद्या'** ऋग्वेद में भी वर्णित है[1]—

'इयं पञ्चदशाक्षरी विद्या ऋग्वेदे आम्नाता

चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तः ।।'[2]

१६ कलाओं से युक्त श्री बीज ईकार युक्त है अतः वेदसिद्ध है।

---

१. लक्ष्मीधरा (५)

२. (ऋ. ५।४७।४)

षोडशाक्षरी श्रीविद्या की विशिष्टता

'श्रीविद्या' की महिमा का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

(१) १०० करोड़ जिह्वाओं एवं सहस्र कोटि वाक्यों द्वारा भी षोडशाक्षरी श्रीविद्या की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

(२) चूँकि भगवती की 'श्रीविद्या' परावाक्यात्मक है अतः इस अक्षरातीत विद्या का वर्णन वैखरी वाक्यों सें सम्भव नहीं है।

(३) इस मुक्तिभुक्ति प्रदायिनी 'श्रीविद्या' के स्वरूप-निर्वचन एवं माहात्म्य-वर्णन में स्वयं 'पश्यन्ती' एवं 'मध्यमा' वाक् भी असमर्थ हैं।

(४) इस श्रीविद्या का मात्र एक बार किया हुआ जप सहस्रों वाजपेय यज्ञ के निष्पादन, सम्पूर्ण पृथ्वी की प्रदक्षिणा एवं काशी आदि साढ़े तीन करोड़ तीर्थों की यात्राओं से भी महत्तर है, अतः वे उसकी बराबरी नहीं कर सकते। यह परम गोप्तव्या है, अतः भले ही व्यक्ति अपना शिर काट कर दे दे किन्तु यह विद्या न दे। यही शास्त्रादेश है—

'वाक्यकोटिसहस्रैस्तु जिह्वाकोटिशतैरपि ।
वर्णितुं नैव शक्येऽहं श्रीविद्यां षोडशाक्षरीम् ।
वैखरीवाच्यभावत्वादशक्ता गुणवर्णने ।
यतो निरक्षरं वस्तु परा तत्रैव कारणम् ।
मूकीभूता हि पश्यन्ती मध्यमा मध्यमा भवेत् ।
ब्रह्मविद्यास्वरूपा हि भुक्तिभुक्ति फलप्रदा ।
एकोच्चारेण देवेशि ! वाजपेयस्य कोटयः ।
अश्वमेधसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा ।।
काश्यादितीर्थयात्राः स्युः सार्धकोटित्रयान्विताः ।
तुलां नार्हन्ति देवेशि ! नात्र कार्या विचारणा ।
एकोच्चारेण गिरिजे किं पुनर्ब्रह्म केवलम् ।
षोडशार्णा महाविद्या न प्रकाश्या कदाचन ।
राज्यं देय शिरो देयं न देया षोडशाक्षरी ।।'

'श्रीविद्या' पञ्चभूतमयी है, विश्वमयी है। 'श्रीविद्या' पाँच महाभूतों से युक्त है—

'हः' : व्योम (१) } 'क' : वायु (२) } 'र' : अग्नि (३) } 'स' : जल (४) } 'ल' : पृथ्वी (५)

'ह', 'क', 'र', 'स' एवं 'ल' : ये वर्ण 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' के वर्ण हैं।

वर्णों की पञ्चभूतात्मकता

कहा गया है कि—

'हकार व्योम सम्भूतं, ककारात्तु, प्रभञ्जनः।
रेफादग्नि सकाराच्च जलतत्त्वस्य संभवः।
लकारात्पृथिवी जाता तस्मा विश्वमयी च सा॥'

भगवती का यन्त्रात्मक स्वरूप 'श्रीचक्र' है—

श्रीचक्र शिव और पार्वती दोनों का शरीर भी है—

'शरीरं त्वं शम्भोः'[1]

'पञ्चदशाक्षरी विद्या' अलभ्य है—

शास्त्रों में इसकी अलभ्यता को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

'यस्य नो पश्चिमं जन्म यदि वा शङ्करः स्वयम्।
तेनैव लभ्यते विद्या श्रीमत्पञ्चदशाक्षरी॥'

१. **उन्मनी श्रीविद्या** : क ए ई ल ह्रीं ह क ह ल ह्रीं, ह स क ल ह्रीं।
२. **वरुणोपासित श्रीविद्या** : क ए ई ल ह्रीं, ह क ह ल ह्रीं, स ह क ल ह्रीं।
३. **धर्मराजोपासि श्रीविद्या** : क ए क ल ह्रीं ह क ह ह्रीं, स ह क ल ह्रीं।
४. **वह्नि-उपासित श्रीविद्या** :क स क ल ह्रीं, ह स ल क ल ह्रीं, स क ल र ल ह्रीं।
५. **नागराज उपासित श्रीविद्या** :ह स क ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल र ल ह्रीं।
६. **वायुदेवोपासिता श्रीविद्या** :क ए र ल र ह्रीं, ह क ल र ह ल ह्रीं, स र क ल र ह्रीं।
७. **बुधोपासिता श्रीविद्या** :क ए ई र ल ह्रीं, ह क ह ल र ह्रीं, स ह क ल र ह्रीं।
८. **ईशानोपासिता श्रीविद्या** :क ह ल ह्रीं, ह क ल ह ल ल र ह्रीं स क ल ह्रीं।
९. **रति-उपासित श्रीविद्या** :—क ए ई ल ह्रीं ह० स०।
१०. **नारायणोपासिता श्रीविद्या** :कादि स० ह० क० विलोममिलिता।
११. **ब्रह्मोपासिता श्रीविद्या** : क ए ई ल ह्रीं ह क ह स र ह्रीं ह स क ल ह्रीं।
१२. **जीवोपासिता श्रीविद्या** :ह स क ल ह्रीं, ह क ह स र ह्रीं, ह स क ल ह्रीं।
१३. **लोपामुद्रोपासिता श्रीविद्या** : ह स क ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं।
१४. **मनूपासिता श्रीविद्या** : क ह ए ई ल ह्रीं, ह क ए ई ल ह्रीं स क ए ई ल ह्रीं।
१५. **नन्दिपूजिता श्रीविद्या** : स ए ई ल ह्रीं, स ह क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं।

---
१. (सौन्दर्यलहरी ३४)

* मन्त्र और यन्त्र की परस्परानुस्यूतता *

* पञ्चदशाक्षरी मंत्र और उसके साथ यन्त्र का तादात्म्य *

लकार — भूपुर

सकार — षोडशदल

हकार — अष्टमूर्त्यात्मक अष्टदल

भुवनेश्वरी रूप ईकार — चतुर्दशार

एकार — दशावतारात्मक बहिर्दशार

हल्लेखान्तर्गत रेफ़ — अन्तर्दशार

ककार — अष्टार

अर्द्धचन्द्र — त्रिकोण

नादरूप अर्धमात्रा

त्रिकोण रूप योनि } बिन्दु • → बिन्दु चक्र
'**बिन्दुचक्र**'=कामेश्वर। विश्वाधार'

लकार → पृथ्वी तत्त्व

पृथ्वी तत्त्व
वृक्ष, पर्वत
५१ पीठ

पञ्चदशाक्षरी का 'लं' बीज

समस्त तीर्थ

गंगा आदि समस्त नदियाँ

पञ्चदशाक्षरी का 'स' बीज

चन्द्र नक्षत्र ग्रह राशि आदि

'गणेशग्रहनक्षत्र योगिनी राशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्॥'

हं ↓ आकाश

पञ्चदशाक्षरी का एकार — वैष्णवी शक्ति

पञ्चदशी का रं बीज

"रं" = परमज्योतिर्मयी पराशक्ति

ई ↓ १४ भुवन

"**ककार**" = सर्वकामनापूरणी कामदा शक्ति॥

अर्धचन्द्र—विश्वयोनि 'बिन्दु' = महाकामेश्वरी।

बिन्दु—सर्वानन्दमयचक्रा (ब्रह्म)। महाकामेश्वरी एवं महाकामेश्वर का निवा-स्थान।। निगुर्णब्रह्म महाकामेश्वर एवं संविद्रूप कूटस्थ साक्षी महाकामेश्वरी के सामरस्य का प्रतीक ज्ञाता-ज्ञेय एवं अहन्ता तथा इदन्ता या प्रकाशविमर्श के ऐक्य का प्रतीक।

'बिन्दु चक्र' में परापरातिरहस्ययोगिनी, स्थित है। तुरीयाम्बा, सर्वानन्दमय चक्र, उड्याण पीठ, आदि की भी यहाँ स्थिति है।

श्रीविद्या का स्वरूप—१८ विद्यायें हैं। उनमें मुख्य विद्यायें चौदह हैं। उनमें सारभूत वेद हैं। उनमें भी सारभूता 'गायत्री' है। गायत्री मंत्र के भी दो भेद हैं—(१) प्रथम—अस्पष्ट एवं चारों वेदों में गोपनीय। (२) सुस्पष्ट।

गायत्री मंत्र (१)—'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धिमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।'[१]

पंचदशी मंत्र (२)—'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं।'[२]

'तज्ज्ञानार्थमुपाया विद्या लोके चतुर्दश प्रोक्ताः ।
तेष्वपि च सारभूता वेदास्तत्रापि गायत्री ।।'[३]

गायत्री मन्त्र

(१)		(२)
२४ वर्णों की गायत्री	सुस्पष्ट विद्या	श्रीपञ्चदशाक्षरी (अत्यन्त गोपनीय)
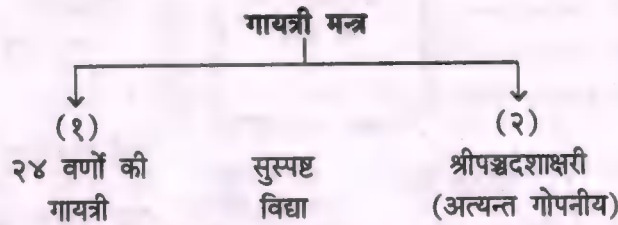
'श्रीविद्या' के इस मंत्र के प्रत्येक वर्ण का अपना विशिष्ट महत्व है; क्योंकि प्रत्येक वर्ण किसी अधिष्ठात्री शक्ति, नित्या, चन्द्रकला, सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि तथा शिव-शक्ति की सामर्थ्य एंव 'शब्दब्रह्म' या 'नाद' से सम्बद्ध है।

भास्करराय कहते हैं कि 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सर्वं खल्विदंब्रह्म' द्वारा व्यक्त जीव-ब्रह्मैक्य के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है।

---

१. गायत्री मन्त्र
२. (पंचदशाक्षरी मंत्र)
३. वरिवस्या रहस्यम्।

गायत्री मन्त्र एवं पञ्चदशी मन्त्र में एकात्मकता

(१) गायत्री मंत्र—'तत्'। गायत्री मन्त्र का 'तत्' (ब्रह्म)।

पञ्चदशी का 'वाग्भवकूट'—'पञ्चदशीविद्या' का 'क' = 'ब्रह्म'।

'क' कामेश्वर 'ईश्वरः कामोऽभिधीयते।।'[१]

'कामः ककारं व्याप्नोति काम एवेदं तत्तदिति ककारो गृह्यते। तस्मात्त-त्पदार्थ इति।।'[२]

× × × × × × ×

पञ्चदशी मंत्र

'कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहासकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमातादिविद्या ।।'[३]

वाग्भव कूट—

(२) गायत्री मंत्र—'सवितुर्वरण्यं' 'सवितुर्वरेण्यं' प्रसवित्री' जगन्माता।

—वरिवस्यारहस्यम्

पञ्चदशाक्षरी विद्या—'ए' = देवी कामेश्वरी। (सरस्वती) देवी) ('ऐं' सरस्वती बीज।)

(३) गायत्री मंत्र—'भर्गोदेवस्य धी' (धकारो धारणा। धियैव धार्यते भगवान परमेश्वरः। 'भर्गो' देवो मध्यवर्ति तुरीयमक्षरं साक्षात्तुरीयं सर्वं **सर्वान्तरभूतं तुरीयाक्षरामीकारं पदानां** मध्य वर्तीत्येव व्याख्यातं भर्गोरूपं व्याचक्षते। तस्माद्भर्गो देवस्य धीत्येव**मीकाराक्षरं** गृह्यते।। —त्रिपुरतापिन्यूपनिषद।

"भर्गोदेवस्य धी' एवं पञ्चदशी के 'ई' में समन्वय है।

भर्गो = ज्योतिस्वरूपा। देदीप्यमान। 'धी' एवं 'ई' (पञ्चदशी) में एकात्म्य है। दोनों में सामानाधिकरण्य है। मध्यवर्ती तुरीयाक्षर अर्धमात्रात्मक है।

पञ्चदशाक्षरी विद्या—(पञ्चदशी का) 'ई' = सर्वान्तर्यामी। सर्वपोषक। (तत्र सवितृशब्दार्थस्तु 'षूङ् प्राणिप्रसवे' सविता प्राणिनः सूते तदभिन्ना सावित्री प्रसूते। सेयं **सावित्रीः त्रिपुराशक्तिः।**

सैव व्यष्टिरूपेण महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलं मूलाधार त्रिकोणं व्याप्य अवतिष्ठते।

(सवितुरेकाररस्य समन्वयमुक्त्वा वरेण्यैकारयोः समन्वयः।।)

× × × × × × ×

---

१. त्रिपुरा तापिन्युपनिषद्।
२. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
३. शाङ्खायन श्रुति।

(४) गायत्री मन्त्र—'महि' = पृथ्वीमण्डल। मही बीज लकारेण महीमण्डलमुक्तं।

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र—'ल' (पृथ्वी)।

(५) गायत्री मन्त्र—'धियो यो नः प्रचोदयात् ' गायत्री एवं पञ्चदशी के मन्त्राक्षर परस्पर के मन्त्राक्षरों के प्रतिनिधि हैं—प्रतीक हैं—प्रतिनिधि हैं—तदर्थक हैं।

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र—'ह्रीं' (माया बीजलज्जाबीज)।

(६) गायत्री मंत्र का चौथा चरण—'धियो यो नः प्रचोदयात्'।

पञ्चदशी मन्त्र का—'ह्रीं' (माया बीज। लज्जा बीज)

गायत्री मन्त्र और पञ्चदशी विद्या का 'कामराजकूट'

जिस प्रकार गायत्री मन्त्र एवं वाग्भवकूट के मन्त्राक्षर परस्पर प्रतीक हैं, उसी प्रकार गायत्रीमन्त्र के अक्षर पञ्चदशी मन्त्र के 'कामराजकूट' के अक्षरों के भी प्रतीक हैं—दोनों मन्त्रों के अक्षर एक ही अर्थ सङ्केतिक करते हैं—अतः दोनों में साम्य है।

गायत्री के अक्षर	पञ्चदशी के अक्षर
१. 'तत् सवितुः वेरण्यम्' (अक्षर त्रय)	'ह' 'स' 'क' के (अक्षर त्रय) के बोधक
२. 'भर्गो देवस्य धीः' (षडक्षर)	'ह' (चतुर्थवर्ण)
३. भर्गो देवस्य धी।	'स' 'क' तृतीय कूट के दो वर्ण (द्वितीय एवं तृतीय कूटों शेष वर्णों का उद्धार उपर्युक्त रीति से करना चाहिए।)

कूटत्रय एवं शक्तियों में तादात्म्य

(क) ब्रह्मा-भारती,	वामा-इच्छा		(१) वाग्भवकूट
(ख) हरि-क्षिति,	ज्येष्ठा-ज्ञान	मिथुनत्रय =	(२) कामराजकूट
(ग) शिव-अपर्णा	रौद्री-इच्छा		(३) शक्तिकूट

—वरिवस्यारहस्यम् (६०-६५)

तीन समष्टियाँ (पुरुष-नारी का संघात) = 'शान्ता' एवं 'अम्बिका' रूप में तीन 'ईकार'।—

भारती, सकल एवं ब्रह्मा आदि आरंभ होने वाले 'त्रिकनय' = माया (ह्रीं) से

रहित कूटत्रय के बोधक। 'माया' (ह्रींकार) का चतुर्थ मिथुन है = शिवशक्ति का बोधक है। पञ्चदशीमन्त्र में १५ वर्ण हैं, किन्तु अनेक वर्णों की पुनरुक्ति भी है अतः पुनरुक्ति को छोड़कर गिनें तो 'पञ्चदशीविद्या' में मात्र सात ही अक्षर प्रयुक्त हुए हैं।

पञ्चदशी विद्या के सात मूलाक्षरः—क, ए, ई, ल, ह्रीं, ह, स।

मन्त्र (विद्या) के वर्णों की	३	१	३	३	२	३	= संख्या = १५
पुनरुक्ति संख्या वर्ण	क	ए	ल	ह्रीं	ह	स	= मन्त्राक्षर = ०७ (मूलाक्षर)

परदेवता = वामादिक सप्त शक्तियों की समष्टि।

परदेवता = षट्त्रिंशत तत्त्व ॥ ('वरिवस्यारहस्यम्')

'अहं'—'अ' = शिव। **'ह'** = शक्ति। **'ई'** = कामकला।

'वर्ण'—गुणा। **कामकलात्रय** = ईकार-स्पर्श चतुष्टय ३लकार = लोकत्रय। मन्त्रगत = ३ककार = (१) सकल, (२) प्रलयाकल, (३) विज्ञानाकाल।

पञ्चदशाक्षरीमन्त्रगत हल्लेखात्रय को छोड़कर अवशिष्ट अक्षरों में स्थित 'अकार'—क, ल, ह, स, क, ह, ल, स क ल में स्थित १० अकार = 'जीव'।

११रहवाँ स्वर **'एकार'** = जीव का वाचक एवं विद्या का प्राण। **'बिन्दुत्रय'** = रुद्र, ईश्वर, सदाशिव। नादत्रय = शान्ति, शक्ति। शम्भु।

महाविद्या के ३७ पद = ३६ तत्त्व और सैंतिसहवाँ तत्त्वातीत तत्त्व।

जन्यजनक में अभेद = वाच्यवाचक में अभेद = ब्रह्म एवं जगत, जगत एवं विद्या में अभेद।

परमशिव = जागतिक पदार्थ दीक्षा, गुरु एवं परमशिव में अभेद (श्लोक क्र० २/८२)

भगवती पराम्बा (इच्छा, ज्ञान, क्रिया = सतोगुण = राजोगण = तमोगुण = अग्नि-सोम-सूर्य = इन ९ के संयोग से त्रिनेत्री पराम्बा ग्रहरूपा है। (२/८४)

'श्रीविद्या' का अपने संघटक अक्षरों के साथ तादात्म्य है।

तृतीय कूट का प्रतीकार्थ—समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म सकल है। ककार + एकार + अकार = सृष्ट्यादि के वाचक। 'ई' = तिरोधान एवं अनुग्रह। ह स = आनन्द के वाचक। 'क' = सत्य का वाचक। 'ह'—अनन्त का वाचक। 'ल' = ज्ञान का प्रतीक। 'सकल' = जीव का वाचक। सकल = जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति। सकल = 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

'द्वादशविद्या' एवं 'श्रीविद्या' के द्वादशोपासक

(क) १. आदि विद्या, २. शक्ति शिवविद्या, ३. लोपामुद्रा विद्या, ४. क्रोध मुनिविद्या, ५. मानवी विद्या, ६. चान्द्री विद्या, ७. कौबेरी विद्या, ८. नन्दिविद्या, ९. प्रभाकरी विद्या, १० ष०मुखीविद्या, ११, परमशिव-विद्या एवं १२. वैष्णवी विद्या।

(ख) **द्वादशोपासक**—१. मनु, २. चन्द्र, ३. कुबेर, ४. लोपामुद्रा, ५. मन्मथ, ६. अगस्त्य, ७. अग्नि, ८. सूर्य, ९. इन्दु, १० स्कन्द, ११. शिव एवं १२. क्रोधभट्टारक (दुर्वासा)।

द्वितीय कूट के 'ह' 'स' 'क' तीन वर्णों द्वारा, गायत्री मंत्र के'तत् सवितुर्वरेण्यम्' के बोधक हैं।

पञ्चदशाक्षरी श्रीविद्या	**गायत्री मन्त्र**
द्वि०कूट = 'ह' 'स' 'क'	'तत् सवितुर्वरेण्यम्' (तत् + सवितुः + वरेण्यम्)[१]
'ह' (चतुर्थ 'ह')	'भर्गो देवस्य धी'

'परोरजसे सावदोम्'—यह चतुर्थ चरण है। यह अस्पष्ट है। गायत्री का द्वितीय एवं पर रूप 'श्रीविद्या' ही है।

'परोरजसे सावदोम्'—परज्योति अमल (रजशून्य) है। 'परोरजसेऽसावदोमित्येवं कूटं कामकलाऽऽलयं षडध्वपरिवर्तको वैष्णवं परमं धामैति भगवांश्चैतस्माद्य एवं वेद॥२२॥'[२]

श्रीविद्या की सन्तानें—'श्रीविद्या' की दो सन्तानें हैं—(क) कामराज सन्तान, (ख) लोपामुद्रा सन्तान।

पञ्चदशाक्षरी विद्या और उसका स्वरूप

'श्रीविद्या' वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या है—

विद्या का स्वरूप—

'कामोयोनिः कमला वज्रपाणि र्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहासकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमदिविद्या ॥'[३]

---

१. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
क. 'सवितुर्वरेण्यमिति षूङ् प्राणिप्रसवे सविता प्राणिनः सूते प्रसूते शक्तिः सूते॥
२. त्रिपुरातापिन्यूपनिषद्
३. शांखायन श्रुति

'काम' (क), 'योनि' (ए), 'कमला' (ई), 'वज्रपाणि' (इन्द्र = ल), 'गुहा' (ह्रीं) ह, स (मातरिश्वा = वायु 'क')। 'अभ्र' (आकाश = हा), 'इन्द्र' (ल), 'गुहा' ('ह्रीं), स क ल, (माया = ह्रीं)।

मंत्रोद्धार के बाद मंत्र का स्पष्ट स्वरूप—'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं। ('पञ्चदशाक्षरी विद्या')॥

१५वर्णों वाली 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' के विभाग

(१)	(२)	(३)
'वाग्भवकूट' (१८ वर्ण)	'कामराजकूट' (२२ वर्ण)	'शक्तिकूट' (१८ वर्ण)
(१) 'कादि विद्या'	'हादिविद्या' 'लोपामुद्रा विद्या'	'सादिविद्या'
(२) क, ए, ई, ल, ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स क ल ह्रीं

'एवं च प्रथम-तृतीये कूटे अष्टादशवर्णात्मके ।
मध्य कूटं तु चतुरधिकम् संहत्याष्टपञ्चाशद्वर्णात्मिका वेधेति सिद्धम् ।'

मन्त्रावयव—३ककार, १ एकार, १ ईकार, ३ लकार, ३ ह्रींकार, २ हकार, २ सकार ॥ (१५ वर्ण)[१]

'पञ्चदशीविद्या' में १५ वर्ण भी और १८ वर्ण भी।

'तंत्रराजतंत्र' 'सौन्दर्यलहरी' आदि ग्रन्थों से 'हादिविद्या' का ही प्रथमोद्धार दृष्टिगोचर होता है किन्तु—

'श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा'—वाक्य के अनुसार 'त्रिशती', 'त्रिपुरोपनिषद', 'योगिनी हृदय' आदि के अनुसार तो 'कादिविद्या' का ही प्राधान्य प्रमाणित होता है।

'पञ्चदशीविद्या' में **भास्करराय** ने १५ एवं ५८ वर्ण क्यों माने?

---

१. 'पञ्चदशीविद्या' में १५ वर्ण भी हैं और ५८ भी।
'प्रथमेऽष्टादशवर्णा द्वाविंशतिरक्षराणि मध्ये स्युः ।
प्रथमेन तुल्यमन्त्यं संघाते नाष्टपञ्चाशत ॥'

—वरिवस्यारहस्यम् (१४)

१५ वर्ण—'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं।

५८ वर्ण— (क) 'वाग्भवकूट' (ख) 'कामराजकूट' (ग) 'शक्तिकूट

१८ वर्ण २२ वर्ण १८ वर्ण

१८ + २२ + १८ = ५८ वर्ण।

(क) वाग्भव कूट के १८ वर्ण—

क + अ, (२), ए (१), 'ई' (१), ल + अ (२) = ६

'ह्रीं'—ह् + अ, र + अ, ई + बिन्दु आदि 'ह्रीं' के = + १२

= १८ वर्ण

'हल्लेखायाः स्वरूपं तु व्योमाग्निर्वामलोचना।
बिन्द्वर्धचन्द्रोधिन्यो नाद नादान्तशक्तियः।
व्यापिकासमनोन्मन्य इति द्वादश संहतिः॥'[१]

ह्रीं

'ह' (व्योम) (१)
'र' (अग्नि) (२)
'ई' (वामलोचना) (३)
बिन्दु (४)
अर्धचन्द्र (५)
रोधिनी (६)
नाद (७)
नादान्त (८)
शक्ति (९)
व्यापिका (१०)
समना (११)
उन्मना (१२)
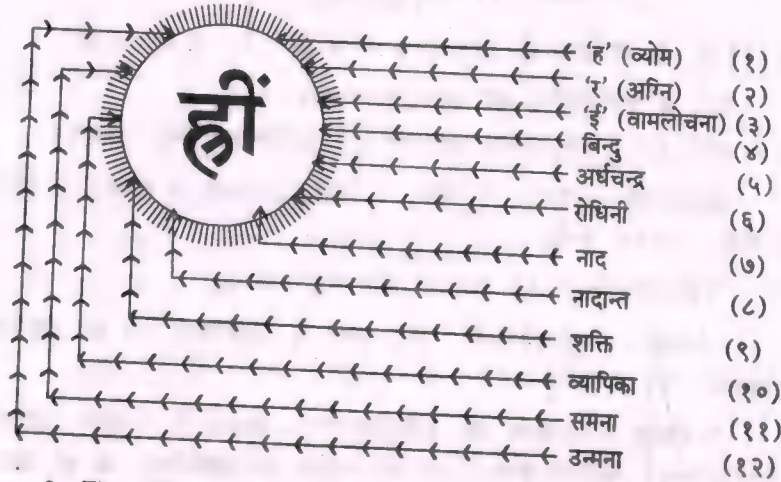
१. क + अ = २, ए (१), ई (१), ल + अ = २ = ६ वर्ण
२. 'ह्रीं' के १२ वर्ण = + १२ वर्ण
= १८ वर्ण

(ख) कामराजकूट के २२ वर्ण—'ह स क ह ल ह्रीं'
ह् + अ (२), स् + अ (२), क् + अ (२), ह + अ (२) ल् + अ = (२), १० वर्ण + 'ह्रीं' के १२ वर्ण = १० + १२ = २२ वर्ण

१. (वरि० १२)

(ग) शक्तिकूट के १८ वर्ण—

स + अ (२), क + अ (२), 'ल' (२) = ६

एवं 'ह्रीं' के १२ अवयव = ६ + १२ = १८ वर्ण।

१८ + २२ + १८ = ५८ वर्ण

श्रीविद्या के १२ सम्प्रदाय

(१) मनु (२) चन्द्र (३) कुबेर (४) लोपामुद्रा (५) मन्मथ (६) अगस्त्य (७) सूर्य (८) इन्द्र (९) स्कन्द (१०) शिव (११) क्रोधभट्टारक
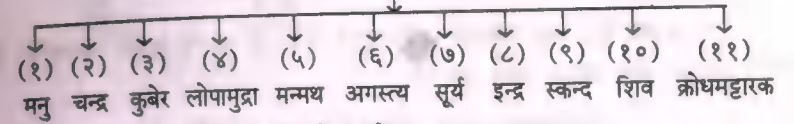
'मनुश्चन्द्रः कुबेरश्चलोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्ति सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा।
क्रोधभट्टारकोदेव्या द्वादशामी उपासकाः॥'

इस श्लोक में १२हवें सम्प्रदाय के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है तथापि १२ सम्प्रदाय कहे अवश्य गए हैं।

श्रीविद्या का उपासना क्रम

(१)	(२)	(३)
'काली क्रम'	'सुन्दरी क्रम'	'तारा क्रम'
(कुण्डली क्रम।	(हंस क्रम।	(समवरोधिनी क्रम।
'कादिविद्या।'	'हादिविद्या'	'सादिविद्या'
(सत्वगुण प्रधान)	(रजोगुण प्रधान)	(तमोगुण प्रधान)

मंत्र का उच्चारण-काल : मात्रा २५६ लव

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
'बिन्दु'	'अर्धचन्द्र'	'रोधिनी'	'नाद'	'नादान्त'	'शक्ति'	'व्यापिका'
१२८	६४ लव	३२ लव	१६ लव	०८ लव	०४ लव	२लव

(८)	(९)
'समना'=	'उन्मना'
१ लव	मात्राहीन। कालातीत)
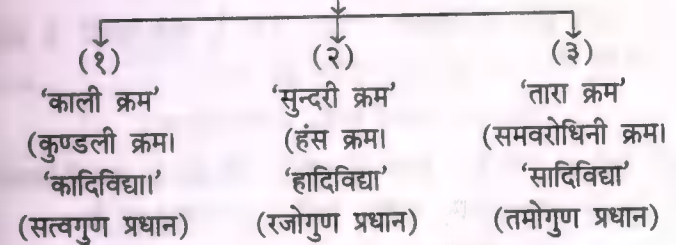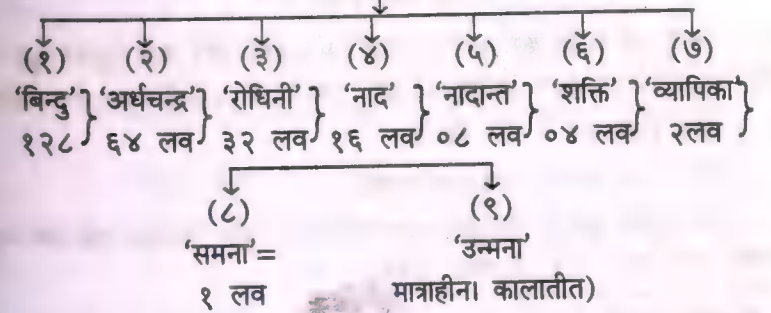
भास्करराय की दृष्टि—'उन्मनायास्तु नास्त्येव कालः॥ 'योगिनी हृदय' 'चक्रसंकेत' आदि ग्रंथों के अनुसार तो 'द्वादशोत्तरपञ्चशततमो भाग 'उन्मनाकालः'।

नियम तो यह है कि—

(१) 'बिन्दु' का मात्राकाल = अर्धमात्राकाल है।

(२) उत्तरवर्ती वर्णों का उच्चारणकाल अपने पूर्ववर्ती वर्णों से यथाक्रम आधा-आधा होता जाता है।

'बिन्दोरर्धं' मात्रा परे परे चापि पूर्वपूर्वार्धाः ।[१]

(१) **प्रथम कूट का स्वरूप**—'मूलाधार चक्र' से आरंभ करके प्रलयाग्नि के समान भासित होने वाला प्रथम कूट है।

'प्रलयाग्निनिभं प्रथमं मूलाधारादनाहतं स्पृशति ॥'

यह अनाहत को स्पर्श करता है।

(२) **द्वितीय कूट का स्वरूप**—अनाहत से आगे करोड़ों सूर्यों की भाँति आभा वाला दूसरा कूट है—

'द्वितीयकूटं तु कोटिसूर्याभम् ।'[२]

द्वितीय कूट आज्ञा चक्र का स्पर्श करता है।

(३) **तृतीय कूट का स्वरूप**—'आज्ञा चक्र' से आगे ललाट के मध्य भाग में करोड़ों चन्द्रों की आभा के समान तृतीय कूट है—

'तस्माल्ललाटमध्यं तार्तीयं कोटिचन्द्राभम् ।'

तीन कूटों के वर्णों को, माला की गुरियों (मनियों) के रूप में क्रमशः एक के ऊपर एक की भावना करनी चाहिए। वर्णों में नाद अनुस्यूत हैं—

'मालामणिवद्वर्णाः क्रमेण भाव्या अपर्युपरि ॥'
'वर्णेषु नादोऽनुस्यूतः ॥'[३]

'बिन्दु' से आरंभ कर क्रमशः 'समना' में समाप्त होने वाले 'तृतीय कूट' के 'नाद' का उच्चारण करना चाहिए एवं इसे 'उन्मनी' में अन्तर्लीन कर देना चाहिए।

(क) प्रथम कूट में १० मात्राएँ।

(ख) मध्य कूट में साढ़े १० मात्राएँ।

(ग) तृतीय कूट में एक लव कम साढ़े आठ, कुल मिलाकर एक लव न्यून उन्तीस मात्रा काल 'जप' में होना चाहिए।

---

१. वरिवास्यारहस्यम् १/१६
२. वरिवस्यारहस्यम् १/२०
३. भास्करराय

जप का स्वरूप क्या है?—

जप
मन्त्र के वर्णों का उच्चारण
अवस्था (५) का चिन्तन
शून्य (६) का चिन्तन
विषुव (७) का चिन्तन
चक्र (९) का चिन्तन
मन्त्रार्थ-चिन्तन
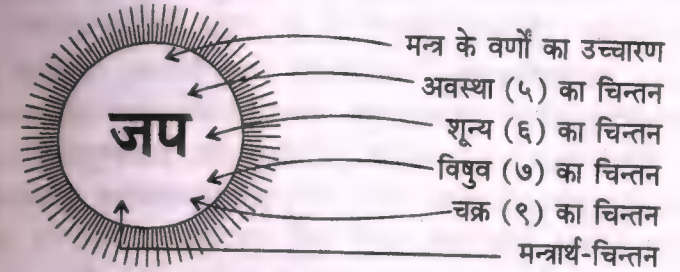
'एवमवस्थाशून्य विषुवन्ति चक्राणि पञ्चषद् सप्ता।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु **'जपः'** ॥'

श्रीविद्या के अङ्ग[१]

(१)	(२)
अन्तरङ्ग ('दुर्लभअङ्ग')	बहिरङ्ग

श्रीविद्या के अन्तरङ्ग ('दुर्लभअङ्ग')

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
वर्णसंख्या	मंत्रोद्धार	उच्चारण-मात्रा-काल	उच्चारण-स्थान	प्रयत्न	रूप	विभिन्न स्थितियाँ

श्रीविद्या के बहिरङ्ग[२]

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)
ऋषि	छन्द	देवता	विनियोग	बीज	शक्ति	कीलक	न्यास	ध्यान	नियम	पूजा

'पञ्चदशाक्षरी विद्या' का लोकोत्तर स्वरूप

'पञ्चदशी' श्री विद्या श्रेष्ठतमा एवं लोलोत्तर सर्वोच्च विद्या है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

---

१. भास्करराय
२. वरिवस्यारहस्यम् (२।१६०)

(क) **आरंभिक स्वरूप**—'अनङ्गः पूर्वं विद्यारत्नं पञ्चाशद्वर्णात्मकं, षोडशनित्यात्मकं, षोडशकलात्मकं, नानावेदेषु नाना स्मृतिषु नानापुराणेषु नानाविधागमेषु विप्रकीर्णं दृष्टवान् । तदनन्तरं विप्रकीर्णं इमं मन्त्रं दृष्ट्वा सीवनंकृतवान।'[१]

(ख) **मध्यवर्तीस्वरूप**—'पञ्चाशद्वर्णान् त्रिधा विभज्य, खण्डत्रयं कृत्वा त्रिपुरसुन्दर्यादिषोडशनित्याः तत्र अन्तर्भाव्य, प्रतिपदादितिथीन् षोडश तत्रैव अन्तर्भाव्य, पञ्चदशवर्णात्मकं त्रिखण्डंकृत्वा, तत्र सोम-सूर्यानलात्मकतया, ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकतया, सत्व-रजस्तमस्तत्वव्यवस्थिततया, जाग्रत-स्वप्न,सुषुप्त्यवस्थापन्नतया सृष्टि-स्थितिलय हेतुभूततया निश्चित्य श्रीविद्यात्मके चतुर्थे खण्डे पञ्चदशकलानां अन्तर्भावं निश्चित्य, भुवनेश्वरी प्रभृतीनां योगिनीविद्यानां नवानां त्रिकस्य त्रिकस्य एकैक ह्रींकारेणाअन्तर्भावं अङ्गीकृत्या।'[२]

(ग) **श्रीविद्या के महत्व का चरमस्वरूप**—(१) सर्वभूतात्मकं, (२) सर्वमन्त्रात्मकं, (३) सर्वतत्त्वात्मकं, (४) सर्वावस्थात्मकं, (५) सर्वदेवात्मकं, (६) सर्ववेदार्थात्मकं, (७) सर्वशब्दात्मकं, (८) सर्वशक्त्यात्मकं, (९) त्रिगुणात्मकं, (१०) त्रिखण्डं, (११) त्रिगुणातीतं, (१२) सादार्व्यांपर पर्यायं, (१३) षड्विंशशिवशक्तिसंपुटात्मकं—निश्चित्य वर्णपञ्चदशकेन मूलविद्यां असीव्यत् ।''[३]

यही है षोडशीविद्या, (श्रीविद्या) का स्वरूप एवं उसका महत्व।। श्रीविद्या—सर्वभूतात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वतत्त्वात्मक, सर्वदेवात्मक, सर्वशक्त्यात्मक, एवं शिवशक्तिसंपुटात्मक आदि है।

'श्रीविद्या' नक्षत्ररूपा, राशिरूपा, ग्रहरूपा, गणेशरूपा, शिवशक्तिरूपा, देवीरूपा, सर्वनित्यारूपा, सर्वतिथिरूपा, सर्वकलारूपा, सर्वदेवरूपा, सर्वतत्त्वरूपा, सर्वावस्थारूपा आदि अनन्त रूपों वाली है एवं अनन्त शक्तियों से आपूरित है।

ललिता-विद्या और उसका वर्गीकरण

'ब्रह्माण्ड पुराण' में (४।३८।८-१०) कहा गया है कि—

> ''तेभ्योऽपि ललितामन्त्रा दशभेदविभेदिताः ।
> तेषु द्वौ मनुराजौ तु वरिष्ठौ विन्ध्यमर्दन ।
> लोपामुद्रा कामराज इति ख्यातिमुपागतौ ।
> हादिस्तु लोपामुद्रा स्यात् कामराजस्तु कादिका ।''

यहाँ 'ललिता मंत्र' को दशधा ही वर्गीकृत होने की बात कही गई है।

---

१. वरिवस्यारहस्यम् ३२
२. वरिवस्यारहस्यम्
३. वरिवस्यारहस्यम्

'श्रीविद्या' (ललिता-मंत्र) का विभाजन

- ब्रह्माण्डपुराणप्रतिपादित मत (श्रीविद्या के १० भेद हैं।)
  - **तंत्र के त्रिपुरा सम्प्रदाय से सम्बद्ध है—**
  - ''वामकेश्वर तंत्र''। इसका एक भाग है—'नित्याषोडशिकार्णव'। 'नित्याषोडशिकार्णव' के ३ विमर्श ही 'योगिनी हृदय' नामक ग्रन्थ है।
  - काश्मीर के त्रिक दर्शन में भी यह ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है किन्तु वहाँ इसकी व्याख्या पृथक दृष्टि से की गई है।
- ज्ञानार्णवतंत्रोक्त मत (श्रीविद्या के १२ भेद हैं।)
  - **'सुन्दरी महोदय'** (शङ्करानन्द-रचित)। श्रीविद्या के द्वादश भेद हैं।
  - **प्रमुख विद्यायें**
    - 'लोपामुद्रा विद्या' 'हादिविद्या' — १. पुण्यानन्द नाथ, २. अमृतानन्दनाथ (हादिविद्यानुयायियों में प्रख्यात दार्शनिक)।
    - कामराजोपासिता 'कादिविद्या' — १. भास्करराय (कादिविद्या सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य)
  - पुण्यानन्द नाथ विरचित **'कामकला विलास'**। काश्मीर चौखम्बा संस्कृत सीरीज का ग्रन्थ क्र० १३) त्रिक दर्शन को भी मान्य है।
  - **'हादि सम्प्रदाय' 'हादिविद्या'** — **'कादि सम्प्रदाय' 'कादिविद्या'**

(श्रीसम्प्रदाय)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)
मनु	चन्द्र	कुबेर	लोपामुद्रा	मन्मथ	शिव	दुर्वासा
१८ अक्षरों की विद्या	२० अक्षरों की विद्या					

(कहीं-कहीं पर इन्द्र एवं अग्नि के स्थान पर नन्दी एवं विष्णु के नाम हैं।)
१२ सम्प्रदाय के स्थान पर प्रमुखतम सम्प्रदाय (जो आजतक प्रचलित हैं) दो हैं—
(१) 'कामदेव सम्प्रदाय' (कामराजविद्या १५ अक्षरों की है।)
(२) 'लोपामुद्रा सम्प्रदाय' (लोपामुद्रा विद्या १५ अक्षरों की है।)

'बह्वृचोपनिषद' में तीन मतों का उल्लेख है—

(१) 'कादिमत', (२) 'हादिमत', (३) 'सादिमत'

कामराज विद्या के दो भेद

(१) शाक्त ऊर्ध्वाम्नास से सम्बद्ध (नपुंसकता के दोष से मुक्त)

(२) शाम्भव पूर्वाम्नाय-सम्बद्ध (दोष-युक्त)
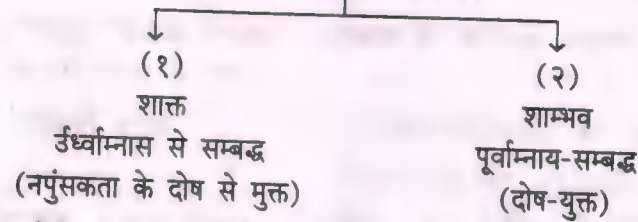
'कादिविद्या'—१५ वर्णों से युक्त है। (तंत्रराज तंत्र) एवं 'त्रिपुरा उपनिषद' कादि मत के ग्रंथ हैं)

'हादिविद्या'—यह भी १५ वर्णों से युक्त है। ('बह्वृचोपनिषद') में 'कादि', 'हादि' एवं 'सादि' विद्याओं का वर्णन किया गया है।)

ऋषि दुर्वासा १३ अक्षरों वाली 'हादिविद्या' की उपासना किया करते थे। उनका ग्रंथ 'ललिता-स्तवरत्न' है। 'परशम्भुस्तोत्र' भी क्रोध भट्टारक दुर्वासा की रचना है। दुर्वासा ने 'महिम्नस्तोत्र' भी लिखा है।

कतिपय विद्वान यह कहते हैं कि 'योगिनी हृदय' 'कादिमत' के प्रमुख चार ग्रंथों में से एक है।

'कादिमत' के प्रधान चार ग्रंथ

(१) तंत्रराजतंत्र (२) मातृकार्णव (३) योगिनीहृदय (४) त्रिपुरार्णव
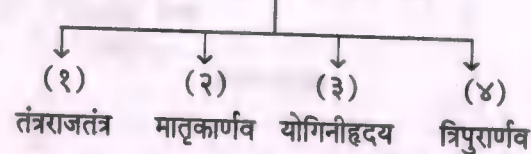
यद्यपि **शुभगानन्दनाथ** ने 'मनोरमा' नामक अपनी टीका में ('तंत्रराज' की टीका) में एवं **भास्कर राय** ने अपने 'भावना उपनिषद' भाष्य में यह स्वीकार किया है कि 'योगिनीहृदय' कादिमत का ग्रंथ है तथापि भास्कर राय ने 'वरिवस्यारहस्य' में 'योगिनीहृदय' की व्याख्या हादिमत के अनुसार की है।

(SUPREME GODDESS)

परादेवी की तीन प्रकार की पूजाएँ (१) 'बहिर्याग', (२) 'जप' एवं (३) 'अन्तर्याग' के रूप में तीन प्रकार की हैं।

'त्रिपुरतापिन्युपनिषद' आदि उपनिषद 'बहिर्याग' एवं 'जप' पर किन्तु 'भावनोपनिषद' ध्यानपद्धति के माध्यम से आन्तरिक पूजा पर बल देता है। इसके अनुसार 'श्रीचक्र' पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

कामराजविद्या

१५ वर्ण = कादिविद्या

(१) शाक्त (ऊर्ध्वाम्नाय) (कीलक के दोष से मुक्त)

(२) शाम्भव (पूर्वाम्नाय)

लोपामुद्राविद्या

(१) १५ वर्ण शाक्त

(२) ='हादिविद्या' शाम्भव
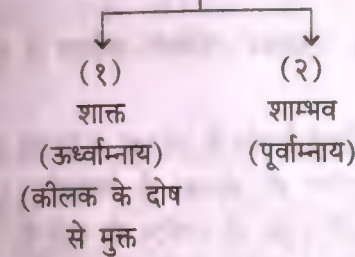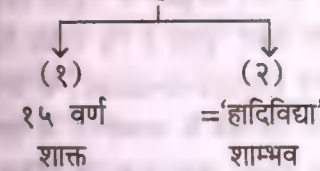
'भावनोपनिषद' यह बताता है कि 'श्रीचक्र' पर ध्यान कैसे केन्द्रित किया जाय? ध्यान की यह प्रक्रिया (कतिपय विद्वानों के मतानुसार) दो प्रकार की है—इसकी दो तांत्रिक पद्धतियाँ हैं—(१) कादि सम्प्रदायानुसार, (२) हादिसम्प्रदायानुसार।

'अन्तर्याग' साधना की वह पद्धति है जिसमें शरीर के भीतर चक्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। 'भावना उपनिषद' कादि दृष्टिकोण का अनुसरण या प्रतिपादन करता है। 'भावना उपनिषद' की दृष्टि यह है कि 'मानवशरीर ही श्रीचक्र है।' वह अपनी ही आत्मा की अभिव्यक्ति है—

(१) 'नवचक्ररूपं श्री चक्रम्' (३)

(२) **'श्रीचक्र' की पूजन-पद्धति**—'ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयंहविः ज्ञाता होता, ज्ञातृज्ञान-ज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्र-पूजनम्' (१०)

भास्करराय की दृष्टि—श्रीचक्र एवं मानवशरीर अभिन्न हैं। 'स्वकीयोदेह एव त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रसमष्टिरूप श्री चक्राभिन्नः॥' (भावनोपनिषद-भाष्य)

इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ—

(१) एक ओर शरीर आत्मा से भिन्न नहीं है अभिन्न है अतः निःशेष ब्रह्माण्ड या निखिल प्रपञ्च भी आत्मा से भिन्न नहीं है।

(२) चन्द्रमा की (दर्शा, दृष्टा आदि) १५ कलायें प्रतिपदा से पूर्णिमा पर्यन्त समस्त तिथियों से तथा १५ नित्याओं (कामेश्वरी से चित्रा पर्यन्त समस्त नित्याओं) से अभिन्न हैं।

(३) १६हवीं कला 'सादाख्या' (षोडशी) ललिता से अभिन्न है। 'सादाख्या' महात्रिपुरसुन्दरी स्वयं है।

'नित्यायें' नित्य शक्तियाँ हैं और वे 'श्रीचक्र' में निवास करती हैं। 'तिथि चक्र' (Wheel of Time) के भीतर ही 'श्रीचक्र' है। तिथियाँ २१६०० श्वासों से भी अभिन्न हैं। ये २१६०० श्वासें मनुष्य की प्रतिदिन की श्वासें हैं। 'काल' का पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड से यही संबन्ध है। जहाँ तक 'देश' की बात है वह पुराण-साहित्य के अनुसार समस्त १४ भागों में और जम्बूद्वीप से मधुरोद (मधुर जल के समुद्र) पर्यन्त स्थित है। नित्यामण्डल इस प्रकार घूमता है कि प्रत्येक नित्या अपनी वार्षिक यात्रा में किसी विशिष्ट देश खण्ड (Space-division) के सम्पर्क में आती है। नित्यायें मेरु से आरंभ करती हैं और सोलहवें में 'परव्योमन' से आरंभ करती हैं। यही 'देश-चक्र' है। 'योगिनीहृदय' की आन्तर उपासना-पद्धति विशिष्ट तो है ही किन्तु साथ ही वह प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध है। 'महार्थमञ्जरी' 'चिद्गगनचन्द्रिका' एवं क्रम सम्प्रदाय के कतिपय ग्रंथों में इस विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला गया है।

'योगिनीहृदयदीपिकाकार' अमृतानन्द ('कामकलाविलास' के प्रणेता) पुण्यानन्द के शिष्य एवं 'षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह' एवं 'सौभाग्यसुभगोदय' के प्रणेता है। 'योगिनीहृदय' की व्याख्या अमृतानन्द एवं भास्करराय दोनों ने पृथक्-पृथक् दृष्टियों से की है अतः दोनों व्याख्यायें पृथक्-पृथक् हैं।

'योगिनी हृदय' में 'श्रीचक्र' को एक नव्य दृष्टि से परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

'नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्॥'[१]

विश्व क्या है? परमाशक्ति स्वयं ही विश्वरूपा है। जब वह अपनी स्फुरता को देखता है तभी सृष्टि-चक्र की उत्पत्ति हो जाती है—

१. योगिनीहृदय (१।३३।९)

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरतामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः॥'

षोडशी विज्ञान—इस त्रैपुर विद्या को 'श्रीविद्या' कहा जाता है।

'श्रीविद्या' एवं 'श्रीसम्प्रदाय' नामकरण का रहस्य

प्र० भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की 'विद्या' (मन्त्र) को 'श्रीविद्या' एवं इस विद्या के अनुयायी उपासकों के सम्प्रदाय को 'श्रीसम्प्रदाय' क्यों कहा जाता है? 'श्री' क्या है?

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'षोडशीकला' नाम शकार-रेफ-ईकार-बिन्द्वन्तो मन्त्रः॥ एतस्यैव बीजस्य नाम **श्रीविद्येति**। श्री बीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्।[१]

(२) 'एवं षोडशनित्यानां प्रकृतिभूताः ककारादयः। ताश्च 'षोडशनित्याः' शुक्लप्रतिपदमारभ्य पौर्णामास्यन्ततिथिरूपाः। कृष्णपक्षप्रतिपदमारभ्य अमावास्यान्तन्त तिथिरूपाः। एता एव चन्द्रकलाभिधानाः। 'चन्द्रकला' एवं प्रतिपदादि तिथय इति सुप्रसिद्धम्। यथोक्तं ज्योतिश्शास्त्रे—

'प्रतिपन्नाम विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला।
द्वितीयाद्या द्वितीयाद्याः पक्षयोश्शुक्ल कृष्णयोः॥'

(३) 'चन्द्रस्य प्रथमायाः कलायाः प्रतिपदिति नामधेयम्। सैव कलात्मिका सूर्यमण्डलान्निर्गता। कृष्णपक्षे तु सूर्यमण्डलं प्रविष्टा। एवं शुक्लपक्षे सूर्यमण्डलान्निर्गता द्वितीया कला द्वितीया तिथिः। कृष्णपक्षे तु सूर्यमण्डलं प्रविष्टा द्वितीया कला द्वितीया तिथिरिति। एवं सर्वत्र ऊहनीयम्। अतश्च पञ्चदशकलाव्यवधानं सूर्यचन्द्रयो यंत्र सा 'पौर्णमासी'। पञ्चदश्यां कलायां सूर्यचन्द्रयोरत्यन्तंसंयोगः। सा अमावस्येति ज्ञेयम्।

(४) 'अतः कौलमते चन्द्रकलात्मिकानां षोडशानां नित्यानां प्रतिदिनं एकस्या एवानुष्ठानम्। सर्वासां **'समयिमते'**। षोडश्याः कलायास्तु पञ्चदश स्वपि तिथिषु अनुष्ठानं सिद्धम्' पञ्चदशानां नित्यानां तत्रै अन्तर्भावात्॥''[२]

*** उपासना क्रम ***

१. लक्ष्मीधरा,
२. लक्ष्मीधरा (३२)

भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना का तिथि-विधान		
	(१) उपास्या या ध्येया कला के ध्यान की तिथि	(२) उपास्या (ध्येया) कला का नाम
१.	प्रतिपदा तिथि	त्रिपुरसुन्दरी कला
२.	द्वितीया तिथि	कामेश्वरी कला
३.	तृतीया तिथि	भगमालिनी कला
४.	चतुर्थी तिथि	नित्याक्लिन्ना कला
५.	पञ्चमी तिथि	भेरुण्डा कला
६.	षष्ठी तिथि	वह्निवासिनी कला
७.	सप्तमी तिथि	महाविधेश्वरी
	सप्तमी तिथि	या महावज्रेश्वरी कला
८.	अष्टमी तिथि	रौद्री रौद्रीकला
९.	नवमी तिथि	त्वरिता कला
१०.	दशमी तिथि	कुलसुन्दरी कला
११.	एकादशी तिथि	नीलपताका कला
१२.	द्वादशी तिथि	विजया कला
१३.	त्रयोदशी तिथि	सर्वमङ्गला कला
१४.	चतुर्दशी तिथि	ज्वाला कला
१५.	पञ्चदशी तिथि	मालिनी कला

चन्द्रमा की १५ कलायें भगवती की पञ्चदशी विद्या के १५ वर्णों के रूप हैं। भगवती की पंचदशी विद्या के १५ वर्णों के रूप हैं।

प्र०—समस्त तिथियों पर उपास्या कौन है?

उ०—(१) 'सर्वासु तिथिषु चिद्रूपारव्या कला षोडशी उपास्या।'

(२) "प्रतिपदि या 'त्रिपुरसुन्दरी' कथिता सा चिद्रूपात्मिका न भवति, चिद्रपात्मिकायाः मूलविद्यायाः भिन्नत्वेन अनुष्ठानात्। × **मंत्रभेदश्च** — स मन्त्रः प्रतिपद्येव अनुष्ठेयो न द्वितीयादामिति।।"[१]

१. लक्ष्मीधरा (३२)

(३) सहस्रदलकमलान्तस्सिथ चन्द्रमण्डलं **'बैन्दवस्थानम्'**। तत्कला **चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति** गीयते। सैव 'त्रिपुरसुन्दरी'।[१]

(१) श्रीचक्र रूप चन्द्र विम्ब में मात्र एक ही कला है और उसे 'परमाकला' कहते हैं— वही मिलकर १६ कलायें बन जाती हैं—

'श्रीचक्ररूप चन्द्रबिम्बे एकैव कला, सा परमाकला। मिलित्वा षोडश कलाः षोडशेन्दोः कला भानोः द्विद्विदश दशानले। सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृका चक्ररूपिणी।''

(२) एताः पञ्चशत्कलाः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाः पञ्चदशाक्षरी मन्त्रे अन्तर्भूताः।[२]

त्रिपुर सुन्दरी के दो रूप

(१) प्रतिपदा तिथि पर उपास्या एवं ध्येया चन्द्रकला (अचिद्रूपा, मूलविद्या-भिन्ना त्रिपुर सुन्दरी।)

(२)
१. समस्त तिथियों पर उपास्या
२. चिद्रूपा एवं मूलविद्याभिन्ना
३. षोडशीरूपा एवं लक्ष्मीबीज
४. बैन्दवस्थानस्थिता
५. आनन्दरूपा, आत्मारूपा
६. सहस्रदलकमलस्था
७. चन्द्रमा की १६हवीं कला 'श्री'

१६ कलायें—प्र० १५ कलायें कौन हैं? उनका वैदिक नाम क्या है?

(क) १५ कलाओं का नाम तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी आदि मासिक तिथियाँ हैं।

(ख) इनका वैदिक नाम इस प्रकार है—

*** शुक्लपक्ष की १५ कलाओं की वैदिक आख्या (नाम) ***

(१) दर्शा (२) दृष्टा (३) दर्शिता (४) विश्वरूपा (५) सुदर्शना (६) आप्यायमाना (७) आप्यायमाना (८) आप्याया (९) सूनृता (१०) इरा (११) आपूर्यमाणा (१२) आपूर्यमाणा (१३) पूरयन्ती (१४) पूर्णा (१५) पौर्णमासी

१. लक्ष्मीधरा (३२)
२. लक्ष्मीधराः (३२)

'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
'**षोडशी**' तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥'

कलाओं या तिथियों के खण्ड

- (१) 'आग्नेय खण्ड'
- (२) 'सौर खण्ड'
- (३) 'चान्द्रखण्ड'

आग्नेय खण्ड

- (१) दर्शाकला
- (२) दृष्टाकला
- (३) दर्शताकला
- (४) विश्वरूपा कला
- (५) सुदर्शनाकला

सौर खण्ड

- (१) आप्यायमाना कला
- (२) आप्यायमाना कला
- (३) आप्याया कला
- (४) सूनृता कला
- (५) इरा कला

चान्द्र खण्ड

- (१) आपूर्यमाणा कला
- (२) आपर्यूमाणा कला
- (३) पूरयन्ती कला
- (४) पूर्णा कला
- (५) पौर्णमासी कला

ये समस्त कलायें नित्यायें हैं। ये 'नित्या' नामक शक्तियाँ हैं।
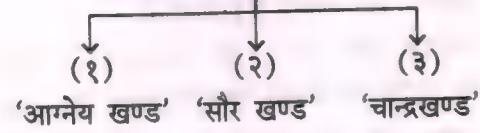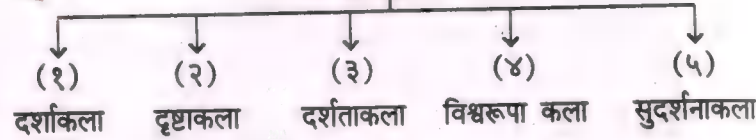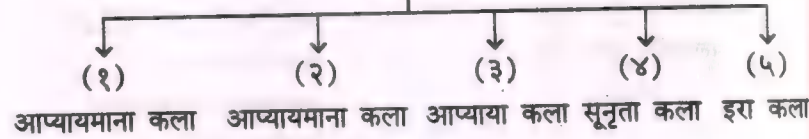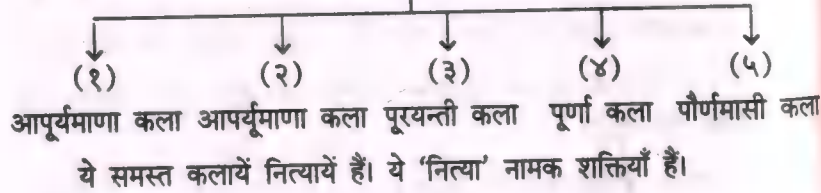
*** कलाओं का सविस्तार परिचय ***

कलाओं का 'आग्नेय खण्ड'

- (१) दर्शा कला (शिवतत्त्वात्मिका कला)
- (२) दृष्टा कला (शक्तितत्वात्मिका कला)
- (३) दर्शता कला (मायातत्त्वात्मिका कला)
- (४) विश्वरूपा कला (शुद्धविद्यातत्त्वात्मिका कला)
- (५) सुदर्शना कला (जलतत्त्वात्मिका कला)

आग्नेय खण्ड

- (१) अधिदेवता (अग्नि) (कामदेव सर्वत्र अधिदेवता हैं।)
- (२) अधिष्ठात्री (कामेश्वरी) (कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री हैं।)

*** कलाओं का सौर खण्ड ***

- (१) आप्यायमाना कला (तेजस्तत्वात्मिका)
- (२) आप्यायमाना कला (वायुतत्वात्मिका)
- (३) आप्याया कला (मनस्तत्त्वात्मिका)
- (४) इरा कला (आकाशतत्त्वात्मिका)
- (५) आपूर्यमाण कला (विद्यातत्त्वात्मिका)

*** सौर खण्ड ***

- (१) देवता (सूर्य)
- (२) कामदेव (सर्वत्र अधिदेवता हैं।)
- (३) कामेश्वरी (सर्वत्र अधिष्ठात्री देवी हैं।)

'आपूर्यमाणा कला' चन्द्रखण्डान्तर्गता होने पर भी सौरखण्ड में उसका अन्तर्भाव कर लिया गया है।

'इरा कला' एवं 'आपर्यूमाण कला' इन दोनों में ऐक्य है।

*** सौम खण्ड ***

- (१) आपूर्यमाण कला (महेश्वर तत्त्वात्मिका)
- (२) पूरयन्ती कला (परतत्त्वात्मिका)
- (३) पूर्णा कला (आत्मतत्त्वात्मिक)
- (४) पौर्णमासी कला (सदाशिवतत्त्वात्मिका)

*** सौमखण्ड ***

- (१) अधिदेवता (सोम)
- (२) सर्वत्र अधिदेव (कामदेवसर्वत्र अधिदेवता हैं।)
- (३) सर्वत्र अधिष्ठात्री (कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री देवी हैं।)
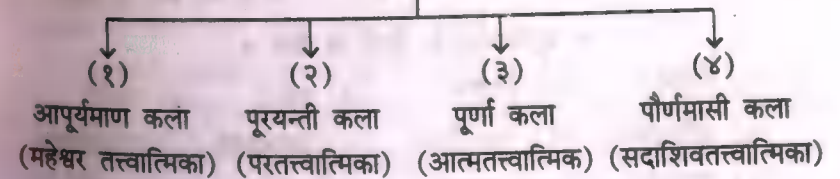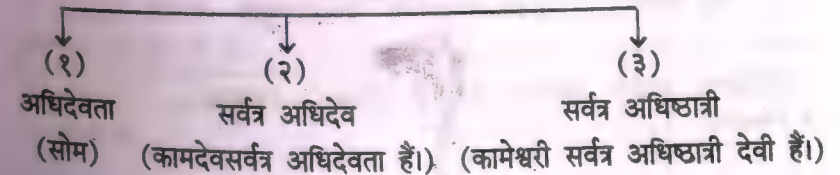
नित्य कला—'नित्या कला सादाख्यतत्वात्मिका।। षोडशार विशुद्धि चक्र में—पूर्वक्रम से सोलहों दिशाओं में ये समस्त १५ कलायें परिभ्रमण करती रहती हैं। **'सुभगोदय'** में कहा गया है कि **'आज्ञा चक्र'** के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल की १६ कलायें हैं। इसमें (**सुभगोदय** में) कहा गया है कि **'षोडशार'** में (विशुद्धि चक्र के १६ दलों पर) १६ कलायें नहीं केवल १५ कलायें ही परिभ्रमण करती हैं। **'षोडशी कला'** का अवस्थान मात्र 'सहस्रदलकमल' में ही है किन्तु वहाँ स्थित रहकर भी वह नित्या 'षोडशीकला' अपने प्रभापटल को १५ कलाओं को देकर वहाँ अप्रत्यक्षत: परिभ्रमण करती रहती हैं।[१]

कृष्णपक्ष की रात्रियों के वैदिक नाम—ये कृष्णपक्ष की रात्रियाँ 'आधार चक्र' में अवस्थित हैं। यहीं 'अमावस्या' भी तो स्थित है। समयी इन रात्रियों में नहीं प्रत्युत् शुक्लपक्ष की रात्रियों में ही (चन्द्रकला के संचार के कारण) कुण्डलिनी-प्रबोधन आदि करते हैं। कुण्डलिनी-जागरण रात्रि में ही करणीय है दिन में नहीं।

शुक्लपक्ष की रात्रियों में ही कलात्व रहता है अत:—'अतएव कुण्डलिनी प्रबोधो रात्रावेव न दिवा, दिवसानां मधुनः स्रावकत्वात् ।।''

'यान्यहनि। ते मधुवृषा:।। (तै० ब्रा० ३।१०-१०)

कृष्णपक्ष की रात्रियों के नाम

(१) सुता	(२) सुन्वती	(३) प्रसुता	(४) सूयमाना
(५) अभिषूयमाण	(६) पीती	(७) प्रपा	(८) संपा
(९) तृप्ति	(१०) तर्पयन्ती	(११) कान्ता	(१२) काम्या
(१३) कामजाता	(१४) आयुष्मती	(१५) कामदुधा	

—(तै० ब्रा० ३।१।१०-१)

'रात्रावेव चन्द्रकलारूपाया: श्री विद्याया: अनुष्ठानं न च दिवसे इति उपदेश:।।'[२]

*** शुक्लपक्ष के दिनों के नाम ***

(१) संज्ञान	(२) विज्ञान	(३) प्रज्ञान	(४) जानद्
(५) अभिजानत	(६) संकल्पमान	(७) प्रकल्पमान	(८) उपकल्पमान
(९) उपक्लृप्त	(१०) क्लप्त	(११) श्रेय	(१२) वसीय
(१३) आयत	(१४) संभूत	(१५) भूतम	

१. 'षोडश्या: कलाया: सहस्रदलकमले एव अवस्थान'—लक्ष्मीधरा
२. (लक्ष्मीधरा ३२)

*** कृष्णपक्ष के दिनों के नाम ***

(१) प्रस्तुत	(२) विष्टुत	(३) संस्तुत	(४) कल्याण
(५) विश्वरूप	(६) शुक्र	(७) अमृत	(८) तेजस्वि
(९) तेज:	(१०) समिद्ध	(११) अरुण	(१२) भानुमन
(१३) मरीचि	(१४) मद	(१५) तपस्वत[१]	

उपासना योग्य समय का विधान

(१) 'परिशेषवृत्या अमावास्यायां उपासना निषेध:। न तु सर्वस्मिन् कृष्णपक्षे। अतश्च सर्वासु रात्रिषु, अमावास्या व्यविरिक्तासु उपासना, न सर्वेषु दिवसेषु।।'' 'अमावस्या' तिथि उपासना के लिए निषिद्ध है। —लक्ष्मीधरा (३२)

(२) 'शुक्लपक्षदिवसेष्वपि न अनुष्ठानमिति ध्येयम् ।'[२]

*** श्रीविद्या और सहस्रार ***

'श्रीविद्या' की साधना (१) 'श्रीचक्र' (श्रीयन्त्र) (२) 'श्रीविद्या' (पञ्चदशाक्षरी विद्या) एवं (३) श्रीविद्या की अधिष्ठात्री देवता 'महात्रिपुरसुन्दरी' की साधना होते हुए भी (यह) मुख्यत: 'सहस्रार' ('सहस्रदल पद्म') की साधना है।

(१) 'श्रीविद्या' के मूल मन्त्र में १५ वर्ण हैं, किन्तु १५ वर्णों का भी मूल वर्ण सोलहवाँ वर्ण है और वह 'सहस्रार' के चन्द्रमा में स्थित है।

(२) 'श्रीविद्या' की अधिष्ठात्री देवी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का यथार्थ स्वरूप 'षोडशी' कहलाता है। 'षोडशी' सहस्रार के मध्यस्थित चन्द्रमा की १६हवीं कला का नाम है और यही षोडशी कला 'भगवती महात्रिपुरसुन्दरी' भी है। अत: उनका एक नाम 'षोडशी' भी है।

(३) 'पञ्चदशी मंत्र' 'षोडशी विद्या' तभी कहा जाता है जब पञ्चदशी मंत्र के साथ (गुरुमुख प्राप्त) १६हवाँ वर्ण जोड़ दिया जाता है, किन्तु यह १६हवाँ वर्ण भी सहस्रार के मध्य स्थित चान्द्र कला का स्वरूप है।

निष्कर्ष—श्रीविद्या-साधना के तीन मुख्य घटक हैं—

[१] 'श्रीविद्या' (पञ्चदशाक्षरी मंत्र)—यह सहस्रार (सहस्रदलपद्म) से सम्बद्ध है।

[२] 'षोडशी'' (महात्रिपुरसुन्दरी = श्रीविद्या की उपास्या देवता)—ये सहस्रार की चान्द्रकला हैं।

[३] 'श्रीयंत्र'—'सहस्रार' ही यथार्थ 'श्रीचक्र' है अत: 'श्री यंत्र' का भी सम्बन्ध 'सहस्रार से है।

१. (तै० ब्रा० ३।१०-१०)
२. लक्ष्मीधरा

(१) 'बैन्दवस्थानं श्रीचक्रस्य मध्यस्थितं'
(२) 'समयिनां मते श्रीचक्रमेव चन्द्रमण्डलम् ।। (१०)
(३) इन्दुमण्डलात्मकं श्री चक्रं (११)
(४) शिरस्थितसहस्रदलकमलान्तर्गतश्रीचक्रात्मक शशिबिम्ब ।

'श्रीविद्या' के १५ अक्षर चन्द्रमा की १५ कलायें हैं और १६हवाँ अक्षर चन्द्रमा की 'षोडशी कला' है अतः देवी के —(पञ्चदशाक्षरी एवं षोडशाक्षरी)—
(१) 'पञ्चदशाक्षरी' (पञ्चदशी) एवं
(२) 'श्रीविद्या' षोडशीविद्या। षोडशी-विज्ञान

१६ अक्षरों से निर्मित त्रिपुरा मंत्र—दोनों मंत्रों का सम्बन्ध 'सहस्रार' के चन्द्रमा की कलाओं से है।

श्री विद्या के प्रत्येक वर्ण चन्द्रमा की प्रत्येक कला के साथ एवं उसकी प्रत्येक तिथि के साथ सम्बद्ध हैं। इतना ही नहीं चन्द्रमा की तिथियाँ नित्यायें हैं और पञ्चदशी के प्रत्येक अक्षर भी नित्यारूप है। ये नित्यायें भी सहस्रार के चन्द्रमा में स्थित हैं।

लक्ष्मीधर कहते हैं—'विद्यायाः प्रतिपदादिषोडशदिनेषु कलावृद्धिक्षययोः वक्ष्यमाणत्वात् । चन्द्रमण्डलमेतदेव।।'

'चन्द्रमण्डलं श्रीचक्रमेवेति ।'

श्री विद्या के ककारादिक वर्ण षोडश नित्याओं के जनक हैं। प्रतिपदा आदि तिथियाँ चन्द्रकलायें हैं जो कि 'पूर्णिमा' या 'अमवास्या' पर्यन्त समस्त तिथियाँ हैं और ये तिथियाँ नित्यारूपा भी हैं। ये सभी अर्थात् पञ्चदशी के वर्ण, तिथियाँ, चन्द्रकलायें एवं नित्यायें सभी 'श्रीविद्या' एवं सहस्रारस्थ चन्द्रमा से सम्बद्ध हैं। 'षोडशीकला' शकार + रेफ़ + ईकार एवं 'बिन्दु' से युक्त हैं।

'षोडशीकला नाम शकार—रेक—ईकार—बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम श्रीविद्येति। श्री बीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम् । एवं षोडशनित्यानां प्रकृतिभूताः ककारादयः। ताश्च षोडश नित्याः शुक्लप्रतिपदमारभ्य पौर्णमास्यन्ततिथि रूपाः कृष्णपक्ष प्रतिपदमारभ्य अमावस्यान्ततिथि रूपाः। एतएव चन्द्रकलाभिधानाः।।'[1]

(क) त्रिपुरसुन्दरी के मंत्र में १६ वर्ण हैं।
(ख) सहस्रारस्थ चन्द्र की १६ कलायें हैं।
(ग) पञ्चदशी का एक वर्ण (श्रीं) षोडशकलात्मक है।[2]

[४] भगवती का निवास भी सहस्रार में ही है।

आचार्य शंकर कहते हैं—

'सहस्रारेपद्मेसह रहसि पत्या विहरसे ।।' (९)

यह 'सहस्रार' भगवती का 'सुधासिन्धु' भी है।

१. लक्ष्मीधरा (३२)
२. एको वर्णाः षोडशकलात्मकः (लक्ष्मीधराः ३२)

भगवती 'सुधासिन्धु' में रहती हैं—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते ।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे ।।' (८)
'महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा,
महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादहरीम्' ।।२१।।

—कह कर आचार्य भगवती को षटचक्रों की 'महाटवी' की निवासिनी भी कहते हैं किन्तु ये षट्चक्र श्री चक्र के अङ्ग हैं और श्री चक्र को सहस्रार से अभिन्न माना गया है अतः सभी दृष्टियों से श्रीविद्या में 'सहस्रार' का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित किया गया है।

सन्दनसंहिताकार का मत—'सनन्दनसंहिता' में कहा गया है कि १६ नित्यायें 'चक्रविद्या' (श्रीयंत्र-सम्बंधिनी विद्या) एवं चान्द्रकलाओं की अङ्ग हैं—

(१) 'षोडशनित्याः स्वरात्मिकाः पञ्चदशाक्षरीमन्त्रगत एकारादिभूत अकार विसर्गात्मक सकाराभ्यां संगृहीताः जीवकलारूपाः बैन्दवस्थाने स्थापितः तत्रैव अन्तर्भूताः।'
(२) 'षोडशनित्याः चन्द्रकलायाः चक्रविद्याया अङ्गभूताः।'
(३) 'षोडश नित्यानां श्री चक्रे अङ्गतया अन्तर्भावः।'

सनत्कुमारसंहिताकार का मत—'चक्रविद्यायां षोडशनित्यानां अङ्गत्वं प्रतिपादितम्।' सनत्कुमार कहते हैं—श्रीचक्रस्याङ्गभूताः नित्याः वशिन्यादिभिः द्विकंद्विकं मेलयित्वा बैन्दवं त्रिकोणं विहाय अष्टसु कोणेष्वन्तर्भाव्याः।।'' मध्ये त्रिपुरसुन्दरी अन्तर्भाव्या। अष्टवर्गासु अष्ट वशिन्यादयः, षोडशनित्याः। द्वादश योगिन्यः— एवं चत्वारिंशत्।'[1]

भगवती 'बैन्दवस्थान' (सहस्रार) की कला हैं। वे ही 'चिन्मयी कला' आनन्दरूपा आत्मा एवं त्रिपुरसुन्दरी हैं। 'सहस्रदलकमलान्तस्थित चन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम् तत्कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते। सैव सुन्दरी।' (३२)

'सर्वासु तिथिषु चूपाख्या कला षोडशी उपास्या। प्रतिपदि या त्रिपुरसुन्दरी कथिता सा चिद्रूपात्मिका न भवति।'[2]

[५] भगवती की उपासना का स्थान भी 'सहस्रार' है।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर सामयिकों की पूजा का स्थान 'सहस्रार' बताते हुए कहते हैं—(१) 'समयिनां मते समयस्य सादार व्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव न तु बाह्ये पीठादौ।'[3]

(२) 'समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं आन्तरपूजा कर्तव्या। सहस्रकमले तु तिरकारिणी प्रसारणा पर्यन्तं दर्शनमेव समाराधनम् ।'[4]

१. (लक्ष्मीधरा)
२. (लक्ष्मीधरा ३२)
३. (लक्ष्मीधरा : २७)
४. (लक्ष्मीधरा : ४१)

(१) चन्द्रमा की षोडशी कला ही 'महात्रिपुरसुन्दरी' है।
(२) चन्द्रमा की १६ कलायें ही 'श्रीविद्या के १६ वर्ण हैं।
(३) चन्द्रमागत सुधासिन्धु ही त्रिपुरसुन्दरी का परम धाम या निवासस्थान है।
(४) सहस्रार की पूजा ही सामयिकों की यथार्थ पूजा है।

SAHASRARA CHAKRA

*** सहस्रार चक्र ***

'शिरः पद्मे शुक्ले दशशतदले केसरगते।
पतत्रीणां तल्पे परमशिवरूपं निजगुरुम्।'[१]
'शिरः पद्मेमहादेवस्तथैव परमो गुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये।
तदंशं चिन्तयेद देवि बाह्ये गुरु चतुष्टयम्।
तत्कर्णिकायां देवेशि अन्तरात्मा ततो गुरुः।
सूर्यस्य मण्डलं तत्र चन्द्रमण्डलमेव च।।'[२]
'इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नर वरो।
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने।।
समग्रा शक्तिः स्यान्नियममनसस्तस्य कृतिनः।
सदा कर्तुं हर्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला।।'[३]

१. अन्नदाकल्प।
२. निर्वाण तंत्र/कंकालमालिनीतंत्र
३. षट्चक्र निरूपणम् (४५)

सहस्रार का स्वरूप

'श्रीविद्या' एवं उसकी उपासना में 'सहस्रार' का इतना महत्व होने के कारण 'सहस्रार' के पूर्णस्वरूप को भी जान लेना आवश्यक है।

'सहस्रार' १००० दलों का कमल है। इसे 'सहस्रार' (१००० अरों वाला) भी कहते हैं। यह सप्तम चक्र है और परमशिव का निवासस्थान है। यही कुल-अकुल के सामरस्य का स्थान है।

[१] आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद ने सहस्रार के 'महाबिन्दु' से ही मूलतः दो चक्र (१) 'मूलाधार' एवं (२) 'स्वाधिष्ठान' और उनके माध्यम से शेष चार चक्रों का आविर्भाव बताया है। वे कहते हैं कि 'सहस्रार' ही **'बिन्दु'** बन जाता है और उसी से (१) समस्त जगत एवं (२) मूलाधार-स्वाधिष्ठान का आविर्भाव होता है—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च तो बैन्दवगृहं
तदेततस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तछशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत्।।'[१]

बिन्दु १० भेदों में विभक्त हो जाता है—

'दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।।'

[२] शिवसंहिताकार की दृष्टि—(१) ब्रह्मरंध्र में जो चक्र है वह सहस्रार कहलाता है। इसके कन्द में जो योनि है उसमें चन्द्रमा है। उस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रामृत सदैव स्रवित होता रहता है। वह चन्द्रामृत इड़ा नाड़ी द्वारा धारा रूप में प्रवाहित होता रहता है। इस अमृतवहा नाड़ी को 'गंगा' कहते हैं। **'इड़ा नाड़ी'** आज्ञा पद्म के के दक्षिण भाग से वाम नासापुट में प्रवाहित होती है। इड़ा-पिंगला के मध्य का स्थान 'वाराणसी' कहलाता है। 'आज्ञापद्म' के वामभाग से दक्षिण नासापुट द्वारा पिंगला नाड़ी प्रवाहित होती है। यह 'असी' कहलाती है।

(२) मूलाधार चक्र की योनि (कन्द) में जो सूर्य रहता है वह विषस्राव करता रहता है और वही विष पिंगला नाड़ी द्वारा प्रवाहित होता रहता है। यह नाड़ी दक्षिण नासापुट में प्रवाहित होती है।

'ब्रह्मरंध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तास्यां चन्द्रो व्यवस्थितः।।'

१. सुभगोदय स्तुति (४७)

अतः ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥

'आज्ञाकमल' से ऊपर तालुमूल में 'सहस्रदल कमल' शोभित है। वहीं सुषुम्णा का स्थान है।

तालुस्थान में पहले चक्र के कन्द में पश्चिम की मुख किए हुए योनि स्थित है। उसके मध्य में सुषुम्णा का मूल है। यही विवर 'ब्रह्मरंध्र' है। सुषुम्णा के उस रन्ध्र में चिच्छक्ति कुण्डलिनी स्थित है। सहस्रार की योनि के नीचे चन्द्रमा है। कपाल-विवर में क्षीरसागर का ध्यान करना चाहिए—

'शिरः कपाल विवरेध्यायेद् दुग्धमहोदधिम्'
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्र विचिन्तयेत्॥

उसी स्थान में **'सहस्रारपद्म'** में स्थित चन्द्रमा का ध्यान करना चाहिए। कपाल-विवर में सोलह कला से युक्त चन्द्रमा है।

तालु के ऊर्ध्व भाग में दिव्य रूप **'सहस्रार पद्म'** है। यह ब्रह्माण्ड रूपी देह के बाहर स्थित एवं मुक्तिप्रद है। यही कमल **'कैलास'** है। यहाँ **'अकुल महेश'** निवास करते हैं।

[३] **षट्चक्रनिरूपणकार की दृष्टि**—महानाद के ऊपर **'शंखिनी'** नामक नाड़ी है। उसके शिखर देश में **'विसर्ग'** नामक शक्ति के नीचे पूर्णचन्द्रवत शुभ्रसहस्रदलकमल है जो कि निम्नाभिमुख है। उस **'सहस्रदल कमल'** की कर्णिका के मध्य परमामृतसमूह से स्निग्धदीप्ति वाला, रश्मियों को स्फुरित करता हुआ पूर्ण चन्द्रमण्डल है। उसके मध्य में 'त्रिकोण' है। उसके मध्य में बिन्दुरूप शून्य है। वह बिन्दुरूप शून्य जो परमाह्लादयुक्त है, 'निर्वाण कला' के साथ विद्यमान चन्द्र की सोलहवीं कला के द्वारा निर्मल प्रकाश फैलाता है। इसी स्थान में **'परमशिव'** के रूप में प्रसिद्ध देव है जो कि शून्याकार, सर्वात्मा एवं अज्ञाननाशक है।

निरन्तर अमृतधारा का वर्षण करता हुआ परमशिव **'परमहंस'** कहलाता है। इसी **'सहस्रार पद्म'** में 'अमा' नामक सोलहवीं कला विद्यमान है—

'अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदर कला चन्द्रस्य या 'षोडशी'।

'अमा कला' या षोडशी—(१) यह निष्कलङ्क, प्रातः कालीन सूर्य की कला के समान रक्तवर्ण वाली है। यह कमल के सूक्ष्म तन्तु के सौवें भाग के समान सूक्ष्म है।

करोड़ों विद्युत के समान कोमल शरीर वाली यह 'अमाकला' निम्नाभिमुखी एवं अत्यन्त चमकीली है—

'अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य या षोडशी
शुद्धा नीरज सूक्ष्मतन्तु शतधाभागैरूपा परा।
विद्युत्कोटि समान कोमल तनूर्विद्योतिताऽधोमुखी
नित्यानन्द परम्पराऽतिविगलत् पीयूष-धाराधरा॥४६॥

निर्वाण कला—श्रेष्ठतमा **'निर्वाण'** नामक कला 'अमाकला' के अन्तर्गत है जो कि केशाग्र के हजारहवें भाग के समान सूक्ष्म है। वह समस्त प्राणियों के हृदय में चैतन्य स्वरूप से रहने वाली है और नित्यज्ञान प्रदा, समस्त सूर्यों के समान एवं अर्धचन्द्राकारा है। (१)

परमबिन्दु—'निर्वाणकला' के मध्य देश में अपूर्व **'निर्वाण शक्ति'** स्थित है। यह कोटिसूर्यप्रभा है। यह त्रिभुवनजननी, केशाग्रभाग के करोड़हवें भाग के समान है और निरन्तर अमृतप्रवाहिनी है। यह समस्त प्राणियों का प्राण है। यह तत्त्वज्ञान प्रकाशिनी है। (२)

उस 'निर्वाणशक्ति' के मध्य स्थित शून्य में 'नित्यानन्द' नामक शिवपद है। यह निर्मल, नित्य, योगिगम्य, सर्वसुखस्वरूप, ब्रह्मपद या विष्णुपद या हंसपद या आत्मसाक्षात्कार का स्थान है। (३)

पिण्ड और श्रीयन्त्र में अभेद है—सामयिकों ने षट्चक्रों एवं श्रीचक्र की ९ योनियों में ऐक्य माना और पिण्ड-ब्रह्माण्ड में एकता देखी।

शरीर में जो षट्चक्र हैं वे भी चक्र के ही भाग हैं—

श्रीयंत्र : ९ चक्र		**पिण्डस्थ षट्चक्र**
(१) 'त्रिकोण'	=	'आधार चक्र'
(२) 'अष्टकोण'	=	'स्वाधिष्ठान चक्र'
(३) 'दशार'	=	'मणिपूरक चक्र'
(४) 'द्वितीय दशार'	=	'अनाहत चक्र'
(५) 'चतुर्दशार'	=	'विशुद्धि चक्र'
(६) 'शिवचक्र चतुष्टय	=	'आज्ञा चक्र'
(७) 'बिन्दुस्थान चतुरश्र'	=	'सहस्रदल कमल'

आचार्य लक्ष्मीधर 'श्रीचक्र' के भीतर भी ऐक्य प्रतिपादित करते हैं यथा—

(१) 'बिन्दुत्रिकोणयोरैक्यं'

(२) 'अष्टकोणाष्टदलाम्बुजयोः'

(३) 'दशारयुग्मषोडशदलाम्बुजयोः'

(४) 'चतुर्दशारभूपुरयोरैक्यम्'

(५) 'शिवशक्त्योः ऐक्यम्'

श्रीविद्योपासना में आन्तर पूजा एवं अद्वैतवाद—आचार्य लक्ष्मीधर ने इस बात पर बार-बार जोर दिया है कि समयमार्गी बाह्यपूजा में निष्ठा न रखकर केवल आन्तर पूजा में निष्ठा रखते हैं और इसीलिए **लक्ष्मीधर** कहते हैं—

'समयिनां सहस्रकमल पर्यन्तं आन्तरपूजा कर्तव्या। सहस्रकमले तु तिरस्करिणी-प्रसारणपर्यन्तं दर्शनमेव समाराधनम्।'[१]

'समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्वस्य सर्पया सहस्रदलकल एव, न तु बाह्ये पीठादौ।।'[२]

(१) **'अहं' में अद्वैत**—प्रत्येक व्यक्ति की पहचान एवं उसकी स्वतंत्र सत्ता का सूचक शब्द है 'मैं' (अहं)। प्रत्येक व्यक्ति 'अहं' शब्द द्वारा, (संसार के प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक पदार्थ एवं प्रत्येक सत्ता से पृथक) अपनी अकेली, सर्व-पृथक एवं स्वतंत्र सत्ता के रूप में प्रत्यभिज्ञा करता है। 'पर' से पृथक अपनी स्वतंत्र सत्ता का बोध ही 'स्व' या 'अहं' का बोध है। 'श्रीविद्या' इस 'मैं' (अहं) को भी अपूर्ण मानती है और यह सिद्धान्त प्रतिपादित करती है कि आदर्श एवं तात्विक 'अहं' तो 'अ' एवं 'ह' (शिव एवं शक्ति) की अद्वैतस्थिति है—

'अहकारौशिवशक्ती शून्याकारौ परस्परा श्लिष्टौ।' (४१)

यह 'अहं' शिव-शिक्त का सामरस्यात्मक स्वरूप वाला ब्रह्म है—

'स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म।।' (६९)

(२) **'बिन्दु' शिवशक्ति का अद्वैत भाव है**[२]—सिसृक्षु ब्रह्म 'शक्ति' को देखता हुआ 'बिन्दु' का रूप धारण करता है और उस बिन्दु में रक्त बिन्दु (शक्ति) प्रवेश करता है। यही द्वयात्मक अद्वय वाला बिन्दु सृष्टि का आदि कारण बनता है—

'विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्धां शक्तिं विलोकद् ब्रह्म।
बिन्दूभवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्त बिन्दुतया।'

---

१. लक्ष्मीधरा

२. वरिवस्यारहस्यम् (२१।७०)

(३) **'विद्या' का शब्द एवं अर्थ के साथ अद्वैतभाव है।** इसी अद्वैतभाव के कारण जगत अहन्ताभय है।

'वागार्थसृष्टिबीजं तेनाहंतामयं विश्वम्।।'

(४) **देवी, मन्त्र एवं जगत में अद्वैत है**[१]—

'तेनाम्बामनु जगतामभेद एवात्र भावार्थः।'[२]

(५) **श्रीविद्या का पञ्चभूतों एवं पञ्चतन्मात्राओं के साथ अद्वैत है**—'श्रीविद्या' पञ्चभूतों एवं पञ्चतन्मात्राओं के साथ अभेदात्क सम्बंध रखने के कारण अद्वैतभावापन्न है। इस दृष्टि को ही 'श्रीविद्या' का **'संप्रदायार्थ'** भी कहते हैं—

'व्योमादि जनक ह क र लार्णोर्घटनेन पञ्चभूतमयी।
पञ्चचतुस्त्रिद्वयेकगशब्दादि गुणात्मपञ्चदश वर्णा।।'[३]

(६) **ककार एवं उपासकत्रय में अभेद है**—

'ककारत्रयवाच्यास्तु सकला प्रलयाकलाः।
विज्ञानकेवलाश्चेति त्रिप्रकारा उपासकाः।।' (७७)

(७) **श्री विद्या के १० 'अकार' एवं 'ए' का का जीव के साथ अभेद**—

'अकारैर्दशसंख्या कैरुच्यन्ते जीवराशयः।
विद्यायाः प्राणाभूतः संस्तद्वाच्येका दशः स्वरः।।'[४]

(८) **श्रीविद्यागत बिन्दुत्रय रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव से अभेद**—

'बिन्दुभिस्त्रिभिरुच्यन्ते रुद्रेश्वर सदाशिवाः।'[५]

(९) **श्रीविद्या गत नादय** (अर्धचन्द्र) का शान्ति-शक्ति-शंभु के साथ अभेद या **अद्वैतभाव (तादात्मय)**—

'शान्तिः शक्तिच शंभुश्च नादत्रितयबोधनाः।।'[६]

(१०) **'महाविद्या' का छत्तीस तत्त्वों के साथ अभेद**—

'एवं सप्तत्रिंशत्संख्याकपदैर्महाविद्या।
षट्त्रिंशतत्त्वानां तत्त्वातीतस्य चाभिधात्रीयम्।।'[७]

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (२।७३)

२. वरिवस्यारहस्यम् (७३)

३. वरिवस्याहरस्यम् (७४)

४. वरिवस्यारहस्यम्-(७८)

५. तत्रैव (७९)

६. तत्रैव (७९)

७. तत्रैव (८०)

(११) **विद्या एवं जगत में अभेद है**—यथा जनक एवं जात (जन्य), कारण एवं कार्य में अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत तथा जगत एवं विद्या में भी कोई भेद नहीं है। इसे ही **'संप्रदायार्थ'** भी कहते हैं।[1]

'जन्यजनकयोर्भेदाभावाद् वाच्यस्य वाचकेनापि।
ब्रह्मणि जगतो जगति च विद्याभेदस्तु **संप्रदायार्थः** ॥' (८१)

(१२) परमशिव एवं अन्य पदार्थों में, परशिव एवं दीक्षा गुरु तथा परमशिव एवं अपने में भी अभेद है।

यह अभेद दर्शन ही श्रीविद्या का **'निगर्मार्थ'** कहलाता है—

'परमशिवे निष्कलता तदभिन्नत्वं स्वदेशिकेन्द्रस्य।
तत्करुणातः स्वस्मिन्नपि तदभेदो निगर्मार्थः ॥' (८२)

(१३) देवी और गणेश में अभेद है। —वरि० (८३)

(१४) देवी और ग्रह में अभेद है। —वरि० (८४)

(१५) देवी और नक्षत्र में अभेद है। —वरि० (८५)

(१६) देवी और योगिनियों में अभेद है। —वरि० (८६)

(१७) देवी और राशि में अभेद है। —वरि० (८७)

(१८) 'श्रीविद्या' और गणेश में अभेद है। —वरि० (८८)

(१९) 'श्रीविद्या' और ग्रहों में अभेद है। —वरि० (८९)

(२०) 'श्रीविद्या' और नक्षत्रों में भी अभेद है। —वरि० (९३)

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शात्तैः षद्विरक्षाक्षरैः।
योगिनीत्वं च विद्याया **राशित्वं** चान्त्यवर्जितैः ॥'

(२१) 'श्रीविद्या' और योगिनी और राशिरूपिणी है।—वरि० (९४) (९०)

(२२) 'श्रीविद्या' और देवी में अभेद है। —वरि० (९१)

(२३) 'श्रीविद्या' और गणेश, ग्रह, नक्षत्र योगिनी एवं राशि के साथ अभेद है। —वरि० (९१)

(२४) 'श्रीचक्र' और नक्षत्र में भी अभेद है। —वरि० (९३)

(२५) 'श्रीचक्र' और 'योगिनी' में अभेद है। —वरि० (९४)

(२६) 'श्रीचक्र' और 'राशि' में अभेद है। —वरि० (९५)

---

१. वरिवस्यारहस्यम् (८१)

(२७) 'श्रीचक्र' और 'विद्या' में अभेद है। —वरि० (९६)

(२८) मातृका के वर्ण (श्रीविद्या) और पीठ में अभेद हैं। —वरि० (९७)

(२९) ककारत्रय एवं ईकार तथा बिन्दु में अभेद है। —वरि० (९९)

(३०) हल्लेखाओं एवं सर्वसिद्धि तथा सर्वरोगहरचक्र में अभेद है।[1]

(३१) दो हकार एवं एका तथा सर्वरक्षाकर, सर्वार्थसाधक एवं सर्वसौभाग्यदायक चक्र में अभेद है।[2]

(३२) दो सकार एवं सर्वसंक्षोभण-सर्वाशापरिपूरक में अभेद है।

(३३) लकार एवं चतुरस्र (त्रैलोक्यमोहन) में अभेद है।

(३४) **'गुरु' और देवता-विद्या-चक्र में अभेद है**—

'एतत्त्रितयाभिन्नः स्वगुरुस्तदभेदभावनादाढर्यात्।'

(३५) **'शिष्य' और देवता-विद्या-चक्र में अभेद है**[3]—

'देव्या देहो यथा प्रोक्तो गुरुदेहस्तथैव च।
तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः सन् प्रकाशते ॥'

(३६) **देवी, श्रीविद्या, श्रीचक्र, स्तगुरु एवं शिष्य में अभेद है**—

'इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति।
पञ्चानामपिभेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोयम् ॥'[4]

इसे ही श्रीविद्या का 'कौलिकार्थ' भी कहा जाता है।

(३७) **कुण्डलिनी और विद्या तथा देवी में अभेद है।** इस अभेद-दर्शन को ही 'रहस्यार्थ' भी कहते हैं—

'साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥' (१०७)

(३८) **अपने एवं ब्रह्म में भी अभेद है।** इस अभेद-दर्शन को श्रीविद्या का 'महातत्त्वार्थ' कहा गया है—

'ब्रह्मणि परे नियोज्य स्वात्मातदभेद संप्राप्त्यै।
एष महातत्वार्थः श्रीविद्यायाः शिवेनोक्तः ॥' (१०८)

(३९) **श्रीविद्या और उसके घटक अक्षरों में अभेद है।** इस अभेद-दर्शन को ही 'नामार्थ' एवं 'शब्दरूपार्थ' कहते हैं।

---

१. वरि० (९९)
२. वरि० (९९)
३. वरि० (१०१)
४. वरि० (१०२)

(४०) देवी के ३०० नाम एवं 'श्रीविद्या' के अक्षरों में अभेद है।

(४१) भगवती के नाम के एकदेशांश एवं सामग्र नाम में भी अभेद है। समस्त नाम का अर्थ नाम के एक-एक अंश का अर्थ है।

(४२) 'श्रीमंत्र' के 'वाक्कूट', 'कामराजकूट' एवं 'शक्तिकूट' का भगवती के (क) किरीट से कण्ठ (ख) कण्ठ से कटि एवं (ग) कटि से पादाग्र तक शरीर के तीन भागों में एकता है।

कूटत्रय' एवं देवी के शरीर में अभेद है—

'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूप मुखपङ्कजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्त मध्य कूट स्वरूपिणी।
शक्तिकूटैकतापन्नः कट्यधोभागधारिणी।
मूलमन्त्रात्मिका मूल कूटत्रयकलेवरा॥'

(४३) प्रथम कूट के ६ वर्ग एवं ब्रह्माभारती, विष्णु-लक्ष्मी एवं रुद्र-पार्वती में अभेद है।

(४४) **'श्रीविद्या'** के ईकार एवं ६ देवताओं में अभेद है। 'प्रथम कूट' के (क् +अ, ए, ई, ल् + अ = ६ वर्ण = १ ब्रह्मा-भारती, २ विष्णु-लक्ष्मी (३) रुद्र-पार्वती = तीन त्रिक॥ ६ वर्ण + ३ देवदम्पति त्रिक में भी अभेद है।

(४५) प्रत्येक अक्षर एवं शक्ति में अभेद है।

(४६) अक्षरों एवं नाम इच्छादि शक्तियों में भी अभेद है। यह अभेद दर्शन ही **'शाक्तार्थ'** है—

'वामेच्छादिक शक्तिमयत्वोक्तेरेष शाक्तार्थः॥'[१]

१. ३ ककार + २ हकार = 'शैवभाग'
२. शेष अक्षर शक्ति अक्षर हैं।
३. 'ह्रीं' उभयात्मक है।

'कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शेषाणि शक्त्यक्षराणि ह्रींकार उभयात्मकः॥'[२]

(४७) 'ह्रीं' में शिव-शक्ति अभेद है—सामरस्य है —वरि० (११९)

(४८) 'श्रीविद्या' के कूटत्रय के साथ मूलार्थ का अभेद है। —वरि० (१२०)

यह विद्या का 'सामरस्यार्थ' है।

'शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों हीं'—यही श्री विद्या 'सामरस्यार्थ' है।

---

१. वरिवस्याहरस्यम् (१०७)
२. वरिवस्याहरस्यम् (११८)

'ब्रह्मैव शिवः शक्तिश्चेति प्रत्येककूटार्थः।
शिवशक्तिसामरस्याद्विद्याया एष सामस्यार्थः॥'—वरि० (१२०)

कूटत्रय का अर्थ

(१) **'वाग्भवकूट'** (सूक्ष्म बुद्धि की विस्तृत व्याप्ति) (ऋग्वेदात्मक) 'क ए ई ल ह्रीं' 'विधिहरिगिरि शैरीऽयं ब्रह्मेति **प्रथमकूटार्थः**॥ (२।१३६)

(२) **कामराजकूट** (शौर्य, धन, स्त्री एवं कीर्ति का आधिक्य) (यजुर्वेदात्मक) 'ह स क ह ल ह्रीं' 'ह स क' = हँसता हुआ मुख। 'हस' = आनन्द, 'क' = सूर्य, 'ह' = चन्द्रमा। **द्वितीय कूट का अर्थ** **'ब्रह्म अति असीम आनन्द स्वरूप एवं चिद्रूप है।'** 'तेनात्यमितानन्दं चिद्ब्रह्मेति **द्वितीय कूटार्थः**।' (१।१३८)

(३) **शक्तिकूट** क्रिया विफरिणाम। 'ह' = समस्त जगत की संहत्री (सामवेदात्मक) 'स क ल ह्रीं'। **तृतीय कूट का अर्थ** 'समस्त कलाओं से युक्त ब्रह्म स क ल है।' यही विद्या का **'सगुणार्थ'** है। 'यह सब ब्रह्म है।' **(स क ल का अर्थ)** 'जीव एवं ब्रह्म में ऐक्य है।' यह 'महावाक्यार्थ' है। सकल कलाभिः सहितं सकलं ब्रह्म तु **तृतीय-कूटार्थः**।' (२।१४०)

तृतीय कूट का अर्थ—ब्रह्म-जीव में तादाम्य। 'स क ल' = जीव का वाचक है। जीव की भी ३ अवस्थायें हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। शक्ति बीज 'ह्रीं' है। 'ह्रीं, ब्रह्म का वाचक है।

श्रीविद्या और उसकी उपासना—एक विहंगमावलोकन

'श्रीविद्या' वेदों की ब्रह्मविद्या है। श्रीविद्योपासना के मुख्य आकर ग्रथों में (१) परशुरामकल्पसूत्र, (२) प्रपञ्चसार तंत्र, (३) सौन्दर्यलहरी, (४) श्रीविद्यारत्नसूत्र, (५) सुभगोदय स्तुति, (६) योगिनीहृदय (नित्याहृदय, सुन्दरीहृदय), (७) तन्त्रराजतन्त्र (८) ललितास्तवरत्न (दुर्वासा), (९) त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र (दुर्वासा) आदि ग्रंथ हैं। **'श्रीविद्या'** की दृष्टि से इन ग्रंथों की प्रधान भूमिका है। 'भावनोपनिषद' 'त्रिपुरोपनिषद्',

'त्रिपुरतापिन्युपनिषद' 'बह्वृचोपनिषद' 'देव्युपनिषद' आदि उपनिषद भी भगवती त्रिपुरा एवं **'श्रीविद्या'** पर पुष्कल प्रभाव डालते हैं। 'वामकेश्वरतंत्र' **'श्रीविद्या'** का प्रधान ग्रंथ है किन्तु यह **'कौलमार्ग'** से सम्बद्ध है। 'वामकेश्वरतन्त्र' के दो भाग हैं।

वामकेश्वर तन्त्र

(१)	(२)
योगिनी हृदय	वामकेश्वरी तन्त्र
(तीन पटल)	(पाँच पटल)
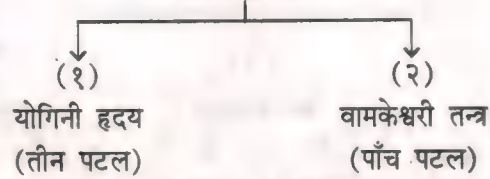
'श्रीविद्या' से सम्बद्ध शाक्तदर्शन की 'कौलशाखा' का प्रवर्तक (कौलमार्ग-प्रवर्तक) मत्स्येन्द्रनाथ को माना जाता है किन्तु कौलमार्गी इसे शिव-प्रवर्तित मानते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'तन्त्रालोक' में मत्स्येन्द्रनाथ को 'सकलकुलशास्त्रावतार-मच्छन्दविभु' कहा है।[१] इस 'कौलसम्प्रदाय' में नाथनामान्त अनेक आचार्य हुए हैं। यह भी कहा गया है कि 'कौलसम्प्रदाय' से ही 'सौभाग्यविद्या सम्प्रदाय' प्रवर्तित हुआ।

'श्रीविद्या-साधना' 'षोढ़ा-साधना' एवं 'त्रैपुर-साधना' आदि सभी साधनाओं में भगवती त्रिपुरसुन्दरी एवं चिन्मय, चिद्रूप शिव के साथ 'सामरस्य की साधना' ही मुख्यतः अभिप्रेत है। साधक अपनी प्राणाहुति को हव्य बनाकर त्रैपुर-साधना की प्राणाग्नि को पुष्ट से पुष्टतर करता है। 'परशुराम कल्पसूत्र' (श्री क्रमः २९) के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए **वृत्तिकार रामेश्वर** कहते हैं कि जब साधक साधना की चरम भूमि में महात्रिपुरसुन्दरी एवं परमशिव के निमीलनोन्मीलन में अपनी प्राणाहुति समर्पित करता है तो अमृतत्त्व के निकट पहुँच जाता है। परशुराम अमृतत्त्व की इस आकांक्षा को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहेति।''[२]

भगवती की पूजा—भगवती की **'पूजा'** ज्ञान एवं योग दोनों से होती है। भगवती त्रिपुर सुन्दरी की उपासना भक्ति-मार्ग से भी होती है। इसमें भगवती को जननी माना जाता है—

'सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननी मज्जगदिदम्।'

[१] भावनोपनिषदकार की दृष्टि—'भावनोपनिषदकार' में भगवती की पूजा के यथार्थ स्वरूप का (आन्तर याग का) अत्युत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार है—

१. तन्त्रालोक (प्र०अ० ७)
२. श्रीक्रम २९

(१) 'उपचार' = 'अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः।'
(२) 'आवाहन' = 'बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्तित्वत्यावहनम्।'
(३) 'आसन' = 'तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषय ग्रहणामासनम्।'
(४) 'पाद्य' = 'रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्।'
(५) 'अर्घ्य' = 'उज्ज्वलदामोदानन्दासनं दानमर्घ्यम्।'
(६) 'आचमनीय' = 'स्वच्छं स्वतः सिद्धमित्याचमनीयम्।'
(७) 'स्नान' = 'चिच्चन्द्रमयीसर्वाङ्गस्रवणं स्नानम्।'
(८) 'वस्त्र' = 'चिदग्निस्वरूपपरमानन्द शक्तिस्फुरणं वस्त्रम्।'
(९) 'ब्रह्मसूत्र' = 'प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञानक्रियाऽऽत्मकब्रह्मग्रन्थि-मद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्।'
(१०) 'विभूषण' = 'स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्।'
(११) 'गन्ध' = 'स्वच्छस्वपरिपूरणानुस्मरणं गन्धः।'
(१२) 'कुसुम' = 'समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्यणानुसंधानं कुसुमम्।'
(१३) 'धूप' = 'तेषामेव सर्वदा स्वीकरणं धूपः।'
(१४) 'दीप' = 'पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काऽऽकाशदेहो दीपः।'
(१५) 'नैवेद्य' = 'समस्त यातायात वर्ज्यं नैवेद्यम्।'
(१६) 'ताम्बूल' = 'अवस्थात्रयैकीकरणं ताम्बूलम्।'
(१७) 'प्रादक्षिण्य' = 'मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूल पर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्।'
(१८) 'नमस्कार' = 'तुर्यावस्था नमस्कारः।'
(१९) 'होम' = 'सत्वमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः।'
(२०) 'ध्यान' = 'स्वयं तत्पादुकानिमज्जनं परिपूर्णध्यानम्।' —भावनोपनिषद।
(२१) 'देवता' = 'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।'[१]

[२] समयाचारानुयायी तांत्रिक आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य शंकर ने भगवती की पूजा के आदर्श स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. एतन्तु पूजयेद्देवी कौलिकं सिद्धिमिच्छता ॥२४॥
अर्चयेन्मानसैः पुष्पैः सुगन्धैर्धूपदीपितैः।
'अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयेन्द्रियनिग्रहम्।
तृतीयन्तु दया पुष्पं भावपुष्पञ्चतुर्थकम् ॥२५॥
पञ्चमन्तु क्षमापुष्पं षष्ठं क्रोधविनिर्जितम्।
सप्तमं ध्यानपुष्पन्तु ज्ञानपुष्पन्तु अष्टमम् ॥२६॥
एतत् पुष्पविधिं ज्ञात्वा अर्चयेल्लिङ्गमानसम्।'—कौलज्ञाननिर्णय

'जपो जल्पश्शिल्पं सकलमपि मुद्रा-विरचनां,
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामःस्संवेशस्सुखमखिलमात्मापणदृशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥'

अर्थात् यथार्थ पूजा की उच्चतम स्थिति में 'जल्प' ही मन्त्रजप बन जाता है, सारी क्रियायें ही 'मुद्रा' बन जाती हैं, अपना चलना फिरना ही भगवान की प्रदक्षिणा बन जाता है, अपना खाना-पीना ही 'आहुति' बन जाता है, अपना सोना ही 'प्रणाम' बन जाता है, समस्त सुखोपभोगों में आत्मसमर्पण की दृष्टि और इस प्रकार सारा विलास तुम्हारी पूजा बन जाय।

पूजा का स्वरूप है क्या?

[३] **विज्ञानभैरवकार की दृष्टि**—'विज्ञानभैरव' में कहा गया है कि पुष्प आदि बाह्य वस्तुओं को भगवान को समर्पित करके साधक जो अपनी प्रेम-दृष्टि को दृढ़ता प्रदान करता है वह पूजा नहीं है। वस्तुतः पूजा तो निर्विकल्प पर व्योम (परचिदाकाश) में बोध भैरव के प्रति दृढास्था है—उसमें लय है—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः॥'

(२२) (क) 'ध्यान' = 'ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुख हस्तादिकल्पना॥'

(२३) (ख) 'होम' = 'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा॥'

(२४) (ग) 'याग' = 'यागोऽत्रपरमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति॥'[1]

[४] **ललिता सहस्रनाम में प्रतिपादित दृष्टि**—

भगवती की पूजा का सामान्य स्वरूप—'ललिता सहस्रनाम' नामक ग्रंथ में भगवती महात्रिपुर सुन्दरी का संक्षिप्त पूजन-विधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

(१) पूजाधिकार एवं पूजा करने का अधिकारी—भगवती की पूजा करने का अधिकारी कौन है? किसे इसका ज्ञान प्रदान किया जाय एवं किसे नहीं?

१. विज्ञान भैरव

आचार्य हयग्रीव ने ऋषि अगस्त्य से कहा—

(१) 'ब्रूयाच्छिष्याय भक्ताय रहस्यमपि देशिकः।
भवता न प्रदेयं स्यादभक्ताय कदाचन॥'

(२) 'न शठाय न दुष्टाय नाविश्वासाय कर्हिचित्।
श्रीमातृभक्तियुक्ताय, श्रीविद्याराजवेदिने॥'

(३) 'उपासकाय शुद्धाय, देयं नाम सहस्रकम्।
यानि नाम सहस्राणि, सद्यः सिद्धिप्रदानि वै॥'

पूजा-विधि—(१) प्रातः स्नान-क्रिया, (२) सन्ध्या-कर्म, (३) पूजागृह में प्रवेश, (४) चक्रराज की पूजा।

'प्रातःस्नात्वा विधानेन, सन्ध्याकर्म समाप्य च।
पूजागृहं ततो गत्वा, चक्रराजं समर्चयेत्॥' (फलश्रुति)

चक्रराज की पूजा—(बेल के पत्तों, कमल या तुलसी पुष्प से चक्रराज की पूजा करनी चाहिए।)

'बिल्वपत्रैश्चक्रराजे, योऽर्चयेल्ललिताऽम्बिकाम्।
पद्मैर्वातुलसीपुष्पैरभिर्नाम सहस्रकैः।
सद्यः प्रसादं कुरुते, तत्र सिंहासनेश्वरी।'
विद्यां जपेत् सहस्रं वा, त्रिशतं शतमेव वा।
रहस्यनाम साहस्रमिदं पश्चात् पठेन्नरः॥

प्रारम्भ में चक्रराज की पूजा क्यों की जाय?—**हयग्रीव** कहते हैं कि श्रीचक्र भगवती के रहने का घर है—

'श्री चक्रराजनिलया श्री मत् त्रिपुरसुन्दरी।
श्री शिवाशिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताऽम्बिका॥'

चूँकि जो व्यक्ति जहाँ रहता है उसकी वहीं पूजा की जाती है अतः चूँकि भगवती चक्रराज में रहती हैं अतः चक्रराज में ही उनकी पूजा करनी चाहिए।

प्रथम सोपान—चक्राधिराज की अभ्यर्चना।

द्वितीय सोपान—पञ्चदशाक्षरी विद्या का जप।

तृतीय सोपान—ललिता सहस्रनाम का पाठ।

'चक्राधिराजमभ्यर्च्य, जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्,
जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नामसहस्रकम्॥'

यदि कोई व्यक्ति 'पञ्चदशाक्षरी मंत्र' का जप करने एवं 'श्रीचक्र' की पूजा करने में भी असमर्थ हो तो उसे 'ललितासहस्रनाम' मात्र का पाठ कर लेना चाहिए।

ललितासहस्रनाम के पाठ का नियम—

'इदं नाम सहस्रं तु, कीर्तयेन्नित्यकर्मवत्।
चक्रराजार्चनं देव्या, जपो नाम्नां च कीर्तनम्।'
भक्तस्य कृत्यमेतावदन्यदभ्युदयं विदुः।
भक्तस्यावश्यकमिदं नाम साहस्रकीर्तनम्।
'जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नाम सहस्रकम्।'

क्रम एवं नियम—

श्री चक्रे मां समभ्यर्च्य, जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्
पश्चान्नाम सहस्रं मे, कीर्तयेन्मम तुष्टये।
मामर्चयतु वा मा वा, विद्यां जपतु वा न वा।
कीर्तयेन्नाम साहस्रमिदं मत् प्रीतये सदा।

फल—

'मत्प्रीत्या सकलान् कामांल्लभते नाम संशयः।
तस्मान्नाम साहस्रं मे कीर्तयध्वं सदाऽदरात्॥'

भगवती की पूजा के विशिष्ट दिन एवं विशिष्ट अवसर

आचार्य हयग्रीव ने ऋषि अगस्त्य से कहा—

नित्यं सङ्कीर्तनाशक्त कीर्तयेत् पुण्यवासरे।
संक्रान्तौ विषुवे चैव स्वजन्म त्रितयेऽयने।
नवम्यां वा चतुर्दश्यां सितायां शुक्रवासरे।
कीर्तयेन्नाम साहस्रं पौर्णमास्यां विशेषतः।
पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकां
पञ्चोपचोरैः सम्पूज्य पठेन्नाम सहस्रकम्॥
सर्वरोगाः प्रणश्यन्ति दीर्घायुष्यं च विन्दति।
अयमायुष्करो नाम प्रयोगः कल्पनोदितः॥
ज्वरार्तं शिरसि स्पृष्ट्वा पठेन्नाम सहस्रकम्।
तत् क्षणात् प्रशमं याति शिरस्तोदोज्वरोऽपि च॥
सर्वव्याधिनिवृत्यर्थं स्पृष्ट्वा भस्म जपेदिदम्।
तद भस्म धारणादेव नश्यन्ति व्याधयो क्षणात्।

'सुधासागर मध्यस्थां ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकाम्।
यः पठेन्नामसाहस्रं विषं तस्य विनश्यति॥'

ललिता सहस्रनाम में प्रतिपादित दृष्टि क्या है?

समर्चन की विधि क्या है?

(१) समर्चयेत् सदा भक्त्या तस्य तुष्यति सुन्दरी।
(२) पद्मैर्वा तुलसीपुष्पैः कल्हारैर्वा कदम्बकैः।
चम्पकैर्जाति-कुसुमैर्मल्लिका करवीरकैः।
उत्पलैर्बिल्वपत्रैर्वा कुन्द केसर पाटलैः।
अन्यैः सुगन्धि-कुसुमैः केतकी-माधवीमुखैः।
तस्य पुण्यं फलं वक्तुं न शक्नोति महेश्वरः।

पूजा की तिथियाँ एवं दिन—

प्रतिमासं पौर्णमास्यामेभिर्नाम सहस्रकैः।
रात्रौ यश्चक्रराजस्थामर्चयेत् परदेवताम्।
स एव ललितारूपस्तद् रूपा ललिता स्वयम्।
न तयोर्विद्यते भेदो, भेदकृद पापकृद् भवेत्।
महानवम्यां यो भक्तः श्रीदेवीं चक्रमध्यगाम्।
अर्चयेन्नामसाहस्रैस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।

दिन—

यस्तु नाम साहस्रेणा, शुक्रवारे समर्चयेत्।
चक्रराजे महादेवीं तस्य पुण्य-फलं शृणु।
सर्वान् कामानवाप्येह सर्वसौभाग्यसंयुतः।
पुत्र-पौत्रादि-संयुक्तो भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान्॥
अन्ते श्रीललितादेव्याः सायुज्यमति दुर्लभम्॥
धनार्थी धनमाप्नोति यशोऽर्थी चाप्नुयाद् यशः।
विद्यार्थी चाप्नुयाद् विद्यां, नाम सहस्रकीर्तनात्॥
नानेन सदृशं स्तोत्रं भोगमोक्षप्रदं मुने।
कीर्तनीयमिदं तस्माद् भोगमोक्षार्थिभिर्नरैः॥[१]

[४] **योगिनीहृदयकारकी दृष्टि**—भगवती की पूजा के तीन रूप बताए गए हैं— (१) 'परापूजा', (२) 'अपरापूजा', (३) 'परापरापूजा'।

---

१. ललितासहस्रनाम।

(१) 'तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा।'

(१) परा पूजा | (२) अपरा पूजा | (३) एवं ज्ञानमयेदेवि !
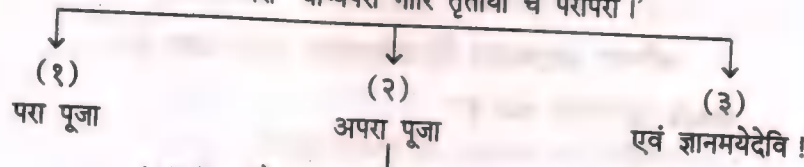
(१) 'प्रथमाद्वैत भावस्था सर्वप्रसरगोचरा।'

(२) द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।'

(३) 'उत्तमा सा परा ज्ञेया'

(४) 'चिल्लयलक्षणाद्वैतप्रथा **परापूजे**त्यर्थः।—अमृतानन्द

अपरापूजा—'चतुरस्रादिबैन्दवान्तश्री चक्रसदनावरणदेवतार्चनमपरा पूजेत्यर्थः।'

* भगवती की उपासना : विरोधाभास *

कतिपय ध्यातव्य बिन्दु—दृष्टि-भेद—'परशुरामकल्पसूत्र' (वाराही क्रम २३) में आचार्य परशुराम भगवती की उपासना में 'षोडशोपचारों' का महत्व स्वीकार करते हैं किन्तु लक्ष्मीधर नहीं।

(क) परशुराम कहते हैं—

(१) 'पाद्यार्घ्याचमनीयस्नानवासोगन्धपुष्पधूपदीपनीराजनाछत्रचामरदर्पणरक्षा-चमनीयनैवेद्यपानीयताम्बूलाख्यषोडशोपचारक्लृप्त्यन्ते।' —(प०क०सू० २३)

(२) 'कवच'—'कवचमन्त्रेण इन्धनैराच्छाद्य' —(होम० १०)

(३) 'आहुति'—'कर्मसिद्ध्यर्थमेतावदाहुतीः करिष्यामिति।'—(होमविधिः २३)

'अथ प्रधानदेवतायै दशाहुतीर्जुहुयात्॥' (होम० २२)

(४) 'पञ्चोपचार'—'देवतामवाह्यपञ्चोपचारैरूपचर्य' —(होम०२०)

(५) 'बलि'—'बलिं प्रदायं' (होमविधिः २५)

(६) 'प्रदक्षिणा' 'नमस्कार' 'जप' 'स्तोत्र'

'प्रदक्षिणनमस्कारजपस्तात्रैः सन्तोष्य' (२०) (ललितानवावरणपूजा क्रमः)

(७) गन्ध-पुष्प-अक्षत-दीपदान आदि—

'गन्धपुष्पाक्षतादींश्च दक्षिणभागे दीपानभितो दत्वा..........।'

—(प०क०सू० श्रीक्रम ११)

(८) प्राणायाम—'त्रिः प्राणानायम्य' —(श्रीक्रम १३)

(ख) लक्ष्मीधर की दृष्टि—यह भी ध्यातव्य है कि 'समयाचार' सम्प्रदाय में उन्हीं भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा में (जिसमें कौलमत में पञ्चोपचार एवं षोडशोपचार आदि की अनिवार्यता की गई है) पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि सारे बाह्य पूजा विधानों को अस्वीकार किया गया है—

(१) 'समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्। षोडशोपचाररूपपूजाङ्गकलापश्च ततोऽपि दूरत एव॥ (४१)

तेषां षट्चक्रपूजा न नियता, अपितु सहस्रकमल एवं पूजा।' 'श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकैः न कर्तव्यमिति॥' (३२) 'समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं आन्तर पूजा कर्तव्या॥ (४१)

(२) 'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव।

'हृदयकमल एव सर्वं यावत् अनुष्ठेयम्।'[१]

भगवती श्रीविद्या की उपासना के अङ्ग

श्रीविद्या के अन्तरङ्ग एवं बाह्याङ्ग का तुलनात्मक महत्व—आन्तरिक अङ्ग दुर्लभ हैं। ये अन्तर्मुखी साधकों के द्वारा गृहीत हैं। इनकी संतुष्टि ही 'वरिवस्यारहस्यम्' का भी मूल उद्देश्य है—

'दुर्लभमान्तरमङ्गं प्रायोऽन्तर्मुखजनैस्तदाद्रित्यम्॥'
'तोषायैषा तेषामतः प्रदिष्टा रहस्यवरिवस्या॥'

पूजा में बाह्याडम्बरों का स्थान—'श्रीविद्या-साधना' में बाह्याडम्बरों, प्रदर्शनों या औपचारिकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है—

बाह्याडम्बरात्मक उपासना 'प्राणहीन शरीर' या 'सूत्रहीन पुतली' की भाँति व्यर्थ है—

'एतामुत्सृज्य जडैः क्रियमाणा बाह्याडम्बरोपास्तिः।
प्राणविहीनेव तनुर्विगलितसूत्रेव पुत्तलिका॥'

इसीलिए **'सनत्कुमार संहिता'** में कहा गया है—

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
साक्षुद्रफलदा नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात्॥
बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः।
आन्तराराधनपरा वैदिका ब्रह्मवादिनः।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषुलोकेषु सर्वदा॥'

---

१. लक्ष्मीधरा (३३) —(सौन्दर्यलहरी की टीका)—आचार्य लक्ष्मीधर

आचार्य लक्ष्मीधर भी कहते हैं—

'श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकैः न कर्तव्यमिति नियम्य ते।'[१]

लक्ष्मीधर कहते हैं—'एतं ऋषिं मन्मथं विदित्वा नगरं श्रीचक्रात्मकं न प्रविशेत् ऋषिज्ञानपूर्वकं श्रीचक्रात्मकं नगरं न पूजयेत्। बाह्यपूजां न कुर्यादिति निषेधविधिः। बाह्यपूजायामेव ऋषिच्छन्दः प्रभृतिज्ञानर्वूकत्वम्। आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायां ऋष्यादि ज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव।'

भगवती की श्रीचक्रस्थ पूजा कैसे की जाय?

'त्रिपुरतापिन्युपनिषद' में कहा गया है—

'क्षीरेण स्नापिते देवि चन्दनेन विलेपिते।
बिल्वपत्रार्चिते देवि! दुर्गेऽहं शरणं गतः॥'

यह पूजा करके फिर 'माया लक्ष्मीमंत्र' से पूजन करना चाहिए—'एतैमन्त्रैर्भगवतीं यजेत्। ततो देवी प्रीता भवति स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैमन्त्रैर्यजति स ब्रह्मपश्यति-सर्व पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति।'[३]

भगवती का ध्यान—'त्रिपुरतापिन्युपनिषद्' में भगवती की ध्यान प्रक्रिया इस तरह निरूपित की गई है। उन 'कामाख्या' तुरीयरूपा तुरीयातीता, सर्वोत्कटा, सर्वमन्त्रासनगता, पीठोपपीठदेवतापरिवृता, सकलकलाव्यापिनी, सामोदा, सपरागा, सहृदया, सामृता, सदोदिता, सकला, सेन्द्रिया, पराविद्यात्मिका, त्रिकूटा, त्रिपुरा, परमामाया, परा वैष्णवी, भगवती को हृदयकमलकर्णिका में समासीन करके उनका ध्यान करना चचाहिए। वे महावश्यकरी, मदनोन्मादनकारिणी, धनुर्बाणधारिणी, चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनी, चन्द्रकला, सप्तदशी, महानित्या, सर्वलक्ष्मीमयी, निरञ्जन, त्रिकूटा, स्मितमुखी, सुन्दरी, महामाया, सर्वसुभगा, चित्कला, महात्रिपुरा, पराभैरवी एवं महाकुण्डलिनी के स्वरूप में स्थित हैं। अतः 'परांभैवरीं चित्कलां महात्रिपुरां देवीं' 'हृदयकलकर्णिकायां'' 'ध्यानयोगेन ध्यायेत्॥'[४]

गुरु-पूजन और गुरु-महत्व—अन्य रहस्य-विद्याओं की भाँति श्रीसम्प्रदाय में भी गुरु को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। श्रीसम्प्रदायानुसार गुरु का निवास **'अकथ चक्र'** में है। इसीलिए **भास्करराय** वहीं गुरु की वन्दना करते हुए कहते हैं—

'अकथासनं हलक्षान्तरं समासाद्य मामकं ज्ञानम्।
मामकमेवानन्दं मह्यं ददतो जयन्ति गुरुचरणाः॥'[५]

१. लक्ष्मीधरा (३२)
२. लक्ष्मीधरा (३२)
३. त्रिपुरतापिन्युपनिषद्
४. त्रिपुरतापिन्युपनिषद् (१/३९)
५. वरिवस्यारहस्यम् (२/१६६)

'श्री गुरोः सदनम्' (५६) सूत्र के रूप में प्रस्तुत 'श्रीगुरुः परमकारणभूता शक्तिः' सूत्र द्वारा **भावनोपनिषदकार** ने तथा **परशुरामकल्पसूत्रकार** ने 'एकगुरुपास्तिरसंशयः (१/२०) कहकर गुरु का सर्वातिशायी महत्व बताया है। 'ओघत्रयं (दिव्यौघ, 'सिद्धोघ' एवं 'मानवौघ') के रूप में भी गुरुत्रय की पूजा की अनिवार्यता स्थापित करके 'श्रीविद्यासम्प्रदाय' में गुरु को लोकोत्तर स्थान दिया गया है। तंत्रशास्त्र गुरु को देवत्रय का स्थान देता है और यह स्वीकार करता है कि—

'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥'

तांत्रिक जप—जप के तांत्रिक स्वरूप में—(१) ९ चक्रों, (२) ५ अवस्थाओं, (३) सप्तविषुवों, (४) ६ शून्यों आदि जपाङ्गों को विशिष्ट स्थान दिया गया है।

*** चक्र नवक ***

९ चक्रों में ९ शक्तियाँ स्थित हैं। वे शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'तत्राद्या त्रिपुरा देवी द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।
तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी त्रिपुरसुन्दरी।
चतुर्थी च महादेवी देवी त्रिपुरवासिनी।
पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात् षष्ठी त्रिपुरमालिनी॥
सप्तमी त्रिपुरासिद्धिरष्टमी त्रिपुराम्बिका।
नवमी तु महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते॥'[१]

'श्रीयंत्र' या 'श्रीचक्र' तो एक है किन्तु वह ९ चक्रों की समष्टि है। उनके नाम एवं उनका स्वरूप इस प्रकार है—

'अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत्।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम्॥'
'आदिमं भू त्रयेण स्याद्, द्वितीयं 'षोडशारकम्।'
अन्यदष्टदलं प्रोक्तं मनुकोणमनन्तरम्॥
पञ्चम दशकोणं स्यात् षष्ठं चापि दशारकम्।
सप्तमं वसुकोणं स्यान्मध्यत्र्यस्रमथाष्टकम्।
नवमं त्र्यस्रमध्यं स्यात् तेषां नामान्यतः शृणु॥

१ चक्र

'त्रैलोक्यमोहनं चक्रं' 'सर्वाशापरिपूरकम्।
'सर्वसंक्षोभणं' गौरि 'सर्वसौभाग्यदायकम्॥

१. योगिनीहृदय (मंत्र संकेत ९-१२)

'सर्वार्थसाधकं चक्रं' 'सर्वरक्षाकरं' परम्।
'सर्वरोगहरं' देवि! 'सर्वसिद्धिमयं' तथा।
'सर्वानन्दमयं' चापि नवमं शृणु सुन्दरी।
परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम् ॥'[१]

* विस्तार-भय के कारण यहाँ जप के सारे अङ्गों को प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।

*** विषुव ***

मन्त्र-जप के अङ्गों में एक अङ्ग 'विषुव' भी है। उसके सात भेद हैं।

सप्तविषुव

(१) 'प्राणविषुव' (२) 'मन्त्रविषुव' (३) 'नाडीविषुव' (४) 'प्रशान्तविषुव'
(५) 'शक्तिविषुव' (६) 'कालविषुव' (७) 'तत्त्वविषुव'
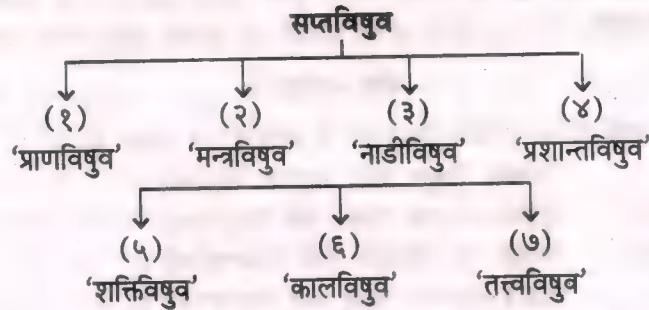
[१] **प्राणविषुव**—'उन्मनी' में रूप-रहित ६ महाशून्य की भावना करनी चाहिए।

(१) प्राण, (२) आत्मा, (३) मनस् के संयोग को 'प्राण विषुव' कहते हैं।
'प्राणात्ममानसानां संयोगः प्राणविषुवाख्यः ॥' (४३)

[२] **मन्त्रविषुव**—प्रथम कूट के नाद एवं व्यष्टि-समष्टि के भेद से अनाहत से आरम्भ करे ब्रह्मरंध्र तक उत्पन्न होने वाले नाद एवं चारों बीज तथा आत्मा की नादमय विभावना को **'मन्त्रविषुव'** कहते हैं।

[३] **नाड़ीविषुव**—मूलाधारोत्थित नाद के उच्चारण से ब्रह्मरन्ध्र तक षट्चक्रों की द्वादश ग्रंथियों को सुषुम्ना के मार्ग से ही ग्रंथियों का भेदन करता हुआ नाड़ी-नाद एवं वर्णों के संयोग को **'नाड़िकाविषुव'** कहते हैं।

[४] **प्रशान्तविषुव**—(रेफ़ एवं कामकला (ई) तथा बिन्दु से आरम्भ करके 'ह्रीं' के नादान्त तक एक सूक्ष्मतर नाद उत्पन्न होता है।) इस सूक्ष्मनाद का शक्ति के साथ विलय **'प्रशान्तविषुव'** कहा जाता है।

[५] **'शक्तिविषुव'**—शक्ति के साथ लीन इस नाद की भावना 'समना' में लीन रूप में करनी चाहिए। इसे **'शक्तिविषुव'** कहते हैं।

१. योगिनी हृदय (मंत्र संकेत)

[६] **कालविषुव**—उक्त नाद की भावना 'समना' एवं 'उन्मनी' में करने पर उसे **'कालविषुव'** कहा जाता है।

'समनागतमुन्मन्यामेते द्वे शक्तिकालविषुवाख्ये।'

[७] **तत्त्वविषुव**—ककार से उन्मना पर्यन्त एवं अकुल से उन्मना पर्यन्त प्रदेशों में स्थित श्रीविद्या कूटों के अवयवों को व्याप्त करते हुए समस्त ३१७ त्रुटियों एवं साढ़े तीन निमेषों को व्याप्त करता हुआ नाद 'तत्त्वज्ञान' का कारण होता है। शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति का मूल हेतु **'तत्त्वविषुव'** कहा जाता है।

भगवती की साधना की प्रक्रिया

भगवती की पूजा के तीन रूप हैं— (१) 'परापूजा', (२) 'परापूजा', (३) 'अपरापूजा'। 'दीक्षा' देवी उपासना की प्रारंभिक आवश्यकता है। पूजा के तीन स्तर हैं—

[१] **प्रथम प्रकार या स्तर**—प्रथमतः देवी का इस प्रकार का ध्यान करना पड़ता है कि वे महापद्मवन में शिव के अङ्क पर समासीन हैं। उनका विग्रह आनन्दमय है, सबका कारण है और आत्मा से अभिन्न है।

[२] **उपासना का द्वितीय प्रकार या स्तर**—इस सोपान पर भगवती के श्रीयंत्र की पूजा करनी होती है। यह बाह्ययागपरक है।

[३] **उपासना का तृतीय प्रकार या स्तर**—इसमें ज्ञानाप्ति के अतिरिक्त भगवती के साक्षात्कार का प्रयास किया जाता है। यही सामरस्य की साधना है। यही **'परापूजा'** है।

चक्रपूजा—'चक्रपूजा' भूर्जपत्र, रेशमी वसन, स्वर्णपत्र आदि पर नौ योनियों के मण्डल के मध्य एक योनि तथा योनि में बिन्दु बनाकर चक्र की पूजा की जाती है। पूरामण्डल 'श्रीचक्र' कहलाता है।

पूजा की दृष्टि से शाक्तों के तीन वर्ग हैं—

(१) 'कौल'— (क) पूर्व कौल, (ख) उत्तरकौल। (२) 'मिश्र' (३) 'समयी'।

'कौलमार्गी' प्रत्यक्ष नारी की पूजा करते हैं। **'कौल'** मदिरा, मांस, मत्स्य, मधुर (सुरा) मैथुन पञ्चमकारों को साधना का अङ्ग मानते हैं। 'समयी' कौलमार्गियों के बाह्ययाग एवं वामाचार से दूर रहते हैं।[१]

१. भण्डारकर : वै०शै० और अन्य धार्मिकमत।

श्रीविद्या में मुक्ति का स्वरूप

श्रीविद्या की साधना से सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में कौन-सी उपलब्धि समागत होती है? श्रीविद्या-साधना में सिद्धि प्राप्त होने से मुख्यतः निम्नाङ्कित फल या सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

(१) भगवती के साथ 'सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति—
'परं सौभाग्यं यतदिह तव सायुज्यपदवी।'[१]

(२) 'तदैक्यं षोढ़ा वा भवति चतुर्धेति च तथा।'

(३) 'अहं देवी न चान्योऽस्मि' की सिद्धि।

(४) 'चक्रेश्वरत्व' या 'जीवन्मुक्ति' की प्राप्ति।

(५) 'पूर्णाहन्ता' की प्राप्ति।

(६) शिव-शक्ति के साथ सामरस्याधिगम।

(७) मणिद्वीप में भगवती के साथ एकीभूत होकर निवास।

मुक्ति क्या है?

मणिद्वीप में निवास ही मुक्ति है।

(१) अतोमणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः। (१०।४।१८)

(२) 'मणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः।' (९।२।१९)

(३) 'सर्वलोकमणिद्वीप वासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः। (९।४।१४)

'मणिद्वीप में निवास ही मुक्ति है।' सर्वलोकोमणिद्वीपम् (८।४।१)

'अद्वैतवाद' वेदान्त एवं शक्तिदर्शन दोनों का सिद्धान्त है। 'अभेदभावनाद् भेदनाशः' (७।४।२३) 'अतः परमार्थ ब्रह्म इदमग्र आसीत्।' (१२।२।३३) 'न भेदो ब्रह्मात्मनो' (७।१।२२) 'नाभेदो ब्रह्मशक्त्योः' (७।४।१७) 'अद्वैतावस्थानरूपनिर्विकल्प-संपन्नो ब्रह्मीभूतः।।' (१०।४।१५)—शाक्तदर्शनम्।

* श्री चक्र *

५ शक्ति एवं ४ वह्नि (शिव) से निर्मित तेजस्त्रयात्मक होने से श्रीचक्र प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय रूप से पुरत्रयात्मक है।

श्री यन्त्र

ब्रह्माण्ड रूप — पिण्डाण्ड रूप
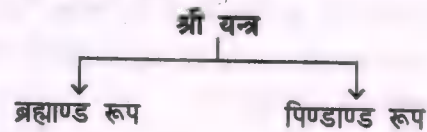
१. गौड़पाद (सुभगोदय स्तुति)

प्रमातृपुर के चक्र	प्रमाणपुर के चक्र	प्रमेयपुर के चक्र
बिन्दु, त्रिकोण, अंष्टार अष्टदल (आग्नेयखण्ड) (प्रमातृपुर)	दशारद्वय, चतुरस्त्ररूप (सौरखण्ड)	चतुर्दशार, षोडशदल (चान्द्रखण्ड) (प्रमेयपुर)

श्री चक्रः 'श्री चक्रं शिवयोर्वपुः।।'

* चक्र के पुर *

'पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।''

चक्रों के प्रकार

शक्ति चक्र — (अधोमुखी त्रिकोण) त्रिकोण, अष्टार अन्तर्दशार। बर्हिदशार, चतुर्दशार

शिव चक्र — (वह्नि चक्र) (ऊर्ध्वमुखी चक्र), बिन्दु। अष्टदल, षोडशदल। भूपुर (चतुरस्त्र)

चक्र—'चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि'

त्रिपुरसुन्दरी का चक्र ब्रह्माण्डाकार है।

भावनोपनिषद — 'नव चक्रमयो देहः।'

'त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्।'

'श्रीयन्त्र' को (१) सृष्टि, (२) स्थित, (३) प्रलय के रूप में स्थित माना जाता है।

(क) 'बिन्दु चक्र' = प्रकृति स्वरूप

(ख) शेष ८ चक्र = प्रकृति-विकृति चक्र।

(ग) बिन्दु, त्रिकोण अष्टार = 'सृष्टि चक्र।'

(घ) दशाद्वय, चतुर्दशार = 'स्थिति चक्र'।

(ङ) अष्टदल, षोडशदल, भूपुर (चतुरस्त्र) = 'संहार चक्र'।

(सम्पूर्ण श्रीचक्र त्रितयात्मक है।)

(क) बिन्द्वादि भूपुरान्त चक्र = 'सृष्टि क्रम।'

(ख) भूपुरादि बिन्द्वन्त चक्र = 'संहार क्रम।'

लक्ष्मीधर की दृष्टि—चन्द्रमण्डल ही 'श्री चक्र' है—

'बाह्यास्थितमपि चन्द्रमण्डलं 'श्रीचक्रमेवेति।' —(लक्ष्मीधरा) लक्ष्मीधर

योगी अमृतानन्द की दृष्टि—योगी अमृतानन्द 'श्रीचक्र' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

'श्री चक्रनाम नान्यत्किञ्चित् अपितु स्वसंविद्देवतायाः प्रसररूपान्तः करण-चतुष्टयाव्यक्तमहदहङ्कृतितन्मात्र दशेन्द्रिय तद्वृत्ति तद्विषयतत्पुर्यष्टकषोडशविकार धातु-प्रपञ्च एव श्रीचक्रात्मना स्फुरति।'

आचार्य भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्कर राय 'श्रीचक्र' को परिभाषित करते हुए कहते हैं—

'तेनैकदेवी नानाधर्मवैशिष्ट्येन भिन्ना सती रेखा त्रयात्मक शृंगाटकवपुषा त्रिकोण देहेन श्री चक्रे शोभत।'[१]

अर्थात् भगवती महात्रिपुर सुन्दरी ही 'श्री चक्र' में त्रिकोण के रूप में अविस्थित रहा करती हैं।

योगिनीहृदयकार का मत—'योगिनी हृदय' में कहा गया है कि—

'चक्रं कामकला रूपं प्रसारपरमार्थतः।'

अर्थात् श्री चक्र का कामकलारूपत्व ही परमार्थ है **'बैन्दव चक्र'** तद्रूप ही है। श्रीचक्र कामकलाक्षर से ही प्रसृत हुआ है।

भास्कर राय कहते हैं—

'कामकलायाः सकाशात् सम्पूर्णास्य चक्रस्योत्पन्नत्वात्सर्वं चक्रं काकलारूपमेव।'

जो जिसका प्रसार होता है वह (प्रसार का कारक) ही उस प्रसृत पदार्थ का पारमार्थिक रूप होता है यथा घट का मृतिका, पट का तन्तु उसी प्रकार श्रीचक्र का पारमार्थिक स्वरूप 'कामकला' है।[३]

'यो यत्प्रसरः स तदीय पारमार्थिकं स्वरूप यथा।
घटो मृत्प्रसरस्तस्य पारमार्थिकं स्वरूप मृदेव।
'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥'

कामकलाविलासकार का मत

आचार्य पुण्यानन्द कहते हैं कि—

(१) **'कामकला विद्या'** चक्रक्रमात्मिका है।

(२) जो इस रहस्य को जानता है वह महात्रिपुर सुन्दरी के स्वरूप वाला हो जाता है—

---

१. (सेतुबन्ध)
२. (योगिनीहृदयदीपिक/सेतुबन्ध)
३. (सेतुबन्ध)

'इति कामकला विद्यादेवी चक्रक्रमात्मिका सेयम्।' विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरी रूपा।'[१]

'श्री चक्र' चिदानन्दघन है—

योगिनीहृदयकार का मत—योगिनीहृदय में कहा गया है कि यह नवयोन्यात्मक, नवात्मक, नवधाभिन्नमन्त्रक श्री चक्र चिदानन्दघन है—

'नयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम्॥'[२]

* श्री चक्र की त्रिधा स्थिति *

(श्री चक्र के तीन भेद)

(१)	(२)	(३)
'सकल'	'सकलनिष्कल'	'निष्कल'
(आज्ञान्तकुलाधाज्ञापर्यन्तं चतुरस्रादि त्रिकोणान्तं चक्राष्टकं स्थूलं भावयेत्। तद्भावनं 'सकलम्' —(अमृतानन्द)	(ततो बिन्दुमास्योन्मन्यन्तं सूक्ष्मसूक्ष्मतरचक्रभागान् भावयेत्। तद्भावनं 'सकल निष्कलम्। —(अमृतानन्द)	परे स्थाने महाबिन्दौ शुद्ध शून्य संविदं भावयेत्। तद्भावनं 'निष्कलम्'। —(अमृतानन्द)

—योगिनीहृदयदीपिका—अमृतानन्द

गौड़पादाचार्य की दृष्टि में श्रीचक्र का स्वरूप—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि भगवती त्रिखण्डात्मक ९ चक्रों के अतिरिक्त षट्चक्रों में सदन के भी निवास करती हैं—

'त्रिखण्डं चक्रं शुचि रविशशाङ्कात्मकतया,
मयूरवैः षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः।
पृथिव्यादौ तत्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं,
भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्र-सदनम्॥'[३]

---

१. कामकला विलास
२. योगिनीहृदय (च० सं० १/१३)
३. योगिनीहृदय (च० सं० १/१३)

* श्री चक्र से सर्वोत्पत्ति *

श्री चक्र

रम्भा आदि अप्सरायें
कपिल आदि सारे सिद्ध
वसिष्ठ आदि मुनीश्वर
कुबेरादिक यक्ष
सारे राक्षस
सारे गन्धर्व
सारे किन्नर
ऐरावत आदि सारे गजेन्द्र
अच्चैःश्रवा आदि अश्व
हिमालय आदि सारे पर्वत

ब्रह्मेन्द्रादि देव समूह
सूर्यचन्द्रादि सारे ग्रह
अश्विनी आदि सारे नक्षत्र
मेष आदि सारी राशियाँ
वसु आदि सारे नाग
वरुणवैनतेय आदि। सारे मन्दार वृक्ष
सारे नगर एवं राष्ट्र
सारे समुद्र
गंगा आदि सारी नदियाँ
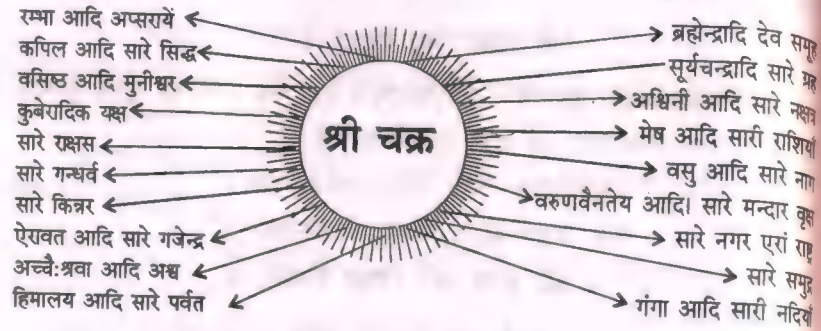
* योगिनीहृदयोक्त श्री चक्र का स्वरूप *

'यस्य विज्ञानमात्रेण त्रिपुराज्ञानवान् भवेत्।
चक्रस्य नवधात्वं च कथयामि तव प्रिये ॥
आदिमं भूत्रयेणस्याद् द्वितीयं षोडशारकम्।
अन्यदष्टदलं प्रोक्तं मनुकोणमनन्तरम्।
पञ्चमं दशकोणं स्यात् षष्ठं चापि दशारकम्।
सप्तमं वसुकोणं स्यान्मध्यत्र्यस्रमथाष्टमम्।
नवमं त्र्यस्रमध्यं स्यात् तेषां नामान्यतः शृणु।
त्रैलोक्यमोहनं चक्रं सर्वाशापरिपूरकम्।
सर्वसंक्षोभणं गौरि सर्वसौभाग्यदायकम्।
सर्वार्थसाधकं चक्रं सर्वरक्षाकरं परम्।
सर्वरोगहरं देवि ! सर्वसिद्धमयं तथा।
सर्वानन्दमयं चापि नवमं शृणु सुन्दरि ॥
अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
परिपूर्ण महाचक्रमजरामरकारकम्।
एवमेव महाचक्रसङ्केतः परमेश्वरि।
कथितस्त्रिपुरादेव्या जीवन्मुक्तिप्रवर्तकः ॥'[१]

श्रीचक्र के पादोदक की महिमा—'सर्वोल्लास तन्त्र' में श्रीचक्र के पादोदक की अनन्त महिमा बताई गयी है और कहा गया है कि—

गङ्गा, पुष्कर, नर्मदा, यमुना, गोदावरी, गौतमी, गङ्गाद्वार, गया, प्रयाग,

१. योगिनीहृदय (चक्रसङ्केत)

बदरी, वाराणसी, सिन्धु, रेवा, सेतुबन्ध, सरस्वती प्रभृति ब्रह्माण्डान्तर्गत समस्त तीर्थ समूह में स्नान करने से कोटि गुणित अधिक फलदायी श्री चक्र के पादोदक है—

'गङ्गा-पुष्कर-नर्मदासु यमुना-गोदावरी-गौतमी।
गङ्गाद्वार-गया-प्रयाग-बदरी-वाराणसी सिन्धुषु।
रेवा-सेतु-सरस्वती-प्रभृतिषु ब्रह्माण्डभाण्डोदरे।
तीर्थस्नान सहस्रकोटिफलदं श्रीचक्र-पादोदकम् ॥'[१]

श्रीचक्र की महिमा—शास्त्रकारों ने 'श्रीचक्र' की महत्ता का वर्णन इस प्रकार किया है—

'सम्यक् शत् क्रतून कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥'

अर्थात् जो पुण्य १०० यज्ञों को निष्पादित करने से प्राप्त होता है वह मात्र 'श्रीचक्र' के दर्शन से ही प्राप्त हो जाता है।

* श्री विद्या ही मोक्षसाधिका है अन्य शास्त्र-नहीं।*

' न शिल्पादि ज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्दः प्रयुज्यते।
मोक्षैकहेतुविद्या च श्रीविद्या नात्र संशयः ॥'

'श्री चक्र' और नौ संख्या का महत्व

(एक तांत्रिक दृष्टि)

९
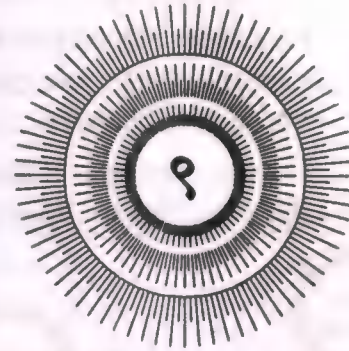
(श्री यंत्र और ९ संख्या)

(१) यह सर्वोच्च संख्या है। इससे बड़ी कोई संख्या हीं है ही नहीं।

(२) ९ संख्या में शिव-तेज एवं शक्ति-तेज से निर्मित है।

१. सर्वोल्लास तन्त्र (४४/३७)

(३) ५ शक्ति चक्र, ४ शिव चक्र अर्थात् ९ योनियों से ही 'श्रीचक्र' का निर्माण होता है।

(४) 'श्रीचक्र' (९ योनियों वाला चक्र) शिव-शक्ति का शरीर है।

(५) 'श्रीचक्र' (९ योनियों वाला) शक्ति का आसन है।

(६) ९ योनियों वाला श्री चक्र शक्ति का 'यंत्र' है। अर्थात् शक्ति का ज्यामितीय रेखांकन है।

(७) ९ योनियों वाला 'श्रीचक्र'—ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त चित्र है।

(८) ९ योनियों वाले 'श्रीचक्र' में १४ भुवन, ३ लोक, त्रिदेव, ३३ कोटि, देव, सरे मंत्र, सारे ऋषि, सारे विश्वबीज, सारी प्रकृति, ३६ तत्त्व, (माया, महामाया आदि सभी कुछ) समाहित है।

(९) ९ योनियों वाले 'श्रीचक्र' की पूजा के बिना शक्ति की पूजा नहीं होती।

* श्रीचक्र की उत्पत्ति *

'योगिनी हृदय' (चक्र संकेत) में कहा गया है—

'तच्छक्तिपञ्चकं सृष्ट्या लयेनाग्निचतुष्टयम् ।
पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगाच्चक्रसंभवः ।
एतच्चक्रावतारन्तु कथयामि तवानघे ।
यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥'[१]

५ वह्नि-त्रिकोणों के रूप में स्थित 'शक्ति-त्रिकोणों' एवं ४ शिव त्रिकोणों के सम्मिलन से ही 'श्रीचक्र' का आविर्भाव होता है। इनके द्वारा ९ योनियों का संयोग होता है और यही संयोग श्रीचक्र की उत्पत्ति या उसके गठन का कारण बनता है—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥'

५ शक्ति त्रिकोण
४ शिव त्रिकोण
श्री चक्र
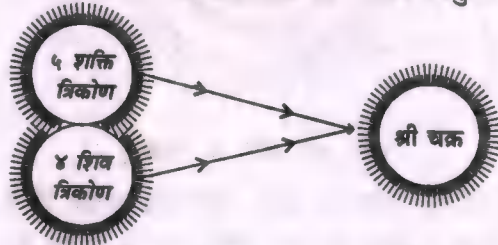
१. योगिनीहृदयदीपिका (६) (२)

विश्वोत्पत्ति और परमाशक्ति का सम्बंध—विश्व परमाशक्ति का ही अपना स्वरूप है—

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥'[१]

अमृतानन्द कहते हैं कि यदि यह प्रश्न किया जाय कि अक्रिय परमशिव तत्त्वात्मक चक्र को कैसे उत्पन्न कर सकता है? शिव तो तटस्थ हैं फिर वे सृष्टि कैसे कर सकते हैं? **अमृतानन्द** इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि प्राणियों के अदृष्ट-परिपाक के फलस्वरूप पराशक्ति स्वान्तःसंहत विश्व की सृष्टि करने की इच्छा द्वारा अपनी स्वेच्छा से विश्वरूपिणी बनकर विश्व का सृजन किया करती है अर्थात् विमर्शरूपिणी पराशक्ति प्राणियों के अदृष्ट के कारण जब अपनी स्वनिष्ठ स्फुरता का साक्षात्कार करती है तब चक्र स्वयं उत्पन्न हो जाता है।—

'स्फुरत्तात्मनः पयेत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥'[२]

चूँकि जगत सृष्टि के पूर्व भी शक्ति में संस्थित रहता है अतः वह (शक्ति) 'स्वान्तः संहत विश्व' का सृजन नहीं **'उन्मीलन'** करती है। 'विश्वमुन्मीलयति'—

भास्करराय कहते हैं—

'सा देवी स्वेच्छया स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणादि चक्रस्य सम्भव उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः।'[३]

'स्फुरत्ता' का क्या अर्थ है?

(क) अमृतानन्द—'विश्वसर्जनमेव पराशक्तेः स्फुरता तस्याः सृष्टिरूपत्वात्।'

(ख) भास्करराय—'स्फुरतापदस्य सृष्टिरित्यर्थो युज्यत एव।'

(ग) 'प्राथमिकी वृत्तिरिच्छाज्ञानक्रियात्मिका शान्ता नाम्नो यदा जाता तत्काल एव चक्रस्य संभवः—'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः।'[४]

(घ) 'आत्मनिष्ठां स्फुरत्ताम् । सा च सृष्टिरेव।'

चक्र और उनमें अवस्थित उनकी अधिष्ठात्री शक्तियाँ

(१) सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी
(२) सर्वसिद्धप्रद चक्र	त्रिपुराम्बा
(३) सर्वरोगहर चक्र	त्रिपुरसिद्धा

१. योगिनीहृदय (चक्रसङ्केत)
२. (योगिनीहृदय ९)
३. सेतुबन्ध (भास्करराय)
४. सेतुबन्ध

(४) सर्वरक्षाकर चक्र	त्रिपुरमालिनी	
(५) सर्वार्थसाधक चक्र	त्रिपुरा श्री	**नवावरण**
(६) सर्वसौभाग्यदायक चक्र	त्रिपुर वासिनी	**के ९**
(७) सर्वसंक्षोभणचक्र चक्र	त्रिपुरसुन्दरी	**देवता**
(८) सर्वाशापरिपूरक चक्र	त्रिपुरेशी	
(९) त्रैलोक्यमोहन चक्र	त्रिपुरा	

नवावरण के ९ देवताओं के नाम—प्रकटा, गुप्ता, गुप्ततरा, परा, सम्प्रदाया, कुलकौला, निगर्भा, अतिरहस्या, परापररहस्या, परापरातिरहस्या आदि।

* चक्रों के नामकरण में भी अद्वैतवाद की अनुस्यूतता *

* चक्रों के नामकरण का रहस्यार्थ *

[१] **त्रैलोक्यमोहन चक्र**—अमृतानन्द इस चक्र के अर्थ का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि—

'लोक्यत इति लोक:' लोक्यतेऽनेनेति लोक:, लोकयतीति लोक:—इति कर्म-करण-कर्तृव्युत्पत्या मेय-मान-मातृलक्षणं 'त्रैलोक्यम्' तस्य 'मोहनं' तिरोधायक **मद्वैतप्रतीत्युत्पादनेन**।।' —योगिनीदीपिका (चक्र संकेत ८२)

[२] **सर्वाशापरिपूरक चक्र**—'आशा' नाम अतृप्तस्य पदार्थान्तरेषु स्पृहा तस्या: सर्वस्या: स्पृहाया: परिपूरकं नित्यपरिपूर्णतृप्तिलक्षण **परमशिवसामरस्य** प्रति-पादनेन। —योगिनीदीपिका

अतृप्त व्यक्ति (सतृष्ण व्यक्ति) की पदार्थान्तरों में जो तृष्णा निवास करती है उसको पूर्णतया परिपूर्ण करने वाला एवं नित्य तृप्ति प्रदान करने वाला जो परमशिव-सामरस्य है। उसका प्रतिपादन करने के कारण इस चक्र की आरव्या 'सर्वाशा परिपूरक' है।

[३] **सर्वसंक्षोभण चक्र**—'सर्वसंक्षोभणं सर्वस्य क्षित्यादे: शिवान्तस्योपर्युपरि तत्त्वक्रमेण संक्षोभस्तस्य संहारलक्षणस्य कारकं भेद प्रपञ्चलयरूपत्वात् ।

—योगिनीहृदयदीपिका (८२)

क्षिति से शिव पर्यन्त समस्त तत्त्वों के संक्षोभ का संहार (प्रपञ्च का लय) कराने वाला होने के कारण इस चक्र का नाम 'सर्वसंक्षोभण चक्र' है।

[४] **सौभाग्यदायक चक्र**—'सर्वसौभाग्यदायकं सर्वसौभाग्यं सर्वस्पृहणीता तस्या दायकम्, सर्वस्पृहणीयपरप्रेमास्पद परमशिवैक्यप्रतिपादनेन।'

सभी व्यक्तियों में समस्त के सौभाग्यों को प्राप्त करने की इच्छा स्वभावत:

विद्यमान रहती है। उसको प्रदान करने वाला होने के कारण अर्थात् सर्व स्पृहणीय एवं परमप्रेमास्पद परमशिव के साथ एकता-प्राप्ति स्वरूप 'सर्वसौभाग्य' प्रदान करने वाला होने के कारण ही इसे **'सर्वसौभाग्यदायकचक्र'** कहते हैं।[१]

[५] **सर्वार्थसाधक चक्र**—'सर्वार्थसाधकं सर्वेषां वैदिकानां तांत्रिकाणां क्रियाणामर्थ: प्रयोजनं परमशिवप्राप्ति:।'

कवियों ने कहा भी है—

'बहुधा ह्यागमैर्भिन्ना: पन्थान: सन्ति भूतले।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।।'

अर्थात् समस्त (वैदिक एवं तांत्रिकों) साधकों या उपासकों का अर्थ (प्रयोजन) परमशिव-प्राप्ति है और यह चक्र उस प्रयोजन को पूर्ण करता है अत: इसका नाम **'सर्वाथसाधक चक्र'** है।[२]

[६] **सर्वरक्षाकर चक्र**—'सर्वरक्षाकरं रक्षा नाम प्रतिकूल पदार्थादुपरति: परिहार: षट्त्रिंशतत्त्वात्मकं सर्वमेव प्रतिकूलपदार्थ:, तस्मात् सर्वस्माद् रक्षां शिवाहम्भावभावनालक्षणां करोति। तदुक्त 'परापञ्चाशिकायाम्'—

'अहमि प्रलयं कुर्वन्निदम: प्रतियोगिन: ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभावमशिवापहम् ।।'[३]

अपने से प्रतिकूल पदार्थों से उपरति या उनका परिहार ही **'रक्षा'** है। समस्त ३६ तत्त्व प्रतिकूल पदार्थ ही हैं। उन ३६ तत्त्वों से रक्षारूप 'शिवाहंभावना' का साक्षात्कार ही **'सर्वरक्षा'** है और इस सर्वरक्षा का विधायक चक्र ही **'सर्वरक्षाकर चक्र'** है।

[७] **सर्वरोगहर चक्र**—'सर्वरोगहरं भेदलक्षणं षट्त्रिंशत्वात्मकं सर्वमेवं रोगस्तस्य हरम् अभेदप्रतीतिहेतुत्वात्।'

कहा भी गया है—

'विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी परा।'[४]

जो भी षट्त्रिंशदात्मक है वह सब कुछ भेदात्मक है अत: वह सब कुछ रोगस्वरूप है। चूँकि यह चक्र इस भेदवृत्ति रूप रोग का विनाशक है अत: इसकी आख्या **'सर्वरोगहर'** है।[५]

---

१. योगिनीहृदयदीपिका (८२)
२. योगिनीहृदयदीपिका
३. योगिनीहृदयदीपिका (८२)
४. यो० हृ० सं०१ श्लोक ४१
५. यो०हृ०दीपिका।

[८] **सर्वसिद्धिमय चक्र**—'सर्वसिद्धिमयं सर्वस्य सिद्धिरूत्पत्तिः स्थितिः संहारश्च तन्मयम्, त्रिकोणस्य सृष्टिस्थिति संहारहेतुत्वात्।

तदुक्तमीश्वरप्रयभिज्ञायाम्—'चितः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः' इति।

चूँकि समस्त पदार्थों की 'सिद्धि'—उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार—से यह चक्र युक्त है और त्रिकोण इन उक्त तीन व्यापारों का विधायक भी है अतः सर्वस्वतंत्रा परमस्वातंत्र्यरूपा परमा शैवी शक्ति से युक्त होने के कारण इस चक्र की आख्या **'सर्वसिद्धिमय चक्र'** है।

[९] **सर्वानन्दमय चक्र**—(बिन्दु) (रक्तबिन्दु)—'सर्वानन्दमयं शिवशक्तिलक्षण प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपत्वात्। अत्र सर्वत्र प्रवृत्तिः निमित्तभेदाभावादद्वैतविश्रान्तिरे व परमार्थः।'[१]

आनन्दस्वरूप शिव एवं शक्ति से युक्त एवं प्रकाश-विमर्श-सामरस्य से परिपूर्ण होने के कारण इस चक्र का नाम **'सर्वानन्दमय चक्र'** है। इसी सर्वानन्दपरिपूर्ण चक्र में अद्वैतात्मक विश्रान्ति प्राप्ति कराने के कारण यह चक्र **'सर्वानन्दमय चक्र'** कहलाता है। यह अद्वैतविश्रान्ति ही 'परमार्थ' है।[२]

इन नौ चक्रों में एक ही 'महात्रिपुरसुन्दरी' नौ नाम-रूपों में स्थित हैं।

'महात्रिपुरसुन्दरी' का अर्थ—'अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी'—'महादेवी' महती देशकालैरनाकलितत्वात्। देवीद्योतनार्था देवी पदाभिधेया विमर्शरूपा।' 'महात्रिपुर-सुन्दरी' महती अनावरणा चिद्रूपिणी 'त्रिपुरा' तुर्यरूपत्वात् 'सुन्दरी' स्वात्मतया सर्वस्य स्पृहणीयत्वात्। एवंविधा स्वसंविद्देवता पूज्या वक्ष्यमाणपरादि त्रिविधरूपया पूज्या भावनीया।।[३]

आवरण देवताओं की पूजा के दो क्रम हैं—

(१) **सृष्टि क्रम**—नवयोन्यादिभूगृहान्तपूजने सृष्टिक्रमः।
क्योंकि यही क्रम जगत की उत्पत्ति का भी क्रम भी है।

(२) **संहार-क्रम**—सृष्टि क्रम का विपरीत क्रम संहार क्रम है।

'परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम्।'[४]
'अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।'[५]

शिव चक्र एवं शक्ति चक्र में ऐक्य

'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वय तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्ति चक्राणि पञ्च च।।'

१. अमृतानन्दः योगिनीहृदयदीपिका
२. योगिनीहृदयदीपिका
३. अमृतानन्द
४. (चक्र संकेत)
५. (च०सं० ८४)

'बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।।'[१]

(१) 'त्रिकोण' (श्री चक्र के मध्य स्थित चक्र) 'मूलाधार चक्र' है।
(२) 'अष्टार' (श्री चक्र में स्थित) 'स्वाधिष्ठान चक्र' है।
(३) 'अन्तर्दशार (श्री चक्र में स्थित) 'मणिपूर चक्र' है।
(४) 'बाह्यदशार' (श्री चक्र में स्थित) 'अनाहत चक्र' है।
(५) 'चतुर्दशार (श्री चक्र में स्थित) 'विशुद्ध चक्र' है।
(६) 'शिवचक्र' (बैन्दवस्थानीय)-(शिवस्थानीय) 'आज्ञा चक्र' है।

* शिव-चक्र एवं शक्ति-चक्र में ऐक्य *

(१) बिन्दु एवं त्रिकोण में ऐक्य।
(२) अष्टकोण एवं अष्टदल कमल में ऐक्य।
(३) दशारयुग्म एवं षोडशदलपद्म में ऐक्य।
(४) चतुर्दशार एवं भूपुर में ऐक्य।[२]

'भैरवयामल' में कहा गया है—

'त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टं अष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके।
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बंधं को जानाति स चक्रवित्।
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात्।
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्धयाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः।
तवाधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपशिवश्शिवः स्मृतः
अविनाभावसम्बन्धः तस्माद्बिन्दुत्रिकोणयोः।।'[३]

शिव और शक्ति का सदन 'श्रीचक्र' सृष्टि का अनुपमेय अप्रतिम एवं विश्वगर्भित सर्वोच्च घर है जिससे बड़ा घर कोई हो ही नहीं सकता।

१. सुभगोदय स्तुति (१०)
२. लक्ष्मीधरा (९)
३. भैरवयामल

षट्चक्र, नवचक्र एवं सम्पूर्ण विश्व को आत्मगर्भित करके स्थित 'श्री चक्र' निम्न स्वरूप का है—

(१) इसमें ३ पुर हैं, ३ खण्ड हैं।

(२) यह सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के रूप में स्थित ३ खण्डों से निर्मित है।

(३) पृथिवी आदि ५ महाभूतों, शब्द-स्पर्श आदि ५ तन्मात्राओं एवं ३६० किरणों वाला, ६ चक्रों से निर्मित, ९ चक्रों से अन्तर्गर्भित, अग्नि की १०८, सूर्य की ११६, चन्द्रमा की १३६ किरणों (कलाओं) से आलोकित एवं कालातीत है—

'शतं चाष्टौ वह्ने शतमपि कलाः षोडशरवेः।
शतं षट् च त्रिंशत्सितमय मयूरवाश्चरणजाः।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभवं स्त्वच्चरणजाः।
महाकौलैस्तस्मात्र हि तव शिवे! कालकलना॥'[१]

*** चन्द्रमण्डल ही 'श्रीचक्र' है। ***

'इन्दुमण्डलात्मकं श्री चक्र'।[२]

यह तो ज्ञात ही है कि शिर में चन्द्रमण्डल स्थित है। श्रीचक्र का चन्द्रमण्डल से अभिन्न सम्बंध है। **आचार्य लक्ष्मीधर** कहते हैं कि—

'शिरस्स्थितं चन्द्रमण्डलं सर्वयोगशास्त्रसिद्धम्।
तत्तु समयिनां मते श्रीचक्रमेव।'[३]

(१) चन्द्रमण्डल षोडशकलात्मक है।

(२) 'श्री विद्या' का प्रतिपदा आदि तिथियों के अनुरूप ही १६दिनों से सम्बंध है। इन १६ दिनों में चान्द्र कलाओं में क्षय-वृद्धि होती रहती है। अतः श्री विद्या भी चन्द्रमण्डल ही की भाँति है।

सुभगोदयकार की दृष्टि—सुभगोदय में कहा गया है कि बाह्य स्थित होने पर भी चन्द्रमण्डल 'श्री चक्र' ही है—

'बाह्यस्थितमपि चन्द्रमण्डलं श्री चक्रमेवेति।'

यही 'महारहस्य' है।[४]

यह भी ध्यातव्य है कि तांत्रिक समाम्नाय में देवता का यांत्रिक रूप वासनाभेद से जगत का ही रूप है।

प्रत्येक यन्त्र में सबसे बाहर 'चतुष्कोण' ही स्थित रहता है और उसे '**भूपुर**'

१. सुभगोदय स्तुति (९)
२. लक्ष्मीधर
३. लक्ष्मीधराः (१०)
४. लक्ष्मीधरा

कहा जाता है। यह भूपुर ही विश्वरूप नगर का प्राकार है। उसमें निर्मित किसी भी मार्ग से उसमें प्रविष्ट होकर भीतर की ओर अग्रपद होते हुए आगे बढ़ना ही साधना-मार्ग की यात्रा है और केन्द्रस्थ बिन्दु (अन्तिम भूमि) तक पहुँचना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य होता है।

श्री चक्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीतावस्था में चलने के मार्ग में तीन सोपान हैं—

(क) चतुष्कोण से 'त्रिकोण' तक : 'सकल मार्ग'
(ख) बिन्दु से 'उन्मना' तक : 'सकल निष्कलमार्ग'।
(ग) 'महाबिन्दु' : निष्कल मार्ग'।

सकल निष्कल मार्ग—बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति व्यापिका (यापिनी) समना, उन्मना।

सकल मार्ग में—

(१) 'मूलाधार चक्र' में —'अग्नि बिम्ब'
(२) 'अनाहत चक्र' में—'सूर्य बिम्ब'
(३)'विशुद्ध चक्र' में—'चन्द्र बिम्ब' दिखाई पड़ते हैं।

श्री चक्र और उसका स्वरूप—'इन्दुमण्डल ही श्रीचक्र है।'

आचार्य शंकर कहते हैं—

'चतुर्भिश्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि,
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय,
त्रिरेखाभिः सार्धं तवशरणकोणाः परिणताः॥'[१]

अन्यत्र भी इसका स्वरूप निर्वचन किया गया है—

'बिन्दु त्रिकोण वसुकोण दशार युग्म,
मन्वश्र नागदलसंयुत षोडशारम्।
वृत्तत्रिभूपुरयुतं परितश्चतुर्द्वाः,
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः।''[२]

*** श्री चक्र का स्वरूप ***

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
शक्ति चक्र	शिव चक्र	अग्नेय खण्ड	चान्द्र खण्ड	अनल खण्ड	प्रमाण-पुर	प्रमेय-पुर	प्रामतृ-पुर

१. लक्ष्मीधरा
२. वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च, श्री चक्रराजमुदितं परदेवतायाः।

श्री चक्र में ४४ कोण	श्री चक्र में २४ सन्धियाँ	श्री चक्र में मर्म स्थान २८	श्री चक्र लेखन प्रकार (क) 'सृष्टिक्रम' = समयमार्ग (ख) 'सहारक्रम' = कौलमार्ग

↓
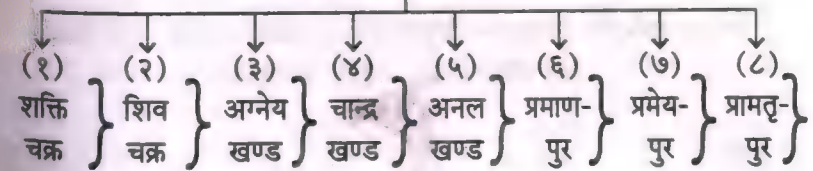
९ योनियाँ
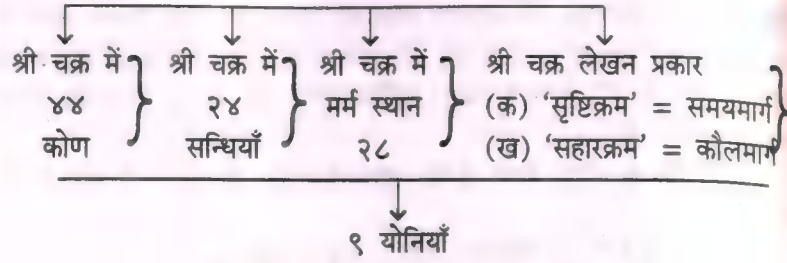
'द्विरेखासङ्गमस्थानं सन्धिरित्यभिधीयते ।
त्रिरेखासङ्गमस्थानं 'मर्म' मर्मविदो विदुः ॥'

अष्टदल-षोडशदल-मेखलात्रय-भूपुरत्रयाणां शिवचक्राणां त्रिरेखा सङ्गमस्थानत्वाभावेऽपि वाचनिकी मर्मसंज्ञा।

'चन्द्र ज्ञान विद्या' में कहा गया है—

'मन्त्रद्विदशाराष्ट कोण वृत्तचतुष्टयम् ।
अष्टाविंशतिमर्माणि चतुर्विंशतिसन्धयः ॥'

(क) 'कौल चक्र' में—कोण संख्या नहीं है।
(ख) 'समय चक्र' में—चतुष्कोण के मध्य में बिन्दु स्थित है।
(ग) 'कौलचक्र' में—बिन्दु त्रिकोण मध्यगत है।

'कौलचक्र' में कोणसंख्या इसलिए नहीं है क्योंकि वहाँ नवत्रिकोण है। ९ त्रिकोणों के मेलन से ही 'मर्म-सन्धियाँ' उत्पन्न होती हैं।[१]

शिर में स्थित **'सहस्रदलकमल'** के अन्तर्गत श्री चक्रात्मक शशिबिम्ब के मध्य में भगवती के श्री चरण स्थित हैं। उनके चरणों के जल से अर्थात् सुधामय जल से साधक के शरीर को संप्लावित करके भगवती (जो कि भुजङ्गिनी के रूप में अवस्थित हैं) आधार कुण्ड में प्रविष्ट होकर और सुषुम्ना-पथ को रोक कर सो जाती हैं।[२]

शक्ति-समूह ही की संज्ञा है—'चक्र'

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

'चक्रं शक्ति समूहः॥'[३]

त्रिपुरसुन्दरी के 'संकेत'—त्रिपुरसुन्दरी के संकेत (रहस्य) तीन हैं—

'त्रिविधस्त्रिपुरादेव्याः सङ्केतः परमेश्वरि ।'

१. लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा
३. (सेतुबन्ध १/७)

*** भगवती के सङ्केतत्रय ***

(१)	(२)	(३)
चक्र-सङ्केतक	मन्त्र-सङ्केतक	पूजा-सङ्केतक
(चक्र का रहस्य)	(तन्त्र का रहस्य)	(पूजा का रहस्य)
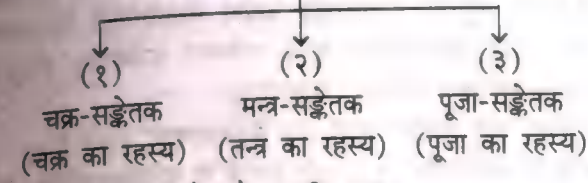
'त्रिपुरा-चक्र' का अर्थ है—त्रैपुर शक्ति-समूह।

विश्वरूपिणी शक्ति का आत्मस्फुरत्तादर्शन ही श्रीचक्र की उत्पत्ति का कारण है।

*** श्री चक्र की उत्पत्ति एवं आत्मस्फुरण-साक्षात्कार ***

योगिनीहृदयकार कहते हैं—

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ।'

'प्राथमिकी वृत्तिरिच्छाज्ञानक्रियात्मिका शान्ता नाम्नो यदा जाता तदा तत्काल एवं चक्रस्य सम्भवः—

'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः ।'[१]

('स्फुरत्ता' = सृष्टि। आत्मनिष्ठां स्फुरत्तां। सा च सृष्टिरैव वा॥ स्फुरत्तापदस्य सृष्टिरित्यर्थो युज्यत एव। सेयं स्फुरत्तारूपा सृष्टिरेव क्रिया।[२]

'आत्मस्फुरण' के दो रूप

(१)	(२)
'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी। स्फुरत्तामात्मनः पश्ये तदा चक्रस्य सम्भवः। —योगिनीहृदय (चक्र सङ्केत ९)	'आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला। अम्बिका रूपमापन्ना 'परावाक्' समुदीरिता।' —योगिनीहृदय (१/३६)
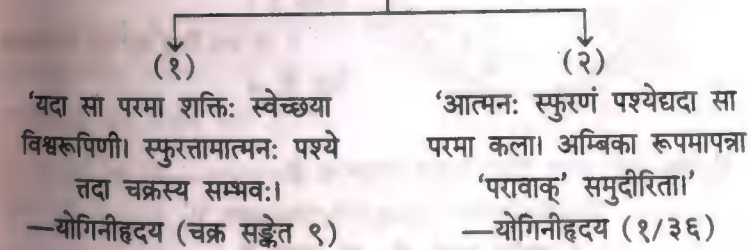
चक्रोत्पत्ति—'विश्वसर्जनमेव पराशक्तेः स्फुरत्ता, तस्याः सृष्टि रूपत्वात् । तदा षट्त्रिंश तत्त्वात्मकविश्वसृष्टिकाले चक्रस्य विश्वमयस्य परदेवतां चक्रस्य सम्भवः।'[३]

त्रिपुरानाम्नी पराशक्तिः 'यदा सा परमाशक्तिः।' सा देवी स्वनिष्ठां स्फुरत्तां यदा पश्यति तदा चक्रस्य विश्वाभिन्नस्य त्रिकोणादि चक्रस्य सम्भव उत्पत्तिर्भवति॥[४]

१. सेतुबन्ध
२. सेतुबन्ध (१/९)
३. अमृतानन्द
४. सेतुबन्ध (१/९)

परावागोत्पत्ति—'सा परमा सर्ववर्णांशभूत विमर्शरूपा कला विमर्श शक्तिः आत्मनः' परशिवस्य स्फुरणं पश्यन्त्यादि क्रमेण वैखरीपर्यन्तं विमर्शनम् पश्येद् द्रष्टुमिच्छेत् तदा परमा शान्तात्मिका भूत्वा अम्बिका रूपमापन्ना प्रकांशांशमात्राया अम्बिकायाः सामरस्यमापन्ना 'परावाक्' समुदीरिता।[१]

३६वें श्लोक की व्याख्या करते हुए **सेतुबन्धकार** कहते हैं—

(१) 'यदा सा परमाशक्तिः' (९) इति श्लोके या वृत्तिरीक्षणात्मिका शान्तानाम्नी विश्वकारणत्वेन वर्णिता, तया हि शब्दार्थसृष्टिद्वयमुत्पाद्यते।

(२) **अर्थ-सृष्टि**—'तत्रार्थ सृष्टेर्ब्रह्मविष्णुरूद्राः कारणानि। त एव शक्तिं बिना कार्याक्षमत्वाच्छक्तिविशिष्टतया विभाव्यमाना वामाज्येष्ठारौद्र्य इत्युच्यन्ते।

(३) **शब्द-सृष्टि**—'शब्दसृष्टेः कारणानि पश्यन्ती मध्यमावैखर्यः। कारणानामपि कारणमीक्षणम् । ईक्षण इच्छादित्रयसमष्टिः।

'परमा इति पदं शान्तपरम् इति ।[२]

*** इन्दुमण्डल ही यथार्थ श्री चक्र है ***

'इन्दुमण्डलात्मकं श्री चक्र'[३]

जगत एवं श्रीचक्र

श्री चक्र

श्रीचक्र

* जगत शक्ति का परिणाम या रूपान्तर है। श्री चक्र ब्रह्माण्ड रूप है*

* जगत भी श्री चक्र ही है क्योंकि जगत 'श्री चक्र' की ही तो बाह्याभिव्यक्ति है *

* श्री चक्र विश्व का एक ज्यामितीय चित्र है। *

श्री चक्र एवं जगत दोनों शिवशक्त्यात्मक हैं—

'शिवशक्त्यात्मकं विद्धिजगदेतच्चराचरम् ॥'

*** शरीर स्वयं श्री 'श्री चक्र' है ***

'त्वगसृङ्मांसमेदोस्थि धातवः शक्तिमूलकाः ।
मज्जाशुक्रप्राणजीवधातवः शिवमूलकाः ॥
नव धातुरियं देहो नव योनि समुद्भवः ।
दशमी योनिरेकैव परा शक्तिस्तदीश्वरी ॥'[४]

---

१. अमृतानन्द
२. सेतुबन्धः।
३. लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधरा
४. कामिकागम

मानव शरीर एवं 'श्री चक्र'
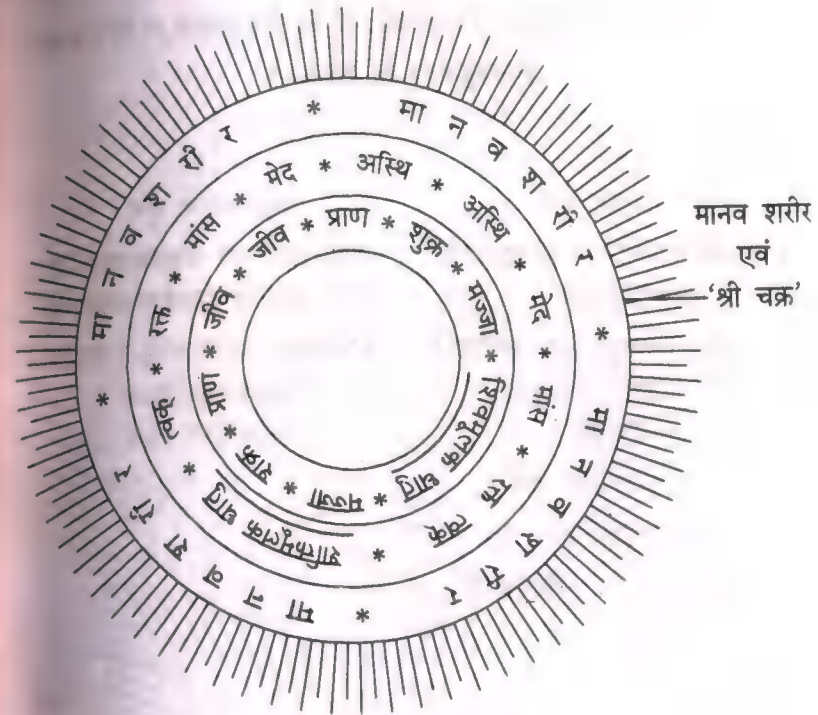
'देवी मन्दिर' = ४३ त्रिकोणों वाल श्री चक्र।।

'सुधासिन्धु' = 'सहस्रकमलान्तर्गत चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती सुधासिन्धुरेव भगवत्या विहरणस्थानमिति 'सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसे' इति 'सुधासिन्धोर्मध्ये' इति च श्लोकद्वयस्यैक एवार्थ इति रहस्यम् ।[१]

सारांश यह कि—सहस्रदलकमल के अन्दर जो चन्द्रमण्डल है वही 'सुधासिन्धु' है और वही भगवती का विहरणस्थान **'सहस्रार'** है। **'सुधासिन्धु'** एवं **'सहस्रार'** दोनों शब्द एकार्थक हैं। भेद केवल यह है कि **'सहस्रार'** में ही **'सुधासिन्धु'** (चन्द्रस्थान) स्थित है।

'बैन्दवस्थान' श्री चक्र के मध्य स्थित है।

(१) 'सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥'

(२) 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि' पत्या विहरसे ॥'

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ९)

* 'श्री चक्र' का नामान्तर **'वियच्चक्र'** भी है। वियच्चक्रत्व = वियत्पूज्यत्व।

*** वियत्पूज्यत्व के प्रकार ***

(१) 'दहराकाशज पूजा'

(१) 'दहराकाशजं नाम हृदयावकाशे चक्रस्य पूजनम्।'

(२) 'इयमेव समयपूजत्याहुः समयितः।' समयाचारियों 'समयपूजा' —लक्ष्मीधर

(३) 'समयाचारो' नाम आन्तरपूजारतिः।'

(४) 'कुलाचारो' नाम बह्यपूजारति-रिति रहस्यम्।' —लक्ष्मीधराः (८)

(२) 'बाह्याकाशज पूजा

'बाह्याकाशजं नाम बाह्याकाशावकाशे पीठादौ भूर्जपत्रशुद्धपटहेमरजतादिपट्ट तलेलिखित्वा समाराधनम्। एतदेव कौलपूजेत्याहुर्वृद्धाः॥' —लक्ष्मीधर (८)

*** 'श्री चक्र' शिव और शक्ति का शरीर है ***
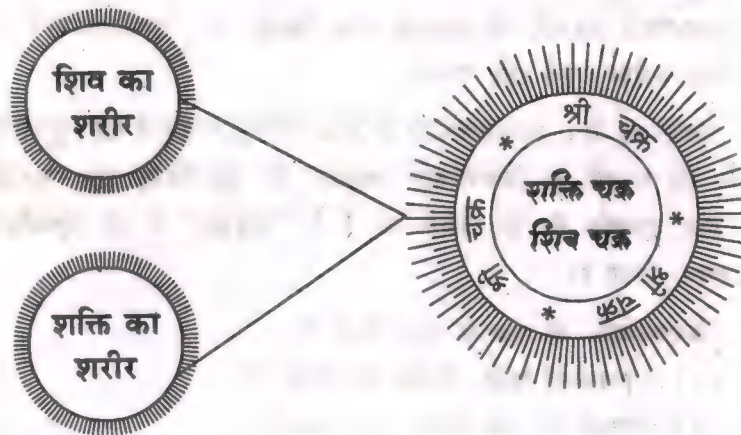
*** षट्चक्र भी श्री चक्र का एक अंग ही है ***

षट् चक्र और श्री चक्र
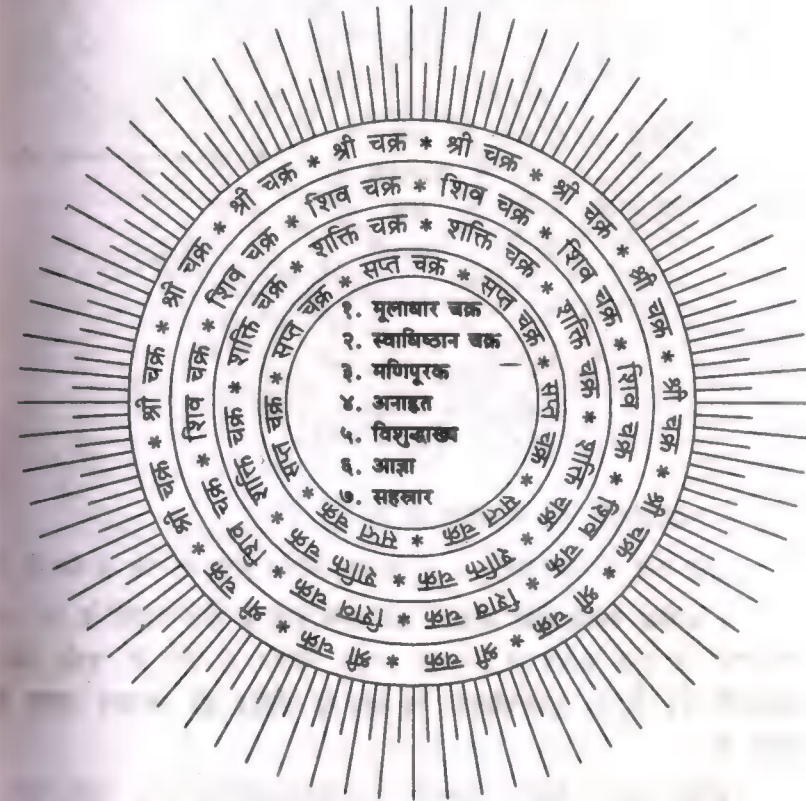
*** षट्चक्ररूप श्री चक्र ***

('श्रीयंत्र के ९ चक्रों को षट्चक्रात्मक माना जाता है। अतः षट्चक्र भी श्री चक्र के रूपान्तर हैं।

* पञ्चदशाक्षरी मन्त्र एवं श्री चक्र *
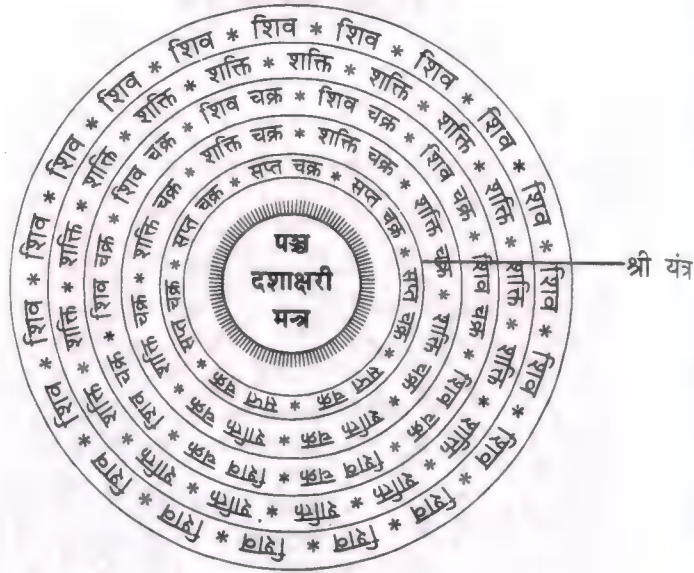
* पञ्चदशाक्षरी मंत्र भी श्रीयंत्र ही है। *

(उक्त मन्त्र की नाद ध्वनि से जो आकार निर्मित होता है, वह श्रीयन्त्र ही है।

*** प्रत्येक ध्वनि एक आकार को जन्म देती है** यथा सङ्गीत के राग एवं रागिणियों के शुद्ध प्रयोग से नए-नए आकार निर्मित हो जाते हैं, **उसी प्रकार पञ्चदशी मंत्र के * शुद्धोच्चारण या जप से श्रीयंत्र का आकार उत्पन्न हो जाता है।**)

शक्ति-चक्र— त्रिकोण-अष्टकोण दशारद्वितयचतुर्दशकोण ५ 'शक्ति-चक्र'

शिव-चक्र—अष्टदल-षोडशदल-मेखला-त्रितय-भूपुरत्रय ४ 'शिव-चक्र'। इत्यादौ 'शक्तिचक्राणि'।

''शक्ति-चक्राणित्रिकोणाष्टकोणदशारद्वितय चतुर्दशकोणात्मकानि पञ्च चक्राणि।।''[१]
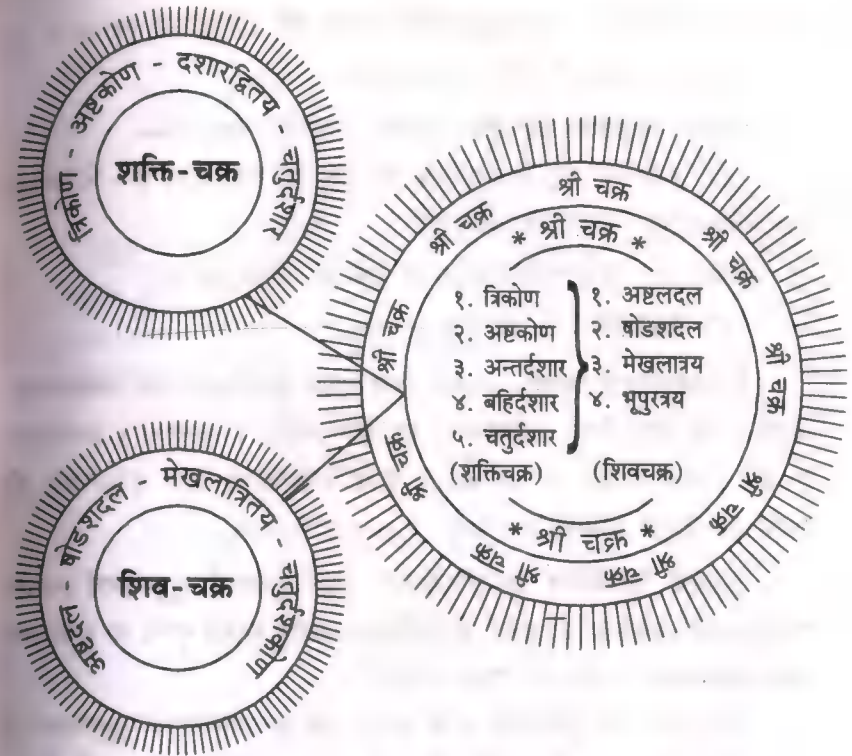
१. लक्ष्मीधरा।।

'शिवचक्राणि तु अष्टदलषोडशदल मेखलात्रितयभूपुरत्रयात्मकानीति।।'

—लक्ष्मीधरा

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्तिमयं ज्ञेयं 'श्री चक्रं' शिवयोर्वपुः ।।

—भैरवयामल/चन्द्रज्ञान विद्या

× × × × × × × ×

भगवान शिव कहते हैं—

'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणाद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च।
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्।

—शिव (भैरवयामल)

यहाँ 'देवीमन्दिर' क्या किसी भौतिक मन्दिर की ओर इङ्गित कर रहा है या किसी प्रतीकात्मक भाव को व्यक्त कर रहा है?

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिकोणात्मक श्री चक्र ही देवी मन्दि है—'देवीमन्दिरं त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मकं श्री चक्रमुच्यते।'[१]

अर्थात् ४३ त्रिकोणों से निर्मित श्री चक्र ही 'देवीमन्दिर' है।

(२) **'देवीमन्दिर'** = श्री चक्र।

शिवार्कमण्डलं भित्वा'—अर्थात् शिवा नामक कुण्डलिनी शक्ति 'अर्कमण्डल' (हृत्कमल के ऊपर स्थित अर्कमण्डल) का भेदन करके, ('आच्छाद्य') अर्कमण्डल के ऊपर स्थित ब्रह्मद्वार को आच्छादित करके सहस्रकमल-स्थित इन्दुमण्डल को डसती है ('दशति द्रावयति')

'अतएव 'कुलयोषित्' कुण्डलिनीशक्तिः 'कुलं कुलमार्गं' सुषुम्नामार्गं त्यक्त्वा तत्रैवेन्दुमण्डले आस्थाय 'परं वर्षणं' द्विसप्ततिसहस्रनाडीषु प्रवर्षणं कृत्वा सा कुण्डलिनी पुनः स्वस्थानमेत्य स्वाधिष्ठानं प्राप्य स्वपिति।।'[२]

सारांश यह कि कुण्डलिनी शक्ति आधार चक्र का त्याग करके सुषुम्नामार्ग से यात्रा करती हुई सहस्रार में जाती है और वहाँ हसस्रारस्थ चन्द्रमा को डसती है। इस सर्पदंश से प्रवाहित अमृत से वह ७२००० नाड़ियों को अमृत से सींचती है और फिर सुषुम्ना-पथ से प्रत्यावर्तन-यात्रा करती हुई पुनः **'मूलाधार चक्र'** में आकर या **'स्वाधिष्ठान'** में आकर वहाँ सो जाती है।

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि आचार्य शंकर ने जो यह कहा है कि—

(१) 'सुधासिन्धोर्मध्ये'

(२) 'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।'

इसमें 'सुधासिन्धु' का अर्थ है—'बैन्दवस्थान' "नवयोनिष्वधः स्थितशिवात्मकयोनि चतुष्कस्योपरि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मक योनिपञ्चकाधः प्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति।'[३]

---

१. लक्ष्मीधरा

२. लक्ष्मीधरा

३. लक्ष्मीधरा (८)

* सिद्धान्त = प्रत्येक ध्वनि एक ज्यामितिक आकार को जन्म देती है। *

(१) मंत्रोच्चारण से यंत्र का आविर्भाव

शाब्द ध्वनियों द्वारा रूप (यंत्र) का आविर्भाव

श्री यंत्र

(शुद्ध सरगमा राग-रागिनियों की ध्वनि हास आकारों का निर्माण होता है उसी प्रकार मंत्र के वर्णों की ध्वनियों से स्वसम्बद्ध 'यंत्र' का निर्माण हो जाता है।

(२) यंत्र की साधना से स्वसम्बद्ध मंत्र का आविर्भाव

समस्त शक्तियाँ सृष्टि की लय का केन्द्र विश्वबीज

पराशक्ति

श्री यंत्र

बिन्दु

त्रिकोण (पराशक्ति की योनि। प्रजनन का केन्द्र।

बिन्दु से त्रिकोण एवं त्रिकोण से अन्य कोणों एवं श्री चक्र का जन्म होता है।
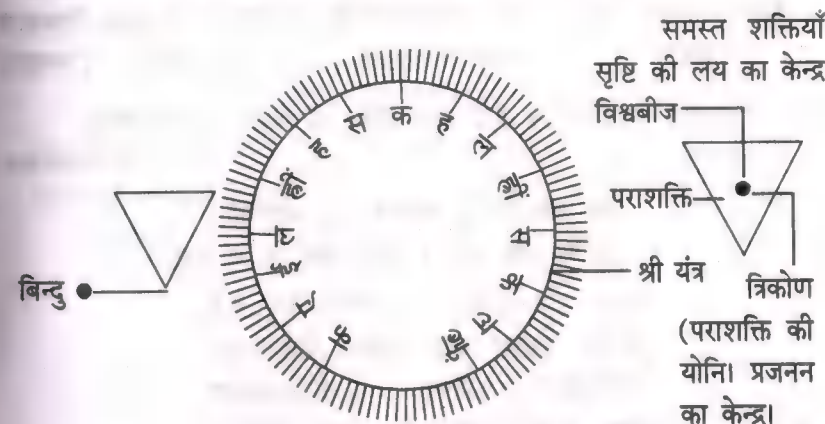
नाद
↓
मंत्रों की ध्वनियाँ = सृष्टि की कारणभूत शक्तियाँ
↓
विश्व = मंत्र रूपों की अभिव्यक्ति

'यंत्र' एवं 'मंत्र' परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। 'यंत्र' मंत्र बन जाता है। 'मंत्र' यंत्र बन जाता है। प्रत्येक ध्वनि एक प्रकार की ज्यामितीय आकृति का निर्माण करता है।

निरन्तराभ्यास या संततोपासना से 'यंत्र' शक्ति का रूप धारण कर लेता है। साधक अनेक वैश्विक गतिविधियों को नियंत्रित कर लेने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

यंत्र की सविध उपासना→वैश्विक तत्त्वों की अभिव्यक्ति→अनेक मा० शक्तियाँ प्राप्त→चित शक्ति का विकास। भौ० वि = सृष्टि का मूल = अणु + योगी = 'शक्ति'।

'मंत्र' 'यंत्र' 'देवता' एक ही हैं।

'चक्र' का क्या अर्थ है? भास्करराय कहते हैं कि शक्तिसमूह का नाम ही 'चक्र' है—

'चक्रं शक्तिसमूहः।।' —सेतुबंध

चक्र-भावन के प्रकार

'सकल'	'सकलनिष्कल'	'निष्कल'
'आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तं' ('सकल')	'ततः सकलनिष्कलम्' (सकल निष्कल)	'उन्मन्यन्तं परे स्थाने निष्कलञ्च त्रिधा स्थितम् ।' (निष्कल)
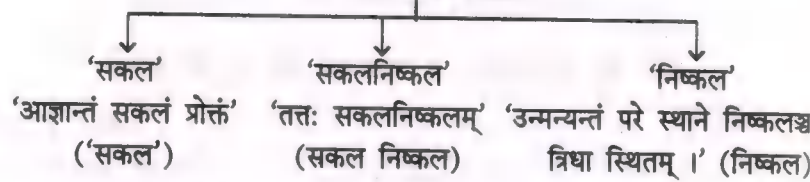
'परस्थाने' महाबिन्दु में शुद्ध शून्य संविद का ध्यान करना चाहिए।

—भास्करराय

श्री चक्र के ९ उपचक्र (९ योनियाँ)
(५ शक्ति चक्र एवं ४ शिव चक्र = ९ चक्र)

'चक्रस्य नवधात्वं च कथयामि तव प्रिये।
आदिमं मूत्रयेण स्याद् द्वितीयं षोडशारकम् ।
अन्यदष्टदलं प्रोक्तं मनुकोणमनन्तरम् ।।
पञ्चमं दशकोणं स्यात् षष्ठं चापि दशारकम् ।
सप्ततमं वसुकोणं स्यान्मध्यत्र्यस्रमथाष्टमम् ।।
नवमं त्र्यस्रमध्यं स्यात् तेषां नामान्यतः शृणु ।'

—योगिनीहृदय (चक्रसंकेत)

*** चक्र नवक ***

'योगिनीहृदय' में श्री चक्र में नवयोन्यात्मक नव चक्रों का वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है—

'त्रैलोक्यमोहनं चक्रं सर्वाशापरिपूरकम् ।
सर्वसंक्षोभणं गौरि ! सर्वसौभाग्यदायकम् ।।

सर्वार्थसाधकं चक्रं सर्वरक्षाकरं परम् ।
सर्वरोगहरं देवि । सर्वरक्षाकरं परम् ।
सर्वरोगहरं देवि ! सर्वसिद्धमयं तथा ।
सर्वानन्दमयं चापि नवमं शृणु सुन्दरि ।
अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी ।
परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम् ।।—योगिनीहृदय (चक्रसंकेत)

'नव योन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत् ।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधाभिन्नमन्त्रकम् ।।'—योगिनीहृदय (चक्रसंकेत १३)

'त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारैऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्त्रके ।।'

मध्यमा वाक् का स्वरूप—

आचार्य भास्करराय कहते हैं—'अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तम भिव्यज्यमानं निश्ययात्मिकया बुद्ध्या युक्तं विशेषस्पन्द प्रकाशरूप नादमय सन्मध्यमावागित्युच्यते।

(घ) वैखरीवाक् का स्वरूप—

आचार्य भास्करराय कहते हैं—'अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादि वर्णरूपपरं श्रोत्रग्रहणयोग्य स्पष्टतर प्रकाशरूप बीजात्मकं सद्वैखरीवागुच्यते।।'

आचार्य भास्कर कहते हैं—

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः ।
पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगोबुद्धियुङ्मध्यमाख्यः
व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा ।
बद्धस्तस्माद्भवति पवन-प्रेरिता वर्ण-संज्ञा ।।'

—प्रपञ्चसार तन्त्र

नित्यातन्त्रकार की दृष्टि—

'नित्यातन्त्र' में कहा गया है—

'मूलाधारे समुत्पन्नः **पराख्यो** विजृंम्पितः ।
स एवोर्ध्वतयानीतः स्वाधिष्ठाने विजृंभितः ।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोर्ध्वं शनैः शनैः ।
अनाहते बुद्धितत्त्व समेतो **मध्यमाभिधः** ।।

(१) 'मूलाधार चक्र' में—'परावाक्'। नाभि देश से नीचे।
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' में—'पश्यन्तीवाक्'। नाभि देश।

(३) 'अनाहत चक्र' में—'मध्यमावाक्'।

(४) 'विशुद्धाख्य चक्र में'—'वैखरीवाक्'।

('तथा तयोर्ध्वनन्त्रः सन्विशुद्धौ कण्ठदेशतः वैखर्याख्या।।")

तीन वाणियों मनुष्य नहीं जानते हैं अतः कहा गया है कि—'चतुर्थों वाचो मनुष्याः वदन्ति।।' (वेद)

श्रीचक्र में अन्तर्भूत लोक-लोकान्तर

'श्री चक्र' अनन्तब्रह्माण्डों की समष्टि भी है अतः यह ब्रह्माण्डस्वरूप है। इसमें अन्तर्निविष्ट एवं अन्तर्भूत लोक-लोकान्तरों का अवस्थान इसके पृथक्-पृथक् उपचक्रादि अङ्गों में है।

*** श्री यन्त्र और उसके नवचक्र ***

(१) महाबिन्दु (२) बिन्दु (३) त्रिकोण (४) अष्टार (५) अन्तर्दशार

(६) चतुर्दशार (८) अष्टदल (८) षोडशदल (९) भूपुर

*** श्री यन्त्र और उसके नवचक्र ***

(१) सर्वानन्द-मय चक्र (२) सर्वसिद्धि प्रद चक्र (३) सर्वरोग हर चक्र (४) सर्वरक्षाकर चक्र (५) सर्वार्थ साधक चक्र
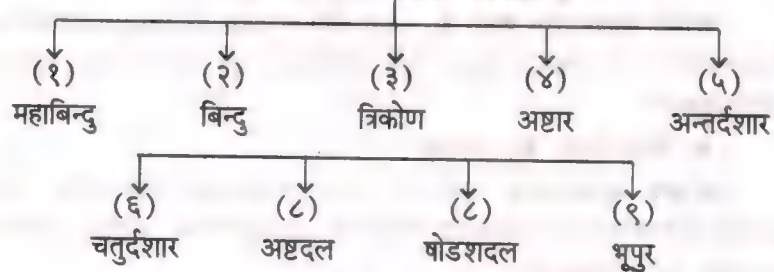
(६) सर्वसौभाग्य-दायक चक्र (८) सर्वसंक्षोभण कारक चक्र (८) सर्वाशापरि-पूरक चक्र (९) त्रैलोक्यमोहन-चक्र
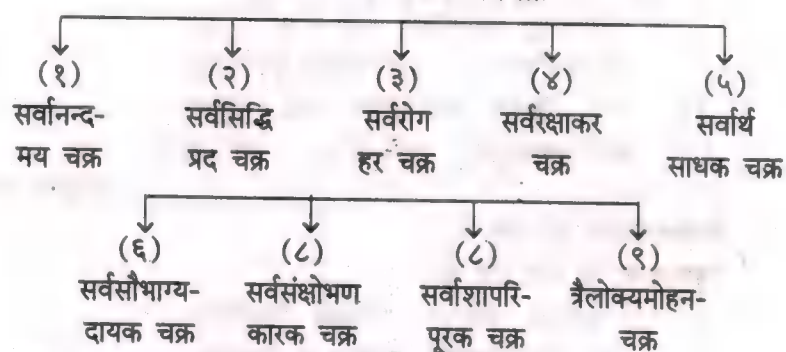
भैरवयामल में कहा गया है कि—

'चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि।'

यदि 'श्री-चक्र' ब्रह्माण्डाकार है तो ब्रह्माण्ड का कौन-सा लोक 'श्री-चक्र' के किस चक्र में हैं?

श्री-चक्र और उसमें लोक-लोकान्तरों का अवस्थान

(१) बिन्दु चक्र / सत्यलोक (२) त्रिकोण / तपोलोक (३) अष्टकोण / जनलोक (४) अन्तर्दशार / महर्लोक (५) बहिर्दशार / स्वर्लोक

(१) चतुर्दशार / भुवर्लोक (२) प्रथमवृत्त / भूलोक

(१) अष्टदल / अतल (२) अष्टदल का बहिर्वृत्त / वितल

श्री चक्र और लोक-लोकान्तर

(१) षोडशदल कमल / सुतल (२) वृत्तत्रय / तलातल (३) भूपुर की प्रथम रेखा / महातल (४) भूपुर की द्वितीय रेखा / रसातल (५) भूपुर की तृतीय रेखा / पाताल
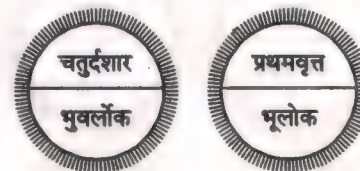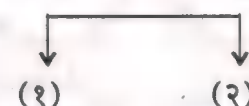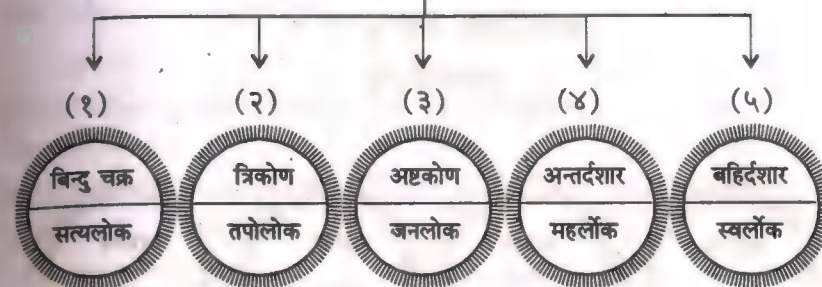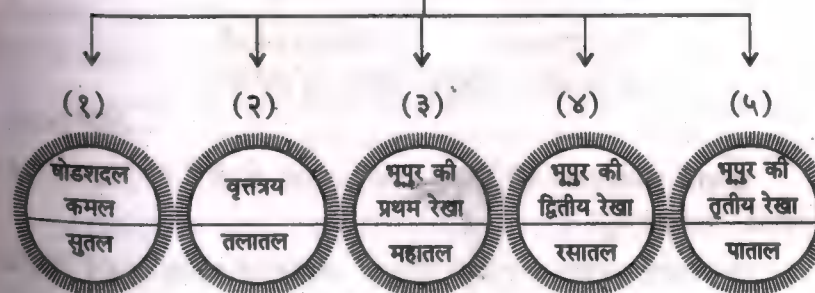
* मानव पिण्ड, षट्चक्र एवं नव चक्रों की पारस्परिक अनुस्यूतता *

* मानव पिण्ड *

ब्रह्मरन्ध्र	मस्तक	ललाट	भ्रूमध्य
बिन्दु	त्रिकोण	अष्टकोण	अन्तर्दशार
कण्ठ	हृदय	कुक्षि	नाभि
बहिर्दशार	अन्तर्दशार	वृत्त	अष्टदल
कटि	स्वाधिष्ठान चक्र	मूलाधार चक्र	जानु
अष्टदल बहिर्वृत्त	षोडशदल	बहिस्त्रिवृत्त	भूपुर की प्रथम रेखा
जङ्घा	जानु		
भूपुर की द्वितीय रेखा	भूपुर की तृतीय रेखा		

'त्रिपुरेशीमहायंत्र पिण्डात्मकमीश्वरि ।
यो जानाति स योगीन्द्: सशम्भुः स हरिर्विधिः।'

—योगिनीहृदय

आचार्य भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्कर कहते हैं कि 'षट्चक्र' एवं 'नवचक्र' परस्परानुस्यूत हैं—

(१) 'आद्यं सहस्रारं विषुनामकं मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतं विशुद्धि

लम्बिकाग्रं भ्रूमध्यञ्चेति नवसु स्थानेषु त्रैलोक्यमोहनादि सर्वानन्दमयान्तानि नव चक्राणि क्रमेण वर्तन्त।।' *** कुण्डलिनी त्रय ***

(२) 'तेषु त्रीणि त्रीणि चक्राण्येकैकं कूटमित्येवरीत्या नवचक्राणां कूटत्रयस्य चाभेदात्तत्तत्स्थानेष्वेव तत्तत्कूटं विभावनीयम् । ततश्चाकुल चक्रस्य मूलमारभ्य मूलमाधारस्याग्र पर्यन्तमूर्ध्वोर्ध्व ककाराद्यक्षरपञ्चकं भूपुर-षोडशदलाष्टदलैर्यथाभागमभिन्नं वह्निसमानवर्णं विभाव्यम् । तदग्रे हि **वह्नि कुण्डलिनी** तिष्ठति तस्याश्च वाग्भवीयहल्लेखान्त्यकामकला याश्चाभेदश्चिन्त्यः तयोरेकस्थानपातित्वात्।।'—

* श्री चक्र और तन्निहित शक्तियाँ *

* श्री चक्रस्थ आवरणदेवता

(१) त्रैलोक्यमोहन चक्र—१० सिद्धियाँ एवं ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा एवं महालक्ष्मी ८ शक्तियों की प्रकट योगिनियाँ (जो आवरण देवता के रूप में पूजित होती हैं।)

(२) सर्वाशापरिपूरक चक्र (षोडशार १६ देवियाँ)—कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी की भाँति अहंकारा०, शब्दा०, स्पर्शा०, रूपा०, रसा०, गंधा०, चिन्ता०, धैर्या०, स्मृत्या०, नामा०, बीजा०, आत्मा०, अमृता० एवं शरीराकर्षिणी।

(३) सर्वसंक्षोभण चक्र (अष्टार) (गुप्तयोनियाँ)—अनङ्गकुसुमा, अनङ्ग, मेखला, अ० मदना; अ० मदनातुरा, अ० रेखा, अ० वेगिनी, अनङ्गाकुशा, अ० मालिनी आदि। इनकी पूजा की जाती है।

(४) सर्वसौभाग्यदायक चक्र (चतुर्दशार)—१४ सम्प्रदाय योगिनियों की पूजा की जाती है। सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वस्तम्भिनी, सर्वजृंभिणी, सर्ववशङ्करी, सर्वरञ्जिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसम्पत्तिपूरिणी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वद्वन्द्वकरी।

(५) वहिर्दशार, सर्वार्थसाधक चक्र—१० योगिनियों की पूजा की जाती है। ये निम्नाङ्कित हैं—सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पतप्रदा, सर्वप्रियंकरी, सर्वमंगलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वदुःखविमोचिनी, सर्वमृत्युप्रशमिनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी, सर्वसौभाग्यदायिनी। (इन्हीं १० योगिनियों की पूजा की जाती है।)

(६) अन्तर्दशार, सर्वरक्षाकर चक्र—इसमें १० देवियों की पूजा होती है। सर्वज्ञा, सर्वशक्ति, सर्वैश्वर्यपदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिविनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा-सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षास्वरूपिणी, सर्वेप्सितफलप्रदा।

(७)सर्वरोगहर चक्र—(अष्टकोण) आकार-अष्टार। चक्रस्थ मूल शक्तियाँ। १. वशिनी, २. कामेश्वरी, ३. मोदिनी, ४. विमला, ५. अरुणा, ६. जयिनी, ७. सर्वेश्वरी, ८. कौलिनी। चक्रेश्वरी = त्रिपुरासिद्धा।।

(८) सर्वरोगहर—सर्वसिद्धिप्रद एवं सर्वानन्दमय चक्र में भी योगिनियों की पूजा की जाती है।

*** चक्र ***

(१) **'महाबिन्दु'**—(आकार = रक्तबिन्दु के भीतर गुप्त श्वेत बिन्दु। चक्रस्थमूलशक्ति = पराशक्ति चक्रेश्वरी = प्रकाशविमर्शरूपिणी पराभट्टारिका।

(२) **'बिन्दु'**—चक्रस्थ मूल शक्ति ललिताम्बा। चक्रेश्वरी—श्रीललिता महाचक्रेश्वरी। योगिनीचक्र = परापर रहस्ययोगिनी चक्र।

(३) 'सर्वसिद्धिप्रद चक्र' (त्रिकोण)

१. चक्रस्थ मूल शक्तियाँ—कामेश्वरी। वज्रेश्वरी। भगमालिनी।

२. चक्रेश्वरी = त्रिपुराम्बा।

श्री चक्र
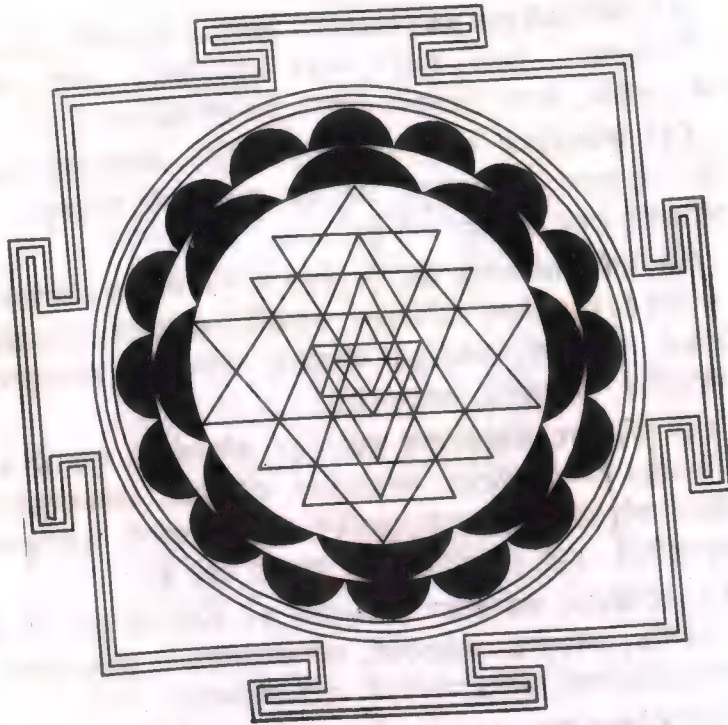
बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ॥

आचार्य पुण्यानन्द की दृष्टि—

बिन्दुद्वय एवं विद्या तथा देवता में अभेद है—

'बिन्दुद्वितयं यद्वदभेदविहीनं परस्परं तद्वत्।
विद्यादैवतयोरपि न भेदलेशोऽस्ति वेद्यवेदकयोः ॥'[१]

वाक एवं अर्थ दोनों परस्पर नित्यसंयुक्त हैं और ये दोनों शिवशक्तिमय हैं। ये शिवशक्ति सृष्टि-स्थिति-लय के रूप में तीन रूपों में विभक्त हैं और 'वाग्भव', 'कामराज' एवं 'शक्तिबीज' तीन बीजों के रूप में स्थित हैं।[२] ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय 'तीन बिन्दु' एवं 'बीज' के विभिन्न रूप हैं। ये तीनों बिन्दु तीनों धामों, तीनों पीठों एवं तीनों शक्तियों के भेद से भी जाने जाते हैं।[३] उनमें ही क्रमानुसार तीन लिङ्ग एवं उसी प्रकार तीन मातृकाएँ स्थित हैं। इस प्रकार जो यह त्रिप्रकारशरीरिणी विद्या देवी है वे तुरीयपीठ एवं समस्त भेदों का मूल हैं।[४] शब्द स्पर्श रूप रस गंध—सूक्ष्म भूत हैं। इनमें से प्रत्येक पूर्ववर्ती परवर्ती व्याप्य का व्यापक है और इस प्रकार सभी को क्रमिक रूप में परिगणित किए जाने पर संख्या में पन्द्रह गुण हैं। यह नित्या (त्रिपुरा) मन्त्रावस्थित पन्द्रह अक्षरों के स्वरूप वाली है और उसी रूप में जानी जाती है जिस रूप में कि वह भूतों में स्थित है एवं त्रिपुरा देवी शब्दादिक गुणों के भेद से परस्पर पृथक रूप में स्थित नित्याओं द्वारा आच्छादित है। पञ्चदशनित्यायें तिथियों के आकार में स्थित हैं और तिथियाँ शिवशक्ति का सामरस्य हैं। ये अहर्निश युक्त हैं। श्री विद्या के मन्त्र के वर्ण हैं तथा प्रकाश एवं विमर्श रूप दो प्रकृतियों वाली हैं।[५]

विद्या का तत्त्वात्मक एवं तत्त्वातीत स्वरूप—बिन्दुत्रय, व्यष्टि-समष्टि दोनों रूपों से स्वरों एवं व्यञ्जनों द्वारा निर्मित विद्या ३६ तत्त्वों से युक्त भी है और उनसे अतीत भी है और साथ ही केवल रूप में अद्वितीय स्थिति में स्थित है।[६] पञ्चदशाक्षरात्मक मंत्र रूप पञ्चदशी विद्या भी उसी प्रकार त्रिपुरावत चिदानन्दस्वरूपिणी, विश्वात्मिका एवं विश्वोतीर्ण है।[७] वह परिच्छेद शून्य त्रिपुरा सुन्दरी देवी है। तत्त्वविद्

१. कामकलाविलास (११)
२. तत्रैव (१२)
३. तत्रैव (१३)
४. कामकलाविलास (१४)
५. कामकलाविलास (१५, १६, १७)
६. कामकलाविलास (१८)
७. कामकलाविलास (१९)

योगियों ने विद्या (पञ्चदशी विद्या) एवं वेद्य (महात्रिपुरसुन्दरी देवी) दोनों में शाश्वतिक सामरस्य या अभेदात्मकता का प्रतिपादन किया है।[१]

देवी मातृका एवं चक्र भी है—सर्वातिशायी महेशी जिसका स्वरूप वितर्कातीत है और जो 'पश्यन्ती' आदि मातृकाओं के रूप में व्यक्त होने के कारण त्रिरूपात्मिका हैं चक्र के रूप में परिणत हो गई हैं। विद्वज्जन महेशी एवं चक्र में रञ्चमात्र भी भेद स्वीकार नहीं करते—

'चक्रस्यापि महेश्या न भेदलेशोऽपि भाव्यतेविबुधैः' स्वयं पराशक्ति इन दोनों—देवता एवं चक्र का सूक्ष्मतर स्वरूप है। स्थूल रूप में भी इन दोनों में कोई भेद नहीं है।[२]

चक्र का मध्यभाग 'परा' से युक्त है। यह 'बिन्दुतत्त्व' है। जब यह विकासोन्मुख होता है तब यह एक त्रिकोण के रूप में रूपान्तरित एवं अभिव्यक्त होता है। **पुण्यानन्द** कहते हैं—

'मध्ये चक्रस्य स्यात् परामयं बिन्दुतत्त्वमेवेदम्।
उच्छूनं तच्च यदा त्रिकोणरूपेण परिणतं स्पष्टम्।।'[३]

यह **'त्रिकोण'** पश्यन्ती एवं अन्य शक्तियों का उद्गमस्थान एवं त्रिबीजात्मक है। **'वामा'**, **'ज्येष्ठा'**, **'अम्बिका'** एवं **'पराशक्ति'** इस शक्ति-चक्र का एक भाग है। **'इच्छा'**, **'ज्ञान'**, **'क्रिया'** एवं **'शान्ता'** अन्य अर्थात् उत्तरवर्ती भाग हैं। दो अक्षर (अ एवं ह) व्यष्टि-समष्टि रूप में गृहीत किए जाने पर ११ रूपों वाली **'पश्यन्ती'** का निर्माण करते हैं। इस प्रकार संयुक्त काम (परमशिव) एवं 'कला' (विमर्श शक्ति) तीन अक्षर हैं जिनका अपना स्वरूप तीन बिन्दु हैं। वही यह है जो कि गुणत्रय के रूप में अभिव्यक्ति पाती है और जिसने कि त्रिकोण का स्वरूप धारण किया है—

'एवं कामकलात्मा बिन्दुतत्त्वस्वरूपवर्णमयी।
सेयं त्रिकोण रूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता।।'[४]

'पश्यन्ती' का स्वरूप क्या है?—'मध्यमा' का स्वरूप क्या है? जो 'परावाक्' के अव्यवहित उत्तरवर्ती है, जो सृष्टिरूपात्मिका है और जो 'वामा' से 'शान्ता' पर्यन्त व्यष्टिभूता शक्तियों की जन्मदात्री (वाक् शक्ति का द्वितीय रूप) है उसे

१. कामकलाविलास (१९)
२. कामकलाविलास (२१)
३. कामकलाविलास (२२)
४. कामकलाविलास (२५)

'पश्यन्ती' कहते हैं। इसके कारण वह नवरूपात्मिका बन गई। माता 'मध्यमा' दो प्रकार के नामों से द्विप्रकारात्मिका है।

(१) 'स्थूल मध्यमा'—नववर्गात्मा (वर्णों के नौ वर्गों वाली) एवं भूतलिपि है।

(२) 'सूक्ष्म मध्यमा'—सूक्ष्म रूप में वह नवनादात्मा है।

वामा और ज्येष्ठा—

'वामा विश्वस्य वमनात् ज्येष्ठा शिवमयी यतः।
द्रावयित्री रुजं रौद्री दोग्ध्री चाखिलकर्मणाम्।।'

(१) 'अम्बिका च सा स्फुरत्ता महासत्तेति'।

(२) 'परावाक्' अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता।

(३) इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियस्तु पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी रूपाः।। (इच्छाशक्तिस्तथा ज्ञेया पश्यन्ती वपुषा स्थिता।)

(४) 'शान्ता'—शान्ता च निष्कलं निष्क्रियं शान्तमित्यादि श्रुत्या निरङ्कुशा चिन्मयी शक्तिः।

सूक्ष्म मध्यमा कारण है और स्थूल मध्यमा कार्य है। तथापि दोनों अभिन्न हैं यथा कारण एवं कार्य।

'परा', 'पश्यन्ती' एवं स्थूल 'मध्यमा' के द्वारा ५१ अक्षरों वाली 'वैखरीवाक्' उत्पन्न हुई।

(१) 'परयापश्यन्त्यापि च मध्यमया स्थूलवर्णरूपिण्या।
एताभिरेकपञ्चाशदक्षरात्मिका वैखरी जाता।।'[१]

(२) 'या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत्।
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादिभूयसा।।'[२]

(३) 'प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृंगारवपुरुज्ज्वला।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।।'

(४) 'वैखरी विश्वविग्रहा वाग्रूपप्रपञ्चमवयवैखरी रूपा जाताः।।'[३]

अभिनव कहते हैं विवक्षात्मक अनुसन्धान ही 'वैखरी' है।[४]

१. कामकलाविलास (३२)
२. तन्त्रालोक
३. अमृतानन्दः 'दीपिका।
४. तन्त्रलोक (३/२४६)

भैरवयामलोक्त 'श्री चक्र' का स्वरूप

(क) * ९ चक्रों का संश्लिष्ट स्वरूप ही 'श्री चक्र' है *

भैरवयामल में कहा गया है कि 'श्रीचक्र'— (१) ५ शक्ति चक्रों एवं, (२) ४ शिव चक्रों से निर्मित हुआ है अतः 'शिवशक्तिमय' है।

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं 'श्रीचक्रं' शिवयोर्वपुः।

'श्रीचक्र' शिव एवं पार्वती का शरीर है।

(ख) * शक्ति चक्र एवं शिव चक्र *

(१) शक्तिचक्र—

'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च॥'

(२) शिवचक्र—

'बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनक्रमात्॥'[१]

(ग) * शक्ति चक्रों एवं शिवचक्रों में ऐक्य है *

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टं अष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोष्षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके।
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बंधं यो जानाति स चक्रवित्॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोण द्वयं तथा।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोण चक्राणि षट्कमात्।
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्ध्याख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः।
तवाधारस्वरूपाणि कोण चक्राणि पार्वति।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपशिशवस्स्मृतः।
अविनाभाव सम्बंधः तस्माद्बिन्दु त्रिकोणयोः॥

*** बिन्दु एवं त्रिकोण में अविनाभाव सम्बंध है ***

(घ) सुधासिन्धु सहस्रार है—'सुधासिन्धु' जिसमें महात्रिपुरसुन्दरी रहती है

---

१. भैरवयामल

वह बाह्य नहीं प्रत्युत् सहस्रार ('सहस्रदलकमल') में स्थित चन्द्रमण्डल मात्र है और 'त्रिपुरसुन्दरी' बैन्दवस्थान की चान्द्र कला, चिन्मयी और आनन्दरूपा आत्मा है—

(क) अतएव सहस्रकमलान्तर्मतचन्द्रमण्डलमध्यवर्ती सुधासिन्धुरेव भगवत्या विहरणस्थानम् 'सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसे।

(ख) 'सहस्रदलकमलान्तस्स्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम्। तत्कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते। सैव 'त्रिपुरसुन्दरी' —लक्ष्मीधरा

* श्री चक्र और सृष्टि की विभिन्न अवस्थायें *

श्रीचक्र सृष्टि (१) **'शुद्ध सृष्टि'** (२) **'शुद्धाशुद्ध सृष्टि'** एवं (३) **'अशुद्ध सृष्टि'** तथा सृष्टि की प्रत्येक अवस्था का मानचित्र है।

तत्त्वातीतावस्था—यह सृष्टिप्राक् वह अनुत्तर अवस्था है जिसमें शिव और शक्ति का सामरस्य रहता है। इस (प्रलयकालिक अवस्था) में विश्व शक्ति-गर्भ में अन्तःसंहतभाव से अर्थात् शक्ति के साथ अभिन्न रूप से अवस्थित रहता है।

जब 'पराशक्ति' अपनी स्वेच्छा या स्वातंत्र्य शक्ति से स्वस्फुरण का साक्षात्कार करती है तभी विश्व की सृष्टि होती है।

'सृष्टि क्या है?' 'सृष्टि' है 'परा शक्ति द्वारा स्वस्फुरण का दर्शन। इस स्वस्फुरण का साक्षात्कार ही विश्व का साक्षात्कार है। विश्व-साक्षात्कार (विश्व-दर्शन) ही विश्व की सृष्टि है। इस अवस्था में—

* दृष्टि ही सृष्टि है *

*** स्वस्फुरण का दर्शन ही 'सृष्टि' है *** जो 'अनुत्तर अवस्था' है उस अवस्था में यह यद्यपि विश्व स्वस्वरूप से अभिन्न रहता है तथापि विश्व को देखा नहीं जा सकता। इसी कारण यह कहा गया है वह अनुत्तरावस्था सृष्टिव्यापार है ही नहीं।

'दृष्टि' या सृजन-व्यापार में शिव उदासीन या तटस्थ ही रहते हैं। यहाँ उनकी स्वरूपभूता 'स्वातंत्र्य शक्ति' ही सब कुछ करती है।

शिव का स्वरूप है—अग्नि या संवर्त्तानल या प्रलयानल। **'शक्ति' का स्वरूप क्या है?**—'शक्ति है सोमस्वरूप' या विवर्तचन्द्ररूपा। दोनों का साम्यभाव 'बिन्दु' नाम से प्रसिद्ध है। यह 'बिन्दु' ही 'रवि' या 'काम' कहा जाता है। इसका क्षोभ (साम्य-भंग) होने पर सृष्टि आरब्ध होती है।

साम्यावस्था में 'अग्नि' एवं 'चन्द्र' रूपी 'रक्त' 'शुक्ल' बिन्दु (अ + ह) 'सूर्य' से अभिन्न रहते हैं। क्षुब्ध होने पर 'चित्कला' का आविर्भाव होता है। अग्नि

के ताप से पिघलने वाले घी की भाँति प्रकाश (अग्नि) के सम्बंध से विमर्श शक्ति का स्राव होने लगता है।

इस प्रकार श्वेत + रक्त बिन्दुओं के मध्य से 'चित्कला' बहने लगती है।

'महाबिन्दु'—रक्तबिन्दु के भीतर स्थित गुप्त श्वेतबिन्दु ही 'महाबिन्दु' है जो कि (रङ्ग की दृष्टि से) श्वेत है। यहाँ शरीरचक्र सहस्रदल कमल है तथा चेतनावस्था 'तुरीयातीत' है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी (चक्रेश्वरी) प्रकाश विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका है। इस चक्र की मूल शक्ति पराशक्ति है।

जहाँ शुद्ध ब्रह्म में चैतन्य का आदि स्फुरण होता है उसी स्थान में यह श्वेतबिन्दुस्वरूप 'महाबिन्दु' स्थित है। यह स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण तीनों देहों से परे 'महाकारण' देहरूप 'तुरीयावस्था' है। यह साकार-निराकार, सविकार-निर्विकार, सगुण-निर्गुण आदि सभी से परे है।

महाबिन्दु-गर्भित शिवशक्ति की कला की संज्ञा 'शान्त्यतीत कला' है।

पुण्यानन्दनाथ की दृष्टि—तन्त्राचार्य पुण्यानन्दनाथ (अमृतानन्द के पिता) 'महाबिन्दु' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

'परशिव रविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे।
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः॥'

अर्थात् प्रकाशैकस्वभाव परशिवभट्टारकरूप सूर्य की रश्मियों के समूह का विमर्शस्वरूप स्वच्छ दर्पण में (स्वस्वरूपावलोकन रूप) प्रतिफलन होने से तदुत्पन्न प्रतिप्रकाश, सुरम्य चित्त रूपी दीवार पर, 'महाबिन्दु' रूप में प्रकाशित होता है या प्रविष्ट होता है।

'महाबिन्दु' चित्त की दीवार पर आविर्भूत या प्रकाशित होता है। 'विमर्श' क्या है? अवधिशून्य आकार-विस्फुरण की शक्ति—'विमर्शो नाम अनवधिकाकारविस्फुरण शक्तिः।'[1]

नटनान्द कहते हैं कि उसी 'विमर्श' नामक शक्ति को 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में 'स्फुरत्ता' कहा गया है। 'प्रतिफलन' क्या है? प्रतिफलन है शिव का स्वस्वरूपावलोकन स्वरूप आत्मप्रतिबिम्बन।

'प्रतिफलनं' नाम स्वस्वरूपावलोकनम्।'[2]

इस प्रतिफलन का परिणाम यह होता है कि चित्तरूपी दीवार पर 'महाबिन्दु' आविर्भूत होता है।

यदि हम किसी भी दर्पण को सूर्याभिमुख रक्खें तो सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण

१. नटानन्दः 'चिद्वल्ली' (४)
२. चिद्वल्ली (४)

में प्रादुर्भूत होगा और वह अपने सामने स्थित दीवार पर भी अपने प्रतिबिम्ब (प्रतिप्रकाश) का आविर्भाव करेगा।

*** महाबिन्दु का स्वरूप ***

शिव रूप सूर्य
सूर्य का प्रतिबिम्ब
शक्ति-दर्पण
बुद्धि रूप दीवार
(बुद्धि रूपी दीवार पर प्रत्यावर्तित होकर अंकित सूर्य के प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब)
बुद्धि रूप दीवार पर विमर्शस्थ सूर्य के प्रतिबिम्ब का प्रतिप्रकाश रूप सूर्य का प्रतिबिम्ब
महाबिन्दु
सूर्य का प्रतिफलन (सूर्यस्वरूप) शिव का स्वस्वरूपावलोकन।
सूर्य के प्रतिबिम्ब अर्थात् महाबिन्दु
सूर्य के प्रतिबिम्ब का प्रतिबिम्ब
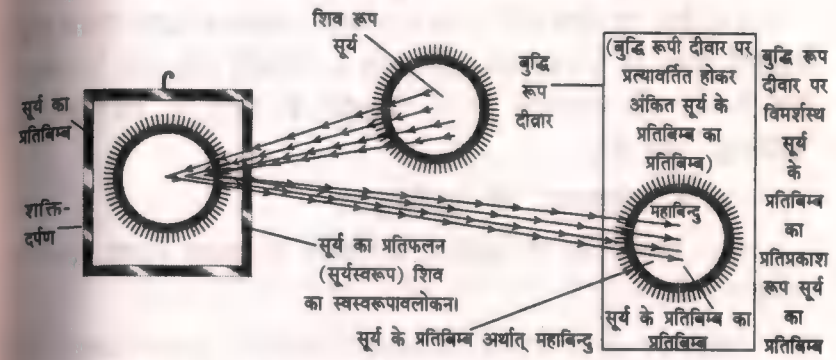
(१) सिसृक्षु शिव अपने भीतर स्थित एवं दर्पण की भाँति निर्मल दृष्टिगोचर होने वाली 'विमर्शशक्ति' में अपने को देखता है अतः उसमें उसका प्रतिबिम्ब अंकित हो जाता है।

(२) शिव एक सूर्य है और उसकी शक्ति एक दर्पण है। जब शिव अपने शक्तिरूप दर्पण में अपने को देखता है तो उस दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंकित हो उठता है। इसी को **पुण्यानन्द** ने सूर्य के बिम्ब का 'प्रतिफलन' (अर्थात् प्रतिबिम्ब) कहा है।

(३) यदि हम एक दर्पण सूर्याभिमुख रक्खें तो उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब अंकित हो उठेगा किन्तु यदि दर्पण के सामने कोई दीवार खड़ी हो तो दर्पण में अंकित सूर्य प्रतिबिम्ब प्रत्यावर्तित होकर उस दीवार पर भी अंकित हो उठेगा।[1]

(४) दर्पण में अंकित सूर्य के प्रतिबिम्ब को पुण्यानन्द ने 'प्रतिफलन' कहा तथा प्रतिफलन से निर्मित एवं दीवार पर अंकित सूर्य-प्रतिबिम्ब को 'प्रतिरुचि' (प्रतिप्रकाश) कहा।[2]

नटनानन्द की दृष्टि—नटनानन्द कहते हैं—

(१) 'विमर्शदर्पणे (परशिवस्य) प्रतिफलनम् नाम स्वरूपावलोकनम्॥'[3]

(२) 'लोकेऽपि सूर्याभिमुखस्थित दर्पणतले सूर्यकिरण-प्रतिफलनानन्तरं निकटगत कुड्ये सूर्यकिरणप्रतिहत तेजोबिन्दुः प्रत्यक्षं प्रतिपद्यते। तद्वत्प्रकाशरूपपरमेश्वरस्य दर्पणवत् स्वस्वरूपविमर्श सम्बन्धे जाते तदानीं तत्र 'महाबिन्दुः' पूर्णोऽहमित्येवंरूपः परमेश्वरोऽवभासता॥'[4]

१. चिद्वल्ली
२. चिद्वल्ली
३. चिद्वल्ली
४. चिद्वल्ली

सारांश यह है कि परमशिव—

(१) प्रथमतः शक्ति में प्रतिबिम्बित होता है।

(२) शिव के इस प्रतिबिम्बन को 'प्रतिफलन' कहा गया है।

(३) फिर वह (विमर्शरूप दर्पण में अंकित) 'प्रतिफलन' अपने निकट स्थित बुद्धिरूपी दीवार पर अनुप्रतिबिम्ब (प्रतिप्रकाश = 'प्रतिरुचि') के रूप में आविर्भूत होता है और इसी प्रतिप्रकाश को जो कि बुद्धि की दीवार पर उदित होता है, **'महाबिन्दु'** कहते हैं।[१]

(४) * **'प्रतिफलन' एवं 'महाबिन्दु'** *

(क) विमर्श-दर्पण में सूर्यबिम्ब का अंकन ही उसका (प्रथम प्रतिबिम्ब) 'प्रतिफलन' है।

'प्रतिफलन' है = परशिव का स्वस्वरूपावलोकन—'स्वस्वरूपप्रकाशत्वात्तत्र प्रतिफलनं नाम स्वस्वरूपावलोकनम् ।।'

(ख) **'महाबिन्दु'** क्या है? यह है आत्मप्रत्यभिज्ञा (शिव की अपनी प्रत्यभिज्ञा) : 'पूर्णोऽहं' की पहचान 'महाबिन्दुः पूर्णोऽहमित्येवरूपः परमेश्वरोऽवभासत।।' 'महाबिन्दु' शिव की 'पूर्णोऽहम्' की आत्मानुभूति है।

परब्रह्म का जगत्कारणत्व तभी चरितार्थ होता है जब वह अपनी शक्ति का साक्षात्कार करता है—

'स्वात्मशक्तिनिरीक्षणाभिमुखं परब्रह्मं जगत्कारणरणमित्युच्यते ।।'[२]

*** महाबिन्दु उन्मना से भी ऊपर स्थित है ***

'महाबिन्दु' तुर्यातीतावस्था के स्तर पर (शक्तिकूट) के शिखर पर उन्मना से भी ऊर्ध्व में स्थित है।

आगमों ने भी इस अवस्था के वर्णन इसी रूप में किया है—

'स्फुरत्तात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ।।[३]

प्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदये परमेष्ठिनः ।।'[४]

---

१. चिद्वल्ली (श्लोक ४)
२. चिद्वल्ली (नटनानन्द)
३. वरिवस्यारहस्यम् (१/२६)
४. भास्करराय

परमानन्द योगी ने भी यही बात कही है—

'इदृगियत्तादि वचो दूरतरं स्वानुभूतिसंवेद्यम्।
तत्तादृशस्फुरत्ताशेषं संवित्कथानुसारारव्यम् ।।'

यही नैसर्गिकी स्फुरता है जिसकी सहायता से शिव जगत की उत्पत्ति, पालन एवं संहार किया करता है—

'नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्यवर्तते शक्तिः।
तद्योगागदेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति ।।'

'महाबिन्दु' की स्थिति कहाँ है?

भास्करराय की दृष्टि—भास्करराय कहते हैं कि—

'ऊर्ध्वाधोबिन्दुद्वयसंयुतरेखा कृतिः समना।
सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं महाबिन्दुः ।।'[१]

'महाबिन्दु' उन्मना शक्ति से भी अतीत है।

(क) 'मूलाधार' से ऊपर स्वाधिष्ठान, 'स्वाधिष्ठान' से ऊपर मणिपूरक, मणिपूरक से ऊपर **'अनाहत'**, अनाहत से ऊपर **'विशुद्धाख्य'**, विशुद्धाख्य से ऊपर **'आज्ञा'**, आज्ञा से ऊपर सुषुप्ति रूप 'बिन्दु' स्थित है।

(ख) 'बिन्दु' से ऊपर अर्द्धचन्द्र, अर्धचन्द्र से ऊपर 'रोधिनी' रोधिनी से ऊपर 'नाद', नाद से ऊपर 'नादान्त', नादान्त से ऊपर 'शक्ति', शक्ति से ऊपर 'व्यापिनी', व्यापिनी से ऊपर 'समना', समना से ऊपर 'उन्मना' एवं उन्मना से ऊपर 'महाबिन्दु' अवस्थित है।

'पञ्चदशाक्षरी श्री विद्या' की 'शक्ति कूट' वाली तुर्यातीतावस्था में भी सर्वोच्च शिखर पर 'महाबिन्दु' अवस्थित है।[२]

भास्करराय कहते हैं—

'प्रकृतानुपयुक्तमप्युन्मनो परिस्थानं चक्रराजस्य त्रिविध-भावनान्तर्गतनिष्कल भावनायामुपयुक्तत्वेन प्रसङ्गादाह—तदूर्ध्वं 'महाबिन्दु'रिति।[३]

---

१. कामकलाविलास
२. भास्करराय
३. प्रकाश (१/२६) 'महाबिन्दु' शिव के आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है।

स्वच्छन्दसंग्रहकार की दृष्टि—'महाबिन्दु' तत्त्वातीतावस्था है। **'स्वच्छन्दतंत्र'** में कहा गया है—

'तत्त्वातीतं वरारोहे वाङ्मनोऽतीतगोचरम्।
अनिष्कलं चासकलं नीरूपं निर्विकल्पकम्।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम्॥'

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद (आचार्य शंकर के परमगुरु) कहते हैं—

(१) 'सहस्रार' (सहस्रदलकमल) से आविर्भूत 'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' के १० दल 'मणिपूर' चक्र के १० दल बन जाते हैं।

(२) हृदय (अनाहतचक्र) तथा 'मूलाधार चक्र' के दल मिलकर १६ दल 'विशुद्ध चक्र' के १६ दल हो जाते हैं।

(३) वही एक 'सहस्रार' चक्र' वह (एक) बिन्दु बन जाता है जिससे कि जगत की उत्पत्ति आदि व्यापार निष्पन्न किये जाते हैं—

'अधिष्ठानाधार द्वितयमिदमेव दशदलं,
सहस्राराज्जात मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम्॥'
हृदम्भोजान्मूलात्रृपदलमभूतस्वान्तकमलं,
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम्॥'

एक ही **सहस्रारस्थ बिन्दु** विभक्त होकर 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' बन जाता है और दशधा विभक्त हो जाता है—

'दशधा। भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः'

इसे ही 'परबिन्दु' कहा जाता है।

* 'सहस्रार' में एक 'बिन्दु' के रूप में भगवती परासंवित् का ध्यान करना चाहिए। *

निःशेष प्रपञ्च-विस्तार उस परासंवित् का ही रूप है, उसी का रूपान्तर है, उसी का आत्मप्रसार है।

'सहस्रार' से भी ऊपर **'परमबिन्दु'** है किन्तु **आचार्य गौड़पाद** कहते हैं कि 'सहस्रार' ही बिन्दु बन जाता है और उसी से 'बैन्दवगृह' का भी आविर्भाव होता है। वही सहस्रार १० भागों में या १० रूपों में विभक्त हो जाता है—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं,
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।

ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तद्दशदलं।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुरभवत्॥'

'महाबिन्दु' में रूप, वर्ण एवं उच्चारणकाल तीनों नहीं हैं—

'महाबिन्दौ......... रूपवर्णोच्चारणकाला न विद्यन्ते।'

—यो०हृ०दीपिका (अमृतानन्द)

यह विश्वोतीर्ण है—'विश्वोत्तीर्णत्वात्॥'

शंका—'सहस्रार' चक्र से ऊपर 'बिन्दु' है और बिन्दु से ऊपर 'अर्द्धचन्द्र' तथा अर्द्धचन्द्र से ऊपर 'रोधिनी', रोधिनी से ऊपर 'नाद', नाद से ऊपर 'नादान्त', नादान्त से ऊपर 'शक्ति', शक्ति से ऊपर 'व्यापिका', व्यापिका से ऊपर 'समना' एवं समना से ऊपर 'उन्मना' स्थित है और उन्मना से ऊपर'महाबिन्दु' है तो क्या गौड़पाद का 'दशधा विभक्त होने वाला परमबिन्दु' महाबिन्दु नहीं प्रत्युत् अर्धचन्द्र के नीचे स्थित 'बिन्दु' मात्र है?

इस प्रश्न का उत्तर यथावसर सविस्तार प्रस्तुत किया जाएगा।

* महाबिन्दु का स्वरूप *

(१) कामकलाविलासकार की दृष्टि—

परशिवरविकर निकरे, प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे।
प्रतिरुचि रुचिरे कुड्ये, चित्तमये निविशते **महाबिन्दुः**॥'

(२) वरिवस्यारहस्यकार की दृष्टि—

सैवोर्ध्वबिन्दुहीनोन्मना तदूर्ध्वं **महाबिन्दुः**॥ (१/२६)

(३) गौड़पादाचार्य की दृष्टि—

सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवं गृहं।
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्॥

(४) आगम की दृष्टि—

दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः
चतुर्धाधार कमले षोढाऽधिष्ठान पंकजे।
उभयाकाररूपत्वात् इतरेषां तदात्मता॥

(५) शारदातिलककार की दृष्टि—लक्ष्मणदेशिकेन्द्र कहते हैं—

'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दु समुद्भवः।

अर्थात् सच्चिदानन्द एवं नाद से 'बिन्दु' का आविर्भाव हुआ।

—'नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥' (१/७)

(६) **प्रपञ्चसारतंत्रकार की दृष्टि**—आचार्य शंकर कहते हैं—

'सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्र ज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्धनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम् ॥ —(प्र० सा० तं०)

(७) **पाञ्चरात्रकार की दृष्टि**—वैष्णवागम के सर्वोच्च ग्रंथ 'पाञ्चरात्र' में कहा गया है—

'एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
समस्ततत्त्वसंघातमस्फुर्त्याधिष्ठानरूपिणीम्।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्।
तस्या एव नादबिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ ॥'

(८) **प्रयोगसारकार की दृष्टि**—

'नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता सैव सर्गक्षमा तेन।'

(९) **अन्य दार्शनिकों की दृष्टि**—

'अभिव्यक्ता पराशक्तिर विनाभावलक्षणा
अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः।
समस्ततत्त्वभावेन विवर्तेच्छासमन्विता
प्रयाति बिन्दुभावञ्च क्रियाप्राधान्यलक्षणम् ॥'

(१०) **आचार्य लक्ष्मणदेशिक की दृष्टि**—आचार्य लक्ष्मणदेशिक कहते हैं कि 'वह परशक्तिमय 'बिन्दु' पुनः तीन भागों में विभक्त हो गया। उसके ये भेद इस प्रकार हैं—

(क) **'बिन्दु'** (ख) **'नाद'** एवं (ग) **'बीज'**।

ये भेदत्रय वाले 'बिन्दु' एवं 'नाद' पूर्वोक्त 'बिन्दु' एवं 'नाद' से पृथक हैं।

सच्चिदानन्द सकल परमेश्वर→'शक्ति'→'नाद'→'बिन्दु'→(१) बिन्दु, (२) नाद, (३) बीज।

शिवात्मक 'बिन्दु' } + शक्त्यात्मक 'बीज' } बिन्दु और बीज या शिव शक्ति में } 'नाद' (नादाविर्भाव)

'परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः।

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः।'

—शारदातिलकम्।

(१) 'बिन्दु' → रौद्री शक्ति
(२) 'नाद' → ज्येष्ठा शक्ति
(३) 'बीज' → वामा शक्ति का आविर्भाव हुआ।

लक्ष्मणदेशिकेन्द्र ने 'परमबिन्दु' 'परबिन्दु' या 'महाबिन्दु' शब्दों का उल्लेख नहीं किया।

'योगिनीहृदय' में कहा गया है—

'आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तं ततः सकलनिष्कलम्।
उन्मन्यन्तं परे स्थाने निष्कलञ्च त्रिधा स्थितम् ॥'

यह **'पर स्थान'** ही है—'महाबिन्दु'।

प्र०—यदि यह कहा जाय कि 'बिन्दु' (अर्द्धचन्द्र के नीचे स्थित बिन्दु पिकरा करते करते) 'सहस्रार' बन गया तो तर्कसङ्गत है। 'बिन्दु' कारण है और 'सहस्रार' कार्य है किन्तु 'सहस्रार' ही 'बिन्दु' बन गया और उसी बिन्दु से 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' चक्र उत्पन्न हुए—यह कथन तो कथमपि संभव नहीं है। 'बिन्दु' सहस्रारातीत अवस्था है अतः उसका निम्नतम चक्र बनना कथमपि संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में यह 'बिन्दु' कौन-सा है जो दशधा विभक्त हुआ और सहस्रार से एकीभूत है? —यो०हृ० दीपिका

(निष्कल श्रीचक्र तो 'परस्थान' महाबिन्दु में है।)

(क) अकुल से आज्ञा चक तक के चक्र = **'सकल'**
(ख) आज्ञा चक्र से ऊर्ध्वस्थित बिन्दु से उन्मना तक = **'सकल निष्कल'**
(ग) उन्मना के ऊर्ध्व में अवस्थित 'महाबिन्दु' = **'निष्कल'**

'सकल चक्र' (१)	'सकलनिष्कल चक्र' (२)	'निष्कल चक्र' (३)
अकुल से आज्ञा	बिन्दु से उन्मना तक के चक्र	उन्मना से ऊपर = 'महाबिन्दु'
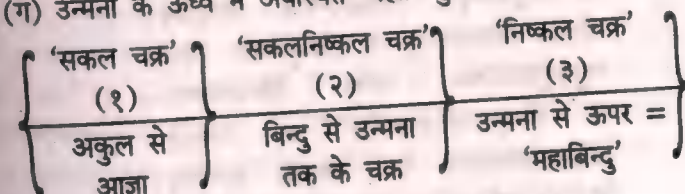
(१) **'महाबिन्दु'** ही विश्व का हृदय है।
(२) **'महाबिन्दु'** ही विश्वातीत परमेश्वर या शिवशक्ति का आविर्भावस्थान या आसन है।
(३) वस्तुतः **'महाबिन्दु'** ही सदाशिव है। इसके ऊपर चित्कला या चिच्छक्ति स्वातंत्र्यमयी होकर क्रीड़ा करती है। यह क्रीड़ा 'परावाक्' या परामात्रा का विलास है।

(४) **'महाबिन्दु' के स्पन्दन** से तीनों विलीन बिन्दु पृथक्-पृथक् होकर रेखा रूप में परिणत होकर **'महात्रिकोण'** का आकार ग्रहण कर लेते हैं। इसी से शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों से निर्मित 'विश्व' का निर्माण होता है।

(५) **'महाबिन्दु' ही सदाशिव** है जिसके ऊपर (चित्कला) या चिच्छक्ति स्वातंत्र्यमयी होकर क्रीड़ा करती है। यह क्रीड़ा क्या है? यह क्रीड़ा 'परावाक्' या परामात्रा का विलास है। शुक्ल तथा रक्तबिन्दुरूप प्रकाश—विमर्शमय कामकलाक्षर के परस्पर संघट्ट से 'चित्कला' का आविर्भाव होता है।

* बिन्दु *

आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति ज्योति के सम्पर्क में आने पर 'चिन्मात्रा' है। वह चिन्मात्रा प्रकृति, सिसृक्षा होने पर घनीभूत हो जाती है और रूपान्तरित होकर 'बिन्दु' केरूप में प्रकट होती है। यही बिन्दु 'काल' रूप साधन से (Through insturumentality of kala) अपने को तीन भागों में विभाजित कर लेता है। ये तीन भाग निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'स्थूल बिन्दु'** (२) **'सूक्ष्म बिन्दु'** (३) **'परबिन्दु'**। इन्हें ही क्रमशः—

(क) **'बीज'** (ख) **'नाद'** एवं (ग) **'बिन्दु'** कहते हैं।

जब **'परमबिन्दु'** आत्मविभाजन करता है तब उस समय एक 'अनाहतनाद' का आविर्भाव होता है। इस अनाहत नाद को ही **'शब्दब्रह्म'** कहते हैं। यह 'अवाच्य' और 'स्वसंवेद्य' है।

आचार्य शंकर अपने शब्दों में इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

'प्रकृतेश्च क्वचित् कालो विकृतिं प्रतिपादयेत् ॥४०॥
सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।
कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ॥
स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते।
तद्विस्तारप्रकारोऽयं यथा वक्ष्यामि साम्प्रतम्।
बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मको भवेत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।

—प्रपञ्चसारतन्त्रः प्रथम पटल

इसी अव्यक्त ध्वनि से **'महत्तत्त्व'** का आविर्भाव हुआ। महत्तत्व से त्रिकारात्मक (वैकारिक, तैजसिक एवं सात्विक) अहंकार का प्रादुर्भाव हुआ। 'अहंकार' से ५

तन्मात्राओं का एवं तन्मात्राओं से स्थूल पञ्चमहाभूतों का आविर्भाव हुआ। अहंकार से ही किन्तु गुणदोषमयी शक्ति के माध्यम से 'शब्द' उत्पन्न हुआ। 'शब्द' से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी तत्त्व का आविर्भाव हुआ। अहंकार से ही कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की भी उत्पत्ति हुई। आविर्भूत तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) **'प्रकृति'**—(मूल प्रकृति) = प्रकृति है।

(२) **'प्रकृति-विकृति'**—महत्तत्व, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्रायें **'प्रकृति-विकृति'** तत्त्व हैं।

(३) **'विकृति'**—१६ पदार्थ (षोडशक) १० इन्द्रियाँ ५ महाभूत एवं मनविकृति पदार्थ हैं। ये ही **१६ विकार** कहे जाते हैं।

आचार्य श्री कहते हैं—

'अव्यक्तादन्तरुदितत्रिभेदगहनात्मकम् ।
महन्नाम भवेत्तत्त्वं महतोऽहङ्कृतिस्तथा।
भूतादिक-वैकारिक-तैजसभेद क्रमादहंकारात्।
कालप्रेरितया गुणघोषयुजा शब्दसृष्टिरथ शक्त्यः।
शब्दाद् व्योम स्पर्शतस्तेन वायु
स्ताभ्यां रूपाद्वह्नि रेतै रसाच्च।
अम्भांस्येतैर्गन्धतो भूर्धराद्या,
भूताः पञ्चस्युर्गुणोनाः क्रमेण ॥'

—आचार्य शंकर (प्रपञ्चसारतन्त्र)

आचार्य भास्कर की दृष्टि—आचार्य भास्करराय ने 'ललितासहस्रनाम' पर प्रणीत अपने भाष्य ('सौभाग्य भास्कर') में आचार्य शंकर के इस दार्शनिक विवेचन की इस प्रकार व्याख्या की—

(१) प्राणियों के पूर्वकृत कर्मों के परिपक्व हो जाने पर तदनुरूप (अर्थात् उसी प्रकार का) कर्मभिन्न एवं मायावच्छिन्न ब्रह्म 'घनीभूत' कहलाता है—'प्राणिकर्मणामपरिपाकदशायां तादृश कर्मभिन्न मायावच्छिन्नं ब्रह्म घनीभूतमित्युच्यते।।'

(२) यथाकालक्रमानुसार प्राणियों के कर्मों के परिपक्व हो जाने पर परिपाकप्रागभाव **'विचिकीर्षा'** कहलाती है—'परिपाकप्रागभावो विचिकीर्षेत्युच्यते।।'

(३) फिर कर्मों के परिपाक के क्षण में मायावृत्ति का आविर्भाव होता है। उस प्रकार का परिपक्व कर्माकार परिगणित मायाविशिष्ट ब्रह्म **'अव्यक्त'** कहलाता है। इसीलिए उसकी उत्पत्ति भी इस प्रकार स्मरण की जाती है—

'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम् ।।'

(१) यह (यही अव्यक्त) जगदङ्कुरकन्द रूप होने के कारण 'बिन्दु' कहा जाता है—'कारणबिन्दु' पदेन व्यवह्रियते।।'

'प्रपञ्चसारतन्त्र' में आचार्य शंकर ने इसी प्रसंग में कहा है कि—
'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुता ।।'

(२) इसी **'कारणबिन्दु'** के संपर्क (सामीप्य, उपस्थित, निकटवर्ती पड़ोस) से **'कार्यबिन्दु'** और 'कार्यबिन्दु' से **'नाद'** एवं 'नाद' से **'बीज'** उत्पन्न होते हैं—

(क) कारण बिन्दु → कार्य बिन्दु
(ख) कार्य बिन्दु → नाद
(ग) नाद → बिन्दु

'कारणबिन्दोः सकाशात् क्रमेण कार्यबिन्दुस्ततो नादस्ततो बीजमिति बीजमुत्पन्नम्।'
—सौ० भास्कर

इन्हें ही **'पर' 'सूक्ष्म' 'स्थूल'** कहा जाता है। इनके तीन रूप हैं—(१) चिदंश, (२) चिदंशअचिदंशमिश्रित, (३) अचिदंश।

कालशक्ति से भिद्यमान होने पर एक ही 'बिन्दु' तीन भागों में विभाजि हो जाता है।

(१) करण बिन्दु
(३) कार्य बिन्दु
(२) नाद
(४) बीज

(१) जगदङ्कुर कारण बिन्दु
(२) कार्य बिन्दु
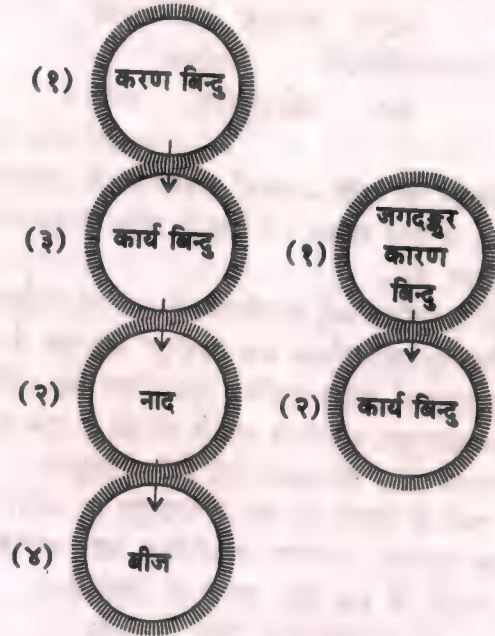
'कारण बिन्दु' आदि चार अधिदैवत—(१) अव्यक्त, (२) ईश्वर, (३) हिरण्यगर्भ एवं (४) विराट।

इन्हें (१) 'शान्ता', (२) 'वामा', (३) 'ज्येष्ठा' और (४) 'रौद्री' या (१) 'अम्बिका', (२) 'इच्छा', (३) 'ज्ञान' और (४) 'क्रिया' कहा जा सकता है।

अधिभूत स्वरूप—(१) **'कामरूपपीठ'**, (२) **'पूर्णगिरिपीठ'**, (३) **'जालन्धर-पीठ'** एवं (४) **'उड्याणपीठ'** कहा जा सकता है। —नित्याहृदय

अध्यात्म स्वरूप—कारणबिन्दु है मूलाधारस्थ विश्वजननी कुण्डलिनी।

अविभागावस्थ कारणबिन्दु क्या ?

'शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमां ।
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः ।
—अयमेव च अविभागावस्थः 'कारणबिन्दुः' ।

यही कारण बिन्दु 'कार्यबिन्दु' आदि के रूपों में रूपत्रयाकाराकारित होकर आविर्भूत होता है—

'अयमेव च यदा कार्यबिन्द्वादित्रय जननोन्मुखो भिद्यते तद्दशायामव्यक्तः शब्दब्रह्माभिधेये रवस्तत्रोत्पद्यते। 'सोऽयं र वः कारणबिन्दुतादात्म्यापन्नत्वात् सर्वगतोऽपि व्यञ्जक यत्न संस्कृत पवनवशात् प्राणिनां मूलाधारे एवाभिव्यज्यते—
'देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन्समुदेति समीरणः ।
विवक्षोरिच्छयोत्थेन प्रयत्नेन सुसंस्कृतः ।।'

(१) 'कारणबिन्दु' 'शब्दब्रह्म' एवं 'परावाक्'—

(क) 'परावाक्'—आचार्य भास्करराय कहते हैं—
'कारणबिन्द्वात्मकमभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दं तदेव च परावागित्युच्यते।
—सौभाग्य भास्कर

(ख) 'पश्यन्ती वाक्'—यही परावाक् नाभि में व्यक्त होने पर **'पश्यन्ती वाक्'** कहलाता है।

'अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्शरूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्द प्रकाशरूप कार्यबिन्दुयमं सत्पश्यन्तीवागुच्यते। —सौभाग्य भास्कर

(१) **भास्करराय** कहते हैं—'इत्थ चतुर्विधासु मातृकासु परादित्रयमजानन्तो मनुष्याः स्थूलदृशो वैखरीमेव वाचं मन्वते।' —भास्करराय 'सौभाग्यभास्कर'

(२) **श्रुति कहती है**—'तस्माद्यद्वाचोऽनाप्तं तन्मनुष्या उपजीवन्ति' (अनाप्त = 'अपूर्ण' वाणीत्रय से विरहित।)

(३) वेदों में भी इस विषय में इस प्रकार कहा गया है—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानिवदुर्ब्राह्मणो मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥'

(४) **स्कान्दयज्ञवैभवखण्ड** में भी कहा गया है—
'अपदं पदमापन्नं पदं चाप्यपदं भवेत् ।
पदापद-विभागं च यः पश्यति सः पश्यति ॥'

('अपदं = गतिरहित। निःस्पन्द शब्दब्रह्म। 'पदमापन्नं' = 'परादिपदचतुष्टयं जातं।' पदचतुष्टय के ज्ञात होने पर साधक सद् पदवाच्य ब्रह्म हो जाता है। पद का चातुर्विध्य है—

'परा प्रत्यक्चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता ।
मध्यमा वैखरीरूपा भक्तमानसहंसिका ॥'

—ललिता सहस्रनाम

(५) **सौभाग्यसुधोदयकार की दृष्टि**—'सौभाग्यसुधोदय' में कहा गया है कि—
'पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः ।
स्फुटतर निखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात् ॥'

'वैखरीवाक्'—विशेषेण खरः कठिनस्तस्येयं वैखरी सैव रूपं यस्याः॥ 'वै' = निश्चयेन'। 'खं'-कर्णविवरं 'राति'। गच्छंतीति व्युत्पत्ति। —सौभाग्यसुधोदय
'प्राणेन विखराख्येन प्रेरिता वैखरी पुनः॥'

महात्रिकोण—इस 'महात्रिकोण' में पीठत्रय अवस्थित हैं। प्रत्येक पीठ में ही विश्व का रूप भासित होता है। स्वरूप की दृष्टि से तो वह बीजरूप है किन्तु बहिर्देश में सृष्टि रूप से अवस्थित है।

—**'पीठ' क्या है ? 'पीठ'** = प्रकाश एवं विमर्श की मात्राओं का साम्यभाव। यथा—'अम्बिका' एवं 'शान्ता' का सामरस्य = **'कामरूप पीठ'**।

कामरूपपीठ—यह पीतवर्ण एवं चतुष्कोणात्मक है तथा शरीर में मूलाधार चक्र' में अवस्थित है। इसका नामान्तर है—'मन'॥ आधारचक्र में **'स्वयंभूलिङ्ग'** स्थित है।

'स्वयंभूलिङ्ग' क्या है ? जब मन (कामरूप पीठ) में बिन्दु-चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब उसे **'स्वयंभूलिङ्ग'** कहते हैं। कामरूपपीठ **'महात्रिकोण'** का अग्रकोण है। महात्रिकोण के अवशिष्ट कोणद्वय (क) **'पूर्णगिरि पीठ'** एवं (ख) **'जालन्धरपीठ'** हैं। इनमें प्रतिफलित चैतन्य **'इतरलिङ्ग'** एवं **'बाणलिङ्ग'** के नाम से प्रख्यात हैं।

'इतरलिङ्ग' एवं **'बाणलिङ्ग'** को 'बुद्धि' एवं 'अहंकार' का आख्यान्तर माना जाता है। **'इतरलिङ्ग'** हृदय में एवं **'बाणलिङ्ग'** भ्रूमध्य में अवस्थित हैं।

'उड्डीयान पीठ' मध्यबिन्दु के रूप में स्थित है। इसका नामान्तर **'चित्त'** है। इसमें जो ज्योति देदीप्यमान है। उसका नाम **'परलिङ्ग'** है। प्रत्येक लिङ्ग सुनिश्चित वर्णों से ही आच्छादित है किन्तु **'परलिङ्ग'** समस्त वर्णों से आच्छादित है।

'परलिङ्ग' का वैशिष्ट्य—'परलिङ्ग' की विशेषता यह है कि परमपद से 'प्रथमस्पन्द' के रूप में यही उदित हुआ करता है।

पीठ और लिङ्ग तथा उनका स्वरूप

(१) **'कामरूप पीठ'** = पीतवर्ण, चतुष्कोण, आधार चक्र, स्वयंभू लिङ्ग, पीठ का स्वरूप 'मन'।

(२) **'पूर्णगिरि पीठ'** = स्थान—हृदय। पीठ का नामान्तर = 'बुद्धि'। लिङ्ग = इतर लिङ्ग। बुद्धि का प्रतीक।

(३) **'जालान्धर पीठ'** = स्थान—भ्रूमध्य। लिङ्ग = बाण लिङ्ग। अहंकार का प्रतीक। पीठ का नामान्तर = 'अहंकार'।

(४) **'उड्डीयान पीठ' या 'श्री पीठ'** = लिङ्ग = 'परलिङ्ग' = समस्त वर्ण-वेष्टित। चित्त का प्रतीक। पीठ का नामान्तर—'चित्त'।

अन्तःकरणचतुष्टय

(१)	(२)	(३)	(४)
'मनस्तत्त्व'	'बुद्धितत्त्व'	'चित्त तत्त्व'	'अहंकारतत्त्व'
(कामरूपपीठ)	(पूर्णगिरिपीठ)	(श्रीपीठ)	(जालान्धरपीठ)
(स्वयंभूलिङ्ग)	(इतरलिङ्ग)	(बाणलिङ्ग)	(परलिङ्ग)

पीठों का स्वरूप क्या है? अमृतानन्द कहते हैं—
'पीठाश्चत्वारः पिण्ड-पद-रूप-रूपातीत-शब्देन तत्तत्स्थानान्याधार—हृदय—भ्रूमध्य—ब्रह्मरन्ध्राणि लक्ष्यन्ते। 'पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात स्थिताः।
—योगिनीहृदय

*** पीठ देवी के ही रूप हैं ***

भास्करराय की दृष्टि—
'ब्राह्मसृष्टौ कामरूपं पूर्णगिरिर्जारलन्ध्रमौड्यानमिति पीठा एतद्देवी रूपा ।'

('कन्द' = मूलाधार। 'पद' = हृदय, 'रूप' = भ्रूमध्य। 'रूपातीत' = निष्कल ब्रह्मरंध्र)।

'कन्दः कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः .प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु निष्कलम्॥'
'पीठाः क्रमेण क्षिति-पवन-जलाग्निमण्डलरूपा॥'

—भास्करराय : सेतुबन्ध

(१) **'कामरूपपीठ'** = चतुरस्र, पीतवर्ण, भूतत्व।

(२) **'पूर्णगिरिपीठ'** = षड्बिन्दु युक्त, वर्तुल, धूम्रवर्णवायु तत्व।

(३) **'जालरन्ध्रपीठ'** = अर्धचन्द्राकार, श्वेत जलतत्त्व।

(४) **'उड्याण पीठ'** = त्रिकोण, रक्त अग्नि तत्त्व।

—भास्करराय (सेतुबन्ध ४२-४३)

पीठतत्त्व—अमृतानन्द कहते हैं कि **'पीठ'** सूक्ष्म शक्तियों के रूपान्तर मात्र हैं यथा—

'चतस्रः (अम्बिकाद्याः शान्ताद्यश्चतस्रः) क्रमेणपरस्परं सामरस्यमापन्नाः 'का' 'पू' 'मा' 'ओ' इति आसन्।

(१) 'का' = कामरूपपीठम्, (२) 'पू' = पूर्णगिरिपीठम्

(३) 'जा' = जालन्धरपीठम्, (४) 'ओ' = ओड्याणपीठम्।

'प्रकाशविमर्शात्मतया समरसीभूताः पूर्वोक्ताश्चतस्रः शक्तयः कामरूपपूर्णगिरि—जालन्धरौड्याणपीठरूपेण परिणताः।' —अमृतानन्द हृदयदीपिका (१/४२)

नाथसम्प्रदाय में कहा गया है कि—अद्वैत के भी ऊर्ध्व में विराजमान निराकार-साकार से अतीत, परमशून्य, निरञ्जनस्वरूपनाथ से प्रारम्भ में निराकार ज्योतिनाथ हुए। उनसे साकारनाथ, उनकी इच्छा से सदाशिव भैरव और उनसे शक्ति भैरवी का आविर्भाव हुआ। सदाशिव से ही विष्णु उत्पन्न हुए। उनसे ब्रह्मा एवं उनसे यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई।

नाथ से द्विविध सृष्टि

(१) नादरूपा सृष्टि — (२) बिन्दुरूपा सृष्टि

(क) नादरूपा सृष्टि शिष्य-क्रम से होती है।

(ख) बिन्दुरूपा सृष्टि पुत्र-पौत्रादि क्रम से चलती है।

(ग) 'नाद' से नव नाथ उत्पन्न हुए।

(घ) 'बिन्दु' से सदाशिव-भैरव उत्पन्न हुए।

(ङ) शब्द-सृष्टि से पहले सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई फिर स्थूलरूपिणी।

(च) सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि ही है—'प्रणव' एवं 'योगशास्त्र'।

(छ) स्थूलरूपिणी सृष्टि है—'ब्रह्मगायत्री' एवं वेदत्रयी।

(ज) योगशास्त्र से तंत्रशास्त्र हुआ एवं वेदों से स्मृत्यादिशास्त्र।

—गोरक्ष सि०

योगियों के मतानुसार योगशास्त्र और तंत्रशास्त्र का प्रत्यक्ष (सीधा) सम्बन्ध है।

शारदातिलककार की दृष्टि—'शारदातिलक' तंत्र शास्त्र का प्रमुख ग्रंथ है। शारदातिलक के अनुसार शिव के दो रूप हैं—(१) निर्गुण, (२) सगुण।

(१) जब निर्गुण शिव का प्रकृति से योग होता है तब सगुण शिव का आविर्भाव होता है।

(२) सगुण शिव से 'शक्ति' का आविर्भाव होता है।

(३) **'शक्ति'** से **'नाद'** (पर) एवं उससे **'बिन्दु'** (पर) का आविर्भाव होता है।

(४) क्रम इस प्रकार है निर्गुण शिव → सगुण शिव → शक्ति → परनाद, → परबिन्दु।

इस स्तर तक 'नाद' एवं 'बिन्दु' अव्यक्त रहते हैं। यहीं से वे व्यक्त होकर प्रकट होते हैं। इस अवस्था में **'परबिन्दु'** से तीन प्रकार की अभिव्यक्ति होती है—

(१) 'अपरबिन्दु' (२) 'बीज' (३) 'अपरनाद'।

इन्हीं तीनों से यथाक्रम 'रुद्र', 'विष्णु' एवं 'ब्रह्मा' का प्रादुर्भाव होता है। यही सृष्टि-चक्र है।

(५) निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव सोपाधिक (उपाधियुक्त) शिव है।

(६) सोपाधिक चैतन्य से सोपाधिक शक्ति का आविर्भाव होता है।

(७) इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है वही **'नाद'** है। 'नाद' शिव एवं शक्ति के सम्बन्ध का अपर पर्याय है। उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही 'बिन्दु' है।

(८) इस नाद एवं बिन्दु से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त निर्विशेष 'नाद' एवं 'बिन्दु' को ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए **'परनाद'** एवं **'परबिन्दु'** कहा गया है। इसे

'परमनाद' एवं **'बिन्दु'** भी कहा गया है। इन्हीं से अपर (सविशेष) नाद, **'बीज'** एवं **'बिन्दु'** का उद्भव होता है। ये ही क्रमशः (१) 'इच्छा', (२) 'ज्ञान' एवं (३) 'क्रिया' के प्रतीक हैं।

(क) अपरनाद **'इच्छाशक्ति'** है।

(ख) अपरबिन्दु **'क्रियाशक्ति'** है।

इन्हीं से क्रमशः (१) विष्णु, (२) ब्रह्मा एवं (३) रुद्र की उत्पत्ति होती है।

'परबिन्दु' से **'अपरनाद'** और **'अपरबिन्दु'** का उद्भव हुआ। यहीं शंका उठी कि—*पहले 'नाद' उत्पन्न हुआ कि 'बिन्दु'?*

(९) तन्त्र का निर्गुण शिव कबीरपन्थ के सत्य पुरुष के बराबर है। सगुण शिव निरञ्जन पुरुष है। शक्ति आद्या शक्ति है। 'नाद' ही स्वयंवेद्य यानी कबीरदास की वाणियों के 'निर्मलवेद' के सदृश है और 'बिन्दु' उसकी क्रिया के सदृश है।

कुण्डलिनी-वेधन की प्रक्रिया के संदर्भ में 'नाद' 'बिन्दु' पर भी विचार कर लिया जाय।

(क) **नाद**—जब कुण्डलिनी अपनी अनादिकालीन सुप्ति का त्याग करके ऊपर की ओर उत्थित होती है तब उससे एक 'स्फोट' होता है। इसे ही 'नाद' कहते हैं।

(ख) **महाबिन्दु**—'नाद' से प्रकाश का उदय होता है। प्रकाश का ही व्यक्त रूप **'महाबिन्दु'** है।

(ग) यह 'बिन्दु' तीन प्रकार का है—

(१) **'इच्छा'** (२) **'ज्ञान'** (३) **'क्रिया'**।

इन्हें ही योगी (१) सूर्य, (२) चन्द्र एवं (३) अग्नि कहते हैं।

इन्हें ही कभी (१) ब्रह्मा (२) विष्णु एवं (३) शिव कहा जाता है।

नाद और बिन्दु—यह जो 'नाद' एवं 'बिन्दु' है यह वस्तुतः अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त 'अनाहतनाद' (अनहदनाद) का व्यष्टि रूप है।

जो 'नाद' अनाहत भाव से निःशेष जगत में व्याप्त है उसी का प्रकाश जब व्यक्ति में होता है तो उसे 'नाद' और 'बिन्दु' कहते हैं।

शास्त्रों में जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित 'शब्दतत्त्व' है। वैयाकरणों ने इसे **'स्फोट'** की आख्या दी है। यह **'स्फोट'** अखण्ड सत्तारूप ब्रह्मतत्त्व का वाचक है। **'स्फोट'** को ही **'शब्दब्रह्म'** और सत्ता को **'ब्रह्म'** कहा गया है।

'स्फोट' वाचक शब्द है और सत्ता 'वाच्य' है। इस प्रकार 'वाच्य' (ब्रह्मसत्य) का

प्रकाशक 'वाचक' (स्फोट या नाद) भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक भी है। यह **'शब्द' मूलाधार से उठता है** और **'सहस्रार' में जाकर लय हो जाता है।**

(१०) ब्रह्मरंध्र के सहस्रार पद्म के मूल में जो 'योनि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति का केन्द्र है वही **चन्द्रमा का स्थान** है। इसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। यही अमृत **'सोमरस'** है।

(११) ओंकार (नाद) पर भी दृष्टि डाल लें।

ॐ के ५ खण्ड

(क) खण्ड—	तारक	दण्डक	कुण्डली	अर्द्धचन्द्र	बिन्दु
(ख) निवारी—	(ब्रह्मा)	(विष्णु)	(रुद्र)	(ईश्वर)	(सदाशिव)
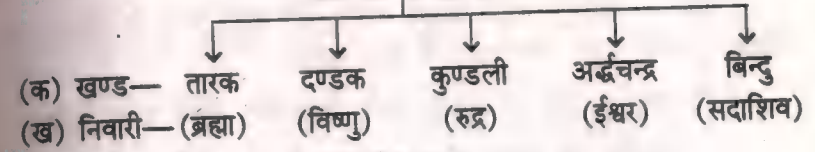
'कपिल गीता' में कहा गया है—

> ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
> तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः॥
> तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते।
> कुण्डल्यां हि तथा रुद्रोऽर्द्धचन्द्रे स ईश्वरः॥
> निरंजनस्तद। तीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
> दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
> दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।
>
> —कपिल गीता

कुण्डलिनी का जागरण→स्फोट

(१) 'एकोऽहं' = 'ज्ञान'

(२) 'बहुस्याम' = 'इच्छा'

सृष्टि का त्रिशूल

(१)	(२)	(३)
'इच्छाशक्ति'	'ज्ञानशक्ति'	'क्रियाशक्ति'
'बहुस्याम'	(एकोऽहं)	(बहुत्व रूप सृष्टि)
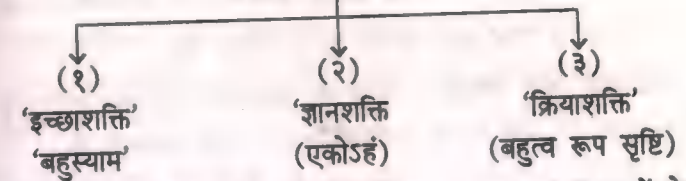
इच्छाज्ञानक्रियाअभेदवाद—परमात्मा में इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया में भेद नहीं है। इच्छा हुई नहीं कि क्रिया सम्पन्न हो गई।

* पूजा, उपासना एवं उसके आदर्श रूप *

'अधः सहस्रार' के ऊर्ध्वभाग में सृष्टि-स्थिति एवं संहार क्रम से (अधिकार भेद की दृष्टि से) श्रीचक्र का अर्चन तीन प्रकार से निष्पादित किया जाता है—

'स्थितिक्रमो गृहस्थस्य संहारो वनिनो यतेः।
ब्रह्मचारिणि उत्पत्तिः स्त्रियः शूद्रस्य चेष्टतः॥'

(१) **दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय में मान्य विधान**—'दक्षिणामूर्ति सम्प्रदाय' में बिन्दु से आरंभ करके भूपुर पर्यन्त अर्थात् सृष्टिक्रम से अर्चन करना चाहिए।

'भूपुर' से आरम्भ करके अष्टार पर्यन्त और फिर बिन्दु से आरम्भ करके चतुर्दशार पर्यन्त पूजन 'स्थितिक्रम' में होना चाहिए।

'संहारक्रम' में भूपुर से आरम्भ करके बिन्दुपर्यन्त अर्चन करना चाहिए।

(२) **हयग्रीव एवं आनन्द भैरव सम्प्रदाय में मान्य विधि**—'स्थिति क्रम' में पूर्ववत् बिन्दु त्रिकोण कामेश्वरी-नित्या-गुरु पंक्ति का पूजन करते हुए उसके पीछे भूपुर से आरंभ करके यथाक्रम अष्टार-त्रिकोण की पूजा करनी चाहिए। अन्य विधान समान हैं।

(क) बिन्दु से आरम्भ करके अष्टदलपर्यन्त—'सृष्टि चक्र'
(ख) चतुर्दशार से आरंभ करके दशारपर्यन्त—'स्थिति चक्र'
(ग) अष्टार से आरम्भ करके बिन्दुपर्यन्त—'संहार चक्र'
यही है चक्रत्रय का त्रिपुरस्वरूपत्व॥
श्रीचक्र की प्रधान नायिका पराम्बा, ललिता त्रिपुरसुन्दरी हैं।

प्रतीकात्मकता—

(१) भूपुर-वृत्त-त्रिकोण : गुणत्रय, कालत्रय, अवस्थात्रय, लोकत्रय के बोधक हैं।
(२) त्रिकोणस्थ बिन्दु—तुरीय या तुरीयातीत अवस्था का बोधक है।
(३) पिण्डब्रह्माडैक्य—चक्र की ब्रह्माण्डत्मकता एवं पिण्डात्मकता का बोधक है।
(४) प्रणव शब्द ब्रह्म श्रीचक्र का ही बोधक है।

षटचक्र एवं श्रीचक्र—पिण्ड के मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरक-अनाहत-विशुद्ध-आज्ञा श्री चक्र के ही अवयव है और उसके अन्तर्भूत हैं।

श्रीचक्र के भेद

(१) 'सृष्टिचक्र' भूपुर-त्रिवृत्त-षोडशदल अष्टदल का समुदाय।
(२) चतुर्दशार, बर्हिदशार, अन्तर्दशार का समूह।

(३) अष्टार-त्रिकोण-बिन्दु का समवाय।

उनकी समष्टि में द्वितीय बिन्दु **'अनाख्याचक्र'** है। तृतीय बिन्दु **'भासा चक्र'** है। 'कालीक्रम' में सृष्टिचक्र मूलाधार चक्र में होता है।

'श्रीविद्या' में साधना-विधान—श्री विद्या के प्रधान ग्रंथ—'परशुरामकल्पसूत्र' 'नित्योत्सव' आदि ग्रंथों में साधना की दिशा में प्रथम सोपान 'दीक्षा' स्वीकार किया गया है। अर्थात् अदीक्षित व्यक्ति के लिए इस साधना में कोई स्थान एवं उसमें प्रवेशाधिकार नहीं है। दीक्षा का फल है—पशुवासना का क्षय।[१] गुरु-ज्ञान→'ज्ञानसद्भाव'→पशुवासना का क्षय। (क्षीयन्ते पशुवासना, 'पाशबद्धः पशुः')। **अभिनवगुप्त के अनुसार** परमाद्वैत की भावना से विपरीत भावना ही **'पाश'** है।

श्रीविद्योपासना का चरम लक्ष्य—'श्रीविद्योपासना' ज्ञान, भक्ति, उपासना एवं योग सभी साधना-प्रणालियों का आत्मीकरण करके निष्पादित की जाती है अतः इस साधना के चरम लक्ष्य में भी दृष्टिभेद है।

आचार्य परशुराम की दृष्टि—आचार्य परशुराम भक्ति के अङ्गभूत उपचारों में षोडशोपचारों के प्रतिपादक हैं अतः यह प्रतीत होता है कि वे अद्वैतवादी या ज्ञानमार्गी नहीं हो सकते, किन्तु वे कहते हैं कि साधक को सदैव शिव के साथ समत्व प्राप्त करने की साधना करनी चाहिए—

'सततं शिवता समावेशः॥'

यह शिवता समावेश 'शांभवोपाय' है। 'शांभवोपाय' का स्वरूप इस प्रकार है—

'अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः॥'

श्रीविद्यासाधना और मानसी पूजा—यह अद्वैतसाधनामय, शांभवोपायात्मक, शिवतासमावेशात्मक, सायुज्यनिष्ठ, जीवन्मुक्तिनिष्ठ, भावनानिष्ठ, भावभक्ति-प्रेमाभक्तिमय एवं द्वयात्मक अद्वयवादपरक साधना है।

'शाक्त दर्शनम' (हयग्रीवोक्त) में उपासना के १० अङ्ग कहे गये हैं—

(१) 'कवचहृदयसहस्रनामस्तवराजलहरीवेदपादस्तवावरणस्तवगीताथर्वशीर्षासूक्तान्यङ्गानि॥' —शाक्तदर्शनम् (१६।३।२१)

(२) 'जपेन्त्रित्यं दशाङ्गानि' —(शा० द० हयग्रीवाचार्य)

---

१. तंत्रालोक (१।१६८)

* आचार्य भास्करराय प्रोक्त साधनाङ्ग *

(१) आन्तरिक अङ्ग—(१) विद्या के वर्णों की संख्या (२) उद्धार, (३) काल (मात्रा) (४) उच्चारण (५) स्थान (६) प्रयत्न (७) रूप (८) विभिन्न स्थितियाँ (९) आकारादि स्थितियाँ आदि।

(२) बाह्य अङ्ग—(१) ऋषि (२) छन्द (३) देवता (४) विनियोग (५) बीज (६) शक्ति (७) कीलक (८) न्यास (९) ध्यान (१०) नियम (११) पूजा।

जप के अङ्ग

५ अवस्थायें ६ शून्य ७ विषुव ९ चक्र १५ मंत्रार्थ वर्णोच्चारण आदि।

जप एवं * षोडशोपचार *—आचार्य परशुराम ने जहाँ १६ उपचारों को काम्य माना हैं वहीं **आचार्य शंकर** एवं **आचार्य लक्ष्मीधर** ने बाह्याचारों को त्याज्य माना है।

पुण्यानन्द ने 'कुण्डलिनी एवं श्रीविद्या' (महात्रिपुरसुन्दरी) को अभिन्न मानते हुए यह कहा है कि साधक को चाहिए कि वह भी इनसे अभिन्नता की अनुभूति करे—

'साक्षाद्विद्यैवैषा न ततो भिन्ना जगन्माता।
अस्याः स्वाभिन्नत्वं श्रीविद्याया रहस्यार्थः ॥'

(१) यहाँ **'मन्त्र'** पूर्णहन्तानुसन्धान है। —वरिवस्यारहस्यम्।

'पूर्णाहन्तानुसंध्यात्म स्फूर्जन्मननधर्मतः।
संसारक्षयकृतत्राण धर्मतो मंत्र उच्यते ॥'

(२) 'जप'—यहाँ **'जप'** बाह्य क्रिया नहीं है। प्रत्युत् आन्तर नाद का उच्चारण है—

'संयमेन्द्रिय संचारं प्रोच्चरेत्रादमान्तरम्।
एष एवं जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥'

× × × × × × × ×

'भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मंत्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

(३) 'धूप'—यहाँ धूप अग्नि में ज्वलित पदार्थ नहीं है प्रत्युत् यह तो परमानन्दानुभूति है—

'धूत शेषमहादोषपूतिगंधप्रभावतः।
परमानन्दजननाद् धूप इत्यभिधीयते ॥'

(४) 'दीप'—यहाँ **'दीप'** दिया में जलने वाली बत्ती से पूर्ण कोई दीपक नामक पात्र नहीं है प्रत्युत् अज्ञान रूप अन्धकार का नाश एवं परतत्त्व का प्रकाश है—

'दीर्घाज्ञानमहाध्वंन्ताहङ्कार परिवर्जनात्।
परतत्त्वव प्रकाशाच्च दीप इत्यभिधीयते ॥'

(५) 'ध्यान'—यहाँ **'ध्यान'** किसी के शरीर, मुख हाथ आदि का चिन्तन नहीं है प्रत्युत् यह निराश्रया, निराकारा एवं निश्चल बुद्धि है—

'ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ॥'

(६) 'नैवेद्य'—यहाँ **'नैवेद्य'** षड्रसपूर्णमधुर आहार-समर्पण नहीं है प्रत्युत् तृप्ति है—

'चतुर्विधं कुलेशानि! द्रव्यश्च षड्रसान्वितम्।
निवेदनाद् भवेतृप्तिर्नैवेद्यं समुदाहृतम् ॥'

(७) 'हवन'—यहाँ **'हवन'** द्रव्यों का अग्नि को प्रज्वलन नहीं प्रत्युत्—

'महाशून्यालये वह्नौभूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ॥'

(८) यहाँ **कोटि पूजा** के समान एक **'स्तोत्रपाठ'**, कोटिस्तोत्र पाठ के समान एक **'जप'**, कोटि जप के समान एक **'ध्यान'** एवं कोटि ध्यान के समान एक **'लय'** है—

'पूजाकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमज्जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमोलयः ॥'

(९) (क) यहाँ सर्वोच्च साधना है—ब्रह्मसद्भाव।
(ख) मध्य साधना है—ध्यान धारणा।
(ग) अधमा साधना है—जपभाव एवं स्तुति।
(घ) अधमाधमा साधना है—बाह्यपूजा

'उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोधमो भावो बाह्यपूजाधमाधमा ॥'

(१०) (क) यहाँ उत्तम साधना है—सहजावस्था
(ख) मध्यमा साधना है—ध्यान-धारणा।
(ग) अधमा साधना है—शास्त्रचिन्तन।
(घ) अधमाधमा साधना है—लोक-चिन्ता।

'उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यान धारणा।
जपस्तुतिः स्यादधमा होमपूजाधमाधमा ॥'

(११) (क) यहाँ परममंत्र है—नाद

(ख) परम देवता है—आत्मा

(ग) परापूजा है—आत्मानुसन्धान

(घ) परम फल है—तृप्ति

'नहि नादात् परोमंत्रो, न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसन्धेः परापूजा, नहि तृप्तेः परमफलम्॥'

(१२) 'पूजा' बाह्यवर्ती पुष्पादि द्रव्य नहीं है प्रत्युत अद्वयधाम में परास्थिति ही यहाँ **'पूजा'** है—

'न पूजा बाह्यपुष्पादि द्रव्यैर्या प्रथिताऽनिशम्।
स्वे महिम्नद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः॥'

(१३) **'पूजा'** है भावौघसंगति और भैरवीय चिदात्मता—

'पूजा नाम विभिन्नस्य भावौघस्यापि सङ्गतिः।
स्वतंत्रविमलानन्त भैरवीय चिदात्मना॥'

(१४) यहाँ **'स्नान'** सरोवर के जल से शरीर भिगोना नहीं है प्रत्युत् स्नान है—आत्मा के साथ आवेशन—आत्मावेश—

'स्वतंत्रानन्द चिन्मात्र सारः स्वात्मा हि सर्वतः।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम्॥'

क्योंकि—'न देवा विद्यते काष्ठे न पाषाणो च पार्वति।
भावेषु विद्यते देवि! भावो मोक्षस्वरूपकम्॥'

यदि **स्थूलतम विधानानुसार भगवती की उपासना** करनी हो तो—

'प्रातः स्नात्वा विधानेन संध्याकर्म समाप्य च।
पूजागृहं ततो गत्वा चक्रराजं समर्चयेत्॥'
'विद्यां जपेत्सहस्रं वा त्रिशतं शतमेव वा।
रहस्यनामसाहस्रमिदं पश्चात्पठेन्नरः॥

फलाप्ति—

जन्ममध्ये सकृच्चापि य एवं पठते सुधीः।
तस्य पुण्यफलं वक्ष्येशृणुत्वं कुंभसंभव॥
रहस्यनामसाहस्रे नामैकमपि यः पठेत्।
तस्य पापानि नश्यन्ति महान्त्यपि न संशयः॥

—ललितासहस्रनाम

भक्तो यः कीर्तयेन्नित्यमिदं नामसहस्रकम्।
तस्मै श्री ललितादेवी प्रीताभीष्टं प्रयच्छति॥

उपासना की विधि—

नित्यं संकीर्तनाशक्तः कीर्तयेत्पुण्यवासरे।
संक्रान्तौ विषुवे चैव स्वजन्मत्रितयेऽयने।
नवम्यां वा चतुर्दश्यां सितायां शुक्रवासरे।
कीर्तयेन्नामसाहस्रं पौर्णमास्यां विशेषतः।
पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्रीलिलिताम्बिकम्।
पञ्चोपचारैः संपूज्य पठेन्नाम सहस्रकम्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
ललितापूजनस्यैवे लक्षांशेनापि नो समाः।
स दाता स मुनिर्यष्टा स तपस्वी स तीर्थगः।
यः सदा पूजयेद्देवी गन्धपुष्पानुलेपनैः॥

भगवती की **'बहिर्यागात्मक'** एवं **'अन्तर्यागात्मक'** दोनों प्रकार की उपासना प्रचलित एवं शास्त्रानुमोदित है।

इन सबके बावजूद भी आचार्य लक्ष्मीधर का यह कथन भी शास्त्रानुमोदित ही है कि—

'समयिनां मंत्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमल एव सर्वं यावत् अनुष्ठेयम्॥' —लक्ष्मीधरा

इसीलिए तो आचार्य शंकर ने बाह्य उपासना के स्थान पर अन्तर्यागात्मक मानसी उपासना का प्रतिपादन करते हुए कहा कि—

'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना,
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

—शङ्कराचार्य-सौन्दर्यलहरी (२७)

'आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः, प्राणाः शरीर गृहं।
पूजा ते विविधोपभोगरचना, निद्रा समाधिस्थितः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः, स्तोत्राणि सर्वागिरो।
यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं, शंभोः तवाराधनम्।

—शंकराचार्य

प्रथम खण्ड

श्रीविद्या-सिद्धान्त और साधना
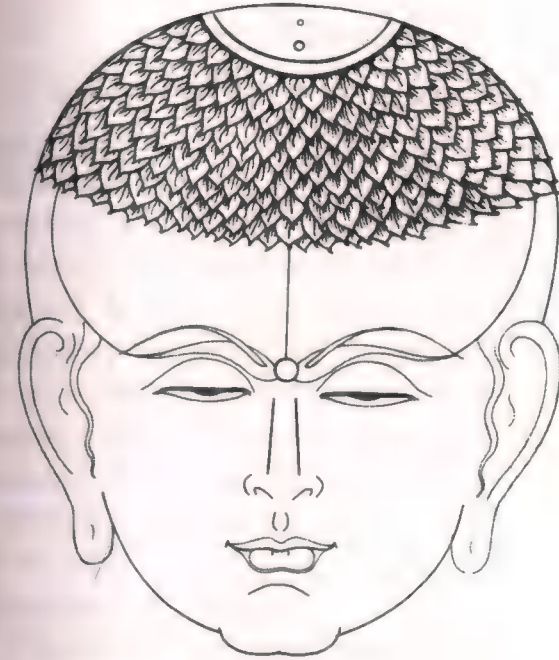
* प्रथम अध्याय *

ग्रन्थकार गौड़पादाचार्य और उनकी कृतियाँ

* द्वितीय अध्याय *

'सुभगोदयस्तुति' और गौड़पादाचार्य के सिद्धान्त

* तृतीय अध्याय *

श्रीविद्या-सिद्धान्त और साधना

॥श्रीः॥

सुभगोदयस्तुति

* प्रथम अध्याय *

ग्रन्थकार गौड़पादाचार्य और उनकी कृतियाँ

'समयाचार' नामक शाक्त मत के अनुवर्ती, अजातिवादी, अद्वैतदर्शनावलम्बी, अस्पर्श योगी, व्याकरणमहाभाष्यप्रणेता महर्षि पतञ्जलि के अन्यतम योग्य शिष्य एवं प्रख्यात श्रीविद्योपासक आचार्य गौड़पाद एक महान् शाक्त दार्शनिक थे। इन्हें ही अद्वैतवेदान्ती भगवान् आद्य शङ्कराचार्य का परम गुरु माना जाता है।

ये उच्च कोटि के विद्वान् एवं सिद्ध योगी थे। इनका वैदुष्य भी अगाध था। उन्होंने **'सांख्यकारिका' 'माण्डूक्योपनिषद्'** एवं **'उत्तरगीता'** पर भाष्य तो लिखा हीं साथ ही साथ उन्होंने स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में—(१) **'सुभगोदयस्तुति'** एवं (२) **'श्रीविद्यारत्नसूत्रम्'** नामक समयाचार-दर्शन-गर्भित ग्रंथ भी लिखे।

केवलाद्वैतवादी, वेदान्ती एवं ज्ञानमार्गी आचार्य शङ्कर इनसे इतना प्रभावित हुए की इन्होंने आचार्य गौड़पादप्रतिपादित एवं अनुसृत समस्त दृष्टियों का अनुवर्तन एवं प्रतिपादन किया। यथा—

१ गौड़पादाचार्य और अद्वैतवाद—

(१) **गौड़पादाचार्य—* अद्वैतवाद एवं जगन्मिथ्यात्व ***

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।

(क) अजाचल**मवस्तुत्वं विज्ञानं** शान्त**मद्वयम्** ।[१]

(ख) **'द्वयं तत्र न विद्यते' 'अद्वैतं** परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।

(ग) **चित्तस्पन्दितमवेदं** ग्राह्यग्राहक **मद्वयम्** ॥

(घ) विषयः सहि बुद्धानां तत्साम्यमज**मद्वयम्**।[२]

(ङ) **मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं** परमार्थतः ॥'

शाङ्कराचार्य * अद्वैतवाद एवं जगन्मिथ्यात्व *

(१) 'इदं तु परमार्थतत्त्व**मद्वैतं** वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥[३]

(२) मायामात्रमिदं **द्वैतमद्वैतं** परमार्थतः ॥ (वि०चू० ४०६)

---

१. मण्डूक्यकारिका

२. मण्डूक्यकारिका

३. माण्डूक्यकारिका शाङ्करभाष्य (९९)

(३) सदिदं **परमाद्वैतं** स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात्। (२२८)

(४) यदिदं सकलं **विश्वं** नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ता शेषभावनादोषम्॥ (२२९)

(५) अतो मनः कल्पित एवं पुंसः **संसार** एतस्य न वस्तुतोऽस्ति। (१७३)

शैवशाक्त तांत्रिक दर्शनों में जहाँ अद्वैत दृष्टि है वहाँ जगत की परमात्मा का ही स्वरूप स्वीकार किया गया है। मिथ्या नहीं। आचार्य शङ्कर ने कहा था कि— 'जगन्मिथ्या।

जीवब्रह्मैव नापरः।'' किन्तु यहाँ वे कह रहे हैं कि वेदान्त का सिद्धान्त तो यह है कि **जीव एवं जगत दोनों ब्रह्म है। अतः दोनों सत्य हैं—**

(१) 'वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा, **ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।**

(२) स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं **विश्वमिदं** सर्वं स्वस्मादन्यन्तकिञ्चन (वि०चू० ३८९)

(३) 'यदिदं सकलं **विश्वं** नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् **तत्सर्वं ब्रह्मैव।।''**

एक ओर शंकर कहते हैं कि—

(क) अतो मनः कल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्त'

(ख) 'ब्रह्मसत्यं **जगन्मिथ्या'**

वहीं वे उस असत् जगत को सत् एवं ब्रह्मरूप भी कहते हैं—(१) मृतिका का कार्य मृतिका ही तो होगा अतः सत् ब्रह्म का कार्य सत् ही तो होगा—

'मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्॥' (२३०)

'केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं, घटस्य संदर्शयितुं शक्यते'

'ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौतीब्रूतेऽर्थनिष्ठावरिष्ठा **तस्माददेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं'** (२३३ वि०चू०)

'इदं तया ब्रह्मसदैव रूप्यते

'मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं **मृन्मात्रमेवाभितः॥'**

दूसरी ओर शङ्कर कहते हैं कि जगत मिथ्या है—

असत्कल्पो विकल्पोऽयं **विश्वमित्येक**वस्तुनि॥
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः?

शैव-शाक्त तांत्रिक जगत को मिथ्या नहीं मानते हैं वे कहते हैं कि—

(१) 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति॥'[१]

(२) 'जगतः **प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम्।'**

(३) 'भगवान विश्वशरीरः'

(४) श्रीपरमशिवः **स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं'**[२]

(५) **विश्वशरीरः** शिवभट्टारक एव''[३]

(६) न सावस्था न यः शिवः (स्पन्दकारिका)

एक ओर शंकराचार्य यह कहते हैं कि जीव एवं ब्रह्म में भेद नहीं है—

''जीव ब्रह्मैव नापरः।''

वहीं वे यह भी कहते हैं कि भेद तो है क्योंकि लहर लहर है समुद्र नहीं—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो वै तरङ्गः न तु तारङ्गो वै समुद्रः॥'

सारांश यह कि—

(१) जगत् मिथ्या है—जगत मिथ्या नहीं है।

(२) जीव ब्रह्म है—जीव ब्रह्म नहीं है।

(३) ज्ञान से ही मुक्ति संभव है भक्ति से नहीं—भक्ति भी मोक्ष की सामग्री है।
'मोक्षकारण सामग्रयां भक्तिरेव गरीयती' (वि०चू० ३२)

'ज्ञानान्न ऋते मुक्तिः'—मानने वाले शंकर के लिए भक्ति नहीं—'ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है—'ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम्॥ (वि०चू० २०४)

किन्तु 'भक्ति' तो ब्रह्मात्मैक्यवादको मानकर चलती नहीं। वहाँ तो भगवान एवं भक्त को पृथक्-पृथक् मान कर चलना पड़ता है।

ये सारे विरोधाभास क्यों हैं? कारण यह कि आचार्य शंकर के परमगुरु का ही प्रभाव शंकर पर पड़ा है—

(१) गौड़पाद माण्डूक्यकारिकार के रूप में—'मायावादी' 'जगन्मिथ्यात्ववादी' 'अजातिवादी' एवं अद्वैतवादी हैं। उसी प्रकार—

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
२. तत्रैव (सूत्र ४)
३. तत्रैव

(२) वेदान्तसूत्रभाष्यकार के रूप में शंकर भी—मायावादी जगन्मिथ्यात्ववादी एवं अद्वैतवादी हैं।

(३) सुभगोदय स्तुतिकार के रूप में गौड़पादाचार्य शाक्ताद्वैतानुवर्ती होने के कारण जगत को **'शक्ति का परिणाम'** मानने के कारण जगत को सत्य मानते हैं उसी प्रकार—

(४) प्रपञ्चसारतंत्रकार एवं सौन्दर्यलहरीकार के रूप में शंकर भी जगत् को शक्ति का परिणाम मानने के कारण उसे सत्य मानते हैं।

(१) **सुभगोदयस्तुतिकार** भगवती को ही 'वैन्दवकला' 'परकला' 'कालातीता' भवानी एवं परतत्त्व मानते हैं।

'सुधाधारा सारैः स्नापयसि तनुं **बैन्दवकले** ।।' (४)
'परं तत्वातीतं मिलित वपुरिन्दोः **परकला**' (५)

(२) **सौन्दर्यलहरीकार शंकर की दृष्टि में** शक्ति के विना शिव हिल भी नहीं सकते—'न चेदेवं देवो न खलु कुशलस्पन्दितुमपि॥''

आचार्य गौड़पाद के विषय में जो जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं वे अत्यन्त अल्प हैं। बंगला भाषा में प्रणीत पुस्तक **''वेदान्तदर्शनेर इतिहास'** के लेखक श्री प्रज्ञानन्द जी सरस्वती ने आचार्य गौड़पाद को गौडदेशीय (बंगाली) बताया है।

नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वराचार्य द्वारा आचार्य शंकर-प्रणीत यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया है—

''एवं गौडेर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभावितः।
अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादि दृगीश्वरः ॥''

यहाँ **'गौडदेशीय'** आचार्य गौड़पादाचार्य को कहा गया है और 'द्रविड़देशीय' शंकराचार्य को माना गया है।

गौड़पादाचार्य सन्यासी थे। उनके शिष्य श्री गोविन्द पादाचार्य एक महान योगी थे।

शाङ्कर सम्प्रदाय में जो आचार्यवन्दनात्मक मङ्गलाचरण है उसमें गौड़पादाचार्य का नामोल्लेख भी किया गया है—

'नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरं च।
व्यासं शुकं **गौडपदं** महान्तं गोविन्द योगीन्द्र मथास्य शिष्यम्
श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम्
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद् गुरुन्सन्तत मानतोऽस्मि।'

निष्कर्ष यह है कि श्री गौड़पादाचार्य भगवान शुकदेव के शिष्य थे।

यह भी ध्यातव्य है कि शांकर सम्प्रदाय में शास्त्रों का अध्ययन करने से पूर्व आचार्य और शिष्यगण इस मङ्गलाचरण को गाते हैं।

स्पष्ट है कि आचार्य गौड़पाद मायावादी सर्वमिथ्यात्ववादी, ब्रह्मवादी, अजातिवादी, आत्मोपासक, अस्पर्शयोगी एवं अद्वैतवादी थे। आचार्य शंकर ने उनको **'पूज्याभिपूज्य परम गुरु'** कह कर नमन किया है। वे कहते हैं—

''प्रज्ञावैशाख वेंधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं,
भूतान्यालोक्य मग्नान्य विरतजनन् ग्राहघोरे समुद्रे।
कारुण्यादुद्दधारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-
र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि॥''

(३) गुरु-परम्परा और गौड़पादाचार्य—

आचार्य शंकर के गुरु का नाम **गोविन्दपाद'** था किन्तु गोविन्द के गुरु का नाम **गौड़पाद** था।

(१) शंकराचार्य के गुरु का नाम—गोविन्दपादाचार्य।

(२) गोविन्दपाद के गुरु का नाम—गौड़पादाचार्य।

(३) गौड़पादाचार्य के गुरु का नाम—शुकदेव। पतञ्जलि

(४) शुकदेव के गुरु का नाम—व्यास।

जिस प्रकार परमर्षि भगवान् कपिल ने 'निर्माणकाय' का अवलम्बन करके अपने शिष्य **आसुरि** को **'षष्टितन्त्र'** का उपदेश दिया था ठीक उसी योगक्रिया द्वारा शुकदेव ने भी गौड़पादाचार्य को उपदेश दिया था।

गोविन्दपाद और गौड़पादाचार्य—आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद **महायोगी** थे एवं रस प्रक्रिया सिद्ध थे। उन्होंने रस-प्रक्रिया से अपने शरीर को अजरामर तथा काल प्रभाव से मुक्त बना लिया था। अतः एक हजार वर्षों की अवस्था होने पर भी वे षोडशवर्षीय प्रतीत होते थे। उनका शरीर एक हजार वर्षों से इसी स्थूल जगत में विद्यमान था तथापि वे सदैव १६ वर्ष की आयु के ही प्रतीत होते रहते थे।

राजवाड़े कथा नामक ग्रंथ में तो लिखा है कि जिनसेन, गुणभद्र एवं (शंकराचार्य के गुरु) गोविन्दपाद समकालीन थे। इस ग्रंथ के अनुसार तो जिनसेन के शिष्य गुणभद्र एवं गुणभद्र के शिष्य गोविन्दपाद थे।

स्वामी विद्यारण्य का मत तो यह है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि के रूपान्तर ही **गोविन्दपाद** थे।

(४) आचार्य गौड़पाद का जीवन परिचय—**'पतञ्जलिचरित'** नामक ग्रन्थ के प्रणेता रामभद्र दीक्षित का कथन है कि आचार्य गौड़पाद भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। महर्षि पतञ्जलि एक वस्त्रावरण (पर्दा) की आड़ में ही छात्रों को महाभाष्य पढ़ाया करते थे। किसी समय (गुरुदर्शन या गुरुक्रिया या पर्दा करके अध्यापन करने के रहस्य की उत्कण्ठा के कारण) आचार्य के शिष्यों ने पर्दे के छिद्र से देखा कि स्वयं शेषनाग एक हजार मस्तक एवं एक हजार जिह्वायें धारण करके पर्दे के पीछे स्थित होकर ज्ञानोपदेश कर रहे हैं। छात्रों की इस धृष्टता से रुष्ट होकर शेषनाग स्वरूप महर्षि पतञ्जलि का क्रोधानल उद्दीप्त हो उठा और उस क्रोधानल में सारे शिष्य भस्म हो गए। महर्षि पतञ्जलि के शिष्यों में से एक शिष्य उस समय वहाँ उपस्थित न रहकर कहीं बाहर चला गया था। उसने बादमें आकर गुर्वाज्ञा के विना बाहर जाने की धृष्टता के अपराध के लिए क्षमायाचना की किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने उसे ब्रह्मराक्षस होने का शाप दे दिया। यही शिष्य **गौड़पाद** था। आचार्य पतञ्जलि ने यह भी कहा था कि जब तुम्हें कोई सुपात्र शिष्य मिल जाएगा तो तुम शाप से मुक्त हो जाओगे।

गौड़पादाचार्य अपनी ब्रह्मराक्षस योनि में आने पर अपने निवास स्थान के पास से जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति से प्रश्न पूँछते थे कि 'पच्' धातु का निष्ठ में क्या रूप होता है? उत्तर देने वाले सभी कहते थे कि इसका रूप **'पचितम्'** होगा। इस अशुद्ध रूप को सुनकर ब्रह्मराक्षस रूप गौड़ापाद उसे खा डालते थे। दीर्घ कालान्तर के उपरान्त उज्जैन का एक चन्द्र नामक ब्राह्मण भी उसी मार्ग से गया। गौड़पादाचार्य ने उनसे भी वही प्रश्न किया। चन्द्र ने कहा—"पच् धातु का निष्ठा में रूप 'पक्वम्' होता है।" इस उत्तर को सुनकर गौड़पाद बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे सच्छिष्य मानकर उसे महाभाष्य की पूर्ण शिक्षा दी। चन्द्र ने सारे महाभाष्य को लिख डाला। चन्द्र पुनः उज्जैन लौट गया।

'राजतरङ्गिणी' (१७६) में लिखा है कि चन्द्राचार्य ने काश्मीराधिपति अभिमन्यु के समय काश्मीर जाकर वहाँ महाभाष्य का प्रचार किया था। क्या ये दोनों चन्द्र एक ही व्यक्ति थे?—यह अनुसन्धेय विषय है।

इन्हीं चन्द्राचार्य को **गोविन्दपाद'** कहते हैं। ये गौड़पादाचार्य के शिष्य थे। आचार्य **गौड़पाद** ने गोविन्दपाद को सन्यास की दीक्षा देकर उनका नाम **'गोविन्द'** रक्खा। इसी कारण वे **'गोविन्दपाद'** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

गोविन्दपाद ही भगवान शंकराचार्य के गुरु थे।

(गोविन्दपाद ने गृहस्थाश्रम में **चन्द्राचार्य** के रूप में रहकर चार विवाह किये थे। चन्द्र ने (१) **ब्राह्मण** (२) **क्षत्रिय** (३) **वैश्य** (४) **शूद्र**—चार जाति की कन्याओं से विवाह किया था। इनसे उनके चार पुत्र भी हुए थे। उनके नाम इस प्रकार

हैं—(१) **वररूचि** (२) **विक्रम** (३) **भट्टि** (४) **भर्तृहरि**।। इनमें भर्तृहरि अत्यन्त बुद्धिमान थे। चन्द्राचार्य ने उन्हें महाभाष्य पढ़ाया। **भर्तृहरि महावैयाकरण** हुए किन्तु उनका एक लाख पच्चीस हजार कारिकाओं का ग्रंथ उनके अहंकार के कारण नष्ट हो गया था।)

जब **आचार्य गौड़पाद शाप मुक्त हुए** तब उन्हें व्यास के आत्मज **शुकदेव का साक्षात्कार** हुआ। उन्होंने उनसे प्रार्थना की। **शुकदेव जी ने उन्हें सन्यास की दीक्षा दी।** जीवन की अन्तिम भाग में आचार्य गौड़पाद ने **हिमालय में योगाभ्यास किया।** उन्होंने बौद्ध नृपति अयाचार्य को भी दीक्षा दी।[१]

आचार्य शंकर (गौड़पाद के प्रशिष्य) गौड़देश के विभिन्न स्थानों में धर्म का प्रचार करते हुए जब गंगातट पर रह रहे थे तभी एक दिन सन्ध्या के समय एकान्त में आचार्य शंकर ने एक ज्योतिर्मय योगी को अवतरण करते हुए देखा। उन जटाजूटधारी, अतिदीप्तिमान् योगिराज ने शंकराचार्य से कहा—'वत्स शंकर ! संसार सिन्धु से उद्धार प्राप्त होने का एक मात्र उपाय जो परमतत्त्व ज्ञान है और जिसकी शिक्षा तुम्हें मेरे शिष्य गोविन्दपाद ने दी है, उसमें तुम सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो न? तुम्हारा चित्त सदा सच्चिदानन्द रूप तत्त्व ज्ञान संलीन रहता है।?"

"वत्स ! तुम्हारे असामान्य गुणों की बातें सुनकर तुम्हें देखने के लिए मेरे मन में प्रबल उत्कण्ठा हुई। तुमने ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों पर भाष्यों की रचना की है और मेरे द्वारा लिखित माण्डूक्यकारिका पर भी जो भाष्य तुमने लिखा है उसमें कारिकाओं का यथार्थ आशय अतिसुन्दर रूप से परिस्फुट हुआ है। इससे मैं तुम्हें देखने आया हूँ। मेरा आगमन निष्फल नहीं होगा। तुम वर की प्रार्थना करो" शंकराचार्य जी ने कहा 'मुझे आप यही वर दीजिए कि मेरा चित्त सदैव सच्चिदानन्द में निमग्न रहे।" 'तथास्तु' कहकर आचार्य गौड़पाद अन्तर्धान हो गए। आचार्य शंकर भी समाधिस्थ हो गए। समाधि से उठने के बाद उन्होंने आचार्य गौड़पाद के आगमन का समस्त वृत्तान्त अपने शिष्यों को सुनाया।

आचार्य गौड़पादके शिष्य गोविन्द सन्यास ग्रहण करने के उपरान्त नर्मदा के तट पर अपने प्रिय पुत्र भर्तृहरि के साथ रहा करते थे और गोविन्द नाम का जप किया करते थे। आचार्य शंकर सन्यास की दीक्षा लेने हेतु इन्हीं के पास आए थे।

शाक्तागम के प्रख्यात ग्रंथ **"श्रीविद्यार्णव'** के अनुसार—(१) शंकराचार्य गौड़पादके प्रशिष्य नहीं हैं। **गौड़पादाचार्य** से शंकराचार्य तंक की कालावधि में सात पुरुषों के नाम और आते हैं यथा—गौड़पाद—पावक—पराचार्य—सत्यनिधि—

१. आत्मबोध (गौड़पादोल्लास)

रामचन्द्र—गोविन्दाचार्य और फिर अन्त में शंकराचार्य। आचार्य गौड़पाद एवं शुकदेव के समय में भी सुदीर्घ अन्तराल है अतः ये दोनों समसामयिक नहीं हो सकते तथापि शुकदेव **निर्माणकाय'** द्वारा प्रकट होकर गौड़पाद को किसी भी समय दीक्षा दे सकते थे और उन्होंने वही किया। यही घटना सांख्यसूत्रकार कपिल एवं **आसुरि** के प्रसंग में भी घटित हुई थी।

५. आचार्यशंकर एवं गौड़पादाचार्य—आचार्य शंकर के विषय में यह कहा जाता है कि शंकराचार्य केवलाद्वैत वेदान्ती थे। निर्विशेष वेदान्त की शाङ्कर दृष्टि में 'त्रिक दर्शन' के **'ईश्वराद्वयवाद'** एवं **परिणामवादी शाक्ताद्वैतवादियों के 'परिणामवाद'** के लिए कोई स्थान नहीं है अतः—

'मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि **परिणतायां** नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं **परिणामयितुं** विश्ववपुषा,
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे ॥'

—कहकर एक 'विवर्तवादी' (शंकर) का अकस्मात् 'परिणामावादी' हो जाना संभव नहीं प्रतीत होता अतः 'सौन्दर्यलहरी' न तो शंकराचार्य की रचना है और न तो **'परिणामवाद'** एवं **''सर्वशक्तिवाद''** का सिद्धान्त उनका सिद्धान्त है।

(६) शैवाद्वैत, शाक्ताद्वैत एवं शाङ्कर केवलाद्वैतवाद—शैवाद्वैतवाद एवं शाक्ताद्वैतवाद में 'माया' एवं 'जगत' को मिथ्या नहीं कहा गया है तथा परब्रह्म (शिव एवं शक्ति) को निष्क्रिय (अक्रिय) न कहकर उन्हें **'पञ्चकृत्यकारी'** कहा गया है और अद्वैतवाद के पूर्ण स्वरूप में, 'पूर्णाहन्ता' की स्थिति में (१) जीव एवं ब्रह्म की एकता, (२) ब्रह्म एवं जगत की एकता (३) जीव एवं जगत की एकता स्वीकार की गई है किन्तु शाङ्कर अद्वैत में इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया है कि—

''ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैव नापरः।''

अतः मिथ्या वस्तुओं के साथ एकता कैसे संभव है? अतः 'त्रिकदर्शन' एवं 'शाक्तदर्शन' का अद्वैत भी उनका अद्वैत नहीं है किन्तु लोग 'सौन्दर्य लहरी' को शाङ्कर रचना मानकर शाक्तों की इस दृष्टि को कि—

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलस्स्पन्दितुमपि'

—आचार्य शंकर पर जबर्दस्ती आरोपित करने का प्रयास करते हुए 'सौन्दर्यलहरी' को शाङ्कर रचना सिद्ध करने का दुराग्रह करते हैं।

क्या शाङ्कर वेदान्त का ब्रह्म बिना शक्ति की सहायता के असमर्थ है? क्या शाङ्कर वेदान्त की 'माया' शाक्तों की 'शक्ति' के समान चेतन एवं ब्रह्म की समवायिनी

निजाशक्ति है? अतः स्पष्ट है कि शाङ्कर दर्शन के अक्रिय (निष्क्रिय) ब्रह्म को शैवों के पञ्चकृत्यकारी 'परमशिव' एवं शाक्तों की 'पराशक्ति' से अभिन्न नहीं सिद्ध किया जा सकता और न तो सत्-असत् से परे **'अनिर्वचनीया'** (वेदान्ती शंकर की) शाङ्करी माया से (चिन्मयी, चिद्रूपा एवं) परमशिव की अभिन्ना निजाशक्ति के साथ अभिन्नता ही सिद्ध की जा सकती है।

—इन सारे तर्कों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शंकराचार्य केवल अद्वैत वेदान्ती, केवलाद्वैतवादी, मायावादी एवं 'विवर्तवादी' मात्र है न कि शैव एवं शाक्त।

—यही दृष्टि उन लोगों की है जो कि 'सौन्दर्यलहरी' 'प्रपञ्चसारतंत्र' आदि रचनाओं को शंकर-रचित मानना अस्वीकार करते हैं।

आक्षेपों का उत्तर—(१) यह कहना कि आचार्य शंकर 'विवर्तवादी', वेदान्ती या मायावादी मात्र थे, शैव-शाक्त दर्शन को सिद्धान्तानुयायी नहीं थे भ्रान्तिपूर्ण धारणा है क्योंकि सर्वप्रथम तो यह कि उन्होंने स्वयं दशनामी शैव सम्प्रदाय की स्थापना की थी और आज भी उनके शैव सम्प्रदाय के मठाधीश्वर पीठ चतुष्टय के शङ्कराचार्य के रूप में मठ का संचालन कर रहे हैं। अतः साधना के साम्प्रदायिक धरातल पर वे शैव थे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वे **'विवर्तवादी'** एवं केवलाद्वैतवादी थे किन्तु साधना पक्ष की दृष्टि से वे शैव एवं शाक्त दोनों थे। उन्होंने समन्वयवादी होने के कारण (१) ज्ञान एवं भक्ति, (२) ज्ञान, भक्ति एवं योग, (३) वेदान्त एवं शैव-शाक्त मार्ग (४) ज्ञानोपासना एवं तांत्रिकोपासना आदि सभी में समन्वय स्थापित करके समन्वयवादी दृष्टिकोण अंगीकृत करके (एक वाद के पीछे न दौड़कर) समस्त हिन्दू-समाज एवं उसकी दृष्टियों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करके उन्हें संगठित करने का प्रयास किया था।

आचार्य शंकर की यह दृष्टि अपनी गुरु-परम्परा से प्राप्त हुई थी।

(१) गौड़पादाचार्य ने 'माण्डूक्यकारिका' लिखकर जगत को मिथ्या सिद्ध किया और कहा कि—

'स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥'[१]

आचार्य शंकर ने भी वही बात कही है—

(१) 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैव नापरः॥'
(२) 'तावत् सत्यं जगदभाति शुक्तिकारजतं यथा॥' आत्मबोध
(३) 'संसारः स्वप्न तुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः॥ आत्मबोध

---

१. वैतथ्य प्रकरण—(३१) (२)

(४) असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येक वस्तुनि।। (वि०चू०)

(२) आचार्य गौड़पाद ने वेदान्त के विवर्तवाद का मायावाद को स्वीकार करके भी समयाचारगत शाक्त सम्प्रदाय की उपासना भी की एवं उसके प्रतपादक ग्रन्थ (१) 'श्रीविद्यारत्नसूत्रम्' एवं (२) 'सुभगोदयस्तुति' भी लिखे। इसी प्रकार आचार्य शंकर ने विवर्तवादी, मायावादी एवं अद्वैतवादी वेदान्ती होकर 'ब्रह्मसूत्र' पर 'शारीरकभाष्य' भी लिखा एवं तंत्र और शाक्त दर्शन पर (१) प्रपञ्चसार तंत्र एवं (२) सौन्दर्यलहरी भी लिखा।

(३) आचार्य गौड़पाद ने 'अजातिवाद' की स्थापना करने के बाद भी ('माण्डूक्यकारिका' में सांख्यदर्शन का खण्डन करके भी) 'सांख्यकारिका पर भाष्य लिखा किन्तु उस भाष्य में सांख्य सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया उनका खण्डन नहीं किया। इसी प्रकार आचार्य शंकर ने निर्गुणवादी होते हुए भी साकारोपासना को, ज्ञानमार्गी होकर भी भक्ति को, शारीरक भाष्य में योग के सिद्धान्तों का खण्डन करके भी 'प्रपञ्चसार तंत्र' 'योगतारावली' आदि ग्रंथों में योगशास्त्र की साधना की महनीयता स्वीकार भी की तथा "सर्वसिद्धान्त संग्रह' आदि अनेक ग्रंथों का प्रणयन भी किया जो कि उनके 'विवर्तवाद' एवं 'केवलाद्वैतवाद' सिद्धान्त के विरुद्ध थे। एक ब्रह्मोपासक दार्शनिक ने सारे सगुण एवं अवतारी देवी देवताओं के विषय में भक्ति के गीत लिखे और 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' 'शिवोऽहं शिवोऽहं' कहने वाले ज्ञानमार्गी ने भक्ति का प्रतिपादन करते हुए यह भी लिखा है कि—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ !
तवैवाहं न मामकीनस्त्वं।
सामुद्रो वै तरङ्गः,
न तु तारङ्गो वै समुद्रः ।।"

उन्होंने ऐसा क्यों किया? उन्हें ये सारे विरोधाभासी लगने वाले तत्त्व अपने परमगुरु गौड़पाद से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए थे।

(४) योग की प्राचीन पद्धति के अनुसार स्थापित 'मूलाधार' 'स्वाधिष्ठान' 'मणिपूर'-'अनाहत'-'विशुद्धि'-'आज्ञा' एवं फिर 'सहस्रार' के क्रम तथा—क्षिति-जल-पावक-वायु-आकाश-मन आदि तत्त्वों के पूर्वा पर क्रम का त्याग करके उन्होंने कहा—

'मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसे ।।[१]

आचार्य शंकर ने 'मणिपूर' के बाद 'स्वाधिष्ठान' का क्रम निर्धारित किया तथा 'मणिपूर' में (अग्नि तत्त्व के स्थान पर) जल तत्त्व को एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' में (जल

१. सौन्दर्यलहरी

तत्त्व केस्थान में) अग्नि तत्त्व को स्थित बताकर जो परम्परागत प्रतिष्ठापित योगसिद्धान्त के विरुद्ध स्थापना दी उसमें भी उनका कोई दोष नहीं है क्योंकि परम गुरु आचार्य गौड़पाद ने भी 'सुभगोदय स्तुति' में यही दृष्टि (सिद्धान्त एवं पौर्वापर्य क्रम) प्रस्तुत किया है।

आचार्य गौड़पाद **लयक्रम** पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—

(१) पृथ्वी तत्त्व का लय अग्नि में होता है—

"क्षितौ वह्निः" पृथ्वी का लय तो जल में होता है फिर उसका लय अग्नि में कैसे कहा गया?

आचार्य शंकर ने भी यही बात कही—

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं"

अर्थात् **'मूलाधार'** में **'पृथ्वीतत्त्व' एवं जलतत्त्व** को भी लयीभूत करना चाहिए। **'मणिपूर'** चक्र में **'अग्नितत्त्व'** को लयीभूत करना चाहिए। जिसकी स्थिति **'स्वाधिष्ठान चक्र'** (जलतत्त्वात्मक चक्र) में है—

"महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।।"

गौड़पादाचार्यकहते हैं—[१]

"क्षितौ वह्नि वह्निर्वह्नौ वसुदलजलेदिङ्मरुति दिक्"

यदि 'वह्नि' को मूलाधार का अन्त्यात्मक त्रिकोण मान लिया जाय तो क्या अन्य तत्त्व भी अपने ही चक्र में लयीभूत हो जाते हैं क्या?

परमगुरु गौड़पादाचार्य ने **गीता पर टीका लिखी** तो भगवान शंकराचार्य ने भी गीता पर टीका लिखी। दोनों ने ही गीता के सिद्धान्तों का खण्डन न करके उनका मण्डन किया।

आचार्य गौड़पादाचार्य ने श्री सम्प्रदाय पर दो ग्रंथ—(१) **'सुभगोदयस्तुति'** एवं (२) **'श्रीविद्यारत्नसूत्र'** लिखे तो आचार्य शंकर ने भी समयाचार सम्मत श्री सम्प्रदाय पर **'सौन्दर्यलहरी'** लिखा। आचार्य लक्ष्मीधर ने उनको समयाचारी, तांत्रिक एवं शाक्त दार्शनिक स्वीकार करते हुए कहा है कि—

'इह खलु शंकरभगवत्पूज्यपादाः समयमत तत्त्ववेदिनः समयाख्यां चन्द्रकलां श्लोक शतेन प्रस्तुवन्ति।।"[२]

१. सुभगोदयस्तुति (३७)
२. लक्ष्मीधरा

आचार्य गौड़पाद ने 'समयाचार' के पक्ष में कौलमत का बार-बार खण्डन किया और बार-बार अपनी दृष्टि को कौल-दृष्टि के विरुद्ध बताने का प्रयास किया, यथा—

(क) त्रिकोणं ते **कौलाः** कुलगृहमिति प्राहुरपरे।
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति ॥[१]

(ख) चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि **कुलमतं** निन्दितमभूत।

(ग) यदा चामावस्या भवति नहि पूजा समयिनाम ॥

(घ) भवत्साम्यं केचित् त्रितयमिति कौल प्रभृतयः ॥[२]

(ङ) तदेतत् **कौलानां** प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितं
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयम् ॥[३]

(च) अमीषां **कौलानां** भगवति भवेत्पूजनविधिः ॥[४]

(छ) नवयूहं **कौल** प्रभृतिक मतं तेन स विभुः।[५]

आचार्य शंकर ने (यद्यपि गौड़पाद की तुलना में कौलों के प्रति अत्यन्त उदारवादी दृष्टि अपनाकर) भी 'सौन्दर्य लहरी' में समयाचार के प्रति अपनी अधिक सहानुभूति प्रकट की है।

(७) गौड़पादाचार्य की आविर्भावकाल—

'BLUNDERS OF INDIAN HISTORY

के लेखक पुरुषोत्तम नागेश के कथनानुसार—

(१) शंकराचार्य जी का जन्म ५०९ ई० पूर्व है। उनका निर्वाणकाल ४७७ ई० पूर्व है।

(२) बुद्ध का जन्म ई०पू० १८८७ से १८०७ के मध्य हुआ था।

(३) कुमारिल भट्ट का जन्म ५५३ ई० पूर्व का है।

(४) 'वृहत्शंकरविजय' (चित्सुखाचार्य-रचित) के अनुसार आदि शंकराचार्य की जन्मतिथि ५०९ ई०पू० एवं निर्वाण-तिथि ४७७ ई०पू० है।

---

१. सुभगोदयस्तुति (७)
२. सुभगोदयस्तुति (३९)
३. सु०स्तुति (४२)
४. सु०स्तुति (४३)
५. सु०स्तुति (४४)

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आचार्य गौड़पाद छठवीं सदी ईसा पूर्व के तो हैं ही क्योंकि शंकराचार्य एवं गोविन्दपाद के पूर्ववर्ती थे।

(८) आचार्य गौड़पाद—कृतित्व और दार्शनिक दृष्टि

आचार्य गौड़पाद की प्रख्यात रचनायें—

आचार्य गौड़पाद की प्रख्यात रचनायें निम्नाङ्कित हैं—

(१) **'माण्डूक्यकारिका'** (२) **उत्तर गीता** पर भाष्य (३) **'श्रीविद्यारत्नसूत्रम्'** (४) **'सुभगोदय स्तुति'** (५) **'सांख्यकारिका'** की टीका।

आचार्य गौड़पाद ने **'सांख्यकारिका' के अपने भाष्य का प्रारम्भ** इस वन्दनात्मक श्लोक के साथ किया है—

'कपिलाय नमस्तुस्मै, येनाऽविद्योदधौ जगति मग्ने
कारुण्यात्सांख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय।
अल्पग्रंथं स्पष्टं प्रमाण-सिद्धान्त-हेतुभिर्युक्तम्।
शास्त्रं शिष्यहिताय समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥'

इसके उपरान्त उन्होंने सात महर्षियों का नामोल्लेख किया है—

'सनकश्च, सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा।
इत्येते ब्रह्मणःपुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ॥'

(१) **माण्डूक्यकारिका**—आचार्य गौड़पाद ने अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत स्थित 'माण्डूक्योपनिषद् ' पर कारिकायें लिखीं हैं। गौड़पादीय कारिकायें अद्वैतसिद्धान्त का प्रथम निबन्ध कहा जाता है। भगवान् शंकराचार्य ने इसी ग्रंथ के ऊपर अपने अद्वैतवाद एवं वेदान्त-दृष्टि की नींव रखी थी। यह भी सत्य है कि अद्वैत सिद्धान्त अनादि है तथापि दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से इसको जो साम्प्रदायिक स्वरूप प्राप्त हुआ वह प्रथम बार हुआ।

आचार्य गौड़पाद ने "माण्डूक्यकारिका" को निम्न भागों में विभाजित किया है—

(१) **'आगम प्रकरण'**, (२) **'वैतथ्य प्रकरण'**, (३) **'अद्वैत प्रकरण'**, (४) **'अलातशान्तिप्रकरण'**।

(१) 'आगम प्रकरण'—आचार्य गौड़पाद ने 'आगम प्रकरण' में आत्मा और ओंकार पर विस्तार सहित प्रकाश डाला है। उनके विचारों को सारांश में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) ॐकार ही सब कुछ है।

(२) आत्मा के चार पाद हैं—वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ एवं तुरीय।

(३) **प्राण** ही **सर्वोत्पादक** है—

'प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ॥६॥'

(४) सृष्टि के विषय में अनेक दृष्टियाँ हैं यथा—इच्छासृष्टिवाद, कालसृष्टिवाद, भोगसृष्टिवाद, क्रीडासृष्टिवाद, भगवत्स्वभावसृष्टिवाद।

(५) और उसके पादों के साथ ओंकार और उसकी मात्राओं का तादात्म्य है।

(६) उक्त तादात्म्यों का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) अकार और विश्व का तादात्म्य।

(ख) उकार और तैजस् का तादात्म्य।

(ग) मकार और प्राज्ञ का तादात्म्य।

(घ) मात्राओं की विश्वादिरूपता॥

(ङ) अमात्र और आत्मा का तादात्म्य॥

(७) आत्मा ही अव्यय, प्रभु, सर्वदुःखशामक, देवता एवं समस्त पदार्थों का अद्वैत रूप है—

'निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥'

अद्वैतोपलब्धि अनादिमाया से जागृत होने पर ही हुआ करती है—

'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥'

प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है। सर्वत्र माया का ही प्रसार है—

'प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।'
'मायामात्रमिदद्वैतं'

समस्त **द्वैत** माया मात्र है परमार्थतः तो **अद्वैत** ही है—

'मायामात्रमिदं **द्वैतमद्वैतं** परमार्थतः॥'

(८) ओंकारोपासना श्रेष्ठक उपासना है चित्त को ओंकार में समाहित करना चाहिए ओंकार निर्भय ब्रह्मपद है। उसमें समाहित रहने से साधक निर्भय हो जाता है—

'युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य नभयं विद्यते क्वचित्॥'

(९) **प्रणव का स्वरूप** इस प्रकार है—

'प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥'
'प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥'

(१०) ओंकार का ज्ञाता ही 'मुनि' है—

'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥'

[२] **वैतथ्य प्रकरण—**

(१) समस्त पदार्थ मिथ्या है—

'वैतथ्यं सर्वभावानां'

(२) स्वप्न के अतिरिक्त जाग्रत अवस्था में भी पदार्थ मिथ्या है।

शंकराचार्य ने गौड़पाद की इस दृष्टि को इस प्रकार व्याख्यात किया है—

(१) जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। **'प्रतिज्ञा'**।।

(२) दृश्यत्वादिति **'हेतुः'**।

(३) स्वप्नदृश्यभाव वदिति **'दृष्टान्तः'**॥

(४) यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति **हेतूपनयः'**।

(५) तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति **निगमनम्**॥

गौड़पाद—'स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।'

(६) **जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी नहीं है—**

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।'

असत् पदार्थ भ्रम से सत्ताशील दिखाई पड़ रहे हैं—

'वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥'

अद्वैत आत्मा ही द्वैत की कल्पना करती है।

'कल्पयत्यात्मनात्मात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः॥'

(८) **अज्ञाननिवृत्ति ही आत्म ज्ञान है।**

'निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥'

(९) मूल तत्त्व के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ—

जगत का कारण 'प्राण' है, चार महाभूत हैं, गुण है, आत्मा के पाद हैं, विषय हैं, सत्य, इन्द्रादि, चारवेद, यज्ञ, काल, या दिशायें हैं।

यह कारण मन है, बुद्धि है, धमाधर्म है, २५ तत्त्व हैं, २६ तत्त्व हैं, ३१ तत्त्व हैं, सृष्टि, स्थिति लय हैं।

'प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदुः।
गुण इति गुणविदस्तत्त्वा नीति च तद्विदः ॥' आदि

(१०) जगत् स्वप्न या माया है—

'स्वप्नमाये यथाा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥'

(११) न प्रलय है, न उत्पत्ति, न बद्ध है, न साधक है—यही परमार्थता है—

'न निरोधो न चोत्पतिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त यत्येषा परमार्थता ॥'

(१२) अद्वैत ही शिव है अर्थात् मङ्गलमय है—

'तस्मादद्वयता शिवा: ॥'

(१३) * कोई भी वस्तु न तो ब्रह्म से पृथक है और न अपृथक *

' न पृथङ् ना पृथक्किंकचिदिति तत्त्वविदो विदु:॥'

(१४) प्रपञ्चोपशम, निर्विकल्प अद्वय तत्त्व का द्रष्टा

'वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥'

(१५) * अद्वैत में ही मनोनिवेश करके और अद्वैततत्त्व को प्राप्त करके जड़वत व्यवहार करना चाहिए *

'तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम्।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥'

[३] अद्वैतप्रकरण—

(१) भेददर्शी कृपण है—'तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥'

(२) 'अकार्पण्य' (अजन्मा ब्रह्म का भाव) का प्रतिपादन।

'यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः।"

(सब ओर उत्पन्न होने पर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं होता)

(३) आत्मा आकाशवत है किन्तु घटाकाशों के समान जीव के रूप में उत्पन्न होता है—

'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।'

(४) * जीव आत्मा में उसी प्रकार विलीन होते हैं यथा महाकाश में घटाकाश *

'घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥'

एक घटाकाश के धूल-धूम्र आदि से युक्त होने पर सभी घटाकाश उनसे प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जीव भी सुखादि धर्मों से लिप्त नहीं होता

'तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।'

(५) भिन्न-भिन्न आकाशों के रूप, कार्य और नामों में तो भेद है किन्तु आकाश में तो कोई भेद नहीं है। उसी प्रकार जीवों के विषय में भी निश्चय समझना चाहिए—

'आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥'

जिस प्रकार घटाकाश आकाश का विकार या अवयव नहीं है उसी प्रकार जीव भी आत्मा का विकार या अवयव कभी नहीं है—

"नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा।"

(६) जीवात्मा और आत्मा अभेद है—

"जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ॥"

(७) * अद्वैत ही परमार्थ है, द्वैत उसी का भेद (कार्य) है *

'अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामनुयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥'

आत्मा में भेद-प्रतीति माया के कारण ही है—

'मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ॥'

(८) 'अजातिवाद' ही सत्य है—

जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है—

'अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥'

मृत्युहीन वस्तु मरणशील नहीं होती—

'न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ॥'

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥'
'अजायमानो बहुधा विजायते।'

गौड़पादाचार्य कहते हैं—
'अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः।'

(९) * आत्मा कैसे प्रकाशित होती है? *

अनात्मा का प्रतिषेध करने से ही आत्मा प्रकाशित होती है—
'स एषनेतिनेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः॥
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते॥'

(१०) * सद्वस्तु की उत्पत्ति मायिक होती है *
'सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।'

असद्वस्तु की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है—
'असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते।'

माया से ही द्वैताभास रूप से सारे द्वैत उत्पन्न होते हैं—
'यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दन्ते मायया मनः।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः॥'

(११) * अद्वय मन ही द्वैतरूप से भासित होता है *
'अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥'

(१२) * समस्त चराचर द्वैत मन का ही दृश्य है *
'मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंच सचराचरम्।'

किन्तु **अमनीभाव की स्थिति में द्वैतभाव नहीं रहा करता—**
'मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥'

अमनीभाव कैसे उदित होता है? तत्त्वबोध द्वारा—
'आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥'

(१३) * अजन्मा ज्ञान से ही अजन्मा आत्मतत्त्व का उदय होता है *

(१) उस सर्वकल्पनाशून्य अजन्मा ज्ञान की विवेकी ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न है। ब्रह्म जिसका विषय है वह ज्ञान अजन्मा और नित्य है। उस **अजन्मा ज्ञान से अजन्मा आत्मतत्त्व** स्वयं ही जाना जाता है।

'अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते॥'
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते॥'

(१४) * सुषुप्ति एवं समाधि में क्या भेद है? *

(सुषुप्ति में मन अविद्या में लीन होता है किन्तु समाधि में नहीं।)
'लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥'

(१५) * ब्रह्म का स्वरूप क्या है? *
'अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन॥
सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥

(१६) * 'अस्पर्शयोग' का स्वरूप क्या है? *
'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥'

(१७) * मनोविग्रह के साधन एवं प्रक्रिया *

(१) कुशाग्रभाग से एक-एक बूँद द्वारा समुद्र को भी उलीचा जा सकता है उसी प्रकार खिन्नता का त्याग कर देने पर मन का निग्रह हो सकता है—
'मनसो निग्रहस्तद्वत् भवेत् परिरवेदतः।'

(२) काम्य विषय एवं भोगों में विक्षिप्त चित्त का उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्था में अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त चित्त का भी करना चाहिए। उसकी काम एवं लय दोनों से रक्षित करना चाहिए।

(३) 'सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप हैं—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्त को कामजनित भोगों से हटाना चाहिए।
'दुखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्॥'

(४) यदि मन सुषुप्ति में लयीभूत होने लगे तो उसे आत्मविवेक में नियुक्त करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे शान्त करे। साम्यभावापन्न चित्त को कभी चंचल नहीं करना चाहिए।[१]

(५) उस साम्यभावापन्न सुख का आस्वादन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत्

---

१. माण्डूक्यकारिका

विवेकशील बुद्धि के द्वारा उससे निःसंग रहना चाहिए। यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे निश्चल एवं एकाग्र करना चाहिए।

(६) जिस समय चित्त सुषुप्ति में लीन न हो और फिर विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है।

(७) उस अवस्था में जो आनन्द अनुभव होता है उसे ब्रह्मज्ञ लोग स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथ्य निरातिशयसुखस्वरूप, अजन्मा एवं ज्ञेय से अभिन्न एवं सर्वज्ञ बतलाते हैं।

(८) परमार्थ का स्वरूप इस प्रकार है कि—

'न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥'[१]

[४] **'अलातशान्ति प्रकरण'**—

(१) * **अद्वैततत्त्व एवं अस्पर्शयोग** *

आचार्य गौड़पाद ने अलातशान्ति प्रकरण के प्रारंभ में **अद्वैत तत्त्व की वन्दना** की है। आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१) रागद्वेषादि क्लेशों का आश्रय न होने के कारण **अद्वैतदर्शन ही सम्यक् दर्शन** है।

(२) वेद के तात्पर्यभूत इस **अद्वैतदर्शन** के विरोधी जो द्वैतवादी और वैनाशिक बौद्धादिक हैं उनके दर्शन परस्पर विरोधी होने के कारण रागद्वेषादि क्लेशों के आश्रय हैं। अतः उनका मिथ्यात्वदर्शनत्व सूचित होता है।

(३) आवीतन्याय से **अद्वैतदर्शन की सिद्धि** का उपसंहार करना है—

(क) 'क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्यत्**यद्वैतदर्शनं** स्तूयते।'

(ख) '**अद्वैतदर्शन**सिद्धिरूपसंहर्तव्यम्।'

(ग) अधुना **अद्वैतदर्शनयोगस्य** नमस्कारस्तत्स्तुतये

'**अस्पर्शयोगो** वै नाम **सर्वसत्वसुखो हितः**।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं **नमाम्यहम्**॥'

गौड़पादीय '**अस्पर्श योग**' की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर उसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

१. माण्डूक्यकारिका

"जिस योग का किसी से कभी स्पर्श अर्थात् सम्बन्ध नहीं है उसे '**अस्पर्शयोग**' कहते हैं और **वह ब्रह्म स्वभाव ही है**—

"स्पर्शनं स्पर्शः न विद्यते यस्य योगस्य केनचित् कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव॥"—

"ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः॥'

(४) **'अस्पर्श योग'**

(१)	(२)	(३)
सर्वसत्वसुखात्मक	हितकारी	अविवाद अविरुद्ध

(२) **सांख्य, वैशेषिक एवं न्याय का खण्डन**—

'भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिख्यापयन्ति ते॥'

कतिपय दार्शनिक यह कहते हैं कि '**भूत**' [**विद्यमान वस्तु की जाति (उत्पत्ति)**] **नहीं होती**। (सांख्यदर्शन की दृष्टि।)

प्राज्ञाभिमानी वैशेषिक एवं न्याय के पक्षधर कहते हैं कि '**अभूत**' (**अविद्यमान वस्तु**) ही जन्म लेती है'—

'भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं रव्यापयन्ति ते॥'

इन सत्कार्यवादी एवं असत्कार्यवादी दार्शनिकों के मतों से तो उत्कृष्टतर मेरा ही सिद्धान्त सही है कि उत्पत्ति ही नहीं होती।

[५]— उत्पत्ति (सृष्टि) के विषयक सिद्धान्त

(१)	(२)	(३)
सत्कार्यवादी सांख्यों का मत	असत्कार्यवादी वैशेषिक'न्याय का मत	गौड़पाद का मत 'अजातिवाद'

गौड़पादाचार्य के मत—"विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं रव्यापयन्ति ते॥[१]

[६] **गौड़पादाचार्य के तर्क**—

(१) कुछवादी लोग अजात वस्तु की ही उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं; किन्तु अजात तो अमृत है अतः उत्पन्न होकर वह मरणधर्मा कैसे हो सकता है?

१. अलातशान्ति प्रकरण (४) (२)

(२) **स्वभावविपर्यय असंभव है—**

'न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥'

(३) जिसके मत में स्वभावत: **अमर भी मृत हो जाता है** उसके सिद्धान्त के अनुसार अमृततत्त्व चिरस्थायी (निश्चल) कैसे बन पायेगा?

(४) **प्रकृति क्या है?** 'प्रकृति' का लक्षण इस प्रकार है—

'सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥'

(५) **समस्त जीव स्वभाव से ही जरामरण शून्य हैं।** उनको जरामरण युक्त बताना स्वभावत: असंगत है—

'जरामरण निर्मुक्ताः सर्वे धर्मः स्वभावतः।'

(६) **सांख्यमतावलम्बी** कहते हैं कि—"कारण ही कार्य है अत: कारण ही उत्पन्न होता है।' यह ठीक नहीं है क्योंकि जन्म लेने वाला अजन्मा कैसे हो सकता है?

यदि **'प्रधान'** नित्य है तो वह विदीर्ण होकर महदादि रूपों में परिवर्तित कैसे हो सकता है?

(७) यदि **'कारण'** कार्य से अभिन्न है फिर तो कार्य को भी अजन्मा मानना पड़ेगा। यदि यह सही है तो कार्य से अभिन्न कारण भी निश्चल नहीं रह सकता।

(८) जो किसी **अजन्मा से किसी कार्य की उत्पत्ति** मानते हैं उनके पास कोई दृष्टान्त या **प्रमाण नहीं है।** यदि **जात से कार्योत्पत्ति** मानी जाती है तो **अनवस्थादोष** आ जाएगा।

(९) **हेतु एवं काल के अन्योन्यकारणत्व में दोष है।** जो हेतु का कारण फल एवं फल का कारण हेतु मानते हैं, वे हेतु एवं फल का अनादित्व कैसे सिद्ध कर सकते हैं? इस सिद्धान्त से कि—'हेतु का कारण फल है और फल का कारण हेतु है।"—पुत्र से पिता का भी जन्म हो सकता है। क्या यह संभव है?

'तथा जन्म भवेत्तेषां **पुत्राज्जन्म पितुर्यथा** ॥'

(१०) हेतु से फल एवं फल से हेतु की सिद्धि होती है तो उनमें से प्रथम कौन हुआ? किसकी अपेक्षा से दूसरे का आविर्भाव माना जाय?

—इन्हीं वैचारिक असंगतताओं के कारण गौड़पाद का कथन है कि **'अजातिवाद' का सिद्धान्त** ही सही है—

'एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः **परिदीपिता** ॥'

(११) बीज और अंकुर, हेतु एवं फल के पौर्वापर्य के अज्ञान के कारण अनुत्पत्ति (अजातिवाद) का सिद्धान्त ही सही है।

(१२) गौड़पाद का मत 'अजातिवाद' है अत: गौड़पाद कहते हैं—

'स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥'

(१३) अनादि का कोई हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता। अनादि हेतु से (**स्वभाव से**) फलोत्पत्ति भी नहीं हो सकती। क्योंकि 'अनादि' का 'आदि' नहीं हो सकता।

(१४) **बौद्धों के विज्ञानवादका खण्डन—**

आचार्य गौड़पादाचार्य कहते हैं—

चित्त किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी अर्थाभास का ही ग्रहण करता है क्योंकि पदार्थ है ही नहीं अत: पदार्थाभास भी उस चित्त से पृथक नहीं है।

तीनों अवस्थाओं (भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान) में चित्त कभी किसी विषय का स्पर्श नहीं करता फिर उसे बिना निमित्त के ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है?

(१५) चित्त भी उत्पन्न नहीं होता और न तो चित्त का दृश्य ही उत्पन्न होता है—

'तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ॥' (२८)

कारण यह है कि **अजन्मा (चित्त) का ही जन्म होता है अत: अजाति ही उसका स्वभाव है** और स्वभाव के विरुद्ध कुछ होता नहीं। अनादि संसार का अन्तवत्व एवं सादि मोक्ष की अनन्तता दोनों सिद्ध नहीं हो सकतीं।

(१६) **जगत मिथ्या क्यों है?** इसलिए मिथ्या है क्योंकि 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा॥'

(**जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा** ही है अर्थात् नहीं है।) **जाग्रत पदार्थों का अस्तित्व क्या स्वप्न में रहता है?** अत: जो सादि-सान्त हैं वे मिथ्या हैं—

'तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥'

स्वप्न भी जाग्रतकाल में मिथ्या है क्योंकि—

'गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥'

स्वप्नगतशरीर भी मिथ्या होता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण चित्त दृश्य अवस्तुरूप

है। 'स्वप्न' जाग्रत (कारण) का कार्य है। स्वप्नद्रष्टा के लिए ही जाग्रतावस्था सत्य है औरों के लिए नहीं।

(१७) **सब कुछ अज है और सत् से असत् की उत्पत्ति** असंभव है—

(१) 'अजं सर्वमुदाहृतम् ।'

(२) 'न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥''

(१८) **जगत के मिथ्यात्व** का यह भी कारण है कि—

जीव जाग्रत अवस्था में असत्पदार्थों को देखकर उन्हीं के संस्कारों से उन्हें स्वप्न में देखता है किन्तु स्वप्नदृष्ट पदार्थों को जाग्रत अवस्था में नहीं देखता।

(१९) **कारणकार्यवाद की समीक्षा**—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि न तो—

(क) असत् पदार्थ असत् कारणात्मक है।

(ख) न तो, सत पदार्थ असत् कारणात्मक है।

(ग) न तो, असत् पदार्थ ही सत्कारणात्मक है।

स्वप्न भ्रान्ति मात्र है।

(२०) **जातिवाद किसके लिए है ?** जो अजातिवाद से भयभीत होते हैं उन्हीं के लिए जातिवाद का उपदेश दिया गया है।

(२१) **अद्वय पदार्थ क्या है?** आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

'जात्यभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥' (४५)

(२२) **विज्ञानवाद का खण्डन**—यथा अलात (उल्का) का घूमना ही सीधे टेढ़े आदि रूपों में भासित होता है। तदवत् विज्ञान का स्फुरण ही ग्रहण एवं ग्राहक आदि रूपों में भासित हो रहा है। जिस प्रकार स्पन्दनशून्य अलात (लुआठी) आभासशून्य एवं अज है उसी प्रकार स्पन्दनशून्य विज्ञान भी आभासशून्य एवं अज है—

'अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥'

अलात के स्पन्दित होने पर भी वे आभास किसी अन्य कारण से नहीं होते तथा उसके स्पन्दरहित होने पर भी कहीं अन्य नहीं चले जाते और न तो अलात में ही प्रविष्ट होते हैं। उनमें द्रव्यत्व के अभाव का योग होने के कारण वे अलात से भी नहीं निकलते। **'विज्ञान'** के स्पन्दित होने पर भी उसके आभास किसी अन्य

कारण से नहीं होते तथा उसके स्पन्दशून्य होने पर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न विज्ञान में ही प्रविष्ट होते हैं। वे अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) हैं।

(२३) * **आत्मा में कार्यकारणभाव संभव नहीं है।** *

('आत्मा खलु विश्वमूलं' कहकर महेश्वरानन्द ने आत्मा को 'कारण' एवं विश्व को 'कार्य' प्रतिपादित किया है)

गौड़पाद कहते हैं कि—**'आत्माओं'** में द्रव्यत्व एवं अन्यत्व संभव नहीं है। द्रव्य का **कारण** द्रव्य ही हो सकता है। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य ही कारण होताहै। आत्माओं में द्रव्यत्व अन्यत्व दोनों नहीं है।

(२४) **'कार्य कारणवाद' का खण्डन**—न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तोत्पन्न हैं और न तो चित्त ही बाह्यपादार्थोत्पन्न है अतः मनीषी कार्यकारण की अनुत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। जब तक **हेतु एवं फल** का आग्रह है तभी तक **हेतु और फल** की भी उत्पत्ति है किन्तु (फल हेतु-फल का) आवेश समाप्त होते ही हेतुफलरूप उत्पत्ति भी नहीं होती, हेतु-फल का आग्रह रहने तक ही **संसर** है। इस आग्रह के नष्ट होते ही **संसार** का अस्तित्व नहीं रहता—

'यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥'

(२५) * **सर्वाजत्व एवं सर्वअविनाशत्व** *—परमार्थ की दृष्टि से सब कुछ अज है अतः किसी का विनाश भी नहीं है—

'सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥'

समस्त **पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से ही उत्पन्न होते हैं** अतः वे नित्य नहीं है—

'संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ॥'

(२६) * **जीवोत्पत्ति** मायिक दृष्टि है *

'धर्मा य इति जायन्ते, जायन्ते तेन तत्त्वतः।
जन्ममायोपमं तेषां सा च **माया** न विद्यते ॥५८॥

('संवृत्यैव धर्मा जायन्ते, न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते ॥)[१]

यथा मायामय बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होते हैं और न तो वे नित्य होते हैं और न नश्वर उसी प्रकार धर्मों की भी स्थिति है।[२]

१. शङ्कराचार्य मा०का० भाष्य।
२. मा०का० ५९।

'यथा मायामयाद् बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ॥'

(२७) * **चित्तोत्पत्ति का कारण माया है** *

गौड़पादाचार्य कहते हैं—

'यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया॥' (६१)

(२८) **स्वप्न एवं स्वाप्निक पदार्थों की द्रष्टा से अभिन्नता** *

'स्वप्नदृक् चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।'

इसी प्रकार स्वप्न द्रष्टा का यह चित्त भी उसी का दृश्य है।

जाग्रत चित्त के दृश्य जाग्रत अवस्था के साक्षी से अभिन्न हैं। इसी प्रकार जाग्रच्चित्त भी उसी का दृश्य है।[१]

(२९) **उत्पत्ति और विनाश तथा जन्म एवं मृत्यु की असत्यता**

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) जिस प्रकार स्वप्न का जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये समस्त जीव भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं। जिस प्रकार मायामय जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सभी जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं। जिस प्रकार मंत्रादि-रचित जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार सारे जीव उत्पन्न होते एवं मरते भी हैं।[२]

(३०) **अजातिवाद और उत्तम सत्य**—गौड़पादाचार्य कहते हैं—

'न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥'

सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्फुरण मात्र है—

आचार्य **गौड़पाद** कहते हैं कि 'चित्तं निर्विषयं नियमसङ्गं तेन कीर्तितम्' किन्तु द्वैत क्या है? द्वैत मात्र चित्त-स्पन्दन है—

'चित्तस्पन्दितमवेदं ग्राह्यग्राहकमद्वयम्।'

(३१) * **व्यवहारगत सत्य एवं उसके लिए कल्पित पदार्थ मिथ्या है** *

गौड़पादाचार्य कहते हैं—

(१) 'योऽस्तिकल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।'

१. मा०का० (अलातशान्ति प्रकरण : ६६)
२. मा०का० (अ०शा०प्र० : ६८, ६९, ७०)

(२) 'परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः॥'

(अर्थात् परशास्त्रों के अनुसार हो भी तो वह पारमार्थिक नहीं है)

(३२) **क्या आत्मा 'अज' है?** गौड़पादाचार्य कहते हैं कि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा को 'अज' कहते हैं परमार्थतः तो वह अज भी नहीं है। सांवृत्तिक दृष्टि से (भ्रमपूर्ण व्यवहार की दृष्टि से) उसका जन्म (कोई कोई) मानते हैं अतः उसका निषेध करने के लिए उसे 'अज' कहा गया है। परमार्थतः आत्मा 'अज' भी नहीं है।

'अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यजः॥'[१]

(३३) **परमार्थतत्त्व में द्वैत नहीं है** । 'द्वयं तत्र न विद्यते॥'

(३४) * **समस्त प्रतीयमान द्वैतवर्ग चित्त का ही दृश्य है** *

'अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः॥'

(३५) **चित्त की अचल स्थिति कैसे प्राप्त की जाय ?**

आचार्य गौड़पाद मनोलय या प्रत्याहार-सिद्धि के साधनों में सर्वोच्च साधन द्वैतापलाप को स्वीकार करते हैं।

(३६) * **परमार्थदर्शी पुरुषों का 'साम्य' 'अज' एवं 'अद्वय' तत्त्व** *

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) द्वैत से निवृत्त और विषयान्तर में अनासक्त चित्त को **निश्चल स्थिति प्राप्त** हो जाती है और यही निश्चल स्थिति बुद्धों (परमार्थदर्शियों) का 'विषय' है, परम साम्य है। अज है और अव्यय है—

'निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्॥'[२]

(३७) * **आत्मा का स्वरूप क्या है ?** *

गौड़पादाचार्य कहते हैं कि आत्मा, अज, अनिद्र, अस्वान प्रभात, सकृद्विभात एवं वस्तुस्वभाव है—

'अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वमय्।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः॥८१॥'

(३८) **आत्मा का द्वैताच्छादन**—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि भगवान्

१. मा०का० (७४)
२. मा०का० (अ०शा०प्र० ८०)

अनायास ही जिस किसी द्वैत से आच्छादित हो जाते हैं और बड़ी कठिनाई से ही प्रकट होते हैं—

'सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा।'

आत्मा के अस्तित्व के विषय में दार्शनिक दृष्टियाँ
(कोटि चतुष्टय)

(१) 'अस्ति'
(२) 'नास्ति'
(३) अस्ति-नास्ति
(४) 'नास्तिनास्तीति' वा पनुः

'चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येवं बालिशः॥'

(४०) **द्वैत के दो भेद**

(१) वस्तु और उपलब्धि समन्वित लौकिक (जाग्रत)
(२) वस्तु रहित एवं सोपलब्धि द्वैत (शुद्ध लौकिक) = स्वप्न।
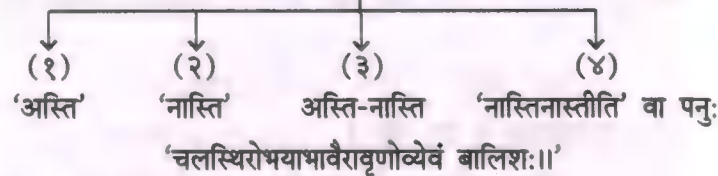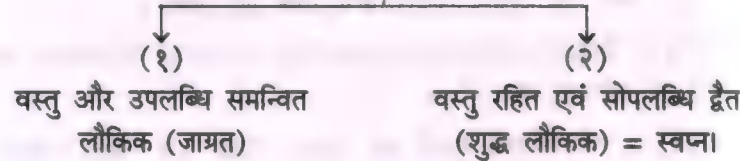
जो वस्तु और उपलब्धि दोनों से रहित है वह अवस्था लोकोत्तर (सुषुप्ति) है।

'ज्ञान' 'ज्ञेय' एवं 'विज्ञेय' जिसके द्वारा अवस्थाओं का बोध हो उसे 'ज्ञान' कहते हैं।

जिसके द्वारा 'ज्ञेय (अवस्थत्रय) आत्मतत्त्व ही **विज्ञेय** है।

सर्वज्ञाता प्राप्ति के साधन

(१) 'ज्ञान'
(२) त्रिविध ज्ञेय की प्राप्ति (अवस्था त्रय = ज्ञेय)
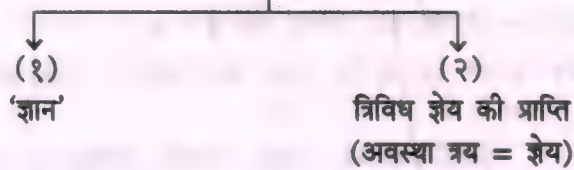
आचार्य शंकर की व्याख्या—(१) जागरित, स्वप्न एवं सुषुप्ति = अवस्थात्रय रज्जु में सर्प के समान आत्मा के असत् होने के कारण **त्याज्य** हैं।

(२) चतुष्कोटि विनिर्मुक्त परमार्थतत्त्व **'ज्ञेय'** है।

(४१) * **जीवों का स्वरूप** *—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—(१)

समस्त जीव स्वभाव से ही आकाशवत है। (२) आत्मा अनादि है। (३) आत्मा का नानात्व कहीं भी नहीं है—

'विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन॥'

(४) आत्मा स्वभावतः नित्यबोधस्वरूप है।

'आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चितः॥'
(सर्वेधर्माः सर्व आत्मानः—शंकराचार्य)।

(५) आत्मा का स्वरूप = आदिशान्ताः ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम्॥'

(४२) **शुद्धि का उपाय**—शुद्धि का उपाय द्वैत का त्याग है।

'वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा॥'

भेदासक्त ही **'कृपण'** है (दीनहीन हैं)।(९४)

आत्मा का स्वरूप—गौड़पादाचार्य कहते हैं—

'अलब्धावरणः सर्वे धर्माः प्रकृति निर्मलः॥'
'आदौ बुद्धास्तथामुक्ता.......... ॥(९८)[१]

(४३) **अद्वैत और वेदान्त**—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि परमार्थ तत्त्व अद्वैत है। शंकराचार्य व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः॥'[२]

आचार्य शंकर गौड़पादाचार्य को 'पूज्यामिपूज्य परम गुरु' कहते हैं—

'यैस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि॥''

[१०] **'सांख्यकारिका' भाष्य**—सांख्यकारिका पर प्रणीत अपने भाष्य में आचार्य गौड़पाद ने सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन न करके अपने अद्वैतवादी दर्शन के विरुद्ध सांख्य सम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है।

'पुरुषबहुत्वं सिद्धं' वाली कारिका को ही ले लीजिए। उसमें वे कहते हैं कि आत्मा (पुरुष) अनेक हैं अन्यथा एक आत्मा के जन्म लेने पर सभी जन्म ले लेतीं, एक के मरने पर सभी मर जातीं, एक के बधिर या मूक होने पर सभी बधिर या मूक हो जाती अतः स्पष्ट है कि एक आत्मा नहीं अनन्त आत्मायें हैं—

(१) 'यद्येक एव आत्मा स्यात्तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन् एकस्य मरणे

---

१. माण्डूक्यकारिका (अ०शा०प्र० ९८)
२. शाङ्करभाष्य (९९)

सर्वेऽपि म्रियेरत, एकस्य कारण वैकल्ये बाधिर्याऽन्धत्वमूकत्व कुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिरान्धमूक कुणिखञ्जाः स्युः न चैवं भवति तस्मात्—

(२) "जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् पुरुषबहुत्वं सिद्धम्।"

आचार्य गौड़पाद कपिल को ब्रह्मा का पुत्र घोषित करते हुए कहते हैं कि उन्होंने (कपिल ने) जगत को प्रगाढ़ अन्धकार में निमज्जित देखकर करुणा से भरकर अपने शिष्य आसुरि को २५ तत्त्वों वाले अपने ज्ञान का उपदेश दिया। उसके ज्ञान से दुःखत्रय का क्षय हो जाता है और इसी उद्देश्य से ही 'सांख्यकारिका' की प्रथम कारिका में **'दुःखत्रय** के अभिघात की **जिज्ञासा'** व्यक्त की गई थी और कहा गया था कि—

'दुखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ'[1]

गौड़पाद ने अपनी ओर से 'दुख' को तीन भागों में विभाजित करके प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ये दुःखत्रय निम्नाङ्कित हैं—

(१) आध्यात्मिक दुःख, (२) आधिभौतिक दुःख (३) आधिदैविक दुःख।

दुःखत्रय

(१) आध्यात्मिक (२ प्रकार) | (२) आधिभौतिक (अनेक) | (३) आधिदैविक (अनेक)

(१) 'आध्यात्मिक दुःख'

(१) शारीर दुःख | (२) मानसिक दुःख

(१) वातपित्तश्लेष्मविपर्यय कृत ज्वरातीसारादि | (२) प्रियवियोग अप्रियसंयोग आदि

१. सांख्यकारिका (१)
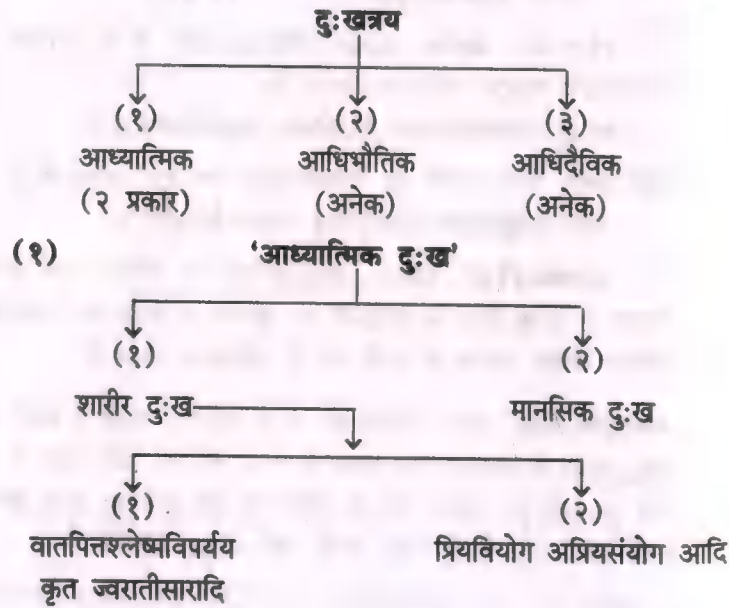
(२) आधिभौतिक दुःख (४ प्रकार के दुःख)

भूतग्रामनिमित्तिक | 'मनुष्यपशुमृगपक्षि सरीसृपदंशमशक यूकामत्कुणमत्स्य मकरग्राहस्वावरेभ्यो | जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज के सम्पर्क से उत्पन्न

(३) 'आधिदैविक दुःख' (देवोत्पन्न दुःख)

(१) शीत | (२) उष्ण | (३) वात | (४) वर्षण | (५) अशनिपात आदि

सांख्यतत्त्ववेत्ता की महिमा—गौड़ापादाचार्य कहते हैं—

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥"

गुणत्रय के विरुद्धधर्मक होने पर भी सहयोग कैसे ?

आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि यह सत्य है कि (१) सतोगुण (२) रजोगुण एवं (३) तमोगुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव के हैं तथापि वे परस्पर मिलकर मित्रवत् कार्य करते हैं। 'यह कैसे सम्भव हो पाता है ?

—इसके उत्तर में उन्होंने एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि जैसे **तेल एवं आग परस्पर विरुद्ध हैं किन्तु वर्तिका के संयोग से दो विरुद्धधर्मी पदार्थ 'प्रकाश' उत्पन्न करते हैं,** उसी प्रकार गुणत्रय भी परस्पर विरुद्ध अर्थों की उत्पत्ति करते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि जब पुरुष को २५ तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है तब **'सत्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षण वाले** इस ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसके ज्ञान का स्वरूप यह है कि पुरुष यह जान ले कि 'इदं प्रधानम्, इदं बुद्धिःख अयम् अहंकारः' इमानि पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चभूतानि, एभ्योऽन्यः पुरुषः विसदृशः' इत्येवं ज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो **मोक्ष** इति॥

—गौड़पादाचार्य

गौड़पादाचार्य की सृष्टि सम्बन्धि दृष्टि—

सृष्टि सम्बन्धिनी सांख्य दृष्टि को आचार्य गौड़पाद ने एक दृष्टान्त द्वारा बहुत अच्छी तरह से समझाया है। वे कहते हैं—

'यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्धः, एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेन कृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः। स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ। पुनस्तयोः स्वस्वचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति। अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। एवं शरीराद्रुर्पङ्गुदर्शितेन मार्गेणाऽन्धो याति, पङ्गुश्चाऽन्धस्कन्धारुढः। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति, पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रिया शक्तिरस्त्यन्धवत् न दर्शन शक्तिः। यथा वाऽनयोः पंग्वन्धयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यतीप्सित स्थान प्राप्तयोः एवं प्रधानमपि—पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयो विभागो भविष्यति। यथा स्त्रीपुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधान पुरुषसंयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः।।'[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य गौड़पाद ने पहले 'सांख्यकारिका' पर भाष्य लिखा और बाद में 'माण्डूक्यकारिकायें' लिखीं क्योंकि 'माण्डूक्यकारिकाओं' में आचार्य 'अजातिवाद' के प्रतिपादक होने के कारण सृष्टि होना स्वीकार ही नहीं करते और प्रश्न करते हैं कि—

'अज़ातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ?'[२]

अतः—

'न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥
'भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिंर व्यापयन्ति ते ॥[३]
'न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ॥'[४]

***

१. गौड़पादाचार्यः सांख्यकारिका भाष्य
२. अलातशान्ति प्रकरण (माण्डूक्यकारिका)
३. मा०का० (४/४)
४. गौड़पादाकारिका (अ०शा०प्र० ४८)

* द्वितीय अध्याय *

[१] 'सुभगोदयस्तुति' और गौड़पादाचार्य के सिद्धान्त

'सुभगोदय स्तुति' नामक ग्रंथ 'श्रीविद्या रत्नसूत्रम्' (सूत्र-ग्रंथ) की ही भाँति 'माण्डूक्यकारिका' की औपनिषदिक ब्रह्माद्वैतवादिनी दृष्टि से पृथक—शक्त्यद्वैतवाद, शक्तिब्रह्मवाद के राजपथ पर चलकर 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १।१) के स्थान पर 'अथातो शक्ति जिज्ञासा' (शाक्त दर्शनम्) (शक्ति सूत्रम्) का पाथेय लेकर अग्रपद हुआ।

आचार्य गौड़पाद एवं आचार्य शङ्कर दोनों ने जैमिनि के 'अथातो धर्म जिज्ञासा' (१।१) का मार्ग छोड़कर पहले—(१) 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' (ब्र०सू० १।१) का मार्ग पकड़ा, किन्तु शुष्क, निष्क्रिय, निर्गुण, निराकार, निस्पृह, निष्करुण एवं अवाङ्मनसगोचर 'ब्रह्म' के कण्टकित दारुण अरण्य में रसानुभूति न होने से उन दोनों ने 'ब्रह्मजिज्ञासा' के भी पथ को छोड़कर अथातो शक्ति जिज्ञासा' वाला जगन्माता का चिन्मय, रसमय एवं आनन्दमय मार्ग पकड़ा और उसमें से एक—

'शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलस्स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यं हरिहर विरिञ्चादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥'[१]

कहकर शक्ति का स्तवन करते हुए 'समयाचार' के मार्ग पर चल पड़ा तो दूसरा—

'भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुख वपुः,
पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणी कल्पिततनुं,
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम् ॥'[२]

गाते हुए 'सहस्त्रार' की यात्रा पर चल पड़ा।

[१] * सुभगा और सुभगोदय *

'सुभगा' शब्द का अर्थ—'सुभगा' का अर्थ है उत्कृष्ट ऐश्वर्यों वाली।

(१) सुभग + अण् = सौभगम् = सौभाग्य, समृद्धि।

१. सौन्दर्यलहरी (१)
२. सुभगोदय स्तुति

(२) **'सौभाग्य'** = सुभगा + ष्यञ् = अच्छा भाग्य। शुभत्व।

(३) **'सुभगोदय'** = सुभगा + उदय। सुभगा का उदय।

'सुभगा' = श्री भगवतीः (उत्कृष्टतम ऐश्वर्यों वाली देवी)।

(४) **'त्रिपुरमहोपनिषद'** में भगवती त्रिपुरा के लिए भी **'सुभगा'** शब्द का प्रयोग किया गया है—

'मदन्तिका मानिनी मङ्गला च, **सुभगा** च सा सुन्दरी शुद्धमत्ता।
लज्जामतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा, लक्ष्मीसमा ललिता लालपन्ती ॥'

'भगः शक्तिर्भगवान काम ईश,
उभा दाताराविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्वौ समोतयोः,
समशक्तिरजरा विश्वयोनिः ॥'

कहकर 'त्रिपुरामहोपनिषद' में 'भग' शब्द को 'शक्ति एवं शक्तिमान' की शक्ति या सामर्थ्य के रूप में प्रयुक्त किया गया है—

'भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश, उमा दाताराविह सौभगानाम्'

भगवान 'भग' (ऐश्वर्य) धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं विज्ञान नामक गुणों से परिपूर्ण हैं।

(५) **'भग' के अर्थ**

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
समस्त (ऐश्वर्य)	धर्म	यश	श्री	ज्ञान	विज्ञान
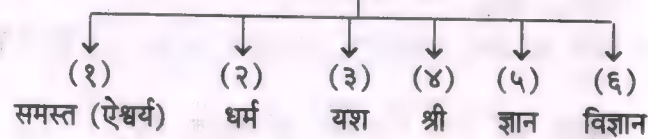
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानविज्ञानयोश्चैव वण्णां **'भग'** इतीरणा ॥'

(६) **'पारमात्मिकोपनिषत्'** के सप्तम अनुवाक की चतुर्थ ऋचा में भी **'सुभगा'** शब्द क प्रयोग है—

'राकामहँ सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः।
'सुभगा' बोधतुत्मना सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्य।
मानया ददातु वीरँ शतदायभुक्थ्यं स्वाहा ॥'

(७) **टीकाकार के द्वारा की गई व्याख्या**—इसमें कहा गया है कि—

(क) भगः श्रीकाममाहात्म्यं वीर्यं यत्नार्क कीर्तिषु।' (अमरको० २३-३६)

(ख) 'सु' = अतिशय या बलवत् या पूजन (अमरको० २४-२, २४-५)

(ग) 'श्रृणोतु निखिलं दोष शृणोतु च गुणैर्जगत्।'

'श्रूयते चाखिलेर्नित्यं च परम पदम्। इति।। सा भक्तस्य आर्तनादं श्रुत्वा तन्निवारणे यत्नं कर्तुं समर्था महानुभावावीर्यवती कीर्तिमती इत्यादि गुणविशिष्टेत्यपि प्रायेण **'सुभगा'** इत्युक्तम् ॥'

बृहस्पति-प्रणीत सरस्वती-स्तोत्र में भी 'कुण्डलिनी' एवं 'सुभगा' का प्रयोग किया गया है—

'शुक्लां मोक्षप्रियां रम्यां **सुभगां** शोभन-प्रियाम्।
पद्मे स्थितां कुण्डलिनीं शुक्लवर्णां मनोरमाम् ॥'

ऋग्वेद के विश्वेदेवा सूक्त (१-१.८९) में 'सुभगा' शब्द का प्रयोग भगवती सरस्वती के लिए किया गया है। भगवती कुण्डलिनी ही 'सरस्वती' है—

'तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भर्गमदितिं दक्षमस्रिधम्। अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः **सुभगा**मयस्करत् ॥३॥

समस्त ब्रह्माण्ड भगवती से ही आविर्भूत होता है अतः वे **'महायोनि' या 'सुभगा'** कही गई हैं—

'आकूतिसूक्त' में भी सुभगा शब्द का प्रयोग किया गया है—

'आकूतिं देवीं **सुभगां** पुरोदधे
चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु,
विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥'

'सुभगा' का अर्थ है—सौभाग्य विद्यारूप तथा सौभाग्यार्चन से अभिपूजित, समस्त ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली।।'

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (२।४।२) में भी **'सुभगा'** शब्द का प्रयोग किया गया है।

'सुभगा' शब्द वैदिक शब्दकोश का शब्द है और वैदिक काल से निरन्तर साहित्य एवं दर्शन में प्रयुक्त होता रहा है।

शङ्कराचार्य जी ने सौन्दर्यलहरी (५) में—'प्रणतजन सौभाग्य-जननीं' कहकर शब्दान्तर द्वारा 'सुभगा' शब्द की ही व्याख्या की है।

कुण्डलिनी **'सुभगा'** इसलिए है क्योंकि वह साधकों को (जागृत होने पर) अष्टैश्वर्य रूप 'भग' प्रदान करती है।

'ललितासहस्रनाम' में भगवती के नामों के पर्याय में **'सुभगा'** शब्द को गृहीत किया गया है—

'सुभगा' का अर्थ है **'सु'** अर्थात् रमणीय **'भग'** (ऐश्वर्य) से सम्पन्न = अर्थात् उत्कृष्टम ऐश्वर्यों से सम्पन्न भगवती महात्रिपुर सुन्दरी या भगवती कुण्डलिनी।

भास्करराय की व्याख्या—आचार्य भास्कर राय 'ललितासहस्रनाम' में प्रयुक्त **'सुभगा'** शब्द (१४६) **'भगाराध्या'** (१३९) **'भाग्याब्धिचन्द्रिा'** (१४४) की मार्मिक व्याख्या की है वे—''त्रिवर्गदात्री **'सुभगा'** अम्बकात्रिगुणात्मिका'' (१९७) की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'पञ्चवत्सरा कन्या सुभगेत्युच्यते कन्या प्रकरणे ''सुभगापञ्चवर्षास्यादिति'—इति धौम्य वचनात् । तदभिन्ना।

''यद्वा श्री काममाहात्म्य वीर्ययत्नकीर्त्यादया **भगपद** वाच्याः शोभना यस्यां सा।।'

'भगमैश्वर्यं माहात्म्य ज्ञान वैराग्ययोनिषु। यशोवीर्यं प्रयत्नेच्छा श्रीधर्म रविभुक्तिषु'—इति **विश्वः**। शोभनो भगः सूर्यो यया वा।।'

सौरकार्येषु सर्वेषु तदन्त स्थिताया अस्याः शक्तेरेव निमित्तत्वात् ।।

यद्वा लोकत्रयान्तर्गतं सौभाग्यं चरगतमचर गतं वा अस्या एव रूपमिति सुभगा।'

'पद्मपुराण' में कहा गया है कि—

'इक्षवस्तरुराजं च निष्पापा जीरधान्यके।
विकाराच्च गोक्षीरं कुसुम्भं कुसुमं तथा।
लवणं चेति सौभाग्याष्टकं स्थावरमुच्यते।।'[१]

'सुभगा' शब्द से प्रारंभ होने वाले मुख्य ग्रंथ

(१) 'सुभगोदय' (शिवानन्द मुनि)
(२) 'सुभगोदय वासना (शिवानन्द मुनि)
(३) 'सौभाग्य हृदयस्तोत्रम् (शिवानन्द मुनि)
(४) सौभाग्य सुधोदय' (अमृतानन्द योगी)
(५) 'सुभगोदय स्तुति' (गौड़पादाचार्य)

(६) 'सौभाग्य भास्कर' (भास्करराय)
(७) सौभाग्योदय वृत्ति (रामेश्वर)
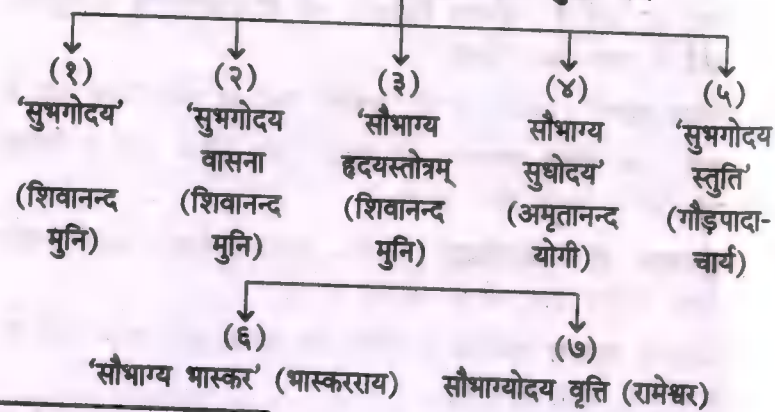
१. सौभाग्य भास्कर (भास्करराय)।
२. सौभाग्य भास्कर ।

'सुभगोदयस्तुति' की दो व्याख्यायें अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण एवं प्रामाणिक हैं—(१) शङ्कराचार्य की व्याख्या (२) आचार्य लक्ष्मीधर की व्याख्या।

दुःख है कि दोनों टीकायें अभी प्रकाश में नहीं आई हैं।

'सुभगा' महात्रिपुरसुन्दरी का वाचक है।

* **'महात्रिपुर सुन्दरी' 'त्रिपुरसुन्दरी' और षोडशी'**

(१) **'त्रिपुरसुन्दरी' की पूजा प्रतिपदा को** की जाती है।

(२) **'महात्रिपुरसुन्दरी'** (षोडशी) की पूजा प्रत्येक तिथि को की जाती है।

(३) **'षोडशी'** महात्रिपुरसुन्दरी का अपर पर्याय है तथापि यह **सहस्रारस्थचन्द्रमा की षोडशीचन्द्रकला है और इसे भी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी-सी कहा जाता है।**[१]

(२) **पद्मपुराण** में कहा गया है—

'त्रिविष्टप **सौभाग्यमयीं** भुक्तिमुक्तिप्रदामुमाम्।
आराध्य **सुभगां** भक्त्या नारीं वा किं न विन्दति।'

'ललितासहस्रनाम' में भगवती का नाम 'सुभगा' कहा गया है—

'क्षराक्षरात्मिका सर्वलोकेशी विश्वधारिणी।
त्रिवर्गदात्री **सुभगा** त्र्यम्बिकात्रिगुणात्मिका।'

भगवती **'भाग्याब्धिचन्द्रिका'** है—

'भाग्याब्धि चन्द्रिका भक्त चित्त केकिघनाघना।।'
'भाग्यलक्षणस्याब्धेरुल्लासकत्वाच्चन्द्रिका कौमुदी वा।'

गौड़पाद कहते हैं[१]—

'सहस्रारे पद्मे **सुभग सुभगोदेति** सुभगे परं सौभाग्यं यत्तदिह तव साम्राज्यापदवी।।५१।।'

(२) अतोऽस्याः संसिद्धौ **सुभग सुभगाख्या** गुरुकृपा।

[२] **श्रीविद्या का सैद्धान्तिक पक्ष**—(षट्त्रिंशत्तत्त्व)

योगी अमृतानन्द ने **'सौभाग्यसुधोदय'** के नाम से जो रचना की है (और जो

१. सौभाग्यभास्कर (भास्करराय)
२. 'षोडशी' महात्रिपुर सुन्दरी हैं; किन्तु चन्द्रकला के रूप में हैं। महात्रिपुरसुन्दरी केवल चन्द्रकला मात्र नहीं है के कुण्डलिनी भी है अतः षोडशी महात्रिपुर सुन्दरी का एक रूप है।

आचार्य क्षेमराज द्वारा रचित **'षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह'** के नाम से भी प्रसिद्ध है) उसमें श्रीविद्या के सिद्धान्त पक्ष (षट्त्रिंशत्तत्त्वों) की अच्छी विवेचना की गई है। वे परिवर्णिततत्त्व निम्नाङ्कित हैं।

(१) **'शिवतत्त्व'**—जिस अनुत्तरमूर्ति ने अपनी इच्छा की प्रेरणा से समस्त विश्व की सृष्टि करने के उद्देश्य से सस्पन्द होकर स्पन्दन क्रिया की, उस प्रथम तत्त्व को तत्त्वमनीषियों ने **'शिवतत्त्व'** कहा—

'यदयमुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत् स्रष्टुम्।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।'

(२) **'इच्छाशक्ति'**—परमेश्वर के स्वस्वरूप से अभिन्न उसकी निर्मलस्वतन्त्र **'इच्छा'** ही (परमेश्वर की सतत स्वसमवेता शक्ति ही) प्रलय-निलीन चराचर जगत की **'बीज'** शक्ति है—

'इच्छा सैव स्वच्छा सन्तत समवायिनी सती शक्तिः।
स चराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निलीनस्य॥'

'सदाशिवतत्त्व'—अपनी ही 'इच्छा शक्ति' की प्रेरणा से और अपने ही भीतर से बाहर उद्गीर्ण जगत को अपना ही स्वरूप मानकर—'अहमिदम्' के विमर्श से निखिल प्रपञ्च को समाच्छादित करके अवस्थित एवं समस्त जगत के प्रति अनुकम्पा दृष्टि रखने वाले शिव को ही **'सदाशिव'** कहते हैं—

'स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रह निरतः सदाशिवोऽभिहितः॥'

ईश्वर तत्त्व—जो समस्त प्रपञ्च को 'इमहम्' के विमर्श के साथ—'इदम्' के रूप में देखता है वही शिव का विकसित स्वरूप 'ईश्वर' कहलाता है—

'विश्वं पश्चात् पश्यन् इदन्तया निखिलमी**श्वरो** जातः॥'

शुद्धविद्या—उसे ही **'शुद्धविद्या'** कहा जाता है जिसमें 'इदम्' एवं 'अहम्' के विमर्श में अभेदात्मकता अवस्थित रहती है—

'सा भवति शुद्ध विद्या **येदन्ताहन्तयोरभेदप्रतीतिः।'**

मायातत्त्व—'परापर दशा' से नीचे की ओर स्पन्दन करता हुआ परमेश्वर अपने प्रकाश स्वरूप के प्रच्छादन की क्रीड़ा से भेदावस्था के स्तर पर अवतीर्ण होकर सर्वप्रथम **'माया'** का अवभासन करता है। यह 'माया' परमेश्वर की स्वातंत्र्यशक्ति का ही भेदपूर्ण सृष्टि का छठवाँ तत्त्व है। यही स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति या भेदावभासन करने वाली अघोरभट्टारक की शक्ति है। 'माया स्वरूप गोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छा शक्तिः॥' (तंत्रालोक की टीका : विवेक भाग ३)

अमृतानन्द **'सौभाग्यसुधोदय'** में इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

'माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे॥'

पुरुष तत्त्व—माया से लेकर नियतिपर्यन्त छः कञ्चुकों से स्वरूप-संकोच ग्रहण करने पर चिदात्मा परिमित हो जाता है। इस परिमित आत्मा को ही 'अणु' 'जीव' 'पुमान' 'मितात्मा' 'पुद्गल' एवं पुरुष कहते हैं।

इसी पुरुष तत्त्व को **'सौभाग्य सुधोदय'** में इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

'स तया परिमित मूर्तिः संकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान्।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः॥'

पञ्चकञ्चुक—'माया' तिरोधानकारी पारमेश्वरी शक्ति है। माया के पञ्चावरण हैं जो कि अमित को मित बनाते हैं। वे ही 'पञ्चकञ्चुक' कहलाते हैं।

'पञ्चकञ्चुक'

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'कला'	'विद्या'	'काल'	'राग'	'नियति'
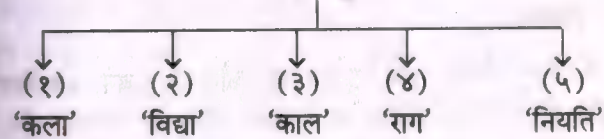
ये माया के ही स्पन्दन हैं। ये वे मायिक एवं आवरण रूप मायिक शक्तियाँ जो कि शिव की—

(१) सर्वकर्तृता शक्ति को अल्पकर्तृता में बदल देती है = 'कला' है।
(२) सर्वज्ञता शक्ति को अल्पज्ञता में बदल देती है = 'विद्या' है।
(३) नित्यता शक्ति को परिच्छिन्नता में बदल देती है = 'काल' है।
(४) पूर्णता शक्ति को अपूर्णता में बदल देती है = 'राग' है।
(५) स्वातंत्र्य (व्यापकता) को परिच्छिन्नता में बदल देती है = 'नियति' है।

इसी बात को **'सौभाग्य सुधोदय'** में इस प्रकार परिभाषित एवं व्याख्यात किया गया है—

'सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य।
संकोचात् संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम्॥'

(अ) **'कला'**—

'तत्**सर्वकर्तृता** सा संकुचिता कतिपयार्थमात्र परा।
किञ्चित् कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम्॥'

(आ) **'विद्या'**—

'सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती, **विद्येति** निगद्यते बुधैराद्यैः ॥'

(इ) **'राग'**—

'नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं **रागतत्त्वतां** याता ॥'

(ई) **'काल तत्त्व'**—वेद्यरूप वस्तुओं में स्वरूप संकोच आ जाने के कारण पूर्वापर क्रम (पहले और पीछे स्थित होने की संवेदना) का अवभासन ही 'काल' है

(१) 'क्रम एव च कालो॥ (ईश्वप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी)

(२) 'सेयम्' इत्थं भूताभासवैचि प्रथन शक्तिः भगवतः कालशक्तिः इत्युच्यते॥ क्रमरूपता का अवभास न करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही **'कालशक्ति** है।

'सा नित्यतास्य शक्तिर्निष्कृत्य निधनोदय-प्रदानेन।
नियत परिच्छेदकरी, क्लृप्ताप्स्यात्कालतत्त्वरूपेण ॥'

(ए) **'नियति'**—

कौन सी वस्तु जीवात्मा की प्रेय बने और कौन सी न बने, इस विषय में जीवों की राग-प्रवृत्ति हो—इसका नियमन करने वाली शक्ति ही 'नियति' है—

(१) 'नियतिर्योजयत्येनं स्के कमणि पुद्गलम् ॥' (मा०वि०तं०)

(२) 'रोगोऽपि रञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ॥ —मालिनी विजयोत्तर तंत्र

(३) **'नियतिः** ममेदं कर्तव्यं नेद कर्तव्यम् इति नियमन हेतुः।—परा प्रावेशिका

(४) 'नियच्छति भोगेषु अणूनिति नियतिः। —तंत्रालोक टीका

'सौभाग्य सुधोदय' में 'नियति' को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

'यास्यस्वतन्त्राख्या शक्तिः सकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥'

*** परमेश्वर की शक्ति का स्वरूप ***

(१) शान्तावस्थापन्ना शक्ति → असंकुचित अवस्था। अक्षुब्धा। (इच्छादिशक्ति गर्भा)

(२) साम्यावस्थापन्ना शक्ति → परिमितावस्था धारण करने वाली गुणों की अविभागावस्था।

(३) गुणत्रयात्मिका शक्ति → गुणों का इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तित्रय से आरम्भ होने के कारण त्रित्व होता है

(१) इच्छादि त्रिसमष्टिः शक्ति : **शान्तास्यसंकुचद्रूपा**।

(२) संकलितेच्छाद्यात्मक सत्वादिक **साम्यरूपिणी** तु सती।

(३) 'बुद्ध्यादि सामरस्य स्वरूप चित्तात्मिका मता प्रकृतिः।
इच्छास्य रजोरूपा हं कृतिरासीदहं प्रतीतिकरी ॥'

सत्त्वगुण → ज्ञानशक्ति

सत्त्वगुण का परिणाम : = 'ज्ञानशक्ति' बुद्धि।

तमोगुण का परिणाम 'क्रियाशक्ति' : मनस्तत्व।

'ज्ञानापि **सत्वरूपा** निर्णयबोधस्य कारणं **बुद्धिः**।
तस्य क्रिया **तमोमय** मूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकारी ॥'

(ऐ) **प्रकृति**—माया के कारण कालादिक तत्त्वपञ्चकों से संकोच प्राप्त जीवरूपी शिव के भेदात्मक दृष्टि से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्यरूप विश्व का अविभक्त सामान्य है उसे ही प्रकृति तत्त्व कहते हैं। साम्यावस्था ही प्रकृति है—

'सतोगुण रजस्तमसां साम्यावस्था **प्रकृतिः**'

गुणत्रय की अक्षुब्ध अर्थात् साम्यावस्था ही प्रकृति है बुद्धि से पृथिवी पर्यन्त २३ तत्त्व हैं। कहते हैं—

वामादि पञ्चभेदः स एव संकुचित विग्रहो देवः।
ज्ञानक्रियोपराग प्राधान्य द्विविध विषयरूपोऽभूत्।
श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनं जिह्वा घ्राणानि बोध करणानि।
शब्दस्पर्शो रूपं रसगन्धौ चेतिभूतसूक्ष्मानि।
अयमेवाति निकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः।
गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि।
श्रोत्रादि करण वेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम्
वचनकरी वागासीत् पाणिः स्यात कारणभूत आदीन्
गमन विसर्गानन्द त्रितये पादादिकं करणम्।
गन्धवती भूमिः स्यादापः संसिद्धिकद्रवास्तेजः।
ऊष्ण स्पर्शमरूप स्पर्शो वायुरम्बरं च शब्दम्
षट्त्रिंशत्तत्वमयं वन्दे कौलं कुलातिगं शंभुम् ॥

(४) * षट्त्रिंशतत्व और उनका वर्गीकरण

(१) अभेदभूमिका	(२) भेदाभेद भूमिका	(३) भेद भूमिका

(१) शिव	(२) शक्ति	(१) सदाशिव तत्त्व	(२) ईश्वर तत्त्व	(३) शुद्ध तत्त्व	(छठवें तत्त्व माया से लेकर ३६हवें तत्त्व पृथ्वी तक

(१) माया	(२) कला	(३) विद्या	(४) राग	(५) काल	(६) नियति	(७) पुरुष	(८) प्रकृति
(९) बुद्धि	(१०) अहंकार	(११) मन	(१२) श्रोत्र	(१३) त्वक्	(१४) चक्षु	(१५) जिह्वा	(१६) घ्राण
(१६) वाक्	(१८) पाणि	(१९) पाद	(२०) पायु	(२१) उपस्थ	(२२) शब्द	(२३) स्पर्श	(२४) रस
(२५) गन्ध	(२६) आकाश	(२७) वायु	(२८) वह्नि	(२९) सलिल	(३०) पृथिवी		

अभेदभूमिका के तत्त्व	भेदाभेदभूमिका के तत्त्व	भेदभूमिका के तत्त्व
२—	३—	३० तत्त्व

२ + ३ + ३० = ३६ तत्त्व । जगत षट्त्रिंशदात्मक है—३६ तत्त्वों वाला है—
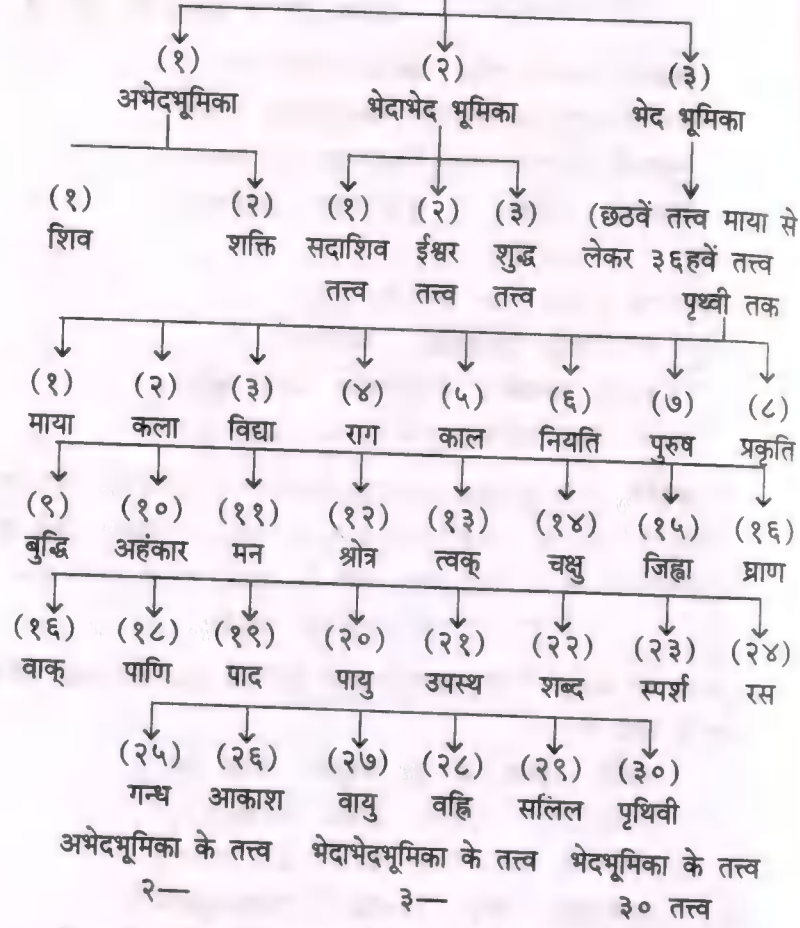
'षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वम्'' : 'परशुराम कल्पसूत्रं (१/४)

इन तत्त्वों का स्वरूप क्या है ?

(१) 'परमशिव एव केवल **शिव**पदवाच्यो भवति। ('शिव')

(२) 'सा पूर्वोदिता सिसृक्षा ('बहुस्यां प्रजायेय') द्वितीय तत्त्वं **शक्ति**रिति ('शक्ति)

(३) 'जगतः अहन्तया यद्दर्शनं तदहमिति वृत्तिमान् **सदाशिव पदवाच्यस्तृतीयं** तत्त्वंम् । ('सदाशिव')

(४) 'इदं जगदिति केवल भेदविषयिणी सा वृत्तिस्तद्वान् **ईश्वरपद**वाच्य**स्तुरीयं तत्त्वम्** ।' ('ईश्वर')

(५) 'जगदहमेवेत्याकारिका या सदाशिवसम्बंधिनी वृत्तिः सा **विद्यापद**वाच्या पञ्चमं तत्त्वम् ।' ('विद्या') (शुद्धविद्या)

(६) 'इदं जगदित्याकारिका ईश्वरनिष्ठा भेदविषयिणी वृत्ति**र्मायापद**वाच्या षष्ठं तत्त्वम् ।' ('माया तत्त्व')

(७) पूर्वोक्त विद्यातिरोधान शक्तिमती तद्विरोधिनी **अविद्यापद** वाच्या सप्तमं तत्त्वम् । ('अविद्या)

(८) जीवनिष्ठं सर्वकर्तृत्वं यत्किञ्चित्कर्तृत्वेन संकुचितं तदेव **कलापदवाच्यम्** अष्टमं तत्त्वम् (कला)।

(९) पूर्वोक्तरीत्या जीवनिष्ठा या नित्यतृप्तिः सैव केचिद्विषयेषु अतृप्त्यां संकुचिता **राग पद**वाच्या नवमं तत्त्वम्।

(१०) जीवनिष्ठा या नित्यता तस्या आच्छादने सति सैव नित्यता अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावयोगात् संकुचिता **काल**पदवाच्या दशमं तत्त्वम् । (काल तत्त्व)

(११) परशिव जीवयोरभेदाद् यथा परशिवं सर्वस्वातंत्र्यं तथा जीवेऽप्यस्ति। तस्य सर्व **स्वातन्त्र्यस्थ पिधानं** पूर्वोक्तविद्यया कृतम् । तदेव कारणान्तरापेक्षं यत्कारण मपेक्षते तन्नियतिपदवाच्यम् एकादशं तत्त्वम् ('नियति तत्त्व') ॥

(११) एतादृश नियति-काल-राग-कला विद्याश्रयो **जीवः**। (जीव)

(१२) सत्वरजस्तमोगुणानां साम्यरूपा प्रकृतिः॥ (प्रकृति) आदि।[१]

(सारे तत्त्वों की व्याख्या करने पर पुस्तक का कलेवर बढ़ जाता अतः उन पर प्रकाश नहीं डाला गया है।)

(१३)**'शिव तत्त्व'**: (**शिवानन्द मुनि** कहते हैं)—

विश्वाहन्तात्मक शिव शिव ही उसका पूर्णाहन्तात्मक स्वरूप है—

'तन्महः परमं नौमि कृत्यैः पञ्चभिरङ्कितम् ।
अशेषविश्वाभेदात्म **पूर्णाहन्तात्मकं** शिवम् ॥'

(१४) **'शक्तितत्त्व'—(सौभाग्य हृदय स्तोत्रकार की दृष्टि)**

---

१. परशुराम कल्पसूत्र की रामेश्वर वृत्ति ।

'स्मरामि तां परां वाचं पश्यन्त्यादिक्रमाश्रयाम्।'
नानाविधरसाकारां महानुभव रूपिणीम्॥
देशकाल पदार्थात्म यद्यवस्तु यथा यथा।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये सांविदीं कलाम्॥४॥

(१५) **अध्वषट्क का स्वरूप—**

वर्णाः कला पदं तत्त्वं मन्त्रो भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवेशि भाति त्वयि चिदात्मनि॥[1]

(१६) **हव्य का स्वरूप एवं अद्वैतवाद—**

'संविदग्नौ महासारे विमर्शैक शरिरिणि।
भेदाभासमिदं हव्यं जुहोम्यपुनरुद्भवम्॥'

—सुभगोदयवासना (शिवानन्द)

[अ] 'सुभगोदय स्तुति' *

[३] **भगवती का स्वरूप—**

[क] **गौड़पादाचार्य की दृष्टि में—**

(१) भगवती 'भवानी' जगत की निर्मात्री देवी) हैं।

(२) वे 'भवमहिषी' (शंकर की पटरानी) हैं।

(३) वे सत्-चित् एवं आनन्द रूप शरीर वाली हैं।

(४) वे 'पराकारा' हैं। जगद्रूपविराट आकार वाली या ३६ तत्त्वों को धारण करने वाली हैं।

(५) वे 'अमृतलहरी' (अमृत का प्रवाह) हैं।

(६) वे **'ऐन्दव कला'** हैं।

(७) वे महाकाल से भी अतीत हैं।

(८) वे किरणों से सज्जित कल्पित शरीर वाली हैं।

(९) वे अमृत के सरोवर में निवास करने वाली हैं।

(१०) वे निरन्तर भीतर निवास करने वाली हैं।

(११) वे दिन से युक्त अर्थात् महान प्रकाश पुञ्ज एवं निरन्तर चिन्मय जागृति वाली हैं—

१. सुभगोदयवासना (६४)

'भवानि त्वां वन्दे, भवमहिषि सच्चित्सुख वपुः।
पराकाशं देवीममृतलहरीमैन्दव कलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणी कल्पिततनुं।
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम्॥'[1]

[ख] **भगवती का कुण्डलिनी स्वरूप—**

आचार्य गौड़पाद ने **चतुर्थ श्लोक** में मूलाधारस्थ कुण्डलिनी (सूर्य-चन्द्र के अमृत-स्राव एवं उसके अपहरण में अशक्त होने पर) निराहार रहने पर जग कर क्रुद्धावस्था में **'बैन्दव स्थान'** में पहुँचकर चन्द्रमा को उसने और स्रवित अमृत से शरीर को सींचने के कार्य में रत रहने के स्वरूप में (अर्थात् सहस्रार में समागत एवं जाग्रत) कुण्डलिनी का वर्णन किया है।[2]

समयाचारी **'सुषुप्त शक्ति', मूलाधारस्थ** शक्ति (कुण्डलिनी), एवं **मूलाधार** चक्र को उपास्य एवं पूजास्पद नहीं मानते इसीलिए आचार्य गौड़पाद ने 'बैन्दवकलारूपा' 'बैन्दवगत' एवं 'प्रबुद्धा' कुण्डलिनी के स्वरूप का स्मरण किया है—

(१) '**प्रबुद्धां** क्षुत्क्षामां दशति शशिनं **बैन्दवगतं।**
सुधाधारा सारैः स्नापयसि तनुं **बैन्दवकाले॥**'

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी एवं कुण्डलिनी स्वरूपतः अभिन्न हैं।

इस श्लोक में आचार्य ने **'भवानी' के कुण्डलिनी स्वरूप** का वर्णन करके उनके सभी रूपों के प्रति अपनी आस्था भी व्यक्त की है और साथ ही भगवती की अनन्त रूपात्मकता, उनके अनेक शक्त्यात्मक स्वरूप होने की ओर संकेत भी किया है।

[ग] **भगवती के 'परकलात्मक स्वरूप' की विवेचना—**

आचार्य गौड़पाद ने **श्लोक पाँच में** भगवती के उस स्वरूप का वर्णन किया है जो चान्द्रकला—'परकला' या 'षोडशी' है।

यहाँ उन्होंने भगवती के उस **'तत्वातीत'** स्वरूप का वर्णन किया है जो कि पञ्चभूतों, तन्मात्राओं, १० इन्द्रियों, मन, माया, विद्या, महेश एवं शिव इन सबसे अतीत है—

'पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः।
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति।

१. सुभगोदयस्तुति (१)
२. सुभगोदय स्तुति (४)

ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिव इतः ।
परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः **परकला** ।। (५)

[घ] **भगवती के कुण्डलिनीगत तीन स्वरूप—**

आचार्य गौड़पाद ने अपने **छठवें श्लोक** में भी भगवती के ही स्वरूप की विवेचना की है। इसमें भगवती के कुण्डलिनी स्वरूप की तीन अवस्थाओं की विवेचना है जो इस प्रकार है—(१) **'कुमारी कुण्डलिनी'** (२) **'योषित-कुण्डलिनी,** एवं (३) **'पतिव्रता कुण्डलिनी'**—

'कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति,च ततो योषिद् परा,
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकाल भुजगी ।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाश कमले,
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कार रसिका ।।६।।

[ङ] **भगवती का षट्चक्रात्मक स्वरूप—**

आचार्य गौड़पाद ने अपने **श्लोक क्र. ८** के द्वारा भगवती को अग्नि-सूर्य-चन्द्रात्मक (त्रिखण्डात्मक एवं ३६० किरणों से युक्त) श्रीचक्र' से युक्त एवं षट्चक्रों के सदन में निवास करने वाले स्वरूप में प्रस्तुत किया है और कहा है—

'त्रिखण्डं ते चक्रं शुचि रविशशाङ्कात्मकतया,
मयूखैः षट्त्रिंशदशयुततया खण्डकलितैः ।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितपद्भिः परिवृत,
भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्र सदनम् ।।'[१]

[च] भगवती का **महाकालातीता** (कौलों के लिए अज्ञेय) **परमा शिवा स्वरूप—**

आचार्य गौड़पाद ने **श्लोक क्र० ९ में** भगवती के महाकालातीता उस परमा शिवा के स्वरूप का उद्घाटन किया है जो काल की गणना से परे एवं कालातीत है।

भगवती का स्वरूप कालातीत है।

---

१. 'त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुद्भु,
दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्रं समभवत् ।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात त्रिवलय,
चतुर्धा प्राकारत्रितयमिद मेवाम्ब शरणाम् ।
—सुभगोदय स्तुति (१७)

अग्नि की १०८, सूर्य की ११६, एवं चन्द्र की १३६ किरण रूपी कलाओं को अपने चरणरजों में समाहित किए हुए महाशिवा कालकलना से परे या महाकाल की कल्पना से भी बहिर्भूत महाकालातीता, परमा शिवा हैं।

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

'शतं चाष्टौ वह्ने शतमपि कलाः षोडशरवेः ।
शतं षट् च त्रिंशत्सितमयमयूखाश्चरणजाः ।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभवं स्त्वच्चरणजाः ।
महाकौलैस्तस्मान्त हि तव शिव ! कालफलना ।।'(९)

[छ] भगवती का मणिपूरस्थ चतुर्भुजात्मक एवं तडिल्लेखात्मक स्वरूप (श्लो० क्र० १४)

आचार्य गौड़पाद ने भगवती को जिस चतुर्भुजात्मक, तडिल्लेखात्मक स्वरूप में वर्णित किया है उस स्वरूप में देवी के हाथों में निम्न आयुध स्थित हैं—

(१) इक्षु-निर्मित धनुष (२) पुष्पों के पञ्च बाण (३) श्रेष्ठ अङ्कुश (४) पाश

तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती
चतुर्धैक्यं तेषां भवति च चतुबहिरूदिता ।
धनुर्बाणानिक्षूद्भव कुसुमजानङ्कुशवरं,
तथा पाशं विभ्रत्युदित रवि बिम्बाकृति रूचिः ।।[१]

[ज]— * भगवती का मणिपूरस्थ इन्द्रधनुषद्युतिभासात्मक स्वरूप *

आचार्य गौड़पाद ने 'मणिपूरक चक्र' में प्रत्यक्षीकृत होने वाले भगवती के स्वरूप को इन्द्रधनुष के रंगों वाला बताया है। वे कहते हैं कि मणिपूर में स्थित एवं षोढैक्य की स्थिति में दृष्टिगोचर भगवती का इन्द्रधनुषीय स्वरूप इस प्रकार है—

'भवेत्यैक्यं षोढा भवति भगवत्याः समयिनां
मरुत्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरूचिः ।
भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे
भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरूपास्ते नहि परम् ।।'[२]

[झ] **भगवती का दशभुजात्मक स्वरूप (श्लोक क्र. १६)**

भगवती का दशभुजात्मक स्वरूप भी है जिसमें कि वे अपनी भुजाओं में (१)

---

१. सुभगोदयस्तुति (१४)
२. सुभगोदय स्तुति (१५)

नागपाश, (२) अंकुश, (३) पौण्ड्र-धनुष, (४) पुष्पबाण, (५) जपमाला, (६) श्रेष्ठशुक, (७) वरदमुद्रा, (८) अभय मुद्रा, (९+१०) (दोनों हाथों में) वीणा धारण किए हुए हैं—

'भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे'[१]

आचार्य श्री भगवती के दश हाथों में गृहीत अस्त्रादिक का उल्लेख इस प्रकार कर रहे हैं—

भवानि ! श्री हस्तैर्वहसि कणिपाश सृणिमथो,
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्रक शुकवरौ
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय वरदानैकरसिकां,
क्वणद्वीणां द्वाभ्यां त्वमुरसि कराभ्यां च विभृषे ॥१६॥

*** भगवती का षट्त्रिंशत्तत्वात्मक शिवशक्ति स्वरूप ***

जहाँ शिव हैं वहा शक्ति है और जहाँ भक्ति है वहाँ शिव है अतः भगवती शिवशक्त्यात्मक तो हैं ही किन्तु जो मूल ३६ तत्त्व हैं वे उनका भी स्वरूप हैं और वे अपने त्रिखण्डात्मक अन्तर में **परमपद रूपी पर्यङ्क** पर **सादाख्य तत्त्व** से परे चार ऐक्यों के साथ निवास करती हैं।

परमतत्त्व ही समस्त कारणों का करण है। भगवती वही परमतत्त्व हैं। भगवती का जो मूलस्वरूप है वही 'एक' होकर 'बहु' हो जाता है—'एकोऽहं बहुस्याम्'— इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

भगवती का यही 'परा संवित् स्वरूप' समस्त तत्त्वों का जनक है। भगवती स्वयमेव ३६ तत्त्वों की समष्टि है।

आचार्य **गौड़पाद** कहते हैं—

'वदन्त्येके सन्तः परशिव पदे तत्त्वमिलिते,
ततस्त्वं षट्त्रिंशी भवसि शिवयोर्मेलनवपुः ॥'[२]
त्रिखण्डेऽस्मिन्स्वान्ते परमपदपर्यङ्क सदने,
परे सादारव्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्य कलनात् ॥[३]

*** भगवती का, षट्चक्रों में पञ्चसाम्यात्मक षड्साम्यात्मक, संविद्रूपात्मक, विद्युल्लेखात्मक एवं नित्यात्मक स्वरूप ***

१. सुभगोदयस्तुति (१५)
२. सुभगोदयस्तुति (१६)
३. सुभगोदयस्तुति (३६)

आचार्य गौड़पाद ने भगवती को संविद्रूप, विद्युल्लेखारूप एवं नित्या के स्वरूप में भी प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

'षडब्जारण्ये त्वां समयिन इमे पञ्चकसमां,
यदा संविद्रूपा विदधति च षोढैक्यकलिताम्।
मनो जित्वा चाज्ञा सरसिज इह प्रादुरभव
तडिल्लेखा नित्या भगवति तवाधार सदनात् ॥३०॥'

पञ्चविध साम्य

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
अधिष्ठान साम्य	अनुष्ठान साम्य	अवस्थान साम्य	रूप साम्य	नाम साम्य

या

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
क्रियासाम्य (अनुष्ठान साम्य)	अवस्थासाम्य (अवस्थान साम्य)	रूप साम्य	प्रकृति साम्य	नाम साम्य
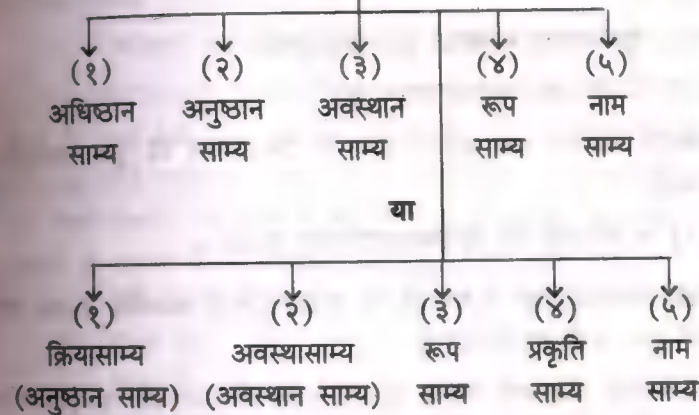
*** भगवती का वर्णात्मक या विद्यात्मक स्वरूप ***

भगवती का जो सूक्ष्म स्वरूप है वह श्रीविद्यात्मक है। वह वर्णात्मक है। देवी पञ्चाशदक्षरा है—

लक्ष्मीधर की दृष्टि—लक्ष्मीधर कहते हैं—'भगवत्याः स्वरूपं "तु पञ्चाशद्वर्णात्मिकामातृकैव। सेयं पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृकाष्टवर्गात्मिका भवति। ते चाष्टवर्गा अकचटतपयशादयः। अकारादयः षोडशस्वराः प्रथम वर्गः कादयः पञ्च द्वितीयः चादय पञ्च तृतीयः। टादयः पञ्च चतुर्थः। तादयः पञ्च पञ्चमः। पादयः पञ्च षष्ठः। यादय श्चत्वारः सप्तमः। शादयः पञ्च अष्टमः। एवमष्टवर्गात्मिका भगवती मातृका **त्रिपुरसुन्दरी**।।"[१]

'श्री देव्यथर्वशीर्षम्' (अथर्ववेद) के अनुसार देवी का स्वरूप)

इसमें कहा गया है कि—(१) सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाच यक्षाः सिद्धा। सैषा सत्वरजस्तमांसि। सैषा ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणी सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। **सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि। कलाकाष्ठादि कालरूपिणी।**

१. लक्ष्मीधर

(२) वह 'अज्ञेया', 'अनन्ता', 'अलक्ष्या', 'अजा', 'एका', 'एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अतएवोच्यते अज्ञेयानन्तालक्ष्याजैकानैकेति।।२३।।

(३) 'मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ।।'[१]

[ञ] भगवती का सूर्यमण्डलान्तर्गत रूप

'सुभगोदय' एवं कालिदास-रचित 'चर्चास्तोत' में भगवती का सूर्यमण्डलान्तर्गत स्वरूप भी वर्णित है—

(१) '**सूर्यमण्डल मध्यस्थां** देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।'

(२) 'ये चिन्तयन्त्य**रूणमण्डल**मध्यवर्ति ।।'

आचार्य लक्ष्मीधर इस सूर्यमण्डलान्तर्गत देवी स्वरूप की पूजा समयाचार में अग्राह्य मानते हैं।

[ट] * भगवती का चन्द्रमण्डलान्तर्गत स्वरूप *

'**ललितासहस्रनाम**' में भगवती को चन्द्रमण्डल में समासीन मानकर उनका ध्यान एवं पूजा करने का विधान है—

'पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्री ललिताम्बिकां पञ्चोपचारैः सम्पूज्य पठेन्नाम सहस्रकम् ।।[२]

भगवति राशिरूपिणी हैं—आचार्य **भास्कर** कहते हैं—

'पञ्चभिनगिकूर्माद्यैः प्राणापानादिपञ्चभिः।
जीवात्मपरमात्मभ्यां चैषा **राशिस्वरूपिणीम्** ।।[३]

श्री देव्यथर्वशीर्ष में प्रतिपादित दृष्टि—देवताओं के पूँछने पर भगवती ने अपना स्वरूप इस प्रकार बताया—

(१) 'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्य चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दौ। अहंविज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्य-पञ्चभूतानि। **अहखिलं जगत्**।[४]

१. श्रीदेव्यर्थवशीर्ष (अथर्ववेद)
२. ललिता सहस्रनाम (फलश्रुतिः २१)
३. वरिवस्या रहस्यम् (२।८७)
४. श्रीदेव्यर्थवशीर्ष (अथर्ववेद)

(२) 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुतविश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणाकुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनाकुभौ।।५।।

(३) अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि। अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि।।६।। **देवों ने देवी को इस रूप में पहचाना**—

(४) 'एषात्म शक्तिः। एषा विश्वमोहिनी। पाशांकुशर्बाणधरा। एषा श्री **महाविद्या।**

(५) सैषाष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्चा सैषा ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणी।।'

(६) *** भगवती का त्रिखण्डात्मक, अमात्मक एवं षट्चक्रात्मक स्वरूप ***

गौड़पादाचार्य कहते हैं—'माँ! तीना खण्डों वाला तेरा मंत्र 'सरधा' में लय हो जाता है। हे श्री देवी! तेरा जो शेष भाग है उसी से ये समस्त चन्द्रकलायें प्रकट होती हैं। यहाँ सभी चन्द्रकलायें समाप्त हो जाती हैं अर्थात् तू अमास्वरूपिणी हो जाती है। इस त्रिखण्डात्मक मन्त्र सहित हे भगवती! तू त्रिखण्ड में निवास करती है और ६ कमलों के अरग्य में भी खण्डत्रय सहित तू निवास करती है।।'

'त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरधायां निविशते।
श्रियो देव्याः शेषो यत इह समस्ताः शशिकलाः।
त्रिखण्डे त्रैखण्ड्यं निवसति समन्त्रे च सुभगे।
षडब्जाख्यानी त्रितययुत खण्डे निवसति ।।'[१]

*** भगवती का त्रिखण्डात्मक स्वरूप ***

खण्ड	मंत्र का भाग	यंत्र का भाग	षट्चक्र	कुण्डलिनी का भाग
सोमखण्ड	शक्तिकूट	शिव के चार चक्र	आज्ञा चक्र विशुद्धि चक्र	सोम कुण्डलिनी
सूर्य खण्ड	कामकूट	चतुर्दशार बहिर्दशार	अनाहत चक्र मणिपूर चक्र	सूर्यकुण्डलिनी
अग्नि खण्ड	वाग्भवकूट	अन्तर्दशार अष्टार सबन्दु त्रिकोण	स्वाधिष्ठान मूलाधार चक्र	अग्निकुण्डलिनी

१. सुभगोदयस्तुति (२३)

*** भगवती का स्वरूप ***

(१) षोडशाक्षर—भगवती का स्वरूप, नित्यकला, सर्वोत्पादक।

(२) वाग्भवकूट (आग्नेय)—भगवती का मुख।

(३) कामकलाकूट (सौर)—भगवती का कण्ठ से कटि तक का भाग।

(४) **शक्तिकूट (चन्द्रखण्ड)**—भगवती का कटि के नीचे का भाग। सर्जक शक्ति ॥

(७) *** शिवरूपी पर्यङ्क पर सोई हुई सादाख्य कला के रूप में स्थित भगवती का स्वरूप**—

आचार्य गौड़पाद भगवती के उस **परस्वरूप** का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

(१) हे परमाशक्ति ! हे परे ! सब कुछ जो तीन प्रकार वाला है, वह सब तेरे अपने अन्तर में **परम शिवरूपीपर्यङ्क पर सोई हुई 'सादार व्यकला'** के चार प्रकार के ऐक्य रूप से निवास करता है।

(२) जो स्वर हैं वे षोडशदल पद्म में लीन हो जाते हैं और 'ककार' आदि समस्त व्यञ्जन वृत्तों में तथा 'य' आदि चतुष्कोण में लीन हो जाते हैं—

'त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिव पर्यङ्क निलये
परे सादारव्यऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनात् ॥'[१]

*** 'शांभववपु' 'शिवशक्त्यातीत' एवं 'नित्यारूपा' भगवती का परम स्वरूप ***

आचार्य गौड़पादकहते हैं कि—

(१) भगवती शाम्भव चक्रस्वरूपा है।

(२) शिवशक्ति से अतीत है।

(३) १५ प्रकार की रात्रियाँ, दर्शा आदि तिथियाँ एवं नित्यायें भी भगवती का स्वरूप हैं।

'हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकाभिदलं **शांभववपु-**
श्चतुश्चक्रं शक्तास्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः।'
'भवेयुर्नित्यास्तास्तव जननि **मंत्राक्षरगणाः** ॥'[२]

---

१. सुभगोदयस्तुति (२४)
२. सुभगोदय स्तुति (२५)

'शरीरं त्वं शम्भोः' कहकर आचार्य शङ्कर ने भगवती को **'शंभु का शरीर'** कहा है।

(८) * 'भगवती का **''षोडशी''** स्वरूप' *

आचार्य गौड़पाद ने श्लोक २६ में भगवती के 'षोडशी' एवं 'चन्द्रकला' के उस स्वरूप की विवेचना की है जिसमें—

(क) १६ स्वर एवं १६ कलायें लयीभूत हो जाती हैं।

(ख) १५ तिथियाँ १५ नित्यायें एवं १५ अक्षर सभी भगवती की **'षोडशी'** (१६हवीं कला) में लीन हो जाते हैं।

(ग) भगवती का स्वरूप 'षोडशी' ही है।

(घ) भगवती महात्रिपुरसुन्दरी स्वरूपा 'षोडशी' नित्या में मन्त्र के १५ अक्षर भी लीन हो जाते हैं। समस्त नित्यायें षोडशी (१६हवीं नित्या) में लीन हो जाती हैं। समस्त तिथियाँ अमावस्या में लय हो जाती हैं। अमावस्या ही भगवती महात्रिपुर सुन्दरी हैं।

मंत्र का एक-एक अक्षर उसके परवर्ती अक्षर में लय हो जाता है। सभी वर्णों का लय अन्तिम अक्षर में ('सहस्रार') लय हो जाता है। भगवती **'षोडशी'** हैं १६ हवाँ अक्षर हैं और **'श्रीबीज'** हैं सारे अक्षर, सारी तिथियाँ एवं सारी नित्यायें भगवती में लय हो जाती हैं।

सोलहवीं कला ही भगवती का परम स्वरूप है। इसमें सभी का लय हो जाता है। इसी १६हवीं कला से ही सभी का उदय (प्रादुर्भाव) भी होता है अतः योगियों को **भगवती का ध्यान ''सहस्रार''** में ही करना चाहिए। **भगवती के इसी परारूप का ध्यान करना चाहिए।**

भगवती मातृका स्वरूपा है। वर्णमाला के समस्त वर्ण ही उसके अङ्ग हैं। वह स्वयं बिन्दुस्वरूपा है।

आचार्य गौड़पादाचार्य कहते हैं कि—

इमास्ताः षोडश्यास्तव च सरधायां शशिकला।
स्वरूपायां लीना निवसति तव श्री शशिकला।
अयं प्रत्याहारः श्रुत इह कला व्यञ्जनगणः।
ककारेणाकारः स्वरगणमशेषं कथयति ॥२६॥

भगवती का 'समयलोक' में 'सादाख्य' को जीतने वाला परास्वरूप

आचार्य गौड़पाद ने इस स्वरूप का उद्घाटन करते हुए कहा है कि—

समयाचार मतावलम्बियों के अनुसार चन्द्रिका से परिपूर्ण 'समयलोक' (सहस्रार) में जाकर वह 'परा' नाम वाली भगवती शिवतत्त्व से मिलकर "**सादाख्य तत्त्व**" को जीतती है—

'ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं समयिनां
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता ॥'[१]

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के अनन्त स्वरूप हैं।

तंत्रराजतंत्रकार की दृष्टि—'तंत्रराजतंत्र' में कहा गया है कि भगवती सारे आकाशीय पिण्ड हैं—

(१) भगवती **गणेश** हैं। (२) वे आकाश के सारे ग्रह हैं। (३) वे आकाश के सारे **नक्षत्र** हैं। (४) वे समस्त **योगिनियाँ** हैं। (५) भगवती मन्त्रमयी हैं और वे (६) मातृकापीठ हैं—

'गणेशग्रहनक्षत्र योगिनी राशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकापीठरूपिणीम् ॥'

(१) भगवती गणेशी हैं—

भास्करराय कहते हैं कि—

'माता निरूपमतेजो मय्याः स्वस्या मरीचिरूपाणाम्।
आवरणदेवतानामीशत्वादुच्यते **गणेशीति** ॥'[२]

(२) भगवती ग्रह हैं—

भास्करराय कहते हैं—

'इच्छादित्रिमष्टिर्गुण त्रयाव्यानलेन्दुरविनेत्रा।
एवं नवभिर्योगाद् **ग्रहरूपेत्युच्यते** माता ॥'[३]

(३) भगवती नक्षत्ररूपिणी हैं—

भास्करराय कहते हैं—

'इन्द्रियदशकेनान्तः करणचतुष्केण विषयदशकेन।
प्रकृतिपुरुषगुणतत्त्वैर्जाता **नक्षत्ररूपिणी** मात ॥'[४]

(४) भगवती योगिनी हैं—

---

१. सुभगोदयस्तुति (३५)
२. वरिवस्यारहस्यम् (८३)
३. वरिवस्यारहस्यम्।
४. वरिवस्यारहस्यम्।

भास्करराय कहते हैं—

'उरलकसह वर्णाद्याकिनीभिस्तु षड्भि
र्घटितततनुरितीयं कथ्यते योगिनीति ॥'[१]

*** भगवती का श्री बीजात्मक या क्षकारात्मक स्वरूप ***

आचार्य गौड़पादाचार्य कहते हैं कि—

'क्षकार' पचासहवीं कला है, इसलिए यह 'हल' रूपी बैन्दवगृह है। हे जननि ! 'ककार' (अर्थात् समस्त व्यञ्जनों से ऊपर या क्षकार से ऊपर तेरे नाम का अक्षर है श्रीबीज या ककार से ऊप यह तेरे नाम का अक्षर अर्थात् '**क्षकार**' तेरा स्वरूप है। पूजा के समय '**मणिपूर कमल' में मणियों से जड़ा हुआ प्रभा से युक्त तेरा स्वरूप** होता है—

क्षकारः पञ्चाशत्काल इति हलो बैन्दवगृहं,
ककारादूर्ध्वं स्याज्जननि तव नामाक्षरमिति।
भवेत्पूजाकाले मणिखचितभूषाभिरभितः,
प्रभाभिर्व्यालीदं भवति मणिपूरं सरसिजम् ॥'[२]

*** भगवती का मणिवत या इन्द्रधनुषीय स्वरूप ***

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि "मणिपूर में जल को मणि कहा गया है जिससे कि वह परिपूरित है। दूसरे समयाचार वाले उपासक भगवती के स्वरूप को इन्द्र धनुषीय मानते हैं—

'वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं तेन निविड,
परे तु त्वद्रूपं मणि धनुरितीदं समयिनः ॥'[३]

*** भगवती का संवित्तत्वात्मक स्वरूप ***

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि अनाहत चक्र में भगवती की पूजा '**संवित्**' के रूप में होती है—

'तदेतत्ते संवित्कमलमिति संज्ञान्तरभुमे।
भवेत्संवित्पूजा भवति कमलेऽस्मिन्समयिनाम् ॥'[४]

---

१. वरिवस्यारहस्यम्। (भास्करराय)
२. सुभगोदय स्तुति (२७)
३. सुभगोदय स्तुति (२८)
४. सुभगोदय स्तुति (२९)

*** विशुद्धाख्य चक्र में भगवती का चन्द्रकलात्मक स्वरूप ***

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि हे देवी ! **तुमसे उदित होने वाली ज्योति के कारण** पञ्चम चक्र को **'विशुद्धचक्र'** कहा जाता है।

समयाचारी इस चक्र में भगवती की पूजा चन्द्रकलाओं के रूप में किया करते हैं। 'सहस्रार चक्र' में जो **चन्द्रमा को १५ कलायें** रहती हैं वे समयमार्ग के अनुयायियों के अनुसार **१५ नित्याओं के स्वरूप** हैं और ये तिथियाँ शुक्ल पक्ष में भ्रमण करती हैं या १५ **नित्यायें शुक्लपक्ष की १५ तिथियाँ हैं।**

'त्वदीयैरूद्द्योतैर्भवति च विशुद्धयाख्यसदनं,
भवेत्पूजा देव्याहिमकर कलाभिः समयिनाम्।
सहस्रारे चक्रे निवसति कलापञ्चदशकं,
तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिनाम्॥'[१]

*** भगवती का षोडशी स्वरूप और उसकी विशिष्टता ***

आचार्य **गौड़पादाचार्य** कहते हैं कि—हे भगवती ! तेरी **''षोडशीकला''** ('सहस्रार' के चन्द्रमा में स्थित चन्द्रमा की १६हवीं नित्य कला जो कि भगवती का स्वस्वरूप है) तथा उसके प्रतिफलित बिम्ब (आज्ञाचक्रस्थ) से अमृत का निष्यन्द (निस्राव, निस्यन्द) हुआ करता है और बार-बार पीयूष-निस्यन्द होता ही रहता है जिसके कारण सम्पूर्ण शरीर उस स्रवित पीयूष से आप्लावित हो उठता है। यह कार्य शुक्ल पक्ष की समस्त तिथियों में होता है एवं कृष्णपक्ष में भी समान रूप से होता है किन्तु अमावस्या को नहीं होता—

'कलायाः षोडश्याः प्रतिफलित बिम्बेन सहितं,
तदीयैः पीयूषैः पुनरधिकमाप्लावित तनुः॥
सिते पक्षे सर्वस्तिथयः इह कृष्णेऽपि च समा,
यदा चामावस्या भवति न हि पूजा समयिनाम्॥'[२]

(८) **भगवती की पूजा—**

[१] **भगवती महात्रिपुर सुन्दरी की उपासना या पूजा का उपयोगी चक्र**

आचार्य गौड़पाद ने **श्लोक क्र० सात** में (१) **'कौलों'** एवं (२) **'सामयिकों'** की उपासना-पद्धति के दृष्टि-भेद पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—

(क) कौल 'त्रिकोण' को कुलगृह मानते हैं।

१. सुभगोदयस्तुति (३०)
२. सुभगोदय स्तुति (३२)

(ख) 'सामयिक' 'चतुष्कोण' को कुलगृह मानते हैं।

(यह 'चतुष्कोण' बैन्दवस्थान है जो कि अमृतसागर में स्थित है, दिव्यमणियों से निर्मित है, चन्द्र-सूर्य के लिए भी अगम्य है और शिव तथा शक्ति के विहार का स्थान है जबकि 'त्रिकोण मूलाधार से सम्बद्ध है।)

आचार्य श्री कहते हैं—

'त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे,
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति।
सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो,
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे॥७॥'[१]

[२] *** षोढ़ा ऐक्य ही सामयिकों की ''सपर्या'' है ***

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि निम्नाङ्कित षोढैक्य ही सामयिकों की सपर्या है जो इस प्रकार है—

(१) कला का बिन्दु से ऐक्य और इन दोनों का नाद के विभव से ऐक्य।
(२) नाद का कला तथा बिन्दु से ऐक्य।
(३) कला का नाद तथा बिन्दु से ऐक्य।
(४) कला, बिन्दु तथा नाद का परशिव के साथ ऐक्य।
(५) नाद, कला तथा बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य।
(६) कला नाद तथा बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य—

'कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नाद विभवे,
तयोर्नादेनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः।
तयोर्बिन्द्वादैक्यं त्रितय विभवैक्यं परशिवे,
तदेवं षोढैक्यं हि **सपर्या समयिनाम्**॥'[१]

*** ऐक्यानुसन्धानों की दृष्टि से भगवती के स्वरूप भिन्नता ***

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि

(१) चतुर्विध ऐक्यानुसन्धान के समय
(२) षोढा ऐक्यानुसन्धान के समय
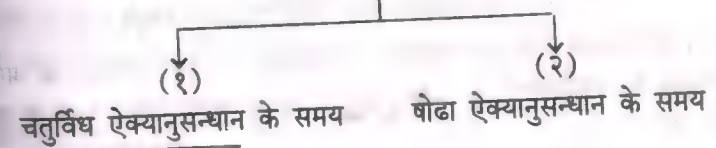
१. सुभगोदयस्तुति (७)
२. सुभगोदय स्तुति (१२)

*** देवी का चतुर्भुज रूप ***

(१) धनुष (२) बाण (३) पाश (४) अंकुश

*** देवी का दशभुजात्मक स्वरूप ***

(१) धनुष (२) बाण (३) पाश (४) अंकुश (५) वर मुद्रा (६) अभय मुद्रा (७) पुस्तक (८) अक्ष-माला (९) वीणा (वीणा में दोनों हाथ संलग्न)
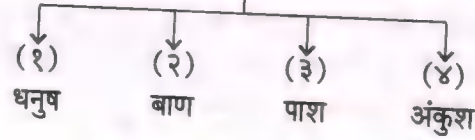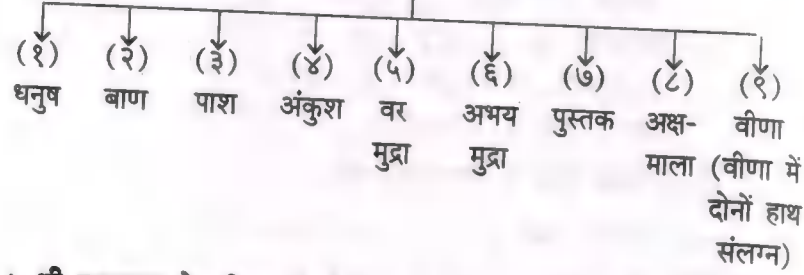
*** श्री सम्प्रदाय के ही एकदेशीय मत के अनुसार भगवती का स्वरूप ***

(१) पाश (२) अंकुश (३) पुण्ड्रेक्षु (चाप) (४) पुष्प (५) बाण

(६) जपमाला (७) शुक (८) अभयमुद्रा (९) वरमुद्रा (१०) (दोनों हाथों में वीणा)
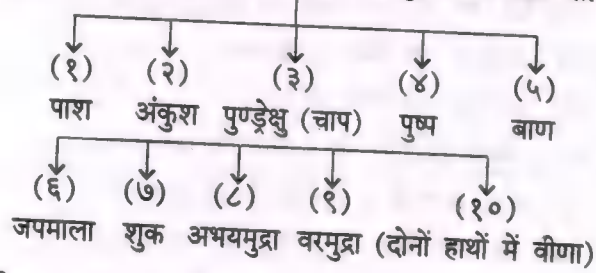
लक्ष्मीधरः 'उभयमस्माकं सम्मतमेव,

आचार्य लक्ष्मीधर देवी के इन दोनों स्वरूपों को स्वीकार करते हैं। देवी के इस स्वरूप को **लक्ष्मीधराचार्य** ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'भवानि श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमधो,
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक्शुकवरम्।
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय वरदानैकरसिके,
क्वणद्वीणां द्वाभ्यामुरसि च कराभ्यां च बिभृषे ॥'[१]

सुभगोदयोक्त देवी का स्वरूप—'सुभगोदय' में कहा गया है कि भगवती **सूर्यमण्डल में अवस्थित** हैं वे 'पाश' अंकुश, धनुष, बाण धारण करने के कारण चतुर्भुजा हैं—

---

१. कर्णावतंस स्तुति।

'**सूर्यमण्डलमध्यस्थां** देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।
त्रैलोक्यं मोहयेदाशु वरनारी गणैर्युतम्॥'

कालिदास-प्रोक्त भगवती का स्वरूप—कालिदास ने 'चर्चास्तोत्र' में भगवती का स्वरूप जिस प्रकार प्रस्तुत दिया है उसमें भी उन्हें **'सूर्यमण्डल' में** अवस्थित बताया है—

'ये चिन्तयन्त्य**रुणामण्डलमध्यवर्ति,**
रूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम्।
तेषां सदैव कुसुमायुधबाणभिन्न,
वक्षस्स्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति॥'

'सुभगोदय स्तुति' में वर्णित भगवती का स्वरूप—

गौड़पादाचार्य भवानी (महात्रिपुरसुन्दरी) के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—

'भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः,
पराकारां देवी**ममृतलहरी मैन्दवकलाम्**॥
महाकालातीतां फलितसरणी कल्पिततनुं
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम्॥'[१]

देवी के विविध स्वरूप

(१) अरूप (२) सरूप

(१) **स्थूलरूप** (स्थूलशरीरावयवात्मक) (२) **सूक्ष्मरूप** (मन्त्रात्मक) (३) **पररूप** (वासनात्मक)
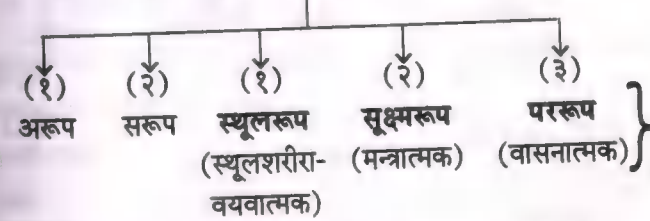
'ऐक्य' गौड़पादीय **'श्रीविद्या'** के मेरुदण्ड हैं। भास्करराय भी इसका प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं—'अभेद की भावना की दृढ़ता के कारण अपना गुरु उक्त तीनों (देवता-विद्या-चक्र) से अभिन्न होता है अतः यह गणेशादिमय होता है जिसकी दया से स्वयं शिष्य भी तद्रूप (एकीभूत) हो जाता है।[२]

---

१. सुभगोदयस्तुति (१)
२. वरिवस्यारहस्यम् (२।१०१)
'एतत् त्रितयाभिन्नः स्वगुरुस्तदभेदभावनादाढर्यात्॥'

चतुर्विधैक्य की स्थिति में—इस समय भगवती चतुर्भुजाएँ धारण किए रहती हैं और वे हाथों में (१) धनुष, (२) बाण, (३) पाश एवं (४) अंकुश धारण किए रहती हैं।

*** षड्विध ऐक्य निष्पादित होने पर भगवती का स्वरूप ***

मूलाधार—स्वाधिष्ठान का भेदन करके जब 'मणिपूर चक्र' में आह्लादित स्वरूप में स्थित होती है तब वे १० भुजाएँ धारण किए रहती हैं—

[४] भगवती की उपासना एवं पूजा

भगवती की उपासना एवं पूजा के विविध विधान हैं। त्रिपुरोपासना से सम्बन्धित तीन मत हैं—(१) **'कौलमत''** (२) **'मिश्रमत'**, एवं (३) **'समयमत'**। **नित्याषोडशिकार्णव की दृष्टि** यह है कि कौलों के ६४ आगम हैं। **'मिश्रमत'** के अनुयायियों के ८ आगम हैं और समयाचारियों के ५ आगम हैं।

त्रिपुरोपासकों के आगम

(१)	(२)	(३)
कौलमत के आगम ६४ (महामाया शम्बर, योगिनी जाल शम्बर, तत्वशम्बर, भैरवाष्टक यमलाष्ट, मालिनीविद्या कामिक आदि ६४ तंत्र (वञ्चक शास्त्र) (अवैदिक) ('चतुष्षष्टि तन्त्राणि परिज्ञातृणामपि वञ्चकानि।।''—लक्ष्मीधरः ३१ 'मिश्रकं कौलमार्ग च परित्यज्यं हि शाङ्करि।।'	**मिश्रमत** के आगम ०८ 'चन्द्रकला', ज्योत्सनावती, 'कलानिधि', कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, आदि ८	**समयमत** के आगम ५ (वैदिक मार्ग) वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन, सनत्कुमार, संहितायें। (शुभागम पञ्चक) 'समयाचार'। इन ५ मुनियों की ५ संहितायें ही **'समयाचार'** है। 'अयमेव समयाचारः इति व्यवह्रियते।।'

त्रिपुरोपासना के दो मार्ग

- (१) 'अन्तर्याग'
  - (१) सकल
  - (२) सकल निष्कल
  - (३) निष्कल 'सेतुबंध'
- (२) 'बहिर्याग'

'बहिर्यागः' पात्रासादनादिशान्तिस्तवान्तः।
—कर्मसमूह
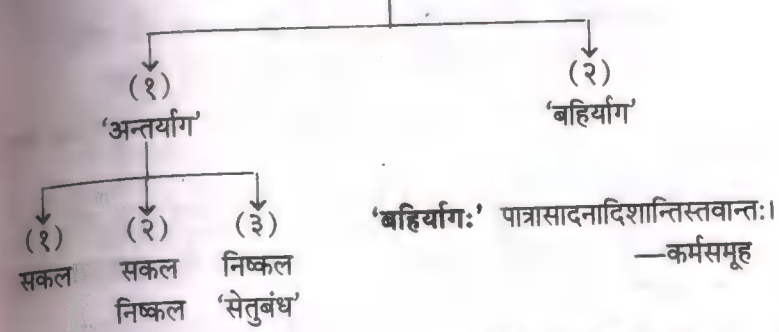
'अन्तर्यागो नामाधाराद्राजदन्तान्तं तेजस्ततोर्विभावनम्, मानसी देवपूजा वा, तस्य इति। (सौभाग्यभास्कर)

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—'सुभगोदय' एवं कालिदास-प्रणीत **'चर्चास्तोत्र'** में जो—

(१) **'सूर्यमण्डल मध्यस्थां** देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्'।

(२) 'ये चिन्तयन्त्यरुणा **मण्डलमध्यवर्ति'।**

सूर्यमण्डलस्थ देवी की उपासना की बात की गई है वह आचार्य लक्ष्मीधर को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वे कहते हैं कि—

'अत्र समयिनां बाह्यपूजानिषेधात् **सूर्यमण्डलान्तर्गतत्वेन पूजनं** निषिद्धमित्याहुः।।'[१]

पिण्ड-अण्ड-ब्रह्माण्ड एवं चन्द्र में ऐक्य होने के कारण, चन्द्रमण्डलान्तर्गत होने के कारण **'चन्द्रकला विद्या'** की पूजा करनी चाहिए—

'चन्द्रकलाविद्यायाः पूजनं युज्यते ।।'

चन्द्रमण्डल में देवी के पूजन को निषिद्ध मानना चाहिए—

(१) 'यत्तु पूर्वोक्तं **चन्द्रबिम्बगतत्वेन देव्या पूजननिषेधवचनं।।'**

(२) **''आन्तरचन्द्र की पूजा का निषेध नहीं है**—

'आन्तरचन्द्रस्य आज्ञा चक्रोपरिस्थितस्य सहस्र कमलान्तर्गतचन्द्रकलामृतनिष्यन्दैः उज्जीवनमिति तत्र तस्याः **पूजानिर्बन्धो नास्ति** अतएव पिण्डाण्डब्रह्माण्डचन्योरैक्यात् ब्रह्माण्ड स्थितचन्द्रमण्डलेऽपि पूजानिर्बन्धो नास्तीत्ये वपरम् ।।'

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)

*** 'हृदय कमल' में भगवती की आराधना ***

(१) **'हृदयकमल'** में भगवती की साधना ऐहिक फलों की प्राप्ति।

(२) वशिनी आदि से युक्त देवी का ध्यान सारस्वत की प्राप्ति।

(३) 'मुखं बिन्दुं कृत्वा' ('कामकला') के साथ ध्यान करने पर तत्समान फल प्राप्त होता है।

(४) हृदयकमल में होमादिक कार्य करने पर ऐहिक फल प्राप्त होते हैं।[1]

भगवत्पाद ने ''आधारकमल'' आदि चक्रों का त्याग करके 'आज्ञाचक्र' आदि के क्रम से अवरोह क्रमपूजा का विधान किया है—

समयमत में **तदात्म्य-रहित पूजन असंभव है**–[2]

देवी प्रबोधन—

(१) 'मूलाधारस्थितामेव देवीं सुप्तां प्रबोधयेत् ॥'

(२) 'मूलाधारादि क्रमेणैव पूजा समयिनां कौलादीनां च कार्येति परमगुरुमुखादेव अवगतं रहस्यम्'।

वामकेश्वरतंत्रोक्त आत्मपूजा का विधान—

'पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्द स्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः।
करणेन्द्रियचक्रस्यां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहङ्कारपुष्पेण पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक् ॥'

*** 'पूर्णमासी' की तिथि पर चन्द्रमण्डलस्था भगवती की उपासना का विशेष महत्व ***

'ललितासहस्रनाम' में कहा गया है कि वैसे तो भगवती की पूजा की विशिष्ट तिथियाँ अनेक हैं किन्तु उनमें भी **पूर्णिमा** विशिष्टतमा तिथि है और उसमें भी चन्द्रमण्डलगतस्वरूपा भगवती के स्वरूप की उपासना उत्कृष्टतमा पूजा है—

'पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्रीललिताम्बिकाम्
पञ्चोपचारैः संपूज्य पठेन्नामसहस्रकम् ॥'[3]

आचार्य भास्करराय इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)
२. लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)
३. ललितासहस्रनाम (२५५)

(१) 'पौर्णमासीशब्द शुक्लपक्षस्य चरमरात्रिपरः
'दर्शादृष्टे' त्यनुवाके तादृशरात्रिमानत्वेन परिगणनात्।
तेनास्मिन्प्रयोगे रात्रिव्यापिनी तिथिर्ग्रह्येति सिद्ध्यति।

(२) 'चन्द्रबिम्बे चन्द्रस्य पूर्णमण्डले।

तत्र हि **सादारव्यैका कला** सदातनी त्रिपुरसुन्दरीरूपा। अन्याः पञ्चदशकला वृद्धिह्रासभागिन्यः। ताश्च कामेश्वर्यादि चित्रान्ततिथिनित्यापञ्चदशकस्वरूपाः। अतस्तासां परिपूर्तौ **षोडशनित्याभि**स्तत्किरण देवताभिरणिमादिभिश्च योगाच्चन्द्रमण्डलं प्रत्यक्ष-श्रीचक्रात्मकं संपद्यते। अनेनैवाशयेन 'चन्द्रमण्डलमध्यगे' त्यादीनि नामानि।

पञ्चसंख्यैरूपचारैः (१) गन्ध, (२) पुष्प (३) धूप, (४) दीप, (५) नैवेद्यैः संपूज्य—

'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं तत्त्वमेव त्वमेव इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या परस्परप्रति योगिकत्वसम्यक्त्वेन स्वात्मदेवतयोरैक्यं विभाव्यम्। एतदेव ह्युपचारान्प्रति प्रधानम्—

'अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च,
ललितापूजनस्यैते लक्षांशेनापि नो समाः।
स दाता स मुनिर्यष्टा स तपस्वी स तीर्थगः,
यः सदा पूजयेद्देवीं गन्धपुष्पानुलेपनैः ॥[1]

चन्दनागरुकर्पूरैः सूक्ष्मपिष्टैः सकुंकुमैः।
आलिप्य ललितां लोके कल्पकोटीर्वहेन्नरः ॥'

'अन्तर्याग बहिर्यागौ गृहस्थः सर्वदाचारः ॥'

—अन्तर्यागात्मक-बहिर्यागात्मक पूजा-द्वैविध्य का अवगाहन करके ऐक्य भावना का निष्पादन ही तो अन्तर्याग है—'पूजाद्वैविध्यावगमादैक्यभावन**मन्तर्याग** एव॥'' **'बाह्यपूजा'** क्या है? **बाह्यपूजा** है गन्धपुष्पादिक उपचारों का निवेदनात्मक मानस संकल्प—

'बाह्यपूजा तु गन्धपुष्पादीनां निवेदनात्मको मानसः संकल्प एवः॥'[2]
इस पूजा में 'श्रीललिताम्बिकायै नमः'' कहकर पूजा करनी चाहिए।[3]

(९) **पूजा एवं षोढ़ा ऐक्य का प्रभाव**—

(१) आचार्य लक्ष्मीधर 'षोढ़ा ऐक्य' के प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—

१. पद्मपुराण
२. सौभाग्य भास्कर
३. सौभाग्य भास्कर

(१) 'षड्विधैक्यानुसन्धानमहिम्ना गुरु कटाक्षसंजात महावेध महिम्ना च भगवती झडिति **मूलाधार-स्वाधिष्ठानात्मकचक्रद्वयं भित्वा मणिपूरे प्रत्यक्षं प्रतिभाति।**

(क) षोढ़ा ऐक्य } देवीका (मूलाधार एवं
(ख) महावेधदीक्षा } स्वाधिष्ठान चक्र छोड़कर)

(१) 'मणिपूरक चक्र' में प्रवेश

(२) 'मणिपूरक चक्र' में प्रत्यक्ष दर्शन।

(एवं महावेधे जाते भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति।

सा समाराध्या।''—लक्ष्मीधर।।

भगवती की पूजा का विधान—(१) 'मणिपूर' में भगवती के पदार्पणोपरान्त वहाँ भगवती की पूजा करनी चाहिए।

विधि—(२) 'अर्घ्यपाद्यादिभूषणप्रतिपादनपर्यन्तं पूजाकलापं मणिपूरे निर्वर्त्य **अनाहत मन्दिरं** भगवतीं नीत्वा नैवेद्यहस्त प्रक्षालनान्तं कर्मकलापं तत्रैव समाप्य **विशुद्धौ** भगवतीं सिंहासनासीनां सरवीभिः संल्लापान् सम्भाषमाणां शुद्धस्फटिकसदृशैः मणिभिः पूजयेत् । शुद्धस्फटिकसदृशमणयो न मौक्तिकादयः, किन्तु **तदीयषोडशदलगत षोडश** चन्द्रकला रहस्यं। एवं संपूज्य आज्ञाचक्रं नीत्वा देवीं कामेश्वरी नीराजनविधिभिः अनेकैः संप्रीणयेत् ।।'—लक्ष्मीधरा

सारांश-भगवती की पूजा के सोपान

(१) **प्रथम सोपान**—षोढ़ा ऐक्य एवं महावेध के प्रभाव से मूलाधार-स्वाधिष्ठान चक्रों का त्याग करके भगवती को 'मणिपूर' चक्र में ले जाकर उनका दर्शन करना।

(२) **द्वितीय सोपान**—मणिपूरक चक्र में अर्घ्य, पाद्य, भूषण आदि पूजाकलाप से उनकी पूजा करना। (**'मणिपूरक'** में पूजा।)

(३) **तृतीय सोपान**—फिर भगवती को मणिपूरक चक्र से अनाहत चक्र में ले जाना और वहाँ धूप-दीपादिक द्वारा उनकी पूजा करना। (**अनाहत चक्र** में ले जाकर पूजा करना)।

(४) **चतुर्थ सोपान**—फिर देवी को **'अनाहत चक्र'** से 'विशुद्धाख्य चक्र' में ले जाकर शुद्धस्फटिक संकाश **मणियों से** (षोडश चन्द्रकला रूप षोडशदलात्मक विशुद्धाख्य वर्णों से भगवती की पूजा करना) (विशुद्धाख्य चक्र में पूजा)

(५) **पञ्चम सोपान**—फिर देवी को **'आज्ञा चक्र'** में लाकर उन कामेश्वरी देवी

की अनेक प्रकार की नीराजना-विधियों से पूजा करना और उन्हें प्रसन्न करना।) (आज्ञा चक्र में लाकर देवी की आज्ञा चक्र में पूजा करना)

(६) **षष्ठसोपान**—इसके उपरान्त भगवती को 'आज्ञा चक्र' से **'सहस्रदल कमल'** में लाना चाहिए। वे यहाँ विद्युल्लता' की भाँति शीघ्र ही प्रविष्ट होकर अमृत समुद्र में पाँचकल्प वृक्षों की छाया में 'मणिद्वीप' में 'सरघा' में सदाशिव के साथ विहार किया करती हैं।

(७) **सप्तम सोपान**—इसके अनन्तर साधक को तिरस्करिणी प्रसारपूर्वक उनके मन्दिर के समीप स्वयमेव निवास करना चाहिए।

वहाँ साधक को तब तक रहना चाहिए जब तक कि भगवती वहाँ से लौटकर **'मूलाधार कुण्ड'** में प्रत्यावर्तित नहीं हो जातीं। यही 'समयम तत्त्व का रहस्य' है।

चतुर्विध ऐक्य के द्वारा भगवती के प्रसन्न होकर 'मणिपूर' में प्रत्यक्ष दर्शन देने के समय उनके स्वरूप का वर्णन आचार्य शंकर ने इस प्रकार किया है—

'क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता,
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः,
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितु राहो पुरुषिका ।।'[१]

समयमत की उपासना में कौलमत का त्याग

समयमतावलम्बी, वामाचारी कौलमार्गियों की उपासना को स्वीकार नहीं करते अतः समयमत की उपासना में कौलमत के (१) सिद्धान्त एवं (२) साधना-पद्धति दोनों का त्याग करना भी अपरिहार्यतः आवश्यक है।

आचार्य गौड़पाद ने इसी दृष्टि को स्थापित करते हुए कहा है कि—

'भवत्साम्यं केचित्त्रियमिति कौल प्रभृतयः,
परं तत्त्वाख्यं चेत् स पर इदमाहुः समयिनः ।
क्रियावस्थारूपं प्रकृतिरभिधा पञ्चक समं,
तदेषां साम्यं त्वमवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः ।।'

कतिपय कौल मतावलम्बी केवल साम्यत्रय का ही प्रतिपादन करते हैं किन्तु समयाचारावलम्बी परम तत्त्व नाम के किसी एक अन्य तत्त्व को भी मानते हैं। उसके साथ पञ्चसाम्य-स्थापन करना जानने वाला 'मुनि' कहा जाता है।[२]

---

१. सौन्दर्यलहरी (७)
२. सुभगोदय स्तुति (४०)

*** भगवती का (श्रीचक्र सम्बद्ध) मेरु, कैलास एवं भूप्रस्तार वाला प्रस्तारत्रयात्मक स्वरूप ***

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—भगवती

(१) नित्या-समुदाय, वर्ण-समुदाय एवं नाद के सम्मिलन से भगवती '**महामेरु**' में स्थित होती है।

(२) मंत्र के साथ मिलकर कैलासविग्रहा हो जाती है।

(३) वशिनी आदि शक्तियाँ भगवती षट्चक्रात्मक शरीर से मिलकर भूप्रस्तार बनाती हैं।

(क) नित्या, वर्णमाला एवं नाद का ऐक्य = 'मेरुप्रस्तार'

(ख) नित्या, वर्णमाला, नाद एवं मंत्र का ऐक्य = 'कैलास प्रस्तार'

(ग) वशिनी आदि वाणी की देवियों एवं षट्चक्रों का ऐक्य = 'भूप्रस्तार'

श्री चक्र के ये तीन प्रकार के प्रस्तार हैं।

'इमा नित्या वर्णास्तव चरण संमेलनवशा-
न्महामेरुस्थाः स्युर्मनुमिलन कैलास वपुषः।
वशिन्याद्या एता अपि तव सबिन्द्वात्मकतया,
महीप्रस्तारोऽयं क्रम इति रहस्यम् समयिनाम्॥'[१]

श्रीविद्या की उपासना (१) '**कौलमत**' (२) '**मिश्रमत**' एवं (३) '**समयमत**' तीनों में मान्य है किन्तु '**समयमत**' के उपासक एवं तदनुसार आचार्य गौड़पाद दोनों ही '**कुलमत**' के वाममार्गी सिद्धान्त एवं साधना दोनों के प्रतिपक्षी हैं।

गौड़पादाचार्य एवं श्रीविद्या का 'कौलमत'

(१) **गौड़पादाचार्य** ने 'सुभगोदय स्तुति' में कौलमत का खण्डन किया है।

(२) **आचार्य शङ्कर** ने 'सौन्दर्यलहरी' (आनन्द लहरी) में '**कौलमत**' एवं '**समयमत**' दोनों का वर्णन किया है तथा समयमत को स्वीकार करते हुए कहीं भी स्पष्टतः '**कौलमत**' की निन्दा नहीं की है।

(३) **आचार्य लक्ष्मीधर** ने 'कौलमत' का खण्डन करते हुए स्पष्टतः '**समयमत**' का प्रतिपादन किया है।

(४) **श्रीविद्या के प्रथमाचार्य परशुराम ने—'परशुरामकल्पसूत्र'** में 'कौलमत' का एवं 'समयमत' दोनों का प्रतिपादन किया है।

१. गौड़पादाचार्य

(५) **आचार्य भास्करराय** ने भी '**ललितासहस्रनाम**' की टीका की व्याख्या एवं **सेतुबन्ध** आदि अपने प्रख्यात ग्रन्थों में कहीं भी **कौलमत** का खण्डन नहीं किया है।

(६) '**नित्योत्सव**' के रचनाकार उमानन्दनाथ ने भी 'कौलमत' का खण्डन नहीं किया है।

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

(१) 'चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि कुलमतं निन्दितमभूत।'

इससे निःसृत '**मिश्रमार्ग**' भी निन्दनीय है—

'यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दित मिह॥'[१]

(२) अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि-
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूल सदने॥[२]
अतो **बाह्यपूजा** भवति भगरूपेण च ततो।
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते॥[३]
'त्रिकोणं ते **कौलाः** कुलगृहमिति प्राहुरपरे।
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति।
सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्य शशिनो-
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे॥[४]

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि '**समयमत**' ६४ तन्त्रों के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखता वह केवल 'शुभागमपञ्चक' नामक वैदिक मत को ही स्वीकार करता है और पञ्चागम की विद्या ही 'पुरुषार्थ' है—

'**शुभाख्याः** पञ्चैताः श्रुति सरणिसिद्धाः प्रकृतयो
महाविद्यास्तासां भवति परमार्थो भगवती॥'[५]

*** भगवती की पूजा के लिए उपयोगी पक्ष एवं दिन ***

आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि हे भगवती! शुक्लपक्ष में **प्रतिदिन १ रात्रि** के **चरम भाग** में समयाचारी तेरी पूजा किया करते हैं।

१. सुभगोदयस्तुति (१८)
२. सुभगोदय स्तुति (४३)
३. सुभगोदय स्तुति (४३)
४. सुभगोदय स्तुति (७)
५. सुभगोदय स्तुति (१८)

शुक्लपक्ष की १५ तिथियाँ नित्या हैं—

'सहस्रारे चक्रे निवसति **कलापञ्चदशकं**
तदेन्नित्याख्यं भ्रमति **सितपक्षे** समयिनाम् ॥' (३०)

इसलिए भगवती का पूजन शुक्ल पक्ष में ही किया जाता है। भगवती कुण्डलिनी का प्रबोधन, जागरण एवं उत्थापन भी शुक्लपक्ष में ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि शुक्लपक्ष में ही पीयूष-स्राव विपुल मात्रा में हुआ करता है। शुक्लपक्ष में ही चान्द्र किरणों से पीयूषाप्ति होती है।

चन्द्रमा भास्कर-रश्मियों से ताप का हरण करके शुक्लपक्ष में चन्द्रिका प्रदान करता है।

चन्द्रमा तो रात में प्रकाश फैलाता है अतः रात्रि में ही चन्द्रकलोपासना निष्पादित की जाती है। योगियों को रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही कुण्डलिनी जागृत करने का नियम है; क्योंकि वह समय मधु से युक्त होता है। आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'ताः रात्रयः मधुकुर्वन्तीति मधुकृतः।
रात्रिष्वेव मधुनः संग्रह इति लोक प्रसिद्धिः।'

'रात्रावेव चन्द्रकलारूपायाः श्रीविद्यायाः अनुष्ठानम् न च दिवसे इति उपदेशः॥'

*** सामयिकों की उपासना में विशेष त्याज्य चक्र ***

गौड़पादाचार्य ने कहा है कि सामयिकों की पूजा में विशेष त्याज्य चक्र (१) **'मूलाधार चक्र'** एवं (२) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** है। कौलों की पूजा में इन चक्रों में निष्पादित उपासना ही वरेण्य मानी जाती है तथा वे भगादि की भी पूजा करते हैं जो कि समयमत में पूर्णतः निषिद्ध है। सामयिकों की पूजा में 'बाह्यपूजा' के लिए कोई स्थान नहीं है; किन्तु कौलोपासना में है। अतः सामयिकों के लिए वह त्याज्य है—

अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि-
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने।
अतो बाह्यपूजा भवति भगरूपेण च ततो,
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्य चरिते ॥[१]

समयों की दृष्टि से ही यह कहा गया है कि—

१. सुभगोदयस्तुति (४३)

(१) समया चार वालों के लिए यह द्वितीय चक्र स्वाधिष्ठान अत्यन्त दूर ही रहे।

(२) इन दोनों (मूलाधार चक्र एवं स्वाधिष्ठान चक्र) का त्याग करके इनके पीछे मणिपूर नामक सदन में तेरे द्वारा उत्पन्न होने वाली, जल से प्रतिफलित सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों के द्वारा (दो प्रकार वाला) पूजन—समयमतावलम्बियों के लिए होता है—

'भवेदेतत्त्वक्रद्वितीयमतिदूरं समयिनां
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्यसदने।
त्वया सृष्टैर्वारि प्रतिफलित सूर्येन्दुकिरणै-
र्द्विधा **लोके पूजां विदधति भवत्याः समयिनः** ॥[१]

*** नवव्यूहात्मक, नवात्मा भैरव का समयमत में त्याग ***

समयमत में कौलों के नवव्यूहात्मक या नवात्मा भैरव को सिद्धान्त एवं साधना दोनों की दृष्टि से निषिद्ध माना गया है—

'**नव व्यूहं कौलं** प्रभृतिकमतं तेन स विभु-
र्नवात्मा देवोऽयं जगदुदकृद भैरव वपु,
नवात्मा वामादि प्रभृतिभिरिदं भैरव वपु-
र्महादेवो ताभ्यां जनकजननीमज्जगदिदम् ॥'

कौलों की दृष्टि—

'नवव्यूहात्मको देवः परानन्दः परात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो मुक्तिभुक्ति प्रदायकः।
परानन्दपरा शक्तिश्चिद्रूपानन्द भैरवी।
तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा ॥'

उपासना के विभिन्न रूप—यद्यपि शाक्त तांत्रिकों के सम्प्रदायों में दृष्टि-वैभिन्य है तथापि त्रिपुरोपासकों में कौल-मिश्र एवं 'समय'—इन तीनों सम्प्रदायों में देवी एक है और वही उपास्या है।

उपास्या परमेश्वरी के तीन रूप हैं—(१) **'स्थूल'** (२) **'सूक्ष्म'** (३) **'पर'**।

(१) **देवी का स्थूल रूप**—कर, चरण आदि अवयवों से युक्त एवं मांत्रिकों को आँखों से दर्शनीय, श्रवणेन्द्रिय से श्रव्य एवं त्वगेन्द्रिय से स्पृश्य जो स्थूलरूपावस्थित है वही देवी का **'स्थूल रूप'** है यथा—

१. सुभगोदयस्तुति (४५)

'ततः पद्मनिभां देवीं बालार्ककिरणारूणाम् ।
जपाकुसुमसंकाशां दाडिमीकुसुमोपमाम् ।।
पद्मरागप्रतीकाशां कुङ्कुमोदकसंनिभाम् ।
स्फुरन्मुकुटमाणिक्य किंकिणीजालमण्डिताम् ।। आदि।।'[१]

(२) **देवी का द्वितीय रूप**—मन्त्रात्मक स्वरूप यथा—

'क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं स क ल ह्रीं ''

(३) **देवी का वासनात्मक स्वरूप**—यह पुण्यवानों के मनन योग्य स्वरूप होता है।

यद्यपि देवी के तीन रूप हैं तथा भावना की दृष्टि से देवी के दो ही रूप हैं— (१) अरूपात्मक (२) सरूपात्मक ।[२]

प्रथम रूप—पररूपानुसन्धानात्मिका चरमा भावना।

[५] * **भगवती के मन्त्र (पञ्चदशीविद्या) का स्वरूप**

श्लोक क्र० २० *

'त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशिसवितृवह्नयात्मकतया,
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह ।
यकाराद्या वन्हावथ कषयुगं बैन्दव गृहे,
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले ।।'

	खण्ड	श्रीयंत्र	चक्र	मंत्र के कूट	मंत्राक्षर
[१]	'सोम खण्ड'	'चतुर्दशार' 'अष्टदल 'षोडशदलपद्म'	'विशुद्धचक्र' आज्ञा चक्र	'शक्तिकूट'	'स्वरवर्ण'
[२]	'सूर्य खण्ड'	दशारद्वय	मणिपूरक एवं अनाहत	कामराज कूट	क आदि वर्ण

श्लोक क्र० ८ में 'श्रीविद्या' के तीन खण्ड का नामोल्लेख किया गया है जो इस प्रकार हैं—

१. नित्याषोडशिकार्णव (१।१३० १३१)
२. द्वितीय रूप—स्थूलरूपानुसन्धानात्मिका भावना।

[श्रीयंत्र की भाँति]—''पञ्चदशी'' के खण्डत्रय[१]

- (१) 'सोमखण्ड'
- (२) 'सूर्यखण्ड'
- (३) 'अनलखण्ड'

'त्रिखण्डं ते चक्रं शुचि रविशशाङ्कात्मकतया,
मयूखैः षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्ड कलितैः।।'

(यहाँ श्री चक्र को त्रिखण्डात्मक बताया गया है किन्तु ये खण्डत्रय 'पञ्चदर्शी महाविद्या' के भी हैं।)

यहाँ आचार्य श्रीविद्या के भी तीन खण्डों का प्रतिपादन कर रहे हैं—

''**त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे** शशि—सवितृ-वह्नयात्मकतया
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह ।।''

आचार्य श्री कहते हैं कि—

हे माँ ! तेरे **मन्त्र** 'सोम' 'सूर्य' एवं 'अग्नि'—तीन खण्डों वाला है। उसमें प्रयुक्त सारे—

(क) स्वर (अक्षर)—चन्द्रात्मक हैं।
(ख) वर्ण 'क' आदि—सूर्यात्मक हैं।
(ग) वर्ण 'य वर्ग'—अग्न्यात्मक हैं।
(घ) 'क्ष' वर्ण—बैन्दवगृह हैं।[२]

} * मंत्र के तीन खण्ड *

समस्त व्यस्त रूपेण **षटत्रिंशत्तत्व विग्रहाः।**

(ये सारे ३६ तत्त्वों के विग्रह हैं।)

* **सारे स्वर १६ शक्तियाँ हैं।** ये सभी नित्याओं के रूप हैं—

(१) '**नित्याषोडशकात्मानः** परस्पर परस्परमयी युताः ।।

(२) 'अकारादिविसर्गान्ताः **स्वराः षोडशशक्तयः** ।।

* **सारे वर्ण शिवशक्त्यात्म हैं**—

''शिवशक्तिमयाः वर्णाः शब्दार्थ-प्रतिपादकाः ।।''

१. सुभगोदयस्तुति (८)
२. सुभगोदयस्तुति (२०)

स्वर एवं शिव—

(१) शिवः स्वरपराधीनो न स्वतंत्रः कदाप्यसौ।

(२) '**स्वराः** स्वतंत्रा जायन्ते न **शिवस्तु** कदाचन ॥'

—मातृका हृदय

'**क्षकार**' ही बैन्दवगृह है। "**क्ष**" आकाश का भी द्योतक है। आकाश नाद का बोधक है। मंत्र के तीनों खण्डों का लय जहाँ होता है वह लयस्थान है—"**नाद**"।

(क) व्यञ्जन **स्वराश्रित** हैं।

(ख) स्वर नादाश्रित हैं।

'नाद'
|
'स्वर'
|
व्यञ्जन

मंत्र के तीन भाग

नाद (नाद से नादान्त) | बिन्दु अनुस्वार | मंत्र के वर्ण

(१) व्यञ्जनाधार '**स्वर**' है।

(२) स्वराधार '**नाद**' है।

(३) नादाधार '**नादान्त**' है।

(४) अनाहतनाद (अव्यक्त नाद) ही शब्दों का मूल कारण है।

कलायें १६ हैं। स्वर भी १६ हैं। 'कला' का अर्थ है—'स्वर'। 'कला'—क से ल पर्यन्त समस्त वर्णमाला।"

५० कलायें

(१) चन्द्रमा की १६ कलायें
(२) सूर्य की २४ कलायें
(३) अग्नि की १० कलायें
} = ५० कलायें अक्षर भी ५० हैं।

'**वर्ण**' **शरीर है** और '**स्वर**' वर्ण का कला है।

'**वर्ण**' शिव है और '**स्वर**' शक्ति है।

पञ्चदशी मन्त्र का प्रत्येक अक्षर शिवशक्त्यात्मक है।

कला प्रधान होने से सभी वर्ण कलात्मक हैं।

अनुस्वार '**बिन्दु**' है और चन्द्रमा '**नाद**' है।—

* 'नाद' बिन्दु के ऊपर है। इसीलिए इसके पूर्व इस प्रकार लिखा जाता था ँ

नाम खण्ड	**श्रीयंत्र के भाग**	**पिण्डस्थ चक्र**	**मंत्र के कूट**	**मंत्राक्षर**
[३] 'अग्निखण्ड	त्रिकोण तथा अष्टार	मूलाधार चक्र एवं स्वाधिष्ठान चक्र	वाग्भव कूट	य वर्ग के वर्ण
[४] 'बैन्दवस्थान'	वृत्तत्रय एवं भूपुर	सहस्रार	अन्तिम कूट तुर्य	नाद

'**क्षकार**' एवं '**अकार**'—आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—

आचार्य गौड़पाद 'क्षकार' को अर्थ की दृष्टि से एक नव्य आयाम प्रदान करते हैं। वे कहते हैं—

'क्षकारश्चाकारोऽक्षरतनुतया चाक्षरमिति ॥'

अर्थात् '**क्षकार**' एवं '**अकार**' ही अक्षरों का शरीर है इसलिए यह '**अक्षर**' है।

तीनों खण्डों का प्रत्याहरण 'क्ष' (क + ष) के युग्म में हो जाता है। 'क्ष' युग्म इसलिए है क्योंकि यह '**क**' **एवं** '**ष**' दो वर्णों से निर्मित हुआ है।

'**क**' वर्ण को लीजिए :—

'**ककाराभ्यां** स्वरगणभवष्टभ्य निखिलं।
कलाप्रत्याहाररात सकलमभबद्धञ्जनगणाः ॥'

(१) '**क**' में 'अ' = सारे व्यञ्जनों का प्रतिनिधित्व करता है।

(२) '**क**' = यह व्यञ्जन वर्ण सारे व्यञ्जन वर्णों का प्रतिनिधित्व करता है।

(३) '**क्ष**' = में 'क' सारे व्यञ्जनों का एवं 'ष' सारे श, ष, स आदि वर्णों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः 'क्ष' का अर्थ है—'क' से 'ष' पर्यन्त समस्त (वर्णमाला के) वर्ण।

'**ककारादि क्षकारान्ता** वर्णास्ते शिवरूपिणः।

'मन्त्र' एवं 'श्रीचक्र' दोनों अङ्गत्रयात्मक हैं।

*** पञ्चदशी मन्त्र एवं 'श्रीचक्र'**

(१) नाद (नाद से नादान्त) अर्धचन्द्र। रोधनी। नाद। नादान्त। शक्ति। व्यापिका। समनी। उन्मनी

(२) बिन्दु एवं अनुस्वार

(३) कला मंत्र के वर्ण

(४) मंत्र का चतुर्थ खण्ड 'सादाख्य' (नाद, बिन्दु) कालातीत

श्री चक्र के तीन भाग

(१) नाद (आज्ञाचक्र से) सहस्रार पर्यन्त)—भूपुर

(२) 'बिन्दु' शिवचक्र तीन वृत्त १६ दल वाला पद्म ०८ दल वाला पद्म

(३) कला-शक्तिचक्र (त्रिकोण, अष्टार, दशारद्वय, चतुर्दशार)

खण्डत्रय (षोडशों के त्रिक)

(१) स्वर (१६)

(२) क से त तक के वर्ण (१६ वर्ण)

(३) थ से स तक के वर्ण (१६ वर्ण)
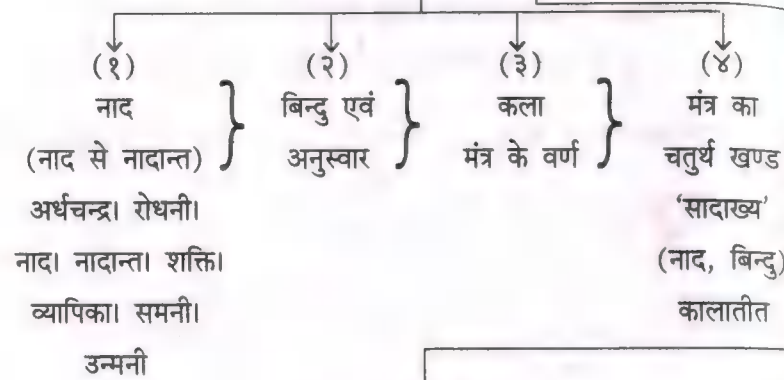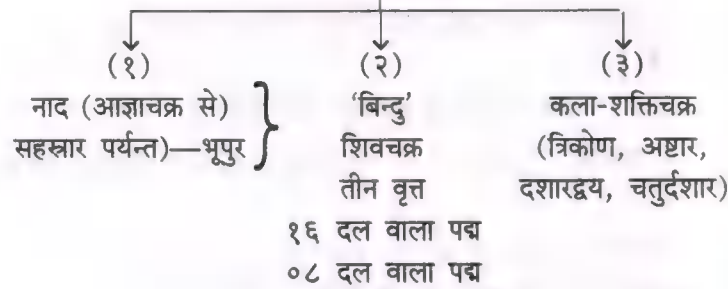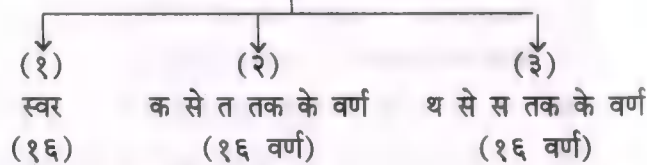
* 'श्रीचक्र' भगवती का शरीर है। *

* भगवती मंत्रस्वरूपा हैं। *

भगवती का त्रिखण्डात्मक मन्त्र 'सरघा' में लयीभूत हो जाता है।

'त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरघायां निविशते।'

'मन्त्र' अक्षरों की समष्टि नहीं है। यह अनन्त शक्ति एवं असीम सामर्थ्य से

पूर्ण चेतन शक्ति है। यह देवता का ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक स्वरूप है और अपने मूल में यह मात्र अनाहत दिव्य नाद या **शक्ति का सूक्ष्म रूप** है।

शक्ति के विभिन्न स्वरूप

(१) शरीरात्मक स्थूल रूप

(२) मन्त्रात्मक सूक्ष्म रूप

(३) मननात्मक वासनात्मक

'पररूप' — **"मंत्र"** देवता या शक्ति की ही अपर आख्या है।
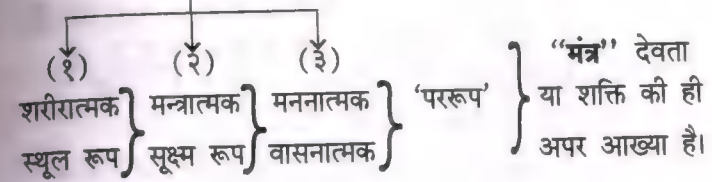
इस प्रकार शक्ति या देवता के सूक्ष्म रूप में उसका जो अस्तित्व रहता है वह मात्र उसका मंत्ररूप है। इस प्रकार **'मंत्र'** स्वयं देवता है। देवता का सूक्ष्म स्वरूप ही मंत्र है।

[१०] द्वादश विद्यायें

(१) **'आदिविद्या'**
(१) 'क ए ई ल ह्रीं'
(२) 'ह स क ह ल ह्रीं'
(३) 'स क ल ह्रीं'
('शक्तिशिवविद्या')

(२) **'लोपामुद्राविद्या'**
'ह स क ह ल ह्रीं'

(३) **'क्रोधमुनिविद्या'**
'ह स क ह ल ह्रीं'

(४) **'मानवीविद्या'**
ह स क ह ल ह्रीं
क ए ई ल ह्रीं
स क ल ह्रीं

(५) **'चान्द्रीविद्या'**
ह स क ह ल ह्रीं।
क ए ई ल ह्रीं।
ह स क ह ल ह्रीं।
स क ल ह्रीं।

(६) **'कौबेरीविद्या'**
ह स क ह ल ह्रीं।
क ए ई ल ह्रीं।
ह स क ह ल ह्रीं।
स क ल ह्री
ह स क ह ह्रीं।

(७) **'अगस्त्यविद्या'**

ह स क ए ल ह्रीं
ह स ह स क ह ल ह्रीं
ह स स क ल ह्रीं

(८) **'नन्दिविद्या'**

ह ह स क ह स क ए ल ह्रीं
ह स ह स क ह ल ह्रीं
ह स स क ल ह्रीं

(९) **'प्रभाकरीविद्या'**

क ए ई ल ह्रीं
ह स क ए ल ह्रीं
ह स ह स क ह ल ह्रीं
ह स स ल ह्रीं

(१०) **'षण्मुखीविद्या'**

ह्रीं क्लीं हं सः क्लीं लं ह्रीं
ह स क ह ल ह्रीं
सो हं क्लीं हं सः
ह्रीं हं सः सोहं हंसः।

(११) **'परमशिव विद्या'**

ह्रीं क्लीं हं सः क्लीं लं ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं सो हं
क्लीं हंसः ह्रीं हंसः सोहं हंसः, ह स क
ए ल ह्रीं ह स ह स क ह ल ह्रीं ह स
स क ल ह्रीं

(१२) **'वैष्णवी विद्या'**

ह स क ए ल ह्रीं, ह स ह स क ह ल ह्रीं, ह स स
कल ह्रीं, क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं
क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल
ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं
स क ल ह्रीं

(१) **'लोपामुद्रा'**—एवमाद्यां विद्यामभिधायैत स्याः शक्तिकूटं शक्ति शिवाद्या। लोपामुद्रेय द्वितीय धामनि ॥२७॥

(२) **'क्रोधमुनिमुद्रा'**—पूर्वेणैव मनुना बिन्दुहीना शक्तिभूतहल्लेखा क्रोधमुनिनाऽ-धिष्ठता तृतीये धामनि॥२८॥

(३) **'कौबेरीविद्या'**—पूर्वस्या एव विद्याया यद्वाग्भवकूटं तेनैव **मानवीं चान्द्रीं कौबेरीं** विद्यामाचक्षते॥२९॥

(४) **'मानवीविद्या'**—मदनाधः शिवं वाग्भवम् , तदूर्ध्वं कामकलामयम्, शक्त्यूर्ध्वं शाक्तमिति मानवी विद्या चतुर्थे धामनि॥३०॥

(५) **'चान्द्रीविद्या'**—शिवशक्त्याख्यं वाग्भवं तदेवाधः शिवशक्त्याख्यमन्यतृतीयं चेयं चान्द्री विद्या पञ्चमे धामनि ध्येयेयम् ॥३१॥

(६) **'कौबेरीविद्या'**—चान्द्री कामधः शिवाद्यकामा सैव **कौबेरी** षष्ठे धामनि व्याचक्षत इति एवं वेद॥३२॥

(७) **'अगस्त्यविद्या'**—हित्वेकारं तुरीयस्वरं सर्वादौ सूर्याचन्मस्केन कामेश्वर्यैवा**गस्त्य संज्ञा** संज्ञा सप्तमे धामनि॥३३॥

(८) **'नन्दिविद्या'**—तृतीयमेतस्या एव पूर्वोक्तायाः कामाद्यं द्विधाऽधः कंमदनकलाऽऽद्यं शक्ति बीजं वाग्भवाद्यं तयोरधविशिरस्कं कृत्वा नन्दिविद्येयमष्टमे धामनि॥३४॥

(९) **'प्रभाकरीविद्या'**—वाग्भवभञ्जगस्त्यं वागर्थ कलामयं कामकलाऽभिधं सकलमाया शक्तिः **प्रभाकरी विद्येयं** नवमे धामनि॥३५॥

(१०) **'षण्मुखीयविद्या'**—पुनरागस्त्यं वाग्भवं शक्तिमन्मथ शिवशक्तिमन्मथोर्वीय-माया काम कलालयं चन्सूर्याङ्गधूर्जटिमहिमायं तृतीयं **षण्मुखीयविद्या** दशमे धामनि॥३६॥

(११) **'परमशिवद्या'**—विद्याप्रकाशितया भूय एवागस्त्यविद्यां पठित्वा भूय एवेनामन्त्य मायां **परमशिवविद्येय**मेकादशे धामनि॥३७॥

(१२) **'वैष्णवीविद्या'**—भूय एवागस्त्यं पठित्वा एतस्या एव वाग्भवं यद्धनजं काम कलाऽऽलयं च तत्सहजं कृत्वा लोपामुद्रायाः शक्तिकूटराजं पठित्वा **वैष्णवीविद्या** द्वादशे धामनि व्याचक्षत इति य एवं वेद॥३८॥

'श्रीविद्या'

(१)	(२)	(३)
आद्यखण्ड	द्वितीय खण्ड	तृतीय खण्ड
'वाग्भवकूट'	**'कामकूट'**	**'शक्तिकूट'**
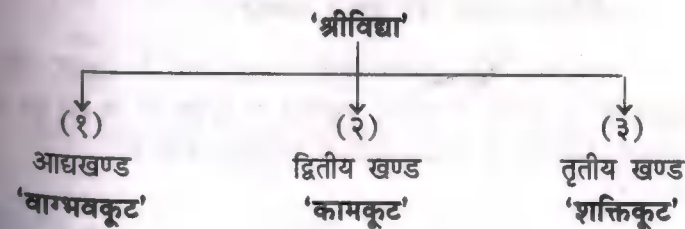
श्रीविद्या का स्वरूप

भास्करराय कहते हैं—'अकथादिकषोडशाक्षरात्मकतार्तीयकामवाग्भवैः घटिता च परादिवाग्गणैरिति विद्यापि **गणेशरूपिणी।**

(१) **'विद्या गणेशरूपिणी है**—आचार्य भास्करराय।

(२) **'श्रीविद्या' नक्षत्ररूपिणी है**—आचार्य भास्करराय।

बिन्दुत्रयनादत्रयतदन्यकूटत्रयैर्ग्रहत्वमिह ।
नक्षत्रत्वं च दशाकाराणां व्यञ्जनैरपार्थक्यात् ॥९९॥

(३) **'श्रीविद्या' नक्षत्ररूपिणी है**—

'हल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तक्षरैः। अन्यैर्द्वाशर्भिवर्णैरेषा **नक्षत्ररूपिणी।**

भगवती की पूजा

- (१) देवी के स्थूल रूप की पूजा **बहिर्यागात्मक पूजा**
- (२) देवी के अरूपात्मक स्वरूप की पूजा **—अन्तर्यागात्मक पूजा**
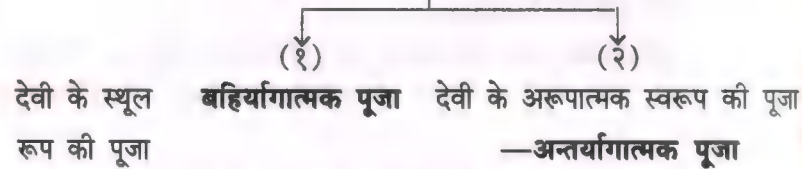
सस्वरूपा भगवती की पूजा

भगवती की पूजा भगवती के स्थूल रूप (शरीर एवं शरीरावयवों से युक्त स्थूल विग्रह) की पूजा **'बहिर्याग'** से की जाती है।

भगवती का जो रूपात्मक स्वरूप है उसकी सपर्या बहिर्यागात्मक है।

भगवती की पूजा का जो द्वितीय प्रकार है वह भगवती के अरूपात्मक स्वरूप का है। **अरूपात्मक देवी की पूजा** उसके **अरूपात्मक स्वरूप** की पूजा है। यह पूजा स्थूलपूजा नहीं **'मानसीपूजा'** है। यह **अन्तर्यागात्मक** पूजा है।

[११] **श्रीविद्या-साधना की साधन-सम्पत्ति—**

आचार्य गौड़पाद की 'सुभगोदयस्तुति' को ध्यान में रखकर यदि हम **'श्रीविद्यासाधना'** के साधनों या साधना-पद्धतियों पर विचार करें तो हमें इस साधना में निम्न प्रमुख साधनायें या साधन-पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

श्रीविद्या साधना के साधन या उसकी साधना-पद्धतियाँ

- (१) 'हठयोग' के प्रमुख साधन
  - (१) आसन
  - (२) मुद्राबंध
  - (३)
  - (४) प्राणायाम
  - (५) बिन्दु साधन
  - (६) नाड़ीयोग
- (२) मन्त्रयोग के प्रमुख साधन
  - मंत्र साधना
  - न्यास आदि अंग
- (३) लययोग के प्रमुख साधन
  - (१) नाद योग
  - (२) कुण्डिलिनी योग
  - (३) षटचक्र भेदन
  - (४) ग्रंथि भेदन
  - (५) सामरस्य रूपलय
- (४) राजयोग के प्रमुख साधन
  - 'चित्तवृत्ति निरोध एवं उसके साधन
    - औषधिपरक
    - आध्यात्मिक
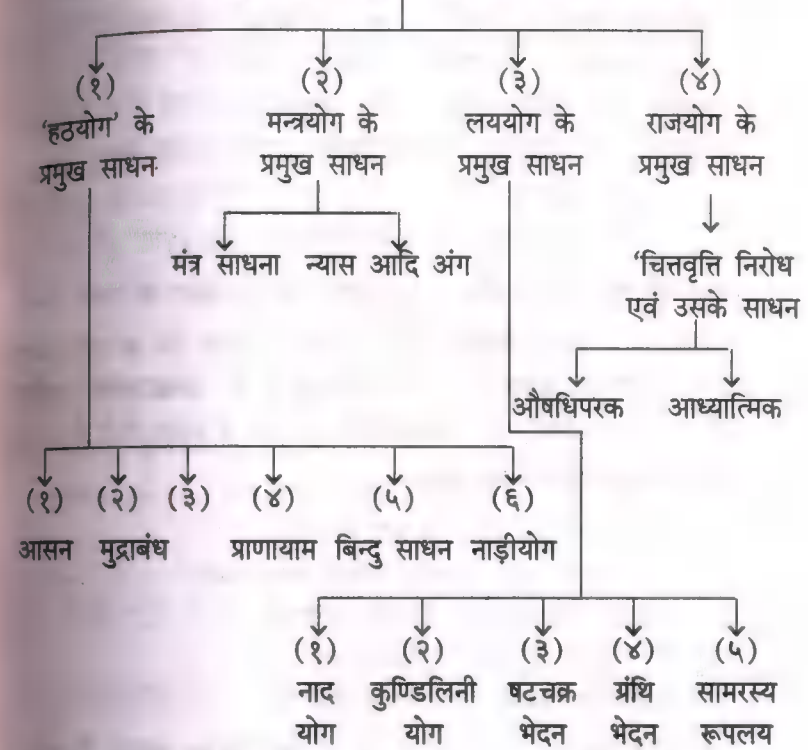
(१) **'हठयोग' क्या है ?**

'यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो **हठस्सः**॥' (अ०प्र०)

हठयोग के भेद (क) प्राणनिरोध (२) बिन्दुनिरोध (अ०प्र०)
'हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दु निषेवणात् ॥ (अ०प्र०)
'सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगोऽभिधीयते। (योग बीज)[१]

(२) **मन्त्रयोग क्या है ?**

'यो मन्त्रमूर्तिवशगः स तु **मन्त्रयोगः** ॥' (अ०प्र०)
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेन्मरुत्।
गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः।
'सोऽहं' **सोऽहमिति'** प्राप्तो **मन्त्रयोगः** स उच्यते॥ (योग बीज)

१. **हकारेण** तु **सूर्यो**ऽसो **उकारेणन्दु**रूच्यते। (योग बीज)

(३) **लययोग क्या है ?**

यच्चित्तसन्ततलयः स **यः** प्रदिष्टः । (अ०प्र०)
क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ तयोरैक्यं यथा भवेत् ।
तदैक्ये साधितेदेवि ! चित्तं याति विलीनताम् ।
पवनः स्थैर्यमायाति **लययोगोदये** सति ॥ (योग बीज)

(४) **राजयोग क्या है ?**

यश्चित्तवृत्तिं रहितः स तु **राजयोगः** । (अ०प्र०)

सृष्टि की मूल प्रेरक शक्ति—'इच्छाशक्ति' का विस्फोट या 'स्पन्द तत्त्व'

परमेश्वर की स्वाभिन्न **'स्वातंत्र्य शक्ति'** विश्वरूप में प्रसृत होने की ओर उन्मुख होने के समय सर्वप्रथम **'इच्छा'** का रूप धारण करती है। **'इच्छाशक्ति'** उत्तरोत्तर प्रसृत होती हुई **'ज्ञानशक्ति'** एवं **'क्रियाशक्ति'** के रूप में प्रकट होती है।

मालिनीविजयतंत्रकार की दृष्टि—

'मालिनी विजय तंत्र' (३.५) में कहा गया है—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
(१) **इच्छात्वं** तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
(२) एवं सैषा द्विरूपापि पुर्भेदैरनेकताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥

स्पन्द और स्फुरण—'स्पन्दशक्ति' का स्वभाव 'किञ्चित् चलन' है—

'**किञ्चिच्चलन**मेतावदनन्स्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥' (तंत्रालोक ४.१८४)

इच्छाशक्ति

'वाचक एवं ↓ 'वाच्य' विश्व

ज्ञानशक्ति → (१) वर्ण (२) पद (३) मंत्र (वाचक विश्व)
↓
'क्रियाशक्ति'→(१) कला (२) तत्त्व (३) भुवन (बाह्यविश्व) (वाच्यशिव)
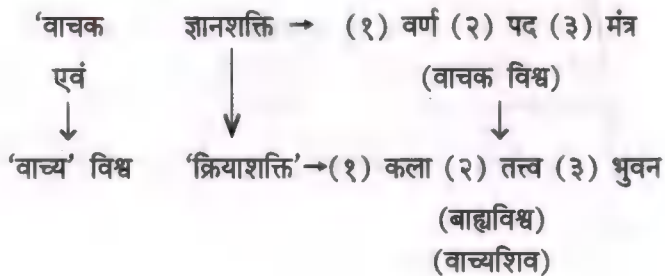
'वाच्य और स्फुरण'—'स्पन्दशक्ति' का स्वभाव 'किञ्चित चलन ' है—

'किञ्चिच्च ललनमेतान्स्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥ (तंत्रालोक ४.१८७)

शैवागम में किञ्चित् चलन का अर्थ है—

'स्वतंत्ररूप से स्फुरण'। संवित् कभी भी स्फुरण के विना नहीं रह सकती। संवित् चिद्रूप है। यह प्रत्येक क्रिया करने में पूर्ण स्वतंत्र है। विश्व के सारे पदार्थ शक्ति के ही रूप हैं। शक्ति के दो रूप हैं।

'स्वातंत्र्य शक्ति' के दो रूप (स्पन्द शक्ति के प्रसार के दो रूप
(१) सामान्यं (२) विशेषश्च)

[क] सामान्य भूमिका (पतिदशा) — (१) चित् शक्ति, (२) आनन्द शक्ति, (३) इच्छा शक्ति, (४) ज्ञान शक्ति, (५) क्रिया शक्ति

[ख] विशेष भूमिका (पशुदशा/जीवभाव) — अनन्त प्रमेयों के रूप में — प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, तन्मात्रा, पञ्चभूत आदि
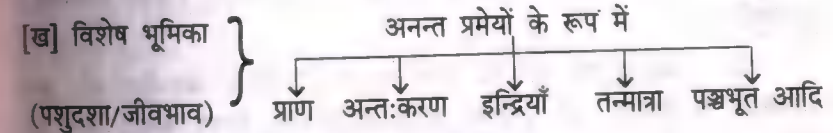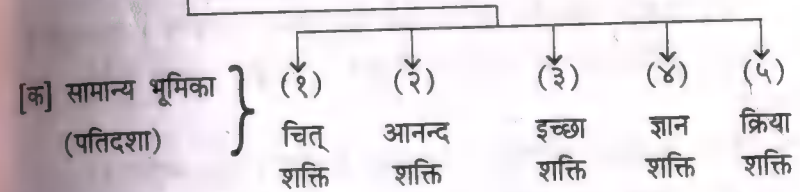
[१२] गौड़पादोक्त साधना-विधान

आचार्य गौड़पाद ने भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की साधना में ('सुभगोदय स्तुति' में) निम्न साधनाओं या साधना की तकनीकों का आत्मीकरण किया है—

(१) भवमहिषी, पराकारा, अमृतलहीर, ऐन्दव कला, सच्चिदानन्द, सुधासिन्धुवासिनी, एवं महाकालातीता भवानी के प्रति निष्ठा एवं उनका अभिवादन॥

(सुभगोदय स्तुति' श्लोक क्र० १)

(२) मन पर विजय की साधना = 'मनस्तत्वं जित्वा' (सु०स्तुति २) * मनस्तत्त्व पर विजय *।

(३) नासाग्रावलोकिनी दृष्टि या अगोचरी मुद्रा की साधना[१] 'नयनमथ नासाग्र घटितं' (सु० स्तुति २)

१. आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—'इडायां पिङ्गलां चरत इह तौ **सूर्यशशिनौ**।
२. सुभगोदय स्तुति (३३)

(४) इन्द्रियों पर विजय ('प्रत्याहार') 'पुनर्व्या वृत्ताक्षः (सु० स्तुति २)।

(५) पराभगवती का सतत् मानसिक दर्शन 'स्वयमपि यदा पश्यति पराम् ।'' (सु० स्तुति २)

(६) बाहर एवं भीतर सर्वत्र भगवती के स्फुरण का साक्षात्कार। (स्फुरति बहिरन्तर्भगवती'—सु०स्तुति २)

(७) **'मनोमार्ग'** पर विजय—'मनोमार्ग जित्वा' (सु०स्तुति३)

(८) कुभवक द्वारा नाड़ियों को वायु से पूर्ण करना। (मरुत इह नाड़ी गण जुषो) (सु० स्तुति ३)

(९) सूर्य एवं चन्द्र का निरोधा (निरुध्यार्क सिन्दुं') सु० स्तुति ३)

(१०) योगऽित **'योगाग्नि'** का प्रकटीकरण। (दहनमपि संज्वाल्य) (सु०स्तुति ३)

(११) अग्निशिखा को सुषुम्णा से मिलाना। ('शिखया सुषुम्णां संयोज्य' (सु० स्तुति ३)

(१२) षडग्रंथियों का भेदन ('श्लथयति षड्ग्रंथि।) (सु० स्तुति ३)

(१३) आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा में मन का लय। ('तवाज्ञा चक्रस्थं विलयति') (सु०स्तुति ३)

(१४) चन्द्रमा एवं सूर्य के अपने घर में ही निरुद्ध कर देना और उन्हें अमृतहरण से रोकना (तौ चन्द्रार्कौ संरोधनवशादशक्तौ पीयूष स्रवण हरणे सा भुजगी।) (सु० स्तुति ४)

(१५) क्षुत्क्रुद्धा एवं कुण्डलिनी का जागरण **'प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा'** (सु० स्तुति ४)।

(१६) 'बैन्दवचन्द्र का दर्शन और अमृत स्राव। (दशति शशिनं बैन्दवगतं। सुधाधाराः।।' (सु० स्तुति. ४)

(१७) सुधा द्वारा शरीर को स्नान कराना। ('सुधा धारा सारैः स्नाप यसि तनुं बैन्दवकले' (सु०स्तुति ४)

(१८) भगवती कुण्डलिनी के 'कुमारी' 'योषित' एवं 'पतिव्रता' रूपों का साक्षात्कार और सामरस्य (सु० स्तुति०[१]) श्लोक० ६

१. कुमारी यन्मन्द्र ध्वनति च ततो योषिद्परा।
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकाल भुजगी।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाश कमले।
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कार रसिका।।

—गौड़पादाचार्य (सु०स्तुति ६)

(१९) भगवती की 'कुलगृह' में पूजा

- **कौलों** द्वारा 'त्रिकोण' में = मूलाधार में (सु०स्तुति ७)
- सामयिकों द्वारा 'चतुष्कोण' में बैन्दवस्थान (सहस्रार) में (सु०स्तु०७) सुधा सागर में पूजा[१]
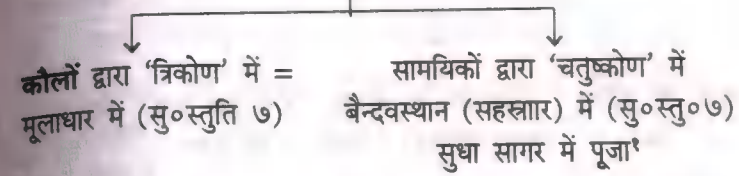
(२०) भगवती को षट्चक्रात्मक घर वाला या शरीर वाला मानकर उनकी पूजा करना—'भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्रसदनम् '' (सु०स्तुति ८)

(२१) **'अग्नि' 'चन्द्र'** एवं **'सूर्य'** की सम्मिलित ३६० किरणों को भगवती का चरणरज मानकर उनके विराट रूप की पूजा करना। (सु०स्तुति ८, ९)

(२२) (अद्वैत-साधना) भगवती के 'श्रीचक्र' को त्रिखण्डात्मक मानकर और उसमें रवि-शशि एवं अग्नि इन तीन खण्डों की स्थिति मानना (एवं श्री चक्र की इसी दृष्टि से पूजा करना)

'त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरवि शशाङ्कात्मकतया।'

(२३) (अद्वैत-साधना भगवती के श्री चक्र के ९ चक्रों में पिण्ड के चक्रों की भी स्थिति मानकर 'श्रीचक्र' के ब्रह्माण्डकार विराट स्वरूप का ध्यान (एवं उसकी पूजा) (सु० स्तुति९० १०)

(२४) (अद्वैत-साधना षोढैक्य पूजा 'तदेवं षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम् ।।' (सु०स्तुति १२)

(२५) **अद्वैत साधना:**

(क) 'षड्विधैक्यरूपा' या

(ख) 'चतुर्विधैक्यरूपा' **सपर्या** का निष्पादन—'तदेवं **षोढैक्यं** भवति खलु येषां समयनिाम् । चतुर्थैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम् ।। (सु०स्तुति १३)

चतुर्थैक्य

- (१) मातृका एवं मंत्र का ऐक्य
- (२) मन्त्र एवं चक्र का ऐक्य
- (३) चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य
- (४) नित्याओं तथा विथियों का ऐक्य

१. त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे।
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति।।

चतुर्धैक्य

(१)	(२)	(३)	(४)
षट्चक्रों का श्रीचक्र से ऐक्य	बिन्दुस्थान का बैन्दव स्थान (सहस्रार) से ऐक्य	जीव एवं शिव का ऐक्य	श्रीयन्त्र एवं मन्त्र का ऐक्य

षोढैक्य
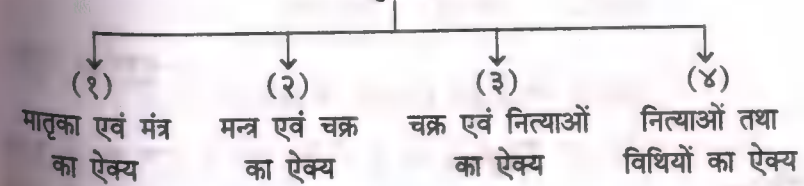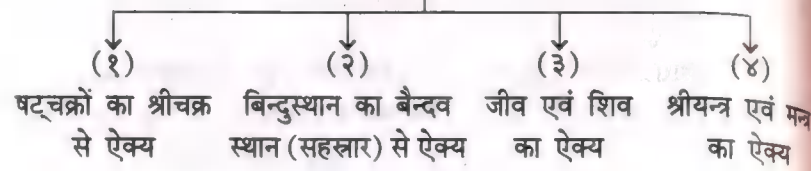
(१)	(२)	(३)
मंत्र और मातृकाओं का ऐक्य	मातृका एवं श्रीचक्र का ऐक्य	मंत्र और नित्याओं का ऐक्य
(४)	(५)	(६)
मातृका एवं नित्याओं का ऐक्य	मन्त्र और चक्र का ऐक्य	नित्याओं और चक्र का ऐक्य
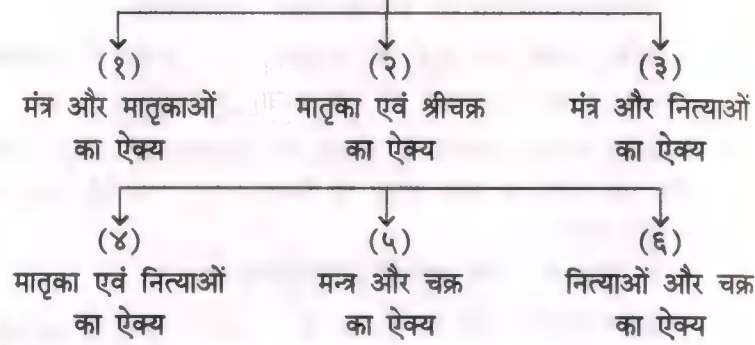
(२६) कौलों की नवव्यूहात्मक शिव शिवा की पूजा। (कालः कुल, नामः, ज्ञान, चित्त, नाद, बिन्दु, कला एवं जीव (९ व्यूह)

वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ति, परा (९शक्तियाँ)

नौ व्यूहों वाले शिव, वामादि देवियों के साथ ९ प्रकार के ऐक्य से ९ प्रकार के ऐक्य से भैरव भैरवी रूप में स्थित होकर सृजनादि कार्य करते हैं। उनकी पूजा—

'नव्व्यूहात्मको देवः परानन्द परात्मकः।
नगत्मा भैरवो देवो भुक्ति प्रदायकः।
परानन्दा पराशक्तिश्चिद्रूपा नन्द भैरवी।
तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा ॥'

—सुभगोदय स्तुति॥

भवेत्यैक्यं षोढाभवति भगवत्याः समयिनां ॥' (१५)

(२७) भगवती की पूजा शुक्लपक्ष में प्रतिदिन रात्रि के चरम भाग में करनी चाहिए—

'अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिन मिहत्वां भगवतीं।
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे **समयिनः** ।।' (सु०स्तुति ३१)

(२८) भगवती की पूजा शुक्लपक्ष की प्रत्येक तिथि पर की जानी चाहिए; किन्तु **अमावस्या** के दिन पूजा नहीं करनी चाहिए—

'यदा चामावस्या भवति न हि पूजा समयिनाम् ॥' (३२)

(२९) भगवती का उस षोडशी कला के रूप में भी ध्यान करना चाहिए जिससे अमृत स्राव हुआ करता है। षोडशी के बिम्ब (आज्ञा चक्र के चन्द्र) से भी अमृत स्राव होता है। (३३)

(३०) 'श्रीचक्र' को चन्द्रमा का द्वितीय, सरधा या बैन्दवस्थान मानना (एवं यही मानकर उसकी पूजा करना)—

(तदेवं श्री चक्रं सरघमिति तद् बैन्दवमिति।)

—(सुभगोदय स्तुति० ३५)

(३१) कुण्डलिनी की सहायता से समस्त तत्त्वों का लय करके सहस्रार में सदाशिव को तत्त्व को जीतकर शिवतत्त्व में लय होना (३५)

(३२) मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र का पूजा एवं ध्यान की दृष्टि से त्याग।

भवेन्मूलाधार तदुपरितनं चक्र मपि तत्।
द्वयं तामिस्राख्यं... परित्याज्यमुभयम् ॥

—(सु०स्तुति ४२ एवं ४५)

(३३) (कौल-पूजा) स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार में होती है।

(१) अमीषां कौलानां भवेत्पूजन विधिस्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलन सदने॥

(२) अतो बाह्यपूजा भवतिभ्र रूपेण च ततो।
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्य चरिते ॥

—(सु०स्तुति० ४३)

(३४) **कौलों की पूजा** 'त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे'

—(सुभगोदय स्तुति ७)

भवेन्मूलाधार तदुपरितनं चक्रमपि तत्।
द्वयं तामिस्राख्यं शिखिकिरण संमेलनवशात् भवत्या रामाख्यं मतमपि......॥(४२)

—(सुभगोदय स्तुति ७)

(३५) (स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार के त्याग सहित) 'मणिपूर सदन' में भगवती के द्वारा उत्पन्न, जल से प्रतिफलित सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों द्वारा दो प्रकार से पूजन—

'त्वयासृष्टैर्वारि प्रतिफलित सूर्येन्दुकिरणै द्विधा-
लोके पूजाविदधति भवत्याः समयिनः ।।'

—(सुभगोदय स्तुति ४५)

(३६) भगवती का सहस्रार में एक बिन्दु रूप में साक्षात्कार की साधना।

—(सुभगोदय स्तुति ४६)

*** 'श्रीचक्र' में ९ चक्र ***

(१) बिन्दु →(२) त्रिकोण →(३) अष्टकोण →(४) अन्तर्दशकोण→(५) बहिर्दशकोण→(६) चतुर्दशकोण→(७) अष्टदल→(८) षोडशदल→(९) भूपुर = ये श्रीचक्र में ९ चक्र होते हैं।

बिन्दु **त्रिकोण** **अष्टकोण**
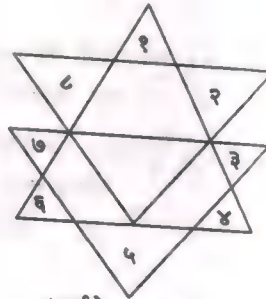
(सर्वरोगहर चक्र)

अन्तर्दशार **बहिदर्शार चक्र**
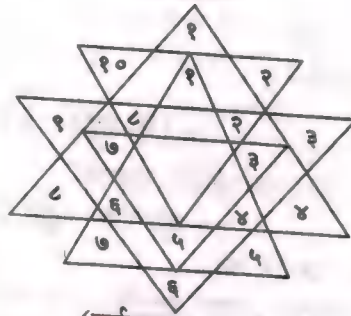
(सर्वरक्षाकर चक्र)
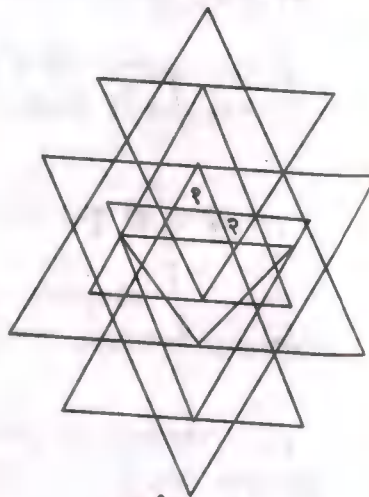
(सर्वसाधक-चक्र)

* [१३] गौड़पादोक्त श्रीविद्या साधना में योग की भूमिका *

[१] *** मन की साधना *** (राजयोग की साधना) यदि हम 'योग' 'अष्टाङ्गयोग' (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान एवं समाधि) के रूप में गृहीत करें तो पातञ्जल योग में प्रतिपादित **''राजयोग''** की सममा डाँककर आचार्य गौड़पाद ने—

(१) हठयोग (२) मंत्रयोग (३) लययोग एवं राजाधिराज योग इन सभी को 'सुभगोदय स्तुति' में प्रतिपादित 'श्रीविद्या साधना' के साधनों केरूप में स्वीकार किया है।

'कठोपनिषद' में 'योग' की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि **मनसा** सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारण्म्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो ही प्रभवाप्ययौ ।।'[१]

अर्थात् जब **मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ** भलीभाँति **स्थिर** हो जाती हैं, **बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्ट नहीं करती** उस स्थिति को योगी **'परमगति'** कहते हैं।

उस इन्द्रियों की स्थिर धारण को ही **'योग'** कहते हैं; क्योंकि उस समय साधक प्रमादरहित हो जाता है। इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही मनस्तत्त्व पर विजय है। आचार्य गौड़पाद इस **मनस्तत्त्व पर विजय** को ही यथार्थ मानते हैं क्योंकि महर्षि पतञ्जलि ने भी ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' कह जिन चित्त की वृत्तियों के निरोध की बात कह रहे हैं वह मन का ही तो निरोध है।

योग की समस्त साधना-पद्धतियों में 'राजयोग' ही सर्वोपरि है और गौड़पादाचार्य में इसी पद्धति को स्वीकार करके साधना करने का निर्देश दे कर मानो यह कहा हो कि—

'राजयोगं बिना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ।।'
'केवलं **राजयोगाय** हठविद्योपदिश्यते ।।'[२]

---

१. कठोपनिषद (२।वल्ली ३।११)
२. हठयोग प्रदीपिका (१।२)

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—**'मनस्तत्त्वं जित्वा'** अर्थात् 'मन को जीत कर'। प्रश्न उठता है कि मन को जीता कैसे जाय?

योगी कहते हैं कि यदि मन को जीतना है तो—

'निरालम्बमनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।'

(१) स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम्॥[१]

(२) 'बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तर चिन्तनम्।
सर्वचिन्तापरित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत्॥[२]

(३) 'कर्पूरमनलेय द्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥[३]

(४) 'मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंत्सचराचरम्।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते॥'[४]

(५) 'शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम्॥[५]

दूसरी विधि भी है—

'एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम्।
अभ्यासाजनीर्यते **वायुर्मनस्तत्रैव** लीयते॥' (४।५२)

आचार्य गौड़पाद ने यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि सभी योगाङ्गों का त्याग करके सीधे-सीधे मन की साधना पर ही बल क्यों दिया?

कारण स्पष्ट है—

(१) मन के स्थिर हो जाने पर वायु स्थिर हो जाती है।
(२) वायु के स्थिर हो जाने पर बिन्दु स्थिर हो जाता है।
(३) बिन्दु के स्थिर हो जाने से बल में वृद्धि होती है।
(४) शक्ति-वृद्धि से शरीर स्थिर हो जाता है।

'मनः स्थैर्य स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥'

१. हठयोग प्रदीपिका (उप० ४।५०)
२. हठयोग प्रदीपिका (४।५७)
३. हठयोग प्रदीपिका (उप० ४।५९)
४. हठयोग प्रदीपिका (४।६१)
५. तत्रैव (५४)

(१) इन्द्रियों का स्वामी मन है।
(२) मन का स्वामी प्राण है।
(३) प्राण का स्वामी लय है।
(४) लय का स्वामी नाद है।

'इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥'

चित्त या मन के दो कारण हैं—(१) 'वासना' (२) 'समीर'।

उनमें से एक के भी नष्ट हो जाने पर दूसरा स्वतः नष्ट हो जाता है—

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥'[१]

'द्वे बीजेराम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥'[२]

[२] **'अगोचरी मुद्रा'** की साधना—

'नयनमथनासाग्रघटितं' अर्थात् दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिर करना चाहिए—

'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगात्मविशुद्धये।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य **नासिकाग्रं** स्वं दिश्चानवलोकयन्।
प्रशान्तात्मा विगभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयमय्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥'[३]

[३] 'पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम्।'

(अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके जब तुझ परादेवी को देखता है।) तभी भगवती बाहर एवं भीतर दोनों दिशाओं में स्फुरित होती हैं।

'तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती॥'

[४] **'मनोमार्गं जित्वा'** (मन पर विजय करके)

[५] नाड़ी समूहों में वायु का निरोध करके या नाड़ी-समूह को वायु से युक्त करके अर्थात् प्राण साधना करके—**''प्राणायाम-साधना''** करके॥

१. हठयोग प्रदीपिका
२. योगवसिष्ठ
३. श्रीमद्भगवद्गीता (६।५-६)

'मरुत् इह नाड़ी-गण जुषो।'

[६] **'सूर्य-चन्द्र योग'—'निरुध्यार्कं सेन्दुं'**
(चन्द्रमा एवं सूर्य को निरुद्ध करके)

[७] **'अग्नि को प्रज्वलित करके'**—योगाग्नि जलाकर 'दहनमपि संज्वाल्य शिखया''।

[८] 'सुषुम्णां संयोज्य' अर्थात् सुषुम्ना को जोड़कर।

*** नाड़ी-योग की साधना ***

'सुषुम्ना'—'सुषुम्ना शून्यपदवीब्रह्मरंध्रं महापथः।
श्मशानं शाम्भवीमध्यमार्गश्चेत्येक वाचकाः।।

[९] **ग्रंथि-भेदन**—'श्लथयति च षडग्रंथिं।''

(क) ब्रह्मग्रंथि—**'मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि** विभेदनी।'

(ख) विष्णुग्रंथि—**'मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि** विभेदनी।'

(ग) रुद्र ग्रंथि—**'आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथि** विभेदनी।'

—ललिता सहस्रनाम

[१०] **'षडग्रंथि'**—६ ग्रंथियों को।

ग्रंथियाँ तो मात्र तीन हैं। ६ तो चक्र है अतः ६ ग्रंथियों का अर्थ है ६ चक्र = 'षट्चक्र''।।

[११] **'शशिनं तव आज्ञा चक्रस्थं विलयति''**

अर्थात् आज्ञाचक्र में स्थित चन्द्रमा में विलीन कर दें।

*** ''लययोग'' की साधना ***

[१२] 'यदा तौ चन्द्रार्कौ निज सदन संरोधनवशात्' अर्थात् जब चन्द्रमा और सूर्य अपने सदन में अच्छी तरह से निरुद्ध होने पर।

*** सूर्यचन्द्र निरोध योग ***

[१३] **'अमृत-स्राव का अपहरण'** कुण्डलिनी चन्द्रामृत को पी जाती है अतः उसके द्वारा चन्द्रामृत के पान को रोकना साधक का कर्तव्य है।

[१४] **'कुण्डलिनी योग'**—

'प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं।'
'सुधाधारा सारैः स्नापयसि तनुं बैन्दवकले।।'

—(सुभगोदय स्तुति ४)

[१५] **अमृत-साधन**—भुजगी अमृत पान न कर पाने से अशक्त, भूखी एवं प्यासी होकर क्रुद्धावस्था में बैन्दवस्थान में जाकर चन्द्रमा को डसती है जिससे कि अमृतस्राव होती है। इस अमृतधारा से सारा शरीर परिप्लावित हो उठता है।

[१६] **कुण्डलिनी** के तीन स्वरूप हैं।

(क) **'कुमारी** यन्मन्द्रं ध्वनति।

(ख) 'च ततो **योषिद्** परा।

(ग) ततः **पातिव्रत्यं** भजति दहराकाश कमले।।[१]

[१७] **षट्चक्र-वेधन**—

'भवेन्मूला धारात् प्रभृतितव षट्चक्र सदनम्।' (८)

(१) 'त्रिकोण'—मूलाधार है।
(२) 'अष्टार'—स्वाधिष्ठान है।
(३) 'अन्तर्दशार'—मणिपूरक है।
(४) 'बाह्यदशार'—अनाहत चक्र है।
(५) 'चतुर्दशार'—विशुद्ध चक्र है।
(६) 'शिवचक्र' 'बैन्दव स्थान'—आज्ञा चक्र है।

'त्रिकोणं चाधार त्रिपुरतने तेऽष्टारमनघे।
भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपुरम्।
दशारं ते संवित्कमलमथ मन्वश्रकमुमे।
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दव गृहम्।'

(१) 'त्रिकोण'—तीन वृत्त हैं।
(२) 'अष्टार' (इमकोण)—अष्टदलपद्म है।
(३) 'षोडशदलपद्म'—दशार युग्म है।
(४) भूपुर—चतुर्दशार है।
(५) ४ शिव चक्र—५ शक्ति योनियाँ स्थित हैं।

त्रिकोणे ते वृत्तत्रितयमिमकोणे वसुदलं,
कलाश्रमिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम्।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्ति कमुमे,
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः।।[२]

---

१. सुभगोदयस्तुति (६)
२. सुभगोदयस्तुति (११)

[१८] 'बिन्दु' (षटचक्र)—

(१) 'बिन्दु' के साथ कला का ऐक्य।

(२) 'बिन्दु' के साथ नाद का ऐक्य।

(३) 'बिन्दु' के साथ कला एवं नाद का ऐक्य।

(४) 'बिन्दु' के साथ परशिव का ऐक्य।

(५) 'बिन्दु' के साथ कला, नाद एवं परशिव का ऐक्य।[1]

[१९] **'त्रिकोण'** त्रिकोणों से निर्मित **'अष्टार'** त्रिकोणो से ही **'दशार'** फिर **'बहिर्दशार'** फिर **'चतुर्दशार'** फिर **अष्टदलपद्म' 'षोडशदलपद्म' 'तीनवलय'** फिर चतुर्द्वारात्मक त्रिरेखांकित प्राकार है।

'त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुद्भु-
दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्र समभवत्।
ततोऽभूत्रागारं नृपतिदलभस्मात्त्रिवलय,
चतुर्धाः प्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब शरणाम्॥'[2]

[२०] *** यंत्र और मन्त्र में ऐकात्म्य ***

यहाँ गौड़पादाचार्य ने **मंत्र विद्या को भी साधना** में अत्यधिक महत्व दिया है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी श्रीविद्या की साधना में श्रीविद्या (मन्त्र) ही प्रधान साधना है। 'मंत्र' और 'यन्त्र' में भी तादात्म्य है।

[२१] *** मंत्र साधना एवं 'मंत्र' का स्वरूप ***

(१)	(२)	(३)	(४)
'बैन्दवगृह'	'सूर्यखण्ड'	'चन्द्रखण्ड'	'अग्निखण्ड'
(क्ष)	(क आदिवर्ण)	स्वर	(आदि वर्ण)
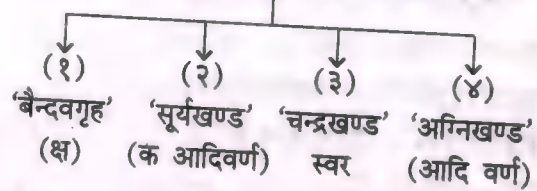
चन्द्रमा की नित्य कला **'पञ्चदशाक्षरी विद्या'** (मंत्र) का १६हवाँ अक्षर है। ('षोडशी' = महात्रिपुर सुन्दरी। पंचदशी का १६हवाँ वर्ण महात्रिपुरसुन्दरी (षोडशी) ही हैं अतः मंत्र के वर्ण एवं महात्रिपुरसुन्दरी दोनों अभिन्न हैं।

* भगवती का तीन खण्डों वाला मंत्र **'सरघा'** में लयीभूत होता है और जो शेष भाग है उसी से समस्त चन्द्रकलायें प्रकट होती हैं।

१. सुभगोदयस्तुति (१२)
२. सुभगोदयस्तुति (१७)

'त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरघायां निविशते।
श्रियो देव्याः शेषो यत इह समस्ताः शशिकलाः॥'[1]

[१४] **'नाड़ीयोग' और अमृत-प्रवाह—**

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में **सूर्य एवं चन्द्रमा** घूमते रहते हैं और जब इस प्रकार घूमते हुए ये मूलाधार चक्र (तमोगुणात्मक चक्र) में आकर मिल जाते हैं तब वह **'अमावस्या तिथि'** बन जाती है।

आज्ञा चक्र स्थित चन्द्र द्वारा प्रतिबिम्बित सूर्य की ज्योति की सुशीतल स्निग्ध किरणें वहाँ **अमृत का निस्राव** करती हैं—

'इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्य शशिनौ,
तमस्याधारे तौ यदि तु मिलितौसा तिथिरमा।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकर बिम्बेरविनिभं,
दृढव्यालीढं सद्विगलित सुधासार विसरम्॥'[2]

'षोडशी'से भी अमृत-निस्राव होता है—

'कलायाः षोडश्याः प्रतिफलितबिम्बेन सहितं
तदीयैः **पीयूषैः** पुनरधिकमाप्लावित तनुः॥'[3]

'षोडशी कला' स्वंय भगवती महात्रिपुरसुन्दरी है और वे षोडशीस्वरूपा होने के कारण अमृतविग्रहा है। मंत्र का १६हवाँ अक्षर **'षोडशी'** ही है। इसका स्थान सहस्रार के चन्द्रमण्डल में है। इसके प्रकाश से ही **समस्त कलायें, समस्त नित्यायें** एवं **समस्त तिथियाँ** प्रकाशित रहती हैं।

'षोडशीविद्या' १६ अक्षरों से युक्त है। इसके १६ अक्षरों में १६ नित्यायें निवास करती हैं। इसका अन्तिम एकाक्षरी बीज **(श्रीं) ही नित्या** है 'श्रीं' या १६हवीं कला **'पराकला'** कही जाती है। इसी **'श्रीं बीज'** (श्रीविद्या का अन्तिम अक्षर, कलाओं में अन्तिम १६हवीं कला, १६हवीं नित्या भगवती महात्रिपुर सुन्दरी) के कारण ही इस विद्या का नाम **'श्रीविद्या'** है। यह 'श्रीं' (लक्ष्मीबीज = षोडशी) शुद्ध चैतन्य शक्ति तो है ही किन्तु इसके साथ ही साथ यह सहस्रार में समासीन नित्यचन्द्र की १६हवीं कला भी है जो कि कण्ठ में विद्यमान 'विशुद्धचक्र' के १६ दलों पर लगातार प्रतिबिम्बित हुआ करती है।

[१५] **चन्द्रमा से अमृत-स्राव**—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि महाव्योम में

१. सुभगोदयस्तुति (२३)
२. सुभगोदयस्तुति (३३)
३. सुभगोदयस्तुति (३२)

विद्यमान सोम अपनी पीयूष-वर्षा के माध्यम से समस्त शरीर को अमृतायित करता रहता है। यह अमृत नाड़ी-समूह के द्वारा शुष्क भी होता रहता है। यदि योगी आज्ञाचक्रस्थ विद्युदामा को स्थिर करके उसे अक्षर-संयुक्त कर लेता है (क्षर नहीं होने देता) तो वह भगवती विद्युल्लेखारूपिणी हो जाती है। और इस स्थिति में **'ब्रह्मग्रंथि'** का वेध हो जाता है—

'महाव्योमस्थेन्दोर**मृतलहरी** प्लाविततनुः
प्रशुष्य द्वै **नाड़ीं प्रकरमनिशं** प्लावयति तत्।
यदाज्ञायां विद्युन्त्रियुतामाक्षरमयी,
स्थिता विद्युल्लेखा भगवति विधिग्रंथिमभिनत्॥'[1]

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

[१६] **'सूर्यचन्द्र योग' एवं 'कुण्डलिनी योग'**—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि जब **चन्द्रमा एवं सूर्य** अपने सदन में अच्छी तरह से निरुद्ध होने के वशीभूत अमृत-स्राव का अपहरण करने में अशक्त हो जाते हैं तब वह भुजगी जागकर एवं भूख से क्रुद्ध होकर बैन्दवस्थान में पहुँचकर चन्द्रमा को डसती है और यह बैन्दवकलास्वरूपा भगवती अमृत प्रवाहों से समस्त शरीर को स्नान करा देती है।

'यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदन संरोधनवशा,
दशक्तौ पीयूषस्रवण हरणे सा च भुजगी।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं,
सुधाधारा सारैः स्नापयसि तनुं बैन्दवकले॥'[2]

[१८] **यंत्र और वर्ण माला**—'यन्त्र' के साथ स्वर समवेत हैं। षोडशदलपद्म (यंत्र) में समस्त 'स्वर' निहित हैं। **'ककार'** आदि व्यञ्जन वृत्तों में एवं 'य' आदि **'चतुष्कोण'** में लीन हो जाते हैं—

'स्वरास्ते लीनास्ते भगवति कलाश्रे च सकलाः।
ककाराद्या वृत्ते तदनु चतुरश्रे च यमुखाः॥'[3]

(१) 'षोडशदलपद्म' में १६ स्वर आ जाते हैं।
(२) वृत्तों में समस्त व्यञ्जन स्थित हैं।
(३) चतुष्कोण में य वर्ग के सारे अक्षर स्थित हैं।

---

१. सुभगोदयस्तुति (३४)
२. सुभगोदयस्तुति (४)
३. सुभगोदयस्तुति (२४)

शिवचक्र	**मातृकायें**
(१) भूपुर	= य = य र ल व
(२) वृत्तत्रय	= क आदि सारे व्यञ्जन
(३) षोडशदलपद्म	= १६ स्वर
(४) अष्टदल पद्म	= अष्टवर्ग
(५) 'ल'	= पृथ्वी का द्योतक—भूपुर का वाचक है।
(६) 'ह'	= आकाश का द्योतक—वृत्त (शून्य) का वाचक है।

सारे 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' के सारे वर्ण—

(१) सारी चन्द्रकलायें (२) सारी तिथियाँ (३) सारी नित्यायें (४) सारा मंत्र (५) भगवती 'महात्रिपुरसुन्दरी' के श्रीबीज (श्रीं) या १६हवें हअक्षर या **'षोडशी'** के प्रतिबिम्ब हैं। अन्त में सभी का लय 'सहस्रार' में एवं अन्त में 'श्रीबीज' में हो जाता है।

'क्षकार' भगवती का स्वरूप है।

[१८] **षट्चक्र और उनका विवरण**—आचार्य गौड़पाद ने—

(१) **श्लोक क्र० २८ में**—'मणिपूर' तथा 'अनाहत चक्र' का वर्णन किया है।

(२) **श्लोक क्र० २९ में**—'संवित्कमल' एवं 'विशुद्धाख्य चक्र' में का वर्णन किया गया है।

(३) **श्लोक क्र० ३० में**—'विशुद्धाख्य चक्र' एवं 'सहस्रचक्र' का वर्ण किया गया है।

(४) **श्लोक क्र० ३१ में**—'संवित् सरजिस' वर्णित हैं। 'स्वाधिष्ठा' 'आज्ञाचक्र' 'ग्रंथित्रय' वर्णित है।

(५) **श्लोक क्र० ३५ में**—'समयलोक' एवं 'सहस्रार' वर्णित है।

(६) **श्लोक क्र० ४२ में**—'मूलाधार चक्र' वर्णित है।

(७) **श्लोक क्र० ४३ में**—'स्वाधिष्ठान चक्र' वर्णित है।

(८) **श्लोक क्र० ४५ में**—'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' 'मणिपूर चक्र' वर्णित हैं।

---

१. सुभगोदयस्तुति
२. सुभगोदयस्तुति (२०)

(९) **श्लोक क्र० ४६ में**—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, सहस्रार अनाहत, विशुद्ध चक्र आदि का वर्णन हैं।

आचार्य गौड़पाद ने **'षडब्जारण्ये त्वासमयिन इमे पञ्चकसमा'** कहकर भगवती को षट्चक्रशरीरिणी के रूप में स्वीकार किया है—

'तडिल्लेखा नित्याभगवति **तवाधार सदनात्**।'

आचार्य **'आज्ञाचक्र'** में मन को जीतने का भी निर्देश देते हैं और कहते हैं—
'मनोजित्वा चाज्ञा सरसिज इह प्रादुरभवत्॥'(श्लोक क्र० ३८)

'पञ्चदशी' के वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णों में भी वशिनी आदि ब्रह्माण्डीय चित शक्तियों, नित्याओं, चन्द्रकलाओं, तिथियों, षोडशी की किरणों एवं भगवती महात्रिपुर सुन्दरी एवं वर्ण विग्रहा कुण्डलिनी की समवेतता को आचार्य गौड़पाद ने भी स्वीकार किया है—

'वशिन्याद्या अष्टावकचटतपाद्याः प्रकृतयः।
स्ववर्गस्थाः स्वस्वायुध फलित हस्ताः स्वविषयाः॥'

(१) 'वशिनी' = अ वर्ग की अधिष्ठात्री भी देवी हैं।

(२) 'कामेश्वरी' = क वर्ग की अधिष्ठात्री देवी हैं।

(३) 'मेदिनी' च वर्ग की **'विमला'** ट वर्ग की, **'अरुणा'** त वर्ग की, **'जयिनी'** प वर्गकी, **'सर्वेशी'** 'य' वर्ग की एवं **'कौलनी'** श वर्ग की अधिष्ठात्री देवी हैं।

'भारतीय योगशास्त्र' (१) 'परा' (२) 'पश्यन्ती' (३) 'मध्यमा' एवं (४) 'वैखरी' को भगवती कुण्डलिनी शक्ति (महात्रिपुरसुन्दरी) की ही अभिव्यक्ति मानता है।

इसीलिए गौड़पाद कहते हैं कि हे भगवती! ये नित्यायें, ये सारे वर्ण एवं उनके कारणभूत ये सारे नाद (चरण) के साथ 'महामेरु' में स्थित हैं।

(१) नित्याओं का, वर्ण माला एवं नाद का ऐक्य।

(२) नित्याओं का, वर्णमाला का, नाद एवं मंत्र का ऐक्य।

(३) वशिनी आदि वाणी की देवियों और षट्चक्रों का ऐक्य यथा क्रम—

'श्री यंत्र' का 'मेरु प्रस्तार' 'कैलास प्रस्तार' एवं 'भू प्रस्तार' है।

आचार्य गौड़पाद ने भगवती का अमृत से बार-बार सम्बन्ध बताया है कारण यह है कि वह चन्द्र कला है—'षोडशी' है और चन्द्रमा अमृतात्मक है—'अमृतभागश्चन्द्रमा॥ (शाण्डिल्योपनिषद)

वह सुषुप्तावस्था में तो **'मूलाधार'** में किन्तु जागृतावस्था में चन्द्रमा को डस कर **'बैन्दवस्थान'** में अमृतधाराओं से शरीर को स्नान कराती है—
'सुधाधारासारैः स्नापयसि तनुं बैन्दवं कले॥'

[१८] भगवती की ध्यान-साधना

भगवती के विविध स्वरूपों का ध्यान—

(१) भवानी के रूप में (श्लोक १)

(२) बहिरन्तरव्याप्त परानन्दाकारा, पर, शिवपरा, अपरा भगवती का ध्या (श्लोक २)

(३) सहस्रार में चन्द्रमा को डसने वाली कुण्डलिनी के रूप में भगवती का ध्यान। (श्लोक ४)

(४) शरीर को अमृत से स्नान कराने वाली भगवती कुण्डलिनी का ध्यान। (श्लोक ४)

(५) बैन्दवकला के रूप में भगवती का ध्यान। (श्लोक ४)

(६) ५ तत्त्वों, तन्मात्राओं, १० इन्द्रियों मन, माया, विद्या महेश एवं शिव सभी से अतीत निष्फल एवं तत्त्वातीत रूप में तथा चन्द्रमा की परकला के रूप में भगवती का ध्यान।

'ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिवरतः।
परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः पर कला॥'
—सुभगोदय स्तुति (श्लोक ५)

(७) कुमारी, योषिद्, पतिव्रता के रूप में भगवती का ध्यान। उसके शिवसामरस्य का ध्यान। (सुभगोदय स्तुति श्लोक ६)

(८) चतुष्कोण, बैन्दवस्थान, सुधासिन्धु एवं मणिगृह में रहने वाली देवी के रूप में भगवती का ध्यान। (सुभगोदयस्तुति श्लोक ७)

सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो।
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे॥ (सु० स्तुति ७)
बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पंचयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीप श्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्।
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे॥

सुधासिन्धु मध्ये मणिद्वीपे रम्ये
सुकल्पद्रुमाकल्पकादम्ब सन्त्रे।
स्फुरत्स्वर्ण सिंहासने रत्न पीठे
भवाङ्के निषण्णां भजाम्यत्रपूर्णाम्।

—वामकेश्वर तंत्र

(९) मणिपूर चक्र में विद्युन्निमा, **चतुर्भुजी** (इक्षुधनुः। पुष्पबाण। अंकुश। पाश को धारण करने वाली) एवं रविबिम्ब की आकृति एवं प्रकाश से युक्त भगवती का ध्यान 'तडिल्लेखा .... रुचि॥' (सुभगोदयस्तुति १४)

(१०) षोढ़ारूप वाली, मणिपूर में इन्द्रधनुष की द्युतिवाली, एवं **१० प्रकार के हाथों** वाली भगवती के प्रत्यक्ष शरीर की उपासना 'भवानि प्रत्यक्षं तववपु रूपास्ते नहि परम् ॥' (सुभगोदय स्तुति १५)

(११) हाथों में नागपाश, अंकुश, पौण्ड्रधनुष, पुष्पबाण, जपमाला, श्रेष्ठशुक, अभय मुद्रा धारण किए हुए वीणा-वादन करती हुई भगवती का ध्यान (सुभगोदयस्तुति १६)

(१२) नवचक्रों से बने घर में रहने वाली देवी के रूप में भगवती का ध्यान। (सुभगोदयस्तुति १७)

(१३) सादारण्य तत्त्व में लयीभूत एवं चन्द्रमा की नित्यकला के रूप में स्थित भगवती का ध्यान। (सुभगोदयस्तुति २०)

(१४) षड्पद्मवासिनी, त्रिखण्डवासिनी, चन्द्रकलाओं की उद्भाविका, अमास्वरूपा श्रीदेवी के रूप में भगवती का ध्यान। (सुभगोदयस्तुति २३)

(१५) शिव रूप पर्यङ्क पर सोई हुई सादारण्य कला के रूप में चार प्रकार के ऐक्य वाली देवी के रूप में भगवती का ध्यान। (सुभगोदयस्तुति २४)

(१६) चार चक्र रूपी शांभव शरीर धारण करने वाली, शिव के शरीर के रूप में स्थित ('शरीरं त्वं शंभोः—शंकराचार्य) 'शांभववपु' (सुभगोदयस्तुति २५)

(१७) अक्षर, तिथि, नित्या एवं कलाओं के लयस्थज्ञन, अमावस्यास्वरूपा, श्रीबीजस्वरूपा, (षोडशाघररूपिणी) षोडशीकलारूपा शक्ति के स्वरूप में स्थित भगवती का सरघा (सहस्त्रार) में ध्यान। (सुभगोदयस्तुति २६)

(१८) 'हल' के स्वरूप में स्थित बैन्दवगृह वाली क्षकारस्वरूप वाली श्रीबीजस्वरूपिणी, मणिपूर में मणिजटित प्रभा से युक्त स्वरूप में स्थितदेवी का ध्यान ('प्रभाभिर्व्यालीढं) भवति मणिपूरं सरसिजम् ।' (सुभगोदयस्तुति २७)

'भवेतपूजाकाले मणिरवचितभूषामिरभितः ।
प्रभाभिर्व्यालीढं भवति मणिपूरं सरसिजम् ॥'

(१९) मणिपूर में मणिधनु के स्वरूप में स्थिता देवी का ध्यान ''परे तुत्वद्रूपं मणिधनुरितीदं समयिनः॥ (सुभगोदयस्तुति २८)

(२०) 'संवित्कमल' में ध्यान एवं पूजा—भवेत्संवितपूजा भवति कमलेऽस्मिन्**समयिनाम्** ॥ (सुभगोदयस्तुति २९)

(२१) विशुद्ध चक्र में भगवती का चन्द्र कलाओं के रूप में ध्यान एवं पूजा। (सुभगोदयस्तुति ३०)

[१९] * भगवती की पूजा के चक्र-स्थान *

(१) मणिपूर चक्र—

भवेत पूजा काले मणिरवचित भूषाभिरभितः ।
प्रभाभिर्व्या लीढं भवति **मणिपूरं** सरसिजम् ॥

—सुभगोदयस्तुति २७

(२) अनाहत चक्र—

(१) भवेत् **संवित् पूजा**भवतिकमलेऽस्मिन्समयिनाम्।

—सुभगोदयस्तुति

(३) विशुद्धाख्य चक्र

(१) विशुद्धाख्ये चक्रे वियदुदितनाहुः **समयिनः** । (३०)

(४) चतुष्कोण सुधासिन्धु—

चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति ।
सुधासिन्धौ तस्मिनसुरमणिगृहे सूर्य शशिनो ।
रगाग्ने रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे ॥ (७)

(२२) ज्योत्स्नामय समयलोक में जाकर एवं शिव तत्त्व वसे मिलकर सादाख्यतत्त्व को जीतने वाली 'परा' नाम वाली देवी के रूप में भगवती का ध्यान ('पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता'। (सुभगोदयस्तुति ३५)

(२३) परमशिवपद तत्त्व में मिलकर ३६ प्रकार वाली शिवशक्ति शरीर रूपा देवी के रूप में भगवती का ध्यान।

'वदन्त्येकेसन्तः परशिव पदे तत्त्वामिलिते ।
ततस्त्वं षट्त्रिंशी भवसि शिवयो र्मेलनवनुः ॥' (३६)

—सुभगोदयस्तुति

(२४) आज्ञा चक्र में मन को जीतकर, षट्चक्रारण्य में ६ प्रकार के ऐक्य सहित चितिशक्ति के रूप में स्थित एवं तडिल्लेखा नित्या के रूप में भगवती का ध्यान। (३८)

(२५) कुण्डलिनी के जागृत होने पर प्रत्येक चक्र में शिव एवं शिवा में ५ प्रकार के साम्य (अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, रूप एवं नामसाम्य) का ध्यान या साक्षात्कार करना। (सुभगोदयस्तुति ३८)

(२६) सुरमणिगृह में, सूर्य चन्द्र से अगम्य स्थान में विहार करने वाली देवी के रूप में भगवती का ध्यान।। (सुभगोदय स्तुति)

(२७) कुण्डलिनी रूप का ध्यान—

(१) गौड़पादाचार्य कहते हैं—

'कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिद् परा।
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकाल भुजगी।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाश कमले।
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कार रसिका।।'

(२) **शङ्कराचार्य कहते हैं—**

(क) मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।९।।

(ख) अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्ट वलयं।
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि।।

—सौन्दर्यलहरी (१०)

[२०] * श्रीविद्या-साधना में ऐक्य-विधान *
(श्रीविद्या-साधना में अद्वैतवाद)

[१]— 'श्रीचक्र' और 'षट्चक्र' में ऐक्य

आचार्य गौड़पाद ने शाक्ताद्वैतवाद की दृष्टि के अनुसार ही 'श्रीचक्र' एवं षट्चक्रों में ऐक्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) 'श्रीचक्र' के मध्य का **'त्रिकोण'—'मूलाधार चक्र' है।**

(२) 'श्रीचक्र' का **'अष्टार'—'स्वाधिष्ठान चक्र'** है।

(३) 'श्रीचक्र का **'अन्तर्दशार'—'मणिपूरक चक्र'** है।

(४) श्रीचक्र का **'बाह्यदशार'—'अनाहत चक्र'** है।

(५) श्रीचक्र का **'चतुर्दशार'—'विशुद्ध चक्र'** है।

(६) श्री चक्र का **'शिवचक्र'**(बैन्दवस्थान) **'आज्ञाचक्र'** है।

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

'त्रिकोणं चाधारं त्रिपुरतने तेष्टारमनघे।
भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपुरम्।
दशारं ते संवित्कमलमथ मन्वश्रकमुमे,
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिवइति ततो बैन्दव गृहम्।।'[१]

श्रीचक्र **'त्रिकोण'** त्रिकोणों से निर्मित **'अष्टार'** त्रिकोणों से ही निर्मित 'अन्तर्दशार' एवं 'बहिर्दशार' 'चतुर्दशार' और फिर 'अष्टदलपद्म' **'षोडशदलपद्म'**, **'वलयत्रय'** एवं चतुर्द्वारात्मक त्रिरेखाङ्कित प्राकार वाली पिण्डब्रह्माण्डात्मक, शिव-शक्त्यात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वदेवात्मक, सर्वकलात्मक, सर्वनित्यात्मक, सर्वतिथ्यात्मक एवं सर्ववर्णात्मक एक अद्भुत रचना है तो कि (विश्व की दृष्टि से) विश्व का एक रेखात्मक चित्र या न्यादर्श है।

आचार्य गौड़पाद इसकी रचना को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुद्भू-
द्दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्र समभवत्।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात् त्रिवलय
चतुर्धा प्राकार त्रितयमिदमेवाम्ब शरणम्।।'[२]

(२) * शक्ति चक्रों एवं शिव चक्रों में ऐक्य *

(१) जो **'त्रिकोण'** है वह **तीनवृत्त** है।

(२) इमकोण (अष्टार) ही **'अष्टदलपद्म'** है।

(३) **'षोडशदलपद्म'** दशारयुग्म है।

(४) चार **'शिवचक्रों'** में ५ शक्तियाँ योनियाँ स्थित हैं।

(५) शक्ति एवं शिव के प्रधान-प्रधान ऐक्य से यह ऐक्य ६ प्रकार का हो जाता है।

'त्रिकोणे ते वृत्तत्रितयमिभकोणे वसुदलं,
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम्।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्तिकमुमे,
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्ति शिवयोः।।'[३]

---

१. सुभगोदयस्तुति (१०)
२. सुभगोदयस्तुति (१७)
३. सुभगोदयस्तुति (११)

(३) **ऐक्य के अन्य रूप**

आचार्य गौड़पाद ने (११रहवें श्लोक में) ६ प्रकार के ऐक्यों की विवेचना की है।

*** षोढा ऐक्य (श्लोक क्र० १२) ***

(१)
कला का बिन्दु के साथ ऐक्य — इन दोनों का नाद के विभव से ऐक्य

(२)
नाद का कला एवं बिन्दु से ऐक्य

(३)
कला का नाद तथा बिन्दु से ऐक्य

(४)
कला, बिन्दु तथा नाद का परशिव से ऐक्य

(५)
नाद, कला एवं बिन्दु का परशिव से ऐक्य

कला, नाद तथा बिन्दुका परशिव से ऐक्य।
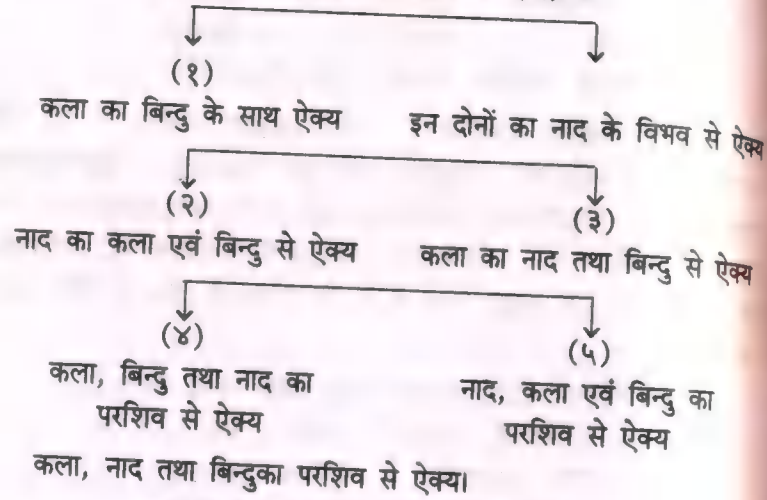
'कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे,
तयोर्नादैनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः।
तथो बिन्द्वार्दक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे,
तदेवं **षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम्** ॥'[1]

(४) *** शक्ति चक्र एवं शिवचक्रों का ऐक्य ***

(१) **'त्रिकोण'** = 'तीन वृत्तों का प्रतीक त्रिकोण है।

(२) **'अष्टार'** = 'अष्टदलपद्म' का प्रतीक है 'अष्टार'।

(३) अन्तर्दशार-बहिर्दशार = षोडशदल पद्म

(४) चतुर्दशार = भूपुर

(५) *** चतुर्धा ऐक्य * (श्लोक क्र० १३)**

'कला' 'नाद' एवं 'बिन्दु' क्रमशः—'वर्ण' 'चरण' एवं छः कमल (षट्चक्र) हैं और इनका सम्मिलन या ऐक्य ही समयाचार वालों का छः प्रकार का (षोढ) है और वही व समयाचार के मतावलम्बियों की सपर्या (पूजा, पूजा-पद्धति) है।

इसी दृष्टि की पुष्टि करते हुए आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

१. सुभगोदयस्तुति (१२)

'कलानादोबिनदुः कमशः इह वर्णश्च चरणं,
षडब्जं चाधार प्रभृति कममीषां च मिलनम्।
तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां,
चतुर्धैक्यं तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम्॥'

(**'वर्ण'** = (१) 'पञ्चदशीविद्या' के घटक अक्षर यथा—क, ए, ई, ल, ह, र, स, नाद, बिन्दु।। या (२) वर्णमाला के अक्षर।

'चरण' = वाक्तत्त्व = परा। पश्यन्ती। मध्यमा। वैखरी।

'वाक्' नाद है। **'चरण'** = पाद। (श्रीविद्या या गायत्री के चार चरण। श्रीविद्या के चार 'चरण' = वाग्भव कूट 'कामराजकूट' 'शक्तिकूट' 'तुर्यकूट'।

'श्रीविद्या' का तुर्यकूट एकाक्षरी बीज है। इसकी अन्तिम अवस्था वह तुर्यातीतावस्था है जहाँ वर्णोच्चारण संभाव्य ही नहीं है। वहाँ मन्त्र 'महानाद' में लयीभूत हो जाता है।

'बिन्दु' = षट्चक्र। इन सभी का ऐक्य दो प्रकार है—(१) 'चतुर्धाऐक्य' (२) 'षोढाऐक्य'।

(क) * चतुर्धा ऐक्य *

(१)
आधार आदि ६ चक्रों का श्रीचक्र के साथ ऐक्य

(२)
'बिन्दुस्थान' का 'बैन्दवस्थान' (सहस्रार) **से ऐक्य *** (शिव-शक्ति का ऐक्य) 'श्रीचक्र' में बिन्दुस्थान भगवती का स्थान है।)

(३)
मलत्रय एवं आवरणों से रहित अमल जीव का शिव के साथ ऐक्य (साधक का शिव या शक्ति से ऐक्य)

(४)
श्रीयंत्र एवं मन्त्र का ऐक्य

[ख] चतुर्धा ऐक्य का द्वितीय स्वरूप

(१)	(२)	(३)	(४)
मातृका एवं मन्त्र का ऐक्य	मन्त्र एवं मातृका का ऐक्य	चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य	नित्याओं का तिथियों से ऐक्य
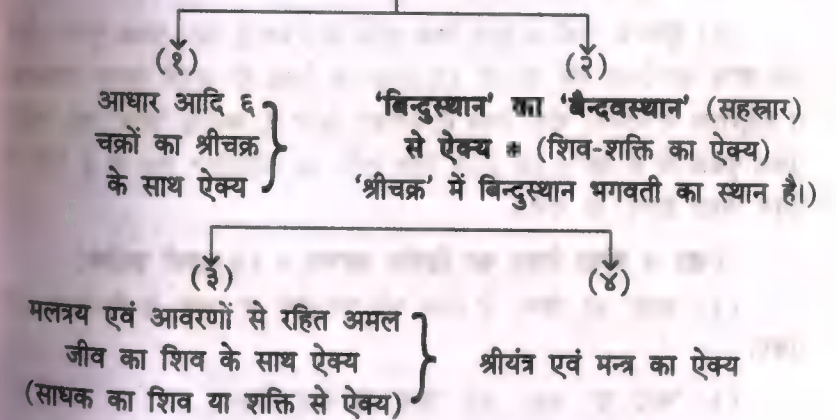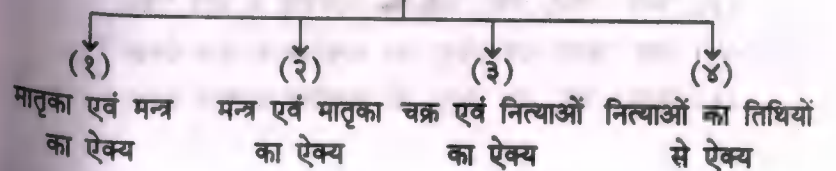
चतुर्धा ऐक्य = मन्त्र = देवता। यन्त्र = देवता।

षट्चक्र = देवता। कुण्डलिनी शक्ति = देवता

समस्त वर्णमाला का 'अकार' के साथ ऐक्य (श्लोक २१)

(१) 'अ' — 'अ' के साथ समस्त स्वरों का ऐक्य

(२) 'क्ष' —
१. 'कला' के प्रत्याहार से समस्त व्यञ्जन गणों का ऐक्य
२. तीनों खण्डों के प्रत्याहार से 'क' से 'ष' तक के समस्त वर्णों का ऐक्य 'क्ष' में हो जाता है।
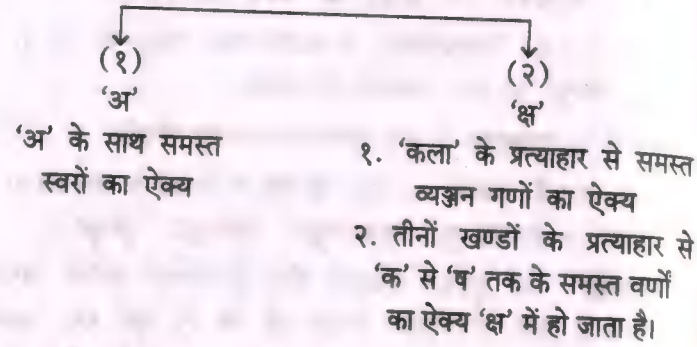
(६) षोढ़ा ऐक्य की एक विवेचना

*** (क) षोढ़ा ऐक्य का प्रथम स्वरूप ***

(१) 'शिव' एवं 'शक्ति' का 'मूलाधार', 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूर', 'अनाहत', 'विशुद्धि' एवं 'आज्ञाचक्र' से ऐक्य है।

(२) चूँकि छ चक्रों के साथ शिव-शक्ति का ऐक्य है अतः पृथक-पृथक (शिव एवं शक्ति का ऐक्य लेने पर तो १२ प्रकार के ऐक्य हो जाएँगे किन्तु शास्त्रकारों ने द्वादशैक्य न मानकर षोढ़ा ऐक्य ही स्वीकार किया है; क्योंकि 'शिव' एवं 'शक्ति' पृथक-पृथक तो हैं नहीं)। इस प्रकार शिव-शक्ति का सम्मिलित रूप से ६ चक्रों से ऐक्य 'षोढ़ा ऐक्य' हो गया॥

(ख) * षोढ़ा ऐक्य का द्वितीय स्वरूप * (११हवाँ श्लोक)

(१) 'कला' का 'बिन्दु' से ऐक्य और इन दोनों का 'नाद' के विभव के साथ ऐक्य।

(२) 'नाद' का 'कला' एवं 'बिन्दु' के साथ 'ऐक्य'।

(३) 'कला' का 'नाद' एवं 'बिन्दु' के साथ 'ऐक्य'।

(४) 'कला' 'बिन्दु' तथा 'नाद' का परमशिव के साथ ऐक्य।

(५) 'नाद' 'कला' एवं 'बिन्दु' का परमशिव के साथ ऐक्य।

(६) 'कला' 'नाद' एवं 'बिन्दु' का परमशिव के साथ ऐक्य।

(ग) * षोढ़ा ऐक्य का तृतीय स्वरूप *

इस ऐक्य का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) मन्त्र का परमशिव के साथ ऐक्य।

(२) यन्त्र का परमशिव के साथ ऐक्य।

(३) देवता का परमशिव के साथ ऐक्य।

(४) साधक का परमशिव के साथ ऐक्य।

(५) गुरु का परमशिव के साथ ऐक्य।

(६) शक्ति का परमशिव के साथ ऐक्य।

(घ) * षोढ़ा ऐक्य का चतुर्थ स्वरूप *

इस ऐक्य का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) श्रीविद्या का षट्चक्रों के साथ ऐक्य।

(२) षट्चक्रों का शक्ति के साथ ऐक्य।

(३) षट्चक्रों का श्रीयंत्र के साथ ऐक्य।

(४) श्रीविद्या एवं श्रीचक्र का शक्ति के साथ ऐक्य।

(५) श्रीविद्या एवं श्रीचक्र का ६ चक्रों के साथ ऐक्य।

(६) शक्ति का परमशिव के साथ ऐक्य।

(७) मंत्र एवं मातृकाओं का ऐक्य।

(८) मातृका तथा श्रीचक्र का ऐक्य।

(९) मन्त्र एवं नित्याओं का पारस्परिक ऐक्य।

(१०) मंत्र एवं चक्रों का ऐक्य।

(११) नित्याओं का चक्रों के साथ ऐक्य।

'ककाराध्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलं,
कलाप्रत्याहारात् सकलमभवद्व्यञ्जन गणः।
त्रिखण्डे स्यात् प्रत्याहरणमिदमन्वक् कषयुगं,
क्षकारश्चाकारोऽक्षर तनुतया चाक्षरमिति॥' (२१)

'क्षकार' अक्षरों का शरीर है। अव्यक्तनाद 'अक्षर' (अ + क्षर) है अतः सभी अक्षरों के कारणभूत तत्त्व 'नाद' के कारण सभी वर्णों को 'अक्षर' कहते हैं। 'क्ष' = क + ष॥ क से ष = 'क्ष'।)

[२१] **'पञ्चदशीविद्या' के वर्णों का 'श्रीचक्र' एवं पिण्डस्थ' षट्चक्रों के साथ ऐक्य ***

(१) **'क'** वर्ण।। 'क' वर्ण कामदेव एवं शिव दोनों का बोधक है। भगवान शिव **अष्टमूर्ति** हैं। अतः उनका अष्टमूर्तित्व चक्र **'अष्टार'** का द्योतक है। शरीरान्तर्गत **'स्वाधिष्ठान चक्र'** कामदेव का स्थान है अतः 'स्वाधिष्ठान चक्र' ('क' से व्यञ्जित) कामदेव को भी संकेतित करता है।

(२) **'ए'** ए = विष्णु योनि है। 'ए' विष्णुस्वरूप है। 'ए' विष्णु के १० अवतारों का भी द्योतक है। 'ए' (१० का बोधक होने के कारण) श्री चक्र के **'बहिर्दशार'** का लक्षक है तथा शरीर में विष्णु के निवास स्थान हृदय ''अनाहतचक्र' को भी संकेतित करता है।

(३) **'ई'** माया। ई 'ई' वर्ण माया का वाचक है। माया तत्त्व १४ भुवनों की स्वामिनी है अतः यह वर्ण 'ई' **'श्रीचक्र'** के **'चतुर्दशार'** एवं पिण्डस्थ 'विशुद्ध चक्र' का सूचक है।

(४) **'ल'** = ल = शिव। भूमि।। 'ल' वर्ण शिव एवं भूमि दोनों को संकेतित करता है। चूँकि 'ल' भूमि का अर्थ संकेतित करता है यह 'श्रीचक्र' में स्थित **'भूपुर'** का वाचक है। चूँकि **'ल'** वर्ण शिव का भी बोधक है अतः यह शिव-सदन **'सहस्रार चक्र'** का भी द्योतक है।

(५) **'ह'** आकाश एवं शिव। 'हकार' **आकाश एवं शिव दोनों का बोधक है।** श्रुतियों में **'परमेव्योमन्'** आदि शब्दों के अनुसार परमव्योम (महाकाश) ब्रह्म है या ब्रह्म का स्थान है। अतः **'ह' (व्योम)** शिव का वाचक है।

'ब्रह्म' (परमशिव) रुद्र के रूप में अष्टमूर्त्यात्मक हैं। 'ह' वर्ण (क) 'श्रीयंत्र' में तो **'अष्टदलपद्म'** का सूचक है किन्तु पिण्डस्थ चक्र आज्ञाचक्र का इसलिए बोधक है क्योंकि **'आज्ञाचक्र'** आकाशस्थानीय है। (जब स्वयं विशुद्ध चक्र ही आकाशतत्त्व का स्थान है तो उससे ऊर्ध्ववर्ती होने के कारण 'आज्ञाचक्र' आकाश स्थित क्यों नहीं माना जाएगा।

१. शङ्करानन्दः 'अक्षरों का चक्रों से सम्बंध।''

'र' 'र' = अग्नि। 'र' वर्ण अग्नि बीज है अतः 'अग्नि' का बोधक है। अग्नि के दशकोण हैं। 'श्रीचक्र' में जो 'अन्तर्दशार' है वह इस दशकोणात्मक अग्नि का द्योतक है अतः 'र' = (अग्नि) 'अन्तर्दशार' एवं पिण्डस्थ **'मणिपूर चक्र'** का द्योतक है।

'बिन्दु' 'ह्रीं' में जो बिन्दु है यह चन्द्रमा, शिव, पूर्णत्व, शून्य, आकाश, चैतन्य, अमृताकर्षिणी शक्ति, आदि अर्थों का वाचक है।

'बिन्दु' श्री चक्र में बैन्दवस्थान (त्रिवृत्त) को तथा पिण्डस्थ षट्चक्रों में **'सहस्रार'** को द्योतित करता है।

अर्धमात्रा

'अनुस्वार' 'अर्धमात्रा' त्रिकोण या योनि को संकेतित करता है। यह वर्ण 'श्रीचक्र' के **त्रिकोण** एवं शरीर में मूलाधार चक्र को द्योतित करता है। 'मूलाधार चक्र' नाद-स्थान है और अर्धमात्रा भी नादरूप है अतः 'अर्धमात्रा' नादस्थान मूलाधार के त्रिकोण की द्योतिका है।

'स' 'सकल ह्रीं' (शक्तिकूट) के 'सकार' वर्ण का द्योतक **'शक्ति'** या **'चन्द्रमा'** 'षोडशदलपद्म' को इङ्गित करता है और शक्ति वाचक होने के कारण पिण्डस्थ 'आज्ञाचक्र' को संकेतित करता है क्योंकि 'आज्ञा चक्र' 'सदाख्य तत्त्व' या **'अर्धनारीश्वर'** का स्थान होने के कारण शिवशक्त्यात्मक है।

[२२] *** 'ज्ञानार्णव तन्त्र'** के आधार **'पञ्चदशीविद्या'** के वर्णों का 'श्रीचक्र' के त्रिकोणादिक उपचक्रों के साथ **ऐकात्म्य ***

''ज्ञानार्णवतन्त्र'' में 'पञ्चदशाक्षरी' विद्या में प्रयुक्त वर्णों का 'श्रीचक्र' के साथ ऐकात्म्य प्रतिपादित करते हुए प्रत्येक वर्ण का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

'क' वर्ण का अर्थ—

(१) **'क'** = 'ककारान्मदनो देविशिवं चाष्टस्वरूपकं।
योनिवश्यं तदा चक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत्।।'

'ए' वर्ण का अर्थ—

(२) **'ए'** = 'शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूते
जगत् त्रयम् विष्णोर्योनिरिति ख्याता।
सा विष्णोर्दशरूपकम् **'एकारात्'**
परमेशानी चक्र व्याप्य व्यवस्थिता॥'

'ई' वर्ण का अर्थ—

(३) **'ई'** = 'इकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश।
पालयन्ती परात्साच्छक्रकोणं भवेत् प्रिये॥'

'ल' वर्ण का अर्थ—

(४) **'ल'** = 'लकारः पृथिवी बीजं तेजोभू बिम्बमुच्यते।'

'ह' वर्ण का अर्थ—

(५) **'ह'** = 'हकारः शिव उच्यते अष्टमूर्तिः
सदाभद्रे तस्माद्वसुदलं भवेत्॥'

'र' वर्ण का अर्थ—

(६) **'र'** = 'दशकोणकरं तस्मात् प्रकारो ज्योतिराख्यः।
कला दशान्वितो वह्निर्दशकोण प्रवर्तकः॥'

'स' वर्ण का अर्थ—

(७) **'स'** = 'सकारश्चन्द्रमा भद्रे कलाषोडशात्मकः।
तस्मात् षोडशपत्रं च॥'

'अर्धमात्रा' का अर्थ—

(८) **'अर्धमात्रा'** = 'अर्धमात्रा गुणान् सूते नादरूपा यतः स्मृतः।
त्रिकोणरूपा योनिस्तु॥'

'बिन्दु' वर्ण का अर्थ—

(९) **'बिन्दु'** = 'बिन्दुना बैन्दवं भवेत्।
कामेश्वर स्वरूप तद्विश्वाधार स्वरूपकम्।
श्री चक्रन्तुर्वियत् संभवम्॥'

निष्कर्ष—यदि निष्कर्ष के रूप में इस विवरण को प्रस्तुत किया जाय तो संक्षेप में इसे इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है—

* **'कला'** (वर्णों की समष्टि) का **'बिन्दु'** (चक्रों की समष्टि) से ऐक्य है। * (कलाबिन्द्वैक्य)॥

(१) **'क'** = 'क' जल तत्त्व का बोधक है अतः 'क' शब्द जलतत्त्व एवं तत्सम्बद्ध चक्र 'स्वाधिष्ठान चंक्र' का बोधक है।

(२) **'ए'** 'ए' वाक् तत्त्व का बोधक है। 'ऐं' वावणी का बीज है। यह सरस्वती का वाचक है अतः 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं 'वैखरी' के रूप में स्थित वाक्चतुष्ट का बोधक है।

यह 'विशद्ध चक्र को भी द्योतित करता है। यहा ;ह 'वैखरीवाक्' को संकेतित करता है।

(३) **'ई'** यह वर्णमाला में **चतुर्थ स्वर है।** (श्रीविद्या में तृतीय वर्ण है।) चूँकि **चतुर्थ चक्र 'अनाहत चक्र'** है अतः 'ई' अनाहत चक्र का वाचक है।

(४) **'ल'** 'ल' वर्ण पृथ्वी तत्त्व का वर्ण है। अतएव यह पृथ्वी तत्त्वात्मक 'मूलाधारचक्र' एवं 'पृथ्वीतत्त्व' दोनों को द्योतित करता है।

(५) **'ह'** = हकार आकाशका द्योतक है। हकार शिव का भी द्योतक है। अतः 'हकार' 'सहस्रार' एवं शिवस्थान दोनों का द्योतक है।

(६) **'स'** (१) 'स' अमृत का वाचक है। चूँकि 'सहस्रार' अमृतस्थान है अतः 'स' 'सहस्रार' का भी द्योतक है।

(२) 'स' शक्ति एवं सोम का भी द्योतक है। चूँकि सहस्रार शक्ति एवं सोम का अधिष्ठान है अतः यह अमृत के स्थान एवं चन्द्रमा के स्थान का भी द्योतक है।

(१) **'क'** = यह वर्ण माला का प्रथमाक्षर है। यह श्रीविद्या का भी प्रथमाक्षर है। यह त्रिकोणों का प्रथम स्वरूप **'अष्टार'** है। और 'स्वाधिष्ठान' भी सूचक है क्योंकि **'स्वाधिष्ठान'** जल तत्त्व का स्थान है।

(२) **'ए'** = यह विश्वयोनि है—भुवनों का जन्मस्थान है। भुवन १४ हैं

अतः यह चतुर्दशार का प्रतीक या वाचक है। यह **'विशुद्धाख्यचक्र'** का भी वाचक है। 'विशुद्ध' शब्द विशुद्धवाणी के अधिष्ठान 'विशुद्धचक्र' को भी संकेतित करता है।

(३) **'ई'** 'इ' विष्णु की माया का बोधक है। विष्णु के १० प्रमुख अवतारों के कारण 'ई' १० के वाचक 'बहिर्दशार' का भी सूचक है। यह **'अनाहत चक्र'** का सूचक इसलिए है क्योंकि विष्णु हृदय (अनाहत चक्र) में रहते हैं अतः यह अनाहत चक्र का भी सूचक है।

(४) **'ल'** 'ल' पृथ्वी का वाचक है। पृथ्वी एवं ल जगत को जन्म देने के कारण विश्वयोनि हैं अतः 'त्रिकोण' एवं 'मूलाधारचक्र' दोनों 'ल' वर्ण से इङ्गित होते हैं।

(५) **'ह'** 'ह' आकाश का बोधक है। यह 'शिव' का भी सूचक है अतः 'ह' शिवस्थान, सहस्रार, एवं भूपुर तीनों का बोधक है।

(६) **'र'** 'र' अग्नि का सूचक है। कहीं-कहीं अग्नि की १० जिह्वायें स्वीकार की गई हैं अतः 'र' **'अन्तर्दशार'** एवं दसदल पद्म **'मणिपूर'** का बोधक है।

(७) **'ई'** 'ई' विष्णु की माया का द्योतक है, विष्णु के १० अवतार हैं अतः 'ई' 'बहिर्दशार' एवं 'मणिपूरकचक्र' (१० दल) का सूचक है।

(८) **'बिन्दु'** बिन्दु बैन्दवस्थान एवं वृत्त (त्रिवृत्त) सहस्रार के चन्द्रमण्डल।

(९) **'अर्धमात्रा'** —यह अष्टदल पद्म का बोधक है। यह 'आज्ञाचक्र' का भी बोधक है।

(१०) **'स'** 'स' सोम, चन्द्रमण्डल एवं षोडश दलपद्म का बोधक है।

[२३] * 'कला' (वर्ण) एवं 'चरण' (नाद) का ऐक्य *

'नाद' की उत्पत्ति कैसे होती है?

'शिव' एवं 'शक्ति' के मिलन से ही 'नाद' की उत्पत्ति होती है अतः शिव-शक्ति का सम्बंध ही **'नाद'** है।

(१) **'बिन्दु' क्या है?** 'बिन्दु नाद की प्रथमावस्था है।
'आसीच्छक्तिस्ततो **नादः** ।
नादाद् बिन्दु समुद्भवः ॥' (शारदातिलक)

'अर्धचन्द्र' क्या है? अर्धचन्द्र बिन्दु का प्रथम प्रसार है अर्थात् **'कामकला'** है। यह **नादोन्मुखावस्था** है।

'ह' = शिव। **'स'** = शक्ति।। ह + स = नाद।

'लकार'—'लकार' पृथ्वी तत्त्व का सूचक है। पृथ्वी जगत की उत्पत्ति। तत्त्वों की स्थूलतम अर्थात् अन्तिम अवस्था है। यह कारणवस्था है अतः य ह नाद की भी अन्तिम अवस्था **'परावाक्'** की सूचना देता है।

'ल' = 'परावाक्'।

'क' = क वर्क का आद्यक्षर 'क' है। यह प्रथम स्फोट का वाचक है। **'र'**—अग्नि का द्योतक है। 'अग्नि' शक्ति का कारण है। यह प्रथम स्फोट की शक्ति है अतएव क + र = **'पश्यन्ती'** वाक् के द्योतक हैं। 'क + र' = **पश्यन्तीवाक् रूप नाद।** 'ई' = इच्छा का द्योतक।

'ई' (इच्छा) का वाक् से संयोग—**'मध्यमावाक् रूप नाद** का आविर्भाव होता है।

'ऐ'—यह वाणी का सूचक है।

[२४] * 'बिन्दु'(चक्रों) का 'नाद' से ऐक्य *

बिन्दु (चक्र)	नाद	'श्रीचक्र' के अङ्ग
(१) 'मूलाधारचक्र'	'परावाक् (नाद)'	'त्रिकोण'
(२) 'स्वाधिष्ठानचक्र'	'पश्यन्तीवाक् (नाद)'	'अष्टार'
(३) 'मणिपूरकचक्र'	'मध्यमावाक् (नाद)'	'दशारद्वय'
(४) 'विशुद्धचक्र'	'वैखरीवाक् (नाद)'	'चतुर्दशार'
(५) 'आज्ञाचक्र'	'नाद एवं नादान्त'	'शिवचतुष्कोण'
(६) 'सहस्रार'	'नादबिन्दुकलातीत'	भगवती महात्रिपुर सुन्दरी 'परा सवित्'

'ह' एवं 'ल' बिन्दुस्थान (त्रिवृत्त) है और वर्गाष्टक **'अष्टदलपद्म'** है।
'हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकामिदलं शांभववपु ॥'[१]

१. सुभगोदयस्तुति (२२)

(२५) **पिण्डस्थ षट्चक्रों एवं श्री चक्र में ऐक्य**

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) पृथ्वी तत्त्व (मूलाधार चक्र) अग्नि (त्रिकोण) में।

(२) वह्नि (स्वाधिष्ठान चक्र में। यद्यपि वह्नि का स्थान 'मणिपूरक' में माना जाता है किन्तु आचार्य शङ्कर ने अग्नि का स्थान 'स्वाधिष्ठानचक्र' में ही स्वीकार किया है।)—'वसुदल' में।

(१) **'वह्नि'** (स्वाधिष्ठानचक्र)।।

(२) **'वसुदल'** (श्रीचक्र का अष्टार)।।

(२) **अग्नि (स्वाधिष्ठान चक्र) में वसुदल (अष्टार)**

(३) 'दिङ्मरुति' (दिशायें वायु में) =

(क) 'वायु' = अनाहतचक्र = (वायु अनाहत चक्र में है।)

(ख) 'दिङ्' = १० = (दिशाओं की संख्या १० है।)

*** 'हृदयचक्र ही 'बहिर्दशार' है। ***

(४) **'कलाश्रे मन्वश्रं'**

(क) 'कला' = १६ का वाचक। **'कलाश्र'** = षोडशदलपद्म (विशुद्ध चक्र)

(ख) 'मन्वश्र' = चतुर्दशार

(मनु १४ हैं अतः १४ की संख्या वाला चक्र अर्थात् 'चतुर्दशार'।)

*** विशुद्ध चक्र ही चतुर्दशार है ***

'दृशिवसुरथो राजकमले'—दृशि = नेत्र २ की संख्या। **'आज्ञाचक्र'** **'वसुरथो'** = वसु ८ हैं। **'अष्टदलपद्म'** **'राजकमले'** = राजा = १६ का प्रतीक है। = 'षोडशदलपद्म'।

*** 'आज्ञा चक्र' ही 'अष्टदल' एवं 'षोडशदलपद्म' हैं। ***

'प्रतिद्वैत ग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वार सहितं महिचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्य कलनात्।।'

प्रतिद्वैत ग्रंथि = **'चतुर्दशार चक्र'** = अद्वैतस्था सहस्रार

'महिचक्र' = भूपुर।

चतुर्द्वार सहित महिचक्र (भूपुर)

'भगकोण' = षट्चक्र। **सहस्रार** ही **भूपुर** है।

'चतुर्द्वार सहित महिचक्र में' ऐक्य है।

'क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजलेदिङ्मरुति दिक्
कलाश्रे मन्वश्रं दृशिं वसुरथो राजकमले।
प्रतिद्वैतग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वारसहितं,
महिचक्रं चैकं भवति भगकोणेक्य कलनात्।।'[1]

श्रीचक्रस्थ ९ चक्रों में भी ऐकात्म्य है—

'त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुद्भू।'

(१) दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्रसमभवत्।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात्तिवलय,
चतुर्द्वाः प्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब शरणाम्।।

—सुभगोदयस्तुति (१७)

(२) सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं,
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधारा द्वितीयमभवत्तद्दशदलं,
सहस्राराज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत्।।

—सुभगोदयस्तुति (४७)

(३) अधिष्ठानाधार द्वितीयमिदमेव दशदलं,
सहस्राराज्जात मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम्।
हृदम्भोजान्मूलानृपदलमभूत्स्वान्तकमलं,
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्ति कृदयम्।।[2]

(२६) **'कला'**—१. कलाः पञ्चाशत् षष्ठ्युत्तरत्रिशतसंख्य का वा। एवं नादबिन्दुकलातीता भगवतीति।

२. 'सहस्रकमलं बिन्द्वातीतं बैन्दवस्थानात्मकं सुधासिन्ध्वपरपर्यायं सरघाशब्दवाच्यम्।

३. नादातीतंतत्त्वं तु त्रिपुरसुन्दर्यादिशब्दाभिधेय 'दर्शा दृष्टा दर्शता'—इत्याद्यपर्याद्य —'क ए ई ल ह्रीम्'—इत्यादि मन्त्रवर्णनामक—पञ्चाशद्वर्णात्मक—षष्ठयुत्तरत्रिशत संख्यापरिगणितमहाकालात्मक—पञ्चदशकलातीता सादाख्या श्रीविद्याऽपरपर्याया चित्कलाशब्दवाच्या ब्रह्मविद्यापरपर्याया भगवतीति नादबिन्दुकलातीतं भागवतं तत्त्वमिति तत्त्वविद्रहस्यम्।

---

१. सुभगोदयस्तुति (३७)

२. सुभगोदयस्तुति

'अत्र **नादबिन्दुकलानां** परस्परैक्यानुसन्धानं **षोढा भवतीति षोढा ऐक्यमाहुः।**

'एवं भगवतीं षड्विधैक्येन सम्भाव्य पूजयित्वा सादाख्यायां विलीनो भवति तदनन्तरं षड्विधैक्यानुसन्धानमहिम्ना गुरुकटाक्षसंजातमहावेधमहिम्ना च भगवती झडिति मूलाधार स्वाधिष्ठानात्मक चक्र द्वयं भित्वा **मणिपूरे** प्रत्यक्षं प्रतिभाति।

महावेधे जाते (दीक्षोपरान्त) **भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति। सा समाराध्या।**

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि भगवती समयमतावलम्बियों को प्रत्यक्ष दर्शन देती हैं—

'समयिनां प्रत्यक्षं परिदृश्यमाना आस्ते भगवती ।।'[१]

आचार्य लक्ष्मीधर यह भी कहते हैं कि समयमतावलम्बियों को चाहिए कि वे भगवती की पूजा **'आन्तरपूजा'** की पद्धति से निष्पादित करें और **'सहस्रकमल'** में तिरस्करिणी प्रसारण पर्यन्त दर्शन करते हुए भगवती की समाराधना करते रहें—

(१) 'समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं आन्तर पूजा कर्तव्या।

(२) 'सहस्रकमले तु तिरस्करिणी प्रसारणपर्यन्तं दर्शनमेव समराधनम्।[२]

(२७) * **आचार्य लक्ष्मीधर द्वारा प्रस्तुत 'ऐक्यानुसन्धान' का ऐक्य** *

आचार्य लक्ष्मीधर ने श्रीविद्या के क्षेत्र में अद्वैतपरक इन ऐक्यों का विश्लेषण इस प्रकार किया है। वे कहते हैं—

(१) समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्व सम्मतम्।

अर्थात् श्रीविद्योपासना के सारे सम्प्रदाय, सारे उपासक एवं सारी उपासना-पद्धतियाँ इस विषय में एक मत हैं कि **भगवती की समाराधना का स्वरूप चतुर्विध ऐक्य है।**

कुछ लोग 'षोढ़ाऐक्य' का भी प्रतिपादन करते हैं।

(२८) * **श्रीविद्या में ऐक्यानुसन्धान के दो रूप** *

(१) 'चतुर्धाऐक्य'   (२) 'षोढ़ाऐक्य'

---
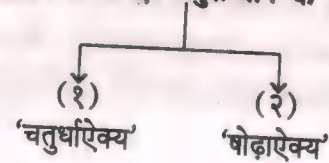
१. लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा

लक्ष्मीधर की दृष्टि—

(क) 'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् **सर्वसम्मतम्।'**

(ख) 'केचित्तु **षोढा ऐक्यमाहुः।'** —(लक्ष्मीधरा)

(१) **'नादः'**—'परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण चतुर्विधः इति।।'

(क) **'परा'**—'त्रिकोणात्मिका।'

(ख) **'पश्यन्ती'**—'अष्टकोणचक्ररूपिणी।'

(ग) **'मध्यमा'**—'द्विदशाररूपिणी।'

(घ) **'वैखरी'**—'चतुर्दशाररूपिणी।'

—लक्ष्मीधरा (४१)

(२) **'शिवचक्राणां'** अत्रैव अन्तर्भावः प्रतिपादित इति **चतुश्चक्रात्मकं 'श्रीचक्रं नाद शब्दवाच्यम्।**

(३) **'बिन्दु'**—**'षट्चक्राणि** मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्ध्याज्ञात्मकानि बिन्दुशब्दवाच्यानि पूर्वमेव उक्तानि।।'

(आ) * **श्रीविद्यारत्नसूत्रम्** *

'श्रीविद्यारत्नसूत्रम्' एवं गौड़पादाचार्य के सिद्धान्त—आचार्य गौड़पादन के इस ग्रंथ के द्वारा 'श्रीविद्या' की सूत्रात्मक व्याख्या की है। इस ग्रंथ का **प्रथम सूत्र है—* "अथ शाक्तमन्त्रागमजिज्ञासा।।"१।।**[१]

अर्थात् अब शाक्त मंत्रों की उत्कण्ठा है—उसे जानने की इच्छा है। यहाँ मंत्रागम जिज्ञास्य है। भाष्यकार विद्यारण्य कहते हैं कि आचार्य गौड़पाद का कथन यह है कि वेदादिक कर्मों एवं धर्मों को निष्पादित करके अर्थात् 'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा" जै०सू० (१।११) के द्वारा धर्मजिज्ञासा को पूरी करने के बाद साधक को या तो—

(क) 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र०सू०) के मार्ग पर

या (ख) 'अथ शाक्तमन्त्रागमजिज्ञासा' (वि०र०सूत्र)

या (ग) 'अथातो शक्ति जिज्ञासा' (शक्तिसूत्र)

या (घ) 'अथातो शक्ति जिज्ञासा' (शाक्तदर्शनम्) के मार्ग की ओर बढ़ना चाहिए।

'सर्व शक्तिमयं जगत्' के अनुसार सर्वत्र केवल शक्ति की ही व्याप्ति, उसी

---

१. विद्यारत्नसूत्र

का संचालन, उसी का शासन एवं उसी की सर्वव्यापक अनुस्यूतता देखकर तो शाक्त मन्त्रों एवं शाक्त आगमों की ही जिज्ञासा औचित्यपूर्ण हैं।

दूसरे सूत्र द्वारा सूत्रकार ने **आत्मा के स्वरूप** पर प्रकाश डाला है। **शिवसूत्रकार** ने तो 'शिवसूत्रम्' के प्रथम सूत्र में ही आत्मा के स्वरूप का परिचय कराते हुए उसके स्वरूप को **'चैतन्य'** की संज्ञा दी थी और कहा था—**'चैतन्यमात्मा।।"** (शिवसूत्र १।१)

किन्तु गौड़पादाचार्य ने उसके स्वरूप को **सम्पूर्णता (अखण्डता) की दृष्टि से** देखकर कहा कि * आत्मैवाऽखण्डकार:।। (२)[१]

महेश्वरानन्द ने उसे (आत्मा को) **विश्वमूल के रूप में देखकर** कहा था कि—

'आत्मा खलु विश्वमूलं ।'[२]

औषनिषदिक ऋषियों ने उसी आत्मा को इस दृष्टि से देखकर उसके स्वरूप की इस प्रकार विवेचना की—

(क) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।। (माण्डूक्योपनिषद २)

(ख) 'नान्तः प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञाघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य मग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मक प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं स **'आत्मा'** स विज्ञेयः।[३]

भाष्यकार विद्यारण्य कहते हैं कि जहाँ भी अकार है वहाँ परिच्छिन्नत्व है (सीमा रेखा) है अतः अनित्यत्व भी है किन्तु आत्मा अखण्डाकार है। आत्मा खण्ड-हीन नहीं है प्रत्युत् अखण्डता ही उसका स्वरूप है—'अखण्डत्वमेवाकारः अखण्डाकारः। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार स्रष्टा एवं संसृष्ट **दोनों एक ही हैं—अखण्ड हैं**—एकाकार हैं।

गौड़पादाचार्य **तृतीय सूत्र** में **चित् शक्ति के स्वरूप** पर प्रकाश डालते हैं और कहते हैं कि—'चिच्छक्ति चैतन्यस्वरूप है।'

'चैतन्यस्वरूपा चिच्छक्ति ।।'[४]

भाष्यकार विद्यारण्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—चैतन्य अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप चित् है और वही उसकी शक्ति है—

---

१. श्रीविद्यारत्नसूत्र
२. महार्थमञ्जरी (३)
३. माण्डूक्योपनिषद् (७)
४. श्रीविद्यारत्नसूत्रम् (३)

* 'चैतन्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपा चित् शक्तिः सामर्थ्यम् ।।'[१]

'शक्ति' या सामर्थ्य है क्या? विद्यारण्य कहते हैं—'शक्तितत्त्वं नाम सर्वज्ञत्वम् सर्वकारणकर्तृत्वम्' **'शक्ति'** का अर्थ है सर्वज्ञत्व एवं निरपेक्ष सर्वकृर्तृत्व। पुराणों में कहा गया है—"चिदेव शक्तिः।।'

सूत्रकार (गौड़पादाचार्य) ने अपने चतुर्थ सूत्र द्वारा **'श्रीविद्या'** के स्वरूप का निर्वचन किया है और कहा है कि—

* 'सैवेयमनाख्या श्रीविद्या ।।४।।' *

व्याख्याकार ने इसे इस प्रकार व्याख्यात किया है—

* 'सा तेजः पुञ्जाकृतिः शक्तिरेवाऽनामाख्या श्रीविद्या ।।"[२] *

अर्थात् 'इयमेव सा या प्रथमं व्यौच्छदन्तरस्यां चरति प्रविष्टा।।" अर्थात् जो यह चित् है वह अनामा (अनामा नामक नाम वाली) है। प्रथमा विद्या'व्यौच्छत' (स्वच्छ या निर्मल) है।

यह विद्या अनाम है—अपरिच्छिन्न है और सबका मूल कारण है—

* 'अनामाख्यविद्यायाः अपरिच्छिन्नत्वं सर्वकारणत्वमुक्तम् ।।'[३] *

सूत्रकार ने पाँचवें सूत्र में **विद्या के भेदों** पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि तत्वत्रय रूपी शस्त्र से छेदित होने पर यही अखण्डाकार विद्या अनेकरूपाकाराकारित हो जाती है—

* 'तत्त्वत्रयेण सा विविधा ।।'[४] *

श्रुतियों में भी कहा गया है कि—

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।।'
'न तस्य कार्यकरणं च विद्यते,
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रयूते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।'

आचार्य गौड़पाद ने **छठवें सूत्र** द्वारा **'श्रीचक्र'** को परिभाषित करते हुए कहा है कि—

---

१. श्रीविद्यारत्नसूत्रम् भाष्य (विद्यारण्य
२. विद्यारण्य
३. विद्यारण्य (सूत्र ४)
४. श्रीविद्यारण्यसूत्र

'कोणपत्रसमुच्चयं चक्रम्।'[१]

उनका आशय यह है कि केवल दल-समुच्चय ही नहीं प्रत्युत् कोण समुच्चय **'चक्र'** है—

'केलवकोणसमुदायस्य वा न तु केवलपत्रसमुच्चयस्य वा चक्रत्वम्, पत्रसमूहस्य कमलमित्युक्तत्वात्।

यहाँ शिवमन्त्र एवं शिव यन्त्र में भी अभेद स्थापित किया गया है।

सातवें सूत्र द्वारा सूत्रकार ने मंत्र के भेदों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—

* 'सा शाम्भवी विद्या श्यामा तत्त्वत्रयाकृति स्त्रिविधा जात।।'[२] *

(१) **'शाम्भवी'** = 'शभुसम्बन्धेन तेजसा सहिता सती तत्रैका **'शाम्भवी'**।

(२) **'श्यामा'** = विष्णुसम्बन्धेन तेजसा सहिता सती तत्रैका **'श्यामा'**।

(३) **'विद्या'**= 'ब्रह्मसम्बन्धेन तेजसा युक्ता तत्रैका विद्या।

'शाम्भवी शुक्लरूप च श्रीविद्या रक्तरूपगा।
श्यामलाश्यामरूपाख्या एताश्च गुणशक्तयः।।'

(१) परमशिवपत्नी 'परविद्या'
(२) सदाशिवपत्नी 'श्यामला' } इसके द्वारा त्रिपुरसुन्दरी का सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।
(३) रुद्रपत्नी 'शाम्भवी'

परमशिव **'कामेश्वर'** हैं और उनकी विद्या **'कामेश्वरी'** है। वे ही राजराजेश्वरी एवं 'षोडशी' भी कहलाती हैं।

'त्रिविधा जाता'—सिद्धौघ, मानवौघ, दिव्यौघ, पीठत्रय, पीठाधिष्ठान रूप गुरुत्रय, बटुकत्रय, मण्डलत्रय आदि सभी त्रिविध हैं।

आगे के सूत्र (क्र० ८ एवं क्र० ९) द्वारा सूत्रकार ने विद्या के अनेकत्व एवं परिवार पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

* (१) 'विद्यायाः पूर्वोत्तराभ्यामनेक विद्याः जाताः ।।८।।'
(२) 'ता विद्याः परिवारा इति ।।९।।'[३] *

शाम्भवी, श्यामला के अनेक देवता हैं। ये ही सभी महाविद्या के परिवार हैं। 'ता विद्याः परिवारा इति।'[४]

---

१. श्री०वि०र०सू० (६)
२. श्री०वि०र०सू० (७)
३. श्री०वि०र०सूत्र (८, ९)
४. श्री०वि०र०सूत्र (९)

विद्याओं के अनेक प्रकार हैं—

* 'विद्यायाः पूर्वोत्तराभ्यामनेक विद्या जाताः ।।८।।' *

उनके अनेक परिवार हैं—'ता विद्याः परिवाराः इति ।।८।।'

पूर्वद्वारा (पूर्वाम्नाय) अन्य की तुलना में श्रेष्ठतर स्वीकार किया गया है। प्रधान विद्यायें कौन हैं?

'शुद्धविद्येति बालेति द्वादशार्द्धा मतङ्गिनी।
प्रधानशक्तयस्त्वेता एतासां परिवारकाः।
चतुर्विंशत्सहस्राख्य देवताः परिवारकाः।।'

'शुद्धविद्या' है क्या? 'शुद्धानन्द उपास्यत्वाच्छुद्धविद्येति कथ्यते।

(१) अशुद्धस्य निवृत्या अज्ञानस्य निवृत्या **'शुद्धविद्या'** ''शुद्धत्वाच्दुद्धविद्येति कथ्यते।।'

(२) 'यद्वा शुद्धानन्देनोपास्यत्वेन **शुद्धविद्या**।।'

बाला, एवं श्यामला किसे कहते हैं?

(१) **'बाला'** = बाला लीलया सर्वत्र प्रवर्तत इति 'बाला'।

(२) **'श्यामला'** = द्वादशार्द्धा आनन्दनाथेन पूज्यतया तस्याः द्वादशार्द्धा **'श्यामला'**।

(३) **'मतङ्गिनी'** = मतङ्गेनोपास्यत्वेन मतङ्गिनी एतासामनुपरिवारा अनामारख्याः ।। एता पूर्वद्वारे...।'

(४) **'सौभाग्यविद्या'** = सतुभगानन्दविद्यानन्दयोः पूज्यतया **'सौभाग्यविद्या'**।

(५) **'बगला'**= बन्धि नीलाकिनी सहितस्य गगनानन्दस्य पूज्यतया **'बगला'** बवयोरभेदत्वात् **'बगला'** इति।

(६) **'वाराही'**—वराहानन्दोपास्यत्वेन तस्याः **'वारराही'** इति।

(७) **'बटुक'**—अनुद्धाहत्वेन **बटुक** इत्युच्यते।

यद्वाऽत्र बटुकस्योपास्यत्वेन **बटुकः**।

(८) **'तिरस्करिणी'**—तिरोधाने स्वसामर्थ्यतया तस्यास्ति**रस्करिणी** इति ।।[१]

दक्षिण द्वार में यजुर्वेदमय सौभाग्यादि उत्पन्न विद्यायें होती हैं—

* 'याम्यदिशि स्थिताः सौभाग्यादयः **स्वस्या उद्भवा** ।।११।।

'सौभाग्य विद्या बगला वाराही बटुकप्रिया।
या तिरस्करिणीत्येतास्तस्या देव्याश्च सेवकाः।

---

१. विद्यारण्य (श्रीवि०र०सूत्र १०)

एतासां देवतानां च परिवारास्त्वनेकशः ।
त्रिंशत्सहस्रं संख्याका अनामाख्याप्रसेवकाः ।।'
तथाऽधः स्थिताः पश्चिमदिशि ।।१२।।

सूत्र द्वारा 'कामराजविद्या' ('कामराजविद्या पारम्पर्यगुरुभिः प्रतिष्ठिताः सर्वाः पूर्वद्वारे दक्षिण द्वारे स्थिताः।[१]

'चिन्तामणि गृहस्यैव पूर्वद्वारे तु काः स्थिताः ।
तन्मन्दिरस्य याम्यां च द्वारेकाः शक्तयस्तथा ।
बोधकैः कामराजाख्यैः एतास्ताः स्युः प्रतिष्ठिताः ।'

—(त्रिपुरासिद्धान्त)

'पश्चिमे चोत्तरे द्वारे शक्तयः काः स्थिताः सदा ।
लोपामुद्राख्यगुरुभिस्त्वेतास्ताः स्युः प्रतिष्ठिताः ।
प्रासादस्थाः शक्तयः का वेदिकायां च काः स्थिताः ।
परादिगुरुभिस्तासां नियतत्वं समुच्यते ।'

—(त्रिपुरासिद्धान्त)

'लोपामुद्रा महेशनि ततश्च भुवनेश्वरी ।
अन्नपूर्णेति विख्याताः ततः कामकलेति च ।
एतास्ताः शक्तयस्तत्र सेवका गणनायकाः ।
सहस्रत्रथ संख्याकाऽनामाख्या परिसेवकाः ।'

अगस्त्य ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा के नाम पर ही **'लोपामुद्रा विद्या'** का प्रवर्तन हुआ।

शाम्भव्याः परिवारा उत्तरस्मिन् ।।१३।।

शाम्भव्य देवता जो उत्तर द्वार से सम्बद्ध हैं।

(१) **'तुरीया'**—तुरीयानन्दनाथस्योपास्यत्वेन **'तुरीया'** ।

(२) **'अश्वारूढा'**—नित्यंतुरङ्गपर्यवस्थिततत्वेनाश्वरूढा ।

(३) **'मिश्रविद्या'**—मिश्रेशानन्दनाथस्योपास्यत्वेन **'मिश्रविद्या'**। यद्वा सर्वासु मिश्रत्वेनामिश्रविद्या।

(४) **'वाग्वादिनी'**—स्वभक्तानां वाचिवादरूपेण प्रसङ्गरूपेण स्थितत्वात् **वाग्वादिनी**।[२]

१. विद्यारण्य
२. विद्यारण्य (सूत्र १३)

'तुरीयाम्बा महाद्धेंति चाऽश्वारूढ़ा महेश्वरि ।
मिश्राम्बाच महाविद्या पश्चाद्वाग्वादिनी प्रिये ।
एता जातश्च शाम्भव्या उत्तरस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
द्विसहस्रैरनामाख्यैर्युक्ता एताश्च शक्तयः ।।'

शाम्भवी अपनी सामर्थ्य के कारण ही ऊर्ध्वरूप में स्थित है—

* 'स्वयमूर्ध्वाऽऽकारेण ।।१४।। *

'पराविद्या महेशानि ! परा प्रासाद इत्यपि ।
तथैव शाम्भवी प्रोक्ता एतास्तस्याश्च सेवकाः ।
परिवाराः सहस्रार व्यास्तासां ताः परिसेविकाः ।'

भगवती महात्रिपुर सुन्दरी **'चिन्तामणिगृह'** में समासीन रहती हैं और अनुत्तरा महाविद्या हैं—

* 'अथ चिन्तामणिगृहस्थिता त्रिपुरसुन्दरी महाविद्याऽनुत्तरा ।।१५।।[१] *

भण्डासुर के वध के उद्देश्य से एक विद्या ही विविधाकाराकारित बन गई—

* 'भण्डासुरहननार्थमेकैवाऽनेका ।।१६।।' *

इसी के कारण मंत्र, यंत्र एवं तंत्र में भी भेद हैं—

* 'तया मन्त्रा अनेकाश्च तथा यन्त्र तन्त्राणि ।।१७।।' *

भगवती की उपासना में **'भक्ति' का भी मुख्य स्थान है**—

* 'विविधभक्तिर्विविधोपासनम् ।।१८।।' *

इस उपासना से साधकों को उनके इष्ट फल भी प्राप्त होते हैं—

* 'तस्मात् फलान्यनेकानि ।।१९।।' *

'श्रीसदन' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए गौड़पादाचार्य कहते हैं—

* 'क ग ज दशारद्वय मन्वस्राष्टदल स्वरपत्रत्रिवृत्त भूबिम्ब संज्ञा कथितं श्रीसदनम्।।२०।।'*

पञ्चाम्नाय देवता एवं उनके परिवार—

लोपामुद्रा तु सौभाग्य महाविद्या तु **षोडशी** ।
दाराः परशिवस्येति ता एतास्तु वरानने ।
श्यामला शुद्धविद्या च **अश्वारूढा** वरप्रिये ।
दाराः सदाशिवस्येति ज्ञातव्याः परमेश्वरि,
महार्धाद्वादशार्द्धाऽपि **वाराही बगला** प्रिये ।

१. श्रीविद्यारत्नाकर सूत्रम् (१५)

तुरीया **भुवनेशीति** श्रीपरा **शाम्भवी** प्रिये।
दारा रुद्रस्य ताश्चैव शृणुसत्यं न संशयः।
सा **तिरस्करिणी** लक्ष्मी मिश्रा **कामकला** प्रिये।
विष्णोर्दारा इति ख्याता **अन्नपूर्णा** शिवस्य च।
वाग्वादिनी च बाला च पत्न्यौ ते ब्रह्मणः शिवे
वाराही च सुतस्तस्या **बटुकाख्य** इतीर्यते।
नवदूती हसन्ती च नव सिद्धाश्च देवताः।
अनामाख्या अनेकाश्च सर्वेषां भोगदेवता॥'

गुरु के सदन पर प्रकाश डालते हुए आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

* 'अकथादि त्रिरेखाद्वितत्रिकोणमेव वा श्रीगुरोः सदनम्।' *

'शुकविद्या' एवं **'शारिकाविद्या'** के निम्न लक्षण हैं—

* (क) 'द्विचत्वारिंशद्वर्णविशिष्टा **'शुकविद्या'**।
* (ख) 'अष्टाविंशदक्षर विशिष्टा **'शारिकाविद्या'**।
* **'पञ्चदशीविद्या'** का लक्षण क्या है?
* 'ककारादि पञ्चदशाक्षरसमुचिता कादिपञ्चदशी।
* **कामकला** * खण्डद्वययुता चतुर्थस्वरविशिष्टा कामकला॥९०॥
* **तुर्या** * त्रयोदशविशिष्टा **'तुर्या'**।।९२।।
* **अश्वारूढ़ा** * 'द्वादशाक्षर विशिष्टाऽश्वारूढा॥९४॥[१]
* **मिश्रविद्या** * एकाक्षरविशिष्टा मिश्रविद्या॥९५॥ *
* **शुद्धविद्या** * अक्षरत्रयविशिष्टा **शुद्धविद्या** *[२]
* **वाग्वादिनी** * त्रयोदशशवर्णविशिष्टा वाग्वादिनी॥९६॥ *[३]
* **परा** * एकवर्ण विशिष्टा परा॥९७॥ *
* **भुवनेशी** * एकवर्णविशिष्टा भुवनेशी॥८७॥ *

—०—

१. श्रीविद्यारत्नसूत्रम्
२. श्रीविद्यारत्नसूत्रम्
३. श्रीविद्यारत्नसूत्रम्

* तृतीय अध्याय *

* श्रीविद्या-सिद्धान्त और साधना *

'त्रिपुराशक्तिराद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी।
महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलम्।'

(क) श्रीचक्र और उसका स्वरूप—

विन्दु त्रिकोणवसुकोण दशारयुग्म मन्वश्रनागदलसंयुत षोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणी सदनत्रयं च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः॥

(ख) श्रीविद्या-सिद्धान्त और साधना (परशुराम की दृष्टि)।

श्री यन्त्र

समयाचार मतानुयायियों द्वारा पूजित सृष्टिक्रम
(५ शक्ति-त्रिकोण उर्ध्वमुखी। ४ शिवत्रिकोण अधोमुखी)
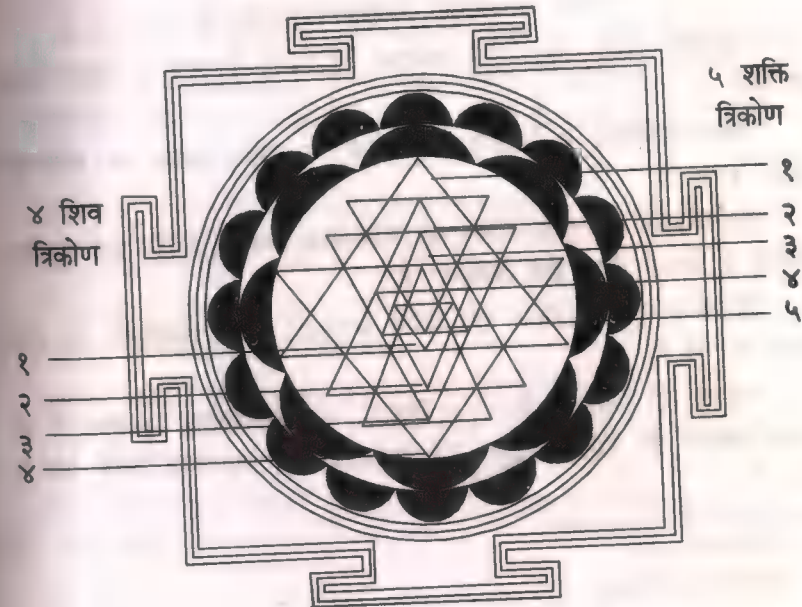
[१] * श्रीचक्र और उसका स्वरूप *

'श्रीचक्र' शिवशक्ति का सम्मिलित स्वरूप है। यह दोनों शरीर है—'शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।'

इसके निर्माण में **'श्रीकण्ठ चक्र'** एवं **'शिवयुवतिचक्र'** सम्मिलित हैं—
'चतुर्भिः श्रीकण्ठैःशिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि ।।'[१]

'यामल तन्त्र' में इसे बिन्दु, त्रिकोण, वसुकोण, दशारयुग्म, मन्वश्र, नागदल, षोडशार, वृत्तत्रय एवं सदनत्रय आदिकी समष्टि के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

'बिन्दु त्रिकोण वसुकोण दशारयुग्म।
मन्वश्र नागदल संयुत षोडशारम् ।।
वृत्तत्रयं च धरणी सदनत्रयं च।
श्रीचक्र राजमुदितं परदेवतायाः ।।'

*** 'शक्तिचक्र' किसे कहते हैं?**

शक्तित्रिकोणमष्टकोण च दशकोण द्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि **शक्तिचक्राणि** पञ्च च ।।'

*** 'शिवचक्र' किसे कहते हैं?**

'बिन्दुश्चाष्टदलं पद्म पद्मं षोडश पत्रकम्।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ।।'

'वृत्तत्रय' बिन्दु, विसर्ग एवं सामरस्य की समष्टि के रूप में चित्रित किया गया है।

स्वतन्त्रानन्दनाथ ने 'श्रीमातृकाचक्रविवेक' में इसके स्वरूप पर सविस्तार प्रकाश डाला है।

स्वतन्त्रानन्द की दृष्टि—शिव की अभेदात्मक (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति) दशाओं के बोधक तीन **'शैव त्रिकोण'** हैं।

भेदात्मक सुषुप्ति, स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थायें तीन **'त्रिकोणों'** के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।[२]

स्थूलतः तो 'श्रीचक्र' में—४३ त्रिकोण, ३४ कमलदल, ३ वृत्त। ये ही **'शाक्तत्रिकोण'** हैं। **'शिवत्रिकोण'** एवं **'शाक्तत्रिकोण'** अन्योन्य श्लिष्ट रूप में स्थित हैं।

---
१. सौन्दर्यलहरी (२)
२. 'श्रीमातृकाचक्रविवेक'

जब **'विसर्ग'** उन्मेष होता है तब कारण रूप चित् तत्त्व कार्यरूप चैत्य से आच्छादित हो उठता है अतः चित्तत्व की प्रच्छन्नता के प्रदर्शनार्थ 'शिवत्रिकोणों' को अधोमुखी के स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता है तथा क्रियात्मक विसर्ग शक्ति के भेदरूप बहिरूल्लास को ऊर्ध्वमुखी शाक्त त्रिकोणों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

जब 'श्रीचक्र' को **'सृष्टिक्रम'** के अनुसार चित्रित किया जाता है तब ज्ञानात्मक बिन्दु आच्छादित हो जाता है अतः **शिवचक्रों को 'अधोमुख' चित्रित किया जाता** है।

जब 'श्रीचक्र' को **'संहारचक्र'** की दृष्टि से चित्रित किया जाता है तब बिन्दु के उन्मेष के कारण क्रियाशक्ति का संहार हो जाता है अर्थात् बिन्दु के अन्तः में लय हो जाता है। अतः शक्ति की लयावस्था रूप अपकर्ष को द्योतित करने के उद्देश्य से **'शक्तिचक्रों' को अधोमुख चित्रित किया जाता है।** इसके साथ ही उत्कर्ष का भाव व्यक्त करने के उद्देश्य से 'शिव त्रिकोणों' को **'ऊर्ध्वमुखी' चित्रित किया जाता है।**

श्रीचक्रान्तर्गत अन्य चक्रावयवों की सृष्टि

'श्रीचक्र' के अन्तर्गत **'शाक्तत्रिकोणों'** एवं **'शिवत्रिकोणों'** के संश्लेष द्वारा—(१) **'अष्टकोण'**, **'दशारकोण'**, एवं **'चतुर्दशार'** का आविर्भाव हुआ करता है।

जब शिव विसर्ग व्याप्ति में प्रवृत्तिमार्ग का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब भेदात्मक **'सुषुप्ति' 'जाग्रत'** एवं **'स्वप्न'** के द्योतक—**'चतुर्दशार'**, **'दशारद्वय'** एवं **'अष्टारचक्र'** को क्रमशः प्रदर्शित किया जाता है। ये ही **शाक्त त्रिकोण** के नाम से अभिहित किये जाते हैं।

जब **'बिन्दु'** व्याप्ति में निवृत्तोन्मुख होकर यात्रा करता है तब वही **'अष्टकोण' 'दशारद्वय'** एवं **'चतुर्दशार'** चक्रों के स्वरूप में—

(१) अभेद जाग्रत (२) अभेद स्वप्न एवं (३) अभेद सुषुप्ति के ज्ञापक बन जाते हैं और **'शिवत्रिकोण'** कहलाते हैं।

'शशि', 'सूर्य' एवं 'अग्नि'—

[१] पशुदशा—

(क) **'पशुदशा'** में जड़त्व रहता है अतः इस दशा में स्थित 'सुषुप्ति' को **'शशि'** कहा जाता है।

(ख) प्रकाशात्मक होने के कारण जाग्रत अवस्था को **'सूर्य'** कहा जाता है।

(ग) चैत्य के संहारक होने के कारण—'स्वप्न' को **'अग्नि'** कहा जाता है।

[सुषुप्ति = **'शशि'**। जाग्रत अवस्था = सूर्य।। 'स्वप्नावस्था = **'अग्नि'**]

[२] **'शिवदशा'**—

(१) 'शिवदशा' में अभेदात्मक (एक रसात्मक) **'जाग्रत', 'स्वप्न'** एवं **'सुषुप्ति'**—विश्व की संहारकत्मक दशा द्योतित करने के कारण—**'अग्नि'** कहे गए हैं।

(२) **'पशुदशा'** में—शशि **'प्रमाता'** है, वह्नि **'प्रमेय'** है और क्रियात्मक सूर्य **'प्रमाण'** है।

(३) इसके विलोम क्रम के फलस्वरूप **'शिवदशा'** में अग्नि **'प्रमाता'**, शशि **'प्रमेय'** एवं ज्ञानात्मक तुर्यावस्था **'प्रमाण'** है।

सारांश—उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार निरूपित किए जाने पर—

'पशुपद' में सुषुप्ति अवस्था के द्योतक **'चतुर्दशार'** को **'प्रमातृपुर'**, **'सुषुप्तिपद'** एवं **'सौम्यखण्ड'** कहा जाता है।

इसी प्रकार 'दशारद्वय' को **'जाग्रतखण्ड' 'प्रमाणपद'** एवं **'सौरखण्ड'** कहा जाता है। एवं 'अष्टारचक्र' को **'प्रमेयपद' 'अग्नि'** एवं **'प्रमेयपुर'** कहा जाता है।

(१) **जड़ात्मक संसरण की अन्तिम सीमा**—यहाँ जीव प्रतिष्ठित है और यह है **'जाग्रतावस्था'।**

(२) **जड़हीन (चेतन संसरण की अन्तिम सीमा**—यहाँ शिवपद प्रतिष्ठित है और यह है **'सुषुप्त्यवस्था'**।

(३) **तुर्यात्मक परशम्भुपद या 'समपद'**—जहाँ शिव प्रतिष्ठित हैं उस जड़ता-शून्य पद को ही **'तुर्यात्मकपरशम्भुपद'** या 'समपद' कहते हैं।

अतः इसे जाग्रत एवं सुषुप्ति दोनों के मध्य स्थित अवस्था कहा गया है।

यह 'मध्यपद' सन्धिरूपात्मक है तथा विकल्प-निर्विकल्प अवस्था के मध्य स्थित है।

अभेदात्मक विकल्पपद **'जाग्रत'** है और निर्विकल्प अवस्था **'सुषुप्ति'** है। इसी दृष्टि से यह कहा जाता है कि 'विकल्प' एवं निर्विकल्प के मध्य समान रूप से व्यापक होने के कारण परशम्भुस्वरूप **'तुर्यावस्था'** की अनुभूति जाग्रतावस्था एवं सुषुप्त्यवस्था के मध्य अवस्थित है।

यह **'मध्यपद'** क्या है? यह प्राणापन की सन्धि-अवस्था है।

'योगवसिष्ठ' में कहा गया है कि—

'प्राणक्षय पदान्तस्थमपानक्षयकोटिगम्।
अपानप्राणयोर्मध्यं चितादात्मानमुपास्महे ।।'

यही 'रहस्यमार्ग', 'समयाचार' एवं 'सिद्धान्त' तथा 'हठयोग' का भी लक्ष्य है।

विकल्पाविकल्प उभयात्मक **'मध्यमपद'** से ही (१) विकल्प एवं (२) निर्विकल्प दोनों का आविर्भाव हुआ करता है।

सुषुप्ति खण्ड के पञ्चम एवं षष्ठम सूत्र में 'मध्यपद' को **'समपद'** तथा द्विविध विषम पदों के रूप में निरूपित किया गया है।

तृतीय खण्ड के चतुर्थ एवं पञ्चसूत्रों में **'परावागात्मक विमर्श'** को 'अहंता' एवं 'इन्दता' का समत्व कहा गया है।

श्रीचक्रान्तर्गत यह 'समपद' बिन्दु त्रिकोण चक्र के द्वारा लक्षित है। यह उभयात्मक चक्र 'बिन्दु' एवं 'विसर्ग' (शिव शक्ति का सामरस्यात्मक स्वरूप) का द्योतक है।

शिव का लक्षक वर्ण है 'क्ष'। शक्ति का द्योतक शब्द (शक्ति का जीव रूप में बोधक) 'म' है। अतः 'मध्यपद' को पञ्चम खण्ड में **'त्रिपुरेश्वरी'** कहा गया है औश्र **मकारात्मक जीव** तथा **क्षकारात्मक** शिव का सामरस्य होने के कारण त्रिपुरश्वरी को **'क्ष्मात्माङ्गिनी'** कहा गया है।

रहस्य सिद्धान्तानुसार तीनों दशाओं (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति) में एकरस चित्-अचित् तत्त्वों का जडात्मक एवं अजडात्मक **द्विविध स्पन्द होते हैं।** यही द्विविध स्पन्द युगपद् प्रवर्वितत होने के कारण **'यामल'** कहे जाते हैं।

जड़ाजड़ स्पन्द एकरस होते हैं। (अन्योन्यव्यापी होते हैं।) इसे **'सामरस्य'** कहते हैं।

सारांश यह है कि—प्रत्येक अवस्था में **स्पन्दयुग्म, यामलत्व** एवं **सामरस्य** आविर्भूत हुआ करते हैं। इसी दृष्टि को 'श्रीचक्र' के सन्दर्भ में सुषुप्ति आदि दशाओं के व्यञ्जक **'चतुर्दशार'** आदि चक्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सम्पूर्ण 'श्रीचक्र' की रचना इस प्रकार है—

(१) प्रथमतः लाल **'बिन्दु'** है। फिर उसके ऊपर,

(२) **एक** अधोमुखी **'त्रिकोण'** है। उसे ऊपर,

(३) **आठ त्रिकोण** बने हुए हैं—'अष्टार'।

(४) ('अष्टार' के ऊपर) **१० त्रिकोण** हैं—(बहिर्दशार हैं)

(६) ('बहिर्दशार' के ऊपर) **१४ त्रिकोण हैं**—(चतुर्दशार हैं) अर्थात् **१४ त्रिकोणोंका एक चक्र है।**

(७) 'चतुर्दशार' के ऊपर आठ पद्मदलों का एक चक्र है ('अष्टदलपद्म')—इसी का नाम है।

(८) (अष्टदलपद्म के ऊपर) **१६ दलों का कमल है।** इसे ही **'षोडशदलपद्म'** कहते हैं।

(९) (षोडशदलपद्म के ऊपर) **वृत्तत्रय** एवं उसके ऊपर 'चतुरस्र' है।

१. * चतुर्दशार चक्र *

स्वातन्त्रानन्दनाथ की दृष्टि—'चतुर्दशार' शब्द दो अक्षरों से व्युत्पन्न हुआ है। (१) चतुर्दश (२) अर।

'चतुर्दश' = १४।। **'अर'** = अक्षर या वर्ण

'चतुर्दशार' = सुषुप्ति अवस्था। सुषुप्ति के द्योतक वर्ण **'स्वर'** हैं। अतएव **'चतुर्दशार चक्र'** हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ एवं औ—वर्णों की समष्टि।

'चतुर्दशार' के भेद

(१) 'अजड़' (प्रथम भाग) ए, ओ (ह्रस्ववर्ण) (बिन्दु की कलायें) = ७ वर्ण।

(२) 'जड़' (द्वितीय भाग) जडात्मक विसर्ग की कलाओं के रूप में ७ दीर्घस्वर—आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, औ = ७ वर्ण
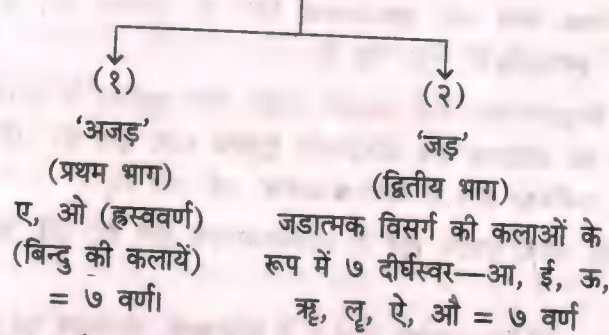
अजड़ एवं जड़ दों के प्रमाताद्वय—बिन्दु-विसर्ग को कलाओं के सहित 'अष्टदलपद्म' एवं 'षोडशदलपद्म' कहा गया है।

'विसर्ग' की प्रधानता की स्थिति में **'विसर्ग'** का बाह्योन्मुखी प्रसरण होता है तथा **'बिन्दु'** उसके अन्तर में व्याप्त होकर स्थित रहता है।

बिन्दून्मेष होने पर बिन्दु-प्राधान्य होने की स्थिति में **'विसर्ग'** बिन्दु के अन्तर में समाविष्ट होता है एवं इस स्थिति में बिन्दु का बाह्योन्मुख अवस्थान रहता है। इस प्रकार **'बिन्दु' एवं 'विसर्ग'** की बाह्य एवं आभ्यन्तर स्थिति को प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

रूप में प्रदर्शित करने के उद्देश्य से व्याप्ति-क्रम में 'बिन्दु' तथा 'विसर्ग' के स्वरूप-निर्वचनार्थ इन्हें (१) मातृका चक्र विवेक **'अष्टदल' एवं 'षोडशदल'** चक्र के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

'सुषुप्ति' क्या है? सुषुप्ति एक विश्रान्ति की अवस्था है जिसमें समस्त विश्व वासना के रूप में अवस्थित रहता है।

'विश्व' का स्वरूप क्या है? विश्व इच्छा-ज्ञान एवं क्रिया की त्रिपुटी की समष्टि है।

(१) 'विसर्ग' की इच्छा का प्रतीक 'इकार' है।

(२) 'बिन्दु' की इच्छा का प्रतीक 'इकार' है।

(३) 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' का प्रतीक = 'ऋ' एवं 'ऌ' है।

'बिन्दु' 'विसर्ग' एवं अकार का सम्बन्ध—

संकोच एवं संकोच-त्याग के कारण 'अकार' ही **'बिन्दु' एवं 'विसर्ग'** के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। (अ→बिन्दु एवं विसर्ग)।।

संकोच = भेद, द्वैत। **संकोच-त्याग** = अभेदस्वरूपता

निष्कर्ष—(१) **'अकार'** ही भेदस्वरूप **'विसर्ग'** है।

(२) **'अकार'** ही अभेदस्वरूप **'बिन्दु'** है।

(३) 'बिन्दु' एवं 'विसर्ग' का सामरस्यपद = **'अकार'** है।

(४) अकार की सहायता के बिना बिन्दु (अं) एवं विसर्ग (अः) का उच्चारण नहीं है।

निष्पन्द सामरस्यपद 'अकार'

'इच्छा', 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' के द्योतक

'इकार', 'उकार', 'ऋकार', 'ऌकार' (का स्पन्द हुआ करता है।)
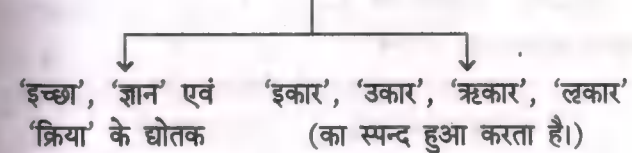
(१) जब यह **'स्पन्द'** विसर्ग रूप में हुआ करता है तब प्रमातृभूत (प्रमाता) विसर्ग रूप में 'अकार' के साथ ही—इकार, ऋकार का विसर्ग प्रमाता की 'इच्छा', 'ज्ञान', एवं 'क्रिया' के द्योतक के रूप में बहिर्मुख रूप में स्पन्दायमान होता है।

(२) जब **बिन्दु रूप अकार** का स्पन्द होता है तब निवृत्ति रूप वर्ण चतुष्टय (अ, इ, ऋ, ऌ) का अकार के गर्भ से आविर्भाव हुआ करता है।

(३) उपनिषदों में कहा गया है कि 'अकार' से ही बिन्दु-विसर्ग का अन्त-बाह्य स्पन्द हुआ करता है।

(४) निःशेष विश्व की पञ्चभूतात्मक सृष्टि भी **'अकार'** से होती है तथा मातृका वर्णों का उद्भव भी अकार से ही होता है। उनकी **विश्रान्तिभूमि** भी **'अकार'** ही है।

'मातृकाचक्रविवेक' के द्वितीय खण्ड के तृतीय सूत्र में **प्राणवायु की अल्पवृत्ति एवं महावृत्ति** के सादृश्य के आधार पर **वर्णों एवं पञ्चमहाभूतों** में भी **सादृश्य स्थापित** किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार—

(क) कण्ठ से उत्पन्न होने वाले वर्ण 'अकार' में प्राण की महावृत्ति है।

(ख) **'अकार'** प्रथमोच्चरित तथा महावृत्तिस्वरूप होने के कारण **'शिवस्वरूप'** है।

'अकारः सर्व वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः॥—कहा ही गया है।

'अकारः वै सर्वावाक्' भी (श्रुति में) कहा गया है।

तांत्रिकों ने **अकार को देवी का अक्षय स्वरूप** भी स्वीकृत किया है—

'वन्देतामहमक्षय्यामकाक्षररूपिणी ॥'

भृर्तहरि की दृष्टि—(शब्द के विषय में)

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'[१]

२. 'श्रीचक्र' का क्या महत्व है ?

(१) ''चक्रराज'' ग्रहस्वरूप है—

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

''रेवादलकोणगर्णर्घटनाच्चक्रे **गणेशत्वम्**।
त्रैलोक्यमोहनाद्यैर्नवभिश्चक्रै**र्ग्रहत्वं** च ॥''

(२) 'चक्रराज' नक्षत्रस्वरूप है—

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

'वृत्तत्रयधरणीत्रयमन्वश्राणां विभज्य गणनेन।
सप्तभिरितरैश्चक्रैश्चक्रे **नक्षत्ररूपत्वम्**।'

(३) 'चक्रराज' योगिनीस्वरूप है—

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

स्थितिसंसृतिचक्रे द्वे पद्मे द्वे वृत्तभूगृहे च द्वे।
एवं षड्भिर्योगाच्छ्रीचक्रं **योगिनीरूपम्**॥९४॥

---

१. वाक्यपदीय
२. वरिवस्यारहस्यम्

३. * दशार द्वय *

श्रीचक्र के अन्तर्गत **'अन्तर्दशार'**एवं **'बहिर्दशार'** नाम के दो दशार (दशार युग्म) अवस्थित है। ये १०-१० वर्णों के हैं। ये जाग्रत अवस्था के प्रतीक हैं।

'दशारद्वय' विसर्गात्मक संसरण की अन्तिम सीमा है। इस अवस्था में **'शिव'** पूर्ण संकोच ग्रहण करके **जीव भाव में अवतरित होते हैं।**

दशार द्वय (जाग्रत अवस्था)

(१) जाग्रत अवस्था से सम्बद्ध है। (जाग्रत अवस्था) का प्रतीक है।

(२) इस अवस्था में शिव द्वारा जीव भाव ग्रहण कर लिया जाता है। (शिव की पूर्ण संकोचावस्था का ज्ञापक

(३) जाग्रत अवस्था के प्रतिबिम्ब दशारद्वय में 'क' से 'न' पर्यन्त २० वर्ण (कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग स्थित हैं

'प्रथम दशार'
माया का प्राबल्य
जड़ाभास, **कवर्ग, चवर्ग**
५ महाभूत ५ तन्मात्रायें
जड़ स्पन्द
कवर्ग पञ्चमहाभूत
चवर्ग पञ्चतन्मात्रायें

'द्वितीय दशार'
ट वर्ग = कर्मेन्द्रियाँ के बोधक
तवर्ग = ज्ञानेन्द्रियों के बोधक

(१) 'स्वप्न' एवं 'सुषुप्ति' दशाओं को पूर्ण संकोच की अवस्था नहीं कह सकते अतः इन अवस्थाओं में स्थूल रूप में पञ्चभूतों का उन्मेष नहीं होता। जाग्रत अवस्था पूर्ण संकोच की अवस्था है। अतः इसी अवस्था में ५ भूतों का उन्मेष हो पाता है।

'विश्रान्तिस्वरूपा' सुषुप्ति की दशा से (१) जाग्रत एवं (२) स्वप्नात्मक द्विविधसंसरण हुआ करते हैं।

कारण रूप सुषुप्ति की अवस्था

(१) जाग्रत संसरण

(२) स्वप्नात्मक संसरण

सुषुप्ति के बोधक ५ वर्ण हैं अ इ उ ऋ ऌ (वर्णपञ्चक)

(जाग्रत एवं पद के बोधक)—स्पर्श अन्तस्थ वर्णों की उत्पत्ति।

(१) **कारण रूप सुषुप्ति के बोधक वर्ण** = अ, इ, उ, ऋ, ऌ।

(२) अ, इ, ऊ, ऋ, ऌ (जाग्रत एवं स्वप्न दशा के बोधक) 'स्पर्श' एवं 'अन्तस्थ' वर्णों की उत्पत्ति होती है।

(३) **अकार आदि वर्णपञ्चक** ईषत् स्पृष्टता (ईषत् संकोच) के कारणयकार आदि **अन्तःस्थ वर्णों के रूप में परिणत हो जाता है।**

(४) इकार का **'यकार'** उका का **'वकार'** के स्वरूप में ईषत् संकोच हो जाता है।

(५) **'अकार'** विसर्ग-प्रमाता का स्वरूप होने के कारण संकुचित नहीं होता।

(६) यही वर्णपञ्चक नितान्त संकुचित होने पर कवर्ग, आदि **वर्गपञ्चक** के रूप में परिणत हो जाता है।

(७) इकार, ऋकार, एवं ऌकार का संकुचित रूप यथाक्रम—चवर्ग, टवर्ग एवं तवर्ग है तथा उकार का संकोच पवर्ग होता है।

(८) ईषत् विवृति का विषय संकुचित होने पर यही स्वर-वर्ण-पञ्चक—श, ष, स, ह ऊष्माण वर्णों का स्वरूप धारण कर लेता है।

(९) (क) **क वर्ग का** ईषत् पूर्णरूप 'शकार' है।

(ख) **ट वर्ग का** ईषत् पूर्णरूप 'षकार' है।

(ग) **तवर्ग का** ईषत् पूर्णरूप 'सकार' है।

(घ) **कवर्ग का** ईषत् पूर्णरूप 'हकार है।

(५) **कारण** रूप आदि वर्णपञ्चक की दशा विशेष कार्यरूप समस्त वर्ण है।

(क) अवरोह में **मकार से पकार** पर्यन्त वर्ण (म। भ। ब। फ। प) क्रमशः (१) आत्मा, (२) मन, (३) बुद्धि, (४) अहङ्कार एवं (५) प्रकृति के बोधक हैं।

(१०) **पवर्ग**—पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्वों का बोधक भी है अतः

(क) 'प्रकृति'—पृथ्वी का अंश

(ख) 'अहंकार'—जल का अंश

(ग) 'बुद्धि'—अग्नि का अंश

(घ) 'मन'—वायु का अंश

(ङ) 'पुरुष'—आकाश का अंश

(११) इसी प्रकार कवर्ग आदि **वर्गचतुष्ट** में भी प्रथम वर्ण से अन्तिम वर्ण तक पृथ्वी आदि तत्त्वों का रूप प्रतिपादित किया गया है।

(१२) प, फ, ब, भ वर्ण चतुष्टय—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग द्वारा बोध्य पृथ्वी आदि तत्त्वों के बीज हैं। अतः 'श्रीचक्र' के अन्तर्गत **पवर्ग** के चार वर्णों को **'रवि'** के बिम्बस्वरूप होने के कारण **'चतुरस्र चक्र'** द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

(१३) दशारयुग्म में प्रदर्शित कलाएँ सूर्य की रश्मियों का स्वरूप है तथा चतुरस्र में प्रदर्शित कलाएँ बिम्बरूप हैं।

(१४) स्पर्शकदम्बक के २४ वर्णों को **'प्रथमदशार'**, **'द्वितीयदशार'** एवं **'चतुरस्र'** नामक तीन चक्रों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

४. * स्पन्दत्रय एवं चक्र *

(१)	(२)	(३)
प्रथम दशार	द्वितीय दशार	('चतुरस्र')
(अचित् स्पन्द)	(चित् स्पन्द)	चिद्चित् उभयात्मक स्पन्द
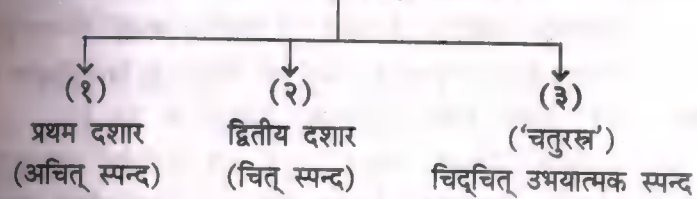
(१५) जाग्रत अवस्था की **अनुभूति भेदात्मक** हुआ करती है।

(१६) जाग्रत अवस्था में **'बिन्दु'** विसर्ग के अन्तः में लीन रहता है फिर भी **'बिन्दु'** की सत्ता से ही **'विसर्ग'** का अस्तित्व है।

(१७) विसर्गावस्थाने बिन्दु एवं विसर्ग की पृथकता रहती है अतः भेदात्मक अनुभूति हुआ करती है।

चतुर्दशार की भाँति जाग्रदात्मक सौरखण्ड में भी बिन्दु एवं विसर्गात्मक प्रमाताद्वय के चतुरस्र चक्र द्वारा चित्रित किया गया है।

५. * अष्टार चक्र *

अष्टार चक्र का स्वरूप—

(१) **'स्वप्नावस्था'** का प्रतिबिम्ब 'अष्टारचक्र है।

(२) इसमें यकार से शकार पर्यन्त आठ वर्णों का सन्निवेश है।

(३) यकार से शकार पर्यन्त वर्णाष्टक अग्नि की अष्ट कलाओं के रूप हैं।

(४) यह **'संहारदशा'** है। इसमें जाग्रत आदि की क्रिया के स्वरूप का संहार हो जाया करता है।

(५) 'अष्टार' के भाग

(१) जड़ भाग — (२) अजड़ भाग
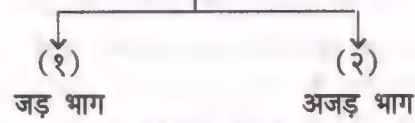
(६) इन भागों के द्वारा चित् एवं चैत्यात्मक स्पन्द युग्म का अवबोध होता है।

(७) य, र, ल एवं व वर्ण—वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी के बीज हैं। ये ईषत् सृष्टि के कारण जडात्मक हैं अतः भेदात्मक हैं।

(८)श, ष, स, ह—शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव एवं शक्तितत्वों के ज्ञापक हैं। ये ईषत् विवृत्ति के कारण चिद्रूप हैं।

(९) 'अष्टारचक्र' 'प्रमातृपुर' 'स्वप्नपद' या **'आग्नेय खण्ड'** भी कहलाता है।

(१०) 'अष्टार चक्र' के प्रमातद्वय 'बिन्दु' एवं 'विसर्ग' हैं। बिन्दु-त्रिकोण अग्नि का बिम्ब रूप है। 'अष्टार' अग्नि की रश्मिरूप कलाओं का चक्र है।

(११) 'सुषुप्ति', 'जाग्रत', 'स्वप्न', 'तुर्य, एवं 'तुर्यातीत' अवस्थाओं के द्योतक—**'चतुर्दशार', 'दशारद्वय', 'अष्टार चक्र'** एवं **'त्रिकोणबिन्दु चक्र'** हैं।

(१२) जो दार्शनिक चार दशायें ही स्वीकार करते हैं उनकी दृष्टि से 'बिन्दु-त्रिकोण' एक चक्र है। **पञ्चम अवस्था** भी स्वीकार करने वाले कहते हैं तथा तुर्य को विकल्पात्मक मानने के कारण निर्विकल्प नहीं मानते वे **'तुर्यातीतावस्था'** (पञ्चमावस्था) को ही सर्वथा निर्विकल्पात्मक स्वीकार करते हैं।

इस स्थिति में 'त्रिकोण' एवं 'बिन्दु' पृथक-पृथक चक्र माने जाते हैं। इस प्रकार

(क) 'त्रिकोण' तुर्य का द्योतक है।

(ख) 'बिन्दु' तुर्यातीत अवस्था का द्योतक है।

आचार्य पुण्यानन्द की दृष्टि—आचार्य पुण्यानन्द कहते हैं कि अष्टकोणों वाला चक्र जो कि **'श' 'ष' 'स'** एवं पवर्ग से मिलकर निर्मित होता है—

"अम्बिकारूपमेवेद**मष्टारस्थं** स्वरावृतम् ॥ (यो०हृ०)

'अष्टकोणचक्र' ही **'सर्वरोगहरचक्र'** है। यह वसुकोण है। यह मध्यत्रिकोण का विकास मात्र है।

'अष्टकोणों वाला चक्र मध्यकोण का विस्तार है—'श ष स पवर्गमयं तद्वसुकोण मध्यकोण विस्तारः' में ९ कोण बिन्दु के साथ मिलकर **'दशक'** का निर्माण करते हैं जो कि चित् के प्रकाश से प्रकाशित है।

शरीर स्थान	चक्र का नाम	श्रीचक्र के अंग का नाम	दल संख्या	श्रीचक्र के अंगो का अन्य नाम
(१) भ्रूमध्य	'आज्ञाचक्र'	'सर्वानन्दमय'	'द्विदल'	'बिन्दु'
(२) लम्बिका	'इन्द्रयोनी'	'सर्वसिद्धिप्रद'	'अष्टदल'	'त्रिकोण'
(३) कण्ठस्थल	'विशुद्धिचक्र'	'सर्वरोगहर'	'षोडशदल'	'अष्टकोण'
(४) हृदयप्रदेश	'अनाहत चक्र'	'सर्वरक्षाकर'	'द्वादशदल'	'अन्तर्दशार'
(५) नाभिप्रदेश	'मणिपूर'	'सर्वार्थसाधक'	'दशदल'	'बहिर्दशार'
(६) बस्ति	'स्वाधिष्ठान'	'सर्वसौभाग्यदायक'	'षडदल'	'चतुर्दशार'
(७) मूलाधार चक्र	'मूलाधार'	'सर्वसंभोषण'	'चर्तुदल'	'अष्टदल'
(८) तदधोदेश	'कुल'	'सर्वाशापरिपूरक'	'षड्दल'	'षोडशदल'
(९) तदधोदेश	'अकुल'	'त्रैलोक्यमोहा'	'सहस्रदल'	'भूपुर'[१]

[२] * श्रीविद्या की उपासना में 'श्रीयंत्र' एवं उसके चक्रों की उपादेयता *

प्रश्न—श्रीविद्या की उपासना में श्रीयंत्र एवं उसके अङ्गभूत 'बिन्दु', 'त्रिकोण', 'दशार', 'चतुर्दशार', 'अष्टदलपद्म', 'षोडशदल' एवं 'वृत्तत्रय' के ज्ञान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—(१) 'श्रीयंत्र' की पूजा (२) **सहस्रनाम** का पाठ एवं (३) 'श्रीविद्या' का **जप** ही तो "श्रीविद्या" की प्रधान पूजा है अतः "श्रीयंत्र" एवं तन्निहित चक्रों की उपादेयता स्वतः सिद्ध है।

(१) **योगिनीहृदयकार की दृष्टि**—'यागिनीहृदय' में 'चक्रेश्वरीसमायुक्त' नवचक्रों का श्रीविद्या की पूजा में परिचिन्तन आवश्यक है—

'अकुलादिषु पूर्वोक्त स्थानेषु परिचिन्तयेत् ।
चक्रेश्वरी समायुक्तं नव चक्रं पुरोदितम् ॥'[२]

अकुलादि स्थान (९ चक्रों के स्थान)

(१) 'अकुल — (२) वह्नि — (३) शाक्तनाभि — (४) — (५) अनाहत — (६) विशुद्ध — (७) लम्बिकाग्र — (८) भ्रूमध्य — (९) इन्दु

—(९ चक्रों के स्थान।)

---
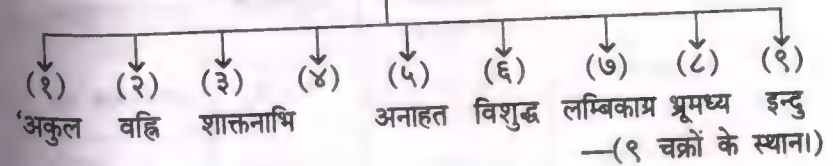
१. नवत्रिकोण स्फुरित प्रभारूप दशारकम् ।
शक्त्यादिनवपर्यन्तदशार्णस्फूर्ति काकम् ॥

२. योगिनीहृदयदीपिका (मंत्रसंकेत)।

योगी अमृतानन्द कहते हैं—

(१) 'आदि शब्देनाष्टौ 'वह्नि'-'शाक्त'-'नाभि'-'अनाहत'-'विशुद्ध'-'लम्बिकाग्र'-'भ्रुवोरन्तर'-'इन्दवो' गृह्यन्ते।

(२). 'पुरोदितं चक्रसङ्केतोदितं नवचक्रं चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रेश्वर्याधिष्ठितं परिचिन्तयेत।[१]

भास्करराय मखिन कहते हैं—

(१) 'अकुलं विषुराधार स्वाधिष्ठानंथ मणिपूरमनाहतं विशुद्धिरिन्द्रियोनिराज्ञा चेति नवस्थानेष्वपि क्रमेण तत्तद्विधान्ते तत्तच्चक्रेश्वरी तत्तच्चक्रनामनी उल्लिख्य न्यसेत्। 'अं आं सौः त्रिपुरासहिताय त्रैलोक्य मोहनचक्राय नमः''—इत्यादयो मन्त्रा ऊह्याः।। **बाह्याङ्गे**षुतत्तन्मन्त्रान्तेऽनामिकाङ्गुष्ठायाँ स्पर्शरूपो न्यासः। आन्तराङ्गेषु तु स्पर्शासंभवाच्चिन्तनरूप एवेत्याशयने परिचिन्त ये दित्युक्तम् ।।'

(२) उक्तं च **'दक्षिणामूर्तिसंहितायाम्'**

'पुष्पैर्वाऽनामया वाऽपि मनसा वा न्यसेदणाम् ।।'

(३) 'अत्र च देवता शरीरे न्यासदशायां **पुष्पैः** स्वस्य बहिः शरीरे न्यासदशाया**मनामया**, स्वस्यैवान्तः शरीरे न्यासदशायां **मनसेति** व्यवस्थितविकल्पार्थो वा शब्द इति सम्प्रदायः।।'[२]

संख्या	चक्र-स्थान (१)	पद्मदल (२)	अधिष्ठात्री (३)	चक्र का नाम (४)
(१)	'अकुल' सुषुम्ना के मूल में स्थित	सहस्रदल (अरुण वर्ण का सहस्रदल कमल)	त्रिपुरा	'त्रैलोक्यमोहन' चक्र
(२)	'वह्नि' का आधार	चतुर्दलपद्म	त्रिपुरेशी	'सर्वाशापरिपूरकचक्र'
(३)	'शाक्त'	षड्दलपद्म	त्रिपुरसुन्दरी	'सर्वसंक्षोभणचक्र'
(४)	'नाभि'	'दशदलपद्म' (मणिपूरक)	त्रिपुरवासिनी	'सर्वसौभाग्यदायक चक्र'
(५)	'अनाहत'	'द्वादशदलपद्म' (अनाहत)	त्रिपुराश्री	'सर्वार्थसाधक चक्र'
(६)	विशुद्धि/विशुद्ध	षोडशदलपद्म (विशुद्धाख्यचक्र)	त्रिपुरमालिनी	'सर्वरक्षाकरचक्र'

१. योगिनीहृदयदीपिका
२. सेतुबन्ध (मन्त्रसंकेत ८)

संख्या	चक्र-स्थान	पद्मदल	अधिष्ठात्री	चक्र का नाम
(७)	तालुमूल/ लम्बिकाग्र	'अष्टदलकमल'	त्रिपुरासिद्धि	'सर्वरोगहरचक्र'[१]
(८)	भ्रूद्वय का मध्य स्थान	द्विदलपद्म	त्रिपुराम्बिका	'सर्वसिद्धिप्रदचक्र'
(९)	ललाट या इन्दु स्थान	(बिन्दु में) बिन्दु चक्र	महात्रिपुर सुन्दरी	'सर्वानन्दमयचक्र' 'इन्दौ ललाटे बिन्दौ महात्रिपुर सुन्दर्यधिष्ठितं सर्वानन्दमयं चक्रं भावयेत्।'[१]

'योगिनीहृदय' में इन चक्रों/पद्मों की अधिष्ठात्री शक्तियों के नाम इस प्रकार उल्लिखित हैं—

'तासां नामानि वक्ष्यामि यथानुक्रमयोगतः।
तत्राद्या त्रिपुरादेवी द्वितीया त्रिपुरेश्वरी।
तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी त्रिपुरसुन्दरी।
चतुर्थी च महादेवी देवी त्रिपुरवासिनी।
पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात् षष्ठी त्रिपुरमालिनी।
सप्तमी त्रिपुरासिद्धिरष्टमी त्रिपुराम्बिका।
नवमी तु महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी।
पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते।।'[३]

योगीअमृतानन्द कहते हैं कि पूजन-क्रम यह है कि त्रैलोक्यमोहन चक्र से आरम्भ करके प्रत्येक चक्र की यथाक्रम पूजा करनी चाहिए—

'त्रैलोक्यमोहनं चक्रमारभ्य प्रतिचक्रमेकैकं क्रमेण पूजयेत्।।'[४]

यद्यपि इस शक्ति को ९ आकारों में (९ अधिष्ठात्रि शक्तियों के रूप में) पूजा जाता है किन्तु तत्त्वतः मूल शक्ति तो एक ही है जो कि—'एकाकारा', 'आदिशक्ति', 'अजरा मरणकारिणी' कहा गया है—

'एवं नवप्रकाराद्या पूजाकाले तु पार्वति।
एकाकारा ह्याद्यशक्तिरजरामरकाणी।।'[५]

१. सेतुबन्ध
२. योगिनहृदयदीपिका (८)
३. योगिनीहृदय (मंत्रसंकेत)
४. योगिनीहृदयदीपिका (मंत्रसंकेत)
५. योगिनीहृदय (मन्त्रसंकेत)

सकलवर्णादिभूत प्रकाशात्मा परशिव की पराशक्ति विमर्शरूपा है, एकाकारा है और **'परापूजा'** के समय वह उसी एकाकारा रूप में ही भावित है—

'सकलवर्णादिभूतस्य प्रकाशात्मनः परशिवस्य शक्तिर्विमर्शरूपिणी **एकाकारा** परापूजा काले।'[1]

इसी बात को और सुस्पष्ट करते हुए **भास्करराय** कहते हैं—

'आद्यस्य शिवस्य शक्तिरप्याद्या पूजाकाले नवप्रकाराऽपि वस्तुत एकाकारैव।'[2]

पुण्यानन्द कहते हैं—दशक के दो प्रकाश १०-१० कोणों वाले दो चक्रों के रूप में फैले हुए हैं। जिनके आन्तर १० कोणों के समूह तवर्ग एवं टवर्ग तथा बाह्य १० कोणों के समूह चवर्ग एवं कवर्ग को प्रदर्शित करते हैं।

इन प्राथमिक चार चक्रों के प्रकाश **'बहिर्दशार'** चक्र संयुक्त हैं। फिर १४ कोणों वाला यह चक्र प्रकट होता है जिसमें 'अ' से लेकर अन्य १४ स्वर स्थितहैं।[3]

कवर्ग से आरंभ होने वाले अक्षरों के अष्टवर्ग जो कि वैखरी शक्तिरूपात्मक हैं, **'अष्टदलकमल'** ('सर्वसंक्षोभणचक्र) के दलों पर स्थित हैं और **'षोडशदलपद्म'** के दलों पर स्वरगण स्थित हैं।

अष्टदल एवं **'षोडशदलपद्म'** के दलों पर स्वरगण स्थित हैं। अष्टदल एवं षोडशदल के ऊपर तीनवृत्त बिन्दुत्रय से उद्भूत तेजस्त्रय के विकार हैं अर्थात् सूर्य-सूर्य-अग्न्यात्मक हैं। ये तीनों वृत्त **भूपुर** में अब स्थित हैं जहाँ कि पश्यन्ती प्रभृति तीन माताएँ विश्राम ग्रहण करती हैं।[4]

'पदक्रम' पदविक्षेप' एवं 'क्रमोदय' के रूप में स्थित है। यह **आवरणशक्ति** एवं **'गुरुमण्डल'** के रूप में द्विप्रकारक है। ये दोनों माता त्रिपुरा के चरण पद्मों के प्रसरण (गति) हैं।

आवरणदेवता क्या हैं? वही परामहेशी **जब चक्र के रूप** में परिणत हो जाती है तब उसके शरीरावयव आवरण देवता के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। वे त्रिपुरसुन्दरी देवी बिन्दुत्रय चक्र (सर्वानन्दचक्र) में आसीन हैं और कामेश्वर के क्रोड में अवस्थित हैं।

---

१. योगिनहृदयदीपिका (८)
२. सेतुबन्ध (मं०सं० १३)
३. कामकलाविलास
४. कामकलाविलास
५. कामकलाविलास

त्रिपुर भैरवी
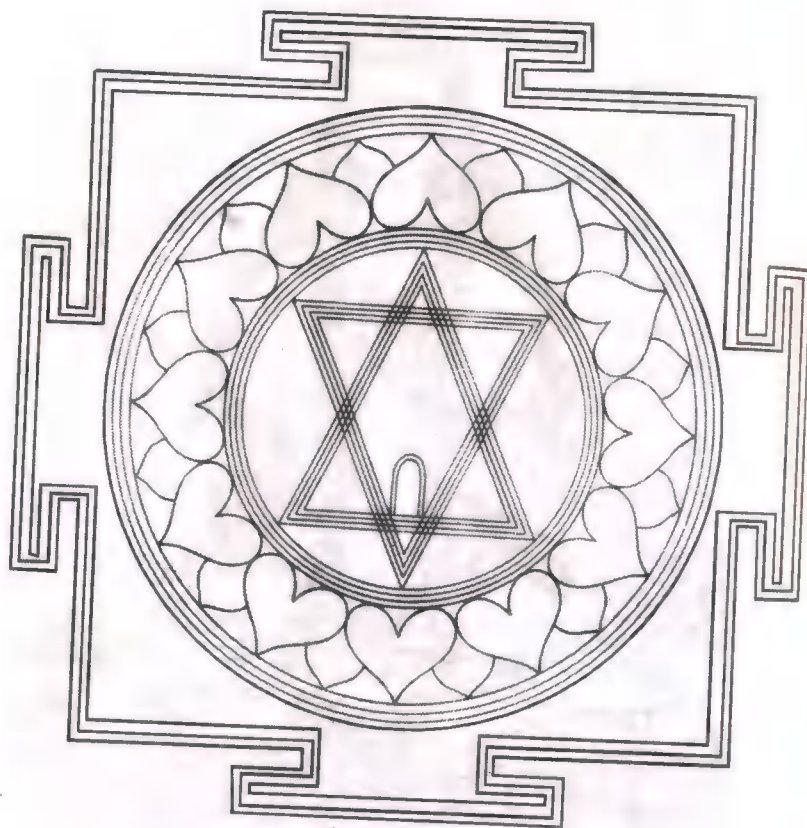
त्रिपुर सुन्दरी यन्त्र
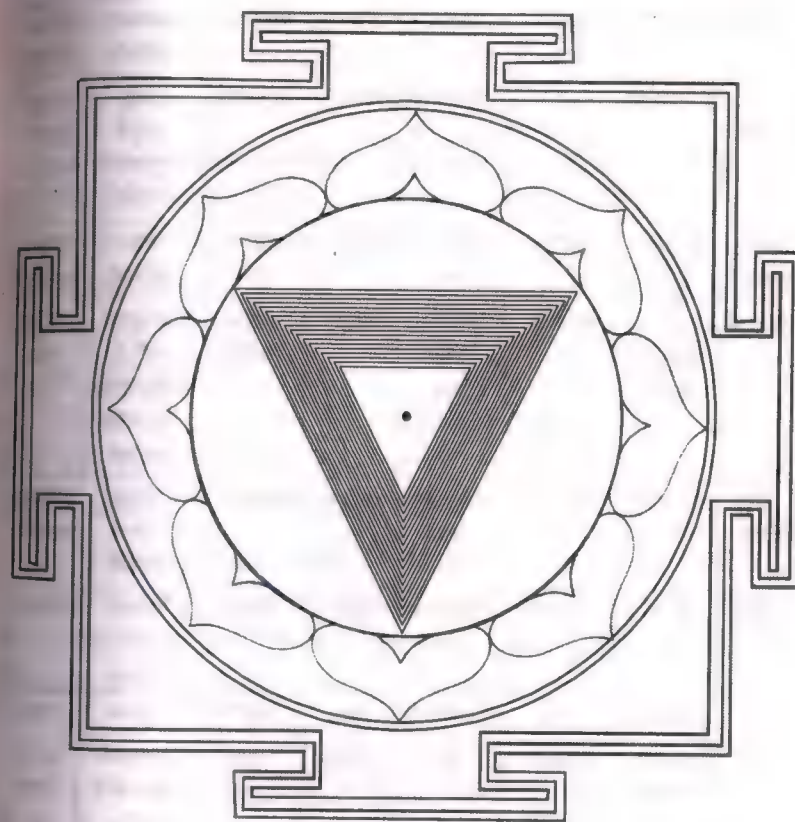
त्रिपुर भैरवी यन्त्र

* श्रीचक्र-विवरण *

आवरण क्रम/ एवं	बीज मंत्र	श्रीचक्र के अंगभूत चक्र	अङ्गभूतचक्र का नाम	सिद्धि का नाम	मुद्रा का नाम	योगिनी	अन्त पर्यन्त
१. त्रिपुरा	अं आं सौः	चतुरस्र	त्रैलोक्य मोहन	अणिमा	संक्षोभिणी	अणिमादि प्रकट योगिनी	त्रिखण्डा पर्यन्त
२. त्रिपुरेशी	ऐं क्लीं सौः	षोडश दल	सर्वाशापरि पूरक	लघिमा	विद्राविणी	कामा-कर्षिणी	शरीरा-कर्षिणी
३. त्रिपुर सुन्दरी	ह्रीं क्लीं सौः	अष्टदल	सर्वसंक्षोभण	महिमा	आकर्षणी	अनङ्ग कुसुमां गुप्ततर योगिनी	अनङ्ग कुसुमा मालिनी
४. त्रिपुर वासिनी	हैं ह्क्लीं ह्सौः	चतुर्दशार	सर्वसौभाग्य दायक	ईशित्व	सर्ववशं करी	सर्व-क्षोभिणी	सर्वद्वन्द्व क्षयंकारी
५. त्रिपुराश्री	ह्सैः ह्स्क्लीं ह्सौः	बहिर्दशार	सर्वार्थ-साधक चक्र	वशित्व	सर्वो-न्मादिनी	सम्प्रदाय योगिनी सर्वसिद्धिप्रदा कुलात्तीर्ण योगिनी	सर्वसौभा-ग्यदा
६. त्रिपुर मालिनी	ह्रीं क्लीं ब्लें	अन्तर्दशारं	सर्वरक्षाकर चक्र	प्राकाम्य	महांकुशा	सर्वज्ञा निगर्भ योगिनी	सर्वेप्सित फलप्रदा
७. त्रिपुरा सिद्धा	[illegible] सौः	अष्टकोण	सर्वरोगहर चक्र	भुक्ति	खेचरी	वशिनी रहस्य योगिनी	कौलिनी
८. त्रिपुरा-म्बिका	ह् स्रैं ह्स्क्लीं ह्स्रौं	मध्य त्रिकोण	सर्वसिद्धि प्रदा	इच्छा सिद्धि	सर्वबीज मुद्रा	गुरुत्रय षड्युवती कामेश्वर्या द्वितीय अतिरहस्य योगिनी	आयुध पञ्चदश नित्या
९. महा त्रिपुर सुन्दरी समस्त चक्रेश्वरी	तुरीया विद्या	बिन्दु	सर्वानन्द मय चक्र	प्राप्ति सर्व काम सिद्धि	योनि त्रिखण्डा	महोद्याण पीठ, परापर रहस्य योगिनी[1]	पञ्च पञ्च देवता। षड् दर्शन समय देवता

१. उमानन्दनाथ-नित्योत्सव

[३] तान्त्रिक पूजा में निहित सिद्धान्त—

(१) **तान्त्रिक साधना** मनोविज्ञान के गंभीर सिद्धान्तों पर स्थित है। समस्त तांत्रिक पूजा का मूलाधार **मनोविज्ञान** है।

सरजानवुडरफ ने ठीक कहा है कि—

"Tantric sadhana is based on a very profound knowledge of the principles of psychology."

(२) तान्त्रिक पूजा का उद्देश्य अद्वैतानुभुति है—

'The object here is the realization of the unity of the jivatma with the Mother or Devi"

(३) यहाँ पूजा या उपासना का मूल लक्ष्य जीवात्मा का जगन्माता (या देवी) के साथ ऐकात्म्य एवं एकता की अपरोक्षानुभूति है—सत्य का साक्षात्कार, केवल मौखिक आदेशों से प्राप्त नहीं हो सकता। **बिना स्वानुभूति के सत्य का** ज्ञान प्राप्त कर पाना असंभव है।

(४) **प्रकृति** में जो भी स्थित हैं वे समस्त पदार्थ एवं शरीर में जो भी विद्यमान हैं वे सभी वस्तुएँ 'शक्ति' के देवपक्ष से सम्बद्ध हैं—"Mother the devata aspect, a Sakti." और सभी शक्तिरूप हैं।

(५) यह समस्त **विश्व जगन्माता का शरीर है**। सब कुछ 'शक्ति' ही है चाहे वह अपने स्वस्वरूप में अवस्थित जगन्माता हो या वह विश्व के प्रत्येक पदार्थ के रूप में अवस्थित हो। कोई भी पदार्थ आत्मा से पृथक कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है—"Mother is not something wholly apart from Spirit or God"

(६) सत्य तो यह है कि ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है।

(७) ब्रह्मस्वरूप विशुद्ध आत्मा है और इसकी शक्ति जो कि अपने को विश्व के रूप में अभिव्यक्त करती है, वह स्थूल रूप में व्यक्त होकर भी 'Material form" में परिणत होकर भी—वही आत्मा है।

'आद्याशक्ति' ही संसार के चाराचर, जड़-चेतन, पदार्थ एवं आत्मा आदि सभ रूपों में प्रसृत है।

'सोऽहम्' की (She I am) की अनुभूति ही पूजा की सफलता है। साधक निम्न एवं उच्चतर शक्तियों की उपासना करते हुए अन्त में सर्वोच्च शक्ति (जगन्माता) की उपासना करता है।

जगन्माता को छोड़कर संसार में अन्य कोई पदार्थ नहीं है। पिता अपनी पत्नी के माध्यम से पुत्र के रूप में जन्म लेता है अतः माता भी पुत्र के रूप में प्रविष्ट हो जाती है अतः सर्वत्र शक्ति ही शक्ति है।

कामेश्वर 'कामेश्वरी' से अपृथक या एकीकृत है। साधक अपने को देवी के साथ एकीकृत या अभिन्न मानता है।

मानव स्वयं एक 'श्रीयन्त्र' है। और साधक अपने को ऐसा अनुभव भी करता है। अनुभूति की यह दृढ़ता निरन्तराभ्यास से ही प्राप्त हो पाती है।

तांत्रिक देवता के मण्डल का ध्यान करता है।

सरजान वुडरक ने ठीक ही कहा है कि श्रीचक्र की साधना का उद्देश्य ज्ञाता (होता) (ज्ञान (अर्घ्य) एवं ज्ञेय (हविष) में अभिन्नता के (अद्वैतात्मक) बोध की अपर संज्ञा है—

"The object of worship of the indian Srichakra is the realization of hte inreparatenen of Jnata who is Hota, of Jnana and which is Arghya and Jneya which is Havih.[१]

विश्व में अभिव्यक्त समस्त रूपों में स्थित पदार्थ भी 'शक्ति' का ही एक रूप है। शक्ति के अतिरिक्त कोई भी वस्तु है ही नहीं अतः पदार्थ भी 'शक्ति' का ही अपनाएक रूप है। मस्तिष्क, मन, इन्द्रियाँ आदि सभी **आत्मा के ही रूप हैं**। समस्त विश्व आत्मा की ही अपनी अभिव्यक्ति है। विश्वात्मा ब्रह्म यका शिव शक्ति है।

यह शक्ति 'मूलाधार' में अवस्थित होने पर अपनी स्थिर स्थिति में 'कुण्डलिनी शक्ति' कहलाती है।

यही विश्वशक्ति **'प्राणशक्ति'** के रूप में भी अवस्थित है। साधक को शक्ति के इन विविध स्वरूपों में का साक्षात्कार करना चाहिए जिससे कि वह 'शक्ति' को उसके समस्त स्वरूपों में प्रत्यक्षीकृत कर सके—शक्ति को उसकी समग्रता में जान सके। एक सच्चा साधक अपने शरीर का एवं उसकी प्रत्येक क्रिया कार्य को 'शक्ति' या 'देवता' के रूप में देखता है। सामान्यतया शरीर को पृथक मानकर यह समझा जाता है कि शरीर का जो नियंत्रक है (स्वामी है) वही आत्मा और देवता है शरीर या पदार्थ नहीं किन्तु यह सत्य नहीं है।

'मन' स्वयं 'शक्ति' है। अतः 'मन' शक्ति की अभिव्यक्ति है।

---

१. सर जॉन वुडरफ : तन्त्रराजतन्त्र (भूमिका)

शक्ति की सर्वानुस्यूतता का अनवरत ध्यान एवं अभ्यास करते हुए साधक को समस्त चक्रों में पूजा करनी चाहिए जिससे कि वे दैवीय बन जाते हैं।

जड़, चेतनाशून्य, स्थिर, एवं निष्क्रिय पदार्थ भी उक्ताभ्यास की अनवरतता के कारण चेतन, गतिशील एवं सक्रिय तथा 'शक्ति' का रूप दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मन दिव्य शक्ति एवं विश्व के ऐकात्म्य के सम्पर्क में निरन्तर रहकर स्वयं दिव्य होकर सर्वत्र 'सर्वचिन्मयवाद' का दृश्य देखने लगता है प्रत्येक वस्तु शक्ति का रूप है।

'तंत्रराजतंत्र' में **पूजा का स्वरूप** इस प्रकार है—

(१) साधक को चाहिए की भगवती की पूजा में (पूजा के बाद) वह यह अनुभव करे कि—

(क) मैं भगवती के समान हूँ।

(ख) मैं भगवती के साथ अभिन्न हूँ।

(ग) ये सिद्धियाँ प्रथमतः साधना में आत्मरक्षा के उद्देश्य से निष्पादित की जाती हैं।

(घ) मातृकाओं की पूजा का उद्देश्य अशुभ प्रवृत्तियों का शमन एवं सद्गुणों का आयत्तीकरण है।

मुद्रा शक्तियाँ, दिक्पाल, मातृकायें एवं सिद्धियाँ नवम् चक्र, 'त्रैलोक्यमोहन' का निर्माण करती हैं। भूपुर की आन्तरिक रेखा पर १०दिक्पालों की पूजा की जाती है।

(ङ) भूपुर के सर्वाधिक बाह्यवर्ती रेखा पर (On the outermost line of the BHUPUR) १० सिद्धियों की पूजा की जाती है। ये सिद्धियाँ अणिमादिक सिद्धियाँ हैं। **'मनोरमा'** के अनुसार ये**'नियति'** एवं ९ रसों से अभिन्न हैं। इनमें से ४ तो द्वारों पर हैं, ४ कोणों में हैं, **एक** ऊपर एवं **एक** नीचे है। मध्यवर्ती रेखा पर अष्टमातृकाओं की पूजा की जाती है। यह पूजा ४ द्वारों पर एवं चार कोणों पर सम्पन्न की जाती है। ये कौन हैं? ये ८ शक्तियाँ हैं—

(१) ब्राह्मी (२) माहेश्वरी (३) कौमारी (४) वैष्णवी (५) वाराही (६) इन्द्राणी (७) चामुण्डा (८) महालक्ष्मी। ये (१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मात्सर्य (७) पाप एवं (८) पुण्य से निर्मित हैं।

(१) 'ब्राह्मी'—यह शक्ति **काम से** सम्बद्ध है क्योंकि वह सृजन करती है।

(२) 'माहेश्वरी' शक्ति **क्रोध से** से सम्बद्ध है क्योंकि यह ध्वंस एवं संहार करती है।

(३) **'कौमारी'** का **लोभ से** सम्बन्ध है क्योंकि वह नवयुवती है—यौवनसम्पन्ना है। अतः इच्छाओं एवं आकांक्षाओं से पूर्ण है।

(४) **'वैष्णवी'—'मोह से'** सम्बन्ध है क्योंकि वे अपने मोह के द्वारा सारे संसार को मोहित कर देती हैं।

(५) **'वाराही'—'मद' से** सम्बन्ध है क्योंकि सुअर जड़ एवं अत्यन्त अभिमानी प्राणी होता है।

(६) **'इन्द्राणी'—'मत्सर्य'** से सम्बन्ध है क्योंकि उसका पति इन्द्र अत्यन्त ईर्ष्यालु है।

(७) **'चामुण्डा'—'पाप'** से सम्बद्ध है क्योंकि उसके द्वारा या उसकी मध्यस्थता से आघात निष्पादित किया जाता है।

(८) **'महालक्ष्मी'—'पुण्य'** से सम्बद्ध है क्योंकि यह देवी अत्यन्त शीलवान है और साधकों को गुणों को प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त करती है।

*** अ-क-थ चक्र ***

गुरु का निवास

* अ-क-थ त्रिकोण *

'अकथादि चक्र' है।

कामेश्वर-कामेश्वरी

ज्येष्ठा शक्ति

रौद्री शक्ति

वामा शक्ति

कामेश्वर

कामेश्वरी शक्ति
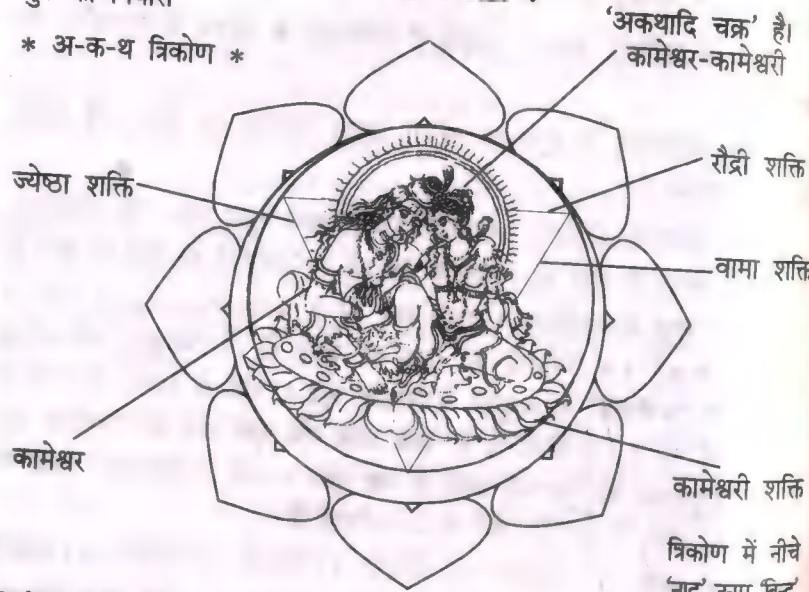
'त्रिकोण' के भीतर गुरु का ध्यान किया जाता है। 'त्रिकोण में 'मणिपीठ' के ऊपर श्रीगुरु है। मणिपीठ मण्डल चैतन्य है।

त्रिकोण में नीचे 'नाद' ऊपर 'बिन्दु' एवं मध्य में मणिपीठ है।

'मणिपीठ' के ऊपर तीन अग्नि शिखायें हैं। इनसे मणिपीठ आलोकित है।

'अकथादित्रिरेखाङ्कित**त्रिकोणमेव** वा श्री गुरोः सदनम्।।' (श्रीविद्यारत्नसूत्रम् : गौड़पादाचार्य)

[४] * भगवती ललिता की पूजा : 'तन्त्रराजतन्त्र' की दृष्टि *

(भगवती ललिता की दैनिक पूजा)

'तन्त्रराजतन्त्र' के पञ्चम अध्याय में भगवती ललिता के दैनन्दिनी की पूजा पर प्रकाश डाला गया है।

एक आदर्श एक निष्ठदेवी-साधक देवी को अपने से भिन्न मानकर उनकी पूजा नहीं करता। प्रत्युत् देवी को अपने से अपृथक्, अभिन्न एवं एकीभूत रूप में अनुभव करता हुआ भगवती की पूजा करता है क्योंकि **'तंत्रराजतंत्र'** में कहा गया है—

'स्वात्मानम् तत्समम् स्मरेत् ।।'

साधक को 'देव्यात्मा' होना चाहिए।

[५] देवी (उपास्य) के साथ तादात्म्य की भावना—

शाक्त साधना का सर्वोच्च आदर्श यही है कि साधक यह अनुभव करने लगे कि—**'अहं देवी न चान्योऽस्मि'**।

उपनिषदों में जिस **ज्ञान-साधना का प्रतिपादन** किया गया है वहाँ भी इसी **अद्वैतानुभूति** को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—'सर्वखल्विदं ब्रह्म'।

'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' 'शिवोऽहं' 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' इन वाक्यों में जीवात्मा एवं ब्रह्म तथा **जगत का ब्रह्म** तथा **जीवात्मा एवं शिव** में ऐकात्म्य (तादात्म्य भाव) की घोषणा की गई है और उसे ही **ज्ञानमार्गी साधक का आदर्श** घोषित किया गया है।

इसी **अद्वैतानुभूति** को आचार्य शंकर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया था—

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैव नापरः।'

'काश्मीरी त्रिक दर्शन' के आचार्य जगत को मिथ्या नही मानते अतः उनकी दृष्टि में **अद्वैत का स्वरूप** शाङ्कर अद्वैत से थोड़ा भिन्न है क्योंकि वहाँ अद्वैत का स्वरूप 'स्व' में सभी को समाहित करने का है।

[६] शाक्ताद्वैत और काशमीरीय अद्वैत का स्वरूप

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
जीवात्मा और परमात्मा में एकता (अद्वैत)	परमात्मा और विश्व में एकता (अद्वैत)	परमात्मा और शक्ति (माया शक्ति में एकता	जीवात्मा और विश्व में एकता	जीवात्मा और शक्ति में एकता
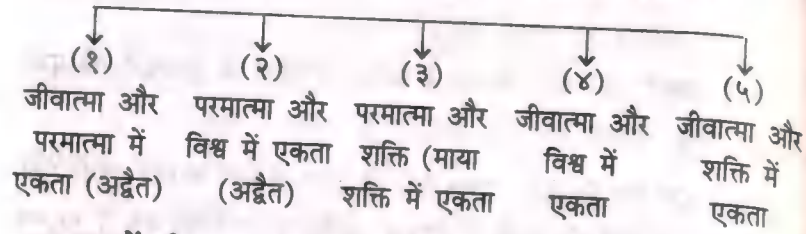
शाक्तों की साधना का लक्ष्य—"सोऽहं" की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करना है। साधक को चाहिए कि वह अपने को **'देवी'** माने। वह **अपने को** देवी में, **देवी को अपने में** एवं दोनों को एक में अनुभूत करें।

'भगवती **ललिता साधक की स्वात्मा हैं**—

'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता **ललिता विश्वविग्रहा** ।।'[१]

साधक जैसे ही प्रात:काल निद्रा से उठता है उसे सर्वप्रथम यह ध्यान करना चाहिए कि **'मैं त्रिपुरा हूँ'** ('त्रिपुरात्मानम्')। उसे यह भी चाहिए कि वह अपने **मस्तक में** भगवती के **'ज्योतिरूप'** (Sustrous Light form) **का ध्यान** करे। **'तन्त्रराजतन्त्र'** नामक ग्रन्थ में (श्लोक क्र० १९-२१ में) कहा गया है कि साधक को साधना के समय देवी के **रक्ताभ परिधान** के सदृश ही **आरक्तवस्त्र** पहनना **चाहिए**। इतना ही नहीं उसे **लालचन्दन, लालपुष्पमाला** एवं **लाल आभूषण** भी धारण करना चाहिए।

साधक को चाहिए कि वह पूजा के समय **आनन्दचित्त** (In a pleasant frame of mind) रहे और साथ ही कपूर के सुगन्ध से सुगन्धित रहे।

आसन—साधक को साधना के समय **पूर्वाभिमुख** होकर, **प्राणवायु** को **नियन्त्रित** करके **'पद्मासन'** में बैठना चाहिए।

कल्पवृक्षादि की पूजा—साधक को चाहिए कि वह पूजा के समय (१) ९ रत्न (२) कल्पवृक्ष (३) षड्ऋतु एवं (४) इन्द्रिय-समूह की पूजा करे। ये सभी अश्वों के समान एवं इन्द्रियों के पदार्थ **हाथी** के समान है।[२]

'तन्त्रराजतन्त्र' ९ रत्नों के विषय में भी प्रकाश डालता है। पहले 'भावनोपनिषद' की दृष्टि जान ली जाय।

---

१. महार्थमञ्जरी ('परिमल') आर्या क्र० ४६;
२. तन्त्रराजतंत्र (अ० ५/२३-२५)

भावनोपनिषद्कार की दृष्टि—

[६] 'श्रीयंत्र' और भगवती ललिता की दैनन्दिन (नित्य) पूजा

[१] **आचार्य भास्कर की दृष्टि**—आचार्य भास्कर कहते हैं कि भगवती ललिता की पूजा में **'श्रीयन्त्र' की पूजा** अत्यावश्यक है। 'श्रीयन्त्र' ९ चक्रों से मिलकर निर्मित हुआ है।

श्रीयन्त्र के नौ चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
सृष्टि-सृष्टि-चक्र	सृष्टि-स्थिति चक्र	सृष्टि-संहार चक्र	स्थिति सृष्टि चक्र	स्थिति-स्थिति चक्र	स्थिति संहार चक्र	संहार सृष्टि चक्र	संहार स्थिति चक्र	संहार संहार चक्र
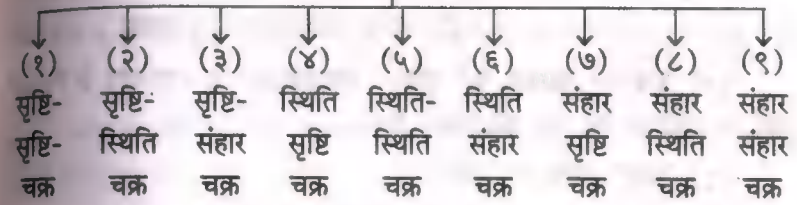
[२] **आचार्य महेश्वरानन्द की दृष्टि**—आचार्य महश्ेवरानन्द भी 'परिमल' (आर्या क्र० ४१ में कहते हैं—

'सृष्टियादिषु चतुर्षु, कृत्येषु सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थिततिरित्यादिक्रमेण प्रत्येकं चातुर्विध्यम्।''

आचार्य महेश्वरानन्द यह भी कहते हैं कि—

'**सृष्टौ** दश कला: **स्थितौ** द्वाविंशतिर्भवन्ति शक्तय: ।
एकादश **संहारे** त्रयोदश तास्तुरीयपर्वणि ।।'

वे **'परिमल'** (आर्या ३९) में सृष्टि-स्थिति-संहार का सविस्तार वर्णन करते हैं।

[३] **क्रमकेलिकार की दृष्टि**—'क्रमकेलि' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि—

'इहैकैकत्र सृष्टयादौ चक्ररूपता विद्यते ।।'

इस दृष्टि को विस्तार देते हुए आचार्य महेश्वरानन्द (परिमल/आर्या ३९ में) कहते हैं—

चक्रों के भेद

(१)	(२)	(३)	(४)
'सृष्टि-सृष्टिः'	'सृष्टिस्थितिः'	सृष्टि संहारः	सृष्टि तुरीयम्

चक्रों के भेद

(१) स्थिति सृष्टिः
(२) स्थिति स्थितिः
(३) स्थितिसंहारः
(४) स्थिति तुरीयम्

(१) संहारसृष्टिः
(२) संहार स्थितिः
(३) संहार संहारः
(४) संहारतुरीयम्
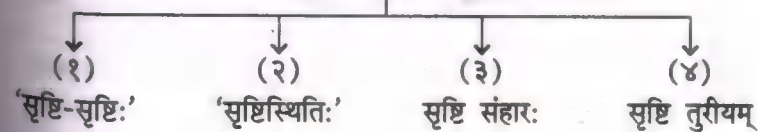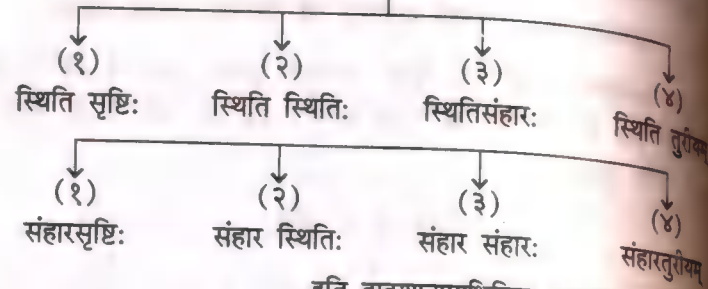
—इति द्वादशानामाभिन्द्रिय स्फुरत्तानाम् ॥ (परि...

(४) तन्त्रराज तंत्रकार की दृष्टि—'तन्त्रराजतन्त्र' में कहा गया है कि—चक्रों के समूहत्रय का नाम इस प्रकार है—

(१) **'चन्द्र'** (सोम या सृष्टि)
(२) **'सूर्य'** (भास्कर या स्थिति)
(३) **'अग्नि'** (अनल या संहार)

चक्र नवक एवं उसके भेद

(१) 'त्रैलोक्यमोहनचक्र' (सृष्टि-सृष्टि)
(२) 'सर्वाशापरिपूरकचक्र' (सृष्टि-स्थिति)
(३) 'सर्वसंक्षोभणचक्र' (सृष्टि-संहार)

(४) 'सर्वसौभाग्यदायक चक्र' (स्थिति-सृष्टि)
(५) 'सर्वार्थसाधकचक्र' (स्थिति-स्थिति)
(६) 'सर्वरक्षाकरचक्र' (स्थिति-संहार)

(७) 'सर्वरोगहरचक्र' (संहार-सृष्टि)
(८) 'सर्वसिद्धिप्रदचक्र' (संहार-स्थिति)
(९) 'सर्वानन्दमयचक्र' (संहार-संहार)

चक्रनवक में अवस्थित योगिनियाँ

(१) 'प्रकटा'
(२) 'गुप्ता'
(३) 'गुप्ततरा'
(४) 'संप्रदाया'
(५) 'कुलकौला'
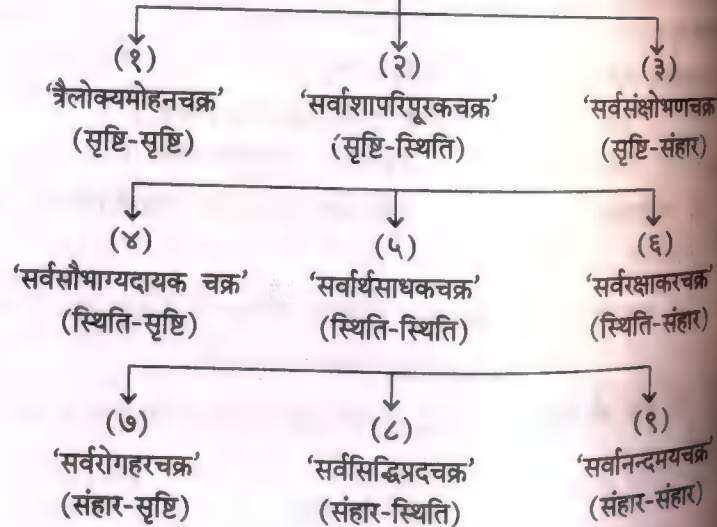
(६) 'निगर्भा'
(७) 'रहस्या'
(८) 'परापरहस्या'
(९) 'अतिरहस्या'
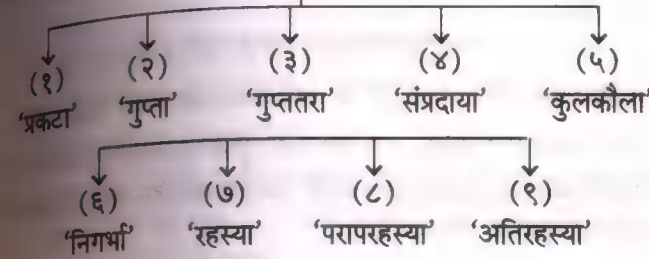
ये सभी योगिनियाँ चक्रों के मध्य में निवास करती हैं। ये स्थूल विग्रहा हैं और सूक्ष्म (या मंत्ररूप) के **आवरण** हैं।

भगवती ललिता **'परा'** स्वरूप देशकालातीत (Unconditioned by time and space) है।—

देवी के नामनवक

(१) 'त्रिपुरा'
(२) 'त्रिपुरेशी'
(३) 'त्रिपुरसुन्दरी'
(४) 'त्रिपुरवासिनी'
(५) 'त्रिपुरश्री'

(६) 'त्रिपुरमालिनी'
(७) 'त्रिपुरसिद्धा'
(८) 'त्रिपुराम्बा'
(९) 'महात्रिपुरसुन्दरी'[1]
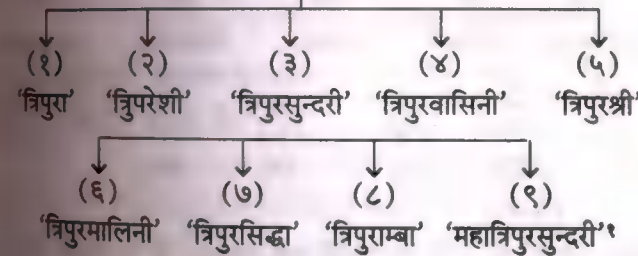
इन नवों रूपों में भगवती ललिता की ९ चक्रों में, उससे सम्बद्ध मंत्रों के साथ, पूजा हुआ करती है।[2]

'भावनोपनिषद्' में कहा गया है कि—

(१) शरीर ९ रत्नों का द्वीप है : 'देहो नवरत्नद्वीपः' (६)

रत्ननवक

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
पुष्पराग	नील	वैदूर्य	विद्रुम	मौक्तिक	मरकत	वज्र	गोमेद	पद्मराग
Topaz	Sapphine	Catscye	Coral	Pearl	Emenald	Diamond		Ruby
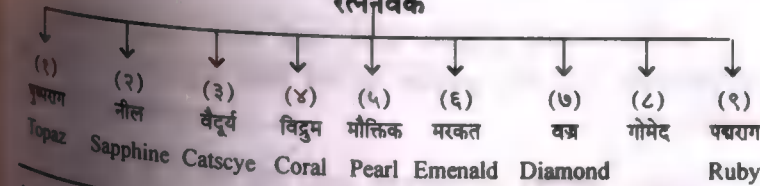
1. तन्त्रराजतन्त्र
2. तन्त्रराजतन्त्र

'भावनोपनिषद्' (७) में कहा गया है कि—ये **'रत्न'** शरीर में त्वगेन्द्रिय एवं धातुएँ हैं—

'त्वगादिसप्तधातुरोम संयुक्तः ।।' (७)

भास्करराय इसके सम्प्रदार्य को इस प्रकार व्याख्यात करते हैं—

'अत्रायं सम्प्रदायलभ्योर्थ—रस मांसरोमत्वग्रुधिरशुक्रमज्जास्थिमेदांसि पुष्परागनील वैदूर्य विद्रुममौक्तिकमरकतवज्रगोमेदपद्मरागात्मक नवरत्नमयखण्डरूपाणि प्रतीत्यादिनिर्ऋत्यन्त दिक्षु मध्येऽवस्थितानीति विभावयेदिति।'[१]

ये सारे रत्न हमारे शरीर में त्वगेन्द्रिय एवं सप्त धातुओं के प्रतीक या प्रतिनिधि हैं।

सप्तधातुएँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
रस	रक्त	मांस	शुक्र	मज्जा
(Chyle)	(Blood)	(Flesh)	(Seman)	(Marrow)

(६)	(७)	(८)	(९)
अस्थि	मेद	रोम	त्वक्
(Bone)	(Fat)		
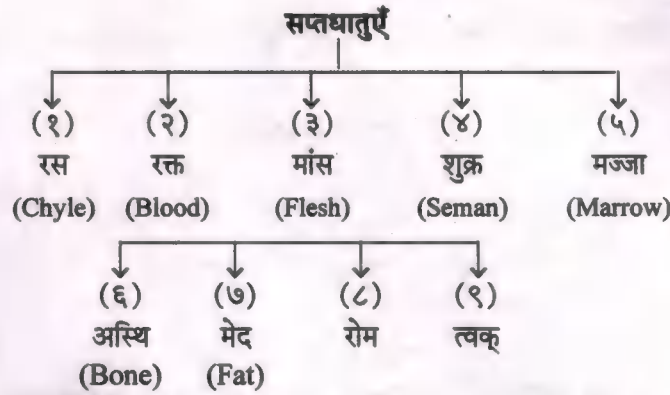
मुख्य मुद्रायें भी ९ हैं। मातृकाओं का विभाजन भी ९ समूहों में है। गुरू भी ९ हैं।

[८] **कौलमत और समयिमत**—(तुलनात्मक विवेचना)

आचार्य लक्ष्मीधर कौलों से विपरीत सामयिकों की सपर्या का विधान इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"समयिनां मन्त्रस्य **पुरश्चरणं नास्ति, जपो** नास्ति।। **बाह्यहोमोऽपि** नास्ति। **बाह्यपूजाविधयो** न सन्त्येव। **हृत्कमल एव** सर्व यावत् **अनुष्ठानम्** । एतच्च 'जपो जल्पश्शिल्पम्'" —(लक्ष्मीधर श्लोक : ३४)

मिश्रमत, कौलमत और **समयमत** अर्थात् तीनों मतों में जो वरिवस्या (सपर्या

१. भास्करराय : भावनोपनिषद् भाष्य (सूत्र ७)

का विधान है उसमें **उपास्या** भगवती त्रिपुरसुन्दरी एवं 'विद्या' (मन्त्र) पञ्चदशाक्षरी ही है।[१]

(१) 'श्रीविद्या' **गणेशरूपिणी** है।[१]

(२) 'श्रीविद्या' **ग्रहरूपिणी** है।[२]

(३) 'श्रीविद्या' **नक्षत्ररूपिणी** है।[३]

(क) "बिन्दुत्रयनादत्रयतदन्यकूटत्रयै**ग्रहत्वमिह** ।"

(ख) **नक्षत्रत्वं** च दशाकाराणां व्यजनैरपार्थक्यात् ।।८९।।

(४) 'श्रीविद्या' **योगिनीरूपा** है।

(५) 'श्रीविद्या' **राशिरूपा** है।

'हृल्लेखाभिस्तिसृभिस्तदन्यकूटैश्च **योगिनी**योगात् ।[४]
राशीभृताप्येषा तिसृणां पूर्वाक्षरैरैक्यात् ।।९०।।

अन्यत्र भी कहा गया है—

'विद्यान्तर्भूतशक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिरथाक्षरैः ।
योगिनीत्वं च विद्याया **राशित्वं** चान्त्यवर्जितैः ।।'

'श्रीविद्या' ग्रहरूपा है—

भास्करराय कहते हैं—

'रेखादलकोणगणैर्घटनाच्चक्रे **गणेशत्वम्** ।'
'त्रैलोक्यमोहनाद्यैर्नवभिश्चक्रै**र्ग्रहत्वं च** ।'
'गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-पीठता ।।' (२/९१)

*** 'श्रीविद्या' एवं देवी में अभेद है ***

भास्करराय कहते हैं—

'देव्या रूपान्तरत्वेन विद्यायास्तदभेदतः ।।' (२।९१)

कौलमत और त्रिकोण—

(१) 'आधार चक्रं **'त्रिकोणम्'**। आधारे बिन्दुः तिष्ठतीति च तावत् प्रसिद्धम्। अत्र कौलमते **त्रिकोणमेव बिन्दु स्थानम्।** स एव **बिन्दुः** तत्र आराध्यः। अतएव

१. वरिवस्यारहस्यम् (२।८८)
२. तत्रैव (२।८९)
३. तत्रैव (२।८९)
४. तत्रैव (वरि०र०) ९०

कौलाः त्रिकोणे बिन्दुं नित्यं समर्चयन्ति। तत् **त्रिकोणं** द्विविधं, श्रीचक्रान्तर्गतनवयोनिमध्यवर्तिनी योनिः, सुन्दर्याः तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिश्च।

(२) 'श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगतयोनिं भूर्जहेमपट्टवस्त्रपीठादौ लिखितां **'पूर्वकौलाः'** पूजयन्ति। तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिं **उत्तरकौलाः** पूजयन्ति' **उभयं** योनिद्वयं बाह्यमेव, न आन्तरम् । अतः तेषां आधार चक्रमेव पूज्यम् । तत्र स्थिता कुण्डलिनी शक्तिः कौलिनी इत्युच्यते। सैव उपास्या त्रिकोणपूजकानां इति रहस्यम् ।

(३) 'एषा कुण्डलिनीशक्तिः **बिन्दुरूपिणी** निद्राणैव संपूज्या, तस्याः सदा निद्राणस्वाभाव्यात् सा पूजा तामिस्रा। कुण्डलिनीप्रबोधो यदा स्यात् तत्क्षणमेव भुक्तिः कौलानाम् । अतएव क्षणभुक्ताः कौला इति व्यवहारः।

(४) 'तत्र **सुरामांसमधुमत्स्यादिद्रव्यैः समाराधनं वामाचारप्रवृत्या प्रत्यक्षत्रिकोणो बिन्दुस्थानं** मन्मथच्छत्रं कृत्वा संपूजयन्ति। अधोमुखं त्रिकोणं अधोमुखेन छत्रं पूजयन्ति।

(५) **'दिगम्बरक्षपणकादयस्तु स्त्रियं उत्तानां कृत्वा ऊर्ध्वं त्रिकोणं पूजयन्तीति** रहस्यम अत्र बहु वक्तव्यमस्ति, तत्तु अवैदिकमार्गत्वात् **स्मरणार्हमपि न भवति**।'[१]

समयिमत—(१) 'त्रिकोणादिषट्चक्रं आधारादिषट्चक्रात्मना परिणतमिति।

(२) 'तत्र श्रीचक्रे त्रिकोणं बैन्दवस्थानमिति तावत् सुप्रसिद्धम् ।'

(३) 'तत्र **त्रिकोणत्रयेण** अष्टकोणनिर्माणे **त्रिकोण देव** बिन्दुस्थानं भवति। तच्च **चतुष्कोणमेव**। तत्तु सहस्रकमलान्तर्गत चन्द्रमण्डलमिति।'

(४) 'एतत् **चतुष्कोणमध्यं बैन्दवस्थानं 'सुधासिन्धुः' 'सरघा'** इति।'

(५) 'एतत् चतुष्कोणमध्यं बिन्दुस्थानमिति बाह्य पूजा **तरूणीत्रिकोणपूजा** च दूरत एव निरस्तेति ध्येयम् ।'

(५) 'अतएव **समयिनां सहस्रकमले** समयायाः समयस्य च शम्भोः पूजा।'

(६) समयानाम—शम्भुनाम साम्यं पञ्चविधं यातीति **'समया'**।

(७) 'समयत्वं शम्भोरपि पञ्चविधं साम्यं देव्या सह यातीति। अतः उभयोः समप्राधान्येनैव साम्यं विज्ञेयम् ।'

(८) **पञ्चविधसाम्यं तु** (१) 'अधिष्ठानसाम्यं' (२) 'अवस्थानसाम्यं' (३)

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक क्र० ४१)

अनुष्ठान साम्यं' (४) 'रूपसाम्यं' (५) 'नामसाम्यं'—चेति पञ्चविधं समप्रधानयोरेव शिवयोः।

(९) 'मुक्तिप्रदत्वमनुष्ठानसाम्यमिति **साम्यपञ्चकं** विज्ञेयम् । एतत् अतिरहस्यं शिष्यानुजिघृक्षया प्रकाशितम् ।'

(१०) 'अतः **समयपूजकाः समयिनः।'**

(११) 'तेषां **षट्चक्रपूजा न नियता,** अपितु **सहस्रकमल एव पूजा।'**[१]

(१२) **'सहस्रकमल'** नाम सहस्रकमलस्य बैन्दव स्थानत्वेन तन्मध्यगतचन्द्रमण्डलस्य चतुरश्रात्मना, तन्मध्यबिन्दोः पञ्चविंशति तत्त्वातीतं षड्विंशात्मक शिवशक्तिमेलनरूप सादाख्यात्मना अनुसन्धानम् ॥

अतएव **समयिमते बाह्याराधनं** दूरत एव निरस्तम्।

(१३) * **षोडशोपचाररूप पूजाङ्गकलापश्च** ततोऽपि दूरत एव।

(१४) * **तादात्म्यत्रय * एवं चतुर्धाऐक्य ***

(क) आधारादिषट्चक्राणां त्रिकोणादि **षट्चक्रत्वेन तादात्म्यम्।**

(ख) बिन्दुस्थानस्य चतुरश्रस्य **सहस्रकमलत्वेन तादात्म्यम्।**

(ग) बिन्दुशिवयोस्तादात्म्यम् ।

—एवं हि देहशिवयोस्तादात्म्यमिति तादात्म्यत्रयम् ।

(घ) चक्रमन्त्रयोः **ऐक्यं**। तेन सह **चतुर्धाऐक्यं समयिनां समाराधनमिति महत् रहस्यम्** ॥

(१५) समयिनां **चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव** भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्व सम्मतम् ।

(१६) केचित्तु **षोढा ऐक्यमाहुः**। यथा—नादबिन्दु कलातीतं भागवतं तत्त्वमिति **सर्वागमरहस्यम्** ॥

नादस्य भेदाः

(१)	(२)	(३)	(४)
'परा'	'पश्यन्ती'	'मध्यमा'	'वैखरी'

(१७) **'नादः** परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण चतुर्विधः ॥'

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक क्र० ४१)

'नाद' (या वाक्चतुष्टय) तथा चक्र

(१) 'परा' ('परा त्रिकोणात्मिका) **'त्रिकोण'**

(२) 'पश्यन्ती' ('पश्यन्ती अष्टकोण चक्ररूपिणी) **'अष्टकोण'**

(३) 'मध्यमा' ('मध्यमा द्विदशारः) **'त्रिकोण'**

(४) 'वैखरी' ('वैखरीचतुर्दशार रूपिणी) **'चतुर्दशार'**

'बिन्दु' और उसके भेद

(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूरक चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्धि चक्र (६) आज्ञा चक्र
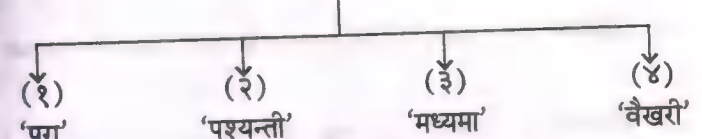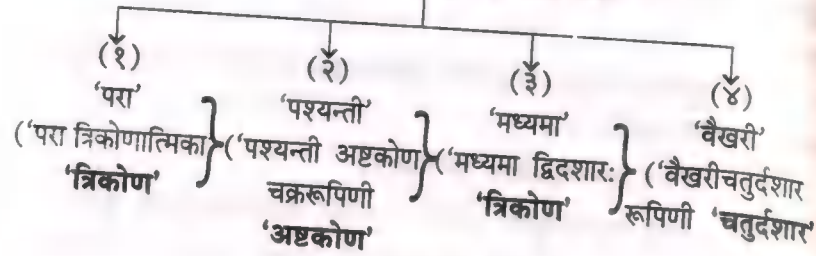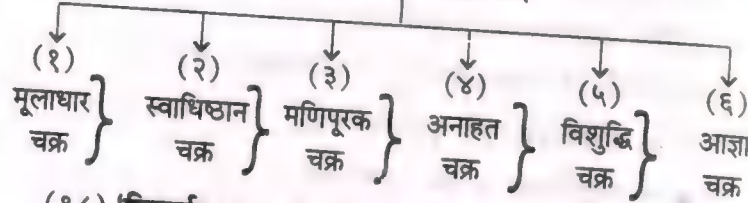
(१८) **'बिन्दुर्नाम** षट्चक्राणि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञात्मकानि बिन्दुशब्द वाच्यानि।।'

'कला' = (५० या ३६० कलायें)

(१९) **कलाः** पञ्चाशत् षष्ट्युत्तरत्रिंशतससंख्याका वा।।

(२०) नाद बिन्दुकलातीता भगवती।।

(२१) सहस्रकमलं बिन्द्वतीतं बैन्दवस्थानात्मकं सुधासिन्ध्वपरपर्यायं 'सरघा' शब्द वाच्यम् ।

*** सर्वैक्यवाद ***

श्रीविद्योपासना के क्षेत्र में सर्वत्र एकत्ववाद का प्राधान्य है। 'श्रीचक्र' 'श्रीविद्या' मातृका समूह, देवी, आत्मा आदि सभी एक ही तत्त्व के विभिन्न पक्ष हैं। **भास्करराय** कहते हैं—

(१) **'श्रीचक्र'** ग्रह, नक्षत्र, योगिनी एवं राशि आदि सभी से ऐकात्म्य रखता है।

(२) **भास्करराय** कहते हैं—'श्रीचक्र' राशि है—

'पञ्चचतुःशक्त्यनला बिन्दुर्वृत्तं च भूबिम्बम्।
एवं द्वादशसंख्यैर्घटनाच्चक्रस्य **राशित्वम्** ।।९५।।

(३) **'श्रीचक्र'** श्रीविद्या से अभिन्न है।

आचार्य भास्करराय कहते हैं—

'चक्रं विद्याक्षरैरेव जननात् तदभेदवत्।
देव्यारूपान्तरत्वाच्च तेन युक्तोक्तरूपता ।।९६।।

अतः स्पष्ट है कि—

'एवं विश्वप्रथाकारा चक्ररूपा महेश्वरी ।।'

'श्रीविद्या' के अक्षरों द्वारा निर्मित होने के कारण 'चक्र' **'श्रीचक्र'** से अभिन्न है।

[९] **मातृका और पीठ में ऐक्य—**

भास्करराय कहते हैं—(१) मातृका के वर्णों की संख्या के बराबर ५१ पीठ हैं।

चक्रोत्पत्ति

(१) ३ ककार, ३ ईकार → 'बिन्दु की उत्पत्ति'

(२) हल्लेखायें → (१) सर्वसिद्धिप्रदचक्र (२) सर्वरोगहरचक्र

(३) लकार → चतुरस्र (त्रैलोक्यमोहन)

(४) २ हकार एकार → (क) सर्वरक्षाकर (ख) सर्वार्थसाधक (ग) सर्वसौभाग्यदायक

(५) २ सकार → सर्वसंक्षोभणचक्र सर्वाशापरिपूरक
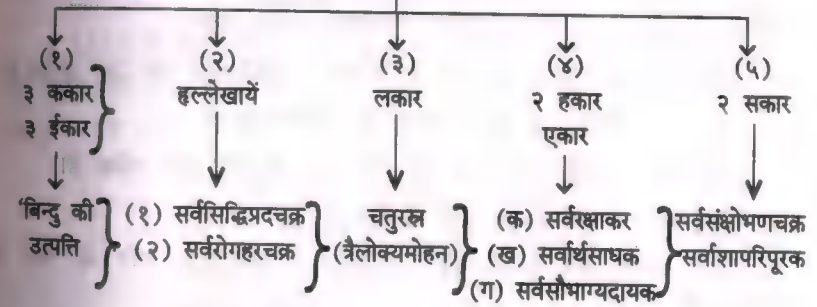
श्रीविद्योपासना की पात्रता एवं अधिकार—(दीक्षा प्राधान्य)

श्रीविद्या वेदविद्या है। इसकी साधना के लिए गुरुपरम्परागत दीक्षा एवं गुरुपरम्परागत ज्ञान आवश्यक है।

(१) **योगिनीहृदयकार की दृष्टि—'योगिनीहृदय'** में उपर्युक्त विधान को ही संपुष्ट करते हुए कहा गया है कि—

'मन्त्रसंकेतकस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः।
नानामन्त्रक्रमेणैन **परम्पर्येण** लभ्यते ।।'

(२) **आचार्य अमृतानन्द की दृष्टि**—योगी अमृतानन्द कहते हैं—

(१) 'तस्या **परमशिवसामरस्यरूपायाः पराया** यो मन्त्र संकेतको **मन्त्रः सौभाग्यविद्यारूपः.....।**

पूर्वोक्तकरशुद्ध्यादिनानाप्रसङ्गपरिपाट्यैव **पारम्पर्येण लभ्यते। ... पारम्पर्य-**

विहीनानामसंप्रदायवतां चुम्बकवृत्या चौयविगताक्षरपाठमात्रपर्यवस्थितानामननर्थायैव केलमित्यर्थः। अत्रैव वक्ष्यति—

'पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः॥'[१]

(३) **सेतुबन्धकार की दृष्टि**—आचार्य भास्करराय कहते हैं कि परम्परा प्राप्त साम्प्रदायिक क्रम से प्राप्त विद्या की ही प्रधानता का कारण यह है कि—

(१) आदि शक्ति के मंत्र के मन्त्र-संकेतक (गूढार्थ प्रदर्शन) अनेक प्रकार के हैं। इस विद्या के सांकेतिक अर्थ ६ प्रकार के हैं—

'तस्या आदि शक्तेर्मन्त्रसंकेतको नानाकारः। तदीय विद्याया सांकेतिकार्थः षट् प्रकारः। परन्तु तस्या मन्त्रोऽपि नैकः, ये नैकस्यैव मन्त्रस्य षडर्थाः स्युः। किन्तु नानाविधो मन्त्रो लोपामुद्राकामराजादिभेदात् । ततश्च केचिदर्थाः कादिविद्याया एव। केचित्तु हादिविद्याया एव। केचित्तूमयसाधारणः। संहत्य षड्विधः संकेतः। तत्र कस्या विद्यायाः कोऽर्थ इति तु पारम्पर्यक्रमेणैव व्यवस्था लभ्यत इत्यर्थः।'

सारांश यह है कि—(१) आदि शक्ति-मंत्र के संकेतितार्थ एक नहीं अनेक हैं।

(२) इस श्रीविद्या के मोटे तौर पर ६ संकेतितार्थ हैं।

(३) इन ६ अर्थों के द्योतक जो मंत्र हैं वे भी एक नहीं अनेक हैं।

(४) एक ही मंत्र के ६ अर्थ भी हैं।

(५) अनेक मंत्र हैं जो कि 'लोपामुद्रा', 'कामराज' आदि के भेद से भिन्न भिन्न हैं।

(६) उनमें से कतिपय अर्थ केवल 'कादिविद्या' से कतिपय 'हादिविद्या' से एवं कतिपय उभयविद्याओं से सम्बद्ध हैं। संकेत षड्विध है।

(७) किस विद्या का क्या अर्थ है—यह तो मात्र परम्परा से ज्ञात हो सकता है। अतः श्रीविद्या का ज्ञान एवं इसकी उपासना केवल परम्परा प्राप्त विधान के अनुसार ही ज्ञेय एवं निष्पाद्य है।[२]

[१०] * **श्रीविद्या के षड्विध संकेतितार्थ** *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
भावार्थ	सम्प्रदायार्थ	निगर्मार्थ	कौलिकार्थ	सर्वरहस्यार्थ	महातत्त्वार्थ

१. अमृतानन्द : योगिनीहृदयदीपिका (१/१४)
२. सेतुबन्ध (अमृतानन्द)

'षड्विधस्तं तु देवेशि! कथयामि तवानघे।
भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगमार्थश्च कौलिकः।
तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्वर्थ एव च।
'अथरार्थो भावार्थः केवलः परमेश्वरि।
योगिनीभिस्तथा वीरैर्वीरेन्द्रैः सर्वदा प्रिये॥
शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः॥१७॥'[१]

'मंत्रराज' (श्रीविद्यारूप 'पञ्चदशीविद्या' का महत्व—'दीपिका' एवं योगिनीहृदय में कहा गया है कि यह विद्या (पञ्चदशी) **'शिवशक्ति समायोग' से उत्पन्न 'सौभाग्य विद्या'** है और मंत्र नहीं **'मन्त्रराज'** है—

(१) **शिवशक्तिसमा**योगाज्जनितो **मन्त्रराजकः**॥ (यो०हृ०)

(२) शिवशक्ति समायोगाच्छिवशक्तयोः समायोगः।
सम्पर्कस्तन्**मन्त्रराजकः सौभाग्यविद्यारूपः**॥'[२]

[११] **श्रीविद्योपासना और अन्तर्याग**—श्रीविद्या की समयाचार प्रमुख साधना अन्तर्यागात्मक है। आचार्य शंकर ने 'सौन्दर्यलहरी' में इस पूजा का विधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'जपो जल्पश्शिल्पंसकलमपि मुद्रा-विरचना।
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामस्संवेशस्सुखमरिवलमात्मार्पणादृशा।
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥'[३]

लक्ष्मीधर की दृष्टि—लक्ष्मीधर कहते हैं कि—

(१) 'समयिनां मते समयस्य सादारव्यतत्त्वस्यसपर्यासहस्रदल कमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ॥'[४]

(२) 'श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकैः न कर्तव्यमिति नियम्यते—"बाह्यपूजा न कर्तव्याबाह्यजातिभः।' (सनत्कुमारसंहिता)

श्रीविद्योपासना मुख्यतः अन्तर्यागात्मिका है।

१. योगिनीहृदय (मन्त्रसंकेत)
२. अमृतानन्द (१/१७)
३. सौन्दर्यलहरी (२७)
४. लक्ष्मीधरा (श्लोक २७)

[१२] * श्रीचक्र *

श्रीचक्र का स्वरूप—श्री चक्र और श्रीविद्या का अपृथक सम्बन्ध है—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
नवचक्रैश्च संसिद्धिं **श्रीचक्रं** शिवयोर्वपुः ॥' (भैरवयामल)

(१) **'श्रीचक्र' शिव और शक्ति का सम्मिलित शरीर है**—

श्रीचक्र ४ शिव चक्रों एवं ५ शक्ति चक्रों की समष्टि है।

(२) **भावनोपनिषदोक्त परिभाषा**—'नवचक्ररूपं श्रीचक्रम् ।'

(३) **श्रीचक्र के पूजन का यथार्थ स्वरूप क्या है ?**

ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः ज्ञाता होता ज्ञातृज्ञान ज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम् ॥
(भावनोपनिषद् १०)

(५) **पराशक्ति की कलाविद्या ही 'श्रीचक्र' है**—

'कलविद्या पराशक्तेः **श्रीचक्राकाररूपिणी** ।
तन्मध्ये बैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी ॥'

(६) **'श्रीचक्र' ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप है**—

सदाशिवेन सम्प्रक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती ।
चक्रं त्रिपुरसुन्दर्याः **ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि** ॥
—(भैरवयामल)

(७) **कौलमतानुसार श्रीचक्र का स्वरूप**—इसका स्वरूप इस प्रकार है—

'कौलमतानुसारेण अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि ऊर्ध्वमुखानि पञ्च त्रिकोणानि शक्त्यात्मकानि।। कौलमते **संहारक्रमेण** लेखने नवत्रिकोणात्मक **श्रीचक्रम्।'** —लक्ष्मीधरा (१०)

जगत और जगत दोनों अग्नीषोमात्मक हैं—

'अग्नीषोमात्मक चक्रमग्नीषोममयं जगत् ॥' —(रुद्रायामल)

*** श्रीचक्र ***

[१] **'श्रीचक्र' शिव एवं शक्ति का शरीर है**—

'श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ॥'

कामेश्वर (शिव) एवं कामेशी (शक्ति) या देवी ललिता के 'बिन्दु' रूप उपादान से ही **'श्रीचक्र'** का आविर्भाव हुआ है इसलिए इसे **'शिवशक्त्यात्मक'** कहा जाता है।

[२] अहन्ता एवं इदन्ता के अविभागात्मक, रसात्मक, विश्वाकार एवं शिवशक्तिमय एवं रेखाचित्रात्मक विश्व-न्याददर्श (मौडेल) को 'श्रीचक्र' कहते हैं।

'सुभगोदयवासना' में कहा गया है—

'अहन्तेदन्तयोर्बीजमविभाग रसात्मकाम् ।
शिवशक्तिमयं चक्रं विश्वाकारं भजाम्यहम् ॥'

इसे 'शिवशक्तिमय' इस लिए कहा जाता है क्योंकि इसका निर्माण—(१) 'शिवचक्र' (२) 'शक्तिचक्र' द्वारा होता है—

'चतुर्भि शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
'नवचक्रैश्च संसिद्धं **श्रीचक्रं** शिवयोर्वपुः ॥'

'बिन्दु' एवं **त्रिकोण** ही इसके मूल घटक या इकाइयाँ हैं। किन्तु 'बिन्दु' एवं 'त्रिकोण' हैं क्या? इनका स्वरूप इस प्रकार है—

'त्रिकोणरूपिणी **शक्तिः, बिन्दुरूपः** परशिवः ।'
अविनाभावसम्बन्धस्तस्माद् बिन्दुत्रिकोणयोः ॥'

'श्रीचक्र' महात्रिपुरसुन्दरी (षोडशी) का यन्त्र है। इसमें भगवती त्रिपुरसुन्दरी की समस्त शक्ति यन्त्रित या नियन्त्रित है। इसे 'यन्त्रराज' भी कहते हैं।

नौ त्रिकोणों की समष्टि के कारण इसे **'नवयोनियन्त्र'** भी कहा जाता है। इन ९ योनियों को—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आत्मा (४) अन्तरात्मा (५) परमात्मा (६) ज्ञानात्मा (७) जीव (८) ग्राह्य (९) प्रमा कहते हैं।

श्रीचक्र के ९ आवरण हैं।

श्री चक्र के नवावरण

(१) **प्रथमावरण** ('त्रैलोक्यमोहनचक्र')—प्रथम भूपुर के १० स्थानों में १० सिद्ध देवियाँ द्वितीय भूपुर में आठ मातृका देवियाँ। तृतीय भूपुर में १० प्रकट योगिनियाँ।

(२) **द्वितीयावरण** ('सर्वाशापरिपूरकचक्र')—षोडशदलपद्म में १६ गुप्त योगिनियाँ।

(३) **तृतीयावरण** ('सर्वसंक्षोभणचक्र')—अष्टदलपद्म में आठ गुप्तचर योगिनियाँ।

(४) **चतुर्थावरण** ('सर्वसौभाग्यदायकचक्र')—चतुर्दश त्रिकोण में सर्वद्वन्द्वशाक्षरी १४ सम्प्रदाय।

(५) **पञ्चमावरण** ('सर्वार्थसाधकचक्र')—१० बहिः त्रिकोण में सर्वसौभाग्यदायिनी १० योगिनियाँ।

(६) **षष्ठावरण** ('सर्वरक्षाकरचक्र')—१० अन्तः त्रिकोण में सर्वेप्सित १० निगर्भ योगिनियाँ।

(७) **सप्तमावरण** ('सर्वरोगहरचक्र')—अष्टत्रिकोण में ८ रहस्य योगिनियाँ।

(८) **अष्टमावरण** ('सर्वसिद्धिप्रदचक्र')—त्रिकोण के चारों ओर ४ आयुध एवं ३ कोणों में तीन अत्यन्त रहस्य योगिनियाँ।

(९) **नवमाकरण** ('सर्वानन्दमयचक्र')—'बिन्दु' में परापर रहस्य योगिनियाँ।

'श्रीचक्र' का परम स्वरूप

श्रीचक्र के यथार्थ (पारमार्थिक या तात्त्विक) स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य गौड़पाद ने उसे—

(क) (१) सहस्रार पद्म में चन्द्रमा का द्वितीय बिम्ब

(२) 'सरघा' (अमृतमय सहस्रार)

(३) 'बैन्दव स्थान'—कहा है—

'सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसां बिम्बपरं
तदेव **श्रीचक्रं** सरघमिति तद्बैन्दवमिति ॥'[१]

(ख) भगवती का आत्मदर्शन—अपनी स्फुरत्ता का साक्षात्कार ही 'श्रीचक्र' है—

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छा विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः ॥'[२]

(ग) नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम् ॥ (योगिनीहृदय)

'श्रीचक्र' (यन्त्र) की महिमा—'श्रीचक्र' को भगवती का स्वस्वरूप कहा गया है। यह शिवशक्त्यात्मक है।

'कामकलाविलास' में श्रीचक्र को **''कामकला''** एवं महात्रिपुरसुन्दरी देवी से अभिन्न कहा गया है—

'इति कामकला विद्यादेवी चक्रक्रमात्मिका सेयम्।
विदिता येन से मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः ॥'

---

१. सुभगोदयस्तुति (३५)
२. योगिनीहृदय (चक्र संकेत)

'श्रीचक्र' के दर्शन मात्र की ही इतनी महिमा है कि उसके समतुल्य किसी की महिमा ही नहीं है। कहा गया है कि—

'सम्यक् शत क्रतमून कृत्वा, यत् फलं समवाप्नुयात्।
तत् फलं लभते भक्त्या, कृत्वा श्री चक्रदर्शनम् ॥
महाषौडशदानानि कृत्वा यल्लभते फलम्।
तत् फलं समवाप्नोति कृत्वा श्री चक्र-दर्शनम् ॥
सार्द्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत् फलमश्नुते।
तत् फलं लभते भकया, कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम् ॥'

शास्त्रों में कहा गया है कि—सौ यज्ञों को करने से, महाषोडश दान करने से एवं साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करने से जो फल प्राप्त होता है। वह फल भक्तिपूर्वक 'श्रीचक्र' का दर्शन करने मात्र से प्राप्त हो जाता है।

'श्रीचक्र' नवयोन्यात्मक एवं चिदानन्दघन है। **'योगिनीहृदय'** में कहा गया है—

'नवयोन्यात्मकं 'चक्रं' चिदानन्दघनं महत्।
चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम् ॥'[१]

'श्रीचक्र' सदाशिव का आसन है—

'सदाशिवासनं देवि। महाबिन्दुमयं परम् ॥'

अर्थरत्नावलीकार की दृष्टि—

'अर्थरत्नावली' में कहा गया है कि 'श्रीचक्र' ९ नित्याओं से युक्त है। वह षोडशनित्यामय, समष्टिसृष्टि, सृष्टि-सृष्टि, स्थिति सृष्टि, संहार सृष्टि, अनाख्य रूप सृष्टिपञ्चक आदि सभी का मूल केन्द्र है।

'योगिनीहृदय' में (१) **'सकल'** (२) **'सकलनिष्कल'** (३) एवं **'निष्फल'** के भेद से श्री चक्र के तीन भेद बताए गये हैं।

[१३] श्रीविद्या—सिद्धान्त और साधना **आचार्य परशुराम की दृष्टि**—

आचार्य परशुराम ने भी इस दृष्टि का स्वागत किया है।

यथार्थ यज्ञ का स्वरूप क्या है—परशुराम कहते हैं—

'सर्वं वेद्यम् हव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयोः ज्वालाः, स्वात्मा शिवः, पावकः स्वयमेव होता।'

---

१. योगिनीहृदय (चक्र संकेत १३)
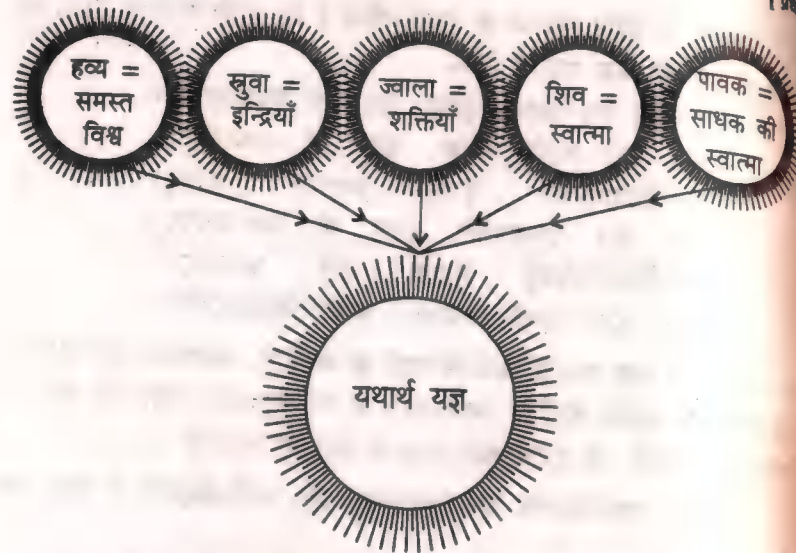
(१) विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—

'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स **होमश्चे**तना स्रुचा॥'

(२) स्वच्छन्दतंत्रकार की दृष्टि—

एवं हृदयम्बुजावस्थो, यष्टव्यो भैरवो विभुः।
स बाह्याभ्यन्तरं कृत्वा, पश्चाद्यजनमाचरेत्॥

(३) योगिनीहृदयदीपिकाकार की दृष्टि—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम्,
नैदानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः।
मदहन्तां करोमीदं विश्वं हव्यपुरस्सरम्॥

(४) भगवद्गीताकार की दृष्टि—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

(५) विज्ञानभैरवकार की दृष्टि—

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति॥

(६) शिवसूत्रकार की दृष्टि—'शरीरं हविः॥' (२।८)

(७) आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—'महायोगिनः परस्मिन् चिदग्नौ हूयमानं हविः, शरीरप्रमातृताप्रशमनेन सदैव चिन्मातृताभिनिविष्टत्वात्॥' (शिवसूत्र विमर्शिनी)

(८) भावनोपनिषदोक्त दृष्टि—

(१) 'ज्ञानमर्घ्यं हविः ज्ञाता होता ज्ञातृज्ञान ज्ञेयम् भेदं भज्ञवनं श्रीचक्रपूजनम्॥१०॥ (भावनोपनिषद्)

(२) **'श्रीचक्र'** क्या है? 'नवचक्ररूपं श्रीचक्रम्'॥३॥

(३) **'पुरुषार्थ'** क्या है? 'पुरुषार्थास्सागराः'॥५॥

(४) **'देह'** क्या है? 'देहो नवरत्नद्वीपः'॥६॥[१]

(५) **'इक्षु-धनुष'** क्या है? 'मन इक्षधनुः॥' (२२)

(६) **'पाश'** क्या है? 'रागः पाशः'॥(२३)

(७) **'अंकुश'** क्या है? 'द्वेषोङ्कुशः'' (२४)

(८) 'ललिता देवी कौन हैं? 'सदानन्दपूर्ण' स्वात्मैव परदेवता **ललिता**॥(२७)[२]

(९) **कामेश्वर** कौन हैं? 'निरूपाधिकसंविदेव कामेश्वरः॥ (२६)

(१०) **तन्त्रराज'** में कहा गया है—

'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना॥'

(११) **विमर्शानुसन्धान** क्या है? 'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः॥[३]

(१२) **'होम'** क्या है? 'अहं त्वमस्ति नास्ति कर्तव्यमकर्तव्यमुपासितव्यमिति विकल्पानामात्मनि विलापनं होमः॥३१॥

(१३) **'तर्पण'** क्या है। 'भावनाविषयाणामभेदभावना तर्पणाम्'॥३२॥[४]

(१४) **'होम' सुभगोदयवासनाकार** शिवानन्द कहते हैं—संविदग्नि में भेदाभास का हवन करना ही यथार्थ हवन है—

'संविदग्नौ महासारे विमर्शैकशरीरिणि।
भेदाभासमिदं हव्यं जुहोम्यपुनरुद्भवम्॥'[५]

---

१. भावनोपनिषद्
२. भावनोपनिषद्
३. भावनोपनिषद्
४. भावनोपनिषद्
५. सुभगोदयवासना (६४)

(१५) **आत्मपरामर्श ही परापूजा है—**

'परामर्शः परापूजा पवित्रं हि विधीयते।'[१]

(१६) **इदन्ता ही श्रेष्ठतम हव्य पदार्थ है—**

'इदन्तोल्लासितं हव्यं संविच्चक्रस्य मध्यगम्।
महाहन्तीकरोम्येवं तदिदं च विमृश्यते॥'

—सुभगोदयवासना (६३)

'श्रीविद्या'—'परशुरामकल्पसूत्र' में ऋषि परशुराम जी ने सर्वप्रथम यह कहा है कि 'श्री' परदेवता भगवती ललिता हैं। यह 'श्री' हैं। इसीलिए श्रीललिताधिकार की उपासना को **'श्रीविद्या की उपासना'** कहते हैं। यह पराम्बा ही श्रीशक्तिचक्रनायिका हैं। इसके **'शक्तिचक्र'** श्रीयन्त्र के नवचक्रों में से त्रिकोण आदि पाँच चक्रों की आख्या है। ४ शिवचक्रों एवं ५ शक्तिचक्रों से पूर्ण **'श्रीचक्र'** ही **'श्रीयन्त्र'** है। **'श्रीचक्र'** शिव-शिवा का साक्षात् शरीर कहा गया है।

'त्रिकोण', 'अष्टकोण', 'दशकोणाद्वय' एवं **'चतुर्दशार'**—ये ही पाँच **'शक्तिचक्र'** कहलाते हैं जो कि 'श्री' के चक्र हैं।

श्रीबीजात्मिकाविद्या ही श्रीविद्या है।

लक्ष्मीधर की परिभाषा—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि—

(१) **'षोडशीकला'** नाम शकार-रेफ-ईकार-बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम **'श्रीविद्येति'** श्रीबीजात्मिका विद्या **'श्रीविद्येति** रहस्यम्॥'[२]

परशक्ति की कलाविद्या ही 'श्रीचक्र' है और उसमें सर्वत्रस्यूत 'षोडशी' और 'पञ्चदशाक्षरीविद्या' ही 'श्रीविद्या' है।

'श्रीविद्या' त्रिपकारशरीरिणी, तुरीयपीठस्वरूपिणी एवं सारे भेदों का मूल है—

'इत्थं त्रितयपुरी या तुरीयपीठादि भेदिनी विद्या।'[३]

'पञ्चदशी विद्या' एवं देवी में ऐक्य—

(१) आग्नेय वाग्भवकूट = भगवती का मुख।

(२) सौ कामकला कूट = भगवती का कण्ठ से पर्यन्त भाग।

(३) चान्द्रशक्तिकूट = भगवती का कटि से नीचे का भाग।

---

१. सुभगोदयवासना (६५)
२. लक्ष्मीधरा (३२)
३. कामकलाविलास (१४)

(२) भगवती त्रिपुरा (नित्या) मंत्रस्थित **१५ वर्णों के स्वरूप** वाली (अर्थात् श्रीविद्या स्वरूप वाली) हैं—

"पञ्चदशाक्षररूपानित्या।" (का०क०वि० १६)

'श्रीविद्या' त्रिखण्डात्मिका है। इसके तीन खण्ड इस प्रकार हैं—

(१) मन्त्र का सोमखण्ड
(२) मन्त्र का सूर्यखण्ड =
(३) मन्त्र का अग्निखण्ड =
} (४) मन्त्र का बैन्दवखण्ड

[१४] * **श्रीविद्योपासना में निर्धारित क्रम-विधान** *

* **आचार्य परशुराम की दृष्टि** *

[श्रीविद्योपासना के मुख्य आकर ग्रथों में **'परशुरामकल्पसूत्र'** सर्वोपरि है। यह श्रीविद्या का आद्य ग्रंथ है। श्रीविद्योपासना की दो धाराओं (१) वशिष्ठ-प्रवर्तित धारा एवं (२) दुर्वासा-प्रवर्तित धाराओं—को सम्मिलित करके आचार्य परशुराम समग्र विद्योपासना के प्रवर्तक बन गए। परशुराम जी का ग्रंथ **'परशुरामकल्पसूत्र'** कहलाता है। इसका सिद्धान्त **'त्रैपुरसिद्धान्त'** कहलाता है]—

* **'परशुरामकल्पसूत्र' में प्रतिपादित क्रम-विधान** *

आचार्य परशुराम ने 'श्रीविद्या' की आद्यन्त उपासना करने हेतु उसे क्रमों में विभाजित किया है।

[क] परशुरामकल्पसूत्र प्रतिपादित क्रम-विधान

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
प्रथमखण्ड	**द्वितीयखण्ड**	**तृतीयखण्ड**	**चतुर्थखण्ड**	**पञ्चमखण्ड**
दीक्षा-विधि	महागणपतिक्रम	श्रीक्रमः श्रीललिताधिकार	ललिताक्रम	ललितानवावरण पूजाक्रम

(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
षष्ठखण्ड	**सप्तमखण्ड**	**अष्टमखण्ड**	**नवमखण्ड**	**दशमखण्ड**
श्यामा क्रम	वाराही	पराक्रम	होमविधि	सर्वसाधारण क्रम
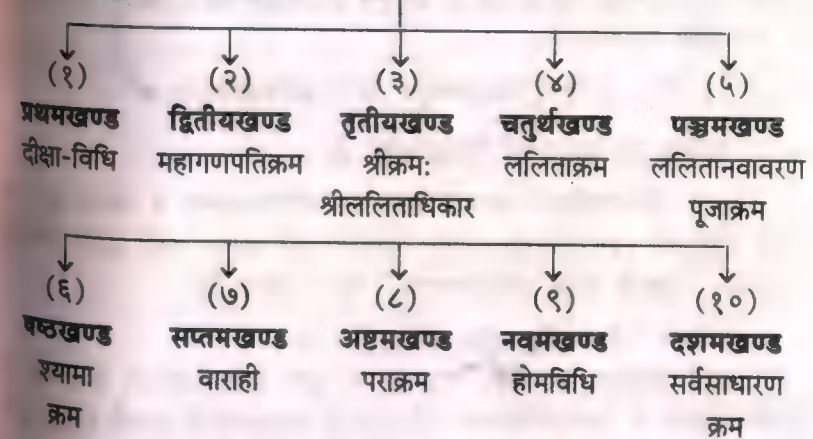
= १० खण्ड।

[ख] * उमानन्दनाथ-प्रतिपादित क्रम-विधान *

उमानन्दनाथ के **'नित्योत्सव'** को **'परशुरामकल्पसूत्र'** का अनुवर्ती एवं पूरक माना जाता है किन्तु यह दृष्टि असङ्गत है। **उमानन्दनाथ** (भासुरानन्द नाथ के शिष्य) ने क्रम-विधान में अपनी स्वतंत्र दृष्टि स्थापित की है। इन्हें परशुराम जी का पूर्णानुवर्ती कहना बहुत सार्थक एवं संगत नहीं है।

उमानन्दनाथ द्वारा प्रतिपादित क्रम-विधान

(१) आरंभोल्लास (दीक्षा-क्रम)
(२) तरुणोल्लास (गणपति-क्रम)
(३) यौवनोल्लास (श्री-क्रम)
(४) प्रौढोल्लास (श्यामा-क्रम)

(५) तदन्तोल्लास (दण्डिनी-क्रम)
(६) उन्मनोल्लास (परापद्धति)
(७) अनवस्थोल्लास[१] (साधारण-क्रम)
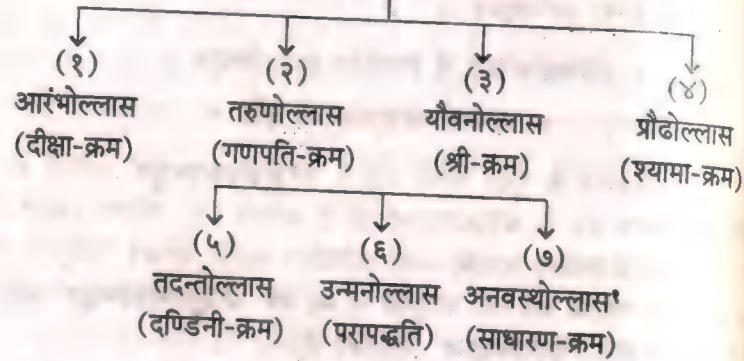
'परशुराम कल्पसूत्र' का प्रथम सूत्र है—

'अथातो दीक्षां व्याख्यास्यामः ॥' (प्रथमखण्ड १/१)

उमानन्दनाथ ने क्रम-विभाजन **'कुलार्णवतंत्र'** में प्रतिपादित उल्लासों के आधार पर किया है। उमानन्द का उल्लासाधृत विभाजन और उसमें प्रदर्शित उनकी मौलिक स्थापना बहुत सार्थक एवं औचित्यपूर्ण नहीं दिखाई पड़ती तथापि विद्वन्मण्डली में प्रशंसनीय अवश्य है।

[१५]— * **'परशुरामकल्पसूत्र' और श्रीविद्योपासना** *

श्रीविद्या का प्रथमखण्ड **'दीक्षाविधि'** है।

(१) **'दीक्षाविधि'**—आचार्य परशुराम 'श्रीविद्योपासना' में प्रवेश करने के लिए पात्रता की प्रथम शर्त दीक्षा-प्राप्ति मानते हैं। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ का आरम्भ—**'अथातो दीक्षां व्याख्यास्यामः'** सूत्र से किया है।

रामेश्वर 'सौभाग्योदयवृत्ति' में कहते हैं कि—

(१) **भगवान परमशिव भट्टारक** ने श्रुति आदि अष्टादश विद्याओं एवं विविध दर्शनों की **'तत्तदावस्थापन्न'** होकर अपनी **लीलामात्र से उनकी रचना** करके

१. नित्योत्सव (उमानन्दनाथ)

और स्वाभिन्ना भैरवी के द्वारा पूँछे जाने पर अपने पाँचों मुखों द्वारा, परमार्थसारभूत **पाँच आम्नायों का निर्माण किया** और भगवान परशुराम ने उन पञ्चाम्नायों के आधार पर अपने कल्पसूत्र का प्रणयन किया[१] और इस आधार पर प्रथम सिद्धान्त यह स्थापित किया कि—'षट्त्रिंशत्तत्वानि विश्वम्'। (१/४)

अर्थात् जगत् छत्तीस तत्त्वों की समष्टि मात्र है या कि ३६ तत्त्व ही समस्त विश्व है। (**विश्व** की परिभाषा)।

आचार्य ने दीक्षा की बात तो की किन्तु दीक्षा विषय पर प्रकाश न डालते हुए 'विश्व' को परिभाषित किया। इसी क्रम में उन्होंने अनेक तत्त्वों को परिभाषित किया। यथा—

(१) **'विश्व'** क्या है? : 'षट्त्रिंशतत्वानि **विश्वम्।'**
(२) **'जीव'** कौन है? : 'शरीरकञ्चुकितः शिवो **'जीवः'**।
(३) **'परमशिव'** कौन है? : 'निष्कञ्चुक **परमशिवः॥'**
(४) **'परमार्थ'** क्या है? : 'स्वविमर्शः **पुरुषार्थः।'**
(५) **'शब्दों की प्रकृति** क्या है? 'वर्णात्मका नित्या**शब्दाः॥'**
(६) समस्त **सिद्धियों के प्राप्ति का अन्यतम उपाय** क्या है?
'सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः॥'

'विश्वासभूयिष्ठं प्रामाण्यम् ।'[२]

(७) प्रत्यगात्मा का ज्ञान कैसे हो?

'गुरुमन्त्रदेवताऽऽत्मनः पवनानाम् ऐक्यनिष्कालनादन्तरात्मवित्तिः ॥'

गुरु (१) — मन्त्र (२) — देवता (३) — पञ्चप्राण (४) — स्वात्म चैतन्य (५)
↓ ऐक्यनिष्फालन
अन्तरात्मवित्ति =आत्मज्ञान पूर्वक आत्म-साक्षात्कार
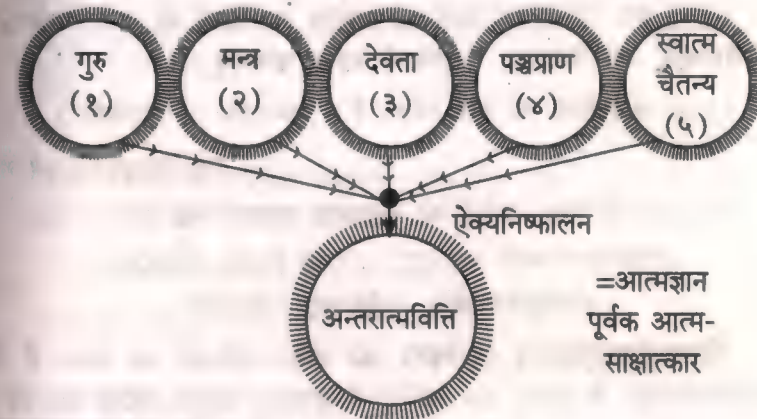
१. परशुरामकल्पसूत्र (२) (सूत्रों की व्याख्या जानबूझ कर छोड़ी जा रही है अन्यथा पुस्तक का कलेवर बहुत अधिक बढ़ जाता।)
२. परशुरामकल्पसूत्र

(८) **मंत्रों की कितनी शक्ति** है? 'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता।'

(९) **'ब्रह्म' का स्वरूप** क्या है? 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम् ।'

(१०) उसका **शरीर से क्या सम्बन्ध** है? 'तत्त्व देहे व्यवस्थितम्।'

(११) उस **आनन्दरूपब्रह्म** की आनन्दात्मकता के अभिव्यञ्जक कौन हैं?
'तस्याभिव्यञ्जकाः **पञ्चमकाराः ।।'**[1]

(१२) क्या **आनन्दाभिव्यञ्जक तत्त्वों का प्रकाशन उचित है या नहीं?**
'तैरर्चनं गुप्त्या प्राकट्यान्निरयः ।।'
('गोपनीयतावाद।)' 'पञ्चमकार सेवन ।'

'पञ्चमकार' = आनन्दरूप ब्रह्म के अभिव्यञ्जक हैं।

(१३) **निग्रहानुग्रहस्वरूप 'आज्ञा'** की सिद्धि का उपाय क्या है?
'भावनादाठर्यादाज्ञासिद्धिः ।।'

(१४) क्या अपने सिद्धान्त ग्रंथों से पृथक् अन्य **दर्शनों की निन्दा करनी चाहिए?**

(नहीं, नहीं करनी चाहिए। 'सर्वदर्शनानिन्दा' 'सर्वसामञ्जस्यवाद' ; सभी के प्रति आदर की दृष्टि

(१५) **क्या स्वशाक्तविरुद्ध किसी भी बात को स्वीकार करना चाहिए?**
—'अगणनं कस्यापि।'

(१६) क्या रहस्यात्मक तत्त्वों का **उपदेश** सब किसी को करना चाहिए?
अधिकारवाद' का सिद्धान्तः 'सच्छिष्ये रहस्य कथनम् ।'

(१७) **आदर्शजप** का क्या स्वरूप है? (मानसजप = अनुसंहति')
—"सदाविद्यानुसंहतिः।।१७।।[2]

* (१८) श्री विद्या साधना की **मुख्यतमा साधना क्या** है?
(शिवोऽहममस्मीति भावयेत्')—'सततं शिवता समावेशः।।
जीवशिवैक्यवादः अद्वैतवादः 'शिवोऽहं'

सौभाग्योदयवृत्तिकार (रामेश्वर) की दृष्टि—वृत्तिकार का कथन है कि 'परशुरामकल्पसूत्र' के पूर्वोक्त १७ सूत्रों में जो उपासना सम्बन्ध निर्देश दिए गए हैं

---
१. परशुरामकल्पसूत्र
२. परशुरामकल्पसूत्र

वे केवल उनके लिए जो **मन्दाधिकारी** हैं। **'शिवतासमावेश'** की साधना मुख्य अधिकारियों के लिए हैं—
'पूर्वधर्मो मन्दाधिकारिणः। अयं मुख्याधिकारिणः ।।'

(१९) क्या साधना में **असद्वृत्तियाँ त्याज्य हैं?**
'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यविहित हिंसा-स्तेय-लोकविद्विष्टवर्जनम् ।।'

(२०) क्या अनेक गुरुओं से दीक्षा ली जा सकती है?
'एकगुरुवादः 'एगुरुपरस्तिरसंशयः ।'

(२१) **निष्परिग्रहता** की आवश्यकता एवं उसका स्वरूप क्या है?
('सर्वत्र वस्तुमात्रे निष्परिग्रहतां)—'सर्वत्रिनिष्परिग्रहता'

(२२) साधना में **निष्कमता की क्या भूमिका** है?
'निष्काम कर्म योग' : 'फलं त्यक्त्वा कर्मकरणम् ।।'

(२३) क्या **नित्यकर्म आवश्यक है?** ("अनित्यकर्मलोपः।।')
('नित्यकर्म अवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः ।')

(२४) क्या **पञ्चमकारों के बिना पूजा** नहीं की जा सकती?

(की जानी चाहिए)—'मपञ्चकालाभेऽपि नित्यक्रमप्रत्यवमृष्टिः' साधना में **निर्भयता** का क्या साधन है?

(अहं तु न रागी किन्तु शास्त्रेण प्रवर्तितेन न मे भीतिरिति निर्धारणेन निर्भयता सम्पादनीयेति') —'निर्भयता सर्वत्र'।

(२५) श्रीविद्योपासना का **फल** क्या है? 'निर्विषयचिद्विमृष्टिः फलम् ।

(चिद्विमर्श : 'निर्विषयाया निर्विकल्परूपायाश्चितो विमृष्टिः फलम् ।।'
—(सौभाग्योदयवृत्ति)

(२६) साधना की **सर्वोच्च उपलब्धि** क्या है?
आत्मसाक्षात्कार : 'आत्मलाभान्नपरं विद्यते ।।'

(२७) **वेदादि विद्याओं का क्या महत्व है?**
वेश्या इव प्रकटा वेदादिविद्याः। सर्वेषु दर्शनेषु गुप्तेयं विद्या ।।
—(परशुरामकल्पसूत्र (१/३०)

(वेदों के प्रति घृणा की दृष्टि)

(२८) अधिकारवादः 'तत्र सर्वथा मतिमान दीक्षेत् ।[1]

---
१. परशुरामकल्पसूत्र

(२९) **दीक्षाओं के कितने प्रकार हैं?**

'दीक्षास्तिस्रः शाक्ती, शाम्भवी मान्त्रीचेति। तत्र शाक्तीशक्ति प्रवेशनात् , शाम्भवी चरणविन्यासात्, मान्त्री मन्त्रोपदिष्टया सर्वाश्च कुर्यात् ।'[१]

दीक्षा के प्रकार

'शाक्ती' दीक्षा

'शाक्ती' शक्ति प्रवेशनात्।'

शिष्य के भीतर गुरु या देवता द्वारा आत्मिक शक्ति का प्रवेश किया जाना।

'शाम्भवी' दीक्षा

'शाम्भवी' चिरण विन्यासात्।'

कामेश्वरी एवं कामेश्वर के रक्त एवं शुक्र चरणों का शिष्य के शिर पर उपस्थिति का भावन।

'मान्त्री' दीक्षा

'मान्त्री' मन्त्रोपदिष्टया।'

गुरु द्वारा शिष्य को मंत्र की दीक्षा दी जानी।
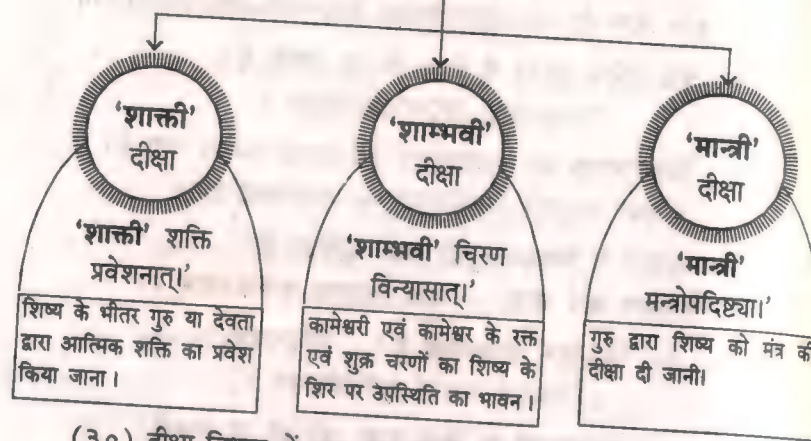
(३०) दीक्षा-विधान में **गुरु का कार्य** क्या है?

"सद्गुरुः क्रमं प्रवर्त्य साङ्गं हुत्वा तरुणोल्लासवान् शिष्यमाहूय वाससा मुखं बद्ध्वा **गणपति-ललिता-**श्यामा-वार्तालीपरा-पात्र बिन्दुभिस्तमवोक्ष्य सिद्धान्तं श्रावयित्वा। तच्छिरसि रक्तशुक्लचरणं भावयित्वा तदमृतक्षालितं सर्वशरीरमलङ्कुर्यात् ।'

(३१) **शाक्ती दीक्षा** का क्या स्वरूप है?

"तस्यामूलब्रह्मविलं प्रज्वलन्तीं प्रकाशलहरीं ज्वलदनलनिभां ध्यात्वा तद्रश्मिभिस्तस्य पापपाशान् दग्ध्वा।"

(३२) **'मान्त्रीदीक्षा' का क्या स्वरूप है?**

'त्रिकुट-त्रिकला-चतुर्जात-तक्कोल-मदयन्ती-सहदेवी-दूर्वा-भस्म-मृत्तिका-चन्दन-कुङ्कुम-रोचना-कर्पूरवासितजलपूर्णं वस्त्रयुग वेष्टितं नूतनकलशं बालाषडङ्गेनाभ्यर्च्यं श्री श्यामा-वार्त्तालीचक्राणि निःक्षिप्य तिसृणामावरणमन्त्रैरभ्यर्च्य संरक्ष्या स्त्रेण प्रदर्श्य धेनुयोनी।।" (परशुरामकल्पसूत्र)। इसके अनन्तर **'मृतकायन्त्र' 'मांत्रीदीक्षा का उपसंहार' 'गुरुकर्तृक शेषकर्म' 'गुरुपादुकामन्त्रदान' 'आचारानुशासन' एवं शिष्य कर्तृकक्रिया'** पर ('परशुरामकल्पसूत्र में) प्रकाश डाला गया है।

---

१. परशुरामकल्पसूत्र

ये समस्त विषय उन्होंने प्रथम खण्ड अर्थात् "दीक्षाविधि" के अन्तर्गत विवेचित किये हैं।

महागणपति क्रम : द्वितीय खण्ड (संक्षिप्त रूपरेखा)—

(१) भगवती ललिता की उपास्ति की दिक्षा में दीक्षोपरान्त उपासनारंभ में सर्वप्रथम महागणपति की उपासना करना परमावश्यक है।[१]

(२) ब्राह्ममुहुर्त में उठकर **द्वादशान्त** में, सहस्त्रदलपद्म की कर्णिका की मध्यरेखा के ऊपर **गुरुदेव के चरणों की भावना** करनी चाहिए एवं उनके चरणों से स्त्रवित सुधाधारा से स्वात्म के सर्वाङ्ग को सुखस्नात अनुभव करना चाहिए।

(३) तदुपरान्त **हृत्पद्म** में उदीयमान अनन्त आदित्यों की रक्ताभा को भी मलिन करने वाली आभा वाले एवं रक्ताभ महागणपति की भावना करनी चाहिए। इसके बाद मूलतर्पण २२८ बार, वर्ण तर्पण ११२ बार एवं मिथुन तर्पण १०४ बार करना चाहिए।[२]

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (२/१)
२. परशुरामकल्पसूत्र (२/३)
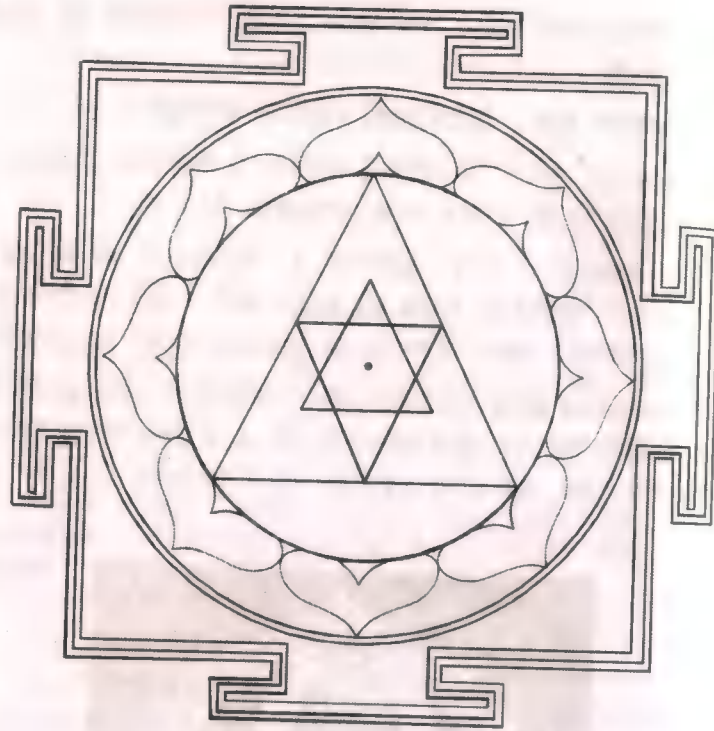
गणेश यन्त्र

(४) फिर यागगृह में जाकर 'आसनशुद्धि', 'प्राणायाम', निर्विघ्नता हेतु गणपति के ध्यानपूर्वक संकल्प,एवं फिर **'षडङ्गन्यास'** फिर विघ्नेश्वर का ध्यान करना चाहिए।

(५) तदुपरान्त षडङ्गविन्यास (त्रिकोण, षट्कोण, वृत्त एवं चतुष्कोणों का निर्माण करके) फिर त्रिकोण, षट्कोण, एवं चतुरस्र मण्डलों में ३ दिव्य मण्डलों की पूजा करनी चाहिए। मूलमंत्र से सात बार अभिमन्त्रण करना चाहिए। द्रव्यों का सम्प्रोक्षण भी करना चाहिए। फिर वह्निकलाओं, सूर्यकलाओं, चन्द्रकलाओं की पूजा करनी चाहिए यथा—'श्रीं ह्रीं क्लीं धूमार्चिकलायै नमः'' पूर्व दिशा में धूमार्चिकला की पूजा करनी चाहिए। कलाओं की पूजा के अनन्तर वक्रतुण्ड गायत्री मंत्र एवं गणेश मंत्र—'गणानां त्वा' से आचार द्रव्यों का अभिमंत्रण करना चाहिए। अर्घ्यजल से स्वात्मा को संस्कृत करके गुरुपादुका को शिर पर धारण करना चाहिए। तदनन्तर चन्दन-पीठ पर समासीन महा गणपति की प्रतिमा में देवियों, धर्माद्यष्टक एवं पीठ शक्तियों की पूजा करनी चाहिए। यथा—

'चतुरस्राष्टदलषट्कोणत्रिकोणमये चक्रे वा तीव्रायै, ज्वालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै,उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै, विघ्ननाशिन्यै, ॠंधर्माय, ॠं ज्ञानाय, लं वैराग्याय, लृं ऐश्वर्याय, ॠं अधर्माय, ॠं अज्ञानाय, लं अवैराग्याय, लृं अनैश्वर्याय नमः'' आदि कहकर पीठ शक्ति स्वरूपा देवियों की पूजा करनी चाहिए।।[१]

(६) इसके अनन्तर पञ्चोपचार **पूजन सन्तर्पण** आदि करना चाहिए। **पञ्चावरण देवताओं की पूजा** की जानी चाहिए। **गणनाथ का अर्च-तर्पण भी** करना चाहिए। **षोडशोपचार पूजन** भी करना चाहिए। इसके बाद तीन बार मंत्रपाठ भी करना चाहिए। फिर **बलि** भी दी जानी चाहिए। इसके बाद बटुक एवं शक्ति (गणपति की भावना से भावित बटुक एवं सिद्धिलक्ष्मी की भावना से भावित शक्तिरूपिणी कुमारी) को बैठाकर उनकी गन्ध, अक्षत, पुष्पादि से पूजा करनी चाहिए। फिर गणपति उद्वासन (स्वात्मसात्) करना चाहिए। बहिर्यागोपासना के समाप्त होने पर **'उद्वासन'** रूप अन्तर्याग **करना चाहिए।।**[२]

श्रीचक्र का सूर्यमण्डल के मध्य ध्यान करना चाहिए—

'तन्मण्डल मध्ये नवयोनिचक्रमनुचिन्त्य'' (प०क०सू०) फिर **त्रिपुरसुन्दरी गायत्री मन्त्र**—(त्रिपुरा गायत्री का जप) 'त्रिपुरसुन्दरि विद्महे' 'पीठकामिनि धीमहि' और फिर 'तन्नःक्लिन्ना प्रचोदयात्'—का जप करना चाहिए।

श्रीचक्र को ही **'नवयोनिचक्र' 'कामिकागम'** एवं **'सुन्दरीहृदय'** भी कहते हैं। श्रीचक्रस्थं राजराजेश्वरी महामाहेश्वरी को **तीन अर्घ्य** देना चाहिए। फिर यागमन्दिर में जाकर आसनोपविष्ट होना चाहिए। फिर त्रितारी का उच्चारण करे 'दीपनाथाय नमः' करके भूमि पर पुष्पाञ्जलि समर्पित करना चाहिए। श्रीविद्या की उपासना में **त्रितारी बीजमंत्रों का योग** अत्यावश्यक है।

'श्रीचक्र' में शक्तिचक्रैकनायिका श्रीललिताम्बा की उपासना की जाती है। इसके बाद भगवती के मन्दिर आदि की पूजा की जानी चाहिए। उसमें पूजा-विधान का स्वरूप इस प्रकार है—

'तत्र महाचक्रे अमृताम्भोनिधये, रत्नद्वीपाय, नानावृक्षमहोद्यानाय, कल्पवृक्षवाटिकायै, सन्तानवाटिकायै, हरिचन्दनवाटिकायै, मन्दारनवाटिकायै, पारिजातवाटिकायै, कदम्बवाटिकायै, पुष्परागप्रकाराय, पद्मरागरत्नप्रकाराय, गोमेधरत्नप्रकाराय, वज्ररत्नप्राकाराय, वैदूर्यरत्नप्राकाराय, इन्द्रनीलरत्नप्राकाराय, मुक्तारत्नप्राकाराय, मरकतरत्नप्राकाराय, विद्रुमरत्नप्राकाराय, माणिक्यमण्डपाय, सहस्रस्तंभमण्डपाय, अमृतवापिकायै,

१. परशुरामकल्पसूत्र
२. परशुरामकल्पसूत्र

आनन्दवापिकायै, विमर्शवापिकायै, बालातपोद्गाराय, चन्द्रिकोद्गाराय, महाशृङ्गारपरिघायै, महापद्माटव्यै, चिन्तामणिगृहराजाय, पूर्वाम्नायमयपूर्वद्वाराय, दक्षिणाम्नायमयदक्षिणद्वाराय, पश्चिमाम्नायमय पश्चिमद्वारायोत्तराम्नायमयोत्तरद्वाराय, रत्नप्रदीपवलाय, मणिमयमहासिंहासनाय, रुद्रमयैकमञ्चपादाय, ईश्वरमयैकमञ्चपादाय, सदाशिवमयैक मञ्चफलकाय हंसतूलतल्पाय, ब्रह्ममयैकमञ्चपादाय, विष्णुमयैकमञ्चपादाय, हंसतूलमहोपधानाय, कौस्तुभास्तरणाय, महावितानकाय, महाजवनिकायै नम इति चतुश्चत्वारिंशन्मन्त्रैस्तत्तदखिलं भावयित्वा अर्चयित्वा॥१०॥[१]

श्रीक्रम (तृतीय खण्ड) : 'श्रीललिताधिकारः''

ललिताक्रमारंभ—भगवान गणपति की पूजा (उपासना) करने के उपरान्त शक्तिचक्र की अधिष्ठात्रीं भगवती ललिता का क्रम आरंभ होता है।[२]

(१) **परमशिव रूप गुरु का ध्यान**—ब्राह्ममुहूर्त्त में उठे। (अष्टाविंशतितमो यश्च मुहूर्त्तो ब्रह्मनामकः। तस्मिन्तुत्थाय मतिमांश्चिन्तयेदात्मनो हितम्।)

ब्रह्ममुहूर्त्त में उठकर परमशिव रूप परमगुरु का ध्यान करें।

मूलाधार चक्र से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त संविदतत्त्वरूपा निर्विकल्पिका चितिशक्ति शरीर में व्याप्त है जोकि करोड़ों की संख्या में एक साथ कौंधने वाली बिजलियों की कपिशवर्णी शोभा से सुशोभित है। ज्येष्ठ के तपते आदित्य की ज्योति के समान पिञ्जरवर्णी संवित्ति देवी का भी साधक ब्राह्ममुहूर्त्त में ध्यान करें। इससे साधक के कश्मलजाल जल जाते हैं। इसके बाद साधक **'कादिविद्या'** या **'हादिविद्या'** के मंत्र का जप करे। (यहाँ सूत्रकार ने पादुका-पूजन, श्लोकपाठ गण्डूष मंत्र आदि को त्याज्य मानकर उनका-उल्लेख नहीं किया है।)

*** परमशिव, मूलसंविद का ध्यान एवं कादि या हादि मंत्र का जप ***

(२) **स्नान**—स्नानोपरान्त श्रीविद्या मंत्र से ३ बार प्रत्यञ्जलि मंत्र पढ़कर शिर पर **जल डालना,** मूलाभिमंत्रित **जल का पान** करना, देवी का तीन बार 'शक्तिचक्रैक-नायिकां श्रीललितां तर्पयामि' मंत्र से तीन बार, **तर्पण** करना, मूल मंत्र पढ़कर तीन बार **स्वात्म-प्रोक्षण—वस्त्र पहनना,** सूर्य को **तीन बार अर्घ्य** देना—ये सारी क्रियायें करणीय हैं।

(३) **प्राणायाम** करते समय वायु बीज से प्राण का नियन्त्रण अग्निबीज से दोषराशि का भस्मीकरण एवं आप्लावन से उसे प्रक्षालित करके बाहर प्रक्षिप्त करना चाहिए। **(आप्लावन)** तीन प्राणायाम करना चाहिए। ('त्रिः प्राणनायम्य' १३)

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (श्रीक्रमः १०)
२. परशुरामकल्पसूत्र (श्रीक्रम ३/१)

(४) इसके नाद **न्यास** करना चाहिए। फिर **आसन** पर बैठना चाहिए। फिर **वशिन्यादियोगिनीन्यास** करना चाहिए।

(५) वर्ग	निर्धारित बीज	विशेष नाम	विशेषण नमः स्थान
(१) अवर्ग (स बिन्दु)	ब्लूं	वशिनी	वाग्देवतायै नमः शिरसि
(२) सबिन्दु कवर्ग	क्ल्हीं	कामेश्वरी	वाग्देवतायै नमः ललाटे
(३) सबिन्दु चवर्ग	व्लीं	मोदिनी	वाग्देवतायै नमः भ्रूमध्ये
(४) टुं टवर्ग	टलूं	विमला	वाग्देवतायै नमः कण्ठे
(५) तुं तवर्ग	ज्म्रीं	अरुणा	वाग्देवतायै नमः हृदि
(६) पुं पवर्ग	ह्स्ल्वयूं	जयिनी	वाग्देवतायै नमः नाभौ
(७) यादि चतुष्क (यं रं लं वं)	झ् म् र् यूं	सर्वेश्वरी	वाग्देवतायै नमः लिङ्गे
(८) शादिषट्क	क्ष्म्रीं	कौलिनी	वाग्देवतायै नमः मूलाधारे

इस प्रकार ये आठ मन्त्र बनते हैं। इन मन्त्रों से योगिनी वाग्देवताओं का शरीर के आठ मुख्यांगों पर न्यास करना चाहिए। वाग्देवता ही विश्व-सृष्टि भी मूलाधार है।

फिर मूलमंत्र (कादिविद्या) का न्यास करना चाहिए।

अकुल की कुल प्रथनशालिनी शक्ति को ही **'कौलिकी शक्ति'** एवं अकुल की कुलप्रथनशालिनी शक्ति ही **'कुलनायिका'** है।

'अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥'
'हे अमृते ! अस्मिन् द्रव्ये अमृतं स्रावय ॥

'अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय स्रावय इति।'' इसका उच्चारण करना चाहिए। इसके बाद पञ्चमी विद्या या पञ्चममन्त्र का उच्चारण करना चाहिए—

'ऐं वदवद वाग्वादिनि ऐं क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महाक्षोभं कुरु कुरु क्लीं सौः मोक्षं कुरु कुरु हसौं स्हौः॥'

कुण्डलिनी शक्ति की चिदग्नि में हवन करें।

अहंता में इदन्ता का अवसान आवश्यक है। कुण्डलिनी की चिदग्नि से चिदाकाश प्रकाशित हो जाता है। साधक ब्रह्ममयी मधुमती भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है।

ललिता क्रम : (चतुर्थ खण्ड)—

(१) हृदय में स्थित (हृदय में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित परादेवता) देवता का श्री चक्र में आवाहन करना चाहिए और तदुपरान्त उसकी पूजा करनी चाहिए।

मेरुदण्ड में अवस्थित **सुषुम्ना के आन्तर पद्म का पथ** साधना से ही प्रकाशित होता है। साधनाभाव के कारण वह दुर्गम **अटवी** (जङ्गल) कहा गया है। इस अटवी का भेदन मातृकृपा से ही संभव है। हृदयकेन्द्र से सहस्रार तक की यात्रा का मार्गदर्शन माता ही करा सकती है।

साधक उस आद्या शक्ति को '**प्राणापानवाह**' के द्वारा वहन करता है। प्राण **अपानचन्द्र** पर चढकर **प्राणसूर्य** बाहर आ जाता है और मध्य द्वादशान्त में स्थित हो जाता है। सूर्य-चन्द्र के अस्तमान को ज्योतिष में 'अमावस्या' कहते हैं। योग में तो जब **प्राणपान रूप** रवि-सोम अस्त होकर **मध्यद्वादशान्त में समा** जाते हैं तो उसे **अमावस्या** कहते हैं। अमा का उत्स ही जीवन का केन्द्र है।

"ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं श्रीं सौः शक्ति चक्रैकनायिकाया ललिताया अमृतचैतन्यमूर्तिं कल्पयामि नमः"—

इस ३३ वर्णों के मंत्र से मूर्ति की कल्पना करके कल्पित मूर्ति को नासापुट से बाहर निकालता है और उसे पुष्पाञ्जलियुक्त हाथों से समानयन करता है।

(२) भगवती की **६४ उपचारों से पूजा** करनी चाहिए। ६४ उपचारों में 'कल्पयामि' (यथा 'पाद्यं कल्पयामि') जोड़ लेना चाहिए। हर बार 'ललिताम्बायै नमः' कहना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार—'आभरणं कल्पयामि' आदि का प्रयोग करना चाहिए।

(३) नव **मुद्रायें** भी प्रदर्शित करनी चाहिए। तीन प्रकार **सन्तर्पण** भी करणीय है। **षडङ्ग पूजन** भी निष्पाद्य है।

(४) फिर **नित्याओं की भी पूजा** करनी चाहिए यथा—'मायाक्लिन्ने वाक् क्रों नित्यमदद्रवे ह्रीं इति महावज्रेश्वरी॥' 'अं क्चौं इति चित्रा' आदि॥

(५) नित्यायें निम्नाङ्कित हैं—(१) कामेश्वरी। (२) भगमालिनी (३) नित्यक्लिन्ना (४) भेरुण्डा (५) वह्निवासिनी (६) वज्रेश्वरी (७) शिवदूती (८) त्वरिता (९) कुलसुन्दरी (१०) नित्या (११) नीलपताका (१२) विजया (१३) सर्वमङ्गला (१४) ज्वालामालिनी (१५) चित्रा॥

इसके अनन्तर (१) दिव्यौघ (२) सिद्धौघ (३) मानवौघ की पूजा करनी चाहिए।

'यथा सम्प्रदायं पादुकान् दिव्य-सिद्ध-मानवौघ सिद्धाभिष्ट्वा पश्चात् स्वशिरसि नाथं यजेत्।'[१]

*** ललिता नवावरण पूजा क्रम (पञ्चमखण्ड) ***

प्रथमावरण की पूजा (व्यष्टि पूजा)—

(१) **अणिमा का मंत्र**—'ऐं ह्रीं श्रीं अं अणिमासिद्धि श्रीपादुकां पूजयामि नमः॥'

(२) **लघिमा का मंत्र**—'ऐं ह्रीं श्रीं लं लघिमासिद्धिश्रीपादुकां पूजयामि नमः॥'

इसी प्रकार अन्य सिद्धियों की पूजा करनी चाहिए। **मध्यचतुर्भुज** में ८ मातृकाओं की पूजा करनी चाहिए। (मातृकायें—ब्राह्मी। माहेश्वरी। कौमारी। वैष्णवी। वाराही। इन्द्राणी।

मध्यचतुरस्र में —(१) ब्राह्मी पश्चिमद्वार में (२) माहेश्वरी उत्तरद्वार में (३) कौमारी पूर्वद्वार में (४) वैष्णवी दक्षिणद्वार में (५) वायव्य में वैष्णवी (६) ईशान में इन्द्राणी (७) अग्नि में चामुण्डा (८) नैऋत्य में महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए।

तृतीय चतुरस्र में—(१) सर्वसंक्षोभिणी (२) सर्वविद्राविणी (३) सर्वाकर्षिणी (४) सर्ववशङ्करी (५) सर्वोन्मादिनी (६) सर्वमहाङ्कुशा (७) सर्वखेचरी (८) सर्वबीजा (९) सर्वयोनि मुद्रा (१०) सर्वत्रिखण्डा।

प्रथमावरण की समष्टि पूजा—

अणिमा से त्रिखण्डा पर्यन्त ये १० योगिनियाँ '**प्रकट योगिनियाँ**' कही जाती हैं। '**त्रैलोक्यमोहनचक्र**' तीन चतुरस्रों का सबसे बाहर वाला चक्र है। इसी क्रम में इन समस्त प्रकट योगिनियों की पूजा की जाती है। यह '**समष्टिपूजा**' कही जाती है। '**त्रैलोक्यमोहनचक्र**' की नायिका त्रिपुरा है।

द्वितीयावरण पूजा—श्री चक्र के १६ पत्रों में १६ गुप्त योगिनियों की पूजा की जानी चाहिए।

---

१. ललिता क्रम (१०)

योगिनियों के नाम

(१)	(२)	(३)	(४)
कामाकर्षिणी	बुद्ध्याकर्षिणी	अहङ्काराकर्षिणी	शब्दाकर्षिणी
(५)	(६)	(७)	(८)
स्पर्शाकर्षिणी	रूपाकर्षिणी	रसाकर्षिणी	गन्धाकर्षिणी
(९)	(१०)	(११)	(१२)
चित्ताकर्षिणी	धैर्याकर्षिणी	स्मृत्याकर्षिणी	नामाकर्षिणी
(१३)	(१४)	(१५)	(१६)
बीजाकर्षिणी	आत्माकर्षिणी	अमृताकर्षिणी	शरीराकर्षिणी
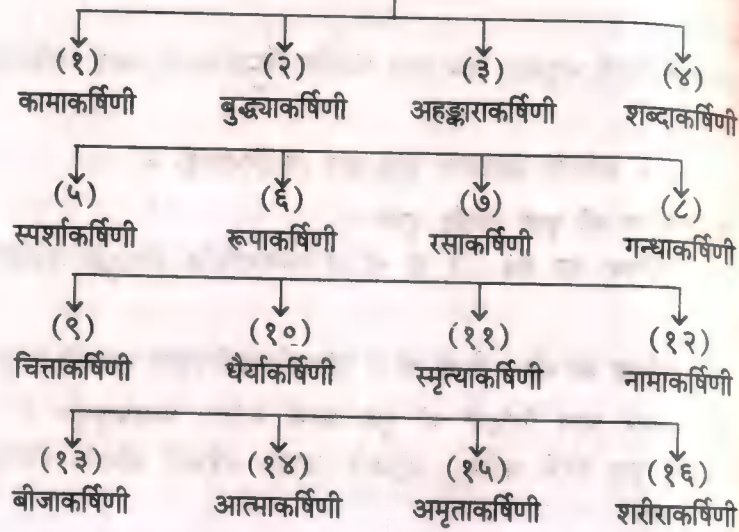
पूजा मन्त्र इस प्रकार बनेंगे—

'ऐं ह्रीं श्रीं अं कामाकर्षिणी नित्याकला श्री पादुकां पूजयामि नमः।।'

तदनन्तर—'एताः गुप्तयोगिन्यः सर्वाशापरिपूरके चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिता सन्तुष्टाः सन्तु नमः—कहकर पुष्प अर्पित करना चाहिए। फिर **आत्मरक्षा का मन्त्र** पढ़ना चाहिए। फिर त्रिपुरेश्वरी की पूजा करके 'द्रीं' बीजमंत्र कहकर सर्वविद्राविणी मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिए।

तृतीयावरण पूजा—**'सर्वसंक्षोभण चक्र'** में ८ गुप्ततर योगिनियों की पूजा की जाती है।

गुप्ततर योगिनियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)
अनङ्गकुसुमा	अनङ्गमेखला	अनङ्गमदना	अनङ्गमदनातुरा
(५)	(६)	(७)	(८)
अनङ्गरेखा	अनङ्गवेगिनी	अनङ्गांकुशा	अनङ्गमालिनी
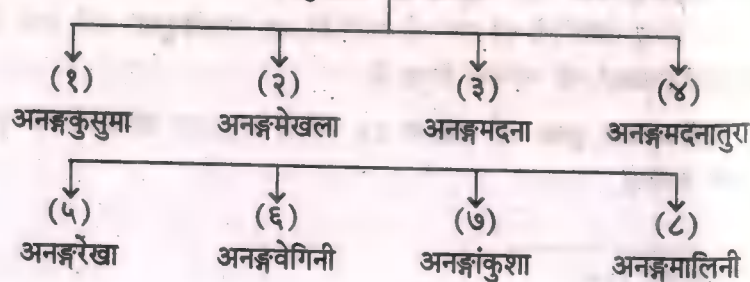
चतुर्थावरण की पूजा—इनकी योगिनियों को 'सम्प्रदाय योगिनी' कहते हैं। ये संख्या में १४ हैं। इनकी पूजा एक-एक दल रूप अरों में देवी के अग्रकोण से आरंभ करके होती है। **मंत्र का स्वरूप** इस प्रकार होता है—

'ऐं ह्रीं श्रीं सर्वसंक्षोभिणी श्री पादुका पूजयामि नमः ।।'

इसी प्रकार अन्य मंत्र भी बनाने चाहिए।

अन्त में 'एताः सम्प्रदाययोगिन्यः **सर्वसौभाग्य चक्रे** समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः।।'—यह मंत्र कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए। 'ब्लूं' बीजमंत्र बोलकर सर्ववशङ्करी मुद्रा दिखलानी चाहिए।

पञ्चमावरण पूजा—'बहिर्दशार' **'सर्वार्थसाधकचक्र'** कहलाता है। इसमें १० कुलोत्तीर्ण योगिनियों की पूजा की जाती है। इन योगिनियों का नाम इस प्रकार है—

कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
सिद्धिप्रदा	सम्पत्प्रदा	प्रियङ्करी	मङ्गलकारिणी	कामप्रदा
(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
दुःखविमोचिनी	मृत्युप्रशमनी	विघ्ननिवारिणी	सर्वाङ्गसुन्दरी	सर्वसौभाग्यदायिनी
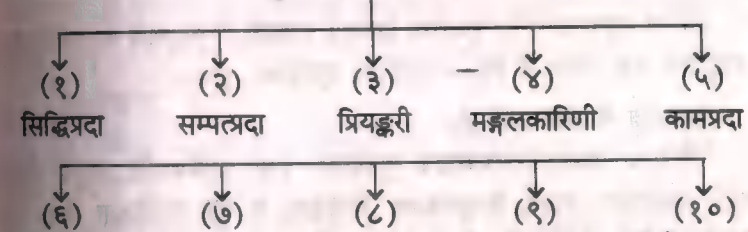
षष्ठावरण पूजा—यह पूजा **'अन्तर्दशार' (सर्वरक्षाकरचक्र)** में होती है। इसमें **'निगर्भ योगिनियों'** की पूजा की जाती है।

निगर्भ योगिनियाँ

सर्वज्ञा	सर्वशक्तिदेवी	सर्वैश्वर्यप्रदा	सर्वज्ञानमयी	सर्वव्याधिविनाशिनी
सर्वाधारस्वरूपा	सर्वपापहरा	सर्वानन्दमयी	सर्वरक्षास्वरूपिणी	
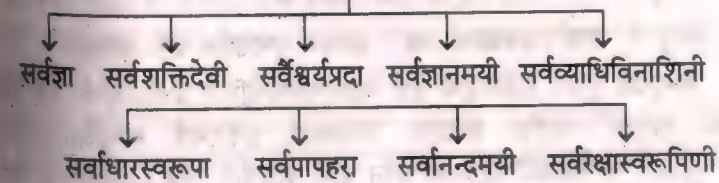
सर्वेप्सितफलप्रदा आदि १२ निगर्भ योगिनियाँ हैं। 'एता निगर्भयोगिन्यः सर्वरक्षाकर-चक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधा सशक्तयः सवाहनाः सपिरवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिता सन्तर्पिताः सन्तुष्टा सन्तु नमः।।'—कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए।

सप्तमावरण—'अष्टारचक्र' को **'सर्वरोगहर'** कहते हैं।

'एता रहस्य योगिन्यः सर्वरोगहरचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिता सन्तुष्टाः सन्तु नमः'—कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए।

मूर्तिविद्या 'ह्रीं श्रीं सौः' बीजमंत्र को कहते हैं। इस मन्त्र को बोलकर "त्रिपुरासिद्धचक्रेश्वरी श्रीपादुकां नमः' मंत्र कहकर सप्तम आवरण पूजा का अर्पण किया जाता है। खेचरी मुद्रा का प्रदर्शन भी करना चाहिए। इसके साथ ही आयुध-पूजा भी निष्पाद्य है।[1]

अष्टमावरण पूजा—इस पूजा में भी 'एता अति रहस्य योगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदचक्रे समुद्राः ससिद्धयः सायुधाः सशक्तयः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताः सन्तर्पिताः सन्तुष्टाः सन्तु नमः" कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए।

"त्रिकोणे वाक्कामशक्तिसमस्तपूर्वाः कामेश्वरीवज्रेश्वरी-भगमालिनी महादेव्यः बिन्दौ चतुर्थी।।'

समस्त आवरणान्तर्गत पूजनीया नित्यायें भगवती त्रिपुरसुन्दरी के अतिरिक्त नहीं है इसीलिए कहा जाता है कि—"अभेदाय मूलदेव्याः पूजा।।'

कल्पसूत्र में कहा गया है—

"तिसृणा मासामनन्तरमभेदाय मूलदेव्याः पूजा। कामेश्वर्यादि चतुर्थी नित्यानां षोडशी चक्रदेवीनां नवमी बिन्दुचक्रस्था चेत्येकैव। न तत्र मन्त्रदेवता भेदः कार्यः। तन्महादेव्या एवा चतुर्षुस्थलेषु विशेषार्चनमावर्तते।।१२।।"

'एता अतिरहस्य योगिन्यः **सर्वसिद्धिप्रदे चक्रे ।'**

नवमावरण पूजा—नवम आवरण में तो मात्र ललिताम्बा की ही पूजा की जाती है। यह पूजा **'बिन्दुचक्र'** में की जाती है।

'बिन्दुचक्र' को 'सर्वानन्दमय चक्र' कहते हैं।

बिन्दु में **'सर्वानन्दचक्राय नमः'** कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए।

'बिन्दुचक्रे मूलेन देवीमिष्ट्वा एषा परापररहस्ययोगिनी सर्वानन्दमये चक्रे समुद्रा ससिद्धिः सायुधाः सशक्तिः सवाहनाः सपरिवाराः सर्वोपचारैः सम्पूजिताऽस्त्वित्वति पुनर्मूलमुच्चार्य महाचक्रेश्वरीमिष्ट्वा वाग्भवेन योनिं प्रदर्श्य।।' 'एवं नवावरणपूजां विधाय धूपादिदानं पूर्ववद्धूपदीपमुद्रातर्पणनैवेद्यादि दत्वा।।' (१४-१५)

१. पुस्तक की पृथुलता की शंका से संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है अतः मंत्रस्वरूप आदि विधान छोड़ दिए जा रहे हैं।)

पञ्चदशी का उच्चारण करके—'महाचक्रेश्वरी'[1] श्रीपादुकां पूजयामि नमः' कहकर पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए।

पूजान्त में यह मन्त्र कहना चाहिए—

'अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागत वत्सले।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं मयैव वरणार्चनम्।।'

यही है पूजा-समर्पण।

प्रथमः **धूप** फिर **दीपार्पण** और फिर **मुद्रा-प्रदर्शन** का क्रम है। मुद्रायें सर्वसंक्षोभिणी आदि हैं। इसके बाद **तर्पण** का क्रम है। पाँचवें स्थान में **नैवेद्यार्पण** है। यह नैवेद्य **'महानैवेद्य'** है। सर्वस्वार्पण ही महानैवेद्य है। भोज्य, भक्ष्य, चोष्य लेह्य समस्त सामग्रियों के साथ पेय तथा दधि, दुग्ध मधुपूर्ण नैवेद्य होना चाहिए। साधक धेनुमुद्रा दिखाकर उसे अमृतमय करे। प्राणापन, व्यान, उदान एवं समान मुद्राओं का समन्त्रक प्रयोग किया जाय। भावना की जाय कि पराम्बा इस नैवेद्य एवं शिवतत्त्वमयी ललिताम्बा को मूल मंत्र के त्रिकुटों से तृप्त करें। तदूपरान्त माँ को ताम्बूलार्पण करना चाहिए।

'कामकला' का ध्यान—

(१) **बिन्दु में मुख का** (मातृशरीर का दर्शन तो अपने आप बिन्दु में होना चाहिए) **ध्यान** करना चाहिए।

(२) **विश्ववत्स के आप्यायक स्तनद्वय** को **दो बिन्दुओं** के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

(३) पुत्र के लिए योनि-प्रकल्पन निषिद्ध है तथापि सूत्रकार ने उसे सपरार्ध (ई) बीज से निर्दिष्ट किया है। सौभाग्यहृदयमामृश्य।।१७।।

पुरुषार्थ चतुष्टय का उपादान कारण **'सौभाग्यहृदय'** है। इसका **बीजमंत्र पराबीज 'सौः'** है। इसका भी ध्यान करना चाहिए। इसके बाद **बलि** का विधान है। बलि पदार्थ मण्डल में रखना चाहिए। बलि के विषय में यह सोचना चाहिए कि **विघ्नकारी भूत इसे खा रहे हैं। जलार्पण फिर** 'बाणमुद्रा'**-पदर्शन एवं** पणाम **करने के बाद** जपस्तोत-पाठ, शक्ति-पूजन, मपञ्चक से देव तुष्टिकरण **फिर** चिदग्नि मे हविशेष का हवन, **फिर** खेचरी-मुद्रा प्रदर्शन, **क्षमाप्रार्थना पूर्वक** विसर्जन कृत्य समाप्त करना चाहिए। खेचरी मुद्राबन्ध की सामरस्यावस्था मे अवस्थित होकर पराम्बा का विसर्जन करना चाहिए।

१. परशुरामकल्पसूत्र (ललितानवावरण पूजाक्रम)
२. परशुरामकल्पसूत्र (ललितानवावरण पूजाक्रम १६)

श्यामा क्रम (षष्ठ खण्ड)

'इयमेव महती विद्या सिंहासनेश्वरी साम्राज्ञी तस्याः प्रधान सचिवपदं श्यामा तत्क्रमविमृष्टिः सदा कार्या॥'[१]

प्रश्न—जगदीश्वरी को छोड़कर ललिता की प्रधान सचिव श्यामा की उपासना क्यों की जाय?

उत्तर—ऋषि परशुराम जी कहते हैं—'प्रधान द्वारा राजप्रसादनं हि न्याय्यम्॥२॥ अतः प्रथमतः (श्री ललिता जी की प्रधान सचिव) **'श्यामा की उपासना** करने के बाद ही भगवती ललिता की उपासना करनी चाहिए।'

वृत्तिकार का कथन है कि—(१) प्रथमतः दीक्षा लीजिए। (२) फिर गणपति की उपासना कीजिए। (३) (फिर) श्यामा की उपासना कीजिए (४) (फिर) वाराही की उपासना कीजिए (५) (फिर) परोपासना कीजिए एवं (६) (फिर) भगवती ललिता की उपासना कीजिए। किन्तु जो समर्थ लोग हैं वे दीक्षा लेने के बाद गणपति की उपासना के बाद सीधे ललिता क्रम आरम्भ कर सकते हैं।

भगवती ललिता की उपासना क्रमद्वय (रामेश्वर)

(१)	(२)
(उपासना-सोपान)	(उपासना-सोपान)
दीक्षा, गणपति की उपासना, श्यामा की उपासना, वाराही की उपासना परोपासना और **अन्त में ललितोपासना।**	(द्वितीय पद्धति) यदि साधक समर्थ है तो प्रथमतः (१) दीक्षा (२) (फिर) गणपति उपासना एवं (३) फिर **ललितोपासना।**[२]
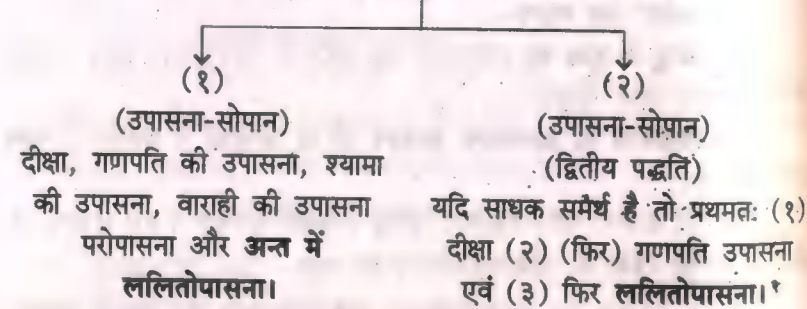
श्यामोपासना के नियम—(१) **ब्रह्ममुहूर्त्त** में उठकर (२) (फिर) गुरु **श्रीपादुका का अभिवादन** करके (३) (फिर) **प्राणायाम** करके (४) (फिर) मूलाधार से द्वादशान्त पर्यन्त प्रकाशमान **परासंवित् का ध्यान** करके (५) (फिर) मूल मंत्रका मन ही मन **जप** करके शय्या-त्याग करके **मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग कफ विमोचन नासाशोधन** आदि करना चाहिए और **बीस बार कुल्ला** करना चाहिए।[३] (६) (फिर) **मन्त्र स्नान-भस्मस्नान-जलस्नान** में से कोई स्नान करना चाहिए। (७) (फिर)

१. परशुरामकल्पसूत्र (श्यामा क्रम)
२. सौभाग्योदयवृत्ति
३. परशुरामकल्पसूत्र (श्यामाक्रम ३)

नित्यकर्मात्मक **सन्ध्योपासना** और अन्त में **सूर्यमण्डलका ध्यान** और उसमें **सापरण भगवती ललिता का ध्यान** करना चाहिए (८) (फिर)मूल मंत्र से ३ बार **अर्घ्य** देकर (९) (फिर) **तर्पण** करना चाहिए।

'य' 'र' 'ल' 'व' (अन्तस्थवर्ण) पर अनुस्वार लगाने से इनमें आन्तरिक ऊर्जा का आन्दोलन एवं उच्छलन होने लगता है।

'यकार' = वायु बीज। **'रकार'** = अग्निबीज। **'वकार'** = अमृत वरुण, विष्णु बीज)। **'लकार'** = पृथ्वी बीज। बीजों से स्वसम्बद्ध तत्त्वों का समुच्छलन। वर्ण-बीजों से ऊर्जा का उद्रेक।

(१) 'यं' इति वायु पिङ्गलयाऽकृष्य देहमुपविशोध्य।
(२) 'रं' इति वायुमाकृष्य देहं दग्ध्वा।
(३) 'वं' इति वायुमाकृष्यामृतेन दग्ध देहभस्म सिक्त्वा।
(४) 'लं' इति वायुमाकृष्य शिवचैतन्यमुत्पाद्य।
(क) 'यं'—शरीर को शुष्क बनाना। (जलांश नष्ट)
(ख) 'रं' (अग्निबीज)—देह-दाह की क्रिया।
(ग) 'वं' (वरुणबीज)—देह में अमृत सिञ्चन।
(घ) 'लं' (पृथ्वी बीज)—सिक्त भस्म में काठिन्योत्पादन।
(ङ) 'हंस मंत्र'—(उपर्युक्त भूत शुद्धि निष्पादित करने के बाद) हंस मंत्र से चैतन्योन्मेष करणीय है।

(५) इसके बाद **प्राणप्रतिष्ठा** करनी चाहिए।
(क) मूल मंत्र को एक बार कहकर—वायु का पूरक
(ख) ३ बार मंत्रोच्चारण करने तक—वायु का कुंभक
(ग) २ बार मंत्रोच्चारण करने तक—वायु का रेचन

किन्तु इस प्राणायाम को अधिक संख्या में भी किया जा सकता है।[१] **षडङ्गन्यास** (हृदय। शिर। शिखा। कवच। नेत्रत्रय। अस्त्र। अङ्गों पर न्यास) भी निष्पाद्य है।

सर्वप्रथम—**बाला मंत्र** सहित **'मातृकान्यास'** करना चाहिए। (**बालामंत्र** =ऐं क्लीं सौः)। इसके बाद—

१. प्राणायाम—तेजोमयतनुत्व की प्राप्ति। (परशुरामकल्पसूत्र)

(१) ऐं क्लीं सौः रत्यै नमः मूलाधारे।

(२) ऐं क्लीं सौः प्रीत्यै नमः हृदये।

(३) ऐं क्लीं सौः मनोभवाय नमः मुखे'—इस प्रकार न्यास करना चाहिए। न्यास ६ ब्रह्मरंध्र में, ३ ललाट में, ४ भ्रूमध्य में, ६ दक्षिण चक्षु में, ८ वाम चक्षु में, ७ मुख एवं इसी प्रकार कान, कण्ठ, मूलाधार आदि में न्यास निष्पाद्य है।

अनुलोम एवं विलोम दोनों क्रमों से न्यास करना चाहिए। श्यामा विद्या के आधार पर ही—

(१) धूम्रा (२) अर्चिः (३) ऊष्मा (४) ज्वलिनी (५) ज्वालिनी (६) विस्फुलिङ्गिनी (७) सुश्रीः (८) सुरुपा (९) कपिला (१०) द्रव्यवाहा एवं (११) कव्यवाहा—इन अग्नि कलाओं की पूजा करनी चाहिए और पात्र को प्रतिष्ठित करने के बाद उसमें सूर्य की कलाओं की पूजा करनी चाहिए। वे निम्नाङ्कित हैं—(१) तपिनी (२) तापिनी (३) धूम्रा (४) मरीचि (५) ज्वालिनी (६) रुचि (७) सुषुम्ना (८) भोगदा (९) विश्वा (१०) बोधिनी (११) धारिणी (१२) क्षमा।

इसके बाद पात्र में शुद्ध जल भरकर शिवरूप सोमतत्त्व की बाला के साथ पूजा की जाती है। सोम की—(१) अमृता (२) मानदा (३) पूषा (४) तुष्टि (५) पुष्टि (६) रति (७) धृति (८) शशिनी (९) चन्द्रिका (१०) कान्ति (११) ज्योत्स्ना आदि १६ कलाओं की पूजा की जाती है।

आवरण पूजा—उक्त पूजोपरान्त प्रथमावरण से अन्तिम आवरण तक समस्त पूजायें निष्पादित करनी चाहिए। फिर आवरण-बहिर्भूत देवताओं का यजन करना चाहिए। **आवरणपूजा** और **गुरुपादुका पूजा** के बाद ही श्यामा की **षोडशोपचारों** से पूजा करनी चाहिए। फिर देवी को **बलि समर्पित** करना चाहिए। बलि देने के बाद **'श्यामला शक्ति'** का आवाहन करके **'बालामंत्र'** से उनकी भी पूजा करनी चाहिए। फिर जप, तद्दशांस क्रम से होम-तर्पण-ब्राह्मणभोजन आदि कराना चाहिए।

साधक को 'काली' शब्द का उच्चारण, गन्ना चूसना, दिन में वाराही का स्मरण, बकवास, स्त्रियों के प्रति निष्ठुरता आदि का त्याग कर देना चाहिए।

* वाराही क्रम (सप्तम खण्ड) *

(छठवें खण्ड में संगीत मातृका मातङ्गी की पूजा करने के बाद ही वाराही (दण्डनायिका) की पूजा की जाती है।) अनाहत नाद का श्रवण—'महारात्रि' के समय 'स्वहृदयपरमाकाशे ध्वनन्तमनाहत ध्वनिमूर्जितानन्द' का श्रवण करना चाहिए।[1] फिर

१. वाराही क्रम (२)

'शिवादिगुरुभ्यो नमः' कहकर अञ्जलि जोड़ना चाहिए। वाराही-उपासना में 'ऐं' के साथ 'ग्लौं' बीज सभी मंत्रों के आदि में जोड़ना चाहिए। **सूक्ष्मदेह का शोधन** करना चाहिए : लिङ्गदेहं शोधयेत्।' फिर मूलाधार चक्र से **सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से जीवशिव को परशिव में संयोजित** करना चाहिए। (मंत्र—'जीवशिवं परशिवे योजयामि स्वाहा।') या अपने शरीर को जलाकर शांभव शरीर उत्पन्न करने हेतु—

(१) शोषण—'यं सङ्कोचशरीरं शोषयशोषय स्वाहा।'

(२) दाहन—'रं सङ्कोचशरीरं दह दह पच पच स्वाहा।'

(३) आप्लावन—'वं परमशिवामृतं वर्षय वर्षय स्वाहा।'

(४) शाम्भवशरीरोत्पत्ति—'लं शाम्भवशरीरमुत्पादयोत्पादय स्वाहा।

(५) जीवस्वस्थानानयन—'हंसः सोऽहमवतरावतर शिवपदाज्जीव सुषुम्णापथेन प्रविश मूल शृंगाटकमुल्लसोल्लस ज्वल प्रज्वल प्रज्वल हंसः सोऽहं स्वाहा'—द्वारा अपने को दिव्य बनाना चाहिए।

(६) इसके बाद 'न्यास' फिर आत्मालङ्करण, फिर अर्घ्यशोधन, फिर पुनः न्यास, फिर तत्त्व न्यास, फिर देवी का ध्यान, फिर चक्रनिर्माण, फिर चक्र पूजा, फिर मूर्तिकरण, फिर आवाहन, फिर षडङ्गन्यास, फिर षोडशोपचार पूजन, फिर देवी का ध्यान, फिर देवी का तर्पण और फिर आवरण पूजा करनी चाहिए। आवरण पूजोपरान्त बलि दी जानी चाहिए। फिर गुरु को सन्तुष्ट करना चाहिए। फिर पूर्णयौवना नारियों की पूजा करके उनसे आशीर्वाद लेना चाहिए की 'हमारी वार्त्ताली पूजा सिद्ध हो।' फिर पुरश्चरण करना चाहिए।

यही है वार्त्ताली-पूजा का संक्षिप्त सार।

* पराक्रम (अष्टम खण्ड) *

'वार्त्ताली विद्या' की सम्पन्नता के अनन्तर ही 'सिंहासन विद्या हृदयरूप अनुत्तर **'पराबीज'** रूप को उपासना का विषय बनाना चाहिए। ('सिंहासन' = सिंहासनेश्वरी ललिता))।

'सिंहासन विद्या हृदयमनुत्तरं पराबीजरूपं धाम।'[1]

'ब्रह्मकोटर' (ब्रह्मबिल) में सहस्त्रार चक्र है। उसमें सुवर्णवर्णा परा देवता सदा रहती हैं। उनके चरणयुगल से अमृत की वर्षा होती रहती है। प्रातः उठते समय अपने को **अमृतस्नात अनुभव करना साधक का प्रथम कर्तव्य है**—

१. परशुरामकल्पसूत्र (पराक्रम)

'कल्ये समुत्थाय ब्रह्मकोटरवर्तिनि सहस्रदल कमले सन्निविष्टायाः सौवर्णरूपायाः परायाश्चरण युगल विगलदमृतरसविसरपरिप्लुतं वपुः ध्यात्वा:।।'[१]

(१) शरीर को अमृत-स्नान कराना चाहिए।

(२) स्नानोपरान्त पवित्र वस्त्र धारण करके, पराबीज 'सौः' से ३ बार आचमन करके, इसी वर्ण से परिमार्जन करके, इसी बीज से उपस्पर्शन करके, आँखों, कानों, नाभि-स्कंध, हृदय, स्कंध एवं शिर का भी इसी वर्ण सेस्पर्श करके आचमन करे। इसी बीज से अभिमंत्रित जल से आसन को प्रोक्षित करके आसन पर बैठना चाहिए। अपने को पूर्णतया सज्जित करके उत्तराभिमुख बैठकर **दैशिक की पूजा** करनी चाहिए।

गुरुदेव का स्मरण करते हुए इस मंत्र का उच्चारण करना चाहिए—'सौः ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः ऐं ग्लौं हस्क्रे हसक्षमल वर यूं स ह क्ष मल वरयीं ह्सौः स्हौः अमुकानन्दनाथ श्री गुरुपादकां पूजयामि।''

फिर **भूमि** पर तीन बार एँड़ी द्वारा **आघात** करना और **अङ्गन्यास, फिर चिदग्नि से सर्वतत्त्व विलापन** (चिदग्निसात्करण) (३४ वेद्यों का विलापन **'शिवशक्ति'** का नहीं) फिर **अर्घ्यसादन,** फिर न्यस्त षडङ्गदेवियों का भावन, फिर **सुधादेवी की पूजा।'**

'मूलमुच्चार्य तां चिन्मयीमानन्दलक्षणाममृत कलश पिशितहस्तद्वयां प्रसन्नां देवीं पूजयामि नमः स्वाहा इति सुधादेवीमभ्यर्च्य तया सम्प्रोक्ष्य वरिवस्याः।[२]

इसके बाद तत्वकदम्ब का हत्पद्म में आनयन, फिर पराचक्र का निर्माण करके फिर कुसुमक्षेप यथा—

(१) 'सौः पृथिवीयोगपीठाय नमः' कहकर कुसुमक्षेप

(२) 'सौः आप्योगपीठाय नमः' कहकर कुसुमक्षेप

(३) 'सौः तेजोयोगपीठाय नमः' कहकर कुसुमक्षेप करना चाहिए। फिर कल्पित चक्र में देवी का आवाहन (पराचक्र का निर्माण हो जाने पर ३६ तत्त्वों के ऐक्य-विमर्श करने वाली १६ कलापूर्ण परादेवी का आवाहन) स्वात्म के हृदय केन्द्र में होना चाहिए।[३]

ध्यान स्वरूप—'अकलङ्कशशाङ्काभात्र्यक्षा चन्द्रकलावती। मुद्रापुस्तकसद्बाहुः पातु मां परमा कला।'

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (पराक्रम ४)
२. परशुरामकल्पसूत्र (पराक्रम १६) ४
३. प० क० सू० (पराक्रमः)

इस प्रकार ध्यान करना चाहिए। फिर—''सौः सं प्रकाशरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः''—यह मंत्र कहना चाहिए। 'सौः अः प्रकाश विमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मंत्र से और अन्य मंत्रों से मूलाधार, हृदय एवं का मुख का पूजन करना चाहिए। फिर समस्त मंत्र का उच्चारण करके—

'महाप्रकाशविमर्शरूपिणी पराभट्टारिका श्रीपादुकां पूजयामि नमः' मंत्र से देवी के हृदय एवं मुख में १० बार पूजन करना चाहिए। इसके बाद **समस्त वेद्यों का हवन करना चाहिए—'वेद्यमखिलं हुत्वा'** (२२)।

कालाग्नि कोटिदीप्तिरूप चिदग्नि में क्रियासममि व्याहार क्रम से **प्रत्येक वेद्य का हवन** करना चाहिए। फिर मूल मंत्रोच्चारण पूर्वक (पराबीजोच्चारणपूर्वक) **अर्घ्य** देकर **चिदग्नि के उद्दीप्त होने का विभावन** करना चाहिए। फिर **ओघत्रय का पूजन** करना चाहिए। यथा—

(अ) सौः पराभट्टारिका श्री पादुकांपूजयामि नमः।

(आ) अघोरानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

(इ) श्रीकण्ठानन्दनाथ श्रीपादुकां पूजयामि नमः।

परादेव्यम्बा के अर्चनोपरान्त बलिकर्म करना चाहिए।

हविः शेः स्वीकार करने के पूर्व 'सौः' मन्त्र से (१) आत्मतत्त्व (२) विद्यातत्त्व एवं (३) शिवतत्त्व का शोधन करना चाहिए।[१]

*** होमविधिः (नवम खण्ड) ***

स्वेष्टमन्त्रोपासना के प्रयोग में होम का विधान सभी सम्प्रदायों में है। निम्न ६ मन्त्रों से 'षडङ्गन्यास' करना चाहिए—(१) सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः (२) स्वस्ति पूर्णाय शिर से स्वाहा। (३) उत्सिष्ठ पुरुषाय शिखायै वषट् । (४) धूम व्यापिने कवाचाय हुम् । (५) सप्तजिह्वाय नेत्र त्रयाय वौषट् (६) धनुर्धराय अस्त्राय फट् इति षडङ्ग विधाय तेन षडङ्गेन कुण्डमभ्यर्च्य।।[२]

इसके बाद अग्निचक्र का निर्माण कराना चाहिए। त्रिकोण के मध्य अग्निदेवता की ९ पीठ शक्तियों की स्थापना और पूजा करनी चाहिए। इनके नाम इस प्रकार हैं— पीता, श्वेता, अरुणा, कृष्णा, धूम्रा, तीव्रा, स्फुलिङ्गिनी, रुचिरा एवं ज्वालिनी, उसी त्रिकोण में गुणत्रय, आत्मा, परमात्मा, अन्तरात्मा एवं ज्ञानात्मा की इनके आदि अक्षरों का बिन्दु युक्त बीज बनाकर पूजा करनी चाहिए यथा—'तं तमसे नमः अभ्यर्चयामि तर्पयामि नमः।'' 'रं जसे नमः।।' 'सं सत्वाय नमः' 'आम् आत्मने नमः' 'अं अन्तरात्मने नमः' 'पं परमात्मने नमः' 'ह्रीं ज्ञानात्मने नमः।'

---

१. प० क० सू० (पराक्रमः)
२. प० क० सू० (होमविधि) (६)

इसी त्रिकोणात्मक पीठ में जिसमें पहले अग्नि शक्तियों और शक्तिमन्त्रों की पूजा की जा चुकी है। उसी में अग्नि की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। इसके बाद **संविदग्निपातन** का क्रम आता है।

'अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णमनिलं समिद्धं विश्वतोमुखम्॥'

यह **अग्नि उत्थापन का मंत्र है।** कुण्ड में प्रज्वलित **अग्नि-संस्कार** भी आवश्यक है और उसका ध्यान भी।

अग्नि की ७ जिह्वायें हैं। इनमें आहुतियाँ डालनी चाहिए। हवन योग्य समिधा, आदि का पूर्ण विवरण इस प्रकार है यथा—विलाज्यैः शान्त्या अन्नेनात्रायामृताय। दूर्वाभिरादुषे पद्मै, साम्रा ज्याय आदि॥ फिर बलि देनी चाहिए। इसके बाद **ब्रह्मार्पण आहुति** का क्रम है। फिर **चिदग्नि और आवाहित देवता का अद्वासन करना चाहिए।**[१]

[२०] सर्वसाधारण क्रम (दशम खण्ड)

यह अध्याय त्रिपुरसुन्दरी की उपासना का सर्व पश्चाद्वर्ती क्रम है। इसमें सामान्य कर्माधिकार का वर्णन है।

उमानन्दनाथप्रणीत 'नित्योसव' में कहा गया है कि **'आवरणार्चन'** में (१) **त्रिकोण** में देवता के अग्रकोण से आरंभ करके दक्षक्रम से इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों की पूजा करणीय है।

(२) **चक्र के अष्टदलों में**—प्रत्येक दल पर (१) ब्राह्मी (२) माहेश्वरी (३) कौमारी (४) वैष्णवी (५) वाराही (६) माहेन्द्री (७) चामुण्डा एवं (८) श्रीमहालक्ष्मी देवताओं की पूजा करनी चाहिए। मंत्रों की जाति है।

मन्त्रों की जाति (सौतामणि तंत्र)

(१)	(२)	(३)	(४)
'ह्रीं' = मायाबीज (ब्रा० जाति)	**'श्रीं'** = श्रीबीज (क्ष० जाति)	**'क्लीं'** = कामबीज (वैश्य जाति)	**'ऐं'** = वाग्भव बीज (शूद्र जाति)
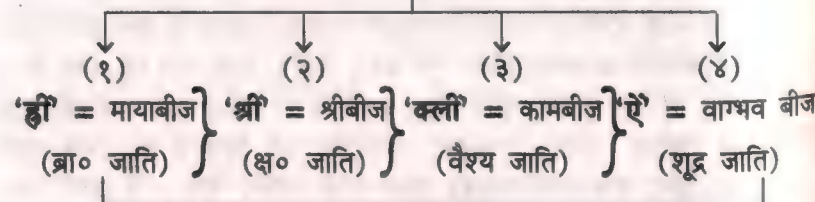
इन चार बीजों पर ब्राह्मणों का अधिकार है।
तीन बीजों में से दो पर वैश्यों एक बीज पर शूद्रों का अधिकार है।

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (होमविधि)

कुलाचार धर्मों का पालन आवश्यक है।

*** परशुराम कल्पसूत्र त्रैपुरसिद्धान्त का ग्रंथ है ***

इस अन्तिम क्रम में निम्न विशिष्ट तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है और उन्हें सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया है—

(१) प०क०सू० 'दशखण्डी महोपनिषद है और **महात्रैपुर सिद्धान्त का सर्वस्वभूत'** ग्रंथ है।[१] इसे त्रैपुर क्यों कहा गया है? इसलिए कि—"त्रिभ्यः पुरा त्रिपुरा त्रिपुरासम्बन्धी त्रैपुरः। स चासौ सिद्धान्तश्च तस्मिन्॥'

(२) **कुल मार्ग श्रेष्ठ है :** कुलमार्गी कृतकृत्य जीवन्मुक्त एवं श्वपचगृह एवं काशी दोनों में समदृष्टि रखने वाला होने के कारण जीवित अवस्था में ही मुक्त है।[२]

(३) **शास्त्रान्तर** एवं तंत्रान्तर भी **ग्राह्य** है।[३]

(४) श्रीविद्योपासना द्वारा **'पूर्णख्यातिसमावेशनेच्छा'** का लक्ष्य रखना चाहिए।[४]

(५) **स्वस्तुति, परनिन्दा, मर्मविरुद्धवचन, परिहास, धिक्कार, आक्रोश** एवं **त्रास** का **परिवर्जन** आवश्यक है।[५]

(६) **परदारा एवं परधन में अनासक्ति** होना चाहिए।[६]

(७) **सदैव सर्वथा सत्य** बोलना चाहिए—'सर्वथा सत्य वचनम्।' (७७)

(८) गुरु में बिना परीक्षा के ही विश्वास कर लेना चाहिए।

* (२४) भगवती ललिता का जपारंभ करने के पूर्व विघ्न शान्त्यर्थ निम्न मंत्रों का जप करणीय है—

(१) इरि मिलिकिरिकिलि परिमिरोम्।
(२) ॐ ह्रीं नमो भगवति महात्रिपुरभैरवि मम त्रैपुररक्षां कुरु कुरु।
(३) संहर संहर विघ्नरक्षोविभीषकान् कालय हुं फट् स्वाहा।
(४) ब्लूं रक्ताभ्यो योगिनीभ्यो नमः।
(५) सां सारसाय ब्रह्मशनाय नमः।
(६) दुमुलुपुमुलुपु ह्रीं चामुण्डायै नमः॥' (१०/५१)

---

१. प०क०सू० (८३)
२. तत्रैव (८२)
३. तत्रैव (८१)
४. तत्रैव (८०)
५. तत्रैव (७९)
६. तत्रैव (७८)

(२५) **'महापादुका' सर्वमन्त्रसमष्टिरूपिणी, स्वैक्यविमर्शिनी महासिद्धिप्रदायिनी** एवं द्वादशान्त में यष्टव्य है।

(२६) ब्रह्मरंध्र में **'श्रीपूर्तिविद्या'** का यजन निष्पाद्य है।

(२७) वाराही देवी का (अङ्गादि विद्याओं के सहित) **आज्ञा चक्र में ध्यान** करें तो **वाराही बहुत** प्रसन्न होती हैं।

(२८) **वार्ताली की उपाङ्गविद्या का स्वरूप** इस प्रकार है—

* **'ॐ ह्रीं नमो वाराहि घोरे स्वप्नं ठः ठः स्वाहाः'** *

यह विद्या स्वप्न में शुभाशुभ फलों को बताती है।

(२९) **लघुवाराही विद्या** का स्वरूप इस प्रकार है—

'ग्लं वाराहि ग्लूं उन्मत्तभैरवि पादुकाभ्यां नमः ॥'

(३०) श्यामा विद्या का जप **'अनाहत चक्र'** में करना चाहिए।

(३१) **'बालामंत्र'** का स्वरूप इस प्रकार है—

'ऐं क्लीं सौः वद वद वाग वादिनि ॥'[१]

(३२) **मूलविद्या** साम्राज्ञी मूलाधार चक्र में विलोचनीय है।

(३३) **अश्वारूढा प्रत्यङ्ग विद्या** का स्वरूप इस प्रकार है—

'ओं आं ह्रीं क्रों एहि परमेश्वरि स्वाहा ॥'

(३४) **'पराविद्या'** (सौः—बीजमंत्र) की भावना **'द्वादशान्त' में** करना **चाहिए।** 'भृगु **(सः)** त्रिशूल **(औ)** विसृष्टयः : (विसर्ग) **पराविद्या'** (प० क० सू० १०/२७)

(३५) **'मातृका' एवं सर्वज्ञताकरी विद्या'**—अ से क्ष पर्यन्त के समस्त ५० **वर्णों की समष्टि की आख्या है।**

* (३६) **'महागणपति विद्या'** (सिद्धविद्या) : सर्वविघ्नविनाशिनी विद्या— 'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरद वरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा।'[२]

(३७) १६ मंत्रों की समष्टि वाली **'चाक्षुष्मती विद्या'** है।

(३८) **त्रितारी का स्वरूप** इस प्रकार है—**'ऐं क्लीं सौः'।**

(४०) मूलाधार, अनाहत, आज्ञा, ब्रह्मरंध्र तथा द्वादशान्त में मंत्रों का ध्यान करना चाहिए।

—'अपरीक्षणं तद्वचने व्यवस्था' (७६) 'आज्ञा गुरुणाम मविचारणीया'।

(८) साधना की **कृतार्थता प्रकाश विभावना** (परशिव की विभावना) है। 'मुख्यतया प्रकाश विभावना' (१०/७३)

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (दशम खण्ड)

२. परशुरामकल्पसूत्र (दशम खण्ड)

(९) **अष्टपाशों** (घृणा-शङ्का-भय-लज्जा-जुगुप्सा-कुल-जाति-शील-आदि का अवसादन (त्याग) कर देना चाहिए।[१]

'घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च जातिश्चेयष्टौ **पाशाः** प्रकीर्तिताः ॥'

(१०) **प्रलोभन का त्याग** करना चाहिए किन्तु स्वासक्ता नारी का त्याग संगत नहीं है, विरक्ता को पाने का प्रयास संगत नहीं है अतः सारे प्रलोभन भी वर्जित हैं।[२]

(११) साधक की साधना के विकास के सोपान हैं। ये निम्नाङ्कित हैं—(१) आरम्भ (२) तरुण (३) यौवन (४) प्रौढ़ (५) तदन्त (६) उन्मन (७) अनवस्था।[३] ये **'समयाचार'** हैं।

(१२) **वीर वर्ग की अवमानना अनुचित है। स्वैरव्यवहार** अनुचित नहीं है।

(१३) **पाँच पर्वों पर विशेष पूजा** करनी चाहिए।

'पञ्चपर्वसु विशेषार्चा' (१०/६७)

(१४) नारी-वृन्द, कुमारी-समूह, मदिराकलश, आम, अशोक, आरक्त वसना नारी का **वन्दन** किया जाना चाहिए।

(१५) दशकुलवृक्षों को काटना नहीं चाहिए।

(१६) **मद्य-सेवन** किया जा सकता है। (१०/६२)

(१७) **गुरु, गुरुपुत्र एवं गुरु-पत्नी** तीनों के प्रति शिष्य श्रद्धा रक्खे।

(१८) प्रत्येक **आश्रित व्यक्ति पर अनुग्रह** रखना चाहिए।

(१९) **समस्त प्राणियों के प्रति अविरोध** होना चाहिए।

(२०) **मपञ्चक के प्रतिनिधि द्रव्यों से पूजन** किया जा सकता है।

(२१) जप का विधान इस प्रकार है—

(क) **'ललिता** प्राह्णे' (ख) 'अपराह्णे **श्यामा'** (ग) **'वार्त्तालीरात्रौ**। (घ) 'ब्राह्मेमुहूर्ते **परा'** (१०/५५)

(२२) **श्यामा मंत्र के जप को निर्विघ्न बनाने के लिए 'हसन्ती विद्या'** का जप करें जो कि इस प्रकार है—

'हसन्ति हसितालापे मातङ्गिपरिचारिके... ।'

(२३) **वारहीमंत्रविघ्नहर मंत्र है**—'स्तं स्तम्भियै नमः ॥'

—०—

---

१. परशुरामकल्पसूत्र (१०/७०)

२. परशुरामकल्पसूत्र (१०/६९)

३. तत्रैव (१०/६८)

द्वितीय खण्ड

'सुभगोदयस्तुति'

[मूल श्लोक एवं उनकी व्याख्या]

'सुभगोदयस्तुति'

[मूल श्लोक एवं उनकी व्याख्या]

श्लोक क्र० १ = भगवती की मङ्गलाचरणात्मक वन्दना *

'भवानित्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुख वपुः,
पराकारं देवीममृतलहरी मैन्दवकलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणी कल्पित तनुं,
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम् ॥१॥

[हे संसार को उत्पन्न करने वाली राजमहिषी, सत्-चित् आनन्द की साक्षात् विग्रह वाली, (विश्वमय एवं विश्वातीता होने के कारण) विराट आकार वाली पराशक्ति, पीयूष प्रवाहरूपिणी, चन्द्रकलास्वरूपा (षोडशी), महाकाल से अतीत, रमणीय श्रीविद्यामार्ग वाली या सुन्दर रश्मियों से सुसज्जित, कल्पित शरीर वाली, अमृत-सरोवर के भीतर निवास करने वाली एवं निरन्तर (दिन के समान) प्रकाश वाली या अखण्ड रूप से महाजाग्रत स्वरूप वाली भगवती ! मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥१॥]

सरोजिनी व्याख्या—राजराजेश्वरी, पराभट्टारिका महात्रिपुर सुन्दरी का ही एक नाम **'भवानी'** भी है। आचार्य गौड़पाद ने 'भवानी' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है, यथा—

(१) **'भवानि'** प्रत्यक्षं तव वपुरूपास्ते नहि परम्।' (१५)

(२) **'भवानि'** श्री हस्तैर्वहसि फणिपाश सृणिमथो।' (१६)

(३) **'भवानि'** त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरूणां' (२२सौ.ल.)

कुण्डलिनी शक्ति ही भवानी है।[1]

'भवानी' शब्द भगवती कुण्डलिनी एवं महात्रिपुर सुन्दरी दोनों का वाचक है।

'भव' + अन्। भव = शिव। 'अन्' = स्पन्दित करना, **'भवानि'** = वह शक्ति जो भव (शिव) को स्पन्दित करती है वही **'भवानी'** है—

'शिवः शक्त्या युक्तो भवति शक्तः प्रभवितुं।
न च देवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दित मपि।'

(अर्थात् शिव बिना शक्ति के स्पन्दित होने में भी अशक्त हैं।)

'भवानी' विश्व को प्राण प्रदान करती है।

---

१. ललिता सहस्रनाम (११)

त्रिपुर सुन्दरी
(षोडशी)

श्री यन्त्र

कौलाचार मतानुयायियों द्वारापूजि संहार क्रम
(५ शक्ति-त्रिकोण अधोमुखी। ४ शिव-त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी)

५ शक्ति त्रिकोण
४ शिव त्रिकोण
१ २ ३ ४ ५
१ २ ३ ४
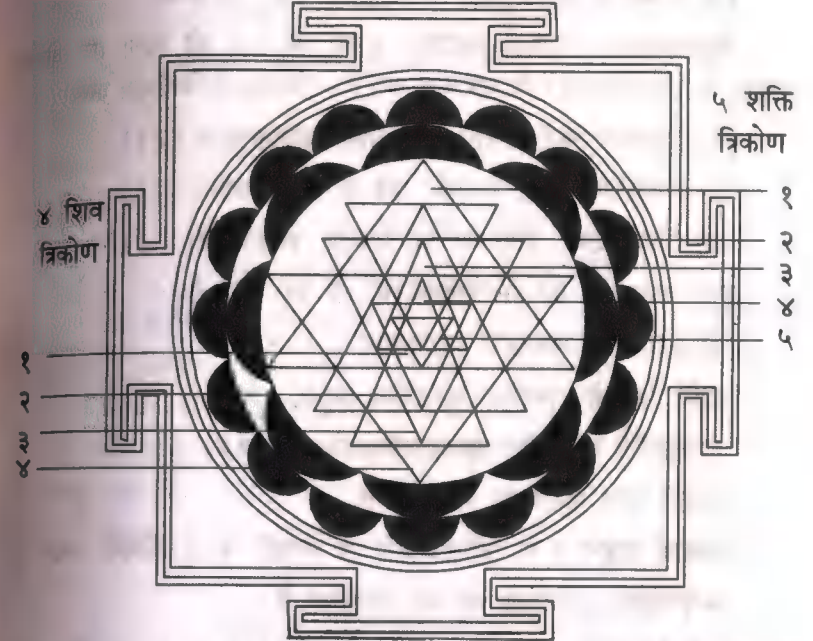
भव या 'विश्व' क्या है? स्पन्दनहीन परमशिव की जो स्फुरत्ता है वही भवानी है। वह ('भवानी'० विश्वचक्र केउद्भव का मूल कारण परमाशक्ति (भवानी) की स्फुरत्ता है। शक्ति द्वारा अपनी स्फुरत्ता को देखने मात्र से ही परमशिवतत्त्वात्मक चक्र का आविर्भाव भी हो जाता है—

'यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥'[१]

शिव (भव) तो उदासीन हैं, तटस्थ हैं। सृष्टि तो मात्र शक्ति करती है—'विश्व सिसृक्षया सैव परा शक्ति विमर्शरूपिणी स्वेच्छया विश्वरूपिणी विश्वं सृजति, शिव तटस्थ उदासीन इत्यर्थः॥'[२]

भगवती को अनेक स्थलों पर **'ऐन्दवकला' 'बैन्दवकला'** आदि कहा गया है—

---

१. योगिनीहृदय (१/९)
२. योगिनी दीपिका (अमृतानन्द)

(१) 'निलीनं सादाख्ये सादाख्ये शिवयुवति **नित्यैन्दव फले** ।' (२०)
(२) यकाराद्या वन्हावथ कषयुगं **बैन्दवगृहे** ।। (२०)

इस श्लोक में 'ऐन्दव कला' भगवती को कहा गया है—

'ऐन्दवकला'—भगवती महात्रिपुर सुन्दरी को इन्दु की कला एवं षोडशी (चन्द्रमा की १६हवीं कला) बार बार कहा गया है—'शिवयुवती **नित्यैन्दव कले**' (२०)

(१) 'इमास्ताः षोडश्यास्तव च सरघायां **शशिकला** ॥ (२६)

(२) 'स्वरूपायां लीना निवसति तव श्री **शशिकला** ॥ (२६)

(३) 'श्रियो देव्याः शेषो यत इह समस्ताः **शशिकलाः** ॥ (२३)

इसी 'इन्दुकला' को ही **'शशिकला'** भी कहा गया है।

'महाव्योमस्थेन्दोर**मृतलहरी** प्लाविततनु ॥' (३४)

'तदीये **'पीयूषे'** पुनरधिक माप्लावित तनुः॥' (३२)

'दृढव्यालीढं सद्विगलित **सुधासारविसरम्** ।।' (३३)

भगवती स्वंय सुधासागर के समान हैं।

आचार्य शङ्कर ने भी 'सौन्दर्यलहरी' में भगवती को सुधात्मिका कहा है।

'भवमहिषि'—भगवती भव की राजमहिषी हैं—

'त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिव **पर्यङ्कनिलये** ।।' (२४)

'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे' (सौ०ल०९)

भगवती परमशिव की पटरानी हैं और विश्व की साम्राज्ञी हैं अतः उन्हें भवमहिषी कहना सङ्गत ही है।

'सुधासिन्धोरन्तरवसित'—भगवती सुधा सिन्धु के मध्य रहती हैं।

'वामकेश्वर तंत्र' में कहा गया है कि भगवती बिन्दु हैं और 'बिन्दुस्थानं' सुधासिन्धु है—

'बिन्दुस्थानं **सुधासिन्धु** पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीप-श्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम् ।
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्याः मन्दिरमुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपवर्हणो ॥'

—वामकेश्वर तंत्र

'सुधा सिन्धु मध्ये मणिद्वीपे रम्ये,
सुकल्पुमाकल्पकादम्बसन्त्रे ।
स्फुरत्स्वर्ण सिंहासने रत्नपीठे
भवाङ्के निषण्णां भजाम्यन्त्र पूर्णाम् ॥'

आचार्य शंकर ने भी भगवती के 'सुधासिन्धु' मे निवस की बात इस प्रकार प्रस्तुत की है—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपि वाटी परिवृते,
मणिद्वीपे नीघोपवन वति चिन्ता मणिगृहे ।
शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्क निलयाम्,
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।'

इस श्लोक में 'सच्चित सुखवपुः' एवं 'देवी ममृत लहरी' (सुभगोदय) के समानन्तर आचार्य शङ्कर कथित 'देवीममृत लहरी' शब्द प्रयुक्त है 'भवमहिषि' (सुभगोदय०) के समानान्तर आचार्य शङ्कर-कथित 'परमशिव' पर्यङ्क निलयाम्'। 'सच्चितसुखवपुः' के स्थान पर शङ्कराचार्य कथित 'कतिचन चिदानन्द लहरीम्' प्रयुक्त किया गया है।

भगवती 'सुधासिन्धु' में निवास किया करती हैं क्योंकि वहीं उनका मूल निवास है—

'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डप मध्यगाम् ।
वालार्क मण्डलभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनम् ।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ॥'

चक्र के मध्य जो बिन्दु है वह त्रिकोणस्थ बिन्दु ही 'सुधासिन्धु' है। यहीं भगवती रहती हैं।

भगवती मन्त्र का १६हवाँ अक्षर है। इसीलिए 'षोडशी' कहलाती हैं। **षोडशी** अमृतधर (चन्द्रमा) की १६हवीं अमृतमयी कला है।

'वासरमयीम्'—दिन से युक्त अर्थात् दिन के प्रकाश के समान प्रकाश से युक्ता भगवती का स्वरूप करोड़ों बिजलियों केसमान देदीप्यमान है—

'मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत कोटि समप्रभाम् ।
सूर्य कोटि प्रतीकाशां चन्द्रकोटि द्रवां प्रिये ।
विसन्तुस्वरूपां तां बिन्दु त्रिवलमाम् प्रिये ।'[१]

---

१. ज्ञानार्णवतन्त्र

'त्रिपुरासार समुच्चय' में भी भगवती को 'सततोद्यता प्रविलसत सौदामिनी सन्निभा' कहा गया है—'शक्तिः कुण्डलिनीतियानि गदिता आईम् संज्ञा जगन्निर्माणो।

'सततोद्यता प्रविलसत् सौदामिनी सन्निभां।'
'तडिल्लेखा तन्वीं तपन शशिवैश्वानरमयीं॥'

शिव को 'प्रकाश' कहा गया है अतः शिव की 'शक्ति' प्रकाश रूपा क्यों नहीं होगी?

'वासर' और **'रात्रि'** ये दोनों शब्द क्रमशः **जागृति एवं सुषुप्ति के वाचक हैं। 'शक्ति तो जागृति की भी जागृति है** क्योंकि जागृति का अर्थ है **अहं का बोध** और शिव को अपने अहं का बोध बिना शक्ति की सहायता के होता ही नहीं अतः महाजागृति स्वरूप शिव को जागृत रखने वाली परा शक्ति जागृति की भी जागृति है।

शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो जागृति है—**'सर्वकर्तृत्व की निरपेक्ष स्वतंत्र शक्ति।'** 'भवानी' (शिवा) वही शक्ति है। यह तो इनती महान सामर्थ्य या शक्ति है कि इसके बिना तो परशिव (परमशिव) सृष्टि-स्थिति-संहार आदि पञ्चकृत्यो में से कोई भी कृत्य निष्पादित नहीं कर सकते—

'परोऽपि शक्ति-रहितः शक्त्या युक्तो भवेद्यदि।
सृष्टि स्थितिलयान् कर्तुमशक्तश्शक्त एव हि॥'[१]

जागृति का अर्थ है 'ज्ञान'। भगवती (शक्ति) के ५ रूप हैं। उनमें एक ज्ञान भी है। ५ शक्तियाँ इस प्रकार है—**'चित् शक्तिं, 'आनन्द शक्ति', 'इच्छाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति'** एवं **'क्रियाशक्ति'**।[२]

श्लोक क्र० २ = भगवती का स्वरूप और उसके साक्षात्कार के साधन *

मनस्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितं,
पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम्।
तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्त भगवती,
परानन्दाकारा परिशिवपरा काचिदपरा॥२॥

[जब योगी मनस्तत्व पर विजय करके (अपनी) दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करके, फिर दृष्टि को अन्तर्मुखी करके (वृत्ति को अन्तरोन्मुखी करके) स्वयं

१. वामकेश्वरतंत्र (चतुश्शती)
२. तन्त्रालोक (अभिनवगुप्तपादाचार्य)

भी पराभगवती को देखता है तभी उस व्यक्ति के बाहर एवं भीतर (दोनों तरफ) भगवती स्फुरित होती हैं। (वे भगवती) परानन्दस्वरूपा, परशिवातीता (या परशिवपरायणा) एवं किंचिद रूप में अपरा (ऐहिक स्थूल) भी हैं॥२॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद ने 'सुभगोदय स्तुति' के प्रारंभिक श्लोकों में भगवती कुण्डलिनी के जागरण, उत्थापन एवं ऊर्ध्वारोहण पर प्रकाश डाला है। श्लोक क्र० २ से ६ तक इस विषय पर प्रकाश डाला गया है।

सारांश—आचार्य गौड़पाद ने इस श्लोक को दो भागों में विभाजित किया है—

(१) **एक भाग** में भगवती के रूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि भगवती का स्वरूप क्या है? इस विषय में वे कहते हैं—

'परानन्दाकारा परशिवंपरा काचिदपरा॥'

(२) दूसरे भाग में लेखक ने भगवती के साक्षात्कार (दर्शन) की पद्धति एवं उसके साधनों पर प्रकाश डाला है। गौड़पाद कहते हैं—

(क) 'मनस्तत्त्वं जित्वा' : **मन पर विजय**

(ख) नासाग्रावलोकिनी दृष्टिः योग की 'अगोचरी मुद्रा' } दृष्टि को **नासा के अग्र भाग पर केन्द्रित करना।**

'नयनमथ नासाग्रघटितं''

(ग) नेत्रो एवं **वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना**

''पुनर्व्यावृत्ताक्षः'' (भगवती का **ध्यान**)

(घ) **भगवती का दर्शन**—'स्वयमपि यदा पश्यति पराम्' (साक्षात्कार)

भगवान श्रीकृष्ण ने भी मन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए जिस ध्यान पद्धति का विधान किया है उसके प्रमुख साधनों में दो निम्नाङ्कित हैं—

(१) नासाग्र पर दृष्टि का केन्द्रीयकरण।
(२) नेत्रद्वय (भ्रूद्वय) के मध्य दृष्टि केन्द्रित करना।

'समकाय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वदिशश्चानवलोकयन॥'

साधना-पक्ष—(आचार्य गौड़पाद-प्रतिपादित साधना पक्ष)

[क] **साधक का लक्ष्य**—'स्वयमपि यदा **पश्यति** पराम्।'

'बहिरन्तर्भगवती' का साक्षात्कार लक्ष्य है। भगवान श्री कृष्ण ने इस अवस्था का वर्णन किया है

(क) यो मां **पश्यति** सर्वत्र।
(ख) सर्वं च मयि **पश्यति**। } श्रीमद्भगवद्गीता

तुलसीदास भी इस अवस्था का साक्षात्कार कर चुके थे। वे कहते हैं—

'सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

[ख] भगवती के साक्षात्कार के साधन

(१) मन पर विजय : 'चित्तवृत्तिनिरोध'
(२) नासाग्र दृष्टि (ध्यान)।
(३) अन्तरावलोकन (ध्यान)।

(४) बाहर एवं भीतर सर्वत्र भगवती का दर्शनाभ्यास। **'समयाचार'** भावना-प्रधान साधन-मार्ग है। इसमें प्रमुख साधन **'ध्यान'** है। **'ध्यान'** के द्वारा ही भगवती कुण्डलिनी (शक्ति) के जागरण का विधान सर्वत्र है।

'मनस्तत्त्वं जित्वा'—मन ही बंधन-मोक्ष का साधन है—

'**मन** एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥'

योगसाधना एवं श्रीसाधना का प्रथम चरण—प्रथम साधना-सोपान है—मन पर नियंत्रण इसके लिए **'प्रत्याहार'** (इन्द्रियों का उनके भागों या विषयों से प्रत्याहरण)।

श्री कृष्ण कहते हैं—

'**असंयतात्मना** योगो दुष्प्राय इति मे मतिः॥'
'एकाकी **यतचित्तात्मा**निराशीरपरिग्रहः॥'
'तत्रैकाग्रं **मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः**॥'

'त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्' के अनुसार भी नासाग्र में दृष्टि-स्थिरीकरण आवश्यक है—

'नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि
दन्तैर्दन्तान संस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः।
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्म बुद्ध्या निशुद्धया।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः॥
स्वरूव व्याप्तरूपस्य **ध्यानं** कैवल्यसिद्धिदम्।
याममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः॥
'नाभिकन्दात्समारभ्य यावद् हृदयगोचरम्॥'

'बहिरन्तर्भगवती'—आन्तर एवं बाह्य दोनों ध्यानों में भगवती का दर्शन होना चाहिए।

ध्यान के प्रकार

(१) अन्तर्लक्ष्य
(२) बाह्यलक्ष्य

'अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः॥'

अद्वयतारकोपनिषद् प्रतिपादित दृष्टि—इस उपनिषद् में कहा गया है कि—

"नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलद्युति शमत्व सदृगुक्त भङ्गीफुरत पीतशुक्ल वर्णद्वयोपेत व्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति।"

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्-प्रतिपादित दृष्टि—इस उपनिषद् में बहिर्लक्ष्य के विषय में कहा गया है कि—

"**बहिर्लक्ष्यं**" तु नासाग्रे चतुः षडष्टदशद्वादशांगुलीभिः क्रमान्नील द्युति श्यामत्व सदृग्रक्त भङ्गीस्फुरत्पीत वर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी चलन दृष्ट्या व्योमभाग वीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते॥"

कुण्डलिनी का ध्यान—कुण्डलिनीकीमुख्य साधना ध्यानगम्य है। यद्यपि इस साधना में **विशिष्ट आसन, विशिष्ट प्राणायाम** एवं **विशष्टि ध्यान** अपेक्षित है किन्तु यह साधना मुख्यतः **ध्यानयोग प्रधान साधना है। मुख्यतः 'ध्या' के तीन प्रकार हैं**—

(१) **'स्थूल ध्यान'**—मूर्तिमय ध्यान
(२) **'ज्योति ध्यान'**—तेजोमय ध्यान
(३) **'सूक्ष्म ध्यान'** बिन्दुमयं ब्रह्मध्यान (कुलशक्ति का ध्यान)

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधिं विदुः।

(१) 'स्थूलं मूर्तिमयं प्रात्तं'
(२) 'ज्योतिस्तेजोमयं तथा'
(३) 'सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म, कुण्डलिनी परदेवता॥

तेजोध्यान का स्वरूप—

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजो ध्यानं परा परम्।

नाभिमूले स्थितं सूर्यमण्डलं वह्निसंयुतम्।
ध्यायेत्तेजो महद् व्याप्तं **तेजो ध्यानं** तदेवहि॥

—घेरण्ड संहिता

प्रकारान्तर तेजोध्यान—

भ्रूमध्ये मन ऊर्ध्वे च यन्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं **तेजोध्यानं** तदेवहि॥

—घेरण्ड संहिता

'स्फुरति बहिरन्तर्भगवती' (सुभगोदयस्तुति)

भगवती के दो प्रकार

(१)	(२)
बहिर्वर्ती स्फुरण	अन्तर्वती स्फुरण
(बाह्य स्फुरण)	(आन्तर स्फुरण)

(१) मन पर नियंत्रण

(२) नासाग्र पर नेत्रों का स्थिरीकरण।

(३) नासाग्र पर दृष्टि के केन्द्रित हो जाने (अगोचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने) के बाद

(४) दृष्टि को अन्तर्मुखी करके (शांभवी मुद्रा लगाकर) पराशक्ति का आन्तर ध्यान करना चाहिए।

इस ध्यान से ही शक्ति का जागरण होता है। '**श्वेताश्वतरोपनिषद्** ' में इसी ध्यान-साधना के द्वारा देवात्मशक्ति के दर्शन की बात कही गई है—

'ये ध्यानयोगानुगता अपश्यन्,
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यःकारणानि निखिलानि तानि,
कालात्मयुक्त्या न्याधितिष्ठत्येक॥'

'बाहर और भीतर दोनों स्थानों में भगवती का स्फुरण होता है—
'स्फुरति बहिरन्तर्भगवती'

भगवती का बाह्य और आन्तर दोनों स्फुरण कहीं शाक्तों की इस विशेषता को भी तो संकेतित नहीं कर रहे हैं कि 'भगवती के दर्शन से साधक को बाह्य एवं आन्तर दोनों प्रदेश आनन्दपरिप्लावित हो उठते हैं और इसे ही तंत्र ने 'योग' एवं 'भाग' का मणिकाञ्चनयोग स्वीकार करते हुए कहा था कि—

'यत्रास्तिभोगो न च तत्र मोक्षो,
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवन-तत्पाणां,
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥'

'आराधिता सैव नृणां **भोगस्वर्गापवर्गदा**॥' (दुर्गा सप्त १३/५)
'परानन्दाकारा' (सुभगोदय स्तुति २)

शक्ति का स्वरूप परानन्दात्मक है। आनन्द की मुख्यतः दो श्रेणियाँ हैं—

(१)	(२)
पर आनन्द	अपरआनन्द
(ब्रह्मानन्द)	(सांसारिक, वैषयिक आनन्द)
	(विषयानन्द, क्षणिक)

'आनन्दं ब्रह्म' 'रसो वै सः'
'आनन्दं ब्रह्मेति' व्यजानात्॥'
'आनन्दाध्योवा खल्विमानि भूतानि जायन्ते।'

'परशिवपरा' का अर्थ—(क) परशिव से परे।

(ख) परशिव परायण है (जागकर परशिव में लीन हो जाती है।)

'काचिदपरा'—(१) कुण्डलिनी अपने परास्वरूप की दृष्टि से तो 'परब्रह्म' है।

(२) अपरा स्वरूप की दृष्टि से कुण्डलिनी अनन्त ब्रह्माण्डों की अनन्त अभिव्यक्ति है—सारे प्रकृत्यण्ड ब्रह्माण्ड आदि सभी उसके व्यक्त रूप हैं। निःशेष ब्रह्माण्ड उसी का तो बाह्य रूप है।

वेद के 'पुरुषसूत्र' में भी परासत्ता को 'विश्वमय' मानकर कहा गया है—

पुरुष एवेदं **सर्वं** यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति।
एतावानस्य महिमा तो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्य हा भवत्पुनः।[१]
ततो...
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत॥'[२]

---

१. पुरुष सूत्र
२. ईशावास्योपनिषद

[१] **योगासन की विधि**—'पूरकैर्वायुमाकृष्य **नासाग्रमवलोकयेत्** ।।

(१) 'नयनमथ नासाग्र घटितं' (सुभगोदय स्तुति)

(२) पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम् ॥ (सु० स्तुति)

गोरक्षनाथ ने आंकार-साधन की प्रक्रिया में

[२] **'नासावलोकिनी मुद्रा'** का विधान प्रस्तुत किया है जो कि इस प्रकार है—

'पद्मासन समारुह्य समकाय शिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ।
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्तुमात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योति रोमिति ।।'[१]

[३] नाथ योग के **'लक्ष्य त्रय'** पर प्रकाश डालते हुए गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

'बहिर्लक्ष्यं कथ्यते **नासाग्राद बहिरङ्गुलद्वयमारक्तं** तेज स्तत्त्वं लक्षयेदथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदप्तत्वं क्षयेदथवा नासाग्राद् वा दशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिव तत्त्वं लक्षयेदथवाकाशमुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत् किरणा नाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकरणमथवोर्ध्व दृष्ट्यन्तरालं लक्षये ज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्यथवा तदभ्यन्तरं तत्राकाशं लक्षयेत् आकाशसदृशचित्तं मुक्तिप्रदंभवति।।'[२]

'शांभवी मुद्रा' में (१) बाह्य विषयों को मन से निकालकर। (२) नेत्रों को भ्रूमध्य में स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए—

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्या **नासाभ्यन्तरचारिणौ** ।। (५।५७)

(३) नासिका के भीतर चलने वाले प्राण एवं अपान की गति को योगी को समान कर देना चाहिए। —(श्रीमद्भगद्गीता)

श्लोक क्रम ३ * षड्ग्रंथि-भेदन एवं मन का चन्द्रमा में लय *

'मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाड़ी गणजुषो,
निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि संज्वाल्य शिख्या ।
सुषुम्णां संयोज्यश्लथयति च षडग्रंथि शशिनं ।
तवाज्ञा चक्रस्थं विलयति महायोगि समयी ।।३।।

१. गोरक्षशतक/विवेक मार्तण्ड
२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति

[मनोगार्ग पर विजय स्थापित करके (चित्तनिरोध करके) (कुम्भक प्राणायाम के द्वारा) नाड़ी-समूह को वायु से युक्त करके, चन्द्रमा के साथ ही सूर्य को निरुद्ध करके, अग्नि को भी जलाकर और उसकी शिखा के द्वारा सुषुम्णा नाड़ी को युक्त करके (जो साधक) छः ग्रंथियों वाले चन्द्रमा को (उसकी षड्ग्रन्थियों को) शिथिल करता है वह समयाचारी योगी तुम्हारे आज्ञा चक्र में स्थित चन्द्रमा में (मन सहित) विलीन हो जाता है।।३।।]

सरोजनी व्याख्या—आचार्य गौड़पाद ने इस श्लोक में मुख्यतः

(१) षड्ग्रंथि-भेदन (षट्चक्रभेदन) एवं

(२) आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा में मनोलय की साधना-विधि पर प्रकाश डाला।।

*** षट्चक्रभेदन एवं मन का चन्द्रमा में लय ***

(साधन-सम्पत्ति)

(१) मनोमार्ग पर विजय

(२) नाड़ियों में वायु-प्रवाह

(३) चन्द्र-सूर्य-निरोध

(४) अग्नि-प्रज्वलन

(५) योगाग्नि (अग्निशिखा) का सुषुम्णा नाड़ी से संयोजन

(६) षट्चक्रों का भेदन

(७) आज्ञा चक्र के चन्द्रमा में मन का लय
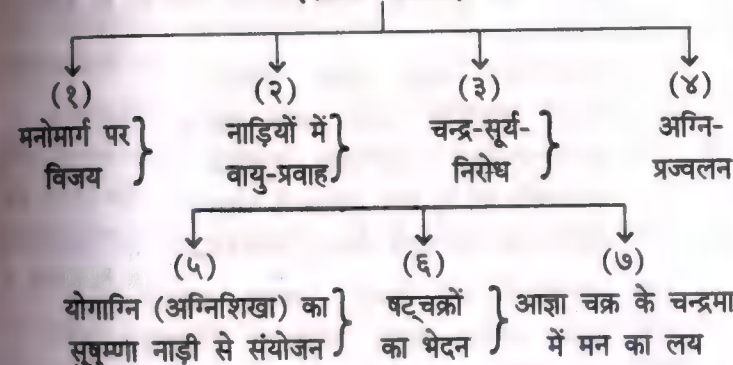
'वामकेश्वर तन्त्र' में प्रतिपादित कुण्डलिनी जागरण एवं षट्चक्र-भेदन की प्रक्रिया।

वामकेश्वरोक्त कुण्डलिनी का परिचय—'वामकेश्वरतंत्र' में कहा गया है कि—

भुजङ्गाकारकारेण मूलाधारे समाश्रित ।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।।'
मूलकन्दं कणाग्रेण कमलकन्दवत ।
मुखेन पुच्छं संग्रह्य ब्रह्मरन्ध्र-समन्विता ।।

साधना-पद्धति—

पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्ट मानसः ।।

वायव्याघातवशदग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्।
ज्वलनाघात पवना घातैरुन्निद्रितोऽहिराट्।

ग्रंथ-भेदन-क्रम—

रुद्रग्रंथि ततो भित्वा **विष्णुग्रंथिं** भिनत्यथ।
ब्रह्मग्रंथि च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्।।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चवस्था परा ज्ञेया **सैव** निवृत्ति कारणाम्।।

—वामकेश्वर तंत्र

योग चूड़ामणि उपनिषद में प्रतिपादित दृष्टि—

'योग चूड़ामणि उपनिषद' में परमेश्वरी भगवती कुण्डलिनी की 'मूलाधार चक्र' में स्थिति, उसका वह्नियोग एवं ऊर्ध्वारोहण आदि सविस्तार विवेचित है। उसमें कहा गया है—

'मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता माह।।
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।'

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं, बध्वाथ पद्मासनं।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं, ध्यानं च तच्चेतसि।
वारं वार मपात मूर्ध्वमनिलं, प्रोच्चारयन् पूरितं।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुल्वं, शक्तिप्रभावान्नरः।।[१]

आचार्य गौड़पाद साधना-विधान में प्रथम स्थान **मन की विजय** को देत हैं—

* द्वितीय श्लोक में—**'मनस्तत्त्वंजित्वा'** (प्रारंभ में)।
* तृतीय श्लोक में—**'मनोमार्गं जित्वा'** (प्रारंभ में)

[क] द्वितीय श्लोकोक्त साधन-विधान—

(१) मनस्तत्वं जित्वा। (२) नासाग्रघटितं (अगोचरी मुद्रा)।
(३) पुनर्व्यावृत्ताक्षः। (४) स्वयमपि च पश्यति पराम्।

---

१. ध्यान बिन्दु उपनिषद (६६-६९)
२. योगचूड़ामणि (३८-४०)

परिणाम—(१) तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती।
(२) परानन्दाकारा **परशिवपरा** काचिदपरा। (सामरस्य)।।

(क) शक्ति का अन्तर्बाह्य सर्वत्र स्फुरण।
(ख) शक्ति का परशिव में लय (सामरस्य)

[ख] तृतीय श्लोकोक्त साधन-विधान—

(१) मनोमार्गं जित्वा (२) मरुत इहनाड़ीगणजुषो।
(३) निरुध्यार्कं सेन्दुं (४) दहनमपि संज्वाल्य।
(५) शिख्या (योगाग्नि शिखया) सुषुम्णां संयोज्य
(६) श्लथयति च षडग्रंथिं (षट् चक्रभेदन)
(७) तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति (आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा में मन का लय।)

'तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति **महायोगि समयी**।' 'महायोगिसमयी' शब्दावली **समयाचारियों** को (१) महायोगी एवं (२) **योग-साधक** बताती है।

सामयिकों की मुख्य साधना **योग** है। यह योग (१) **षट्चक्र-भेदन** (२) **शक्ति-जागरण** (३) **शक्ति का उत्थापन** एवं परिशिव के साथ **सामरस्य साधन** (४) ध्यान योग (५) अगोचरी मुद्रा, शांभवी मुद्रा-साधन, (६) सूर्य-चन्द्र-योग (प्राणायाम) (७) योगाग्नि-प्रकटीकरण (८) मनोलय (९) ध्यान योग आदि साधनों को समयाचार-साधना का अङ्ग स्वीकार करती है।

'मरुत इह नाड़ी गणजुषो'—

प्राण साधना और उसका महत्त्व—'मनोमार्ग जित्वा मरुत इह नाड़ीगणजुषो' वाक्य में आचार्य गौड़पाद ने दो प्रकार की साधनाओं को सङ्केतित किया है—

(१) मनोमारण (२) प्राणायाम एवं सुषुम्णा में प्राण संचार।

'प्राणसाधना' का इतना महत्व क्यों?

भारतीय योगियों ने यह अनुभव किया कि जब तक प्राण वशीकृत नहीं किया जाता तब तक मन भी वशीभूत नहीं होता क्योंकि मन एवं प्राण का आधाराधेय सम्बन्ध या वाहन एवं यात्री का सम्बन्ध है।

'मरुत इह नाड़ी गणजुषो'—अर्थात् नाड़ी-समूह को वायु से युक्त करके।

प्राणायाम के सिद्धान्त—(१) **चित्त आदि का विलय** हो जाने पर **वायु का भी लय** हो जाता है। **मन एवं पवन दोनों का लय** हो जाने पर इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थों का त्याग हो जाता है—

'चित्तादि विलये जाते पवनस्य लयो भवेत्।
मनःपवनयोर्नाशादिन्द्रियार्थं विमुञ्चति ।।'[१]

(२) जब साधक के इन्द्रियार्थों को इन्द्रियों से ग्रहण करने बन्द कर देता है तब वह **जागतिक बाह्य ज्ञान से मुक्त** हो जाता है—

'इन्द्रियार्थैर्यदा मुक्तो बाह्यज्ञानं न जायते।'

सर्वसमत्व बुद्धि तभी संभव है जब बाह्यज्ञान नष्ट हो जाय—

'बाह्यज्ञाने विनष्टे च ततः सर्वसमो भवेत्।।' (३२)

(३) सर्वसमत्व-प्राप्ति से ब्रह्म-लय की सिद्धि प्राप्त होती है—

'यदा सर्वसमे जाते भवेद् व्यापार वर्जितः।
परब्रह्मणि सम्पन्नो योगी प्राप्तलयस्तदा ।।'

(४) मन एवं वायु दूध तथा जल की भाँति परस्पर मिले हुए हैं। उन दोनों की क्रिया भी एक ही समान है। उन दोनों में जब तक **'मन'** रहेगा तब तक **'वायु'** की प्रवृत्ति रहेगी और जब तक वायु रहेगा तब तक मन की प्रवृत्ति रहेगी—

'दुग्धाम्बुवत संमिलितौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ च।
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुच्चापि मनः प्रवृत्तिः ।।'

—(हठयोग प्रदीपिंका)

(५) उन दोनों में से एक का नाश हो जाने पर दूसरे का स्वयमेव नाश हो जाता है—

'तत्रेकनाशाद्परस्य नाशः एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ।।'

दोनों के नाश से ही मोक्ष प्राप्त हो पाता है—

'विध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ।।' (अमनस्यक योग २९)

'शांभवी मुद्रा' प्राण-मन दोनों को निरुद्ध करने में सहायक है। **'शांभवी मुद्रा'** भगवती 'उमा' के समान है—आदि शक्ति है—

'आदिशक्तिरुमाचैषा' (अमनस्क योग : ११)

शांभवी मुद्रा का स्वरूप—

'अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा हि **शाम्भवीमुद्रा** सर्वशास्त्रेषु गोपिता ।। (१०)[२]
वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
एकैव **शाम्भवी** मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। (९)

१. अमनस्क योग (गोरक्षनाथ)
२. अमनस्क योग (१०)

'मनोमार्गं जित्वा'—मन के मार्ग को जीतकर। (मन का विरोध करके)।

'मन का मार्ग' क्या है? मार्ग वह है जिस पर प्राणी चलता है। 'मन' किस मार्ग पर चलता है? 'मन' वायु के मार्ग पर चलता है—"वायु" मन का मार्ग है—

'एवमभ्यसमानस्य **वायुमार्गे** दिवानिशम्।
अभ्यासाजीर्यते **वायुर्मनस्तत्रैव लीयते** ।।'

वायु के नाश से मन का भी नाश हो जाता है। **'मन'** को प्राण या वायु से ही चलने की गति प्राप्त होती है। **प्राण या वायु** के मार्ग को नष्ट कर दीजिए तो **'मन'** चल ही नहीं पायेगा।

मन एवं प्राण की परस्पराश्रितता—

मन या चित्त के कारण—चित्त के बीज

(१) 'वासना'
(२) 'प्राण

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणाः ।।'

(१) यदि **'वासना'** या **'प्राण'** दोनों में से एक भी नष्ट हो जाय तो दोनों नष्ट हो जाते हैं।

योगवासिष्ठकार का मत—योगवासष्ठिकार ने भी इसी दृष्टि या सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—"हे राम! **चित्त के दो बीज** हैं।

चित्त के बीज

(१) 'प्राणस्पन्दन'
(२) 'वासना'

'द्वेबीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।'

इन दोनों में से एक के भी नष्ट हो जाने पर दूसरा स्वयमेव नष्ट हो जाता है—

'द्वे बीजे राम! चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ।।'

(२) जब तक **मन** नहीं मरता तब तक **वासना** का नाश नहीं हुआ करता।

(३) जब तक वासना क्षीण नहीं होती तब तक चित्त कभी शमित नहीं हो पाता।

(४) जब तक **'विज्ञान'** का आविर्भाव नहीं हो पाता तब तक **चित्त का संक्षय** नहीं हो पाता।

(५) जब तक **चित्तोपशम** नहीं हो पाता तब मक **तत्त्ववेदन** नहीं हो पाता।

(६) जब तक **वासना का नाश** नहीं हो पाता तब तक **तत्त्व का ज्ञान** कैसे संभव हो सकेगा?

(७) जब तक **तत्त्वज्ञ की प्राप्ति** नहीं हो पाती तब तक **वासना का क्षय** नहीं हो पाता।

(८) **'मनोनाश'** क्या है?

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

(क) 'मनस्तत्त्वं जित्वा' (सु०स्तुति : २)

(ख) मनोमार्गं जित्वा (सु०स्तुतिः ३)

'मनस्तत्व पर विजय', 'मनोमार्ग पर जीत' एवं 'मनोनाश(एक ही परमोपलब्धि के पर्याय हैं।

'योगवासिष्ठकार' ने इस स्थिति को **'मनोनाश'** कहा है। वे कहते हैं कि—

'तत्वज्ञान' 'वासनाक्षय' (चित्तवृत्तियों का ध्वंस) एवं 'मनोनाश' एक ही तत्त्व के तीन नाम हैं। ये तीनों बातें (तीनों उपलब्धियाँ, सिद्धियाँ) एक ही हैं—

'तत्त्वज्ञानं **मनोनाशो** वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥'

(१) चित्त के दो कारण : (हठयोग प्रदीपिका।
(क) वासना, (ख) समीर।
(२) चित्त के दो बीज : (योगवासिष्ठ)
(क) प्राणस्पन्दन, (ख) वासना

चित्त की उत्पत्ति के कारण या उसके मूल बीज
(१) वासना
(२) समीर (प्राण-स्पन्दन)
चित्त (चित्त का जन्म)
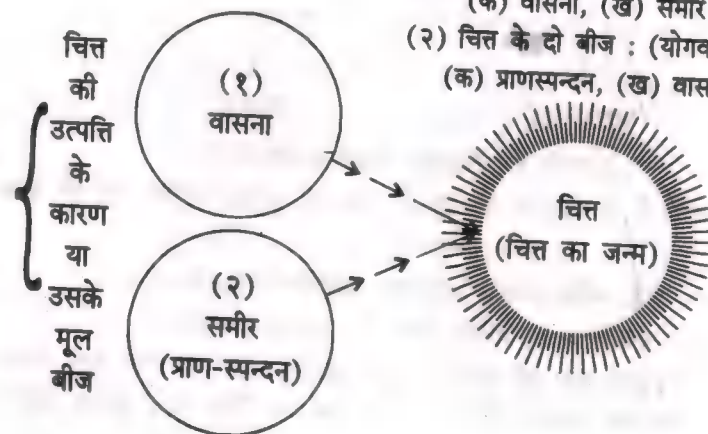
(९) जहाँ मन का लय होता है वहीं पवन का भी लय हो जाता है तथा जहाँ पवन का लय होता है वहीं **मन का भी लय** हो जाता है—

'मनोयत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥'

(१०) मन एवं पवन (प्राण) जल में मिले हुए दूध की भाँति परस्पर मिले हुए हैं।[१]

(११) जिन नाड़ियों के चक्र में वायु प्रवृत्त होता है उसी चक्र में मन की प्रवृत्ति होती है तथा जिस चक्र में मन प्रवृत्त होता है उसी चक्र में वायु की प्रवृत्ति हुआ करती है।

अतः **योगवासिष्ठकार** कहते हैं कि प्राणियों के **प्राण एवं चित्त** दोनों अविनाभावी हैं। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता यथा—पुष्प एवं सुगन्ध या तिल एवं तैल—

'अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी।
कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते।'

इनके विनाश से ही मोक्षाप्ति होती है—

(क) 'कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥'[२]

(ख) 'अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥'[३]

*** 'मन' 'प्राण' (वायु) 'बिन्दु' स्थैर्य एवं 'पिण्डस्थैर्य' का अन्तर्संबंध**

(१) 'मन' का 'प्राण' के साथ ही नहीं प्रत्युत् 'बिन्दु-स्थैर्य' एवं 'पिण्डस्थैर्य' से भी संबंध है—

'मनस्थ स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततोबिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्ये प्रजायते ॥'[४]

---

१. हठयोगप्रदीपिका
२. योगवासिष्ठ
३. हठयोगप्रदीपिका
४. हठयोगप्रदीपिका (४।२८)

मन की स्थिरता
(१)

प्राण की स्थिरता
(२)

प्राण की स्थिरता

वीर्य की स्थिरता

(४) शरीर, प्राण एवं
में शक्ति की

देह की स्थिरता

नाद
तत्त्व

मनोलय
(मन पर विजय)

मन का लय
नाद का
स्वामी

' लयोनादमश्रितः॥'
लय का साधन = 'नाद' —(हठयोगप्रदीपिका)

नाद
मारुत या प्राण
का स्वामी

'मारुतस्य लयोनाथः'
मारुत या प्राण का स्वामी= 'लय' —(हठयोगप्रदीपिका)

मारुत
प्राण
(मन का
स्वामी)

' मनोनाथस्तु मारुतः'
मनस्तत्त्व का स्वामी= मारुत या प्राण —(हठयोगप्रदीपिका)

मन
(इन्द्रियों का
स्वामी)

' इन्द्रियाणां मनोनाथो' =इन्द्रियों का स्वामी = 'मनस्तत्त्व
—(हठयोगप्रदीपिका)
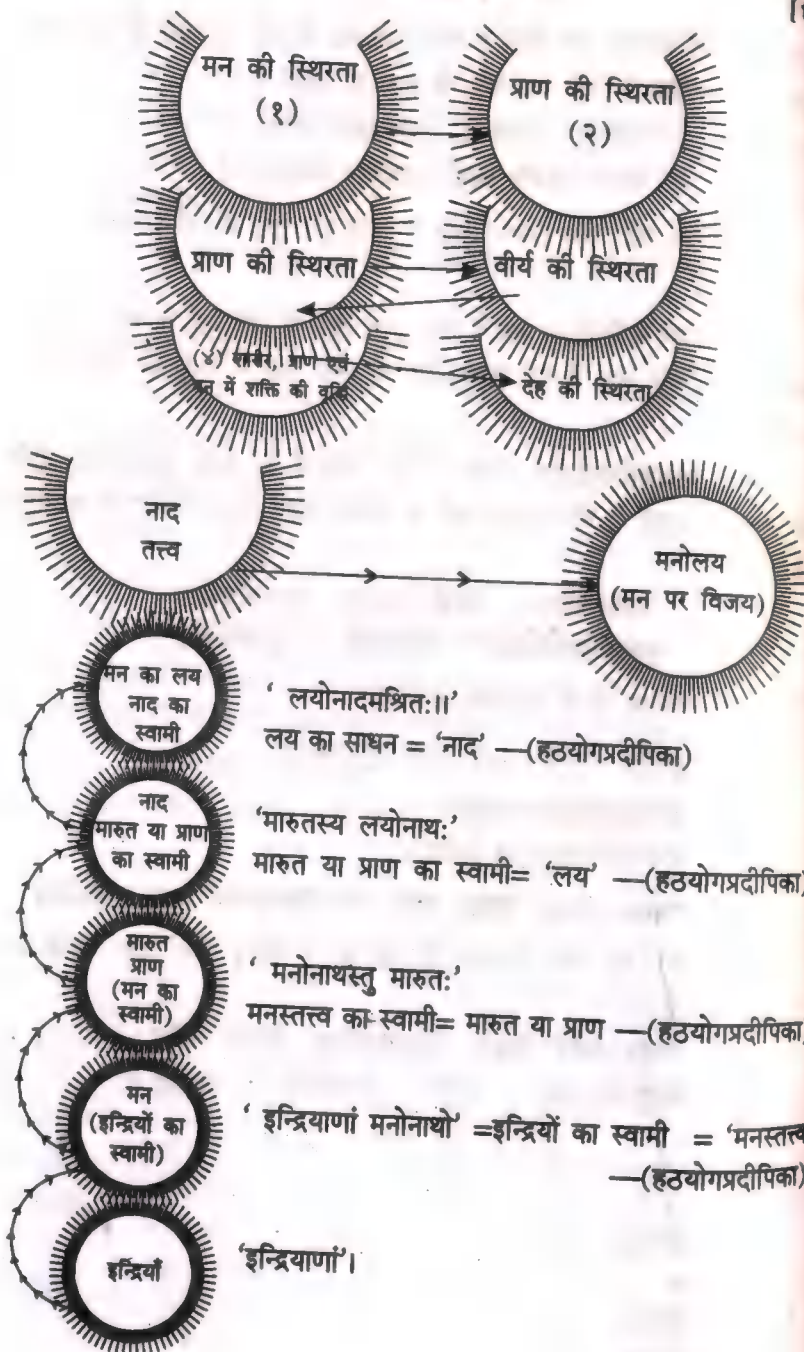
इन्द्रियाँ

'इन्द्रियाणां'।

औपनिषदिक दृष्टि—

'इन्द्रियेभ्यः **पराह्यर्था** अर्थेभ्यश्च **परं** मनः।
मनस्तु परा **बुद्धि बुद्धेरात्मा** महान परः॥'

*** मनः संयम पर इतना बल क्यों ?**

आचार्य गौड़पाद ने साधना-विधान में सर्वप्रथम—

(१) 'मनस्तत्वं जित्वा' (२) (सुभगोदय स्तुति)

(२) 'मनोमार्गं जित्वा' (३) (सुभगोदय स्तुति)

—ही क्यों कहा है? उन्होंने मन पर विजय को सर्वाधिक महत्व इसलिए दिया क्योंकि—

[१]—प्रथमतः लोग यह जान लें कि **'समयाचार'** कोई 'हठयोग' या 'मन्त्रयोग' का मार्ग नहीं है प्रत्युत् यह 'राजयोग' का मार्ग है जिसमें मन का विनाश **प्रधान-साधना** है और यह साधना **'राजयोग'** ज्ञान, ध्यान, जीवन्मुक्ति, अद्वैत, अमनस्क की साधना है—'अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या''

मुख्यतः **ध्यान की साधना** है या **मन की साधना** है।

(२) यदि यह कहा जाय कि फिर इस साधना में 'हठयोग' के अङ्ग 'प्राणायाम' एवं 'लययोग' के अङ्ग 'षटचक्रभेदन' 'कुण्डलिनी योग' 'ग्रन्थि-भेदन' 'सूर्यचन्द्रयोग' आदि तत्वों का सन्निवेश क्यों किया गया?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—

(क) 'समयाचार' वेदान्तमार्ग नहीं है। यह वाग्विलास मात्र नहीं है।

(ख) यहाँ योग-साधना का प्राधान्य है।

(ग) **'राजयोग'** में भी 'मनोमारण' चित्तवृत्तिनिरोध, धारणा, ध्यान, 'समाधि' आदि योगाङ्ग स्वीकृत हैं।

राजयोग की 'धारणा' 'ध्यान' एवं समाधि—

'राजयोग' अमनस्क, अद्वैत, जीवन्मुक्ति एवं तुर्या है। इसके अतिरिक्त यह 'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी' आदि भी है।

[३]— *** हठयोग का लक्ष्य क्या है?**

'हठयोग' का लक्ष्य **राजयोग** है—

'केवलं **राजयोगाय** हठविद्योपदिश्यते ॥'[१]

हठयोग तो केवल उन लोगों के लिए है जो **'राजयोग'** जानते ही नहीं—

'भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते **राजयोगमजानताम्** ।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥'

प्रधान योग तो 'राजयोग' है—क्योंकि—

(१) 'राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणाः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ।'

(२) '**उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं** मम सम्मतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥'[२] (४।८०)

(३) सर्वेहठलयोपाया **राजयोगस्यसिद्धये** ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥[३] (४।१०३)

योग की ज्ञानभूमिकायें

(१) शुभेच्छा (मोक्षेच्छा)
(२) विचारणा (श्रवण मनन)
(३) तनुमानसा (निदिध्यासन)
(४) सत्वापत्ति ('अहंब्रह्मास्मि' की वृत्ति)
(५) असंसक्ति
(६) पदार्थाभाविनी — स्वोत्थित, परोत्थित
(७) तुर्यगा — अनोत्थि

'मनोमार्ग' = वह मार्ग जिस मार्ग पर मन चलता है। मनोमार्ग

मन का मार्ग

(१) वायु
(२) इन्द्रियों के विषय
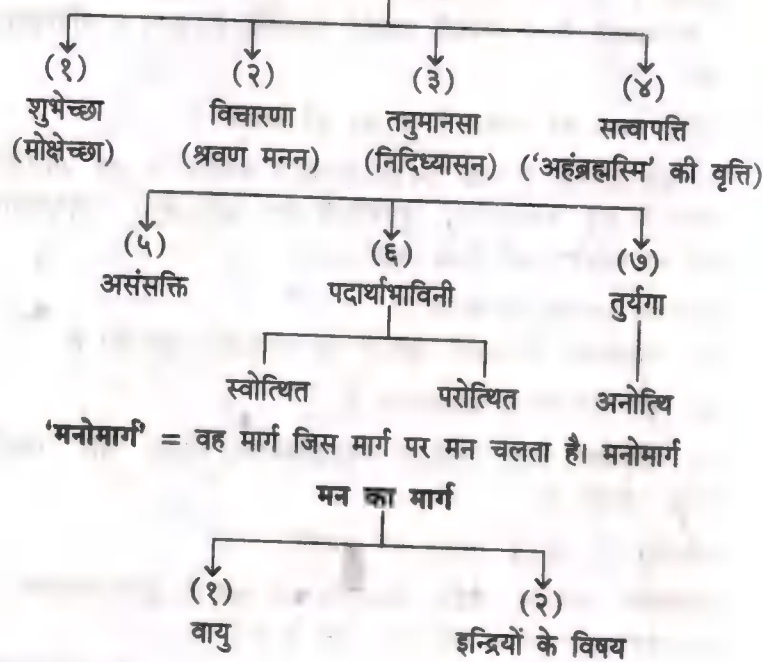
१. हठयोगप्रदीपिका (१।२)
२. हठयोगप्रदीपिका
३. हठयोगप्रदीपिका

[२]—आचार्य गौड़पाद ने मन:संयम पर सर्वाधिक बल इसलिए दिया क्योंकि वे यह बताना चाहते थे किसी भी साधना की जड़ में यदि **मनः संयम या मन के लय का सिञ्चन** नहीं किया गया है तो वह साधना- वाटिका सूख जाएगी अतः साधना में बाह्याचार के लिए कोई भी स्थान नहीं है—जो भी स्थान है वह मात्र मन की साधना के लिए ही है—ऋषि **सनत्कुमार** कहते हैं—

'**बाह्यपूजा** न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः ।
साक्षुद्रफलदा नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात् ॥
बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः ।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः ।
आन्तराराधनपरा वैदिकां ब्रह्मवादिनः ।
जीवन्मुक्तिश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥'

—सनत्कुमार संहिता

समयाचारी तो सारे बाह्याचारों से अपने को मुक्त किये हुए हैं—

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर तो कहते हैं कि समयमत इतना बाह्याचार विरोधी है कि उसकी साधना-पद्धति में—

(१) पुरश्चरण (२) जप (३) बाह्यहोम (४) बाह्यपूजा विधि (५) आदि कुछ भी ग्राह्य नहीं है—

'समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव हृत्कमल एव सर्वं यावत् अनुष्ठेयम् ।'[१]

'समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं **आन्तरपूजा** कर्तव्या ॥'[२]

*** मन की अवस्थायें एवं उनकी साधना ***

योगिराज गोरक्षनाथ ने मन की चार अवस्थायें माना हैं—

मनोवस्था

(१) विश्लिष्टावस्था
(२) गतागतावस्था
(३) सुश्लिष्टावस्था
(४) सुलीनावस्था[३]
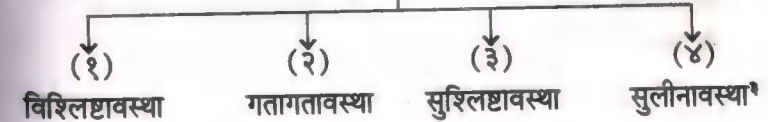
१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३३)
२. तत्रैव (४१)
३. अमनस्क योग (गोरक्षनाथ)

मन को 'सुलीनावस्था' में पहुँचाना ही मन की साधना का परम लक्ष्य है।

उन्मनी अवस्था—सारे भारतीय योगियों का प्रधान लक्ष्य 'उन्मनी अवस्था' या 'अमनस्क योग' की अवस्था प्राप्त करना है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—स्वात्माराम कहते हैं कि—

(१) तत्त्व ही बीज है।
(२) हठ ही क्षेत्र है।
(३) औदासीन्य ही जल है।

इन्हीं ३ की सहायता से **'उन्मनीकल्पलतिका'** का विकास होता है। यह **उन्मनयोग** ही योग की परमसिद्धि है।

'उन्मनी' = मन की मृत्यु

तत्त्व (चित्त)

हठ रूप प्राण एवं अपान की एकता रूप क्षेत्र

जल (औदासीन्य वैराग्य)

'उन्मनी कल्पलतिका'
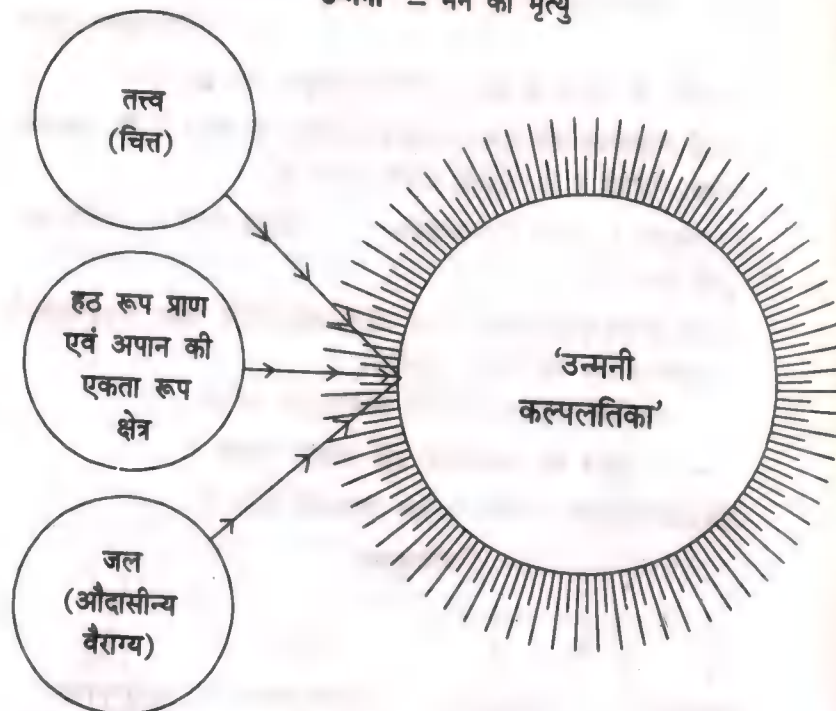
'उन्मनी' है क्या?

यह 'समाधि' 'राजयोग' 'अमनस्कयोग' 'अद्वैत' 'मनोन्मनी' 'अमरत्व' 'लय' 'तत्त्व' 'शून्याशून्यपरंपद'—'निरालम्ब'—'निरञ्जन'—'सहजावस्था' एवं 'तुया' का पर्याय है—

'राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्या शून्यं परं पदम्।
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥'

हठयोगप्रदीपिका—(४/३-४)

आचार्य गौड़पाद भी कहते हैं—

'मनोमार्गं जित्वा' 'मनस्त्त्वं जित्वा' ॥ —(सुभगोदय स्तुति)

अमनस्क योग ही 'राजयोग' है।

योगिराज गोरक्षनाथ की दृष्टि—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि समस्त योगों में परमोत्तम योग **'तारकयोग'** है।

तारक योग

(१)	(२)
'पूर्वयोग' (बहिर्योग)	'अपरयोग'
(तारकयोग)	(अमनस्कयोग)
(बाह्ययोग)	(अनन्तमुद्रात्मक अमनस्कयोग)
(बहिमुर्द्रान्वित)	(अन्तर्योग)

यह 'अमनस्क योग' ही 'राजयोग' है—

'राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुंगव।
राजत्वात् सर्वयोगानां **राजयोगं** इति स्मृतः॥
राजानं दीप्यमानं तं परं ब्रह्माणमव्ययम्।
देहिनः प्रापयेद् यस्तु **राजयोगः** स उच्यते॥'

—अमनस्क योग (उत्तरार्ध)

अमनस्क साधना के साधन (गोरक्षनाथ

(१)	(२)	(३)	(४)
औकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन	हत्पद्म में ज्योति का चिन्तन	महाशून्य रूप व्योम का आलम्बन। चित्त	अन्त में इन सभी का त्याग करके अवाच्य अमनस्क का सेवन

जो कुछ भी चराचर जगत है वह सब मन के कारण ही दृश्य रूप से दृष्टिगत होता है। मन का उन्मनीभाव (विलय) होने पर मात्र अद्वैतभाव ही शेष रह जाता है—

(१) मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किंचित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभावः प्रकल्पते ॥[१]

(२) मन ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण है—
'मन एव मनुष्याणां कारणं **बन्धमोक्षयोः**।
बन्धाय विषयासंगि **मुक्तये** निर्विषयं मनः ॥'[२]

गोरक्षोक्त मनोमार्गं जित्वा' की साधना—

गोरक्षनाथ कहते हैं कि मनोजय के लिए आवश्यक यह है कि—जब जहाँ जिस प्रकार मन स्थिर हो वहाँ, उसी प्रकार स्थिर करना चाहिए तथा जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ से निवृत्त नहीं करना चाहिए।

'मनोमार्गं जित्वा'—समस्त साधनाओं का लक्ष्य है 'ज्ञान'। ध्यातव्य बिन्दु यह है कि क्या (१) प्राण एवं (२) मन के रहते 'ज्ञान' प्राप्त करना संभव होगा?

स्वात्माराम की दृष्टि—योगिराज स्वात्माराम कहते हैं कि (१) प्राण एवं (२) मन के जीवित रहते **ज्ञानादित असंभव** है—

(१) 'यावत्रैव प्रविशति चरन् **मारुतोमध्यमार्गे,**
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवात-प्रबन्धात्।
या वद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं,
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥ (४।११)

सारांश यह है जब तक कि—

(१) सुषुम्णामार्ग में प्रवाहित **प्राणवायु** ब्रह्मरंध्र में प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं हो जाता।

(२) जब तक कुंभ के द्वारा **बिन्दु** स्थिर नहीं हो जाता।

(३) जब तक **चित्त** (मन) रूप **'तत्त्व'** ध्यान में सहज रूप से स्थिर नहीं हो जाता—जब तक **'ज्ञान'** की बात करना केवल मिथ्या प्रलाप मात्र है; क्योंकि—

(२) **ज्ञानं** कुम्भो मनसि संभवतीह तावत्,
प्राणेऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।

१. अमनस्क योग (उत्तरार्द्ध ८०)
२. तत्रैव (७९)
३. अमनस्क योग (उत्त० ७२)

प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयोद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथं चिदन्यः ॥ (४।१५)

'ज्ञान' क्या है? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

"ज्ञानं भुक्तिः स्थितिः सिद्धिः।"

ज्योत्स्नाकार कहते हैं—"ज्ञानं स्वस्वरूपपरारोक्षानुभवः॥' **'मुक्तिर्विदेहमुक्तिः'** 'स्थिति निर्विकार स्वरूपावस्थितिरूपा **जीवन्मुक्तिः**, 'सिद्धिरणिमादिः'।

—ब्रह्मानन्दगिरि—ज्योत्स्ना

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः।
ज्ञानं, भुक्तिः स्थितसिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ (४।८)

इसीलिए 'राजयोग' का इतना महत्त्व है और कहा गया है कि—

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विनानिशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥ (३।१२६)

इसीलिए **मनोन्मनीरूप** राजयोग को आचार्य गौड़पाद ने इतना महत्व देते हुए **'सुभगोदयस्तुति'** के अपने द्वितीय एवं तृतीय श्लोकों के प्रारंभ में मन की विजय पर इतना बल दिया।

*** भारतीय तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से गौड़पादोक्त मनोमार्गं जित्वा' वाक्य का विश्लेषण ***

आचार्य गौड़पाद ने साधना के क्षेत्र में मन की साधना को सर्वोपरि महत्व क्यों दिया?—इसकी पृष्ठभूमि में गुह्यतांत्रिक दृष्टि भी अनुस्यूत है।

मन की एक मात्रा में स्थिति होने पर **एकाग्रभूमि** की प्रतिष्ठा होती है। इस दशा में द्रष्टा के समक्ष **विश्वविलुप्त हो जाता है।** इस समय **एक मात्र चिदाकाश** ही **प्रकाशमान** रहता है। एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित मन को तोड़कर उसके दो टुकड़े करने होंगे। इसी का नाम है—**'अर्धमात्रा'**। मन की मात्रा जितनी ही क्षीण से क्षीणतर हो उतनी ही चैतन्य और उससे सम्बद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट होती है।

मन के भागांश : (ॐकार के अंश)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
बिन्दु	अर्धचन्द्र	निरोधिनी	नाद	नादान्त	शक्ति	व्यापिनी	समना
१/२ मात्रा	१/४ मात्रा	१/८ मात्रा	१/१६ मात्रा	१/३२ मात्रा	१/६४ मात्रा	१/१२८ मात्रा	१/१२८ मात्रा

अकार मात्रा-१ } उकार मात्रा-२ } मकार मात्रा-३ } सब मिलाकर ६ मात्रायें हैं। } मायातीत पद में = १ मात्रा है।

एक ही मात्रा सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त है। * अन्तिम अवस्था में मन इतना सूक्ष्म हो जाता है कि तब मन के रहने पर भी न के समतुल्य ही रहता है।

गीताकार की दृष्टि—श्री कृष्ण भी 'मन' एवं 'प्राण' को साधना में सर्वप्रथम स्थान देते हैं और वे गीता में कहते हैं—

'समस्त द्वारों को संयत करके, **मन को हृदय में निरुद्ध करके,** योगधारणा के द्वारा **प्राणों** को मूर्धादेश में स्थापित करके एकाक्षर शब्द ब्रह्म ॐ का उच्चारण करते हुए एवं भगवान का स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह परमगति पाता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य **मनो** हृदि निरूध्य च।
मध्न्यर्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम्॥

उपनिषद-काल के ऋषियों की दृष्टि—ऋक्षियों की दृष्टि में **'मन'** कोई वैचारिक वृत्ति, जड़ चित्त या भौतिक मनोवृत्ति नहीं है प्रत्युत् यह एक अनन्त शक्तिसम्पन्न चेतन सत्ता है जो कि **'समना'** तक स्थित है।

'शुक्लयजुर्वेद' (अध्याय ३४ मंत्र १-६) के ६ मंत्रों द्वारा मन से प्रार्थना की गई है कि वह शुभसंकल्पों वाला बने। उसमें कहा गया है कि—

'यज्जाग्रतो दूरमुपैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिष्क्रक तन्मे **शिवसङ्कल्पमस्तु**॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**।
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते **तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु**।
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीत ममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठता रथनामाविचाराः।
यस्मिंश्चित्त सर्वमोत प्रजानां **तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु**॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मुष्यान्नेनीयतेऽभीशुविर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं **जाविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**॥'

—शिवसङ्कल्पोपनिषद

मन की साधना—"विज्ञान भैरव" में मन को वशीभूत करने के लिए मन की साधना की पद्धति इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—

(१) सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते **मनो** लयात्।
दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते।
(२) यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते **मनः** क्षिपेत्।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्॥
(३) भुवनाध्वादि रूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते **मनोलयः**।
(४) विश्वमेतन्महादेवि! शून्यभूतं विचिन्तयेत्।
तत्रैव च **मनोलीनं** ततस्तल्ल्यभाजनम्॥
(५) सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद वा परिभावयेत्।
युगपन्निर्विकल्पेन **मनसा** परमोदयः॥

—विज्ञानभैरव

श्रीविद्या उपासना में 'प्राणायाम' एवं प्राणसंयम का स्थान

यद्यपि यह सत्य है कि श्रीविद्या की साधना **हठयोगप्रधान नहीं है**। किन्तु यह साधना भी **योगाश्रित** है इसीलिए आचार्य गौड़पाद ने **समयी को महायोगी** कहा है—

'तवाज्ञाचक्रस्थं विलयति (विलसति) **महोयोगि** समयी।'

इसी कारण **'श्रीविद्यासाधना'** में **'राजयोग'** का आश्रय लिया गया है अतः **'प्राणायाम'** एवं **'प्राणसाधना'** को अंगीकृत करके तथा अन्य अंगों को स्वीकार करके भी (१) प्राणायाम के प्रकारों (२) नाड़ी-शुद्धियों (३) आसनों (४) प्रत्याहार-पद्धतियों (५) बंधों (६) मुद्राओं आदि (हठयोग के प्रतिपाद्य विषयों) की विवेचना नहीं की गई है। तथापि **राजयोग-गृहीत प्राणायाम, धारण ध्यान समाधि आदि योग की साधना-पद्धतियों को अङ्गीकार अवश्य किया जाता है।**

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

(क) 'मरुत इह नाड़ीगण जुषो'
(ख) 'निरुध्यार्कं सेन्दुं'
(ग) 'दहनमपि संज्वाल्य'
(घ) 'शिखया सुषुम्णां संयोज्य'
(ङ) 'श्लथयति षडग्रंथि'
(च) 'शशिनं तवाज्ञा चक्रस्थं विलयति'

} इन सभी क्रियाओं में प्राण-साधना अन्तर्निहित है।

[क] **'मरुत इन नाड़ीगण जुषां'**—अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों को वायु से युक्त करके।।

सिद्धान्त और साधना—शरीर में ७२००० या साढ़े तीन कोटि नाड़ियाँ हैं। उनमें वायु प्रवाहिका या वायु-धारिका नाड़ियों में कुछ ही नाड़ियाँ हैं। जो वायु प्रवाहिका नाड़िया. हैं। यद्यपि वे स्वयमेव वायु को ग्रहण करती हैं और उनका—(१) पूरक (२) कुम्भक (३) रेचक स्वतः अहोरात्र चलता रहता है। अतः उन नाड़ियों को वायु से युक्त करने का निर्देश अनावश्यक सा प्रतीत होता हुआ भी आवश्यक एवं व्यावहारिक है क्योंकि **समस्त नाड़ियाँ मल से भरी हैं**। अतः यथेच्छ प्राण-संचार नहीं हो पाता।

आचार्य स्वात्माराम मुनीन्द्र की दृष्टि—आचार्य स्वात्माराम कहते हैं कि मलाकुल नाड़ियों में मारुत-प्रवेश नहीं हो पाता अर्थात् यह प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश नहीं कर पाता—

'मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव मध्यगः।[१]
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्।।' (२।४)

(१) **नाड़ियाँ मल से भरी हुई हैं** अतः प्राण का उनमें यथेच्छ प्रवेश नहीं हो पाता।

(२) नाड़ियों के मलाकुल होने के कारण **'प्राण'** मध्यवर्ती (सुषुम्णा नाड़ीगत) नहीं हो पाता।

"नाड़ीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः।
प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात्।।"
अपितु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवति।।[२]

(३) मलों से **नाड़ियों की मूल से मुक्ति की प्रकिया**—नाड़ियाँ मात्र प्राणायाम से ही मल रहित होकर शुद्ध हो सकती हैं। क्योंकि—

'प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।।' (२।३७)

(४) **नाड़ी चक्र यथावश्यक प्राण संग्रहण कब कर पाती है?**

स्वात्माराम कहते हैं कि यह तभी संभव हो पाता है जब वे शुद्ध हो जायँ—

'शुद्धिमेति यदा सर्वं नाड़ीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राण-संग्रहणो क्षमः।।' (२।५)

---

१. हठयोगप्रदीपिका (२।४)
२. ज्योत्स्ना (२।४)

इसके लिए **'प्राणायाम'** आवश्यक है—

'प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयन्ति च।।'[१]

(५) प्राण के चंचल या अस्थिर रहने पर चित्त भी चंचल एवं अस्थिर हो जाता है तथा प्राण के निश्चल होने पर चित्त भी निश्चल हो जाता है इसलिए **वायु का निरोध** किया जाना चाहिए। (कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए।)

देह में जब तक प्राण स्थित हैतब तक ही प्राणी का जीवन रहता है। प्राण का निष्क्रमण ही प्राणी की मृत्यु है अतः प्राण का निरोध अवश्य करणी है।[२]

(६) जब तक शरीर में वायु (प्राण) **'बद्ध'** (श्वासोच्छ्वास क्रिया शून्य) है और जब तक चित्त **'निराकुल'** (समाहित अविक्षिप्त) है तब भला मृत्यु से क्या भय?[३]

'सुषुम्णा संयोज्य'

(७) **प्राण का सुषुम्णा में प्रवेश**—योगोक्त विधियों से प्राणसंयाम द्वारा नाड़ी चक्र का विशोधन करने प्राण वायु सुषुम्णा नाड़ी के बन्द मुख को खोल कर अन्दर प्रविष्ट होने लगता है।[४]

(८) प्राण के सुषुम्णा नाड़ी के प्रविष्ट होने पर **मन भी स्थिर हो जाता है।** मन का यही सुस्थिरीभाव या स्थैर्यवाली अवस्था **'मनोन्मनी'** कहलाती है।[५]

(९) प्राणायामों के मुख्य भेद ८ हैं जो निम्नाङ्कित हैं—

(१) सूर्य भेदन (२) उज्जायी (३) सीत्कारी (४) शीतली (५) भस्त्रिका (६) भ्रामरी (७) मूर्च्छा (८) प्लाविनी।

---

१. हठयोगप्रदीपिका (२।६)
२. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। (२।२-३)
३. ह०यो०प्र० (२।४०)
४. हठयोगप्रदीपिका—
विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः।। (२।४१)
५. मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।
योमनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी।।
—हठयोगप्रदीपिका

(९) **व्यावहारिक पद्धति—'जालन्धरबंध'** लगाकर (कण्ठ संकोचन करके) 'उड्डीयान बन्ध' करने से (पृष्ठ से नाभिप्रदेश में प्राणाकर्षण रूप उड्डीयान बंध लगाने से) प्राण 'ब्रह्मनाड़ी' में चला जाता है—

'प्राणे ब्रह्मनाडिगः ॥' (२।४६)

(१०) **अपान वायु** को ऊपर उठाकर आधाराकुञ्चन द्वारा प्राणवायु को **कण्ठ के अधोभाग में स्थापित** करना चाहिए।

(११) प्राणायाम के तीन अंग हैं।(१) पूरक (२) कुंभक (३)रेचक तथापि यथार्थतः तो **'कुम्भक'** ही यथार्थ प्राणायाम है—

'प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै **केवलकुंभकः** ॥' (२।७३)

प्राणायाम (कुंभक) का फल—इसके अनन्त फल हैं।[1]

इससे तीनों लोकों में दुर्लभ से भी दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त हैं तथा इससे कुण्डली का जागरण भी होता है और राजयोग पद की प्रप्ति भी होती है।[2]

प्राणायाम से ही 'सुषुम्ना' अनर्गला (मल से शुद्ध) होती है।[3] कुम्भकाभ्यास से **'राजयोग'** की भी प्राप्ति होती है।[4]

***शक्ति के जाग्रत होने पर 'प्राण' शून्य में विलीन हो जाता है ***

प्रबुद्धायां महाशक्तौ **प्राणः शून्ये प्रलीयते** ॥ (४।१०)

शक्तिबोध से 'सहजावस्था' का उदय—

'उत्पन्न **शक्तिबोधस्य** त्यक्तनिःशेषकर्मणाः।
योगिनः **सहजावस्था** स्वयमेव प्रजायते ॥' (४।११)

मध्यमार्ग में प्राण संचार होने पर अमरोली आदि उत्पन्न हो जाती हैं—

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति **मध्यमे**।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ (४।१४)

---

१. नतस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकषु विद्यते।
शक्त केवल कुंभकेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ (२।७४)
२. राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ (२।७५)
३. अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥ (२।७६)
४. कुम्भक प्रणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासंयोगेन **राजयोगपदं** वज्रेत् ॥ (२।७७)

सुषुम्ना नाड़ी (सुषम्णा) की शुद्धता की पद्धति—

इयं तु **मध्यमा** नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसन प्राणसंयामभुद्राभिः सरला भवेत् ॥[1]

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥[2]

प्रश्न—आचार्य गौड़पाद को स्थूल से सूक्ष्म साधना की ओर अग्रपद होने का निर्देश देना था किन्तु उन्होंने सूक्ष्म से स्थूल की ओर इंगित क्यों किया?

उन्हें प्रथमतः 'प्राणसाधना' (प्राणायाम) नाड़ी शोधन सूर्यचन्द्रयोग आदि की साधना करने का निर्देश देना था फिर सूक्ष्मतर तत्त्व 'मनस्तत्व' की साधना करने का निर्देश देना था। उन्होंने उल्टी गंगा बहाने का प्रयास क्यों किया?

उत्तर—(१) शिवसूत्रकार को प्रथमतः **'आणवोपाय'** फिर **'शाक्तोपाय'** फिर **'शांभवोपाय'** पर प्रकाश डालना चाहिए था और उसी क्रम में साधना करने का निर्देश देना था फिर उन्होंने सूक्ष्म से स्थूल साधनाओं की ओर निर्देश दिया और 'शिवसूत्र' के अध्यायों का क्रम—(१) **'शांभवोपाय'** फिर (२) **'शाक्तोपाय'** एवं फिर (३) **'आणवोपाय'** का क्रम क्यों रखा।

(२) **योगसूत्रकार** को अध्यायों का नाम प्रथमतः **'साधनपाद'** फिर **'विभूतिपाद'** फिर **'समाधिपाद'** एवं फिर **'कैवल्यपाद'** रखना था फिर उन्होंने—

(१) समाधिपाद (३) साधनपाद (३) विभूतिवाद (४) कैवल्यपाद का क्रम क्यों रक्खा?

—बात सुस्पष्ट है। किसी भी शास्त्र का जो मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व है उसकी ओर इंगित करने के लिए सर्वप्रथम तत्सम्बद्ध पुस्तक में उसी का प्रतिपादन किया जाता है भले ही साधना के सोपानों में क्रमभंग क्यों न हो जाय। इसी कारण 'शिवसूत्र' एवं 'योगशास्त्र' की विवेचना सूक्ष्मता से स्थूलता की दिशा में की गई है। **आचार्य गौड़पाद** बाह्याचार एवं स्थूलोपासना के विरोधी हैं।

अतः उन्होंने प्रथमतः सूक्ष्म साधना—मनोमारण (मन पर विजय की साधना) की साधना को महत्त्व दिया। इसके द्वारा उन्होंने बाह्याचारी कौलों से अपनी पृथकता भी प्रतिपादित एवं इङ्गित कर दिया।

'निरुध्यार्कसेन्दुं'—अर्क (सूर्य) एवं इन्दु (चन्द्रमा) को निरुद्ध करके। अर्थात्

---

१. हठयोगप्रदीपिका (३।१२४)
२. हठयोगप्रदीपिका (४।१२)

'इड़ानाड़ी' (चन्द्रनाड़ी) एवं पिङ्गला 'पिङ्गलानाड़ी' (सूर्यनाड़ी) में प्राण के चलते प्रवाह को रोककर।

जब तक 'इड़ा' एवं 'पिङ्गला' प्राण का प्रवाह गतिशील है तब तक यह सुषम्णा में प्रवेश कर ही नहीं सकता। प्राणायाम सिद्धि से ही इड़ा-पिङ्गला में प्राण-प्रवाह को रोका जा सकता है। उस प्राण को **'सुषुम्णामार्ग'** प्रवाहित किया जा सकता है।

जब कुण्डलिनी शक्ति 'वह्निवायु' योग से प्रतप्त होकर खड़ी हो जाती है—ऋतु हो जाती है तब 'द्विपुटा' (इड़ा-पिङ्गला—इन्द्र-सूर्यनाड़ी) की मरणावस्था आ जाती है—'तदासामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया।' अर्थात् महामुद्रा, भस्रा प्राणायाम, शक्ति चालनी मुद्रा आदि के द्वारा शक्ति के जागने पर 'अर्क' एवं 'इन्दु' (सूर्य चन्द्र नाड़ी) में प्राण प्रवाह बन्द हो जाता है।

जब वायु पूर्ण रूप से सभी नाड़ियों में भर जाता है। तब कुण्डलिनी का मुख **'ब्रह्मरंध्र'** से बाहर निकलता है। वायु के पूर्णरूप नाड़ियों में भर जाने पर प्राणवायु निरन्तर सुषुम्ना में ही प्रवाहित होने लगता है।[१]

'यदा पूर्णासु सर्वासु संनिरुद्धोऽनिलस्तदा।
बन्धत्यागे कुण्डलिन्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत्।
सुषुम्नायां सदैवायं बहेत् प्राणसमीरण: ॥'[२]

नाड़ियों के शुद्ध हो जाने पर **कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरंध्र** (चित्रा नाड़ी) **का त्याग कर देती है—**

'इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्री त्यजति नान्यथा।'[३]

अन्यथा यह **ब्रह्मरंध्र में ही रहती है—**

ततस्तदन्ध्रे तच्छक्ति सुषुम्ना कुण्डली सदा।
सुषुम्नायां सदा शक्ति श्चित्रास्यान्मम वल्लभे ॥[४]

आधार पद्म में जो सुषुम्णा का छिद्र है वही 'ब्रह्मरन्ध्र' है—

'ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्ना धारमण्डले ॥'[५] (५।१३०)

---

१. शिवसंहिता (५।२८)
२. शिवसंहिता
३. शिवसंहिता
४. शिवसंहिता
५. शिवसंहिता

'चन्द्रनाड़ी' एवं 'सूर्यनाड़ी' (वामनासा-दक्षिणनासा) में प्राण संचरण रोकना ही अर्केन्दु-निरोध है—

भस्रा कुंभक का फल—

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ (३।६६)

केवल कुंभक का फल—

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशय:।
कुंभकात्कुण्डलीबोध: कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ (२।७५)
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥ (३।२)

महामुद्रा का फल—(कुण्डली ऋज्वीभूतता। इड़ापिङ्गला की मृत्यु)

'तदा सा **मरणावस्था** जायते द्विपुटाश्रया। (३।१२)

कुण्डली का जागरण—सुषुम्णा में प्राण-प्रवेश इड़ा-पिङ्गला दोनों की मृत्यु।

महावेध से भी वायु सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाती है।

(वायु: स्फुरति मध्यग:॥ (ह०यो०प्र० ३।२७)

मूलबन्ध से भी **प्राणापानैक्य** सिद्ध होता है।

'प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥' (३।६४)

'अपानप्राणयोरैक्यं—'युवाभवति वृद्धोऽपि सतत मूल बन्धनात्।' (३।६५)

'मूलबन्ध' लगोन अधोगामी **'अपान'** जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमण्डल में पहुँचता है (नाभि के अधोभाग में स्थित त्रिकोण जठराग्नि के मण्डल में प्रवेश कर जाता है) तब अपानवायु से ताडित **जठराग्नि की शिखा दीर्घ हो जाती है। फिर अग्नि एवं अपान दोनों अग्नि की दीर्घ शिखा के द्वारा** ऊष्ण बने हुए ऊर्ध्वगति प्राण में पहुँच जाते हैं। इसके कारण अपान की ऊर्ध्वगति से दीप्त अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। उसका प्रभाव कुण्डलिनी पर इस प्रकार पड़ता है—

'तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥'[१]

फिर कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी में पहुँच जाती है अत: मूलबन्धाभ्यास आवश्यक है—

'बिलं प्रविष्टेन ततो ब्रह्मनाड्यान्तरं व्रजेत् ॥' (३।६९)

---

१. हठयोगप्रदीपिका (३।६८)

(कुण्डलिनी और उसका जागरण)

जब तक समस्त नाड़ियों में प्रवाहित प्राण को अवरुद्ध करके एक मात्र सुषुम्णा में ही उसे प्रवाहित नहीं किया जाएगा तब तक साधक को ब्रह्मप्राप्ति संभव नहीं है।

प्राणायाम सम्बन्धी क्रियायें—(गौड़पादी की दृष्टि)—

(१) नाड़ियों में **प्राण सञ्चार** करना 'मरुतइहनाड़ीगण जुषो'

(२) अर्क एवं इन्दु (सूर्य चन्द्र नाड़ी) में प्रवाहित प्राणप्रवाह का **निरोध करना**—'निरुध्यार्कं सेन्दुं'

(३) **योगाग्नि प्रकट** करना—**'दहनमपि संज्वाल्य।''**

(४) अग्निशिखा को सुषुम्ना नाड़ी में मिलाना : 'सुषुम्णां संयोज्य।

(५) षट्चक्रों को भेदन करना—'षड्ग्रंथि श्लथयति'

(६) आज्ञाचक्रावस्थित चन्द्रमा में **मन का लय** कर देता है; क्योंकि आज्ञाचक्र का **चन्द्रमा ही मन का स्थान है।**

'श्लथयति षड्ग्रंथि'—मुख्यतः ग्रंथियाँ तो तीन ही मानी गई हैं और उनकी भेदन-प्रक्रिया इस प्रकार हैं—

'**रुद्रग्रंथिं** ततो भित्वा **विष्णुग्रंथि** भित्यथ।
ब्रह्मग्रन्थि च भित्वैव कमलानिभिनत्ति षट्॥'[1]

'कुण्डलिनी शक्ति' की स्थिति

वामकेश्वरतंत्रोक्त कुण्डलिनी की स्थिति इस प्रकार है—

भुजङ्गाकाररूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभाऽऽशुभा॥
मूलकन्दं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरंध्रं समाश्रिता॥
पद्मासनगतस्स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुंभकाविष्टमानसः॥

[पद्मासन। अश्वीमुद्रा। वायु का ऊर्ध्वोत्थापन। कुंभक प्राणायाम की साधना]

वाटवाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो **ज्वलन्।**
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रतो हिराट्।
रुद्रग्रंथि ततोभित्वा विष्णुग्रंथिं भिनत्यतः।।

१. क्षुरिकोपनिषद्
२. वामकेश्वरतन्त्र

(कुंभक प्राणायाम। वायु का आघात। अग्नि-ज्वलन। ज्वलनाघात। पवनाघात से कुण्डलिनी का सुप्ति-भंग) (**'रुद्रग्रंथि'** एवं **'विष्णुग्रंथि'** का भेदन)

'ब्रह्मग्रंथिं च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सा चावस्था पराज्ञेयो सैव निवृत्तिकारणम्।'

—वामकेश्वर महातन्त्र

'योग चूड़ामणि उपनिषद' के अनुसार शक्ति प्रबोधन—'योग चूड़ामणि उपनिषद् प्रसुप्त शक्ति को जगाने की प्रक्रिया इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

'मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।
प्रबुद्धा **वह्नियोगेन मनसा मरुता** सह॥'

[जागरण के साधन— (१) वह्नियोग (२) मन (३) वायु (प्राणायाम)]—

सूचिवदगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥

हठयोगप्रदीपिकाकार का मत—

(१) **कुण्डलिनी के नाम—**

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तीरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः॥(३।१०४)
उद्घाटेत्कपाटं यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥१०५॥

(२) **कुण्डलिनी की स्थिति—**

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निराभयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥

(३) **कुण्डलिनी की दृष्टि—बन्धन एवं मोक्ष—**

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्ति सुप्ता **मोक्षाय** योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥ (३।१०७)

(४) **कुण्डलिनी से मुक्ति कब ?**

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥

(५) **कुण्डलिनी-जागरण की पद्धति—**

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(६) **नाड़ियों के मध्य कुण्डलिनी का अवस्थान—**

इडा भगवती गंगा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।

(७) **कुण्डली-जागरण की पद्धति—**

पुच्छे प्रगृह्य भुजङ्गीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरुर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्॥
अवस्थिता चैव कणावतीसा
प्रपूवर्य सूर्यात्परिधानयुत्त्या।
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया॥

(८) **शक्तिजागरण में उपयोगी 'आसन' एवं कन्द-प्रपीड़न—**

सति **वज्रासने** पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।
वज्रासने स्थितो योगी **चालयित्वा च कुण्डलीम्।**
कुर्यादनन्तरं **भस्त्रां** कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥
(वज्रासन। **प्राणायाम**—भस्त्राप्राणायाम)

सूर्याकुंचन द्वारा शक्ति-प्रबोधन—

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुण्डली चालये ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः?

(नाभि में स्थित सूर्य का आकुंचन। नाभि के आकुंचन द्वारा सूर्याङ्कुचन। आकुंचन द्वारा शक्ति का चालन करें।)

(९) **सुषुम्ना में कुण्डलिनी का प्रवेश—**(साधना का समय)

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥
तस्मात्संचालनयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥(३।११९)

(१०) **शक्ति प्रबोधन एवं कालविजय—**

येन संचालिता शक्तिः सयोगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥

(११) **साधना में आहार-विहार एवं संयम—**

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलादृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्ज्ञायोगिनः॥

(१२) **कुण्डलिनी-जागरण से मृत्युञ्जयत्व प्राप्ति—**

कुण्डलीं **चालयित्वा** तु **भस्त्रां** कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः?

(१३) **मलशुद्धि और कुण्डलिनी-अभ्यास—**

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनाहते॥[१]

'षडग्रंथिं श्लथयति'—यदि 'षड्ग्रंथि' का अर्थ षट्चक्र लिया जाय तो षट्चक्र इस प्रकार है—

(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूरक चक्र (४) अनाहत चक्र (५) विशुद्धाख्य चक्र (६) आज्ञा चक्र।

चक्र और तत्त्व—

(१) **मूलाधार चक्र**—पृथ्वी तत्त्व (२) **स्वाधिष्ठान चक्र**—जल तत्त्व (३) **मणिपूर चक्र**—अग्नि तत्त्व (४) **अनाहत चक्र**—वायु तत्त्व (५) **विशुद्धाख्य चक्र**—आकाश तत्त्व (६) **आज्ञा चक्र**—मनस्तत्त्व।

जब कुण्डलिनी जग जाती है तब वह प्रत्येक चक्र का वेधन करती हुई समस्त ६ चक्रों का वेधन करके सहस्रार (सहस्रदलपद्म) में पहुँचकर अपने पति 'परमशिव' के साथ सामरस्य प्राप्त करती है।

'तवाज्ञा चक्रस्थं विलयति महायोगि समयी।'

(१) **शिवसंहिताकार की दृष्टि**—आज्ञाचक्र का स्वरूप निम्नानुसार है—

'आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देवत्र हाकिनी॥'

---

१. हठयोगप्रदीपिका

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षर बीजं विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वां नावसीदति ॥
तत्र देवःपरं तेजः सर्वतंत्रेषु मन्त्रिणः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥
तुतीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ॥
इडा हि पिङ्गला ख्याता वरणासीति होच्यते।
'वाराणसी' तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः ॥
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरंध्रं यतोऽस्ति वै।
ततश्चैषा परावृत्य तदाज्ञापद्मदक्षिणां।
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ॥

—शिवसंहिता

श्रीपूर्णानन्दयति की दृष्टि—आचार्य पूर्णानन्द ने आज्ञाचक्र का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

आज्ञानामाऽम्बुजं तद्धिमकर सदृशं ध्यानधामप्रकाशं।
हक्षाभ्यां वै कलाभ्यां परिलसितवपुर्नेत्रपत्रं सुशुभ्रम् ॥
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना।
विद्यामुद्रां कपालं डमरू जपवटीं बिभ्रमी शुद्ध चित्ता।
एतत् पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं।
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्र प्रबोधं।
वेदानामादिबीजं स्थिरतर हृदयश्चिन्तयेत् तत् क्रमेण ॥
तदन्तश्चक्रेऽस्मिन् निवसति सततं शुद्धबुद्धयन्तरात्मा।
प्रदीपाभज्योतिः प्रणवविरचना रूप वर्ण प्रकाशः।
तदूर्ध्वे चन्द्रार्द्ध स्तदुपरि विलसद् बिन्दुरूपी मकार।
स्तदूर्ध्वे नादोऽसौ जलधवल सुधाधार सन्तान हासी ॥
ज्वलद दीपाकारं तदनु च नवीना र्कबहुल
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम्।
इहस्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्णविभवो।
ऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशि**मिहिरयोर्मण्डल** इव॥
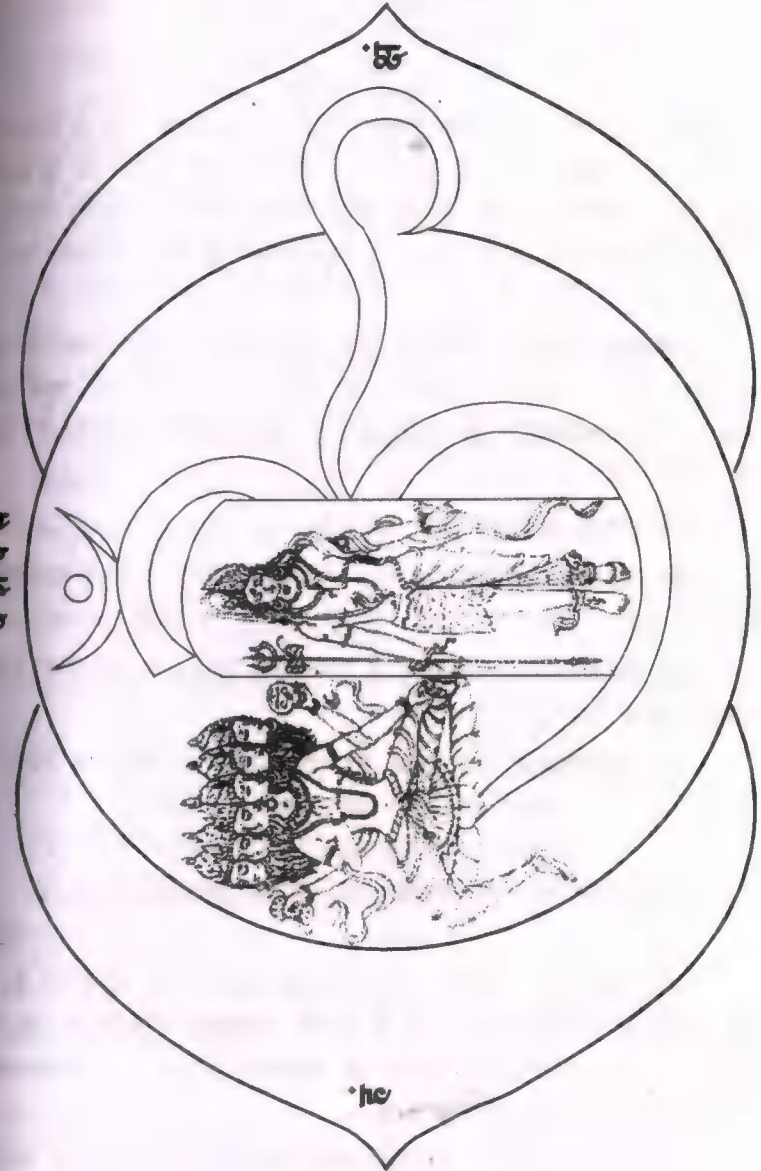
श्लोक क्रम ४ * क्षुधार्त कुण्डलिनी का चन्द्रमा को डसना *

यदा तौ चन्द्राऽर्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवण हरणे सा च भुजगी।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं।
सुधाधारा सारैः स्नापयति तनुं बैन्दवफले ॥४॥

[जब वे दोनों **'चन्द्रमा'** एवं **'सूर्य'** अपने गृह में अच्छी तरह से निरुद्ध होने के कारण अमृत-स्राव का हरण करने में असमर्थ हो जाते हैं तब वह **कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर** एवं भूख से क्रुद्ध होकर 'बैन्दव स्थान' (सहस्रार) में (जाकर) चन्द्रमा को डसती है। हे बैन्दव कला ! तू अमृत-प्रवाहों से शरीर को स्नान करा देती है।॥४॥]

सरोजिनी व्याख्या—यहाँ जिस चन्द्रमा एवं सूर्य का वर्णन किया जा रहा है वे आकाश के उदीयमान 'तारा' एवं उपग्रह नहीं है। ये **'चन्द्र'** और **'सूर्य'** मानव पिण्ड में स्थित **'चन्द्रनाड़ी'** एवं **'सूर्यनाड़ी'** या **'हठ'** (सूर्य एवं चन्द्रमा) हैं, **'प्राण'** एवं **'अपान'** हैं।

ज्योत्स्नाकार ब्रह्मानन्द गिरि की दृष्टि—

'हठ' का अर्थ एवं 'सूर्य' 'चन्द्र'—आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या, हश्च ठश्च 'हठौ' सूर्यचन्द्रौ तयोर्योगो 'हठयोगः'। एतेन **'हठशब्द'** वाच्ययो—

(क) सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरै क्यलक्षणः प्राणायामो **'हठयोग'** इति हठ योगस्य लक्षणं सिद्धम् ॥

(ख) **सिद्धसिद्धान्त पद्धतिकार की दृष्टि**—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं—

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥"
तत्प्रतिपादिका विद्या 'हठयोगविद्या' 'हठयोगशास्त्रमिति यावत् ॥

—ज्योत्स्ना

प्रश्न उठता है कि 'हठयोग' तो श्रीविद्या का विषय नहीं है 'राजयोग' है। किन्तु ऐसा कहना भी सर्वांशतः सत्य नहीं है क्योंकि **'श्रीविद्या साधना'** में यह विधान नहीं है कि साधक को अपनी **पात्रता एवं अधिकार** का ध्यान न रखकर हठयोग के सारे अंगों का त्याग कर देना चाहिए।

निम्नतम एवं मध्यम पात्रता रखने वालों के लिए वहाँ भी योग के आठ अङ्ग स्वीकृत हैं और जहाँ तक **'हठयोग'** की बात है इस साधना में—

(१) 'ह' एवं 'ठ' = 'सूर्य' एवं 'चन्द्र' एवं उसकी साधना।
(२) नाड़ी-मण्डल = नाड़ी योग
(३) षट्चक्र = षट्चक्रभेदन की साधना
(४) मुद्रा-बन्धन = मुद्रा बन्ध की साधना
(५) आसन = कतिपय आसनों (वज्रासन आदि) का आत्मीयकरण।
(६) प्राणायाम = भस्त्रिका आदि कतिपाय प्राणायामों की साधना।
(७) ग्रंथि = ग्रंथि एवं ग्रंथि-भेदन 'हठयोग' के ही अंग हैं।
(८) 'मंत्रयोग' = मंत्रसाधन
(९) 'लययोग' = मन, प्राण आदि के लय की साधना
(१०) 'राजयोग' = चित्त वृत्ति निरोध की साधना।
(११) ' ध्यानयोग' = ध्यान एवं ध्यान की साधना।
(१२) 'ज्ञान योग' = ज्ञान और ज्ञानाप्ति की साधना।

'राजयोग' श्रीविद्या साधना की मुख्य साधना है।

'राजयोग' क्या है? **'राजयोग'** = **'चित्तवृत्तिनिरोध'**।।

(१) **'राजयोगश्च** सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञात योगः ॥[१]
(२) **राजयोगपदं** प्राप्य सर्वतत्त्ववशङ्करम्।[२]
(३) चतुर्थो **राजयोगश्च** द्विधाभावविवर्जितः ॥[३]
(४) चतुर्थो **राजयोग** स्यात् स द्विधाभाववर्जितः।[४]
(५) यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु **राजयोगः** ।।[५]
(६)एक एवामरौघे हि **राजयोगाभिधानकः** ।।[६]
(७) सर्वाण्यपि तहाभ्यासे **राजयोगकलावधिः** ।।[७]

---

१. ज्योत्सना (ब्रह्मानन्दगिरि)
२. अमरौघ प्रबोध
३. अमरौघ प्रबोध
४. शिवसंहिता (५।१४)
५. अमरौघ प्रबोध (४)
६. अमरौघ प्रबोध (१७)
७. हठयोग प्रदीपिका (१।६७)
८. हठयोग प्रदीपिका (२।७६)

(८) हठं विना **राजयोगं** राजयोगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो **युग्यमानिष्पत्ते समभ्यसेत्** ।।

(इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में वायु-प्रवाह अवरुद्ध करके चन्द्र एवं सूर्य स्वरों को रोक कर के।)

'इडायां चन्द्रश्चरति। पिंगलायां रविः। तमो रुपश्चन्द्रः। रजो रूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः।।

—शाण्डिल्योपनिषद्

गोरक्षनाथ की दृष्टि—योगिराज गोरक्षनाथ ने **'योगबीज'** में 'सूर्यचन्द्रयोग' को इतना महत्व दिया है कि उसे 'योग' का ही पर्याय घोषित कर दिया है। वे कहते हैं कि **'योग'**— (क) प्राणापान के योग का योग है।

(ख) रज-रेतस के योग का योग है।

(ग) जीवात्मा और परमात्मा का योग है।

(घ) चन्द्रमा एवं सूर्य के योग का अंग है

योऽपानाप्राणयोर्योगः स्वरजोरेतसो स्तथा ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।। —(योगबीज ८९९०)

(क) प्राण एवं अपान का ऐक्य ही योग है।

(ख) रज एवं रेतस का ऐक्य ही योग है।

(ग) सूर्य एवं चन्द्र का ऐक्य ही योग है।

(घ) जीवात्मा एवं परमात्मा का ऐक्य ही योग है।

(ङ) द्वन्द्वों के समूह का संयोग ही योग है।

'प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् ।'

सूर्य एवं चन्द्र का ऐक्य

सूर्य
चन्द्र
योग
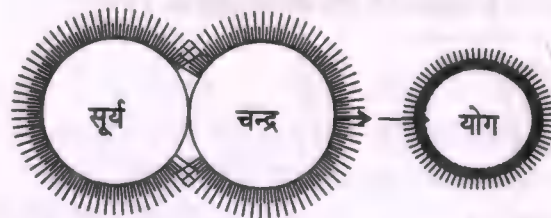
'सोम' 'सूर्य' एवं 'अग्नि' इड़ा, पिङ्गला एवं सुषुम्ना नाड़ियों के अधिष्ठाता हैं। जब तीनों नाड़ियों की वायु एक हो जाती है तब मोक्ष की प्राप्ति एवं 'सूर्य'-'चन्द्र' की मृत्यु होती है—

'सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते **चामृताय** वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेच्येत् ।।'

शास्त्रों में कहा गया है कि **'चन्द्रमा'** अमृत-स्राव करता है; किन्तु नीचे **'सूर्य'** पी जाता है—

'यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ।।'

—हठयोग प्रदीपिका

'महावेध' के परिणामस्वरूप सुषुम्ना नाड़ी में वायु का संचार होने लगता है और फिर चन्द्रमा-सूर्य एवं अग्नि ये तीनों नाड़ियों की वायु एक हो जाती है अर्थात् इड़ा-पिङ्गला में वायु-संचार बन्द हो जाता है। अतः उनकी मृतावस्था उत्पन्न हो जाती है।[१] सोम-सूर्य-अग्नि तीनों का संयोग अमृतत्व प्रदान करता है—

सोम (इड़ा)
सूर्य (पिङ्गला)
अग्नि (सुषुम्ना)
सोम, सूर्य एवं अग्नि का एकीकरण (सुषुम्णा में वायु प्रवेश)
महावेध
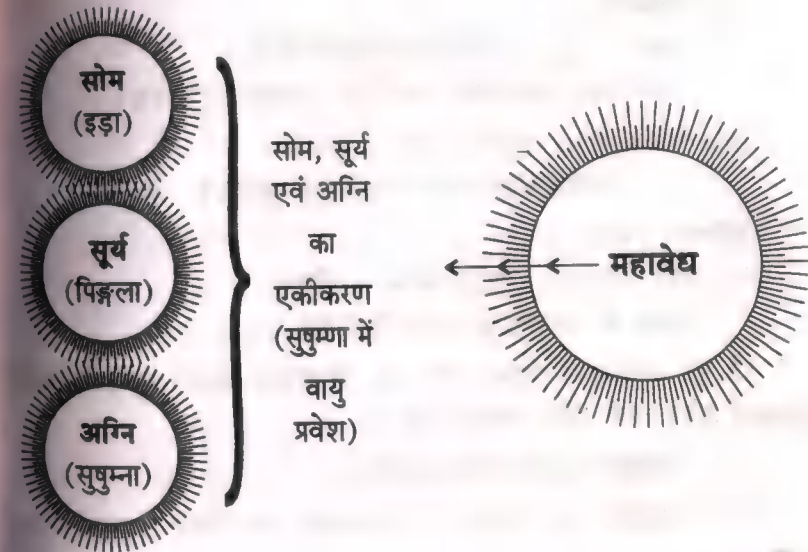
'सोमश्चसूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्नि शब्दैस्तदधिष्ठिता नाडय **इडापिङ्गलासुषुम्ना** ग्राह्या ----------- **तेषां** सम्बन्धः अमृताय मोक्षाय जायते।।'

—ज्योत्स्ना (३।२८)

१. सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्न ततो वायुं विरेचयेत् ।। (३।३८)

महावेध—'अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलुमहाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः॥' (२।२३)

कुंभक करके (पूरक द्वारा अन्दर वायु भरकर) कण्ठ मुद्रा (जालन्धर बन्ध) लगाकर वायु ऊर्ध्वाकर्षण आदि क्रियाओं वाले इस **'महावेध'** से वायु सुषुम्णा में पहुँच जाती है—

'पुटद्वयमतिक्रम्यवायुः स्फुरति मध्यगः' (३।२७)

(पुटद्वय का त्याग करके = इड़ापिङ्गला में वायु-प्रवाह बन्द करके)

'पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति —('ज्योत्स्ना')

'पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरतिमध्यगः॥' (३।२७)

'महामुद्रा'—कुण्डलिनी का जागरण—

(क) **महाबन्ध =**
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः।
अयं खलु **महाबन्धो** महासिद्धि प्रदायकः॥(३।२३)

(ख) **'महामुद्रा'** = जालन्धर बन्ध + मूलबन्ध
'कण्ठे बन्धं समरोप्य धारयेद्वायु मूर्ध्वतः।

परिणाम (फल)—

(१) यथा दण्डहतः सर्पोदण्डकारः भवेत्।
वतदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया॥[१]

(द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुण्डलीबोधेसति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥)

(क) **'महामुद्रा'**—कुण्डलिनी-जागरण।

(ख) **'महावेध**—इड़ा-पिङ्गला में वायु-प्रवाह बन्द होकर सुषुम्णा में वायु संचार॥

सोमसूर्याग्नि सम्बंधो जायते चामृताय च।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्॥(३।२८)

(ग) **'उड्डीयान बन्ध'**—(हठ० ३।५५)
'बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥'

१. हठयोग प्रदीपिका (३।१२)

'ब्रह्मद्वार' (सुषुम्णा के मुख) को अपने मुख से बन्द करके सोती हुई) कुण्डलिनी को जगाने के लिए मुद्राभ्यास आवश्यक है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥
—(हठयोग० ३।५)

(मुख्यतः १० मुद्रायें हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन।)

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा **सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च**॥ —(हठयोग ३।२)
प्राणस्य शून्यपदवी (सुषुम्ना) तथा राजपथायते।
तदा **चित्तं निरालम्ब** तदा **कालस्य वञ्चनम्**॥—(३।३)

(घ) **'मूलबन्ध'**—

(१) अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ (३।६१)

(२) अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्भूतबन्धं हि योगिनः॥ (३।६२)

(३) प्राणपनौ नाद बिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्। (३।६४)

(४) अपान प्राणायोरैक्यं..................)३।६५)

(५) अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता॥ (३।६६))

(६) ततो यातो वह्नयपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्त प्रदीपप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥

(७) तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋतुतां व्रजेत्॥

(८) बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडयन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यः मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥ (३।६९)

(९) **'जालन्धर बन्ध'**—
यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणाः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥(३।७७)

(१०) **'विपरीतकरणी—**

'ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी'। (३।६९)

आसन—

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादिनन्तरं भ्रस्त्रां कुण्डली माशु बोधयेत्॥
भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्यमृत्युभयं कुतः॥(३।११६)
मुहूर्तद्वय पर्यन्त निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वद्वयपर्यन्त किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायांमुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः॥(३।१२२)
कुम्भाकात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्॥(२।७५)

श्लोक क्रमांक ५– ■ भगवती का चन्द्रकलात्मक 'परकला' का स्वरूप' ■

"पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः।
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति।
ततो मया विद्या तदनु च महेशः शिव इति।
परं तत्त्वातीतं मिलित वपुरिन्दोः पर कला॥५॥"

[(हे भगवती) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश तथा उनकी प्रकृति रूप तन्मात्राओं (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध), दस इन्द्रियाँ, मनस्तत्त्व, माया तत्त्व, विद्या तत्त्व, महेश, एवं शिव—इन सभी से परे स्थित तत्त्वातीत सत्ता में विलीन होकर तू चन्द्रमा की परकला के रूप में शेष रह जाती है॥५॥]

सरोजनि व्याख्या—मूलाधार चक्र में अनादिकाल से सुषुप्त कुण्डलिनी शक्ति जब जागृत होती है तब मूलाधार में न रहकर सभी चक्रों का वेधन करती हुई अपने परस्वरूप में लयीभूत हो जाती है।

उसकी यह यात्रा मूलाधारचक्र से प्रारम्भ होकर 'सहस्रार' तक चलती है। शक्ति की सुषुप्ति तो **'मूलाधार चक्र'** में है; किन्तु उसकी महाजागृति **'सहस्रार'** में है।

काश्मीरीय शैव-शाक्त तन्त्र के तत्त्व
(शैव दृष्टि)

(१) तत्त्वातीत = परासंवित (निर्गुण ब्रह्म। परमशिव)

(२) अभेद भूमिका — (१) शिव (प्रकाश) (प्रथम तत्त्व) — (२) शक्ति (विमर्श) (द्वितीय तत्त्व)

(३) भेदाभेद भूमिका —→ सदाशिव — तीसरा तत्त्व

(ख) भेदाभेद भूमिका —→ ईश्वर महेश्वर — चौथा तत्त्व

(ग) भेदाभेद भूमिका —→ विद्या — पाँचवा तत्त्व

(४) भेदाभेद भूमिका —→ माया — छठवाँ तत्त्व ('परमेश्वर की 'स्वातंत्र्य शक्ति')

→ ('पञ्चकञ्चुक' 'प्रकृति' 'पुरुष' 'अन्तःकरण चतुष्टय' 'पञ्चतन्मात्रायें' १० इन्द्रियाँ, ५ तत्त्व)
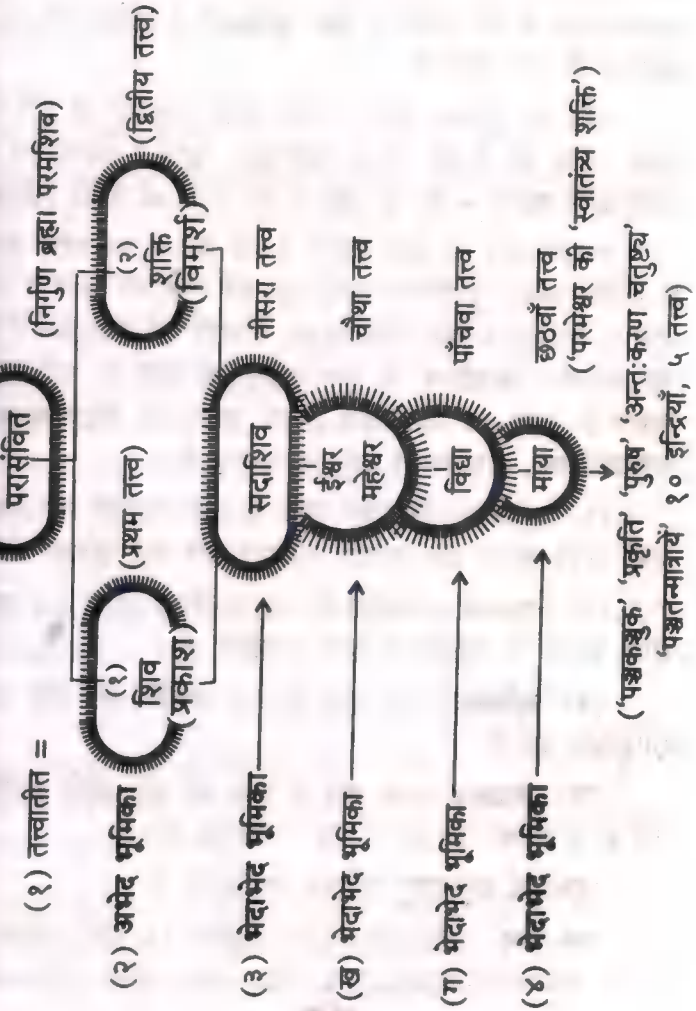
'शक्ति' के तीन प्रधान कार्य हैं—

(१) **'सृष्टि'**—इसका सम्बंध 'सृष्टिक्रम' से है। अवरोहक्रम।

(२) 'पालन' —

(३) **'संहार'**—इसका सम्बन्ध 'लयक्रम' से है। आरोह क्रम। 'सहस्रार' से कूलाधार चक्र की ओर शक्ति की यात्रा **'सृष्टिक्रम'** है क्योंकि शक्ति की अवरोहात्मक क्रिया से ही सृष्टि होती है।

शक्ति का 'मूलाधार चक्र' से ऊपर उठकर 'सहस्रार' की ओर यात्रा करना ही उसका आरोह क्रम है और उसे ही **'संहारक्रम'** कहते हैं क्योंकि इस क्रम में 'कार्य' अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं और प्रलय की स्थिति निर्मित हो जाती है।

जब भी तत्त्वों का अपने कारण में लय होता है तब सदैव संहारोन्मुख क्रिया ही माननी चाहिए। कुण्डलिनी शक्ति चक्रों एवं तत्त्वों को अपने में लयीभूत करके, अन्त में, वह (कुण्डलिनी) शक्ति सहस्रार में अपने परा संवित् रूप में लयीभूत होकर वहाँ समासीन **'परमशिव'** के साथ एकीभूत हो जाती है। यही शक्ति का यथार्थ स्वरूप है। शक्ति का यह यथार्थ स्वरूप चन्द्रमा की **षोडशीकला, अमाकला, सप्तदशीकला, अमृताकला** आदि कहा जाता है।

(१) **सृष्टिक्रम**—शिव एवं शक्ति से लेकर पञ्चभूतों तक समस्त तत्त्वों का अपने अपने कारणों द्वारा लगातार आविर्भूत होते जाने सृष्टिक्रम है।

(२) **'लयक्रम'**—पञ्चभूतों से लेकर ऊर्ध्ववर्ती समस्त ३६ तत्त्वों का अपने-अपने कारणों में लयीभूत हो जाना **'लयक्रम'** है।

(क) **'सृष्टिक्रम'**—यह ऊपर से नीचे अवतरित होते जाने का क्रम है। यह सृष्टयुन्मुख क्रम है।

(ख) **'लयक्रम'**—यह नीचे से ऊपर की ओर अपने कारणों में कार्यों के लयीभूत होते जाने का क्रम है। यह प्रलयोन्मुख क्रम है।

'एकोऽहं बहुस्याम्' सृष्टिक्रम का उद्घोष है।

लय-क्रम—पृथ्वी-जल-तेज-पवन-आकाश (५ तत्त्व) तन्मात्रा (५), इन्द्रियाँ (१०), अन्तःकरण चतुष्टय, माया, विद्या, महेश, शिव, शक्ति—परमशिव॥

(सभी तत्त्वों का अपने ऊर्ध्ववर्ती कारण में लय)॥

तत्त्वों के लय का कारण—जब कुण्डलिनी शक्ति चक्रों का वेध करती है तब तत्त्वों का लय होता है।

(१) **पृथ्वीतत्त्व** [क] **'मूलाधार चक्र'** तत्त्वों का लय के वेध से पृथ्वी तत्त्व का लय होता है क्योंकि मूलाधार चक्र पृथ्वी तत्त्वात्मक है।

(२) **जलतत्त्व** [ख] **'स्वाधिष्ठानचक्र'** के वेध से **जल तत्त्व का लय** होता है क्योंकि स्वाधिष्ठान चक्र जलतत्त्वात्मक है।

(३) **अग्नितत्त्व** [ग] **'मणिपूरक चक्र'** के वेध से **अग्नितत्त्व का लय** होता है क्योंकि मणिपूरकचक्र अग्नितत्त्वात्मक चक्र है।

(४) **वायुतत्त्व** [घ] **'अनाहतचक्र'** के वेध से **वायु तत्त्व का लय** होता है; क्योंकि अनाहत चक्र वायुतत्त्वात्मक चक्र है।

(५) **आकाशतत्त्व** [ङ] **'विशुद्धचक्र'** के वेध से **आकाशतत्त्व का लय** हो जाता है; क्योंकि विशुद्ध चक्र आकाशतत्त्वात्मक चक्र है।

(६) **मनस्तत्व** [च] **'आज्ञाचक्र'** के वेध से ५ तन्मात्राओं, १० इन्द्रियों, बुद्धि का 'अहंकार' में लय हो जाता है।

'आज्ञाचक्र' = मनस्तत्त्व का चक्र है।

५ तन्मात्राएँ, १० इन्द्रियाँ, बुद्ध, अहङ्कार आदि सभी का सम्बंध 'मन' से है। मन के लय से तो उन सभी का लय हो जाता है।

(७) **'आज्ञाचक्र'** के ऊपर कुण्डलिनी के आहोरण से शेष समस्त तत्त्वों का लय हो जाता है।

* **विषयदशकं मानसमिति'** (गौड़पाद/शलोक/ ५ सु० स्तुति) **मानसमिति** अन्तःकरणचतुष्ट्य अर्थात् ४ करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)

*** ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिव इतः ***

(सु० स्तुति/श्लोक ५/गौड़पाद)

यहाँ यथाक्रम लय प्रक्रिया बताई गई है अर्थात् पहले 'माया' फिर 'विद्या' फिर 'महेश' फिर 'शिव' का लय होता है।

जिन ३६ तत्त्वों की ओर गौड़पाद ने संकेत किया है उनका स्वरूप इस प्रकार है—

'पृथिव्या पस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः।
स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति।
ततो माया, विद्या तदनु च महेशः शिवः इतः।
परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः परकला॥' (५)

—सुभगोदय स्तुति

समस्त जगत प्रमाता-प्रमेय रूप है।

'आधिदैविक दुःख' (देवोत्पन्न दुःख)

(१) सत्य प्रमाता पर प्रमाता = **शिव** (शिवभट्टारक)

(२) सदाशिवतत्त्वा-वस्थित प्रमाता= **'मन्त्रमहेश्वर'** (अणु सदाशिव)

(३) ईश्वरतत्त्वा-वस्थित प्रमाता = **'मन्त्रेश्वर'** (८ वर्ग)

(४) शुद्धविद्यातत्वाव-स्थितप्रमाता = **'मन्त्र'** (७ करोड़)

(५) शुद्धविद्या से नीचे और माया से ऊपर स्थित प्रमाता **'विज्ञानफल'**

(६) माया तत्त्वावस्थित प्रमाता = 'प्रलयाफल' या **'प्रलयकेवली'** या **'शून्यप्रमाता'**

(७) माया प्रमाता परिमित प्रमाता, संकुचित प्रमाता = 'स क ल'' (जीव)
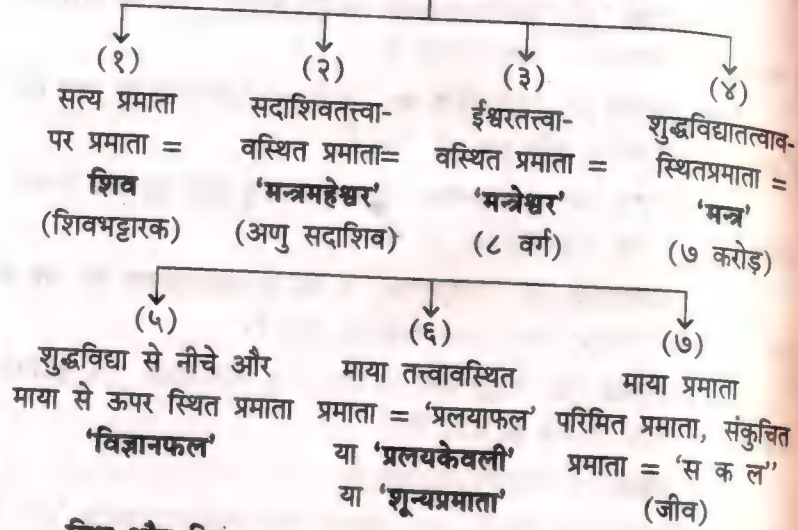
विश्व और शिव—

(१) श्री परमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं **'विश्वं'** (श्री परमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में विश्व को धारण किए हुए हैं।) * शिव और विश्व अभिन्न हैं। *

(२) 'एवं भगवान विश्वशरीरः' (भगवान विश्व रूप शरीर वाले हैं।) 'विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव' (प्रत्यभिज्ञा हृदयम् : आचार्य क्षेमराज)॥

(३) 'न सावस्था न यः शिवः' (स्पन्दकारिका)

(४) 'षट्त्रिंशदात्मकं विश्वं''

३६ तत्त्वों की समष्टि की आख्या ही विश्व है।

(१) 'परमशिव' = शुद्ध अद्वैत की तत्वातीतावस्था ही परम शिव है। यह न तो **'शिव'** ही कहा जा सकता है और न तो **'शक्ति'** ही। न इसे **'विश्वोतीर्ण'** ही कह सकते हैं और न तो **'विश्वमय'** ही।

विज्ञानभैरव में प्रतिपादित दृष्टि—विज्ञान भैरव में ऐसे परतम तत्त्व के विषय में कहा गया है कि—

'तत्त्वतो न नवात्मासौ शब्दराशिर्न भैरवः।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः।

दिक्कालफलनोन्मुक्ता देशोद्देशा विशेषिणी।
व्यपदेष्टुमशक्यासावकथ्या परमार्थतः।
अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तं गोचरा।
यावस्था मरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः॥'

—विज्ञान भैरव (का० ११-१२)

यह सामरस्य की एक ऐसी परमस्थिति है जिसमें 'शक्ति' एवं 'शक्तिमान' शब्दों की कल्पना नहीं की जा सकती। यह अकथ्य है। यह 'अन्तःस्वानन्दगोचर' मात्र है।

जिस प्रकार अनन्त पत्रों, पुष्पों, शाखाओं वाला वटवृक्ष अपनी बीजावस्था में स्थित रहने पर अपने बीज में पूर्णसामरस्य भाव से सम्पूर्ण वृक्ष को अवस्थित रखता है उसी प्रकार छत्तीस तत्त्व भी समरसता के साथ 'परमशिव' में अन्तर्निहित रहते हैं।

(१) **शिवतत्त्व—**

'यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत् स्रष्टुं।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥'[१]

(२) **सदाशिवतत्त्व—**

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः **सदाशिवो**ऽभिहितः॥

(३) **ईश्वर तत्त्व—**

'विश्वंपश्चात्पश्यन्निदन्तया निखिल**भीश्वरो** जातः॥'

(४) **शुद्धविद्या तत्त्व—**

'सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः॥'

(५) **माया तत्त्व—**

'माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषुनिखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलैव वारिधिं रुन्धे॥'

(६) **कला तत्त्व—**

'तत्सर्वकर्तृता सा सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित् कर्तारममुं फलयन्ती कीर्त्यते **कला** नाम॥'

(७) **विद्या तत्त्व—**

'सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती **विद्येति** निगद्यते बुधैराद्यैः॥'

---

१. षट्त्रिंशतत्वसन्दोह

(८) **राग तत्त्व—**

'नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं **रागतत्त्वतां** याता॥'

(९) **काल तत्त्व—**

'सा नित्यताऽस्य शर्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियति परिच्छेदकरी क्लृप्तास्यात् **कालतत्त्वरूपेण**॥'

(१०) **नियति तत्त्व—**

'याऽस्य स्वतंत्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्वशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः॥'

(११) **प्रकृति तत्त्व—**

'इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्ताऽस्य सङ्कुचद्रूपा।
सङ्कलितेच्छाद्यात्मक सत्वादिक साम्यरूपिणी तु सती।
बुद्ध्यादि सामरस्य स्वरूपचित्तात्मिका मता **प्रकृतिः**।'

इसी प्रकार अन्य तत्त्वों का भी अपना स्वतंत्र स्वरूप है किन्तु ये सभी मायापरवर्ती तत्त्व मायान्तर्गत ही हैं।[1]

आचार्य गौड़पाद ने जो लयक्रम पर प्रकाश डाला है तदनुसार—

(१) **'मायातत्त्व'** शुद्ध विद्या में लयीभूत हो जाता है।

(२) **'शुद्धविद्यातत्त्व'** ईश्वरतत्त्व में लय हो जाता है।

(३) **'ईश्वरतत्त्व'** सदाशिव तत्त्व में लय हो जाता है।

(४) **'सदाशिवतत्त्व'** शिवतत्त्व में लय हो जाता है।

आचार्य गौड़पाद का 'महेश' शब्द—[2]

(क) शिव एवं (ख) शक्ति दोनों का बोधक है। इन समस्त तत्त्वों का अतिक्रमण करके वह परा शक्ति अपने **'परासंवित्'** रूप में मिलकर चन्द्रमा की **'परकला' (सप्तदशी अमृता कला) के रूप** में स्थित रहती है।

'सहस्रार' (सहस्रदलपद्म = वियच्चक्र) ही परमशिव का स्थान है—

'मूलाधारादि षट् चक्रं **शक्तिस्थानमुदीरितम्**।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं **शाम्भवंस्थान** मुच्यते॥'

—वराहोपनिषद्

१. षट्त्रिंशतत्त्व सन्दोह
२. सुभगोदय स्तुति

वराहोपनिषद् में यह भी कहा गया है कि—

(१) ॐकार से श्रीबीज तक श्रीविद्या के १७ अक्षर हैं अर्थात् सप्तदशीकला **'परकला'** है।[1]

आचार्य गौड़पाद ने **'चन्द्रमा की परकला'** ('मिलितवपुरिन्दोः परकला'') वाक्यांश प्रयुक्त करके **'सप्तदशीकला'** की ओर संकेत किया है।

श्लोक क्र० ६ * श्री भगवती कुण्डलिनी की विविध अवस्थायें *

कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिद परा,
कुलं त्यक्त्वा रौति स्फुटति च महाकाल भुजगी।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाश कमले
सुखासीना योषा भवसि भवसीत्कार रसिका॥६॥

[जो **'कुमारी'** (कुमारी कुण्डलिनी) के रूप में मन्द-मन्द स्वर में ध्वनि करती है और (जो) बाद में अनुपमेया **'युवती'** की भाँति कुल (पितृगृह) का त्याग करके (प्रियजन के वियोग में) रोती है (वही) महाकालस्वरूपा, महासर्पिणी महाकुण्डलिनी शक्ति स्फुटित हो उठती है (जागृत हो उठती है)। उसके बाद वह दहराकाश पद्म में पातिव्रत धर्म का निष्पादन (निर्वहन) करती है। (उसी दहराकाश में) सुखपूर्वक समीसीन एक नवयुवती के रूप में तुम (भगवती) भगवान शिव के सीत्कार का आनन्द लेती हो॥६॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—यहाँ आचार्य गौड़पाद ने भगवती कुण्डलिनी की तीन अवस्थाओं पर प्रकाश डाला है—

(१) भगवती कुण्डलिनी की **कौमार्यावस्था।**

(२) भगवती कुण्डलिनी की **युवावस्था** एवं

(३) उनकी **पतिव्रतावस्था**।

(क) **'कुमारी** यन्मन्द्रं' = कुमारी-अवस्था।
(ख) 'ततो **योषिद्** परा' = युवती-अवस्था।
(ग) ततः **पातिव्रत्यं** भजति = पतिव्रता-अवस्था।

• तैत्तिरीय आरण्यक में प्रतिपादित समतुल्य दृष्टि •

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक के सत्ताईसवें अनुवाक् में एक ऋचा आई है—

१. प्रणावेन समुत्थाय श्रीबीजेन निवर्तयेत्।
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेत् अमृतप्लावनं ततः॥ —वराहोपनिषद्

'यत्कुमारी मन्द्रयते **यद्योषित्पतिव्रता**।
अरिष्ट यत्किंच क्रियते, अग्निस्तदुनवेधति ।।'

कुण्डलिनी की विभिन्न अवस्थायें

(१)
(मूलाधार चक्र में)
* कुमारी अवस्था *

(२)
(अनाहत चक्र में)
जाग्रत कुण्डलिनी का मूलाधार से उठकर अनाहत तक जाने } 'युवती अवस्था'

(१)
मूलाधार में सुषुप्त कुण्डलिनी सुप्तोत्थित **कुमारी अवस्था**

(२)
एवं अनाहत चक्र में स्थित होने की अवस्था = **युवती की अवस्था**

(३)
सहस्रदल में स्थिति की अवस्था = **पतिव्रता पत्नी** की अवस्था
(शिव से सहस्रार में मिलने पर कुण्डलिनी की अवस्था)
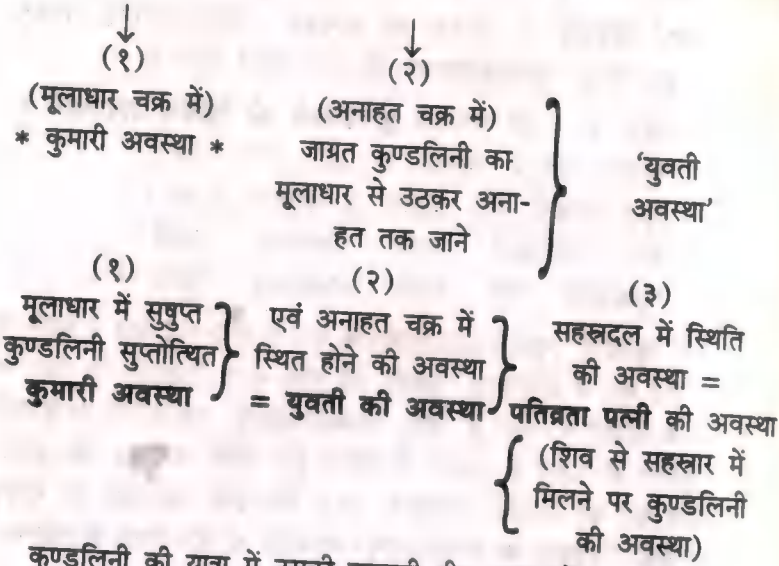
कुण्डलिनी की यात्रा में उसकी बदलती तीन अवस्थायें—

प्रथमावस्था (१) **सुषुप्ति अवस्था** = 'कुमारी' कुण्डलिनी की अवस्था आधार कमल में स्थित कुण्डलिनी की कुमारी अवस्था।

द्वितीयावस्था (२) **जागृति** (कुण्डल्योत्थापन या शक्ति जागरण की अवस्था } अनाहत चक्र में 'युवती की अवस्था'

तृतीयावस्था (३) कुण्डलिनी के जागृत होकर ऊर्ध्वारोहरण करने एवं सहस्रार में जाने तथा शिव से सामरस्य प्राप्त करने की अवस्था } **'पतिव्रता'** की **अवस्था**।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—

आचार्य लक्ष्मीधर—'यत्कुमारी---------------अनुवेधति' (तै० आ०) नामक ऋचा की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

(१) "कुण्डलिनीशक्तेरवस्थात्रयं विद्यते।"

(२) 'यद्यस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं प्रथमं **सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रस्वरं करोति।।'**

भगवती कुण्डलिनी अक्षरात्मिकाद्ध शब्दात्मिका, नादात्मा, वर्णमालास्वरूपा एवं शब्दब्राह्म है। वही 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं वैखरी भी है। समस्त ध्वनियाँ, समस्त वर्ण, समस्त अक्षर भगवती के ही अपने रूप हैं।

'वर्णकुण्डलिनी' वर्णात्मिका, नादात्मा, शब्दब्रह्मस्वरूपा एवं वर्णशरीरी कुण्डलिनी

*** वर्णस्वरूप भगवती कुण्डलिनी ***

२८ विद्यायें
१० नाद
वेद-चतुष्टय
षट्-चक्र
समस्त शास्त्र समस्त वाङ्मय
समस्त सृष्टि स्थिति संहार
३३ कोटि देवता
वाणी-चतुष्टय
१४ भुवन
३ लोक
सृष्टि/स्थिति/संहार
सुषुम्णा नाड़ी
'विशुद्धि चक्र'
'अनाहत चक्र'
'मणिपूर चक्र'
'स्वाधिष्ठान चक्र'
मूलाधार चक्र एवं भगवती त्रिपुर भैरवी का स्थान
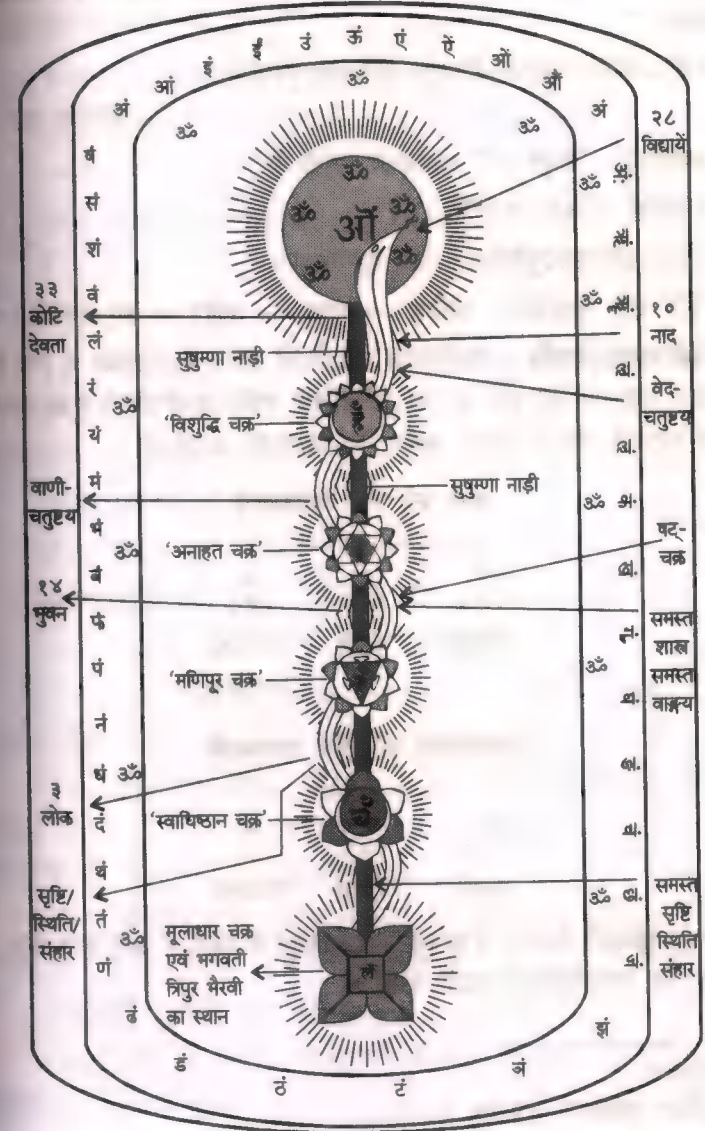
(३) "सर्वो हि सुप्तोत्थाने मन्द्रस्वर करोति, तद्वदित्यर्थः।।'

(४) "**यद्योषित्** यस्मिन् चक्रे कुलयोषित् विष्णुग्रंथि पयन्त गत्वा रातीति शेषः।'

'कुलयोषित् कुलंत्यक्त्वा रातिविष्णोः प्रभेदने ।।'[१]

(५) "यत् यस्मिन् चक्र **पतिव्रता** पत्या सदाशिवेन सार्धं **सहस्रदलकमले** विहरमाणा।।"[२]

(क) 'अरिष्टं यत्किच क्रियते। अग्निस्तदनुवेधति।।'

—तैत्तिरीय आरण्यक

लक्ष्मीधर—'अमृत का' आस्वादन करती है'

('अरिष्टं यत्किञ्च क्रियते')

(क) 'अग्निस्तदनुवेधति'—तै० आरण्यक ।।

'रिष्टं क्षेमे शुभाभावे'। **'अरिष्ट'** = शुभा — अरिष्ट = अमृतास्वाद।

अग्निस्तदनुवेधति = स्वाधिष्ठान चक्र में जो अग्नि है—उसका ३ वेध होना। स्वाधिष्ठान् चक्र का वेध होने पर जब कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगामिनी हुआ करती है तब वह सहस्रार चक्र में जाकर अमृत का आस्वादन करती है।

नारी की तीन अवस्थायें

(१) बालिका — (२) युवती — (३) पतिव्रता (विवाहिता)

कुण्डलिनी की तीन अवस्थायें

(१) कुमारी — (२) योषित — (३) पतिव्रता
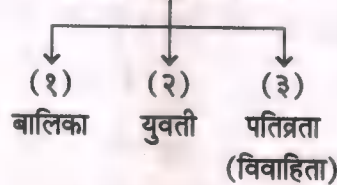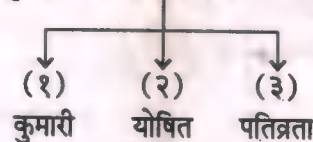
(१) **कुमारी** के रूप में **कुण्डलिनी** कुलगृह में रहती है और मन्द-मन्द स्वर (परावाक् का अव्यक्तालाप) करती रहती है।

१. सनत्कुमार

२. लक्ष्मीधर 'लक्ष्मीधरा' (श्लोक ११)

(२) **युवती** के रूप में **कुण्डलिनी** मूलाधार का त्याग करके सहस्रारोन्मुख यात्रा करती है। मातृगृह का त्याग करके रोती है। **हत्कमल** में आकर पतिपरायणा हो जाती है और शिव-सम्मिलन के आनन्द में निमग्न हो जाती है।

(३) **'सहस्रार'** में पहुँचकर कुण्डलिनी पतिगृह में पहुँचकर पूर्णतः पतिव्रता (परमशिव में लीन) हो जाती है। शक्ति की परमशिव में यह संलीनता ही **शिवशक्तिमैथुन** है।

हृदयाकाश तो उसके मार्ग का विश्राम स्थान भाग है।

(४) मूलाधार में कुण्डलिनी की भाषा (वाणी)

—परावाक् = सूक्ष्मतम नाद।।

(यहाँ शक्ति परावाक्रूपा के रूप में रहती है।)

(५) मूलाधार से अनाहत तक शक्ति = **'पश्यन्ती'** एवं **'मध्यमा'** वाक् के रूप में रहती है।

(६) **'विशुद्धचक्र'** में आने पर कुण्डलिनी वैखरी वाणी का रूप धारण करती है। यहाँ वैखरी रूप में नाद का विस्फोट होता है। नाद **'सहस्रार'** में जाकर महाकारण रूप **परमबिन्दु** में लयीभूत हो जाता है।

शक्तिपात के तीन स्वर हैं—

(१) 'मन्द', (२) 'तीव्र', (३) 'तीव्रतर'।

कुण्डलिनी शक्ति के उत्थान के तीन स्वर हैं—

(१) 'कुमारी' (२) 'युवती' (३) 'पतिव्रता'

(१) **'मन्द शक्तिपात'**—साधक का शनैः शनै अग्रसर होना एवं चक्रों का क्रमशः वेध होना।

(२) **'तीव्र शक्तिपात'**—कुण्डलिनी का जागृत होकर अनाहत चक्र का वेध होना, साधक का निरस्तसंशय होना एवं ब्रह्मप्राप्तयर्थ आतुरतापूर्वक साधक की संलग्नता ही तीव्र शक्तिपात का लक्षण है।

(३) **'तीव्रतर शक्तिपात'**—साधक की तत्काल ज्ञानप्राप्ति, शांभवी दीक्षा, शक्ति का सहस्रारस्य परमशिव में लय ही तीव्रतर शक्तिपांत का लक्षण है।

'सुखासीना योषा' (श्लोक ६)—

कुण्डलिनी में पहुँचने पर कुण्डलिनी निष्क्रिय होकर शान्तिपूर्वक स्थित हो जाती है।

अर्थ—(१) पत्नी पतिगृह में जाने पर सुखपूर्वक वहीं स्थिर हो जाती है। उसके सारे मनोद्वेग, द्वन्द्व, समीहा, कल्पनायें शान्त हो जाती हैं।

(२) कुण्डलिनी के 'सहस्रार' में पहुँचने पर उसकी दिदृक्षा, मिलन औत्सुक्य, विरहताप एवं उद्विग्नता सभी मिट जाती हैं।

(३) यहाँ की स्थिति में साधक का मन निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है। और समुद्रतुल्य स्थैर्य एवं शान्ति आ जाती है।

'अग्निस्तदनुवेधति' (तैत्तिरीय आ०)

स्वाधिष्ठान चक्र का वेध होने पर जब कुण्डलिनी ऊर्ध्वपथ में आगे बढ़ती है तब 'सहस्रार' में अमृत का आस्वादन करती है—

'अनुवेधति' = सहायता करती है। लक्ष्मीधर कहते हैं—'वायुना अग्निं प्रज्वाल्य अग्निशिखानुविद्ध विलीन चन्द्रमण्डलगलत्पीयूषधारानुभवे पञ्चविंश तितत्त्वातीता परमेश्वरी इति ज्ञातुं सुशुकम् इति उपदेशः॥'[१]

आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य शंकर ने 'प्रपञ्चसार तन्त्र' एवं 'सौन्दर्य लहरी' में अपने परम गुरु गौड़पादाचार्य की दृष्टि को ही स्वीकार किया है।

आचार्य शंकर कहते हैं—

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः।
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ **रुरुदिषोरस्य** जन्तोः सुषुम्नाः।
बद्धस्तस्माद् भवति पवन प्रेरितो वर्णसंघः॥'[२]

तुलना कीजिए—

(१) **गौड़पादाचार्य** कहते हैं—

कुल त्यक्त्वा **रौति**
स्फुटति च महाकाल भजगी॥६॥

(२) **शङ्कराचार्य** कहते हैं—

'वक्त्रे वैखर्यथ **रुरुदिषोरस्य** जन्तोः सुषुम्ना।'

(३) **आचार्य पद्मपादः** ('प्रपञ्चसार विवरण' में) कहते हैं—

'जातेन शिशुना रोदन व्याजेन एवं किमप्युच्यते चेत् कथं वर्णानभिव्यक्तिरिति॥'[३]

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ११)
२. प्रपञ्चसारतन्त्र (२।४३)
३. प्रपञ्चसार विवरण (द्वि० पटल, श्लोक २।४४)

(४) प्रयोगक्रमदीपिका

'रोदन व्याजेनेति। स्वावस्थाकं द्योतकं शब्दरूपमेतदिति स्थितौ रोदनध्वनितदुपाधि मात्रमेव स्यादिति भावः॥

*** श्लोक क्रमांक ७ ***

(वर्ण्य विषय—) * **कुलगृह** [भगवती का राजसौध] *

'त्रिकोणा' ते **कौलाः** कुलगृहमिति प्राहुपरे।
'चतुष्कोणा' प्राहुः **समयिन** इमे **बैन्दवमिति**॥
सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो।
रगम्ये रश्मीनां समयरहिते त्वं विहरसे॥७॥[१]

[**अर्थ**—हे भगवती ! दूसरे (अर्थात् कौलाचार सम्प्रदाय वाले) **'त्रिकोण'** को ही तेरा **'कुलगृह'** कहते हैं और ये हम लोग (अर्थात् **'समयाचार'** सम्प्रदाय वाले) **'चतुष्कोण'** को—जो कि **'बैन्दवस्थान'** है, तेरा कुलगृह कहते हैं (अर्थात् हम चतुष्कोण को ही तेरा कुलगृह मानते हैं। उस 'सुधासिन्धु' (अर्थात् तेरे कुलगृह) में, जो कि देवमणियों से निर्मित है और जिसमें सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं, तू 'समय' (परमशिव) के साथ विहार किया करती है।॥७॥]

सरोजिनी व्याख्या—'समय' = शिव।

भगवती के 'कुलगृह' के विषय में विभिन्न साम्प्रदायिक दृष्टियाँ

(१) कौलसम्प्रदाय	(२) समयाचारसम्प्रदाय
* **'त्रिकोण'** *	* **'चतुष्कोण'** * (बैन्दवगृह)
(कौलमत)	(समयमत)
(कुलगृह)	'बैन्दवगृह' = 'सुधासिन्धु'
	(कुलागृह)

आचार्य शंकर भी परमगुरु 'सुधासिन्धु', 'मणिगृह' का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते,
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।

---

१. **पाठान्तर** 'सुधासिन्धोस्तस्मिन्। विहरसि॥
'अगम्ये रश्मीनां' क्यों कहा? उपनिषदों में कहा गया है—न तत्र सूर्योमति।

शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्क निलयां,
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ।।'[१]

कौलमतानुसार 'श्रीचक्र' में ९ त्रिकोण होते हैं जो योनियाँ कहलाती हैं। इन ९ त्रिकोणों में से ५ शक्ति त्रिकोण नीचे की ओर मुख वाले होते हैं तथा ४ ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव त्रिकोण कहलाते हैं। यह वर्णन सृष्टि क्रम के अनुसार है।

संहार क्रम में शक्ति-त्रिकोण ऊर्ध्वमुख होते हैं और **'शिवत्रिकोण'** अधोमुख होते हैं।

समयमतानुसार श्री चक्र की ९ योनियाँ

(१) मध्य (२) अष्टार (३) अन्तदशार (४) बहिदशार (५) चतुर्दशार

(६) अष्टदलपद्म (७) षोडशदलपद्म (८) तीनवृत्त (९) भूपुर
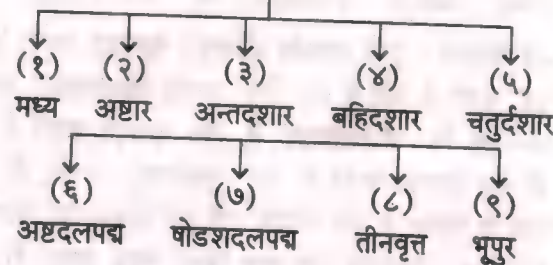
इनमें से प्रथम ५ **'शक्ति चक्र'** तथा अग्रिम चार **'शवि चक्र'** कहलाते हैं। इस मत के अनुसार—

भूपुर (चतुष्कोण) के अन्दर जो वृत्त है (अर्थात् ३ 'वृत्त' 'षोडशदलपद्म' तथा 'अष्टदल पद्म') वही **'बिन्दुस्थान'** है और उसके मध्य में शक्ति का स्थान है अर्थात् **'शक्तिचक्र'** स्थित है।

* 'षोडशदलपद्म' चन्द्रमा का प्रतिनिधि है। चन्द्रमा का स्थान **'सहस्रार'** है (चतुष्कोण सहस्रार है।) और उसके मध्य षोडशदलपद्म **'चन्द्रमण्डल'** है जो कि सुधा का समुद्र है। इसी सुधा-समुद्र के मध्य **''महामाया''** परमाशक्ति कुण्डलिनी का निवास है।

''कौल'' मूलाधार चक्र में जो योनि स्थान अर्थात् **'त्रिकोण'** है। वहीं भगवती कुण्डलिनी (परमाशक्ति) का स्थान है। यही कारण है कि समयमतावलम्बी **'मूलाधार चक्र'** में शक्ति का पूजन किया करते हैं।

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद ने यहाँ **'कौलमत'** का खण्डन किया है और समयमार्ग का प्रतिपादन किया है।

१. सौन्दर्य लहरी (८)

(१) कौल-परम्परा में जो ''मूलाधार चक्र'' में भगवती का पूजन, ध्यान आदि किया जाता है समयमार्गी (गौड़पादाचार्य आदि) से त्याज्य मानते हैं।

(२) गौड़पादाचार्य एवं अन्य समयमार्गी (शुभागम पञ्चम के अनुवर्ती शाक्त) 'सहस्रार' में शक्ति का स्थान मानकर वहीं उनकी पूजा किया करते हैं।

वे (समयमार्गी) 'सहस्रार' (चतुष्कोण) के मध्य में जो **चन्द्रमण्डलस्थित 'सुधासागर'** है और जो कि मणि-निर्मित है वहाँ भवगती महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा करते हैं।

आचार्य शंकर की दृष्टि—आचार्य श्री कहते हैं कि—

'कल्लोलोल्लसितामृताब्धिलहरी
मध्ये विराजन्मणिद्विपे।
कल्पवाटिकापरिवृते,
कादम्बवाट् युज्वले
रत्नस्तंभ सहस्रनिर्मितसभा,
मध्ये विमानोत्तमे।
चिन्तारत्न विनिर्मितं जननि ते,
सिंहासनं भावये ।।'[१]

वामकेश्वर तन्त्र की दृष्टि—वामकेश्वर महातंत्र में **सुधा-सिन्धु** का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

(१) बिन्दुस्थानं---------------------------------महेशन्तिपबर्हणे।

(२) सुधासिन्धुमध्ये-------------मजाम्यन्त्रपूर्णाम्।'

यह स्थान (१) सूर्य-चन्द्र की रश्मियों के लिए भी अमग्य है। यह स्थान 'सुधासिन्धु' या 'सहस्रार', अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र खण्डों के भी ऊपर है।

भवगती का स्थान **'अग्निखण्ड'**, **'सूर्यखण्ड'** एवं **'चन्द्रखण्ड'** से परे ऊपर स्थित है और वह खण्डों की दृष्टि से **'चतुर्थखण्ड'** में है। इस चतुर्थ खण्ड को ही 'बैन्दवस्थान' (बिन्दु का स्थान) का मध्यभाग या **'महाबिन्दु'** है।

''कौल'' त्रिकोण में स्थित बिन्दु एवं समयमार्ग चतुष्कोण के मध्य स्थित बिन्दु को भगवती का स्थान मानते हैं।

'त्रिकोणं ते कौलाः' कहकर गौड़पादाचार्य ने कौलोपासना एवं सामयिकोपासना (कौलाचार एवं समयाचार) में निहित विभेदक सिद्धान्तों की ओर इङ्गित किया है।

१. मंत्रमातृका पुष्पमाला

(क) कौल त्रिकोण (मूलाधार स्थित) में भगवती की पूजा करते हैं।

(ख) चतुष्कोण (बैन्दवस्थान/सुधासिन्धु/सहस्रदलकमल) में **समयाचारी** भगवती की पूजा करते हैं—

(क) **'त्रिकोणं** ते **कौला'**

(ख) **'चतुष्कोण'** प्राहुः **समयिन** इमे वैन्दवमिति।'

भगवती का स्थान और उन स्थानों में भगवती-पूजन

(१) **'मूलाधार'**	(२) **'सहस्रार'**
कौलमतः 'त्रिकोण'	**'समयमतः'** **'चतुष्कोण'**
(मूलाधार चक्र में स्थित त्रिकोण)	(चतुष्कोण के मध्य स्थित बिन्दु)
यहीं कौल **भगवती का पूजन** करते हैं	यहीं सामयिक **भगवती का पूजन** किया करते हैं

'कौलमत' एवं 'समयमत'

(१) **'कौलमत'—'सृष्टिक्रम'**	(२) **'संहारक्रम'—'समयमत'**
(१) **'श्रीचक्र** में ९ त्रिकोण होते हैं। ये त्रिकोण ही **'योनियाँ'** कहलाती हैं।	(१) संहारक्रम में **शक्तित्रिकोण** ऊर्ध्वोन्मुखी होते हैं। यहाँ शिव त्रिकोण अधोमुख माने गए हैं।
(२) इनमें ५ **'शक्तित्रिकोण'** हैं जो कि निम्नाभिमुखी हैं और ४ त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी हैं तथा **'शिवत्रिकोण'** कहलाते हैं।	(क) **'शक्तित्रिकोण'** = ऊर्ध्वाभिमुखी
(क) **'शक्तित्रिकोण'** = निम्नाभिमुखी	(ख) **'शिवत्रिकोण'** = निम्नाभिमुखी
(ख) **'शिवत्रिकोण'** = ऊर्ध्वमुख	
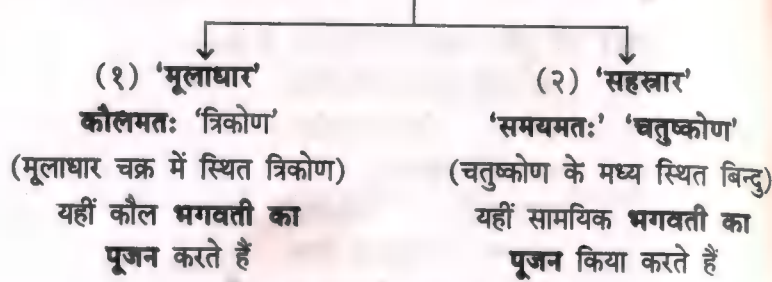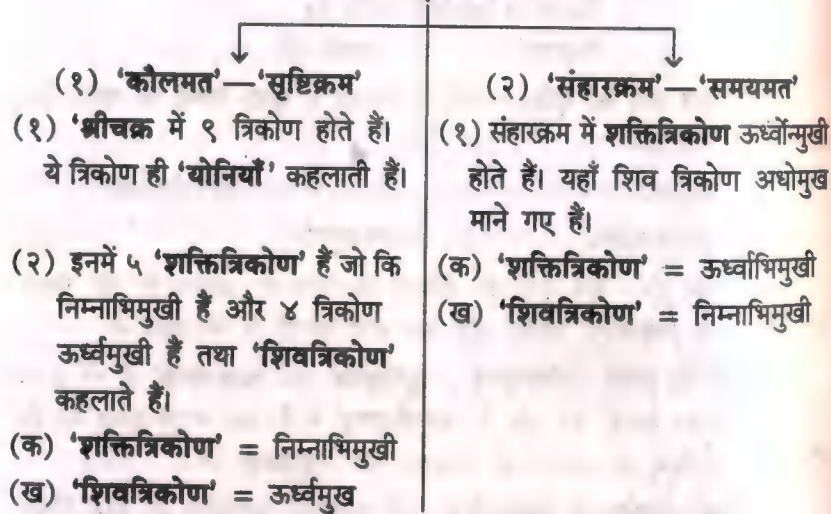
समयामतानुसार ९ योनियाँ—(१) मध्यत्रिकोण, (२) अष्टार, (३) अन्तर्दशार, (४) बहिर्दशार, (५) चतुर्दशार, (६) अष्टदलपद्म, (७) षोडशदलपद्म, (८) तीनवृत्त, (९) भूपुर।

इनमें से प्रथम ५ **'शक्तिचक्र'** हैं तथा अन्तिम चार **'शिवचक्र'** हैं। इस मत के अनुसार भूपुर (चतुष्कोण) के अन्दर **जो वृत्त है** (अर्थात् ३ वृत्त, षोडशदलपद्म

एवं अष्टदलपद्म) वही **बिन्दुस्थान** है ओर उसके मध्य में शक्ति का स्थान है अर्थात् **'शक्तिचक्र'** स्थित है।

'षोडशदलपद्म' सोम का प्रतिनिधि है।

सोम का स्थान 'सहस्रदलकमल' है। इसे ही **'चतुष्कोण'** या 'सहस्रार' भी कहते हैं। उसके मध्य में षोडशदलपद्म रूप चन्द्रमण्डल है जो कि **'सुधासिन्धु'** कहलाता है। इस 'सुधासिन्धु' के मध्य महामाया स्वरूपा, परमाशक्ति भगवती कुण्डलिनी का निवास स्थान है।

'कौलमत' के अनुसार मूलाधारचक्र में स्थित योनिस्थान (त्रिकोण) ही भगवती कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। इसी कारण कौल 'मूलाधारचक्र' में शक्ति की पूजा किया करते हैं।

समयमार्गी मूलाधार चक्र में **शक्ति के पूजन** को निषिद्ध मानते हैं। **उनके** मतानुसार शक्ति का पूजन या उनका ध्यान **'सहस्रदलकमल'** में करना चाहिए। 'सहस्रार' के मध्य में जो चन्द्रमण्डल है उसमें स्थित 'सुधासिन्धु' है।

'सुधासिन्धु-विषयक वमकेश्वरमहातंत्रकार की दृष्टि—

'वामकेश्वरतंत्र' में कहा गया है—

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पंचयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीप-श्रेणी च तन्मध्ये मणिमण्डपम्॥
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्यां मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे॥'
''सुधासिन्धु मध्ये मणिद्वीपे रम्ये,
सुकल्पद्रुमाकल्पकादम्ब मन्त्रे।
स्फुरत्स्वर्ण सिंहासने रत्नपीठे,
भवाङ्के निषण्णां भजाम्यत्रपूर्णाम्॥'

यह स्थान सूर्य एवं चन्द्रमा के लिए अगम्य है। **'सूर्यखण्ड'** एवं **'चन्द्रखण्ड'** के ऊपर ही **'सहस्रार'** है।

'सुधासिन्धु' श्रीचक्र में कहाँ है?

९ योनियों में नीचे स्थित शिवात्मकयोनि चतुष्क के ऊपर ऊर्ध्व स्थित शक्त्यात्मक योनि पञ्चक के नीचे वर्तमान प्रदेश, जिसे कि बैन्दव स्थान भी कहते हैं उसी का नाम सुधासिन्धु है।

'नवयोनिष्ध: स्थितश्वात्मकयोनिचतुष्कस्ये परि ऊर्ध्वस्थितशक्त्यात्मकयोनिपञ्चकाधः प्रदेशस्य बैन्दवस्थानस्य नाम सुधासिन्धुरिति।।'

—लक्ष्मीधरा

देवी का जो मन्दिर है वह कौन है? वह क्या है?

'देवमन्दिर'= त्रयश्चत्वारिंशत्त्रिकोणात्मक 'श्रीचक्र' है। **'देवीमन्दिर** त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिकोणात्मकं श्रीचक्रमुच्यते।।'

'बैन्दवस्थान' श्री चक्र का एक अङ्ग मात्र है। 'कौल' 'कुल' 'कुण्डलिनी' परस्पर सम्बद्ध हैं।

कुण्डलिनी और सुधासिन्धु

आचार्य शंकर कहते हैं—

'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।' (९)

बैन्दवस्थान 'श्रीचक्र' के मध्य स्थित है।

'बैन्दवस्थान श्री चक्रस्य मध्य स्थितं।।'

(१) **'शिवचक्र'** (४) के ऊपर ५ **'शक्तिचक्र'** हैं।

'सहस्रारपद्म' शिर में स्थित है।

कुण्डलिनी और श्रीविद्या (षोडशी) का विभाजन

(१) 'कुण्डलिनी' के भाग — (१) अग्नि (२) सूर्य (३) सोम (४) पराखण्ड

(२) 'श्रीविद्या' के भाग — (१) अग्नि (२) सूर्य (३) सोम (४) पराखण्ड
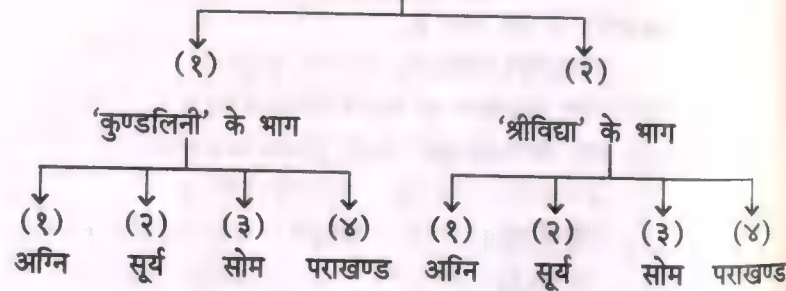
* षोडशी विद्या का प्रमुख केन्द्र (भगवती का निवास स्थान) उसका अन्तिम 'कूट' है।

(१) अधःकुण्डलिनी	अग्निखण्ड	वाग्भवकूट
(२) मध्यकुण्डलिनी	सूर्यखण्ड	कामराजकूट
(३) ऊर्ध्वकुण्डलिनी	सोमखण्ड	शक्तिकूट
(४) पराकुण्डलिनी	पराखण्ड	तुर्यकूट *

* (भगवती का निवासस्थान यही पराखण्ड या तुर्यखण्ड है।)

इसी अन्तिम खण्ड में पहुँचकर 'शक्ति' शिव में लीन हो जाती है तथा शिव

के साथ विहार करने लगती है। इड़ा-पिङ्गला (चन्द्र-सूर्य) के लिए यह स्थान अगम्य है किन्तु सहस्रारगम्य है।

'सुधासिन्धु'—तंत्र-ग्रन्थों में 'सुधासिन्धु' का सविस्तार वर्णन किया गया है—

'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्डपमध्यगाम्।
बालार्कमण्डलभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम्।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम्।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन चिन्तयन् जपमाचरेत्।।'

'सुधासिन्धु' में स्थित मणिमण्डप के भीतर जो चिन्तामणिगृह है उसी में भगवती त्रिपुरसुन्दरी रहा करती हैं।

शाक्तसम्प्रदाय एवं महात्रिपुर सुन्दरी—शाक्त सम्प्रदाय में भगवती महात्रिपुर सुन्दरी का अन्यतम स्थान है। इस सम्प्रदाय में देवी के 'आनन्दभैरवी' 'त्रिपुरसुन्दरी'
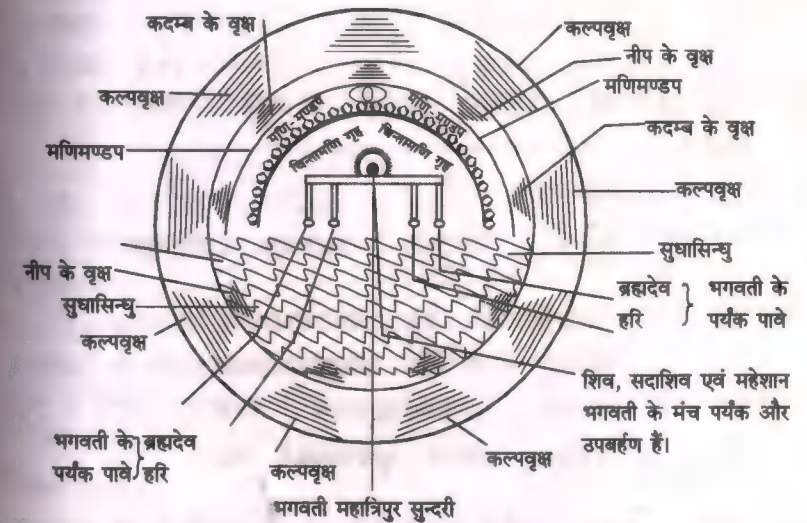
एवं 'ललिता अदि अनेक नाम प्रचलित हैं। उनके निवास स्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

(१) एक **'सुधासिन्धु'** (अमृत का समुद्र) है। सुधासिन्धु **कल्पवृक्षों** से

आच्छादित है। सुधासिन्धु में **नीप** या **कदम्ब** के वृक्षों से आच्छादित एक **'मणिमण्डप'** है।

(२) उस 'मणिमण्डप' में **'चिन्तामणिगृह'** है।

(३) इसी **'चिन्तामणिगृह'** में भगवती महात्रिपुर सुन्दरी अपने पर्यंक पर निवास करती हैं।

(४) **शिव, सदाशिव एवं महेशान** भगवती के मञ्च, पर्यंक एवं उपबर्हण हैं।

(५) इस पर्यंक के जो पाये हैं वे निम्नाङ्कित हैं।

—वे 'ब्रह्मा' 'हरि' 'रुद्र' एवं 'इश्वर' हैं।

महाभैरव ही देवी की आत्मा हैं। देवी ९ **व्यूहो की आत्मा** हैं।

आनन्दभैरव (महाभैरव) ९ व्यूहों की आत्मा हैं। या ९ व्यूहों से निर्मित हैं।

नौ व्यूह

(१) कालव्यूह (२) कुलव्यूह (३) नामव्यूह (४) ज्ञानव्यूह (५) चित्तव्यूह

(६) नादव्यूह (७) बिन्दुव्यूह (८) कलाव्यूह (९) जीवव्यूह
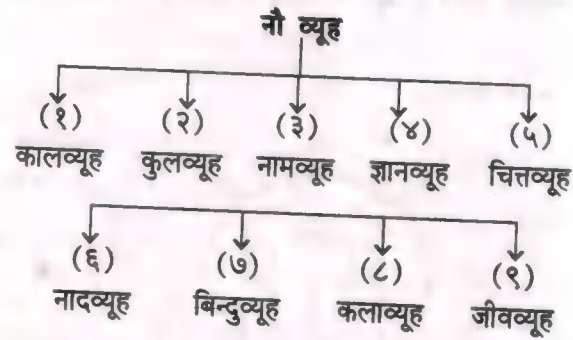
'नवव्यूहात्मको देवः परानन्दपरात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।
परानन्द पराशक्तिश्चिद्रूपानन्द भैरवी।
तयोर्यदा सामरस्यं **सृष्टिरुत्पद्यते** तदा ॥'

कौल } (१) 'त्रिकोणं ते **कौलाः**'
सामयिक } (२) 'चतुष्कोणं प्राहुः **समयिन**'। } शाक्तों के दो सम्प्रदायों के परस्पर भिन्न-भिन्न मत

'कुलाचार' एवं 'समयाचार'

*** 'कुलाचार' ***

(१) **'कुलाचार'** बाह्यपूजात्मक है। **'कुलाचारो** नाम बाह्यपूजारति रिति रहस्यम् ॥' (लक्ष्मीधर)

(२) 'श्रीचक्र' का नामान्तर है—**'वियच्चक्र'**। 'वियच्चक्र' तो वियत्पूज्यत्व है। वियत्पूज्य हव दो प्रकार का है—

(क) दहराकाशजवियत्पूजात्व।

(ख) बाह्याकाशज वियत्पूज्यत्व

कुलाचार के वियत्पूज्यत्व का प्रकार है—**'बाह्याकाशज पूजा'**

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'बाह्याकाशजं नाम बाह्याकाशा*वकाशे पीठादौ भूर्ज-पत्र-शुद्ध पट-हेम-रजतादि पट्टतले लिखित्वा समाराधनम्। एतदेव कौलपूजत्याहुर्वृद्धाः॥'

(सौ.ल. ८)—लक्ष्मीधर

(१) **'कौलमत'** में अधोमुख चार त्रिकोण **'शिवात्मक'** हैं और ५ त्रिकोण **'शक्त्यात्मक'** हैं।

(२) **'कौलमत'** में नवत्रिकोणात्मक **'श्रीचक्र'** का लेखन (निर्माण) **'संहार-क्रम'** से किया जाता है।

'अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि॥'

(३) 'कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलं **आधारचक्रम्।'**

लक्षणया सुषुम्नार्गः कुलमि त्युच्यते। अतएव **'कौलाः'** कुलपूजकाः आधार-सेवकाः इति कौलत्वं तेषामिति रहस्यम्।

*** 'समयाचार' ***

(१) **'समयाचार'** आन्तरपूजात्मक है—'समयाचारो नाम आन्तर पूजारति।'

(लक्ष्मीधर)

वित्पूज्यत्व के प्रकार

(१) दहराकाशज (२) बाह्याकाशज

दहराकाशज वियत्पूज्यत्व ही सामयिकों को स्वीकार्य है जबकि कौलों को बाह्याकाशज पूजन।

*** सामयिकों की पूजा ***

इसे ही **'समय पूजा'** (सामयिकों की पूजा(कहा जाता है।

'इदमेव समयपूजेत्याहुः समयिनः॥'

(लक्ष्मीधर)

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) **दहराकाशजं नाम** हृदयाकाशावकाशे चक्रस्य पूजनम्। इदमेव समयपूजेत्याहुः समयिनः। — लक्ष्मीधर

(२) सृष्टिक्रम समयमार्ग है—'सृष्टिक्रमस्तु समय मार्गः।'

इसमें त्रिकोण ऊर्ध्वमुख बनाया जाता है।

*** सामयिकों की पूजा ***

'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा विरचनां। गतिः प्रादक्षिण्यक्रमण मशनाद्या-हुतिविधिः। प्रणामः संवेशः सुखमखिलमा-त्मार्पणदृशा। सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ॥' —सौन्दर्य ल० (२७)

'कुलाचार'

(४) कौल चक्रे त्रिकोणमध्य गतो बिन्दुः।

(५) कौलचक्रे कोणसंख्या नास्ति, नवत्रिकोणात्मकत्वात् ९वों त्रिकोणों के मेलन से मर्मसन्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। 'एवं चविंशतिर्मर्माणि चतुर्विंशति सन्धयः नव योनि चक्रम्। एतत् कौलमत रहस्यम्।
—लक्ष्मीधर

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'चतुष्षष्टितन्त्राणि कुलमार्ग एव—
'मिश्रकं कौलमार्गं च परित्यज्यं हि शाङ्करि।।'

(२) 'कौलैः मृग्यते अवलम्ब्यत इति कौलमार्गः कौलमतम्।'

(३) 'आधारचक्रं त्रिकोणम्, आधारे बिन्दुः तिष्ठतीति।

(४) 'अत्र कौलमते त्रिकोणमेव बिन्दु-स्थानम्।'

स एव तत्र आराध्यः।

अतएव **कौलाः त्रिकोणो** बिन्दुं नित्यं समर्चयन्ति तत् त्रिकोणं द्विविधं श्रीचक्रान्त-र्गतनवयोनि मध्यवर्तिनी योनिः सुन्दर्याः तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिश्च।

(५) 'श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगत-योनिं भूर्ज-हेमपट्ट-वस्त्रपीठादौ लिखितां पूर्वकौला पूजयन्ति।।

(६) 'तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिं उत्तरकौलाः पूजयन्ति। उभयं योनिद्वयं बाह्यमेव न आन्तरम्। अतः तेषां आधारचक्रमेव पूज्यम्।

(७) 'तत्र स्थिता कुण्डलिनी शक्तिः **'कौलिनी'** इत्युच्यते। सैव उपास्या

'समयाचार'

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'समयचक्रे चतुष्कोण मध्यगतो बिन्दुः।'

(१) 'समयिनां मते समयस्य सादाख्य-तत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ।'

(२) 'ये ये समयिनो योगीश्वरा जीवन्मुक्ताः संसारयात्रामनुवर्तमानाः सादाख्य-तत्त्वमनुचिन्तयन्तः आत्मैकप्रवणाः वर्तन्ते तेषां 'जपो जल्परिशल्पम्' इत्यादिना सपर्या प्रकारो निरूपितः।।'

सामयिकों की सपर्या का स्वरूप

ये तु समयिनो योगीश्वराः विजने गुहान्तरे वा बद्धपआसनाः निगृहीतेन्द्रियाः सादार व्यतत्त्व ध्यानैकनिष्ठाः वर्तन्ते तेषां वक्ष्यमाणचतुर्विधषड्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्येति अर्थादुक्तं भवति।।

दोनों स्थितियों में समय मत में बाह्य पूजा किसी भी तरह ग्राह्य नहीं है—

'बाह्यपूजायां तत्क्रियाकलापे च तत्सम्पादनायां च क्लेशो नास्ति समयनिाम् इति।

यदि यह कहा जाय कि बाह्यावरणात्मक देवी की पूजा में क्या बाह्य पूजा समयमत में स्वीकार्य नहीं है?

'सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्। पाशाङ्कुश धनुर्बाणान् धारयन्तीं प्रपूजयेत् क्यो कहा गया?

यहाँ वाह्यपूजा प्रकार का कथन समयैकदेशिमत है।

'कुलाचार'

त्रिकोणपूजकानां इति रहस्यम्। एषा कुण्डलिनीशक्तिः बिन्दुरूपिणी निद्राणैव संपूज्या तस्याः सदा निद्राणस्वाभाव्यात्।'

सा पूजा तामिश्रा

(३) 'कुण्डलिनीप्रबोधो यदा स्यात् तत्क्षणमेव भुक्तिः कौलानाम्। अतएव **क्षण मुक्ताः कौला** इति व्यवहारः।

(४) 'तत्र सुरा-मांस-मधु-मत्स्यादि-द्रव्यैः समाराधनं वामाचार प्रवृत्या।'

(५) 'प्रत्यक्षत्रिकोणे बिन्दुस्थानं मन्मथच्छत्रं कृत्वा संपूजयन्ति अधोमुखं त्रिकोणं अधोमुखमेव छत्रं पूजयन्ति।'

(६) 'दिगम्बरक्षपरणकादयस्तु स्त्रियं उत्तानां कृत्वा ऊर्ध्वं त्रिकोणं पूजयन्तीति रहस्यम् तत्तु अवैदिकमार्गत्वात् स्मरणार्हमपि न भवति।'

(७) 'लास्यनाट्यसंविधानप्रतिपादनात् प्रकृतिपुरुषयोः दर्शने जगदुत्पत्तिः लास्यनृत्ताव सानभवे जगत्संहतिरिति **कौलसिद्धान्तः।'**

(८) 'आधारस्वाधिष्ठानयोः तामिश्र-लोकत्वात् तत्र **कौलानां** अधिकारात् समयिनां आराधनाभावेऽपि स्वमतानुसारेण सहस्रकमले निषेव्यैव भगवती आधारस्वाधिष्ठानयोः सेव्येति महाभैरवी समयापदेन उच्यत्।।'

यद्यपि यह सत्य है कि कौल द्विकानुसन्धान (मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र नामक दो चक्रों की उपसना) द्वारा ६हों कमलों के अनुसन्धान का फल प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वे षड्विध ऐक्यानु-सन्धान के अभाव के कारण—'षड्विधै-

'समयाचार'

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'उपासकाः परमहंसमिथुनं संवि-त्कमले उपासते इति **समयैकदेशिमतम्।**

(२) 'त्रिकोणादिषट्चक्रं आधारदिषट्-चक्रात्मना परिणतमिति। तत्र 'श्रीचक्रं' त्रिकोणं बैन्दव स्थानमिति तावत् सुप्रसिद्धम्।'

(३) 'तत्र त्रिकोणत्रयेसा अष्टकोण निर्माणे त्रिकोणादेव बिन्दु स्थानं भवति। तच्च चतुष्कोणमेव। तत्तु सहस्रकमलान्तर्गतं चन्द्रमण्डलमिति।'

(४) 'एतत् चतुष्कोणमध्यं बैन्दव स्थानं 'सुधासिन्धुः' 'सरघा' इति।'

(५) 'एतत् चतुष्कोणमध्यं बिन्दु-स्थानमिति **बाह्यपूजा** तरुणीत्रिकोण च दूरत एवं निरस्तेति ध्येयम्।'

(६) 'अतएव समयिनां सहस्रकमले समयायाः समयस्य च शंभोः पूजा।'

(७) 'समयानाम—शम्भुना साम्यं पञ्चविधं यातीति **समया।** समयत्वं शम्भो-रपि—पञ्चविधं साम्यं देव्या सह यातीति।

अतः उभयोः समप्राधान्ये नैवसाम्यं विज्ञेयम्।

(८) **साम्य के प्रकार**—

पञ्चविधसाम्यं तु—(१) अधिष्ठान-साम्यं (२) अवस्थानसाम्यं (३) अनुष्ठान-साम्यं (४) रूपसाम्यं (५) नामसाम्यं—इति पञ्चविधं समप्रधानयोरेव व शिवयोः।

(९) 'अतःसमयपूजकाः समयिनः।।'

(१०) 'तेषां षट्चक्रपूजा न नियता, अपितु सहस्रकमल एव पूजा।'

'कुलाचार'	'समयाचार'

क्यानुसन्धानाभावात् कौलमार्ग एवेति **न देव्या मणिपूरे सन्निध्यं** पञ्चविधमुक्ति-युक्त्यमावश्च, नादबिन्दुकलातीतत्वमप्य संभाव्यमेव **कौलमते इति** ।'

(किन्तु जहाँ तक **सामयिकों** का प्रश्न है उनकी स्थिति भिन्न है; क्योंकि—समयी साधक तो कार्यभूत चतुष्कानुन्धान मात्र सेकारणभूतकमलद्वय के अनुसन्धान का फल प्राप्त कर लेते हैं।

अत:पञ्चविधसाम्य के सिद्ध हो जाने पर समयसमयिभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है।[१]

कौलाचार के दो रूप हैं—

(१) 'आर्द्र कौलाचार'

(२) 'शुष्क कौलाचार'

आर्द्रशुष्कविभागेन द्विधाचारं पुनः श्रृणुः।।

कौल चतुष्पात्रात्मक मूलाधार चक्र की उपासना करते हैं जो कि स्वाधिष्ठान में अन्तर्भूत रहता है—

'अत्र चतुष्पत्रं मूलाधारं स्वाधिष्ठाने अन्तर्भूतं कौलाः उपासत।।' (लक्ष्मीधरः)

जहाँ तक सामयिकों या समयमत है वे स्वाधिष्ठान का भेदन करके और मणिपूर चक्र में प्रविष्ट भगवती की उपासना करते हैं—

'समयिनस्तु स्वाधिष्ठानं भित्वा मणिपूरं प्रविष्ठायाः देव्याः उपासनं कुर्वन्तीति समय-मततत्त्वं च प्रतिपादितम्।'

—लक्ष्मीधरा (९९)

(११) 'सहस्रकमलपूजानाम सहस्र-कमलस्य बैन्दवस्थानत्वेन तन्मध्यगतचन्द्र-मण्डलस्य चतुरश्रात्मना, तन्मध्यबिन्दोः पञ्चविंशति तत्वातीत षड्विंशात्मक शिवशक्तिमेलनरूपसादाख्यात्मना च अनु-सन्धानम् ।'

(१२) 'अतएव समयिमते बाह्याराधनं दूरत एवं निरस्तम् ।'

(१३) 'षोडशोपचाररूपपूजाङ्ककला-पश्च ततोऽपि दूरत एव ।'

(१४) आधारादि ६ चक्रों का त्रिकोणादि षट्चक्र के साथ **तादात्म्य** है। बिन्दुस्थान का चतुरश्रसहस्रकमल के साथ इसलिए **तादात्म्य** है क्योंकि **बिन्दु एवं शिव में तादात्म्य** है। इसी प्रकार देवी और शिव में तादात्म्यत्रय विद्यमान है।

(१५) इसी प्रकार **चक्र एवं मन्त्र** में भी ऐक्य एवं **तादात्म्य है** समयी इन चार प्रकार के तादात्म्यों को केन्द्र में रखकर समाराधन किया करते हैं।

(१६) *** षोढा ऐक्य ***

(१७) **चतुर्विध साम्यपूर्वक** ही समय-समया का समाराधन करते हैं किन्तु उसमें से कतिपय समयी **षोढाऐक्य** को स्वीकार करते हैं।

'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येत् **सर्वसमतम्**। केचित्तु षोढा ऐक्यमाहुः।

१. लक्ष्मीधरा (९९)

'कुलाचार'	'समयाचार'

समयाचारी **'पिण्डब्रह्माण्डैक्य'** के सिद्धान्त में भी विश्वास रखते हैं। आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—'पिण्डब्रह्माण्डयो-रैक्यानुसन्धानमहिम्ना षट्कमलानुसन्धान महिम्ना पञ्चविधसाम्यानुसन्धानमहिम्ना षड्विधैक्यानुसन्धानमहिम्ना पिण्डाण्डं ब्रह्माण्डवदवभासत' —आचार्य लक्ष्मीधर

'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्ग सूत्रा-त्मनोरपि।'

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं ज्ञातव्यम्।

(लक्ष्मीधरा ९९)

'स्वापाव्याकृतयोरैक्यं क्षेत्रज्ञपरत्नोः।' अर्थात् क्षेत्रज्ञ एवं परमात्मा इन दोनों में भी वही ऐक्य है। (लक्ष्मीधर)

कौलों का संहार क्रम एवं सामयिकों का सृष्टि क्रम—

(१) **संहारक्रम** (लक्ष्मीधर की दृष्टि) आचार्य लक्ष्मीधर इसे अपने शब्दों में इस प्रकार निरूपित करते हैं—

'संहारक्रमेण तावत् पुरतो वृत्तमालिख्य वृत्तमध्ये नव रेखाः लिखित्वा, पश्चिमरेखा प्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य, स्वापेक्षया षष्ठ्या रेखया योजयेत् । एवं प्राग्रेरवा प्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया सप्तम्यारेखया योजयेत्। पश्चिममद्वितीय रेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोण मुत्पाद्य स्वापेक्षया अष्टम्या योजयेत्। पश्चिमद्वितीय रेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोण मुत्पाद्य स्वापेक्षया अष्टम्या योजयेत्। प्राग्द्वितीय-रेखाप्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया अष्टम्या योजयेत्।

नाद बिन्दुकलातीत भागवत तत्त्व तो सर्वविश्रुत है।

नाद

(१)	(२)	(३)	(४)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी

'नादः परापश्यन्ती मध्यमा वैखरी-रूपेण चतुर्विधः।।'

(१) **'परा'** = त्रिकोणात्मिका है।

(२) **'पश्यन्ती'** = अष्टकोणचक्र रूपिणी है।

(३) **'मध्यमा'** = द्विदशाररूपिणी है।

(४) **'वैखरी'** = यह तो चतुर्दशार-रूपिणी हैं।

यहीं शिवचक्रों का अन्तर्भाव है। चतुष्चक्रात्मक 'श्रीचक्र' नाद शब्द से भी वाच्य है। **'बिन्दु'** किसे कहा जाय?

'षट्चक्र' (मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणि-पूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा आदि) **बिन्दु** शब्द वाच्य हैं।

'बिन्दुर्नाम षट्चक्राणि ।'

कलायें ५० या ३६० हैं।

(५) * भगवती नाद बिन्दुकलातीता हैं। 'एवं नाद बिन्दुकलातीता भगवतीति।।'

—लक्ष्मीधर

*** भगवती कामेश्वरी का दर्शन ***

(६) नाद, बिन्दु एवं कलाओं के परस्पर ऐक्यानुसन्धान से **'षोढा ऐक्य'** होता है। इस प्रकार यहाँ नादबिन्दु कला

'कुलाचार'

ततः प्राक्पश्चिमतृतीय-रेखा प्रान्ताभ्यां षट्कोणमालिखेत्। षट्कोणमध्यस्थित-ह्रस्वरेखात्रितये पश्चिमरेखा प्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वामुत्पाद्य स्वापेक्षया पश्चम्या योजयेत्। एवं प्राग्रेखा-प्रान्ताभ्यां त्रिकोणमुत्पाद्य स्वापेक्षया पश्चम्या योजयेत्। मध्य-स्थितातिं ह्रस्वरेखा-प्रान्ताभ्यां त्रिकोण मुत्पाद्य स्वापेक्षया तृतीयरेखया योजयेत्। एवं चतुर्विंशति-मर्माणि चतुर्विंशति सन्धयः नवयोनि चक्रम्। एतत् **कौलमत** रहस्यम्।'

सृष्टिक्रम सामयिकों के **'सृष्टिक्रम'** पर प्रकाश डालते हुए आचार्य लक्ष्मीधर कहते **हैं**—

'आदौ त्रिकोण मालिख्य, मध्ये बिन्दुंनिक्षिप्य, बिन्दोरुपरि त्रिकोणं भित्वा त्रिकोणान्तरं प्रागग्रं विलिख्य, प्रथम त्रिकोणाग्रात् त्रिकोणान्तरं पश्चिमाभिमुखं विलिखेत् एवं अष्टकोण चक्रमुत्पन्नम्। एतस्मादवे **दशार**मुत्पादयेत्। तद्यथा—अष्टकोण प्राक्पश्चिमरेखा-प्रान्ताभ्यां षट्कोणमुत्पाद्य विदिग्गतमर्मस्थानेभ्यः

'समयाचार'

आदि के ऐक्य के कारण षड्विधऐक्य द्वारा भगवती की पूजा करके सादाख्या में विलीनता प्राप्त होती है। फिर षड्विधऐक्य के अनुसन्धान की महिमा द्वारा गुरुकटाक्ष-सञ्जात महावेध की महिमा से **भगवती शीघ्र ही मूलाधार-स्वाधिष्ठान** चक्रद्वय का भेदन करके **मणिपूर में दिखाई पड़ती हैं।**

'महावेध' है क्या? प्रथमतः अभ्यास दशा में गुरुनिष्ठ होकर महाविद्या को गुरुमुख से ही स्वीकार करके ऋषि-छन्द-देवतापूर्वक मूलमन्त्र गुरुपदेश विधि से शुष्क जप करते हुए **आश्वयुज के शुक्लपक्ष** में **महानवमी की** कही जाने वाली अष्टमी को रात्रि के समय गुरु का पादोपसंग्रह करना चाहिए। उस समय गुरु का कर्त्तव्य यह है कि वह अपने हाथ को शिष्य के मस्तक पर रक्खे और फिर मंत्रोपदेश एवं षट्चक्रों की शिक्षा प्रदान करके षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान के उपदेश द्वारा सादाख्या के प्रकाश रूप में स्थित शैव महावेध का उदय होता है। इस महावेश के उदय से भगवती का **'मणिपूर चक्र'** में प्रत्यक्षीकरण हुआ करता है।

(८) महावेध और भगवती का साक्षात्कार

*** विभिन्न चक्रों में देवी-पूजा ***

[१] **भगवती की मणिपूर में पूजा : 'महावेध'** के उदित होने ही भगवती का मणिपूर में साक्षात्कार होता है; **'एवं महावेधे जाते भगवती मणिपूरे** प्रत्यक्षा **भवति। सा समाराध्या।'**

[२] **भगवती की अनाहत चक्र में पूजा :** अर्घ्य, पाद्य, भूषण आदि समर्पण रूप पूजाकलाप को **'मणिपूर'** में निष्पादित करके भगवती को **अनाहतमन्दिर** में ले जाकर, धूपादिनैवेद्य आदि से लेकर हस्तपक्षालन पर्यन्त पूजा करें।

'कुलाचार'

चतुर्थ्यः चतुरस्त्रिकोणानुत्पाद्य अष्टकोण गतयोनेरुपरि दक्षिणोतरायतरेखा ईशानाग्नि कोणत्रिकोणेषु योजयेत्। एवं पश्चिमतो योजयेत्। **दशारं** भवति। एतस्मादेव दशारात् पुनः **दशान्तरं** उक्तरीत्या उत्पादयेत्। तद्यथा—प्रथमदशारपूर्वपश्चिम रेखाप्रान्ताभ्यां षट्कोणमुत्पादयेत्।

षट्कोणगतमर्मस्थानेभ्यः चतुर्थ्यः **त्रिकोण-चतुष्कमुत्पादयेत्** ततः उपरि स्थितमर्मचतुष्टयात् दशारन्यायेन त्रिकोण चतुष्कमुत्पाद्य प्राक्पश्चिमरेखा मेलयेत्। एवं त्रयश्चत्वारिंशत् कोणाः चतुर्विंशति सन्धयः, चतुर्विंशति मर्माणि। एतत् **समयमत** रहस्यम्।

अस्मिन् चक्रे त्रिकोण-मूर्ध्व मुखं लेखनीयम्।

कौल चक्रे

* कौलचक्रे **त्रिकोण-मध्यगता** बिन्दुः। समयचक्रे **चतुष्कोण मध्यगतो बिन्दुः।**

* कौलचक्रे कोणसंख्या नास्ति, नवत्रिकोणात्मकत्वात्। नवानां त्रिकोणानां मेलने मर्म सन्धय एवोत्पद्यन्त इति महद्रहस्यम्।

'समयाचार'

[३] **भगवती की विशुद्ध चक्र में पूजा :** फिर भगवती को **'विशुद्ध चक्र'** में ले जाकर और वहाँ सिंहासनासीना भगवती की, जो कि अपनी प्रिय सखियों के साथ संभाषण एवं संलाप में लीन हैं—**मणियों द्वारा पूजा करनी चाहिए।**

ध्यातव्य बिन्दु यह है कि—शुद्धस्फटिक सदृश जो मणियाँ हैं वे मौक्तिक आदि मणियाँ नहीं हैं प्रत्युत् वे षोडशदलगत **षोडशचन्द्र कलायें** हैं—यही रहस्य है।

[४] **भगवती की आज्ञा चक्र में पूजा :** इसके अनन्तर भगवती को **'आज्ञाचक्र'** में ले जाकर उन भगवती कामेश्वरी की नीराजन की अनेक विधियों द्वारा पूजित करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।

'कर्णावतंसस्तुतिकार' की दृष्टि—आज्ञात्म-कद्विदलपद्मगते तदानीं, विद्युन्त्रिभेरविशशिप्रयतोत्कटामे। गण्डस्थलप्रतिफलत्करदीपजाल, कर्णावतंसकलिके कमलायताक्षि।

(९) **भगवती की 'सहस्रदलकमल' में पूजा :** भगवती को **'आज्ञाचक्र'** में लाकर एवं वहाँ उनकी पूजा निष्पन्न करके फिर अगले सोपान की ओर अग्रसर होना चाहिए।

आज्ञा चक्रोंपरान्त **भगवती कामेश्वरी** विद्युल्लता की भाँति 'सहस्रदल कमल' में अनुप्रविष्ट होकर **'अमृतसमुद्र'** में पाँचप्रकार के कल्पवृक्षों की छाया में **'मणिद्वीप'** में (सरघा के मध्य) भगवान सदाशिव के साथ विहार करती हुई स्थित हो जाती हैं।

फिर साधक को तिरस्करिणी फैलाकर मन्दिर केसमीप स्वयं भी रहना चाहिए। साधको को वहाँ तब तक रहना चाहिए जब तक की भगवती पुनः प्रत्यावर्तित

'कुलाचार'

उभयचक्र साधारणमत ऊर्ध्वमअष्टदलपद्मं, ततः षोडशदलपद्मं, ततः मेखलात्रितयम्। ततश्चतुर्द्वार युक्तं भूपुर त्रितयम्। इति श्रीचक्रोद्धारो विज्ञातव्यः।

श्रीचक्र के प्रस्तार-भेद

श्रीचक्र 'कौल' एवं 'समय' दोनों मतो की दृष्टि-भेद प्रथा के कारण प्रस्तार की दृष्टि से भी भिन्न-भिन्न है।

प्रस्तार त्रय

(१) 'मेरु-प्रस्तार' (२) 'कैलास-प्रस्तार' (३) 'भू-प्रस्तार'

(१) **मेरुप्रस्तार**—मेरुप्रस्तारो नाम नित्याषोडशतादात्म्यम्।

(२) **कैलासप्रस्तार**—कैलासप्रस्तारो नाम मातृकातादात्म्यम्।

(३) **भूप्रस्तार**—भूप्रस्तारो नाम वशिन्यादि तादात्म्यम् पृश्ननामक जो मुनि थे वे सभी मुनि चक्रोपासक थे—'पृश्नयोनाम मुनयः सर्वेचक्रसमाश्रयाः।।' —रुद्रयामल

वे निरन्तर श्रीचक्र की सेवा में निरत रहा करते थे—'सेवमानाश्चक्रविद्यां देवगन्धर्वपूजिताम्।।'

—रुद्रयामल

'समयाचार'

होकर **'मूलाधार कुण्ड'** में नहीं आ जाती। यही **समयमततत्त्व का रहस्य है**—

'यावत् भगवती विनिर्गता पुनः मूलाधार कुण्डं प्रविशति तावत्पर्यन्तं स्थातव्यमिति समयमततत्त्व-रहस्यम्।'—लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)

(१०) आचार्य लक्ष्मीधर का कथन है कि 'क्वणात्काञ्चीदामा' (सौ०ल०) वाले श्लोक के माध्यम से आचार्य शंकर ने ध्यान-प्रतिपादित, चतुर्भुजात्मक एवं धनुर्बाणपाशाङ्कुशयुक्त भगवती के साकार विग्रह की ओर संकेत किया है। उस मत के अनुसार पूजा करने वाले देवी के उपासकों को भगवती को भगवती कामेश्वरी का उसी प्रकार साक्षात्कार हुआ करता है।

मेरे मत में तो षड्विध ऐक्य के अनुसन्धान के अनन्तर मूलाधार द्विक का भेदन करके 'मणिपूर चक्र' में (प्रसन्न होने के कारण) साक्षात्कृत भगवती कामेश्वरी दशभुजात्मक रूप में इस प्रकार दिखाई पड़ती है।

(क) उनके १० भुजाएँ हैं।

(ख) वे अपने हाँथों में **धनुष, बाण, पाश, अंकुश, वर-अभयमुद्रा, पुस्तक, अक्षमाला** एवं **वीणा** धारण किए हुए हैं।

मेरे समयमत के एकदेशीय मत के अनुसार (१) पाश (२) अंकुश (३) **पुण्ड्र** (४) **इक्षु** (५) पुष्प (६) बाण (७) जपमालिका (८) अभय (९) वरमुद्रा (१०) करद्वय द्वारा वक्षस्थल पर स्थापित वीणा—ये १० वस्तुएँ भगवती के हाँथों में स्थित हैं।

हमें ये दोनों मत स्वीकार्य है—

'उभयमस्माकं सम्मतमेव।'

लक्ष्मीधर कहते हैं कि मैंने अपने 'कर्णसंस्तुति' में लिखा भी है—

'भवानि श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमधोधनुः पौण्ड्रं

'कुलाचार'

* **'श्रीचक्र' और आचार्य शंकर** *

आचार्य शंकर स्वतः 'श्रीचक्र' के उपासक थे। उन्होंने 'श्रीचक्र' के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया है—

'चार श्री कण्ठों और **पाँच शिव युवतियों**—इन ९ मूल प्रकृतियों से तेरे रहने के ४३ त्रिकोण बनते हैं जो शम्भु के बिन्दु स्थान से भिन्न हैं। वे तीन वृत्तों और तीन रेखाओं सहित ८ और १६ दलों से युक्त हैं।

चतुर्भि श्रीकण्ठैः,
शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि।।
प्रभिन्नाभिः शम्भो,
र्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।।
त्रयश्चत्वारिंशद्
वसुदलकलाश्रत्रिवलय
त्रिरेखाभिः सार्धं,
तव शरण कोणाः परिणताः।।'

—सौन्दर्यलहरी (११)

'श्रीचक्र' ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड दोनों का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है।

(१) श्रीकण्ठ (शिवत्रिकोण)

(२) शिव युवति (शक्ति त्रिकोण)

श्रीचक्र

श्री चक्र का निर्माण

'समयाचार'

पौष्पंशरमथ जपस्त्रक्शुकवरम् अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय-वरदानैककरसिके क्वद्वीणां द्वाभ्यामुरसि च कराभ्यां च बिभृशे।।'

इस स्वरूप में भी **सामयिकों को भगवती** का साक्षात्कार हुआ करता है।

'समयिनां प्रत्यक्षं परिदृश्यमाना आस्ते भगवती।।'

* **सामयिकों की विशिष्ट पूजा** *

सामयिकों की विशिष्ट पूजा 'सहस्त्रदल कमल' में अनुष्ठित पूजा है—

'समयिनां सहस्त्रकमलपर्यन्तं आन्तर-पूजा कर्तव्या।।''

'सहस्त्रकमल' में तिरस्करिणी-प्रसारणपर्यन्त दर्शन करते रहना ही **'समाराधन'** है।

सुभगोदयकार की दृष्टि—'सुभगोदय' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि—

'सूर्यमण्डलमध्यस्थां देवीं त्रिपुरसुन्दरीम्पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः। त्रैलोक्यं मोहयेदाशु वरनारीगणैर्युतम्। यही नहीं स्वयं कालिदास ने भी कहा है—

कविकालिदास की दृष्टि—कवि कालिदास 'चर्चास्तोत्र' में कहते हैं—

'ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्ति, रूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम्। तेषां सदैव कुसुमायुधबाधभिन्न वक्ष-स्थला मृगदृशो वशगा भवन्ति।'

* यहाँ पर सामयिकों के लिए बाह्यपूजा निषेध के विधान के कारण क्या यहाँ सूर्यमण्डलान्तर्गत निष्पाद्य पूजा का निषेध किया जाना समीचीन था ? नहीं।

'कुलाचार'

(क) **कौलाचार का आर्द्र प्रकार**—

आर्द्राचारस्तु विज्ञेयो,
मकारैः पञ्चभिर्यतः।।

(ख) **कौलाचार का शुष्क प्रकार**—

मकारपञ्चरहिता,
शुष्काचारः प्रकीर्तितः।।

(ग) **कलियुगोपयोगी कौलाचार**—

'कलौविशेषतो देवि!
आर्द्राचारः फलप्रदः[१]

'कुल चूड़ामणि' नामक ग्रंथ के अनुसार कौल दर्शन एवं कौल-साधना का स्वरूप इस प्रकार है—

'कुलाचार विधिं वक्ष्ये,
सावधानावधारय ।
यस्य विज्ञानमात्रेण,
कर्ता हर्ता सदाशिवः।।'

सिद्धान्त और साधना—

(१) दिक्-काल नियमो नास्ति।

(२) तिथ्यादि नियमो न च।

'समयाचार'

इसी प्रकार भगवती की **'हृदयकमल'** में पूजा किए जाने पर भी भगवती सारे ऐहिक फल प्रदान करती हैं।

*** भगवती की समाराधना के विभिन्न फल ***

(१)	(२)	(३)
यावकरस से आप्लुत होने पर→'वशीकरण-सिद्धि'	'मुखबिन्दु कृत्वा' इत्यादि के रूप ध्यान करने पर→ तादृश फल-प्राप्ति	हृदयकमल में होमादिक, तर्पण आदि करने पर →ऐहिक फलों की प्राप्ति

अतः सामयिकों को 'समयपूजा' से (क) ऐहिक एवं (ख) आमुष्मिक दोनों प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। आन्तर पूजा दोनों फल प्रदान करती है किन्तु फिर भी यह पूजा आन्तर पूजा ही होनी चाहिए—

'अतःसमयिनां ऐहिकामुष्मिक फल साधनोपायः आन्तरपूजेति समयमततत्त्वम्।।' (लक्ष्मीधरा : ४१)

आचार्य शंकर ने 'सौन्दर्यलहरी' में 'आधारकमल' आदि के क्रम से यथाक्रम पूजन विधान का त्याग करके आज्ञादिक्रमानुसार **अवरोहण क्रम** से पूजा करने के विधान का प्रतिपादन किया है।

उपनिषदों में भी अवरोहण क्रम से सृष्टि का वर्णन किया गया है—'आत्मन आकाशस्सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायेरग्निः। अग्नेरापः उद्भयः पृथिवी।।" (तै० उ० २।१) इसी श्रौत अवरोहण क्रम का यहाँ भी अनुसरण किया गया है।[२]

१. कूलचूड़ामणि
२. लक्ष्मीधर (श्लोक ४१)

'कुलाचार'

(३) नियमो नास्ति देवेशि!
महामंत्रस्य साधने।।

(४) कर्दमेचन्दनेऽभिन्नः,
पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि,
तथैव काञ्चने तृणे।।

'कौल' कौन हैं?

क्वचित् शिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः
क्वचित् भूतपिशाचवत्।
नाना वेषधराः कौलाः,
विचरन्ति महीतले।।
कर्दमे.................तृणे।
न भेदो यस्य देवेशि!
स **कौलः** परिकीर्तितः।।

'कौलाचार' का स्वरूप क्या है?

मथित्वा ज्ञानदण्डेन,
वेदागम-महोदधिम् ।
सारमेतन्महादेवि!
कौलाचारं प्रकल्पितम्।।[२]

कौलमार्ग पञ्चमकारोपासना को स्वीकार करता है; किन्तु 'समयाचार' नहीं।

'समयाचार'

यद्यपि समस्त योग के ग्रन्थों में **'आधार' एवं 'स्वाधिष्ठान'** के अनन्तर **'मणिपूरक चक्र'** की स्थिति स्वीकार की गई है तथापि 'संवर्ताग्नि' से परिदग्ध जगत् के उज्जीवन के अनन्तर उत्पत्ति की बात भी कही गई है।[१]

'तादात्म्य ध्यान व्यतिरेकेण पूजायाः असंभवात्'—तादात्म्य ध्यान सहित ही पूजा करनी चाहिए।

'मूलाधारस्थितामेव देवीं सुप्तां प्रबोधयेत्'—का निर्देश है। इस प्रबोध-नियम के विषय में ('मूलाधार चक्र' आदि के क्रम से शक्ति जागरण के विषय में) जो कि कौलों एवं सामयिकों दोनों के लिए है—गुरु मुख से ही निर्देश लेना चाहिए—

'मूलाधारादि क्रमेणैव पजा समयिनां कौलादीनां च कार्येति परमगुरुमुखादेव अवगतं रहस्यम्।'

*** वामकेश्वर तंत्र की आत्मपूजा विषयक दृष्टि ***
(प्रतीकोपासना)

पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ। शब्दस्पर्शादयो बाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः' करणेन्द्रिय चक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्। विश्वाहंकार पुष्पेण पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक्।।'

यही उपासना विधि है।

'इयं उपासना विधिः क्रियात्मको नादरणीयः।।'

—(लक्ष्मीधर)

१. शुकसंहिता
२. कूलचूड़ामणि

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—

(१) आचार्य शंकर समयाचारी तांत्रिक थे।

(२) आचार्य श्री ने अपनी 'सौन्दर्यलहरी' नामक कृति में—'चरणानिर्णेजनजलम्' वाक्य कहकर **समय-मत** का ही प्रतिपादन किया है न कि कौलमत का क्योंकि **कौलमत** में देवी भुजगाकारा महाकुण्डलिनी (सर्पिणी) हैं।

अत: उनके चरणों के जल की बात तो संभव ही नहीं है। **'सहस्रकमल'** ही चरण निर्णेजनजल है। इसे ही इस प्रकार कहा गया है—

'सुधाधारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः ।
प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः॥'

—सौन्दर्यलहरी (१०)

किन्तु आचार्य शंकर में **'कौलमत'** के प्रतिपादन की दिशा में यह भी उसी श्लोक में कहा है—

'अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणि॥'

—(सौन्दर्यलहरी १०)

आचार्यश्री ने **'चरणनिर्णेजनजलम्'** शब्दावली का प्रयोग श्लोक क्रमांक १०० में किया है—

'पिबेय **विद्यार्थी** तव चरणनिर्णेजनजलम्'

शक्तिवाद और कुलाचार—

शक्तिवाद की दृष्टि से (शक्ति-प्राधान्य) कौलाचारी एवं वामाचारी दोनों में मत-साम्य है। कौलों का कथन है—

'शक्तिमूल जगत सर्वं, शक्तिमूलं परन्तपः।
शक्तिमाश्रित्य निवसेद्, यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥'

—कुलचूड़ामणि

कौलों की दृष्टि यह है कि—(१) वेदाचार (२) वैष्णवचार (३) शैवचार (४)

सिद्धान्ताचार (५) दक्षिणाचार (६) वामाचार आदि सभी आचारों से श्रेष्ठता है—**'कौलाचार'।**

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि **'भजन'** के दो प्रकार हैं—

(१) 'षट्चक्रसेवात्मक'।

(२) 'ध्यानात्मक'।

'द्विविधं भजनं—षट्चक्रसेवात्मकं धारणात्मकं च।।' आचार्य शंकर कहते हैं—

'परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्**भजनवान**' (सौ०ल० ९९)

यहाँ **'भजन'** का क्या अर्थ है।

[१] **'आधारचक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठानचक्र'** तो उपास्य हैं नहीं क्योंकि ये **'तामिश्रलोक'** हैं।

[२] 'मणिपूर' से 'सहस्रकमल' पर्यन्त समस्त **पाँच चक्र पूज्य हैं। ('पञ्चचक्राणि पूज्यानि।')**

कौलों और सामायिकों की मुक्ति भेद

आचार और 'कौलाचार' (शाक्तमत के अनुसार प्रधान आचार)

(१) वैदिक — (२) वैष्णव — (३) शैव — (४) शाक्त

शाक्त:

(१) 'वामाचार' — (२) 'दक्षिणाचार' — (३) 'सिद्धान्ताचार' — (४) 'कौलाचार'
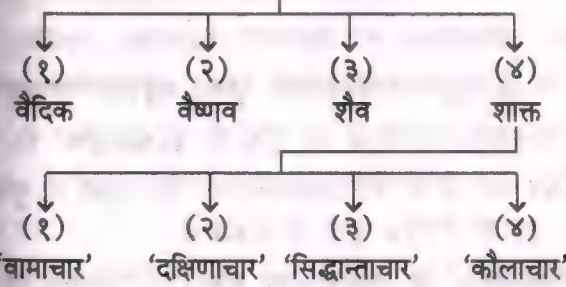
'सिद्धान्ताचार' अन्तिम आचार कौलाचार ही है।

[३] **मणिपूरक के उपासकों** को **'सार्ष्टिमुक्ति'** प्राप्त होती है। सार्ष्टिनाम्नी देवता के पुर के समीप पुरान्तर निर्मित करके सेवा करने वालों का अपस्थान यहीं हुआ करता है।

[४] **संवतिकमल के उपासकों** को **'सालोक्यमुक्ति'** प्राप्त होती है। 'सालोक्य' है—देवी के पट्टण में निवास।

[५] **विशुद्धिचक्र के उपासकों** को **'सामीप्यमुक्ति'** प्राप्त होती है। **'सामीप्य'** क्या है? 'सामीप्यं नाम अङ्गसेवकत्वम्।'

[६] **आज्ञाचक्र के उपासकों** को **'सारुप्यमुक्ति'** प्राप्त होती है। **'सारुप्य'** नाम समान रुपत्वात्।'

'सारुप्य' एवं **'सायुज्य'** में भेद यह है कि **'सारुप्य'** में साधक की देह देवी से पृथक रहती है—

'पृथग्देहधारित्वेनेति सायुज्याद्भेदः ।।'

गौणामुक्ति

	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
मुक्ति का नाम	'सर्ष्टिमुक्ति'	'सालोक्य'	'सामीप्य'	'सारुप्य'	सायुज्य
चक्र का नाम	(मणिपूरकोपासना)	(अनाहतोपासना)	विशुद्धचक्रोपासना	आज्ञाचक्रोपासना	'सहस्रदलपासना)

आचार्य लक्ष्मीधर की 'समयमत' सम्बंधिनी दृष्टि—सहस्रदलकमलोपासना—

सामयिक सहस्रार (चतुष्कोण) के उपासक हैं न कि त्रिकोण या अन्य चक्रों के। लक्ष्मीधर कहते हैं कि ४ प्रकार की भुक्तियाँ तो 'बाह्यदुखातिवर्तित्वमात्र' हैं—

(१) चतुर्विधं गौणं बाह्यदुःखातिवर्तित्व मायात् मुक्तिरिति व्यपदिश्यते।।'

(अतएव परानन्दाभिख्यं रसं यथायोग्यं त्वद्भजनवान् रसयति।)

(२) 'परं तु सायुज्यातित्कैव**शाश्वती मुक्तिः सहस्रकमलोपासकानामेवेति**।'

[७] सहस्रदलकमलोपासकों की मुक्ति ही **'शाश्वतीमुक्ति'** है।

लक्ष्मीधर कहते हैं कि 'षड्दलकमलभेद मत' के अनुसार तो मुक्ति सुखस्वरूपा है। और यह सुख तो वैषयिक सुखों से सम्बद्ध है।

'तदात्मिकामुक्ति' का स्वरूप—यह मुक्ति (१) 'अत्यन्तदुःखोच्छेदात्मक है। (२) सायुज्यसिद्धि होने पर यह शिवभक्ति सम्पुटान्तर्भूत होने के कारण **'तदात्मिका मुक्ति'** है।

'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार कौलों के भेद—

(१) 'रोमकूपादिकौल' (२) 'वृषणोत्यकौल' (३) 'वह्निकौल' (४) 'कौलसद्भाव' (५) 'पदोत्तिष्ठ कौल।'

(क) आदि युग में—'कौलज्ञान'

(ख) त्रेतायुग में—'महत्कौल' या सिद्धकौल

(ग) द्वापर युग में—'सिद्धामृतकौल'

(घ) कलियुग में—'मत्स्योदरकौल'[1]

योगिनीकौल मत्स्येन्द्रनाथ सिद्ध या सिद्धामृतमार्ग के अनुवर्ती थे, उन्होंने **'योगिनीकौलमार्ग'** का प्रवर्तन किया।

आचार्य गौड़पाद और 'श्रीविद्यारत्नसूत्रम्'—आचार्य गौड़पाद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "श्रीविद्यारत्नसूत्र' में भी **'चिन्तामणिगृह'** और वहाँ विराजमान अनुत्तरा महाविद्या त्रिपुरसुन्दरी का वर्णन किया है। वे इसी सन्दर्भ में निम्न सूत्र की अवतारणा करते हुए कहते हैं—'अथ चिन्तामणिगृहस्थितः त्रिपुरसुन्दरी महाविद्याऽनुत्तरा।। (१५)

शाक्त दार्शनिक आचार्य हयग्रीव की दृष्टि—

'हयग्रीवविद्याशाक्तसिद्धान्तदर्शनमिति' (१५।३।२६)

आचार्य हयग्रीव ने **'मणिद्वीप'** में निवास को ही **'मुक्ति'** माना है—

'मणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति — हयग्रीवः ।।'[2]

'सर्वलोकमणिद्वीपवासो मुक्तिरेवेति हयग्रीवः ।।'[3]

'चिन्तामणि गेहः शक्तेः।। (१०।३।१)

'मणिद्वीपमिति' (१०।२।६) 'विकार संस्कारात्मिका रत्नमयी ।।८।।

प्रकृतिसंस्कारात्मिका चिन्तारत्नमयी।।९।। (चिन्तामणि ।)

गृहान्तःस्था तेन शक्तिः।।१०।। शाक्तज्ञानिनश्चिन्तामणि गेहम् ।।११।।

(१) **गाणपों का मत**—'चिन्तामणिगृहएव चिन्तामणिद्वीपमिति गाणपाः ।' (१०।४।१)

(२) **गर्ग की दृष्टि**—'प्रपञ्चत्रयवासनायुक्तमणिद्वीपवासो न मुक्तिरिति **गर्गः**।। (१०।३।१७)

'सर्वलोको मणिद्वीपम्' (८।४।१) (सर्वेलोकायस्यां संस्कार रूपेणप्रकृत्यात्मकास्तन्मयः सर्वलोकः ८।४।२ तत्रेश्वरी परशक्तिः।। (८।४।३) (सर्वलोकः। ८।४।२) तत्रेश्वरी पराशक्तिः।। (८।४।३) (सर्वलोक = ब्रह्मलोक। मणिद्विप।)

(३) **प्रजापति की दृष्टि**—न शक्तिलोकवासो मुक्तिः । ९।२।२

ब्रह्मलोकवासैव मुक्तिरिति प्रजापतिः।। (९।२।२)

१. कौलज्ञाननिर्णय
२. शाक्तदर्शनम् (९अ०।२पा०।सूत्र १९)
३. शा० द० (९।४।१४)

'मणिद्विपवासो मुक्तिरेवेति प्रजापतिः ।। (९।२।१९)

(४) **बादरि का मत**—'न मुक्तिर्मणिद्वीपवासः।।९।३।१।।
न तेन मुक्तिः इति **बादरिः** ।। (९।३।११)
सवलोकमणिद्वीपवासोमुक्तिरेवेति **हयग्रीवः** ।। (९।४।१४)

कुण्डलिनी और 'श्रीविद्या' (षोडशी) के भाग

(१) **कुण्डलिनी के भाग**
(१) अग्नि (२) सूर्य (३) सोम
(४) परा कुण्डलिनी

(२) **श्रीविद्या (षोडशी) के भाग**
(१) अग्नि (२) सूर्य (३) सोम
(४) पराखण्ड

भगवती का निवासस्थान अग्नि, सूर्य एवं सोम तीनों खण्डों से अतीत (ऊर्ध्ववर्ती) **चतुर्थखण्ड** है। यह चतुर्थखण्ड **बैन्दवस्थान का मध्यभाग** है। इसे ही **'महाबिन्दु'** कहते हैं।

षोडशी विद्या का मुख्य भाग (भगवती का निवास स्थान) उसका अन्तिम **कूट** है।

(१) कुण्डलिनी	(२) खण्ड	(३) कूट
(१) अधःकुण्डलिनी	अग्निखण्ड	वाग्भवकूट
(२) मध्यकुण्डलिनी	सूर्यखण्ड	कामराजकूट
(३) ऊर्ध्वकुण्डलिनी	सोमखण्ड	शक्तिकूट
(४) पराकुण्डलिनी	पराखण्ड	तुर्यकूट

तुर्यकूट—भगवती का निवास स्थान है। यहाँ 'शक्ति' एवं 'शिव' में **'सामरस्य'** होता है। 'सुषुम्णा नाड़ी' 'सहस्रार चक्र' तक जाती है। **इड़ा-पिङ्गला (चन्द्र-सूर्य) वहाँ तक नहीं पहुँच पातीं।**

'सुधासिन्धु' एवं 'बिन्दुस्थान'—**'सुधासिन्धु'** = अमृत समुद्र। **'सुरविटपिवाटीपरिवृते'** = सुरविटपों अर्थात् कल्पवृक्षों की वाटियों झम्पाओं से परिवृत। **'मणिद्वीप'** = मणिमयद्वीप। **'नीप'** = कदम्ब। **'चिन्तामणिगृह'** = चिन्तामणिविरचित मन्दिर।। **'चिदानन्दलहरी'** = चित् = ज्ञान, (तदाकारः आनन्दः निरतिशयसुखं, तस्य **लहरीं**—उत्सेकरूपाम्।।

*** 'भैरव यामल' में भी 'सुधासिन्धु' का वर्णन है ***

'बिन्दुस्थानं-----------------------उपबर्हणे ।।'
अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।
शिवार्कमण्डलंभित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ।
तदुद्भूतामृतस्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ।
कुलयोषित कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा ।।

—(भैरव यामल)

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—[हे भगवती! अन्य मत वाले **(कौलाचारी)**—'त्रिकोण ही तेरा कुलगृह है''—इस प्रकार कहा करते हैं। ये **समयाचारी लोग**—'यह चतुष्कोण रूप बैन्दव स्थान ही (तेरा) कुलगृह है—इस प्रकार कहा करते हैं। (हे भगवती! तुम) उसी अमृत के सागर में जो कि मणियों से निर्मित है एवं सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों के लिए भी अगम्य है, भगवान शिव (समय) के साथ विहार करती हो।।७]

सरोजिनी व्याख्या—'कौलमार्गी' एवं 'समयमार्गी' दोनों शाक्त सम्प्रदाय हैं और दोनों 'श्रीविद्या' के उपासक हैं किन्तु फिर भी दोनों में सैद्धान्तिक एवं साधनात्मक दोनों दृष्टियों में पर्याप्त मतभेद है।

कौलमार्ग के उपासक 'मूलाधारचक्र' में स्थित **'त्रिकोण'** के भीतर स्थित **'बिन्दु'** को भगवती का स्थान मानते हैं किन्तु समय मार्ग के उपासक **'चतुष्कोण'** के मध्य स्थित **'बिन्दु'** को भगवती का स्थान मानते हैं।

भगवती का स्थान

(१) 'बिन्दु'
(मूलाधारस्थ त्रिकोण में स्थित बिन्दु = **कौलमार्गी।**

(२) 'बिन्दु'
(चतुष्कोण में स्थित त्रिकोण के मध्य वर्तमान बिन्दु **(समयमार्गी)**

(क) 'कौलाः आधारचक्रपूजारताः।।'

भगवती का निवास स्थान—'अगम्ये रश्मीनां अर्थात् यहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं। यह अत्यन्त अगम्य, गुप्त एवं दुष्प्राप्य है।

भगवती कुण्डलिनी का निवास इसी पीयूषसमुद्रात्मक ''सहस्रार'' में ही है—

'महीं मूलाधारे कमपि, मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने, हृदिमरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥'[१]

(ख) **कौलमतानुसार**—इस मत के अनुसार **'श्रीचक्र'** में ९ त्रिकोण होते हैं। ये ही **९ 'त्रिकोण' ८ योनियाँ** के नाम से प्रख्यात हैं। इन ९ त्रिकोणों में से ५ शक्ति त्रिकोण नीचे की ओर मुख वाले होते हैं तथा ४ ऊर्ध्वमुख त्रिकोण 'शिवत्रिकोण' कहलाते हैं।

श्री चक्र में उपचक्रों का विधान या 'श्रीचक्र' का क्रम दो प्रकार का है—

[१] 'सृष्टि-क्रम' [२] 'संहार-क्रम'

(क) यदि ५ त्रिकोण (शक्तित्रिकोण) निम्नाभिमुखी होते हैं एवं ४ त्रिकोण (ऊर्ध्वमुखी शिवत्रिकोण) ऊर्ध्वमुखी होते हैं तो यह 'श्रीचक्र' का **'सृष्टिक्रम'** है।

(ख) यदि **'शक्तित्रिकोण'** ऊर्ध्वमुख होते हैं और **'शिवत्रिकोण'** अधोमुख होते हैं तो इस **'संहारक्रम'** कहते हैं।

कौलों की दृष्टि के अनुसार **'मूलाधारचक्र'** में जो योनिस्थान (त्रिकोण) है वही भगवती कुण्डलिनी का निवास स्थान है। इसी कारण कौलशक्ति (कुण्डलिनी) की उपासना मूलाधार चक्र में और तत्रस्थ त्रिकोण में करते हैं।

(क) **समयमार्गी** कहते हैं कि **कौल लोग** जो 'मूलाधार चक्र' में **शक्ति का पूजन** करते हैं वह त्याज्य है।

(ख) **समयमार्गी** कहते हैं कि शक्ति का पूजन **'मूलाधारचक्र'** में नहीं प्रत्युत् **'सहस्रार'** में करना चाहिए।

कौलों और समयमार्गियों का दृष्टिभेद एवं 'सुधासिन्धु'

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

(१) **त्रिकोण** ते **कौलाः** कुलगृहमिति प्राहुपरे॥
(२) **चतुष्कोणं** प्राहुः **समयिन** इमे बैन्दवमिति॥
(३) 'सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो।
रगम्ये रश्मीनां समय सहिते त्वं विहरेस॥' —सुभगोदय स्तुति (७)

१. सौन्दर्य लहरी (शङ्कराचार्य) श्लोक क्र० ९

'वामकेश्वर तंत्र' में प्रतिपादित दृष्टि—

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यः सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीप-श्रेणीच तन्मध्ये मणिमण्डपम्।
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणो।
सुधासिन्धुमध्येमणिद्वीपेरम्ये,
सुकल्पुमाकल्पकादम्बसन्त्रे ।
स्फुरत्स्वर्ण सिंहासने रत्नपीठे,
भवाङ्के निषण्णां भजाम्यन्त्रपूर्णाम्॥'

*** श्लोक क्र० ८ *** भगवती का षट्चक्रात्मक राजसदन *

वर्ण्यविषय * भगवती का सदन *

'त्रिखण्डं ते चक्रं शुचि-रवि-शशाङ्कात्मकतया
मयूरवैः षट्त्रिंशदृशयुततया खण्डफलितैः।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृत,
भवेन्मूलाधारात्प्रभृतितव षट्चक्रसदनम्॥८॥'[१]

[**अर्थ**—(हे भगवती!) तेरा चक्र ('श्रीचक्र'/श्रीपुर) अग्नि, सूर्य एवं चन्द्रमा से युक्त होने के कारण तीन सौ साठ रश्मियों से युक्त एवं (तीन) खण्डों से निर्मित है। ये तीन सौ रश्मियाँ पृथक-पृथक पृथिव्यादि तत्त्वों में उदित होती हुई विभक्त होती हैं और तू उनके द्वारा आवृत है। इस प्रकार मूलाधार आदि छः चक्रों वाला यह तेरा घर है॥८॥]—

सरोजिनी व्याख्या—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि पिण्ड में महाभूतात्मक एवं मनसात्मक जो छः चक्र ('षट्चक्र') हैं वे ही तेरे घर हैं। **षटचक्र भगवती का सदन है—कुलगृह है।**

ये सारे पिण्डस्थ चक्र एवं 'श्रीचक्र' दोनों ही त्रिखण्डात्मक हैं।

'त्रिखण्डं ते चक्रं'—'श्रीचक्र' के खण्डत्रय

(१) 'अग्निखण्ड' (२) 'सूर्यखण्ड' (३) 'चन्द्रखण्ड'
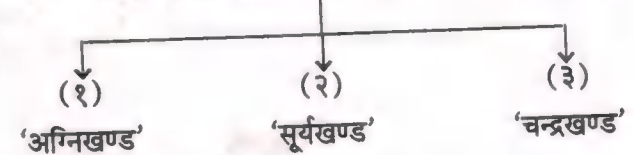
१. पाठान्तर—'मयूखैः षट्त्रिंशतयुतमाखण्डै फलितैः।' 'मयूखैः षट्त्रिंशचछतयुततया खण्ड फलितैः।' 'भवेन्मूलाधारप्रभृति।'

* 'श्रीचक्र' एवं पिण्डस्थ चक्रों की त्रिखण्डात्मकता एवं पारस्परिक अन्तर्संबन्ध *

श्रीचक्र (चतुर्भिश्शिवचक्रैश्च शक्ति चक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः ।।
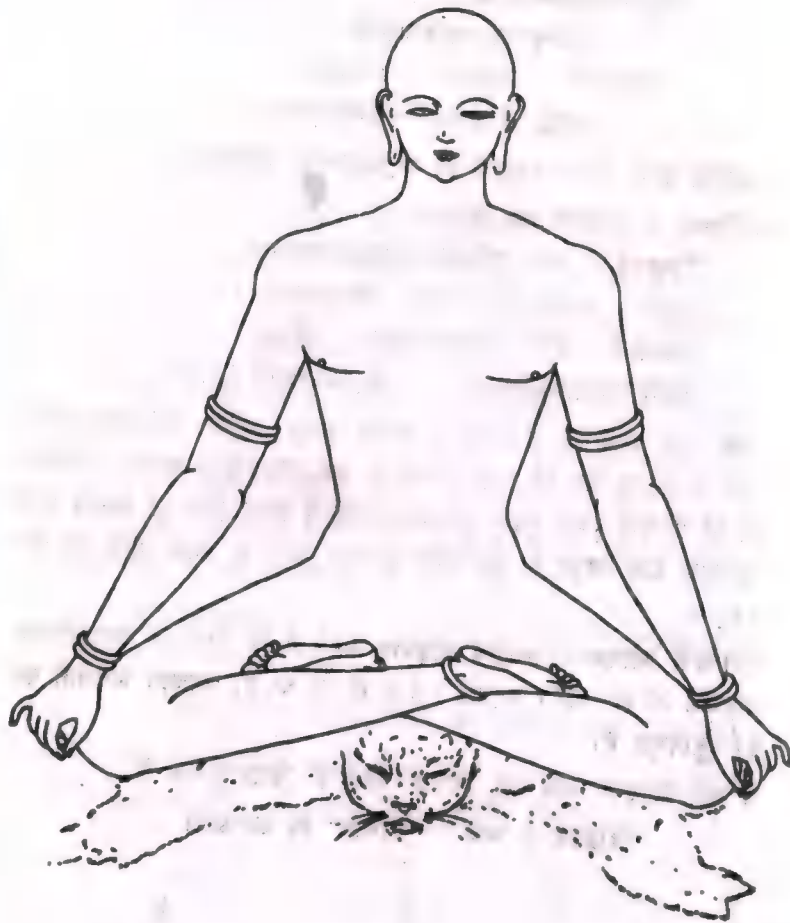
मूलाधार चक्र

"श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।।"

'श्रीचक्र'

शक्ति चक्र ५ — शिव चक्र ४

शक्ति चक्र ५: (१) त्रिकोण (२) अष्टकोण (३) दशारद्वितय (४) चतुर्दशार (चतुर्दशकोण)

शिव चक्र ४: (१) अष्टदल (२) षोडशदल (३) मेखला त्रितय (४) भूपुर त्रय

शक्तिचक्र

आन्तर चक्र (आन्तर) — बाह्यचक्र (शिवचक्र) (वाह्य)
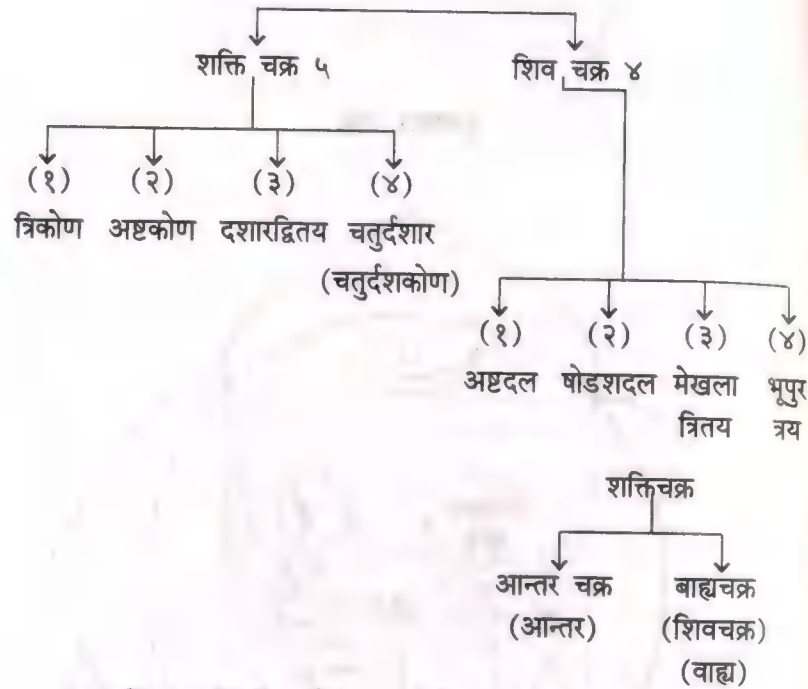
(१) शिवचक्राणि बिन्दुरुपेणाकृष्य शक्तिचक्रान्तरे स्थापितानि।

(२) **'बिन्दु'** शिवचक्रचतुष्टयात्मकः।

ऐक्य

(१) बिन्दु-त्रिकोण का ऐक्य

(२) अष्टकोण-अष्टदान में ऐक्य

(३) दशारयुग्म-षोडश-दल पद्म का ऐक्य

(४) चतुर्दशार-भूपुर का ऐक्य

—लक्ष्मीधराचार्य
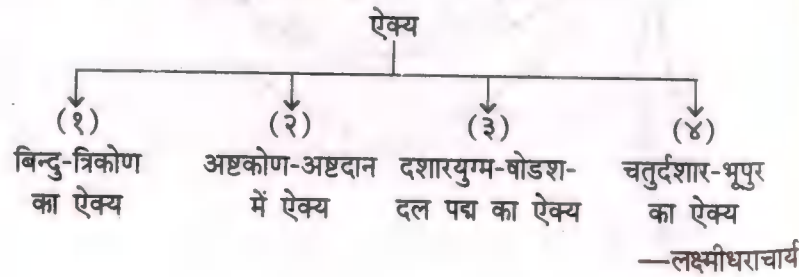
'श्रीचक्र' के खण्ड	**पिण्डस्थ षट्चक्रों के खण्ड**
(क) अग्नि खण्ड	(१) मूलाधार चक्र (पृथ्वीतत्त्व) (२) स्वाधिष्ठान चक्र (जलतत्त्व)[1]
(ख) सूर्यखण्ड	(१) मणिपूर चक्र (अग्नितत्त्व) (२) अनाहत चक्र (वायु तत्त्व)
(ग) सोम खण्ड	(१) विशुद्ध चक्र (आकाशतत्त्व) (२) आज्ञा चक्र (मनस्तत्त्व)

(१) तीनों खण्डों में स्थित किरणों की पूर्ण संख्या = ३६०

[क] अग्नि तत्त्व की किरणों = १०८

[ख] सूर्य की किरणों = ११६

[ग] चन्द्रमा की किरणों = १३६

(२) किरणों का कुल योग ३६०

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर 'सौन्दर्य लहरी' के श्लोक क्र. सं. ९ की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त तथ्यों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

(१) **चक्र छः हैं**—'मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशु द्धयाज्ञात्मकानि षट् चक्राणि।'

(२) **छःहों चक्र पञ्चभूतात्मक एवं आज्ञा मन तत्त्व संयुक्त है**—

'एतानि पृथिव्यग्निजल पवनाकाश मनस्तत्वात्मकानि।'

(३) **ये सभी तत्त्व इन चक्रों में तन्मात्रा के रूप में अवस्थित हैं**—

'तानि तत्त्वानि तेषु चक्रेषु तन्मात्रतयाऽवसिपतानि।'

(४) **तन्मात्रायें तो पञ्चमहाविषय हैं जो इस प्रकार हैं**—

'तन्मात्रास्तु गन्ध रूप रस स्पर्शशब्दात्मकाः।'

(५) **आज्ञाचक्रस्थ मनस्तत्व** ग्यारहवीं इन्द्रिय है अतः इन्द्रियाँ ११ हैं।

'आज्ञाचक्रस्थितेन मनस्तत्त्वेन एकादशेन्द्रियगरसः संगृहीतः।'

(६) इस प्रकार २१ तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया।

---

(१) **आचार्य शङ्कर के मतानुसार 'स्वाधिष्ठान चक्र' अग्नि** का एवं 'मणिपूरचक्र' **जलतत्त्व** का स्थान है। आचार्य **गौड़पाद की भी यही दृष्टि है** जो कि आचार्य शङ्कर के परमगुरु हैं। आचार्य शङ्कर ने 'सौन्दर्य लहरी' में अपने परम गरु की ही दृष्टि स्वीकार की है।

(७) कौल चक्रे **त्रिकोणामध्यगतो** बिन्दुः ।
समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दुः । (लक्ष्मीधर)

(८) इस प्रकार सोम-सूर्य-अनल पिण्ड-ब्रह्माण्ड में आवृत रहकर रहा करते हैं। पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड में ऐक्य होने के कारण पिण्डाण्डा वृत्ति ही ब्रह्माण्डा वृत्ति भी है।

(९) इस प्रकार 'पिण्ड' एवं 'ब्रह्माण्ड' दोनों का अतिक्रमण करके उनसे अत्युच्च धाम में **'सहस्र कमल'** स्थित है। **'सहस्र कमल'** ज्योत्स्नामय लोक है। वहाँ का चन्द्रमा **नित्यकल** है। उसकी कलायें उसमें नित्य रहती हैं उनका क्षय कभी नहीं हुआ करता।

शंका—'आज्ञा चक्रोपरि स्थितश्चन्द्रः'

'तवाज्ञाचक्रस्म्'—वाक्यों में जिस चन्द्रमा की बात की गई है वह **'चन्द्रकलाव स्थान** मात्र है न कि **चन्द्रमा का मूल स्थान।**

रुद्रयामलकार की दृष्टि—(श्री चक्र, खण्डत्रय एवं पिण्ड) 'रुद्रयामल तंत्र में कहा गय है कि **'चक्र'** और **'जगत'** ये दोनों ही **'अग्निषोमात्मक'** हैं। 'श्रीचक्र' सोम-सूर्य-अनल नामक खण्डत्रय में विभक्त है—

'अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोममयं जगत् ।
अग्नावर्त्तर्बभौ भानुरग्नीषोममयं स्मृतम् ।
'त्रिखण्ड मातृका चक्रं सोमसूर्यानलात्मकम् ।'

खण्ड	**षट्चक्र**	**चक्रों के नाम**
(१) अग्नि खण्ड	पिण्ड के	(१) मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र
(२) सूर्य खण्ड	चक्रों के	(२) मणिपूर चक्र एवं अनाहते चक्र
(३) सोम खण्ड	साथ तादात्म्य	(३) विशुद्ध और आज्ञा चक्र।'

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्य लहरी' के श्लाक क्रम संख्या १४ में लिखा है कि—

(१) आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञा चक्र नामक जो **'षट्चक्र'** हैं वे **'श्री चक्र'** में अवस्थित हैं—

'आधारस्वाधिष्ठान मणिपूरानाहतविशुद्ध्यानाचक्रात्मकं **श्री चक्रं'**

(२) 'श्री चक्र' त्रिखण्डात्मक है—

'श्री चक्रं त्रिखण्ड सोमसूर्यानलात्मकम् ।'

(३) खण्डत्रय का विवरण इस प्रकार है—

(क) मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों का एक खण्ड है ।

(ख) मणिपूर एवं अनाहत चक्रों का एक खण्ड है।

(ग) विशुद्धि एवं आज्ञा चक्रों का एक खण्ड है।

(४) (क) **प्रथम खण्ड** के ऊपर **'अग्निस्थान'** है। इसे ही **रुद्रग्रंथि'** कहते है।

(ख) **द्वितीय खण्ड** के ऊपर **'सूर्य स्थान'** है और उसे ही **'विष्णु ग्रंथि'** कहते हैं।

(ग) **तृतीय खण्ड** के ऊपर **'चन्द्र स्थान'** है और इसे ही **'ब्रह्मग्रंथि'** कहते हैं।

'सोमसूर्यानलात्मकं' कथन अवरोहणक्रमानुगत है।

(५) (क) **प्रथम खण्ड** के ऊपर सिथत जो **'वह्नितत्त्व'** है वह अपनी ज्वालाओं से समस्त प्रथम खण्ड को आवृत किए रहा करता है।

(ख) **द्वितीय खण्ड** के ऊपर सिति जो **'सूर्य'** है वह अपनी किरणों द्वारा द्वितीय खण्ड को आवृत करके रहा करता है।

(ग) **तृतीय खण्ड के ऊपर स्थित** जो **'चद्रमा'** वह अपनी कलाओं से तृतीय खण्ड को आवृत्त करके स्थित है।

तत्त्वों की ज्वालायें

(१) ६५ ज्वालायें — **महीतत्त्वात्मक** **'आधार चक्र'** में वह्नि की षट्पञ्चाशत (६५) ज्वालायें हैं।

(२) ५२ — **उदकतत्त्वात्मक** **'मणिपूर'** में अपन ऊपर स्थित द्विपञ्चाशत (५२) ज्वालायें हैं।

(३) ६२ — **अग्नितत्त्वात्मक** **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में सूर्य की द्वाषष्टि (६२) किरणें हैं

(४) **अनिलतत्त्वात्मक** अनाहत चक्र में (५४) किरणें हैं।

(५) **विशुद्धिचक्र** में चन्द्रमा की ७२ किरणें हैं। (वियतत्त्व)

(६) **आज्ञाचक्र** में ६४ किरणें हैं। (मनस्तत्त्व)
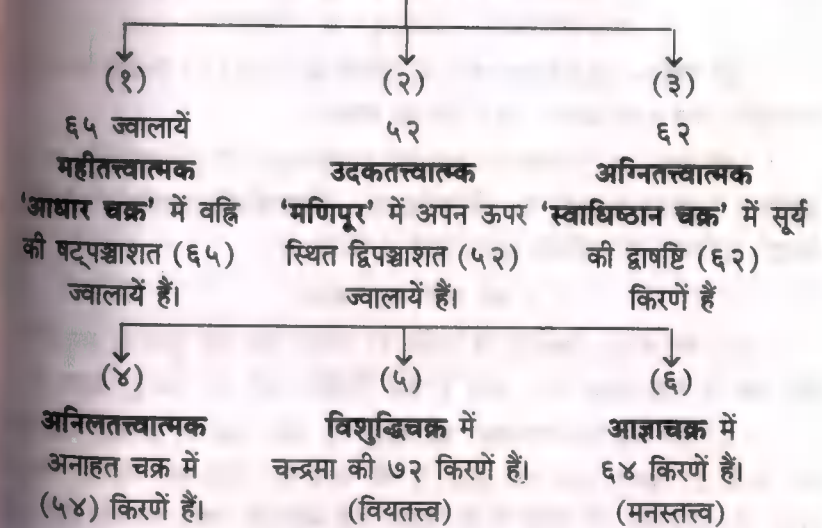
(१) अग्नितत्त्वात्म **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में सूर्य भी ६२ किरणें।

(२) अनिल तत्त्वात्मक अनाहत चक्र में ५४ किरणें

(३) सूर्य किरणों का **'मणिपूर चक्र'** को छोड़कर 'स्वाधिष्ठान चक्र' में

इसलिए प्रवेश होता है क्योंकि सूर्य एवं अग्नि दोनों एक ही हैं और इसलिए भी कि—अग्नि का सूर्य के भीतर ही अन्तर्भाव है।

(४) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** एवं **'मणिपूरक चक्र'** जो कि सूर्य एवं अग्नि के स्थान हैं—उन दोनों के स्थान के मध्य **'अग्निस्थान'** में **सूर्य का प्रवेश** एवं सूर्य के स्थान में **अग्नि का प्रवेश** है और यह जगत को भस्मीभूत करने वाले अग्नि का शामक संवर्त मेघात्मक सूर्य किरण जनित वर्षा की उत्पत्ति के अच्छे उद्देश्य से है।

(५) इस प्रकार सूर्य की ११६ (षोडशोत्तर शत) किरणें हैं।

(६) वियत्तत्वात्मक **'विशुद्धि चक्र'** में चन्द्रमा की ७२ (द्विसप्तति) हैं।

(७) मनस्तत्त्वात्मक **'आज्ञा चक्र'** में ६४ (चतुष्षष्टि) किरणें हैं।

(८) चन्द्रमा की षट्त्रिंशदुत्तर शत (३६०) कलायें हैं।[१]

भैरवयामलकार की दृष्टि—'भैरव यामल के **'भैरवाष्टक प्रस्ताव'** में कहा गया है कि—

'अष्टोत्तरशवं वह्नेः षोडशोत्तरकं रवेः।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य च विनिर्णय'

'श्री यन्त्र'—(१) मानव शरीर = साधक का शरीर (२) निःशेष विश्व (३) शिवशक्ति स्वरूप या आत्मा। (४) देवी का स्वरूप।

'श्री यंत्र' = (१) स्वरूपस्थ देवी या (२) विश्वात्म देवी का स्वरूप है। यह मत **कादिमत से सम्बद्ध है।** कादि तंत्र **'योगिनीहृदय'** **'नित्याषोडशि कार्णव'** **'भावनोपनिषद'** कादिमत का उपनिषद आदि ग्रन्थों में निबद्ध है।

'श्री यन्त्र' का स्वरूप

(१) श्री यन्त्र ९ त्रिकोणों से निर्मित है। प्रत्येक चक्र एक दूसरे में अन्तर्निविष्ट है। अन्त में एक स्थल ऐसा आता है जहाँ त्रिकोण नहीं मात्र 'बिन्दु' आता है।

(२) इस नव त्रिकोणात्मक **'श्री यन्त्र'** के नवों चक्रों में भगवती की पूजा की जाती है; किन्तु पूजा मात्र केन्द्र में की जाती है। सप्त वर्ण निर्मित 'पादुका मन्त्र' से समन्वित नौ नामों में से किसी एक नाम के साथ भगवती की पूजा की जाती है।

---

१. 'आधार चक्र' में वह्नि की ६५ ज्वालायें हैं। उदक तत्व वाले मणिपूरचक्र के ऊपर ५२ ज्वालायें हैं। वह्नि की १०८ ज्वालायें हैं। (लक्ष्मीधरा सौ०ल० १४)

'श्री चक्र'

(१) **'शिवचक्र'** (९ में से ४ त्रिकोण : ऊर्ध्वमुखी, 'श्रीकण्ठ' 'शिवतत्त्व' चक्र = **'शक्तिचक्र'**

(२) 'शक्तिचक्र' ५ चक्र 'शक्तिचक्र शिवयुवित' निम्नाभिमुखी

सभी चक्र शिव बिन्दु की **'मूल प्रकृति'** से निर्मित हैं। नवीं रचना **'मूल प्रकृति'** है तथा शेष आठ रचनायें (श्री चक्र के आठ चक्र) प्रकृति की विकृतियाँ हैं।

(क) नौ चक्र 'सृष्टि' (Creation) 'स्थिति' (Maintenance) एव संहार (Destruction) तीनों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सृष्टि-स्थित-संहार के भेद

(१)	(२)	(३)	३
सृष्टि-सृष्टि	सृष्टि-स्थिति	सृष्टि-संहार	३
(१)	(२)	(३)	
स्थिति-सृष्टि	स्थिति-स्थिति	स्थिति-संहार	३
(१)	(२)	(३)	
संहार-सृष्टि	संहार-स्थिति	संहार-संहार	३
			—योग [९]

उपासना या पूजा उद्देश्य क्या है? **'भावनोपनिषद'** में कहा गया है कि ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय—इन तीनों में एकता की अनुभूति ही **'पूजा'** का परम लक्ष्य है। यही उद्देश्य प्रत्येक अद्वैतवादी साधक का भी है।

भगवती का सदन

(१) **षट्चक्र**

(२) (सुधासिन्धोर्मध्येसुरविटपिवाणीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे
—सौन्दर्य लहरी

(३) **नवचक्र**

(१) मूलाधार चक्र	(१) सर्वानन्दमय बिन्दुचक्र—बिन्दु (रक्त) सहस्रार
(२) स्वाधिष्ठान चक्र	(२) सर्वसिद्धिप्रद—त्रिकोण
(३) मणिपूरक चक्र	(३) सर्वरोगहर चक्र—अष्टार (अष्टकोण)

(४) अनाहत चक्र	(४) सर्वरक्षाकर चक्र—अन्तर्दशार
(५) विशुद्धाख्य चक्र	(५) सर्वार्थसाधक चक्र—बहिर्दशार
(६) आज्ञा चक्र	(६) सर्वसौभाग्यदायक—चतुर्दशार
(७) सहस्रदलपद्म/शून्य चक्र (सहस्रार शिवपुर)	(७) सर्वसंक्षोभण—अष्टदल चक्र
	(८) सर्वाशापरिपूरक-षोडशार चक्र त्रिवलय, त्रिरेखांकित प्राकार
५ शक्तिकोण + ४ शिवकोण→	(९) त्रैलोक्य मोहन-भूपुर

'श्रीचक्र'

('१) बिन्दु—त्रिकोण चक्र
(२) त्रिकोण चक्र —अष्टकोण } ('श्रीचक्र' श्री विद्या का स्थूल शरीर है। वही महात्रिपुर सुन्दरी का निवास-सदन है।

'त्रिकोणौरष्टारं त्रिमिरपि **दशारं** समुद्भू
दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्र समभवत्।
ततोऽभून्नागारं **नृपतिदलमस्मात्रिवलय,**
चतुर्द्वाः प्रकार त्रितय मिदमेवाम्ब शरणम्।।[१]

—गौड़पादाचार्य

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपिभ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे।।[२]

—शंकराचार्य

*** श्लोक क्रमांक-९ ***

(वर्ण्य विषय) *** भगवती के चरण रज और काल तत्त्व ***

शतं चाष्टौ वह्ने शतमपि कलाः षोडश रवेः।
शतं षट च त्रिंशत्सितमय मूयरवाश्चरणजाः।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभयं स्त्वच्चरणजाः।
महाकौलैस्तस्मान्नहि तव शिवेकालकलनाः[३]।।९।।

[**अर्थ**—हे शिवे! अग्नि की १०८ (किरणों) सूर्य की ११६ (किरणें) एवं

---

१. सुभगोदयस्तुति (१७)
२. सौन्दर्यलहरी (९)
३. **पाठान्तर**—षट्त्रिंशद्दै (अथवा 'द्वे') सितमयि। चरणगा। महाकालस्तमात्।

चन्द्रमा की १३६ (किरणें) जो कि **'कलायें'** है वे किरणें तुम्हारे श्री चरणों की महारज हैं (चरणों से उत्पन्न हुई हैं)।

तुम्हारे चरणों से उत्पन्न ये जो तीन सौ साठ, अभवात्मक किरणें हैं (उनके चरण रज बनकर रहने के कारण) महाकाल द्वारा भी आपके काल कल कलना सम्भव नहीं हैं (अर्थात् आप महाकाल से भी अतीत हैं।)।।९।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) ६ चक्रों से ग्रथित सुषुम्णामार्ग ही भगवती का अपना सदन है।

(२) समयाचारी, **ब्राह्मपूजा** की निषिद्ध मानने के कारण, सुषुम्णापथ को ही 'श्री चक्र' मानते हैं।

(३) इस श्री चक्र के विषय में आचार्य शङ्कर ने तो यह कहा था कि—'शरीर ही श्री चक्र' है और यह भी कहा कि 'शक्ति शिव का शरीर है'—

'शरीरं त्वं शंभो, शशि मिहिरवक्षोरुहयुगं।' (सौ. ल. ३४)

[हे भगवति! शम्भोस्त्वं शशि मिहिर वक्षोरुहयुगं शरीरं भवसि।)]

'श्री चक्र' और उसका स्वरूप—आचार्य गौड़पाद **'श्री चक्र'** को त्रिखण्डात्मक मानते हैं। वे कहते हैं—'त्रिखण्डं ते चक्र'

ये खण्ड किस स्वरूप के हैं? आचार्य भी कहते है—

'(त्रिखण्डते चक्रं) शुचि-रवि-शशाङ्कात्मकतया।'

श्री चक्र के खण्डत्रय

(१)	(२)	(३)
अग्नि खण्ड	सूर्य खण्ड	चन्द्र खण्ड
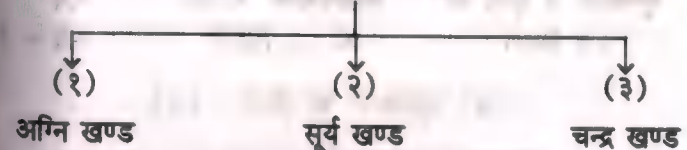
'रुद्रयामल तन्त्र' में **प्रतिपादित दृष्टि**—उसमें कहा गया है—

'अग्नीषोमात्मकं चक्र मग्नीषोममयं जगत्।
अग्नावन्तर्बभौ भानुरग्नीषोममयं स्मृतम्
त्रिखण्डं मातृका चक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्' ।।

इन तीनों खण्डों में स्थित जो किरणे हैं उन सब की सम्मिलित संख्या ३६० है। इन्हीं ३६० किरणों से यह चक्र (श्री चक्र) आवृत है।

(क) 'अग्निखण्ड' की किरणें = १०८ किरणें।।

(मूलाधार चक्र में पृथ्वी तत्त्व की किरणें)

(१) ५ महाभूत ५ तन्मात्रायें ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ४ अन्तःकरण चतुष्टय

१ कला १ प्रकृति १ महत १ पुरुष = २८

(क) शैव किरणें = २८

(ख) शक्ति सम्बन्धी = २८ [५६] किरणें

(२) स्वाधिष्ठान चक्र में स्थित जल की ५२ किरणें

५ महाभूत ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ १० इन्द्रियों के कार्य १ मन = २६

(क) शिव सम्बन्धी किरणें—२६

(ख) शक्ति सम्बन्धी किरणें—२६ [५२] किरणें

'अग्निखण्ड' १०८ किरणें

(क) 'मूलधार' में पृथ्वी की ५६ किरणें

'स्वाधिष्ठान' में जल की ५२ किरणें

योग ५२ ५६ = [१०८]

[ख] 'सूर्यखण्ड' की किरणें : ११६

(१) मणिपूर चक्र में अग्नि की ६२ किरणें

(२) अनाहत चक्र (हृदय में स्थित वायु की ५४ किरणें।

अर्थात्—

(१) अग्नि की किरणें = ६२

(२) वायु की किरणें = ५४ [११६]

(१) 'मणिपूरक चक्र' में अग्नि की ६२ किरणें

(१) ५ महाभूत (२) ५ तन्मात्रायें (३) ५ कर्मेन्द्रियाँ (४) ५ ज्ञानेन्द्रियाँ (५) १० इन्द्रियों के कार्य (६) १ मन = ३१

(१) शिव सम्बन्धी किरणें = ३१

(२) शक्ति सम्बन्धी किरणें = ३१ [६२] किरणें।

(२) 'अनाहत चक्र' में वायु की ५४ किरणें

(१) ५ महाभूत (२) ५ तन्मात्रायें (३) ५ कर्मेन्द्रियाँ (४) ५ ज्ञानेन्द्रियाँ

(५) ४ अन्तःकरण (६) १ कला (७) १ प्रकृति (८) १ पुरुष =२७

(१) शिव सम्बन्धी किरणें = २७

(२) शक्ति सम्बन्धी किरणे = २७ [५४] किरणें।

[ग] 'चन्द्रखण्ड' की किरणें = १३६

(१) विशुद्ध चक्र की किरणें ७२।।

(२) आज्ञा चक्र की किरणें ६४।।

= योग ७२ + ६४ = [१३६] किरणें।

(१) 'विशुद्ध चक्र' में आकाश तत्त्व की किरणें = ७२

सारांश—(१) शिव की किरणें =३६

(२) शक्ति की किरणें =३६ [७२] किरणें।

(२) 'आज्ञा चक्र' में ६४ किरणें—शिव, शक्ति, सदारव्य एवं महेश्वर इन ४ तत्त्वों को छोड़कर शेष ३२ तत्त्वों के (१) शिव, (२) शक्ति के द्विधा भेद के कारण निर्मित।

(क) ३२ शिव-सम्बद्ध किरणें

(ख) ३२ शक्ति-सम्बद्ध किरणें [६४] किरणें।

७२ = किरणें 'विशुद्ध चक्र' में आकाश तत्त्व भी हैं।

६४ = किरणें 'आज्ञा चक्र' में स्थित हैं।

महायोग ७२ + ६४ = [५४] किरणें। ये समस्त किरणें—३६० किरणें।

(क) **'अग्नि खण्ड'** की किरणें = १०८ }
(ख) **'सूर्य खण्ड'** की किरणें = ११६ } [३६०] किरणें।
(ग) **'चन्द्र खण्ड'** की किरणें = १३६ }

भगवती के चरणों के रज से उत्पन्न हुई हैं। भगवती महात्रिपुर सुन्दरी इन सभी से अतीत एवं अत्यन्त ऊपर **बैन्दव स्थान ('सहस्रार')** में निवास किया करती हैं। निष्कर्ष यह कि समस्त स्थान **भगवती के चरणरेणु** से ही निर्मित हैं।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर भी अपने परम गुरु आचार्य गौड़पाद के सिद्धान्तों का अनुवर्तन करते हुए **तत्त्वों एवं किरणों** में **अर्न्तसम्बन्ध** बताते हुए कहते हैं—

'क्षितौ षट्पञ्चाशद्विसमधिकपञ्चाशदुदके ।
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपञ्चाशदनिले ।।
दिवि द्विषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरितिये ।
मयूषास्तेषामप्युपरि तव पदाम्बुजयुगम् ।।'[१]

अर्थात् पृथ्वी तत्त्व में ५६; जल तत्त्व में ५२, अग्नि तत्त्व में ६२, वायु तत्त्व में ५४, आकाश तत्त्व में ७२ एवं मनस्तत्त्व में ६४ मयूषें (रश्मियाँ) भगवती के दोनों श्री चरणों में स्थित हैं।

ध्यातव्य बिन्दु—

(१) एक संवत्सर (वर्ष) में ३६० दिन रूपी किरणें होती हैं। ३६० किरणें छः ऋतुओं विभाजित हैं।

(२) छः चक्र वर्ष की छः ऋतुओं से समीकृत भी है।

(क) **बसन्त की समानता व 'मूलाधार'** से है—क्योंकि वसन्त में **पृथ्वी का वेध** होकर **पुष्प खिलते हैं** और **सुगन्ध का विकास** होता है।

(ख) **ग्रीष्म ऋतु की समानता स्वाधिष्ठान'** से है क्योंकि—ग्रीष्म ऋतु में **जल का वेध** होकर **जल सूखने** लगता है।

(ग) **वर्षा ऋतु की समानता 'मणिपूर' से है क्योंकि**—पावस ऋतु में **अग्नि का वेध** होकर **विद्युत एवं मेघ** का **विकास** होता है।

१. सौन्दर्य लहरी (१४)

(घ) **शरदर्तु की समानता 'अनाहत चक्र'** से है क्योंकि—शरद ऋतु में **वायु का वेध** होकर वातावरण शान्त निर्मल हो जाता है।

(ङ) **हेमन्त ऋतु की समानता 'विशुद्ध चक्र'** से है क्योंकि—हेमन्त ऋतु में **आकाश का वेध होकर शीत का प्राधान्य** हो जाता है।

(च) **शिशिर ऋतु में समानता 'आज्ञाचक्र'** से है क्योंकि—इसमें चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है।

सारांश यह कि—

(१) ३६० किरणों वर्ष की ३६० तिथियों से साम्य रती हैं। पिण्ड के संवत्सर का पुरुष ही आधार है।

(२) कृष्णापक्ष एवं शुक्ल पक्ष भी शक्ति-शिव से समीकृत किये जा सकती हैं।

(३) कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा की अन्वय एवं शुक्ल पक्ष में तन्नेय भूमिका माननी चाहिए।

(४) उत्तरायण एवं दक्षिणायान को सूर्य (प्राण) की उन्नेय एवं अन्वयात्मक भूमिकाओं से समीकृत किया जा सकता है।

कौलमार्गियों की पूजा—कौलमत के अनुयायी भगवती का पूजन मूलाधार चक्र में ही किया करते हैं। इसी कारण वे भगवती के काल (संवत्सर रूपी चक्र) से अनभिज्ञ हैं और वे भगवती के संवत्सरात्मक (कालात्मक) स्वरूप को नही जानते—'महाकौलेस्तस्मात्र **हि तव शिवे! काल-कलना'** संवत्सर भी त्रिखण्डात्मक हैं।

संवत्सर

(१)	(२)	(३)
अग्निमय	सूर्यमय	सोममय

अहोरात्र

(१)	(२)	(३)
दिन	रात्रि	सन्ध्या
(सूर्यात्मक)	(चन्द्रात्मक)	(अग्न्यात्मक)
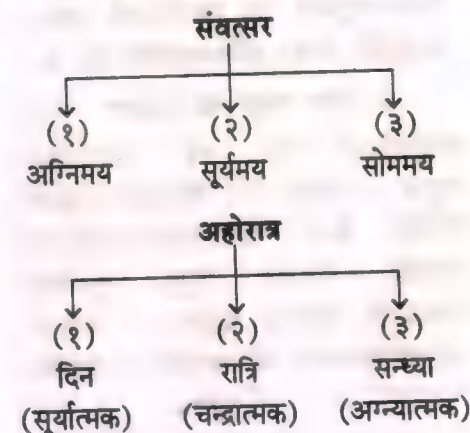
(क) ब्रह्माण्ड ही **श्री चक्र** है या

(ख) **'श्री चक्र'** ब्रह्माण्ड एवं शरीर का प्रतीक है।

(ग) **'श्री चक्र'** भगवती का शरीर एवं आसन भी है।

'भैरवयामल' में प्रतिपादित दृष्टि—'भैरवयामल' की 'चन्द्रज्ञानविद्या' में कहा गया है कि 'कलाविद्या' पराशक्ति श्रीचक्राकाररूपिणी है। उसके मध्य में जो **'बैन्दवस्थान'** है उसमें परमेश्वरी का निवास है—

'कालाविद्या पराशक्तिः श्रीचक्राकाररूपिणी।
तन्मध्ये बैन्दव स्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी॥'

'श्री चक्र' ब्रह्माण्डकाराकारित भगवती त्रिपुर सुन्दरी का ही एक रेखात्मक प्रकाशन है।[१]

रुद्रयामलकार की दृष्टि—पृश्नयोनाम मुनयः सर्वे चक्रमुपाश्रिताः।
सेवमानाश्चक्रविद्यां देवगन्धर्व पूजिताम्॥
अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोममयं जगत्।
अग्नाबन्तर्बभौ भानुरग्नीषोममयं स्मृतम्॥
त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यनलात्मकम्।
महालक्ष्म्याः परं चक्रं तत्रैवास्ते सदाशिवः॥

भैरवयामलकार की दृष्टि— रुद्र यामल श्री चक्र शिवशक्ति का शरीर है—

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं **शिवयोर्वपुः**॥'

*** 'शक्ति चक्र' का स्वरूप' ***

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि **शक्तिचक्राणि** पंच च॥[२]

'शिव चक्र' का स्वरूप[३]

बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्
चतुरस्रं चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्॥
त्रिकोणो बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके।
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्॥

१. भैरवयामल
२. भैरवयामल (चन्द्रज्ञान विद्या)
३. भैरवयामल

त्रिकोणामष्टकोणं च दशकोण द्वयं तथा।
मनुकोणं च चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट् क्रमात्॥
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः॥
नवाधार स्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति।
त्रिकोणरूपिणि शक्तिर्बिन्दुरूपः शिवः स्वयम्॥
अविनाभावसम्बन्धस्तस्माद् बिन्दु त्रिकोणाेः॥

—भैरव यामल

*** रश्मि-विज्ञान और उसका महत्व ***

भैरवयामलकार की दृष्टि—

माहात्म्यमत्र रश्मीनां यामले भैरवाभिधे।
रहस्यमनुपृच्छन्त्यै पार्वत्यै शम्भुनोदितम्॥
साधु-साधु महाभागे पृष्टं त्रैलोक्य सुन्दरि।
गुह्याद गुह्यतमं ज्ञानं न कुत्रापि प्रकाशितम्॥
कलाविद्या पराशक्तिः श्रीचक्राकाररुपिणी।
तन्मध्ये **बैन्दवं स्थानं** तत्रास्ते **परमेश्वरी**।
सदाशिवेन संयुक्ता सर्वतत्वातिगामिनी॥
चक्र त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरी।
पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च॥
इन्द्रियात्मकमेंव च मनस्तत्वात्मकं तथा।
मायादितत्त्वरूपं च तत्वातीतं च **बैन्दवम्**॥
बैन्दवे जगदुत्पत्तिस्थिति संहारकारिणी।
सदाशिवेन संपृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी॥
ज्योतिरूपानिराकारा यस्या देहोद्भवाः शिवे।
किरणाश्च सहस्रं च द्विसहस्रं च लक्षकम्।
कोटिरर्बुदमेवैषां परा संख्या न विद्यते॥

—भैरव यामल

तमिवानुप्रविश्यैव भाति विश्वं चराचरं।
यस्या भासा महेशानि सर्वं विश्वं विभासते॥
तद्भसा रहितं किंचिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिदरूपायाश्रितं विना।

—भैरव यामल

भैरव यामलकार की दृष्टि—

आन्ध्यमापद्यते नूनं जगदेतच्चराचरम् ।
तेषामनन्त कोटीनां मयूरखानां महेश्वरी ॥
मध्ये षष्ट्युत्तरं देवि! त्रिशनं किरणाः शिवे ।
ब्रह्माण्ड व्यश्नुवानास्ते सोमसूर्यानलात्मना ॥

—भैरव यामल

अग्नेरष्टोत्तरशतं षोडशोत्तरकं रवेः ।
षट्त्रिंशदुत्तरशतं चन्द्रस्य किरणाः शिवे ।
ब्रह्माण्डं भासयन्तस्ते पिण्डाण्डमपि शांकरी ।
दिवा सूर्यस्तथा रात्रौ सोमो वह्निश्च संध्ययोः ॥

—भैरव यामल

प्रकाशयन्तः कालीस्ते तस्मात्कालात्मास्त्रयः ।
षष्ट्युत्तरं च त्रिशतं दिन्यान्येव तु हायने ॥

—भैरव यामल

(क) **'श्री चक्र'** (१) **सूर्यात्मक,** (२) **सोमात्मक** एवं (३) **अनात्मक** है।

(ख) **'श्री चक्र' में ४३ त्रिकोण हैं।**

सूर्य की २२ कलायें हैं। २२ नित्यायें हैं। २२ राशियाँ हैं। ३ वेद है। चार स्वर हैं। सभी का योग ४३ होने से यह **सूर्यात्मक** है।

(ग) सेम की १६ कलाओं तथा २७ नक्षत्रों का योग ४३ होने से यह **सोमात्मक** होता है।

(घ) **'त्रिकोण'** तो स्वयमेव अग्नि का स्थान है। तत्रस्थ बिन्दु अग्नि है। **'अष्टार'** ४ प्रकार की अग्नि का द्योतक है। **'बहिर्दशार'** १० विभूतियों का द्योतक है। **'चतुर्दशार'** १४ भुवनों का द्योतक है। इस प्रकार यह **अनलात्मक** भी है।

श्लोक क्रमांक१०—श्री चक्रस्थ नवचक्रो एवं पिण्डस्थ षट्चक्रों में अन्तसम्बन्ध—

'त्रिकोणं चाधारं त्रिपुरतने **तेऽष्टारमनघे** ।
भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि **दशारं मणिपुरम्** ॥
दशारं ते **संवित्कमलमथ मन्वश्रकमुमे** ।
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो **बैन्दवगृहम्** ॥१०॥

[**अर्थ**—(हे निष्पाय सुन्दरी! महात्रिपुरे! (श्री चक्र के मध्य में अवस्थित)

त्रिकोण (पिण्डस्थित) **'मूलाधार चक्र'** है। (श्री चक्र में अवस्थित जो) **'अष्टार'** है वह (पिण्डस्थित) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** है और जो (श्री चक्रस्थ) **'अन्तर्दशार'** है वह पण्डिस्थ **'मणिपूरकचक्र'** एवं श्रीचक्रस्थ **'बहिर्दशार'** (पिण्डस्थ) **'संवित् कमल'** या **'अनाहतचक्र'** है। हे उमा! जो (श्रीचक्रस्थ) **'चतुर्दशार'** है वह (पिण्डस्थ **'विशुद्ध चक्र'** है और (जो श्री चक्र में) शिवस्थान है वही (पिण्डस्थ) 'आज्ञाचक्र' है और उसके बाद **'बैन्दव स्थान'** है॥१०॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य शङ्कर ने श्लोक क्रमांक ८ में 'श्री चक्र' को त्रिखण्डात्मक एवं प्रकाशत्रयात्मक कहकर उनका पिण्डस्थ षट्चक्रों के साथ ऐक्य सम्बन्ध बताया था किन्तु श्लोक १० में उन्होंने 'श्री चक्र' के प्रत्येक चक्र का शरीर में स्थित सप्त चक्रों के साथ उनके अन्तसम्बन्ध पर प्रकाश डाला है।

'श्री चक्र' की नौ योनियाँ

(१) त्रिकोण (२) अष्टार (३) अन्तर्दशार (४) बहिर्दशार (५) चतुर्दशार

(६) अष्टदलपद्म (७) षोडशदलपद्म (८) वृत्तत्रय (९) भूपुर

'शिवचक्र' और 'शक्तिचक्र'

(१) त्रिकोण (२) अष्टार (३) अन्तर्दशार (४) बहिर्दशार (५) चतुर्दशार

(१) अष्टदलपद्म (२) षोडशदलपद्म (३) वृत्तत्रय (४) भूपुर
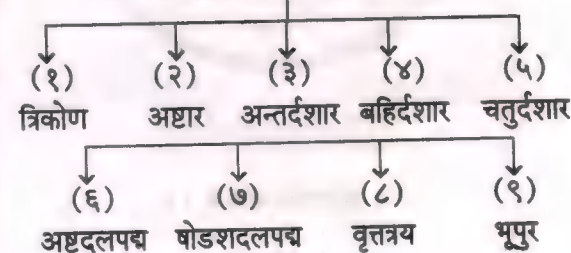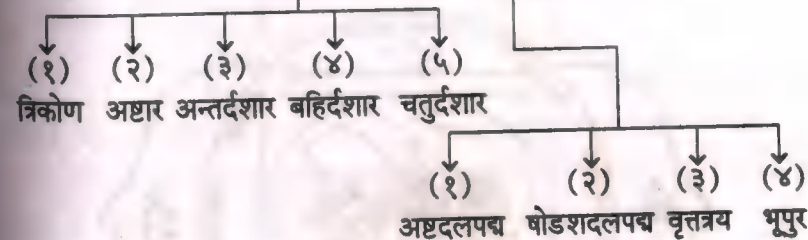
चतुष्कोण 'भूपुर' है। वही वहस्रार है। वृत्तत्रय बैन्दव स्थान है।

(१) **५ शक्ति चक्र** ही पाँच पिण्डस्थ चक्र हैं अर्थात् वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत एवं विशुद्ध चक्र हैं।

(२) 'आज्ञा चक्र' तथा इससे ऊपर के स्थान **'शिव चक्र'** है।

(३) 'अष्टदल' एवं 'षोडश दल' (शिव चक्रों के प्रथम चक्रद्वय) **चन्द्रमा के द्योतक हैं।**

।। श्रीयन्त्र ।।

।। मूलाधारचक्रम् ।।

वँ

सँ

शँ

षँ
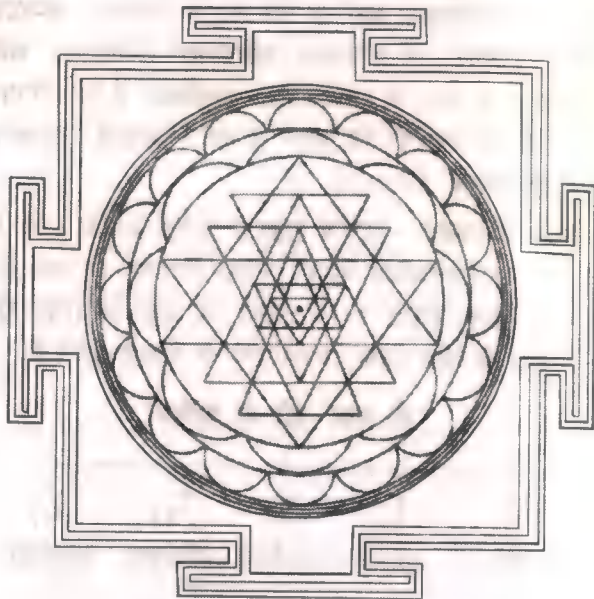
।। स्वाधिष्ठानचक्र ।।
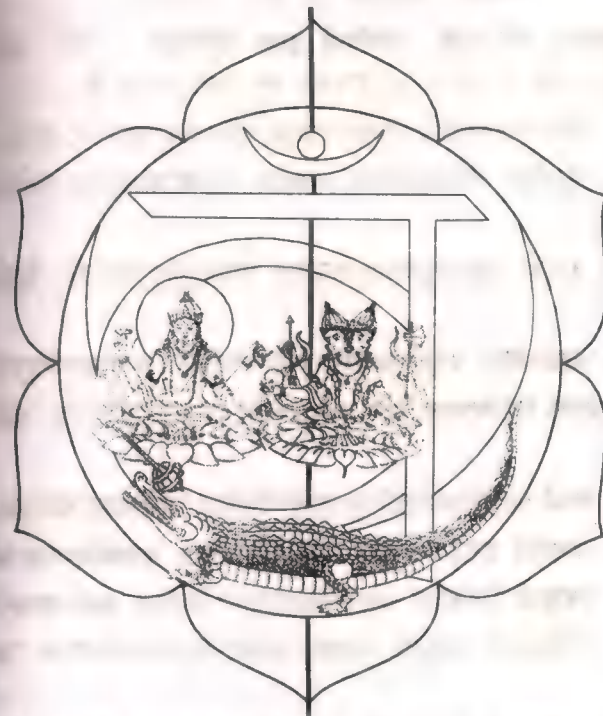
(६) 'आज्ञा चक्र' तथा तदुपरिस्थ स्थान चन्द्रमा के स्थान है।

(७) भूपुर 'सहस्रार' है।

(८) वृत्तत्रय बैन्दव अर्थात् सहस्रारस्थ चन्द्रमा का स्थान है। यह चन्द्रमा की अमृता (सत्रहवीं) का सूचक है।

निष्कर्ष यह कि सामयिकों (समयमतावलम्बियों) के लिए सुषुम्णा मार्ग ही **'श्री चक्र'** है। सुषुम्णा मार्ग ही मोक्ष का मार्ग है।

'सुषुम्ना तिसृषु श्रेष्ठा वैष्णवी मुक्तिमार्गदा। श्री चक्र की आन्तर भावना के साथ पूजा करनी चाहिए। जो देह को 'श्री चक्र' के रूप में अनुभूत कर चुका हो उसे बाह्यवर्ती पूजा की क्या आवश्यकता है?

*** नव चक्र ***

'श्री चक्र' नौ चक्रों की समष्टि है। **'योगिनी हृदय'** में इन्हें इस प्रकार सङ्केतित किया गया है—

'अकुलादिषु पूर्वोक्त स्थानेष परिचिन्तयेत् ।
चक्रेश्वरी समायुक्तां न चक्रं पुरोदितम् ।।'[१]

अमृतानन्द की दृष्टि—'योगिनी हृदय दीपिका' में योगी अमृतानन्द ने श्रीचक्र एवं षटचक्रों में एकता का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—

(१) वह्नि-शाक्त-नाभि-अनाहत-विशुद्ध-लम्बिकाग्र-भ्रुवोरन्तर-इन्दवो गृह्यन्ते।

(२) 'तुरोदित चक्रसङ्केतोदितं नवचक्रं चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवक्रेश्वर्यधिष्ठितं परिचिन्तयेत्।।

(३) 'अकुले सुषुम्नामूलारुणसहस्रदल कमले त्रिपुराधिष्ठितं' **त्रैलोक्यमोहन चक्रम्** ।

(४) **'वह्नावाधारे चतुर्दलकमले** त्रिपुरेश्यधिष्ठितं **'सर्वाशापरिपूरणं चक्रम्।**

(५) **शाक्ते स्वाधिष्ठान सिति** षड्दलकमले त्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं **'सर्वसंक्षोभणं चक्रम्** '।

(६) **'नाभौ** दशदल कमले त्रिपुर वासिन्यधिष्ठितं **'सर्वसौभाग्यदायक चक्रम्'**।

(७) **'अनाहते** द्वादशदलकमले त्रिपुराश्रीसमष्ठितं **'सर्वार्थसाधकं** चक्रम्'।

(८) **'विशुद्धौ** षोडशदल कमले त्रिपुरमालिन्य धिष्ठितं **'सर्वरक्षाकरं चक्रम्'**।

(९) 'लम्बिकाग्रे तालुमूले अष्टदल कमले त्रिपुरसिद्ध्यधिष्ठितं 'सर्वरोगहरं **चक्रम्'।**

(१०) 'भ्रुवोरन्तरे द्विदलकमले त्रिपुराम्बिकाधिष्ठितं **'सर्वसिद्धिप्रदं चक्रम्'**।

(११) 'इन्दौ ललाटे बिन्दौ महात्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं **'सर्वानन्दमयं चक्रं'** भावयेदित्यर्थः।।

*** नव चक्र और उसमें अवस्थित शक्तियाँ ***

महादेव श्री भैरव देवी को समझाते हुए प्रत्येक चक्र की अधिष्ठात्री देवी का नामोल्लेख इस प्रकार करते हैं—

'तासां नामानि वक्ष्यामि यथानुक्रमयोगतः ।
तत्राद्या **त्रिपुरा** देवी द्वितीया **त्रिपुरेश्वरी** ।।
तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी **त्रिपुरसुन्दरी** ।
चतुर्थी च महादेवी देवी **त्रिपुरवासिनी** ।।
पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात् षष्ठी **त्रिपुरमालिनी** ।

---

१. यो०ह० (मन्त्रसंकेत ८)

सप्तमी **त्रिपुरासिद्धिरष्टमी** त्रिपुराम्बिका ।
नवमी तु महादेवी महात्रिपुर सुन्दरी ।
पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते ।।'

—योगिनी हृदय (मं.सङ्केत)

पूजा-विधान के अनुसार प्रत्येक चक्र पृथक्-पृथक् रूप में पूजित होता है तथा साथ ही प्रत्येक चक्र की अधिष्ठत्री देवी की भी पूजा की जाती है।

(१) श्री चक्रे त्रैलोक्य मोहनादि चक्रक्रमादेता नवचक्रेश्वरी : पूजयेदित्यर्थः ।

—सेतु बन्धः भास्कर राय

(२) 'त्रैलोक्य मोहनं चक्रमारम्भ प्रतिचक्रमेकैकं क्रमेण पूजयेदित्यर्थः ।

—योगिनी हृदय दीपिकाः अमृतानन्द

'एवं नवप्रकाराद्या पूजाकाले तु पार्वति ।
एकाकारा ह्याद्यशक्तिरजरामरकारिणी ।।'

—योगिनी हृदय (मं.सं.)

'त्रिपुरा' का स्वरूप—'नित्याषोडशिकार्णव' में त्रिपुरा के स्वरूप को इसप्रकार विश्लेषित निरूपित किया गया है—

(क) **त्रिपुरा परमा** शक्ति राद्या जातादितः प्रिये ।
स्थूल सूक्ष्म विभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका ।।

(ख) कवलीकृतश्शिेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी ।
अस्यां **परिणातायां** तु न कश्चित् पर इष्यते ।

(ग) परोहि शक्ति रहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ।।

(घ) शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ।
ज्ञातेनापि महेशानि शर्म कर्म न किञ्चन ।।

(ङ) कवलीकृतनिश्शेषा बीजाङ्कुरतया स्थिता ।
वामा शिखा ततो **ज्येष्ठा** शृंगाटाकारतां गता ।।

(च) **रौद्री** तु परमेशानि जगद्ग्रसनरूपिणी ।
एषा सा **परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी** ।।

(छ) त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्णवीशरूपिणी ।
ज्ञान शक्ति क्रिया शक्ति रिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये ।।

(ज) त्रैलोक्यं संसृजत्येषा **त्रिपुरा** परिकर्तिता

'श्रीविद्या' की उपासना और 'श्री चक्र'—अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में श्री विद्या की उपासना प्रचलित है। आचार्य शङ्कर, उनके परम गुरु गौड़पाद, सुरेश्वर, पद्मपादा एवं विद्यारण्य आदि वेदान्ती आचार्य श्री विद्या के उपासक थे। मीमांसकों में खण्डदेव के शिष्य शम्भु भट्ट, भास्कर राय आदि भी श्री विद्या के उपासक थे। महा प्रभु चैतन्यदेव के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के सिद्धन्तों के मूल में इसी साधना का प्रभाव परिलक्षित होता है। नित्यानन्द महाप्रभु श्री विद्या के उपासक थे। शैवाचार्यों में अभिनव गुप्तपादाचार्य **शिवोसना के साथ श्री विद्या की भी उपासना** करते थे।

'दश महाविद्या' में तृतीय महाविद्या ही **'श्री विद्या'** का स्वरूप है। इसी के अपर आरण्या है—ललिता, सुन्दरी, त्रिपुरा, त्रिपुरसुन्दरी आदि।

'चक्र' और श्री विद्या'—श्री विद्योपासना के निगूढ तत्त्व को समझने के लिए सर्वप्रथम देवी स्वरूप भूत श्री चक्र (श्री यन्त्र) का स्रूपावगाह्न परमावश्यक है।

'श्री चक्र' की उत्पत्ति—

(क) पाँच **शक्ति चक्र** रूप अधोमुख त्रिकोण एवं

(ख) चार शिवचक्र मय ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के एकत्र होकर सम्मिलित होने से **श्री चक्र** निर्मित है।

*** नव चक्र ***

[१] **बिन्दु तथा 'महा बिन्दु'**—मूल कारण, महात्रिपुर सुन्दरी कामेश्वर एवं कामेश्वरी का सामरस्य तथा जगत की मूलयोनि एवं शिवभाव।

[२] **त्रिकुण**—आद्या विमर्श शक्ति या जीवभाव शब्द अर्थ रूप सृष्टि की कारणात्मिका पराशक्ति, अहंभाव एवं जीव तत्त्व।

[३] **अष्टार**—पुर्यष्टक, कारण शरीर-लिङ्ग शरीर का कारण।

[४] **अन्तर्दशार**—इन्द्रिय वासना (लिङ्गशरीर)

[५] **बहिर्दशार**—तन्मात्रा पञ्चभूत (इन्द्रिय विषय)

[६] **चतुर्दशार**—जाग्रत स्थूल शरीर।

[७] **अष्टदल**—अष्टार वासना।

[८] **षोडशदल**—द्यशारद्वयवासना।

[९] **भूपुर**—बिन्दु, त्रिकोण, अष्टदल, षोडशदल—इन चारों की समष्टि, प्रमातपुर और प्रमाणपुर का पशु पदीय प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार, शिवपदीय शुद्ध विद्यादितत्त्व चतुष्टय का सामरस्य।

नव चक्र और उनकी अधिष्ठात्री देवी

चक्रों के नाम	अधिष्ठात्री देवी	नवावरणपूजा के देवता
(१) 'सर्वानन्दमय चक्र'	महात्रिपुरसुन्दरी	नवावरण पूजा के ये ही
(२) 'सर्वसिद्धिप्रद चक्र'	त्रिपुराम्बा	देवता भी है मतान्तर से
(३) 'सर्वरोगहर चक्र'	त्रिपुरसिद्धा	इनका आख्यान्तर इस
(४) 'सर्वरक्षाकर चक्र'	त्रिपुरमालिनी	प्रकार है—प्रकटा,
(५) 'सर्वार्थसाधक चक्र'	त्रिपुराश्री	गुप्ता, गुप्त तरा, परा,
(६) 'सर्वसौभाग्यदायक चक्र'	त्रिपुरवासिनी	सम्प्रदाया, कुलकौला, निर्गमा,
(७) 'सर्वसंक्षोभणकारक चक्र'	त्रिपुर सुन्दरी	अतिरहस्या, परापर रहस्या
(८) 'सर्वाशापरिपूरक चक्र'	त्रिपुरेशी	रहस्या, परापराति
(९) 'त्रैलोक्यमोहन चक्र'	त्रिपुरा	रहस्या आदि

श्रीचक्रस्थ नवचक्र एवं पिण्डस्थ चक्रों में ऐक्य

शरीर का स्थान	चक्र का नाम	दल-संख्या	श्रीचक्र का नाम
(१) भ्रू-मध्य	आज्ञा चक्र	द्विदल	बिन्दु
(२) लम्बिका	इन्द्रयोनि	अष्टदल	त्रिकोण
(३) कण्ठ	अनाहत	द्वादशदल	अन्तर्दशार
(४) हृदय	अनाहत	द्वादशदल	अन्तर्दशार
(५) नाभि	मणिपूर	दशदल	बहिर्दशार
(६) वस्ति	स्वाधिष्ठान	षट्दल	चतुर्दशार
(७) मूलाधार	मूलाधार	चतुर्दल	अष्टदल
(८) उसके नीचे का स्थान	कुल	षट्दल	षोडशदल
(९) उसके नीचे का स्थान	अकुल	सहस्रदल	भूपुर

श्रीचक्रस्थ चक्रों के नाम	त्रिकोण	रंग वर्ण	रंग
(१) सर्वानन्दमय चक्र	केन्द्रस्थ	रक्तबिन्दु	रक्त
(२) सर्वसिद्धिप्रद चक्र	पीतवर्ण	त्रिकोण	पीत
(३) सर्वरोगहर चक्र	हरे रंग के ८त्रि.	८ त्रिकोण	हरा
(४) सर्वरक्षाकर चक्र	काले रंग के १० त्रि.	१० त्रिकोण	काला
(५) सर्वार्थसाधक चक्र	लाल रंग के १० त्रि.	१० त्रिकोण	लाल
(६) सर्वसौभाग्यदायक चक्र	नीले रंग के १४ त्रि.	१४ त्रिकोण	नीला
(७) सर्वसंक्षोभण चक्र	गुलाबी रंग के १६ त्रि.	१६ त्रिकोण	गुलाबी लाल
(८) सर्वाशापरिपूरक चक्र	पीत वर्ण के १६ दलों का पद्म	१६ दलों का कमल	पीला
(९) त्रैलोक्यमोहन चक्र	हरे रंग का बाह्य स्थल	हरे रंग का बाह्य स्थल	हरा

'रुद्रयामल तन्त्र' की दृष्टि एवं श्री यन्त्रस्थ ९ चक्र'

'रुद्रयामल तन्त्र' में कहा गया है—

'बिन्दुत्रिकोण वसुकोण दशार युग्मं,
मन्वस्त्रनागदल संयुत षोडशारम्।
वृत्तत्रयं चधरणीसददनं च,
श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः ॥'

अर्थात् 'श्री यन्त्र' के नौ चक्र इस प्रकार हैं—

१. बिन्दु, २. त्रिकोण, ३. आठ त्रिकोणों का मूहा, ४. दस त्रिकोणों का समूह, ५. दस त्रिकोणों का समूह, ६. १४ त्रिकोणों का समूह, ७. ८ दलों वाला पद्म, ८. १६ दलों वाला पद्म, ९. भूपुर ९ चक्रों में सब मिलाकर ४३ छोटे त्रिकोण हैं।

आचार्य शङ्कर की श्री चक्र सम्बन्धिनी व्याख्या—

आचार्य शङ्कर ने सौन्दर्य लहरी' 'आनन्द लहरी' में श्री चक्र का परिचय इस प्रकार दिया है—

'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि,
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवनभिरपि मूल प्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंश द्वसुदलकलाब्ज त्रिवलय,
त्रिरेखभिः सार्धं तव भवनकोणाः परिणताः ॥'

[श्री कण्ठ = ४ शिव चक्र एवं ५ 'शक्ति चक्र' मिलकर ४३ त्रिकोणों वाले 'श्री चक्र' का निर्माण करते हैं।]

अर्थात् ४ श्री कण्ठों एवं पाँच शिव युवतियों (शक्ति चक्रों)—इन नौ मूल प्रकृतियों (योनियों) से तेरे रहने के ४३ त्रिकोण निर्मित होते हैं जो कि शम्भु के बिन्दु स्थान से भिन्न हैं। वे तीन वृत्तों और तीन रेखाओं के सहित ८ एवं १६ दलों से युक्त हैं।

भैरवयामलकार की श्री चक्र सम्बन्धिनी व्याख्या—'भैरव यामल' में 'श्री चक्र' का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

चतुर्भिश्शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं 'श्रीचक्रं' शिवयोर्वपुः ॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा।
चतुर्दशारं चैतानि **शक्तिचक्राणि** पञ्च च ॥
बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्।
चतुरश्रं च चत्वारि शिवचक्रण्यनुक्रमात्।
त्रिकोणो बैन्दवं श्लिष्टं अष्टोरऽष्टदलारम्बुजम्।
दशारयोष्षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके।
शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम्।
अविनाभाव सम्बन्धं यो जानाति चक्रवित् ॥
त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा,
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट्क्रमात्।
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्
अनाहतं विशुद्धयार व्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥
नवाधारस्वरूपाणि कोणचक्राणि पार्वति।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरूपशिवस्स्मृतः।
अविनाभाव सम्बन्धः तस्माद्बिन्दु त्रिकोणयोः ॥

(१) अधोमुखं चतुष्कोणं शिवचक्रात्मकं बिन्दु।

(२) अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि।

(३) शिव चक्राणि बाह्यानि तद्रूपेशावस्थानि ॥

(४) **(कौलमत)**—'कौल मतानुसारेण अधोमुखानि चत्वारि त्रिकोणानि शिवात्मकानि। ऊर्ध्वमुखानि पञ्च त्रिकोणानि शक्त्यात्मकानि।

(५) 'कौलमते संहार क्रमेण लेखने नवत्रिकोणात्मकं श्रीचक्रम्। लक्ष्मीधरा (९)

* चक्रों का स्वरूप *

[१] * महा बिन्दु *

(१) **आकार**—रक्त बिन्दु के भीतर गुप्त श्वेत बिन्दु।

(२) **रङ्ग**—श्वेत

(३) **खण्ड**—निर्गुण

(४) **चक्र**—सृष्टि-स्थिति-संहारमय अतः समष्टिरूप।

(५) **वर्णाक्षिर**—'क्ष' एवं 'म' का समष्टि रूप।

(६) **चक्र में स्थित मूल शक्ति**—पराशक्ति।

(७) **चक्रेश्वरी**—प्रकाश-विमर्श रूपिणीपरा भट्टारिका।

(८) **शरीर-स्थान**—ब्रह्मरन्ध्र।

(९) **शरीरस्थ चक्र**—राहस्रदल कमल

(१०) **अवस्था**—तुरीयातीतावस्था ॥

पुण्यानन्दनाथ की दृष्टि—पर शिव रवि कार निकरे प्रतिफलति विमर्श दर्पणे विशदे प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः। अर्थात् प्रकाशैक स्वभावपरशिवभट्टारक रूप सूर्य की रश्मियों के समूह का विमर्श रूपी स्वच्छ मुकुर में स्वस्वरूपाव लोकनस्वरूप प्रतिकल न होने के कारण तदुत्पन्न प्रतिप्रकाश द्वारा सुरम्य चित्त रूपी दीवार पर **'महाबिन्दु'** प्रकाशित होता है।

प्रतिकलनं नाम स्वरूपावलोकनम् । तादृश प्रतिकल न स्वरूपावलोकने सति चित्तमये ज्ञानैक स्वरूपे प्रतिरुचिरुचिरे प्रतिप्रकाशमनोहरे कुड्ये महाबिन्दु र्निविशते प्रविष्टो भविता।[१]

सारांश—(१) **महाबिन्दु** ही पर तत्व का आरम्भिक रूप है।

(२) महाबिन्दु में पर शिव (निर्गुण ब्रह्म) अपने रश्मि जाल द्वारा निर्मल विमर्श स्फुरण शक्ति स्वरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बत हो रहा है। उस प्रति बिम्ब का प्रातिबिम्ब जब चित्तमय (ज्ञानस्वरूपी) मिति पर पड़ता है तब **'महाबिन्दु' का आविर्भाव** है यथा सूर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में आता है और उस दर्पण का प्रतिबिम्ब भित्ति पर पड़ता है। तब बिन्दु रूप ग्रहण करता है

'महाबिन्दु' **श्वेत बिन्दु** है। यह **चैतन्य ज्योतिर्लिंग** भी कहा जाता है। इसे ही **'कामरूपपीठ'** भी कहा जाता है। विमर्श शक्ति सिसृक्षा के कारण 'बिन्दु' रूप धारण करती है—

---

१. नटनानन्द : चिद्वल्ली (४)

[२] * बिन्दु (सर्वानन्दमय चक्र) *

(बिन्दु चक्र)

(१) **आकृति**—बिन्दु, (२) **रङ्ग**—रक्तवर्ण, (३) **चक्र**—सृष्टि स्थितिसंहारमय सृष्टिचक्र। (४) **वर्णाक्षर**—'क्ष' मूल प्रकृति, (५) चक्र में स्थित मूल शक्ति—ललिताम्बा, (६) चक्र की अधिष्ठात्री (चक्रेश्वरी) श्री ललिता महाचक्रेश्वरी। (७) **योगिनी-चक्र**—परापर रहस्य योगिनी चक्र। (८) **मुद्रा**—योगिमुद्रा (९) देहस्थाव्यव श्रद्धा। (१०) **शरीर-चक्र**—हिदलात्मक आज्ञा चक्र। १२. **शरीरावस्था**—तुरीयावस्था—महाकारण।

'बिन्दु' रक्त बिन्दु है। जब **'श्वेत बिन्दु'** (महाबिन्दु) 'रक्त बिन्दु' (बिन्दु) के रूप में उदित होता है उस समय अदृश्य विश्व की समस्त आत्माएँ कीड़ार्थ जाग उठती हैं। **'रकत बिन्दु'** के उदय के पूर्व विश्व ब्रह्म में (ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, भासक-भास्य-भास से शून्य स्थिति में) नयीभूत रहता है। 'रक्त बिन्दु' महाबिन्दु (श्वेत बिन्दु) को अपने भीतर छिपा लेता है। यही है **विश्वसृजन का प्रथम स्फुरण।** यह विश्व की **मूल योनि, षोडशी कामेश्वरी, सुन्दरी, ललिता, श्री** या महात्रिपुर सुन्दरी है। महाबिन्दु देशकालातीत है। 'बिन्दु चक्र के रक्तबिन्दु में प्रपञ्च बीज रूप में सिथत है।[१]

[३] * त्रिकोण (सर्वसिद्धिप्रद चक्र) *

(१) **आकार**—त्रिकोण (२) **रङ्ग** (वर्ण)— पीत वर्ण

(३) **खण्ड**—अग्नि खण्ड (४) चक्र (सृष्टि-स्थिति-संहार)

(५) **वर्णाक्षर**—'म' वर्ण सृष्टि चक्र।

(६) चक्रावस्थित मूल शक्ति **कामेश्वरी शक्ति**

---

१. 'विचिकीर्षुर्धनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्'।

जब अन्तर्जगत में विश्व की चैतन्य स्मृति जागृत हो उठती है तब अकुलस्थ किस **'गुप्त बिन्दु'** में प्रवेश करती है। उस समय पराशक्ति अपने साथ एकीभूत अतिसूक्ष्म मूल विश्वप्रकाश की दिदृक्षा युक्त से उत्कण्ठित होती है और परमशिव के साथ अपने को साम्य भाव से युक्त पाती है। उसी काल में वह गुप्त बिन्दु एक **'श्वेत बिन्दु'** के रूप में दृष्टिगत होने लगता है। यही **श्वेत बिन्दु 'महाबिन्दु'** है। यही अनन्त कलाओं से युक्त होकर निष्कल भाव से 'अह' रूप में अपने को व्यक्त करता है। जब 'महाबिन्दु' कीड़ा करता है तब शिव शक्ति का एकीभूत साम्य भंग हो जाता है अर्थात् शिव तत्व शक्ति से पृथक हो जाता है। 'श्वेत बिन्दु' त्रिकोणस्थ रक्त बिन्दु' में प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाता है। यही से महाशक्ति की स्वाभि व्यक्ति परावाक् के रूप में उदित होती है। महाबिन्दु की कला **'शन्त्यतीत कला'** है। महाबिन्दु श्वेत बिन्दु है।

(७) मूलाशक्ति के शस्त्रास्त्र धनुष-वाण-पाश-अंकुश युक्त।

(८) चक्रेश्वरी—त्रिपुराम्बा

(९) योगिनी चक्र—अतिरहस्य योगिनी चक्र

(१०) मुद्रा—बीजमुद्रा

(११) देहस्थावयव—अव्यक्त महत्तत्त्व (महा अहङ्कार) ५ तन्मात्रायें।

(१२) शरीरस्थान—लम्बिका।

(१३) शरीर चक्र—इन्द्र योनि (अष्टदल)

(१४) शरीरावस्था—सुषुप्ति—कारण।

'विमर्श शक्ति' सिसृक्षामयी होने पर 'बिन्दु' का रूप धारण करती है—'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम् ' (शंका) और 'कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा' अर्थात् काल पाकर वही बिन्दु तीन भागों में विभक्त (त्रिकाण) होकर प्रकट होता है। बिन्दु → त्रिकोण।

'बिन्दुभाव' में समस्त प्रपञ्च-वासना जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति एवं ज्ञेय ज्ञातृ और ज्ञान भाव से बटबीज के अन्तर्गत बीज एवं वृक्ष की भाँति सूक्ष्म भाव से लीन रहती है।[१]

[४] अष्टकोण

(सर्वरोगहर चक्र)

(१) **आकार** = अष्टार (२) रङ्ग (वर्ण) हरा

(३) **खण्ड** = अग्निखण्ड (४) चक्र- सृष्टि चक्र

१. 'बिन्दु चक्र' में श्री **कामेश्वर** के साथ ही कामेश्वरी नित्यानन्दमय होकर विहार करती हैं। इसे ही **'सर्वानन्दमय चक्र'** कहते हैं।

कालिकापुराणकार की दृष्टि—कालिकापुराण में कहा गया है कि—'सुषुप्ति काले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरुपमेति। चित्तमयोऽहंकारः सुव्यक्तो हार्ण समरसाकारः। शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवन मण्डलो जयति।।'' **'महाबिन्दु'** अपनी विमर्श शक्ति में प्रविष्ट होकर बिन्दु का रूप धारण करता है। विमर्शशक्ति पूर्णाहन्ता स्वरूपा है।

बिन्दु चक्र सृष्टि की दृष्टि से प्रधान चक्र है। प्रलयोपरान्त ब्रह्म में शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से पूर्ण **अहंभाव विमर्श** उत्पन्न होता है। यह नाम रूप की अव्याकृतावस्था है। 'अहं' (अ + ह + ँ) ही **सहज स्फुरण है** और यही **'विमर्शशक्ति'** है। विमर्श शक्ति में प्रतिबिम्बित हुए बिना आत्मा की स्फुटाभिव्यक्ति संभव नहीं है। अहंभाव विमर्शात्मक है। **'बिन्दु'** में प्रकाश (शिव विमर्श (शक्ति) का साम्य एवं चैतन्य की पूर्ण स्फुरता है। 'रक्तबिन्दु' के भीतर शुद्धाशुद्ध तत्त्व के अन्तर्गत 'विद्याकला' स्थित है।

(५) **वर्णाक्षर**—य, र,ल, व, श, ष, स, ह।

(६) **अग्नि की १० कलायें**—

(१) धूम्रार्चिषी, (२) ऊष्मा, (३) ज्वलिनी, (४) ज्वालिनी, (५) विस्फुलिङ्गिनी, (६) सुश्री, (७) सुरूपा, (८) कपिला, (९) हव्यवहा, (१०) कव्यवहा।

(७) **चक्रस्थ मूलशक्तियाँ**—

(१) वशिनी, (२) कामेश्वरी, (३) मेदिनी, (४) विमला, (५) अरुणा, (६) जयिनी, (७) सर्वेश्वरी, (८) कौलिनी

(८) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुर-सिद्धा।

(९) **योगिनी चक्र**—रहस्य योगिनी चक्र।

(१०) **मुद्रा**—खेचरी मुद्रा।

(११) **देहस्थ अवयव**—शीत-ऊष्ण-सुख-दुःख-स्वेच्छा-सत-रज-तम।

(१२) **शरीरस्थान**—कण्ठ

(१३) **शरीरचक्र**—विशुद्ध चक्र (षोडशदल, षोडश-स्वरमय)

'योगिनी हृदय' में कहा गया है कि—'अम्बिकारूपमेवेदमष्टारस्थं स्वरावृतम्' **पुण्यानन्द** कहते हैं—अष्ट कोणों वाला चक्र जो कि श, ष स एवं प वर्ग से निर्मित होता है—'श ष स प वर्ग भयं तद्वसुकोणं **'बिन्दु'** इच्छा शक्ति द्वारा 'सृष्टि-सृष्टि' मध्य कोण विस्तारः। (का.क.वि.)

के रूप में, **'त्रिकोण'** ज्ञान शक्ति द्वारा सृष्टि स्थति' के रूप में एवं अष्टकोण क्रिया शक्ति द्वारा **'सृष्टि संहार'** के रूप में वाचक है।

१. **'त्रिकोण'** इसके अनन्तर अन्तर्लीन जगत को व्यक्त करने की आकांक्षा से यह **'बिन्दु' त्रिकोण के रूप में प्रकट** होता है या उसी के स्वरूप में परिणत हो जाता है। **'बिन्दु'** त्रैलोक्यप्रसविनीविश्वयोनि है। **'त्रिकोण'** बहिर्मुखी विलास है। अर्थ सृष्टि (त्रिकोण) बिन्दु (शब्दमूलक) है। शब्द ही अर्थसृष्टि का मूल है। प्रलयकाल में समस्त अर्थ प्रपञ्च परावाक् रूप शब्दब्रह्म में लीन हो जाता है। और सृष्टिकाल में पुनः प्रकट हो जाता है—बिन्दुरूप परावाक् से 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' 'वैखरी' का आविर्भाव होता ह। इन चारों को (१) शान्ता (२) वामा (३) ज्येष्ठा (४) रौद्री कहा जाता है। इसे अम्बिका, इच्छा, ान एवं क्रिया भी कहा जाता है।

जब 'बिन्दु' रूप 'परावाक्' पश्यन्ती, मध्यमा आदि कार्य बिन्दुओं का आविर्भव करने में प्रवृत्त होता है तब **'कारणबिन्दु' 'रेव'** कहा जाता है : 'स रव : श्रुतिसम्पन्नैः **शब्दब्रह्मेति** गीयते।।'

बिन्दु (परावाक्) समस्त शब्दों का मूल उत्स है।

'बिन्दु' ही 'त्रिकोण' के रूप में व्यक्त होता है—

'सेयं त्रिकोणरूपं माता चिगुणस्वरूपिणीमाता।।'—कामकलाविलास

* [५] **अन्तर्दशार** *

(सर्व रक्षाकर चक्र)

(१) **आकार**—भीतर के १० कोण। (२) **रङ्ग**—काला

(३) **खण्ड**—सूर्य खण्ड (४) **चक्र**—स्थितिचक्र

(५) **वर्णाक्षर**—ट, ठ, ड, ण, त, थ, द, ध, न।

(६) **रुद्र-दश कला**—१. तीक्ष्णा, २. रौद्री, ३. भया, ४. निद्रा, ५. तन्द्रा, ६. क्षुधा, ७. क्रोधा, ८. क्रिया, ९. उद्गारी, १०. मृत्यु।

(७) **चक्रस्थ मूल शक्तियाँ**—१. सर्वज्ञा, २. सर्वशाक्ते, ३. सर्वैश्वर्यप्रदा, ४. सर्वज्ञानमयी, ५. सर्वव्याधि विनाशिनी, ६. सर्वाधार स्वरूपा, ७. सर्व पाप हरा, ८. सर्वानन्दमयी, ९. सर्व रक्षा स्वरूपिणी, १०. सर्वेप्सित फल प्रदा

(८) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुरमालिनी

(९) **योगिनी चक्र**—निगर्भ योगिनी चक्र।

(१०) **मुद्रा**—महाकुश मुद्रा

(११) **देहस्थ अवयव**—रेचक, पूरक, शोषक, प्लावक, क्षारक, क्षोभक, ओदक, जृम्भक।

(१२) **शरीर का स्थान**—हृदय।

(१३) **शरीर-चक्र**—अनाहत (द्वादश दल—क से ठ द्वादश व्यञ्जनमय)

आचार्य पुण्यानन्द कहते है कि—(१) इस दशक के दो प्रकार १०-१० कोणों वाले दो चक्रों के रूप में फैले हुए हैं। इसके आन्तर १० कोणों के समूह तवर्ग एवं टवर्ग को तथा बाह्य १० कोणों के समूह चवर्ग एवं कवर्ग को प्रदर्शित करते हैं—

'तच्छाया द्वितयमिदं दशारचक्रद्वयात्मना विततम्।
त ट च क वर्ग चतुष्टय विलसनविस्पष्टकोणविस्तारम्' ॥३०॥

'योगिनी हृदय' में दशारद्वय के विषय में कहा गया है कि—

(१) नवत्रिकोणस्फुरित प्रभारूप दशारकम्।
शक्त्यादिन व पर्यन्तदशार्णस्फूर्तिकारकम् ॥१५॥ (अन्तर्दशार)

(२) भूततन्मात्रदशकप्रकाशालम्बनत्वतः ।
द्विदशारस्फुर द्रूपं क्रोधी शादिदशारकम् ॥१६॥ (बहिर्दशार)

अन्तर्दशार चक्र को **'स्थिति चक्र'** **'प्रमाणपुर'** और **'सौर खण्ड'** कहते हैं। यह शुद्ध त्वान्तर्गत विद्या तत्त्व है।

* [६] **बहिर्दशार** *

(सर्वार्थ साधक चक्र)

(१) **आकार**—बाहर के १० कोण

(२) **रङ्ग**—लाल (३) **खण्ड**—सूर्य खण्ड

(४) **चक्र**—स्थिति चक्र

(५) **वर्णाक्षर**—प, क, ब, भ / क, ख, ग, घ, ङ / च, छ, ज, झ, ञ।

(६) **विष्णु की कलायें**—१. जरा, २. पालिनी, ३. शान्ति। ४. ईश्वरी, ५. रति, ६. कामिका, ७. वरदा, ८. ह्लादिनी, ९. प्रीता, १०. दीर्घा।

(७) **सूर्य की कलायें**—१. तपिनी, २. तापिनी, ३. धूम्रा, ४. सुषुम्ना, ८. ज्वलिनी, ६. रुचि, ७. सुषुम्ना, ८. भोगदा, ९. विश्वा, १०. बोधिनी, ११. धारिणी, १२. क्षमा।

(८) **चक्रस्थ मूल शक्तियाँ**—१. सर्व सिद्धि प्रदा, २. सर्वसम्पत् प्रदा, ३. सर्वप्रियंकरी, ४. सर्वमङ्गलकारिणी, ५. सर्वकाम प्रदा, ६. सर्वदुःखविमोचिनी, ७. सर्वमृत्युप्राशमिनी, ८. सर्वविघ्न निवारिणी, ९. सर्वाङ्गसुन्दरी, १०. सर्वसौभाग्यदायिनी।

(९) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुरा श्री

(१०) **योगिनी चक्र**—कुलोत्तीर्ण योगिनी चक्र।

(११) **मुद्रा**—उन्मादिनी मुद्रा।

(१२) **देहस्थ अवयव**—१० प्राणः अपान, व्यान। उदान। समान। नाग। कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय।

(१३) **शरीर का स्थान एवं चक्र**—नाभि, 'मणिपूरक चक्र' (१० दल' 'ड' से 'क' पर्यन्त १० व्यञ्जनों से युक्त मणिपूरक चक्र)

'बाह्यो दशार भागोऽयं बुद्धि कर्माक्ष गोचरः।'

'बाह्यदशार' विश्व का स्वप्नमय जागृतभाव है। इसी चक्र में छिपे हुए विषयादिक की अभिव्यक्ति होती है।

* [७] **चतुर्दशार** *

(सर्व सौभाग्य दायक चक्र)

(१) **आकार**—१५ कोण (२) **रङ्ग**—नीला र ङ्ग।

(३) **खण्ड**—चक्र खण्ड (४) चक्र—स्थिति चक्र

(५) **वर्णाक्षर**—स्वरमय।

(६) **ब्रह्मा की कलायें**—१. सृष्टि, २. ऋद्धि, ३. स्मृति, ४. मेघा, ५. क्रान्ति, ६. लक्ष्मी, ७. द्युति, ८. स्थिरा, ९. स्थिति, १०. सिद्धि।

(७) **चक्रस्थ मूल शक्तियाँ**—

(१) सर्वसंक्षोभिण (२) सर्व विद्राजिणी (३) सर्वाकर्षिणी
(४) सर्वाह्लादिनी (५) सर्वसन्मोहिनी (६) सर्वस्तम्भिनी
(७) सर्वजृम्भिणी (८) सर्ववशङ्करी (९) सर्वरञ्जिनी
(१०) सर्वोन्मादिनी (११) सर्वार्थसाधिनी (१२) सर्व सम्पत्तिपूरिणी
(१३) सर्वमन्त्रमयी (१४) सर्वद्वन्द्वकरी।

(८) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुरवासिनी

(९) **योगिनी चक्र**—सम्प्रदाय योगिनी चक्र।

(१०) **मुद्रा**—सर्ववशङ्करी मुद्रा।

(११) **देहस्थ अवयव**—(नाड़ियाँ) अलम्बुषा। कुहू। विश्वोदरी। वरुणा। हस्तिजिह्वा। यशस्वती। अश्विनी। गांधारी। पूषा। शंखिनी। सरस्वती। इडा। पिङ्गला। सुषुम्ना।

(१२) **शरीर का स्थान एवं चक्र**—वस्ति। स्वाधिष्ठान (षड् दल। 'ब' से 'ल' पर्यन्त ६ व्यंजनों युक्त स्वाधिष्ठान चक्र)

(१३) **शरीर-स्थान एवं चक्र**—वस्ति।

स्वाधिष्ठान (षड् दल। 'ब' से 'ल' ६ व्यञ्जनों से युक्त चक्र)।

चतुर्दशार के १४ कोण १४ शक्तियों के प्रतीक हैं। इसे **'सुषुप्तिपुर'** भी कहते हैं; क्योंकि यहाँ तक सम्पूर्ण विश्व जड़वत घोर सुषुप्ति में रहता है। इसे **'चान्द्र खण्ड'** एवं **'प्रमेयपुर'** भी कहते हैं।

*** [८] अष्ट दल ***

(सर्व संक्षोभण चक्र)

(१) **आकार**—अष्ट दल (२) **रङ्ग**—गुलाबी

(३) **खण्ड**—अग्नि खण्ड (४) चक्र संहार चक्र

(५) **वर्णाक्षर**—अ, क, च, ट, त, प, य, श, (८)।

(६) **चक्र की मूल शक्तियाँ**—

(१) अनङ्ग कुसुमा, (२) अनङ्ग मेखला, (३) अनङ्गमदना, (४) अनङ्ग, मदनातुरा, (५) अनङ्ग रेखा, (६) अनङ्ग वेगिनी, (७) अनङ्गांकुशा, (८) अनङ्गमालिनी।

(७) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुरसुन्दरी

(८) **योगिनी चक्र**—गुप्ततर योगिनी चक्र

(९) मुद्रा—सर्वाकर्षिणी।

(१०) **देहस्थ अवयव**—वचन, आदान, गमन विसर्ग। आनन्द। हानि। उपेक्षा। बुद्धि।

(११) **शरीर स्थान एवं चक्र**—गुदा, मूलाधार (चतुर्दल) (व से स पर्यन्त ४ व्यञ्जनों से युक्त)

'चतुर्दशार' तक तो अनुस्वर—विसर्ग (अ) : एवं विसर्ग (अः) तक की सम्पूर्ण मातृका सृष्टि होती है।

'अष्टदल' के द्वारा विसर्ग का बहिर्भाव उदित होता है। कामेश्वर एवं कामेश्वरी रूप तेज युग्म के अष्ट भेदों—(१) वचन, (२) आदान, (३) गमन, (४) विसर्ग, (५) आनन्द, (६) हान, (७) उपेक्षा, (८) उपादान की अधिष्ठात्री अष्टशक्तियों के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। ये अष्ट शक्तियाँ निम्नाङ्कित हैं—(१) अनङ्गकुसुमा, (२) अनङ्गमेखला आदि।

पुण्यानन्द कहते हैं—क वर्ग से आरम्भ होने वाले अक्षरों के अष्ट वर्ग जो कि वैखरी शक्ति के स्वरूप ही हैं **'अष्टदल कमल'** (सर्व संक्षोभण चक्र) के दलों पर स्थित हैं और **'षोडश दल कमल'** (सर्वाशापरिपूरक चक्र) के दलों पर **स्वर समूह** स्थित हैं

'कादिभिरष्टभिरुपचितमष्टदलाब्जं च वैखरी वर्गैः।
स्वरगणसमुदितमेतदद्वयष्टदलाम्भोरुहं चसञ्चिन्त्यम्॥'

'अष्टदलाम्बं च सर्वसंक्षोभणचक्रम्। तथा स्वरगणासमुदितम्।' (नटनानन्द : चिद्वल्ली)

*** [९] षोडश दल ***

(सर्वाशापरिपूरक चक्र)

(१) **आकार**—षोडश दल (२) रङ्ग (वर्ण) पीत वर्ण।

(३) **खण्ड**—चन्द्र खण्ड (४) **चक्र**—संहार चक्र

(५) वणाक्षिर—स्वरात्मक।

(६) **सदाशिव की १६ कलायें**—(१) निवृत्ति, (२) प्रतिष्ठा, (३) विद्या, (४) शान्ति, (५) इंधिका, (६) दीपिका, (७) रेचिका, (८) मोचिका, (९) परा, (१०) सूक्ष्मा, (११) सूक्ष्मामृता, (१२) ज्ञाना, (१३) ज्ञानामृता, (१४) आप्यायिनी, (१५) व्यापिनी, (१६) व्योमरूपा।

(६) **चन्द्रमा की १६ कलायें**—(१) अमृता, (२) मानदा, (३) पूषा, (४) तुष्टि, (५) पुष्टि, (६) रति, (७) धृति, (८) शशिनी, (९) चन्द्रिका, (१०) कांति, (११) ज्योत्स्ना, (१२) श्री, (१३) प्रीति, (१४) अंगदा, (१५) पूर्णा, (१६) पूर्णामृता॥

(८) **षोडश नित्यायें**—(१) कामेश्वरी, (२) भगमालिनी, (३) नित्यक्लिन्ना, (४) भेरुण्डा, (५) वह्निवासिनी, (६) महावज्रेश्वरी, (७) शिवदूती, (८) त्वरिता, (९) कुलसुन्दरी, (१०) नित्या, (११) नील पताका, (१२) विजया, (१३) सर्व मंगला, (१४) ज्वालामालिनी, (१५) चित्रा, (१६) ललितामहानिलया।

(९) **चक्र में स्थित मूल शक्तियाँ**—

(१) कामाकर्षिणी (२) बुद्ध्याकर्षिणी (३) अहंकाराकर्षिणी (४) शब्दाकर्षिणी (५) स्पर्शकर्षिणी (६) रूपाकर्षिणी (७) रसाकर्षिणी (८) गंधाकर्षिणी (९) चित्ताकर्षिणी (१०) धैर्याकर्षिणी (११) स्मृत्याकर्षिणी (१२) नामाकर्षिणी (१३) बीजाकर्षिणी (१४) आत्माकर्षिणी (१५) अमृताकर्षिणी (१६) शरीराकर्षिणी।

(१०) **चक्रेश्वरी**—त्रिपुरेशी

(११) योगिनी चक्र—गुप्त योगिनी चक्र

(१२) **मुद्रा**—सर्वविद्राविणी

(१३) **देहस्थावयव**—पञ्च तत्त्व। इन्द्रियाँ—श्रोत्र। त्वक्। चक्षु। जिह्वा। घ्राण। वाक्। हस्त। पाद। उपस्थ। मन।

(१४) **शरीर-स्थान**—गुदा से नीचे का स्थान।

(१५) **शरीर में स्थित चक्र**—कुल (षट् दल नादमय)।

'षोडशदल' विश्वाधार श्री चक्र का अन्तिम रूपान्तरण है। यहाँ पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु

'षोडश दल कमल' विसर्ग स्वरूप चन्द्रमा की षोडश कलाओं से युक्त है। **सुभगोदयकार की दृष्टि**—'सुभगोदय' में महा गया है कि—

'षोडशच्छदपद्माङ्कदेशोभूताक्षमानसम् ।
विकारात्मकमापन्नं देव्याः सम्भावयाम्यहम् ॥'

इस चक्र में कार्याकर्षिणी आदि १६ देवियों के रूप में तेजोमिथुन की पूजा होती है। यह **नित्यातादात्म्य** भी कहा जाता है। १६ स्वर ही इसके १६ दल हैं। इसे **'सर्वाशापरिपूरक'** भी कहते हैं। षोडश नित्याओं (कार्याकर्षिणी' बुद्ध्याकर्षिणी, अहङ्काराकर्षिणी आदि नित्याओं) की तृप्ति से सारी आशायें परिपूर्ण होती हैं। अतः इस चक्र को **'सर्वाशापरिपूक'** कहते हैं।

इस जडात्मक **चान्द्र खण्ड** का सौर खण्ड रूप दशार द्वय में अन्तर्भाव है।

षोडशार चक्र में **पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ** एवं **सोलहवाँ मन** निवास करता है। श्री विद्या की यह विशेषावस्था है। १६ स्वर प्रतिदल पर कामाकर्षिणी आदि नित्य षोडश कलाओं के प्रतीक हैं।

षोडशदल दशारद्वयवासना है।

सारांश- * [९] चक्र *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'सर्वानन्दमय चक्र'	'सर्वसिद्धिप्रद चक्र'	'सर्वरोगहर चक्र'	'सर्वरक्षाकर चक्र'	'सर्वार्थसाधक चक्र'
(महात्रिपुरसुन्दरी)	(त्रिपुराम्बा)	(त्रिपुरसिद्धा)	(त्रिपुरमालिनी)	(त्रिपुराश्री)

(६)	(७)	(८)	(९)
'सर्वसौभाग्यदायक चक्र'	'सर्वसंक्षोभणकारक चक्र'	'सर्वाशापरिपूरक चक्र'	'त्रैलोक्यमोहन चक्र'
(त्रिपुरवासिनी)	(त्रिपुर सुन्दरी)	(त्रिपुरेशी)	(त्रिपुरा)
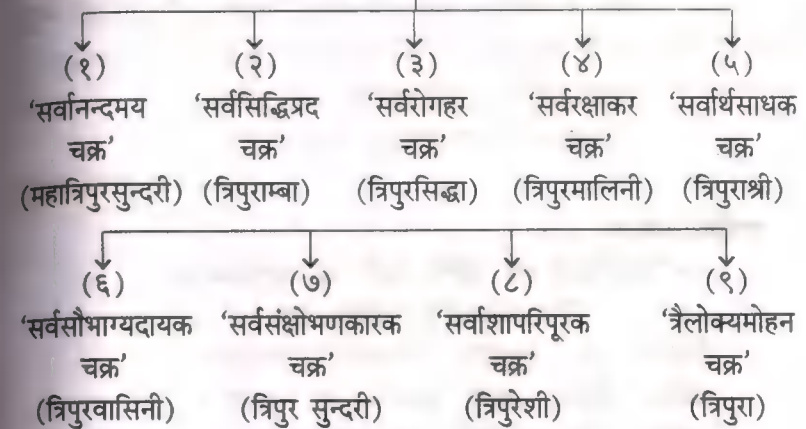
*** [१०] भूपुर ***

(१) **आकार**—चतुर्द्वार (२) **रङ्ग**—हरा (३) **चक्र**—संहार चक्र

(४) **ईश्वर कलायें**—(१) पीता, (२) श्वेता, (३) अरुण, (४) असिता।

(५) **दिग्पाल (१०)**—(१) इन्द्र, (२) अग्नि, (३) यम, (४) निऋत, (५) वरुण, (६) वायु, (६) कुबेर, (८) ईशान, (९) ब्रह्मा, (१०) अनन्ता।

(६) **१० सिद्धियाँ**—(१) अशिमा, (२) लघिमा, (३) महिमा, (४) ईशत्व, (५) वशित्व, (६) प्राकाम्य, (७) भुक्ति, (८) इच्छा, (९) प्राप्ति, (१०) सर्वकामसिद्धि।

(७) **अष्ट शक्तियाँ**—(१) ब्राह्मी, (२) माहेश्वरी, (३) कौमारी, (४) वैष्णवी, (५) वाराही, (६) माहेन्द्री, (७) चामुण्डा, (८) महालक्ष्मी।

(८) **चक्र में स्थित मूल शक्तियाँ**—(१) सर्व संक्षोभिणी, (२) सर्व विद्राविणी, (३) सर्वाकर्षिणी, (४) सर्ववशंकरी, (५) सर्वोन्मादिनी, (६) महांकुशा, (७) सर्व खेचरी, (८) सर्वबीज, (९) सर्वयोनि, (१०) सर्वत्रिरवाडा।

(९) **चक्रेश्वरी** त्रिपुर **१०. योगिनी चक्र**—प्रकट योगिनी

(११) **मुद्रा**—सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा।

(१२) **देहस्थावयव**—नवरन्ध्रात्मक शरीर। ७ त्वगादि धातुएँ। षड् रस। ज्ञान, इच्छा, क्रिया। शक्ति। 'अयमात्मा ब्रह्म'।

(१३) **शरीर स्थान एवं चक्र**—गुदा से नितान्त नीचे का स्थान। अकुल (सहस्र दल कमल)।

'अष्टदल' एवं **'षोडशदल'** के ऊर्ध्व देश में अवस्थित तीन वृत्त बिन्दुत्रय से उद्भूत तेजस्त्रय के विकार हैं अर्थात् वे सोम-सूर्य-अग्नि से युक्त हैं। ये तीनों वृत्त भूपुर में स्थित हैं। यहीं पश्यन्ती आदि तीन माताएँ विश्राम ग्रहण करती हैं—

बिन्दुत्रयमयमेतत्त्रितयविकारस्थितानि वृत्तानि।
भूबिम्बत्रयमेतत् पश्यन्त्यादित्रिमातृविश्रान्तिः ॥

—काम कला विलास

श्लोक क्रमांक- ११

*** शिव चक्रों एवं 'शक्ति चक्रों' का अन्तसम्बन्ध ***

(शिव और शक्ति में षड्धि ऐक्य)

त्रिकोणो ते वृत्तत्रितय मिभकोणो वसुदलं।
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम् ॥
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्ति कमुमे।
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्ति शिवयोः ॥११॥

[**अर्थ-**(हे भगवती) आपके त्रिकोण में तीन वृत्त अवस्थित हैं। (आपके) 'इभकोण (अष्टार) में 'वसुदल' (अष्टदल पद्म), 'मिश्रार' या दशार द्वय में 'कलाश्र' (षोडशदल पद्म) तथा 'भुवनाश्र' (चतुर्दशार) में 'भुवन' (भूपुर) अवस्थित हैं।

(ये जो) चतुर्विधात्मक शैव चक्र हैं (वे) पञ्चात्मक शाक्त योगिनयों में (निवास करती है) हैं। पञ्चात्मक शाक्त योनियों में (निवास करती है) हैं। 'शक्ति' एवं 'शिव' के मुख्य-मुख्य ऐक्यों के द्वारा यह (शिव शक्ति में विद्यमान) ऐक्य षड्घि हो जाता है।]

सरोजिनी (व्याख्या)—इभ कोणो = इभ का अर्थ है हाथी, दिग्गज आठ होते हैं। यहाँ 'इभ' शब्द आठ का द्योतक है।

(१) **'इभ कोणो'** = अष्टार चक्र में।

(२) **'वसुदलं'** = वसुओं की संख्या आठ है। यहाँ 'वसु' का अर्थ है आठ।
'वसुदलं' = **'अष्टदलपद्म'**

(३) **'कलाश्रं'** = कलायें १६ हैं। यहाँ कला का अर्थ है १६।
'कलाश्रं' = षोडशदल पद्म।

(४) **'भुवनाश्रे'** = भुवन १४ हैं। भुवन का अर्थ १४ हैं।
'भुवनाश्रे' = 'चतुर्दशार', में।

(५) **भुवनम्** = भुवन शबद का लक्ष्यार्थ है 'भू'। **भुवनम्** = भूपुर।

सारांश-

(क) त्रिकोण = वृत्तत्रय

(ख) अष्टार = अष्टदलपद्म।
(ग) अन्तर्दशार एवं बहिर्दशार = षोडश दल पद्म।
(घ) चतुर्दशार = भूपुर।

'शक्ति चक्र' (शिव युवतियाँ) के भेद

(१) त्रिकोण (२) अष्टार (३) अन्तर्दशार (४) बहिर्दशार (५) चतुर्दशार

शिव चक्र (श्री कण्ठ) के भेद

(१) अष्टदलपद्म (२) षोडशदलपद्म (३) वृत्तत्रय (४) भूपुर
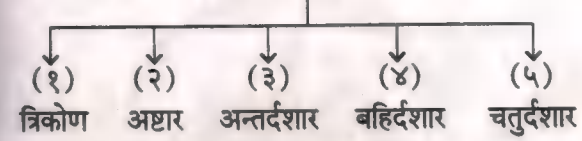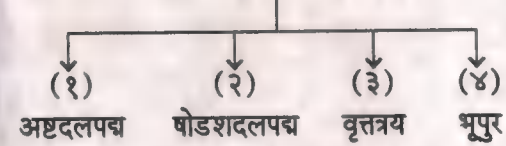
(क) आचार्य गौड़पाद ने यहाँ पर 'शक्ति' एवं 'शिव' चक्रों में एकता बतायी है।

(ख) शिव एवं शक्ति में यह ऐक्य षड्विध है—

(१) 'प्रधानैक्य षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः ॥११॥
(२) 'तदेवं **षोढैक्यं** भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥१२॥
(३) 'तदेवं **षोढैक्यं** भवति खलु येषां समयिनाम् ॥१३॥

'श्री चक्र' की उत्पत्ति कैसे होती है?

शिवचक्र — शक्तिचक्र
श्रीचक्र

देवी का स्वरूप और 'त्रिकोण'—

'तन्त्रराजतन्त्रं में प्रतिपादित दृष्टि—

देवी भगवान शिव से पूँछती हैं कि **'कादि'** क्या है? भगवान शिव कहते हैं 'कादि एवं काली शक्तियाँ हैं।' 'हे देवी! **आपका रूप या स्वरूप कादि का निहितार्थ है—**

'कादिसंज्ञा भवद्रूपा'

बँगला भाशा एवं इसके पूर्व प्राचीन देवनागरी लिपि में जो 'क' वर्ण लिखा जाता था वह बायीं ओर त्रिकोणात्मक रहता था। **'वर्णोद्धार'** एवं **'कामधेनुतन्त्र'** में कहा गया है।

('शब्द कल्पद्रुम' में भी देखिए)—कि त्रिकोण का स्वरूप ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-सरस्वती कुण्डलिनी श्वेत सुदर्शन 'ज्येष्ठा' 'वामा' एवं 'रौद्री' एवं त्रिपुरा—अब से समलंकृत है।

त्रिकोण = 'योनिमण्डल'

त्रिकोण की वामवर्ती रेखा
ब्रह्मा
(The left line)
त्रिकोण की दक्षिणावर्ती रेखा
विष्णु
(The right line)
(Empty Space)
त्रिकोण का रिक्तस्थान = 'सुदर्शन' (लाखों चन्द्रों के समाने द्युतिमान। उसके साथ ही कैवल्यप्रदा काली स्थित हैं।
(Bottom line)
रुद्र
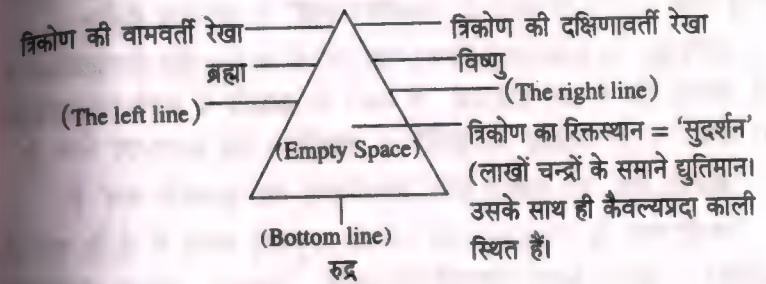
(१) **'मात्रा'** = सरस्वती शक्ति है।

(२) दाहिनी ओर (Crooked pontion) है जो कि 'अङ्कुश' (Good) की भाँति दृष्टिगोचर होता है। यह विद्युत्प्रभ (Lightning-like) 'कुण्डलिनी' शक्ति है।

(३) त्रिकोण के तीनों कोणों (Corners) में (क) 'ज्येष्ठा' (ख) 'वामा' एवं (ग) 'रौद्री' शक्तियाँ अवस्थित हैं।

(४) **'त्रिकोण'** = त्रिपुरा देवी का आसन है।

भवगती त्रिपुरा 'ज्ञानात्मा' हैं उनमें चार कलायें अवस्थित हैं। वे 'ज्ञान' 'इच्छा' एवं 'क्रिया' की समष्टि हैं। वे 'प्रकृति' का विग्रह हैं।

(She is the emlodimend of ofprakriti Triangle)[१]

(५) **'त्रिकोण'** देवी का रूप है।

Is the form of the DEVI"

(६) 'ह' शिवबीज है।

'क' काली के बीज मन्त्र 'क्रीं' का आद्यक्षर है।

'क काली ब्रह्मर प्रोक्तम् महामायार्थाकः ई। —बीजाभिधान

'विश्वमात्रार्थाको नादो बिन्दु दुःखापहारकः ।
तनैव कालिकाम् देवीं पूजयेद दुःखशान्तये ॥'

—बीजाभिधान

१. सरजान वुडरक : 'तंत्रराज तंत्र' (भूमिका)

'ककार' से 'काम' का उद्भव होता है।

यह समस्त अक्षरों की मूल प्रकृति है और यह समस्त देवताओं की माता है। कैवलय प्रदायिका है तथा अक्षर (Imperashable) है। छान्योग्योपनिषद में 'कं ब्रह्म' कहा गया है। 'शिव' एवं 'शति' मूलतः एक ही हैं। इनमें से एक की पूजा होने पर दूसरे की पूजा स्वयमेव हो जाती है। **'सम्मोहन तन्त्र'** में कहा गया है कि—

'कादिमत' वह सिद्धान्त है जिसमें मन्त्र 'क' से आरम्भ होते हैं। **'हादिमत'** में 'ह' से आरम्भ होते हैं। इसे **हंसराज'** भी कहते हैं। **कहादि में कादि** एवं **हादि** का संयोग किया गया है। **'कादि' + 'हादि' = 'कहादि'।** यह उत्तराम्नाय गोचर है।

'कहादि मत' का सर्वोच्च ग्रन्थ 'ऊर्ध्वाम्नाय' का 'कुलार्णव तन्त्र' है।

'कादि मत' के तन्त्र (तन्त्र राज तन्त्र के अनुसार) संख्या में नौ हैं। **मनोरमा** के अनुसार—'सुन्दरी हृदय' नित्याषोडशिकार्णव' 'चन्द्रज्ञान' 'मातृक' 'सम्मोहन' 'वामकेश्वर' 'बहुरूपाष्टक' 'प्रस्तार चिन्तामणि' एवं 'मेरुप्रस्तार'—ये नौ ग्रन्थ 'कादिमत' के हैं।

भास्कर राय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि 'मनोरमा' का मत सङ्गत नहीं है। वे कहते हैं कि 'नित्याषोडशिका' वामकेश्वर तन्त्र का ही एक भाग है। 'सुन्दरी' या 'योगिनी हृदय' पूर्ववर्ती साहित्य का अङ्ग है। 'सम्मोहन' तो वैष्णव तन्त्र है। अतः **कादिमत** का कैसे हो सकता है?

'कादि' तन्त्र शक्ति की उपासना (पूजा) के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हैं। ये पूजा-प्रकार

(१) स्थूल (Gross) (२) सूक्ष्म (Subtle) एवं (३) पर (Supreme)—तीन प्रकार के हैं। साधक 'स्थूल पूजा (उपासना) से पूजा का प्रारम्भ करता है। साधना का अन्तिम लक्ष्य है अद्वैत वेदान्त के सत्य का साक्षात्कार उसकी अनुभूति।

त्रिपुर सुन्दरी या ललिता के स्वरूप के तीन पक्ष हैं—'स्थूल', 'सूक्ष्म' एवं 'पर'। भगवती की पूजा के भी तीन प्रकार हैं—(१) 'कायिक' (२) वाचिक (३) मानस या (१) **'बाह्य याग'** (२) **'अन्तर्याग'** (३) **'भावना'**

तन्त्र पूजा के इन तीनों का विधान प्रस्तुत करता है और इनकी सहायता से अद्वैत सिद्धि प्राप्त करता है।

गुरु 'विमश्रमयी आद्या शक्ति' से एकीभूत है। उसके शरीर का स्वरूप नवात्मक है—

'गुरुराद्या भवच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता।
नवत्वम् तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेनावभासते॥'

साधक का शरीर नौ चक्रों से निर्मित 'श्री चक्र' है। श्री चक्रोपासना (श्री चक्र की पूजा) का उद्देश्य है—

(१) **ज्ञाता** होता (२) **ज्ञान** (अर्घ्य) एवं (३) **ज्ञेय** (हवि)।

'ज्ञाता स्वात्मा भवेज ज्ञानम् अर्घ्यं ज्ञेयम् हविः स्थितम्।
श्रीचक्रपूजनम् तेषाम् एकीकरणाम् इतीरितम्॥'

'वासना पटल' में साधना-पद्धति एवं 'श्री चक्र' विभिन्न भागों की विशद विवेचना की गई है।

*** पूजा के प्रकार एवं तत्सम्बद्ध शास्त्र ***

(१)	(२)	(३)
'कायिक उपासना' (त्रिपुरतापिनी उपनिषद)	'वाचिक उपासना' (त्रिपुरतापिनी उपनिषद)	भावना एवं मानस कर्म (भावनोपनिषद्)
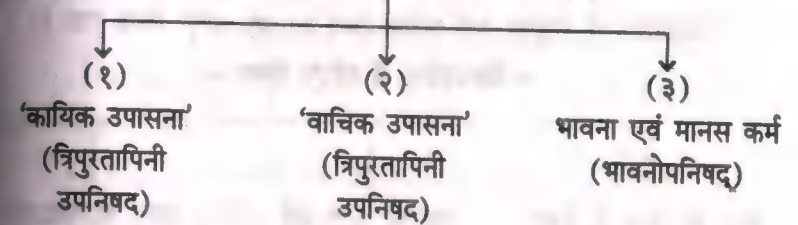
'भावनोपनिषद' ही तंत्रराजतन्त्र के वासना पटल को सर्वाधिक प्रभावित करता है। इसका आरम्भ निम्नांकित सूत्र से होता है—

क 'श्री गुरुः सर्व कारणा भूता शक्तिः।

इसका समापन इस सूत्र के साथ होता है कि—

'भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति।'

'श्री यन्त्र'—श्री यन्त्र **मानव शरीर एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड** (विश्व) का प्रतिनिधित्व करता है—

Yantra nepresents the humam body and the **Whole uniense** and man as also the sina sakti Suarupa or Atma[1]

'श्री यन्त्र' = मानव शरीर। सम्पूर्ण विश्व शिवशक्ति या आत्मा It is thus the I symlool of the devi as she is in then own torm (स्वरूप) and as she is in the torm of the Univene (विश्वात्मा)

श्लोक क्र. १२

*** शिवशक्ति में षड्विध ऐक्य एवं सामयिकों की सपर्या का विधान ***

कालायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे।
तयोर्नादैनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः।
तयोर्बिन्द्वादैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे।
तदेवं षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम्॥१२॥

१. तन्त्रराजरातत्र (भूमिका: वुडरक)

[**अर्थ**—(१) कला में बिन्दु का ऐक्य (२) उसके बाद इन दोनों का नाद के विभव के साथ ऐक्य (३) फिर उन दोनों का नाद के साथ ऐक्य (४) फिर उसके बाद इन दोनों का कला के साथ ऐक्य (५) फिर दोनों का बिन्दु के साथ ऐक्य (६) और फिर तीनों के विभव का परशिव के साथ ऐक्य—इस प्रकार यह छः प्रकार का ऐक्य होता है और यही समदाचार वालों की पूजा है।]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद ने श्लोक क्र. ११ में छः प्रकार के ऐक्य का उल्लेख किया था—

'प्रधानैक्य' षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः'

शिवशक्ति में अनुगत उसी षडिध ऐक्य का यहाँ वर्णन किया गया है।

*** शिवशक्ति में षड्विध ऐक्य ***

(१)
कला का बिन्दु से ऐक्य और इन दोनों का नाद विभव के साथ ऐक्य

(२)
नाद का कला एवं बिन्दु का पराशिव के साथ ऐक्य

(३)
कला का नाद एवं बिन्दु के साथ ऐक्य

(४)
कला, बिन्दु तथा नाद का परशिव के साथ ऐक्य

(५)
नाद, कला एवं बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य

(६)
कला, नाद एवं बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य
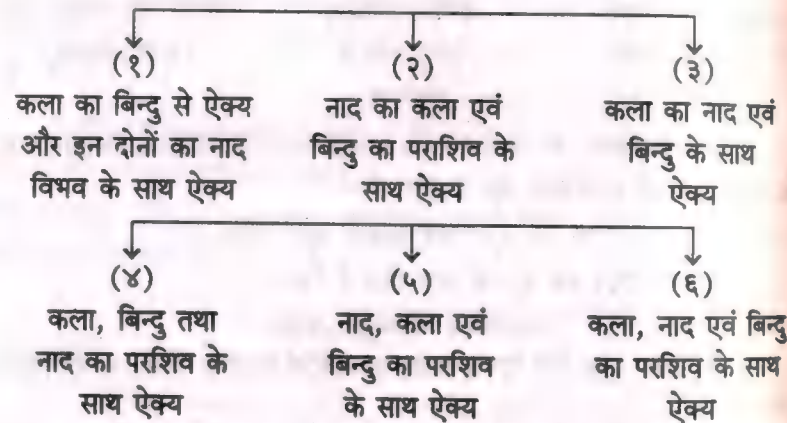
नादबिन्दु का ऐक्य—मूलाधारादिकषट् चक्रों का त्रिकोण-अष्टकोण दशारद्वितय मन्वश्र का **शिवचक्र से तादात्म्य है।** इसे ही **नादबिन्दु का ऐक्य** कहते हैं।

'नाद' है क्या? **'नादो'** नाम श्री चक्रम्।
'बिन्दु' क्या है? बिन्दुर्नाम षट्कमलगहनं वक्ष्यते ॥
इन दोनों के ऐक्य का नाम ही है **'नाद-बिन्दु'** का ऐक्य।

कमल	दलों की संख्या	कर्णिका
(१) 'आधार चक्र'	४ दल	त्रिकोणात्मिका
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र'	६ दल	अष्टकोणात्मिका
(३) 'मणिपूर चक्र'	१० दल	दशकोणात्मिका
(४) 'अनाहत चक्र'	१२ दल	द्वितीयदशकोणात्मिका
(५) 'विशुद्धि चक्र'	१६ दल	चतुर्दशकोणात्मिका

यहाँ तक 'शक्ति चक्र'—ऐक्य है। जहाँ तक **'आज्ञा चक्र'** का प्रश्न है उस विषय में यह कहना है कि **'आज्ञा चक्र'** द्विदलात्मक है। यहाँ एक 'अष्टकोण' एक दल है। दूसरा 'षोडशकोण' द्वितीय दल है। ये ही दो कर्णिकायें हैं। आशय यह है कि—दो भेद (द्विदल) हैं—

चतुरश्रप्रकृतिक शिवचक्रचतुष्टयात्मक एवं आधारस्वाधिष्ठानात्मक।

अमृतानन्द की दृष्टि—योगी अमृतानन्द कहते हैं कि **श्री चक्र** और पिण्डस्थ चक्र देखने में तो पृथक् - पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वे वस्तुतः एक ही हैं। उनमें निम्न प्रकार से ऐक्य है।

*** षटचक्र एवं नव चक्रों में ऐकात्म्य ***

(१) अकुल, सुषुम्नामूल में स्थित अरुण सहस्र दल पद्म में—त्रिपुराधिष्ठित **'त्रैलोक्यमोहन'** चक्र स्थित है।

(२) वह्नि पूर्ण आधार चक्र में (चतुर्दल कमल)- में त्रिपुरेशीसे अधिष्ठित सर्वाशापरिपूरण चक्र में स्थित है।

(३) शाक्त स्वाधिष्ठान में स्थित षड्दल कमल में त्रिपुर सुन्दरी से अधिष्ठित सर्वसंक्षोभण चक्र है।

(४) दशदलकमलात्मक नाभि में—त्रिपुरवासिनी से अधिष्ठित **'सर्वसौभाग्यदायक चक्र'** स्थित है।

(५) द्वादश दल कमलात्मक 'अनाहत चक्र' में त्रिपुराश्रीसमधिष्ठित **'सर्वार्थसाधक चक्र'** है।

(६) षोडशदलात्मक विशुद्धि चक्र में त्रिपुरमालिनी से अधिष्ठित **'सर्वरक्षाकर चक्र'** है।

(७) अष्टदलात्मक, तालुमूल में स्थित, 'लम्बिकाग्र' में—त्रिपुरासिद्धि से अधिष्ठित **'सर्वरोगहर चक्र'** हैं।

(८) दो भ्रुवों के मध्य में स्थित, द्विदलात्मक आज्ञा चक्र में—'त्रिपुराम्बिका' से अधिष्ठित **'सर्वसिद्धिप्रदचक्र'** है।

(९) इन्दु, ललाट या बिन्दु में महात्रिपुर सुन्दरी से अधिष्ठित **'सर्वानन्दमय चक्र'** है।[1]

योगिनी हृदयकार की दृष्टि—'योगिनी हृदय' में इसी की पुष्टि करते हुए पहले ही कहा जा चुका है कि—

---

१. योगिनी हृदय दीपिका।

'अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्त्येत्।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नव चक्रं पुरोदितम् ॥'[1]

ऐकात्म्य एवं ऐक्य के अन्य बिन्दु—

लक्ष्मीधराचार्य कहते हैं—

(१) 'वृत्तत्रयं स्वाधिष्ठनान्ते एकं वृत्तं **रुद्रग्रन्थ्यात्मकं ।**

(२) 'अनाहतान्ते एकं **विष्णुग्रन्थ्यात्मकं ।**

(३) 'आज्ञाचक्रान्ते' एकं **ब्रह्मग्रन्थ्यात्मकम् ।**

(३) ततउपरि चतुर्द्वारोपेतं भूपुर त्रिलयं द्वारेषु चतुर्षु सोपान युक्तम् । तच्च सहस्रदलकर्णिका। तस्य कमलस्य दलान्नि स

(४) **बैन्दवस्थानं** चतुर्द्वारोपेतं कर्णिकामध्ये ।

(५) एवं प्रासादन्यायेन श्रीचक्रस्य कमलानां चैक्यम नुसन्धेयम् ।

(६) एतच्च नादबिन्द्वैक्यं गुह्यात् गुह्यतमं शिष्या **नुग्रहात उपदिष्टम् ।**

....

(१) योगिनी हृदयदीपिका (२) योगिनी हृदय (मन्त्र संकेत ८)

(४) अस्मिन् षट्चक्रे पञ्चाशत्कलानामन्तर्भाव कथितः (६ चक्रों में ५० कलाओं का अन्तर्भाव है।)

५० कलाओं का अन्तर्भाव

- (१) चन्द्र खण्ड में स्वर
- (२) सूर्य खण्ड में स्पर्श
- (३) अग्नि खण्ड में अन्तस्थ ऊष्मवर्ण (किन्तु 'ह' नहीं)
- (४) बैन्दव चक्र में हकार, लकार
- (५) क्षकार सर्वत्र स्थित

- (६) मूलाधार आदि चक्रों के दलों में 'कलायें' अन्तर्भूत है।
- (७) कलायें तिथि रूप है।
- (८) नित्यायें कलात्मक है।
- (९) कलायें मूलमंत्रगत ५० अक्षर रूप है।
- (१०) ५० अक्षर त्रिखण्डात्मक है।

---

१. योगिनीहृदय (मंत्र संकेत ८)

- (११) त्रिखण्ड सोम-सूर्य-अनल से युक्त है।
- (१२) सोम-सूर्यग्रंथित्रय अनल ग्रंथित्रयात्मक है।
- (१३) मंत्रगत ह्रींकारत्रय से युक्त है।
- (१४) भुवनेश्वरी मंत्र मूलमंत्र युक्त है।

- (१५) मूल मंत्र चक्रों से युक्त है।
- (१६) चक्रनवक मूलाधारादि षटचक्रों में ब्रह्म ग्रंथि आदि ग्रंथियों से युक्त होने पर भी सहस्रकमल की कर्णिका आदि के साथ तादात्म्य है।

ऐक्य प्रकार

- (१) नाद एवं बिन्दु का ऐक्य
- (२) बिन्दु एवं कलाओं का ऐक्य
- (३) कलाओं का नाद से ऐक्य
- (४) कलाओं का बिन्दु से ऐक्य

- (५) नाद का कला से ऐक्य
- (६) श्रीविद्या के साथ पञ्चक का ऐक्य एवं षड्विध का ऐक्य
- (७) इसीलिए तो भगवती की षोढैक्य षोढैक्यानुसन्धान के बाद दशभुजा भगवती श्रीविद्या मणिपूर में प्रत्यक्ष परिदृश्यमाना होती है। इस प्रकार सपर्या के साथ भगवती का भी ऐक्य सिद्ध होता है।

'बिन्दु' का स्वरूप—मूलाधार आदि षट् चक्र ही बिन्दु कहलाते हैं—

'बिन्दुरिति मूलाधारादिचक्रषट्कम्' (लक्ष्मीधर)

'बिन्दु' का स्वरूप-लक्षण—(१) षटचक्र ही बिन्दु है।

(२) जगत की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण शिव की विशेष ही बिन्दु है।

'बिन्दुः जगदुत्पत्तिलयहेतुः शिवस्य शक्तिविशेषः ।'

(३) **'बिन्दु'** एक है और वह सहस्रकमलान्तर्गत चतुर्द्वारात्मक कर्णिका के मध्य चतुष्कोणात्मक शक्ति तत्त्व है—

'स च एक एव सहस्रकमलान्तर्गतचतुर्द्वारात्मक कर्णिका मध्यगत चतुष्कोणात्मकं शक्तितत्त्वम् ।

'नाद' क्या है? (१) उसी बिन्दु मध्यगत शिवतत्त्व ही 'नाद' है—'तन्मध्यगत शिवतत्त्वं नाद इत्युच्यते।

(२) नाद के चार भेद हैं—

(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरीवाक्।

इन 'शक्ति' एवं 'शिव' के शब्द एवं अर्थ स्वरूप होने के कारण इनमें साम्य भी है। इसीलिए इनका मेलन और नाद बिन्दु कला तीत साम्य भी है। इसीलिए इनका मेलन और नाद बिन्दु कला तीत का प्रतिपादन समयमत का रहसय है—

'अतश्च मेलनं नाद बिन्दु कलातीतमिति **समयमत रहतस्ययम्।**

'बिन्दु के १० भेद

एकात्मक (अद्वय) 'महाबिन्दु'

(१) मूलाधार कमल में ४ कमलों में ४ बिन्दु

(२) स्वाधिष्ठानगत ६ दलों में ६ बिन्दु

(६ + ४)

(१० बिन्दु)
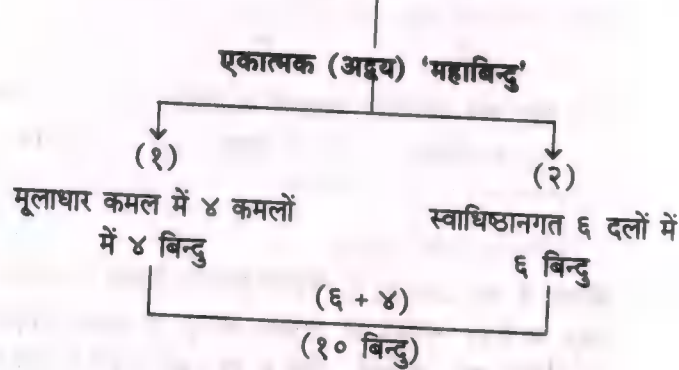
एक ही बिन्दु के १० भेद हैं।

'दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽऽधारकमले षोढाऽधिष्ठान पंकजे।
उभयाकाररूपत्वात् इतरेषां तदात्मता ॥'

(१) मूधा. (चतुष्पत्र सरसिज) (२) स्वा. (षड्दल) (३) मणि. (१० दल) (४) अना. (११ दल) (५) विशुद्धि (१६ दल) आज्ञा. (०२ दल) = ४ + ६ + १० + १२ + १६ + २० = ५०

आधार पद्म के ४ दल = बिन्दु चतुष्टय। (मन, बुद्धि, चित्ता अहंकार): जगन्निमणि के कारक तत्त्व।

महाबिन्दु

'एकस्यैव बिन्दोः दशधात्वं।।'

लक्ष्मीधर कहते हैं— 'एक एव बिन्दुः मूला धार-कमलगतचतुर्दलेषु चतुर्धा, स्वाधिष्ठानगत षड्दलेषुषोढा एवं दशधभिद्यते।

(१) 'मूलाधार चक्र' (४ दल)

(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' (६ दल)

(१) (प्रथम दल) **मन** (मूलाधारस्थ)

(२) (द्वितीय दल) **बुद्धि** (मूलाधारस्थ)

(३) (तृतीय दल) **चित्त** (मूलाधारस्थ)

(४) (चतुर्थ दल) **अहंकार** (मूलाधारस्थ)

('ते च बिन्दवो मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्याः' च)

महाबिन्दु

१० बिन्दु-(१) मन (२) बुद्धि (३) चित्त (४) अहंकार (५) काम (६) क्रोध (७) लोभ (८) मोह (९) मद (मात्सर्य)।

(१) मूलाधारचक्र

(२) 'स्वाधिष्ठानचक्र' (६ दल) संहृत बिन्दु

(१) कामबिन्दु (स्वा)

(२) क्रोधबिन्दु (स्वा)

(३) लोभबिन्दु (स्वा)

(४) मोहबिन्दु (स्वा)

(५) मदबिन्दु (स्वा)

(६) मात्सर्य (स्वा)
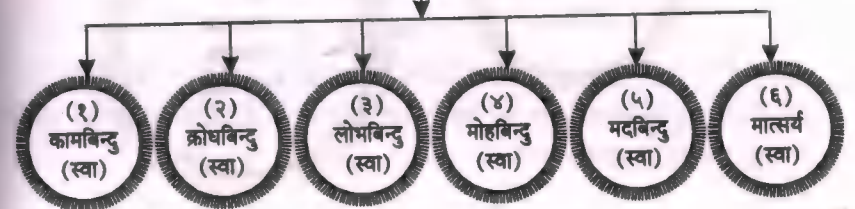
(१) 'स्वाधिष्ठान पद्मगतषड्दलानां काम क्रोध लोभ मोहं मदमात्सर्यात्मका: षड्न्दिवः। अतएव ते संहतबिन्दव इत्याहुः।' पतञ्जलि कहते हैं—

(२) 'स्वाधिष्ठानि संहार: षड्बिन्दुकृत।'

(३) 'एवं दश बिन्दवः कमलद्वय दलात्मका:।' —आचार्य लक्ष्मीधर

*** षट्चक्रों की उत्पत्ति ***

*** चक्रों के दल एवं 'महाबिन्दु' के १० बिन्दु ***

मूलाधार ४
स्वाधिष्ठान ६
(मू० + स्वा०) + २ दल
महाबिन्दु
मणिपूर चक्र (१०)
१० दल
(१) मूलाधार चक्र ४
(२) स्वाधिष्ठान चक्र ६
अनाहत चक्र (१२)
(शेष ४ चक्रों की उत्पत्ति)

मणिपूर के १० दल
स्वाधिष्ठान चक्र के ६ दल
आधार चक्र १
स्वाधिष्ठान चक्र १
विशुद्धि चक्र (१६)
आज्ञाचक्र आज्ञाचक्र (०२ दल)
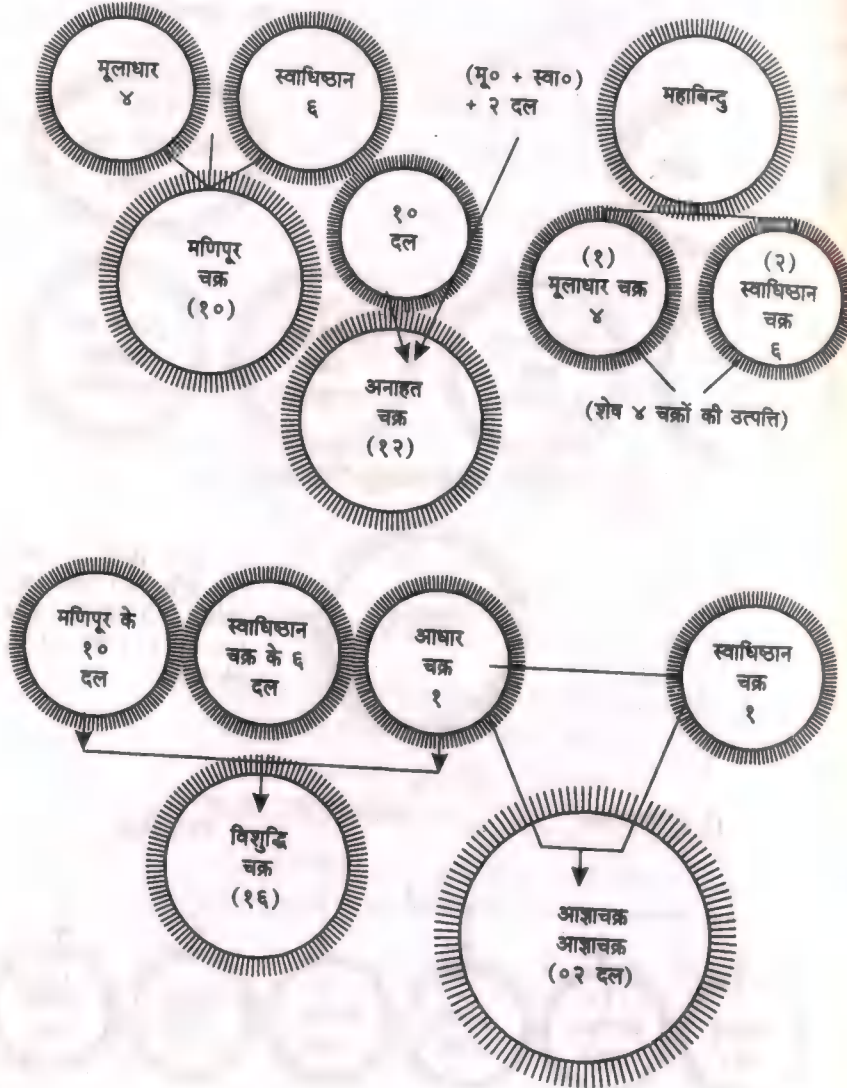
मूल चक्र—

(१) 'मूलाधार चक्र' (२) 'स्वाधिष्ठान चक्र'

'आज्ञा चक्र' के दो दल—(क) आधार चक्र (ख) स्वाधिष्ठान चक्र

आज्ञाचक्रं तु आधार स्वाधिष्ठानात्मक मिति द्विदलम्।

मूलाधार
स्वाधिष्ठान
(१) मधिपूर
(२) अनाहत
(३) विशुद्धि
(४) आज्ञा
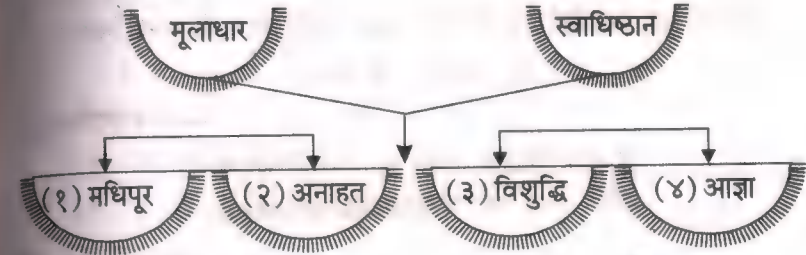
अत एवं मूलाघौरद्विके उत्तरकामल चतुष्कमन्तेर्भूतं मिति एकस्यैव विन्दोः दशधात्वं॥

—लक्ष्मीधर

(१) स्वाधिष्ठान चक्र
(२) स्वाधिष्ठान चक्र
(४) मूलाधार चक्र
(३) मणिपूर चक्र
(६) आज्ञा चक्र
(५) विशुद्धाख्य
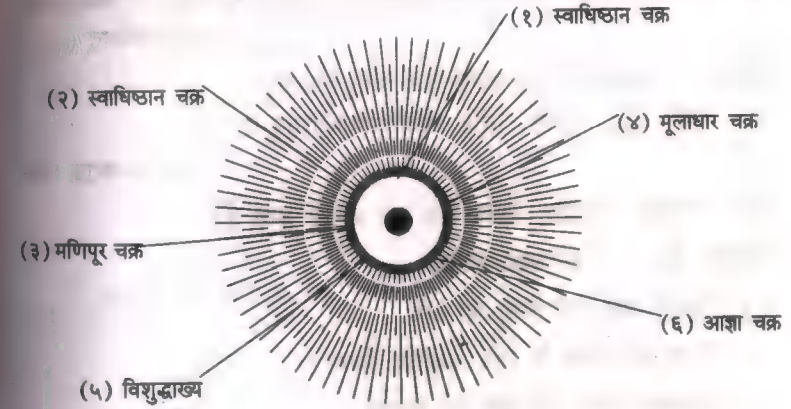
*** बिन्दुसृष्टिवार *** (तंत्र सिद्धान्त)

(Big Bang Theory)

(आधुनिक भौतिकविज्ञान का सिद्धान्त)

'श्री चक्र' क्या है?

'श्री चक्र'—(१) 'श्री चक्र' **शिवशक्तिमय** है। (२) यह 'शिव' एवं शक्ति दोनों का सम्मिलित शरीर है—**'शिवशक्तिमयं ज्ञेयं श्री चक्रं शिवयोर्वपुः।**

—भैरव यामल (चन्द्रज्ञान विद्या)

(३) **'नव चक्र रूपं श्री चक्रम्'** (भावनोपनिषत्)। **'भावनोपनिषद'** के इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य भास्कर राय कहते है कि **अपनी देह ही श्री चक्र** है।

भास्कर राय की दृष्टि—आचार्य भास्कर की दृष्टि यह है कि—'त्रैलोक्य मोहन' आदि नौ चक्रों की समष्टि रूप जो **'श्री चक्र'** है वह अपने शरीर से अभिन्न है—

'स्वकीयो देह एव त्रैलोक्य मोहनदिन चक्र समष्टि रूप श्री चक्रा भिन्नः।[1]

'नव चक्र रूपं श्री चक्रम् '

—भावनोपनिषद(३)

श्री चक्र सिद्धयः प्रोक्ता रसा नियति संयुताः।
ऊर्मयः पुण्य पापे च **ब्राह्मयाद्याभरतस्स्मृताः।**

—तन्त्र राज तन्त्र

श्री चक्र के पूजन का यथार्थ स्वरूप क्या है?

(क) 'ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः ज्ञाता होता ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेयानामभेदभावनं श्री चक्रपूजनम्।

—भावनोपनिषद (१०)

(ख) ज्ञाता स्वात्माभवेद्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः स्थितम्।
श्री चक्र पूजनं तेषा मेकीकरणमीरितम्॥

— तन्त्रराज तन्त्र

(ग) **भगवती रत्नद्वीप, कल्प तरु एवं ऋतुऐं क्या हैं?**

श्लोक क्र. १३ प्रतिपाद्य विषय—

(१) 'कला' नाद एवं बिन्दु का अर्थ

(२) शिव एवं शक्ति के साथ चतुर्विध ऐक्य।

(३) समयमत वालों की पूजा का विधान

कला नादो बिन्दुः क्रमश इह वर्णाश्च चरणं
षडब्जं चाधार प्रभृतिकममीषां च मिलनम्।
तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनाम्,
चतुर्थैक्य तेषां भवति हि समर्यासमयिनाम् ॥१३॥

[**अर्थ**—कला, नाद तथा बिन्दु क्रमशः वर्ण, चरण एवं छः कमल (मूलाधारादि षट्चक्र) हैं। इनका मिलन ही **'समयाचार'** वालो का छः प्रकार का ऐक्य है। इनका चार प्रकार का ऐक्य भी समयाचार वालों की पूज-पद्धति है॥१३॥]

१. भावनोपनिषद् भाष्य

सरोजिनी (व्याख्या)—

'समयाचार' में पूजा की दो पद्धतियाँ

(१) चतुर्थाऐक्य वाली पद्धति
(१) (२) (३) (४)

(२) षोढैक्य वाली पद्धति
(१) (२) (३) (४) (५) (६)
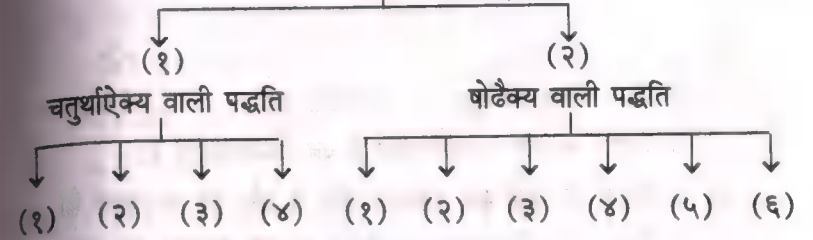
(१) **'कलानादौ बिन्दुः'**

(२) 'क्रमशः इह **वर्णाश्च चरणं, षडब्जं'।**

(क) **'कला'** = वर्ण

(ख) **'नाद'** = चरण।

(ग) **'बिन्दु'** = षडब्ज = षट् चक्र॥

(३) **'कला'** = वर्ण

(१) वे वर्ण जिनसे श्री विद्या के मंत्र का निर्माण होता है—'क्ल'। 'ए'। 'ई'। 'ल'। 'ह'। 'र'। 'स'

(२) वर्ण माला के अक्षर।

'चरण' का क्या अर्थ है?

'चरण' का अर्थ

(१) वाक्तत्त्व

(२) (वाक् के चार चरण)
(१) 'परा' (२) 'पश्यन्ती' (३) 'मध्यमा' (४) 'वैखरी'
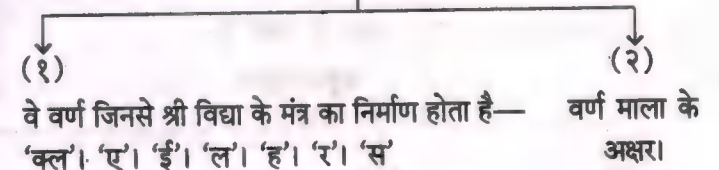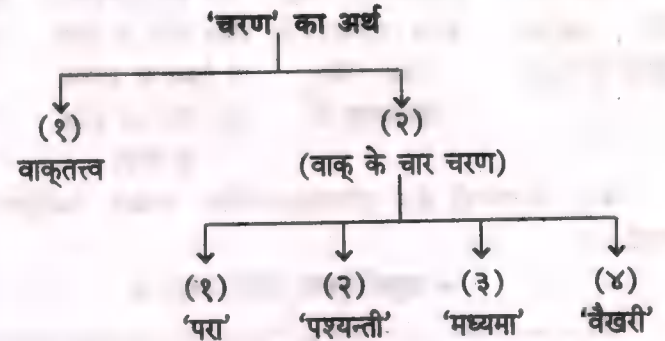
वाक् ही **'नाद'** है अतः चरण का अर्थ पाद। **नाद = 'नादब्रह्म'**

'चरण' (अन्य अर्थ)

श्रीविद्या के चारों चरण (कूट या पाद)

- (१) वाग्भव कूट
- (२) कामराज कूट
- (३) शक्ति कूट
- (४) तूर्य कूट
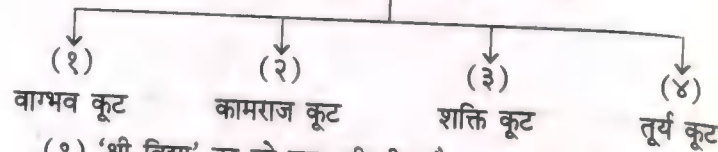
(१) 'श्री विद्या' का जो एकाक्षरी बीज है वह उच्चारणतीत है।

(२) 'श्री विद्या' का **तुर्य कूट** एकाक्षरी बीज है और वह अनुच्चार्य है।

(३) इस विद्या की अन्तिमावस्था 'तुर्यातीत' है अतः उसका उच्चारण करना सम्भव नहीं है। इस स्थिति में—

(४) 'मन्त्र' महामंत्र (महानाद) में विलीन हो जाता है।

'बिन्दु' का यहाँ क्या अर्थ है? यहाँ 'बिन्दु' का अर्थ है 'महाबिन्दु' से आविर्भूत (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्धाख्य (६) आज्ञा चक्र।

'चक्र' या 'कमल' (पद्म)।

(५) चक्रों का ४ या ६ प्रकार से ऐक्य है।

चतुर्धा ऐक्य

- (१) आधार, स्वाधिष्ठान आदि ९ चक्रों का श्रीचक्र से ऐक्य
- (२) बिन्दुस्थान का बैन्दव स्थान (सहस्रार) से ऐक्य। (बिन्दु शिवात्मक है)
- (३) मल तथा आवरण रहित जीव का शिव से ऐक्य या साधक तथा शिव या शक्ति का ऐक्य
- (४) 'श्रीयन्त्र' एवं मन्त्र का ऐक्य
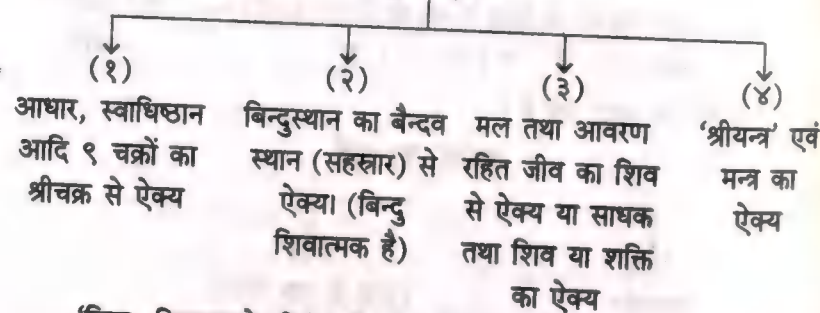
'बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः समवायः समाख्यातः सर्वागम-विशारदैः ॥'

*** चतुर्धा ऐक्य** (दूसरा प्रकार) *****

- (१) मातृका एवं मंत्र का ऐक्य
- (२) मंत्र एवं चक्र का ऐक्य
- (३) चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य
- (४) नित्याओं एवं तिथियो का ऐक्य
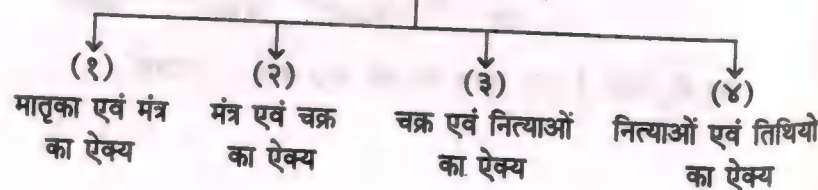
[१] *** 'कला' का 'बिन्दु' से ऐक्य ***

'कला' का 'बिन्दु' से ऐक्य दो प्रकार से होता है—

(क) वर्ण माला के वर्णों का छः चक्रों से ऐक्य।

[क] *** 'श्री विद्या' के मूल वर्णों का छः चक्रों से ऐक्य ***

(साथ ही साथ श्रीविद्या के वर्णों का श्री चक्र से ऐक्य)

'क ए ई ल ह्रीं।'

[१] **'क'** (श्री विद्या' का प्रथम वर्ण) =

'ककार' = काम एवं शिव दोनों का वाचक है 'ककार'। चूँकि शिव अष्टमूर्ति हैं अतः **'क'** वर्ण श्री चक्र के **'अष्टार चक्र'** सभी द्योतक है।

[१] 'क' वर्ण (श्री विद्या-मन्त्र का प्रथम वर्ण)

- (१) शिव
- (२) कामदेव

अष्टमूर्ति शिव = (१) श्रीचक्र का **'अष्टारचक्र'** { 'क' (स्वाधिष्ठान कामदेव का स्थान है अतः (२) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** का भी द्योतक है।

सारांश—(१) 'क' शब्द **शिव** का द्योतक है।

(२) 'क' शब्द **कामदेव** का द्योतक है।

(३) चूँकि (क-द्योतित शिव) अष्टमूर्ति हैं अतः 'क' का अर्थ है अष्टमूर्ति शिव। इसका लाक्षणिक अर्थ है **'अष्टार'** चक्र।

(४) 'क' काम का भी द्योतक है अतः काम जहाँ प्रधानतः रहता है उस चक्र का द्योतक ही 'क' है अतः 'क' 'स्वाधिष्ठान चक्र' (काम का केन्द्र) का द्योतक है।

[२] **'ए'** = ('ऐं' सरस्वती बीज है किन्तु 'ए' उससे पृथक 'ए' विष्णुयोनि होने के कारण विष्णु स्वःप है।

(१) चूँकि भवगान विष्णु का स्थान हृदय है अतः 'ए' हृदय स्थानीय **'अनाहत चक्र'** का द्योतक है।

(२) 'ए' का अर्थ — श्री चक्र का —'बहिर्दशार'

(३) 'ए' का अर्थ—पिण्डस्थ चक्र का—'अनाहत' चक्र'

[३] **'ई'** = (१) 'ई' माया का द्योतक है।

(२) **'ई'** = (माया स्वरूप 'ईं') 'माया' १४ भुवनों की स्वामिनी है अतः माया का अर्थ है= 'चतुर्दशार' चक्र।

(१) पिण्ड में 'ई' = विशुद्ध चक्र

(२) श्री चक्र में 'ई' = चतुर्दशार चक्र

[४] **'ल'** —(१) 'ल' = शिव =

(२) 'ल' = भूमि =

(१) **'ल'** = 'ल' शिववाच्य होने से शिव के स्थान **'सहस्रार'** का द्योतक है।

(२) **'ल'** = 'ल' भूमिवाचक है। 'श्री चक्र' में 'ल' **'भूपुर'** का द्योतक है।

[५] **'ह'** = 'ह' शब्द = **आकाश** का द्योतक है।

'ह' शब्द = **शिव** का द्योतक है।

(१) 'ह' षट्चक्रों या शरीर में (आज्ञा चक्र)

(२) श्री चक्र में (अष्टादल पद्म)

(१) **'आज्ञा चक्र'** मनस्तत्त्वात्मक तो है किन्तु आकाश प्रधान भी है।

'ह' के अर्थ

(१) **षटचक्रों में** (आज्ञा चक्र)

(२) **श्रीचक्र में** (अष्ट दल पद्म)

'परमे व्योमन' आदि श्रुतिवचन **'व्योम'** (आकाश) को पर ब्रह्म कहते हैं। 'आज्ञा चक्र' व्योम प्रधान है।

(१) यदि व्योम 'ब्रह्म' (परमे व्योमन') है तो ब्रह्म स्वयप शिव तो **अष्टमूर्ति** हैं अतः 'ह' = **'अष्ट दल पद्म'** का द्योतक है।

(२) 'आज्ञा चक्र' (विशुद्ध चक्र के बाद) सर्वाधिक व्योमात्मक है अतः 'ह' आज्ञा चक्र का द्योतक है।

[६] **'र'** = (ह्रीं = ह + र + ई + —)

'र' = 'र' अग्नि का वाचक है।

'र' का अर्थ

(१) **श्री चक्र में**
अग्नि (र) की १० जिह्वायें हैं अतः **'र'** (अग्नि) १० कोणों वाले **'चतुर्दशार'** का द्योतक है। ('चतुर्दशार चक्र')

(२) **पिण्डस्थ षटचक्रों में** (अग्नि के केन्द्र) **'मणिपूर चक्र।'** ('मणिपूर चक्र')

'सकल ह्रीं' (मंत्र)—

'स' = 'स' शब्द—'शक्ति' एवं 'चन्द्र' का द्योतक है।

'स' शब्द के अर्थ (शक्ति चन्द्रमा)

(१) **'षोडशदलपद्म'**
'स' चन्द्र वाच्य होने के कारण **'षोडशदलपद्म'** का द्योतक है। (श्री चक्र में)

(२) **'आज्ञाचक्र'**
'स' शक्तिवाच्य होने के कारण **'आज्ञाचक्र'** का द्योतक है।
(आज्ञाचक्र'—सदाख्य तत्त्व या अर्ध-नारीश्वर का स्थान है जो कि शक्तिमय शिव-स्थान है।[१]

(१) वर्ण अर्धमात्रा =	(२) वर्ण का अर्थ त्रिकोण या योनि। (क) श्रीचक्र में—त्रिकोण (ख) शरीर में—मूलाधार (चूँकि मूलाधार नाद रूप है अतः अर्धमात्रा भी नाद रूप है।	(३) वर्ण और वर्ण का अर्थ **'बिन्दु'** = शशि, मीम, चेतेना शिव, पूर्ण, शून्य, व्योम, 'कलानिधि', अमृताकर्षिणी **'श्रीचक्र'** में—बैन्दवस्थान का द्योतक है। शरीर में यह 'सहस्रार' का द्योतक है।

१. 'Anatomy of Alphabet and comprerative stydy of Silenature
—स्वामी शङ्करानन्द

'ज्ञानार्णव' के आधार पर वर्णों के अर्थ—

वर्ण	अर्थ	प्रमाण
'ल'	पृथ्वीबीज	'लकारः पृथिवी बीजं तेजो भूमिबम्बच्यते।
'स'	चन्द्रमा	'सकारश्चन्द्रमा भद्रे। कलाषोडशकात्मकः। तस्मात् षोडश पत्रं च।।
'ह'	शिव	'हकारः शिव उच्यते, अष्टमूर्तिः सदाभद्रे। तस्माद्वसुदलं भवेत् ।
'ई'	माया	'इकारस्तु सदा माया भुवनानि चतुर्दश। पालयन्ती परात्साच्छककोणं भवेत् प्रिये।।
'ऐ'	विष्णु	शक्तिरेकादशस्थाने स्थित्वा सूत, जगत् त्रयम् विष्णो-र्योनिरिति ख्याता सा विष्णोर्दशरूपकम् एकारात्, परमेशानी चक्र व्याप्य व्यवस्थिता।
'र'	वह्नि	दशकोण करं तस्मात् प्रकारे ज्योतिराख्यः कलादशान्वितो वह्निर्दशकोण प्रवर्तकः।
'क'	शिव। मदन	ककारान्मदनोदेवि! शिवं चाष्ट स्वरूपकं। योनिवश्यं तदा चक्रं वसुयोन्यङ्कितं भवेत्।
‿	उनाद। त्रिकोण	'अर्धमात्रागुणान् सूतेनादरूपा यत स्मृतः त्रिकोणरूपा योनिस्तु।।'
⊙	बिन्दु	बिन्दुना बैन्दवं भवेत् ।
	सम्बद्ध	कामेशवरस्वरूपं तद्विश्वाधार स्वरूपकम्
	'बन्दवस्थान'	श्रीचक्रन्तुर्वियत सम्भवमिति।।

'कला' (वर्ण) का 'बिन्दु' (षटचक्र) से ऐक्य

अक्षर	तत्त्व/अर्थ	चक्र
(१) 'ल'	पृथ्वी तत्त्व	मूलाधार चक्र
(२) 'क'	जल तत्त्व	स्वाधिष्ठान चक्र
(३) 'र'	अग्नि तत्त्व	मणिपूरक चक्र
(४) 'ई'	चतुर्थ स्वर	अनाहत चक्र
(५) 'ऐ'	वाणी 'ऐ' (वाणी का स्थान वैखरीवाक्)	विशुद्ध चक्र
(६) ‿⊙	अर्द्धेन्दु और चन्द्र	आज्ञा चक्र
(७) 'स'	शक्तिासोम	सहस्रार (शक्ति एवं चन्द्रमा)
(८) 'स'	अमृता	अमृत का स्थान—सहस्रार
(९) 'ह'	गगन मण्डल का सूचक/ शिव का सूचक	सहस्रार गगन मण्डल परम-शिव का स्थान

अक्षर	अर्थ	चक्र
(१) 'ल'	सर्वजन्मदात्री माता। सर्वयोनि	त्रिकोण मूलाधार
(२) 'क'	प्रथमाक्षर, प्रथम प्रसर= स्वाधिष्ठान चक्र	त्रिकोणों का अष्टार =
(३) 'र'	अग्नि जिह्वा 'अन्तर्दशार चक्र	अग्नि की १० होती हैं। अतः = मणिपूर चक्र
(४) 'ई'	विष्णु की माया	अवतार १० हैं १० अवतारों के कारण = बहिर्दशार = अनाहत चक्र
(५) 'ऐ'	विश्वयोनि भुवन योनि	भुवन १४ हैं। अतः चतुर्दशार = विशुद्धि चक्र।।
(६) ‿⊙	अर्धचन्द्र =	अष्टदल पद्म
(७) 'स'	= सोम = षोडशदलपद्म	= चन्द्रमण्ड
(८) 'स'	'बैन्दव स्थान' त्रिवृत्त चन्द्रमण्डल	आज्ञा चक्र या वृत्त सहस्रारस्थ
(९) 'ह'	शिव = चतुष्कोण सहस्रार	शिव का स्थान भूपुर =

(विष्णु के २४ अवतार है तथा विष्णु के १० अवतार भी हैं किन्तु अनाहत चक्र के दल तो १२ हैं अतः दलसंख्या के आधार पर दोनों में साम्य नहीं है।

भुवन १४ हैं किन्तु विशुद्ध चक्र के दल तो १६ हैं, अतः दलों के आधार पर इनमें साम्य तो नहीं है। 'ए वणी बीज है और विशुद्ध चक्र वैखरीवाणी का केन्द्र है।

[२] * 'कला' (वर्ण) का 'नाद' (चरण) से ऐक्य *

मंत्रावयव व वर्ण	मंत्रा वयवभूत वर्ण का अर्थ	श्रीचक्र की उत्पत्ति (१) शिव चक्र (४), (२) शक्ति चक्र (५) — श्री चक्र — ९ योनियों वाला श्रीचक्र
'क'	(१) कवर्ग का प्रथमाक्षर है। (२) स्फोट का सूचक है। (३) प्रथम स्फोट का अभिव्यञ्जक है।	*** श्रीचक्र की उत्पत्ति *** 'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभिः त्रयश्चत्वारिंशद् वसुदल कलाब्ज त्रिवलय (श्री चक्र में ९ त्रिकोणों में से ४ शिवात्मक एवं ५ शक्त्यात्मक है। त्रिकोणों की सम्पूर्ण संख्या ४३ है।
'ए'	वाणी का सूचक है।	'ए' वाणी का सूचक इसलिए है क्योंकि 'ऐं' वाणी का बीज है। यह वैखरी वाक् को लक्षित करता है।
'क' एवं 'र'	**'र'** = अग्नि है। यह अग्नि का कारण है। 'क' वर्ग का प्रथमाक्षर है।	अग्नि प्रथम स्फोट की शक्ति है। 'क' एवं 'र' = 'पश्यन्ती वाक्' के द्योतक हैं। क + र = पश्यन्तीवाक् के द्योतक हैं।
'इ'	इच्छा का द्योतक (मध्यमा वाक्)	'इच्छाशक्ति' का संयोग (वाक् से) होने पर **'मध्यमावाक्'** का उदय होता है।
'ह'	शिववाच्य है।	'शिव' एवं 'शक्ति' (ह + स) के संयोग से (शिव-शक्तिमिथुन) से 'नाद' की उत्पत्ति होती है।
'स'	शक्ति वाच्य है।	शिव दोनों का संयोग——— नाद शक्ति—नाद की उत्पत्ति। { अ से ज्ञ तक की समस्त वर्णमाला

(३) बिन्दु (चक्रों) का नाद से ऐक्य—

'बिन्दु' और 'नाद' इस प्रकार ऐक्य है—

बिन्दु (चक्र)	नाद	श्री चक्र के भाग
(१) मूलाधार चक्र	परावाक्	त्रिकोण चक्र
(२) स्वाधिष्ठान चक्र	पश्यन्ती वाक्	अष्टार चक्र
(३) मणिपूर अनाहत	मध्यमा वाक्	दशार (द्वय) चक्र
(४) विशुद्ध चक्र	वैखरी वाक्	चतुर्दशार चक्र
(५) आज्ञा चक्र	नाद एवं नादान्त	शिव चतुष्कोण
(६) सहस्रार चक्र कलातीत	नाद बिन्दु परा संवित्[१]	भगवती त्रिपुर सुन्दरी

श्लोक क्रमांक १४ मणिपूरक चक्र में भगवती का साक्षात्कार

[तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपूरे भगवती।
चतुर्धैक्यं तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता॥
धनुर्वाणानिक्षूद्भव कुसुमजाङ्कुशवरं।
तथा पाशं विभ्रत्युदित रविबिम्बाकृति रुचिः ॥१४॥]

[**अर्थ**—'मणिपूरक चक्र' में भगवती त्रिपुरा विद्युत की रेखा के मध्य स्फुरित होती हैं उनका चार प्रकार का ऐक्य होता है और भगवती चतुर्भुजात्मिका स्वरूप में उदित होती हैं। वे अपने उन चतुर्बाहुओं में इक्षु-निर्मित **धनुष,** पुष्पनिर्मित **वाण,** श्रेष्ठ **अङ्कुश** एवं **पाश** धारणा किए हुए हैं। उन भगवती की कान्ति उदीयमान सूर्य के बिम्ब के सदृश (अर्थात् रक्तवर्ण की) है।।१४।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—जब साधक शक्ति के चतुर्विध ऐक्य को ज्ञात कर लेता है अर्थात् उक्त चार प्रकार के ऐक्य को जान लेता है तब वह तडित की भाँति प्रकाशपुञ्जात्मिका भगवती त्रिपुरा अपने विद्युदाभ आलोक पुञ्ज से समावृत स्वरूप में साधक को दर्शन देती है।

भगवती इस समय साधक को जो दर्शन देती हैं उसमें हाथों में (१) धनुष (२) वाण (३) पाश एवं (४) अंकुश धारण किये रहती हैं।

भगवती का यह मंगलमय दर्शन गुरु द्वारा **'महाबेध दीक्षा'** देने पर ही प्राप्त

१. आचार्य लक्ष्मीधर (सो०ल० श्लोक ४१ की व्याख्या)

होता है। **आचार्य लक्ष्मीधर** इसी तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

'गुरुकटाक्षसञ्जाता महावेध महिम्ना च भगवती झटति मूलाधार स्वाधिष्ठानात्मक चक्रद्वयं भित्वा मणिपूरे प्रत्यक्षं प्रतिभाति। —लक्ष्मीधर।

'स्फुरति मणिपूरे भगवती'—कहकर आचार्य गौड़पाद ने यह संकेतित किया है कि—

'मूलाधार चक्र' एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में भगवती प्रकट नहीं हुआ करती है।
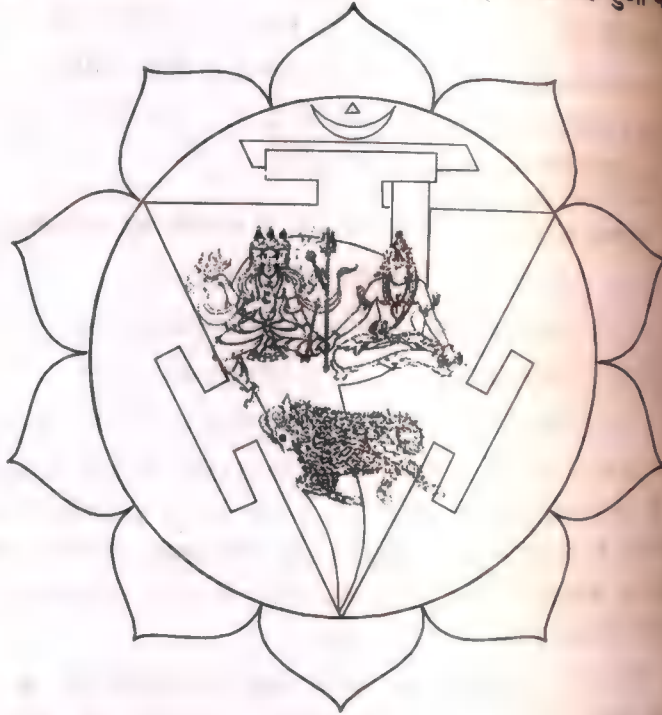
'नाभिस्त्यर्धाङ्गुलोपरि।
पत्पद्मं मणिपूरम्वदशपुत्रं सुशोभनम् ।
लाकिनीमध्यंग तच्च डामयोदिभिरावृतम् । —स्वच्छन्दतन्त्र

'तडित्वन्तंशक्त्यातिमिरपरिपन्थस्फुरमणाया
स्फुन्नानारत्नाकमणपरिणाद्धिन्द्रधनुषम् ।
तव श्याममेधं कमपि मणिपूरैक शरणाम्
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥
शङ्कराचार्य—सौन्दर्यलहरी

मणिपूरक चक्र में देवी का साक्षात्कार—

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'अत्र शङ्कर भगवत्पादानां चतुर्विधैक्यानुसन्धानानन्तरं **मणिपूरे** प्रत्यक्षायाः भगवत्याः स्वरूपं **'क्वणत्काञ्चीदामा'**—इत्यादि ध्यान प्रतिपादितं चतुर्भुजं धनुर्बाणपाशङ्कुशयुक्तहस्तम्। 'तन्मतानुसारिणामपि तथैव प्रतिभाति भगवती।

(२) 'अस्माकं तु षड्विधैक्यानुसन्धानानन्तरं मूलाधार द्विकं भित्वा **मणिपूरे** प्रासन्ना भगवती दशभुजा धनुर्बाणपाशाङ्कुशवरदाभय पुस्तकाक्षमालावीणाहस्ता। **मन्मतैकदेशिनां** पाशाङ्कुशपुण्ड्रेक्षुचाप पुष्प वाण जपमालिका शुकाभय वरकरा कर हृयवक्ष स्थल स्थापित वीणा। उभयभस्माकं सम्मतमेव।[1]

*** भगवती के स्वरूप में दृष्टि भेद ***

(क) दशभुजा भगवती

(१) धनुष
(२) बाण
(३) पाश
(४) अंकुश
(५) वरदान मुद्रा
(६) अभय मुद्रा
(७) **पुस्तक**
(८) अक्षमाला
(९) वीणा
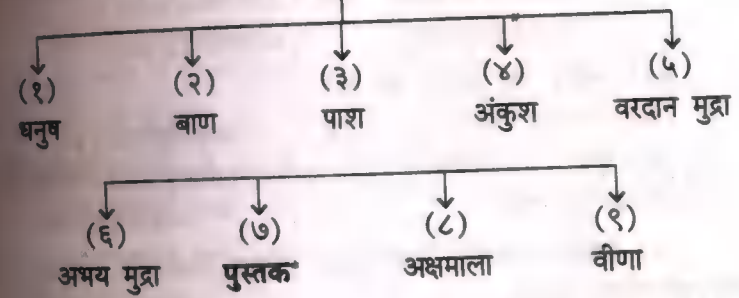
(ख) सामयिकों के दूसरे मत में स्वीकार्य स्वरूप

(१) पाश
(२) अंकुश
(३) **पुण्ड्र**
(४) **इक्षुचाप**
(५) पुष्पबाण
(६) जपमालिका
(७) अभय मुद्रा
(८) वरदमुद्रा
(९) वीणा
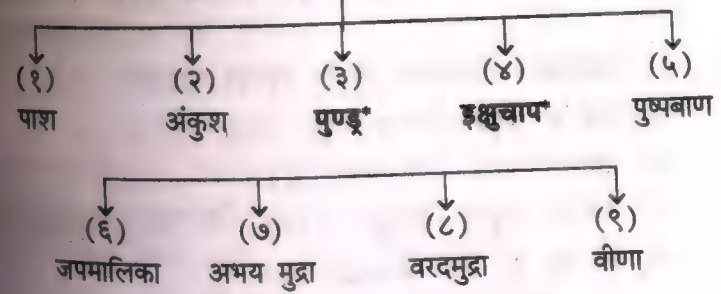
'उभयभस्माकं सम्मतभेव' (लक्ष्मीधर)
भवानि श्री हस्तैर्वहसि कणिपाशं सृणिमधो,
धनुः पाण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक् शुकवरम् ।

१. सौन्दर्यलहरी (४१)

अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय वरदानैकरसिके,
क्वणद्वीपां द्वाभ्याभुरसि च कराभ्यां च विभृषे ।।
लक्ष्मीधर — कर्णावतंस स्तुति

'ब्रह्म पूजानिषेधात् सूर्यमण्डलान्तर्गतत्वेन पूजनं निषिद्ध मित्याहुः ।[१]

भगवती की पूजा में दृष्टि भेद— भगवती ललिता की पूजा—(१) कौल (२) मिश्र एवं (३) समय मत के सिद्धान्तों एवं उपासना—भेदों को लेकर भिन्न-भिन्न है।

वामकेश्वर तन्त्र में प्रतिपादित दृष्टि—यहाँ आत्मपूजा की सर्वोच्च पूजा है अतः यहाँ शङ्कर की 'परापूजा' स्वीकृत है। कहा गया है—

'पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ ।
शब्द रूपर्शादयो वाणाः मनस्तस्याभवद्धनुः ।
करणोन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम् ।
विश्वाहङ्कारपुष्पेणा पूजयेत्सर्वसिद्धिभाक् ।।'

(१) **'तर्पण'** का स्वरूप क्या है?
'भावनाविषयाणामभेदभावना तर्पणाम्' —भावनोपनिषद (३२)

(२) **'होम'**—'अहं त्वमस्ति नास्ति कर्तव्यमकर्तव्यमुपासित व्यमिति विकल्पानामात्मनि विलापनं होमः।
—भावनोपनिषद (३१)

(३) **देवता**—स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपासितिरिति भावना।
—तन्त्रराज तन्त्र

(४) **भगवती ललिता**—सदानन्द पूर्णः स्वात्मैव परदेवता ललिता।
—भावनोपनिषद (२७)

(५) **कामेश्वर**—निरुपाधिक संविदेव कामेश्वरः। (२६)
(६) देवी का धनुष—'मन इक्षु धनुः। (२२)
(७) देवी का पाश—'रागः पाशः। (२३)
(८) देवी का अङ्कुश—द्वेषोङ्कुशः। (२४) —भावनोपनिषद्
(९) देह क्या है? देहो नवरत्नद्वीपः।।६।।
(१०) कल्पतरु एवं कल्पतरु उद्यान क्या है?
'सङ्कल्पाः कल्पतर वस्तेजः कल्पकोद्यानम् ।।८।।

---
१. लक्ष्मीधरा (४१)

(११) **सर्वकारणभूता शक्ति**—
श्री गुरुस्सर्वकारणभूता शक्तिः।। —भावनोपनिषद (१)

'स्फुरति मणिपूरे भवगती' (गौड़पाद)

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' में भगवती का प्राकट्य नहीं हुआ करता क्योंकि ये मलिन चक्र हैं।

(२) **'मूलाधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** मलिन एवं अन्धकार चक्र हैं अतः ये दोनों त्याज्य हैं।

(३) **मूलाधार चक्र** अन्धतामिश्र है।

(४) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** सूर्य-रश्मियों के सम्पर्क में स्थित रहने के कारण **'मिश्रलोक'** है।

(५) जहाँ तक **'मणिपूर चक्र'** की बात है वह अग्नि का स्थान है। **'मणिपूरक चक्र'** में मेघरूपी जल सूर्य की रश्मियों से प्रतिबिम्बित है अतः यह भी **'मिश्र लोक'** ही है किन्तु यहाँ **'मूलाधार'** एवं **'स्वाधिष्ठान'** की तुलना में अधिक ज्योति विद्यमान रहती है। यहाँ भगवती का साक्षात्कार होता है।

(६) **'अनाहत चक्र'** सूर्य का स्थान होने के कारण **'ज्योतिलोक'** है।

(७) **'अनाहत चक्र' पर्यन्त**—(१) अन्धतामिश्र (२) मिश्र एवं (३) ज्योति लोक हैं।

(८) 'विशुद्ध चक्र' चन्द्र लोक है।

(९) **'आज्ञा चक्र'** चन्द्रस्थान होने के कारण **'अमृत लोक'** है।

(१०) **'विशुद्ध चक्र'** के अधोदेश में चन्द्र-चन्द्रिका विद्यमान नहीं रहती है।

(११) **'सहस्त्रदलकमल'** ज्योत्स्नालोक है, क्योंकि वहाँ ज्योत्स्ना-निलय है। **'सहस्त्रदल पद्म'** में अवस्थित चन्द्रमा नित्यकला से विभूषित है।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद भगवान शङ्कराचार्य के **'परम गुरु'** थे अतः आचार्य शङ्कर पर उनका यथेष्ट प्रभाव था। आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'तडित्वन्तं शक्त्या तिमिर परिपन्थस्फुरणाया,
स्फुन्नानारत्नाभरण परिशाद्धेन्द्रधनुषम् ।
तव श्यामः मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं,
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिर तप्तं त्रिभुवनम् ।।(४०)

अर्थात् तेरे मणिपूरक चक्र के शरणागत श्याम मेघों के रूप धारणा करने वाले

'कं' (जल) की भी मैं सेवा करता हूँ जिसमें तम की परिपन्थिनी (प्रति द्वन्द्विनी) बिजली की चमक, आभूषणों में जटिल रतनों की चमक के सदृश इन्द्र धनुष का रूप धारण किए हुए हैं और जो अग्नि तथा सूर्य के ताप से सन्तप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

इस श्लोक में (मणिपूरक चक्र में) मेघेश्वर एवं विद्युत के रूप में **शिव तथा शक्ति का ध्यान** समझाया गया है।

(१) **सूर्य का स्थान** तो ऊपर सूर्य मण्डल में है और

(२) **अग्नि का स्थान** नीचे स्वाधिष्ठान चक्र में स्थित अग्निमण्डल में है।

(३) दोनों (सूर्य एवं अग्नि) के उत्ताप से समस्त देहरूपी तीन खण्डों वाला त्रिभुवन उत्तप्त होने पर जल वाष्प के रूप में 'मणिपूरक चक्र' में मेघों का स्वरूप धारण कर लेता है और मेघों में अग्नि विद्युत का आकार धारण करके चमकने लगती है। इन्हें ही मेघेश्वर एवं सौदामिनी (विद्युत) कहते हैं। इन दोनों के योग से वर्षा की भाँति समस्त शरीर में रस का सिञ्चन होने लगता है।

आचार्य गौड़पाद ने इसी (मणिपूर चक्र) में भगवती के दर्शन का वर्णन किया है। **'सिद्धघुटिका'** में कहा गया है—

'मणिपूरैकवसतिः प्रावृषेण्यस्सदाशिवः।
अम्बुदात्मतयाभाति स्थिरसौदामिनी शिवा॥'

लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'मणिपूर स्थाने जलतत्त्वं उत्पन्नम्।

(२) 'सूर्य किरणाः एव अग्नि सम्भिन्नाः मेघत्वामा पन्नाः जल रूपेणेति मणिपूरस्य आधार-स्वाधिष्ठान योर्मध्ये निवेशः।

(३) 'अनाहतीपरिस्थित सूर्य किरणाः स्वाधिष्ठानाग्निना संवालिताः सन्तः मणिपूरं प्रविश्य जलत्व मापन्नाः तेन जलेन स्वाधिष्ठानाग्निना दग्धं जगत् आप्लावयन्तीति आगम रहस्यम्

(४) अस्य स्फुत्रानारत्नाभरणा परिणाद्धेन्द्रधनुषम्' इत्यनेन मौवीरिहितं धनुरित्याहुः आगमविदः॥

'अरुणोपनिशद' में कहा भी गया है—

'तदिन्द्रधनुरित्यज्यम् अभ्रवर्णेषु चक्षते।
एतदेव शयोर्बार्हस्यत्यस्य। एतद्रुद्रस्य धनुः॥'

मणिपूर में जल उत्पन्न होता है।

मणिपूरक का जल

(१)	(२)	(३)
'स्वाधिष्ठान चक्र' में **अग्नि** का उत्पादन करता है।	आज्ञा चक्र में **चन्द्रमा** को उत्पन्न करता है।	अनाहत चक्र में **सूर्य** को उत्पन्न करता है।
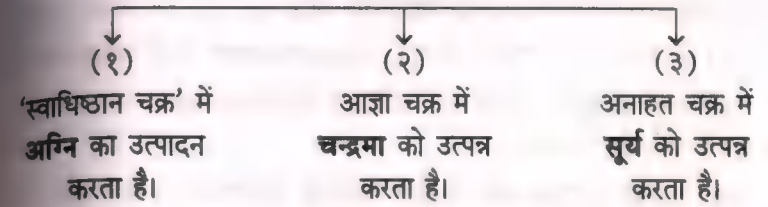
उस सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्र का यहाँ उल्लेख किया गया है।

(१) जल के रस चन्द्रमा को योगी प्राप्त करते हैं।

(२) सूर्य मण्डल में 'शुक्र' (अमृत) पूरित है।

(३) चन्द्र मण्डलगत पीयूष धारा से ही सूर्य का निर्वाह हुआ करता है।

(४) जल के रस अर्थात् पुष्प रूप चन्द्रमा का जो रस बैन्दव स्थान में स्थित है वह रस नित्य कलात्मक है।

(५) उदक (जल) का अभिमुख्य मणिपूर चक्र में उदक उत्पन्न करता है—

'अपां रस मुदयँ सन्। सूर्ये शुक्रं समाभृतम्।
अपां रसस्य यो रसः। तं वो गृह्णम्युत्तमम्॥'

—तैत्तिरीय आरव्यक १.१२

'योप्सु नावं प्रतिष्ठितां वेद। प्रत्येव तिष्ठिति। —तैत्तिरीय आरव्यक १-१२

'अप्सु' अर्थात् उदकतत्त्वात्मक 'मणिपूरक चक्र' में श्री चक्र प्रतिष्ठित है।

सुषुम्ना में स्थित जो छः चक्र एंव 'सहस्रार' है वह **'श्री चक्र'** ही है।

(१) आज्ञा चक्र में स्थित चन्द्रमा में १५ कलायें हैं। १६वीं कला प्रतिकलित होती है।

(२) १६ हवीं कला **'सहस्रार चक्र'** में स्थित चन्द्रमा में है। इसका प्रकाश आज्ञा चक्र में स्थित चन्द्रमा पर पड़ता है तथा आज्ञा चक्र में स्थित चन्द्रमा के प्रकाश से विशुद्ध चक्र आलोकित होता है।

सारांश यह है कि **मूलाधार चक्र** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** दोनों में भगवती की पूजा निषिद्ध है। ये चक्र प्रवृति प्रधान हैं। **कौलमत** में यह अवश्य स्वीकार्य हैं।

(१) **'आधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र' तामिश्र लोक हैं—**

'आधार स्वाधिष्ठानयोः तामिश्र लोकत्वात॥'

(१) इस तामिश्र लोक में या **'मूलाधार-स्वाधिष्ठान'** चक्र में कौलों को तो पूजा का अधिकार है किन्तु समय मत वालों को नहीं।

(२) समयमत में तो भगवती की पूजा **'सहस्रदलकमल'** में ही स्वीकार्य है—

(क) 'तत्र कौलानां अधिकारात् समयिनां आराधनाभावडिप स्वमतानुसारेण सहस्र कमले निषेव्यैव भगवती।'[१]

(ख) 'आधार स्वाधिष्ठानयोः सेव्येति महामेखी समयापदेन' उच्यत इति।'[२]

'मणिपूर चक्र' में भगवती का साक्षात्कार

आचार्य गौड़पाद तो कहते हैं—

'तडिल्लेखा मध्ये **स्फुरति मणिपूरे भवगवती**'[३]

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्य लहरी' (४१) की व्याख्या करते हुए कहा है—

(१) 'महावेधे जाते भगवती **मणिपूरे** प्रत्यक्षा भवति। सा समाराध्या। अर्ध्यपाद्यादि भूषणा प्रतिपादनपर्यन्तं पूजा कलापं मणिपूरे निर्वर्त्य अनाहत मन्दिरं भगवतीं नीत्वा ...... पूजयेत्।[४]

सामयिकों के लिए **'मूलाधार' 'स्वाधिष्ठान'** दोनों चक्र पूजनोपयोगी नहीं हैं।

कुण्डलिनी चार स्तर

(१)	(२)	(३)	(४)
अधः	मध्य	ऊर्ध्व	परा
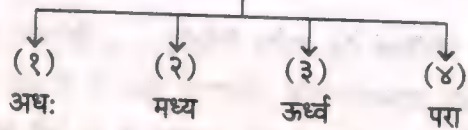
[१] **अधः शक्ति** = यह शक्ति जीव को संसारोन्मुखी बनाकर प्रवृत्तिमार्ग में भ्रमित करती है।

'मूलाधार एवं 'स्वाधिष्ठान' चक्र प्रजनन शक्ति काम-प्रवृत्ति, बाह्यमुखी वृत्ति एवं दैहिक क्रिया कलापों से सम्बद्ध है अतः अधः पतन के मार्ग हैं।

[२] **'मध्य शक्ति'**—बौद्धिक एवं वैचारिक क्षेत्र से ही सम्बद्ध है 'मध्यशक्ति'। यह शक्ति वैचारिक क्षमता के कारण अङ्कुश एवं नियन्त्रणा का अधिकार रखती है।

[३] **'ऊर्ध्व शक्ति'** यह शक्ति आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख करती है।

१. लक्ष्मीधरा (४१)
२. लक्ष्मीधरा (४१)
३. सभगोदय स्तुति (१४)
४. लक्ष्मी धरा (४१)

[४] **परा शक्ति**—यह शक्ति शिवभावात्मक चतुर्थ स्तर है। यही स्तर वरेण्य है क्योंकि समय मत में 'सहस्रादल कमल' में पूजा करना ही स्वीकार्य है अन्यत्र नहीं—

(क) 'समय पूजकाः **समयिनः**। तेषां षट्चक्रपूजा न नियता। अपितु सहस्र कमल एवं पूजा।

(ख) **सहस्र कमल पूजा है क्या है?**

'सहस्र कमल पूजा नाम सहस्र कमलस्य बैन्दवस्था नत्वेन तन्मध्यगत चन्द्र मण्डलस्य चतुरश्रात्मना तन्मध्य बिन्दोः पञ्चविंशतितत्त्वातीतं षड्त्रिंशात्मक शिवशक्ति मेलन रूप सादारख्यात्मना अनुसन्धानम्।

(ग) 'समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्।

(घ) 'षोडशोपचार रूप पूजाङ्ग कलापश्च ततोडिप दूरत एव।

(ङ) समयमतावलम्बी चतुर्विध ऐक्य का अनुसन्धान करके भगवती की पूजा करते हैं।

(च) कतिपय समयमत वाले षोढाऐक्य स्वीकार करते हैं।

पञ्च विध साम्य

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
अधिष्ठान साम्य	अवस्थान साम्य	अनुष्ठान साम्य	रूप साम्य	नाम साम्य
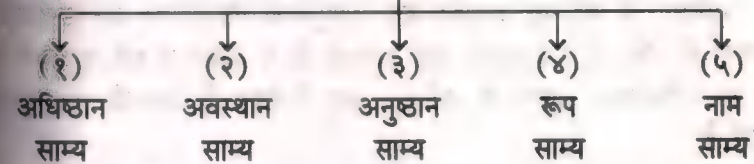
चतुर्विध साम्य को सभी रामयत वाले मानते हैं।

श्लोक क्र.१५ षोढा ऐक्य

भवेत्यैक्यं षेढा भवति भगवत्याः समयिनां,
भरुत्वत्कोदण्ड द्युतिनियुत भासा समरुचिः।
भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे,
भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरूपास्ते नहि परम्।।१५।।

[समयमत के उपासकों के लिए भगवती त्रिपुरा के छः प्रकार के ऐक्य होते हैं। मणिपूर में (वह) इन्द्रधनुष की कान्ति युक्त सुदीप्ति एवं दश प्रकार के हाथों के समूह हो जाती है। हे भवानी! (इस प्रकार के) तेरे प्रत्यक्ष शरीर की ही (तेरे उपासक) उपासना करते हैं निश्चय है कि किसी अन्य प्रकार की नहीं।]

सरोजिनी (व्याख्या)—भगवती 'मणिपुर चक्र' में इन्द्र धनुष के सौन्दर्य या रमणीय स्वरूप वाली एवं दशभुजा धारिणी देवी के रूप में प्रकट होती हैं। मणिपूर चक्र के जो १० दल हैं वे ही भगवती की १० भुजाएँ हैं। श्री चक्र तो भगवती का स्वशरीर है। **'मणिपूरक चक्र'** (अग्नि तत्त्व का स्थान है तथापि) वहाँ जल मेघों के रूप में विद्यमान रहता है। **'स्वाधिष्ठान** चक्र' का जल मणिपूर की अगिन से वाष्प बनकर मणिपूरक चक्र में मेघों के रूप में विद्यमान रहता है। इसीलिए मणिपूर को जल का स्थान भी कहा गया है।

*** षोढ़ा ऐक्य ***

जिस षोढ़ा ऐक्य की बात की गई है वह इस प्रकार है—

(१) मन्त्र तथा मातृकाओं का ऐक्य।

(२) मातृका तथा श्री चक्र का ऐक्य।

(३) मन्त्र और नित्याओं का ऐक्य।

(४) मातृका तथा नित्याओं का ऐक्य।

(५) मन्त्र एवं चक्र का ऐक्य।

(६) नित्याओं तथा चक्र का ऐक्य।

'मणिपूर' के मेघों पर 'अनाहत चक्र' के सूर्य की रश्मियाँ पर वहाँ 'इन्द्रधनुष' बन जाता है। देवी भी १० भुजाएँ कहीं भगवती के ६ प्रकार के एवं ४ प्रकार के ऐक्य का प्रतीकात्मक स्वरूप तो नहीं है? क्या ये ऐक्य ही देवी की १० भुजाएँ तो नहीं हैं?

अद्वैतवाद और शाक्तमत—शाक्त मत या शाक्त तन्त्र अद्वैतवादी है। उसके अनुसार साधक को देवी के साथ तादात्म्य या एकत्व का सम्बन्ध स्थापित करके उपासना करनी चाहिए। 'शक्ति' और साधक दोनों में ऐकात्म्य है—सामरस्य है—एकत्व है अतः साधक को अपनी उपासना के समय यह कल्पना करनी चाहिए कि—

'अहं देवी न नान्योस्मि।'

'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में भी वही दृष्टि अनुस्यूत है।

अद्वैतवाद की दृष्टि से—(१) केवलाद्वैत वेदान्त (२) विज्ञानाद्वैतवाद (३) शून्याद्वैतवाद (४) शब्दब्रह्मवाद (५) अजातिवाद आदि भी दृष्टियाँ समतुल्य हैं।

'इन्द्रा मायाभिः पुरुरूप ईयते' 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' आदि समस्त उदाहरण परासत्ता की एकात्मता एवं अद्वैत के ही प्रमाण हैं।

पञ्च विध साम्य

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
अधिष्ठान साम्य	अवस्थान साम्य	अनुष्ठान साम्य	रूप साम्य	नाम साम्य
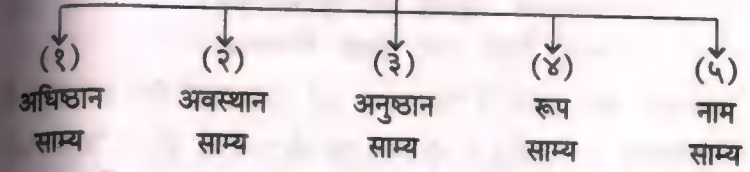
'पञ्चविध साम्यं तु—अधिष्ठान साम्यं, अवस्थान साम्यं, अनुष्ठान साम्यं, रूपसाम्यं, नामसाम्यं चेति पञ्चविधं सम प्रधानयोरे व शिवयोः।[1]

[१] **'अधिष्ठान साम्य'का उदारण**—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया,
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदय विधिमुद्दिश्य दयया,
सनाथाभ्यां जज्ञे जनक जननीमज्जगदिदम्॥[2]

यहाँ अधिष्ठान साम्य इसलिए है, क्योंकि दोनों आधार चक्र के अधिष्ठान हैं।

मणिपूरस्थान अधिष्ठान है। श्लोक (४०) में कहा गया है—'तवश्यामं मेघं कमपि **मणिपूरैकशरणाम्'**। यहाँ भी **अधिष्ठान साम्य** है।

'तव स्वाधिष्ठाने' इत्यादि श्लोकों में भी **'अधिष्ठान साम्य'** है।

अनाहत चक्र में अनाहत अधिष्ठान है अतः यहाँ भी **'अधिष्ठान साम्य'** है। 'विशुद्धि चक्र' स्वयमेव अधिष्ठान है अतः यहाँ भी अधिष्ठान साम्य है।

[२] **'अनुष्ठान साम्य' का उदाहरण**—

'सान्दर्य लहरी' के श्लोक—'जनक जननीमज्जगदि दम्' में अनुष्ठानसाम्य ह। उत्पादन क्रिया में व्याप्रियमाणत्व के कारण यहाँ अनुष्ठान साम्य है।

वातु तत्त्वोत्पादकत्व के कारण यहाँ भी अनुष्ठान साम्य है। 'व्योम जनक'—यहाँ भी अनुष्ठान साम्य है।

[३] **'अवस्थासाम्य' का उदारण**—'सौन्दर्य लहरी' में लास्य-ताण्डव शब्दों द्वारा भी अवस्था साम्य प्रतिपादित किया गया है। 'लास्य' एव 'ताण्डव' दोनों हैं पृथक्-पृथक् किन्तु हैं नृत्य ही।

'स्फुरन्नानारत्नाभरणापरिणोद्धेन्द्र धनुषम् ' में अवस्थासाम्य है।'

---

१. लक्ष्मीधर

२. सौन्दर्यलहरी (४१)

[४] **'रूप साम्य' का उदारण**—

'जपाकुसुम सङ्काशौ मद घूर्णितलोचनौ।
जगतः पितरौ बन्दे भैरवी भैरवात्मकौ॥'

'नवात्मानं' वाले श्लोक में **'रूपसाम्य'** एवं **'नामसाम्य'** दोनों प्रतिपादित है।

'तटित्वन्तम्' वाले श्लोक में तटित्वान एवं तटित्वती की दृष्टि से **'नाम साम्य'** एवं **'रूप साम्य'** दोनों है।

['महतीं' वाले श्लोक में महासंवर्तात्मक **रूप साम्य** एवं **नामसाम्य** दोनों हैं।]

(स्वाधिष्ठान गताग्निसंश्रयणा में **अवस्थान साम्य** है।)

['यमाराध्यन् भक्त्या' में **अवस्थान साम्य** है।]

[५] **'नाम साम्य' का उदाहरण**—'परं शंभुं' वाले श्लोक में तो **'नामसाम्य'** है किन्तु 'तपनशशिकोटिद्युतिधरं' वाले श्लोक में तो **'रूपसाम्य'** है।

साम्य के भेद—शाक्त दार्शनिकों ने साम्य के निम्न भेद बताये है—

(१) **चतुर्विध ऐक्य रूप साक्य**

(२) (पञ्चविध ऐक्य रूप साम्य (शिव एवं शक्ति में)

(३) **षड्विध ऐक्य रूप साम्य** 'षोढा ऐक्य'

लक्ष्मीधर कहते हैं—

(क) उभयोः समप्राधान्येनैव साम्यं विज्ञेयम् पञ्चविध साम्यं तु—

(१) अधिष्ठान साम्यं (२) अवस्थान साम्यं

(३) अनुष्ठान साम्यं (४) रूपसाम्यं

(५) नम साम्यं—चेति **पञ्चविधं** समप्रधान योरेव शिवयोः।

(क) 'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धान मेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्वसम्मतम्। (चतुर्विध ऐक्य)।

(ख) केचित्तु **षोढा ऐक्यमाहुः**।[१]

*** शिव एवं शक्ति में साम्य के प्रकार ***

शिव एवं शक्ति समप्रधान हैं और दोनों में पञ्चविध साम्य है जो इस प्रकार है—

[१] **'अधिष्ठान साम्य'** = शिव एवं शक्ति का एक ही स्थान में रहना ही अधिष्ठान-साम्य है।

[२] **अनुष्ठान साम्य**—दोनों (शिव एवं शक्ति) का एक ही प्रकार के कार्य निष्पादित करना यथा शिव एवं शक्ति दोनों 'मूलाधार चक्र' में नृत्य करते हैं।

'तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया,
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधि मुद्दिश्य दयया,
सनाथाभ्यां जज्ञे जनक जननीमज्जगदिदम्॥'[२]

[३] **'अवस्थान साम्य'**—दोनों अर्थात् शिव शक्ति दोनों का एक अवस्था में रहना 'अवस्थान साम्य' है।

[४] **'रूप साम्य'**—शिव एवं शक्ति दोनों का एक समान रूप होना ही **'रूपसाम्य'** है।

[५] **'नाम-साम्य'**—एक जैसा ही दोनों का नाम होना (जैसे व्योमेश्वर एवं व्योमेश्वरी) ही नाम-साम्य कहलाता है।

यह पाँच प्रकार का साम्य इस प्रकार भी हो सकता है।

साम्य पञ्चक का द्वितीय प्रकार

(१) क्रिया साम्य (अनुष्ठान-साम्य)
(२) अवस्था-साम्य (अवस्थान-साम्य)
(३) रूपसाम्य
(४) प्रकृतिसाम्य
(५) नामसाम्य

षोढा ऐक्य
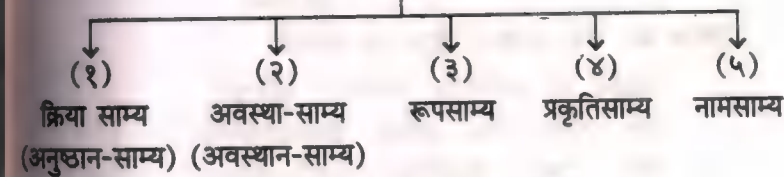
(१) कला का बिन्दु से ऐक्य और इन दोनों का नाद के विभव के साथ ऐक्य
(२) नाद का कला तथा बिन्दु के साथ ऐक्य
(३) कला का नाद के साथ एवं बिन्दु के साथ ऐक्य
(४) कला, बिन्दु तथा नाद का परशिव के साथ ऐक्य
(५) नाद, कला एवं बिन्दु का पर शिव के साथ ऐक्य
(६) कला, नाद एवं बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य

---
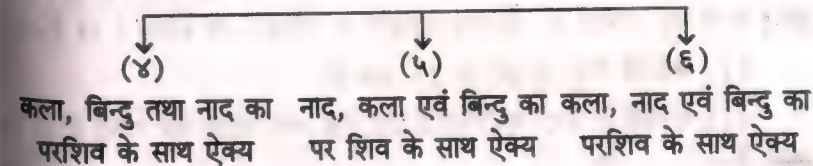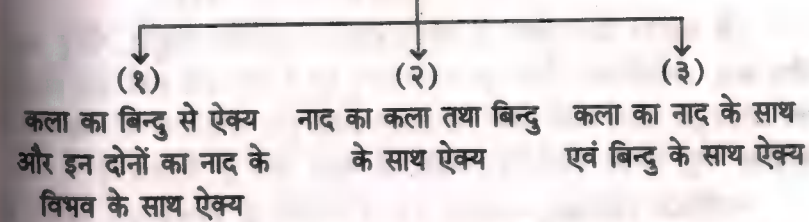
१. आचार्य लक्ष्मीधर (श्लोक ४१)
२. सौन्दर्य लहरी (४१)

चतुर्धा ऐक्य

(१)	(२)	(३)	(४)
मातृ एवं मन्त्र का ऐक्य	मन्त्र एवं चक्र का ऐक्य	चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य	नित्याओं तथा तिथियों ऐक्य

चतुर्धा ऐक्य का द्वितीय रूप

(१)	(२)	(३)	(४)
आधार आदि ६ चक्रों का श्रीचक्र के साथ ऐक्य	बिन्दुस्थान का बैन्दव स्थान या सहस्त्रार के साथ ऐक्य (शिव-शक्ति का ऐक्य)	अमल एवं अनावरण शुद्ध जीव का शिव के साथ ऐक्य। साधक एवं शिव या शक्ति का ऐक्य	श्री यन्त्र एवं मन्त्र का ऐक्य
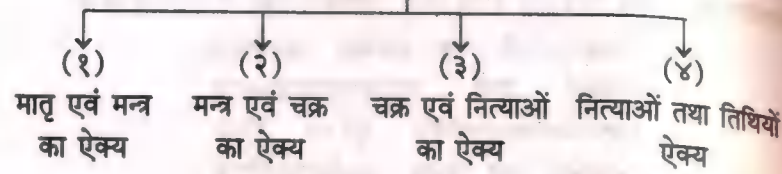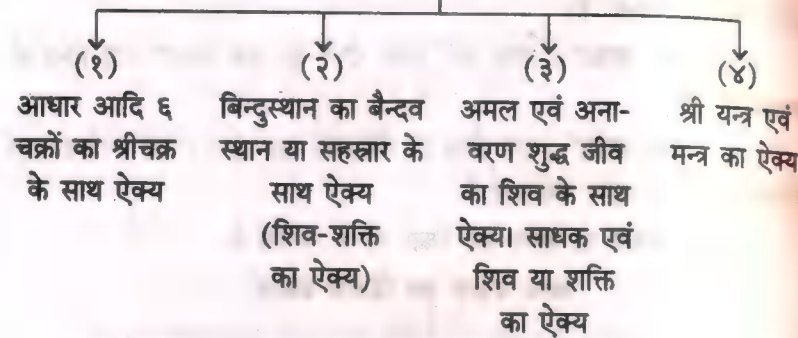
श्लोक क्र. १६ भगवती त्रिपुरा का स्वरूप

भवानि श्री हस्तैर्वहसि कणिपाश सृणिपथी,
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्त्रक्शुकवरौ।
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय वरदानैकरसिंका,
क्वाणद्वीणां द्वाभ्यांत्वमुरसिकराभ्यां च विभृषे॥

[हे भवानी! आप अपने श्री सम्पन्न हाथों से नागपाश, अङ्कुश, पौण्ड्र धनुष, पौष्प बाण, जपमालिका, श्रेष्ठ शुक धारण किए हुए हैं तथा दोनों हाथों द्वारा वरदमुद्रा एवं अभयमुद्रा धारण करके उसमें रस-निमग्न (होते हुए) दोनों हाथों से, वक्षस्थल के सन्निकट मधुर निनाद करती हुई, विपञ्ची को धारण किये हुए हैं॥१६॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—श्लोक १६ में भगवती के दशभुजात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य श्री गौड़पाद भगवती का परिचय इस प्रकार दे रहे है—

(१) भवगती त्रिपुर सुन्दरी के १० हाथ हैं।

(२) भगवती ने अपने छः हाथों में एक-एक वस्तु धारण कर रक्खी है जो इस प्रकार है—

(क) पाश। अङ्कुश। धरुष। बाण। जपमाला। शुक।

(ख) (शेष चार हाथों में धार्य वस्तुएँ)—

१. एक हाथ **वरदमुद्रा** धारण किए हुए है।

२. दूसरा हाथ **अभयमुद्रा** धारण किए हुए है।

३-४. दो हाँथ वीणा-वादन में निरत हैं अर्थात् उन्होंने दोनों हाथों में वीणा धारण कर रक्खी हैं।

श्लोक १४ देखिए। इसमें भगवती के हाँथों में धार्म वस्तुओं का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

(१) इक्षु-धनुष (२) पुष्प बाण (३) श्रेष्ठ अङ्कुश (४) पाश।

'धनुर्बाणनिक्षूद्भव कुसुमजानङ्कुशवरं
तथा पाशं बिभ्रत्युदितरविबिम्बाकृतिरुचिः ॥'

धार्य आयुधों का प्रतीकात्मक स्वरूप—भगवती के हाथों में धारित आयुध केवल भौतिक पदार्थ ही नहीं हैं प्रत्युत् वे प्रतीक भी हैं। **'तन्त्रराज तन्त्र'** की दृष्टि यही है।

(१) तन्त्रराज तंत्रकार की दृष्टि—'तन्त्रराजतन्त्र' के वासना पटल में आयुधों का प्रतीकात्मक स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

'मनोभवेदिक्षुधनुः पाशोराग उदीरितः।
द्वेषः स्यादङ्कुशः पञ्चतन्मात्र पुष्पसायकाः ॥'

(२) भावनोपनिषदकार की दृष्टि—भावनोपनिषद में भी भौतिक पदार्थों को मनोभवों, वासनाओं, उद्वेगों एवं मूलप्रवृत्तियों का प्रतीक स्वकीर करते हुए कहा गया है कि—

'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पवाणा मन इक्षु धनुः वश्यो बाणो रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः॥ —(भावनोपनिषद)

(३) चतुःशतीकार की दृष्टि—**'चतुश्शती'** में स्थूल वस्तुओं की उसी स्थूल अर्थ में गृहीत न करके उन्हें उनके गुप्त एवं रहस्यात्मक) प्रतीकार्थ का लाक्षणिक अर्थ में स्वकीर करते हुए कहा गया है कि—

'इच्छाशक्तिमयं पाशं मङ्गलज्ञानरूपिणाम्।
क्रियाशक्तिमये बाण धनुर्षीदधदुज्ज्वल्नम्॥'

(४) दुर्वासा मुनि की दृष्टि—महामुनि दुर्वासा ने 'त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र' में भगवती के स्वरूप का जो वर्णन किया है उसमें भी भगवती के आयुधों एवं उनके आध्यात्मिक तथा लाक्षणिक रहस्यार्थों एवं उनके आध्यात्मिक तथा लाक्ष्क्षणिक रहस्यार्थों एवं उनके आध्यात्मिक तथा लाक्षणिक रहस्यार्थों पर प्रकाश डाला है। महर्षि

दुर्वासा करहते हैं—कि भवगती त्रिपुरा के आयुधों का अतिशय महत्व एवं अतुल्य प्रभाव है—

'अथ तव धनुः पुण्ड्रेक्षुकृत्पसिद्धमति द्युति,
त्रिभुवन व धूमुद्यज्योत्स्नाकलानिधिमण्डलम्।
सकल जननि स्मारं स्मारं गतः स्मरतां नर,
त्रिभुवनवधूमोहाम्मोधेः प्रपूर्णविधुर्भवेत्॥४१॥
प्रसूनशरपञ्चक प्रकटजृम्भणागुक्तितं,
त्रिकोकमवलोकयत्यमलचेतसा चिन्तयन्।
अशेषरमणीजनस्मरविजृम्भणो यः सदा,
पटुर्भवति ते शिवे त्रिजगदङ्गवाक्षोभणो॥४२॥
पाशं प्रपूरितमहासुमतिप्रकाशो,
यो वा तव त्रिपुरसुन्दरि सुन्दरीणाम्।
आकर्षणोऽखिल वशीकरणों प्रवीणं,
चित्ते दधाति स जगत्त्रयवश्यकृत् स्यात्॥४३॥
यः स्वान्ते कलयति कोविदस्त्रिलोक,
स्तम्भारम्भणचणमत्युदार वीर्यम्।
मातस्ते **विजयमहाङ्कुशं** सयोषान्,
देवान् स्तम्भयति च भूभुजोऽन्यसैन्यम्॥४४॥
चापध्यानवशाद्भवोद्भवमहामोहस् व्युज्जृम्भणं,
प्रख्यातं प्रसवेषुचिन्तनवशात्तत्च्छख्यं सुधीः॥
पाशध्यानवशात् समस्त जगतां मृत्योर्वशत्वं महा,
दुर्गस्तम्भमहाङ्कुशस्य मननान्मायाममेयां तरेत्॥४५॥

(५) **'ललितासहस्रनाम' में प्रतिपादित दृष्टि**—'ललितासहस्रनाम' में भगवती के आयुधों को भौतिक अर्थों में स्वीकार न करके तन्निहित लाक्षणिक प्रतीकार्थों में गृहीत करते हुए कहा गया है कि उद्यद् भानुसहस्राभां चतुर्बाहु समन्विता

रागस्वरूप पाशाठ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पंचतन्मात्र सायका।
निजारुण प्रभापूर पंचतन्मात्र सायका।
निजारुण प्रभापूर मज्जदब्रह्माण्डमण्डला॥

यहाँ **'पाश'** राग का स्थूल रूप हैं।

अङ्कुश—क्रोध का प्रतीक है।

'धनुष' मन का प्रतीक है।

'बाण'—पञ्चतन्मात्राओं के प्रतीक हैं। 'महामाया' इनहीं आयुधों से पुरुष (जीव) का आखेट किया करती है। अर्थात् जीव को सांसारिक बन्धन में डाला करती है।

(६) **औपनिषदिक दृष्टि**—उपनिषदों में भी आयुधों को प्रतीकार्थ में ग्रहण किया गया है। यथा—

'प्रणवो **धनुः शरोह्यात्मा**, ब्रह्म **तल्लक्ष्य** मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयोभवेत्॥'

श्रुति कहती है—

'धनुगृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं,
शरं ह्युपासानि निशितं सन्धयीत्।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा,
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥'

सौन्दर्यलहरीकार भगवती के स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

शिवश्शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलस्स्पन्दितु मपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रशान्तुं स्तोतं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति।

सौन्दर्य लहरी(१)

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुल पथं,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥

सौन्दर्य लहरी (९)

क्रोध महाभट्टारक दुर्वासा ऋषि कहते हैं—

गेहं नाकति गर्वितः प्रवणति स्त्री सङ्गमो मोक्षति
द्वेषी मित्रति पातकं सुकृततिक्ष्मावल्लभो दासति।
मृत्युर्वैद्यति दूषणां सुगुणति त्वत्पादसंसेवनात्
त्वां वन्देभवमीतिमञ्जनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम्॥

दुर्वासा— 'त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र

सच्चिदानन्द वासनाकार की दृष्टि—'सच्चिदानन्दवासना' में भगवती को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है—

(१) विश्वात्मिका (२) विश्वोत्तीर्ण (३) प्रकाशामर्शरूपिणि, (४) परापरमयी एवं (५) आत्मस्वरूपा।

विश्वात्मिकां तदुत्तीर्णं प्रकाशामर्शरूपिणीम् ।
परापरमयी देवीमात्मत्वेन विशाम्यहम् ॥

—सच्चिदानन्दवासना

श्लोक क्र. १७ श्री चक्र में स्थित योनियाँ एवं विभिन्न उपचक्र

त्रिकोणैरष्टारं त्रिमिरपि दशारं समुदभूत,
दृशारं भूगेहादपि च भुवनाश्रं समभवत् ।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात्त्रिवलय,
चतुर्द्वाः प्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब शरणाम् ॥१७॥

[त्रिकोणों द्वारा **'अष्टार'** एवं त्रिकोणों के द्वारा ही **'दशार'** उत्पन्न हुआ। फिर इस नीचे के दशार' के अनन्तर दशर एवं 'चतुर्दशार' (उत्पन्न) होते हैं फिर 'अष्टदलपद्म' 'षोडशदलपद्म' वलयत्रय एवं फिर चतुर्द्वारात्मक त्रिरेखाङ्कित प्रकार (स्थित) है। हे जननी! यह तेरा शरण स्थल (भक्तों को शरण प्रदान करने वाला एवं तुम्हारा निवास स्थान) है॥१७॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—'भून्नागारं' = भूः + नागार। भूः नागः = दिग्गज = आठ की संख्या का सूचक है।

'नृपति दलं' = 'नृपति' = १६ की संख्या का सूचक है नृपति शब्द। **'नृपति'** यहाँ **षोडश दल पद्म।**

प्रस्तार के भेद से 'श्री यंत्र' के तीन भेद हैं—

(१) मेरु प्रस्तार (२) कैलास प्रस्तार (३) भू प्रस्तार

(क) भूपृष्ठ श्री यन्त्र—यह समतल हुआ करता है।

(ख) कर्म पृष्ठ श्री यन्त्र—यह यन्त्र कच्छपाकार हुआ करता है।

(ग) मेरु पृष्ठ श्री यन्त्र—यह पर्वताकार एवं मध्य में उभरा हुआ होता है।

श्री चक्रम्

विन्दु-त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्मम्,
मन्वस्र-नागदल-संयुत-षोडशारम् ।
वृत्त-त्रयं च धरणी-सदन-त्रयं च,
श्रीचक्रमेतदुदितं पर-देवतायाः ॥
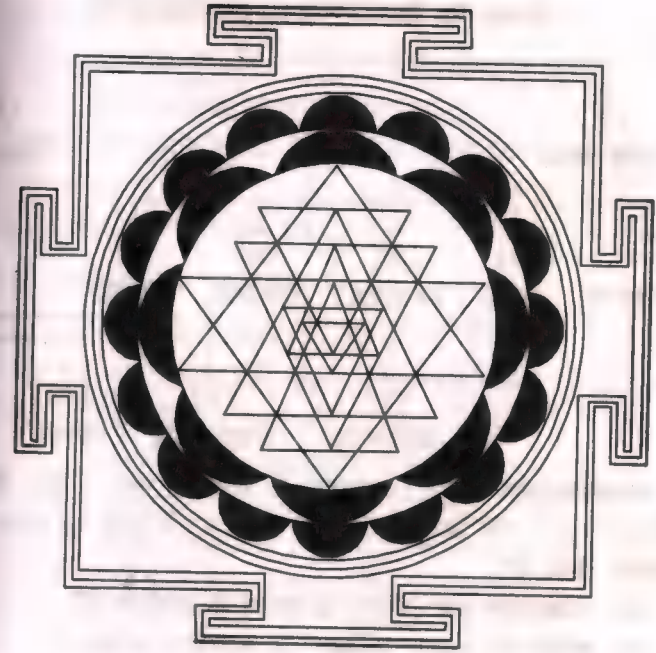
कोटि-लिङ्ग-प्रतिष्ठायां यत्फलं समुदाहृतम् ।
तत्फलं लभते नूनं श्री-चक्रस्य प्रपूजने ॥
सर्व-देव-गणास्तत्र सर्वे धर्माश्च तत्र वै ।
गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः पुष्कराद्या जलाशयाः ॥
पुरुषोत्तम-मुख्याश्च क्षेत्रानन्दा वनादयः ।
वाजिमेधस्य यज्ञस्य पूण्यं त्वविकलं भवेत् ॥

'श्रीचक्र' और उसका सामान्य स्वरूप

(क) 'समय मत'—

(१) श्री चक्र की नौ योनियाँ हैं जो इस प्रकार है—

(१) मध्यस्थ त्रिकोण (२) अष्टार (३) अन्तर्दशार

(४) बहिर्दशार (५) चतुर्दशार (६) अष्टदलपद्म

(७) षोडशदलपद्म (८) वृत्तत्रय (९) भूपुर ॥

इसमें से प्रथम पाँच योनियाँ **'शक्तिचक्र'** एवं शेष चार योनियाँ **शिवचक्र** कहलाते हैं।

श्रीचक्र का द्विधाविभाजन (समयमतानुसार)

(क) **'शक्ति चक्र'**

(१) 'मध्य त्रिकोण' (२) 'अष्टार' (३) 'अन्तर्दशार' (४) 'बर्हिर्दशार' (५) 'चतुर्दशार'

(ख) **'शिव चक्र'**

(१) 'अष्टदलपद्म' (२) 'षोडशदलपद्म' (३) 'वृत्तत्रय' (४) 'भूपुर'
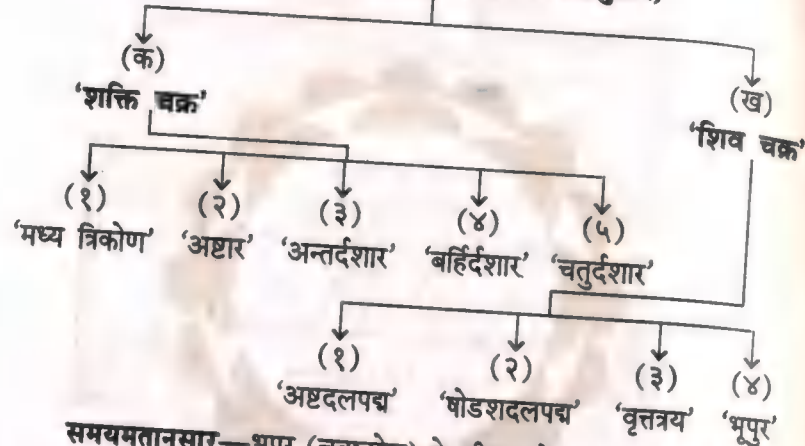
समयमतानुसार—भूपुर (चतुष्कोण) के भीतर जो वृत्त (३ वृत्त, षोडश दल एवं अष्टदल पद्म) है वही **बिन्दुस्थान** है और मध्य भाग में शक्ति का स्थान है अर्थात् **'शक्तिचक्र'** स्थित है।

(क) **'षोडशदल पद्म'** चन्द्रमा का वाचक या प्रतिनिधि है।

(ख) **चन्द्रमा का स्थान 'सहस्रार'** है। चतुष्कोण सहस्रार है।

(ग) उसके मध्य में स्थित **'षोडशदल पद्म'** वह **चन्द्रमण्डल है** जिसमें अमृत का सिन्धु है।

(घ) इसी **सुधासिन्धु** के मध्य महामाया शक्ति भगवती **कुण्डलिनी का निवास** है।

(ङ) आचार्य शङ्कर के **'सुधासिन्धु'** का परिचय इस प्रकार दिया है—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटी परिवृते।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां,
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।'

(सौन्दर्य लहरी) (८)

* श्री चक्र के खण्ड *

(१) 'अग्निखण्ड' — (१) 'मूलाधार चक्र' (२) 'स्वाधिष्ठान चक्र'

(२) 'सूर्यखण्ड' — (१) 'मणिपूर चक्र' (२) 'अनाहत चक्र'

(३) 'सोमखण्ड' — (१) 'विशुद्ध चक्र' (२) 'आज्ञा चक्र'
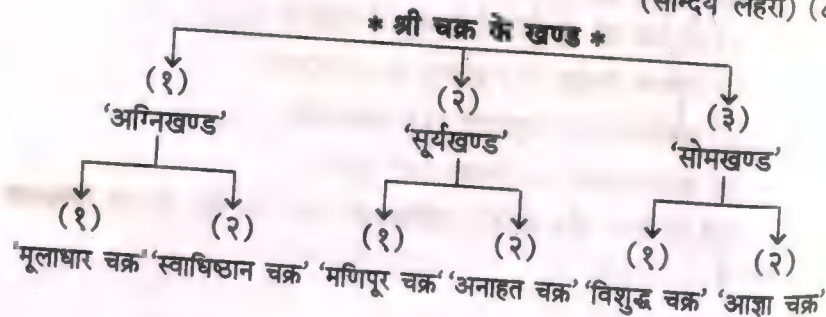
इस खण्डत्रय की (तीनों खण्डों की) ३६० रश्मियाँ हैं।

'अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीसोममयं जगत्।
अग्नावन्तर्बभौ भानुरग्नीषोम मयं स्मृतं।
त्रिखण्ड मातृका चक्रं सोम सूर्यानलात्मकम्॥'

(रुद्रयामल तन्त्र)

(१) 'श्री चक्र' में **'सुधा सिन्धु'** है।

(२) सहस्रार में **'सुधासिन्धु'** है।

(३) सहस्रार के चन्द्रमण्डल में **'सुधासिन्धु' है।**

'श्रीचक्र' के निर्माण की पद्धति—'वामकेश्वरी मत' के अनुसार 'श्री चक्र' के निर्माण एवं उसके विकास की पद्धति इस प्रकार है—

'शक्त्या शक्तिं विनिर्भिद्य भूयो वह्निपुरेण तु॥२९॥
सम्पुटीकृत्य सर्वोर्ध्वं शक्तिं विस्तारयेदधः।
तथैव वह्निचक्रेण तामेवोर्ध्वं विभेदयेत्॥३०॥
तत ऊर्ध्वस्थितां शक्तिमूर्ध्वं विस्तारयेत्क्रमात्।
पुनराद्यं वह्निचक्रमधो विस्तार्य सुन्दरि॥३१॥
ग्रंथिभेद क्रमेणैव शकितमाद्यां विभेदयेत्।
तथा सर्वोर्ध्ववह्न्यन्तःशक्तिं विस्तारयेदधः॥३२॥
तामादिचक्राधः शक्त्या वह्निोर्ध्वं विभेदयेत्।
पुनः पूर्वदेवाऽऽद्यां शक्तिं विस्तार्य भेदयेत्॥३३॥
ऊर्ध्ववह्निमधोवह्निमध्येवह्निविर्जितम्।
विस्तार्य भेदयेच्छक्तिमधस्तादूर्ध्ववह्निना॥३४॥
अतो मध्यादिशक्त्यर्ध्वशक्तिं विस्तारयेदधः।
तथैव सम्पुटीकुर्यात्सर्वचक्रं सुरेश्वरि॥३५॥
तां च तेन महेशानि वह्निचक्रेण भेदयेत्।
ग्रन्थिभेदक्रमेणाधः सर्वोध्वात्सर्वबाह्यतः॥३६॥
मध्योर्ध्वशक्तिपर्यन्तमादिशक्त्यवधि प्रिये।
ततो बाह्यस्थशक्त्यन्तः शक्तिमूर्ध्वं विकासयेत्॥३७॥
सर्वोर्ध्ववह्न्यधोवह्निपर्यन्तं वीरवन्दिते॥३८॥
तथा विस्तारयेच्छक्तिमाद्यामप्यूर्ध्वमीश्वरि।
तया विभेदयेद्वह्नि चक्रं सर्वोर्ध्व संस्थितम्।
सर्वोर्ध्ववह्न्यधोभागग्रन्थिपर्यन्तन्तःप्रिये॥३९॥

विस्तार्य बाह्यशक्तिं तु सर्वाधस्ताद्विभेदयेत्।
ततः सृष्ट्वा **महाचक्रं** प्रथमं तु हुताशनम् ॥४०॥
मध्ये तु द्वितीयं स्थित्वा संहारं पञ्चमं च यत्।
एवमेतन्महाचक्रं महात्रिपुराभयम् ॥४१॥'[1]

'योगिनी हृदय' नामक प्रसिद्ध तन्त्र के ग्रन्थ में 'श्री चक्र' के आविर्भाव के विषय में यह विचार व्यक्त किया गया है।

श्री चक्र (श्री यन्त्र)

'श्री चक्र' भवगती महात्रिपुर सुन्दरी का 'आसन' है। यह महाचक्र **'महात्रिपुर सुन्दरीमय' है—**

'एवमेतन्महाचक्रं महाश्रीपुरामयम्।'[2]

'यन्त्र' देवता की आत्मा कहा जाता है।

'श्री चक्र' ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड दोनों का प्रतीक है। इसकी रचना चार शिव चक्रों एवं पाँच शक्ति चक्रों से की जाती है अतः 'श्री चक्र' शिव एवं शक्ति से युक्त है। **'सृष्टि क्रम'** में पाँच **'शक्ति त्रिकोण'** ऊर्ध्वमुख रखे जाते हैं। और चार शिवत्रिकोण' ऊर्ध्व मुख रखे जाते हैं। इसके त्रिकोणों की संख्या ४३ है।

'श्री चक्र' का स्वरूप—आचार्य शङ्कर ने 'सौन्दर्य लहरी' में श्री चक्र के स्वरूप को (१) ४ 'श्री कण्ठ चक्र' (२) ५ 'शिव युवति चक्र'—इन नौ मूल प्रकृतियों से रचित, (३) ४३ त्रिकोणों से (४) तीन वृत्तों (५) तीन रेखाओं एवं (६) अष्ट-षोडश दलों से युक्त माना है—

'चतुर्भिः श्री कण्ठैः शिवयुतिभिः पञ्चभिरपि।
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभिः ॥
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्र त्रिवलय।
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणा कोणाः परिणताः ॥[3]

वामकेश्वरी तन्त्रोक्त श्री यन्त्र की महत्ता—'वामकेश्वरीमतम्' 'वामकेश्वर तन्त्र, के प्राथमिक पाँच पटल) में 'श्री यन्त्र' की बड़ी महिमा गाई गई है और कहा गया है कि यह 'महायन्त्र' महाभुत है और इसमें—

(१) क्लेदन (२) द्रावणा (३) क्षोभण (४) मोहन (५) आकर्षण (६) जंभन

१. वामकेश्वरीमतम् (प्रथम पटल : २९-४१)
२. वामकेश्वरीमतम् (४१)
३. सौ. ल. (११)

(७) स्तंभन (८) 'व्याधि-दारिदय शमन (९) 'सर्वदुर्नीतिनाशन' (१०) शान्ति पुष्टि' वर्धन (११) आरोग्यवर्धन (१२) सर्वसिद्धिदान आदि शक्तियाँ तो हैं ही साथ ही साथ यह यन्त्र—(१३) भोगप्रदायक (१४) मोक्षप्रदायक (१५) खेचरत्व प्रवर्तक (१६) सर्वरक्षाकर (१७) सर्वानन्दकर (१८) सर्वकर्मकर (१९) सर्वकार्यार्थ साधक (२०) सर्वविशकर (२१) सर्व वेधकर (२२) सर्वतत्त्वकर (२३) सर्वज्ञान निलय (२४) सर्वसिद्धि संयुत (२५) सर्वश्रेयस्कर (२६) सर्वमन्त्रमय (२७) सर्वतीर्थमय (२८) सर्वव्रत मय (२९) सर्वामृतमय (३०) सर्वदुःखनाशक (३१) सर्वशोक निवारक (३२) सर्वोन्मादकर (३३) सर्वयोगीश्वरीमय (३४) सर्वपीठमय (३५) सर्वज्ञानमय (३६) सर्वदेवमय (३७) सर्वाह्लादन कारक (३८) सर्वदौर्भाग्यशामक (३९) सर्वविघ्न निवारक (४०) सर्व सिद्धिकर (४१) सर्वाशापरिपूरक (४२) रौद्राभिचारनाशक (४३) परमंत्रौघभक्ष (४४) परसिद्ध्या कर्षक (४५) पराज्ञाकर्षक (४६) परसैन्यस्तंभक (४७) परविज्ञान मोहक (४८) पर वक्त्रस्तंभकर (४९) परशस्त्रस्तंभकर (५०) महाचमत्कारकर (५१) महाभुक्तिप्रवर्तक (५२) महावश्यकर (५३) महासौभाग्यदायक (५४) महाज्वरहर (५५) महाविष हर (५६) महामृत्युशामक (५७) महाभय विनाशक (५८) महापुर क्षोभकर (५९) महासुख शुभप्रद (६०) महालक्ष्मीमय (६१) महामाङ्गल्यदायक (६२) महाप्रभावकारी एवं (६३) महापातक नाशक है। ये कतिपय महिमायें ही उसकी सम्पूर्ण महत्ता का परिचायक या बोधक नहीं है। 'श्री चक्र' महाद्युत है अतः इस दृष्टि से उसकी महत्ता अवर्ण्य है—

एवमेतस्य चक्रस्य प्रभावो विर्णितु मया।
न शक्यते महादेवि। कल्पकोटिशतैरपि॥

इस चक्र में भवगती महात्रिपुर सुन्दरी समस्त नित्याओं के साथ निवास करती हैं—

'संस्थिताऽत्र महाचक्रे महात्रिपुर सुन्दरी।'

वाणी की अधीश्वरी अष्ट शक्तियों समस्त वर्णों (संपूर्ण वर्णमाला) के साथ भवगती महात्रिपुर सुन्दरी इस 'महायन्त्र' में निवास करती हैं।[1]

इस कथन की पुष्टि में कतिपय श्लोक (प्रमाण) भी प्रस्तुत हैं—

भोगदं मोक्षदं चैव खेचरत्वप्रवर्तकम्।
सर्वरक्षाकरं देवि! सर्वानन्दकरं तथा ॥
सर्वकर्मकरं चापि सर्वकार्यार्थसाधकम्।
सर्वा वेशकरं देवि! सर्ववेधकरं पुनः ॥

१. वामकेश्वरीमतम्

सर्व तत्त्वं करं देवि! सर्वज्ञान निलयं तथा।
सर्वसिद्धिसंयुतं चैव सर्वश्रेयस्करं परम्॥
सर्वसिद्धिसंयुतं चैव सर्वाभृतमयं तथा॥
सर्वपीठमयं देवि। सर्वज्ञानमयं प्रभो।
सर्व देवमयं देवि! सर्वाह्लादनकारकम्॥
सर्वदौर्भाग्यशमनं सर्व विघ्ननिवारणाम्।
सर्व सिद्धिकरं चक्रं सर्वाशा परिपूरकम्॥
महाचमत्कारकरं सर्वाशा परिपूरकम्॥
महाचमत्कारकरं महामुक्तिप्रवर्तकम्॥
महावश्यकरं देवि! महासौभाग्यदायकम्॥[१]

त्रिकोणों के द्वारा **'अष्टार चक्र'** एवं त्रिकोणों द्वारा ही **'दशा चक्र'** भी उत्पन्न हुआ।

फिर अष्टदलपद्म 'षोडशदलपद्म' 'वलयत्रय' एवं चार द्वारों वाला त्रिरेखाङ्कित प्रकार है। हे माँ! यही तुम्हारा शरण-स्थल (निवास स्थान) है।

'भूनाग' = दिग्गज **'दिग्गज'** आठ संख्या का बोधक शब्द है। **'नृपतिदल'** = (नृपति = १६ की संख्या) षोडशदल पद्म।

(१) चार **'श्री कण्ठों'** एवं पाँच **'शिवयुवतियों'**—इन नौ मूल प्रकृतियों से भगवती के निवास हेतु तैंतालिस निर्मित होते हैं। ये शम्भु के बिन्दु स्थान से भिन्न हैं। ये तीन वृत्तों एवं तीन दे रेखाओं के सहित आठ एवं षोडश दलों से युक्त हैं।

*** 'श्री चक्र' निर्माण के भेदत्रय ***

'श्री चक्र' के बनाने के तीन भेद होते हैं—

(१) **'मेरु प्रस्तार'** (२) **'कैलास प्रस्तार'** (३) **'भूः प्रस्तार'**।

इन तीनों भेदों में शक्तियों और पूजन-विधान में भेद है।

'श्री चक्र'

(१) मेरु प्रस्तार | (२) कैलास प्रस्तार | (३) भू प्रस्तार

(१) **मेरु श्री चक्र** १६ नित्य कलाओं से सम्बद्ध है।

१. वामकेश्वरीमतम्
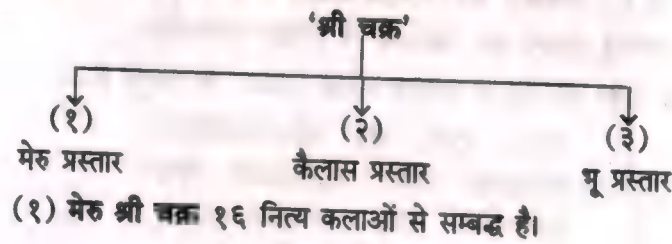
(२) **कैलास श्री चक्र** ०८ मातृका शक्तियों से सम्बृद्ध है।

(३) **भू श्री चक्र** ०८ वशिनी देवियों से सम्बृद्ध है।

श्री चक्रोपासना की वैदिकता—'श्री चक्र' की उपासना वैदिककाल से अद्यपर्यन्त प्रचलित है।

तैत्तिरीयारण्यक में प्रतिपादित दृष्टि—'तैत्तिरीय आरण्यका' में कहा गया है कि पृश्नि नामक ऋषियों ने 'श्री चक्र' की पूजा की थी और उसकी सहायता से कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध (जाग्रत) करके उसे सहस्रार में उत्थापित किया था।

श्री चक्र का आविर्भाव—

(१) **श्री चक्र** ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड दोनों का प्रतीक है।

४ श्री कण्ठ (शिव त्रिकोण) + ५ 'शिव युवति' (शक्ति त्रिकोण) के योग से 'श्री चक्र' का आविर्भाव होता है।

(२) **'शिव'** एवं **'शक्ति'** त्रिकोणों की स्थिति (अवस्थान) परस्पर विपरीत है अर्थात् एक-दूसरे के विपरीत स्थित हैं, यथा—

(३) 'सृष्टि क्रम' में पाँच 'शक्ति त्रिकोण' हैं जो कि ऊर्ध्व मुख हैं। ४ शिव त्रिकोण अधोमुख हैं।

अप्यय-क्रम में 'शक्तित्रिकोण' अधोमुख एवं **'शिवत्रिकोण'** ऊर्ध्वमुख रहते हैं।

(४) जो प्रथम **केन्दीय त्रिकोण** है उसके केन्द्र में भगवान् **शिव (शंभु) का स्थान** है। उसे छोड़कर शेष सारे त्रिकोण संख्या में ४३ हैं। ये त्रयश्चत्वारिंशत्' कहे गए हैं।

(५) **'अष्टकोण'**—प्रथम मध्य त्रिकोण के बाहर चारों ओर द्वितीय क्रम में ८ कोण बनते हैं और इन्हें ही **'अष्टकोण'** कहा जाता है।

(६) तृतीय एवं चतुर्थ स्तर पर १०-१० कोण बनते हैं इन्हें **'अन्तर्दशार'** और **'बर्हिर्दशार'** कहते हैं। उनके ऊपर जो १४ कोण निर्मित होते हैं उसको **'चतुर्दशार'** कहते हैं।

(७) इन सभी का योग एक + आठ + दश + (१ + ८ + १० + १४ = ४३)॥

(८) मध्य केन्द्र में स्थित जो बिन्दु है वह शम्भु का स्थान है जो नौ त्रिकोणों (प्रकृति स्वरूप) के योग से निर्मित सम्पूर्ण चक्र से पृथक है।

(९) चक्र के ४३ कोणों के बाहर प्रथम वृत्त (सर्किल) पर **'अष्टदलपद्म'** एवं उसके बाहर द्वितीय वृत्ता पर **'षोडशदल पद्म'** अवस्थित है।

(१०) **'षोडशदल पद्म'** वृत्तत्रय से आवृत है।

(११) सबसे बाहर तीन रेखाओं का **'चतुष्कोण'** है। इसे ही 'भूगेह' (भूगृह) कहते हैं।

(१२) भूगृह की चारों भुजाएँ बराबर हैं और चारों दिशाओं में चार द्वार होते हैं।

(१३) ४३ कोण २ किसके प्रतिनिधि हैं?

३६ तत्त्व + (सप्त) ७ धातुएँ = ४३ (तैंतालिस)। **'सप्त धातु'** रक्त, मांस, मेदा, स्नायु, अस्थि। मज्जा, शुक्र।

(१४) **पाँच शिवयुक्तियाँ** किसकी प्रतिनिधि हैं?

पाँच शिवयुवतियाँ = ५ कलायें (या शक्ति, शुद्ध विद्या, माया, कला और अशुद्ध विद्या हैं।

(१५) **चार श्री कण्ठ**—सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्त्व एवं पुरुष (जीव) हैं या—
पुरुष, अव्यक्त, महत् और अहङ्कार ये ही चार श्री कण्ठ है।
५ तन्मात्रायें ही शिवयुवतियाँ है।

(१६) गीता की 'अष्टधा प्रकृति' तथा **'नवधा प्रकृति'** =
(क) एक जीवमूता **'परा प्रकृति'**
(ख) अष्टधा **'अपरा प्रकृति'**
(आकाशादि ५ तन्मात्रायें, मन, बुद्धि, अहङ्कार से समष्टि अहङ्कार, महत्, अव्यक्त।)

(१७) **'श्री चक्र'** के नौ विभाग हैं।

(१८)

श्री चक्र
- (१) प्रथम अङ्ग = 'बिन्दु'
- (२) नौ त्रिकोण

(१८) प्रत्येक विभाग (श्री चक्र का विभाजन) को **'आवरण'** कहते हैं।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'चतुर्भिः श्री कण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि।
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूल प्रकृतिभिः।

त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलास्र त्रिवलय
त्रिरेखाभिः सार्धं तवशरण कोणाः परिणताः ॥'[1]

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद ने 'श्री यंत्र' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुद्भू-
दृशारं भूगेहादपि च भुवनाश्र समभवत्।
ततोऽभूत्रागारं नृपतिदलभस्मात्त्रिवलय,
चतुर्द्धाः प्रकार त्रितयमिदमेवाम्ब शरणाम् ॥[2]

'श्री यन्त्र' के नौ चक्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
भूपुर	षोडशदल पद्म	अष्टदलपद्म	प्रथम चतुर्दशार (१४ कोण)	द्वितीय चतुर्दशार (१४ कोण)

(६)	(७)	(८)	(९)
दशार (१० कोण)	दशार (१० कोण)	त्रिकोण	बिन्दु
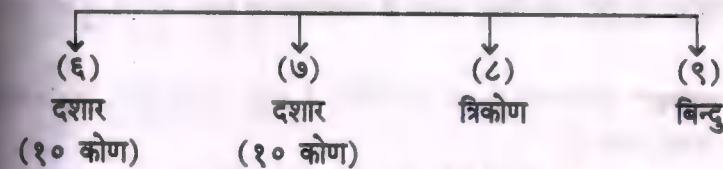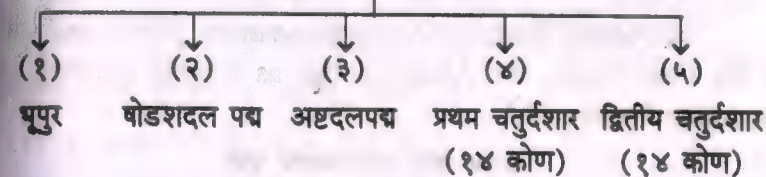
(नौ चक्र):
(१) 'त्रैलोक्यमोहन चक्र' (२) 'सर्वाशापरिपूरक
(३) 'सर्वसंक्षोभण' (४) 'सर्वसौभाग्यदायक'
(५) 'सर्वार्थसाधक' (६) 'सर्वरक्षाकर'
(७) 'सर्वरोगहर' (८) 'सर्वसिद्धिप्रद'
(९) 'सर्वानन्दमय'

श्री यंत्र के स्वरूप—निरूपण की पद्धति—

लयक्रम—श्री यन्त्र का वर्णन दो प्रकार से किया जा सकता है—

(क) हम बाह्यवर्ती चक्र से प्रारम्भ करके भीतरी चक्र की ओर प्रवेश करें तो यह प्रक्रिया **'लयक्रम'** कहलायेगी।

सृष्टिक्रम—(ख) या हम अन्तरतम अङ्ग 'बिन्दु' से प्रारम्भ करे बाहर की ओर बढ़ते हुए आयें तो यह प्रक्रिया **'सृष्टिक्रम'** कहलायेगी।

१. सौन्दर्य लहरी (११)
२. सुभगोदय स्तुति (१७)

'बिन्दु' Central Point क्या है?

बिन्दु
त्रिकोण
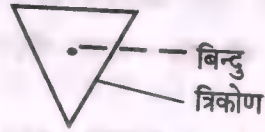
(१) 'बिन्दु' कामेश्वर एवं कामेश्वरी का सामरस्य है

(२) 'बिन्दु' देवी त्रिपुरा हैं या आत्मा हैं।

(३) 'बिन्दु' वेदेवी त्रिपुरा है जो सर्वात्मा हैं।

(४) बिन्दु शरीरों में स्थित जीवात्मा है तथा शरीर रहित परमात्मा है।

The central Bindu or the Supreme unitid कामेश्वर and कामेश्वरी in the Deri Tripara this Atma whether as Jivitma in loties of as the lojien Parmatma.[१]

प्रथम चक्र सर्वानन्दमय चक्र

त्रिकोण के मध्य एव 'बिन्दु' स्थित है **'सर्वानन्दमय चक्र'** इस बिन्दु को घेरकर स्थित है।

'कामेश्वर' परमसंवित् है। (ये निरुपाधिक हैं अतः उपाधि रहित हैं।) भगवती कामेश्वरी उनकी शक्ति हैं।

यह 'बिन्दु' अन्तरतम त्रिकोण Innermest Triangle (में है। इसे ही Allblissful **'सर्वानन्दमय चक्र'** कहते हैं।

नौ योनियों शब्द में प्रयुक्त 'योनि' नारी का प्रजननाङ्ग (Generative crgan नहीं है प्रत्युत् यह विश्वगर्भ Woml of intere का परम कारण है।

बिन्दुत्रय (बिन्दु के भेद)

(१) देवी का मुख

(२) देवी के दो स्तन (मुख के नीचे स्तनद्वय)
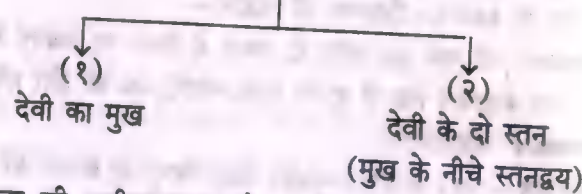
यही पूजा की प्रातीकात्मकता है। इसमें Anthropomor phic Forem प्रयुक्त किये गऐ हैं **'बिन्दुत्रय'** प्रतीकात्मक है।

१. वुडरक : तंत्रराजतंत्र (भूमिका)

'बिन्दु' के भेद त्रय

(१) 'सूर्यबिन्दु'

(२) 'चन्द्रबिन्दु'

(३) 'अग्निबिन्दु'
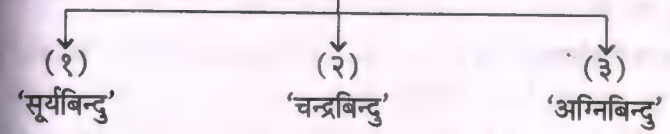
यहाँ 'सूर्य' 'चन्द्र' शब्द आकाश के ग्रहों (Cumamiries) से सम्बद्ध नहीं है और न तो वे ग्रह ही है प्रत्युत ये पर बिन्दु के प्रकाश एवं **'विमर्श'** नामक पक्ष (Aspects) हैं ये ही 'अनुस्वार' एवं 'विसर्ग' ं ा:' भी हैं।

भगवती ललिता की पूजा 'श्री विद्या' का एक भाग है। भगवती **ललिता देवी आद्या** या अङ्गि नित्या देखता है जो कि 'सत् ' आनन्द एवं 'पूर्ण' है और जिनके चतुर्दिक अङ्ग या **आवरण देवता** १५ की संख्या में स्थित हैं और वे सभी १५ नित्यायें हैं। या ये १५ गुणों से समन्वित पञ्च महाभूत हैं। या सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण नामक गुणत्रय से समन्वित पञ्चभूत हैं।

१५ की संख्या क्या है? ५ × ३ = १५

५ महाभूत। पाँच महाभूतों में से प्रत्येक के ३-गुण। 'त्रिकोण' में **भगवती को घेर करके नौ नाथ स्थित हैं।**

नौ नाथ क्या है? ये भी प्रतीकात्मक हैं—

व्यक्ति के एवं ब्राह्मण के शरीर में अवस्थित नौ शरीराङ्ग।

नौ नाथों (नौ शरीराङ्गों) का प्रतीकार्थ

(१) २ आँखें (२) १ मुख = **'दिव्यौघ'**

(१) २ कान (२) १ जननेन्द्रिय (लिङ्ग) = **'सिद्धौघ'**

(१) २ नासारन्ध्र (Nortnils) (२) मलेन्द्रिय = (Anus) **'मानवौघ)**

गुरु मण्डल (९ शरीराङ्ग)
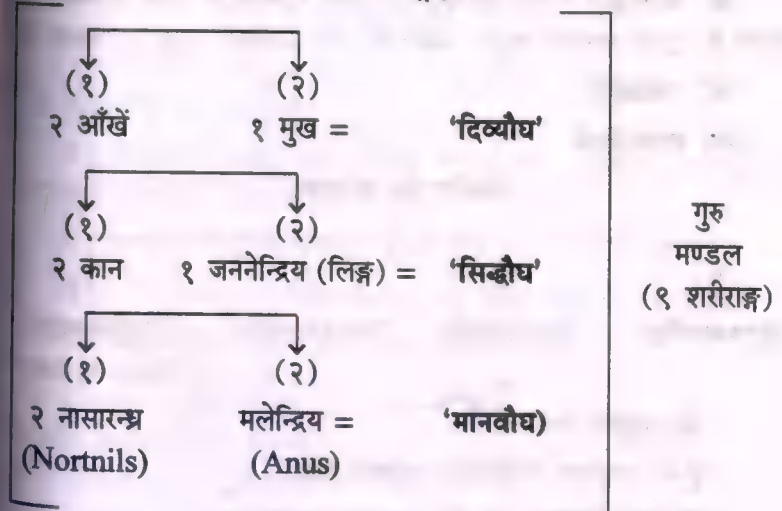
ललिता देवी क्या है? वे प्रकाश शिव की **विमर्श शक्ति** है। भवगती ललित लाल रङ्ग की हैं।

भावनोपनिषद में कहा गया है—'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः। (Redness) (इस सब का विमर्श लौहित्य है।)

'सर्वस्य' का अर्थ? (भास्कर राय कहते हैं)—

'सर्वस्य' = (१) कामेश्वर का (२) ललिता का (३) साधक का॥

'राग' एवं 'लौहित्य' दोनों अभिन्न हैं अतः दोनों एक हैं।

शास्त्रों में कहा गया है कि—

(१) अपनी स्वयं की आत्मा ही देवी ललिता हैं।

(२) उनका स्वयं का शरीर ही यह विराट विश्व है तथा वे विश्वविग्रहा हैं।

(३) रक्तिमा (अरुणिमा) उनका 'विमर्श' है।

(४) पूजा उनके इस रक्तिमा पर ध्यान केन्द्रित किया जाना है।'

*** द्वितीय चक्र 'सिद्धिप्रद चक्र' ***

(५) यह बिन्दु एक त्रिकोण से आच्छापित आवृत है।

इस त्रिकोण की ही आख्या है—**सिद्धिप्रद चक्र'**। इस **'त्रिकोण'** के कोणों पर (जो कि द्वितीय चक्र है) नित्या नामक शक्तियों से भिन्न शक्तियों अवस्थित हैं जो निम्नाङ्कित हैं—

(क) **'कामेश्वरी'** (परम कामेश्वरी एवं नित्या कामेश्वरी से पृथक कामेश्वरी ही ये कामेश्वरी हैं।) इन्हें 'अव्यक्त' प्रकृति 'महत्वत्त्व' एवं 'अहंकार' कहा जा सकता है।

(ख) **'वज्रेश्वरी'**

(ग) **भगमालिनी**

त्रिकोण के कोणत्रय

(१) **'कामरूपपीठ'**
(२) **'पूर्णगिरीपीठ'**
(३) **'जालन्धरपीठ'**
(४) **'उड्डीयानपीठ'** (त्रिकोण के मध्य में)
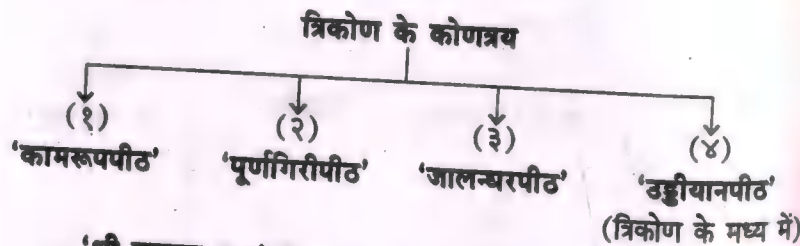
'श्री पादुका मन्त्र' =

'**हूं श्रीं समस्ताम् मूलविद्याम् उड्डीयान पीठे**

श्रीमहात्रिपुर सुन्दरी देवी श्री पादुकाम् पूजयामि नमः ॥

इस त्रिकोण के बाहर पाँच तन्मात्रायें हैं जो कि कामदेव के पञ्च बाण हैं अर्थात्—(१) काम (२) मनस (३) काम का इक्षु धनुष (४) राग (५) पाश (५) द्वेष (अङ्कुश)।

'सर्वानन्दमय चक्र' कौन है?

श्री चक्र के अन्तरतम में एक बिन्दु है।

"This Bindu is in the innsemost tniangle or All-Blinsfull Chakra or सर्वानन्दमय चक्र[1]

तृतीय चक्र = सर्व रोग हर चक्र'

[१] यह तृतीय चक्र अष्ट कोणों से निर्मित है।

[२] इस चक्र की अधिष्ठात्री देवियाँ भी आठ ही है। वे इस प्रकार है—

(१) वशिनी (२) कामेश्वरी (३) मोहिनी (४) विमला (५) अरुणा (६) जयिनी। (७) सर्वेश्वरी (८) कौलिनी।

ये निम्न मनोवृत्तियों एवं संवेदनाओं की देवता हैं—**शीत** की देवता। ऊष्मा की देवता। **सुख** की देवता। **दुःख** की देवता। **इच्छा** की देवता। **सत्व रजस् - तमस** की देवता।

इस स्तर पर साधक गुणों पर अधिकार करना चाहता है तथा द्वन्द्वों से अप्रभावित (द्वन्द्वातीत) रहने का प्रयास करता है। १ नव चक्रों में ही एक चक्र सर्वरोगहर चक्र हैं।[२]

*** नव चक्र ***

(१) **'महाबिन्दु' बिन्दु**—महात्रिपुर सुन्दरी, कामेश्वर एवं कामेश्वरी का सामरस्य। जग की मूल योनि एवं शिवभावा।

(२) **'त्रिकोण'** आधा विमर्श शक्ति या जीवभाव। शब्दार्थ रूप सृष्टि की कारणात्मिका पराशक्ति। अहंभाव एवं जीवभाव।

(३) **'अष्टार'**—पुर्यष्टक। कारण शरीर, लिङ्ग शरीर का कारण।

(४) **'अन्तर्दशार'**—इन्द्रिय वासनाओं एवं लिङ्ग शरीर का अधिष्ठान।

(५) **बहिर्दशार**—तन्मात्रा एवं पञ्चभूत (ऐन्द्रिय विषय)

---

१. सर जॉन वुडरक (तंत्रराज तन्त्र की भुमिका)
२. तन्त्रराज तन्त्र (सर जॉन वुडरक)
३. एवं कामकलात्मा . त्रिबिन्दुतत्त्वस्वपवर्णमयी।
सेयं त्रिकोणरूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता ।।(का०क०वि०)

(६) **'चतुर्दशार'**—जाग्रत स्थूल शरीर का प्रतीक।

(७) **'अष्टदल'**—अष्टार वासना।

(८) **'षोडश दल'**—दशार द्वय वासना।

(९) **'भूपुर'**—'बिन्दु' त्रिकोण, अष्टदलं एवं 'षोडशदल'—इन चारों की समष्टि ॥

'प्रमातृपुर' एवं 'प्रमाणपुर' का पशु पदीय प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार और शिव पदीय शुद्ध विद्यादितत्व चतुष्य का सामरस्य।

चतुर्थ चक्र—'सर्व रक्षाकर चक्र' (अन्तर्दशार चक्र)—

[१] **सर्वरक्षाकर चक्र'** दश कोणों से निर्मित है।

[२] **'सर्वरक्षाकर'** की **अधिष्ठात्री देवियाँ** निम्नाङ्कित हैं—

(१) सर्वज्ञाना' (२) सर्वशक्तिप्रदा (३) सर्वैश्वर्यप्रदा (४) सर्वज्ञानमयी (५) सर्वव्यापर्णिविनाशिनी (६) सर्वाधारा (७) सर्वपापहरा (८) सर्वानन्दमयीं (९) सर्वरक्षा (१०) सर्वेप्सितकलप्रदा।

ये शक्तियाँ निम्न कार्यों की निष्पादिका हैं—

(१) **वह्निकला के कार्य**— (१) रेचक रेचन या बहि: निस्सारणकार्य (२) **पाचक** (Digestion) (३) **शोषक**—जठराग्नि के दोषों को दूर करने का कार्य) (४) **प्लावक** (जठराग्नि को उदीप्त करने वाले शरीर रस को शरीर में फैलाने का कार्य) (५) **'क्षरक'** (पेट के रसद्रवण की क्रिया) (६) **'उद्गारक** (Belching) (७) 'क्षोभक' भोजन की (Chunning) (८) **जृंभक** (जँभाई) (Yauning) (९) 'दाहक' (जलाना) (१०) मोहक (कष्ट एवं संज्ञाहीन करने का कार्य।

'अन्तर्दशार' एवं 'बहिर्दशार' चक्रों के द्वारा लिङ्ग शरीर के आविर्भाव को द्योतित किया गया है।

'अन्तर्दशार' के दश कोण = पञ्च ज्ञानेन्द्रियों एवं पञ्च कर्मेन्द्रियों से घटित हैं।

सुभगोदयकार की दृष्टि—सुभगोदय में कहा गया है—

'अन्तर्दशार वसुधाज्ञान कर्मेन्द्रियाणि च।
महात्रिपुर सुन्दर्या इति सञ्चिन्तयाम्यहम्।'

योगिनीहृदयकार की दृष्टि—योगिनी हृदय में कहा गया है—

'नवत्रिकोणास्फुरित प्रभारूप दशारकम्।
शक्त्यादिनव पर्यन्तदर्शास्फूर्तिकारकम्। (चक्र सङ्केत)

'अन्तर्दशार' के १० कोण—(क) ५ ज्ञानेन्द्रियों (ख) ५ कर्मेन्द्रियों से घटित हैं **'अष्टार चक्र'** में कामेश्वर कामेश्वरी रूप जो तेज युग्म वशिनि आदि के रूप में या पुर्यष्टक रूप में स्थित था वही युग्म **'अन्तर्दशार'** में इन्द्रिय रूप से दशधा विभक्त हो जाता है।[१]

पञ्चम चक्र-सर्वार्थसाधक चक्र

(बर्हिर्दशार चक्र)

[१] यह पञ्चम चक्र **दश कोणों से निर्मित है।**

[२] इस चक्र की **अधिषात्री देवियों का नाम** इस प्रकार है—

(१) सर्व सिद्धिप्रदा (२) सर्वसम्पत प्रदा (३) सर्वप्रियङ्करी (४) सर्व मङ्गल कारियों (५) सर्वकाम प्रदा (६) सर्वदु:ख विमोचिनी (७) सर्व मृत्यु प्रशमिनी (८) सर्वविघ्ननिवारिणी (९) सर्वाङ्ग सुन्दरी (१०) सर्वसौभाग्यदायिनी।

बहिर्दशार (सर्वार्थ साधक चक्र) के १० कोण १० इन्द्रियों के विषयों गन्ध, रसादि तथा वचनादान आदि के आभ्यान्तर रूप आकाशादि १० विषयों से निर्मित हैं—

'बाह्यो दशार भागोऽयं बुद्धिकर्माक्षगोचर:।'

'बहिर्दशार चक्र' को **'सर्वाथ साधकचक्र'** कहा जाता है क्योंकि विषय ही समस्त अर्थों के साधक हुआ करते हैं। इस चक्र में उक्त तेजो युग्म ही दशधा विभक्त होकर 'सर्वसिद्धिप्रद' आदि १० देवताओं के रूप पूजा जाता है। **'बर्हिर्दशार'** के चतुर्दिक कोणों में ४ मर्म स्थान हैं इनके अन्तर्भागों में चार त्रिकोण की भावना की जाती है। इन ४ त्रिकोणों का एक 'चतुरस्त्र' माना जाता है।[२]

सर्वरक्षाकर चक्र—१० इन्द्रियों के रूप में विभाजित यह दशार (अन्तर्दशार) है और १० देवताओं के रूप में पूजित होता है। इसकी आख्या है—

'सर्वरक्षाकर चक्र। इसकी रक्षा द्विविध इन्द्रियों कर्मेन्द्रियों। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होती है अत: इसका नाम **सर्वरक्षाकर चक्र** है।

षष्ठ चक्र : सर्व सौभाग्यदायक चक्र

(चतुर्दशार चक्र)

[१] इस चक्र का निर्माण १४ कोणों से हुआ है।

[२] इस चक्र की अधिष्ठात्री देवियों का नाम इस प्रकार है—

---

१. तन्त्रराजतन्त्र
२. तन्त्रराजतन्त्र

(१) सर्व संक्षोभिणी (२) सर्वविद्राविनी (३) सर्वाकर्षिणी (४) सर्वाह्लादिनी (५) सर्वसम्मोहिनी (६) सर्वस्तम्भिनी, (७) सर्ववजृंभिणी (८) सर्ववशंकरी (९) सर्वरञ्जिनी (१०) सर्वोन्मादिनी (११) सर्वार्थसाधिनी (१२) सवसम्पत्तिपूरणी (१३) सर्वमन्त्रमयी (१४) सर्वद्वन्द्वक्षयकारिणी।

[३] ये अधष्ठित्री देवियाँ १४ नाड़ियों की भी अधिदेवता हैं। निम्नांङ्कि नाड़ियाँ ही प्रधान १४ नाड़याँ हैं—

(क) अलम्बुषा	(ख) कुहू	(ग) विश्वोदरा
(घ) वारणा	(ङ) हस्तिजिह्वा	(च) यशोवती
(छ) पयस्विनी	(ज) गांधारी	(झ) पूषा
(ञ) शंखिनी	(ट) सरस्वती	(ठ) इडा
(ड) पिङ्गला	(ढ) सुषुम्ना।	

योगिनी हृदयकार की दृष्टि—योगिनीहृदय में कहा गया है कि—

'चतुश्चक्रप्रभारूप संयुक्त परिणामतः ।
चतुर्दशाररूपेणा संवितिकरणात्मना ।।' (च.सं. १४)

कामला विलासकार की दृष्टि—काम.क.वि. (३१) में कहा गया है—

एतच्चक्रचतुष्क प्रभासमेतं दशार परिणामः,
आदिस्वरगणागत चतुर्दशवरमियं चतुर्दशारमिदम् ।।३१।।

(१) बहिर्दशार—इसके एक-एक कोण में (१) प्रकृति (२) अहङ्कार (३) बुद्धि एवं (४) मन—ये चार तत्व एवं प, फ, ब एवं भ ये चार मातृका मन्त्र स्थित हैं। मकार जीव रूप त्रिकोण में सश्लिष्ट है।

(क) **'अन्तर्दशार'** में ट वर्ग एवं तवर्ग तथा—

(ख) **'बहिर्दशार'** में क वर्ग एवं च वर्ग = कुल मिलाकर २० मातृका बीज दोनों दशारों के बीस कोणों में संश्लिष्ट हैं। इनमें चतुरस्रों के चार बीज मिला देने पर २४ वर्ण हो जाते हैं।

सप्तम चक्र-'सर्वसंक्षोभण चक्र'

(अष्ट दल चक्र)

[१] यह सप्तम चक्र **'अष्टदलात्मक** (Eight Petalled) चक्र है।

[२] इसका नाम है—**सर्वसंक्षोभण।**

[३] यह उस वृत्त को आवृत (आच्छादित) करके अवस्थित है जिसमें अन्य त्रिकोण अन्तर्निविष्ट हैं।

[४] इस चक्र की अधिष्ठात्री देवियाँ निम्नाङ्कित हैं—

(१) अनङ्गकुसुमा (२) अनङ्गमेखला (३) अनङ्गमदना (४) अनङ्गमदनातुरा (५) अनङ्गरेखा (६) अनङ्गवेगिनी (७) अनङ्गमदनाङ्कुशा (८) अनङ्गमालिनी

[५] ये देवियाँ निम्न कार्यों की निष्पादिका एवं उनकी स्वामिनी या देवता है—

(क) वचन या बुद्धि की देवता (ख) आदान (Grasping) की देवता (ग) गमन की देवता विसर्ग (Rejecting Excreting) की देवता आनन्द की देवता (ङ) (Rlinquishment) की दवेता (छ) उपदान (Concentration) की देवता (ज) उपेक्षा की देवता (झ) उपादान (Concentration) की देवता उपेक्षा (Detachment) की देवता 'क्षोभ' सृष्टि को कहते हैं। कारणात्मक होने के कारण यह सृष्टिकारक है। यह अष्टार चक्र के अन्तर्भूत है। अतः **आग्नेय खण्ड** एवं प्रमातपुर है। अन्तर्भाव का रूप त्रिकोणे बैन्दवशिलष्टमष्टोडष्टदलाम्बुजम् । दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके।

चतुर्दशार—कामेश्वरी रूप तेजोयुग्म **चतुर्दशार** के १४ कोणों में विभक्त होकर सर्वसंक्षोभिणी सर्वविद्राविणी सर्वाकर्षिणी आदि १४ शक्तियों के रूप में पूजा जाता है। ये १४ शक्तियाँ पिण्डाण्ड में १० इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरणा चतुष्टय के साथ १४ करणों में निवास करती हैं।

सुभगोदयकार की दृष्टि—सुभगोदय में लिखा गया है कि—चतुर्दशार वसुधा करणानि चतुर्दशा। यह **'चान्द्रखण्ड'** एव सुषुप्तिपुर कहा जाता है।

अष्टम् चक्रः सर्वाशापरिपूरक चक्र

(षोडश दल पद्म)

[१] इस सप्तम चक्र के बाहर एक और चक्र है जो कि १६ दलों का है।

[२] यहाँ (इस चक्र में) १६ देवियाँ निवास करती हैं। ये ही शक्तियाँ (देवियाँ) इस चक्र की अधिष्ठात्री एवं एतन्निहित कार्यों की निष्पादिका है।

[३] इन शक्तियों का नाम इस प्रकार है—

(१) कामाकर्षिणी (२) बुद्ध्याकर्षिणी (३) अहङ्काराकर्षिणी (४) शब्दाकर्षिणी (५) स्पर्शाकर्षिणी (६) रूपाकर्षिणी (७) रसाकर्षिणी (८) गन्धाकर्षिणी (९) चित्ताकर्षिणी (१०) धैर्याकर्षिणी (११) स्मृत्याकर्षिणी (१२) नामाकर्षिणी (१३) बीजाकर्षिणी (१४) आत्माकर्षिणी (१५) अमृताकर्षिणी (१६) शरीराकर्षिणी।[१]

[४] (१) स्वाभीष्ट (काम) की पूर्ति (२) बुद्धि-नियंत्रण (३) अहंकार नियंत्रण

---

१. तन्त्रराजतन्त्र (वुडरक)

(४) शब्द नियंत्रण (दूरश्रुति) (५) स्पर्श-नियंत्रण (६) रूप नियंत्रण (७) रस-नियंत्रण (८) गंध-नियंत्रण (या वशीकरण) (९) चित्त-वशीकरण (१०) गतिवशीकरण (११) स्मृति-नियंत्रण एवं वशीकरण (१२) नाम (वचनाकर्षण) पर नियंत्रण (१३) विकास पर नियंत्रण (१४) सूक्ष्म शीरर-वशीकरण (१५) स्थूल शरीर क परिशोधन आदि पर स्वामित्व आदि।।

इस प्रकार में पूजा करने पर ये समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

'षोडशदलकमल' विसर्गरूप चन्द्रमा की षोडश कलाओं से युक्त है। सुभगोदय में कहा गया है—

'षोडशच्छदपद्माङ्क भूताक्षमानसम् ।
विकारात्मकमापत्रं देव्याः संभावयाम्यहम् ।।'[१]

नवम् चक्र :

[१] षोडश दल पद्म के बाहर भूपुर में १० मुद्रा शक्तियाँ अवस्थित हैं। इनका नाम इस प्रकार है—

(१) सर्वाशासंक्षोभिणी (२) सर्व विद्राविणी (३) सर्वाकर्षिणी (४) सर्वविशकारिणी (५) सर्वोन्मादिनी (६) महाङ्कुशा (७) खेचरी (८) बीज मुद्रा (९) महायोनि (१०) त्रिखण्डा

[२] इनमें से प्रथम नौ मुद्रायें तो **'श्री यन्त्र'** के यन्त्रों से सम्बद्ध हैं। १०वीं मुद्रा इन सभी से ऊपर है।

[३] नौ मुद्राशक्तियाँ (जो नौ आधारों का प्रतिनिधित्व करती हैं) प्रतीकात्मक स्वरूप में अवस्थित हैं।

भास्करराय की दृष्टि—आचार्य भास्कर राय कहते हैं कि—**नौ आधार** निम्नांकित हैं—

(१) मूलाधारादिक ६ चक्र।

(२) १००० दलों के २ पद्म।

(३) लम्बिकाग्र १ (नाक के पृष्ठ भाग में एवं आँखों के नीचे।)

[४] षोडशदलों के बाहर चार वृत्ताकार रेखायें (Cinculan Sine) ह जो कि तीन वृत्ताकारित स्थानों (Cinculans paces) को अन्तर्निविष्ट किए हुए हैं।

(१) **बाह्य वृत्त** (Unter Circele) षोडल दल, अष्ट दल एवं प्रथम बाह्यवर्ती चतुर्दशकोणीय चक्र से सम्बद्ध है।

१. सुभगोदय

(२) **मध्यवर्ती वृत्त** दशकोणीय दो युग्म एवं अष्ट कोणीय चक्र से सम्बद्ध है।

(३) **अन्तरतम वृत्त** (Inner must Crucle) तीन कोणों के चक्र से सम्बद्ध है।

(४) इन सबसे बाहर तथा भूपुर की सबसे बाहरी रेखा (Outermust Line of the Bhura) पर दश सिद्धियों की उपासना या पूजा की जाती है जो कि अणिमादिक हैं।

'मनोरमा' के अनुसार ये नियति से अभिन्न हैं। ये नौ रसों से भी अभिन्न हैं।

'भूपुर' वह है जिसमें संपूर्ण श्री यन्त्र स्थित है।

श्लोक क्र०१८ = कौल एवं मिश्रमत का खण्डन एवं समयाचार मत का प्रतिपादन

चतुःषष्टिस्तन्त्राव्यपि कुलमतं निन्दितमभू,
द्यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह ।
शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो,
महाविद्यास्तसां भवति परमार्थो भगवती ।।

[हे भगवती ! चौंसठ तन्त्र भी कौलमत के ग्रन्थ हैं और वे (प्राचीन काल से साधन सम्प्रदाय में) निन्दित माने गये थे। यह मिश्र नामक शाक्तमत भी यहाँ समयाचार मत में निन्दित है।

'शुभ' नाम वाले (शुभागम पञ्चक) ये पाँच ग्रन्थ ही वेदमार्गानुयायी होने के कारण सिद्ध हैं। उनकी (शुभागम पञ्चक की) प्रकृति वाली यह समयमत की श्री विद्योपासना ही पारमार्थिकी (परमार्थसाधिनी) है।।१८।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—शाक्त मार्ग के तीन सम्प्रदाय है—

(१) **कौल मार्ग** (२) **मिश्र मार्ग** एवं (३) **समय मार्ग** आचारों की दृष्टि से तीन आचार है—

(१) **कौलाचार** (२) **मिश्राचार** (३) **समयाचार**।

[क] **आचार्य गौड़पाद की दृष्टि**—आचार्य गौड़पाद शाक्तमत के अनुयायी एवं **'श्रीविद्या'** के उपासक हैं तथापि वे वेदमार्गानुयायी हैं अतः उनकी दृष्टि में शाक्तमत की श्रुति परिपन्थी शाखायें—(१) 'कौल शाखा' एवं (२) 'मिश्र शाखा' त्याज्य हैं। आचार्य गौड़पाद शाक्त सम्प्रदाय की समयमत वाली शाखा के ही अनुयायी हैं इसीलिए वे कहते हैं—

चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि कुलमतं निन्दित मभू,
द्यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह ।।

(ख) समय पारदृश्वा आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर भी 'समयमत'

के अनुयायी हैं अतः आचार्य शङ्कर भी **कौलमार्ग** एवं **मिश्रमार्ग** को त्याज्य मानते हुए कहते हैं—

चतुःष्षट्या तन्त्रैः सकल मतिसन्धाय भुवनं,
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः ॥[१]

लक्ष्मीधर पदयोजना में कहते हैं—

'हे भगवति! पशुपतिः सकलं भुवनं तत्तसिद्धिप्रसव परतन्त्रैः चतुष्षष्टया तन्त्रैः अतिसन्धाय स्थितः॥

चतुश्शती में ६४ तन्त्रों के नामों का उल्लेख है।

चतुश्शती और चौंसठ तन्त्र—चतुश्शती में ६४ तन्त्रों का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है—

चतुष्षष्टिश्च तन्त्राणि मातृणामुत्तमानि च।
महामायाशम्बरं च योगिनीजालशम्बरम् ॥
तत्त्वशम्बरकं चैव भैरवाष्टकमेव च।
चन्द्रज्ञानं मालिनी च महासम्मोहनं तथा।
वामजुष्टं महादेवं वातुलं वातुलोत्तरम् ॥
हृद्भेदं तन्त्रभेदं च गुह्यतन्त्रं च कामिकम्।
कलावादं कलासारं तथाऽन्यत् कुण्डिकामतम् ॥
मतोत्तरं चवीणाख्यं त्रोतलं त्रोतलोत्तरम्।
पञ्चामृतंरुपभेदं भूतोड्डामरमेव च ॥
कुलसारं कुलोड्डीशं कुलचूडामणिस्तथा।
सर्वज्ञानोत्तरं चैवं महाकालीमतं तथा ॥
अरुणेशं मोदिनीशं विकुण्ठेश्वरमेव च।
पूर्वपश्चिमदक्षं च उत्तरं चं निरुत्तरम्।
विमलं विमलोत्तं च देवी मतमतःपरम् ॥

ये सभी ६४ तन्त्र भगवान शिव ने भगवती पार्वती से कहा था 'इत्येवं चतुष्षष्टिन्त्राणि पार्वती प्रति कथितानि॥'[२]

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने कहा है ये चौंसठ तन्त्र (१) वैदिक मार्ग से दूर (वेद विरोधी) एवं (२) विनाश करने वाले हैं—

---

१. सौन्दर्य लहरी (३१)
२. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३१)

'एतानि तन्त्राणि जगतां अतिसन्धान कारणानि विनाश हेतु भूतानि वैदिक मार्गदूवर्तित्वात् ॥'[१]

शुभागमपञ्चक और उसकी श्रुतिपरकता—शुभागम पञ्चक अर्थात्—

(१) वसिष्ठ (२) सनक (३) शुक (४) सनन्दन (५) सनत्कुमार नामक पाँच मुनियों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुगमन करने वाली पञ्च संहितायें—ही आचार्य गौड़पाद, आचार्य शङ्कर समयमत एवं समयमतानुयायी आचार्य लक्ष्मीधर को स्वीकार्य हैं तथा समस्त 'समयमत' के सिद्धान्तों के मूल ग्रन्थ भी ये ही 'शुभागम पञ्चक' है।

लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) शुभागम तन्त्र पञ्च के वैदिक मार्गेणैव अनुष्ठान कलापो निरूपितः। अयं शुभगम् पञ्चक निरूपितो मार्गः वसिष्ठ सनक शुकसनन्दन सनत्कुमारै पञ्चभिः मुनिभिः प्रदर्शितः।

(२) शुभागम प्रतिपादित मत ही **'समयाचार'** कहलाता है—'अयमेव समयाचार' इति व्यवह्रियते।

(३) लक्ष्मीधर की भी वही दृष्टि है—

तथैवास्माभिरपि शुभागम पञ्चकानुसारेण समयमत मलम्ब्यैव **भगवत्पादमतमनुसृत्य** व्याख्या रचिता।

(४) ६४ तन्त्र केवल **'कुलमार्ग'** के ही प्रतिपादक हैं

'चतुष्षष्टि तन्त्राणि कुल मार्ग एव'[२]

शाक्तमत में कौन सम्प्रदाय त्याज्य हैं?

आचार्य लक्ष्मीधर ही नहीं उनके पूर्व भी शास्त्रकारों ने (१) कौल एवं (२) मिश्र—दोनों शाक्त मतों को त्याज्य कहा था—

'मिश्रकं **कौलमार्गं** च परित्याज्यं हि शाङ्करि ॥'
'ईश्वरवचनात् मिश्रकमतं कौलमार्गं च परित्याज्यम् ॥'[३]

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३१)
२. लक्ष्मीधर (३१)
३. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३१)

शुभागमपञ्चक

(१) वासिष्ठ संहिता — (२) सनक संहिता — (३) शुक संहिता — (४) सनन्दन संहिता — (५) सनत्कुमार संहिता
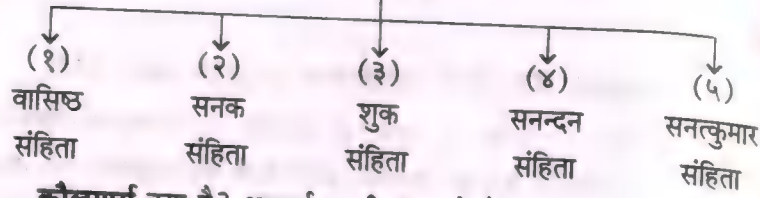
कौलमार्ग क्या है? आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

चतुष्षष्टिविद्यान्तर्भूतायां चन्द्रज्ञानविद्यायां षोडशनित्याः प्रधानत्वेन प्रतिपादिता इति तत्प्रतिपादकं तन्त्र **कौलमार्गः**॥[१]

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि—कौलों के द्वारा जिस मार्ग का अवलम्बन ग्रहण किया जाता है उस मार्ग का नाम है—**'कौलमार्गः'**

'कौलैः मृग्यते अवलम्ब्यत इति **कौलमार्गः कौलमतम्** ।'

आचार्य लक्ष्मीधर 'कौलमत' को नहीं प्रत्युत् शुभागम पञ्चक को स्वीकार्य मानते हैं क्योंकि शुभागम पञ्चक वैदिक मार्ग के उपासकों में भी आदरणीय हैं—

'शुभागम पञ्चक मेव वैदिकैरादरणीयम् ।'[२]

समयमत की (६४ तन्त्रों के प्रति) दृष्टि—

आचार्य लक्ष्मीधर ६४ तन्त्रों को वञ्चक मानते हैं—'एवं चतुष्षष्टि तन्त्राणि परिज्ञातृणामपि **वञ्चकानि**।।' ये वेदवार्ग से दूर भी हैं—'ऐहिकसिद्धिमात्रपरत्वात् **वैदिकमार्गदूराणि**।'

लक्ष्मीधर का कथन है कि ६४ तन्त्रों में शूद्रादिक समस्त जातियों का अधिकार है—शूद्रादीनां चतुष्षष्टितन्त्रेष्वधिकारः। एवमधिकारभेदमजानानाः अमीमांसकाः व्यामुह्यन्ति। तेषामेवायं दोषः न पशुपतेः परमेश्वरस्यं

अर्थात् जो अधिकार का ज्ञान नहीं रखते और वे इनकी साधना करते हैं वे व्यामोहित होते हैं। इसमें पशुपति का कोई दोष नहीं है।[३]

* क्या ६४ तन्त्र 'श्रीविद्या' के प्रतिपादक नहीं हैं?

---

१. आचार्य लक्ष्मीधर (श्लोक ३१)
२. लक्ष्मीधरा (३१)
३. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३१)

चौंसठ तन्त्र

(१) ६४ **'भैरवागम'** (श्रीकण्ठी संहिता) — (२) नवयुग के ६४ तंत्र (तोडलतंत्रोक्त) — (३) ६४ तन्त्र **'कुलमार्ग'**

(१) भैरवाष्टक — (२) यामलाष्टक — (३) मताष्टक — (४) मंगलाष्टक

(५) चक्राष्टक — (६) बहुरूपाष्टक — (७) वागीशाष्टक — (८) शिखाष्टक

(१) महामाया तंत्र — (२) शम्बरतन्त्र — (३) योगिनीजालशम्बर — (४) तत्त्वशम्बर — (५) सिद्धिभैरव

(६) बटुक भैरव — (७) कंकालभैरव — (८) कालभैरव — (९) कालाग्निभैरव — (१०) योगिनीभैरव

(भैरवाष्टक)

(११) महाभैरव — (१२) शक्तिभैरव — (१३) बहुरूपाष्टक — (१४) यमलाष्टक — (१५) चन्द्रज्ञान

(१६) मालिनीविद्या — (१७) महासम्मोहन — (१८) मिश्र तंत्र — (१९) महादेव तंत्र — (२०) वातुल तन्त्र

वामजुष्ट तंत्र

(२१) वातुलोत्तर तंत्र — (२२) कामिक तंत्र — (२३) हृद्भेद तंत्र — (२४) तन्त्र भेद — (२५) गुह्य तंत्र — (२६) कलावाद

(२७) कलासार — (२८) कुण्डिकामत — (२९) मतोत्तरमत — (३०) वीणाख्य तंत्र — (३१) त्रोतल तंत्र — (३२) योतलोत्तर

(३३) पञ्चामृत — (३४) रूपभेद — (३५) भूतोड्डामर — (३६) कुलसार — (३७) कुलोड्डीश — (३८) कुलचूडामणि

(३९) सर्वज्ञानोत्तर — (४०) महाकालीमत — (४१) अरुणेश — (४२) मोदनीश — (४३) विकुण्ठेश्वर — (४४) पूर्व

(४५) पश्चिम — (४६) दक्षिण — (४७) उत्तर — (४८) निरुत्तर — (४९) विमल — (५०) विमलोख — (५१) देवीमत

= ६४ तन्त्र।

६४ तन्त्रों में केवल शूद्रों को अधिकार हैं

ब्राह्म, क्षत्रिय एवं वैश्यों का अधिकार (ग्रन्थ)

(१)	(२)	(३)	(४)
चन्द्रकला	ज्योत्स्नावती	कुलार्णव	कुलेश्वरी

(५)	(६)	(७)
भुवनेश्वरी	बार्हस्पत्य	दुर्वासामत

'चन्द्रकलाविज्ञान' के दो भेद हैं।

चन्द्रकला विज्ञान के दो भेद

(१)	(२)
अवैदिक	वैदिक
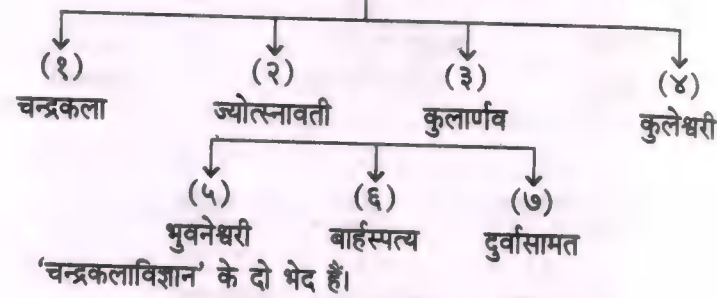
सभी तन्त्रों में शूद्रों को अधिकार है।

आठ (उपर्युक्त) विशुद्ध चन्द्रकला विद्या (चन्द्रकला ज्योत्स्नावती आदि) में त्रिवर्णको अधिकार है। यहाँ भी शूद्रों को अधिकार है किन्तु नियम इस प्रकार है—

(१) त्रिवर्ण के लिए दक्षिण मार्ग का अनुष्ठान विधेय है।

(२) शूद्रों के लिए वामाचार का विधान है।

इस विद्या में (१) कुलमार्ग एवं (२) समयमार्ग दोनों का मिलन है।

(नवयुग का मत) तोडलतन्त्रोक्त ६४ तन्त्र

'तोडल तन्त्र' में जिन ६४ तन्त्र ग्रन्थों का नामोल्लेख किया गया है वे भिन्न हैं।

सर्वानन्द ने **'सर्वोल्लास तन्त्र'** में जिन ६४ तन्त्र ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है वे ही नाम तोडल तन्त्र में भी हैं।

नव युग के ६४ तन्त्र : (सर्वोल्लास तन्त्र/तोडल तन्त्र)

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
काली	मुण्डमाला	तारा	निर्वाण	शिवस्तर	वीर
(७)	(८)	(९)	(१०)	(११)	(१२)
निदर्शन	लतार्चन	तोडल	नील	राधा	विद्यासार

(१३)	(१४)	(१५)	(१६)	(१७)	(१८)
भैरव	भैरवी	सिद्धेश्वर	मातृभेद	समया	गुप्तसाधन
(१९)	(२०)	(२१)	(२२)	(२३)	(२४)
माया	महामाया	अक्षया	कुमारी	कुलार्णव	कालिका कुलसर्वस्व
(२५)	(२६)	(२७)	(२८)	(२९)	(३०)
कालिकाकल्प	वाराही	योगिनी	योगिनी हृदय	सनत्कुमार	त्रिपुरासार
(३१)	(३२)	(३३)	(३४)	(३५)	(३६)
योगिनीविजय	मालिनी	कुक्कुट	श्रीगणेश	भूत	उड्डीश
(३७)	(३८)	(३९)	(४०)	(४१)	(४२)
कामधेनु	उत्तम	वीरभद्र	वामकेश्वर	कुलचूड़ामणि	भावचूड़ामणि
(४३)	(४४)	(४५)	(४६)	(४७)	(४८)
ज्ञानार्णव	वरदा	तंत्रचिन्तामणि	वाणीविलास	हंसतंत्र	चिदम्बरतंत्र
(४९)	(५०)	(५१)	(५२)	(५३)	(५४)
केत्कारिणी	नित्या	उत्तर	नारायणी	ऊर्ध्वाम्नाय	ज्ञानद्वीप
(५५)	(५६)	(५७)	(५८)	(५९)	(६०)
गौतमीय	निरुत्तर	गर्जन	कुब्जिका	तन्त्रमुक्तावली	बृहतश्रीक्र

(६१)	(६२)	(६३)
स्वतंत्र	योनि	कामाख्या

दाशरथी तन्त्र के द्वितीय अध्याय में ६४ तन्त्रों के नामों का उल्लेख है। इसमें उल्लिखित ६४ तन्त्रों के नाम पूर्वोल्लिखित तंन्त्रग्रन्थों से भिन्न हैं।

हरिवंश पुराण में कहा गया है कि भगवान श्री कृष्ण ने ६४ अद्वैत तन्त्रों का अध्ययन दुर्वासा से किया था। कलियुग में अद्वैतनिष्ठ तन्त्र का प्रसार दुर्वासा ने ही किया है।

आठवीं सदी के पूर्ववर्ती तन्त्र ग्रन्थ—

'जयद्रथ यामल' में आठ यामल ग्रन्थों का नामोल्लेख है—आठ यामलों का

मूल है 'ब्रह्मयामल'। 'रुद्रयामल', यमयामल 'वायुयामल' इन्द्रयामल के नाम 'ब्रह्मयामल' में भी है।

जयद्रथयामल के अनुसार—

यामलाष्टक

(१) मंगलाष्टक (२) चक्राष्टक (३) शिखाष्टक आदि।

(१) भैरव (२) चन्द्रगर्भ (३) शनिमंगल (४) सुमंगला

(५) सर्वमंगला (६) विजया (७) अष्टमंगला (८) सर्वभाव मंगला

चक्राष्टक

(१) स्वर चक्र (२) वर्णनाड़ी (३) गृहाख्य (४) कालचक्र (५) सौर चक्र आदि

शिवाष्टक

(१) शौजी (२) महोच्छूष्मा (३) भैरवी (४) सवरी (५) प्रपञ्चकी (६) मातृभेदी (७) रुद्रकाली आदि

६४ तन्त्रों में से सभी तन्त्रों में तो श्रीविद्या का प्रतिपादन नहीं किया गया है किन्तु **'चन्द्र कलाविद्याष्टक'** में अवश्य उनका प्रतिपादन किया गया है।
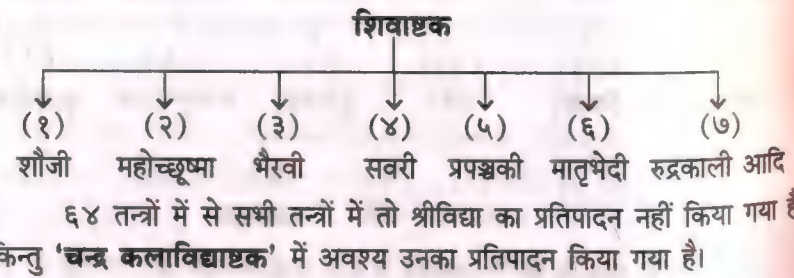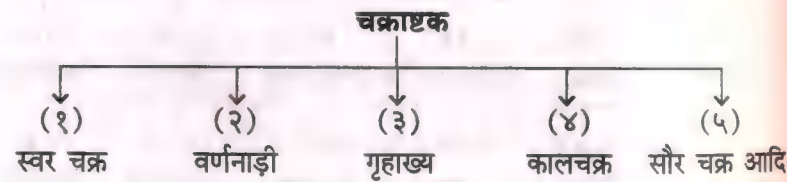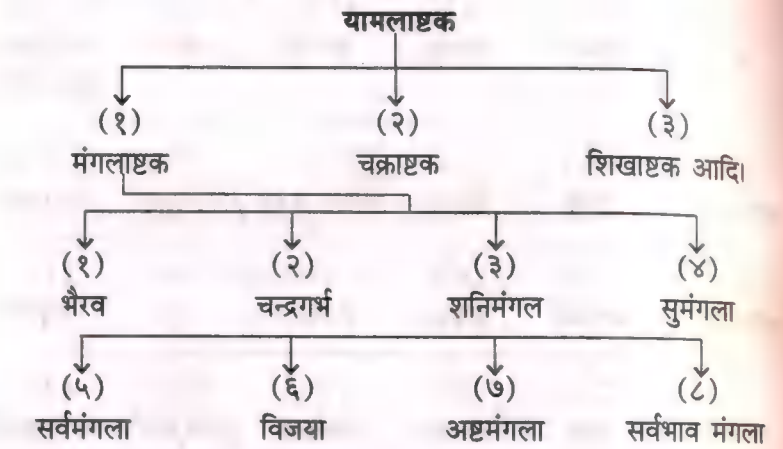
श्रीविद्या प्रतिपादक श्रीचन्द्र कलाविद्याष्टक

(१) चन्द्रकला (२) ज्योत्स्नावती (३) कलानिधि (४) कुलार्णव

(५) कुलेश्वरी (६) भुवनेश्वरी (७) बार्हस्पत्य (८) दूर्वासमत

जयद्रथयामल (विद्यापीठ के तन्त्र)

(१) सर्ववीर (समायोग) (२) सिद्धयोगेश्वरीमत (३) पञ्चामृत (४) विश्वाद्य

(५) योगिनीजाल संवर (६) विद्याभेद (७) शिरश्छेद (८) महासम्मोहन

(९) महारौद्र (१०) रुद्रयामल (११) विष्णुयामल (१२) ब्रह्मयामल

(१३) रुद्रभेद (१४) हरि(यामल) (१५) स्कन्द (यामल) (१६) गौतमी (यामल)

'समयमार्ग' के मूल स्तम्भ

(१) ५ मुनि (२) शुभागम (५ संहितायें)

(१) वशिष्ठ (२) सनक (३) शुक (४) सनन्दन (५) सनत्कुमार

(१) वशिष्ठ संहिता (२) सनक संहिता (३) शुक संहिता (४) सनन्दन संहिता (५) सनत्कुमार संहिता
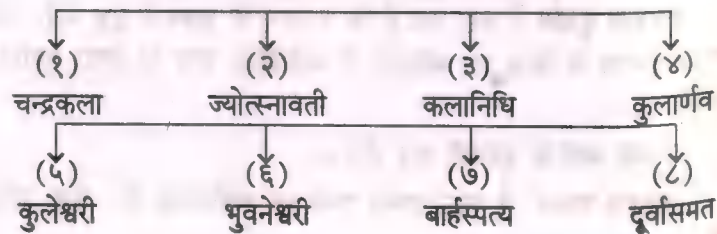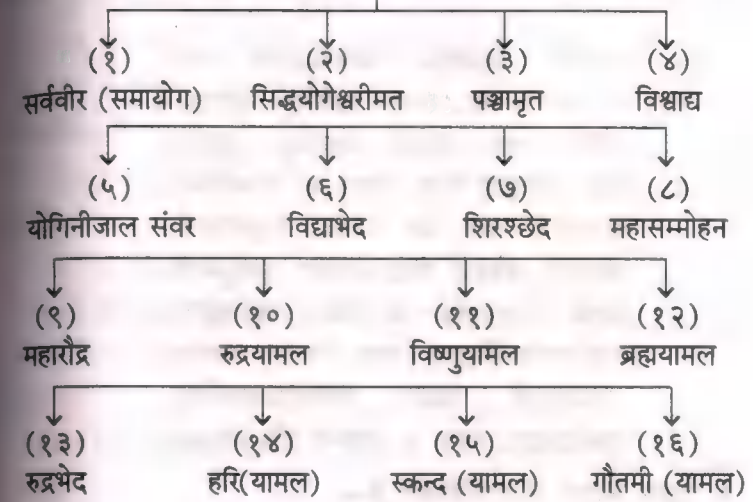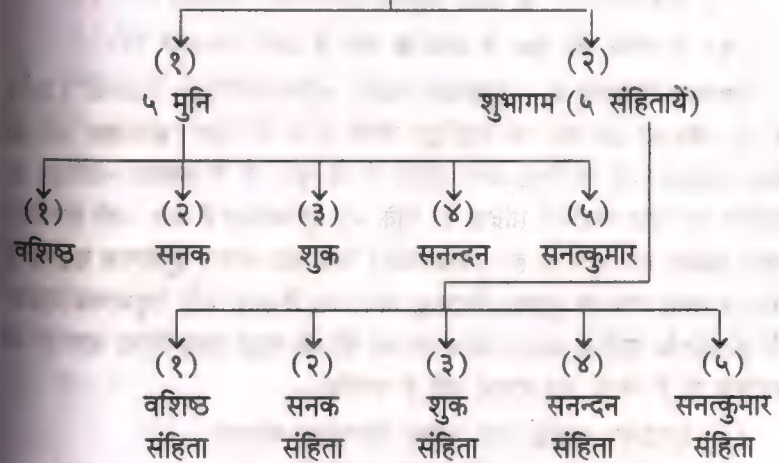
(१) सारे शुभागम शुद्ध समय मार्ग के प्रतिपादक हैं।

(२) 'शुभागम' में **षोडश विद्या** का प्रतिपादन किया गया है।

(३) इनमें इन **१६ विद्याओं** को मूल श्रीविद्या में अन्तर्भूत करके स्वीकार किया गया है। अतः १६ विद्यायें मूल श्रीविद्या के अङ्ग हैं।

(४) **६४ विद्याओं** में अन्तर्भुक्त जो **चन्द्रज्ञानविद्या** है उसमें **षोडश नित्याओं की प्रधानता** प्रतिपादित की गई है। इसी कारण यह मार्ग **कौलमार्ग** है।

(५) **'वसिष्ठ संहिता'** में ईश्वर ने देवी से नित्याओं का वर्णन करते हुए कहा है—

शृणुदेवि! प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव।
न कस्यचिन्मयाऽऽख्यातं सर्वतंत्रेषु गोपितम्॥
तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुर सुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च मगभालिनी॥
नित्यक्लिन्ना तथा चैव मेरुण्डा वह्निवासिनी।
महाविद्ये वज्रेश्वरी रौद्री त्वरिता कुलसुन्दरी॥
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला।
ज्वालामालिनीचिद्रूपाः एता नित्यासु षोडश॥
प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णामायन्तमर्चयेत्।
एकादिवृद्ध्या हान्या च दर्शान्तं देवि विग्रहम्॥

ये षोडश नित्यायें षोडशतिथिरूप हैं—

(१) 'शोषशनित्यानां षोडशतिथ्यात्मकत्वं'

(२) 'षोडशनित्यानां श्री चक्रे अङ्गतया अन्तर्भावो निरूप्यते।

(**१६ नित्यायें श्री चक्र में अंग के रूप में** उसमें अन्तर्भूत हैं।)

आचार्य गौड़पाद ने—'शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो' (श्लोक क्र १८)—कहकर इस तथ्य को रेखाङ्कित किया है कि जो लोग **'श्रीविद्या'** को मात्र तांत्रिक उपासना एवं तंत्रविद्या मात्र मानते हैं वे भ्रम में हैं क्योंकि श्रीविद्या वेद प्रतिपादित एवं मोक्ष प्रदायिनी सद्विद्या है। चूँकि यह श्रुतिसम्मत है अतः यही समयाचार का मार्ग उपास्य एवं शुभ है। इस (समयाचार) विद्या का आधार **शुभागम पञ्चक'** है न कि ६४ तन्त्र। तन्त्र को मुख्यतः वेदबाह्य माना गया है अतः यदि **'शुभागम पञ्चक'** के भी तन्त्रान्तर्गत होने के कारण समय मत को भी वेद-बाह्य समझ लिया जाय तो यह स्वाभाविक तो है किन्तु यह यथार्थ नहीं है क्योंकि—

(१) **शुभागम पञ्चक** (एवं उसका प्रतिपादक संप्रदाय)

(२) **समय संप्रदाय**—दोनों वेदमतानुयायी हैं।

*** श्री चक्र और षोडश नित्याओं का सम्बन्ध ***

वसिष्ठ संहिताकार की दृष्टि—

*** श्रीचक्र के अङ्ग**—षोडश नित्यायें *****

*** श्री चक्र और षोडश नित्याओं का सामरस्य ***

(१) षोडश नित्यायें अष्टवर्गात्मिक रूप से **अष्टदल पद्म** के अष्ट पत्रों में स्थित हैं।

(२) ये अष्टकोण चक्र में यथाक्रम प्रागादि कोण से आरम्भ करके एक-एक कोण में द्विक-द्विक रूप में अन्तर्भूत हैं।

(३) इस प्रकार ये अष्टद्विक अष्टकोणों में अन्तर्भूत हैं।

(४) ये नित्यायें षोडशस्वरात्मिक होने के कारण षोडश दल पद्मों में स्थित हैं तथा द्विदशार में अन्तर्भूत है।

(५) इन नित्याओं के मध्य में प्रथम नित्याद्वय त्रिकोणबिन्दु रूप से अवस्थित है।

(६) अवशिष्ट चतुर्दश नित्यायें **'मन्वश्र'** में अन्तर्भूत हैं।

(७) मेखलात्रय एवं भूपुरत्रय में बैन्दव त्रिकोण की अन्तर्भूतता है। निष्कर्ष यह कि—एवं नित्यानां चक्रे अन्तर्भावः।[१] —(वसिष्ठसंहिता)

*** षोडश नित्यायें एवं चक्र विद्या ***

[क] **सनन्दनसंहिताकार की दृष्टि**—सनन्दनसंहिता में सनन्दन ने ऋषियों से कहा कि—

(१) ये षोडश नित्यायें चक्र विद्या' के अंग हैं।

(२) षोउश नित्यायें चन्द्र कलायें हैं।

(३) ये षोडश नित्यायें जो कि स्वरात्मिक हैं—

पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में अवस्थित 'ए' कारादिभूत 'अ' कार विसर्गात्मक 'स' कार से संगृहीत रूप में **'बैन्दवस्थान** में जीवकला रूप से अवस्थित एवं अन्तर्भूत हैं।

(४) **कादिमावसानान्त अक्षर** पाशाङ्कुशबीजयुक्त होने के कारण **अष्टार** में (दश कोणद्वय में) अन्तर्भूत हैं।

(५) अवशिष्ट वर्ण यकारादि नव वर्ण द्विरावृत्ति पूर्वक **'मन्वश्र'** में (चतुर्दशकोणों में) चतुर्दशअन्तर्भूत हैं और अवशिष्ट वर्णाचतुष्टय **'शिवचक्रचतुष्टय'** में अनतर्भूत हैं। यही **कैलास प्रस्तार** कहा जाता है। इस प्रकार नित्याओं का चक्रविद्या के अङ्ग के रूप में अवस्थान है—

एवं नित्यानां चक्रविद्यायां अङ्गत्वं प्रतिपादितम्॥[२]

[ख] **सनत्कुमार संहिताकार की दृष्टि**—**'सनत्कुमार संहिता'** में भी षोडश नित्याओं को चक्रविद्या का अङ्ग स्वीकार किया गया है। मुनि सनत्कुार कहते हैं।—

(१) श्री चक्र की अङ्गभूत नित्यायें वशिन्यादि के द्वारा द्विक-द्विक रूप में मिलकर बैन्दव त्रिकोण को छोड़कर अष्टकोणों में अन्तर्भूत हैं।

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३१)
२. आचार्य लक्ष्मीधर

(२) मध्य में भगवती त्रिपुर सुन्दरी अन्तर्भाव्य है।

(३) अष्टवर्ग अष्ट वशिन्यादि, षोडश नित्यायें, द्वादश योगिनियाँ (चतस्र गन्धाकर्षिणी आदि)—ये सब मिलाकर चतुश्चत्वारिंशत (४४ की संख्या) संख्या में निबृद्ध हैं (४४ हैं।)

(४) यहाँ एक शक्ति को छोड़कर त्रयश्चत्वारिंशत (४३) कोणों में ४३ देवताओं को अन्तर्भूत मानना चाहिए।

(५) एक रूपात्रिपुर सन्दरी बैन्दवस्थान के अधोदेश में गन्धाकर्षिणी आदि के रूप में चतुर्द्वार में स्थित है और इन प्रकार नित्याओं का चक्रविद्या के अंग के रूप में अवस्थित होना सिद्ध होता है। इसे ही **'भूप्रस्तार'** कहते हैं।

श्लोक क्रमांक १९-

पञ्चदशाक्षरी विद्या और उसका स्वरूप

'स्मरो मारो मारः स्मर इति परो (स्मरो) मारं मदन'
स्मरानङ्गाश्चेति स्मर मदन माराः स्मर इति।
त्रिखण्ड खण्डान्ते कलित भुवनेश्वक्षर युत,
श्चतुः पञ्चार्णास्तेत्रय इति च पञ्चाक्षर मनुः ॥१९॥

[स्मर' 'मारो' 'मारः' तथा 'स्मर' फिर 'पर' (स्मर) 'मार' 'मदन' 'स्मर' एवं 'अनङ्ग' फिर 'स्मर' 'मदन' एवं 'स्मर' को स्मरण करें।

इस प्रकार ये तीन खण्ड हुए फिर इन खण्डों के अन्त में (पञ्च वर्ण वाले) मनोज्ञ भुवनेश्वरी-बीज—इस प्रकार चार, पाँच, तीन अक्षर—पाँच-पाँच अक्षर के मन्त्र निर्मित होते हैं॥१९॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—इस १९वें श्लोक के अन्त में गौड़पादाचार्य कहते हैं—'इति च पञ्चाक्षर मनुः'

(१) यहाँ पर प्रयुक्त 'इति' शब्द का सम्बन्ध 'पञ्चदशाक्षरी विद्या' के कूटत्रय से है। ये क्रमशः चार, पाँच एवं तीन वर्णों से निर्मित हुए हैं। इनमें से प्रत्येक खण्ड के अन्त में 'भुवनेश्वरी बीज' स्थित है। आचार्य ने इसके अनन्तर यह वाक्य लिखा है—'च पञ्चाक्षर मुनः।'

(२) 'च' का क्या अभिप्राय है?

(क) 'च' माने 'और' लिया जाय या कि इसे

(ख) पदपूत्यर्थ प्रयुक्त निरर्थक शब्द माना जाय?

इस सन्दर्भ में अन्त में विवेचना की जाएगी।

श्रीविद्या (पञ्चदशी मन्त्र) के खण्ड

(१)	(२)	(३)	
(प्रथम खण्ड)	(द्वितीय खण्ड)	(तृतीय खण्ड)	
४ अक्षर	५ अक्षर	३ अक्षर	
'क ए ई ल'	'ह स क ह ल'	'स क ल'	= ११ वर्ण

प्रत्येक खण्ड के अन्त में 'भुवनेश्वरी बीज' **'ह्रीं'** जुड़ा हुआ है।

इसका स्वरूप इस प्रकार हो जाएगा—

(१)	(२)	(३)
'क ए ई ल ह्रीं' } (४)—वर्ण	'ह स क ह ल ह्रीं' } (५)—वर्ण	'स क ल ह्रीं' } (३)—वर्ण

आचार्य ने श्रीविद्या के अक्षरों को संकेतात्मक रीति से प्रस्तुत किया है।

अन्तिम मन्त्र भी पाँच वर्णों से निर्मित होता है।

प्रथम कूट में—'वाग्भव कूट' — पाँच वर्ण + (ह्रीं को जोड़ने पर)

द्वितीय कूट—'कामराज कूट' — छः वर्ण (ह्रीं जोड़ने पर)

तृतीय कूट—'शक्ति कूट' — आठ वर्ण (ह्रीं जोड़ने पर)

चूँकि 'कामराजकूट' का 'ह्रीं' बीज (भुवनेश्वरी बीज) तृतीय कूट ('स' क 'ल') के साथ जोड़ा जाता है अतः तीनों कूटों के मन्त्रों की संख्या पाँच-पाँच हो जाएगी।

'श्चतुः पञ्चार्णास्ते **त्रय** इति च पञ्चाक्षर मनुः।'

अर्थात् चार, पाँच एवं तीन वर्णों के मन्त्र अन्त में—'ह्रिं' (भुवनेश्वरी बीज) जोड़ देने पर ५,५,५ वर्णों के बन जाते हैं और इसीलिए 'श्री विद्या' को 'पञ्चदशाक्षरी' या 'पञ्चदशी' कहा जाता है।

प्र. 'श्रीविद्या' में प्रारम्भ में पाँच फिर छः एवं फिर चार 'वाग्भव कूट' में पाँच, 'कामराज कूट' में छः एवं 'शक्तिकूट' में चार वर्ण है अतः मन्त्र में ५ + ६ + ४ = १५ वर्ण अन्तर्गर्भित हैं।

आचार्य ने कहा है कि—वाग्भव कूट के पाँच वर्ण तो यथावत रहेंगे किन्तु 'कामराज कूट' के 'श्री' को 'शक्तिकूट' के साथ जोड़ देने पर अर्थात्

'ह्री सकल ह्री' रूप दे देने पर तीनों कूटों के मन्त्र ५-५-५ संख्या वाले हो।

श्लोक क्रमांक २०—'श्रीविद्या' के खण्डत्रय

त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशि सवितृवह्न्यात्मकतया
स्वराश्चन्द्रे लीना सवितरि कलाः कादय इह।
यकाराद्या वन्ह्यावथ कषयुगं बैन्दवगृहे,
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले ॥२०॥

[हे भगवती! तुम्हारा मन्त्र सोमात्मक, सूर्यात्मक एवं अनलात्मक होने के कारण तीन खण्डों वाला है। (उस मन्त्र में प्रयुक्त) स्वर वर्ण चन्द्रमा में लयीभूत हैं (चन्द्रात्मक हैं) यहाँ क आदि कलायें (वर्ण) सूर्य में लयीभूत हैं (सूर्यात्मक हैं)। यकारादि वर्ण अग्न्यात्मक हैं। 'क' 'ष' का युगल (अर्थात् क्ष) **'बैदनगृह'** है। हे शिव की राजमहिषी भगवती तुम सादाख्य तत्त्व में लयीभूत होकर चन्द्रमा की नित्यकला के स्वरूप में समासीन है॥२०॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पद ने श्लोक क्रमांक ८ में 'श्री चक्र' के तीन खण्ड बताए थे।

श्री चक्र के खण्डत्रय	मन्त्र के खण्डत्रय
१. सोम खण्ड, २. सूर्य खण्ड, ३. अनल खण्ड —(श्लोक ८)	१. सोम खण्ड, २. सूर्य खण्ड, ३. अनल खण्ड —(श्लोक ८)

मन्त्र की त्रिखण्डात्मकता—

मन्त्र में प्रयुक्त वर्ण	खण्ड के नाम
(१) मन्त्र के स्वर वर्ण	मन्त्र का चन्द्र खण्ड।
(२) मन्त्र के क आदि वर्ण	मन्त्र का सूर्य खण्ड।
(३) मन्त्र के य वर्ग के वर्ण	मन्त्र का अग्नि खण्ड।
(४) मन्त्र का 'क्ष' वर्ण (मन्त्र का अन्तिम कूट)	मन्त्र का अन्तिम कूट। (बैन्दव स्थान)

*** 'मन्त्र, यन्त्र एवं षट्चक्रों में ऐक्य ***

क्र०	खण्ड नाम (१)	श्रीयन्त्र के भाग/चक्र (२)	पिण्डस्थ षट् चक्र (३)	मन्त्र के कूट (४)	'मन्त्र' में प्रयुक्त वर्ण (५)
[१]	सोम खण्ड	चतुर्दशार अष्टदल षोडशदल	१. विशुद्धचक्र २. आज्ञा चक्र	शक्ति कूट	स्वर वर्ण
[२]	सूर्य खण्ड	दशारद्वय	१. मणिपूर चक्र २. अनाहत चक्र	कामराज कूट	'क' आदि वर्णसमूह
[३]	अग्नि खण्ड	१. त्रिकोण २. अष्टार	१. मूलाधार चक्र २. स्वाधिष्ठान चक्र	वाग्भव कूट	'य' वर्ग के वर्ण
[४]	बैन्दव स्थान	१. वृत्तत्रय २. भूपुर	सहस्रार चक्र	अन्तिम तूर्य/कूट	नाद

जिस प्रकार 'श्रीयन्त्र' में चन्द्रमा सूर्य एवं अग्नि नामक तीन खण्ड एवं बैन्दव स्थान (सहस्रार) है उसी प्रकार में भी ये सभी विद्यमान हैं। 'पिण्ड' एवं श्री यन्त्र में भी ऐक्य है।

मन्त्र का अन्तिम कूट सहस्रार में अवस्थित है अर्थात् मन्त्र के अन्तिम कूट का स्थान 'सहस्रदल पद्म' है।

मन्त्र के तीन भाग

(१) स्वर

(२) अन्य वण

(३) 'नाद' और मन्त्र का अन्तिम कूट, तूर्य कूट, नादान्त कारण बिन्दु।
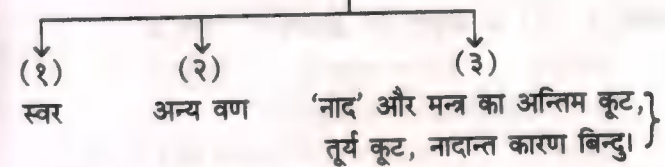
इस श्लोक में 'मन्त्र' एवं 'कला' (वर्ण-समूह) का ऐक्य भी बताया गया है।

[१] **मन्त्र का सोम खण्ड**—यह चन्द्रात्मक होने के कारण समस्त स्वरों का द्योतक है।

[२] **मन्त्र का सूर्य खण्ड**—यह सूर्यात्मक होने के कारण 'क' से 'म' पर्यन्त समस्त वर्ण समूह का द्योतक है।

[३] **मन्त्र का अग्नि खण्ड**—यह अग्न्यात्मक होने के कारण 'य' 'र' 'ल' 'व' 'श' 'ष' एवं 'स' का द्योतक है।

[४] **मन्त्र का बैन्दव खण्ड**—यह वर्ण 'क्ष' का द्योतक है। शेष वर्ण 'ह' विसर्गान्तर्गत है औ 'ळ' 'ल' के अन्तर्गत है।

सारांश—समस्त मातृकाएँ **'पञ्चदशाक्षरी मन्त्र'** के अन्तर्गत एवं उसी के रूप में हैं।

'बैन्दव स्थान' सहस्रार शून्य चक्र, वियच्चक्र या सहस्रदल पद्म को कहते है। यही तांत्रिकों का 'सुधासिन्धु' भी है।

सारांश यह कि—

[क] मन्त्र-प्रयुक्त **'स्वर वर्ण'** = 'चन्द्र' = चन्द्रमा के प्रतीक हैं।

[ख] मन्त्र प्रयुक्त क से म पर्यन्त वर्ण = 'सूर्य' = सूर्य के प्रतीक हैं।

[ग] मन्त्र-प्रयुक्त-य वर्ग के वर्ण = 'अग्नि' = अग्नि के प्रतीक हैं।

[घ] मन्त्र-प्रयुक्त अन्तिम कूट = 'क्ष' = बैन्दव खण्ड) = बैन्दव खण्ड के प्रतीक हैं।

मन्त्र में प्रयुक्त जो **'नाद'** (बिन्दु एवं अर्धेन्दु, अर्धमात्रा) भी **बैन्दव स्थान** का द्योतक है।

'क्ष' = वर्ण माला का अन्त्याक्षर होने के कारण 'पञ्चदशी मन्त्र' के अन्तिम कूट का भी द्योतक है।

(क) **'क्ष'** — (क + ष) (क से ष तक की समस्त वर्ण माला) = समस्त मातृकाओं का केन्द्र/प्रत्याहार।

(ख) **'क्ष'** — बैन्दव स्थान/सहस्रार/ सुधा सिन्धु। देवी का धाम।

श्लोक क्र. २१ * अकार एवं **क्षकार** का महत्व *

ककाभ्यां स्वरगणमावष्टभ्य निखिलं।
कलाप्रत्याहारात्सकलमभवद्व्यञ्जनगण: ।
त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमन्वकक्षयुगं।
क्षकारश्चाकारोऽक्षर तनुतया त्राक्षरमिति ॥२१॥

अर्थ—[ककारों में (स्थित ध्वनि) से 'अकार' समस्त स्वरों पर सम्पूर्ण अधिकार स्थापित करके स्थित है। 'कला' (स्वर) के प्रत्याहरण से समस्त व्यञ्जन समूह का अभाव हो जाता है। तीनों खण्डों, का प्रत्याहरण 'क' एवं 'ष' के युग्म (अर्थात् 'क्ष' में हो जाता है। 'क्षकार' एवं 'अकार' ही अक्षरों का शरीर है इसीलिए इसे 'अक्षर' कहा जाता है।।२१।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

[१] जितने भी व्यञ्जन हैं वे सभी स्वराश्रित हैं। क्योंकि अनका स्वरों की सहायता के बिना उच्चारण सभव ही नहीं है।

[२] 'क' में दो अक्षर हैं 'क' एवं 'अ'। 'क' व्यञ्जन है किन्तु यह अनुच्चार्य है। जब 'क' के साथ 'अ' (स्वर) जुड़ जाता है तभी 'क' व्यञ्जन उच्चारण के योग्य बन पाता है। यही स्थिति समस्त व्यञ्जनों की है।

[३] **'कला' (१६ स्वर) का 'प्रत्याहरण'** (खींच लिया जाता। पृथक कर दिया जाना) कर दिए जाने पर अवशिष्ट व्यञ्जन यथा 'क' 'ख' 'ग' 'घ' 'च' 'छ' 'ज्'

'झ' 'त्' 'थ्' 'द्' 'न्' 'प्' आदि अनच्क (स्वर हीन) व्यञ्जन का 'अभाव' हो जाता है अर्थात् उनका व्यवहार (उच्चारण) सम्भव नहीं हो पाता।

[४] 'क कार' में जो 'अ' (वर्ण, है वह समस्त स्वरों पर अधिकार किए हुए है अर्थात् 'ककार' के साथ स्थित 'अकार' समस्त स्वरों का प्रतिनिधित्व करता है अर्थात् 'अकार' समस्त स्वरों का द्योतक है।

[५] प्रत्याहारों में जो 'अच्' प्रत्याहार है उसमें स्थित 'अ' ही आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ आदि समस्त १६ स्वरों का बोधक है अत: 'अ' समस्त स्वरों का बोधक है और इस प्रकार 'अकार' समस्त स्वरों एवं व्यञ्जनों में सर्वप्रधान है।

सारांश यह कि 'अ' से समस्त स्वरों का सम्बोधन या द्योतक हो जाता है। **अवर्ग** का अर्थ है = स्वर समूह।

यहाँ **'कला'** शब्द भी स्वरों का द्योतक है क्योंकि कलायें १६ हैं और १६ संख्या की बोधक हैं।

[६] व्यञ्जनों से स्वर बहिष्कृत कर दिये जायँ तो व्यञ्जनों का प्रयोग सम्भव नहीं रह जाता।

स्वर एवं व्यञ्जन का सम्बन्ध

(१) शारदातिलककार की दृष्टि—'शारदातिलक' में कहा गया है—

'बिना स्वरैस्तु नान्येषां जायते व्यक्तिरञ्जसा।
शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद्वर्णान् मनीषिणः।'

(२) आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर स्वर-व्यञ्जन को शिव शक्ति का स्वरूप मानकर कहते हैं कि—

'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितु'।

वर्णों की शिवशक्ति मयता

(३) मातृका हृदयकार की दृष्टि—'मातृका हृदय' में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—

'ककारादि क्षकाराऽन्ता वर्णास्ते शिवरूपिणाः।
समस्तव्यस्तरूपेण षट्त्रिंशत्तत्व विग्रहाः ॥
अकारादिविसर्गान्ताः **स्वराः षोडश शक्तयः**।
नित्याषोडशकात्मानः परस्परममी युताः ॥
शिवशक्तिमयाः वर्णाः शब्दार्थ प्रतिपादकाः।
शिव स्वर पराधीनो न स्वतन्त्रः कदाप्यसौ।
स्वराः स्वतंत्राः जायन्ते न शिवस्तु कदाचन।

(१) स्वर शक्ति रूप हैं एवं स्वतन्त्रसत्ताक हैं।

(२) व्यञ्जन शिवरूप हैं और पर सत्ताक हैं।

(३) स्वरों के बिना व्यञ्जन या 'शक्ति' के बिना 'शिव' अव्यवहार्य और इस प्रकार व्यवहार जगत में अस्तित्वहीन हैं।

[७] 'त्रिखण्डेस्यात प्रत्याहारणमिदमन्वक्कषयुगं' 'मन्त्र' के तीनों खण्डों का 'क' + 'ष' युग्म (क्ष) में प्रत्याहरण होता है।

'क्ष' का अर्थ आकाश भी है। आकाश का व्यञ्जक 'नाद' है। मन्त्र के तीनों खण्डों का लय 'नाद' (आकाश = 'क्ष' = 'नाद') में हो जाता है।

(क) **क्षकार** ही 'बैन्दवग्रह' है।

(ख) स्वरों के बिना व्यञ्जन अनुपयोगी एवं व्यर्थ हैं तथा नाद के बिना 'स्वर' अस्तित्वहीन है।

(ग) स्वरों का प्रादुर्भाव 'नाद' से होता है।

'आसीच्छक्तिस्ततो **नादः** नादाद् बिन्दु समुद्भवः' कहकर शारदातिलककार ने 'नाद' को सृष्टि के कारणों में (शिव-शक्ति के बाद) सर्वोपरि स्थान दिया है। **'वरिवस्या रहस्यम्'** में भास्कर राय कहते हैं कि समस्त वर्णों में प्राणरूप से जो सञ्जीवनी शक्ति या आत्मशक्ति विद्यमान है वह है—**'चेतन नाद'।**

[८] 'मन्त्र' के तीन खण्ड हैं—(१) वर्ण (२) स्वर (३) नाद।

गौड़पादाचार्य कहते हैं कि—

'त्रिखण्डेस्यात्प्रत्याहारणमिदमन्व ....।'

(क) 'वर्ण' स्वरों पर निर्भर हैं।

(ख) 'स्वर' नादों पर निर्भर है।

(ग) 'नाद' प्रणव (ओंकार) पर निर्भर हैं।

(घ) 'वर्ण' 'स्वर' एवं 'नाद' नाद की कारणावस्था **'नादान्त'** पर निर्भर हैं।

[९] 'क्ष' (क्षकार) ही अक्षरों का शरीर है। अव्यक्त नाद ही शब्दों का कारण है इसीलिए इन्हें अक्षर कहते हैं। 'वर्ण' का बाह्य स्वरूप, उसका उच्चारण नष्ट (क्षर) है किन्तु उसकी आत्मा (चैतन्य = चेतना) अक्षर है। इसीलिए वर्णों को **'अक्षर'** कहते हैं। 'अक्षर' = अ (नहीं) + क्षर (नश्वर) = क्षरातीत) 'अक्ष'—अ से क्ष पर्यन्त समस्त वर्ण 'क्ष' क से ष पर्यन्त समस्त वर्ण

सारांश = 'अ' समस्त स्वरों का द्योतक है।

'अ' = समस्त स्वर समुदाय **'क्ष'** = आकाश 'ह' विसर्ग।

त्रिपुरामहिम्न स्तोत्रकार की दृष्टि—

बिन्दुप्राण विसर्ग जीव सहितं बिन्दुत्रिबीजात्मकं ।
षट्कूटानि विपर्यपेण निगदेत्तारत्रिबालावलैः ।
एभिः संपुटितं प्रजप्य विरहेत्प्रासादमन्त्रं परं ।
गुह्याद्गुह्यतमं सयोग जनितं सद्योग मोक्षप्रदम् ।।

मन्त्र—'क ए ई ल ह्रीं।'

मन्त्र का प्रथमाक्षर 'क'—क् + अ से निर्मित हैं।

(क) **'क'**—'क' समस्त व्यञ्जनों का द्योतक है।

(ख) **'अ'** 'अ' समस्त स्वरो का द्योतक है।

'स्व' = ' च् ' (**अ इ' उ** ण् । **ऋ'** ऌ क्। **ए' ओङ् ऐ औ'** च।) =
[अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।]

(ग) **'कला'** भी १६ हैं और **स्वर भी १६** हैं। 'कला' स्वर को भी कहते हैं क्योंकि दोनों की संख्या १६ है। **(कला' का अर्थ** १६ नहीं है तथापि **'कला १६ संख्या की द्योतिका है।)**

निष्फल व्यञ्जन (स्वर हीन व्यञ्जन) अनुच्चार्य हैं। क कार + ल कार = कल या 'कला'।

'कल' 'कला' = क से ल पर्यन्त समस्त वर्ण।

(घ) **कला और उनकी संख्या**

(१) चन्द्रमा की कला १६
(२) सूर्य की कला २४
(३) अग्नि की कला १०

१६ + २४ + १० = ५०

(i) अक्षरों की संख्या = ५०

(ii) कला की संख्या = ५०

(iii) वर्ण	वर्ण की शक्ति
(क) वर्ण शरीर है।	'स्वर' वर्ण की शक्ति है।
(ख) शिव 'शक्तिमान' है।	भगवती उसकी 'शक्ति है।
(ग) वर्ण 'शिव' है।	स्वर 'शक्ति' है।
(घ) मन्त्र का प्रत्येक अक्षर	(मन्त्र का प्रत्येक अक्षर) शिव शक्तिमय है।
(ङ) वर्ण कला प्रधान हैं।	(कलाप्रधान होने के कारण)

(ङ) वर्ण कला प्रधान हैं। | (कला प्रधान होने के कारण) समस्त वर्ण कलात्मक हैं।

(च) श्री विद्यामन्त्र में ४ अनुस्वार हैं =ँ = चन्द्र + बिन्दु = 'अनुस्वार' | अनुस्वार 'बिन्दु' हैं। चन्द्रमा 'नाद' है।

(छ) 'नाद' बिन्दु के ऊपर है। वर्त्तमान में लेखन ँ | प्राचीन लेखन पद्धति में '◌' लेखन होता था जो ठीक था।

'आधिदैविक दुःख' (दैवोत्पन्न दुःख)

(१) 'नाद' से नादान्त तक (अर्द्धचन्द्र। रोधनी। नाद। नादान्त। शक्ति। व्यापिका। समनी। उन्मनी)

(२) अनुस्वार (बिन्दु) 'बिन्दु'॥

(३) कला मंत्र के व्यंजन वर्ण एवं एवं सभी स्वर।

अब रहा मन्त्र का चतुर्थ खण्ड— 'मन्त्र' का चतुर्थ खण्ड = **'सादाख्य'** है। सादाख्य तत्त्व नाद, बिन्दु एवं कला से अतीत है।

*** श्री चक्र का विभाजन ***

(१) नाद (आज्ञा) चक्र से सहस्रार पर्यन्त) 'भूपुर'

(२) 'बिन्दु' = 'शिवचक्र- वृत्तत्रय - अष्टदलपद्म - षोडशदलपद्म -

(३) कला शक्तिचक्र - त्रिकोण - अष्टार - दशारद्वय - चतुर्दशार

अक्षरों का षोडशात्मक विभाजन यदि किया जाय तो

(१) स्वर = १६

(२) व्यञ्जन 'क' से 'त' तक

(३) व्यञ्जन 'थ' से 'स' तक = १६

अर्द्ध चन्द्र बिन्दु ँ 'चन्द्र बिन्दु' ँ — चन्द्र, बिन्दु

(१) अनुस्वार बिन्दु है। ◡ यह अनुस्वार या 'बिन्दु' है।
(२) चन्द्रमा नाद है। • यह शून्याकार ही 'नाद' है। यही चन्द्र है।
(३) चन्द्र बिन्दु का प्राचीन लेखन = ◠

यदि हम वर्णों को भी तीन वर्ग में विभाजित कर दें तो—

(१) 'अ' = १६ स्वर
(२) 'क से त = १६ व्यञ्जन
(३) 'थ' से 'स' तक व्यञ्जन
} 'अ' 'क' 'थ' } 'अकथ' त्रिकोण निर्मित हो जाएगा और 'गुरुमण्डल' को द्योतित करेगा।

'अकथ त्रिकोण'

(क) (१) ज्येष्ठा (२) वामा (३) रौद्री = ३ शक्तियाँ

(ख) (१) इच्छा (२) ज्ञान (३) क्रिया = ३ शक्तियाँ

'ह' 'क्ष' ळ = ये तीनों 'त्रिकोण' के अन्दर समाहित है।

(१) ये समस्त **अक्षर १६ नित्याओं के ही अपने स्वरूप हैं।**

(२) ये अक्षर सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण युक्त होने से तीन प्रकार के हैं अतः १६ नित्यायें × ३ गुणा = ४८ अक्षर।

'अक्ष' (माला = वर्ण माला) = समस्त स्वर एवं समस्त व्यञ्जन वर्णों की समष्टि। यही **अक्षमाला** श्रीविद्या या वर्ण स्वरूपा 'कुण्डलिनी शक्ति' है।

'श्रीचक्र' तो भगवती का शरीर है।

भगवती अक्षर स्वरूपिणी भी हैं और श्रीचक्रात्मिका भी हैं अतः **'श्रीचक्र'** एवं अक्षमाला (वर्ण समुदाय) अभिन्न है।

'क्ष' = (क + ष) 'क्ष' 'बैन्दवगृह' है। यह चन्द्रस्थान एवं आकाश का द्योतक है।

(A) **४ शिव चक्र** (भूपुर। वृत्तत्रय। षोडशदल पद्म। अष्टदल पद्म)

(B) १४ स्वर = चतुर्दशार हैं।

(C) **दशार युग्म** (२० वर्ण)

(i) क । ख । ग । घ ।

(ii) च । छ ज । झ ।

(iii) ट । ठ । ड ढ ।

(iv) त । थ । द । ध ।

(v) प । फ । ब । भ ।

(D) **अष्टार**—य । र । ल । व ।

श । ष । स । ह ।

(E) **अनुस्वार एवं विसर्ग**—ङ । ञ । ण । न । म ।

'अनुस्वार' एवं 'विसर्ग'—'त्रिकोण' एवं बिन्दु। ङ, ञ, ण, न एवं म ये अनुस्वार (अनुस्वार पञ्चक) बिन्दु के ही स्वरूप हैं।

(क) अनुस्वार (ख) विसर्ग (ग) बिन्दु—ये तीनों **'त्रिकोण'** के रूप या उनके द्योतक हैं। अन्य ऐक्यों के अतिरिक्त श्लोक १३ में निम्न ऐक्य भी बताए गए हैं—

'कला नादो बिन्दु क्रमशः इस वर्णाश्च चरणं।
षडब्जं चाधार प्रभृतिकममीषां च मिलनम्।
तदेवं **षोढैक्यं** भवति खलु **येषां समयिनाम्।**
चतुर्थैक्यं तेषां **भवति हि सपर्या समयिनाम।'**

६ प्रकार का ऐक्य

(१) मन्त्र एवं मातृकाओं का ऐक्य
(२) मातृका एवं श्रीचक्र का ऐक्य
(३) मन्त्र एवं नित्याओं का ऐक्य
(४) मातृका एवं नित्याओं का ऐक्य
(५) मंत्र और चक्र का ऐक्य
(६) नित्याओं और चक्र का ऐक्य

चतुर्था ऐक्य

(१) मातृकाओं एवं पञ्च का दशी मन्त्र का ऐक्य
(२) मन्त्र एवं चक्र का ऐक्य
(३) चक्र एवं नित्याओं का ऐक्य
(४) नित्याओं एवं तिथियों का ऐक्य
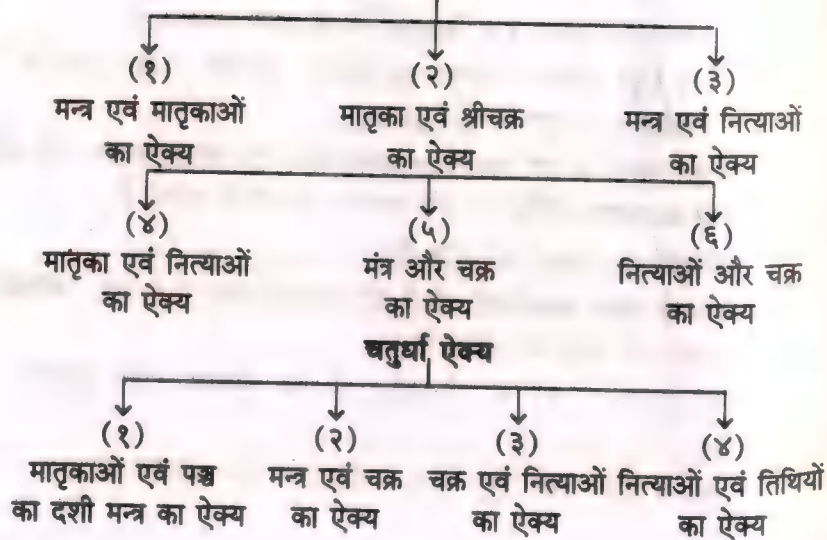
यदि हम पञ्चदशी के **मन्त्र, तिथि तिथियों के नाम त्यिा, तत्त्व, खण्ड** एवं **श्री चक्र के भाग** का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करें तो उसका स्वरूप इस प्रकार होगा।

'मन्त्र' (पञ्चदशी मन्त्र)—

*** 'क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीं' ***

(क) इसमें प्रथम मंत्र-भाग 'अग्नि खण्ड' का है।

(ख) (इसमें द्वितीय मंत्र-भाग 'सौर खण्ड' का है।

(ग) (इसमें) तृतीय मंत्र-भाग 'चन्द्र खण्ड' का है।

(घ) ये सभी मंत्राक्षर **नित्यात्मक, तत्त्वात्मक, खण्डात्मक, श्रीचक्रात्मक** एवं **तिथ्यात्मक** हैं।

* मन्त्र का **'अग्निखण्ड'** और उसका विवरण *

मन्त्राक्षर	तिथि	तिथि की वैदिक संज्ञा	नित्या	तत्त्व	खण्ड	श्रीचक्र का चक्र (भाग)
'क'	१	दर्शा	कामेश्वरी	शिव	अग्नि	त्रिकोण
'ए'	२	दृष्टा	भगमालिनी	शक्ति	अग्नि	अष्टार
'ई'	३	दर्शता	नित्यक्लिन्ना	माया	अग्नि	अन्तर्द
'ल'	४	विश्वरूपा	भेरुण्डा	शुद्धविद्या	अग्नि	शार

* 'पञ्चदशी'मन्त्र का **'सौरखण्ड'** एवं उसका विवरण *

मन्त्राक्षर	तिथियाँ	तिथियों की वैदिक संज्ञा	नित्यायें	तत्त्व	खण्ड	श्रीचक्र के खण्ड
ह्रीं	५	सुदर्शना	वह्निवासिनी	जल	सौर	
'ह'	६	आप्यायमाना	महावज्रेश्वरी विद्येश्वरी	तेज	सौर	
'स'	७	आप्यायमाना	शिवदूती रौद्री	वायु	सौर	बहिर्दशार
'क'	८	आप्याया	त्वरिता	मन	सौर	
'ह'	९	सूनृता	कुलसुन्दरी	पृथ्वी	सौर	चतुर्दशार
'ल'	१०	इरा	नित्या	आकाश	सौर	
'ह्रीं'	११	आपूर्यमाना	नीलपताका	विद्या	सौर	

*** 'पञ्चदशी' मंत्र का 'चन्द्रखण्ड' एवं उसका विवरण ***

मन्त्राक्षर	तिथियाँ	तिथियों की वैदिक संज्ञा	नित्यायें	तत्त्व	खण्ड	श्रीचक्र के खण्ड
'स'	१२	आपूर्यमाना	विजया	महेश्वर	चन्द्र	शिव के चार चक्र
'क'	१३	पूरयन्ती	सर्वमङ्गला	परतत्त्व	चन्द्र	
'ल'	१४	पूर्णा	ज्वाला-मालिनी	आत्म	चन्द्र	
'ह्रीं'	१५	पौर्णमासी	चित्रा या चिद्रूपा	सदा-शिव	चन्द्र	
श्रीं	अमावस्या	चिद्रूपा	महात्रिपुर सुन्दरी	सादाख्य	चन्द्र नित्या	कला

सारांश—(१) १ से ५ मन्त्राक्षर = **'अग्निखण्ड'** से सम्बद्ध हैं।

(२) ६ से १० तक के मन्त्राक्षर = **'सौर खण्ड'** से सम्बद्ध है।

(३) ५ एवं ११ सौर खण्ड के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते है।

(४) इसी प्रकार 'अन्तर्दशार' की १० अग्निकलायें सूर्यान्तर्गत हैं।

तिथियों के खण्ड

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
नन्दा	**भद्रा**	**जया**	**रिक्ता**	**पूर्णा**
१, ६, ११	२, ७, १२	३, ८, १३	४, ९, १४ (त्याज्य)	५, १०, १५
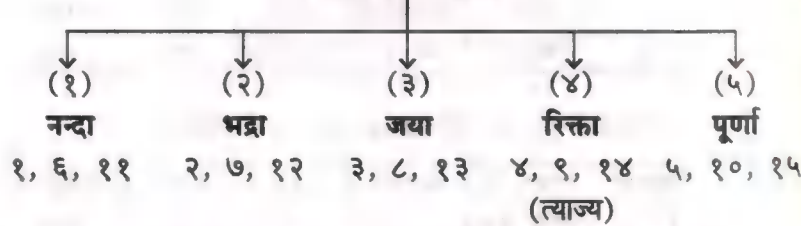
'मन्त्र' चन्द्रकला, तिथि, नित्या, योगिनी, शिव शक्ति आदि सभी से युक्त हैं। यह भी ध्यातव्य है कि—'तिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनम् ।

नित्याः पञ्चदशैनास्युः इति प्रोक्तास्तु वासनाः। —तन्त्रराजतन्त्र

चक्रभावना—

'कादिमतेनाश्चक्रभावनाः प्रतिपादिताः।।' —(भावनोपनिषद (३६)

श्लोक क्रमांक २२ समयाचार में पूजा-विधान का स्वरूप—

'विदेहेन्द्रापत्यंश्रुत इह ऋषिर्यस्य च मनो,
रयं चार्थः सम्यक् श्रुति-शिरसि तैत्तिर्यकऋचि।
ऋषिं हित्वा चास्या हृदयकमले नैतमृषिभि,
त्यृचाभ्युक्तः पूजा विधिरिह भवत्या : समयिनाम्' ॥२२॥

[शरीर-रहित इन्द्रपुत्र कामदेव यहाँ जिस मन्त्र के ऋषि सुने जाते है। ऐसा अर्थ (रहस्योद्घाटन) श्रुतियों के सिर तैत्तिरीय ऋचा में सम्यक् रीति से कहा गय है। 'न एतं ऋषिं' आदि ऋचा के अनुसार इस हृत्पद्म में ऋषि का त्याग करके कहा गया है। यहाँ (समयाचार पथ में) ऋचाभ्युक्त पूजा-विधि ही आपके समय मार्गियों की सपर्या-विधि है॥२२॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—'पुत्रो निऋत्या **वैदेहः**' (निऋति अर्थात् लक्ष्मी के पुत्र = कामदेव) कृष्णा यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक (प्र. प्रपाठक, एकादश अनुवाक) के अनुसार भगवती निऋति (लक्ष्मी) के जो पुत्र हैं वे ही 'वैदेह' कहलाते हैं। चूँकि कामदेव शरीर-रहित (अलङ्ग) हैं और भगवती के कृपापात्र हैं अतः यहाँ वैदेह शब्द कामदेव का वाचक है। तैत्तिरीयाण्यक में कहा गया है—

'जनको ह वैदेहः । अहो रात्रे समाजगाम् ।
पुत्रो निर्ऋत्या **वैदेहः**।।'

पाठान्तर—विदेहो नैऋत्याः सुत इह ऋषिर्यः स च'।

इस श्लोक में 'तैत्तिर्यक् ऋचि' शब्दों का एवं तैत्तिरीयारण्यक के प्रमाण को उद्धृत करके श्री गौड़पादाचार्य ने 'श्रीविद्या' को वेद-विहित सिद्ध करने का प्रयास किया है।

श्री विद्या के ऋषि कामदेव हैं। आचार्य श्री इस श्लोक में 'नैतभृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्' के सिद्धान्त (या नियम) को दृष्टि में रखकर यह कहना चाहते हैं कि 'श्रीविद्या के ऋषि को जानकर श्री चक्र रूप नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि—पूजाङ्ग के रूप में (१) 'बहिर्याग' एवं (२) 'अन्तर्याग' दोनों स्वीकृत हैं किन्तु समय मतावलम्बी बहिर्याग एवं स्थूलोपासना को स्वीकार नहीं करते। इसी दृष्टि को पुरस्सर करते हुए यह कहा गया है कि—

'यदि श्री चक्र की पूजा करनी ही है तो मन्त्र के बाह्यांग यथा 'ऋषि' आदि मान को ही जानकर भवगती की या उनके 'श्रीयन्त्र' की पूजा न की जाय। स्पष्ट है कि समयाचारी **'आन्तर पूजा'** मात्र को स्वीकार करते हैं। इसीलिए आचार्य लक्ष्मीधर ने समयाचारावबलम्बियों को बाह्यपूजा करने से मना करते हुए कहा है कि 'बाह्य पूजा न कर्तव्या'।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'आन्तर पूजायां तदात्म्यानुसंधानातिषकायम् ऋष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव। अतो वस्तुसिद्धऋष्यादिपर्युदासमुखेन श्री चक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्शिकैः न कर्तव्यमिति नियम्यते तदुक्त सनत्कुमार संहितायाम् —

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
साक्षुद्रकलदा नृणामैहिकार्थैकसाधनात्।
बाह्य पूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कापालिकाः।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा॥'

पूजा के अङ्ग

- (१) बहिरङ्ग
  - (१) ऋषि
  - (२) छन्द
  - (३) देवता
  - (४) विनियोग
  - (५) बीज
  - (६) शक्ति
  - (७) कीलक
  - (८) न्यास
  - (९) ध्यान
  - (१०) नियम
  - (११) पूजा आदि
- (२) आन्तरिक अङ्ग
  - (१) मंत्रोच्चारण काल
  - (२) वर्ण स्थान
  - (३) वर्णसंख्या
  - (४) उद्धार
  - (५) प्रयत्न
  - (६) रूप
  - (७) विभिन्न स्थितियाँ
  - (८) आकार आदि

—भास्करराय (वरिवस्यारहस्यम्)

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—श्रीविद्या के मन्मथ (कामदेव) ऋषि हैं।

'जनको ह वैदेहः। **'अहोरात्रै'**स्समाजगाम्। अर्थात् **'जनकः'** उत्पादकः श्री विद्यायाः ऋषिः। विदेह एवं **वैदेह' मन्मथः। 'अहोरात्रैः'** अहोरात्रात्मकैः पञ्चदशाक्षरी-मन्त्रवर्णैः दर्शादिपूर्णिमान्तकलात्मकैः समाजगाम् तं मन्त्रं आहृतवानित्यर्थः। यस्तु मन्त्रं आहरति स **ऋषि** रित्युच्यते। अतएव अरुणोपनिषदि—'पुत्रो निरृत्याः वैदेहः।'[१]

निरृत्याः लक्ष्म्याः। यद्वा अनिरृत्याः लक्ष्म्याः पुत्रः वैदेहः मन्मथः।'

'अचेता यश्च चेनः॥'[२]

अनङ्गत्वादेवचेतोरहितः। चेतनश्च सर्वभूतान्तर्या मित्वात्॥

'स तं मणिमविन्दत्।'[३]

सः अनङ्गः तं प्रसिद्धं विद्यात्मकं रत्नं अविन्दत लब्धवान अपश्यत्। असौ

१. तैत्तिरीय आरण्यक (१/११)
२. तैत्तिरीय आरण्यक
३. तैत्तिरीय आरण्यक (१/११) लक्ष्मीधरः लक्ष्मीधरा (३२)

अनङ्ग विद्यात्मकं रत्नं अविन्दत लब्धवान अपश्यत्। असो अङ्ग अन्धोऽपि अपश्यादिति 'अन्धो मणिमविन्दत्'—इति वाक्य शेष बलात् लभ्यते।

अतएव परिचित्कलायाः विद्यायाः त्रिपुरसुचन्दर्याः मन्मथ ऋषिरभूत्' ॥[१]

आचार्य **लक्ष्मीधर** कहते हैं कि—

(१) 'वैदेह' का अर्थ है कामदेव।

(२) कामदेव लक्ष्मी (निरृति) के पुत्र हैं।

(३) वे अनङ्ग होने से अचेत हैं किन्तु समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी हैं अतः चेतन भी हैं।

(४) उन कामदेव ने **श्रीविद्यारूप मणि** प्राप्त किया।

(५) वे अहोरात्रात्मक (पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के वर्णों तथा दर्शा आदि तिथियों से युक्त) भगवती के श्रीविद्या को (पञ्चदशी विद्या) को लायें। उन्होंने पञ्चदशी रूप मणि प्राप्त किया।

'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्' (तै.आ. १/११) अर्थात् 'एतं ऋषिं मन्मथं विदित्वा नगरं श्रीचक्रात्मकं न प्रविशेत्। ऋषिज्ञान पूर्वकं श्री चक्रात्मकं नगरं न पूजयेत्। बाह्यपूजां न कुर्यादिति निषेधविधिः।

'बाह्य पूजायामेव ऋषिच्छन्दः प्रभृतिज्ञान पूर्वकत्वम्। आन्तरपूजायां तादात्म्यानुसन्धानात्मिकायां ऋष्यादिज्ञानं नास्त्येव। उपयोगस्तु दूरत एव॥'

सारांश यह कि ऋषि आदि के ज्ञान की आवश्यकता तो बाह्य पूजा में होती है **'तादात्म्यानुसन्धान'** में तो इनकी आवश्यकता है ही नहीं अतः इनका ज्ञान ही आवश्यक नहीं है तो उनके उपयोग की तो बात ही क्या?

विभिन्न उपासक और उनकी पूजा-विधियाँ

- (१) **'कौलाः'** आधार चक्रपूजारताः॥'
- (२) **क्षपकाणाः** योषितः त्रिकोणपूजारताः।
- (३) **कापालिकाः** दिगम्बराश्च उभयत्र निरताः।
- (४) **इतिहासा** भैरवयामल प्रामाण्यवादिनःइत्येके ठ
- (५) **वामकाः** तन्त्रवादिनः ादन्ति **वामकेश्वरतन्त्र प्रामाण्यवादिनः**
- (६) केवलचक्रपूजकाः ते वेद बाह्याः॥'

१. लक्ष्मीधर (३२)

कामदेव और श्रीविद्या

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि में वेदों ने इस बात को स्वीकार किया है कि श्रीविद्या के क्षेत्र में अनङ्ग ने महनीय भूमिका का निर्वहन किया है। श्रुति कहती 'सोऽनङ्गुलिरावयत' 'सोऽग्रीव प्रत्यमुञ्चत्' 'सोऽजिह्वो असश्चत् ।' (तै. आरण्यक १-११)

(१) अनङ्ग ने पञ्चादशद्वर्णात्मक, षोडश नित्यात्मक, षोडशकलात्मा विद्यारत्न को अनेक स्मृतियों, पुराणों एवं नानाविध आगमों विप्रकीर्ण स्वरूप में देखना। फिर उन्होंने उस विप्रकीर्ण मन्त्र को एकीकृत करके एक दूसरे के साथ सिया।।

(२) उन्होंने पञ्चाशद वर्णों को तीन खण्डों में विभाजित करके त्रिपुर सन्दरी आदि **नित्याओं** को उनमें अन्तर्भूत करके प्रतिपदा आदि १६ **तिथियों** को भी उसमें अन्तर्भूत करके पञ्चदशवर्णात्मक विद्या को भी खण्डत्रय में वर्गीकृत करके और वहाँ सोम-सूर्य एवं अनल ब्रह्म-विष्णु-महेश्वर, सत्व-रज-तम, जाग्रत-स्वान-सुषुप्ति एवं सृष्टि-स्थिति-लय को भी गर्भीकृत या संकेन्द्रित करके श्रीविद्या के चतुर्थ खण्ड में **पञ्चदशकलाओं** को भी अन्तर्भूत करके भुवनेश्वरी प्रभृतिगिनि **योगिनी विद्याओं कोत्रिकों** के साथ ह्रींकार के साथ **अन्तर्भूत** करके—(१) सर्वभूतात्मक (२) सर्वमन्त्रात्मक (३) सर्वतत्त्वात्मक (४) सर्वावस्थात्मक (५) सर्वशब्दात्मकं (८) सर्वशक्त्यात्मक (९) त्रिगुणात्मक, (१०) त्रिखण्डात्मक (११) त्रिगुणातीत (१२) सादङाख्यपरपर्यात्मक (१३) एवं षडिंशशिवशक्तिसंपुटात्मक मूल श्रीविद्या को पञ्चदश वर्णों से स्यूत श्री विद्या (मन्त्र) रूप 'मन्त्रराज' को **गले में धारण किया** और चिरकाल तक 'ध्यान योग' के साथ उसकी पूजा की। उसके बाद उन्होंने चन्द्रकला के अमृत स्वाद का रसास्वादन किया। वे मन्मथ इस पञ्चदशी मन्त्र के ऋषि हैं।[१]

(४) **'नैतमृषिं विदित्वा नगरं प्रविशेत्'**[२] अर्थात् इस ऋषि कामदेव को जानकर श्री चक्रात्मक नगर में (साधक को) प्रवेश नहीं करना चाहिए। अर्थात् ऋषि का ज्ञान हो जाने मात्र से श्रीचक्र की पूजा प्रारम्भ नहीं कर देनी चाहिए। त्रैवर्णिकों को श्रीचक्र की बाह्यपूजा नहीं करनी चाहिए।

'वस्तुसिद्धऋष्यादिपर्युदामुखेन श्रीचक्रस्य बाह्यपूजनं त्रैवर्णिकैः न कर्तव्यमिति नियम्यते।।[३]

(१) पञ्चदशी मंत्र के लय का स्थान।

(२) चन्द्रकलाओं के जन्म का स्थान।

(३) भगवती का षट् चक्रों में निवास।

---

१. लक्ष्मीधर (३२)
२. तैत्तिरीय आरण्यक १-११
३. लक्ष्मीधर (सौ.ल. ३२)

श्लोक क्रमांक २३—

त्रिखण्डस्त्वन्मन्त्रस्तव च सरधायां निविशते।
श्रियो देव्याः शेषोयत इह समस्ताः शशिकलाः।
त्रिखण्डे त्रैरण्यं निवसति समन्त्रे च सुभगे।
षडब्जारण्यानो त्रितययुतखण्डे निवसति ॥२३॥

[(हे भगवती।) तुम्हारा खण्डों वाला यह **पञ्चदशी मन्त्र** सरघा (सहस्रदल पद्म) में लयीभूत हो जाता है। तुझ श्री देवी! का जो भाग यहाँ शेष उसी से समस्त चन्द्रकलाओं का प्राकट्य होता है। हे सुभगे! (महात्रिपुर सुन्दरी देवी।) तू त्रिखण्डात्मक मन्त्र के सहित त्रिखण्ड में निवास किया करती है। (तू) छः पद्मों के समूह रूप अरण्य में खण्डत्रय के साथ निवास किया करती है।।२३।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—भगवती का त्रिखण्डात्मक स्वरूप इस प्रकार है—

(१) मन्त्र के भाग की संज्ञा	(२) श्रीयन्त्र का भाग	(३) षड्कमल में से सम्बद्ध कमल	(४) कुण्डलिनी का सम्बद्ध प्रकार	(५) खण्ड
(१) शक्तिकूट	शिवचक्र चतुष्टय	आज्ञाचक्र विशुद्धचक्र	सोमकुण्डलिनी	सोमखण्ड
(२) कामकूट	चतुर्दशार बहिर्दशार	अनाहत चक्र मणिपूर चक्र	सूर्यकुण्डलिनी	सूर्यखण्ड
(३) वाग्भवकूट	अन्तर्दशार अष्टार बिन्दुसमन्वित त्रिकोण	स्वाधिष्ठान चक्र।	अग्निकुण्डलिनी	अग्नि खण्ड

पञ्चदशी मन्त्र एवं भगवती–अन्तर्सबन्ध

क्र०	भगवती का अङ्ग	खण्ड	कूट	
प्रथम	भगवती का मुख = वाग्भव कूट	आग्नेय	वाग्भवकूट	'अन्तर्दशार की अग्नि कलायें सूर्य
द्वितीय	भगवती का कण्ठ से कटि पर्यन्त भाग = कामकला कूट	सौर	कामकलाकूट	के अन्तर्गत हैं।

क्र०	कूट	श्रीयन्त्र का भाग	पद्म	कूट
तृतीय	'वाग्भवकूट'	अन्तर्दशार अष्टार एवं सबिन्दु त्रिकोण	(१) स्वाधिष्ठान चक्र (२) मूलाधार चक्र	शक्ति कूट

अन्तर्दशार की १० अग्नि कलायें सूर्यान्तर्गत हैं। सोलहावाँ अक्षर ही भगवती का स्वरूप है। यह वह 'नित्यकला' है जिससे सभी का आविर्भाव एवं उदय होता है।

'सरधा' शब्द सहस्र दल कमल के चन्द्रमण्डल को कया गया है। वेदों में इसका उल्लेख किया गया है—

(१) 'इयं वाव**सरघा**'

(२) 'तस्या अग्नि रव **सारघं** मधु

(३) या एता : पूर्वपक्षा पर पक्षयो रात्रयः।

(४) ता मधुकृतः।।

(१) **'इयं वाव सरघा'** (तै.ब्रा.) यह चन्द्रकला **'सरघा'** के समान (मधुस्थान वाले छत्ते के समान) मधुस्यन्दिनी है—

यह अमृतस्यन्दिनी है। **चक्रात्मक चन्द्र** सरघा के समान है।[1]

(२) **'तस्य अग्नि रेव सारघं मधु'** (तै.ब्रा.)

उस सरघा की अग्नि ही (अग्नि स्थान ही) बैन्दव त्रिकोण है जो कि सारघ (सरघोद्भूत मधु) है कारण यह कि चन्द्रमण्डल सुधा सिन्धु है।

(३) ता मधुकृतः। (तै.ब्रा. ३/१०/१०)

शुक्ल-कृष्ण की रात्रियाँ ही मधु संग्रह करने वाली हैं। रात्रि के समय ही चन्द्र कला रूप श्रीविद्या का अनुष्ठान किया जाता है कि दिन में। मधुमक्खियाँ भी रात्रि में ही मधु संग्रह करती हैं 'रात्रिष्वेव मधुनः संग्रहः इति श्लोक प्रसिद्धिः।। (लक्ष्मीधर)

'सरघा' = मधु का स्थान। सहस्रार

(१) **'नाद'** का लय सहस्रार में होता है।

(२) मंत्र का लय स्थान सरस्रार है।

(३) वर्णों का लय 'नाद' में एवं 'नाद' का लय 'सहस्रार' में होता है।

(४) 'नाद' का लय नाद के कारण 'सहस्रार' में हुआ करता है।

(५) शशिकला चन्द्रमा की १६वहीं कला (या अमावस्या) है।

(६) षोडशीकला (१६वीं कला) नित्यकला है क्योंकि सोम का यथार्थ स्वरूप क्या है? यह सूर्य के प्रकाश से घटती-बढ़ती कलाओं के रूप में चमकता है।

(७) चन्द्रमा की १५ कलायें पञ्चदशाक्षरी विद्या (श्री विद्या का पञ्चदशी मन्त्र) के मंत्राक्षरों १५ अक्षरों से सम्बृद्ध हैं।

१. लक्ष्मीधर (२)

(८) चन्द्रमा की १६हवीं कला विशुद्ध चिति शक्ति चिन्मात्र (निर्विकल्प समाधि में अवस्थित महात्रिपुर सुन्दरी) शक्ति है।

(९) चन्द्रमा की शेष कलायें घटती-बढ़ती रहती हैं किन्तु चन्द्रमा का बिम्बसदा एक समान रहता है।

(१०) प्रत्येक चन्द्रकला 'षोडशी कला' (१६हवीं कला) का अङ्ग है।

(११) चन्द्रमा की प्रत्येक कला का ही उपासना या पूजन तथा ध्यान उस कला से सम्बृद्ध तिथि में १६हवीं कला सहित किया जाता है।

(१२) सहस्रसार चक्र के मध्य स्थित चन्द्रमण्डल को **'बैन्दव स्थान'** कहते हैं।

(१३) **शुद्धचिति 'शक्ति'** की आनन्दमयी कला का स्थान है इसे ही 'श्री' कहते हैं। इसे ही **'महात्रिपुर सुन्दरी'** भी कहते हैं।

'सरघा' सुधासिन्धु का पर्याय है। 'सरघा' है मधु का स्थान। सहस्रार (सुधासिन्धु) अमृत का स्थान है अतः सहस्रार की 'सरघा' कहा गया है। **'षडब्याजण्यानो** त्रितययुत खण्डे निवसति।'

भगवती महात्रिपुर सुन्दरी षट्चक्रों में निवास किया करती हैं। **'सरघा' एवं षट्चक्र'**

सुधासिन्धेर्मध्ये सुर विटपिवाटी परि वृते,
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कलियाम,
भजन्ति त्वां धन्या : कतिचन चिदानन्द लहरीम्।

(शङ्कराचार्य-सौन्दर्यलहरी)

'सरघा' *** सहस्त्रदलपद्म *** **सरघा (सुधासिन्धु)**

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यस्सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणि च तन्मध्ये मणिमण्डपम्।
तत्र चिन्ता मणिकृतं देव्या मन्दिर मन्दिर मुत्तमम्।
शिवत्मके महामञ्चे महेशानोप बर्हणे।
अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।
शिवाकमण्डलंमित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्।
तदुद्भूतामृतक्ष्यन्दिपरमानन्दनन्दिता ॥'

—(भैरव यामल)

*** मूलाधार चक्र ***

'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति

*** स्वाधिष्ठान चक्र ***

'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति
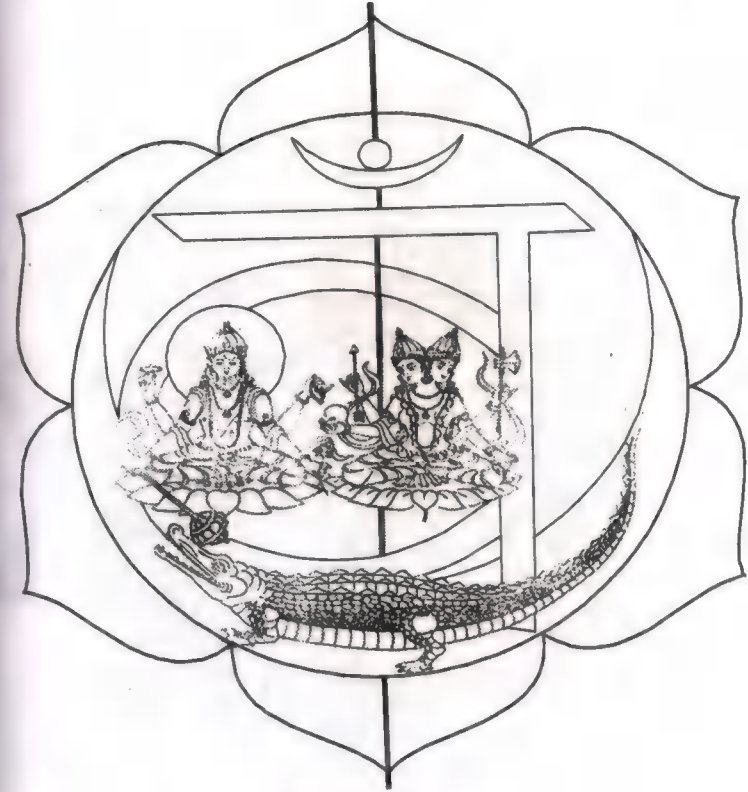
स्वच्छन्दसंग्रहकार की दृष्टि—

आधारपङ्कजस्योर्ध्वे, सार्धद्वयङ्गुलिकोपरि।
तैजरु साष्टा पत्रञ्च, पीतकर्णिकामध्ये युतम्।
हल्लेखाकर्णिकामध्ये स्थितानङ्गादिदेवता,
एतस्माद्द्वयङ्गुलादूर्ध्वे स्वाधिष्ठानं षडस्रकम्॥

बं मं मं यं रं लं

तव स्वाधिष्ठानेहुतवहमधिष्ठाय निरतं।
तमीडे संवर्त जननि महतीं तां च समयाम्॥
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते।
दर्याद्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति॥

* मणिपूरक चक्र और उसका स्वरूप *
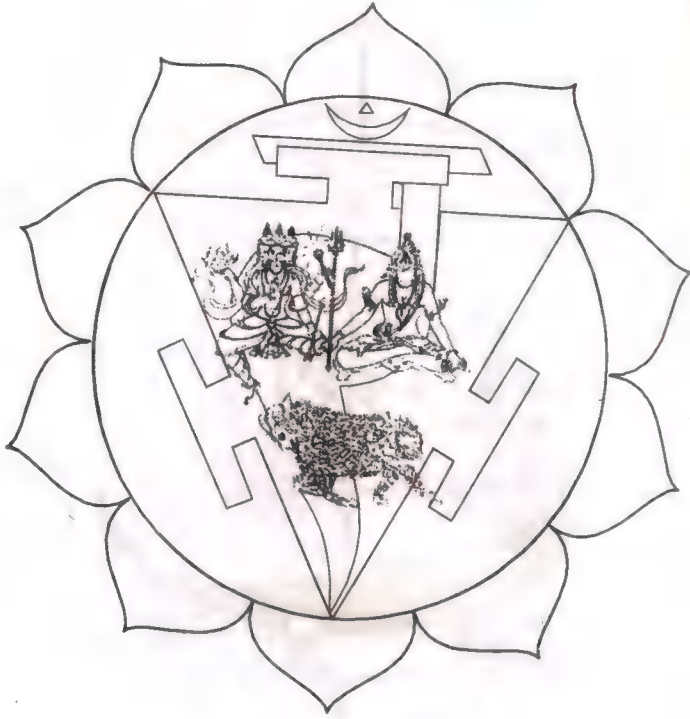
'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति

'नाभिरूर्ध्यर्धाङ्गुलोपरि।
पत्पद्मं मणिपूरम्चदशपुत्रं सुशोभनम्।
लाकिनीमध्यंग तच्च डामयोदिभिरावृतम्।

—स्वच्छन्दतन्त्र

तडित्वन्तंशक्त्यातिमिरपरिपन्थस्फुरमणाया
स्फुन्नानारत्नाकमणपरिणाद्धिन्द्रधनुषम् ।
तव श्याममेधं कमपि मणिपूरैक शरणाम्
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिाभुवनम्॥

शङ्कराचार्य—सौन्दर्यलहरी

* अनाहत चक्र (संविच्चक्र) *

'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति
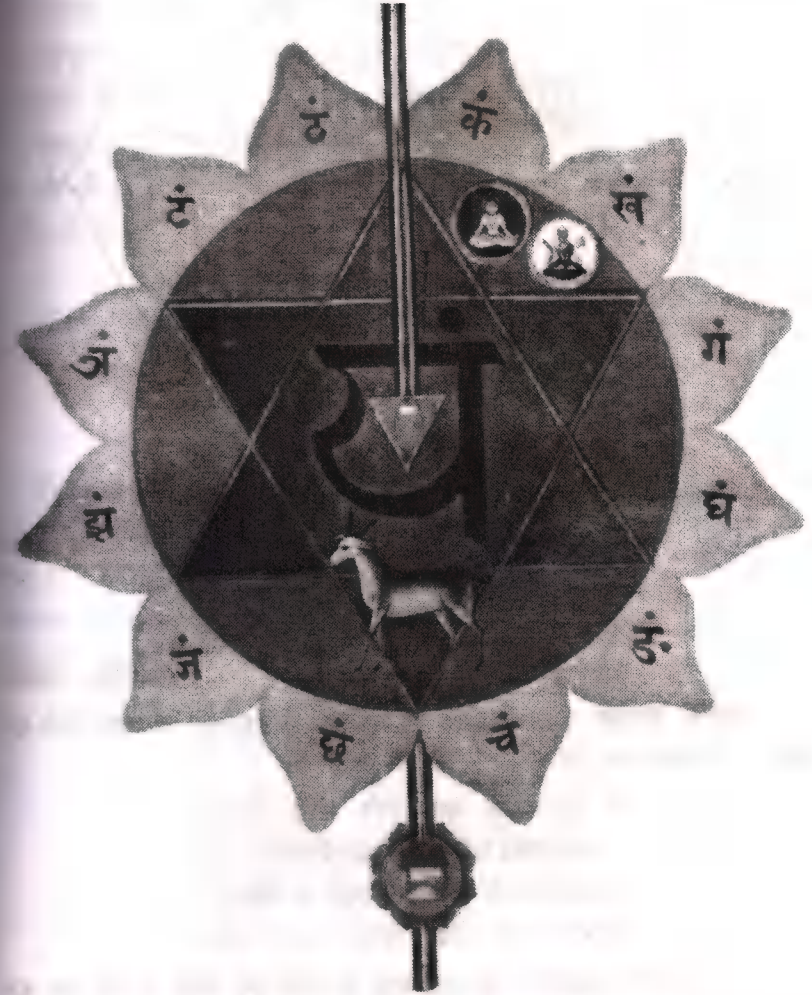
*** आज्ञा चक्र ***

'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति
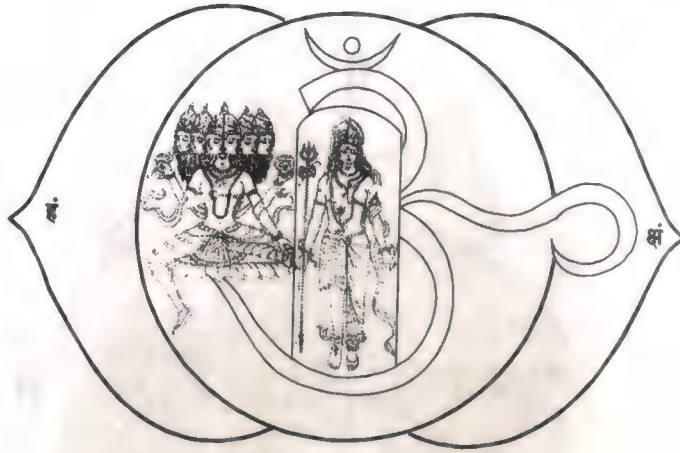
आज्ञाधारंद्विपत्राब्जं हक्षद्विदलसंयुतम्।
हंसवतीक्षमापार्श्व, तयोर्मध्ये तु हाकिनी॥

—स्वच्छन्दतन्त्र

आज्ञा चक्रं तदूर्ध्वे तु शुक्लं द्विदलमण्डितम्।
कर्बूर 'ह-क्ष' लसितं मनोऽधिष्ठतरज्जितम्॥

—ईश्वरकार्तिकेय सम्वाद

श्लोक क्रमांक २४—* विश्व की भगवती पराभट्टारिका के साथ ऐक्य एवं वर्णों की यन्त्र के साथ एकता *

त्रयं चैतत्स्वान्ते परम शवि पर्यङ्क निलये,
परे सादाख्यडिस्मन्त्रिवसति चतुर्धैक्यकलनात्।
स्वरास्तेलीनास्ते भगवति कलाश्रे च सकलाः,
ककाराद्या वृत्ते तदनु चतुरश्रे च यमुखाः।

[हे परात्मपर महाशक्ति! यह सब कुछ जो तीन भेदों वाला है वह सब कुछ तुम्हारें अपने अन्तर्जगत में परमशिव रूपी पर्यङ्क पर समासीन 'सादाख्य कला' के रूप में **चार प्रकार के ऐक्य** के रूप में निवास करता है।

हे भगवती! जो स्वर हैं वे सभी **'षाडश दल पद्म'** में लीन हो जाते हैं। 'ककार' आदि सभी व्यञ्जन वर्ण **'वृत्तों'** में एवं 'य' आदि सभी (वर्ण) **'चतुष्कोण'** में लीन हो जाते हैं।]

सरोजिनी (व्याख्या)—**'त्रयं'**—परामहारिका, राजराजेश्वरी, भगवती अहात्रिपुर सुन्दरी का समस्त स्वरूप त्रिखण्डात्मक है। उनके **यन्त्र, मन्त्र** एवं पूजा आदि सभी त्रिखण्डात्मक हैं।

भगवती का नाम भी **'त्रिपुरा'** है।

'त्रिपुरामहिम्नस्तव' के व्याख्याकार ने 'त्रिपुरा' शब्द की नवीन व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है।

'त्रिपुरा' = जो 'त्रि' से पूर्व पुरा काल में विद्यमान रही है। **'त्रि'** = ब्रह्मा, विष्णु, महेश। जो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से भी प्राचीनतर कलाओं विद्यमान रही हो वह महाशक्ति ही 'त्रिपुरा' है।

तृसृभ्यो मूर्तिम्यः पुरातनत्वात् त्रिपुरा इति।'

'त्रिपुरा' नाम पड़ने के अनेक कारण हैं—

त्रिमूर्ति सर्गाच्च पुराभवत्वात्।
लये त्रिलोक्य अपि पूरकत्वात्।
प्रायोम्बिका या त्रिपुरेति नाम।

त्रिपुरार्णवकार की दृष्टि—'त्रिपुरार्णव' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि (१) **'इड़ा'** ('२) **'पिङ्गला'** एवं (३) **'सुषुम्णा'** नामक तीन प्रधान नाड़ियाँ है। इन्हें ही क्रमशः (१) **'गंगा'** (२) **'यमुना'** एवं (३) **'सरस्वती'** भी कहते हैं। ये ही 'त्रिपुरा' भी है तथा 'पुरं' हैं—(१) मन (२) बुद्धि एवं (२) चित्त। इनमें निवास करने के कारण भी भगवती 'त्रिपुरा' कहलाती है।

यह भी कहा गया है कि—

'नाड़ी त्रयं तु त्रिपुरा', सुषुम्ना पिङ्गलत्विड़ा
मनो बुद्धिस्तथा चित्तं पुरत्र्यमुदाहृतम्।
तत्र तत्र वसत्येषा तस्मात्तु त्रिपुरा अता इति।

(१) भूपुर की ३ रेखायें हैं।
(२) मण्डल त्रिकोणात्मक है।
(३) मन्त्र त्र्यक्षरात्मक है।
(४) ब्राह्म, रौद्री एवं वैष्णवी तीन शक्तियाँ हैं।
(५) इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति संख्या में तीन हैं।
(६) वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री—ये शक्तियाँ भी तीन हैं।
(७) पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के रूप में व्यक्त वाणियों के भी तीन प्रकार हैं।

कामकला विलासकार की दृष्टि—'कामकलाविलास' में रचनाकार (पुण्यानन्द) कहता है—

माता मानं अेयं **बिन्दुत्रयं,** भिन्नबीजरूपाणि **धामत्रय, पीठत्रय, शक्तित्रय,** भेदवा वितान्यपि च॥१३॥

तेषु क्रमेणालिङ्गत्रयं तद्वच्च मातृका त्रितयम्।
इत्थं त्रितयपुरीया तुतीयपीठा च भेदिनी विद्या॥१४॥

अर्थात् (१) मातृ, मान एवं मेय = ईश्वर, विद्या एवं महात्रिपुर सुन्दरी। **'धामत्रय'**—(१) वाग्भवकूट (२) कामराजकूट एवं (३) शक्तिकूट॥

'पीठत्रय' = (१) पूर्णगिरि पीठ (२) कामरूप पीठ, (३) जालन्धर पीठ।

'शक्तित्रय' —(१) इच्छा शक्ति (२) ज्ञान शक्ति (३) क्रिया शक्ति।

'लिङ्गत्रय' = (१) स्वयंभू लिङ्ग (२) बाण लिङ्ग (३) इतर लिङ्ग।

मातृकाचय—तीन मातृकायें।

भगवती त्रिपुरा 'त्रिपथगा' हैं—

'तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षिणी।'

विष्णुपुराण की दृष्टि—विष्णुपुराण में (तृतीय अंश में) तीन मार्ग इस प्रकार बताए गए हैं—

'उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च **दक्षिणाम्।**
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद् बहि' ॥

मार्ग तीन हैं तो **पुरियाँ** भी तीन हैं।

तीन पुरियों की प्राप्ति अभीष्ट होने से इस परदेवता को 'त्रिपुरा' कहा गया है।

उस देवता की उपासना भी त्रिविध है—

'आत्मबुद्ध्या प्रतीकेन, मातृबुद्ध्यात्महं धिया
कर्मणाऽपि भजन्मर्व्यः कैवल्यं पदमश्नुते।'

इस त्रिविध मार्ग से प्राप्य होने के कारण वह शक्ति **'त्रिपुरा'** कही जाती है। इसी त्रिविधोपासना के कारण साधक त्रैपुर प्राप्त करता है। तीन मार्ग ही 'त्रिपुरा' है।

'कालिकापुराण' में प्रतिपादित दृष्टि—'कालिका पुराण' में कहा गया है कि 'त्रिपुरा' नामकरण का कारण यह है कि—

त्रिकोणमण्डलं चास्या = भूपुरञ्च **त्रिरेवकम्।**
मन्त्रोऽपि **त्र्यक्षरः** प्रोक्तस्तया **रूपत्रयं** पुनः॥
त्रिविधा कुण्डली शक्ति स्त्रिदेवा नाञ्च सृष्टये
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात्तस्मात्तु **त्रिपुरा** मता।

(१) त्रिकोणामण्डल (२) त्रिरेवात्मक भूपुर (३) त्र्यक्षर मन्त्र (४) रूपत्रय (५) त्रिविधा कुण्डली शक्ति (६) त्रिदेवों की प्रसवित्री होने के कारण परात्मपर शक्ति 'राजराजेश्वरी' 'त्रिपुरा' कही जाती हैं।[1]

बिन्दु चक्र एक है फिर भी त्रिविधात्मक है।

[१] शान्तात्व के अवच्छेद से—

(क) इच्छा शक्ति (ख) ज्ञान शक्ति (ग) क्रिया शक्ति (तीन भेद)

[२] अम्बिकात्व के अवच्छेद से—

(क) ब्रह्मा (ख) विष्णु एवं (ग) रुद्र ३ की समष्टि
(क) वामा (ख) ज्येष्ठा एवं (ग) रौद्री

[३] परा तत्त्व के अवच्छेद से—

(क) पश्यन्ती वाक् (ख) मध्यमा वाक् एवं (ग) वैखरी वाक् वाणीत्रय की समष्टि॥

ये ९ देवता ही ९ योनि चक्रों में परिणत हुए हैं।

(क) २ शक्ति त्रिकोण (ख) १ बह्नित्रिकोण : ३ त्रिकोण

नवयोनि चक्र

भूगृहात्मक नवम चक्र—

तिस्रश्च रेखा : सदनानि भूमे,
स्त्रविष्टपा स्त्रिगुणास्त्रिप्रकाशाः।
रतत्पुरं पूरकं पूरकाणा
मत्र प्रथेते, मदनो मदन्या।[2]

त्रिपुरा का धाम भी **'त्रैपुर'** कहलाता है। जो (१) परदेवता की उपासना विधि जानकर उपासना करते हैं (२) अपने शरीर को श्रीचक्र से अभिन्न मानकर पीयूषीकृत परिस्रुता द्रव से तृप्त करते हुए ऐन्द्रिय विषयों को निर्विकल्प रूप से भोग करते हैं वे महदाकाश पृष्ठ पर स्थित त्रिपुरा-धाम—**'त्रैपुर धाम'** में निवास करते हैं—

१. भास्कर राय : त्रिपुरा महोपनिषद् भाष्य।
२. त्रिपुरामहोपनिषद (५)

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ति, परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीष्म्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति' **परन्याम त्रैपुरं चाविशन्ति** ॥[1]

'त्रिपुरामहोपनिषद' में व्यक्त दृष्टि—विषय में 'त्रिपुरामहोपनिषद' में कहा गया है—

'तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी'
अत्राकथा अक्षरा सन्निविष्टा।
अधिष्ठायैनामजरा पुराणी।
महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥१॥

आचार्य भास्कर राय की दृष्टि—आचार्य भास्कर राय ने उपर्युक्त ऋचा की इस प्रकार व्याख्या की है।

(१) **त्रिपुरा**—तीन पुरों के अधीश्वरी है अतः 'त्रिपुरा' कहलाती है। (तिस्रःपुरः')।
(२) **'त्रिपथा'**—त्रिपुरा 'त्रिपथा' है।

'त्रिपथा' (भास्कर राय)

(१)	(२)	(३)
सालोक्य का मार्क सारांश	'कैवल्य' का मार्ग	सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य का मार्ग।

भुक्ति-पथ ('त्रिपथगा')

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	
सालोक्य	सामीप्य	सारूप्य	सायुज्य	कैवल्य	मार्गत्रय
का एक मार्ग आश्रमोक्त कर्मों का ऊर्ध्व रेता रहते हुए अनुष्ठान	(इन तीनों का एक मार्ग) (१) प्रतीकोपासना का मार्ग (२) स्वाभिमान से की गई उपासना का मार्ग अहंग्रहोपासना का मार्ग			का एक मार्ग ब्रह्मज्ञान एवं निगुणोपासना	
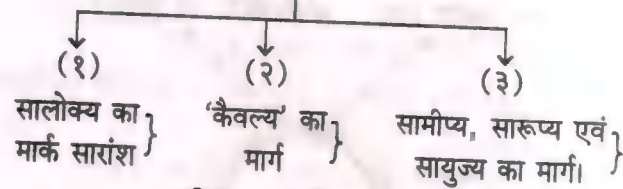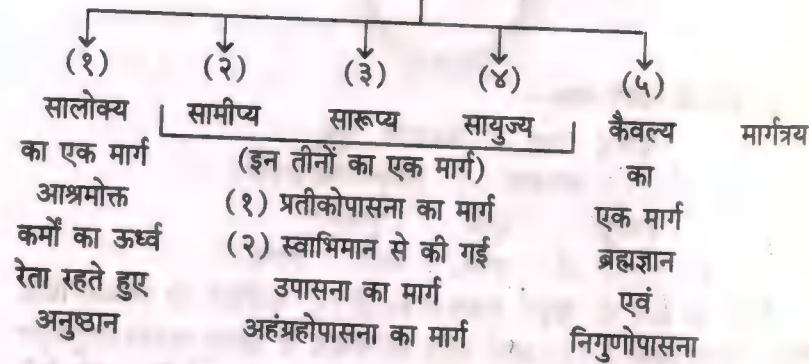
ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र—तीन देवों की महिमा का अधिष्ठान = 'त्रिपुरा' (**महत्तरा महिमा देवतानाम्**।)

१. त्रिपुरामहोपनिषद (७)

वर्णों का समष्टित्रय

(क) 'अकथा'—'अ' = अकारादि १६ 'अ'।
(ख) 'अकथा' = 'क' =ककारादि १६ 'क'
(ग) 'अकथा' = 'थ' = थ से स १६ (थ)
} 'अकथा'

(ह, क्ष, त्र, ज्ञ = क्यों छोड़े गए? 'ह' विमर्श (शक्ति) ही है। क्ष, त्र, ज्ञ संयुक्ताक्षर हैं अतः मूल वर्ण नहीं हैं।)

'सदारव्य तत्त्व' = मन्त्र का अन्तिम कूट। १६हवाँ अक्षर या १६हवीं कला (चन्द्रकला)।

चार प्रकार का ऐक्य

(१)	(२)	(३)	(४)
मन्त्र एवं देवता का ऐक्य	यन्त्र एवं देवता का ऐक्य	षट्पद्म एवं देवता का ऐक्य	कुण्डलिनी शक्ति एवं देवता का ऐक्य।

विश्व की समस्त सत्ताओं, अस्तित्वों, पदार्थों की एवं विश्व की उत्पत्ति एवं उसके विनाश (सृष्टि एवं प्रलय) आदि सभी की मूल भगवती महात्रिपुर सुन्दरी ही हैं।

'नित्याषोडशिकार्णव' में भगवती को मातृका रूपा, वर्णमालास्वरूपणि एवं अक्षरस्वरूपा कहा गया है अतः भगवती का वर्ण माला के सभी अक्षरों से भी ऐक्य है। मातृकायें भगवती का ही अपना स्वरूप है।

उपर्युक्त श्लोकानुसार (श्लोक क्रमांक २४) के अनुसार—
(क) १६ स्वर 'षोडश दल पद्म' में,
(ख) सारे व्यञ्जन वृत्तत्रय में, एवं
(ग) य वर्ग के अक्षर चतुष्कोण में आ जाते हैं।

शारदातिलककार की दृष्टि—शारदा तिलक में कहा गया है भगवती कुण्डलिनी **'शब्दब्रह्ममयी'** है। वह 'वर्णमालिका' है। वह 'पञ्चाशद्वराभिलिका' है—**'सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्द ब्रह्ममयी विभुः।'**

उसी पराशक्ति से—'शक्ति, 'ध्वनि, 'नाद' निरोधिका 'अर्द्धेन्दु' 'बिन्दु', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा', वैखरी, 'इच्छा', 'ज्ञान', 'क्रिया', 'गुणत्रय', वर्णमाला' ५० वर्ण्या आदि सभी उत्पन्न हुए हैं।—

'शक्ति ततो ध्वनिस्मरमान्नाद स्मर मन्निरोधिका।
ततोऽर्द्धेन्दु स्मृतो बिन्दुः स्मरतादासीत परा ततः।
पश्यन्ती मध्यकावाचि वैखरी शब्द जन्मभूः
इच्छा, ज्ञान क्रियात्माऽसौ तेजोरूपा गुणाम्बिका ॥'

क्रमेणानिन सृजति कुण्डलिनी वर्णा मालिकाम्।
अकारादि सकारान्तां द्विचत्वारिं शदात्मिकाम्।
पंचाशद्वार गुणितां पश्चाट शदवर्णमालिकाम्।
सूतेऽतद्वर्णताऽभिता कला रुद्रादिकाम् क्रमात्॥

—शारदा तिलक (पटल १)

श्लोक क्रमांक २५ :

*** वर्णों की यन्त्र के साथ एवं तिथियों एवं नित्याओं की 'श्रीविद्या' के साथ एकता ***

हलोबिन्दुर्वर्गाष्टकभिदलं शांभववपु।
श्चतुश्चक्रं शक्रस्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः।
निशाद्या दर्शाद्याः श्रुतिनिगदिताः पश्चदशधा।
भवेयुर्नित्यास्तास्तव जननि मंत्राक्षर गणः॥२५॥

['ह' और 'ल' वर्णद्वय **बिन्दुस्थान** हैं। वर्गाष्टक **'अष्टदलपद्म'** है। भगवान शिव के चार चक्र (शिवचक्र) तुम्हाहरा शामभव शरीर है। (शिव के चार चक्र भगवती शक्ति के ही शिवस्वरूप के चार चक्र हैं क्योंकि शिव का शरीर ही शक्ति का शरीर है।[1]

तुम्हारी स्थिति शिव एवं शक्ति दोनों से श्रेष्ठतर है। हे जननी! वेदों में वर्णित पन्द्रह प्रकार की **रात्रियाँ** तथा दर्श आदि **तिथियाँ** तुम्हारी **नित्यायें** हैं जो कि तुम्हारे (पश्चदशाक्षरी/पश्चदशी) मंत्र के अक्षर-समूह हैं॥२५॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—(१) चूँकि 'शिव' और 'शक्ति' दोनों 'चन्द्रचन्द्रिकावत्' अभिन्न हैं अतः शक्ति का शरीर शक्तिमान का ही शरीर है या शक्तिमान का शरीर शक्ति का ही शरीर है। शंकराचार्य (सौ.ल. ३४) कहते हैं—

'शरीरं त्वं शम्भोः।'

'हे भगवति! शम्भोः आनन्दभैरवस्य शशिमिहिर वक्षोरुहयुगं शरीरं भवसि। हे भगवति! शशिमिहिर वक्षोरुहयुगं शरीरं शम्भोस्त्वमेव।'

—आचार्य लक्ष्मीधर-लक्ष्मीधरा (३४)

सारांश—(१) 'ह' ए 'ल' = 'बिन्दुस्थान'।

(२) अ, क, च, त, प, य, श, क्ष = 'अष्टदलपद्म'

* शक्रास्थितर, पाठान्तर

(१) 'शरीरं त्वंशम्भोः (श्लोक ३४)

* 'शक्रस्थितमनुभयं' = शक्र (ऐश्वर्यवान। श्रेष्ठ)

अन् + उभयं = दोनों में से एक भी नहीं। दोनों से पृथक।

(१) 'ह' आज्ञा चक्र का अक्षर है।

(२) 'ल' सहस्रार का अक्षर है।

(३) इन दोनों से 'बिन्दुस्थान' का निर्माण होता है।

(४) वर्ण माला की जो **अक्षर रूपी कलायें** हैं शंभु स्थान (सहस्रार) में लय हो जाता है।

(५) अक्षररूपिणी शक्ति अपने शाम्भव शरीर (सहस्रार) में लयीभूत हो जाती है। यह **'महानाद'** का स्थान है।

(६) 'ह' 'ल' अकथ त्रिकोण का भी वाचक हो सकता है। यह 'गुरु त्रिकोण' है जहाँ सबका लय हो जाता है।

(७) श्रुतियों के अनुसार १५ रात्रियाँ एवं १५ तिथियाँ दोनों ही भगवती की १५ नित्यायें हैं। ये १५ नित्यायें भगवती के 'पञ्चदशी' मन्त्र के १५ वर्ण हैं।

१५ नित्यायें तो १५ वर्णों के प्रतीक हैं। १६हवाँ वर्ण भगवती स्वयं ही हैं।

तिथि	तथियों के नाम	सम्बद्ध नित्याओं का नाम	मन्त्र का अक्षर/ मंत्र का खण्ड	
१	दर्शा	कामेश्वरी	क	पञ्चदशी मन्त्र
२	दृष्टा	भगमालिनी	ए	का
३	दर्शता	नित्यक्लिन्ना	ई	**'अग्निखण्ड'**
४	विश्वरूपा	भेरुण्डा	ल	
५	सुदर्शना	वह्निवासिनी	ह्रीं	
६	आप्यायमाना	महावज्रेश्वरी या विद्येश्वरी	ह	'पञ्चदशी' मंत्र का **'सौरखण्ड'**
७	आप्यायमाना (प्यायमाना)	शिवदूती या रौद्री	स	
८	आप्याया	त्वरिता	क	
९	सूनृता	कुलसुन्दरी	ह	
१०	इरा	नित्या	ल	
११	आपूर्यमाणा	नीलपताका	ह्रीं	पञ्चदशी मंत्र का
१२	पूर्यमाणा	विजया	स	**'चान्द्रखण्ड'**
१३	पूरयन्ती	सर्वमङ्गला	क	
१४	पूर्णा	ज्वालामालिनी	ल	
१५	पौर्णमासी	चित्रा, चिद्रूपा	ह्रीं	
१६	अमा	महात्रिपुरसुन्दी। 'श्री'	श्रीं	

(क) १५ नित्यायें ही १५ तथियाँ हैं।

(ख) ये १५ नित्यायें ही पञ्चदशी मंत्र के १५ वर्ण हैं।

(ग) १५ नित्याओं, १५ तथियाँ एवं मंत्र के १५ अक्षरों में

नित्याओं का पूजन—चूँकि प्रत्येक 'नित्या' दूसरे कणेवर में तिथि भी है अतः प्रत्येक नित्या का सम्बद्ध तिथि पर ही पूजन किया जाता है। उदाहरण

प्रथम नित्या का पूजन—प्रथमा तिथि को किया जाता है।

द्वितीय नित्य का पूजन—द्वितीया तिथि को किया जाता है।

(तृतीय नित्य का पूजन—तृतीया तिथि को किया जाता है।

'षोडश नित्या'—शुक्लप्रतिपमारभ्य पौर्णमास्यान्ततिथि रूपाः। एता एव **चन्द्रकलाभिधानाः। 'चन्द्रकला'** एवं प्रतिपदादितिथय इति सुप्रसिद्धम्। यथोक्तं ज्योतिशशास्त्रे **प्रतिपन्नाम** विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला। द्वितीयाद्या द्वितीयाद्याः पक्षयोश्शुक्लकृष्णयोः।।

(१) अयमर्थः—चन्द्रस्य प्रथमायाः कलायाः प्रतिपदिति नामधेयम्। सैव कलात्मिका सूर्यमण्डलान्निर्गता। कृष्णापक्षे तु सूर्यमण्डलं प्रविष्टा। एवं शुक्लपक्षे सूर्यमण्डलान्निर्गता **द्वितीया कला द्वितीया तिथिः।** कृष्णापक्षे तु सूर्यमण्डं प्रविष्टा **द्वितीया कला द्वितीया तिथिरिति।** एवं सर्वत्र ऊपहनीयम्।

प्रश्न—'पौराभिसी' एवं 'अमावस्या' किसे कहते हैं?

(१) अतश्च पञ्चदश कलाव्यवधानं सूर्यचन्द्रयोर्यत्र सा **'पौर्णमासी'**।

(२) पञ्चदश्यां कलायां सूर्य चन्द्रयोरत्यन्तसंयोगः। सा **अमावस्येति** ज्ञेयम्।

(३) अतः **कौलमते** चन्द्रकलात्मिकानां षोडशानां नित्यानां प्रतिदिनं एकस्या एवानुष्ठानम्। सर्वासां **समयिमते।**

(४) षोडश्या : कलायायास्तु पञ्चदशस्वपि तिथिषु अनुष्ठान सिद्धम्।। **पञ्चदशानां नित्यानां** तत्रैव अन्तर्भावात्।

(५) प्रतिपदि **त्रिपुरसुन्दरी कला** ध्येया। आदि।

*** तिथियाँ एवं चन्द्रकलायें ***

(१) **प्रतिपदि त्रिपुरसुन्दरी कला** ध्येया।

(२) **द्वितीयायां** कामेश्वरी कला।

(३) **तृतीयां भगमालिनी कला**

(४) चतुर्थ्यां नित्यक्लिन्ना उपास्या।

(५) **पञ्चभ्यां मेरुण्डाख्या कला।**

(६) **षष्ठ्यां वह्निवासिनी** कला।

(७) सप्तम्यां महाविद्ये **(वज्रे)श्वरी कला**

(८) **अष्टभ्यां** रौद्रीकला

(९) नवभ्यां त्वरिता **कला।**

(१०) **दशम्यां कुलसुन्दरी कला**

(११) **एकादश्यां नीलपताकाख्या कला**

(१२) **द्वादश्यां विजयाख्याकला**

(१३) **त्रयोदश्यां** सर्वमङ्गलाख्या कला।

(१४) **चतुर्दश्यां ज्वालाख्या** कला।

(१५) **पञ्चदश्यां मालिन्यारख्या कला।**

(१६) सर्वासु तिथिषु **चिद्रूपाख्या** कला **'षोडशी'** उपास्या।

(१७) प्रतिपदि या त्रिपुरसुन्दरी कला सा चिद्रूपात्मिका न भवति, **चिद्रूपात्मिकायाः मूलविद्यायाः भिन्नत्वेन** अनुष्ठानात्।

(१८) मन्त्रभेदश्च—स मन्त्रः प्रतिपद्येव। अनुष्ठेयो न द्वितीयायामिति। त्रिपुरसुन्दरीनित्यायाः नामसाम्यमित्य वगन्तव्यम्।

(१९) एतासां षोडशनित्यानां चन्द्रकलात्मिकानां

* विशुद्धिचक्रं **षोडशारं स्थानम्।** तत्र प्रागादि क्रमेण **षोडश नित्याः तत्कोणेषु** परिवर्तन्ते। **तदधस्सिथतद्वादशरि संवित्कमले द्वादशसूर्यमण्डलानि** प्रादक्षिण्य क्रमेण परिवर्तन्ते। तेषां द्वादशानां सूर्याणां द्वादशभासेषु अधिकारः।[१]

*** कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष तथा पूर्णमासी एवं अमावस्या ***

'सनत्कुमार संहिता' में प्रतिपादित सनत्कुमार की दृष्टि—

(१) सूर्यचन्द्रयो : देवयान-पितृयानात्मकेऽपिङ्गलानाडीमार्गेण अहोरात्रयोः सञ्चरणम्।

(देवयान = इड़ा नाडी। **'पितृयान'** = पिङ्गला नाड़ी।

(२) **चन्द्रस्तु वामनाडीमार्गेण** संचरन् हिसप्ततिसहस्र नाडीमार्णं अमृतेन सिञ्चति।

(चन्द्रमा वामनाड़ी मार्ग में सञ्चरण करता हुआ शरीर की ७२००० नाड़ियों को अमृत से खींचता है।)

(३) **सूर्यस्त दक्षिण नाडी मार्गेण** सञ्चरन् तदुत्क्षिप्तान् अमृतविन्दून उपाहरति।

(सूर्य दक्षिण नाड़ी—'पिंगला नाड़ी' रूप मार्ग में सञ्चरन् करता हुआ उन अमृत बिन्दुओं का हरण कर लेता है।)[२]

(४) यदा चन्द्रसूर्ययो : उभयोः **'आधार चक्रे'** समावेशः तदा **अमावास्यातिथि-रुत्पद्यते।**

---

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ३२)

२. लक्ष्मीधरा (३२), 'सनत्कुमार संहिता,

(जब चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों का मूलाधार चक्र में समावेश होता है तब **अमावस्या तिथि** की उत्पत्ति होती है।

आधार चक्र में चन्द्रमा एवं सूर्य का समावेश → → → अमावस्या तिथि

↓

कृष्णपक्ष की तिथियाँ

(कृष्णपक्ष की तिथियों का जन्म)
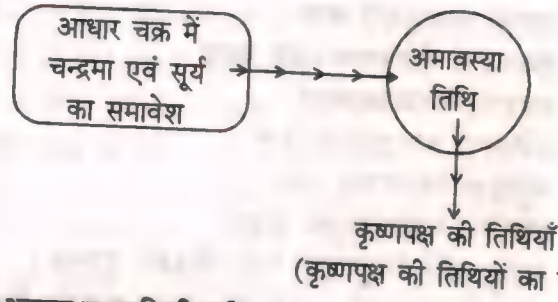
(५) अतएव **कुण्डलिनी शक्तिः आधार कुण्डे सूर्यकिरण सम्पर्कात्** विलीन चन्द्रमण्डलमध्यगलत्पीयूषपरिपूरिते स्वपिति।

(कुण्डलिनी सूर्य किरण के सम्पर्क से अमृत बिन्दुओं का हरण करके अमृत पीती हुई आधार कुण्ड में सोती रहती है।)

(६) **'कृष्णपक्ष'** है क्या? कुण्डलिनी शक्ति का सोते रहना (शक्ति का सोते रहना, शक्ति की निद्रा)। ही **कृष्णपक्ष'** है। 'स्वापावस्थैव **कृष्णपक्ष** इत्युच्यते।'

(७) जब योगी समाहि चित्त होकर चन्द्रमा को चन्द्र स्थान में एवं सूर्य को सूर्य स्थान में (वायु के द्वारा) निरुद्ध करने में सक्षम होता है तब **चन्द्रमा एवं सूर्य निरुद्ध** होकर **अमृत सेचन** एवं **अमृत-आहरण** में अशक्त हो जाते हैं।

(८) इस स्थिति में वायु से प्रेरित स्वाधिष्ठान वह्नि के कारण **अमृत कुण्ड** के शुष्कीभूत होने से निराहारा कुण्डलिनी सोते से जग उठती है और सर्प की भाँति फूत्कार करती हुई ग्रंथित्रय का भेदन करती हुई सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्रमण्डल को उसती है। उसके द्वारा डंसे जाने से चन्द्रमा से पीयूष की धारा आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती है।

(९) उन अमृत-धाराओं से समस्त देह आप्लावित हो उठता है।

(१०) उस अमृत-प्लावन के कारण आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित १५ चान्द्रकलायें **'नित्य' कलायें** हो जाती हैं।

(११) ये १५ चान्द्रकलायें आज्ञा चक्र के नीचे स्थित 'विशुद्धि चक्र' में आकर भ्रमण करती हैं।

(१२) 'सहस्रदल कमल' में स्थित चन्द्रमण्डल ही **'बैन्दव स्थान'** कहलाता है—

'सहस्रदलकमलान्तस्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानम्।'

(१३) इस **बैन्दवस्थान'** की चान्द्रकला 'चिन्मयी' 'आनन्दरूपा' है और उसे ही आत्मा कहा जाता है। वही **भगवती त्रिपुर सुन्दरी है—**

'सहस्रदल कमलान्तस्थितचन्द्रमण्डलं बैन्दवस्थानं। तत्कला चिन्मयी आनन्दरूपा आत्मेति गीयते। सैव त्रिपुरसुन्दरी।'

(१४) योगी लोग केवल शुक्लपक्ष में ही भगवती कुण्डलिनी को जागृत करते हैं न कि कृष्ण पक्ष में क्योंकि कुण्डलिनी कृष्णपक्ष में जागती ही नहीं अतः शुक्लपक्ष की समस्त तिथियाँ **'पौर्णमासी'** हैं—

'सर्वाः शुक्ल पक्षतिथयः **पौर्णमासीसंज्ञकाः।'**

(१५) कृष्ण पक्ष की समस्त तिथियों का 'अमावस्या' तिथि में अन्तर्भाव है। एक 'अमावस्या' तिथि ही **'कृष्णपक्ष'** (१५ तिथियाँ) भी कही जाती है।

(१६) **'आधार चक्र' 'अन्धतामिश्र'** लोक है।

(१७) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** सूर्य किरण के सम्पर्क के कारण **'मिश्र लोक'** है।

(१८) **मणिपूर चक्र** अग्नि स्थान में स्थित रहने पर भी तत्रस्थ जल में सूर्य किरणों का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण यह चक्र भी **'मिश्रम लोक'** है।

(१९) **अनाहत चक्र** ज्योतिर्लोक है।

(२०) इस प्रकार अनाहत चक्र पर्यन्त सारे लोक **'योतिस्तमोमिश्रक लोक'** है।

(२१) 'विशुद्धि चक्र' **'चान्द्रलोक'** है।

(२२) **आज्ञा चक्रं** तु चन्द्र स्थानत्वात् **सुधालोकः।**

(२३) अनयोर्लोकयोः सूर्यकिरणसम्पर्कात् **ज्योत्स्नानास्ति।**

(२४) **सहस्रकमलं तु ज्योत्स्नामय एव लोकः।** तत्र स्थितचन्द्रो नित्यकलायुक्तः। चन्द्रबिम्बं **श्री चक्रम्** '

[क] श्री चक्र का स्वरूप क्या है?

'चन्द्र बिम्बं श्री चक्रम् '

[ख] *** महात्रिपुरसुन्दरी क्या हैं ? ***

'सहस्रदल कमलान्तस्थितचन्द्रमण्डलं **बैन्दव स्थानम्।** तत्कला चिन्मयी **आनन्दरूपा आत्मेति** गीयते। सैव **'त्रिपुर सुन्दरी'।**

(२५) कला सादाख्या।

*** पिण्डस्थ 'षट् चक्र' एवं 'श्री चक्र'***

(क) **'त्रिकोण'** ही **'आधार चक्र'** है।

(ख) **अष्टकोण ही 'स्वाधिष्ठान चक्र' है।**

(ग) **दशार** ही **'मणिपूर चक्र'** है।

(घ) **द्वितीय दशार** ही **'अनाहतचक्र'** है।

(ङ) **चतुर्दशार** ही **विशुद्धि चक्र'** है।

(च) **शिवचन्द्र चतुष्टय** ही 'आज्ञाचक्र' है।

(छ) बिन्दुस्थान ही चतुरस या सहस्रकमल है।

(ज) आज्ञा चक्रगत चन्द्रमा में १५ कलायें हैं और साथ ही **'षोडशी कला'** का प्रतिफलन भी है

(झ) **श्री चक्र रूप चन्द्र बिम्ब** में केवल एक ही कला है। और वह कला है—**'परमा कला'।**

(ञ) सब मिलाकर १६ कलायें हैं—

'श्रीचक्ररूपचन्द्रमिबम्बे एकैव कला, सा 'परमा कला'। मिलित्वा **षोडश कलाः।** यथा—

षोडशेन्दोः कला भानों द्विदिश दशानले।
सा **पञ्चाशत्कला** ज्ञेया **मातृका चक्ररूपिणी** ॥

(२६) ये सभी ५० कलायें ५० वर्णों का ही अपना रूपान्तर हैं। 'पञ्चदशी' (पञ्चदशाक्षरातमक) मन्त्र में ५० वर्णों के स्वरूप वाली पञ्चाशत कलायें अन्तर्भूत हैं—

'एताः पञ्चाशत्कलाः पञ्चाशद्वर्शात्मिकाः पञ्चदशाक्षररीमन्त्रे अन्तर्भूताः।'

यथा—**आदि ककार** से **अन्तिम लकार** पर ध्यान दें—

'क' ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। सकल' ह्रीं,

'आदिमेन ककारेण अन्तिमो लकारः प्रत्याहृतः तन्मध्यवर्तिनां वर्णानां ग्राहकः। अयमेव लकारः एकार पूर्ववर्तिना अकारेण प्रत्याहृत पञ्चाशद्वर्णै ग्राहकः।।'

'कलं प्रत्याहार—'क, ए, ई, ल, ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल'—इन समस्त वर्णों का सूचक है।

चारों **'अनुस्वार'** बिन्दु के लक्षक हैं उस बिन्दु से तदुपरि प्रतीय मान 'नाद' संगृहीत् होता है और इस प्रकार एवं नादबिन्दु कलात्मकं **'श्रीचक्रं'** त्रिखण्डम् कथितम्।

'सादाख्या कला' कला है? **'सादाख्या कला'** श्री श्रीविद्याऽपरपर्याया नाद बिन्दुकलातीत।।'

'सादारख्या कला'—(१) यह श्री विद्या का ही अपर पर्याय है। (२) यह नाद बिन्दु कलातीत है।[१]

षोडश नित्यायें और उनका एकत्व—

(१) षोडश नित्यायें मंत्रगत (पञ्चदशी' मंत्र में प्रयुक्त) **षोडशवर्णों** से युक्त हैं।

१. लक्ष्मीधरा (३२हवाँ श्लोक)

(२) **षोडश वर्ण** ५० वर्ण से युक्त हैं।

(३) **५० वर्ण** सूर्यचन्द्राग्नि कला युक्त है।

(४) सूर्य-चन्द्र-अग्नि—ये तीनों मंत्र के खण्डत्रय हैं।

(क) **'षोडशनित्यानां** मन्त्रगतषोडशवर्णात्मकत्वं।

(ख) **'षोडशवर्णानां** पञ्चादशद्वर्णात्मिकत्वं।

(ग) **'पञ्चाशद्वर्णानां** सूर्यचन्द्राग्निकलात्मकत्वं।

(घ) सूर्यचन्द्राग्नि त्रिखण्डत्वम्।

—इति ऐक्य चतुष्टयम् अनुसन्धेयम्।[१]

इसी प्रकार 'चक्र' एवं मन्त्र में भी ऐक्य है।

(क) ह्रींकारत्रये एवं श्री बीज शिवचक्रचतुष्टयात्मक 'त्रिकोण' में बिन्दुरूप से अन्तर्भूत है।

(ख) 'स क ल' इस वर्णत्रय के द्वारा कलात्मिका मातृका संगृहीत हैं।

(ग) अक्षमालात्मिका मातृका स्वसम्बद्ध चक्र में अन्तर्भूत हैं।

(घ) चार **अन्तस्थ वर्ण** चार **ऊष्म वर्ण**

इस प्रकार ८ वर्ण **अष्टकोणात्मक** हैं।

(ङ) 'क' से 'म' पर्यन्त समस्त व्यञ्जन वर्ण दशार युग्म में अन्तर्भूत हैं किन्तु—

'कादयो मावसानाः वर्गपञ्चमान् विहाय दशारयुग्मे अन्तर्भूताः।'

(च) (वर्ग पञ्चमास्तु अनुस्वार रूपेणा बिन्दावन्तर्भूताः) प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण (ङ। ञ। ण। न। म) 'बिन्दु' में अन्तर्भूत हैं।

(छ) 'चतुर्दशार' में १४ स्वर अन्तर्भूत हैं।

(ज) अनुस्वार एवं विसर्ग बिन्दु में अन्तर्भूत हैं।

इसी प्रकार **'श्रीचक्र' एवं 'पञ्चदशाक्षरी मन्त्र'** में ऐक्य स्थापित है।

▪ पूर्णोदयमत और ऐक्यानुसन्धान

पूर्णोदय मत के अनुसार—(१) 'श्री चक्र' त्रिखण्डात्मक है।

(२) इसके तीन खण्ड इस प्रकार हैं—

(क) 'सोम खण्ड' (ख) 'सूर्यखण्ड' (ग) 'अनल खण्ड'[२]

(३) इसी प्रकार 'मंत्र' के भी तीन खण्ड हैं।

१. लक्ष्मीधरा (३२)

२. 'सोमसूर्यानलात्मकतया चक्रस्य **त्रिखण्डत्वम्'** (लक्ष्मीधर)

(क)

*** श्रीचक्र का खण्ड-त्रयात्मक विभाजन ***

(१) 'सोमखण्ड' (२) 'सूर्यखण्ड' (३) 'अनलखण्ड'

(ख)

*** पञ्चदशाक्षरी विद्या का खण्डत्रयात्मक विभाजन ***

(१) सोमखण्ड (२) सूर्यखण्ड (३) अनलखण्ड[१]
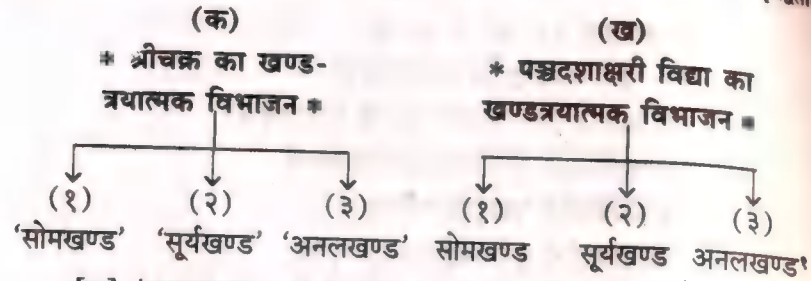
[क] **'इन्दुखण्ड'**—चन्द्रमा की कलायें १६ हैं। और ये **'इन्दुखण्ड'** में अन्तर्भूत हैं। यह **'इन्दुखण्ड'** इन्द्रात्मक यन्त्रखण्ड में अन्तर्भूत है।

[ख] **'भानु खण्ड'**—इसी भानु की २४ कलायें भानु खण्ड में अन्तर्भूत हैं—और वह खण्ड **'यन्त्र खण्ड'** में अन्तर्भूत है।

[ग] **आग्नेय खण्ड**—इसी प्रकार १० कलायें आग्नेय खण्ड में अन्तर्भूत है। वह खण्ड यन्त्र में 'आग्नेयखण्ड में अन्तर्भूत है। इससे सिद्ध होता है कि चान्द्र कलाओं का **श्री यंत्र** एवं **पञ्चदशी** के साथ सामरस्य है।

(क) चान्द्र कलाओं को **'श्रीयंत्र'** एकता।

(ख) चान्द्र कलाओं का **'पञ्चदशी मंत्र'** से एकता।[२]

'सुभगोदय' में नित्याओं का स्वरूप

'सुभगोदय' में नित्याओं के स्वरूप का इस प्रकार निर्वचन किया गया है—

'दर्शाद्याः, पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
'षोडशी' तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।'

अर्थात् 'दर्शा' से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त तिथियाँ हैं। **'दर्शा'** अमावस्यानन्तरभाविनी **प्रतिपत्कला** की संज्ञा है। इसका नाम 'दर्शा' इसलिए है क्योंकि यह बहुत कम दृष्टिगोचर होती है—

'तस्या ईषद्दर्शनात **दर्शा**'

वेदों में तिथियों के नाम

(१) दर्शा (२) दृष्टा (३) दर्शिता (४) विश्वरूपा (५) सुदर्शना
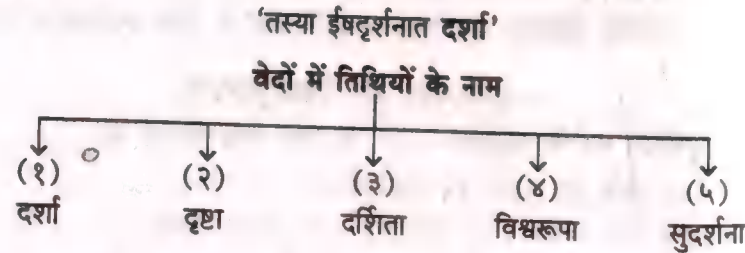
१. 'एवं मंत्रस्यापि **त्रिखण्डत्वम्** सुप्रसिद्धम्।
२. लक्ष्मीधर (२)

(६) आप्यायमाना (७) आप्यायमाना (८) आप्याया (९) सूनृता (१०) इरा

(११) आपूर्यमाण (१२) आपूर्यमाणा (१३) पूरयन्ती (१४) पूर्णा (१५) पौर्णमासी
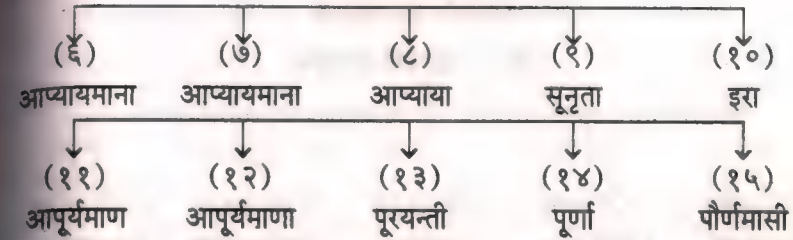
दर्शा आदि पञ्चदश कलाओं के **'त्रिपुरसुन्दरी'** आदि १५ नित्यायें अधिदेवता हैं।

'षोडशी कला' का वैशिष्ट्य

* **'षोडशी कला'** चिद्रूपात्मिका कला है और यह सादाख्यतत्त्वरूपात्मिका है अतः इसका कोई दूसरा अधिदेवता नहीं है। यह स्वयमेव सभी की अधिदेवता है। इन **नित्याओं का अभिमानी** देवता स्वयं **कामदेव** हैं। वे एक हैं इनका **'अधिष्ठान देवता'** एकात्मिका भगवती **'कामेश्वरी'** हैं।

मूलविद्या (श्री विद्या) के अन्तर्गत—

(१) १५ वर्ण मूल मंत्र के अक्षर के रूप में स्थित हैं।

(२) दर्शा आदि **तिथियाँ** स्थित हैं।

(३) समस्त **नित्यायें** स्थित हैं।

(४) समस्त **चान्द्र कलायें** स्थित हैं।

वेदोक्त दर्शादिक कलाओं का विभाजन

(१) 'आग्नेय खण्ड'

(१) 'दर्शा' (२) 'दृष्टा' (३) 'दर्शिता' (४) 'विश्वरूपा' (५) 'सुदर्शना'

(२) 'सौर खण्ड'

(१) 'आप्यायमाना' (२) 'आप्यायमाना' (३) 'आप्याया' (४) 'सूनृता' (५) 'इरा'

(३) 'चान्द्र खण्ड'

(१) 'आपूर्यमाण' (२) 'आपूर्यमाणा' (३) 'पूरयन्ती' (४) 'पूर्णा' (५) 'पौर्णमासी'

कलाओं का स्वरूप

(क) * आग्नेय खण्ड *

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
'दर्शाकला'	'दृष्टाकला'	'दर्शिताकला'	'विश्वरूपाकला'	'सुदर्शनाकला'
(शिवतत्त्वात्मिका)	(शक्तितत्त्वात्मिका)	(मायातत्त्वात्मिका)	(शुद्धविद्यातत्त्वात्मिका)	(जलतत्त्वात्मिका)
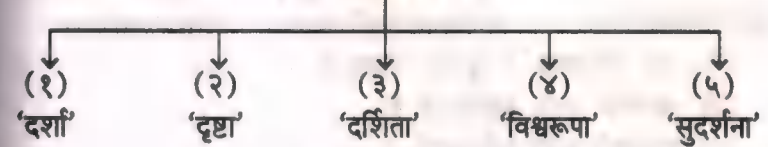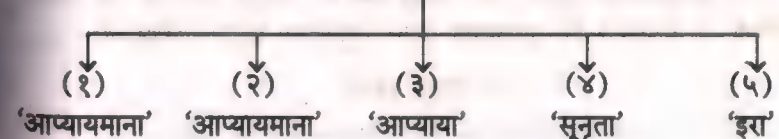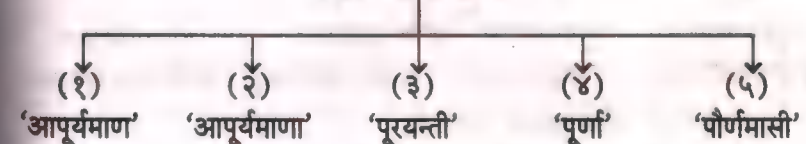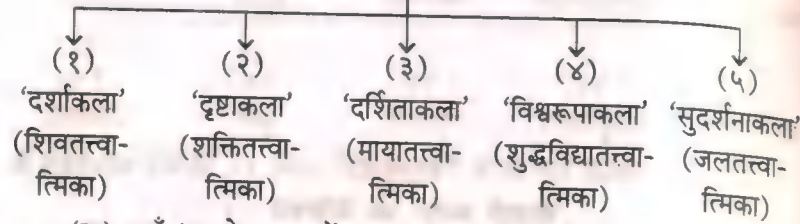
(क) यहाँ (आग्नेयखण्ड में) 'अग्नि' **अधिदेवता है।**

(ख) **कामदेव** सर्वत्र **अधिदेवता** है।

(ग) **कामेश्वरी** सर्वत्र अधिष्ठात्री है।

(ख) * सौर खण्ड *

(१)	(२)	(३)
'आप्यायमानाकला'	'आप्यायमानाकला'	'आप्यायाकला'
(तेजस्तत्त्वात्मिका)	(वायुतत्त्वात्मिका)	(मनस्तत्त्वात्मिका)

(४)	(५)	(६)
'सूनृताकला'	'इराकला'	'आपूर्यमाणकला'
(पृथिवीतत्त्वात्मिका)	(आकाशतत्त्वात्मिका)	(विद्यातत्त्वात्मिका)
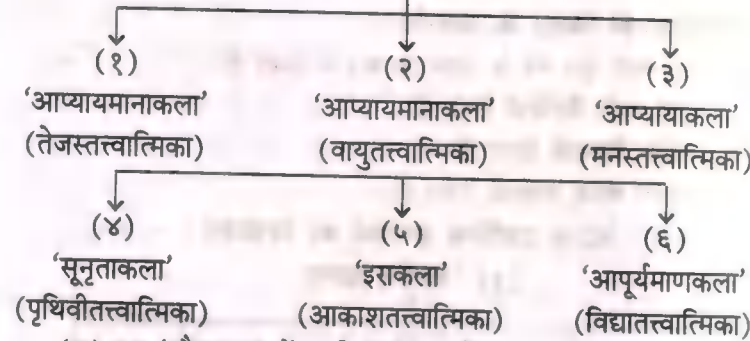
(क) इस 'सौरखण्ड' में **सूर्य** ही **देवता** हैं।

(ख) **कामदेव** सर्वत्र **अधिदेवता हैं।**

(ग) **कामेश्वरी** सर्वत्र **अधिष्ठात्री** हैं।

(घ) **आपूर्यमाणा कला'** की चन्द्रमण्डल में स्थिति रहने पर भी उसका **'सौरखण्ड'** में अन्तर्भाव है। **'इराकला'** एवं आपूर्यमाण कला में **ऐक्य** है।

(३) 'चान्द्र खण्ड'

(१)	(२)	(३)	(४)
'आपूर्यमाणाकला'	'पूरयन्तीकला'	'पूर्णाकला'	'पौर्णमासीकला'
(महेश्वरतत्त्वात्मिका)	(परतत्त्वात्मिका)	(आत्मतत्त्वात्मिका)	(सदाशिवतत्त्वात्मिका)
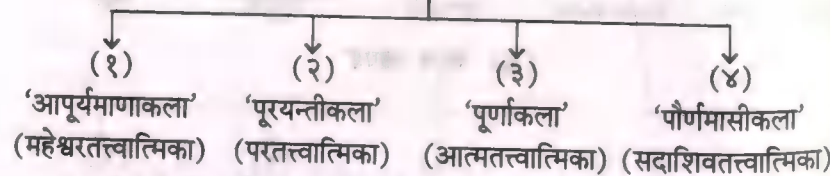
(१) इसे ही **'सौम खण्ड'** कहते हैं।

(२) इस खण्ड का **अधिदेवता 'सोम'** है।

(३) कामदेव सर्वत्र **अधिदेवता** है।

(४) कामेश्वरी सर्वत्र अधिष्ठात्री देवता है।

(क) 'नित्या कला'—यह सादाख्य तत्त्वात्मिका है।

(ख) ये सभी कलायें विशुद्धि चक्र (षोडशार) में प्रागादिक्रम से १६ दिशाओं में घूमती रहती हैं।

(ग) 'आज्ञा चक्र' के ऊर्ध्व में स्थित चन्द्रमण्डल की १६ कलायें जो कि 'सुभगोदय' में वर्णित हैं। इनमें से १५ कलायें 'षोडशार' में परिभ्रमण करती रहती हैं।

(घ) 'सहस्रदल कमल' में 'षोडशी कला' भी स्थिति है।—'षोडश्याः कलायाः सहस्र दल कमले एव अवस्थानं।

उस **सहस्रदल कमल में स्थित षोडशी नामक नित्य कला** प्रभापटल 'षोडशार' में स्फुरित होता है।

शाङ्कर दृष्टि—भगवान आदि शङ्कराचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' के ३२हवें श्लोक में कहा है कि—

'शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथरविश्शीत किरणः। इस वाक्य में **'शिव'** का अर्थ क्या है?

(१) **'शिव'** शब्द के द्वारा शिव तत्त्वात्मिका **दर्शाख्या** कला **त्रिपुर सुन्दरी** को अभिहित किया गया है।

(उसके द्वारा उसकी प्रकृति 'ककार' लक्षित किया गया है जो कि पञ्चदशी विद्या का आद्यक्षर है। अर्थात् 'क ए ई ल ह्रीं'।) [**'क'**।]

(२) **शक्ति** शब्द के द्वारा शक्ति तत्त्वात्मिका **दृष्टा** कला लक्षित है एव **'एकार'** को भी लक्षित् किया गया है। 'पञ्चदशीविद्या' का द्वितीयाक्षर 'ए' है। = [**'ए'**]

(३) **'काम'**—यहाँ प्रयुक्त 'काम' शब्द **'दर्शता कला'** को इङ्गित करता है तथा इसके द्वारा पञ्चदशी विद्या का तृतीयाक्षर **'ईकार'** भी लक्षित है। = [**'ई'**]

(४) **'क्षिति'**—'लकारः क्षिति तत्त्वः।' 'क्षिति' का अर्थ है 'लकार'। यही लकार 'पंचदशी विद्या का चतुर्थाक्षर है—'क ए ई ल'। = [**'ल'**]

(५) **'रविः'**—'रवि' सूर्य खण्डात्मकता की ओर संकेत करता है। 'रवि' हकार है। 'रवि' हकार की लक्षित करता हुआ 'ह्रीं' के 'ह' की ओर संकेतित करत है। 'ह्रीं' प्रथम कूट का अन्तिम अक्षर है = [**'ह'**]

'क ए ई ल ह्रीं'।

(६) **'शीतकिरण'** (चन्द्र)। चन्द्रमा क्या लक्षित करता है? 'सकारः चन्द्रबीजं'। 'सकार' चन्द्रमा का बीजाक्षर है अतः, चन्द्रमा का अर्थ है 'सकार'। श्रीविद्या का छठवाँ शब्द 'स' है।

'ह **स** कहल ह्रीं, द्वितीयकूट। [**'स'**]

'स्मरो हंसश्शक्रस्तदनु च परामार हरय: ।'

—शङ्कराचार्य सौन्दर्य लहरी (३२)

(७) **'स्मर'** (कामदेव) शब्द कामराज प्रकृतिभूत ककार लक्षित करता है। **'स्मर'** = 'ककार'। **'स्मर'** = [**'क'**]

(८) **'हंसः'** (सूर्य) = हकाराधिपति आदित्य। [**'ह'**]

'शक्र' (इन्द्र) = 'लकारः इन्द्रबीजं' 'शक्र' का अर्थ है—इन्द्र का बीजाक्षर अर्थात् 'ल' (लकार)।

'शक्र' = लकार = [**'ल'**]।

(९) **'परा'** = 'परा' शब्द चन्द्रकला अर्थात् चान्द्र बीज **'सकार'** सङ्केतित करता है। **'परा'** स। [**'स'**]।

(१०) **'मार'** (कामदेव) = कामबीज। उसका प्रकृतिभूत तत्त्व है 'ककार'। **'मार'** = ककार।

'मार' = 'क' [**'क'**]।

(११) **'हरयः'** = 'हरि' = इन्द्र।

'हरि' = लकार संकेतित करता है। 'ल' पञ्चपदाक्षरी विद्या' का अन्तिम वर्ण है—

'स क ल ह्रीं'। अतः—

'त्रिखण्डो मातृका मन्त्रः सोमसूर्यानलात्मकः ।'

श्रीविद्या की साधना का विधान—यहाँ ध्यातव्य बिन्दु यह भी है कि—

(१) पञ्चदशनित्यात्मक श्रीविद्या का अनुष्ठान पञ्चदश तिथियों में किया जाना उचित है। पृथक रूप से सम्पादित नित्यानुष्ठान तो प्रतिदिन पृथक रूप से नियत ही है। श्रुति कहती है कि तिथियों का प्रयोग भी मन्त्रों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। तिथियाँ १५ हैं। ये ही १५ कलायें भी हैं—'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु'

'सादाख्या कला'—'इयं वाव सरघा'(तै.ब्रा. ३/१०/१०)

(इयं चन्द्रकला सादाख्या सरघा सरघावत मधुस्यन्दिनी अमृतस्यन्दिनी)। **'सादाख्या कला'** = सरघा की भाँति मधुमती, आनन्ददायिनी है।

उस 'सरघा' का अग्नि स्थान ही बैन्दव त्रिकोण है। वह 'सारघ' (सरघोद्भूत मधु) है। यह **'सुधासिन्धु'** है।

'तस्या अग्निरेव सारघं मधु' (तै.ब्रा. ३/१०/१०)

'ता मधुकृतः।' (तै.ब्रा. ३/१०/१०)

वे रात्रियाँ मधु उत्पन्न करती हैं। रात्रि में ही मधुमक्खियाँ मधुसंग्रह किया करती हैं।

* रात्रि के समय ही **चन्द्रकलारूपा श्री विद्या** का अनुष्ठान विहित है—

'रात्रावेवं **चन्द्रकलारूपायाः श्रीविद्यायाः अनुष्ठानं** न च दिवसे इति उपदेशः।।[1]

कुण्डलिनी का प्रबोध भी रात्रि में ही करणीय है दिन में नहीं—अतएव कुण्डलिनी प्रबोधो रात्रावेव, न दिवा,।[2] 'अतएव दिवा योगिनः कुण्डलिनीं बोधयन्तीति।।[3]

कृष्णपक्ष की रात्रियों में **'कौल'** तो साधना किया करते हैं किन्तु 'समयी नहीं किया करते वे शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही साधना (उपासना) किया करते हैं।

'कृष्णापक्षरात्रीणां आधारचक्रे एव अमावास्यात्मकतया अवस्थानात्। समयिनां तत्र व्यवहारा भावात्।।[4]

साधनोपयोगी रात्रियाँ (शुक्लपक्ष की रात्रियाँ)

कृष्णापक्ष एवं शुक्लपक्ष की रात्रियों के नाम—वेदों में कृष्णपक्ष एवं शुक्ल पक्ष की रात्रियों का पृथक-पृथक् नाम बताए गए हैं ये निम्नांकित हैं—

*** कृष्ण पक्ष की रात्रियाँ और उनका नाम ***

'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में इनका नाम इस प्रकार बताया गया है—

'सुता सुन्वती प्रसुता सूयमानाऽभिषूयमाणा ।
पीती प्रपा संपा तृप्तिस्तर्पयन्ती ।
कान्ता काम्या काम जाताऽऽयुष्मती काम दुघा ।'

—तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/१०/१)

शुक्ल पक्ष के दिनों के नाम

'तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/१०/१) में कहा गया है—

'संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजानत्। सङ्कल्पमानं प्राकल्पमानमुपकल्पमान मुपक्ल्प्तं क्लप्तम्। श्रेयोवसीय आयत् संभूतं भूतम्।'

—तैत्तिरीय ब्राह्मण

उपासना सम्बंधिनी विविध दृष्टियाँ

सनत्कुमारसंहिताकार की दृष्टि—**'सनत्कुमार संहिता'** में बाह्याचार, स्थूलोपासना एवं स्थूल पूजा का विरोध करते हुए कहा गया है कि—

१. लक्ष्मीधरा (३२)
२. लक्ष्मीधरा
३. लक्ष्मीधरा (३२)
४. लक्ष्मीधरा (३२)

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभः।
साक्षुद्रकलदा नृणां ऐहिकार्थैकसाधनात्॥
बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिकाः।
दिगम्बराश्चेतिहासा वामकास्तन्त्रवादिनः।
आन्तराराधनपरा **वैदिका** ब्रह्मवादिनः।
जीवन्मुक्ताश्चरन्त्येते त्रिषु लोकेषु सर्वदा॥'

अन्य उपासकों की (समयाचार-प्रतिकूल) उपासनायें—

(१) **कौलोपासना—'कौलाः** आधार चक्रपूजारताः।'

(२) **क्षपणकोपासना—'क्षपणकाः** योषितत्रिकोणपूजारताः।'

(३) **कापालिकोपासना—'कापालिकाः'** दिगम्बराश्च उभयत्र निरताः।'

(४) **इतिहासकोपासना—'इतिहासा** भैरवयामल प्रामाण्य वादिनः।'

(५) **'वामकोपासना' —'वामकाः** तन्त्रवादिनः इत्येके वदन्ति। वामकेश्वर-तन्त्रप्रामाण्यवादिनः।'

(६) **'केवलचक्रोपासना'**—केवलचक्रपूजकाः ते वेदबाह्याः।

(७) **आन्तरोपासना—'आन्तरपूजारताः ब्रह्मवादिनः शुभागमतत्त्ववेदिनः। शुभागमतत्त्ववेदिनः। शुभागमपञ्चकम्** पूर्वमेवोक्तम्।'[१]

शुभागम पञ्चक (समयाचारियों के मान्य ग्रंथ)

(१) वासिष्ठसंहिता (२) सनकसंहिता (३) शुकसंहिता (४) सनन्दनसंहिता (५) सनत्कुमारसंहिता

'शुभागम पञ्चक' में १६ नित्याओं को मूलविद्या (श्रीविद्या) में अन्तर्भूत किया गया है। वे 'चक्रविद्या' में भी अन्तर्भूत हैं।
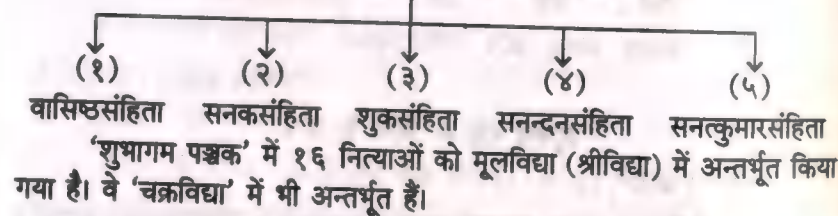
*** नित्याओं का नाम ***

'वसिष्ठ संहिता' में भगवान् (ईश्वर) देवी से जो कहते हैं वह (वसिष्ठ जी के अनुसार) इस प्रकार है—

शृणु देवी प्रवक्ष्यामि नित्याषोडशकं तव।
न कस्यचिन्मयाऽऽख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम्।
तत्रादौ प्रथमा नित्या महात्रिपुर सुन्दरी।
ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी॥
नित्यक्लिन्ना तथा चैव भेरुण्डा वह्निवासिनी।
महाविद्ये (वज्रे)श्वरी रौद्री त्वरिता कुल सुन्दरी।

१. लक्ष्मीधरा (३२)

नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला।
ज्वालामालिनिचिद्रूपाः एता नित्यास्तु षोडश।
प्रतिपत्प्रभृतौ देव्याः पौर्णमास्यन्तमर्चयेत्।
एकादिवृद्धया हान्या च दर्शान्तं देवि विग्रहम्॥

इन नित्याओं का (१) भगवती के साथ (२) चान्द्रकलाओं के साथ (३) श्री यन्त्र के साथ एवं (४) श्री विद्या के साथ ऐक्य है।

श्लोक क्रमांक २६ :

*** 'षोडशीकला' का सर्वकारणत्व की दृष्टि से सर्वोच्च महत्त्व ***

इमास्ताः षोडश्यास्तव च सरघायां शशिकला
स्वरूपायां लीना निवसति तव श्री शशि कला।
अयं प्रत्याहारः श्रुत इह कला व्यञ्जन गणः।
ककारेणाकारः स्वगणमशेषं कथयति॥२६॥

[हे भगवती शशिकला! ये समस्त कलायें तेरी **'षोडशी कला'** में जो सरघा (सहस्रार) में स्थित है लीन होकर निवास करती हैं।

ये समस्त एकत्र संगृहीत 'ककार' आदि सब व्यञ्जनगण एवं समस्त स्वर ही 'कला' कहलाते हैं और इन सबका तेरी **'षोडशी कला'** में लय होता है।]

सरोजिनी (व्याख्या)—चन्द्रमा की १६वीं कला ही **'षोडशी'** है। चूँकि पञ्चदशाक्षरी मंत्र का अन्तिम अक्षर गोपनीय है और उसका १६हवाँ अक्षर ही इस पञ्चदशी मंत्र को **'श्रीविद्या' 'षोडशी विद्या'** बनाता है तथा मंत्र का यह १६हवाँ अक्षर 'श्री' = लक्ष्मीबीज) स्वयं भगवती महात्रिपुर सुन्दरी हैं और वे इसी षोडशाक्षर के कारण 'श्री' भी कहलाती हैं अतः पञ्चदशाक्षरी मन्त्र को भी **'श्रीविद्या'** कहा जाता है।

श्रीविद्या (पञ्चदशाक्षरी विद्या)

(१) **'वाग्भवकूट'** (आग्नेय) (भगवती का मुखभाग)

(२) **'कामकूट'** (सूर्य) देवीकण्ठ से कटि तक का भाग

(३) **'शक्तिकूट'** (चन्द्र) (कटि के नीचे का भाग

(४) **चतुर्थपाद** (लक्ष्णमीबीज ='श्री') चन्द्रकला
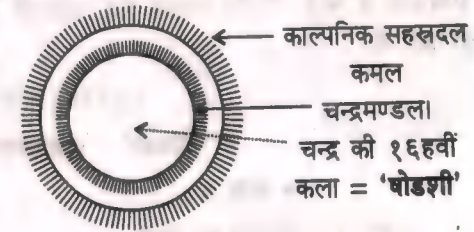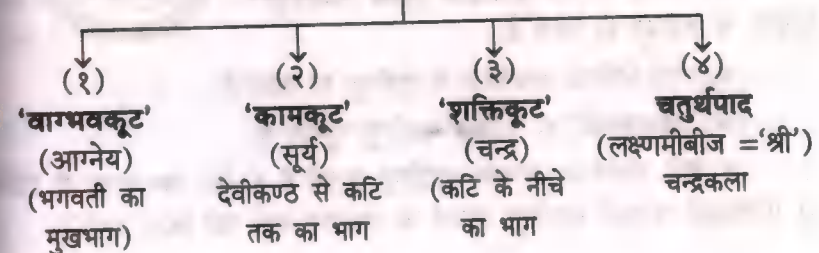
१६ अक्षरों का मन्त्र = **'षोडशीविद्या'** १६ अक्षर १६ नित्यायें हैं। लक्ष्मी बीज **'परकला'** है। वही यथार्थ नित्या है।

इसी लक्ष्मीबीज 'श्री' के कारण समस्त पञ्चदशी मन्त्र 'श्रीविद्या' कहलाता है। यह शुद्ध चितिस्वरूपा है और सहस्रार में स्थित चन्द्रमा की १६हवीं कला है और **'षोडशी'** कहलाती है। प्रत्येक कला १६हवीं कला का एक अंगमात्र है।

१६हवीं कला का आश्रय लेकर चन्द्रमा की १५ कलायें घटती और बढ़ती है। किन्तु षोडशीकला क्षय-वृद्धि रहित नित्य है।

अक्षरों की उत्पत्ति

(१) नाद से उत्पत्ति।

(२) परा वाक् से उत्पत्ति।

(३) षोडशी से उत्पत्ति।

(४) कुण्डलिनी से उत्पत्ति।

(५) सहस्रारस्थ चन्द्रमा के अमृत से

(६) सहस्रारस्थ चन्द्रमा के अमृत से 'महाबिन्दु' से (गौड़पाद)।

१६ स्वर १६ कलायें हैं। चूँकि व्यञ्जन तो स्वरों के अधीनस्थ हैं अतः समस्त व्यञ्जन १६ कलाओं में लयीभूत हो जाते हैं।

(१६हवी कला)

*** 'षोडशी' : महालयाधिष्ठान ***

*** लय ***

(क) १५ तिथियों का **लय**

(ख) १५ नित्याओं का **लय**

(ग) पञ्चदशी विद्या के १५ अक्षरों का **लय**

(घ) समस्त नित्यायें **सोलहवीं नित्या** (महात्रिपुर सुन्दरी) में लयीभूत हो जाती हैं।

(ङ) सारी तिथियाँ अमावस्या में लयीभूत हो जाती हैं।

(च) **'अमावस्या'** ही भगवती महात्रिपुर सुन्दरी हैं।

(प्र. यदि अमावस्या स्वयमेव महात्रिपुर सुन्दरी हैं तो फिर अमावस्या की तिथि पर समयाचारी भगवती महात्रिपुर सुन्दरी की उपासना क्यों नहीं किया करते?)

(छ) **पञ्चदशाक्षरी** विद्या के १५ वर्णा मंत्र के १६हवें अक्षर (**षोडशी = श्रीं**) में लयीभूत हो जाते हैं।

(ज) भगवती की १६हवीं कला षोडशी है। षोडशी भगवती का स्वस्वरूप भी है। १६हवाँ अक्षर ही **'श्री बीज'** है। यही 'लक्ष्मी बीज' भी कहलाता है।

१५ नित्यायें १५ तिथियाँ हैं और ये ही मन्त्र के १५ अक्षर हैं।

नित्या १५, तिथि १५, मन्त्राक्षर १५—तीनों में ऐक्य है।

'सहस्रार' में स्थित चन्द्रमा की १६हवीं कला
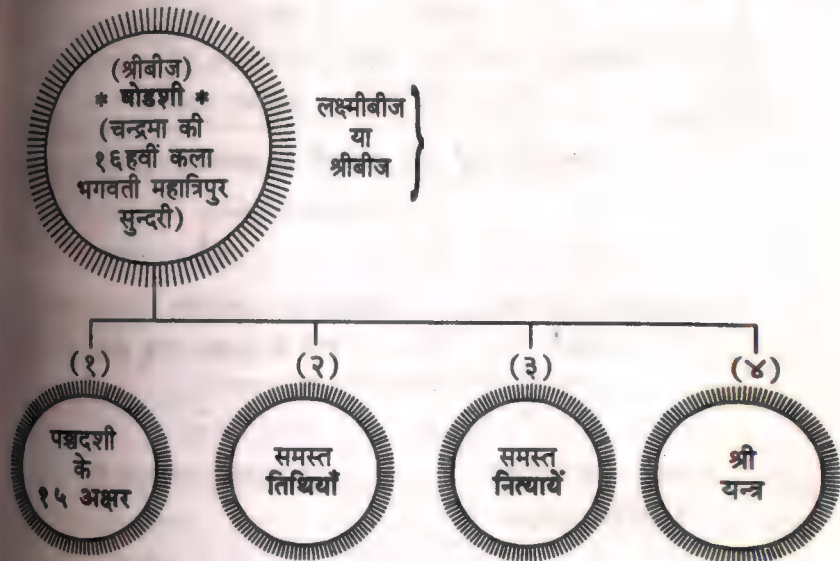
(१) १५ कलायें **'पञ्चदशी'** के १५ अक्षरों से सम्बद्ध हैं।

(२) १६हवीं कला 'शुद्ध चितिशक्ति' चिन्मात्र निर्विकल्प समाधि में विराजने वाली स्वयं महात्रिपुर सुन्दरी हैं।

क्योंकि अन्य कलायें घटती एवं बढ़ती रहती हैं किन्तु चन्द्रमा का बिम्ब सदैव एक समान रहता है। प्रत्येक कला को १६हवीं कला का ही एक अंश या अङ्ग माना जाता है।

सहस्रार के मध्य में स्थित चन्द्रमण्डल को **'बैन्दवस्थान'** कहते हैं। **यह शुद्ध** चिति शक्ति ही आनन्दमयी कला का स्थान है। इसे ही 'श्री' या **'महात्रिपुरसुन्दरी'** **कहते हैं।**

भगवती त्रिपुरसुन्दरी का त्रिखण्डात्मक रूप

सं.	मंत्रभाग (१)	यंत्र का भाग के भाग (२)	षट्कमलों के भाग (३)	कुण्डलिनी के भाग (४)
(१)	सोम-शक्तिकूट	शिव के ४ चक्र	आज्ञा एवं विशुद्ध चक्र	सोमकुण्डलिनी
(२)	सूर्य-कामकूट	चतुर्दशार एवं बहिर्दशार	हृदय एवं मणिपूर चक्र	सूर्यकुण्डलिनी
(३)	अग्नि-वाग्भवकूट	अन्तर्दशार। अष्टार बिन्दु सहित त्रिकोण	स्वाधिष्ठान एवं मूलाधार चक्र	अग्निकुण्डलिनी

'पञ्चदशी मन्त्र' एवं भगवती के शरीरांग

(१) पञ्चदशाक्षरी श्री विद्या षोडशाक्षर } = (२) भगवती का स्वरूप है। नित्य कला है, इसी से सबका उदय होता है।

(३) * प्रथम—**'वाग्भवकूट'** **(आग्नेय भाग)*** } = (४) यह भगवती का मुख है।

(५) * द्वितीय—**'कामकला कूट'** **(सौरभाग)*** } = (६) भगवती के कण्ठ से उनके कटि पर्यन्त का भाग

(७) * तृतीय—**'शक्तिकूट'*** (चन्द्रखण्ड) } = (८) (तृतीय शक्तिकूट)—भगवती की कटि के नीचे का भाग है। जो कि सृजन-शक्ति का रूप है।
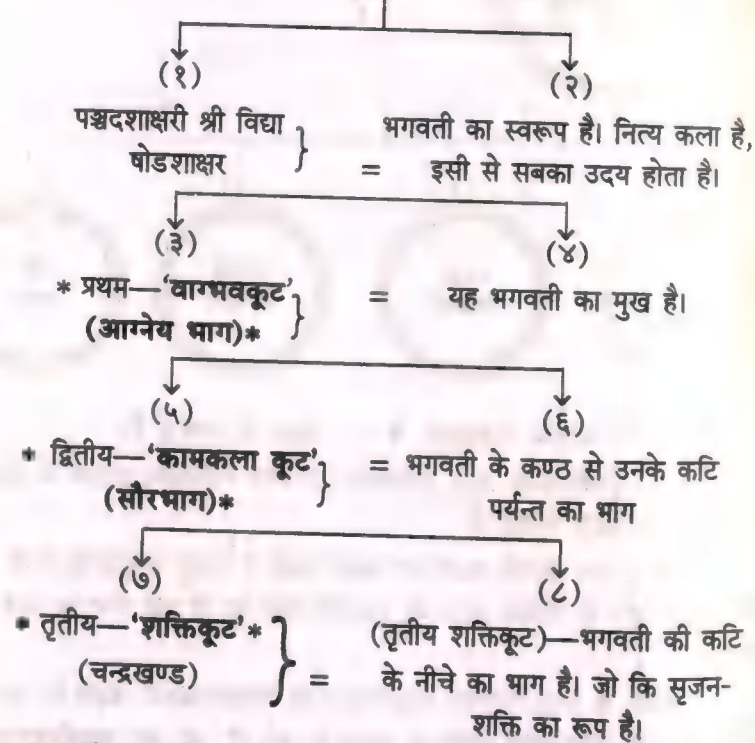
(१) **तीन खण्डों वाला भगवती का मन्त्र**—'सरघा' में लय होता है।
(२) भगवती के अवशिष्ट भाग से—समस्त चन्द्र कलायें प्रकट।
(३) जहाँ समस्त चन्द्र कलायें लयीभूत हो जाती है—तू वही **अमावस्या** है।

*** भगवती अमावस्या हैं ***

(४) भगवती 'खण्डत्रय' एवं 'षट्चक्र' दोनों में निवास करती है। **प्रत्येक कला सोलहवीं कला** का अङ्ग है।

(५) भगवती 'सरघा' (मधु का स्थान = 'सहस्रार') में निवास करती है।

(६) नाद का लय **'सहस्रार'** में मंत्र का लय **'सहस्रार'** में होता है। वर्णों का लय **'नाद'** में, नाद का लय उसके कारण में होता हैं अर्थात् 'सहस्रार' में होता है। **'शशिकला'** अर्थात् चन्द्रकला चन्द्रमा की १६हवीं कला या **अमावस्या** है। सोलहवीं कला **'नित्या कला'** है क्योंकि यही चन्द्र का यथार्थ स्वरूप है।

(७) १५ कलायें पञ्चदशी के १५ अक्षरों से सम्बद्ध हैं।

(८) १६हवीं कला शुद्धचिति शक्ति है—चिन्मात्र है—निर्विकल्प समाधि में विराजने वाली स्वयं महात्रिपुर सुन्दरी हैं। अन्य कलायें वृद्धिक्षय पूर्ण हैं। चन्द्रमा का बिम्ब सदैव एक रस (वृद्धिक्षय रहित) रहता है।

श्लोक क्रमांक २७: * क्षकार का सर्वातिशायी महत्त्व *

क्षकार : पञ्चाशत्कल इति हलो बैन्दवगृहं ।
ककारादूर्ध्वं स्याज्जननि तव नामाक्षरमिति ।
भवेत्पूजाकाले मणिखचित भूषाभिरभितः ।
प्रमाभिर्व्यालीढं भवति **मणिपूरं** सरसिजम् ॥

['क्षकार' पचासहवीं कला है इसलिए यह 'ह' 'ल' (शिव) रूपी **'बैन्दव गृह'** है। हे जगदम्बे! 'ककार' (अर्थात् समस्त व्यञ्जनों) से ऊपर तेरे नाम का अक्षर स्थित है। (अर्थात् **'श्री बीज'** या **'ककार'** से ऊपर यह तेरे नाम का अक्षर 'क्ष' तेरा स्वरूप है।)

(हे भगवती!) पूजा के काल में **'मणिपूरक चक्र'** में तेरा स्वरूप मणियों से जड़े आभूषणों की उद्दाम दीप्ति से चतुर्दिक आच्छादित (युक्त) है।]

सरोजिनी (व्याख्या)—'क्षकार' = क + ष = 'क्ष'। क्षकार क एवं ष दो शब्दों से निर्मित एक संयुक्ताक्षर भी है और साथ ही यह 'क' से लेकर 'ष' पर्यन्त सभी वर्णों को अन्तर्गर्भित करके स्थित (इन सभी वर्णों का वाचक) प्रत्याहार भी है।

'क्षकार' पञ्चाशत् कला है। यह वर्णों की माला का सुमेरु है।

'अक्षमालिकोपनिषद' में प्रतिपादित दृष्टि यह है कि 'क्ष' परात्पर तत्त्व होने के कारण परमोच्च है। क्षकार भगवती का स्वरूप है।

जिस प्रकार **चन्द्रमा की समस्त कलायें** सोलहवीं कला में लय हो जाती है उसी प्रकार अक्षर स्वरूपिणी महामाया **'क्षकार'** में लय हो जाती है।

गुरु त्रिकोण बैन्दवस्थान है क्योंकि यह सहस्रार में संस्थित है। 'ह', 'ल' एवं 'क्ष' वर्ण त्रिकोण में स्थित हैं अतएव ह ल बैन्दव गृह है।

मातृकाचक्रविवेककार की दृष्टि—स्वतन्त्रानन्दनाथ ने 'मातृका चक्र विवेक' के पञ्चम खण्ड के उन्नीसहवें सूत्र में कहा है कि—

(१) भगवती क्ष्माङ्गिनी हैं।

(२) **'क्षकार'** एवं 'मकार' त्रिपुरेश्वरी के बीच मन्त्र हैं।

(३) शिवात्मक निर्विकल्प पद का बोधक **'क्षकार'** है। अतः त्रिपुरेश्वरी के तुर्य पद का बीज भी **'क्षकार'** है।

(४) जीव का बोधक **मकार** है। **'मकार'** विकल्प पद का बीज है।

(५) त्रिपुरेश्वरी का स्वरूप सविकल्प एवं निर्विकल्प उभयात्मक है अतएव **'क्षकार'** एवं **'मकार'** उभय बीजों के योग से त्रिपुरेश्वरी **'क्ष्माङ्गिनी'** हैं।

(६) त्रिपुरेश्वरी 'क्षकार' एवं 'मकार' की संसृष्टि स्वरूपा हैं, अर्थात् 'क्षकार' 'मकार' सुप्ति आदि दशाचतुष्टय से अधिष्ठित है। क्षकार एवं 'मकार' की संसृष्टि ही त्रिपुरेश्वरी का अङ्गित्व (प्राणस्वरूपता) है।

भाष्यकार शिवानन्द इसी बात को अपने शब्दों में इस प्रकार निरूपित करते हैं—

(१) 'सा क्ष्मात्माङ्गिनी। 'क्षकार'—'मकार' संसृष्टि रूपा अङ्गिनी **'क्षकार मकाराभ्यामेव** दशाचतुष्टयमधिष्ठितमिति। तदुभय संसृष्टिरङ्गित्वं त्रिपुरेश्वर्याः प्राण स्वपतेति सम्यगुपपत्तिः।

(२) 'निर्विकल्पपदस्य तुरीयस्य माध्यमिकत्वेना धिष्ठातृतया **'क्षकारो'** बीजभूतः।

(३) 'विकल्पपदस्य सुषुप्त्यादि दशा त्रयात्मनो माध्यमिकत्वेन **'मकारो'** बीजभूतः तदुभय संसृष्टिरेव सर्वमूलत्वात्तुर्यातीत स्वभाव इति समुपदिशति।[१]

स्वतंत्रानन्दनाथ कहते हैं—

'क्ष्मात्माङ्गिनी जयति मध्यपदेऽति तुर्या।'[२]

'क्षकार' कूटस्थ है।

मातृका महामंत्र

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
स्वर	स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्माण	कूटस्थ (क्ष)
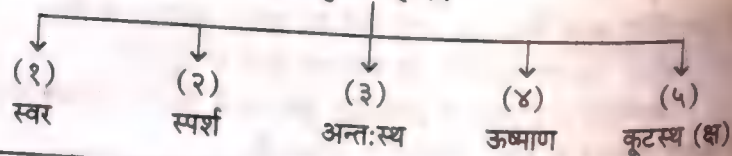
१. शिवानन्द
२. मातृका चक्रविवेक (५/१९)

'क्ष' को चक्रेश्वर भी कहते हैं। 'क' से 'स्' तक के समस्त वर्ण-चक्र 'क्ष' के रूप में व्यक्त होते हैं।

'मणिपूरक चक्र'

पूर्णानन्द की दृष्टि—श्री पूर्णानन्द ने षट् चक्रनिरूपणम' में 'मणिपूरक' चक्र का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

(१) 'तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे नीलाम्भोज प्रकाशैरूपहित जठरे अदिकान्तैः स चन्द्रैः। ध्यायेयद् वैश्वानरस्याऽरुणभिहिरसमंमण्डलं तत् त्रिकोणं तद्बाह्ये स्वस्तिकारव्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्।

—षट्चक्र निरूपणम् १९

(२) ध्यायेन मेघाधि रूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्वलाङ्गं
तत्क्रोडेरुद्रमेर्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूर रागः।
भस्मालिप्ताङ्गभूषाभरणसितवपुर्वृद्धरूपी त्रिनेयो,
लोकानामिष्टदाताऽभयलसितकरः सृष्टिसंहारकारी
अत्रास्ते लाकिनी मा सकल शुभकरी वेदबाहूज्वलाङ्गी
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविधविरचनालंकृता मत्तचित्ता।

—षट्चक्रनिरूपणम्

शिवसंहिताकार की दृष्टि—'शिव संहिता' में 'मणिपूर चक्र' का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारं डाकिकान्तार्णैः शोभितं हेमवर्णकम्।
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परम धार्मिका।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'तृतीयं नाभिपद्मं पञ्चावर्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्ति बालार्क कोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिदा भवति। सिद्धसिद्धान्त पद्‌ति।

भगवती का मणिपूरक चक्र में प्राकट्य—

'मणिपूरक चक्र' का स्वरूप क्या है ?

*** मणिपूरक चक्र और उसका स्वरूप ***
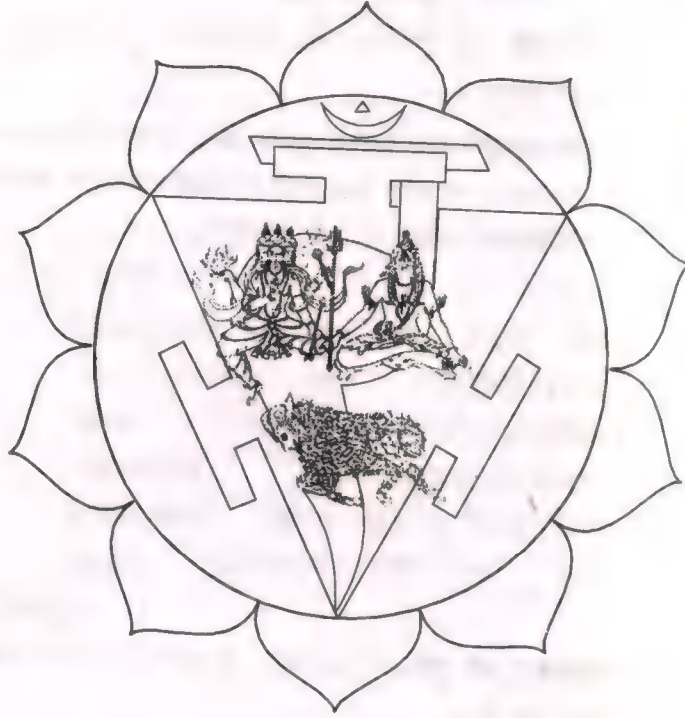
'षडब्जाख्यानो'— सु० स्तुति

'नाभिरूर्ध्वांङ्गुलोपरि।
पत्पद्मं मणिपूरम्वदशपुत्रं सुशोभनम्।
लाकिनीमध्यंग तच्च डामयोदिभिरावृतम्।

—स्वच्छन्दतन्त्र

'तडित्वन्तंशक्त्यातिमिरपरिपन्थस्फुरमणाया
स्फुन्नानारत्नाकमणपरिणाद्धिन्द्रधनुषम् ।
तव श्याममेघं कमपि मणिपूरैक शरणाम्
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम्॥

शङ्कराचार्य—सौन्दर्यलहरी

श्लोक क्रमांक २८ : 'मणिपूरक चक्र' एवं भवगती का स्वरूप

'वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं तेन निविडं।
परे तु त्वद्रूपं मणिधनुरि तीदं मययिनः।
अनाहत्या नादः प्रभवति सुषुम्णाध्वजननित।
स्तदा वायोस्तत्र प्रभव इदमाहुः समयिनः ॥२८॥'

अर्थ—[एक दृष्टि के वृद्ध समयमतोपासकों का कथन है कि 'मणिपूर चक्र' में जल को ही 'मणि' कहा गया है जिससे कि वह परिपूरित है किन्तु दूसरे समयमतोपासक तुम्हारे स्वरूप को मणिधनु (इन्द्र धनुष) के स्वरूप वाला मानते हैं। 'अनाहत चक्र' में जो अनाहत नाद है वह सुषुम्णा से आविर्भूत वायु से उद्भूत होता है। यही समयाचार वाले उपासक कहते हैं।॥२८॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—इस श्लोक में 'मणिपूर चक्र' पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि इसे मणिपूर इसलिए कहा गया है क्योंकि मणिपूर में जल को ही **'मणि'** कहा गया है।

प्रश्न—भगवती का स्वरूप मणिस्वरूपी है या कि इन्द्रधनुषी?—यही विवेच्य विषय है। **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में एकत्रित **जलराशि** अनाहत चक्र में स्थित सूर्य के ताप से **वाष्प रूप** में परिणत हो जाती है और वही **मेघों के रूप में मणिपूर चक्र** में स्थित होती है।

मेघों में विद्युत रहती है और विधुत तत्त्वतः तो अग्निस्वरूप ही है।

'अन्तरिक्षगतो वर्ह्नि वैंधुतः ॥'[१]

* इसी के परिणाम स्वरूप **'मणिपूर चक्र'** को (क) अग्नि एवं (ख) जल दोनों का स्थान माना जाता है।[२]

जब **मेघों पर सूर्य की रश्मियाँ** पड़ती हैं तब इन्द्रधनुष का रङ्गउदित हो उठता है। इसीलिए कहा गया है कि 'मणिपूर चक्र' में भगवती इन्द्रधनुष के रज में प्राकट होती हैं।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर 'सौन्दर्य लहरी' में कहते हैं—

'तटित्त्वन्तं शक्त्या तिमिरपनिन्थिस्फुरणाया'
स्फुरन्नानारत्नापरिणाद्धेन्द्र धनुषम्।
तव श्याम मेघं कमपि मणिपूरैकशरणम्।
निषेवे वर्षन्तं हरमिहित तप्तं त्रिभुवनम्॥४०॥

---

१. योग शिखोपनिषद (५-३२)
२. **'मणिपूर'** = अग्नि एवं मेघ (जल)

अर्थात् हे भगवती! मैं तेरे मणिपूर चक्र की शरण में समागत श्याम मेघों के रूप धरने वाले 'जल' की मैं पूजा करता हूँ जिसमें कि तिमिर-विरोधिनी विद्युत की दीप्ति (कान्ति), अलंकारों में जटित नाना रत्नों की चमक के सदृश इन्द्र धनुष का रूप धारण किए हुए है और जो कि अग्नि एवं सूर्य के ताप से सन्तप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

'मणिपूर चक्र' में मेघेश्वर एंव सौदामिनी विद्युत) के रूप में शिव एवं शक्ति का ध्यान करने का उपदेश दिया गया है।

(१) अग्नि का स्थान नीचे स्वाधिष्ठान चक्र में है। क्योंकि स्वाधिष्ठान चक्र में अग्निमण्डल है।

(२) सूर्य का स्थान ऊपर सूर्य मण्डल में है।

(३) ऊपर एवं नीचे दोनों स्थानों में ताप है अतः देह स्वरूप त्रिखण्डात्मक त्रिभुवन प्रतप्त होने की दशा में वाष्प रूप से 'मणिपूर चक्र' में मेघों कर रूप धारण करे लेता है और जलधरों में अग्नि विद्युत के रूप में चमकने लगती है। इन्हें ही 'मेघेश्वर' एवं सौदामिनी (विद्युत) कहते हैं। इन दोनों के योग से वर्षा की भाँति समस्त शरीर में रस वर्षा होने लगती है।

समस्या और समाधान—षट्चक्रों में जो 'मणिपूर वक्र' है वह जल का नहीं अग्नि तत्त्व केन्द्र है—

'तस्योर्ध्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघ प्रकोशे।
नीलाम्भोज प्रकाशै रूपहित जठरे अदिकान्तैः स चन्द्रैः ॥
ध्यायेद् वैश्वानरस्याऽरुणमिहिरसमं मण्डलं तत् त्रिकोणं।
तद् बाह्ये स्वस्तिकार व्यैस्त्रिभिरभिलिसितं तत्र वह्नेः स्वबीजं।'

—षट्चक्रनिरूपणम्

वह्निमण्डल वह्निबीज 'रँ' से मण्डित है। 'मणिपूर' नाम की सार्थकता क्या है ? कहा गया है कि—

मणिवदभित्रं तत् पद्मं मणिपूरं तथोच्यते। (गौतमीय)

यह वाह्नेय मण्डल है—

'दशपत्रं पयोजातं कर्णिकायां महेश्वरि।
वाह्नेयं मण्डलं रक्तं स्वस्तिकान्वितम्।'

—माया तन्त्र

इसे मणिपूर क्यों कहा जाता है?

आचार्य लक्ष्मीधर का कथन है कि—

'यत्र स्थित भगवती मणिभिः तत्प्रदेशं पूरयति, स देशो 'मणिपूरः'। समयिनां

आन्तर पूजावसरे तृतीयकमले नानाविध **मणिगण**रवचितभूषणार्पणं देव्या। कर्तव्यमिति रहस्यम्।।[१]

आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाक्षमुपरि।'(९)

अर्थात् मूलाधार चक्र में पृथ्वी तत्त्व एवं जलतत्त्व को भी 'मणिपूर चक्र' में अग्नि तत्त्व को जिसकी स्थिति 'स्वाधिष्ठान चक्र' में है।

योगदर्शन की दृष्टि के अनुसार स्थिति इस प्रकार है—

(१) मूलाधार चक्र — पृथ्वी तत्त्व का चक्र
(२) स्वाधिष्ठान चक्र — जल तत्त्व का चक्र
(३) मणिपूर चक्र — अग्नि तत्त्व का चक्र
(४) अनाहत चक्र — वायु तत्त्व का चक्र
(५) विशुद्धाख्य चक्र — आकाश तत्त्व का चक्र
(६) आज्ञा चक्र — मनस तत्त्व का चक्र

किन्तु आचार्य शङ्कर ने 'महीं मूलाधारे ....मरुतमाकाशमुपरि।' (सौ.ल.) कहकर तत्त्व-व्यवस्था के सिद्धान्त को ही निराकृत कर दिया है।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर इस कथन के औचित्य को सिद्ध करने की दिशा में अनेक तर्क देते हुए कहते हैं कि—

(१) 'यद्यपि आधारचक्रस्योपरि स्वाधिष्ठानं वर्णनीयं, तथाऽपि आकाशादितत्त्वोत्पत्ति क्रममवलम्ब्य **व्युत्क्रमेण 'मणिपूरचक्र वर्णनं'** कृतमित्यनुसन्धेयम्।।[२]

(२) मूलाधारस्वाधिष्ठान मणिपूरानाहत विशुद्ध्याज्ञात्मकानि षट्चक्राणि। एतानि पृथिव्यग्नि जल पवनाकाशमनस्तत्त्वात्मकानि। तानि तत्त्वानि तेषु चक्रेषु तन्मात्रतयाऽवस्थितानि। तन्मात्रास्तु गन्धरूपरसस्पर्शाब्दात्मकाः। आज्ञाचक्रस्थितेन मनस्तत्त्वेन एकादशेन्द्रियगणः संगृहीतः। एव मेकविंशतितत्वानि प्रतिपादितानि।'[३]

आचार्य लक्ष्मीधर ने चक्रों में तत्त्वों की स्थिति योगक्रमानुसार न देकर विपरीत क्रम में कहा है कि—

'एतानि पृथिव्यग्नि जल पवनाकाश.....।'होना चाहिए था—'एतानि **पृथिवीजल अग्नि** पवनाकाश..........।'

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ९)
२. लक्ष्मीधरा (९)
३. लक्ष्मीधरा (९)

लक्ष्मीधर पदयोजना में कहते हैं—

'हे भगवति! मूलाधारे महीं' कं **मणिपूरे** हुतवहमपि, **स्वाधिष्ठाने** हुतवहमेव।'

* आचार्य गौड़पाद की दृष्टि का ही अनुवर्तन समर्थन एवं प्रतिपादन आचार्य शङ्कर ने भी किया है।

(१) आचार्य शङ्कर ने **तत्त्वों का क्रम** तो वही रखा है क्योंकि उन्होंने कहा है—(१) 'महीं' (२) 'कमपि' (३) 'हुतवहं'।

(२) उन्होंने चक्रों के नाम में परिवर्तन अवश्य किया है। उन्होंने उपस्थ के चक्र का नाम **'मणिपूर'** एवं **'नाभिचक्र** का नाम **'स्वाधिष्ठान'** कहकर दिया है।

क्या आचार्य शङ्कर को उपस्थ वाले चक्र का नाम **'मणिपूर'** एवं नाभि के चक्र का नाम **'स्वाधिष्ठान'** अभित तथा? आचार्य शङ्कर की दृष्टि एवं उद्देश्य क्या था?

आचार्य शङ्कर के कथन का औचित्य

तत्त्वों के क्रमवेध पर दृष्टिपात करें।

(१) 'समय मत' के अनुसार उपस्थ से सम्बृद्ध चक्र का वेध करना समुचित नहीं है। कारण सुस्पष्ट है। **इस चक्र के वेध से काम-वासना में वृद्धि** होती है। कामवृद्धि पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए कौलाचारी 'वज्रोजी' आदि क्रियाओं का आश्रय लेते हैं किन्तु समयाचारी इस क्रिया को भी ग्राह्य नहीं मानते।

(२) आचार्य शङ्कर ने यहाँ पर **'कौलाचार'** के विपरीत समयमत के पक्ष में वेध-क्रम प्रस्तुत किया है।

(३) वेध-क्रम का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए—

(क) मूलाधार चक्र के वेध के द्वारा पृथ्वी तत्त्व के साथ वहीं **जलतत्त्व** का वेध कर देना चाहिए। 'कमपि' का अर्थ यही है। 'कमपि' = जल भी।

(ख) इसके बाद **'स्वाधिष्ठान चक्र'** का स्वतंत्र रूप में वेध किये जाने का त्याग करना चाहिए। फिर

(ग) नाभिपद्म वाले **'मणिपूर चक्र'** में अग्नि का वेध करना चाहिए।

(घ) चूँकि **अग्नि तत्त्व** की विद्यमानता **'योनिस्थान'** में है अत: उसे स्वाधिष्ठान चक्र में दिखाया गया है। (स्वाधिष्ठान चक्र में नीचे **अग्नि** एवं ऊपर **जल** दोनों की सन्धि का स्थान है क्योंकि 'योनि स्थान' 'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' के मध्य है। अग्नि के उद्दीप्त होने पर मूलाधारस्थ मही एवं स्वाधिष्ठानगत जल तत्त्व दोनों का वेध मूलाधार के वेध के साथ ही निष्पन्न हो जाएगा।

'हंसोपनिषद' में प्रातिपादित दृष्टि—'हंसोपनिषद में कहा गया है कि—'गुदा द्वार को रोकर (१) 'मूलाधार चक्र' से वायु तत्त्व को उत्थापित करके **'स्वाधिष्ठान**

चक्र' की तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए, फिर (२) **'मणिपूर चक्र'** में प्रवेक्ष करना चाहिए। (३) फिर 'अनाहत चक्र' का अतिक्रमण करके फिर (४) **'विशुद्ध चक्र'** में प्राणों का निरोध करना चाहिए, फिर (५) **'आज्ञा चक्र'** में प्रवेश करके उसका ध्यान करते हुए **'ब्रह्मरंध्र'** का ध्यान करते हुए **'ब्रह्मरंध्र'** का ध्यान करते हुए 'मैं तीन मात्राओं से सम्पन्न ॐ हूँ।—इस प्रकार सदैव ध्यान करना चाहिए।

(क) मैं जागृतावस्था में 'वैश्वानर' — 'अकार' हूँ।

(ख) मैं स्वप्नावस्था में 'तैजस'—'उकार' हूँ।

(ग) मैं सुषुप्ति की अवस्था में—'प्राज्ञ' हूँ—'मकार हूँ'

—इस प्रकार निरन्तर ध्यानरत रहकर शुद्ध स्फटिक सदृश नाद का आधार चक्र से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त ध्यान करना चाहिए।

'गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं च गत्वाऽ-नाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान् निरुध्याज्ञान मनुध्यायन ब्रह्मरंध्रं ध्यायन त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा ध्यायेत्।'

'हंसोपनिषद' की इस दृष्टि से स्पष्ट है कि यह उपनिषद 'स्वाधिष्ठान चक्र' की तीन बार प्रदक्षिणा करके ऊर्ध्वोन्मुख उठने के साधन में **'स्वाधिष्ठान चक्र'** के **वेध का निषेध करता है।** उसकी मात्र तीन बार प्रदक्षिणा करने का विधान अवश्य है।

सारांश—(१) 'मूलबन्ध' लगाने से आधार चक्र में 'पृथ्वी' का वेध तो होता ही है साथ ही 'जल तत्त्व' का भी वेध होता है। यह इसलिए होता है क्योंकि मूलबन्ध के अभ्यास से **'योनिस्थान'** चक्रद्वय का मध्यस्थान) **अग्निस्थान** है। **'योनिस्थान'** पर दबाव पड़ने पर अग्नि प्रदीप्त होती है और वह पृथ्वी तथा जल दोनों तत्त्वों का एक साथ वेध कर देती है।

(२) **'अग्नि तत्त्व का वेध'** मणिपूर चक्र (नाभिचक्र) में होता है। यहाँ वह विद्युत का रूप धारण कर लेती है। (ग्रीष्म ऋतु में जल का वेध होकर वर्षा ऋतु में बादलों में तड़ित प्रकट होता है।)

इसी प्रकार योनि स्थान में सुदीप्त एवं उद्दीप्त **अग्नि** नीचे मूलाधार चक्र में पृथ्वी तत्त्व को प्रतप्त करता है और **ऊर्ध्व प्रदेश** में वह **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में ज को प्रतप्त करता है।

(३) जल भाप (वाष्प) बनकर नाभिचक्र (मणिपूरक) में **मेघों की भाँति** छा जाती है और **वहीं अग्नि का वेध निष्पन्न** हो जाता है। यह अग्नि और वाष्प वेधापरान्त विद्युत् का रूप धारण कर लेते हैं। कारण यह है कि यहाँ अग्नि और वाष्प सम्मिलित होकर मेघरूप रहते हैं और मेघों में विद्युत प्रवाह होता ही है।

ग्रीष्म ऋतु में ऊष्मा या प्रचण्ड ताप से पृथ्वी प्रतप्त होने लगती है और उसका

जल सूखने लगता है। यह **'जलवेध'** है। वर्षा में वही जल मेघों के रूप में परिणत हो जाता है और उसके ताप से विद्युत प्रकट होती है—यही **'अग्नि-वेध'** है।

'कौलाचार' की विधि में ऊर्ध्व रेतसत्व की सिद्धि' **स्वाधिष्ठान चक्र के वेध'** द्वारा निष्पादित की जाती है। **समयाचार-विधान** में समयाचारी 'आज्ञाचक्र' में मन का वेध करके यह विधान निष्पादित किया जाता है।

'योगशिरवोपनिषद' में प्रतिपादित दृष्टि—

'योगशिरवोपनिषद' में कहा गया है कि—'अग्नि' अन्तरिक्ष में उठकर विद्युत का रूप धारण कर लेती है। आकश में स्थित अग्नि सूर्यरूप है। यह नाभिमण्डल (मणिपूर एवं अनाहत चक्र) में स्थित है। वह निम्नाभिमुखी होने पर विष-वर्षा करता है और ऊर्ध्वोन्मुख होने पर पीयूष-श्रवण करने लगता है।

तालू के मूल स्थान (आज्ञा चक्र) में चन्द्रमा का स्थान है और वह निम्नाभिमुखी है और अमृत की वर्षा किया करता है।

जहाँ तक **अनाहतचक्र'** है उसके १२ दल हैं और ये द्वादश दल द्वादशादित्य स्वरूप हैं। ऊर्ध्वमुखी सूर्य एवं अधोमुखी चन्द्रमा के मध्य 'विशुद्ध चक्र' के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं के सदृश चमकने लगते हैं। जब कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सूर्य मण्डल से ऊपर चढ़ती है तब सूर्य को ऊर्ध्व मुख कर देती है। फिर कुण्डलिनी शक्ति उससे ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर सहस्र में स्थित **चन्द्रमण्डल का वेध** करती है। इसके परिणाम स्वरूप (सहस्रारोत्थित कुण्डलिनी के द्वारा) सहस्रास्थ चन्द्रमा अमृत की वर्षा करने लगता है और समस्त शरीर की समस्त नाड़ियाँ अमृत से परिप्लावित हो उठती है और योगी का शरीर दिव्यता से परिपूर्ण हो उठता है।

अन्नेय भूमिका एवं प्रत्यावृत्ति भूमिका—

वेध के समय शक्ति की गति—वेध के समय शक्ति की गति 'मूलाधार चक्र' से सहस्रार की ओर होती है। सहस्रार से नीचे उतरते हुए समय वह नाड़ियों को अमृत से खींचती है और मूलाधार की ओर लौट जाती है। **आरोहण की यह भूमिका 'उन्नेय भूमिका'** कहलाती है। अवरोह (अवरोहण) को **'अन्वय भूमिका'** कहते हैं।

प्रत्यावृत्ति या अवतरण भूमिका में कुण्डलिनी शक्ति ऊपर से नीचे की ओर उतरकर अपने गुहास्थान में प्रत्यावृत्त होती है।

'मणिपूरक चक्र' को भी लक्ष्मीधर ने तामिश्र लोक कहा है—**'मणिपूर चक्रं तामिश्रलोक इति प्रागुक्तः।'** 'सिद्धघुटिका' में कहा गया है कि

'मणिपूरैकवसतिः प्रावृषेण्यस्सदाशिवः ।
अम्बुदात्मतया भाति स्थिरसौदामिनी शिवा ।'

लक्ष्मीधराचार्य—अग्नि स्थान मणिपूर में जल तत्त्व की विद्यमानता का प्रतिपादन करते हुए लक्ष्मीधर कहते हैं कि—

'मणिपूर स्थाने जल तत्त्वं उत्पन्नमिति प्राक् प्रतिपादितम्। तत्प्रकार—सूर्यकिरणा एव अग्निसम्भिन्ना : मेघत्वमापन्नाः जलरूपेणेति मणिपूरस्य आधारस्वाधिष्ठानयोर्मध्ये निवेशः। **अनाहतोपरिस्थितसूर्यकिरणाः स्वाधिष्ठानाग्निना** संवलिताः सन्तः **मणिपूरं** प्रविश्य जलत्वमापन्नाः तेन जलेन **स्वाधिष्ठानाग्निना** दग्धं जगत आप्लवयन्तीति आगमरहस्यम्।'[१]

'अनाहत चक्रोपरिस्थिति सूर्यस्यापि ।'

'मणिपूरे उदकमुत्पन्नमिति।' 'ता आपः स्वाधिष्ठानाग्नेः उत्पादिकाः। उदक-तत्त्वात्मकेमणिपूरे।।[२]

आचार्य लक्ष्मीधर 'मणिपूर चक्र' के महत्व को भी प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि—

(१) 'महावेध' के निष्पन्न होने पर भवगती 'मणिपूर' में प्रत्यक्ष रूप से दर्शन देती हैं—

'एवं महावेधे जाते भगवती मणिपूरे प्रत्यक्षा भवति। सा समाराध्या ।'

(२) 'अर्घ्यपाद्यादिभूषणप्रतिपादनपर्यन्तं पूजाकलापं मणिपूरे निर्वर्त्य अनाहत मन्दिरं भगवतीं नीत्वा धूपादिनैवेद्यहस्तप्रक्षालनान्तं कर्मकलापं तत्रैव समाप्य विशुद्धौ भगवती सिंहासनासीनां सरवीभिः सल्लापान् सम्भाषमाणां शुद्धस्फटिकसदृशैः मणिभिःपूजयेत्। शुद्धस्फटिकसदृशमणये न मौक्तिकादयः, किन्तु तदीयषोडशदलगतषोडश चन्द्रकला इति रहस्यम्।।

(३) अस्माकं तु षडिधैक्यानुसन्धानानन्तरं मूलाधार द्विकं भिंत्वा **मणिपूरे प्रसन्ना** भगवती दशभुजा धनुर्बाणपाशाङ्कुशवरदाभयपुस्ककाक्षमालावीणाहस्ता। मन्मतैकदेशिनां पाशाङ्कुशपुण्ड्रेक्षुचापपुष्पवाण जपमलिकाशुभाभयकरा करद्वयवक्षस्स्थलस्थापित वीणा। उभयमस्माकं सम्मतमेवः,

'भवानि श्री हस्तैर्वहसि कणिपाशं सृणिमधो,
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्स्रकशुकवरम् ।
अथ द्वाभ्यां मुद्राभयवरदानैकरसिके,
क्वाणद्वीणां द्वाभ्यामुरसि च कराभ्यां चविभृषे ।।'

समयिनां प्रत्यक्षं परिदृश्यमाना आस्ते भवगती। समयिनां सहस्रकमलपर्यन्तं आन्तर पूजा कर्तव्या। सहस्रकमले तुतिरकरिणीप्रसारणापर्यन्तं दर्शनमेव समाराधनम्।।

१. लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा (४०)

सुभगोदय में कहा भी गया है—

सूर्यमण्डल मध्यस्थां देवी त्रिपुरसुन्दरीम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणहस्तां ध्यायेत्सुसाधकः।
त्रैलोक्यं मोहयेदाशुवरनारीगणैर्युतम्॥

अत्र **समयिनां** बाह्यपूजानिषेधात् सूर्यमण्डलान्तर्गतत्वेन पूजनं निषिद्धमित्याहुः॥[1]

श्लोक क्रमांक २९ : **संवित्कमल में संवित पूजा** एवं 'विशुद्ध चक्र' में आकश तत्त्व की स्थिति

तदेतत्ते संवित्कमलमिति संज्ञान्तरमुमे,
भवेत्संवित्पूजा भवति कमलेऽस्मिन्सयिनाम्।
विशुद्ध्याख्ये चक्रे विपदुदितमाहुः समयिनः,
सदापूर्वो देवः शिव इति हिमानी समतनुः॥२९॥

(हे पार्वती! यह जो तेरा संवित् (हृदय) पद्म है—

यह इसकी अपर संज्ञा है। समयाचारियों की इस कमल में संवित की पूजा होती है। विशुद्धि चक्र में आकाश का उदय होता है—ऐसा ही समयाचारी कहा करते हैं यहाँ हिमसदृशशरीर वाले 'सदाशिव' रहते हैं॥२९॥

सरोजिनी (व्याख्या)—'अनाहत चक्र' ही 'संवित् पद्म' भी कहा जाता है। इसे 'संवित् कमल' इसलिए कहते हैं क्योंकि समयाचारी यहाँ संवित् की पूजा करते हैं। हृदयपद्म में ही मानसिक पूजा होती है एवं इसी में ही ध्यान भी किया जाता है। यहाँ (हृत्पद्म में) भगवती की चिति के रूप में उपासना या पूजा निष्पादित की जाती है। यहाँ भगवती कुण्डलिनी के आरोहण करने पर साधक उनका साक्षात्कार करता है। **नाद की प्रथमानुभूति** भी अनाहत चक्र (संवित् पद्म) में होती है।

मेघों में अग्नि तड़ित (बिजली) के स्वरूप में स्थित रहता है। चूँकि तड़ित की दीप्ति के साथ ही मेघों का गर्जन भी होता है (विद्युत नाद या शब्द में बदल जात है। नाद की प्रथमाभिव्यक्ति हृदय (संवित् पद्म) में ही होती है।

आचार्य शङ्कर ने भी 'संवित् कमल' के नाम से 'अनाहत चक्र' का वर्णन किया है। वे कहते हैं—

'समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं,
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानस चरम्।
यदालापादष्टादशगुणित विद्यापरिणतिः,
यदादत्ते दोषाद्गुणमखिन्नमदभ्यः पय इव।'

—सौदर्य लहरी (३८)

१. लक्ष्मीधरा श्लोक ४१

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'संवित्कमलं अनाहत चक्रनामकमिति पूर्वमेवोक्तम्।

(२) 'उपासकाः परमहंसमिथुनं संवित्मकले उपासते इति समयैकदेशिमतम्।'

(३) 'भगवत्पादमतं तु शिखिज्वालारूपः परमेश्वरः शिखिन्या स्वशक्त्या संवलितः अनाहत चक्रे दीपाङ्कुरवत् प्रतिभाति। यथोक्तं भगवत्पादैः सुभगोदय व्याख्याने—

'शिखिज्वालारूपः समय इह सैवात्र समया।
तयोस्सम्भेदो मे दिशतु हृदयाब्जैकनिलय।'

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि—'एतदेव अस्माकमपि अभिमतम्।'[1]

'संवित्' का अर्थ है ज्ञान—'संवित् ज्ञानं'।

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—'हृदयकमल' में भगवती की पूजा होने पर भगवती समस्त ऐहिक फल प्रदान करती हैं—

(१) 'एवं हृदयकमले एव समाराधिता भगवती ऐहिकानि कलानि सर्वाणि ददाति।'—समस्त ऐहिक फलों की प्राप्ति।

(२) यदि यहाँ वशिन्यादि युक्त ध्यान किया जाय तो यह ध्यान **सारस्वत विभूति** प्रदान करता है।

(३) यावकरसाप्लुत ध्यान **वशीकरण-सिद्धि** प्रदान करता है।

(४) 'मुखं बिन्दुं कृत्वा' आदि के रूप में कामकला को ध्यान करने पर यह ध्यान तदवत फल प्रदान करता है।

(५) हृदय कमल मात्र में ही होमादिक, तर्पणादिक ऐहिक कार्यों का भी निष्पादन करना चहिए।

(६) सामयिकों की ऐहिक एवं आमुष्मि दोनों प्रकार की उपलब्धियाँ केवल आन्तर पूजा पर ही आश्रित है—'अतः समयिनां ऐहिकामुष्मिकफलसाधनोपायः आन्पूजेति समयमततत्त्वम्।'[2]

श्लोक क्रमांक ३० : 'विशुद्धिचक्र' — १५ चान्द्र कलाओं १५ नित्याओं एवं १५ तिथियों के आलोक में।

'तदीयैरुद्योतैर्भवति च विशुधाख्य सदनं।
भवेत्पूजा देव्या हिमकर कलाभिः समयिनाम्।
सहस्रारे चक्रे निवसति कलापञ्चदशकं।
तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिनाम्॥३०॥

[(हे भगवती!) तुमसे उदित होने वाली ज्योति के फलस्वरूप यह चक्र विशुद्धि सदन (या विशुद्धाख्य चक्र) कहलाता है। (इस चक्र में) समयाचारा पासकों द्वारा तुम्हारी की जाने वाली पूजा चन्द्रकलाओं के रूप में निष्पादित की जाती है। 'सहस्रार

१. लक्ष्मीधरा (३८)
२. लक्ष्मीधरा (४१)

चक्र' में चन्द्रमा की जो पन्द्रह कलायें रहती हैं वे समयमार्गियों की दृष्टि में पन्द्रहनित्यास्वरूपा हैं और ये शुक्ल पक्ष में भ्रमण करती हैं (अर्थात् पन्द्रह नित्यायें शुक्र पक्ष की पन्द्रह तिथियों के रूप में स्थित हैं।।३०।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद ने २९हवें श्लोक में कहा है कि—

(१) विशुद्ध चक्र से ही आकाश का उदय होता है।

'विशुद्धयाख्ये चक्रे विपदुदितमाहुः समयिनः।' और फिर कहा है कि

(२) यहीं **हिमश्वेत सदाशिव** निवास करते हैं।

(३) अब वे यह कहते हैं कि यह चक्र **'विशुद्ध चक्र'** केवल इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह भवगती (महात्रिपुर सुन्दरी) की ज्योति से आलोकित है—यही सामयिकों की मान्यता है।

(४) 'विशुद्धि चक्र' में स्थित उसे सोलह दल सहस्रारस्थ चन्द्रमा की सोलह कलाओं के प्रतिनिधि हैं या ज्ञापक हैं। इसी कारण इस चक्र में पराभट्टारि का महात्रिपुर सुन्दरी की पूजा चान्द्रकलाओं के रूप में की जाती हैं।

(५) **आचार्य शङ्कर की दृष्टि**—आचार्य शङ्कर ने 'सौन्दर्यलहरी' में विशुद्ध चक्र के विषय में कहा है कि—

(१) विशुद्धि चक्र में शुद्धस्फटिकवत विशद शिवस्थित हैं।

(२) वे आकाश को उत्पन्न करते हैं।

(३) जगत शिव एवं शिवा दोनों की चान्द्रकान्ति के कारण ही अन्धकार को नष्ट करके चकोरीवत आनन्दित है—
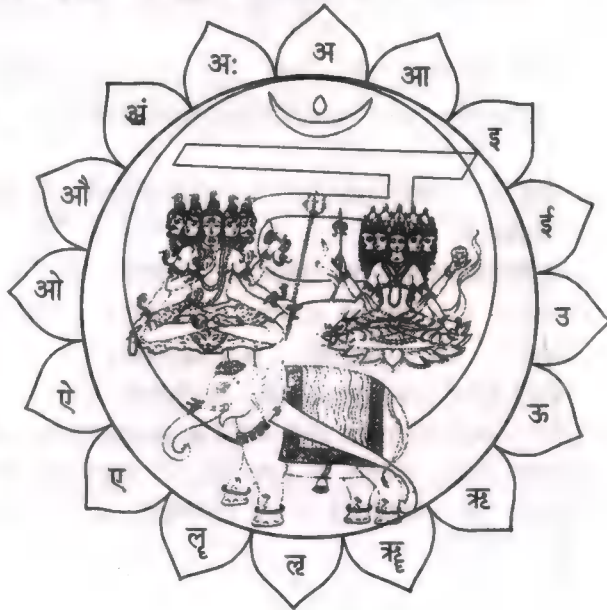
विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं।
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम्।
ययोः कान्त्यायान्त्या शशिकिरणसारूप्य सरणिं।
विधूतान्तर्ध्वान्ताविलसति चकोरीव जगती ।।३६।।

(क) 'विशुद्ध चक्र' के अधिष्ठाता भगवान सदाशिव हैं।

(ख) यह चक्र आकाश तत्त्व का स्थान है।

(ग) चूँकि कामेश्वर एवं कामेश्वरी व्योम तत्त्व के कारण (उपादान) हैं अतः वे 'व्योमेश्वर-व्योमेश्वरी' भी कहलाते हैं।

(घ) चिदम्बर सदाशिव शुद्धस्फटिकसंकाश निर्मल हैं।

(ङ) कण्ठ प्रदेश में जो 'विशुद्ध चक्र' (या विशुद्ध अवस्थित है उसके १६ दल हैं।

इस चक्र में १६ दलों पर पूर्व दिशा से अग्निकोण, दक्षिण दिशा, नैऋत्य, पश्चिम दिशा, वायव्य, उत्तर दिशा एवं ईशान् दिशा के क्रमानुसार—पञ्च दशी के १६ अक्षरों के विद्यमान होने की कल्पना की जाती है या इन १६ दलों को मंत्र के १६ अक्षरों की स्थूलाभिव्यक्ति माना जाता है। ये सभी चान्द्र कलाओं की भाँति द्योतित होते हैं। इनमें चान्द्र आलोक क्यों है? यथार्थता यह है कि सहस्रार में स्थित पूर्णकला (परा कला) के बिम्ब से जो रश्मियाँ अधोन्मुखी होकर उतरती हैं वे प्रथमतः **'आज्ञा चक्र'** में उतरती हैं और 'आज्ञा चक्र' से विशुद्धाख्य चक्र पर उतरती हैं। उन चान्द्र किरणों का 'विशुद्ध चक्र' के दलों पर प्रतिबिम्बन ही उन्हें आलोक प्रदान करता है।

योगशास्त्र की दृष्टि से विशुद्धाख्य में स्थित वर्ण—

विशुद्ध चक्र का स्वरूप—

विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजममलं धूमधूम्रावभासं।
स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसितैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः।
समास्ते पूर्णेन्दुप्रथिततमनभोमण्डलं वृत्तरूपम्।
हिमच्छायानागोपरिलसिततनोः शुक्लवर्णाम्बिरस्य ।।

पूर्णानन्द यति—'षट् चक्र निरूपणम्'

योगशास्त्र की दृष्टि—

'विशुद्ध चक्र' के षोडश दल (अ से अः तक)

अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः।। }
(१)(२)(३)(४)(५)(६)(७)(८)(९)(१०)(११)(१२)(१३)(१४)(१५)(१६)

विशुद्ध पद्म की कर्णिका के मध्य चन्द्रमण्डल के समान शुक्ल वर्ण वाला गोलाकार एक **आकाश मण्डल** है। आकाश मण्डल के मध्य **आकाश बीज** है ओर आकाश बीज की गोद में भगवान **सदाशिव** स्थित हैं। (आकाश बीज (शुक्ल वर्ण का) 'हँ' अक्षर है। आकाश बीज की चार भुजाएँ हैं। यह भुजाओं में (१) पाश (२) अङ्कुश (३) नर एव (४) अभय मुद्रा धारणा फिर हुए है। सदाशिव **त्रिनेत्री, पञ्चमुखी, दशभुजी** एवं व्याघ्रचर्मासीन, श्वेत एवं स्फटिकाम स्वच्छ एवं सुदीप्त हैं।

'श्रीविद्या' की दृष्टि से विशुद्ध चक्र के षोडशाक्षर

'श्रीविद्या' एवं 'समयमत' के अनुसार 'विशुद्ध चक्र' के १६ दल सहस्रास्थ चन्द्रमा की १६ कलाओं के प्रतिनिधि हैं अतः यहाँ वर्णों के रूप में (विशुद्ध पद्म के दलों पर)

(क) 'क' 'ए' 'ई' 'ल' 'ह्रीं'
(ख) 'ह' 'स' 'क' 'ह' 'ल' 'ह्रीं' } पञ्चदशाक्षरी विद्या के वर्ण।
(ग) 'स' 'क' 'ल' 'ह्रीं' —अङ्कित हैं।

ये 'वर्ण' चन्द्रमा की कलाओं की भाँति ही चमकते हैं।

शारांश—'चितिशक्ति' (१६हवीं चान्द्रकला, लक्ष्मी बीज, 'परा कला') का सम्बन्ध-जाल इस प्रकार है—

चितिशक्ति (पराकला)

चितिशक्ति का सहस्रार से सम्बन्ध
चितिशक्ति का खण्डत्रय से सम्बन्ध
चितिशक्ति का खण्डत्रय से सम्बन्ध
चितिशक्ति और नित्य कलाओं का सम्बन्ध
चितिशक्ति का कूटत्रय से सम्बन्ध
पञ्चदशाक्षरी मंत्र से सम्बन्ध
चितिशक्ति का सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि से सम्बन्ध। (मंत्र त्रिखण्डात्मक है)
सुषुम्णा का मातृकाओं से सम्बन्ध
मातृकाओं का इड़ा, पिङ्गला नाड़ियों से सम्बन्ध
चितिशक्ति का तिथियों से सम्बन्ध
चितिशक्ति का श्रीचक्र से सम्बन्ध
चितिशक्ति का सहस्रारस्थ चन्द्र से सम्बन्ध
चितिशक्ति एवं श्रीचक्र का विश्व से सम्बन्ध
चितिशक्ति का परमचैतन्य से सम्बन्ध
चितिशक्ति का आत्मा से सम्बन्ध
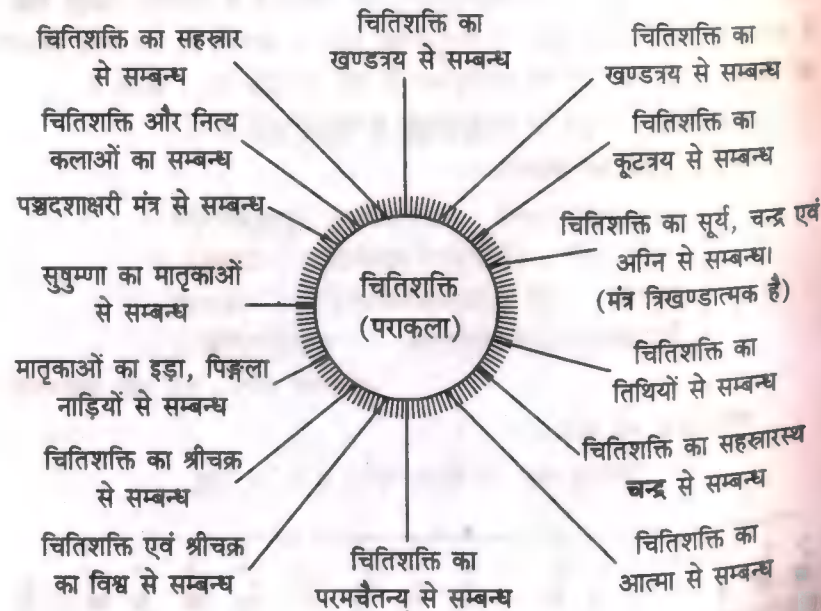
'श्रीविद्या' चान्द्रकला, षोडशनित्या एवं तिथियों के आलोक में।

वाग्भव कूट — क ए ई ल ह्रीं
कामराज कूट — ह स क ह ल ह्रीं
शक्ति कूट — स क ल ह्रीं
श्री पराकला

श्री विद्या

१६ नित्यायें

श्री विद्या

सहस्रारस्थ चन्द्रमा की १६ चन्द्र कलायें

तिथियाँ
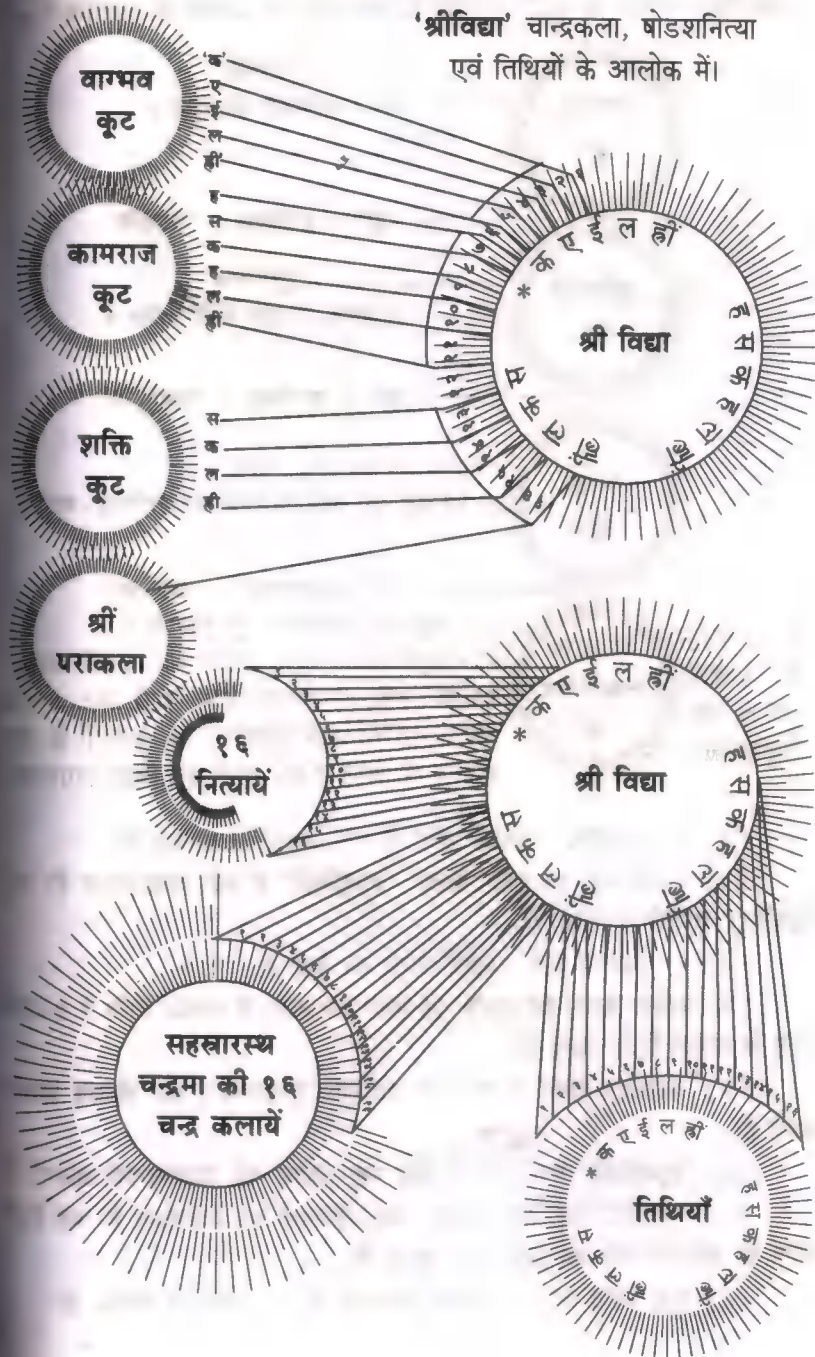
* **श्रीविद्या**—विद्या के कूटों, भगवती के शरीराङ्गों एवं ग्रंथियों के आलोक में *
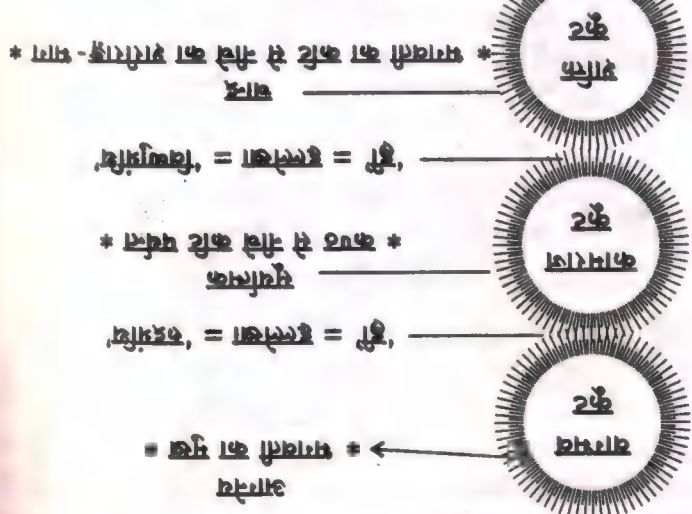
वाग्भव कूट — आग्नेय * भगवती का मुख *

'ह्रीं' = हल्लेखा = 'रुद्रग्रंथि'

कामराज कूट — सूर्यात्मक * कण्ठ से नीचे कटि पर्यन्त *

'ह्रीं' = हल्लेखा = 'विष्णुग्रंथि'

शक्ति कूट — चान्द्र * भगवती का कटि से नीचे का शरीराङ्ग-भाग *

'ह्रीं' = हल्लेखा = 'ब्रह्मरेखा'

पराकला (लक्ष्मीबीज) श्रीं

'श्री' या चन्द्रमा की १६हवीं कला = महात्रिपुरसुन्दरी॥

(१) चतुर्थपाद। चन्द्रकला (गुरुमुखगम्य)।
(२) (मूलनित्या। एकरस। चन्द्रमा की १६हवीं कला। १६हवीं नित्या। नित्योदिता: उदयास्त से रहित = वृद्धि-क्षय से अतीत। अपरिवर्तनशील। १५ कलाओं के अस्त होने पर भी अस्त न होने वाली एक चिद्रूपा पराकला॥

(१) **१५ कलायें** 'पञ्चदशी मन्त्र' के १५ अक्षरों से सम्बद्ध हैं।

(२) चन्द्रमा की **१६हवीं 'कला' 'शुद्धचिति'** है और समाधिगम्य है। यही **महात्रिपुर सुन्दरी** कहलाती है।

(३) १५ कलायें इसी १६हवीं कला का अङ्ग हैं।

(४) **प्रत्येक कला का पूजन एवं** ध्यान उस कला से सम्बद्ध तिथि में १६हवीं कला के सहित किया जाता है।

(५) **'सहस्रार चक्र'** के मध्य में अवस्थित चन्द्रमण्डल को **'बैन्दव स्थान'** कहते हैं।

(६) **'शुद्धचिति'** पूर्ण चेतन है और यह **'शक्ति' की 'आनन्दमयी कला'** है।

(७) 'पञ्चदशी मन्त्र' का १६हवाँ अक्षर भगवती का स्वस्वरूप है। यह नित्य कला है। इसी से सभी का उदय हुआ करता है।

(८) शुद्ध चिति की १५ कलायें पञ्चदशी के १५ वर्णों से सम्बद्ध है।
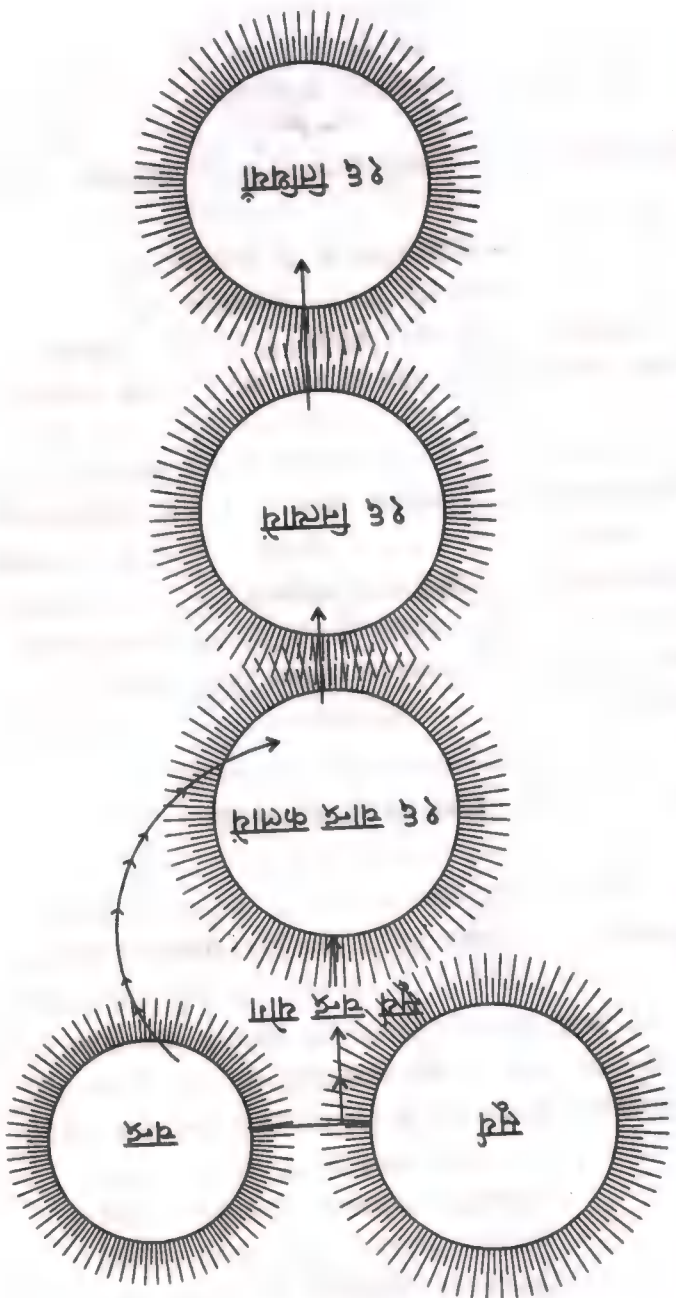
श्रीविद्या

श्लोक क्रमांक ३१ : समया की पूजा शुक्ल पक्ष एवं ग्रंथित्रय

'अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिनमिह त्वां भगवतीं,
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे समयिनः।
शुचिः स्वाधिष्ठाने रविरुपरि संवित्सरसिजे,
शशी चाज्ञाचक्रे हरि-हर-विधि ग्रन्थय इमे ॥३१॥

[इसलिए शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन रात्रि के चरम भाग में समयाचारोपासक आप भगवती की सेवा (पूजा करते है। **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में अग्नि, ऊपर **'अनाहत पद्म'** में सूर्य एवं **'आज्ञा चक्र'** में चन्द्रमा स्थित हैं और ये ही 'हरि' (विष्णु 'हर' (रुद्र) एवं 'विधि' (ब्रह्मा) ग्रंथियाँ हैं॥३१॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—षट् चक्रों में तीन ग्रंथियाँ हैं। ये **'ब्रह्म ग्रंथि'** 'विष्णु ग्रन्थि एवं 'रुद्रग्रंथि' कहलाती हैं। इने अवस्थान (स्थान विशेष में स्थिति) के विषय में दृष्टि-भेद है।

ग्रंथित्रय और उनकी स्थिति

(१) **'ब्रह्मग्रंथि'**	(२) **'विष्णुग्रंथि'**	(३) **'रुद्रग्रंथि'**
(१) **'ललिता सहस्रनाम'** (क) मूलाधारैकनिलया **ब्रह्म ग्रंथि** विभेदिनी'– * **'मूलाधार'** में ब्र.ग्र.	(१) **'ललिता सहस्रनाम'** (क) 'मणिपूरान्तरुदिता **विष्णुग्रंथि** विभेदिनीरुद्रग्र : **मणिपूर'** में वि.ग्र.	(१) **'ललिता सहस्रनाम'** (क) 'आज्ञाचक्रान्तरालस्था **ंथि** विभेदिनी॥ : **'आज्ञाचक्र'** में रु.ग्रं
(२) **'सुभगोदयस्तुति'** में व्यक्त **आचार्य गौड़पाद** की दृष्टि— (क) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में = **'विष्णुग्रंथि'**	(२) **आचार्य गौड़पाद** की दृष्टि— (ख) **'अनाहत चक्र'** में **'रुद्रग्रंथि'**।	(२) **आचार्य गौड़पाद** की दृष्टि— (ग) **'आज्ञा चक्र'** में **'ब्रह्मग्रंथि'**।

'शुचिः **स्वाधिष्ठाने**, रविरुपरि संवित्सरसिजे।
शशी **चाज्ञाचक्रे हरि हर विधि** ग्रन्थय इमे ॥'

—'सुभगोदय स्तुति'

(३) **'सौभाग्यलक्ष्युपनिषद का मत**	**'सौभाग्यलक्ष्युपनिषद**	**'सौभाग्यलक्ष्युपनिषद**
'ब्रह्मग्रंथि' मूलाधार चक्र में है।	**'विष्णुग्रंथि'** 'स्वाधिष्ठान चक्र' में है। 'विष्णुग्रंथे स्ततो भेदात् परमानन्दसंभवः॥'	**'रुद्रग्रंथि'** मणिपूर चक्र में है।

(४) आचार्य लक्ष्मीधर की ग्रंथि विषयक दृष्टि—

आचार्य लक्ष्मीधर **'लक्ष्मीधरा'** (१४हवाँ श्लोक) में ग्रंथियों का परिचय इस प्रकार देते हैं—

(१) 'श्री चक्र' त्रिखण्डात्मक है।

(२) श्री चक्र के तीन खण्ड इस प्रकार हैं—

(क) **'सोम खण्ड'** (ख) **'सूर्य खण्ड'** (ग) **'अनल खण्ड'**

(१) प्रथम खण्ड : मूलाधार-स्वाधिष्ठान चक्र। अग्नि स्थान

(२) द्वितीय खण्ड : मणिपूर अनाहत चक्र' सूर्य स्थान

(३) तृतीय खण्ड : विशुद्धि चक्र आज्ञा चक्र : सोम स्थान

'आधार स्वाधिष्ठान—मणिपूरानाहत-विशुद्धयाज्ञा चक्रात्मकं **'श्रीचक्र'** सोमसूर्यालात्मकम्।

(१) **प्रथम खण्ड के ऊपर 'अग्नि स्थान'** है। और वही रुद्र ग्रंथि है—'अत्र प्रथम खण्डोपरि अग्निस्थानम्। तदेव **रुद्रग्रंथि**रित्युच्यतै।'

(२) **द्वितीय खण्ड के ऊपर 'सूर्य स्थान'** है और उसे ही **'विष्णु ग्रंथि'** हा गया है—

'द्वितीय खण्डोपरि सूर्य स्थानम्। तदेव **विष्णुग्रंथि**रित्युच्यते।

(३) **'तृतीय खण्ड के ऊपर 'चन्द्रस्थान'** है और उसे ही **'ब्रह्मग्रंथि'** कहते हैं—'तृतीयखण्डोपरि चन्द्रस्थानम्। तदेव **ब्रह्मग्रंथि** रित्युच्यते ॥'

—लक्ष्मीधरा (१४हवाँ श्लोक)

(५) **गोरक्षनाथ की दृष्टि**—योगिराज गोरक्षनाथ कहते हैं कि—

(१) प्राणसंयमन से वायु के द्वारा प्रज्वलित अग्नि कुण्डलिनी को प्राप्त करती हुई सुषुम्णा नाड़ी के मुख में प्रवेश करके वज्र दण्ड में वायु-वह्नि के साथ प्रविष्ट होकर **'ब्रह्मग्रंथि'** का भेदन करती है।

(२) इसके बाद वह **'विष्णु ग्रंथि'** का भेदन करके 'रुद्रग्रंथि' में स्थित हो जाती है—

'वायुनाज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
संतप्ता साग्निना नाड़ी शक्तिस्त्रैलोक्य मोहिनी॥
प्रविशेद वज्रदण्डे तु सुषुम्णावदनन्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं **ब्रह्मग्रंथि भिनत्ति सा**॥
विष्णु ग्रंथिततो भित्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।[1]

१. योगबीज (९७-९८)

सारांश यह कि—

(१) मूलाधार चक्र से सम्बद्ध **'ब्रह्मग्रंथि'** है।

(२) **'विष्णु ग्रंथि'** एवं **'रुद्रग्रंथि'** ब्रह्मग्रंथि के बाद यथाक्रम स्थित हैं।

'रुद्रग्रंथि, सर्वोपरि ग्रंथि है क्योंकि उसका भेदन करने के बाद शिवात्मकता की प्राप्ति होती है—

'रुद्रग्रंथि' सर्वोपरि ग्रंथि है क्योंकि उसका भेदन करने के बाद शिवात्मकता की प्राप्ति होती है—

'रुद्रगंथि ततो भित्वा सैव याति शिवात्मकाम्।'[१]

(६) **'अमरौघप्रबोध' में गोरक्ष-प्रतिपादित दृष्टि**—गुरु गोरक्षनाथ **'ग्रंथित्रय'** की विवेचना **'अमरौघ प्रबोध'** में भी की है। उसके अनुसार—

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद वेधादानन्दा .... न्यसंभवम्।
विचित्रक्वणको देहऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥४६॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान्।
सम्पूर्ण हृदयश्शूर आरम्भो योगिनो भवेत् ॥४७॥
द्वितीयां घटी कृत्य, वायुर्भवति मध्यगः।
दृढ़ासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमप्रभः ॥४८॥
विष्णुग्रन्थेस्तथा वेधात् परमानन्दसूचकः।
अतिशून्ये विमर्दश्च मेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥४९॥
तृतीयायां ततो भित्वा विपाको मर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा जातं सर्वसन्धि समाश्रयम् ॥
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोषमृत्युजरादुःखक्षुधा निद्राविवर्जितः।
रुद्रग्रंथि ततो भित्वा सत्वपीठगतोऽनिलः ॥

(७) **हठयोगप्रदीपिका में प्रतिपादित दृष्टि**—हठयोग प्रदीपिकाकार का कथन है कि—

'ब्रह्मग्रंथेर्भवेद ध्यानन्दं शूनयसम्भवः।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः।
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्य गन्धस्त्वरोगवान्
सम्पूर्णा हृदयः शून्यः आरम्भे योगवान भवेत् ॥'

---

१. योग बीज (१२७)

द्वितीयायां घटी कृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढ़ासनो भवेद् योगी ज्ञानी देवसमस्तदा।
विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः।
अति शून्ये विमर्दश्च भेरी शब्दस्तदा भवेत् ॥

तृतीयां तु विज्ञेयोविहायो मर्दल ध्वनिः।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्।
चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोषदुःखजरा व्याधि क्षुधानिद्राविवर्जितः।
रुद्रग्रंथि यदाभित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥

'शुचिः स्वाधिष्ठाने'—

'स्वाधिष्ठान चक्र' का स्वरूप एवं अन्य विवरण आचार्य शङ्कर कहते हैं—

'तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्त जननि! महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते,
दयार्द्रा या दृष्टिश्शिशिर मुपचारं रचयति ॥३९॥

—सौन्दर्य लहरी

'स्वाधिष्ठान चक्र' शिवसंहिताकार की दृष्टि—

द्वितीयन्तु सरोजं च लिङ्गमूले व्यवस्थितम्।
बादिलान्तं च षडवर्णं परिभास्वरषड्दलम्।
स्वाधिष्ठानाभिधं ततु पंकजं शोणरुपकम्।
वाणख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी।
मो ध्याययति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम्।
तस्यकामाङ्गनाः सर्वा भजन्ते काममोहिताः ॥
विविधं चाक्षुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद् ध्रुवम्।
सर्वरोग विनिर्भुक्तो लोके चरति निर्भयः।
मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते।
तस्य स्यात् परमा सिद्धिरणिमादि गुण प्रदा।
वायु सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वद्धे वर्द्धते।

(१) विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं के प्रतिनिधि हैं। (विशुद्ध चक्र = १६ दल = चन्द्रमा की १६ कलायें) इस चक्र में राजराजेश्वरी का पूजन चन्द्रकलाओं के रूप में किया जाता है।

(२) शुक्ल पक्ष की **१५ तिथियाँ नित्यास्वरूपा** हैं। इसीलिए भवगती का पूजन शुक्ल पक्ष में ही होता है।

(३) **भगवती कुण्डलिनी** का उब्दोधन (जागरण/उत्थापन) भी शुक्लपक्ष में निष्पन्न किया जाता है।

(४) प्र. **ऐसा क्यों किया जाता है?** यह इसलिए किया जाता है क्योंकि **'शुक्लपक्ष'** में ही अमृत का अधिक्य होता है।

शुक्लपक्ष में ही चन्द्रमा से अमृत का क्षरण होता है। अतः उसी समय अमृत की प्राप्ति होती है।

(५) चन्द्रमा सूर्य से ताप लेकर शुक्लपक्ष में चाँदनी बिखेरता है। चूँकि चन्द्रोदय दिन में नहीं रात्रि में होता है अतः चन्द्रकला की उपासना भी रात्रि में ही होती है।

(६) **'तैत्तिरीय ब्राह्मण'** (३/१०/१०) में कहा गया है कि योगी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही योग-साधना करनी चाहिए।

(७) **नामधुकृतः** की व्याख्या करते हुए आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—[1]

'ताः रात्रयः' मधु कुर्वन्तीति **'मधुकृतः'**। रात्रिष्वेव मधुनः संग्रह इति लोक प्रसिद्धिः। रात्रावेव चन्द्रकला रूपायाः श्री विद्यायाः अनुष्ठानम् न च दिवसे इति उपदेशः॥[2]

आचार्य श्री **गौड़पाद** ने जो ग्रंथिक्रम बताया है वह 'ललिता सहस्रनाम' आदि अनेक ग्रंथों से भिन्न है।

प्र. **'आज्ञा चक्र' को गौड़पादाचार्य ने 'ब्रह्मग्रंथि' क्यों कहा ?**

उत्तर—(१) 'आज्ञा चक्र' चन्द्रमा का स्थान है।

(२) चन्द्रमा से ही नित्याओं (चान्द्र किरणों) की उत्पत्ति होती।

(३) आज्ञा चक्र आत्मा एवं मन दोनों का स्थान है।

(४) यही से समस्त तत्त्वों की उत्पत्ति होती है।

इन्हीं सब कारणों से गौड़पाद ने इसे **'ब्रह्मग्रंथि'** कहा।

योग के कई ग्रंथों में ग्रंथियों का क्रम इस प्रकार भी मिलता है।

(१) 'रुद्र ग्रंथि' (२) 'विष्णु ग्रंथि' (३) 'ब्रह्मग्रंथि'।

ग्रंथि और ग्रंथित्रय—'ग्रंथि' गाँठ को कहते हैं। दो पृथक्-पृथक् वस्तुओं को जोड़ने से या गट्ठर आदि बाँधने से रस्सी में गाँठ पड़ जाती है। इसे ही 'ग्रंथि' कहते हैं।

---

१. आचार्य लक्ष्मीधर

२. लक्ष्मीधरा

कभी-कभी एक ही पदार्थ या वस्तु में विकारोद्भव के कारण द्वन्द्वों की ग्रंथियाँ (उलघनों की ग्रंथियाँ) उसी प्रकार पड़ जाती है यथा उलझे बालों या धागों में।

तुलसीदास जी ने 'ग्रंथि' को जड़ प्रकृति एवं चेतन आत्मा में पड़ने की बात करते हुए कहा है कि—

'जड़ चेतन हिं ग्रंथि पड़ि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

(१) आत्मा में देह, इन्द्रिय आदि का अध्यास (अध्यारोप)

(२) तथा देह एवं इन्द्रियादि में आत्मा का अध्यास ही इस 'ग्रंथि' का कारण है—

आत्मा में देहाध्यास या देह में आत्मा ध्यास इसी विपर्यय ज्ञान (अध्यास) का कारण है।

(१) सत्व गुण के योग से उत्पन्न अध्यास : 'विष्णु ग्रंथि'

(२) रजोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास : 'ब्रह्मग्रंथि'

(३) तमोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास : 'रुद्रग्रंथि'

कहा गया है। सारांश यह कि—

(क) स्थूल देहाध्यास	—	'रुद्रग्रंथि'	'मूलाधार'
(ख) इन्द्रियाद्यूत अध्यास	—	'ब्रह्मग्रंथि'	'आज्ञाचक्र'
(ग) अन्तःकरण के योग से आविर्भूत ग्रंथि	—	'विष्णु ग्रंथि'	हृदय

इस अध्यास की निवृत्ति ही **'ग्रंथि-उद्भेदन'** है।

इतरेतर अध्यारोपण एवं मिथ्या ज्ञान ही 'अध्यास' है।

'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः अध्यासः।' अतद् में 'तद् की प्रतीति या 'तद्' का ज्ञान ही अध्यास है। अध्यास (मिथ्याज्ञान) के अनेक रूप हैं।

शास्त्रों के नाम		**भ्रम या मिथ्या ज्ञान का नाम**
(१) पूर्व मीमांसा	—	'अख्याति वाद'
(२) वैशेषिक एवं न्याय शास्त्र	—	'अन्यथा ख्याति'
(३) बौद्धों का शून्य वाद	—	'असत् ख्याति वाद'
(४) सांख्य दर्शन	—	'सद्सत ख्याति वाद'
(५) वेदान्त दर्शन	—	'अनिर्वचनीय ख्याति'

एक वस्तु का अन्यत्र मिथ्या वभास ही भ्रम ज्ञान है—अध्यास है—विपर्यय ज्ञान है।

अध्यास ही ग्रंथि का कारण, अध्यास क्या है? भगवान राम लक्ष्मण से कहते हैं—

'यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्जवादिके तद्वदजीश्वरे जगत् ।।[१]

यह भी कहा गया है कि—

(१) भूत-जय द्वारा — 'रुद्रग्रंथि' का वेध होता है।

(२) इन्द्रिय-जय द्वारा — 'ब्रह्मग्रंथि' का वेध होता है।

(३) मनो-जय द्वारा — 'विष्णु ग्रंथि' का वेध होता है।

'संवित् सरसिजे'—संवित् सरसिज का उल्लेख आचार्य शङ्कराचार्य ने भी किया है—

'समुन्मीलत्संवित् कमलमकरन्दैकरसिकं,
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिः ।
यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमध्दःपय इव ।।[२]

'संवित कमल' अनाहत चक्र का नामान्तर है।

समयैकदेशिमत में उपासक परमहंसमिथुन की संवित् कमल में उपासना किया करते हैं—

'संवित्कमलं अनाहत चक्रनामकमिति। उपासकाः परमहंस मिथुनं संवित्कमले उपासते इति समयैकदेशिमतम्। भगवत्पादमतं तु—शिखिज्वालारूपः परमेश्वरः शिखिन्या स्वशक्त्या संवलितः अनाहत चक्रे दीपाङ्कुर वत प्रतिभातीति। यथोक्तं भगवत्पादैः—

सुभगोदय व्याख्याने—

'शिखिज्वालारूपः समय इह सैवात्र समया।
तयोस्सम्भेदो मे दिशतु हृदयाब्जैकनिलयः ।।'[३]

लक्ष्मीधर की दृष्टि—'एतदेव अस्माकमपि अभिमतम्' (लक्ष्मीधरा ३८)

'शशी चाक्षाचक्रे'—आज्ञा चक्र में चन्द्रमा स्थित है।

ब्रह्मानन्द की दृष्टि—'हठयोग प्रदीपिका' के प्राख्यात टीकाकार ब्रह्मानन्द गिरि का कथन है कि ग्रंथियों का परिचय इस प्रकार है—

(१) **'ब्रह्म ग्रंथि'** 'अनाहत चक्र' में है।

---

१. अध्यात्म समापण (उत्तरकाण्डासर्ग ५/३७)
२. सौन्दर्य लहरी (३८)
३. लक्ष्मीधरा ३८

(ब्रह्मग्रंथेरनाहत चक्रे वर्तमानाया भेद : प्राणायामाभ्यासेन भेदनं।। 'ज्योत्स्ना')

'अनाहत चक्र' या हृदय में 'विचित्र क्रणाक' (अलंकारों की ध्वनि) श्रुतिगोचर होते हैं।

(२) **'रुद्र ग्रंथि'** आज्ञा चक्र में है।

'रुद्रग्रंथिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैशवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।।'[१]

ज्योत्स्नाकार कहते हैं—'यदा रुद्रग्रंथिं भित्वा आज्ञा चक्रे रुद्रग्रन्थिः शर्वस्येश्वरस्य पीठभ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलःप्राणो भवति तदा।।'

अर्थात् 'आज्ञा चक्र' में 'रुद्रग्रंथि' है।

(३) **'विष्णु ग्रंथि'**—ज्योत्स्नाकार कहते हैं कि—

'ततो ब्रह्मग्रंथि भेदनानन्तरं **विष्णुग्रन्थेः** कण्ठे वर्तमाना या भेदात्कुम्भकैर्भेदनात् परमानन्दस्य भाविनो ब्रह्मानन्दस्य सूचको ज्ञापकः ।।

ज्योत्स्नाकार कहते हैं कि—

(क) **'अनाहत चक्र'** में—'ब्रह्मग्रंथि' है।

(ख) कण्ठ या **'विशुद्धि चक्र'** में — 'विष्णुग्रंथि' है।

(ब्रह्मग्रंथि के बाद 'विष्णु ग्रंथि' आती है अतः टीकाकार का कथन है कि 'ब्रह्मग्रंथि भेदानन्तरं विष्णु ग्रंथेः')

यह विष्णु है कहाँ? कण्ठ में।

(ग) **'आज्ञा चक्र'** में 'रुद्रग्रंथि' है।

सारांश— ग्रंथिस्थान

(१)	(२)	(३)
'ब्रह्मग्रंथि'	'विष्णुग्रंथि'	'रुद्रग्रंथि'
(अनाहत चक्र में)	(कण्ठ। विशुद्धि चक्र में)	(आज्ञा चक्र में)[१]
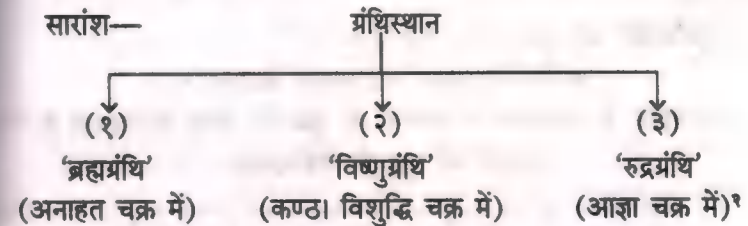
'अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिनमिह त्वां भगवतीं'—

(भगवती ललिता की उपासना का आदर्श समय)

वैसे तो भगवान एवं भगवती की उपासना साधक द्वारा अपनी अहोरात्र भी २१ हजार ६०० साँसों के द्वारा प्रतिक्षण की जा सकती है। किन्तु उनकी साङ्गोपाङ्ग आदर्श साधना का समय पृथक रूप से निर्धारित किया गया है।

---

१. हठयोग प्रदीपिका (७६)
२. ज्योस्त्ना

(१) **साधना के लिए वरेण्य पक्ष—**

(क) **आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद** कहते हैं कि यदि श्री देवी (राज राजेश्वरी) की उपासना करनी हो तो **शुक्ल पक्ष** में और वह भी तुरीय (चरम) भाग में करनी चाहिए।

अतः शुक्ले पक्षे प्रतिदिन मिहत्वां भगवतीं,
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे समयिनः ॥[१]

सारांश यह कि भगवती की उपासना—

(क) प्रतिदिन (ख) रात्रि के समय (ग) रात्रि के चरम भाग में (घ) शुक्लपक्ष में की जा सकती है।

(ख) **ललितासहस्रनामोक्त दृष्टि**—'ललिता सहस्रनाम' में हयग्रीव अगस्त्य से कहते हैं—

'प्रतिमासं **यश्चक्रराजस्थामर्चयेत् परदेवताम्** ।
स एव ललितारूपस्तद्रूपा ललितास्वयम् ॥'

सारांश यह है कि साधक को प्रतिमास **'पूर्णमासी'** की तिथि को **रात्रि के समय चक्रराज में भगवती को** अवस्थित मानकर उन परदेवता राजराजेश्वरी की पूजा करनी चाहिए। (यह पूजा का विशेषावसर है।)

जो भी व्यक्ति (१) प्रतिमास (२) पूर्णमासी की तिथि को(३) रात्रि में **ललिता सहस्रनाम का पाठ** करते हुए (४) **श्री यंत्र** (चक्रराज) में स्थित भगवती **महात्रिपुर सुन्दरी की पूजा** (उपासना) करता है वह भगवती ललिता के समान ही हो जाता है यह वह स्वयं ललिता देवी ही है।[२]

'पूर्णमासी' की पूजा विशेष पूजा है—

'कीर्ययेन्नाम साहस्रं पौर्णमास्यां विशेषतः'[३]

'पूर्णमासी' के अतिरिक्त भी भगवती की पूजा के अनेक विशेषाकार हैं।

भगवती की पूजा के विशेषावसर

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)
पुण्य वासर पूर्णमासी	संक्रान्ति	ग्रीष्म-शरद के विषुव	स्वजन्म	अयन	नवमी	चतुर्दशी	शुक्रवार
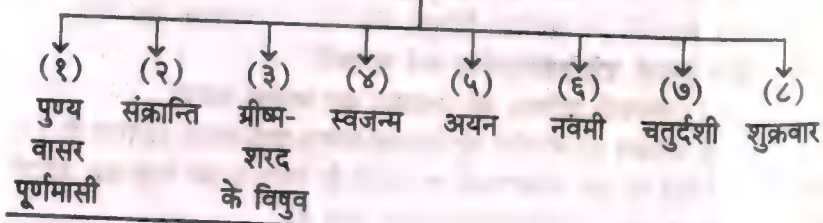
१. सुभगोदय स्तुति (३१)
२. ललिता सहस्रनाम (अध्याय ३/५ = ५६
३. ललिता सहस्रनाम (अ.३/२१)

'स्वजन्मत्रितय' = (क) (१) अपना जन्म दिन (२) अपनी पत्नी का जन्म दिन (३) अपने पुत्र का जन्म दिन। या

(ख) (१) अपना जन्मदिन (२) दीक्षादिवस (३) पूर्णाभिषेक दिवसाया

(ग) नक्षत्रत्रय — (घ) प्रत्येक नवाँ नक्षत्र। (अनुजन्म)

(ग) **नक्षत्रय =** अपने जन्म के समय से सम्बृद्ध एवं उसके आगे के दो और नक्षत्र। **'ललितासहस्रनाम' में कहा गया है—**

संक्रान्तौ विषुवे चैव स्वजन्मत्रितयेऽयने ॥२५३॥
नवम्यां वा चतुर्दश्यां सितायां शुक्रवासरे ।
कीर्तयेन्नामसाहस्रं पौराभिस्यां **विशेषतः** ॥२५४॥
'पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्री ललिताम्बिकाम् ।
पञ्चोपचारै संपूज्य पठेन्नामासहस्रकम् ॥२५५॥

जो लोग भगवती की सविध पूजा करने में अशक्त हैं उनके लिए 'पुण्यवासरों' में पूजा करने का विधान रखा गया है—

'नित्यं संकीर्तनाशक्तः कीर्तयेत्पुण्यवासरे ।
संक्रान्तौ विषुवे चैव स्वजन्मत्रितयेऽयने ।
नवम्यां वा चतुर्दश्यां सितायां शुक्रवासरे ।
कीर्तयेन्नाम साहस्रं **पौर्णमास्यां** विशेषतः ।'
पौर्णमास्यां चन्द्रबिम्बे ध्यात्वा श्री ललिताम्बिकाम् ।
पञ्चोपचारैः संपूज्य पठेन्नाम सहस्रकम् ॥२५५॥

आचार्य भास्कर राय ('सौभाग्य भास्कर' में) कहते हैं।

'पुण्यवासरे' = कपिलाषष्ठ्यर्धोदयदिदिवसे'॥[१]

वक्ष्यमाण संक्रान्ति पर। **'विषुव'** = मेष एवं तुला राशि के सूर्य में प्रवेश के दिन।[२]

'स्वजन्मत्रितये'—(१) स्वस्य, स्वभार्यायाः, स्वपुत्रस्य जन्म नक्षत्रेषु। (२) स्वस्य जन्मकालीनं नक्षत्रंततपूर्व पर नक्षत्रे द्वे इत्येवं त्रितये। (३) स्वस्य जन्म नक्षत्र मारभ्य गणनायां प्रथमदशमैकोनविंशनक्षत्रय दिवसेषु।[३]

(४) स्वजन्मदिवस दीक्षा दिवस-पूर्णाभिषेकदिनत्रये

(५) एवं व्याख्या वैचित्र्यस्थले यथा संप्रदायं व्यवस्था। इस दिशा में शास्त्र विधान यह है कि—

१. सौभाग्य भास्कर
२. सौभाग्य भास्कर
३. सौभाग्य भास्कर

'तन्त्राणां बहुरूपत्वात्कर्तव्यं गुरुसंभतम्'

'अयने' = कर्क एवं मकर के सूर्य में प्रवेश के दिन। पूर्णमासी के दिन 'ललिता सहस्रनाम' का पाठ करना चाहिए और यह कल्पना भी करनी चाहिए कि भगवती महात्रिपुर सुन्दरी चन्द्रमा में आसीन है। चन्द्रमण्डलासीना भगवती का ध्यान करते हुए ही भगवती के सहस्रनाम का पाठ करना चाहिए।

पूर्णचन्द्र में **'सादाख्या कला'** भगवती त्रिपुरसुन्दरी के स्वयप में आसीन रहती हैं। अन्य १५ चान्द्र कलायें (भाग) कामेश्वरी की देवियाँ हैं जो कि प्रतिपदा से लगातार १५ दिन का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये १५ कलायें १६वीं कला से सम्बृद्ध हैं और साथ ही अणिमादिक से भी सम्बद्ध हैं।

चन्द्रमण्डल (Dise of the moon) 'श्रीचक्र' ही है। यह देवी का 'श्री यंत्र) है न कि श्रीयंत्र की प्रतिकृति। इसलिए यहाँ (मूर्ति में देवी के उपस्थित होने के लिए की जाने वाली प्रार्थना रूप) आवाहन की आवश्यकता भी नहीं है। भगवती का **पञ्चोपचारपूजन** करके 'ललितासहस्रनाम' का पाठ करना चाहिए।

'पञ्चोपपचारैः संपूज्य पठेन्नाम सहस्रकम्।'

आचार्य भास्कर राय की दृष्टि—आचार्य भास्कार राय कहते हैं कि 'ललितासहस्रनाम' में नवम्यां **वा'** वाक्य में जो 'वा' (या) शब्द का प्रयोग किया गया है कि वा **'अष्टमी तिथि'** को भी पूजा के शुभावसर के रूप में ग्रहण करने का सङ्केत देती है। 'नवम्यां वेति वाकारोऽष्टभी संग्रहार्थः।' **'सितायाम्'** का क्या अर्थ है? **भास्कर राय** कहते हैं—'सितायामिति नवम्यादिषु तिसृष्वन्वेति।'

'चतुर्थशी' = चतुर्दशी का अर्थ है शुक्ल पक्षी या चतुर्दशी। (भास्कर राय)।

'चैव' का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि अशक्त (यावज्जीवन अशक्त) व्यक्ति उन दिनों में अवश्य भगवती का कीर्तन करें।

*** भगवती** त्रिपुरा की **पूजा का ललिता सहस्रनामोक्त विधान***

भगवी महात्रिपुर सुन्दरी की पूजा का संक्षिप्त विधान इस प्रकार है—

(१) भगवती को प्रसन्न करने के लिए प्रतिदिन 'ललिता सहस्रनाम' का पाठ करना चाहिए—

'श्रीमातुः प्रीतये तस्मादनिशं कीर्तयेदिदम्।'[१]

(२) बिल्वपत्र, पद्म एवं तुलसीपत्र के द्वारा 'चक्रराज' (श्रीयंत्र) में भगवती की **पूजा करनी चाहिए क्योंकि इससे भगवती तत्काल प्रसन्न हो उठती हैं—**

---

१. ललिता सहस्रनाम (१/२०)

'बिल्वपत्रैश्चक्रराजे योऽर्चयेल्ललिताम्बिकाम्।
अब्जैर्वा तुलसीपुष्पैरेभिनभिसहस्रकैः ॥'
सद्यः प्रसादं कुरुते तत्र सिंहासनेश्वरी ॥

(३) प्रथमतः **चक्राशिराज की पूजा** करके एवं उसे बाद **'पञ्चदशाक्षरी' मन्त्र का** जप करके जप के अन्त में **'ललितासहस्रनाम'** का प्रतिदिन पाठ करना चाहिए।

'चक्राधिराजमभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम् जपान्ते कीर्तयेन्नित्यमिदं नाम सहस्रकम्।'

(४) किन्तु यदि कोई व्यक्ति यह पूजा-विधान भी सम्पन्न करने में अशक्त हो तो उसके लिए विधान यह है कि (वह जप एवं पूजा भले ही निष्पादित न कर पये किन्तु) वह भगवती के 'सहस्रनाम' (ललितासहस्रनाम') का पाठ अवश्य करे—

'जपपूजाद्यशक्तश्चेत् पठेन्नामसहस्रकम्'[१]

(५) 'सहस्रनाम' का पाठ नित्यकर्मवत करना चाहिए भगवती की संक्षिप्त तम पूजा का विधान तो 'सहस्रनाम' का पाठ मात्र करना है किन्तु यदि इस पूजा को थोड़ा सा और विस्तार दे दिया जाय तो इसके अन्य अंग निम्नाङ्कित हैं—

(क) **'चक्रराजार्चनं** , देव्या, **जपो** , नाम्नां-च कीर्तनम्।।[२]

(ख) 'भक्तस्यावश्यकमिदं नाम सहस्रकीर्तनम्।[३]

(ग) तत् पठध्वं सदा यूयं स्तोत्रं 'पत्प्रीतिवृद्धये।'

(घ) इद नामसहस्रं ये यो भक्तः पठते सकृत।

(ङ) स मेप्रियतमो ज्ञेयस्तस्मै कामान् ददाम्यहम्।

(च) **श्री चक्रे मां समभ्यर्च्य जप्त्वा पञ्चदशाक्षरीम्। पश्चान्नामसहस्रं मे कीर्तयेन्मम** तुष्टये।।

(छ) मामर्चयतु वा मा वा विद्यां जपतु वा न वा।
कीर्तयेन्नामसाहस्रमिदं मत्प्रीतये सदा।।

(ज) मत्प्रीत्या सकलान् कामांल्लभते नामसंायः।
तस्माननामसहस्रं मे कीर्तयध्वंसदादरात्।

(झ) कुरुध्वमङ्कितं **स्तोत्रं मम नामसहस्रकैः।**
येन भक्तैः स्तुताया मे **सद्यः प्रीतिः परा भवेत्।**

(ञ) **पठन्ति भक्त्या सततं ललितापरितुष्टये।**
तस्मादवश्यं भक्तेन **कीर्तनीयमिदं** मुने।।

---

१. ललिता सहस्रनाम
२. ललितासहस्रनाम
३. ललितासहस्रनाम

(ट) **चिन्तामणिगृहानतः** स्था **पञ्चब्रह्मासन** स्थिता।
महापद्माटवीसंस्था **कदम्बवन**वासिनी।
सुधासागरमध्यस्था कामाखी कामदायिनी'
'**पञ्चप्रेतासनासीना** **पञ्चब्रह्मस्व**रूपिणी।'
'श्री चक्रराजनिलया श्रीमत् त्रिपुर सुन्दरी।'
श्री शिवा शिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताम्बिका'[१]

(ठ) इसी भगवती त्रिपुर सुन्दरी का पूजा-विधान संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) इदं विशेषाच्छीदेव्याः **स्तोत्रं** प्रीतिविधायकम्।
जपेन्नित्यं प्रयत्नेन ललितोपास्तितत्परः।

(२) प्रातः **स्नात्वा** विधाने न संध्याकर्म समाप्य च।
पूजागृहं ततो गत्वा चक्रराजं समर्चयेत्।

(३) **विद्यां जपेत् सहस्रं वा त्रिशतं** शतमेव वा

(४) रहस्यनाम साहस्रमिदं पश्चात् पठेन्नरः॥

(५) **जन्ममध्ये सकृच्चापि** य एतत् पठते सुधीः॥[२]

(६) भगवती के 'श्रीचक्र' का दर्शन मात्र भी एक बहुत बड़ी पूजा है क्योंकि—
'सम्यक् शत क्रतून् कृत्वा, यत् फलं समवाप्नुयात्।
तत् फलंलभते भक्त्या' कृत्वा श्रीचक्र-दर्शनम्॥
महाषोडशदानानि, कृत्वा यल्लभते फलम्।
तत् फलं समवाप्नोति, कृत्वा श्रीचक्र दर्शनम्
सार्द्ध त्रिकोटि-तीर्थेशु, स्नात्वा यत् फलमश्नुते।
तत् फलं लभते भक्त्या, कृत्वा श्रीचक्र दर्शनम्॥[३]

'शशी चाज्ञा चक्रे'—

'आज्ञा चक्र' का स्वरूप क्या है?

आचार्य शङ्कर कहते हैं—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपन शशिकोटिद्युतिधरं,
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचित।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये,
निरालोकेऽलोके निवसति हिमालोकभुवने॥३६॥

१. ललितासहस्रनाम
२. ललितासहस्रनाम
३. यामल

शिवसंहिता कार की दृष्टि—

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी।
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नाव सीदति॥
तत्र देवः परं तेजः सर्वतंत्रेषु मन्त्रिणाः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नाम संशयः॥
तुरीयं त्रितयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम्॥
इडा हिपिङ्गला ख्याता **वरणासीति** होच्यते।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाषितः।
एतत्क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम्।
सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं यतोऽस्तिवै।
ततश्चैषा परावृत्य तदाज्ञापद्मदक्षिणे।
वामनासापुटं याति **गंगेति** परिगीयते।

—शिव संहिता

स्वच्छन्द संग्रहकार कहते हैं—

आज्ञाधारं द्विपत्राब्जं हक्ष द्विदलसंयुतम्।
हंसवतीक्ष्मापार्श्वं तयोर्मध्ये तु हाकिनी॥

इड़ा और पिङ्गला गंगा और यमुना नदियाँ हैं। उनके ही मध्य 'वारणसी' है। इनमें एक 'वरणा' नदी है और दूसरी 'असी' नदी है। दोनों का मिलन केन्द्र **वाराणसी** है। इड़ा-पिंगला के मध्य भ्रूद्वय के मध्य 'आज्ञा चक्र' स्थित है।[१]

तिथियाँ, चन्द्रकलाएँ एवं षोडशीविज्ञान

[१] *तिथियाँ और चन्द्रकलायें *

प्रत्येक **'तिथि'** किसी न किसी **'चान्द्रकला'** से सम्बद्ध है। दोनों (तिथि एवं तत्सम्बद्ध चान्द्रकला) का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. शिवसंहिता

तिथियाँ	(तिथियों के खण्ड)	चन्द्रकलायें
(१) 'प्रतिपदा'	(१) *आग्नेयखण्ड*	चन्द्रमा की प्रथमा कला 'त्रिपुरसुन्दरीकला'
(२) 'द्वितीया'		'कामेश्वरीकला'
(३) 'तृतीया'	(१) दर्शा (२) दृष्टा (३) दर्शता (४) विश्वरूपा (५) सुदर्शना	'भगमालिनीकला'
(४) 'चतुर्थी'		'नित्यक्लिन्नाकला'
(५) 'पञ्चमी'	(२) *सौरखण्ड*	'भेरुण्डाकला'
(६) 'षष्ठी'		'वह्निवासिनीकला'
(७) 'सप्तमी'	(१) (२) (३) (४) (५)	'महाविद्येश्वरीकला'
(८) 'अष्टमी'	आप्या आप्याय आप्याया सूनृता इरा	'रौद्रीकला'
(९) 'नवमी'	यमाना	'त्वरिताकला'
(१०) 'दशमी'	(३)	'कुलसुन्दरीकला'
(११) 'एकादशी'	*चान्द्रखण्ड*	'नीलपताकाकला'
(१२) 'द्वादशी'		'विजयाकला'
(१३) 'त्रयोदशी'	(१) (२) (३) (४) (५)	'सर्वमङ्गलाकला'
(१४) 'चतुर्दशी'	आपूर्य आपूर्य पूर- पूर्णा पौर्ण-	'ज्वालाकला'
(१५) 'पञ्चदशी'	माणा माणा यन्ती मासी	'मालिनीकला'

(१) प्रतिपदा तिथि में जिस **'त्रिपुरसुन्दरी कला'** का अवस्थान बताया गया है वह **चिद्रूपात्मिका कला** नहीं है।

(२)' नित्याषोडशिकार्णव' में उल्लिखित 'एकादशी तिथि' का **आचार्य लक्ष्मीधर** नित्या नहीं मानते।

(३) 'त्रिपुरसुन्दरी कला' (प्रतिपदावासिनी) को आचार्य लक्ष्मीधर **'चिद्रूपात्मिका मूलविद्या'** इसलिए नहीं मानते क्योंकि वह **'त्रिपुरसुन्दरी कला'** से पृथक रूप में विद्यमान हैं।

[२] **षोडशी** (१) अङ्गिनित्या है। १५ कलायें उसके अङ्ग हैं।

(२) (सर्वाद्या **'भगवतीमहात्रिपुर सुन्दरी)** चिद्रूपा 'षोडशी कला' हैं।

(३) अन्य १५ तिथियों अङ्गी **'षोडशीकला'** के अङ्ग हैं। अतः इन १५ तिथियों में से (१५ चान्द्र कलाओं में) प्रत्येक तिथि पर **'चिद्रूपाषोडशी कला'** का ही सकाराधन करना चाहिए।

नायिकाओं के अङ्गों में भी तिथि क्रमानुसार चन्द्रकला का प्रभाव उन-उन अङ्गों में व्यक्त होता है।

नारीशरीर के अङ्ग एवं चान्द्र कलायें

'रतिरहस्य' के चन्द्रकलाधिकार में देखिए जो इस प्रकार है—

अङ्गुष्ठे पद गुल्क जानुजघने नामौ च वक्षस्तने।
कक्षा-कण्ठ-कपोल-दन्तवसने नेत्रालिके मूर्धनि।
शुक्लाशुक्लविभागतो मृगदृशामङ्गेष्वनङ्ग स्थिति।
रूर्ध्वाधोगमनेन वामपदतः पक्षद्वये लक्षयेत्॥

गोणीपुत्रकमत—इसके अनुसार—

'मूर्धोरः स्थलवामदक्षिणकरे वक्षोरुहोरुद्वये।
नाभीगुह्यललाटजाठरकटीपृष्ठेषुतिष्ठत्यसौ।
कक्षाश्रोणिभुजेषु च प्रतिपदं प्रारम्भ्य कृष्णामथ।
श्वेतायाः प्रभृति क्रमेण मदनो मूर्धानभारोहति।
अङ्गेष्वेषु मृगीदृशां मनसिज प्रस्तावना पण्डिता।
मात्राः षोडशः चिन्तयति बहलज्योतिः स्फुलिङ्गाकृतीः।'

नन्दिकेश्वर के मत—इसके अनुसार

'एकारौकारयुक्ता हरिहरजहराः **पञ्चबाणाः स्मरस्य।'**

कामदेव के पञ्चबाण बीज

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
ह्रीं	क्लीं	ऐं	ब्लूं	स्त्रीं
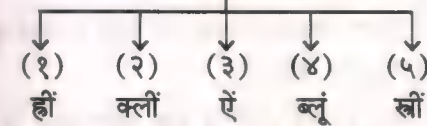
'भोगच मोक्षश्च करस्थ एव' कहकर त्रिपुरोपासकों के लिए भोग एवं मोक्ष दोनों की सम्प्राप्ति का विधान किए जाने की पृष्ठ भूमि में यही सिद्धान्त अन्तर्निहित है।

*** षोडश नित्यायें ***

(१) षोडश नित्यायें ही तिथियों के 'मूल' में विद्यमान हैं या नित्यायें ही तिथियों के रूप में प्रकट होती हैं।

(२) १६ कलाओं या तिथियों का मूल केन्द्र **'सहस्रार चक्र'** में स्थित **'चन्द्रमा'** है।

(३) १६हवीं कला **चितिशक्ति'** है। यह न तो उदित होती है और न तो अस्त होती है। यह नित्योदया है। यथार्थतः **'षोडशी कला'** ही नित्या है। अन्य कलायें अर्थात् १५ कलायें इसी **'षोडशीकला'** का आश्रय लेकर विकसित होती हैं किन्तु **'षोडशीकला'** उदयास्तातीता (उदय एवं अस्तमन से अतीत) है। यह चिद्रूपा है। यह चिदात्मिका ही नहीं प्रत्युत् **चितिशक्ति'** है।

षोडश नित्याओं का नाम—

'नित्याषोडशिकार्णव' के प्रथम पटल में इन नित्याओं का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'शृणु देवि! प्रावक्ष्यामि नित्याषोडशिकार्णवम् ।
न कदाचिन्मयाख्यातं सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ॥
तत्रादौ **प्रथमा नित्या** महात्रिपुर सुन्दरी ॥२५॥
ततः **कामेश्वरी नित्या** नित्या च **भगमालिनी** ।
नित्यक्लिन्नाभिधा नित्या **भेरुण्डा** वह्निवासिनी ॥२६॥
महाविद्येश्वरी दूती **त्वरिता** कुलसुन्दरी ।
नित्या **नीलपता** का च विजया सर्वमङ्गला ॥२७॥
ज्वालामालिनी चित्रा चेत्येवं नित्यास्तु षोडश ।
शृणु देवि! महानित्यामादौ त्रिपुर सुन्दरीम् ॥२८॥

तिथियों का रहस्य—

(१) समस्त तिथियाँ उदयास्त-हीन **'षोडशी नित्या कला'** का विस्तार हैं।

(२) 'आज्ञा चक्र' के ऊर्ध्व भाग में स्थित **चन्द्रमा की १५ कलायें हैं।**

(३) **ये १५ कलायें** 'आज्ञा चक्र' के नीचे कण्ठ में अवस्थित षोडश दलात्मक **विशुद्ध चक्र के १६ दलों में अवस्थित हैं।**

(४) 'सूर्य' एवं 'चन्द्र' देवयान-पितृयान के स्वरूप वाली इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों के मार्ग से अहोरात्र का सञ्चरण होता है।

(५) **'चन्द्रमा'** तो इड़ा नाड़ी-मार्ग से यात्रा करता हुआ ७२००० नाड़ियों को अमृत से सींचता है।

(६) **'सूर्य'** दक्षिण नाड़ी (पिङ्गला नाड़ी) के मार्ग से यात्रा करता हुआ अमृत-बिन्दुओं का उपाहरण करता है। अमृत बिन्दुओं को सोख लेता है।

(७) जब **चन्द्रमा एंव सूर्य** दोनों **'आधार चक्र'** में समाविष्ट (प्रविष्ट) होते हैं तब **'अमावस्या तिथि८** का आविर्भाव होता है।

(८) **कृष्णपक्ष की समस्त तिथियाँ** उसी से आविर्भूत होती हैं। **कृष्णपक्ष'** है क्या?

(९) उपर्युक्त कारणवश 'कुण्डलिनी शक्ति' सूर्य किरण के सम्पर्क से चन्द्रमण्डल से गलती हुई (क्षरित) आमृत बिन्दुओं से परिपूरित आधर कुण्ड में अमृत पीती हुई **सोया करती है।** उसकी यह स्वापावस्था सुषुप्ति) ही **'कृष्णपक्ष'** के नाम से प्रख्यात है। आधार चक्र में अवस्थित शक्ति (कुण्डलिनी की स्वापावस्था ही **'कृष्णपक्ष'** है।

मानव पिण्ड में **शक्ति की सुषुप्ति** ही **'कृष्णपक्ष'** है जो कि प्राणी को अमृत से वञ्चित रखता है।

(१०) जब कोई योगी समाहित चित्त होकर चन्द्रस्थान में चन्द्रमा को एवं सूर्य स्थान में सूर्य को वायु के द्वारा निरुद्ध करने में समर्थ हो पाता है। तब

(क) चन्द्रमा अमृत-क्षरण करने में असमर्थ हो जाता है तथा

(ख) सूर्य अमृत-पान करने में असमर्थ हो जाता है।

(ग) ऐसा होने पर वायु से उत्प्रेरित **स्वाधिष्ठानाग्नि के द्वारा** आधार चक्रस्थ अमृत कुण्ड शुष्क हो जाता है।

(घ) अमृत कुण्ड (मूलाधारस्थ अमृत कुण्ड) के शुष्क हो जाने पर कुण्डलिनी विराहार होने के कारण सोते से जाग उठती है और सर्प की भाँति फूत्कार करती हुई **तीनों ग्रंथियों** (ब्रह्मग्रंथि। विष्णु ग्रंथि एवं रुद्र ग्रंथि) का भेदन करती हुई एवं इसी क्रम में षट् चक्रों का भेदन करती हुई **'सहस्रदल कमल' के मध्य** अवस्थित चन्द्रमण्डल को उसती है।

(ङ) चन्द्रमण्डल के उसे जाने के कारण वह **पीयूष धर चन्द्रमा** से क्षरित पीयूष धारा 'आज्ञाचक्र' में स्थित **'चन्द्रमण्डल'** को अपने पीयूष बिन्दुओं से आप्लावित कर देती है।

(च) उन क्षरित पीयूष-बिन्दुओं से सारा शरीर ही अमृतात्मक (अमृत-प्लावित) हो उठता है।

(छ) आज्ञा चक्र में उवस्थित चन्द्रमा की १५ नित्य कलायें हैं। ये 'आज्ञाचक्र' के ऊपर अवस्थित १५ कलायें ही १५ नित्यायें हैं जो कि आज्ञाचक्रस्थ चन्द्रमा से आविर्भूत होती हैं।

(ज) ये ही १५ कलायें या १५ नित्यायें कण्ठस्थ 'विशुद्ध चक्र के १६ दलों में अवस्थित हैं।

(झ) **सहस्रादल कमल'** के मध्य में एक चन्द्रमण्डल अवस्थित है उसे ही **'बैन्दव स्थान'** कहते हैं।

(ञ) इस **बैन्दव स्थान'** की कला का नाम है—

'चित्कला' 'बैन्दव कला'। यह कला चिन्मयी एवं आनन्दरूपा है और 'आत्मा' कही जाती है। उसे ही 'त्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं।

(११) **'अङ्ग नित्या'**—१५ कलायें हैं १५ नित्यायें हैं १५ तिथियाँ हैं। (अङ्गनित्या) = १५ कलाएँ, १५ नित्यायें, १५ तिथियाँ)

'अङ्गिनित्या' 'अङ्गिनित्या' तो केवल एक है और वह है **'षोडशी'**।

(१२) **चन्द्रमा की प्रथम कला** का नाम है **'प्रतिपदा'**।ाह प्रतिपदा नामक 'कला' **सूर्यमण्डल से आविर्भूत** होती है। और कृष्णपक्ष में सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाती है।

(१३) **शुक्ल पक्ष में** सूर्य मण्डल से निकली हुई **'द्वितीया कला'** ही **'द्वितीया तिथि'** कहलाती है और वह कृष्णपक्ष में सूर्यमण्डल में प्रवेश कर जाती है। इसे ही **'द्वितीया तिथि'** कहते हैं। इसी प्रकार **समस्त कलाओं एवं तिथियों का उदयास्त** हुआ करता है।

(१४) **'पौर्णमासी'** किसे कहते हैं?

जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा की १५ कलाओं का व्यवधान होता है उसे **'पौर्णमासी'** कहते हैं।

(१५) **'अमावस्या'** किसे कहते हैं?

जहाँ सूर्य एवं चन्द्रमा दोनों का १५ कलाओं के साथ अत्यन्त संयोग होता है उसे **अमावस्या** कहते हैं।

(१६) **'कौल मत' एवं 'समपि मत' में दृष्टिभेद—**

'कोलमत' के अनुसार के प्रत्येक दिन (१६ नित्याओं में से) एक-एक (चन्द्रकलात्मिका) नित्या की पूजा-उपासना करनी चाहिए। किन्तु 'समयिमत' के अनुसार सभी नित्याओं की उपासना करनी चाहिए सरांश यह कि (१) **महात्रिपुर सुन्दरी** ही एकमात्र **'अङ्गिनित्या'** है। वे ही 'चिद्रूपा' एवं 'षोडशीकला' कहलाती हैं। वे १५ कलाओं से अतीत हैं और १५ कलायें उनका ही आंशिक स्वरूप हैं। १५ नित्यायें **'अङ्गनित्या'** है और १५ तिथियों के रूप में (उनमें) अवस्थित हैं।

'षोडशी', अमावस्या और प्रतिपदा—तांत्रिक शैवमत के अनुसार—

(क) **'प्राण'** सूर्य है और **'अपान'** चन्द्रमा है।

(ख) प्राण (सूर्य) के आक्रमण से चन्द्रमा एक-एक कला का त्याग करता जाता है और अन्त में **अमावस्या'** के दिन **चन्द्रमा, सूर्य** में विलीन हो जाता है। इसके अनन्तर चन्द्रमा पुन: उदित होता है। चन्द्रमा में १६ कलाएँ हैं जिनमें केवल १५ कलाएँ ही विलीन हो पाती हैं। **'षोडशी कला'** नित्य है।

(ग) **'षोडशी कला'** सूर्य में विलीन या अस्त नहीं हो पाती वह कभी भी (अन्य १५ कलाओं की भाँति) क्षीण नहीं हुआ करती।

(१७) चन्द्र की **'षोडशी कला'** शुद्ध चिति शक्ति है। वह चिन्मात्र है। वह **'महात्रिपुर सुन्दरी'** का अपर अभिधान है। **'षोडशी'** ही महात्रिपुर सुन्दरी हैं। अन्य सभी चान्द्र कलायें घटती-बढ़ती रहती हैं। (उनका उदय एवं अस्त दोनों होता रहता है अत: वे क्षीणस्वभावा हैं) किन्तु **'षोडशीकला'** जो कि है तो चन्द्रमा की ही कला किनतु यह उदयास्त से रहित, नित्यादित एवं चिन्मात्र आद्या शक्ति है। **चन्द्रमा का**

बिम्ब सदैव एक रस, एक समान एवं एकरूप रहा करता है उसमें परिवर्तन (परिवर्धन एवं परिक्षरण, उदय एवं अस्त, क्षीणता एवं वृद्धि आदि) नहीं हुआ करते।

(१८) प्रत्येक कला १६हवीं कला (षोडशी) का अङ्ग मात्र है और क्षीण तथा असत हो जाने पर **'षोडशी'** से ही आविर्भूत होती हैं।

(१९) प्रत्येक कला की उपासना एवं वरिवस्या (पूजन एवं ध्यान) उससे सम्बद्ध तिथि में १६हवीं कला के साथ की जाती है।

(२०) **'षोडशी कला'** भगवती राजराजेश्वरी ही हैं—

पराभट्टारिका महात्रिपुर सुन्दरी ही हैं। इन्हीं के नाम पर इससे सम्बद्ध विज्ञान **'षोडशी विज्ञान'** कहलाता है।

(२१) **'षोडशी कला' का निवास** कहा है?

'षोडशी कला' का निवास **'सहस्रार चक्र'** में है।

(२२) **'षोडशी कला'** के प्रकाश से ही समस्त कलाएँ प्रकाशित होती हैं।

(२३) यद्यपि भगवती महात्रिपुर सुन्दरी का मन्त्र १५ अक्षरों का है किन्तु एक अक्षर गुप्त है अत: उसको भी लेकर 'पञ्चदशी' या पञ्चदशाक्षरी' में १५ अक्षर नहीं प्रत्युत् १६ अक्षर हैं। चूँकि १६हवाँ अक्षर निर्विकल्प निर्बीज समाधि में योगियों को ही प्रत्यक्षीकृत एवं अनुभूत हो पाता है। अत: इसे प्रत्यक्ष दृष्टि से **'पञ्चदशाक्षरी'** या **'पञ्चदशी'** मन्त्र ही कहा जाता है।

यदि साधना की दृष्टि से देखें तो **'पञ्चदशी'** मन्त्र १६हवें अक्षर (षोडशाक्षर) का विकास है, उसका प्रस्तार है उसका प्रकाश है, अर्थात् बिम्ब की रश्मियों का एकीभूत (समष्टिगत) एवं अक्षरात्मक श्रीविग्रह है। **'षोडशी'** यदि चन्द्रमा है तो १५ अक्षर या १५ कलाएँ या १५ नित्यायें या १५ तिथियाँ—उसक अभिव्यक्तियाँ हैं।

(२४) १६ अक्षरों के इस मन्त्र में **१५ अक्षर साधन रूप हैं** और **१६हवाँ अक्षर** (भगवती षोडशी = महात्रिपुर सुन्दरी) साध्य है।

(२५) षोडशाक्षर-संघटित यह (पञ्चदशी कलाने वाला) मन्त्र **'षोडशी विद्या'** कहलाता है। पुरुष देवता के मन्त्रों को **'मन्त्र'** एव नारी देवताओं के मन्त्र को **विद्या** कहा जाता है अत: षोडशाक्षर मन्त्र = **'षोडशीविद्या'**।।

(२६) **मन्त्राक्षर एवं नित्यायें**— भगवती राजराजेश्वरी के मन्त्र 'पञ्चदशी' मन्त्र या 'विद्या' के जितने भी अक्षर हैं वे सभी षोडश नित्याओं के रूप में अर्थात् वे षोडश नित्यायें ही अक्षराकार रूप में षोडशीविज्ञान के रूप में (पञ्चदशी विद्या के रूप में अवस्थित हैं। अर्थात् यदि हम 'क' 'ए' 'ई' 'ल' 'ह्रीं' 'ह' 'स' 'क' 'ह' 'ल' 'ह्रीं', 'स' 'क' 'ल' 'ह्रीं'—अक्षरों का उच्चारण करते हुए भगवती राजराजेश्वरी के मन्त्रों का जप करते हैं तो इस जप के साथ ही साथ हम—

(क) महात्रिपुर सुन्दरी के (अक्षरात्मक) **'सूक्ष्मशरीर'** का ध्यान करते हैं या पूजा करते हैं—

(ख) **१६ नित्याओं** का ध्यान एवं पूजा करते हैं,

(ग) १६ **चान्द्रकलाओं** (सहस्रारस्थ चन्द्रमा की १६ कलाओं) का ध्यान एवं पूजा करते हैं।

(घ) १६ चान्द्र कलाओं की स्थूलाभिव्यक्तस्वरूप **१५ तिथियों का ध्यान एवं पूजा** करते हैं।

(ङ) भगवती का ध्यान चन्द्रमा के बिम्ब के मध्य करने का विधान है अतः हम उक्त पञ्चदशी मंत्र का जप करते हुए एक साथ—

(१) समस्त चान्द्र कलाओं (२) समस्त नित्याओं (३) समस्त तिथियों एवं (४) भगवती महात्रिपुर सुन्दरी का भी ध्यान एवं उनकी पूजा करते हैं।

(२७) पञ्चदशी मंत्र और साम्य (सामरस्य)

(१) **पञ्चदशी और त्रिपुरसुन्दरी** के साथ साम्य या **सामरस्य**

(२) **'पञ्चदशीविद्या' और चान्द्र-कलाओं** के **सामरस्य**

(३) **'पञ्चदशीविद्या'** और **नित्याओं** के साथ **सामरस्य**

(४) **'पञ्चदशीविद्या'** और **तिथियों** के साथ **सामरस्य**

(५) **'पञ्चदशीविद्या'** एवं **लक्ष्मीबीज** पराकला 'श्री' के साथ **सामरस्य**
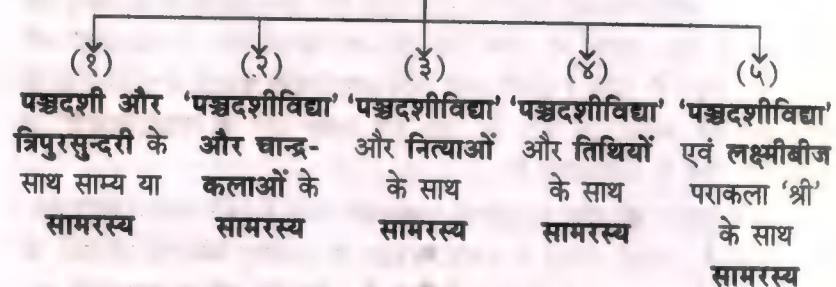
भगवती महात्रिपुर सुन्दरी के शरीराङ्गों का 'श्रीविद्या' से सम्बन्ध

भगवती महात्रिपुर सुन्दरी का **श्रीविद्या** के त्रिखण्डात्म स्वरूप का उनके **त्रिखण्डात्मक शरीर के साथ** इस प्रकार सम्बन्ध है—

'षोडशीविज्ञान' (सहस्रारस्थ शक्तियों की उपासना की विद्या) 'पञ्चदशाक्षरीविद्या' की उपासना

(१) १६ नित्याओं से सम्बन्ध स्थापन एवं उनकी उपासना

(२) १६ चान्द्र-कलाओं (सहस्रारस्थ गुप्त शक्तियों से सम्बन्ध-स्थापन एवं उनकी उपासना

(३) १६ तिथियों से सम्बन्ध स्थापन एवं उनकी उपासना

(४) भगवती के १६ हवें अक्षर 'श्री' (पराकला) से सम्बन्ध स्थापन एवं उनकी उपासना

(५) षोडशी (महा-त्रिपुर सुन्दरी देवी) के साथ [illegible] स्थापन एवं उनकी उपासना
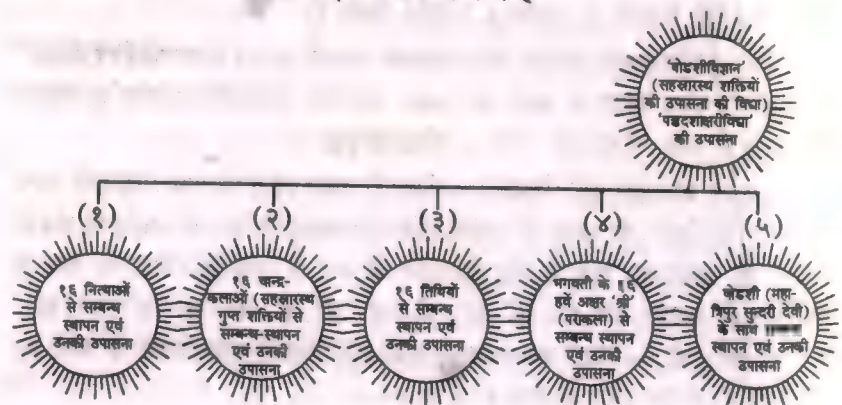
क्र.	मन्त्राक्षर	भगवती के शरीराङ्ग
(१) 'वाग्भवकूट'	'क, ए, ई, ल, ह्रीं	भगवती का मुख
(२) 'कामराजकूट'	'ह, स, क ह, ल, ह्रीं	भगवती के कण्ठ से नीचे के भाग से उनके कटि तक का भाग
(३) 'शक्तिकूट'	'स, क, ल ह्रीं'	भगवती के कटि से नीचे का समस्त शराराङ्ग

ग्रंथित्रय विद्या और भगवती के शरीराङ्गों के साथ सामरस्य

(१)	'रुद्रग्रंथि'	'क, ए, ई, ल, ह्रीं	आग्नेय	भगवती का मुख
(२)	'विष्णुग्रंथि'	'ह, स, क ह, ल, ह्रीं	सौर	भगवती के कण्ठ से नीचे कटि तक का शरीराङ्ग
(३)	'ब्रह्मग्रंथि'	'स, क, ल ह्रीं'	चान्द्र	कटि से नीचे तक का (भगवती त्रिपुर सुन्दरी का शरीराङ्ग)

'बैन्दवस्थान' = सहस्रदलपद्म' = 'शून्यचक्र' में स्थित 'श्रीविद्या' का मूल स्वरूप

'सहस्रार' में स्थित भगवती का लक्ष्मीबीज **'श्री'**

(१) गुरुमुखगम्य लक्ष्मीबीज।
(२) 'श्रीविद्या' का १६हवाँ अक्षर।
(३) 'पराकला'
(४) नित्योदितनित्याषोडशी चान्द्र कला।

तिथिया, नित्यायें, विद्या के समस्त अमृताक्षार
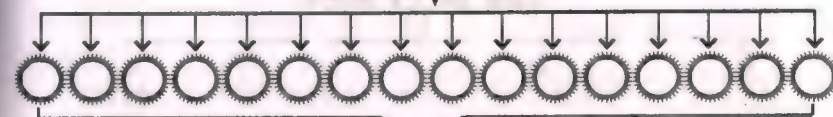
श्रीविद्या की 'पराकला' के विभिन्न विकसित एवं व्यक्त स्वरूप

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर 'षोडशीकला' एवं 'श्री विद्या' की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

(क) **'षोडशीकला'**—'षोडशी कला नाम शकार—रेक—ईकार—बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम **श्रीविद्येति।**

(ख) श्री बीजात्मिका विद्या **श्रीविद्येति** रहस्यम्।

(ग) **ककारादिक वर्ण एवं षोडशनित्याओं का सम्बन्ध**—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि ककाराधिक वर्ण षोडश नित्याओं की प्रकृति या स्वरूप के हैं—

'एवं षोडश नित्यानां प्रकृतिभूता ककारादयः ।'

षोडश नित्याओं का तिथियों से सम्बन्ध—आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं कि

(क) **षोडश नित्यायें**—षोडशनित्यायें शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ करके पौर्णमासी की तिथि पर्यन्त तिथि रूप में विद्यमान है।

(ख) **षोडश नित्यायें**—ये (नित्यायें) कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि से अवस्या की तिथ पर्यनत भी तिथि रूप से विद्यमान हैं। इनका ना **'चन्द्रकला'** है।**ज्योतिषशास्त्र** में कहा गया है—

'प्रतिपन्नाम विज्ञेया चन्द्रस्य प्रथमा कला।
द्वितीयाद्या द्वितीयाद्याः पक्षयोश्शुक्लकृष्णयोः ।।'
'दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशीतु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।'

—सुभगोदय

तिथियों के वैदिक नाम—(१) दर्शा (२) दृष्टा (३) दर्शता (४) विश्वरूपा (५) सुदर्शना (६) आप्यायमाना (७) आप्यायमाना (८) आप्याया (९) इरा (१०) सूनृता (११) आपूर्यमाणा (१२) आपूर्यमाणा (१३) पूरयन्ती (१४) पूर्णा (१५) पौर्णमासी।।

*** तिथियों एवं १५ नित्याओं में सामरस्य ***

'दर्शादीनां **पञ्चदशानां कलानां** यथाक्रमं त्रिपुरसुन्दरी प्राभृतय पञ्चदशनित्याः अधिदेवताः।।' (लक्ष्मीधरा)

योगशास्त्र में वर्णित चन्द्रमा की कलायें—योगिराज गोरक्ष नाथ ने 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' चन्द्रमा की १६ कलाओं का उल्लेख किया है।

चन्द्रमा की १६ कलायें

(१)	(२)	(३)	(४)
'उल्लोखा' (भोग प्रवृत्ति प्रवृद्धि करने वाली	**'कल्लोलिनी'** विशाल तरंग वाली कला	**'उच्चलन्ती'** ऊपर की ओर चलने वाली प्रवृत्ति-शीला	**'उन्मादिनी'** विषयमुख के प्रति मन को उन्मादित करने वाली कला
(५)	(६)	(७)	(८)
'तरङ्गिणी' तरंगाथित होने वाली कला	**'शोषिणी'** जल-रस शोषिका कला	**'लम्पटा'** चातुर्दिक प्रसृत एवं सञ्चरित कला	**'प्रवृत्ति'** हर्षोत्पादिका कला

(९)	(१०)	(११)	(१२)
'लहरी' वक्रगति गामिनी कला	**'लोला'** चञ्चल होने वाली कला	**'लेलिहाना'** रसादि को चाटने वाली कला	**'प्ररन्ती'** प्रसृत होने वाली कला
(१३)	(१४)	(१५)	(१६)
'प्रवाहा' चन्द्रकांत आदि मणियों को द्रवित करने वाली कला	**'सौम्या'** समस्त पदार्थों औषधियों, लता, वृक्षादि को सोमरस से सिक्त करने वाली कला	**'प्रसन्नता'** समस्त पदार्थों में नैर्मल्य स्थापित करने वाली कला	**'प्लवन्ती'** उछलकर प्रवाहित होने वाली कला

(१७)
चन्द्रमा में स्थायी रूप से रहने वाली, प्रलयकाल में भी
अक्षुण्य रहने वाी सोमरसमयी निजकला नामक
'सप्तदशीकला' का नाम है—**'निवृत्ता'**
'निवृत्ताकला' ही **अमृतकला** है।
'सप्तदशीकला निवृत्तिः **साऽमृतकला** ।। (६५)

सूर्य की १२ कलायें

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
तापिनी	ग्रासिका	उग्रा	आकुञ्चनी	शोषिणी
(६)	(७)	(८)	(९)	(१०)
प्रबोधिनी	स्मरा	आकर्षिणी	तुष्टिवर्धिनी	ऊर्मिरेखा
(११)	(१२)	(१३)		
किरणवती	प्रभावती	१३हवीं कला =		

'त्रयोदशी स्वप्रकाशता **निजकला**' (६६)

(१) दीपिका (२) राजिका (३) ज्वालिनी (४) विस्फुलिङ्गिनी (५) प्रचण्डा (६) पाचिका (७) रौद्री

(८) दाहिका (९) रागिणी (१०) शिखावती (११) एकादशीकला = 'एकादशीकला ज्योतिरिति प्रत्यक्षकरणगुणकलासमूहः।।' (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)
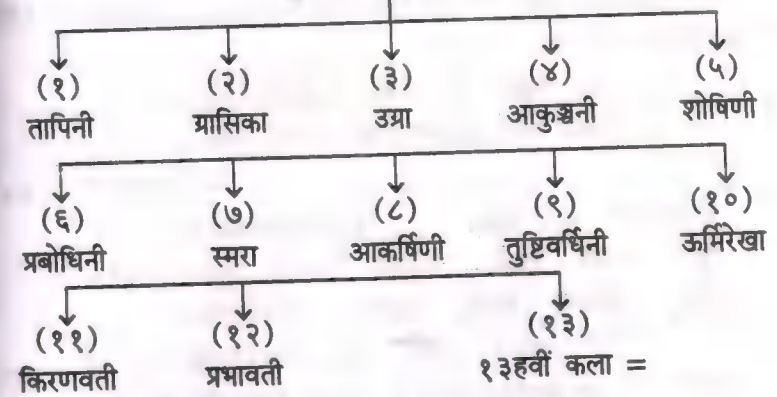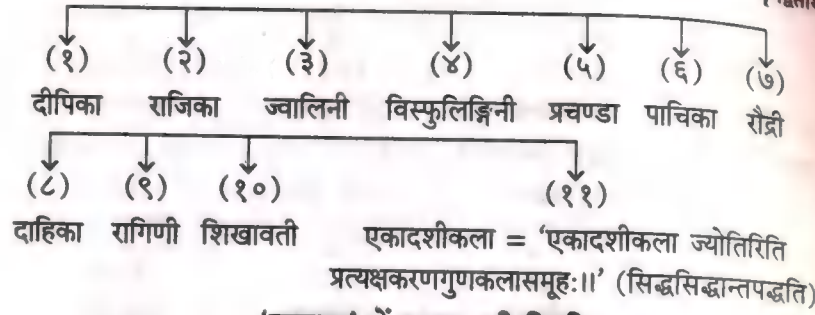
'सहस्रार' में चन्द्रमा की स्थिति

(१) **शिवसंहिताकार की दृष्टि**—'शिवसंहिता' में कहा गया है कि—

(क) **'ब्रह्मरंध्र'** में जो **'सहस्रदलपद्म'** है उसके मूलदेश में योनि स्थित है। उसी **'योनि'** में **'चन्द्रमा'** अवस्थित हैं उस त्रिकोणात्मिका योनि से अमृत की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। वह अमृतधारा वामनासापुट में प्रवाहित होती रहती है। इसी कारण योगी वामनासापुट की इड़ानाड़ी एवं वामनासारंध्र का 'गङ्गा' कहते हैं—

ब्रह्मरंध्रेहि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कन्देहिया योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधाक्षरति सन्ततम्।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः।
अमृतं वहते धारा धारारूपं निरन्तरम्।
वामनासापुटं याति गंगोत्युक्ता हि योगिभिः ।।१०३।।
वामनासापुटं' याति गङ्गेति परिगीयते ।।१०२।।

'शिवसंहिताकार' उसी बात की पुनः पुष्टि करते हुए उस चन्द्रमा का ध्यान करने का उपदेश देते है—

'पुरा मयोक्ता या योनि' सहस्रारसरोरुहे।
तदधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः।'

—शिवसंहिता (१४५)

यस्यस्मरण मात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्भतो भवेत् ।।१४६।।
शिरः कपाल विवरे ध्यायेद् दुग्धमहोदधिम्।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।।१४७।।

चन्द्रामृत जो चन्द्र प्रवाहित करता है उसे सूर्य सोख लेता है—

'यत्किचित्स्रवते चन्द्रदमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।।' (हठयोग प्र. ७७)

अमृत

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा ।।१३५।।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्पूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ।।१३६।।
ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु चोर्ध्वं भानुरघः शशी।
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ।।[१]

'विवेक मार्तण्ड' में गोरक्षनाथ 'अमृतपान' की विधि का भी सविस्तार वर्णन किया है।

घेरण्ड संहिताकार कहते हैं—

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशे नरः ।।२८।।
ऊर्ध्वे च गमयेत्सूर्यं चन्द्र च अध आनयेत्।
विपरीत करणीमुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।।२९।।

शिवसंहिताकार कहते हैं—

मूलाधारेहियत्पद्मचतुष्पत्रं व्यवस्थितम्।
त मध्ये हि या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः।
तत्सूर्य मण्डलाद्वारं विषं क्षरति सन्ततम्।
पिंगलायां विषं यत्र स्वयं यात्यतितापनम्।
विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।
दक्षनासापुटं याति कल्पितेयं तु पूर्ववत् ।।१०८।।

(१) वामानासापुट — अमृत-प्रवाह।
(२) दक्षिणानासापुट — विष-प्रवाह।
(३) सूर्यमण्डल — विष- वर्षण।
(४) पिङ्गला नाड़ी — विष-वाहिका। विष-वर्षा

'इडा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका।
मध्या **सरस्वती** प्रोक्ता तासां सङ्गोतिदुर्लभः ।।[२]

'मालिनी तन्त्र' में कहा गया है कि सहस्रार की कर्णिका में स्थित **'चन्द्रमण्डल'** में **'सप्तदशी कला'** है और उसका नाम 'उन्मनी' भी है—

---

१. विवेक मार्तण्ड
२. शिवसंहिता

'सहस्रारकर्णिकायां **चन्द्रमण्डलमध्यगा** ।
सर्वसंकल्परहिता कला 'सप्तदशी' भवेत्।
'उन्मनी' नामतस्या हि भवपाशनिकृन्तनी।'

त्रिकोणस्थ कर्णिका में **'पूर्णचन्द्र'** की कल्पना करनी चाहिए—
'कर्णिकायां त्रिकोणस्थं **पूर्णचन्द्रं** तु चिन्तयेत्।'

पूर्णानन्द की दृष्टि—पूर्णानन्द 'षट्चक्र निरूपणम्' में कहते हैं कि—'उस सहस्रदल कमल की कर्णिका के मध्य परमामृत समूह से अत्यन्त स्निग्ध दीप्तिवाला, रश्मियों के समूह को स्फुरित करता हुआ निश्कलङ्क एवं निर्मल **पूर्णचन्द्र मण्डल** विद्यमान है। उसके मध्य में विद्युत के रुप वाला एक 'त्रिकोण' निरन्तर स्फुरित हो रहा है। उसके मध्य **बिन्दुरूप शून्य'** स्फुरित हो रहा है जो कि सर्वदेव सेवित एवं अत्यन्त गुप्त है—

'समास्ते तस्यान्तः शशपरि रहितः **शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः** ।
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासी ।
त्रिकोणं' तस्यान्त स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं ।
तदन्तःशून्यंतत् सकलसुरगणैः सेवितं चाति गुप्तम्।'

(१) 'सहस्रार' की कर्णिका के मध्य एक **'चन्द्रमण्डल'** है ।
(२) उसके मध्य में स्थित **'त्रिकोण'** के अन्तर्गत बिन्दुरूप शून्य है ।
(३) **चन्द्रमण्डल में परमामृत** है। यहीं से **परमामृत** का क्षरण हुआ है ।
(४) इसी **चन्द्रमण्डल के मध्य** एं **'त्रिकोण'** है ।

(५) यह चनद्रस्थ **'त्रिकोण'** विद्युदाम ह। त्रिकोण में बिन्दु रूप शून्य है। इसे ही **'परम बिन्दु'** कहते हैं। यह चैतन्यस्वरूप **है**। यह शून्याकार है। इसे **'शून्य'** भी कहते हैं 'परमबिन्दु' अतिगुप्त सर्वदेवोपासित, सर्ववन्दित एवं परमध्येय है।

(६) 'सहस्रार' में ही **निर्वाणकला'** एवं १६हवीं कला ('अमा कला') स्थित है। **'निर्वाण कला'** के मध्य **'निर्वाणशक्ति'** है। 'निर्वास शक्ति' में नित्यानन्द स्वरूप (शून्यरूप) शिव का स्थान हैं।

श्लोक क्रमांक ३२ : अमावस्या तिथि पर पूजा का निषेध

कलाया : षोडश्याः प्रतिफलित बिम्बेन सहितं,
तदीयैः पीयूषैः पुनरहिधकाप्लावित तुनः ।
सिते पक्षे सर्वस्तिथय इह कृष्णेऽपि च समा,
यदा चामावास्या भवति न हि पूजा समयिनाम्॥३२॥

[(हे भगवती!) तेरी (सहस्रास्थ) **'षोडशी कला'** एवं उसके प्रतिफलित बिम्ब

(आज्ञा चक्र के चन्द्रमा) से **सुधा-स्राव** के द्वारा समस्त शरीर अधिकाधिक आप्लावित होता रहा है। यह शरीर का सुधासिञ्चन शुक्ल पक्ष की समस्त तिथियों एवं इसी प्रकार समान रूप से कृष्णपक्ष में भी होता रहता है किन्तु जब अमावस्या आती है तब नहीं होता अतः अमावस्या की तिथि पर सामयिकों द्वारा पूजा निष्पादित नहीं की जाती।।३२।।)

सरोजिनी (व्याख्या)—* 'षोडशी' और पञ्चमी मंत्र' *

(१) **'षोडशी कला'** स्वयं राजराजेश्वरी महात्रिपुर सुन्दरी ही हैं। **'षोडशी'** पञ्चदशी विद्या का १६हवाँ अक्षर है। इसका स्थान **'सहस्रार'** है।

(२) **'षोडशी'** के प्रकाश से समस्त कलायें प्रकाशित होती हैं।

(३) १६ अक्षरों से निर्मित यह श्री विद्या **'षोडशीविद्या'** कहलाती है। 'श्रीविद्या' (पञ्चदशी मन्त्र) में प्रयुक्त १६ अक्षरों को १६ नित्याओं के रूप में ग्रहण करना चाहिए अर्थात् = 'पञ्चदशी मन्त्र' के—

* १६ अक्षर = १६ नित्यायें।

(४) भगवती महात्रिपुर सुन्दरी के पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के तीन कूट हैं—पञ्चदशी विद्या, कूटत्रद में विभक्त है।

(क) **'वाग्भवकूट' (ख) 'कामकला कूट'** (ग) **'शक्ति कूट'**

इस विद्या में १५ अक्षर है। इसीलिए इसे **'पञ्चदशी'** या **'पञ्चदशाक्षरी'** कहा गया है।

पञ्चदशी मन्त्र का स्वरूप
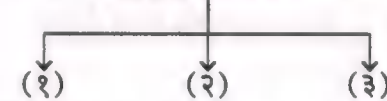
(१) वाग्भव कूट — (२) कामकला कूट — (३) शक्ति कूट

१६ अक्षरों की यह 'श्रीविद्या' (यह पञ्चदशी मन्त्र) ही **'षोडशी विद्या'** है। ये १६ अक्षर १६ नित्यायें हैं। 'श्रीविद्या अन्तिम अक्षर = **एकाक्षरी लक्ष्मीबीज (श्रीं)** ही—**'पराकला'** एवं नित्या है। इस **'पराकला'** (श्रीं)

सारांश यह कि 'एकाक्षरीलक्ष्मी बीज' ही नित्या है। उसके द्वारा ही समस्त विद्या **'श्रीविद्या'** कहलाती है क्योंकि यही एकाक्षरी लक्ष्मी बीज **'श्रीं'** है। यह शुद्ध चिति शक्ति के रूप में संस्थित

सहस्रारस्थ चन्द्रमा की **सोलहवीं कला** है। यह विशुद्ध चक्र के १६ दलों पर प्रतिबिम्बित होती है।

प्रथम कला का प्रकाश पूर्व दिशा से आरम्भ होकर १६हवीं कला के ईशान पूर्व कोण के पत्र पर होता है।

षोडशी (१६हवीं) कला के अधीनस्थ ही अन्य समस्त कलाओं में वृद्धि एवं क्षय (घटा बढ़ी) होता रहता है। अन्य कलायें स्वतंत्र नहीं है वे सभी 'षोडशी' पर नर्भिर हैं। इसी कारण इस विद्या की संज्ञा **'श्रीविद्या'** है।

(१) कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष की जो भी तिथियाँ होती हैं वे सभी १६ चन्द्र कलायें कहलाती हैं। इन तिथियों में पूर्णिमा एवं अमावस्या भी सम्मिलित है।

(२) ये समस्त कलायें शुक्ल पक्ष में सूर्य के योग से उद्भूत होती हैं। कृष्ण पक्ष में ये कलायें सूर्य में अस्त (निलीन) हो जाती हैं।

(३) **कलाओं का अस्तक्रम इस प्रकार है—**

प्रथम कला शुक्ल पक्ष की **प्रतिपदा को उदित** होकर कृष्ण पक्ष की **प्रतिपदा में अस्त** हो जाती है। इसी प्रकार समस्त कलाओं का उदयास्त क्रम है।

(४) **पूर्णिमा की सम्पूर्ण** कला **अमावस्या में अस्त** हो जाती है।

(५) **अमावस्या को** (पूर्णिमा की कला अस्त हो जाने पर) जो चन्द्रकला रहती है वही **'षोडशी'** १६हवीं नित्या कला है। ऐसा इसलिए है क्योंकि चन्द्रमा का यही यथार्थ बिम्ब प्रत्येक कला में सूर्य के प्रकाश से क्षय-वृद्धि करती हुई कलाओं के रूप में प्रकाशित होता है।

(६) चितिशक्ति की १५ कलायें पञ्चदशाक्षरी के १५ अक्षरों से सम्बद्ध हैं तथा १६हवीं कला शुद्ध चिति शक्ति चिन्मात्र 'निर्विकल्प समाधि' में संस्थित स्वयं महात्रिपुर सुन्दरी हैं क्योंकि अन्य सभी कलाओं में वृद्धि-क्षय होता रहता है किन्तु चन्द्र बिम्ब एकरस (क्षय वृद्धि रहित) या एक समान रहा करता है। अत: प्रत्येक कला को १६हवीं कला का अङ्ग मानना चाहिए।

(७) प्रत्येक कला का पूजन और ध्यान उस कला से सम्बद्ध तिथि में १६हवीं कला सहित किया जाता है।

(८) षट् चक्र वेधन की प्रक्रिया के अन्तर्गत भगवती कुण्डलिनी सहस्रारस्थ चन्द्रमा को उस कर उसमें छिद्र कर देता है और उससे अमृत-स्राव होन पर वह अमृत 'आज्ञा चक्र' को अमृतायित कर देता है। इसका प्रभाव यह होता है कि वहाँ चन्द्रमा की **समस्त कलायें नित्य चमकने लगती** हैं जिसके कारण वे **'नित्या'** कही जाती हैं।

(९) इसके उपरान्त ये नि:शेष कलायें **'विशुद्धि चक्र'** पर अवतरण करके इस पद्म की १६ पंखुड़ियों पर दीप्तिमान हो उठती हैं।

(१०) अन्तिम चक्र (सहस्रार) के मध्य में संस्थित **चन्द्रमण्डल को 'बैन्दवस्थान'** कहा जाता है। यह शुद्ध चितिशक्ति की आनन्दमयी कला का स्थान है। इसे ही **'श्री'** या **'महात्रिपुर सुन्दरी** कहते हैं।

त्रिपुरसुन्दरी षोडश कलात्मिका है।

'वासनासुभगोदय' का मत—

'दर्शाद्या: पूर्णिमान्ताद्या कला: पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।'

१५ कलायें क्या है?

(११) **१५ कलायें**

(१) दर्शा (२) दृष्टा (३) दर्शिता (४) विश्वरूपा (५) सुदर्शना (६) अपप्यायमाना
(७) आप्यायमाना (८) आप्याया (९) आप्याया (१०) सूनृता (११) दूरा (१२) आपूर्यमाणा
(१३) आपूर्यमाण (१४) पूरयन्ती (१५) पूर्णा (१६) पूर्णमासी —ये १५ कलायें हैं।
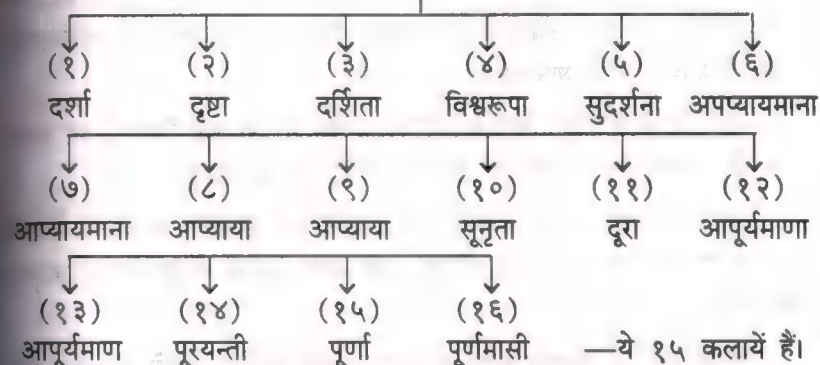
(१२) शुक्ल पक्ष की तिथियों की अधिष्ठात्री देवियाँ 'श्रीचक्र' में निवास करने वाली १५ नित्यायें हैं।

= तिथियों की अधिष्ठात्री देवियाँ = १५ नित्यायें।

(१३) १६हवीं नित्या चिद्रूपात्मिका है।

यह 'षोडशी' सदाशिवरूपा है और सर्वाधिष्ठात्री है। वह स्वयं नित्याओं के रूप में प्रकाशमान है अत: सर्वाधिष्ठातृ है। पञ्चदशी के १५ अक्षरों को १५ नित्या और १६हवीं को स्वयं श्री समझना चाहिए।

१५ कलायें

(क)	मंत्र के अक्षर	खण्ड	(ख)
(१) १५ कलायें	५	अग्निखण्ड	(१) १६हवीं कला =
(२) १५ नित्यायें =	५	सूर्यखण्ड	(२) 'षोडशी'
(३) १५ पञ्चदशी विद्या के अक्षर =	५	सोमखण्ड	(३) **महात्रिपुरसुन्दरी**
१५ कलायें	(पञ्चदशी के ५, ५ एवं ५ अक्षर तो खण्डत्रय में विभाजित हैं। किन्तु १६हवीं कला खण्डत्रय से अतीत है।)		१६हवीं कला सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि से अतीत है **'षोडशी'**
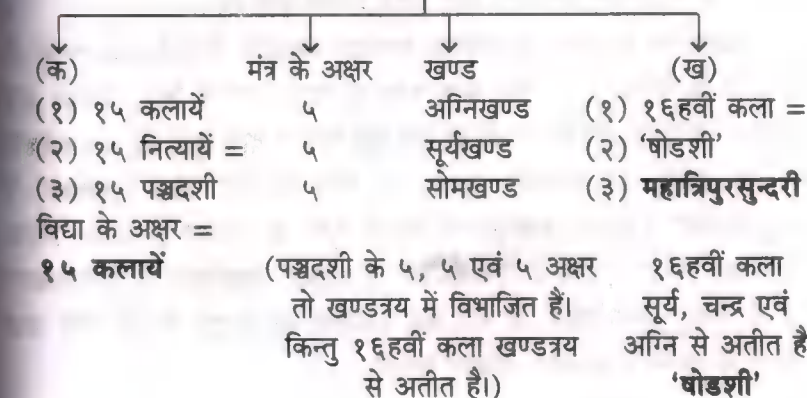
'षोडशी'—इसकी उपमा **'सरघा'** से दी जाती है।

—'इयं वाव सरघा' (तै.ब्रा. ३/१०/१०)

'सरघा' (मधुमक्खी)। मधुमक्खियाँ रात्रि के समय अमृत का निर्माण करती हैं।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मनुः ।।'

योगी रात्रि के समय ही कुण्डलिनी का प्रबोधन (जागरण) किया करते हैं।, दिन में नहीं, योगी शुक्ल की रात्रियों में ही जागकर शक्ति को जागृत करते हैं। श्रीविद्या के साधक भी रात्रियों में ही शक्तिसाधना करते हैं।

जो १६ नित्यायें है। उनका स्थान विशुद्ध चक्र है। जो शुद्ध चिति है उस अमल शक्ति का अमल स्वरूप 'सहस्रार' में है। इसी की सब कलायें हैं।

कृष्णा पक्ष को लीजिए। उसकी समस्त रात्रियों का समावेश अमावस्या में होता है। ये सभी वर्जित है। दिन में अमृत टपकता है अतः दिन में भी कुण्डलिनी जागरण निषिद्ध है।

चन्द्रमण्डल में **षोडशी कला** को छोड़कर शेष निःशेष कलायें वृद्धिक्षय वाली हैं। १५ कलायें = वृद्धिक्षय वाली हैं।

शुक्ल प्रतिपदा ही **'दर्शा'** है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी पर्यन्त जो कलायें होती हैं वे सभी कलायें पञ्चदशी मंत्र के १५ अक्षर हैं।

१५ कलायें (दर्श, दृष्टा, दर्शिता, विश्वरूपा, सूनृता, इरा आदि) नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता एवं पूर्णा के भेद से एवं 'वाग्भव', 'कामकला' एवं 'शक्तिकूट'—इस प्रकार से बढ़ती है किन्तु दूसरे कूट में ६ अक्षर एवं 'शान्तिकला' में ४ अक्षर है अतः 'पञ्चदशी' के पाँच-पाँच अक्षरों से तीन खण्ड निर्मित होते हैं।

'कामराज कूट' की जो अन्तिम हल्लेखा एकादशी होती है और दशमी से विद्धा होने के कारण वह दशमी कलान्तर्गत ही मानी जाती है किन्तु उसका योग 'शक्तिकूट' के प्रथमाक्षर (द्वादशी को ही एकादशी मानकर दोनों कूटों का योग स्वीकार कर लेना चाहिए। इस स्वीकृति (भावना) से प्रथम कूट को **'अधः सहस्रार'** से उठाकर अनाहत में उसका विलीनीकरण होता है, दूसरे को अनाहत से उठाकर उसका **'निरोधिका'** में एवं तृतीय को **'निरोधिका'** से उठाकर **'व्यापिका'** में विलीनीकरण होता है। किन्तु **'निरोधिका'** से नाद तक एकादशी का द्वादशी में एवं नीचे अर्द्ध चन्द्रिका से दशमी में संक्रमण समझना चाहिए।

'पञ्चदशाक्षरी मंत्र' एवं कूटत्रयात्मक ५-५ अक्षरों के खण्ड
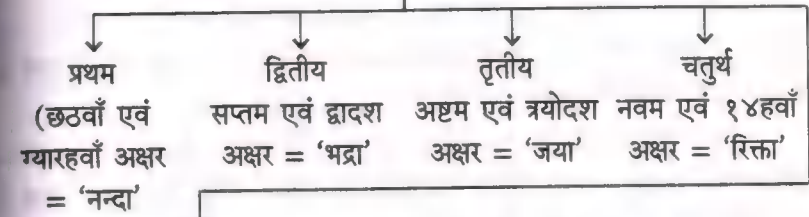
- प्रथम (छठवाँ एवं ग्यारहवाँ अक्षर = 'नन्दा'
- द्वितीय सप्तम एवं द्वादश अक्षर = 'भद्रा'
- तृतीय अष्टम एवं त्रयोदश अक्षर = 'जया'
- चतुर्थ नवम एवं १४हवाँ अक्षर = 'रिक्ता'
- पञ्चम दशवाँ एवं पन्द्रहवाँ अक्षर 'पूर्णा' है। } इस मन्त्र का वाग्भवकूटरूपी मुख जो नीचे था और शक्तिकूट रूपी कटि के नीचे का भाग जो ऊपर था सीधा ऊर्ध्वमुखी हो जाता है।

इस मन्त्र का वाग्भवकूटरूपी मुख जो नीचे था और शक्तिकूट रूपी कटि के नीचे का भाग जो ऊपर था सीधा ऊर्ध्वमुखी हो जाता है।

भावना की द्वितीय दृष्टि के अनुसार—

विशुद्ध चक्र के १६ दलों पर — पूर्व से अग्नि, दक्षिण नैर्ऋता, पश्चिम, वायव्य, उत्तर एवं ईशान के क्रम से १६ अक्षरों की भावना की जाती है। ये सभी चन्द्रमा की कलाओं के समान दीप्तिमान हैं जो कि **'सहस्रार'** की पूर्ण कला के बिम्ब से आज्ञा चक्र पर अवतरित होती हुई नीचे के विशुद्ध चक्र पर प्रतिबिम्बित होती हैं।

सम्बन्धों का जाल-तंत्र (नेटवर्क)

- (१) चितिशक्ति का १६ नित्याओं से सम्बन्ध
- (२) १६ नित्याओं का मंत्र से सम्बन्ध
- (३) मन्त्र का सुषुम्णा से सम्बन्ध
- (४) सुषुम्ना का मातृका से सम्बन्ध
- (५) मातृका का इड़ा-पिङ्गला
- (६) इड़ा-पिङ्गला आदि का सूर्य अग्नि एवं चन्द्र से सम्बन्ध
- (७) सभी का सम्बन्ध श्रीचक्र से
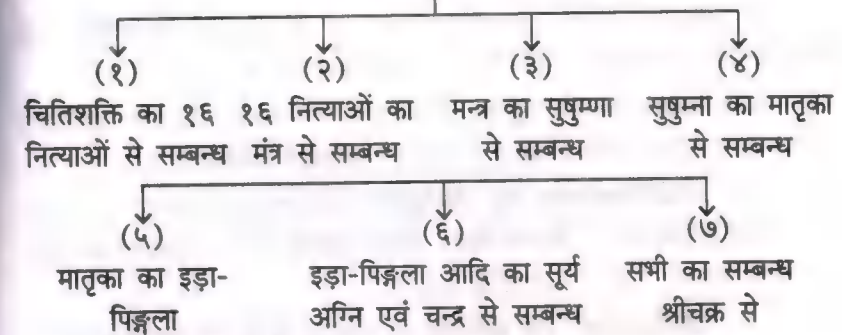
'यदा चामावस्या'—

'अमावस्या'—

(१) मूलाधार चक्र में जब सूर्य एवं चन्द्रमा का मिलन होता है तब उसे **'अमावस्या'** कहते हैं।

(२) जो आदित्यालोक होता है वही चन्द्रमा द्वारा परावर्तित होकर चन्द्रमा को

आलोकित करता है और इस प्रकार चन्द्रमा की कौमुदी आदित्य का ही परावर्तित आलोक है।

(३) अमावस्या में आदित्य एवं सोम एक ही राशि में स्थित होने से सूर्य का चन्द्रमा द्वारा परावर्तित आलोक पृथ्वी पर नहीं आ पाता।

(४) चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश की ऊष्णता का शोषण करता है। तापाधिक्य विषवत है। चन्द्रमा सूर्य की विषतुल्य ऊष्णता का शोषण करके अमृतस्राव करता है। अमावस्या की तिथि पर यह संभव नहीं हो पाता।

(५) उक्त कारणवश समयाचारी अमावस्या को पूजन नहीं करते। (सूर्य-चन्द्र का मूलाधार में मिलन ही 'अमावस्या' का जनक है। समयी अमावस्या या 'मूलाधार' दोनों पूजनार्थ त्याज्य हैं क्योंकि 'अमावस्या' अन्धकार पूर्ण है।

'कलायाः षोडश्याः—षोडशी का स्वरूप

प्रश्न—**'षोडशी'** कौन है? **'षोडशी'** का स्वरूप क्या है? **'श्रीविद्या'** क्या है? **चन्द्रकला** क्या है?

(१) **'षोडशी'** सहस्रारस्थ चन्द्रमा की १६हवीं कला है। **आचार्य लक्ष्मीधर** कहते हैं—

'षोडशी कला' नाम—रुफ—ईकार

बिन्द्वन्तो मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम **श्रीविद्या** श्री बीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्

(२) षोडश नित्यायें ककारादिवर्णमाला का ही नामान्तर है क्योंकि 'एवं षोडशनित्यानां प्रकृतिभूताः ककारादयः।' वर्ण ही नित्याओं की प्रकृति है।

(३) **'षोडश नित्या :** शुक्ल प्रतिमारभ्य पौर्णामास्यनत तिथिरूपाः कृष्णापक्ष प्रतिपदमारभ्य अमावस्यान्त तिथरूपाः। एता एव **चन्द्रकलाभिधानाः**।[1]

'षोडशीमहाविद्या' या 'श्रीविद्या'—एक सामान्य परिचय

दशमहाविद्याओं में **'षोडश विद्या'** तृतीय **महाविद्या'** है। 'षोडशी' चन्द्रकला है, लक्ष्मी बीज है, 'श्रीं' है, पराशक्ति है।)

(१) **'दशमहाविद्या' एवं श्रीविद्या'**—'चामुण्डा तन्त्र' एवं 'मुण्डमाला तन्त्र' में दशमहाविद्याओं का नामोल्लेख इस प्रकार किया गया है—

'काली तारा **महाविद्या षोडशी** भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा।

---

१. लक्ष्मीधरा = श्लोक ३२

बगला सिद्धविद्या च मातंगी कमलात्मिका।
एता **दशमहाविद्या : सिद्धविद्याः** प्रकीर्तिता।'

*** दशमहाविद्यायें ***

(१) काली (२) तारा (३) षोडशी (४) भुवनेश्वरी (५) भैरवी
(६) छिन्नमस्ता (७) धूमावती (८) बगला (९) मातङ्गी (१०) कमला

(२) महाविद्याओं के अष्टादश भेद एवं 'श्रीविद्या'

(१) 'कालीकुल' (९)
(१) काली (२) तारा (३) छिन्न-मस्ता (४) भुवनेश्वरी (५) महिष मर्दिनी (६) त्रिपुरा (७) त्वरिता (८) दुर्गा (९) प्रत्य-ङ्गिरा

(२) 'श्रीकुल' (९)
(१) सुन्दरी (२) भैरवी (३) बाला (४) बगला (५) कमला (६) धूमावती (७) मातङ्गी (८) स्वप्नावती (९) मधुमती
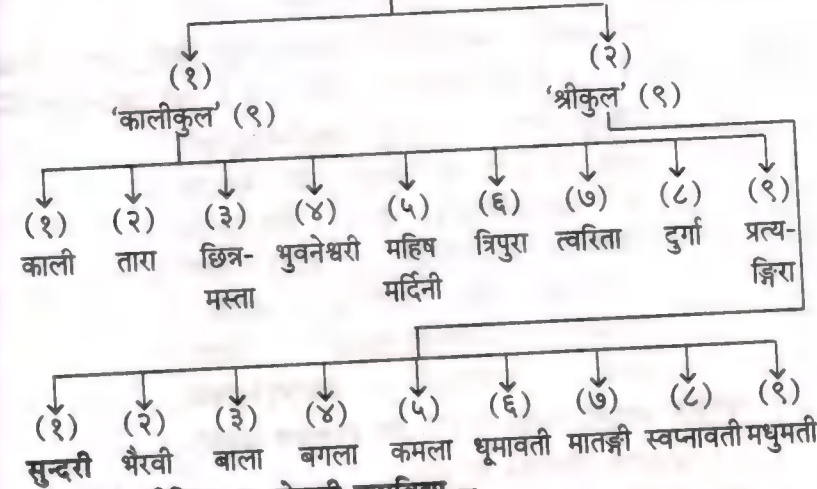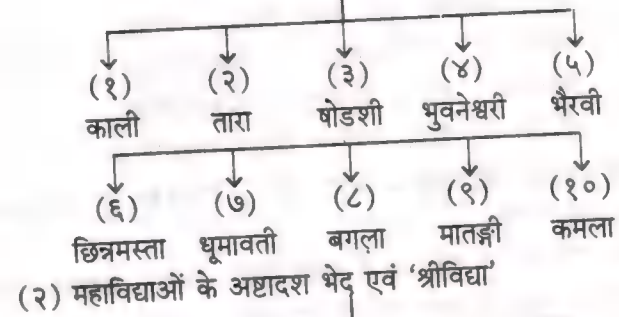
(३) **श्रीविद्या या षोडशी महाविद्या**—

तृतीय महाविद्या **'षोडशी'** या **'श्री विद्या'** के नाम से प्रख्यात है। इसे ही सुन्दरी, त्रिपुरा, त्रिपुरसुन्दरी, राजराजेश्वरी, ललिता, कला, बालत्रिपुर सुन्दरी, सुभगा एवं कामेश्वरी भी कहा जाता है।

भगवान शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित मठ चतुष्टय में प्रतिष्ठित **'श्रीयन्त्र'** में भगवती 'श्रीविद्या' की ही उपासना की जाती है।

पञ्चप्रेतासना भगवती षोडशी का स्वरूप

यामलकार की दृष्टि—'यामल' में कहा गया है कि—भगवती के पर्यङ्क के चतुष्पाद त्रिदेवादिक हैं।

(क) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं ईश्वर—ये चार महान शक्तियाँ षोडशी देवी के पर्यङ्क के चार पाये हैं।

(ख) सदाशिव उस पर्यङ्क का फलक है।

आचार्य शङ्कर ने भी 'सौन्दर्यलहरी' (श्लोक ८) में इस पर्यङ्क (मञ्च) को **'शिवाकार'** कहा है—

'सुधासिन्धोर्मध्ये सुर विट पिवाटी परिवृते।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिव पर्यङ्कनिलयाम
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।'[1]

भैरवयामलकार की दृष्टि—'भैरव यामल' (वामकेश्वर तंत्र के बहुरूपाष्टक विद्या) में कहा गया है कि—

(१) भगवती का जो महामञ्च है उसमें महेश, ईशान, सदाशिव आदि की भूमिका उस मञ्च के अङ्ग से पृथक् कुछ भी नहीं है।

(२) भगवती महात्रिपुर सुन्दरी इन्हीं देवताओं (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईशान, सदाशिव आदि) के रूप में निर्मित पर्यङ्क पर शयन करती हैं—वे पञ्चप्रेतासना हैं—

'बिन्दु स्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यस्सुरद्रुमाः।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणि मण्डपम्।।
तत्र चिन्तामणिकृतं देव्याः मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबहणे।।
अतिरम्यतरे तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादामहेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।
तत्रास्ते परमेशानी **महात्रिपुरसुन्दरी**।'

भगवती षोडशी (त्रिपुर सुन्दरी) की हस्ताधृत वस्तुएँ—

(१) महाकाल संहिताकार की दृष्टि—

'रक्तवस्त्र परिधानां पाशांकुशकरोधताम्। चतुर्भुजांत्रिनेत्रान्तु पञ्चबाण धनुर्द्धणम्।'

भगवती के स्वरूप एवं उनके द्वारा हस्त-धारित आयुधों के विषय में दृष्टि भेद भी मिलता है। **'महाकाल संहिता'** में कहा गया है कि—(**'चतुर्भुजां त्रिनेत्रान्तु पञ्चबाणाधनुर्धराम'**।

(क) भगवती **चतुर्भुजा** एवं **त्रिनयना** हैं।

(ख) उनके दो हाथों में **'पाश'** एवं 'अङ्कुश' हैं तथा

(ग) अन्य दो हाथों में **'पञ्चबाण'** एवं **'धनुष'** है।

---

१. सौन्दर्य लहरी (८) (२)

*** भगवती के हाँथी में धृत वस्तुएँ ***

(१)	(२)	(३)	(४)	
पाश	अङ्कुश	पञ्चबाण	धनुष	**'महाकालसंहिता'**
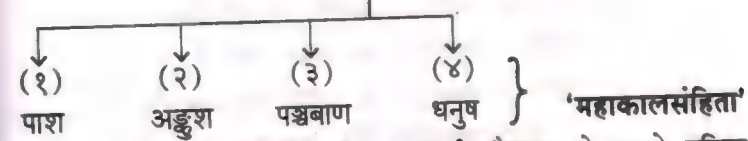
(२) **गौड़पादाचार्य की दृष्टि**—आचार्य गौड़पाद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **'सुभगोदयस्तुति'** में कहा है कि

'धनुर्बाणनिक्षूद्भव कुसुमजानङ्कुशवरं
तथा **पाशं** बिभ्रत्युदित रवि बिम्बाकृतिरुचिः।'

हस्तधृत वस्तुए

(१)	(२)	(३)	(४)	
इक्षुनिर्मित धनुष	पौष्प सायक	श्रेष्ठ अङ्कुश	पाश	**'सुभगोदयस्तुति'**
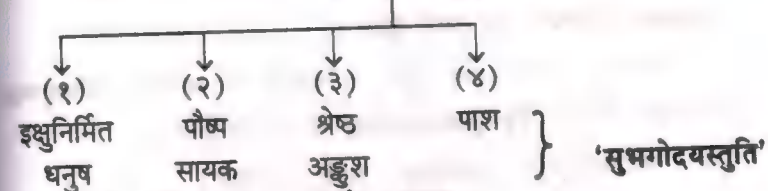
(३) **'ललिता सहस्रनाम'** के अनुसार—

'उद्यद्भानुसहस्राभां चतुर्बाहु समन्विता।
रागस्वरूप पाशाठ्या क्रोधाङ्कुशोज्ज्वला।।
मनोरूपेक्षु कोदण्डा पञ्चतन्मात्र सायका।
निजारुणा प्रभापूर मज्जदब्रह्माण्ड मण्डला।'

हस्ताधृत वस्तुएँ

(१)	(२)	(३)	(४)	
रागरूपी 'पाश'	क्रोधरूपी 'अंकुश'	मनरूपी 'धनुष'	पञ्चतन्मात्रा-रूपी ५ बाण	**'ललितासहस्रनाम'**

(४) भावनोपनिषदोक्त मत—

(१)	(२)	(३)	(४)	
५ तन्मात्रारूप ५ **पुष्पबाण**	मनरूपी **इक्षु धनुष**	रागरूपी **'पाश'**	द्वेषरूपी **'अंकुश'**	**'भावनोपनिषद'**
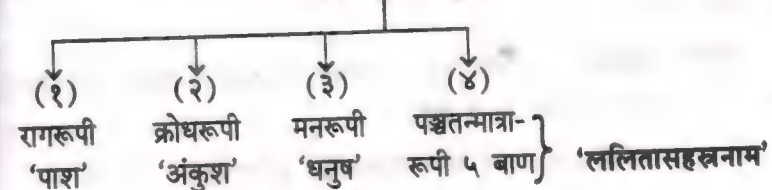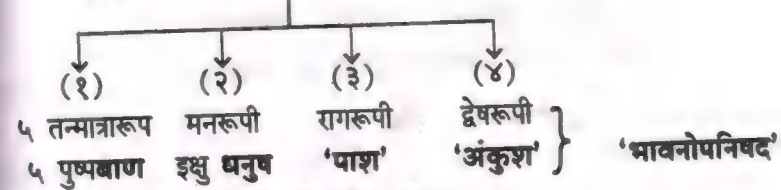
(५) **चतुःशती में प्रतिपादित मत**—

'चतुःशती' में इन आयुधों का प्रतीकार्य दूसरा बताया गया है—

'इच्छा शक्तिमयं 'पाशं' मङ्गल ज्ञानरूपिणाम्
क्रियाशक्तिमये 'बाण', 'धनुषी' दधदुज्ज्वलम्।

यहाँ पर (१) **'पाश'**—इच्छाशक्ति का प्रतीक एवं
(२) **'बाण'**—क्रियाशक्ति का प्रतीक कहा गया है।

(६) **तन्त्रराजतन्त्रोक्त दृष्टि** (वासना पटल)

(१) 'मनोभव**इक्षुधनुष**' (कामदेवरूपी 'धनुष')
(२) रागरूप **'पाश'**
(३) द्वेष रूप 'अंकुश'
(४) पञ्चतन्मात्रा रूप 'बाण'
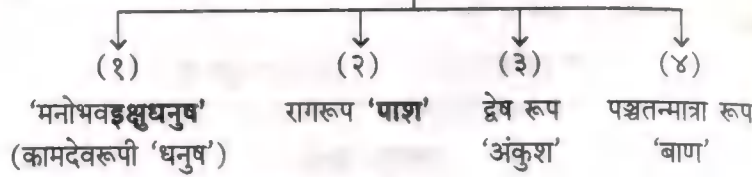
(७) **आचार्य गौड़पाद की दूसरी दृष्टि**—

आचार्य गौड़पाद ने 'सुभगोदय स्तुति' में कहा है कि भगवती **'मणिपूरक चक्र'** में प्रत्यक्षीकृत होने पर **दशभुजारूपावस्था** धारणा करती हैं—

'भवत्पाणिव्रातो **दशविध** इतीदं मणिपुरे।
भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरूपास्ते नहि परम्॥'[१]

१० भुजाओं का स्वरूप क्या है?

(क) भगवती की १० भुजाओं को 'मणिपूर चक्र' के १० दलों का प्रतीक भी बताया गया है तथा

(ख) भगवती का ६ एवं ४ प्रकार का ऐक्य भी भगवती के १० हाथों का प्रातीक कहा गया है।

आचार्य गौड़पाद ने श्लोक १६ में भगवती के हाथों में धारित वस्तुओं की संख्या ०४ से अधिक बताया है। वे कहते हैं—

'भवानि श्री हस्तैर्वहसि **फणिपाश** सृणिमथो।
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शर मथ जपस्त्रक्शुकवरौ॥'[२]
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभय वरदानैक रसिकां।
क्वणद्वीणां द्वाभ्यां त्वमुरसिकराभ्यां च विभृषे॥[३]

---

१. सुभगादय स्तुति (१५)
२. शुक का अर्थ = शिरस्त्राण। (वस्त्र, आँचल, पगड़ी साफा)
३. सुभगोदय स्तुति (१६)

भगवती के हाथों में धृत वस्तुएँ (९)

(१) पाश (सर्पपाश)
(२) अंकुश
(३) पौण्ड्र धनुष इक्षुचाप
(४) पौष्ण बाण
(५) जपमाला
(६) 'शुकवरौ'
(७) वरमुद्रा
(८) अभयमुद्रा
(९ + १०) दोनों हाथों से वीणा धारण किए हुए हैं।
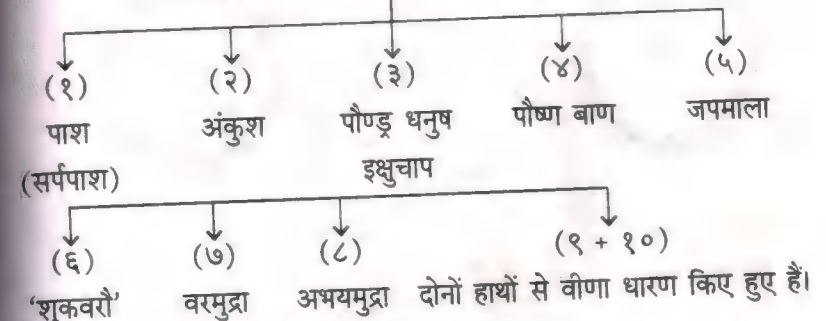
आचार्य शङ्कर कहते हैं—

क्वणत्काञ्चीदामा करिकलभकुम्भस्तननता।
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्र वदना॥
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः।
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका॥[१]

श्लोक क्रमांक ३३ अमावस्या का यौगिक स्वरूप

'इडायां पिङ्गलां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ,
तमस्याधारे तौ यदि तु मिलितौसा तिथिरमा।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकर बिम्बे रवि निभं,
दृढ़व्यालीढं सद्विगलित सुधासार विसरम्॥'

[इस शरीर में इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वे दोनों (प्रख्यात) 'सूर्य एवं चन्द्रमा परिभ्रमण करते रहते हैं। यदि वे दोनों तमोगुण के अधिष्ठान मूलाधार चक्र) में मिल जाते हैं तब वह तिथि अमावस्या कही जाती है। तब आज्ञा चक्र में स्थित चन्द्रमा द्वारा प्रतिबिम्बित सूर्यालोक की शीतल रश्मियाँ वहाँ दृढ़ता पूर्वक पीयूष-प्रवाह की वर्षा किया करती हैं।।३३।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—'इह' = यहाँ। इस शरीर में।

'तमस्याधारे' = अन्धकार के आधार (मूलाधार) में

'विसर' = प्रस्थान। गमन। वृद्धि। अत्यधिक ढेर। रुवानगी।

'व्यालीढ़' = सर्प दंश का वह प्रकार जिसमें सर्प के दोनों दाँत गढ़ गए हों तथा रक्त भी प्रवाहित हो रहा हो।

जब सूर्य और चन्द्रमा मूलाधार चक्र में मिलते हैं तब **'अमावस्या तिथि** का जन्म होता है। **'अमावस्या तिथि** में अमृत की वर्षा नहीं हुआ करती। **अमावस्या तिथि** पर समयाचारी भगवती का पूजन भी नहीं किया करते।

---

१. सौन्दर्यलहरी (७)

सूर्य
चन्द्र
सूर्य
चन्द्र
सूर्य चन्द्र
का मिलन
तमोगुणरूप
मूलाधार चक्र
= अमावस्या
कल्पित मूलाधारचक्र

'तौ यदि तु मिलितौ सा तिथिरमा।।'
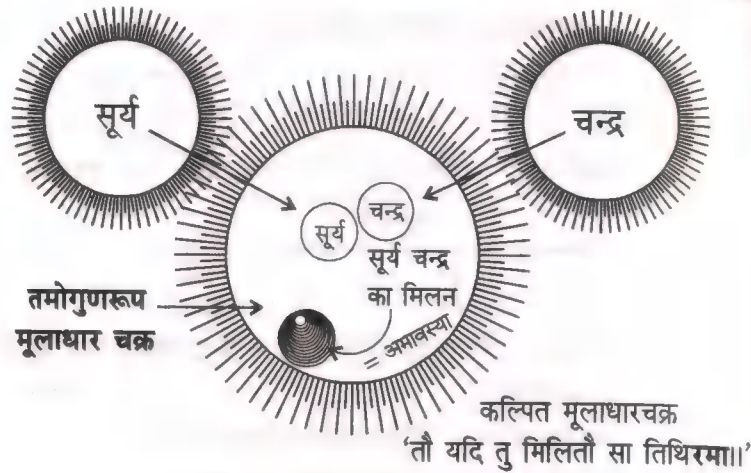
*** सूर्य और चन्द्रमा की यौगिक गतियाँ ***

(१) **'सूर्य'** दक्षिण नाड़ी (पिङ्गलानाड़ी) में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। (स्वर शास्त्र का सिद्धान्त)।

(२) **'चन्द्रमा'** वाम नाड़ी (चन्द्र नाड़ी = इड़ा नाड़ी) में निरन्तर प्रवाहित होता रहता है।

इसी बात को गौड़पादाचार्य इस प्रकार कहते हैं—

'इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्य शशिनौ'

'इड़ा नाड़ी' एवं 'पिङ्गला नाडी' का मार्ग एवं मूलाधार

मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश में वाम एवं दक्षिण दिशा में (या वाम-दक्षिणा पार्श्व में) 'शशिमिहिर' (इड़ा-पिङ्गला) नाड़ियाँ स्थित हैं और इनके मध्य 'सुषुम्णा नाड़ी' स्थित है—

'वागमा या इड़ा नाड़ी शुक्ला **चन्द्रस्वरूपिणी**।
शक्तिरूपा हिं सा देवी साक्षदमृतविग्रहा।
दक्षे तु पिङ्गला नाम पुंरूपा **सूर्य** विग्रहा।
रौद्रात्मिका महादेवी याडिमीकेसरप्रभा ।।[१]
'वाममुष्कात् तु सम्भूता नाड़ी दक्षिणगामिनी।
सुषुम्णाकलिता जाता वामभागं समाश्रिता।
हङ्गता दक्षभागस्था जत्रुमध्यं समाश्रिता।
वामं तु नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेऽमले।

१.सम्मोहन तंत्र

नाडी दक्षिणामुष्कात् तु सञ्जातोत्तरगामिनी।
सुषुम्णाफलिता जाता भाग दक्षिणमाश्रिता ।।
हद्गता वामभागस्था जत्रुमध्य समाश्रिता।
दक्षिणां नासिकाद्वारं प्राप्नोति गिरिजेडमले ।।
'इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
ऋज्वीभूते शिरे ते च वामदक्षिणभेदतः।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे ।।'

—सम्मोहन तन्त्र

इसी 'इड़ा' एवं 'पिङ्गला' को यथाक्रम 'गङ्गा' एवं 'यमुना' भी कहते हैं। कहीं-कहीं इनका नाम भिन्न-भिन्न है—

'इडायां यमुना देवी पिङ्गलायां सरस्वती।
सुषुम्णायां वसेद गङ्गा तासां योगस्त्रिधा भवेत्।'

(**इड़ा नाडी** = यमुना। **पिङ्गलानाड़ी** = सरस्वती। **सुषुम्णा नाड़ी** = गङ्गा। **गंगा** + यमुना + सरस्वती का मिलन = प्रयागराज का **'सङ्गम तीर्थ'।) = 'त्रिवेणी'**

'सङ्गता ध्वजमूले च विमुक्ता भ्रूविभोगतः।
त्रिवेणीयोगः इन प्रोक्तस्तत्र स्नानं महाकलम्।'

'त्रिवेणी' गङ्गा + यमुना + सरस्वती की धाराओं के एकत्रित होने का स्थान (सङ्गम) त्रिवेणी कहलाता है।

'सङ्गम' = मिलना। तीन नदियों के मिलने के कारण प्रयाग के नदीत्रय मिलन स्थान को 'सङ्गम' कहते हैं।

'**मेरोर्वामे** स्थिता नाडी इड़ा चन्द्रामृता शिवे
दक्षिणे सूर्य संयुक्ता **पिङ्गला** नाम नामतः।
तद् बाह्ये तु तयोर्मध्ये **सुषुम्णा** वह्निसंयुता।'

—तन्त्र चूड़ामणि

शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं। ये सभी नाड़ियाँ **'मूलकन्द'** में आकर मिल जाती हैं। या साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ हैं—

'तिस्रः कोट्यस्तदर्द्धेन शरीरे नाड्या मताः ।।
तासु मुख्या दश प्रोक्तास्तासुतिस्रो (व्यवस्थिताः)।

साढ़े ३ करोड़ नाड़ियों में (या ७२००० नाड़ियों में) १० नाड़ियाँ एवं १० नाड़ियों में मात्र तीन नाड़ियाँ प्रमुख हैं। ये ३ नाड़ियाँ ही कहलाती हैं—

(१) **'इड़ा नाड़ी'** (२) **'पिङ्गला नाड़ी'** (३) **'सुषुम्णा नाड़ी'**।

'नाड़ी कन्द एवं इड़ा-पिङ्गला नाड़ियाँ—

'गुदात् तु द्वयाङ्गुलालादूर्ध्वं मेढ्रात् तु द्वयङ्गुलादधः
चतुरङ्गुले विस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।
नाड्यस्तस्मात् सुमुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।'

७२००० नाड़ियाँ कन्दमूल से एक साथ निकली हैं। **'कन्दमूल' का स्थान और इड़ा पिंगला** का सम्बन्ध मलद्वार से दो अङ्गुल ऊपर एवं मूत्रेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे चार अङ्गुल का एक स्थान है। इसे ही **'मूल कन्द'** कहते हैं। यही सं 'इड़ा' पिंगला' 'सुषुम्णा' 'पूषा' 'अलम्बुषा' 'हस्तिजिह्वा' 'पयस्विनी' 'गान्धारी' आदि सारी नाड़ियाँ निकल कर शरीर में फैल जाती हैं।

'मूलाधारचक्र' 'ध्वजाधो गुदोर्ध्वम्' (लिङ्गमूल से नीचे एवं मलद्वार से ऊपर और सुषुम्णा नाड़ी के मुख में संलग्न है। 'वज्रा नाड़' लङ्गमूल में स्थित है। 'मूलाधार चक्र' लिङ्गमूल के नीचे है। अतः 'वज्रा' के अन्दर 'मूलाधार' नहीं है।

'मूलाधार चक्र' सुषुम्णा नाड़ी के मध्य भाग में है और अन्य कमल (चक्र) वज्रा नाड़ी के मध्य स्थित हैं। **'मूलाधार पद्म'** वज्रा नाड़ी के अधोभाग में स्थित है। **'मूलाधार चक्र' सुषुम्णा** के मध्य भाग में है।

(१) **मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश** में (वाम-दक्षिण भाग में) इड़ा-पिङ्गला नाडियाँ स्थित हैं।

(२) मेरुदण्ड के मध्यरन्ध्र में सुषुम्णा स्थित है। यह सत्व-रज-तम गुणों से युक्त है।

(३) इड़ा नाड़ी की अधिष्ठान देवता—चन्द्रमा है।

पिङ्गला नाड़ी का अधिष्ठाता देवता—सूर्य हैं।

(४) **'इड़ा'** मेरुदण्ड के वामभाग में एवं 'पिङ्गला' मेरदण्ड के दक्षिण भाग में स्थित हैं।

(५) ये दोनों नाड़ियों 'मूलकन्द' से उठकर दोनों नासारन्ध्रों में प्रवाहित होती रहती हैं।

(६) मेरुदण्ड के मध्य में **सुषुम्णा नाड़ी** है। यह नाड़ी कन्द (मूल कन्द) के मध्यभाग से निकलकर ऊपर भ्रूमध्य एवं आगे तक चली गई है। **'सुषुम्णा'** ब्रह्मरन्ध्रं तक गई है।

(७) सारांश यह कि (क) इड़ा (ख) पिङ्गला एवं (ग) सुषुम्णा तीनों नाड़ियाँ **'मूलकन्द'** से निकली हैं इड़ा-पिङ्गला नासान्त, ऊर्ध्वभाग तक गई हैं।

(८) **मूलाधार का स्थान**—'ध्वजाधो गुदोर्ध्वम' है। इस पद्म का मुख नीचे की ओर है।

(९) **मूल कन्द का स्थान—**

'गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधात् द्वयङ्गुलं विदुः।'

'मूलाधार चक्र' एवं 'नाड़ी कन्द'

'नाड़ी कन्द' —(सोढ़े तीन कोटि नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान)

मलद्वार से २ अङ्गुल अपर + लिङ्गमूल से २ अङ्गुल नीचे

मूत्रेन्द्रिय से २ अंगुल नीचे

'ध्वजाधो गुदोर्ध्वम् की स्थिति।।'

मूलकन्द नाड़ी / नाड़ी कन्द } कन्द से ७२०००/ साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ निकलती हैं।

मलद्वार से दो अङ्गुल ऊपर।

(१) **'मूलकन्द'** 'ध्वजाधोगुदोर्ध्वम्' है। (४)

(२) **'मूलाधार चक्र'** 'ध्वजाधोगुदोर्ध्वम्' है।

* नाड़ी कन्द' (मूल कन्द)[१] *

'गुदात् तुद्वयङ्गुलादूर्ध्व मेद्रात् तु द्वयङ्गुलादधः।
चतुरङ्गु विस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।
नाड्च्स्तस्मात् समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।'

—'कन्द' = समस्त नाड़ियों का मूलस्थान।

'मूलाधार चक्र'

'अथाधारपद्मं सुषुम्णास्य लग्नं **ध्वजाधोगुदोर्ध्वं** चतुः**शोणपत्रम्।'**

—षट्चक्र निरुपणम्

दो दृष्टियाँ—(१)'मेरोर्मध्य पृष्ठ गतास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः। ('निगमतत्त्वसार')

(२) द्वितीय दृष्टि—(षट् चक्रनिरूपरमकार की दृष्टि) **'मेरोर्बाह्य प्रदेशे** शशिमिहिर शिरे सव्यदक्षे निषण्णे।

(१) एक मत — इड़ा-पिंगला मेरुदण्ड के बाहर स्थित है।

(२) दूसरा मत — इड़ा-पिंगला मेरुदण्ड के भीतर स्थित हैं।

षट् चक्र निरुपण कार	निगमतत्त्व सार
नाड़ी त्रय मेरुदण्ड के बाहर स्थित हैं।	नाड़ीत्रय मेरुदण्ड के भीतर स्थित है।

---

१. 'षण्णवत्यङ्गुलायामं शरीरमुभयात्मकम्।
गुदध्वजान्तरे कन्दमुत्सेधाद् द्वयङ्गुलं विदुः।।'

यदि प्रथम दृष्टि मानी जाय तब तो गौड़पादाचार्य की दृष्टि (श्लोक ३३) 'इड़ायां पिङ्गल्यां चरतइह तौ सूर्य शशिनौ' के सूर्य-चन्द्र तमस्याधारे तौ यदि मिलितौ सा तिथिरमा' की स्थिति (मूलाधार चक्र में सूर्य चन्द्र मिलन की स्थिति) कैसे घटित कर सकते हैं? द्वितीय दृष्टि (निगम तत्त्व सार की दृष्टि) मानने पर यह संभव है।

जो सूर्य का आलोक (या प्रकाश है वही परावर्तित होकर चन्द्रमा को आलोकित करता है। चान्द्र कौमुदी सूर्या सूर्य-रश्मि का ही परा वर्तित आलोक है।

अमावस्या की स्थिति में सूर्य एवं चन्द्र एक ही राशि में आ जाते हैं अत: सूर्य का चन्द्र द्वारा परावर्तित प्रकाश पृथ्वी पर नहीं आ पाता। चन्द्रमा सूर्य-ताप का हरण कर लेता है। अत्यन्त ऊष्णाता तो विष का कार्य करती है। चन्द्रमा अत्युष्णाता स्वरूप विष को दूर करके अमृत प्रवाहित करता है। किन्तु यह अमृत-क्षरण अमा को नहीं होता इसीलिए समयमार्गी अमावस्या को भगवती 'षोडशी' की पूजा नहीं करते।

अमावस्या की तिथि पर भगवती की पूजा का निषेध है। अर्थात् **'मूलाधार चक्र'** में भगवती की पूजा का निषेध है। कारण यह है कि **मूलाधार चक्र' अन्धकार एवं तमोगुणपूर्ण है।**

प्रश्न—यदि **'मूलाधार चक्र'** एवं **'मूल कन्द'** का स्थान एक ही है। ('ध्वजाधो गुदोर्ध्वम्' स्थान ही है) तो दोनों में अन्तर क्या है?

उत्तर—**'मूलकन्द'** ३॥ करोड़ नाड़ियों का उद्भव केन्द्र है किन्तु **'मूलाधार चक्र'** तो उस कन्द की साढ़े तीन करोड़ नाड़ियों में से मात्र एक नाड़ी **'सुषुम्णा'** ही स्थित है और उसी में (या मेरुदण्ड की 'वज्रा' चित्रा ब्रह्मनाड़ी आदि नाड़ियों में ही) सारे चक्र स्थित हैं। यही दोनों में प्रधान अन्तर है। 'कन्द' सारी नाड़ियों एवं अप्रत्यक्षत: सारे चक्रों का भी (सुषुम्णा नाड़ी की दृष्टि से) आधार पर किन्तु 'मूलाधार चक्र' साढ़े तीन कोटि नाड़ियों का आधार तो नहीं है। स्पष्ट है कि **'नाड़ी-कन्द नीचे** होगा और मूलाधार चक्र' ऊपर होगा।। यह भी एक अन्तर है। 'सूर्य एवं 'चन्द्र' से सम्बद्ध अनेक दिशायें—

(१) प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् (योग बीज)

(२) योऽपान प्राणयोर्योग स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्या चन्द्रमसोर्योगो जीवात्म परमात्मनो:।
एवं तु द्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते।

—योग बीज

बिन्दु: शिवोरज: शक्तिश्चन्द्रो बिन्दूरजो रवि:।
उभयो: सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम्।

इड़ा-पिङ्गला-सुषुम्णा नाड़ियाँ

'पृष्ठवंशं समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी'

इड़ा: = चन्द्रमा पिङ्गला = सूर्य। सुषुम्णा = अग्नि।

'शिव संहिता' में कहा गया है कि चतुर्दलात्मक आधार पङ्कज है उसकी योनि में 'सूर्य' रहता है।

'मूलाधारे हियत्पद्मञ्चतुष्टयं व्यवस्थितम्।
तत्र मध्ये हि या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थित:।।'

सूर्यमण्डल से निरन्तर विष की धारा प्रवाहित होती रहती है। वह विष पिङ्गला में प्रवाहित होता रहता है। इस विष धारा को वह न करने वाली पिङ्गला नाड़ी दाहिने नासारन्ध्र में प्रवाहित होती है—

'सत्सूर्य मण्डलांद्वारं विषं क्षरति सन्ततम्।
पिंगलायां विषं यत्र स्वयंयात्यतितापनम्॥
विषं तत्रवहन्ती या धारारूपं निरन्तरम्।
दक्षनासापुटं याति कल्पितेयं तुपूर्ववत्।'

—शिव संहिता

विवेक मार्तण्डकार (गोरक्षनाथ) कहते हैं—

'नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मक:।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा।
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रवि:।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते।
ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु चोर्ध्वं भानुरध: शशी
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते।'

श्लोक क्रमांक ३४ ब्रह्मग्रंथि का उद्भेदन—

महाव्योमस्थेन्दोरमृतलीरी प्लावितततनु:।
प्रशुष्य द्वै नाड़ीप्रकरमनिशंप्लावयति तत्।
यदाज्ञायां विद्युत्त्रियुताभाक्षरमयी,
स्थिता विद्युल्लेखा भगवति विधि ग्रन्थिमभिनत्॥३४॥

[महाकाश में संस्थित सोम अपनी पीयूष की वर्षा द्वारा समस्त शरीर को आप्लावित करता रहता है। किन्तु यह पीयूष नाड़ी-समूह के द्वारा निरन्तर शोषित भी होता रहता है। यदि योगी 'आज्ञा चक्र' में विद्युत संवलित दीप्ति को सुस्थिर करके उसे अक्षरान्वित कर लेता है तो यह विद्युदाभा भगवती विद्युल्लेखा बन जाती है और तब ब्रह्मग्रंथि का उद्भेदन होता है।३४।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—

(१) इड़ा नाड़ी (चन्द्रनाड़ी = वाम नाड़ी) के द्वारा चन्द्रमा शरीर में अमृत प्रवाहित करता रहता है किन्तु सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा उस अमृत प्रवाह का शोषण करता रहता है। सूर्य विष का एवं चन्द्रमा अमृत का प्रतीक है और नाड़ी-मण्डल की दृष्टि से उनके ये कार्य भी तत्सम हैं।

(२) योगी (इड़ा' (चन्द्र) एवं 'पिङ्गला' (सूर्य) नाड़ी में अपने प्राणों के सञ्चार को बन्द करने का प्रयास करता है और इस साधना में साकल्प मिलने पर प्राण '**इड़ा**' एवं '**पिङ्गला**' नाड़ी के मार्ग का त्याग करके '**सुषुम्णा नाड़ी' में** प्रवाहित होने लगता है। इसे ही '**इड़ा-पिङ्गला**' की मृत्यु कहा जाता है।

(३) '**सुषुम्णा**' में प्राण प्रवाहित होने की अवस्था में ही भगवती कुण्डलिनी '**ब्रह्मद्वार**' के मार्ग के अवरोध का त्याग करके एवं सुषुम्ना-पथ में (ऊर्ध्वोन्मुख) यात्रा करने लगती है।

(४) इस समय भगवती कुण्डलिनी विद्युत की भाँति देदीप्यमान होकर '**मणिपूर चक्र**' में विद्युल्लेखा' के रूप में प्रकट होती है—

'**तडिल्लेखामध्ये** स्फुरति मणिपूरे भगवती।'[१]

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'गुरुकटक्षसञ्जात महावेध महिम्ना च भगवती झटति मूलाधारस्वाधिष्ठानात्मक चक्रद्वयं भित्वा मणिपूरे प्रत्यक्षं प्रतिभाति।'

समयाचारी '**मूलाधार**' एवं '**स्वाधिष्ठान चक्र**' में भगवती की पूजा करते ही नहीं क्योंकि ये दोनो चक्र सान्धकार है। इनमें '**मूलाधार चक्र**' अन्धतामिश्र है और '**स्वाधिष्ठान चक्र**' मिश्र लोक' है। '**मणिपूर चक्र**' अग्नि का स्थान है। यहाँ। स्थित मेघरूपी जल सूर्य की रश्मियों से प्रतिबिम्बित होते रहते हैं अत: यह चक्र '**मिश्र लोक**' है। 'अनाहत चक्र' '**योति र्लोक** है क्योंकि वह सूर्य का स्थान है।

'**यदा ज्ञाया**'—जब विद्युल्लेखा आज्ञाचक्र में उपस्थित होकर अक्षर ब्रह्म में लयीभूत हो जाती है तब **ब्रह्मग्रंथि का वेधन** होता है। जब मंत्र के समस्त अक्षरों का उस अन्तिम अक्षर (१६हवीं नित्या कला) में लय हो जाता है जो कि क्षरण रहित (अक्षर) है तब '**ब्रह्मग्रंथि**' का वेध होता है।

जब पञ्चदशाक्षरी मंत्र को '**अध:सहस्रार**' से समुत्थित करके उसका विषुस्थान में लय कर दिया जाता है। **द्वितीय वर्ण** को विषुस्थान से समुत्थित करके उसका मूलाधार चक्र में **तृतीय वर्ण** को मूलाधार से उत्थित करे स्वाधिष्ठान चक्र' में चतुर्थ

१. सुभगोदय स्तुति (१४)

वर्ण का स्वाधिष्ठान से उठाकर 'मणिपूर चक्र' में **पञ्चम वर्ण** को 'मणिपूर चक्र' से उठाकर अनाहत चक्र में **षष्ठ वर्ण** को अनाहत चक्र से समुत्थित करके 'विशुद्ध चक्र' में **सप्तम वर्ण**' को विशुद्ध चक्र में **सप्तमवर्ण**' को विशुद्ध चक्र से समुत्थित करके 'लम्बिका' में अष्टम वर्ण का लम्बिका से समुत्थित करके आज्ञा चक्र में, नवम वर्ण

ऊर्ध्वोत्थित समुत्थित करके 'अर्धचन्द्र' में **एकादशवर्ण** को 'अर्धचन्द्र' से ऊर्ध्वोत्थित करके 'निरोधिका' में **द्वादशवर्ण** को निरोधिनी से ऊर्ध्वोत्थित करके 'नाद' में '**त्रयोदश वर्ण** को नाद से समुत्थित करे 'नादान्त' में **चतुर्दश** वर्ण को ऊर्ध्वोत्थित करे'नादान्त से समुत्थित करके) '**शक्ति**' में एवं **पञ्चदश वर्ण** को ऊर्ध्वोत्थित करके 'व्यापिका' में और इसी प्रकार जब प्रत्येक पूर्ववर्ती वर्ण को उत्तरवर्ती वर्ण में लयीभूत कर दिया जाता है तब समस्त '**पञ्चदशी मंत्र**' एवं तन्निहित समस्त वर्णों को परा कलास्वरूपा 'श्रीकला' को '**उन्मनी**' में लय कर दिया जाता है।

'**विधिग्रंथिमभिनत**'—'**आज्ञा चक्र**' में **ब्रह्मग्रंथि का उद्भेदन** थोड़ी सी समस्या या संशय का विषय बनता है क्योंकि '**ललितासहस्रनाम**' में ग्रंथित्रय स्थान इस प्रकार बताया गया है—

(१) 'ब्रह्मग्रंथि' — 'मूलाधार चक्र'
(२) 'विष्णुग्रंथि' — 'मणिपूरक चक्र'
(३) 'रुद्रग्रंथि' — 'आज्ञाचक्र'

'**मूलाधारै**कनिलया **ब्रह्मग्रंथि** विभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि-विभेदिनी।
आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रन्थि-विभेदिनी।
सहस्राराम्बुजारूढा सुधाधाराभिवर्षिणी॥'

'ललितासहस्रनाम' में '**ब्रह्मग्रंथि**' का स्थान 'मूलाधार' में बताया गया है अत: 'मूलाधार चक्र' में ही 'ब्रह्मग्रंथि' का एवं 'आज्ञाचक्र में '**रुद्रगंथि**' का उद्भेदन होना स्वीकार किया गया है किन्तु 'सुभगोदयस्तुति' में गौड़पादाचार्य इसके विपरीत कहते हैं कि—

(१) **ब्रह्मग्रंथि का उद्भेदन**' आज्ञा चक्र में किया जाता है।

(२) '**रुद्रग्रंथि**' का उद्भेदन आज्ञा चक्र में नहीं किया जाता।

(३) **आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि**—आचार्य लक्ष्मीधर भी आचार्य गौड़पाद की दृष्आि के अनुगामी हैं और कहते हैं कि—

'**ब्रह्मग्रंथि** भेदनातिव्यग्रतया भगवत्या **आज्ञा चक्रे** क्षणमात्रावस्थानात् साधकानां **तटिल्लेखा रूपेण** अवभासनात् **आज्ञाचक्रं** नामास्या॥'[१]

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक ९)

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) 'श्री चक्र त्रिखण्ड सोम सूर्यानलात्मकम्।

('श्री चक्र' सोम-सूर्य-अनल रूप खण्डत्रय के रूप में विभाहित है।)

इसमें—

(क) मूलाधार-स्वाधिष्ठान चक्र का एक खण्ड है।

(ख) मूणिपूरक चक्र एवं अनाहत चक्र का एक खण्ड है।

(ग) विशुद्धि चक्र एवं आज्ञा चक्र का एक खण्ड है।

(१) **प्रथम खण्ड** के ऊपर **'अग्निस्थान'** है और उसे ही **'रुद्रग्रंथि'** कहा जाता है—

'अत्र प्रथमखण्डोपरि अग्निस्थानम्। तदेव रुद्रग्रंथि रित्युच्यते।'

(२) **द्वितीय खण्ड के** ऊपर **'सूर्यस्थान'** है और उसे ही **विष्णु ग्रंथि'** कहते हैं—

'द्वितीयखण्डोपरि **'सूर्यस्थानम्'**। तदवे **'विष्णुग्रन्थिरित्युच्यते** ॥'

(३) **तृतीय खण्ड** के ऊपर **'चन्द्रस्थान'** है और वही **'ब्रह्मग्रंथि'** है—

'तृतीय खण्डोपरि चन्द्रस्थानम्। तदेव **ब्रह्मग्रन्थिरित्युच्यते** ॥

'सोमसूर्यानलामकं' इति अवरोहण क्रमेणावगन्तव्यम्।'

(४) प्रथम खण्ड के ऊपर—वह्नि। प्रथम खण्ड को ज्वालामय बना देत है वह्नि।

(५) द्वितीय खण्ड के ऊपर—सूर्य सूर्य द्वितीय खण्ड को अपनी किरणों से आच्छादित किए हुए है।

(६) तृतीय खण्ड के ऊपर—चन्द्रमा तृतीय खण्ड को अपनी किरणों से आच्छादित करके स्थित है।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर दूसरी दृष्टि को उपन्यास्त करते हुए कहते हैं कि—

(१) वर्ण पञ्चक (रवि। शीतकिरण। स्मर। हंस। शक्र) **'सौर खण्ड'** है।

(२) शिव, शक्ति, काम एवं क्षिति—वर्णचतुष्टय **'आग्नेय खण्ड'** है।

इन दोनों खण्डों के मध्य हल्लेख बीजात्मक **'रुद्रग्रंथि'** है—

'उभयोः खण्डयोः मध्ये **रुद्रग्रन्थि** स्थानीयं हल्लेखबीजम्।'

(२) 'परामाहरय इति वर्णत्रयेण **सौम्यखण्डं**।

सौम्य-सौर खण्ड के मध्य भुवनेश्वरी बीजात्मक 'विष्णु ग्रंथि' है—

'सौम्यसौरखण्डयोर्मध्ये **विष्णुग्रन्थि** स्थानीयं भुवनेश्वरी बीजम् ॥'

(३) चन्द्रकला खण्ड तुरीय एवं एकाक्षर है—

'तुरीयमेकाक्षरं चन्द्रकलाखण्डम्।'

(४) सौम्य-चन्द्रकलाखण्डों के मध्य ब्रह्मग्रंथि स्थानीय हल्लेखाबीज है—

'सौम्यचन्द्रकलाखण्डयोर्मध्ये ब्रह्मग्रंथिस्थानीयं हल्लेखा बीजम्।'

('चन्द्रकलाखण्ड' तो गुरुमात्र मुखैकगम्य है।)

'त्रिखण्डो मातृका मन्त्रः सोमसूर्यानलात्मकः'[१]

श्लोक क्रमांक ३५ : **'श्रीचक्र' 'सरघा' एवं बैन्दव स्थान' का स्वरूप**

ततो गत्वा ज्योत्स्नामय लोकं समयिनां,
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता।
सहस्रारे पद्मे शिशिर महसां बिम्बपरं,
तदेव **'श्रीचक्र'** सरघमिति तद्बैन्दवमिति।।३५॥

[उसके बाद (अर्थात् आज्ञा चक्र में ब्रह्म ग्रंथि का वेध करने के बाद) चन्द्रिकासंवलित समय लोक (सहस्रार) में जाकर 'परा' नाम वाली शैवी शक्ति शिवतत्व से मिलकर 'सादाख्या' (सदाशिव तत्त्व) पर विजय प्राप्त करती है। सहस्रार सरसिज में चन्द्रमा का दूसरा बिम्ब है। वही 'श्रीचक्र' 'सरघा' एवं 'बैन्दवस्थान' है।।३५॥]

सरोजिनी (व्याख्या)— 'समयिनाम्' = सामयिकों की।

आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने **'श्रीचक्र' 'बैन्दवस्थान' 'सुधासिन्धु' 'सहस्रकमल'** एवं **'सरघा'** की व्याख्या करते हुए कह है कि—

(१) **'सहस्रकमलं** बिन्दुतीतं **बैन्दवस्थानात्मकं सुधासिन्ध्व** परपर्यायं **सरघा** शब्द वाच्यम्।[२]

(२) 'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्री चक्र शिवयोर्वपुः ॥'

(३) **शिव शब्देन** नवयोनिचक्रमध्ये चतुर्योन्यात्मकमर्ध चक्रमुच्यते। **शक्तिशब्देन** अवशिष्ट पञ्चयोन्यात्मकर्धचक्रमुच्यते। एममर्धद्वयमिलितं नवयोन्यात्मकं चक्रं भवति। एतस्माच्चक्रादेव जगदुत्पत्तिस्थिति लया भवन्तिति॥[३]

(४) 'श्री चक्रस्य वियच्चक्रमिति नामान्तरमस्ति।'

---

१. लक्ष्मीधरा : (श्लोक ३२)
२. लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)
३. लक्ष्मीधरा (श्लोक १)

(५) **'बैन्दवस्थानं** श्रीचक्रस्य मध्यस्थितं, शिवचक्राणां चतुर्णामुपरि शक्ति चक्राणां पञ्चानामधस्तादवस्थितत्वात् ।'

'श्री चक्र' का अन्तर्विभाजन

(१) 'शिवचक्र'
(१) अष्टदल
(२) षोडश दल
(३) मेखलात्रितय
(४) पुरत्रय

(२) 'शक्ति चक्र'
(१) त्रिकोण
(२) अष्टकोण
(३) दशार-अन्तः
(४) दशार-बहिः
(५) चतुर्दश कोण
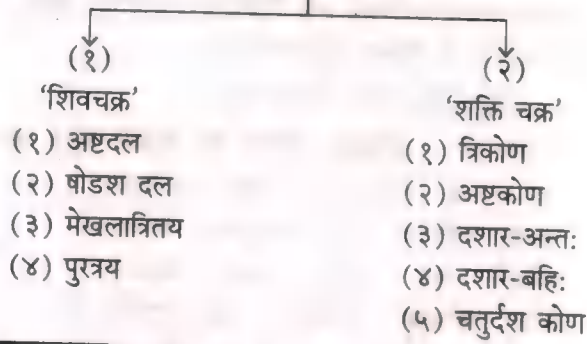
ऐक्यानुसन्धान—

(१) बिन्दु एवं त्रिकोण में ऐक्य
(२) अष्टकोण एवं अष्टदलपद्म में ऐक्य
(३) दशारयुग्म एवं षोडशदलपद्म में ऐक्य
(४) चतुर्दशार एवं भूपुर में ऐक्य
} शिव-शक्ति में ऐक्य

(क) त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
चतुर्दशारं चैतानि **शक्तिचक्राणि** पञ्च च॥ } (शक्ति चक्र)

(ख) बिन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् । } (शिवचक्र)

'शिव चक्र' एवं 'शक्ति चक्र' में ऐक्य या सामरस्य

(१) बिन्दुश्चाष्ट दलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम् ।
चतुरस्रं च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात् ।

(२) **त्रिकोणो बैन्दवं** श्लिष्टं अष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोष्षोडशारं भूगृहं भुवनाश्रके ।

(३) शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम् ।
अविनाभावसम्बंधं यो जानातिस चक्रवित् ॥

(४) त्रिकोणामष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा ।
मनुकोणं चतुष्टोणं कोणचक्राणि षट्क्रमात् ।

(५) मूलाधारं तया स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम् ।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः ॥

(६) तवाधारस्वरूपिणि कोणचक्राणि पार्वति ।
त्रिकोणरूपिणी शक्तिः बिन्दुरुपश्शिवस्मृतः ॥

जब कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वारोहण करती है अर्थात् जब वह सहस्रारोन्मुख यात्रा करती है तब वह ऊर्ध्वयात्रा के प्रत्येक सोपान (प्रत्येक चक्र) पर यथाक्रम सारे तत्त्वों को अपने में लयीभूत कर लेती है। सारे तत्त्व एक दूसरे में एवं कुण्डलिनी में लय हो जाते हैं। यही 'लय क्रम' है। सहस्रार में जाते हुए भगवती महाशक्ति सदाख्य तत्त्व (सदाशिव या अर्धनारीश्वर तत्त्व) को जीतकर शिवतत्त्व में लीन हो जाती है और फिर **'परासंवित्'** रूप धारण कर लेती है। यही **'निर्विकल्प समाधि'** की अवस्था है।

समयमत की दृष्टि यह है कि भगवती का स्थान (परा शक्ति का ध्यान) सहस्रार है न कि कौलों के मतानुसार 'मूलाधार चक्र'।

सहस्रार ही 'श्री चक्र' है (अर्थात् भगवती पराशक्ति या संवित्तत्व सहस्रार में निवास करता है।

'भैरव यामल (वामकेश्वरमहातन्त्र की दृष्टि)—भैरव यामल' में कहा गया है—

'बिन्दुस्थानं सुधासिन्धुः पञ्चयोन्यस्सुरद्रुमाः ।
तत्रैव नीपश्रेणी च तन्मध्ये मणिभण्टपम् ॥
तत्रचिन्तामणिकृतं देव्या मन्दिर मुत्तमम् ।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणी ॥
अतिरम्यतरे तत्र-कशिपुश्च सदाशिवः ।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः ।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी ।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्
तदुद्भूतामृतस्यान्दि परमानन्दनन्दिता
कुलयोषित्कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणामेत्य सा ।'
'सुधाब्धौ नन्दनोद्याने रत्नमण्टपमध्यगाम् ।
बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम् ॥
पाशंकुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां श्रियम् ।
ध्यात्वा च हृद्गतं चक्रं व्रतस्थः परमेश्वरीम् ।
पूर्वोक्तध्यानयोगेन सञ्चिन्त्य जपमाचरेत् ॥'

श्लोक क्रमांक ३६ देवी का स्वरूप

'वदन्त्येके सन्तः परशिव पदे तत्व मिलिते ।
ततस्त्वं षट्त्रिंशी भवसि शिवयोर्मेलनवपुः ।

त्रिखण्डेऽस्मिन्स्वान्ते परमपद पर्यङ्क सदने।
परे सादाख्येऽस्मिन्न वसति चतुर्धैक्यं कलनात् ॥३६॥

[हे भगवती! एक दृष्टि वाले सन्तों का यह कथन है कि तू परम शिव पद तत्त्व में मिलकर ३६ प्रकार वाली शिवशक्तिमय शरीर वाली हो जाती है और तीन खण्डों वाले अपने इस अन्तर में परमपद रूपी पर्यङ्क पर सादाख्य तत्त्व से परे चार प्रकार के ऐक्य पूर्वक रहा करती है॥३६॥)]

सरोजिनी (व्याख्या)—**'ततस्त्वं षटत्रिंशी भवसि'। आचार्य गौड़पाद** कहते हैं कि भगवती का वह अनुत्तर 'परा संवित् स्वरूप' ही समस्त ३६ तत्त्वों का जनक है। भगवती ही सांख्य दर्शन के २६ एवं शैवशक्त दर्शन के ३६ तत्त्वों का स्वरूप धारण करती है। इसी **'परा संवित्'** परम तत्त्व में ही समस्त तत्त्व लयीभूत हो जाते हैं और सारे तत्त्व उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी में रहते हैं सभी उसी में उपसंहत हो जाते हैं।

'त्रिखण्डेऽस्मिनस्वान्ते'—भगवती, भगवती का श्री यंत्र एवं भगवती का मंत्र—ये तीनों ही त्रिखण्डात्मक हैं। समस्त शरीरस्थ षट्चक्र भी त्रिखण्डात्मक हैं।

'परा संवित्' जो कि **'चन्द्रकला'** या **'पञ्चदशाक्षरी विद्या'** का अन्तिम अक्षर है—१६हवाँ अक्षर है—वही भगवती का यथार्थ स्वरूप है।

राजराजेश्वरी अपने 'परा संवित्' स्वरूप में अपने **'सहस्रार'** रूपी गृह में परमपद रूपी पर्यङ्क पर सादाख्या तत्त्व से परे चार प्रकार के ऐक्य के साथ रहा करती है। यहाँ **'शक्ति'** एवं **'परमशिव'** का चतुर्विध ऐक्य है।

'परा संवित्' के रूप में भगवती का परम शिव के साथ चार प्रकार का ऐक्य है। यहाँ—

'शक्ति' एवं 'शिव' का 'नाम' 'रूप' 'अवस्था' एवं अनुष्ठानगत साम्य है अर्थात् 'शिव' एवं 'शक्ति' दोनों तत्त्वों का एक ही 'नाम' है, एक ही 'रूप' है, एक ही **'अवस्था'** है एवं एक ही 'कार्य' है।

साम्य के ५ भेद

(१) नामसाम्य
(२) रूपसाम्य
(३) अवस्थासाम्य
(४) अनुष्ठानसाम्य
(५) अधिष्ठानसाम्य

यद्यपि ५ प्रकार के साम्य हैं किन्तु यहाँ आचार्य गौड़पाद ने केवल **'साम्य चतुष्टय'** का ही उल्लेख किया है।
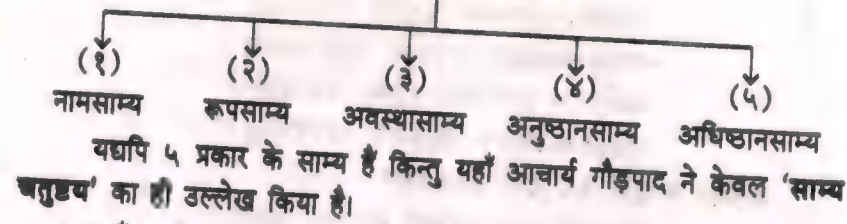
यहाँ **'अधिष्ठान-साम्य'** के उल्लेख की आवश्यकता इसलिए नहीं है क्योंकि

'शिव' एवं 'शक्ति' दोनों का ऐक्य होने पर ही वे दोनों एक ही स्थान—'परम पद पर्यङ्क सदने' (३६) पर निवास किया करते हैं अन्यथा नहीं।

१३हवें श्लोक पर ध्यान दें—

'कला नादोबिन्दुः क्रमश इह वर्णाश्च चरणं।
षडब्जं चाधार प्रभृतिकममीषं च मिलनम्।
तदेवं षोढैक्यं भवति खलुयेषां समयिनां।
चतुर्धैक्यं तेषां भवति हि सपर्यासमयिनाम् ॥'

—सुभगोदय स्तुति (१ श्लोक १३)

१३हवें श्लोक में षोढैक्य

षोढैक्य

(१) शिव और शक्ति का मूलाधार आदि ६ में से प्रत्येक चक्र में साम्य होने से यह ऐक्य ६ प्रकार का होता है।

(२) 'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः समाराधनमित्येतत् सर्वसम्मतम्॥ के चितु षोढाऐक्यमाहुः।' —लक्ष्मीधराः श्लोक ४१

तादात्म्य चतुष्टय

(१) 'आधारदिषट्चक्राणां त्रिकोणादिषट्चक्र त्वेन **तादात्म्यम्।**।'
(२) बिन्दुस्थानस्य चतुरश्रस्य सहस्र कमलत्वेन तादात्म्यम्।
(३) बिन्दुशिवयोस्तादात्म्यम् एवं हि शिवयो स्तादात्म्यमिति तादात्म्य त्रयम्।
(४) चक्रमन्त्रयोः ऐक्यं पूर्वमेवोक्तमिति तेन सह चतुर्धा ऐक्यं समयिनां समाराधनमिति।

'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेवभगवत्याः समाराधनमित्येत् सर्वसम्मतम्।'

वाणीचतुष्टय एवं चक्र के साथ ऐक्य

(१) **'परा'** त्रिकोणात्मिका
(२) **'पश्यन्ती'** अष्टकोणचक्ररूपिणी
(३) **'मध्यमा'** द्विदशाररूपिणी
(४) **'वैखरी'** चतुर्दशाररूपिणी

शिवचक्राणां अत्रैव अन्तर्भावः प्रतिपादित इति चतुश्चक्रात्मकं 'श्री चक्रं' नाद शब्द वाच्यम्।

बिन्दुर्नाम—षट् चक्राणि—
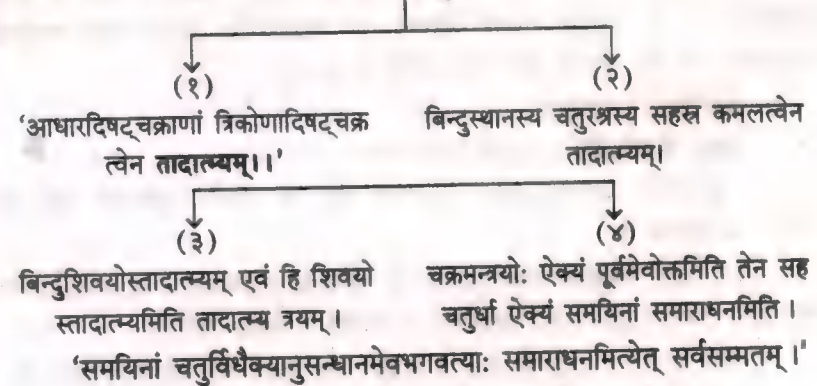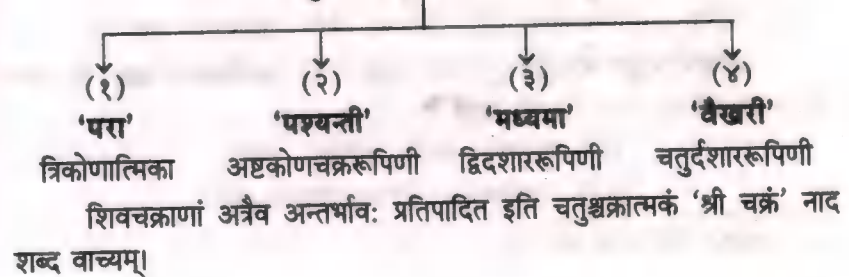
मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहतविशुद्ध्याज्ञात्मकानि बिन्दु शब्द वाच्यानि पूर्वमेव उक्तानि।

षड्विध ऐक्य—लक्ष्मीधर कहते हैं कि—

(१) साधक भगवती के साथ षड्विध ऐक्य द्वारा पूजा करके सादाख्या में विलीन हो जाती है।

(२) इसके बाद षड्विधैक्यानुसन्धान की महत्ता से भगवती शीघ्र ही मूलाधार स्वाधिष्ठान नामक चक्र द्वय का भेदन करके 'मणिपूर चक्र' में प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कृत होती है।[1]

श्लोक क्रमांक ३७ षट्चक्र एवं श्रीचक्र में एकता

क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजलेदिङ्मरुति दिक्
कलाश्रे मन्वश्रं दृशि वसुरथो राजकमले।
प्रतिद्वैतग्रन्थि स्तदुपरि चतुर्द्वार सहितं,
महिचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्य कलनात् ॥३७॥

[(पृथ्वी में अग्नि, वह्नि (या अग्नि) में वसुदल, जल में दिशायें, वायु में दिशाएँ, कलाश्र में मन्वश्र, दृशि में वसुरथ तथा राजकमल तथा इन सभी के ऊपर प्रतिद्वैत ग्रन्थि में चतुर्द्वार सहित महिचक्र (श्री चक्रान्तर्गत भूपुर) तथा भगकोणों (षट्चक्रों) का श्री चक्र के साथ ऐक्य होता है।।३७।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—

[क] **'क्षितोवह्निः'**—पृथ्वी अग्नि में।

(१) पृथ्वी तत्त्व का स्थान 'मूलाधार चक्र' है। 'पृथ्वी' 'मूलाधार चक्र' का प्रतीक या वाचक है।

(२) यहाँ **'त्रिकोण'** शब्द का अर्थ है अग्नि का स्थान अग्नि का स्थान त्रिकोण है। अग्नि त्रिकोण स्वयप है। **'त्रिकोण'** = श्रीचक्र में स्थित त्रिकोण।

यहाँ 'मूलाधार' एवं श्री चक्र के त्रिकोण की एकता का प्रतिपादन किया है।

[ख] **'वह्नौ वसुदल'**—'अग्नि वसुदल में'।

'अग्नि' = अग्नि तत्त्व। अग्नि तत्त्व का स्थान 'स्वाधिष्ठान चक्र' है।

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—आचार्य शङ्कर ने भी **'स्वाधिष्ठान चक्र'** को अग्नि का स्थान स्वीकार किया है। वह कहते हैं—

'महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि।

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक क्रमांक ४१)

मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वाकुलपथं,
सहस्रारे पद्मे सह इहसि पत्या विहरति ॥९॥

ततः स्वाधिष्ठाने हंतवहमधिष्ठाय निरतं,
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोध-कलिते,
दयार्द्राया दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥

यहाँ गौड़पादाचार्य ने अग्नि शब्द को **'स्वाधिष्ठान चक्र'** के वाचक के रूप में प्रस्तुत किया है।

'योग' में स्वाधिष्ठान चक्र को जल का स्थान माना है।

भारतीय योगशास्त्र की दृष्टि—

चक्रों का नाम	तत्त्वों का नाम	
(१) 'मूलाधार चक्र'	पृथ्वी तत्त्व	गंध
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र'	तल तत्त्व	रस
(३) 'मणिपूरक चक्र'	अग्नि तत्त्व	रस
(४) 'अनाहत चक्र'	वायु तत्त्व	स्पर्श
(५) 'विशुद्धि चक्र'	आकाश तत्त्व	शब्द
(६) 'आज्ञा चक्र'	मनस्तत्त्व	

गौड़पाद एवं आचार्य शङ्कर की दृष्टि—**आचार्य शङ्कर** कहते हैं कि—

'स्वाधिष्ठान चक्र' अग्नि का एवं **'मणिपूरक चक्र'** जल का स्थान है। **आचार्य गौड़पाद** ने भी यही दृष्टि स्वीकार की थी। आचार्य शङ्कर ने गौड़पाद की ही दृष्टि स्वीकार की है।

सौन्दर्यलहरी में चक्र-क्रम—(१) सहस्रार (२) आज्ञा (३) विशुद्धि (४) अनाहत (हृदय) (५) स्वाधिष्ठान (६) मणिपूर (७) मूलाधार चक्र।

प्रश्न—'स्वाधिष्ठान' को अग्नि तत्त्व का स्थान क्यों स्वीकार किया गया?

उत्तर—कुण्डलिनी शक्ति जागृतावस्था के बाद सर्वप्रथम इसी चक्र में निवास करती है।

उक्त दृष्टि का शास्त्रीय प्रमाण—

'वामकेश्वर तन्त्र' में भी स्वाधिष्ठान चक्र को ही अग्नि का स्थान स्वीकार किया गया है—

'पद्मासनगतः स्वस्थोगुदमाकुञ्च्य साधकः।
वायुमूर्ध्वगतिं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः।

वाटवाघातवशादग्निः **स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन्**
ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ॥'

'स्वाधिष्ठान चक्र' में स्थित जो जल है उसमें अग्नि की विद्यमानता होने के कारणभी स्वाधिष्ठान चक्र को अग्नि का स्थान कहा गया है। भौतिक शास्त्र के शास्त्र LATENT HEAT इसे ही कहते है। यही जल स्थित अग्नि मणिपूर चक्र में विद्युत् के रूप में निवास करती है। स्वाधिष्ठान स्थित जल **'मणिपूर चक्र'** में मेघों के रूप में रहा करता है। **'मणिपूरक चक्र'** को मेघों का स्थान होने के कारण ही जल का स्थान स्वीकार किया गया है क्योंकि मेघों में जल का निवास होता है और उनसे ही जल की वर्षा हुआ करती है।

[ग] **'वसुदल'** = वसु के अष्ट होने के कारण यहाँ वसु 'अष्टार' का सूचक है।
'वह्नौ वसुदल' = स्वाधिष्ठान चक्र ही अष्टार है।
[घ] **'जलेदिङ् =** जल में दिशायें।
(क) जल का स्थान मणिपूर चक्र है।
(ख) 'जल' = मणिपूरक चक्र।
(ग) **दिशायें =** दिशायें १० हैं अतः १० का अर्थ है अन्तर्दशार है।
(घ) **'मणिपूरक चक्र' ही अन्तर्दशार है।**
[ङ] **'दिङ्मरुति'** = वायु में दिशायें।
मरुत = मरुत का स्थान हृदय या अनाहत चक्र। हृदय चक्र। **दिशायें =** १० की संख्या की द्योतक हैं।
(१) श्री चक्र में वहिर्दशार स्थित है।
१० (मरुत) = बहिर्दशार।
'वायु में दिशा' = अनाहत चक्र में बहिर्दशार स्थित है।
[च] **कलाश्रे मन्वश्रे' =** कला = १६ की संख्या।
'कलाश्र' = १६ दलों वाला विशुद्ध चक्र।
'मन्वश्र' = श्री चक्र का चतुर्दशार।
मनु १४ की संख्या का द्योतक है। 'विशुद्ध चक्र ही चतुर्दशार है।'
[छ] **'दृशिं वसुरथो राजकमले'** =
दृशि = नेत्र। नेत्रों की संख्या है २। दृशि = २
'दृशि' = द्विदल कमल या **'आज्ञाचक्र'**
'वसु' = आठ वसु हैं अतः **'वसु'** = आठ।
'वसुरथ' = श्री चक्र का **'अष्टदल पद्म'**।

'राजकमल' = राज = १६। राजा = १६।
'राजकमल' = श्री चक्रान्तर्गत षोडशदलपद्म 'आज्ञा चक्र ही श्रीचक्र का अष्ट दल एवं षोडश दल पद्म है।'

सारांश—

पृथ्वी = मूलाधार 'अग्नि' = त्रिकाण। (श्री चक्र का त्रिकोण)
'पृथ्वी' अर्थात् मूलाधार चक्र में ही **'वह्नि'—श्री चक्र का त्रिकोण'** स्थित है इस प्रकार—
[क] **मूलाधार एवं त्रिकोण की एकता**
(मूलाधार चक्र ही त्रिकोण है।)
'अग्नि' = स्वाधिष्ठान चक्र। **'वसुदल'** = 'अष्टार'
स्वाधिष्ठान चक्र ही अष्टार है।
[ख] **स्वाधिष्ठान चक्र एवं श्री चक्र के अष्टार में एकता**
'जल' = मणिपूरक चक्र। **'दिशा'** = १० की सूचक
'मणिपूरक चक्र ही श्री चक्र का अन्तर्दशार है।'
[ग] **'मणिपूरक चक्र एवं अन्तर्दशार की एकता**
'वायु' = वायुस्थान = हृदय। अनाहत चक्र।
'दिशा' = दिशायें १० हैं। **दिशा =** १० दिशा श्रीचक्र का बहिर्दशार।
अनाहत चक्र ही बहिर्दशार है।
[घ] **अनाहत चक्र एवं श्री यंत्र के बहिर्दशार में एकता**
'कलाश्र' = कलायें १६ हैं। कलाश्र = 'षोडशदलपद्म' अर्थात् विशुद्धि चक्र।
'मन्वश्र' = मनु १४ हैं। **'मन्वश्र'** = १४ की संख्या।
'विशुद्ध चक्र ही श्री यंत्र का चतुर्दशार है।'
[ङ] **विशुद्ध चक्र एवं चतुर्दशार में एकता**
'दृशि' = नेत्र, नेत्रों की संख्या २ है। **'दृशि'** = आज्ञा चक्र द्विदलसरसिज।
'वसु' = वसु ८ हैं। **'वसु'** = ८।। श्री चक्र का **'अष्टदल पद्म'**।
'राजकमल' = राज = राजा। राजा (नृपति) की संख्या = १६। **'राजकमल'** = श्री चक्र में स्थित **'षोडशदल पद्म'**।
आज्ञा चक्र ही श्रीचक्र के **'अष्टदल'** एवं **'षोडशदल'** पद्म हैं।।
[च] **आज्ञा चक्र एवं श्री यंत्र के अष्टदल एवं षोडश दल पद्म की एकता**
'प्रतिद्वैत ग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वार सहितं महिचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्य कलनात्'
प्रतिद्वैतग्रंथि—अद्वैत का स्थान—**'सहस्रार' 'चतुर्द्वार' = 'महिचक्र' = 'भूपुर'** (श्री चक्र के भीतर स्थित)।

'चतुर्द्वार सहित महिचक्रं' = चतुर्द्वारसहित महिचक्र = श्री चक्र में स्थित भूपुर।

'भग' = ६। 'भग' ६ का सूचक है। **'भगकोण'** = षट्चक्र। सहस्रार ही भूपुर है और षट्चक्र ही श्री चक्र है।

[छ] **'सहस्रार' की 'भूपुर' के साथ एवं षट्चक्रों की 'श्री चक्र के साथ एकता 'मंत्र', 'यन्त्र'** एवं **'षट्चक्र'**—तीनों में एकता है।

साम्य (एकता) के अन्य भेद

(१) नामसाम्य
(२) रूपसाम्य
(३) अवस्थासाम्य
(४) अनुष्ठानसाम्य
(५) अधिष्ठानसाम्य
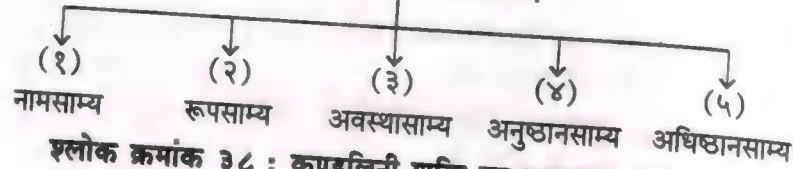
श्लोक क्रमांक ३८ : कुण्डलिनी शक्ति का जागरण

'षडाब्जाख्ये त्वां समयिन इमे पञ्चक समां,
यदा संविद्रूपां विदधति च षोटैक्यकलताम्।
मनोजित्वा चाज्ञा सरसिज इह प्रादुर भव,
तडिल्लेखा नित्या भगवती तवाधार सदनात्॥३८॥

[हे भगवती! जब समयमतानुसायी मन को आज्ञा चक्र में जीतकर ६ कमल समूह रूपी बन में तुझ संविद्रूपा पराशक्ति को साम्यपञ्चक एंव षोढैक्य वाला बनाते हैं तब विघुल्लेखा (शम्पा की ज्योति-किरण) के समान प्रकाश वाली एवं स्वगृहस्वरूप मूलाधार चक्र से प्रादुर्भूत हुई तुझे नित्या के रूप में मानते हैं।॥३८॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—समयमत एवं कौलमत—दोनों के अनुयायी भगवती कुण्डलिनी को राजराजेश्वरी, पराभिहारिका भगवती महात्रिपुर सुन्दरी मानते हैं।

योगी मन को योग साधना द्वारा जीतकर भगवती शक्ति को निद्रा से उठाकर उन्हें जागृत कर लेता है। जागृता कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में जागृत होकर वहाँ से विघुत रश्मि के समान ऊपर उठकर समस्त चक्रों का वेध करती है।

यहाँ 'पञ्चकसमां' 'षोढैक्य कलितां' शब्दों का जो प्रयोग किया गया है वह ५ प्रकार की एकताओं का वाचक है।

पञ्चसाम्य

(१) अधिष्ठानसाम्य
(२) अनुष्ठानसाम्य
(३) अवस्थासाम्य
(४) रूपसाम्य
(५) नामसाम्य

पञ्चसाम्य के अन्य प्रकार

(१) क्रिया साम्य (अनुष्ठानसाम्य)
(२) अवस्था साम्य (अवस्थानसाम्य)
(३) रूप साम्य
(४) प्रकृति साम्य
(५) नाम साम्य
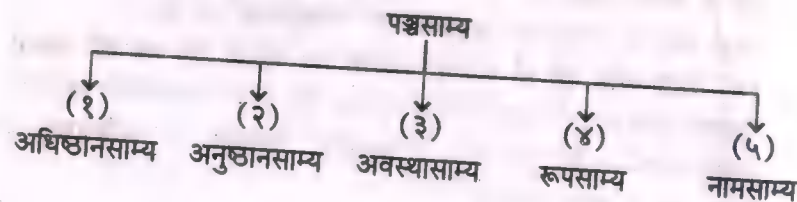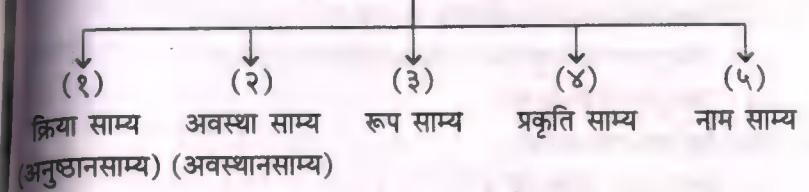
*** साम्य एवं ऐक्य की विवेचना ***

(१) पञ्च साम्य (२) षोढ़ा ऐक्य

षोढ़ा ऐक्य—

(१) कला का बिन्दु से ऐक्य और इन दोनों का नाद के विभव से ऐक्य।
(२) नाद का कला एवं बिन्दु से ऐक्य।
(३) कला का नाद तथा बिन्दु से ऐक्य।
(४) कला, बिन्दु तथा नाद का परशिव से ऐक्य।
(५) नाद, कला तथा बिन्दु का परशिव से ऐक्य।
कला, नाद एवं बिन्दु का परशिव से ऐक्य।

'कलायां बिन्द्वैक्य तदनु च तयोर्नादविभवे।
तयोर्नादनैक्यं तदनु च कलायामपि तयो:।
तयोर्बिन्द्वादैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे,
तदेवं **षोढैक्यं भवति हि समपर्या** समयिनाम्।'[१]

'षोढा ऐक्य' एवं 'चतुर्धा ऐक्य'—

'कला नादो बिन्दुः क्रमश इह वर्णाश्च चरणं,
षडब्जं चाधार प्रभृतिकममीषां च मिलनम्।
तदेवं **षोढैक्यं** भवति खलु येषां समयिनां,
चतुर्धैक्य तेषां भवति हि सपर्या समयिनाम्॥[२]

ऐक्य के अन्य रूप—

(१) बिन्दु त्रिकोण का ऐक्य।
(२) अष्टकोण अष्टदल कमल का ऐक्य।
(३) दशारयुग्म षोडशदलपद्म का ऐक्य।
(४) चतुर्दशार भूपुर का ऐक्य॥[३]

---

१. 'सुभगोदय' (१२)
२. सुभगोदय स्तुति (१३)
३. लक्ष्मीधरा (९)

ऐक्य—

(१) 'आधारदिषट्काणां त्रिकोणादि षट्चक्रत्वेन तादात्म्यम्।'
(२) 'बिन्दुस्थानस्य चतुरश्रस्य सहस्रकमलत्वेन तादात्म्यम्'।
(३) 'बिन्दुशिवयोस्तादात्म्यम्'
(४) देहशिवयोस्तादात्म्यम्
(५) चक्रमन्त्रयोः ऐक्यं ॥[१]

'समयिनां चतुर्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्या समाराधनमित्येतत् सर्वसम्मतम्। केचित्तु षोढा ऐक्यमाहुः।।[२]

'षडब्जाख्य' ६ अब्जों (पद्मों) का जङ्गल। शरीर में योगियों ने ६ चक्रों को स्थित माना है। इन्हीं चक्रों को 'षडब्ज' (६ पद्म) कहा है।

गोरक्षनाथ कहते हैं—

'चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभ्तै दशदलं पद्मं सूर्यसंख्या दलं हृदि।
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलभाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनि स्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते॥
आधाराख्य गुदास्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता॥
षटचक्रं षोडशाधारं चिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः॥

—गोरक्ष शतक

(क) **गोरक्षनाथ = 'मूलाधार चक्र'** का स्वरूप।

(१) 'यस्माच्चराचरं जगदिदं चिद चिदात्मकं प्रभवति तदेव **'मूलाधारं'** संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।

(२) 'सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः[३] संहतिश्च भवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूल मिथ्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलाधारता भवन्ति।। —सिद्धसिद्धानत पद्धति

(ख) **'स्वाधिष्ठान चक्र' का स्वरूप—**

---

१. लक्ष्मीधरा (४१)
२. तत्रैव
३. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति

द्वितीयं स्वाधिष्ठान चक्रं तन्मध्ये पश्चिमा भिमुखलिङ्गं प्रवालाङ्कुर सदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डी यानपीठं जगदाकर्षणं भवति।

(ग) **'नाभिचक्र' का स्वरूप—**

'तृतीयं नाभिचक्र पञ्चावर्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्ति सर्वसिद्धिदा भवति।।[१]

(घ) **अष्ट दल**—'चतुर्थं हृदयाधारमष्टदल कमात मधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योतिरुपां ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यामि भवन्ति।

(ङ) **'कण्ठ चक्रं'** —पञ्चमं कण्ठ चक्रं चतुरङ्गलं तत्र वाम इड़ा चन्द्र नाड़ी दक्षिणो पिङ्गला सूर्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णा ध्यायेत् सैवानाहत कलाअनाहत सिद्धिर्भवति।।

(च) **'तालु चक्र'**—षष्ठं 'तालुचक्रं' तत्रामृतधारा प्रवाहः घण्टिकालिङ्ग-मूलरन्ध्रराजदन्तं शंखिनी विवरं दशमद्वारं तत्र शून्य ध्यायेत् चित्तजयो भवति।

(छ) **भ्रू चक्र'**—'सप्तमं भ्रचक्रं मध्यममं गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्र दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति।'

(ज) **'निर्वाण चक्र'**—अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाण चक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूमशिखाकारं ध्यायेद् तत्र जालन्धर पीठं मोक्षप्रदं भवति।[२]

(झ) **'आकाश चक्र'**—नवमाकाश चक्र षोडश दल कमल मूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारा तदूर्ध्वशक्तिंतांण्रम शून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छा सिद्धिर्भवति। इति नवचक्रस्य विचारः॥९॥

'आधारं प्रथमं चक्रं **स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।** तृतीयं **मणिपूराख्यं चतुर्थ स्यादनाहतम्** पञ्चमं तु विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं तु षष्ठकम् सप्तमं तु महाचक्र **ब्रह्मरंध्रे** महापथे।[३]

गौड़पादाचार्य की षट्चक्रों के विषय में नव्य दृष्टि

षटचक्र एवं श्रीयंत्र में अन्तसम्बन्ध—

आचार्य गौड़पादने 'षटचक्रों' एवं श्रीयंत्र के ९ चक्रां में एकता स्वीकार की है और कहा है कि—

'त्रिकोणं चाधारं त्रिपुरतने तेष्टारमनघे,
भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपूरम्।
दधारं तं संवित्कामलमथ चन्वश्रकमुमे,
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहम्॥[४]

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति
२. सिद्धसिद्धान्त पद्धति
३. गोरक्ष शतक (१७-१८)
४. सुभगोदयस्तुति (१०)

'त्रिकोणे ते वृत्तचित्तयभि कोणो वसुदलं,
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम्।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्तिकमुर्म,
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्ति-शिवयोः।

श्री चक्र के मध्य का **'त्रिकोण' मूलाधार** है और श्री चक्र का जो 'अष्टार' है। वह **'स्वाधिष्ठान चक्र'** है। **'अन्तर्दशार' 'मणिपूर** है एवं **'बाह्य दशार' 'अनाहत चक्र'** है। **चतुर्दशार'** शुद्ध चक्र है। **'आज्ञा चक्र'** शिव का स्थान (शिव चक्र) है। इसमें ही बैन्दव स्थान (सहस्रार) स्थित है।

'त्रिकोण'—तीन वृत्त हैं। इम कोण (श्रष्टार) **'अष्टदलपद्म'** है। **'षोडशदल पद्म'** दशार युग्म है। **'भूपुर' 'चतुर्दशार'** है। चार शिव चक्रों में पाँच शक्ति योनियाँ अवस्थित हैं। शक्ति एवं शिव के प्रधान ऐक्यों से यह ऐक्य षड्विध ऐक्य है।

'श्री चक्र' की ९ योनियाँ

(१) त्रिकोण
(२) अष्टार
(३) अर्न्दशार
(४) बहिर्दशार
(५) चतुर्दशार
(६) अष्टदलपद्म
(७) षोडशदलपद्म
(८) तीनवृत्त
(९) भूपुर
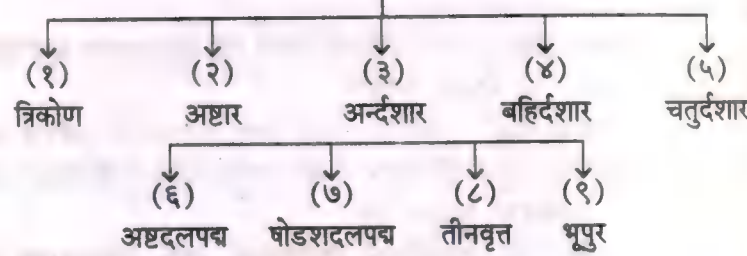
'श्री चक्र' को देह भी कहा गया है।[१]

भूपुर **'सहस्रार'** है। वृत्तत्रय बैन्दव (सहस्रास्थ चन्द्रमा) का स्थान है।

ऐक्य के अनेक रूप

(१) **'त्रिकोण'** हीं 'आधार चक्र' है।
(२) **'अष्टकोण'** ही 'स्वाधिष्ठान चक्र' है।
(३) **'दशार'** ही 'मणिपूर चक्र' है।
(४) 'द्वितीय दशार' ही 'अनाहत चक्र है।
(५) **'चतुर्दशार'** ही 'विशुद्धचक्र' है।
(६) शिवचक्र चतुष्टय ही **'आज्ञा चक्र'** है।
(७) **'बिन्दु स्थान'** चतुरस्र सहस्रकमल है।

'तीडल्लेखा' =विद्युत की रेखाओं की भाँति कुण्डलिनी आचार्य शङ्कर उसी मूलाधार सुप्ता कुण्डलिनी का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

१. भावनोपनिषद

'सुधा धारासारैश्चरणयुगलान्तर्विगलितैः।
प्रपञ्चं सिञ्चन्तीं पुनरपि रसाम्नायमहसः।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं।
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिरि।'[१]

वामकेश्वर महातन्त्र में कहा गया है—

'भुजङ्गाकार रूपेण मूलाधारं समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभाऽऽशुभा।
मूल कन्दं कणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रं समाश्रिता॥'

कुण्डली की स्थिति एवं[२]—गोरक्षनाथ कहते हैं—

'कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानमनामयम्।
मुखेनाच्छाह तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णाया
प्रस्फुरद भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णाया।
उद्घाटयेत् कपाटं यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्॥'[३]

श्लोक क्रमांक ३९ **साम्य के प्रकार और उसका महत्व**

भवत्साम्यं केचित्त्रितयमिति कौल प्रभृतयः।
परं तत्त्वारख्यं चेत्य परमिदमाहुःसमयिनः॥
क्रियावस्थारूपं प्रकृतिरमिधा पञ्चक समं।
तदेषां साम्यं स्यादवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः॥३९॥

[कतिपय कौल आदि मत वाले तीन प्रकार का साम्य मानते हैं।

समयमत वाले कहते हैं कि 'परम तत्त्व' नाम वाला एक अन्य परम तत्त्व है। जो भी व्यक्ति परम तत्त्व से क्रिया-अवस्था-रूप-प्रकृति एवं नाम—इस प्रकार पाँच प्रकार के पाँच साम्य जानता है वह पृथ्वी पर मुनि है।॥३९॥]

१. सौन्दर्य लहरी (१०)
२. पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ न जाय अतः अनेक स्थलों पर श्लाकों की व्याख्या नहीं की गई है।
३. गोरक्ष शतक

सरोजिनी (व्याख्या)—कौलोपासना के कतिपय सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए गौड़पादाचार्य कहते हैं कि—

(१) **'कौल'** तीन प्रकार का साम्य मानते हैं।

(२) समयचारी कौलों से पृथक् किसी अन्य तत्त्व को परम तत्त्व मानते हैं।

(३) जो क्रिया, अवस्था, रूप, प्रकृति एवं नाम में अनुगत पाँच प्रकार के साम्यों को जानते हैं वे साक्षात् 'मुनि' हैं।

(४) कौल मार्गी यह मानते हैं कि—

(क) शक्ति की उपासना का स्थान **'मूलाधार चक्र'** है।

(ख) मूलाधार चक्र का त्रिकोण ही श्री चक्र का त्रिकोण है।

(ग) इस त्रिकोण के मध्य में जो बिन्दु स्थान है वही भगवती का स्थान है।

कौलों के अनुसार त्रिकोण ही योनि स्थान है अतः प्रत्यक्ष योनि ही भगवती का यथार्थ स्थान है और उसकी पूजा करनी चाहिए।

समयाचारियों के अनुसार भगवती कुण्डलिनी का स्थान **'सहस्रार'** है। भगवती कुण्डलिनी निद्रा का त्याग करके जाग जाती है तब जागरण के पश्चात् वह 'परा **संवित्'** के रूप में परम शिव के साथ पाँच प्रकार के साम्य (क्रिया, अवस्था, रूप, प्रकृति, नाम) के साथ रहती है।

जो व्यक्ति कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके उसे 'परमशिव' में लीन कर देता है और निर्विकल्प समाधि' प्राप्त कर लेता है वह **'मुनि'** कहलाता है।

कौल भगवती कुण्डलिनी की उपासना **'मूलाधार चक्र'** में एवं **समयमार्गानुयायी** कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करके उसका सहस्रार में पूजन करते हैं। इस दृष्टि से भगवती कुण्डलिनी शक्ति की परम शिव से एकता है।

श्लोक क्रमांक ४० : वशिनी आदि शक्तियों की वर्णात्मकता

वशिन्याद्या अष्टावकचटतपाद्याः प्रकृतयः।
स्ववर्गस्थाः स्वस्वायुध कलितहस्ताः स्वविषयाः।
यथावर्णं वर्णप्रचुरतम वो याभिरभवं।
स्तव प्रस्तारास्ते त्रय इति जगुस्ते समयिनः॥४०॥

[(अ, क, च, ट, त, प (य, श) आदि अष्ट प्रकृतियाँ एवं वशिनी आदि अष्ट देवियाँ अपने-अपने वर्गों में स्थित, अपने-अपने अस्त्रशस्त्रों से सुशोभित हाथों वाली एवं अपने-अपने विषयों वाली, यथा वर्ग निःशेष वर्णमालिका में जिस प्रकार प्रकट हुआ करती हैं, वह तेरा त्रयात्मक प्रस्तार है—ऐसा समायाचारी उपासक कहा करते हैं॥४०॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—सम्पूर्ण वर्णमाला अष्ट वर्गों में विभाजित है।

*** वर्णमाला का वर्गाष्टक ***

(१) अवर्ग (२) कवर्ग (३) चवर्ग (४) टवर्ग (५) तवर्ग (६) पवर्ग (७) यवर्ग (८) शवर्ग

वर्णों की अधिष्ठात्री देवियाँ (वाणी की देवियाँ)

(१) **'वशिनी'** (अवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(२) **'कामेश्वरी'** (कवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(३) **'मोदिनी'** (चवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(४) **'विमला'** (टवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(५) **'अरुणा'** (तवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(६) **'जयिनी'** (पवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(७) **'सर्वेशी'** (यवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
(८) **'कौलनी'** (शवर्ग की अधिष्ठात्री देवी)
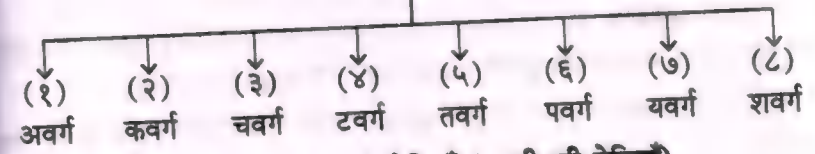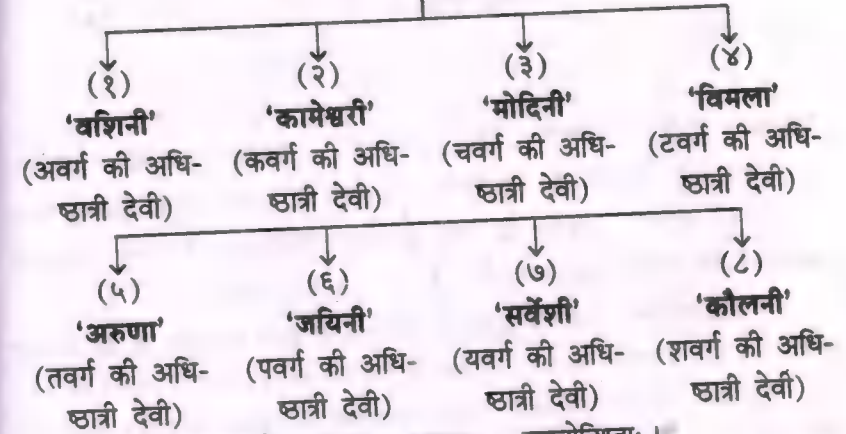
[१] स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः।
सेयंक्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्त्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्धप्रापादिका।

—स्पन्द कारिका

नव प्रकार के भेद—

(१) अवर्ग— 'अ' से 'अः' तक — 'अमा'
(२) कवर्ग — 'क' से 'ङ' तक — 'कामा'
(३) चवर्ग — 'च' से 'ञ' तक — चार्वङ्गी
(४) टवर्ग — 'ट' से 'ण' तक — टङ्कधारिणी
(५) तवर्ग — 'त' से 'न' तक — तारा
(६) पवर्ग — 'प' से 'म' तक — पार्वती
(७) यवर्ग — 'य' से 'व' तक — दक्षिणी
(८) शवर्ग —'श' से 'ह' तक — शारिका
(९) क्षवर्ग — 'क्ष' (अनुत्तर एवं अनाहत के घंघट्ट को अभिव्यक्त करने वाला कूटबीज)

क्ष = क + ष = **'ककार'** अनुत्तर वाचक है।

विसर्गसूचक सकार मिलाने से क + क्ष = क्ष।।

यह **'कूटबीज'** है—'तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्वं तदेवककार- सकार प्रत्याहारेण अनुत्तर विसर्ग संघहसारेण कूबीजेन प्रदर्शितमन्ते (शिवसूत्र वि. २.७)

वर्णसमाम्नाय के आठ वर्ग भेदभूमिका पर अवतीर्ण विमर्श शक्ति के ही आठ रूप हैं।

विमर्श शक्ति के आठ रूप

(१) माहेशी (२) ब्राह्मी (३) कौमारी (४) वैष्णवी (५) ऐन्द्री (६) याम्या (७) चामुण्डा (८) योगेशी

इन आठ शक्तियों को पीठेश्वरियाँ कहा जाता है। इनकी द्विमुखी क्रियायें हैं—
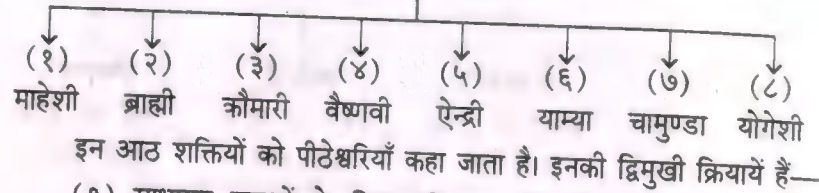
(१) साधारण पशुओं के लिए प्रतिक्षण अधिकाधिक विकल्प परम्पराओं आविर्भाव तथा भयोत्पादकता प्रदर्शन

(२) सद्विवेकी पुरुषों के लिए इन शक्तियों के द्वारा शब्दराशि में अन्तर्निहित शाक्त बल की अनुभूति कराकर शिवभाव में पहुँचाने का पथ प्रदर्शन करती हैं।

प्रतिक्षण वाच्यवाचकात्मक विकल्प परम्पराओं की जितनी अगणित शृंखलाओं की अनन्त शृंखलायों प्रसृत होती है।

शक्तियों का वर्गीकरण

घोरतरा (अपरा) घोरा (परापरा) अघोरा (पराशक्ति)
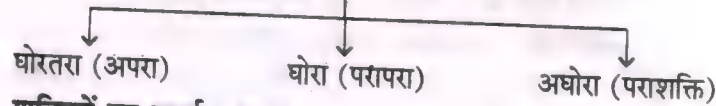
शक्तियों का कार्य—(स्वरूपावरण)

स्वरूपावणे चास्य शक्तपः तततोत्थिताः।
यतः शब्दानुधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः।

श्लोक क्रमांक ४१ : 'श्री चक्र' के प्रस्तारत्रय की विवेचना

इमा नित्या वर्णास्तव चरणसंमेलनवशा,
न्महामेरुस्थाः स्युर्मनुमिलन कैलास वपुषः।
वशिन्याद्या एता अपि तव सबिन्द्वात्मकतया,
मही प्रस्तारोऽयं क्रम रहस्यम् समयिनाम्।।४१।।

[ये नित्यायें, वर्ण और तुम्हारे श्री चरण (नाद) के सम्मेलन के वशीभूत होकर तुम महामेरु में निवास करती हो और मन्त्र ('विद्या') के साथ मिलकर कैलास रूप

शरीर वाली हो जाती हो। ये वशिनी आदि भी तेरे बिन्द्वात्मक स्वरूप (तेरे षट् चक्रात्मक शरीर से मिलकर) पृथ्वी प्रस्तार ('भूप्रस्तार' का क्रम निर्मित करती हैं। यही समयोपासकों का रहस्य है।।४१।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—'श्री चक्र' के तीन प्रस्तार हैं—

(क) **'मेरुप्रास्तार'** (ख) **कैलास प्रस्तार** (ग) **भूप्रस्तार।**

[क] **'मेरु प्रस्तार'—नित्या** समूह, **वर्ण** माला एवं **नाद** का ऐक्य ही **'मेरुप्रस्तार'** है।

[क] (१) वर्ण माला, (२) नाद एवं, (३) नित्या समूह → (तीनों का ऐक्य) ऐक्य → मेरु प्रस्तार

[ख] (१) नित्या समूह, (२) वर्णमाला, (३) नाद, (४) पञ्चदशी विद्या → (चारों का ऐक्य) ऐक्य → कैलास पस्तार

[ग] (१) वशिनी आदि वाणी की अधिष्ठात्री देवियों का समूह, (२) षट् चक्र → (दोनों का ऐक्य) ऐक्य → भू प्रस्तार
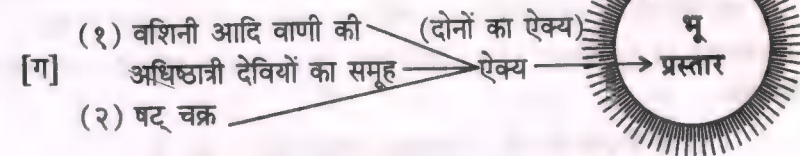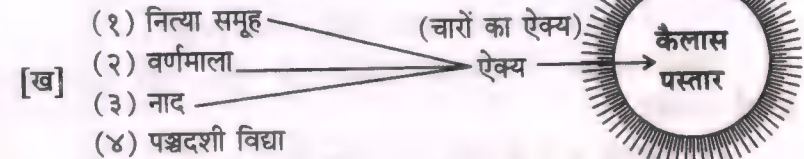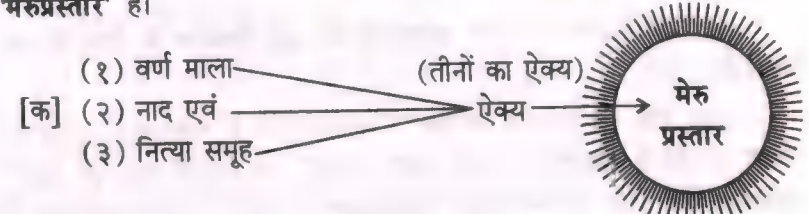
आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि—आचार्य लक्ष्मीधर ने 'सौन्दर्य लहरी' के ३१हवें श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा कि—

*** नित्याओं का 'श्री चक्र' में अन्तर्भाव ***

[क] * मेरु प्रस्तार और उसका स्वरूप *

(१) जो षोडश नित्यायें हैं वे तिथ्यात्मक (षोडशतिथ्यात्मक भी हैं।

(२) **षोडशनित्यायें 'श्री चक्र' का** अङ्ग हैं। वे 'श्रीचक्र' में उसका अङ्ग बनकर उसमें अन्तर्भूत हैं।

[**'षोडशनित्यानां** षोडशतिथ्यात्मकत्वं।'
'षोडश नित्यानां श्री चक्र अङ्गतया अन्तभावो।]

(३) **षोडश नित्यायें** अष्ट वर्गात्मक रूप में 'अष्टदल पद्म' के अष्ट पत्रों (दलों) में स्थित हैं।

(४) वे यथा क्रम अष्टकोण चक्र में प्रागादि कोण से आरंभ करके एक-एक कोण में दो-दो के समूह के रूप में स्थित हैं। इस प्रकार वे अष्टद्विक बनकर 'अष्टपद्म' के अष्टकोणों में अन्तर्भूत हैं।

(५) ये ही नित्यायें **१६ स्वरों** के स्वरूप में **'षोडश दल पद्म'** में स्थित हैं और **द्विदशार** में अन्तर्भूत हैं।

(६) इन नित्याओं के मध्य **प्राथमिक नित्याद्वय त्रिकोण के** बिन्दु के रूप में स्थित हैं।

(७) शेष १४ नित्यायें **'मन्वश्र'** में अन्तर्भूत हैं। वे मेखलात्रय, भूपुरत्रय एवं बैन्द्रव त्रिकोण में अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार 'नित्या' नाम देवियों का **'श्री चक्र'** में अन्तर्भाव है। इसी अन्तर्भाव को **'मेरुप्रस्तार'** कहते हैं—'इयमेवान्तर्भावं **मेरु प्रास्तारमाहुः।।**

[ख] * **'कैलास प्रस्तार'** और **उसका स्वरूप** *

'सन्दन संहिता' में प्रतिपादित सनन्दन की दृष्टि—ऋषि कुमार सनन्दन ऋषियों से कहते हैं—

[१] **नित्यायें १६ हैं** यथा—(१) प्रथमा नित्या के रूप में महात्रिपुर सुन्दरी तथा—(२) कामेश्वरी (३) भगमालिनी (४) नित्यकिला, (५) भेरुण्डा, (६) वह्निवासिनी (७) महाविधेश्वरी या महावज्रेश्वरी (८) रौद्री (९) त्वरिता, (१०) कुल सुन्दरी (११) नीलपताका (१२) विजया (१३) सर्वमङ्गला (१४) ज्वाला मालिनी आदि षोडश नित्यायें।

(२) ये षोडश नित्यायें, चन्द्रकलायें **चक्रविद्या** के अंग हैं।

(३) ये षोडश नित्यायें (स्वरात्मिका नित्यायें) पञ्चदशारीमन्त्रगत 'ऐकार आदिभूत 'अ'कार विसर्गाविसर्गात्मक **'स'कार** से संगृहीत जीव कला रूप में **बैन्दव स्थान** में स्थापित एवं वहीं अन्तर्भूत हैं।

(४) 'क' से 'म' पर्यन्त निखिल वर्ण-समष्टि पाश, अङ्कुश एवं बीज से युक्त होकर **'अष्टार'** में दशकोणद्वय में अन्तर्भूत हैं।

(५) अवशिष्ट वर्ण — यकारादि ९ वर्ण द्विरावृत्ति द्वारा मन्वश्र में — चतुर्दश कोणों में चतुर्दश रूप में अन्तर्भूत हैं। अवशिष्ट वर्ण चतुष्टय शिवचक्र चतुष्टय में अन्तर्भूत हैं। इसे ही **'कैलास प्रस्तार'** कहते हैं।

इस प्रकार नित्यायें **'चक्रविद्या'** का अङ्ग हैं।

[ग] **'भू प्रस्तार' और उसका स्वरूप**

'सनत्कुमार संहिता' में 'श्रीचक्रविद्या' का जो निरुपण किया गया है उसमें षोडशनित्याओं को 'चक्र विद्या' का अङ्ग स्वीकार किया गया है।

श्री सनत्कुमार कहते हैं—[१]

(१) 'श्री चक्र' की अङ्गभूत वशिन्यादि नित्यायें द्विक-द्विक (युग्म) के रूप में मिलकर, **बैन्दव त्रिकोण** को छोड़कर आठ कोणों में अन्तर्भाव्य हैं।

(२) मध्य में त्रिपुर सुन्दरी अन्तर्भाव्य हैं।

(३) वर्णों के अष्ट वर्गों में वशिनी आदि देवियाँ ही अष्टवर्ग के रूप में स्थित हैं—

'अष्टवर्गास्तु अष्ट वशिन्यादयः, षोडश नित्याः' वर्णों के अष्टवर्ग में **अष्ट वशिनी आदि देवियाँ, षोडश नित्यायें, द्वादश योगिनियाँ** (चार गन्धाकर्षिणी आदि)—इस प्रकार ४४ (चतुश्चत्वारिंशत) की समष्टि स्थित है।

(४) यहाँ एक शक्ति को छोड़कर ४३ कोणों में ४३ देवता अन्तर्भाव्य हैं।

(बैन्दव स्थान से नीचे एक त्रिपुर सुन्दरी, गन्धाकर्षिणी आदि चारों द्वारों पर—इस प्रकार नित्याओं को 'श्री चक्र' का अङ्ग रूप में प्रतिपादन किया गया।)

इसे ही **'भूप्रस्तार'** कहा जाता है। **'इयमेव भूप्रस्तारः।'**[२]

वशिन्यष्टक

(१) वशिनी (२) कामेश्वरी (३) मोदिनी (४) विमला (५) अरुणा (६) जयिनी (७) सर्वेश्वरी (८) कौलिनी

* **योगिनीद्वादशक** *

(१) विद्यायोगिनी (२) रेचिकायोगिनी (३) मोचिकायोगिनी (४) अमृतायोगिनी (५) दीपिकायोगिनी

(६) ज्ञानयोगिनी (७) आप्यायनीयोगिनी (८) व्यापिनीयोगिनी (९) मेधायोगिनी (१०) व्योमरूपायोगिनी

(१) १२ योगिनियाँ के साथ वशिनी प्रभृति अष्ट देवियाँ मिलकर **२० कलायें** बन जाती हैं।
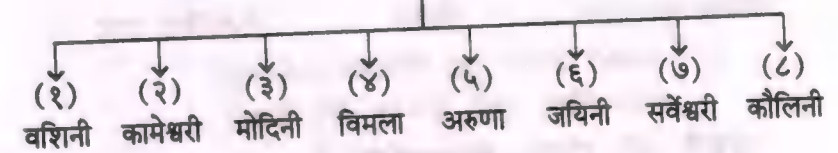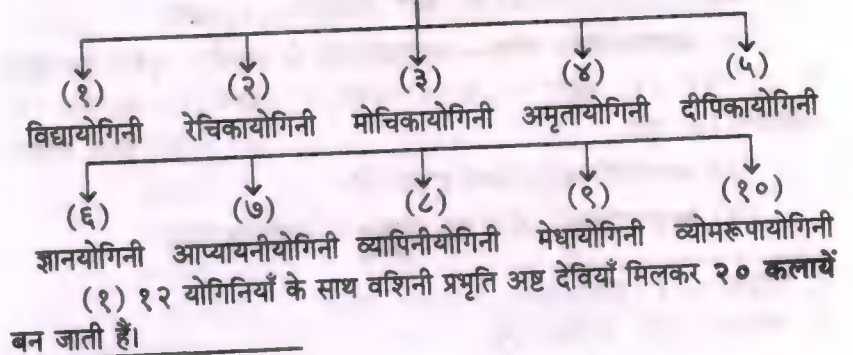
१. लक्ष्मीधरा

२. **[illegible] (३१)**

(२) वे विंशति कलायें शुद्धस्फटिक सङ्काश स्वच्छ एवं निर्मल हैं तथा वे दशार युग्म कोणों में संस्थित् हैं।

(३) चारों द्वारों पर (१) गन्धाकर्षिणी (२) रसाकर्षिणी (३) रूपाकर्षिणी (४) स्पर्शाकर्षिणी स्थित हैं।

'गन्धद्वारा' दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम ।।[१]

'वशिन्यादि' = (१) ८ शक्तियाँ (२) १२ योगिनियाँ (३) गंधाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी = ४ ०८ + १२ + २४

(३) भगवती का स्वरूप क्या है? वे मातृका हैं। वे पञ्चाद्द्वर्णात्मिका हैं—
'भगवत्याः स्वरूपं तु पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृकैव'[२]

(५) यही **पञ्चाशक्ष्वर्णात्मिका मातृ** का अष्टवर्गात्मिका है और ये ८ वर्ग हैं— (क) अ (ख) च (ग) ट (घ) त (ङ) प (च) य (छ) शवर्ग। इसमें **अकारवर्ग = १६ स्वर।।**[३]

कवर्ग ५; **चवर्ग** ५; **टवर्ग** ५, **तवर्ग** ५, **पवर्ग** ५ **यवर्ग** ५, **शवर्ग** ५। त्रिपुरात्बा का जो स्वरूप वह इनसे युक्त है।

त्रिपुराम्बा का स्वरूप

वशिनी युक्त मातृका — योगिनी — गंधाकर्षिणी आदि
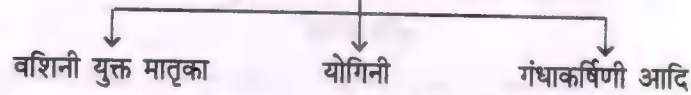
'मातृकां वशिनी युक्तां योगिनीभिस्समन्विताम्।
गन्धाकर्षिणी युक्तां संस्मरेत् त्रिपुराम्बिकाम् ।।'

'वशिनी' आदि शक्तियाँ पञ्चादशद्वर्णात्मिका हैं।

वशिनी शक्ति स्वरात्मिका है। **'स्वर'** अकारादि १६ अक्षर।।

(१) **अकारात्मिका शक्ति**—अष्टभुजात्मिका है। उसकी ८ भुजाएँ इस प्रकार हैं—(१) पाश, (२) अङ्कुश (३) वर (४) अभय (५) पुस्तक (६) अक्षमाला। (७) कर्मण्डला (८) मुद्रा। —सनत्कुमार संहिता।

(२) अकाराद्यात्मिका शक्तियाँ शुभ्रवर्ण हैं।

(३) **आकारात्मिका शक्ति का मण्डल** = अशीलिक्षयोजन।

---

१. याज्ञिकी ३०१ (श्रुति)
२. लक्ष्मीधरा (श्लोक क्रमांक १७)
३. १६ + ३५ = ५१ वर्ण।

(४) **आकार का मण्डल** = अशीतिलक्षयोजन का द्विगुणात्मक।
(५) **इकार का मण्डल** = नवतिलक्ष योजन।
(६) **ईकार का मण्डल** = नवतिलक्ष का द्विगुणात्मक।
(७) **उकार का मण्डल** = कोटियोजन परिमित परिणाह मण्डल
(८) **ऊकार का मण्डल** = उपर्युक्त का द्विगुणात्मक।
(९) **ऋकार का मण्डल** = पञ्च लक्षयोजनात्मक।
(१०) **ॠकार का मण्डल** = दश लक्ष योजन।
(११) **लकार, लकार का मण्डल** = २०,४० लक्ष योजन।
(१२) **एकार** का मण्डल = सार्ध कोटि परिणाह मण्डल।
(१३) **ऐकार, ओकार, औकार का मण्डल** = एकार के समान।
(१४) **बिन्दु एवं विसर्ग का मण्डल** = तद्विगुणात्मक।
(१५) **व्यञ्जन शक्तियों का मण्डल** = अकार मण्डल का अर्ध भाग है।

ये शक्तियाँ (१) पाश। (२) अङ्कुश (३) अक्षमाला एवं (४) कमण्डल धारण किए हुए हैं।

अन्तस्थ वर्ण = पाश। अङ्कुश। अभय। वर धारण किए हुए है।
ऊष्मवर्ण = पाश। अङ्कुश। अक्षमाला। वर धारण किए हुए।
लकार-क्षकार वर्ण = पाश। अङ्कुश। ऐक्षव शरासन।
पुष्पबाण—धारण किए हुए हैं। ये शक्तियाँ ५० वर्णों से युक्त हैं।

(क) **अकरादि वर्णों का वर्ण**—धूम्रवर्ण।
(ख) ककारादिठान्त वर्णों का वर्ण—सिन्दूर वर्ण।
(ग) डादिकान्त वर्णों का वर्ण—गौरवर्ण।
(घ) बादिलान्त वर्णों का वर्ण — अरुण वर्ग।
(ङ) वादिसान्त वर्णों का वर्ण—कनक वर्ण।
(च) 'ह' एवं 'क्ष' का वर्ण — विद्युदाभ वर्ण।

'वर्णमाला' 'श्री यन्त्र' (श्री चक्र) में अन्तरगर्भित है। वर्णों के अष्टवर्ग एवं उनकी अधिष्ठात्री शक्तियाँ जो 'श्री यंत्र' में स्थित हैं उनका परिचय इस प्रकार है—

'अवर्गः प्रथमो देवि! वशिनी तत्र देवता।
तत्परस्तु कवर्गोयस्तत्र **कामेश्वरी** स्थिता।
मोदिनी तु चवर्गस्था टवर्ग **विमला** स्मृता ।।
अरुणा तु तवर्गस्था पवर्गे **जयिनी** तथा।
सर्वेश्वरी यवर्गे तु शवर्गे कौलिनीति च।
एता वर्गाष्ट के देवि! अष्टावेवहि देवताः।
अर्चिताः पुरुषस्याशु प्रकुर्वन्ति वशं जगत्।'

—वामकेश्वरीमतम्

श्लोक क्रमांक ४२ : चक्रों में 'तामिश्र चक्र' 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान'

'भवेन्मूलाधार तदुपरितनं चक्रमपि तत्।
द्वयं तामिश्राख्यं शिखिकिरण संमेलनवशात्।
तदेतत्कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेय मुदितम्।
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्य मुभयम्॥४२॥

[अग्नि की किरणों से मिले होने के परिणाम स्वरूप मूलाधार चक्र' एवं तदुपरिस्थित (स्वाधिष्ठान चक्र) दोनों चक्र **'तामिश्र'** नाम वाले चक्र हैं। **कौलमतोपासक गण** प्रतिदिन इन्हीं की उपासना (अनुष्ठान) करके आह्लादित हुआ करते हैं। आपका (आपके अनुयायियों में) **वाममार्ग नामक मत** भी ऐसा ही है। ये दोनों (मत) परित्याज्य हैं॥४२॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद ने पिण्डस्थ षट्चक्रों में से प्रथम दो चक्रों (१) **'मूलाधार चक्र'** एवं (२) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** को हेय माना है अत: वे इसे परित्याज्य भी कहते हैं।

(२) ये दोनों चक्र अन्धकारावृत होने के कारण **'तामिश्र'** भी कहलाते हैं।

(३) **'स्वाधिष्ठान'** से उच्चवर्ती चक्र सूर्य एवं चन्द्र द्वारा प्रकाशित हैं—ये **'आज्ञा चक्र'** एवं **'विशुद्ध चक्र'** के प्रकाश से प्रकाशित हैं। इन दो ('मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान') में सूर्य एवं चन्द्र की रश्मियाँ पहुँच ही नहीं पाती अत: ये दोनों अति निम्नवर्ती चक्रद्वय अन्धरावृत हैं।

(४) यद्यपि यह भी सत्य है कि 'अनाहत चक्र' सूर्य का स्थान है और इसकी प्रखर रश्मियाँ **'मणिपूर चक्र'** को दीप्तिमान बनाती हैं किन्तु समस्या यह है कि **'मणिपूरक चक्र'** के स्वस्थित मेघों के कारण सूर्य की रश्मियाँ नहीं जा पातीं अत: पूर्वोक्त चक्रद्वय आलोकित नहीं हो पाते।

(५) 'समयमत' के अनुयायी इन दोनों चक्रों ('मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र') में भगवती कुण्डलिनी की उपासना नहीं किया करते।

(६) कौल एवं वाम दोनों मार्गों वाले भगवती कुण्डलिनी की पूजा यहीं किया करते हैं। वे **'समयमत'** में त्याज्य (१) **'मूलाधार' चक्र** एवं (२) 'स्वाधिष्ठन चक्र' की पूजा यहीं किया करते हैं। **आचार्य गौड़पाद 'समय मत'** के अनुसार इन्हें त्याज्य मानते हुए कहते है—'तदेतत्कौलानां' प्रतिदिन मनुष्ठेय मुदितं।

'भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्य मुभयम।'

—सुभगोदय स्तुति

'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान'—योग के आलोक में वैसे तो 'ललिता सहस्रनाम' में इन चक्रों की वरेण्य भूमिका स्वीकार करते हुए कहा गया है कि—

(१) **भगवती कुण्डलिनी मलाधार चक्र में रहती** हैं और यही **'ब्रह्मग्रंथि'** है। 'मूलाधारैकनिलया **ब्रह्मग्रंथि** का भेदन करती हैं—'मूलाधारैक निलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी।'

'योग शास्त्र की दृष्टि से 'मूलाधार'—

(१) यह वह चक्र है जो समस्त शरीर एवं समस्त चक्रों का आधार है—

'सर्वाधरा मही यस्मात् मूलाधारतया स्थिता।
तदभावे तु देहस्य पातस्स्यादुह्योपि वा॥'

(२) यहीं त्रिकोण में भगवान **'स्वयंभू लिङ्ग'** निवास करते हैं—

(३) यहीं **'स्वयंभू लिङ्ग'** को आच्छादित करके **'कुण्डलिनी शक्ति'** विद्यमान है।

(४) यहीं **'वाग्देवी'** का निवास है—'अहिवत सन्धिसंस्थान **'वाग्देवी'** बीज संज्ञका।

(५) यहीं **विष्णु शक्ति'** स्थित है—'ज्ञेया शक्तिरियं विष्णो निर्भरा स्वर्णाभास्वरा॥

(६) यही **'योगिमण्डल'** में कुण्डलिनी के साथ **'कामबीज'** भी स्थित है।

(७) यहीं पर **'काम बीज'** (सूर्य-अग्नि-चन्द्रमा के तेज से समन्वित) के स्वरूप में भगवती **'त्रिपुरा'** स्थित हैं—'एतत् त्रयं मिलित्वैव देवी **त्रिपुर भैरवी'**

(८) यहीं **द्विरण्ड'** नामक **सिद्धलिङ्ग** एवं **डाकिनी देवी** स्थित हैं।

(९) यहीं ('मूलाधार चक्र') से सहस्रार पर्यन्त ब्रह्म नाड़ी गई है—

'मूलाधारात् सहस्रारस्तदन्तर्ब्रह्मनाडिका।
शिरा स्यात् ब्रह्मपर्यन्तं तदन्तर्द्वारमुत्तरम्॥'

(१०) यहीं पर **भगवती परमेश्वरी** अपने मुख से ब्रह्मद्वार को ढककर सो रही हैं—

'मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।'

(११) यहीं **धरा, धरा बीज** एवं **'धरा चक्र'** है—

'मूलाधारे **धराचक्रं** चतुष्कोणं प्रियंवदे।'
'मूलाधारे **धराबीजं** तद्बिन्दौ ब्रह्मणः स्थितिः॥'

(१२) यही पर **'ब्रह्म'** स्थित है—'तद्बिन्दौ ब्रह्मणः स्थितिः।

(१३) यही पर **'त्रिपुरसुन्दरी'** स्थित हैं—

'तेषां मध्ये स्थिता देवी सुन्दरी परदेवता।'

(१४) यहीं त्रिकोणाकार **'शक्तिपीठ'** है।

'त्रिकोणं तत् तु विज्ञेयं **शक्तिपीठं** मनोहरम्।'

(१५) यहीं **'वामा' 'ज्येष्ठा' रौद्री** शक्तियाँ भी स्थित हैं।

'वामा ज्येष्ठा तथा **रौद्री** त्रिरेखा च तदूर्ध्वतः॥

(१६) यहीं **कन्ददेश में 'प्राण'** एवं गुदादेश में **'अपान'** वायुद्वय का निवास है—

'कन्ददेशे वसेत् प्राणो ह्यपानो शुदमण्डले।'

(१७) यहीं 'त्रिकोण' में **'इच्छा शक्ति'-'ज्ञान शक्ति' 'क्रिया शक्ति'** रूप **'शक्तित्रय'** निवास करता है—

'मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छा ज्ञान क्रियात्मिके।
मध्ये स्वयंभूलिङ्गस्तु कोटिसूर्यसमप्रभः॥'

(१८) यहीं 'परावाक्' का निवास है जो समस्त वाशियों का मूल है—

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः॥'

(१९) यहीं **समस्त वर्ण माला** का केन्द्र है—

'परा वाक्' ही समस्त वर्णों मूल केन्द्र है अतः 'परा वाक्' के यहाँ उदित होने से यह चक्र समस्त वाणियों का केन्द्र भी है।

(२०) यही चक्र **समस्त नादों मूल केन्द्र** है क्योंकि 'परावाक्' समस्त नादों की माता है।

(२१) यहीं ऐरावत हस्ती पर **भगवान गणेश** भी विराजमान है।

(२२) यहीं **'शब्द ब्रह्म'** प्रणव या **'औंकार'** स्थित है।

(२३) यहीं स्वयंभू लिङ के ऊपर **'चित्कला'** स्थित है।

(२४) यहाँ जप करने से **मंत्रसिद्धि** भी अवश्यमेव होती है—

'वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरा।
मन्त्रसिद्धिर्भ वेत्तस्य जपादेव न संशयः।

(२५) यहीं 'मूलाधार पद्म' के चारों दलों पर भगवती महात्रिपुर सुन्दरी के पञ्चदशी मन्त्र से सम्बद्ध **'वाग्भव बीज'** है।

'मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् तन्मध्ये **वाग्भवं बीजं** विस्फुरन्तं तडित्प्रभम्।'

(क) 'मूलाधार चक्र' में 'वाग्भव बीज'

(ख) 'अनाहत चक्र' में 'कामबीज'

(ग) 'आज्ञा चक्र' में 'शक्ति बीज' स्थित हैं।

इन्हीं विशेषताओं के कारण 'कौल' और वाममार्गी **'मूलाधार'** एवं **'स्वाधिष्ठान'** को त्याज्य नहीं मानते बल्कि वे मूलाधार में ही भगवती महात्रिपुर सुन्दरी की पूजा करते हैं। 'मूलाधार चक्र' के त्रिकोण में ही कौलगण भगवती की समाराधना करते हैं—'त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे।'[1]

१. गौड़पादाचार्य 'सुभगोदय स्तुति'

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—'आधार चक्र त्रिकोणम्। आधारे बिन्दु तिष्ठतीति च तावत् प्रसिद्धम्। अत्र **कौलमते** त्रिकोणमेव बिन्दुस्थानम्। स एव बिन्दुः तत्र आराध्यः। अतएव **कौला** त्रिकोणे बिन्दुं नित्यं समर्चयन्ति। तत्र त्रिकोणं द्विविधं—

(१) श्री चक्रान्तर्गत नवयोनिमध्यवर्तिनी योनिः।

(२) सुन्दर्याः तरुण्याः प्रत्यक्षयोनिश्च।

श्री चक्र स्थित तनवयोनिमध्यगतयोनिं भूर्जहमपट्टवस्त्र पीषदौ लिखितां **पूर्व कौलाः** पूजयन्ति। तरुण्याः प्रत्यक्ष योनिं **'उत्तर कौलाः'** पूजयन्ति।[1]

सारांश यह कि रामयमत के उपासकों के विपरीत कौल मत वाले शाक्त भगवती की पूजा मूलाधार चक्र के त्रिकोणात्मक योनि में करते हैं।

'समयमत' वाले 'मूलाधार चक्र' का त्याग करके बैन्दवस्थान में ही भगवती की पूजा करते है।

'समयिनां सहस्रकमले समयायाः समयस्य च शम्भोः पूजा।' —(लक्ष्मीधरा)

*** 'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' ***

प्र. 'मूलाधार' और 'स्वाधिष्ठान चक्र' को कौलों ने इतना महत्व क्यों दिया?

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—जिन आचार्य गौड़पाद ने ६ चक्रों में **'मूलाधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** को उपासना एवं साधना की दृष्टि से हेय एवं परित्याज्य बताया और कहा कि—

(१) 'द्वयं **तामिश्राख्यं,** (२) तदेतत् **कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेय** मुदितम्' (३) **'परित्याज्य मुभयम्'**[2] (४) 'भवेदेतच्चक्रद्वितयमतियूर समयिनां।[3]

(५) **त्रिकोणं** ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे।
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति॥[4]

(६) **विसृज्यैतद्युग्मं** तदनु मणिपूराख्य सदने।

(युग्मं' = मूलाधार एवं स्वाधिष्ठानं विसृज्य छोड़कर) उन्हीं **आचार्य गौड़पाद** ने 'सुभगोदय' के ४६हवें एवं ४७हवें श्लोक में ६ चक्रों में से **इन्ही दों चक्रों को सर्वाधिक महिमाण्डित** किया है और इनहें ही—

(क) समस्त शेष चक्रों का जनक स्वीकार किया है और (ख) समस्त शेष चक्रों की मूल प्रकृति या धर्मों (स्वभाव प्रवृत्ति गुण) का आधार स्रोत भी इन्हीं दो चक्रों को स्वीकार किया है।

१. लक्ष्मीधरा
२. सुभगोदय (४२)
३. सुभगोदय (४५)
४. सुभगोदय (७)

(७) वे कहते हैं—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं।
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणाम्।
ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तद्दशदलं।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा बिन्दुभवत् ॥४७॥

'अधिष्ठाता धार द्वितयमिदमेव दशदलं
सहस्राराज्जात मणिपुर मतोऽभूद्दशदलम्।
हृदयम्भोजान्मूलान्नृपदलभूतस्वान्तकमलं,
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम् ॥[1]

'स्वाधिष्ठान चक्र' को इतना महत्व क्यों?

'कौलमत' में स्वाधिष्ठान चक्र को महत्व क्यों दिया गया?

'स्वाधिष्ठान चक्र' और उसका महत्त्व—पूर्णानन्द यति 'षट् चक्र निरूपणम्' में कहते हैं कि—

(१) यह चक्र लिङ्ग के मूलप्रदेश में स्थित है।

यह 'वज्रा नाड़ी' के मध्यभाग में स्थित है। 'वज्रा' नाड़ी के मध्य ही 'चित्रिणी' एवं चित्रिणी के मध्य **'ब्रह्मनाड़ी'** है।

(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' भी कर्णिका के मध्य अर्ध चन्द्राकार 'वरुणाबीज' 'वँ' स्थित **है। 'स्वाधिष्ठान चक्र'** की कर्णिका के मध्य में **'लमण्डल'** ह।

(जल मण्डल के मध्य निर्मल शरत्कालीन चन्द्रवत् शुभ्र, मकरारूढ़ अर्ध चन्द्राकार **'वरुणबीज' 'वँ'** सुशोभित है।

(३) यहीं पर जल के देवता वरुण, (वरुण बीज 'वँ' = जन का बीज 'वं') स्थित है।

(४) यहीं स्वाधिष्ठान चक्र के अधिष्ठता श्री हरि वरुण बीज 'वँ' की गोद में विद्यमान हैं।

(५) यहीं स्वाधिष्ठान चक्र की अधिष्ठात्री देवी **'राकिणी शक्ति'** स्थित हैं।

(६) 'स्वाधिष्ठान चक्र' के ध्यान का फल लै—

अहंकारादिक दोषों का नाश—

'स्तस्याऽहङ्कार दोषादिक सकलरिपुः क्षीयते तत् क्षणेन' काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य = 'षड्रिपु' कहलाते है। ये सभी स्वाधिष्ठान के ध्यान से नष्ट हो जाते हैं।)

---

१. सुभगोदय (४६)

इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी की **'राकिणी'** हैं।

(७) इस चक्र का निरन्तर ध्याता अश्रुत शास्त्रों का भी अप्रतिम मर्मज्ञ, सारे लोगों से निर्मुक्त, निर्भय, मृत्युञ्जयी, अणिमादि सिद्धियों का स्वामी एवं अमृतपायी बन जाता है—

'मरणं खाद्यते तेन स केनापि नखाद्यते' सिद्धि रणिमादिगुणान्विता' 'पीयूषमपि वर्धते' (शिव संहिता)

हंसोपनिशदकार की दृष्टि—'हंसोपनिषद्' में प्रत्येक चक्र से सम्बद्ध मनोभावों, भावनाओं, हसजात प्रावृत्तियों एवं धर्मों के उल्लेख के साथ प्रत्येक चक्र का परिचय दिया हुआ है। यह इस प्रकार है—

*** मूलाधार चक्र ***

(१) परमानन्द (२) सहजानन्द (३) वीरानन्द (४) योगानन्द

*** स्वाधिष्ठान चक्र ***

(१) प्रश्रय (२) क्रूरता (३) गर्वनाश (४) मूर्च्छा (५) अवज्ञा (६) अविश्वास

'मणिपूर चक्र'

(१) सुषुप्ति (२) तृष्णा (३) ईर्ष्या (४) पैशुन्य (५) लज्जा (६) भय (७) घृणा (८) मोह (९) कषाय (१०) विषादिता

अनाहत चक्र

(१) लौल्यप्रणाश (२) प्रकट (३) वितर्क (४) अनुतापिता (५) आशा (६) प्रकाश (७) चिन्ता (८) समूहा (९) समता (१०) दम्भ (११) वैकल्य (१२) विवेक (१३) अहङ्कृति

विशुद्धि चक्र

(१) प्रणव (२) उद्गीय (३) हुंफट् (४) वषट् (५) स्वधा (६) स्वाहा (७) काम (८) धैवत (९) निषाद (१०) विष

ललना चक्र

(१) मद (२) मान (३) स्नेह (४) शोक (५) खेद (६) लुभता
(७) अरति (८) संभ्रम (९) ऊर्मि (१०) श्रद्धा (११) तोष (१२) उपरोधिता

आज्ञा चक्र

(१) सत्वाविर्भाव (२) रजआविर्भाव (३) तमआविर्भाव

मनस चक्र

(१) स्वप्न (२) रसोपभोग (३) घ्राण (४) रूपोपलम्भ (५) स्पर्श (६) शब्दबोध

सहस्त्रार या सोम चक्र

(१) कृपा (२) क्षमा (३) आर्जव (४) धैर्य (५) वैराग्य
(६) धृति (७) सम्मद (८) हास्य (९) रोमाञ्चनिचय (१०) ध्यानाश्रु
(११) स्थिरता (१२) गांभीर्य (१३) उद्यम (१४) अच्छत्व (१५) औदार्य (१६) एकाग्रता

परम बिन्दु

४ दल मूलाधारचक्र (१)

(२) ६ दल स्वाधिष्ठानचक्र

४ दल

६ दल

मूलाधार के ४ दल + स्वाधिष्ठान के ६ दल

'मणिपूरक चक्र = १० दल

(१) 'मणिपूरक चक्र' क १० दल
(२) मूलधार चक्र संख्या १
(३) स्वाधिष्ठान चक्र संख्या १
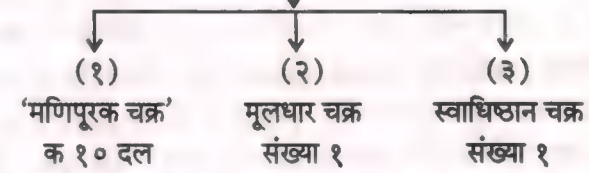
१० + २ = १२ दल

'अनाहत चक्र' = १२ दल

अनाहत के १२ दल + मूलाधार के ४ दल

१२ + ४ =

१६ दल

'विशुद्धाख्य चक्र' = १६ दल

(१) मूलाधार चक्र + (१) स्वाधिष्ठान चक्र

(१) संख्या = २ = (१) संख्या

आज्ञा चक्र = २ दल

'सुभगोदय स्तुति'

आचार्य गौड़पाद कहते हैं कि—यह बिल्कुल सत्य है कि सहस्त्रारस्थ '**परबिन्दु**' का दृष्टि से जिस सर्वप्राथमिक चक्र युग्म का सर्वाधिक प्राधान्य है वह (१) '**मूलाधार चक्र**' एवं (२) स्वाधिष्ठान चक्र ही है।

इतना होने के बावजूद भी आचार्य गौड़पाद इन्हें उपासना की दृष्टि से सर्वाधिक हेयं एवं त्याज्य माते हैं।

आचार्य गौड़पाद ने इन्हें '**तामिस्त्र**' कहकर (प्रकाशाभाव के कारण) त्याज्य माना है।

श्लोक क्रमांक ४३ : * कौलों की पूजा का विरोध *

अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि,
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने।
अतो बाह्यपूजा भवति भगरूपेण च ततो,
निषिद्धा चारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते ॥४३॥

(हे भगवती! इन लोगों की (कौलों की) त्वत् सम्बद्ध पूजा पद्धति '**स्वाधिष्ठान चक्र**' में एवं फिर '**मूलाधार चक्र**' में निष्पादित (निष्पन्न) होती है। इसलिए यह भगकेन्द्रिय (आपकी) कौल-पूजा बाह्यपूजा है अत: यह (कौल पूजा) शास्त्र-निषिद्ध आचरण है। हे अनिन्द्य चरित्र वाली भगवती (यह पूजा) श्रुतिविपरीत भी है।।४३।।

सरोजिनी (व्याख्या)—आचार्य गौड़पाद ने यहाँ कौलमार्गियों की पञ्चमकारात्मिका पूजा का विरोध करते हुए कहा है कि हे भगवती! मैं यह तो मानता हूँ कि जिस प्रकार हम '**समय मत**' वाले आपकी आराधना एवं पूजा करते हैं उसी प्रकार '**तेरे ये कौल स उपासक**' भी तेरी पूजा किया करते हैं तथापि हम इस पूजा पद्धति का इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि ये—

(१) निषिद्धाचरण को ग्रहण करते हैं।

(२) ये वेद विरुद्ध मार्ग का आत्मीकरण करते हैं।

(३) ये समयमतावलम्बियों की भाँति आन्तरपूजा न करके '**बालपूजा**' किया करते हैं।

(४) यह (समय-मत में) प्रतिषिद्ध एवं निन्द्य चक्रों में भगवती की पूजा करते हैं।

(५) हम समयमतावलम्बी 'वियच्चक्र' (सरघा। सहस्त्रार। सहस्त्रदल कमल) में ही भगवती की पूजा करते हैं किन्तु ये 'त्रिकोण' 'मूलाधार' चक्र) एवं 'स्वाधिष्ठान' चक्र में आपकी पूजा करते हैं जो कि 'तामिश्र' (अन्धकार पूर्ण) हैं।

कौलों की पूजा और पञ्चमकारोपासना—कौल अपनी पूजा में पञ्चमकारों का उपयोग करते हैं।

'पञ्चमकार' और उनके विभिन्न अर्थ

पञ्चमकारों के उपयोग के विषय में दृष्टि-भेद

अनेक आचार्यों एवं मनीषियों ने पञ्चमकारों को (कुल द्रव्यों को) प्रतीकात्मक (Symlrlic) अर्थ में ग्रहण किया है किन्तु अनेक ने भौतिक एवं बाह्य पदार्थों के रूप में।

शिव और देवी का सम्वाद—जब देवी ने भगवान शिव से पञ्चमकारों के स्वरूप पर प्रकाश डालने की प्रार्थना की तब भगवान शिव ने इनके स्वरूप का उद्घाटन करते हुए कहा कि—इन पञ्चमकारात्मक बाह्य पदार्थों की पूजा में कोई महत्ता नहीं है। इन्हें प्रतीकात्मक अर्थों में ग्रहण करके सद् द्रव्यों का ही उपयोग करना चाहिए या इनका प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

[१] '**शक्तिसंगम तंत्र और तन्निहित दृष्टि**—भगवान शिव देवी से कहते हैं कि हे देवी। जिस प्रकार किसी मार्ग पर यात्रा करने के लिए मार्गा-प्रदर्शन किया जाता है उसी प्रकार ये पञ्चमकार साधना-यात्रा के मार्गदर्शन हैं—

'मार्ग प्रदर्शनाद्देवि। गति सर्वत्र दृश्यते।
तन्मार्ग दर्शनार्थं हि मकारा पञ्च कीर्तिता ॥१९॥'

'**मुद्रा**' = शर्करादि से प्रपूरित, मनोहर, पक्व, शुभ, चन्द्र बिम्ब के समान व्रीहि ही देवी-पूजा में '**मुद्रा**' है—

'व्रीहीयं मण्डलाकारं चन्द्रबिम्बनिभं शुभं।
चारुपक्व मनोहारि शर्कराद्यैः प्रपूरितं ॥
पूजा काले च देवीनां मुद्रैषा परिकीर्तिता।

पञ्चमकार—(१) ब्रह्मा। विष्णु। रुद्र। ईश्वर। सदाशिव।
'ब्रह्म विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एते पञ्च मकाराश्च पञ्चनामप्रकारकाः ॥२१॥

(२) ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री, ईश्वरी श्री सदाशिव।
'ब्राह्मी च वैष्णवी रौद्री ईश्वरी श्रीः सराशिवा।
पञ्चमुद्रा समाख्यातास्तत्वनामधरा शिवे ॥'

पञ्चतत्त्व =

आत्मविद्या शिवा सर्वा पूर्णेति पंचम विदुः।
पञ्च तत्त्वानि देवेशि! केरले कीर्तितानि च ॥२२॥

कुण्डलिनी की प्रीति हेतु, सन्तर्पण-विधान में मुद्रा उपयोगी है—

'सन्तर्प्य कुण्डली शक्तिः पञ्चमुद्रा विधानतः ॥
अलिना पिशितं मीनं मुद्रा मैथुन मुत्तमम् ॥२४॥
मकार पञ्चकं यत्र तत्र देवी न संशयः।

प्रश्न—प्रश्न उठता है कि इन पञ्च द्रव्यों में 'मद्य' का स्वरूप क्या है? क्या यह द्राक्षा निर्मित मद्य है या अन्य?

'शक्तिसंगत तंत्र' में कहा गया है कि—

'न मद्यं माधवी मद्यं, 'मद्यं' शक्तिरसोद्भवम् ।।२५।।
सुषुम्ना शंखिनी मुद्रा उन्मन्युत्तमं रसः ।।

(यह 'मद्य' उन्मनी नामक रस है।)

प्रश्न—'मैथुन' क्या है? सामरस्य ही मैथुन है।

'सामस्यामृतोल्लासं **मैथुनं** च सदाशिवम् ।।२६।।

प्रश्न—'शक्ति' कौन है? महाकुण्डलिनी ही शक्ति है—

महाकुण्डलिनी शक्तिस्तद्योगार्थ महेश्वरि ।
शक्ति प्रोक्ता महेशानि न **भोगार्थं** मयेरिता ।।२७।।

प्रश्न—कुण्डली रसवान कैसे बनती है?

कुण्डली सामरस्यार्थं स्वयम्भूलिङ्गमीरितम् ।
एतदभ्यासयोगेन कुण्डली रसवान भवेत् ।।२८।।

प्रश्न—कुण्डली का स्वरूप क्या है? उसके रस का स्वरूप कैसा है? **'कुण्डली'** अवाच्य है। समरसानद ही रस है।

'रस' एवं 'मद्य' का स्वरूप

कुण्डली कीदृशी देव। तद्रसः कीदृशो भवेत् ?

भगवान शिव कहते हैं—

अवाच्यं यद्वेद्वच्मि तद्रसस्तु यथा भवेत् ।
तथा **समरसानन्द 'रसः'** सङ्कीर्तितो मया ।
अज्ञानादपि देवेशि। भोगवासनयाऽपि च ।।३०।।
फल संसारजं देवि! गर्भरूपेण जाग्रति ।
ज्ञात्वा फलमवाप्नोति त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।।३१।।
तस्मातु पञ्चमी मुद्रा कीर्तिता तु मया तव ।
संयोगाभृतयोगेन कुण्डल्युत्थान कारणात् ।।
चान्द्रपात्रे यदा याति तन्मद्यं परिकीर्तितम् ।।

'मत्स्य' एवं मुद्रा स्वरूप

'मस्त्य' कौन है? क्या नदी, तालाब या समुद्र में रहने वाला जीव विशेष ही 'मत्स्य' है? नहीं।

मणिपूरे दशदले सुषुम्नायां याद गतिः ।
तत्करामृतयोगाद्धि **द्वितीया** परिकीर्तिता ।।

हत्पद्मद्वारदशारे तु शंखिनी कूर्म संस्थिता ।
सुधासागर क्रीडायां **मत्स्यस्तत्र** प्रकीर्तितः ।।
मुद्रातृतीया गदिता **चतुर्थी** षोडशच्छदे ।
चन्द्र सूर्याग्नि संभिन्ना वर्तुला बिन्दुगर्भिता ।
भगध्वाजारख्य चणके वर्णाङ्कैर्धटिता तु **चतुर्थिका**
'पञ्च मुद्रा' मया प्रोक्ता मोक्ष भाव फलाप्तये ।
मकार पञ्चकेनैव ज्ञानमेतस्य जायते ।।३७।।
मकाररूपमार्गोहि कीर्तितस्ते मया तव ।
इति संक्षेपतः प्रोक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ?[1]

अन्य ग्रन्थकारों की दृष्टियाँ—

प्रश्न—'मद्य' का यथार्थ स्वरूप क्या है?

[क] **'मद्य'** (१) व्योमपङ्कज निस्यन्द सुधापान रतोनरः ।
मधुपायी समः प्रोक्तस्त्वितरे मद्यपायिनः ।।

—कुलार्णव तन्त्र

'सहस्रारनिःसृत अमृत ही यथार्थ मधु एवं मद्य है।)

ब्रह्मस्थान सरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्ति प्रदा ।
या **शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता** सा पान योग्या सुरा ।

(२) जिह्वयागल संयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा ।
योगिभिः पीयते ततु **न मद्यं गौडपैष्टिकम्** ।

—गन्धर्वतन्त्र

(३) (ब्रह्मस्थान सरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्ड तृप्ति प्रदा ।
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पान योग्या सुरा ।)
सा **हाला** पिबतामनर्थफलदा श्रीदिव्यभावाश्रिता ।
या मित्वा मुनयः परार्थ कुशला **निर्वाण मुक्तिं गताः ।**

[ख] 'मांस' का यथार्थ स्वरूप क्या है ?

(१) काम क्रोध सुलोभमोहपशुकांश्छित्वा विवेकासिना ।
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधाः ।
ते विज्ञान परा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नरा ।
नाश्नीयात्पशुमांसमात्म विमतेहिंसा परं सज्जनः ।।

१. **'शक्ति संगम तंत्र'** (उत्तर भाग। द्वितीय खण्ड। तारा खण्ड। अक्षोभ्य महाग्रतारा संवाद। मुद्रा संकेत नामक ३२वाँ ३५हवाँ पटल।

(२) पुण्यापुण्यं पशुं हत्वा ज्ञानखङ्गेन योगवित्।
परे लयं नयेत् चित्तं **मांसाशी** निगद्यते।

—कुलारावितंत्र

[ग] **'मीन' का क्या अर्थ है?**

(१) मानसादीन्द्रियगुणं संयम्यात्मनियोजयेत्।
स **मीनाशी** भवेछेवि। इतरे प्राणहिंसका: ।।

(मन एवं इन्द्रियों को संयमित रखकर उन्हें आत्म-तत्त्व में नियोजित रखना ही मीनभक्षण है।)

(२) अहङ्कारो दम्भो मदपिशुनतामत्सरद्विषः।
षडेतान्मीनान् वैविषयहरजालेन विधृतान्।
पचन् सद्विद्याऽग्नौ नियमित कृतिर्धीवर कृतिः।
सदा खादेत्सर्वात्र च जलचराणां तु पिशितम् ।।

[घ] **'मुद्रा' का यथार्थ स्वरूप क्या है ?**

(१) आशा तृष्णा-जुगुप्ता-भयविषय मानलज्जा प्रकोपाः।
ब्रह्माग्नावष्ट **मुद्रा** परसुकृतिजनः पच्यमानः समन्तात्।

(आशा, तृष्णा, जुगुप्ता आदि अष्टपाशों का ब्रह्माग्नि में भस्म कर देना ही 'मुद्रा' है।)

नित्यं सम्भक्षयेत्तान वहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्योमहात्मा

(२) 'सत्संगेन भवेन्मुक्तिरस त संगेषु बन्धनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तु **तन्मुद्रा** परिकीर्तिता।

[ङ] **'मैथुन' का यथार्थ स्वरूप क्या है?**

(१) या नाडी सूक्ष्म रूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्णा।
सा कान्तालिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते **मैथुनं नैव योनौ।**
योगीन्द्रो विश्ववद्यः सुखमयभवनेतांपरिष्वज्य नित्यम्

(२) **रेकस्त** कुङ्कुमाभासकुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च बिन्दुरूप **महायोनौ** स्थितः प्रिये।
अकारहंसमारुह एकात च यदा भवेत्।
तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।।

१. **'मद्य'**—निर्विकार, निरञ्जन पर ब्रह्म विषयक योगसाधना के द्वारा समुत्पन्न प्रमदोत्पादक ज्ञान ही **'मद्य'** है।

'यदुक्त परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्।
तस्मिन् प्रमदन ज्ञानं **तन्मद्यं** परिकीर्तितम् ।।'

२. **'मांस'**—(१) 'हेरसना प्रिये। 'मा' रसना शब्द का नामान्तर है। वाक्य उसका अंश है। जो सदा-सर्वदा उस **वाक्य का भक्षण** करते हैं (वाक् संयमी या मौनी हैं) वस्तुतः वे ही **'मांससाधक'** हैं।

'मा शबदाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये।
तदा योभक्षयेदेवि! स एव **मांसभक्षकः**।'

(२) जो मनुष्य अपने समस्त सत्कर्मों को निष्फल परब्रह्म में समर्पित कर देता है उस कर्म-समर्पण की आख्या ही **'मांस'** है—

'मां सनोति हियत्कर्म **तन्मांस** परिकीर्तितम्।
न च कामप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते।'

३. **'मत्स्य'**—

(१) गंगा यमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भ्वेन्मात्स्यसाधकः।

(गंगा-यमुना में (इड़ा-पिङ्गला में) श्वास प्रश्वास रूप दो मत्स्य है। प्राणायाम द्वारा उनका 'कुंभक' करना (श्वास-प्रश्वास रोकना) ही मत्स्य-भक्षण है।)

(२) मत्समानं सर्वमूले सुखदुःखमिदं प्रिये।
इति यत्सात्विकं ज्ञानं तन्मत्स्यः परिकीर्तितः ।।

(सुखदुखादि सभी मनः स्थितियों में समभाव रखना—अर्थात् सात्विक ज्ञान रखना ही मत्स्य है।)

(४) **'मुद्रा'**—

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रतश्चरेत्।

(१) आत्मा तत्रैव देवेशि! केवलः पारदोपमः।
सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटि सुशीतलः।
अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनीयुतः।
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ।।

(५) **मैथुन**—

इडा पिंगलयो : प्राणान सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवाऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम् ।।

श्लोक क्रमांक ४४ : नवात्मा शिव के नौ व्यूह (कौलमत)

'नव व्यूहं कौल प्रभृतिक ततं तेन स विभु,
नवात्मा देवोऽयं जगदुदकृद्भैरव वपुः।
नवात्मा वामादि प्रभृतिभिरिदं भैरववपु,
महादेवी ताभ्यां जनक जननीमज्जगदिदम् ॥४४॥'

[कौल प्रभृति दृष्टियों के अनुसार नौ व्यूह हैं। उनके कारण ये नवात्म शरीरी देवता शिव, भैरव के रूप में विश्व की संरचना करते हैं।

ह महादेवि! वह भैरव शरीर वाला नवात्मा देव 'वामा' आदि देवियों के साथ उनके लिए **पिता एवं माता के** समान है॥४४॥]

सरोजिनी (व्याख्या)— 'नवव्यूहं' 'नवात्मा' = भगवान शङ्कर के ९ व्यूह हैं।

नव व्यूह

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
काल व्यूह	कुल व्यूह	नाम व्यूह	ज्ञान व्यूह	चित्त व्यूह	नाद व्यूह	बिन्दु व्यूह	कला व्यूह	जीव व्यूह
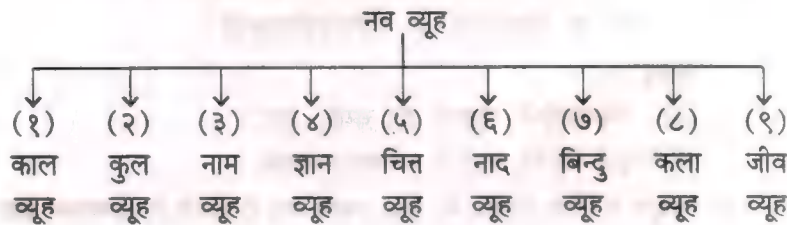
'वामादिप्रभृतिभिः'—वामा आदि ९ शक्तियों के द्वारा।

वामादिक नौ शक्तियाँ

(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)	(७)	(८)	(९)
वामा शक्ति	ज्येष्ठा शक्ति	रौद्री शक्ति	अम्बिका शक्ति	इच्छा शक्ति	ज्ञान शक्ति	क्रिया शक्ति	शान्ति शक्ति	परा शक्ति
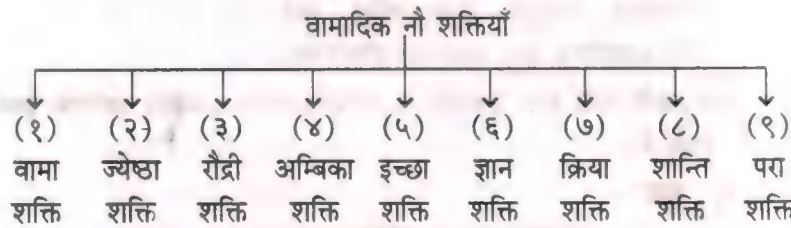
४४हवें श्लोक द्वारा आचार्य गौड़पाद ने **'कौलमत'** पर प्रकाश डाला है। इस मत के अनुसार—

(१) परमात्मा (पर ब्रह्म) नौ व्यूह वाला (नव व्यूहात्मक) है।

(२) वह वामादिक देवियों के साथ ९ प्रकार के ऐक्य से **भैरव एवं भैरवी रूप** से जगत का स्रष्टा एवं पालक आदि सभी कुछ है।

नव व्यूहात्मक देव का स्वरूप—इस नवात्मा शिव के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा गया है इस देवता का स्वरूप इस प्रकार का है—

'नव व्यूहात्मो देवः परानन्द परात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।

परानन्द पराशक्तिश्चिद्रूपानन्द भैरवी।
तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा॥'

व्यूहों के भेद

(१)	(२)	(३)
'भोक्ता' 'आत्मव्यूह'	'भोग्य' 'काल व्यूह आदि'	'भोग' 'ज्ञान व्यूह'
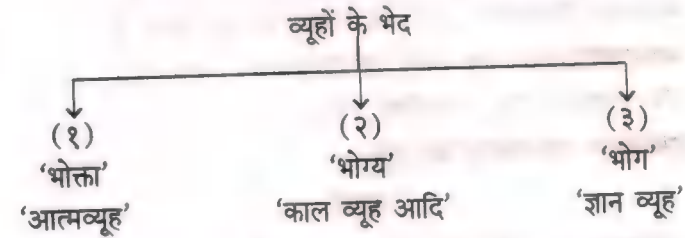
९ व्यूह और उनका स्वरूप

[१] **'काल व्यूह'**—निमेषादि कलान्त (निमेष से कला तक) अवच्छिन्न काल का प्रवाह ही **'कालव्यूह'** है। 'सूर्य' एवं 'चन्द्रमा' काल तत्त्व के अवच्छेदक हैं। वे भी काल व्यूहान्तर्गत हैं।[1]

[२] **'कुल व्यूह'**—नील आदि रूप ही 'कुल व्यूह' है।

[३] **'नाम व्यूह'**—संज्ञा स्कन्ध ही नाम व्यूह है।

[४] **'ज्ञान व्यूह'**—इसे 'विज्ञान स्कन्ध' भी कहते हैं। यही 'भागव्यूह' भी कहा जाता है।

'सभाग्र' का क्या अर्थ है? **'सभाग'** का अर्थ है विकल्प। 'विकल्प' एवं 'विभाग' निर्विकल्प।

[५] **'चित्तव्यूह'**—अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् एवं मन—इसी अहंकार पञ्चस्कंध की अपर आख्या है **'चित्त'**।

[६] **'नाद व्यूह'**—राग, इच्छा एवं कृति, प्रयन्तस्कन्ध भी इस व्यूह में विचारणीय हैं।[2]

मातृका के चार रूप नादव्यूहान्तर्गत हैं।

मातृका के रूप चतुष्टय

(१)	(२)	(३)	(४)
'परा'	'पश्यन्ती'	'मध्यमा'	'वैखरी'
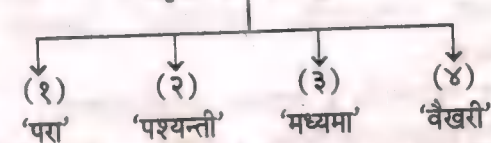
'परा'—यह वाणी का वह रूप है जिसका स्वरूप अन्तःकरण में ऊहया तर्क

---

१. लक्ष्मीधरा (३४)
२. लक्ष्मीधरा (३५)

के साथ स्फुरित हुआ करता है। जब योगी योग युक्त होता है तभी इसके स्वरूप का परिचय प्राप्त कर पाता है इसके पूर्व नहीं।

'कामकला विलासकार' 'परा' का परिचय देते हुए कहते हैं—

'यासान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविताकारा।' (२०)

'एवं भूतलक्षणा सैव **पराशक्तिरे** व॥'

सुभगोदय वासनाकार की दृष्टि—

वाणी

(१)	(२)	(३)	(४)
'परावाक'	'पश्यन्तीवाक्'	'मध्यमावाक्'	'वैखरीवाक्'
(भूमि)	(वल्लीगुच्छ)	(सौरभ)	(अक्षमाला)
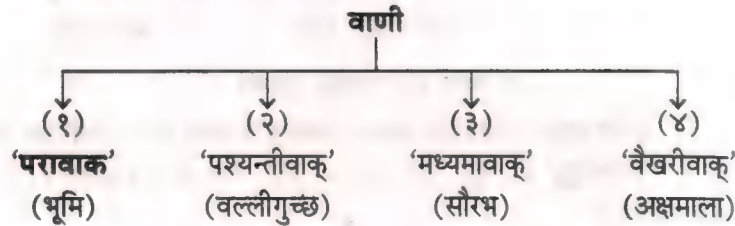
'परा भूजन्मप्रश्न्ती वल्ली गुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ।'

१. **'पश्यन्ती'**—'इच्छा शक्तिस्तथा वामा **'पश्यन्ती'** वपुषा स्थिता।

२. **'मध्यमा'**—'ज्ञानशतिस्तथा ज्येष्ठा **'मध्यमा'** वागुदीरिता॥

३. **'वैखरी'**—'क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं **'वैखरी'** विश्वविग्रहा।

'पश्यन्ती वाक्'—('कामकला विलास' के अनुसार)

'इच्छा शक्तिस्तथा ज्ञेया **'पश्यन्ती'** वपुषा स्थिता।'

—चतुश्शती

'मध्यमा'—एका परा तदन्या वामादिव्यष्टिमातृसृष्ट्यात्मा तेन नवात्मा जाता, माता सा **मध्यमाभिधानाभ्याम्**॥

'द्विविधा हिमध्यमा सा सूक्ष्मा स्थूलाकृति स्थिता सूक्ष्मा।
नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्यारख्या॥
'मध्यमा परापश्यन्त्योः समरसावस्था' (चिद्वल्ली)।'

'वैखरी वाक्'—

'परया पश्यन्त्यापि च मध्यमया स्थूलवर्णरूपिण्या।
एताभिरेकपञ्चादशाक्षरात्मिका **वैखरी** जाता॥३२॥'

'कामकला विलास' में पुण्यानन्द ने 'परावाक्' को **'परा माहेश्वरी'** कहा है। अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप में आभासित होने पर यही **'परावाक्' 'पश्यन्ती वाक्'** कहलाने लगती है। यह त्रिमातृकात्मिका है और चक्र का भी स्वरूप धारण करती है।

'स्पष्टा पश्यन्त्यादि त्रिमातृकात्मा चक्रातां याता॥'

('त्रिमातृका' = त्रिखण्डात्मिका पञ्चदशाक्षरी विद्या)

यह **चक्र रूप में भी परिणत** होने वाली पञ्चदशाक्षरीगर्भा **'परावाक्'** वर्णमात्र नहीं **'महेशी'** भी है—

'यासान्तरोहरूपा परा महेशी त्रिभाविताकारा।
स्पष्टा पश्यन्त्यादि त्रिमातृकात्मा च चक्रतां याता।
चक्रस्यापि महेश्या न भेद लेशोऽपि भाव्य तेवि बुधैः॥२१॥'

'परा-पश्यन्ती'—इन दो से **'मध्यमावाक्'** का उदय होता है—

(१) वामा, ज्येष्ठा, रौद्री एवं अम्बिका शक्तियाँ की समष्टिगत अवस्था ही **'सूक्ष्मा मध्यमा'** है।

(२) इनकी व्यष्टि अवस्था ही **'स्थूला मध्यमा'** है।

वामादिक शक्ति चतुष्टय श्री चक्र के भीतर ऊर्ध्वमुख योनियाँ हैं। इस नव व्यूहात्मक शक्ति के कारण ही भगवती को **'नवात्मक'** कहा जाता है।

इसे इस प्रकार भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

नवविध ऐक्य ही **कौल मत** है—'अतो नवविधैक्यं भैरवी भैरव योः ज्ञातव्य मिति. **कौलमतरहस्यम्**' (लक्ष्मीधरा)

'परा'
|
'अपरा'

(१)	(२)
सूक्ष्मा (स्थिर)	स्थूला (नवनादमयी)
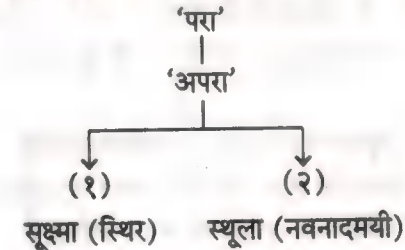
(७) **'बिन्दु व्यूह'**—षट्चक्रसमुदाय की आख्या बिन्दुव्यूह है।

(८) **'कलाव्यूह'**—यह वर्णस्वरूप ५० कलाओं की समष्टि है।

(९) **'जीव व्यूह'**—भोक्तृवृन्द का आख्यान्तर ही जीवव्यूह है।

'भोक्ता' = आत्मव्यूह। **'भोग'** = ज्ञान व्यूह। भोग्य काल व्यूह।

सारे **'जीवव्यूह'** सर्वत्र एकान्वित हैं अतः सर्वत्र ऐक्य है।

'बिन्दुव्यूह' से 'ज्ञान व्यूह' का तादात्म्य होने के कारण वहाँ भी ऐक्य है। चूँकि **'कालव्यूह'** अवच्छेदक है अतः वहाँ भी ऐक्य है। 'कुल' एवं 'नामव्यूह' निरूपक है अतः वहाँ भी ऐक्य है। **'नाद'** एवं **'कला'** तो एक हैं अतः वहाँ भी ऐक्य हैं इन कारणों से **परमेश्वर नव व्यूहात्मक** है। इस कारण **भैरव एवं भैरवी** में ९ प्रकार का ऐक्य है। यही **'कौलमत'** है। **'आनन्दभैरव'** एवं आनन्द भैरवी (परा) दोनों में तादात्म्यभाव है। **लक्ष्मीधर** कहते है—'अतएव कौला परमेश्वरं नवात्मेति व्यवहारन्ति॥

श्लोक क्रमांक : ४५ भगवती की पूजा के दो प्रकार

भवेदेतच्चक्र द्वितयमतिदूरं समयिनां ।
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्य सदने ।
त्वया सृष्टैर्वारि प्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणै ।
द्विधा लोके पूजां विदधति भवत्याः समयिनः ॥४५॥

(समयाचारमतावलम्बियों के लिए यह द्वितीय चक्र (स्वाधिष्ठान चक्र) अत्यन्त दूर रहे क्योंकि इन दोनों ('मूलाधर चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र') का त्याग करके इनके पीछे 'मणिपूर चक्र' नामक तेरे सदन में तेरे द्वारा समुत्पन्न एवं जल से प्रतिफलित आदित्य एवं शशधर की रश्मियों के द्वारा, समयाचारियों के लिए, तेरा दो प्रकार से पूजन हुआ करता है।)

सरोजिनी (व्याख्या)—शाक्तों के मुख्यतया जो दो उपसम्प्रदाय हैं—कौल और समयाचारी—इनमें पूजा-विधान पृथक्-पृथक् हैं। आचार्य गौड़पाद इस बिन्दु पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—

(१) **'कौल'** भगवती की उपासना, समाराधना एवं सर्वविध पूजा **'मूलाधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में करते हैं तो वे करते रहें किन्तु—

(२) **'समयमत' के उपासकों के लिए** ये दोनों उपर्युक्त चक्र (भगवती की सपर्या, पूजा एवं ध्यान की दृष्टि से) सामयिकों से दूर ही रहें। इसी में समयमत वालों का कल्याण है।

(३) समयाचारी **'मूलाधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** में भगवती कुण्डलिनी एवं भगवती महात्रिपुर सुन्दरी की पूजा एवं उनका ध्यान नहीं किया करते क्योंकि उनके लिए यहाँ भगवती की समाराधना एवं उनका ध्यान निषिद्ध है।

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

'कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलं आधार चक्रम्। लक्षणया सुषुम्ना मार्गः कुलमित्युच्यते। अतएव कौला कुलपूजका आधारसेवका इति कौलत्व।'[१]

आचार्य गौड़पाद भी कहते हैं—

'त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे'[२]

सामायिकों का मत इस प्रकार है—

(१) **'चतुष्कोणं** प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति ॥[३]

१. लक्ष्मीधरा (श्लोक १०)
२. सुभगोदय स्तुति (श्लोक ७)
३. सुभगोदय (श्लोक ७)

(२) 'सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो,
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे।'
'त्वया सृष्टैर्वारि .... समयिनः।'

'स्वाधिष्ठान चक्र' से ऊपर 'मणिपूरक चक्र' है। **'मणिपूरक चक्र'** में मेघरूपी जल पर प्रतिबिम्बित सूर्य एवं चन्द्रमा की रश्मियों के द्वारा भगवती महा त्रिपुर सुन्दरी का ध्यान दो प्रकार से किया जाता है—

(क) सूर्य की रश्मियों के द्वारा भगवती 'समया' का स्वरूप इन्द्रधनुष की दीप्ति से युक्त एवं

(ख) चन्द्रमा की किरणों के बिम्ब से चन्द्रिकामय हो जाता है।

यदि पाठान्तर के आलोक में इसे व्याख्यात किया जाय तो इसका अर्थ इस प्रकार होगा—'मणिपूर चक्र' में मेघ रूपी जल के ऊपर प्रतिबिम्बित सूर्य एवं चन्द्रमा की रश्मियों के द्वारा भगवती का ध्यान प्रकाश के रूप में किया जाता है।[१]

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि—आचार्य गौड़पाद समयमत की साधना में (१) **'मूलाधार चक्र'** एवं (२) **'स्वाधिष्ठान चक्र'** का प्रवेश अत्यन्त निषिद्ध मानते हैं इसीलिए वे भगवती के उन आराधकों की पूजा पद्धति का भी तीक्ष्णता पूर्वक सर्वत्र विरोध करते हैं जिनका किञ्चिदपि राग या झुकाव इन चक्रों के प्रति हो। वे कहते हैं यह **निषिद्धाचार** है—

'अभीषां कौलानां भगवती भवेत्पूजन विधि।
स्तव **स्वाधिष्ठाने** तदनु च भवेन्मूलसदने॥
अतो बाह्यपूजा भवति भगरूपेण च ततो।
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते॥'

*** चक्रों का वैज्ञानिक विश्लेषण ***

आचार्य गौड़पाद की दृष्टि और उसकी समीक्षा—

आचार्य गौड़पाद ने 'समयमत' के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि **'समय मत'** में (१) 'मूलाधार चक्र' एवं (२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' हेय एवं त्याज्य हैं—

'भवेदेतच्चक्रद्वितयमतिदूरं समयिनां।
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्य सदने॥' (४५)

आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के आलोक में यदि युंगीय मनोविज्ञान की कसौटी पर **'स्वाधिष्ठान चक्र'** का मूल्याङ्कन किया जाय तो अनेक शङ्का-ग्रंथियों का उद्भेदन हो सकेगा।

१. पाठान्तर सृष्टैर्वारि या सृष्टेवारि। 'द्विधा' या 'विभा'

*** युगीय मनोविज्ञान Gung का मनोविज्ञान) ***

'रात्रि समुद्र यात्रा' के भयावह एवं व्याकुलता पूर्ण अनुभव का वर्णन करते हैं जिसकी तुलना तंत्र शास्त्र के **'स्वाधिष्ठान चक्र'** के अनुभव से (किसी न किसी मात्रा में) की जा सकती है। **'स्वाधिष्ठान चक्र'** का वाहन **'मकर'** है (जल प्राणी है।) पाश्चात्य जगत के रहस्यवादी साहित्य में—

'सेंट जॉन ऑफ दि क्रॉस' में वर्णित **'आत्मा की अन्धकार पूर्ण रात्रि'** Dark Night of the soul की **'रात्रि समुद्र यात्रा'** तथा तंत्र के **'स्वाधिष्ठान चक्र'** की यात्रा की तुलनात्मक विवेचना की जा सकती है।[१] तंत्र में **'निरोधिनी'** या **'निरोधिका'** का स्तर भी समतुल्य है।

श्लोक क्रमांक ४६ : सहस्रार से उत्पन्न मूलभूत चक्रद्वय

अधिष्ठानाधार द्वितयमिदमेव दशदलं।
सहस्राराज्जात मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम्।
हृदम्भोजान्मूलात्रृपदलमभूतस्वान्तकमलं।
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्ति कृदयम्॥

[सहस्रार से संभूत 'मूलाधार चक्र' एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** के दश दल 'मणिपूरक चक्र' के दल दल बन जाते हैं। 'हृदय' (अनाहत चक्र' तथा 'मूलाधार चक्र' से मिलकर षोडश दल 'विशुद्ध चक्र' के (सोलह दल) बन जाते हैं और यही एक 'महाबिन्दु' (सहस्रार चक्र') बन जाता है जिससे कि उत्पत्ति आदि क्रियायें निष्पन्न होती हैं।।४६।।]

सरोजिनी (व्याख्या)—इस श्लोक में आचार्य गौड़पाद ने—

'एकोऽहं बहुस्याम्' के सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या की है कि एक ही परम तत्त्व ही समस्त सृष्टि का मूल केन्द्र है और वह है—सहस्रारस्थ **'महाबिन्दु'**।

'महाबिन्दु' की प्राथमिक सृष्टि दो चक्रों में है, जो निम्नाङ्कित हैं।

महाबिन्दु

= (एक कल्पित चित्र, यथार्थ नहीं।)

(१) मूलाधार चक्र (४ दल)

(२) स्वाधिष्ठान चक्र (६ दल)

१. टू एसेज औन एनालिटिकल साइकोलाजी'

* सहस्रार *

* सहस्रार *

बिन्दु

(१) मूलाधार चक्र

(२) स्वाधिष्ठान चक्र
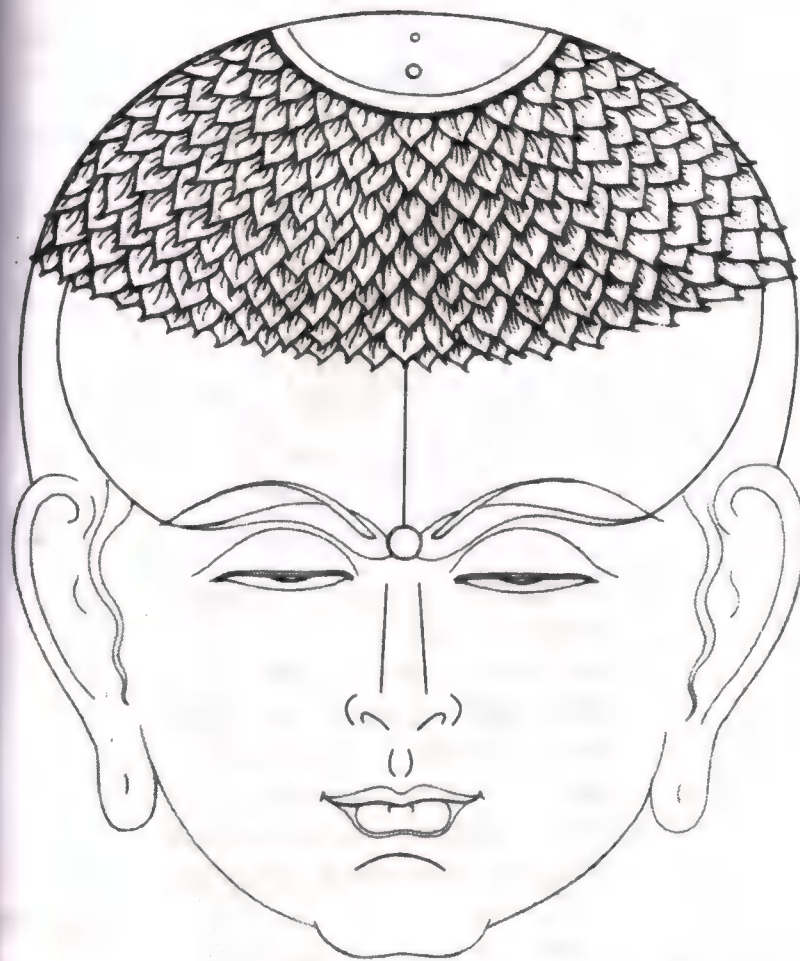
मूलाधार चक्र
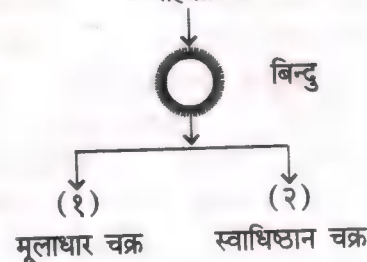
'आधारपङ्कजंपीतं चतुष्पत्रं सुकेसरम्।
अधोमुखं च तन्मध्ये कुण्डली परमेश्वरी
स्वयम्भूमध्यगा चिन्त्या वरदादिभि रावृता।
पार्थिवं पङ्कजं ह्येत्तस्योर्ध्वं पञ्च पङ्कजम्
तैजसं परमेशानि तन्मध्यस्थितशक्तयः।
निष्फलाः परमेशानि विद्युत्पुञ्जनिभाः स्मरेत
तदूर्ध्वे कर्णिकामध्ये वह्निबिम्बं तदूर्ध्वगम्
पूर्ण पीठं च तन्मध्ये शाकिनी संस्थिता शिवे।'

—स्वच्छन्द संग्रह

'अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं,
ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःक्षोराणत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णो
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णोः॥
अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोण चक्रं,
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत्,
लसत् पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं,
तदन्ते समास्ते धरायाः स्वबीजम्।

—षट् चक्र निरूपणम्

पिण्डस्थ षट्चक्र एवं श्रीयन्त्र के ९ चक्र—

(१) अकुले सुषुम्नामूलारूणसहस्र दल कमले त्रिपुराधिष्ठितं त्रैलोक्यमोहन चक्रम्॥

स्थान	चक्र	दल	अधिष्ठात्री शक्ति	श्रीयंत्र का चक्र
अकुल = सुषुम्ना के मूल में	अरुण सहस्र	१०००	त्रिपुरा देवी	'त्रैलोक्यमोहन चक्र
वह्नि का आधार	चतुर्दल कमल (मूलाधार चक्र)	०४	त्रिपुरेशी	'सर्वाशापरिपूरण चक्र'
शाक्त स्वा-धिष्ठान स्थान	षड्दल कमल (स्वाधिष्ठान चक्र)	०६	त्रिपुरसुन्दरी	'सर्वसंक्षोभण चक्र'
नाभि-स्थान	दशदल कमल (मणिपूरक चक्र)	१०	त्रिपुरवासिनी	'सर्वसौभाग्य दायक चक्र'
अनाहत	द्वादशदल कमल	१२	त्रिपुरा	'सर्वार्थसाधक चक्र'
विशुद्धि में (कण्ठ)	षोडशदलकमल	१६	त्रिपुरमालिनी	सर्वरक्षाकर चक्र'
लम्बिकाग्र (तालुमूल)	अष्टदलकमल	०८	त्रिपुरासिद्धि	'सर्वरोगहर चक्र'
दो भौहों का मध्य स्थान	द्विदल कमल	०२	त्रिपुराम्बिका	'सर्वसिद्धिप्रद चक्र'
इन्दु (ललाट, बिन्दु) स्थान			महात्रिपुर सुन्दरी	'सर्वानन्दमय चक्र'

'अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत्।— योगिनी हृदय
चक्रेश्वरी समायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम्।' — योगिनी हृदय

प्रत्येक चक्र की पूजा यथा क्रम करनी चाहिए—

'त्रैलोक्यमोहनं चक्रमारभ्य प्रतिचक्रमेकैकं क्रमेण पूजयेत्॥'

मन्त्रसङ्केत —योगिनी हृदय

* स्वाधिष्ठान चक्र *
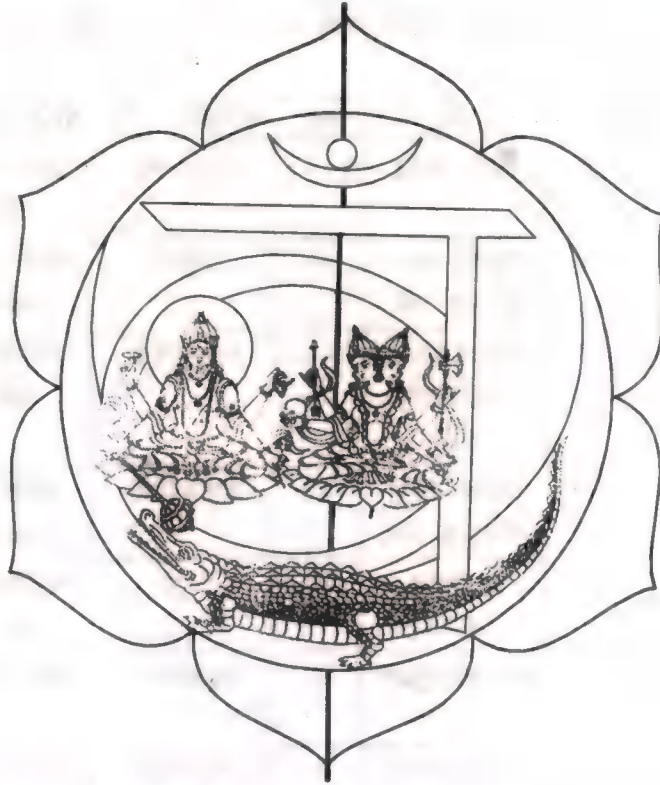
स्वच्छन्दतंत्रकार की दृष्टि—

आधारपङ्कजस्योर्ध्वे, सार्धद्वयङ्गुलिकोपरि ।
तैजस साष्टपत्र, पीतकर्णिकया युतम् ॥
हल्लेखा कर्णिकामूध्ये, स्थितानङ्गादिदेवता,
एतस्माद्द्वयङ्गुलादूर्ध्वे, स्वाधिष्ठानं षडस्त्रकम् ॥

—स्वच्छन्दतन्त्र

सौन्दर्य लहरीकार की दृष्टि—

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं ।
तमीडे संवर्त जननि। महती तां च समयाम् ।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते ॥
दयार्द्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥

—सौन्दर्यलहरी (शङ्कराचार्य)

अनाहत चक्र का स्वरूप —
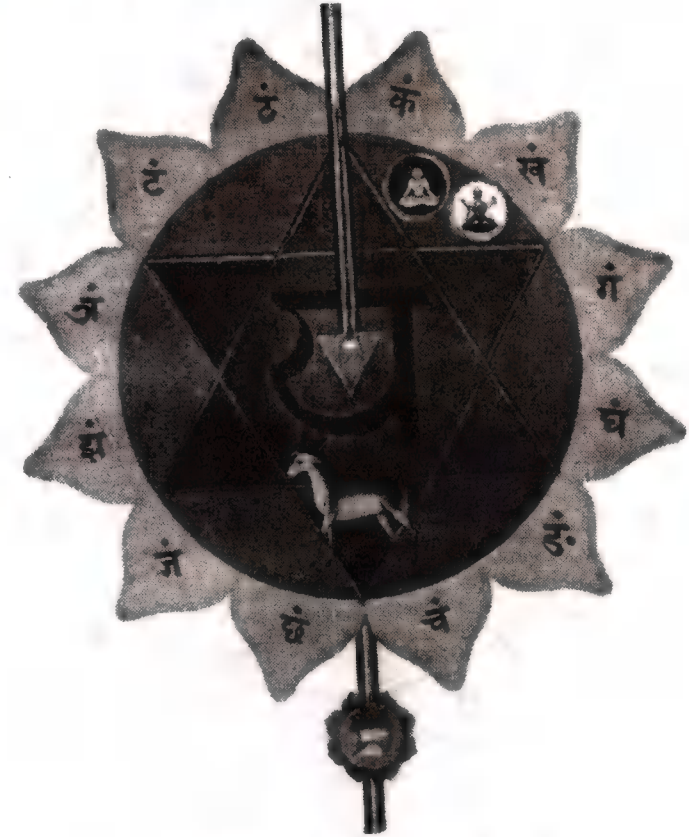
'चतुर्दशाङ्गुलादूर्ध्वं मधिपूराख्य पंकजात् ।
पङ्कजं राकिनीमध्यं द्वादशारमनाहतम् ।
नत्रस्थकालरात्र्यादिशक्तिभिश्च समावृतम्
तत्रस्थसूर्यबिम्बंतु नादोऽज्यानाख्य पीठकम् ॥'

—स्वच्छन्द संग्रह

'तस्योर्ध्वे हृदि पंकजं सुललिनं बन्धूककान्त्युज्ज्वलं ।
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपहितं सिन्दूररागान्वितैः ।
नाम्नाऽनाहतसंशकं सुरतरुं वाञ्छातिरिक्तप्रदं ।
वायोर्मण्डलमत्र धूमसदृशं षट् कोण शोभान्वितम् ॥'

—षट् चक्रनिरूपणम्

विशुद्ध चक्र
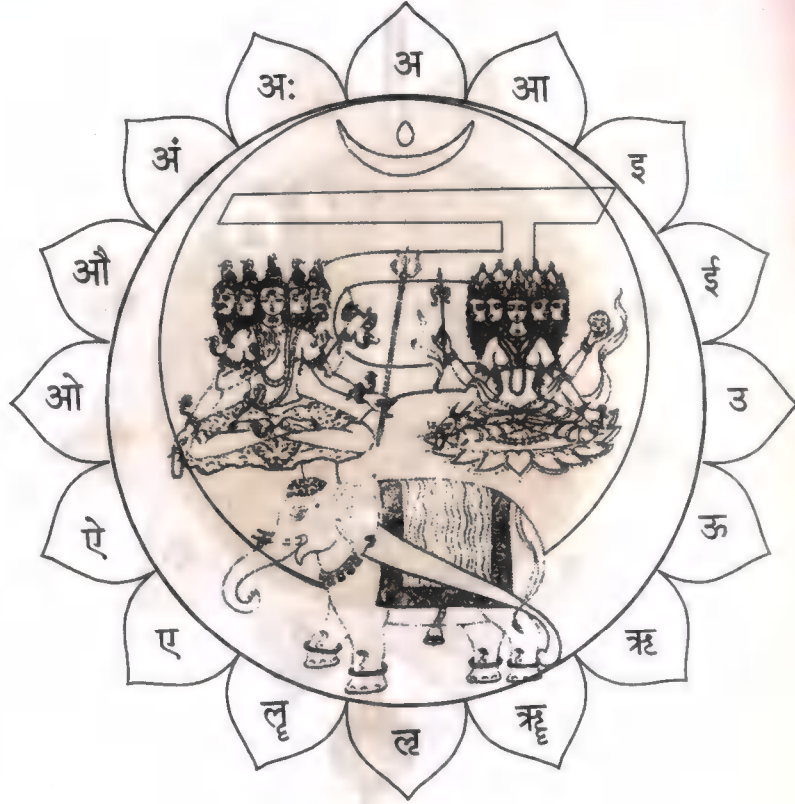
तस्मादेकाङ्गुलादूर्ध्वं, विशुद्धं षोडशारकम् ।
मध्यगा डाकिनी बाह्य, पत्रेषु परमेश्वरी ।
अमृताद्यक्षरान्ताश्च, चन्द्रबिम्बं तदूर्ध्वगम् ।

—स्वच्छन्द संग्रह

विशुद्धौ ते शुद्ध स्फटिक विशदं व्योमजनकं ।
शिवं सेवेदेवीमपि शिवसमान व्यवसिताम् ।
अयोः कान्त्यायन्त्या शशिकिरणसारूप्य सरणिं
विधूतान्तध्वन्ति विलसति चकोरीव जगती ॥

—सोन्दर्य लहरी
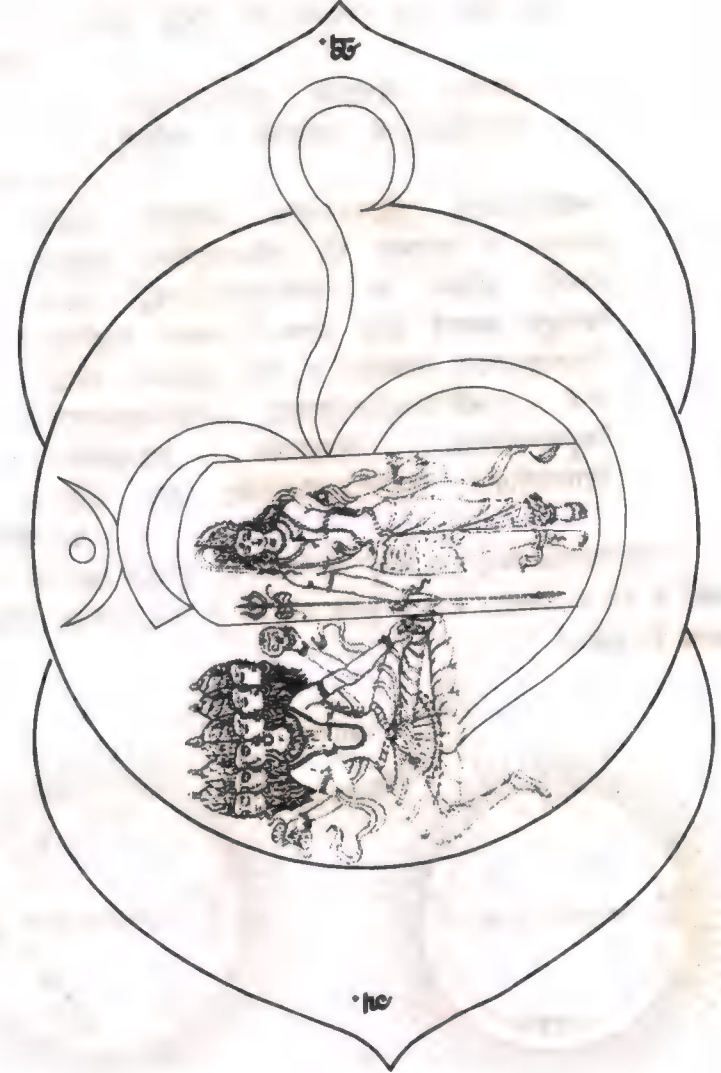
* आज्ञा चक्र *

आचार्य शङ्कर की दृष्टि—

'तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वे पर चिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रवि शशिशुचीनाम् विषये।
निरालोके लोके निवसति हि भालोक भुवने।'

—सौन्दर्य लहरी

आज्ञाधारं द्विपत्राब्जं हक्षद्विदलसंयुतम्
हंसवतीक्षमापार्श्वं, तयोर्मध्ये तु हाकिनी॥

—स्व च्छन्द संग्रह

'आज्ञानामाम्बुजं तद्धिमकरसदृशं ध्यानधाम प्रकाशं
हक्षाभ्यां वै कलाभ्यां परि लसितवपुर्नेत्रपत्रं सुशुभ्रम्
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवलात्रषड्कं दधाना
विद्यामुद्रां कपालं डमरु जपवटीं बिभ्रती शुद्धचित्ता॥
'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं।
योनौ तत्कर्णिकायामितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधं।
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत् तत् क्रमेण॥

—षट् चक्रनिरूपणम्

एक 'परात्मक बिन्दु' (पर बिन्दु') जो कि—(१) 'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' के रूप में अवतरित होता है उसके चार एवं छः दल मानसिक वृत्तियों के भी प्रतीक हैं। यथा—
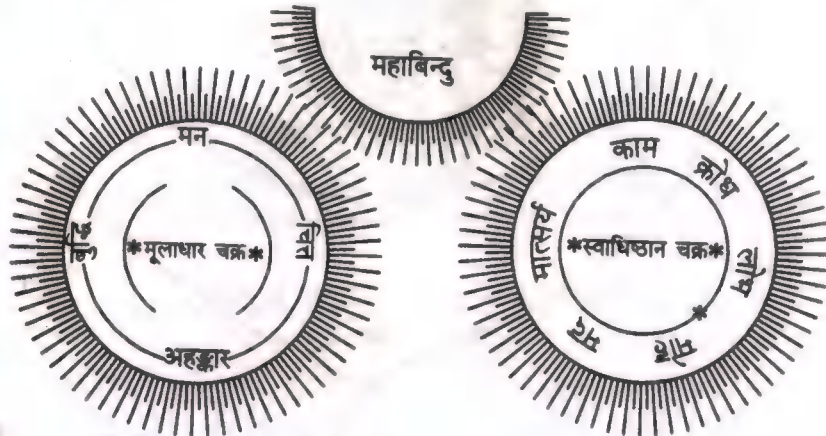
यहाँ जो चित्र दिए जा रहे हैं उनमे मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान आदि का मूलाकार इनसे १००% भिन्न है।

कहा भी गया है—

'दशधार भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽधार कमले षोढाऽधिष्ठान पङ्कजे।
उभयाकार रूपत्वात् इतरेषां तदात्मता॥'

'मूलाधार' का चतुर्धा विभाजन

(१) 'मन' (२) 'बुद्धि' (३) 'चित्त' (४) 'अहङ्कार'

'स्वाधिष्ठान' का षोढा विभाजन

(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मात्सर्य

परतत्त्व के (दशधा) भिन्न-भिन्न वृत्यात्मक स्वरूप — एक पर तत्त्व का दशधा विभाजन
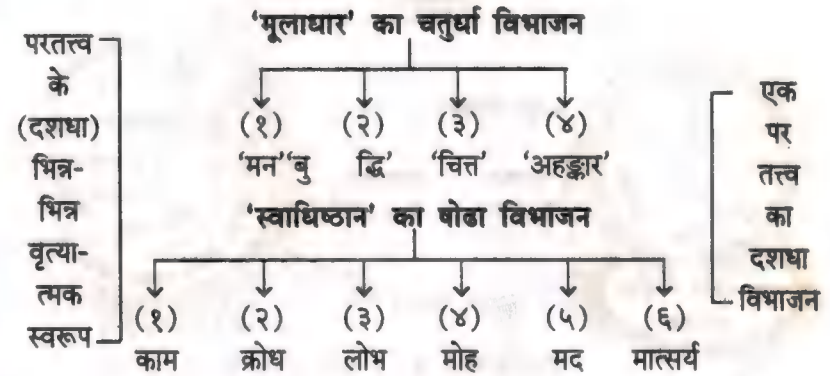
आचार्य गौड़पाद की चक्र सम्बंधिनी दृष्टि—

आचार्य गौड़पाद यह सोचते हैं कि यदि **शरीर ही 'श्री चक्र'** है—'नव चक्ररूपं श्री चक्र'[१]। अर्थात् 'स्वकीयो देह एव त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रसमष्टि रूप श्रीचक्राभिन्नः।[२] तो 'श्रीचक्र' एवं उके 'त्रिकोण' 'अष्टार', 'दशार' आदि चक्र भी शरीर में ही होंगे तथा शरीर में स्थित षट्चक्रों का इन ९ चक्रों से ऐकात्म्य भी होगा। इसी दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने षट्चक्रों एवं नवचक्रों में एकता का प्रतिपादन करते हुए कहा—

'त्रिकोणं चाधारं त्रिपुरतने तेऽष्टारमनघे,
भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपुरम्।
दशारं ते संवित् कमलमथ मन्वश्रकमुमे,
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहम्॥१०॥
त्रिकोणे ते वृत्त त्रितय मिभकोणे वसुदल,
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च भुवनम्।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति भगे शक्तिकमुमे,
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः॥११॥

इसके बाद उनहोंने **'चतुर्धा ऐक्य' 'षोढाऐक्य'** आदि अद्वैतपरक ऐक्यों का प्रतिपादन कियां (श्लोक १२,१३)

१. भावनोपनिषद (२)
२. भावनोपनिषदभाष्य (भास्करराय)

(ये चक्र समझाने के लिये दिए गए हैं। इनकी यथार्थ आकार इनसे १००% भिन्न-भिन्न है।)

सहस्रारस्य परबिन्दु (महाबिन्दु)

(यहा षट्चक्रों में से जितने भी चक्र दिये गये हैं उनका मूल स्वरूप, उनकी आकृति इस प्रकार नहीं है। ये केवल प्रतीक रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।)

(१) मूलाधार चक्र (४ दल)
मन
बुद्धि
चित्त
अहंकार

= युक्त त्रिवेणी।।

{ मूलाधार के ४ दल

स्वाधिष्ठान के ६ दल }

(२) स्वाधिष्ठान चक्र (६ दल)
काम
क्रोध
लोभ
मोह
मद
मात्सर्य
अवज्ञा
अविश्वास

परम, सहज, वीरानन्द, योगानन्द[१]

४ दल

६ दल

मू० एवं स्वा० के १० दल

मूलाधार चक्र की १ संख्या

स्वाधिष्ठान चक्र की १ संख्या

मणिपूरक चक्र
सुषुप्ति
तृष्णा
ईर्ष्या
पिशुनता
लज्जा
भय
घृणा
मोह
कषाय[२]
बोध
शब्द

(१) 'मूलाधार'-१ सं०
(२) 'स्वाधिष्ठान'-१ सं०
(३) 'मणिपूर'-१० दल
१२ दल
अनाहत चक्र
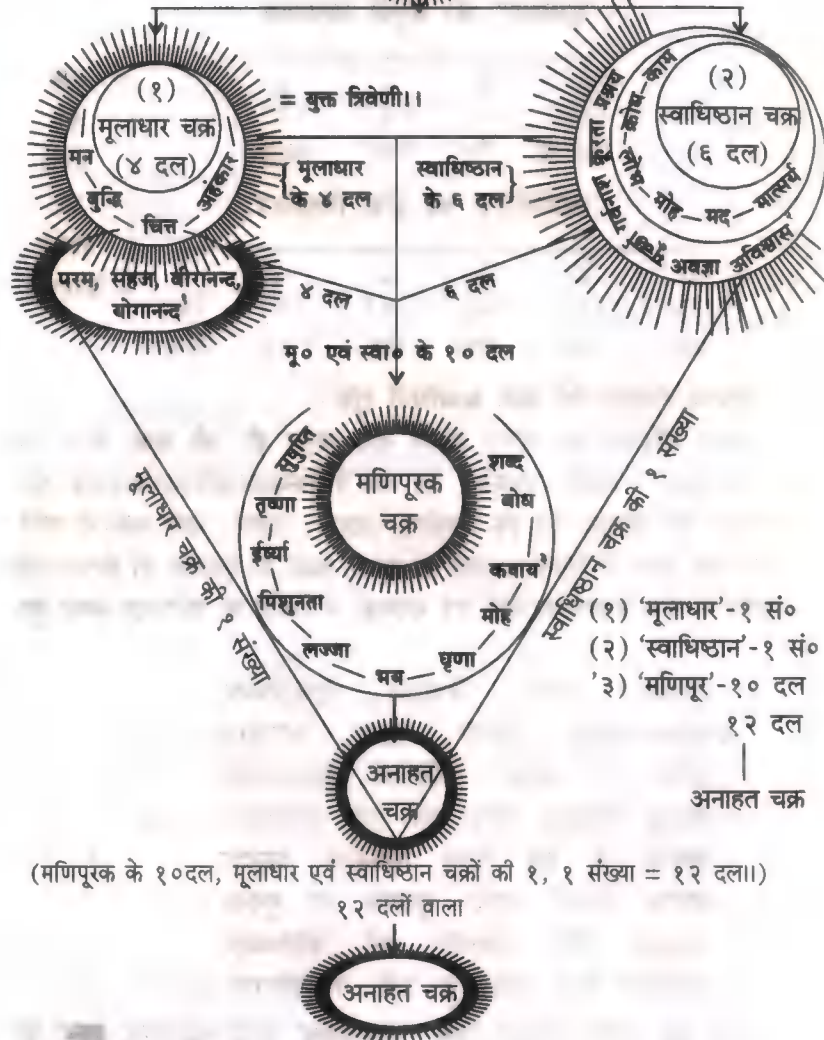
अनाहत चक्र

(मणिपूरक के १०दल, मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों की १, १ संख्या = १२ दल।।)

१२ दलों वाला

अनाहत चक्र

---

१. हंसोपनिषद। सङ्गीतरत्नाकर। दीपिका।

२. हंसोपनिषद, सङ्गीतरत्नाकर, दीपिका।

३. हंसो०। सङ्गीत०। दीपिका।

(यहाँ चित्रित सारे चक्र समझाने के लिए बनाए गए हैं किन्तु इनके यथार्थ आकार १००% भिन्न हैं।)

* अनाहत चक्र * (१२ दल)
लौल्य
प्रणाश
प्रकट
वितर्क
अनुतापिता
आशा
प्रकाश
चिन्ता
समीहा
दम्भ
वैकल्य
विवेक
अहंकृति

= १ मूलाधार चक्र
= १ स्वाधिष्ठान चक्र
= १० मणिपुर चक्र

मूलाधार चक्र (४ दल)
मन
बुद्धि
चित्त
अहंकार

अनाहत १२ दल
४ दल
= १६ दल

* विशुद्धाख्य चक्र * (१२ दल)
प्रणव
उद्गीथ
हुं फट्
वषट्
स्वाहा
नमः
अमृत
षड्ज
ऋषभ
गांधर्व
मध्यम
पञ्चम
धैवत
निषाद
विष

मूलाधार चक्र के ४ दल 'अनाहत चक्र' के १२दल = १६ दल

मूलाधार चक्र १

स्वाधिष्ठान चक्र १

आज्ञा चक्र
हं
क्ष

सत्वाविर्भाव — राजाविर्भाव — तमाविर्भाव
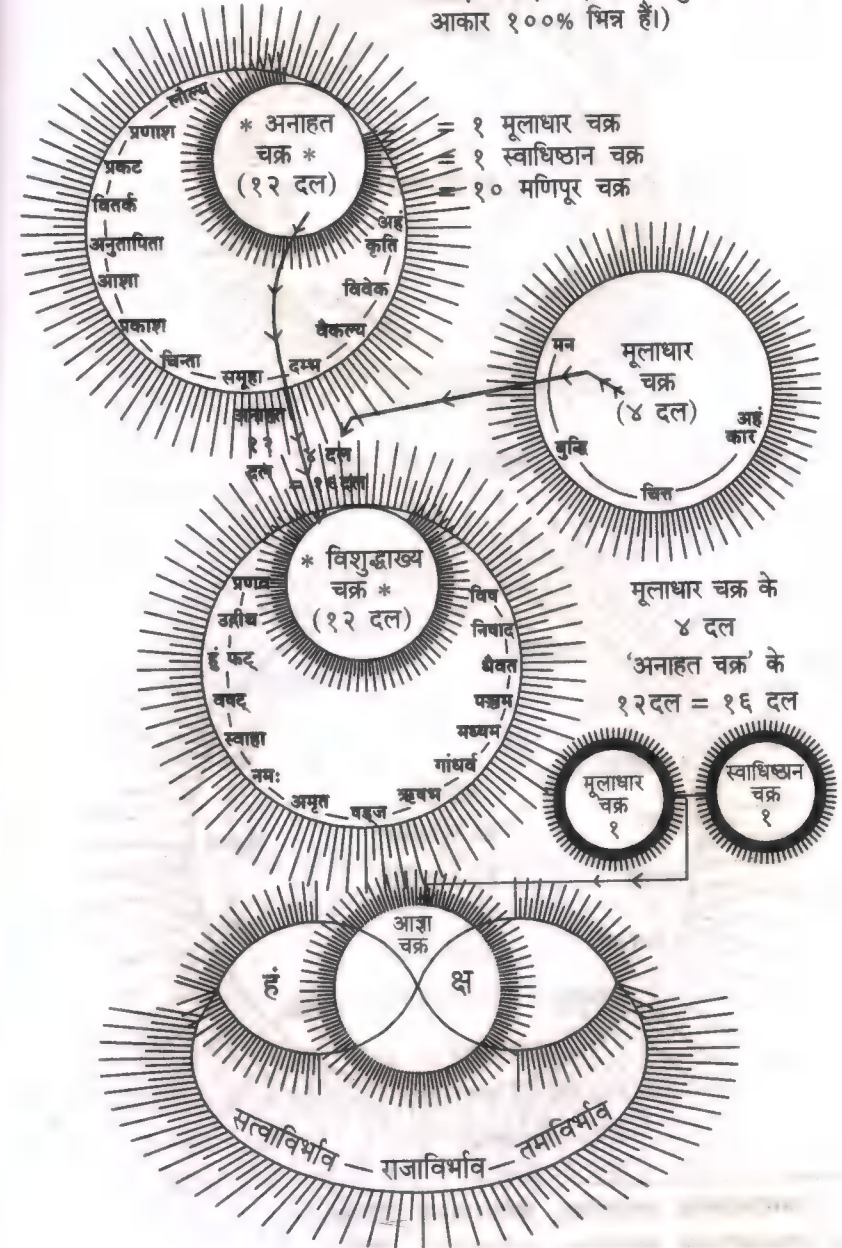
सहस्रार या सोम चक्र
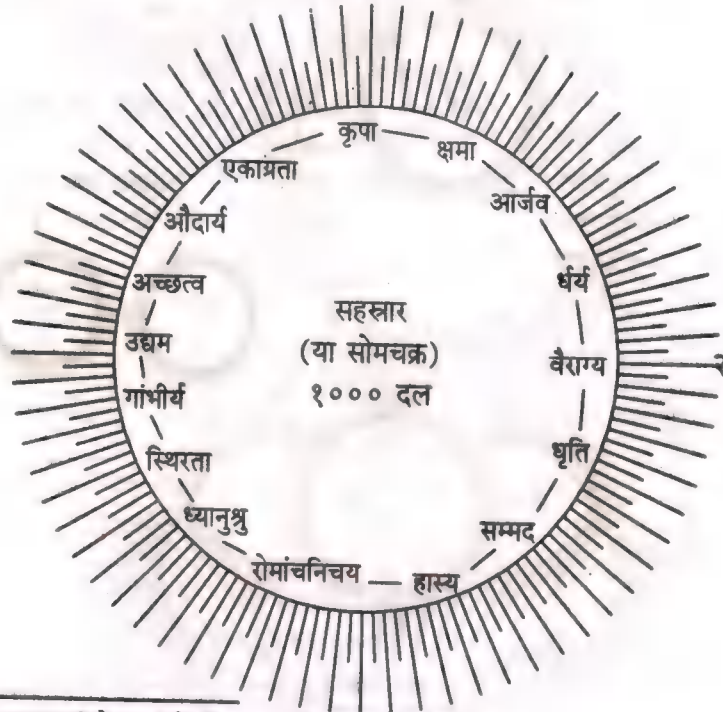
१. 'अध्यात्मविवेक' हंसोपनिषद, संगीतरत्नाकर, दीपिका।
२. 'अध्यात्मविवेक' हंसोपनिषद, संगीतरत्नाकर, दीपिका।
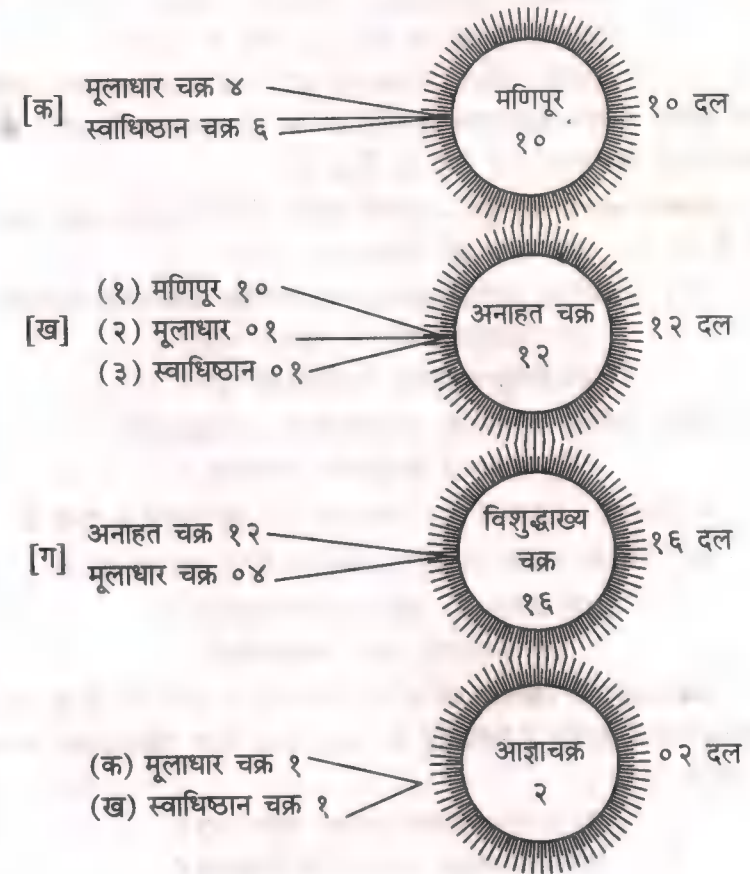
***आचार्य लक्ष्मीधर की दृष्टि ***—'**बिन्दुर्नाम**-षट् चक्राणि मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूराना हतविशुद्धयाज्ञात्मकानि **बिन्दुशब्द** वाच्यानि।'—लक्ष्मीधरा (श्लोक ४१)

*** बिन्दु तत्त्व ***

'तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्ति कृद्यम् ।'

प्रश्न—'**बिन्दु**' क्या है?

आचार्य अभिनव गुप्त पादाचार्य की दृष्टि—आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'तीनों प्रकाशमान सूर्य, सोम एवं अग्नि रूप प्रतिनिधियों के रहते प्रकाश मात्र जो परम सत्ता है वही शास्त्रों में 'बिन्दु' के नाम से अभिहित की जाती है—वह अविभागात्मक (अखण्ड) परम प्रकाश ही '**बिन्दु**' है।

'उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि।
अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः।'[१]

सोम रूप आह्लाद, सूर्यरूप जीवनात्मक प्राण, प्रकाश एवं अग्निरूप दाहक, पाचक स्वरूपों में व्यक्त क्रिया शक्ति के उदित होने पर भी शाश्वत रूप में अविभक्त पर प्रकाश रूप से प्रकाशमान परम शिव ही 'बिन्दु' है।

आचार्य जयरथ की दृष्टि—आचार्य जयरथ 'विवेक' नामक अपने भाष्य में कहते हैं कि 'बिन्दु' कोई अन्य नहीं है केवल शिव ही है—

'बिन्दु विदिक्रियायां स्वतन्त्रः परप्रमात्रेकरूपः परमेश्वरः शिव इत्यर्थ यद्वक्ष्यति—
'अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थिते धामत्रये सति।
उक्तं **बिन्दुतया** शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः।।'

'बिन्दुः वेदयिता पर प्रकाशः, स्वस्वातन्त्र्याद्वि श्वमवबिभासयिषुः—
'त्रिषु स्थानगतो बिन्दुमेकत्रैव विभावयेत्।'

यह बिन्दु (१) द्वादशान्त (२) भ्रूमध्य एवं (३) हृदय तीनों से स्थित है।

'नाद' क्या है—समस्त प्राणियों में अवस्थित चेतन शब्द ही नाद है—
'योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्ववस्थितः।।'[२]
'एषा कुण्डलिनी शक्तिः **बिन्दुरूपिणी'**

'प्रयोगसार' के रचयिता की दृष्टि—'प्रयोगसार' में कहा गया है कि **'तत्त्व'** चिन्मात्र ज्योति के सन्निधि में विचिकीर्षु होने पर घनीभूत होकर **'बिन्दुरूपता'** धारणा कर लेता है—

'सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति **बिन्दुताम्**।'

अन्यमत—एक अन्य मत के अनुसार जो अभिव्यक्त **'पराशक्ति'** है वही अन्ततः रूपान्तरण द्वारा बिन्दु बन जाती है—

'अभिव्यक्तापराशक्तिर विनाभावलक्षणा।
अखण्डपरचिच्छक्तिर्व्याप्ता चिद्रूपिणी विभुः।
समस्ततत्त्व भावेन विवर्तेच्छासमन्विता।
प्रयाति बिन्दुभावञ्च क्रियाप्राधान्यलक्षणम्।'

पञ्चरात्र मत—इस मत के अनुसार 'नाद' एवं 'बिन्दु' के रूप में पराशक्ति का रूपान्तरण इस प्रकार होता है—

१. तन्त्रालोक (३आ.) (३/१११)
२. तन्त्रालोक (३/११३)

एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
समस्त तत्त्व संघातमस्फुरत्तर्याधिष्ठानरूपिणीम्
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्।
तस्या एव नाद बिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ।।

शारदाति ललकार की दृष्टि—लक्ष्मणादेशि केन्द्र कहते हैं (१) सत्, चित् एवं आनन्द त्रिपद्विभूषित सकल परमात्मा से सर्वप्रथम 'शक्ति' हुई फिर **'नाद'** हुआ और फिर **'नाद'** से **'बिन्दु'** का आविर्भाव हुआ—

'सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादात् बिन्दुसमुद्भवः।।'

वह परशक्तिमयं 'बिन्दु' पुनः विभक्त होकर तीन रूपों में अवतरित हुआ—

(१) 'बिन्दु' (२) 'नाद' (३) 'बीज' (इसमें कथित बिन्दु एवं नाद प्रथमोक्त नाद बिन्दु से पृथक् हैं।)

'बिन्दु'
(१) बिन्दु | (२) नाद | (३) बीज

(१) **'वाग्भवकूट'**	(२) **'कामकलाकूट'**	(३) **'शक्तिकूट'**
(१) यह आग्नेय है।	(१) यह सौर है।	(१) यह चान्द्र है।
(२) यह भगवती का मुख है।	(२) यह भगवती के कण्ठ से नीचे कटि पर्यन्त शरीरांग-भाग है।	(२) यह भगवती के कटि के नीचे का भाग है।
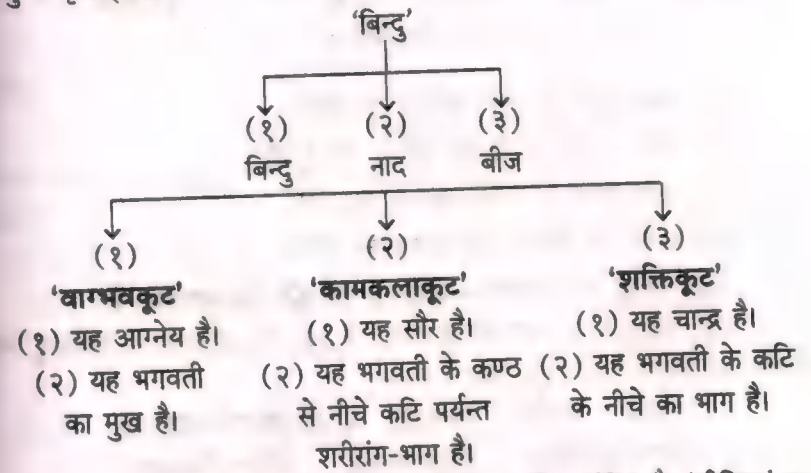
द्वितीय एवं तृतीय कूट के मध्य की **'हल्लेखा' विष्णुग्रंथि'** है। 'श्रीविद्या' या **पञ्चदशाक्षरी विद्या** का एक पाद और है।

'पञ्चदशी विद्या'

(१)	(२)	(३)	(४)
प्रथमपाद	द्वितीयपाद	तृतीयपाद	***चतुर्थपाद***
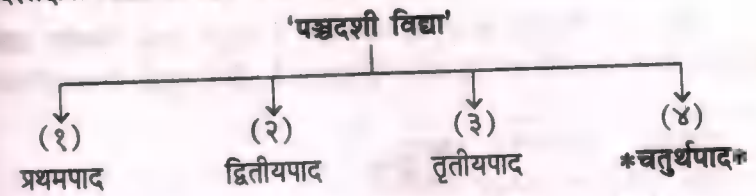
'पञ्चदशाक्षरी विद्या' का चतुर्थ पाद एकाक्षरी **'लक्ष्मीबीज'** है और यह गुरु से

प्राप्य है। यह गुरुमुखैकगम्य है। यह **'चतुर्थपाद'** **'लक्ष्मी बीज** (श्रीं) या **'चन्द्रकला'** है। इसके एवं तृतीय शक्ति कूट के मध्य स्थित हल्लेखा ही **'ब्रह्मग्रंथि'** है।

हल्लेखायें एवं ग्रंथित्रय

(१) **[प्रथम एवं द्वितीय कूट]** ('वाग्भवकूट एवं कामकला कूट') के मध्य में स्थित **'हल्लेखा = 'रुद्रग्रंथि'** है। (प्रथम हल्लेखा) **'*रुद्रग्रंथि* = 'ह्रीं'**

(२) **[द्वितीय एवं तृतीय कूट]** कूटों ('कामकला कूट' एवं 'शक्तिकूट') के मध्य स्थित **हल्लेखा = 'विष्णुग्रंथि'** है। (द्वितीय हल्लेखा) द्वितीय ग्रंथि = **'ह्रीं'** = * विष्णुग्रंथि *

(३) **तृतीय एवं चतुर्थ कूटों** (शक्तिकूट, तृ० कूट) एवं चतुर्थ पाद (चन्द्रकला = 'श्री' के मध्य स्थित हल्लेखा = 'ह्रीं' = तृतीय ग्रंथि = **'ब्रह्मग्रंथि'**।।

(क) **प्रथम ग्रंथि** = प्रथम 'ह्रीं' = 'रुद्रग्रंथि'

(ख) **द्वितीय ग्रंथि** = द्वितीय 'ह्रीं' = 'विष्णुग्रंथि'

(ग) **तृतीय ग्रंथि** = तृतीय 'ह्रीं' = 'ब्रह्मग्रंथि'

हल्लेखाओं एवं ग्रंथित्रय का पारस्परिक सम्बन्धा

'परम बिन्दु' का स्वरूप—पूर्णानन्द की दृष्टि के आलोक में

यति पूर्णानन्द ने 'षट्चक्रनिरूपणम्' के ४८हवें अध्याय में 'परबिन्दु' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—

'एतस्या मध्यदेशे विलसति परमाऽपूर्वनिर्वाणशक्तिः।
कोट्यादित्यप्रकाश त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा।
केशाग्रस्याऽतिगुह्य निरवधि विगलत्प्रेमधाराधरासा।
सर्वेषां जीवनभूता मुनिमन सिमुदा तत्त्व बोध वहन्ती।।'

अर्थात् इस **'निर्वाण कला'** के मध्य देश में अपूर्वा परमा **'निर्वाण शक्ति'** विराजमान है जो कि कोटि सूर्य के समान दीप्तिमान है, तीनों भुवनों की उत्पादिका है,

---

१. श्रीमद्वाग्भव कूटैकस्वरूप मुखपङ्कजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी।
शक्तिकूटैकतापन्नकट्यधोभाग धारिणी।
मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा ॥ —ललितासहस्रनाम

केशाग्र भाग के करोड़हवें भाग के समान सूक्ष्मतम, गुप्ततम् एवं निरनतर क्षरित पीयूष प्रवाह को धारणा करने वाली है। यह परमा शक्ति जीवों की प्रणणस्वरूपपिणी है एवं मुनियों के मन में हर्ष पूर्वक तत्त्वज्ञान को प्रवाहित करने वाली है।

निर्वाण शक्ति ब्रह्म की शक्ति है। यह परब्रह्मशक्तिस्वरूपा है। **समस्त सृष्टि का मूल कारण** यहीं **'निर्वाणशक्ति'** है। इसे **'त्रिभुवनजननी'** कहा गया है।

उस 'निर्वाण शक्ति' के मध्य स्थित 'शून्य' में ही नित्यानन्द नामक **शिवपद** है जो कि निर्मल, नित्य, योगिगम्य, सर्वानन्दमय एवं शुद्धज्ञान स्वरूप है। इसे ही कोई **'विष्णुपद'** कोई **'हंसपद** एवं कोई मोक्षरूप अनिर्वचनीय आत्मसाक्षात्कार का स्थान कहते हैं।[१]

कहा गया है कि—

'ज्वलदग्नेर्यथा देवि! स्फुरन्ति विस्फुलिङ्गकाः।
तस्याश्च्युतं परंबिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यपि।'

अर्थात् जिस प्रकार जलती आग से विस्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार **'निर्वाण शक्ति'** से **'परमबिन्दु'** का उद्भव होता है।

प्रख्यात टीकाकार **कालीचरण** कहते हैं—**'निर्वाणशक्तिमध्ये** पर ब्रह्मस्थान माह। **परंबिन्दुरूप निर्वाणशक्त्या** मध्यान्तराले मध्यस्थशून्ये मायामलरहितं ब्रह्मस्थान लपन्ति'[२]

कालीचरण कहते हैं—

'सहस्रदलकर्णिकान्तस्त्रिकोणे माया बन्धनाच्छदित प्रकृतिपुरुषात्मकं परंबिन्दुः'

अर्थात् प्रकृतिपुरुषात्मक परतत्व ही **'परंबिन्दु'** है। अन्यत्र कहा गया है कि—

'निर्गुणो **बिन्दुरूपश्च** सिद्धिकारणमेव हि।
केचिद् वदन्ति ब्रह्मा, कैश्चिद् विष्णुः प्रकथ्यते।
कैश्चिद् रुद्रो महापूर्ण एको देवो निरञ्जनः।
आद्या शक्तियुतो देवश्चरणकाकाररूपकः।'

यह बिन्दु ही समस्त कारणों का कारण है—

'अयं **बिन्दुः** सर्वकारणरूप ईश्वर इति केचित्।'
'पौराणिकास्तु महाविष्णुरुपोऽयमिति वदन्ति।
'बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मता।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसः स्वप्रकाशेन भासते।'

---

१. षट् चक्र निरूपणम् (४९)
२. (षट्चक्रनिरूपणम् की टीका) 'श्लोकार्थ परिष्कारिणी' (काली चरण)

श्रीमत में कहा गया है—

'अकुलेश्वरदेवस्य सम्बंधः प्रथमः स्थितः ।
रूपातीतः **परोबिन्दुः** शक्त्या वेष्टितभास्वरः ।'

कालीचरण कहते हैं कि 'परं बिन्दु' सहस्रदल कर्णिका में स्थित है—'परमरसः परमानन्दस्तन्मये शिवे सहस्रदलकणिकास्थ परंबिन्दुरूप शिवसमीपे'[1]

कालीचरण ने विस्तार पूर्वक इस तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए इसे इस प्रकार निरूपित किया है—

(१) 'सुषुम्णानाड्यूर्ध्वे सहस्रदलपद्मं शुक्लवर्णमधोमुखं रक्तकिञ्जल्कशोभित-मकारादिलकारानत पञ्चाशद्वर्णौः शुक्लाभैर्विंशत्यावर्त्तनेन सहस्रसंख्यकैर्युक्तं सहस्र दलम्, एतत्कर्णिकायां हंसः। ततः परमशिवरूपगुरुः।

(२) 'ततः **सूर्य मण्डलं** चन्द्रमण्डलम् ।

(३) 'ततो **महावायुः ।**

(४) ततो **ब्रह्मरन्ध्रम् ।**

(५) 'ततो महाशंखिनी ।

(६) चन्द्रमण्डले विद्युदाकार त्रिकोणम् ।

(७) तन्मध्ये मृणाल सूत्र शतभागैकभाग रूपसूक्ष्मा चन्द्रस्य **'षोडशी'** कलाऽधोमुखी रक्तवर्णा । अधोमुखी ।

(८) तदघस्ताद व्क्तनादात्मक निबोधिकाख्य वह्निः। तदुपरि निर्वाणकलाक्रोडे—

'परं बिन्दुः' शिवशक्त्यात्मकः ।[2]

(२) 'सहस्रदलपद्मकर्णिकामध्ये चन्द्रमण्डले अकथादि **त्रिकोणम्।** तन्मध्ये त्रिकोण समीपे **त्रिबिन्दुः।** तस्याधो **बिन्दुर्हकारः** पुरुषात्मकः। **ऊर्ध्वबिन्दुद्वय** रूपविसर्गः सकारः प्रकृति रूपः। एतदुभयात्मको **हंसरित्रबिन्दुरूपेण** प्रकाशते। तन्मध्ये **अमाकला। तत्क्रोडे** निर्वाण शक्तिः तस्या मध्ये **शून्यं परं ब्रह्म** इति ।।[3]

राघव भट्ट की दृष्टि—तांत्रिक व्याख्याकार राघव भट्ट कहते हैं कि बिन्दु सत्वाधिक्यात्मक होता है।

राघवभट्ट की दृष्टि—राघवभट्ट कहते हैं कि—'नाद' की तीन दशाये या अवस्थायें हैं—

(१) जब तमोगुण का आधिक्य होता है तब ध्वनि अध्यक्त रहती है और इसे 'ध्वनि' कहते हैं।

१. षट् चक्र निरूपणम् (५१)
२. श्लाकार्थ परिष्कारिणी (४९)
३. शलोकापरिष्कारिणी (४९)

(२) जवरजोगुण का आधिक्य होता है तब ध्वनि **किञ्चिद्वर्णरूप** में व्यक्त होता है।

(३) जब यही नाद **सत्वाधिक्यपूर्ण** होता है तब 'बिन्दु' का स्वरूप धारणा कर लेता है।

(क) 'तमोगुणधिक्येन केवल ध्वन्यात्मकोऽव्यक्तनादः ।

(ख) 'रजआधिक्येन किञ्चिद्वर्णबद्धन्यासात्मकः ।

(ग) सत्वाधिक्येन बिन्दुरूपः ।

कुलार्णव तंत्र की दृष्टि—'कुलार्णव तंत्र' में कहा गया है—

'बिन्दुरूपं परं ब्रह्म सहस्रदल संस्थितम्।'

'निर्वाणशक्तिः **परबिन्दुरूपेति।'** काली चरण **'बिन्दु'** को परम कुण्डली एवं 'शून्य' को शिव एवं **'पर बिन्दु'** को सृष्टि स्थितिलय विधायक भी कहा गया है—'तन्मध्ये परबिन्दुश्च सृष्टि स्थितिलयात्मकम् ।

शून्य रूपं शिवः साक्षाद् बिन्दुः परमकुण्डली ।

निर्वाण तन्त्र में कहा गया है कि **'परंबिन्दु'** शक्ति है

बिन्दु सृष्टिवाद की अन्य दृष्टि—शैव एवं शाक्त दोनों दर्शनों में बिन्दुसृष्टिवाद स्वीकृत है। इसके अनुसार—

(१) शिव एवं शक्ति आद्य तत्त्व है 'शिव' प्रकाशस्वरूप हैं वे विमर्शमय (स्फूर्तिमय) 'शक्ति' में प्रविष्ट होते हैं और तब वे **'बिन्दु'** का स्वयप धारण कर लेते हैं।

(२) इस प्रकार 'शक्ति' भी शिव में अनुप्रविष्ट होती है। इसके उपरान्त—

(३) 'बिन्दु' संवर्द्धित होत है। तब उससे नाद (नारी तत्त्व) निर्गत होता है।

(५) 'श्वेत' और 'रक्तबिन्दु' जो पुरुष एवं स्त्री तत्त्व के प्रतीक हैं, उसके कला विशेष हैं।

(६) फिर ये तीनों एक **'संयुक्त बिन्दु** बन जाते हैं।

(७) **श्वेत, रक्त** एवं **मिश्र बिन्दु** मिलकर एक हो जाते हैं और **कामकला'** कहलाते हैं।

(८) यहाँ चार शक्तियों का सामरस्य है—

(क) **मूल बिन्दु'**—यह जगत का मूलोपादान तत्त्व है।

(ख) **'नाद'**—इसके आधार पर बिन्दु-संबर्धन से जन्म लेने वाले तत्त्वों का नामकरण होता है।

'बिन्दु' एवं **'नाद'** दोनों में उत्कट प्रेम रहता है कितने मात्र से जगत की सृष्टि नहीं हो जाती। वे केवल अर्थ और वाक् के उपादान हैं।

(८) अतः इनके साथ श्वेत पुरुष बिन्दु एवं रक्त स्त्री बिन्दु रूप में दो उत्पादक शक्तियों का योग होता है। जब ये चारों तत्त्व मिलकर **'कामकला'** का रूप धारण कर लेते हैं तब वागर्थमय सृष्टि आरम्भ होती है। जब स्त्री तत्त्व प्रथम बार बिन्दु में प्रविष्ट होता है तब नाद के साथ **'हार्ध कला'** नामक एक अन्य तत्त्व भी विकसत होता है। उच्चमता देवी **'कामकला'** हैं। सूर्य (संयुक्त बिन्दु) उसका मुख है।

अग्नि और चन्द्र (रक्त एवं श्वेत बिन्दु) उसके स्तन हैं और **'हार्धकला'** उसकी योनि है जिससे सृष्टि आरम्भ होती है। यह देवी ही विश्व का सृजन करने वाली है। यही **'परा' 'ललिता' 'भट्टारिका'** या **'त्रिपुर सुन्दरी'** कही जाती है।

(९) शिव 'अ' है और 'ह' शक्ति है। यह 'ह' ही अर्धकला है। स्त्री तत्त्व या योनि (ह) के अकार का अर्धभाग (हार्धकला' है। यह अर्धकला या 'ह' शिव के प्रतीक 'अ' अक्षर से मिलकर **'कामकला'** या **'त्रिपुर सुन्दरी'** का प्रतीकात्मक रूप है। यह शिव एवं शक्ति के संयोग का फल है। वह 'अहं' कहलाती है। सभी आत्मायें त्रिपुरसुन्दरी का रूपमात्र हैं। जब वे देवी चक्रों के साथ काम कला विद्या एवं ज्ञान का अभ्यास कर लेती हैं वे त्रिपुर सुन्दरी हो जाती है।

त्रिपुर सुन्दरी से ही समस्त अर्थ उत्पन्न होते हैं। अर्थ के व्यञ्जक सारे शब्द भी त्रिपुरसुन्दरी से ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए उसका नाम है—'परा'। सृष्टि उसका **परिणाम है विर्त** नहीं। प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य होता है कि 'मैं भगवती त्रिपुरसुन्दरी के साथ अभिन्न हो जाऊँ।

श्लोक क्रमांक ४७ : *** 'सहस्रार' का सर्वोत्पादक स्वरूप ***

(सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधाराद्वितयमभवत्तछशदलं।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधबिन्दुरभवत्॥४७॥)

अर्थ—['सहस्रार चक्र' ही पर बिन्दु के रूप में रूपान्तरित या आकारित हो जाता है। उसी से 'बैन्दव गृह' (परम बिन्दु गृह) भी निर्मित हुआ है। यह समस्त विश्व इसी से उत्पन्न हुआ है। वही इन सभी का साधन (अस्तित्व का साधन) है। उसी सहस्रारस्थ 'बिन्दु' से (या सहस्रार से) **'मूलाधार चक्र'** एवं **'स्वाधिष्ठान'** नामक चक्रद्वय का उद्भव हुआ और (उन दोनों चक्रों की दल संख्याओं के सम्मिलित योगाङ्क १० से) दशदलात्मक **'मणिपूर चक्र'** का जन्म हुआ।

(वह 'मूलाधार'-'स्वाधिष्ठान' चक्रद्वय **'सहस्रार'** से उत्पन्न हुआ।) 'सहस्रार चक्र' से उत्पन्न वह 'महाबिन्दु' दस रूपों में विभक्त हो गया॥४७॥]

सरोजिनी (व्याख्या)—

(१) **सहस्रार 'बिन्दु'** बन जाता है।

(२) सहस्रार 'बिन्दु' बनकर १० भागों में विभाजित हो जाता है—

(क) (सहस्रार बिन्दु' बन जाता है।)—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति भवति।'[१]

(ख) सहस्रार बनकर १० भागों में विभक्त हो जाता है।

* 'सहस्राराज्जात तदिति दशधा बिन्दुरभवत्।'[२]

(ग) 'बिन्दु' से समस्त जगत की उत्पत्ति होती है।

'तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।'[३]

(घ) वह एक परम तत्त्व ही बिन्दु बनकर जगत की सृष्टि का कारण बनता है। 'तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम्'[४] परमतत्त्व सहस्रारस्थ **'बिन्दु'** है। यह दशधा विभक्त होकर—

(१) 'मूलाधार चक्र' एवं (२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' के १० दल निर्मित करता है।

*** सहस्रार चक्र ***
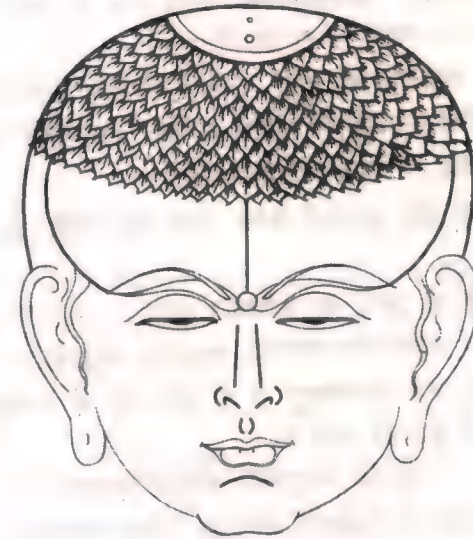
१. सुभगोदय (४७)
२. सुभगोदय (४७)
३. सुभगोदय (४७)
४. सुभगोदय (४६)

'शिरः पद्मे शुक्ले दशशतदले केसरगते।
पतत्रीणां तल्पे परमशिवरूपं निजगुरुम्।'

—अन्नदाकल्प।

'शिरः पद्मेमहादेवस्तथैव परमो गुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये।
तदंशं चिन्तयेद देवि बाह्ये गुरुचतुष्टयम्।
तत्कर्णिकायां देवेशि अन्तरात्मा ततो गुरुः।
सूर्यस्य मण्डलं तत्र चन्द्रमण्डलमेव च।।'

—निर्वाण तंत्र/कंकाल मालिनीत

'इदं स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नर वरो।
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने।।
समग्रा शक्तिः स्यान्नियममनसस्तस्य कृतिनः।
सदा कर्तुं हर्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला।।८।।'

—षट् चक्र निरुपणम्

बिन्दुसृष्टिवाद—'शारदातिलक' आदि तन्त्र के प्रधान ग्रंथों में सृष्टि के विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है।

लक्ष्मण देशिकेन्द्र की दृष्टि—लक्ष्मण देशिकेन्द्र कहते हैं कि—

(१) **'सच्चिदानन्दविभव सकल परमेश्वर'** से **'शक्ति'** का प्राकट्य हुआ।

(२) **'शक्ति'** से **'नाद'** का आविर्भाव हुआ।

(यह 'नाद' और कुछ नहीं केवल 'शिव' एवं 'शक्ति' का पारम्परिक सम्बन्ध मात्र है।)

(३) 'नाद' से 'बिन्दु' का आविर्भाव हुआ।

'आसीच्छक्तिस्ततोनादः नादाद्बिन्दु समुद्भवः।।'[१]

इसी प्रकार कहीं **'परमबिन्दु'** से भी सृष्टि होने का प्रतिपादन किया गया है। गौड़पादाचार्य उसी बात को कहते हैं—

'तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम्।'[२]

(४) 'श्री चक्र' के त्रिकोण में जो बिन्दु' है वही तो समस्त 'श्री चक्र' श्री चक्र के अन्य अङ्गों का योनियों का एवं समस्त विश्व का मूल कारण है। वह इस प्रकार है—

१. शारदा तिलक
२. सुभगोदय स्तुति (४६)

त्रिकोण एवं बिन्दु
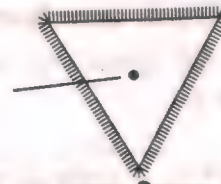
'श्री चक्र' में स्थित बिन्दु एवं सहस्त्रार रूप बिन्दु से जगत की सृष्टि होती है।

'परमबिन्दु' का दशधा विभाजन—'सहस्त्रार चक्र' में स्थित जो 'परमबिन्दु' है वही विश्व का महाकारण है। वही **'परमबिन्दु'** १० भागों में विभक्त होकर

(१) 'मूलाधार चक्र' — ४ दल ⟩ १० दल
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' — ६ दल

के रूप में प्रकट होता है।

'मूलाधार चक्र' एवं **'स्वाधिष्ठान चक्र'** के १० दल (मूलाधार के ०४ एवं स्वाधिष्ठान चक्र के ६ = ४ + ६ = १० दल) 'परम बिन्दु' के दशधा विभाजन हैं।

• = परम बिन्दु और उसका विभाजन

(१) मूलाधार चक्र : ४ दल
(२) स्वाधिष्ठान चक्र : ६ दल

(सहस्त्रार) बिन्दु १० चक्र)

'बिन्दु' का चक्रों में दशधा विभाजन

(१) 'मूलाधार चक्र' में बिन्दु का चतुर्धा विभाजन
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' में बिन्दु का षडधा विभाजन

(१) 'मन' (२) 'बुद्धि' (३) 'चित्त' (४) 'अहंकार'

(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) मात्सर्य
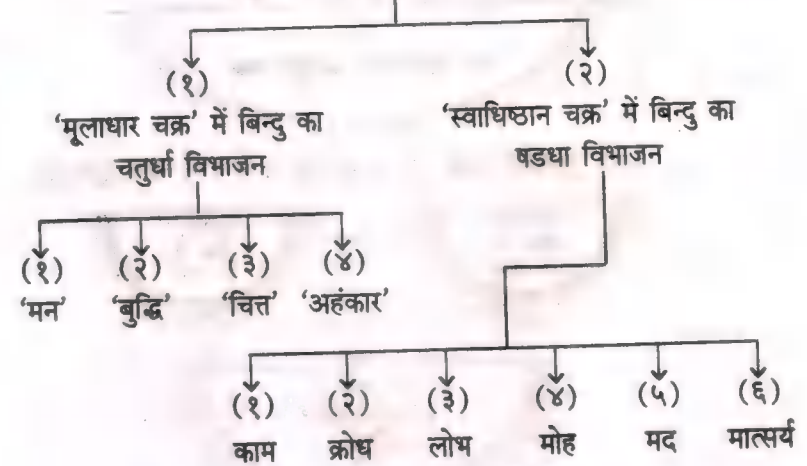
एक ही परमतत्त्व दशात्मक बनकर जगत की सृष्टि करता है और चक्रों के रूप में प्रथमतः (१) **'मूलाधार चक्र'** एवं (२) **स्वाधिष्ठान चक्र'** के रूप में प्रकट होता है।

*** 'मणिपूर चक्र' एवं बिन्दु के दशधा विभाजित रूप ***

'मणिपूर चक्र' वह तृतीय चक्र है जहाँ 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' के ४ एवं ६ (अर्थात् १० दल) एकत्र होकर स्थित हैं।

मूलाधार चक्र ४ दल
स्वाधिष्ठान चक्र ६ दल
दशदल वाला 'मणिपूर चक्र' (१०दल)
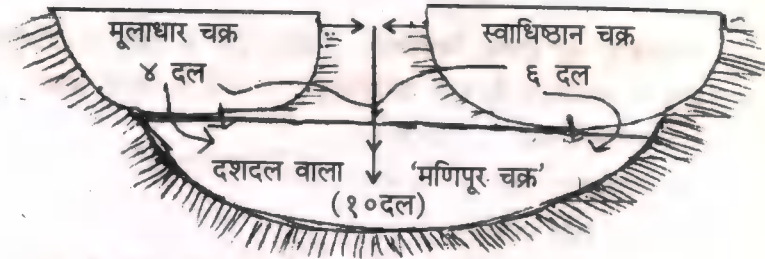
'परमबिन्दु'—(१) 'मूलाधार चक्र' में ४ रूपों में।
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' में ६ रूपों में।
एवं (३) 'मणिपूर चक्र' १० रूपों में अवस्थित है।

'मणिपूर चक्र' = मूलाधार + स्वाधिष्ठान का युग्मरूप।

'परम बिन्दु' (१) मूलाधार चक्र (संख्या १)
(२) स्वाधिष्ठान चक्र (संख्या-१)
(३) मणिपूरक चक्र (दल-१०)
२ संख्या + १० दल
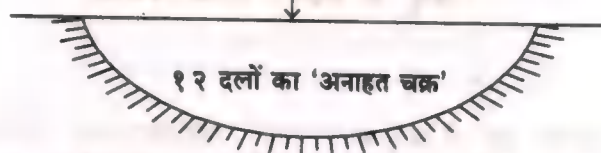
१२ दलों का 'अनाहत चक्र'

(४) **'अनाहत चक्र'** में (१२ दलों के रूप में व्यक्त होता है।

अनाहत चक्र के १२ दल
मूलाधार चक्र के ४ दल
१६ दल = **'विशुद्धाख्य चक्र'**

मूलाधार चक्र (१) (संख्या)
स्वाधिष्ठान चक्र (१) (संख्या)
२
द्विदल आज्ञा चक्र २ दल
= आज्ञा चक्र के दो दल =
(क) मूलाधार चक्र (१)
(ख) स्वाधिष्ठान चक्र (१)
= २
(दोनों दलों का एक में लय)
'परमबिन्दु' • एक बिन्दु
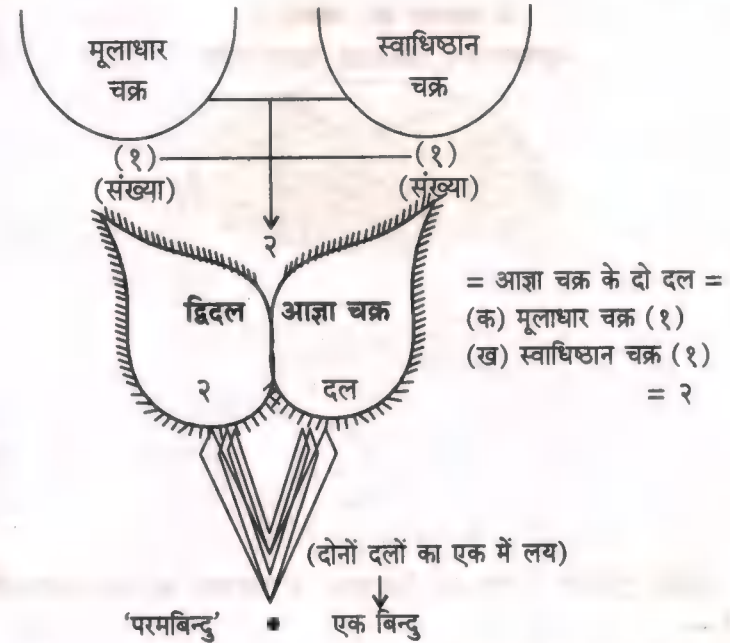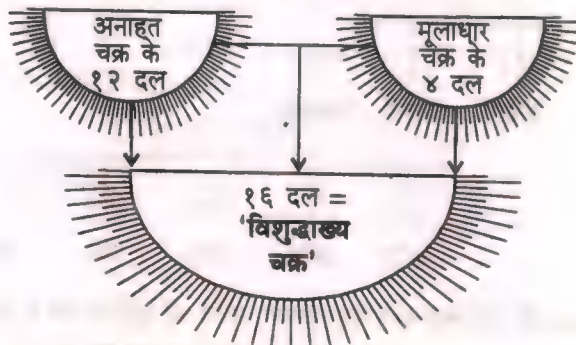
'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' के १० दल 'एक' 'परमबिन्दु) के प्रसार हैं। ये ही दो (आज्ञा चक्र के दो) दल मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान हैं।

'मणिपूरक' से 'आज्ञा चक्र' तक के ४ चक्र 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' के ही रूपान्तर हैं।

इन सभी चक्रों का त्याग करके 'सहस्रार' में भगवती का एक बिन्द्वात्मक स्वरूपा परासंवित् के रूप में ध्यान करना चाहिए।

यह 'सहस्रार' ही 'बिन्दु' बनकर विभिन्न चक्रों एवं अनन्तरूपात्मक ब्रह्माण्डों के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि का (जगत का) आदि कारण यही परम बिन्दु है।

आचार्य गौड़पाद ने इसी बात को श्लोक में इस प्रकार व्यक्त की है—

(१) 'सहस्रारं बिन्दुर्भवति' (२) 'च ततो बैन्दवगृहं'।
(३) 'तदेतत्स्माज्जातं **जगदिदमशेषं** सकरणम् ॥'
(४) 'ततो मूलाधाराद्वितमभवत्तछशदलं।'
(५) 'सहस्राराज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत्।'[1]
(६) तदेवैको **बिन्दुर्भवति** जगदुत्पत्तिकृदयम्।'(४६)

१. सुभगोदय स्तुति (४७)

* सहस्रार का स्वरूप *

सहस्रारचक्रम् (BRAIN) सहस्रदलपद्म
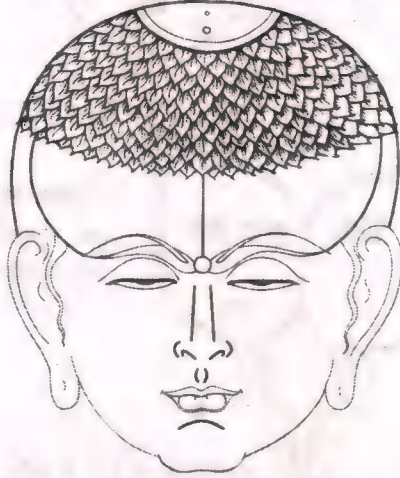
आचार्य पूर्णानन्द ने 'षट् चक्र निरूपणम्' में 'सहस्रार' का इस प्रकार वर्णन किया है—

'तदूर्ध्वे शंखिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं।
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णाचन्द्राविशुभ्रम्।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरवि, कला कान्तिकिञ्जल्कपुञ्जं,
लकाराद्यैर्वर्णैः प्रविलसित वपुः केवलान्दरूपम्।।(४०)

'समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्ण चन्द्रः।
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचय स्निग्धसन्तानहासी।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्यु दाकार रूपं।
तदन्तःशून्यं तत् सकलसुर गणैः सेवितं चातिगुप्तम्।।(४१)

शिवसंहिताकार की क्या दृष्टि है?

ब्रह्मरंध्रे हियत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्
तत्र कन्दे हिया योनि स्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः।
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधाक्षरति सन्ततम्
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः।
अमृतं वहति धारा धारारूपं निरन्तरम्।

—शिवसंहिता (१२९-३०)

(१) सहस्रार पद्म की कर्णिका के मध्य चन्द्र मण्डल स्थित है। उसके मध्य **'त्रिकोण'** स्थित है।

(२) त्रिकोण में **'बिन्दु'** रुप शून्य स्थित है। त्रिकोण विद्युतवत् स्फुरित है। इस 'बिन्दु' को ही **'परम बिन्दु'** कहते हैं। यह चैतन्य स्वरूप है और शून्याकार है।[1]

आचार्य गौड़पाद का सृष्टि सम्बंधी सिद्धान्त

बिन्दु सृष्टिवाद—आचार्य गौड़पाद 'बिन्दु' से ही सृष्टि होना स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में इस नानात्मक सृष्टि के मूल में जो परा सत्ता स्थित है वह एक है और बिन्दु रुप है।

'एकोऽहं बहुस्याम' (मैं एक हूँ। मैं बहुत हो जाऊँ।) यह 'एक' की बहुत्व-कामना ही सृष्टि का मूल है। यह 'एक' तो परमशिव है। वैष्णवों से पूछिए तो वे कहेंगे कि वह 'एक' तो **'महाविष्णु'** है। शाक्तों से पूँछिए तो वे कहेंगे कि वह 'एक' तो 'शक्ति' (महालक्ष्मी, महात्रिपुर सुन्दरी, आदि) हैं। यहद आप शङ्कराचार्य से पूँछिए तो कहेंगे कि वह 'एक' तो **'ब्रह्म'** है। यदि आप गौड़पादाचार्य से पूँछिए तो वे कहेंगे कि वह 'एक' तो **'बिन्दु'** है।

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

'तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम्।'(४६)[2]

यह भी कहा गया है कि—

'दशधा भिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकः।
चतुर्धाऽऽधार कमले षोढाऽधिष्ठान पङ्कजे।
उभयाकार रुपत्वात् इतरेषां तदात्मता।।'

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं।
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधाराद्वितयममवत्तद्दशदलं।
सहस्राराज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत्।।'[3]

यह 'एक' सहस्रार में है।

लक्ष्मणदेशि·ेन्द्र सृष्टि-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—

---

१. 'परं बिन्दु' समस्त देवगणों से सेवित है। सारे देवता उसकी आराधना करते हैं। यह अत्यन्त गुप्त है। यह परमानन्द रूप है। इसमें निर्वाण कला' एवं 'षोडशी' दोनों है।

२. सुभगोदय स्तुति

३. सुभगोदय स्तुति (४७)

'सच्चिदानन्द विनवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥'[१]

'बिन्दु' का विभाजन

'मूलाधार चक्र' में बिन्दु का चतुर्धा विभाजन

(१) 'मन' (२) 'बुद्धि' (३) 'चित्त' (४) 'अहंकार'

सहस्रारस्थ एक बिन्दु का विभाजन

(१) 'काम' (२) 'क्रोध' (३) 'लोभ' (४) 'मोह' (५) 'मद' (६) 'मात्सर्य'
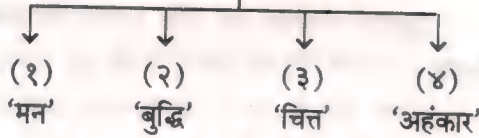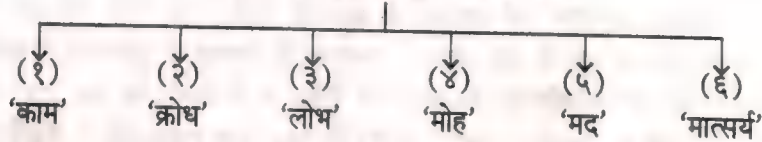
अन्य समस्त चक्र इन्हीं दो चक्रों के मेल से निर्मित हुए हैं। 'मणिपूर' से 'आज्ञा' तक के सभी चक्र इन्हीं दोनों के रूप हैं।

प्रश्न उठता है कि यह **'बिन्दु'** है क्या?

यह **'बिन्दु'** सहस्रार में बिन्दु रूप में स्थित भगवती का परासंविद्रूप है।

(१) 'मूलाधार चक्र'—

'तावाधारे मूले सह समयया लास्यपरया,
शिवात्मानं मन्ये नवरस महाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुभय विधिमुद्दिश्य दययां,
सनायाभ्यां जज्ञे जनक जननीमज्जगदिदम् ॥'

—सौन्दर्य लहरी

गोरक्षनाथ की दृष्टि—

(१) 'द्वितीयं मूलाधारसूत्रं वामपार्ष्णिना तत्राग्निदीपनं भवति।'

—सिद्धसिद्धान्त पद्धति

(२) आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द स्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव कामरूप पीठं सर्व कामप्रदं भवति।

—(सौभाग्य लक्ष्म्यु/सिद्धसिद्धान्त पद्धति)

(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' **गोरक्षनाथ—**

द्वितीयं स्वाधिष्ठान चक्रं षड्दलं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख्यं लिङ्ग प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्याण पीठं जगदाकर्षणसिद्धिदं भवति।'

—सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद

१. शारदा तिलक

*** बिग बैंग का सिद्धान्त ***

*** THEORY OF BIG BANG ***

ब्रह्माण्ड (COSMOS) का उद्भव कैसे हुआ? विश्व की सृष्टि कैसे हुई?

वेदों में तो कहा गया है कि उसने कामना की कि 'मैं एक से बहुत हो जाऊँ।' और सृष्टि हो गई।

(१) **'सोऽकामयत'** (२) **'एकोऽहं बहुस्याम'**
(उसने कामना की) (एक हूँ अनेक हो जाऊँ।

सृष्टि का मूल केन्द्र, स्रोत या उद्गम स्थान 'काम' (कामना = इच्छा) है।

परमात्मा की शक्तियाँ

(१) 'चितिशक्ति' (२) 'आनन्दशक्ति' (३) 'इच्छाशक्ति' (४) 'ज्ञानशक्ति' (५) 'क्रियाशक्ति'
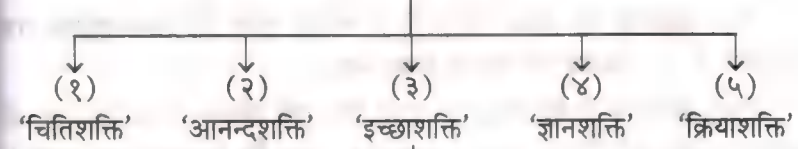
'इच्छाशक्ति' → (काम)

'सोऽकामयत'। 'एकोऽहं बहुस्याम'

इच्छात्मक 'स्पन्द'(इच्छा ; काम)

↓

सृष्टि

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि—आधुनिक खगोलवेत्त यह मानते हैं कि विश्व umirene की रचना (सृष्टि) का आरम्भ एक **'धमाके'** के साथ हुआ। और इसे ही Big Bang कहा जाता है।

इस दृष्टि के अनुसार—(१) जब सृष्टि की रचना नहीं हुई तब सारे जड़ पदार्थ एक परमाणु के रूप में थे जिसमें द्रव्य पदार्थ दृढ़बद्ध संकुलन (Tight Packing) अवस्था में अत्यन्त संपीडित या घनीभूत था। इसे ही हम परमाणु की आद्य संरचना का काल कह सकते हैं।

आद्यकालिक परमाणु-संरचना—जब परमाणु अपने घनत्व की उच्चतम स्थिति या पराकाष्ठ में था तभी उसे परमाणु की आद्यकालिक स्थिति कहेंगे। यही है—PRIMEVAL ATOM.

इस आदिम परमाणु में अत्यधिक परिमाण के विकिरण द्वारा एक बृहत विस्फोट हुआ। इसी परमाणु आद्य पारमाणिक विस्फोट को 'BIG BANG' कहते हैं।

विश्वोत्पत्ति—विश्व की उत्पत्ति से सम्बद्ध हमारी सामान्य धारणा यही रही है कि—

(१) विश्व अपने प्रारम्भ में **एक घनीभूत गोले के रूप** में था।

(२) (हबल महोदय के अनुसार) इस ब्रह्माण्ड का सतत् प्रसार होता जा रहा है। आरंभ में ब्रह्माण्ड **अत्यधिक संपीडित** अवस्था में रहा होगा। (संपीडन = सघनता)।

विश्व का आदि काल में ठीक-ठीक कितना घनत्व था? यह अज्ञात है। इसके जानने का साधन अप्राप्त है।

(३) यदि अनुमान से निश्चय किया जाय तो उसका **घनत्व न्यूक्लीय** तरल के समान रहा होगा। जिसके एक लघुतम बिन्दु में कई अणुओं के नाभिक (केन्द्रक) होते हैं। आणविक नाभिक का घनत्व पानी की सघनता से करोड़ों गुना अधिक है।

(४) ब्रह्माण्ड का आद्य (आनुमानिक) घनत्व इतना था कि—**प्रत्येक घन संटीमीटर में १० करोड़ टन पदार्थ स्थित था।**

(५) बेल्जियम के खगोलज्ञ एवं पादरी ऐब जार्ज लेंमेतेर ने इस सिद्धान्त की विवेचना की और इसे ही BIG BANG THEORY' (बिग बैंग सिद्धान्त) कहा जाता है।

'बिग बैंग थ्योरी' के अनुसार—(महाविस्फोट)

(१) करोड़ो वर्ष पूर्व यह विश्व अत्यन्त घनीभूत स्थिति में था। इसमें से एक बहुत विस्फोट हुआ और उसका (विश्व का) विस्तार होता गया।

(२) इस महाविस्फोट ने अत्यन्त सघन पिण्ड को छिन्न-भिन्न कर दिया।

(क) बिन्दु, (२) (बिन्दु) में विस्फोट (३) (बिन्दु) बिन्दु का (विस्फोटोपरान्त होने वाला अश्रान्त, अबाध, निरन्तर एवं महात्वरित गति से आजतक होने वाला) भयानक त्वरित गति वाला प्रसार एवं विस्तार।

(३) बिन्दु का विस्फोट होने से उस आद्य सघन पिण्ड का जो छिन्न-भिन्न स्वरूप सामने आया उसके टूटे टुकड़ों के अन्तरिक्ष में दूर-दूर तक छिटक जाने से) उसी से अनेक अन्तरिक्ष-पिण्ड बनें।

(४) वे टूटे टुकड़े आज भी हजारों किलो मीटर प्रतिसेकेण्ड की गति से अन्तरक्षि में भागे जा रहे हैं या वे इसी गति से गतिमान हैं।

(५) इन्हीं गतिशाली अंशों से **आकाशगंगाओं का सृजन** हुआ।

(६) **आद्य विस्फोट** ही Big Bang Theory का चिह्न एवं प्रमाण है। यह ब्रह्माण्डीय उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्तों से कई प्रकार से भिन्न है।

विभिन्न दृष्टियाँ

इस दिशा में दो सिद्धान्त प्रधान हैं—

(१) **'सतत सृष्टि सिद्धान्त'** थामस गोल्ड, हार्मन बाण्डी

(२) **'पल्सेटिंग (आसिलेटिंग) विश्व सिद्धन्त'** सडेज।।

* [क] **सतत सृष्टि सिद्धान्त**—इसका प्रतिपादन थामस गोल्ड एवं हार्मन बाण्डी ने किया था। इसके अनुसार आकाश गंगायें आपस में दूर तो जा रही हैं किन्तु उनका आकाशीय घनत्व अपरिवर्तित रहा करता है। पुरानी आकाश गंगाओं के एक दूसरे से दूर हो जाने के कारण जो स्थान रिक्त हो जाता है उस रिक्त स्थान में **नई आकाशगंगा** का आविर्भाव होता चलता है। ये नई आकाश गंगायें नए पदार्थों से निर्मित होती हैं। पुनः स्थापन में बहुत कम सृजनात्मक शक्ति लगती है।

इंग्लैण्ड के खगोल वेत्ता **फ्रेड हायल** ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया था।

* [ख] **पल्सेटिंग (आसिलेटिंग) सिद्धान्त**—(एलेन संडेजे 'पल्सेटिंग विश्व सिद्धान्त' का प्रतिपादन **डा. एलेन संडेज** ने किया था।

एलेन सण्डेज के अनुसार—

(१) यह समस्त विश्व करोड़ों वर्षों के अन्तराल में क्रमतः **फैलता एवं सिकुड़ता** है।

(२) **डा. सण्डेज** कहते हैं कि आज से लगभग १२० करोड़ वर्ष पूर्व एक भयंकर विस्फोट हुआ और तब से विश्व विस्तृत होता जा रहा है। यह प्रसार **२९० करोड़ वर्षों** तक चलता रहेगा। फिर **गुरुत्वाकर्षण** अधिक विस्तार पर रोक लगा देगा। इसके उपरान्त परिवर्तन प्रारम्भ होगा।

(३) पदार्थ का **सिकुड़न प्रारम्भ हो जाएगा।** अर्थात् पदार्थ अपने भीतर सिमटता जाएगा। इस प्रक्रिया को **'अंतः विस्फोट'** कहते हैं। यह प्रक्रिया ४१० करोड़ वर्षों तक चलती रहेगा।

(४) जब पदार्थ सिकुड़ने-सिकुड़ते अत्यधिक सम्पीडित (घनीभूत) हो जाएगा तब एक बार पुनः विस्फोट होगा। विश्व के विकास का यह नवीनतम सिद्धान्त है।

भर्तृहरि प्रतिपादित स्फोटवाद का सिद्धान्त

आचार्य भर्तृहरि सृष्टि का मूल **वर्ण-विस्फोट** मानते हैं और इसी **'स्फोट'** से सृष्टि भी होती है। विज्ञान मानता है कि विस्फोट से (Big Bang) सृष्टि होती है। व्याकरण भी मानता है कि 'स्फोट' से सृष्टि होती है। जगत् ध्वनि के स्फोट का कार्य है और जगत का संपूर्णा प्रसार शब्द का विवर्त मात्र है—

'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।'[१]

---

१. वाक्पदीय (भर्तृहरि)

शाक्त तांत्रिक कहते हैं कि जगत का मूल तत्त्व बिन्दु है। वैज्ञानिक भी सृष्टि का मूल किसी सूक्ष्म बिन्दु को ही मानते हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि संघनित (सघन) बिन्दु का विस्फोट होने से ही सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति पृथ्वी, अनन्त तारा समूह, आकाश गंगायें एवं नीहारिकाओं आदि का जन्म हुआ। शाक्त दार्शनिका भी यही मानता है किन्तु 'बिन्दु' के स्फोट से ही त्रिकोण, दशार, चतुर्दशा, अष्टार आदि सभी निर्मित हो जाते हैं। सभी का मूल 'बिन्दु' है। यह त्रिकोणास्थ बिन्दु इस प्रकार है।

इसमें बिन्दु शिव शक्तिमय है। इसका विकास ही 'श्रीचक्र' का स्वरूप है और 'श्री चक्र' ही विश्व है।

काश्मीरी शैव योगी भी **'स्पन्दशास्त्र** के आधार पर 'स्पन्द' को ही जगत की उत्पत्ति का आधार मानते हैं।[1]
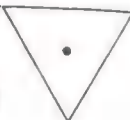
*** विश्व और उसका विस्तार ***

एडविन पी. हबल (अमेरिकी खगोलज्ञ) ने १९२५ में बताया था कि—

(१) विश्व में हमारी आकाश गंगा की भाँति लाखों अन्य दुग्ध मेखलायें हैं।

(२) उन्होंने १९२९ में सिद्ध किया कि आकाश गंगायें एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। जैसे-जैसे उनकी दूरी बढ़ती है उनके भागने की गति भी तीव्रतर होती जाती है। **ब्रह्मण्ड** एक हवा भरे गुब्बारे की भाँति फैलता जा रहा है।

(३) हमारी बाह्य आकशगंगायें तीव्रतर जाति से दूर होती जा रही हैं।

(क) विर्गो (कन्या नामक तारा हमारी पृथ्वी से ५ करोड़ प्रकाश वर्ष दूर स्थित 'कन्या' तारा) **१२०० कि.मी. प्रति सेकेण्ड की गति से** भागते जा रहे हैं।

(ख) हाइड्रा (यहाँ से २७० करोड़ प्रकाश वर्ष दूर) के तारा समूह ५७,६०० कि.मी. प्रतिसेकेण्ड की गति से दूर होते जा रहे हैं।

(ग) हमारी आकाश गंगा के तारा समूह **६०० कि.मी. प्रति सेकेण्ड की गति** से दूर भागते जा रहे हैं।

यदि इसी गति से इनका भागना जारी रहा तो संभव है कि ये प्रकाश की गति—(एक लाख छियालीस हजार मील प्रतिक्षणों) से भागना प्रारम्भ कर दें।

इस स्थिति में तो इनका निरीक्षण-अध्ययन असंभव हो जाएगा। दूरी के साथ प्रतिसरण की गति बढ़ती जाती है। इस गति से तो (आइजक एसी भोव के अनुसार) १२५ करोड़ वर्ष की दूरी पर आकाश गंगाओं को देखना संभव ही नहीं रह जाएगा।

हम आकाशीय **पिण्डों का अध्ययन 'सिगनल'** भेज कर करते हैं। तब यह संभव नहीं हो पायेगा।

१. स्पन्दकारिका

वर्तमान खोजों के अनुसार—

(१) ब्रह्माण्ड का व्यास २५० करोड़ प्रकाश वर्ष है।

(इसके भीतर असंख्य आकशगंगायें हैं।)

(२) आकाश गंगाओं का **'डालर प्रभाव'** यही संकेतित करता है कि तारे पीछे हटते जा रहे हैं और ब्रह्माण्ड का प्रसार होता जा रहा है—

(क) आकाश गंगा या तारों की गति का प्रभाव उसके प्रकाश पर भी पड़ता है।

(ख) यदि तारा द्रष्टा की ओर बढ़ रहा हो तो उसका प्रकाश स्पेक्ट्रम **नीले रंग की ओर** बढ़ता दृष्टिगोचर होगा।

(ग) यदि तारा द्रष्टा की विपरीत दिशा में बढ़ रहा हो तो उसका स्पेस्ट्रम **लाल रंग की** ओर अग्रसर होता दृष्टिगोचर होता है। इसे ही **'डाप्लर प्रभाव'** कहते हैं।

(घ) ब्रह्माण्ड विज्ञान की आधुनिक अवधारण्भाएँ आकाशगंगाओं की भागा दौड़ी पर आधृत हैं। इस धारणा पर आधृत हैं कि पदार्थ का तीव्र गति से विकास होता जा रहा है।

'विश्व' और उसका केन्द्र—सन् १५४३ में पोलैण्ड के खगोलज्ञ कोपर निकस ने (मिश्री खगोलज्ञ क्लाडियस टॉलेमी के सिद्धान्त के विरुद्ध) यह घोषण की कि विश्व के केन्द्र में 'पृथ्वी' नहीं प्रत्युत् **'सूर्य'** है और सूर्य तथा अन्य ग्रह पृथ्वी की परिक्रमा नहीं करते प्रत्युत् पृथ्वी एवं अन्य ग्रह 'सूर्य' की परिक्रमा करते हैं। कोपरनिकस के विश्व की संकल्पना सौर परिवार तक ही सीमित थी। ३५० वर्षों तक विश्व की यही संकल्पना मानी जाती रही है।

१८०५ में ब्रिटेन के खगोलज्ञ हर्शेल ने दूरबीनों की सहायता से अंतरिक्ष का अध्ययन किया तो पता चला कि विश्व केवल सौर मण्डल तक ही सीमित नहीं है

बृहत्तर 'विश्व' की खोज—हर्शेल ने कहा कि **'विश्व' सौर परिवात तक ही सीमित नहीं** है क्योंकि जो विराट विश्व है उसकी तो सौर परिवार एक छोटी सी इकाई मात्र है। **'आकाशगंगा'** नामक पिण्ड का यह सौर परिवार एक क्षुद्र अंश मात्र है। 'सूर्य' एक तारा है। **'आकाश गंगा'** में लाखों-करोड़ों तारे स्थित हैं।

बीसवीं सदी के आरम्भ में वैज्ञानिकों ने यह कहा कि **'आकाश गंगा'** में १० करोड़ से अधिक तारे हैं। उनके अनुषंगी तारे एवं मैजेलेनीय मन्दाकिनी भी है। इन सबका सम्मिलित रूप ही 'ब्रह्माण्ड' (विश्व) है।

१९२५ में अमेरिकी खगोलज्ञ एडविन पी. हबल (१८८९-१९५३) ने बताया कि हम जिसे **'विश्व'** कहते हैं उसमें सूर्य और सौर परिवारों की तो बात छोड़िए उसमें हमारी **'आकाशगंगा'** के समान लाखों दुग्धमेखलाएँ हैं। अभी तक खगोल

शास्त्रियों का अनुमान है कि ब्रह्माण्ड में लगभग **८० अरब आकाश गंगायें** हैं किन्तु ताजी खोजों के अनुसार (सन् २००० तक की खोजों के अनुसार) आकाश गंगाओं की संख्या लगभग १२५ अरब है। जो हमारा सूर्य है उससे दुगुने तिगुने बड़े भी तारे हैं। आकाश गंगा के अभी तक के सबसे बड़े समूह की खोज की गई है। यह इतना बड़ा है कि हमारी आकाशगंगा (मिल्की वे) उसके एक कण के बराबर है। यह इतना विशाल है कि प्रकाश की किरण को इसके एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचने में एक अरब वर्ष लग जाएगा। इसमें लाखों आकाश गंगायें हैं और अरबों तारे हैं।

बिगबैंग महाविस्फोट और ब्रह्माण्ड—इस बृहत्तर विश्व की (जिसमें अरबों तारे एवं लाखों आकाश गंगायें स्थित हैं) संरचना का निर्धारण बिगबैंग (महाविस्फोट के कुछ क्षणों में ही हो गया था जब कि ब्रह्माण्ड अत्यन्त छोटा था और उसी क्षण उसका जन्म हुआ था।

बिगबैंग महाविस्फोट के बाद ब्रह्माण्ड के प्रसार के साथ ही इन संरचनाओं का प्रसार सेंटीमीटर के कुछ भाग से बढ़कर वर्तमान अवस्था में पहुँच गया।

इन भीमकाय आकाशगंगाओं के समूहों में एक **'ग्रेटवाल'** नामक समूह भी है। हमारी 'मिल्की वे' (आकाश गंगा) जिस **आकाशगंगा समूह** की सदस्य है उसका नाम है **'लोकल ग्रुप'।**

डरहम विश्वविद्यालयों के खगोलविदों ने १५,००० आकाश गंगाओं द्वारा निर्मित संरचना का चार्ट प्रस्तुत किया है। एंग्लोआस्ट्रेलियायी वैज्ञानिकों ने २७,००० आकाश गंगाओं के मानचित्र निर्मित किए हैं। आशा की गई थी कि २००० तक यह संख्या १००,००० तक पहुँच जाएगी।

बिग बैंग विस्फोट का सैद्धान्तिक माडल

विस्फोट के बाद समय	विस्फोट के बाद तापमान	ब्रह्माण्ड की स्थिति
१०$^{-४३}$ से०	अनन्त	ब्रह्माण्ड का अकल्पनीय गति से प्रसार होता है। **अकल्पनीय अल्पकाल** में इसका आकार एक परमाणु से बढ़कर अंगूर के आकार का हो जाता है।
१०$^{-१२}$ से०	१०^{२७} °C	ब्रह्माण्ड अत्यन्त गर्म एलेक्ट्रानों, क्वार्कों एवं अन्य परमाणु कणों का गर्म लावा बन जाता है।
१०$^{-६}$ से०	१०^{१३} °C	अत्यन्त तीव्र गति ठण्डे होते ब्रह्माण्ड में क्वार्क परस्पर मिलकर प्रोटानों एवं न्यूट्रानों का निर्माण करते हैं।
३ मिनट	१०^{९} °C	अत्यन्त गर्म होने के कारण परमाणुओं का निर्माण

विस्फोट के बाद समय	विस्फोट के बाद तापमान	ब्रह्माण्ड की स्थिति
		होना संभव नहीं है। आवेशित इलेक्ट्रान एवं प्रोटान प्रकाश को चमकने नहीं दते जिसके कारण ब्रह्माण्ड अत्यन्त गर्म कोहरे की भाँति व्यवहार करता है।
३००,००० वर्ष के बाद	१०,००० °C	इलेक्ट्रान, प्रोटॉन और न्यूट्रान परस्पर संयुक्त होकर परमाणु का निर्माण करते हैं, जिसमें अधिकांश हाइड्रोजन एवं हीलियम के परमाणु होते हैं। प्रकाश चमकना प्रारम्भ होता है।
०१ अरब वर्षों के अनन्तर	-२०० °C	गुरुत्वाकर्षण के कारण हाइड्रोजन एवं हीलियम गैसें संयुक्त होकर भीमकाल **बादलों का निर्माण** करती हैं, जो कि आगे चलकर **आकाशगंगाये** बन जाती हैं। गैसों के छोटे समूह से प्रथम तारों का निर्माण होता है।
१५ अरब वर्षों के अनन्तर	-२७० °C	गुरुत्वाकर्षण के कारण **आकाशगंगाओं के समूह (झुण्ड)** बन जाते हैं। जिससे तारों की **मृत्यु-प्रक्रिया** प्रारम्भ हो जाती है। और वे भारी तत्त्वों का (अंतरिक्ष में) विकरण उत्पन्न करते हैं। इन तत्त्वों से पुनः नव्य तारों एवं ग्रहों का निर्माण होता है।

*** प्रयोगशाला में कृत्रिम बिग बैंग ***

न्यूयार्क के ब्रूकहेवन नामक स्थान में स्थित R.H.I.C. (रिलेटीविस्टिक हैवी आयन कोलाइडर) से वैज्ञानिक **'बिग बैंग'** महाविस्फोट के अग्रिम क्षण जैसी स्थितियाँ उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे है।

इसके लिए उन्हें सोने के परमाणुओं का उपयोग किया जाएगा। ये परमाणु २.४ मील लम्बे दो वृत्ताकार पथों में प्रकाश के वेग के ९९.९% वेग से एक दूसरे से विपरीत दिशा में परिक्रमा करेंगे। इससे इनके नाभिक एक दूसरे से हटाकर सूर्य के केन्द्र के तापमान से १०,००० गुना अधिक तापमान पर विस्फोट करेंगे।

यह विस्फोट एक सेकेण्ड के १०० खरबहवें भाग के खरबहवें भाग तक **'बिग बैंग,** महाविस्फोट के तुरन्त बाद की परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगे।

इस कोलाइडर का मूल्य ३६६ मिलियन डालर है। यह भारी आयनों को अत्युच्च ऊर्जावस्था पर त्वरित करेगा।

यदि परीक्षण सफल हो गया तो R.H.I.C. 'बिग बैंग' के तुरन्त बाद जैसी

परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगा और द्रव्य की ऐसी अवस्था उत्पन्न करेगा जो कि पृथ्वी पर पहले कभी नहीं देखी गई थी। इस स्थिति में 'ब्रह्माण्ड का निर्माण किस प्रकार हुआ?'—आदि प्रश्नों का समाधान हो सकेगा। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के भौतिकविद **निकोलस ग्यूलेस्सी** के अनुसार इसके द्वारा **ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की पुनरावृत्ति प्रयोग शाला में हो सकगी।**

R.H.I.C. का निर्माण कार्य १९९१ से जारी है और यह ब्रूकहेवन का सबसे बड़ा त्वरण यंत्र है। यह यंत्र सम्पूर्ण नाभिक का उत्पेक्षण करता है चाहे वह प्रोटान वाला हाइड्रोजन नाभिक हो या ७९ **प्रोटान और ११८ न्यूट्रान** वाला विशाल गोल्ड नाभिक हो। यह क्रिया अत्युच्च ऊर्जा का निर्माण करती है।

(१) **'गोल्ड नाभिक'** के प्रत्येक कण की ऊर्जा = १०० अरब इलेक्ट्रानबोल्ट के समतुल्य है।

(२) **त्वरणयंत्र** कई चुम्बकीय क्षेत्रों की सहायता से कणों को त्वरित करके उन्हें आपस में टकराता है जिससे कि ४० खरब इलेक्ट्रान वोल्ट की ऊर्जा उत्पन्न होती है।

(३) इस उच्चतापीय ऊर्जावस्था में जबकि कणों की गति प्रकाश की गति के लगभग बराबर हो जाती है नियमों का अतिक्रमण होने लगता है।

(४) जब आवेशित आयन इस गति से घूमते हैं तब समय धीमे चलने लगता है।

(५) कण आपस में टकराव को तुरन्त ग्रहण नहीं करते प्रत्युत् टकराव के तुरन्त बाद उनमें विस्फोट होता है।

(६) आइंस्टीन का कथन है कि **ऊर्जा का परिवर्तन लाखों मूल कणों में हो जाता है।**

(७) इस उपर्युक्त ऊर्जा का तापमान १० खरब डिग्री केल्विन होता है। इस ऊर्जा द्वारा द्रव्य की नव्यावस्था का सृजन होता है और **पदार्थ की संरचना में मूलभूत परिवर्तन** हो जाता है।

(८) इस परीक्षण के सफल होने पर ऐसे द्रव्य की उत्पत्ति हो सकेगी जिसे पृथ्वी पर किसी ने कभी नहीं देख होगा। यह द्रव्य अत्यधिक गर्म एवं अत्यधिक घनत्व वाला होगा। इसे **'क्लार्क मग्लूआन प्लाज्मा'** कहते हैं।

(क) **'कार्क कण'**—(इनके संयोजन से प्रोटान + न्यूट्रान का जन्म हुआ करता है।) प्रोटान + न्यूट्रान।

(ख) **'ग्लूआन कण'** क्वार्कों को संयुक्त करने वाले कण।

(९) प्रोटान एवं न्यूट्रॉन के आपस में त्वरित गति से टकराने से उनका **'अवस्था संक्रमण'** होता है और वे 'क्वार्क-ग्लूआन प्लाज्मा में उसी प्रकार परिवर्तित हो जाते है यथा **पानी वाष्प** के रूप में परिवर्तन हो जाता है।

सन् २००० तक यह खोज हो चुकी है कि हमारी आकाश गंगा (मिल्की वे) में २०० अरब तारे हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में लगभग ८० अरब आकाश गंगायें होंगी।

(१०) विश्वोत्पति—

आदिकालिक परमाणु और उसका विस्फोट

(१)

(२)

(३)

(४)
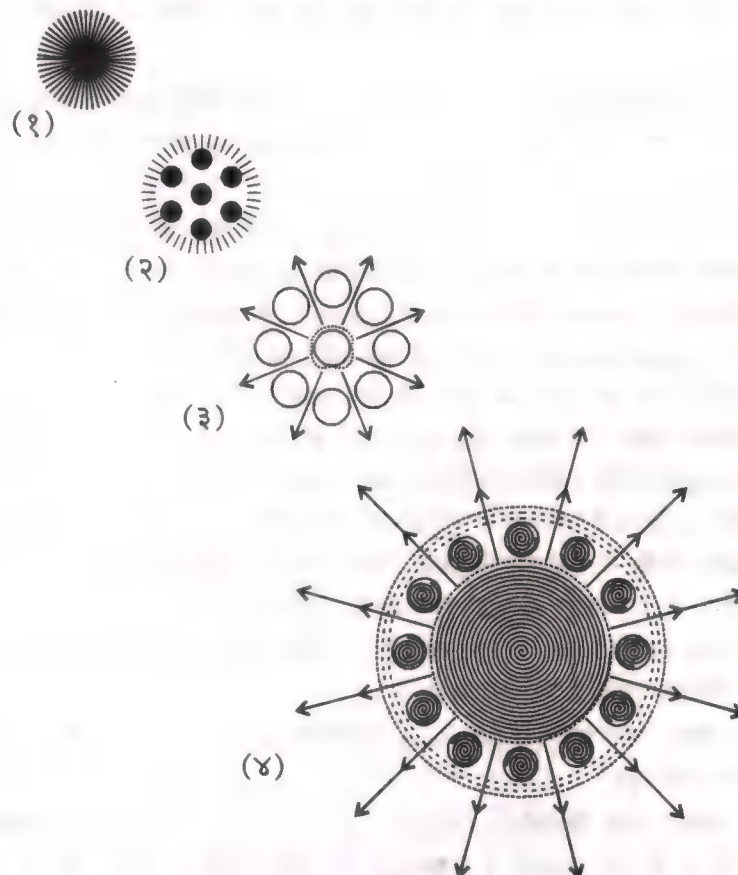
अत्यधिक परिमाण के विकिरण के द्वारा इस आदिम परमाणु में एक बृहत विस्फोट हुआ। इस धमाके से आद्यकालिक परमाणु टूट गया एवं समष्टि का प्रसार प्रारम्भ हुआ। समष्टि का यह भ्रूण (Enlryonic Vnivenre) धीरे-धीरे ठण्डा होने लगा जो कि चित्र में बाएँ से **द्वितीय आकृति द्वारा प्रदर्शित है।**

इसके विभिन्न कण संयुक्त होते हुए परमाणुओं के नाभिक (Nucleus) बनने लगे।

इसके उपरान्त धूल एवं गैस के बादल प्रसारित होने लगे जो कि मन्दाकिनी (Galaxies) की संरचना के लिए मूल सामग्री हैं। (तृतीयाकृति)।

इस प्रकार विभिन्न मन्दाकिनियों का उद्भव हुआ। अन्ततः **अन्तरिक्षीय प्रतिकर्षण** Cosmic repulsion नामक बल के द्वारा यह असंख्य मन्दाकिनियाँ एक दूसरे से पृथक्-पृथक् होने लगी। (चतुर्थ आकृति)।

इसी सोपान वद्ध पद्धति द्वारा सृष्टि का जन्म हुआ। जिसका मूल कारण Big bang था।

ये मन्दाकिनियाँ फैलते-फैलते एक दूसरे से अत्यन्त बृहत् दूरियों में चली गई, जिनके मापन में प्रकाश वर्ष (Light year) जैसी इकाइयाँ भी छोटी पड़ने लगी। (१ प्रकाश वर्ष = ९.४६ × १०^{१५} मीटर)।

मन्दाकनियों में तारा मण्डल (Constellation) एवं तारों की रचना चित्र दो में प्रदर्शित है। मन्दाकनियों में गैस एवं धूल के घूर्णित बादल (चित्र २ में बाएँ से प्रथम) ने संघनित (Condenre) होकर गोलकों (Globes) का रूप से लिया जिससे यह निकाय (PLANNETARY SYSTEN) का आविर्भाव हुआ (द्वितीय आकृति) यह गोलक के अन्दर तारों का जन्म हुआ। यह तारे लाखों करोड़ों वर्षों तक प्रसारित होते रहे। अन्ततः इन्होंने रक्त दानव (REDGIANT) रूप ले लिया (चित्र २ में चौथी एवं पाँचवीं आकृति) और अधिक संघनित हुए एवं उन पर नाभिकीय अभिक्रिया (न्यूक्रियर रिऐक्शन) होने पर वे पूर्ण रूप से वास्तविक तारों में रूपान्तरति हो गए (तृतीयाकृति)। इस प्रकार समष्टि में मन्दाकनियों इसके उपरान्त यह रक्त दानव स्पंदक (Pulsar) में रूपान्तरित हो गए (छठी आकृति) एवं अंततः इन्होंने मृत श्वेत वामन (Dead white dwarf) का रूप ले लिया (आखिरी आकृति) जो आज समष्टि में असंख्य तारों के रूप में हमें दिखाई पड़ती हैं।

प्रश्न—क्या प्रकृति में (Big bang) जैसा विस्फोट (धमाका) एक ही बार हुआ या अनेक बार हुए?

गामा रश्मि विस्फोट—(Gamma ray Burst G.R.B) एक ऐसी प्रकृतिक परिघटना है जो मुक्त आकाश में लगभग प्रतिदिन घटित होती है। सीमित रूप से इस (G.R.B.) की तुलना में हम (Big Bang) कर सकते हैं। मुक्ताकाश के आयतन की तुलना में यह G.R.B. अत्यन्त सूक्ष्म एवं अल्प जीवी घटना है। प्रतिदिन घटने वाली यह घटना यादृच्छिक (Random) दिशाओं में एवं कुछ ही सेकेण्ड के लिए विकिरण उत्सर्जित करती है। किन्तु इन क्षण दीप्त विकिरणों द्वारा मनुष्य समाज के उच्चतम

अनुमान से भी कही अधिक ऊर्जा का उत्सर्जन करता है। अत्यन्त स्वल्प काल एवं स्वल्प आयु तथा यादृच्छिक दिशाओं में उत्सर्जन होने के कारण इन G.R.B. का यथार्थ संसूचन (Wetection) लगभग असंभव सी बात दिखाती देती है विशेषण जहाँ पृथ्वी से इन घटनाओं की दूरी करोड़ों प्रकाश वर्ष की भी हो सकती है।

खगोल शास्त्रियों के सामने G.R.B. का संसूचन एक विकट समस्या बनी रही। कुछ क्षणों के लिए अत्यधिक ऊर्जा का उत्सर्जन एक बृहत् धमाके के रूप में होना चाहिए एवं Gig Bang के परिणाम स्वरूप समष्टि की रचना के अनुसार G.R.B. द्वारा कुछ नई मन्दाकिनियों का जन्म होना चाहिए ऐसा यदि खगोलज्ञ सोचें तो क्या अनुचित है?

G.R.B. का प्रायोगिक संसूचन वैज्ञानिकों के सामने एक विशिष्ट चुनौती के रूप में बना रहा है।

G.R.B. का प्राथमिक प्रायोगिक अन्वेषण—यह अन्वेषण अमरीकी कृत्रिम उपग्रह वेला सेटलाइट (Vela satellite) द्वारा प्राप्त हुआ।

इन दिनों परमाणु बम विस्फोट के द्वारा उत्सर्जित विकिरणों के संसूचनार्थ अमरीकी वायु सेना द्वारा इस उपग्रह का प्रयोग किया जा रहा था। यह आकस्मिक संयोग ही था कि अपना कार्य करते हुए इस उपग्रह ने कुछ विशिष्ट G.R.B. के कोटो चित्र प्राप्त कर लिए। इसके बाद Nasa के काम्पटन गामा रे आँब्जरेवरी (Cgro) द्वारा प्रेषित कृत्रिम उपग्रहों ने लगभग २००० G.R.B. को संसूचित किया। निष्कर्ष यह निकला कि यद्यपि G.R.B. केवल कुछ क्षण के लिए ही घटित होती है इसकी उत्तर दीप्ति (After Glow) जिसमें अनेक प्रकार के विकिरण उपस्थित है, कई दिन तक या कई महीनों तक बनी रहती है। इसके बाद G.R.B. संसूचन की चेष्टा जारी रही किन्तु ३ दशकों तक कोई साफल्य नहीं मिला।

१९९६ में इटली एवं जर्मनी के संयुक्त प्रयासों द्वारा प्रामोचित Saunched कृत्रिम उपग्रह Bepposax ने कुछ G.R.B. की दिशाओं का यथार्थ निर्धारण करने में सफलता की जो G.R.B. संसूचन की दिशा में एक महत्वपूर्ण सोपान के रूप में सिद्ध हुई। (Bepposax) ने बड़ी शुद्धता के साथ खगोल में G.R.B. का स्थान निर्धारित किया जिससे पृथ्वी स्थित दूरदर्शी द्वारा G.R.B. के घटित होने के तुरन्त बाद के प्रेक्षण सही रूप से प्राप्त हो सके। इस दिशा में भारतीय खगोलज्ञ प्रो. **श्रीनिवास कुलकर्णी** की अध्यक्षता में अनेक खगोलज्ञों ने Beppo sax द्वारा संसूचित द्वितीय गामा किरण विस्फोट (G.R.B. 970508) के प्रेक्षणों द्वारा अनेक निष्कर्ष प्राप्त किए।

१९४७ में घटित विस्फोट—१४ दिसम्बर १९४७ को एक शक्तिशाली विस्फोट हुआ जिसकी सूचना सर्वप्रथम इटली के खगोलज्ञो ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय

के खगोलज्ञ डा. डेविड जे. हेल्कैन्ड को दी। खगोलज्ञों ने विस्फोट के स्रोत स्थल का बृहत दूरदर्शी द्वारा पता लगाकर उसके फोटो प्राप्त किए। १४ दिसम्बर के इस विस्फोट G.R.B. 971214 के अनेक ऑकड़े प्राप्त किए गए। विस्फोटोपरान्त Optical Ofterglow (प्राकाशिक उत्तर दीप्ति) इतनी उज्ज्वल थी कि दूरदर्शी द्वारा उसका यथेष्ट अध्ययन किया जा सका।

G.R.B. में मन्दकिनी का दृष्टिगोचर होना—फरवरी ९८ में प्रो. कुलकर्णी को (उत्तरदीप्ति का प्रकाश पूर्णतः क्षीण हो जाने पर) G.R.B. में एक नयी मन्दाकिनी दिखाई पड़ी। G.R.B.971214 के उत्तर दीप्ति के अनन्तर ही इस नूतन मन्दाकिनी का उद्भव हुआ।

सृष्टिक्रम—(१) आद्यकालिक Big Bang द्वारा मन्दाकिनियों का जन्म। (२) वर्तमान ब्रह्माण्ड की रचना (३) लगभगर १४० खरब (१४ × १०¹²) वर्षो बाद श्री कुलकर्णी ने एक बार पुनः देखा कि G.R.B. 971214 के विस्फोट (धमाके) द्वारा एक नई मन्दाकिनी का उद्भव हुआ। इसे हम **द्वितीय बिग बैंग** कह सकते हैं। इसके अनुसन्धायक श्री कुलकर्णी हैं।

ब्रह्माण्ड की सृष्टि—इस सृष्टि का सूत्रपात लगभग १४० खरब (१४×१०¹²) वर्ष पूर्व हुआ। इसमें से हमारे सौर मण्डल (Solar system) की उत्पत्ति लगभग ४५ खरब वर्ष पहले हुई। हमारे सौरमण्डल में **मानव जाति का जन्म** लगभग ५० लाख वर्ष पहले हुआ।

सारांश (१) ब्रह्माण्ड का जन्म १४० खरब वर्ष पूर्व।

(२) हमारे सौर मण्डल का जन्म ४५ खरब वर्ष पूर्व।

(३) हमारे सौर मण्डल में मानव जति का जन्म ५० लाख वर्ष पूर्व।

(४) पृथ्वी के जन्म से लगभग **८० खरब वर्ष पूर्व गामा** रिश्मियों का सञ्चार।

(५) सम्पूर्ण सृष्टि की अब तक की कुल आयु के लगभग ४०% समय से गामा किरणों का निरन्तर प्रसार।

जो धमाके **(विस्फोट)** होते हैं वे धूलभरे क्षेत्रों मं ही होते हैं। यही तारों का उद्भव भी होता है। G.R.B. विस्फोट **नये तारों के जन्म** के साथ होते हैं। के Colch खगोलवेत्ता यह भी कहते हैं कि विस्फोटों द्वारा तारों की मृत्यु भी हो सकती है।

कुलकर्णी एवं रामप्रकाश की दृष्टि—(१) G.R.B.971214 को संभवतः द्वितीय बिग बैंग कहना उचित न हो।

(२) यह भी संभावना है कि इस G.R.B.971214 ऐसी अधिक भयावह एवं शक्तिशाली विस्फोट हुआ हो किन्तु यह ज्ञात न हो सकता।

(३) यह सैद्धान्तिक प्रतिरूप (Model) केवल गामा किरणों की ऊर्जा का ही विश्लेषण करने में सक्षम है।

(४) विकिरण के जो अन्य प्रकार हैं (जिनका संसूचन अभी असंभव सा है) यथा **न्यूट्रान** या **गुरुत्व तरंग।** इनसे तो १०० गुना से भी अधिक ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है।

(५) यदि किसी Neutron star black hol को निगल जाय तो ऐसा विस्फोट संभावित है।

(६) Black Hole ऐसा संघनित पिण्ड है जिसकी **अत्युच्च सघनता** के कारण उसका 'गुरुत्व' प्रकाश रश्मि तक को भी, निगल लेता है और इसलिए काला दिखाई पड़ता है।

(७) **प्रो. हाकिंगस** ने २००७ में अपनी मान्यता के विरुद्ध यह नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि इस ब्लैक होल में गई हुई वस्तु दूसरे छोर से बाहर निकल सकती है किन्तु छिन्न-भिन्न रूप में।

(८) Massive Collaped star (बृहत निपात तारे) को हम Neutrun (न्यूट्रान तारा) कहते हैं।

(९) G.R.B. के उपरान्त **न्यूट्रान एवं इलेक्ट्रान** लगभग प्रकाश की गति से बाहर की ओर भागते हैं। होता यह है कि एक दिन बाद सम्पूर्ण द्रव्य (गैस एवं धूल कणों के रूप में) टूट जाता है। इनके इसी संघट्ट से गामा किरणों, १० किरणों एवं दृश्य प्रकाश का उत्सर्जन करते हैं।

(१०) G.R.B. तो अभी भी कभी घटित हो सकते हैं। G.R.B. को पकड़ने के लिए खगोलज्ञ सदैव सावधान रहते हैं। खगोलज्ञों को औसतन प्रतिमाह एक G.R.B. प्राप्त ही जाता है। इसका विश्लेषण लगभग २-३ मासों में हो पाता है।

(११) डा.ए.एन. राम प्रकाश कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी के Instituti of Astnonomy में कार्यरत हैं। Hawaii Mavna kea observatory इन अंतरिक्षीय गति विधियों एवं उनसे प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण करने वाली विश्व की बहुत बड़ी वेधशाला है।

(१२) १९९५ में श्री निवास को (Brown Dwarf) भूरा वामन) दिखाई पड़ा। ग्रहों एवं तारों के मध्य एक पिण्ड प्रजाति है जिसे **'भूरा वामन'** कहते हैं। इनमें सूर्य जैसी दीप्ति नहीं होती क्योंकि यह नाभिकीय संलयन (न्यूक्लियर फ्यूजन) द्वारा ऊर्जा का विकिरण नहीं कर पाता। सूर्य जैसे तारे में इसके कुल द्रव्यमान का ८% ही संलयन के लिए आवश्यक हाइड्रोजन उत्पन्न करता है। ग्रहों की तुलना में **'भूरा वामन'** अत्यन्त गर्म होता है ये तारे एवं ग्रहों के मध्य की श्रेणी के हैं। इनसे प्रकाशोत्सर्जन न

हो पाने के कारण पृथ्वी के टेलिस्कोट इन्हें प्रेक्षित नहीं कर सकते। ये पिण्ड केवल अनुमानित हैं प्रमाणित नहीं हैं।

अक्टूबर १९९५ में श्रीनिवास कुलकर्णी की अध्यक्षता (या नेतृत्व) में कैलीफोर्निया इन्स्टीच्यूट आफ टेक्नालाजी के दल ने भूरे वामन को केवल देखा ही नहीं प्रत्युत् इस खगोलीय पिण्ड का स्पेक्ट्रम भी प्राप्त किया। जान **हापकिन्स यूनीवर्सिटी** का (इस दिशा में) सहयोग भी उल्लेख है, हबल स्पेश टेलिस्कोप' के द्वारा ही इसका प्रेक्षण किया गया। संसार में प्रथम बार यह भूरा वामन (GI229B) दिखाई दिया यह बृहस्पति ग्रह जैसा वामन बृहस्पति से २० से ५० गुना अधिक वजनी है। इसका परिवेश मेथेन गैस से आच्छादित है। सूर्योत्सर्जित प्रकाश की तुलना में इसमें १/२५००० गुनी उज्ज्वलता है।

(कुलकर्णी महोदय कैलीफोर्निया इन्स्टीच्यूट ऑफ टेक्नालाजी' के खगोल शास्त्र विभाग के अध्यक्ष है और जन्मना महाराष्ट्र के कुरुवाड़ ग्राम के निवासी हैं। उनके पिता डा. रामचन्द्र हुनमानथ कुलकर्णी मेडिकल कालेज के प्रोफेसर थे।) श्री निवास ने **सेकेण्ड पल्सर** की खोज द्वारा विश्व को चकित कर दिया तथा भूरेवामन की खोज द्वारा भी विश्व को स्तंभित कर दिया।)

Big Bang का सिद्धान्त और भारतीय दर्शन

काश्मीरीय 'स्पन्द शास्त्र' का **'स्पन्दसृष्टिवाद'** का सिद्धान्तं सिद्धान्ततः Big Bang का ही सिद्धान्त है जो यह स्वीकार करता है कि 'स्पन्द' (Vibration) से ब्रह्माण्ड की सृष्टि हुई।

पुराणों में वर्णित **'हिरण्यगर्भ सृष्टि वाद'** का सिद्धान्त भी Big Bang से समानता रखता है।

तंत्र शास्त्र का **'नाद बिन्दु वाद'** का सिद्धान्त भी (Big Bang) की सैद्धान्ति दृष्टि का समर्थक है।

शाक्त-दर्शन द्वारा प्रतिपादित **'श्री चक्र'** तांत्रिक योग शास्त्र द्वारा प्रतिपादित **'महाबिन्दु सृष्टिवाद'** एवं श्री चक्र में स्थित (त्रिकोणस्थ, अन्तरतम) बिन्दु से समस्त चक्र एवं पिण्ड-ब्रह्माण्ड की सृष्टि आदि सारे सिद्धान्त (Big Bang) के समतुल्य हैं।

श्लोक क्रमांकः ४८ * एक ही 'परमबिन्दु' से समस्त चक्रों का उद्भव *

तदेतद बिन्दोर्यद्दृशकमभमतस्तत्प्रकृतिकं,
दशारंसूर्यारं नृपदलमभूत्स्वान्तकमलम्।
रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं,
तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह सेवन्त इह ते' ॥४८॥

[जो यह परम बिन्दु है उससे ही समस्त चक्रों के प्रकृतिभूत दशबिन्दु हो गए हैं। इन्हीं १० बिन्दुओं से दशदलात्मक 'मणिपूर' द्वादशदलात्मक 'अनाहत चक्र' षोडशदलात्मक विशुद्धिचक्र' एवं द्विदलात्मक 'आज्ञाचक' की उत्पत्ति हुई है।

कौलमतावलतम्बयों का रहस्य तत्त्व यही है कि वे समस्त चक्रों की मूलभूत प्रकृतिरूप 'मूलाधारचक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' की सेवा किया करते हैं।]

राजराजेश्वरी व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में यह बताया गया है कि **'मणिपूरक चक्र'** में (१) 'मूलाधार चक्र' के चार दल हैं और (२) स्वाधिष्ठान चक्र के छः दल हैं— जो कि मिलकर १० की संख्या निर्मित करते हैं अर्थात् ४ + ६ = १०।

बिन्दु
(१) 'मूलाधार चक्र' ४ दल
(२) 'स्वाधिष्ठान चक्र' ६ दल
मणिपूर चक्र के १० दल — १० दल मणिपूरक
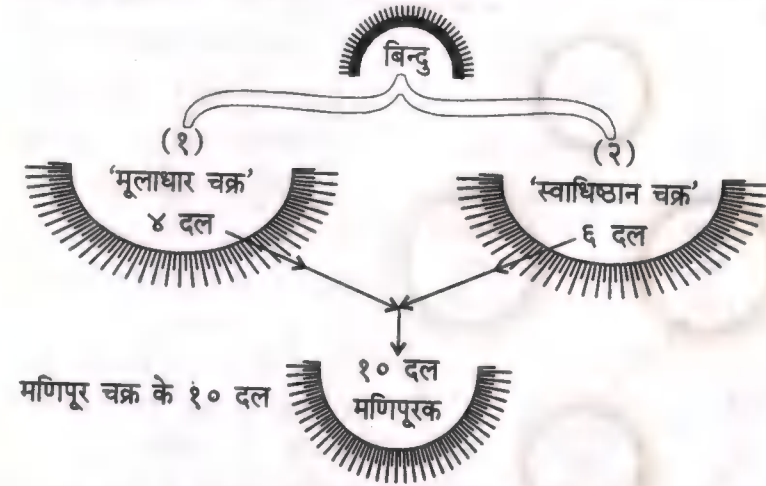
भाव यह कि **'मणिपूरक चक्र'** 'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र' की प्रकृति वाला है।

'तदेतद्बिन्दोर्यद्दृशकमभवत्तत्प्रकृतिकं'

मूलाधार + स्वाधिष्ठान = 'मणिपूरक चक्र'

(१) बिन्दु ⟶ (२) मूलाधार चक ⟶(३) स्वाधिष्ठान चक ⟶(४) मणिपूरक चक
(१) (४) (६) (१०)

१ (बिन्दु)
(४) (६)
(मू०) (स्वा०)
१० (मणि०)
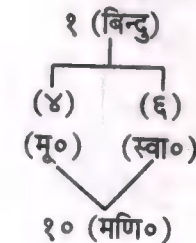
'मणिपूरक चक्र'के ऊर्ध्व में (ऊपर) हृदय में 'अनाहत चक्र' स्थित है जिसमें १२ दल होते हैं। **यह सूर्य का स्थान है।** (यह 'प्राण सूर्य' का मुख्य स्थान है।)

'अनाहत चक्र' के ऊपर 'विशुद्धाख्य चक्र' है। उसके ऊर्ध्वमें 'आज्ञा चक्र' है।

सारांश—

	(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)
चक्र का नाम	मूलाधार चक्र	स्वाधिष्ठान चक्र	मणिपूरक चक्र	अनाहत चक्र	विशुद्धाख्य चक्र	आज्ञा चक्र
दल	४	६	१०	१२	१६	०२

बिन्दु

मूलाधार चक्र ४ दल

स्वाधिष्ठान चक्र ६ दल

(१) (१)

मणिपूरक चक्र १० दल
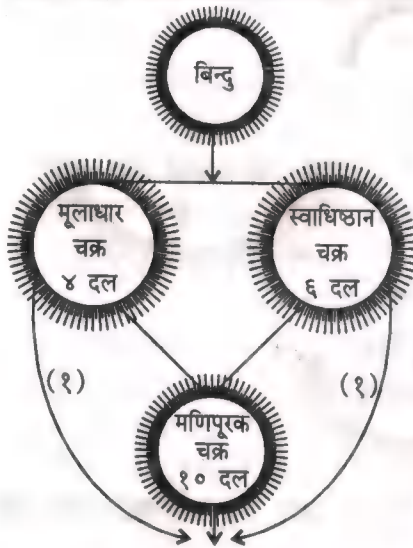
सारांश यह है कि—

(१) मूलाधार चक्र १ चक्र (संख्या)

(२) स्वाधिष्ठान चक्र १ चक्र (संख्या)

(३) 'मणिपूरक' नामक चक्र के दल = १० = ॥

योग = २ + १० = १२ = अनाहत चक्र

('अनाहत चक्र' में स्थित १२ दल हैं। उनमें मणिपूरक के १० दल सम्मिलित हैं। किन्तु मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान के दल नहीं प्रत्युत् उनकी १ + १ संख्या सम्मिलित है अतः अनाहत के १२ दल हो जाते हैं।

'मूलाधार चक्र' (क) = १ संख्या

'स्वाधिष्ठान चक्र' (ख) = १ संख्या

(२) संख्या (मू० + स्वा० का योग)

(ग) मणिपूरक चक्र के दलों की संख्या १०

२ + (मू०) (स्वा०) | १० मणिपूरक के १० दल

२ + १० = १२

अनाहत चक्र (१२ दल)

मूलाधार चक्र	स्वाधिष्ठान चक्र
४ दल	+ ६ दल मणिपूरक चक्र (१० दल)
मूला० चक्र की संख्या = १	स्वाधिष्ठान चक्र की संख्या = १

= २ दल = **'आज्ञा चक्र'**

'नृपदलमभूत्स्वान्त कमलम्' पाठभेद—'भून्नेत्र'।

'मूलाधार चक्र' एवं 'स्वाधिष्ठान चक्र'—

समस्त चक्रों की मूल प्रकृति 'मूलाधार' एवं 'स्वाधिष्ठान' नामक दो चक्र ही हैं।

'तदेतद्बिन्दोर्यदृश**कमभवत्तत्प्रकृतिकं ।**'

ये दो चक्र ही सारे चक्रों के मूल भी हैं।

कौलों का मूल सदन (१) मूलाधार चक्र एवं (२) स्वाधिष्ठान चक्र ही हैं—

'रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह सेवन्त इह ते॥'

आचार्य गौड़पाद कहते हैं—

(१) 'सहस्राकाज्जातं तदिति दशधाबिन्दुरभवत् ॥' (४७)

(२) 'सहस्रारं बिन्दुर्भवति (४७)

परम बिन्दु (सहस्रदल-पद्म)
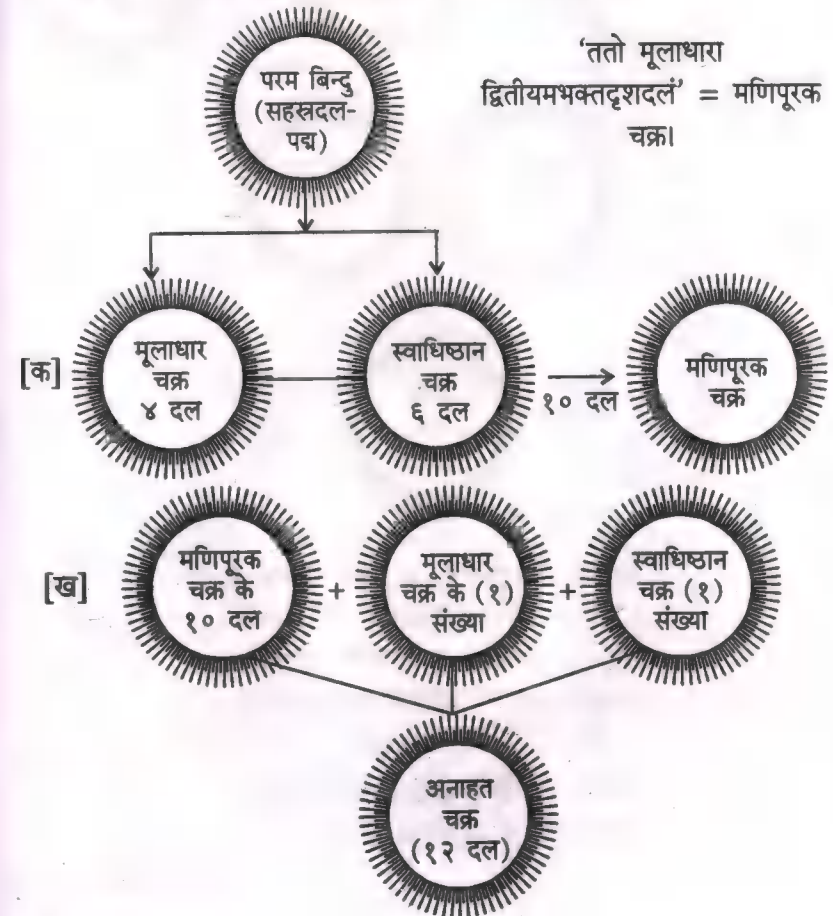
'ततो मूलाधारा द्वितीयमभक्तदृशदलं' = मणिपूरक चक्र।

[क] मूलाधार चक्र ४ दल — स्वाधिष्ठान चक्र ६ दल → १० दल मणिपूरक चक्र

[ख] मणिपूरक चक्र के १० दल + मूलाधार चक्र के (१) संख्या + स्वाधिष्ठान चक्र (१) संख्या

अनाहत चक्र (१२ दल)

(क)	(ख)	(ग)
मणिपूरक चक्र के १० दल	मूलाधार चक्र की संख्या—१	स्वाधिष्ठान चक्र की संख्या—१

१० + १ + १ = १२

'दशधाभिद्यते बिन्दुः एक एव परात्मकःचतुर्धाऽऽधारकमले षोढाऽधिष्ठान पंकजे उभयाकार रूपत्वात् इतरेषां तदात्मता। —सुभगोदय स्तुति।

[ग] अनाहत चक्र (१२ दल) — मूलाधार चक्र के (१) संख्या → विशुद्धाख्य चक्र (१६ दल)

[घ] मूलाधार चक्र के (१) संख्या — स्वाधिष्ठान चक्र (१) संख्या — आज्ञा चक्र (२ दल)
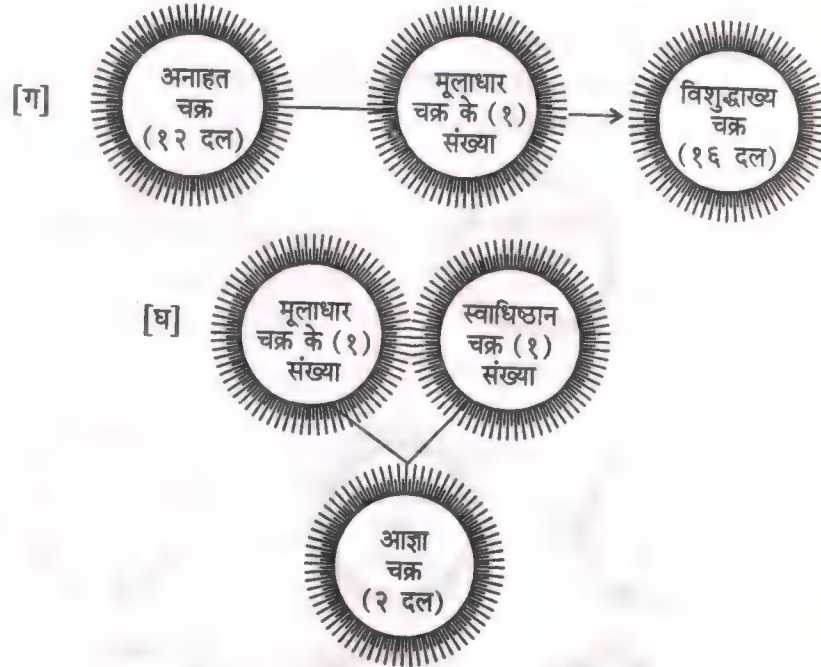
सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो बैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं स करणम्।
ततो मूलाधारा द्वितयमभवतदृशदलं
सहस्राराज्जातं तदितिदशधाबिन्दुरभवत्॥

—सुभगोदय स्तुति (४७)

'रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं।
तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह सेवन्त इह ते॥'

—(सुभगोदय स्तुति ४८)

'अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि-
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने॥'

—सुभगोदय स्तुति (४३)

(१) * 'परमबिन्दु' से (१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) 'मणिपूर' (४) अनाहत (५) विशुद्धाख्य (६) आज्ञाचक्र (७) सहस्रार की उत्पत्ति होती है।

(२) 'परमबिन्दु' से **निशेषजगत** की भी उत्पत्ति होती है—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति' 'तदेतस्माज्जातं **जगदिदमशेषं** स **करणम्**।।'

(३) **'परमबिन्दु'** से बैन्दव जगत की भी उत्पत्ति होती है—

'सहस्रारं बिन्दुर्भवति च ततो **बैन्दवगृहं'** (४७)

(४) **'परमबिन्दु'** से ही 'श्रीचक्र' का आविर्भाव हुआ है क्योंकि श्रीचक्र 'सहस्रर चक्र' का ही ज्यामितिक स्वरूप है और समस्त चक्रों का अधिष्ठान है। यही देवी का आसन है। यही देवी का शरीर है। यही ब्रह्माण्ड है। यही ३६ तत्त्वों वाला 'विश्व' है।
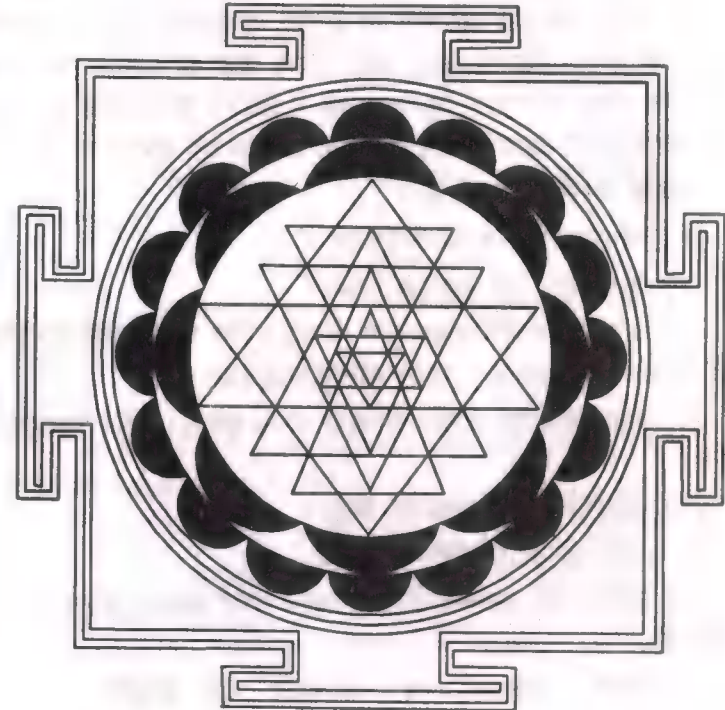
श्लोक क्रमांक ४९ :

*** कौलों और समयमार्गियों की उपासना में भेद ***

अतस्ते कौलास्ते भगवति दृढप्राकृतजना,
इति प्राहुः प्राज्ञाः कुलसमयमार्गद्वयविदः ।
महान्तः सेवन्ते सकलजननीं बैन्दवगृहे,
शिवाकारां नित्याममृतक्षरिकामैन्दवकलाम् ।।४९।।

[इसलिए हे भगवती! वे तेरे (उपासक) कौलमार्गी दृढ़तापूर्वक प्रज्ञकृत (अश्लाघ्य एवं अति सामान्य) साधक हैं। इस बात को 'कुलमार्ग' एवं 'समयमार्ग' दोनों के ज्ञाता विद्वान कहते हैं। महान पुरुष तो समस्त जगत की माता (जगन्माता), शिव की आकृति वाली, नित्य विद्यमान रहने वाली अर्थात् अविनाशिनी एवं अमृत का क्षरण करने वाली चन्द्रकला का बैन्दवगृह (सहस्रार के चन्द्रस्थान) में ही सेवन किया करते हैं। (परासंवित् की सहस्रार में ही उपासना करते हैं।।४९।।]

सरोजनि—'श्रीविद्या' की उपासना तो (१) **'कौल'**, (२) **'मिश्र'**, एवं (३) **'समयाचारी'** तीनों करते हैं किन्तु इनमें जो कौलमार्गी (पूर्वकौल एवं उत्तरकौल) हैं वे पूर्णतः 'प्राकृत' (अत्यन्त स्थूलमार्गी एवं कलुषित मानसिकता के अति सामान्यजन) हैं क्योंकि वे वीभत्स क्रियायें करने वाले, भैरवी चक्र की साधना करने वाले, पञ्चमकारों का सेवन करने वाले, मूलाधार चक्र में त्रिकोण की उपासना करने वाले, नारी की प्रत्ययोनि की उपासना करने वाले तथा क्षणमुक्त एवं बाह्योपासक होते हैं—

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—

(१) **'समयाचारो** नाम आन्तरपूजारतिः ।'

(२) **'कुलाचारो** नाम बाह्यपूजारतिरिति ।

(३) 'बाह्याकाशजं नाम बाह्यवकाशे पीठादौ भूर्जपत्र शुद्ध पटहेम हेमरजतादि-पट्टतले लिखित्वा समाराधनम् । एतदेव कौलपूजेत्याहुर्वृद्धाः ।।

(४) 'दहराकाशजं नाम हृदयाकाशावकाशे चक्रस्य पूजनम् । इदमेव समयपूजेत्याहुः समयिनः ।।

(५) 'कौलचक्रे त्रिकोणमध्यगतो बिन्दुः ।
समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दुः।'

(६) समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ।।

(७) मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि ।।
इति ईश्वर वचनात् मिश्रकमतं, कौलमार्गं च परित्याज्यम् ।

(८) 'कौलमते त्रिकोणमेव बिन्दुस्थानम् । स एव बिन्दुः तत्र आराध्यः। अतएव कौलाः त्रिकोणे बिन्दुं नित्यं समर्चयन्ति। तत् त्रिकोण द्विविधं, श्रीचक्रान्तर्गतनवयोनि मध्यवर्तिनी योनिः, सुन्दर्याः तरुण्याः **प्रत्यक्षयोनिश्च'** श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगत योनिं भूर्ज हेमपट्टवस्त्र पीठादौ लिखितां पूर्वकौलाः पूजयन्ति। तरुण्या प्रत्यक्षयोनि उत्तरकौलाः पूजयन्ति। उभयं योनिद्वयं बाह्यमेव न आन्तरम् । अतः तेषांआधारचक्रमेव पूज्यम् ।

(९) 'तत्र (आधार चक्रे) स्थिता कुण्डलिनी शक्तिः कौलिनी इत्युच्यते। सैव उपास्या त्रिकोणपूजकानां इति रहस्यम् । एषा कुण्डलिनी शक्तिः बिन्दुरूपिणी निद्रणैव संपूज्या, तस्याः सदा निद्राणस्वाभाव्यात् । **सा पूजा तामिश्रा।** कुण्डलिनी प्रबोधो यदा स्यात् , तत्क्षणमेव मुक्तिः कौलानाम् । अतएव क्षणमुक्ताः कौला इति व्यवहारः।।' प्रत्यक्ष त्रिकोणे बिन्दुस्थानं मन्मथच्छत्रं संपूजयन्ति, अधोमुखं त्रिकोणं अधोमुखेन छत्रं पूजयन्ति।।[१]

(१०) 'चतुष्कोणमध्यं बिन्दुस्थानमिति बाह्यपूजा। तरुणीत्रिकोणपूजा च दूरत एव निरस्तेति ध्येयम् ।।' अतएव समयिनां सहस्रकमले समयायाः समयस्य च शम्भोः पूजा। **'समया'**नाम शम्भुना साम्यं पञ्चविधं यातीति **'समया'। समयत्वं** शंभोरपि **पञ्चविधं साम्यं देव्या सहयातीति।।**

जिस साम्य की बात (ऐक्य की बात) कही गई है उसका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) अधिष्ठानसाम्य (२) अवस्थानसाम्य, (३) अनुष्ठानसाम्य, (४) रूपसाम्य, (५) नामसाम्य।

'केचित्तु **षोढाऐक्यमाहुः** ।।'[२]

(११) सामयिकों की पूजा—'समयिनां ऐकिामुष्मिकफल साधनोपायः आन्तरपूजेति समयमततत्त्वम् ।।'

'अत्र समयिनां बाह्यपूजा निषेधः ।।'[३]

आचार्य गौड़पाद ने भी कौलों एवं समयोपासकों के मध्य इस भेद को अनेक स्थल पर रेखाङ्कित किया है यथा—

'त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुपरे ।
चतुष्कोणं प्राहुः **समयिन** इमे बैन्दवमिति ।'

---

१. लक्ष्मीधर : लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा
३. लक्ष्मीधरा

सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं विहरसे ॥७॥
भवेतेदच्चक्रद्वितयमतिदूरं **समयिनां,**
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्य सदने।
त्वया सृष्टैर्वारि प्रतिफलति सूर्येन्दुकिरणै,
द्विधा लोके पूजां विदधति **भवत्या समयिनः** ॥४५॥
अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि,
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने।
अतो **बाह्यपूजा** भवति भगरूपेण च ततो,
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते ॥४३॥
भवेन्मूलाधारं तदुपरितनं चक्रमपि तत्।
द्वयं तामिस्राख्यं शिखिकिरणा संमेलनवशात्।
तदेत**त्कौलानां** प्रतिदिनमनुष्ठेय मुदितम्।
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयम् ॥४२॥

(क) '**सृष्टिक्रममार्गस्तु समयमार्गः।**
(ख) संहारक्रम **कौलमार्ग** है।
(ग) कौलचक्रे त्रिकोणमध्यगतोबिन्दुः।
(घ) समयचक्रे चतुष्कोणमध्यगतो बिन्दुः ॥
(ङ) कौलचक्रे कोणसंख्या नास्तिः ॥

समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्त्वस्य सपर्या
सहस्रदलकमल एव,न तु बाह्ये पीठादौ ॥
षोडशोपचार व्यतिरेकेण आत्मार्पण
बुद्ध्या त्याग एव सपर्यापर्यायः ॥ (२७)
'चतुष्षष्टितन्त्राणि कुलमार्ग एव ॥[१]

अतोनवविधैक्यं भैरवीभैरवयोः ज्ञातव्यमिति कौलमतरहस्यम्। अतएव **कौलाः परमेश्वरं नवात्मेति व्यवहरन्ति।।** कौलाः आहुः—

'नवव्यूहात्मको देवः परानन्दपरात्मकः।
नवात्मा भैरवो देवो भुक्तिमुक्तिप्रदायकः।
परानन्दपराशक्तिः चिद्रूपाऽऽनन्दभैरवी ॥[२]
तयोर्यदा सामरस्यं जगदुत्पद्यते तदा ॥'

१. लक्ष्मीधरा
२. लक्ष्मीधरा

समयमत की पूजा—समयपूजकाः समयिनः। तेषां षट्चक्रपूजा न नियता। अपितु सहस्रकमल एव पूजा। षोडशोचाररूपपूजाङ्गकलापश्च ततोऽपि दूरत एव।।[१]

श्लोक क्र. ५० : * श्रीविद्या-सम्बद्ध शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय *

इदं कालोत्पत्तिस्थितलयकरं पद्मनिकरं,
त्रिखण्डं श्रीचक्रं मनुरपि च तेषां च मिलनम्।
तदैक्यं षोढा वा भवति च चतुर्धेति च तथा,
तयोः साम्य पञ्चप्रकृतिकमिदं शास्त्रमुदितम् ॥५०॥

[कालतत्त्व, विश्वोत्पत्ति, स्थिति एवं लय आदि सबकी कारणभूता पराशक्ति, (षट्चक्र स्वरूप) कमलों की समष्टि, (सोम, सूर्य एवं अग्नि के रूप में स्थित) त्रिखण्डात्मक श्रीचक्र, (पञ्चदशाक्षरी रूप) विद्या (मन्त्र), उनका छः एवं प्रकार वाला ऐक्य तथा पाँच प्रकार वाला ऐक्य—श्रीविद्या के ग्रंथों द्वारा वर्णित किया गया है (कहा गया है)॥५०॥]

सरोजिनी व्याख्या—षोढाऐक्य—
(१) **कला का बिन्दु** के साथ और इन दोनों का नाद के विभव के साथ ऐक्य।
(२) नाद का कला एवं बिन्दु से ऐक्य।
(३) **कला** का नाद एवं बिन्दु के साथ ऐक्य।
(४) बिन्दु एवं नाद का परशिव के साथ ऐक्य।
(५) **नाद**, कला तथा बिन्दु का परशिव के साथ ऐक्य।
(६) कला, नाद तथा बिन्दु का परशिव से ऐक्य।

'तदेवं **षोढैक्यं** भवति खलु येषां **समयनिां**।
'कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे।
तयोर्नादेनैक्यं तदनु च गलायामपि तयोः।
तयोर्बिन्द्वाढैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे।
तदेवं **षोढैक्यं** भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥[१]

आचार्य गौड़पाद ने षोढ़ा एवं पञ्चधा ऐक्य का उल्लेख करते हुए कहा है—
'**षडब्जारण्ये** त्वां समयिन इमे **पञ्चक**समां।
यदि संविद्रूपा विदधति च **षोढैक्यकलिताम्** ॥'
—(सु० स्तुति ३८)

किसी-किसी आचार्य ने त्रिधा साम्य का भी प्रतिपादन किया है और इसका भी उल्लेख आचार्य गौड़पाद ने इस प्रकार किया है—

१. लक्ष्मीधरा
२. सुभगोदयस्तुति (१२)

भवेत् साम्यं केचित् **त्रितय**मिति कौल प्रभृतयः ।—३९

पञ्च साम्य

(१) अधिष्ठानसाम्य — (२) अनुष्ठानसाम्य — (३) अवस्थानसाम्य — (४) रूपसाम्य — (५) नामसाम्य
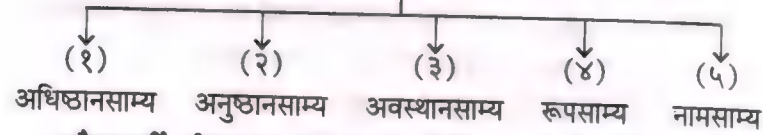
कौलमार्गी तीन प्रकार का साम्य मानते हैं। आचार्य गौड़पाद इस त्रिविध साम्य के सिद्धान्त को त्याज्य मानते हैं। इसीलिए लिखते हैं—

'भवेत्साम्यं **केचित्** त्रितयमिति कौल प्रभृतयः ।'

गौड़पादाचार्य पञ्चधा साम्य के प्रतिपादक हैं। इसीलिए वे त्रिधा साम्य को अस्वीकार करने के बाद उसी श्लोक में पञ्चधासाम्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

क्रियावस्थारूपं प्रकृतिरभिधा **पञ्चकसमं** ।
तदेषां साम्यं स्यादवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः ॥' (३९)

चतुर्धा ऐक्य भी है—

'**चतुर्थैक्यं** तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता ।'

—(सुभगोदयस्तुति १४)

श्रीचक्र के त्रिखण्ड

(१) 'सोमखण्ड' — (२) 'सूर्यखण्ड' — (३) 'अग्निखण्ड'

षोढैक्य—
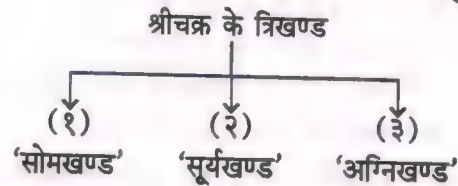
'भवेत्यैक्यं **षोढाभवति** भगवत्याः समयिनां ।'

—सुभगोदयस्तुति १५

त्रिखण्ड : रुद्रयामलकार की दृष्टि—रुद्रयामल में कहा गया है—

अग्नीषोमात्मकं चक्रमग्नीषोममयं जगत् ।
अग्नावन्तर्बभौ भानुरग्नीषोम मयं स्मृतः
त्रिखण्डं मातृका **चक्रं** सोमसूर्यानलात्मकम् ।

—रुद्रयामल

'**त्रिखण्डं** ते चक्रं **शुचि रविशशङ्कात्मकतया** ।'

—सुभगोदय स्तुति (८)

श्लोक क्र. ५१ : परमसौभाग्य स्वरूप सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति

गस्तेरेतस्याः फलमपि च सर्वाधिकमभू
तदेतत्कौलानां फलमिह चैतत्समयिनाम् ।

सहस्रारे पद्मे सुभग सुभगोदेति सुभगे
परं सौभाग्यं यत्तदिह तव सायुज्य पदवी ॥५१॥

[इस प्रकार की अर्थात् समयमार्ग की उपासना का फल सर्वाधिक श्रेष्ठ है। कौलमार्ग की उपासना का जो फल है वह समयाचार वालों को भी प्राप्त है। हे सुभगे! **'सहस्रार पद्म'** में तेरा परमैश्वर्यस्वरूप महान उदय हुआ करता है। 'सहस्रार पद्म' में भगवती के साथ होने वाली जो सायुज्य मुक्ति है। वही परम सौभाग्य है। (या यहाँ जो सर्वोच्च उपलब्धि रूप परमसौभाग्य प्राप्त होता है वह तुम्हारे साथ एकीभूत होने के स्वरूप में अवस्थित सायुज्य नामक महामुक्ति है।।५१।।]

सरोजिनी व्याख्या—गौड़पादाचार्य का कथन है कि 'श्रीविद्या' की साधना करने वाले साधकों एवं सिद्धों को जो उपलब्धियाँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे तो स्वतः समयाचारानुयायियों को भी प्राप्त हो ही जाती हैं किन्तु समयमार्गियों को सहस्रार चक्र में जो सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है वह दूसरे मार्गानुयायियों के लिए अलभ्य है। यह परम सौभाग्य स्वरूप सिद्ध **'सायुज्य मुक्ति'** है।

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि मुक्ति का परम धाम मात्र यह 'सहस्रार चक्र' ही है और उसी में भगवती अपने पति सदाशिव के साथ विहार किया करती हैं—

'सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ।'[1]

आचार्य लक्ष्मीधर कहते हैं—'तदनन्तरं झडिति विद्युल्लतेव सहस्र कमलं अनुप्रविष्टा सुधाब्धौ पञ्चकल्पतरुच्छायां मणिद्वीपे सरधामध्ये सदाशिवेन सार्धं विहरमाणा वर्तते।।'[2]

'आज्ञा चक्र' के ऊर्ध्व में **'महानाद'** है। **'महानाद'** के ऊर्ध्व में **शङ्खिनी नाड़ी'** है। शङ्खिनी नाड़ी के अग्र भाग में (शून्याकार स्थान में) तथा ब्रह्मरंध्र में अवस्थित प्रकृतिस्वरूप **'विसर्ग'** के निम्न प्रदेश में प्रकाश स्वरूप पूर्ण चन्द्र के समान अत्यन्त शुभ्रवर्ण का अधोमुखी तथा आनन्दस्वरूप **'सहस्रदलकमल'** है। इसका केशर समूह रक्त एवं भास्वर है तथा **अकार से क्षकार** पर्यन्त ५० मातृकाओं से यह पद्म विभूषित है।

इस पद्म के में २० वृत्ताकार घेरे हैं और प्रत्येक घेरे में ५० दल हैं तथा प्रत्येक वृत्त के दलों में 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त ५०-५० अक्षर अंकित हैं।

इस सहस्रदलात्मक महापाथोज की कर्णिका के मध्य में निर्मल पूर्ण **चन्द्रमा** स्थित है। इस चन्द्रमा के मध्य विद्युत्वत ज्योतिष्मान **'त्रिकोण'** है।

---

१. सौन्दर्य लहरी
२. लक्ष्मीधरा

इस त्रिकोण के मध्य अतिगुपत एवं शून्यरूप **'परबिन्दु'** है। यह सूक्ष्म कन्द **'अमाकला'** एवं **'निर्वाण कला'** से युक्त है।

सहस्रदल कमल के मध्य में अवस्थित चन्द्रमा में **'हंसपीठ'** या **'हंस'** के अपर नाम से युक्त **अन्तरात्मा** अवस्थित है।

परमगुरु परशिव है। परशिव के निम्नप्रदेश में पुंप्रकृत्यात्मक (प्रकृतिपुरुषस्वरूप) **अन्तरात्मा 'हंस'** अवस्थित है। (हंस पद = प्रकृतिपुरुषात्मक अन्तरात्मा।)

'शाक्तानन्द तरङ्गिणी' के अनुसार आज्ञाचक्र के ऊर्ध्वदेश में स्थित **अधोमुखी 'सहस्रदल कमल'** के नीचे **'द्वादशदलकमल'** है। इस कमल पर **'सदाशिवरूप गुरु'** अवस्थित हैं।

'पादुकापञ्चक' नामक ग्रंथ के अनुसार अधोमुख सहस्रदलकमल (शिर में स्थित 'सहस्रार') की कर्णिका के मध्य **'अकथादित्रिकोण'** में **'परम गुरु परशिव'** अवस्थित हैं।

(क) परमशिव सहस्रदल कमल में स्थित है या कि

(ख) सहस्रदल कमल से नीचे स्थित 'द्वादशदल कमल' में स्थित हैं?

'कुलार्णव तन्त्र' में कहा गया है कि स्थान का निर्णय अपनी परम्परा के अनुसार करना चाहिए।

'अमाकला' एवं 'निर्वाणकला'—'सहस्रदलपद्म के भीतर स्थित, त्रिकोण में स्थित प्रातःकालीन सूर्य की भाँति अरुणवर्णा तथा कमल के रेशे के सौवें भाग की भाँति सूक्ष्म, क्षयोदयशून्य, नित्य, अमृतवर्षिणी, अधोमुखी एवं नित्य प्रकाशमयी **'उमाकला'** स्थित हैं।

'अमाकला' के भीतर बालाग्र के हजारहवें भाग के समान सूक्ष्मतम **'निर्वाणकला'** अमाकला के मध्य में कुटिलाकारा सत्रहवीं **'कला'** है। इसे ही **'सप्तदशी कला'** कहते हैं। **'निर्वाणकला'** के मध्य वह्निस्वरूपा **'निबोधिका'** स्थित है और उसके ऊर्ध्व में **'अव्यक्तनाद'** स्थित है।

षट्चक्रनिरूपणकार 'सहस्रार' का परिचय देते हुए कहते हैं—

> 'तदूर्ध्वे शंखिन्या निवसतिशिखरे शून्येदेशेप्रकाशं
> विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णचन्द्रातिशुभ्रम्।
> अधोवक्त्रं कान्तंतरुणरविकला कान्तिकिञ्जल्कपुञ्जं
> लकाराद्यैर्वर्णङ्कः प्रविलसितवपुः केवलानन्दरूपम्॥'

अमाकला—

> अत्रास्तेशिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य सा **षोडशी**,
> शुद्धा नीरज सूक्ष्म तन्तु शतधाभागैकरूपा परा।

> विद्युत्कोटिसमानकोमल तनूर्विद्योतिताऽधोमुखी।
> नित्यानन्दपरम्पराऽतिविगलत् पीयूषधाराधरा॥४६॥

निर्वाणकला—

> 'निर्वाणाख्यकलापरापर तरा साऽऽस्ते तदन्तर्गता
> केशाग्रस्य सहस्रधा विभजितस्यैकांशरूपा सती।
> भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यप्रबोधोदया,
> चन्द्रार्द्धाङ्ग समान भङ्गुरवती रुर्वार्कतुल्यप्रभा॥४७॥

'निर्वाणशक्ति—'निर्वाण कला' के मध्य परमा **'निर्वाणशक्ति'** अवस्थित है—

> एतस्या मध्यदेशे विलसति परमाऽपूर्वनिर्वाणशक्तिः।
> कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा।
> केशाग्रस्याऽतिगुह्या निरवधि विगलत्प्रेमधाराधरा सा।
> सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती॥

—षट्चक्रनिरूपणम् (४८)

श्लोक क्र. ५२ः (अन्तिम श्लोक) *** यथा स्वेच्छा निर्विघ्न यात्रा करने एवं पीयूषपान की सिद्धि ***

> 'अतोऽस्याः संसिद्धौ सुभगसुभगाख्या गुरुकृपा,
> कटाक्षः व्यासङ्गात्त्वदमृतनिष्पन्द सुलभा।
> तया विद्धोयोगीविचरति निशायामपि दिवा,
> दिवाभानू रात्रौ, विधुरिव कृतार्थी कृतमतिः।'

[इसलिए इस समयमार्ग की सिद्ध (प्राप्त कर लेने) एवं गुरु की अनुकम्पा अधिगत कर लेने पर योगी चन्द्र-स्रवित अमृत प्राप्त कर लेता है। शक्तिपात (वेधकदीक्षा) से आविद्ध योगी अहर्निश सदैव सूर्यचन्द्रवत यथास्वेच्छा निर्विघ्न यात्रा करने लगता है और कृतकृत्यता सम्प्राप्त कर लेता है।]

सरोजिनी—इस समयमार्ग की सिद्धि होने पर तथा गुरु के कृपा-कटाक्ष से सौभाग्यप्रदा एवं सुभगा नामक कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने पर और गुरु के साथ रहकर साधक जब गुरु को प्रसन्न करके समयमार्ग के रहस्य से अवगत हो जाता है तथा महावेधदीक्षा प्राप्त कर लेता है तब उसे अमृतस्राव की प्राप्ति होती है। वह सहस्रार में अवस्थित चन्द्रमा से श्रवित पीयूष का पान करने लगता है—अमृतास्वादन का सौभाग्य प्राप्त करता है। इस प्रकार एक विद्धयोगी उससे कृतमति होकर रात्रि में भी दिन के ही समान एवं दिन में भी रात्रि के समान चन्द्रमा की भाँति विचरण करता है। इस प्रकार

सिद्धि प्राप्त समयाचार के योगी को देश, काल एवं परिस्थितियाँ विचलित नहीं कर सकतीं। वह समधी होकर सूर्य-चन्द्र के समान अवाधगति से इस पृथ्वी पर स्वच्छन्दरूप से विचरण करता है।

'स्रवदमृतनिष्यन्द—इस श्लोक में जिस 'स्रवदमृतनिष्यन्द' का वर्णन किया गया है उसका मूल केन्द्र 'सहस्रदलकमल' में अवस्थित चन्द्रमा में है। कुण्डलिनी वहाँ पहुँचकर चन्द्रमा को डसती है। अतः उससे अमृतस्राव होता है। आचार्य गौड़पाद ने इस बात का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है—

'यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदन संरोधन वशा-
दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणो सा च भुजगी।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं।
सुधाधारा सारैः स्नापयसि तनुं बैन्दवकले॥[१]

भैरवयामलकार की दृष्टि—भैरवयामल में कहा गया है—

'शिवार्कमण्डल भित्वा द्रावयन्तीन्दु मण्डलम्।
तद्भूतामृतस्यन्दि परमानन्द नन्दिता।
कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं वर्षणमेत्य सा॥'

—०—

१. सुभगोदयस्तुति (४)

योगिराजमत्स्येन्द्रनाथ-प्रणीतः

कौलज्ञान निर्णयः

हिन्दी व्याख्याकारः
डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

(प्रथम खण्डः)

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
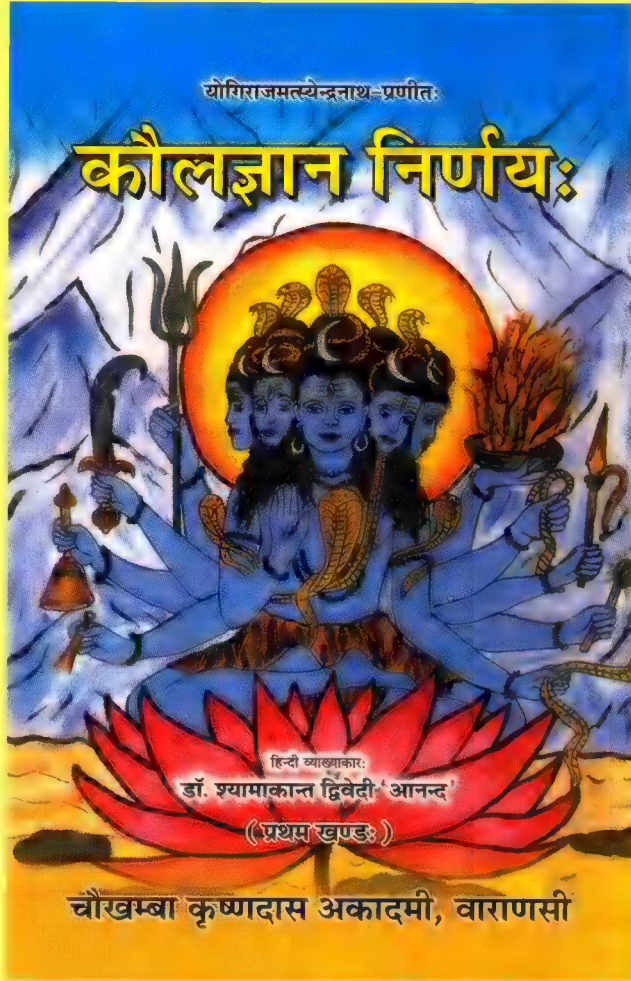
कौलज्ञान निर्णयः

योगिराजमत्स्येन्द्रनाथ प्रणीत।

(मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ-परिचय-दृष्टिसमन्वितः)

'सरोजनी' हिन्दी व्याख्या संवलितश्च, हिन्दी व्याख्याकारः - डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

प्रथम खण्ड - 175.00, द्वितीय खण्ड - शीघ्र

ISBN : 978-81-7080-341-6 Price : Rs. 600.00

II. योगवासिष्ठ वेदान्त

१. योगवासिष्ठ का काल

प्राचीन वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थों में योगवासिष्ठ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डॉ. भीखनलाल आत्रेय इसका रचनाकाल ५०० ई. से लेकर ६५० ई. तक मानते हैं। उनके मत से यह शंकराचार्य के पहले का ग्रन्थ है। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त इसको ७००-८०० ई. की कृति मानते हैं। पी.सी. दीवान जी इसका काल ८८५-९७५ ई. बतलाते हैं। एस.पी. भट्टाचार्य कर इसे १०००-१२०० ई. का मानते हैं तो वी. राघवन् ११००-१२५० ई. का। टी.जी. माइणकर इसे १२०० ई. के आसपास का मानते हैं और जे.एन. फारकुअर १३००-१४०० ई. का ग्रन्थ मानते हैं। इस प्रकार योगवासिष्ठ के रचनाकाल के बारे में बड़ा मतभेद है। परन्तु इस मतभेद को निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर दूर किया जा सकता है-

(क) काश्मीर के अभिनन्द गौड ने ९वीं शताब्दी में योगवासिष्ठ का संक्षिप्त संस्करण तैयार किया था जिसका नाम लघुयोगवासिष्ठ है। अतः योगवासिष्ठ की रचना इसके पूर्व अवश्य हुई होगी।

(ख) प्रो. एस.पी. भट्टाचार्य ने योगवासिष्ठ के ऊपर काश्मीर शैवमत के त्रिक सम्प्रदाय का प्रभाव दिखलाया है और सिद्ध किया है कि योगवासिष्ठ ने मायावाद को अस्वीकार किया है और आभासवाद, कल्पनावाद, क्रियाशक्तिवाद, स्पन्दवाद तथा काश्मीर शैवमत के ३६ तत्त्वों की स्वीकृति आदि त्रिक सम्प्रदाय के मतों को अंगीकार किया है।

(ग) पी.सी. दीवान ने दिखलाया है कि सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक के द्वितीय अध्याय के १८२ वें श्लोक में योगवासिष्ठ का संकेत किया है। इस कारण इसकी रचना संक्षेपशारीरक के पहले अवश्य हुई होगी, अर्थात् ८५०-९०० के पहले होगी।

(घ) महाराष्ट्र में योगवासिष्ठ का ज्ञान संत ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई) को था। इन्होंने अमृतानुभव और ज्ञानेश्वरी में योगवासिष्ठ से पर्याप्त सहायता ली है।

अतः इन सब तथ्यों का विचार करते हुये यही निश्चित होता है कि डॉ. एस. एन. दासगुप्त का मत अधिक समीचीन है।

योगवासिष्ठ के काल-निर्धारण में जो कठिनाई है उसका प्रमुख कारण है कि उसके कई संस्करण निकले थे। उसका वर्तमान संस्करण निश्चित रूप से इतना पुराना नहीं है

जितना पुराना उसका प्रथम संस्करण है जिसका नाम मोक्षोपाय था। डॉ. दासगुप्त का मत मोक्षोपाय के बारे में ही सही है। उसका वर्तमान संस्करण, जैसा कि अन्य विद्वानों ने दिखलाया है, (११०० ई. के पहले का नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि न तो शंकराचार्य ने योगवासिष्ठ का उल्लेख किया है और न योगवासिष्ठकार ने शंकराचार्य का। पुनश्च दोनों के मतों में भी कुछ मौलिक अन्तर है, क्योंकि शंकराचार्य माया को भ्रम (प्रातिभासिक) नहीं मानते हैं और योगवासिष्ठ में माया को भ्रम माना गया है। उसमें अद्वैतवाद का सत्तात्रैविध्यवाद नहीं है।

२. **योगवासिष्ठ के लेखक।** योगवासिष्ठ को कई अन्य नामों से भी जाना जाता है। ये नाम हैं वासिष्ठ, वासिष्ठरामायण, योगवासिष्ठरामायण महारामायण, आर्ष रामायण, ज्ञानवासिष्ठ और मोक्षोपाय। इसको महारामायण इसलिए कहा जाता है कि यह वाल्मीकि रामायण से आकार में बहुत बड़ा है। यह सिद्धावस्था का ग्रन्थ है। स्वामी रामतीर्थ ने इसे संसार में लिखे गये समस्त ग्रन्थों में एक महान् ग्रन्थ कहा है। यह वेदान्त के सभी ग्रन्थों का शिरोमणि है।

वाल्मीकि से राजा अरिष्टनेमि उस ज्ञान को पूछते हैं जिससे मोक्ष मिलता है। उनकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए वाल्मीकि वसिष्ठ और राम के संवाद का वर्णन करते हैं। अन्त में वाल्मीकि ही योगवासिष्ठ की समाप्ति करते हैं-

एतत्ते कथितं राजन्कुम्भयोनेः सुभाषितम्।
अमुना तत्त्वमार्गेण तत्पदं प्राप्स्यसि ध्रुवम्।।

इस प्रकार ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के द्वारा सिद्ध होता है कि इसके लेखक वाल्मीकि हैं। किन्तु यह वाल्मीकि रामायणकार वाल्मीकि नहीं हैं। वे कालिदास के पूर्ववर्ती हैं और योगवासिष्ठकार कालिदास के उत्तरवर्ती हैं। फिर चाहे योगवासिष्ठ के जो भी लेखक हों इसको वसिष्ठ का दर्शन माना जाता है। अद्वैतवेदान्त की गुरु -परम्परा में वसिष्ठ का नाम ब्रह्मसूत्रकार व्यास के पहले आता है। योगवासिष्ठ के विचारों को उन्हीं पर आरोपित किया जाता है। योगवासिष्ठ की रचना काश्मीर में हुई थी, जहाँ बौद्धमत और शैवमत का समन्वय स्थापित हुआ था और उसके परिणामस्वरूप उसकी अभिव्यक्ति योगवासिष्ठ में हुई ।

योगवासिष्ठ मूलतः मोक्षोपाय नामक एक संहिता-ग्रन्थ था, यह योगवासिष्ठ के वर्णनों से ही सिद्ध है। उदाहरण के लिये योगवासिष्ठ २।१७।६ का निम्न श्लोक लिया जा सकता है-

मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारसंमिता।
त्रिंशदेद्वेव च सहस्राणि ज्ञाता निर्वाणदायिनी।।

इस प्रकार योगवासिष्ठ में ३२ हजार श्लोक हैं जो छः प्रकरणों में बंटे हैं। ये प्रकरण

हैं- (१) वैराग्य, (२) मुमुक्षु-व्यवहार, (३) उत्पत्ति, (४) स्थिति, (५) उपशम और (६) निर्वाण।

इह वैराग्यमुमुक्षुव्यवहारोत्पत्तिकस्थितयः।
उपशमनिर्वाणाख्ये वासिष्ठे षट् प्रकरणानि।।

(लघुयोगवासिष्ठ ६।१८।८४)

योगवासिष्ठ की रचना-शैली पुराणों-जैसी है। किन्तु उसमें पुराणों के पांच लक्षण नहीं मिलते। वैसे उसमें ज्ञानमार्ग और समाधि-अवस्था के वर्णन आख्यानों द्वारा श्लोकों में किये गये हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से उसका महत्त्व उपनिषदों-जैसा है। डॉ. भीखनलाल आत्रेय ने अपने ग्रन्थ फिलासफी आफ योगवासिष्ठ में दिखलाया है कि महोपनिषद्, बृहत्संन्यासोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, मैत्रेयि उपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद्, योगकुण्डलिनी उपनिषद्, तथा पैङ्गलोपनिषद् ने योगवासिष्ठ से अपने वचनों को उधार लिया है। डॉ. माइणकर ने प्रदर्शित किया है कि ऋग्वेद, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर आदि प्राचीन उपनिषदें, योगवासिष्ठ की स्रोत हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ एक वेदान्त-ग्रन्थ है।

३. **योगवासिष्ठ की टीकाएं**। योगवासिष्ठ पर कई टीकाएं हैं जिसमें निम्नलिखित मुख्य हैं-

१. गंगाधरेन्द्र सरस्वती के शिष्य आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकृत तात्पर्यप्रकाश (१८५४ ई. में लेखक ने इसे लिखा था)।
२. नरहरि के पुत्र अइयारण्यकृत वासिष्ठरामायणचन्द्रिका।
३. माधव सरस्वतीकृत पदचन्द्रिका।
४. रामदेवकृत योगवासिष्ठ व्याख्या।
५. सदानन्दकृत योगवासिष्ठ व्याख्या।
६. योगवासिष्ठतात्पर्यसंग्रह (अज्ञातकर्तृक)।

योगवासिष्ठ में पुनरुक्त कथन बहुत अधिक हैं। आख्यान भी अनेक हैं। इन सबको हटाकर उसके सारांश के रूप में निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं-

१. बृहद्योगवासिष्ठ
२. लघुज्ञानवासिष्ठ
३. योगवासिष्ठ
४. गौड अभिनन्दकृत लघुयोगवासिष्ठ (९वीं शती)

५. योगवासिष्ठसार (या ज्ञानसार अज्ञातकर्तृक)

६. योगवासिष्ठसारसंग्रह

७. महीधरकृत योगवासिष्ठसारविवृति। इसका एकनाम योगवासिष्ठप्रकाश भी है, इसकी रचना काशी में १५९७ ई. में हुई थी। इसमें १० प्रकरण और २२० श्लोक हैं।

८. कवीन्द्राचार्य सरस्वतीकृत योगवासिष्ठसार (भाषा में)। इसकी रचना काशी में १६६० ई. में हुई थी। कवीन्द्राचार्य का सम्मान मुगल-सम्राट शाहजहाँ के दरबार में बहुत अधिक था। फ्रेंच पर्यटक वर्नियर काशी में उनसे मिला था और उनके वेदान्त-ज्ञान सहित अन्य शास्त्रज्ञान से प्रभावित हुआ था। ऐसे प्रसिद्ध और सम्मानित विद्वान् द्वारा योगवासिष्ठसार का हिन्दी में लिखा जाना महत्त्वपूर्ण है। कवीन्द्राचार्य पर योगवासिष्ठ का अद्‌भुत प्रभाव था।

९. रामानन्द तीर्थकृत वासिष्ठसार (या वासिष्ठसारगूढार्थ)

१०. भीखनलालआत्रेयकृत योगवासिष्ठसार (२०वीं शती)। इसमें मात्र १६७ श्लोक हैं।

इनमें से गौड़ अभिनन्द कृत लघुयोगवासिष्ठ पर निम्न टीकाएं हैं-

१. आत्मसुखकृत चन्द्रिका।

२. मुमुक्षुदेवकृत संसारतारिणी।

अज्ञातकर्तृक योगवासिष्ठसार पर भी पूर्णानन्द और महीधर की दो टीकाएं हैं। अतएव उसका भी महत्त्व बढ़ गया है, अर्थगौरव और प्रचार की दृष्टियों से।

इनके अतिरिक्त अकबर, जहांगीर और दाराशिकोह के संरक्षण में योगवासिष्ठ के कई फारसी अनुवाद किये गये थे जिनका वर्णन तात्पर्यप्रकाश व्याख्या सहित योगवासिष्ठ की भूमिका में किया गया है। फारसी अनुवादों में योगवासिष्ठ के कई अनुवाद हैं। उत्तरी भारत की संत-परम्परा पर योगवासिष्ठ का विशेष प्रभाव पड़ा है। अट्ठारहवीं शती में रामप्रसाद निरंजनी ने खड़ी बोली हिन्दी में सर्वप्रथम भाषायोगवासिष्ठ नाम से योगवासिष्ठ का अनुवाद किया था जिसका प्रभाव परवर्ती संतों और विचारकों पर बहुत अधिक पड़ा है। बीसवीं शती में प्रोफेसर भीखनलाल आत्रेय ने योगवासिष्ठ के दर्शन पर खोजपूर्ण और तुलनात्मक सामग्री प्रदान करते हुए कई ग्रन्थों की रचना की है। विशेषतः उन्होंने योगवासिष्ठ की तुलना आधुनिक पाश्चात्त्य प्रत्ययवाद से की है और प्रदर्शित किया है कि योगवासिष्ठ का प्रत्ययवाद पाश्चात्त्य प्रत्ययवाद से भी अधिक सुसंगत और सशक्त है। महात्मा गांधी के ऊपर भी योगवासिष्ठ के मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने इसका सूक्ष्म अध्ययन किया था।

४. **परम सत् का स्वरूप।** योगवासिष्ठ सत् को एक और अद्वितीय मानता है। वह परमात्मा या ब्रह्म है। वह दिक्, काल आदि (कार्य-कारण और द्रव्य) से अनवच्छिन्न है। सभी की आत्मा होने के कारण वह सर्वात्मा या सर्वव्यापी सत् है। वह स्वतः स्थित है। अर्थात् वह निरपेक्ष सत् है। सभी उसका अनुभव करते हैं-

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः परमात्मास्ति केवलः।
सर्वात्मत्वात्स सर्वात्मा सर्वानुभवतः स्वतः।।

(योगवासिष्ठ ३।८१।८१)

वह अवाङ्मनसगोचर है। उसके जितने नाम हैं जैसे आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, विज्ञान, शून्य आदि, वे सब कल्पित हैं, स्वभावज नहीं हैं। यथार्थतः वह अनाम है।

यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः।।
य : पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्मवेदान्तवादिनाम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम्।।
यः शून्यं शून्यवादिनां भासको योऽर्कतेजसाम्।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव सः।।

(योगवासिष्ठ ३।५।५।७)

परम शुभ या निःश्रेयस होने के कारण ब्रह्म को शिव कहा जाता है। चित् ही शिव है। उसकी शक्ति स्पन्द है। शिव की शक्ति के ही नाम हैं माया, स्पन्द, शक्ति, प्रकृति आदि। किन्तु जैसे काश्मीर शैवमत में शिव और शक्ति का वास्तविक और अनिवार्य सम्बन्ध है जिसे सामरस्य कहा जाता है वैसे योगवासिष्ठ-वेदान्त में शिव-शक्ति का सम्बन्ध नहीं है। यहाँ शिव-शक्ति का सम्बन्ध काकतालीय है। अतएव योगवासिष्ठ-वेदान्त शांकर-वेदान्त के जितना सन्निकट है उतना काश्मीर शैवमत का शिवाद्वयवाद नहीं है। आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती योगवासिष्ठ ६।२।८५ की टीका में कहते हैं कि इष्टप्राप्तिपर्यन्त ही स्पन्द रहता है। इष्टप्राप्ति होने पर शान्ति हो जाती है। अर्थात् स्पन्द नहीं रहता। तब शिव शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार योगवासिष्ठ ने दिखलाया है कि स्पन्दशास्त्र का मूल आधार तथा लक्ष्य निर्विशेष ब्रह्म है।

इस प्रकार योगवासिष्ठ ने निरपेक्ष प्रत्ययवाद को स्थापित किया है। उसके मत से उपनिषदों का ब्रह्म, आत्मवादियों (अध्यात्मवादियो) की आत्मा, सांख्यों का पुरुष, बौद्ध विज्ञानवादियों की विज्ञप्तिमात्रता (विज्ञान), शून्यवादियों का शून्य, वैदिकों का ऋत, नैयायिकों

का कर्ता ईश्वर, शैवों तथा वैष्णवों का द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता ईश्वर - ये सभी एक ही निरपेक्ष सत् के विभिन्न नाम हैं, यद्यपि वह मूलतः अनाम है। उपयुक्त श्लोकों के आधार पर कुछ लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ वेदान्त प्रच्छन्न या प्रकट बौद्धमत है, क्योंकि उसने ब्रह्म, शून्य और विज्ञान का अभेद किया है। परन्तु यह योगवासिष्ठ की उक्ति तथा युक्ति का अनर्थ है। उसने एक समन्वय-दर्शन दिया है जिसमें महाम बौद्ध ही नहीं अपि तु सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि का भी समन्वय है। अतएव यद्यपि योगवासिष्ठकार पर बौद्धमत का प्रभाव है, तथापि वह प्रच्छन्न (या प्रकट) बौद्ध नहीं है। वह शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मवादी है। आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती ने उपर्युक्त श्लोकों की टीका में स्पष्ट कर दिया है कि योगवासिष्ठकार का मंतव्य सभी वादियों में अविवाद स्थापित करना है - 'सर्ववादिनां सा तत्-तद्बुद्धिकल्पितविशेषैः सिद्धान्तविषय इत्यविवादः'।

ब्रह्म जगत् का मूल कारण है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है, ब्रह्म में वैसे ही दृश्य है जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्न। जगत् की उत्पत्ति काकतालीय है।

संविन्मात्रस्वभावत्वाद्देहोऽहमिति चेतति।
काकतालीयवद् भ्रान्तमाकारं तेन पश्यति।।
स एष ब्राह्मणस्तस्मिन् सर्गादावम्बरोदरे
निर्विकल्पश्चिदाकाशरूपमास्थाय संस्थितः।।

(वही, ३।३, ३८-३६)

५. **अजातवाद।** योगवासिष्ठ में गौडपाद की निम्न कारिका ज्यों की त्यों उद्धृत है -

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

(वही, ४।४५।४५)

संपूर्ण जगत् न आदि में था और न अन्त में रहेगा। अतः वह वर्तमान में भी असत् है। वस्तुतः वह मनोविलसित मात्र है, मनोदृश्यमिदं जगत्। जगत् स्वप्न या मृगतृष्णा है। 'मनसा कल्पितं सर्वं देहादिभुवनत्रयम्' (योगवासिष्ठ, ४।४५।५)। कार्यकारण का नियम मात्र काकतालीय है। कारण और कार्य में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। परमार्थतः मात्र एक और अद्वितीय सत् है। वही मन या चित्त है। उससे जो अन्य दृश्य होता है वह मात्र चित्त का स्पन्दन है। वीचीतरंगन्याय से मात्र चित्त की ही सत्ता है। शेष सब कुछ उसका आवर्त है।

यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम्।
न सन्नासन्न संजातश्चेतसो जगतो भ्रमः।।

(योगवासिष्ठ ३।६५- ५-६)

अनाख्य सत् से चित् का विभ्रम पैदा होता है, चित् से जीवत्व का, जीवत्व से अहंकार का, अहंकार से चित्तता का, चित्तता से इन्द्रियादि का और इन्द्रियादि से देहादि का विभ्रम पैदा होता है। सत्-स्वरूप आत्मा को छोड़कर सभी कुछ भ्रम है। जीव का सार आत्मा का स्पन्द है। उसके अतिरिक्त वह मात्र भ्रम है। स्पन्द के कारण जीवत्व का आभास होता है। जीव को ही मन, चित्त या बुद्धि कहते हैं -

जीव इत्युच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्तमित्युच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा।।

(योगवासिष्ठ ३.९६.३४)

जीव सात प्रकार के होते हैं -

(१) स्वप्नजाग्रत। जो स्वप्न देखते हैं उनको यह जगत् स्वप्न लगता है। वे स्वयं अपने को स्वप्नपुरुष समझते हैं।

(२) संकल्पजाग्रत । जो अनिद्रालु तथा संकल्पपरायण हैं वे संकल्पजाग्रत जीव हैं।

(३) केवलजाग्रत। कल्पान्तर के जाग्रत्संस्कार से जिन जीवों को स्वप्न नहीं दीखता वे केवलजाग्रत हैं। वे स्वप्न-हेतु को विनष्ट किये हुये हैं।

(४) चिरजाग्रत। जो जीव जन्म-जन्मान्तरों से उत्तरोत्तर जाग्रत अवस्था को प्राप्त कर रहे हैं वे चिरजाग्रत हैं। वे प्रौढ़ हैं और जाग्रत स्वप्न-रूपी कार्य और सुषुप्ति-रूपी कारण में संचरण स्वतः करते रहते हैं।

(५) घनजाग्रत। घनजाग्रत वे जीव हैं जो जाग्रत अवस्था में अपने दुष्कर्म से जड़ीभूत हो गये हैं। ये पाँचों प्रकार के जीव बद्ध जीव हैं।

(६) जाग्रतस्वप्न। जाग्रतस्वप्न वे जीव हैं जो बन्धन से मुक्त हैं। शास्त्रज्ञान से अथवा सत्संग से उनको विदित हो जाता है कि यह जगत् स्वप्न है। वे परमपद या परमार्थ में लीन रहते हैं।

(७) क्षीणजाग्रत। क्षीणजाग्रत वे जीव हैं जो तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें आत्मबोध या ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। वे पूर्णतया जीवन्मुक्त हैं।

इस प्रकार अन्तिम दो प्रकार के जीव वास्तव में जीवन्मुक्ति की अवस्था के जीव हैं।

आत्मा स्पन्दनशील है। उसका स्पन्दन उसकी विमर्श-शक्ति या चिन्तनशक्ति है। स्पन्दन मानसिक या चैतसिक होने से सारी सृष्टि मानसिक है। दृष्टिसृष्टिवाद ही इस प्रकार योगवासिष्ठ का सिद्धान्त निश्चित होता है। इस सिद्धान्त का विशेष प्रभाव प्रकाशानन्द सरस्वती की वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली पर परिलक्षित होता है।

६. अविद्या और माया। माया असत् का अपर नाम है। उसका कारण अविद्या है। अविद्या और अज्ञान एकार्थक हैं। इसी को वासना या मोह कहा गया है।

अज्ञान की सात भूमिकाएं हैं जो निम्न हैं -

(१) बीजजाग्रत। जब चित् चिदाभास (चित् का स्पन्दन) से संचालित होता है तो वह प्राणोपाधिसंपन्न हो जाता है। यही चित् का बीजजाग्रत नामक प्रथम अवस्था का अज्ञान है।

(२) जाग्रत। जाग्रत अवस्था का अज्ञान वह अवस्था है जिसमें जीव को "यह स्थूल देह मैं हूँ, यह देहादि मेरा भोग्य है," ऐसा भ्रम होता है।

(३) महाजाग्रत। प्राक्तन या ऐहिक संस्कार के दृढ़ अभ्यास से जब अज्ञान उपचित हो जाता है, अभिनिवेश सुदृढ़ हो जाता है, तो वह महाजाग्रत अज्ञान है।

(४) जाग्रतस्वप्न। मनोराज्यजाग्रत स्वप्न का अज्ञान है। इस अवस्था में मनुष्य मृगतृष्णा, रज्जुसर्प, द्विचन्द्र आदि अनेक प्रकार के भ्रमों में रहता है।

(५) स्वप्न। निद्राकाल में या निद्रावसान में जो प्रत्यय प्रतीत होता है वह स्वप्न है।

(६) स्वप्नजाग्रत। दृढ़ अभिनिवेश के कारण चिरस्थायी कल्पना से उपचित प्रत्यय स्वप्न-जाग्रत है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र का द्वादश वर्षीय अज्ञान, अथवा शबर-राजपुरुष-न्याय में शबराभिमानी राजा का अज्ञान।

(७) सुषुप्ति। पूर्वोक्त ६ अवस्थाएं कर्मफलभोग की भूमिकाएं है और कर्मज्ञा हैं। अज्ञान की सातवीं वह अवस्था है जिसमें सूक्ष्म और स्थूल समस्त प्रपंच का विलय हो जाता है, जीव जड़ हो जाता है, किन्तु भावी दुःखबोध से सम्पन्न रहता है। अर्थात् यद्यपि सुषुप्ति में कोई प्रत्यय प्रतीत नहीं होता, तथापि प्रत्ययों का उद्भव करने वाली वासना वहाँ रहती है।

इन सातों अवस्थाओं में प्रत्येक के अनेक अवान्तरप्रभेद भी हैं। ये प्रभेद पदार्थानुसार होते हैं। इन्हीं के कारण जीव अज्ञान की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक तब तक गमन करता रहता है जब तक उसका अज्ञान दूर नहीं हो जाता। अज्ञान का निवारक ज्ञान ही है।

अविद्या ही प्रकृति है। वह सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों वाली है।

अविद्यां प्रकृतिं विद्धि गुणत्रितयधर्मिणीम्।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारं परं पदम्।।

(योगवासिष्ठ ६.१.६.६)

ये तीन गुण भी पुनः तीन प्रकार से विभक्त हैं। जैसे सत्त्व के तीन भेद शुद्ध सत्त्व, रजोमिश्रित सत्त्व और तमोश्रित सत्त्व है। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण के भी तीन-तीन भेद हैं। अतः अविद्या नवधा गुणों में विभक्त है। वेदशास्त्र, ब्रह्मादि देव और समस्त सृष्टि अविद्यामय है।

७. बन्ध और मोक्ष। दृश्य सद्भाव ही बन्धन है। दृश्य का अभाव मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण मन है। जब मन इन्द्रियादि विषयों का ताना-बाना तानता है तब वह बन्ध है। पुनः जब वह विचारपूर्वक सत्तासामान्य का अनुसन्धान करता है तो वह मोक्ष है। 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'। मोक्ष के पर्याय निर्वाण, प्रपंचविलय, कैवल्य और संसारोपशम हैं। यह वर्तमान जीवन में भी सम्भव है, क्योंकि यह ज्ञान की अवस्था है। अतः जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त योगवासिष्ठ के मोक्षवाद का एक अनिवार्य उपप्रमेय है। जीवन्मुक्ति का विवेचन इस ग्रन्थ में विशदरूप से किया गया है। उसका प्रभाव अद्वैतवेदान्ती स्वामी विद्यारण्य के ग्रन्थ "जीवन्मुक्ति-विवेक" पर अत्यधिक पड़ा है, क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ से अनेक उद्धरण दिये हैं। यह ज्ञान कर्मसमुच्चय से लभ्य है। जैसे पक्षी दो पंखों से आकाश में उड़ते हैं वैसे जीव ज्ञान और कर्म दोनों के प्रयोग से परम पद को पहुँचता है। केवल कर्म या केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता है -

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्।।
केवलात्कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः।।

(योगवासिष्ठ १.१.७-८)

ज्ञान की सात भूमिकाएं हैं जो निम्न हैं -

१. शुभेच्छा। साधनचतुष्टय से उपलक्षित आत्मसाक्षात्कार की उत्कट इच्छा से गुरु से उपनिषदों का श्रवण करना ज्ञान की प्रथम भूमिका है। गुरुभक्ति तथा सत्संग इसमें विशेष सहायक हैं।

२. विचारणा। यतिधर्मपालनपूर्वक श्रवण और मनन करना विचारणा है।

३. तनुमानसा। श्रुत्यर्थ पर निदिध्यासन करना तनुमानसा है। इसके मानस तनु या सूक्ष्म रहता है। इस कारण इसका नाम तनुमानसा है।

४. सत्त्वापत्ति। निर्विकल्प समाधि की अवस्था सत्त्वापत्ति है। इस अवस्था में ब्रह्मात्मैकत्व का अनुभव होता है। अनुभवकर्त्ता को ब्रह्मविद् कहा जाता है।

५. असंसक्ति। निरतिशय आनन्द से उपलक्षित नित्य अपरोक्ष ब्रह्मभाव का साक्षात्कार असंसक्ति की अवस्था है। इसको पाने वाला ब्रह्मविद्वर कहा जाता है। इसमें अविद्या की संसक्ति नहीं रहती है।

६. पदार्थभाविनी। पंचम अवस्था का परिपाक षष्ठ अवस्था में होता है जिसमें आत्मानन्द से ज्ञानी आभ्यन्तर और बाह्य पदार्थों की भावना करता है जिन्हें अन्य लोग प्रयोग करते हैं। ज्ञानी की पदार्थ-भावना अपने में अपने द्वारा होती है। इस अवस्था के पाने वाले को ब्रह्मविद्वरीयान् कहा जाता है।

७. तुर्यगा। अन्त में ज्ञान की अन्तिम अवस्था है जिसमें उसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा जाता है। इस अवस्था में भेद का पूर्ण विलय हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

इसके अनन्तर विदेहमुक्ति की अवस्था है जो तुर्यातीत है और ब्रह्म ही है। अतः इसे अवस्था में नहीं गिना जाता । उपर्युक्त सातों अवस्थाओं में प्रारब्धवशात् देह विद्यमान रहता है। षष्ठी अवस्था में ज्ञानी कुछ कर्म करता है, किन्तु सप्तमी अवस्था में वह कोई कर्म नहीं करता है।

यही ज्ञानदशा जीवमात्र का लक्ष्य है। इसको पशु, म्लेच्छ आदि ने भी प्राप्त किया है और वे भी असंशय रूप से मुक्त हुए हैं -

प्राप्ता ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ते।
सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः।।

(योगवासिष्ठ ३.११८.२२)

कुछ लोगों ने सभी भूमिकाओं को प्राप्त किया है, कुछ लोगों ने दो या तीन भूमिकाओं को, कुछ ने चार भूमिकाओं को और कुछ ने छः भूमिकाओं को।

सप्तमी भूमिका तक पहुँचे जीव समस्त ऐहिक उपभोगों को, यहाँ तक कि साम्राज्य को भी, तृणवत् समझते हैं और विदेह कैवल्य का सुख प्राप्त करते हैं।

८. पौरुष का सिद्धान्त। योगवासिष्ठ देववाद या नियतिवाद के विरोध में पौरुषवाद को अग्रसर करता है। दैव जगत् में कहीं दृष्टिगत नहीं है। सर्वत्र पुरुषार्थ या पौरुष या पुरुष-प्रयत्न ही दिखाई पड़ता है। शास्त्र से, गुरु से या स्वतः पुरुषार्थ से ही सर्वत्र सिद्धि मिलती है।

भावाभावसहस्रेषु दशासु विविधासु च।
स्वपौरुषवशादेव निवृत्ता भूतजातयः।।

शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन।।

(योगवासिष्ठ २.७.११)

संवित्स्पन्द, मनःस्पन्द और इन्द्रिय-स्पन्द - ये तीन पुरुषार्थ पुरुष-प्रयत्न के रूप हैं। (योग वासिष्ठ २.७.४)। इनसे ही फलोदय या फल-प्राप्ति होती है। पौरुष क्या है? इसका उत्तर देते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि साधुओं के उपदिष्ट मार्ग से मन, शरीर और वाणी की जो चेष्टाएं होती हैं। वे पौरुष हैं। पौरुषवान् व्यक्ति ही सफल होता है। पौरुष से अन्य चेष्टाएं उन्मत्तचेष्टित हैं।

साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोऽङ्गविचेष्टितम्।
तत्पौरुषं तत्सफलमन्यदुन्मत्तविचेष्टितम्।।

(योगवासिष्ठ २.४.११)

जो मनुष्य जिस अर्थ की कामना करता है और जिसके लिए क्रम से यत्न करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त करता है। यही नियम है। इसी को स्वतन्त्रेच्छा का सिद्धान्त कहा गया है। अर्थात् मनुष्य की संकल्प शक्ति स्वतन्त्रेण कार्य करती है।

मनुष्य स्वतन्त्र है क्योंकि उसके अतिरिक्त उसको निर्धारित करने वाला कोई तत्त्व ही नहीं है। वह मत्ता (ज्ञाता) है, उसके अतिरिक्त कोई मत्ता (ज्ञाता) नहीं है। यदि उसका भी चेतयिता माना जाय तो अनवस्था दोष हो जायेगा।

अन्यस्त्वां चेतयति चेत् तं चेतयति को वरः।
क इमं चेतयेत् तस्मादनवस्था न वास्तवी।।

(योगवासिष्ठ २.६.२६)

इस प्रकार अद्वैतवाद मानव-स्वतन्त्रतावाद को जितनी दृढ़ता से सिद्ध करता है उतना कोई द्वैतवाद नहीं कर सकता। अद्वैतवाद ही मानव को परम स्वतन्त्र, संप्रभु, स्वराट् और सम्राट् बनाता है। उस पर उसका ही ईशन या शासन है, अन्य किसी का नहीं। गुरु और शास्त्र से जो अनुशासन प्राप्त होता है उसका श्रवण, मनन और आत्मसात्करण मानव स्वयं अपने प्रयत्न से करता है। अतएव वह उसके स्वातन्त्र्य का वर्धक है, घातक नहीं।

६. योगमार्ग । योगवासिष्ठ में अद्वैतवाद और पातञ्जलयोग का समन्वय किया गया है। उसमें योग-वेदान्त है। योग और ज्ञान ये दो चित्तनाश के उपाय या क्रम हैं -

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्।।

योग चित्तवृत्ति-निरोध है और ज्ञान सम्यक् अवेक्षण है। देह में सहस्रों नाड़ियां हैं। नाड़ियों में जो वायु प्रवाहित होता है वही प्राण है।

देहेऽस्मिन् देहनाडीषु वातः स्फुरति योऽभितः।
स्पन्देष्विव भुवो वारि स प्राण इति कीर्तितः।।

(योगवासिष्ठ ५.७८.१०)

प्राणबन्धन ही मन या चित्त है।

अन्तःप्राणपरिस्पन्दात् संकल्पकलनोन्मुखी
संवित् संजायते यैषा तच्चित्तं विद्धि राघव।।

(वही, ५.७८.१४)

प्राण के संरोधन से मन उपशान्त होता है। मन के उपशान्त होने पर प्रपंच (संसार) का विलय होता है। अतएव प्राणायाम या प्राण का संरोधन प्रपंचविलयरूप मोक्ष का साधन है। पातंजलयोग की प्राणायाम-विधि का उपयोग करते हुए योगवासिष्ठकार ने वैराग्य और अभ्यास से प्राण का निरोध करने को कहा है। प्राण-निरोध चितवृत्ति के निरोध का प्रमुख अंग है, क्योंकि प्राण भी स्वयं एक चित्तवृत्ति है। उसका भी स्वरूप स्पन्दात्मक ज्ञानक्रिया है। उसका निरोध होने पर ही चित्त-निरोध अर्थात् प्राणेतर चित्तवृत्तियों के निरोध संभव हैं। चित्तवृत्ति के निरोध से स्थिरधीत्व या स्थित प्रज्ञा की स्थिति प्राप्त होती है। स्थितप्रज्ञ योगवासिष्ठ के अनुसार जीवन्मुक्त है।

यः स्थितः स्थिरधीस्तज्ज्ञः स जीवन्मुक्त उच्यते।

(योगवासिष्ठ ५.७६.५४)

१०. योगवासिष्ठ और शांकर अद्वैतवेदान्त। आरम्भ में शांकर अद्वैतवेदान्त का विकास योगवासिष्ठ से पूर्णतया निरपेक्ष था। योगवासिष्ठ को शांकर अद्वैतवेदान्ती अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं मानते थे। किन्तु स्वामी विद्यारण्य के समय से लेकर आज तक योगवासिष्ठ को शांकर अद्वैतवेदान्ती स्वीकार करने लगे हैं। कम-से-कम ज्ञान की सप्तभूमिका के सिद्धान्त को सभी अद्वैतवेदान्ती मानते हैं। वास्तव में योगवासिष्ठ और शांकर अद्वैतवेदान्त में समानताएं और असमानताएं दोनों हैं। (१) निर्गुण

ब्रह्मवाद, (२) ब्रह्मात्मैक्यवाद, (३) जगन्मिथ्यात्ववाद, (४) जीवन्मुक्तिवाद (५) दृष्टिसृष्टिवाद और (६) अजातवाद पर योगवाशिष्ठ तथा शांकर अद्वैतवाद में साम्य है, किन्तु शांकर अद्वैतवेदान्त जहाँ व्यावहारिक सत् और प्रातिभासिक सत् में भेद करता है वहां योगवासिष्ठ ऐसा नहीं मानता। शंकराचार्य के अनुसार माया विषयगत है और मात्र काल्पनिक नहीं है, किन्तु योगवासिष्ठकार माया को काल्पनिक और विषयिगत मानते हैं। अन्त में योगवासिष्ठ में ज्ञानकर्म समुच्चयवाद तथा पातंजल-योगमार्ग से अद्वैतवाद का समन्वय किया गया है; किन्तु शांकर अद्वैतवाद में यह समन्वय नहीं है। तथापि दोनों दर्शनों में सभी दर्शनों का अविवाद ढूँढा गया है और अद्वैतवाद को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त और सर्वदर्शनसमन्वय का सूत्र बताया गया है। इसी ने दोनों में ऐक्य स्थापित कर दिया है। लगभग सात-आठ शताब्दियों से योगवासिष्ठ-वेदान्त शांकर अद्वैतवेदान्त का एकदेशी मत या एक प्रस्थान बन गया है। कुछ भी हो, योगवासिष्ठ-वेदान्त शांकर अद्वैतवेदान्त से जितना सन्निकट है उतना वह अन्य किसी भी दर्शन के निकट नहीं है। गंगाधरेन्द्रसरस्वती के शिष्य आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती, जो स्वयं शांकर अद्वैतवेदान्ती हैं, योगवासिष्ठ की १८४५ में लिखी गई अपनी व्याख्या तात्पर्यप्रकाश के आदि में ही कहते हैं कि लोग चाहे मेरी प्रशंसा करें या निन्दा (योगवासिष्ठ पर व्याख्या लिखने के कारण), मैं योगवासिष्ठ की उक्तियों के समुद्र में गोता लगाकर आनन्द लेना चाहता हूँ-

प्रशंसन्तु स्वैरं मतिभिरथ निन्दन्तु सुधियः
प्रवृत्तिर्मे यस्मान्न न भवति जनाराधनकृते।
अनेन व्याजेनामृतरसवसिष्ठोक्तिभरिते
विहर्तुं वाञ्छामि प्रतिदिवसमानन्दजलधौ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. वाल्मीकिकृत योगवासिष्ठ, आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकृत तात्पर्यप्रकाश व्याख्यासहित, २ भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८४.

२. डॉ. भीखनलाल आत्रेयकृत दी फिलासफी आफ दी योगवासिष्ठ मद्रास, १९३६। यह उनका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी द्वारा डी.लिट. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है।

३. डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्तकृत ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग दो, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६७५.

४. अभिनन्द गौडकृत लघुयोगवासिष्ठ, आत्मसुख की वासिष्ठचन्द्रिका सहित, निर्णयसागर, बम्बई, १६३७.

५. डॉ. भीखनलाल आत्रेय द्वारा संकलित योगवासिष्ठसार, हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद सहित, दर्शन प्रिन्टर्स, मुरादाबाद (उ.प्र.), १६६२.

६. नरहरि, बोधसार, चौखम्बा, वाराणसी

(यह श्लोकों में लिखा गया अद्वैतवेदान्त का कोश है)।

सोरठा।
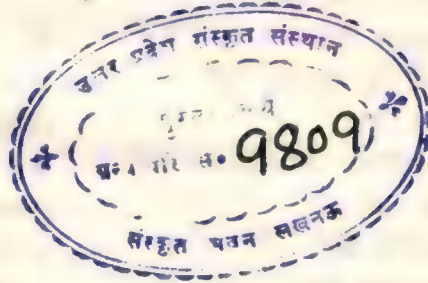
जो अदत्त कछु लेत, ताको सगो न कोइ है।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास परभव लहै ॥ १ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अस्तेय–महाव्रतप्रकरणम् ॥ १० ॥

अथ ब्रह्मचर्यमहाव्रतप्रकरणं।

आगे ब्रह्मचर्यमहाव्रतका निरूपण करते हैं—

विन्दन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस व्रतका आलंबन करके योगिगण परब्रह्म परमात्माको जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं. और जिसको धीरवीर पुरुषही धारण कर सकते हैं। किन्तु सामान्य मनुष्य धारण नहिं कर सकते, वह ब्रह्मचर्य नामका महाव्रत है ॥ १ ॥

सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम्।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं इस व्रतको गहन जानकर विस्तारके साथ कहूंगा, परन्तु सत्पुरुषोंको इसके विस्तारको देखकर स्वल्पभी क्लेश न करना चाहिये ॥ २ ॥

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥

अर्थ—इन तीन जगतोंमें ब्रह्मचर्यनामका व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है. क्योंकि जिन पुरुषोंने इस व्रतकी निर्मलता निरतिचारतापूर्वक प्राप्त की है वे पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं। **भावार्थ**–अर्हन्त भगवान् ब्रह्मचर्यकी पूर्णताको प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणधरादिक सबही पूज्य पुरुष करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम्।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आशीर्वादपूर्वक कहते हैं कि–यह ब्रह्मचर्यनामा महाव्रत जयवन्त हो। क्योंकि यह चारित्रका तो एकमात्र जीवन है और इसके विना अन्य जितने गुण हैं वे सब जीवोंको क्लेशकेही कारण होते हैं ॥ ४ ॥

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शीलरहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियोंसे जीते गये हैं वे इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेको स्वप्नमें भी समर्थ नहीं होसकते हैं. अर्थात् बड़ी शक्तिके धारक पुरुषही ऐसे कठिनव्रतके आचरण करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

अब इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंके त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं,—

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥ ६ ॥

अर्थ—इस ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (कामसेवन) है । सो दशप्रकारका है । और अन्तमें विरस है । इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं तथा बुद्धिमान् हैं उनको अवश्यही त्यागना योग्य है ॥ ६ ॥

उन दशप्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकोंसे कहते हैं,—

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥ ७ ॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥ ८ ॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥ ९ ॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा—पुष्टरसका सेवन करना २, तीसरा—तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्रका देखना सुनना ३, चौथा—स्त्रीका संसर्ग करना ४, पांचवां—स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प वा विचार करना ५, छट्ठा—स्त्रीके अंग देखना ६, सातवां—उस देखनेका संस्कार (हृदयमें अंकित) रहना ७, आठवां—पूर्वमें किये हुए संभोगका स्मरण करना ८, नवां—आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी ९ और दशवां शुक्रका क्षरण १० । इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं. इन्हे ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागना चाहिये ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाकफल (इन्द्रायणका फल) देखने, सूंघने और खानेमें रमणीय (सुस्वादु) है, और विपाक होनेपर हालाहल (विष) का काम करता है; उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ कालपर्यन्त रमणीक वा सुखदायक मालूम होता है; परन्तु विपाकसमयमें (अन्तमें) बहुतही भयका देनेवाला है ॥ १० ॥

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त होकर ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं उनको भावशुद्धिके लिये उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देने चाहिये । क्योंकि इन दोषोंके त्यागे विना भावोंकी शुद्धि नहिं होती ॥ ११ ॥

अब और भी विशेषतासे कहते हैं,—

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा स्त्रीके किये दोषों और मैथुनकृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जानकर स्त्रियोंसे विरक्त हो ॥ १२ ॥

अब प्रथमही कामका प्रकोप होनेसे जो दोष होते हैं उनका वर्णन करते हैं,—

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ १३ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्निका ताप ऐसा होता है कि वह प्रज्वलित होनेपर मेघके समूहोंसे सिंचन होनेपर भी दूर नहिं होता । अथवा कामाग्निसे प्रज्वलित पुरुषको समुद्रमें डुबा रक्खो तौ भी सन्ताप दूर नहिं होता ॥ १३ ॥

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः ॥ १४ ॥

अर्थ—कामरूप अग्नि प्रज्वलित होकर जिस प्रकार लोकको सन्तापित करती है उस प्रकार जेठमहीनेके मूलनक्षत्रमें बादलरहित आकाशमें प्रकाशमान मध्यान्हका सूर्यभी नहिं कर सकता ॥ १४ ॥

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥ १५ ॥

अर्थ—कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोंके हृदयमें प्रज्वलित होती है, तत्पश्चात् जब वृद्धिको प्राप्त होती है तब शरीरके अंग उपांगोंको भस्म कर देती है । अर्थात् सुखा देती है ॥ १५ ॥

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम् ।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो परम योगी हैं वे इस लोकको अचिन्त्य कामरूपी सर्पके विषकी क्रियासे

मूर्छित हुआ देखकरही अपने आत्मस्वरूपके भेदविज्ञानार्थ यत्न करते हैं। **भावार्थ**—इस कामसे योगीश्वरही बचे हैं ॥ १६ ॥

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके विषोद्गारसे पीडित समस्त जगतको देखकर संयमी मुनिगण विवेकरूपी गरुडकी शरणमें प्राप्त हुए हैं। **भावार्थ**—कामसे बचनेका उपाय विवेक अर्थात् भेदज्ञानही है ॥ १७ ॥

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस जगतमें वीर एकमात्र कामही है, और वह अद्वितीय है। क्योंकि जिसका अचिन्त्य पराक्रम है, जिसने अवज्ञामात्रसे इस जगतको अपने पावोंतले दबालिया है; अर्थात् वशीभूत कर लिया है। जैसे-कोई किसीको तिरस्कारमात्र कर वश करले उसीप्रकार वश कर लिया है ॥ १८ ॥

एकाक्यपि नयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसका पराक्रम अव्याहत अर्थात् अखण्डित है ऐसा यह काम अकेलाही इस चराचरस्वरूप जगतको अपनी शक्तिसे भंगताको प्राप्त किये है। अर्थात् भिन्न २ को अपने मार्गमें चलाता है ॥ १९ ॥

पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥ २० ॥

अर्थ—यह काम निर्भय होकर इस तीन भुवनको पीड़ित (दुःखित) करता है और इस पृथिवीपर सैकड़ों उपाय करनेपर भी इसका भंग (नाश) नहिं होता ॥ २० ॥

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि-इस कामस्वरूपी विषको मैं कालकूट (हलाहल) विषसे भी महाविष मानता हूं। क्योंकि पहिला जो कालकूट विष है वह तो उपाय करनेसे मिट जाता है; परन्तु दूसरा जो कामरूपी विष है वह उपायरहित है। अर्थात् इलाज करनेसे भी नहीं मिटता है ॥ २१ ॥

जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि मैं इस जीवोंके समूहको कामरूपी अग्निसे जलता हुआ मानता हूं। क्योंकि—यह प्राणिसमूह स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके डूबता है। **भावार्थ**—कामी पुरुष कामरूप अग्निके तापसे संतप्त हो स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके शीतल होना चाहता है ॥ २२ ॥

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्त्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥ २३ ॥

अर्थ—ये संसारी जीव कामज्वरके दाहसे उत्पन्न हुई तृषासे पीड़ित होकर अनन्त कष्टोंके समूहस्वरूप दुर्गम संसाररूपी मरुस्थलमें दुःख सहन करते हैं ॥ २३ ॥

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥ २४ ॥

अर्थ—कामरूपी सिंहसे चर्वित हुआ यह मनुष्य योगियोंसे निन्दित, पापसे भरे, अतिशय क्रूरतारूप तथा घृणास्पद कार्यको भी करता है ॥ २४ ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्किताशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥ २५ ॥

अर्थ—यह कामरूपी वैरी लोगोंको दिशामूढ अथवा विभ्रमरूप करता है। तथा उन्मत्त और भयभीत करता है। एवं विलक्ष्य कहिये लक्ष्यभ्रष्ट (इष्ट कार्यसे विमुख) करता है। **भावार्थ**—जब कामोद्दीपन होता है तब समस्त समीचीन कार्योंको भूलकर एकमात्र उसका ही चिंतवन-स्मरणका ध्यान रहता है ॥ २५ ॥

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कामके बाणोंके समूहसे भिदता हुआ जीवोंका चित्त क्षणभरके लिये स्वप्नमें भी स्वस्थताको प्राप्त नहिं होता ॥ २६ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह लोक है सो कामरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे ग्रसा हुआ जानता हुआ भी कुछ नहिं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहिं देखता। इस प्रकार अचेत (बेखबर) हो [illegible] है ॥ २७ ॥

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्पसे काटे हुए प्राणीके तो सात ही वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्पके डसे हुए जीवोंके दश वेग होते हैं. जो बड़े भयानक हैं ॥ २८ ॥

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥ २९ ॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥ ३० ॥
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥ ३१ ॥

अर्थ—कामके उद्दीपन होनेपर प्रथम ही तो चिन्ता होती है कि स्त्रीका संपर्क कैसे हो, दूसरे वेगमें उसके देखनेकी इच्छा होती है, तीसरे वेगवें दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है, कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेगमें ज्वर होता है अर्थात् बुखार (ताप) चढ़ आता है, पांचवें वेगमें शरीर दग्ध होने लगता है, छठे वेगमें किया हुआ भोजन नहीं रुचता, सातवें वेगमें महामूर्च्छा हो जाती है अर्थात् अचेत (बेहोश) हो जाता है, आठवें वेगमें उन्मत्त (पागल) हो जाता है तथा यद्वा तद्वा प्रलाप करने (बकने) लग जाता है, नववें वेगमें प्राणोंका संदेह हो जाता है कि अब मैं जीवित नही रहूँगा । और दशवां वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता है । इस प्रकार कामके दश वेग होते हैं । इन वेगोंसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूपको नहिं देखता । जब लोकव्यवहारहीका ज्ञान नहिं रहे तब परमार्थका ज्ञान कैसे हो ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः ।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—संकल्पके वशसे और कामज्वरके प्रकोपके तीव्र, मन्द, मध्यम होनेसे ये दश वेग तीव्र, मध्यम और मंद भी होते हैं । सब ही एकसे नहिं होते ॥ ३२ ॥

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्त्तिनाम् ।
स्मरवीरः क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो पुरुष मानरूपी ऊंचे पर्वतके शिखरके अग्रभागपर चढ़े हुए हैं अर्थात् बलके बड़े अभिमानी हैं उनका भी मान यह स्मरवीर क्षणभरमें खंडित कर देता है । **भावार्थ**—कामकी ज्वालाके सामने किसीका मान नहिं रहता । यह काम नीचसे नीच काम कराकर उसके मानरूपी पहाड़को धूलिमें मिला देता है ॥ ३३ ॥

शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते ।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो बड़े २ बुद्धिमान् हैं वे भी कामदेवकी आज्ञासे अपने शीलरूपी कोटको

उल्लंघन कर संभोगके लिये चांडालकी स्त्रीका दासत्व स्वीकार करलेते हैं । **भावार्थ**—कामके वशीभूत होकर बडे २ बुद्धिमान् चांडालकी स्त्रियोंतकके दास हो जाते हैं, और वे जो जो नाच नचाती हैं वे सबही उनको नाचने पड़ते हैं ॥ ३४ ॥

प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥ ३५ ॥

अर्थ—मदनकी व्यथा जब उठती है तब वह जीवोंके बहुत दिनसे बढाये तथा पाले-हुए चारित्रको ध्वंस करदेती है । एवं शास्त्राध्ययन, धैर्य और सत्यभाषणादिको भी बंद कर देती है । **भावार्थ**—जब कामकी पीड़ा व्यापती है तब चारित्र बिगड़ जाता है । [illegible] पढ़ना, सत्य बोलना और धैर्य रखना आदि सब ही भूल जाते हैं ॥ ३५ ॥

नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यतः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिसको कामरूपी कांटा चुभता रहता है वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, भोजन करनेमें तथा स्वजनोंमें क्षणभर भी स्थिरताको प्राप्त नहिं होता । अर्थात् सर्वत्र डामाडोल रहता है ॥ ३६ ॥

वित्तवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥ ३७ ॥

अर्थ—कामपीडित पुरुष अपने धन, चारित्र और बलके नाश होनेको तथा अपने कुलपर कलंक लगनेको, वा मरण भी निकट आजाय तो उसको भी नहिं देखता है । अर्थात् उसके चित्तमें हिताहितका कुछ भी विचार नहिं रहता ॥ ३७ ॥

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जैसा कष्ट यह कामज्वर जगतको देता है वैसा पिशाच, सर्प, रोग, आदि नहिं देते और न दैत्य–ग्रह–राक्षसादिक ही देते हैं । **भावार्थ**—कामकी पीड़ा सबसे अधिक है ॥ ३८ ॥

अनासाद्य जनः कामी कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
विषशस्त्रानलोपायैः सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥ ३९ ॥

अर्थ—कामी पुरुष यदि अपनी मनकी प्यारी कामिनीको नहिं प्राप्त होता है तो विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे त्वरित ही अपना अपघात करनेको तैयार हो जाता है । **भावार्थ**—जिस स्त्रीसे कामीका मन आकर्षित होता है वह प्राप्त नहिं होती तो कामी अपना मरना विचार लेता है ॥ ३९ ॥

दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥ ४० ॥

अर्थ—कामसे ठगा हुआ मनुष्य चतुर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान् क्रोधी हो-जाता है, शूरवीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम्।
नराः कामहठात्कारविधुरीकृतमानसाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—कामके बलात्कार (जबरदस्तीसे) से जिनका चित्त दुःखित है वे स्त्रीकी प्राप्तिके लिये ऐसे काम करनेका भी साहस करते हैं जो चिन्तवनमें भी न आवें ॥ ४१ ॥

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम्।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥ ४२ ॥

अर्थ—कामरूपी हस्ती निरंकुश है इसकारण वह मनुष्योंके निरन्तर पूजने योग्य धर्मरूपी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है ॥ ४२ ॥

प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥ ४३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रिमें धनार्थ फिरते हुए चौर जागनेवाले मनुष्यपर कोप करते हैं; उसी प्रकार कामी पुरुष भी बहुधा ब्रह्मचारी पुरुषोंपर कोप किया करता है। यह स्वाभाविक नियम है ॥ ४३ ॥

स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम्।
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४४ ॥

अर्थ—कामसे पीड़ित पुरुष पुत्रवधू, सास, पुत्री, दुग्ध पिलानेवाली धाय अथवा माता, गुरुकी स्त्री, तपस्विनी और तिरश्ची (परजातिकी स्त्री) को भी भोगनेकी इच्छा करता है। क्योंकि, कामी पुरुषके योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहिं होता ॥ ४४ ॥

किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम्।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥ ४५ ॥

अर्थ—हिताहितका विचार न होनेका कारण यह है कि कामके बाणोंके समूहसे जर्जरित हुए मनमें निमेषमात्र भी विवेकरूपी अमृतकी बूंद नहिं ठहर सकती है। **भावार्थ**—जैसे फूटे घड़ेमें पानी नहिं ठहरता उसी प्रकार कामके बाणोंसे छिद्र किये हुए चित्तरूपी घड़ेमें विवेकरूपी अमृत—जल नहिं ठहरता ॥ ४५ ॥

आर्या ।

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कान्नारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे ये निर्लज्ज जन अपनी गोदमें स्थित स्त्रीको नहीं छोड़ते वैसे ही हरि, हर, और ब्रह्मादिक बलिष्ठोंको भी कामने नष्ट करदिया है अर्थात् वे भी स्त्रीको गोदसे कभी बाहर नहीं करते ॥ ४६ ॥

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! जो तूने संसारमें भ्रमण करते २ इस मनुष्यभवको पाया है तो तू वह काम कर जिससे कि तेरी कामरूपी ज्वाला नष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

मालिनी ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विषयसंगरहित योगिप्रवीर (श्रेष्ठ योगिजन) इस संसारको कामाग्निके प्रचण्ड और अनंत संतापोंसे पीड़ित देखकर प्रतिदिन संयमरूप बगीचेसे शोभायमान ऐसे शान्तिसागरके तटका आश्रय लेते हैं ॥ ४८ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते कामप्रकोपप्रकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशं प्रकरणम् ।

कुर्वन्ति यन्मदोद्रेकदर्पिता भुवि योषितः ।
शतांशमपि तस्येह न वक्तुं कश्चिदीश्वरः ॥ १ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीतलमें मदके आधिक्यसे गर्वित स्त्रियां जो कर डालती हैं, उसका शतांश कहनेके लिये भी कोई समर्थ नहीं है ॥ १ ॥

धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसर्गकुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो वाणीमें तो अमृतको धारण करती हैं और हृदयमें विष भरे हुए हैं, इस प्रकार स्वभावसे ही कुटिल इन स्त्रियोंको किसने बनाया है यह हम नहीं जानते । **भावार्थ**—

जिनका बोल तो अमृतके समान मीठा है, और हृदयमें जहर भरा हुआ है; इस प्रकार क्रूर स्वभाववाली स्त्रियोंको किसने बनाया ? यह हम नहीं जान सकते ॥ २ ॥

वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह स्त्री मनुष्योंको वज्राग्निकी ज्वालाके समान और सांपकी डाढ़के समान भय तथा संताप देनेवाली है । **भावार्थ**—जैसे वज्रपातजनित अग्निज्वाला और सांपकी डाढ़ मनुष्योंको कष्ट और भय उपजानेवाली है, वैसे ही यह स्त्री भी है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

उद्वासयति निश्शङ्का जगत्पूज्यं गुणव्रजम् ।
बध्नती वसतिं चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥ ४ ॥

अर्थ—मनमें स्थान (अड्डा) जमाती हुई शंकारहित स्त्री सज्जनोंके भी जगतमें पूजने योग्य गुणसमूहको दूर भगादेती है । **भावार्थ**—साधारण मनुष्योंकी क्या कथा ? किंतु यदि निडर स्त्रीने मनमें डेरा कर लिया तो सत्पुरुषोंके भी विश्ववन्द्य गुणोंको दूर हटा देती है । अर्थात् मनसे स्त्रीका ध्यानमात्र करनेसे ही वंदनीय पुरुष भी निंदनीय हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलाऽत्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणीका आलिंगन करना श्रेष्ठ है किन्तु स्त्रीको कौतुकमात्रसे भी आलिंगन करना श्रेष्ठ नहीं । क्योंकि सर्पिणी यदि दंश करै (काटै) तो एक बार ही मरण होता है; और स्त्री तो नरककी पद्धतिस्वरूप है अर्थात् यह बारबार मरण कराकर नरकमें लेजानेवाली है ॥ ५ ॥

हृदि दत्ते तथा दाहं न स्पृष्टा हुतभुक्शिखा ।
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिनी ॥ ६ ॥

अर्थ—यह स्त्री इन्द्रियोंके कोपको बढ़ानेवाली है, सो स्पर्श की हुई ऐसा दाह उत्पन्न करती है कि जैसा स्पर्श की हुई अग्निकी शिखा भी नहिं करती ॥ ६ ॥

सन्ध्येव क्षणरागाढ्या निम्नगेवाधरप्रिया ।
वक्रा बालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं स्त्रियः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें सन्ध्याके समान क्षणभर रागासहित रहनेवाली (क्षणभर प्रीति रखनेवाली) हैं और नदीके समान अधरप्रिया हैं अर्थात् जैसे नदी नीची भूमिकी तरफ जाती है उसी प्रकार स्त्रियें भी प्रायः नीच पुरुषसे रमण करनेवाली होती हैं । तथा द्वितीयाके

चन्द्रमाके समान वक्र (टेढ़ी) रहती हैं। अर्थात् स्त्रियें हृदयमें कपटभाव अवश्य रखती हैं॥ ७॥

धूमावल्य इवाशङ्क्याः कुर्वन्ति मालिनं क्षणात्।
मदनोन्मादसंभ्रान्ता योषितः स्वकुलं गृहम्॥ ८॥

अर्थ—मदनके वेगसे उन्मादयुक्त होकर स्त्रियां अपने कुल और घरको क्षणभरमें मलिन (कलंकित) करदेती हैं; इस कारण धूमावलीके समान आशंका करने योग्य हैं। अर्थात् जिस प्रकार धूमावलीसे घर काला होनेकी शंका है इसी प्रकार स्त्रियोंकी तरफसे भी शंका रहनी चाहिये॥ ८॥

निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम्।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ ९॥

अर्थ—निर्दयता, अनार्यता (अपवित्रता), मूर्खता, अतिचपलता, वंचकता और कुशीलता इतने दोष प्रायः स्त्रियोंके स्वाभाविक होते हैं। अर्थात् विना शिखाये ही आजाते हैं॥ ९॥

विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम्।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रं च योषितः॥ १०॥

अर्थ— ये स्त्रियां व्यभिचारी पुरुषोंमें विचरने लग जाती हैं और अपने कुलक्रमका उल्लंघन करदेती हैं तथा अपने गुरु मित्र (हितैषी) पति पुत्रका स्मरणतक नहिं करतीं॥ १०॥

वश्याञ्जनादितन्त्राणि मन्त्रयन्त्राद्यनेकधा।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि वनिताराधनं प्रति॥ ११॥

अर्थ—स्त्रीकी आराधनाके लिये (प्रसन्न करनेके लिये) वशीकरण, अञ्जनादि तथा अनेक प्रकारके यन्त्र-मन्त्र-तंत्रादि समस्त व्यर्थ हो जाते हैं॥ ११॥

अगाधक्रोधवेगान्धाः कर्म कुर्वन्ति तास्त्रियः।
सद्यः पतति येनैतद्भुवनं दुःखसागरे॥ १२॥

अर्थ—ये स्त्रियां अगाध क्रोधके वेगसे ऐसा काम करती हैं कि जिससे शीघ्र ही यह जगत् दुःखसागरमें पड़ जाता है॥ १२॥

स्वातन्त्र्यमभिवाञ्छन्त्यः कुलकल्पमहीरुहम्।
अविचार्यैव निघ्नन्ति स्त्रियोऽभीष्टफलप्रदम्॥ १३॥

अर्थ—स्वतन्त्रताकी वांछा करती हुई स्त्रियें अभीष्ट (मनोवांछित) फल देनेवाले अपने कुलरूपी कल्पवृक्षको विना विचारे ही मूर्खतासे काट डालती हैं॥ १३॥

न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठां न गौरवम् ।
न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥ १४ ॥

अर्थ—कामान्ध स्त्रियां न तो दान सुजनताको देखतीं हैं न अपने गौरव और प्रतिष्ठाका विचार करती हैं और न अपना वा पराया हित ही देखती हैं; किन्तु जो चित्तमें आया सो विना विचारे ही कर बैठतीं हैं ॥ १४ ॥

न तत् क्रुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥ १५ ॥

अर्थ—एक निरंकुश स्त्री ही नर (मनुष्यके) लिये वह काम करती है कि जिसको क्रोधित हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहिं करसकते। **भावार्थ**—पुरुषोंको स्वतंत्र स्त्री जैसा कष्ट देती है वैसा कोई भी नहिं दे सकता ॥ १५ ॥

यामासाद्य त्वया कान्तां सोढव्या नारकी व्यथा ।
तस्या वार्त्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज समझाते हैं कि—हे आत्मन्! जिस स्त्रीकी संगतिसे तुझे नरकके दुःख सहने पड़ें ऐसी स्त्रीकी चर्चा करना भी तेरे लिये प्रशंसनीय नहीं है; तो उससे आलिंगनादि करना कैसे प्रशंसनीय हो सकता है ॥ १६ ॥

स कोऽपि स्मर्यतां देवो मन्त्रो वाऽऽलम्ब्य साहसम् ।
यतोऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥ १७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन! तू ऐसे किसी देव वा मंत्रको स्मरण कर अथवा ऐसा कोई साहस कर जिससे यह स्त्रीरूपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करनेको निकट न आवे ॥ १७ ॥

एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।
लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हे मूढ! आत्मन्! यह स्त्रीरूपी सर्पिणी ऐसी है कि जिसका पराक्रम अचिन्त्य है अर्थात् चिन्तवनमें नहिं आसकता। क्योंकि जिस अकेलीने ही इन तीनो भुवनोंको खण्डित करदिया है, सो तू देख ॥ १८ ॥

न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।
यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः कामकलङ्किताः ॥ १९ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें कामसे कलंकित हो ऐसा भी कोई महापाप कर बैठती हैं कि जिसको न तो किसीने देखा, न सुना तथा न शास्त्रोंमें ही जिसकी चर्चा आई हो ॥ १९ ॥

यमजिह्वानलज्वालावज्रविद्युद्विषङ्कुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥ २० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि–मैं ऐसा मानताहूं कि–विधाताने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, बिजली तथा विष इनके अंकूर (सार भाग) इन सबको संग्रह करके यह विलासिनी (स्त्री) बनाई है. क्योंकि इससे कोईभी नहिं बचता ॥ २० ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम् ।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियद्वरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके स्वभावसेही मनमें तो कुछ, वचनमें कुछ और शरीरसे कुछ और ही चेष्टा है उनका प्रेम कबतक स्थिर रह सक्ता है । अर्थात् बहुत समयतक नहीं ठहरता ॥ २१ ॥

अप्युत्तुङ्गाः पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगताः ।
यथा वामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके दोनों स्तन प्रगट करते हैं अर्थात् परस्पर कहते हैं कि देखो, भाई ! स्त्रीके अंगसंगसे जिसप्रकार हमारा अधःपतन हुआ है इसी प्रकार जगतके बड़े २ पुरुष स्त्रीके अंगसंगसे नीचे गिरेंगे । अर्थात् नीची अवस्थाको प्राप्त होंगे ॥ २२ ॥

यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते चण्डरोचिश्च शीतताम् ।
दैवात्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मनः ॥ २३ ॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोगसे चन्द्रमा उष्णस्वभावी और सूर्य शीतल भलेही होजाय परन्तु स्त्रीका मन किसी एक पुरुषमें स्थिर नहि होसकता । अर्थात् उसे अन्य २ पुरुषकी कामना बनीही करती है ॥ २४ ॥

देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
विदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो महाविद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह, चन्द्रमा और सूर्य इन सबकी चेष्टाओंको जानते हैं, वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहि जान सकते । क्योंकि स्त्रीचरित्र अगाध है. यह जगत्प्रसिद्ध उक्ति है ॥ २४ ॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञानी सुख–दुःख, जय पराजय और जीवित मरण आदिकको निमित्तज्ञानके बलसे जानते हैं, वेभी स्त्रियोंकी चेष्टा जाननेमें मोहको प्राप्त होते हैं । अर्थात् स्त्रियोंके चरित्र जाननेके लिये अज्ञानमूढ होजाते हैं ॥ २५ ॥

जलधेर्यानपात्राणि ग्रहाद्या गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥ २६ ॥

अर्थ—यद्यपि समुद्र और आकाश अपार है तथापि जहाजपर बैठनेवाले समुद्रके और ग्रहादिक आकाशके अन्तको पासकते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रका पार कोईभी नहिं पासकता ॥ २६ ॥

आरोपयन्ति संदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।
नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥ २७ ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी निर्दय हैं कि क्षणमात्रमें अपने पति पुत्र पितादिको संदेहकी तुलापर चढ़ादेती हैं । **भावार्थ**-स्त्रियें जो दुश्चरित्र करें और पति पितादिकको ज्ञात होजाय तो तत्काल ऐसी चेष्टा करती हैं कि जिससे उनको ऐसा संदेह होजाता है कि इसने यह दुश्चरित्र नहिं किया होगा; मुझे व्यर्थही भ्रम होगया है ॥ २७ ॥

गृह्णन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितम् ।
सरिद्ध्रदगतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥ २८ ॥

अर्थ—कई पुरुष वनमेंसे व्याघ्रको पकड़ते हैं, आकाशगामी पक्षीको पकड़ते हैं तथा नदी वा तड़ागमेंसे मछलीको पकड़ते हैं; परन्तु स्त्रियोंके मनको कोईभी पकड़ नहीं सकता अर्थात् वशीभूत नहिं करसकता ॥ २८ ॥

न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणिमन्त्रौषधाञ्जनम् ।
विद्याश्च येन सद्भावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस जगतमें ऐसा कोईभी मणि, मन्त्र, औषध, अंजन अथवा विद्या नहीं है कि जिससे स्त्रियें सद्भावको प्राप्त हो अर्थात् कुटिलतारहित होजायँ ॥ २९ ॥

मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।
हत्वा पतिं स्त्रियः सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः ॥ ३० ॥

अर्थ—स्त्रियें ऐसी दुष्टा हैं कि अपना पति कामदेवकी समान सुंदर, शूरवीर, कुलीन और राजा ही क्यों न हो तोभी उसे मारकर तत्काल दासीके पुत्रसे रमने लग जाती हैं ॥ ३० ॥

स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाञ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—निर्मलाशय विद्वज्जन ऐसा कहते है कि सबही स्त्रियें कामदेवसरीखे पतिको पाकरभी अन्य पुरुषकी वांछा करती हैं ॥ ३१ ॥

विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।
वञ्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि क्षणात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें कोई ऐसीही मोहिनी विद्या है कि विना मन्त्र तंत्र अञ्जनके अथवा विना प्रार्थनाकेभी क्षणमात्रमें पंडित पुरुषकोभी ठगलेती हैं। अर्थात् अपने प्रेममें फँसा लेती हैं ॥ ३२ ॥

कुलजातिगुणभ्रष्टं निकृष्टं दुष्टचेष्टितम् ।
अस्पृश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूं कि कुल—जाति—गुणसे भ्रष्ट, निकृष्ट, दुश्चरित्र, अस्पृश्य और नीच पुरुषही स्त्रियोंको प्रिय होता है। क्योंकि प्रायः ऐसाही देखनेमें आता है कि स्त्रियें उत्तम पुरुषको छोड़ नीचसेही प्रीति कर लेती हैं ॥ ३३ ॥

वैरिवारणदन्ताग्रे समारुह्य स्थिरीकृता ।
वीरश्रीयैर्महासत्त्वैर्योषिद्भिस्तेऽपि खण्डिताः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी वीर पुरुषोंने युद्धमें शत्रुके हस्तीके दांतोंपर चढ़कर वीरश्रीको [illegible] किया है, अर्थात् विजय प्राप्त किया है, ऐसे शूरवीर योद्धाभी स्त्रियोंके द्वारा खण्डित (भूपतित) होजाते हैं. अर्थात् स्त्रीके सामने किसीकाभी पराक्रम नहिं चलता ॥ ३४ ॥

गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।
धृता अपि निमज्जन्ति दोषपङ्के स्वयं स्त्रियः ॥ ३५ ॥

अर्थ—गौरव, प्रतिष्ठा और आराधना करनेयोग्य गुणोंसे भूषित कर रक्खी हुईभी स्त्रियें अपने दुश्चरित्ररूपी कीचड़में फँस जाती हैं। अर्थात् स्त्रियें किसीकेभी वशमें नहीं रहतीं किंतु स्वच्छन्द वर्तने लग जाती हैं ॥ ३५ ॥

दोषान्गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।
सन्मानिताः प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कुटिल स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा है कि—वे गुणोंमें तो दोष देखती हैं और जो प्यार करे उसमें अप्रियताका आचरण करतीं हैं और सन्मान करनेसे कुपित होती हैं ॥ ३६ ॥

कृत्वाऽपकार्यलक्षाणि प्रत्यक्षमपि योषितः ।
छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववञ्चनपण्डिताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियां लाखों बुरे कार्य प्रत्यक्षमें करकेभी निःशंक होकर उन्हें छिपालेती हैं। क्योंकि ये स्त्रियें जगतको ठगनेके लिये अतिशय चतुर हैं। इनकी मायाचातुरीका कोई भी पार नहिं पासकता ॥ ३७ ॥

दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवापरं नार्यं घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ये स्त्रियें ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सन्मान, संभोग, नमस्कार करने, आदर करने आदि खुशामदके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर ऐसे पतिको भी मारडालती हैं ॥ ३८ ॥

विषमध्ये सुधास्यन्दं सस्यजातं शिलोच्चये ।
संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकश्मलम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि विषमें कदाचित् अमृतका झरना अथवा पर्वतपर (शिलाओंके समूहपर) धान्यका उत्पन्न होना संभव है, परन्तु स्त्रियोंका चित्त निष्पाप कदापि न समझना । अर्थात् ये स्त्रियें निष्पाप (उज्ज्वल) कभी नहिं होतीं ॥ ३९ ॥

वन्ध्याङ्गजस्य राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।
स्याद्दैवान्न तु नारीणां मनःशुद्धिर्मनागपि ॥ ४० ॥

अर्थ—दैवात् वन्ध्यापुत्रकी राज्यलक्ष्मी और आकाशमें पुष्पोंकी शोभा होना संभव है; परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि किंचिन्मात्रभी नहिं होती ॥ ४० ॥

कुलद्वयमहाकक्षं भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानलः ४१

अर्थ—दुश्चरित्ररूपी पवनसे प्रदीप्त हुई वनितारूपी अग्नि क्षणमात्रें अपने उभयकुलरूपी वनको भस्म करदेती है ॥ ४१ ॥

सुराचल इवाकम्पा अगाधा वार्द्धिवद्भृशम् ।
नीयन्तेऽत्र नराः स्त्रीभिरवधूतिं क्षणान्तरे ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो पुरुष सुमेरु पर्वतके समान अचल (अकंप) हैं तथा समुद्रके समान अगाध अर्थात् गंभीरप्रकृति हैं वेभी इस जगतमें स्त्रियोंके द्वारा क्षणमात्रमें चलायमान वा तिरस्कृत किये जाते हैं तो अन्य सामान्य पुरुषोंकी तो कथाही क्या ? ॥ ४२ ॥

वित्तहीनो जरी रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।
कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्त्ता विमुच्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका पति यदि धनरहित (दरिद्री) हो, बद्ध हो, रोगी अथवा निर्बल हो तथा स्थानभ्रष्ट हो तो भले कुलकी स्त्रियेंभी अपने भरतारको शीघ्रही छोड़ देती हैं और किसी अन्यसे रमण करने लग जाती हैं ॥ ४३ ॥

भेत्तुं शूलमसिं छेत्तुं कर्तितुं क्रकचं दृढम् ।
नरान्पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि कहिये ब्रह्माने जो स्त्रियें बनाई हैं, वे मनुष्योंको वेधनेके लिये शूली, काटनेके लिये तरवार, कतरनेके लिये दृढ करोत (आरा), अथवा पेलनेके लिये मानों यंत्र ही बनाये हैं ॥ ४४ ॥

विधुर्वधूभिर्मन्येऽहं नभस्थोऽपि प्रतारितः ।
अन्यथा क्षीयते कस्मात्कलङ्काऽपहतप्रभः ॥ ४५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं कि आकाशमें रहनेवाला यह चन्द्रमाभी स्त्रियोंसे वंचित किया गया है, अर्थात् मोहित किया गया है । क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह कलंकसे प्रभारहित होकर प्रतिदिन क्षीण क्यों होता है ? ॥ ४५ ॥

आचार्य महाराज फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

यद्रागं सन्ध्ययोर्धत्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।
तन्मन्ये वनितासार्थैर्विप्रलब्धः खरद्युतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—यह सूर्य जो दोनों सन्ध्याओंके समय ललाईको धारण करता है और निरन्तर भ्रमण करता रहता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि यह भी स्त्रियोंके समूहोंसे ठगा गया है ॥ ४६ ॥

फिरभी उत्प्रेक्षा करते हैं—

अन्तःशून्यो भृशं रौति वेलाव्याजेन वेपते ।
धीरोऽपि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह समुद्र स्त्रीके निमित्तही नारायणसे मथागया और रामचन्द्रजीसे बांधा गया इस कारण अन्तःशून्य होकर गर्जनाके बहानेसे (मिससे) तो रोता है और धीर होते हुए भी लहरोंके बहानेसे मानों कम्पायमान होता है ॥ ४७ ॥

सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराक्रमाः ।
दशग्रीवादयो याताः कृते स्त्रीणां रसातलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—देखो, इन्द्रके समान धीर वीर अचिन्त्यपराक्रमी रावण आदिक बड़े २ छत्रधारी राजाभी स्त्रियोंके निमित्त रसातलको (नरकको) चले गये तो अन्य सामान्य जनोंको तो कहनाही क्या ॥ ४८ ॥

दुःखखानिरगाधेयं कलेर्मूलं भयस्य च ।
पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह स्त्री दुःखोंकी तो अगाध खानि है, जिसमेंसे कि दुःखही दुःख निकलते रहते हैं और कलह तथा भयकी जड़ है, पापका बीज और चिन्ताओंका कंद (मूल) है तथा नरककी पृथिवी है ॥ ४९ ॥

यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥ ५० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि—स्त्रियोंके दोष यदि किसी प्रकारसे मूर्तिमान् होजायँ तो मैं समझता हूं कि उन दोषोंसे निश्चयकरके समस्त त्रिलोकी परिपूर्ण भरजायगी ॥ ५० ॥

कौतुकेन समाहर्तुं विश्ववर्त्त्यङ्गिसंचयम् ।
वेधसेयं कृता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य माहराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि—ब्रह्माने जो स्त्री बनाई है सो मानों उसने कौतूहलसे जगतके समस्त जीवोंका संग्रह करनेके वास्ते आकर्षण करनेके लिये कष्टरूपी फांसीही बनाई है ॥ ५१ ॥

एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः ।
संज्ञयाऽन्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना जनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—स्त्रियें किसी एकको तो दृष्टिसेही प्रसन्न करदेती हैं, किसी दूसरेको भावोंसेही रमाती हैं, और अन्य किसी एकको वचनमात्रसे तृप्त करके किसीको इशारोंसेही प्रसन्न करदेती हैं, और शरीरके संकेत किसी औरहीसे करती हैं और रतिसे किसी औरहीसे रमण करती हैं । इस प्रकार अनेक पुरुषोंके चित्तको प्रसन्न करके अपने वश कर लेते हैं ॥ ५२ ॥

धीरैर्धैर्यं समालम्ब्य विवेकामललोचनैः ।
त्यक्ताः स्वप्नेऽपि निःसङ्गैर्नार्यः श्रीसूरिपुङ्गवै ॥ ५३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—जो धीर वीर और आचर्योंमें प्रधान है उन्होंके धीरजका अवलंबन करके स्वप्नमेंभी स्त्रियोंका त्याग कर दिया है. ऐसे महापुरुषही धन्य हैं ॥ ५३ ॥

अब इस कथनको पूर्ण करनेके लिये संकोचते हुए उपदेश करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यद्वक्तुं न बृहस्पतिः शतमखः श्रोतुं न साक्षात्क्षमः
तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः ।

आलोक्य स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया।
तच्छ्रुत्वा गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहं ॥ ५४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि स्त्रियोंके दोषसमूहको कहनेके लिये तो बृहस्पति समर्थ नहीं, और सुननेके लिये इंद्र समर्थ नहीं, इस कारण मैं ऐसा मानता हूं कि और कोईभी स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन नहिं करसकता। तिसपरभी मैंने स्त्रियोंके अवगुण देखकर कितनेही अक्षरोंमें जो कहे हैं सो इनको सुनकर जो गुणी पुरुष हैं वे वनिताके संभोगरूपी पापके आग्रहको छोडो, यह हमारा उपदेश है ॥ ९४ ॥

मालिनी।

परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीम्
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम्।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीम्
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्यतारीं ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू धैर्यके अवलम्बनपूर्वक चित्तसे स्त्रीका प्रसंग छोड़। क्योंकि यह स्त्री अपमानरूपी फलको उत्पन्न करनेके लिये तो बेल (लता) है और दुःखरूपी दावाग्निकी पंक्ति है तथा विषयरूपी समुद्रकी लहर और नरकरूपी महलमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली है अर्थात् प्रवेशद्वार वा घर है तथा कामरूपी सर्पकी दाढ़ और मोह वा तंद्री (आलस्य) की माता है ॥ ९५ ॥

इस प्रकार दोषोंके आश्रय स्त्रीका निषेध किया. अब यह कहते हैं कि, समस्त स्त्रियें दोषयुक्तही हैं ऐसा एकान्त नहीं है; किन्तु जिनमें शीलसंयमादि गुण होते हैं वे प्रशंसा करनेयोग्यभी हैं—

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः।
तथाप्येकान्ततस्तासां [illegible] नाघसंभवः ॥ ५६ ॥

अर्थ—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए संयमी मुनियोंने स्त्रियोंको दूषितही किया है अर्थात् दोषयुक्तही वर्णन किया है. तथापि उनमें एकान्ततासे पापकाही संभव नहीं है किंतु उनमेंसे किसी २ स्त्रीमें गुणभी होते हैं. सोही कहते हैं ॥ ९६ ॥

आर्या।

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥ ५७ ॥

अर्थ—अहो! इस जगतमें अनेक स्त्रियां ऐसीभी हैं कि—जे शमभाव (मंदकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलकभूत हैं अर्थात्

अपने वंशको शोभायमान करती हैं और शास्त्राध्ययन तथा सत्यवचनकरके सहित भी हैं ॥ ५७ ॥

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अनेक स्त्रियां ऐसी हैं जो अपने पतिव्रतपनसे, महत्त्वसे, चारित्रसे (सदाचरणोंसे,) विनयसे और विवेकसे इस पृथिवीतलको भूषित (शोभायुक्त) करती हैं ॥ ५८ ॥

शार्दूलविक्रीडित ।

निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि दूषिताः शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो संसारके भ्रमणसे विरक्त हैं, शास्त्रोंके पारगामी और स्त्रियोंसे सर्वथा निस्पृह हैं तथा उपशमभावही है धन जिनके ऐसे ब्रह्मचर्यावलंबी मुनिगणोंने यद्यपि स्त्रियोंकी निंदा की है तथापि जो स्त्रियां निर्मल और पवित्र यमनियमस्वाध्यायचारित्रादिसे भूषित हैं और वैराग्य–उपशमादि पवित्राचरणोंसे पवित्र हैं वे निंदा करने योग्य नहीं हैं । क्योंकि निंदा दोषोंकीही की जाती है, किंतु गुणोंकी निंदा नहीं होती ॥ ५९ ॥

इस प्रकार स्त्रियोंकी दोषोंके आश्रय निंदा और गुणोंके आश्रय निंदा नहीं ऐसा वर्णन किया ।

कवित्त ।

जे प्रमदाजन हैं जगमें तिनके गुण दोष कहे लखि नैनन ।
कामकलंकित हैं तिनके कुचरित्र अनेक बसैं तनुसैनन ॥
वर्णन कौन सकै करने कछु देखि सुने बरने १ ऐनन ।
शील क्षमाव्रतवान सुशोभित हैं तिनकी महिमा जिनवैनन ॥ १२ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते स्त्रीस्वरूपवर्णनरूपो द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

१ "निन्दिताः" इत्यपि पाठः ।

अथ त्रयोदशः सर्गः ।

अब मैथुन (कामसेवन) का वर्णन करते हैं—

स्मरज्वलनसंभ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति ।
मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्निं निषेधति ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष कामरूपी अग्निसे पीड़ित होकर मैथुनसे उस पीड़ाको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह दुर्बुद्धि घृतसे अग्निको बुझाना चाहता है ॥ १ ॥

वरमाज्यच्छटासिक्तः परिरब्धो हुताशनः ।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम् ॥ २ ॥

अर्थ—घृतकी छटाओंसे सिंचन किये हुए अग्निका आलिंगन करना श्रेष्ठ है, परन्तु स्त्रीके जघनस्थलका आलिंगन करना कदापि श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि वह दुर्गतिका द्वार है । अर्थात् अग्निसे जला हुआ तो इस जन्ममें ही किंचित् कष्ट पाता है, किन्तु स्त्रीका आलिंगन करनेसे दुर्गतिमें नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं ॥ २ ॥

स्मरशीतज्वरातङ्कशङ्किताः शीर्णबुद्धयः ।
विशन्ति वनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया ॥ ३ ॥

अर्थ—कामरूपी शीतज्वरके भयसे नष्ट बुद्धि पुरुष उसके प्रतीकारकी वांछाकरके स्त्रीरूपी कर्दममें (कीचड़में) प्रवेश करते हैं; परन्तु यह समीचीन उपाय नहीं है ॥ ३ ॥

वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसङ्गसंभवम् ।
सेव्यमानं यदन्ते स्याद्वैरस्यायैव केवलम् ॥ ४ ॥

अर्थ—स्त्रीके संगसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करना अन्तमें केवल विरसताका ही कारण है । इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणीकी पूर्व वासना ऐसीही है; उसीसे ऐसा होता है, किंतु परमार्थसे विचार किया जाय तो यह सुख दुःखही है ॥ ४ ॥

प्रपश्यति यथोन्मत्तः शश्वल्लोष्ठेऽपि काञ्चनम् ।
मैथुनेऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष धतूरा खानेसे उन्मत्त होकर मिट्टीके ढेलेमें सोना समझता है, उसी प्रकार रागसे अन्ध होगया है चित्त जिसका ऐसा यह प्राणी मैथुनमेंभी (दुःखमेंभी) सुखानुभव करता है. किंतु वास्तवमें इसमें सुख नहीं है ॥ ५ ॥

अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्ध्या निषेवते ।
सुखबुद्ध्या तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे रोगी पथ्यकी इच्छासे अपथ्य सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष निर्लज्ज होकर सुखकी इच्छासे स्त्रियोंके अंगोंका दर्शनस्पर्शनादि करता है; परंतु उसकी बड़ी भूल है ॥ ६ ॥

कश्चिद्ब्रूते यथा दीपं निर्वाणमपि नन्दितम् ।
स्मरमूढः सुखं तद्वद्दुःखमप्यत्र मैथुने ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दीपकके बुझजानेपर अनेक जन कहा करते हैं कि ' दीपक बढ़ गया ' इसी प्रकार काममूढ पुरुषभी मैथुनमें दुःखही दुःख है तोभी उसको सुख कल्पना करलेता है ॥ ७ ॥

किम्पाकफलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम् ।
आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥ ८ ॥

अर्थ—स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख किम्पाकफल (इन्द्रायणके फल) के समान सेवन करते समय तो रमणीय भासता है, परन्तु अन्तमें विरस है । **भावार्थ**—जैसे–इन्द्रायणका फल देखनेमें सुन्दर सुगन्धित और खानेमें मिष्ट होता है; परन्तु उदरमें जाकर हलाहल विषकासा काम करता है, इसी प्रकार स्त्रीजनित सुखभी सेवन करते रमणीक हैं परन्तु तज्जन्य पापसे नरक निगोदादि दुर्गतियोंके दुःख सहने पड़ते हैं ॥ ८ ॥

मैथुनाचरणे कर्म निर्घृणैः क्रियतेऽधमम् ।
पीयते वदनं स्त्रीणां लालाम्बुकलुषीकृतम् ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दय अथवा ग्लानिरहित पुरुष मैथुनावस्थामें कैसा नीचकर्म करते हैं कि–स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई लारोंसे मैले किये हुए मुखका पान करते है, अर्थात् चुंबन करते हैं । हा ! इन मूर्खोंको ग्लानिभी नहिं आती ॥ ९ ॥

कण्डूयनतनुस्वेदाद्ब्रूत्ते कुष्ठी यथा सुखम् ।
तीव्रस्मररुजातङ्कपीडितो मैथुनं तथा ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष शरीरको खुजाने तथा तपानेसे सुख मानता है उसी प्रकार तीव्र कामरूपी रोगसे दुःखित हुआ पुरुषभी मैथुनकर्मको सुख मानता है । यह बड़ा विपर्यय है, क्योंकि जैसे खुजानेसे खाज बढ़ती है और अन्तमें कष्टदायक जलनको पैदा करती है इसी प्रकार स्त्रीका सेवनभी कामसेवनेच्छाको उत्तरोत्तर बढ़ाता है और अन्तमें कष्टदायक होता है ॥ १० ॥

अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि स्मराशीविषमूर्छिताः ।
जिह्वाभिर्विलिहन्त्युच्चैः शुनीनामिव कुक्कुराः ॥ ११ ॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियोंके अंग अशुचि हैं अर्थात् अपवित्र हैं परन्तु उन्हे कामरूपी

सर्पसे काटे हुए अचेत पुरुष अतिशय आसक्त हो जैसे कुत्ते कुतियाके अंगोंको चाटते हैं उसी प्रकार चाटते हैं । हा ! इन निर्लज्जोंको ग्लानिभी नहिं आती ॥ ११ ॥

ग्लानिर्मूर्च्छा भ्रमः कम्पः श्रमः स्वेदोऽङ्गविक्रिया ।
क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके यद्यपि ग्लानि, क्षीणता, मूर्च्छा, अचेतनता, भ्रम, कंपन, खेद, स्वेद (पसेव), अंगविकार और क्षयरोग इत्यादि दोष मैथुनसेही उपजते हैं तौभी यह मूर्ख प्राणी ताको सेवता ही है ॥ १२ ॥

अनेकदुःखसन्ताननिदानं विद्धि मैथुनम् ।
कथं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस मैथुनकर्मको अनेक दुःखोंका कारण जान । आचार्य महाराज खेदपूर्वक कहते हैं,—प्रत्यक्ष दुःखदायक जानकरभी रागान्ध पुरुष इसका सेवन करते हैं, सो बड़ा खेद है ॥ १३ ॥

कुष्टव्रणमिवाजस्रं वाति स्रवति पूतिकम् ।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—स्त्रीयोंका जघनद्वार जो कुष्ठके (कोढ़के) घावके समान निरन्तर झरता है तथा दुर्गन्धसे बासता है वहभी रागी पुरुषोंकी रति (प्रीति) के लिये है, यह आश्चर्य है ॥ १४ ॥

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिं ।
यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥ १५ ॥

अर्थ—जैसे काक कीड़ोंके समूहसे भरे हाड़ वा फलविशेषमें रति (प्रीति) करता है उसी प्रकार यह पामर प्राणीभी स्त्रीके गुह्यस्थानके मंथन करनेमें प्रीति करता है ॥ १५ ॥

आर्या ।

वक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।
जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिछिद्रका नाम लेतेही लज्जा आती है, फिर दुर्गन्धमय और मूत्र तथा रुधिरके झरनेका द्वार है । ऐसेमें अज्ञानी ही रमता है. तत्त्वज्ञानी तो कभी नहिं रमता ॥ १६ ॥

वंशस्थः ।

स्वतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्वणात् ।
तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनैर्निषेव्यते मैथुनसंभवं सुखम् ॥१७॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू ऐसा जान कि–जैसे नीच कुत्ते हाड़के चर्वण करनेसे अपने ही तालुसे निकलनेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह रुधिर इस हाड़मेंसेही निकलता है इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरकी विडंबनासे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं ॥ १७ ॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः।
जुगुप्सां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा ॥ १८ ॥

अर्थ—देखो, जिसप्रकार अपवित्र मलादिकमें कीड़े कलबलाहट करते हैं उसी प्रकार ये चपल कामीजन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगति करते हुए ग्लानिको उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम्।
तत्त्यजन्ति ध्रुवं धन्या न दीना दैववञ्चिताः ॥ १९ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण उसे जो धन्य पुरुष हैं वे तो अवश्यही त्यागते हैं। किन्तु जो दीन हैं अर्थात् नीच हैं वे नहीं छोड़ते क्योंकि वे दैवसे ठगे हुए अर्थात् अभागी हैं ॥ १९ ॥

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इन स्त्रियोंके अंगोंको मालती पुष्पके समान कोमल जानता है, परन्तु अन्तमें जब ए तेरे मर्मोंका विदारण करैंगे तब तुझे अपने आप मालूम हो जायगा। **भावार्थ**–तू स्त्रियोंके अंगोंको कोमल समझ स्पर्शनादि करता है, परन्तु इनके फल (दुर्गतियां) बहुतही कष्टकर होंगे ॥ २० ॥

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघप्रपीडिताः ॥ २१ ॥

अर्थ—हे मूढ! योनिरंध्रमें असंख्यजीवोंकी कोटिकी (समूहकी) उत्पत्ति होती है सो मैथुनाचरणसे वे सब जीव घाते जाते हैं उनकी हिंसासेही दुर्गतिमें दुःख सहने पड़ते हैं ॥ २१ ॥

बीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम्।
यत्र तत्र वपुः स्त्रीणां कस्यास्तु रतये भुवि ॥ २२ ॥

अर्थ—इस पृथिवीमें जब अपनाही शरीर जहां तहां बीभत्स अनेक दुर्गन्धियों तथा मलोंसे भरा है तो फिर स्त्रियोंका शरीर किसके रति करने योग्य हो। अर्थात् किसीको प्रीति के अर्थ नहीं होसकता ॥ २२ ॥

उत्तानोच्छूनमण्डूकदारितोदरसन्निभे ।
चर्मरन्ध्रे मनुष्याणामपूर्वः कोऽप्यसद्ग्रहः ॥ २३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र उत्तान कहिये उलटे किये और उच्छून कहिये सूझे हुए मेंडकके विदारे फाड़े हुए शरीरकी आकृतिके समान घृणास्पद है। सोही कवि कहता है कि ऐसे घृणास्पद अपवित्र स्थानमें कोई अपूर्व असमीचीन दुराग्रह है, जो मनुष्य मलिनाचरण करते हैं ॥ २३ ॥

सर्वाशुचिमये काये दुर्गन्धामेध्यसंभृते ।
रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्विनः ॥ २४ ॥

अर्थ—दुर्गन्ध विष्टादिकसे भरे और सर्वत्र अशुचिमय स्त्रियोंके शरीरमें रागीजनही रमते हैं किन्तु तपस्वी उससे विरक्त ही रहते हैं ॥ २४ ॥

मालिनी ।

कुथितकुणपगन्धं योषितां योनिरन्ध्रं
कृमिकुलशतपूर्णं निर्झरत्क्षारवारि ।
त्यजति मुनिनिकायः क्षीणजन्मप्रबन्धो
भजति मदनवीरप्रेरितोऽङ्गी वराकः ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र बिगड़े हुए व सड़े हुए मुर्देकीसी दुर्गंधवाला है, कीड़ोंके सकेंड़ा समूहोंसे भराहुआ है और क्षारजल (मूत्र) झरता रहता है सो जिनके संसारका अन्त आगया है ऐसे मुनिगण तो इसे छोड़ते हैं और जो रंक कामरूपी सुभटकरके प्रेरित हैं वे सेवन करते हैं ॥ २५ ॥

सोरठा ।

कामीके रति होय, अशुचि मालिनतियतनविषै ।
पावै दुर्गति सोय, मुनि त्यागै दिव शिव लहै ॥ १३ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते मैथुनप्रकरणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशः सर्गः ।

आगे स्त्रियोंके संसर्गसे ब्रह्मचर्य भङ्ग होता है इस कारण उसके निषेधका वर्णन करते हैं,—

विरज्याशेषसंगेभ्यो यो वृणीते शिवश्रियम् ।
स कुद्धाहेरिव स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्त्तते ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो क्रुधित सर्पसे कोई जिस प्रकार दूर रहता है उसी प्रकार स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वरता है। अर्थात् प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्रही खंड खंड होजाते हैं तैसे यौवनसे मदोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी खण्ड २ हो स्त्रियोंमें तन्मय हो जाते हैं। अर्थात् स्त्रियोंका संसर्ग अल्पज्ञोंको खराब करता है ॥ २ ॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः।
कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसखः सोऽपि संयमं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप, तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्रीकी संगति करता हो वह अपने संयमको कलंक ही लगावै ॥ ३ ॥

मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम्।
विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल मात्र जलही ग्रहण करता है ऐसा तपस्वीभी स्त्रीकी संगति पा मोहित होजाता है ॥ [illegible] ॥

सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम्।
गुणाः किन्त्वङ्गनासङ्गं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥ ५ ॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं किन्तु अंगनाके संसर्गको प्राप्त होकर वे गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

संचरन्ति जगत्यस्मिन्स्वेच्छया यमिनां गुणाः।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥ ६ ॥

अर्थ—संयमी गणोंके गुण इस जगतमें स्वेच्छासे यत्र तत्र विस्तारताको प्राप्त होते हैं परन्तु स्त्रियोंके मुखरूपी चंद्रमाके देखनेसे विलीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमं।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुद्ध्यते ॥ [illegible] ॥

अर्थ—मुनि है सो स्थिरता, शास्त्राध्ययन, शील और कुलक्रम (गुरु आम्नायको) तबतकही धारण करता है जबतक यौवन—मदोन्मत्त स्त्रीके नेत्ररूपी फांसीसे नहिं बँधता। अर्थात् स्त्रियोंके नेत्र—कटाक्षपात होते ही शास्त्राध्ययनादि सब नष्ट हो जाते हैं ॥ [illegible] ॥

नवनीतनिभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥ ८ ॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (मक्खन) सदृश है सो स्त्रीरूपी अग्निका संयोग होनेपर सत्पुरुषोंका चित्तभी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥ ८ ॥

अन्तःसुप्तोऽपि जागर्त्ति स्मरः संगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, तैसेही काम है सो अन्तरंग (मनमें) सोता है तोभी स्त्रीके संगममात्रसे जागता है ॥ ९ ॥

क्रियते यैर्मनः स्वस्थं श्रुतप्रशमसंयमैः ।
तेऽपि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षयं गताः ॥ १० ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रशमभाव और संयमसे अपने मनको स्वस्थ (वशीभूत) कर लिया है वे भी स्त्रियोंके संसर्गको प्राप्त होकर नष्ट हो गये हैं ॥ १० ॥

स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभृकुटिं न समीक्षते ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी पुरुष तबतकही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जबतक कि स्त्रीरूपी सर्पकी भृकुटीको नहिं देखता है ॥ ११ ॥

यासां संकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेश मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको बढा देता है तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मीको नष्ट भ्रष्ट नहिं करैगी ? ॥ १२ ॥

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस स्त्रीके संसर्गमात्रसे ही मुनिपन कलंकित होता है उसके साथ वार्तालाप करने, भौंहके टेढेपन और सुंदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या यतिपन नष्ट नहिं होता ? अर्थात् होताही है ॥ १३ ॥

सुचिरं [illegible] निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधो ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद्वृत्तरत्नं शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने बहुत काल बड़ोंकी संगतिमें रहकर भले प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि—स्त्रीके मुखावलोकन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्यही नष्ट होजाता है ॥ १४ ॥

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥ १५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके शरीरकी आकृति पुस्त (मिट्टी आदिसे) [1] पाषाणसे रची हुई तथा काष्ठ चित्रादिसे रची हुईको देखकरभी प्राणी मोहको प्राप्त होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है. फिर साक्षात् स्त्रीको देखनेसे क्यों नहीं मोहित होगा ? अर्थात् अवश्यही होगा. ॥ १५ ॥

यहां स्त्रीका संसर्ग होनेपर क्या क्या अवस्था होती हैं सो कहते हैं—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्त्तने ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रथम तौ स्त्रीपर दृष्टि पड़ती है, तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्रीकी कथा और गुणकीर्तनमें मन लगाता है ॥ १६ ॥

ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम् ।
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठप्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—गुणकीर्तनके पश्चात् दोनोंके परस्पर प्रेमस्नेहकी अतिशयतासे प्रेमग्रंथि पड़ जाती है, तत्पश्चात् चित्त स्नेहकी सीमापर स्थित हो उत्कंठित रहता है कि कब मिलाप हो ॥ १७ ॥

दानदाक्षिण्यविश्वासैरुभयोर्वर्द्धते स्मरः ।
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्ली विसर्पति ॥ १८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्तप्रकारसे तथा दान–दाक्षिण्य–विश्वासादिसे दोनोंके शरीरमें कामकी वृद्धि होती है । तत्पश्चात् शाखा उपशाखाओंसे वह प्रीतिरूपी लता (बेल) विस्तृत हो जाती है ॥ १८ ॥

मनो मिलति चान्योऽन्यं निःशङ्कं संगलालसं ।
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् निःशंक संगमका लोलुप दोनोंका मन परस्पर एक हो जाता है । तत्पश्चात् प्रेमके प्रसर (वेग) से पीडित होकर लज्जा नष्ट हो जाती है । अर्थात् दोनों ऐसे निर्लज्ज हो जाते हैं, कि बड़ोंके निकट रहनेपर भी परस्पर वचनालाप दृष्टिसाम्यतादि निर्लज्जताके कार्य होने लगते हैं ॥ १९ ॥

निःशङ्कं कुरुते नर्म रहोजल्पावलम्बितम् ।
वीक्षणादीन्धनोद्भूतः कामाग्निः प्रविजृम्भते ॥ २० ॥

---

१ " मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते " ॥ १ ॥
अर्थ—मिट्टी, काष्ठ, कपडा, चमडा, लोह और रत्न इनसे निर्माण किये हुए पदार्थको पुस्त कहते हैं॥ १ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों एकान्तस्थान पातेही निःशंक हो हास्यरूप वार्तालाप करते रहते हैं. तत्पश्चाद्दर्शन स्पर्शनादि इंधनसे उत्पन्न हुई कामाग्नि प्रज्वलित (तीव्र) हो जाती है ॥ २० ॥

बहिरन्तस्ततस्तेन दह्यमानोऽग्निना भृशम् ।
अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्त्तते ॥ २१ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह मनुष्य उस कामरूपी अग्निसे बाह्यमें तौ शरीर और अन्तरंगमें चित्तके अतिशय दाहरूप होनेसे विना विचारेही पापकार्यमें प्रवर्त्तने लग जाता है. इसप्रकार अनुक्रमसे स्त्रीके संसर्गसे मनुष्यकी पापाचरणमें प्रवृत्ति हो जाती है ॥ २१ ॥

श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।
इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥ २२ ॥

अर्थ—इसप्रकार यह मूढ प्राणी स्त्रीरूपी अग्निमें प्रवेश करके शास्त्राध्ययन, सत्यव्रत, तप, शील (ब्रह्मचर्य) , विज्ञान और उत्तम चारित्र इनको इंधनकी समान जला देता है। अर्थात्—स्त्रीके संसर्गसे समस्त धर्म कर्म नष्ट कर देता है ॥ २२ ॥

स्फुरन्ति हृदि संकल्पा ये स्त्र्यासक्तचेतसां ।
रागिणां तानि हे भ्रातर्न कोऽपि गदितुं क्षमः ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भाई ! जिन पुरुषोंका चित्त स्त्रियोंमें आसक्त है उन रागियोंके मनमें जो जो संकल्प होते हैं उन्हे कहनेको कोईभी समर्थ है ? कदापि नहीं. क्योंकि कामीके मनमें क्षणक्षणमें अनेक संकल्प होते रहते हैं ॥ २३ ॥

संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।
एकान्ततः स दोषाय स्त्रीभिः सार्द्धं कृतः क्षणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—सामान्यतासे संसर्गसे जीवोंके गुण दोष दोनोंही होते हैं, परन्तु स्त्रियोंके साथ जो संसर्ग क्षणभरके लियेभी कियाजाय तो वह केवल दोषोंके लियेही होता है ॥ २४ ॥

पुण्यानुष्ठानसम्भूतं महत्वं क्षीयते नृणाम् ।
सद्यः कलङ्क्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥ २५ ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संसर्ग रहनेसे मनुष्योंका अनेक पुण्यकार्योंसे प्राप्त हुआ महत्व (बड़प्पन) तत्काल [illegible] हो जाता है और जो व्रत चारित्र हैं वे कलंकित हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो संयमी मुनि जगतसे वंदनेयोग्य चारित्रवाले हैं वे भी स्त्रीके संसर्गसे अपवादरूपी महाकर्दममें निःसंदेह डूबजाते हैं अर्थात् फँस जाते हैं ॥ २६ ॥

अनन्तमहिमाकीर्णं प्रोत्तुङ्गं वृत्तपादपम् ।
वामा कुठारधारेव विच्छिनत्त्याशु देहिनाम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जीवोंके अनन्तमहिमायुक्त, बहुत ऊंचा चारित्ररूपी जो वृक्ष है उसे स्त्री कुल्हाडेके समान तत्काल काट डालती है ॥ २७ ॥

लोचनेषु मृगाक्षीणां क्षिप्तं किंचित्तदञ्जनम् ।
येनापाङ्गैः क्षणादेव मुह्यत्यासां जगत्त्रयम् ॥ २८ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि स्त्रियोंके नेत्रोंमें विधाताने कोई ऐसाही मोहिनी अंजन डाल दिया है कि जिससे इनके कटाक्षोंको देखनेसे क्षणभरमें यह तीनो लोक मोहित हो जाते हैं ॥ २८ ॥

कौतुकेन भ्रमेणापि दृष्टिर्लग्नाङ्गनामुखे ।
क्रष्टुं न शक्यते लोकैः पङ्कमग्नेव हस्तिनी ॥ २९ ॥

अर्थ—जैसे हस्तिनी कर्दममें फँसजाती है तो उसको निकालना बड़ा कठिन होता है, उसी प्रकार मनुष्योंकी दृष्टि कौतुक वा भ्रमसे भी स्त्रीके मुखपर पड़जाती है तो वे उसे खींचनेको असमर्थ होते हैं ॥ २९ ॥

एकत्र वसतिः साध्वी वरं व्याघ्रोरगैः सह ।
पिशाचैर्वा न नारीभिर्निमेषमपि शस्यते ॥ ३० ॥

अर्थ—व्याघ्र, सर्प तथा पिशाचोंके साथ एकत्र रहना तो श्रेष्ठ है परन्तु स्त्रियोंके साथ निमेषमात्र भी रहना श्रेष्ठ नहीं है ॥ ३० ॥

भ्रूलताचलनैर्येषां स्खलत्यमरमण्डली ।
तेऽपि संसर्गमात्रेण वनितानां विडम्बिताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिनकी भौंहरूपी लताके हिलनेमात्रसे देवोंका समूह स्खलित (भयभीत वा क्षुभित) हो जाता है, ऐसे चक्रवर्त्यादिक बड़े २ महापुरुष भी स्त्रियोंके संसर्गमात्रसे विडंबनारूप हो जाते हैं; फिर सामान्य मनुष्यका तो कहनाही क्या ? ॥ ३१ ॥

त्यजन्ति वनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकम् ।
यतयोऽपि तपोभङ्गकलङ्कमलिनाननाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्त्रीरूपी चोरके रोकनेसे (ललकारनेपर) तप भंग करनेके कलंकसे मलिन हैं मुख जिनका ऐसे मुनिगण भी अपना चारित्ररूपी मोतियोंका हार उसके सामने डाल देते हैं, अन्यकी तो कथाही क्या ? ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्यच्युतः सद्यो महानप्यवमन्यते ।
सर्वैरपि जनैर्लोके विध्यात इव पावकः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो कोई बड़ा प्रतिष्ठित हो और ब्रह्मचर्यसे च्युत होजाय तो वहभी सबके द्वारा अपमानित किया जाता है। क्योंकि जैसे अग्निके बुझ जानेपर उससे किसीकोभी भय नहिं रहता उसी प्रकार ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट होनेपर बड़े पुरुषकाभी किसीको भय नहिं रहता। अर्थात् उसका अपमान हरकोई करसकता है ॥ ३३ ॥

विशुद्ध्यति जगद्येषां स्वीकृतं पादपांसुभिः ।
वञ्चिता बहुशस्तेऽपि वनितापाङ्गवीक्षणात् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिन महापुरुषोंके चरणोंकी रजसे यह जगत् पवित्र हो जाता है वेभी प्रायः स्त्रियोंके कियेहुए कटाक्षोंके देखनेसे वञ्चित (नष्ट) हो गये हैं। ऐसे महापुरुषोंकी कथा जगतमें तथा शास्त्रोंमें बहुत हैं ॥ ३४ ॥

तपःश्रुतकृताभ्यासा ध्यानधैर्यावलम्बिनः ।
श्रूयन्ते यमिनः पूर्वं योषाभिः कश्मलीकृताः ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिनके तप और शास्त्रोंका अभ्यास है तथा जो ध्यानमें धैर्य (दृढता) का अवलंबन करनेवाले हैं ऐसे मुनिभी स्त्रियोंसे कलंकित हुए सुने जाते हैं, अन्य क्षुद्र पुरुषोंका तो कहनाही क्या ॥ ३५ ॥

उह्यते यत्र मातङ्गैर्नगोत्तुङ्गैर्जलप्लवे ।
तत्र व्यूढा न संदेहः प्रागेव मृगशावकाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—क्योंकि जिस जलके प्रवाहमें पर्वतसरीखे बड़े २ हाथीभी बह जाते हैं, उसमें यदि पहिले मृगोंके बच्चे बह गये तो इसमें क्या संदेह है ? ॥ ३६ ॥

मालिनी ।

इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाढ्यं
मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भ्रूविलासम् ।
क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्वीक्ष्यमाणं
जनयति हृदि कम्पं धैर्यनाशं च पुंसाम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतमें हावभाव आदि विलासोंसे भरे हुए, कस्तूरीकी सुन्दर बिन्दीवाले तथा विशेषताके साथ चंचल हैं भौंहके विलास जिसमें ऐसे स्त्रियोंके मुखरूपी कमलको क्षणभरभी नेत्रोंसे देखनेपर वह पुरुषोंके हृदयमें कम्प उत्पन्न करके धैर्यको नष्ट कर देता है ॥ ३७ ॥

स्रग्धरा ।

यासां सीमन्तिनीनां कुरबकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान् ।

तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाढ्यं
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥३८॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके सुंदर भुजलताओंके आलिंगनादि विलासोंको प्राप्त होकर कुरबक, तिलक, अशोक और आम्रवृक्षभी अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं अर्थात् फलते फूलते हैं तो उन स्त्रियोंके पूर्णचन्द्रमाके समान गौर लीलारसयुक्त मुखकमलको देखकर ऐसा कौनसा योगी यति प्रवीण है जो अपने मनको उस समय निर्विकार रखसकै ? अर्थात् कोईभी नहीं ॥ ३८ ॥

फिरभी विशेषताके साथ कहते हैं,—

तावद्धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलं चैष तावत्
तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै-
र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥ ३९ ॥

अर्थ—यह पुरुष जबतक क्षीरसमुद्रकी लहरोंके वलयसरीखे विलासरूप मानिनी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे हननेमें आये हुए हृदयके दीर्घ दोलायमान चंचलभावको प्राप्त नहिं होता तबतकही यह मनुष्य प्रतिष्ठाको धारण करता और मनकी चंचलताको छोड़कर स्थिरता रखसकता है और तबतकही समस्त तत्त्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके सम सिद्धान्तसूत्र हृदयमें स्फुरित होते हैं। अर्थात् स्त्रियोंके सुंदर कटाक्षोंको देखनेसे किसका मन स्थिर रह सकता है ? ॥ ३९ ॥

संसर्गाद्दुर्बलां दीनां संत्रस्तामप्यनिच्छतीम् ।
कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णां दुःखितां क्षीणविग्रहाम् ॥ ४० ॥
निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम् ।
बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥

अर्थ—स्त्रीके संसर्गसे भ्रष्ट हुये कामी पुरुष दुर्बल, दीन (भिखारिनी), भयभीत, विनाइच्छती, कोढ़नी, रोगिणी, बुढ़िया, दुःखिनी, क्षीणशरीरवाली, निंदित (वेश्यादिक) तथा निन्द्यजातिकी चंडालनी आदि, तथा स्वजातीया, तपस्विनी, बालिका, और तो क्या तिर्यंचनीसेभी व्यभिचार करने लग जाते हैं. इसकारण ब्रह्मचारियोंको स्त्रीका संसर्ग सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अङ्गनापाङ्गबाणालीं प्रपतन्तीं निवारय ।
विधाय हृदयं धीर दृढं वैराग्यवर्मितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि—हे धीर वीर, अपने हृदयको

वैराग्यरूपी दृढ कवचसे वेष्टित करके स्त्रियोंके कटाक्षबाणोंकी पड़ती हुई पंक्तिको निवारण कर ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थं सङ्गः स्त्रीणां न केवलम् ।
त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—हे भाई ! ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये केवल स्त्रियोंके संसर्गकाही निषेध नहीं किया है; किन्तु विटविद्यावलम्बी व्यभिचारी स्त्रीपुरुषोंका संगभी त्यागनेयोग्य कहा है ॥ ४३ ॥

मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकैर्मार्गविच्युतैः
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्द्धं संगो लोकद्वयान्तकः ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो मदसे अंधे हैं, कामी हैं, पापी हैं, ठग हैं, कुमार्गी हैं, स्तब्ध हैं, मानी हैं, अधम हैं तथा नीच हैं, इनमेंसे किसीकेभी साथ संसर्ग करना दोनों लोकोंका बिगाड़नेवाला है, इसकारण इनकी संगति करना सर्वथा त्याज्य है ॥ ४४ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं,—

स्रग्धरा ।

सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः
शश्वत्संन्यस्तसंगा विमलगुणमणिग्रामभाजः स्वयं ये ।
श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात्तेऽपि भग्ना
मज्जन्तो मोहवार्धौ जिनपतियतयः प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥४५॥

अर्थ—सिद्धान्तसूत्रोंमें दिया है चित्त जिन्होंने, ऐसे तथा प्रशमभाव और यम–नियम–तप–ध्यानादिमें समस्त काल बितानेवाले, निरन्तर परिग्रहके त्यागी, निर्मलगुणरूपी मणियोंके समूहको धारण करनेवाले ऐसे जैनयती (रुद्रादिक) भी स्त्रियोंके स्तन, जघन व मुखके देखनेसे भ्रष्ट होकर मोहरूपी समुद्रमें डूबेहुए कथाओंमें प्रसिद्ध हैं अर्थात् सुने जाते हैं। **भावार्थ**—स्त्रीका संसर्गही ऐसा है कि जिससे कोईभी नहिं बचते । और जो धीर, वीर महापुरुष इसके संसर्गसे बचते हैं वे धन्य हैं ॥ ४५ ॥

इसप्रकार स्त्रीके संसर्गका निषेध वर्णन किया—

दोहा ।

तपसी मौनी संयमी, श्रुतपाठी युत मान ।
तरुणीके संसर्गतैं, बिगड़ैं तजहु सुजान ॥ १४ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रतान्तर्गत-स्त्रीसंसर्गनिषेधवर्णनं नाम चतुर्दश प्रकरणम् ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदश प्रकरणम् ।
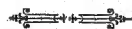
आगे इस ब्रह्मचर्यमहाव्रतके वर्णनमें वृद्धसेवाका वर्णन करके इस महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमञ्जसा ।
विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अनायास दोनों लोकोंकी सिद्धिके लिये, भावोंकी शुद्धताके लिये तथा विद्याविनयकी वृद्धिके लिये वृद्धपुरुषोंकी (गुरुजनोंकी) सेवाहीकी प्रशंसा कीगई है । **भावार्थ**-गुरुजनोंके (बड़ोंके) निकट रहने तथा उनकी सेवा करनेसे यह लोक परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्याविनयादिक बढ़ते हैं और मानकषायकी हानि इत्यादि गुण होते हैं ॥ १ ॥

कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः समम्
चेतः प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष वृद्धसेवा करनेवाले हैं उनकी कषायरूपी अग्नि रागादिसहित शान्त होजाती है और चित्त प्रसन्न वा निर्मल होजाता है. बड़ोंकी सेवासेही ये गुण होते हैं ॥ २ ॥

निश्चलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय ।
आसादय वरां बुद्धिं[1] दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्यमहाराज यहां उपदेश करते हैं कि--हे दुर्बुद्धि आत्मा ! गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनोंके निकट रहकर तू अपने वैराग्यको तो निर्मल कर और संसारदेह-भोगोंसे लेशमात्र भी राग मत कर, तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छासे प्रवर्तता है उसे वशमें कर और उत्कृष्ट बुद्धिको (विवेकिताको) अंगीकार कर । क्योंकि ये गुण गुरुजनोंकी सेवा करनेसेही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

अब वृद्धोंका स्वरूप कहते हैं,—

स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्द्धितम् ।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥ ॥ ४ ॥

अर्थ—जिनके आत्मतत्त्वरूप कसोटीसे उत्पन्न भेदज्ञानरूप आलोकसे बढ़ाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनकोही विद्वानोंने वृद्ध कहा है । **भावार्थ**-स्वपर पदार्थोंको

१ ' परां शुद्धिं ' इत्यपि पाठः ।

जाननेवाला जिनका ज्ञान है ऐसे ज्ञानीही वृद्ध कहाते हैं, केवल अवस्थासेही वृद्ध नहिं होते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः ।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, ध्यान, विवेक (भेदज्ञान), यम, तथा संयमादिकसे वृद्ध (बढ़े हुए) अर्थात् बड़े हैं वेही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था (उमर) मात्र अधिक होनेसे वा केश सफेद होनेसेही वृद्ध नहिं होते ॥ ५ ॥

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जिनके निकट मनको रंजन करनेवाले विषयोंके प्राप्त होनेपरभी चित्तसे धीरता स्खलित (नष्ट) नहिं होती उनकोही विद्वानोंने वृद्ध माना है, अर्थात् विषयोंसे चलायमान होजांय वे बड़े काहेके ? ॥ ६ ॥

न हि स्वप्नेऽपि संयाता येषां सद्वृत्तवाच्यता ।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनके सदाचरण स्वप्नमेंभी कभी कलंकित (मैले) नहिं हुए वे यौवनावस्थामेंभी वृद्ध हैं और वेही धन्य पुरुष हैं ऐसा ब्रह्मचारी महात्माओंने माना है ॥ ७ ॥

यहां विशेष कहते हैं,—

प्रायःशरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम् ।
यौवने तु क्वचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—यद्यपि शरीरके शिथिल होनेसे (वृद्धावस्था होनेसे) जीवोंकी बुद्धिभी स्वस्थ (निश्चित) होजाती है परन्तु यौवनावस्थामें तो जिसने तत्त्वोंका स्वरूप जाना है वहभी कुछ विक्रियाको धारण करता है। **भावार्थ**—युवावस्थामें जो चलायमान नहिं होते वेही धन्य पुरुष हैं ॥ ८ ॥

वार्द्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—मनुष्योंका शरीर जैसे जैसे शिथिलताको धारण करता है तैसे तैसेही विषयोंकी आशा घटती है. परन्तु युवावस्थामें जिनके आशाका नाश हो यही अधिकता है ॥ ९ ॥

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासितः ॥ १० ॥